(मोक्षधर्मपर्व)

चित्र-सूची

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तदा वाक्यं भीष्मेणोक्तं महात्मना।
युधिष्ठिरः प्रीतमना बभूव जनमेजय ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा भीष्मका यह वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर मन-ही मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कृतघ्नका उपाख्यानविषयक एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

(मोक्षधर्मपर्व)

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शोकाकुल चित्तकी शान्तिके लिये राजा सेनजित् और ब्राह्मणके संवादका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

धर्माः पितामहेनोक्ता राजधर्माश्रिताः शुभाः।
धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हसि पार्थिव ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! यहाँतक आपने राजधर्मसम्बन्धी श्रेष्ठ धर्मोंका उपदेश दिया। पृथ्वीनाथ ! अब आप आश्रमियोंके उत्तम धर्मका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं तपः।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! वेदोंमें सर्वत्र सभी आश्रमोंके लिये स्वर्गसाधक यथार्थ फलकी प्राप्ति करानेवाली तपस्याका उल्लेख है। धर्मके बहुत-से द्वार हैं। संसारमें कोई ऐसी क्रिया नहीं है, जिसका कोई फल न हो ॥ २ ॥

यस्मिन् यस्मिंस्तु विषये यो यो याति विनिश्चयम्।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो-जो पुरुष जिस-जिस विषयमें पूर्ण निश्चयको पहुँच जाता है (जिसके द्वारा उसे अभीष्ट सिद्धिका विश्वास हो जाता है), उसीको वह कर्तव्य समझता है। दूसरे विषयको नहीं ॥ ३ ॥

यथा यथा च पर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः ॥ ४ ॥

मनुष्य जैसे जैसे संसारके पदार्थोंको सारहीन समझता है, वैसे ही वैसे इनसे उसका वैराग्य होता जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

एवं व्यवसिते लोके बहुदोषे युधिष्ठिर।
आत्ममोक्षनिमित्तं वै यतेत मतिमान् नरः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार यह जगत् अनेक दोषोंसे परिपूर्ण है, ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान् पुरुष अपने मोक्षके लिये प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
यया बुद्ध्या नुदेच्छोकं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! धनके नष्ट हो जानेपर अथवा स्त्री, पुत्र या पिताके मर जानेपर किस बुद्धिसे मनुष्य अपने शोकका निवारण करे ? यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायञ्छोकस्यापचितिं चरेत् ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स ! जब धन नष्ट हो जाय अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु हो जाय, तब 'ओह ! संसार कैसा दुःखमय है' यह सोचकर मनुष्य शोकको दूर करनेवाले शम-दम आदि साधनोंका अनुष्ठान करे ॥ ७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा सेनजितं विप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत् सुहृत् ॥ ८ ॥

इस विषयमें किसी हितैषी ब्राह्मणने राजा सेनजित्के पास आकर उन्हें जैसा उपदेश दिया था, उसी प्राचीन इतिहासको विज्ञ पुरुष दृष्टान्तके रूपमें प्रस्तुत किया करते हैं ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तं राजानं शोकविह्वलम्।
विषण्णमनसं दृष्ट्वा विप्रो वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

राजा सेनजित्के पुत्रकी मृत्यु हो गयी थी। वे उसीके शोककी आगसे जल रहे थे। उनका मन विषादमें डूबा हुआ था। उन शोकविह्वल नरेशको देखकर ब्राह्मणने इस प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

किं नु मुह्यसि मूढस्त्वं शोच्यः किमनुशोचसि।
यदा त्वामपि शोचन्तः शोच्या यास्यन्ति तां गतिम् ॥ १० ॥

'राजन् ! तुम मूढ मनुष्यकी भाँति क्यों मोहित हो रहे हो ? शोकके योग्य तो तुम स्वयं ही हो, फिर दूसरोंके लिये क्यों शोक करते हो ? अजी ! एक दिन ऐसा आयेगा, जब कि दूसरे शोचनीय मनुष्य तुम्हारे लिये भी शोक करते हुए उसी गतिको प्राप्त होंगे ॥ १० ॥

त्वं चैवाहं च ये चान्ये त्वामुपासन्ति पार्थिव।
सर्वे तत्र गमिष्यामो यत एवागता वयम् ॥ ११ ॥

'पृथ्वीनाथ ! तुम, मैं और ये दूसरे लोग जो इस समय तुम्हारे पास बैठे हैं, सब वहीं जायँगे, जहाँसे हम आये हैं' ॥ ११ ॥

सेनजिदुवाच

का बुद्धिः किं तपो विप्र कः समाधिस्तपोधन ।
किं ज्ञानं किं श्रुतं चैव यत् प्राप्य न विषीदसि ॥ १२ ॥

सेनजित्ने पूछा—तपस्याके धनी ब्राह्मणदेव ! आपके पास ऐसी कौन-सी बुद्धि, कौन तप, कौन समाधि, कैसा ज्ञान और कौन-सा शास्त्र है, जिसे पाकर आपको किसी प्रकारका विषाद नहीं है ॥ १२ ॥

(हृष्यन्तमवसीदन्तं सुखदुःखविपर्यये ।
आत्मानमनुशोचामि ममैष हृदि संस्थितः ॥)

सुख और दुःखका चक्र घूमता रहता है। मैं सुखमें हर्षसे फूल उठता हूँ और दुःखमें खिन्न हो जाता हूँ। ऐसी अवस्थामें पड़े हुए अपने आपके लिये मुझे निरन्तर शोक होता है। यह शोक मेरे हृदयमें डेरा डाले बैठा है॥

ब्राह्मण उवाच

पश्य भूतानि दुःखेन व्यतिषिक्तानि सर्वशः ।
उत्तमाधममध्यानि तेषु तेष्विह कर्मसु ॥ १३ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! देखो, इस संसारमें उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्राणी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें आसक्त हो दुःखसे ग्रस्त हो रहे हैं ॥ १३ ॥

(अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तं न पश्यामि यो मम ॥)

मैं तो अकेला हूँ। न तो दूसरा कोई मेरा है और न मैं किसी दूसरेका हूँ। मैं उस पुरुषको नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा उसको भी नहीं देखता, जो मेरा हो (न मुझपर किसीकी ममता है, न मेरा ही किसीपर ममत्व है)॥

आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ।
यथा मम तथान्येषामिति चिन्त्य न मे व्यथा ।
एतां बुद्धिमहं प्राप्य न प्रहृष्ये न च व्यथे ॥ १४ ॥

यह शरीर भी मेरा नहीं अथवा सारी पृथ्वी भी मेरी नहीं है। ये सब वस्तुएँ जैसी मेरी हैं, वैसी ही दूसरोंकी भी हैं। ऐसा सोचकर इनके लिये मेरे मनमें कोई व्यथा नहीं होती। इसी बुद्धिको पाकर न मुझे हर्ष होता है, न शोक ॥ १४ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ॥ १५ ॥

जिस प्रकार समुद्रमें बहते हुए दो काठ कभी-कभी एक दूसरेसे मिल जाते हैं और मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस लोकमें प्राणियोंका समागम होता है ॥ १५ ॥

एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवास्तथा ।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवो हि तैः ॥ १६ ॥

इसी तरह पुत्र, पौत्र, जाति-बान्धव और सम्बन्धी भी मिल जाते हैं। उनके प्रति कभी आसक्ति नहीं बढ़ानी चाहिये; क्योंकि एक दिन उनसे बिछोह होना निश्चित है ॥ १६ ॥

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
न त्वासौ वेद न त्वं तं कः सन् किमनुशोचसि ॥ १७ ॥

तुम्हारा पुत्र किसी अज्ञात स्थितिसे आया था और अज्ञात स्थितिमें ही चला गया है। न तो वह तुम्हें जानता था और न तुम उसे जानते थे; फिर तुम उसके कौन होकर किस लिये शोक करते हो ? ॥ १७ ॥

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।
सुखात् संजायते दुःखं दुःखमेवं पुनः पुनः ॥ १८ ॥

संसारमें विषयोंकी तृष्णासे जो व्याकुलता होती है, उसीका नाम दुःख है और उस दुःखका विनाश ही सुख है। उस सुखके बाद (पुनः कामनाजनित) दुःख होता है। इस प्रकार बारंबार दुःख ही होता रहता है ॥ १८ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्ततः ॥ १९ ॥

सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है। मनुष्योंके सुख और दुःख चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं ॥ १९ ॥

सुखात् त्वं दुःखमापन्नः पुनरापत्स्यसे सुखम् ।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥ २० ॥

इस समय तुम सुखसे दुःखमें आ पड़े हो। अब फिर तुम्हें सुखकी प्राप्ति होगी। यहाँ किसी भी प्राणीको न तो सदा सुख ही प्राप्त होता है और न सदा दुःख ही ॥ २० ॥

शरीरमेवायतनं सुखस्य
दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम् ।
यद् यच्छरीरेण करोति कर्म
तेनैव देही समुपाश्नुते तत् ॥ २१ ॥

यह शरीर ही सुखका आधार है और यही दुःखका भी आधार है। देहाभिमानी पुरुष शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उसीके अनुसार वह सुख एवं दुःखरूप फल भोगता है ॥ २१ ॥

जीवितं च शरीरेण जात्यैव सह जायते ।
उभे सह विवर्तेते उभे सह विनश्यतः ॥ २२ ॥

यह जीवन स्वभावतः शरीरके साथ ही उत्पन्न होता है। दोनों साथ-साथ विविध रूपोंमें रहते हैं और साथ ही साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ २२ ॥

स्नेहपाशैर्बहुविधैराविष्टविषया जनाः ।
अकृतार्थाश्च सीदन्ते जलैः सैकतसेतवः ॥ २३ ॥

मनुष्य नाना प्रकारके स्नेह-बन्धनोंमें बँधे हुए हैं, अतः वे सदा विषयोंकी आसक्तिसे घिरे रहते हैं; इसीलिये जैसे बालूद्वारा बनाये हुए पुल जलके वेगसे बह जाते हैं, उसी प्रकार उन मनुष्योंकी विषयकामना सफल नहीं होती; जिससे वे दुःख पाते रहते हैं ॥ २३ ॥

स्नेहेन तिलवत् सर्वं सर्गचक्रे निपीड्यते ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः ॥ २४ ॥

तेलीलोग तेलके लिये जैसे तिलोंको कोल्हूमें पेरते हैं, उसी प्रकार स्नेहके कारण सब लोग अज्ञानजनित क्लेशोंद्वारा सृष्टिचक्रमें पिस रहे हैं ॥ २४ ॥

संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः ।
एकः क्लेशानवाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ २५ ॥

मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बके लिये चोरी आदि पाप-कर्मोंका संग्रह करता है; किंतु इस लोक और परलोकमें उसे अकेले ही उन समस्त कर्मोंका क्लेशमय फल भोगना पड़ता है ॥ २५ ॥

पुत्रदारकुटुम्बेषु प्रसक्ताः सर्वमानवाः ।
शोकपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव ॥ २६ ॥

स्त्री, पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त हुए सभी मनुष्य उसी प्रकार शोकके समुद्रमें डूब जाते हैं, जैसे बूढ़े जंगली हाथी दलदलमें फँसकर नष्ट हो जाते हैं ॥ २६ ॥

पुत्रनाशे वित्तनाशे ज्ञातिसम्बन्धिनामपि ।
प्राप्यते सुमहद् दुःखं दावाग्निप्रतिमं विभो ।
दैवायत्तमिदं सर्वं सुखदुःखे भवाभवौ ॥ २७ ॥

प्रभो ! यहाँ सब लोगोंको पुत्र, धन, कुटुम्बी तथा सम्बन्धियोंका नाश होनेपर दावानलके समान दाह उत्पन्न करनेवाला महान् दुःख प्राप्त होता है; परंतु सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु आदि यह सब कुछ प्रारब्धके ही अधीन है ॥ २७ ॥

असुहृत् ससुहृच्चापि सशत्रुर्मित्रवानपि ।
सप्रज्ञः प्रज्ञया हीनो दैवेन लभते सुखम् ॥ २८ ॥

मनुष्य हितैषी सुहृदोंसे युक्त हो या न हो, वह शत्रुके साथ हो या मित्रके, बुद्धिमान् हो या बुद्धिहीन, दैवकी अनुकूलता होनेपर ही सुख पाता है ॥ २८ ॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः ।
न च प्रज्ञालमर्थानां न सुखानामलं धनम् ॥ २९ ॥

अन्यथा न तो सुहृद् सुख देनेमें समर्थ हैं, न शत्रु दुःख देनेमें समर्थ हैं, न तो बुद्धि धन देनेकी शक्ति रखती है और न धन ही सुख देनेमें समर्थ होता है ॥ २९ ॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ३० ॥

न तो बुद्धि धनकी प्राप्तिमें कारण है, न मूर्खता निर्धनतामें, वास्तवमें संसारचक्रकी गतिका वृत्तान्त कोई ज्ञानी पुरुष ही जान पाता है, दूसरा नहीं ॥ ३० ॥

बुद्धिमन्तं च शूरं च मूढं भीरुं जडं कविम् ।
दुर्बलं बलवन्तं च भागिनं भजते सुखम् ॥ ३१ ॥

बुद्धिमान्, शूरवीर, मूढ, डरपोक, गूँगा, विद्वान्, दुर्बल और बलवान् जो भी भाग्यवान् होगा—दैव जिसके अनुकूल होगा, उसे बिना यत्नके ही सुख प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तस्करस्य च ।
पयः पिबति यस्तस्या धेनुस्तस्येति निश्चयः ॥ ३२ ॥

दूध देनेवाली गौ बछड़ेकी है या उसे दुहने अथवा चरानेवाले ग्वालेकी है या रखनेवाले मालिककी है अथवा उसे चुराकर ले जानेवाले चोरकी है ? वास्तवमें जो उसका दूध पीता है, उसीकी वह गाय है; ऐसा विद्वानोंका निश्चय है ॥ ३२ ॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः ।
ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ ३३ ॥

इस संसारमें जो अत्यन्त मूढ हैं और जो बुद्धिसे परे पहुँच गये हैं, वे ही मनुष्य सुखी हैं । बीचके सभी लोग कष्ट भोगते हैं ॥ ३३ ॥

अन्त्येषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे ।
अन्त्यप्राप्तिं सुखामाहुर्दुःखमन्तरमन्त्ययोः ॥ ३४ ॥

ज्ञानी पुरुष अन्तिम स्थितियोंमें रमण करते हैं, मध्यवर्ती स्थितिमें नहीं। अन्तिम स्थितिकी प्राप्ति सुखस्वरूप बतायी जाती है और उन दोनोंके मध्यकी स्थिति दुःखरूप कही गयी है ॥ ३४ ॥

(सुखं स्वपिति दुर्मेधाः स्वानि कर्माण्यचिन्तयन् ।
अविज्ञानेन महता कम्बलेनेव संवृतः ॥)

खोटी बुद्धिवाला मूर्ख मनुष्य अपने कर्मोंके शुभाशुभ परिणामकी कोई परवा न करके सुखसे सोता है; क्योंकि वह कम्बलसे ढके हुए पुरुषकी भाँति महान् अज्ञानसे आवृत रहता है ॥

ये च बुद्धिसुखं प्राप्ता द्वन्द्वातीता विमत्सराः ।
तान् नैवार्था न चानर्था व्यथयन्ति कदाचन ॥ ३५ ॥

किंतु जिन्हें ज्ञानजनित सुख प्राप्त है, जो द्वन्द्वोंसे अतीत हैं तथा जिनमें मत्सरताका भी अभाव है, उन्हें अर्थ और अनर्थ कभी पीड़ा नहीं देते हैं ॥ ३५ ॥

अथ ये बुद्धिमप्राप्ता व्यतिक्रान्ताश्च मूढताम् ।
तेऽतिवेलं प्रहृष्यन्ति संतापमुपयान्ति च ॥ ३६ ॥

जो मूढताको तो लाँघ चुके हैं, परंतु जिनको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, वे सुखकी परिस्थिति आनेपर अत्यन्त हर्षसे फूल उठते हैं और दुःखकी परिस्थितिमें अतिशय संतापका अनुभव करने लगते हैं ॥ ३६ ॥

नित्यं प्रमुदिता मूढा दिवि देवगणा इव ।
अवलेपेन महता परिभूत्या विचेतसः ॥ ३७ ॥

मूर्ख मनुष्य स्वर्गमें देवताओंकी भाँति सदा विषयसुखमें मग्न रहते हैं; क्योंकि उनका चित्त विषयासक्तिके कीचड़में लथपथ होकर मोहित हो जाता है ॥ ३७ ॥

सुखं दुःखान्तमालस्यं दुःखं दाक्ष्यं सुखोदयम् ।
भूतिस्त्वेवं श्रिया सार्धं दक्षे वसति नालसे ॥ ३८ ॥

आरम्भमें आलस्य सुख-सा जान पड़ता है, परंतु वह अन्तमें दुःखदायी होता है और कार्यकौशल दुःख-सा लगता है, परंतु वह सुखका उत्पादक है। कार्यकुशल पुरुषमें ही लक्ष्मीसहित ऐश्वर्य निवास करता है, आलसीमें नहीं ॥ ३८ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ ३९ ॥

अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि सुख या दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, जो-जो प्राप्त हो जाय, उसका हृदयसे स्वागत करे, कभी हिम्मत न हारे ॥ ३९ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।

दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ४० ॥

शोकके हजारों स्थान हैं और भयके सैकड़ों स्थान हैं; किंतु वे प्रतिदिन मूर्खोंपर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वानोंपर नहीं ॥ ४० ॥

बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम् ।
दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम्॥४१ ॥

जो बुद्धिमान्, ऊहापोहमें कुशल एवं शिक्षित बुद्धिवाला, अध्यात्मशास्त्रके श्रवणकी इच्छा रखनेवाला, किसीके दोष न देखनेवाला, मनको वशमें रखनेवाला और जितेन्द्रिय है, उस मनुष्यको शोक कभी छू भी नहीं सकता ॥ ४१ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय गुप्तचित्तश्चरेद् बुधः ।
उदयास्तमयज्ञं हि न शोकः स्प्रष्टुमर्हति ॥ ४२ ॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह इसी विचारका आश्रय लेकर मनको काम, क्रोध आदि शत्रुओंसे सुरक्षित रखते हुए उत्तम बर्ताव करे । जो उत्पत्ति और विनाशके तत्त्वको जानता है, उसे शोक छू नहीं सकता ॥ ४२ ॥

यन्निमित्तं भवेच्छोकस्तापो वा दुःखमेव च ।
आयासो वा यतो मूलमेकाङ्गमपि तत् त्यजेत् ॥ ४३ ॥

जिसके कारण शोक, ताप अथवा दुःख हो या जिसके [illegible] अधिक श्रम उठाना पड़े, वह दुःखका मूल कारण अपने शरीरका एक अङ्ग भी हो तो उसे त्याग देना चाहिये ॥ ४३ ॥

किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापार्थं सर्वं सम्पद्यते तथा ॥४४ ॥

मनुष्य जब किसी भी पदार्थमें ममत्व कर लेता है, तब वे ही सब उसके वैसे दुःखके कारण बन जाते हैं ॥ ४४ ॥

यद् यत् त्यजति कामानां तत् सुखस्याभिपूर्यते ।
कामानुसारी पुरुषः कामाननुविनश्यति ॥४५॥

वह कामनाओंमेंसे जिस-जिसका परित्याग कर देता है, वही उसके सुखकी पूर्ति करनेवाली हो जाती है । जो पुरुष कामनाओंका अनुसरण करता है, वह उन्हींके पीछे नष्ट हो जाता है ॥ ४५ ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ४६ ॥

संसारमें जो कुछ इस लोकके भोगोंका सुख है और जो स्वर्गका महान् सुख है, वे दोनों तृष्णाक्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं ॥ ४६ ॥

पूर्वदेहकृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ।
प्राज्ञं मूढं तथा शूरं भजते यादृशं कृतम् ॥ ४७ ॥

मनुष्य बुद्धिमान् हो, मूर्ख हो अथवा शूरवीर हो, उसने पूर्वजन्ममें जैसा शुभ या अशुभ कर्म किया है, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है ॥ ४७ ॥

एवमेव किलैतानि प्रियाण्येवाप्रियाणि च ।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि [illegible] सुखानि च ॥ [illegible] ॥

इस प्रकार जीवोंको प्रिय-अप्रिय और सुख-दुःखकी प्राप्ति बार-बार क्रमसे होती ही रहती है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ४८ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय सुखमास्ते गुणान्वितः ।
सर्वान् कामान् जुगुप्सेत कामान् कुर्वीत पृष्ठतः ॥४९॥

ऐसी बुद्धिका आश्रय लेकर कामनाओंके त्यागरूपी गुणसे युक्त हुआ मनुष्य सुखसे रहता है; इसलिये सब प्रकारके भोगोंसे विरक्त होकर उन्हें पीठ-पीछे कर दे अर्थात् उनसे विमुख हो जाय ॥ ४९ ॥

वृत्त एष हृदि प्रौढो मृत्युरेष मनोभवः ।
क्रोधो नाम शरीरस्थो देहिनां प्रोच्यते बुधैः ॥ ५० ॥

हृदयसे उत्पन्न होनेवाला यह काम हृदयमें ही पुष्ट होता है, फिर यही मृत्युका रूप धारण [illegible] लेता है; क्योंकि (जब इसकी सिद्धिमें कोई बाधा आती है, तब) विद्वानोंद्वारा यही प्राणियोंके शरीरके भीतर क्रोधके नामसे पुकारा जाता है ॥५०॥

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरात्मायमात्मन्येव प्रपश्यति ॥५१॥

कछुआ जैसे अपने अङ्गोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार यह जीव जब अपनी सब कामनाओंका संकोच कर देता है, तब यह अपने विशुद्ध अन्तःकरणमें ही स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ५१ ॥

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि [illegible] सम्पद्यते तदा ॥ ५२ ॥

जब यह किसीसे भय नहीं मानता और इससे भी किसीको भय नहीं होता तथा जब यह किसी वस्तुको न तो चाहता है और न उससे द्वेष ही करता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ५२ ॥

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ भयाभये ।
प्रियाप्रिये परित्यज्य प्रशान्तात्मा भविष्यति ॥ ५३ ॥

जब यह साधक सत्य और असत्य अर्थात् जगत्‌के व्यक्त और अव्यक्त पदार्थोंका, शोक और हर्षका, भय और अभयका तथा प्रिय और अप्रिय आदि समस्त द्वन्द्वोंका परित्याग कर देता है, तब उसका चित्त शान्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

यदा न कुरुते धीरः सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा [illegible] सम्पद्यते तदा ॥ ५४ ॥

जब धैर्यसम्पन्न ज्ञानवान् पुरुष किसी भी प्राणीके प्रति मन, वाणी और क्रियाद्वारा पापपूर्ण बर्ताव नहीं करता, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ५४ ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्यके जीर्ण (वृद्ध) हो जानेपर भी स्वयं कभी जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणोंके साथ जानेवाला रोग

बनकर रहती है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है ॥ ५५ ॥

अपि पिङ्गलया गीता गाथाः श्रूयन्ति पार्थिव ।
यथा सा कृच्छ्रकालेऽपि लेभे धर्मं सनातनम् ॥ ५६ ॥

राजन्! इस विषयमें पिङ्गलाकी गायी हुई गाथाएँ सुनी जाती हैं, जिसके अनुसार चलकर सकटकालमें भी उसने सनातन धर्मको प्राप्त कर लिया था ॥ ५६ ॥

संकेते पिङ्गला वेश्या कान्तेनासीद् विनाकृता ।
अथ कृच्छ्रगता शान्ता बुद्धिमास्थापयत् तदा ॥ ५७ ॥

एक बार पिङ्गला वेश्या बहुत देरतक सकेत-स्थानपर बैठी रही, तब भी उसका प्रियतम उसके पास नहीं आया; इससे वह बड़े कष्टमें पड़ गयी, तथापि शान्त रहकर इस प्रकार विचार करने लगी ॥ ५७ ॥

पिङ्गलोवाच

उन्मत्ताहमनुन्मत्तं कान्तमन्ववसं चिरम् ।
अन्तिके रमणं सन्तं नैनमध्यगमं पुरा ॥ ५८ ॥

पिङ्गला बोली—मेरे सच्चे प्रियतम चिरकालसे मेरे निकट ही रहते हैं। मैं सदासे उनके साथ ही रहती आयी हूँ। वे कभी उन्मत्त नहीं होते, परंतु मैं ऐसी मतवाली हो गयी थी कि आजसे पहले उन्हें पहचान ही न सकी ॥ ५८ ॥

एकस्थूणं नवद्वारमपिधास्याम्यगारकम् ।
का हि कान्तमिहायान्तमयं कान्तेति मंस्यते ॥ ५९ ॥

जिसमें एक ही खंभा और नौ दरवाजे हैं, उस शरीररूपी घरको आजसे मैं दूसरोंके लिये बंद कर दूँगी। यहाँ आनेवाले उस सच्चे प्रियतमको जानकर भी कौन नारी किसी हाड़-मांसके पुतलेको अपना प्राणवल्लभ मानेगी? ॥ ५९ ॥

अकामां कामरूपेण धूर्ता नरकरूपिणः ।
न पुनर्वञ्चयिष्यन्ति प्रतिबुद्धास्मि जागृमि ॥ ६० ॥

अब मैं मोहनिद्रासे जग गयी हूँ और निरन्तर सजग हूँ—कामनाओंका भी त्याग कर चुकी हूँ। अतः वे नरकरूपी धूर्त मनुष्य कामका रूप धारण करके अब मुझे धोखा नहीं दे सकेंगे ॥ ६० ॥

अनर्थो हि भवेदर्थो दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
सम्बुद्धाहं निराकारा नाहमद्याजितेन्द्रिया ॥ ६१ ॥

भाग्यसे अथवा पूर्वकृत शुभ कर्मोंके प्रभावसे कभी-कभी अनर्थ भी अर्थरूप हो जाता है, जिससे आज निराश होकर मैं उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हो गयी हूँ। अब मैं अजितेन्द्रिय नहीं रही हूँ ॥ ६१ ॥

सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥ ६२ ॥

वास्तवमें जिसे किसी प्रकारकी आशा नहीं है, वही सुखसे सोता है। आशाका न होना ही परम सुख है। देखो, आशाको निराशाके रूपमें परिणत करके पिङ्गला सुखकी नींद सोने लगी ॥ ६२ ॥

भीष्म उवाच

एतैश्चान्यैश्च विप्रस्य हेतुमद्भिः प्रभाषितैः ।
पर्यवस्थापितो राजा सेनजिन्मुमुदे सुखी ॥ ६३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मणके कहे हुए इन पूर्वोक्त तथा अन्य युक्तियुक्त वचनोंसे राजा सेनजित्‌का चित्त स्थिर हो गया। वे शोक छोड़कर सुखी हो गये और प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ब्राह्मणसेनजित्संवादकथने चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ब्राह्मण और सेनजित्‌के संवादका कथनविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषका क्या कर्तव्य है, इस विषयमें पिताके प्रति पुत्रद्वारा ज्ञानका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतक्षयावहे ।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! समस्त भूतोंका संहार करनेवाला यह काल बराबर बीता जा रहा है, ऐसी अवस्थामें मनुष्य क्या करनेसे कल्याणका भागी हो सकता है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें ज्ञानी पुरुष पिता और पुत्रके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। तुम उस संवादको ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

द्विजातेः कस्यचित् पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै ।
बभूव पुत्रो मेधावी मेधावी नाम नामतः ॥ ३ ॥

कुन्तीकुमार! प्राचीन कालमें एक ब्राह्मण थे, जो सदा वेदशास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहते थे। उनके एक पुत्र हुआ, जो गुणसे तो मेधावी था ही नामसे भी मेधावी था ॥ ३ ॥

सोऽब्रवीत् पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम् ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो लोकतत्त्वविचक्षणः ॥ ४ ॥

वह मोक्ष, धर्म और अर्थमें कुशल तथा लोकतत्त्वका अच्छा ज्ञाता था। एक दिन उस पुत्रने अपने स्वाध्याय-परायण पितासे कहा ॥ ४ ॥

पुत्र उवाच

धीरः किंस्वित् तात कुर्यात् प्रजानन्
क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम्।
पितस्तदाचक्ष्व यथार्थयोगं
ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम् ॥ ५ ॥

पुत्र बोला—पिताजी! मनुष्योंकी आयु तीव्र गतिसे बीती जा रही है। यह जानते हुए धीर पुरुषको क्या करना चाहिये? तात! आप मुझे उस यथार्थ उपायका उपदेश कीजिये, जिसके अनुसार मैं धर्मका आचरण कर सकूँ ॥ ५ ॥

पितोवाच

वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितृणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ६ ॥

पिताने कहा—बेटा! द्विजको चाहिये कि वह पहले ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करे; फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके पितरोंकी सद्गतिके लिये पुत्र पैदा करनेकी इच्छा करे। विधिपूर्वक त्रिविध अग्नियोंकी स्थापना करके यज्ञोंका अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे। उसके बाद मौनभावसे रहते हुए संन्यासी होनेकी इच्छा करे ॥ ६ ॥

पुत्र उवाच

एवमभ्याहते लोके समन्तात् परिवारिते।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥ ७ ॥

पुत्रने कहा—पिताजी! यह लोक जब इस प्रकारसे मृत्युद्वारा मारा जा रहा है, जरा-अवस्थाद्वारा चारों ओरसे घेर लिया गया है, दिन और रात सफलतापूर्वक आयुक्षयरूप काम करके बीत रहे हैं ऐसी दशामें भी आप धीरकी भाँति कैसी बात कर रहे हैं ॥ ७ ॥

पितोवाच

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम् ॥ ८ ॥

पिताने पूछा—बेटा! तुम मुझे भयभीत-सा क्यों कर रहे हो। बताओ तो सही, यह लोक किससे मारा जा रहा है, किसने इसे घेर रक्खा है और यहाँ कौन-से ऐसे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं ॥ ८ ॥

पुत्र उवाच

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः।
अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥ ९ ॥

पुत्रने कहा—पिताजी! देखिये, यह सम्पूर्ण जगत् मृत्युके द्वारा मारा जा रहा है। बुढ़ापेने इसे चारों ओरसे घेर लिया है और ये दिन-रात ही वे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक प्राणियोंकी आयुका अपहरणस्वरूप अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं, इस बातको आप समझते क्यों नहीं हैं? ॥ ९ ॥

अमोघा रात्रयश्चापि नित्यमायान्ति यान्ति च।
यदाहमेतज्जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये जालेनापिहितश्चरन् ॥ १० ॥

ये अमोघ रात्रियाँ नित्य आती हैं और चली जाती हैं। जब मैं इस बातको जानता हूँ कि मृत्यु क्षणभरके लिये भी रुक नहीं सकती और मैं उसके जालमें फँसकर ही विचर रहा हूँ, तब मैं थोड़ी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हूँ? ॥ १० ॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ॥ ११ ॥

जब-जब एक-एक रात बीतनेके साथ ही आयु बहुत कम होती चली जा रही है, तब छिछले जलमें रहनेवाली मछलीके समान कौन सुख पा सकता है? ॥ ११ ॥

(यस्यां रात्र्यां व्यतीतायां न किंचिच्छुभमाचरेत्।)
तदैव वन्ध्यं दिवसमिति विद्याद् विचक्षणः।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥ १२ ॥

जिस रातके बीतनेपर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे, उस दिनको विद्वान् पुरुष 'व्यर्थ ही गया' [illegible]। मनुष्यकी कामनाएँ पूरी भी नहीं होने पातीं कि मौत उसके पास आ पहुँचती है ॥ १२ ॥

शष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ १३ ॥

जैसे घास चरते हुए भेंड़ेके पास अचानक व्याघ्री पहुँच जाती है और उसे दबोचकर चल देती है, उसी प्रकार मनुष्यका मन [illegible] दूसरी ओर [illegible] होता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती और उसे लेकर चल देती है ॥ १३ ॥

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम्।
अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ॥ १४ ॥

इसलिये जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिये। आपका यह समय हाथसे निकल न जाय; क्योंकि सारे काम अधूरे ही पड़े रह जायँगे और मौत आपको खींच ले जायगी ॥ १४ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥ १५ ॥

कल किया जानेवाला का[illegible] आज ही पूरा कर [illegible] चाहिये। जिसे सायंकालमें करना है, उसे प्रातःकालमें ही कर लेना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं ॥ १५ ॥

को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।
(न मृत्युरामन्त्रयते हर्तुकामो जगत्प्रभुः।

अबुद्ध एवाक्रमते मीनान् मीनग्रहो [illegible] ॥)

कौन जानता है कि किसका मृत्युकाल आज ही उपस्थित होगा? सम्पूर्ण जगत्‌पर प्रभुत्व रखनेवाली मृत्यु जब किसीको हरकर ले जाना चाहती है तो उसे पहलेसे निमन्त्रण नहीं भेजती है। [illegible] मछेरे चुपकेसे आकर मछलियोंको पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार मृत्यु भी अज्ञात रहकर ही आक्रमण करती है॥

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्।
कृते धर्मे भवेत् कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम्॥ १६॥

अतः युवावस्थामें ही सबको धर्मका आचरण करना चाहिये; क्योंकि जीवन निःसन्देह अनित्य है। धर्माचरण करनेसे इस लोकमें मनुष्यकी कीर्तिका विस्तार होता है और परलोकमें भी उसे सुख मिलता है॥ १६॥

मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः।
कृत्वा कार्यमकार्यं वा पुष्टिमेषां प्रयच्छति॥ १७॥

जो मनुष्य मोहमें डूबा हुआ है, वही पुत्र और स्त्रीके लिये उद्योग करने लगता है और करने [illegible] न करने योग्य काम करके इन सबका पालन-पोषण करता है॥ १७॥

तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम्।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव मृत्युरादाय गच्छति॥ १८॥

जैसे सोये हुए मृगको बाघ उठा ले जाता है, उसी प्रकार पुत्र और पशुओंसे सम्पन्न एवं उन्हींमें मनको फँसाये रखनेवाले मनुष्यको एक दिन मृत्यु आकर उठा ले जाती है।१८।

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति॥ १९॥

जबतक मनुष्य भोगोंसे तृप्त नहीं होता, संग्रह ही करता रहता है, तभीतक ही उसे मौत आकर ले जाती है। ठीक वैसे ही, जैसे व्याघ्र किसी पशुको ले जाता है॥ १९॥

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम्।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे॥ २०॥

मनुष्य सोचता है कि यह काम पूरा हो गया, यह अभी करना है और यह अधूरा ही पड़ा है; इस प्रकार चेष्टाजनित सुखमें आसक्त हुए मानवको [illegible] अपने वशमें कर लेता है॥

कृतानां फलमप्राप्तं कर्मणां कर्मसंज्ञितम्।
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युरादाय गच्छति॥ २१॥

मनुष्य अपने खेत, दूकान और घरमें ही फँसा रहता है, उसके किये हुए उन कर्मोंका फल मिलने भी नहीं पाता, उसके पहले ही उस कर्मासक्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है।२१।

दुर्बलं बलवन्तं च शूरं भीरुं [illegible] कविम्।
अप्राप्तं सर्वकामार्थान् मृत्युरादाय गच्छति॥ २२॥

कोई दुर्बल हो या बलवान्, शूरवीर हो [illegible] डरपोक तथा मूर्ख [illegible] या विद्वान्, मृत्यु उसकी समस्त कामनाओंके पूर्ण होनेसे पहले ही उसे उठा ले जाती है॥ २२॥

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम्।
अनुषक्तं यदा देहे किं स्वस्थ [illegible] तिष्ठसि॥ २३॥

पिताजी! जब इस शरीरमें मृत्यु, जरा, व्याधि और अनेक कारणोंसे होनेवाले दुःखोंका आक्रमण होता ही रहता है, तब आप स्वस्थ-से होकर क्यों बैठे हैं?॥ २३॥

जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चान्वेति देहिनम्।
अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः॥ २४॥

देहधारी जीवके जन्म लेते ही अन्त करनेके लिये मौत और बुढ़ापा उसके पीछे लग जाते हैं। ये समस्त चराचर प्राणी इन दोनोंसे बँधे हुए हैं॥ २४॥

मृत्योर्वा मुखमेतद् वै या ग्रामे वसतो रतिः।
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः॥ २५॥

ग्राम या नगरमें रहकर जो स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्ति बढ़ायी जाती है, यह मृत्युका [illegible] ही है और जो वनका आश्रय लेता है, यह इन्द्रियरूपी गौओंको बाँधनेके लिये गोशालाके समान है, यह श्रुतिका कथन है॥ २५॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः॥ २६॥

ग्राममें रहनेपर वहाँके स्त्री-पुत्र आदि विषयोंमें जो आसक्ति होती है, यह जीवको बाँधनेवाली रस्सीके समान है। पुण्यात्मा पुरुष ही इसे काटकर निकल पाते हैं। पापी पुरुष इसे नहीं काट पाते हैं॥ २६॥

न हिंसयति यो जन्तून् मनोवाक्कायहेतुभिः।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स हिंस्यते॥ २७॥

जो मनुष्य मन, वाणी और शरीररूपी साधनोंद्वारा प्राणियोंकी हिंसा नहीं करता, उसकी भी जीवन और अर्थका नाश करनेवाले हिंसक प्राणी हिंसा नहीं करते हैं॥ २७॥

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते।
ऋते सत्यमसत् त्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम्॥ २८॥

सत्यके बिना कोई भी मनुष्य सामने आते हुए मृत्युकी सेनाका कभी सामना नहीं कर सकता; इसलिये असत्यको त्याग देना चाहिये; क्योंकि अमृतत्व सत्यमें ही स्थित है।२८।

तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः।
सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत्॥ २९॥

अतः मनुष्यको सत्यव्रतका आचरण करना चाहिये। सत्ययोगमें तत्पर रहना और शास्त्रकी बातोंको सत्य मानकर श्रद्धापूर्वक सदा मन और इन्द्रियोंका संयम करना चाहिये। इस प्रकार सत्यके द्वारा ही मनुष्य मृत्युपर विजय पा सकता है॥

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युमापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम्॥ ३०॥

अमृत और मृत्यु दोनों इस शरीरमें ही स्थित हैं। मनुष्य मोहसे मृत्युको और सत्यसे अमृतको प्राप्त होता है॥

सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः।
समदुःखसुखः क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमर्त्यवत्॥ ३१॥

[illegible] अब मैं हिंसासे दूर रहकर सत्यकी खोज करूँगा,

काम और क्रोधको हृदयसे निकालकर दुःख और सुखमें समान भाव रक्खूँगा तथा सबके लिये कल्याणकारी बनकर देवताओंके समान मृत्युके भयसे मुक्त हो जाऊँगा ॥ ३१ ॥

शान्तियज्ञरतो दान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः।
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने ॥ ३२ ॥

मैं निवृत्तिपरायण होकर शान्तिमय यज्ञमें तत्पर रहूँगा, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर ब्रह्मयज्ञ (वेद-शास्त्रोंके स्वाध्याय) मे लग जाऊँगा और मुनिवृत्तिसे रहूँगा। उत्तरायणके मार्गसे जानेके लिये मैं जप और स्वाध्यायरूप वाग्यज्ञ, ध्यानरूप मनोयज्ञ और अग्निहोत्र एवं गुरुशुश्रूषादिरूप कर्मयज्ञका अनुष्ठान करूँगा ॥ ३२ ॥

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति।
अन्तवद्भिरिव [illegible] क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत् ॥ ३३ ॥

मेरे-जैसा विद्वान् पुरुष नश्वर फल देनेवाले हिंसायुक्त पशुयज्ञ और पिशाचोंके समान अपने शरीरके ही रक्त-मांसद्वारा किये जानेवाले तामस यज्ञोंका अनुष्ठान कैसे कर सकता है ? ॥

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा।
तपस्त्यागश्च सत्यं च स वै सर्वमवाप्नुयात् ॥ ३४ ॥

जिसकी वाणी और मन दोनों सदा भलीभाँति एकाग्र रहते हैं तथा जो त्याग, तपस्या और सत्यसे सम्पन्न होता है, [illegible] निश्चय ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है ॥ ३४ ॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥ ३५ ॥

संसारमें विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्यके समान कोई तप नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है ॥ ३५ ॥

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजोऽपि वा।
आत्मन्येव भविष्यामि न मां तारयति [illegible] ॥ ३६ ॥

मैं संतानरहित होनेपर भी परमात्मामें ही परमात्माद्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, परमात्मामें ही स्थित हूँ। आगे भी आत्मामें ही लीन होऊँगा। संतान मुझे पार नहीं उतारेगी ॥ ३६ ॥

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता [illegible] सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ ३७ ॥

परमात्माके साथ एकता तथा समता, सत्यभाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा, दण्डका परित्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकारके सकाम कर्मोंसे उपरति—इनके समान ब्राह्मणके लिये दूसरा कोई धन नहीं है ॥ ३७ ॥

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते
किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणदेव पिताजी ! जब आप एक दिन मर ही जायँगे तो आपको इस धनसे क्या लेना है अथवा भाई-बन्धुओंसे आपका क्या काम है तथा स्त्री आदिसे आपका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है। आप अपने हृदयरूपी गुफामें स्थित हुए परमात्माको खोजिये। सोचिये तो सही, आपके पिता और पितामह कहाँ चले गये ? ॥ ३८ ॥

भीष्म उवाच

पुत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा यथाकार्षीत् पिता नृप।
[illegible] त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥ ३९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! पुत्रका यह वचन सुनकर पिताने जैसे सत्य-धर्मका अनुष्ठान किया था, उसी प्रकार तुम भी सत्य-धर्ममें तत्पर रहकर यथायोग्य बर्ताव करो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पितापुत्रसंवादकथने पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पिता और पुत्रके संवादका वर्णनविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

त्यागकी महिमाके विषयमें शम्पाक ब्राह्मणका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

धनिनश्चाधना ये च वर्तयन्ते स्वतन्त्रिणः।
सुखदुःखागमस्तेषां कः कथं वा पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! धनी और निर्धन दोनों स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करते हैं; फिर उन्हें किस रूपमें और कैसे सुख और दुःखकी प्राप्ति होती है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शम्पाकेनेह मुक्तेन गीतं शान्तिगतेन च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष इस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं, जिसे [illegible] जीवन्मुक्त शम्पाकने वहाँ कहा था ॥ २ ॥

अब्रवीन्मां पुरा कश्चिद् ब्राह्मणस्त्यागमाश्रितः।
क्लिश्यमानः कुदारेण कुचैलेन बुभुक्षया ॥ २ ॥

पहलेकी बात है, फटे-पुराने वस्त्रो एवं अपनी दुष्टा स्त्रीके और भूखके कारण अत्यन्त कष्ट पानेवाले एक त्यागी ब्राह्मणने जिसका नाम शम्पाक था, मुझसे इस प्रकार कहा— ॥ ३ ॥

उत्पन्नमिह लोके वै जन्मप्रभृति मानवम्।
विविधान्युपवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ४ ॥

'इस संसारमें जो भी मनुष्य उत्पन्न होता है (वह धनी हो या निर्धन) उसे जन्मसे ही नाना प्रकारके सुख-दुःख [illegible] होने लगते हैं ॥ ४ ॥

तयोरेकतरे मार्गे यदेनमभिसन्नयेत्।
न सुखं प्राप्य संहृष्येन्नासुखं प्राप्य संज्वरेत् ॥ ५ ॥

'विधाता यदि उसे सुख और दुःख इन दोनोंमेंसे किसी एकके मार्गपर ले जाय तो वह न तो सुख पाकर प्रसन्न हो और न दुःखमें पड़कर परितप्त हो ॥ ५ ॥

न वै चरसि यच्छ्रेय आत्मनो वा यदीशिषे।
अकामात्मापि हि सदा धुरमुद्यम्य चैव ह ॥ ६ ॥

'तुम जो कामनारहित होकर भी अपने कल्याणका साधन नहीं कर रहे हो और मनको वशमें नहीं कर रहे हो, इसका [illegible] यही है कि तुमने राज्यका बोझा अपनेपर [illegible] रक्खा है ॥ ६ ॥

अकिंचनः परिपतन् सुखमास्वादयिष्यसि।
अकिंचनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव ह ॥ ७ ॥

'यदि तुम सब कुछ त्यागकर किसी वस्तुका संग्रह नहीं रक्खोगे तो सर्वत्र विचरते हुए सुखका ही अनुभव करोगे; क्योंकि जो अकिंचन होता है—जिसके पास कुछ नहीं रहता है, [illegible] सुखसे सोता और जागता है ॥ [illegible] ॥

आकिंचन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम्।
अनमित्रपथो ह्येष दुर्लभः सुलभो मतः ॥ ८ ॥

'संसारमें अकिञ्चनता ही सुख है। वही हितकारक, कल्याणकारी और निरापद है। इस मार्गमें किसी प्रकारके शत्रुका भी [illegible] नहीं है। यह दुर्लभ होनेपर भी सुलभ है ॥ ८ ॥

अकिंचनस्य शुद्धस्य उपपन्नस्य सर्वतः।
अवेक्षमाणस्त्रींल्लोकान् न तुल्यमिह लक्षये ॥ ९ ॥

'मैं तीनों लोकोंपर दृष्टि डालकर देखता हूँ तो मुझे अकिञ्चन, शुद्ध एवं सब ओरसे वैराग्यसम्पन्न पुरुषके समान दूसरा कोई नहीं दिखायी देता है ॥ ९ ॥

आकिंचन्यं च राज्यं च तुलया समतोलयम्।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम् ॥ १० ॥

'मैंने अकिंचनता तथा राज्यको बुद्धिकी तराजूपर रखकर तौला तो गुणोंमें अधिक होनेके कारण राज्यसे भी अकिंचनता-का ही पलड़ा भारी निकला ॥ १० ॥

आकिंचन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम्।
नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा ॥ ११ ॥

'अकिंचनता तथा राज्यमें बड़ा भारी अन्तर यह है कि धनी राजा सदा इस प्रकार उद्विग्न रहता है, मानो मौतके मुखमें पड़ा हुआ हो ॥ ११ ॥

नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः।
प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः ॥ १२ ॥

'परंतु जो मनुष्य धनको त्यागकर उसकी आसक्तिसे मुक्त हो गया है और मनमें किसी तरहकी कामना नहीं रखता, उसपर न अग्निका जोर चलता है, न अरिष्टकारी ग्रहोंका, न मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ सकती है, न डाकू और लुटेरे ही ॥ १२ ॥

तं वै सदा कामचरमनुपस्तीर्णशायिनम्।
बाहूपधानं शाम्यन्तं प्रशंसन्ति दिवौकसः ॥ १३ ॥

'वह सदा दैव-इच्छाके अनुसार विचरता है। बिना बिछौनेके भूतलपर सोता है। बाँहोंकी ही तकिया लगाता है और सदा शान्तभावसे रहता है। देवतालोग भी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ॥ १३ ॥

धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः ॥ १४ ॥

'जो धनवान् है, वह क्रोध और लोभके आवेशमें आकर अपनी विचारशक्तिको खो बैठता है, टेढ़ी आँखोंसे देखता है, [illegible] मुँह सूखा रहता है, भौंहें चढ़ी होती हैं और [illegible] पापमें ही मग्न रहा [illegible] है ॥ १४ ॥

निर्दशन्नधरोष्ठं च क्रुद्धो दारुणभाषिता।
कस्तमिच्छेत् परिद्रष्टुं दातुमिच्छति चेन्महीम् ॥ १५ ॥

'क्रोधके [illegible] वह ओठ चबाता रहता है और [illegible] कठोर वचन बोलता है। ऐसा मनुष्य सारी पृथ्वीका [illegible] ही दे देना चाहता हो, तो भी उसकी ओर कौन देखना चाहेगा? ॥ १५ ॥

श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो मोहयत्यविचक्षणम्।
सा [illegible] चित्तं हरति शारदाभ्रमिवानिलः ॥ १६ ॥

'सदा धन-सम्पत्तिका सहवास मूर्ख मनुष्यके चित्तको भुमाकर उसे मोहमें ही डाले रहता है। जैसे वायु शरद् ऋतुके बादलोंको उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार वह सम्पत्ति मनुष्यके मनको [illegible] लेती है ॥ १६ ॥

अथैनं [illegible] धनमानश्च विन्दति।
अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः ॥ १७ ॥

'फिर उसके ऊपर रूपका अहंकार और धनका मद सवार हो जाता है और वह ऐसा मानने लगता है कि मैं बड़ा कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ, कोई साधारण मनुष्य नहीं हूँ ॥ १७ ॥

इत्येभिः कारणैस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रमाद्यति।
सम्प्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसंचितान्।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥ १८ ॥

'रूप, धन और कुल—इन तीनोंके अभिमानके कारण उसके चित्तमें [illegible] भर जाता है, वह भोगोंमें आसक्त होकर

बाप-दादोंके जोड़े हुए पैसोंको खो बैठता है और दरिद्र होकर दूसरोंके धनको हड़प लाना अच्छा मानने लगता है ॥ १८ ॥

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानं ततस्ततः ।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥ १९ ॥

'इस तरह मर्यादाका उल्लङ्घन करके जब वह इधर-उधरसे लूट-खसोटकर धन [illegible] आता है, तब राजा उसे उसी प्रकार कठोर दण्ड देकर रोकते हैं, जैसे व्याध बाणोंसे मारकर मृगोंकी गति रोक देते हैं ॥ १९ ॥

एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम् ।
विविधान्युपपद्यन्ते गात्रसंस्पर्शजान्यपि ॥ २० ॥

'इस प्रकार मनको [illegible] करनेवाले और शरीरके स्पर्शसे होनेवाले ये नाना प्रकारके दुःख मनुष्यको [illegible] होते हैं । २० ।

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत् ।
लोकधर्ममवज्ञाय ध्रुवाणामध्रुवैः सह ॥ २१ ॥

'अतः अनित्य शरीरोंके साथ सदैव लगे रहनेवाले पुत्रैषणा आदि लोकधर्मोंकी अवहेलना करके अवश्य प्राप्त होनेवाले पूर्वोक्त महान् दुःखोंकी विचारपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ॥ २२ ॥

'कोई मनुष्य त्याग किये बिना सुख नहीं पाता, त्याग किये बिना परमात्माको नहीं पा सकता और त्याग किये बिना निर्भय सो नहीं सकता; इसलिये तुम भी सब कुछ त्यागकर सुखी हो जाओ' ॥ २२ ॥

इत्येतद्धास्तिनपुरे ब्राह्मणेनोपवर्णितम् ।
शम्पाकेन पुरा मह्यं तस्मात् त्यागः परो मतः ॥ २३ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें शम्पाक नामक ब्राह्मणने हस्तिनापुरमें मुझसे त्यागकी महिमाका वर्णन किया था । अतः त्याग ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शम्पाकगीतायां षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शम्पाकगीताविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

मङ्किगीता—धनकी तृष्णासे दुःख और उसकी कामनाके त्यागसे परम सुखकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम् ।
धनतृष्णाभिभूतश्च किं कुर्वन् सुखमाप्नुयात् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी ! यदि कोई मनुष्य धनकी तृष्णासे ग्रस्त होकर तरह-तरहके उद्योग करनेपर भी [illegible] पा सके तो वह क्या करे, जिससे उसे सुखकी प्राप्ति हो सके [illegible]

भीष्म उवाच

सर्वसाम्यमनायासं सत्यवाक्यं च भारत ।
निर्वेदश्चाविधित्सा च यस्य स्यात् स सुखी नरः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! सबमें समताका भाव, व्यर्थ परिश्रमका अभाव, सत्यभाषण, संसारसे वैराग्य और कर्मासक्तिका अभाव—ये पाँचों जिस मनुष्यमें होते हैं, वह सुखी होता है ॥ २ ॥

एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये ।
एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं मतम् ॥ ३ ॥

ज्ञानवृद्ध पुरुष इन्हीं पाँच वस्तुओंको शान्तिका [illegible] बताते हैं । यही स्वर्ग है, यही धर्म है और यही परम उत्तम सुख माना गया है ॥ [illegible] ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निर्वेदान्मङ्किना गीतं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार पुरुष एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । मङ्कि नामक मुनिने भोगोंसे विरक्त होकर जो उद्गार प्रकट किया [illegible] वही [illegible] इतिहासमें वर्णित है । उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

ईहमानो धनं मङ्किर्भग्नेहश्च पुनः पुनः ।
केनचिद् धनशेषेण क्रीतवान् दम्यगोयुगम् ॥ ५ ॥

मङ्कि धनके लिये अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करते थे; परंतु हर बार उनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता [illegible] । अन्तमें जब बहुत थोड़ा धन शेष रह गया तो उसे देकर उन्होंने दो नये बछड़े खरीदे ॥ ५ ॥

सुसम्बद्धौ तु तौ दम्यौ दमनायाभिनिःसृतौ ।
आसीनमुष्ट्रं मध्येन सहसैवाभ्यधावताम् ॥ ६ ॥

एक दिन उन दोनों बछड़ोंको परस्पर जोड़कर [illegible] हल चलानेकी शिक्षा देनेके लिये ले जा रहे थे । जब वे दोनों बछड़े गाँवसे बाहर निकले तो बैठे हुए एक ऊँटको बीचमें करके सहसा दौड़ पड़े ॥ [illegible] ॥

तयोः सम्प्राप्तयोरुष्ट्रः स्कन्धदेशममर्षणः ।
उत्थायोत्क्षिप्य तौ दम्यौ प्रससार महाजवः ॥ [illegible] ॥

जब वे उसकी गर्दनके पास पहुँचे तो ऊँटके लिये यह असह्य हो उठा । वह रोषमें भरकर खड़ा हो गया और [illegible] दोनों बछड़ोंको ऊपर लटकाये बड़े जोरसे भागने लगा ॥ ७ ॥

ह्रियमाणौ तु तौ दम्यौ तेनोष्ट्रेण प्रमाथिना ।
म्रियमाणौ च सम्प्रेक्ष्य मङ्किस्तत्राब्रवीदिदम् ॥ ८ ॥

बलपूर्वक अपहरण करनेवाले [illegible] ऊँटके द्वारा उन

दोनों बछड़ोंको अपहृत होते और मरते देख मङ्किने इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापीहितुं धनम्।
युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनुतिष्ठता ॥ ९ ॥

'मनुष्य कैसा ही चतुर क्यों न हो, जो उसके भाग्यमें नहीं है, उस धनको वह श्रद्धापूर्वक भलीभाँति प्रयत्न करके भी नहीं पा [illegible] ॥ ९ ॥

कृतस्य पूर्वं चानर्थैर्युक्तस्याप्यनुतिष्ठतः।
इमं पश्यत संगत्या [illegible] दैवमुपप्लवम् ॥ १० ॥

'पहले मैंने जो [illegible] किया था, उसमें अनेक प्रकारके अनर्थ खड़े हो गये थे। उन अनर्थोंसे युक्त होनेपर भी मैं धनोपार्जनकी ही चेष्टामें लगा रहा; परंतु देखो, आज इन बछड़ोंकी सङ्गतिसे मुझपर कैसा दैवी उपद्रव आ गया'॥ [illegible] ॥

उद्यम्योद्यम्य मे दम्यौ विषमेणैव गच्छतः।
उत्क्षिप्य काकतालीयमुत्पथेनैव धावतः ॥ ११ ॥
मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम् ॥ १२ ॥

'यह ऊँट मेरे बछड़ोंको उछाल-उछालकर विषम मार्गसे ही जा रहा है। काकतालीयन्यायसे (अर्थात् दैवसंयोगसे) इन्हें गर्दनपर उठाकर बुरे मार्गसे ही दौड़ रहा है। इस ऊँटके गलेमें मेरे दोनों प्यारे बछड़े दो मणियोंके समान लटक रहे हैं। यह केवल दैवकी ही लीला है। हठपूर्वक किये हुए पुरुषार्थसे क्या होता है?॥ ११-१२ ॥

यदि वाप्युपपद्येत पौरुषं नाम कर्हिचित्।
अन्विष्यमाणं तदपि दैवमेवावतिष्ठते ॥ १३ ॥

'यदि कभी कोई पुरुषार्थ [illegible] होता दिखायी देता है तो वहाँ भी खोज करनेपर दैवका ही सहयोग सिद्ध होता है॥

तस्मान्निर्वेद एवेह [illegible] सुखमिच्छता।
सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने ॥ १४ ॥

'अतः सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको धन आदिकी ओरसे वैराग्यका ही आश्रय लेना चाहिये। धनोपार्जनकी चेष्टासे निराश होकर जो विरक्त हो जाता है, वह सुखकी नींद सोता है ॥ १४ ॥

अहो सम्यक् शुकेनोक्तं सर्वतः परिमुच्यता।
प्रतिष्ठता महारण्यं [illegible] निवेशनात् ॥ १५ ॥

'अहा! शुकदेव मुनिने जनकके राजमहलसे विशाल वनकी ओर जाते [illegible] ओरसे बन्धनमुक्त हो क्या ही अच्छा कहा था ?॥ १५ ॥

यः कामानाप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ १६ ॥

'जो मनुष्य अपनी [illegible] कामनाओंको पा लेता है तथा जो इन सबका केवल त्याग कर देता है—इन दोनोंके कार्योंमें [illegible] कामनाओंको [illegible] करनेकी अपेक्षा उनका [illegible] ही श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

नान्तं सर्वविधित्सानां गतपूर्वोऽस्ति [illegible]।
शरीरे जीविते चैव तृष्णा मन्दस्य वर्धते ॥ १७ ॥

'कोई भी पहले कभी धन आदिके लिये होनेवाली सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका अन्त नहीं पा सका है। शरीर और जीवनके प्रति मूर्ख मनुष्यकी ही तृष्णा बढ़ती है ॥ १७ ॥

निवर्तस्व विधित्साभ्यः शाम्य निर्विन्द्य कामुक।
असकृच्चासि निकृतो [illegible] च निर्विद्यसे [illegible] ॥ १८ ॥

'ओ कामनाओंके दास मन! तू सब प्रकारकी चेष्टाओंसे निवृत्त हो जा और वैराग्यपूर्वक शान्ति धारण कर। तू धनकी चेष्टा करके बारंबार ठगा गया है तो भी उसकी ओरसे वैराग्य नहीं होता है ॥ १८ ॥

यदि नाहं विनाश्यस्ते यद्येवं रमसे मया।
मा मां योजय लोभेन वृथा त्वं वित्तकामुक ॥ १९ ॥

'ओ धनकी कामनावाले मन! यदि तुझे मेरा विनाश नहीं करना है। यदि तू इसी प्रकार मेरे साथ आनन्दपूर्वक रहना चाहता है तो मुझे व्यर्थ लोभमें न फँसा ॥ १९ ॥

संचितं संचितं द्रव्यं नष्टं तव पुनः पुनः।
कदाचिन्मोक्ष्यसे [illegible] धनेहां धनकामुक ॥ २० ॥

'तूने बार-बार द्रव्यका संचय किया और वह बारंबार नष्ट होता [illegible] गया। धनकी इच्छा रखनेवाले मूढ़! क्या कभी तू धनकी इस तृष्णा और चेष्टाका त्याग भी करेगा?॥ [illegible] ॥

अहो नु मम बालिश्यं योऽहं क्रीडनकस्तव।
किं नैवं जातु पुरुषः परेषां प्रेष्यतामियात् ॥ २१ ॥

'अहो! यह मेरी कैसी नादानी है! जो [illegible] तेरे हाथका खिलौना [illegible] हुआ हूँ। यदि ऐसी बात न होती तो [illegible] कोई समझदार पुरुष कभी दूसरोंकी दासता स्वीकार कर सकता है?॥ २१ ॥

न पूर्वे नापरे [illegible] कामानामन्तमाप्नुवन्।
त्यक्त्वा सर्वसमारम्भान् प्रतिबुद्धोऽस्मि जागृमि ॥ २२ ॥

'पूर्वकालके तथा पीछेके मनुष्य भी कभी कामनाओंका अन्त नहीं पा सके हैं, [illegible] कर्मोंका आयोजन त्यागकर [illegible] हो गया हूँ और मैं पूर्णतः जग गया हूँ ॥

नूनं ते हृदयं काम वज्रसारमयं दृढम्।
यदनर्थशताविष्टं [illegible] विदीर्यते ॥ २३ ॥

---

१. एक ताड़के वृक्षके नीचे [illegible] बटोही बैठा [illegible]। उसी वृक्षके ऊपर एक काक भी आ बैठा। काकके आते ही ताड़का [illegible] पका हुआ फल नीचे गिरा। यद्यपि फल पककर आपसे [illegible] ही गिरा था, पर पथिक दोनों बातोंको साथ होते देख, यही समझ गया [illegible] कौवेके आनेसे [illegible] ताड़का [illegible] गिरा है; अतः जहाँ संयोगवश [illegible] कोई [illegible] घटित हो जाय, वहाँ उसे काकतालीयन्यायसे घटित हुई बताया [illegible] है। यहाँ बछड़ोंका जाना और ऊँटका रास्तेमें बैठे रहना—ये बातें संयोगवश हो गयी थीं।

'काम ! निश्चय ही तेरा हृदय फौलादका बना हुआ है; अतएव अत्यन्त सुदृढ है। यही कारण है कि सैकड़ों अनर्थोंसे व्याप्त होनेपर भी इसके सैकडों टुकड़े नहीं हो जाते ॥ २३ ॥

जानामि काम त्वां चैव यच्च किंचित् प्रियं [illegible]।
तवाहं प्रियमन्विच्छन्नात्मन्युपलभे सुखम् ॥ २४ ॥

'काम ! मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ और जो कुछ तुझे प्रिय लगता है, उससे भी परिचित हूँ। चिरकालसे तेरा प्रिय करनेकी चेष्टा करता चला आ रहा हूँ; परंतु कभी मेरे मनमे सुखका अनुभव नहीं हुआ ॥ २४ ॥

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि॥ २५ ॥

'काम ! मैं तेरी जडको जानता हूँ। निश्चय ही तू संकल्पसे उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा, जिससे तू समूल [illegible] हो जायगा ॥ २५ ॥

ईहा धनस्य [illegible] सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥ २६ ॥

''धनकी इच्छा अथवा चेष्टा सुखदायिनी नहीं है। यदि धन मिल भी जाय तो उसकी रक्षा आदिके लिये बड़ी भारी चिन्ता बढ जाती है और यदि एक बार मिलकर वह [illegible] हो जाय, तब तो मृत्युके समान ही भयंकर कष्ट होता है और उद्योग करनेपर भी धन मिलेगा या नहीं, यह निश्चय नहीं होता ॥ २६ ॥

परित्यागे न लभते ततो दुःखतरं [illegible] किम्।
[illegible] च तुष्यति लब्धेन भूय एव च मार्गति ॥ २७ ॥

'शरीरको निछावर कर देनेपर भी मनुष्य जब धन नहीं पाता है तो उसके लिये इससे बढकर महान् दुःख और [illegible] हो सकता है? यदि धनकी उपलब्धि हो भी जाय तो उतनेसे ही वह संतुष्ट नहीं होता है अपितु अधिक धनकी तलाश करने लग जाता है ॥ २७ ॥

अनुतर्षुल एवार्थः स्वादु गाङ्गमिवोदकम्।
मद्विलापनमेतत्तु प्रतिबुद्धोऽस्मि संत्यज ॥ २८ ॥

'काम ! स्वादिष्ट गङ्गाजलके समान यह धन तृष्णाकी ही वृद्धि करनेवाला है, मैं अच्छी तरह जान [illegible] हूँ कि यह तृष्णाकी वृद्धि मेरे विनाशका कारण है; अतः तू मेरा पिण्ड छोड़ दे ॥ २८ ॥

य इमं मामकं देहं भूतग्रामः समाश्रितः।
स यात्वितो यथाकामं [illegible] वा यथासुखम् ॥ २९ ॥

'मेरे इस शरीरका आश्रय लेकर जो पाँचों भूतोंका समुदाय स्थित है, वह इसमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक चला जाय या इसमें रहे, इसकी मुझे परवा नहीं है ॥ २९ ॥

न युष्मास्विह मे प्रीतिः कामलोभानुसारिषु।
तस्मादुत्सृज्य कामान् वै सत्त्वमेवाश्रयाम्यहम् ॥ ३० ॥

'पञ्चभूतगण ! अहंकार आदिके साथ तुम सब लोग [illegible] और लोभके पीछे लगे रहनेवाले हो। अतः तुमपर यहाँ मेरा रत्तीभर भी स्नेह नहीं है। इसलिये मैं समस्त कामनाओंको छोड़कर केवल अब सत्त्वगुणका आश्रय ले रहा हूँ ॥ ३० ॥

सर्वभूतान्यहं देहे पश्यन् मनसि चात्मनः।
योगे बुद्धिं श्रुते सत्त्वं मनो ब्रह्मणि धारयन् ॥ ३१ ॥
विहरिष्याम्यनासक्तः सुखी लोकान् निरामयः।
यथा मां त्वं पुनर्नैवं दुःखेषु प्रणिधास्यसि ॥ ३२ ॥

'मैं अपने शरीरमें मनके अंदर सम्पूर्ण भूतोंको देखता हुआ बुद्धिको योगमें, एकाग्रचित्तको श्रवण मनन आदि साधनोंमें और मनको परब्रह्म परमात्मामें लगाकर रोग-शोकसे रहित एवं सुखी हो सम्पूर्ण लोकोंमें अनासक्त भावसे विचरूँगा, जिससे तू फिर मुझे इस प्रकार दुःखोंमें न डाल सकेगा ॥ ३१-३२ ॥

[illegible] हि मे प्रणुन्नस्य गतिरन्या [illegible] विद्यते।
तृष्णाशोकश्रमाणां हि त्वं काम प्रभवः सदा ॥ ३३ ॥

'काम ! तृष्णा, शोक और परिश्रम—इनका उत्पत्तिस्थान सदा तू ही है। जबतक तू मुझे प्रेरित करके इधर-उधर भटकाता रहेगा, तबतक मेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

धननाशेऽधिकं दुःखं मन्ये सर्वमहत्तरम्।
ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम् ॥ ३४ ॥

'मैं तो समझता हूँ कि धनका नाश होनेपर जो अत्यन्त दुःख होता है, वही सबसे बढकर [illegible]; क्योंकि जो धनसे वञ्चित हो जाता है, उसे अपने भाई बन्धु और मित्र भी अपमानित करने लगते हैं ॥ ३४ ॥

अवज्ञानसहस्रैस्तु दोषाः कष्टतराऽधने।
धने सुखकला या तु सापि दुःखैर्विधीयते ॥ ३५ ॥

'दरिद्रको सहस्र-सहस्र तिरस्कार सहने पड़ते हैं; अतः निर्धन अवस्थामें बहुत-से कष्टदायक दोष हैं; और धनमें जो सुखका लेश प्रतीत होता है, वह भी दुःखोंसे ही सम्पादित होता है ॥ ३५ ॥

धनमस्येति पुरुषं पुरो निघ्नन्ति दस्यवः।
क्लिश्यन्ति विविधैर्दण्डैर्नित्यमुद्वेजयन्ति च ॥ ३६ ॥

'जिस पुरुषके पास धन होनेका संदेह होता है, उसे उसका धन लूटनेके लिये लुटेरे मार डालते हैं अथवा उसे तरह-तरहकी पीड़ाएँ देकर सताते और सदा उद्वेगमें डाले रहते हैं ॥ ३६ ॥

अर्थलोलुपता दुःखमिति बुद्धं चिरान्मया।
यद् यदालम्बसे काम तत्तदेवानुरुध्यसे ॥ ३७ ॥

'धनलोलुपता दुःखका कारण है, यह बात बहुत देरके बाद मेरी समझमें आयी है। काम ! तू जिस जिसका आश्रय लेता है, उसी उसीके पीछे पड जाता है [illegible] ३७ ॥

अतत्त्वज्ञोऽसि बालश्च दुस्तोषोऽपूरणोऽनलः।

नैव त्वं वेत्थ सुलभं नैव त्वं वेत्थ दुर्लभम् ॥ ३८ ॥

'तू तत्त्वज्ञानसे रहित और बालकके समान मूढ है, तुझे संतोष देना कठिन है। आगके समान तेरा पेट भरना असम्भव है। तू यह नहीं जानता कि कौन-सी वस्तु सुलभ है और कौन-सी दुर्लभ ॥ ३८ ॥

पाताल इव दुष्पूरो मां दुःखैर्योक्तुमिच्छसि ।
नाहमद्य समावेष्टुं शक्यः काम पुनस्त्वया ॥ ३९ ॥

'काम! पातालके समान तुझे भरना कठिन है। तू मुझे दुःखोंमें फँसाना चाहता है; किंतु अब तू फिर मेरे भीतर प्रवेश नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥

निर्वेदमहमासाद्य द्रव्यनाशाद् यदृच्छया ।
निर्वृतिं परमां प्राप्य नाद्य कामान् विचिन्तये ॥ ४० ॥

'अकस्मात् धनका नाश हो जानेसे वैराग्यको प्राप्त होकर मुझे परम सुख मिल गया है। अब मैं भोगोंका चिन्तन नहीं करूँगा ॥ ४० ॥

अतिक्लेशान् सहामीह नाहं बुध्याम्यबुद्धिमान् ।
निकृतो धननाशेन शये सर्वाङ्गविज्वरः ॥ ४१ ॥

'पहले मैं बड़े-बड़े क्लेश सहता था, परंतु ऐसा बुद्धि-हीन हो गया था कि 'धनकी कामनामें कष्ट है,' इस बातको [illegible] ही नहीं पाता था। परंतु अब धनका नाश हो जानेसे उससे वञ्चित होकर मैं सम्पूर्ण अङ्गोंमें क्लेश और चिन्ताओंसे मुक्त होकर सुखसे सोता हूँ ॥ ४१ ॥

परित्यजामि काम त्वां हित्वा सर्वमनोगतीः ।
न त्वं मया पुनः काम वत्स्यसे [illegible] च रंस्यसे ॥ ४२ ॥

'काम! मैं अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियोंको दूर हटाकर तेरा परित्याग कर रहा हूँ। अब तू फिर मेरे साथ न तो रह सकेगा और न मौज ही कर सकेगा ॥ ४२ ॥

क्षमिष्ये क्षिपमाणानां [illegible] हिंसिष्ये विहिंसितः ।
द्वेष्ययुक्तः प्रियं वक्ष्याम्यनादृत्य तदप्रियम् ॥ ४३ ॥

'अब जो लोग मुझपर आक्षेप [illegible] मेरा तिरस्कार करेंगे, उनके [illegible] बर्तावको मैं चुपचाप सह लूँगा। जो लोग मुझे मारे-पीटेंगे या कष्ट देंगे, उनके साथ भी मैं बदलेमें वैसा बर्ताव नहीं करूँगा। द्वेषके योग्य पुरुषका भी यदि साथ हो जाय और वह मुझे अप्रिय वचन कहने लगे तो मैं उसपर ध्यान न देकर उससे अप्रिय वचन नहीं बोलूँगा ॥ ४३ ॥

तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं यथालब्धेन वर्तयन् ।
[illegible] सकामं करिष्यामि त्वामहं शत्रुमात्मनः ॥ ४४ ॥

'मैं सदा संतुष्ट एवं स्वस्थ इन्द्रियोंसे सम्पन्न रहकर भाग्यवश जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन निर्वाह करता रहूँगा; परंतु तुझे कभी [illegible] न होने दूँगा; क्योंकि तू मेरा शत्रु है ॥ ४४ ॥

निर्वेदं निर्वृतिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम् ।
सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां समुपागतम् ॥ ४५ ॥

'तू यह अच्छी तरह समझ ले कि मुझे वैराग्य, सुख, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और समस्त प्राणियोंके प्रति दयाभाव—ये सभी सद्गुण प्राप्त हो गये हैं ॥ ४५ ॥

तस्मात् कामश्च लोभश्च तृष्णा कार्पण्यमेव [illegible] ।
त्यजन्तु मा प्रतिष्ठन्तं सत्त्वस्थो ह्यस्मि साम्प्रतम् ॥ ४६ ॥

'अतः काम, लोभ, तृष्णा और कृपणताको चाहिये कि वे मोक्षकी ओर प्रस्थान करनेवाले मुझ साधकको छोड़कर चले जायँ। अब [illegible] सत्त्वगुणमें स्थित हो गया हूँ ॥ ४६ ॥

प्रहाय कामं लोभं च सुखं प्राप्तोऽस्मि साम्प्रतम् ।
नाद्य लोभवशं प्राप्तो दुःखं प्राप्स्याम्यनात्मवान् ॥ ४७ ॥

'इस समय काम और लोभका त्याग करके मैं प्रत्यक्ष ही सुखी हो गया हूँ; अतः अजितेन्द्रिय पुरुषकी भाँति अब लोभमें फँसकर दुःख नहीं उठाऊँगा ॥ ४७ ॥

यद् यत् त्यजति कामानां तत् सुखस्याभिपूर्यते ।
कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते ॥ ४८ ॥

'मनुष्य जिस-जिस कामनाको छोड़ देता है, उस-उसकी ओरसे सुखी हो जाता है। कामनाके वशीभूत होकर तो वह सर्वदा दुःख ही पाता है ॥ ४८ ॥

कामानुबन्धं नुदते यत् किंचित् पुरुषो रजः ।
कामक्रोधोद्भवं दुःखमह्रीररतिरेव च ॥ ४९ ॥

'मनुष्य कामसे सम्बन्ध रखनेवाला जो [illegible] भी रजोगुण हो, उसे दूर कर दे। दुःख, निर्लज्जता और असंतोष—ये [illegible] और क्रोधसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं ॥ ४९ ॥

[illegible] ब्रह्मप्रतिष्ठोऽहं ग्रीष्मे शीतमिव ह्रदम् ।
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखं मामेति केवलम् ॥ ५० ॥

'जैसे ग्रीष्मऋतुमें लोग शीतल जलवाले सरोवरमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार अब [illegible] परब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो [illegible] हूँ, अतः शान्त हूँ; सब ओरसे निर्वाणको प्राप्त हो गया हूँ। अब मुझे केवल सुख-ही-सुख मिल रहा है ॥ ५० ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ५१ ॥

'इस लोकमें जो विषयोंका [illegible] है तथा परलोकमें जो दिव्य एवं महान् सुख है, ये दोनों प्रकारके सुख तृष्णाके क्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं ॥ ५१ ॥

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम् ।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी ॥ ५२ ॥

'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता—ये देहधारियोंके सात शत्रु हैं। इनमें सातवाँ कामरूप शत्रु सबसे प्रबल है। उन सबके साथ इस महान् शत्रु कामका नाश करके मैं अविनाशी ब्रह्मपुरमें स्थित हो राजाके समान सुखी होऊँगा' ॥ ५२ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय मङ्किर्निर्वेदमागतः ।
सर्वान् कामान् परित्यज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम् ॥ ५३ ॥

राजन्! इसी बुद्धिका आश्रय लेकर मङ्कि धन और भोगोंसे विरक्त हो गये और समस्त कामनाओंका परित्याग

करके उन्होंने परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको ___ कर लिया ॥

दम्यनाशकृते मङ्किरमृतत्वं किलागमत् ।
अच्छिनत् काममूलं स तेन प्राप महत्सुखम् ॥ ५४ ॥

बछड़ोंके नाशको निमित्त बनाकर ही मङ्कि अमृतत्वको ___ हो गये । उन्होंने कामकी जड़ काट डाली; इसलिये महान् ___ प्राप्त कर लिया ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मङ्किगीतायां सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

___ प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मङ्किगीताविषयक ___ सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

जनककी उक्ति तथा राजा नहुषके प्रश्नोंके उत्तरमें बोध्यगीता

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं विदेहराजेन जनकेन प्रशाम्यता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसी विषयमें शान्त-भावको प्राप्त हुए विदेहराज जनकने जो उद्गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ १ ॥

अनन्तमिव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥ २ ॥

[जनक बोले—]मेरे पास अनन्त-सा धन-वैभव है; फिर भी मेरा कुछ नहीं है । इस मिथिलापुरीमें ___ ___ जाय तो भी मेरा ___ नहीं जलता ॥ २ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीमं बोध्यस्य पदसंचयम् ।
निर्वेदं प्रति विन्यस्तं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर ! इसी प्रसंगमें वैराग्यको ___ करके बोध्य मुनिने जो वचन कहे हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

बोध्यं शान्तमृषिं राजा नाहुषः पर्यपृच्छत ।
निर्वेदाच्छान्तिमापन्नं ___प्रज्ञानतर्पितम् ॥ ४ ॥

कहते हैं, किसी समय नहुषनन्दन राजा ययातिने वैराग्य-___ शान्तभावको प्राप्त हुए शास्त्रके उत्कृष्ट ज्ञानसे परितृप्त परम शान्त बोध्य ऋषिसे पूछा— ॥ ४ ॥

उपदेशं महाप्राज्ञ शमस्योपदिशस्व मे ।
कां बुद्धिं समनुध्याय शान्तश्चरसि निर्वृतः ॥ ५ ॥

'महाप्राज्ञ ! आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मुझे शान्ति मिले । कौन-सी ऐसी बुद्धि है, जिसका आश्रय लेकर आप शान्ति और संतोषके ___ विचरते हैं ?' ॥ ५ ॥

बोध्य उवाच

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कंचन ।
लक्षणं तस्य वक्ष्येऽहं तत् स्वयं परिमृश्यताम् ॥ ६ ॥

बोध्यने कहा—राजन् ! मैं किसीको उपदेश नहीं देता, बल्कि स्वयं दूसरोंसे ___ हुए उपदेशके अनुसार आचरण करता हूँ । मैं अपनेको मिले हुए उपदेशका ___ बता रहा हूँ (जिनसे उपदेश मिला है, उन गुरुओंका संकेत-मात्र कर रहा हूँ), उसपर तुम स्वयं विचार करो ॥ ६ ॥

पिङ्गला कुररः सर्पः सारङ्गान्वेषणं वने ।
इषुकारः कुमारी च षडेते गुरवो मम ॥ ७ ॥

पिङ्गला, कुरर पक्षी, सर्प, वनमें सारङ्गका अन्वेषण, बाण बनानेवाला और कुमारी कन्या—ये छः मेरे गुरु हैं ॥

भीष्म उवाच

आशा बलवती राजन् नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशां निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥ ८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! बोध्यको अपने गुरुओंसे जो उपदेश प्राप्त हुआ था, वह इस ___ समझना चाहिये —आशा बड़ी प्रबल है । वही सबको दुःख देती है । निराशा ही परम सुख है । आशाको निराशाके रूपमें परिणत करके पिङ्गला वेश्या सुखसे सो गयी । (पिङ्गला आशाके त्यागका उपदेश देनेके कारण गुरु हुई) ॥ ८ ॥

सामिषं कुररं दृष्ट्वा वध्यमानं निरामिषैः ।
आमिषस्य परित्यागात् कुररः सुखमेधते ॥ ९ ॥

चोंचमें मांसका टुकड़ा लिये उड़ते हुए कुरर(क्रौञ्च)पक्षीको देखकर दूसरे पक्षी जो मांस नहीं लिये हुए थे, उसे मारने लगे । तब उसने ___ मांसके टुकड़ेको त्याग दिया । अतः पक्षियोंने उसका पीछा करना छोड़ दिया । इस प्रकार आमिषके त्यागसे क्रौञ्चपक्षी सुखी हो गया । भोगोंके परित्यागका उपदेश देनेके कारण कुरर (क्रौञ्च) पक्षी गुरु हुआ ॥ ९ ॥

गृहारम्भो ___ दुःखाय न सुखाय कदाचन ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ १० ॥

घर बनानेका खटपट करना दुःखका ही कारण है । उससे कभी सुख नहीं मिलता । देखो, साँप दूसरोंके बनाये हुए घर (बिल) ___ प्रवेश करके सुखसे रहता है । (अतः अनिकेत रहने—घर-द्वारके चक्करमें न पड़नेका उपदेश देनेके कारण सर्प गुरु हुआ) ॥ १० ॥

सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः ।
अद्रोहेणैव भूतानां सारङ्गा इव पक्षिणः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार पपीहा पक्षी किसी भी प्राणीसे वैर न करके याचनावृत्तिसे अपना निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार मुनिजन भिक्षावृत्तिका आश्रय लेकर सुखसे जीवन व्यतीत करते हैं (अद्रोहका उपदेश देनेके कारण पपीहा गुरु हुआ) ॥ ११ ॥

इषुकारो नरः कश्चिदिषावासक्तमानसः ।
समीपेनापि गच्छन्तं राजानं नावबुद्धवान् ॥ १२ ॥

___ बार एक बाण बनानेवालेको देखा गया, वह अपने

काममें ऐसा दत्तचित्त था कि उसके पाससे निकली हुई राजाकी सवारीका भी उसे कुछ पता नहीं चला (उसके द्वारा एकाग्रचित्तताका उपदेश प्राप्त हुआ, इसलिये वह गुरु हो गया) ॥ १२ ॥

बहूनां कलहो नित्यं द्वयोः संकथनं ध्रुवम् ।
एकाकी विचरिष्यामि कुमारीशंखको यथा ॥ १३ ॥

बहुत मनुष्य एक साथ रहें तो उनमें प्रतिदिन कलह होता है और दो रहें तो भी उनमें बातचीत तो अवश्य ही होती है; अतः मैं कुमारी कन्याके हाथमें धारण की हुई शङ्खकी एक-एक चूड़ीके समान अकेला ही विचरूँगा* ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बोध्यगीतायां अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बोध्यगीताविषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१७८॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

प्रह्लाद और अवधूतका संवाद—आजगर वृत्तिकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वीतशोकश्चरेन्महीम् ।
किंच कुर्वन्नरो लोके प्राप्नोति गतिमुत्तमाम् ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आप सदाचारके स्वरूपको जाननेवाले हैं। कृपया यह बताइये, किस तरहके आचारको अपनाकर मनुष्य शोकरहित हो इस पृथ्वीपर विचरण कर सकता है ? और इस जगत्‌में कौन-सा कर्म करके वह उत्तम गति पा सकता है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस विषयमें भी प्रह्लाद तथा अजगरवृत्तिसे रहनेवाले एक मुनिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका दृष्टान्त दिया जाता है ॥ २ ॥

चरन्तं ब्राह्मणं कञ्चित् कल्पचित्तमनामयम् ।
पप्रच्छ राजा प्रह्लादो बुद्धिमान् बुद्धिसम्मतम् ॥ ३ ॥

एक सुदृढ़चित्त, दुःख-शोकसे रहित तथा बुद्धिसम्मत ब्राह्मणको पृथ्वीपर विचरते देख बुद्धिमान् राजा प्रह्लादने उससे इस प्रकार पूछा ॥ ३ ॥

प्रह्लाद उवाच

स्वस्थः शक्तो मृदुर्दान्तो निर्विधित्सोऽनसूयकः ।
सुवाक् प्रगल्भो मेधावी प्राज्ञश्चरसि बालवत् ॥ ४ ॥

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन् ! आप स्वस्थ, शक्तिमान्, मृदु, जितेन्द्रिय, कर्मारम्भसे दूर रहनेवाले, दूसरोंके दोषोंपर दृष्टि न डालनेवाले, सुन्दर और मधुर वचन बोलनेवाले, निर्भीक, प्रतिभाशाली, मेधावी तथा तत्त्वज्ञ होकर भी बालकोंके समान विचर रहे हैं ॥ ४ ॥

नैव प्रार्थयसे लाभं नालाभेष्वनुशोचसि ।
नित्यतृप्त इव ब्रह्मन् न किञ्चिदिव मन्यसे ॥ ५ ॥

न आप कोई लाभ चाहते हैं और न हानि होनेपर उसके लिये ही शोक करते हैं। ब्रह्मन् ! आप नित्यतृप्त-से रहते हुए न किसी वस्तुको प्रिय मानते हैं और न अप्रिय ॥ ५ ॥

स्रोतसा ह्रियमाणासु प्रजासु विमना इव ।
धर्मकामार्थकार्येषु कूटस्थ इव लक्ष्यसे ॥ ६ ॥

सारी प्रजा काम-क्रोध आदिके प्रवाहमें पड़कर बही जा रही है; परंतु आप उधरसे उदासीन-जैसे जान पड़ते हैं तथा धर्म, अर्थ एवं कामसम्बन्धी कार्योंके प्रति भी निश्चेष्ट-से दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

नानुतिष्ठसि धर्मार्थौ न कामे चापि वर्तसे ।
इन्द्रियार्थाननादृत्य मुक्तश्चरसि साक्षिवत् ॥ ७ ॥

धर्म और अर्थसम्बन्धी कार्योंका आप अनुष्ठान नहीं करते हैं, काममें भी आपकी प्रवृत्ति नहीं है। आप इन्द्रियोंके सम्पूर्ण विषयोंकी उपेक्षा करके साक्षीके समान मुक्तरूपसे विचरते हैं ॥७॥

का नु प्रज्ञा श्रुतं वा किं वृत्तिर्वा का नु ते मुने ।
क्षिप्रमाचक्ष्व मे ब्रह्मन् श्रेयो यदिह मन्यसे ॥ ८ ॥

मुने ! आपके पास कौन-सी ऐसी बुद्धि, कैसा शास्त्रज्ञान अथवा कौन-सी वृत्ति है, जिससे आपका जीवन ऐसा बन गया है ? ब्रह्मन् ! आपके मतसे इस जगत्‌में मेरे लिये जो श्रेयका साधन हो, उसे शीघ्र बतावें ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच

अनुयुक्तः स मेधावी लोकधर्मविधानवित् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा प्रह्लादमनपार्थया ॥ ९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! प्रह्लादके इस प्रकार पूछनेपर लोक-धर्मके विधानको जाननेवाले उन मेधावी मुनिने उनसे मधुर एवं सार्थक वाणीमें इस प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

* एक गृहस्थके घरपर कुछ अतिथि आ गये। घरके सब लोग कहीं बाहर चले गये थे। भीतर केवल एक कुमारी कन्या थी, जिसपर उन अतिथियोंके भोजन आदिका भार आ पड़ा। वह उनके निमित्त रसोई बनानेके लिये धान कूटने लगी। उसके हाथोंमें शङ्खकी बनी हुई कई चूड़ियाँ थीं, जो धान कूटते समय खनखना उठीं। अतिथियोंको इस बातका पता न चल जाय; इसलिये एक-एक करके उसने चूड़ियाँ निकाल लीं, दोनों हाथोंमें केवल एक-एक चूड़ी ही शेष रह गयी, फिर उनका बजना बंद हो गया। इस प्रकार एकाकी रहनेका उपदेश देनेके कारण वह कुमारी गुरु हुई।

पश्य प्रह्लाद भूतानामुत्पत्तिमनिमित्ततः ।
ह्रासं वृद्धिं विनाशं च न प्रहृष्ये न [illegible] व्यथे ॥ १० ॥

'प्रह्लाद ! देखो, इस जगत्‌के प्राणियोंकी उत्पत्ति, वृद्धि, ह्रास और विनाश कारणरहित सत्स्वरूप परमात्मासे ही हुए हैं; इस कारण मैं उनके लिये न तो हर्ष प्रकट करता हूँ और न व्यथित ही होता हूँ ॥ १० ॥

स्वभावादेव संदृश्या वर्तमानाः प्रवृत्तयः ।
स्वभावनिरताः सर्वाः परितुष्येन्न केनचित् ॥ ११ ॥

'ऐसा समझना चाहिये, पूर्वकृत कर्मानुसार बने हुए स्वभावसे ही प्राणियोंकी वर्तमान प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं; अतः समस्त प्रजा स्वभावमें ही तत्पर है, उनका दूसरा कोई आश्रय नहीं है । इस रहस्यको समझकर मनुष्यको किसी भी परिस्थितिमें संतुष्ट नहीं होना चाहिये ॥ ११ ॥

पश्य प्रह्लाद संयोगान् विप्रयोगपरायणान् ।
संचयांश्च विनाशान्तान् न क्वचिद् विदधे [illegible] ॥१२॥

'प्रह्लाद ! देखो, जितने संयोग हैं, उनका पर्यवसान वियोगमें ही होता है और जितने संचय हैं, उनकी समाप्ति विनाशमें ही होती है । यह सब देखकर मैं कहीं भी अपने मनको नहीं लगाता हूँ ॥ १२ ॥

अन्तवन्ति च भूतानि गुणयुक्तानि पश्यतः ।
उत्पत्तिनिधनज्ञस्य किं कार्यमवशिष्यते ॥ १३ ॥

'जो गुणयुक्त सम्पूर्ण भूतोंको नाशवान् देखता है [illegible] उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको जानता है, उसके लिये यहाँ कौन-सा कार्य अवशिष्ट रह जाता है ? ॥ १३ ॥

जलजानामपि ह्यन्तं पर्यायेणोपलक्षये ।
महतामपि कायानां सूक्ष्माणां च महोदधौ ॥ १४ ॥

'महासागरके जलमें पैदा होनेवाले विशाल शरीरवाले तिमि आदि मत्स्यों तथा छोटे-छोटे कीड़ोंका भी बारी-बारी- [illegible] विनाश होता देखता हूँ ॥ १४ ॥

जङ्गमस्थावराणां च भूतानामसुराधिप ।
पार्थिवानामपि व्यक्तं मृत्युं पश्यामि सर्वशः ॥ १५ ॥

'असुरराज ! पृथ्वीपर भी जितने स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उन सबकी मृत्यु मुझे [illegible] दिखायी दे रही है ॥

अन्तरिक्षचराणां च दानवोत्तम पक्षिणाम् ।
उत्तिष्ठते यथाकालं मृत्युर्बलवतामपि ॥ १६ ॥

'दानवश्रेष्ठ ! आकाशमें विचरनेवाले बलवान् पक्षियों- [illegible] भी यथासमय मृत्यु आ पहुँचती है ॥ १६ ॥

दिवि संचरमाणानि ह्रस्वानि [illegible] महान्ति च ।
ज्योतींष्यपि यथाकालं पतमानानि लक्षये ॥ १७ ॥

'आकाशमें जो छोटे-बड़े ज्योतिर्मय नक्षत्र विचर रहे हैं, उन्हें भी [illegible] यथासमय नीचे गिरते देखता हूँ ॥१७॥

इति भूतानि सम्पश्यन्ननुषक्तानि मृत्युना ।
सर्वसामान्यगो विद्वान् कृतकृत्यः सुखं स्वपे ॥ १८ ॥

'इस प्रकार सारे प्राणियोंको मैं मृत्युके पाशमें बद्ध देखता हूँ; इसलिये तत्त्वको जानकर कृतकृत्य हो सबके प्रति समान भाव रखता हुआ सुखसे सोता हूँ ॥ १८ ॥

सुमहान्तमपि ग्रासं ग्रसे लब्धं यदृच्छया ।
[illegible] पुनरभुञ्जानो दिवसानि बहून्यपि ॥ १९ ॥

'यदि दैवेच्छासे अकस्मात् अधिक भोजन प्राप्त हो जाय तो मैं बहुत खा लेता हूँ, ग्रासमात्र मिले तो उसीमें संतुष्ट रहता हूँ और न मिला तो बहुत दिनोंतक बिना खाये पीये भी सो रहता हूँ ॥ १९ ॥

आशयन्त्यपि मामन्नं पुनर्बहुगुणं बहु ।
पुनरल्पं पुनःस्तोकं पुनर्नैवोपपद्यते ॥ २० ॥

'फिर कितने ही लोग आकर मुझे अनेक गुणोंसे सम्पन्न बहुत-सा अन्न खिला देते हैं । पुनः कभी बहुत थोड़ा, कभी थोड़ेसे भी थोड़ा भोजन मिलता है और कभी वह भी नहीं मिलता ॥ २० ॥

कणं कदाचित् खादामि पिण्याकमपि [illegible] ग्रसे ।
भक्षये शालिमांसानि भक्ष्यांश्चोच्चावचान् पुनः ॥ २१ ॥

'कभी चावलकी कनी खाता हूँ, कभी तिलकी खली ही खाकर रह जाता हूँ और कभी अगहनीके चावलका भात भरपेट [illegible] हूँ । इस प्रकार मुझे बढ़िया घटिया सभी तरहके भोजन बारबार [illegible] होते रहते हैं ॥ २१ ॥

शये कदाचित् पर्यङ्के भूमावपि पुनः शये ।
प्रासादे चापि मे शय्या कदाचिदुपपद्यते ॥ २२ ॥

'कभी पलंगपर सोता हूँ, कभी पृथ्वीपर ही पड़ा रहता हूँ और कभी-कभी मुझे महलके भीतर बिछी हुई बहुमूल्य शय्या भी उपलब्ध हो जाती है ॥ २२ ॥

धारयामि [illegible] चीराणि शाणक्षौमाजिनानि च ।
महार्हाणि च वासांसि धारयाम्यहमेकदा ॥ २३ ॥

'मैं कभी तो चिथड़े अथवा [illegible] पहनकर रहता हूँ, कभी सनके, कभी रेशमके और कभी मृगचर्मके वस्त्र धारण करता हूँ तथा किसी एक कालमें बहुत-से बहुमूल्य वस्त्रोंको भी पहन लेता हूँ ॥ २३ ॥

न संनिपतितं धर्म्यमुपभोगं यदृच्छया ।
प्रत्याचक्षे न चाप्येनमनुरुध्ये सुदुर्लभम् ॥ २४ ॥

'यदि दैववश मुझे कोई धर्मानुकूल भोग्य पदार्थ प्राप्त हो जाय तो मैं उससे द्वेष नहीं करता हूँ और प्राप्त न होनेपर किसी दुर्लभ भोगकी भी कभी इच्छा नहीं करता ॥ २४ ॥

अचलमनिधनं शिवं विशोकं
शुचिमतुलं विदुषां मते प्रविष्टम् ।
अनभिमतमसेवितं विमूढै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २५ ॥

[illegible] सदा पवित्रभावसे रहकर इस अजगरवृत्तिका [illegible] सरण करता हूँ । यह अत्यन्त सुदृढ़, मृत्युसे दूर रखनेवाली, कल्याणमय, शोकहीन, शुद्ध, अनुपम और विद्वानोंके मतके

अनुकूल है। मूर्ख मनुष्य न तो इसे मानते हैं और न इसका सेवन ही करते हैं ॥ २५ ॥

अचलितमतिरच्युतः स्वधर्मात्
परिमितसंसरणः परावरज्ञः।
विगतभयकषायलोभमोहो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २६ ॥

'मेरी बुद्धि अविचल है, मैं अपने धर्मसे च्युत नहीं हुआ हूँ, मेरा सांसारिक व्यवहार परिमित हो गया है, मुझे उत्तम और अधमका ज्ञान है, मेरे हृदयसे भय, राग-द्वेष, लोभ और मोह दूर हो गये हैं। मैं पवित्रभावसे रहकर इस अजगरोचित व्रतका आचरण करता हूँ ॥ २६ ॥

अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं
विधिपरिणामविभक्तदेशकालम्।
हृदयसुखमसेवितं कदर्यै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २७ ॥

'यह अजगरसम्बन्धी व्रत मेरे हृदयको सुख देनेवाला है। इसमें भक्ष्य, भोज्य, पेय और फल आदिके मिलनेकी कोई नियत व्यवस्था नहीं रहती—अनियतरूपसे जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करना होता है। इस व्रतमें प्रारब्धके परिणामके अनुसार देश और कालका विभाग नियत है। विषयलोलुप नीच पुरुष इसका सेवन नहीं करते, मैं पवित्रभावसे इसी व्रतका आचरण करता हूँ ॥ २७ ॥

इदमिदमिति तृष्णयाभिभूतं
जनमनवाप्तधनं विषीदमानम्।
निपुणमनुनिशाम्य तत्त्वबुद्ध्या
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २८ ॥

'जो यह मिले, वह मिले, इस प्रकार तृष्णासे दबे रहते हैं और धन न मिलनेके कारण निरन्तर विषाद करते हैं; ऐसे लोगोंकी दशा अच्छी तरह देखकर तात्त्विक बुद्धिसे सम्पन्न हुआ मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ २८ ॥

बहुविधमनुदृश्य चार्थहेतोः
कृपणमिहार्यमनार्यमाश्रयन्तम्।
उपशमरुचिरात्मवान् प्रशान्तो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ २९ ॥

'मैं बारंबार देखता हूँ कि श्रेष्ठ मनुष्य भी धनके लिये दीनभावसे नीच पुरुषका आश्रय लेते हैं। यह देखकर मेरी रुचि प्रशान्त हो गयी है। अतः मैं अपने स्वरूपको प्राप्त और सर्वथा शान्त हो गया हूँ और पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ २९ ॥

सुखमसुखमलाभमर्थलाभं
रतिमरतिं मरणं च जीवितं च।
विधिनियतमवेक्ष्य तत्त्वतोऽहं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३० ॥

'सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूल और प्रतिकूल तथा जीवन और मरण—ये सब दैवके अधीन हैं। इस प्रकार यथार्थरूपसे जानकर मैं शुद्धभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३० ॥

अपगतभयरागमोहदर्पो
धृतिमतिबुद्धिसमन्वितः प्रशान्तः।
उपगतफलभोगिनो निशाम्य
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३१ ॥

'मेरे भय, राग, मोह और अभिमान नष्ट हो गये हैं। मैं धृति, मति और बुद्धिसे सम्पन्न एवं पूर्णतया शान्त हूँ। और प्रारब्धवश स्वतः अपने समीप आयी हुई वस्तुका ही उपभोग करनेवालोंको देखकर मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३१ ॥

अनियतशयनासनः प्रकृत्या
दमनियमव्रतसत्यशौचयुक्तः।
अपगतफलसंचयः प्रहृष्टो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३२ ॥

'मेरे सोने-बैठनेका कोई नियत स्थान नहीं है। मैं स्वभावतः दम, नियम, व्रत, सत्य और शौचाचारसे सम्पन्न हूँ। मेरे कर्मफलसंचयका नाश हो चुका है। मैं प्रसन्नतापूर्वक पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥

अपगतमसुखार्थमीहनार्थै-
रुपगतबुद्धिरवेक्ष्य चात्मसंस्थम्।
तृषितमनियतं मनो नियन्तुं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३३ ॥

'जिनका परिणाम दुःख है, उन इच्छाके विषयभूत सभी पदार्थोंसे जो विरक्त हो चुका है, ऐसे आत्मनिष्ठ महापुरुषको देखकर मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है। अतः मैं तृष्णासे व्याकुल असंयत मनको वशमें करनेके लिये पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३३ ॥

न हृदयमनुरुध्य वाङ्मनो वा
प्रियसुखदुर्लभतामनित्यतां च।
तदुभयमुपलक्षयन्निवाहं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि ॥ ३४ ॥

'मन, वाणी और बुद्धिकी उपेक्षा करके इनको प्रिय लगनेवाले विषय-सुखोंकी दुर्लभता तथा अनित्यता—इन दोनोंको देखनेवालेकी भाँति मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ ॥ ३४ ॥

बहुकथितमिदं हि बुद्धिमद्भिः
कविभिरपि प्रथयद्भिरात्मकीर्तिम्।
इदमिदमिति तत्र तत्र हन्त
स्वपरमतैर्गहनं प्रतर्कयद्भिः ॥ ३५ ॥

'अपनी कीर्तिका विस्तार करनेवाले विद्वानों और बुद्धि-

मानोंने अपने और दूसरोंके मतसे गहन तर्क और वितर्क करके 'ऐसे करना चाहिये' 'ऐसे [illegible] चाहिये' इत्यादि कह-कर इस व्रतकी अनेक प्रकारसे व्याख्या की है ॥ ३५ ॥

तदिदमनुनिशम्य विप्रपातं
पृथगभिपन्नमिहाबुधैर्मनुष्यैः ।
अनवसितमनन्तदोषपारं
नृषु विहरामि विनीतदोषतृष्णः ॥ ३६॥

'मूर्खलोग इस अजगरवृत्तिको सुनकर इसे पहाड़की चोटीसे गिरनेकी भाँति भयंकर समझते हैं। परंतु उनकी वह मान्यता भिन्न है। [illegible] इस अजगरवृत्तिको अज्ञानका [illegible] और समस्त दोषोंसे रहित मानता हूँ। अतः दोष और तृष्णाका त्याग करके मनुष्योंमें विचरता हूँ' ॥ ३६॥

भीष्म उवाच

अजगरचरितं व्रतं महात्मा
य इह नरोऽनुचरेद् विनीतरागः।
अपगतभयलोभमोहमन्युः
स खलु सुखी विचरेदिमं विहारम् ॥३७॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जो महापुरुष राग, भय, लोभ, मोह और क्रोधको त्यागकर इस आजगर व्रतका पालन करता है, वह इस लोकमें सानन्द विचरण करता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि आजगरप्रह्लादसंवादे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अजगरवृत्तिसे रहनेवाले मुनि और प्रह्लादका संवादविषयक एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

सद्‌बुद्धिका आश्रय लेकर आत्महत्यादि पापकर्मसे निवृत्त होनेके सम्बन्धमें काश्यप [illegible] और इन्द्रका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

बान्धवाः कर्म वित्तं वा [illegible] वेह पितामह ।
नरस्य का प्रतिष्ठा स्यादेतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! अब मेरे प्रश्नके अनुसार मुझे यह बताइये कि मनुष्यको बन्धुजन, कर्म, धन अथवा बुद्धि—इनमेंसे किसका आश्रय लेना चाहिये? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां [illegible] लाभः परो [illegible] ।
प्रज्ञा निःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो [illegible] सताम्॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! प्राणियोंका प्रधान आश्रय बुद्धि है। बुद्धि ही उनका सबसे बड़ा लाभ है। संसारमें बुद्धि ही उनका कल्याण करनेवाली है। सत्पुरुषोंके मतमें बुद्धि ही स्वर्ग है ॥ २ ॥

प्रज्ञया प्रापितार्थो [illegible] बलिरैश्वर्यसंक्षये ।
प्रह्लादो नमुचिर्मङ्किस्तस्याः किं विद्यते परम् ॥ ३ ॥

राजा बलिने अपना ऐश्वर्य क्षीण हो जानेपर पुनः उसे बुद्धिबलसे ही पाया था। प्रह्लाद, नमुचि और मङ्किने भी बुद्धिबलसे ही अपना-अपना अर्थ सिद्ध किया था। संसारमें बुद्धिसे बढ़कर और क्या है? ॥ ३ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रकाश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ [illegible] ॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और काश्यप-के संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥ ४ ॥

वैश्यः कश्चिदृषिसुतं काश्यपं संशितव्रतम्।
रथेन पातयामास श्रीमान् दृप्तस्तपस्विनम् ॥ ५ ॥

कहते हैं, पूर्वकालमें धनके अभिमानसे मतवाले हुए किसी धनी वैश्यने कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी ऋषिकुमार काश्यपको अपने रथसे धक्के देकर गिरा दिया ॥

आर्तः [illegible] पतितः क्रुद्धस्त्यक्त्वाऽऽत्मानमथाब्रवीत्।
मरिष्याम्यधनस्येह जीवितार्थो न विद्यते ॥ ६ ॥

वे पीड़ासे कराहकर गिर पड़े और कुपित होकर आत्म-हत्याके लिये उद्यत हो इस प्रकार बोले—'अब मैं प्राण दे दूँगा; क्योंकि इस संसारमें निर्धन मनुष्यका जीवन व्यर्थ है' ॥

तथा मुमूर्षुमासीनमकूजन्तमचेतसम् ।
इन्द्रः शृगालरूपेण बभाषे लुब्धमानसम् ॥ ७ ॥

उन्हें इस प्रकार मरनेकी इच्छा लेकर बैठे मूर्च्छासे अचेत हो कुछ [illegible] बोलते और मन ही मन धनके लिये ललचाते देखकर इन्द्रदेव सियारका रूप धारण करके आये और उनसे इस प्रकार कहने लगे—॥ [illegible] ॥

मनुष्ययोनिमिच्छन्ति सर्वभूतानि सर्वशः।
मनुष्यत्वे च विप्रत्वं सर्व एवाभिनन्दति ॥ ८ ॥

'मुने! सभी प्राणी सब प्रकारसे मनुष्ययोनि पानेकी इच्छा रखते हैं। उसमें भी ब्राह्मणत्वकी प्रशंसा तो सभी लोग करते हैं ॥ ८ ॥

मनुष्यो ब्राह्मणश्चासि श्रोत्रियश्चासि काश्यप।
सुदुर्लभमवाप्यैतन्न दोषान्मर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

'काश्यप! आप तो मनुष्य हैं, ब्राह्मण हैं और श्रोत्रिय भी हैं। ऐसा परम दुर्लभ शरीर पाकर आपको उसमें दोष-दृष्टि करके स्वयं ही मरनेके लिये उद्यत होना उचित नहीं है ॥
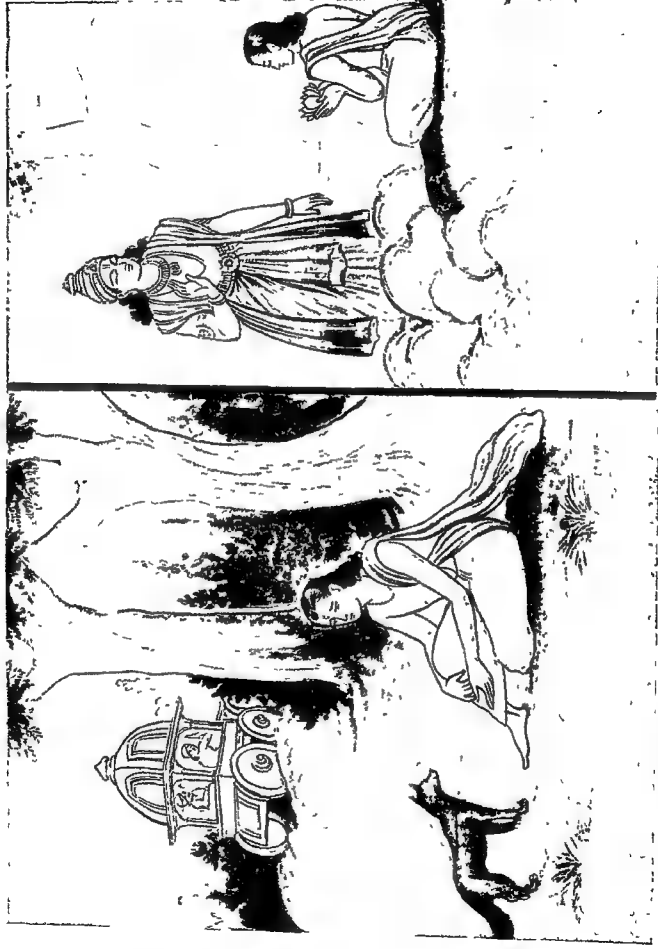
काश्यप ब्राह्मणके प्रति गीदड़के रूपमें इन्द्रका उपदेश

इन्द्रको पहचाननेपर काश्यपद्वारा उनकी पूजा

सर्वे लाभाः साभिमाना इति सत्यवती श्रुतिः ।
संतोषणीयरूपोऽसि लोभाद् यदभिमन्यसे ॥ १० ॥

'संसारमें जितने लाभ हैं, वे सभी अभिमानपूर्ण हैं, ऐसा सत्य अर्थका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका कथन है (अर्थात् मैंने यह लाभ अपने पुरुषार्थसे किया है, ऐसा अहंकार प्रायः सभी मनुष्य कर लेते हैं)। आपका स्वरूप तो संतोष रखनेके योग्य है। आप लोभवश ही उसकी अवहेलना करते हैं॥

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः ॥ ११ ॥

'अहो! जिनके पास भगवान्‌के दिये हुए हाथ हैं, उनको तो मैं कृतार्थ मानता हूँ। इस जगत्‌में जिनके पास एकसे अधिक हाथ हैं, उनके-जैसा सौभाग्य पानेकी इच्छा मुझे बारंबार होती है॥ ११ ॥

पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै ।
न पाणिलाभादधिको लाभः [illegible] विद्यते ॥ १२ ॥

'जैसे आपके मनमें धनकी लालसा है, उसी प्रकार हम पशुओंको हाथवाले मनुष्योंसे हाथ पानेकी अभिलाषा रहती है। हमारी दृष्टिमें हाथ मिलनेसे अधिक दूसरा कोई लाभ नहीं ॥ १२ ॥

अपाणित्वाद् वयं ब्रह्मन् कण्टकं नोद्धरामहे ।
जन्तूनुच्चावचानङ्गे दशतो न [illegible] वा ॥ १३ ॥

'ब्रह्मन्! हमारे शरीरमें काँटे गड़ जाते हैं; परंतु हाथ न होनेसे हम उन्हें निकाल नहीं पाते हैं। जो छोटे-बड़े जीव-जन्तु हमारे शरीरमें डँसते हैं, उनको भी हम हटा नहीं सकते॥

अथ येषां पुनः पाणी देवदत्तौ दशाङ्गुली ।
उद्धरन्ति कृमीनङ्गाद् दशतो निकषन्ति च ॥ १४ ॥

'परंतु जिनके पास भगवान्‌के दिये हुए दस अंगुलियोंसे युक्त दो हाथ हैं, वे अपने अङ्गोंसे उन कीड़ोंको हटाते [illegible] नष्ट कर देते हैं, जो उन्हें डँसते हैं ॥ १४॥

वर्षाहिमातपानां च परित्राणानि कुर्वते ।
चैलमन्नं सुखं शय्यां निवातं चोपभुञ्जते ॥ १५ ॥

'वे वर्षा, सर्दी और धूपसे अपनी रक्षा कर लेते हैं, कपड़ा पहनते हैं, सुखपूर्वक अन्न खाते हैं, शय्या बिछाकर सोते हैं तथा एकान्त [illegible] उपभोग करते हैं ॥ १५ ॥

अधिष्ठाय च गां लोके भुञ्जते वाहयन्ति च ।
उपायैर्बहुभिश्चैव वश्यानात्मनि कुर्वते ॥ १६ ॥

'हाथवाले मनुष्य बैलोंसे जुती हुई गाड़ीपर चढ़कर उन्हें हाँकते हैं और जगत्‌में उनका यथेष्ट उपभोग करते हैं तथा हाथसे ही अनेक प्रकारके उपाय करके लोगोंको अपने वशमें कर लेते हैं ॥ १६ ॥

ये खल्वजिह्वाः कृपणा अल्पप्राणा अपाणयः ।
सहन्ते तानि दुःखानि दिष्ट्या त्वं न तथा मुने ॥१७॥

'मुने! जो दुःख बिना हाथके दीन, दुर्बल और बेजबान प्राणी सहते हैं, सौभाग्यवश वे तो आपको नहीं सहने पड़ते हैं॥

दिष्ट्या त्वं न शृगालो वै न कृमिर्न च मूषकः ।
न सर्पो न च मण्डूको न चान्यः पापयोनिजः ॥ १८ ॥

'आपका बड़ा भाग्य है कि आप गीदड़, कीड़ा, चूहा, साँप, मेढक या किसी दूसरी पापयोनिमें नहीं उत्पन्न हुए ॥

एतावतापि लाभेन तोष्टुमर्हसि काश्यप ।
किं पुनर्योऽसि सत्त्वानां सर्वेषां ब्राह्मणोत्तमः॥ १९ ॥

'काश्यप! आपको इतने ही लाभसे संतुष्ट रहना चाहिये। इससे अधिक लाभ [illegible] होगा कि आप सभी प्राणियोंमें श्रेष्ठ [illegible] हैं ॥ १९ ॥

इमे मां कृमयोऽदन्ति येषामुद्धरणाय वै ।
नास्ति शक्तिरपाणित्वात् पश्यावस्थामिमां मम ॥ २० ॥

'मुझे ये कीड़े खा रहे हैं, जिन्हें निकाल फेंकनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। हाथ न होनेके कारण होनेवाली मेरी इस दुर्दशाको आप प्रत्यक्ष देख लें ॥ २० ॥

अकार्यमिति चैवेमं नात्मानं संत्यजाम्यहम् ।
नातः पापीयसीं योनिं पतेयमपरामिति ॥ २१ ॥

'आत्महत्या करना पाप है, यह सोचकर ही मैं अपने इस शरीरका परित्याग नहीं करता हूँ। मुझे भय है कि मैं इससे भी बढ़कर किसी दूसरी पापयोनिमें न गिर जाऊँ ॥

मध्ये वै पापयोनीनां शार्गाली यामहं गतः ।
पापीयस्यो बहुतरा इतोऽन्याः पापयोनयः ॥ २२ ॥

'यद्यपि मैं इस समय जिस शृगालयोनिमें हूँ, इसकी गणना भी पापयोनियोंमें ही है, तथापि दूसरी बहुत-सी पापयोनियाँ इससे भी नीची श्रेणीकी हैं ॥ २२ ॥

जात्यैवैके सुखितराः सन्त्यन्ये भृशदुःखिताः ।
नैकान्तं सुखमेवेह क्वचित्पश्यामि कस्यचित् ॥ २३ ॥

'कुछ देवता आदि जातिसे ही सुखी हैं, दूसरे पशु आदि जातिसे ही अत्यन्त दुखी हैं; परंतु मैं कहीं किसीको ऐसा नहीं देखता, जिसको सर्वथा सुख ही सुख हो ॥ २३ ॥

मनुष्या ह्याढ्यतां [illegible] राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम् ।
राज्याद् देवत्वमिच्छन्ति देवत्वादिन्द्रतामपि ॥ २४ ॥

'मनुष्य धनी हो जानेपर राज्य पाना चाहते हैं, राज्यसे देवत्वकी इच्छा करते हैं और देवत्वसे फिर इन्द्रपद प्राप्त करना चाहते हैं ॥ २४ ॥

भवेस्त्वं यद्यपि त्वाढ्यो न राजा न च दैवतम् ।
देवत्वं प्राप्य चेन्द्रत्वं नैव तुष्येस्तथा सति ॥ २५ ॥

'यदि आप धनी हो जायँ तो भी ब्राह्मण होनेके [illegible] राजा नहीं हो सकते। यदि कदाचित् राजा हो जायँ तो देवता नहीं हो सकते। देवता और इन्द्रका पद भी पा जायँ तो भी आप उतनेसे संतुष्ट नहीं रह सकेंगे ॥ २५ ॥

न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति तृष्णा नाद्भिः प्रशाम्यति ।
सम्प्रज्वलति सा भूयः समिद्भिरिव पावकः ॥ २६ ॥

'प्रिय वस्तुओंका लाभ होनेसे कभी तृप्ति नहीं होती।

बढ़ती हुई तृष्णा जलसे नहीं बुझती। ईंधन पाकर जलनेवाली आगके समान वह और भी प्रज्वलित होती जाती है ॥

अस्त्येव त्वयि शोकोऽपि हर्षश्चापि तथा त्वयि।
सुखदुःखे तथा चोभे तत्र का परिदेवना ॥ २७ ॥

'तुम्हारे भीतर शोक भी है और हर्ष भी। साथ ही सुख और दुःख दोनों हैं; फिर शोक करना किस कामका? ॥ २७ ॥

परिच्छिद्यैव कामानां सर्वेषां चैव कर्मणाम्।
मूलं बुद्धीन्द्रियग्रामं शकुन्तानिव पञ्जरे ॥ २८ ॥

'बुद्धि और इन्द्रियाँ ही समस्त कामनाओं और कर्मोंकी मूल हैं। उन्हें पिंजड़ेमें बंद पक्षियोंकी तरह अपने काबूमें रखा जाय तो कोई भय नहीं है ॥ २८ ॥

न द्वितीयस्य शिरसश्छेदनं विद्यते क्वचित्।
न च पाणेस्तृतीयस्य यन्नास्ति न ततो भयम् ॥ २९ ॥

'मनुष्यको दूसरे सिर और तीसरे हाथके कटनेका कभी भय नहीं होता है। जो वास्तवमें है ही नहीं, उसके कारण भय भी नहीं होता है ॥ २९ ॥

न खल्वप्यरसज्ञस्य कामः [illegible] जायते।
संस्पर्शाद् दर्शनाद् वापि श्रवणाद् वापि जायते ॥ ३० ॥

'जो किसी विषयका रस नहीं जानता, उसके मनमें कभी उसकी कामना भी नहीं होती। स्पर्शसे, दर्शनसे अथवा श्रवणसे भी कामनाका उदय होता है ॥ ३० ॥

न त्वं स्मरसि वारुण्या लट्वाकानां [illegible] पक्षिणाम्।
ताभ्यां चाभ्यधिको भक्ष्यो [illegible] कश्चिद् विद्यते क्वचित् ३१

'वारुणी मदिरा तथा चिड़िया—इन दोनोंका आप कभी स्मरण नहीं करते होंगे; क्योंकि इनको आपने नहीं [illegible] है; परंतु (जो तामसी मनुष्य इनको खाते हैं उनके लिये) कहीं और कोई भी भक्ष्य पदार्थ उन दोनोंसे बढ़कर नहीं है ॥ ३१ ॥

यानि चान्यानि भूतेषु भक्ष्यजातानि कस्यचित्।
येषामभुक्तपूर्वाणि तेषामस्मृतिरेव ते ॥ ३२ ॥

'प्राणियोंमें किसीके भी जो अन्यान्य भक्ष्य पदार्थ हैं, जिनका तुमने पहले उपभोग नहीं किया है, उन भोजनोंकी स्मृति तुमको कभी नहीं होगी ॥ ३२ ॥

अप्राशनमसंस्पर्शमसंदर्शनमेव च।
पुरुषस्यैष नियमो मन्ये श्रेयो न संशयः ॥ ३३ ॥

'मैं ऐसा मानता हूँ कि किसी वस्तुको न खाने, न छूने और न देखनेका नियम लेना ही पुरुषके लिये कल्याणकारी है, इसमें संशय नहीं ॥ ३३ ॥

पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्तो [illegible] संशयः।
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः ॥ ३४ ॥

'जिनके दोनों हाथ बने हुए हैं, निस्संदेह वे ही बलवान् और धनवान् हैं। मनुष्योंको तो मनुष्योंने ही दास बना रक्खा है॥

वधबन्धपरिक्लेशैः क्लिश्यन्ते च पुनः पुनः।
ते खल्वपि रमन्ते [illegible] मोदन्ते च हसन्ति च ॥ ३५ ॥

'कितने ही मनुष्य बारंबार वध और बन्धनके क्लेश भोगते रहते हैं, परंतु वे भी (आत्महत्या करके प्राण नहीं देते, बल्कि) आपसमें क्रीड़ा करते, आनन्दित होते और हँसते हैं॥

अपरे बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः।
जुगुप्सितां च कृपणां पापवृत्तिमुपासते ॥ ३६ ॥

'दूसरे बहुत-से बाहुबलसे सम्पन्न विद्वान् और मनस्वी मनुष्य दीन, निन्दित एवं पापपूर्ण वृत्तिसे जीविका चलाते हैं ॥

उत्सहन्ते च ते वृत्तिमन्यामप्युपसेवितुम्।
स्वकर्मणा तु नियतं भवितव्यं [illegible] तत् तथा ॥ ३७ ॥

'वे दूसरी वृत्तिका सेवन करनेके लिये भी उत्साह रखते हैं; परंतु अपने कर्मके अनुसार जो नियत है, वैसा ही भविष्यमें होता है ॥ ३७ ॥

न पुल्कसो न चाण्डाल आत्मानं त्यक्तुमिच्छति
तया तुष्टः स्वया योन्या मायां पश्यस्व यादृशीम् ॥ ३८ ॥

'भङ्गी अथवा चाण्डाल भी अपने शरीरको त्यागना नहीं चाहता है, वह अपनी उसी योनिसे संतुष्ट रहता है। देखिये, भगवान्‌की कैसी माया है ! ॥ ३८ ॥

दृष्ट्वा कुणीन् पक्षहतान् मनुष्यानामयाविनः।
सुसम्पूर्णः स्वया योन्या लब्धलाभोऽसि काश्यप ३९

'काश्यप ! कुछ मनुष्य लूले और लँगड़े हैं, कुछ लोगोंको [illegible] [illegible] गया है, बहुत-से मनुष्य निरन्तर रोगी ही रहते है। उन सबकी ओर देखकर यह कहना पड़ता है कि आप अपनी योनिके अनुसार नीरोग और परिपूर्ण अङ्गवाले हैं। आपको मानवशरीरका लाभ मिल चुका है ॥ ३९ ॥

यदि ब्राह्मण देहस्ते निरातङ्को निरामयः।
अङ्गानि च समग्राणि [illegible] लोकेषु धिक्कृतः ॥ ४० ॥

'ब्राह्मणदेव ! यदि आपका शरीर निर्भय और नीरोग है, आपके सारे अङ्ग ठीक हैं, किसीमें कोई विकार नहीं आया है तो लोकमें कोई भी आपको धिक्कार नहीं सकता—आप धिक्कारके पात्र नहीं हो सकते ॥ ४० ॥

न केनचित् प्रवादेन सत्येनैवापहारिणा।
धर्मायोत्तिष्ठ विप्रर्षे नात्मानं त्यक्तुमर्हसि ॥ ४१ ॥

'यदि आपपर जातिच्युत करनेवाला कोई सच्चा कलङ्क लगा हो तो भी आपको प्राणत्यागका विचार नहीं करना चाहिये। ब्रह्मर्षे ! आप धर्मपालनके लिये उठ खड़े होइये ॥

यदि ब्रह्मञ्शृणोष्येतच्छ्रद्दधासि च मे वचः।
वेदोक्तस्यैव धर्मस्य फलं मुख्यमवाप्स्यसि ॥ ४२ ॥

'ब्रह्मन् ! यदि आप मेरी बात सुनेंगे और उसपर श्रद्धा करेंगे तो आपको वेदोक्त धर्मके पालनका ही मुख्य फल [illegible] होगा ॥ ४२ ॥

स्वाध्यायमग्निसंस्कारमप्रमत्तोऽनुपालय।
सत्यं [illegible] च दानं च स्पर्धिष्ठा मा च केनचित् ॥४३॥

'आप सावधान होकर स्वाध्याय, अग्निहोत्र, स[illegible]

इन्द्रियसंयम तथा दानधर्मका पालन कीजिये। किसीके साथ स्पर्धा न कीजिये ॥ ४३ ॥

ये केचन स्वध्ययनाः [illegible] यजनयाजनम्।
कथं ते चानुशोचेयुर्ध्यायेयुर्वाप्यशोभनम्।
इच्छन्तस्ते विहाराय सुखं महदवाप्नुयुः ॥ ४४ ॥

'जो ब्राह्मण स्वाध्यायमें लगे रहते हैं तथा यज्ञ करते और कराते हैं, वे किसी प्रकारकी चिन्ता क्यों करेंगे और कोई आत्महत्या आदि बुरी [illegible] भी क्यों सोचेंगे ? वे यदि चाहें तो यज्ञादिके द्वारा विहार करते हुए महान् सुख पा सकते हैं ॥

[illegible] जाताः सुनक्षत्रे सुतिथौ सुमुहूर्तजाः।
यज्ञदानप्रजेहायां यतन्ते शक्तिपूर्वकम् ॥ ४५ ॥

'जो उत्तम नक्षत्र, उत्तम तिथि और उत्तम मुहूर्तमें पैदा हुए हैं, वे अपनी शक्तिके अनुसार यज्ञ एव दान करते और न्यायानुकूल संतानोत्पादनकी चेष्टा भी करते हैं ॥ ४५ ॥

नक्षत्रेष्वासुरेष्वन्ये दुस्तिथौ दुर्मुहूर्तजाः।
सम्पतन्त्यासुरीं योनिं यज्ञप्रसववर्जिताः ॥ ४६ ॥

'दूसरे जो लोग आसुर नक्षत्र, दूषित तिथि तथा अशुभ मुहूर्तमें उत्पन्न होते हैं, वे यज्ञ तथा संतानसे रहित होकर आसुरी योनिमें पड़ते हैं ॥ ४६ ॥

अहमासं पण्डितको हैतुको वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥ ४७ ॥

'पूर्वजन्ममें मैं एक पण्डित था और कुतर्कका आश्रय लेकर वेदोंकी निन्दा करता था। प्रत्यक्षके आधारपर अनुमानको प्रधानता देनेवाली थोथी तर्कविद्यापर ही उस समय मेरा अधिक अनुराग था ॥ ४७ ॥

हेतुवादान् प्रवदिता वक्ता संसत्सु हेतुमत्।
आक्रोष्टा चाभिवक्ता च ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान् ४८

'मैं सभाओंमें जाकर तर्क और युक्तिकी बातें ही अधिक बोलता। जहाँ दूसरे ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक वेदवाक्योंपर विचार करते, वहाँ मैं बलपूर्वक आक्रमण करके उन्हें खरी-खोटी [illegible] देता और स्वयं ही अपना तर्कवाद [illegible] करता था ॥ ४८ ॥

नास्तिकः सर्वशङ्की च मूर्खः पण्डितमानिकः।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं मम द्विज ॥ ४९ ॥

'मैं नास्तिक, सबपर संदेह करनेवाला तथा मूर्ख होकर भी अपनेको पण्डित माननेवाला था। विप्रवर ! यह शृगालयोनि मेरे उसी कुकर्मका [illegible] है ॥ ४९ ॥

अपि जातु [illegible] तस्मादहोरात्रशतैरपि।
यदहं मानुषीं योनिं शृगालः प्राप्नुयां पुनः ॥ ५० ॥

अब मैं सैकड़ों दिन-रातोंतक साधन करके भी क्या कभी वह उपाय कर सकता हूँ, जिससे आज सियारकी योनिमें पड़ा हुआ मैं पुनः वह मनुष्ययोनि पा सकूँ ॥ ५० ॥

संतुष्टश्चाप्रमत्तश्च यज्ञदानतपोरतिः।
ज्ञेयज्ञाता भवेयं वै वर्ज्यवर्जयिता तथा ॥ ५१ ॥

'जिस मनुष्ययोनिमें मैं संतुष्ट और सावधान रहकर यज्ञ, दान और तपस्यामें लगा रह सकूँ, जिसमें मैं जाननेयोग्य वस्तुको जान लूँ और त्यागनेयोग्य वस्तुका त्याग कर दूँ' ॥ ५१ ॥

[illegible] स मुनिरुत्थाय काश्यपस्तमुवाच ह।
अहो बतासि कुशलो बुद्धिमांश्चेति विस्मितः ॥ ५२ ॥

यह सुनकर काश्यप मुनि आश्चर्यसे चकित होकर खड़े हो गये और बोले—'अहो ! तुम तो बड़े कुशल और बुद्धिमान् हो' ॥ ५२ ॥

समवैक्षत तं विप्रो ज्ञानदीर्घेण चक्षुषा।
ददर्श चैनं देवानां देवमिन्द्रं शचीपतिम् ॥ ५३ ॥

ऐसा कहकर ब्रह्मर्षिने उसकी ओर ज्ञानदृष्टिसे देखा। तब उसके रूपमें इन्हें देवदेव शचीपति इन्द्र दिखायी दिये ॥ ५३ ॥

ततः सम्पूजयामास काश्यपो हरिवाहनम्।
अनुज्ञातस्तु तेनाथ प्रविवेश स्वमालयम् ॥ ५४ ॥

तदनन्तर काश्यपने इन्द्रदेवका पूजन किया और उनकी [illegible] लेकर वे पुनः अपने घरको लौट गये ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शृगालकाश्यपसंवादे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गीदड़ और काश्यपका संवादविषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८० ॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम कर्ताको [illegible] भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं [illegible] तपस्तप्तं तथैव च।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि दान, यज्ञ, तप अथवा गुरुशुश्रूषा पुण्यकर्म है और उसका कुछ फल होता है तो वह मुझे बताइये ॥ १ ॥
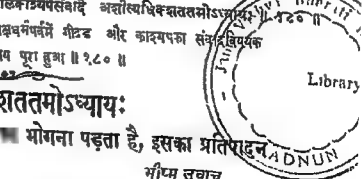
भीष्म उवाच

आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः।
स्वकर्मकलुषं [illegible] कृच्छ्रे लोके विधीयते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! काम, क्रोध आदि दोषोंसे युक्त बुद्धिकी प्रेरणासे मन पापकर्ममें प्र[illegible]त्त होता है। इस प्रकार मनुष्य अपने ही कार्योंद्वारा पाप करके दुःखमय लोक

(नरक) में गिराया जाता है ॥ २ ॥

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम्।
मृतेभ्यः प्रमृतं यान्ति दरिद्राः पापकारिणः ॥ ३ ॥

पापाचारी दरिद्र मनुष्य दुर्भिक्षसे दुर्भिक्ष, क्लेशसे क्लेश और भयसे भय पाते हुए मरे हुओंसे भी अधिक मृतकतुल्य हो जाते हैं ॥ ३ ॥

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम्।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनाढ्याः शुभकारिणः ॥ ४ ॥

जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न तथा शुभकर्मपरायण होते हैं, वे उत्सवसे अधिक उत्सवको, स्वर्गसे अधिक स्वर्गको तथा सुखसे अधिक सुखको प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचोरभयेषु च।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ॥ ५ ॥

नास्तिक मनुष्योंके हाथमें हथकड़ी डालकर राजा उन्हें राज्यसे दूर निकाल देता है और वे उन जङ्गलोंमें चले जाते हैं, जो मतवाले हाथियोंके कारण दुर्गम तथा सर्प और चोर आदिके भयसे भरे हुए होते हैं। इससे बढ़कर उन्हें और क्या दण्ड मिल सकता है? ॥ ५ ॥

प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम् ॥ ६ ॥

जिन्हें देवपूजा और अतिथि-सत्कार प्रिय है, जो उदार हैं [illegible] श्रेष्ठ पुरुष जिन्हें अच्छे लगते हैं, वे पुण्यात्मा मनुष्य अपने दाहिने हाथके समान मङ्गलकारी एवं मनको वशमें रखनेवाले योगियोंको ही प्राप्त होनेयोग्य मार्गपर आरूढ़ होते हैं ॥ ६ ॥

पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु।
तद्विधास्ते मनुष्याणां येषां धर्मो न कारणम् ॥ ७ ॥

जिनका उद्देश्य धर्म नहीं है, ऐसे मनुष्य मानवसमाजके भीतर वैसे ही समझे जाते हैं, जैसे धानमें थोथा पौधा और पङ्खवाले जीवोंमें मच्छर ॥ ७ ॥

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥ ८ ॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते ॥ ९ ॥

जिस-जिस मनुष्यने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजीके साथ उसके पीछे जाता है। जब वह सोता है तो उसका कर्मफल भी उसके साथ ही सो जाता है। जब [illegible] खड़ा होता है तो वह भी पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है तो उसके पीछे-पीछे वह भी चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता। सदा छायाके समान पीछे लगा रहता है ॥ ८-९ ॥

येन येन यथा यद् यत् पुरा कर्म समीहितम्।
तत्तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ॥ १० ॥

जिस-जिस मनुष्यने अपने अपने पूर्वजन्मोंमें जैसे जैसे कर्म किये हैं, वह अपने ही किये हुए उन कर्मोंका फल सदा अकेला ही भोगता है ॥ १० ॥

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम्।
भूतग्राममिमं कालः समन्तात् परिकर्षति ॥ ११ ॥

अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है, जो कर्मजनित अदृष्टके द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आनेपर यह काल इस कर्मफलको प्राणिसमुदायके पास खींच लाता है ॥ ११ ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ १२ ॥

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लङ्घन नहीं करते ॥

सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पुनः पुनः ॥ १३ ॥

सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति अवनति—ये पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार बार-बार प्राप्त होते हैं और प्रारब्धभोगके पश्चात् निवृत्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम्।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥ १४ ॥

दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है। जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्वशरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है ॥ १४ ॥

बालो युवा च वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥

कोई [illegible] हो, तरुण हो [illegible] बूढ़ा हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, दूसरे जन्ममें उसी-उसी अवस्थामें उस-उस कर्मका फल उसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
[illegible] पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १६ ॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओंमेंसे अपनी माँको पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताके पास पहुँच जाता है ॥ १६ ॥

समुन्नमग्रतो वस्त्रं पश्चाच्छुध्यति कर्मणा।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम् ॥ १७ ॥

जैसे पहलेसे क्षार आदिमें भिगोया हुआ कपड़ा पीछे धोनेसे [illegible] हो जाता है, उसी प्रकार जो उपवासपूर्वक तपस्या करते हैं, उन्हें कभी समाप्त न होनेवाला महान् सुख मिलता है ॥ [illegible] ॥

दीर्घकालेन तपसा सेवितेन तपोवने।
धर्मनिर्धूतपापानां सम्पद्यन्ते मनोरथाः ॥ १८ ॥

महर्षि भृगुके साथ भरद्वाज मुनिका प्रश्नोत्तर

तपोवनमें रहकर की हुई दीर्घकालतककी तपस्यासे ■■ धर्मसे जिनके सारे पाप धुल गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ ■■ हो जाते हैं ॥ १८ ॥

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके और जलमें मछलियोंके चरण-चिह्न दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार ज्ञानियोंकी गतिका पता नहीं चलता ॥ १९ ॥

अलमन्यैरुपालम्भैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २० ॥

दूसरोंको उलाहने देने तथा लोगोंके अन्यान्य अपराधोंकी चर्चा करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। जो काम सुन्दर, अनुकूल और अपने लिये हितकर जान पड़े, वही कर्म करना चाहिये ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ■ सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

भरद्वाज और भृगुके संवादमें जगत्‌की उत्पत्तिका और विभिन्न तत्त्वोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कुतः सृष्टमिदं विश्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! इस सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत्‌की उत्पत्ति कहाँसे हुई है? प्रलयकालमें यह किसमें लीन होता है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥ २ ॥

समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, भूमि, अग्नि और वायु-सहित इस संसारका किसने निर्माण किया है? ॥ २ ॥

कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥ ३ ॥

प्राणियोंकी सृष्टि किस प्रकार हुई? वर्णोंका विभाग किस तरह किया गया? उनमें शौच और अशौचकी व्यवस्था कैसे हुई? तथा धर्म और अधर्मका विधान किस प्रकार किया गया? ॥ ३ ॥

कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः।
अस्माल्लोकादमुं लोकं सर्वं शंसतु नो भवान् ॥ ४ ॥

जीवित प्राणियोंका जीवात्मा कैसा है? जो मर गये, वे कहाँ चले जाते हैं? इस लोकसे उस लोकमें आनेका क्रम क्या है? ये सब बातें आप हमें बतावें ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भृगुणाभिहितं शास्त्रं भरद्वाजाय पृच्छते ॥ ५ ॥

भीष्मजी बोले—राजन्! विज्ञ पुरुष इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें भरद्वाजके प्रश्न करनेपर भृगुके उपदेशका उल्लेख हुआ है ॥ ५ ॥

कैलासशिखरे दृष्ट्वा दीप्यमानं महौजसम्।
भृगुं महर्षिमासीनं भरद्वाजोऽन्वपृच्छत ॥ ६ ॥

कैलास पर्वतके शिखरपर अपने तेजसे देदीप्यमान होते हुए महातेजस्वी महर्षि भृगुको बैठा देख भरद्वाज मुनिने पूछा—॥ ६ ॥

ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः ॥ ■ ॥

'समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, भूमि, अग्नि और वायु-सहित इस संसारका किसने निर्माण किया है? ॥ ७ ॥

कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम् ॥ ८ ॥

'प्राणियोंकी सृष्टि किस प्रकार हुई? वर्णोंका विभाग किस तरह किया गया? उनमें शौच और अशौचकी व्यवस्था कैसे हुई? तथा धर्म और अधर्मका विधान किस प्रकार किया ■■? ॥ ८ ॥

कीदृशो जीवतां जीवः ■ वा गच्छन्ति ये मृताः।
परलोकमिमं चापि सर्वं शंसितुमर्हसि ॥ ९ ॥

'जीवित प्राणियोंका जीवात्मा कैसा है? जो मर गये, वे कहाँ चले जाते हैं? तथा यह लोक और परलोक कैसा है? यह सब मुझे बतानेकी कृपा करें' ॥ ९ ॥

एवं स भगवान् पृष्टो भरद्वाजेन संशयम्।
ब्रह्मर्षिर्ब्रह्मसंकाशः सर्वं तस्मै ततोऽब्रवीत् ॥ १० ॥

भरद्वाज मुनिके इस प्रकार अपना संशय पूछनेपर ब्रह्माजीके समान तेजस्वी ब्रह्मर्षि भगवान् भृगुने उन्हें सब कुछ बताया ॥ १० ॥

भृगुरुवाच

(नारायणो जगन्मूर्तिरन्तरात्मा सनातनः।
कूटस्थोऽक्षर अव्यक्तो निर्लेपो व्यापकः प्रभुः ॥
प्रकृतेः परतो नित्यमिन्द्रियैरप्यगोचरः।
स सिसृक्षुः सहस्रांशादसृजत् पुरुषं प्रभुः।)
मानसो नाम विख्यातः श्रुतपूर्वो महर्षिभिः।
अनादिनिधनो देवस्तथाभेद्योऽजरामरः ॥ ११ ॥

■■ बोले—ब्रह्मन्! भगवान् नारायण सम्पूर्ण जगत्-■■ हैं। वे ही सबके अन्तरात्मा और सनातन पुरुष हैं। वे

ही कूटस्थ, अविनाशी, अव्यक्त, निर्लेप, सर्वव्यापी, प्रभु, प्रकृतिसे परे और इन्द्रियातीत हैं। उन भगवान् नारायणके हृदयमें जब सृष्टिविषयक संकल्पका उदय हुआ तो उन्होंने अपने हजारवें अंशसे एक पुरुषको उत्पन्न किया, महर्षियोंने सर्वप्रथम जिसको इसी नामसे सुना था, जो मानसपुरुषके नामसे प्रसिद्ध है। पूर्वकालमें उत्पन्न वह मानसदेव अनादि, अनन्त, अभेद्य, अजर और अमर है ॥ ११ ॥

अव्यक्त इति विख्यातः शाश्वतोऽथाक्षयोऽव्ययः ।
यतः सृष्टानि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ति च ॥ १२ ॥

उन्हींकी अव्यक्त नामसे प्रसिद्धि है। वही शाश्वत, अक्षय और अविनाशी है। उनसे उत्पन्न सब प्राणी जन्मते और मरते रहते हैं ॥ १२ ॥

सोऽसृजत् प्रथमं देवो महान्तं नाम नामतः ।
महान् ससर्जाहंकारं स चापि भगवानथ ॥ १३ ॥

उस स्वयम्भू देवने पहले महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) की रचना की। फिर उस महत्तत्त्वस्वरूप भगवान्ने अहङ्कार (समष्टि अहङ्कार) की सृष्टि की ॥ १३ ॥

आकाशमिति विख्यातं सर्वभूतधरः प्रभुः ।
आकाशादभवद् वारि सलिलादग्निमारुतौ ।
अग्निमारुतसंयोगात् ततः समभवन्मही ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण भूतोंको धारण करनेवाले अहङ्कारस्वरूप भगवान्ने शब्दतन्मात्रा रूप आकाशको उत्पन्न किया। आकाशसे [illegible] और जलसे अग्नि एवं वायुकी उत्पत्ति हुई। अग्नि और वायुके संयोगसे इस पृथ्वीका प्रादुर्भाव हुआ* ॥ १४ ॥

ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा ।
तस्मात् पद्मात् समभवद् ब्रह्मा वेदमयो निधिः ॥ १५ ॥

उसके बाद उस स्वयम्भू मानसदेवने पहले एक तेजोमय दिव्य कमल उत्पन्न किया। उसी कमलसे वेदमय निधिरूप ब्रह्माजी प्रकट हुए ॥ १५ ॥

अहंकार इति ख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत् ।
[illegible] वै स महातेजा [illegible] एते [illegible] धातवः ॥ १६ ॥

वे अहङ्कार नामसे भी विख्यात हैं और समस्त भूतोंके आत्मा तथा उन भूतोंकी सृष्टि करनेवाले हैं। ये जो पाँच महाभूत हैं, इनके रूपमें महातेजस्वी ब्रह्मा ही प्रकट हुए हैं ॥ १६ ॥

शैलास्तस्यास्थिसंज्ञास्तु मेदो मांसं च मेदिनी ।
समुद्रास्तस्य रुधिरमाकाशमुदरं तथा ॥ १७ ॥

पर्वत उनकी हड्डियाँ हैं, पृथ्वी उनका मेद और मांस है। समुद्र उनका रुधिर है और आकाश उदर है ॥ १७ ॥

पवनश्चैव निःश्वासस्तेजोऽग्निर्निम्नगाः सिराः ।
अग्नीषोमौ तु चन्द्रार्कौ नयने [illegible] विश्रुते ॥ १८ ॥

वायु निःश्वास है, अग्नि तेज है, नदियाँ नाड़ियाँ हैं, सूर्य और चन्द्रमा जिन्हें अग्नि और सोम भी कहते हैं, ब्रह्माजीके नेत्रोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं ॥ १८ ॥

नभश्चोर्ध्वं शिरस्तस्य क्षितिः पादौ भुजौ दिशः ।
दुर्विज्ञेयो ह्यचिन्त्यात्मा सिद्धैरपि न संशयः ॥ १९ ॥

आकाशका ऊपरी भाग उनका सिर है, पृथ्वी पैर है और दिशाएँ भुजाएँ हैं। वे अचिन्त्यस्वरूप ब्रह्मा सिद्ध पुरुषोंके लिये भी दुर्विज्ञेय हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

स एष भगवान् विष्णुरनन्त इति विश्रुतः ।
सर्वभूतात्मभूतस्थो दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ २० ॥

वह स्वयम्भू ही भगवान् विष्णु हैं, जो अनन्त नामसे प्रसिद्ध हैं, वे ही सम्पूर्ण भूतोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामी आत्माके रूपमें विद्यमान हैं। जिनका हृदय शुद्ध नहीं है, उनके लिये इनके स्वरूपको ठीक-ठीक जानना बहुत कठिन है ॥ २० ॥

अहंकारस्य [illegible] सर्वभूतभवाय वै ।
यतः समभवद् विश्वं पृष्टोऽहं यदिह त्वया ॥ २१ ॥

वे ही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिके लिये प्राकृत अहङ्कारकी सृष्टि करनेवाले हैं। तुमने मुझसे जो पूछा था कि इस विश्वकी उत्पत्ति किससे हुई है, वह सब मैंने तुम्हें बता दिया ॥ २१ ॥

भरद्वाज उवाच

[illegible] दिशां चैव भूतलस्यानिलस्य वा ।
[illegible] परिमाणानि संशयं छिन्धि [illegible] ॥ २२ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो! आकाश, दिशा, पृथ्वी और वायुका कितना-कितना परिमाण है? यह ठीक ठीक बताकर मेरा संशय दूर कीजिये ॥ २२ ॥

भृगुरुवाच

अनन्तमेतदाकाशं सिद्धदैवतसेवितम् ।
रम्यं नानाश्रयाकीर्णं यस्यान्तो नाधिगम्यते ॥ २३ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! यह आकाश तो अनन्त है, इसमें अनेकानेक सिद्ध और देवता निवास करते हैं। इसमें उनके भिन्न-भिन्न लोक भी स्थित हैं। यह बड़ा ही रमणीय है और इतना महान् है कि कहीं इसका अन्त नहीं मिलता ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वं गतेरधस्तात्तु चन्द्रादित्यौ न दृश्यतः ।
[illegible] देवाः स्वयं दीप्ता भास्कराभाग्निवर्चसः ॥ २४ ॥

ऊपर तथा नीचे जानेसे जहाँ सूर्य और चन्द्रमा नहीं दिखायी देते, वहाँ सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी देवता स्वयं अपने प्रकाशसे ही प्रकाशित होते हैं ॥ २४ ॥

ते चाप्यन्तं न पश्यन्ति नभसः प्रथितौजसः ।
दुर्गमत्वादनन्तत्वादिति मे विद्धि मानद ॥ २५ ॥

मानद! परंतु वे तेजस्वी नक्षत्रस्वरूप देवता भी इस आकाशका अन्त नहीं देख पाते; क्योंकि यह दुर्गम और अनन्त है, यह बात तुम्हें मेरे मुखसे सुनकर अच्छी तरह [illegible] लेनी चाहिये ॥ २५ ॥

* यहाँ जो सृष्टिका क्रम बताया गया है, वह श्रुतिसम्मत क्रमसे भिन्न है। श्रुतिने आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्तिका क्रम [illegible] है।

उपरिष्टोपरिष्टात्तु प्रज्वलद्भिः स्वयंप्रभैः ।
निरुद्धमेतदाकाशमप्रमेयं सुरैरपि ॥ २६ ॥

ऊपर-ऊपर प्रकाशित होनेवाले स्वयप्रकाश देवताओंसे यह अप्रमेय आकाश भी भरा हुआ-सा प्रतीत होता है ॥२६॥

पृथिव्यन्ते समुद्रास्तु समुद्रान्ते तमः स्मृतम्।
तमसोऽन्ते जलं प्राहुर्जलस्यान्तेऽग्निरेव च ॥ २७ ॥

पृथ्वीके अन्तमें समुद्र हैं । समुद्रके अन्तमें घोर अन्धकार है । अन्धकारके अन्तमें जल है और जलके अन्तमें अग्निकी स्थिति बतायी गयी है ॥ २७ ॥

रसातलान्ते सलिलं जलान्ते पन्नगाधिपः ।
तदन्ते पुनराकाशमाकाशान्ते पुनर्जलम् ॥ २८ ॥

रसातलके अन्तमें जल है । जलके अन्तमें नागराज शेष हैं । उनके अन्तमें पुनः आकाश और आकाशके ही अन्त-भागमें पुनः [illegible] है ॥ २८ ॥

एवमन्तं भगवतः प्रमाणं सलिलस्य च ।
अग्निमारुततोयेभ्यो दुर्ज्ञेयं दैवतैरपि ॥ २९ ॥

इस प्रकार भगवान्का, आकाशका, जलका तथा अग्नि और वायुका भी अन्त और परिमाण जानना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ २९ ॥

अग्निमारुततोयानां वर्णाः क्षितितलस्य च ।
आकाशादवगृह्यन्ते भिद्यन्तेऽतत्त्वदर्शनात् ॥ ३० ॥

अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी— इनके रंग-रूप आकाशसे ही ग्रहीत होते हैं; अतः उससे भिन्न नहीं हैं । तत्त्वज्ञान [illegible] होनेसे ही उनमें भेदकी प्रतीति होती है ॥ ३० ॥

पठन्ति चैव मुनयः शास्त्रेषु विविधेषु च ।
त्रैलोक्ये सागरे चैव प्रमाणं विहितं यथा ॥ ३१ ॥
अदृश्याय त्वगम्याय कः प्रमाणमुदाहरेत् ।
सिद्धानां देवतानां च यदा परिमिता गतिः ॥ ३२ ॥

ऋषियोंने विविध शास्त्रोंमें तीनों लोकों और समुद्रोंके विषयमें तो कुछ निश्चित प्रमाण बताया भी है; परंतु जो दृष्टिसे परे हैं और जहाँतक इन्द्रियोंकी पहुँच नहीं है, [illegible] परमात्माका परिमाण कोई कैसे बतायेगा ? आखिर इन सिद्धों और देवताओंका ज्ञान भी तो परिमित ही है ॥ ३१-३२ ॥

तदा गौणमनन्तस्य नामानन्तेति विश्रुतम् ।
नामधेयानुरूपस्य मानसस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥

अतः परमात्मा मानसदेव अपने नामके अनुरूप ही अनन्त हैं । उनका सुप्रसिद्ध अनन्त नाम उनके गुणके अनुसार ही है ॥ ३३ ॥

यदा [illegible] दिव्यं तद् रूपं ह्रसते वर्धते पुनः ।
कोऽन्यस्तद्वेदितुं शक्तो योऽपि स्यात् तद्विधोऽपरः॥३४॥

जब उन परमात्माका वह दिव्यरूप उनकी मायासे कभी बहुत छोटा हो जाता है और कभी बहुत बढ़ जाता है, तब कोई उनसे भिन्न दूसरा उन्हींके समान प्रतिभाशाली कौन है, जो कि उस स्वरूपका यथार्थ परिमाण जान सके अर्थात् ऐसा कोई नहीं है ॥ ३४ ॥

[illegible] पुष्करतः सृष्टः सर्वज्ञो मूर्तिमान् प्रभुः ।
[illegible] धर्ममयः पूर्वः प्रजापतिरनुत्तमः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर पूर्वोक्त कमलसे सर्वज्ञ, मूर्तिमान्, प्रभावशाली, परम उत्तम तथा प्रथम प्रजापति धर्ममय ब्रह्माका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ३५ ॥

भरद्वाज उवाच

पुष्करात् यदि सम्भूतो ज्येष्ठं भवति पुष्करम्।
ब्रह्माणं पूर्वजं चाह भवान् संदेह एव मे ॥ ३६ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो ! यदि ब्रह्माजी कमलसे [illegible] हुए तब तो [illegible] ही ज्येष्ठ प्रतीत होता है; परंतु आपने ब्रह्माजीको पूर्वज बताया है; अतः यह संदेह मेरे मनमें बना ही रह गया ॥ ३६ ॥

भृगुरुवाच

मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता ।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते ॥ ३७ ॥

भृगुने कहा—मुने ! मानसदेवका जो स्वरूप बताया गया है, वही ब्रह्मरूपमें प्रकट है । उन्हीं ब्रह्माजीके आसनके लिये इस पृथ्वीको ही पद्म ([illegible]) कहते हैं ॥ ३७ ॥

कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः ।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः॥३८॥

इस कमलकी कर्णिका मेरुपर्वत है, जो आकाशमें बहुत ऊँचेतक गया है । उसी पर्वतके मध्यभागमें स्थित होकर जगदीश्वर ब्रह्मा सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करते हैं ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु और भरद्वाजका संवादविषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१८२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर [illegible] ४० श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

आकाशसे अन्य चार स्थूल भूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन

भरद्वाज उवाच

प्रजाविसर्गं विविधं कथं स सृजते प्रभुः ।
मेरुमध्ये स्थितो ब्रह्मा तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! मेरुपर्वतके मध्यभागमें स्थित होकर ब्रह्माजी नाना प्रकारकी प्रजासृष्टि कैसे करते हैं, यह मुझे बताइये ? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

प्रजाविसर्गं विविधं मानसो मनसासृजत् ।

संरक्षणार्थं भूतानां सृष्टं प्रथमतो जलम् ॥ २ ॥

भृगुने कहा—उन मानसदेवने अपने मानसिक संकल्पसे ही नाना प्रकारकी प्रजासृष्टि की है। उन्होंने प्राणियोंकी रक्षाके लिये सबसे पहले जलकी सृष्टि की ॥ २ ॥

यत् प्राणः सर्वभूतानां वर्धन्ते येन च प्रजाः।
परित्यक्ताश्च नश्यन्ति तेनेदं सर्वमावृतम् ॥ ३ ॥

वह जल समस्त प्राणियोंका जीवन है। उसीसे प्रजाकी वृद्धि होती है। जलके न मिलनेसे प्राणी नष्ट हो जाते हैं। उसीने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है ॥ ३ ॥

पृथिवी पर्वता मेघा मूर्तिमन्तश्च ये परे।
सर्वं तद् वारुणं ज्ञेयमापस्तस्तम्भिरे यतः ॥ ४ ॥

पृथ्वी, पर्वत, मेघ तथा अन्य जो मूर्तिमान् वस्तुएँ हैं, उन सबको जलमय समझना चाहिये; क्योंकि जलने ही उन सबको स्थिर कर रक्खा है ॥ ४ ॥

भरद्वाज उवाच

कथं सलिलमुत्पन्नं कथं चैवाग्निमारुतौ।
कथं वा मेदिनी सृष्टेत्यत्र मे संशयो महान् ॥ ५ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन्! जलकी उत्पत्ति कैसे हुई? अग्नि और वायुकी सृष्टि किस प्रकार हुई तथा पृथ्वीकी भी रचना कैसे की गयी, इस विषयमें मुझे महान् संदेह है ॥ ५ ॥

भृगुरुवाच

ब्रह्मकल्पे पुरा ब्रह्मन् ब्रह्मर्षीणां समागमे।
लोकसम्भवसंदेहः समुत्पन्नो महात्मनाम् ॥ ६ ॥

भृगुने कहा—ब्रह्मन्! पूर्वकालमें जब ब्रह्मकल्प चल रहा था, उस समय ब्रह्मर्षियोंका परस्पर समागम हुआ। उन महात्माओंकी [illegible] सभामें लोकसृष्टिविषयक संदेह उपस्थित हुआ ॥ ६ ॥

तेऽतिष्ठन् ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थाय निश्चलाः।
त्यक्ताहाराः पवनपा दिव्यं वर्षशतं द्विजाः ॥ ७ ॥

वे ब्रह्मर्षि भोजन छोड़कर वायु पीकर रहते हुए सौ दिव्य वर्षोंतक ध्यान लगाकर मौनका आश्रय ले निश्चलभावसे बैठे रह गये ॥ ७ ॥

तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत्।
दिव्या सरस्वती [illegible] सम्बभूव नभस्तलात् ॥ ८ ॥

[illegible] ध्यानावस्थामें उन सबके कानोंमें ब्रह्ममयी वाणी सुनायी पड़ी। उस [illegible] वहाँ आकाशसे दिव्य सरस्वती प्रकट हुई थी ॥ ८ ॥

पुरा स्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम्।
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ ॥ ९ ॥

वह आकाशवाणी इस प्रकार है—'पूर्वकालमें अनन्त आकाश पर्वतके समान निश्चल था। उसमें चन्द्रमा, सूर्य अथवा वायु किसीके दर्शन नहीं होते थे। वह सोया हुआ-सा जान पड़ता था ॥ ९ ॥

[illegible] सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः।
तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः ॥ १० ॥

'तदनन्तर आकाशसे जलकी उत्पत्ति हुई; मानो अन्धकारमें ही दूसरा अन्धकार प्रकट हुआ हो। उस जलप्रवाहसे वायुका उत्थान हुआ ॥ १० ॥

यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते।
तच्चाम्भसा पूर्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥ ११ ॥

'जैसे कोई छिद्ररहित पात्र निःशब्द-सा लक्षित होता है; परंतु जब उसमें छिद्र करके जल भरा जाता है, तब वायु उसमें आवाज [illegible] कर देती है ॥ ११ ॥

[illegible] सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे।
भित्त्वार्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥ १२ ॥

'इसी प्रकार जलसे आकाशका सारा प्रान्त ऐसा अवरुद्ध हो गया था कि उसमें कहीं थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं [illegible]। [illegible] उस एकार्णवके तलप्रदेशका भेदन करके वहीं भारी आवाजके [illegible] वायुका प्राकट्य हुआ ॥ १२ ॥

स [illegible] चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः।
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥ १३ ॥

'इस प्रकार समुद्रके जलसमुदायसे प्रकट हुई यह वायु सर्वत्र विचरने लगी और आकाशके किसी भी स्थानमें पहुँचकर वह शान्त नहीं हुई ॥ १३ ॥

तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः।
प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः ॥ १४ ॥

'वायु और जलके उस संघर्षसे अत्यन्त तेजोमय महाबली अग्निदेवका प्राकट्य हुआ, जिनकी लपटें ऊपरकी ओर उठ रही थीं। वह आग आकाशके सारे अन्धकारको नष्ट करके प्रकट हुई थी ॥ १४ ॥

अग्निः पवनसंयुक्तः खं समाक्षिपते जलम्।
सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते ॥ १५ ॥

'वायुका संयोग पाकर अग्नि जलको आकाशमें उछालने लगी; फिर वही जल अग्नि और वायुके संयोगसे घनीभूत हो गया ॥ १५ ॥

तस्याकाशे निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः।
स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥ १६ ॥

'उसका जो वह गीलापन आकाशमें गिरा, वही घनीभूत होकर पृथ्वीके रूपमें परिणत हो गया ॥ १६ ॥

रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा।
भूमिर्योनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥ १७ ॥

'इस पृथ्वीको सम्पूर्ण रसों, गन्धों, स्नेहों तथा प्राणियोंका कारण समझना चाहिये। इसीसे सबकी उत्पत्ति होती है' ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे मानसभूतोत्पत्तिकथने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु और भरद्वाजसंवादके प्रसङ्गमें मानसभूतोंकी उत्पत्तिका वर्णनविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८३ ॥

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतोंके गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन

भरद्वाज उवाच

य एते धातवः पञ्च ब्रह्मा यानसृजत् पुरा।
आवृता यैरिमे लोका महाभूताभिसंज्ञिताः ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन्! लोकोंमें ये पाँच धातु ही 'महाभूत' कहलाते हैं, जिन्हें ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें रचा था। ये ही इन समस्त लोकोंमें व्याप्त हैं ॥ १ ॥

यदासृजत् सहस्राणि भूतानां स महामतिः।
पञ्चानामेव भूतत्वं कथं समुपपद्यते ॥ २ ॥

परंतु जब महाबुद्धिमान् ब्रह्माजीने और भी हजारों भूतोंकी रचना की है; तब इन पाँचको ही 'भूत' कहना कहाँतक युक्तिसंगत है? ॥ २ ॥

भृगुरुवाच

अमितानां महाशब्दो यान्ति भूतानि सम्भवम्।
ततस्तेषां महाभूतशब्दोऽयमुपपद्यते ॥ ३ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! ये पाँच भूत ही असीम हैं, इसलिये इन्हींके साथ 'महा' शब्द जोड़ा जाता है। इन्हींसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है; अतः इन्हींके लिये 'महाभूत' शब्दका प्रयोग सुसंगत है ॥ ३ ॥

चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवः।
पृथिवी चात्र संघातः शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ ४ ॥

प्राणियोंका शरीर इन पाँच महाभूतोंका ही संघात है। इसमें जो चेष्टा या गति है, वह वायुका भाग है। जो खोखलापन है, वह आकाशका अंश है। ऊष्मा (गर्मी) अग्निका अंग है। लोहू आदि द्रव पदार्थ जलके अंश हैं और हड्डी मांस आदि ठोस पदार्थ पृथ्वीके अंश हैं ॥ ४ ॥

इत्येतैः पञ्चभिर्भूतैर्युक्तं स्थावरजङ्गमम्।
श्रोत्रं घ्राणं रसः स्पर्शो दृष्टिश्चेन्द्रियसंज्ञिताः ॥ ५ ॥

इस प्रकार सारा स्थावर-जङ्गम जगत् इन पाँच भूतोंसे युक्त है। इन्हींके सूक्ष्म अंश श्रोत्र (कान), घ्राण (नासिका), रसना, त्वचा और नेत्र—इन पाँच इन्द्रियोंके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥

भरद्वाज उवाच

पञ्चभिर्यदि भूतैस्तु युक्ताः स्थावरजङ्गमाः।
स्थावराणां न दृश्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥ ६ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन्! आपके कथनानुसार यदि समस्त स्थावर-जङ्गम पदार्थ इन पाँच महाभूतोंसे ही संयुक्त हैं तो स्थावरोंके शरीरोंमें तो पाँच भूत नहीं दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

अनूष्मणामचेष्टानां घनानां चैव तत्त्वतः।
वृक्षाणां नोपलभ्यन्ते शरीरे पञ्च धातवः ॥ ७ ॥

वृक्षोंके शरीरमें गर्मी नहीं है, कोई चेष्टा भी नहीं है तथा वास्तवमें वे घन हैं; अतः उनके शरीरमें पाँचों भूतोंकी उपलब्धि नहीं होती है ॥ ७ ॥

न शृण्वन्ति न पश्यन्ति न गन्धरसवेदिनः।
न च स्पर्शं विजानन्ति ते कथं पाञ्चभौतिकाः ॥ ८ ॥

वे न सुनते हैं, न देखते हैं, न गन्ध और रसका ही अनुभव करते हैं और न उन्हें स्पर्शका ही ज्ञान होता है; फिर वे पाञ्चभौतिक कैसे कहे जाते हैं? ॥ ८ ॥

अद्रवत्वादनग्नित्वादभूमित्वादवायुतः।
आकाशस्याप्रमेयत्वाद् वृक्षाणां नास्ति भौतिकम् ॥ ९ ॥

उनमें न तो द्रवत्व देखा जाता है, न अग्निका अंश, न पृथ्वी और वायुका ही भाग उपलब्ध होता है। आकाश तो अप्रमेय है; अतः वह भी वृक्षोंमें नहीं है, इसलिये वृक्षोंकी पाञ्चभौतिकता नहीं सिद्ध होती है ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच

घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः।
तेषां पुष्पफलव्यक्तिर्नित्यं समुपपद्यते ॥ १० ॥

भृगुजीने कहा—मुने! यद्यपि वृक्ष ठोस जान पड़ते हैं तो भी उनमें आकाश है, इसमें संशय नहीं है। इसीसे उनमें नित्यप्रति फल-फूल आदिकी उत्पत्ति सम्भव हो सकती है ॥

ऊष्मतो म्लायते पर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥ ११ ॥

वृक्षोंके भीतर जो ऊष्मा या गर्मी है, उसीसे उनके पत्ते, छाल, फल, फूल कुम्हलाते हैं, मुरझाकर झड़ जाते हैं; इससे उनमें स्पर्शका होना भी सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥ १२ ॥

यह भी देखा जाता है कि वायु, अग्नि और बिजलीकी कड़क आदि भीषण शब्द होनेपर वृक्षोंके फल-फूल झड़कर गिर जाते हैं। शब्दका ग्रहण तो श्रवणेन्द्रियसे ही होता है;

इससे यह सिद्ध हुआ कि वृक्ष भी सुनते हैं ॥ १२ ॥

वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति ।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः॥ १३ ॥

लता वृक्षको चारों ओरसे लपेट लेती है और उसके ऊपरी भागतक चढ़ जाती है। बिना देखे किसीको अपने जानेका मार्ग नहीं मिल सकता; इससे सिद्ध है कि वृक्ष देखते भी हैं ॥ १३ ॥

पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि ।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥ १४ ॥

पवित्र और अपवित्र गन्धसे तथा नाना प्रकारके धूपोंकी गन्धसे वृक्ष नीरोग होकर फूलने-फलने लग जाते हैं; इससे प्रमाणित होता है कि वृक्ष भी सूँघते हैं ॥ १४ ॥

पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात् ।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥ १५ ॥

वृक्ष अपनी जड़से जल पीते हैं और कोई रोग होनेपर जड़में ओषधि डालकर उनकी चिकित्सा भी की जाती है; इससे सिद्ध है कि वृक्षमें रसनेन्द्रिय भी है ॥ १५ ॥

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत् ।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥ १६ ॥

जैसे मनुष्य कमलकी नाल मुँहमें लगाकर उसके द्वारा ऊपरको जल खींचता है, उसी तरह वायुकी सहायतासे युक्त वृक्ष अपनी जड़ोंद्वारा ऊपरकी ओर पानी खींचता है ॥१६॥

सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

वृक्ष कट जानेपर उनमें नया अंकुर उत्पन्न हो जाता है और वे सुख-दुःखको ग्रहण करते हैं। इससे मैं देखता हूँ कि वृक्षोंमें जीव भी हैं। वे अचेतन नहीं हैं ॥ १७ ॥

तेन तज्जलमादत्तं जरयत्यग्निमारुतौ ।
आहारपरिणामाच्च स्नेहो वृद्धिश्च जायते ॥ १८ ॥

वृक्ष अपनी जड़से जो जल खींचता है, उसे उसके अंदर रहनेवाली वायु और अग्नि पचाती है। आहारका परिपाक होनेसे वृक्षमें स्निग्धता आती है और वे बढ़ते हैं ॥

जङ्गमानां च सर्वेषां शरीरे पञ्च धातवः ।
प्रत्येकशः प्रभिद्यन्ते यैः शरीरं विचेष्टते ॥ १९ ॥

समस्त जङ्गमोंके शरीरोंमें भी पाँच भूत रहते हैं; परंतु वहाँ उनके स्वरूपमें भेद होता है। उन पाँच भूतोंके सहयोगसे ही शरीर चेष्टाशील होता है ॥ १९ ॥

त्वक् च मांसं तथास्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम् ।
इत्येतदिह संघातं शरीरे पृथिवीमयम् ॥ २० ॥

शरीरमें त्वचा, मांस, हड्डी, मज्जा और स्नायु—इन पाँच वस्तुओंका समुदाय पृथ्वीमय है ॥ २० ॥

तेजो ह्यग्निस्तथा क्रोधश्चक्षुरूष्मा तथैव च ।
अग्निर्जरयते यच्च पञ्चाग्नेयाः शरीरिणः ॥ २१ ॥

तेज, क्रोध, नेत्र, ऊष्मा और जठरानल—ये पाँच वस्तुएँ देहधारियोंके शरीरमें अग्निमय हैं ॥ २१ ॥

श्रोत्रं घ्राणं तथाऽऽस्यं च हृदयं कोष्ठमेव च ।
आकाशात् प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः ॥ २२ ॥

कान, नासिका, मुख, हृदय और उदर प्राणियोंके शरीरमें ये पाँच धातुमय खोखलापन आकाशसे उत्पन्न हुए हैं—॥ २२ ॥

श्लेष्मा पित्तमथ स्वेदो वसा शोणितमेव च ।
इत्यापः पञ्चधा देहे भवन्ति प्राणिनां सदा ॥ २३ ॥

कफ, पित्त, स्वेद, चर्बी और रुधिर—ये प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाली पाँच गीली वस्तुएँ जलरूप हैं ॥ २३ ॥

प्राणात् प्रणीयते प्राणी व्यानाद् व्यायच्छते तथा ।
गच्छत्यपानोऽधश्चैव समानो हृद्यवस्थितः ॥ २४ ॥
उदानादुच्छ्वसिति च प्रतिभेदाच्च भाषते ।
इत्येते वायवः पञ्च चेष्टयन्तीह देहिनम् ॥ २५ ॥

प्राणसे प्राणी चलने-फिरनेका काम करता है, व्यानसे व्यायाम (बलसाध्य उद्यम) करता है, अपान वायु ऊपरसे नीचेकी ओर जाती है, समान वायु हृदयमें स्थित होती है, उदानसे पुरुष उच्छ्वास लेता है और कण्ठ, तालु आदि स्थानोंके भेदसे शब्दों एवं अक्षरोंका उच्चारण करता है। इस प्रकार ये पाँच वायुके परिणाम हैं, जो शरीरधारीको चेष्टाशील बनाते हैं ॥ २४-२५ ॥

भूमेर्गन्धगुणान् वेत्ति रसं चाद्भ्यः शरीरवान् ।
ज्योतिषा चक्षुषा रूपं स्पर्शं वेत्ति च वाहिना ॥ २६ ॥

जीव भूमिसे ही (अर्थात् घ्राणेन्द्रियद्वारा) गन्ध गुणका अनुभव करता है, जलसम्बन्धी इन्द्रिय रसनासे शरीरधारी पुरुष रसका आस्वादन करता है, तेजोमय नेत्रके द्वारा रूपका तथा वायुसम्बन्धी त्वगिन्द्रियके द्वारा उसे स्पर्शका ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

गन्धः स्पर्शो रसो रूपं शब्दश्चात्र गुणाः स्मृताः ।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तराभिहितान् गुणान् ॥२७॥

गन्ध, स्पर्श, रस, रूप और शब्द—ये पृथ्वीके गुण माने गये हैं। इनमेंसे प्रधान गन्धके गुणोंका मैं विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ ॥ २७ ॥

इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरः कटुरेव च ।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ॥ २८ ॥
एवं नवविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्धविस्तरः ।

अनुकूल, प्रतिकूल, मधुर, कटु, निर्हारी अर्थात् दूरसे आनेवाली, तेज गन्धमिश्रित, स्निग्ध, रूक्ष और विशद—ये गन्धके नौ भेद जानने चाहिये। इस प्रकार पार्थिव गन्धका विस्तार बताया गया ॥ २८½ ॥

ज्योतिः पश्यति चक्षुर्भ्यां स्पर्शं वेत्ति च वायुना ।२९।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि गुणाः स्मृताः ।

रसज्ञानं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३० ॥

मनुष्य दोनों नेत्रोंसे रूपको देखता है और त्वगिन्द्रियसे स्पर्शका अनुभव करता है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये जलके गुण माने गये हैं। उनमें प्रधान गुण रस है, उसकी जानकारीके लिये अब मैं उसके भेदोंका वर्णन करता हूँ। तुम उसे मेरे मुँहसे सुनो ॥ २९-३० ॥

रसो बहुविधः प्रोक्त ऋषिभिः प्रथितात्मभिः।
मधुरो लवणस्तिक्तः कषायोऽम्लः कटुस्तथा ॥ ३१ ॥

उदारचेता महर्षियोंने रसके अनेक भेद बताये हैं—मधुर, लवण, तिक्त, कषाय, अम्ल और कटु। इन छः रूपोंमें विस्तारको प्राप्त हुआ रस जलमय माना गया है ॥ ३१ ॥

एष षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते ॥ ३२ ॥
ज्योतिः पश्यति रूपाणि रूपं च बहुधा स्मृतम्।

शब्द, स्पर्श और रूप—ये अग्निके तीन गुण बताये जाते हैं। ज्योतिर्मय नेत्र रूपको देखते हैं। अग्निके प्रधान गुण रूपको भी अनेक प्रकारका माना गया है ॥ ३२½ ॥

ह्रस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरस्रोऽनुवृत्तवान् ॥ ३३ ॥
शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलारुणस्तथा।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो मृदुदारुणः ॥ ३४ ॥
एवं षोडशविस्तारो ज्योतीरूपगुणः स्मृतः।

ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चौकोर और सब ओरसे गोल, सफेद, काला, लाल, पीला और आकाशकी भाँति नीला, कठिन, चिक्कण, अल्प, पिच्छिल, मृदु और दारुण—इस प्रकार ज्योतिर्मय रूपनामक गुण सोलह भेदोंमें विस्तारको प्राप्त हुआ है ॥ ३३-३४½ ॥

शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरित्युत ॥ ३५ ॥
वायव्यस्तु गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः।

वायुके दो गुण जानने चाहिये—शब्द और स्पर्श। वायुका प्रमुख गुण स्पर्श ही है, जिसके अनेक भेद माने गये हैं—॥ ३५½ ॥

उष्णः शीतः सुखो दुःखः स्निग्धो विशद एव च ॥ ३६ ॥
तथा खरो मृदू रूक्षो लघुर्गुरुतरोऽपि च।
एवं द्वादशधा स्पर्शो वायव्यो गुण उच्यते ॥ ३७ ॥

उष्ण, शीत, सुख, दुःख, स्निग्ध, विशद, खर, मृदु, रूक्ष, हल्का, भारी और अधिक भारी—इस प्रकार वायु-सम्बन्धी स्पर्श गुणके बारह भेद कहे जाते हैं ॥ ३६-३७ ॥

तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव तत्स्मृतम्।
तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरं विविधात्मकम् ॥ ३८ ॥
षड्ज ऋषभगान्धारौ मध्यमो धैवतस्तथा।
पञ्चमश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान् ॥ ३९ ॥
एष सप्तविधः प्रोक्तो गुण आकाशसम्भवः।

आकाशका एकमात्र गुण शब्द ही माना गया है। उस शब्दगुणका अनेक भेदोंमें जो विस्तार हुआ है, उसका वर्णन करता हूँ—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद—ये आकाशजनित शब्दगुणके सात भेद बताये गये हैं, जिन्हें जानना चाहिये ॥ ३८-३९½ ॥

ऐश्वर्येण तु सर्वत्र स्थितोऽपि पटहादिषु ॥ ४० ॥
मृदङ्गभेरीशङ्खानां स्तनयित्नो रथस्य च।
यः कश्चिच्छ्रूयते शब्दः प्राणिनोऽप्राणिनोऽपि वा।
एतेषामेव सर्वेषां विषये सम्प्रकीर्तितः ॥ ४१ ॥

अपने व्यापक स्वरूपसे तो शब्द सर्वत्र है, किंतु पटह (नगाड़े) आदिमें इसकी विशेषरूपसे अभिव्यक्ति होती है। मृदङ्ग, भेरी, शङ्ख, मेघ तथा रथकी घर्घराहट आदिमें जो कुछ शब्द सुना जाता है और जड या चेतनका जो कुछ भी शब्द श्रवणगोचर होता है, वह सब इन सात भेदोंके ही अन्तर्गत बताया गया है ॥ ४०-४१ ॥

एवं बहुविधाकारः शब्द आकाशसम्भवः।
आकाशजं शब्दमाहुरेभिर्वायुगुणैः सह ॥ ४२ ॥

इस प्रकार आकाशजनित शब्दके अनेक भेद हैं। वायुसम्बन्धी गुणोंके साथ ही आकाशजनित शब्द होता है; ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं ॥ ४२ ॥

अव्याहतैश्चेतयते न वेत्ति विषमस्थितैः।
आप्यायन्ते च ते नित्यं धातवस्तैस्तु धातुभिः ॥ ४३ ॥

जब वायुसम्बन्धी गुण बाधित न होकर शब्दके साथ रहता है, तब मनुष्य शब्दको सुनता और समझता है; किंतु जब वायुसम्बन्धी गुण दीवार अथवा प्रतिकूल वायुसे बाधित होकर विषम अवस्थामें स्थित हो जाते हैं, तब शब्दका ग्रहण नहीं होता है। वे शब्द आदिके उत्पादक धातु (इन्द्रिय-गोलक) धातुओं (इन पाँचों भूतों) द्वारा ही पोषित होते हैं ॥

आपोऽग्निर्मारुतश्चैव नित्यं जाग्रति देहिषु।
मूलमेते शरीरस्य व्याप्य प्राणानिह स्थिताः ॥ ४४ ॥

जल, अग्नि और वायु—ये तीन तत्त्व सदा देहधारियोंमें जाग्रत् रहते हैं। ये ही शरीरके मूल हैं और प्राणोंमें ओतप्रोत होकर शरीरमें स्थित रहते हैं ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

शरीरके भीतर [illegible] तथा प्राण-अपान आदि वायुओंकी स्थिति आदिका वर्णन

भरद्वाज उवाच

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं प्रभो ।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो ! शरीरके भीतर रहनेवाली अग्नि पार्थिव धातु (पाञ्चभौतिक देह) का आश्रय लेकर कैसे रहती है और वायु भी उसी पार्थिव धातुका आश्रय लेकर अवकाश विशेषके द्वारा देहको कैसे चेष्टाशील बनाती है ? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

वायोर्गतिमहं [illegible] कथयिष्यामि तेऽनघ ।
प्राणिनामनिलो देहान् [illegible] चेष्टयते बली ॥ २ ॥

भृगुने कहा—ब्रह्मन् ! निष्पाप महर्षे ! मैं तुमसे वायुकी गतिका वर्णन करता हूँ । [illegible] वायु प्राणियोंके शरीरोंको किस प्रकार चेष्टाशील बनाती है ! यह बताता हूँ ॥

श्रितो मूर्धानमात्मा [illegible] शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ॥ ३ ॥

आत्मा मस्तकके रन्ध्रस्थानमें स्थित होकर सम्पूर्ण शरीरकी रक्षा [illegible] है और प्राण मस्तक तथा अग्नि दोनोंमें स्थित होकर शरीरको चेष्टाशील बनाता है ॥ ३ ॥

स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः ।
मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानि विषयश्च सः ॥ ४ ॥

वह प्राणसे संयुक्त [illegible] ही जीव है, वही सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा सनातन पुरुष है । वही मन, बुद्धि, अहंकार, पाँचों भूत और विषयरूप हो रहा है ॥ ४ ॥

एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिचाल्यते ।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः ॥ ५ ॥

इस प्रकार (जीवात्मासे संयुक्त हुए) प्राणके द्वारा शरीरके भीतरके [illegible] विभाग तथा इन्द्रिय आदि सारे [illegible] अङ्ग परिचालित होते हैं । तत्पश्चात् समान वायुके रूपमें परिणत हो प्राण ही अपनी-अपनी गतिके आश्रित शरीरका संचालक होता है ॥ ५ ॥

बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः ।
वहन्मूत्रं पुरीषं [illegible] परिवर्तते ॥ ६ ॥

अपान वायु जठरानल, मूत्राशय और गुदाका आश्रय ले [illegible] एवं मूत्रको निकालता हुआ ऊपरसे नीचेको घूमता रहता है ॥ ६ ॥

प्रयत्ने कर्मणि बले [illegible] एकस्त्रिषु वर्तते ।
उदान इति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ ७ ॥

जिस एक ही वायुकी प्रयत्न, कर्म और बल तीनोंमें प्रवृत्ति होती है, उसे अध्यात्मतत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंने उदान कहा है ॥ ७ ॥

संधिष्वपि च सर्वेषु संनिविष्टस्तथानिलः ।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

जो मनुष्योंके शरीरोंमें और उनकी समस्त संधियोंमें भी व्याप्त है, उस वायुको 'व्यान' कहते हैं ॥ ८ ॥

धातुष्वग्निस्तु विततः समानेन समीरितः ।
रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन्नवतिष्ठते ॥ ९ ॥

शरीरके समस्त धातुओंमें व्याप्त जो अग्नि है, वह समान वायुद्वारा संचालित होती है । वह [illegible] वायु ही शरीरगत रसों, धातुओं (इन्द्रियों) और दोषों ([illegible] आदि) का संचालन करती हुई सम्पूर्ण शरीरमें स्थित है ॥ ९ ॥

अपानप्राणयोर्मध्ये प्राणापानसमाहितः ।
समन्वितस्त्वधिष्ठानं सम्यक्पचति पावकः ॥ १० ॥

अपान और प्राणके मध्यभाग (नाभि) में प्राण और अपान दोनोंका आश्रय लेकर स्थित हुआ जठरानल खाये हुए अन्नको भलीभाँति पचाता है ॥ १० ॥

आस्यं हि पायुपर्यन्तमन्ते स्याद् गुदसंज्ञितम् ।
स्रोतस्तस्मात् प्रजायन्ते सर्वस्रोतांसि देहिनाम् ॥ ११ ॥

मुखसे लेकर पायु (गुदा) [illegible] जो महान् स्रोत (प्राणके प्रवाहित होनेका मार्ग) है, वही अन्तिम छोरमें गुदाके नामसे प्रसिद्ध है । उसी महान् स्रोतसे देहधारियोंके अन्य सभी छोटे-छोटे स्रोत (प्राणोंके संचरणके मार्ग अथवा नाड़ीसमुदाय) प्रकट होते हैं ॥ ११ ॥

प्राणानां संनिपाताच्च संनिपातः प्रजायते ।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम् ॥ १२ ॥

उन स्रोतोंद्वारा सारे अङ्गोंमें प्राणोंका सम्बन्ध या प्रसार होनेसे उसके साथ रहनेवाले जठरानलका भी सम्बन्ध या प्रसार हो जाता है । प्राणियोंके शरीरमें जो गर्मीका अनुभव होता है, उसे उस जठरानलका ही ताप समझना चाहिये । वही देहधारियोंके खाये हुए अन्नको पचाता है ॥ १२ ॥

अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते ।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम् ॥ १३ ॥

अग्निके वेगसे बहता हुआ प्राण गुदाके निकट जाकर प्रतिहत हो जाता है; फिर ऊपरकी ओर लौटकर समीपवर्ती अग्निको भी ऊपर उठा देता है ॥ १३ ॥

पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः ।
नाभिमध्ये शरीरस्य सर्वे प्राणाश्च संस्थिताः ॥ १४ ॥

नाभिसे नीचे पक्वाशय और ऊपर आमाशय स्थित है तथा नाभिके मध्यभागमें शरीरसम्बन्धी सभी प्राण स्थित हैं ॥

प्रस्थिता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दश प्राणप्रचोदिताः ॥ १५ ॥

वे समस्त प्राण हृदयसे इधर-उधर और ऊपर नीचे

प्रस्थान करते हैं; इसलिये दसों प्राणोंसे परिचालित होकर सारी नाड़ियाँ [illegible] रस वहन करती हैं ॥ १५ ॥

एष मार्गोऽथ योगानां येन गच्छन्ति तत्पदम्।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधन् ॥ १६ ॥

यह मुखसे लेकर गुदातकका जो महान् स्रोत है, वह योगियोंका मार्ग है। उससे वे योगी परमपदको [illegible] होते हैं, जिन्होंने सारे क्लेशोंको जीत लिया है, जो सर्वत्र समदर्शी और धीर हैं तथा जिन महात्माओंने सुषुम्णा नाड़ीके द्वारा मस्तकमें पहुँचकर वहीं अपने आपको स्थित कर दिया है॥

एवं सर्वेषु विहितः प्राणापानेषु देहिनाम्।
तस्मिन् समिध्यते नित्यमग्निः स्थाल्यामिवाहितः ॥ १७॥

प्राणियोंके प्राण, अपान आदि सभी वायुओंमें स्थापित हुई जठराग्नि शरीरमें ही रहकर सदा अग्निकुण्डमें रखी हुई अग्निकी भाँति प्रज्वलित होती रहती है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८५ ॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

जीवकी सत्तापर नाना प्रकारकी युक्तियोंसे शंका उपस्थित करना

भरद्वाज उवाच

यदि प्राणयते वायुर्वायुरेव विचेष्टते।
श्वसित्याभाषते चैव तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन्! यदि वायु ही प्राणीको जीवित रखती है, वायु ही शरीरको चेष्टाशील बनाती है, वही साँस लेती और वही बोलती भी है, तब तो इस शरीरमें जीव- [illegible] सत्ता स्वीकार करना व्यर्थ ही है ॥ १ ॥

यद्यूष्मभाव आग्नेयो वह्निना पच्यते यदि।
अग्निर्जरयते चैतत् तस्माज्जीवो निरर्थकः ॥ २ ॥

यदि शरीरमें गर्मी अग्निका अंश है, यदि अग्निसे [illegible] खाये हुए अन्नका परिपाक होता है, यदि अग्नि ही सबको जीर्ण करती है, तब तो जीवकी सत्ता मानना व्यर्थ ही है॥

जन्तोः प्रमीयमाणस्य जीवो नैवोपलभ्यते।
वायुरेव जहात्येनमूष्मभावश्च नश्यति ॥ ३ ॥

जब किसी प्राणीकी मृत्यु होती है; [illegible] वहाँ जीवकी उपलब्धि नहीं होती। प्राणवायु ही इस प्राणीका परित्याग करती है और शरीरकी गर्मी नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

यदि वायुमयो जीवः संश्लेषो यदि वायुना।
वायुमण्डलवद् दृश्यो गच्छेत् सह मरुद्गणैः ॥ ४ ॥

यदि जीव वायुमय है, यदि वायुसे उसका घनिष्ठ सम्पर्क है, तब तो वायुमण्डलके समान उसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आना चाहिये। [illegible] मृत्युके पश्चात् वायुके साथ ही जाता हुआ दिखायी देना चाहिये ॥ ४ ॥

संश्लेषो यदि वातेन यदि तस्मात् प्रणश्यति।
महार्णवविमुक्तत्वादन्यत् सलिलभाजनम् ॥ ५ ॥

यदि वायुके साथ जीवका [illegible] संयोग है और उसीके कारण वह वायुके साथ ही नष्ट हो जाता है, तब तो [illegible] जलपात्रमें पत्थर भरकर उसे कोई समुद्रमें [illegible] दे और वह डूब जाय, उसी प्रकार वायुके सम्पर्कसे ही जीवका विनाश मानना पड़ेगा। उस दशामें जैसे प्रस्तरसे पृथक् जलपात्रकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार प्राणवायुसे पृथक् जीवकी उपलब्धि होनी चाहिये ॥ ५ ॥

कूपे वा सलिलं दद्यात् प्रदीपं [illegible] हुताशने।
क्षिप्रं प्रविश्य नश्येत यथा नश्यत्यसौ तथा ॥ ६ ॥
पञ्चधारणके ह्यस्मिन् शरीरे जीवितं कुतः।
तेषामन्यतराभावाच्चतुर्णां नास्ति संशयः ॥ ७ ॥

अथवा जैसे कुओंमें जल गिराया जाय या जलती आग- [illegible] जला हुआ दीपक डाल दिया जाय, तो वे दोनों शीघ्र ही उनमें प्रविष्ट होकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठते हैं। उसी प्रकार पाञ्चभौतिक शरीरका नाश होनेपर जीव भी पाँचों तत्त्वमें विलीन होकर अपने पृथक् अस्तित्वसे रहित हो जाना चाहिये। ऐसा मान लेनेपर तो पाँच भूतोंसे धारण किये हुए इस शरीरमें जीव है ही कहाँ? अतः [illegible] सिद्ध हुआ कि पाञ्चभौतिक संघातसे भिन्न जीव नहीं है; उन पाँच तत्त्वों- [illegible] किसी एकका अभाव होनेपर शेष चारोंका भी अभाव हो जाता है—इसमें संशय नहीं है ॥ ६-७ ॥

नश्यन्त्यापो ह्यनाहाराद् वायुरुच्छ्वासनिग्रहात्।
नश्यते कोष्ठभेदात् खमग्निर्नश्यत्यभोजनात् ॥ ८ ॥

जलका सर्वथा त्याग करनेसे शरीरके जलीय अंशका नाश हो जाता है, श्वास रुक जानेसे वायुका [illegible] होता है। उदरका भेदन होनेसे आकाशतत्त्व नष्ट होता है और भोजन बंद कर देनेसे शरीरके अग्नितत्त्वका नाश हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याधिव्रणपरिक्लेशैर्मेदिनी चैव शीर्यते।
पीडितेऽन्यतरे ह्येषां संघातो याति पञ्चधा ॥ ९ ॥

ज्वर आदि रोग, घाव तथा अन्यान्य प्रकारके क्लेशोंसे शरीरका पृथ्वीतत्त्व बिखर जाता है। इन पाँचों तत्त्वोंमेंसे एक

१. प्राणवायुके दस भेद इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान [illegible] नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय।

तत्त्वको भी यदि हानि पहुँची तो इनका सारा संघात ही पञ्चत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

तस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने जीवः किमनुधावति ।
किं वेदयति वा जीवः किं शृणोति ब्रवीति च ॥ १० ॥

पाञ्चभौतिक संघात (शरीर) के नष्ट होनेपर यदि जीव है तो वह किसके पीछे दौड़ता है ? क्या अनुभव करता है ? क्या सुनता है और क्या बोलता है ? ॥ १० ॥

एषा गौः परलोकस्थं तारयिष्यति मामिति ।
यो दत्त्वा म्रियते जन्तुः सा गौः कं तारयिष्यति ॥ ११ ॥

मृत्युके समय लोग इस आशासे गोदान करते हैं कि यह गौ परलोकमें जानेपर मुझे तार देगी; परंतु जीव तो गोदान करके मर जाता है; फिर वह गौ किसको तारेगी ? ॥

गौश्च प्रतिग्रहीता च दाता चैव समं यदा ।
इहैव विलयं यान्ति कुतस्तेषां समागमः ॥ १२ ॥

गौ, गोदान करनेवाला मनुष्य तथा उसको लेनेवाला ब्राह्मण—ये तीनों जब यहीं मर जाते हैं, तब परलोकमें उनका कैसे समागम होता है ? ॥ १२ ॥

विहगैरुपभुक्तस्य शैलाग्रात् पतितस्य च ।
अग्निना चोपयुक्तस्य कुतः संजीवनं पुनः ॥ १३ ॥

इनमेंसे जो मरता है, उसे या तो पक्षी खा जाते हैं या वह पर्वतके शिखरसे गिरकर चूर-चूर हो जाता है अथवा आगमें जलकर भस्म हो जाता है। ऐसी दशामें उनका पुनः जीवित होना कैसे सम्भव है ? ॥ १३ ॥

छिन्नस्य यदि वृक्षस्य न मूलं प्रतिरोहति ।
बीजान्यस्य प्रवर्तन्ते मृतः [illegible] पुनरेष्यति ॥ १४ ॥

यदि जड़से कटे हुए वृक्षका मूल फिर अङ्कुरित नहीं होता है, केवल उसके बीज ही जमते हैं, तब मरा हुआ मनुष्य फिर कहाँसे आ जायगा ? ॥ १४ ॥

बीजमात्रं पुरा सृष्टं यदेतत् परिवर्तते ।
मृतामृताः प्रणश्यन्ति बीजाद् बीजं प्रवर्तते ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें बीजमात्रकी सृष्टि हुई थी, जिससे यह जगत् चलता आ रहा है। जो लोग मर जाते हैं, वे तो [illegible] हो जाते हैं और बीजसे बीज पैदा होता रहता है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जीवस्वरूपाक्षेपे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जीवके स्वरूपपर आक्षेपविषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

जीवकी सत्ता तथा नित्यताको युक्तियोंसे सिद्ध करना

भृगुरुवाच

न प्रणाशोऽस्ति जीवस्य दत्तस्य च कृतस्य च ।
याति देहान्तरं प्राणो शरीरं [illegible] विशीर्यते ॥ १ ॥

भृगुजीने कहा—ब्रह्मन् ! जीवका तथा उसके दिये हुए दान एवं किये हुए कर्मका कभी नाश नहीं होता है। जीव तो दूसरे शरीरमें चला जाता है, केवल उसका छोड़ा हुआ शरीर ही यहाँ नष्ट होता है ॥ १ ॥

न शरीराश्रितो जीवस्तस्मिन् नष्टे प्रणश्यति ।
समिधामिव दग्धानां यथाग्निर्दृश्यते तथा ॥ २ ॥

शरीरके आश्रयसे रहनेवाला जीव उसके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता है। जैसे समिधाओंके आश्रित हुई आग उनके [illegible] जानेपर भी देखी जाती है, उसी प्रकार जीवकी सत्ताका भी [illegible] अनुभव होता है ॥ [illegible] ॥

भरद्वाज उवाच

अग्नेर्यथा तथा तस्य यदि नाशो न विद्यते ।
इन्धनस्योपयोगान्ते स चाग्निर्नोपलभ्यते ॥ ३ ॥

भरद्वाजने पूछा—भगवन् ! यदि अग्निके समान जीवका नाश नहीं होता तो ईंधनके जल जानेपर वह भी तो [illegible] ही जाती है; फिर उसकी तो उपलब्धि नहीं होती है ॥३॥

नश्यतीत्येव जानामि शान्तमग्निमनिन्धनम् ।
गतिर्यस्य प्रमाणं वा संस्थानं वा न विद्यते ॥ [illegible] ॥

[illegible] मैं ईंधनरहित बुझी हुई आगको यही समझता हूँ कि वह [illegible] हो गयी; क्योंकि जिसकी गति, प्रमाण अथवा स्थिति नहीं है, उसका नाश भी मानना पड़ता है। यही दशा जीवकी भी है ॥ ४ ॥

भृगुरुवाच

समिधामुपयोगान्ते यथाग्निर्नोपलभ्यते ।
आकाशानुगतत्वाद्धि दुर्ग्राह्यो हि निराश्रयः ॥ ५ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! समिधाओंके जल जानेपर अग्निका नाश नहीं होता। [illegible] आकाशमें अव्यक्तरूपसे स्थित हो जाती है, इसलिये उसकी उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि बिना किसी आश्रयके अग्निका ग्रहण होना अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

तथा शरीरसंत्यागे जीवो ह्याकाशवत् स्थितः ।
न गृह्यते [illegible] सूक्ष्मत्वाद् यथा ज्योतिर्न संशयः ॥ ६ ॥

उसी प्रकार शरीरको त्याग देनेपर जीव आकाशकी भाँति स्थित होता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण बुझी हुई आगके समान अनुभवमें नहीं आता, परंतु रहता अवश्य है; इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

प्राणान् धारयते ह्यग्निः स जीव उपधार्यताम् ।

वायुसंधारणो ह्यग्निर्नश्यत्युच्छ्वासनिग्रहात्॥ ७॥

अग्नि प्राणोंको धारण करती है। जीवको उस अग्निके समान ही ज्योतिर्मय समझो। उस अग्निको वायु देहके भीतर धारण किये रहती है। श्वास रुक जानेपर वायुके साथ-साथ अग्नि भी नष्ट हो जाती है॥ ७॥

तस्मिन् नष्टे शरीराग्नौ ततो देहमचेतनम्।
पतितं याति भूमित्वमयनं तस्य हि क्षितिः॥ ८॥
जङ्गमानां हि सर्वेषां स्थावराणां तथैव च।
आकाशं पवनोऽन्वेति ज्योतिस्तमनुगच्छति।
तेषां त्रयाणामेकत्वाद् द्वयं भूमौ प्रतिष्ठितम्॥ ९॥

उस शरीराग्निके नष्ट होनेपर अचेतन शरीर पृथ्वीपर गिरकर पार्थिवभावको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि पृथ्वी ही उसका आधार है। सम्पूर्ण स्थावरों और जङ्गमोंकी प्राणवायु आकाशको प्राप्त होती है और अग्नि भी उस वायुका ही अनुसरण करती है। इस प्रकार आकाश, वायु और अग्नि—ये तीन तत्त्व एकत्र हो जाते हैं और जल तथा पृथ्वी—दो तत्त्व भूमिपर ही रह जाते हैं॥ ८-९॥

यत्र खं तत्र पवनस्तत्राग्निर्यत्र मारुतः।
अमूर्तयस्ते विज्ञेया मूर्तिमन्तः शरीरिणाम्॥ १०॥

जहाँ आकाश होता है, वहीं वायुकी स्थिति होती है और जहाँ वायु होती है, वहीं अग्नि भी रहती है। ये तीनों तत्त्व यद्यपि निराकार हैं तथापि देहधारियोंके शरीरोंमें स्थित होकर मूर्तिमान् समझे जाते हैं॥ १०॥

भरद्वाज उवाच

यद्यग्निमारुतौ भूमिः खमापश्च शरीरिषु।
जीवः किंलक्षणस्तत्रेत्येतदाचक्ष्व मेऽनघ॥ ११॥

भरद्वाजने पूछा—निष्पाप मुनिवर! यदि देहधारियोंके शरीरोंमें केवल अग्नि, वायु, भूमि, आकाश और जल—ये ही विद्यमान है तो उनमें रहनेवाले जीवके क्या लक्षण हैं? यह मुझे बताइये॥ ११॥

पञ्चात्मके पञ्चरतौ पञ्चविज्ञानचेतने।
शरीरे प्राणिनां जीवं वेत्तुमिच्छामि यादृशम्॥ १२॥

प्राणियोंका शरीर पाञ्चभौतिक है। पाँच विषयोंमें इसकी रति है। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और चित्त उपलब्ध होते हैं। इसमें रहनेवाले जीवका स्वरूप कैसा है; इस बातको मैं जानना चाहता हूँ॥ १२॥

मांसशोणितसंघाते मेदःस्नाय्वस्थिसंचये।
भिद्यमाने शरीरे तु जीवो नैवोपलभ्यते॥ १३॥

रक्त और मांसके समूह, चर्बी, नाड़ी और हड्डियोंके समूहरूपी इस शरीरको चीरने-फाड़नेपर इसके भीतर कोई जीव नहीं उपलब्ध होता॥ १३॥

यद्यजीवं शरीरं तु पञ्चभूतसमन्वितम्।
शारीरे मानसे दुःखे कस्तां वेदयते रुजम्॥ १४॥

यदि इस पाञ्चभौतिक शरीरको जीवरहित मान लिया जाय, तब प्रश्न यह होता है कि शरीर अथवा मनमें पीड़ा होनेपर उसके कष्टका अनुभव कौन करता है?॥ १४॥

शृणोति कथितं जीवः कर्णाभ्यां न शृणोति तत्।
महर्षे मनसि व्यग्रे तस्माज्जीवो निरर्थकः॥ १५॥

महर्षे! जीव किसीकी कही हुई बातको पहले दोनों कानोंसे सुनता है; परंतु यदि मनमें व्यग्रता रही तो वह सुनकर भी नहीं सुनता; इसलिये मनके अतिरिक्त किसी जीवकी सत्ता मानना व्यर्थ है॥ १५॥

सर्वं पश्यति यद् दृश्यं मनोयुक्तेन चक्षुषा।
मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति॥ १६॥

जो भी दृश्य पदार्थ है, उसे प्राणी तभी देख पाता है जब कि उसकी दृष्टिके साथ मनका संयोग हो। यदि मन व्याकुल हो तो उसकी आँख देखती हुई भी नहीं देख पाती है॥ १६॥

न पश्यति न चाघ्राति न शृणोति न भाषते।
न च स्पर्शरसौ वेत्ति निद्रावशगतः पुनः॥ १७॥

निद्राके वशमें पड़ा हुआ पुरुष (सम्पूर्ण इन्द्रियोंके होते हुए भी) न देखता है, न सूँघता है, न सुनता है, न बोलता है और न स्पर्श तथा रसका ही अनुभव करता है॥

हृष्यति क्रुध्यते कोऽत्र शोचत्युद्विजते च कः।
इच्छति ध्यायति द्वेष्टि वाचमीरयते च कः॥ १८॥

अतः यह जिज्ञासा होती है कि इस शरीरके अंदर कौन हर्ष और कौन क्रोध करता है? किसे शोक और उद्वेग होता है? इच्छा, ध्यान, द्वेष और बातचीत कौन करता है?॥

भृगुरुवाच

न पञ्चसाधारणमत्र किंचि-
च्छरीरमेको वहतेऽन्तरात्मा।
स वेत्ति गन्धांश्च रसाञ्छ्रुतीश्च
स्पर्शं च रूपं च गुणाश्च येऽन्ये॥ १९॥

भृगुजीने कहा—मुने! मन भी पाञ्चभौतिक ही है; अतः वह पाँचों भूतोंसे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। एकमात्र अन्तरात्मा ही इस शरीरका भार वहन करता है, वही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दका और दूसरे भी जो गुण हैं, उनका अनुभव करता है॥ १९॥

पञ्चात्मके पञ्चगुणप्रदर्शी
स सर्वगात्रानुगतोऽन्तरात्मा।
स वेत्ति दुःखानि सुखानि चात्र
तद्विप्रयोगात् तु न वेत्ति देहः॥ २०॥

वह अन्तरात्मा पाँचों इन्द्रियोंके गुणोंको धारण करनेवाले मनका द्रष्टा है और वही इस पाञ्चभौतिक शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंमें व्याप्त होकर सुख-दुःखका अनुभव करता है। जब उसका शरीरके साथ सम्बन्ध छूट जाता है, तब इस शरीरको सुख-

दुःखका भान नहीं होता है (इससे मनके अतिरिक्त उसके साक्षी आत्माकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है) ॥ २० ॥

यदा न रूपं न स्पर्शो नोष्मभावश्च पञ्चके।
तदा शान्ते शरीराग्नौ देहत्यागे न नश्यति ॥ २१ ॥

जब पाञ्चभौतिक शरीरमें रूप, स्पर्श और गर्मीका भान नहीं होता, उस अवस्थामें शरीरस्थित अग्निके शान्त हो जानेपर जीवात्मा इस शरीरको त्यागकर भी [illegible] नहीं होता ॥ २१ ॥

आपोमयमिदं सर्वमापो मूर्तिः शरीरिणाम्।
तत्रात्मा मानसो ब्रह्मा सर्वभूतेषु लोककृत् ॥ २२ ॥

यह सब प्रपञ्च जलमय है, प्राणियोंका यह शरीर भी प्रायः जलमय ही है। उसमें मनमें रहनेवाला आत्मा विद्यमान है। वही सम्पूर्ण भूतोंमें लोकस्रष्टा ब्रह्माके नामसे विख्यात है; क्योंकि समस्त जीवोंके संघातका ही नाम ब्रह्मा है ॥ २२ ॥

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव [illegible] विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥ २३ ॥

आत्मा जब प्राकृत गुणोंसे युक्त होता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं और उन्हीं गुणोंसे जब वह मुक्त हो [illegible] है, तब परमात्मा कहलाता है ॥ २३ ॥

आत्मानं तं विजानीहि सर्वलोकहितात्मकम्।
तस्मिन् यः संश्रितो देहे ह्यब्बिन्दुरिव पुष्करे ॥ २४ ॥

तुम क्षेत्रज्ञको आत्मा ही समझो। वह सर्वलोकहितकारी है। इस शरीरमें रहकर भी वह कमल-पत्रपर पड़े हुए जल-बिन्दुकी तरह वास्तवमें इससे पृथक् ही है ॥ २४ ॥

क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं लोकहितात्मकम्।
तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणानिमान् ॥ २५ ॥

उस क्षेत्रज्ञको सदा आत्मा ही जानो। वह सम्पूर्ण जगत्का हितस्वरूप है। तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनों प्राकृत गुणोंको प्रकृति-स्थित होनेके कारण जीवके गुण समझो ॥ २५ ॥

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति
[illegible] चेष्टते चेष्टयते [illegible] सर्वम्।
अतः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्रावर्तयद् यो भुवनानि सप्त ॥ २६ ॥

चेतन जीवके सम्बन्धसे उपर्युक्त जीवके गुणोंको चेतनायुक्त कहते हैं*। वह जीव स्वयं चेष्टा करता है और सबसे चेष्टा करवाता है। शरीरके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष इस क्षेत्रज्ञ आत्मासे उस परमात्माको श्रेष्ठ बताते हैं, जिसने भूः भुवः आदि सातों लोकोंको उत्पन्न किया है ॥ २६ ॥

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे
मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति
दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥ २७ ॥

देहका नाश होनेपर भी जीवका नाश नहीं होता। जो जीवकी मृत्यु बताते हैं, वे अज्ञानी हैं और उनका वह कथन मिथ्या है। जीव तो इस मृत देहका त्याग करके दूसरे शरीरमें चला जाता है। शरीरके पाँच तत्त्वोंका अलग-अलग हो जाना ही शरीरका नाश है ॥ २७ ॥

एवं सर्वेषु भूतेषु गूढश्चरति संवृतः।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया तत्त्वदर्शिभिः ॥ २८ ॥

इस प्रकार आत्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर उनकी हृदय-गुफामें गूढभावसे छिपा रहता है। वह तत्त्वदर्शी पुरुषोंद्वारा तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म बुद्धिसे साक्षात् किया जाता है ॥ २८ ॥

तं पूर्वापररात्रेषु युञ्जानः सततं बुधः।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ २९ ॥

जो विद्वान् परिमित आहार करके रातके पहले और पिछले पहरमें सदा ध्यानयोगका अभ्यास करता है, वह अन्तःकरण शुद्ध होनेपर अपने हृदयमें ही उस आत्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ २९ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हित्वा कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते ॥ ३० ॥

चित्त शुद्ध होनेपर वह शुभाशुभ कर्मोंसे अपना सम्बन्ध हटाकर प्रसन्नचित्त हो आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है और अनन्त आनन्दका अनुभव करने लगता है ॥ ३० ॥

मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते।
सृष्टिः प्रजापतेरेषा भूताध्यात्मविनिश्चये ॥ ३१ ॥

समस्त शरीरोंमें मनके भीतर रहनेवाला जो अग्निके समान प्रकाशस्वरूप चैतन्य है, उसीको समष्टि जीवस्वरूप प्रजापति कहते हैं। उसी प्रजापतिसे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह बात अध्यात्मतत्त्वका निश्चय करके कही गयी है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे जीवस्वरूपनिरूपणे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजके संवादके प्रसङ्गमें जीवके स्वरूपका निरूपणविषयक एक सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८७ ॥

* जैसे लोहा दाहक एवं दीप्तिमान् हो उठता है, उसी प्रकार चेतन जीवके संसर्गसे उसके सत्त्वादि गुणोंको भी चेतनायुक्त कहते हैं।

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

वर्णविभागपूर्वक मनुष्योंकी और [illegible] प्राणियोंकी उत्पत्तिका वर्णन

भृगुरुवाच

असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन् ।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने ! ब्रह्माजीने सृष्टिके प्रारम्भमें अपने तेजसे सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले ब्राह्मणों, मरीचि आदि प्रजापतियोंको ही उत्पन्न किया ॥१॥

ततः सत्यं च धर्मं च तपो [illegible] च शाश्वतम् ।
आचारं चैव शौचं [illegible] स्वर्गाय विदधे प्रभुः ॥ २ ॥

उसके बाद भगवान् ब्रह्माने स्वर्ग-प्राप्तिके साधनभूत सत्य, धर्म, तप, सनातन वेद, आचार और शौचके नियम बनाये ॥ २ ॥

देवदानवगन्धर्वा दैत्यासुरमहोरगाः ।
यक्षराक्षसनागाश्च पिशाचा मनुजास्तथा ॥ ३ ॥

तदनन्तर देवता, दानव, गन्धर्व, दैत्य, असुर, महान् सर्प, यक्ष, राक्षस, नाग, पिशाच और मनुष्योंको [illegible] किया ॥ ३ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ।
ये चान्ये भूतसङ्घानां सङ्घास्तांश्चापि निर्ममे ॥ ४ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! फिर उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंकी रचना की और प्राणिसमूहोंमें जो अन्य समुदाय हैं, उनकी भी सृष्टि की ॥ ४ ॥

ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः ।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंका रंग श्वेत, क्षत्रियोंका [illegible] वैश्योंका पीला तथा शूद्रोंका काला बनाया ॥ ५ ॥

भरद्वाज उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते ।
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः ॥ ६ ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो ! यदि चारों वर्णोंमेंसे एक वर्णके साथ दूसरे वर्णका रंग-भेद है, [illegible] तो सभी वर्णोंमें विभिन्न रंगके मनुष्य होनेके [illegible] वर्णसंकरता ही दिखायी देती है ॥ ६ ॥

कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः ।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते ॥ ७ ॥

काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा और थकावटका प्रभाव हम सब लोगोंपर समानरूपसे ही पड़ता है; फिर वर्णोंका भेद कैसे सिद्ध होता है ? ॥ ७ ॥

स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् ।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद् वर्णो विभज्यते ॥ ८ ॥

[illegible] लोगोंके शरीरसे पसीना, मल, मूत्र, कफ, पित्त और रक्त निकलते हैं । ऐसी दशामें रंगके द्वारा वर्णोंका विभाग कैसे किया जा सकता है ? ॥ ८ ॥

जङ्गमानामसंख्येयाः स्थावराणां च [illegible] ।
तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चयः ॥ ९ ॥

पशु, पक्षी, मनुष्य आदि जङ्गम प्राणियों तथा वृक्ष आदि [illegible] जीवोंकी असंख्य जातियाँ हैं । उनके रंग भी [illegible] प्रकारके हैं, अतः उनके वर्णोंका निश्चय [illegible] हो [illegible] है ? ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच

[illegible] विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ १० ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! पहले वर्णोंमें कोई अन्तर नहीं था, ब्रह्माजीसे उत्पन्न होनेके कारण यह सारा जगत् [illegible] ही था । पीछे विभिन्न कर्मोंके कारण उनमें वर्णभेद हो [illegible] ॥ १० ॥

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥ ११ ॥

जो अपने ब्राह्मणोचित धर्मका परित्याग करके विषय-भोगके प्रेमी, तीखे स्वभाववाले, क्रोधी और साहसका काम पसंद करनेवाले हो गये और इन्हीं कारणोंसे जिनके शरीरका रंग लाल हो गया, वे ब्राह्मण क्षत्रिय-भावको प्राप्त हुए—क्षत्रिय कहलाने लगे ॥ ११ ॥

गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः ।
स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥१२॥

जिन्होंने गौओंसे तथा कृषिकर्मके द्वारा जीविका चलानेकी वृत्ति अपना ली और उसीके कारण जिनके रंग पीले पड़ गये तथा जो ब्राह्मणोचित धर्मको छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण वैश्यभावको प्राप्त हुए ॥ १२ ॥

हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः ।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥ १३ ॥

जो शौच और सदाचारसे भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्यके प्रेमी हो गये, लोभवश व्याधोंके समान सभी तरहके निन्द्य कर्म करके जीविका चलाने लगे और इसीलिये जिनके शरीरका रंग काला पड़ गया, वे ब्राह्मण शूद्रभावको प्राप्त हो गये ॥ १३ ॥

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः ।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥ १४ ॥

इन्हीं कर्मोंके कारण ब्राह्मणत्वसे अलग होकर वे सभी [illegible] दूसरे-दूसरे वर्णके हो गये, किंतु उनके लिये नित्य-धर्मानुष्ठान और यज्ञकर्मका कभी निषेध नहीं किया गया है ॥ १४ ॥

इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती ।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः ॥ १५ ॥

इस प्रकार ये चार वर्ण हुए, जिनके लिये ब्रह्माजीने पहले ब्राह्मी सरस्वती (वेदवाणी) प्रकट की। परंतु लोभ-विशेषके कारण शूद्र अज्ञानभावको प्राप्त हुए—वेदाध्ययनके अनधिकारी हो गये ॥ १५ ॥

ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति ।
ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस्तथा ॥ १६ ॥

जो ब्राह्मण वेदकी आज्ञाके अधीन रहकर सारा कार्य करते, वेदमन्त्रोंको स्मरण रखते और सदा व्रत एवं नियमोंका पालन करते हैं, उनकी तपस्या कभी नष्ट नहीं होती ॥ १६ ॥

ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः ।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः ॥ १७ ॥

जो इस सारी सृष्टिको परब्रह्म परमात्माका रूप नहीं जानते हैं, वे द्विज कहलानेके अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोगोंको नाना प्रकारकी दूसरी-दूसरी योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है ॥ १७ ॥

पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः ।
प्रणष्टज्ञानविज्ञानाः स्वच्छन्दाचारचेष्टिताः ॥ १८ ॥

वे ज्ञान-विज्ञानसे हीन और स्वेच्छाचारी लोग पिशाच, राक्षस, प्रेत तथा नाना प्रकारकी म्लेच्छ-जातिके होते हैं ॥ १८ ॥

प्रजा ब्राह्मणसंस्काराः स्वकर्मकृतनिश्चयाः ।
ऋषिभिः स्वेन तपसा सृज्यन्ते चापरे परैः ॥ १९ ॥

पीछेसे ऋषियोंने अपनी तपस्याके बलसे कुछ ऐसी प्रजा उत्पन्न की, जो वैदिक संस्कारोंसे सम्पन्न तथा अपने धर्म-कर्ममें दृढ़तापूर्वक डटी रहनेवाली थी। इस प्रकार प्राचीन ऋषियोंद्वारा अर्वाचीन ऋषियोंकी सृष्टि होने लगी ॥ १९ ॥

आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया ।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥ २० ॥

किंतु जो सृष्टि आदिदेव ब्रह्माके मनसे उत्पन्न हुई है, जिसके जड़-मूल केवल ब्रह्माजी ही हैं तथा जो अक्षय, अविकारी एवं धर्ममें तत्पर रहनेवाली है, वह सृष्टि मानसी कहलाती है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णविभागकथने अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजके प्रसङ्गमें वर्णोंके विभागका वर्णनविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

चारों वर्णोंके अलग-अलग कर्मोंका और सदाचारका वर्णन [illegible] वैराग्यसे परब्रह्मकी प्राप्ति

भरद्वाज उवाच

ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम ।
वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! द्विजोत्तम ! [illegible] मुझे यह बताइये कि मनुष्य कौन-सा कर्म करनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होता है ? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥ २ ॥
शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः ।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥ ३ ॥

भृगुजीने कहा—जो जातिकर्म आदि संस्कारोंसे सम्पन्न, पवित्र तथा वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न है, (यजन-याजन, अध्ययनाध्यापन और दान-प्रतिग्रह—इन) [illegible] कर्मोंमें स्थित रहता है, शौच एवं सदाचारका पालन तथा परम उत्तम यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करता है, गुरुके प्रति प्रेम रखता, नित्य व्रतका पालन करता तथा सत्यमें तत्पर रहता है, वही ब्राह्मण कहलाता है ॥ २-३ ॥

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा ।
तपश्च दृश्यते यत्र [illegible] ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ४ ॥

जिसमें सत्य, दान, द्रोह न करनेका भाव, क्रूरताका अभाव, लज्जा, दया और तप—ये सद्गुण देखे जाते हैं, वह ब्राह्मण माना गया है ॥ ४ ॥

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः ।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥ ५ ॥

जो क्षत्रियोचित युद्ध आदि कर्मका सेवन करता है, वेदोंके अध्ययनमें [illegible] रहता है, ब्राह्मणोंको दान देता है और प्रजासे कर लेकर उसकी रक्षा करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है ॥ ५ ॥

वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार जो वेदाध्ययनसे सम्पन्न होकर व्यापार, पशु-पालन और खेतीका काम करके अन्न संग्रह करनेकी रुचि रखता है और पवित्र रहता है, वह वैश्य कहलाता है ॥ ६ ॥

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥ ७ ॥

किंतु जो वेद और सदाचारका परित्याग करके सदा सब कुछ खानेमें अनुरक्त रहता है और सब तरहके काम करता है, साथ ही बाहर-भीतरसे अपवित्र रहता है, वह शूद्र कहा गया है ॥ ७ ॥

शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते ।

न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च [illegible] ॥ ८ ॥

उपर्युक्त [illegible] आदि [illegible] गुण यदि शूद्रमें दिखायी दे और ब्राह्मणमें न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है ॥ ८ ॥

सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
एतत् पवित्रं ज्ञानानां तथा चैवात्मसंयमः ॥ ९ ॥

सभी उपायोंसे लोभ और क्रोधको जीतना चाहिये । यही ज्ञानोंमें पवित्र ज्ञान है और यही आत्मसंयम है ॥ ९ ॥

वार्यौ सर्वात्मना तौ हि श्रेयोघातार्थमुच्छ्रितौ ।
नित्यं क्रोधाच्छ्रियं रक्षेत् तपो रक्षेच्च मत्सरात् ॥१०॥
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं [illegible] प्रमादतः ।

क्रोध और लोभ मनुष्यके कल्याणमें बाधा डालनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं; अतः पूरी शक्ति लगाकर इन दोनोंका निवारण करना चाहिये । धन-सम्पत्तिको क्रोधके आघातसे बचाना चाहिये, तपको मात्सर्यके आघातसे बचाना चाहिये, विद्याको मान-अपमानसे और अपने-आपको प्रमादके आक्रमणसे बचाना चाहिये ॥ १०½ ॥

यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धना द्विज ॥ ११ ॥
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी च स बुद्धिमान् ।

ब्रह्मन् ! जिसके सभी कार्य कामनाओंके बन्धनसे रहित होते हैं तथा जिसने त्यागकी आगमें [illegible] कुछ होम दिया है, वही त्यागी और वही बुद्धिमान् है ॥ ११½ ॥

अहिंस्रः सर्वभूतानां मैत्रायणगतश्चरेत् ॥ १२ ॥
परिग्रहान् परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या जितेन्द्रियः।
अशोकं स्थानमातिष्ठेदिह चामुत्र चाभयम् ॥ १३ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे, सबके साथ मैत्रीपूर्ण बर्ताव करे । स्त्री-पुत्र आदिकी ममता एवं आसक्तिको त्यागकर बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंको वशमें करे और उस स्थितिको [illegible] करे, जो इहलोक और परलोकमें भी निर्भय एवं शोक-रहित है ॥ १२-१३ ॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना ।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ १४ ॥

नित्य तप करे, मननशील होकर इन्द्रियोंका दमन और मनका संयम करे । आसक्तिके आश्रयभूत देह-गेह आदिमें आसक्त न होकर अजित (परमात्मा) को जीतने (प्राप्त करने) की इच्छा रक्खे ॥ १४ ॥

इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत्तद् व्यक्तमिति स्थितिः ।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंसे जिसका ग्रहण होता है, वह [illegible] व्यक्त कहलाता है । जो इन्द्रियातीत होनेके कारण अनुमानसे ही जाना जाय, उसे अव्यक्त समझना चाहिये ॥ १५ ॥

अविस्रम्भे [illegible] गन्तव्यं विस्रम्भे धारयेन्मनः ।
[illegible] प्राणे निगृह्णीयात् प्राणं ब्रह्मणि धारयेत् ॥ १६ ॥

जो विश्वासके योग्य नहीं है, उस मार्गपर न चले और जो विश्वास करनेयोग्य है, उसमें मन लगावे । मनको प्राणमें और प्राणको ब्रह्ममें स्थापित करे ॥ १६ ॥

निर्वेदादेव निर्वाणं न च किञ्चिद् विचिन्तयेत् ।
सुखं वै ब्राह्मणो [illegible] निर्वेदेनाधिगच्छति ॥ १७ ॥

वैराग्यसे ही निर्वाणपद (मोक्ष) प्राप्त होता है । उसे पाकर मनुष्य किसी अनात्मपदार्थका चिन्तन नहीं करता है । [illegible] संसारसे वैराग्य होनेपर सुखस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

शौचेन सततं युक्तः सदाचारसमन्वितः ।
सानुक्रोशश्च भूतेषु तद् द्विजातिषु लक्षणम् ॥ १८ ॥

सर्वदा शौच और सदाचारका पालन करे और समस्त प्राणियोंपर दयाभाव बनाये रक्खे; यह ब्राह्मणका प्रधान लक्षण है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णस्वरूपकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादके प्रसङ्गमें वर्णोंके स्वरूपका कथनविषयक एक [illegible]ौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८९ ॥

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्यकी महिमा, असत्यके दोष [illegible] लोक और परलोकके सुख-दुःखका विवेचन

भृगुरुवाच

सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः ।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने ! सत्य ही [illegible] है, सत्य ही तप है, सत्य ही प्रजाकी सृष्टि करता है, सत्यके ही आधारपर संसार टिका हुआ है और सत्यके ही प्रभावसे मनुष्य स्वर्गमें जाता है ॥ १ ॥

अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते [illegible] ।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसाऽऽवृताः ॥ २ ॥

असत्य अन्धकारका रूप है । वह मनुष्यको नीचे गिराता है । अज्ञानान्धकारसे घिरे हुए मनुष्य तमोगुणसे ग्रस्त होकर ज्ञानके प्रकाशको नहीं देख पाते हैं ॥ २ ॥

स्वर्गः प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च ।
सत्यानृतं तदुभयं प्राप्यते जगतीचरैः ॥ ३ ॥

स्वर्ग प्रकाशमय है और नरक अन्धकारमय है, ऐसा कहते हैं। सत्य और अनृतसे युक्त जो मानव-योनि है, वह ज्ञान और अज्ञान दोनोंके सम्मिश्रणसे जगत्के जीवोंको प्राप्त होती है ॥३॥

तत्राप्येवंविधा लोके वृत्तिः सत्यानृते भवेत् ।

धर्माधर्मौ प्रकाशश्च तमो दुःखं सुखं तथा ॥ ४ ॥

उसमें भी लोकमें ऐसी वृत्ति जाननी चाहिये, जो सत्य और अनृत हैं, वे ही धर्म और अधर्म, प्रकाश और अन्धकार तथा दुःख और सुख हैं ॥ ४ ॥

तत्र यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत् सुखमिति। तत्र यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत् तमो यत् तमस्तद् दुःखमिति ॥ ५ ॥

वहाँ जो सत्य है, वही धर्म है, जो धर्म है वही प्रकाश है और जो प्रकाश है, वही सुख है। इसी प्रकार वहाँ जो अनृत अर्थात् असत्य है, वही अधर्म है और जो अधर्म है, वही अन्धकार है और जो अन्धकार है, वही दुःख है ॥ ५ ॥

अत्रोच्यते—

शारीरैर्मानसैर्दुःखैः सुखैश्चाप्यसुखोदयैः।
लोकसृष्टिं प्रपश्यन्तो न मुह्यन्ति विचक्षणाः ॥ ६ ॥

इस विषयमें ऐसा कहा जाता है—संसारकी सृष्टि शारीरिक और मानसिक क्लेशोंसे युक्त है। इसमें जो सुख हैं, वे भी अन्तमें दुःख ही उत्पन्न करनेवाले हैं। ऐसी दृष्टि रखनेवाले विद्वान् पुरुष कभी मोहमें नहीं पड़ते हैं ॥ ६ ॥

तत्र दुःखविमोक्षार्थं प्रयतेत विचक्षणः।
सुखं ह्यनित्यं भूतानामिहलोके परत्र च ॥ ७ ॥

अतः विज्ञ एवं बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि सदा दुःखसे छूटनेके लिये प्रयत्न करे। इहलोक और परलोकमें भी प्राणियोंको जो सुख मिलता है, वह अनित्य है ॥ ७ ॥

राहुग्रस्तस्य सोमस्य यथा ज्योत्स्ना न भासते।
तथा तमोऽभिभूतानां भूतानां नश्यते सुखम् ॥ ८ ॥

जैसे राहुसे ग्रस्त होनेपर चन्द्रमाकी चाँदनी प्रकाशमें नहीं आती, उसी प्रकार तम (अज्ञान एवं दुःख) से पीड़ित हुए प्राणियोंका सुख नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

तत् खलु द्विविधं सुखमुच्यते शारीरं मानसं च। इह खल्वमुष्मिंश्च लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते। न ह्यतः परं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति स एव काम्यो गुणविशेषो धर्मार्थगुणारम्भस्तद्धेतुरस्योत्पत्तिः सुखप्रयोजनार्थं आरम्भः ॥ ९ ॥

सुख दो प्रकारका बताया जाता है—शारीरिक और मानसिक। इहलोक और परलोकमें जो वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्तियाँ हैं, वे सुखके लिये ही बतायी जाती हैं। इस सुखसे बढ़कर त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का और कोई अत्यन्त विशिष्ट फल नहीं है। वह सुख ही प्राणीका वाञ्छनीय गुणविशेष है। धर्म और अर्थ जिसके अङ्ग हैं, उस सुखके लिये ही कर्मोंका आरम्भ किया जाता है; क्योंकि सुखकी उत्पत्तिमें उद्यम ही हेतु हैं; अतः सुखके उद्देश्यसे ही कर्मोंका आरम्भ किया जाता है ॥ ९ ॥

भरद्वाज उवाच

यदेतद् भवताभिहितं सुखानां परमा स्थितिरिति न तदुपगृह्णीमो न ह्येषामृषीणां महति स्थितानामप्राप्य एष काम्यो गुणविशेषो न चैनमभिलषन्ति च तपसि श्रूयते त्रिलोककृद् ब्रह्मा प्रभुरेकाकी तिष्ठति। ब्रह्मचारी न कामसुखेष्वात्मानमवदधाति। अपि च भगवान् विश्वेश्वर उमापतिः काममभिवर्तमानमनङ्गत्वेन शममनयत्। तस्माद् ब्रूमो न तु महात्मभिरयं प्रतिगृहीतो न त्वेषां तावद्विशिष्टो गुणविशेष इति। नैतद् भगवतः प्रत्येमि भगवता तूक्तं सुखान्न परमस्तीति लोकप्रवादो हि द्विविधः फलोदयः सुकृतात् सुखमवाप्यते दुष्कृताद् दुःखमिति ॥ १० ॥

भरद्वाजने पूछा—प्रभो! आपने जो यह बताया है कि सुखोंका ही सबसे ऊँचा स्थान है—सुखसे बढ़कर त्रिवर्गका और कोई फल नहीं है, आपकी यह बात हमारे मनमें ठीक नहीं जँचती है; क्योंकि जो महान् तपमें स्थित ऋषिगण हैं, उनके लिये यह वाञ्छनीय गुणविशेष सुख यद्यपि प्राप्त हो सकता है, तो भी वे इसे नहीं चाहते हैं। सुना जाता है कि तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् ब्रह्मा अकेले ही रहते हैं, ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और कामसुखमें कभी मन नहीं लगाते हैं। भगवती उमाके प्राणवल्लभ भगवान् विश्वनाथने भी अपने सामने आये हुए कामको जलाकर शान्त कर दिया और उसे अनङ्ग बना दिया; इसलिये हम कहते हैं कि महात्मा पुरुषोंने कभी इसे स्वीकार नहीं किया है। उनके लिये यह कामसुख अर्थात् सांसारिक भोगोंका सुख सबसे बढ़कर गुणविशेष नहीं है; परंतु आपकी बातोंसे मुझे ऐसी प्रतीति नहीं होती है। आपने तो यह कहा है कि इस सुखसे बढ़कर दूसरा कोई फल नहीं है। लोकमें ऐसा कहा जाता है कि फलकी उत्पत्ति दो प्रकारकी होती है। पुण्यकर्मसे सुख प्राप्त होता है और पापकर्मसे दुःख ॥ १० ॥

भृगुरुवाच

अत्रोच्यते—अनृतात् खलु तमः प्रादुर्भूतं ततस्तमोग्रस्ता अधर्ममेवानुवर्तन्ते न धर्मं क्रोधलोभहिंसानृतादिभिरवच्छन्ना न खल्वस्मिँल्लोके नामुत्र सुखमाप्नुवन्ति। विविधव्याधिरुजोपतापैरवकीर्यन्ते। वधबन्धनपरिक्लेशादिभिश्च क्षुत्पिपासाश्रमकृतैरुपतापैरुपतप्यन्ते। वर्षवातात्युष्णातिशीतकृतैश्च प्रतिभयैः शारीरैर्दुःखैरुपतप्यन्ते। बन्धुधनविनाशविप्रयोगकृतैश्च मानसैः शोकैरभिभूयन्ते जरामृत्युकृतैश्चान्यैरिति ॥ ११ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! असत्यसे अज्ञानकी उत्पत्ति हुई है; अतः तमोग्रस्त मनुष्य अधर्मके ही पीछे चलते हैं; धर्मका अनुसरण नहीं करते हैं। जो लोग क्रोध, लोभ, हिंसा और असत्य आदिसे आच्छादित हैं, वे न तो इस लोकमें सुखी होते हैं और न परलोकमें ही। वे नाना प्रकारके रोग, व्याधि और तापसे संतप्त होते रहते हैं। वध और बन्धन आदिके क्लेशोंसे तथा भूख, प्यास और थकावटके कारण होनेवाले

संतापोंसे भी पीड़ित होते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें आँधी, पानी, [illegible] गर्मी और अधिक सर्दीसे उत्पन्न हुए भयङ्कर शारीरिक कष्ट भी सहन करने पड़ते हैं। बन्धु-बान्धवोंकी मृत्यु, धनके नाश और प्रेमीजनोंके वियोगके कारण होनेवाले मानसिक शोक भी उन्हें सताते रहते हैं। बुढ़ापा और मृत्युके कारण भी बहुत-से दूसरे-दूसरे क्लेश भी उन्हें पीड़ा देते रहते हैं॥११॥

यस्त्वेतैः शारीरमानसैर्दुःखैर्न संस्पृश्यते स सुखं वेद। न चैते दोषाः स्वर्गे प्रादुर्भवन्ति। [illegible] भवन्ति ॥ १२ ॥

जो इन शारीरिक और मानसिक दुःखोंके सम्बन्धसे रहित है, उसीको सुखका अनुभव होता है। स्वर्गलोकमें ये पूर्वोक्त दुःखरूप दोष नहीं उत्पन्न होते हैं। वहाँ निम्नाङ्कित बातें होती हैं ॥ १२ ॥

सुसुखः पवनः स्वर्गे [illegible] सुरभिस्तथा।
क्षुत्पिपासा श्रमो नास्ति न जरा न च पापकम्॥ १३ ॥

स्वर्गमें अत्यन्त सुखदायिनी हवा चलती है। मनोहर सुगन्ध छायी रहती है। भूख, प्यास, परिश्रम, बुढ़ापा और पापके फलका कष्ट वहाँ कभी नहीं भोगना पड़ता है ॥ १३ ॥

नित्यमेव सुखं स्वर्गे सुखं दुःखमिहोभयम्।
नरके दुःखमेवाहुः सुखं तत्परमं पदम्॥ १४ ॥

स्वर्गमें सदा सुख ही होता है। इस मर्त्यलोकमें सुख और दुःख दोनों होते हैं। नरकमें केवल दुःख-ही-दुःख बताया गया है। वास्तविक सुख तो वह परमपदस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है ॥ १४ ॥

पृथिवी सर्वभूतानां जनित्री तद्विधाः स्त्रियः।
पुमान् प्रजापतिस्तत्र शुक्रं तेजोमयं विदुः॥ १५ ॥

पृथ्वी सम्पूर्ण भूतोंकी जननी है। संसारकी स्त्रियाँ भी पृथ्वीके समान ही संतानकी जननी होती हैं। पुरुष ही यहाँ प्रजापतिके समान है। पुरुषका जो वीर्य है, उसे तेजःस्वरूप समझा जाता है ॥ १५ ॥

इत्येतल्लोकनिर्माणं ब्रह्मणा विहितं पुरा।
[illegible] समनुवर्तन्ते स्वैः स्वैः कर्मभिरावृताः॥ १६ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इस स्त्री-पुरुषस्वरूप जगत्‌की सृष्टि की थी। यहाँ समस्त प्रजा अपने-अपने कर्मोंसे आवृत होकर सुख-दुःखका अनुभव करती है ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९०॥

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमोंके धर्मका वर्णन

भरद्वाज उवाच

दानस्य किं फलं प्राहुर्धर्मस्य चरितस्य च।
तपसश्च सुतप्तस्य स्वाध्यायस्य हुतस्य वा॥ १ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन्! आचरणमें लाये हुए दानरूप धर्मका, भलीभाँति की हुई तपस्याका तथा स्वाध्याय और अग्निहोत्रका क्या फल बताया गया है? ॥ १ ॥

भृगुरुवाच

हुतेन शाम्यते पापं स्वाध्यायैः शान्तिरुत्तमा।
दानेन भोगानित्याहुस्तपसा स्वर्गमाप्नुयात्॥ २ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! अग्निहोत्रसे पापका निवारण किया जाता है, स्वाध्यायसे उत्तम शान्ति मिलती है, दानसे भोगोंकी प्राप्ति बतायी गयी है और तपस्यासे मनुष्य स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

दानं तु द्विविधं प्राहुः परत्रार्थमिहैव च।
सद्भ्यो यद् दीयते किंचित् तत्परत्रोपतिष्ठते॥ ३ ॥
असद्भ्यो दीयते यत्तु तद् दानमिह भुज्यते।
यादृशं दीयते दानं तादृशं फलमश्नुते॥ ४ ॥

दान दो प्रकारका बताया जाता है—एक परलोकके लिये है और दूसरा इहलोकके लिये। सत्पुरुषोंको जो कुछ दिया जाता है, वह दान परलोकमें अपना फल देनेके लिये उपस्थित होता है और असत्पुरुषोंको जो दान दिया जाता है, उसका फल यहीं भोगा जाता है। जैसा दान दिया जाता है, वैसा ही उसका फल भी भोगनेमें आता है ॥ ३-४ ॥

भरद्वाज उवाच

[illegible] कस्य धर्माचरणं किं [illegible] धर्मस्य लक्षणम्।
धर्मः कतिविधो वापि तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ ५ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन्! किसका धर्माचरण कैसा होता है अथवा धर्मका लक्षण क्या है? या धर्मके कितने भेद हैं? यह सब आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ५ ॥

भृगुरुवाच

स्वधर्माचरणे युक्ता ये भवन्ति मनीषिणः।
तेषां स्वर्गफलावाप्तिर्योऽन्यथा स विमुह्यते॥ ६ ॥

भृगुजीने कहा—मुने! जो मनीषी पुरुष अपने वर्णाश्रमोचित धर्मके आचरणमें सावधानीके साथ लगे रहते हैं, उन्हें स्वर्गरूपी फलकी प्राप्ति होती है। जो इसके विपरीत अधर्मका आचरण करता है, वह मोहके वशीभूत होता है* ॥ ६ ॥

* [illegible] श्लोकमें पूर्वोक्त तीनों प्रश्नोंका [illegible] ही सामान्य [illegible] दे दिया गया है। जो जिस वर्ण अथवा आश्रमका है,

भरद्वाज उवाच

यदेतच्चातुराश्रम्यं ब्रह्मर्षिविहितं पुरा ।
तेषां स्वे स्वे समाचारास्तान् [illegible] वक्तुमिहार्हसि॥ ७ ॥

भरद्वाज ऋषिने पूछा—भगवन् ! ब्रह्मर्षियोंने पूर्वकालमे जो चार आश्रमोंका विभाग किया है, उनके अपने-अपने धर्म क्या हैं ? उन्हे बतानेकी कृपा कीजिये ॥ ७ ॥

भृगुरुवाच

पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा लोकहितमनुतिष्ठता धर्मसंरक्षणार्थमाश्रमाश्चत्वारोऽभिनिर्दिष्टाः । तत्र गुरुकुलवासमेव प्रथममाश्रममुदाहरन्ति। सम्यग् यत्र शौचसंस्कारनियमव्रतविनियतात्मा उभे संध्ये भास्कराग्निदैवतान्युपस्थाय विहाय तन्द्र्यालस्ये गुरोरभिवादनवेदाभ्यासश्रवणपवित्रीकृतान्तरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषानित्यभिक्षाभैक्ष्यादिसर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरुवचननिर्देशानुष्ठानाप्रतिकूलो गुरुप्रसादलब्धस्वाध्यायतत्परः स्यात् ॥ ८ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! जगत्का कल्याण करनेवाले भगवान् ब्रह्माने पूर्वकालमे ही धर्मकी रक्षाके लिये [illegible] आश्रमोंका निर्देश किया था । उनमेंसे ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक गुरुकुलवासको ही पहला आश्रम कहते हैं । उसमें रहनेवाले ब्रह्मचारीको बाहर-भीतरकी शुद्धि, वैदिक संस्कार [illegible] व्रत-नियमोंका पालन करते हुए अपने मनको वशमें रखना चाहिये। सुबह और शाम दोनो संध्याओंके समय संध्योपासना, सूर्योपस्थान और अग्निहोत्रके द्वारा अग्निदेवकी आराधना करनी चाहिये। तन्द्रा और आलस्यको त्यागकर प्रतिदिन गुरुको प्रणाम करे और वेदोंके अभ्यास तथा श्रवणसे अपनी अन्तरात्माको पवित्र करे । सबेरे, [illegible] और दोपहर तीनो समय स्नान करे। ब्रह्मचर्यका पालन, अग्निकी उपासना और गुरुकी सेवा करे । प्रतिदिन भिक्षा माँगकर लाये । भिक्षामे जो कुछ प्राप्त हो, [illegible] सब गुरुको अर्पण [illegible] दे । अपनी अन्तरात्माको भी गुरुके चरणोंमें निछावर कर दे । गुरुजी जो कुछ कहें, जिसके लिये संकेत करें और जिस कार्यके निमित्त स्पष्ट शब्दोंमें [illegible] दें, उसके विपरीत आचरण न करे । गुरुके कृपाप्रसादसे मिले हुए स्वाध्यायमें [illegible] होवे ॥ ८ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

गुरुं यस्तु समाराध्य द्विजो वेदमवाप्नुयात् ।
तस्य स्वर्गफलावाप्तिः सिध्यते चास्य मानसमिति ।९।

इस विषयमें यह श्लोक है—

जो द्विज गुरुकी आराधना करके वेदाध्ययन करता है, उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है और उसका मानसिक सकल्प सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

गार्हस्थ्यं खलु द्वितीयमाश्रमं वदन्ति । तस्य समुदाचारलक्षणं सर्वमनुव्याख्यास्यामः। समावृत्तानां सदाचाराणां सहधर्मचर्यफलार्थिनां गृहाश्रमो विधीयते। धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्यागर्हितेन कर्मणा धनान्यादाय स्वाध्यायोपलब्धप्रकर्षेण वा ब्रह्मर्षिनिर्मितेन वा अद्रिसारगतेन वा । हव्यकव्यनियमाभ्यासदैवतप्रसादोपलब्धेन वा धनेन गृहस्थो गार्हस्थ्यं वर्तयेत्। तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति। गुरुकुलनिवासिनः परिव्राजका ये चान्ये संकल्पितव्रतनियमधर्मानुष्ठायिनस्तेषामप्यत एव भिक्षाबलिसंविभागाः प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

गार्हस्थ्यको दूसरा आश्रम कहते हैं । अब हम उसमें पालन करने योग्य समस्त उत्तम आचरणोंकी व्याख्या करेंगे । जो सदाचारका पालन करनेवाले ब्रह्मचारी विद्या पढ़कर गुरुकुलसे स्नातक होकर लौटते हैं, उन्हे यदि सहधर्मिणीके साथ रहकर धर्माचरण करने और उसका [illegible] पानेकी इच्छा हो तो उनके लिये गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी विधि है । इस आश्रममे धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी प्राप्ति होती है; इसलिये त्रिवर्गसाधनकी इच्छा रखकर गृहस्थको उत्तम कर्मके द्वारा धन संग्रह करना चाहिये, अर्थात् वह स्वाध्यायसे प्राप्त हुई विशिष्ट योग्यतासे, ब्रह्मर्षियोंद्वारा धर्मशास्त्रोंमें निश्चित किये हुए मार्गसे अथवा पर्वतसे उपलब्ध हुए उसके सारभूत मणि रत्न, दिव्योषधि एवं स्वर्ण आदिसे धनका सचय करे । अथवा हव्य (यज्ञ), कव्य (श्राद्ध), नियम, वेदाभ्यास तथा देवताओंकी प्रसन्नतासे प्राप्त धनके द्वारा गृहस्थ पुरुष अपनी गृहस्थीका निर्वाह करे; क्योंकि गार्हस्थ्य आश्रमको सब आश्रमोंका मूल कहते हैं । गुरुकुलमें निवास करनेवाले ब्रह्मचारी, वनमे रहकर संकल्पके अनुसार व्रत, नियम तथा धर्मका पालन करनेवाले अन्यान्य वानप्रस्थ एवं सब कुछ त्यागकर सर्वत्र विचरनेवाले संन्यासी भी इस गृहस्थाश्रमसे ही भिक्षा, भेंट, उपहार तथा दान आदि पाकर अपने-अपने धर्मके पालनमें प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

वानप्रस्थानां च द्रव्योपस्कार इति प्रायशः खल्वेते साधवः साधुपथ्योदनाः स्वाध्यायप्रसङ्गिनस्तीर्थाभिगमनदेशदर्शनार्थं पृथिवीं पर्यटन्ति, तेषां प्रत्युत्थानाभिगमनाभिवादनानसूयवाक्प्रदानसुखदात्त्यासनसुखशयनाभ्यवहारसत्क्रिया चेति ॥ ११ ॥

वानप्रस्थोंके लिये धनका संग्रह करना निषिद्ध है । वे

उसका धर्माचरण भी वैसा ही है । धर्मका लक्षण है—स्वर्गप्राप्ति करानेवाला वर्णाश्रमोचित आचार । वर्ण और आश्रमके जितने भेद हैं, उतने ही उनके धर्मके भी हैं ।

श्रेष्ठ लोग प्रायः शुद्ध एवं हितकर अन्नमात्रके इच्छुक होकर [illegible] तीर्थयात्रा एवं देश-दर्शनके निमित्त सारी पृथ्वीपर घूमते-फिरते हैं। वे घरपर पधारें तो उठकर आगे बढ़कर इनका [illegible] करे। इनके चरणोंमें मस्तक झुकाये, दोषदृष्टि न रखकर उनसे [illegible] वचन बोले। यथाशक्ति सुखद आसन दे, सुखद शय्यापर उन्हें सुलावे और उत्तम भोजन करावे। इस प्रकार उनका पूर्ण सत्कार करे। यही उन श्रेष्ठ पुरुषके प्रति गृहस्थका कर्तव्य है ॥ ११ ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
[illegible] दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥ १२ ॥

इस विषयमें ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जिस गृहस्थके दरवाजेसे कोई अतिथि भिक्षा न पानेके कारण निराश होकर लौट जाता है, वह उस गृहस्थको अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है ॥ १२ ॥

अपि चात्र यज्ञक्रियाभिर्देवताः प्रीयन्ते। निवापेन पितरो विद्याभ्यासश्रवणधारणेन ऋषयः। अपत्योत्पादनेन प्रजापतिरिति ॥ १३ ॥

इसके सिवा गृहस्थाश्रममें रहकर यज्ञ करनेसे देवता, श्राद्ध-तर्पण करनेसे पितर, वेद-शास्त्रोंके श्रवण, अभ्यास और धारणसे ऋषि तथा संतानोत्पादनसे प्रजापति प्रसन्न होते हैं ॥ १३ ॥

श्लोकौ [illegible] भवतः—

वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यो वाच्याः श्रोत्रसुखा गिरः।
परितापोपघातश्च पारुष्यं चात्र गर्हितम् ॥ १४ ॥

इस विषयमें ये दो श्लोक प्रसिद्ध हैं—

वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जिसमें सब प्राणियोंके प्रति स्नेह भरा हो तथा जो सुनते समय कानोंको सुखद जान पड़े। दूसरोंको पीड़ा देना, मारना और कटु वचन सुनाना—ये सब निन्दित कार्य हैं ॥ १४ ॥

अवज्ञानमहंकारो दम्भश्चैव विगर्हितः।
अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः ॥ १५ ॥

किसीका अनादर करना, अहंकार दिखाना और ढोंग करना—इन दुर्गुणोंकी भी विशेष निन्दा की गयी है। किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना और मनमें क्रोध [illegible] आने देना—यह सभी आश्रमवालोंके लिये उपयोगी तप है॥

अपि चात्र माल्याभरणवस्त्राभ्यङ्गनित्योपभोगनृत्यगीतवादित्रश्रुतिसुखनयनाभिरामदर्शनानां प्राप्तिर्भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्याणामभ्यवहार्याणां विविधानामुपभोगः। स्वविहारसंतोषः कामसुखावाप्तिरिति ॥ १६ ॥

इसके सिवा इस गृहस्थ-आश्रममें फूलोंकी माला, नाना प्रकारके आभूषण, वस्त्र, अङ्गराग (तेल-उबटन), नित्य उपभोगकी वस्तु, नृत्य, गीत, वाद्य, श्रवणसुखद शब्द और नयनाभि[illegible] रूपके दर्शनकी भी प्राप्ति होती है। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय और चोष्यरूप नानाप्रकारके भोजनसम्बन्धी पदार्थ खाने-पीनेको भी मिलते हैं। अपने उद्यानमें घूमने-फिरनेका आनन्द प्राप्त होता है और कामसुखकी भी उपलब्धि होती है ॥ १६ ॥

त्रिवर्गगुणनिर्वृत्तिर्यस्य नित्यं गृहाश्रमे।
स सुखान्यनुभूयेह शिष्टानां गतिमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

जिस पुरुषको गृहस्थाश्रममें सदा धर्म, अर्थ और कामके गुणोंकी सिद्धि होती रहती है, वह इस लोकमें सुखका अनुभव करके अन्तमें शिष्ट पुरुषोंकी गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १७ ॥

उञ्छवृत्तिर्गृहस्थो यः स्वधर्माचरणे रतः।
त्यक्तकामसुखारम्भः स्वर्गस्तस्य न दुर्लभः ॥ १८ ॥

जो गृहस्थ ब्राह्मण अपने धर्मके आचरणमें तत्पर हो उञ्छवृत्तिसे (खेत या बाजारमें बिखरे हुए अनाजके एक-एक दानेको बीनकर) जीविका चलाता है तथा कामसुखका परित्याग कर देता है, उसके लिये स्वर्ग कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ इक्यानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९१॥

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यास धर्मोंका वर्णन तथा हिमालयके उत्तर पार्श्वमें स्थित उत्कृष्ट लोककी विलक्षणता एवं महत्ताका प्रतिपादन, भृगु-भरद्वाज-संवादका उपसंहार

भृगुरुवाच

वानप्रस्थाः खल्वपि धर्ममनुसरन्तः पुण्यानि तीर्थानि नदीप्रस्रवणानि सुविविक्तेष्वरण्येषु मृगमहिषवराहशार्दूलवनगजाकीर्णेषु तपस्यन्तोऽनुसंचरन्ति त्यक्तग्राम्यवस्त्राभ्यवहारोपभोगा वन्यौषधिफलमूलपर्णपरिमितविचित्रनियताहाराः स्थानासनिनो भूमिपाषाणसिकताशर्करावालुकाभस्मशायिनः काशकुशचर्मवल्कलसंवृताङ्गाः केशश्मश्रुनखरोमधारिणो नियतकालोपस्पर्शना अस्कन्दितकालबलिहोमानुष्ठायिनः समित्कुशकुसुमापहा-

रसम्मार्जनलब्धविश्रामाः शीतोष्णवर्षपवनविष्टम्भविभिन्नसर्वत्वचो विविधनियमोपयोगचर्यानुष्ठानविहितपरिशुष्कमांसशोणितत्वगस्थिभूता धृतिपराः सत्त्वयोगाच्छरीराण्युद्वहन्ते ॥ १ ॥

भृगुजी कहते हैं—मुने ! तीसरे आश्रम वानप्रस्थका पालन करनेवाले मनुष्य धर्मका अनुसरण करते हुए पवित्र तीर्थोंमें, नदियोंके किनारे, झरनोंके आसपास तथा मृग, भैंसे, सूअर, सिंह एवं जंगली हाथियोसे भरे हुए एकान्त वनोंमें तप करते हुए विचरते रहते हैं। गृहस्थोंके उपभोगमें आनेवाले ग्रामजनोचित सुन्दर वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन और विषय-भोगोंका परित्याग करके वे जंगलमें अपने-आप होनेवाले अन्न, फल, मूल तथा पत्तोंका परिमित, विचित्र एवं नियत आहार करते हैं। भूमिपर ही बैठते हैं। जमीन, पत्थर, रेत, कँकरीली मिट्टी, बालू अथवा राखपर ही सोते हैं। काश, कुश, मृगचर्म और वृक्षोंकी छालसे बने वस्त्रोंसे अपना शरीर ढकते हैं। सिरके बाल, दाढ़ी, मूँछ, नख और रोम सदा धारण किये रहते हैं। नियत समयपर स्नान करके निश्चित कालका उल्लङ्घन न करते हुए बलिवैश्वदेव तथा अग्निहोत्र आदि कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। सबेरे हवन पूजनके लिये समिधा, कुशा और फूल आदिका संग्रह करके आश्रमको झाड़-बुहार लेनेके पश्चात् उन्हें [illegible] विश्राम मिलता है। सर्दी, गर्मी, वर्षा और हवाका वेग सहते-सहते उनके शरीरके चमड़े फट जाते हैं। नाना प्रकारके नियमोंका पालन और सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते रहनेसे उनके रक्त और मांस सूख जाते हैं और शरीरकी जगह चामसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह जाता है; फिर भी धैर्य रखकर साहसपूर्वक शरीरका भार ढोते रहते हैं ॥ १ ॥

यस्त्वेतां नियतश्चर्यां ब्रह्मर्षिविहितां चरेत् स दहेदग्निवद्दोषान् जयेल्लोकांश्च दुर्जयान् ॥ २ ॥

जो पुरुष नियमके साथ रहकर ब्रह्मर्षियोंद्वारा आचरणमें लायी हुई इस वानप्रस्थ धर्मकी विधिका अनुष्ठान करता है, वह अग्निकी भाँति अपने दोषोंको भस्म करके दुर्लभ लोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

परिव्राजकानां पुनराचारः—तद् यथा विमुच्याग्निधनकलत्रपरिबर्हणं संगेष्वात्मनः स्नेहपाशानवधूय परिव्रजन्ति । समलोष्टाश्मकाञ्चनास्त्रिवर्गप्रवृत्तेष्वसक्तबुद्धयोऽरिमित्रोदासीनानां तुल्यदर्शनाः स्थावरजरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जानां भूतानां वाङ्मनःकर्मभिरनभिद्रोहिणोऽनिकेताः पर्वतपुलिनवृक्षमूलदेवतायतनान्यनुचरन्तो वासार्थमुपेयुर्नगरं [illegible] [illegible] नगरे पञ्चरात्रिका ग्रामे चैकरात्रिकाः प्रविश्य च प्राणधारणार्थं द्विजातीनां भवनान्यसंकीर्णकर्मणामुपतिष्ठेयुः पात्रपतितायाचितभैक्ष्याः कामक्रोधदर्पलोभमोहकार्पण्यदम्भपरिवादाभिमानहिंसानिवृत्ता इति ॥ ३ ॥

अत्र संन्यासियोंका आचरण बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है—इसमें प्रवेश करनेवाले पुरुष अग्निहोत्र, धन, स्त्री आदि परिवार तथा घरकी सारी सामग्रीका परित्याग करके भोगों और सङ्गोंके प्रति अपनी आसक्तिके बन्धनोंको तोड़कर सदाके लिये घरसे बाहर निकल जाते हैं। ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझते हैं। धर्म, अर्थ और कामसम्बन्धी प्रवृत्तियोमें उनकी बुद्धि आसक्त नहीं होती। शत्रु, मित्र और उदासीन—सबके प्रति वे समान दृष्टि रखते हैं। स्थावर, पिण्डज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियोंके प्रति मन, वाणी और क्रियाओंद्वारा कभी द्रोह नहीं करते हैं, कुटी या मठ बनाकर नहीं रहते हैं। उन्हें चाहिये कि चारों ओर विचरते रहें तथा रात्रिमें ठहरनेके लिये पर्वतकी गुफा, नदीका किनारा, वृक्षकी जड़, देवमन्दिर, नगर अथवा गाँवमें चले जाया करें। नगरमें पाँच रात्रि और गाँवमें एक रातसे अधिक न ठहरें। प्राणधारणके लिये अपने विशुद्ध धर्मोंका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन द्विजातियोंके ऐसे घरोंपर जाकर खड़े हो जायँ, जहाँ संकीर्णता न हो। बिना माँगे ही पात्रमें जितनी भिक्षा आ जाय, उतनी ही स्वीकार करें। काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा, अभिमान तथा हिंसासे सर्वथा दूर रहें ॥ ३ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ४ ॥

इस विषयमें ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

जो मुनि सब प्राणियोंको अभयदान देकर विचरता है, उसको सम्पूर्ण प्राणियोंमें किसीसे भी कहीं भय नहीं प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं
शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति ।
विप्रस्तु भैक्ष्योपगतैर्हविर्भि-
श्चिताग्निनां स व्रजते हि लोकम् ॥ ५॥

जो ब्राह्मण अग्निहोत्रको अपने शरीरमें आरोपित करके शरीरस्थ अग्निके उद्देश्यसे अपने मुखमें प्राप्त भिक्षारूप हविष्यका होम करता है, वह अग्नि-चयन करनेवाले अग्निहोत्रियोंके लोकमें जाता है ॥ ५ ॥

मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं
शुचिः सुसंकल्पितमुक्तबुद्धिः ।
अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तं
स ब्रह्मलोकं श्रयते मनुष्यः ॥ ६ ॥

जो बुद्धिको संकल्परहित करके पवित्र हो शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मोक्ष-आश्रम (संन्यास) के नियमोंका

पालन [illegible] है, [illegible] मनुष्य बिना ईंधनकी आगके समान परम शान्त ज्योतिर्मय ब्रह्मलोकको [illegible] होता है ॥ ६ ॥

भरद्वाज उवाच

अस्माल्लोकात् परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते ।
तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ७ ॥

भरद्वाजने पूछा—ब्रह्मन् ! इस लोकसे कोई [illegible] लोक सुना जाता है; किंतु वह देखनेमें नहीं [illegible] । मैं उसे जानना चाहता हूँ, आप उसे बतानेकी कृपा करें ॥ [illegible] ॥

भृगुरुवाच

उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते ।
पुण्यः क्षेम्यश्च काम्यश्च [illegible] परो लोक उच्यते ॥ ८ ॥

भृगुजीने कहा—मुने ! उत्तरदिशामें हिमालयके पार्श्वभागमें, जो सर्वगुणसम्पन्न एवं पुण्यमय प्रदेश है, वहाँके भू-भागपर श्रेष्ठ लोक बताया जाता है, वह पवित्र, कल्याणकारी और कमनीय लोक है ॥ ८ ॥

तत्र ह्यपापकर्माणः शुचयोऽत्यन्तनिर्मलाः ।
लोभमोहपरित्यक्ता मानवा निरुपद्रवाः ॥ ९ ॥

वहाँ पापकर्मसे रहित, पवित्र, अत्यन्त निर्मल, लोभ और मोहसे शून्य तथा सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित मानव निवास करते हैं ॥ ९ ॥

स स्वर्गसदृशो देशस्तत्र ह्युक्ताः शुभा गुणाः ।
काले मृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च ॥ १० ॥

वह देश स्वर्गके तुल्य है। वहाँ सभी शुभ गुणोंकी [illegible] बतायी गयी है । वहाँ समयपर ही मृत्यु होती है। रोग-व्याधि किसीका स्पर्श नहीं करते हैं ॥ १० ॥

[illegible] लोभः परदारेषु स्वदारनिरतो जनः ।
नान्योन्यं वध्यते [illegible] द्रव्येषु च न विस्मयः ।
परो ह्यधर्मो नैवास्ति संदेहो नापि जायते ॥ ११ ॥

वहाँ किसीके मनमें परायी स्त्रियोंके प्रति लोभ नहीं होता । सब लोग अपनी ही स्त्रियोंमें अनुरक्त रहते हैं । वहाँके निवासी धनके लिये एक दूसरेका वध नहीं करते । किसीको बन्धनमें नहीं डालते । उन्हें कभी महान् विस्मय नहीं होता । अधर्मका तो वहाँ नाम भी नहीं है । वहाँ किसीके मनमें संदेह नहीं पैदा होता है ॥ ११ ॥

[illegible] [illegible] फलं [illegible] प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।
पानासनाशनोपेताः प्रासादभवनाश्रयाः ॥ १२ ॥
सर्वकामैर्वृताः केचिद्धेमाभरणभूषिताः ।
प्राणधारणमात्रं तु केषांचिदुपपद्यते ।
श्रमेण महता केचित् कुर्वन्ति प्राणधारणम् ॥ १३ ॥

वहाँ किये हुए कर्मका फल प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है । उस लोकमें कुछ लोग बड़े-बड़े महलोंमें रहते, अच्छे आसनोंपर बैठते और उत्तमोत्तम वस्तुएँ खाते-पीते हैं । समस्त कामनाओंसे सम्पन्न और सुवर्णमय आभूषणोंसे विभूषित [illegible] हैं [illegible] कुछ लोगोंको प्राणधारणमात्रके लिये भोजन प्राप्त होता है, कुछ लोग बड़े परिश्रमसे तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए प्राण धारण करते हैं (इस प्रकार वह लोक इस लोकसे सर्वथा उत्कृष्ट है) * ॥ १२-१३ ॥

[illegible] धर्मपराः केचित् केचिन्नैकृतिका नराः ।
सुखिता दुःखिताः केचिन्निर्धना धनिनोऽपरे ॥ १४ ॥

इस मनुष्यलोकमें कुछ मनुष्य धर्मपरायण होते हैं तो कुछ बड़े भारी ठग निकलते हैं । इसीलिये कोई सुखी और कोई दुखी होते हैं । कुछ धनवान् और कुछ लोग निर्धन [illegible] जाते हैं ॥ १४ ॥

[illegible] श्रमो भयं मोहः क्षुधा तीव्रा च जायते ।
लोभश्चार्थकृतो नृणां येन मुह्यन्त्यपण्डिताः ॥ १५ ॥

इहलोकमें श्रम, भय, मोह और तीव्र भूखका [illegible] होता है । मनुष्योंमें धनका लोभ विशेष होता है, जिससे अज्ञानी पुरुष मोहमें पड़ जाते हैं ॥ १५ ॥

इह वार्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कारिणः ।
यस्तद्वेदोभयं [illegible] पाप्मना न स लिप्यते ॥ १६ ॥

इस देशमें धर्म और अधर्म करनेवाले मनुष्योंके विषयमें [illegible] प्रकारकी बातें सुनी जाती हैं । जो धर्म और अधर्म दोनोंके परिणामको जानता है, वह विद्वान् पुरुष पापसे लिप्त नहीं होता है ॥ १६ ॥

सोपधं निकृतिः स्तेयं परीवादो ह्यसूयिता ।
परोपघातो हिंसा च पैशुन्यमनृतं तथा ॥ १७ ॥
एतानासेवते यस्तु तपस्तस्य प्रहीयते ।
यस्त्वेतान् नाचरेद् विद्वांस्तपस्तस्य प्रवर्धते ॥ १८ ॥

कपट, शठता, चोरी, निन्दा, दूसरोंके दोष देखना, दूसरोंको हानि पहुँचाना, प्राणियोंकी हिंसा करना, चुगली [illegible] और झूठ बोलना—जो इन दुर्गुणोंका सेवन करता है, उसकी तपस्या क्षीण होती है और जो विद्वान् इन दोषोंको कभी अपने आचरणमें नहीं लाता, उसकी तपस्या निरन्तर बढ़ती रहती है ॥ १७-१८ ॥

इह चिन्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कर्मणः ।
कर्मभूमिरियं लोके इह [illegible] शुभाशुभम् ।
शुभैः शुभमवाप्नोति तथाशुभमथान्यथा ॥ १९ ॥

इस लोकमें पुण्य और पापकर्मके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके विचार होते रहते हैं । यह कर्मभूमि है । इस जगत्में शुभ और अशुभ कर्म करके मनुष्य शुभ कर्मोंका शुभ फल पाता है और अशुभ कर्मोंका अशुभ फल भोगता है ॥ १९ ॥

* आचार्य नीलकण्ठने 'उत्तरे हिमवत्पार्श्वे' इत्यादिसे लेकर इस अध्यायके अन्ततकके श्लोकोंका आध्यात्मिक अर्थ किया है । वे परलोक या [illegible] लोकका अर्थ परमात्मा मानते [illegible] और इसी दृष्टिसे उन्होंने श्रुति और युक्तिका आश्रय [illegible] पूरे प्रकरणकी संगति लगायी है ।

इह प्रजापतिः पूर्वं देवाः सर्षिगणास्तथा।
इष्ट्वेष्टतपसः पूता ब्रह्मलोकमुपाश्रिताः ॥ २० ॥

पूर्वकालमें यहीं प्रजापति, देवता तथा ऋषियोंने [illegible] और अभीष्ट तपस्या करके पवित्र हो ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लिया [illegible]

उत्तरः पृथिवीभागः सर्वपुण्यतमः शुभः।
इहस्थास्तत्र जायन्ते ये वै पुण्यकृतो जनाः ॥ २१ ॥

पृथ्वीका उत्तरभाग सबसे अधिक पवित्र और मङ्गलमय है। इस लोकमे जो पुण्यात्मा मनुष्य हैं, वे ही मृत्युके पश्चात् [illegible] भूभागमें जन्म लेते हैं ॥ २१ ॥

असत्कर्माणि कुर्वन्तस्तिर्यग्योनिषु चापरे।
क्षीणायुषस्तथा चान्ये नश्यन्ति पृथिवीतले ॥ २२ ॥

दूसरे लोग जो यहाँ पापकर्म करते हैं, वे पशु-पक्षियोंकी योनिमे जन्म ग्रहण करते हैं और दूसरे कितने ही आयुक्षय होनेपर नष्ट हो जाते हैं और पातालमे चले जाते हैं ॥ २२ ॥

अन्योन्यभक्षणासक्ता लोभमोहसमन्विताः।
इहैव परिवर्तन्ते न ते यान्त्युत्तरां दिशम् ॥ २३ ॥

जो लोभ और मोहसे युक्त हो एक दूसरेको खा जानेके लिये उद्यत रहते हैं, वे भी इसी लोकमे आवागमन करते रहते हैं, उत्तरदिशाके उत्कृष्ट लोकमें नहीं जाने पाते हैं ॥

ये गुरून् पर्युपासन्ते नियता ब्रह्मचारिणः।
पन्थानं सर्वलोकानां विजानन्ति मनीषिणः ॥ २४ ॥

जो मन और इन्द्रियोको संयममे रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुजनोंकी उपासना करते हैं, वे मनीषी पुरुष सभी लोकोंके मार्गको जानते हैं ॥ २४ ॥

इत्युक्तोऽयं मया धर्मः संक्षिप्तो ब्रह्मनिर्मितः।
धर्माधर्मौ हि लोकस्य यो वै वेत्ति स बुद्धिमान् ॥२५॥

इस प्रकार मैंने यहाँ ब्रह्माजीके द्वारा निर्मित इस धर्मका संक्षेपसे वर्णन किया है। जो लोकमे करने और न करने योग्य धर्म और अधर्मको जानता है, वही बुद्धिमान् है ॥ २५ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो भृगुणा राजन् भरद्वाजः प्रतापवान्।
भृगुं परमधर्मात्मा विस्मितः प्रत्यपूजयत् ॥ २६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! भृगुजीके इस प्रकार कहनेपर परम धर्मात्मा प्रतापी भरद्वाजने आश्चर्यचकित होकर उनकी पूजा की ॥ २६ ॥

एष ते प्रसवो राजन् जगतः सम्प्रकीर्तितः।
निखिलेन महाप्राज्ञ किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २७ ॥

परम बुद्धिमान् नरेश! इस प्रकार मैंने तुमसे जगत्की उत्पत्तिके सम्बन्धमें ये सारी बातें बतायी हैं। अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भृगु-भरद्वाजसंवादविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९२ ॥

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

शिष्टाचारका फलसहित वर्णन, पापको छिपानेसे हानि और धर्मकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

आचारस्य विधिं तात प्रोच्यमानं त्वयानघ।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—धर्मज्ञ पितामह! अब मैं आपके मुखसे सदाचारकी विधि सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप सर्वज्ञ हैं ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

दुराचारा दुर्विचेष्टा दुष्प्रज्ञाः प्रियसाहसाः।
असन्तस्त्विति विख्याताः सन्तश्चाचारलक्षणाः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो दुराचारी, बुरी चेष्टावाले, दुर्बुद्धि और दुःसाहसको प्रिय माननेवाले हैं, वे दुष्टात्माके नामसे विख्यात होते हैं। श्रेष्ठ पुरुष तो वही हैं, जिनमे सदाचार देखा जाय—सदाचार ही उनका [illegible] है ॥ २ ॥

पुरीषं यदि [illegible] मूत्रं ये न कुर्वन्ति मानवाः।
राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च ते शुभाः ॥ ३ ॥

जो मनुष्य सड़कपर, गौओंके बीचमें और अनाजमें मल या मूत्रका त्याग नहीं करते हैं, वे श्रेष्ठ समझे जाते हैं ॥

शौचमावश्यकं कृत्वा देवतानां [illegible] तर्पणम्।
धर्ममाहुर्मनुष्याणामुपस्पृश्य नदीं तरेत् ॥ [illegible] ॥

प्रतिदिन आवश्यक शौचका सम्पादन करके आचमन करे; फिर नदीमें नहाये और अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासनाके अनन्तर देवता आदिका तर्पण करे। इसे विद्वान् पुरुष मानवमात्रका धर्म बताते हैं ॥ ४ ॥

सूर्यं सदोपतिष्ठेत न च सूर्योदये स्वपेत्।
सायं प्रातर्जपेत् संध्यां तिष्ठन् पूर्वां तथेतराम् ॥ ५ ॥

नित्यप्रति सूर्योपस्थान करे। सूर्योदयके [illegible] कभी न सोये। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय सन्ध्योपासना करके गायत्रीमन्त्रका जप करे ॥ ५ ॥

पञ्चार्द्रो भोजनं भुञ्ज्यात् प्राङ्मुखो मौनमास्थितः।
न निन्द्यादन्नभक्ष्यांश्च स्वाद्वस्वादु च भक्षयेत् ॥ ६ ॥

दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह—इन पाँच अङ्गोंको धोकर

१. तात्पर्य [illegible] भोजनके लिये जाते समय [illegible] हाथ, पैर और मुँह धोने चाहिये। [illegible] फलके भोवे [illegible], तो भी [illegible] समय धो लेना आवश्यक है।

पूर्वाभिमुख हो भोजन करे। भोजनके समय मौन रहे। परोसे हुए अन्नकी निन्दा न करे। वह स्वादिष्ट हो या न हो, प्रेमसे भोजन कर ले ॥ ६ ॥

आर्द्रपाणिः समुत्तिष्ठेन्नार्द्रपादः स्वपेन्निशि।
देवर्षिर्नारदः प्राह एतदाचारलक्षणम् ॥ ७ ॥

भोजनके बाद हाथ धोकर उठे। रातको भीगे पैर न सोये। देवर्षि नारद इसीको सदाचारका [illegible] कहते हैं ॥ ७ ॥

शुचि देशमनड्वाहं देवगोष्ठं चतुष्पथम्।
ब्राह्मणं धार्मिकं चैत्यं नित्यं कुर्यात् प्रदक्षिणम् ॥ ८ ॥
अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च।
सामान्यं भोजनं भृत्यैः पुरुषस्य प्रशस्यते ॥ ९ ॥

[illegible] आदि पवित्र स्थान, बैल, देवालय, चौराहा, ब्राह्मण, धर्मात्मा मनुष्य तथा चैत्य (देवसम्बन्धी वृक्ष)— इनको सदा दाहिने करके चले। गृहस्थ पुरुषको घरमें अतिथियों, सेवकों और स्वजनोंके लिये भी एक-सा भोजन बनवाना श्रेष्ठ माना गया है ॥ ८-९ ॥

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं वेदनिर्मितम्।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत् ॥ १० ॥

शास्त्रमें मनुष्योंके लिये सायंकाल और प्रातःकाल दो ही समय भोजन करनेका विधान है। बीचमें भोजन करनेकी विधि नहीं देखी गयी है। जो इस नियमका पालन करता है, उसे [illegible] करनेका [illegible] प्राप्त होता है ॥ १० ॥

होमकाले तथा जुह्वन्नृतुकाले तथा व्रजन्।
अनन्यस्त्रीजनः प्राज्ञो ब्रह्मचारी [illegible] भवेत् ॥ ११ ॥

जो होमके समय प्रतिदिन हवन करता, ऋतुकालमें [illegible] पास जाता और परायी स्त्रीपर कभी दृष्टि नहीं डालता, [illegible] बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मचारीके समान माना जाता है ॥ ११ ॥

अमृतं ब्राह्मणोच्छिष्टं जनन्या हृदयं कृतम्।
[illegible] पर्युपासन्ते सत्यं सन्तः समासते ॥ १२ ॥

ब्राह्मणको भोजन करानेके बाद बचा हुआ [illegible] अमृत है। वह माताके स्तन्यकी भाँति हितकर है। उसका जो लोग सेवन करते हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त [illegible] लेते हैं ॥ १२ ॥

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी तु यो नरः।
नित्योच्छिष्टः शंकुशुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥ १३ ॥

जो मनुष्य मिट्टीके ढेले फोड़ता, तिनके तोड़ता, नख चबाता, सदा जूठे हाथ और जूठे मुँह रहता है तथा खूँटीमें बँधे हुए तोतेके समान पराधीन जीवन बिताता है, उसे इस जगत्में बड़ी आयु नहीं मिलती ॥ १३ ॥

यजुषा संस्कृतं मांसं निवृत्तो मांसभक्षणात्।
न भक्षयेद् वृथामांसं पृष्ठमांसं च वर्जयेत् ॥ १४ ॥

जो मांस-भक्षण न करता हो, [illegible] यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा [illegible] किया हुआ मांस भी न खाय। व्यर्थ मांस और श्राद्ध-शेष [illegible] भी वह त्याग दे ॥ १४ ॥

स्वदेशे परदेशे वा अतिथिं नोपवासयेत्।
काम्यकर्मफलं लब्ध्वा गुरूणामुपपादयेत् ॥ १५ ॥

मनुष्य स्वदेशमें हो या परदेशमें—अपने पास आये हुए अतिथिको भूखा न रहने दे। सकाम कर्तव्यकर्मोंके फलरूपमें प्राप्त पदार्थ अपने गुरुजनोंको निवेदित कर दे ॥ १५ ॥

गुरुभ्य आसनं देयं कर्तव्यं चाभिवादनम्।
गुरूनभ्यर्च्य युज्यन्ते आयुषा यशसा श्रिया ॥ १६ ॥

गुरुजन पधारें तो उन्हें बैठनेके लिये आसन दे, प्रणाम करे, गुरुओंकी पूजा करनेसे मनुष्य आयु, यश और लक्ष्मीसे सम्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

नेक्षेतादित्यमुद्यन्तं न च नग्नां परस्त्रियम्।
मैथुनं सततं धर्म्यं गुह्ये चैव समाचरेत् ॥ १७ ॥

उगते हुए सूर्यकी ओर न देखे, नंगी हुई परायी स्त्रीकी ओर दृष्टि न डाले और सदा धर्मानुसार ऋतुकालके [illegible] अपनी ही पत्नीके साथ एकान्त स्थानमें समागम करे ॥ १७ ॥

तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः।
सर्वमार्यकृतं चौक्ष्यं वालसंस्पर्शनानि च ॥ १८ ॥

तीर्थोंमें श्रेष्ठ तीर्थ विशुद्ध हृदय है, पवित्र वस्तुओंमें अतिपवित्र भी विशुद्ध हृदय ही है। शिष्ट पुरुष जिसे आचरणमें लाते हैं, वह आचरण सर्वश्रेष्ठ है। चँवर आदिमें लगे हुए गायकी पूँछके बालोंका स्पर्श भी शिष्टाचारानुमोदित होनेके कारण शुद्ध है ॥ १८ ॥

दर्शने दर्शने नित्यं सुखप्रश्नमुदाहरेत्।
सायं प्रातश्च विप्राणां प्रदिष्टमभिवादनम् ॥ १९ ॥

परिचित मनुष्यसे जब-जब भेंट हो, सदा उसका कुशल-समाचार पूछे। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय ब्राह्मणोंको प्रणाम करे, यह शास्त्रकी आज्ञा है ॥ १९ ॥

देवागारे गवां मध्ये ब्राह्मणानां क्रियापथे।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ २० ॥

देवमन्दिरमें, गौओंके बीचमें, ब्राह्मणके यज्ञादि कर्मोंमें, शास्त्रोंके स्वाध्यायकालमें और भोजन करते समय दाहिने हाथसे [illegible] ले ॥ २० ॥

सायं [illegible] विप्राणां पूजनं च यथाविधि।
पण्यानां शोभते पण्यं कृषीणां बाध्यते कृषिः ॥ २१ ॥
बहुकारं च सस्यानां वाह्ये वाहो गवां तथा।

सवेरे और शाम दोनों समय विधिपूर्वक ब्राह्मणोंका पूजन (सेवा-सत्कार) करना चाहिये। यही व्यापारोंमें उत्तम व्यापारकी भाँति शोभा पाता है और यही खेतीमें सबसे अच्छी खेतीके समान प्रत्यक्ष फलदायक है। ब्राह्मण-पूजक पुरुषके विविध अन्नोंकी वृद्धि होती है और उसे वाहनोंमें गोजातिके श्रेष्ठ वाहन सुलभ होते हैं ॥ २१½ ॥

सम्पन्नं भोजने नित्यं पानीये तर्पणं तथा ॥ २२ ॥
सुश्रृतं पायसे ब्रूयाद् यवाग्वां कृसरे तथा ।

भोजन करानेके पश्चात् दाता पूछे कि क्या भोजन सम्पन्न हो गया ? ब्राह्मण उत्तर दे कि सम्पन्न हो गया । इसी प्रकार जल पिलानेके बाद दाता पूछे तृप्ति हुई न ? ब्राह्मण उत्तर दे कि अच्छी तरह तृप्ति हो गयी । खीर खिलानेके बाद जब यजमान पूछे कि अच्छा बना था न ? तब ब्राह्मण उत्तर दे बहुत अच्छा बना था। इसी प्रकार जौका हलुआ और खिचड़ी खिलानेके बाद भी प्रश्न और उत्तर होना चाहिये ॥ २२½ ॥

श्मश्रुकर्मणि सम्प्राप्ते क्षुते स्नानेऽथ भोजने ।
व्याधितानां च सर्वेषामायुष्यमभिनन्दनम् ॥ २३ ॥

हजामत बनाने, छींकने, स्नान और भोजन करनेके बाद हरेक मनुष्यको तथा सभी अवस्थाओंमें सम्पूर्ण रोगियोंका कर्तव्य है कि वे ब्राह्मणोंको प्रणाम आदिसे प्रसन्न करें । इससे उनकी आयु बढ़ती है ॥ २३ ॥

प्रत्यादित्यं न मेहेत न पश्येदात्मनः शकृत् ।
सह स्त्रियाथ शयनं सह भोज्यं च वर्जयेत् ॥ २४ ॥

सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब न करे । अपनी विष्ठापर दृष्टि न डाले । स्त्रीके साथ एक शय्यापर सोना और एक थालीमें भोजन करना छोड़ दे ॥ २४ ॥

त्वंकारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत् ।
अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति ॥ २५ ॥

अपनेसे बड़ोंका नाम लेकर या तू कहकर न पुकारे, जो अपनेसे छोटे या समवयस्क हों, उनके लिये वैसा करना दोषकी बात नहीं है ॥ २५ ॥

हृदयं पापवृत्तानां पापमाख्याति वैकृतम् ।
ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ॥ २६ ॥

पापियोंका हृदय तथा उनके नेत्र और मुख आदिका विकार ही उनके पापोंको बता देता है । जो लोग जान-बूझकर किये हुए पापको महापुरुषोंसे छिपाते हैं, वे गिर जाते हैं ॥

ज्ञानपूर्वकृतं पापं छादयत्यबहुश्रुतः ।
नैनं मनुष्याः पश्यन्ति पश्यन्त्येव दिवौकसः ॥ २७ ॥

मूर्ख मनुष्य ही जान-बूझकर किये हुए पापको छिपाता है । यद्यपि उस पापको मनुष्य नहीं देखते हैं, तो भी देवता-लोग तो देखते ही हैं ॥ २७ ॥

पापेनापिहितं पापं पापमेवानुवर्तते ।
धर्मेणापिहितो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ।
धार्मिकेण कृतो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ॥ २८ ॥

पापी मनुष्यका पापके द्वारा छिपाया हुआ पाप पुनः उसे पापमें ही लगाता है और धर्मात्माका धर्मतः गुप्त रक्खा हुआ धर्म उसे पुनः धर्ममें ही प्रवृत्त करता है ॥ २८ ॥

पापं कृतं न स्मरतीह मूढो
विवर्तमानस्य तदेति कर्तुः ।
राहुर्यथा चन्द्रमुपैति चापि
तथाबुधं पापमुपैति कर्म ॥ २९ ॥

मूर्ख मनुष्य अपने किये हुए पापको याद नहीं रखता; परंतु पापमें प्रवृत्त हुए कर्ताका पाप स्वयं ही उसके पीछे लगा रहता है, जैसे राहु चन्द्रमाके पास स्वतः पहुँच जाता है, उसी प्रकार उस मूढ़ मनुष्यके पास उसका पाप स्वयं चला जाता है ॥ २९ ॥

आशया संचितं द्रव्यं दुःखेनैवोपभुज्यते ।
तद् बुधा न प्रशंसन्ति मरणं न प्रतीक्षते ॥ ३० ॥

किसी विशेष कामनाकी पूर्तिकी आशासे जो धन संचित करके रखा गया है, उसका उपभोग दुःखपूर्वक ही किया जाता है; अतः विद्वान् पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं; क्योंकि मृत्यु किसीकी कामना-पूर्तिके अवसरकी प्रतीक्षा नहीं करती है ॥ ३० ॥

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ॥ ३१ ॥

मनीषी पुरुषोंका कथन है कि समस्त प्राणियोंके लिये मनद्वारा किया हुआ धर्म ही श्रेष्ठ है; अतः मनसे सम्पूर्ण जीवोंका कल्याण सोचता रहे ॥ ३१ ॥

एक एव चरेद् धर्मं नास्ति धर्मे सहायता ।
केवलं विधिमासाद्य सहायः किं करिष्यति ॥ ३२ ॥

केवल वेदविधिका सहारा लेकर अकेले ही धर्मका आचरण करना चाहिये । उसमें सहायताकी आवश्यकता नहीं है । कोई दूसरा सहायक आकर क्या करेगा ? ॥ ३२ ॥

धर्मो योनिर्मनुष्याणां देवानाममृतं दिवि ।
प्रेत्यभावे सुखं धर्माच्छश्वत्तैरुपभुज्यते ॥ ३३ ॥

धर्म ही मनुष्योंकी योनि है । वही स्वर्गमें देवताओंका अमृत है । धर्मात्मा मनुष्य मरनेके पश्चात् धर्मके ही बलसे सदा सुख भोगते हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि भीष्मयुधिष्ठिरसंवादे आचारविधौ त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भीष्म-युधिष्ठिरसंवादके प्रसङ्गमें आचारविधिविषयक एक सौ तिरानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अध्यात्मज्ञानका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

अध्यात्मं नाम यदिदं पुरुषस्येह चिन्त्यते ।
यदध्यात्मं यथा चैतत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अध्यात्मके नामसे जिसका विचार किया जाता है, वह अध्यात्म-ज्ञान क्या है और कैसा है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

कुतः सृष्टमिदं विश्वं ब्रह्मन् स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलये कथमभ्येति तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! इस चराचर जगत्की सृष्टि किससे हुई है और प्रलयकालमें इसका लय किस प्रकार होता है; इस विषयका मुझसे वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अध्यात्ममिति मां पार्थ यदेतदनुपृच्छसि ।
तद् व्याख्यास्यामि ते तात श्रेयस्करतमं सुखम् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! कुन्तीनन्दन ! तुम जिस अध्यात्मज्ञानके विषयमें पूछ रहे हो, उसकी व्याख्या [illegible] तुम्हारे लिये करता हूँ; वह परम कल्याणकारी और सुख-स्वरूप है ॥ ३ ॥

सृष्टिप्रलयसंयुक्तमाचार्यैः परिदर्शितम् ।
यज्ज्ञात्वा पुरुषो लोके प्रीतिं सौख्यं च विन्दति ।
फललाभश्च तस्य स्यात् सर्वभूतहितं च तत् ॥ ४ ॥

आचार्योंने सृष्टि और प्रलयकी व्याख्याके साथ अध्यात्म-ज्ञानका विवेचन किया है, जिसे जानकर मनुष्य इस संसारमें सुख और प्रसन्नताका भागी होता है । उसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति भी होती है । वह अध्यात्मज्ञान [illegible] प्राणियोंके लिये हितकर है ॥ ४ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ॥ ५ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, [illegible] और अग्नि—ये पाँच महाभूत सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं ॥५॥

[illegible] सृष्टानि तत्रैव तानि यान्ति पुनः पुनः ।
महाभूतानि भूतेभ्यः सागरस्योर्मयो यथा ॥ ६ ॥

जैसे लहरें समुद्रसे प्रकट होकर फिर उसीमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ये पाँच महाभूत भी जिस परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं, उसीमें सब प्राणियोंके सहित बारंबार लीन होते हैं ॥ ६ ॥

प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तद्वद् भूतानि भूतात्मा सृष्टानि हरते पुनः ॥ [illegible] ॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको फैलाकर पुनः समेट लेता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा परब्रह्म परमेश्वर अपने रचे हुए सम्पूर्ण भूतोंको फैलाकर फिर अपने भीतर ही समेट लेते हैं ॥ ७ ॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत् ।
अकरोत् तेषु वैषम्यं तत्तु जीवो न पश्यति ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले परमात्माने सब प्राणियोंके शरीरोंमें पाँच ही महाभूतोंको स्थापित किया है; परंतु उनमें विषमता कर दी है—किसी महाभूतके अंशको अधिक और किसीके अंशको कम करके रक्खा है । उस वैषम्यको साधारण जीव नहीं देख पाता ॥ ८ ॥

शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशयोनिजम् ।
वायोः स्पर्शस्तथा चेष्टा त्वक् चैव त्रितयं स्मृतम् ॥ ९ ॥

शब्दगुण, श्रोत्र इन्द्रिय और शरीरके सम्पूर्ण छिद्र—ये तीन आकाशके कार्य हैं । स्पर्श, चेष्टा और त्वगिन्द्रिय—ये तीन वायुके कार्य माने गये हैं ॥ ९ ॥

रूपं चक्षुस्तथा पाकस्त्रिविधं तेज उच्यते ।
[illegible] क्लेदश्च जिह्वा च त्रयो जलगुणाः स्मृताः ॥ १० ॥

रूप, नेत्र और परिपाक—ये तीन तेजके कार्य बताये जाते हैं । रस, जिह्वा तथा क्लेद (गीलापन)—ये तीन जलके गुण अर्थात् कार्य माने गये हैं ॥ १० ॥

घ्रेयं घ्राणं शरीरं च एते भूमिगुणास्त्रयः ।
महाभूतानि पञ्चैव षष्ठं च मन उच्यते ॥ ११ ॥

गन्ध, घ्राणेन्द्रिय और शरीर—ये तीन भूमिके गुण अर्थात् कार्य हैं । इस प्रकार इस शरीरमें पाँच महाभूत और [illegible] हैं; ऐसा बताया जाता है ॥ ११ ॥

इन्द्रियाणि मनश्चैव विज्ञानान्यस्य भारत ।
सप्तमी बुद्धिरित्याहुः क्षेत्रज्ञः पुनरष्टमः ॥ १२ ॥

भरतनन्दन ! श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ और मन—ये जीवात्माको विषयोंका ज्ञान करानेवाले हैं । शरीरमें इन छःके अतिरिक्त सातवीं बुद्धि और आठवाँ क्षेत्रज्ञ है ॥ १२ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः ।
बुद्धिरध्यवसानाय क्षेत्रज्ञः साक्षिवत् स्थितः ॥ १३ ॥

इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण कराती हैं । मन संकल्प-विकल्प करता है । बुद्धि निश्चय करानेवाली है और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) साक्षीकी भाँति स्थित रहता है ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वं पादतलाभ्यां यदर्वाक्चोर्ध्वं च पश्यति ।
एतेन सर्वमेवेदं विद्ध्यभिव्याप्तमन्तरम् ॥ १४ ॥

दोनों पैरोंके तलोंसे लेकर ऊपरतक जो शरीर स्थित है, उसे जो साक्षीभूत चेतन ऊपर-नीचे सब ओरसे देखता है, वह इस सारे शरीरके भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त है । [illegible] बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १४ ॥

पुरुषैरिन्द्रियाणीह वेदितव्यानि कृत्स्नशः।
तमो रजश्च सत्त्वं च तेऽपि भावास्तदाश्रिताः॥ १५॥

सभी मनुष्योंको अपनी इन्द्रियों (और मन-बुद्धि) की देख-भाल करके उनके विषयमें पूरी जानकारी रखनी चाहिये; क्योंकि सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण उन्हींका [illegible] लेकर रहते हैं॥ १५॥

एतां बुद्ध्वा नरो बुद्ध्या भूतानामागतिं गतिम्।
समवेक्ष्य शनैश्चैव लभते शममुत्तमम्॥ १६॥

मनुष्य अपनी बुद्धिके बलसे इन सबको और जीवोंके आवागमनकी अवस्थाको जानकर शनैः शनैः उसपर विचार करनेसे उत्तम शान्ति पा जाता है॥ १६॥

गुणैर्नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि।
मनःषष्ठानि सर्वाणि तदभावे कुतो गुणाः॥ १७॥

तम आदि गुण बुद्धिको बारंबार विषयोंकी ओर ले जाते हैं; तथा बुद्धिके साथ-साथ मनसहित पाँचों इन्द्रियोंको और उनकी समस्त वृत्तियोंको भी ले जाते हैं। उस बुद्धिके अभावमें गुण कैसे रह सकते हैं?॥ १७॥

इति तन्मयमेवैतत् सर्वं स्थावरजङ्गमम्।
प्रलीयते चोद्भवति तस्मान्निर्दिश्यते तथा॥ १८॥

यह चराचर जगत् बुद्धिके उदय होनेपर ही उत्पन्न होता है और उसके लयके साथ ही लीन हो जाता है; इसलिये यह सारा प्रपञ्च बुद्धिमय ही है; अतएव श्रुतिने सबकी बुद्धिरूपताका ही निर्देश किया है॥ १८॥

येन पश्यति तच्चक्षुः शृणोति श्रोत्रमुच्यते।
जिघ्रति घ्राणमित्याहू रसं जानाति जिह्वया॥ १९॥

बुद्धि जिसके द्वारा देखती है, उसे नेत्र और जिसके द्वारा सुनती है, उसे श्रोत्र कहते हैं। इसी प्रकार जिससे वह सूँघती है, उसे [illegible] कहा गया है, वही जिह्वाके द्वारा रसका अनुभव करती है॥ १९॥

त्वचा स्पर्शयते स्पर्शं बुद्धिर्विक्रियतेऽसकृत्।
येन प्रार्थयते किञ्चित् तदा भवति तन्मनः॥ २०॥

बुद्धि त्वचासे स्पर्शका बोध प्राप्त करती है। इस प्रकार वह बारंबार विकारको प्राप्त होती रहती है। वह जिस करणके द्वारा जिसका अनुभव करना चाहती है, मन उसीका रूप धारण कर लेता है॥ २०॥

अधिष्ठानानि बुद्धेर्हि पृथगर्थानि पञ्चधा।
इन्द्रियाणीति यान्याहुस्तान्यदृश्योऽधितिष्ठति॥ २१॥

भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेके लिये जो बुद्धिके पाँच अधिष्ठान हैं, उन्हींको पाँच इन्द्रियाँ कहते हैं। अदृश्य जीवात्मा उन सबका अधिष्ठाता (प्रेरक) है॥ २१॥

पुरुषे तिष्ठती बुद्धिस्त्रिषु भावेषु [illegible]र्तते।
कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदनुशोचति॥ २२॥
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि वर्तते।

जीवात्माके आश्रित रहकर बुद्धि (सुख, दुःख और मोह) तीन भावोंमें स्थित होती है। वह कभी तो प्रसन्नताका अनुभव करती है, कभी शोकमें डूबी रहती है और कभी सुख और दुःख दोनोंके अनुभवसे रहित मोहाच्छन्न हो जाती है॥ २२½॥

एवं नराणां मनसि त्रिषु भावेष्ववस्थिता॥ २३॥
सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतानतिवर्तते।
सरितां सागरो भर्ता महावेलामिवोर्मिमान्॥ २४॥

इस प्रकार वह मनुष्योंके मनके भीतर तीन भावोंमें अवस्थित है, यह भावात्मिका बुद्धि (समाधि अवस्थामें) सुख, दुःख और मोह—इन तीनों भावोंको लाँघ जाती है। ठीक उसी तरह जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र उत्ताल तरङ्गोंसे संयुक्त हो अपनी विशाल तटभूमिको भी कभी-कभी लाँघ जाता है॥ २३-२४॥

अतिभावगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते।
प्रवर्तमानं [illegible] रजस्तद्भावमनुवर्तते॥ २५॥

उपर्युक्त भावोंको लाँघ जानेपर भी बुद्धि भावात्मक मनमें सूक्ष्मरूपसे स्थित रहती है। तत्पश्चात् समाधिसे उत्थानके [illegible] प्रवृत्त्यात्मक रजोगुण बुद्धिभावका अनुसरण करता है॥

इन्द्रियाणि हि सर्वाणि प्रवर्तयति [illegible] तदा।
ततः सत्त्वं तमोभावः प्रीतियोगात् प्रवर्तते॥ २६॥

उस समय रजोगुणसे युक्त हुई बुद्धि सारी इन्द्रियोंको प्रवृत्तिमें लगा देती है। तदनन्तर विषयोंके सम्बन्धसे प्रीतिरूप सत्त्वगुण प्रकट होता है। उसके बाद पुरुषके आसक्ति आदि दोषोंसे तमोमय भावका उदय होता है॥ २६॥

प्रीतिः सत्त्वं रजः शोकस्तमो मोहस्तु ते त्रयः।
ये ये च भावा लोकेऽस्मिन् सर्वेष्वेतेषु वै त्रिषु॥ २७॥

प्रसन्नता या हर्ष सत्त्वगुणका कार्य है, शोक रजोगुणरूप है और मोह तमोगुणरूप। इस संसारमें जो जो भाव हैं, वे [illegible] इन्हीं तीनोंके अन्तर्गत हैं॥ २७॥

इति बुद्धिगतिः सर्वा व्याख्याता [illegible] भारत।
इन्द्रियाणि च सर्वाणि विजेतव्यानि धीमता॥ २८॥

भारत! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष बुद्धिकी सम्पूर्ण गतिका विशद विवेचन किया है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको काबूमें रक्खे॥ २८॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव प्राणिनां संश्रिताः सदा।
त्रिविधा वेदना चैव सर्वसत्त्वेषु दृश्यते॥ २९॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति भारत।

भारत! [illegible] रज और तम—ये तीन गुण सदा ही प्राणियोंमें स्थित रहते हैं और इनके कारण उन सब जीवोंमें सात्त्विकी, राजसी और तामसी—यह तीन प्रकारकी अनुभूति देखी जाती है॥ २९½॥

सुखस्पर्शः सत्त्वगुणो दुःखस्पर्शो रजोगुणः।

तमोगुणेन संयुक्तौ भवतोऽव्यावहारिकौ ॥ ३० ॥

सत्त्वगुण सुखकी अनुभूति करानेवाला है, रजोगुण दुःखकी प्राप्ति कराता है और जब ये दोनों तमोगुण (मोह) से संयुक्त होते हैं, तब व्यवहारके विषय नहीं रह जाते ॥३०॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत्।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्याचक्षीत तत् तथा ॥ ३१ ॥

जब शरीर या मनमें किसी प्रकारसे भी प्रसन्नताका भाव हो, तब उसे कहना चाहिये कि सात्त्विकभावका उदय हुआ है ॥

अथ यद् दुःखसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
प्रवृत्तं रज इत्येव तन्न संरभ्य चिन्तयेत् ॥ ३२ ॥

जब अपने मनमें दुःखसे युक्त अप्रसन्नताका भाव जाग्रत् हो, तब यह समझना चाहिये कि रजोगुणकी प्रवृत्ति हुई है। अतः उस दुःखको पाकर मनमें चिन्ता न करे (क्योंकि चिन्तासे दुःख और बढ़ता है) ॥ ३२ ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तमव्यक्तविषयं भवेत्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३३ ॥

जब मनमें कोई मोहयुक्तभाव पैदा हो और किसी भी इन्द्रियका विषय स्पष्ट ज्ञान न पड़े, उसके विषयमें कोई तर्क भी काम न करे और वह किसी तरह समझमें न आवे, तब यही निश्चय करना चाहिये कि तमोगुणकी वृद्धि हुई है।

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता।
कथंचिदभिवर्तन्त इत्येते सात्त्विका गुणाः ॥ ३४ ॥

जब मनमें किसी प्रकार भी अत्यन्त हर्ष, प्रेम, आनन्द, सुख और शान्तिका अनुभव हो रहा हो, तब इन गुणोंको सात्त्विक समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

अतुष्टिः परितापश्च शोको लोभस्तथाक्षमा।
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुभिः ॥ ३५ ॥

जिस समय किसी कारणसे या बिना कारण ही असंतोष, शोक, संताप, लोभ और असहनशीलताके भाव दिखायी दें तो उन्हें रजोगुणका चिह्न जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

अवमानस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिता।
कथंचिदभिवर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार जब अपमान, मोह, प्रमाद, स्वप्न, निद्रा और आलस्य आदि दोष किसी तरह भी घेरते हों तो उन्हें तमोगुणके ही विविध रूप समझे ॥ ३६ ॥

दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम्।
मनः सुनियतं यस्य स सुखी प्रेत्य चेह च ॥ ३७ ॥

जिसका दूरतक दौड़ लगानेवाला और अनेक विषयोंकी ओर जानेवाला कामनायुक्त संशयात्मक मन अच्छी तरह वशमें हो जाता है, वह मनुष्य इहलोकमें तथा मरनेके बाद परलोकमें भी सुखी होता है ॥ ३७ ॥

सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः।
सृजते तु गुणानेक एको न सृजते गुणान् ॥ ३८ ॥

बुद्धि और आत्मा—ये दोनों ही सूक्ष्म [illegible] हैं तथापि इनमें बड़ा भारी अन्तर है। तुम इस अन्तरपर दृष्टिपात करो। इनमें बुद्धि तो गुणोंकी सृष्टि करती है और आत्मा गुणोंकी सृष्टिसे अलग रहता है ॥ ३८ ॥

मशकोदुम्बरौ वापि सम्प्रयुक्तौ यथा सदा।
अन्योन्यमेतौ स्यातां च सम्प्रयोगस्तथा तयोः ॥ ३९ ॥

जैसे गूलरका फल और उसके भीतर रहनेवाले कीड़े एक साथ रहते हुए भी एक दूसरेसे अलग हैं, उसी प्रकार बुद्धि और आत्मा दोनोंका एक साथ रहना और भिन्न-भिन्न होना समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा।
यथा मत्स्यो जलं चैव सम्प्रयुक्तौ तथैव तौ ॥ ४० ॥

वे दोनों स्वभावसे ही अलग-अलग हैं तो भी सदा एक दूसरेसे मिले रहते हैं। ठीक वैसे ही, जैसे मछली और जल एक दूसरेसे पृथक् होकर भी परस्पर संयुक्त रहते हैं। यही स्थिति बुद्धि और आत्माकी भी है ॥ ४० ॥

न गुणा विदुरात्मानं स गुणान् वेत्ति सर्वशः।
परिद्रष्टा गुणानां तु संसृष्टान्मन्यते तथा ॥ ४१ ॥

सत्त्व आदि गुण जड होनेके कारण आत्माको नहीं जानते; किंतु आत्मा चेतन है, इसलिये वह गुणोंको सब प्रकारसे जानता है। यद्यपि आत्मा गुणोंका साक्षी है, अतः उनसे सर्वथा भिन्न है तो भी वह अपनेको उन गुणोंसे संयुक्त मानता है ॥

इन्द्रियैस्तु प्रदीपार्थं कुरुते बुद्धिसप्तमैः।
निर्विचेष्टैरजानद्भिः परमात्मा प्रदीपवत् ॥ ४२ ॥

जैसे घड़ेमें रक्खा हुआ दीपक घड़ेके छेदोंसे अपना प्रकाश फैलाकर वस्तुओंका ज्ञान कराता है, उसी प्रकार परमात्मा शरीरके भीतर स्थित होकर चेष्टा और ज्ञानसे शून्य इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि इन सातोंके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका अनुभव कराता है ॥ ४२ ॥

सृजते हि गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति।
सम्प्रयोगस्तयोरेष सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्ध्रुवः ॥ ४३ ॥

बुद्धि गुणोंकी सृष्टि करती है और आत्मा साक्षी बनकर देखता रहता है। उन बुद्धि और आत्माका यह संयोग अनादि है ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य क्षेत्रज्ञस्य च कश्चन।
सत्त्वं मनः संसृजते न गुणान् वै कदाचन ॥ ४४ ॥

बुद्धिका परमात्माके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं है और क्षेत्रज्ञका भी कोई दूसरा आश्रय नहीं है बुद्धि। मनसे ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। गुणोंके साथ उसका साक्षात् सम्पर्क कदापि नहीं होता ॥ ४४ ॥

रश्मींस्तेषां स मनसा यदा सम्यङ्नियच्छति।
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा घटे दीपो ज्वलन्निव ॥ ४५ ॥

जब जीव बुद्धिरूपी सारथि और मनरूपी बागडोरद्वारा इन्द्रियरूपी अश्वोंको अच्छी तरह काबूमें रखता है,

तब घड़ेमें रक्खे हुए प्रज्वलित दीपकके समान अपने भीतर ही उसका आत्मा प्रकाशित होने लगता है ॥ ४५ ॥

त्यक्त्वा यः प्राकृतं कर्म नित्यमात्मरतिर्मुनिः ।
सर्वभूतात्मभूतस्तस्मात् स गच्छेदुत्तमां गतिम् ॥ ४६ ॥

जो सांसारिक कर्मोंका परित्याग करके सदा अपने-आपमें ही अनुरक्त रहता है, वह मननशील मुनि सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा होकर परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यथा वारिचरः पक्षी सलिलेन न लिप्यते ।
एवमेव कृतप्रज्ञो भूतेषु परिवर्तते ॥ ४७ ॥

[illegible] जलचर पक्षी जलसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार विशुद्धबुद्धि ज्ञानी पुरुष निर्लिप्त रहकर ही सम्पूर्ण भूतोंमें विचरता है ॥ ४७ ॥

एवं स्वभावमेवैतत् स्वबुद्ध्या विहरेन्नरः ।
अशोचन्नप्रहृष्यंश्च समो विगतमत्सरः ॥ ४८ ॥

यह आत्मतत्त्व ऐसा ही निर्लिप्त एवं शुद्ध-बुद्धिस्वरूप है; ऐसा अपनी बुद्धिके द्वारा निश्चय करके ज्ञानी पुरुष हर्ष, शोक और मात्सर्य-दोषसे रहित हो सर्वत्र [illegible] रखते हुए विचरे ॥ ४८ ॥

स्वभावयुक्त्या युक्तस्तु स नित्यं सृजते गुणान् ।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं विज्ञेयास्तन्तुवद् गुणाः ॥ ४९ ॥

आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित रहकर ही [illegible] गुणोंकी सृष्टि करता है । ठीक उसी तरह, जैसे मकड़ी अपने स्वरूपमें स्थित रहती हुई ही जाला बनाती है । मकड़ीके जालेके ही समान समस्त गुणोंकी सत्ता समझनी चाहिये ॥ ४९ ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते निवृत्तिर्नोपलभ्यते ।
प्रत्यक्षेण परोक्षं तदनुमानेन सिध्यति ॥ ५० ॥
एवमेकेऽध्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ।
उभयं सम्प्रधार्यैतद् व्यवस्येत यथामति ॥ ५१ ॥

आत्मसाक्षात् हो जानेपर गुण [illegible] हो जाते हैं तो भी सर्वथा निवृत्त नहीं होते हैं; क्योंकि उनकी निवृत्ति प्रत्यक्ष नहीं देखी जाती है । जो परोक्ष वस्तु है, उसकी सिद्धि अनुमानसे होती है । एक श्रेणीके विद्वानोंका ऐसा ही निश्चय है । दूसरे लोग यह मानते हैं कि गुणोंकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है । इन दोनों मतोंपर भलीभाँति विचार करके अपनी बुद्धिके अनुसार यथार्थ वस्तुका निश्चय करना चाहिये ॥

इतीमं हृदयग्रन्थिं बुद्धिभेदमयं दृढम् ।
विमुच्य सुखमासीत न शोचेच्छिन्नसंशयः ॥ ५२ ॥

बुद्धिके द्वारा कल्पित हुआ जो भेद है, वही हृदयकी सुदृढ गाँठ है । उसे खोलकर संशयरहित हो ज्ञानवान् पुरुष सुखसे रहे, कदापि शोक न करे ॥ ५२ ॥

मलिनाः प्राप्नुयुः शुद्धिं यथा पूर्णां नदीं नराः ।
अवगाह्य सुविद्वांसो विद्धि ज्ञानमिदं तथा ॥५३॥

जैसे मैले शरीरवाले मनुष्य जलसे भरी हुई नदीमें नहा-धोकर साफ-सुथरे हो जाते हैं, उसी प्रकार इस ज्ञानमयी नदीमें अवगाहन करके मलिन-चित्त मनुष्य भी शुद्ध एवं ज्ञान-सम्पन्न हो जाते हैं; ऐसा जानो ॥ ५३ ॥

महानद्या हि पारज्ञस्तप्यते न तदन्यथा ।
[illegible] तु तप्यति तत्त्वज्ञः फले ज्ञाते तरत्युत ॥ ५४ ॥

किसी महानदीके पारको जाननेवाला पुरुष केवल जानने मात्रसे कृतकृत्य नहीं होता । जबतक वह नौका आदिके द्वारा वहाँ पहुँच न जाय, तबतक वह चिन्तामें संतप्त ही रहता है; परंतु तत्त्वज्ञ पुरुष ज्ञानमात्रसे ही संसार सागरसे पार हो जाता है, उसे संताप नहीं होता; क्योंकि यह ज्ञान [illegible] ही पुलस्वरूप है ॥ ५४ ॥

एवं ये विदुराध्यात्मं केवलं ज्ञानमुत्तमम् ॥ ५५ ॥
एतां बुद्ध्वा नरः सर्वां भूतानामागतिं गतिम् ।
अवेक्ष्य च शनैर्बुद्ध्या लभते शमनं ततः ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य बुद्धिसे जीवोंके इस आवागमनपर शनैः शनैः विचार करके उस विशुद्ध एवं उत्तम आध्यात्मिक ज्ञानको प्राप्त कर लेता है, वह परम शान्ति पाता है ॥ ५५-५६ ॥

त्रिवर्गो यस्य विदितः प्रेक्ष्य यश्च विमुञ्चति ।
अन्विष्य मनसा युक्तस्तत्त्वदर्शी निरुत्सुकः ॥ ५७ ॥

जिसे धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका ठीक ठीक [illegible] है, जो खूब सोच-समझकर उनका परित्याग कर चुका है और जिसने मनके द्वारा आत्मतत्त्वका अनुसंधान करके योगयुक्त हो, आत्मासे भिन्न वस्तुके लिये उत्सुकताका त्याग कर दिया है, वही तत्त्वदर्शी है ॥ ५७ ॥

[illegible] चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैश्च विभागशः ।
तत्र तत्र विसृष्टैश्च दुर्वार्यैश्चाकृतात्मभिः ॥ ५८ ॥

जिन्होंने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वे भिन्न भिन्न विषयोंकी ओर प्रेरित हुई दुर्निवार्य इन्द्रियोंद्वारा आत्माका साक्षात्कार नहीं कर सकते ॥ ५८ ॥

एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम् ।
विज्ञाय तद्धि मन्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ ५९ ॥

यह जानकर मनुष्य ज्ञानी हो जाता है । ज्ञानीका इसके सिवा और क्या लक्षण है? क्योंकि मनीषी पुरुष उस परमात्म तत्त्वको जानकर ही अपनेको कृतकृत्य मानते हैं ॥ ५९ ॥

[illegible] भवति विदुषां ततो भयं
यदविदुषां सुमहद् भयं भवेत् ।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचित्
सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम् ॥ ६० ॥

अज्ञानियोंके लिये जो महान् भयका स्थान है, उसी संसारसे ज्ञानी पुरुषोंको भय नहीं होता । ज्ञान [illegible] सबको एक-सी ही गति (मुक्ति) प्राप्त होती है । किसी [illegible] उत्कृष्ट या निकृष्ट गति नहीं मिलती; क्योंकि गुणोंका [illegible] रहनेपर ही उनके तारतम्यके अनुसार प्राप्त होनेवाली गतिमें

भी असमानता बतायी जाती है (ज्ञानीका गुणोंसे सम्बन्ध नहीं रहता) ॥ ६० ॥

यः करोत्यनभिसंधिपूर्वकं
कर्म निर्णुदति यत्पुराकृतम् ।
नाप्रियं तदुभयं कुतः प्रियं
तस्य तज्जनयतीह सर्वतः ॥ ६१ ॥

जो निष्काम भावसे कर्म करता है, उसका वह कर्म पहलेके किये हुए समस्त कर्म-संस्कारोंका नाश कर देता है। पूर्वजन्म और इस जन्मके किये हुए वे दोनों प्रकारके कर्म उस पुरुषके लिये न तो अप्रिय फल उत्पन्न करते हैं और न तो प्रिय फलके ही जनक होते हैं (क्योंकि कर्तापनके अभिमान और फलकी आसक्तिसे शून्य होनेके कारण उनका उन कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रह जाता) ॥ ६१ ॥

लोकमातुरमसूयते जन-
स्तस्य तज्जनयतीह सर्वतः ॥ ६२ ॥

जो काम, क्रोध आदि दुर्व्यसनोंसे आतुर रहता है, उसे विचारवान् पुरुष धिक्कारते हैं। उसके निन्दनीय कर्म उस आतुर मानवको सभी योनियों (पशु-पक्षी आदिके शरीरों) में [illegible] दिलाता है ॥ ६२ ॥

लोक आतुरजनान् विराविण-
स्तत्तदेव बहु पश्य शोचतः ।
तत्र पश्य कुशलानशोचतो
ये विदुस्तदुभयं पदं सताम् ॥ ६३ ॥

लोकमें भोगासक्तिके कारण आतुर रहनेवाले लोग स्त्री, पुत्र आदिके नाश होनेपर उनके लिये बहुत शोक करते और फूट-फूटकर रोते हैं। तुम उनकी इस दुर्दशाको देख लो। साथ ही, जो सारासार-विवेकमें कुशल हैं और सत्पुरुषों-को प्राप्त होनेवाले दो प्रकारके पदको अर्थात् सगुण-उपासना और निर्गुण-उपासनाके फलको जानते हैं, वे कभी शोक नहीं करते हैं। उनकी अवस्थापर भी दृष्टिपात कर लो (फिर तुम्हें अपने लिये जो हितकर दिखायी दे, उसी [illegible] आश्रय लो) ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अध्यात्मकथने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अध्यात्मतत्त्वका वर्णनविषयक एक सौ चौरानबेवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ १९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

ध्यानयोगका वर्णन

भीष्म उवाच

हन्त वक्ष्यामि ते पार्थ ध्यानयोगं चतुर्विधम् ।
यं [illegible] शाश्वतीं सिद्धिं गच्छन्तीह महर्षयः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! अब [illegible] तुमसे ध्यानयोगका वर्णन करूँगा, जो आलम्बनके भेदसे चार प्रकार-[illegible] होता है। जिसे जानकर महर्षिगण यहीं सनातन सिद्धि-को प्राप्त करते हैं ॥ [illegible] ॥

यथा स्वनुष्ठितं ध्यानं तथा कुर्वन्ति योगिनः ।
महर्षयो ज्ञानतृप्ता निर्वाणगतमानसाः ॥ २ ॥

निर्वाणस्वरूप मोक्षमें मन लगानेवाले ज्ञानतृप्त योगयुक्त महर्षिगण उसी उपायका अवलम्बन करते हैं, जिससे ध्यानका भलीभाँति अनुष्ठान हो सके ॥ २ ॥

नावर्तन्ते पुनः पार्थ मुक्ताः संसारदोषतः ।
जन्मदोषपरिक्षीणाः स्वभावे पर्यवस्थिताः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! वे संसारके काम, क्रोध आदि दोषोंसे मुक्त तथा जन्मसम्बन्धी दोषसे शून्य होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, इसलिये पुनः इस संसारमें उन्हें नहीं लौटना पड़ता [illegible] ३ ॥

निर्द्वन्द्वा नित्यसत्त्वस्था विमुक्ता नियमस्थिताः
असङ्गान्यविवादीनि मनःशान्तिकराणि च ॥ ४ ॥
तत्र ध्यानेन संश्लिष्टमेकाग्रं धारयेन्मनः ।
पिण्डीकृत्येन्द्रियग्राममासीनः काष्ठवन्मुनिः ॥ ५ ॥

ध्यानयोगके साधकोंको चाहिये कि सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य सत्त्वगुणमें स्थित, सब प्रकारके दोषोंसे रहित और शौच-संतोषादि नियमोंमें तत्पर रहें। जो स्थान असङ्ग ([illegible] प्रकारके भोगोंके सङ्गसे शून्य), ध्यानविरोधी वस्तुओंसे रहित तथा मनको शान्ति देनेवाले हों, वहीं इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेटकर काठकी भाँति स्थिरभावसे बैठ जाय और मनको एकाग्र करके परमात्माके ध्यानमें लगा दे ॥ ४-५ ॥

शब्दं न विन्देच्छ्रोत्रेण स्पर्शं त्वचा न वेदयेत् ।
रूपं न चक्षुषा विद्याज्जिह्वया [illegible] रसांस्तथा ॥ ६ ॥
घ्रेयाण्यपि [illegible] सर्वाणि जह्याद् ध्यानेन योगवित् ।
पञ्चवर्गप्रमाथीनि नेच्छेच्चैतानि वीर्यवान् ॥ [illegible] ॥

योगको जाननेवाले समर्थ पुरुषको चाहिये कि कानोंके द्वारा शब्द न सुने, त्वचासे स्पर्शका अनुभव न करे, आँखसे रूपको न देखे और जिह्वासे रसोंको ग्रहण न करे एवं ध्यानके द्वारा समस्त सूँघने योग्य वस्तुओंको भी त्याग दे तथा पाँचों इन्द्रियोंको मथ डालनेवाले इन विषयोंकी कभी मनसे भी इच्छा न करे ॥ ६-७ ॥

ततो मनसि संगृह्य पञ्चवर्गं विचक्षणः ।

समादध्यान्मनो भ्रान्तमिन्द्रियैः सह पञ्चभिः ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् बुद्धिमान् एवं विद्वान् पुरुष पाँचों इन्द्रियोंको मनमें स्थिर करे। उसके बाद पाँचों इन्द्रियोंसहित चञ्चल मनको परमात्माके ध्यानमें एकाग्र करे ॥ ८ ॥

विसंचारि निरालम्बं पञ्चद्वारं चलाचलम्।
पूर्वे ध्यानपथे धीरः समादध्यान्मनोऽन्तरा ॥ ९ ॥

मन नाना प्रकारके विषयोंमें विचरण करनेवाला है। उसका कोई स्थिर आलम्बन नहीं है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उसके इधर-उधर निकलनेके द्वार हैं तथा वह अत्यन्त चञ्चल है। ऐसे मनको धीर योगी पुरुष पहले अपने हृदयके भीतर ध्यानमार्गमें एकाग्र करे ॥ ९ ॥

इन्द्रियाणि मनश्चैव यदा पिण्डीकरोत्ययम्।
एष ध्यानपथः पूर्वो मया समनुवर्णितः ॥ १० ॥

जब यह योगी इन्द्रियोंसहित मनको एकाग्र कर लेता है, तभी उसके प्रारम्भिक ध्यानमार्गका आरम्भ होता है। युधिष्ठिर! यह मैंने तुम्हारे निकट प्रथम ध्यानमार्गका वर्णन किया है ॥ १० ॥

तस्य तत् पूर्वसंरुद्धमात्मनः षष्ठमान्तरम्।
स्फुरिष्यति समुद्भ्रान्ता विद्युदम्बुधरे यथा ॥ ११ ॥

इस प्रकार प्रयत्न करनेसे जो इन्द्रियोंसहित मन कुछ देरके लिये स्थिर हो जाता है, वही फिर अवसर पाकर जैसे बादलोंमें बिजली चमक उठती है, उसी प्रकार पुनः बारंबार विषयोंकी ओर जानेके लिये चञ्चल हो [illegible] है ॥ ११ ॥

जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः।
एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनि ॥ १२ ॥

जैसे पत्तेपर पड़ी हुई पानीकी बूँद सब ओरसे हिलती रहती है, उसी प्रकार ध्यानमार्गमें स्थित साधकका मन भी प्रारम्भमें चञ्चल होता रहता है ॥ १२ ॥

समाहितं क्षणं किञ्चिद् ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति।
पुनर्वायुपथं भ्रान्तं मनो भवति वायुवत् ॥ १३ ॥

एकाग्र करनेपर कुछ देर तो वह ध्यानमें स्थित रहता है; परंतु फिर नाड़ी मार्गमें पहुँचकर भ्रान्त-सा होकर वायुके समान चञ्चल हो उठता है ॥ १३ ॥

अनिर्वेदो गतक्लेशो गततन्द्रिरमत्सरी।
समादध्यात् पुनश्चेतो ध्यानेन ध्यानयोगवित् ॥ १४ ॥

ध्यानयोगको जाननेवाला साधक ऐसे विक्षेपके समय खेद या क्लेशका अनुभव न करे; अपितु आलस्य और मात्सर्यका त्याग करके ध्यानके द्वारा मनको पुनः एकाग्र करनेका प्रयत्न करे ॥ १४ ॥

विचारश्च विवेकश्च वितर्कश्चोपजायते।
मुनेः समादधानस्य प्रथमं ध्यानमादितः ॥ १५ ॥

योगी जब ध्यानका आरम्भ करता है, तब पहले उसके मनमें ध्यानविषयक विचार, विवेक और वितर्क आदि प्रकट होते हैं ॥ १५ ॥

मनसा क्लिश्यमानस्तु समाधानं च कारयेत्।
न निर्वेदं मुनिर्गच्छेत् कुर्यादेवात्मनो हितम् ॥ १६ ॥

ध्यानके समय मनमें कितना ही क्लेश क्यों न हो, साधकको उससे ऊबना नहीं चाहिये; बल्कि और भी तत्परता के साथ मनको एकाग्र करनेका प्रयत्न करना चाहिये। ध्यानयोगी मुनिको सर्वथा अपने कल्याणका ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ १६ ॥

पांसुभस्मकरीषाणां यथा वै राशयश्चिताः।
सहसा वारिणा सिक्ता न यान्ति परिभावनम् ॥ १७ ॥
किञ्चित् स्निग्धं [illegible] च स्याच्छुष्कचूर्णमभावितम्।
क्रमशस्तु शनैर्गच्छेत् सर्वं तत्परिभावनम् ॥ १८ ॥
एवमेवेन्द्रियग्रामं शनैः सम्परिभावयेत्।
संहरेत् क्रमशश्चैव स सम्यक् प्रशमिष्यति ॥ १९ ॥

जैसे धूलि, भस्म और सूखे गोबरके चूर्णकी अलग [illegible] इकट्ठी की हुई ढेरियोंपर [illegible] छिड़का जाय तो वे सहसा जलसे भीगकर इतनी तरल नहीं हो सकतीं कि उनके द्वारा कोई आवश्यक कार्य किया जा सके; क्योंकि बार बार भिगोये बिना वह सूखा चूर्ण थोड़ा सा भीगता है, पूरा नहीं भीगता; परंतु उसको यदि बार-बार जल देकर क्रमसे भिगोया जाय तो धीरे-धीरे वह सब गीला हो जाता है, उसी प्रकार योगी विषयोंकी ओर बिखरी हुई इन्द्रियोंको धीरे-धीरे विषयों की ओरसे समेटे और चित्तको ध्यानके अभ्याससे क्रमशः स्नेहयुक्त बनावे। ऐसा करनेपर वह चित्त भलीभाँति शान्त हो जाता है ॥ १७—१९ ॥

स्वयमेव मनश्चैवं पञ्चवर्गं च भारत।
पूर्वं ध्यानपथे स्थाप्य नित्ययोगेन शाम्यति ॥ २० ॥

भरतनन्दन! ध्यानयोगी पुरुष स्वयं ही मन और पाँचों इन्द्रियोंको पहले ध्यानमार्गमें स्थापित करके नित्य किये हुए योगाभ्यासके बलसे शान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

[illegible] तत्पुरुषकारेण [illegible] च दैवेन केनचित्।
सुखमेष्यति तत् [illegible] यदेवं संयतात्मनः ॥ २१ ॥

इस प्रकार मनोनिग्रहपूर्वक ध्यान करनेवाले योगीको जो दिव्य सुख प्राप्त होता है, वह मनुष्यको किसी दूसरे पुरुषार्थसे या दैवयोगसे भी नहीं मिल सकता ॥ २१ ॥

सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यानकर्मणि।
गच्छन्ति योगिनो ह्येवं निर्वाणं तन्निरामयम् ॥ २२ ॥

[illegible] ध्यानजनित सुखसे सम्पन्न होकर योगी उस ध्यानयोगमें अधिकाधिक अनुरक्त होता जाता है। इस [illegible] योगीलोग दुःख-शोकसे रहित निर्वाण (मोक्ष) पदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ध्यानयोगकथने पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ध्यानयोगका वर्णनविषयक एक सौ पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९५ ॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जपयज्ञके विषयमें युधिष्ठिरका प्रश्न, उसके उत्तरमें [illegible] और ध्यानकी महिमा और उसका फल

युधिष्ठिर उवाच

चातुराश्रम्यमुक्तं ते राजधर्मास्तथैव च ।
[illegible] बहव इतिहासाः पृथग्विधाः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने चार आश्रमों तथा राजधर्मोंका वर्णन किया एवं अनेकानेक विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले बहुत-से भिन्न-भिन्न इतिहास भी सुनाये ॥ १ ॥

श्रुतास्त्वत्तः कथाश्चैव धर्मयुक्ता महामते ।
संदेहोऽस्ति [illegible] कश्चिन्मे तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ २ ॥

महामते ! मैंने आपके मुखसे अनेक धर्मयुक्त कथाएँ सुनी हैं; फिर भी मेरे मनमें एक संदेह रह गया है, उसे [illegible] मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

जापकानां फलावाप्तिं श्रोतुमिच्छामि [illegible] ।
किं फलं जपतामुक्तं क वा तिष्ठन्ति [illegible] ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि जप करनेवालोंको फलकी प्राप्ति कैसे होती है ? जापकोंके जपका [illegible] क्या बताया गया है अथवा जप करनेवाले पुरुष किन लोकोंमें स्थान पाते हैं ? ॥ ३ ॥

जप्यस्य च विधिं कृत्स्नं वक्तुमर्हसि मेऽनघ ।
जापका इति किं चैतत् सांख्ययोगक्रियाविधिः ॥ ४ ॥

अनघ ! आप मुझे जपकी सम्पूर्ण विधि भी बताइये । 'जापक' इस पदसे क्या तात्पर्य है ? क्या यह सांख्ययोग, ध्यानयोग अथवा क्रियायोगका अनुष्ठान है ? ॥ ४ ॥

किं यज्ञविधिरेवैष किमेतज्जप्यमुच्यते ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ ५ ॥

अथवा यह जप भी कोई यज्ञकी ही विधि है ? जिसका [illegible] किया जाता है, वह क्या वस्तु है ? आप यह सारी बातें मुझे बताइये, क्योंकि आप मेरी मान्यताके अनुसार सर्वज्ञ हैं ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यमस्य यत् पुरावृत्तं कालस्य ब्राह्मणस्य च ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें विद्वान् पुरुष उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जो पूर्वकालमें यम, काल और ब्राह्मणके बीचमें घटित हुआ था ॥ ६ ॥

सांख्ययोगौ [illegible] यावुक्तौ मुनिभिर्मोक्षदर्शिभिः ।
संन्यास एव वेदान्ते वर्तते जपनं प्रति ॥ [illegible] ॥

मोक्षदर्शी मुनियोंने जो सांख्य और योगका वर्णन किया है, उनमेंसे वेदान्त (सांख्य) में तो जपका संन्यास (त्याग) ही बताया गया है ॥ ७ ॥

वेदवादाश्च निर्वृत्ताः शान्ता ब्रह्मण्यवस्थिताः ।
सांख्ययोगौ तु यावुक्तौ मुनिभिः समदर्शिभिः ॥ ८ ॥
मार्गौ तावप्युभावेतौ संश्रितौ न च संश्रितौ ।

उपनिषदोंके वाक्य निर्वृत्ति (परमानन्द), शान्ति तथा ब्रह्मनिष्ठताका बोध करानेवाले हैं (अतः वहाँ जपकी अपेक्षा नहीं है) । समदर्शी मुनियोंने जो सांख्य और योग बताये हैं, वे दोनों मार्ग चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानप्राप्तिमें उपकारक होनेसे जपका आश्रय लेते हैं, नहीं भी लेते हैं ॥ ८½ ॥

[illegible] संश्रूयते राजन् कारणं [illegible] वक्ष्यते ॥ ९ ॥
मनःसमाधिरत्रापि तथेन्द्रियजयः स्मृतः ।

राजन् ! यहाँ जैसा कारण सुना जाता है, वैसा आगे बताया जायगा । सांख्य और योग—इन दोनों मार्गोंमें भी मनोनिग्रह और इन्द्रियसंयम आवश्यक माने गये हैं ॥ ९½ ॥

सत्यमग्निपरीचारो विविक्तानां च सेवनम् ॥ १० ॥
ध्यानं तपो दमः क्षान्तिरनसूया मिताशनम् ।
विषयप्रतिसंहारो मितजल्पस्तथा शमः ॥ ११ ॥
एष प्रवर्तको यज्ञो निवर्तकमथो शृणु ।
[illegible] निवर्तते कर्म जपतो ब्रह्मचारिणः ॥ १२ ॥

सत्य, अग्निहोत्र, एकान्तसेवन, ध्यान, तपस्या, दम, क्षमा, अनसूया, मिताहार, विषयोंका संकोच, मितभाषण तथा शम—यह प्रवर्तक यज्ञ है । अब निवर्तक यज्ञका वर्णन सुनो; जिसके अनुसार जप करनेवाले ब्रह्मचारी साधकके सारे कर्म निवृत्त हो जाते हैं (अर्थात् उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है) ॥ १०–१२ ॥

एतत् सर्वमशेषेण यथोक्तं परिवर्तयेत् ।
निवृत्तं मार्गमासाद्य व्यक्ताव्यक्तमनाश्रयम् ॥ १३ ॥

इन मनोनिग्रह आदि पूर्वोक्त सभी साधनोंका निष्काम-भावसे अनुष्ठान करके उन्हें प्रवृत्तिके विपरीत निवृत्तिमार्गमें बदल डाले । निवृत्तिमार्ग तीन तरहका है—व्यक्त, अव्यक्त और अनाश्रय, उस मार्गका आश्रय लेकर स्थिरचित्त हो [illegible] ॥ १३ ॥

कुशोच्चयनिषण्णः सन् कुशहस्तः कुशैः शिखी।
कुशैः परिवृतस्तस्मिन् मध्ये [illegible] कुशैस्तथा ॥ १४॥

निवृत्तिमार्गपर पहुँचनेकी विधि यह है—जपकर्ताको कुशासनपर बैठना चाहिये। उसे अपने हाथमें भी कुश रखना चाहिये। शिखामें भी कुश बाँध लेना चाहिये, वह कुशोंसे घिरकर बैठे और मध्यभागमें भी कुशोंसे आच्छादित रहे॥

विषयेभ्यो नमस्कुर्याद् विषयान्न च भावयेत्।
साम्यमुत्पाद्य मनसा मनस्येव मनो दधत्॥ १५॥

विषयोंको दूरसे ही नमस्कार करे और कभी उनका अपने मनमें चिन्तन न करे। मनसे समताकी भावना करके मनका मनमें ही [illegible] करे॥ १५॥

तद् धिया ध्यायति [illegible] जपन् वै संहिताम् हिताम्।
संन्यस्यत्यथवा तां वै समाधौ पर्यवस्थितः॥ १६॥

फिर बुद्धिके द्वारा परब्रह्म परमात्माका ध्यान करे तथा सर्व-हितकारिणी वेदसंहिताका एवं प्रणव और गायत्री मन्त्रका जप करे। फिर समाधिमें स्थित होनेपर उस संहिता एवं गायत्री मन्त्र आदिके जपको भी त्याग दे॥ १६॥

ध्यानमुत्पादयत्यत्र संहितावलसंश्रयात्।
शुद्धात्मा तपसा दान्तो निवृत्तद्वेषकामवान्॥ १७॥
अरागमोहो निर्द्वन्द्वो न शोचति न सज्जते।
न कर्ता कारणानां च न कार्याणामिति स्थितिः॥ १८॥

संहिताके जपसे जो बल प्राप्त होता है, उसका आश्रय लेकर साधक अपने ध्यानको सिद्ध कर लेता है। वह शुद्धचित्त होकर तपके द्वारा मन और इन्द्रियोंको जीत लेता है तथा द्वेष और कामनासे रहित एवं आसक्ति और मोहसे रहित हुआ शीत और उष्ण आदि समस्त द्वन्द्वोंसे अतीत हो जाता है। अतः वह न तो कभी शोक करता है और न कहीं भी आसक्त होता है। वह कर्मोंका कारण और कार्यका कर्ता नहीं होता (अर्थात् अपनेमें कर्तापनका अभिमान नहीं लाता है)॥ १७-१८॥

न चाहङ्कारयोगेन मनः प्रस्थापयेत् क्वचित्।
न चार्थग्रहणे युक्तो नावमानी न चाक्रियः॥ १९॥

वह अहंकारसे युक्त होकर कहीं भी अपने मनको नहीं लगाता है। वह न तो स्वार्थ-साधनमें संलग्न होता है, न किसीका अपमान करता है और न अकर्मण्य होकर ही बैठता है॥ १९॥

ध्यानक्रियापरो युक्तो ध्यानवान् ध्याननिश्चयः।
ध्याने समाधिमुत्पाद्य तदपि त्यजति क्रमात्॥ २०॥

वह ध्यानरूप क्रियामें ही नित्य तत्पर रहता है, ध्याननिष्ठ हो ध्यानके द्वारा ही तत्त्वका निश्चय कर लेता है, ध्यानमें समाधिस्थ होकर क्रमशः ध्यानरूप क्रियाका भी त्याग कर देता है॥ २०॥

[illegible] वै तस्यामवस्थायां सर्वत्यागकृतः सुखम्।
निरिच्छस्त्यजति प्राणान् ब्राह्मीं संविशते तनुम्॥ २१॥

वह उस अवस्थामें स्थित हुआ योगी निस्संदेह सर्वत्यागरूप निर्बीज समाधिसे प्राप्त होनेवाले दिव्य परमानन्दका अनुभव करता है। वह योगजनित अणिमा आदि सिद्धियोंकी भी इच्छा न रखकर सर्वथा निष्काम हो प्राणोंका परित्याग [illegible] देता है और विशुद्ध परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें प्रवेश कर जाता है॥ २१॥

[illegible] नेच्छते [illegible] ब्रह्मकायनिषेवणम्।
उत्क्रामति [illegible] मार्गस्थो नैव [illegible] जायते॥ २२॥

अथवा यदि वह परब्रह्मका सायुज्य नहीं प्राप्त करना चाहता तो देवयानमार्गपर स्थित हो ऊपरके लोकोंमें गमन करता है अर्थात् परब्रह्म परमात्माके परम धाममें चला जाता है। पुनः इस संसारमें कहीं जन्म नहीं लेता॥ २२॥

आत्मबुद्ध्या समास्थाय शान्तीभूतो निरामयः।
अमृतं विरजः शुद्धमात्मानं प्रतिपद्यते॥ २३॥

आत्मस्वरूपका बोध हो जानेसे वह रजोगुणसे रहित निर्मल शान्तस्वरूप योगी अमृतस्वरूप विशुद्ध आत्माको प्राप्त होता है॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९६॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १९६॥

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जापकमें दोष आनेके [illegible] उसे नरककी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

गतीनामुत्तमा प्राप्तिः कथिता जापकेष्विह।
एकैवैषा गतिस्तेषामुत यान्त्यपरामपि॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! आपने यहाँ जापकोंके लिये गतियोंमें उत्तम गतिकी प्राप्ति बतायी है। क्या उनके लिये एकमात्र यही गति है? या वे किसी दूसरी गतिको भी प्राप्त होते हैं?॥ १॥

भीष्म उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् जापकानां गतिं विभो।
[illegible] गच्छन्ति निरयाननेकान् पुरुषर्षभ॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! तुम सावधान होकर जापकोंकी गतिका वर्णन सुनो। प्रभो! पुरुषप्रवर! अब मैं यह बता रहा हूँ कि वे किस तरह नाना प्रकारके नरकोंमें पड़ते हैं* ॥ २ ॥

यथोक्तपूर्वं पूर्वं यो नानुतिष्ठति जापकः।
एकदेशक्रियश्चात्र निरयं स च गच्छति ॥ ३ ॥

जो जापक जैसा पहले बताया गया है, उसी तरह नियमोंका ठीक-ठीक पालन नहीं करता, एकदेशका ही अनुष्ठान करता है अर्थात् किसी एक ही नियमका पालन करता है, वह नरकमें पड़ता है ॥ ३ ॥

अवमानेन कुरुते न प्रीयति न हृष्यति।
ईदृशो जापको याति निरयं नात्र संशयः ॥ ४ ॥

जो अवहेलनापूर्वक जप करता है, उसके प्रति प्रेम या प्रसन्नता नहीं प्रकट करता है, ऐसा जापक भी निःसंदेह नरकमें ही पड़ता है ॥ ४ ॥

अहङ्कारकृतश्चैव सर्वे निरयगामिनः।
परावमानी पुरुषो भविता निरयोपगः ॥ ५ ॥

जपके कारण अपनेमें बड़प्पनका अभिमान करनेवाले सभी जापक नरकगामी होते हैं। दूसरोंका अपमान करनेवाला जापक भी नरकमें ही पड़ता है ॥ ५ ॥

अभिध्यापूर्वकं जप्यं कुरुते यश्च मोहितः।
यत्राभिध्यां स कुरुते तं वै निरयमृच्छति ॥ ६ ॥

जो मोहित हो फलकी इच्छा रखकर जप करता है, वह जिस फलका चिन्तन करता है, उसीके उपयुक्त नरकमें पड़ता है ॥ ६ ॥

अथैश्वर्यप्रवृत्तेषु जापकस्तत्र रज्यते।
स एव निरयस्तस्य नासौ तस्मात् प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

यदि जप करनेवाले साधकको अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त हों और वह उनमें अनुरक्त हो जाय तो वह ही उसके लिये नरक है, वह उससे छुटकारा नहीं पाता है ॥ ७ ॥

रागेण जापको जप्यं कुरुते तत्र मोहितः।
यत्रास्य रागः पतति तत्र तत्रोपपद्यते ॥ ८ ॥

जो जापक मोहके वशीभूत हो विषयासक्तिपूर्वक जप करता है, वह जिस फलमें उसकी आसक्ति होती है, उसीके अनुरूप शरीरको प्राप्त होता है। इस प्रकार उसका पतन हो जाता है ॥ ८ ॥

दुर्बुद्धिरकृतप्रज्ञश्चले मनसि तिष्ठति।
चलामेव गतिं याति निरयं वा नियच्छति ॥ ९ ॥

जिसकी बुद्धि भोगोंमें आसक्तिके कारण दूषित है तथा जो विवेकशील नहीं है, वह जापक यदि मनके चञ्चल रहते हुए ही जप करता है तो विनाशशील गतिको प्राप्त होता है अथवा नरकमें गिरता है अर्थात् विनाशशील या स्वर्गादि विचलित स्वभाववाले लोकोंको प्राप्त होता है या तिर्यक्-योनियोंमें जाता है ॥ ९ ॥

अकृतप्रज्ञको बालो मोहं गच्छति जापकः।
स मोहान्निरयं याति तत्र गत्वानुशोचति ॥ १० ॥

जो विवेकशून्य मूढ़ जापक मोहग्रस्त हो जाता है, वह उस मोहके कारण नरकमें गिरता है और उसमें गिरकर निरन्तर शोकमग्न रहता है ॥ १० ॥

दृढग्राही करोमीति जाप्यं जपति जापकः।
न सम्पूर्णो न संयुक्तो निरयं सोऽनुगच्छति ॥ ११ ॥

'मैं निश्चय ही जपका अनुष्ठान पूरा करूँगा,' ऐसा दृढ़ आग्रह रखकर जो जापक जपमें प्रवृत्त होता है, परंतु न तो उसमें अच्छी तरह संलग्न होता है और न उसे पूरा ही कर पाता है, वह नरकमें गिरता है ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अनिवृत्तं परं यत्तदव्यक्तं ब्रह्मणि स्थितम्।
तद्भूतो जापकः कस्मात् स शरीरमिहाविशेत् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—जो कभी निवृत्त न होनेवाला सनातन अव्यक्त ब्रह्म है, उस गायत्रीके जपमें स्थित रहनेवाला—एवं उससे भावित हुआ जापक किस कारणसे यहाँ शरीरमें प्रवेश करता है अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण करता है? ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

दुष्प्रज्ञानेन निरया बहवः समुदाहृताः।
प्रशस्तं जापकत्वं च दोषाश्चैते तदात्मकाः ॥ १३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! काम आदिसे बुद्धि दूषित होनेके कारण ही उसके लिये बहुत-से नरकोंकी प्राप्ति अर्थात् नाना योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेकी बात कही गयी है। जापक होना तो बहुत उत्तम है। वे उपर्युक्त राग आदि दोष तो उसमें दूषित बुद्धिके कारण ही आते हैं ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९७ ॥

* इस प्रकरणमें पुनर्जन्मको ही नरकके नामसे कहा गया है। यह बात छठे और सातवें श्लोकके वर्णनसे स्पष्ट हो जाती है।

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

परमधामके अधिकारी जापकके लिये देवलोक भी नरक-तुल्य हैं—इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशं निरयं याति जापको वर्णयस्व मे।
कौतूहलं हि राजन् मे तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! जप करनेवालेको उसके दोषोंके कारण किस तरहके नरककी प्राप्ति होती है? यह मुझसे वर्णन कीजिये। राजन्! उसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है; अतः आप अवश्य बतावें॥ १॥

भीष्म उवाच

धर्मस्यांशप्रसूतोऽसि धर्मिष्ठोऽसि स्वभावतः।
धर्ममूलाश्रयं वाक्यं शृणुष्वावहितोऽनघ॥ २॥

भीष्मजीने कहा—अनघ! तुम धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए हो और स्वभावसे ही धर्मनिष्ठ हो; अतः सावधान होकर धर्मके मूलभूत वेद और परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली मेरी बात सुनो॥ २॥

अमूनि यानि स्थानानि देवानां परमात्मनाम्।
नानासंस्थानवर्णानि नानारूपफलानि च॥ ३॥
दिव्यानि कामचारीणि विमानानि सभास्तथा।
आक्रीडा विविधा राजन् पद्मिन्यश्चैव काञ्चनाः॥ ४॥

परम बुद्धिमान् देवताओंके ये जो स्थान बताये जाते हैं, उनके रूप-रङ्ग अनेक प्रकारके हैं। फल भी नाना प्रकारके हैं। देवताओंके यहाँ इच्छानुसार विचरनेवाले दिव्य विमान तथा दिव्य सभाएँ होती हैं। राजन्! उनके यहाँ नाना प्रकारके क्रीडा-स्थल तथा सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित बावलियाँ होती हैं॥ ३-४॥

चतुर्णां लोकपालानां शुक्रस्याथ बृहस्पतेः।
मरुतां विश्वदेवानां साध्यानामश्विनोरपि॥ ५॥
रुद्रादित्यवसूनां च तथान्येषां दिवौकसाम्।
एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः॥ ६॥

तात! वरुण, कुबेर, इन्द्र और यमराज—इन चारों लोकपालों, शुक्र, बृहस्पति, मरुद्गण, विश्वेदेव, साध्य, अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य, वसु तथा अन्य देवताओंके जो ऐसे ही लोक हैं, वे सब परमात्माके परमधामके सामने नरक ही हैं॥ ५-६॥

अभयं चानिमित्तं च न तत् क्लेशसमावृतम्।
द्वाभ्यां मुक्तं त्रिभिर्मुक्तमष्टाभिस्त्रिभिरेव च॥ ७॥

परमात्माका परमधाम विनाशके भयसे रहित है; क्योंकि वह कारणरहित नित्य-सिद्ध है। वह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच क्लेशोंसे घिरा हुआ नहीं है। उसमें प्रिय और अप्रिय ये दो भाव नहीं हैं*। प्रिय और अप्रियके हेतुभूत तीन गुण—सत्त्व, रज और तम भी नहीं हैं तथा वह परमधाम भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, प्राण और अविद्या—इन आठ पुरियों† से भी मुक्त है। वहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इस त्रिपुटीका भी अभाव है॥ ७॥

चतुर्लक्षणवर्जं तु चतुष्कारणवर्जितम्।
अप्रहर्षमनानन्दमशोकं विगतक्लमम्॥ ८॥

इतना ही नहीं, वह दृष्टि, श्रुति, मति और विज्ञाति—इन चार लक्षणोंसे रहित है‡। ज्ञानके कारणभूत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन चारोंसे वह परे है। वहाँ इष्टविषयकी प्राप्तिसे होनेवाले हर्ष और उसके भोगजनित आनन्दका भी अभाव है। वह शोक और श्रमसे भी सर्वथा रहित है॥ ८॥

कालः सम्पच्यते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः।
स कालस्य प्रभू राजन् स्वर्गस्यापि तथेश्वरः॥ ९॥

राजन्! कालकी उत्पत्ति भी वहींसे होती है। उस धाम-पर कालकी प्रभुता नहीं चलती। वह परमात्मा कालका भी स्वामी और स्वर्गका भी ईश्वर है॥ ९॥

आत्मकेवलतां प्राप्तस्तत्र गत्वा न शोचति।
ईदृशं परमं स्थानं निरयास्ते च तादृशाः॥ १०॥

जो आत्मकैवल्यको प्राप्त हो चुका है, वही मनुष्य वहाँ जाकर शोकसे रहित हो जाता है। उस परमधामका स्वरूप ऐसा ही है और पहले जो नाना प्रकारके सुखभोगोंसे सम्पन्न लोक बताये गये हैं, वे सभी उसकी तुलनामें नरक हैं॥ १०॥

एते ते निरयाः प्रोक्ताः सर्व एव यथातथम्।
तस्य स्थानवरस्येह सर्वे निरयसंज्ञिताः॥ ११॥

राजन्! इस प्रकार मैंने तुम्हें यथार्थरूपसे ये सभी नरक बताये हैं। उस परमपदके सामने वस्तुतः वे सभी लोक 'नरक' ही कहलाने योग्य हैं॥ ११॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १९८॥

---

* श्रुति भी कहती है—'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।'

† आठ पुरियोंका बोधक वचन इस प्रकार उपलब्ध होता है—
भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः। अविद्या चेत्यमुं वर्गमाहुः पुर्यष्टकं बुधाः॥

‡ इन लक्षणोंका नाम-निर्देश श्रुतिमें इस प्रकार किया गया है—'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः।'

कौशिक ब्राह्मणको सावित्रीदेवीका प्रत्यक्ष दर्शन

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

जापकको सावित्रीका वरदान, उसके पास धर्म, यम और काल आदिका आगमन, राजा इक्ष्वाकु और जापक ब्राह्मणका संवाद, सत्यकी महिमा तथा जापककी परम गतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कालमृत्युयमानां ते इक्ष्वाकोर्ब्राह्मणस्य च।
विवादो व्याहृतः पूर्वं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! आपने [illegible] मृत्यु, यम, इक्ष्वाकु और ब्राह्मणके विवादकी पहले चर्चा की थी; अतः उसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इक्ष्वाकोः सूर्यपुत्रस्य यद् वृत्तं ब्राह्मणस्य च ॥ २ ॥
कालस्य मृत्योश्च [illegible] यद् वृत्तं तन्निबोध मे।
यथा स तेषां संवादो यस्मिन् स्थानेऽपि चाभवत् ॥३॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इसी प्रसङ्गमें उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें राजा इक्ष्वाकु, सूर्यपुत्र यम, ब्राह्मण, काल और मृत्युके वृत्तान्तका उल्लेख है। जिस स्थानपर और जिस रूपमें उनका वह संवाद हुआ था, उसे बताता हूँ, मुझसे सुनो ॥ २-३ ॥

ब्राह्मणो जापकः कश्चिद् धर्मवृत्तो महायशाः।
षडङ्गविन्महाप्राज्ञः पैप्पलादिः स कौशिकः ॥ ४ ॥
तस्यापरोक्षं विज्ञानं षडङ्गेषु बभूव ह।
वेदेषु चैव निष्णातो हिमवत्पादसंश्रयः ॥ ५ ॥

कहते [illegible] हिमालय पर्वतके निकटवर्ती पहाड़ियोंपर एक महायशस्वी धर्मात्मा ब्राह्मण रहता था, जो वेदके छहों अङ्गोंका ज्ञाता, परम बुद्धिमान् तथा जपमें तत्पर रहनेवाला था। वह पिप्पलादका पुत्र था और कौशिक वंशमें उसका जन्म हुआ था। वेदके छहों अङ्गोंका विज्ञान उसे प्रत्यक्ष हो गया था, अतः वह वेदोंका पारङ्गत विद्वान् था ॥ ४-५ ॥

सोऽयं ब्राह्मं तपस्तेपे संहितां संयतो जपन्।
तस्य वर्षसहस्रं तु नियमेन तथा गतम् ॥ ६ ॥

वह अर्थज्ञानपूर्वक संहिताका जप करता हुआ इन्द्रियोंको संयममें रखकर ब्राह्मणोचित तपस्या करने लगा। नियमपूर्वक जप तप करते हुए उसके एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये ॥६॥

स देव्या दर्शितः साक्षात् प्रीतास्मीति तदा किल।
जप्यमावर्तयंस्तूष्णीं न स तां किञ्चिदब्रवीत् ॥ [illegible] ॥

कहते हैं, उसके [illegible] जपसे [illegible] होकर देवी सावित्रीने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा [illegible] मैं तुझपर प्रसन्न हूँ। ब्राह्मण अपने जपनीय वेद-संहिताके गायत्रीमन्त्रकी आवृत्ति [illegible] रहा था; इसलिये सावित्रीदेवीके आनेपर भी चुपचाप बैठा ही रह गया। उनसे कुछ न बोला ॥ [illegible] ॥

तस्यानुकम्पया देवी प्रीता समभवत् तदा।
वेदमाता ततस्तस्य तज्जप्यं समपूजयत् ॥ ८ ॥

देवी सावित्रीकी उसपर कृपा हो गयी थी; अतः वे उसके उस समयके व्यवहारसे भी प्रसन्न ही हुईं। वेदमाताने ब्राह्मणके उस नियमानुकूल जपकी मन-ही-मन प्रशंसा की ॥ ८ ॥

समाप्तजप्यस्तूत्थाय शिरसा पादयोस्तदा।
पपात देव्या धर्मात्मा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

जब जप समाप्त हो गया, तब धर्मात्मा ब्राह्मणने उठकर देवी सावित्रीके चरणोंमें [illegible] साष्टाङ्ग प्रणाम किया और [illegible] प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

दिष्ट्या देवि प्रसन्ना त्वं दर्शनं चागता [illegible]।
यदि चापि प्रसन्नासि जप्ये मे रमतां मनः ॥ १० ॥

'देवि! आज मेरा अहोभाग्य है [illegible] आपने [illegible] होकर मुझे दर्शन दिया। यदि वास्तवमें आप मुझपर संतुष्ट हैं तो ऐसी [illegible] कीजिये जिससे मेरा [illegible] जपमें लगा रहे' ॥ १[illegible] ॥

सावित्र्युवाच

किं प्रार्थयसि विप्रर्षे किं चेष्टं करवाणि ते।
प्रब्रूहि जपतां श्रेष्ठ सर्वं तत् ते भविष्यति ॥ ११ ॥

सावित्रीने कहा—ब्रह्मर्षे! तुम क्या चाहते हो? कौन-सी वस्तु तुम्हें अभीष्ट है? बताओ। मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगी। [illegible] करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! तुम अपनी अभिलाषा बताओ। तुम्हारी वह सारी इच्छा पूर्ण हो जायगी ॥११॥

इत्युक्तः स तदा देव्या विप्रः प्रोवाच धर्मवित्।
जप्यं प्रति ममेच्छेयं वर्धत्विति पुनः पुनः ॥ १२ ॥
मनसश्च समाधिर्मे वर्धेताहरहः शुभे।

सावित्रीदेवीके ऐसा कहनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण बोला—'शुभे! इस मन्त्रके जपमें मेरी यह इच्छा बराबर बढ़ती रहे और मेरे मनकी एकाग्रता भी प्रतिदिन बढ़े' ॥ १२½ ॥

तत् तथेति ततो देवी मधुरं प्रत्यभाषत ॥ १३ ॥
इदं चैवापरं प्राह देवी तत्प्रियकाम्यया।
निरयं नैव याता त्वं यत्र याता द्विजर्षभाः ॥ १४ ॥
यास्यसि ब्रह्मणः स्थानमनिमित्तमनिन्दितम्।
साधये भविता चैतद् यत्त्वयाहमिहार्थिता ॥ १५ ॥
नियतो जप चैकाग्रो धर्मस्त्वां समुपैष्यति।
कालो मृत्युर्यमश्चैव समायास्यन्ति तेऽन्तिकम् ॥१६॥
भविता [illegible] विवादोऽत्र [illegible] तेषां च धर्मतः।

तब सावित्रीदेवीने मधुर वाणीमें 'तथास्तु' कहा। इसके बाद देवीने ब्राह्मणका प्रिय करनेकी इच्छासे यह दूसरा वचन और कहा—'विप्रवर! जहाँ दूसरे श्रेष्ठ ब्राह्मण गये हैं, उन स्वर्गादि निम्नश्रेणीके लोकोंमें तुम नहीं जाओगे। तुम्हें स्वभाव-सिद्ध एवं निर्दोष ब्रह्मपदकी प्राप्ति होगी। तुमने मुझसे जो यहाँ प्रार्थना की है, वह पूरी होगी। मैं उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा करूँगी। तुम नियमपूर्वक एकाग्रचित्त होकर जप करो। धर्म स्वयं तुम्हारी सेवामें उपस्थित होगा। काल, मृत्यु और यम भी तुम्हारे निकट पधारेंगे, तुम्हारा उन सबके साथ यहाँ धर्मानुकूल वाद-विवाद भी होगा ॥ १३—१६½ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा भगवती जगाम भवनं स्वकम् ॥ १७ ॥
ब्राह्मणोऽपि जपन्नास्ते दिव्यं वर्षशतं तथा।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर भगवती सावित्री देवी अपने धामको चली गयीं और ब्राह्मण भी दिव्य सौ वर्षोंतक पूर्ववत् जपमें संलग्न रहा ॥ १७½ ॥

सदा दान्तो जितक्रोधः सत्यसंधोऽनसूयकः॥ १८ ॥
समाप्ते नियमे तस्मिन्नथ विप्रस्य धीमतः।
साक्षात् प्रीतस्तदा धर्मो दर्शयामास तं द्विजम्॥ १९ ॥

वह सदा मन और इन्द्रियोंको संयममें रखता था, क्रोधको जीत चुका था। अपनी की हुई प्रतिज्ञाका सचाईके साथ पालन करता था और किसीके दोष नहीं देखता था। बुद्धिमान् ब्राह्मणका वह नियम पूर्ण होनेपर साक्षात् भगवान् धर्म उस समय उसपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया १८-१९

धर्म उवाच

द्विजाते पश्य मां धर्ममहं त्वां द्रष्टुमागतः।
जप्यस्यास्य फलं यत्तत् सम्प्राप्तं तच्च मे शृणु ॥२०॥

धर्म बोले—विप्रवर! तुम मेरी ओर देखो। मैं धर्म हूँ और तुम्हारा दर्शन करनेके लिये आया हूँ। तुम्हें इस जपका जो फल प्राप्त हुआ है, वह मुझसे सुन लो ॥ २० ॥

जिता लोकास्त्वया सर्वे ये दिव्या ये च मानुषाः।
देवानां निलयान् साधो सर्वानुत्क्रम्य यास्यसि॥२१॥

तुमने दिव्य और मानुष सभी लोकोंपर विजय प्राप्त की है। साधो! तुम सम्पूर्ण देवताओंके लोकोंको लाँघकर उनसे भी ऊपर जाओगे ॥ २१ ॥

प्राणत्यागं कुरु मुने गच्छ लोकान् यथेप्सितान्।
त्यक्त्वाऽऽत्मनः शरीरं च ततो लोकानवाप्स्यसि२२

मुने! अब तुम अपने प्राणोंका परित्याग करो और अभीष्ट लोकोंमें जाओ। अपने शरीरका परित्याग करनेके पश्चात् ही तुम उन पुण्यलोकोंमें जाओगे ॥ २२ ॥

ब्राह्मण उवाच

किं नु लोकैर्हि मे धर्म गच्छ त्वं च यथासुखम्।
बहुदुःखसुखं देहं नोत्सृजेयमहं विभो ॥ २३ ॥

ब्राह्मणने कहा—धर्म! मुझे उन लोकोंको लेकर क्या करना है? आप सुखपूर्वक यहाँसे अपने स्थानको पधारिये। प्रभो! मैंने इस शरीरके साथ बहुत दुःख और सुख उठाया है; अतः इसका त्याग नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

धर्म उवाच

अवश्यं भोः शरीरं ते त्यक्तव्यं मुनिपुङ्गव।
स्वर्गमारोह भो विप्र किं वा वै रोचतेऽनघ ॥ २४ ॥

धर्म बोले—निष्पाप मुनिश्रेष्ठ! शरीर तो तुम्हें अवश्य त्यागना पड़ेगा। विप्रवर! अब स्वर्गलोकपर आरूढ हो जाओ अथवा तुम्हारी क्या रुचि है? बताओ ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच

न रोचये स्वर्गवासं विना देहमहं विभो।
गच्छ धर्म न मे श्रद्धा स्वर्गं गन्तुं विनाऽऽत्मना॥२५॥

ब्राह्मणने कहा—प्रभो! मैं इस शरीरके बिना स्वर्ग-लोकमें निवास करना नहीं चाहता; अतः धर्मदेव! आप यहाँसे जाइये। इस शरीरको छोड़कर स्वर्गलोकमें जानेके लिये मेरे मनमें तनिक भी उत्साह नहीं है ॥ २५ ॥

धर्म उवाच

अलं देहे मनः कृत्वा त्यक्त्वा देहं सुखी भव।
[illegible] लोकानरजसो [illegible] गत्वा न शोचसि ॥ २६ ॥

धर्म बोले—मुने! शरीरमें मनको आसक्त रखना ठीक नहीं है। [illegible] देह त्यागकर सुखी हो जाओ। [illegible] रजोगुणरहित निर्मल लोकोंमें जाओ, जहाँ जाकर फिर तुम्हें शोक नहीं करना पड़ेगा ॥ २६ ॥

ब्राह्मण उवाच

रमे जपन् महाभाग किं [illegible] लोकैः सनातनैः।
सशरीरेण गन्तव्यं मया स्वर्गं न वा विभो ॥ २७ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाभाग! मैं तो जपमें ही सुख मानता हूँ। मुझे सनातन लोकोंको लेकर क्या करना है? भगवन्! यह बताइये, मैं सशरीर स्वर्गलोकमें जा सकता हूँ या नहीं? ॥ २७ ॥

धर्म उवाच

यदि त्वं नेच्छसे त्यक्तुं शरीरं पश्य वै द्विज।
एष कालस्तथा मृत्युर्यमश्च त्वामुपागताः ॥ २८ ॥

धर्म बोले—ब्रह्मन्! यदि तुम शरीर छोड़ना नहीं चाहते हो तो देखो, ये काल, मृत्यु और यम तुम्हारे पास आये हैं ॥ २८ ॥

भीष्म उवाच

अथ वैवस्वतः कालो मृत्युश्च त्रितयं विभो।
ब्राह्मणं तं महाभागमुपगम्येदमब्रुवन् ॥ २९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वैवस्वत यम, काल और मृत्यु—तीनों उस महाभाग ब्राह्मणके पास जाकर इस प्रकार बोले— ॥ २९ ॥

यम उवाच

तपसोऽस्य सुतप्तस्य तथा सुचरितस्य च ।
फलप्राप्तिस्तव श्रेष्ठा यमोऽहं त्वामुपब्रुवे ॥ ३० ॥

यमराज बोले—ब्रह्मन्! तुम्हारेद्वारा भलीभाँति की हुई इस तपस्याका तथा शुभ आचरणोंका भी तुम्हें उत्तम फल [illegible] हुआ है। मैं यमराज हूँ और स्वयं तुमसे यह [illegible] कहता हूँ ॥ ३० ॥

[illegible] उवाच

यथावदस्य जप्यस्य फलं प्राप्तमनुत्तमम् ।
कालस्ते स्वर्गमारोढुं कालोऽहं त्वामुपागतः ॥ ३१ ॥

कालने कहा—विप्रवर! तुम्हारे इस जपका यथायोग्य सर्वोत्तम फल प्राप्त हुआ है। अतः अब तुम्हारे लिये स्वर्गलोकमें जानेका समय आया है। यही सूचित करनेके लिये मैं साक्षात् काल तुम्हारे पास आया हूँ ॥ ३१ ॥

मृत्युरुवाच

मृत्युं मां विद्धि धर्मज्ञ रूपिणं स्वयमागतम् ।
कालेन चोदितो विप्र त्वामितो नेतुमद्य वै ॥ ३२ ॥

मृत्युने कहा—धर्मज्ञ ब्राह्मण! मुझे मृत्यु समझो। [illegible] स्वयं ही शरीर धारण करके यहाँ आया हूँ। विप्रवर! [illegible] कालसे प्रेरित होकर आज तुम्हें यहाँसे ले जानेके लिये उपस्थित हुआ [illegible] ॥ ३२ ॥

ब्राह्मण उवाच

स्वागतं सूर्यपुत्राय कालाय [illegible] महात्मने ।
मृत्यवे चाथ धर्माय किं कार्यं करवाणि वः ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणने कहा—सूर्यपुत्र यम, महामना काल, मृत्यु तथा धर्म—इन सबका स्वागत है। बताइये, मैं आपलोगोंका कौन-सा कार्य करूँ? ॥ ३३ ॥

भीष्म उवाच

अर्घ्यं पाद्यं च दत्त्वा स तेभ्यस्तत्र समागमे ।
अब्रवीत् परमप्रीतः स्वशक्त्या [illegible] करोमि वः ॥ ३४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वहाँ उन सबका समागम होनेपर ब्राह्मणने उनके लिये अर्घ्य और [illegible] देकर बड़ी प्रसन्नताके साथ कहा—'देवताओ! [illegible] अपनी शक्तिके अनुसार आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ?' ॥ ३४ ॥

तस्मिन्नेवाथ काले [illegible] तीर्थयात्रामुपागतः ।
इक्ष्वाकुरगमत् तत्र समेता यत्र ते विभो ॥ ३५ ॥

इसी समय तीर्थयात्राके लिये आये हुए राजा इक्ष्वाकु भी उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ वे [illegible] लोग एकत्र हुए थे ॥ ३५ ॥

सर्वानेव [illegible] राजर्षिः सम्पूज्याथ प्रणम्य च ।
कुशलप्रश्नमकरोत् सर्वेषां राजसत्तमः ॥ ३६ ॥

नृपश्रेष्ठ राजर्षि इक्ष्वाकुने उन सबको प्रणाम करके उनकी पूजा की और उन [illegible] कुशल-समाचार पूछा ॥ ३६ ॥

तस्मै सोऽथासनं दत्त्वा पाद्यमर्घ्यं तथैव च ।
अब्रवीद् ब्राह्मणो वाक्यं कृत्वा कुशलसंविदम् ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणने भी राजाको अर्घ्य, पाद्य और आसन देकर कुशल-मङ्गल पूछनेके [illegible] इस प्रकार कहा— ॥ ३७ ॥

स्वागतं ते महाराज ब्रूहि यद् यदिहेच्छसि ।
स्वशक्त्या किं करोमीह तद् भवान् प्रब्रवीतु माम् ॥ ३८ ॥

'महाराज! आपका स्वागत है। आपकी जो-जो इच्छा हो, उसे यहाँ बताइये। मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपकी [illegible] सेवा करूँ? यह आप मुझे बतावें' ॥ ३८ ॥

राजोवाच

राजाहं ब्राह्मणश्च त्वं यदा षट्कर्मसंस्थितः ।
ददानि वसु किंचित्ते प्रार्थितं तद् वदस्व मे ॥ ३९ ॥

राजाने कहा—विप्रवर! [illegible] क्षत्रिय राजा हूँ और [illegible] छः कर्मोंमें स्थित रहनेवाले ब्राह्मण। अतः [illegible] आपको कुछ धन देना चाहता हूँ। आप प्रसिद्ध धनरत्न मुझसे माँगिये ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण उवाच

द्विविधा ब्राह्मणा राजन् धर्मश्च द्विविधः स्मृतः ।
प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च निवृत्तोऽहं प्रतिग्रहात् ॥ ४० ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! ब्राह्मण दो प्रकारके होते हैं और धर्म भी दो प्रकारका माना गया है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। मैं प्रतिग्रहसे निवृत्त ब्राह्मण हूँ ॥ ४० ॥

तेभ्यः प्रयच्छ दानानि ये प्रवृत्ता नराधिप ।
अहं न प्रतिगृह्णामि किमिष्टं किं ददामि ते ।
ब्रूहि त्वं नृपतिश्रेष्ठ तपसा साधयामि किम् ॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! आप उन ब्राह्मणोंको दान दीजिये, जो प्रवृत्ति-मार्गमें हों । मैं आपसे दान नहीं लूँगा । नृपश्रेष्ठ ! इस समय आपको क्या अभीष्ट है ? मैं आपको क्या दूँ ? बताइये, मैं अपनी तपस्याद्वारा आपका कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ ? ॥ ४१ ॥

राजोवाच

क्षत्रियोऽहं न जानामि देहीति वचनं क्वचित् ।
प्रयच्छ युद्धमित्येवंवादिनः स्मो द्विजोत्तम ॥ ४२ ॥

राजा बोले—द्विजश्रेष्ठ ! मैं क्षत्रिय हूँ । 'दीजिये' ऐसा कहकर याचना करनेकी बातको मैं कभी नहीं जानता । माँगनेके नामपर तो हमलोग तो यही कहना जानते हैं कि 'युद्ध दो' ॥ ४२ ॥

ब्राह्मण उवाच

तुष्यसि त्वं स्वधर्मेण तथा तुष्टा वयं नृप ।
अन्योन्यस्यान्तरं नास्ति यदिष्टं तत् समाचर ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणने कहा—नरेश्वर ! जैसे आप अपने धर्मसे संतुष्ट हैं, उसी तरह हम भी अपने धर्मसे संतुष्ट हैं । हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है । अतः आपको जो अच्छा लगे, वह कीजिये ॥ ४३ ॥

राजोवाच

स्वशक्त्याहं ददानीति त्वया पूर्वमुदाहृतम् ।
याचे त्वां दीयतां मह्यं जप्यस्यास्य फलं द्विज ॥ ४४ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! आपने मुझसे पहले कहा है कि 'मैं अपनी शक्तिके अनुसार दान दूँगा' तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि आप अपने जपका [illegible] मुझे दे दीजिये ॥

ब्राह्मण उवाच

युद्धं मम सदा वाणी याचतीति विकत्थसे ।
न च युद्धं मया सार्धं किमर्थं याचसे पुनः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! आप तो बहुत बढ़-बढ़कर बातें बना रहे थे कि मेरी वाणी सदा युद्धकी ही याचना करती है, तब आप मेरे साथ भी युद्धकी ही याचना क्यों नहीं कर रहे हैं ? ॥ ४५ ॥

राजोवाच

वाग्वज्रा ब्राह्मणाः प्रोक्ताः क्षत्रिया बाहुजीविनः ।
वाग्युद्धं तदिदं तीव्रं मम विप्र त्वया सह ॥ ४६ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! ब्राह्मणोंकी वाणी ही वज्रके समान प्रभाव डालनेवाली होती है और क्षत्रिय बाहुबलसे जीवन-निर्वाह करनेवाले होते हैं; अतः आपके [illegible] मेरा यह तीव्र वाग्युद्ध उपस्थित हुआ है ॥ ४६ ॥

ब्राह्मण उवाच

सैवाद्यापि प्रतिज्ञा मे स्वशक्त्या किं प्रदीयताम् ।
ब्रूहि दास्यामि राजेन्द्र विभवे सति मा चिरम् ॥ ४७ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजेन्द्र ! मेरी वही प्रतिज्ञा इस समय भी है । मैं अपनी शक्तिके अनुसार आपको क्या दूँ ? बोलिये, विलम्ब न कीजिये ! मैं शक्ति रहते आपको मुँहमाँगी वस्तु [illegible] प्रदान करूँगा ॥ ४७ ॥

राजोवाच

यत्तद् वर्षशतं पूर्णं जप्यं वै जपता त्वया ।
फलं प्राप्तं तत् प्रयच्छ मम दित्सुर्भवान् यदि ॥ ४८ ॥

राजाने कहा—मुने ! यदि आप देना ही चाहते हैं तो पूरे सौ वर्षोंतक जप करके आपने जिस फलको प्राप्त किया है, वही मुझे दे दीजिये ॥ ४८ ॥

ब्राह्मण उवाच

परमं गृह्यतां तस्य फलं यज्जपितं मया ।
अर्धं त्वमविचारेण फलं तस्य ह्यवाप्नुहि ॥ ४९ ॥
[illegible] सर्वमेवेह मामकं जापकं फलम् ।
राजन् प्राप्नुहि कामं त्वं यदि सर्वमिहेच्छसि ॥ ५० ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! मैंने जो जप किया है, उसका उत्तम फल आप ग्रहण करें । मेरे जपका आधा फल तो आप बिना विचारे ही प्राप्त करें अथवा यदि आप मेरेद्वारा किये हुए जपका सारा ही फल लेना चाहते हों तो अवश्य अपनी इच्छाके अनुसार वह सब प्राप्त कर लें ॥ ४९-५० ॥

राजोवाच

कृतं सर्वेण भद्रं ते जप्यं यद् याचितं मया ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि किञ्च [illegible] फलं वद ॥ ५१ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने जो जपका फल माँगा है, उन सबकी पूर्ति हो गयी । आपका भला हो, कल्याण हो । मैं चला जाऊँगा; किंतु [illegible] तो बता दीजिये कि उसका फल क्या है ? ॥ ५१ ॥

ब्राह्मण उवाच

फलप्राप्तिं न जानामि दत्तं यज्जपितं मया ।
अयं धर्मश्च कालश्च यमो मृत्युश्च साक्षिणः ॥ ५२ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! इस जपका फल क्या मिलेगा ? इसको मैं नहीं जानता; परंतु मैंने जो कुछ जप किया था, वह सब आपको दे दिया । ये धर्म, यम, मृत्यु और काल इस बातके साक्षी हैं ॥ ५२ ॥

राजोवाच

अज्ञातमस्य धर्मस्य फलं [illegible] मे करिष्यति ।
फलं ब्रवीषि धर्मस्य न चेज्जप्यकृतस्य माम् ।
प्राप्नोतु तत् फलं विप्रो नाहमिच्छे ससंशयम् ॥ ५३ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! यदि [illegible] मुझे अपने जप-जनित धर्मका फल नहीं [illegible] रहे हैं तो इस धर्मका [illegible] [illegible] मेरे किस काम आयेगा ? वह सारा [illegible] आपहीके पास रहे। [illegible] तदिग्ध [illegible] नहीं चाहता ॥ ५३ ॥

ब्राह्मण उवाच

माख्देऽपरवक्तव्यं दत्तं वास्य फलं मया।
वाक्यं प्रमाणं राजर्षे ममाद्य [illegible] चैव हि ॥ ५४ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजर्षे ! अब तो मैं अपने जपका [illegible] दे चुका; अतः दूसरी कोई [illegible] नहीं स्वीकार करूँगा। इस विषयमें आज मेरी और आपकी बातें ही प्रमाण-स्वरूप [illegible] (हम दोनोंको अपनी-अपनी बातोंपर दृढ़ रहना चाहिये) ॥ ५४ ॥

नाभिसंधिर्मयेर जप्ये कृतपूर्वः कदाचन।
[illegible] राजशार्दूल कथं वेत्स्याम्यहं फलम् ॥ ५५ ॥

राजसिंह ! मैंने जप करते समय कभी फलकी कामना नहीं की थी; अतः इस जपका क्या फल होगा, यह कैसे जान सकूँगा ? ॥ ५५ ॥

ददस्वेति त्वया चोक्तं ददानीति [illegible] तथा।
न वाचं दूषयिष्यामि सत्यं रक्ष स्थिरो भव ॥ ५६ ॥

आपने कहा था कि 'दीजिये' और मैंने कहा था कि 'दूँगा'—ऐसी दशामें मैं अपनी बात झूठी नहीं करूँगा। आप सत्यकी रक्षा कीजिये और इसके लिये सुस्थिर हो जाइये ॥ ५६ ॥

अथैवं वदतो मेऽद्य वचनं न करिष्यसि।
महानधर्मो भविता [illegible] राजन् मृषा कृतः ॥ ५७ ॥

राजन् ! यदि [illegible] तरह [illegible] बात करनेपर भी आप आज मेरे वचनका पालन नहीं करेंगे तो आपको असत्यका महान् [illegible] लगेगा ॥ ५७ ॥

न युक्तं [illegible] मृषा वाणी त्वया वक्तुमरिंदम।
[illegible] मयाप्यभिहितं मिथ्या कर्तुं न शक्यते ॥ ५८ ॥

शत्रुदमन नरेश ! आपके लिये भी झूठ बोलना उचित नहीं है और [illegible] भी अपनी कही हुई बातको मिथ्या नहीं कर [illegible] ॥ ५८ ॥

संश्रुतं च मया पूर्वं ददानीत्यविचारितम्।
तद् गृह्णीष्वाविचारेण यदि सत्ये स्थितो भवान् ॥ ५९ ॥

मैंने बिना [illegible] सोच-विचार किये ही पहले देनेकी प्रतिज्ञा कर ली है; [illegible] [illegible] भी बिना विचारे मेरा दिया हुआ जप ग्रहण करें। यदि [illegible] सत्यपर दृढ़ हैं तो आपको ऐसा अवश्य करना चाहिये ॥ ५९ ॥

इहागम्य हि मां राजन् जाप्यं फलमयाचथाः।
तन्मे निसृष्टं गृह्णीष्व भव सत्ये स्थिरोऽपि च ॥ ६० ॥

राजन् ! आपने स्वयं यहाँ आकर मुझसे जपके फलकी याचना की है और मैंने उसे आपके लिये दे दिया है; [illegible] आप उसे [illegible] करें और सत्यपर डटे रहें ॥ ६० ॥

नायं लोकोऽस्ति न परो न च पूर्वान् स तारयेत्।
[illegible] एव जनिष्यांस्तु मृषावादपरायणः ॥ ६१ ॥

जो झूठ बोलनेवाला है, उस मनुष्यको न इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही। वह अपने पूर्वजोंको भी नहीं तार सकता; फिर भविष्यमें होनेवाली संततिका उद्धार तो कर ही कैसे सकता है ? ॥ ६१ ॥

न यज्ञाध्ययने दानं नियमास्तारयन्ति हि।
[illegible] सत्यं परे लोके तथेह पुरुषर्षभ ॥ ६२ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! परलोकमें सत्य जिस प्रकार जीवोंका उद्धार [illegible] है, उस प्रकार यज्ञ, वेदाध्ययन, दान और नियम भी नहीं तार सकते हैं ॥ ६२ ॥

तपांसि यानि चीर्णानि चरिष्यन्ति च यत् तपः।
शतैः शतसहस्रैश्च तैः सत्यान्न विशिष्यते ॥ ६३ ॥

लोगोंने अबतक जितनी तपस्याएँ की हैं और भविष्यमें भी जितनी करेंगे, उन सबको सौगुना या लाखगुना करके एकत्र किया जाय तो भी उनका महत्त्व सत्यसे बढ़कर नहीं सिद्ध होगा ॥ ६३ ॥

सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ॥ ६४ ॥

[illegible] ही एकमात्र अविनाशी [illegible] है। सत्य ही एकमात्र [illegible] तप है, सत्य ही एकमात्र अविनाशी यज्ञ है, सत्य ही एकमात्र नाशरहित सनातन वेद है ॥ ६४ ॥

सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम्।
सत्याद् धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ ६५ ॥

वेदोंमें [illegible] ही जागता है—उसीकी महिमा बतायी गयी है। सत्यका ही सबसे श्रेष्ठ [illegible] माना गया है। धर्म और इन्द्रिय संयमकी सिद्धि भी सत्यसे ही होती है। सत्यके ही आधारपर सब कुछ टिका हुआ है ॥ ६५ ॥

सत्यं वेदास्तथाङ्गानि सत्यं विद्यास्तथा विधिः।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमोङ्कारः सत्यमेव च ॥ ६६ ॥

सत्य ही वेद और वेदाङ्ग है। [illegible] ही विद्या तथा विधि है। सत्य ही ब्रह्मचर्य तथा सत्य ही ओङ्कार है ॥ ६६ ॥

प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं संततिरेव च।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः ॥ ६७ ॥

सत्य प्राणियोंको जन्म देनेवाला (पिता) है, सत्य ही संतति है, सत्यसे ही वायु चलती है और सत्यसे ही सूर्य तपता है ॥ ६७ ॥

सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्यं यज्ञस्तपो वेदाः स्तोभा [illegible] सरस्वती ॥ ६८ ॥

सत्यसे ही आग जलती है तथा सत्यपर ही स्वर्गलोक प्रतिष्ठित है। यज्ञ, तप, वेद, स्तोभ, मन्त्र और सरस्वती—[illegible] सत्यके ही [illegible] हैं ॥ ६८ ॥

तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम्।
समकक्षां तुलयतो यतः सत्यं ततोऽधिकम्॥ ६९॥

मैंने सुना है कि किसी समय धर्म और सत्यको तराजूपर, जिसके दोनों पलड़े बराबर थे, रक्खा और तौला गया; उस समय जिस ओर सत्य था, उधरका ही पलड़ा भारी हुआ॥

यतो धर्मस्ततः सत्यं सर्वं सत्येन वर्धते।
किमर्थमनृतं कर्म कर्तुं राजंस्त्वमिच्छसि॥ ७०॥

जहाँ धर्म है, वहाँ सत्य है। सत्यसे ही सबकी वृद्धि होती है। राजन्! आप क्यों असत्यपूर्ण बर्ताव करना चाहते हैं?॥ ७०॥

सत्ये कुरु स्थिरं भावं मा राजन्ननृतं कृथाः।
कस्मात्त्वमनृतं वाक्यं देहीति कुरुषेऽशुभम्॥ ७१॥

महाराज! आप सत्यमें ही अपने मनको स्थिर कीजिये। मिथ्यापूर्ण बर्ताव न कीजिये। यदि लेना ही नहीं था तो आपने 'दीजिये' यह [illegible] और अशुभ वचन क्यों मुँहसे निकाला था॥ ७१॥

यदि जप्यफलं दत्तं मया नैषिष्यसे नृप।
धर्मेभ्यः सम्परिभ्रष्टो लोकाननुचरिष्यसि॥ ७२॥

नरेश्वर! यदि आप मेरे दिये हुए इस जपके फलको नहीं स्वीकार करेंगे तो धर्मभ्रष्ट होकर सम्पूर्ण लोकोंमें भटकते फिरेंगे॥ ७२॥

संश्रुत्य यो न दित्सेत याचित्वा [illegible] नेच्छति।
उभावानृतिकावेतौ न मृषा कर्तुमर्हसि॥ ७३॥

जो पहले देनेकी प्रतिज्ञा करके फिर देना नहीं चाहता तथा जो याचना तो करता है, किंतु मिलनेपर उसे लेना नहीं चाहता, वे दोनों ही मिथ्यावादी होते हैं; अतः [illegible] अपनी और मेरी भी बात मिथ्या न कीजिये॥ ७३॥

राजोवाच

योद्धव्यं रक्षितव्यं च क्षत्रधर्मः किल द्विज।
दातारः क्षत्रियाः प्रोक्ता गृह्णीयां भवतः कथम्॥ ७४॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! क्षत्रियका धर्म तो प्रजाकी रक्षा और युद्ध करना है। क्षत्रियोंको दाता कहा गया है; फिर मैं उलटे ही आपसे दान कैसे ले सकता हूँ?॥ ७४॥

ब्राह्मण उवाच

न च्छन्दयामि ते राजन्नापि ते गृहमाव्रजम्।
इहागम्य [illegible] याचित्वा न गृह्णीषे पुनः कथम्॥ ७५॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! दान लेनेके लिये मैंने आपसे अनुरोध या आग्रह नहीं किया था और न मैं देनेके लिये आपके घर ही गया था। आपने स्वयं यहाँ आकर याचना की है; फिर लेनेसे कैसे इन्कार करते हैं?॥ ७५॥

धर्म उवाच

अविवादोऽस्तु युवयोर्वित्त मां धर्ममागतम्।
द्विजो दानफलैर्युक्तो राजा सत्यफलेन च॥ ७६॥

धर्म बोले—आप दोनोंमें विवाद न हो। आपको विदित होना चाहिये कि मैं साक्षात् धर्म यहाँ आया हूँ। ब्राह्मण देवता दानके फलसे युक्त हो जायँ और राजा भी सत्यके फलसे सम्पन्न हों॥ ७६॥

स्वर्ग उवाच

स्वर्गं मां विद्धि राजेन्द्र रूपिणं स्वयमागतम्।
अविवादोऽस्तु युवयोरुभौ तुल्यफलौ युवाम्॥ ७७॥

स्वर्ग बोला—राजेन्द्र! आपको विदित हो कि मैं स्वर्ग हूँ और स्वयं ही शरीर धारण करके यहाँ आया हूँ। आप दोनोंमें विवाद न हो। आप दोनों समान फलके भागी हों॥

राजोवाच

कृतं स्वर्गेण मे कार्यं गच्छ स्वर्ग यथागतम्।
विप्रो यदीच्छते गन्तुं चीर्णं गृह्णातु मे फलम्॥ ७८॥

राजाने कहा—मुझे स्वर्गकी कोई आवश्यकता नहीं है। स्वर्ग! तुम जैसे आये थे, वैसे ही लौट जाओ। यदि ये ब्राह्मणदेवता स्वर्गमें जाना चाहते हों तो मेरे किये हुए पुण्य-फलको ग्रहण करें॥ ७८॥

ब्राह्मण उवाच

बाल्ये यदि स्यादज्ञानान्मया हस्तः प्रसारितः।
निवृत्तलक्षणं धर्ममुपासे संहितां जपन्॥ ७९॥

ब्राह्मणने कहा—यदि बाल्यावस्थामें अज्ञानवश मैंने कभी किसीके सामने हाथ फैलाया हो तो उसका मुझे स्मरण नहीं है; परंतु अब तो संहिता—गायत्रीमन्त्रका जप करता हुआ निवृत्तिधर्मकी उपासना करता हूँ॥ ७९॥

निवृत्तं मां चिराद्राजन् विप्रलोभयसे कथम्।
स्वेन कार्यं करिष्यामि त्वत्तो नेच्छे फलं नृप।
तपःस्वाध्यायशीलोऽहं निवृत्तश्च प्रतिग्रहात्॥ ८०॥

राजन्! मैं निवृत्तिमार्गका पथिक हूँ, आप बहुत देरसे मुझे लुभानेका प्रयत्न क्यों करते हैं? नरेश्वर! मैं स्वयं ही अपना कर्तव्य करूँगा, आपसे कोई [illegible] नहीं लेना चाहता। मैं प्रतिग्रहसे निवृत्त होकर तप और स्वाध्यायमें लगा हुआ हूँ॥

राजोवाच

यदि विप्र विसृष्टं ते जप्यस्य फलमुत्तमम्।
आवयोर्यत् फलं किंचित् सहितं नौ तदस्त्विह॥ ८१॥

राजाने कहा—विप्रवर! यदि आपने अपने जपका उत्तम फल दे ही दिया है [illegible] ऐसा कीजिये कि [illegible]म दोनोंके जो भी पुण्यफल हों, उन्हें एकत्र करके हम दोनों साथ ही भोगें—हम दोनोंका उनपर समान अधिकार रहे॥ ८१॥

द्विजाः प्रतिग्रहे युक्ता दातारो राजवंशजाः।
यदि धर्मः श्रुतो विप्र सहैव फलमस्तु नौ॥ ८२॥

ब्राह्मणोंको दान लेनेका अधिकार है और क्षत्रिय केवल दान देते हैं, लेते नहीं; [illegible] धर्म आपने भी सुना होगा; अतः

विप्रवर ! हम दोनोंके कार्यका फल साथ ही हम दोनोंके उपयोगमें आवे ॥ ८२ ॥

मा वा भूत् सहभोज्यं नौ मदीयं फलमाप्नुहि ।
प्रतीच्छ मत्कृतं धर्मं यदि ते मय्यनुग्रहः ॥ ८३ ॥

अथवा यदि आपकी इच्छा न हो तो हमें साथ रहकर कर्मफल भोगनेकी आवश्यकता नहीं है। उस अवस्थामें मैं यही प्रार्थना करूँगा कि यदि आपका मुझपर अनुग्रह हो तो आप ही मेरे शुभकर्मोंका पूरा-पूरा फल ग्रहण कर लें। मैंने जो कुछ भी धर्म किया है, वह सब आप स्वीकार कर लें ॥

भीष्म उवाच

ततो विकृतवेषौ द्वौ पुरुषौ समुपस्थितौ ।
गृहीत्वान्योन्यमावेष्ट्य कुचैलावूचतुर्वचः ॥ ८४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसी समय वहाँ विकराल वेषधारी दो पुरुष उपस्थित हुए। दोनोंने एक दूसरेको पकड़कर अपने हाथोंसे आवेष्टित कर रक्खा था। दोनोंके शरीरपर मैले वस्त्र थे (उनमेंसे एकका नाम विकृत था और दूसरेका नाम विरूप)। वे दोनों बारंबार इस प्रकार कह रहे थे ॥८४॥

न मे धारयसीत्येको धारयामीति चापरः ।
इहास्ति नौ विवादोऽयमयं राजानुशासकः ॥ ८५ ॥

एकने कहा—भाई ! तुम्हारे ऊपर मेरा कोई ऋण नहीं है। दूसरा कहता—नहीं, मैं तुम्हारा ऋणी हूँ। पहलेने कहा—यहाँ जो हम दोनोंका विवाद है, इसका निर्णय ये [illegible] शासन करनेवाले राजा करेंगे ॥ ८५ ॥

सत्यं ब्रवीम्यहमिदं न मे धारयते भवान् ।
अनृतं वदसीह त्वमृणं ते धारयाम्यहम् ॥ ८६ ॥

दूसरा बोला—मैं सच कहता हूँ कि तुमपर मेरा कोई [illegible] नहीं है। पहलेने कहा—तुम झूठ बोलते हो। मुझपर तुम्हारा ऋण है ॥ ८६ ॥

तावुभौ भृशसंतप्तौ राजानमिदमूचतुः ।
परीक्ष्य त्वं यथा स्यावो नावामिह विगर्हितौ ॥ ८७ ॥

तब वे दोनों अत्यन्त [illegible] होकर राजासे इस प्रकार बोले—आप हमारे मामलेकी जाँच-पड़ताल करके फैसला कर दें, जिससे हम दोनों यहाँ दोषके भागी और निन्दाके पात्र न हों ॥ ८७ ॥

विरूप उवाच

धारयामि नरव्याघ्र विकृतस्येह गोः फलम् ।
ददतश्च न गृह्णाति विकृतो मे महीपते ॥ ८८ ॥

विरूप बोला—पुरुषसिंह ! मैं विकृतके एक गोदानका फल ऋणके तौरपर अपने यहाँ रखता हूँ। पृथ्वीनाथ ! उस ऋणको आज मैं दे रहा हूँ; परंतु यह विकृत ले नहीं रहा है॥

विकृत उवाच

न मे धारयते किञ्चिद् विरूपोऽयं नराधिप ।
मिथ्या ब्रवीत्ययं हि त्वां सत्याभासं नराधिप॥ ८९ ॥

विकृतने कहा—नरेश्वर ! इस विरूपपर मेरा कोई ऋण नहीं है। यह आपसे झूठ बोलता है। इसकी बातमें सत्यका आभासमात्र है ॥ ८९ ॥

राजोवाच

विरूप किं धारयते भवानस्य ब्रवीतु मे ।
श्रुत्वा तथा करिष्येऽहमिति मे धीयते मनः ॥ ९० ॥

राजा बोले—विरूप ! तुम्हारे ऊपर विकृतका कौन-सा ऋण है। बताओ, मैं उसे सुनकर कोई निर्णय करूँगा। मेरे मनका ऐसा ही निश्चय है ॥ ९० ॥

विरूप उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् यथैतद् धारयाम्यहम् ।
विकृतस्यास्य राजर्षे निखिलेन नराधिप ॥ ९१ ॥

विरूप बोला—राजन् ! नरेश्वर ! आप सावधान होकर सुनें, राजर्षे ! इस विकृतका ऋण जिस प्रकार मैं धारण करता हूँ, वह सब पूर्णरूपसे बता रहा हूँ ॥ ९१ ॥

अनेन धर्मप्राप्त्यर्थं शुभा दत्ता पुरानघ ।
धेनुर्विप्राय राजर्षे तपःस्वाध्यायशीलिने ॥ ९२ ॥

निष्पाप राजर्षे ! इसने धर्मकी प्राप्तिके लिये एक तपस्वी और स्वाध्यायशील ब्राह्मणको एक दूध देनेवाली उत्तम गाय दी थी ॥ ९२ ॥

तस्याश्चायं मया राजन् फलमभ्येत्य याचितः ।
विकृतेन च मे दत्तं विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ ९३ ॥

राजन् ! मैंने इसके घर जाकर इससे उसी गोदानका फल माँगा था और विकृतने शुद्ध हृदयसे मुझे वह दे दिया था ॥ ९३ ॥

ततो मे सुकृतं कर्म कृतमात्मविशुद्धये ।
गावौ च कपिले क्रीत्वा वत्सले बहुदोहने ॥ ९४ ॥
ते चोञ्छवृत्तये राजन् मया समपवर्जिते ।
यथाविधि यथाश्रद्धं तदस्याहं पुनः प्रभो ॥ ९५ ॥

तदनन्तर मैंने भी अपनी शुद्धिके लिये पुण्यकर्म किया। राजन् ! दो अधिक दूध देनेवाली कपिला गौएँ, जिनके साथ उनके बछड़े भी थे, खरीदकर उन्हें मैंने एक उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणको विधि और श्रद्धापूर्वक दे दिया। प्रभो ! उसी गोदानका फल मैं पुनः इसे वापस करना चाहता हूँ ॥९४-९५॥

इहाद्यैव गृहीत्वा तु प्रयच्छे द्विगुणं फलम् ।
एवं स्यात् पुरुषव्याघ्र कः शुद्धः कोऽत्र दोषवान् ९६

पुरुषसिंह ! इससे एक गोदानका फल लेकर आज मैं इसे दूना फल लौटा रहा हूँ। ऐसी परिस्थितिमें आप स्वयं निर्णय कीजिये कि हम दोनोंमेंसे कौन शुद्ध है और कौन दोषी ? ॥ ९६ ॥

एवं विवदमानौ स्वस्त्वामिहाभ्यागतौ नृप ।
कुरु धर्ममधर्मं वा विनये नौ समादध ॥ ९७ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार आपसमें विवाद करते हुए हम दोनों

यहाँ आपके समीप आये हैं । आप निर्णय कीजिये । अब आप चाहे न्याय करें या अन्याय । इस झगड़ेका निपटारा कर दें । हम दोनोंको विशिष्ट न्यायके मार्गपर लगा दें ॥ ९७ ॥

यदि नेच्छति मे दानं यथा दत्तमनेन वै ।
भवानत्र स्थिरो भूत्वा मार्गे स्थापयिताद्य नौ ॥ ९८ ॥

इसने जिस तरह मुझे दान दिया है, उसी तरह यदि स्वयं भी मुझसे लेना नहीं चाहता है तो आप स्वयं सुस्थिर होकर हम दोनोंको धर्मके मार्गपर स्थापित कर दें ॥ ९८ ॥

राजोवाच

दीयमानं न गृह्णासि ऋणं कस्मात् त्वमद्य वै ।
यथैव तेऽभ्यनुज्ञातं तथा गृह्णीष्व मा चिरम् ॥ ९९ ॥

राजाने कहा—विकृत ! जब विरूप तुम्हें तुम्हारा दिया हुआ ऋण लौटा रहा है, तब तुम उसे आज ग्रहण क्यों नहीं करते ? जैसे इसने तुम्हारी दी हुई वस्तु स्वीकार कर ली थी, उसी प्रकार तुम भी इसकी दी हुई वस्तुको ले लो । विलम्ब न करो ॥ ९९ ॥

विकृत उवाच

धारयामीत्यनेनोक्तं ददानीति तथा मया ।
नायं मे धारयत्यद्य गच्छतां यत्र वाञ्छति ॥ १०० ॥

विकृत बोला—राजन् ! विरूपने अभी आपसे [illegible] है कि मैं ऋण धारण करता हूँ; परंतु मैंने उस [illegible] 'दान' [illegible] करके वह वस्तु इसे दी थी; इसलिये इसके ऊपर मेरा कोई ऋण नहीं है । अब यह जहाँ जाना चाहे, [illegible] सकता है ॥ १०० ॥

राजोवाच

ददतोऽस्य न गृह्णासि विषमं प्रतिभाति मे ।
दण्ड्यो हि त्वं मम मतो नास्त्यत्र खलु संशयः ॥ १०१ ॥

राजाने कहा—विकृत ! यह तुम्हें तुम्हारी वस्तु दे [illegible] है और तुम लेते नहीं हो । यह मुझे अनुचित जान पड़ता है; अतः मेरे मतमें तुम दण्डनीय हो; इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १०१ ॥

विकृत उवाच

मयास्य दत्तं राजर्षे गृह्णीयां तत् कथं पुनः ।
काममत्रापराधो मे दण्डमाज्ञापय प्रभो ॥ १०२ ॥

विकृत बोला—राजर्षे ! मैंने इसे दान दिया था; फिर [illegible] दान इससे वापस कैसे ले लूँ । भले, इसमें मेरा अपराध समझा जाय; परंतु मैं दिया हुआ दान वापस नहीं ले सकता । प्रभो ! मुझे दण्ड भोगनेकी आज्ञा प्रदान करें ॥ १०२ ॥

विरूप उवाच

दीयमानं यदि मया नेषिष्यसि कथञ्चन ।
नियंस्यति त्वां नृपतिरयं धर्मानुशासकः ॥ १०३ ॥

विरूपने कहा—विकृत ! यदि तुम मेरी दी हुई [illegible] स्वीकार नहीं करोगे तो ये धर्मपूर्ण शासन करनेवाले नरेश तुम्हें कैद कर लेंगे ॥ १०३ ॥

विकृत उवाच

स्वं मया याचितेनेह दत्तं कथमिहाद्य तत् ।
गृह्णीयां गच्छतु भवानभ्यनुज्ञां ददानि ते ॥ १०४ ॥

विकृत बोला—तुम्हारे माँगनेपर मैंने अपना धन दानके रूपमें दिया था; फिर आज उसे वापस कैसे ले सकता हूँ ? तुम्हारे ऊपर मेरा कुछ भी पावना नहीं है । मैं तुम्हें जानेके लिये आज्ञा देता हूँ, तुम जाओ ॥ १०४ ॥

ब्राह्मण उवाच

श्रुतमेतत्त्वया राजन्ननयोः कथितं द्वयोः ।
प्रतिज्ञातं मया यत्ते तद् गृहाणाविचारितम् ॥ १०५ ॥

इसी बीचमें जापक ब्राह्मण बोल उठा—राजन् ! आपने इन दोनोंकी बातें सुन लीं । मैंने आपको देनेके लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आप मेरा दान बिना विचारे ग्रहण करें ॥ १०५ ॥

राजोवाच

प्रस्तुतं सुमहत् कार्यमनयोर्गह्वरं यथा ।
जापकस्य दृढीकारः कथमेतद् भविष्यति ॥ १०६ ॥

राजाने मन-ही-मन कहा—इन दोनोंका बड़ा भारी और गहन कार्य सामने आ गया है । इधर जापक ब्राह्मणका सुदृढ़ आग्रह ज्यों-का-त्यों बना हुआ है । इससे निपटारा कैसे होगा ॥ १०६ ॥

यदि तावन्न गृह्णामि ब्राह्मणेनापवर्जितम् ।
कथं न लिप्येयमहं पापेन महताद्य वै ॥ १०७ ॥

यदि मैं आज ब्राह्मणकी दी हुई वस्तु ग्रहण न करूँ तो किस प्रकार महान् पापसे निर्लिप्त रह सकूँगा ॥ १०७ ॥

तौ चोवाच स राजर्षिः कृतकार्यौ गमिष्यथः ।
नेदानीं मामिहासाद्य राजधर्मो भवेन्मृषा ॥ १०८ ॥

इसके बाद राजर्षि इक्ष्वाकुने उन दोनोंसे कहा—'तुम दोनों अपने विवादका निपटारा हो जानेपर ही यहाँसे जाना । इस समय मेरे पास आकर अपना कार्य पूर्ण हुए बिना न जाना । मुझे भय है कि राजधर्म मिथ्या अथवा कलङ्कित न हो जाय ॥

स्वधर्मः परिपाल्यस्तु राज्ञामिति विनिश्चयः ।
विप्रधर्मश्च गहनो मामनात्मानमाविशत् ॥ १०९ ॥

राजाओंको अपने धर्मका पालन करना चाहिये, यही शास्त्रका सिद्धान्त है । इधर मुझ अजितात्माके भीतर गहन ब्राह्मणधर्मने प्रवेश किया है ॥ १०९ ॥

ब्राह्मण उवाच

गृहाण धारयेऽहं च याचितं संश्रुतं [illegible] ।
न चेद् ग्रहीष्यसे राजञ्छपिष्ये त्वां न संशयः ॥ ११० ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! आपने जो वस्तु माँगी थी

और जिसे देनेकी मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी, उसे मैं आपकी धरोहरके रूपमें अपने पास रखता हूँ; अतः शीघ्र उसे ले लें। यदि नहीं लेंगे तो निस्संदेह [illegible] आपको [illegible] दे दूँगा ॥ ११० ॥

राजोवाच

धिग्राजधर्मं यस्यायं कार्यस्येह विनिश्चयः।
इत्यर्थं मे ग्रहीतव्यं कथं तुल्यं भवेदिति ॥ १११ ॥

राजाने कहा—धिक्कार है राजधर्मको, जिसके कार्यका यहाँ यह परिणाम निकला। ब्राह्मणको और मुझको समान फलकी प्राप्ति कैसे हो, इसी उद्देश्यसे मुझे यह दान ग्रहण करना है ॥ १११ ॥

एष पाणिरपूर्वं [illegible] निक्षेपार्थं प्रसारितः।
यन्मे धारयसे विप्र तदिदानीं प्रदीयताम् ॥ ११२ ॥

ब्रह्मन्! यह मेरा हाथ जो आजसे पहले किसीके सामने नहीं फैलाया गया था, आज आपसे धरोहर लेनेके लिये आपके सामने फैला है। आप मेरा जो कुछ भी धरोहर धारण करते हैं, उसे इस समय मुझे दे दीजिये ॥ ११२ ॥

ब्राह्मण उवाच

संहितां जपता यावान् गुणः कश्चित् कृतो मया।
तत् सर्वं प्रतिगृह्णीष्व यदि किञ्चिदिहास्ति मे ॥ ११३ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन्! मैंने संहिताका [illegible] करते हुए कहींसे जितना भी पुण्य अथवा [illegible]गुण संग्रह किया है, वह सब आप ले लें। इसके सिवा भी मेरे पास जो कुछ पुण्य हो, उसे ग्रहण करें ॥ ११३ ॥

राजोवाच

जलमेतन्निपतितं [illegible] पाणौ द्विजोत्तम।
सममस्तु सहैवास्तु प्रतिगृह्णातु वै भवान् ॥ ११४ ॥

राजाने कहा—द्विजश्रेष्ठ! मेरे हाथपर यह संकल्पका ज[illegible] पड़ा हुआ है। मेरा और आपका सारा पुण्य हम दोनोंके लिये समान हो और हम साथ-साथ उसका उपभोग करें; इस उद्देश्यसे आप मेरा दिया हुआ दान भी ग्रहण करें ॥

विरूप उवाच

कामक्रोधौ विद्धि नौ त्वमावाभ्यां कारितो भवान्।
सहेति च यदुक्तं ते समा लोकास्तवास्य च ॥ ११५ ॥

विरूपने कहा—राजन्! आपको विदित हो कि हम दोनों काम और क्रोध हैं। हमने ही आपको इस कार्यमें लगाया है। आपने जो साथ साथ फल भोगनेकी बात कही है, इससे आपको और इस ब्राह्मणको एक समान लोक प्राप्त होंगे ॥ ११५ ॥

नायं धारयते किञ्चिज्जिज्ञासा त्वत्कृते कृता।
कालो धर्मस्तथा मृत्युः कामक्रोधौ तथा युवाम् ॥ ११६ ॥
सर्वमन्योन्यनिष्कर्षे निघृष्टं पश्यतस्तव।
गच्छ लोकान् जितान् स्वेन कर्मणा यत्र वाञ्छसि ॥ ११७ ॥

[illegible] मेरा साथी कुछ भी धारण नहीं करता अथवा मुझपर भी इसका कोई ऋण नहीं है। यह [illegible] खेल तो हमलोगोंने आपकी परीक्षा लेनेके लिये किया था। काल, धर्म, मृत्यु, [illegible], क्रोध और आप दोनों—ये सब-के-सब एक दूसरेकी कसौटीपर आपके देखते-देखते कसे गये हैं। [illegible] जहाँ आपकी इच्छा हो, अपने कर्मसे जीते हुए उन लोकोंमें जाइये ॥

जापकानां फलावाप्तिर्मया ते सम्प्रदर्शिता।
गतिः स्थानं च लोकाश्च जापकेन [illegible] जिताः ॥ ११८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जापकोंको किस प्रकार फलकी प्राप्ति होती है? इस बातका दिग्दर्शन मैंने तुम्हें करा दिया। जापक ब्राह्मणने कौन सी गति प्राप्त की? किस स्थानपर अधिकार किया? कौन-कौन-से लोक उसके लिये सुलभ हुए? और यह सब किस प्रकार सम्भव हुआ? ये बातें आगे बतायी जायँगी ॥ ११८ ॥

प्रयाति संहिताध्यायी ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
अथवाग्निं समायाति सूर्यमाविशतेऽपि [illegible] ॥ ११९ ॥

संहिताका स्वाध्याय करनेवाला द्विज परमेष्ठी ब्रह्माको [illegible] होता है अथवा अग्निमें समा जाता है अथवा सूर्यमें प्रवेश कर जाता है ॥ ११९ ॥

स तैजसेन भावेन यदि [illegible] रमत्युत।
गुणांस्तेषां समाधत्ते रागेण प्रतिमोहितः ॥ १२० ॥

यदि वह जापक तैजस शरीरसे उन लोकोंमें रमण करता है तो रागसे मोहित होकर उनके गुणोंको अपने भीतर धारण कर लेता है ॥ १२० ॥

एवं सोमे [illegible] वायौ भूम्याकाशशरीरगः।
सरागस्तत्र वसति गुणांस्तेषां समाचरन् ॥ १२१ ॥

इसी प्रकार संहिताका जप करनेवाला पुरुष रागयुक्त होनेपर चन्द्रलोक, वायुलोक, भूमिलोक [illegible] अन्तरिक्षलोकके योग्य शरीर धारण करके वहाँ निवास करता है और उन लोकोंमें रहनेवाले पुरुषोंके गुणोंका आचरण करता रहता है ॥

अथ तत्र विरागी [illegible] गच्छति त्वथ संशयम्।
परमव्ययमिच्छन् स तमेवाविशते पुनः ॥ १२२ ॥

यदि उन लोकोंकी उत्कृष्टतामें संदेह हो जाय और इस कारण वह जापक वहाँसे विरक्त हो जाय तो वह उत्कृष्ट एवं अविनाशी मोक्षकी इच्छा रखता हुआ फिर उसी परमेष्ठी ब्रह्मामें प्रवेश कर जाता है ॥ १२२ ॥

अमृताच्चामृतं प्राप्तः शान्तीभूतो निरात्मवान्।
ब्रह्मभूतः स निर्द्वन्द्वः सुखी शान्तो निरामयः ॥ १२३ ॥

अन्य लोकोंकी अपेक्षा परमेष्ठिभावकी प्राप्ति अमृतरूप है। उससे भी उत्कृष्ट कैवल्यरूपी अमृतको प्राप्त होकर वह [illegible] (निष्काम), अहङ्कारशून्य, निर्द्वन्द्व, सुखी,

शान्तिपरायण तथा रोग-शोकसे रहित ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥

ब्रह्मस्थानमनावर्तमेकमक्षरसंज्ञकम् ।
अदुःखमजरं शान्तं स्थानं तत् प्रतिपद्यते ॥१२४॥

ब्रह्मपद पुनरावृत्तिरहित, एक, अविनाशी, संज्ञारहित, दुःख-शून्य, अजर और शान्त आश्रय है, उसे ही वह जापक प्राप्त होता है ॥ १२४ ॥

चतुर्भिर्लक्षणैर्हीनं तथा षड्भिः सषोडशैः ।
पुरुषं तमतिक्रम्य आकाशं प्रतिपद्यते ॥१२५॥

जापक पूर्वोक्त परमेष्ठी पुरुष (सगुण ब्रह्म) से भी ऊपर उठकर आकाशस्वरूप निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होता है। वहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन चारों प्रमाणों और लक्षणोंकी पहुँच नहीं है। क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह तथा जरा और मृत्यु—ये छः तरङ्गे वहाँ नहीं हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों प्राण तथा मन—इन सोलह उपकरणोंसे भी वह रहित है ॥ १२५ ॥

अथ नेच्छति रागात्मा सर्वं तदधितिष्ठति ।
यच्च प्रार्थयते तच्च मनसा प्रतिपद्यते ॥१२६॥

यदि उसके मनमें भोगोंके प्रति राग है और वह निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होना नहीं चाहता है तो वह सभी पुण्यलोकोंका अधिष्ठाता बन जाता है और मनसे जिस वस्तुको पाना चाहता है, उसे तुरत प्राप्त कर लेता है ॥ १२६ ॥

अथवा चेक्षते लोकान् सर्वान् निरयसंज्ञितान् ।
निस्पृहः सर्वतो मुक्तस्तत्र वै रमते सुखम् ॥१२७॥

अथवा वह सम्पूर्ण उत्तम लोकोंको भी नरकके तुल्य देखता है और सब ओरसे निःस्पृह एवं मुक्त होकर उसी निर्गुण ब्रह्ममें सुखपूर्वक रमण करता है ॥ १२७ ॥

एवमेषा महाराज जापकस्य गतिर्यथा ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥१२८॥

महाराज ! इस प्रकार यह जापककी गति बतायी गयी है। यह सारा प्रसङ्ग मैंने कह सुनाया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ?॥ १२८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९९ ॥

द्विशततमोऽध्यायः

जापक ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकुकी उत्तम गतिका वर्णन तथा जापकको मिलनेवाले फलकी उत्कृष्टता

युधिष्ठिर उवाच

किमुत्तरं तदा तौ स्म चक्रतुस्तस्य भाषिते ।
ब्राह्मणो वाथवा राजा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! उस समय विरूपके पूर्वोक्त वचन कहनेपर ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकु उन दोनोंने उसे क्या उत्तर दिया, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

अथवा तौ गतौ तत्र यदेतत् कीर्तितं त्वया ।
संवादो वा तयोः कोऽभूत् किं वा तौ तत्र चक्रतुः ॥२॥

तथा आपने जो यह सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति और लोकान्तरकी प्राप्तिरूप तीन प्रकारकी गति बतायी है, उनमेंसे वे दोनों किस गतिको प्राप्त हुए ? उस समय उन दोनोंमें क्या बातचीत हुई और उन्होंने क्या किया ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

तथेत्येवं प्रतिश्रुत्य धर्मं सम्पूज्य च प्रभो ।
यमं कालं च मृत्युं च स्वर्गं सम्पूज्य चार्हतः ॥ ३ ॥
पूर्वं ये चापरे तत्र समेता ब्राह्मणर्षभाः ।
सर्वान् सम्पूज्य शिरसा राजानं सोऽब्रवीद् द्विजः॥४॥

भीष्मजीने कहा—प्रभो ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर ब्राह्मणने धर्म, यम, काल, मृत्यु और स्वर्ग—इन सभी पूजनीय देवताओंका पूजन किया। वहाँ पहलेसे जो ब्राह्मण मौजूद थे और दूसरे भी जो श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ पधारे थे, उन सबके चरणोंमें सिर झुकाकर सबकी यथोचित पूजा करके ब्राह्मणने राजासे कहा—॥ ३-४ ॥

फलेनानेन संयुक्तो राजर्षे गच्छ मुख्यताम् ।
[illegible] चाभ्यनुज्ञातो जपेयं भूय एव ह ॥ ५ ॥

'राजर्षे ! इस फलसे संयुक्त होकर आप श्रेष्ठ गतिको प्राप्त कीजिये और आपकी आज्ञा लेकर मैं फिर जपमें लग जाऊँगा ॥ ५ ॥

[illegible] पूर्वं हि दत्तो देव्या महाबल ।
श्रद्धा ते जपतो नित्यं भवत्विति विशाम्पते ॥ ६ ॥

'महाबली प्रजानाथ ! मुझे देवी सावित्रीने वर दिया है कि जपमें तुम्हारी नित्य श्रद्धा बनी रहेगी' ॥ ६ ॥

राजोवाच

यद्येवमफला सिद्धिः श्रद्धा च जपितुं [illegible] ।
गच्छ विप्र मया सार्धं जापकं फलमाप्नुहि ॥ [illegible] ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! यदि इस प्रकार मुझे फल समर्पण करनेके कारण आपको फलकी प्राप्ति नहीं हो रही है और पुनः जप करनेमें ही आपकी श्रद्धा होती है तो आप मेरे साथ ही चलें और जप-दानजनित फलको प्राप्त करें ॥७॥

ब्राह्मण उवाच

कृतः प्रयत्नः सुमहान् सर्वेषां संनिधाविह ।
सह तुल्यफलावावां गच्छावो यत्र नौ गतिः ॥ ८ ॥

ब्राह्मणने कहा—राजन् ! मैंने यहाँ सबके सामने आपको अपने जपका फल देनेके लिये महान् प्रयत्न किया है; फिर भी आपका आग्रह साथ-साथ फलका उपभोग करनेका रहा है; अतः हम दोनों समान फलके ही भागी हों। चलिये
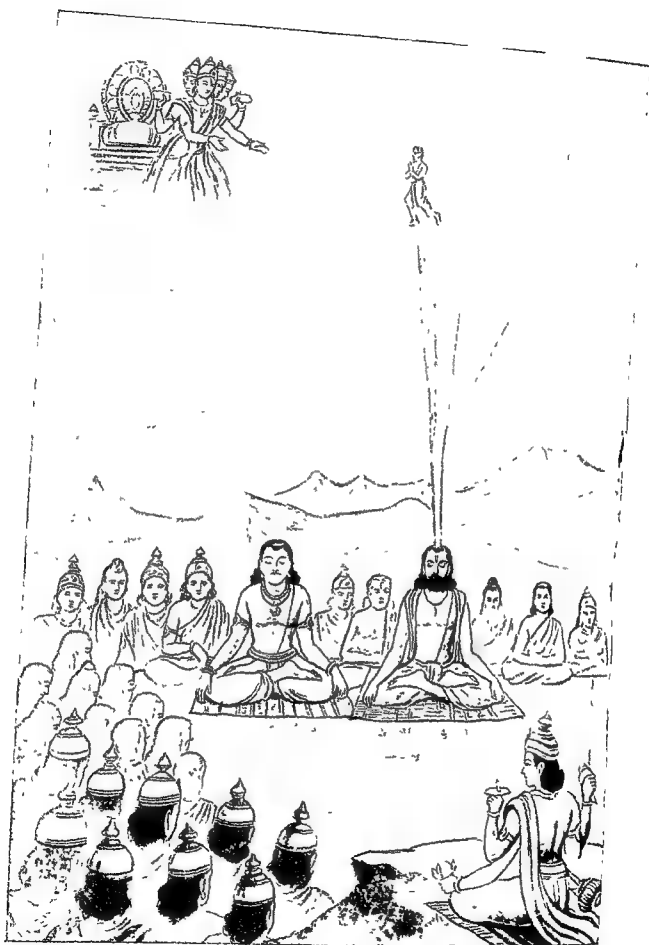
जापक ब्राह्मण एवं महाराज इक्ष्वाकुकी ऊर्ध्वगति

जहाँतक हम दोनोंकी गति हो सके, साथ-साथ चलें ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच

व्यवसायं तयोस्तत्र विदित्वा त्रिदशेश्वरः ।
तं देशमुपययौ लोकपालैस्तथैव च ॥ ९ ॥
साध्या विश्वे मरुतो वाद्यानि सुमहान्ति च ।
नद्यः शैलाः समुद्राश्च तीर्थानि विविधानि च ॥ १० ॥
तपांसि संयोगविधिर्वेदाः स्तोभाः सरस्वती ।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हहाहुहूः ॥ ११ ॥
गन्धर्वश्चित्रसेनश्च परिवारगणैर्युतः ।
नागाः सिद्धाश्च मुनयो देवदेवः प्रजापतिः ॥ १२ ॥
विष्णुः सहस्रशीर्षश्च देवोऽचिन्त्यः समागमत् ।
अवाद्यन्तान्तरिक्षे च भेर्यस्तूर्याणि वा विभो ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! उन दोनोंका वहाँ ऐसा निश्चय जानकर सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकपालोंके साथ देवराज इन्द्र उस स्थानपर आये। उनके साथ साध्यगण, विश्वेदेव गण और मरुद्गण भी थे। बड़े-बड़े वाद्य बज रहे थे। नदियाँ, पर्वत, समुद्र, नाना प्रकारके तीर्थ, तपस्या, संयोग-विधि, वेद, स्तोभ (साम-गानकी पूर्तिके लिये बोले जानेवाले अक्षर हाई हाउ इत्यादि), सरस्वती, नारद, पर्वत, विश्वावसु, हाहा हूहू, परिवारसहित चित्रसेन गन्धर्व, नाग, सिद्ध, मुनि, देवाधिदेव प्रजापति ब्रह्मा, सहस्रों मस्तकवाले शेषनाग तथा अचिन्त्य देव भगवान् विष्णु भी वहाँ पधारे। प्रभो! उस समय आकाशमें भेरियाँ और तुरही आदि बाजे बज रहे थे ॥ ९—१३ ॥

पुष्पवर्षाणि दिव्यानि तत्र तेषां महात्मनाम् ।
ननृतुश्चाप्सरःसंघास्तत्र तत्र समन्ततः ॥ १४ ॥

वहाँ उन महात्माओंपर दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगी। झुंड-की-झुंड अप्सराएँ सब ओर नृत्य करने लगीं ॥ १४ ॥

अथ स्वर्गस्तथा रूपी ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ।
संसिद्धस्त्वं महाभाग त्वं च सिद्धस्तथा नृप ॥ १५ ॥

तदनन्तर मूर्तिमान् स्वर्गने ब्राह्मणसे कहा—'महाभाग! तुम सिद्ध हो गये।' फिर राजासे कहा—'नरेश्वर! तुम भी सिद्ध हो गये' ॥ १५ ॥

अथ तौ सहितौ राजन्नन्योन्यविधिना ततः ।
विषयप्रतिसंहारमुभावेव प्रचक्रतुः ॥ १६ ॥

राजन्! तदनन्तर वे दोनों एक दूसरेका उपकार करते हुए एक साथ हो गये। उन्होंने एक ही साथ अपने मनको विषयोंकी ओरसे हटा लिया ॥ १६ ॥

प्राणापानौ तथोदानं समानं व्यानमेव च ।
एवं तौ मनसि स्थाप्य दधतुः प्राणयोर्मनः ॥ १७ ॥
उपस्थितकृतौ तौ च नासिकाग्रमधो भ्रुवोः ।
भ्रुकुट्या चैव मनसा शनैर्धारयतस्तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—इन पाँचों प्राण-वायुओंको हृदयमें स्थापित किया; इस प्रकार स्थित हुए उन दोनोंने मनको प्राण और अपानके साथ मिला दिया। भौंहोंके नीचे नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि रखते हुए मनसहित प्राण-अपानको उन्होंने दोनों भौंहोंके बीच स्थिर किया ॥ १७-१८ ॥

निश्चेष्टाभ्यां शरीराभ्यां स्थिरदृष्टी समाहितौ ।
जितात्मानौ तथाऽऽधाय मूर्धन्यात्मानमेव च ॥ १९ ॥

इस प्रकार मनको जीतकर दृष्टिको एकाग्र करके उन दोनोंने प्राणसहित मनको सुषुम्णा मार्गद्वारा मूर्धामें स्थापित कर दिया। फिर वे दोनों समाधिमें स्थित हो गये। उस समय उन दोनोंके शरीर जडकी भाँति चेष्टाहीन हो गये ॥ १९ ॥

तालुदेशमथोद्दाल्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
ज्योतिर्ज्वाला सुमहती जगाम त्रिदिवं तदा ॥ २० ॥

इसी समय महात्मा ब्राह्मणके तालुदेश (ब्रह्म-रन्ध्र) का भेदन करके एक ज्योतिर्मयी विशाल ज्वाला निकली और स्वर्गकी ओर चल दी ॥ २० ॥

हाहाकारस्तथा दिक्षु सर्वेषां सुमहानभूत् ।
तज्ज्योतिः स्तूयमानं स्म ब्रह्माणं प्राविशत् तदा ॥ २१ ॥
ततः स्वागतमित्याह तत् तेजः प्रपितामहः ।
प्रादेशमात्रं पुरुषं प्रत्युद्गम्य विशाम्पते ॥ २२ ॥

फिर तो सम्पूर्ण दिशाओंमें महान् कोलाहल मच गया। उस ज्योतिकी सभी लोग स्तुति करने लगे। प्रजानाथ! प्रादेशके बराबर लंबे पुरुषका आकार धारण किये वह तेजःपुञ्ज ब्रह्माजीके पास पहुँचा, तब ब्रह्माजीने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया ॥ २१-२२ ॥

भूयश्चैवापरं प्राह वचनं मधुरं तदा ।
जापकैस्तुल्यफलता योगानां नात्र संशयः ॥ २३ ॥

ब्रह्माजीने उस तेजोमय पुरुषका स्वागत करनेके पश्चात् पुनः उससे मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा—'विप्रवर! योगियोंको जो फल मिलता है, निस्संदेह वही फल जप करनेवालोंको भी प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

योगस्य तावदेतेभ्यः प्रत्यक्षं फलदर्शनम् ।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम् ॥ २४ ॥

'योगियोंको जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह इन सभासदोंने प्रत्यक्ष देखा है; किंतु जापकोंको उनसे भी श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है, यह सूचित करनेके लिये ही मैंने उठकर तुम्हारा स्वागत किया है ॥ २४ ॥

उष्यतां मयि चेत्युक्त्वाचेतयत् सततं पुनः ।
अथास्यं प्रविवेशास्य ब्राह्मणो विगतज्वरः ॥ २५ ॥

'अब तुम मेरे भीतर सुखपूर्वक निवास करो।' इतना कहकर ब्रह्माजीने उसे पुनः तत्त्वज्ञान प्रदान किया। आज्ञा पाकर वह ब्राह्मण-तेज रोग शोकसे मुक्त हो ब्रह्माजीके मुखारविन्दमें प्रविष्ट हो गया ॥ २५ ॥

राजाप्येतेन विधिना भगवन्तं पितामहम्।
यथैव द्विजशार्दूलस्तथैव प्राविशत् तदा ॥ २६ ॥

राजा इक्ष्वाकु भी उस श्रेष्ठ ब्राह्मणकी ही भाँति विधिपूर्वक भगवान् ब्रह्माजीके मुखारविन्दमें प्रविष्ट हो गये ॥ २६ ॥

स्वयम्भुवमथो देवा अभिवाद्य ततोऽब्रुवन्।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर देवताओंने ब्रह्माजीको प्रणाम करके कहा—'भगवन्! आपने जो आगे बढ़कर इस ब्राह्मणका स्वागत किया है, इससे सिद्ध हो गया कि जापकोंको योगियोंसे भी श्रेष्ठ फलकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

जापकार्थमयं यत्नो यदर्थं वयमागताः।
कृतपूजाविमौ तुल्यौ त्वया तुल्यफलाविमौ ॥ २८ ॥

'इस जापक ब्राह्मणको सद्गति देनेके लिये ही आपने ऐसा उद्योग किया था। इसीको देखनेके लिये हमलोग भी आये थे। आपने इन दोनोंका समानरूपसे आदर किया और ये दोनों-ही एक-सी स्थितिमें पहुँचकर आपके समान फलके भागी हुए हैं ॥ २८ ॥

योगजापकयोर्दृष्टं फलं सुमहदद्य वै।
सर्वाँल्लोकानतिक्रम्य गच्छेतां यत्र वाञ्छितम् ॥ २९ ॥

'आज हमलोगोंने योगी और जापकके महान् फलको प्रत्यक्ष देख लिया। वे सम्पूर्ण लोकोंको लाँघकर जहाँ उनकी इच्छा हो, जा सकते हैं' ॥ २९ ॥

ब्रह्मोवाच

महास्मृतिं पठेद् यस्तु तथैवानुस्मृतिं शुभाम्।
तावप्येतेन विधिना गच्छेतां मत्सलोकताम् ॥ ३० ॥

यश्च योगे भवेद् भक्तः सोऽपि नास्त्यत्र संशयः।
विधिनानेन देहान्ते मम लोकानवाप्नुयात्।
साधये गम्यतां चैव यथास्थानानि सिद्धये ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ! जो महास्मृति तथा कल्याणमयी अनुस्मृतिका पाठ करता है, वह भी इसी विधिसे मेरा सालोक्य प्राप्त कर लेता है। जो योगका भक्त है, वह भी देहत्यागके पश्चात् इसी विधिसे मेरे लोकोंको प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। अब तुम सब लोग अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये अपने-अपने स्थानको जाओ। मैं तुम लोगोंका अभीष्ट साधन करता रहूँगा ॥ ३०-३१ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा स तदा देवस्तत्रैवान्तरधीयत।
आमन्त्र्य च ततो देवा ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ ३२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर ब्रह्माजी वहीं अन्तर्धान हो गये। देवता भी उनकी आज्ञा पाकर अपने अपने स्थानको चले गये ॥ ३२ ॥

ते च सर्वे महात्मानो धर्मं सत्कृत्य तत्र वै।
पृष्ठतोऽनुययू राजन् सर्वे सुप्रीतचेतसः ॥ ३३ ॥

राजन्! फिर वे सभी महात्मा धर्मको सत्कारपूर्वक आगे करके प्रसन्नचित्त हो पीछे पीछे चल दिये ॥ ३३ ॥

एतत् फलं जापकानां गतिश्चैषा प्रकीर्तिता।
यथाश्रुतं महाराज किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ३४ ॥

महाराज! मैंने जैसा सुना था, उसके अनुसार जापकोंको मिलनेवाले इस उत्तम फल और गतिका वर्णन किया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो? ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जापकका उपाख्यानविषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०० ॥

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

बृहस्पतिके प्रश्नके उत्तरमें मनुद्वारा कामनाओंके त्यागकी एवं ज्ञानकी प्रशंसा तथा परमात्मतत्त्वका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

किं फलं ज्ञानयोगस्य वेदानां नियमस्य च।
भूतात्मा च कथं ज्ञेयस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! ज्ञानयोगका, वेदोंका तथा वेदोक्त नियम (अग्निहोत्र आदि) का क्या फल है? समस्त प्राणियोंके भीतर रहनेवाले परमात्माका ज्ञान कैसे हो सकता है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मनोः प्रजापतेर्वादं महर्षेश्च बृहस्पतेः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें प्रजापति मनु तथा महर्षि बृहस्पतिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

प्रजापतिं श्रेष्ठतमं प्रजानां
देवर्षिसंघप्रवरो महर्षिः।
बृहस्पतिः प्रश्नमिमं पुराणं
पप्रच्छ शिष्योऽथ गुरुं प्रणम्य ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, देवता और ऋषियोंके समुदायमें प्रधान महर्षि बृहस्पतिने प्रजाओंके श्रेष्ठतम प्रजापति गुरु मनुको शिष्यभावसे प्रणाम करके यह प्राचीन प्रश्न पूछा— ॥

यत्कारणं यत्र विधिः प्रवृत्तो
ज्ञाने फलं यत्प्रवदन्ति विप्राः।

प्रजापति मनु एवं महर्षि बृहस्पतिका संवाद

यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं
तदुच्यतां मे भगवन् यथावत् ॥ [illegible] ॥

भगवन्! जो इस जगत्का कारण है, जिसके लिये वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान किया जाता है, ब्राह्मण लोग जिसे ही ज्ञान होनेपर प्राप्त होनेवाला फल (परब्रह्म परमात्मा) बताते हैं तथा वेदके मन्त्र-वाक्योंद्वारा जिसका तत्त्व पूर्णरूपसे प्रकाशमें नहीं आता, उस नित्य वस्तुका आप मेरे लिये यथावद्रूपसे वर्णन कीजिये ॥ ४ ॥

यथार्थशास्त्रागममन्त्रविद्भि-
र्यज्ञैरनेकैरथ गोप्रदानैः ।
फलं महद्भिर्यदुपास्यते [illegible]
किं तत्कथं वा भविता क्व वा तत् ॥ ५ ॥

अर्थशास्त्र, आगम (वेद) और मन्त्रको जाननेवाले विद्वान् पुरुष अनेकानेक महान् यज्ञों और गोदानोंद्वारा जिस सुखमय फलकी उपासना करते हैं, वह क्या है, किस प्रकार प्राप्त होता है और कहाँ उसकी स्थिति है ? ॥ ५ ॥

मही महीजाः पवनोऽन्तरिक्षं
जलौकसश्चैव जलं दिवं च ।
दिवौकसश्चापि यतः प्रसूता-
स्तदुच्यतां मे भगवन् पुराणम् ॥ ६ ॥

भगवन्! पृथ्वी, पार्थिव पदार्थ, वायु, आकाश, जलजन्तु, [illegible] द्युलोक और देवता जिससे उत्पन्न होते हैं, वह पुरातन वस्तु क्या है ? यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥

ज्ञानं यतः प्रार्थयते नरो वै
ततस्तदर्था भवति प्रवृत्तिः ।
[illegible] चाप्यहं वेद परं पुराणं
मिथ्याप्रवृत्तिं च कथं नु कुर्याम् ॥ ७ ॥

मनुष्यको जिस वस्तुका ज्ञान होता है, उसीको वह पाना चाहता है और पानेकी इच्छा उत्पन्न होनेपर उसके लिये वह [illegible] आरम्भ करता है, परंतु मैं तो उस पुरातन परमोत्कृष्ट वस्तुके विषयमें कुछ जानता ही नहीं हूँ; फिर उसे पानेके लिये झूठा [illegible] कैसे करूँ ? ॥ ७ ॥

ऋक्सामसंघांश्च यजूंषि चापि
च्छन्दांसि नक्षत्रगतिं निरुक्तम् ।
अधीत्य च व्याकरणं सकल्पं
शिक्षां च भूतप्रकृतिं न वेद्मि ॥ ८ ॥

मैंने ऋक्, साम और यजुर्वेदका [illegible] छन्दका अर्थात् अथर्ववेदका एवं नक्षत्रोंकी गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षाका भी अध्ययन किया है तो भी [illegible] आदि पाँचों महाभूतोंके उपादान कारणको न [illegible] सका ॥ ८ ॥

[illegible] मे भवान् शंसतु सर्वमेतत्
सामान्यशब्दैश्च विशेषणैश्च ।
स मे भवान् शंसतु तावदेत-
ज्ज्ञाने फलं कर्मणि वा यदस्ति ॥ ९ ॥
यथा च देहाच्च्यवते शरीरी
पुनः शरीरं [illegible] यथाभ्युपैति ।

अतः आप सामान्य और विशेष शब्दोंद्वारा इस सम्पूर्ण विषयका मेरे निकट वर्णन कीजिये । तत्त्वज्ञान होनेपर कौन-[illegible] फल प्राप्त होता है ? कर्म करनेपर किस फलकी उपलब्धि होती है ? देहाभिमानी जीव देहसे किस प्रकार निकलता है और फिर दूसरे शरीरमें कैसे प्रवेश करता है ?—ये सारी बातें भी आप मुझे बताइये ॥ ९½ ॥

मनुरुवाच

यद् यत्प्रियं यस्य सुखं तदाहु-
स्तदेव दुःखं प्रवदन्त्यनिष्टम् ॥ १० ॥
इष्टं च मे स्यादितरच्च न स्या-
देतत्कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः ।
इष्टं त्वनिष्टं च न मां भजेते-
त्येतत्कृते ज्ञानविधिः प्रवृत्तः ॥ ११ ॥

मनुने कहा—जिसको जो-जो विषय प्रिय होता है, वही उसके लिये सुखरूप बताया गया है और जो अप्रिय होता है, उसे ही दुःखरूप कहा गया है । मुझे इष्ट (प्रिय) की प्राप्ति हो और अनिष्टका निवारण हो जाय, इसीके लिये कर्मोंका अनुष्ठान आरम्भ किया गया है तथा इष्ट और अनिष्ट दोनों ही मुझे प्राप्त न हों, इसके लिये ज्ञानयोगका उपदेश किया गया है ॥ १०-११ ॥

कामात्मकाश्छन्दसि कर्मयोगा
एभिर्विमुक्तः परमश्नुवीत ।
नानाविधे कर्मपथे सुखार्थी
नरः प्रवृत्तो [illegible] परं प्रयाति ॥ १२ ॥

वेदमें जो कर्मोंके प्रयोग बताये गये हैं, वे प्रायः सकामभावसे युक्त हैं । जो इन कामनाओंसे मुक्त होता है, वही परमात्माको पा सकता है । नाना प्रकारके कर्ममार्गमें सुखकी इच्छा रखकर प्रवृत्त होनेवाला मनुष्य परमात्माको प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

बृहस्पतिरुवाच

इष्टं त्वनिष्टं च सुखासुखे च
साशीस्त्वनुच्छन्दति कर्मभिश्च ।

बृहस्पतिने कहा—भगवन्! सुख सबको अभीष्ट होता है और दुःख किसीको भी प्रिय नहीं होता । इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके निवारणके लिये जो कामना होती है, वही मनुष्योंसे कर्म करवाती है और उन कर्मोंद्वारा उनका मनोरथ पूर्ण करती है; अतः कामनाको आप त्याज्य [illegible] बताते हैं ? ॥ १२½ ॥

मनुरुवाच

एभिर्विमुक्तः परमाविवेश
एतत् कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः ।

कामात्मकांश्छन्दति कर्मयोग
एभिर्विमुक्तः परमाददीत ॥ १३ ॥

मनुने कहा—मनुष्य इन कामनाओंसे मुक्त हो निष्काम भावसे कर्मोंका अनुष्ठान करके परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करे, इसी उद्देश्यसे कर्मोंका विधान किया है, वेदमें स्वर्ग आदिकी कामनासे जो योगादि कर्मोंका विधान किया गया है, वह उन्हीं मनुष्योंको अपने जालमें फँसाता है, जिनका मन भोगोंमें आसक्त है। वास्तवमें इन कामनाओंसे दूर रहकर परमात्माको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करे (भगवत्प्राप्तिके लिये ही कर्म करे, क्षुद्रभोगोंके लिये नहीं) ॥ १३ ॥

आत्मादिभिः कर्मभिरिन्ध्यमानो
धर्मे प्रवृत्तो द्युतिमान् सुखार्थी ।
परं हि तत् कर्मपथादपेतं
निराशिषं ब्रह्मपरं ह्यवैति ॥ १४ ॥

जब मन नित्य कर्मोंके अनुष्ठानसे राग आदि दोषोंको दूर करके दर्पणकी भाँति स्वच्छ एवं दीप्तिमान् हो जाता है, तब वह द्युतिमान् (सदसद्-विवेकके प्रकाशसे युक्त) और नित्य सुखका अभिलाषी (मुमुक्षु) होकर निर्वाणभावसे धर्ममें प्रवृत्त होता है एवं कर्ममार्गसे अतीत तथा कामनाओंसे रहित [illegible] परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ १४ ॥

प्रजाः सृष्टा मनसा कर्मणा [illegible]
द्वावेवैतौ सत्पथौ लोकजुष्टौ ।
दृष्टं कर्म शाश्वतं चान्तवच्च
मनस्त्यागः कारणं नान्यदस्ति ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीने मन और कर्म—इन दोनोंके सहित प्रजाकी सृष्टि की है; अतः ये दोनों लोकसेवित सन्मार्गरूप हैं। कर्म दो प्रकारका देखा गया है—एक सनातन और दूसरा विनाशशील, (मोक्षका हेतुभूत कर्म सनातन है और नश्वर भोगोंकी प्राप्ति करानेवाला नाशवान् है) मनके द्वारा किये जानेवाले फलकी इच्छाका त्याग ही कर्मोंको सनातन बनाने और उनके द्वारा परब्रह्मकी प्राप्ति करानेमें कारण है, दूसरा कुछ नहीं ॥

स्वेनात्मना चक्षुरिव प्रणेता
निशात्यये तमसा संवृतात्मा ।
ज्ञानं तु विज्ञानगुणेन युक्तं
कर्माशुभं पश्यति वर्जनीयम् ॥ १६ ॥

जब रात बीत जाती है और अन्धकारका आवरण हट जाता है, [illegible] समय जैसे चलनेमें प्रवृत्त करनेवाला नेत्र अपने तैजस स्वरूपसे युक्त हो रास्तेमें पड़े हुए त्यागने योग्य काँटे आदिको देखते हैं, उसी प्रकार बुद्धि भी मोहका पर्दा हट जानेपर ज्ञानके प्रकाशसे युक्त हो त्यागने योग्य अशुभ कर्मको देखती है ॥ १६ ॥

सर्पान् कुशाग्राणि तथोदपानं
ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति ।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचि-
ज्ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम् ॥ १७ ॥

मनुष्य जब जान लेते हैं कि रास्तेमें सर्प है, कुशोंके काँटे हैं और कुएँ हैं, तब उनसे बचकर निकलते हैं। जो नहीं जानते हैं, ऐसे कितने ही पुरुष उन्हींपर गिर पड़ते हैं। अतः ज्ञानका जो विशिष्ट फल है, उसे तुम प्रत्यक्ष देख लो ॥ १७ ॥

कृत्स्नस्तु मन्त्रो विधिवत् प्रयुक्तो
यज्ञा यथोक्तास्त्विह दक्षिणाश्च ।
अन्नप्रदानं मनसः समाधिः
पञ्चात्मकं कर्मफलं वदन्ति ॥ १८ ॥

विधिपूर्वक सम्पूर्ण मन्त्रोंका उच्चारण, वेदोक्त विधानके अनुसार यज्ञोंका अनुष्ठान, यथायोग्य दक्षिणा, अन्नका दान और मनकी एकाग्रता—इन पाँच अङ्गोंसे सम्पन्न होनेपर ही यज्ञ-कर्मका पूरा पूरा फल प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं ॥ १८ ॥

गुणात्मकं कर्म वदन्ति वेदा-
स्तस्मान्मन्त्रो मन्त्रपूर्वं हि कर्म ।
विधिर्विधेयं मनसोपपत्तिः
[illegible] भोक्ता तु तथा शरीरी ॥ १९ ॥

वेदोंका कहना है कि कर्म त्रिगुणात्मक होते हैं अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारके होते हैं; इसीलिये मन्त्र भी सात्त्विक आदि भेदसे तीन प्रकारके ही होते हैं; क्योंकि मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही कर्मका अनुष्ठान किया जाता है। इसी तरह उन कर्मोंकी विधि, विधेय (उनके लिये किया जानेवाला कार्य), मनके द्वारा अभीष्ट फलकी सिद्धि और उसका भोक्ता देहाभिमानी जीव—ये सभी तीन-तीन प्रकारके होते हैं ॥ १९ ॥

शब्दाश्च रूपाणि रसाश्च पुण्याः
स्पर्शाश्च गन्धाश्च शुभास्तथैव ।
नरो न संस्थानगतः प्रभुः स्या-
देतत् फलं सिद्ध्यति कर्मलोके ॥ २० ॥

शब्द, रूप, पवित्र रस, सुखद स्पर्श और सुन्दर गन्ध—ये ही कर्मोंके फल हैं; किंतु इस शरीरमें स्थित हुआ मनुष्य इन फलोंको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं है। कर्मोंके फलकी प्राप्ति जो उनका फल भोगनेके लिये [illegible] शरीरमें होती है, वह दैवाधीन है ॥ २० ॥

यद् यच्छरीरेण करोति कर्म
शरीरयुक्तः समुपाश्नुते तत् ।
शरीरमेवायतनं सुखस्य
दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम् ॥ २१ ॥

जीव शरीरसे जो-जो अशुभ या शुभ कर्म करता है, शरीरसे युक्त हुआ ही उसके फलोंको भोगता है; क्योंकि शरीर ही सुख और दुःख भोगनेका स्थान है ॥ २१ ॥

वाचा तु यत् कर्म करोति किंचिद्
वाचैव सर्वं समुपाश्नुते तत्।
मनस्तु यत् कर्म करोति किंचि-
न्मनःस्थ एवायमुपाश्नुते तत् ॥ २२ ॥

मनुष्य वाणीद्वारा जो कोई कर्म करता है, उसका सारा फल वह वाणीद्वारा ही भोगता है और मनसे जो कुछ कर्म करता है, उसका फल यह जीवात्मा मनके साथ हुआ मनसे ही भोगता है ॥ २२ ॥

यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी
करोत्ययं कर्मफले निविष्टः।
तथा तथायं गुणसम्प्रयुक्तः
शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति ॥ २३ ॥

फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य कर्मके फलमें आसक्त हो जैसे-जैसे गुणवाला—सात्त्विक, राजस या तामस कर्म करता है, वैसे-ही-वैसे गुणोंसे प्रेरित होकर इसे उस कर्मका शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है ॥ २३ ॥

मत्स्यो यथा स्रोत इवाभिपाती
तथा कृतं पूर्वमुपैति कर्म।
शुभे त्वसौ तुष्यति दुष्कृते तु
न तुष्यते वै परमः शरीरी ॥ २४ ॥

जैसे मछली जलके बहावके साथ बह जाती है, उसी प्रकार मनुष्य पहिलेके किये हुए कर्मका अनुसरण करता है। उसे उस कर्मप्रवाहमें बहना पड़ता है; परंतु उस दशामें भी श्रेष्ठ देहधारी जीव शुभ फल मिलनेपर तो संतुष्ट होता है और अशुभ फल प्राप्त होनेपर दुखी हो जाता है (यह उसकी मूढ़ता ही तो है) ॥ २४ ॥

यतो जगत् सर्वमिदं प्रसूतं
ज्ञात्वाऽऽत्मवन्तो व्यतियान्ति यत् तत्।
यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं
तदुच्यमानं शृणु मे परं यत् ॥ २५ ॥

जिससे इस सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, जिसे जानकर मनको वशमें रखनेवाले ज्ञानी पुरुष इस संसारको लाँघकर परमपद प्राप्त कर लेते हैं तथा वेदके मन्त्रवाक्योंद्वारा जिसका तात्त्विक स्वरूप पूर्णतः प्रकाशमें नहीं आता, उस सर्वोत्कृष्ट वस्तुका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २५ ॥

रसैर्विमुक्तं विविधैश्च गन्धै-
रशब्दमस्पर्शमरूपवच्च।
अग्राह्यमव्यक्तमवर्णमेकं
पञ्चप्रकारान् ससृजे प्रजानाम् ॥ २६ ॥

वह अनिर्वचनीय वस्तु नाना प्रकारके रस और भाँति-भाँतिके गन्धोंसे रहित है। शब्द, स्पर्श एवं रूपसे भी शून्य है। मन, बुद्धि और वाणीद्वारा भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वह अव्यक्त, अद्वितीय तथा रूप-रंगसे रहित है तथापि उसीने प्रजाओंके लिये रूप, रस आदि पाँचों विषयोंकी सृष्टि की है ॥ २६ ॥

न स्त्री पुमान् नापि नपुंसकं च
न सन्न चासत् सदसच्च तन्न।
पश्यन्ति यद् ब्रह्मविदो मनुष्या-
स्तदक्षरं न क्षरतीति विद्धि ॥ २७ ॥

वह न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। न सत् है, न असत् है और न सदसत् उभयरूप ही है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही उसका साक्षात्कार करते हैं। उसका कभी क्षय नहीं होता; इसलिये वह अविनाशी परब्रह्म परमात्मा अक्षर कहलाता है, इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०१ ॥

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

आत्मतत्त्वका और बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थोंका विवेचन तथा उसके साक्षात्कारका उपाय

मनुरुवाच

अक्षरात् खं ततो वायुस्ततो ज्योतिस्ततो जलम्।
जलात् प्रसूता जगती जगत्यां जायते जगत् ॥ १ ॥

मनु कहते हैं—बृहस्पते! अविनाशी परमात्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे यह पृथ्वी उत्पन्न हुई है। इस पृथ्वीमें ही सम्पूर्ण पार्थिव जगत्‌की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

एतैः शरीरैर्जलमेव गत्वा
जलाच्च तेजः पवनोऽन्तरिक्षम्।
खाद् वै निवर्तन्ति न भाविनस्ते
मोक्षं च ते वै परमाप्नुवन्ति ॥ २ ॥

वे पूर्वोक्त शरीरोंके साथ (पार्थिव शरीरके बाद) प्राणियोंका जलमें लय होता है; फिर वे जलसे अग्निमें, अग्निसे वायुमें और वायुसे आकाशमें लीन होते हैं। आकाशसे सृष्टिकालमें फिर वे पूर्वोक्त क्रमसे उत्पन्न होते हैं; परंतु जो ज्ञानी हैं, वे मोक्षस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। उनका पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता ॥ २ ॥

नोष्णं न शीतं मृदु नापि तीक्ष्णं
नाम्लं कषायं मधुरं न तिक्तम्।

न शब्दवन्नापि च गन्धवत्त-
न्न रूपवत्तत् परमस्वभावम् ॥ ३ ॥

वह परमात्मतत्त्व न गर्म है न शीतल, न कोमल है न तीक्ष्ण, न खट्टा है न कसैला, न मीठा है न तीता। शब्द, गन्ध और रूपसे भी वह रहित है। उसका स्वरूप सबसे उत्कृष्ट एवं विलक्षण है ॥ ३ ॥

स्पर्शं तनुर्वेद रसं च जिह्वा
घ्राणं च गन्धान् श्रवणौ च शब्दान्।
रूपाणि चक्षुर्न च तत्परं यद्
गृह्णन्त्यनध्यात्मविदो मनुष्याः ॥ ४ ॥

त्वचा स्पर्शका, जिह्वा रसका, घ्राणेन्द्रिय गन्धका, कान शब्दका और नेत्र रूपका ही अनुभव करते हैं। ये इन्द्रियाँ परमात्माको [illegible] नहीं कर सकतीं। अध्यात्मज्ञानसे हीन मनुष्य परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

निवर्तयित्वा रसनां रसेभ्यो
घ्राणं च गन्धाच्छ्रवणौ च शब्दात्।
स्पर्शात् त्वचं रूपगुणात् तु चक्षु-
स्ततः परं पश्यति स्वं स्वभावम् ॥५॥

अतः जो जिह्वाको रससे, नासिकाको गन्धसे, कानोंको शब्दसे, त्वचाको स्पर्शसे और नेत्रोंको रूपसे हटाकर अन्तर्मुखी [illegible] लेता है, वही अपने मूलस्वरूप [illegible] साक्षात्कार कर सकता है ॥ ५ ॥

यतो गृहीत्वा हि करोति [illegible]
यस्मिंश्च तामारभते प्रवृत्तिम्।
यस्मिंश्च यद् येन [illegible] कर्ता
यत् कारणं ते समुदायमाहुः ॥ ६ ॥

महर्षिगण कहते हैं जो कर्ता जिस कारणसे, जिस फलके उद्देश्यसे, जिस देश या कालमें, जिस प्रिय [illegible] अप्रियके निमित्त, जिस राग या द्वेषसे प्रभावित हो प्रवृत्तिमार्गका आश्रय ले जिस कर्मको करता है, इन सबके समुदायका जो कारण है, वही सबका स्वरूपभूत परब्रह्म परमात्मा है ॥ ६ ॥

यद् व्याप्यभूद् व्यापकं साधकं च
यन्मन्त्रवत् स्थास्यति चापि लोके।
यः सर्वहेतुः परमात्मकारी
तत् कारणं कार्यमतो यदन्यत् ॥ ७ ॥

श्रुतिके कथनानुसार जो व्यापक, व्याप्य और उनका साधन है, जो सम्पूर्ण लोकमें सदा ही स्थित रहनेवाला कूटस्थ, सबका कारण और स्वयं ही [illegible] कुछ करनेवाला है, वही परम कारण है। उसके सिवा जो कुछ है, सब कार्यमात्र है ॥ ७॥

यथा [illegible] कश्चित् सुकृतैर्मनुष्यः
शुभाशुभं प्राप्नुतेऽथाविरोधात्।
एवं शरीरेषु शुभाशुभेषु
स्वकर्मजैर्ज्ञानमिदं निबद्धम् ॥ ८ ॥

जैसे कोई मनुष्य भलीभाँति किये हुए कर्मोंद्वारा [illegible] किसी प्रतीकारके विभिन्न देश और कालमें उनका शुभाशुभ [illegible] पाता है, उसी प्रकार अपने कर्मानुसार [illegible] उत्तम और अधम शरीरोंमें यह चिन्मय ज्ञान बिना किसी विरोधके स्थित रहता है ॥ ८ ॥

यथा प्रदीप्तः पुरतः प्रदीपः
प्रकाशमन्यस्य करोति दीप्यन्।
तथेह पञ्चेन्द्रियदीपवृक्षा
ज्ञानप्रदीप्ताः परवन्त एव ॥ ९ ॥

जिस प्रकार अग्निसे प्रज्वलित दीपक स्वयं प्रकाशित होता हुआ पासमें स्थित अन्य वस्तुओंको भी प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार इस शरीररूप वृक्षमें स्थित पाँच इन्द्रियाँ चैतन्यरूपी ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित होकर विषयोंको प्रकाशित करती हैं (उनका प्रकाश चिन्मय प्रकाशके ही अधीन होनेके कारण वे पराधीन हैं। स्वतः प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं हैं)॥

यथा च राज्ञो बहवो ह्यमात्याः
पृथक् प्रमाणं प्रवदन्ति युक्ताः।
तद्वच्छरीरेषु भवन्ति पञ्च
ज्ञानैकदेशाः परमः स तेभ्यः ॥ १० ॥

जैसे किसी राजाके द्वारा भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्त किये गये बहुत-से मन्त्री अपने पृथक्-पृथक् कार्योंकी जानकारी राजाको कराते हैं। उसी प्रकार शरीरोंमें स्थित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने एकदेशीय विषयका परिचय राजस्थानीय बुद्धिको देती हैं। जैसे मन्त्रियोंसे राजा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उन पाँचों इन्द्रियोंसे उनका प्रवर्तक वह ज्ञान श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

यथार्चिषोऽग्नेः पवनस्य वेगो
मरीचयोऽर्कस्य नदीषु चापः।
गच्छन्ति चायान्ति [illegible] संचरन्त्य-
स्तद्वच्छरीराणि शरीरिणां तु ॥ ११ ॥

जैसे अग्निकी शिखाएँ, वायुका वेग, सूर्यकी किरणें और नदियोंका बहता हुआ जल—ये सदा आते-जाते रहते हैं, इसी प्रकार देहधारियोंके शरीर भी आवागमनके प्रवाहमें पड़े हुए हैं ॥ ११ ॥

यथा च कश्चित् परशुं गृहीत्वा
धूमं न पश्येज्ज्वलनं च काष्ठे।
तद्वच्छरीरोदरपाणिपादं
छित्त्वा न पश्यन्ति ततो यदन्यत् ॥१२॥

जैसे कोई मनुष्य कुल्हाड़ी लेकर लकड़ीको चीरे तो उसमें उसे न तो आग दिखायी देगी और न धुआँ ही प्रकट होगा, उसी प्रकार इस शरीरका पेट फाड़ने या हाथ-पैर काटनेसे कोई उसे नहीं देख पाता, जो अन्तर्यामी आत्मा शरीरसे भिन्न है ॥ १२ ॥

तान्येव काष्ठानि यथा विमथ्य
धूमं च पश्येज्ज्वलनं च योगात्।

तद्वत् सबुद्धिः सममिन्द्रियं[illegible]
बुधः परं पश्यति तं स्वभावम् ॥ १३ ॥

परतु उन्हीं काठोंका युक्तिपूर्वक मन्थन करनेपर जैसे अग्नि और धूम दोनों ही देखनेमें आते हैं, उसी प्रकार योगके द्वारा मन और इन्द्रियोंको बुद्धिके सहित समाहित कर लेनेवाला बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष इन सबसे परम श्रेष्ठ उस ज्ञानको और आत्माको साक्षात् कर लेता है ॥ १३ ॥

यथात्मनोऽङ्गं पतितं पृथिव्यां
स्वप्नान्तरे पश्यति चात्मनोऽन्यत् ।
श्रोत्रादियुक्तः सुमनाः सुबुद्धि-
र्लिङ्गात्तथा गच्छति लिङ्गमन्यत् ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्नमें मनुष्य अपने शरीरके कटे हुए अङ्गको अपनेसे अलग और पृथ्वीपर पड़ा देखता है, उसी प्रकार दस इन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायका अभिमानी शुद्ध मन और बुद्धिवाला मनुष्य शरीरको अपनेसे पृथक् जाने । जो ऐसा नहीं जानता, वही एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जन्म लेता रहता है ॥ १४ ॥

उत्पत्तिवृद्धिव्ययसंनिपातै-
र्न युज्यतेऽसौ परमः शरीरी ।
अनेन लिङ्गेन [illegible] लिङ्गमन्यद्
गच्छत्यदृष्टः फलसंनियोगात् ॥ १५ ॥

आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है । वह इसके उत्पत्ति, वृद्धि, क्षय और मृत्यु आदि दोषोंसे कभी लिप्त नहीं होता । किंतु अज्ञानी मनुष्य पूर्वकृत कर्मोंके फलके सम्बन्धसे इस ऊपर बताये हुए सूक्ष्म शरीरके सहित दूसरे शरीरमें चला जाता है ॥ १५ ॥

न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो
[illegible] चापि संस्पर्शमुपैति किंचित् ।
[illegible] चापि तैः साधयते तु कार्यं
ते तं न पश्यन्ति स पश्यते तान् ॥१६॥

कोई भी इन चर्मचक्षुओंके द्वारा आत्माके स्वरूपको नहीं देख [illegible] । अपनी त्वचासे उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता । भाव यह [illegible] इन्द्रियोंद्वारा आत्माको जाननेका कोई कार्य नहीं किया जा सकता । वे इन्द्रियाँ उसे नहीं देखतीं; पर वह आत्मा उन सबको देखता है ॥ १६ ॥

यथा समीपे ज्वलतोऽनलस्य
संतापजं रूपमुपैति कश्चित् ।
न चान्तरं रूपगुणं बिभर्ति
तथैव तद् दृश्यति रूपमस्य ॥ १७ ॥

जैसे कोई लोहा आदि पदार्थ समीप जलती हुई आगकी गर्मीसे [illegible] रंगका हो जाता है और उसमें दाहकताका गुण भी थोड़ी मात्रामें आ जाता है; परंतु वह उसके वास्तविक आन्तरिक रूप और गुणको धारण नहीं करता, उसी प्रकार [illegible] स्वरूप चैतन्यमात्र इन्द्रियादिके समूह शरीरमें दिखायी देता है, किंतु उनका समुदायभूत शरीर वास्तवमें चेतन नहीं होता । एवं समीपस्थ वस्तुका [illegible] रूप होता है वैसा ही रूप [illegible] अग्निका भी प्रतीत होने लगता है ॥ १७ ॥

[illegible] मनुष्यः परिमुच्य काय-
मदृश्यमन्यद् विशते शरीरम् ।
विसृज्य भूतेषु महत्सु देहं
तदाश्रयं चैव बिभर्ति रूपम् ॥ १८ ॥

इसी तरह मनुष्य अपने दृश्य शरीरका त्याग करके जब दूसरे अदृश्य शरीरमें प्रवेश [illegible] है, तब पहलेके स्थूल शरीरको [illegible] महाभूतोंमें मिलनेके लिये छोड़कर दूसरे शरीरका [illegible] ले उसीको अपना स्वरूप मानकर धारण करता है ॥

खं वायुमग्निं सलिलं तथोर्वीं
समन्ततोऽभ्याविशते शरीरी ।
नानाश्रयाः कर्मसु वर्तमानाः
श्रोत्रादयः पञ्च गुणाञ्श्रयन्ते ॥ १९ ॥

देहाभिमानी जीव जब शरीर छोड़ता है, तब उस शरीरमें जो आकाशका अंश होता है, वह सब प्रकारसे आकाशमें, वायुका अंश वायुमें, अग्निका अंश अग्निमें, जलका अंश जलमें [illegible] पृथ्वीका अंश पृथ्वीमें विलीन हो [illegible] है । किंतु इन नाना भूतोंके आश्रित जो श्रोत्र आदि तत्त्व हैं, वे विलीन न होकर अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं और दूसरे शरीरमें जाकर पाँचों भूतोंका आश्रय ले लेते हैं ॥ १९ ॥

श्रोत्रं खतो घ्राणमथो पृथिव्या-
स्तेजोमयं रूपमथो विपाकः ।
जलाश्रयं स्वेदमुक्तं रसं [illegible]
वाय्वात्मकः स्पर्शकृतो गुणश्च ॥ २० ॥

आकाशसे श्रोत्रेन्द्रिय (और उसका विषय शब्द), पृथ्वीसे घ्राणेन्द्रिय (और उसका विषय गन्ध) होता है [illegible] रूप और विपाक ये दोनों (एवं नेत्र-इन्द्रिय)—ये सब तेजोमय हैं । स्वेद एवं [illegible] (और रसना-) इन्द्रिय—ये जलके आश्रित [illegible] । एवं स्पर्श करनेवाली इन्द्रिय और स्पर्श यह वायुस्वरूप है ॥ २० ॥

महत्सु भूतेषु वसन्ति [illegible]
पञ्चेन्द्रियार्थाश्च तथेन्द्रियाणि ।
सर्वाणि चैतानि मनोऽनुगानि
बुद्धिं मनोऽन्वेति मतिः स्वभावम् ।२१।

पाँचों इन्द्रियोंके पाँचों विषय तथा पाँचों इन्द्रियाँ भी [illegible] सूक्ष्म महाभूतोंमें निवास करते हैं, ये शब्द आदि विषय, [illegible] आदि भूत तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ सब-के-सब मनके अनुगामी हैं । मन बुद्धिका अनुसरण करता है और बुद्धि आत्माका आश्रय लेकर रहती है ॥ २१ ॥

शुभाशुभं कर्म कृतं यदन्यत्
तदेव प्रत्याददते स्वदेहे ।
मनोऽनुवर्तन्ति परावराणि
जलौकसः स्रोत इवानुकूलम् ॥ २२ ॥

जब जीवात्मा अपने कर्मोंद्वारा उपार्जित नवीन शरीरमें स्थित होता है, उस समय वह पहले जो शुभाशुभ कर्म किये हुए है उन्हींका फल प्राप्त करता है। जैसे जल-जन्तु जलके अनुकूल प्रवाहका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार पूर्वकृत अच्छे और बुरे कर्म मनका अनुगमन करते हैं अर्थात् मनके द्वारा फल प्रदान करते हैं ॥ २२ ॥

चलं यथा दृष्टिपथं परैति
सूक्ष्मं महद् रूपमिवाभिभाति ।
स्वरूपमालोचयते च रूपं
परं तथा बुद्धिपथं परैति ॥ २३ ॥

जैसे शीघ्रगामी नौकापर बैठे हुए पुरुषकी दृष्टिमें पार्श्ववर्ती वृक्ष पीछेकी ओर वेगसे भागते हुए दिखायी देते हैं, उसी प्रकार कूटस्थ निर्विकारी आत्मा बुद्धिके विकारसे विकारवान्-सा प्रतीत होता है एवं जैसे चश्मे या दूरबीनसे महीन अक्षर मोटा दीखता है और छोटी आकृति बहुत बड़ी दिखायी देती है, उसी प्रकार सूक्ष्म आत्मतत्त्व भी बुद्धि, विवेक-समूह शरीरसे संयुक्त होनेके कारण शरीरके रूपमें प्रतीत होने लगता है । [illegible] जैसे स्वच्छ दर्पण अपने मुखका प्रतिबिम्ब दिखा देता है, उसी प्रकार [illegible] बुद्धिमें आत्माके स्वरूपकी झाँकी उपलब्ध हो जाती है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु-बृहस्पति-संवादविषयक दो सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०२ ॥

त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीर, इन्द्रिय और मन-बुद्धिसे अतिरिक्त आत्माकी नित्य सत्ताका प्रतिपादन

मनुरुवाच

यदिन्द्रियैस्तूपहितं पुरस्तात्
प्राप्तान् गुणान् संस्मरते चिराय ।
तेष्विन्द्रियेषूपहतेषु पश्चात्
स बुद्धिरूपः परमः स्वभावः ॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते ! बुद्धिके साथ तद्रूप हुआ जो जीव नामक चेतनतत्त्व है, वह इन्द्रियोंद्वारा दीर्घकालतक पहलेके भोगे हुए विषयोंका कालान्तरमें स्मरण करता है। यद्यपि उस [illegible] उन विषयोंका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं है, उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है तो भी वे बुद्धिमें संस्काररूपसे अङ्कित हैं; इसलिये उनका स्मरण होता है । (इससे बुद्धिके अतिरिक्त उसके [illegible] चेतनकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है) ॥ १ ॥

यथेन्द्रियार्थान् युगपत् समस्ता-
न्नोपेक्षते कृत्स्नमतुल्यकालम् ।
तथाचलं संचरते स विद्वां-
स्तस्मात् स एकः परमः शरीरी ॥ २ ॥

वह एक समय अथवा अनेक समयोंमें भूत और भविष्यके सम्पूर्ण पदार्थोंकी, जो इस जन्ममें या दूसरे जन्मोंमें देखे गये हैं, सामान्य रूपसे उपेक्षा नहीं करता अर्थात् उन्हें प्रकाशित ही करता है तथा परस्पर विलग न होनेवाली तीनों [illegible] ओंमें विचरता रहता है; अतः वह सबको जाननेवाला साक्षी सर्वोत्कृष्ट देहका स्वामी आत्मा एक है ॥ २ ॥

रजस्तमः सत्त्वमथो तृतीयं
गच्छत्यसौ स्थानगुणान् विरूपान् ।
तथेन्द्रियाण्याविशते शरीरी
हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम् ॥ ३ ॥

बुद्धिके जो स्थान—जाग्रत आदि अवस्थाएँ हैं, वे सभी सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे विभक्त हैं । इन अवस्थाओंसे सम्बन्धित जो सुख-दुःख आदि गुण हैं, वे परस्पर विलक्षण हैं । उन सबको वह आत्मा बुद्धिके सम्बन्धसे अनुभव करता है । इन्द्रियोंमें भी उस जीवात्माका आवेश उसी प्रकार होता है जैसे काठमें लगी हुई आगमें वायुका अर्थात् वायु जैसे अग्निमें प्रविष्ट होकर अग्निको उद्दीप्त कर देती है, इसी प्रकार आत्मा इन्द्रियोंको चेतना प्रदान [illegible] है ॥ ३ ॥

न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो
न पश्यति स्पर्शनमिन्द्रियेन्द्रियम् ।
न श्रोत्रलिङ्गं श्रवणेन दर्शनं
[illegible] कृतं पश्यति तद् विनश्यति ॥ ४ ॥

मनुष्य नेत्रोंद्वारा आत्माके रूपका दर्शन नहीं कर सकता। त्वचा [illegible] इन्द्रिय उसका स्पर्श नहीं कर सकती; क्योंकि वह इन्द्रियोंकी भी इन्द्रिय अर्थात् उनका प्रकाशक है । उस आत्माके स्वरूपका श्रवणेन्द्रियके द्वारा श्रवण नहीं हो सकता; क्योंकि [illegible] शब्दरहित है । ज्ञानविषयक विचारसे जब आत्माका साक्षात्कार किया जाता है, तब उसके साधनोंका बाध हो जाता है ॥ ४ ॥

श्रोत्रादीनि न पश्यन्ति स्वं स्वमात्मानमात्मना ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वज्ञस्तानि पश्यति ॥ ५ ॥

श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ स्वयं अपनेद्वारा आपको नहीं जान सकतीं । आत्मा सर्वज्ञ और सबका साक्षी है । सर्वज्ञ होनेके [illegible] ही वह उन सबको जानता है ॥ ५ ॥

यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा ।
न दृष्टपूर्वं मनुजैर्न च तन्नास्ति तावता ॥ ६ ॥
तद्वद् भूतेषु भूतात्मा सूक्ष्मो ज्ञानात्मवानसौ ।
अदृष्टपूर्वश्चक्षुर्भ्यां न चासौ नास्ति तावता ॥ ७ ॥

जैसे मनुष्योंद्वारा हिमालय पर्वतका दूसरा पार्श्व [illegible] चन्द्रमाका पृष्ठ भाग देखा हुआ नहीं है तो भी इसके आधारपर यह नहीं कहा जा सकता कि उनके पार्श्व और पृष्ठ भागका अस्तित्व ही नहीं है । उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके भीतर रहनेवाला उनका अन्तर्यामी ज्ञानस्वरूप आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण कभी नेत्रोंद्वारा नहीं देखा गया है; अतः उतनेहीसे यह नहीं कहा जा [illegible] कि आत्मा है ही नहीं ॥ ६-७ ॥

पश्यन्नपि यथा लक्ष्म जगत् सोमे न विन्दति ।
एवमस्ति न चोत्पन्नं न च [illegible] परायणम् ॥ ८ ॥

जैसे चन्द्रमामें जो कलङ्क है, वह जगत्का अर्थात् तद्गत पृथ्वीका ही चिह्न है; परंतु उसको देखकर भी मनुष्य ऐसा नहीं समझता कि यह जगत्का अर्थात् पृथ्वीका चिह्न है। इसी प्रकार सबको 'मैं हूँ' इस रूपमें आत्माका ज्ञान है; परंतु यथार्थ ज्ञान नहीं है; इस कारण मनुष्य उसके परायण—आश्रित नहीं है ॥ ८ ॥

रूपवन्तमरूपत्वादुदयास्तमने बुधाः ।
धिया समनुपश्यन्ति तद्गताः सवितुर्गतिम् ॥ ९ ॥
तथा बुद्धिप्रदीपेन दूरस्थं सुविपश्चितः ।
प्रत्यासन्नं निनीषन्ति ज्ञेयं ज्ञानाभिसंहितम् ॥ १० ॥

रूपवान् पदार्थ अपनी उत्पत्तिसे पूर्व और नष्ट हो जानेके बाद रूपहीन ही रहते हैं, इस नियमसे जैसे बुद्धिमान् लोग उनकी अरूपताका निश्चय करते हैं तथा सूर्यके उदय और अस्तके द्वारा विद्वान् पुरुष बुद्धिसे जिस प्रकार न दिखायी देनेवाली सूर्यकी गतिका अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार विवेकी मनुष्य बुद्धिरूप दीपकके द्वारा इन्द्रियातीत ब्रह्मका साक्षात्कार [illegible] लेते हैं और इस निकटवर्ती दृश्य-प्रपञ्चको उस ज्ञानस्वरूप परमात्मामें विलीन कर देना चाहते हैं ॥ ९-१० ॥

[illegible] हि खल्वनुपायेन कश्चिदर्थोऽभिसिद्ध्यति।
सूत्रजालैर्यथा मत्स्यान् बध्नन्ति जलजीविनः ॥ ११ ॥
मृगैर्मृगाणां ग्रहणं पक्षिणां पक्षिभिर्यथा ।
गजानां च गजैरेव ज्ञेयं ज्ञानेन गृह्यते ॥ १२ ॥

उचित उपाय किये बिना कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, जैसे जलमें रहनेवाले प्राणियोंसे जीविका चलानेवाले सूतके जाल बनाकर उनके द्वारा मछलियोंको बाँध लेते हैं, जैसे मृगोंके द्वारा मृगोंको, पक्षियोंद्वारा पक्षियोंको और हाथियोंद्वारा हाथियोंको पकड़ा जाता है, उसी प्रकार ज्ञेय वस्तुका ज्ञानके द्वारा ग्रहण होता है ॥ ११-१२ ॥

अहिरेव ह्यहेः पादान् पश्यतीति हि नः श्रुतम् ।
तद्वन्मूर्तिषु मूर्तिस्थं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति ॥ १३ ॥

हमने सुना है कि सर्पके पैरोंको सर्प [illegible] पहचानता है, उसी प्रकार मनुष्य समस्त शरीरोंमें शरीरस्थ ज्ञेयस्वरूप आत्माको ज्ञानके द्वारा ही जान [illegible] है ॥ १३ ॥

नोत्सहन्ते [illegible] वेत्तुमिन्द्रियैरिन्द्रियाण्यपि ।
तथैवेह परा बुद्धिः परं बोध्यं न पश्यति ॥ १४ ॥

जैसे इन्द्रियाँ भी इन्द्रियोंद्वारा किसी ज्ञेयको नहीं जान सकतीं, उसी [illegible] यहाँ परा बुद्धि भी उस परम बोध्य तत्त्वको स्वयं नहीं देख पाती है; किंतु ज्ञाता पुरुष ही बुद्धिके द्वारा उसका साक्षात् करता है ॥ १४ ॥

यथा चन्द्रो ह्यमावास्यामलिङ्गत्वान्न दृश्यते ।
न च नाशोऽस्य भवति [illegible] विद्धि शरीरिणम् ॥ १५ ॥

जैसे चन्द्रमा अमावास्याको प्रकाशहीन हो जानेके [illegible] दिखायी नहीं देता है; किंतु उस समय [illegible] नाश नहीं होता। उसी प्रकार शरीरधारी आत्माके विषयमें भी समझना चाहिये अर्थात् आत्मा अदृश्य होनेपर भी उसका अभाव नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ॥ १५ ॥

क्षीणकोशो ह्यमावास्यां चन्द्रमा न प्रकाशते ।
तद्वन्मूर्तिविमुक्तोऽसौ शरीरी नोपलभ्यते ॥ १६ ॥

जैसे चन्द्रमा अमावास्याको अपने प्रकाश्य स्थानसे वियुक्त हो जानेके कारण दिखायी नहीं देता है, उसी प्रकार देहधारी आत्मा शरीरसे वियुक्त होनेपर दृष्टिगोचर नहीं होता है ॥ १६ ॥

यथाऽऽकाशान्तरं [illegible] चन्द्रमा भ्राजते पुनः ।
तद्वल्लिङ्गान्तरं [illegible] शरीरी भ्राजते पुनः ॥ १७ ॥

फिर वही चन्द्रमा जैसे अन्यत्र आकाशमें स्थान पाकर पुनः प्रकाशित होने लगता है, उसी प्रकार जीवात्मा दूसरा शरीर धारण करके पुनः प्रकट हो जाता है ॥ १७ ॥

[illegible] वृद्धिः क्षयश्चास्य प्रत्यक्षेणोपलभ्यते ।
सा तु चान्द्रमसी वृत्तिर्न [illegible] शरीरिणः ॥ १८ ॥

जन्म, वृद्धि और क्षयका जो प्रत्यक्ष दर्शन होता है, वह चन्द्रमण्डलमें प्रतीत होनेवाली वृत्ति चन्द्रमाकी नहीं है । उसी प्रकार शरीरका ही जन्म आदि होता है, [illegible] शरीरधारी आत्माका नहीं ॥ १८ ॥

उत्पत्तिवृद्धिव्ययसा यथा स इति गृह्यते ।
चन्द्र एव त्वमावास्यां तथा भवति मूर्तिमान् ॥ १९ ॥

जैसे किसी व्यक्तिका जन्म होता है, वह बढ़ता है और किशोर, यौवन आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें पहुँच जाता है तो भी यही समझा जाता है कि यह वही व्यक्ति है तथा अमावास्याके बाद जब चन्द्रमा पुनः मूर्तिमान् होकर प्रकट होता है तो यही माना जाता है कि यह वही चन्द्रमा है (उसी प्रकार दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेपर भी वह देहधारी आत्मा वही है—ऐसा समझना चाहिये) ॥ १९ ॥

नोपसर्पद् विमुञ्चद् वा शशिनं दृश्यते तमः ।
विसृजंश्चोपसर्पंश्च तद्वत् पश्य शरीरिणम् ॥ २० ॥

जैसे अन्धकाररूप राहु चन्द्रमाकी ओर आता और

उसे छोड़कर जाता हुआ नहीं दिखायी देता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी शरीरमें आता और उसे छोड़कर जाता हुआ नहीं दीख पड़ता है। ऐसा समझो ॥ २० ॥

यथा चन्द्रार्कसंयुक्तं तमस्तदुपलभ्यते ।
तद्वच्छरीरसंयुक्तः शरीरीत्युपलभ्यते ॥ २१ ॥

जैसे सूर्यग्रहणकालमें चन्द्रमा सूर्यसे संयुक्त होनेपर सूर्यमें छायारूपी राहुका दर्शन होता है, उसी प्रकार शरीरसे संयुक्त होनेपर शरीरधारी आत्माकी उपलब्धि होती है ॥ २१ ॥

यथा चन्द्रार्कनिर्मुक्तः स राहुर्नोपलभ्यते ।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः शरीरी नोपलभ्यते ॥ २२ ॥

जैसे चन्द्रमा-सूर्यसे अलग होनेपर सूर्यमें राहुकी उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार शरीरसे विलग होनेपर शरीरधारी आत्माका दर्शन नहीं होता ॥ २२ ॥

यथा चन्द्रो ह्यमावास्यां नक्षत्रैर्युज्यते गतः ।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः फलैर्युज्यति कर्मणः ॥ २३ ॥

जैसे अमावास्याका अतिक्रमण करनेपर चन्द्रमा नक्षत्रोंसे संयुक्त होता है, उसी प्रकार जीवात्मा एक शरीरका त्याग करनेपर कर्मोंके फलस्वरूप दूसरे शरीरसे युक्त होता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादरूप दो सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०३ ॥

चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

आत्मा एवं परमात्माके साक्षात्कारका उपाय तथा महत्त्व

मनुरुवाच

यथा व्यक्तमिदं शेते स्वप्ने चरति चेतनम् ।
ज्ञानमिन्द्रियसंयुक्तं तद्वत् प्रेत्य भवाभवौ ॥ १ ॥

मनु कहते हैं—बृहस्पते! जैसे स्वप्नावस्थामें यह स्थूल शरीर तो सोया रहता है और सूक्ष्म शरीर विचरण करता रहता है, उसी प्रकार इस शरीरको छोड़नेपर यह ज्ञानस्वरूप जीवात्मा या तो इन्द्रियोंके सहित पुनः शरीर ग्रहण कर लेता है या सुषुप्तिकी भाँति मुक्त हो जाता है ॥ १ ॥

यथाम्भसि प्रसन्ने तु रूपं पश्यति चक्षुषा ।
तद्वत्प्रसन्नेन्द्रियत्वाज्ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति ॥ २ ॥

जिस प्रकार मनुष्य स्वच्छ और स्थिर जलमें नेत्रोंद्वारा अपना प्रतिबिम्ब देखता है, वैसे ही मनसहित इन्द्रियोंके शुद्ध एवं स्थिर हो जानेपर वह ज्ञानदृष्टिसे ज्ञेयस्वरूप आत्माका साक्षात्कार कर सकता है ॥ २ ॥

स एव लुलिते तस्मिन् यथा रूपं न पश्यति ।
तथेन्द्रियाकुलीभावे ज्ञेयं ज्ञाने न पश्यति ॥ ३ ॥

वही मनुष्य हिलते हुए जलमें जैसे अपना रूप नहीं देख पाता, उसी प्रकार मनसहित इन्द्रियोंके चञ्चल होनेपर वह बुद्धिमें ज्ञेयस्वरूप आत्माका दर्शन नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

अबुद्धिरज्ञानकृता अबुद्ध्या कृष्यते मनः ।
दुष्टस्य मनसः पञ्च सम्प्रदुष्यन्ति मानसाः ॥ ४ ॥

अविवेकसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उस भ्रष्ट बुद्धिसे मन राग आदि दोषोंमें फँस जाता है। इस प्रकार मनके दूषित होनेसे उसके अधीन रहनेवाली पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी दूषित हो जाती हैं ॥ ४ ॥

अज्ञानतृप्तो विषयेष्ववगाढो न तृप्यते ।
अदृष्टवच्च भूतात्मा विषयेभ्यो निवर्तते ॥ ५ ॥

जिसको अज्ञानसे ही तृप्ति प्राप्त हो रही है, वह मनुष्य विषयोंके अगाध जलमें सदा डूबा रहकर भी कभी तृप्त नहीं होता। वह जीवात्मा प्रारब्धाधीन हुआ विषय-भोगोंकी इच्छाके कारण बारंबार इस संसारमें आता और जन्म ग्रहण करता है ॥ ५ ॥

तर्षच्छेदो न भवति पुरुषस्येह कल्मषात् ।
निवर्तते तदा तर्षः पापमन्तगतं यदा ॥ ६ ॥

पापके कारण ही संसारमें पुरुषकी तृष्णाका अन्त नहीं होता। जब पापोंकी समाप्ति हो जाती है, तभी उसकी तृष्णा निवृत्त हो जाती है ॥ ६ ॥

विषयेषु तु संसर्गाच्छाश्वतस्य तु संश्रयात् ।
मनसा चान्यथा काङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥

विषयोंके संसर्गसे, सदा उन्हींमें रचे-पचे रहनेसे तथा मनके द्वारा साधनके विपरीत भोगोंकी इच्छा रखनेसे पुरुषको परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ ७ ॥

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः ।
यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ८ ॥

पाप-कर्मोंका क्षय होनेसे ही मनुष्योंके अन्तःकरणमें ज्ञानका उदय होता है। जैसे स्वच्छ दर्पणमें ही मानव अपने प्रतिबिम्बको अच्छी तरह देख पाता है ॥ ८ ॥

प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतैः सुखी ।
तस्मादिन्द्रियरूपेभ्यो यच्छेदात्मानमात्मना ॥ ९ ॥

विषयोंकी ओर इन्द्रियोंके फैले रहनेसे ही मनुष्य दुःखी होता है और उन्हींको संयममें रखनेसे सुखी हो जाता है; इसलिये इन्द्रियोंके विषयोंसे बुद्धिके द्वारा अपने मनको रोकना चाहिये ॥ ९ ॥

इन्द्रियेभ्यो मनः पूर्वं बुद्धिः परतरा ततः ।
बुद्धेः परतरं ज्ञानं ज्ञानात् परतरं महत् ॥ १० ॥

इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे ज्ञान श्रेष्ठतर है और ज्ञानसे परात्पर परमात्मा श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

अव्यक्तात् प्रसृतं ज्ञानं ततो बुद्धिस्ततो मनः ।
मनः श्रोत्रादिभिर्युक्तं शब्दादीन् साधु पश्यति॥ ११ ॥

अव्यक्त परमात्मासे ज्ञान प्रसारित हुआ है । ज्ञानसे बुद्धि और बुद्धिसे मन प्रकट हुआ है । वह मन ही श्रोत्र आदि इन्द्रियोंसे युक्त होकर शब्द आदि विषयोंका भलीभाँति अनुभव करता है ॥ ११ ॥

यस्तांस्त्यजति शब्दादीन् सर्वांश्च व्यक्तयस्तथा ।
विमुञ्चेत् प्राकृतान्ग्रामांस्तान् मुक्त्वामृतमश्नुते॥१२॥

जो पुरुष शब्द आदि विषयोंको, उनके आश्रयभूत सम्पूर्ण व्यक्त तत्त्वोंको, स्थूलभूतों और प्राकृत गुण-समुदायोंको त्याग देता है अर्थात् उनसे सम्बन्धविच्छेद कर लेता है, वह उन्हें त्याग कर अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १२॥

उद्यन् हि सविता यद्वत् सृजते रश्मिमण्डलम् ।
स एवास्तमुपागच्छंस्तदेवात्मनि यच्छति ॥ १३ ॥
अन्तरात्मा तथा देहमाविश्येन्द्रियरश्मिभिः ।
प्राप्येन्द्रियगुणान् पञ्च सोऽस्तमावृत्य गच्छति॥ १४ ॥

जैसे सूर्य उदित होकर अपनी किरणोंको सब ओर फैला देता है और अस्त होते समय उन समस्त किरणोंको अपने भीतर ही समेट लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा देहमें प्रविष्ट होकर फैली हुई इन्द्रियोंकी वृत्तिरूपी किरणोंद्वारा पाँचों विषयोंको ग्रहण करता है और शरीरको छोड़ते समय [illegible] सबको समेटकर अपने साथ लेकर चल देता है॥ १३-१४ ॥

प्रणीतं कर्मणा मार्गं नीयमानः पुनः पुनः ।
प्राप्नोत्ययं कर्मफलं प्रवृत्तं धर्ममात्मवान् ॥ १५ ॥

जिसने प्रवृत्तिप्रधान पुण्य-पापमय कर्मका आश्रय लिया है, वह जीवात्मा कर्मोंद्वारा कर्म-मार्गपर बारबार लाया जाकर अर्थात् संसार-चक्रमें भ्रमाया जाकर सुख-दुःखरूप कर्म-फलको [illegible] होता है ॥ १५ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ १६ ॥

इन्द्रियद्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेसे पुरुषके वे विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; परंतु उनमें उनकी आसक्ति बनी रहती है । परमात्माका साक्षात्कार कर लेनेपर पुरुषकी वह आसक्ति भी दूर हो जाती है ॥ १६ ॥

बुद्धिः कर्मगुणैर्हीना यदा मनसि वर्तते ।
तदा सम्पद्यते ब्रह्म तत्रैव प्रलयं गतम् ॥ १७ ॥

जिस समय बुद्धि कर्मजनित गुणोंसे छूटकर हृदयमें स्थित हो जाती है, उस समय जीवात्मा ब्रह्ममें लीन होकर ब्रह्मको [illegible] हो जाता है ॥ १७ ॥

अस्पर्शनमशृण्वानमनास्वादमदर्शनम् ।
अघ्राणमवितर्कं च सत्त्वं प्रविशते परम् ॥ १८ ॥

परब्रह्म परमात्मा स्पर्श, श्रवण, रसन, दर्शन, घ्राण और संकल्प-विकल्पसे भी रहित है; इसलिये केवल विशुद्ध बुद्धि ही उसमें प्रवेश [illegible] पाती है ॥ १८ ॥

मनस्याकृतयो मग्ना मनस्त्वभिगतं मतिम् ।
मतिस्त्वभिगता ज्ञानं ज्ञानं चाभिगतं परम् ॥ १९ ॥

मनमें शब्दादि विषयरूप [illegible] आकृतियोंका [illegible] होता है । [illegible] बुद्धिमें, बुद्धिका ज्ञानमें और ज्ञानका परमात्मामें [illegible] होता है ॥ १९ ॥

नेन्द्रियैर्मनसः सिद्धिर्न बुद्धिं बुद्ध्यते मनः ।
न बुद्धिर्बुद्ध्यतेऽव्यक्तं सूक्ष्मं त्वेतानि पश्यति ॥ २० ॥

इन्द्रियोंद्वारा मनकी सिद्धि नहीं होती अर्थात् इन्द्रियाँ मनको नहीं जानती हैं । मन बुद्धिको नहीं जानता और बुद्धि सूक्ष्म एवं अव्यक्त आत्माको नहीं जानती है; किंतु अव्यक्त [illegible] इन सबको देखता और जानता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०४ ॥

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

मनुरुवाच

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते ।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तं नानुचिन्तयेत्॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते ! जब मनुष्यपर कोई ऐसा शारीरिक या मानसिक दुःख आ पड़े, जिसके रहते हुए साधन करना अशक्य हो जाय, तब उस दुःखका चिन्तन करना छोड़ दे ॥ १ ॥

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ।
चिन्त्यमानं हि चाभ्येति भूयश्चापि प्रवर्तते ॥ २ ॥

दुःखको दूर करनेके लिये सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका चिन्तन छोड़ दिया जाय; क्योंकि चिन्तन करनेसे वह सामने आता है और अधिकाधिक बढ़ता रहता है ॥ २॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ ३ ॥

अतः मानसिक दुःखको बुद्धि एवं विचारद्वारा तथा शारीरिक कष्टको ओषधियोंद्वारा दूर करे, यही विज्ञानकी

सामर्थ्य है, जिससे मनुष्य दुःखमें पड़नेपर बच्चोंके समान बैठकर रोये नहीं ॥ ३ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ ४ ॥

यौवन, रूप, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य और प्रियजनोंका समागम—ये सब अनित्य हैं। विवेकशील पुरुषोंको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ ४ ॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥ ५ ॥

जो दुःख सारे देशपर है, उसके लिये किसी एक व्यक्तिको शोक नहीं करना चाहिये। यदि उसे टालनेका कोई उपाय दिखायी दे तो शोक न करके उस दुःखके निवारणका प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५ ॥

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः।
स्निग्धस्य चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ ६ ॥

इसमें संदेह नहीं कि जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक है। जो पुरुष विषयोंमें अधिक आसक्त होता है, वह मोहवश मरणरूप अप्रिय कष्ट भोगता है ॥ ६ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न ते शोचन्ति पण्डिताः ॥ ७ ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त होता है, अतः वे ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करते हैं ॥ ७ ॥

दुःखमर्था हि युज्यन्ते पालनेन च ते सुखम्।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत् ॥ ८ ॥

विषयोंके उपार्जनमें दुःख है। उनकी रक्षामें भी तुम्हें सुख नहीं मिल सकता। दुःखसे ही उनकी उपलब्धि होती है; अतः उनका नाश हो जाय तो चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥

ज्ञानं ज्ञेयाभिनिर्वृत्तं विद्धि ज्ञानगुणं मनः।
प्रज्ञाकरणसंयुक्तं ततो बुद्धिः प्रवर्तते ॥ ९ ॥

बृहस्पते! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि ज्ञेयरूपमें परमात्मासे ज्ञान प्रकट होता है और मन ज्ञानका गुण (कार्य) है। जब वह ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त होता है, तब बुद्धि कर्मोंमें प्रवृत्त होती है ॥ ९ ॥

यदा कर्मगुणैर्हीना बुद्धिर्मनसि वर्तते।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म ध्यानयोगसमाधिना ॥ १० ॥

जिस समय बुद्धि कर्म-संस्कारोंसे रहित होकर हृदयमें स्थित हो जाती है, उसी समय ध्यानयोगजनित समाधिके द्वारा ब्रह्मका भलीभाँति ज्ञान हो जाता है ॥ १० ॥

सेयं गुणवती बुद्धिर्गुणेष्वेवाभिवर्तते।
अपरादभिनिःसृत्य गिरेः शृङ्गादिवोदकम् ॥ ११ ॥

अन्यथा जैसे जलकी धारा पर्वतके शिखरसे निकलकर ढालकी ओर बहती है, उसी प्रकार यह गुणवती बुद्धि अज्ञानके कारण परमात्मासे नियुक्त होकर रूप आदि गुणोंकी ओर बहने लग जाती है ॥ ११ ॥

यदा निर्गुणमाप्नोति ध्यानं मनसि पूर्वजम्।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म निकषं निकषे यथा ॥ १२ ॥

परतु जब साधक सबके आदिकारण निर्गुण ध्येयतत्त्वको ध्यानद्वारा अन्तःकरणमें प्राप्त कर लेता है, तब कसौटीपर कसे हुए सुवर्णके समान ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है ॥

मनस्त्वपहृतं पूर्वमिन्द्रियार्थनिदर्शकम्।
न समक्षगुणापेक्षि निर्गुणस्य निदर्शकम् ॥ १३ ॥

परंतु इन्द्रियोंके विषयोंको दिखानेवाला मन जब पहले से ही विषयोंकी ओर अपहृत हो जाता है, तब वह विषयरूप गुणोंकी अपेक्षा रखनेवाला मन निर्गुण तत्त्वका दर्शन करानेमें समर्थ नहीं होता ॥ १३ ॥

सर्वाण्येतानि संवार्य द्वाराणि मनसि स्थितः।
मनस्येकाग्रतां कृत्वा तत्परं प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

समस्त इन्द्रियोंको रोककर संकल्पमात्रसे मनमें स्थित हो उन सबको हृदयमें एकत्र करके साधक उससे भी परे विद्यमान परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

यथा महान्ति भूतानि निवर्तन्ते गुणक्षये।
तथेन्द्रियाण्युपादाय बुद्धिर्मनसि वर्तते ॥ १५ ॥

जिस प्रकार गुणोंका क्षय होनेपर पञ्चमहाभूत निवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार बुद्धि समस्त इन्द्रियोंको लेकर हृदयमें स्थित हो जाती है ॥ १५ ॥

यदा मनसि सा बुद्धिर्वर्ततेऽन्तरचारिणी।
व्यवसायगुणोपेता तदा सम्पद्यते मनः ॥ १६ ॥

जब निश्चयात्मिका बुद्धि अन्तर्मुखी होकर हृदयमें स्थित होती है, तब मन विशुद्ध हो जाता है ॥१६॥

गुणवद्भिर्गुणोपेतं यदा ध्यानगुणं मनः।
तदा सर्वान् गुणान् हित्वा निर्गुणं प्रतिपद्यते ॥ १७ ॥

शब्दादि गुणोंसे युक्त इन्द्रियोंके सम्बन्धसे उन गुणोंमें घिरा हुआ मन जब ध्यानजनित गुणोंसे सम्पन्न होता है, तब उन सब गुणोंको त्यागकर निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥

अव्यक्तस्येह विज्ञाने नास्ति तुल्यं निदर्शनम्।
यत्र नास्ति पदन्यासः कस्तं विषयमाप्नुयात् ॥ १८ ॥

उस अव्यक्त ब्रह्मका बोध करानेके लिये इस संसारमें कोई योग्य दृष्टान्त नहीं है। जहाँ वाणीका व्यापार ही नहीं है, उस वस्तुको कौन वर्णनका विषय बना सकता है ॥

तपसा चानुमानेन गुणैर्जात्या श्रुतेन च।
निनीषेत् परमं ब्रह्म विशुद्धेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥

इसलिये तपसे, अनुमानसे, शम आदि गुणोंसे, जातिगत धर्मोंके पालनसे तथा शास्त्रोंके स्वाध्यायसे अन्तःकरणको विशुद्ध करके उसके द्वारा परब्रह्मको प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥

गुणहीनो [illegible] मार्गं बहिः समनुवर्तते ।
गुणाभावात् प्रकृत्या वा निस्तर्क्यं ज्ञेयसम्मितम् ॥ २० ॥

उक्त तपस्या आदि गुणोंसे रहित मनुष्य बाहर रहकर बाह्य मार्गका ही अनुसरण करता है। वह श्रेयस्वरूप परमात्मा गुणोंसे अतीत होनेके कारण स्वभावसे ही तर्कका विषय नहीं है ॥ २० ॥

नैर्गुण्याद् ब्रह्म चाप्नोति सगुणत्वान्निवर्तते ।
गुणप्रचारिणी बुद्धिर्हुताशन इवेन्धने ॥ २१ ॥

जैसे अग्नि सूखे काठमें विचरण करती है, उसी प्रकार बुद्धि भी शब्द, स्पर्श आदि गुणोंमें विचरती रहती है। [illegible] वह उन गुणोंका सम्बन्ध छोड़ देती है, तब निर्गुण होनेके कारण ब्रह्मको प्राप्त होती है और जबतक गुणोंमें आसक्त रहती है, तबतक गुणोंसे सम्बन्धित होनेके कारण ब्रह्मको न पाकर लौट आती है ॥ २१ ॥

[illegible] [illegible] विमुक्तानि इन्द्रियाणि स्वकर्मभिः ।
तथा हि परमं ब्रह्म विमुक्तं प्रकृतेः परम् ॥ २२ ॥

जैसे पाँचों इन्द्रियाँ अपने कार्यरूप शब्द आदि गुणोंसे भिन्न हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा भी प्रकृतिसे सर्वथा परे है ॥ २२ ॥

एवं प्रकृतितः सर्वे प्रवर्तन्ते शरीरिणः ।
निवर्तन्ते निवृत्तौ च स्वर्गं चैवोपयान्ति च ॥ २३ ॥

इस प्रकार समस्त प्राणी प्रकृतिसे उत्पन्न होते और [illegible] उसीमें लयको [illegible] होते हैं। [illegible] लय अथवा मृत्युके पश्चात् वे पुण्य और पापके फलस्वरूप स्वर्ग और नरकमें जाते हैं ॥ २३ ॥

पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिर्विषयाश्चेन्द्रियाणि च ।
अहंकारोऽभिमानश्च समूहो भूतसंज्ञकः ॥ २४ ॥

पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, पाँच विषय, दस इन्द्रियाँ, अहङ्कार, मन और पञ्च महाभूत—इन पचीस तत्त्वोंका समूह ही प्राणी नामसे कहा जाता है ॥ २४ ॥

एतस्याद्या प्रवृत्तिस्तु प्रधानात् सम्प्रवर्तते ।
द्वितीया मिथुनव्यक्तिमविशेषान्नियच्छति ॥ २५ ॥

बुद्धि आदि तत्त्वसमूहकी प्रथम सृष्टि प्रकृतिसे ही हुई है। तदनन्तर दूसरी बारसे उनकी सामान्यतः मैथुन-धर्मसे नियमपूर्वक अभिव्यक्ति होने लगी है ॥ २५ ॥

धर्मादुत्कृष्यते श्रेयस्तथाश्रेयोऽप्यधर्मतः ।
रागवान् प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानवान् भवेत् ॥ २६ ॥

धर्म करनेसे श्रेयकी वृद्धि होती है और अधर्म करनेसे मनुष्यका अकल्याण होता है। विषयासक्त पुरुष प्रकृतिको प्राप्त होता है और विरक्त आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादविषयक दो सौ पाँचवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ २०५ ॥

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्मतत्त्वका निरूपण—मनु-बृहस्पति-संवादकी समाप्ति

मनुरुवाच

यदा [illegible] पञ्चभिः [illegible] युक्तानि मनसा सह ।
[illegible] तद् द्रक्ष्यते ब्रह्म मणौ सूत्रमिवार्पितम् ॥ १ ॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते! जिस समय मनुष्य शब्द आदि पाँच विषयोंसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मनको काबूमें कर लेता है, [illegible] समय वह मणियोंमें ओतप्रोत तागेके समान सर्वत्र व्याप्त परब्रह्मका साक्षात्कार [illegible] लेता है ॥ [illegible] ॥

तदेव च यथा सूत्रं सुवर्णे वर्तते पुनः ।
मुक्तास्वथ प्रवालेषु मृन्मये राजते तथा ॥ २ ॥
तद्वद् गोऽश्वमनुष्येषु तद्वद्धस्तिमृगादिषु ।
तद्वत् कीटपतङ्गेषु प्रसक्तात्मा स्वकर्मभिः ॥ ३ ॥

जैसे वही तागा सोनेकी लड़ियोंमें, मोतियोंमें, मूँगोंमें और मिट्टीकी मालाके दानोंमें ओतप्रोत होकर सुशोभित होता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा गौ, अश्व, मनुष्य, हाथी, मृग और कीट-पतङ्ग आदि समस्त शरीरोंमें व्याप्त है। विषयासक्त जीवात्मा अपने-अपने कर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न शरीर धारण करता है ॥ २-३ ॥

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोत्ययम् ।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥

यह मनुष्य जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उस-उस शरीरसे उसी-उसी कर्मका [illegible] भोगता है ॥ ४ ॥

[illegible] ह्येकरसा भूमिरोषध्यर्थानुसारिणी ।
तथा कर्मानुगा बुद्धिरन्तरात्मानुदर्शिनी ॥ ५ ॥

जैसे भूमिमें एक [illegible] रस होता है तो भी उसमें जैसा बीज बोया जाता है, उसीके अनुसार वह उसमें रस उत्पन्न करती है, उसी तरह अन्तरात्मासे ही प्रकाशित बुद्धि पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होती है ॥

ज्ञानपूर्वा भवेल्लिप्सा लिप्सापूर्वाभिसंधिता ।
अभिसंधिपूर्वकं कर्म कर्ममूलं ततः फलम् ॥ ६ ॥

मनुष्यको पहले तो विषयका ज्ञान होता है; फिर उसके मनमें उसे पानेकी इच्छा उत्पन्न होती है। उसके बाद 'इस कार्यको सिद्ध करूँ' यह निश्चय और प्रयत्न आरम्भ होता है। फिर कर्म सम्पन्न होता और उसका फल मिलता है ॥ ६ ॥

[illegible] कर्मात्मकं विद्यात् कर्म ज्ञेयात्मकं तथा ।

ज्ञेयं ज्ञानात्मकं विद्याज्ज्ञानं सदसदात्मकम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार फलको कर्मस्वरूप समझे । कर्मको जाननेमें आनेवाले पदार्थोंका रूप समझे और ज्ञेयको ज्ञानरूप समझे तथा ज्ञानका स्वरूप कार्य और कारण जाने ॥ ७ ॥

ज्ञानानां च फलानां च ज्ञेयानां कर्मणां क्षये ।
क्षयान्ते यत् फलं विद्याज्ज्ञानं ज्ञेयप्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

ज्ञान, फल, ज्ञेय और कर्म—इन सबका अन्त होनेपर जो प्राप्तव्य फलरूपसे शेष रहता है, उसको ही तुम ज्ञेयमात्रमें व्याप्त होकर स्थित हुआ ज्ञानस्वरूप परमात्मा समझो ॥ ८ ॥

महद्धि परमं भूतं यत् प्रपश्यन्ति योगिनः ।
अबुधास्तं न पश्यन्ति ह्यात्मस्थं गुणबुद्धयः ॥ ९ ॥

उस परम महान् तत्त्वको योगिजन ही देख पाते हैं । विषयोंमें आसक्त अज्ञानी मनुष्य अपने भीतर ही विराजमान उस परब्रह्म परमात्माको नहीं देख सकते हैं ॥ ९ ॥

पृथिवीरूपतो रूपमपामिह महत्तरम् ।
अद्भ्यो महत्तरं तेजस्तेजसः पवनो महान् ॥ १० ॥
पवनाच्च महद् व्योम तस्मात् परतरं मनः ।
मनसो महती बुद्धिर्बुद्धेः कालो महान् स्मृतः ॥ ११ ॥
कालात् स भगवान् विष्णुर्यस्य सर्वमिदं जगत् ।
नादिर्न मध्यं नैवान्तस्तस्य देवस्य विद्यते ॥ १२ ॥

इस जगत्में पृथ्वीके रूपसे जलका ही रूप महान् है। जलसे तेज अतिमहान् है, तेजसे पवन महान् है, पवनसे आकाश महान् है, आकाशसे मन परतर है अर्थात् सूक्ष्म, श्रेष्ठ और महान् है । मनसे बुद्धि महान् है, बुद्धिसे काल अर्थात् प्रकृति महान् है और कालसे भगवान् विष्णु अनन्त, सूक्ष्म, श्रेष्ठ और महान हैं । यह सारा जगत् उन्हींकी सृष्टि है। उन भगवान् विष्णुका न कोई आदि है, न मध्य है और न अन्त ही है ॥ १०–१२ ॥

अनादित्वादमध्यत्वादनन्तत्वाच्च सोऽव्ययः ।
अत्येति सर्वदुःखानि दुःखं ह्यन्तवदुच्यते ॥ १३ ॥

वे आदि, मध्य और अन्तसे रहित होनेके कारण ही अविनाशी हैं;अतएव सम्पूर्ण दुःखोंसे परे हैं, क्योंकि विनाशशील वस्तु ही दुःखरूप हुआ करती है ॥ १३ ॥

तद् ब्रह्म परमं प्रोक्तं तद्धाम परमं पदम् ।
तद् गत्वा कालविषयाद् विमुक्ता मोक्षमाश्रिताः ॥ १४॥

अविनाशी विष्णु ही परब्रह्म कहे जाते हैं। वे ही परमधाम और परमपद हैं । उन्हें प्राप्त कर लेनेपर जीव कालके राज्यसे मुक्त हो मोक्षधाममें स्थित हो जाते हैं ॥ १४ ॥

गुणेष्वेते प्रकाशन्ते निर्गुणत्वात् ततः परम् ।
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥ १५ ॥

ये बद्ध जीव गुणोंमें अर्थात् गुणोंके कार्यरूप शरीर आदिके सम्बन्धसे व्यक्त हो रहे हैं; परंतु परमात्मा निर्गुण होनेके कारण उनसे अत्यन्त परे हैं। जो निवृत्तिरूप धर्म (निष्काम कर्म) है, वह अक्षय पद (मोक्ष) की प्राप्ति करानेमें समर्थ है ॥ १५॥

ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः ।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्तन्ते यत्नसाध्या विनाशिनः ॥ १६॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये अध्ययनकालमें शरीरके आश्रित रहते हैं और जिह्वाके अग्रभागपर प्रकट होते हैं; इसीलिये वे यत्नसाध्य और विनाशशील हैं अर्थात् इनका लुप्त होना स्वाभाविक है ॥ १६ ॥

न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम् ।
न यत्नसाध्यं तद् ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवत् ॥ १७ ॥

किंतु परब्रह्म परमात्मा इस प्रकार शरीरका आश्रय लेकर प्रकट होनेपर भी वेदाध्ययनकी भाँति यत्नसाध्य नहीं है; क्योंकि उनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है ॥ १७ ॥

ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते ।
अन्तश्चादिमतां दृष्टो न त्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः ॥ १८ ॥

वही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका आदि कहलाता है । जिनका कोई आदि होता है, उन पदार्थोंका अन्त होता देखा गया है । ब्रह्मका कोई भी आदि नहीं बताया गया है ॥

अनादित्वादनन्तत्वात्तदनन्तमथाव्ययम् ।
अव्ययत्वाच्च निर्द्वन्द्वं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ॥ १९ ॥

वह अनादि और अनन्त होनेके कारण अक्षय और अविनाशी है। अविनाशी होनेसे ही दुःखरहित है। उसमें हर्ष और शोक आदि द्वन्द्वोंका अभाव है; अतएव वह सबसे परे है ॥ १९ ॥

अदृष्टतोऽनुपायाच्च प्रतिसंधेश्च कर्मणः ।
न तेन मर्त्याः पश्यन्ति येन गच्छन्ति तत् पदम् ॥ २० ॥

परंतु दुर्भाग्य, साधनहीनता और कर्मफलविषयक आसक्तिके कारण जिससे परमात्माकी प्राप्ति होती है, मनुष्य उस मार्गका दर्शन नहीं कर पाते हैं ॥ २० ॥

विषयेषु च संसर्गाच्छाश्वतस्य च दर्शनात् ।
मनसा चान्यदाकाङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते ॥ २१ ॥

मनुष्योंकी विषयोंमें आसक्ति है; क्योंकि विषयसुख सदा रहनेवाले हैं; ऐसी उनकी भावना है तथा वे अपने मनसे सांसारिक पदार्थोंको पानेकी इच्छा रखते हैं; इसीलिये उन्हें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ २१ ॥

गुणान् यदिह पश्यन्ति तदिच्छन्त्यपरे जनाः ।
परं नैवाभिकाङ्क्षन्ति निर्गुणत्वाद् गुणार्थिनः ॥ २२ ॥

संसारी मनुष्य इस संसारमें जिन-जिन विषयोंको देखते हैं, उन्हींको पाना चाहते हैं । सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हें पानेके लिये उनके मनमें इच्छा नहीं होती है; क्योंकि वे गुणार्थी (विषयाभिलाषी) होते हैं और परमात्मा निर्गुण (गुणातीत) हैं ॥ २२ ॥

गुणैर्यस्त्ववरैर्युक्तः कथं विद्यात् परान् गुणान् ।
अनुमानाद्धि गन्तव्यं गुणैरवयवैः परम् ॥ २३ ॥

[illegible] जो इन तुच्छ विषयोंमें फँसा हुआ है, वह परम-दिव्य गुणोंको कैसे जान सकता है ? जैसे धूमसे अग्निका अनुमान होता है, उसी प्रकार नित्यत्व आदि स्वरूपभूत दिव्य गुणोंद्वारा परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका दिग्दर्शन हो सकता है ॥ २३ ॥

सूक्ष्मेण मनसा विद्मो वाचा वक्तुं न शक्नुमः ।
मनो हि मनसा ग्राह्यं दर्शनेन च दर्शनम् ॥ २४ ॥

हम ध्यानद्वारा शुद्ध और सूक्ष्म हुए मनसे परमात्माके स्वरूपका अनुभव तो कर सकते हैं, किंतु वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं [illegible] सकते; क्योंकि मनके द्वारा ही मानसिक विषयका ग्रहण हो सकता है और ज्ञानके द्वारा ही ज्ञेयको जाना [illegible] [illegible] है ॥ २४ ॥

ज्ञानेन निर्मलीकृत्य बुद्धिं बुद्ध्या मनस्तथा ।
मनसा चेन्द्रियग्राममक्षरं प्रतिपद्यते ॥ २५ ॥

इसलिये ज्ञानके द्वारा बुद्धिको, बुद्धिके द्वारा मनको तथा मनके द्वारा इन्द्रिय-समुदायको निर्मल एवं शुद्ध करके अविनाशी परमात्माको प्राप्त किया [illegible] सकता है ॥ २५ ॥

बुद्धिप्रवीणो मनसा समृद्धो
निराशिषं निर्गुणमभ्युपैति ।
परं त्यजन्तीह विलोड्यमाना
हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम् ॥ २६ ॥

बुद्धिमें प्रवीण अर्थात् विशुद्ध और सूक्ष्म बुद्धिसे सम्पन्न एवं मानसिक बलसे युक्त हुआ पुरुष, [illegible] इच्छासे अतीत निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होता है। जैसे वायु काठमें रहनेवाले अदृश्य अग्निको बिना प्रज्वलित किये ही छोड़ देता है, वैसे ही कामनाओंसे विकल हुए पुरुष भी अपने शरीरके भीतर स्थित परमात्माका त्याग कर देते हैं अर्थात् उसे जानने और पानेकी चेष्टा नहीं करते ॥ २६ ॥

गुणादाने विप्रयोगे च तेषां
मनः सदा बुद्धिपरावराभ्याम् ।
अनेनैव विधिना सम्प्रवृत्तो
गुणापाये [illegible] शरीर मेति ॥ २७ ॥

जब [illegible] साधनरूप गुणोंको धारण कर लेता है और उन सांसारिक पदार्थोंसे मनको हटा लेता है, तब उसका मन बुद्धिजन्य अच्छे-बुरे भावोंसे रहित होकर निरन्तर निर्मल रहता है। इस प्रकार साधनमें लगा हुआ साधक जब गुणोंसे अतीत हो जाता है, [illegible] ब्रह्मके स्वरूपका साक्षात् कर लेता है ॥

अव्यक्तात्मा पुरुषो व्यक्तकर्मा
सोऽव्यक्तत्वं गच्छति ह्यन्तकाले ।
तैरेवायं चेन्द्रियैर्वर्धमानै-
र्ग्लायद्भिर्वाऽऽवर्ततेऽकामरूपः ॥२८॥

पुरुषका आत्मा (वास्तविक स्वरूप) अव्यक्त है और उसके कर्म शरीररूपमें व्यक्त हैं। अतः [illegible] अन्तकालमें अव्यक्तभावको प्राप्त हो [illegible] है। परंतु कामनाओंसे तद्रूप हुआ वह जीव उन बढ़ी हुई विषयप्रबल इन्द्रियोंसे युक्त होकर पुनः संसारमें आ जाता है अर्थात् पुनः शरीरको [illegible] कर लेता है ॥ २८ ॥

सर्वैरयं चेन्द्रियैः सम्प्रयुक्तो
देहं प्राप्तः पञ्चभूताश्रयः स्यात् ।
नासामर्थ्याद् गच्छति कर्मणेह
हीनस्तेन परमेणाव्ययेन ॥ २९ ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे संयुक्त होकर यह देहधारी जीव पञ्चभूतस्वरूप शरीरके आश्रित हो जाता है। ज्ञान और उपासना आदिकी शक्तिके बिना वह केवल कर्मोंद्वारा परमात्माको नहीं पाता। अतः वह उस अविनाशी परमेश्वरसे वञ्चित रह जाता है ॥ २९ ॥

पृथ्व्यां नरः पश्यति नान्तमस्या
ह्यन्तश्चास्या भविता चेति विद्धि ।
परं नयन्तीह विलोड्यमानं
यथा प्लवं वायुरिवार्णवस्थम् ॥ ३० ॥

इस भूतलपर रहनेवाला मनुष्य यद्यपि इस पृथ्वीका [illegible] नहीं देखता है तो भी कहीं-न-कहीं इसका अन्त अवश्य है, ऐसा समझो। जैसे समुद्रमें लहरोंद्वारा ऊपर-नीचे होते हुए जहाजको प्रवाहके अनुकूल बहती हुई [illegible] तटपर [illegible] देती है, उसी [illegible] संसारसमुद्रमें गोता लगाते [illegible] मनुष्यको अनुकूल वातावरण संसारसागरसे पार कर देता है ॥ ३० ॥

दिवाकरो गुणमुपलभ्य निर्गुणो
[illegible] भवेदपगतरश्मिमण्डलः ।
[illegible] ह्यसौ मुनिरिह निर्विशेषवान्
[illegible] निर्गुणं प्रविशति ब्रह्म चाव्ययम् ॥३१॥

सम्पूर्ण जगत्का प्रकाशक सूर्य प्रकाशरूपी गुणको पाकर भी अस्ताचलको जाते समय अपने किरणसमूहको समेटकर जैसे निर्गुण हो जाता है, उसी प्रकार भेदभावसे रहित हुआ मुनि यहाँ अविनाशी निर्गुण ब्रह्ममें प्रवेश कर जाता है ॥३१॥

अनागतं सुकृतवतां परां गतिं
स्वयम्भुवं प्रभवनिधानमव्ययम् ।
सनातनं यदमृतमव्ययं ध्रुवं
निचाय्य तत् परममृतत्वमश्नुते ॥ ३२ ॥

जो कहींसे [illegible] हुआ नहीं है, नित्य विद्यमान है, पुण्यवानोंकी परमगति है, स्वयम्भू (अजन्मा) है, सबकी उत्पत्ति और प्रलयका स्थान है, अविनाशी एवं सनातन है, अमृत, अविकारी एवं [illegible] है, उस परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परममोक्षको प्राप्त [illegible] लेता है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मनु और बृहस्पतिका संवादरूप दो सौ [illegible] अध्याय पूरा हुआ ॥ २०६ ॥

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्णसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिका तथा उनकी महिमाका कथन

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ पुण्डरीकाक्षमच्युतम्।
कर्तारमकृतं विष्णुं भूतानां प्रभवाप्ययम्॥ १॥
नारायणं हृषीकेशं गोविन्दमपराजितम्।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छामि केशवम्॥ २॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतश्रेष्ठ! महाप्राज्ञ पितामह! कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले, सबके कर्ता, अकृत (नित्य सिद्ध), सर्वव्यापी तथा सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। ये कभी किसीसे पराजित नहीं होते। ये ही नारायण, हृषीकेश, गोविन्द और केशव—इन नामोंसे भी विख्यात हैं। मैं इनके स्वरूपका तात्त्विक विवेचन सुनना चाहता हूँ॥ १-२॥

भीष्म उवाच

श्रुतोऽयमर्थो रामस्य जामदग्न्यस्य जल्पतः।
नारदस्य च देवर्षेः कृष्णद्वैपायनस्य च॥ ३॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! मैंने इस विषयका विवेचन जमदग्निनन्दन परशुराम, देवर्षि नारद तथा श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासजीके मुँहसे सुना है॥ ३॥

असितो देवलस्तात वाल्मीकिश्च महातपाः।
मार्कण्डेयश्च गोविन्दे कथयन्त्यद्भुतं महत्॥ ४॥

तात! असित, देवल, महातपस्वी वाल्मीकि और महर्षि मार्कण्डेयजी भी इन भगवान् गोविन्दके विषयमें बड़ी अद्भुत बातें कहा करते हैं॥ ४॥

केशवो भरतश्रेष्ठ भगवानीश्वरः प्रभुः।
पुरुषः सर्वमित्येव श्रूयते बहुधा विभुः॥ ५॥

भरतश्रेष्ठ! भगवान् श्रीकृष्ण सबके ईश्वर और प्रभु हैं। श्रुतिमें 'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्'* इत्यादि वचनोंद्वारा इन्हीं सर्वव्यापी श्रीकृष्णकी महिमाका नाना प्रकारसे निरूपण किया गया है।

किं तु यानि विदुर्लोके ब्राह्मणाः शार्ङ्गधन्वनि।
माहात्म्यानि महाबाहो शृणु तानि युधिष्ठिर॥ ६॥

महाबाहु युधिष्ठिर! जगत्‌में ब्राह्मणोंने शार्ङ्गधनुष [illegible] करनेवाले श्रीकृष्णके जिन माहात्म्योंको जानते हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो॥ ६॥

यानि चाहुर्मनुष्येन्द्र ये पुराणविदो जनाः।
कर्माणि त्विह गोविन्दे कीर्तयिष्यामि तान्यहम्॥ ७॥

नरेन्द्र! पुराणवेत्ता पुरुष गोविन्दकी जिन-जिन लीलाओं तथा चरित्रोंका वर्णन करते हैं, उनका मैं यहाँ वर्णन करूँगा॥ ७॥

महाभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः।
वायुर्ज्योतिस्तथा चापः खं च गां चान्वकल्पयत्॥ ८॥

सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा महात्मा पुरुषोत्तमने आकाश, वायु, अग्नि, [illegible] और पृथ्वी—इन पाँच महाभूतोंकी रचना की है॥ ८॥

[illegible] सृष्ट्वा पृथिवीं चैव सर्वभूतेश्वरः प्रभुः।
अप्स्वेव भवनं चक्रे महात्मा पुरुषोत्तमः॥ ९॥

सर्वभूतेश्वर, प्रभु, महात्मा पुरुषोत्तमने इस पृथ्वीकी सृष्टि करके जलमें ही अपना निवासस्थान बनाया॥ ९॥

सर्वतेजोमयस्तस्मिञ्शयानः पुरुषोत्तमः।
सोऽग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत्॥ १०॥
आश्रयं सर्वभूतानां मनसेतीह शुश्रुम।

उसमें शयन करते हुए सर्वतेजोमय पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण-ने मनसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंके अग्रज तथा आश्रय संकर्षणको उत्पन्न किया, यह हमने सुना है॥ १०½॥

स धारयति भूतानि उभे भूतभविष्यती॥ ११॥
ततस्तस्मिन् महाबाहौ प्रादुर्भूते महात्मनि।
भास्करप्रतिमं दिव्यं नाभ्यां पद्ममजायत॥ १२॥

वे संकर्षण ही समस्त भूतोंको धारण करते [illegible] वे ही भूत और भविष्यके भी [illegible] हैं। उन महाबाहु महात्मा संकर्षणका प्रादुर्भाव होनेके पश्चात् श्रीहरिकी नाभिसे एक दिव्य कमल प्रकट हुआ, जो सूर्यके समान प्रकाश-[illegible] था॥ ११-१२॥

स तत्र भगवान् देवः पुष्करे भ्राजयन् दिशः।
[illegible] समभवत् [illegible] सर्वभूतपितामहः॥ १३॥

तात! उस कमलसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए [illegible] प्राणियोंके पितामह देवस्वरूप भगवान् [illegible] उत्पन्न हुए॥ १३॥

तस्मिन्नपि महाबाहौ प्रादुर्भूते महात्मनि।
तमसा पूर्वजो [illegible] मधुर्नाम महासुरः॥ १४॥

उन महाबाहु महात्मा ब्रह्माजीकी भी उत्पत्ति हो जानेपर वहाँ तमोगुणसे मधुनामक महान् असुर प्रकट हुआ, जो असुरोंका पूर्वज था॥ १४॥

तमुग्रमुग्रकर्माणमुग्रं कर्म समास्थितम्।
ब्रह्मणोऽपचितिं कुर्वन् जघान पुरुषोत्तमः॥ १५॥

उसका स्वभाव बड़ा ही उग्र था। वह [illegible] ही भयानक कर्म करनेवाला था। भयंकर कर्म करनेका निश्चय लेकर आये हुए उस असुरको पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीका हित करनेके लिये [illegible] डाला॥ १५॥

तस्य तात वधात् सर्वे देवदानवमानवाः।
मधुसूदनमित्याहुर्ऋषभं सर्वसात्वताम्॥ १६॥

[illegible]! [illegible] मधुका वध करनेके कारण ही सम्पूर्ण देवता, दानव और मानव—इन सर्वसात्वतशिरोमणि श्रीकृष्णको मधुसूदन कहते हैं॥ १६॥

* पुरुष (श्रीकृष्ण) ही यह सब कुछ है।

ब्रह्मानुससृजे पुत्रान् मानसान् दक्षसप्तमान्।
मरीचिमत्र्यङ्गिरसं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ॥ १७ ॥

ब्रह्माजीने सात मानस पुत्रोंको उत्पन्न किया, जिनमें दक्ष प्रजापति सातवें थे (ये ही सबसे प्रथम उत्पन्न हुए थे)। शेष छः पुत्रोंके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु ॥ १७ ॥

मरीचिः कश्यपं तात पुत्रमग्रजमग्रजः।
मानसं जनयामास तैजसं ब्रह्मवित्तमम् ॥ १८ ॥

तात! इन सात पुत्रोंमें सबसे बड़े थे मरीचि। उन्होंने अपने मनसे ही ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ कश्यप नामक श्रेष्ठ पुत्रको जन्म दिया, जो बड़े ही तेजस्वी हैं ॥ १८॥

अङ्गुष्ठात् ससृजे ब्रह्मा मरीचेरपि पूर्वजम्।
सोऽभवद् भरतश्रेष्ठ दक्षो नाम प्रजापतिः ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! ब्रह्माजीने दक्षको अपने अँगूठेसे उत्पन्न किया था । वे मरीचिसे भी बड़े थे। इसीलिये प्रजापतिके पदपर दक्ष प्रतिष्ठित हुए ॥ १९ ॥

तस्य पूर्वमजायन्त दश तिस्रश्च भारत।
प्रजापतेर्दुहितरस्तासां ज्येष्ठाभवद् दितिः ॥ २० ॥

भरतनन्दन! प्रजापति दक्षके पहले तेरह कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जिनमें दिति सबसे बड़ी थी ॥ २० ॥

सर्वधर्मविशेषज्ञः पुण्यकीर्तिर्महायशाः।
मारीचः कश्यपस्तात सर्वासामभवत् पतिः ॥ २१ ॥

तात! सम्पूर्ण धर्मोंके विशेषज्ञ, पुण्यकीर्ति, महायशस्वी मरीचिनन्दन कश्यप उन सब कन्याओंके पति हुए ॥ २१ ॥

उत्पाद्य तु महाभागस्तासामवरजा दश।
ददौ धर्माय धर्मज्ञो दक्ष एव प्रजापतिः ॥ २२ ॥

तदनन्तर धर्मके ज्ञाता महाभाग प्रजापति दक्षने दस कन्याएँ और उत्पन्न कीं, जो पूर्वोक्त तेरह कन्याओंसे छोटी थीं। उन सबका विवाह उन्होंने धर्मके साथ कर दिया ॥

धर्मस्य वसवः पुत्रा रुद्राश्चामिततेजसः।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च मरुत्वन्तश्च भारत ॥ २३ ॥

भरतनन्दन! धर्मके वसु, अमित तेजस्वी रुद्र, विश्वेदेव, साध्य तथा मरुद्गण—ये बहुत-से पुत्र हुए ॥ २३ ॥

अपराश्च यवीयस्यस्ताभ्योऽन्याः सप्तविंशतिः।
सोमस्तासां महाभागः सर्वासामभवत् पतिः ॥ २४ ॥
इतरास्तु व्यजायन्त गन्धर्वांस्तुरगान् द्विजान्।
गाश्च किंपुरुषान्मत्स्यानुद्भिज्जांश्च वनस्पतीन् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् दक्षके अन्य सत्ताईस कन्याएँ हुईं, जो पूर्वोक्त कन्याओंसे छोटी थीं। महाभाग सोम उन सबके पति हुए। इन सबके अतिरिक्त भी दक्षके बहुत-सी कन्याएँ हुईं, जिन्होंने गन्धर्वों, अश्वों, पक्षियों, गौओं, किम्पुरुषों, मत्स्यों, उद्भिज्जों और वनस्पतियोंको जन्म दिया ॥ २४-२५ ॥

आदित्यानदितिर्जज्ञे देवश्रेष्ठान् महाबलान्।
तेषां विष्णुर्वामनोऽभूद् गोविन्दश्चाभवत् प्रभुः ॥ २६ ॥

अदितिने देवताओंमें श्रेष्ठ महाबली आदित्योंको उत्पन्न किया। उन आदित्योंमें सर्वव्यापी भगवान् गोविन्द भी वामनरूपसे प्रकट हुए ॥ २६ ॥

तस्य विक्रमणाच्चापि देवानां श्रीर्व्यवर्धत।
दानवाश्च पराभूता दैतेयी चासुरी प्रजा ॥ २७ ॥

उनके विक्रमसे अर्थात् विराट्रूप धारणकर तीन पैडमें त्रिलोकीको नाप लेनेके कारण देवताओंकी श्रीवृद्धि हुई। दानव पराजित हुए तथा दैत्यों और असुरोंकी प्रजा भी पराभवको प्राप्त हुई ॥ २७ ॥

विप्रचित्तिप्रधानांश्च दानवानसृजद् दनुः।
दितिस्तु सर्वानसुरान् महासत्त्वानजीजनत् ॥ २८ ॥

दनुने दानवोंको जन्म दिया, जिनमें विप्रचित्ति आदि दानव प्रमुख थे। दिति सम्पूर्ण असुरों—महान् शक्तिशाली दैत्योंकी जननी हुई ॥ २८ ॥

अहोरात्रं च कालं च यथर्तु मधुसूदनः।
पूर्वाह्नं चापराह्नं च सर्वमेवान्वकल्पयत् ॥ २९ ॥

इन्हीं श्रीमधुसूदनने दिन-रात, ऋतुके अनुसार काल, पूर्वाह्न तथा अपराह्न आदि समस्त कालविभागकी कल्पना की ॥ २९ ॥

बुद्ध्वा सोऽसृजन्मेघांस्तथा स्थावरजङ्गमान्।
पृथिवीं सोऽसृजद् विश्वां सहितां भूरितेजसा ॥ ३० ॥

उन्होंने ही अपने मनके संकल्पसे मेघों, स्थावर-जङ्गम प्राणियों तथा समस्त पदार्थोंसहित महान् तेजसे संयुक्त समूची पृथ्वीकी सृष्टि की ॥ ३० ॥

ततः कृष्णो महाभागः पुनरेव युधिष्ठिर।
ब्राह्मणानां शतं श्रेष्ठं मुखादेवासृजत् प्रभुः ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर महाभाग श्रीकृष्णने पुनः सैकड़ों श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको मुखसे ही उत्पन्न किया ॥ ३१ ॥

बाहुभ्यां क्षत्रियशतं वैश्यानामूरुतः शतम्।
पद्भ्यां शूद्रशतं चैव केशवो भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ! इन केशवने सैकड़ों क्षत्रियोंको अपनी दोनों भुजाओंसे, सैकड़ों वैश्योंको अपनी जाँघोंसे तथा सैकड़ों शूद्रोंको दोनों पैरोंसे उत्पन्न किया ॥ ३२ ॥

स एवं चतुरो वर्णान् समुत्पाद्य महातपाः।
अध्यक्षं सर्वभूतानां धातारमकरोत् स्वयम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार इन महातपस्वी श्रीहरिने चारों वर्णोंको उत्पन्न करके स्वयं ही धाताको सम्पूर्ण भूतोंका अध्यक्ष बनाया ॥ ३३॥

वेदविद्याविधातारं ब्रह्माणममितद्युतिम्।
भूतमातृगणाध्यक्षं विरूपाक्षं च सोऽसृजत् ॥ ३४ ॥

वे ही वेदविद्याको धारण करनेवाले अमित तेजस्वी ब्रह्मा हुए। फिर श्रीहरिने भूतों और मातृगणोंके अध्यक्ष विरूपाक्ष (रुद्र) की रचना की ॥ ३४ ॥

शासितारं च पापानां पितृणां समवर्तिनम्।
असृजत् सर्वभूतात्मा निधिपं च धनेश्वरम् ॥ ३५ ॥

सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा श्रीहरिने पापियोंको दण्ड देनेवाले तथा पितरोंके समवर्ती यमराजको और सम्पूर्ण निधियोंके [illegible] धनाध्यक्ष कुबेरको उत्पन्न किया ॥ ३५ ॥

यादसामसृजन्नाथं वरुणं च जलेश्वरम् ।
वासवं सर्वदेवानामध्यक्षमकरोत् प्रभुः ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार उन्होंने [illegible] जन्तुओंके स्वामी जलेश्वर वरुणकी सृष्टि की । उन्हीं भगवान्‌ने इन्द्रको सम्पूर्ण देवताओंका [illegible] बनाया ॥ ३६ ॥

यावद्यावदभूच्छ्रद्धा देहं धारयितुं नृणाम् ।
तावत् तावदजीवंस्ते नासीद् यमकृतं भयम् ॥ ३७ ॥

पहले मनुष्योंको जितने दिनोंतक शरीर धारण करनेकी इच्छा होती, उतने दिनोंतक वे जीवित रहते थे । उन्हें यमराजका कोई भय नहीं होता था ॥ ३७ ॥

न चैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ ।
संकल्पादेव चैतेषामपत्यमुपपद्यते ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पहलेके लोगोंमें मैथुनधर्मकी प्रवृत्ति नहीं हुई थी । इन सबको संकल्पसे ही संतान पैदा होती थी ॥ ३८ ॥

ततस्त्रेतायुगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजा ।
न ह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप ॥ ३९ ॥

तदनन्तर त्रेतायुगका समय आनेपर स्पर्श करनेमात्रसे संतानकी उत्पत्ति होने लगी । नरेश्वर! उस समयके लोगोंमें भी मैथुन-धर्मका प्रचार नहीं हुआ था ॥ ३९ ॥

द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप ।
तथा कलियुगे राजन् द्वन्द्वमापेदिरे [illegible] ॥ ४० ॥

नरेश्वर ! द्वापरयुगमें प्रजाके मनमें मैथुनधर्मका सूत्रपात हुआ । राजन् ! उसी तरह कलियुगमें भी लोग मैथुनधर्मको [illegible] होने लगे ॥ ४० ॥

एष भूतपतिस्तात स्वध्यक्षश्च तथोच्यते ।
निरपेक्षांश्च कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तच्छृणु ॥ ४१ ॥

तात कुन्तीनन्दन ! ये भगवान् श्रीकृष्ण ही भूतनाथ एवं सबके अध्यक्ष कहे जाते हैं । अब जो नरकका दर्शन करनेवाले हैं, उनका वर्णन [illegible] हूँ, सुनो ॥ ४१ ॥

दक्षिणापथजन्मानः सर्वे नरवरान्ध्रकाः ।
गुहाः पुलिन्दाः शबराश्चूचुका मद्रकैः सह ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! दक्षिण भारतमें जन्म लेनेवाले सभी आन्ध्र, गुह, पुलिन्द, शबर, चूचुक और मद्रक—ये सब-के-सब म्लेच्छ हैं ॥ ४२ ॥

उत्तरापथजन्मानः कीर्तयिष्यामि तानपि ।
यौनकाम्बोजगान्धाराः किराता बर्बरैः सह ॥ ४३ ॥
एते पापकृतस्तात चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।

[illegible] ! अब उत्तर भारतमें जन्म लेनेवाले म्लेच्छोंका वर्णन करूँगा; यौन, काम्बोज, गान्धार, किरात और बर्बर—ये सब-के-सब पापाचारी होकर [illegible] सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ ४३½ ॥

श्वपाकबलगृध्राणां सधर्माणो नराधिप ॥ ४४ ॥
नैते कृतयुगे [illegible] चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।

नरेश्वर ! ये सब-के-सब चाण्डाल, कौए और गीधोंके समान आचार-विचारवाले हैं । ये सत्ययुगमें इस पृथ्वीपर नहीं विचरण करते हैं ॥ ४४½ ॥

त्रेताप्रभृति वर्धन्ते ते जना भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
ततस्तस्मिन् महाघोरे संध्याकाल उपस्थिते ।
राजानः समसज्जन्त समासाद्येतरेतरम् ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! त्रेतासे वे लोग बढने लगे थे । तदनन्तर त्रेता और द्वापरका महाघोर सन्ध्याकाल उपस्थित होनेपर राजा लोग एक दूसरेसे टक्कर लेकर युद्धमें आसक्त हुए ४५-४६

एवमेष कुरुश्रेष्ठ प्रादुर्भूतो महात्मना ।

कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्णने इस लोकको उत्पन्न किया है ॥ ४६½ ॥

(तपःस्वरूपो महादेवः कृष्णो देवकिनन्दनः ।
[illegible] प्रसादाद् दुःखस्य नाशं प्राप्स्यसि मानद ॥
एकः कर्ता स कृष्णश्च ज्ञानिनां परमा गतिः ।

सबको मान देनेवाले नरेश ! महान् देवता भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्ण तपस्यारूप ही हैं । उन्हींकी कृपासे तुम्हारे सारे दुःखोंका नाश हो जायगा । एकमात्र जगत्स्रष्टा श्रीकृष्ण ज्ञानियोंकी परमगति हैं ॥

इदमाश्रित्य देवेन्द्रो देवा रुद्रास्तथाश्विनौ ॥
स्वे स्वे पदे विविधिरे भुक्तिमुक्तिविदो जनाः ॥

तपस्यारूप इन श्रीकृष्णका आश्रय लेकर देवराज इन्द्र अन्यान्य देवता, रुद्रगण, दोनों अश्विनीकुमार तथा भोग और मोक्षके तत्त्वको जाननेवाले महर्षि अपने-अपने पदपर प्रतिष्ठित रहते हैं ॥

श्रूयतामस्य सद्भावः सम्यग्ज्ञानं यथा [illegible] ।
भूतानामन्तरात्मासौ स नित्यपदसंवृतः ॥

वे सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं तथा नित्य वैकुण्ठधाममें अपनी योगमायासे आवृत होकर निवास करते हैं । उनकी सत्ता और महत्ताको तुम श्रवण करो, जिससे तुम्हें श्रीकृष्णतत्त्वका ज्ञान हो जाय ॥

पुरा देवऋषिः श्रीमान् नारदः परमार्थवान् ।
चचार पृथिवीं कृत्स्नां तीर्थान्यनुचरन् प्रभुः ॥

पहलेकी बात है परमार्थमें सम्पन्न देवर्षि श्रीनारदजी भूमण्डलके सम्पूर्ण तीर्थोंमें विचरण करते हुए घूम रहे थे ॥

हिमवत्पादमाश्रित्य विचार्य च पुनः पुनः ।
स ददर्श [illegible] तत्र पद्मोत्पलसमाकुलम् ॥

वे हिमालयके समीपवर्ती पर्वतपर बारंबार विचरण करके एक ऐसे स्थानपर गये, जहाँ उन्हें कमल और उत्पलसे भरा हुआ एक सरोवर दिखायी दिया ॥

ततः स्नात्वा महातेजा वाग्यतो नियतेन्द्रियः ।
तुष्टाव पुरुषव्याघ्रो जिज्ञासुश्च तदद्भुतम् ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी पुरुषप्रवर नारदने उस सरोवरमें मौनभावसे स्नान करके इन्द्रियोंको संयममें रखकर उस भगवान्‌-

के स्वरूपका अद्भुत रहस्य जाननेके लिये भगवान्‌की स्तुति की ॥

ततो वर्षशते पूर्णे भगवाँल्लोकभावनः ।
प्रादुश्चकार विश्वात्मा ऋषेः परमसौहृदात् ॥

तदनन्तर सौ वर्ष पूर्ण होनेपर लोकस्रष्टा विश्वात्मा भगवान् श्रीहरि ऋषिके प्रति परम सौहार्दवश उनके सामने [illegible] हुए ॥

तमागतं जगन्नाथं सर्वकारणकारणम् ।
अखिलामरमौल्यङ्करुक्मारुणपदद्वयम् ॥
वैनतेयपदस्पर्शाकिणशोभितजानुकम् ।
पीताम्बरलसत्काञ्चीदामबद्धकटीतटम् ॥
श्रीवत्सवक्षसं चारुमणिकौस्तुभकन्धरम् ।
मन्दस्मितमुखाम्भोजं चलदायतलोचनम् ॥
नम्रचापानुकरणलसद्भ्रूयुगशोभितम् ।
नानारत्नमणिवज्रस्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥
इन्द्रनीलनिभाभं तं केयूरमुकुटोज्ज्वलम् ।
देवैरिन्द्रपुरोगैश्च ऋषिसङ्घैरभिष्टुतम् ॥
नारदो जयशब्देन ववन्दे शिरसा हरिम् ।

नारदजीने देखा, समस्त कारणोंके भी कारण भगवान् जगन्नाथ पधारे हैं । उनके युगल चरणारविन्द सम्पूर्ण देवताओंके सुवर्णमय मुकुटोंके कुङ्कुमसे रक्तवर्ण हो रहे हैं । गरुड़जीके ऊपर सवारी करनेसे उनके दोनो घुटनोंमें रगड़ पड़नेके कारण चिह्न बन गये हैं; जो उन घुटनोंकी शोभा बढ़ा रहे हैं । उनके श्यामसुन्दर अङ्गपर पीताम्बर शोभा पा रहा है और कटिप्रदेशमें किङ्किणीकी लड़ें बँधी हुई हैं । वक्षःस्थलमें श्रीवत्सकी सुनहरी रेखा शोभा पाती है । गलेमें मनोहर कौस्तुभमणि अपना प्रकाश बिखेर रही है । मुखारविन्दपर मन्द-मन्द मुसकानकी मनोहर छटा [illegible] रही है । विशाल नेत्र चञ्चल गतिसे इधर उधर देख रहे हैं । झुके हुए दो धनुषोंकी भाँति बाँकी भौंहें उनके मुखमण्डलकी शोभा बढ़ा रही हैं । नाना प्रकारके रत्न, मणि और हीरोंसे जटित मकराकार कुण्डल जगमगा रहे हैं । उनकी अङ्गकान्ति इन्द्रनीलमणिके समान श्याम है । बाँहोंमें केयूर तथा मस्तकपर मुकुटकी उज्ज्वल आभा छिटक रही है एवं इन्द्र आदि देवता और महर्षियोंके समुदाय उनकी स्तुति करते हैं । भगवान्‌की यह झाँकी देखकर जय-जयकार करते हुए नारदजीने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया ॥

ततः स भगवाञ्छ्रीमान् मेघगम्भीरया गिरा ।
प्राहेशः सर्वभूतानां नारदं पतितं क्षितौ ॥

तदनन्तर नारदजीको पृथ्वीपर पड़ा देख सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी श्रीमान् भगवान् नारायणने मेघके समान गम्भीर वाणीमें [illegible] ॥

श्रीभगवानुवाच

भद्रमस्तु ऋषे तुभ्यं वरं वरय सुव्रत ।
यत्ते मनसि सुव्यक्तमस्ति च प्रददामि तत् ॥

श्रीभगवान् बोले—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले देवर्षे ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम कोई वर माँगो । तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हुई हो, उसे [illegible] बताओ । मैं उसे पूर्ण करूँगा ॥

भीष्म उवाच

[illegible] चेमं जयशब्देन प्रसीदेत्यातुरो मुनिः ।
प्रोवाच हृदि संरूढं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
विवक्षितं जगन्नाथ [illegible] ज्ञातं त्वयाच्युत ।
तत् प्रसीद हृषीकेश श्रोतुमिच्छामि तद्धरे ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! प्रेमसे आतुर हुए मुनिवर नारदने जय-जयकार करते हुए अपने हृदयमें नित्य विराज[illegible] रहनेवाले शङ्ख, चक्र और गदाधारी भगवान्‌से कहा—'प्रभो ! प्रसन्न होइये । जगन्नाथ ! अच्युत ! हृषीकेश ! हरे ! मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, वह आपको पहलेसे ही ज्ञात है । मैं उसीको सुनना चाहता हूँ । आप मुझपर कृपा करें' ॥

[illegible] स्मयन् महाविष्णुरभ्यभाषत नारदम् ।
निर्द्वन्द्वा निरहङ्काराः शुचयः शुद्धलोचनाः ॥
ते मां पश्यन्ति सततं तान् पृच्छ यदिहेच्छसि ।

[illegible] मुसकराते हुए भगवान् महाविष्णुने नारदजीसे कहा—'जो लोग शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित, अहंकारशून्य, पवित्र [illegible] निर्दोष दृष्टिवाले महात्मा हैं, वे निरन्तर मेरे उस स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं; अतः तुम यहाँ जो कुछ चाहते हो, उसके विषयमें उन्हीं महात्माओंके पास जाकर प्रश्न करो ॥

ये योगिनो महाप्राज्ञा मदंशा ये व्यवस्थिताः ।
तेषां प्रसादं देवर्षे मत्प्रसादमवेहि तत् ॥

'देवर्षे ! जो लोग योगी और महाज्ञानी हैं तथा जो मेरे अंशरूपसे स्थित हैं, उनके प्रसादको तुम मेरा ही कृपाप्रसाद समझो' ॥

इत्युक्त्वा स जगामाथ भगवान् भूतभावनः ।
तस्माद् [illegible] हृषीकेशं कृष्णं देवकिनन्दनम् ॥

ऐसा कहकर भूतभावन भगवान् विष्णु वहाँसे चले गये; [illegible] युधिष्ठिर ! तुम भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी शरणमें जाओ ॥

एतमाराध्य गोविन्दं गता मुक्तिं महर्षयः ।
एष कर्ता विकर्ता च सर्वकारणकारणम् ॥

इन भगवान् गोविन्दकी आराधना करके कितने ही महर्षि मुक्तिको प्राप्त हो गये हैं । ये ही जगत्‌के सृष्टिकर्ता, संहारकर्ता और समस्त कारणोंके भी कारण हैं ॥

मयाप्येतच्छ्रुतं राजन् नारदात्तु निबोध तत् ।
स्वयमेव समाचष्ट नारदो भगवान् मुनिः ॥

राजन् ! मैंने भी यह बात नारदजीसे ही सुनी है । तुम भी उनके मुखसे सुन सकते हो । भगवान् नारदमुनिने स्वयं ही यह [illegible] मुझसे कही थी ॥

समस्तसंसारविघातकारणं
भजन्ति ये विष्णुमनन्यमानसाः ।
ते यान्ति सायुज्यमतीव दुर्लभं
इतीव नित्यं हृदि वर्णयन्ति ॥)

जो समस्त संसार-बन्धनकी निवृत्तिके कारणभूत भगवान् विष्णुकी अनन्य चित्तसे आराधना करते हैं, वे अत्यन्त दुर्लभ सायुज्य मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । यह बात सदा मेरे हृदयमें बनी रहती है तथा ऋषिलोग भी इसका वर्णन करते हैं ॥

देवं देवर्षिराचष्ट नारदः सर्वलोकदृक् ॥ ४७ ॥

सम्पूर्ण जगत्को देखनेवाले देवर्षि नारदने भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका प्रतिपादन किया था ॥ ४७ ॥

नारदोऽप्यथ कृष्णस्य परं मेने नराधिप ।
शाश्वतत्वं महाबाहो यथावद् भरतर्षभ ॥ ४८ ॥

महाबाहु भरतश्रेष्ठ नरेश्वर ! नारदजीने श्रीकृष्णके [illegible] सनातन परमात्मभावको यथावत्‌रूपसे जाना और माना है ॥

एवमेष महाबाहुः केशवः सत्यविक्रमः ।
अचिन्त्यः पुण्डरीकाक्षो नैष केवलमानुषः ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार ये सत्यपराक्रमी कमलनयन महाबाहु केशव अचिन्त्य परमेश्वर हैं । इन्हें केवल मनुष्य नहीं मानना चाहिये ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सर्वभूतोत्पत्तिकथने सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिविषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०७ ॥

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्माके पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियोंके वंशका [illegible] प्रत्येक दिशामें निवास करनेवाले महर्षियोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

[illegible] पूर्वमासन् पतयः प्रजानां भरतर्षभ ।
[illegible] ऋषयो महाभागा दिक्षु प्रत्येकशः स्मृताः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें कौन-कौन-से लोग प्रजापति थे और प्रत्येक दिशामें किन-किन महाभाग महर्षियोंकी स्थिति मानी गयी है ॥ [illegible] ॥

भीष्म उवाच

श्रूयतां भरतश्रेष्ठ यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
प्रजानां पतयो येऽस्मिन् दिक्षु ये चर्षयः स्मृताः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! इस जगत्में जो प्रजापति रहे हैं तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें जिन-जिन ऋषियोंकी स्थिति मानी गयी है, उन सबको जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछते हो; [illegible] बताता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

एकः स्वयम्भूर्भगवानाद्यो ब्रह्मा सनातनः ।
ब्रह्मणः सप्त वै पुत्रा महात्मानः स्वयम्भुवः ॥ ३ ॥

एकमात्र सनातन भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा सबके आदि हैं। स्वयम्भू ब्रह्माके [illegible] महात्मा पुत्र बताये गये हैं ॥ ३ ॥

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठश्च महाभागः सदृशो वै स्वयम्भुवा ॥ [illegible] ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा महाभाग वसिष्ठ । ये सभी स्वयम्भू ब्रह्माके समान ही शक्तिशाली हैं ॥ ४ ॥

सप्तब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सर्वानेव प्रजापतीन् ॥ ५ ॥

पुराणमें ये सात ब्रह्मा निश्चित किये गये [illegible] । [illegible] मैं [illegible] प्रजापतियोंका वर्णन आरम्भ करता हूँ ॥ ५ ॥

अत्रिवंशसमुत्पन्नो ब्रह्मयोनिः सनातनः ।
प्राचीनबर्हिर्भगवांस्तस्मात् प्राचेतसो दश ॥ ६ ॥

अत्रिकुलमें उत्पन्न जो [illegible] ब्रह्मयोनि भगवान् प्राचीनबर्हि हैं, उनसे प्राचेतस नामवाले दस प्रजापति [illegible] हुए ॥

दशानां तनयस्त्वेको दक्षो नाम प्रजापतिः ।
[illegible] नामनी लोके दक्षः क इति चोच्यते ॥ ७ ॥

उन दसोंके एकमात्र पुत्र दक्ष नामसे प्रसिद्ध प्रजापति हैं । उनके दो नाम बताये जाते हैं—'दक्ष' और 'क' ॥ ७ ॥

मरीचेः कश्यपः पुत्र[illegible] द्वे नामनी स्मृते ।
अरिष्टनेमिरित्येके कश्यपेत्यपरे विदुः ॥ ८ ॥

मरीचिके पुत्र जो कश्यप हैं, उनके भी दो नाम माने गये हैं । कुछ लोग उन्हें अरिष्टनेमि कहते हैं और दूसरे लोग उन्हें कश्यपके नामसे जानते हैं ॥ ८ ॥

अत्रेश्चैवौरसः श्रीमान् राजा सोमश्च वीर्यवान् ।
सहस्रं यश्च दिव्यानां युगानां पर्युपासिता ॥ ९ ॥

अत्रिके औरस पुत्र श्रीमान् और बलवान् राजा सोम हुए, जिन्होंने [illegible] दिव्य युगोंतक भगवान्‌की उपासना की थी ॥

अर्यमा चैव भगवान् ये चास्य तनया विभो ।
एते प्रदेशाः कथिता भुवनानां प्रभावनाः ॥ १० ॥

प्रभो ! भगवान् अर्यमा और उनके सभी पुत्र—ये प्रदेश (आदेश देनेवाले शासक) तथा प्रभावन (उत्तम स्रष्टा) कहे गये हैं ॥ १० ॥

शशबिन्दोश्च भार्याणां सहस्राणि दशाच्युत ।
एकैकस्यां सहस्रं तु तनयानामभूत् तदा ॥ ११ ॥

एवं शतसहस्राणां शतं तस्य महात्मनः।
पुत्राणां च न ते कंचिदिच्छन्त्यन्यं प्रजापतिम्॥ १२॥

धर्मसे विचलित न होनेवाले युधिष्ठिर! शशबिन्दुके दस हजार स्त्रियाँ थीं। उनमेंसे प्रत्येकके गर्भसे एक-एक हजार पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार उन महात्माके एक करोड़ पुत्र थे। वे उनके सिवा किसी दूसरे प्रजापतिकी इच्छा नहीं करते थे॥ ११-१२॥

प्रजामाचक्षते विप्राः पुराणाः शाशबिन्दवीम्।
स वृष्णिवंशप्रभवो महावंशः प्रजापतेः॥ १३॥

प्राचीनकालके ब्राह्मण अधिकांश प्रजाकी उत्पत्ति शशबिन्दुसे ही बताते हैं। प्रजापतिका वह महान् वंश ही वृष्णिवंशका उत्पादक हुआ॥ १३॥

एते प्रजानां पतयः समुद्दिष्टा यशस्विनः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि देवांस्त्रिभुवनेश्वरान्॥ १४॥

युधिष्ठिर! ये सब यशस्वी प्रजापति बताये गये हैं। अब मैं तीनों लोकोंपर शासन करनेवाले देवताओंका परिचय दूँगा॥

भगोंऽशश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महाबलः॥ १५॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते।
इत्येते द्वादशादित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः॥ १६॥

भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, महाबली विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और बारहवें विष्णु कहे गये हैं। ये बारह आदित्य हैं, जो कश्यप और अदितिके पुत्र हैं॥ १५-१६॥

नासत्यश्चैव दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि।
मार्तण्डस्यात्मजावेतावष्टमस्य महात्मनः॥ १७॥

नासत्य और दस्र—ये दोनों अश्विनीकुमार बताये गये हैं। ये दोनों अष्टम आदित्य महात्मा सूर्यके पुत्र हैं॥ १७॥

ते च पूर्वं सुराश्चेति द्विविधाः पितरः स्मृताः।
त्वष्टुश्चैवात्मजः श्रीमान् विश्वरूपो महायशाः॥ १८॥

ये तथा पूर्वोक्त देवता—दो प्रकारके पितर माने गये हैं। त्वष्टाके पुत्र महायशस्वी श्रीमान् विश्वरूप हुए॥ १८॥

अजैकपादहिर्बुध्न्यो विरूपाक्षोऽथ रैवतः।
हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः॥ १९॥
सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः।
पूर्वमेव महाभागा वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः॥ २०॥

अजैकपाद्, अहिर्बुध्न्य, विरूपाक्ष, रैवत, हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, सुरेश्वर, सावित्र, जयन्त, पिनाकी और अपराजित—ये ग्यारह रुद्र हैं। महाभाग आठ वसुओंके नाम पहले ही बताये गये हैं॥ १९-२०॥

एत एवंविधा देवा मनोरेव प्रजापतेः।
ते च पूर्वं सुराश्चेति द्विविधाः पितरः स्मृताः॥ २१॥

इस प्रकार ये देवता प्रजापति मनुकी ही संतान हैं। वे और पूर्वोक्त देवता—ये दो प्रकारके पितर माने गये हैं॥२१॥

शीलयौवनतस्त्वन्यस्तथान्यः सिद्धसाध्ययोः।
ऋभवो मरुतश्चैव देवानां चोदितो गणः॥ २२॥

देवताओंमें एक वर्ग ऐसा है, जो सुन्दर शील-स्वभाव और अक्षय यौवनसे सम्पन्न है। दूसरा वर्ग सिद्धों और साध्यों-का है। ऋभु और मरुत्—ये देवताओंके समुदायोंके नाम हैं॥

एवमेते समाम्नाता विश्वेदेवास्तथाश्विनौ।
आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा॥ २३॥

इसी प्रकार ये विश्वेदेव और अश्विनीकुमार भी देवताओं-के गण माने गये हैं। इन देवताओंमें आदित्यगण क्षत्रिय और मरुद्गण वैश्य माने जाते हैं॥ २३॥

अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ।
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः॥ २४॥

उग्र तपस्यामें लगे हुए दोनों अश्विनीकुमारोंको शूद्र माना जाता है। अङ्गिरा गोत्रवाले सम्पूर्ण देवता ब्राह्मण माने गये हैं। यही विद्वानोंका निश्चय है॥ २४॥

इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्तितम्।
एतान् वै प्रातरुत्थाय देवान् यस्तु प्रकीर्तयेत्॥ २५॥
स्वजादन्यकृताच्चैव सर्वपापात् प्रमुच्यते।

इस प्रकार सम्पूर्ण देवताओंमें जो चार वर्ण हैं, उनका वर्णन किया गया। जो सबेरे उठकर इन देवताओंका कीर्तन करता है, वह स्वयं किये हुए तथा दूसरोंके संसर्गसे प्राप्त हुए सम्पूर्ण पापसमूहसे मुक्त हो जाता है॥ २५½॥

यवक्रीतोऽथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू॥ २६॥
औशिजश्चैव कक्षीवान् बलश्चाङ्गिरसः सुताः।

यवक्रीत, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, औशिज, कक्षीवान् और बल—ये अङ्गिराके पुत्र हैं॥ २६½॥

ऋषिर्मेधातिथेः पुत्रः कण्वो बर्हिषदस्तथा॥ २७॥
त्रैलोक्यभावनास्तात प्राच्यां सप्तर्षयस्तथा।

तात! मेधातिथिके पुत्र कण्वमुनि, बर्हिषद तथा त्रिलोकीको उत्पन्न करनेमें समर्थ सप्तर्षिगण है, जो पूर्व दिशामें स्थित होते हैं॥

उन्मुचो विमुचश्चैव स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान्॥ २८॥
प्रमुचश्चेध्मवाहश्च भगवांश्च दृढव्रतः।
मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान्॥ २९॥
एते ब्रह्मर्षयो नित्यमाश्रिता दक्षिणां दिशम्।

उन्मुच, विमुच, बलवान् स्वस्त्यात्रेय, प्रमुच, इध्मवाह, दृढतापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मित्रावरुणके प्रतापी पुत्र भगवान् अगस्त्य—ये ब्रह्मर्षि सदा दक्षिणदिशामें रहते हैं॥ २८-२९½॥

उषङ्गुः कवषो धौम्यः परिव्याधश्च वीर्यवान्॥ ३०॥
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः।
अत्रेः पुत्रश्च भगवांस्तथा सारस्वतः प्रभुः॥ ३१॥
एते चैव महात्मनः पश्चिमामाश्रिता दिशम्।

उषङ्गु, कवष, धौम्य, शक्तिशाली परिव्याध, एकत,

द्वित, त्रित तथा अत्रिके प्रभावशाली पुत्र भगवान् सारस्वत—ये महात्मा महर्षि पश्चिम दिशामें निवास करते हैं ॥ ३०-३१½ ॥

आत्रेयश्च वसिष्ठश्च कश्यपश्च महानृषिः ॥ ३२ ॥
गौतमोऽथ भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ।
तथैव पुत्रो भगवानृचीकस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
जमदग्निश्च सप्तैते उदीचीमाश्रिता दिशम् ।

आत्रेय, वसिष्ठ, महर्षि कश्यप, गौतम, भरद्वाज, कुशिकवंशी विश्वामित्र तथा महात्मा ऋचीकके पुत्र भगवान् जमदग्नि—ये सात उत्तर दिशामें रहते हैं ॥ ३२-३३½ ॥

एते प्रतिदिशं सर्वे कीर्तितास्तिग्मतेजसः ॥ ३४ ॥
साक्षिभूता महात्मानो भुवनानां प्रभावनाः ।
एवमेते महात्मानः स्थिताः प्रत्येकशो दिशम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार प्रत्येक दिशामें रहनेवाले सम्पूर्ण तेजस्वी महर्षियोंका वर्णन किया गया । ये महात्मा सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि करनेमें समर्थ एवं सबके साक्षी हैं । इनका हृदय बड़ा विशाल है । इस तरह ये प्रत्येक दिशामें निवास करते हैं ॥

एतेषां कीर्तनं कृत्वा सर्वपापात् प्रमुच्यते ।
यस्यां यस्यां दिशि ह्येते तां दिशं शरणं गतः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्वस्तिमांश्च गृहान् व्रजेत् ॥ ३६ ॥

इन सबका गुणगान करनेसे मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है । जिस-जिस दिशामें ये महर्षि रहते हैं, उस उस दिशामें जानेपर जो मनुष्य इनकी शरण लेता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता और कुशलपूर्वक अपने घरको पहुँच जाता है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दिशास्वस्तिकं नाम अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दिशास्वस्तिक नामक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०८ ॥

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

भगवान् विष्णुका वराहरूपमें प्रकट होकर देवताओंकी रक्षा और दानवोंका विनाश कर देना तथा नारदको अनुस्मृतिस्तोत्रका उपदेश और नारदद्वारा भगवान्‌की स्तुति

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ युधि सत्यपराक्रम ।
श्रोतुमिच्छामि कार्त्स्न्येन कृष्णमव्ययमीश्वरम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—युद्धमें सच्चा पराक्रम प्रकट करनेवाले महाप्राज्ञ पितामह ! भगवान् श्रीकृष्ण अविनाशी ईश्वर हैं; मैं पूर्णरूपसे इनके महत्त्वका वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

यच्चास्य तेजः सुमहद् यच्च कर्म पुरा कृतम् ।
तन्मे सर्वं यथातत्त्वं ब्रूहि त्वं पुरुषर्षभ ॥ २ ॥

पुरुषप्रवर ! इनका जो महान् तेज है, इन्होंने पूर्वकालमें जो महान् कर्म किया है, वह सब आप मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ २ ॥

तिर्यग्योनिगतं रूपं कथं धारितवान् प्रभुः ।
केन कार्यनिसर्गेण तमाख्याहि महाबल ॥ ३ ॥

महाबली पितामह ! सम्पूर्ण जगत्‌के प्रभु होकर भी इन्होंने किस निमित्तसे तिर्यग्योनिमें जन्म ग्रहण किया; यह मुझे बताइये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

पुराहं मृगयां यातो मार्कण्डेयाश्रमे स्थितः ।
तत्रापश्यं मुनिगणान् समासीनान् सहस्रशः ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! पहलेकी बात है, मैं शिकार खेलनेके लिये वनमें गया और मार्कण्डेय मुनिके आश्रमपर ठहरा । वहाँ मैंने सहस्रों मुनियोंको बैठे देखा ॥ ४ ॥

ततस्ते मधुपर्केण पूजां चक्रुरथो मयि ।
प्रतिगृह्य च तां पूजां प्रत्यनन्दमृषीनहम् ॥ ५ ॥

मेरे जानेपर उन महर्षियोंने मधुपर्क समर्पित करके मेरा आतिथ्य-सत्कार किया । मैंने भी उनका सत्कार ग्रहण करके उन सभी महर्षियोंका अभिनन्दन किया ॥ ५ ॥

कथैषा कथिता तत्र कश्यपेन महर्षिणा ।
मनःप्रह्लादिनी दिव्यां तामिहैकमनाः शृणु ॥ ६ ॥

फिर महर्षि कश्यपने मनको आनन्द प्रदान करनेवाली यह दिव्य कथा मुझे सुनायी । मैं उसे कहता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ६ ॥

पुरा दानवमुख्या हि क्रोधलोभसमन्विताः ।
बलेन मत्ताः शतशो नरकाद्या महासुराः ॥ ७ ॥

पूर्वकालमें नरकासुर आदि सैकड़ों मुख्य-मुख्य दानव क्रोध और लोभके वशीभूत हो बलके मदसे मतवाले हो गये थे ॥ ७ ॥

तथैव चान्ये बहवो दानवा युद्धदुर्मदाः ।
न सहन्ते स्म देवानां समृद्धिं तामनुत्तमाम् ॥ ८ ॥

इनके सिवा और भी बहुत-से रणदुर्मद दानव थे, जो देवताओंकी उत्तम समृद्धिको सहन नहीं कर पाते थे ॥ ८ ॥

दानवैरर्द्यमानास्तु देवा देवर्षयस्तथा ।
न शर्म लेभिरे राजन् विशमानास्ततस्ततः ॥ ९ ॥

राजन् ! उन दानवोंसे पीड़ित हो देवता और देवर्षि कहीं चैन नहीं पाते थे । वे इधर-उधर लुकते छिपते फिरते थे ॥ ९ ॥

पृथिवीमार्तरूपां ते समपश्यन् दिवौकसः ।
दानवैरभिसंस्तीर्णां घोररूपैर्महाबलैः ॥ १० ॥

समूचे भूमण्डलमें भयानक रूपधारी महाबली दानव

फैल गये थे । देवताओंने देखा, यह पृथ्वी दानवोंके पाप-भारसे पीड़ित एवं आर्त हो उठी है ॥ १० ॥

भारार्तामप्रहृष्टां च दुःखितां संनिमज्जतीम् ।
अथादितेयाः संत्रस्ता ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ॥ ११ ॥

यह भारसे व्याकुल, हर्ष और उल्लाससे शून्य तथा दुखी हो रसातलमें डूब रही है । यह देखकर अदितिके सभी पुत्र भयसे थर्रा उठे और ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—॥ ११॥

कथं शक्यामहे ब्रह्मन् दानवैरभिमर्दनम् ।
स्वयम्भूस्तानुवाचेदं निसृष्टोऽत्र विधिर्मया ॥ १२ ॥

'ब्रह्मन् ! दानवलोग जो हमें इस प्रकार रौंद रहे हैं, इसे हम किस प्रकार सह सकेंगे ?' तब स्वयम्भू ब्रह्माने उनसे इस प्रकार कहा—'देवताओ ! इस विपत्तिको दूर करनेके लिये मैंने उपाय कर दिया है ॥ १२ ॥

ते वरेणाभिसम्पन्ना बलेन च मदेन च ।
नावबुध्यन्ति सम्मूढा विष्णुमव्यक्तदर्शनम् ॥ १३ ॥
वराहरूपिणं देवमधृष्यममरैरपि ।

'वे दानव वर पाकर बल और अभिमानसे मत्त हो उठे हैं । वे मूढ दैत्य अव्यक्तस्वरूप भगवान् विष्णुको नहीं जानते, जो देवताओंके लिये भी दुर्धर्ष हैं । उन्होंने वाराह रूप धारण कर रखा है ॥ १३½ ॥

एष वेगेन गत्वा हि [illegible] ते दानवाधमाः ॥ १४ ॥
अन्तर्भूमिगता घोरा निवसन्ति सहस्रशः ।
शमयिष्यति तच्छ्रुत्वा जहृषुः सुरसत्तमाः ॥ १५ ॥

'वे सहस्रों घोर दैत्य और दानवाधम भूमिके भीतर पाताललोकमें निवास करते हैं, भगवान् वाराह वेगपूर्वक वहीं जाकर उन सबका विनाश कर देंगे ।' यह सुनकर सभी श्रेष्ठ देवता हर्षसे खिल उठे ॥ १४-१५ ॥

ततो विष्णुर्महातेजा वाराहं रूपमास्थितः ।
अन्तर्भूमिं सम्प्रविश्य जगाम दितिजान् प्रति ॥ १६ ॥

उधर महातेजस्वी भगवान् विष्णु वाराहरूप धारण [illegible] बड़े वेगसे भूमिके भीतर प्रविष्ट हुए और दैत्योंके पास [illegible] पहुँचे ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा च सहिताः सर्वे दैत्याः सत्त्वममानुषम् ।
प्रसह्य तरसा सर्वे संतस्थुः कालमोहिताः ॥ १७ ॥

उस अलौकिक जन्तुको देखकर सब दैत्य एक साथ हो वेगपूर्वक उसका सामना करनेके लिये हठात् खड़े हो गये; क्योंकि वे कालसे मोहित हो रहे थे ॥ १७ ॥

ततस्ते समभिद्रुत्य वराहं जगृहुः समम् ।
संक्रुद्धाश्च वराहं तं व्यकर्षन्त समन्ततः ॥ १८ ॥

उन सबने कुपित होकर भगवान् वाराहपर एक साथ धावा बोल दिया और उन्हें हाथोंहाथ पकड़ लिया । पकड़कर वे वाराहदेवको चारों ओरसे खींचने लगे ॥ १८ ॥

दानवेन्द्रा महाकाया महावीर्यबलोच्छ्रिताः ।
नाशक्नुवंश्च किंचित् ते तस्य कर्तुं तदा विभो ॥ १९ ॥

प्रभो ! यद्यपि वे विशालकाय दानवराज महान् बल और वीर्यसे सम्पन्न थे, तो भी उन भगवान्‌का कुछ बिगाड़ न सके ॥ १९ ॥

ततोऽगच्छन् विस्मयं ते दानवेन्द्रा भयं तथा ।
संशयं गतमात्मानं मेनिरे च सहस्रशः ॥ २० ॥

इससे उन दानवेन्द्रोंको बड़ा विस्मय और भय प्राप्त हुआ। वे सहस्रों दैत्य अपने आपको जीवनके संशयमें पड़ा हुआ मानने लगे ॥ २० ॥

ततो देवाधिदेवः स योगात्मा योगसारथिः ।
योगमास्थाय भगवांस्तदा भरतसत्तम ॥ २१ ॥
विननाद महानादं क्षोभयन् दैत्यदानवान् ।
संनादिता येन लोकाः सर्वाश्चैव दिशो दश ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसके बाद योगस्वरूप योगके नियन्ता देवाधिदेव भगवान् वाराह दैत्यों और दानवोंको क्षोभमें डालनेके लिये योगका आश्रय ले बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगे । उस भीषण गर्जनासे तीनों लोक और ये सारी दसों दिशाएँ गूँज उठीं ॥ २१-२२ ॥

तेन संनादशब्देन लोकानां क्षोभ आगमत् ।
संत्रस्ताश्च भृशं लोके देवाः शक्रपुरोगमाः ॥ २३ ॥

उस भीषण गर्जनासे समस्त लोकोंमें हलचल-मच गयी। स्वर्गलोकमें इन्द्र आदि देवता भी अत्यन्त भयभीत हो उठे ॥२३॥

निर्विचेष्टं जगच्चापि बभूवातिभृशं तदा ।
स्थावरं जङ्गमं चैव तेन नादेन मोहितम् ॥ २४ ॥

उस सिंहनादसे मोहित होकर समस्त चराचर जगत् अत्यन्त चेष्टारहित हो गया ॥ २४ ॥

ततस्ते दानवाः सर्वे तेन नादेन भीषिताः ।
पेतुर्गतासवश्चैव विष्णुतेजःप्रमोहिताः ॥ २५ ॥

तदनन्तर वे सब दानव भगवान्‌की उस गर्जनासे भयभीत हो प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े । वे सब क्रे-[illegible] भगवान् विष्णुके तेजसे मोहित हो अपनी सुध-बुध खो बैठे थे ॥ २५ ॥

रसातलगतांश्चापि वराहस्त्रिदशद्विषाम् ।
खुरैर्विदारयामास मांसमेदोऽस्थिसंचयान् ॥ २६ ॥

रसातलमें जाकर भी भगवान् वाराहने देवद्रोही असुरोंको अपने खुरोंसे विदीर्ण [illegible] दिया । उनके मांस, मेदा और हड्डियोंके ढेर लग गये थे ॥ २६ ॥

नादेन तेन महता सनातन इति स्मृतः ।
पद्मनाभो महायोगी भूताचार्यः स भूतराट् ॥ २७ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके आचार्य और स्वामी महायोगी वे भगवान् पद्मनाभ अपने महान् सिंहनादके कारण 'सनातन'[1] माने गये हैं ॥ २७ ॥

---

१. इस श्लोकमें वर्णित भावके अनुसार सनातन शब्दकी व्युत्पत्ति [illegible] प्रकार समझनी चाहिये—नादेन सहितः सनादनः । दकारके स्थाने

ततो देवगणाः सर्वे पितामहमुपाद्रवन्।
तत्र गत्वा महात्मानमूचुश्चैव जगत्पतिम्॥ २८॥
नादोऽयं कीदृशो देव नैतं विद्म वयं प्रभो।
कोऽसौ हि कस्य वा नादो येन विह्वलितं जगत्॥ २९॥
देवाश्च दानवाश्चैव मोहितास्तस्य तेजसा।

उनके उस सिंहनादको सुनकर सब देवता जगदीश्वर भगवान् ब्रह्माजीके पास गये। वहाँ पहुँचकर वे इस [illegible] बोले—'देव! प्रभो! यह कैसा सिंहनाद है? इसे हमलोग नहीं जानते। वह कौन वीर है? अथवा किसकी गर्जना है? जिसने इस जगत्को व्याकुल कर दिया है। देवता और दानव सभी उसके तेजसे मोहित हो रहे हैं' ॥ २८-२९½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुर्वाराहं रूपमास्थितः।
उदतिष्ठन्महाबाहो स्तूयमानो महर्षिभिः॥ ३०॥

महाबाहो! इसी बीचमें वाराहरूपधारी भगवान् विष्णु जलसे ऊपर उठे। उस समय महर्षिगण उनकी स्तुति कर रहे थे॥ ३०॥

पितामह उवाच

निहत्य दानवपतीन् महावर्ष्मा महाबलः।
एष देवो महायोगी भूतात्मा भूतभावनः॥ ३१॥

ब्रह्माजी बोले—देवताओ! ये महाकाय महाबली महायोगी भूतभावन भूतात्मा भगवान् विष्णु हैं, जो दानवराजोंका वध करके आ रहे हैं॥ ३१॥

सर्वभूतेश्वरो योगी मुनिरात्मा तथाऽऽत्मनः।
स्थिरीभवत कृष्णोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः॥ ३२॥

ये सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर, योगी, मुनि तथा आत्माके भी आत्मा हैं, ये ही [illegible] विघ्नोंका विनाश करनेवाले श्रीकृष्ण हैं; अतः तुमलोग धैर्य धारण करो॥ ३२॥

कृत्वा कर्मातिसाध्वेतदशक्यममितप्रभः।
समायातः स्वमात्मानं महाभागो महाद्युतिः॥ ३३॥

अनन्त प्रभासे परिपूर्ण, महातेजस्वी एवं महान् सौभाग्यके आश्रयभूत ये भगवान् अत्यन्त उत्तम और दूसरोंके लिये असम्भव कार्य करके आ रहे हैं॥ ३३॥

पद्मनाभो महायोगी महात्मा भूतभावनः।
न संतापो न भीः कार्या शोको वा सुरसत्तमाः॥ ३४॥

सुरश्रेष्ठगण! ये महायोगी भूतभावन महात्मा पद्मनाभ हैं; अतः तुम्हें अपने मनसे संताप, भय एवं शोकको दूर कर देना चाहिये॥ ३४॥

विधिरेष प्रभावश्च [illegible] संक्षयकारकः।
लोकान् धारयता तेन नादो मुक्तो महात्मना॥ ३५॥

ये ही विधि हैं, ये ही प्रभाव हैं और ये ही संहारकारी काल हैं, इन्हीं परमात्माने सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते हुए यह भीषण सिंहनाद किया है॥ ३५॥

स एष हि महाबाहुः सर्वलोकनमस्कृतः।
अच्युतः पुण्डरीकाक्षः सर्वभूतादिरीश्वरः॥ ३६॥

ये सम्पूर्ण भूतोंके आदि कारण, सर्वलोकवन्दित ईश्वर महाबाहु कमलनयन अच्युत हैं॥ ३६॥

(युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
प्रयाणकाले किं जप्यं मोक्षिभिस्तत्त्वचिन्तकैः॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण महाप्राज्ञ पितामह! मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले तत्त्व-चिन्तकोंको मृत्युकालमें किस मन्त्रका जप करना चाहिये॥

किमनुस्मरन् कुरुश्रेष्ठ मरणे पर्युपस्थिते।
प्राप्नुयात् परमां सिद्धिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥

कुरुश्रेष्ठ! मृत्युका समय उपस्थित होनेपर किसका चिन्तन करनेवाला पुरुष परम सिद्धिको [illegible] हो [illegible] है? यह [illegible] यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ॥

भीष्म उवाच

सयुक्तिसहितः [illegible] उक्तः प्रश्नस्त्वयानघ।
शृणुष्वावहितो [illegible] नारदेन पुरा श्रुतम्॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! निष्पाप नरेश! तुमने जो प्रश्न उपस्थित किया है, वह उत्तम युक्तियुक्त और सूक्ष्म है। उसे सावधान होकर सुनो। जो पूर्वकालमें मैंने नारदजीसे सुना था, वही मैं तुमसे कहता हूँ॥

श्रीवत्साङ्कं जगद्बीजमनन्तं लोकसाक्षिणम्।
पुरा नारायणं देवं नारदः परिपृष्टवान्॥

जिनका वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित है, जो इस जगत्के बीज (मूल कारण) हैं, जिनका कहीं अन्त नहीं है तथा जो इस जगत्के साक्षी हैं, उन्हीं भगवान् नारायणसे पूर्वकालमें नारदजीने इस प्रकार प्रश्न किया॥

नारद उवाच

त्वामक्षरं परं [illegible] निर्गुणं तमसः परम्।
आहुर्वेद्यं परं धाम ब्रह्मादिकमलोद्भवम्॥
भगवन् भूतभव्येश श्रद्दधानैर्जितेन्द्रियैः।
कथं भक्तैर्विचिन्त्योऽसि योगिभिर्मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

नारदजीने पूछा—भगवन्! महर्षिगण कहते हैं, आप अविनाशी (नित्य), परब्रह्म, निर्गुण, अज्ञानान्धकार एवं तमोगुणसे अतीत, विद्याके अधिपति, परम धामस्वरूप, ब्रह्मा तथा उनकी प्राकट्यभूमि—आदिकमलके उत्पत्ति स्थान हैं, भूत और भविष्यके स्वामी परमेश्वर! श्रद्धालु और जितेन्द्रिय भक्तों तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले योगियोंको आपके स्वरूपका किस प्रकार चिन्तन करना चाहिये?॥

तकारो छान्दसः। जो नादके साथ हो, वह 'सनादन' कहलाता है। सनादनके दकारके स्थानमें तकार हो जानेसे 'सनातन' [illegible] है।

भगवान् वराहकी ऋषियोंद्वारा स्तुति

किं च जप्यं जपेन्नित्यं कल्यमुत्थाय मानवः।
कथं युञ्जन् सदा ध्यायेद् ब्रूहि तत्त्वं सनातनम्॥

मनुष्य प्रतिदिन सबेरे उठकर किस जपनीय मन्त्रका जप करे और योगी पुरुष किस प्रकार निरन्तर ध्यान करे? आप इस सनातन तत्त्वका वर्णन कीजिये॥

श्रुत्वा तस्य तु देवर्षेर्वाक्यं वाचस्पतिः स्वयम्।
प्रोवाच भगवान् विष्णुर्नारदं वरदः प्रभुः॥

देवर्षि नारदका यह वचन सुनकर वाणीके अधिपति वरदायक भगवान् विष्णुने नारदजीसे इस प्रकार कहा॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि इमां दिव्यामनुस्मृतिम्।
यामधीत्य प्रयाणे तु मद्भावायोपपद्यते॥

श्रीभगवान् बोले—देवर्षे! मैं हर्षपूर्वक तुम्हारे सामने इस दिव्य अनुस्मृतिका वर्णन करता हूँ। मृत्युकालमें जिसका अध्ययन और श्रवण करके मनुष्य मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है॥

ओङ्कारमग्रतः कृत्वा मां नमस्कृत्य नारद।
एकाग्रः प्रयतो भूत्वा इमं मन्त्रमुदीरयेत्॥
ओं नमो भगवते वासुदेवायेति।

नारद! आदिमें ओंकारका उच्चारण करके मुझे नमस्कार करे। अर्थात् एकाग्र एवं पवित्रचित्त होकर इस मन्त्रका उच्चारण करे—'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इति॥

इत्युक्तो नारदः प्राह प्राञ्जलिः प्रयतः स्थितः॥
सर्वदेवेश्वरं विष्णुं सर्वात्मानं हरिं प्रभुम्।

भगवान्‌के ऐसा कहनेपर नारदजी हाथ जोड़ प्रणाम करके खड़े हो गये और उन सर्वदेवेश्वर सर्वात्मा एवं पापहारी प्रभु श्रीविष्णुसे बोले॥

नारद उवाच

अव्यक्तं शाश्वतं देवं प्रभवं पुरुषोत्तमम्॥
प्रपद्ये प्राञ्जलिर्विष्णुमक्षरं परमं पदम्।

नारदजीने कहा—प्रभो! जो अव्यक्त सनातन देवता, सबकी उत्पत्तिके कारण, पुरुषोत्तम, अविनाशी और परम पदस्वरूप हैं, उन भगवान् विष्णुकी मैं हाथ जोड़कर शरण लेता हूँ॥

पुराणं प्रभवं नित्यमक्षयं लोकसाक्षिणम्॥
प्रपद्ये पुण्डरीकाक्षमीशं भक्तानुकम्पिनम्।

जो पुराणपुरुष, सबकी उत्पत्तिके कारण, नित्य, अक्षय और सम्पूर्ण जगत्‌के साक्षी हैं, जिनके नेत्र कमलके समान सुन्दर हैं, उन भक्तवत्सल भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ॥

लोकनाथं सहस्राक्षमद्भुतं परमं पदम्॥
भगवन्तं प्रपन्नोऽस्मि भूतभव्यभवत्प्रभुम्।

जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी तथा संरक्षक हैं, जिनके सहस्रों नेत्र हैं तथा जो भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी हैं, उन अद्भुत परमपदरूप भगवान् विष्णुकी मैं शरण लेता हूँ॥

स्रष्टारं सर्वलोकानामनन्तं विश्वतोमुखम्॥
पद्मनाभं हृषीकेशं प्रपद्ये सत्यमच्युतम्।

सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा और सब ओर मुखवाले, अनन्त, सत्य, अच्युत एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् पद्मनाभकी मैं शरण लेता हूँ॥

हिरण्यगर्भममृतं भूगर्भं परतः परम्॥
प्रभोः प्रभुमनाद्यन्तं प्रपद्ये तं रविप्रभम्।

जो हिरण्यगर्भ, अमृतस्वरूप, पृथ्वीको गर्भमें धारण करनेवाले, परात्पर तथा प्रभुओंके भी प्रभु हैं, उन अनादि, अनन्त तथा सूर्यके समान कान्तिवाले भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ॥

सहस्रशीर्षं पुरुषं महर्षिं तत्त्वभावनम्॥
प्रपद्ये सूक्ष्ममचलं वरेण्यमभयप्रदम्।

जिनके सहस्रों मस्तक हैं, जो अन्तर्यामी आत्मा हैं, तत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले महर्षि कपिलस्वरूप हैं, उन सूक्ष्म, अचल, वरेण्य और अभयप्रद भगवान् श्रीहरिकी शरण लेता हूँ॥

नारायणं पुराणर्षिं योगात्मानं सनातनम्॥
संस्थानं सर्वतत्त्वानां प्रपद्ये ध्रुवमीश्वरम्।

जो पुरातन ऋषि नारायण हैं, योगात्मा हैं, सनातन पुरुष हैं, सम्पूर्ण तत्त्वोंके अधिष्ठान एवं अविनाशी ईश्वर हैं, उन भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ॥

यः प्रभुः सर्वभूतानां येन सर्वमिदं ततम्॥
चराचरगुरुर्विष्णुः स मे देवः प्रसीदतु।

जो सम्पूर्ण भूतोंके प्रभु हैं, जिन्होंने इस संसारको व्याप्त कर रक्खा है तथा जो चर और अचर प्राणियोंके गुरु हैं, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों॥

यस्मादुत्पद्यते ब्रह्मा पद्मयोनिः पितामहः॥
ब्रह्मयोनिर्हि विश्वात्मा स मे विष्णुः प्रसीदतु।

जिनसे पद्मयोनि पितामह ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है तथा जो वेद और ब्राह्मणोंकी योनि हैं, वे विश्वात्मा विष्णु मुझपर प्रसन्न हों॥

यः पुरा प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे।
ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके परावरे॥
आभूतसम्प्लवे चैव प्रलीने प्रकृतौ महान्।
एकस्तिष्ठति विश्वात्मा स मे विष्णुः प्रसीदतु॥

प्राचीन कालमें महाप्रलय प्राप्त होनेपर जब सभी चराचर प्राणी नष्ट हो जाते हैं, ब्रह्मा आदि देवताओंका भी लय हो जाता है और संसारकी छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं तथा सम्पूर्ण भूतोंका क्रमशः लय होकर जब प्रकृतिमें महत्तत्त्व भी विलीन हो जाता है, उस समय जो एकमात्र

शेष रह जाते हैं, वे विश्वात्मा विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥

चार[1], चार[2], दो[3], पाँच[4] तथा दो[5]—इन सत्रह अक्षरोंवाले मन्त्रोद्वारा जिन्हें आहुति दी जाती है, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

पर्जन्यः पृथिवी सस्यं कालो धर्मः क्रियाक्रिये।
गुणाकरः स मे बभ्रुर्वासुदेवः प्रसीदतु ॥

मेघ, पृथ्वी, सस्य, काल, धर्म, कर्म और कर्मका अभाव —ये सब जिनके स्वरूप है, गुणोंके भण्डाररूप वे श्यामवर्ण भगवान् वासुदेव मुझपर प्रसन्न हों ॥

अग्नीषोमार्कताराणां ब्रह्मरुद्रेन्द्रयोगिनाम्।
यस्तेजयति तेजांसि स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥

जो अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, तारागण, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा योगियोंके भी तेजको जीत लेते हैं, वे भगवान् विष्णु मुझपर प्रसन्न हों ॥

योगावास नमस्तुभ्यं सर्वावास वरप्रद।
यज्ञगर्भ हिरण्याङ्ग पञ्चयज्ञ नमोऽस्तु ते ॥

योगके आवासस्थान! आपको नमस्कार है। सबके निवासस्थान, वरदायक, यज्ञगर्भ, सुनहरे रंगोंवाले पञ्च-यज्ञमय परमेश्वर! आपको नमस्कार है ॥

चतुर्मूर्ते परं धाम लक्ष्म्यावास परार्चित।
सर्वावास नमस्तेऽस्तु वासुदेव प्रधानकृत् ॥

आप श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार रूपोंवाले, परमधामस्वरूप, लक्ष्मीनिवास, परमपूजित, सबके आवासस्थान और प्रकृतिके भी प्रवर्तक हैं। वासुदेव! आपको नमस्कार है ॥

अजस्त्वमगमः पन्था ह्यमूर्तिर्विश्वमूर्तिधृक्।
विकर्तः पञ्चकालज्ञ नमस्ते ज्ञानसागर ॥

आप अजन्मा हैं, अगम्य मार्ग हैं, निराकार हैं अथवा जगत्के सम्पूर्ण आकार आप ही धारण करते हैं, आप ही संहारकारी रुद्र हैं। आप प्रातः, सङ्गव, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्न—इन पाँच कालोंको जाननेवाले हैं। ज्ञानसागर! आपको नमस्कार है ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमुत्पन्नं व्यक्ताद् यस्तु परोऽक्षरः।
यस्मात् परतरं नास्ति तमस्मि शरणं गतः ॥

जिन अव्यक्त परमात्मासे इस व्यक्त जगत्की उत्पत्ति हुई है, जो व्यक्तसे परे और अविनाशी हैं, जिनसे [illegible] दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उन भगवान् विष्णुकी मैं शरणमें आया हूँ ॥

न प्रधानो न च महान् पुरुषश्चेतनो ह्यजः।
अनयोर्यः परतरः तमस्मि शरणं गतः ॥

प्रकृति और महत्तत्त्व—ये दोनों जड हैं। पुरुष चेतन और अजन्मा है। इन दोनों क्षर और अक्षर पुरुषोंसे जो उत्कृष्ट और विलक्षण हैं, उन भगवान् पुरुषोत्तमकी मैं शरण लेता हूँ ॥

चिन्तयन्तो हि यं नित्यं ब्रह्मेशानादयः प्रभुम्।
निश्चयं नाधिगच्छन्ति तमस्मि शरणं गतः ॥

ब्रह्मा और शिव आदि देवता जिन भगवान्का सदा चिन्तन करते रहनेपर भी उनके स्वरूपके सम्बन्धमें किसी निश्चय तक नहीं पहुँच पाते, उन परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ॥

जितेन्द्रिया महात्मानो ज्ञानध्यानपरायणाः।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तमस्मि शरणं गतः ॥

ज्ञानी और ध्यानपरायण जितेन्द्रिय महात्मा जिन्हें पाकर फिर इस संसारमें नहीं लौटते हैं, उन भगवान् श्रीहरि-की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥

एकांशेन जगत् सर्वमवष्टभ्य विभुः स्थितः।
अग्राह्यो निर्गुणो नित्यस्तमस्मि शरणं गतः ॥

जो सर्वव्यापी परमेश्वर इस सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशसे धारण करके स्थित हैं, जो किसी इन्द्रियविशेषके द्वारा ग्रहण नहीं किये जाते तथा जो निर्गुण एवं नित्य हैं, उन परमात्माकी मैं शरणमें जाता हूँ ॥

सोमार्काग्निमयं तेजो या च तारामयी द्युतिः।
दिवि संजायते योऽयं स महात्मा प्रसीदतु ॥

आकाशमें जो सूर्य और चन्द्रमाका तेज प्रकाशित होता है तथा तारागणोंकी जो ज्योति जगमगाती रहती है, वह सब जिनका ही स्वरूप है, वे परमात्मा मुझपर प्रसन्न हों ॥

गुणादिर्निर्गुणश्चाद्यो लक्ष्मीवांश्चेतनो ह्यजः।
सूक्ष्मः सर्वगतो योगी स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो समस्त गुणोंके आदि कारण और स्वयं निर्गुण हैं, आदि पुरुष, लक्ष्मीवान्, चेतन, अजन्मा, सूक्ष्म, सर्वव्यापी तथा योगी हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

सांख्ययोगाश्च ये चान्ये सिद्धाश्च परमर्षयः।
यं विदित्वा विमुच्यन्ते स महात्मा प्रसीदतु ॥

ज्ञानयोगी, कर्मयोगी तथा जो दूसरे-दूसरे सिद्ध और महर्षि हैं, वे जिन्हें जानकर इस संसारसे मुक्त हो जाते हैं, वे परमात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

अव्यक्तः समधिष्ठाता ह्यचिन्त्यः सदसत्परः।
आस्थितिः प्रकृतिश्रेष्ठः स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो अव्यक्त, सबके अधिष्ठाता, अचिन्त्य और सत् असत्से विलक्षण हैं, आधाररहित एवं प्रकृतिसे श्रेष्ठ हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

क्षेत्रज्ञः पञ्चधा भुङ्क्ते प्रकृतिं पञ्चभिर्मुखैः।
महान् गुणांश्च यो भुङ्क्ते स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो जीवात्मारूपसे पाँच ज्ञानेन्द्रियरूपी मुखोंद्वारा शब्द आदि पाँच विषयोंका उपभोग करते हैं तथा [illegible]

१. आश्रावय, २. अस्तु श्रौषट्, ३. यज, ४. ये यजामहे, ५. वषट्।

होकर भी जो गुणोंका अनुभव करते हैं, वे महात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

सूर्यमध्ये स्थितः सोमस्तस्य मध्ये च या स्थिता ।
भूतग्राह्या च या दीप्तिः स महात्मा प्रसीदतु ॥

जो सूर्यमण्डलमें सोमरूपसे स्थित होते हैं, उस सोमके भीतर जो अलौकिक दीप्ति है, वह जिनका स्वरूप है, वे परमात्मा श्रीहरि मुझपर प्रसन्न हों ॥

नमस्ते सर्वतः सर्व सर्वतोऽक्षिशिरोमुख ।
निर्विकार नमस्तेऽस्तु साक्षी क्षेत्रे व्यवस्थितः ॥

सर्वस्वरूप परमेश्वर ! आपको सब ओरसे नमस्कार है, आपके सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख है । निर्विकार परमात्मन् ! आपको नमस्कार है । आप प्रत्येक क्षेत्र (शरीर) में साक्षीरूपसे स्थित हैं ॥

अतीन्द्रिय नमस्तुभ्यं लिङ्गैर्व्यक्तैर्न मीयसे ।
ये च त्वां नाभिजानन्ति संसारे संसरन्ति ते ॥

इन्द्रियातीत परमेश्वर ! आपको नमस्कार है । व्यक्त लिङ्गोंद्वारा आपका ज्ञान होना असम्भव है । संसारमें जो आपको नहीं जानते हैं, वे जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े रहते हैं ॥

कामक्रोधविनिर्मुक्ता रागद्वेषविवर्जिताः ।
नान्यभक्ता विजानन्ति न पुनर्नारका द्विजाः ॥

जो काम और क्रोधसे मुक्त, राग-द्वेषसे रहित तथा आपके अनन्य भक्त हैं, वे ही आपको जान पाते हैं । जो विषयोंके नरकमें पड़े हुए द्विज हैं, वे आपको नहीं जानते हैं ॥

एकान्तिनो हि निर्द्वन्द्वा निराशीःकर्मकारिणः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणस्त्वां विशन्ति विनिश्चिताः ॥

जो आपके अनन्य भक्त, द्वन्द्वोंसे रहित तथा निष्काम कर्म करनेवाले हैं, जिन्होंने ज्ञानमयी अग्निसे अपने समस्त कर्मोंको दग्ध कर दिया है, वे आपके प्रति दृढ़ निष्ठा रखनेवाले पुरुष आपमें ही प्रवेश करते हैं ॥

अशरीरं शरीरस्थं समं सर्वेषु देहिषु ।
पुण्यपापविनिर्मुक्ता भक्तास्त्वां प्रविशन्त्युत ॥

आप शरीरमें रहते हुए भी उससे रहित हैं तथा सम्पूर्ण देहधारियोंमें समभावसे स्थित हैं । जो पुण्य और पापसे मुक्त हैं, वे भक्तजन आपमें ही प्रवेश करते हैं ॥

अव्यक्तं बुद्ध्यहङ्कारमनोभूतेन्द्रियाणि च ।
त्वयि तानि च तेषु त्वं न तेषु त्वं न ते त्वयि ॥

अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि (महत्तत्त्व), अहङ्कार, मन, पञ्च महाभूत तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ सभी आपमें हैं और उन सबमें आप हैं, किंतु वास्तवमें न उनमें आप हैं, न आपमें वे हैं ॥

एकत्वान्यत्वनानात्वं ये विदुर्यान्ति ते परम् ।
समोऽसि सर्वभूतेषु न ते द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥
समत्वमभिकाङ्क्षेऽहं भक्त्या वै नान्यचेतसा ।

एकत्व, अन्यत्व और नानात्वका रहस्य जो लोग अच्छी तरह जानते हैं, वे आप परमात्माको प्राप्त होते हैं । आप सम्पूर्ण भूतोंमें सम हैं । आपका न कोई द्वेषपात्र है और न प्रिय । मैं अनन्य चित्तसे आपकी भक्तिके द्वारा समत्व पाना चाहता हूँ ॥

चराचरमिदं सर्वं भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥
त्वया त्वय्येव तत् प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।

चार प्रकारका जो यह चराचर प्राणिसमुदाय है, वह सब आपसे व्याप्त है । जैसे सूतमें मणियाँ पिरोये होते हैं, उसी प्रकार यह सारा जगत् आपमें ही ओतप्रोत है ॥

स्रष्टा भोक्तासि कूटस्थो ह्यतत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः ॥
अकर्महेतुरचलः पृथगात्मन्यवस्थितः ।

आप जगत्‌के स्रष्टा, भोक्ता और कूटस्थ हैं । तत्त्वरूप होकर भी उससे सर्वथा विलक्षण हैं । आप कर्मके हेतु नहीं हैं । अविचल परमात्मा हैं । प्रत्येक शरीरमें पृथक्-पृथक् जीवात्मारूपसे आप ही विद्यमान हैं ॥

न ते भूतेषु संयोगो भूततत्त्वगुणातिगः ॥
अहङ्कारेण बुद्ध्या वा न ते योगस्त्रिभिर्गुणैः ।

वास्तवमें प्राणियोंसे आपका संयोग नहीं है । आप भूत, तत्त्व और गुणोंसे परे हैं । अहंकार, बुद्धि और तीनों गुणोंसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है ॥

न ते धर्मोऽस्त्यधर्मो वा नारम्भो जन्म वा पुनः ॥
जरामरणमोक्षार्थं त्वां प्रपन्नोऽस्मि सर्वशः ।

न आपका कोई धर्म है और न कोई अधर्म । न कोई आरम्भ है न जन्म । मैं जरा-मृत्युसे छुटकारा पानेके लिये सब प्रकारसे आपकी शरणमें आया हूँ ॥

ईश्वरोऽसि जगन्नाथ ततः परम उच्यसे ॥
भक्तानां यद्धितं देव तद्ध्याहि त्रिदशेश्वर ।

जगन्नाथ ! आप ईश्वर हैं, इसीलिये परमात्मा कहलाते हैं । देव ! सुरेश्वर ! भक्तोंके लिये जो हितकी बात हो, उसका मेरे लिये चिन्तन कीजिये ॥

विषयैरिन्द्रियैर्वापि न मे भूयः समागमः ॥
पृथिवीं यातु मे घ्राणं यातु मे रसना जलम् ।
रूपं हुताशनं यातु स्पर्शो यातु च मारुतम् ॥
श्रोत्रमाकाशमप्येतु मनो वैकारिकं पुनः ।

विषयों और इन्द्रियोंके साथ फिर मेरा कभी समागम न हो । मेरी घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी तत्त्वमें मिल जाय और रसना जलमें, रूप (नेत्र) अग्निमें, स्पर्श (त्वचा) वायुमें, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमें और मन वैकारिक अहंकारमें मिल जाय ॥

इन्द्रियाण्यपि संयान्तु स्वासु स्वासु च योनिषु ॥
पृथिवी यातु सलिलमापोऽग्निमनलोऽनिलम् ।
वायुराकाशमप्येतु मनश्चाकाश एव च ॥
अहङ्कारं मनो यातु मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

अहङ्कारस्ततो बुद्धिं बुद्धिरव्यक्तमच्युत ॥

अच्युत ! इन्द्रियाँ अपनी-अपनी योनियोंमें मिल जायँ, पृथ्वी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश मनमें, मन समस्त प्राणियोंको मोहनेवाले अहंकारमें, अहंकार बुद्धि (महत्तत्त्व) में और बुद्धि अव्यक्त प्रकृतिमें मिल जाय ॥

प्रधाने प्रकृतिं याते गुणसाम्ये व्यवस्थिते ।
वियोगः सर्वकरणैर्गुणभूतैश्च मे भवेत् ॥

जब प्रधान प्रकृतिको प्राप्त हो जाय और गुणोंकी साम्यावस्थारूप महाप्रलय उपस्थित हो जाय, तब मेरा समस्त इन्द्रियों और उनके विषयोंसे वियोग हो जाय ॥

निष्कैवल्यपदं तात काङ्क्षेऽहं परमं तव ।
एकीभावस्त्वया मेऽस्तु न मे जन्म भवेत् पुनः ॥

तात ! मैं तुम्हारे लिये परम मोक्षकी आकाङ्क्षा [illegible] हूँ । आपके साथ मेरा एकीभाव हो जाय । इस संसारमें फिर मेरा जन्म न हो ॥

त्वद्बुद्धिस्त्वद्गतप्राणस्त्वद्भक्तस्त्वत्परायणः ।
त्वामेवाहं स्मरिष्यामि मरणे पर्युपस्थिते ॥

मृत्युकाल उपस्थित होनेपर मेरी बुद्धि आपमें ही लगी रहे । मेरे प्राण आपमें ही लीन रहें । मेरा आपमें ही भक्ति-भाव बना रहे और [illegible] सदा आपकी ही शरणमें पड़ा रहूँ । इस प्रकार मैं निरन्तर आपका ही स्मरण करता रहूँ ॥

पूर्वदेहकृता ये मे व्याधयः प्रविशन्तु माम् ।
अर्दयन्तु च दुःखानि ऋणं मे प्रतिमुञ्चतु ॥

पूर्वशरीरमें मैंने जो दुष्कर्म किये हों, उनके फलस्वरूप रोग-व्याधि मेरे शरीरमें प्रवेश करें और नाना प्रकारके दुःख मुझे आकर सतावें । इन सबका जो मेरे ऊपर ऋण है, वह उतर [illegible] ॥

अनुध्यातोऽसि देवेश [illegible] मे [illegible] भवेत् पुनः ।
तस्माद् ब्रवीमि कर्माणि ऋणं [illegible] भवेदिति ॥

देवेश्वर ! मैंने इसलिये आपका स्मरण किया है कि फिर मेरा जन्म न हो; अतः फिर कहता हूँ कि मेरे कर्म [illegible] हो जायँ और मुझपर किसीका ऋण बाकी न रह जाय ॥

उपतिष्ठन्तु मां सर्वे व्याधयः पूर्वसंचिताः ।
अनृणो गन्तुमिच्छामि तद् विष्णोः परमं पदम् ॥

पूर्व जन्ममें जिन कर्मोंका मेरे द्वारा संचय किया गया है, वे सभी रोग मेरे शरीरमें उपस्थित हो जायँ । [illegible] सबसे उऋण होकर भगवान् विष्णुके परम धामको जाना चाहता हूँ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहं भगवतस्तस्य मम चासौ सनातनः ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

श्रीभगवान् बोले—नारद ! मैं उस सौभाग्यशाली भक्तका हूँ और वह भक्त भी मेरा सनातन सखा है । [illegible] उसके लिये कभी अदृश्य नहीं होता और न वही कभी मेरी दृष्टिसे ओझल होता है ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि च ।
दशेन्द्रियाणि मनसि अहङ्कारे तथा मनः ॥
अहङ्कारं तथा बुद्धौ बुद्धिमात्मनि योजयेत् ।

साधक पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको संयममें रखकर उन दसों इन्द्रियोंको मनमें विलीन करे । मनको अहंकारमें, अहंकारको बुद्धिमें और बुद्धिको आत्मामें लगावे ॥

यतबुद्धीन्द्रियः पश्यन् बुद्ध्या बुद्ध्येत् परात्परम् ॥
ममायमिति यस्याहं येन सर्वमिदं ततम् ।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको संयममें [illegible] बुद्धिके द्वारा परात्पर परमात्माका अनुभव करे कि यह परमेश्वर मेरा है और मैं इसका हूँ तथा इसीने इस सम्पूर्ण जगत्‌को [illegible] कर रक्खा है ॥

आत्मनाऽऽत्मनि संयोज्य परमात्मानमनुस्मरेत् ॥
ततो बुद्धेः परं बुद्ध्वा लभते न पुनर्भवम् ।
मरणे समनुप्राप्ते यश्चैवं मामनुस्मरेत् ॥
अपि पापसमाचारः स याति परमां गतिम् ।

स्वयं ही अपने-आपको परमात्माके ध्यानमें लगाकर निरन्तर उनका स्मरण करे, तदनन्तर बुद्धिसे भी परे परमात्मा-को जानकर मनुष्य फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता । जो मृत्युकाल आनेपर इस प्रकार मेरा स्मरण करता है, वह पुरुष पहलेका पापाचारी रहा हो तो भी परम गतिको प्राप्त होता है ॥

ओं नमो भगवते तस्मै देहिनां परमात्मने ॥
नारायणाय भक्तानामेकनिष्ठाय शाश्वते ।

[illegible] देहधारियोंके परमात्मा तथा भक्तोंके प्रति एकमात्र निष्ठा रखनेवाले उन [illegible] भगवान् नारायणको नमस्कार है ॥

इमामनुस्मृतिं दिव्यां वैष्णवीं सुसमाहितः ॥
स्वपन् विबुध्यंश्च पठन् यत्र तत्र समभ्यसेत् ।

यह दिव्य वैष्णवी-अनुस्मृति विद्या है । मनुष्य एकाग्र-चित्त होकर सोते, जागते और स्वाध्याय करते समय जहाँ कहीं भी इसका जप करता रहे ॥

पौर्णमास्याममायां च द्वादश्यां च विशेषतः ॥
श्रावयेच्छ्रद्दधानांश्च मद्भक्तांश्च विशेषतः ।

पूर्णिमा, अमावास्या तथा विशेषतः द्वादशी तिथिको मेरे [illegible] भक्तोंको इसका श्रवण करावे ॥

यद्यहङ्कारमाश्रित्य यज्ञदानतपःक्रियाः ॥
कुर्वंस्तत्फलमाप्नोति पुनरावर्तनं तु तत् ।

यदि कोई अहंकारका आश्रय लेकर यज्ञ, दान और तपरूप कर्म करे तो उसका फल उसे मिलता है । परंतु वह आवागमनके चक्रमें डालनेवाला होता है ॥

अभ्यर्चयन् पितॄन् देवान् पठञ्जुह्वन् बलिं ददत् ॥
ज्वलन्नग्निं स्मरेद् यो मां स याति परमां गतिम्।

जो देवताओं और पितरोंकी पूजा, पाठ, होम और बलिवैश्वदेव करते तथा अग्निमें आहुति देते समय मेरा [illegible] करता है, वह परम गतिको [illegible] होता है ॥

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
यज्ञं दानं तपस्तस्मात् कुर्यादाशीर्विवर्जितः ।

यज्ञ, दान और तप—ये मनीषी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं; अतः यज्ञ, दान और तपका निष्कामभावसे अनुष्ठान करे ॥

नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः ॥
तस्याक्षयो भवेल्लोकः श्वपाकस्यापि नारद ।

नारद ! जो मेरा भक्त श्रद्धापूर्वक मेरे लिये केवल नमस्कारमात्र बोल देता है, वह चाण्डाल ही क्यों न हो, उसे अक्षयलोककी प्राप्ति होती है ॥

किं पुनर्ये यजन्ते मां साधका विधिपूर्वकम् ॥
श्रद्धावन्तो यतात्मानस्ते मां यान्ति मदाश्रिताः ।

फिर जो साधक मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर मेरे आश्रित हो श्रद्धा और विधिके साथ मेरी आराधना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥

कर्माण्याद्यन्तवन्तीह मद्भक्तो नान्तमश्नुते ॥
मामेव तस्माद् देवर्षे ध्याहि नित्यमतन्द्रितः ।
अवाप्स्यसि [illegible] सिद्धिं द्रक्ष्यस्येव पदं मम ॥

देवर्षे ! सारे कर्म और उनके [illegible] आदि-अन्तवाले हैं; परंतु मेरा भक्त अन्तवान् (विनाशशील) फलका उपभोग नहीं करता; अतः तुम सदा आलस्यरहित होकर मेरा ही ध्यान करो । इससे तुम्हें परम सिद्धि [illegible] होगी और तुम मेरे परमधामका दर्शन कर लोगे ॥

[illegible] च यो ज्ञानं दद्याद् धर्मोपदेशतः ।
कृत्स्नां [illegible] पृथिवीं दद्यात् तेन तुल्यं च तत्फलम् ॥

जो धर्मोपदेशके [illegible] अज्ञानी पुरुषको [illegible] प्रदान [illegible] है अथवा जो किसीको समूची पृथ्वीका दान कर देता है तो [illegible] ज्ञानदानका [illegible] इस पृथ्वीदानके बराबर ही माना जाता है ॥

तस्मात् प्रदेयं साधुभ्यो जन्मबन्धभयापहम् ।
एवं दत्त्वा नरश्रेष्ठ श्रेयो वीर्यं च विन्दति ॥

नरश्रेष्ठ नारद ! इसलिये साधु पुरुषोंको जन्म और बन्धनके भयको दूर करनेवाला ज्ञान ही देना चाहिये । इस [illegible] [illegible] देकर मनुष्य कल्याण और [illegible] प्राप्त करता है॥

अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः समाचरेत् ।
नासौ पदमवाप्नोति मद्भक्तैर्यदवाप्यते ॥

जो दस लाख अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान कर ले, वह भी उस पदको नहीं पा सकता, जो मेरे भक्तोंको प्राप्त हो जाता है ॥

भीष्म उवाच

एवं पृष्टः पुरा तेन नारदेन सुरर्षिणा ।
यदुवाच तदा शम्भुस्तदुक्तं तव सुव्रत ॥

भीष्मजी कहते हैं—सुव्रत ! इस प्रकार पूर्वकालमें देवर्षि नारदके पूछनेपर कल्याणमय भगवान् विष्णुने [illegible] [illegible] जो कुछ कहा था, वह सब तुम्हें बता दिया ॥

त्वमप्येकमना भूत्वा ध्याहि ध्येयं गुणातिगम् ।
भजस्व सर्वभावेन परमात्मानमव्ययम् ॥

तुम भी एकचित्त होकर उन गुणातीत परमात्माका [illegible] करो और सम्पूर्ण भक्तिभावसे उन्हीं अविनाशी परमात्मा-[illegible] भजन करो ॥

श्रुत्वैतन्नारदो वाक्यं दिव्यं नारायणेरितम् ।
अत्यन्तभक्तिमान् देवे एकान्तत्वमुपेयिवान् ॥

भगवान् नारायणका कहा हुआ यह दिव्य वचन [illegible] [illegible] भक्तिमान् देवर्षि नारद भगवान्‌के प्रति एकाग्रचित्त हो गये ॥

नारायणमृषिं देवं दशवर्षाण्यनन्यभाक् ।
इदं जपन् वै प्राप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्॥

जो पुरुष अनन्यभावसे दस वर्षोंतक ऋषिप्रवर नारायण-देवका ध्यान करते हुए इस मन्त्रका जप करता है, वह भगवान् विष्णुके परम पदको [illegible] कर लेता है ॥

किं [illegible] बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तिर्यस्य जनार्दने ।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः ॥

जिसकी भगवान् जनार्दनमें भक्ति है, उसे बहुत-से मन्त्रोंद्वारा क्या [illegible] है ? 'ॐ नमो नारायणाय' यह एकमात्र मन्त्र ही सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाला है ॥

इमां रहस्यां परमामनुस्मृति-
मधीत्य बुद्धिं लभते [illegible] नैष्ठिकीम् ।
विहाय दुःखान्यवमुच्य सङ्कटान्
स वीतरागो विचरेन्महीमिमाम् ॥

इस परम गोपनीय अनुस्मृति विद्याका स्वाध्याय करके मनुष्य भगवान्‌के प्रति [illegible] निष्ठा रखनेवाली बुद्धि प्राप्त कर लेता है । वह सारे दुःखोंको दूर करके संकटसे मुक्त एवं वीतराग हो इस पृथ्वीपर सर्वत्र विचरण करता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अन्तर्भूमिविक्रीडनं नाम नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें भूमिके भीतर भगवान् वाराहकी क्रीडानामक दो सौ नवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ २०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८६½ श्लोक मिलाकर [illegible] १२२½ श्लोक हैं)

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

गुरु-शिष्यके संवादका उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण-सम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

योगं मे परमं तात मोक्षस्य वद भारत।
तमहं तत्त्वतो ज्ञातुमिच्छामि वदतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ तात भरतनन्दन! आप मुझे मोक्षके साधनभूत परम योगका उपदेश कीजिये। मैं उसे यथार्थरूपसे जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—राजन्! इस विषयमें एक शिष्यका गुरुके साथ जो मोक्षसम्बन्धी संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

कश्चिद् ब्राह्मणमासीनमाचार्यमृषिसत्तमम्।
तेजोराशिं महात्मानं सत्यसंधं जितेन्द्रियम् ॥ ३ ॥
शिष्यः परममेधावी श्रेयोऽर्थी सुसमाहितः।
चरणावुपसंगृह्य स्थितः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

किसी समयकी बात है, एक विद्वान् ब्राह्मण श्रेष्ठ आसनपर विराजमान थे। वे आचार्यकोटिके पण्डित और श्रेष्ठतम महर्षि थे। देखनेमें महान् तेजकी राशि जान पड़ते थे। बड़े महात्मा, सत्यप्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय थे। एक दिन उनकी सेवामें कोई परम मेधावी कल्याणकामी एवं समाहितचित्त शिष्य आया (जो चिरकालतक उनकी शुश्रूषा कर चुका था), वह उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़ सामने खड़ा हो इस प्रकार बोला— ॥ ३-४ ॥

उपासनात् प्रसन्नोऽसि यदि वै भगवन् मम।
संशयो मे महान् कश्चित् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।
कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत् सम्यग्ब्रूहि यत्परम् ॥ ५ ॥

'भगवन्! यदि आप मेरी सेवासे प्रसन्न हैं तो मेरे मनमें जो एक बड़ा भारी संदेह है, उसे दूर करनेकी कृपा करें—मेरे प्रश्नकी विशद व्याख्या करें। मैं इस संसारमें कहाँसे आया हूँ और आप भी कहाँसे आये हैं? यह भलीभाँति समझाकर बताइये। इसके सिवा जो परम तत्त्व है, उसका भी विवेचन कीजिये ॥ ५ ॥

कथं च सर्वभूतेषु समेषु द्विजसत्तम।
सम्यग्वृत्ता निवर्तन्ते विपरीताः क्षयोदयाः ॥ ६ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! पृथ्वी आदि सम्पूर्ण महाभूत सर्वत्र समान हैं; सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर उन्हींसे निर्मित हुए हैं तो भी उनमें [illegible] और वृद्धि—ये दोनों विपरीतभाव क्यों होते हैं? ॥ ६ ॥

वेदेषु चापि यद् वाक्यं लौकिकं व्यापकं च यत्।
एतद् विद्वन् यथातत्त्वं सर्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ७ ॥

'वेदों और स्मृतियोंमें भी जो लौकिक और व्यापक धर्मोंका वर्णन है, उनमें भी विषमता है। अतः विद्वन्! इन सबकी आप यथार्थरूपसे व्याख्या करें' ॥ ७ ॥

गुरुरुवाच

शृणु शिष्य महाप्राज्ञ ब्रह्मगुह्यमिदं परम्।
अध्यात्मं सर्वविद्यानामागमानां च यद्वसु ॥ ८ ॥

गुरुने कहा—वत्स! सुनो। महामते! तुमने जो बात पूछी है, वह वेदोंका उत्तम एवं गूढ रहस्य है। यही अध्यात्मतत्त्व है तथा यही समस्त विद्याओं और शास्त्रोंका सर्वस्व है ॥

वासुदेवः परमिदं विश्वस्य ब्रह्मणो मुखम्।
सत्यं ज्ञानमथो यज्ञस्तितिक्षा दम आर्जवम् ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण वेदका मुख जो प्रणव है वह तथा [illegible] ज्ञान, यज्ञ, तितिक्षा, इन्द्रिय-संयम, सरलता और परम तत्त्व—यह [illegible] कुछ वासुदेव ही है ॥ ९ ॥

पुरुषं सनातनं विष्णुं यं तं वेदविदो विदुः।
सर्गप्रलयकर्तारमव्यक्तं [illegible] शाश्वतम् ॥ १० ॥

वेदज्ञजन उसीको सनातन पुरुष और विष्णु भी मानते हैं। वही संसारकी सृष्टि और प्रलय करनेवाला अव्यक्त एवं सनातन ब्रह्म है ॥ १० ॥

तदिदं ब्रह्म वार्ष्णेयमितिहासं शृणुष्व मे।
ब्राह्मणो ब्राह्मणैः श्राव्यो राजन्यः क्षत्रियैस्तथा ॥ ११ ॥
वैश्यो वैश्यैस्तथा श्राव्यः शूद्रः शूद्रैर्महामनाः।
माहात्म्यं देवदेवस्य विष्णोरमिततेजसः ॥ १२ ॥

वही ब्रह्म वृष्णिकुलमें श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण हुआ। इस कथाको तुम मुझसे सुनो। ब्राह्मण ब्राह्मणको, क्षत्रिय क्षत्रियको, वैश्य वैश्यको तथा शूद्र महामनस्वी शूद्रको, अमित तेजस्वी देवाधिदेव विष्णुका माहात्म्य सुनावे ॥ ११-१२ ॥

अर्हस्त्वमसि कल्याणं वार्ष्णेयं शृणु यत्परम्।
कालचक्रमनाद्यन्तं भावाभावस्वलक्षणम् ॥ १३ ॥
त्रैलोक्यं सर्वभूतेशे चक्रवत्परिवर्तते।

तुम भी यह सब सुननेके योग्य अधिकारी हो; अतः भगवान् श्रीकृष्णका जो कल्याणमय उत्कृष्ट माहात्म्य है, उसे सुनो। यह जो सृष्टि-प्रलयरूप अनादि, अनन्त कालचक्र है, वह श्रीकृष्णका ही स्वरूप है। सर्वभूतेश्वर श्रीकृष्णमें ये तीनों लोक चक्रकी भाँति घूम रहे हैं ॥ १३½ ॥

यत्तदक्षरमव्यक्तममृतं ब्रह्म शाश्वतम्।
वदन्ति पुरुषव्याघ्र केशवं पुरुषर्षभम् ॥ १४ ॥

पुरुषसिंह! पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको ही अक्षर, अव्यक्त, अमृत एवं सनातन परब्रह्म कहते हैं ॥ १४ ॥

पितॄन् देवानृषींश्चैव तथा [illegible] यक्षराक्षसान्।
नागासुरमनुष्यांश्च सृजते परमोऽव्ययः ॥ १५ ॥

ये अविनाशी परमात्मा श्रीकृष्ण ही पितर, देवता,

ऋषि, ███ ████ नाग, असुर और मनुष्य आदिकी रचना करते हैं ॥ १५ ॥

तथैव वेदशास्त्राणि लोकधर्मांश्च शाश्वतान् ।
प्रलयं प्रकृतिं प्राप्य युगादौ सृजते पुनः ॥ १६ ॥

इसी प्रकार प्रलयकाल बीतनेपर कल्पके आरम्भमें प्रकृतिका आश्रय ले भगवान् श्रीकृष्ण ही ये वेद-शास्त्र और सनातन लोक-धर्मोंको पुनः प्रकट करते हैं ॥ १६ ॥

यथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ १७ ॥

जैसे ऋतु-परिवर्तनके साथ ही भिन्न-भिन्न ऋतुओंके नाना प्रकारके वे ही-वे लक्षण ████ होते रहते हैं, वैसे ही प्रत्येक कल्पके आरम्भमें पूर्व कल्पोंके अनुसार तदनुरूप भावोंकी अभिव्यक्ति होती रहती है ॥ १७ ॥

अथ यद्यद् यदा भाति कालयोगाद् युगादिषु ।
तत् तदुत्पद्यते ज्ञानं लोकयात्राविधानजम् ॥ १८ ॥

काल-क्रमसे युगादिमें जब-जब जो-जो वस्तु भासित होती है, लोक-व्यवहारवश तब तब उसी उसी विषयका ज्ञान प्रकट होता रहता है ॥ १८ ॥

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥ १९ ॥

कल्पके अन्तमें लुप्त हुए वेदों और इतिहासोंको कल्पके आरम्भमें स्वयम्भू ब्रह्माके आदेशसे महर्षियोंने तपस्याद्वारा सबसे पहले उपलब्ध किया था ॥ १९ ॥

वेदविद् वेद भगवान् वेदाङ्गानि बृहस्पतिः ।
भार्गवो नीतिशास्त्रं तु जगाद जगतो हितम् ॥ २० ॥

███ समय स्वयं भगवान् ब्रह्माको वेदोंका, बृहस्पतिजीको वेदाङ्गोंका और शुक्राचार्यको नीतिशास्त्रका ज्ञान हुआ तथा ███ लोगोंने जगत्के हितके लिये उन ███ विषयोंका उपदेश किया ॥ २० ॥

गान्धर्वं नारदो वेद भरद्वाजो धनुर्ग्रहम् ।
देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम् ॥ २१ ॥

नारदजीको गान्धर्व वेदका, भरद्वाजको धनुर्वेदका, महर्षि गार्ग्यको देवर्षियोंके चरित्रका तथा कृष्णात्रेयको चिकित्सा-शास्त्रका ज्ञान हुआ ॥ २१ ॥

न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः ।
हेत्वागमसदाचारैर्यदुक्तं तदुपास्यताम् ॥ २२ ॥

तर्कशील विद्वानोंने तर्कशास्त्रके अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन किया। उन महर्षियोंने युक्तियुक्त ████ और सदाचारके द्वारा जिस ब्रह्मका उपदेश किया है, उसीकी तुम भी उपासना करो ॥ २२ ॥

अनाद्यं तत्परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ।
एकस्तद् वेद भगवान् ████ नारायणः प्रभुः ॥ २३ ॥

वह परब्रह्म अनादि और सबसे परे है। उसे न देवता जानते हैं न ऋषि। उसे तो एकमात्र जगत्पालक नारायण ██ जानते हैं ॥ २३ ॥

नारायणादृषिगणास्तथा मुख्याः सुरासुराः ।
राजर्षयः पुराणाश्च परमं दुःखभेषजम् ॥ २४ ॥

नारायणसे ही ऋषियों, मुख्य-मुख्य देवताओं, असुरों ███ प्राचीन राजर्षियोंने ███ ब्रह्मको जाना है; वह ██████ ही ████ दुःखोंका परम औषध है ॥ २४ ॥

पुरुषाधिष्ठितान् भावान् प्रकृतिः सूयते यदा ।
हेतुयुक्तमतः पूर्वं जगत् सम्परिवर्तते ॥ २५ ॥

पुरुषद्वारा संकल्पमें लाये गये विविध पदार्थोंकी रचना प्रकृति ही करती है। इस प्रकृतिसे सर्वप्रथम कारणसहित जगत् उत्पन्न होता है ॥ २५ ॥

दीपादन्ये यथा दीपाः प्रवर्तन्ते सहस्रशः ।
प्रकृतिः सूयते तद्वदानन्त्यान्नापचीयते ॥ २६ ॥

जैसे एक दीपकसे दूसरे सहस्रों दीप ███ लिये जाते हैं और पहले दीपकको कोई हानि नहीं होती, उसी प्रकार एक प्रकृति ही असंख्य पदार्थोंको उत्पन्न करती है और अनन्त होनेके कारण ████ क्षय नहीं होता ॥ २६ ॥

अव्यक्तकर्मजा बुद्धिरहंकारं प्रसूयते ।
आकाशं चाप्यहंकाराद् वायुराकाशसम्भवः ॥ २७ ॥

अव्यक्त प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर जिस बुद्धि (महत्तत्त्व) की उत्पत्ति होती है, वह बुद्धि अहंकारको जन्म देती है। अहंकारसे ████ और आकाशसे वायुकी उत्पत्ति होती है ॥ २७ ॥

वायोस्तेजस्ततश्चाप अद्भ्योऽथ वसुधोद्गता ।
मूलप्रकृतयो ह्यष्टौ जगदेतास्ववस्थितम् ॥ २८ ॥

वायुसे अग्निकी, अग्निसे जलकी और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार ये आठ मूल-प्रकृतियाँ बतायी गयी हैं। इन्हींमें सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥ २८ ॥

ज्ञानेन्द्रियाण्यतः ███ ███ कर्मेन्द्रियाण्यपि ।
विषयाः पञ्च चैकं ██ विकारे षोडशं ███ ॥ २९ ॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय और एक मन—ये सोलह विकार कहे गये हैं। (इनमें मन तो अहं-████ विकार है और अन्य पन्द्रह अपने-अपने कारणरूप ███ महाभूतोंके विकार हैं) ॥ २९ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं ज्ञानेन्द्रियाण्यथ ।
पादौ पायुरुपस्थश्च हस्तौ वाक्कर्मणी अपि ॥ ३० ॥

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका—ये पाँच ज्ञाने-न्द्रियाँ हैं। हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ (लिङ्ग) और वाक्—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥ ३० ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
विज्ञेयं व्यापकं चित्तं तेषु सर्वगतं मनः ॥ ३१ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं तथा इनमें व्यापक जो चित्त है, उसीको मन समझना चाहिये। मन सर्वगत कहा गया है ॥ ३१ ॥

रसज्ञाने तु जिह्वेयं व्याहृते वाक् तथोच्यते ।
इन्द्रियैर्विविधैर्युक्तं सर्वं व्यक्तं मनस्तथा ॥ ३२ ॥

रस-ज्ञानके समय मन ही यह रसना (जिह्वा) रूप हो जाता है तथा बोलनेके समय वह मन ही वागिन्द्रिय कहलाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके साथ मिलकर उन सबके रूपमें मन ही व्यक्त होता है ॥ ३२ ॥

विद्यात् तु षोडशैतानि दैवतानि विभागशः।
देहेषु ज्ञानकर्तारमुपासीनमुपासते ॥ ३३ ॥

दस इन्द्रिय, पाँच महाभूत और एक मन—ये सोलह तत्त्व इस शरीरमें विभागपूर्वक रहते हैं। इनको देवतारूप जानना चाहिये। शरीरके भीतर जो ज्ञान उत्पन्न करनेवाला परमात्मा-के निकटस्थ जीवात्मा है, उसकी ये सोलहों देवता उपासना करते हैं ॥ ३३ ॥

तद्वत् सोमगुणा जिह्वा गन्धस्तु पृथिवीगुणः।
श्रोत्रं नभोगुणं चैव चक्षुरग्नेर्गुणस्तथा।
स्पर्शं वायुगुणं विद्यात् सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ ३४ ॥

जिह्वा जलका कार्य है, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वीका कार्य है, श्रवणेन्द्रिय आकाशका और नेत्रेन्द्रिय अग्निका कार्य है तथा सम्पूर्ण भूतोंमें त्वचा नामकी इन्द्रियको सदा वायुका कार्य समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

मनः सत्त्वगुणं प्राहुः सत्त्वमव्यक्तजं तथा।
सर्वभूतात्मभूतस्थं तस्माद् बुद्ध्येत बुद्धिमान्॥ ३५ ॥

मनको महत्तत्त्वका कार्य कहा है और महत्तत्त्वको अव्यक्त प्रकृतिका कार्य कहा है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह समस्त भूतोंके आत्मारूप परमेश्वरको समस्त प्राणियों-में स्थित जाने ॥ ३५ ॥

एते भावा जगत् सर्वं वहन्ति सचराचरम्।
श्रिता विरजसं देवं यमाहुः प्रकृतेः परम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ये सम्पूर्ण पदार्थ समस्त चराचर जगत्का भार वहन करते हैं। ये सब जो प्रकृतिसे अतीत रजोगुण-रहित हैं, उन परमदेव परमात्माके आश्रित हैं ॥ ३६ ॥

नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम्।
व्याप्य शेते महानात्मा तस्मात् पुरुष उच्यते ॥ ३७ ॥

इन्हीं चौबीस पदार्थोंसे सम्पन्न इस नौ द्वारोंवाले पवित्र पुर (शरीर) को व्याप्त करके इसमें इन सबसे जो महान् है वह आत्मा शयन करता है; इसलिये उसे 'पुरुष' कहते हैं ॥ ३७ ॥

अजरः सोऽमरश्चैव व्यक्ताव्यक्तोपदेशवान्।
व्यापकः सगुणः सूक्ष्मः सर्वभूतगुणाश्रयः ॥ ३८ ॥

वह पुरुष जरा-मरणसे रहित, व्यापक, (समस्त स्थूल-सूक्ष्म तत्त्वोंका प्रेरक, सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त, सूक्ष्म तथा सम्पूर्ण भूतों और उनके गुणोंका आश्रय है ॥ ३८ ॥

यथा दीपः प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यात् पुरुषं सर्वजन्तुषु ॥ ३९ ॥

जैसे दीपक छोटा हो या बड़ा, प्रकाश-स्वरूप ही है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें स्थित जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा समझे ॥ ३९ ॥

श्रोत्रं वेदयते वेद्यं स शृणोति स पश्यति।
कारणं तस्य देहोऽयं स कर्ता सर्वकर्मणाम् ॥ ४० ॥

वही श्रवणेन्द्रियको उसके ज्ञेयभूत शब्दका बोध कराता है। तात्पर्य यह कि श्रवण और नेत्रोंद्वारा वही सुनता और देखता है। यह शरीर उसके शब्द आदि विषयोंके अनुभवमें निमित्त है। वह जीवात्मा ही समस्त कर्मोंका कर्ता है ॥४०॥

अग्निर्दारुगतो यद्वद् भिन्ने दारौ न दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवानुदृश्यते ॥ ४१ ॥
अग्निर्यथा ह्युपायेन मथित्वा दारु दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवात्र दृश्यते ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार अग्नि काष्ठमें व्याप्त रहनेपर भी काठके चीरनेपर भी उसमें दिखायी नहीं देती, उसी प्रकार आत्मा शरीरमें रहता है, परंतु दिखायी नहीं देता—योगसे ही उसका दर्शन होता है। जैसे मन्थन आदि उपायोंद्वारा काष्ठको मथकर उनमें अग्निको प्रत्यक्ष किया जाता है, उसी प्रकार योगके द्वारा शरीरस्थ आत्माका साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ ४१-४२ ॥

नदीष्वापो यथा युक्ता यथा सूर्ये मरीचयः।
संततत्वाद् यथा यान्ति तथा देहाः शरीरिणाम् ॥ ४३ ॥

जैसे नदियोंमें जल रहता ही है और सूर्यमें किरणें भी रहती ही हैं तथा वे जल और किरणें नदी और सूर्यसे नित्य सम्बद्ध होनेके कारण उनके साथ-साथ जाती हैं, उसी प्रकार देहधारियोंके सूक्ष्म शरीर भी जीवात्माके साथ ही रहते हैं और उसे साथ लेकर ही आते-जाते हैं ॥ ४३ ॥

स्वप्नयोगे यथैवात्मा पञ्चेन्द्रियसमायुतः।
देहमुत्सृज्य वै याति तथैवात्मोपलभ्यते ॥ ४४ ॥

जैसे स्वप्नमें पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसहित जीवात्मा इस शरीर-को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है, वैसे ही मृत्युके बाद भी वह इस शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण कर लेता है ॥ ४४ ॥

कर्मणा बाध्यते रूपं कर्मणा चोपलभ्यते।
कर्मणा नीयतेऽन्यत्र स्वकृतेन बलीयसा ॥ ४५ ॥

कर्मके द्वारा ही इस देहका बाध होता है; कर्मसे ही अन्य देहकी उपलब्धि होती है तथा अपने किये हुए प्रबल कर्मके द्वारा ही वह अन्य शरीरमें ले जाया जाता है ॥४५॥

स तु देहाद् यथा देहं त्यक्त्वान्यं प्रतिपद्यते।
तथान्यं सम्प्रवक्ष्यामि भूतग्रामं स्वकर्मजम् ॥ ४६ ॥

वह जीवात्मा जिस प्रकार एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करता है तथा अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुआ प्राणि-समुदाय जिस प्रकार अन्य देह धारण करता है, वह सब मैं तुम्हें बतलाता हूँ ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका निरूपणविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१० ॥

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

संसारचक्र और जीवात्माकी स्थितिका वर्णन

गुरुरुवाच

चतुर्विधानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
अव्यक्तप्रभवान्याहुरव्यक्तनिधनानि च ।
अव्यक्तलक्षणं विद्यादव्यक्तात्मात्मकं मनः ॥ १ ॥

गुरुजी कहते हैं—वत्स ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—ये चार प्रकारके जो स्थावर और जङ्गम प्राणी हैं, वे सब अव्यक्तसे उत्पन्न हुए बताये गये हैं और अव्यक्तमें ही उन सबका लय होता है । जिसका कोई लक्षण व्यक्त न हो उसे अव्यक्त समझना चाहिये । मन अव्यक्त प्रकृतिके समान ही त्रिगुणात्मक है ॥ १ ॥

यथाश्वत्थकणीकायामन्तर्भूतो महाद्रुमः ।
निष्पन्नो दृश्यते व्यक्तमव्यक्तात् सम्भवस्तथा ॥ २ ॥

जैसे पीपलके छोटे-से बीजमें एक विशाल वृक्ष अव्यक्त रूपसे समाया हुआ है, जो बीजके उगनेपर वृक्षरूपमें परिणत हो प्रत्यक्ष दिखायी देता है, उसी प्रकार अव्यक्तसे व्यक्त जगत्की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

अभिद्रवत्ययस्कान्तमयो निश्चेतनं यथा ।
स्वभावहेतुजा भावा यद्वदन्यदपीदृशम् ॥ ३ ॥

जिस प्रकार लोहा अचेतन होनेपर भी चुम्बककी ओर खिंच जाता है, वैसे ही शरीरके उत्पन्न होनेपर प्राणीके स्वाभाविक संस्कार तथा अविद्या, काम, कर्म आदि दूसरे गुण उसकी ओर खिंच आते हैं ॥ ३ ॥

तद्वदव्यक्तजा भावाः कर्तुः कारणलक्षणाः ।
अचेतनाश्चेतयितुः कारणादभिसंहताः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार उस अव्यक्तसे उत्पन्न हुए उपर्युक्त कारण-स्वरूप भाव अचेतन होनेपर भी चेतनकर्ताके सम्बन्धसे चेतन-से होकर जानना आदि क्रियाके हेतु बन जाते हैं ॥ ४ ॥

न भूर्न खं द्यौर्भूतानि नर्षयो न सुरासुराः ।
नान्यदासीदृते जीवमासेदुर्न तु संहतम् ॥ ५ ॥

पहले पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, भूतगण, ऋषिगण तथा देवता और असुरगण इनमेंसे कोई नहीं था । चेतनके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं थी । जड-चेतनका संयोग भी नहीं था ॥ ५ ॥

पूर्वं नित्यं सर्वगतं मनोहेतुमलक्षणम् ।
अज्ञानकर्म निर्दिष्टमेतत् कारणलक्षणम् ॥ ६ ॥

आत्मा सबके पहले विद्यमान था । वह नित्य, सर्वगत, मनका भी हेतु और लक्षणरहित है । यह कारणस्वरूप समस्त जगत् अज्ञानका कार्य बताया गया है ॥ ६ ॥

तत्कारणैर्हि संयुक्तं कार्यसंग्रहकारकम् ।
येनैतद् वर्तते चक्रमनादिनिधनं महत् ॥ ७ ॥

इन कारणोंसे युक्त होकर जीव कर्मोंका संग्रह करता है । कर्मोंसे वासना और वासनाओंसे पुनः कर्म होते हैं । इस प्रकार यह अनादि, अनन्त महान् संसार-चक्र चलता रहता है ॥ ७ ॥

अव्यक्तनाभं व्यक्तारं विकारपरिमण्डलम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चक्रं स्निग्धाक्षं वर्तते ध्रुवम् ॥ ८ ॥

यह जन्म-मरणका प्रवाहरूप संसार चक्रके समान घूम रहा है । अव्यक्त उसकी नाभि है । व्यक्त (देह और इन्द्रिय आदि) उसके अरे हैं । सुख-दुःख, इच्छा आदि विकार इसकी नेमि हैं । आसक्ति धुरा है । यह चक्र निश्चितरूपसे घूमता रहता है । क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) इस चक्रपर चालक बनकर बैठा हुआ है ॥ ८ ॥

स्निग्धत्वात् तिलवत् सर्वं चक्रेऽस्मिन् पीड्यते जगत् ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः ॥ ९ ॥

जैसे तेली लोग तेलसे युक्त होनेके कारण तिलोंको कोल्हूमें पेरते हैं, उसी प्रकार यह सारा जगत् आसक्तिग्रस्त होनेके कारण अज्ञानजनित भोगोंद्वारा दबा-दबाकर इस संसार-चक्रमें पेरा जा रहा है ॥ ९ ॥

कर्म तत् कुरुते तर्षादहंकारपरिग्रहात् ।
कार्यकारणसंयोगे स हेतुरुपपादितः ॥ १० ॥

जीव अहङ्कारके अधीन होकर तृष्णाके कारण कर्म करता है और वह कर्म आगामी कार्य-कारण-संयोगमें हेतु बन जाता है ॥ १० ॥

नाभ्येति कारणं कार्यं न कार्यं कारणं तथा ।
कार्याणां तूपकरणे कालो भवति हेतुमान् ॥ ११ ॥

न तो कारण कार्यमें प्रवेश करता है और न कार्य कारणमें । कार्य करते समय काल ही उनकी सिद्धि और असिद्धिमें हेतु होता है ॥ ११ ॥

हेतुयुक्ताः प्रकृतयो विकाराश्च परस्परम् ।
अन्योन्यमभिवर्तन्ते पुरुषाधिष्ठिताः सदा ॥ १२ ॥

हेतुसहित आठों प्रकृतियाँ और सोलह विकार—ये पुरुषसे अधिष्ठित हो सदा एक दूसरेसे मिलते और सृष्टिका विस्तार करते हैं ॥ १२ ॥

राजसैस्तामसैर्भावैर्युक्तो हेतुबलान्वितः ।
क्षेत्रज्ञमेवानुयाति पांसुर्वातेरितो यथा ॥ १३ ॥

राजस और तामसभावोंसे युक्त हेतुबलसे प्रेरित सूक्ष्म-शरीर क्षेत्रज्ञ जीवात्माके साथ-साथ ठीक उसी तरह दूसरे स्थूल शरीरमें चला जाता है, जैसे वायुद्वारा उड़ायी हुई धूल उसीके साथ-साथ एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाती है ॥ १३ ॥

न च तैः स्पृश्यते भावैर्न ते तेन महात्मना ।
सरजस्कोऽरजस्कश्च नैव वायुर्भवेद् यथा ॥ १४ ॥

जैसे धूलके उड़नेसे वायु न तो धूलसे लिप्त होती है और न अलिप्त ही रहती है । उसी प्रकार न तो उन राजस, [illegible] आदि भावोंसे जीवात्मा लिप्त होता है और न अलिप्त ही रहता है ॥ १४ ॥

तथैतदन्तरं विद्यात् सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्बुधः ।
अभ्यासात् [illegible] युक्तो [illegible] गच्छेत् प्रकृतिं पुनः ॥

अतः विवेकी पुरुषको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका यह अन्तर जान लेना चाहिये। इन दोनोंके तादात्म्यका-सा अभ्यास हो जानेसे [illegible]व ऐसा [illegible] गया है कि उसे अपने शुद्ध स्वरूपका पता ही नहीं लगता ॥ १५ ॥

संदेहमेतमुत्पन्नमच्छिनद् भगवानृषिः ।
तथा वार्तां समीक्षेत कृतलक्षणसम्मिताम् ॥ १६ ॥

(भीष्मजी कहते हैं—) इस प्रकार उन महर्षि भगवान् गुरुदेवने शिष्यके उत्पन्न हुए इस संदेहको काट डाला। अतः विद्वान् पुरुष ऐसे उपायोंपर दृष्टि रक्खे, जो क्रिया-द्वारा उद्देश्यकी सिद्धिमें सहायक हों ॥ १६ ॥

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः ॥ १७ ॥

जैसे आगमें भूने हुए बीज नहीं उगते, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्निसे अविद्यादि सब क्लेशोंके दग्ध हो जानेपर जीवात्माको फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २११ ॥

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

निषिद्ध आचरणके त्याग, सत्त्व, रज और तमके कार्य एवं परिणामका तथा सत्त्वगुणके सेवनका उपदेश

भीष्म उवाच

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो [illegible] समुपलभ्यते ।
तेषां विज्ञाननिष्ठानामन्यत्तत्त्वं न रोचते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! कर्मनिष्ठ पुरुषोंको जिस प्रकार प्रवृत्तिधर्मकी उपलब्धि होती है—वही उन्हें अच्छा लगता है, उसी प्रकार जो ज्ञानमें निष्ठा रखनेवाले हैं, उन्हें ज्ञानके सिवा दूसरी कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती ॥ १ ॥

दुर्लभा वेदविद्वांसो वेदोक्तेषु व्यवस्थिताः ।
प्रयोजनं महत्त्वात्तु मार्गमिच्छन्ति संस्तुतम् ॥ २ ॥

वेदोंके विद्वान् और वेदोक्त कर्मोंमें निष्ठा रखनेवाले पुरुष प्रायः दुर्लभ हैं । जो अत्यन्त बुद्धिमान् हैं, वे पुरुष वेदोक्त दोनों मार्गोंमेंसे जो अधिक महत्त्वपूर्ण होनेके कारण सबके द्वारा प्रशंसित है, उस मोक्षमार्गको ही चाहते हैं ॥ २ ॥

सद्भिराचरितत्वात्तु वृत्तमेतदगर्हितम् ।
इयं सा बुद्धिरन्येत्य यया याति परां गतिम् ॥ ३ ॥

सत्पुरुषोंने [illegible] इसी मार्गको ग्रहण किया है; [illegible] यही अनिन्द्य एवं निर्दोष है। यह वह बुद्धि है जिसके द्वारा चलकर मनुष्य परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

शरीरवानुपादत्ते मोहात् सर्वान् परिग्रहान् ।
क्रोधलोभादिभिर्भावैर्युक्तो राजसतामसैः ॥ ४ ॥

जो देहाभिमानी है, वह मोहवश क्रोध, लोभ आदि राजस, तामस-भावोंसे युक्त होकर सब प्रकारकी वस्तुओंके संग्रहमें [illegible] जाता है ॥ ४ ॥

नाशुद्धमाचरेत् तस्मादभीप्सन् देहयापनम् ।
कर्मणा विवरं कुर्वन्न लोकानाप्नुयाच्छुभान् ॥ ५ ॥

अतः जो देह-बन्धनसे मुक्त होना चाहता हो, उसे कभी अशुद्ध (अवैध) आचरण नहीं करना चाहिये। वह निष्काम कर्मद्वारा मोक्षका द्वार खोले और स्वर्ग आदि पुण्यलोक पानेकी कदापि इच्छा न करे ॥ ५ ॥

लोहयुक्तं [illegible] हेम विपक्वं न विराजते ।
तथापक्वकषायाख्यं विज्ञानं न प्रकाशते ॥ ६ ॥

जैसे लोहयुक्त सुवर्ण आगमें पकाकर शुद्ध किये बिना अपने स्वरूपसे प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार चित्तके राग आदि दोषोंका नाश हुए बिना उसमें ज्ञानस्वरूप आत्मा प्रकाशित नहीं होता है ॥ ६ ॥

यश्चाधर्मं चरेल्लोभात् कामक्रोधावनुप्लवन् ।
धर्म्यं पन्थानमाक्रम्य सानुबन्धो विनश्यति ॥ ७ ॥

जो लोभवश काम-क्रोधका अनुसरण करते हुए धर्म-मार्गका उल्लङ्घन करके अधर्मका आचरण करने लगता है, वह सगे-सम्बन्धियोंसहित [illegible] हो जाता है ॥ ७ ॥

शब्दादीन् विषयांस्तस्मान्न संरागादयं व्रजेत्।
क्रोधो हर्षो विषादश्च जायन्तेह परस्परात् ॥ ८ ॥

अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको कभी रागके वशमें होकर शब्द आदि विषयोंका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि वैसा करनेपर हर्ष, क्रोध और विषाद—इन सात्त्विक, [illegible] और तामस-भावोंकी एक दूसरेसे उत्पत्ति होती है ॥

पञ्चभूतात्मके देहे सत्त्वे राजसतामसे।
कमभिष्टुवते चायं [illegible] वाऽऽक्रोशति किं वदन् ॥ ९ ॥

यह शरीर पाँच भूतोंका विकार है और सत्त्व, रज एवं तम—तीन गुणोंसे युक्त है। इसमें रहकर यह निर्विकार आत्मा [illegible] किसकी निन्दा और किसकी स्तुति करे ॥ ९ ॥

स्पर्शरूपरसाद्येषु सङ्गं गच्छन्ति बालिशाः।
नावगच्छन्त्यविज्ञानादात्मानं पार्थिवं गुणम् ॥ १० ॥

अज्ञानी पुरुष स्पर्श, रूप और रस आदि विषयोंमें आसक्त होते [illegible]। वे विशिष्ट ज्ञानसे रहित होनेके कारण [illegible] नहीं जानते हैं कि यह शरीर पृथ्वीका विकार है ॥ १० ॥

मृन्मयं शरणं यद्वन्मृदैव परिलिप्यते।
पार्थिवोऽयं [illegible] देहो मृद्विकारान्न नश्यति ॥ ११ ॥

जैसे मिट्टीका घर मिट्टीसे ही लीपा [illegible] है तो सुरक्षित रहता है, उसी प्रकार यह पार्थिव शरीर पृथ्वीके ही विकार-भूत अन्न और जलके सेवनसे ही नष्ट नहीं होता है ॥ ११ ॥

मधु तैलं [illegible] सर्पिर्मांसानि लवणं गुडः।
धान्यानि फलमूलानि मृद्विकाराः सहाम्भसा ॥ १२ ॥

मधु, तेल, दूध, घी, मांस, लवण, गुड़, धान्य, फल-मूल और जल—ये सभी पृथ्वीके ही विकार हैं ॥ १२ ॥

यद्वत् कान्तारमातिष्ठन्नौत्सुक्यं समनुव्रजेत्।
ग्राम्यमाहारमादद्यादस्वाद्वपि हि यापनम् ॥ १३ ॥

तद्वत् संसारकान्तारमातिष्ठञ्श्रमतत्परः।
यात्रार्थमद्यादाहारं व्याधितो भेषजं यथा ॥ १४ ॥

जैसे वनमें रहनेवाला संन्यासी स्वादिष्ट [illegible] (मिठाई आदि) के लिये उत्सुक नहीं होता। वह शरीर-निर्वाहके लिये स्वाधीन रूखा सूखा ग्रामीण आहार भी [illegible] कर लेता है, उसी प्रकार संसाररूपी वनमें रहनेवाला गृहस्थ परिश्रममें [illegible] हो जीवन निर्वाहमात्रके लिये शुद्ध सात्त्विक आहार ग्रहण करे। ठीक उसी तरह, जैसे रोगी जीवनरक्षाके लिये औषध सेवन करता है ॥ १३-१४ ॥

सत्यशौचार्जवत्यागैर्वर्चसा विक्रमेण च।
क्षान्त्या धृत्या च बुद्ध्या च मनसा तपसैव च ॥ १५ ॥
भावान् सर्वानुपावृत्तान् समीक्ष्य विषयात्मकान्।
शान्तिमिच्छन्नदीनात्मा संयच्छेदिन्द्रियाणि च ॥ १६ ॥

उदारचित्त पुरुष सत्य, शौच, सरलता, त्याग, तेज, पराक्रम, क्षमा, धैर्य, बुद्धि, मन और तपके प्रभावसे [illegible] विषयात्मक भावोंपर आलोचनात्मक दृष्टि रखते हुए शान्तिकी इच्छासे अपनी इन्द्रियोंको संयममें रक्खे ॥ १५-१६ ॥

सत्त्वेन [illegible] चैव तमसा चैव मोहिताः।
चक्रवत् परिवर्तन्ते ह्यज्ञानाज्जन्तवो भृशम् ॥ १७ ॥

अजितेन्द्रिय जीव [illegible] सत्त्व, रज और तमसे मोहित हो निरन्तर चक्रकी तरह घूमते रहते हैं ॥ १७ ॥

तस्मात् सम्यक् परीक्षेत दोषानज्ञानसम्भवान्।
अज्ञानप्रभवं दुःखमहंकारं परित्यजेत् ॥ १८ ॥

अतः विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह अज्ञानजनित दोषोंकी भलीभाँति परीक्षा करे तथा उस अज्ञानसे उत्पन्न हुए दुःख और अहंकारको त्याग दे ॥ १८ ॥

महाभूतानीन्द्रियाणि गुणाः सत्त्वं रजस्तमः।
त्रैलोक्यं सेश्वरं सर्वमहंकारे प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥

पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ, शब्द आदि गुण, सत्त्व, रज और [illegible] तथा लोकपालोंसहित तीनों लोक—यह सब कुछ अहंकारमें [illegible] प्रतिष्ठित है ॥ १९ ॥

यथेह नियतः कालो दर्शयत्यार्तवान् गुणान्।
तद्वद्भूतेष्वहंकारं विद्यात् कर्मप्रवर्तकम् ॥ २० ॥

जैसे इस जगत्में नियत [illegible] यथासमय ऋतु-सम्बन्धी गुणोंको प्रकट कर दिखाता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें अहंकारको ही उनके कर्मोंका प्रवर्तक जानना चाहिये ॥

सम्मोहकं तमो विद्यात् कृष्णमज्ञानसम्भवम्।
प्रीतिदुःखनिबद्धांश्च समस्तांस्त्रीनथो गुणान् ॥ २१ ॥

अहंकार सात्त्विक, [illegible] और तामस तीन प्रकारका होता है। तमोगुण मोहमें डालनेवाला तथा अन्धकारके समान [illegible] है। उसे अज्ञानसे उत्पन्न हुआ समझना चाहिये। प्रीति उत्पन्न करनेवाले भाव सात्त्विक हैं और दुःख देनेवाले [illegible]। इस प्रकार इन समस्त त्रिविध गुणोंका स्वरूप जानना चाहिये ॥ २१ ॥

[illegible] रजसश्चैव [illegible] निबोध तान्।
प्रसादो हर्षजा प्रीतिरसंदेहो धृतिः स्मृतिः।
एतान् सत्त्वगुणान् विद्यादिमान् राजसतामसान् २२
कामक्रोधौ प्रमादश्च लोभमोहौ भयं क्लमः।
विषादशोकावरतिर्मानदर्पावनार्यता ॥ २३ ॥

अब [illegible] तुम्हें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके कार्य बताता हूँ, सुनो। प्रसन्नता, हर्षजनित प्रीति, संदेहका अभाव, धैर्य और स्मृति—इन सबको सत्त्वगुणके कार्य समझो। काम, क्रोध, प्रमाद, लोभ, मोह, भय, क्लान्ति, विषाद, शोक, अप्रसन्नता, मान, दर्प और अनार्यता—इन्हें रजोगुण और तमोगुणके कार्य समझना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

दोषाणामेवमादीनां परीक्ष्य गुरुलाघवम्।
विमृशेदात्मसंस्थानमेकैकमनुसंततम् ॥ २४ ॥

इनके तथा ऐसे ही दूसरे दोषोंके बड़े-छोटेका विचार करके फिर इस बातकी परीक्षा करे कि इनमेंसे एक-एक दोष मुझमें है या नहीं। यदि है तो कितनी मात्रामें है (इस तरह विचार करते हुए सभी दोषोंसे छूटनेका [illegible] करे) ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

के दोषा मनसा त्यक्ताः के बुद्ध्या शिथिलीकृताः।
के पुनः पुनरायान्ति के मोहादफला इव ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पूर्वकालके मुमुक्षुओंने किन-किन दोषोंका मनके द्वारा त्याग किया है और किन्हें बुद्धिके द्वारा शिथिल किया है ? कौन दोष बारंबार आते हैं और कौन मोहवश फल देनेमें असमर्थ-से प्रतीत होते हैं ? ॥

केषां बलाबलं बुद्ध्या हेतुभिर्विमृशेद् बुधः।
एष मे संशयस्तात तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

विद्वान् पुरुष अपनी बुद्धि तथा युक्तियोंद्वारा किन दोषोंके बलाबलका विचार करे ? [illegible] ! पितामह ! यह मेरा [illegible] है। आप मुझसे इसका विवेचन कीजिये ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

दोषैर्मूलादवच्छिन्नैर्विशुद्धात्मा विमुच्यते।
विनाशयति सम्भूतमयस्मयमयो यथा।
तथा कृतात्मा सहजैर्दोषैर्नश्यति तामसैः ॥ २७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इन दोषोंका मूल [illegible] है [illegible]। अतः मूलसहित इन दोषोंका नाश हो जानेपर मनुष्यका अन्तःकरण विशुद्ध होता है और वह संसार-बन्धनसे [illegible] हो जाता है। जैसे लोहेकी बनी हुई छेनीकी धार लोहमयी साँकलको काटकर स्वयं भी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार [illegible] हुई बुद्धि तमोगुणजनित सहज दोषोंको नष्ट करके उनके साथ ही स्वयं भी शान्त हो जाती है ॥ २७ ॥

राजसं तामसं चैव शुद्धात्मकमकल्मषम्।
तत् सर्वं देहिनां बीजं सत्त्वमात्मवतः समम् ॥ २८ ॥

यद्यपि रजोगुण, तमोगुण तथा काम, मोह आदि दोषोंसे रहित शुद्ध सत्त्वगुण—ये तीनों ही देहधारियोंकी देहकी उत्पत्तिके मूल कारण हैं, तथापि जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, उस पुरुषके लिये सत्त्वगुण ही समताका साधन है ॥ २८ ॥

तस्मादात्मवता वर्ज्यं [illegible] एव च।
रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तं सत्त्वं निर्मलतामियात् ॥ २९ ॥

अतः जितात्मा पुरुषको रजोगुण और तमोगुणका त्याग ही करना चाहिये। इन दोनोंसे छूट जानेपर बुद्धि निर्मल हो जाती है ॥ २९ ॥

अथवा मन्त्रवद् ब्रूयुरात्मादानाय दुष्कृतम्।
[illegible] वै हेतुरनादाने शुद्धधर्मानुपालने ॥ ३० ॥

अथवा बुद्धिको वशमें करनेके लिये शास्त्रविहित मन्त्रयुक्त यज्ञादि कर्मको कुछ लोग दोषयुक्त बताते हैं; परंतु वह मन्त्रयुक्त यज्ञादि धर्म भी निष्कामभावसे किये जानेपर वैराग्यका हेतु है तथा [illegible] धर्म—शम, दम आदिके निरन्तर पालनमें भी वही निमित्त बनता है ॥ ३० ॥

रजसाधर्मयुक्तानि कार्याण्यपि समाप्नुते।
अर्थयुक्तानि चात्यर्थं कामान् सर्वांश्च सेवते ॥ ३१ ॥

मनुष्य रजोगुणके अधीन होनेपर उसके द्वारा भाँति-भाँतिके अधर्मयुक्त एवं अर्थयुक्त कर्म करने लगता है तथा वह सम्पूर्ण भोगोंका अत्यन्त आसक्तिपूर्वक सेवन करता है ॥ ३१ ॥

तमसा लोभयुक्तानि क्रोधजानि च सेवते।
हिंसाविहाराभिरतस्तन्द्रीनिद्रासमन्वितः ॥ ३२ ॥

तमोगुणद्वारा मनुष्य लोभ और क्रोधजनित कर्मोंका सेवन करता है, हिंसात्मक कर्मोंमें उसकी विशेष आसक्ति हो जाती है तथा वह हर [illegible] निद्रा-तन्द्रासे घिरा रहता है ॥ ३२ ॥

सत्त्वस्थः सात्त्विकान् भावाञ्छुद्धान् पश्यति संश्रितः।
स देही विमलः श्रीमाञ्छ्रद्धाविद्यासमन्वितः ॥ ३३ ॥

सत्त्वगुणमें स्थित हुआ पुरुष शुद्ध सात्त्विक भावोंको ही देखता और उन्हींका आश्रय लेता है। वह अत्यन्त निर्मल और कान्तिमान् होता है। उसमें श्रद्धा और विद्याकी प्रधानता होती है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मकथनविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१२ ॥

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

जीवोत्पत्तिका वर्णन करते हुए दोषों और बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये विषयासक्तिके त्यागका उपदेश

भीष्म उवाच

रजसा साध्यते मोहस्तमसा भरतर्षभ।
क्रोधलोभौ भयं दर्प एतेषां सादनाच्छुचिः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! रजोगुण और तमोगुणसे मोहकी उत्पत्ति होती है तथा उससे क्रोध, लोभ, भय एवं दर्प उत्पन्न होते हैं; इन सबका नाश करनेसे ही मनुष्य [illegible] होता है ॥ [illegible] ॥

परमं परमात्मानं देवमक्षयमव्ययम्।
विष्णुमव्यक्तसंस्थानं विदुस्तं देवसत्तमम् ॥ २ ॥

ऐसे शुद्धात्मा पुरुष ही उन अक्षय, अविनाशी, परमदेव, अव्यक्तस्वरूप, देवप्रवर परमात्मा विष्णुका तत्त्व जान पाते हैं ॥ २ ॥

तस्य मायापिनद्धाङ्गा नष्टज्ञाना विचेतसः।
मानवा ज्ञानसम्मोहात् ततः क्रोधं प्रयान्ति वै ॥ ३ ॥

उसी ईश्वरकी मायासे आवृत हो जानेपर मनुष्योंके ज्ञान और विवेकका नाश हो जाता है तथा वे बुद्धिके व्यामोहसे क्रोधके वशीभूत हो जाते हैं ॥ ३ ॥

क्रोधात् काममवाप्याथ लोभमोहौ च [illegible] ।
मानदर्पावहङ्कारमहङ्कारात् [illegible] क्रियाः ॥ ४ ॥

क्रोधसे काम उत्पन्न होता है और फिर कामसे मनुष्य लोभ, मोह, मान, दर्प एवं अहङ्कारको [illegible] होते हैं। तत्पश्चात् अहङ्कारसे प्रेरित होकर ही उनकी सारी क्रियाएँ होने लगती हैं ॥ ४ ॥

क्रियाभिः स्नेहसम्बन्धात्स्नेहाच्छोकमनन्तरम् ।
सुखदुःखक्रियारम्भाज्जन्माजन्मकृतक्षणाः ॥ ५ ॥

ऐसी क्रियाओंद्वारा मनुष्य आसक्तिसे युक्त हो जाता है। आसक्तिसे शोक होता है। फिर सुख-दुःखयुक्त कार्य आरम्भ करनेसे मनुष्यको जन्म और मृत्युके कष्ट स्वीकार करने पड़ते हैं ॥ ५ ॥

जन्मतो गर्भवासं तु शुक्रशोणितसम्भवम् ।
पुरीषमूत्रविक्लेदं शोणितप्रभवाविलम् ॥ ६ ॥

जन्मके निमित्तसे गर्भवासका कष्ट भोगना पड़ता है। रज और वीर्यके परस्पर संयुक्त होनेपर गर्भवासका अवसर [illegible] है, जहाँ मल और मूत्रसे भीगे तथा रक्तके विकारसे मलिन स्थानमें रहना पड़ता है ॥ ६ ॥

तृष्णाभिभूतस्तैर्बद्धस्तानेवाभिपरिप्लवन् ।
संसारतन्त्रवाहिन्यस्तत्र बुद्ध्येत योषितः ॥ ७ ॥

तृष्णासे अभिभूत तथा काम, क्रोध आदि दोषोंसे [illegible] होकर उन्हींका अनुसरण करता हुआ मनुष्य (महान् दुःख उठाता रहता है। यदि उनसे छूटनेकी इच्छा हो तो) स्त्रियोंको संसाररूपी वस्त्रको बुननेवाली तन्तुवाहिनी समझे और उनसे दूर रहे ॥ ७ ॥

प्रकृत्या क्षेत्रभूतास्ता नराः क्षेत्रज्ञलक्षणाः ।
तस्मादेवाविशेषेण नरोऽतीयाद् विशेषतः ॥ ८ ॥

स्त्रियाँ प्रकृतिके तुल्य हैं; अतः क्षेत्रस्वरूपा हैं और पुरुष क्षेत्रज्ञरूप हैं (जैसे प्रकृति अज्ञानी पुरुषको बाँधती है, उसी प्रकार ये स्त्रियाँ पुरुषोंको अपने मोहजालमें बाँध लेती हैं), इसलिये सामान्यतः प्रत्येक पुरुषको विशेष प्रयत्नपूर्वक स्त्रीके संसर्गसे दूर रहना चाहिये ॥ ८ ॥

कृत्या ह्येता घोररूपा मोहयन्त्यविचक्षणान् ।
रजस्यन्तर्हिता मूर्तिरिन्द्रियाणां सनातनी ॥ ९ ॥

ये स्त्रियाँ भयानक कृत्याके समान हैं; अतः अज्ञानी मनुष्योंको मोहमें डाल देती हैं। इन्द्रियोंमें विकार उत्पन्न करनेवाली यह सनातन नारीमूर्ति रजोगुणसे तिरोहित है ॥ ९ ॥

तस्मात् तदात्मकाद् रागाद् बीजाज्जायन्ति जन्तवः ।
स्वदेहजानस्वसंज्ञान् यद्वदङ्गात् कृमींस्त्यजेत् ।
स्वसंज्ञानस्वकांस्तद्वत् सुतसंज्ञान् कृमींस्त्यजेत् ॥ १० ॥

अतः स्त्रीसम्बन्धी अनुरागके कारण पुरुषके वीर्यसे जीवोंकी उत्पत्ति होती है, जैसे मनुष्य अपनी ही देहसे उत्पन्न हुए जूँ और लीख आदि स्वेदज कीटोंको अपना न मानकर त्याग देता है, उसी प्रकार अपने कहलानेवाले जो अनात्मा पुत्रनामधारी कीट हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये ॥ १० ॥

शुक्रतो रसतश्चैव देहाज्जायन्ति जन्तवः ।
स्वभावात् कर्मयोगाद् वा तानुपेक्षेत बुद्धिमान् ॥ ११ ॥

इस शरीरसे वीर्यद्वारा अथवा पसीनोंद्वारा स्वभावसे अथवा प्रारब्धके अनुसार जन्तुओंका जन्म होता रहता है। बुद्धिमान् पुरुषोंको उनकी उपेक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥

रजस्तमसि पर्यस्तं सत्त्वं च रजसि स्थितम् ।
ज्ञानाधिष्ठानमव्यक्तं बुद्ध्यहङ्कारलक्षणम् ॥ १२ ॥

तमोगुणमें स्थित रजोगुण तथा रजोगुणमें स्थित सत्त्वगुण जब रजोगुण तमोगुणमें स्थित हो जाता है और सत्त्वगुण रजोगुणमें स्थित हो जाता है, तब ज्ञानका अधिष्ठानभूत अव्यक्त आत्मा बुद्धि और अहङ्कारसे युक्त हो जाता है ॥ १२ ॥

तद् बीजं देहिनामाहुस्तद् बीजं जीवसंज्ञितम् ।
कर्मणा कालयुक्तेन संसारपरिवर्तनम् ॥ १३ ॥

वह अव्यक्त आत्मा ही देहधारी प्राणियोंका बीज है और वह बीजभूत आत्मा ही गुणोंके सङ्गके कारण जीव कहलाता है। वही कालसे युक्त कर्मसे प्रेरित हो संसार-चक्रमें घूमता रहता है ॥ १३ ॥

रमत्ययं यथा स्वप्ने [illegible] देहवानिव ।
कर्मगर्भैर्गुणैर्देही गर्भे तदुपलभ्यते ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्नावस्थामें यह जीव मनके द्वारा ही दूसरा शरीर धारण करके क्रीडा करता है, उसी प्रकार वह कर्मगर्भित गुणोंद्वारा गर्भमें उपलब्ध होता है ॥ १४ ॥

कर्मणा बीजभूतेन चोद्यते यद् यदिन्द्रियम् ।
जायते तदहङ्काराद् रागयुक्तेन चेतसा ॥ १५ ॥

बीजभूत कर्मसे जिस-जिस इन्द्रियको उत्पत्तिके लिये प्रेरणा प्राप्त होती है, रागयुक्त चित्त एवं अहङ्कारसे वही-वही इन्द्रिय [illegible] हो जाती है ॥ १५ ॥

शब्दरागाच्छ्रोत्रमस्य जायते भावितात्मनः ।
रूपरागात् तथा चक्षुर्घ्राणं गन्धचिकीर्षया ॥ १६ ॥

शब्दके प्रति राग होनेसे उस भावितात्मा पुरुषकी श्रवणेन्द्रिय प्रकट होती है। रूपके प्रति राग होनेसे नेत्र और गन्ध ग्रहण करनेकी इच्छा होनेसे नासिकाका प्राकट्य होता है ॥ १६ ॥

स्पर्शने त्वक् तथा वायुः प्राणापानव्यपाश्रयः ।
व्यानोदानौ समानश्च पञ्चधा देहयापनम् ॥ १७ ॥

स्पर्शके प्रति राग होनेसे त्वगिन्द्रिय और वायुका प्राकट्य होता है। वायु प्राण और अपानका आश्रय है। वही उदान, व्यान तथा समान है। इस प्रकार वह पाँच रूपोंमें प्रकट हो शरीर-यात्राका निर्वाह करती है ॥ १७ ॥

संजातैर्जायते गात्रैः कर्मजैर्ब्रह्मणा वृतः ।
दुःखाद्यन्तैर्दुःखमध्यैर्नरः शारीरमानसैः ॥ १८ ॥

मनुष्य जन्मकालमें पूर्णतः उत्पन्न हुए कर्मजनित अङ्गों और सम्पूर्ण शरीरसे युक्त होकर जन्म ग्रहण करता है । वह मनुष्य आदि, मध्य और अन्तमें भी शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे पीड़ित रहता है ॥ १८ ॥

दुःखं विद्यादुपादानादभिमानाच्च वर्धते ।
त्यागात् तेभ्यो निरोधः स्यान्निरोधज्ञो विमुच्यते ॥ १९ ॥

शरीरके ग्रहणमात्रसे दुःखकी प्राप्ति निश्चित समझनी चाहिये । शरीरमें अभिमान करनेसे [illegible] दुःखकी वृद्धि होती है । अभिमानके त्यागसे उन दुःखोंका अन्त होता है । जो दुःखोंके अन्त होनेकी इस कलाको जानता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ १९ ॥

इन्द्रियाणां रजस्येव प्रलयप्रभवावुभौ ।
परीक्ष्य संचरेद् विद्वान् यथावच्छास्त्रचक्षुषा ॥ २० ॥

इन्द्रियोंकी उत्पत्ति और लय—ये दोनों कार्य रजोगुणमें ही होते हैं । विद्वान् पुरुष शास्त्रदृष्टिसे इन बातोंकी भलीभाँति परीक्षा करके यथोचित आचरण करे ॥ २० ॥

ज्ञानेन्द्रियाणीन्द्रियार्थान्नोपसर्पन्त्यतर्षुलम् ।
हीनैश्च करणैर्देही न देहं पुनरर्हति ॥ २१ ॥

जिसमें तृष्णाका अभाव है, उस पुरुषको वे ज्ञानेन्द्रियाँ विषयोंकी प्राप्ति नहीं करातीं । इन्द्रियोंके विषयासक्तिसे रहित हो जानेपर देही पुनः शरीरको धारण नहीं करता ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१३ ॥

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मचर्य [illegible] वैराग्यसे मुक्ति

भीष्म उवाच

अत्रोपायं प्रवक्ष्यामि यथावच्छास्त्रचक्षुषा ।
तत्त्वज्ञानाच्चरन् राजन् प्राप्नुयात्परमां गतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! अब मैं तुम्हें शास्त्र-दृष्टिसे मोक्षका यथावत् उपाय बताता हूँ । शास्त्रविहित कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करता हुआ मनुष्य तत्त्वज्ञानसे परमगतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

सर्वेषामेव भूतानां पुरुषः श्रेष्ठ उच्यते ।
पुरुषेभ्यो द्विजानाहुर्द्विजेभ्यो मन्त्रदर्शिनः ॥ २ ॥

समस्त प्राणियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है । मनुष्योंमें द्विजोंको और द्विजोंमें भी मन्त्रद्रष्टा (वेदज्ञ) ब्राह्मणोंको श्रेष्ठ बताया गया है ॥ २ ॥

सर्वभूतात्मभूतास्ते सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः ।
ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञास्तत्त्वार्थगतनिश्चयाः ॥ ३ ॥

वेद-शास्त्रोंके यथार्थ ज्ञाता ब्राह्मण समस्त भूतोंके आत्मा, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं । उन्हें परमार्थतत्त्वका पूर्ण निश्चय होता है ॥ ३ ॥

नेत्रहीनो यथा ह्येकः कृच्छ्राणि लभतेऽध्वनि ।
ज्ञानहीनस्तथा लोके तस्माज्ज्ञानविदोऽधिकाः ॥ [illegible] ॥

जैसे नेत्रहीन पुरुष मार्गमें अकेला होनेपर तरह-तरहके दुःख पाता है, उसी प्रकार संसारमें ज्ञानहीन मनुष्यको भी अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं; इसलिये ज्ञानी पुरुष ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

तांस्तानुपासते धर्मान् धर्मकामा यथागमम् ।
न त्वेषामर्थसामान्यमन्तरेण गुणानिमान् ॥ ५ ॥

धर्मकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य शास्त्रके अनुसार उन-उन यज्ञादि सकाम धर्मोंका अनुष्ठान करते हैं; किंतु आगे बताये जानेवाले गुणोंके बिना इन्हें सबके लिये समानरूपसे अभीष्ट मोक्ष नामक पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ५ ॥

वाग्देहमनसां शौचं क्षमा सत्यं धृतिः स्मृतिः ।
सर्वधर्मेषु धर्मज्ञा ज्ञापयन्ति गुणाञ्छुभान् ॥ ६ ॥

वाणी, शरीर और मनकी पवित्रता, क्षमा, सत्य, धैर्य और स्मृति—इन गुणोंको प्रायः सभी धर्मोंके धर्मज्ञ पुरुष कल्याणकारी बताते हैं ॥ ६ ॥

यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम् ।
परं तत् सर्वधर्मेभ्यस्तेन यान्ति परां गतिम् ॥ ७ ॥

यह जो ब्रह्मचर्य नामक गुण है, इसे तो शास्त्रोंमें ब्रह्मका स्वरूप ही बताया गया है । यह [illegible] धर्मोंसे श्रेष्ठ है । ब्रह्मचर्यके पालनसे मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ७ ॥

लिङ्गसंयोगहीनं यच्छब्दस्पर्शविवर्जितम् ।
श्रोत्रेण श्रवणं चैव चक्षुषा [illegible] दर्शनम् ॥ ८ ॥
वाक्सम्भाषाप्रवृत्तं यत् तन्मनःपरिवर्जितम् ।
बुद्ध्या चाध्यवसीयीत ब्रह्मचर्यमकल्मषम् ॥ ९ ॥

वह परमपद पाँच प्राण, मन, बुद्धि और दसों इन्द्रियोंके संघातरूप शरीरके संयोगसे शून्य है, शब्द और स्पर्शसे रहित है । जो कानसे सुनता नहीं, आँखसे देखता नहीं और वाणीद्वारा कुछ बोलता नहीं है तथा जो मनसे भी रहित है, वही वह परमपद या [illegible] है । मनुष्य बुद्धिके द्वारा उसका निश्चय करे और उसकी प्राप्तिके लिये निष्कलङ्क ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे ॥ ८-९ ॥

सम्यग्वृत्तिर्ब्रह्मलोकं प्राप्नुयान्मध्यमः सुरान्।
द्विजाग्र्यो जायते विद्वान् कन्यसीं वृत्तिमास्थितः॥१०॥

जो मनुष्य इस व्रतका अच्छी तरह पालन करता है, वह ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेता है। मध्यम श्रेणीके ब्रह्मचारीको देवताओंका लोक प्राप्त होता है और कनिष्ठ श्रेणीका विद्वान् ब्रह्मचारी श्रेष्ठ ब्राह्मणके रूपमें जन्म लेता है ॥ १० ॥

सुदुष्करं ब्रह्मचर्यमुपायं तत्र मे शृणु।
सम्प्रदीप्तमुदीर्णं च निगृह्णीयाद् द्विजो रजः ॥ ११ ॥

ब्रह्मचर्यका पालन अत्यन्त कठिन है। उसके लिये जो उपाय है, वह मुझसे सुनो। ब्राह्मणको चाहिये कि जब रजोगुणकी वृत्ति प्रकट होने और बढ़ने लगे तो उसे रोक दे ॥

योषितां न कथा श्राव्या न निरीक्ष्या निरम्बराः।
कथञ्चिद् दर्शनादासां दुर्बलानां विशेद्रजः ॥ १२ ॥

स्त्रियोंकी चर्चा न सुने। उन्हें नंगी अवस्थामें न देखे; क्योंकि यदि किसी प्रकार नग्नावस्थाओंमें उनपर दृष्टि चली जाती है तो दुर्बल हृदयवाले पुरुषोंके मनमें रजोगुण—राग या कामभावका प्रवेश हो जाता है ॥ १२ ॥

रागोत्पन्नश्चरेत् कृच्छ्रं महार्तिः प्रविशेदपः।
मग्नः स्वप्ने च मनसा त्रिर्जपेदघमर्षणम् ॥ १३ ॥

ब्रह्मचारीके मनमें यदि राग या काम-विकार [illegible] हो जाय तो वह आत्मशुद्धिके लिये कृच्छ्र[1]व्रतका आचरण करे। यदि वीर्यकी वृद्धि होनेसे उसे कामवेदना अधिक सता रही हो तो वह नदी या सरोवरके जलमें प्रवेश करके स्नान करे। यदि स्वप्नावस्थामें वीर्यपात हो जाय तो जलमें गोता लगाकर मन-ही-मन तीन बार अघमर्षण सूक्त[2]का जप करे ॥

पाप्मानं निर्दहेदेवमन्तर्भूतरजोमयम्।
ज्ञानयुक्तेन [illegible] संततेन विचक्षणः ॥ १४ ॥

विवेकी पुरुषको इस प्रकार ज्ञानयुक्त एवं संयमशील मनके द्वारा अपने अन्तःकरणमें प्रकट हुए पापमय काम-विकारको दग्ध [illegible] देना चाहिये ॥ १४ ॥

कुणपामेध्यसंयुक्तं यद्वदच्छिद्रबन्धनम्।
तद्वद् देहगतं विद्यादात्मानं देहबन्धनम् ॥ १५ ॥

मुर्देके समान अपवित्र एवं मलयुक्त नाड़ियाँ जिस प्रकार देहके भीतर दृढ़तापूर्वक बँधी हुई हैं, उसी प्रकार (अज्ञानसे) उसके भीतर जीवात्मा भी दृढ़ बन्धनमें बँधा हुआ है, ऐसा [illegible] चाहिये ॥ १५ ॥

वातपित्तकफान् रक्तं त्वङ्मांसं स्नायुमस्थि च।
मज्जां देहं शिराजालैस्तर्पयन्ति रसा नृणाम् ॥ १६ ॥

भोजनसे प्राप्त हुए रस नाड़ीसमूहोंद्वारा सञ्चरित होकर मनुष्योंके वात, पित्त, कफ, रक्त, त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि, चर्बी एवं सम्पूर्ण शरीरको तृप्त एवं पुष्ट करते हैं ॥

दश विद्याद् धमन्योऽत्र पञ्चेन्द्रियगुणावहाः।
याभिः सूक्ष्माः प्रतायन्ते धमन्योऽन्याः सहस्रशः॥१७॥

इस शरीरके भीतर उपर्युक्त वात, पित्त आदि दस वस्तुओंको वहन करनेवाली दस ऐसी नाड़ियाँ हैं, जो पाँचों इन्द्रियोंके शब्द आदि गुणोंको ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त करानेवाली हैं। उन्हींके साथ अन्य सहस्रों सूक्ष्म नाड़ियाँ सारे शरीरमें फैली हुई हैं ॥ १७ ॥

एवमेताः शिरा नद्यो रसोदा देहसागरम्।
तर्पयन्ति यथाकालमापगा इव सागरम् ॥ १८ ॥

जैसे नदियाँ अपने जलसे यथासमय समुद्रको तृप्त करती रहती हैं, उसी प्रकार रसको बहानेवाली ये नाड़ीरूप नदियाँ इस देह-सागरको तृप्त किया करती हैं ॥ १८ ॥

मध्ये च हृदयस्यैका शिरा तत्र मनोवहा।
शुक्रं संकल्पजं नृणां सर्वगात्रैर्विमुञ्चति ॥ १९ ॥

हृदयके मध्यभागमें एक मनोवहा नामकी नाड़ी है, जो पुरुषोंके कामविषयक संकल्पके द्वारा सारे शरीरसे वीर्यको खींचकर बाहर निकाल देती है ॥ १९ ॥

सर्वगात्रप्रतायिन्यस्तस्या ह्यनुगताः शिराः।
नेत्रयोः प्रतिपद्यन्ते वहन्त्यस्तैजसं गुणम् ॥ २० ॥

उस नाड़ीके पीछे चलनेवाली और सम्पूर्ण शरीरमें फैली हुई अन्य नाड़ियाँ तैजस गुणरूप ग्रहणकी शक्तिको वहन करती हुई नेत्रोंतक पहुँचती हैं ॥ २० ॥

पयस्यन्तर्हितं सर्पिर्यद्वन्निर्मथ्यते खजैः।
शुक्रं निर्मथ्यते तद्वद् देहसंकल्पजैः खजैः ॥ २१ ॥

जिस प्रकार दूधमें छिपे हुए घीको मथानीसे मथकर अलग किया जाता है, उसी प्रकार देहस्थ संकल्प और इन्द्रियोंसे होनेवाले स्त्रियोंके दर्शन एवं स्पर्श आदिसे मथित होकर पुरुषका वीर्य बाहर निकल जाता है ॥ २१ ॥

स्वप्नेऽप्येवं यथाभ्येति मनःसंकल्पजं रजः।
शुक्रं संकल्पजं देहात् सृजत्यस्य मनोवहा ॥ २२ ॥

जैसे स्वप्नमें संसर्ग न होनेपर भी मनके संकल्पसे उत्पन्न हुआ स्त्रीविषयक राग उपस्थित हो जाता है, उसी प्रकार

१. 'कृच्छ्र' शब्दसे प्राजापत्यकृच्छ्रका ग्रहण किया जाता है। प्राजापत्यकृच्छ्रका विधान [illegible] प्रकार है—

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं [illegible] त्र्यहमद्यादयाचितम्।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात् प्राजापत्योऽयमुच्यते ॥
(मनुस्मृति ११। २१२)

तीन दिन केवल प्रातःकाल, तीन दिन केवल सायंकाल तथा तीन दिनतक केवल अयाचित [illegible] भोजन करे। फिर तीन दिनतक उपवास रक्खे। इसे प्राजापत्यकृच्छ्र कहा जाता है।

२. अघमर्षणसूक्त निम्नलिखित है—

[illegible] सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः।

मनोवहा नाडी पुरुषके शरीरसे सकल्पजनित वीर्यका निःसारण कर देती है ॥ २२ ॥

महर्षिर्भगवानत्रिर्वेद तच्छुक्रसम्भवम् ।
त्रिबीजमिन्द्रदैवत्यं तस्मादिन्द्रियमुच्यते ॥ २३ ॥

भगवान् महर्षि अत्रि वीर्यकी उत्पत्ति और गतिको जानते हैं तथा ऐसा कहते हैं कि मनोवहा नाडी, सकल्प और अन्न—ये तीन ही वीर्यके कारण हैं। इस वीर्यका देवता इन्द्र है; इसलिये इसे इन्द्रिय कहते हैं ॥ २३ ॥

ये वै शुक्रगतिं विद्युर्भूतसंकरकारिकाम् ।
विरागा दग्धदोषास्ते नाप्नुयुर्देहसम्भवम् ॥ २४ ॥

जो यह जानते है कि वीर्यकी गति ही सम्पूर्ण प्राणियोंमें वर्णसंकरता उत्पन्न करनेवाली है, वे विरक्त हो अपने सारे दोषोंको भस्म कर डालते हैं; इसलिये वे पुनः देहके बन्धनमें नहीं पड़ते ॥ २४ ॥

गुणानां साम्यमागम्य मनसैव मनोवहम् ।
देहकर्मा नुदन् प्राणानन्तकाले विमुच्यते ॥ २५ ॥

जो केवल शरीरकी रक्षाके लिये भोजन आदि कर्म करता है, वह अभ्यासके बलसे गुणोंकी साम्यावस्थारूप निर्विकल्प समाधि प्राप्त करके मनके द्वारा मनोवहा नाड़ीको संयममें रखते हुए अन्तकालमें प्राणोको सुषुम्णा मार्गसे ले जाकर संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

भविता मनसो ज्ञानं मन एव प्रजायते ।
ज्योतिष्मद्विरजो नित्यं मन्त्रसिद्धं महात्मनाम् ॥ २६ ॥

उन महात्माओंके मनमे तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है; क्योंकि प्रणवोपासनासे परिशुद्ध हुआ उनका मन नित्य प्रकाशमय और निर्मल हो जाता है ॥ २६ ॥

तस्मात् तदभिघाताय कर्म कुर्यादकल्मषम् ।
[illegible] हित्वेह यथेष्टां गतिमाप्नुयात् ॥ २७ ॥

अतः मनको वशमें करनेके लिये मनुष्यको निर्दोष एवं निष्काम कर्म करने चाहिये। ऐसा करनेसे वह रजोगुण और तमोगुणसे छूटकर इच्छानुसार गति प्राप्त कर लेता है ॥ २७ ॥

तरुणाधिगतं ज्ञानं जरादुर्बलतां गतम् ।
विपक्वबुद्धिः कालेन आदत्ते मानसं बलम् ॥ २८ ॥

युवावस्थामें प्राप्त किया हुआ ज्ञान प्रायः बुढ़ापेमें क्षीण हो जाता है, परंतु परिपक्वबुद्धि मनुष्य समयानुसार ऐसा मानसिक बल [illegible] कर लेता है, जिससे उसका ज्ञान कभी क्षीण नहीं होता ॥ २८ ॥

सुदुर्गमिव पन्थानमतीत्य गुणबन्धनम् ।
यथा पश्येत् तथा दोषानतीत्यामृतमश्नुते ॥ २९ ॥

वह परिपक्व बुद्धिवाला मनुष्य अत्यन्त दुर्गम मार्गके [illegible] गुणोंके बन्धनको पार करके जैसे-जैसे अपने दोष देखता है, वैसे ही वैसे उन्हें लाँघकर अमृतमय परमात्मपदको [illegible] कर लेता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मकथनविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१४ ॥

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

आसक्ति छोड़कर सनातन ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेका उपदेश

भीष्म उवाच

दुरन्तेष्विन्द्रियार्थेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
ये त्वसक्ता महात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रियोंके विषयोंका पार पाना बहुत कठिन है। जो प्राणी उनमें आसक्त होते हैं, वे दुःख भोगते रहते हैं और जो महात्मा उनमें आसक्त नहीं होते, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

जन्ममृत्युजरादुःखैर्व्याधिभिर्मानसक्लमैः ।
दृष्ट्वेव संततं लोकं घटेन्मोक्षाय बुद्धिमान् ॥ २ ॥

यह जगत् जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्थाके दुःखों, नाना प्रकारके रोगों तथा मानसिक चिन्ताओंसे व्याप्त है; ऐसा समझकर बुद्धिमान् पुरुषको मोक्षके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ २ ॥

वाङ्मनोभ्यां शरीरेण शुचिः स्यादनहंकृतः ।
प्रशान्तो ज्ञानवान् भिक्षुर्निरपेक्षश्चरेत् सुखम् ॥ ३ ॥

वह मन, वाणी और शरीरसे पवित्र रहकर अहंकार-शून्य, शान्तचित्त, ज्ञानवान् एवं निःस्पृह होकर भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करता हुआ सुखपूर्वक विचरे ॥ ३ ॥

अथवा मनसः सङ्गं पश्येद् भूतानुकम्पया ।
तत्राप्युपेक्षां कुर्वीत ज्ञात्वा कर्मफलं जगत् ॥ ४ ॥

अथवा प्राणियोंपर दया करते रहनेसे भी मोहवश उनके प्रति मनमें आसक्ति हो जाती है। इस बातपर दृष्टिपात करे और यह समझकर कि सारा जगत् अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहा है, सबके प्रति उपेक्षाभाव रखे ॥ ४ ॥

यत् कृतं स्याच्छुभं कर्म पापं वा यदि वाश्नुते ।
तस्माच्छुभानि कर्माणि कुर्याद् वा बुद्धिकर्मभिः ॥ ५ ॥

मनुष्य शुभ या अशुभ जैसा भी कर्म करता है, उसका फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है; इसलिये मन, बुद्धि और

क्रियाके द्वारा सदा शुभ कर्मोंका ही आचरण करे ॥ ५ ॥

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
क्षमा चैवाप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत् ॥ ६ ॥

अहिंसा, सत्यभाषण, समस्त प्राणियोंके प्रति सरलतापूर्ण बर्ताव, क्षमा तथा प्रमादशून्यता—ये गुण जिस पुरुषमें विद्यमान हों, वही सुखी होता है ॥ ६ ॥

यश्चैनं परमं धर्मं सर्वभूतसुखावहम् ।
दुःखान्निःसरणं वेद सर्वज्ञः स सुखी भवेत् ॥ ७ ॥

जो मनुष्य इस अहिंसा आदि परम धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये सुखद और दुःखनिवारक जानता है, वही सर्वज्ञ है और वही सुखी होता है ॥ ७ ॥

तस्मात् समाहितं बुद्ध्या मनो भूतेषु धारयेत् ।
नापध्यायेन्न स्पृहयेन्नाबद्धं चिन्तयेदसत् ॥ ८ ॥
अथामोघप्रयत्नेन मनो ज्ञाने निवेशयेत् ।
वाचामोघप्रयासेन मनोज्ञं तत् प्रवर्तते ॥ ९ ॥

इसलिये बुद्धिके द्वारा मनको समाहित करके समस्त प्राणियोंमें स्थित परमात्मामें लगावे । किसीका अहित न सोचे, असम्भव वस्तुकी कामना न करे, मिथ्या पदार्थोंकी चिन्ता न करे और [illegible] प्रयत्न करके मनको ज्ञानके साधनमें लगा दे । वेदान्त-वाक्योंके श्रवण तथा सुदृढ प्रयत्नसे उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ८-९ ॥

विवक्षता च सद्वाक्यं धर्मं सूक्ष्ममवेक्षता ।
सत्यां वाचमहिंस्रां च वदेदनपवादिनीम् ॥ १० ॥
कल्कापेतामपरुषामनृशंसामपैशुनाम् ।
ईदृगल्पं च वक्तव्यमविक्षिप्तेन चेतसा ॥ ११ ॥

जो सूक्ष्म धर्मको देखता और उत्तम वचन बोलना चाहता हो, उसको ऐसी बात कहनी चाहिये जो [illegible] होनेके साथ ही हिंसा और परनिन्दासे रहित हो । जिसमें शठता, कठोरता, क्रूरता और चुगली आदि दोषोंका सर्वथा अभाव हो, ऐसी वाणी भी बहुत थोड़ी मात्रामें और सुस्थिर चित्तसे बोलनी चाहिये ॥ १०–११ ॥

वाक्प्रबद्धो हि संसारो विरागाद् व्याहरेद् यदि ।
बुद्ध्याप्यनुगृहीतेन मनसा कर्म तामसम् ॥ १२ ॥

[illegible] सारा व्यवहार वाणीसे ही बँधा हुआ है, अतः सदा उत्तम वाणी ही बोले और यदि वैराग्य हो तो बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके अपने किये हुए हिंसादि तामस कर्मोंको भी लोगोंसे कह दे (क्योंकि प्रकाशित कर देनेसे पापकी मात्रा घट जाती है) ॥ १२ ॥

रजोभूतैर्हि करणैः कर्माणि प्रतिपद्यते ।
स दुःखं प्राप्य लोकेऽस्मिन् नरकायोपपद्यते ।
तस्मान्मनोवाक्शरीरैराचरेद् धैर्यमात्मनः ॥ १३ ॥

रजोगुणसे प्रभावित हुई इन्द्रियोंकी प्रेरणासे मनुष्य विषयभोगरूप कर्मोंमें प्रवृत्त होता है और [illegible] लोकमें दुःख भोगकर अन्तमें नरकगामी होता है; अतः मन, वाणी और शरीरद्वारा ऐसा कार्य करे, जिससे अपनेको धैर्य प्राप्त हो ॥ १३ ॥

प्रकीर्णमेषभारं हि यद्वद् धार्येत दस्युभिः ।
प्रतिलोमां दिशं बुद्ध्वा संसारमबुधास्तथा ॥ १४ ॥

जैसे चोर या लुटेरे किसीकी भेड़को मारकर उसे कंधेपर उठाये हुए जबतक भागते हैं, तबतक उन्हें सारी दिशाओंमें पकड़े जानेका भय बना रहता है और जब मार्गको प्रतिकूल [illegible] उस भेड़के बोझको अपने कंधेसे उतार फेंकते हैं, तब अपनी अभीष्ट दिशाको सुखपूर्वक चले जाते हैं । उसी [illegible] अज्ञानी मनुष्य जबतक सांसारिक कर्मरूप बोझको ढोते हैं, तबतक उन्हें सर्वत्र भय बना रहता है और जब उसे [illegible] देते हैं, [illegible] शान्तिके भागी हो जाते हैं ॥ १४ ॥

तमेव च यथा दस्युः क्षिप्त्वा गच्छेच्छिवां दिशम् ।
[illegible] रजस्तमःकर्माण्युत्सृज्य प्राप्नुयाच्छुभम् ॥ १५ ॥

जैसे चोर या डाकू जब उस चोरीके मालका बोझ उतार फेंकता है, तब जहाँ उसे सुख मिलनेकी आशा होती है, उस दिशामें अनायास चला जाता है, उसी प्रकार मनुष्य राजस और [illegible] कर्मोंको त्यागकर शुभ गति प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

निःसंदिग्धमनीहो वै मुक्तः सर्वपरिग्रहैः ।
विविक्तचारी लघ्वाशी तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥ १६ ॥
ज्ञानदग्धपरिक्लेशः प्रयोगरतिरात्मवान् ।
निष्प्रचारेण [illegible] परं तदधिगच्छति ॥ १७ ॥

जो सब प्रकारके संग्रहसे रहित, निरीह, एकान्तवासी, अल्पाहारी, तपस्वी और जितेन्द्रिय है, जिसके सम्पूर्ण क्लेश ज्ञानाग्निसे दग्ध हो गये हैं तथा जो योगानुष्ठानका प्रेमी और मनको वशमें रखनेवाला है, वह अपने निश्चल चित्तके द्वारा [illegible] परब्रह्म परमात्माको निःसंदेह प्राप्त कर लेता है ॥ १६-१७ ॥

धृतिमानात्मवान् बुद्धिं निगृह्णीयादसंशयम् ।
मनो बुद्ध्या निगृह्णीयाद् विषयान्मनसाऽऽत्मनः ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् एवं धीर पुरुषको चाहिये कि [illegible] बुद्धिको निश्चय ही अपने वशमें करे; फिर बुद्धिके द्वारा मनको और मनके द्वारा अपनी इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे रोककर अपने अधीन करे ॥ १८ ॥

निगृहीतेन्द्रियस्यास्य कुर्वाणस्य मनो वशे ।
देवतास्तत्र प्रकाशन्ते हृष्टा यान्ति तमीश्वरम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार जिसने इन्द्रियोंको वशमें करके मनको अपने अधीन कर लिया है, उस अवस्थामें उसकी इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवता प्रसन्नतासे प्रकाशित होने लगते हैं और ईश्वरकी ओर प्रवृत्त हो जाते हैं ॥ १९ ॥

ताभिः संयुक्तमनसो ब्रह्म तत् सम्प्रकाशते ।
शनैश्चोपगते सत्त्वे ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २० ॥

उन इन्द्रियदेवताओंसे जिसका मन संयुक्त हो गया है, उसके अन्तःकरणमें परब्रह्म परमात्मा प्रकाशित हो उठता है;

फिर धीरे-धीरे सत्त्वगुण प्राप्त होनेपर वह मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

अथवा न प्रवर्तेत योगतन्त्रैरुपक्रमेत् ।
येन तन्त्रयतस्तन्त्रं वृत्तिः स्यात् तत् तदाचरेत् ॥ २१ ॥

अथवा यदि पूर्वोक्तरूपसे उसके भीतर ज्ञान प्रकाशित न हो तो वह योगी योगप्रधान उपायोंद्वारा अभ्यास आरम्भ करे । जिस हेतुसे योगाभ्यास करते हुए योगीकी ब्रह्ममें ही स्थिति हो, वह उसी-उसीका अनुष्ठान करे ॥ २१ ॥

कणकुल्माषपिण्याकशाकयावकसक्तवः ।
तथा मूलफलं भैक्ष्यं पर्यायेणोपयोजयेत् ॥ २२ ॥

अन्नके दाने, उड़द, तिलकी खली, साग, जौकी लप्सी, सत्तू, मूल और फल जो कुछ भी भिक्षामें मिल जाय, उसी अन्नसे योगी अपने जीवनका निर्वाह करे ॥ २२ ॥

आहारनियमं चैव देशे काले च सात्त्विकम् ।
तत् परीक्ष्यानुवर्तेत तत्प्रवृत्त्यनुपूर्वकम् ॥ २३ ॥

देश और कालके अनुसार सात्त्विक आहार ग्रहण करनेका नियम रक्खे । उस आहारके दोष-गुणकी परीक्षा करके यदि वह योगसिद्धिके अनुकूल हो तो उसे उपयोगमें ले ॥ २३ ॥

प्रवृत्तं नोपरुन्धेत शनैरग्निमिवेन्धयेत् ।
ज्ञानान्वितं तथा ज्ञानमर्कवत् सम्प्रकाशते ॥ २४ ॥

साधन आरम्भ कर देनेपर उसे बीचमें न रोके । जैसे आग धीरे-धीरे तेज की जाती है, उसी प्रकार ज्ञानके साधनको शनैः-शनैः उद्दीपित करे । ऐसा करनेसे ज्ञान सूर्यके समान प्रकाशित होने लगता है ॥ २४ ॥

ज्ञानाधिष्ठानमज्ञानं त्रीँल्लोकानधितिष्ठति ।
विज्ञानानुगतं ज्ञानमज्ञानेनापकृष्यते ॥ २५ ॥

अज्ञानका अधिष्ठान भी ज्ञान ही है, जो तीनों लोकोंमें व्याप्त है । अज्ञानके द्वारा विज्ञानयुक्त ज्ञानका ह्रास होता है ॥ २५ ॥

पृथक्त्वात् सम्प्रयोगाच्च नासूयुर्वेद शाश्वतम् ।
स तयोरपवर्गज्ञो वीतरागो विमुच्यते ॥ २६ ॥

शास्त्रोंमें कहीं जीवात्मा और परमात्माकी पृथक्ताका प्रतिपादन करनेवाले वचन उपलब्ध होते हैं और कहीं उनकी एकताका । यह परस्पर विरोध देखकर दोषदृष्टि न करते हुए सनातन ज्ञानको प्राप्त करे । जो उन दोनों प्रकारके वचनोंका तात्पर्य समझकर मोक्षके तत्त्वको जान लेता है, वह वीतराग पुरुष संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २६ ॥

ततो वीतजरामृत्युर्ज्ञात्वा ब्रह्म सनातनम् ।
अमृतं तदवाप्नोति यत् तदक्षरमव्ययम् ॥ २७ ॥

ऐसा पुरुष जरा और मृत्युका उल्लङ्घनकर सनातन ब्रह्मको [illegible] अक्षर, अविकारी एवं अमृत ब्रह्मको [illegible] कर लेता है ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मतत्त्वका वर्णनविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१५ ॥

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थामें मनकी स्थिति तथा गुणातीत ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

भीष्म उवाच

निष्कल्मषं ब्रह्मचर्यमिच्छता चरितुं सदा ।
निद्रा सर्वात्मना त्याज्या स्वप्नदोषानवेक्षता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! सदा निष्कलंक ब्रह्मचर्य[illegible] पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको स्वप्नके दोषोंपर दृष्टि रखते हुए सब प्रकारसे निद्राका परित्याग कर देना चाहिये ॥ १ ॥

स्वप्ने हि रजसा देही तमसा चाभिभूयते ।
देहान्तरमिवापन्नश्चरत्युपगतस्पृहः ॥ २ ॥

स्वप्नमें जीवको प्रायः रजोगुण और तमोगुण दबा लेते हैं । वह कामनायुक्त होकर दूसरे शरीरको प्राप्त हुएकी भाँति विचरता है ॥ २ ॥

ज्ञानाभ्यासाज्जागरणं जिज्ञासार्थमनन्तरम् ।
विज्ञानाभिनिवेशात्तु स जागर्त्यनिशं सदा ॥ ३ ॥

मनुष्यमें पहले तो ज्ञानका अभ्यास करनेसे जागनेकी आदत होती है, तत्पश्चात् विचार करनेके लिये जागना अनिवार्य हो जाता है तथा जो तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह तो ब्रह्ममें निरन्तर जागता ही रहता है ॥ ३ ॥

अत्राह को न्वयं भावः स्वप्ने विषयवानिव ।
प्रलीनैरिन्द्रियैर्देही वर्तते देहवानिव ॥ ४ ॥

यहाँ पूर्व [illegible] यह प्रश्न उठाता है कि स्वप्नमें जो यह देहादि पदार्थ दिखायी देता है, क्या है ? (सत्य है या असत्य ? यदि कहें कि सत्य है तो ठीक नहीं; क्योंकि) स्वप्नावस्थामें [illegible] कुछ विषयोंसे सम्पन्न-सा दिखायी देनेपर भी वास्तवमें वहाँ कोई विषय नहीं होता, सारी इन्द्रियाँ उस समय मनमें विलीन हो जाती हैं । उन्हीं इन्द्रियोंसे देहाभिमानी जीव देहधारी-जैसा बर्ताव करता है । और यदि कहें कि स्वप्नके पदार्थ असत्य हैं तो यह भी ठीक नहीं;

क्योंकि जो सर्वथा असत् है, (जैसे आकाशका पुष्प) उसकी प्रतीति ही नहीं होती ॥ ४ ॥

अत्रोच्यते [illegible] ह्येतद् वेद योगेश्वरो हरिः।
तथैतदुपपन्नार्थं वर्णयन्ति महर्षयः ॥ ५ ॥

अब यहाँ सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जाता है। यह स्वप्न-जगत् जैसा है, उसे ठीक ठीक योगेश्वर श्रीहरि ही जानते हैं; पर जैसा श्रीहरि जानते हैं, वैसा ही महर्षि भी उसका वर्णन करते हैं, उनका वह वर्णन युक्तिसंगत भी है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणां श्रमात् स्वप्नमाहुः सर्वगतं बुधाः।
मनसस्त्वप्रलीनत्वात् तत् तदाहुर्निदर्शनम् ॥ ६ ॥

विद्वान् महर्षियोंका कहना है कि जाग्रत्-अवस्थामें निरन्तर शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करते-करते श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ जब [illegible] जाती हैं, तब सभी प्राणियोंके अनुभवमें आनेवाला स्वप्न दिखायी देने लगता है। उस समय इन्द्रियोंके लय होनेपर भी मनका लय नहीं होता है, इसलिये वह समस्त विषयोंका जो मनसे अनुभव करता है, वही स्वप्न कहलाता है। इस विषयमें प्रसिद्ध दृष्टान्त बताया जाता है ॥ ६ ॥

कार्ये व्यासक्तमनसः संकल्पो जाग्रतो ह्यपि।
यद्वन्मनोरथैश्वर्यं स्वप्ने तद्वन्मनोगतम् ॥ ७ ॥

जैसे जाग्रत्-अवस्थामें विभिन्न कार्योंमें आसक्त-चित्त हुए मनुष्यके संकल्प मनोराज्यकी ही विभूति हैं, उसी प्रकार स्वप्नके भाव भी मनसे ही सम्बन्ध रखते हैं ॥ ७ ॥

संस्काराणामसंख्यानां कामात्मा तदवाप्नुयात्।
मनस्यन्तर्हितं सर्वं स वेदोत्तमपूरुषः ॥ ८ ॥

कामनाओंमें जिसका मन आसक्त है, वह पुरुष स्वप्नमें असंख्य संस्कारोंके अनुसार अनेक दृश्योंको देखता है। वे समस्त संस्कार उसके मनमें ही छिपे रहते हैं, जिन्हें वह सर्वश्रेष्ठ अन्तर्यामी पुरुष परमात्मा जानता है ॥ ८ ॥

गुणानामपि यद्येतत् कर्मणा चाप्युपस्थितम्।
तत् तच्छंसन्ति भूतानि मनो यद्भावितं यथा॥ ९ ॥

कर्मोंके अनुसार सत्त्वादि गुणोंमेंसे यदि वह सत्त्व, रज या तम जो कोई भी गुण प्राप्त होता है, उससे मनपर जब जै[illegible] संस्कार पड़ते हैं अथवा जब जिस कर्मसे मन भावित होता है, उस समय सूक्ष्मभूत स्वप्नमें वैसे ही आकार प्रकट कर देते हैं ॥ ९ ॥

ततस्तमुपसर्पन्ति गुणा राजसतामसाः।
सात्त्विका वा यथायोगमानन्तर्यफलोदयम् ॥ १० ॥

[illegible] स्वप्नका दर्शन होते ही सात्त्विक, राजस अथवा [illegible] गुण यथायोग्य सुख-दुःखरूप फलका अनुभव कराने-के लिये उसके पास आ पहुँचते हैं ॥ १० ॥

ततः पश्यन्त्यसम्बुद्ध्या वातपित्तकफोत्तरान्।
रजस्तमोगतैर्भावैस्तदप्याहुर्दुरत्ययम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर मनुष्य स्वप्नमें अज्ञानवश वात, पित्त या कफकी प्रधानतासे युक्त तथा काम, मोह आदि राजस, [illegible] भावोंसे व्याप्त नाना प्रकारके शरीरोंका दर्शन करते हैं। तत्त्वज्ञान हुए बिना उस स्वप्नदर्शनको लाँघना अत्यन्त कठिन बताया गया है ॥ ११ ॥

प्रसन्नैरिन्द्रियैर्यद् यत् संकल्पयति मानसम्।
तत् तत् स्वप्नेऽप्युपगते मनो ह्यप्यनिरीक्षते॥ १२ ॥

जाग्रत्-अवस्थामें प्रसन्न इन्द्रियोंके द्वारा मनुष्य अपने मनमें जो-जो [illegible] करता है, स्वप्नावस्था आनेपर भी उसका वह मन हर्षपूर्वक उसी-उसी संकल्पको पूर्ण होता देखा [illegible] है ॥ १२ ॥

व्यापकं सर्वभूतेषु वर्ततेऽप्रतिघं मनः।
आत्मप्रभावात् विद्यात् सर्वा ह्यात्मनि देवताः॥ १३ ॥

मनकी सर्वत्र अबाध गति है। वह अपने अधिष्ठान-भूत आत्माके ही प्रभावसे सम्पूर्ण भूतोंमें व्याप्त है; अतः आत्मा-को अवश्य जानना चाहिये; क्योंकि सभी देवता आत्मामें ही स्थित हैं ॥ १३ ॥

मनस्यन्तर्हितं द्वारं देहमास्थाय मानुषम्।
यद् यत् सदसदव्यक्तं स्वपित्यस्मिन्निदर्शनम्।
सर्वभूतात्मभूतस्थं तमध्यात्मगुणं विदुः ॥ १४ ॥

स्वप्न-दर्शनका द्वारभूत जो स्थूल मानव देह है, वह सुषुप्ति-अवस्थामें मनमें लीन हो जाता है। उसी देहका आश्रय ले मन अव्यक्त सदसत्स्वरूप एवं साक्षीभूत आत्माको प्राप्त होता है। वह आत्मा सम्पूर्ण भूतोंके आत्मभूत है। ज्ञानी पुरुष उसे अध्यात्मगुणसे युक्त मानते हैं ॥ १४ ॥

लिप्सेत मनसा [illegible] संकल्पादैश्वरं गुणम्।
आत्मप्रसादं तं विद्यात् सर्वा ह्यात्मनि देवताः ॥१५॥

जो योगी मनके द्वारा संकल्पसे ही ईश्वरीय गुणको पाना चाहता है, वह [illegible] आत्मप्रसादको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि सम्पूर्ण देवता आत्मामें ही स्थित हैं ॥ १५ ॥

एवं हि तपसा युक्तमर्कवत् तमसः परम्।
त्रैलोक्यप्रकृतिर्देही तमसोऽन्ते महेश्वरः ॥ १६ ॥

इस प्रकार तपस्यासे युक्त हुआ मन अज्ञानान्धकारसे ऊपर उठकर सूर्यके समान ज्ञानमय प्रकाशसे प्रकाशित होने लगता है। जीवात्मा तीनों लोकोंका कारणभूत ब्रह्म ही है। वह अज्ञान निवृत्तिके पश्चात् महेश्वर (विशुद्ध परमात्मा) रूपसे प्रतिष्ठित होता है ॥ १६ ॥

तपो ह्यधिष्ठितं देवैस्तपोघ्नमसुरैस्तमः।
एतद् देवासुरैर्गुप्तं तदाहुर्ज्ञानलक्षणम् ॥ १७ ॥

देवताओंने तपका आश्रय लिया है और असुरोंने तपस्यामें विघ्न डालनेवाले दम्भ, दर्प आदि तमको अपनाया है; परंतु ब्रह्मतत्त्व देवताओं और असुरोंसे छिपा हुआ है; तत्त्वज्ञ पुरुष इसे ज्ञानस्वरूप बताते हैं ॥ १७ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति देवासुरगुणान् विदुः ।
सत्त्वं देवगुणं विद्यादितरावासुरौ गुणौ ॥ १८ ॥

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण–इन्हें देवताओं और असुरोंका गुण माना गया है । इनमें सत्त्व तो देवताओंका गुण और शेष दोनों असुरोंके गुण हैं ॥ १८ ॥

ब्रह्म तत् परमं ज्ञानममृतं ज्योतिरक्षरम् ।
ये विदुर्भावितात्मानस्ते यान्ति परमां गतिम् ॥ १९ ॥

ब्रह्म इन सभी गुणोंसे अतीत, अक्षर, अमृत, स्वयंप्रकाश और ज्ञानस्वरूप है । जो शुद्ध अन्तःकरणवाले महात्मा उसे जानते हैं, वे परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १९ ॥

हेतुमच्छक्यमाख्यातुमेतावज्ज्ञानचक्षुषा ।
प्रत्याहारेण वा शक्यमक्षरं ब्रह्म वेदितुम् ॥ २० ॥

ज्ञानमयी दृष्टि रखनेवाले महापुरुष ही ब्रह्मके विषयमें युक्तिसंगत बात कह सकते हैं अथवा मन और इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर एकाग्रचित्त हो चिन्तन करनेसे भी ब्रह्मका साक्षात्कार हो सकता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका कथनविषयक दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१६ ॥

सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) उन चारोंके ज्ञानसे मुक्तिका कथन तथा परमात्मप्राप्तिके अन्य साधनोंका भी वर्णन

भीष्म उवाच

न स वेद परं ब्रह्म यो न वेद चतुष्टयम् ।
व्यक्ताव्यक्तं च यत् तत्त्वं सम्प्रोक्तं परमर्षिणा ॥ १ ॥
व्यक्तं मृत्युमुखं विद्यादव्यक्तममृतं पदम् ।
प्रवृत्तिलक्षणं धर्ममृषिर्नारायणोऽब्रवीत् ॥ २ ॥
तत्रैवावस्थितं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
निवृत्तिलक्षणं धर्ममव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! जो मनुष्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग तथा प्रकृति और पुरुष—इन चारोंको नहीं जानता है, वह परब्रह्म परमात्माको नहीं जानता है। परम ऋषि नारायणने जिस व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वका प्रतिपादन किया है, उसमें व्यक्त (दृश्यवर्ग) को मृत्युके मुखमें पड़नेवाला जाने और अव्यक्तको अमृतपद समझे तथा नारायण ऋषिने जिस प्रवृत्तिरूप धर्मका प्रतिपादन किया है, उसीपर चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकी प्रतिष्ठित है । निवृत्तिरूप जो धर्म है, वह अव्यक्त सनातन ब्रह्मस्वरूप है ॥ १–३ ॥

प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं प्रजापतिरथाब्रवीत् ।
प्रवृत्तिः पुनरावृत्तिर्निवृत्तिः परमा गतिः ॥ ४ ॥

प्रजापति ब्रह्माजीने प्रवृत्तिरूप धर्मका उपदेश दिया है; परंतु प्रवृत्तिरूप धर्म पुनरावृत्तिका कारण है। उसके आचरणसे संसारमें बारबार जन्म लेना पड़ता है और निवृत्तिरूप धर्म परमगतिकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ ४ ॥

तां गतिं परमामेति निवृत्तिपरमो मुनिः ।
ज्ञानतत्त्वपरो नित्यं शुभाशुभनिदर्शकः ॥ ५ ॥

जो सदा ज्ञानतत्त्वके चिन्तनमें संलग्न रहनेवाला, शुभ और अशुभको (ज्ञाननेत्रोंके द्वारा तत्त्वसे) देखनेवाला तथा निवृत्तिपरायण मुनि है, वही उस परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

तदेवमेतौ विज्ञेयावव्यक्तपुरुषावुभौ ।
अव्यक्तपुरुषाभ्यां तु यत् स्यादन्यन्महत्तरम् ॥ ६ ॥
तं विशेषमवेक्षेत विशेषेण विचक्षणः ।

इस प्रकार विचारशील पुरुषको चाहिये कि वह पहले अव्यक्त (प्रकृति) और पुरुष (जीवात्मा)—इन दोनोंका ज्ञान प्राप्त करे; फिर इन दोनोंसे श्रेष्ठ जो परम महान् पुरुषोत्तम तत्त्व है, उसका विशेषरूपसे ज्ञान प्राप्त करे ॥ ६½ ॥

अनाद्यन्तावुभावेतावलिङ्गौ चाप्युभावपि ॥ ७ ॥
उभौ नित्यावविचलौ महद्भ्यश्च महत्तरौ ।
सामान्यमेतदुभयोरेवं ह्यन्यद्विशेषणम् ॥ ८ ॥

ये प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) दोनों ही अनादि और अनन्त हैं*। दोनों ही अलिङ्ग निराकार हैं तथा दोनों ही नित्य, अविचल और महान्से भी महान् हैं । ये सब बातें इन दोनोंमें समानरूपसे पायी जाती हैं; परंतु इनमें जो अन्तर या वैलक्षण्य है, वह दूसरा ही है, जिसे बताया जाता है ॥ ७-८ ॥

प्रकृत्या सर्गधर्मिण्या तथा त्रिगुणधर्मया ।
विपरीतमतो विद्यात् क्षेत्रज्ञस्य स्वलक्षणम् ॥ ९ ॥

प्रकृति त्रिगुणमयी है । ब्रह्मके सकाशसे सृष्टि करना उसका सहज धर्म है, किंतु क्षेत्रज्ञ अथवा पुरुषके स्वरूपको प्रकृतिसे सर्वथा विपरीत (विलक्षण) जानना चाहिये ॥ ९ ॥

---

१. इससे पूर्व पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकोंमें अव्यक्त शब्द परमात्माका वाचक है और यहाँ 'अव्यक्त' शब्द प्रकृतिका वाचक समझना चाहिये ।

* प्रकृति प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त है तथा पुरुष (जीवात्मा) स्वरूपसे ।

प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणान्वितम् ।
अग्राह्यौ पुरुषावेतावलिङ्गत्वादसंहतौ ॥ १० ॥

वह स्वयं गुणोंसे रहित तथा प्रकृतिके विकारों (कार्यों) का द्रष्टा है। ये दोनों प्रकृति और पुरुष सम्पूर्णतः इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। दोनों ही आकाररहित तथा एक दूसरेसे विलक्षण हैं ॥ १० ॥

संयोगलक्षणोत्पत्तिः कर्मणा गृह्यते यथा ।
करणैः कर्मनिर्वृत्तिः कर्ता यद् यद् विचेष्टते ।
कीर्त्यते शब्दसंज्ञाभिः कोऽहमेषोऽप्यसाविति॥ ११ ॥

प्रकृति और पुरुषके संयोगसे चराचर जगत्की उत्पत्ति होती है, जो कर्मसे ही जानी जाती है। जीव मन-इन्द्रियोंद्वारा कर्म करता है। वह जिस-जिस कर्मको करता है, उस-उसका कर्ता कहलाता है। 'कौन' 'मैं' 'यह' और 'वह'—इन शब्दों एवं संज्ञाओंद्वारा उसीका वर्णन किया जाता है॥ ११ ॥

उष्णीषवान् यथा वस्त्रैस्त्रिभिर्भवति संवृतः ।
संवृतोऽयं [illegible] देही सत्त्वराजसतामसैः ॥ १२ ॥

जैसे पगड़ी बाँधनेवाला पुरुष तीन वस्त्रों (पगड़ी, ऊर्ध्ववस्त्र, अधोवस्त्र) से परिवेष्टित होता है, उसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव सत्त्व, रज और तम—तीन गुणोंसे आवृत होता है ॥ १२ ॥

तस्माच्चतुष्टयं वेद्यमेतैर्हेतुभिरावृतम् ।
यथासंज्ञो ह्ययं सम्यगन्तकाले न मुह्यति ॥ १३ ॥

अतः इन्हीं हेतुओंसे आवृत हुई इन चार वस्तुओं (सच्चिदानन्दघन परमात्मा, दृश्यवर्ग, प्रकृति और पुरुष) को जानना चाहिये। इन्हें भलीभाँति तत्त्वसे जान लेनेपर मनुष्य मृत्युके समय मोहमें नहीं पड़ता है ॥ १३ ॥

श्रियं दिव्यामभिप्रेप्सुर्वर्ष्मवान् मनसा शुचिः ।
शारीरैर्नियमैरुग्रैश्चरेन्निष्कल्मषं तपः ॥ १४ ॥

जो दिव्य सम्पत्ति अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहे, [illegible] देहधारी पुरुषको अपना मन शुद्ध रखना चाहिये और शरीरसे कठोर नियमोंका पालन करते हुए निर्दोष तपका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १४ ॥

त्रैलोक्यं तपसा व्याप्तमन्तर्भूतेन भास्वता ।
सूर्यश्च चन्द्रमाश्चैव भासतस्तपसा दिवि ॥ १५ ॥

आन्तरिक तप चैतन्यमय प्रकाशसे युक्त है। उसके द्वारा तीनों लोक व्याप्त हैं। आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा भी तपसे ही प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

प्रकाशस्तपसो ज्ञानं लोके संशब्दितं तपः ।
रजस्तमोघ्नं यत् कर्म तपसस्तत् स्वलक्षणम् ॥ १६ ॥

लोकमें [illegible] शब्द विख्यात है। उस तपका फल है, ज्ञानस्वरूप प्रकाश। रजोगुण और तमोगुणका नाश करनेवाला जो निष्काम कर्म है, वही तपस्याका स्वरूपबोधक लक्षण है ॥

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।
वाङ्मनोर्नियमः सम्यङ्मानसं तप उच्यते ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्य और अहिंसाको शारीरिक तप कहते हैं। मन और वाणीका भलीभाँति किया हुआ संयम मानसिक तप कहलाता है ॥ १७ ॥

विधिज्ञेभ्यो द्विजातिभ्यो ग्राह्यमन्नं विशिष्यते ।
आहारनियमेनास्य पाप्मा शाम्यति राजसः ॥ १८ ॥

वैदिक विधिको जानने और उनके अनुसार चलनेवाले द्विजातियोंसे ही अन्न ग्रहण करना उत्तम माना गया है। ऐसे अन्नका नियमपूर्वक भोजन करनेसे रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला पाप शान्त हो जाता है ॥ १८ ॥

वैमनस्यं च विषये यान्त्यस्य करणानि च ।
तस्मात् तन्मात्रमादद्याद् यावदत्र प्रयोजनम् ॥ १९ ॥

उससे साधककी इन्द्रियाँ भी विषयोंकी ओरसे विरक्त हो जाती हैं। इसलिये उतना ही अन्न ग्रहण करना चाहिये, जितना जीवन-रक्षाके लिये वाञ्छनीय हो ॥ १९ ॥

अन्तकाले बलोत्कर्षाच्छनैः कुर्यादनातुरः ।
एवं युक्तेन मनसा ज्ञानं यदुपपद्यते ॥ २० ॥

इस प्रकार योगयुक्त मनके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे जीवनके [illegible] समयतक पूरी शक्ति लगाकर धीरे-धीरे [illegible] ही कर लेना चाहिये। इस कार्यमें धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये ॥ २० ॥

रजोवर्ज्योऽप्ययं देही देहवाञ्छब्दवच्चरेत् ।
कार्यैरव्याहतमतिर्वैराग्यात् प्रकृतौ स्थितः ॥ २१ ॥

योगपरायण योगीकी बुद्धि कार्योंद्वारा व्याहत नहीं होती। वह वैराग्यवश अपने स्वाभावमें स्थित रहता है, रजोगुणसे रहित होता है तथा देहधारी होकर भी शब्दकी भाँति अबाध गतिसे सर्वत्र विचरण करता है ॥ २१ ॥

आ देहादप्रमादाच्च देहान्ताद् विप्रमुच्यते ।
हेतुयुक्तः सदा सर्गो भूतानां प्रलयस्तथा ॥ २२ ॥

देह-त्यागपर्यन्त प्रमाद न होनेपर योगी देहावसानके पश्चात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है और जो बन्धनके कारणभूत अज्ञानसे युक्त होते हैं, उन प्राणियोंके सदा जन्म और मरण होते रहते हैं ॥ २२ ॥

परप्रत्ययसर्गे [illegible] नियतिर्नानुवर्तते ।
भावान्तप्रभवप्रज्ञा आसते ये विपर्ययम् ॥ २३ ॥

जिनको ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया है, उनका प्रारब्ध अनुसरण नहीं करता है अर्थात् वे प्रारब्धके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। परंतु जो इसके विपरीत स्थितिमें हैं अर्थात् जिनका अज्ञान दूर नहीं हुआ है, वे प्रारब्धवश जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े रहते हैं ॥ २३ ॥

धृत्या देहान् धारयन्तो बुद्धिसंक्षिप्तचेतसः ।
स्थानेभ्यो ध्वंसमानाश्च सूक्ष्मत्वात् तदुपासते ॥२४॥

कुछ योगीजन बुद्धिके द्वारा अपने चित्तको विषयोंकी

ओरसे हटाकर आसनकी दृढ़तासे स्थिरतापूर्वक देहको धारण करते हुए इन्द्रिय-गोलकोंसे सम्बन्ध त्यागकर सूक्ष्म बुद्धि होनेके कारण ब्रह्मकी उपासना करते हैं * ॥ २४ ॥

यथागमं च गत्वा वै बुद्ध्या तत्रैव बुद्ध्यते ।
देहान्तं कश्चिदन्वास्ते भावितात्मा निराश्रयम्॥ २५ ॥

कोई-कोई शास्त्रमें बताये हुए क्रमसे (उत्तरोत्तर उत्कृष्ट तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करते हुए पराकाष्ठातक पहुँचकर वहीं) बुद्धिके द्वारा ब्रह्मका अनुभव करते हैं । जिसने योगके द्वारा अपनी बुद्धिको शुद्ध कर लिया है, ऐसा कोई-कोई योगी ही देहस्थितिपर्यन्त आश्रयरहित—अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित ब्रह्ममें स्थित रहता है ॥ २५ ॥

युक्तं धारणया सम्यक् सतः केचिदुपासते ।
अभ्यस्यन्ति परं देवं विद्युत्संशब्दिताक्षरम् ॥ २६ ॥

इसी तरह कोई तो योगधारणाके द्वारा सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं और कोई उस परम देवका चिन्तन करते हैं, जो विद्युत्के समान ज्योतिर्मय और अविनाशी कहा गया है ॥ २६ ॥

अन्तकाले ह्युपासन्ते तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
सर्व एते महात्मानो गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ २७ ॥

कुछ लोग तपस्यासे अपने पापोंको दग्ध करके अन्तकालमें ब्रह्मकी प्राप्ति करते हैं । इन सभी महात्माओंको उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

सूक्ष्मं विशेषणं तेषामवेक्षेच्छास्त्रचक्षुषा ।
देहान्तं परमं विद्याद् विमुक्तमपरिग्रहम् ।
अन्तरिक्षादन्यतरं धारणासक्तमानसम् ॥ २८ ॥

शास्त्रीय दृष्टिसे उन महात्माओंकी सूक्ष्म विशेषताको देखे । देहत्यागपर्यन्त नित्यमुक्त, अपरिग्रह, आकाशसे भी विलक्षण उस परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करे, जिसमें योगधारणाद्वारा मनको स्थापित किया जाता है ॥ २८ ॥

मर्त्यलोकाद् विमुच्यन्ते विद्यासंसक्तचेतसः ।
ब्रह्मभूता विरजसस्ततो यान्ति परां गतिम् ॥ २९ ॥

जिनका मन ज्ञानके साधनमें लगा हुआ है, वे मर्त्यलोकके बन्धनसे छूट जाते हैं और रजोगुणसे रहित एवं ब्रह्मस्वरूप हो परम गतिको प्राप्त कर लेते हैं ॥ २९ ॥

एवमेकायनं धर्ममाहुर्वेदविदो जनाः ।
यथाज्ञानमुपासन्तः सर्वे यान्ति परां गतिम् ॥ ३० ॥

वेदके ज्ञाता विद्वान् पुरुषोंने इस प्रकार एकमात्र ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाले साधनरूप धर्मका वर्णन किया है । अपने-अपने ज्ञानके अनुसार उपासना करनेवाले सभी साधक परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

कषायवर्जितं ज्ञानं येषामुत्पद्यते चलम् ।
यान्ति तेऽपि पराँल्लोकान् विमुच्यन्ते यथाबलम्॥३१॥

जिन्हें राग आदि दोषोंसे रहित अस्थायी ज्ञान प्राप्त होता है, वे भी उत्तम लोकोंको प्राप्त होते हैं । तदनन्तर साधन बलसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥३१॥

भगवन्तमजं दिव्यं विष्णुमव्यक्तसंज्ञितम् ।
भावेन यान्ति शुद्धा ये ज्ञानतृप्ता निराशिषः ॥ ३२ ॥

जो सम्पूर्ण ऐश्वर्योंसे युक्त, अजन्मा, दिव्य एवं अव्यक्त नामवाले भगवान् विष्णुकी भक्तिभावसे शरण लेते हैं, वे ज्ञानानन्दसे तृप्त, विशुद्ध और कामनारहित हो जाते हैं ॥

ज्ञात्वाऽऽत्मस्थं हरिं चैव न निवर्तन्ति तेऽव्ययाः ।
प्राप्य तत् परमं स्थानं मोदन्तेऽक्षरमव्ययम् ॥ ३३ ॥

वे अपने अन्तःकरणमें श्रीहरिको स्थित जानकर अव्ययस्वरूप हो जाते हैं । उन्हें फिर इस संसारमें नहीं आना पड़ता । वे उस अविनाशी और अविकारी परमपदको पाकर परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

एतावदेतद् विज्ञानमेतदस्ति च नास्ति च ।
तृष्णाबद्धं जगत् सर्वं चक्रवत् परिवर्तते ॥ ३४ ॥

इतना ही यह विज्ञान है—यह जगत् है भी और नहीं भी है (अर्थात् व्यावहारिक अवस्थामें यह जगत् है और पारमार्थिक अवस्थामें नहीं है) । सम्पूर्ण जगत् तृष्णामें बँधकर चक्रके समान घूम रहा है ॥ ३४ ॥

बिसतन्तुर्यथैवायमन्तःस्थः सर्वतो बिसे ।
तृष्णातन्तुरनाद्यन्तस्तथा देहगतः सदा ॥ ३५ ॥

जैसे कमलकी नालमें रहनेवाला तन्तु उसके सभी अङ्गोंमें फैला रहता है, उसी प्रकार अनादि एवं अनन्त तृष्णातन्तु सदा देहधारीके चित्तमें स्थित रहता है ॥ ३५ ॥

सूच्या सूत्रं यथा वस्त्रे संसारयति वायकः ।
तद्वत् संसारसूत्रं हि तृष्णासूच्या निबद्ध्यते ॥ ३६ ॥

जैसे कपड़ा बुननेवाला जुलाहा सूईसे वस्त्रमें सूतको पिरो देता है, उसी प्रकार तृष्णारूपी सूईसे संसाररूपी सूत्र ग्रथित होता है ॥ ३६ ॥

विकारं प्रकृतिं चैव पुरुषं च सनातनम् ।
यो यथावद् विजानाति स वितृष्णो विमुच्यते ॥ ३७ ॥

जो प्रकृतिको, उसके कार्यको, पुरुष (जीवात्मा) को और सनातन परमात्माको यथार्थ रूपसे जानता है, वह तृष्णासे रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ३७ ॥

प्रकाशं भगवानेतदृषिर्नारायणोऽमृतम् ।

* पुराणान्तरमें बताया गया है कि इन्द्रियोंका आत्मभावसे चिन्तन करनेवाले योगी दस मन्वन्तरोंतक ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं । यथा—

दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।

भूतानामनुकम्पार्थं जगाद जगतो गतिः ॥ ३८ ॥
संसारको शरण देनेवाले ऋषिश्रेष्ठ भगवान् नारायणने जीवोंपर दया करनेके लिये ही इस अमृतमय ज्ञानको प्रकाशित किया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वार्ष्णेयाध्यात्मकथने सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्णसम्बन्धी अध्यात्मका वर्णनविषयक दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१७ ॥

अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा जनकके दरबारमें पञ्चशिखका आगमन और उनके द्वारा नास्तिक मतोंके निराकरणपूर्वक शरीरसे भिन्न आत्माकी नित्य सत्ताका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ जनको मिथिलाधिपः ।
जगाम मोक्षं मोक्षज्ञो भोगानुत्सृज्य मानुषान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सदाचारके ज्ञाता पितामह ! मोक्ष-धर्मको जाननेवाले मिथिलानरेश जनकने मानवभोगोंका परित्याग करके किस प्रकारके आचरणसे मोक्ष प्राप्त किया ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
येन वृत्तेन धर्मज्ञः स जगाम महत्सुखम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसके आचरणसे धर्मज्ञ राजा जनक महान् सुख (मोक्ष) को प्राप्त हुए थे ॥ २ ॥

जनको जनदेवस्तु मिथिलायां जनाधिपः ।
और्ध्वदेहिकधर्माणामासीद् युक्तो विचिन्तने ॥ ३ ॥

प्राचीन कालकी बात है मिथिलामें जनकवंशी राजा जन-देव राज्य करते थे । वे सदा देह-त्यागके पश्चात् आत्माके अस्तित्वरूप धर्मोंके ही चिन्तनमें लगे रहते थे ॥ ३ ॥

तस्य स्म शतमाचार्या वसन्ति सततं गृहे ।
दर्शयन्तः पृथग्धर्मान् नानाश्रमनिवासिनः ॥ ४ ॥

उनके दरबारमें सौ आचार्य बराबर रहा करते थे, जो विभिन्न आश्रमोंके निवासी थे और उन्हें भिन्न-भिन्न धर्मोंका उपदेश देते रहते थे ॥ ४ ॥

स तेषां प्रेत्यभावे च प्रेत्यजातौ विनिश्चये ।
आगमस्थः स भूयिष्ठमात्मतत्त्वे न तुष्यति ॥ ५ ॥

'इस शरीरको त्याग देनेके पश्चात् जीवकी सत्ता रहती है या नहीं, अथवा देह-त्यागके बाद उसका पुनर्जन्म होता है या नहीं' इस विषयमें उन आचार्योंका जो सुनिश्चित सिद्धान्त था, वे लोग आत्मतत्त्वके विषयमें जैसा विचार उपस्थित करते थे, उससे शास्त्रानुयायी राजा जनदेवको विशेष संतोष नहीं होता था ॥ ५ ॥

तत्र पञ्चशिखो नाम कापिलेयो महामुनिः ।
परिधावन् महीं कृत्स्नां जगाम मिथिलामथ ॥ ६ ॥

एक बार कपिलाके पुत्र महामुनि पञ्चशिख सारी पृथ्वी-की परिक्रमा करते हुए मिथिलामें जा पहुँचे ॥ ६ ॥

सर्वसंन्यासधर्माणां तत्त्वज्ञानविनिश्चये ।
सुपर्यवसितार्थश्च निर्द्वन्द्वो नष्टसंशयः ॥ ७ ॥

वे सम्पूर्ण संन्यास-धर्मोंके ज्ञाता और तत्त्वज्ञानके निर्णयमें एक सुनिश्चित सिद्धान्तके पोषक थे । उनके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था । वे निर्द्वन्द्व होकर विचरा करते थे ॥

ऋषीणामाहुरेकं तं यं कामानावृतं नृषु ।
शाश्वतं सुखमत्यन्तमन्विच्छन्तं सुदुर्लभम् ॥ ८ ॥

उन्हें ऋषियोंमें अद्वितीय बताया जाता है । वे कामनासे सर्वथा शून्य थे । वे मनुष्योंके हृदयमें अपने उपदेशद्वारा अत्यन्त दुर्लभ सनातन सुखकी प्रतिष्ठा करना चाहते थे ॥८॥

यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षिं प्रजापतिम् ।
स मन्ये तेन रूपेण विस्मापयति हि स्वयम् ॥ ९ ॥

सांख्यके विद्वान् तो उन्हें साक्षात् प्रजापति महर्षि कपिल-का ही स्वरूप बताते हैं । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् कपिल स्वयं पञ्च-शिखके रूपमें आकर लोगोंको आश्चर्यमें डाल रहे हैं ॥ ९ ॥

आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम् ।
पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्षसहस्रिकम् ॥ १० ॥

उन्हें आसुरि मुनिका प्रथम शिष्य और चिरजीवी बताया जाता है । उन्होंने एक हजार वर्षोंतक मानस यज्ञका अनुष्ठान किया था ॥ १० ॥

तं समासीनमागम्य कापिलं मण्डलं महत् ।
पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः ॥ ११ ॥
पञ्चज्ञः पञ्चकृत्पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः ।
पुरुषावस्थमव्यक्तं परमार्थं न्यवेदयत् ॥ १२ ॥

एक समय आसुरि मुनि अपने आश्रममें बैठे हुए थे । इसी समय कपिलमतावलम्बी मुनियोंका महान् समुदाय वहाँ आया और प्रत्येक पुरुषके भीतर स्थित, अव्यक्त एवं परमार्थ-तत्त्वके विषयमें उनसे कुछ कहनेका अनुरोध करने लगा ।

उन्हींमें पञ्चशिख भी थे, जो पाँच स्रोतों (इन्द्रियों) वाले मनके व्यापार (ऊहापोह) में कुशल थे, पञ्चरात्र आगमके विशेषज्ञ थे, पाँच कोशोंके ज्ञाता और तद्विषयक पाँच प्रकारकी उपासनाओंके जानकार थे। शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान—इन पाँच गुणोंसे भी युक्त थे। उन पाँचों कोशोंसे भिन्न होनेके कारण उनके शिखास्थानीय जो ब्रह्म है, वह पञ्चशिख कहा गया है। उसके ज्ञाता होनेसे ऋषिको भी 'पञ्चशिख' माना गया है ॥ ११–१२ ॥

इष्टसत्रेण संसिद्धो भूयश्च तपसाऽऽसुरिः ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्व्यक्तिं बुबुधे देवदर्शनः ॥ १३ ॥

आसुरि तपोबलसे दिव्य दृष्टि प्राप्त कर चुके थे। ज्ञानयज्ञके द्वारा सिद्धि प्राप्त करके उन्होंने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको स्पष्टरूपसे समझ लिया था ॥ १३ ॥

यत् तदेकाक्षरं [illegible] नानारूपं प्रदृश्यते ।
आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम् ॥ १४ ॥

जो एकमात्र अक्षर और अविनाशी ब्रह्म नाना रूपोंमें दिखायी देता है, उसका ज्ञान आसुरिने उस मुनिमण्डलीमें प्रतिपादित किया ॥ १४ ॥

[illegible] पञ्चशिखः शिष्यो मानुष्या पयसा भृतः ।
ब्राह्मणी कपिला नाम काचिदासीत् कुटुम्बिनी ॥ १५ ॥
तस्याः पुत्रत्वमागम्य स्त्रियाः [illegible] पिबति स्तनौ ।
ततः स कापिलेयत्वं लेभे बुद्धिं च नैष्ठिकीम् ॥ १६ ॥

उन्हींके शिष्य पञ्चशिख थे, जो मानवी स्त्रीके दूधसे पले थे। कपिला नामवाली कोई कुटुम्बिनी ब्राह्मणी थी। उसी स्त्रीके पुत्रभावको प्राप्त होकर वे उसके स्तनोंका दूध पीते थे; अतः कपिलाका पुत्र कहलानेके कारण कापिलेय नामसे उनकी प्रसिद्धि हुई। उन्होंने नैष्ठिक (ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवाली) बुद्धि प्राप्त की थी ॥ १५–१६ ॥

एतन्मे भगवानाह कापिलेयस्य सम्भवम् ।
तस्य तत् कापिलेयत्वं सर्ववित्त्वमनुत्तमम् ॥ १७ ॥

कापिलेयके जन्मका यह वृत्तान्त मुझे भगवान्‌ने बताया था। उनके कपिलापुत्र कहलाने और सर्वज्ञ होनेका यही परम उत्तम वृत्तान्त है ॥ १७ ॥

सामान्यं जनकं ज्ञात्वा धर्मज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ।
उपेत्य शतमाचार्यान् मोहयामास हेतुभिः ॥ १८ ॥

धर्मज्ञ पञ्चशिखने उत्तम ज्ञान प्राप्त किया था। वे राजा जनकको सौ आचार्योंपर समानभावसे अनुरक्त जान उनके दरबारमें गये और वहाँ जाकर उन्होंने अपने युक्तियुक्त वचनोंद्वारा उन सब आचार्योंको मोहित कर दिया ॥ १८ ॥

जनकस्त्वभिसंरक्तः कापिलेयानुदर्शनात् ।
उत्सृज्य शतमाचार्यान् पृष्ठतोऽनुजगाम तम् ॥ १९ ॥

उस समय महाराज जनक कपिलानन्दन पञ्चशिखका [illegible] देखकर उनके प्रति आकृष्ट हो गये और अपने सौ आचार्योंको छोड़कर उन्हींके पीछे चलने लगे ॥ १९ ॥

तस्मै परमकल्याय प्रणताय च धर्मतः ।
अब्रवीत् परमं मोक्षं यत् तत् सांख्येऽभिधीयते ॥ २० ॥

तब मुनिवर पञ्चशिखने राजाको धर्मानुसार चरणोंमें पड़ा देख उन्हें योग्य अधिकारी मानकर परम मोक्षका उपदेश दिया, जिसका सांख्यशास्त्रमें वर्णन है ॥ २० ॥

जातिनिर्वेदमुक्त्वा स कर्मनिर्वेदमब्रवीत् ।
कर्मनिर्वेदमुक्त्वा च सर्वनिर्वेदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

उन्होंने 'जातिनिर्वेद'[1] का वर्णन करके 'कर्मनिर्वेद'[2] का उपदेश किया। तत्पश्चात् 'सर्वनिर्वेद'[3] की बात बतायी ॥ २१ ॥

यदर्थं धर्मसंसर्गः कर्मणां च फलोदयः ।
तमनाश्वासिकं मोहं विनाशि चलमध्रुवम् ॥ २२ ॥

उन्होंने कहा— 'जिसके लिये धर्मका आचरण किया जाता है, जो कर्मोंके फलका उदय होनेपर प्राप्त होता है, वह इहलोक या परलोकका भोग नश्वर है। उसपर आस्था करना उचित नहीं। वह मोहरूप, चञ्चल और अस्थिर है' ॥ २२ ॥

दृश्यमाने विनाशे च प्रत्यक्षे लोकसाक्षिके ।
आगमात् परमस्तीति ब्रुवन्नपि पराजितः ॥ २३ ॥

कुछ नास्तिक ऐसा कहा करते हैं कि देहरूपी आत्माका विनाश प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। सम्पूर्ण लोक इसका साक्षी है। फिर भी यदि कोई शास्त्रप्रमाणकी ओट लेकर देहसे भिन्न आत्माकी सत्ताका प्रतिपादन करता है तो वह [illegible] है; क्योंकि [illegible] कथन लोकानुभवके विरुद्ध है ॥ २३ ॥

[illegible] ह्यात्मनो मृत्युः क्लेशो मृत्युर्जरामयः ।
आत्मानं मन्यते मोहात् तदसम्यक् परं मतम् ॥ २४ ॥

आत्माके स्वरूपभूत शरीरका अभाव होना ही उसकी मृत्यु है। इस दृष्टिसे दुःख, वृद्धावस्था तथा नाना प्रकारके रोग—ये सभी आत्माकी मृत्यु ही है (क्योंकि इनके द्वारा शरीरका आंशिक विनाश होता रहता है)। फिर भी जो लोग आत्माको देहसे भिन्न मानते हैं, उनकी यह मान्यता बहुत ही असङ्गत है ॥ २४ ॥

[illegible] चेदेवमप्यस्ति यल्लोके नोपपद्यते ।
अजरोऽयममृत्युश्च राजासौ मन्यते यथा ॥ २५ ॥

यदि ऐसी वस्तुका भी अस्तित्व मान लिया जाय, जो लोकमें सम्भव नहीं है अर्थात् यदि शास्त्रके आधारपर यह स्वीकार कर लिया जाय कि शरीरसे भिन्न कोई अजर-अमर आत्मा है, जो स्वर्गादि लोकोंमें दिव्य सुख भोगता है, तब तो

१- जन्मके समय गर्भवास आदिके कारण जो कष्ट होता है, उसपर विचार करके शरीरसे वैराग्य होना 'जातिनिर्वेद' है।

२- कर्मजनित क्लेश—नाना योनियोंकी प्राप्ति एवं नरकादि यातनाका विचार करके पाप तथा काम्य कर्मोंसे विरत होना 'कर्मनिर्वेद' है।

३- इस जगत्‌की छोटी-से-छोटी वस्तुओंसे लेकर [illegible] भोगोंकी क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताका विचार करके सब [illegible] विरक्त होना 'सर्वनिर्वेद' कहलाता है।

महर्षि पञ्चशिखका महाराज जनकको उपदेश

बन्दीजन जो राजाको अजर-अमर कहते हैं, उनकी वह बात भी ठीक माननी पड़ेगी (साराश यह है कि जैसे बन्दीजन आशीर्वादमें उपचारतः राजाको अजर अमर कहते हैं, उसी प्रकार यह शास्त्रका वचन भी औपचारिक ही है । नीरोग शरीरको ही अजर-अमर और यहाँके प्रत्यक्ष सुख भोगको ही स्वर्गीय सुख कहा गया है) ॥ २५ ॥

अस्ति नास्तीति चाप्येतत् तस्मिन्नसति लक्षणे ।
किमधिष्ठाय तद् ब्रूयाल्लोकयात्राविनिश्चयम् ॥ २६ ॥

यदि आत्मा है या नहीं—यह संशय उपस्थित होनेपर अनुमानसे उसके अस्तित्वका साधन किया जाय तो इसके लिये कोई ऐसा निर्दोष हेतु नहीं उपलब्ध होता, जो कहीं दोषयुक्त न होता हो; फिर किस अनुमानका आश्रय लेकर लोकव्यवहार-का निश्चय किया जा सकता है ॥ २६ ॥

प्रत्यक्षं ह्येतयोर्मूलं कृतान्तैतिह्ययोरपि ।
प्रत्यक्षेणागमो भिन्नः कृतान्तो वा न किञ्चन ॥ २७ ॥

अनुमान और आगम—इन दोनों प्रमाणोंका मूल प्रत्यक्ष प्रमाण है । आगम या अनुमान यदि प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध है तो वह कुछ भी नहीं है—उसकी प्रामाणिकता नहीं स्वीकार की जा सकती ॥ २७ ॥

यत्र यत्रानुमानेऽस्मिन् कृतं भावयतोऽपि च ।
नान्यो जीवः शरीरस्य नास्तिकानां मते स्थितः ॥ २८ ॥

जहाँ-कहीं भी ईश्वर, अदृष्ट अथवा नित्य आत्माकी सिद्धिके लिये अनुमान किया जाता है, वहाँ साध्य-साधनके लिये की हुई भावना भी व्यर्थ है, अतः नास्तिकोंके मतमें जीवात्माकी शरीरसे भिन्न कोई सत्ता नहीं है—यह बात स्थिर हुई ॥ २८ ॥

रेतो वटकणीकायां घृतपाकाधिवासनम् ।
जातिः स्मृतिरयस्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणम् ॥ २९ ॥

जैसे वटवृक्षके बीजमें पत्र, पुष्प, फल, मूल तथा त्वचा आदि छिपे होते हैं, जैसे गायके द्वारा खायी हुई घासमेंसे घी, दूध आदि प्रकट होते हैं तथा जिस प्रकार अनेक औषध द्रव्योंका पाक एवं अधिवासन करनेसे उनमें नशा पैदा करने-वाली शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार वीर्यसे ही शरीर आदिके साथ चेतनता भी प्रकट होती है । इसके सिवा जाति, स्मृति, अयस्कान्तमणि, सूर्यकान्तमणि और बड़वानलके द्वारा समुद्रके जलका पान आदि दृष्टान्तोंसे भी देहातिरिक्त चैतन्यकी सिद्धि नहीं होती * ॥ २९ ॥

प्रेतीभूतेऽत्ययश्चैव देवताद्युपयाचनम् ।
मृते कर्मनिवृत्तिश्च प्रमाणमिति निश्चयः ॥ ३० ॥

(इस नास्तिक मतका खण्डन इस प्रकार समझना चाहिये) मरे हुए शरीरमें जो चेतनताका अभाव देखा जाता है, वही देहातिरिक्त आत्माके अस्तित्वमें प्रमाण है (यदि चेतनता देहका ही धर्म हो तो मृतक शरीरमें भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिये; परंतु मृत्युके पश्चात् कुछ कालतक शरीर तो रहता है, पर उसमें चेतनता नहीं रहती; अतः यह सिद्ध हो जाता है कि चेतन आत्मा शरीरसे भिन्न है) । नास्तिक भी रोग आदिकी निवृत्तिके लिये मन्त्र, जप तथा तान्त्रिक पद्धतिसे देवता आदिकी आराधना करते हैं । (वह देवता क्या है ? यदि पाञ्चभौतिक है तो घट आदिकी भाँति उसका दर्शन होना चाहिये और यदि वह भौतिक पदार्थोंसे भिन्न है तो चेतनकी सत्ता स्वतः सिद्ध हो गयी; अतः देहसे भिन्न आत्मा है, यह प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध हो जाता है और देह ही आत्मा है, यह प्रत्यक्ष अनुभवके विरुद्ध जान पड़ता है) । यदि शरीरकी मृत्युके साथ आत्माकी भी मृत्यु मान ली जाय, तब तो उसके किये हुए कर्मोंका भी नाश मानना पड़ेगा; फिर तो उसके शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेवाला कोई नहीं रह जायगा और देहकी उत्पत्तिमें अकृताभ्यागम (बिना किये हुए कर्मका ही भोग प्राप्त हुआ ऐसा) मानने-का प्रसङ्ग उपस्थित होगा । ये सब प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि देहातिरिक्त चेतन आत्माकी सत्ता अवश्य है ॥ ३० ॥

नन्वेते हेतवः सन्ति ये केचिन्मूर्तिसंस्थिताः ।
अमूर्तस्य हि मूर्तेन सामान्यं नोपपद्यते ॥ ३१ ॥

नास्तिकोंकी ओरसे जो कोई हेतुभूत दृष्टान्त दिये गये हैं, वे सब मूर्त पदार्थ हैं । मूर्त जड पदार्थसे मूर्त जड पदार्थकी ही उत्पत्ति होती है । यही उन दृष्टान्तोंद्वारा सिद्ध होता है । जैसे काठसे अग्निकी उत्पत्ति (यदि पञ्चभूतोंसे आत्माकी अथवा मूर्तसे अमूर्तकी उत्पत्ति स्वीकार की जाय तब तो पृथ्वी आदि मूर्त पदार्थोंसे आकाशकी भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी, जो असम्भव है) । आत्मा अमूर्त पदार्थ है और देह मूर्त, अतः अमूर्तकी मूर्तके साथ समानता अथवा मूर्त भूतों-के संयोगसे अमूर्त चेतन आत्माकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥

अविद्या कर्म तृष्णा च केचिदाहुः पुनर्भवे ।
कारणं लोभमोहौ तु दोषाणां तु निषेवणम् ॥ ३२ ॥

* जाति कहते हैं जन्मको । जैसे गुड़ या महुवे आदिसे अनेक द्रव्योंके संयोगद्वारा जो मद्य तैयार किया जाता है, उसमें उपा-दानकी अपेक्षा विलक्षण मादकताशक्तिका जन्म हो जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चार द्रव्योंके संयोगसे इस शरीरमें ही जीव चैतन्य प्रकट हो जाता है । जैसे जड मनसे अजड स्मृति प्रकट होती है, उसी प्रकार जड शरीरसे चेतन जीवकी उत्पत्ति हो जाती है । जैसे अयस्कान्तमणि (चुम्बक) जड होकर भी लोहेको खींच लेती है, उसी प्रकार जड शरीर भी इन्द्रियोंका संचालन और नियन्त्रण कर लेता है, अतः आत्मा उससे भिन्न नहीं है । जैसे सूर्यकान्तमणि शीतल होकर भी सूर्यकी किरणोंके संयोगसे आग प्रकट करने लगती है, उसी प्रकार वीर्य शीतल होकर भी रस और रक्तके संयोगसे जठरानलका आविष्कार करता है और जैसे जलसे उत्पन्न हुआ वडवानल जलको ही भक्षण करता है, उसी प्रकार वीर्यसे उत्पन्न हुआ यह शरीर स्वयं भी वीर्यका आधान एवं धारण करता है । अतः शरीरसे भिन्न आत्माकी सत्ता माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

कुछ लोग अविद्या, कर्म, तृष्णा, लोभ, मोह तथा दोषोंके सेवनको पुनर्जन्ममें कारण बताते हैं ॥ ३२ ॥

अविद्यां क्षेत्रमाहुर्हि कर्म बीजं तथा कृतम् ।
तृष्णा संजननं स्नेह एष तेषां पुनर्भवः ॥ ३३ ॥

अविद्याको वे क्षेत्र कहते हैं। पूर्व-जन्मोंका किया हुआ कर्म बीज है और तृष्णा अङ्कुरकी उत्पत्ति करानेवाला स्नेह या जल है। यही उनके मतमें पुनर्जन्मका प्रकार है ॥ ३३ ॥

तस्मिन् गूढे च दग्धे च भिन्ने मरणधर्मिणि ।
अन्योऽस्माज्जायते देहस्तमाहुः सत्त्वसंक्षयम् ॥ ३४ ॥

वे अविद्या आदि कारणसमूह सुषुप्ति और प्रलयमें भी संस्काररूपमें गूढभावसे स्थित रहते हैं। उनके रहते हुए जब एक मरणधर्मा शरीर नष्ट हो जाता है, तब उसीसे पूर्वोक्त अविद्या आदिके कारण दूसरा शरीर उत्पन्न हो जाता है। जब ज्ञानके द्वारा अविद्या आदि निमित्त दग्ध हो जाते हैं, तब शरीर-नाशके पश्चात् सत्त्व (बुद्धि) का क्षयरूप मोक्ष होता है, ऐसा उनका कथन है ॥ ३४ ॥

यदा स्वरूपतश्चान्यो जातितः शुभतोऽर्थतः ।
कथमस्मिन् स इत्येवं सर्वं स्यादसंहितम् ॥ ३५ ॥

(उपर्युक्त नास्तिक मतमें आस्तिकलोग इस प्रकार दोष देते हैं—) क्षणिक विज्ञानवादीकी मान्यताके अनुसार शरीर और जीव जब क्षणिक हैं, तब पूर्वक्षणवर्ती शरीरसे परक्षण-वर्ती शरीर रूप, जाति, धर्म और प्रयोजन सभी दृष्टियोंसे भिन्न हैं। ऐसी अवस्थामें यह वही है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा (स्मृति) नहीं हो सकती। अथवा भोग, मोक्ष आदि सब कुछ बिना इच्छा किये ही अकस्मात् प्राप्त हो जाता है, ऐसा मानना पड़ेगा (उस दशामें यह भी कहा जा सकता है कि मोक्षकी इच्छा करनेवाला दूसरा है, साधन करनेवाला दूसरा है और उससे मुक्त होनेवाला भी दूसरा ही है) ॥ ३५ ॥

एवं सति च का प्रीतिर्दानविद्यातपोबलैः ।
यदन्याचरितं कर्म सर्वमन्यत् प्रपद्यते ॥ ३६ ॥

यदि ऐसी ही बात है, तब दान, विद्या, तपस्या और बलसे किसीको क्या प्रसन्नता होगी ? क्योंकि उसका किया हुआ सारा कर्म दूसरेको ही अपना फल प्रदान करेगा (अर्थात् दान करते समय जो दाता है, वह क्षणिक विज्ञानवादके अनुसार फल-भोगकालमें नहीं रह जाता, अतः पुण्य या पाप एक करता है और उसका फल दूसरा भोगता है) ॥ ३६ ॥

अपि ह्ययमिहैवान्यैः प्राक्कृतैर्दुःखितो भवेत् ।
सुखितो दुःखितो वापि दृश्यादृश्यविनिर्णयः ॥ ३७ ॥

(यदि कहें, यह आपत्ति तो अभीष्ट ही है कि कर्म करते समय जो कर्ता है, वह फल-भोग कालमें नहीं है। एक विज्ञानसे उत्पन्न हुआ दूसरा विज्ञान ही फल भोगता है, तब तो) इस जगत्‌में यह देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त आदि दूसरोंके किये हुए अशुभ कर्मोंसे दुःखी एवं परकृत शुभ कर्मोंसे सुखी हो सकता है (क्योंकि जब कर्ता दूसरा और भोक्ता दूसरा है, तब तो किसीका भी कर्म किसीको भी सुख-दुःख दे सकता है)। उस दशामें दृश्य और अदृश्यका निर्णय भी यही होगा कि जो पूर्वक्षणमें दृश्य था, वह वर्तमान क्षणमें अदृश्य हो गया तथा जो पहले अदृश्य था, वही इस समय दृश्य हो रहा है ॥ ३७ ॥

तथा हि मुसलैर्हन्युः शरीरं तत् पुनर्भवेत् ।
पृथग्ज्ञानं यदन्यच्च येनैतन्नोपपद्यते ॥ ३८ ॥

यदि कहें, देवदत्तके ज्ञानसे यज्ञदत्तका ज्ञान पृथक् एवं विजातीय है, सजातीय विज्ञानधारामें ही कर्म और उसके फलका भोग प्राप्त होता है; अतः देवदत्तके किये हुए कर्मका भोग यज्ञदत्तको नहीं प्राप्त हो सकता, उस कारण पूर्वोक्त दोषकी आपत्ति सम्भव नहीं है, तब हम यह पूछते हैं कि आपके मतमें जो यह सादृश्य या सजातीय विज्ञान उत्पन्न होता है, उसका उपादान क्या है ? यदि पूर्वक्षणवर्ती विज्ञान-को ही उपादान बताया जाय तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि वह विज्ञान नष्ट हो चुका और यदि पूर्वक्षणवर्ती विज्ञानका नाश ही उत्तरक्षणवर्ती सजातीय विज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है, तब तो यदि कुछ लोग किसीके शरीरको मूसलोंसे मार डालें तो उस मरे हुए शरीरसे भी दूसरे शरीरकी पुनः उत्पत्ति हो सकती है (अतः यह मत ठीक नहीं है) ॥ ३८ ॥

ऋतुसंवत्सरौ तिथ्यः शीतोष्णेऽथ प्रियाप्रिये ।
यथातीतानि पश्यन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः ॥ ३९ ॥

ऋतु, संवत्सर, युग, सर्दी, गर्मी तथा प्रिय और अप्रिय—ये सब वस्तुएँ आकर चली जाती हैं और आकर फिर आ जाती हैं, यह सब लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। उसी प्रकार सत्त्व-संक्षयरूप मोक्ष भी फिर आकर निवृत्त हो सकता है (क्योंकि विज्ञानधाराका कहीं अन्त नहीं है) ॥ ३९ ॥

जरयाभिपरीतस्य मृत्युना च विनाशिना ।
दुर्बलं दुर्बलं पूर्वं गृहस्येव विनश्यति ॥ ४० ॥

जैसे मकानके दुर्बल-दुर्बल अङ्ग पहले नष्ट होने लगते हैं और फिर क्रमशः सारा मकान ही गिर जाता है, उसी प्रकार वृद्धावस्था और विनाशकारी मृत्युसे आक्रान्त हुए शरीरके दुर्बल-दुर्बल अङ्ग क्षीण होते-होते एक दिन सम्पूर्ण शरीरका नाश हो जाता है ॥ ४० ॥

इन्द्रियाणि मनो वायुः शोणितं मांसमस्थि च ।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति स्वं धातुमुपयान्ति च ॥ ४१ ॥

इन्द्रिय, मन, प्राण, रक्त, मांस और हड्डी—ये सब क्रमशः नष्ट होते और अपने कारणमें मिल जाते हैं ॥ ४१ ॥

लोकयात्राविघातश्च दानधर्मफलागमे ।
तदर्थं वेदशब्दाश्च व्यवहाराश्च लौकिकाः ॥ ४२ ॥

यदि आत्माकी सत्ता न मानी जाय तो लोकयात्राका निर्वाह नहीं होगा। दान और दूसरे धर्मोंके फलकी प्राप्तिके लिये कोई आस्था नहीं रहेगी; क्योंकि वैदिक शब्द और लौकिक व्यवहार सब आत्माको ही सुख देनेके लिये हैं ॥

इति सम्यङ्मनस्येते बहवः सन्ति हेतवः ।
एतदस्तीदमस्तीति न किंचित्प्रतिदृश्यते ॥ ४३ ॥

इस प्रकार मनमें अनेक प्रकारके तर्क उठते हैं और उन तर्कों तथा युक्तियोंसे आत्माकी सत्ता या असत्ताका निर्धारण कुछ भी होता नहीं दिखायी देता ॥ ४३ ॥

तेषां विमृशतामेव तत् तत्समभिधावताम् ।
क्वचिन्निविशते बुद्धिस्तत्र जीर्यति वृक्षवत् ॥ ४४ ॥

इस तरह विचार करते हुए भिन्न-भिन्न मतोंकी ओर दौड़नेवाले लोगोंकी बुद्धि कहीं एक जगह प्रवेश करती है और वहीं वृक्षकी भाँति जड़ जमाये जीर्ण हो जाती है ॥ ४४ ॥

एवमर्थैरनर्थैश्च दुःखिताः सर्वजन्तवः ।
आगमैरपकृष्यन्ते हस्तिपैर्हस्तिनो यथा ॥ ४५ ॥

इस प्रकार अर्थ और अनर्थसे सभी प्राणी दुखी रहते हैं। केवल शास्त्रके वचन ही उन्हें खींचकर राहपर लाते हैं। ठीक उसी तरह, जैसे महावत हाथीपर अङ्कुश रखकर उन्हें काबूमें किये रहते हैं ॥ ४५ ॥

अर्थांस्तथात्यन्तसुखावहांश्च
लिप्सन्त एते बहवो विशुष्काः ।
महत्तरं दुःखमनुप्रपन्ना
हित्वाऽऽमिषं मृत्युवशं प्रयान्ति ॥ ४६ ॥

बहुत-से शुष्क हृदयवाले लोग ऐसे विषयोंकी लिप्सा रखते हैं, जो अत्यन्त सुखदायक हों, किंतु इस लिप्सामें उन्हें भारी-से-भारी दुःखोंका ही सामना करना पड़ता है और अन्तमें वे भोगोंको छोड़कर मृत्युके ग्रास बन जाते हैं ॥ ४६ ॥

विनाशिनो ह्यध्रुवजीवितस्य
किं बन्धुभिर्मित्रपरिग्रहैश्च ।
विहाय यो गच्छति सर्वमेव
क्षणेन गत्वा न निवर्तते च ॥ ४७ ॥

जो एक दिन [illegible] होनेवाला है, जिसके जीवनका कुछ ठिकाना नहीं, ऐसे अनित्य शरीरको पाकर इन बन्धु-बान्धवों [illegible] स्त्री-पुत्र आदिसे क्या लाभ है। यह सोचकर जो मनुष्य इन सबको क्षणभरमें वैराग्यपूर्वक त्यागकर चल देता है, उसे मृत्युके पश्चात् फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ४७ ॥

भूव्योमतोयानलवायवोऽपि
सदा शरीरं प्रतिपालयन्ति ।
इतीदमालक्ष्य रतिः कुतो भवेद्
विनाशिनोऽप्यस्य न शर्म विद्यते ॥ ४८ ॥

पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि और वायु—ये सदा शरीरकी रक्षा करते रहते हैं। इस बातको अच्छी तरह समझ लेनेपर इसके प्रति आसक्ति कैसे हो सकती है? जो एक दिन मृत्युके मुखमें पड़नेवाला है, ऐसे शरीरसे सुख कहाँ है ॥ ४८ ॥

इदमनुपधिवाक्यमच्छलं
परमनिरामयमात्मसाक्षिकम् ।
नरपतिरभिवीक्ष्य विस्मितः
पुनरनुयोक्तुमिदं प्रचक्रमे ॥ ४९ ॥

पञ्चशिखका यह उपदेश जो भ्रम और वञ्चनासे रहित, सर्वथा निर्दोष तथा आत्माका साक्षात्कार करानेवाला था, सुनकर राजा जनकको बड़ा विस्मय हुआ; अतः उन्होंने पुनः [illegible] करनेका विचार किया ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखवाक्ये पाखण्डखण्डनं नामाष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिखके उपदेशके प्रसङ्गमें पाखण्डखण्डन नामक दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१८ ॥

एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चशिखके द्वारा मोक्षतत्त्वका विवेचन एवं भगवान् विष्णुद्वारा मिथिलानरेश जनकवंशी जनदेवकी परीक्षा और उनके लिये वरप्रदान

भीष्म उवाच

जनको जनदेवस्तु ज्ञापितः परमर्षिणा ।
पुनरेवानुपप्रच्छ साम्पराये भवाभवौ ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! महर्षि पञ्चशिखके इस प्रकार उपदेश देनेपर जनदेव जनकने पुनः उनसे मृत्युके पश्चात् आत्माकी सत्ता या विनाशके विषयमें प्रश्न किया।

जनक उवाच

भगवन् यदि न प्रेत्य संज्ञा भवति कस्यचित् ।
एवं सति किमज्ञानं ज्ञानं वा किं करिष्यति ॥ २ ॥

जनकने पूछा—भगवन्! यदि मृत्युके पश्चात् किसीकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रह जाती तो उस स्थितिमें अज्ञान अथवा ज्ञान क्या करेगा? ॥ २ ॥

सर्वमुच्छेदनिष्ठं स्यात् पश्य चैतद् द्विजोत्तम ।
अप्रमत्तः प्रमत्तो [illegible] किं विशेषं करिष्यति ॥ [illegible] ॥

द्विजश्रेष्ठ! देखिये, मनुष्यकी मृत्युके साथ-साथ उसका सारा साधन नष्ट हो जाता है; फिर वह पहलेसे सावधान हो या असावधान, क्या विशेष लाभ उठा सकेगा? ॥ ३ ॥

असंसर्गो हि भूतेषु संसर्गो वा विनाशिषु ।
कस्मै क्रियेत कल्प्येत निश्चयः कोऽत्र तत्त्वतः ॥ [illegible] ॥

मृत्यु होनेके पश्चात् जीवात्माका विनाशशील पञ्च-महाभूतोंसे कोई संसर्ग रहता है या नहीं? यदि रहता है तो किसलिये रहता है? इस विषयमें यथार्थरूपसे क्या निश्चय किया जा सकता है? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

तमसा हि प्रतिच्छन्नं विभ्रान्तमिव चातुरम् ।

पुनः प्रशमयन् वाक्यैः कविः पञ्चशिखोऽब्रवीत्॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! राजा जनककी बुद्धिको अज्ञानान्धकारसे आच्छादित तथा आत्माके नाशकी सम्भावनासे भ्रान्त एवं व्याकुल जानकर ज्ञानी महात्मा पञ्चशिख उन्हे मधुर वचनोंद्वारा शान्त करते हुए-से बोले—॥ ५ ॥

उच्छेदनिष्ठा नेहास्ति भावनिष्ठा न विद्यते।
अयं ह्यपि समाहारः शरीरेन्द्रियचेतसाम्।
वर्तते पृथगन्योन्यमप्युपाश्रित्य कर्मसु॥ ६ ॥

'राजन्! मृत्युके पश्चात् आत्माका न तो नाश होता है और न वह किसी विशेष आकारमे ही परिणत होता है। यह जो प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला सङ्घात है, यह भी शरीर, इन्द्रिय और मनका समूहमात्र है। यद्यपि ये सब पृथक्-पृथक् हैं तो भी एक दूसरेका आश्रय लेकर कर्मोंमे प्रवृत्त होते हैं॥ ६ ॥

धातवः पञ्च भूतेषु खं वायुर्ज्योतिषो धरा।
ते स्वभावेन तिष्ठन्ति वियुज्यन्ते स्वभावतः॥ [illegible] ॥

प्राणियोंके शरीरमें उपादानके रूपमे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पॉच धातु हैं। ये स्वभावसे ही एकत्र होते और विलग हो जाते हैं॥ [illegible] ॥

आकाशो वायुरूष्मा च स्नेहो यश्चापि पार्थिवः।
एष पञ्चसमाहारः शरीरमपि नैकधा॥ ८ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इन पॉच तत्त्वों-के समाहारसे ही अनेक प्रकारके शरीरोंका निर्माण हुआ है॥

ज्ञानमूष्मा च वायुश्च त्रिविधः कार्यसंग्रहः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना मनः।
प्राणापानौ विकारश्च धातवश्चात्र निःसृताः॥ ९ ॥

शरीरमे ज्ञान (बुद्धि), ऊष्मा (जठरानल) तथा वायु (प्राण)—इनका समुदाय समस्त कर्मोंका संग्राहकगण है; क्योंकि इन्हींसे इन्द्रिय, इन्द्रियोंके विषय, स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान, विकार और धातु प्रकट हुए हैं॥ ९ ॥

श्रवणं स्पर्शनं जिह्वा दृष्टिर्नासा तथैव च।
इन्द्रियाणीति पञ्चैते चित्तपूर्वं गता गुणाः॥ १० ॥

श्रवण, त्वचा, जिह्वा, नेत्र और नासिका—ये पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ हैं। शब्द आदि गुण चित्तसे संयुक्त होकर इन इन्द्रियोंके विषय होते हैं॥ १० ॥

तत्र विज्ञानसंयुक्ता त्रिविधा चेतना ध्रुवा।
सुखदुःखेति यामाहुरदुःखामसुखेति च॥ ११ ॥

विज्ञानयुक्त चेतना (विषयोंकी उपादेयता, हेयता और उपेक्षणीयताके कारण) निश्चय ही तीन प्रकारकी होती है। उसे अदुःखा, असुखा और सुख-दुःखा कहते हैं॥ ११ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च मूर्तयः।
एते ह्यामरणात् [illegible] षड्गुणा ज्ञानसिद्धये॥ १२ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तथा मूर्त द्रव्य—ये छः गुण जीवकी मृत्युके पहलेतक इन्द्रियजन्य ज्ञानके साधक होते हैं (इनके साथ इन्द्रियोंका सयोग होनेपर ही भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान होता है)॥ १२ ॥

तेषु कर्मविसर्गश्च सर्वतत्त्वार्थनिश्चयः।
तमाहुः परमं शुक्रं बुद्धिरित्यव्ययं महत्॥ १३ ॥

श्रोत्र आदि इन्द्रियोंमें उनके विषयोंका विसर्जन (त्याग) करनेसे सम्पूर्ण तत्त्वोंके यथार्थ निश्चयरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। उस तत्त्वनिश्चयको अत्यन्त निर्मल उत्तम ज्ञान और अविनाशी महान् ब्रह्मपद कहते हैं॥ १३ ॥

इमं गुणसमाहारमात्मभावेन पश्यतः।
असम्यग्दर्शनैर्दुःखमनन्तं नोपशाम्यति॥ १४ ॥

जो लोग गुणोंके सङ्घातरूप इस शरीरको ही आत्मा समझ लेते हैं, उन्हे मिथ्या ज्ञानके कारण अनन्त दुःखोंकी प्राप्ति होती है और उनकी परम्परा कभी शान्त नहीं होती॥ १४ ॥

अनात्मेति च यद् दृष्टं तेनाहं [illegible] ममेत्यपि।
वर्तते किमधिष्ठानात् प्रसक्ता दुःखसंततिः॥ १५ ॥

इसके विपरीत जिनकी दृष्टिमें यह दृश्य-प्रपञ्च अनात्मा सिद्ध हो चुका है, उनकी इसके प्रति न ममता होती है न अहंता, फिर उन्हे दुःखपरम्परा कैसे प्राप्त हो; उन दुःखोंके लिये आधार ही क्या रह जाता है?॥ १५ ॥

[illegible] सम्यग्वधो नाम त्यागशास्त्रमनुत्तमम्।
शृणु यत् तव मोक्षाय भाष्यमाणं भविष्यति॥ १६ ॥

अब मैं उस परम उत्तम सांख्यशास्त्रका वर्णन करता हूँ, जिसका नाम है सम्यग्वध (सम्यग्रूपेण दुःखोंका नाश करनेवाला)। उसमे त्यागकी प्रधानता है। तुम ध्यान देकर सुनो। उसका उपदेश तुम्हारे लिये मोक्षदायक होगा॥ १६ ॥

त्याग एव हि सर्वेषां युक्तानामपि कर्मणाम्।
नित्यं मिथ्याविनीतानां क्लेशो दुःखवहो मतः॥ १७ ॥

जो लोग मुक्तिके लिये प्रयत्नशील हों, उन सबको चाहिये कि सम्पूर्ण कर्मोंमें अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग करे। जो इनका त्याग किये बिना ही विनीत (शम, दम आदि साधनोंमें तत्पर) होनेका झूठा दावा करते हैं, उन्हें अविद्या आदि दुःखदायी क्लेश प्राप्त होते हैं॥ १७ ॥

द्रव्यत्यागे [illegible] कर्माणि भोगत्यागे व्रतान्यपि।
सुखत्यागे तपो योगं सर्वत्यागे समापना॥ १८ ॥

शास्त्रोंमें द्रव्यका त्याग करनेके लिये यज्ञ आदि कर्म, भोगका त्याग करनेके लिये व्रत, दैहिक सुखोंके त्यागके लिये तप और [illegible] कुछ (अहंता, ममता, आसक्ति, कामना आदि) त्याग देनेके लिये योगके अनुष्ठानकी आज्ञा दी गयी है। यही त्यागकी चरम सीमा है॥ १८ ॥

तस्य मार्गोऽयमद्वैधः सर्वत्यागस्य दर्शितः।
विप्रहाणाय दुःखस्य दुर्गतिस्त्वन्यथा भवेत्॥ १९ ॥

सर्वस्व-त्यागका यह एकमात्र मार्ग ही दुःखोंसे छुटकारा

पानेके लिये उत्तम बताया गया है, इसके विपरीत आचरण करनेवालोंको दुर्गति भोगनी पड़ती है ॥ १९ ॥

पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्युक्त्वा मनःषष्ठानि चेतसि ।
बलषष्ठानि वक्ष्यामि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि तु ॥ २० ॥

बुद्धिमें स्थित मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका वर्णन करके अब पाँच कर्मेन्द्रियोंका वर्णन करूँगा। जिनके साथ प्राणशक्ति छठी बतायी गयी है ॥ २० ॥

हस्तौ कर्मेन्द्रियं ज्ञेयमथ पादौ गतीन्द्रियम् ।
प्रजननानन्दयोः शेफो निसर्गे पायुरिन्द्रियम् ॥ २१ ॥

दोनों हाथोंको काम करनेवाली इन्द्रिय जानना चाहिये, दोनों पैर चलने-फिरनेका काम करनेवाली इन्द्रिय हैं। लिङ्ग संतानोत्पादन एवं मैथुनजनित आनन्दकी प्राप्ति करनेके लिये है। गुदनामक इन्द्रियका कार्य मल-त्याग करना है ॥ २१ ॥

वाक् च शब्दविशेषार्थमिति पञ्चान्वितं विदुः ।
एवमेकादशैतानि बुद्ध्या त्वाशु विसृजेन्मनः ॥ २२ ॥

वाक्-इन्द्रिय शब्दविशेषका उच्चारण करनेके लिये है। इस प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियोंको पाँच विषयोंसे युक्त माना गया है। मनसहित एकादश इन्द्रियोंके विषयोंका बुद्धिके द्वारा शीघ्र त्याग कर देना चाहिये ॥ २२ ॥

कर्णौ शब्दश्च चित्तं च त्रयः श्रवणसंग्रहे ।
तथा स्पर्शे तथा रूपे तथैव रसगन्धयोः ॥ २३ ॥

श्रवण-कालमें श्रोत्ररूपी इन्द्रिय, शब्दरूपी विषय और चित्तरूपी कर्ता—इन तीनोंका संयोग होता है, इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धके अनुभव-कालमें भी इन्द्रिय, विषय एवं मनका संयोग अपेक्षित है ॥ २३ ॥

एवं पञ्चत्रिका ह्येते गुणास्तदुपलब्धये ।
येनायं त्रिविधो भावः पर्यायात् समुपस्थितः ॥ २४ ॥

इस प्रकार ये तीन-तीनके पाँच समुदाय हैं, ये ही गुण कहे गये हैं। इनसे शब्दादि विषयोंका ग्रहण होता है, जिससे ये कर्ता, कर्म और करणरूपी त्रिविध भाव बारी-बारीसे उपस्थित होते हैं ॥ २४ ॥

सात्त्विको राजसश्चापि तामसश्चापि ते त्रयः ।
त्रिविधा वेदना येषु प्रसृताः सर्वसाधनाः ॥ २५ ॥

इनमेंसे एक-एकके सात्त्विक, राजस और तामस तीन-तीन भेद होते हैं। उनसे प्राप्त होनेवाले अनुभव भी तीन प्रकारके ही हैं। जो हर्ष, प्रीति आदि सभी भावोंके [illegible] हैं ॥ २५ ॥

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ।
अकुतश्चित् कुतश्चिद् वा चिन्तितः सात्त्विको गुणः ॥ २६ ॥

हर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और चित्तकी शान्ति—ये सब भाव बिना किसी कारणके [illegible] हों, या कारणवश (भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सत्सङ्ग आदिके कारण) हों, सात्त्विक गुण माने गये हैं ॥ २६ ॥

अतुष्टिः परितापश्च शोको लोभस्तथाक्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुतः ॥ २७ ॥

असंतोष, संताप, शोक, लोभ और असहनशीलता—ये [illegible] कारणसे हों या अकारण—रजोगुणके चिह्न हैं ॥ २७ ॥

अविवेकस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिता ।
कथंचिदपि वर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न और आलस्य—ये किसी तरह भी क्यों न हों, तमोगुणके ही विविध रूप हैं ॥ २८ ॥

अत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्यपेक्षेत तत् तथा ॥ २९ ॥

इनमें जो शरीर या मनमें प्रीतिके संयोगसे उदित हो, वह सात्त्विक भाव है और उसको सत्त्वगुणकी वृद्धि जाननी चाहिये ॥ २९ ॥

यत् त्वसंतोषसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
प्रवृत्तं रज इत्येवं ततस्तदपि चिन्तयेत् ॥ ३० ॥

जो अपने लिये असंतोषजनक एवं अप्रीतिकर हो, उसको रजोगुणकी प्रवृत्ति एवं अभिवृद्धि समझनी चाहिये ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३१ ॥

शरीर या मनमें जो अतर्क्य, अज्ञेय एवं मोहयुक्त भाव प्रादुर्भूत हो, उसको तमोगुणजनित जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

श्रोत्रं व्योमाश्रितं भूतं शब्दः श्रोत्रं समाश्रितः ।
नोभयं शब्दविज्ञाने विज्ञानस्येतरस्य वा ॥ ३२ ॥

शब्दका आधार श्रोत्रेन्द्रिय है और श्रोत्रेन्द्रियका आधार आकाश है; अतः वह आकाशरूप ही है। ऐसी स्थितिमें शब्दका अनुभव करते समय आकाश और श्रोत्र—ये दोनों ही ज्ञान अथवा अज्ञानके विषय नहीं होते हैं* ॥ ३२ ॥

एवं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति पञ्चमी ।
स्पर्शे रूपे रसे गन्धे तानि चेतो मनश्च तत् ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका भी क्रमशः स्पर्श, रूप, रस और गन्धके आश्रय तथा अपने आधारभूत महाभूतोंके स्वरूप हैं। इन सबका कारण मन है, इसलिये ये सब-के-सब मनःस्वरूप हैं ॥ ३३ ॥

स्वकर्मयुगपद्भावो दशस्वेतेषु तिष्ठति ।
चित्तमेकादशं विद्धि बुद्धिर्द्वादशमी भवेत् ॥ ३४ ॥

इन दसों इन्द्रियोंमें अपने-अपने विषयोंको एक साथ ही ग्रहण करनेकी शक्ति होती है। ग्यारहवाँ मन और बारहवीं बुद्धि—इनको इन्द्रियोंका सहायक समझना चाहिये ॥

तेषामयुगपद्भाव उच्छेदो नास्ति तामसे ।
आस्थितो युगपद्भावो व्यवहारः स लौकिकः ॥ ३५ ॥

* 'ये दोनों ज्ञान अथवा अज्ञानके विषय नहीं होते, इस कथनका अभिप्राय यों समझना चाहिये—जो श्रवणकालमें शब्दका अनुभव करता है, वह उसके साथ ही श्रोत्र और आकाशका अनुभव नहीं करता है। साथ ही उसे इन दोनोंका अज्ञान भी नहीं रहता, क्योंकि शब्दका श्रवणेन्द्रिय और आकाश दोनोंसे सम्बन्ध है। इन दोनोंके बिना शब्दका अनुभव हो ही नहीं सकता।

तमोगुणजनित सुषुप्तिकालमे अपने कारणमे विलीन हो जानेसे इन्द्रियाँ विषयोंका ग्रहण नहीं कर सकतीं, किंतु उनका नाश नहीं होता है। उनमे जो अपने विषयोको एक साथ ग्रहण करनेकी शक्ति है, वह लौकिक व्यवहारमे ही दिखायी देती है (सुषुप्तिकालमे नहीं) ॥ ३५ ॥

इन्द्रियाण्यपि सूक्ष्माणि दृष्ट्वा पूर्वश्रुतागमात्।
चिन्तयन्नानुपर्येति त्रिभिरेवान्वितो गुणैः ॥ ३६ ॥

पहले जाग्रत्-अवस्थाके देखने-सुनने आदिके द्वारा पूर्व-वासनावश शब्द आदि विषयोंकी प्राप्ति होनेसे स्वप्नदर्शी पुरुष सूक्ष्म ग्यारह इन्द्रियोंको देखकर विषयसंगकी भावना करता हुआ सत्त्व आदि तीनो गुणोसे युक्त हो शरीरके भीतर ही इच्छानुसार घूमता रहता है ॥ ३६ ॥

यत् तमोपहतं चित्तमाशु संहारमध्रुवम्।
करोत्युपरमं काये तदाहुस्तामसं बुधाः ॥ ३७ ॥

सुषुप्तिकालमे जब चित्त तमोगुणसे अभिभूत होकर अपने प्रवृत्ति और प्रकाश-स्वभावका शीघ्र ही सहार करके थोड़ी देरके लिये इन्द्रियोंके व्यापारको बंद कर देता है,-उस समय शरीरमे जो सुखकी प्रतीति होती है, उसे विद्वान् पुरुष [illegible] सुख कहते हैं ॥ ३७ ॥

यद् यदागमसंयुक्तं न कृच्छ्रमनुपश्यति।
अथ तत्राप्युपावृत्ते तमोऽव्यक्तमिवावृतम् ॥ ३८ ॥

सुषुप्तिकालमें स्वप्नदर्शी पुरुष उपस्थित दुःखको प्रत्यक्षकी भाँति अनुभव नहीं करता है। इसलिये वह सुषुप्ति-कालमे भी तमोगुणयुक्त मिथ्या सुखका अनुभव [illegible] है ॥

एवमेष प्रसंख्यातः स्वकर्मप्रत्ययो गुणः।
कथञ्चिद् वर्तते सम्यक् केषांचिद् वा निवर्तते ॥ ३९ ॥

इस प्रकार अपने कर्मके अनुसार गुणकी प्राप्तिके विषयमे कहा गया है। अज्ञानियोंके ये गुण सम्यक्रूपेण प्रवृत्त होते है और ज्ञानियोके निवृत्त हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

एतदाहुः समाहारं क्षेत्रमध्यात्मचिन्तकाः।
स्थितो मनसि यो भावः स वै क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ ४० ॥

अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले विद्वान् इस शरीर और इन्द्रियोके सघातको क्षेत्र कहते हैं और मनमें जो चेतन सत्ता स्थित है, वही क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) कहलाता है ॥ ४० ॥

एवं सति क उच्छेदः शाश्वतो वा कथं भवेत्।
स्वभावाद् वर्तमानेषु सर्वभूतेषु हेतुतः ॥ ४१ ॥

ऐसी अवस्थामे आत्माका विनाश कैसे हो सकता है ? अथवा हेतुपूर्वक प्रकृतिके अनुसार प्रवृत्त पञ्चमहाभूतोसे उसका शाश्वत संसर्ग भी कैसे रह सकता है ? ॥ ४१ ॥

यथार्णवगता नद्यो व्यक्तीर्जहति नाम च।
नदाश्च ता नियच्छन्ति तादृशः सत्त्वसंक्षयः ॥ ४२ ॥

जैसे नद और नदियाँ समुद्रमे मिलकर अपने नाम और व्यक्तित्व (रूप) को त्याग देती हैं तथा जैसे बड़े-बड़े नद छोटी छोटी नदियोंको अपनेमे विलीन कर लेते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मामे विलीन हो जाता है। यही मोक्ष है ॥ ४२ ॥

एवं सति कुतः संज्ञा प्रेत्यभावे पुनर्भवेत्।
प्रतिसम्मिश्रिते जीवेऽगृह्यमाणे च सर्वतः ॥ ४३ ॥

जीवके ब्रह्ममे विलीन हो जानेपर उसके नाम रूपका किसी प्रकार भी ग्रहण नहीं हो सकता। ऐसी दशामें मृत्युके पश्चात् जीवकी सज्ञा कैसे रहेगी ? ॥ ४३ ॥

इमां च यो वेद विमोक्षबुद्धि-
मात्मानमन्विच्छति चाप्रमत्तः।
न लिप्यते कर्मफलैरनिष्टैः
पत्रं बिसस्येव जलेन सिक्तम् ॥ ४४ ॥

जो इस मोक्षविद्याको जानता है और सावधानीके साथ आत्मतत्त्वका अनुसंधान करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी भाँति कर्मके अनिष्ट फलोंसे कभी लिप्त नहीं होता ॥ ४४ ॥

दृढैर्हि पाशैर्बहुभिर्विमुक्तः
प्रजानिमित्तैरपि दैवतैश्च।
यदा ह्यसौ सुखदुःखे जहाति
मुक्तस्तदाग्र्यां गतिमेत्यलिङ्गः ॥ ४५ ॥

किंतु संतानोंके प्रति आसक्तिके कारण और भिन्न भिन्न देवताओंकी प्रसन्नताके लिये अज्ञानियोंद्वारा जो सकाम कर्म किये जाते हैं, ये सब मनुष्यके लिये नाना प्रकारके सुदृढ बन्धन हैं। जब वह इन बन्धनोंसे छूटकर सुख-दुःखकी चिन्ता छोड़ देता है, उस समय सूक्ष्म शरीरके अभिमानका त्याग करके सर्वश्रेष्ठ गति प्राप्त कर लेता है ॥ ४५ ॥

श्रुतिप्रमाणागममङ्गलैश्च
शेते जरामृत्युभयादभीतः।
क्षीणे च पुण्ये विगते [illegible] पापे
ततो निमित्ते [illegible] फले विनष्टे।
अलेपमाकाशमलिङ्गमेव-
मास्थाय पश्यन्ति महत्यसक्ताः ॥ ४६ ॥

श्रुति-प्रतिपादित प्रमाणोंका विचार और शास्त्रमें बताये हुए मङ्गलमय साधनोंका अनुष्ठान करनेसे मनुष्य जरा और मृत्युके भयसे रहित होकर सुखसे सोता है। जब पुण्य और पापका [illegible] तथा उनसे मिलनेवाले सुख दुःख आदि फलोंका नाश हो जाता है, उस [illegible] सम्पूर्ण पदार्थोंमें सर्वथा आसक्तिसे रहित पुरुष आकाशके समान निर्लेप और निर्गुण परमात्मामे स्थित हुए उसका साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ ४६ ॥

यथोर्णनाभिः परिवर्तमान-
स्तन्तुक्षये तिष्ठति पात्यमानः।
[illegible] विमुक्तः प्रजहाति दुःखं
विध्वंसते लोष्ट इवाद्रिमृच्छन् ॥ ४७ ॥

जैसे मकडी जाला तानकर उसपर चक्कर लगाती रहती है; किंतु उन जालोंका नाश हो जानेपर एक स्थानपर स्थित हो जाती है, उसी प्रकार अविद्याके वशीभूत हो नीचे गिरने

■ जीव कर्मजालमें पड़कर भटकता रहता है और उससे छूटनेपर दुःखसे रहित हो जाता है। जैसे पर्वतपर ■ हुआ मिट्टीका ढेला उससे टकराकर चूर-चूर हो जाता है, उसी प्रकार उसके सम्पूर्ण दुःखोंका विध्वंस हो ■ है ॥ ४७ ॥

यथा रुरुः शृङ्गमथो पुराणं
हित्वा त्वचं वाप्युरगो यथा च।
विहाय गच्छत्यनवेक्षमाण-
स्तथा विमुक्तो विजहाति दुःखम्॥ ४८॥

जैसे रुरुनामक मृग अपने पुराने सींगको और साँप अपनी केंचुलको त्यागकर उसकी ओर देखे बिना ही चल देता है, उसी प्रकार ममता और अभिमानसे रहित हुआ पुरुष संसार-बन्धनसे मुक्त हो अपने सम्पूर्ण दुःखोंको दूर कर देता है ॥ ४८ ॥

द्रुमं यथा वाप्युदके पतन्त-
मुत्सृज्य पक्षी निपतत्यसक्तः।
तथा ह्यसौ सुखदुःखे विहाय
मुक्तः परार्ध्यां गतिमेत्यलिङ्गः ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार पक्षी वृक्षको जलमें गिरते देख उसमें आसक्ति छोड़कर वृक्षका परित्याग करके उड़ जाता है, उसी प्रकार मुक्त पुरुष सुख और दुःख—दोनोंका त्याग करके सूक्ष्म शरीरसे रहित हो उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥४९॥

भीष्म उवाच

अपि च भवति मैथिलेन गीतं
नगरमुपाहितमग्निनाभिवीक्ष्य ।
न खलु मम हि दह्यतेऽत्र किंचित्
स्वयमिदमाह किल स्म भूमिपालः ॥५०॥
इदममृतपदं निशम्य राजा
स्वयमिह पञ्चशिखेन भाष्यमाणम्।
निखिलमभिसमीक्ष्य निश्चितार्थः
परमसुखी विजहार वीतशोकः॥ ५१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! स्वयं आचार्य पञ्चशिखके बताये हुए इस अमृतमय ज्ञानोपदेशको सुनकर राजा जनक एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँच गये और सारी बातोंपर विचार करके शोकरहित हो बड़े सुखसे रहने लगे; फिर तो उनकी स्थिति ही कुछ और हो गयी। एक बार उन मिथिला-नरेश राजा जनकने मिथिला-नगरीको आगसे जलती देखकर स्वयं ■ उद्गार प्रकट किया था कि इस नगरके जलनेसे मेरा ■ भी नहीं जलता है ॥ ५०-५१ ॥

इमं हि यः पठति विमोक्षनिश्चयं
महीपते सततमवेक्षते तथा।
उपद्रवान् नानुभवत्यदुःखितः
प्रमुच्यते कपिलमिवैत्य मैथिलः॥ ५२ ॥

राजन्! यहाँ जो मोक्षतत्त्वका निर्णय किया गया है, उसका जो पुरुष सदा स्वाध्याय और चिन्तन करता रहता है, उसे उपद्रवोंका ■ नहीं भोगना पड़ता। दुःख तो उसके पास कभी फटकने नहीं पाते है तथा जिस प्रकार राजा जनक कपिलमतावलम्बी पञ्चशिखके समागमसे इस ज्ञानको पाकर मुक्त हो गये थे, उसी प्रकार वह भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥

(श्रूयतां नृपशार्दूल यदर्थं दीपिता पुरा।
वह्निना दीपिता सा तु तन्मे शृणु महामते ॥

नृपश्रेष्ठ! महामते! पूर्वकालमें जिस उद्देश्यसे अग्निद्वारा मिथिलानगरी जलायी गयी, उसे बताता हूँ, सुनो ॥

जनको जनदेवस्तु कर्माण्याधाय चात्मनि।
सर्वभावमनुप्राप्य भावेन विचचार सः ॥

जनकवंशी राजा जनदेव परमात्मामें कर्मोंको स्थापित करके सर्वात्मताको ■ होकर उसी भावसे सर्वत्र विचरण करते थे ॥

यजन् ददंस्तथा जुह्वन् पालयन् पृथिवीमिमाम्।
अध्यात्मविन्महाप्राज्ञस्तन्मयत्वेन निष्ठितः ॥

महाप्राज्ञ जनक अध्यात्मतत्त्वके ज्ञाता होनेके कारण निष्कामभावसे यज्ञ, दान, होम और पृथ्वीका पालन करते हुए भी उस अध्यात्मज्ञानमें ही तन्मय रहते थे ॥

स ■ हृदि संकल्पं ज्ञातुमैच्छत् स्वयं प्रभुः।
सर्वलोकाधिपस्तत्र द्विजरूपेण संयुतः ॥
मिथिलायां महाबुद्धिर्व्यलीकं किंचिदाचरन्।
स गृहीत्वा द्विजश्रेष्ठैर्नृपाय प्रतिवेदितः ॥
अपराधं समुद्दिश्य तं राजा प्रत्यभाषत ॥

एक समय सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति साक्षात् भगवान् नारायणने राजा जनकके मनोभावकी परीक्षा लेनेका विचार किया; अतः वे ब्राह्मणरूपसे वहाँ आये। उन परम बुद्धिमान् श्रीहरिने मिथिलानगरीमें कुछ प्रतिकूल आचरण किया। तब वहाँके श्रेष्ठ द्विजोंने उन्हें पकड़कर राजाको सौंप दिया। ब्राह्मणके अपराधको लक्ष्य करके राजाने उनसे इस प्रकार कहा ॥

जनक उवाच

न त्वां ब्राह्मण दण्डेन नियोक्ष्यामि कथंचन।
■ राज्याद् विनिर्गच्छ यावत् सीमा भुवो मम ॥

जनकने कहा—ब्राह्मण! मैं तुम्हें किसी प्रकार दण्ड नहीं दूँगा, तुम मेरे राज्यसे, जहाँतक मेरी राज्यभूमिकी सीमा है, उससे बाहर निकल जाओ ॥

इत्युक्तः स तथा तेन मैथिलेन द्विजोत्तमः।
अब्रवीत् तं महात्मानं राजानं मन्त्रिभिर्वृतम् ॥

मिथिलानरेशके ऐसा कहनेपर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणने मन्त्रियोंसे घिरे हुए उन महात्मा राजा जनकसे इस प्रकार कहा— ॥

त्वमेवं पद्मनाभस्य नित्यं पक्षपदाहितः।
अहो सिद्धार्थरूपोऽसि गमिष्ये स्वस्ति तेऽस्तु वै॥

'महाराज! आप सदा पद्मनाभ भगवान् नारायणके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले और उन्हींके शरणागत हैं। अहो! आप कृतार्थरूप हैं, आपका कल्याण हो! अब ■ चला जाऊँगा' ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ विप्रस्तज्जिज्ञासुर्द्विजोत्तमः ।
अदहच्चाग्निना [illegible] मिथिलां भगवान् स्वयम् ॥

ऐसा कहकर वे ब्राह्मण वहाँसे चल दिये। जाते-जाते राजाकी परीक्षा लेनेके लिये उन श्रेष्ठ ब्राह्मणरूपधारी भगवान् श्रीहरिने स्वय ही मिथिलानगरीमें आग लगा दी ॥

प्रदीप्यमानां मिथिलां दृष्ट्वा राजा न कम्पितः ।
जनैः स परिपृष्टस्तु वाक्यमेतदुवाच ह ॥

मिथिलाको जलती हुई देखकर राजा तनिक भी विचलित नहीं हुए। लोगोंके पूछनेपर उन्होंने उनसे यह बात कही—॥

अनन्तं बत मे वित्तं भाव्यं मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किंचन दह्यते ॥

'मेरे पास आत्मज्ञानरूप अनन्त धन है; अतः अब मेरे लिये कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं है, इस मिथिलानगरीके [illegible] जानेपर भी मेरा कुछ नहीं जलता है' ॥

तदस्य भाषमाणस्य श्रुत्वा श्रुत्वा हृदि स्थितम् ।
पुनः संजीवयामास मिथिलां तां द्विजोत्तमः ॥

राजा जनकके इस प्रकार कहनेपर उन द्विजश्रेष्ठने भी उनकी बात सुनी और उनके मनोभावको समझा; फिर उन्होंने मिथिलानगरीको पूर्ववत् सजीव एवं दाहरहित कर दिया ॥

आत्मानं दर्शयामास वरं चास्मै ददौ पुनः ।
धर्मे तिष्ठतु सद्भावो बुद्धिस्तेऽर्थे नराधिप ॥
सत्ये तिष्ठस्व निर्विण्णः स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ।

साथ ही उन्होंने राजाको अपने साक्षात् स्वरूपका दर्शन कराया और उन्हें वर देते हुए पुनः कहा—'नरेश्वर! तुम्हारा मन सद्भावपूर्वक धर्ममें लगा रहे और बुद्धि तत्त्वज्ञानमें परिनिष्ठित हो। सदा विषयोंसे विरक्त रहकर तुम सत्यके मार्गपर डटे रहो। तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं जाता हूँ' ॥

इत्युक्त्वा भगवांश्चैनं तत्रैवान्तरधीयत ।
एतत् ते कथितं राजन् किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

उनसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गये। राजन्! यह प्रसङ्ग तुम्हें सुना दिया। अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखवाक्यं नाम एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२१९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिखका उपदेशनामक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्वेतकेतु और सुवर्चलाका विवाह, दोनों पति-पत्नीका अध्यात्मविषयक संवाद तथा गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करते हुए ही उनका परमात्माको प्राप्त होना एवं दमकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अस्ति कश्चिद् यदि विभो सदारो नियतो गृहे ।
अतीतसर्वसंसारः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ॥
तं मे ब्रूहि महाप्राज्ञ दुर्लभः पुरुषो महान् ।

युधिष्ठिरने कहा—महाप्राज्ञ! प्रभो! यदि कोई ऐसा पुरुष हो, जो गृहस्थ आश्रममें पत्नीसहित संयम-नियमके साथ रहता हो, [illegible] सासारिक बन्धनोंको पार कर चुका हो और सम्पूर्ण द्वन्द्वोंसे दूर रहकर उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करता हो तो उसका मुझे परिचय दीजिये, क्योंकि ऐसा महापुरुष दुर्लभ होता है ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं यन्मां त्वं पृष्टवानसि ।
इतिहासमिमं शुद्धं संसारभयभेषजम् ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! तुमने मुझसे जो विषय पूछा है, उसे यथावत्‌रूपसे सुनो। यह विशुद्ध इतिहास जन्म-मरणरूप रोगका भय दूर करनेके लिये उत्तम औषध है ॥

देवलो नाम विप्रर्षिः सर्वशास्त्रार्थकोविदः ।
क्रियावान् धार्मिको नित्यं देवब्राह्मणपूजकः ॥

ब्रह्मर्षि देवलका नाम सर्वत्र प्रसिद्ध है। वे सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण, क्रियानिष्ठ, धार्मिक तथा देवताओं और ब्राह्मणोंकी सदा पूजा करनेवाले थे ॥

सुता सुवर्चला नाम तस्य कल्याणलक्षणा ।
नातिह्रस्वा नातिकृशा नातिदीर्घा यशस्विनी ॥

उनके एक पुत्री थी, जो सुवर्चलाके नामसे पुकारी जाती थी। वह यशस्विनी कन्या सभी शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थी। वह न तो अधिक नाटी थी और न अधिक लंबी; वह विशेष दुबली भी नहीं थी ॥

प्रदानसमयं प्राप्ता पिता तस्य ह्यचिन्तयत् ॥
अस्याः पतिः कुतो वेति ब्राह्मणः [illegible]त्रियः परः ।
विद्वान् विप्रो ह्यकुटुम्बः प्रियवादी महातपाः ॥

धीरे-धीरे उसकी विवाहके योग्य अवस्था हो गयी। उसके पिता सोचने लगे, मेरी इस पुत्रीका पति श्रेष्ठ श्रोत्रिय ब्राह्मण होना चाहिये, जो विद्वान् होनेके साथ ही प्रिय वचन बोलनेवाला, महातपस्वी और अविवाहित हो; परंतु ऐसा पुरुष कहाँसे सुलभ हो सकता है? ॥

इत्येवं चिन्तयानं तं रहस्याह सुवर्चला ।
अन्धाय मां महाप्राज्ञ देह्यनन्धाय चैव पितः ।
एवं स्मर सदा विद्वन् ममेदं प्रार्थितं मुने ॥

एकान्तमें बैठकर ऐसी ही चिन्तामें पड़े हुए पिताके

पास जाकर सुवर्चलाने इस प्रकार कहा—'पिताजी ! आप परम बुद्धिमान्, विद्वान् और मुनि हैं। आप मुझे ऐसे पतिके हाथमें सौंपियेगा, जो अन्धा भी हो और आँखवाला भी हो। मेरी इस प्रार्थनाको सदा याद रखियेगा' ॥

पितोवाच

न शक्यं प्रार्थितं वत्से त्वयाद्य प्रतिभाति मे ।
अन्धतानन्धता चेति विकारो मम जायते ॥
उन्मत्तेवाशुभं वाक्यं भाषसे शुभलोचने ।

पिता बोले—बेटी ! तुम्हारी यह प्रार्थना पूर्ण हो सके, ऐसा तो मुझे नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि एक ही व्यक्ति अन्धा भी हो और अन्धा न भी हो, यह कैसे सम्भव है ! तुम्हारी यह बात सुनकर मेरे मनमें खेद होता है। शुभलोचने ! तुम पगली-सी होकर अशुभ बात मुँहसे निकाल रही हो ॥

सुवर्चलोवाच

नाहमुन्मत्तभूताद्य बुद्धिपूर्वं ब्रवीमि ते ।
विद्यते चेत् पतिस्तादृक् स मां भरति वेदवित् ॥

सुवर्चला बोली—पिताजी ! मैं पगली नहीं हूँ। खूब सोच-समझकर आपसे ऐसी बात कह रही हूँ। यदि ऐसा कोई वेदवेत्ता पति प्राप्त हो जाय तो वह मेरा भरण-पोषण कर सकता है ॥

येभ्यस्त्वं मन्यसे दातुं मामिहानय तान् द्विजान् ।
तानहं तं पतिं तेषु वरयिष्ये यथातथम् ॥

आप जिन ब्राह्मणोंके हाथमें मुझे देना चाहते हैं, उन सबको यहाँ बुलवा लीजिये। मैं उन्हींमेंसे अपनी पसंदके अनुसार योग्य पतिका वरण कर लूँगी ॥

तथेति चोक्त्वा तां कन्यामृषिः शिष्यानुवाच ह ।
ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् योनिगोत्रविशोधितान् ।
मातृतः पितृतः शुद्धाञ्छुद्धानाचारतः शुभान् ।
अरोगान् बुद्धिसम्पन्नाञ्शीलसत्त्वगुणान्वितान् ॥
असंकीर्णांश्च गोत्रेषु वेदव्रतसमन्वितान् ।
ब्राह्मणान् स्नातकाञ्शीघ्रं मातापितृसमन्वितान् ॥
निवेष्टुकामान् कन्यां मे दृष्ट्वाऽऽनयत शिष्यकाः ।

तब अपनी पुत्रीसे 'तथास्तु' कहकर ऋषिने शिष्योंसे कहा—'शिष्यगण ! जो वेदविद्यासे सम्पन्न, निष्कलङ्क माता-पितासे उत्पन्न, निर्दोष कुलके बालक, शुद्ध आचार-विचारवाले, शुभ लक्षणोंसे युक्त, नीरोग, बुद्धिमान्, शील और सत्त्वसे सम्पन्न, गोत्रोंमें वर्णसंकरताके दोषसे रहित, वेदोक्त व्रतके पालनमें तत्पर, स्नातक, जीवित माता-पितावाले तथा मेरी कन्यासे विवाहकी इच्छा रखनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, उन सबको देखकर तुमलोग यहाँ शीघ्र बुला लाओ ॥'

तच्छ्रुत्वा त्वरिताः शिष्या ह्याश्रमेषु ततस्ततः ।
ग्रामेषु च ततो गत्वा ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥

मुनिकी यह बात सुनकर उनके शिष्योंने तुरंत इधर-उधर आश्रमों तथा गाँवोंमें जाकर ब्राह्मणोंको इसकी सूचना दी ॥

ऋषेः प्रभावं मत्वा ते कन्यायाश्च द्विजोत्तमाः ।
अनेकमुनयो राजन् समाजग्मुः देवलाश्रमम् ॥

राजन् ! ऋषि और उस कन्याके प्रभावको जानकर अनेक श्रेष्ठ ब्राह्मण महर्षि देवलके आश्रमपर आये ॥

अनुमान्य यथान्यायं मुनीन् मुनिकुमारकान् ।
अभ्यर्च्य विधिवत् तत्र कन्यामाह पिता महान् ॥

कन्याके महान् पिता देवलने वहाँ आये हुए ऋषियों तथा ऋषिकुमारोंका यथायोग्य सम्मान तथा विधिपूर्वक पूजन करके अपनी पुत्रीसे कहा—

एतेऽपि मुनयो वत्से स्वपुत्रैकमता इह ।
वेदवेदाङ्गसम्पन्नाः कुलीनाः शीलसम्मताः ॥
येऽमी तेषु वरं भद्रे त्वमिच्छसि महाव्रतम् ।
तं कुमारं वृणीष्वाद्य तस्मै दास्याम्यहं शुभे ॥

'बेटी ! ये मुनि जो यहाँ पधारे हैं, वेद-वेदाङ्गोंसे सम्पन्न, कुलीन और शीलवान् हैं। ये मेरे लिये अपने पुत्रके समान प्रिय हैं। भद्रे ! इन लोगोंमेंसे तुम जिस महान् व्रतधारी ऋषिकुमारको पति बनाना चाहो, उसे आज चुन लो, शुभे ! मैं उसीके साथ तुम्हारा विवाह कर दूँगा' ॥

तथेति चोक्त्वा कल्याणी तप्तहेमनिभा तदा ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना वाक्यमाह यशस्विनी ॥
विप्राणां समितीर्दृष्ट्वा प्रणिपत्य तपोधनान् ।

तब 'तथास्तु' कहकर तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाली, समस्त शुभलक्षणोंसे सम्पन्न, यशस्विनी, कल्याणमयी सुवर्चला ब्राह्मणोंके उस समुदायको देखकर सम्पूर्ण तपोधनोंको प्रणाम करके इस प्रकार बोली ॥

सुवर्चलोवाच

यद्यस्ति समितौ विप्रो ह्यन्धोऽनन्धः स मे पतिः ॥

सुवर्चलाने कहा—इस ब्राह्मण-सभामें वही मेरा पति हो सकता है, जो अन्धा हो और अन्धा न भी हो ॥

तच्छ्रुत्वा मुनयस्तत्र वीक्षमाणाः परस्परम् ।
नोचुर्विप्रा महाभागाः कन्यां तां ह्यवेदिकाम् ॥

उस कन्याकी यह बात सुनकर सब मुनि एक दूसरेका मुँह देखने लगे। वे महाभाग ब्राह्मण उस कन्याको अबोध जानकर कुछ बोले नहीं ॥

कुत्सयित्वा मुनिं तत्र मनसा मुनिसत्तमाः ॥
यथागतं ययुः क्रुद्धा नानादेशनिवासिनः ।
कन्या च संस्थिता तत्र पितृवेश्मनि भामिनी ॥

नाना देशोंमें निवास करनेवाले वे श्रेष्ठ मुनि कुपित हो मन-ही-मन देवल ऋषिकी निन्दा करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही लौट गये और वह मानिनी कन्या वहाँ पिताके ही घरमें रह गयी

ततः कदाचिद् ब्रह्मण्यो विद्वान् न्यायविशारदः।
ऊहापोहविधानज्ञो ब्रह्मचर्यसमन्वितः ॥
वेदविद् वेदतत्त्वज्ञः क्रियाकल्पविशारदः।
आत्मतत्त्वविभागज्ञः पितृमान् गुणसागरः ॥
श्वेतकेतुरिति ख्यातः श्रुत्वा वृत्तान्तमादरात्।
कन्यार्थं देवलं चापि शीघ्रं तत्रागतोऽभवत् ॥

तदनन्तर किसी समय विद्वान्, ब्राह्मणभक्त, न्यायविशारद, ऊहापोह करनेमें कुशल, ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न, वेदवेत्ता, वेदतत्त्वज्ञ, कर्म-काण्डविशारद, आत्मतत्त्वको विवेकपूर्वक जाननेवाले, जीवित पितावाले तथा सद्गुणोंके सागर श्वेतकेतु ऋषि सारा वृत्तान्त सुनकर उस कन्याको प्राप्त करनेके लिये शीघ्रतापूर्वक आदरसहित देवल ऋषिके आश्रमपर आये ॥

उद्दालकसुतं दृष्ट्वा श्वेतकेतुं महाव्रतम्।
यथान्यायं च सम्पूज्य देवलः प्रत्यभाषत ॥

उद्दालकके पुत्र महान् व्रतधारी श्वेतकेतुको आया देख देवलने उनकी यथायोग्य पूजा करके अपनी पुत्रीसे कहा— ॥

कन्ये एष महाभागे प्राप्तो ऋषिकुमारकः।
वरयैनं महाप्राज्ञं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥

'महान् सौभाग्यशालिनी कन्ये ! ये ऋषिकुमार श्वेतकेतु पधारे हैं। ये बड़े भारी पण्डित और वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् हैं। तुम इनका वरण कर लो' ॥

तच्छ्रुत्वा कुपिता कन्या ऋषिपुत्रमुदैक्षत।
तां कन्यामाह विप्रर्षिः सोऽहं भद्रे समागतः ॥

पिताकी यह बात सुनकर कन्याने कुपित हो ऋषिकुमार श्वेतकेतुकी ओर देखा। तब ब्रह्मर्षि श्वेतकेतुने उस कन्यासे कहा—'भद्रे ! मैं वही हूँ (जिसे तुम चाहती हो), तुम्हारे लिये ही यहाँ आया हूँ ॥

अन्धोऽहमत्र तत्त्वं हि तथा मन्ये च सर्वदा।
विशालनयनं विद्धि तथा मां हीनसंशयम् ॥
वृणीष्व मां वरारोहे भजे च त्वामनिन्दिते।

'मैं अन्ध हूँ, यह यथार्थ है। मैं अपने मनमें सदा ऐसा ही मानता भी हूँ। साथ ही मैं संदेहरहित होनेके कारण विशाल नेत्रोंसे युक्त भी हूँ। ऐसा ही तुम मुझे समझो। श्रेष्ठ अङ्गोंवाली अनिन्द्य सुन्दरी ! तुम मुझे अङ्गीकार करो। मैं तुम्हारी अभीष्ट-सिद्धि करूँगा ॥

येनेदं वीक्षते नित्यं वृणोति स्पृशतेऽथ वा ॥
घ्रायते वक्ति सततं येनेदं रसते पुनः।
येनेदं मन्यते तत्त्वं येन बुध्यति वा पुनः ॥
न चक्षुर्विद्यते ह्येतत् स हि भूतान्ध उच्यते।

'जिस परमात्माकी शक्तिसे जीवात्मा सदा यह सब कुछ देखता है, ग्रहण करता है, स्पर्श करता है, सूँघता है, बोलता है, निरन्तर विभिन्न वस्तुओंका स्वाद लेता है, तत्त्वका मनन करता और बुद्धिद्वारा निश्चय करता है, वह परमात्मा ही चक्षु[1] कहलाता है। जो इस चक्षुसे रहित है, वही प्राणियोंमें अन्धा कहलाता है (और परमात्मारूपी चक्षुसे युक्त होनेके कारण मैं अनन्ध—नेत्रवाला भी हूँ)॥

यस्मिन् प्रवर्तते चेदं पश्यञ्छृण्वन् स्पृशन्नपि ॥
जिघ्रंश्च रसयंस्तद्वद् वर्तते येन चक्षुषा।
तन्मे नास्ति ततो ह्यन्धो वृणु भद्रेऽद्य मामतः ॥

'जिस परमात्माके भीतर ही यह सम्पूर्ण जगत् व्यवहारमें प्रवृत्त होता है। यह जगत् जिस आँखसे देखता, कानसे सुनता, त्वचासे स्पर्श करता, नासिकासे सूँघता, रसनासे रस लेता एवं जिस लौकिक चक्षुसे यह सारा बर्ताव करता है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मैं अन्ध हूँ; अतः भद्रे ! तुम मेरा वरण करो ॥

लोकदृष्ट्या करोमीह नित्यनैमित्तिकादिकम्।
आत्मदृष्ट्या च तत् सर्वं विलिप्यामि च नित्यशः॥

'मैं लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ही यहाँ नित्य-नैमित्तिक आदि कर्म करता हूँ तथा नित्य आत्मदृष्टि रखनेके कारण उन सब कर्मोंसे लिप्त नहीं होता हूँ ॥

स्थितोऽहं निर्भरः शान्तः कार्यकारणभावनः।
अविद्यया तरन् मृत्युं विद्यया तं तथामृतम् ॥
यथाप्राप्तं च संदृश्य वसामीह विमत्सरः।

'कार्य-कारणरूप परमात्माका चिन्तन करता हुआ मैं सदा शान्तभावसे उन्हींपर निर्भर रहता हूँ। कर्मोंके अनुष्ठानसे मृत्युको पार करके ज्ञानके द्वारा अमृतमय परमात्माको प्राप्त कर चुका हूँ और प्रारब्धवश जो कुछ प्रिय-अप्रिय पदार्थ प्राप्त होता है, उसको समानभावसे देखता हुआ मैं ईर्ष्या-द्वेषसे रहित होकर यहाँ निवास करता हूँ ॥

क्रीते व्यवसितं भद्रे भर्ताहं ते वृणीष्व माम् ॥
ततः सुवर्चला दृष्ट्वा प्राह तं द्विजसत्तमम्।

'भद्रे ! मैं तुम्हारा उचित शुल्क चुकानेका निश्चय कर चुका हूँ और तुम्हारा भरण-पोषण करनेमें समर्थ हूँ; अतः तुम मेरा वरण करो।' यह सुनकर सुवर्चलाने द्विजश्रेष्ठ श्वेतकेतुकी ओर देखकर कहा ॥

सुवर्चलोवाच

मनसासि वृतो विद्वञ्शेषकर्ता पिता मम।
वृणीष्व पितरं मह्यमेष वेदविधिक्रमः ॥

सुवर्चला बोली—विद्वन् ! मैंने अपने हृदयमें आपका वरण कर लिया। शास्त्रमें कथित शेष कार्योंकी पूर्ति करनेवाले मेरे पिताजी हैं। अतः उनसे मुझे माँग लीजिये। यही वेदविहित मर्यादा है ॥

भीष्म उवाच

तद् विज्ञाय पिता तस्या देवलो मुनिसत्तमः।
श्वेतकेतुं च सम्पूज्य तथैवोद्दालकेन तम् ॥
मुनीनामग्रतः कन्यां प्रददौ जलपूर्वकम्।

१. चष्टे इति चक्षुः—जो देखता है, वह चक्षु है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार सर्वद्रष्टा परमात्मा ही चक्षुः पदका वाच्यार्थ है।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यह ■ वृत्तान्त जानकर सुवर्चलाके पिता मुनिश्रेष्ठ देवलने उद्दालकसहित श्वेतकेतुकी पूजा करके मुनियोंके सामने जलसे संकल्प करके अपनी कन्या श्वेतकेतुको दे दी ॥

उदाहरन्ति वै तत्र श्वेतकेतुं निरीक्ष्य तम् ॥
हृत्पुण्डरीकनिलयः सर्वभूतात्मको हरिः ।
श्वेतकेतुस्वरूपेण स्थितोऽसौ मधुसूदनः ॥

वहाँ श्वेतकेतुको देखकर ऋषिगण इस प्रकार कहने लगे—मानो यहाँ श्वेतकेतुके रूपमें सबके हृदय-कमलमें निवास करनेवाले, सर्वभूतस्वरूप श्रीहरि भगवान् मधुसूदन ही विराजमान हैं ॥

देवल उवाच

प्रीयतां माधवो देवः पत्नी सेयं सुता मम ।
प्रतिपादयामि ते कन्यां सहधर्मचरीं शुभाम् ॥

देवल बोले—वररूपमें विराजमान ये भगवान् लक्ष्मीपति प्रसन्न हों । यह मेरी पुत्री इन्हें पत्नीरूपसे समर्पित है । प्रभो ! मैं आपको कल्याणमयी सहधर्मिणीके रूपमें अपनी यह कन्या दे रहा हूँ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै देवलो मुनिपुङ्गवः ।
प्रतिगृह्य च तां कन्यां श्वेतकेतुर्महायशाः ॥
उपयम्य यथान्यायमत्र कृत्वा यथाविधि ।
समाप्य तन्त्रं मुनिभिर्वैवाहिकमनुत्तमम् ॥
स गार्हस्थ्ये वसन् धीमान् भार्यां तामिदमब्रवीत् ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर मुनिवर देवलने उन्हें कन्यादान कर दिया । महायशस्वी श्वेतकेतुने उस कन्याको लेकर उसके साथ यथोचितरूपसे विधिपूर्वक विवाह किया । फिर मुनियोंद्वारा कराये हुए परम ■ वैवाहिक विधानको पूर्ण करके गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए बुद्धिमान् श्वेतकेतुने अपनी उस धर्मपत्नीसे इस प्रकार ■ ॥

श्वेतकेतुरुवाच

यानि चोक्तानि वेदेषु तत् सर्वं कुरु शोभने ।
मया सह यथान्यायं सहधर्मचरी मम ॥

श्वेतकेतुने कहा—शोभने ! वेदोंमें जिन शुभ कर्मोंका विधान है, मेरे साथ रहकर उन ■ यथोचितरूपसे अनुष्ठान करो और यथार्थरूपसे मेरी सहधर्मचारिणी बनो ॥

अहमित्येव भावेन स्थितोऽहं त्वं तथैव च ।
तस्मात् कर्माणि कुर्वीथाः कुर्यां ते च ■ परम् ॥

■ इसी भावसे स्थित हूँ । तुम भी इसी भावसे स्थित रहना, अतः मेरी आज्ञाके अनुसार सारे कर्म करो, फिर मैं भी तुम्हारा प्रिय कार्य करूँगा ॥

न ममेति च भावेन ज्ञानाग्निनिलयेन च ।
अनन्तरं तथा कुर्यास्तानि कर्माणि भस्मसात् ॥
एवं त्वया च कर्तव्यं सर्वदा दुर्भगा मया ।
यद् यदाचरति ■ तत् तदेवेतरो जनः ॥
तस्माल्लोकस्य सिद्ध्यर्थं कर्तव्यं चात्मसिद्धये ॥

तदनन्तर 'ये ■ कर्म मेरे नहीं हैं और मैं इनका कर्ता नहीं हूँ' इस भावसे ज्ञानाग्निद्वारा उन ■ कर्मोंको भस्म कर डालो, तुम परम सौभाग्यवती हो । तुम्हे सदा इसी तरह ■ और अहंकारसे रहित होकर कर्म करना चाहिये और मुझे भी ऐसा ■ करना चाहिये । श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, वैसे ही दूसरे लोग भी करते हैं, अतः लोकव्यवहारकी सिद्धि तथा आत्मकल्याणके लिये हम दोनोंको कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये ॥

भीष्म उवाच

उक्त्वैवं स महाप्राज्ञः सर्वज्ञानैकभाजनः ।
पुत्रानुत्पाद्य तस्यां च यज्ञैः संतर्प्य देवताः ॥
आत्मयोगपरो नित्यं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा उपदेश देकर सम्पूर्ण ज्ञानके एकमात्र निधि महाज्ञानी श्वेतकेतुने सुवर्चलाके गर्भसे अनेक पुत्र उत्पन्न किये, यज्ञोंद्वारा देवताओंको संतुष्ट किया; फिर आत्मयोगमें नित्य तत्पर रहकर वे निर्द्वन्द्व एवं परिग्रहशून्य हो गये ॥

भार्यां तां सदृशीं प्राप्य बुद्धिं क्षेत्रज्ञयोरिव ।
लोकमन्यमनुप्राप्तौ भार्या भर्ता तथैव च ॥
साक्षिभूतौ जगत्यस्मिंश्चरमाणौ मुदान्वितौ ।

अपने अनुरूप पत्नीको पाकर श्वेतकेतु उसी प्रकार सुशोभित होते थे, जैसे बुद्धिको पाकर क्षेत्रज्ञ । वे दोनों पति-पत्नी लोकान्तरमें भी पहुँच जाते थे और इस जगत्में साक्षीकी भाँति स्थित होकर प्रसन्नतापूर्वक विचरते थे ॥

ततः कदाचिद् भर्तारं श्वेतकेतुं सुवर्चला ।
■ को भवानत्र ब्रूहि मे तद् द्विजोत्तम ।
तामाह भगवान् वाग्मी त्वया ज्ञातो न संशयः ॥
द्विजोत्तमेति मामुक्त्वा पुनः कमनुपृच्छसि ।

तदनन्तर एक दिन सुवर्चलाने अपने पति श्वेतकेतुसे पूछा—'द्विजश्रेष्ठ ! आप कौन हैं, यह मुझे बताइये !' उस समय प्रवचन-कुशल भगवान् श्वेतकेतुने उससे कहा—'देवि ! तुमने मेरे विषयमें जान ही लिया है, इसमें संदेह नहीं है । तुमने द्विजश्रेष्ठ कहकर मुझे सम्बोधित भी किया है; फिर उस द्विजश्रेष्ठके सिवा और किसको पूछ रही हो ?' ॥

■ तमाह महात्मानं पृच्छामि हृदि शायिनम् ॥

तब सुवर्चलाने अपने महात्मा पतिसे कहा—'नाथ ! ■ हृदय-गुफामें शयन करनेवाले आत्माको पूछती हूँ' ॥

तच्छ्रुत्वा प्रत्युवाचैनां स न वक्ष्यति भामिनि ।
नामगोत्रसमायुक्तमात्मानं मन्यसे यदि ।
तन्मिथ्या गोत्रसद्भावे वर्तते देहबन्धनम् ॥

■ सुनकर श्वेतकेतुने उससे कहा—'भामिनि ! वह तो ■ कहेगा नहीं । यदि तुम आत्माको नाम और गोत्रसे

युक्त मानती हो तो यह तुम्हारी मिथ्या धारणा है; क्योंकि नाम-गोत्र होनेपर देहका बन्धन प्राप्त होता है ॥

अहमित्येष भावोऽत्र त्वयि चापि समाहितः।
त्वमप्यहमहं सर्वमहमित्येव वर्तते ॥
नात्र तत् परमार्थं वै किमर्थमनुपृच्छसि ॥

'आत्मामे अहम् (मैं हूँ) यह भाव स्थापित किया गया है। तुममे भी वही भाव है। तुम भी अहम्, मैं भी अहम् और यह सब अहम्का ही रूप है। इसमे वह परमार्थतत्त्व नहीं है; फिर किसलिये पूछती हो ?'॥

ततः प्रहस्य सा हृष्टा भर्तारं धर्मचारिणी।
उवाच वचनं काले स्मयमाना सदा नृप ॥

नरेश्वर ! तब धर्मचारिणी पत्नी सुवर्चला बहुत प्रसन्न हुई, उसने हँसकर मुस्कराते हुए यह समयोचित वचन कहा ।

सुवर्चलोवाच

किमनेकप्रकारेण विरोधेन प्रयोजनम्।
क्रियाकलापैर्ब्रह्मर्षे ज्ञाननष्टोऽसि सर्वदा ॥
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ यथाहं त्वामनुव्रता ॥

सुवर्चला बोली—ब्रह्मर्षे ! अनेक प्रकारके विरोधसे क्या प्रयोजन ? सदा इस नाना प्रकारके क्रिया-कलापमें पड़कर आपका ज्ञान लुप्त होता जा रहा है। महाप्राज्ञ ! आप मुझे इसका कारण बताइये, क्योंकि मैं आपका अनुसरण करनेवाली हूँ ।

श्वेतकेतुरुवाच

यद् यदाचरति श्रेष्ठः तत् तदेवेतरो जनः।
वर्तते तेन लोकोऽयं संकीर्णश्च भविष्यति ॥

श्वेतकेतुने कहा—प्रिये ! श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, वही दूसरे लोग भी करते हैं; अतः हमारे कर्म त्याग देनेसे यह सारा जनसमुदाय संकरताके दोषसे दूषित हो जायगा ॥

संकीर्णे च तथा धर्मे वर्णसंकरमेति च।
संकरे च प्रवृत्ते तु मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते ॥

इस प्रकार धर्ममे संकीर्णता आनेपर प्रजामे वर्णसंकरता फैल जाती है और संकरता फैल जानेपर सर्वत्र मात्स्यन्यायकी प्रवृत्ति हो जाती है (जैसे प्रबल मत्स्य दुर्बल मत्स्यको निगल जाते हैं, उसी प्रकार बलवान् मनुष्य दुर्बलोंको सताने लगते हैं) ॥

तदनिष्टं हरेर्भद्रे धातुरस्य महात्मनः।
परमेश्वरसंक्रीडा लोकसृष्टिरियं शुभे ॥

भद्रे ! सम्पूर्ण जगत्का भरण-पोषण करनेवाले परमात्मा श्रीहरिको यह अभीष्ट नहीं है। शुभे ! जगत्की यह सारी सृष्टि परमेश्वरकी क्रीड़ा है ॥

यावत् पांसव उद्दिष्टास्तावत्योऽस्य विभूतयः।
तावत्यश्चैव मायास्तु तावत्योऽस्याश्च शक्तयः॥

धूलिके जितने कण हैं, उतनी ही परमेश्वर श्रीहरिकी विभूतियाँ हैं, उतनी ही उनकी मायाएँ हैं और उतनी ही उन मायाओंकी शक्तियाँ भी हैं ॥

एवं सुगह्वरे मुक्तो यत्र मे तद्भवाभवम्।
छित्त्वा ज्ञानासिना गच्छेत् स विद्वान् स च मे प्रियः॥
सोऽहमेव न संदेहः प्रतिज्ञा इति तस्य वै ॥

स्वयं भगवान् नारायणका कथन है कि 'जो मुक्तिलाभके लिये उद्योगशील पुरुष अत्यन्त गहन गुफामे रहकर ज्ञानरूपी खड्गके द्वारा जन्म-मृत्युके बन्धनको काटकर मेरे धामको चला जाता है, वही विद्वान् है और वही मुझे प्रिय है। वह योगी पुरुष मैं ही हूँ। इसमें संदेह नहीं है' यह भगवान्की प्रतिज्ञा है ॥

ये मूढास्ते दुरात्मानो धर्मसंकरकारकाः।
मर्यादाभेदका नीचा नरके यान्ति जन्तवः।
आसुरीं योनिमापन्ना इति देवानुशासनम् ॥

'जो मूढ, दुरात्मा, धर्मसंकरता उत्पन्न करनेवाले, मर्यादाभेदक और नीच मनुष्य हैं, वे नरकमें गिरते हैं और आसुरी योनिमे पड़ते हैं, यह भी उन्हीं भगवान्का अनुशासन है' ॥

भगवत्या तथा लोके रक्षितव्यं न संशयः।
मर्यादालोकरक्षार्थमेवमस्मि तथा स्थितः ॥

देवि ! तुम्हे भी जगत्की रक्षाके लिये लोकमर्यादाका पालन करना चाहिये। इसमें संशय नहीं है। मैं भी इसी भावसे लोक-मर्यादाकी रक्षामें स्थित हूँ ॥

सुवर्चलोवाच

शब्दः कोऽत्र इति ख्यातस्तथार्थश्च महामुने।
आकृत्यापि तयोर्ब्रूहि लक्षणेन पृथक् पृथक् ॥

सुवर्चलाने पूछा—महामुने ! यहाँ शब्द किसे कहा गया है और अर्थ भी क्या है ? आप उन दोनोंकी आकृति और लक्षणका निर्देश करते हुए उनका पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये ॥

श्वेतकेतुरुवाच

व्यत्ययेन च वर्णानां परिवादकृतो हि यः।
स शब्द इति विज्ञेयस्तन्निपातोऽर्थ उच्यते ॥

श्वेतकेतुने कहा—अकार आदि वर्णोंके समुदायको क्रम या व्यतिक्रमसे उच्चारण करनेपर जो वस्तु प्रकाशित होती है, उसे 'शब्द' जानना चाहिये और उस शब्दसे जिस अभिप्रायकी प्रतीति हो, उसका नाम 'अर्थ' है ॥

सुवर्चलोवाच

शब्दार्थयोर्हि सम्बन्धस्त्वनयोरस्ति वा न वा।
तन्मे ब्रूहि यथातत्त्वं शब्दस्थानेऽर्थ एव चेत् ॥

सुवर्चला बोली—यदि शब्दके होनेपर ही अर्थकी प्रतीति होती है तो इन शब्द और अर्थमें कोई सम्बन्ध है या नहीं ? यह आप मुझे यथार्थरूपसे बतावें ॥

श्वेतकेतुरुवाच

शब्दार्थयोर्न चैवास्ति सम्बन्धोऽत्यन्त एव हि।
पुष्करे च यथा तोयं तथास्तीति च वेत्थ तत् ॥

श्वेतकेतुने कहा—शब्द और अर्थमें एक प्रकारसे कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। कमलके पत्तेपर स्थित जलकी भाँति शब्द एवं अर्थका अनियत सम्बन्ध है, ऐसा जानो ॥

सुवर्चलोवाच

अर्थे स्थितिर्हि शब्दस्य नान्यथा च स्थितिर्भवेत्।
विद्यते चेन्महाप्राज्ञ विनार्थं ब्रूहि सत्तम ॥

सुवर्चला बोली—महाप्राज्ञ ! अर्थपर ही शब्दकी स्थिति है, अन्यथा उसकी स्थिति नहीं हो सकती। साधुशिरोमणे! यदि बिना अर्थका कोई शब्द हो तो उसे बताइये ॥

श्वेतकेतुरुवाच

[illegible] संसर्गोऽतिमात्रस्तु वाचकत्वेन वर्तते।
अस्ति चेद् वर्तते नित्यं विकारोच्चारणेन वै ॥

श्वेतकेतुने कहा—अर्थके साथ शब्दका वाचकत्वरूप सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध नित्य है। यदि शब्द है तो उसका अर्थ भी सदा है ही। विपरीत क्रमसे उच्चारण करनेपर भी शब्दका कुछ-न-कुछ अर्थ होता ही है (जैसे नदी, दीन इत्यादि) ॥

सुवर्चलोवाच

शब्दस्थानोऽत्र इत्युक्तस्तथार्थ इति मे कृतम्।
अर्थास्थितो न तिष्ठेच्च विरुद्धमिह भाषितम् ॥

सुवर्चला बोली—शब्द अर्थात् वेदका आधार है अर्थभूत परमात्मा। ऐसा ही विद्वानोंने कहा है और यही मेरा भी मत है। [illegible] अर्थका आधार लिये बिना [illegible] शब्द टिक ही नहीं सकता। परंतु आप तो इनमें कोई नियत [illegible] ही नहीं मानते हैं, अतः आपका कथन प्रसिद्धिके विपरीत है ॥

श्वेतकेतुरुवाच

न विरुद्धोऽत्र कथितो नाकाशं हि विना जगत्।
सम्बन्धस्तत्र नास्त्येव तद्वदित्येव मन्यताम् ॥

श्वेतकेतुने कहा—मैंने प्रसिद्धिके विपरीत कुछ नहीं कहा है। देखो, आकाशके बिना पृथ्वी अथवा पार्थिव जगत् टिक नहीं [illegible] तथापि इनमें कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। शब्द और अर्थका सम्बन्ध भी वैसा ही मानना चाहिये ॥

सुवर्चलोवाच

सदाहङ्कारशब्दोऽयं व्यक्तमात्मनि संश्रितः।
न वाचस्तत्र वर्तन्ते इति मिथ्या भविष्यति ॥

सुवर्चला बोली—यह 'अहम्' शब्द सदा ही आत्माके अर्थमें स्पष्टरूपसे प्रयुक्त होता है; परंतु 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इस श्रुतिके अनुसार वहाँ वाणीकी पहुँच नहीं है; अतः आत्माके लिये 'अहम्' पदका प्रयोग भी मिथ्या ही होगा ॥

श्वेतकेतुरुवाच

अहंशब्दो ह्यहंभावो नात्मभावे शुभव्रते।
[illegible] वर्तन्ते परेऽचिन्त्ये वाचः सगुणलक्षणाः ॥

श्वेतकेतुने कहा—शुभव्रते ! अहम् शब्दका आत्मभावमें प्रयोग नहीं होता; किंतु अहम्भावका ही आत्मभावमें प्रयोग होता है; क्योंकि सगुण पदार्थके बोधक वचन अचिन्त्य परब्रह्म परमात्माका बोध करानेमें असमर्थ हैं ॥

मृण्मये हि घटे भावस्तादृग्भाव इहेष्यते।
अयं भावः परेऽचिन्त्ये ह्यात्मभावो यथा [illegible] तत् ॥

जैसे मिट्टीके घड़ेमें मृत्तिका-भाव होता है, उसी प्रकार परमात्मासे उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थमें परमात्मभाव अभीष्ट है; अतएव अचिन्त्य परब्रह्म परमात्मामें अहम्भाव ही आत्मभाव है और वही यथार्थ है ॥

अहं त्वमेतदित्येव परे संकल्पना मया।
तस्माद् वाचो न वर्तन्त इति नैव विरुध्यते ॥

'मैं' 'तुम' और 'यह'—ये [illegible] नाम परब्रह्म परमात्मामें हमलोगोंद्वारा कल्पित हैं (वास्तविक नहीं हैं); अतः 'उस परमात्मातक वाणीकी पहुँच नहीं हो पाती' श्रुतिके इस कथनसे कोई विरोध नहीं है ॥

तस्माद् वामेन वर्तन्ते मनसा भीरु सर्वदाः।
यथाकाशगतं विश्वं संसक्तमिव लक्ष्यते ॥

अतएव भीरु ! मनुष्य भ्रान्तचित्तद्वारा ही अहम् आदि पदोंका प्रयोग करता है। जैसे आकाशमें स्थित सम्पूर्ण विश्व उसमें सटा हुआ-सा दीखता है, उसी प्रकार परमात्मामें स्थित हुआ सारा दृश्य-प्रपञ्च उससे जुड़ा हुआ-सा जान पड़ता है ॥

संसर्गे सति सम्बन्धात् तद् विकारं भविष्यति।
अनाकाशगतं सर्वं विकारे [illegible] सदा गतम् ॥

ब्रह्मके साथ जगत्का जो सम्बन्ध है, उसी सम्बन्धसे [illegible] उसीका कार्य जान पड़ता है। जैसे सारा जगत् आकाशसे पृथक् है तो भी उसके विकारोंसे सम्बन्ध होनेके कारण सदा उससे मिश्रित ही रहता है, उसी प्रकार जगत्से ब्रह्मका कोई सम्पर्क नहीं है तो भी यह उसीसे उत्पन्न होनेके कारण तद्रूप माना जाता है ॥

तद् [illegible] परमं शुद्धमनौपम्यं न शक्यते।
न दृश्यते [illegible] [illegible] दृश्यते च मतिर्मम ॥

वह [illegible] परम [illegible] और उपमारहित है; अतः वाणीद्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इन चर्मचक्षुओंसे उसको नहीं देखा जा [illegible] है तथा ज्ञानदृष्टिसे उसका साक्षात्कार होता है, ऐसा मेरा मत है ॥

सुवर्चलोवाच

निर्विकारं ह्यमूर्तं च निरयं सर्वगं तथा।
दृश्यते च वियन्नित्यं [illegible] तेन दृश्यते ॥

सुवर्चला बोली—तब तो यह मानना होगा कि जिस प्रकार निर्विकार, निराकार, निःसीम और सर्वव्यापी आकाशका सर्वदा ही दर्शन होता है, उसीके समान ज्ञानस्वरूप आत्माका भी दर्शन होता है ॥

श्वेतकेतुरुवाच

त्वचा स्पृशति वै वायुमाकाशस्थं पुनः पुनः।
तत्स्थं गन्धं तथाऽऽघ्राति ज्योतिः पश्यति चक्षुषा ॥

श्वेतकेतुने कहा—मनुष्य त्वचाद्वारा आकाशमें स्थित वायुका बारंबार स्पर्श करता है, नासिकाद्वारा आकाशवर्ती गन्धको बारंबार सूँघता है और नेत्रद्वारा आकाशस्थित ज्योतिका दर्शन करता है ॥

तमोरश्मिगणश्चैव मेघजालं तथैव च ।
वर्षं तारागणं चैव नाकाशं दृश्यते पुनः ॥

इसके सिवा अन्धकार, किरणसमूह, मेघोंकी घटा, वर्षा तथा तारागणका भी बारबार दर्शन होता है; परंतु आकाश दृष्टिगोचर नहीं होता ॥

आकाशस्याप्यथाकाशं सद्रूपमिति निश्चितम् ।
तदर्थे कल्पिता ह्येते तत् सत्यो विष्णुरेव च ॥

सत्स्वरूप परमात्मा उस आकाशका भी आकाश है, अर्थात् उसे भी अवकाश देनेवाला महाकाश है; यह निश्चित है, उन्हींके लिये और उन्हींके द्वारा इस सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि हुई है । वे ही सत्य तथा सर्वव्यापी हैं ॥

यानि नामानि गौणानि ह्युपचारात् परात्मनि ।
न चक्षुषा न मनसा न चान्येन परो विभुः ॥
चिन्त्यते सूक्ष्मया बुद्ध्या वाचा वक्तुं न शक्यते ।

भगवान्‌के जो गुण-सम्बन्धी नाम हैं, वे परमात्मामें औपचारिक हैं । नेत्र, मन तथा अन्य किसी इन्द्रियके द्वारा भी उस सर्वव्यापी परमात्माका ग्रहण नहीं हो सकता । वाणीद्वारा भी उनका वर्णन नहीं किया जा सकता । केवल सूक्ष्म बुद्धिद्वारा उनका चिन्तन एवं साक्षात्कार किया जा सकता है ॥

एतत् प्रपञ्चमखिलं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
महाघटोऽल्पकश्चैव यथा मह्यां प्रतिष्ठितौ ॥

यह सारा प्रपञ्च (समष्टि एवं व्यष्टि-जगत्) उन्हीं परमात्मामें प्रतिष्ठित है । ठीक उसी तरह, जैसे बड़ा और छोटा घड़ा पृथ्वीपर स्थित होते हैं ॥

न च स्त्री न पुमांश्चैव तथैव न नपुंसकः ।
केवलज्ञानमात्रं तत् तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

वह परमात्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है, केवल ज्ञानस्वरूप है । उसीके आधारपर यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥

भूमिसंस्थानयोगेन वस्तुसंस्थानयोगतः ।
रसभेदा यथा तोये प्रकृत्यामात्मनस्तथा ॥

जैसे एक ही जलमें मृत्तिकाविशेष एवं बीज आदि द्रव्यविशेषके संयोगसे रसभेद उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रकृति और आत्माके संयोगसे गुण-कर्मके अनुसार अनेक प्रकारकी सृष्टि प्रकट होती है ॥

तद्वाक्यस्मरणान्नित्यं तृप्तिं वारि पिबन्निव ।
प्राप्नोति ज्ञानमखिलं तेन तत् सुखमेधते ॥

जैसे प्यासा मनुष्य पानी पीकर तृप्ति लाभ करता है, उसी प्रकार साधक ब्रह्मबोधक वाक्यको स्मरण करके सदा तृप्ति एवं सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञानसे उसका सुख उत्तरोत्तर अभ्युदयको प्राप्त होता है ॥

सुवर्चलोवाच

अनेन साध्यं किं स्याद् वै शब्देनेति मतिर्मम ।
वेदगम्यः परोऽचिन्त्य इति पौराणिका विदुः ॥
निरर्थको यथा लोके तद्वत् स्यादिति मे मतिः ।
निरीक्ष्यैवं यथान्यायं वक्तुमर्हसि मेऽनघ ॥

सुवर्चला बोली—निष्पाप मुने ! इस शब्दसे क्या सिद्ध होनेवाला है ? मेरी तो ऐसी धारणा है कि शब्दसे कुछ भी होने-जानेवाला नहीं है । परंतु पौराणिक विद्वान् ऐसा मानते हैं कि परमात्मा अचिन्त्य एवं वेदगम्य है । जैसे लोकमें बहुत-से शब्द निरर्थक होते हैं, उसी प्रकार वैदिक शब्द भी हो सकते हैं । मेरी बुद्धिमें तो यही बात आती है; अतः आप इस विषयमें यथोचित विचार करके मुझे यथार्थ बात बतानेकी कृपा करें ॥

श्वेतकेतुरुवाच

वेदगम्यं परं शुद्धमिति सत्या परा श्रुतिः ।
व्याहत्या नैतदित्याह व्युपलिङ्गे च वर्तते ॥

श्वेतकेतुने कहा—'शुद्धस्वरूप परब्रह्म परमात्मा वेदगम्य हैं' श्रुतिका यह कथन परम सत्य है । इस विषयमें नास्तिकोंका कहना है कि परब्रह्मकी प्रत्यक्ष उपलब्धि न होनेसे उक्त श्रुतिका कथन व्याघात दोषसे दूषित होनेके कारण सत्य नहीं है । इसका उत्तर आस्तिक यों देते हैं कि सूक्ष्म शरीरविशिष्ट स्थूल देहमें जीवात्मारूपसे परब्रह्मकी ही उपलब्धि होती है; अतः श्रुतिका पूर्वोक्त कथन यथार्थ ही है ॥

निरर्थको न चैवास्ति शब्दो लौकिक उत्तमे ।
अनन्वयास्तथा शब्दा निरर्था इति लौकिकैः ॥

उत्तम अङ्गोंवाली देवि ! कोई लौकिक शब्द भी निरर्थक नहीं है; फिर वैदिक शब्द तो व्यर्थ हो ही कैसे सकता है ? जिन शब्दोंका परस्पर अन्वय नहीं होता—जो एक दूसरेसे असम्बद्ध होते हैं, उन्हींको लौकिक पुरुष निरर्थक बताते हैं ॥

गृह्यन्ते तद्वदित्येव न वर्तन्ते परात्मनि ।
अगोचरत्वं वचसां युक्तमेवं तथा शुभे ॥

किंतु शुभे ! लौकिक शब्दोंकी ही भाँति वैदिक शब्द भी यद्यपि सार्थक समझे जाते हैं, तथापि वे साक्षात् परमात्माका बोध करानेमें असमर्थ हैं; क्योंकि परमात्माको वाणीका अगोचर बताया गया है और उनकी अगोचरता युक्तिसङ्गत भी है ॥

साधनस्योपदेशाच्च ह्युपायस्य च सूचनात् ।
उपलक्षणयोगेन व्यावृत्त्या च प्रदर्शनात् ॥
वेदगम्यः परः शुद्ध इति [illegible] धीयते मतिः ।

वेदोंमें ब्रह्मकी उपासना अथवा उसकी प्राप्तिके साधनका उपदेश है । उपासनाके उपाय भी सूचित किये गये हैं (जैसे ग्रहणकालमें चन्द्रमा और सूर्यके साथ राहुका दर्शन होता है उसी प्रकार) उपलक्षण-योगसे प्रत्येक शरीरमें [illegible] रूपसे ब्रह्मकी ही स्थितिका प्रदर्शन किया गया है । इन्हें

सिवा नेति नेति आदि निषेधात्मक वचनोंद्वारा अनात्मवस्तुके बाधपूर्वक ब्रह्मके स्वरूपकी ओर संकेत किया गया है। इसलिये शुद्धस्वरूप परमात्मा एकमात्र वेदगम्य हैं, यही मेरी सुनिश्चित धारणा है॥

अध्यात्मध्यानसम्भूतभूतं दीपवत् स्फुरम् ।
ज्ञाने विद्धि शुभाचारे तेन यान्ति परां गतिम् ।

शुभ आचरणोंवाली देवि ! तुम्हें यह विदित हो कि अध्यात्मतत्त्वके चिन्तनसे नित्य ज्ञान दीपककी भाँति स्पष्टरूपसे प्रकाशित होने लगता है। उस ज्ञानसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त होते हैं॥

यदि मे व्याहृतं गुह्यं श्रुतं न तु त्वया शुभे ॥
तथ्यमित्येव वा शुद्धे ज्ञानं ज्ञानविलोचने ।

शुभे ! शुद्धस्वरूपे ! ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न देवि ! मैंने यह जो गूढ एवं यथार्थ ब्रह्मज्ञानका विषय बताया है, इसे तुमने सुना है या नहीं ? ॥

नानारूपवदस्यैवमैश्वर्यं दृश्यते शुभे ।
न वायुस्तत्र सूर्यस्तत्राग्निस्तत् तु परं पदम् ॥
अनेन पूर्णमेतद्धि हृदि भूतमिहेष्यते ।

शुभे ! परब्रह्म परमात्माका ऐश्वर्य नाना रूपोंमें दिखायी देता है ? वायुकी वहाँतक पहुँच नहीं है। सूर्य और अग्नि उस परमपदस्वरूप परमेश्वरको प्रकाशित नहीं कर सकते। परमात्मासे ही यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है और वे ही प्रत्येक प्राणीके हृदयमें आत्मारूपसे निवास करते हैं॥

एतावदात्मविज्ञानमेतावद् यदहं स्मृतम् ॥
आवयोर्न च सत्त्वे वै तस्मादज्ञानबन्धनम् ।

इतना ही परमात्मविज्ञान है। इतना ही अहम् पदार्थ माना गया है। हम दोनोंकी सत्ता नित्य नहीं है, ऐसी धारणा अज्ञानके कारण होती है॥

भीष्म उवाच

एवं सुवर्चला ह्येषा प्रोक्ता भर्त्रा यथार्थवत् ।
परिचर्यमाणा ह्यनिशं तत्त्वबुद्धिसमन्विता ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! अपने पति श्वेतकेतुके इस प्रकार यथार्थ उपदेश देनेपर सुवर्चला आनन्दमग्न हो गयी। वह निरन्तर तत्त्वज्ञाननिष्ठ रहकर तदनुरूप आचरण करने लगी॥

भर्ता च तामनुप्रेक्ष्य नित्यनैमित्तिकान्वितः ।
परमात्मनि गोविन्दे वासुदेवे महात्मनि ॥
[illegible] च कर्माणि तन्मयत्वेन भावितः ।
कालेन महता राजन् प्राप्नोति परमां गतिम् ॥

श्वेतकेतु पत्नीको साथ रखकर नित्य नैमित्तिक कर्मोंमें संलग्न रहते थे। वे सबके हृदयमें निवास करनेवाले महात्मा परमात्मा गोविन्दको अपने समस्त कर्म समर्पित करके उन्हींके ध्यानमें तन्मय रहा करते थे। राजन् ! इस प्रकार दीर्घकालतक परमात्मचिन्तन करके उन्होंने परमगति प्राप्त कर ली॥

एतत् ते कथितं राजन् यस्मात् त्वं परिपृच्छसि ।
गार्हस्थ्यं च समाधाय गतौ जायापती परम् ॥

नरेश्वर ! तुमने जो प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें मैंने यह प्रसङ्ग सुनाया है। इस प्रकार वे दोनों पति-पत्नी गृहस्थधर्मका आश्रय लेकर परमात्माको प्राप्त हो गये॥

युधिष्ठिर उवाच

किं कुर्वन् सुखमाप्नोति किं कुर्वन् दुःखमाप्नुयात् ।
किं कुर्वन्निर्भयो लोके सिद्धश्चरति भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! मनुष्य क्या उपाय करनेसे सुख पाता है? क्या करनेसे दुःख उठाता है और कौन-सा काम करनेसे वह सिद्धकी भाँति संसारमें निर्भय होकर विचरता है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

दममेव प्रशंसन्ति वृद्धाः श्रुतिसमाधयः ।
सर्वेषामेव वर्णानां [illegible] विशेषतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! मनोयोगपूर्वक वेदार्थका विचार करनेवाले वृद्ध पुरुष सामान्यतः सभी वर्णोंके लिये और विशेषतः ब्राह्मणके लिये मन और इन्द्रियोंके संयमरूप 'दम' की ही प्रशंसा करते हैं ॥ २ ॥

नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपपद्यते ।
क्रिया तपश्च सत्यं च दमे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥

जिसने दमका पालन नहीं किया है, उसे अपने कर्मोंमें यथोचित सफलता नहीं मिलती; क्योंकि क्रिया, तप और सत्य—ये सभी दमके आधारपर ही प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ३ ॥

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दम उच्यते ।
विपाप्मा निर्भयो दान्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥ ४ ॥

'दम' तेजकी वृद्धि करता है। 'दम' परम पवित्र बताया गया है, मन और इन्द्रियोंका संयम करनेवाला पुरुष पाप और भयसे रहित होकर 'महत्' पदको प्राप्त कर लेता है॥

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं लोके विपर्येति मनश्चास्य प्रसीदति ॥ ५ ॥

दमका पालन करनेवाला मनुष्य सुखसे सोता, सुखसे जागता और सुखसे ही संसारमें विचरता है तथा उसका मन भी प्रसन्न रहता है ॥ ५ ॥

तेजो दमेन ध्रियते तत् तीक्ष्णोऽधिगच्छति ।
अमित्रांश्च बहून् नित्यं पृथगात्मनि पश्यति ॥ ६ ॥

दमसे ही तेजको धारण किया जाता है, जिसमें दमका अभाव है, वह तीव्र कामवाला रजोगुणी पुरुष उस तेजको नहीं धारण कर सकता और सदा काम, क्रोध आदि बहुत-से शत्रुओंको अपनेसे पृथक् अनुभव करता है ॥ ६ ॥

क्रव्याद्भ्य इव भूतानामदान्तेभ्यः सदा भयम् ।
तेषां विप्रतिषेधार्थं राजा सृष्टः स्वयम्भुवा ॥ ७ ॥

जिन्होंने मन और इन्द्रियोंका दमन नहीं किया है,

उनसे ■■ प्राणियोंको उसी प्रकार सदा भय बना रहता है, जैसे मांसभक्षी व्याघ्र आदि जन्तुओंसे भय हुआ ■■ है। ऐसे उद्दण्ड मनुष्योंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिको रोकनेके लिये ■ ब्रह्माजीने राजाकी सृष्टि की है ॥ ■ ॥

आश्रमेषु च सर्वेषु दम एव विशिष्यते।
यच्च तेषु फलं धर्मे भूयो दान्ते तदुच्यते ॥ ८ ॥

चारों आश्रमोंमें दमको ही श्रेष्ठ बताया गया है। उन ■■ आश्रमोंमें धर्मका पालन करनेसे जो फल मिलता है, दमनशील पुरुषको वह फल और अधिक मात्रामें उपलब्ध होता है ॥ ८ ॥

तेषां लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः।
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्दधानता ॥ ९ ॥
अक्रोध आर्जवं नित्यं नातिवादोऽभिमानिता।
गुरुपूजानसूया च दया भूतेष्वपैशुनम् ॥ १० ॥
जनवादमृषावादस्तुतिनिन्दाविवर्जनम् ।
साधुकामश्च स्पृहयेन्नायतिं प्रत्ययेषु च ॥ ११ ॥

अब मैं उन लक्षणोंका वर्णन करूँगा, जिनकी उत्पत्तिमें दम ही कारण है। कृपणताका अभाव, उत्तेजनाका न होना, संतोष, श्रद्धा, क्रोधका ■ आना, नित्य सरलता, अधिक बकवाद न करना, अभिमानका त्याग, गुरुसेवा, किसीके गुणोंमें दोषदृष्टि न करना, समस्त जीवोंपर दया करना, किसीकी चुगली न करना, लोकापवाद, असत्यभाषण तथा निन्दा-स्तुति आदिको त्याग देना, सत्पुरुषोंके सङ्गकी इच्छा तथा भविष्यमें आनेवाले सुखकी स्पृहा और दुःखकी चिन्ता न करना—॥ ९—११ ॥

अवैरकृत् सूपचारः समो निन्दाप्रशंसयोः।
सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मवान् प्रभुः ॥१२॥
प्राप्य लोके ■ सत्कारं स्वर्गं वै प्रेत्य गच्छति।

जितेन्द्रिय पुरुष किसीके साथ वैर नहीं करता। उसका सबके साथ अच्छा बर्ताव होता है। वह निन्दा और स्तुतिमें समान भाव रखनेवाला, सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त, धैर्यवान् तथा दोषोंका दमन करनेमें समर्थ होता है। वह इहलोकमें सम्मान पाता और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है ॥ १२½ ॥

दुर्गमं सर्वभूतानां प्रापयन् मोदते सुखी ॥ १३ ॥
सर्वभूतहिते युक्तो न स यो द्विषते जनम्।
महाह्रद इवाक्षोभ्यः प्रज्ञातृप्तः प्रसीदति ॥ १४ ॥

दमनशील पुरुष समस्त प्राणियोंको दुर्लभ वस्तुएँ देकर—दूसरोंको सुख पहुँचाकर स्वयं सुखी और प्रमुदित होता है। जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें लगा रहता और किसीसे द्वेष नहीं करता है, वह बहुत बड़े जलाशयकी भाँति गम्भीर होता है। उसके मनमें कभी क्षोभ नहीं होता तथा वह सदा ज्ञानानन्दसे तृप्त एवं प्रसन्न रहता है ॥ १३-१४ ॥

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः।
नमस्यः सर्वभूतानां दान्तो भवति बुद्धिमान् ॥ १५ ॥

जो समस्त प्राणियोंसे निर्भय है तथा जिससे सम्पूर्ण प्राणी निर्भय हो गये हैं, वह दमनशील एवं बुद्धिमान् पुरुष सब जीवोंके लिये वन्दनीय होता है ॥ १५ ॥

न हृष्यति महत्यर्थे व्यसने च न शोचति।
स वै परिमितप्रज्ञः ■ दान्तो द्विज उच्यते ॥ १६ ॥

जो बहुत बड़ी सम्पत्ति पाकर हर्षसे फूल नहीं उठता और संकटमें पड़नेपर शोक नहीं करता, ■ द्विज सूक्ष्म बुद्धिसे युक्त एवं जितेन्द्रिय कहलाता है ॥ १६ ॥

कर्मभिः श्रुतिसम्पन्नः सद्भिराचरितैः शुचिः।
सदैव दमसंयुक्तस्तस्य भुङ्क्ते महाफलम् ॥ १७ ॥

जो वेदशास्त्रोंका ज्ञाता और सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए शुभ कर्मोंसे पवित्र है तथा जिसने सदा ही दमका पालन किया है, ■ अपने शुभकर्मका महान् फल भोगता है ॥

अनसूया क्षमा शान्तिः संतोषः प्रियवादिता।
सत्यं दानमनायासो नैष मार्गो दुरात्मनाम् ॥ १८ ॥

किसीके दोष न देखना, हृदयमें क्षमाभाव रखना, शान्ति, संतोष, मीठे वचन बोलना, सत्य, दान तथा क्रियामें परिश्रमका बोध न होना—ये सद्गुण हैं। दुरात्मा पुरुष इस मार्गसे नहीं चलते हैं ॥ १८ ॥

कामक्रोधौ च लोभश्च परस्येर्ष्याविकत्थना।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥ १९ ॥
विक्रम्य घोरे तपसि ब्राह्मणः संशितव्रतः।
कालाकाङ्क्षी चरेल्लोकान् निरपाय इवात्मवान् ॥ २० ॥

उनमें तो काम, क्रोध, लोभ, दूसरोंके प्रति डाह और अपनी झूठी प्रशंसा आदि दुर्गुण ही भरे रहते हैं; इसलिये उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणको चाहिये कि वह जितेन्द्रिय होकर काम और क्रोधको वशमें करे तथा ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उत्साहके साथ घोर तपस्यामें संलग्न हो जाय एवं मृत्युकालकी प्रतीक्षा करता हुआ विघ्न-बाधाओंसे रहित हो धैर्यपूर्वक सम्पूर्ण जगत्‌में विचरे ॥ १९-२० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दमप्रशंसायां विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दमकी प्रशंसाविषयक दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा ■आ ■ २२० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १०८½ श्लोक मिलाकर कुल १२८½ श्लोक हैं)

एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्रत, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य तथा अतिथिसेवा आदिका विवेचन तथा यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करनेवालेको परम [illegible] गतिकी प्राप्तिका कथन

युधिष्ठिर उवाच

द्विजातयो व्रतोपेता यदिदं भुञ्जते हविः।
अन्नं ब्राह्मणकामाय कथमेतत् पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! व्रतयुक्त द्विज[illegible] वेदोक्त सकामकर्मोके फलकी इच्छासे हविष्यान्नका भोजन करते हैं ? उनका यह कार्य उचित है या नहीं ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अवेदोक्तव्रतोपेता भुञ्जानाः कार्यकारिणः।
वेदोक्तेषु च भुञ्जाना व्रतलुब्धा युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो लोग अवैदिक व्रतका आश्रय ले हविष्यान्नका मोजन करते हैं, वे स्वेच्छाचारी हैं और जो वेदोक्त व्रतोंमें प्रवृत्त हो सकाम [illegible] करते और उसमें खाते हैं, वे भी उस व्रतके फलोंके प्रति लोलुप कहे जाते हैं (अतः उन्हें भी बारंबार इस संसार[illegible] आना पड़ता है) ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं तप इत्याहुरुपवासं पृथग्जनाः।
एतत् तपो महाराज उताहो किं तपो भवेत् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाराज ! संसारके साधारण लोग जो उपवासको ही तप कहते हैं, क्या वास्तवमें यही तप है या दूसरा। यदि दूसरा है तो उस तपका क्या स्वरूप है ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

मासपक्षोपवासेन मन्यन्ते यत् तपो जनाः।
आत्मतन्त्रोपघातस्तु न तपस्तत्सतां मतम् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! साधारण जन जो महीने-पंद्रह दिन उपवास करके उसे तप मानते हैं, उनका वह कार्य धर्मके साधनभूत शरीरका शोषण करनेवाला है; अतः श्रेष्ठ पुरुषोंके मतमें वह तप नहीं है ॥ ४ ॥

[illegible] संनतिश्चैव शिष्यते तप उत्तमम्।
सदोपवासी च भवेद् ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥ ५ ॥

उनके मतमें तो त्याग और विनय ही उत्तम तप है। इनका पालन करनेवाला मनुष्य नित्य उपवासी और सदा ब्रह्मचारी है ॥ ५ ॥

मुनिश्च स्यात् सदा विप्रो दैवतं च सदा भवेत्।
कुटुम्बिको धर्मकामः सदास्वप्नश्च भारत ॥ ६ ॥

भरतनन्दन ! त्यागी और विनयी ब्राह्मण सदा मुनि और सर्वदा देवता समझा जाता है। वह कुटुम्बके साथ रहकर भी निरन्तर धर्मपालनकी इच्छा रक्खे और निद्रा तथा आलस्यको कभी पास न आने दे ॥ ६ ॥

मांसादी सदा च स्यात् पवित्रश्च सदा भवेत्।
अमृताशी सदा च स्याद् देवतातिथिपूजकः ॥ [illegible] ॥

मांस कभी न [illegible] सदा पवित्र रहे, वैश्वदेव आदि यज्ञसे बचे हुए अमृतमय अन्नका भोजन तथा देवता और अतिथियोंकी पूजा करे ॥ ७ ॥

विघसाशी सदा च स्यात् सदा चैवातिथिव्रतः।
श्रद्दधानः सदा च स्याद् देवताद्विजपूजकः ॥ ८ ॥

उसे सदा यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता, अतिथिसेवाका व्रती, श्रद्धालु तथा देवता और ब्राह्मणोंका पूजक होना चाहिये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं सदोपवासी स्याद् ब्रह्मचारी कथं भवेत्।
विघसाशी कथं च स्यात् सदा चैवातिथिव्रतः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! मनुष्य नित्य उपवास करनेवाला कैसे हो [illegible] है ? वह [illegible] ब्रह्मचारी कैसे रह [illegible] है ? वह किस प्रकार अन्न ग्रहण करे, जिससे सदा यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता हो सके तथा वह निरन्तर अतिथिसेवाका [illegible] भी कैसे निभा [illegible] है ? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

अन्तरा प्रातराशं च सायमाशं तथैव च।
सदोपवासी स भवेद् यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो प्रतिदिन प्रातःकालके सिवा फिर शामको ही भोजन करे और बीचमें कुछ [illegible] खाय, वह नित्य उपवास करनेवाला होता है ॥ १० ॥

भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति वै द्विजः।
ऋतवादी भवेन्नित्यं ज्ञाननित्यश्च यो नरः ॥ ११ ॥

जो द्विज केवल ऋतुस्नानके समय ही पत्नीके साथ समागम करता, सदा सत्य बोलता और नित्य ज्ञानमें स्थित रहता है, वह सदा ब्रह्मचारी ही होता है ॥ ११ ॥

[illegible] भक्षयेत् [illegible] मांसममांसाशी भवत्यपि।
दाननित्यः पवित्रश्च अस्वप्नश्च दिवास्वपन् ॥ १२ ॥

तथा जो कभी मांस न खाय, वह अमांसाहारी होता है। जो नित्य दान करनेवाला है, वह पवित्र माना जाता है। जो दिनमें कभी नहीं सोता, वह सदा जागनेवाला समझा जाता है ॥ १२ ॥

भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते भुक्तवत्सु सदा सदा।
अमृतं केवलं भुङ्क्ते इति विद्धि युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर ! जो सदा भरण-पोषण करनेके योग्य पिता-माता आदि कुटुम्बीजनों, सेवकों तथा अतिथियोंके भोजन कर लेनेपर ही खाता है, वह केवल अमृत भोजन करता है; ऐसा समझो ॥ १३ ॥

(अदत्त्वा योऽतिथिभ्योऽन्नं न भुङ्क्ते सोऽतिथिप्रियः।
अदत्त्वान्नं दैवतेभ्यो यो न भुङ्क्ते [illegible] दैवतम् ॥)

जो अतिथियोंको अन्न दिये बिना स्वयं भी नहीं खाता, वह अतिथिप्रिय है तथा जो देवताओंको अन्न दिये बिना भोजन नहीं करता, वह देवभक्त है ॥

अभुक्तवत्सु नाश्नानः सततं यस्तु वै द्विजः।
अभोजनेन तेनास्य जितः स्वर्गो भवत्युत ॥ १४ ॥

जो द्विज भृत्यो और अतिथियोंके भोजन न करनेपर स्वयं भी कभी अन्न ग्रहण नहीं करता, वह भोजन न करनेके उस पुण्यसे स्वर्गलोकपर विजय पा लेता है ॥ १४ ॥

देवताभ्यः पितृभ्यश्च भृत्येभ्योऽतिथिभिः सह।
अवशिष्टं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम् ॥ १५ ॥

देवगण, पितृगण, माता पिता तथा अतिथियोंसहित भृत्यवर्गसे अवशिष्ट अन्नको ही जो भोजन करता है, [illegible] विघसाशी (यज्ञशिष्ट अन्नका भोक्ता) कहते हैं ॥ १५ ॥

तेषां लोका ह्यपर्यन्ताः सदने ब्रह्मणा सह।
उपस्थिताश्चाप्सरोभिः परियान्ति दिवौकसः ॥ १६ ॥

ऐसे पुरुषोंको अक्षयलोक प्राप्त होते हैं। [illegible] अप्सराओंसहित समस्त देवता उनके घरपर आकर उनकी परिक्रमा किया करते हैं ॥ १६ ॥

देवताभिश्च ये सार्धं पितृभिश्चोपभुञ्जते।
रमन्ते पुत्रपौत्रैश्च तेषां गतिरनुत्तमा ॥ १७ ॥

जो देवताओं और पितरोंके साथ (अर्थात् उन्हें उनका भाग अर्पण करके) भोजन करते हैं, वे इस लोकमें पुत्र-पौत्रोंके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं और परलोकमें भी उन्हें परम उत्तम गति प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अमृतप्राशनिको नाम एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अमृतभोजन-सम्बन्धी दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२१॥

(दाक्षिणात्य अधिक [illegible] १ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

सनत्कुमारजीका ऋषियोंको भगवत्स्वरूपका उपदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

केचिदाहुर्द्विजा लोके त्रिधा राजन्ननेकधा।
न प्रत्ययो न [illegible] दृश्यते ब्रह्म नैव तत् ॥
नानाविधानि शास्त्राणि युक्ताश्चैव पृथग्विधाः।
किमधिष्ठाय तिष्ठामि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! जगत्में कुछ विद्वान् जड और चेतन अथवा प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वोंका प्रतिपादन करते हैं। कुछ लोग जीव, ईश्वर और प्रकृति—इन तीन तत्त्वोंका वर्णन करते हैं और कितने ही विद्वान् अनेक तत्त्वोंका निरूपण करते रहते हैं; अतः कहीं न विश्वास किया जा [illegible] है, न अविश्वास। इसके सिवा वह परब्रह्म परमात्मा दिखायी नहीं देता है। नाना प्रकारके [illegible] हैं और भिन्न-भिन्न प्रकारसे उनका वर्णन किया गया है; इसलिये पितामह! मैं किस सिद्धान्तका आश्रय लेकर रहूँ, यह मुझे बताइये ॥

भीष्म उवाच

स्वे स्वे युक्ता महात्मानः शास्त्रेषु प्रभविष्णवः।
वर्तन्ते पण्डिता लोके को विद्वान् कश्च पण्डितः॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! शास्त्रोंके विचारमें प्रभावशाली सभी महात्मा अपने-अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनमें स्थित हैं। ऐसे पण्डित इस जगत्में बहुत हैं; परन्तु उनमें वास्तवमें कौन तत्त्वको जाननेवाला विद्वान् है और कौन शास्त्रचर्चामें पण्डित है? यह कहना कठिन है ॥

सर्वेषां तत्त्वमज्ञाय यथारुचि तथा भवेत्।
अस्मिन्नर्थे पुराभूतमितिहासं पुरातनम् ॥
महाविवादसंयुक्तमृषीणां भावितात्मनाम्।

सबके तत्त्वको भलीभाँति समझकर जैसी रुचि हो, उसीके अनुसार आचरण करे। इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध है। एक [illegible] बहुत-से भावितात्मा मुनियोंका उसी विषयको लेकर आपसमें बड़ा भारी वाद-विवाद हुआ था ॥

हिमवत्पार्श्व आसीना ऋषयः संशितव्रताः ॥
षण्णां तानि सहस्राणि ऋषीणां गणमाहितम्।

हिमालय पर्वतके पार्श्वभागमें कठोर व्रतका पालन करनेवाले [illegible] हजार ऋषियोंकी एक बैठक हुई थी ॥

तत्र केचिद् ध्रुवं विश्वं सेश्वरं तु निरीश्वरम्।
प्राकृतं कारणं नास्ति सर्वं नैवमिदं जगत् ॥

उनमेंसे कुछ लोग इस जगत्को ध्रुव (सदा रहनेवाला) बताते थे, कुछ इसे ईश्वरसहित कहते थे और कुछ लोग बिना ईश्वरके ही जगत्की उत्पत्तिका प्रतिपादन करते थे। कुछ लोगोंका कहना था कि इसका कोई प्राकृत कारण नहीं है तथा कुछ लोगोंका मत यह था कि वास्तवमें इस सम्पूर्ण जगत्की सत्ता है ही नहीं ॥

अनेन चापरे विप्राः स्वभावं कर्म चापरे।
पौरुषं कर्म दैवं च यत् स्वभावादिरेव नम् ॥

इसी प्रकार दूसरे ब्राह्मणोंमेंसे कुछ लोग स्वभावको, कितने ही कर्मको, बहुतेरे पुरुषार्थको, दूसरे लोग दैवको और अन्य बहुत-से लोग स्वभाव-कर्म आदि सभीको [illegible] कारण बताते थे ॥

नानाहेतुशतैर्युक्ता नानाशास्त्रप्रवर्तकाः।
स्वभावाद् ब्राह्मणा राजन्निर्णीयन्तः परस्परम् ॥

वे नाना प्रकारके शास्त्रोंके प्रवर्तक थे तथा [illegible]

की सैकड़ों युक्तियोंद्वारा अपने मतका पोषण करते थे। राजन्! वे सभी ब्राह्मण स्वभावसे ही इस शास्त्रार्थमें एक दूसरेको पराजित करनेकी इच्छा करते थे ॥

ततस्तु मूलमुद्भूतं वादिप्रत्यर्थिसंयुतम्।
पात्रदण्डविघातं च वल्कलाजिनवाससाम् ॥
एके मन्युसमापन्नास्ततः शान्ता द्विजोत्तमाः।
वशिष्ठमब्रुवन् सर्वे त्वं नो ब्रूहि सनातनम् ॥
नाहं जानामि विप्रेन्द्राः प्रत्युवाच स तान् प्रभुः।

तदनन्तर उन वादी और प्रतिवादियोंमें मूलभूत प्रश्नको लेकर बड़ा भारी वाद-विवाद खड़ा हो गया। उनमेंसे कितने ही क्रोधमें भरकर एक दूसरेके पात्र, दण्ड, वल्कल, मृगचर्म और वस्त्रोंको भी नष्ट करने लगे। तत्पश्चात् शान्त होनेपर वे सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण महर्षि वशिष्ठसे बोले—'प्रभो! आप ही हमें सनातन तत्त्वका उपदेश करें।' यह सुनकर वशिष्ठने उत्तर दिया—'विप्रवरो! मैं उस सनातन तत्त्वके विषयमें कुछ नहीं जानता' ॥

ते सर्वे सहिता विप्रा नारदमृषिमब्रुवन् ॥
त्वं नो ब्रूहि महाभाग तत्त्ववित्त्वं भवानसि।

तब वे सब ब्राह्मण एक साथ नारदमुनिसे बोले—'महाभाग! आप ही हमें सनातन तत्त्वका उपदेश करें; क्योंकि आप तत्त्ववेत्ता हैं' ॥

नाहं द्विजा विजानामि क्व हि [illegible] संगताः॥
इति तानाह भगवांस्ततः प्राह च स द्विजान्।
को विद्वानिह लोकेऽस्मिन्नमोहोऽमृतमद्भुतम् ॥

तब भगवान् नारदने उन ब्राह्मणोंसे कहा—'विप्रगण! मैं उस तत्त्वको नहीं जानता। हम सब लोग मिलकर कहीं और चलें। इस जगत्में कौन ऐसा विद्वान् है, जिसमें मोह न हो तथा जो उस अद्भुत अमृततत्त्वके प्रतिपादनमें समर्थ हो' ॥

[illegible] ते शुश्रुवुर्वाक्यं ब्राह्मणा ह्यशरीरिणः।
सनद्धाम द्विजा गत्वा पृच्छध्वं स च वक्ष्यति ॥

यह बातचीत हो ही रही थी कि उन ब्राह्मणोंने किसी अदृश्य देवताकी बात सुनी—'ब्राह्मणो! सनत्कुमारके आश्रमपर जाकर पूछो। वे तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे' ॥

तमाह कश्चिद् द्विजवर्यसत्तमो
विभाण्डको मण्डितवेदपारगः।
कस्त्वं भवानर्थविमेदमध्ये
[illegible] दृश्यसे वाक्यमुदीरयंश्च ॥

उस समय वेदराशिके ज्ञानसे सुशोभित विभाण्डक नामक किन्हीं ब्राह्मणशिरोमणिने उस अदृश्य देवतासे पूछा—'हम लोगोंमे तत्त्वके विषयमें मतभेद उत्पन्न हो गया है; ऐसी स्थितिमें आप कौन हैं, जो बात [illegible] कर रहे हैं, किंतु दीखते नहीं हैं' ॥

अथाहेदं तं भगवान् सनन्तं
महामुने विद्धि मां पण्डितोऽसि।
ऋषिं पुराणं सततैकरूपं
यमक्षयं वेदविदो वदन्ति।

(भीष्मजी कहते हैं—राजन्!) तब भगवान् सनत्कुमारने उनसे कहा—'महामुने! तुम तो पण्डित हो। तुम मुझे सदा एकरूपसे ही विचरण करनेवाला पुरातन ऋषि सनत्कुमार समझो। [illegible] वही हूँ, जिसे वेदवेत्ता पुरुष अक्षय बताते हैं' ॥

पुनस्तमाहेदमसौ महात्मा
स्वरूपसंस्थं वद आह पार्थ।
त्वमेकोऽस्मदृषिपुङ्गवाद्य
न [illegible] पुनः किम् ॥

कुन्तीनन्दन! तब उन महात्मा विभाण्डकने पुनः उनसे कहा—'आदिमुनिप्रवर! आप अपने स्वरूपका परिचय दीजिये। केवल आप ही हमसे विलक्षण जान पड़ते हैं, आपका स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं है। अथवा यदि आपका भी कोई स्वरूप है तो वह कैसा है?' ॥

अथाह गम्भीरतयानुपादं
वाक्यं [illegible] ह्यशरीर आदिः।
न ते मुने श्रोत्रमुखेऽपि चास्यं
[illegible] पादहस्तौ प्रपदात्मकेन ॥

[illegible] अदृश्य आदि महात्माने गम्भीर स्वरमें यह बात कही—'मुने! तुम्हारे न तो कान है, न मुख है, न हाथ है, न पैर है और न पैरोंके पंजे ही हैं' ॥

ब्रुवन् मुनीन् सत्यमथो निरीक्ष्य
समाह विद्वान् मनसा निगम्य।
ऋषे कथं वाक्यमिदं ब्रवीषि
[illegible] मन्ता न च विद्यते चेत्॥
[illegible] शुश्रुवुस्ततस्तत् [illegible] प्रतिवाक्यं द्विजोत्तमाः।
निरीक्ष्यमाणा आकाशं प्रहसन्तस्ततस्ततः ॥

मुनियोंसे बातचीत करते हुए विद्वान् विभाण्डकने अपने विषय- [illegible] यह सब सत्य देखा तो मन-ही मन विचार करके कहा—'ऋषे! आप ऐसी बात क्यों कहते हैं? यदि इसको जाननेवाला या न जाननेवाला कोई न रहे, तब क्या होगा?' परंतु इसका उत्तर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको फिर नहीं सुनायी दिया। वे हँसते हुए आकाशकी ओर देखते ही रह गये ॥

आश्चर्यमिति मत्वा ते ययुर्हैमं महागिरिम्।
सनत्कुमारसंकाशं सगणा मुनिसत्तमाः ॥

'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है' ऐसा मानकर वे सभी मुनिश्रेष्ठ दल-बलसहित सुवर्णमय महागिरि मेरुपर सनत्कुमारजीके पास गये ॥

तं पर्वतं समारुह्य दृहशुर्ध्यानमाश्रिताः।
कुमारं देवमर्हन्तं वेदपारायविवर्जितम् ॥

उस पर्वतपर आरूढ हो ध्यानका आश्रय ले उन ऋषियोंने पूजनीय देव सनत्कुमारको देखा, जो निरन्तर वेदके पारायणमें लगे हुए थे ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे प्रकृतिस्थं महामुनिम्।
सनत्कुमारं राजेन्द्र प्रणिपत्य द्विजाः स्थिताः॥
आगतान् भगवानाह ज्ञाननिर्धूतकल्मषः।
ज्ञातं मया मुनिगणा वाक्यं तदशरीरिणः॥
कार्यमद्य यथाकामं पृच्छध्वं मुनिपुङ्गवाः।

राजेन्द्र! एक वर्ष पूर्ण होनेपर जब महामुनि सनत्कुमार प्रकृतिस्थ हुए, तब वे ब्राह्मण उन्हें प्रणाम करके खड़े हो गये। ज्ञानसे जिनके सारे पाप धुल गये थे, उन भगवान् सनत्कुमारने वहाँ पधारे हुए ऋषियोंसे कहा—'मुनिगण! अदृश्य देवताने जो बात कही है, वह मुझे ज्ञात है; अतः आज आपलोगोंके प्रश्नोंका उत्तर देना है। मुनिवरो! आप इच्छानुसार प्रश्न करें॥

तमब्रुवन् प्राञ्जलयो महामुनिं
द्विजोत्तमं ज्ञाननिधिं सुनिर्मलम्।
कथं वयं ज्ञाननिधिं वरेण्यं
यक्ष्यामहे विश्वरूपं कुमार॥

(भीष्मजी कहते हैं—) तब उन ब्राह्मणोंने हाथ जोड़कर परमनिर्मल ज्ञाननिधि द्विजश्रेष्ठ महामुनि सनत्कुमारसे कहा—'कुमार! हमलोग ज्ञानके भण्डार और सर्वश्रेष्ठ विश्वरूप परमेश्वरका किस प्रकार यजन करें?॥

प्रसीद नो भगवञ्ज्ञानलेशं
मधु प्रयाताय सुखाय सन्तः।
यत् तत्पदं विश्वरूपं महामुने
तद् ब्रूहि किं कुत्र महानुभाव॥

'भगवन्! महामुने! महानुभाव! आप हमपर प्रसन्न होइये और हमें ज्ञानरूपी मधुर अमृतका लेशमात्र दान दीजिये; क्योंकि संत अपने शरणागतोंको सदा सुख देते हैं। वह जो विश्वरूप पद है, वह क्या है? यह हमें बताइये'॥

स तैर्वियुक्तो भगवान् महात्मा
यः संगवान् सत्यवित् तच्छृणुध्व।

उनके इस प्रकार विशेष अनुरोध करनेपर परब्रह्म परमात्मामें आसक्तचित्त सत्यवेत्ता महात्मा भगवान् सनत्कुमारने जो कुछ कहा, उसे सुनो॥

अनेकसाहस्रकलेषु चैव
प्रसन्नधातुं च शुभाज्ञया सत्॥

वे अनेक सहस्र ऋषियोंके बीचमें बैठे थे। उन्होंने उनके शुभ निवेदनसे सत्स्वरूप आनन्दमय परमेश्वरका इस प्रकार प्रतिपादन प्रारम्भ किया॥

यथाह पूर्वं युष्मासु ह्यशरीरी द्विजोत्तमाः।
तथैव वाक्यं तत् सत्यमजानन्तश्च कीर्तितम्॥

सनत्कुमार बोले—द्विजोत्तमो! आपलोगोंके बीचमें पहले अदृश्य देवताने जो कुछ कहा था, उनका वह कथन उसी रूपमें सत्य है। आपलोगोंने उसे न जानते हुए ही उसके साथ वार्तालाप किया था॥

शृणुध्वं परमं कारणमस्ति। स एव सर्वं विद्वान् बिभेति न गच्छति। कुत्राहं कस्य नाहं केन केनेत्यवर्तमानो विजानाति।

सुनिये, वह विश्वरूप परमात्मा सबका परम कारण है। जो उस सर्वस्वरूप परमेश्वरको जानता है, वह न तो भयभीत होता है और न कहीं जाता है। मैं कहाँ हूँ? किसका हूँ? किसका नहीं हूँ? किस-किस साधनसे कार्य करता हूँ? इत्यादि विचारोंमें न पड़कर परमात्माको अनुभव करता है॥

स युगतो व्यापी। स पृथक् स्थितः। तदपरमार्थम्।

वह परमात्मा युग-युगमें व्यापक है। वह जड़ात्मक प्रपञ्चसे अत्यन्त भिन्न रूपमें पृथक् स्थित है। उस परमात्मासे भिन्न जो कोई भी जड वस्तु है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है॥

यथा वायुरेकः सन् बहुधेरितः। यथावद् द्विजे मृगे व्याघ्रे च। मनुजे वेणुसंश्रयो भिद्यते वायुरेकः। [illegible] तथासौ परमात्मासावन्य [illegible] भाति।

जैसे वायु एक होकर भी अनेक रूपोंमें सञ्चरित होता है। पक्षी, मृग, व्याघ्र और मनुष्यमें तथा वेणुमें यथार्थ रूपसे स्थित होकर एक ही वायुके भिन्न-भिन्न स्वरूप हो जाते हैं। जो आत्मा है वही परमात्मा है; परंतु वह जीवात्मासे भिन्न-सा जान पड़ता है॥

एवमात्मा स एव गच्छति। सर्वमात्मा पश्यञ्छृणोति न जिघ्रति न भाषते।

इस प्रकार वह आत्मा ही परमात्मा है। वही [illegible] है, वह आत्मा ही सबको देखता है, सबकी बातें सुनता है, सभी गन्धोंको सूँघता है और सबसे बातचीत करता है॥

चक्रेऽस्य तं महात्मानं परितो दश रश्मयः।
विनिष्क्रम्य यथासूर्यमनुगच्छति तं प्रभुम्॥

सूर्यदेवके चक्रमें सब ओर दस-दस किरणें हैं, जो वहाँसे निकलकर महात्मा भगवान् सूर्यके पीछे-पीछे चलती हैं॥

दिने दिनेऽस्तमभ्येति पुनरुद्गच्छते दिशः।
तावुभौ न रवौ चास्तां तथा वित्त शरीरिणम्॥

सूर्यदेव प्रतिदिन [illegible] होते और पुनः पूर्वदिशामें उदित होते हैं; परंतु वे उदय और अस्त दोनों ही सूर्यमें नहीं हैं। इसी प्रकार शरीरके अन्तर्गत अन्तर्यामीरूपसे जो भगवान् नारायण विराजमान हैं, उनको जानो (उनमें शरीर और अशरीरभाव सूर्यमें उदय-अस्तकी ही भाँति कल्पित है)॥

पतिते वित्त विप्रेन्द्रा भक्षणे चरणे परः।
ऊर्ध्वमेकस्तथाधस्तादेकस्तिष्ठति चापरः॥

विप्रवरो! आपलोगोंको गिरते-पड़ते, चलते-फिरते और खाते-पीते प्रत्येक कार्यके समय, ऊपर-नीचे आदि प्रत्येक देश और दिशामें एकमात्र भगवान् नारायण सर्वत्र स्थित रहे हैं—ऐसा अनुभव करना चाहिये॥

हिरण्यसदनं ज्ञेयं समेत्य परमं पदम् ।
आत्मना ह्यात्मदीपं तमात्मनि ह्यात्मपूरुषम् ॥

[illegible] दिव्य सुवर्णमय [illegible] ही परमपद जानना चाहिये, उसे पाकर जीवन कृतार्थ हो जाता है। वह स्वयं ही अपना प्रकाशक और स्वयं ही अपने-आपमें अन्तर्यामी आत्मा है॥

संचितं संचितं पूर्वे भ्रमरो वर्तते भ्रमन् ।
योऽभिमानीव जानाति न मुह्यति न हीयते ॥

भौंरा पहले रसका सञ्चय कर लेता है, तब फूलके चारों ओर चक्कर लगाने [illegible] है, उसी प्रकार जो ज्ञानी पुरुष देहाभिमानी-जैसा बनकर लोकसंग्रहके लिये [illegible] विषयोंका अनुभव करता है, वह न तो मोहमें पड़ता है और न क्षीण ही होता [illegible] ॥

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं
हृदा मनीषा पश्यति [illegible] ।
इज्यते यस्तु मन्त्रेण यजमानो द्विजोत्तमः ॥

कोई भी [illegible] परमात्माको अपने चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकता। अन्तःकरणमें स्थित निर्मल बुद्धिके द्वारा ही उसके रूपको ज्ञानी पुरुष देख पाता है। [illegible] मन्त्रद्वारा यजन किया जाता है तथा श्रेष्ठ द्विज ही [illegible] यजन करता है॥

नैव धर्मी न चाधर्मी द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
ज्ञानतृप्तः सुखं शेते ह्यमृतात्मा न संशयः ॥

वह अमृतस्वरूप परमात्मा न धर्मी है, न अधर्मी। वह द्वन्द्वोंसे अतीत और ईर्ष्या-द्वेषसे शून्य है। इसमें संदेह नहीं [illegible] वह ज्ञानसे परितृप्त होकर सुखपूर्वक सोता है॥

एवमेष जगत्सृष्टिं कुरुते मायया प्रभुः ।
[illegible] जानाति विमूढात्मा कारणं चात्मनो ह्यसौ ॥

तथा ये भगवान् अपनी मायाद्वारा जगत्की सृष्टि करते हैं। जिसका हृदय मोहसे आच्छन्न है, वह अपने कारणभूत परमात्माको नहीं जानता॥

ध्याता द्रष्टा तथा मन्ता बोद्धा दृष्टान्त एव सः ।
को विद्वान् परमात्मानमनन्तं लोकभावनम् ॥
यत्तु शक्यं मया प्रोक्तं गच्छध्वं मुनिपुङ्गवाः ।

वही ध्यान, दर्शन, मनन और देखी हुई वस्तुओंका बोध प्राप्त करनेवाला [illegible]। सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति करनेवाले उस अनन्त परमात्माको कौन जान सकता है? मुनिवरो! मुझसे जहाँतक हो सकता था, मैंने इसका स्वरूप बता दिया। अब आपलोग जाइये॥

भीष्म उवाच

एवं प्रणम्य विप्रेन्द्रा ज्ञानसागरसम्भवम् ।
सनत्कुमारं संदृश्य जग्मुस्ते रुचिरं पुनः ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार ज्ञानके समुद्रकी उत्पत्तिके कारणभूत मनोहर आकृतिवाले सनत्कुमारको प्रणाम करके उनका दर्शन करनेके पश्चात् वे सब ऋषि-मुनि वहाँसे चले गये॥

तस्मात् त्वमपि कौन्तेय ज्ञानयोगपरो भव ।
ज्ञानमेव महाराज सर्वदुःखविनाशनम् ॥

अतः महाराज कुन्तीनन्दन! तुम भी ज्ञानयोगके साधनमें [illegible] हो जाओ। ऐसा ज्ञान ही सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश करनेवाला है॥

इदं महादुःखसमाकराणां
नृणां परित्राणविनिर्मितं पुरा ।
पुराणपुंसा ऋषिणा महात्मना
महामुनीनां प्रवरेण तद् ध्रुवम् ॥

जो लोग महान् दुःखके आकर बने हुए हैं, उन मनुष्योंके परित्राणके लिये पूर्वकालमें पुराणपुरुष महात्मा महामुनिशिरोमणि नारायणऋषिने इस ज्ञानको प्रकट किया था, यह अविनाशी है॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं कर्म लोकेऽस्मिन् शुभं वा यदि वाशुभम् ।
पुरुषं योजयत्येव फलयोगेन [illegible] ॥ १ ॥
कर्तास्ति [illegible] पुरुष उताहो नेति संशयः ।
एतदिच्छामि तत्त्वेन त्वत्तः श्रोतुं पितामह ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत! इस लोकमें जो यह शुभ अथवा अशुभ कर्म होता है, वह पुरुषको उसके सुख-दुःखरूप [illegible] भोगनेमें लगा ही देता है; परंतु पुरुष [illegible] कर्मका कर्ता है या नहीं, इस विषयमें मुझे संदेह है; अतः पितामह! मैं आपके द्वारा इसका तत्त्वयुक्त समाधान सुनना चाहता हूँ॥ १-२॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और प्रह्लादके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते [illegible]॥ ३॥

असक्तं धूतपाप्मानं कुले जातं बहुश्रुतम् ।
अस्तब्धमनहङ्कारं सत्त्वस्थं समये रतम् ॥ ४ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिं दान्तं शून्यागारनिवासिनम् ।
चराचराणां भूतानां विदितप्रभवाप्ययम् ॥ ५ ॥
अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमप्रियेषु प्रियेषु च ।
काञ्चने [illegible] लोष्टे वा उभयोः समदर्शनम् ॥ ६ ॥

आत्मनि श्रेयसि ज्ञाने धीरं निश्चितनिश्चयम् ।
परावरज्ञं भूतानां सर्वज्ञं समदर्शनम् ॥ ७ ॥
(भक्तं भागवतं नित्यं नारायणपरायणम् ।
ध्यायन्तं परमात्मानं हिरण्यकशिपोः सुतम् ॥)
[illegible] प्रह्लादमासीनमेकान्ते संयतेन्द्रियम् ।
बुभुत्समानस्तत्प्रज्ञामभिगम्येदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

प्रह्लादजीके मनमें किसी विषयके प्रति आसक्ति नहीं थी । उनके सारे पाप धुल गये थे । वे कुलीन और बहुश्रुत विद्वान् थे । वे गर्व और अहंकारसे रहित थे । वे धर्मकी मर्यादाके पालनमें तत्पर और शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित रहते थे । निन्दा और स्तुतिको समान समझते, मन और इन्द्रियोंको काबूमें रखते और एकान्त स्थानमें निवास करते थे । उन्हें चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशका ज्ञान था । अप्रियकी प्राप्तिमें क्रोधयुक्त तथा प्रियकी प्राप्ति होनेपर हर्षयुक्त नहीं होते थे। मिट्टीके ढेले और सुवर्ण दोनोंमें उनकी समानदृष्टि थी । वे ज्ञानस्वरूप कल्याणमय परमात्माके ध्यानमें स्थित और धीर थे । उन्हें परमात्मतत्त्वका पूर्ण निश्चय हो गया था । उन्हें परावरस्वरूप ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान था। वे सर्वज्ञ, सम्पूर्णभूत-प्राणियोंमें समदर्शी एवं जितेन्द्रिय थे । वे भगवान् नारायणके प्रिय भक्त और सदा उन्हींके चिन्तनमें तत्पर रहनेवाले थे । हिरण्यकशिपुनन्दन प्रह्लादजीको एकान्तमें बैठकर परमात्मा श्रीहरिका ध्यान करते देख इन्द्र उनकी बुद्धि और विचारको जाननेकी इच्छासे उनके निकट आकर [illegible] प्रकार बोले—॥ ४—८ ॥

यैः कश्चित् सम्मतो लोके गुणैः स्यात् पुरुषो नृषु ।
भवत्यनपगान् सर्वांस्तान् गुणाँल्लक्षयामहे ॥ ९ ॥

'दैत्यराज ! संसारमें जिन गुणोंको पाकर कोई भी पुरुष सम्मानित हो सकता है, उन सबको [illegible] आपके भीतर स्थिरभावसे स्थित देखता हूँ ॥ ९ ॥

अथ ते लक्ष्यते बुद्धिः समा बालजनैरिह ।
आत्मानं मन्यमानः सन् श्रेयः किमिह मन्यसे ॥ १० ॥

'आपकी बुद्धि बालकोंके समान राग-द्वेषसे रहित दिखायी देती है । आप आत्माका अनुभव करते हैं, इसीलिये आपकी ऐसी स्थिति है; अतः मैं पूछता हूँ कि इस जगत्में [illegible] किसको आत्मज्ञानका सर्वश्रेष्ठ [illegible] मानते हैं ? ॥ १० ॥

बद्धः पाशैश्च्युतः स्थानाद् द्विषतां वशमागतः ।
श्रिया विहीनः प्रह्लाद शोचितव्ये न शोचसि ॥ ११ ॥

'आप रस्सियोंसे बाँधे गये, अपने राज्यसे भ्रष्ट हुए और शत्रुओंके वशमें पड़ गये थे । आप अपनी राज्यलक्ष्मीसे वञ्चित हो गये । प्रह्लादजी ! ऐसी शोचनीय स्थितिमें पड़ जानेपर भी आप शोक नहीं कर रहे हैं ? ॥ ११ ॥

प्रज्ञालाभात् [illegible] दैतेय उताहो धृतिमत्तया ।
प्रह्लाद सुस्थरूपोऽसि पश्यन् व्यसनमात्मनः ॥ १२ ॥

'प्रह्लादजी ! आप अपने ऊपर संकट आया देखकर भी निश्चिन्त कैसे हैं ? दैत्यराज ! आपकी यह स्थिति आत्मज्ञानके कारण है या धैर्यके कारण ?' ॥ १२ ॥

इति संचोदितस्तेन धीरो निश्चितनिश्चयः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा स्वां प्रज्ञामनुवर्णयन् ॥ १३ ॥

इन्द्रके [illegible] प्रकार पूछनेपर परमात्मतत्त्वको निश्चितरूपसे जाननेवाले धीरबुद्धि प्रह्लादजीने अपने ज्ञानका वर्णन करते हुए मधुर वाणीमें कहा ॥ १३ ॥

प्रह्लाद उवाच

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च भूतानां यो न बुद्ध्यते ।
तस्य स्तम्भो भवेद् बाल्यान्नास्ति स्तम्भोऽनुपश्यतः ॥ १४ ॥

प्रह्लादजी बोले—देवराज ! जो प्राणियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको नहीं जानता, उसीको अविवेकके कारण स्तम्भ (जड़ता या मोह) होता है । जिसे आत्माका साक्षात्कार हो गया है, उसको कभी मोह नहीं होता ॥ १४ ॥

स्वभावात् सम्प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते तथैव च ।
सर्वे [illegible] पुरुषार्थो न विद्यते ॥ १५ ॥

सब तरहके भाव और अभाव स्वभावसे ही आते-जाते रहते हैं । उसके लिये पुरुषका कोई प्रयत्न नहीं होता ॥ १५ ॥

पुरुषार्थस्य चाभावे नास्ति कश्चिच्च कारकः ।
स्वयं [illegible] कुर्वतस्तस्य जातु मानो भवेदिह ॥ १६ ॥

पुरुषका प्रयत्न न होनेसे कोई पुरुष कर्ता नहीं हो सकता; परंतु स्वयं कभी न करते हुए भी उसे इस जगत्में कर्तापनका अभिमान हो जाता है ॥ १६ ॥

यस्तु कर्तारमात्मानं मन्यते साध्वसाधु वा ।
[illegible] दोषवती [illegible] अतत्त्वज्ञेति मे मतिः ॥ १७ ॥

जो आत्माको शुभ [illegible] अशुभ कर्मोंका कर्ता मानता है, उसकी बुद्धि दोषसे युक्त और तत्त्वज्ञानसे रहित है—ऐसी मेरी मान्यता है ॥ १७ ॥

यदि स्यात् पुरुषः कर्ता शक्रात्मश्रेयसे ध्रुवम् ।
आरम्भास्तस्य सिद्ध्येयुर्न तु जातु पराभवेत् ॥ १८ ॥

इन्द्र ! यदि पुरुष ही कर्ता होता तो वह अपने कल्याणके लिये जो कुछ भी करता, उसके वे सारे कार्य अवश्य सिद्ध होते । उसे अपने प्रयत्नमें कभी पराभव नहीं [illegible] होता ॥

अनिष्टस्य हि निर्वृत्तिरनिर्वृत्तिः प्रियस्य च ।
लक्ष्यते यतमानानां पुरुषार्थस्ततः कुतः ॥ १९ ॥

परंतु देखा यह जाता है कि इष्टसिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवालोंको अनिष्टकी भी प्राप्ति होती है और इष्टकी सिद्धिसे वे वञ्चित रह जाते हैं; अतः पुरुषार्थकी प्रधानता कहाँ रही ? ॥ १९ ॥

अनिष्टस्याभिनिर्वृत्तिमिष्टसंवृत्तिमेव च ।
अप्रयत्नेन पश्यामः केषाञ्चित् तत्स्वभावतः ॥ २० ॥

कितने ही प्राणियोंको बिना किसी प्रयत्नके ही हमलोग अनिष्टकी प्राप्ति और इष्टका निवारण होते देखते हैं। यह [illegible] स्वभावसे ही होती है ॥ २० ॥

प्रतिरूपतराः केचिद् दृश्यन्ते बुद्धिमत्तराः।
विरूपेभ्योऽल्पबुद्धिभ्यो लिप्समाना धनागमम्॥ २१ ॥

कितने ही सुन्दर और अत्यन्त बुद्धिमान् पुरुष भी कुरूप और अल्पबुद्धि मनुष्योंसे धन पानेकी आशा करते देखे जाते हैं ॥ २१ ॥

स्वभावप्रेरिताः सर्वे निविशन्ते गुणा यदा।
शुभाशुभास्तदा तत्र [illegible] किं मानकारणम् ॥ २२ ॥

[illegible] शुभ और अशुभ सभी प्रकारके गुण स्वभावकी ही प्रेरणासे प्राप्त होते हैं, तब किसीको भी उनपर अभिमान करनेका [illegible] कारण है ? ॥ २२ ॥

स्वभावादेव तत्सर्वमिति मे निश्चिता मतिः।
आत्मप्रतिष्ठा प्रज्ञा वा मम नास्ति ततोऽन्यथा ॥ २३ ॥

मेरी तो यह निश्चित धारणा है कि स्वभावसे ही सब [illegible] प्राप्त होता है। मेरी आत्मनिष्ठ बुद्धि भी इसके विपरीत विचार नहीं रखती ॥ २३ ॥

कर्मजं त्विह मन्यन्ते फलयोगं शुभाशुभम्।
कर्मणां विषयं कृत्स्नमहं वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ २४ ॥

यहाँपर जो शुभ और अशुभ फलकी प्राप्ति होती है, उसमें लोग कर्मको ही कारण मानते हैं; अतः मैं तुमसे कर्मके विषयका ही पूर्णतया वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २४ ॥

यथा वेदयते कश्चिदोदनं वायसो वदन्।
एवं सर्वाणि कर्माणि स्वभावस्यैव लक्षणम् ॥ २५ ॥

[illegible] कोई कौआ कहीं गिरे हुए भातको खाते [illegible] काँव-काँव करके अन्य काकोंको यह जता देता है कि यहाँ अन्न है, उसी [illegible] समस्त कर्म अपने स्वभावको ही सूचित करनेवाले हैं ॥ २५ ॥

विकारानेव यो वेद न वेद प्रकृतिं पराम्।
तस्य स्तम्भो भवेद् बाल्यान्नास्ति स्तम्भोऽनुपश्यतः ॥२६॥

जो विकारों (कार्यों) को ही जानता है, उनकी परम प्रकृति (स्वभाव) को नहीं जानता, उसीको अविवेकके कारण मोह [illegible] अभिमान होता है। जो इस बातको ठीक-ठीक [illegible] है, उसे मोह नहीं होता ॥ २६ ॥

स्वभावभाविनो भावान् सर्वानेवेह निश्चयात्।
बुद्ध्यमानस्य दर्पो वा मानो वा किं करिष्यति ॥ [illegible] ॥

सभी भाव स्वभावसे ही [illegible] होते हैं। इस बातको जो निश्चितरूपसे जान लेता है, उसका दर्प या अभिमान [illegible] बिगाड़ [illegible] है ? ॥ २७ ॥

वेद धर्मविधिं कृत्स्नं भूतानां चाप्यनित्यताम्।
तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ॥ २८ ॥

इन्द्र ! मैं धर्मकी पूरी-पूरी विधि तथा सम्पूर्ण भूतोंकी अनित्यताको जानता [illegible]। इसलिये, 'यह [illegible] नाशवान् है' ऐसा समझकर किसीके लिये शोक नहीं करता ॥ २८ ॥

निर्ममो निरहंकारो निराशीर्मुक्तबन्धनः।
स्वस्थो व्यपेतः पश्यामि भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ २९ ॥

ममता, अहङ्कार तथा कामनाओंसे शून्य और [illegible] प्रकारके बन्धनोंसे रहित हो आत्मनिष्ठ एवं [illegible] रहकर मैं प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाशको सदा देखता रहता हूँ ॥

कृतप्रज्ञस्य दान्तस्य वितृष्णस्य निराशिषः।
नायासो विद्यते [illegible] पश्यतो लोकमव्ययम् ॥ ३० ॥

इन्द्र ! [illegible] शुद्ध-बुद्धि तथा मन और इन्द्रियोंको अपने अधीन करके स्थित हूँ। [illegible] तृष्णा और कामनासे रहित हूँ और सदा अविनाशी आत्मापर ही दृष्टि [illegible] हूँ, इसलिये मुझे कभी कष्ट नहीं होता ॥ ३० ॥

प्रकृतौ च विकारे च न [illegible] प्रीतिर्न च द्विषे।
द्वेष्टारं च न पश्यामि यो मामद्य ममायते ॥ ३१ ॥

प्रकृति और उसके कार्योंके प्रति मेरे मनमें न तो राग है, न द्वेष। मैं किसीको न [illegible] द्वेषी [illegible] हूँ और न आत्मीय ही मानता हूँ ॥ ३१ ॥

नोर्ध्वं नावाङ् न तिर्यक् च न क्वचिच्छक्र कामये।
न हि ज्ञेये न विज्ञाने न ज्ञाने कर्म विद्यते ॥ ३२ ॥

इन्द्र ! मुझे ऊपर (स्वर्गकी), नीचे (पातालकी) [illegible] बीचके लोक (मर्त्यलोक) की भी कभी [illegible] नहीं होती। ज्ञान-विज्ञान और ज्ञेयके निमित्त भी मेरे लिये कोई कर्म [illegible] नहीं है ॥ ३२ ॥

[illegible] उवाच

येनैषा लभ्यते प्रज्ञा येन शान्तिरवाप्यते।
प्रब्रूहि तमुपायं मे सम्यक् प्रह्राद पृच्छतः ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—प्रह्लादजी ! जिस उपायसे ऐसी बुद्धि और इस तरहकी शान्ति प्राप्त होती है, उसे पूछता हूँ। आप मुझे अच्छी तरह उसे बताइये ॥ ३३ ॥

प्रह्राद उवाच

आर्जवेनाप्रमादेन प्रसादेनात्मवत्तया।
वृद्धशुश्रूषया शक्र पुरुषो लभते महत् ॥ ३४ ॥

प्रह्लादने कहा—इन्द्र ! सरलता, सावधानी, बुद्धिकी निर्मलता, चित्तकी स्थिरता तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेसे पुरुषको महत्-पदकी प्राप्ति होती है ॥ ३४ ॥

स्वभावाल्लभते प्रज्ञां शान्तिमेति स्वभावतः।
स्वभावादेव तत्सर्वं यत्किंचिदनुपश्यसि ॥ ३५ ॥

इन गुणोंको अपनानेपर स्वभावसे ही ज्ञान होता है, स्वभावसे ही शान्ति मिलती है तथा जो कुछ भी तुम देख रहे हो, सब स्वभावसे ही प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

इत्युक्तो दैत्यपतिना शक्रो विस्मयमागमत्।
प्रीतिमांश्च तदा राजंस्तद्वाक्यं प्रत्यपूजयत् ॥ ३६ ॥

राजन्! दैत्यराज प्रह्लादके इस प्रकार कहनेपर इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने बहुत प्रसन्न होकर उनके वचनोंकी प्रशंसा की ॥ ३६ ॥

तदाभ्यर्च्य दैत्येन्द्रं त्रैलोक्यपतिरीश्वरः।
असुरेन्द्रमुपामन्त्र्य जगाम स्वं निवेशनम् ॥ ३७ ॥

इतना ही नहीं, त्रिलोकीनाथ देवेश्वर इन्द्रने उस समय दैत्यों और असुरोंके स्वामी प्रह्लादका पूजन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे अपने निवासस्थान स्वर्गलोकको चले गये ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शक्रप्रह्लादसंवादो नाम द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें इन्द्र और प्रह्लादका संवादनामक दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४५½ श्लोक मिलाकर कुल ८२½ श्लोक हैं)

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और बलिका संवाद—इन्द्रके आक्षेपयुक्त वचनोंका बलिके द्वारा कठोर प्रत्युत्तर

युधिष्ठिर उवाच

यथा बुद्ध्या महीपालो भ्रष्टश्रीर्विचरेन्महीम्।
कालदण्डविनिष्पिष्टस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट हो गया हो और कालके दण्डसे पिस गया हो, वह भूपाल किस बुद्धिसे इस पृथ्वीपर विचरे, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वासवस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें जानकार मनुष्य विरोचनकुमार बलि और इन्द्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

पितामहमुपागम्य प्रणिपत्य कृताञ्जलिः।
सर्वानेवासुरान् जित्वा बलिं पप्रच्छ वासवः ॥ ३ ॥

एक समय इन्द्र समस्त असुरोंपर विजय पाकर पितामह ब्रह्माजीके पास गये और हाथ जोड़ प्रणाम करके उन्होंने पूछा—'भगवन्! बलि कहाँ रहता है?' ॥ ३ ॥

यस्य स्म ददतो वित्तं न कदाचन हीयते।
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ॥ ४ ॥

'ब्रह्मन्! जिसके दान देते समय उसके धनका भण्डार कभी खाली नहीं होता था, उस राजा बलिको मैं ढूँढ़नेपर भी नहीं पा रहा हूँ। आप मुझे बलिका पता बताइये ॥ ४ ॥

स वायुर्वरुणश्चैव स रविः स च चन्द्रमाः।
सोऽग्निस्तपति भूतानि जलं च स भवत्युत ॥ ५ ॥
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम्।

'वह राजा बलि ही वायु बनकर चलता, वरुण बनकर वर्षा करता, सूर्य और चन्द्रमा बनकर प्रकाश करता, अग्नि बनकर समस्त प्राणियोंको ताप देता तथा जल बनकर सबकी प्यास बुझाता था, उसी राजा बलिको मैं कहीं नहीं पा रहा हूँ। ब्रह्मन्! आप मुझे बलिका पता बताइये ॥५½॥

स एव ह्यस्तमयते स स्म विद्योतते दिशः ॥ ६ ॥
स वर्षति स्म वर्षाणि यथाकालमतन्द्रितः।
तं बलिं नाधिगच्छामि ब्रह्मन्नाचक्ष्व मे बलिम् ॥ ७ ॥

'वही यथासमय आलस्य छोड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाशित होता, वही अस्त होता और वही वर्षा करता था। ब्रह्मन्! उस बलिको मैं ढूँढ़नेपर भी नहीं पा रहा हूँ। आप मुझे राजा बलिका पता बताइये ॥ ६-७ ॥

ब्रह्मोवाच

नैतत् ते साधु मघवन् यदेनमनुपृच्छसि।
पृष्टस्तु नानृतं ब्रूयात् तस्माद् वक्ष्यामि ते बलिम् ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीने कहा—मघवन्! यह तुम्हारे लिये अच्छी बात नहीं है कि तुम मुझसे बलिका पता पूछ रहे हो। पूछनेपर झूठ नहीं बोलना चाहिये, इसलिये मैं तुमसे बलिका पता बता रहा हूँ ॥ ८ ॥

उष्ट्रेषु यदि वा गोषु खरेष्वश्वेषु वा पुनः।
वरिष्ठो भविता जन्तुः शून्यागारे शचीपते ॥ ९ ॥

शचीपते! किसी शून्य घरमें ऊँट, गौ, गर्दभ अथवा अश्वजातिके पशुओंमें जो श्रेष्ठ जीव उपलब्ध हो, उसे बलि समझो ॥ ९ ॥

शक्र उवाच

यदि स्म बलिना ब्रह्मञ्शून्यागारे समेयिवान्।
हन्यामेनं न वा हन्यां तद् ब्रह्मन्ननुशाधि माम् ॥ १० ॥

इन्द्रने पूछा—ब्रह्मन्! यदि किसी एकान्त गृहमें राजा बलिसे मेरी भेंट हो जाय तो मैं उन्हें मार डालूँ या न मारूँ, यह मुझे बतावें ॥ १० ॥

ब्रह्मोवाच

मा स्म शक्र बलिं हिंसीर्न बलिर्वधमर्हति ।
न्यायस्तु शक्र [illegible] वासव काम्यया ॥ ११ ॥

ब्रह्माजीने कहा—इन्द्र ! [illegible] बलिका वध न करना, बलि वधके योग्य नहीं है । [illegible] ! तुम उनसे इच्छानुसार न्यायोचित व्यवहारके विषयमें प्रश्न [illegible] सकते हो ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तो भगवता महेन्द्रः पृथिवीं तदा ।
चचारैरावतस्कन्धमधिरुह्य श्रिया वृतः ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् ब्रह्माजीके इस [illegible] आदेश देनेपर देवराज इन्द्र ऐरावतकी पीठपर सवार हो राजलक्ष्मीसे सुशोभित होते हुए पृथ्वीपर विचरने लगे ॥१२॥

ततो ददर्श स बलिं खरवेषेण संवृतम् ।
यथाऽऽख्यातं भगवता शून्यागारकृतालयम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर उन्होंने भगवान् ब्रह्माके बताये अनुसार एक शून्य घरमें निवास करनेवाले राजा बलिको देखा, जिन्होंने गर्दभके वेषमें अपने आपको छिपा रखा था ॥ १३ ॥

शक्र उवाच

खरयोनिमनुप्राप्तस्तुषभक्षोऽसि दानव ।
इयं ते योनिरधमा शोचस्याहो न शोचसि ॥ १४ ॥

इन्द्र बोले—दानव ! तुम गदहेकी योनिमें पड़कर भूसी खा रहे हो । यह नीच योनि तुम्हें [illegible] हुई है । इसके लिये तुम्हें शोक होता है या नहीं ? ॥ १४ ॥

अदृष्टं बत पश्यामि द्विषतां वशमागतम् ।
श्रिया विहीनं मित्रैश्च भ्रष्टवीर्यपराक्रमम् ॥ १५ ॥

आज तुम्हारी ऐसी [illegible] देख [illegible] हूँ, जो पहले कभी नहीं देखी गयी थी । तुम शत्रुओंके वशमें पड़ गये हो । राजलक्ष्मी तथा मित्रोंसे हीन हो गये हो [illegible] तुम्हारा बल-पराक्रम नष्ट हो गया है ॥ १५ ॥

यत् तद् यानसहस्रैस्त्वं ज्ञातिभिः परिवारितः ।
लोकान् प्रतापयन् सर्वान् यास्यस्मानवितर्कयन् ॥ १६ ॥

पहले तुम अपने सहस्रों वाहनों और सजातीय बन्धुओंसे घिरकर [illegible] लोगोंको ताप देते और हम देवताओंको कुछ न समझते हुए यात्रा करते [illegible] ॥ १६ ॥

त्वन्मुखाश्चैव दैतेया व्यतिष्ठंस्तव शासने ।
अकृष्टपच्या च मही तवैश्वर्ये बभूव ह ॥ १७ ॥
इदं च तेऽद्य व्यसनं शोचस्याहो न शोचसि ।

सब दैत्य तुम्हारा मुँह जोहते हुए तुम्हारे [illegible] शासनमें रहते थे । तुम्हारे राज्यमें पृथ्वी बिना जोते-बोये ही [illegible] पैदा करती थी । परंतु [illegible] तुम्हारे ऊपर यह सङ्कट [illegible] पहुँचा है । इसके लिये तुम शोक करते हो या नहीं ? ॥१७½॥

यदाऽऽतिष्ठः समुद्रस्य पूर्वकूले विलेलिहन् ॥ १८ ॥
ज्ञातीन् विभजतो वित्तं तदाऽऽसीत् ते मनः कथम् ।

जिस [illegible] तुम समुद्रके पूर्वतटपर विविध भोगोंका [illegible] करते हुए निवास करते थे और अपने भाई-बन्धुओंको धन बाँटते थे, उस समय तुम्हारे मनकी अवस्था कैसी रही होगी ? ॥ १८½ ॥

यत् ते सहस्रसमिता ननृतुर्देवयोषितः ॥ १९ ॥
बहूनि वर्षपूगानि विहारे दीप्यतः श्रिया ।
सर्वाः पुष्करमालिन्यः सर्वाः काञ्चनसप्रभाः ॥ २० ॥
[illegible] तदा चैव मनस्ते दानवेश्वर ।

तुमने बहुत वर्षोंतक राजलक्ष्मीसे सुशोभित हो विहारमें समय बिताया है । [illegible] सुवर्णकी-सी कान्तिवाली सहस्रों देवाङ्गनाएँ जो सब-की-सब पद्ममालाओंसे अलंकृत होती थीं, तुम्हारे सामने नृत्य किया करती थीं । दानवराज ! उन दिनों तुम्हारे मनकी क्या अवस्था थी और अब कैसी है ? ॥

छत्रं तवासीत् सुमहत् सौवर्णं रत्नभूषितम् ॥ २१ ॥
ननृतुस्तत्र गन्धर्वाः षट् सहस्राणि [illegible] ।

एक समय था, जब कि तुम्हारे ऊपर सोनेका बना हुआ रत्नभूषित विशाल [illegible] तना रहता था और [illegible] हजार गन्धर्व [illegible] स्वरोंमें गीत गाते हुए तुम्हारे सम्मुख अपनी नृत्य-कलाका प्रदर्शन करते थे ॥ २१½ ॥

यूपस्तवासीत् सुमहान् [illegible] सर्वकाञ्चनः ॥ २२ ॥
यत्राददः सहस्राणि अयुतानां गवां दश ।
अनन्तरं सहस्रेण तदाऽऽसीद् दैत्य का मतिः ॥ २३ ॥

यज्ञ करते [illegible] तुम्हारे यज्ञमण्डपका अत्यन्त विशाल मध्यवर्ती खम्भ पूरा-का-पूरा सोनेका बना हुआ होता था । जिस [illegible] तुम निरन्तर दस-दस करोड़ गौओंका सहस्रों बार दान किया करते थे, दैत्यराज ! उस समय तुम्हारे मनमें कैसे विचार उठते रहे होंगे ? ॥ २२-२३ ॥

[illegible] च पृथिवीं सर्वां यजमानोऽनुपर्यगाः ।
शम्याक्षेपेण विधिना तदाऽऽसीत् किं नु ते हृदि ॥ २४ ॥

[illegible] तुमने शम्याक्षेप[1]की विधिसे यज्ञ करते हुए सारी पृथ्वीकी परिक्रमा की थी, उस समय तुम्हारे हृदयमें कितना उत्साह रहा होगा ? ॥ २४ ॥

न ते पश्यामि भृङ्गारं न च्छत्रं व्यजने न च ।
ब्रह्मदत्तां च ते मालां [illegible] पश्याम्यसुराधिप ॥ २५ ॥

असुरराज ! [illegible] तो मैं तुम्हारे [illegible] न तो सोनेकी झारी,

1. शम्याक्षेप कहते [illegible] शम्यापातको । 'शम्या' एक ऐसे काठके डंडेको कहते हैं, जिसका निचला भाग मोटा होता है । उसे जब कोई बलवान् पुरुष उठाकर जोरसे फेंके, तब जितनी दूरीपर जाकर वह गिरे, उतने भूभागको एक 'शम्यापात' कहते हैं ।

न [illegible] और न चँवर ही देखता हूँ तथा ब्रह्माजीकी दी हुई वह दिव्य माला भी तुम्हारे गलेमें नहीं दिखायी देती है ॥

(भीष्म उवाच

ततः प्रहस्य स बलिर्वासवेन समीरितम् ।
निशम्य भावगम्भीरं सुरराजमथाब्रवीत् ॥

भीष्मजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! इन्द्रकी कही हुई वह भावगम्भीर वाणी सुनकर राजा बलि हँस पड़े और देवराजसे इस प्रकार बोले ॥

बलिरुवाच

अहो हि तव बालिश्यमिह देवगणाधिप ।
अयुक्तं देवराजस्य [illegible] कष्टमिदं वचः ॥)

बलिने कहा--देवेश्वर ! यहाँ तुमने जो मूर्खता दिखायी है, वह मेरे लिये आश्चर्यजनक है । तुम देवताओंके [illegible] हो । इस तरह दूसरोंको कष्ट देनेवाली [illegible] कहना तुम्हारे लिये योग्य नहीं है ॥

[illegible] त्वं पश्यसि भृङ्गारं न च्छत्रं व्यजने न च ।
ब्रह्मदत्तां च मे मालां न त्वं द्रक्ष्यसि वासव ॥ २६ ॥

इन्द्र ! इस समय तुम मेरी सोनेकी झारीको, मेरे [illegible] और चँवरको तथा ब्रह्माजीकी दी हुई मेरी उस दिव्य मालाको भी नहीं देख सकोगे ॥ २६ ॥

गुहायां निहितानि त्वं मम रत्नानि पृच्छसि ।
यदा मे भविता कालस्तदा त्वं तानि द्रक्ष्यसि ॥ २७ ॥

तुम मेरे जिन रत्नोंके विषयमें पूछ रहे हो, वे सब गुफामें छिपा दिये गये हैं । जब मेरे लिये अच्छा समय आयेगा, तब तुम फिर उन्हें देखोगे ॥ २७ ॥

[illegible] त्वेतदनुरूपं ते यशसो वा कुलस्य च ।
समृद्धार्थोऽसमृद्धार्थं यन्मां कत्थितुमिच्छसि ॥ २८ ॥

इस समय तुम समृद्धिशाली हो और मेरी समृद्धि छिन गयी है, ऐसी अवस्थामें जो तुम मेरे सामने अपनी प्रशंसाके गीत गाना चाहते हो, यह तुम्हारे कुल और यशके अनुरूप नहीं है ॥ २८ ॥

न हि दुःखेषु शोचन्ते न प्रहृष्यन्ति चर्द्धिषु ।
कृतप्रज्ञा ज्ञानतृप्ताः क्षान्ताः सन्तो मनीषिणः ॥ २९ ॥

जिसकी बुद्धि शुद्ध है तथा जो ज्ञानसे [illegible] हैं, वे [illegible] शील मनीषी सत्पुरुष दुःख पड़नेपर शोक नहीं करते और समृद्धि प्राप्त होनेपर हर्षसे फूल नहीं उठते हैं ॥ २९ ॥

त्वं [illegible] प्राकृतया बुद्ध्या पुरन्दर विकत्थसे ।
यदाहमिव भावी स्यास्तदा नैवं वदिष्यसि ॥ ३० ॥

पुरन्दर ! तुम अपनी अशुद्धि बुद्धिके कारण मेरे सामने आत्मप्रशंसा [illegible] रहे हो । जब मेरी-जैसी स्थिति तुम्हारी भी हो जायगी, तब ऐसी बात नहीं बोल सकोगे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादो [illegible] त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि और इन्द्रका संवाद नामक दो सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२३॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

बलि और इन्द्रका संवाद, बलिके द्वारा कालकी [illegible] प्रतिपादन करते हुए इन्द्रको फटकारना

भीष्म उवाच

पुनरेव तु तं [illegible] प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं प्रव्याहाराय भारत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं--भारत ! ऐसा कहकर सर्पके समान फुफकारते हुए बलिसे इन्द्रने पुनः अपना उत्कर्ष सूचित करनेके लिये हँसते हुए कहा ॥ १ ॥

शक्र उवाच

यत् तद् यानसहस्रेण ज्ञातिभिः परिवारितः ।
लोकान् प्रतापयन् सर्वान् यास्यस्मानवितर्कयन् ॥ २ ॥
दृष्ट्वा सुकृपणां चेमामवस्थामात्मनो बले ।
ज्ञातिमित्रपरित्यक्तः शोचस्याहो [illegible] शोचसि ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले--दैत्यराज बलि ! पहले जो तुम सहस्रों वाहनों और भाई बन्धुओंसे घिरकर सम्पूर्ण लोकोंको संताप देते और हम देवताओंको [illegible] न समझते हुए यात्रा करते थे और अब बन्धु बान्धवों तथा मित्रोंसे परित्यक्त होकर जो अपनी यह अत्यन्त दीनदशा देख रहे हो, इससे तुम्हारे मनमें शोक होता है या नहीं ? ॥ २-३ ॥

प्रीतिं प्राप्यातुलां पूर्वं लोकांश्चात्मवशे स्थितान् ।
विनिपातमिमं बाह्यं शोचस्याहो न शोचसि ॥ ४ ॥

पूर्वकालमें तुमने सम्पूर्ण लोकोंको अपने अधीन [illegible] लिया था और अनुपम प्रसन्नता प्राप्त की थी; किंतु इस समय [illegible] जगत्में तुम्हारा यह घोर पतन हुआ है, यह [illegible] सोचकर तुम्हारे मनमें शोक होता है या नहीं ? ॥ ४ ॥

बलिरुवाच

अनित्यमुपलक्ष्येह कालपर्यायधर्मतः ।
तस्माच्छक्र [illegible] शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ॥ ५ ॥

बलिने कहा--इन्द्र ! कालचक्र स्वभावसे ही परिवर्तनशील है, उसके द्वारा यहाँकी प्रत्येक वस्तुको मैं अनित्य

समझता हूँ, इसीलिये कभी शोक नहीं करता हूँ; क्योंकि [illegible] सारा जगत् विनाशशील है ॥ ५ ॥

अन्तवन्त इमे देहा भूतानां च सुराधिप ।
तेन शक्र न शोचामि नापराधादिदं मम ॥ ६ ॥

देवेश्वर ! प्राणियोंके ये सारे शरीर अन्तवान् हैं; इसलिये [illegible] कभी शोक नहीं करता हूँ । यह गर्दभका शरीर भी मुझे किसी अपराधसे नहीं प्राप्त हुआ है (मैंने इसे स्वेच्छासे ग्रहण किया है) ॥ ६ ॥

जीवितं च शरीरं च जात्यैव सह जायते ।
उभे सह विवर्धेते उभे सह विनश्यतः ॥ [illegible] ॥

जीवन और शरीर दोनों जन्मके साथ ही उत्पन्न होते हैं, साथ ही बढ़ते हैं और साथ ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

न हीदृशमहं भावमवशः प्राप्य केवलम् ।
यद्येवमभिजानामि का व्यथा मे विजानतः ॥ ८ ॥

[illegible] इस गर्दभ-शरीरको पाकर भी विवश नहीं हुआ हूँ । जब [illegible] इस प्रकार देहकी अनित्यता और आत्माकी असङ्गता-को जानता हूँ, तब यह जानते हुए मुझे क्या व्यथा हो सकती है ? ॥ ८ ॥

भूतानां निधनं निष्ठा स्रोतसामिव [illegible] ।
नैतत् सम्यग्विजानन्तो नरा मुह्यन्ति वज्रभृत् ॥ ९ ॥

वज्रधारी इन्द्र ! जैसे जलके प्रवाहोंका अन्तिम [illegible] समुद्र है, उसी प्रकार शरीरधारियोंकी अन्तिम गति मृत्यु है । जो पुरुष इस बातको अच्छी तरह जानते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते हैं ॥ ९ ॥

ये त्वेवं नाभिजानन्ति रजोमोहपरायणाः ।
[illegible] कृच्छ्रं प्राप्य सीदन्ति बुद्धिर्येषां प्रणश्यति ॥ १० ॥

जो लोग रजोगुण (काम-क्रोध) और मोहके वशीभूत हो इस बातको भलीभाँति नहीं जानते हैं तथा जिनकी बुद्धि [illegible] हो जाती है, वे सङ्कटमें पड़नेपर बहुत दुखी होते हैं ॥

बुद्धिलाभात् [illegible] पुरुषः सर्वं नुदति किल्बिषम् ।
विपाप्मा लभते सत्त्वं सत्त्वस्थः सम्प्रसीदति ॥ ११ ॥

जिसे सद्‌बुद्धि प्राप्त होती है, वह पुरुष उस बुद्धिके द्वारा सारे पापोंको नष्ट कर देता है । पापहीन होनेपर उसे सत्त्वगुण-[illegible] प्राप्ति होती है और सत्त्वगुणमें स्थित होकर वह सात्त्विक प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है ॥ १[illegible] ॥

ततस्तु ये निवर्तन्ते जायन्ते वा पुनः पुनः ।
कृपणाः परितप्यन्ते तैरर्थैरभिचोदिताः ॥ १२ ॥

जो मन्दबुद्धि मानव सत्त्वगुणसे [illegible] हो जाते हैं, वे बारंबार इस संसारमें जन्म लेते [illegible] तथा रजोगुणजनित काम, क्रोध आदि दोषोंसे प्रेरित होकर सदा सन्तप्त होते रहते हैं ॥

अर्थसिद्धिमनर्थं च जीवितं मरणं तथा ।
सुखदुःखफले चैव न द्वेष्मि न च कामये ॥ १३ ॥

[illegible] न तो अर्थसिद्धि, जीवन और सुखमय फलकी कामना [illegible] हूँ और न अनर्थ, मृत्यु एवं दुःखमय फलसे [illegible] ही [illegible] हूँ ॥ १३ ॥

हतं हन्ति हतो ह्येव यो नरो हन्ति कञ्चन ।
उभौ तौ न विजानीतो यश्च हन्ति हतश्च यः ॥ १४ ॥

जो मनुष्य किसीकी हत्या करता है, वह वास्तवमें स्वयं [illegible] हुआ होते हुए मरे हुएको ही मारता है । जो मारता है और जो मारा जाता है, वे दोनों ही आत्माको नहीं जानते हैं (क्योंकि [illegible] हननक्रियाका [illegible] तो कर्म है, न कर्ता) ॥

हत्वा जित्वा च मघवन् यः कश्चित् पुरुषायते ।
अकर्ता ह्येव भवति कर्ता ह्येव करोति तत् ॥ १५ ॥

मघवन् ! जो कोई किसीको मारकर या जीतकर अपने पौरुषपर गर्व करता है, वह वास्तवमें [illegible] पुरुषार्थका कर्ता ही नहीं है; क्योंकि जो जगत्‌का कर्ता, जो परमात्मा है, वही उस कर्मका भी कर्ता है ॥ १५ ॥

को हि लोकस्य कुरुते विनाशप्रभवावुभौ ।
कृतं हि तत् कृतेनैव कर्ता तस्यापि [illegible] ॥ १६ ॥

सम्पूर्ण जगत्‌का संहार और सृष्टि—इन दोनों कार्योंको कौन करता है ? वह सब प्राणियोंके कर्मोंद्वारा ही किया गया है और उसका भी प्रयोजक कोई और (ईश्वर) ही है ॥

पृथिवी ज्योतिराकाशमापो वायुश्च पञ्चमः ।
एतद्योनीनि भूतानि [illegible] का परिदेवना ॥ १७ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये ही सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंके कारण हैं; अतः उनके लिये शोक और विलापकी [illegible] आवश्यकता है ? ॥ १७ ॥

महाविद्योऽल्पविद्यश्च बलवान् दुर्बलश्च यः ।
दर्शनीयो विरूपश्च सुभगो दुर्भगश्च यः ॥ १८ ॥
सर्वं कालः समादत्ते गम्भीरः स्वेन तेजसा ।
तस्मिन् कालवशं प्राप्ते का व्यथा मे विजानतः ॥ १९ ॥

कोई बड़ा भारी विद्वान् हो या अल्पविद्यासे युक्त, बलवान् हो या दुर्बल, सुन्दर हो [illegible] कुरूप, सौभाग्यशाली हो [illegible] दुर्भाग्ययुक्त, गम्भीर [illegible] सबको अपने तेजसे ग्रहण कर लेता है; [illegible] उन सबके कालके अधीन हो जानेपर जगत्‌की क्षणभङ्गुरताको जाननेवाले मुझ बलिको क्या व्यथा हो सकती है ? [illegible] १८-१९ ॥

दग्धमेवानुदहति हतमेवानुहन्यते ।
नश्यते नष्टमेवाग्रे लब्धव्यं लभते नरः ॥ २० ॥

जो कालके द्वारा दग्ध हो चुका है, उसीको पीछेसे आग जलाती है । जिसे कालने पहलेसे ही मार डाला है, वही

किसी दूसरेके द्वारा मारा जाता है । जो पहलेसे ही नष्ट हो चुकी है, वही वस्तु किसीके द्वारा नष्ट की जाती है तथा जिसका मिलना पहलेसे ही निश्चित है, उसीको मनुष्य हस्तगत करता है ॥

नास्य द्वीपः कुतः पारो नावारः सम्प्रदृश्यते ।
नान्तमस्य प्रपश्यामि विधेर्दिव्यस्य चिन्तयन् ॥ २१ ॥

मैं बहुत सोचनेपर भी दिव्य विधाता कालका अन्त नहीं देख पाता हूँ । उस समुद्र-जैसे कालका कहीं द्वीप भी नहीं है, फिर पार कहाँसे प्राप्त हो सकता है ? उसका आर-पार कहीं नहीं दिखायी देता है ॥ २१ ॥

यदि मे पश्यतः कालो भूतानि न विनाशयेत् ।
स्यान्मे हर्षश्च दर्पश्च क्रोधश्चैव शचीपते ॥ २२ ॥

शचीपते ! यदि काल मेरे देखते-देखते समस्त प्राणियोंका विनाश नहीं करता तो मुझे हर्ष होता, अपनी शक्तिपर गर्व होता और उस क्रूर कालपर मुझे क्रोध भी होता ॥ २२ ॥

तुषभक्षं [illegible] मां ज्ञात्वा प्रविविक्तजने गृहे ।
बिभ्रतं गार्दभं रूपमागत्य परिगर्हसे ॥ २३ ॥

इस एकान्त गृहमें गर्दभका रूप धारण किये मुझे भूसी खाता जानकर तुम यहाँ आये हो और मेरी निन्दा करते हो ॥

इच्छन्नहं विकुर्यां हि रूपाणि बहुधाऽऽत्मनः ।
विभीषणानि यानीक्ष्य पलायेथास्त्वमेव मे ॥ २४ ॥

मैं चाहूँ तो अपने बहुत-से ऐसे भयानक रूप [illegible] सकता हूँ, जिन्हें देखकर तुम्हीं मेरे निकटसे भाग खड़े होओगे ॥

[illegible] सर्वं समादत्ते [illegible] सर्वं प्रयच्छति ।
कालेन विहितं सर्वं मा कृथाः [illegible] पौरुषम् ॥ २५ ॥

इन्द्र ! काल ही सबको ग्रहण [illegible] है, काल ही [illegible] कुछ देता है तथा कालने ही सब कुछ किया है; अतः अपने पुरुषार्थका गर्व न करो ॥ २५ ॥

पुरा सर्वं प्रव्यथितं मयि क्रुद्धे पुरंदर ।
अवैमि त्वस्य लोकस्य धर्मं [illegible] सनातनम् ॥ २६ ॥

पुरन्दर ! पूर्वकालमें मेरे कुपित होनेपर सारा जगत् व्यथित हो उठता था । इस लोककी कभी वृद्धि होती है और कभी ह्रास । यह इसका सनातन स्वभाव है । [illegible] ! [illegible] बातको मैं अच्छी तरह जानता हूँ ॥ २६ ॥

त्वमप्येवमवेक्षस्व माऽऽत्मना विस्मयं गमः ।
प्रभवश्च प्रभावश्च नात्मसंस्थः कदाचन ॥ २७ ॥

तुम भी जगत्को इसी दृष्टिसे देखो । अपने मनमें विस्मित न होओ । प्रभुता और प्रभाव अपने अधीन नहीं हैं ॥२७॥

कौमारमेव ते चित्तं तथैवाद्य यथा पुरा ।
समवेक्षस्व मघवन् बुद्धिं विन्दस्व नैष्ठिकीम् ॥ २८ ॥

तुम्हारा चित्त अभी बालकके समान है । वह जैसा पहले था, वैसा ही आज भी है । मघवन् ! इस बातकी ओर दृष्टिपात करो और नैष्ठिक बुद्धि प्राप्त करो ॥ २८ ॥

देवा मनुष्याः पितरो गन्धर्वोरगराक्षसाः ।
आसन् सर्वे मम वशे तत् सर्वं वेत्थ वासव ॥ २९ ॥

वासव ! एक दिन देवता, मनुष्य, पितर, गन्धर्व, नाग और राक्षस—ये सभी मेरे अधीन थे । वह [illegible] कुछ तुम जानते हो ॥ २९ ॥

नमस्तस्यै दिशेऽप्यस्तु यस्यां वैरोचनो बलिः ।
इति मामभ्यपद्यन्त बुद्धिमात्सर्यमोहिताः ॥ ३० ॥

मेरे शत्रु अपने बुद्धिगत द्वेषसे मोहित होकर मेरी शरण ग्रहण करते हुए ऐसा कहा करते थे कि विरोचनकुमार बलि जिस दिशामें हों, उस दिशाको भी हमारा नमस्कार है ॥३०॥

नाहं तदनुशोचामि नात्मभ्रंशं शचीपते ।
एवं मे निश्चिता बुद्धिः शास्तुस्तिष्ठाम्यहं वशे ॥ ३१ ॥

शचीपते ! मुझे अपने इस पतनके लिये तनिक भी शोक नहीं होता है, मेरी बुद्धिका ऐसा निश्चय है कि मैं सदा सबके शासक ईश्वरके वशमें हूँ ॥ ३१ ॥

दृश्यते हि कुले जातो दर्शनीयः प्रतापवान् ।
दुःखं जीवन् सहामात्यो भवितव्यं हि तत् तथा ॥३२॥

एक उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ दर्शनीय एवं प्रतापी पुरुष अपने मन्त्रियोंके साथ दुःखपूर्वक जीवन बिताता देखा जाता है, उसका वैसा ही भवितव्य था ॥ ३२ ॥

दौष्कुलेयस्तथा मूढो दुर्जातः शक्र दृश्यते ।
सुखं जीवन् सहामात्यो भवितव्यं हि तत् तथा ॥ ३३ ॥

इन्द्र ! एक नीच कुलमें उत्पन्न हुआ मूढ मनुष्य जिसका जन्म दुराचारसे हुआ है, अपने मन्त्रियोंसहित सुखी जीवन बिताता देखा जाता है । उसकी भी वैसी ही होनहार समझनी चाहिये ॥ ३३ ॥

कल्याणी रूपसम्पन्ना दुर्भगा [illegible] दृश्यते ।
अलक्षणा विरूपा च सुभगा दृश्यते परा ॥ ३४ ॥

शक्र ! एक कल्याणमय आचार-विचार रखनेवाली सुरूपवती युवती विधवा हुई देखी जाती है और दूसरी कुलक्षणा और कुरूपा स्त्री सौभाग्यवती दिखायी देती है ॥

नैतदस्मत्कृतं [illegible] नैतच्छक्र त्वया कृतम् ।
यत् त्वमेवंगतो वज्रिन् यच्चाप्येवंगता वयम् ॥ ३५ ॥

वज्रधारी इन्द्र ! आज जो तुम इस तरह समृद्धिशाली हो गये हो और हमलोग जो ऐसी अवस्थामें पहुँच गये हैं, यह न तो हमारा किया हुआ है और न तुमने ही कुछ किया है ॥

न कर्म भविताप्येतत् कृतं मम शतक्रतो ।
ऋद्धिर्वाप्यथवा नर्द्धिः पर्यायकृतमेव तत् ॥ ३६ ॥

शतक्रतो ! इस समय [illegible] इस परिस्थितिमें हूँ और जो

कर्म मेरे इस शरीरसे हो रहा है, यह [illegible] मेरा किया हुआ नहीं है। समृद्धि और निर्धनता (प्रारब्धके अनुसार) बारी-बारीसे सबपर आती है॥३६॥

पश्यामि त्वां विराजन्तं देवराजमवस्थितम्।
श्रीमन्तं द्युतिमन्तं च गर्जमानं ममोपरि॥३७॥

[illegible] देखता हूँ, इस समय तुम देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हो। अपने कान्तिमान् और तेजस्वी स्वरूपसे विराज रहे हो और मेरे ऊपर बारंबार गर्जना करते हो॥३७॥

एवं नैव न चेत् कालो मामाक्रम्य स्थितो भवेत्।
पातयेयमहं त्वाद्य सवज्रमपि मुष्टिना॥३८॥

परंतु यदि इस तरह काल मुझपर आक्रमण करके मेरे सिरपर सवार न होता तो मैं आज वज्र लिये होनेपर भी तुम्हें केवल मुक्केसे मारकर धरतीपर गिरा देता॥३८॥

न [illegible] विक्रमकालोऽयं शान्तिकालोऽयमागतः।
कालः स्थापयते सर्वं कालः पचति वै [illegible]॥३९॥

किंतु यह मेरे लिये पराक्रम प्रकट करनेका समय नहीं है; अपितु शान्त रहनेका समय आया है। काल ही सबको विभिन्न अवस्थाओंमें स्थापित करके सबका [illegible] करता है और काल ही सबको पकाता (क्षीण करता) है॥३९॥

मां चेदभ्यागतः कालो दानवेश्वरपूजितम्।
गर्जन्तं प्रतपन्तं च कमन्यं नागमिष्यति॥४०॥

एक दिन मैं दानवेश्वरोंद्वारा पूजित [illegible] और मैं भी गर्जता तथा अपना प्रताप सर्वत्र फैलाता था। जब मुझपर भी [illegible] आक्रमण हुआ है, तब दूसरे किसपर वह आक्रमण नहीं करेगा?॥४०॥

द्वादशानां [illegible] भवतामादित्यानां महात्मनाम्।
तेजांस्येकेन सर्वेषां देवराज धृतानि मे॥४१॥

देवराज! तुमलोग जो बारह महात्मा आदित्य कहलाते हो, उन सब लोगोंके तेज मैंने अकेले धारण कर रक्खे थे॥

अहमेवोद्वहाम्यापो विसृजामि च वासव।
तपामि चैव त्रैलोक्यं विद्योताम्यहमेव च॥४२॥

वासव! मैं ही सूर्य बनकर अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीका जल ऊपर उठाता और मेघ बनकर वर्षा करता था। [illegible] ही त्रिलोकीको ताप देता और विद्युत् बनकर प्रकाश फैलाता था॥४२॥

संरक्षामि विलुम्पामि ददाम्यहमथाददे।
संयच्छामि नियच्छामि लोकेषु प्रभुरीश्वरः॥४३॥

[illegible] प्रजाकी रक्षा करता [illegible] और लुटेरोंको लूट भी लेता [illegible]। मैं सदा दान देता और प्रजासे कर लेता था। [illegible] ही सम्पूर्ण लोकोंका शासक और प्रभु होकर सबको संयम-नियममें [illegible] था॥४३॥

तदद्य विनिवृत्तं मे प्रभुत्वममराधिप।
कालसैन्यावगाढस्य सर्वं न प्रतिभाति मे॥४४॥

अमरेश्वर! आज मेरी वह प्रभुता समाप्त हो गयी। कालकी सेनासे [illegible] आक्रान्त हो गया हूँ; अतः मेरा [illegible] सब ऐश्वर्य अब प्रकाशित नहीं हो रहा है॥४४॥

नाहं कर्ता न चैव त्वं नान्यः कर्ता शचीपते।
पर्यायेण हि भुज्यन्ते लोकाः शक्र यदृच्छया॥४५॥

शचीपति इन्द्र! न मैं कर्ता हूँ, न तुम कर्ता हो और न कोई दूसरा ही कर्ता है। [illegible] बारी-बारीसे अपनी इच्छाके अनुसार सम्पूर्ण लोकोंका उपभोग करता है॥४५॥

मासमासार्धवेश्मानमहोरात्राभिसंवृतम्।
ऋतुद्वारं वर्षमुखमाहुर्वेदविदो जनाः॥४६॥

वेदवेत्ता पुरुष कहते हैं कि मास और पक्ष कालके आवास (शरीर) हैं। दिन और [illegible] उसके आवरण (वस्त्र) हैं। ऋतुएँ द्वार (मन-इन्द्रिय) हैं और वर्ष मुख है। वह [illegible] आयुस्वरूप है॥४६॥

आहुः सर्वमिदं चिन्त्यं जनाः केचिन्मनीषया।
अस्याः पञ्चैव चिन्तायाः पर्येष्यामि च पञ्चधा॥४७॥

कुछ विद्वान् अपनी बुद्धिके बलसे कहते हैं कि यह [illegible] कालस्वरूप ब्रह्म है। इसका इसी रूपमें चिन्तन करना चाहिये। इस चिन्तनके मास आदि उपर्युक्त पाँच ही विषय हैं। मैं पूर्वोक्त पाँच भेदोंसे युक्त कालको जानता हूँ॥४७॥

गम्भीरं गहनं [illegible] महत्तोयार्णवं यथा।
अनादिनिधनं चाहुरक्षरं क्षरमेव च॥४८॥

वह कालरूप ब्रह्म अनन्त जलसे भरे हुए महासागरके समान गम्भीर एवं गहन है। उसका कहीं आदि-अन्त नहीं है। उसे ही क्षर एवं अक्षररूप बताया गया है॥४८॥

सत्त्वेषु लिङ्गमावेश्य निर्लिङ्गमपि तत् स्वयम्।
मन्यन्ते ध्रुवमेवैनं ये जनास्तत्त्वदर्शिनः॥४९॥

जो लोग तत्त्वदर्शी हैं, वे निश्चितरूपसे ऐसा मानते हैं कि वह कालरूप परब्रह्म परमात्मा स्वयं निराकार होते हुए भी समस्त प्राणियोंके भीतर जीवका प्रवेश कराता है॥४९॥

भूतानां [illegible] विपर्यासं कुरुते भगवानिति।
न ह्येतावद् भवेद् गम्यं न यस्मात् प्रभवेत् पुनः॥५०॥

भगवान् [illegible] ही समस्त प्राणियोंकी अवस्थामें उलट-फेर कर देते हैं। कोई भी व्यक्ति उनके इस माहात्म्यको [illegible] नहीं पाता। कालकी ही महिमासे पराजित होकर मनुष्य कुछ भी कर नहीं पाता ॥ ५० ॥

गतिं हि सर्वभूतानामगत्वा [illegible] गमिष्यति।
यो धावता न हातव्यस्तिष्ठन्नपि न हीयते ॥ ५१ ॥
तमिन्द्रियाणि सर्वाणि नानुपश्यन्ति पञ्चधा।
आहुरश्चैनं केचिदग्निं केचिदाहुः प्रजापतिम् ॥ ५२ ॥

देवराज! समस्त प्राणियोंकी गति जो काल है, उसको प्राप्त हुए बिना तुम कहाँ जाओगे? मनुष्य भागकर भी उसे छोड़ नहीं सकता—उससे दूर नहीं जा सकता और न खड़ा होकर ही उसके चंगुलसे छूट सकता है। श्रवण आदि समस्त इन्द्रियाँ मास-पक्ष आदि पाँच भेदोंसे युक्त उस कालका अनुभव नहीं कर पातीं। कुछ लोग इन कालदेवताको अग्नि कहते हैं और कुछ प्रजापति ॥ ५१-५२ ॥

ऋतून् मासार्धमासांश्च दिवसांश्च क्षणांस्तथा।
पूर्वाह्णमपराह्णं च मध्याह्नमपि चापरे ॥ ५३ ॥
मुहूर्तमपि चैवाहुरेकं सन्तमनेकधा।
तं कालमिति जानीहि यस्य सर्वमिदं वशे ॥ ५४ ॥

दूसरे लोग उस कालको ऋतु, मास, पक्ष, दिन, क्षण, पूर्वाह्ण, अपराह्ण और मध्याह्न कहते हैं। उसीको विद्वान् पुरुष मुहूर्त भी कहते हैं। वह एक होकर भी अनेक प्रकारका बताया जाता है। इन्द्र! तुम उस कालको इस प्रकार जानो। यह सारा जगत् उसीके अधीन है ॥ ५३-५४ ॥

बहूनीन्द्रसहस्राणि समतीतानि वासव।
बलवीर्योपपन्नानि यथैव त्वं शचीपते ॥ ५५ ॥

शचीपति इन्द्र! जैसे तुम हो, वैसे ही [illegible] और पराक्रमसे सम्पन्न अनेक सहस्र इन्द्र समाप्त हो चुके हैं ॥ ५५ ॥

त्वामप्यतिबलं [illegible] देवराजं बलोत्कटम्।
प्राप्ते काले महावीर्यः कालः संशमयिष्यति ॥ ५६ ॥

शक्र! तुम अपनेको अत्यन्त शक्तिशाली और उत्कट बलसे युक्त देवराज समझते हो; परंतु समय आनेपर महा-पराक्रमी [illegible] तुम्हें भी शान्त कर देगा ॥ ५६ ॥

य इदं सर्वमादत्ते तस्माच्छक्र स्थिरो भव।
मया त्वया च पूर्वैश्च न स शक्योऽतिवर्तितुम् ॥ ५७ ॥

इन्द्र! वह काल ही सम्पूर्ण जगत्को अपने वशमें कर लेता है; अतः तुम भी स्थिर रहो। मैं, तुम तथा हमारे पूर्वज भी कालकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ५७ ॥

यामेतां [illegible] जानीषे राज्यश्रियमनुत्तमाम्।
स्थिता मयीति तन्मिथ्या नैषा ह्येकत्र तिष्ठति ॥ ५८ ॥

तुम जिस इस परम उत्तम राजलक्ष्मीको पाकर यह जानते हो कि यह मेरे पास स्थिरभावसे रहेगी, तुम्हारी यह धारणा मिथ्या है; क्योंकि यह कहीं एक जगह बँधकर नहीं रहती है ॥ ५८ ॥

स्थिता हीन्द्र सहस्रेषु त्वद्विशिष्टतमेष्वियम्।
मां च लोला परित्यज्य त्वामगाद् विबुधाधिप ॥ ५९ ॥

इन्द्र! यह लक्ष्मी तुमसे भी श्रेष्ठ सहस्रों पुरुषोंके [illegible] रह चुकी है। देवेश्वर! इस समय यह चञ्चला मुझे भी छोड़कर तुम्हारे पास गयी है ॥ ५९ ॥

मैवं शक्र पुनः कार्षीः शान्तो भवितुमर्हसि।
त्वामप्येवंविधं ज्ञात्वा क्षिप्रमन्यं गमिष्यति ॥ ६० ॥

शक्र! अब फिर तुम ऐसा बर्ताव न करना। अब तुमको शान्ति धारण कर लेनी चाहिये। तुम्हें भी मेरी-जैसी स्थितिमें जानकर यह लक्ष्मी शीघ्र किसी दूसरेके पास चली जायगी ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादे चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि और इन्द्रका संवादविषयक दो सौ चौबीसवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ २२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और लक्ष्मीका संवाद, बलिको त्यागकर आयी हुई लक्ष्मीकी इन्द्रके द्वारा प्रतिष्ठा

भीष्म उवाच

शतक्रतुरथापश्यद् बलेर्दीप्तां महात्मनः।
स्वरूपिणीं शरीराद्धि निष्क्रामन्तीं तदा श्रियम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर इन्द्रने देखा कि महात्मा बलिके शरीरसे परम सुन्दरी तथा कान्तिमती लक्ष्मी मूर्तिमती होकर निकल रही हैं ॥ १ ॥

तां दृष्ट्वा [illegible] दीप्तां भगवान् पाकशासनः।
विस्मयोत्फुल्लनयनो बलिं [illegible] वासवः॥ २॥

पाकशासन भगवान् इन्द्र प्रभासे प्रकाशित होनेवाली उस लक्ष्मीको देखकर आश्चर्यचकित हो उठे। उनके नेत्र विस्मयसे खिल उठे। उन्होंने बलिसे पूछा॥ २॥

शक्र उवाच

बले केयमपक्रान्ता रोचमाना शिखण्डिनी।
त्वत्तः स्थिता सकेयूरा दीप्यमाना स्वतेजसा॥ ३॥

इन्द्र बोले—बले! यह वेणी धारण करनेवाली कान्तिमयी कौन सुन्दरी तुम्हारे शरीरसे निकल कर खड़ी है? इसकी भुजाओंमें बाजूबंद शोभा पा रहे हैं और यह अपने तेजसे उद्भासित हो रही है॥ ३॥

बलिरुवाच

न हीमामासुरीं वेद्मि [illegible] दैवीं च न मानुषीम्।
त्वमेनां पृच्छ वा मा [illegible] यथेष्टं कुरु वासव॥ ४॥

बलिने कहा—इन्द्र! मेरी समझमें न तो यह असुरकुलकी स्त्री है, न देवजातिकी है और न मानवी ही है। तुम जानना चाहते हो तो इसीसे पूछो अथवा न पूछो। जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो॥ ४॥

शक्र उवाच

[illegible] त्वं बलेरपक्रान्ता रोचमाना शिखण्डिनी।
अजानतो ममाचक्ष्व नामधेयं शुचिस्मिते॥ ५॥
[illegible] त्वं तिष्ठसि मामेवं दीप्यमाना स्वतेजसा।
हित्वा दैत्यवरं सुभ्रु तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः॥ ६॥

[illegible] इन्द्रने पूछा—पवित्र मुसकानवाली सुन्दरी! बलिके शरीरसे निकलकर खड़ी हुई तुम कौन हो? तुम्हारी चमक-दमक अद्भुत है। तुम्हारी वेणी भी [illegible] सुन्दर है। मैं तुम्हें जानता नहीं हूँ; इसलिये पूछता हूँ। तुम मुझे अपना [illegible] बताओ। सुभ्रु! दैत्यराजको त्यागकर अपने तेजसे मुझे प्रकाशित करती हुई इस प्रकार तुम कौन खड़ी हो? मेरे प्रश्नके अनुसार अपना परिचय दो॥ ५-६॥

श्रीरुवाच

न मां विरोचनो वेद नायं वैरोचनो बलिः।
आहुर्मां दुःसहेत्येवं विधित्सेति [illegible] मां विदुः॥ ७॥

लक्ष्मी बोली—मुझे न तो विरोचन जानता है और न उसका पुत्र यह बलि। लोग मुझे दुःसहा कहते हैं और कुछ लोग मुझे विधित्साके नामसे भी जानते हैं॥ ७॥

भूतिर्लक्ष्मीति मामाहुः श्रीरित्येवं च वासव।
त्वं मां [illegible] न जानीषे सर्वे देवा [illegible] मां विदुः॥ ८॥

वासव! [illegible] मनुष्य मुझे भूति, लक्ष्मी और श्री भी कहते हैं। शक्र! तुम मुझे नहीं जानते [illegible] सम्पूर्ण देवताओंको भी मेरे विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं है॥ ८॥

[illegible] उवाच

किमिदं त्वं मम कृते उताहो बलिनः कृते।
दुःसहे विजहास्येनं चिरसंवासिनी सती॥ ९॥

इन्द्रने पूछा—दुःसहे! तुमने चिरकालतक राजा बलिके शरीरमें निवास किया है, [illegible] क्या तुम मेरेलिये अथवा बलिके ही हितके लिये इनका त्याग [illegible] रही हो?॥ ९॥

श्रीरुवाच

नो [illegible] न विधाता मां विदधाति कथंचन।
कालस्तु [illegible] पर्यायान्मैनं शक्रावमन्यथाः॥ १०॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र! [illegible] या विधाता किसी प्रकार भी मुझे किसी कार्यमें नियुक्त नहीं कर सकते हैं; किंतु कालका ही आदेश मुझे [illegible] पड़ता है। वही काल [illegible] समय बलिका परित्याग करनेके लिये मुझे प्रेरित करनेके निमित्त उपस्थित हुआ है। इन्द्र! [illegible] उस कालकी अवहेलना [illegible] करना॥ १०॥

शक्र उवाच

कथं त्वया बलिस्त्यक्तः किमर्थं वा शिखण्डिनि।
कथं [illegible] मां न जह्यास्त्वं तन्मे ब्रूहि शुचिस्मिते॥ ११॥

इन्द्रने पूछा—वेणी धारण करनेवाली लक्ष्मी! तुमने बलिका कैसे और किसलिये त्याग किया है? शुचिस्मिते! तुम मेरा त्याग किस प्रकार नहीं करोगी? यह मुझे बताओ॥ ११॥

श्रीरुवाच

सत्ये स्थितास्मि दाने च व्रते तपसि चैव हि।
पराक्रमे च धर्मे च पराचीनस्ततो बलिः॥ १२॥

लक्ष्मीने कहा—मैं सत्य, दान, व्रत, तपस्या, पराक्रम और धर्ममें निवास करती हूँ। राजा बलि इन सबसे विमुख हो चुके हैं॥ १२॥

ब्रह्मण्योऽयं पुरा भूत्वा सत्यवादी जितेन्द्रियः।
अभ्यसूयद् ब्राह्मणानामुच्छिष्टश्चास्पृशद् घृतम्॥ १३॥

ये पहले ब्राह्मणोंके हितैषी, सत्यवादी और जितेन्द्रिय थे; किंतु आगे चलकर ब्राह्मणोंके प्रति इनकी दोषदृष्टि हो गयी [illegible] इन्होंने जूठे हाथसे घी छू दिया था॥ १३॥

यज्ञशीलः सदा भूत्वा मामेव यजत स्वयम्।
प्रोवाच लोकान् मूढात्मा कालेनोपनिपीडितः ॥ १४ ॥

पहले ये सदा यज्ञ किया करते थे; किंतु आगे चलकर कालसे पीड़ित एवं मोहितचित्त होकर इन्होंने सब लोगोंको स्वयं ही स्पष्टरूपसे आदेश दिया कि तुम सब लोग मेरा ही यजन करो। १४।

अपाकृता [illegible] [illegible] त्वयि वत्स्यामि [illegible]।
अप्रमत्तेन धार्यास्मि तपसा विक्रमेण च ॥ १५ ॥

वासव ! इस प्रकार इनके द्वारा तिरस्कृत होकर अब [illegible] तुममें ही निवास करूँगी। तुम्हें सदा सावधान रहकर तपस्या और पराक्रमद्वारा मुझे धारण करना चाहिये ॥ १५ ॥

शक्र उवाच

अस्ति देवमनुष्येषु सर्वभूतेषु वा पुमान्।
यस्त्वामेको विषहितुं शक्नुयात् कमलालये ॥ १६ ॥

इन्द्रने कहा—कमलालये ! देवताओं, मनुष्यों अथवा सम्पूर्ण प्राणियोंमें कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है, जो अकेला तुम्हारा भार सहन कर सके ॥ १६ ॥

श्रीरुवाच

नैव देवो [illegible] गन्धर्वो नासुरो न च राक्षसः।
यो मामेको विषहितुं शक्तः कश्चित् पुरंदर ॥ १७ ॥

लक्ष्मीने कहा—पुरंदर ! देवता, गन्धर्व, असुर और राक्षस कोई भी अकेला मेरा भार सहन नहीं कर सकता ॥ १७ ॥

शक्र उवाच

तिष्ठेथा मयि नित्यं त्वं [illegible] तद् ब्रूहि मे शुभे।
तत् करिष्यामि ते वाक्यमृतं तद् वक्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

इन्द्रने कहा—शुभे ! तुम जिस प्रकार मेरे निकट सदा निवास कर सको, वह उपाय मुझे बताओ। मैं तुम्हारी [illegible] यथार्थरूपसे पालन करूँगा; क्योंकि तुम वह उपाय मुझे अवश्य बता सकती हो ॥ १८ ॥

श्रीरुवाच

स्थास्यामि नित्यं देवेन्द्र यथा त्वयि निबोध तत्।
विधिना वेददृष्टेन चतुर्धा विभजस्व माम् ॥ १९ ॥

लक्ष्मीने कहा—देवेन्द्र ! मैं जिस उपायसे तुम्हारे निकट सदा निवास कर सकूँगी, वह बताती हूँ, सुनो। तुम वेदमें बतायी हुई विधिसे मुझे चार भागोंमें विभक्त करो ॥ १९ ॥

शक्र उवाच

अहं वै त्वां निधास्यामि यथाशक्ति यथाबलम्।
न तु मेऽतिक्रमः स्याद् वै सदा लक्ष्मि तवान्तिके ॥ २० ॥

इन्द्रने कहा—लक्ष्मी ! मैं शारीरिक बल और मानसिक शक्तिके अनुसार तुम्हें धारण करूँगा, किंतु तुम्हारे निकट कभी मेरा परित्याग न हो ॥ २० ॥

भूमिरेव मनुष्येषु धारिणी भूतभाविनी।
[illegible] ते पादं तितिक्षेत समर्था हीति मे मतिः ॥ २१ ॥

मेरी यह धारणा है कि मनुष्यलोकमें सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाली यह पृथ्वी ही सबको धारण करती है। वह तुम्हारे पैरका भार सह सकेगी; क्योंकि वह सामर्थ्यशालिनी है ॥ २१ ॥

श्रीरुवाच

[illegible] मे निहितः पादो योऽयं भूमौ प्रतिष्ठितः।
द्वितीयं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २२ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! यह जो मेरा एक पैर पृथ्वी पर रक्खा हुआ है, इसे मैंने यहीं प्रतिष्ठित कर दिया। अब तुम मेरे दूसरे पैरको भी सुप्रतिष्ठित करो ॥ २२ ॥

शक्र उवाच

[illegible] एव मनुष्येषु द्रवमूर्त्यः परिचारिणीः।
तास्ते पादं तितिक्षन्तामलमापस्तितिक्षितुम् ॥ २३ ॥

इन्द्रने कहा—लक्ष्मी ! मनुष्यलोकमें जल ही सब ओर प्रवाहित होता है; अतः वही तुम्हारे दूसरे पैरका भार सहन करे; क्योंकि जल इस कार्यके लिये पूर्ण समर्थ है ॥ २३ ॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयमप्सु प्रतिष्ठितः।
तृतीयं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २४ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! लो, मैंने यह पैर जलमें रख दिया। [illegible] यह जलमें ही सुप्रतिष्ठित है। [illegible] तुम मेरे तीसरे पैरको भलीभाँति स्थापित करो ॥ २४ ॥

शक्र उवाच

यस्मिन् वेदाश्च यज्ञाश्च यस्मिन् देवाः प्रतिष्ठिताः।
तृतीयं पादमग्निस्ते सुधृतं धारयिष्यति ॥ २५ ॥

इन्द्रने कहा—देवि ! जिसमें वेद, यज्ञ और सम्पूर्ण देवता प्रतिष्ठित हैं। वे अग्निदेव तुम्हारे तीसरे पैरको अच्छी तरह धारण करेंगे ॥ २५ ॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयमग्नौ प्रतिष्ठितः।

चतुर्थं शक्र पादं मे तस्मात् सुनिहितं कुरु ॥ २६ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! यह तीसरा पाद मैंने अग्निमें रख दिया । अब यह अग्निमें प्रतिष्ठित है । इसके बाद मेरे चौथे पादको भलीभाँति स्थापित करो ॥ २६ ॥

शक्र उवाच

ये वै सन्तो मनुष्येषु ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ।
ते ते पादं तितिक्षन्तामलं सन्तस्तितिक्षितुम् ॥ २७ ॥

इन्द्र बोले—देवि ! मनुष्योंमें जो ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे आपके चौथे पादका भार सहन करें; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष उसे सहन करनेमें पूर्ण समर्थ हैं॥

श्रीरुवाच

एष मे निहितः पादो योऽयं सत्सु प्रतिष्ठितः ।
एवं हि निहितां शक्र भूतेषु परिधत्स्व माम् ॥ २८ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! यह मैंने अपना चौथा पाद रक्खा । अब यह सत्पुरुषोंमें प्रतिष्ठित हुआ । इसी प्रकार तुम [illegible] सम्पूर्ण भूतोंमें मुझे स्थापित करके सब ओरसे मेरी रक्षा करो ॥ २८ ॥

[illegible] उवाच

भूतानामिह यो वै त्वां मया विनिहितां सतीम् ।
उपहन्यात् स [illegible] धृष्यस्तथा शृण्वन्तु मे वचः ॥ २९ ॥

इन्द्रने कहा—देवि ! मेरेद्वारा स्थापित की हुई आपको [illegible] प्राणियोंमेंसे जो भी पीड़ा देगा, वह मेरेद्वारा दण्डनीय होगा । मेरी यह [illegible] वे सब लोग सुन लें ॥ २९ ॥

[illegible] श्रिया राजा दैत्यानां बलिरब्रवीत् ।
यावत् पुरस्तात् प्रतपेत् तावद् वै दक्षिणां दिशम् ।
पश्चिमां तावदेवापि तथोदीचीं दिवाकरः ॥ ३० ॥

तदनन्तर लक्ष्मीसे परित्यक्त होकर दैत्यराज बलिने कहा—'सूर्य [illegible] पूर्वदिशामें प्रकाशित होंगे, तभीतक वे दक्षिण, पश्चिम और उत्तरदिशाको भी प्रकाशित करेंगे ॥ ३० ॥

[illegible] मध्यंदिने सूर्यो नास्तमेति यदा तदा ।
पुनर्देवासुरं युद्धं भावि जेतास्मि वस्तदा ॥ ३१ ॥

'जब सूर्य केवल मध्याह्नकालमें ही स्थित रहेंगे, अस्ताचलको नहीं जायँगे, उस समय पुनः देवासुरसंग्राम होगा और उसमें मैं तुम सब देवताओंको [illegible] करूँगा ॥ ३१ ॥

सर्वलोकान् यदाऽऽदित्य एकस्थस्तापयिष्यति ।
तदा देवासुरे युद्धे जेताहं त्वां शतक्रतो ॥ ३२ ॥

'शतक्रतो ! जब सूर्य एक स्थान अर्थात् ब्रह्मलोकमें ही स्थित होकर नीचेके सम्पूर्ण लोकोंको ताप देने लगेंगे, [illegible] [illegible] देवासुरसंग्राममें मैं तुम्हें अवश्य जीत लूँगा*' ॥ ३२ ॥

शक्र उवाच

ब्रह्मणोऽस्मि समादिष्टो न हन्तव्यो भवानिति ।
तेन तेऽहं बले वज्रं न विमुञ्चामि मूर्धनि ॥ ३३ ॥

इन्द्रने कहा—बले ! ब्रह्माजीने मुझे आज्ञा दी है कि तुम बलिका वध न करना; इसीलिये तुम्हारे मस्तकपर मैं अपना वज्र नहीं छोड़ रहा हूँ ॥ ३३ ॥

यथेष्टं गच्छ दैत्येन्द्र स्वस्ति तेऽस्तु महासुर ।
आदित्यो नैव तपिता कदाचिन्मध्यतः स्थितः ॥ ३४ ॥

दैत्यराज ! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चले जाओ । महान् असुर ! तुम्हारा कल्याण हो । सूर्य कभी मध्याह्नमें ही स्थित होकर सम्पूर्ण लोकोंको ताप नहीं देंगे ॥ ३४ ॥

स्थापितो ह्यस्य समयः पूर्वमेव स्वयम्भुवा ।
अजस्रं परियात्येष सत्येनावतपन् प्रजाः ॥ ३५ ॥

ब्रह्माजीने पहलेसे ही उनके लिये मर्यादा स्थापित [illegible] दी है, अतः उसी सत्यमर्यादाके अनुसार सूर्य सम्पूर्ण लोकोंको [illegible] प्रदान करते हुए निरन्तर परिभ्रमण करते हैं ॥ ३५ ॥

अयनं तस्य षण्मासानुत्तरं दक्षिणं तथा ।
येन संयाति लोकेषु शीतोष्णे विसृजन् रविः ॥ ३६ ॥

उनके दो मार्ग हैं—उत्तर और दक्षिण । [illegible] महीनोंका उत्तरायण होता है और छः महीनोंका दक्षिणायन । उसीसे सम्पूर्ण जगत्में सर्दी गर्मीकी सृष्टि करते हुए सूर्यदेव भ्रमण करते हैं ॥ ३६ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तु दैत्येन्द्रो बलिरिन्द्रेण भारत ।
जगाम दक्षिणामाशामुदीचीं [illegible] पुरंदरः ॥ ३७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! इन्द्रके ऐसा कहनेपर दैत्यराज बलि दक्षिणदिशाको चले गये और स्वयं इन्द्र उत्तरदिशाको ॥ ३७ ॥

* वैवस्वत मन्वन्तरको [illegible] भागोंमें विभक्त करके जब अन्तिम आठवाँ भाग व्यतीत होने लगेगा, तब पूर्व आदि चारों दिशाओंमें जो इन्द्र, यम, वरुण और कुबेरकी चार पुरियाँ हैं, वे [illegible] हो जायँगी । उस समय केवल ब्रह्मलोकमें स्थित होकर सूर्य नीचेके सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करेंगे । उसी समय सावर्णिक मन्वन्तरका आरम्भ होगा, जिसमें राजा बलि [illegible] होंगे । (नीलकण्ठी)

इत्येतद् बलिना गीतमनहंकारसंज्ञितम् ।
[illegible] श्रुत्वा सहस्राक्षः खमेवारुरुहे तदा ॥ ३८ ॥

राजा बलिका वह पूर्वोक्त अनहंकारसंज्ञक वाक्य सुनकर सहस्रनेत्रधारी इन्द्र पुनः आकाशको ही उड़ चले ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्रीसंनिधानो नाम पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीसंनिधाननामक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२५ ॥

षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और नमुचिका संवाद

भीष्म उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शतक्रतोश्च संवादं नमुचेश्च युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इसी विषयमें विज्ञ पुरुष इन्द्र और नमुचिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

श्रिया विहीनमासीनमक्षोभ्यमिव सागरम् ।
भवाभवज्ञं भूतानामित्युवाच पुरंदरः ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, दैत्यराज नमुचि राजलक्ष्मीसे च्युत हो गये, तो भी वे प्रशान्त महासागरके समान क्षोभरहित बने रहे; क्योंकि वे कालक्रमसे होनेवाले प्राणियोंके अभ्युदय और पराभवके तत्त्वको जाननेवाले थे। उस समय देवराज इन्द्र उनके पास जाकर [illegible] प्रकार बोले—॥ २ ॥

[illegible] पाशैश्च्युतः स्थानाद् द्विषतां वशमागतः ।
श्रिया विहीनो नमुचे शोचस्याहो न शोचसि ॥ ३ ॥

'नमुचे ! तुम रस्सियोंसे बाँधे गये, राज्यसे भ्रष्ट हुए, शत्रुओंके वशमें पड़े और धन-सम्पत्तिसे वञ्चित हो गये। तुम्हें अपनी इस दुरवस्थापर शोक होता है या नहीं ?' ॥ [illegible] ॥

नमुचिरुवाच

अनिवार्येण शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति शोके नास्ति सहायता ॥ ४ ॥

नमुचिने कहा—देवराज ! यदि शोकको रोका न जाय तो उसके द्वारा शरीर संतप्त हो उठता है और शत्रु प्रसन्न होते [illegible] । शोकके द्वारा विपत्तिको दूर करनेमें भी कोई सहायता नहीं मिलती ॥ ४ ॥

तस्माच्छक्र न शोचामि सर्वं ह्येवेदमन्तवत् ।
संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते श्रियः ॥ ५ ॥
संतापाद् भ्रश्यते चायुर्धर्मश्चैव सुरेश्वर ।

इन्द्र ! इसीलिये [illegible] शोक नहीं करता; क्योंकि यह सम्पूर्ण वैभव नाशवान् है। संताप करनेसे रूपका नाश होता है। संतापसे कान्ति फीकी पड़ जाती है और सुरेश्वर ! संतापसे आयु तथा धर्मका भी नाश होता है ॥ ५½ ॥

विनीय खलु तद् दुःखमागतं वैमनस्यजम् ॥ ६ ॥
ध्यातव्यं मनसा हृद्यं कल्याणं संविजानता ।

अतः समझदार पुरुषको वैमनस्यके कारण प्राप्त हुए दुःखका निवारण करके मन-ही-मन हृदयस्थित कल्याणमय परमात्माका चिन्तन करना चाहिये ॥ ६½ ॥

यदा यदा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तदा [illegible] प्रसिध्यन्ति सर्वार्था नात्र संशयः ॥ [illegible] ॥

पुरुष जब-जब कल्याणस्वरूप परमात्माके चिन्तनमें मन लगाता है, तब-तब उसके सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ [illegible] ॥

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता ।
तेनानुयुक्तः प्रवणादिवोदकं
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ८ ॥

जगत्का शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा नहीं। वही शासक गर्भमें सोये हुए जीवका भी शासन करता है, जैसे जल निम्न स्थानकी ओर ही प्रवाहित होता है, उसी प्रकार प्राणी उस शासकसे प्रेरित होकर उसकी अभीष्ट दिशाको ही गमन करता है। उस ईश्वरकी जैसी प्रेरणा होती है, उसीके अनुसार [illegible] भी कार्यभार वहन करता हूँ ॥ ८ ॥

भवाभवौ त्वभिजानन् गरीयो
ज्ञानाच्छ्रेयो न तु तद् वै करोमि ।

आशासु धर्म्यासु परासु कुर्वन्
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ॥ ९ ॥

मैं प्राणियोंके अभ्युदय और पराभवको जानता हूँ। श्रेष्ठ तत्त्वसे भी परिचित हूँ और ज्ञानसे कल्याणकी प्राप्ति होती है, इस बातको भी [illegible] हूँ, तथापि [illegible] सम्पादन नहीं करता हूँ। इसके विपरीत धर्मसम्मत अथवा अधर्मयुक्त आशाएँ मनमें लेकर जैसी अन्तर्यामीकी प्रेरणा होती है, उसके अनुसार कार्यभार वहन करता हूँ ॥ ९ ॥

यथा [illegible] प्राप्तव्यं प्राप्नोत्येव [illegible] [illegible]।
भवितव्यं यथा [illegible] भवत्येव [illegible] तथा ॥ १० ॥

पुरुषको जो वस्तु जिस [illegible] मिलनेवाली होती है, वह [illegible] प्रकार मिल ही जाती है। जिस वस्तुकी जैसी होनहार होती है, वह वैसी होती ही है ॥ १० ॥

यत्र यत्रैव संयुक्तो धात्रा गर्भे पुनः पुनः।
[illegible] तत्रैव वसति [illegible] [illegible] स्वयमिच्छति ॥ ११ ॥

विधाता जिस-जिस गर्भमें रहनेके लिये जीवको बार-बार प्रेरित करते हैं, वह जीव उसी-उसी गर्भमें [illegible] करता है; किंतु वह स्वयं जहाँ रहनेकी इच्छा करता है, वहाँ नहीं रह पाता है ॥ ११ ॥

भावो योऽयमनुप्राप्तो भवितव्यमिदं मम।
इति [illegible] सदा भावो [illegible] [illegible] मुह्येत् कदाचन ॥ १२ ॥

मुझे जो यह अवस्था प्राप्त हुई है, ऐसी ही होनहार थी। जिसके हृदयमें सदा [illegible] तरहकी भावना होती है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ॥ १२ ॥

पर्यायैर्हन्यमानानामभियोक्ता न विद्यते।
दुःखमेतत् तु यद् द्वेष्टा कर्ताहमिति मन्यते ॥ १३ ॥

कालक्रमसे [illegible] होनेवाले सुख-दुःखोंद्वारा जो लोग आहत होते हैं, उनके [illegible] दुःखके लिये दूसरा कोई दोषी [illegible] अपराधी नहीं है। दुःख पानेका कारण तो यह है कि पुरुष वर्तमान दुःखसे द्वेष करके अपनेको उसका कर्ता मान बैठता है ॥ १३ ॥

ऋषींश्च देवांश्च महासुरांश्च
त्रैविद्यवृद्धांश्च वने मुनींश्च।
कानापदो नोपनमन्ति लोके
परावरज्ञास्तु न सम्भ्रमन्ति ॥ १४ ॥

ऋषि, देवता, बड़े-बड़े असुर, तीनों वेदोंके ज्ञानमें बढ़े हुए विद्वान् पुरुष तथा वनवासी मुनि—इनमेंसे किनके [illegible] संसारमें आपत्तियाँ नहीं आती हैं; परंतु जिन्हें सत्-असत्-[illegible] विवेक है, [illegible] मोह या भ्रममें नहीं पड़ते हैं ॥ १४ ॥

न पण्डितः क्रुद्ध्यति नाभिपद्यते
[illegible] चापि संसीदति न प्रहृष्यति।
[illegible] चार्थकृच्छ्रव्यसनेषु शोचते
स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥ १५ ॥

विद्वान् पुरुष कभी क्रोध नहीं करता, कहीं आसक्त नहीं होता, अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर दुःखसे व्याकुल नहीं होता और किसी प्रिय वस्तुको पाकर अत्यन्त हर्षित नहीं होता है। आर्थिक कठिनाई या संकटके समय भी वह शोकग्रस्त नहीं होता है; अपितु हिमालयके समान स्वभावसे ही अविचल [illegible] रहता है ॥ १५ ॥

यमर्थसिद्धिः परमा न मोहयेत्
तथैव काले व्यसनं न मोहयेत्।
सुखं [illegible] दुःखं च तथैव मध्यमं
निषेवते यः [illegible] धुरंधरो नरः ॥ १६ ॥

जिसे उत्तम अर्थसिद्धि मोहमें नहीं डालती, इसी तरह जो कभी संकट पड़नेपर धैर्य [illegible] विवेकको खो नहीं बैठता [illegible] सुखका, दुःखका और दोनोंके बीचकी अवस्थाका समान भावसे सेवन करता है, वही महान् कार्यभारको सँभालनेवाला श्रेष्ठ पुरुष माना जाता है ॥ १६ ॥

यां यामवस्थां पुरुषोऽधिगच्छेत्
तस्यां रमेतापरितप्यमानः।
एवं प्रवृद्धं प्रणुदन्मनोजं
संतापनीयं सकलं शरीरात् ॥ १७ ॥

पुरुष जिस-जिस अवस्थाको प्राप्त हो, उसीमें उसे संतप्त न होकर आनन्द मानना चाहिये। इस प्रकार संतापजनक बढ़े हुए कामको अपने शरीर और मनसे पूर्णतः निकाल दे ॥ १७ ॥

[illegible] तत्सदः सत्परिषत् सभा च सा
[illegible] यां न कुरुते सदा भयम्।
धर्मतत्त्वमवगाह्य बुद्धिमान्
योऽभ्युपैति स धुरंधरः पुमान् ॥ १८ ॥

न तो ऐसी कोई सभा है, न साधु-सत्पुरुषोंकी कोई परिषद् है और न कोई ऐसा जनसमाज ही है, जिसे पाकर कोई पुरुष कभी भय न करे। जो बुद्धिमान् धर्मतत्त्वमें अवगाहन करके उसीको अपनाता है, वही धुरंधर माना गया है ॥ १८ ॥

प्राज्ञस्य कर्माणि दुरन्वयानि
न वै प्राज्ञो मुह्यति मोहकाले।
स्थानाच्च्युतश्चेन्न मुमोह गौतम-
स्तावत् कृच्छ्रामापदं प्राप्य वृद्धः॥ १९ ॥

विद्वान् पुरुषके सारे कार्य साधारण लोगोंके लिये दुर्बोध होते हैं। विद्वान् पुरुष मोहके अवसरपर भी मोहित नहीं होता। जैसे वृद्ध गौतममुनि अत्यन्त कष्टजनक विपत्तिमें पड़कर और पदच्युत होकर भी मोहित नहीं हुए॥ १९ ॥

न मन्त्रबलवीर्येण प्रज्ञया पौरुषेण च।
न शीलेन न वृत्तेन तथा नैवार्थसम्पदा।
अलभ्यं लभते मर्त्यस्तत्र का परिदेवना॥ २० ॥

जो वस्तु नहीं मिलनेवाली होती है, उसको कोई मनुष्य मन्त्र, बल, पराक्रम, बुद्धि, पुरुषार्थ, शील, सदाचार और धन-सम्पत्तिसे भी नहीं पा सकता; फिर उसके लिये शोक क्यों किया जाय ?॥ २० ॥

यदेवमनुजातस्य धातारो विदधुः पुरा।
तदेवानुचरिष्यामि किं मे मृत्युः करिष्यति॥ २१ ॥

पूर्वकालमें विधाताने मेरे लिये जैसा विधान रच रक्खा है, मैं जन्मके पश्चात् उसीका अनुसरण करता आया हूँ और आगे भी करूँगा; अतः मृत्यु मेरा क्या करेगी ?॥ २१ ॥

लब्धव्यान्येव लभते गन्तव्यान्येव गच्छति।
प्राप्तव्यान्येव चाप्नोति दुःखानि च सुखानि च॥ २२ ॥

मनुष्यको प्रारब्धके विधानसे जो कुछ पाना है, उसीको वह पाता है। जहाँ जाना है, वहीं वह जाता है और जो भी सुख या दुःख उसके लिये प्राप्तव्य हैं, उन्हें वह प्राप्त करता है॥ २२ ॥

एतद् विदित्वा कात्स्न्र्येन यो न मुह्यति मानवः।
कुशली सर्वदुःखेषु स वै सर्वधनो नरः॥ २३ ॥

यह पूर्णरूपसे जानकर जो मनुष्य कभी मोहित नहीं होता है, वह सब प्रकारके दुःखोंमें सकुशल रहता है और वही हर तरहसे धनवान् है॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शक्रनमुचिसंवादो नाम षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें इन्द्र और नमुचिका संवादनामक दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और बलिका संवाद—काल और प्रारब्धकी महिमाका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे किं श्रेयः पुरुषस्य हि।
बन्धुनाशे महीपाल राज्यनाशेऽथवा पुनः॥ १ ॥
त्वं हि नः परमो वक्ता लोकेऽस्मिन् भरतर्षभ।
एतद् भवन्तं पृच्छामि तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भूपाल! जो मनुष्य बन्धु बान्धवों-का अथवा राज्यका नाश हो जानेपर घोर संकटमें पड़ गया हो, उसके कल्याणका क्या उपाय है ? भरतश्रेष्ठ! इस संसारमें आप ही हमारे लिये सबसे श्रेष्ठ वक्ता हैं; इसलिये यह बात आपसे ही पूछता हूँ। आप यह सब मुझे बतानेकी कृपा करें॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

पुत्रदारैः सुखैश्चैव वियुक्तस्य धनेन वा।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप॥ ३ ॥
धैर्येण युक्तस्य सतः शरीरं न विशीर्यते।

भीष्मजीने कहा—राजा युधिष्ठिर! जिसके स्त्री पुत्र मर गये हों, सुख छिन गया हो अथवा धन नष्ट हो गया हो और इन कारणोंसे जो कठिन विपत्तिमें फँस गया हो, उसका तो धैर्य धारण करनेमें ही कल्याण है। जो धैर्यसे युक्त है, उस सत्पुरुषका शरीर चिन्ताके कारण [illegible] नहीं होता॥ ३½ ॥

विशोकता सुखं धत्ते धत्ते चारोग्यमुत्तमम्॥ ४ ॥
आरोग्याच्च शरीरस्य स पुनर्विन्दते श्रियम्।

शोकहीनता सुख और उत्तम आरोग्यका उत्पादन करती है, शरीरके नीरोग होनेसे मनुष्य फिर धन-सम्पत्तिका उपार्जन कर लेता है॥ ४½ ॥

[illegible] प्राज्ञो नरस्तात सात्त्विकीं वृत्तिमास्थितः॥ ५ ॥
तस्यैश्वर्यं च धैर्यं च व्यवसायश्च कर्मसु।

तात! जो बुद्धिमान् मनुष्य सदा सात्त्विक वृत्तिका सहारा लिये रहता है। उसीको ऐश्वर्य और धैर्यकी प्राप्ति होती है तथा वही सम्पूर्ण कर्मोंमें उद्योगशील होता है॥ ५½ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ ६ ॥
बलिवासवसंवादं पुनरेव युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर ! इस विषयमें पुनः बलि और इन्द्रके संवाद-रूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ ६½ ॥

वृत्ते देवासुरे युद्धे दैत्यदानवसंक्षये ॥ ७ ॥
विष्णुक्रान्तेषु लोकेषु देवराजे शतक्रतौ ।
इज्यमानेषु देवेषु चातुर्वर्ण्ये व्यवस्थिते ॥ ८ ॥
समृद्ध्यमाने त्रैलोक्ये प्रीतियुक्ते स्वयम्भुवि ।

पूर्वकालमें जब दैत्यों और दानवोंका संहार करनेवाला देवासुर-संग्राम समाप्त हो गया, वामनरूपधारी भगवान् विष्णुने अपने पैरोंसे तीनों लोकोंको नाप लिया और सौ यज्ञों-का अनुष्ठान करनेवाले इन्द्र पुनः देवताओंके राजा हो गये, तब देवताओंकी सब ओर आराधना होने लगी। चारों वर्णोंके लोग अपने-अपने धर्ममें स्थित रहने लगे। तीनों लोकोंका अभ्युदय होने लगा और सबको सुखी देखकर स्वयम्भू ब्रह्माजी अत्यन्त प्रसन्न रहने लगे ॥ ७-८½ ॥

रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यामपि चर्षिभिः ॥ ९ ॥
गन्धर्वैर्भुजगेन्द्रैश्च सिद्धैश्चान्यैर्वृतः प्रभुः ।
चतुर्दन्तं सुदान्तं च वारणेन्द्रं श्रिया वृतम् ।
आरुह्यैरावतं शक्रस्त्रैलोक्यमनुसंययौ ॥ १० ॥

उन्हीं दिनोंकी बात है, देवराज इन्द्र अपने ऐरावत नामक गजराजपर, जो चार सुन्दर दाँतोंसे सुशोभित और दिव्य शोभासे सम्पन्न था, आरूढ हो तीनों लोकोंमें भ्रमण करनेके लिये निकले। उस समय त्रिलोकीनाथ इन्द्र रुद्र, वसु, आदित्य, अश्विनीकुमार, ऋषिगण, गन्धर्व, नाग, सिद्ध तथा विद्याधरों आदिसे घिरे हुए थे ॥ ९-१० ॥

स कदाचित् समुद्रान्ते कस्मिंश्चिद् गिरिगह्वरे ।
बलिं वैरोचनिं वज्री ददर्शोपससर्प च ॥ ११ ॥

घूमते-घूमते वे किसी समय समुद्रतटपर जा पहुँचे। वहाँ किसी पर्वतकी गुफामें उन्हें विरोचनकुमार बलि दिखायी दिये। उन्हें देखते ही इन्द्र हाथमें वज्र लिये उनके पास जा पहुँचे ॥ ११ ॥

तमैरावतमूर्धस्थं प्रेक्ष्य देवगणैर्वृतम् ।
सुरेन्द्रमिन्द्रं दैत्येन्द्रो न शुशोच न विव्यथे ॥ १२ ॥

देवताओंसे घिरे हुए देवराज इन्द्रको ऐरावतकी पीठपर बैठे देख दैत्यराज बलिके मनमें तनिक भी शोक या व्यथा नहीं हुई ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा तमविकारस्थं तिष्ठन्तं निर्भयं बलिम् ।
अधिरूढो द्विपश्रेष्ठमित्युवाच शतक्रतुः ॥ १३ ॥

उन्हें निर्भय और निर्विकार होकर खड़ा देख श्रेष्ठ गज-राजपर चढ़े हुए शतक्रतु इन्द्रने उनसे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

दैत्य न व्यथसे शौर्यादथवा वृद्धसेवया ।
तपसा भावितत्वाद् वा सर्वथैतत् सुदुष्करम् ॥ १४ ॥

'दैत्य ! तुम्हें अपने शत्रुकी समृद्धि देखकर व्यथा क्यों नहीं होती ? क्या शौर्यसे अथवा बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेसे या तपस्यासे अन्तःकरण शुद्ध हो जानेके कारण तुम्हें शोक नहीं होता है ? साधारण पुरुषके लिये तो यह धैर्य सर्वथा परम दुष्कर है ॥ १४ ॥

शत्रुभिर्वशमानीतो हीनः स्थानादनुत्तमात् ।
वैरोचने किमाश्रित्य शोचितव्ये न शोचसि ॥ १५ ॥

'विरोचनकुमार ! तुम शत्रुओंके वशमें पड़े और उत्तम स्थान (राज्य)से भ्रष्ट हुए—इस प्रकार शोचनीय दशामें पड़कर भी तुम किस बलका सहारा लेकर शोक नहीं करते हो ? ॥ १५ ॥

श्रैष्ठ्यं प्राप्य स्वजातीनां महाभोगाननुत्तमान् ।
हृतस्वरत्नराज्यस्त्वं ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १६ ॥

'तुमने अपने जाति-भाइयोंमें सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया था और परम उत्तम महान् भोगोंपर अधिकार जमा रखा था; किंतु इस समय तुम्हारे रत्न और राज्यका अपहरण हो गया है, तो भी बताओ, तुम्हें शोक क्यों नहीं होता है ? ॥

ईश्वरो हि पुरा भूत्वा पितृपैतामहे पदे ।
तत्त्वमद्य हृतं दृष्ट्वा सपत्नैः किं न शोचसि ॥ १७ ॥

'पहले तो तुम अपने बाप-दादोंके राज्यपर बैठकर तीनों लोकोंके ईश्वर बने हुए थे। अब उस राज्यको शत्रुओंने छीन लिया; यह देखकर भी तुम्हें शोक क्यों नहीं होता है ? ॥१७॥

बद्धश्च वारुणैः पाशैर्वज्रेण च समाहतः ।
हृतदारो हृतधनो ब्रूहि कस्मान्न शोचसि ॥ १८ ॥

'तुम्हें वरुणके पाशसे बाँधा गया, वज्रसे घायल किया गया तथा तुम्हारी स्त्री और धनका भी अपहरण कर लिया गया; फिर भी बोलो, तुम्हें शोक कैसे नहीं होता है ? ॥ १८ ॥

नष्टश्रीर्विभवभ्रष्टो यन्न शोचसि दुष्करम् ।
त्रैलोक्यराज्यनाशे हि कोऽन्यो जीवितुमुत्सहेत् ॥ १९ ॥

'तुम्हारी राज्यलक्ष्मी नष्ट हो गयी। तुम अपने धन-वैभव-से हाथ धो बैठे। इतनेपर भी जो तुम्हें शोक नहीं होता है, यह दूसरोंके लिये बड़ा कठिन है। तीनों लोकोंका राज्य नष्ट हो जानेपर भी तुम्हारे सिवा दूसरा कौन जीवित रहनेके लिये उत्साह दिखा सकता है ? ॥ १९ ॥

एतच्चान्यच्च परुषं ब्रुवन्तं परिभूय तम्।
श्रुत्वा सुखमसम्भ्रान्तो बलिर्वैरोचनोऽब्रवीत्॥ २० ॥

ये तथा और भी बहुत-सी कठोर बातें सुनाकर इन्द्रने बलिका तिरस्कार किया। विरोचनकुमार बलिने वे सारी बातें बड़े आनन्दसे सुन लीं और मनमें तनिक भी घबराहट न लाकर उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया ॥ २० ॥

बलिरुवाच

निगृहीते मयि भृशं शक्र किं कत्थितेन ते।
वज्रमुद्यम्य तिष्ठन्तं पश्यामि त्वां पुरंदर॥ २१ ॥

बलिने कहा—इन्द्र! जब मैं शत्रुओं अथवा कालके द्वारा भलीभाँति बन्दी बना लिया गया हूँ, तब मेरे सामने इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनानेसे तुम्हें क्या लाभ होगा? पुरंदर! मैं देखता हूँ, आज तुम वज्र उठाये मेरे सामने खड़े हो ॥

अशक्तः पूर्वमासीस्त्वं कथञ्चिच्छक्ततां गतः।
कस्त्वदन्य इमां वाचं सुक्रूरां वक्तुमर्हति॥ २२ ॥

किंतु पहले तुममें ऐसा करनेकी शक्ति नहीं थी। अब किसी तरह शक्ति आ गयी है। तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा अत्यन्त क्रूर वचन कह सकता है? ॥ २२ ॥

यस्तु शत्रोर्वशस्थस्य शक्तोऽपि कुरुते दयाम्।
हस्तप्राप्तस्य वीरस्य तं चैव पुरुषं विदुः॥ २३ ॥

जो शक्तिशाली होकर भी अपने वशमें पड़े हुए अथवा हाथमें आये हुए वीर शत्रुपर दया करता है, उसे अच्छे लोग उत्तम पुरुष मानते हैं ॥ २३ ॥

अनिश्चयो हि युद्धेषु द्वयोर्विवदमानयोः।
[illegible] प्राप्नोति विजयमेकश्चैव पराजयम्॥ २४ ॥

जब दो व्यक्तियोंमें विवाद एवं युद्ध छिड़ जाता है, [illegible] किसकी जीत होगी—इसका कोई निश्चय नहीं रहता है। उनमेंसे एक पक्ष विजयी होता है और दूसरेको पराजय प्राप्त होती है ॥ २४ ॥

मा च तेऽभूत् स्वभावोऽयमिति ते देवपुङ्गव।
ईश्वरः सर्वभूतानां विक्रमेण जितो बलात्॥ २५ ॥

इसलिये देवराज! तुम्हारा स्वभाव ऐसा न हो, तुम ऐसा न समझ लो कि मैंने अपने बल और पराक्रमसे ही समस्त प्राणियोंके स्वामी मुझ बलिपर विजय पायी है ॥ २५ ॥

नैतदस्मत्कृतं शक्र नैतच्छक्र कृतं त्वया।
यत् त्वमेवंगतो वज्रिन् यद्वाप्येवंगता वयम्॥ २६ ॥

वज्रधारी इन्द्र! आज जो तुम इस प्रकार राज-वैभवसे सम्पन्न हो अथवा हमलोग जो इस दीन दशाको पहुँच गये हैं, यह सब न तो तुम्हारा किया हुआ है और न हमारा ही किया हुआ है ॥ २६ ॥

अहमासं यथाद्य त्वं भविता त्वं यथा वयम्।
मावमंस्था मया कर्म दुष्कृतं कृतमित्युत॥ २७ ॥

आज जैसे तुम हो, कभी मैं भी ऐसा ही था और इस समय जिस दशामें हमलोग पड़े हुए हैं, कभी तुम्हारी भी वैसी ही अवस्था होगी; अतः तुम यह समझकर कि मैंने बड़ा दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है, मेरा अपमान न करो ॥ २७ ॥

सुखदुःखे हि पुरुषः पर्यायेणाधिगच्छति।
पर्यायेणासि शक्रत्वं प्राप्तः [illegible] न कर्मणा॥ २८ ॥

प्रत्येक पुरुष बारी-बारीसे सुख और दुःख पाता है। इन्द्र! तुम भी अपने पराक्रमसे नहीं, कालक्रमसे ही इन्द्र-पदको प्राप्त हुए हो ॥ २८ ॥

कालः काले नयति मां त्वां च कालो नयत्ययम्।
तेनाहं त्वं यथा नाद्य त्वं चापि न यथा वयम्॥ २९ ॥

काल ही मुझे कुसमयकी ओर [illegible] जा रहा है और यह काल ही तुम्हें अच्छे दिन दिखा रहा है; इसलिये [illegible] जैसे तुम हो, वैसा मैं नहीं हूँ और जैसे हमलोग हैं, वैसे तुम नहीं हो ॥ २९ ॥

न मातृपितृशुश्रूषा न च दैवतपूजनम्।
नान्यो गुणसमाचारः पुरुषस्य सुखावहः॥ ३० ॥

माता-पिताकी सेवा, देवताओंकी पूजा [illegible] अन्य सद्गुणयुक्त सदाचार भी बुरे दिनोंमें किसी पुरुषके लिये सुखदायक नहीं होता है ॥ ३० ॥

न विद्या न तपो दानं न मित्राणि न बान्धवाः।
शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम्॥ ३१ ॥

कालसे पीडित हुए मनुष्यको न विद्या, न तप, न दान, न मित्र और न बन्धु-बान्धव ही कष्टसे बचा पाते हैं ॥

नागामिनमनर्थं हि प्रतिघातशतैरपि।
शक्नुवन्ति प्रतिव्योढुमृते बुद्धिबलान्नराः॥ ३२ ॥

मनुष्य बुद्धि-बलके सिवा और किसी उपायसे सैकड़ों आघात करके भी आनेवाले अनर्थको नहीं रोक सकते ॥ ३२ ॥

पर्यायैर्हन्यमानानां परित्राता न विद्यते।
इदं तु दुःखं यच्छक्र कर्ताहमिति मन्यसे॥ ३३ ॥

कालक्रमसे जिनपर आघात होता है—स्वयं काल जिन्हें पीड़ा देता है, उनकी रक्षा कोई नहीं कर सकता। शक्र! तुम जो अपनेको इस परिस्थितिका कर्ता मानते हो, यही तुम्हारे लिये दुःखकी बात है ॥ ३३ ॥

यदि कर्ता भवेत् कर्ता न क्रियेत कदाचन।
यस्मात्तु क्रियते कर्ता तस्मात् कर्ताप्यनीश्वरः॥ ३४ ॥

यदि कार्य करनेवाला पुरुष स्वयं ही कर्ता होता

उसको उत्पन्न करनेवाला दूसरा कोई कभी न होता। वह दूसरेके द्वारा [illegible] किया जाता है; इसलिये कालके सिवा दूसरा कोई कर्ता नहीं है ॥ ३४ ॥

कालेनाहं त्वामजयं कालेनाहं जितस्त्वया ।
गन्ता गतिमतां [illegible] कलयति प्रजाः ॥ ३५ ॥

कालकी सहायता पाकर मैंने तुमपर विजय पायी थी और कालके ही सहयोगसे अब तुमने मुझे पराजित कर दिया है। काल ही जानेवाले प्राणियोंके साथ जाता या उन्हें गमनकी शक्ति प्रदान करता है और वही समस्त प्रजाका संहार करता है ॥ ३५ ॥

इन्द्र प्राकृतया बुद्ध्या प्रलयं नावबुद्ध्यसे ।
केचित् त्वां बहु मन्यन्ते श्रैष्ठ्यं प्राप्तं स्वकर्मणा ॥ ३६ ॥

इन्द्र ! तुम्हारी बुद्धि साधारण है; इसलिये उसके द्वारा तुम एक-न-एक दिन अवश्य होनेवाले अपने विनाशको [illegible] नहीं [illegible] पाते। संसारमें कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो तुम्हें अपने ही पराक्रमसे श्रेष्ठताको प्राप्त हुआ मानते और तुम्हें अधिक महत्त्व देते हैं ॥ ३६ ॥

कथमस्मद्विधो नाम जानँल्लोकप्रवृत्तयः ।
कालेनाभ्याहतः शोचेन्मुह्येद् वाप्यथ विभ्रमेत् ॥ ३७ ॥

किंतु मेरे-जैसा पुरुष जो जगत्की प्रवृत्तिको जानता है—उन्नति और अवनतिका कारण काल—प्रारब्ध ही है; ऐसा समझता है, वह तुम्हें महत्त्व कैसे दे सकता है? जो कालसे पीड़ित है, वह प्राणी शोकग्रस्त, मोहित अथवा भ्रान्त भी हो सकता है ॥ ३७ ॥

नित्यं कालपरीतस्य [illegible] वा मद्विधस्य वा ।
बुद्धिर्व्यसनमासाद्य भिन्ना नौरिव सीदति ॥ ३८ ॥

मैं होऊँ या मेरे-जैसा दूसरा कोई पुरुष हो, जब [illegible] (प्रारब्ध) से [illegible] हो [illegible] है, [illegible] सदा ही उसकी बुद्धि संकटमें पड़कर फटी हुई नौकाके समान शिथिल हो जाती है ॥ ३८ ॥

अहं च त्वं च ये चान्ये भविष्यन्ति सुराधिपाः ।
ते सर्वे [illegible] यास्यन्ति मार्गमिन्द्रशतैर्गतम् ॥ ३९ ॥

इन्द्र ! मैं, तुम या और जो लोग भी देवेश्वरके पदपर प्रतिष्ठित होंगे, वे [illegible] के-सब उसी मार्गपर जायँगे, जिसपर पहलेके सैकड़ों इन्द्र जा चुके हैं ॥ ३९ ॥

त्वामप्येवं सुदुर्धर्षं ज्वलन्तं परया श्रिया ।
काले परिणते [illegible] कालयिष्यति मामिव ॥ ४० ॥

यद्यपि आज तुम इस [illegible] दुर्धर्ष हो और अत्यन्त तेजसे प्रज्वलित हो रहे हो; किंतु जब समय परिवर्तित होगा, अर्थात् जब तुम्हारा प्रारब्ध खराब होगा, तब मेरी ही भाँति तुम्हें भी काल अपना शिकार बना लेगा—इन्द्रपदसे भ्रष्ट कर देगा ॥ ४० ॥

बहूनीन्द्रसहस्राणि दैवतानां युगे युगे ।
अभ्यतीतानि कालेन कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ४१ ॥

युग-युगमें (प्रत्येक मन्वन्तरमें) इन्द्रोंका परिवर्तन होनेके कारण अबतक देवताओंके अनेक सहस्र इन्द्र कालके गालमें चले गये हैं; अतः कालका उल्लङ्घन करना किसीके लिये अत्यन्त कठिन है ॥ ४१ ॥

इदं तु लब्ध्वा संस्थानमात्मानं बहु मन्यसे ।
सर्वभूतभवं देवं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ॥ ४२ ॥
न चेदमचलं स्थानमनन्तं वापि कस्यचित् ।
त्वं तु बालिशया बुद्ध्या ममेदमिति मन्यसे ॥ ४३ ॥

तुम इस शरीरको [illegible] समस्त प्राणियोंको जन्म देनेवाले [illegible] देव भगवान् ब्रह्माजीकी भाँति अपनेको बहुत बड़ा मानते हो; किंतु तुम्हारा यह इन्द्रपद आजतक (किसीके लिये भी) अविचल या अनन्त कालतक रहनेवाला नहीं सिद्ध हुआ—इसपर कितने ही आये और चले गये। केवल तुम्हीं अपनी मूढबुद्धिके कारण इसे अपना मानते हो ॥ ४२-४३ ॥

अविश्वस्ते विश्वसिषि मन्यसे चाध्रुवे ध्रुवम् ।
नित्यं कालपरीतात्मा भवत्येवं सुरेश्वर ॥ [illegible] ॥

देवेश्वर ! नाशवान् होनेके कारण जो विश्वासके योग्य नहीं है, [illegible] राज्यपर तुम विश्वास करते हो और जो अस्थिर है, उसे स्थिर मानते हो; किंतु इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि कालने जिसके हृदयपर अधिकार कर लिया हो, वह सदा ऐसी ही विपरीत भावनासे भावित होता है ॥ ४४ ॥

ममेयमिति मोहात् त्वं राजश्रियमभीप्ससि ।
नेयं तव न चास्माकं न चान्येषां स्थिरा सदा ॥ ४५ ॥

[illegible] मोहवश जिस राजलक्ष्मीको 'यह मेरी है' ऐसा [illegible] पाना चाहते हो, [illegible] न तुम्हारी है, न हमारी है और न दूसरोंकी ही है। [illegible] किसीके पास भी सदा स्थिर नहीं रहती ॥ ४५ ॥

अतिक्रम्य बहूनन्यांस्त्वयि तावदियं गता ।
कंचित् कालमियं स्थित्वा त्वयि वासव चञ्चला ॥ ४६ ॥
गौर्निपानमिवोत्सृज्य पुनरन्यं गमिष्यति ।

वासव ! यह चञ्चला राजलक्ष्मी दूसरे बहुत-से राजाओंको लाँघकर इस समय तुम्हारे पास आयी है और कुछ [illegible] तुम्हारे यहाँ ठहरकर फिर उसी तरह दूसरेके पास

चली जायगी, जैसे गौ [illegible] पीनेके स्थानका परित्याग करके चली जाती है ॥ ४६½ ॥

राजलोका ह्यतिक्रान्ता यान्न संख्यातुमुत्सहे ॥ ४७ ॥
त्वत्तो बहुतराश्चान्ये भविष्यन्ति पुरंदर ।

पुरंदर ! अबतक इसने जितने राजाओंका परित्याग किया है, उनकी गणना [illegible] नहीं कर सकता । तुम्हारे [illegible] भी बहुत-से नरेश इसके अधिकारी होंगे ॥ ४७½ ॥

सवृक्षौषधिरत्नेयं सहसत्त्ववनाकरा ॥ ४८ ॥
तानिदानीं न पश्यामि यैर्भुक्तेयं पुरा मही ।

जिन लोगोंने पहले वृक्ष, ओषधि, रत्न, जीव-जन्तु, वन और खानोंसहित इस सारी पृथ्वीका उपभोग किया है, उन सबको मैं इस समय नहीं देखता [illegible] ॥ ४८½ ॥

पृथुरैलो मयो भीमो [illegible] शम्बरस्तथा ॥ ४९ ॥
अश्वग्रीवः पुलोमा च स्वर्भानुरमितध्वजः ।
प्रह्लादो नमुचिर्दक्षो विप्रचित्तिर्विरोचनः ॥ ५० ॥
ह्रीनिषेवः सुहोत्रश्च भूरिहा पुष्पवान् वृषः ।
सत्येषुर्ऋषभो बाहुः कपिलाश्वो विरूपकः ॥ ५१ ॥
बाणः कार्तस्वरो वह्निर्विश्वदंष्ट्रोऽथ नैर्ऋतिः ।
संकोचोऽथ वरीताक्षो वराहाश्वो रुचिप्रभः ॥ ५२ ॥
विश्वजित् प्रतिरूपश्च वृषाण्डो विष्करो मधुः ।
हिरण्यकशिपुश्चैव कैटभश्चैव दानवः ॥ ५३ ॥
दैतेया दानवाश्चैव सर्वे ते नैर्ऋतैः सह ।
एते चान्ये च [illegible] पूर्वे पूर्वतराश्च ये ॥ ५४ ॥
दैत्येन्द्रा दानवेन्द्राश्च यांश्चान्याननुशुश्रुम ।
[illegible] पूर्वदैत्येन्द्राः संत्यज्य पृथिवीं गताः ॥ ५५ ॥
कालेनाभ्याहताः सर्वे कालो हि बलवत्तरः ।

पृथु, इलानन्दन पुरूरवा, मय, भीम, नरकासुर, शम्बरासुर, अश्वग्रीव, पुलोमा, स्वर्भानु, अमितध्वज, प्रह्लाद, नमुचि, [illegible] विप्रचित्ति, विरोचन, ह्रीनिषेव, सुहोत्र, भूरिहा, पुष्पवान्, वृष, सत्येषु, ऋषभ, बाहु, कपिलाश्व, विरूपक, बाण, कार्तस्वर, वह्नि, विश्वदंष्ट्र, नैर्ऋति, संकोच, वरीताक्ष, वराहाश्व, रुचिप्रभ, विश्वजित्, प्रतिरूप, वृषाण्ड, विष्कर, मधु, हिरण्यकशिपु और कैटभ—ये तथा और भी बहुत-से दैत्य, दानव एवं राक्षस सभी इस पृथ्वीके स्वामी हो चुके हैं । पहलेके और बहुत पहलेके ये पूर्वोक्त तथा अन्य अनेक दैत्यराज, दानवराज एवं दूसरे-दूसरे नरेश जिनका नाम हमलोग सुनते आ रहे हैं, कालसे पीड़ित हो सभी इस पृथ्वीको छोड़कर चले गये; क्योंकि [illegible] ही सबसे बड़ा बलवान् है ॥ ४९—५५½ ॥

सर्वैः क्रतुशतैरिष्टं न त्वमेकः शतक्रतुः ॥ ५६ ॥
सर्वे धर्मपराश्चासन् सर्वे सततसत्रिणः ।
अन्तरिक्षचराः सर्वे सर्वेऽभिमुखयोधिनः ॥ ५७ ॥

केवल तुमने ही सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया हो, यह [illegible] नहीं है । उन सभी राजाओंने सौ-सौ यज्ञ किये थे । सभी धर्मपरायण थे और सभी निरन्तर यज्ञमें संलग्न रहते थे । वे सभी आकाशमें विचरनेकी शक्ति रखते थे और युद्धमें शत्रुके सामने डटकर लोहा लेनेवाले थे ॥ ५६-५७ ॥

सर्वे संहननोपेताः सर्वे परिघबाहवः ।
सर्वे मायाशतधराः सर्वे ते कामरूपिणः ॥ ५८ ॥

वे सब-के-सब सुदृढ शरीरसे सुशोभित होते थे । उन सबकी भुजाएँ परिघ (लोहदण्ड) के समान मोटी और मजबूत [illegible] । वे सभी सैकड़ों माया जानते और इच्छानुसार रूप [illegible] करते थे ॥ ५८ ॥

सर्वे समरमासाद्य [illegible] श्रूयन्ते पराजिताः ।
सर्वे सत्यव्रतपराः सर्वे कामविहारिणः ॥ ५९ ॥

वे [illegible] लोग समराङ्गणमें पहुँचकर कभी पराजित होते नहीं सुने गये थे । सभी [illegible] पालन करनेमें [illegible] और [illegible] विहार करनेवाले थे ॥ ५९ ॥

सर्वे वेदव्रतपराः सर्वे चैव बहुश्रुताः ।
सर्वे सम्मतमैश्वर्यमीश्वराः प्रतिपेदिरे ॥ ६० ॥

सभी वेदोक्त व्रतको धारण करनेवाले और बहुश्रुत विद्वान् थे । सभी लोकेश्वर थे और सबने मनोवाञ्छित ऐश्वर्य [illegible] किया था ॥ ६० ॥

[illegible] चैश्वर्यमदस्तेषां भूतपूर्वो महात्मनाम् ।
सर्वे यथार्हदातारः सर्वे विगतमत्सराः ॥ ६१ ॥

उन महामना नरेशोंको पहले कभी भी ऐश्वर्यका मद नहीं हुआ [illegible] । वे सब-के-सब यथायोग्य दान करनेवाले और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित थे ॥ ६१ ॥

सर्वे सर्वेषु भूतेषु यथावत् प्रतिपेदिरे ।
सर्वे दाक्षायणीपुत्राः प्राजापत्या महाबलाः ॥ ६२ ॥

वे सभी सम्पूर्ण प्राणियोंके [illegible] यथायोग्य बर्ताव करते [illegible] । उन सबका जन्म दक्ष-कन्याओंके गर्भसे हुआ था और वे सभी महाबलशाली वीर प्रजापति कश्यपकी संतान थे ॥

ज्वलन्तः प्रतपन्तश्च कालेन प्रतिसंहृताः ।
त्वं चैवेमां यदा भुक्त्वा पृथिवीं त्यक्ष्यसे पुनः ॥ ६३ ॥
न शक्ष्यसि तदा [illegible] नियन्तुं शोकमात्मनः ।

इन्द्र ! वे सभी नरेश अपने तेजसे प्रज्वलित होनेवाले और प्रतापी थे, किंतु कालने उन [illegible] संहार कर दिया ।

तुम जब इस पृथ्वीका उपभोग करके पुनः इसे छोड़ोगे, तब अपने शोकको रोकनेमें समर्थ न हो सकोगे ॥ ६३½ ॥

मुञ्चेच्छां कामभोगेषु मुञ्चेमं श्रीभवं मदम् ॥ ६४ ॥
एवं स्वराज्यनाशे त्वं शोकं सम्प्रसहिष्यसि ।

तुम काम-भोगकी इच्छाको छोड़ो और राजलक्ष्मीके इस मदको त्याग दो । इस दशामें यदि तुम्हारे [illegible] नाश हो जाय तो तुम उस शोकको सह सकोगे ॥ ६४½ ॥

शोककाले शुचो मा त्वं हर्षकाले च मा हृषः ॥ ६५ ॥
अतीतानागतं हित्वा प्रत्युत्पन्नेन वर्तय ।

तुम शोकका अवसर आनेपर शोक न करो और हर्षके समय हर्षित [illegible] होओ । भूत और भविष्यकी चिन्ता छोड़कर वर्तमान कालमें जो वस्तु उपलब्ध हो, उसीसे जीवन-निर्वाह करो ॥ ६५½ ॥

मां चेदभ्यागतः कालः सदा युक्तमतन्द्रितः ॥ ६६ ॥
क्षमस्व नचिरादिन्द्र त्वामप्युपगमिष्यति ।

इन्द्र ! मैं सदा सावधान रहता था, तथापि कभी [illegible] न करनेवाले कालका यदि मुझपर आक्रमण हो गया तो तुमपर भी शीघ्र ही उस [illegible] होगा । इस [illegible] सत्यके लिये मुझे क्षमा करना ॥ ६६½ ॥

त्रासयन्निव देवेन्द्र वाग्भिस्तक्षसि मामिह ॥ ६७ ॥
संयते मयि नूनं त्वमात्मानं बहु मन्यसे ।

देवेन्द्र ! इस समय भयभीत करते हुए-से तुम यहाँ अपने वाग्बाणोंसे मुझे छेदे डालते हो । [illegible] अपनेको संयममें रखकर [illegible] बैठा हूँ; इसीलिये अवश्य तुम अपनेको बहुत बड़ा समझने लगे हो ॥ ६७½ ॥

कालः प्रथममायान्मां पश्चात् त्वामनुधावति ॥ ६८ ॥
तेन गर्जसि देवेन्द्र पूर्वं कालहते मयि ।

देवराज ! जिस [illegible] पहले मुझपर धावा हुआ है, वही पीछे तुमपर भी चढ़ाई करेगा । मैं पहले कालसे पीड़ित हो गया हूँ; इसीलिये तुम सामने खड़े होकर गरज रहे हो ॥

को [illegible] स्थातुमलं लोके मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥ ६९ ॥
कालस्तु बलवान् प्राप्तस्तेन तिष्ठसि वासव ।

अन्यथा संसारमें कौन ऐसा वीर है, जो युद्धमें कुपित होनेपर मेरे सामने ठहर सके । इन्द्र ! बलवान् काल (अदृष्ट) ने मुझपर आक्रमण किया है, इसीसे तुम मेरे [illegible] खड़े हुए हो ॥ ६९½ ॥

यत् तद् वर्षसहस्रान्तं पूर्णं भवितुमर्हति ॥ [illegible] ॥
यथा मे सर्वगात्राणि न सुस्थानि महौजसः ।
अहमैन्द्राच्च्युतः स्थानात् त्वमिन्द्रः प्रकृतो दिवि ॥ ७१ ॥

देवताओंका [illegible] सहस्रों वर्षका समय अब पूरा होना ही चाहता है, [illegible] कि तुम्हें इन्द्रके पदपर रहना है । कालके [illegible] प्रभावसे मुझ महाबली वीरके अब सारे अङ्ग उतने [illegible] नहीं रह गये [illegible] । [illegible] इन्द्रपदसे गिरा दिया गया और तुम स्वर्गमें इन्द्र बना दिये गये ॥ ७०-७१ ॥

सुचित्रे जीवलोकेऽस्मिन्नुपास्यः कालपर्ययात् ।
किं हि कृत्वा त्वमिन्द्रोऽद्य किं वा कृत्वा वयं च्युताः ॥ ७२ ॥

कालके उलट-फेरसे ही इस विचित्र जीवलोकमें तुम सबके आराध्य बन गये हो । भला बताओ तो तुम कौन-सा [illegible] कर्म करके आज इन्द्र हो गये और हम कौन-सा अशुभ कर्म करके इन्द्रपदसे नीचे गिर गये ॥ ७२ ॥

कालः कर्ता विकर्ता च सर्वमन्यदकारणम् ।
नाशं विनाशमैश्वर्यं सुखं दुःखं भवाभवौ ॥ ७३ ॥
विद्वान् प्राप्यैवमत्यर्थं न प्रहृष्येन्न च व्यथेत् ।

काल (प्रारब्ध) ही सबकी उत्पत्ति और संहारका कर्ता है । दूसरी सारी वस्तुएँ इसमें कारण नहीं मानी जा सकतीं; अतः विद्वान् पुरुष नाश-विनाश, ऐश्वर्य, सुख-दुःख, अभ्युदय या पराभव पाकर न तो अत्यन्त हर्ष माने और [illegible] अधिक व्यथित ही हो ॥ ७३½ ॥

त्वमेव हीन्द्र वेत्थास्मान् वेदाहं त्वां च [illegible] ॥ ७४ ॥
किं कत्थसे मां [illegible] त्वं कालेन निरपत्रपः ।

इन्द्र ! हम कैसे हैं, यह तुम्हीं अच्छी तरह जानते हो । वासव ! मैं तुम्हें भली-भाँति जानता हूँ; फिर भी तुम लज्जाको तिलाञ्जलि दे क्यों मेरे सामने व्यर्थ आत्मश्लाघा कर रहे [illegible] । वास्तवमें [illegible] ही यह सब कुछ करा [illegible] है ॥ ७४½ ॥

त्वमेव हि पुरा वेत्थ यत् तदा पौरुषं मम ॥ ७५ ॥
समरेषु च विक्रान्तं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ।

पहले [illegible] जो पुरुषार्थ [illegible] कर चुका हूँ, उसको सबसे अधिक तुम्हीं जानते हो । कई बारके युद्धोंमें तुम मेरा पराक्रम देख चुके हो । इस समय [illegible] ही दृष्टान्त देना काफी होगा ॥

आदित्याश्चैव रुद्राश्च साध्याश्च वसुभिः सह ॥ ७६ ॥
मया विनिर्जिताः पूर्वं मरुतश्च शचीपते ।
त्वमेव शक्र जानासि देवासुरसमागमे ॥ ७७ ॥

शचीवल्लभ इन्द्र ! पहले जब देवासुरसंग्राम हुआ था, [illegible] समयकी [illegible] तुम्हें अच्छी तरह याद होगी । मैंने अकेले ही समस्त आदित्यों, रुद्रों, साध्यों, वसुओं तथा मरुद्गणोंको परास्त किया था ॥ ७६-७७ ॥

समेता विबुधा भग्नास्तरसा समरे मया ।
पर्वताश्चासकृत् क्षिप्ताः सवनाः सवनौकसः ॥ ७८ ॥

सटङ्कशिखरा भग्नाः समरे मूर्ध्नि ते मया ।
किं [illegible] शक्यं मया कर्तुं कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ७९ ॥

मेरे वेगसे सब देवता युद्धका मैदान छोड़कर एक [illegible] ही भाग खड़े हुए थे। वन एवं वनवासियोंसहित कितने ही पर्वत, मैंने बारबार तुमलोगोंपर चलाये थे। तुम्हारे सिरपर भी सुदृढ़ पाषाण और शिखरोंसहित बहुत-से पर्वत मैंने फोड़ डाले थे; किंतु इस समय मैं क्या कर सकता हूँ; क्योंकि [illegible] उल्लङ्घन करना बहुत कठिन है ॥ ७८-७९ ॥

[illegible] हि त्वां नोत्सहे हन्तुं सवज्रमपि मुष्टिना ।
न [illegible] विक्रमकालोऽयं क्षमाकालोऽयमागतः ॥ ८० ॥

तुम्हारे हाथमें वज्र रहनेपर भी मैं केवल मुक्केसे मारकर तुम्हें यमलोक न पहुँचा सकूँ, ऐसी बात नहीं है। किंतु मेरे लिये यह पराक्रम दिखानेका नहीं, क्षमा करनेका समय आया है ॥ ८० ॥

तेन त्वां मर्षये [illegible] दुर्मर्षणतरस्त्वया ।
तं मां परिणते काले परीतं कालवह्निना ॥ ८१ ॥
नियतं कालपाशेन बद्धं शक्र विकत्थसे ।

इन्द्र ! यही कारण है कि [illegible] तुम्हारे सब अपराध चुपचाप सहे लेता हूँ। अब भी मेरा वेग तुम्हारे लिये अत्यन्त दुःसह है। किंतु जब समयने पलटा खाया है, कालरूपी अग्निने मुझे सब ओरसे घेर लिया है और मैं कालपाशसे निश्चितरूपसे बँध गया हूँ, तब तुम मेरे सामने खड़े होकर अपनी झूठी बड़ाई किये जा रहे हो ॥ ८१½ ॥

अयं [illegible] पुरुषः श्यामो लोकस्य दुरतिक्रमः ॥ ८२ ॥
बद्ध्वा तिष्ठति मां रौद्रः पशुं रशनया यथा ।

जैसे मनुष्य रस्सीसे किसी पशुको बाँध लेता है, उसी प्रकार यह भयंकर कालपुरुष मुझे अपने पाशमें बाँधे खड़ा है ॥ ८२½ ॥

लाभालाभौ सुखं दुःखं कामक्रोधौ भवाभवौ ॥ ८३ ॥
वधबन्धप्रमोक्षं च सर्वं कालेन लभ्यते ।

पुरुषको लाभ-हानि, सुख-दुःख, काम-क्रोध, अभ्युदय-पराभव, वध, कैद और कैदसे छुटकारा—यह सब काल (प्रारब्ध) [illegible] ही [illegible] होते हैं ॥ ८३½ ॥

नाहं कर्ता न कर्ता त्वं कर्ता यस्तु सदा प्रभुः ॥ ८४ ॥
सोऽयं पचति कालो मां वृक्षे फलमिवागतम् ।

न मैं कर्ता हूँ, न तुम कर्ता हो। जो वास्तवमें सदा कर्ता है, वह सर्वसमर्थ काल वृक्षपर लगे हुए फलके [illegible] मुझे पका रहा है ॥ ८४½ ॥

यान्येव पुरुषः कुर्वन् सुखैः कालेन युज्यते ॥ ८५ ॥
पुनस्तान्येव कुर्वाणो दुःखैः कालेन युज्यते ।

पुरुष कालका सहयोग पाकर जिन कर्मोंको करनेसे सुखी होता है, कालका सहयोग न मिलनेसे पुनः उन्हीं कर्मोंको करके वह दुःखका भागी होता है ॥ ८५½ ॥

न च कालेन कालज्ञः स्पृष्टः शोचितुमर्हति ॥ ८६ ॥
तेन [illegible] न शोचामि नास्ति शोके सहायता ।

इन्द्र ! जो कालके प्रभावको जानता है, वह उससे आक्रान्त होकर भी शोक नहीं करता; क्योंकि विपत्ति दूर करनेमें शोकसे कोई सहायता नहीं मिलती, इसलिये मैं शोक नहीं [illegible] हूँ ॥ ८६½ ॥

यदा हि शोचतः शोको व्यसनं नापकर्षति ॥ ८७ ॥
सामर्थ्यं शोचतो नास्तीत्यतोऽहं नाद्य शोचिमि ।

जब शोक करनेवाले पुरुषका शोक उसके संकटको दूर नहीं हटा पाता है, उलटे शोकग्रस्त मनुष्यकी शक्ति क्षीण हो जाती है, तब शोक क्यों किया जाय ? यही सोचकर मैं शोक नहीं करता हूँ ॥ ८७½ ॥

एवमुक्तः सहस्राक्षो भगवान् पाकशासनः ॥ ८८ ॥
प्रतिसंहृत्य संरम्भमित्युवाच शतक्रतुः ।

बलिके ऐसा कहनेपर सहस्रनेत्रधारी पाकशासन शतक्रतु [illegible] भगवान् इन्द्रने अपने क्रोधको रोककर इस प्रकार कहा— ॥

सवज्रमुद्यतं बाहुं दृष्ट्वा पाशांश्च वारुणान् ॥ ८९ ॥
कस्येह [illegible] व्यथेद् बुद्धिर्मृत्योरपि जिघांसतः ।
सा ते [illegible] व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी ॥ ९० ॥

'दैत्यराज ! मेरे हाथको वज्र एवं वरुणपाशसहित ऊपर उठा देखकर मारनेकी इच्छासे आयी हुई मृत्युका भी दिल दहल जाता है; फिर दूसरा कौन है जिसकी बुद्धि व्यथित न हो। तुम्हारी बुद्धि तत्त्वको जाननेवाली और स्थिर है; इसलिये तनिक भी विचलित नहीं होती है ॥ ८९-९० ॥

ध्रुवं न व्यथसेऽद्य त्वं धैर्यात् सत्यपराक्रम ।
को हि विश्वासमर्थेषु शरीरे वा शरीरभृत् ॥ ९१ ॥
कर्तुमुत्सहते लोके दृष्ट्वा सम्प्रस्थितं जगत् ।

'सत्यपराक्रमी वीर ! तुम निश्चय ही धैर्यके कारण व्यथित नहीं होते हो। इस सम्पूर्ण जगत्को विनाशकी ओर जाते देखकर कौन शरीरधारी पुरुष धन-वैभव, विषय-भोग अथवा अपने शरीरपर भी विश्वास कर सकता है ? ॥ ९१½ ॥

अहमप्येवमेवैनं लोकं जानाम्यशाश्वतम् ॥ ९२ ॥
कालाग्नावाहितं घोरे गुह्ये सततगेऽक्षरे ।

'मैं भी इसी प्रकार सर्वव्यापी, अविनाशी

घोर एवं गुह्य कालाग्निमें पड़े हुए इस जगत्‌को क्षण-भङ्गुर ही जानता हूँ ॥ ९२½ ॥

न चात्र परिहारोऽस्ति कालस्पृष्टस्य कस्यचित् ॥ ९३ ॥
सूक्ष्माणां महतां चैव भूतानां परिपच्यताम् ।

'जो कालकी पकड़में आ चुका है, ऐसे किसी भी पुरुषके लिये उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं है। सूक्ष्मसे सूक्ष्म और महान् भूत भी कालाग्निमें पकाये जा रहे हैं, उनका भी उससे छुटकारा होनेवाला नहीं है ॥ ९३½ ॥

अनीशस्याप्रमत्तस्य भूतानि पचतः सदा ॥ ९४ ॥
अनिवृत्तस्य कालस्य क्षयं प्राप्तो न मुच्यते ।

'कालपर किसीका भी वश नहीं चलता। वह सदा सावधान रहकर सम्पूर्ण भूतोंको पकाता रहता है। वह कभी लौटनेवाला नहीं है। ऐसे कालके अधीन हुआ प्राणी उससे छुटकारा नहीं पाता है ॥ ९४½ ॥

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु कालो जागर्ति देहिषु ॥ ९५ ॥
प्रयत्नेनाप्यपक्रान्तो दृष्टपूर्वो न केनचित् ।

'देहधारी जीव प्रमादमें पड़कर सोते हैं; किंतु काल सदा सावधान रहकर जागता रहता है। किसीके प्रयत्नसे भी कालको पीछे हटाया जा सका हो, ऐसा पहले कभी किसीने देखा नहीं है ॥ ९५½ ॥

पुराणः शाश्वतो धर्मः सर्वप्राणभृतां समः ॥ ९६ ॥
कालो न परिहार्यश्च न चास्यास्ति व्यतिक्रमः ।

'काल पुरातन (अनादि), सनातन, धर्मस्वरूप और समस्त प्राणियोंके प्रति समान दृष्टि रखनेवाला है। कालका किसीके द्वारा भी परिहार नहीं हो सकता और न उसका कोई उल्लङ्घन ही कर सकता है ॥ ९६½ ॥

अहोरात्रांश्च मासांश्च क्षणान् काष्ठा लवान् कलाः ॥ ९७ ॥
सम्पीडयति यः कालो वृद्धिं वार्धुषिको यथा ।

जैसे ऋण देनेवाला पुरुष ब्याजका हिसाब जोड़कर ऋण लेनेवालोंको तंग करता है, उसी प्रकार यह काल दिन, रात, मास, क्षण, काष्ठा, लव और कला सबका हिसाब लगाकर प्राणियोंको पीड़ा देता रहता है ॥ ९७½ ॥

इदमद्य करिष्यामि श्वः कर्तास्मीति वादिनम् ॥ ९८ ॥
कालो हरति सम्प्राप्तो नदीवेग इव द्रुमम् ।

'जैसे नदीका वेग सहसा बढ़कर किनारेके वृक्षका हरण कर लेता है। उसी प्रकार 'यह आज करूँगा और वह कल पूरा करूँगा।' ऐसा कहनेवाले पुरुषका काल सहसा आकर हरण कर लेता है ॥ ९८½ ॥

इदानीं तावदेवासौ मया दृष्टः कथं मृतः ॥ ९९ ॥
इति कालेन ह्रियतां प्रलापः श्रूयते नृणाम् ।

"अरे! अभी-अभी तो मैंने उसे देखा था। वह मर कैसे गया?' इस प्रकार कालसे अपहृत होनेवालोंके लिये अन्य मनुष्योंका प्रलाप सुना जाता है ॥ ९९½ ॥

नश्यन्त्यर्थास्तथा भोगाः स्थानमैश्वर्यमेव च ॥ १०० ॥
जीवितं जीवलोकस्य कालेनागम्य नीयते ।

'धन और भोग नष्ट हो जाते हैं। स्थान और ऐश्वर्य छिन जाता है तथा इस जीव-जगत्‌के जीवनको भी काल आकर हर ले जाता है ॥ १००½ ॥

उच्छ्राया विनिपातान्ता भावोऽभावः स एव च ॥ १०१ ॥
अनित्यमध्रुवं सर्वं व्यवसायो हि दुष्करः ।

'ऊँचे चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना तथा जन्मका अन्त है मृत्यु। जो कुछ देखनेमें आता है, वह सब नाशवान् है, अस्थिर है तो भी इसका निरन्तर स्मरण रहना कठिन हो जाता है ॥ १०१½ ॥

सा ते न व्यथते बुद्धिरचला तत्त्वदर्शिनी ॥ १०२ ॥
अहमासं पुरा चेति मनसापि न बुद्ध्यसे ।

'अवश्य ही तुम्हारी बुद्धि तत्त्वको जाननेवाली तथा स्थिर है, इसीलिये उसे व्यथा नहीं होती। मैं पहले अत्यन्त ऐश्वर्यशाली था, इस बातको तुम मनसे भी याद नहीं करते ॥ १०२½ ॥

कालेनाक्रम्य लोकेऽस्मिन् पच्यमाने बलीयसा ॥ १०३ ॥
अज्येष्ठमकनिष्ठं च क्षिप्यमाणो न बुद्ध्यते ।

'अत्यन्त बलवान् काल इस सम्पूर्ण जगत्पर आक्रमण करके सबको अपनी आँचमें पका रहा है। वह इस बातको नहीं देखता है कि कौन छोटा है और कौन बड़ा? सब लोग कालाग्निमें झोंके जा रहे हैं, फिर भी किसीको चेत नहीं होता ॥ १०३½ ॥

ईर्ष्याभिमानलोभेषु कामक्रोधभयेषु च ॥ १०४ ॥
स्पृहामोहाभिमानेषु लोकः सक्तो विमुह्यति ।

'लोग ईर्ष्या, अभिमान, लोभ, काम, क्रोध, भय, स्पृहा, मोह और अभिमानमें फँसकर अपना विवेक खो बैठे हैं ॥ १०४½ ॥

भवांस्तु भावतत्त्वज्ञो विद्वान् ज्ञानतपोऽन्वितः ॥ १०५ ॥
कालं पश्यति सुव्यक्तं पाणावामलकं यथा ।
कालचारित्रतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ १०६ ॥
विवेचने कृतात्मासि स्पृहणीयो विजानताम् ।
सर्वलोको ह्ययं मन्ये बुद्ध्या परिगतस्त्वया ॥ १०७ ॥

'परंतु तुम विद्वान्, ज्ञानी और तपस्वी हो। समस्त पदार्थोंके तत्त्वको जानते हो। कालकी लीला और उसके तत्त्वको समझते हो। सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण हो। तत्त्वके विवेचनमें कुशल, मनको वशमें रखनेवाले तथा ज्ञानी पुरुषोंके आदर्श हो। इसीलिये हाथपर रक्खे हुए आँवलेके

समान कालको स्पष्टरूपसे देख रहे हो । मेरा तो ऐसा विश्वास है कि तुमने अपनी बुद्धिसे सम्पूर्ण लोकोंका [illegible] जान लिया है ॥ १०५–१०७ ॥

विहरन् सर्वतो मुक्तो न क्वचित् परिषज्जसे ।
[illegible] हि तमश्च त्वां स्पृशते न जितेन्द्रियम् ॥१०८॥

'तुम सर्वत्र विचरते हुए भी सबसे मुक्त हो । कहीं भी तुम्हारी आसक्ति नहीं है । तुमने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया है; इसलिये रजोगुण और तमोगुण तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकते ॥ १०८ ॥

निष्प्रीतिं नष्टसंतापमात्मानं त्वमुपाससे ।
सुहृदं सर्वभूतानां निर्वैरं शान्तमानसम् ॥१०९॥

'जो हर्षसे रहित, संतापसे शून्य, सम्पूर्ण भूतोंका सुहृद्, वैररहित और शान्तचित्त है, उस आत्माकी तुम [illegible] करते हो ॥ १०९ ॥

दृष्ट्वा त्वां मम संजाता त्वय्यनुक्रोशिनी मतिः ।
नाहमेतादृशं बुद्धं हन्तुमिच्छामि बन्धने ॥११०॥

'तुम्हें देखकर मेरे मनमें दयाका संचार हो आया है । मैं ऐसे ज्ञानी पुरुषको बन्धनमें रखकर उसका वध [illegible] नहीं चाहता ॥ ११० ॥

आनृशंस्यं परो धर्मो ह्यनुक्रोशश्च मे त्वयि ।
मोक्ष्यन्ते वारुणाः पाशास्तवेमे कालपर्ययात् ॥१११॥

'किसीके प्रति क्रूरतापूर्ण बर्ताव न करना सबसे बड़ा धर्म है । तुम्हारे ऊपर मेरा पूर्ण अनुग्रह है । कुछ [illegible] बीतनेपर तुम्हें बाँधनेवाले ये वरुणदेवताके पाश अपने आप [illegible] तुम्हें छोड़ देंगे ॥ १११ ॥

प्रजानामपचारेण स्वस्ति तेऽस्तु महासुर ।
यदा श्वश्रूं स्नुषा वृद्धां परिचारेण योक्ष्यते ॥११२॥
पुत्रश्च पितरं मोहात् प्रेषयिष्यति कर्मसु ।
ब्राह्मणैः कारयिष्यन्ति वृषलाः पादधावनम् ॥११३॥
शूद्राश्च ब्राह्मणीं भार्यामुपयास्यन्ति निर्भयाः ।
वियोनिषु विमोक्ष्यन्ति बीजानि पुरुषा यदा ॥११४॥
संकरं कांस्यभाण्डैश्च बलिं चैव कुपात्रकैः ।
चातुर्वर्ण्यं यदा कृत्स्नममर्यादं भविष्यति ॥११५॥
एकैकस्ते तदा पाशः क्रमशः परिमोक्ष्यते ।

'महान् असुर ! जब प्रजाजनोंका न्यायके विपरीत आचरण होने लगेगा, तब तुम्हारा कल्याण होगा । जब पतोहू बूढ़ी सासले अपनी सेवा-टहल कराने लगेगी और पुत्र भी मोहवश पिताको विभिन्न प्रकारके कार्य करनेके लिये आज्ञा प्रदान करने लगेगा, शूद्र ब्राह्मणोंसे पैर धुलाने लगेंगे [illegible] वे निर्भय होकर ब्राह्मण जातिकी स्त्रीको अपनी भार्या बनाने लगेंगे, जब पुरुष निर्भय होकर मानवेतर योनियोंमें अपना वीर्य स्थापित करने लगेंगे, जब काँसेके पात्रमें ऊँच जाति और नीच जातिके लोग एक [illegible] भोजन करने लगेंगे एवं अपवित्र पात्रोंद्वारा देवपूजाके लिये उपहार अर्पित किया जायगा, [illegible] वर्णधर्म [illegible] मार्यादाशून्य हो जायगा, [illegible] [illegible] तुम्हारा एक-एक पाश (बन्धन) खुलता जायगा ॥ ११२–११५½ ॥

अस्मत्तस्ते भयं नास्ति समयं प्रतिपालय ।
सुखी भव निराबाधः स्वस्थचेता निरामयः ॥११६॥

'हमारी ओरसे तुम्हें कोई भय नहीं है । [illegible] समयकी प्रतीक्षा करो और निर्बाध, स्वस्थचित्त एवं रोगरहित हो सुखसे रहो' ॥ ११६ ॥

तमेवमुक्त्वा भगवाञ्छतक्रतुः
प्रतिप्रयातो गजराजवाहनः ।
विजित्य सर्वानसुरान् सुराधिपो
ननन्द हर्षेण बभूव चैकराट् ॥११७॥

बलिसे ऐसा कहकर गजराजकी सवारीपर चलनेवाले भगवान् शतक्रतु इन्द्र अपने स्थानको लौट गये । वे [illegible] असुरोंपर विजय पाकर देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुए थे और एकच्छत्रसम्राट् होकर हर्षसे प्रफुल्लित हो उठे थे ॥ ११७ ॥

महर्षयस्तुष्टुवुरञ्जसा [illegible] तं
वृषाकपिं सर्वचराचरेश्वरम् ।
हिमापहो हव्यमुवाह चाध्वरे
तथामृतं चार्पितमीश्वरोऽपि हि ॥११८॥

उस समय महर्षियोंने सम्पूर्ण चराचर जगत्के स्वामी इन्द्रका भलीभाँति स्तवन किया । अग्निदेव यज्ञमण्डपमें देवताओंके लिये हविष्य वहन करने लगे और देवेश्वर इन्द्र भी सेवकोंद्वारा अर्पित अमृत पीने लगे ॥ ११८ ॥

द्विजोत्तमैः सर्वगतैरभिष्टुतो
विदीप्ततेजा गतमन्युरीश्वरः ।
प्रशान्तचेता मुदितः स्वमालयं
त्रिविष्टपं प्राप्य मुमोद वासवः ॥११९॥

सर्वत्र पहुँचनेकी शक्ति रखनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने उद्दीप्त तेजस्वी और क्रोधशून्य हुए देवेश्वर इन्द्रकी स्तुति की; फिर वे इन्द्र शान्तचित्त एवं प्रसन्न हो अपने निवासस्थान स्वर्गलोकमें जाकर आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ ११९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बलिवासवसंवादे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमो[illegible] ॥ २२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें बलि-वासवसंवादविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ २२७ ॥

श्रीकृष्णकी उग्रसेनसे भेंट

अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

दैत्योंको त्यागकर इन्द्रके पास लक्ष्मीदेवीका [illegible] [illegible] किन सद्गुणोंके होनेपर लक्ष्मी आती हैं और किन दुर्गुणोंके होनेपर वे त्यागकर चली जाती हैं, इस बातको विस्तारपूर्वक बताना

युधिष्ठिर उवाच

पूर्वरूपाणि मे राजन् पुरुषस्य भविष्यतः।
पराभविष्यतश्चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजन्! पितामह! जिस पुरुषका उत्थान या पतन होनेवाला होता है, उसके पूर्व [illegible] कैसे होते हैं? यह मुझे बताइये ॥ [illegible] ॥

भीष्म उवाच

[illegible] एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हो! जिस मनुष्यका उत्थान या पतन होनेको होता है, [illegible] मन ही उसके पूर्व लक्षणोंको प्रकट कर देता है ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
श्रिया शक्रस्य संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

[illegible] विषयमें लक्ष्मीके साथ जो इन्द्रका संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण यहाँ दिया जाता है। युधिष्ठिर! तुम ध्यान देकर उसे सुनो ॥ ३ ॥

महतस्तपसो व्युष्ट्या पश्यँल्लोकौ परावरौ।
सामान्यमृषिभिर्गत्वा ब्रह्मलोकनिवासिभिः ॥ ४ ॥
ब्रह्मेवामितदीप्तौजाः शान्तपाप्मा महातपाः।
विचचार यथाकामं त्रिषु लोकेषु नारदः ॥ ५ ॥

एक समयकी [illegible] है, महातपस्वी एवं पापरहित नारदजी अपनी इच्छाके अनुसार तीनों लोकोंमें विचरण करते थे। वे अपनी बड़ी भारी तपस्याके प्रभावसे ऊँचे और नीचे दोनों प्रकारके लोकोंको देख सकते थे तथा ब्रह्मलोकनिवासी ऋषियों-के समान होकर ब्रह्माजीकी ही भाँति अमित दीप्ति और ओजसे प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४-५ ॥

कदाचित् प्रातरुत्थाय पिस्पृक्षुः सलिलं शुचि।
ध्रुवद्वारभवां गङ्गां जगामावततार च ॥ ६ ॥

एक दिन वे प्रातःकाल उठकर पवित्र जलमें स्नान करनेकी इच्छासे ध्रुवद्वारसे प्रवाहित हुई गङ्गाजीके तटपर गये और उसके भीतर उतरे ॥ ६ ॥

सहस्रनयनश्चापि वज्री शम्बरपाकहा।
[illegible] देवर्षिजुष्टायास्तीरमभ्याजगाम ह ॥ [illegible] ॥

इसी समय शम्बरासुर और पाक नामक दैत्यका वध करनेवाले वज्रधारी सहस्रलोचन इन्द्र भी देवर्षियोंद्वारा सेवित गङ्गाजीके उसी तटपर आये ॥ ७ ॥

तावाप्लुत्य यतात्मानौ कृतजप्यौ समासतः।
नद्याः पुलिनमासाद्य सूक्ष्मकाञ्चनवालुकम् ॥ ८ ॥
पुण्यकर्मभिराख्याता देवर्षिकथिताः कथाः।
चक्रतुस्तौ तथाऽऽसीनौ महर्षिकथितास्तथा ॥ ९ ॥

फिर उन दोनोंने गङ्गाजीमें गोते लगाकर मनको एकाग्र करके संक्षेपसे गायत्रीजपका कार्य पूर्ण किया। इसके बाद सूक्ष्म सुवर्णमयी बालुकासे भरे हुए सुन्दर गङ्गातटपर आकर वे दोनों बैठ गये और पुण्यात्मा पुरुषों, देवर्षियों तथा महर्षियोंके मुखसे सुनी हुई कथाएँ कहने-सुनने लगे ॥

पूर्ववृत्तव्यपेतानि कथयन्तौ समाहितौ।
[illegible] भास्करमुद्यन्तं रश्मिजालपुरस्कृतम् ॥ १० ॥
पूर्णमण्डलमालोक्य तावुत्थायोपतस्थतुः।

दोनों एकाग्रचित्त होकर प्राचीन वृत्तान्तोंकी चर्चा कर ही रहे थे कि किरणजालसे मण्डित भगवान् भास्करका उदय हुआ। सूर्यदेवका सम्पूर्ण [illegible] देख [illegible] दोनोंने खड़े होकर उनका उपस्थान किया ॥ १०½ ॥

अभितस्तूदयन्तं तमर्कमर्कमिवापरम् ॥ ११ ॥
आकाशे ददृशे ज्योतिरुद्यतार्चिःसमप्रभम्।
तयोः समीपं तं प्राप्तं प्रत्यदृश्यत [illegible] ॥ १२ ॥

उदित होते हुए सूर्यके पास ही आकाशमें उन्हें द्वितीय सूर्यके समान एक दिव्य ज्योति दिखायी दी, जो प्रज्वलित अग्निशिखाके समान प्रकाशित हो रही थी। भारत! वह ज्योति क्रमशः उन दोनोंके समीप आती दिखायी दी ॥ ११-१२ ॥

तत् सुपर्णार्कचरितमास्थितं वैष्णवं पदम्।
भाभिरप्रतिमं भाति त्रैलोक्यमवभासयत् ॥ १३ ॥

वह प्रभापुञ्ज भगवान् विष्णुका एक विमान था, जो अपनी दिव्य प्रभासे तीनों लोकोंको प्रकाशित करता हुआ अनुपम [illegible] पड़ता [illegible]। सूर्य और गरुड़ जिस आकाश-मार्गसे चलते हैं, उसीपर वह भी [illegible] रहा था ॥ १३ ॥

तत्राभिरूपशोभाभिरप्सरोभिः पुरस्कृताम्।
बृहतीमंशुमत्प्रख्यां बृहद्भानोरिवार्चिषम् ॥ १४ ॥
नक्षत्रकल्पाभरणां तां मौक्तिकसमस्रजम्।
श्रियं ददृशतुः पद्मां साक्षात् पद्मदलस्थिताम् ॥ १५ ॥

[illegible] विमानमें उन दोनोंने कमलदलपर विराजमान साक्षात् लक्ष्मीदेवीको देखा, जो पद्माके नामसे प्रसिद्ध हैं। उन्हें बहुत-सी परम शोभामयी सुन्दरी अप्सराएँ आगे किये खड़ी थीं। लक्ष्मीदेवीकी आकृति विशाल थी। वे अंशुमाली सूर्यके समान तेजस्विनी थीं और प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाके समान जाज्वल्यमान हो रही थीं। उनके आभूषण नक्षत्रोंके समान चमक रहे थे। मोती-जैसे रत्नोंके हार उनके कण्ठ-देशकी शोभा [illegible] रहे थे ॥ १४-१५ ॥

सावरुह्य विमानाग्रादङ्गनानामनुत्तमा ।
अभ्यागच्छत् त्रिलोकेशं देवर्षिं चापि नारदम् ॥ १६ ॥

अङ्गनाओंमें परम उत्तम लक्ष्मीदेवी उस विमानके अग्रभागसे उतरकर त्रिभुवनपति इन्द्र और देवर्षि नारदके पास आयीं ॥ १६ ॥

नारदानुगतः साक्षान्मघवांस्तामुपागमत् ।
कृताञ्जलिपुटो देवीं निवेद्यात्मानमात्मना ॥ १७ ॥
चक्रे चानुपमां पूजां तस्याश्चापि स सर्ववित् ।
देवराजः श्रियं राजन् वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १८ ॥

आगे-आगे नारदजी और उनके पीछे साक्षात् इन्द्रदेव हाथ जोड़े हुए देवीकी ओर बढ़े । उन्होंने स्वयं ही देवीको आत्मसमर्पण करके उनकी अनुपम पूजा की । राजन् ! तत्पश्चात् सर्वज्ञ देवराजने लक्ष्मीदेवीसे इस प्रकार कहा ॥ १७-१८ ॥

शक्र उवाच

का त्वं केन च कार्येण सम्प्राप्ता चारुहासिनि ।
कुतश्चागम्यते सुभ्रु गन्तव्यं क [illegible] ते शुभे ॥ १९ ॥

इन्द्र बोले—चारुहासिनि ! तुम कौन हो ? और किस कार्यसे यहाँ आयी हो ? सुन्दर भौंहोंवाली देवि ! तुम्हारा शुभागमन कहाँसे हुआ है ? और शुभे ! तुम्हें [illegible] कहाँ है ? ॥ १९ ॥

श्रीरुवाच

पुण्येषु त्रिषु लोकेषु सर्वे स्थावरजङ्गमाः ।
ममात्मभावमिच्छन्तो यतन्ते परमात्मना ॥ २० ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! तीनों पुण्यमय लोकोंके [illegible] चराचर प्राणी मुझे प्राप्त करनेकी इच्छासे परम उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते रहते हैं ॥ २० ॥

साहं [illegible] पङ्कजे जाता सूर्यरश्मिविबोधिते ।
भूत्यर्थं सर्वभूतानां [illegible] श्रीः पद्ममालिनी ॥ २१ ॥

[illegible] समस्त प्राणियोंको ऐश्वर्य प्रदान करनेके लिये सूर्यकी किरणोंके तापसे खिले हुए कमलमें प्रकट हुई हूँ । मेरा नाम पद्मा, श्री और पद्ममालिनी है ॥ २१ ॥

अहं लक्ष्मीरहं भूतिः श्रीश्चाहं बलसूदन ।
अहं श्रद्धा च मेधा च संनतिर्विजितिः स्थितिः ॥ २२ ॥
अहं धृतिरहं सिद्धिरहं त्विड् भूतिरेव च ।
अहं [illegible] स्वधा चैव संस्तुतिर्नियतिः स्मृतिः ॥ २३ ॥

बलसूदन ! मैं ही लक्ष्मी हूँ । मैं ही भूति हूँ और मैं ही श्री हूँ । मैं श्रद्धा, मेधा, सनति, विजिति, स्थिति, धृति, सिद्धि, कान्ति, समृद्धि, स्वाहा, स्वधा, सस्तुति, नियति और स्मृति हूँ ॥ २२-२३ ॥

राज्ञां विजयमानानां सेनाग्रेषु ध्वजेषु च ।
निवासे धर्मशीलानां विषयेषु पुरेषु च ॥ २४ ॥

युद्धमें विजय पानेवाले राजाओंकी सेनाओंके अग्रभागमें फहरानेवाले ध्वजाओंपर और स्वभावसे ही धर्माचरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके निवासस्थानमें, उनके राज्य और नगरोंमें भी मैं सदा निवास करती हूँ ॥ २४ ॥

जितकाशिनि शूरे च संग्रामेष्वनिवर्तिनि ।
निवसामि मनुष्येन्द्रे सदैव बलसूदन ॥ २५ ॥

बलसूदन ! संग्रामसे पीछे न हटनेवाले तथा विजयसे सुशोभित होनेवाले शूरवीर नरेशके शरीरमें भी मैं सदा ही मौजूद रहती हूँ ॥ २५ ॥

धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्यवादिनि ।
प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम् ॥ २६ ॥

नित्य धर्माचरण करनेवाले, परम बुद्धिमान्, ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, विनयी तथा दानशील पुरुषमें भी मैं सदा ही निवास करती हूँ ॥ २६ ॥

असुरेष्ववसं पूर्वं सत्यधर्मनिबन्धना ।
विपरीतांस्तु तान् बुद्ध्वा त्वयि वासमरोचयम् ॥ २७ ॥

[illegible] और धर्मसे बँधकर पहले मैं असुरोंके यहाँ रहती थी । अब उन्हें धर्मके विपरीत देखकर मैंने तुम्हारे यहाँ रहना पसंद किया है ॥ २७ ॥

शक्र उवाच

कथंवृत्तेषु दैत्येषु त्वमवात्सीर्वरानने ।
दृष्ट्वा च किमिहागास्त्वं हित्वा दैतेयदानवान् ॥ २८ ॥

इन्द्रने कहा—सुमुखि ! दैत्योंका आचरण पहले कैसा [illegible] ? जिससे तुम उनके पास रहती थीं और अब क्या देखा है, जो उन दैत्यों और दानवोंको छोड़कर यहाँ चली आयी हो ? ॥ २८ ॥

श्रीरुवाच

स्वधर्ममनुतिष्ठत्सु धैर्यादचलितेषु च ।
स्वर्गमार्गाभिरामेषु सत्त्वेषु निरता ह्यहम् ॥ २९ ॥

लक्ष्मीने कहा—इन्द्र ! जो अपने धर्मका पालन करते, धैर्यसे कभी विचलित नहीं होते और स्वर्गप्राप्तिके साधनोंमें सानन्द लगे रहते हैं, उन प्राणियोंके भीतर मैं सदा निवास करती हूँ ॥ २९ ॥

दानाध्ययनयज्ञेज्यापितृदैवतपूजनम् ।
गुरूणामतिथीनां च तेषां सत्यमवर्तत ॥ ३० ॥

पहले दैत्यलोग दान, अध्ययन और यज्ञ-यागमें संलग्न रहते थे । देवता, गुरु, पितर और अतिथियोंकी पूजा करते थे । उनके यहाँ सत्यका भी पालन होता था ॥ ३० ॥

सुसम्मृष्टगृहाश्चासन् जितस्त्रीका हुताग्नयः ।
गुरुशुश्रूषका दान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ३१ ॥

वे अपना घर-द्वार झाड़-बुहारकर साफ रखते थे । अपनी स्त्रीके मनको प्यारसे जीत लेते थे । प्रतिदिन अग्निहोत्र करते थे । वे गुरुसेवी, जितेन्द्रिय, ब्राह्मणभक्त तथा सत्यवादी थे ॥

देवर्षि एवं देवराजको भगवती लक्ष्मीका दर्शन

श्रद्दधाना जितक्रोधा दानशीलानसूयवः ।
भृतपुत्रा भृतामात्या भृतदारा ह्यनीर्षवः ॥ ३२ ॥

उनमें श्रद्धा थी। वे क्रोधको जीत चुके थे। वे दानी थे। दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि नहीं रखते थे और ईर्ष्यारहित थे। वे स्त्री, पुत्र और मन्त्री आदिका भरण-पोषण करते थे॥

अमर्षेण न चान्योन्यं स्पृहयन्ते कदाचन ।
न च ज्ञातूपतप्यन्ति धीराः परसमृद्धिभिः ॥ ३३ ॥

अमर्षवश कभी एक दूसरेके प्रति लाग-डाँट नहीं रखते थे। सभी धीर स्वभावके थे। दूसरोंकी समृद्धियोंसे उनके मनमें कभी संताप नहीं होता था ॥ ३३ ॥

दातारः संगृहीतार आर्याः करुणवेदिनः ।
महाप्रसादा ऋजवो दृढभक्ता जितेन्द्रियाः ॥ ३४ ॥

वे दान देते, कर आदिके द्वारा धन-संग्रह करते तथा आर्य-जनोचित आचार-विचारसे रहते थे। वे दया करना जानते थे। वे दूसरोंपर महान् अनुग्रह करनेवाले थे। वे सभी सरल स्वभावके और दृढतापूर्वक भक्ति रखनेवाले थे। उन सबने अपनी इन्द्रियोंपर विजय पायी थी ॥ ३४ ॥

संतुष्टभृत्यसचिवाः कृतज्ञाः प्रियवादिनः ।
यथार्हमानार्थकरा ह्रीनिषेवा यतव्रताः ॥ ३५ ॥

वे अपने भृत्यों और मन्त्रियोंको संतुष्ट रखते थे। कृतज्ञ और मधुरभाषी थे। सबका समुचित रूपसे सम्मान करते, सबको धन देते, लज्जाका सेवन करते और व्रत एवं नियमोंका पालन करते थे ॥ ३५ ॥

नित्यं पर्वसु सुस्नाताः स्वनुलिप्ताः स्वलंकृताः ।
उपवासतपःशीलाः प्रतीता ब्रह्मवादिनः ॥ ३६ ॥

सदा ही पर्वोंपर विशेष स्नान करते, अपने अङ्गोंमें चन्दन लगाते और सुन्दर अलंकार धारण करते थे। स्वभावसे ही उपवास और तपमें लगे रहते थे। सबके विश्वासपात्र थे और वेदोंका स्वाध्याय किया करते थे ॥ ३६ ॥

नैनानभ्युदियात् सूर्यो न चाप्यासन् प्रगेशयाः ।
रात्रौ दधि च सक्तूंश्च नित्यमेव व्यवर्जयन् ॥ ३७ ॥

वे कभी प्रातःकाल सोये नहीं रहते थे। उनके सोते समय सूर्य नहीं उगते थे अर्थात् वे सूर्योदयसे पहले ही जाग उठते थे। वे रातमें कभी दही और सत्तू नहीं खाते थे ॥ ३७ ॥

कल्यं घृतं चान्ववेक्षन् प्रयता ब्रह्मवादिनः ।
मङ्गल्यान्यपि चापश्यन् ब्राह्मणांश्चाप्यपूजयन् ॥ ३८ ॥

वे मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते, सबेरे उठकर घीका दर्शन करते, वेदोंका पाठ करते, अन्य माङ्गलिक वस्तुओंको देखते और ब्राह्मणोंकी पूजा करते थे ॥ ३८ ॥

सदा हि वदतां धर्मं सदा चाप्रतिगृह्णताम् ।
अर्धं च रात्र्याः स्वपतां दिवा चास्वपतां तथा ॥ ३९ ॥

सदा धर्मकी ही चर्चामें लगे रहते और प्रतिग्रहसे दूर रहते थे। रातके आधे भागमें ही सोते थे और दिनमें नहीं सोते थे ॥ ३९ ॥

कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम् ।
दयां च संविभागं च नित्यमेवान्वमोदताम् ॥ ४० ॥

कृपण, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी और स्त्रियोंपर दया करते तथा उनके लिये अन्न और वस्त्र बाँटते थे। इस कार्यका वे सदा अनुमोदन किया करते थे ॥ ४० ॥

त्रस्तं विषण्णमुद्विग्नं भयार्तं व्याधितं कृशम् ।
हृतस्वं व्यसनार्तं च नित्यमाश्वासयन्ति ते ॥ ४१ ॥

त्रस्त, विषादग्रस्त, उद्विग्न, भयभीत, व्याधिग्रस्त, दुर्बल और पीड़ितको तथा जिसका सर्वस्व लुट गया हो, उस मनुष्यको वे सदा ढाढस बँधाया करते थे ॥ ४१ ॥

धर्ममेवान्ववर्तन्त न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुकूलाश्च कार्येषु गुरुवृद्धोपसेविनः ॥ ४२ ॥

वे धर्मका ही आचरण करते थे। एक-दूसरेकी हिंसा नहीं करते थे। सब कार्योंमें परस्पर अनुकूल रहते और गुरुजनों तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें दत्तचित्त थे ॥ ४२ ॥

पितॄन् देवातिथींश्चैव यथावत् तेऽभ्यपूजयन् ।
अवशेषाणि चाश्नन्ति नित्यं सत्यतपोधृताः ॥ ४३ ॥

पितरों, देवताओं और अतिथियोंकी विधिवत् पूजा करते थे तथा उन्हें अर्पण करनेके पश्चात् बचे हुए अन्नको ही प्रसादरूपमें पाते थे। वे सभी सत्यवादी और तपस्वी थे ॥

नैकेऽश्नन्ति सुसम्पन्नं न गच्छन्ति परस्त्रियम् ।
सर्वभूतेष्ववर्तन्त यथाऽऽत्मनि दयां प्रति ॥ ४४ ॥

वे अकेले बढ़िया भोजन नहीं करते थे। पहले दूसरोंको देकर पीछे अपने उपभोगमें लाते थे। परायी स्त्रीसे कभी संसर्ग नहीं रखते थे। सब प्राणियोंको अपने ही समान समझकर उनपर दया रखते थे ॥ ४४ ॥

नैवाकाशे न पशुषु वियोनौ च न पर्वसु ।
इन्द्रियस्य विसर्गं ते रोचयन्ति कदाचन ॥ ४५ ॥

वे आकाशमें, पशुओंमें, विपरीत योनिमें तथा पर्वके अवसरोंपर वीर्यत्याग करना कदापि अच्छा नहीं मानते थे ॥

नित्यं दानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा ।
उत्साहोऽथानहंकारः परमं सौहृदं क्षमा ॥ ४६ ॥
सत्यं दानं तपः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्वं तेष्वभवत् प्रभो ॥ ४७ ॥

प्रभो! नित्य दान, चतुरता, सरलता, उत्साह, अहङ्कार-शून्यता, परम सौहार्द, क्षमा, सत्य, दान, तप, शौच, करुणा, कोमल वचन, मित्रोंसे द्रोह न करनेका भाव—ये सभी सद्गुण उनमें सदा मौजूद रहते थे ॥ ४६-४७ ॥

निद्रा तन्द्रीरसम्प्रीतिरसूयाथानवेक्षिता ।
अरतिश्च विषादश्च स्पृहा चाप्यविशन्न तान् ॥ ४८ ॥

निद्रा, तन्द्रा (आलस्य), अप्रसन्नता, दोषदृष्टि,

अविवेक, अप्रीति, विषाद और कामना आदि दोष उनके भीतर प्रवेश नहीं कर पाते थे ॥ ४८ ॥

साहमेवंगुणेष्वेव दानवेष्ववसं पुरा।
प्रजासर्गमुपादाय नैकं युगविपर्ययम्॥ ४९॥

इस प्रकार [illegible] गुणोंवाले दानवोंके पास सृष्टिकालसे लेकर अबतक मैं अनेक युगोंसे रहती आयी हूँ ॥ ४९ ॥

[illegible] कालविपर्यासे तेषां गुणविपर्ययात्।
अपश्यं निर्गतं धर्मं कामक्रोधवशात्मनाम्॥ ५०॥

किंतु समयके उलट-फेरसे उनके गुणोंमें विपरीतता आ गयी । मैंने देखा, दैत्योंमें धर्म नहीं रह गया है। वे [illegible] और क्रोधके वशीभूत हो गये हैं ॥ ५० ॥

सभासदां [illegible] वृद्धानां सतां कथयतां कथाः।
प्राहसन्नभ्यसूयंश्च सर्ववृद्धान् गुणावराः॥ ५१॥

जब बड़े-बूढ़े लोग उस सभामें बैठकर कोई बात कहते हैं, तब गुणहीन दैत्य उनमें दोष निकालते हुए उन सब [illegible] पुरुषोंकी हँसी उड़ाया करते हैं ॥ ५१ ॥

युवानश्च समासीना वृद्धानपि [illegible] सतः।
नाभ्युत्थानाभिवादाभ्यां यथापूर्वमपूजयन्॥ ५२॥

ऊँचे आसनोंपर बैठे हुए नवयुवक दैत्य बड़े-बूढ़ोंके आ जानेपर भी पहलेकी भाँति न तो उठकर खड़े होते हैं और न प्रणाम करके ही उनका आदर-सत्कार करते हैं ॥५२॥

वर्तयत्येव पितरि पुत्रः प्रभवते तथा।
अमित्रभृत्यतां [illegible] ख्यापयन्त्यनपत्रपाः॥ ५३॥

बापके रहते ही बेटा मालिक बन बैठता है। वे शत्रुओंके सेवक बनकर अपने उस कर्मको निर्लज्जतापूर्वक दूसरोंके सामने कहते हैं ॥ ५३ ॥

[illegible] धर्मादपेतेन कर्मणा गर्हितेन ये।
महतः प्राप्नुवन्त्यर्थांस्तेषां तत्राभवत् स्पृहा॥ ५४॥

धर्मके विपरीत निन्दित कर्मद्वारा जिन्हें महान् धन प्राप्त हो गया है, उनकी उसी प्रकार धनोपार्जन करनेकी अभिलाषा बढ़ गयी है ॥ ५४ ॥

उच्चैश्चाप्यवदन् रात्रौ नीचैस्तत्राग्निरज्वलत्।
पुत्राः पितॄनत्यचरन् नार्यश्चात्यचरन् पतीन्॥ ५५॥

दैत्य रातमें जोर-जोरसे हल्ला मचाते हैं और उनके यहाँ अग्निहोत्रकी आग मन्दगतिसे जलने लगी है। पुत्रोंने पिताओंपर और स्त्रियोंने पतियोंपर अत्याचार आरम्भ कर दिया है ॥५५॥

मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम्।
गुरुत्वान्नाभ्यनन्दन्त कुमारान् नान्वपालयन्॥ ५६॥

दैत्य और दानव गुरुत्व होते हुए भी माता-पिता, वृद्ध-पुरुष, आचार्य, अतिथि और गुरुजनोंका अभिनन्दन नहीं करते हैं। संतानोंके लालन-पालनपर भी ध्यान नहीं देते हैं ॥ ५६ ॥

भिक्षां बलिमदत्त्वा च स्वयमन्नानि भुञ्जते।
अनिष्ट्वासंविभज्याथ पितृदेवातिथीन् गुरून्॥ ५७॥

देवताओं, पितरों, गुरुजनों तथा अतिथियोंका यजन-पूजन और उन्हें अन्नदान किये बिना, भिक्षादान और बलि-वैश्वदेवकर्मका सम्पादन किये बिना ही दैत्यलोग स्वयं भोजन कर लेते हैं ॥ ५७ ॥

न शौचमनुरुध्यन्त तेषां सूदजनास्तथा।
मनसा कर्मणा वाचा भक्ष्यमासीदनावृतम्॥ ५८॥

दैत्य तथा उनके रसोइये मन, वाणी और क्रियाद्वारा शौचाचारका पालन नहीं करते हैं। उनका भोजन बिना ढके ही छोड़ दिया जाता है ॥ ५८ ॥

विप्रकीर्णानि धान्यानि काकमूषिकभोजनम्।
अपावृतं पयोऽतिष्ठदुच्छिष्टाश्चास्पृशन् घृतम्॥ ५९॥

उनके घरोंमें अनाजके दाने बिखरे रहते हैं और उन्हें कौए तथा चूहे खाते हैं। वे दूधको बिना ढके छोड़ देते हैं और घीको जूठे हाथोंसे [illegible] देते हैं ॥ ५९ ॥

कुद्दालं दात्रपिटकं प्रकीर्णं कांस्यभाजनम्।
द्रव्योपकरणं [illegible] नान्ववैक्षत् कुटुम्बिनी॥ ६०॥

दैत्योंकी गृहस्वामिनियाँ घरमें इधर-उधर बिखरे हुए कुदाल, दरांती (या हँसुआ), पिटारी, काँसेके बर्तन तथा अन्य सब द्रव्यों और सामानोंकी देख-भाल नहीं करती हैं ॥ ६० ॥

प्राकारागारविध्वंसान्न स्म ते प्रतिकुर्वते।
नाद्रियन्ते पशून् बद्ध्वा यवसेनोदकेन च॥ ६१॥

उनके गाँवों और नगरोंकी चहारदिवारी तथा घर गिर जाते हैं; परंतु वे उसकी मरम्मत नहीं कराते हैं। दैत्यलोग पशुओंको घरमें बाँध देते हैं, किंतु चारा और पानी देकर उनकी सेवा नहीं करते हैं ॥ ६१ ॥

बालानां प्रेक्षमाणानां स्वयं भक्ष्यमभक्षयन्।
[illegible] भृत्यजनं सर्वमसंतर्प्य [illegible] दानवाः॥ ६२॥

छोटे बच्चे आशा लगाये देखते रहते हैं और दानवलोग खानेकी चीजें स्वयं खा लेते हैं। सेवकों तथा अन्य सब कुटुम्बीजनोंको भूखे छोड़कर अपने [illegible] लेते हैं ॥ ६२ ॥

पायसं कृसरं मांसमपूपानथ शष्कुलीः।
अपाचयन्नात्मनोऽर्थे वृथा मांसान्यभक्षयन्॥ ६३॥

खीर, खिचड़ी, मांस, पूआ और पूरी आदि भोजन वे सिर्फ अपने खानेके लिये बनवाते हैं तथा वे व्यर्थ ही मांस खाया करते हैं ॥ ६३ ॥

उत्सूर्यशायिनश्चासन् सर्वे चासन् प्रगेनिशाः।
अवर्तन् कलहाश्चात्र दिवारात्रं गृहे गृहे॥ ६४॥

अब वे सूर्योदय होनेतक सोने लगे हैं। प्रातःकालको भी रात ही समझते हैं। उनके घर-घरमें दिन-रात कलह मचा रहता है ॥ ६४ ॥

अनार्याश्चार्यमासीनं पर्युपासन्न तत्र ह।
आश्रमस्थान् विधर्मस्थाः प्राद्विषन्त परस्परम्॥ ६५॥

दानवोंके यहाँ अनार्य वहाँ बैठे हुए आर्य पुरुषकी सेवामें उपस्थित नहीं होते हैं। अधर्मपरायण दैत्य आश्रमवासी महात्माओंसे तथा आपसमें भी द्वेष रखते हैं ॥ ६५ ॥

संकराश्चाभ्यवर्तन्त न च शौचमवर्तत ।
ये च वेदविदो विप्रा विस्पष्टमनृचश्च ये ॥ ६६ ॥
निरन्तरविशेषास्ते बहुमानावमानयोः ।

अब उनके यहाँ वर्णसङ्कर संतानें होने लगी हैं। किसीमें पवित्रता नहीं रह गयी है। जो वेदोंके विद्वान् ब्राह्मण हैं और जो स्पष्ट ही वेदकी एक ऋचा भी नहीं जानते हैं, उन दोनोंमें वे दैत्यलोग कोई अन्तर या विशेषता नहीं समझते और न उनका मान या अपमान करनेमें ही कोई अन्तर रखते हैं ॥ ६६½ ॥

हारमाभरणं वेषं गतं स्थितमवेक्षितम् ॥ ६७ ॥
असेवन्त भुजिष्या वै दुर्जनाचरितं विधिम् ।

वहाँकी दासियाँ सुन्दर हार एवं अन्य आभूषण पहनकर मनोहर वेष धारण करतीं और दुराचारिणी स्त्रियोंकी भाँति चलती-फिरती, खड़ी होती और कटाक्ष करती हैं। साथ ही वे उस कुकृत्यको अपनाती हैं, जिसका आचरण दुराचारीजन करते हैं ॥ ६७½ ॥

स्त्रियः पुरुषवेषेण पुंसः स्त्रीवेषधारिणः ॥ ६८ ॥
क्रीडारतिविहारेषु परां मुदमवाप्नुवन् ।

क्रीडा, रति और विहारके अवसरोंपर वहाँकी स्त्रियाँ पुरुषवेष धारण करके और पुरुष स्त्रियोंका वेष बनाकर एक दूसरेसे मिलते और बड़े आनन्दका अनुभव करते हैं ॥ ६८½ ॥

प्रभवद्भिः पुरा दायानर्हेभ्यः प्रतिपादितान् ॥ ६९ ॥
नाभ्यवर्तन्त नास्तिक्याद् वर्तन्तः सम्भवेष्वपि ।

कितने ही दानव पूर्वकालमें अपने पूर्वजोंद्वारा सुयोग्य ब्राह्मणोंको दानके रूपमें दी हुई जागीरें नास्तिकताके कारण उनके पास रहने नहीं देते। यद्यपि वे अन्य सम्भव उपायोंसे जीवन-निर्वाह कर सकते हैं तथापि उस दिये हुए दानको छीन लेते हैं ॥ ६९½ ॥

मित्रेणाभ्यर्थितं मित्रमर्थे संशयिते क्वचित् ॥ ७० ॥
बालकोटयग्रमात्रेण स्वार्थेनाघ्नत तद् वसु ।

कहीं धनके विषयमें संशय उपस्थित होनेपर अर्थात् यह धन न्यायतः मेरा है या दूसरेका, यह प्रश्न खड़ा होनेपर यदि उस धनका अधिकारी व्यक्ति अपने किसी मित्रसे प्रार्थना करता है कि वह पञ्चायतद्वारा इस मामलेको निपटा दे तो वह मित्र अपने बालकी नोकके बराबर स्वार्थके लिये भी उसकी उस सम्पत्तिको चौपट कर देता है ॥ ७०½ ॥

परस्वादानरुचयो विपणव्यवहारिणः ॥ ७१ ॥
अदृश्यन्तार्यवर्णेषु शूद्राश्चापि तपोधनाः ।

दानवोंके यहाँ जो व्यापारी हैं, वे सदा दूसरोंका धन ठग लेनेका ही विचार रखते हैं तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंमें शूद्र भी मिलकर तपोधन बन बैठे हैं ॥ ७१½ ॥

अधीयतेऽव्रताः केचिद् वृथा व्रतमथापरे ॥ ७२ ॥

कुछ लोग ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किये बिना ही वेदोंका स्वाध्याय करते हैं, । कुछ लोग व्यर्थ (अवैदिक) व्रतका आचरण करते हैं ॥ ७२ ॥

अशुश्रूषुर्गुरोः शिष्यः कश्चिच्छिष्यसखो गुरुः ।

शिष्य गुरुकी सेवा करना नहीं चाहता। कोई-कोई गुरु भी ऐसा है जो शिष्योंको दोस्त बनाकर रखता है ॥

पिता चैव जनित्री च श्रान्तौ वृत्तोत्सवाविव ॥ ७३ ॥
अप्रभुत्वे स्थितौ वृद्धावन्नं प्रार्थयतः सुतान् ।

जब पिता और माता उत्सवशून्यकी भाँति थक जाते हैं, तब घरमें उनकी कोई प्रभुता नहीं रह जाती। वे दोनों बूढ़े दम्पति बेटोंसे अन्नकी भीख माँगते हैं ॥ ७३½ ॥

तत्र वेदविदः प्राज्ञा गाम्भीर्ये सागरोपमाः ॥ ७४ ॥
कृष्यादिष्वभवन् सक्ता मूर्खाः श्राद्धान्यभुञ्जत ।

वहाँ जो वेदवेत्ता ज्ञानी तथा गम्भीरतामें समुद्रके समान पुरुष हैं, वे तो खेती आदि कार्योंमें संलग्न हो गये हैं और मूर्खलोग श्राद्धान्न खाते फिरते हैं ॥ ७४½ ॥

प्रातः प्रातश्च सुप्रश्नं कल्पनं प्रेषणक्रियाः ॥ ७५ ॥
शिष्यानप्रहितास्तेषामकुर्वन् गुरवः स्वयम् ।

गुरुलोग प्रतिदिन प्रातःकाल जाकर शिष्योंसे पूछते हैं कि आपकी रात सुखसे बीती है न। इसके सिवा वे उन शिष्योंके वस्त्र आदि ठीकसे पहनाते और उनकी वेश-भूषा सँवारते हैं तथा उनकी ओरसे कोई प्रेरणा न होनेपर भी स्वयं ही उनके संदेशवाहक दूत आदिका कार्य करते हैं ॥

श्वश्रूश्वशुरयोरग्रे वधूः प्रेष्यानशासत ॥ ७६ ॥
अन्वशासच्च भर्तारं समाहूयाभिजल्पति ।

सास-ससुरके सामने ही बहू सेवकोंपर शासन करने लगी है। वह पतिको भी आदेश देती है और सबके सामने पतिको बुलाकर उससे बात करती है ॥ ७६½ ॥

प्रयत्नेनापि चारक्षच्चित्तं पुत्रस्य वै पिता ॥ ७७ ॥
व्यभजच्चापि संरम्भाद् दुःखवासं तथावसत् ।

पिता विशेष प्रयत्नपूर्वक पुत्रका मन रखते हैं। वे उनके क्रोधसे डरकर सारा धन पुत्रोंको बाँट देते हैं और स्वयं बड़े कष्टसे जीवन बिताते हैं ॥ ७७½ ॥

अग्निदाहेन चोरैर्वा राजभिर्वा हृतं धनम् ॥ ७८ ॥
दृष्ट्वा द्वेषात् प्राहसन्त सुहृत्सम्भाविता जनाः ।

जिन्हें हितैषी और मित्र समझा जाता था, वे ही लोग जब अपने सम्बन्धीके धनको आग लगने, चोरी हो जाने अथवा राजाके द्वारा छिन जानेसे नष्ट हुआ देखते हैं, तब द्वेषवश उसकी हँसी उड़ाते हैं ॥ ७८½ ॥

कृतघ्ना नास्तिकाः पापा गुरुदाराभिमर्शिनः ॥ ७९ ॥

अभक्ष्यभक्षणरता निर्मर्यादा हतत्विषः।

दैत्यगण कृतघ्न, नास्तिक, पापाचारी तथा गुरुपत्नी-गामी हो गये हैं। जो चीज नहीं खानी चाहिये, वे भी खाते और धर्मकी मर्यादा तोडकर मनमाने आचरण करते हैं। इसीलिये वे कान्तिहीन हो गये हैं॥ ७९½॥

तेष्वेवमादीनाचारानाचरत्सु विपर्यये॥ ८०॥
नाहं देवेन्द्र वत्स्यामि दानवेष्विति मे मतिः।

देवेन्द्र! जबसे इन दैत्योंने ये धर्मके विपरीत आचरण अपनाये हैं, तबसे मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अब इन दानवोंके घरमें नहीं रहूँगी॥ ८०½॥

तन्मां स्वयमनुप्राप्तामभिनन्द शचीपते॥ ८१॥
त्वयार्चितां मां देवेश पुरो धास्यन्ति देवताः।

शचीपते! देवेश्वर! इसीलिये मैं स्वयं तुम्हारे यहाँ आयी हूँ। तुम मेरा अभिनन्दन करो। तुमसे पूजित होनेपर मुझे अन्य देवता भी अपने सम्मुख स्थापित (एवं सम्मानित) करेंगे॥ ८१½॥

यत्राहं तत्र मत्कान्ता मद्विशिष्टा मदर्पणाः॥ ८२॥
सप्त देव्यो जयाष्टम्यो वासमेष्यन्ति तेऽष्टधा।

जहाँ मैं रहूँगी, वहाँ सात देवियाँ और निवास करेंगी, उन सबके आगे आठवीं जया देवी भी रहेगी। ये आठों देवियाँ मुझे बहुत प्रिय हैं, मुझसे भी श्रेष्ठ हैं और मुझे आत्मसमर्पण कर चुकी हैं॥ ८२½॥

आशा श्रद्धा धृतिः शान्तिर्विजितिः संनतिः क्षमा॥ ८३॥
अष्टमी वृत्तिरेतासां पुरोगा पाकशासन।

पाकशासन! उन देवियोंके नाम इस प्रकार हैं—आशा, [illegible] धृति, शान्ति, विजिति, सनति, क्षमा और आठवीं वृत्ति (जया)। ये आठवीं देवी उन सातोंकी अग्रगामिनी हैं॥

ताश्चाहं चासुरांस्त्यक्त्वा युष्मद्विषयमागताः॥ ८४॥
त्रिदशेषु निवत्स्यामो धर्मनिष्ठान्तरात्मसु।

वे देवियाँ और मैं सब-के-सब उन असुरोंको त्यागकर तुम्हारे राज्यमें आयी हैं। देवताओंकी अन्तरात्मा धर्ममें निष्ठा रखनेवाली है; इसलिये अब हमलोग इन्हींके यहाँ निवास करेंगी॥ ८४½॥

इत्युक्तवचनां देवीं प्रीत्यर्थं च ननन्दतुः॥ ८५॥
नारदश्चात्र देवर्षिर्वृत्रहन्ता च वासवः।

(भीष्मजी कहते हैं—) लक्ष्मीदेवीके इस प्रकार कहनेपर देवर्षि नारद तथा वृत्रहन्ता इन्द्रने उनकी प्रसन्नताके लिये उनका अभिनन्दन किया॥ ८५½॥

ततोऽनलसखो वायुः प्रववौ देववर्त्मसु॥ ८६॥
इष्टगन्धः सुखस्पर्शः सर्वेन्द्रियसुखावहः।

[illegible] समय देवमार्गोंपर मनोरम गन्ध और सुखद स्पर्शसे युक्त तथा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको आनन्द प्रदान करनेवाले वायुदेव, जो अग्निदेवताके मित्र हैं, मन्दगतिसे बहने लगे॥

शुचौ चाभ्यर्थिते देशे त्रिदशाः प्रायशः स्थिताः॥ ८७॥
लक्ष्मीसहितमासीनं मघवन्तं दिदृक्षवः॥ ८८॥

उस परम पवित्र एवं मनोवाञ्छित प्रदेशमें राजलक्ष्मीसहित इन्द्रदेवका दर्शन करनेके लिये प्रायः सभी देवता उपस्थित हो गये॥ ८७-८८॥

ततो दिवं प्राप्य सहस्रलोचनः
श्रियोपपन्नः सुहृदा महर्षिणा।
रथेन हर्यश्वयुजा सुरर्षभः
सदः सुराणामभिसत्कृतो ययौ॥ ८९॥

तत्पश्चात् सहस्रनेत्रधारी सुरश्रेष्ठ इन्द्र लक्ष्मीदेवी तथा अपने सुहृद् महर्षि नारदके साथ हरे रंगके घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर स्वर्गलोककी राजधानी अमरावतीमें आये और देवताओंसे सत्कृत हो उनकी सभामें गये॥ ८९॥

अथेङ्गितं वज्रधरस्य नारदः
श्रियश्च देव्या मनसा विचारयन्।
श्रियै शशंसामरदृष्टपौरुषः
शिवेन तत्रागमनं महर्षिभिः॥ ९०॥

उस [illegible] अमरोंके पौरुषको प्रत्यक्ष देखनेवाले देवर्षि नारदजीने अन्य महर्षियोंके साथ मिलकर वज्रधारी इन्द्र और लक्ष्मीदेवीके संकेतपर मन-ही-मन विचार करके वहाँ लक्ष्मीजीके शुभागमनकी प्रशंसा की और उनका पदार्पण सम्पूर्ण लोकोंके लिये मङ्गलकारी बताया॥ ९०॥

ततोऽमृतं द्यौः प्रववर्ष भास्वती
पितामहस्यायतने स्वयम्भुवः।
अनाहता दुन्दुभयोऽथ नेदिरे
तथा [illegible] दिशश्चकाशिरे॥ ९१॥

तदनन्तर निर्मल एवं प्रकाशपूर्ण आकाशमण्डल स्वयम्भू ब्रह्माजीके भवनमें अमृतकी वर्षा करने लगा। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही बज उठीं [illegible] सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ एवं प्रकाशित दिखायी देने लगीं॥ ९१॥

यथर्तु सस्येषु ववर्ष वासवो
न धर्ममार्गाद् विचचाल कश्चन।
अनेकरत्नाकरभूषणा च भूः
सुघोषघोषा भुवनौकसां जये॥ ९२॥

लक्ष्मीजीके स्वर्गमें पधारनेपर इन्द्रदेव ऋतुके अनुसार संसारमें लगी हुई खेतीको सींचनेके लिये समयपर वर्षा करने लगे। कोई भी धर्मके मार्गसे विचलित नहीं होता था तथा अनेक समुद्रोंसे विभूषित हुई पृथ्वी उन समुद्रोंकी गर्जनाके रूपमें त्रिभुवनवासियोंकी विजयके लिये मानो सुन्दर जयघोष करने लगी॥ ९२॥

क्रियाभिरामा मनुजा मनस्विनो
बभुः शुभे पुण्यकृतां पथि स्थिताः।

नरामराः किंनरयक्षराक्षसाः
समृद्धिमन्तः सुमनस्विनोऽभवन्॥ ९३ ॥

[illegible] समय मनस्वी मानव पुण्यवानोंके मङ्गलमय पथपर स्थित हो सत्कर्मोंसे परम सुन्दर शोभा पाने लगे तथा देवता, किंनर, यक्ष, [illegible] और मनुष्य समृद्धिशाली एवं उदारचेता हो गये ॥ ९३ ॥

[illegible] जात्वकाले कुसुमं कुतः फलं
पपात वृक्षात् पवनेरितादपि।
रसप्रदाः कामदुघाश्च धेनवो
न दारुणा वाग् विचचार कस्यचित्॥ ९४॥

उन दिनों अकाल-मृत्युकी तो बात ही क्या है, प्रचण्ड पवनके वेगपूर्वक हिलानेसे भी किसी वृक्षसे असमयमें फूलतक नहीं गिरता था; फिर फल कहाँसे गिरेगा ? सभी धेनुएँ दुग्ध आदि रस देती थीं। वे इच्छानुसार दुग्ध दिया करती थीं। किसीके मुखसे कभी कोई कठोर वचन नहीं निकलता था ॥

इमां सपर्यां सह सर्वकामदैः
श्रियश्च शक्रप्रमुखैश्च दैवतैः।
पठन्ति ये विप्रसदःसमागताः
समृद्धकामाः श्रियमाप्नुवन्ति ते॥ ९५ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाले इन्द्र आदि देवताओंद्वारा की हुई लक्ष्मीजीकी इस पूजा-अर्चाके प्रसङ्गको जो लोग ब्राह्मणोंकी सभामें आकर पढ़ते हैं, उनकी सारी कामनाएँ सम्पन्न होती हैं और वे लक्ष्मी भी [illegible] कर लेते हैं ॥ ९५ ॥

त्वया कुरूणां वर यत् प्रचोदितं
भवाभवस्येह परं निदर्शनम्।
तदद्य सर्वं परिकीर्तितं मया
परीक्ष्य तत्त्वं परिगन्तुमर्हसि ॥ ९६ ॥

कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुमने जो अभ्युदय-पराभवका [illegible] पूछा था, वह सब मैंने आज यह उत्तम [illegible] देकर बता दिया। तुम्हें स्वयं सोच-विचारकर उसकी यथार्थताका निश्चय करना चाहिये ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्री-वासवसंवादो नाम अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें लक्ष्मी और इन्द्रका संवादनामक दो सौ अट्ठाईसवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ २२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जैगीषव्यका असित-देवलको समत्वबुद्धिका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपराक्रमः।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! कैसे शील, किस तरहके आचरण, कैसी विद्या और कैसे पराक्रमसे युक्त होनेपर मनुष्य प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ? ॥

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु नियतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
प्राप्नोति [illegible] स्थानं तत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! जो पुरुष मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर मोक्षोपयोगी धर्मोंके पालनमें संलग्न रहता है, वही प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
जैगीषव्यस्य संवादमसितस्य च भारत ॥ ३ ॥

भारत ! [illegible] विषयमें भी जैगीषव्य और असित-देवल मुनिका [illegible] यह पुरातन इतिहास उदाहरणके तौरपर [illegible] किया जाता है ॥ ३ ॥

जैगीषव्यं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम्।
अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमसितो देवलोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

एक बार सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले शास्त्रवेत्ता, महाज्ञानी और क्रोध एवं हर्षसे रहित जैगीषव्य मुनिसे असित-देवलने इस प्रकार पूछा ॥ ४ ॥

देवल उवाच

न प्रीयसे वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यसे।
[illegible] ते [illegible] कुतश्चैषा किं ते तस्याः परायणम् ॥ ५ ॥

देवल बोले—मुनिवर ! यदि आपको कोई [illegible] करे, तो आप अधिक प्रसन्न नहीं होते और निन्दा करे तो भी आप उसपर क्रोध नहीं करते, यह आपकी बुद्धि कैसी है ? कहाँसे प्राप्त हुई है ? और आपकी इस बुद्धिका परम आश्रय क्या है ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

इति तेनानुयुक्तः स तमुवाच महातपाः।
महद्वाक्यमसंदिग्धं पुष्कलार्थपदं शुचि ॥ ६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! देवलके इस प्रकार प्रश्न करनेपर महातपस्वी जैगीषव्यने उनसे इस [illegible] संदेहरहित, प्रचुर अर्थका बोधक, पवित्र और उत्तम वचन कहा ॥ ६ ॥

जैगीषव्य उवाच

या गतिर्या परा काष्ठा या शान्तिः पुण्यकर्मणाम्।
तां तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि महतीमृषिसत्तम ॥ ७ ॥

जैगीषव्य बोले—मुनिश्रेष्ठ ! पुण्यकर्म करनेवाले महा-

पुरुषोंको जिसका आश्रय लेनेसे उत्तम गति, उत्कर्षकी चरम सीमा और परम शान्ति प्राप्त होती है, उस श्रेष्ठ बुद्धिका मैं तुमसे वर्णन करता हूँ ॥ ७ ॥

निन्दत्सु च समा नित्यं प्रशंसत्सु च देवल ।
निह्नुवन्ति च ये तेषां समयं सुकृतं च यत् ॥ ८ ॥

देवल ! महात्मा पुरुषोंकी कोई निन्दा करे या सदा उनकी प्रशंसा करे अथवा उनके सदाचार तथा पुण्य कर्मोंपर पर्दा डाले, किंतु वे सबके प्रति एक-सी ही बुद्धि रखते हैं ॥ ८ ॥

उक्ताश्च न वदिष्यन्ति वक्तारमहिते हितम् ।
प्रतिहन्तुं न चेच्छन्ति हन्तारं वै मनीषिणः ॥ ९ ॥

उन मनीषी पुरुषोंसे कोई कटु वचन कह दे तो वे उस कटुवादी पुरुषको बदलेमें कुछ नहीं कहते । अपना अहित करनेवालेका भी हित ही चाहते हैं तथा जो उन्हें मारता है, उसे भी वे बदलेमें मारना नहीं चाहते हैं ॥ ९ ॥

नाप्राप्तमनुशोचन्ति प्राप्तकालानि कुर्वते ।
न चातीतानि शोचन्ति न चैव प्रतिजानते ॥ १० ॥

जो अभी सामने नहीं आयी है या भविष्यमें होनेवाली है, उसके लिये वे शोक या चिन्ता नहीं करते हैं । वर्तमान समयमें जो कार्य प्राप्त हैं, उन्हींको वे करते हैं । जो बातें बीत गयी हैं, उनके लिये भी उन्हें शोक नहीं होता है और वे किसी बातकी प्रतिज्ञा नहीं करते हैं ॥ १० ॥

सम्प्राप्तानां च पूज्यानां कामादर्थेषु देवल ।
यथोपपत्ति कुर्वन्ति शक्तिमन्तः कृतव्रताः ॥ ११ ॥

देवल ! यदि कोई कामना मनमें लेकर किन्हीं विशेष प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये पूजनीय पुरुष उनके पास आ जायँ तो वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शक्तिशाली महात्मा यथाशक्ति उनके कार्य-साधनकी चेष्टा करते हैं ॥ ११ ॥

पक्वविद्या महाप्राज्ञा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
मनसा कर्मणा वाचा नापराध्यन्ति कर्हिचित् ॥ १२ ॥

उनका ज्ञान परिपक्व होता है । वे महाज्ञानी, क्रोधको जीतनेवाले और जितेन्द्रिय होते हैं तथा मन, वाणी और शरीरसे कभी किसीका अपराध नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

अनीर्षवो न चान्योन्यं विहिंसन्ति कदाचन ।
न च जातूपतप्यन्ते धीराः परसमृद्धिभिः ॥ १३ ॥

उनके मनमें एक दूसरेके प्रति ईर्ष्या नहीं होती । वे कभी हिंसा नहीं करते तथा वे धीर पुरुष दूसरोंकी समृद्धियोंसे कभी मन-ही-मन जलते नहीं हैं ॥ १३ ॥

निन्दाप्रशंसे चात्यर्थं न वदन्ति परस्य ये ।
न च निन्दाप्रशंसाभ्यां विक्रियन्ते कदाचन ॥ १४ ॥

वे दूसरोंकी न तो निन्दा करते हैं और न अधिक प्रशंसा ही । उनकी भी कोई निन्दा या प्रशंसा करे तो उनके मनमें कभी विकार नहीं होता है ॥ १४ ॥

सर्वतश्च प्रशान्ता ये सर्वभूतहिते रताः ।
न क्रुद्ध्यन्ति न हृष्यन्ति नापराध्यन्ति कर्हिचित् ॥ १५ ॥

वे सर्वथा शान्त और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें संलग्न रहते हैं, न कभी क्रोध करते हैं, न हर्षित होते हैं और न किसीका अपराध ही करते हैं ॥ १५ ॥

विमुच्य हृदयग्रन्थिं चङ्क्रमन्ति यथासुखम् ।
न येषां बान्धवाः सन्ति ये चान्येषां न बान्धवाः ॥ १६ ॥

वे हृदयकी अज्ञानमयी गाँठ खोलकर चारों ओर आनन्दके साथ विचरा करते हैं । न उनके कोई भाई-बन्धु होते हैं और न वे ही दूसरोंके भाई-बन्धु होते हैं ॥ १६ ॥

अमित्राश्च न सन्त्येषां ये चामित्रा न कस्यचित् ।
य एवं कुर्वते मर्त्याः सुखं जीवन्ति सर्वदा ॥ १७ ॥

न उनके कोई शत्रु होते हैं और न वे ही किसीके शत्रु होते हैं । जो मनुष्य ऐसा करते हैं, वे सदा सुखसे जीवन बिताते हैं ॥ १७ ॥

ये धर्मं चानुरुद्ध्यन्ते धर्मज्ञा द्विजसत्तम ।
ये ह्यतो विच्युता मार्गात् ते हृष्यन्त्युद्विजन्ति च ॥ १८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जो धर्मके अनुसार चलते हैं, वे ही धर्मज्ञ हैं । तथा जो धर्ममार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं, उन्हें ही हर्ष-उद्वेग आदि प्राप्त होते हैं ॥ १८ ॥

आस्थितस्तमहं मार्गमसूयिष्यामि कं कथम् ।
निन्द्यमानः प्रशस्तो वा हृष्येऽहं केन हेतुना ॥ १९ ॥

मैंने भी उसी धर्ममार्गका अवलम्बन किया है; अतः अपनी निन्दा सुनकर क्यों किसीके प्रति द्वेष-दृष्टि करूँ ? अथवा प्रशंसा सुनकर भी किस लिये हर्ष मानूँ ? ॥ १९ ॥

यद् यदिच्छन्ति तत् तस्मादपि गच्छन्तु मानवाः ।
न मे निन्दाप्रशंसाभ्यां ह्रासवृद्धी भविष्यतः ॥ २० ॥

मनुष्य निन्दा और प्रशंसामेंसे जिससे जो-जो लाभ उठाना चाहते हों, उससे वह-वह लाभ उठा लें । उस निन्दा और प्रशंसासे न मेरी कोई हानि होगी, न लाभ ॥ २० ॥

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य तत्त्ववित् ।
विषस्येवोद्विजेन्नित्यं सम्मानस्य विचक्षणः ॥ २१ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह अपमानको अमृतके समान समझकर उससे संतुष्ट हो और विद्वान् मनुष्य सम्मानको विषके तुल्य समझकर उससे सदा डरता रहे ॥ २१ ॥

अवज्ञातः सुखं शेते इह चामुत्र चाभयम् ।
विमुक्तः सर्वदोषेभ्यो योऽवमन्ता स बध्यते ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण दोषोंसे मुक्त महात्मा पुरुष अपमानित होनेपर भी इस लोक और परलोकमें निर्भय होकर सुखसे सोता है; परंतु उसका अपमान करनेवाला पुरुष पापबन्धनमें पड़ जाता है ॥ २२ ॥

परां गतिं च ये केचित् प्रार्थयन्ति मनीषिणः ।
एतद् व्रतं समाश्रित्य सुखमेधन्ति ते जनाः ॥ २३ ॥

जो मनीषी पुरुष उत्तम गति प्राप्त करना चाहते हैं,

इस उत्तम व्रतका आश्रय लेकर सुखी एवं अभ्युदयशील होते हैं ॥ २३ ॥

सर्वतश्च समाहृत्य क्रतून् सर्वान् जितेन्द्रियः।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥ २४ ॥

मनुष्यको चाहिये कि सारे काम्यकर्मोंका परित्याग करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें कर ले। फिर वह प्रकृतिसे परे अविनाशी ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

नास्य देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः।
पदमन्ववरोहन्ति प्राप्तस्य परमां गतिम् ॥ २५ ॥

परमगतिको [illegible] हुए उस ज्ञानी महात्माके पदका अनुसरण न देवता कर पाते हैं न गन्धर्व, न पिशाच कर पाते हैं और न [illegible] ही ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जैगीषव्यासितसंवादे एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जैगीषव्य और असित-देवलसंवादविषयक दो सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२९ ॥

त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवाद—नारदजीकी लोकप्रियताके हेतुभूत गुणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

प्रियः सर्वस्य लोकस्य सर्वसत्त्वाभिनन्दिता।
गुणैः सर्वैरुपेतश्च को न्वस्ति भुवि मानवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! इस भूतलपर कौन ऐसा मनुष्य है ? जो सब लोगोंका प्रिय, सम्पूर्ण प्राणियोंको आनन्द प्रदान करनेवाला तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि पृच्छतो भरतर्षभ।
उग्रसेनस्य संवादं नारदे केशवस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे इस प्रश्नके उत्तरमें मैं श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवाद सुनाता हूँ, जो नारदजीके विषयमें हुआ था ॥ २ ॥

उग्रसेन उवाच

[illegible] संकल्पते लोको नारदस्य प्रकीर्तने।
मन्ये स गुणसम्पन्नो ब्रूहि तन्मम पृच्छतः ॥ ३ ॥

उग्रसेन बोले—जनार्दन! सब लोग जिनके गुणोंका कीर्तन करनेकी इच्छा रखते हैं, वे नारदजी मेरी समझमें अवश्य उत्तम गुणोंसे सम्पन्न हैं, अतः मैं उनके गुणोंके विषयमें पूछता हूँ, तुम मुझे बताओ ॥ ३ ॥

वासुदेव उवाच

कुकुराधिप यान् मन्ये शृणु तान् मे विवक्षतः।
नारदस्य गुणान् साधून् संक्षेपेण नराधिप ॥ [illegible] ॥

श्रीकृष्णने कहा—कुकुरकुलके स्वामी! नरेश्वर! मैं नारदके जिन उत्तम गुणोंको मानता और जानता हूँ, उन्हें सं[illegible]से बताना चाहता हूँ। आप मुझसे उनका [illegible] कीजिये ॥ ४ ॥

न चारित्रनिमित्तोऽस्याहंकारो देहतापनः।
अभिन्नश्रुतचारित्रस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ५ ॥

नारदजीमें शास्त्रज्ञान और चरित्रबल दोनों एक साथ संयुक्त हैं। फिर भी उनके मनमें अपनी सच्चरित्रताके कारण तनिक भी अभिमान नहीं है। वह अभिमान शरीरको [illegible] करनेवाला है। उसके न होनेसे ही नारदजीकी सर्वत्र पूजा (प्रतिष्ठा) होती है ॥ ५ ॥

अरतिः क्रोधचापल्ये भयं नैतानि नारदे।
अदीर्घसूत्रः शूरश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ६ ॥

नारदजीमें अप्रीति, क्रोध, चपलता और भय—ये दोष नहीं हैं, वे दीर्घसूत्री (किसी कामको विलम्बसे करनेवाले [illegible] आलसी) नहीं हैं तथा धर्म और दया आदि करनेमें बड़े शूरवीर हैं; इसीलिये [illegible] सर्वत्र आदर होता है ॥ ६ ॥

उपास्यो नारदो बाढं वाचि नास्य व्यतिक्रमः।
कामतो यदि वा लोभात् तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ [illegible] ॥

निश्चय ही नारद उपासना करनेके योग्य हैं। कामना या लोभसे भी कभी उनके द्वारा अपनी [illegible] पलटी नहीं जाती; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है ॥ ७ ॥

अध्यात्मविधितत्त्वज्ञः क्षान्तः शक्तो जितेन्द्रियः।
[illegible] सत्यवादी [illegible] तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ८ ॥

वे अध्यात्मशास्त्रके [illegible] विद्वान्, क्षमाशील, शक्तिमान्, जितेन्द्रिय, सरल और सत्यवादी हैं। इसीलिये वे सर्वत्र पूजे जाते हैं ॥ ८ ॥

तेजसा यशसा बुद्ध्या ज्ञानेन विनयेन च।
जन्मना तपसा वृद्धस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ९ ॥

नारदजी तेज, बुद्धि, यश, ज्ञान, विनय, जन्म और तपस्याद्वारा भी सबसे बढ़े-चढ़े हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ ९ ॥

सुशीलः सुखसंवेशः सुभोजः स्वादरः शुचिः।
सुवाक्यश्चाप्यनीर्ष्यश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १० ॥

वे सुशील, सुखसे सोनेवाले, पवित्र भोजन करनेवाले, उत्तम आदरके पात्र, पवित्र, उत्तम वचन बोलनेवाले तथा ईर्ष्यासे रहित हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा हुई है ॥ १० ॥

कल्याणं कुरुते बाढं पापमस्मिन्न विद्यते।

न प्रीयते परानर्थैस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ ११ ॥

वे खुले दिलसे सबका कल्याण करते हैं । उनके मनमें लेशमात्र भी पाप नहीं है । दूसरोंका अनर्थ देखकर उन्हें प्रसन्नता नहीं होती; इसीलिये उनका सब जगह सम्मान होता है ॥ ११ ॥

वेदश्रुतिभिराख्यानैरर्थानभिजिगीषति ।
तितिक्षुरनवज्ञाता तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १२ ॥

नारदजी वेदों और उपनिषदोंकी, श्रुतियों तथा इतिहास-पुराणकी कथाओंद्वारा प्रस्तुत विषयोंको समझाने और सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं । वे सहनशील तो हैं ही, कभी किसीकी अवज्ञा नहीं करते हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ १२ ॥

समत्वाच्च प्रियो नास्ति नाप्रियश्च कथंचन ।
मनोऽनुकूलवादी च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १३ ॥

वे सर्वत्र समभाव रखते हैं; इसलिये उनका न कोई प्रिय है और न किसी तरह अप्रिय ही है । वे मनके अनुकूल बोलते हैं; इसलिये सर्वत्र उनका आदर होता है ॥ १३ ॥

बहुश्रुतश्चित्रकथः पण्डितोऽलालसोऽशठः ।
अदीनोऽक्रोधनोऽलुब्धस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥१४॥

वे अनेक शास्त्रोंके विद्वान् हैं और उनका कथा कहनेका ढंग भी बड़ा विचित्र है । उनमें पूर्ण पाण्डित्य होनेके साथ ही लालसा और शठताका भी अभाव है । दीनता, क्रोध और लोभ आदि दोषसे वे सर्वथा रहित हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है ॥ १४ ॥

नार्थे धने वा कामे वा भूतपूर्वोऽस्य विग्रहः ।
दोषाश्चास्य समुच्छिन्नास्तस्मात् सर्वत्र पूजितः॥ १५ ॥

धन, अन्य कोई प्रयोजन अथवा कामके विषयमें नारदजीका पहले कभी किसीके साथ कलह हुआ हो, ऐसी बात नहीं है । उनमें समस्त दोषोंका अभाव है, इसीलिये उनका सब जगह आदर होता है ॥ १५ ॥

दृढभक्तिरनिन्द्यात्मा श्रुतवाननृशंसवान् ।
वीतसम्मोहदोषश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १६ ॥

उनकी मेरे प्रति दृढ़ भक्ति है । उनका हृदय शुद्ध है । वे विद्वान् और दयालु हैं । उनके मोह आदि दोष दूर हो गये हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र आदर है ॥ १६ ॥

असक्तः सर्वभूतेषु सक्तात्मेव च लक्ष्यते ।
अदीर्घसंशयो वाग्मी तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १७ ॥

वे सम्पूर्ण प्राणियोंमें आसक्तिसे रहित हैं; फिर भी आसक्त हुए-से दिखायी देते हैं । उनके मनमें दीर्घकालतक कोई संशय नहीं रहता और वे बहुत अच्छे वक्ता हैं; इसीलिये उनकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ १७ ॥

समाधिर्नास्य कामार्थे नात्मानं स्तौति कर्हिचित् ।
अनीर्षुर्मृदुसंवादस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १८ ॥

उनका मन कभी विषयभोगोंमें स्थित नहीं होता और वे कभी अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं । किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं रखते तथा सबसे मीठे वचन बोलते हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र आदर होता है ॥ १८ ॥

लोकस्य विविधं चित्तं प्रेक्षते चाप्यकुत्सयन् ।
संसर्गविद्याकुशलस्तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ १९ ॥

नारदजी लोगोंकी नाना प्रकारकी चित्तवृत्तिको देखते और समझते हैं । फिर भी किसीकी निन्दा नहीं करते । किस का संसर्ग कैसा है ? इसके ज्ञानमें वे बड़े निपुण हैं; इसीलिये वे सर्वत्र पूजित होते हैं ॥ १९ ॥

नासूयत्यागमं कंचित् स्वनयेनोपजीवति ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा तस्मात् सर्वत्र पूजितः॥ २० ॥

वे किसी शास्त्रमें दोषदृष्टि नहीं करते । अपनी नीतिके अनुसार जीवन-यापन करते हैं । समयको कभी व्यर्थ नहीं गँवाते और मनको वशमें रखते हैं; इसीलिये वे सर्वत्र सम्मानित होते हैं ॥ २० ॥

कृतश्रमः कृतप्रज्ञो न च तृप्तः समाधितः ।
नित्ययुक्तोऽप्रमत्तश्च तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २१ ॥

उन्होंने योगाभ्यासके लिये बड़ा परिश्रम किया है । उनकी बुद्धि पवित्र है । उन्हें समाधिसे कभी तृप्ति नहीं होती । वे कर्तव्य-पालनके लिये सदा उद्यत रहते हैं और कभी प्रमाद नहीं करते हैं; इसीलिये सर्वत्र पूजे जाते हैं ॥२१॥

नापत्रपश्च युक्तश्च नियुक्तः श्रेयसे परैः ।
अभेत्ता परगुह्यानां तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २२ ॥

नारदजी निर्लज्ज नहीं हैं । दूसरोंकी भलाईके लिये सदा उद्यत रहते हैं; इसीलिये दूसरे लोग उन्हें अपने कल्याणकारी कार्योंमें लगाये रखते हैं तथा वे किसीके गुप्त रहस्यको कहीं प्रकट नहीं करते हैं; इसीलिये उनका सर्वत्र सम्मान होता है॥

न हृष्यत्यर्थलाभेषु नालाभे तु व्यथत्यपि ।
स्थिरबुद्धिरसक्तात्मा तस्मात् सर्वत्र पूजितः ॥ २३ ॥

वे धनका लाभ होनेसे प्रसन्न नहीं होते और उसके न मिलनेसे उन्हें दुःख भी नहीं होता है । उनकी बुद्धि स्थिर और मन आसक्तिरहित है; इसीलिये वे सर्वत्र पूजित हुए हैं॥

तं सर्वगुणसम्पन्नं दक्षं शुचिमनामयम् ।
कालज्ञं च प्रियज्ञं च कः प्रियं न करिष्यति ॥ २४ ॥

वे सम्पूर्ण गुणोंसे सुशोभित, कार्यकुशल, पवित्र, नीरोग, समयका मूल्य समझनेवाले और परम प्रिय आत्मतत्त्वके ज्ञाता हैं; फिर कौन उन्हें अपना प्रिय नहीं बनायेगा ? ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वासुदेवोग्रसेनसंवादे त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रीकृष्ण और उग्रसेनका संवादविषयक दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२३०॥

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीका प्रश्न और व्यासजीका उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कालका स्वरूप बताना

युधिष्ठिर उवाच

आद्यन्तं सर्वभूतानां ज्ञातुमिच्छामि कौरव।
ध्यानं कर्म च कालं च तथैवायुर्युगे युगे॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुनन्दन! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति किससे होती है? उनका अन्त कहाँ होता है? परमार्थकी प्राप्तिके लिये किसका ध्यान और किस कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये? कालका क्या स्वरूप है? तथा भिन्न-भिन्न युगोंमें मनुष्योंकी कितनी आयु होती है?॥ १॥

लोकतत्त्वं च कार्त्स्न्येन भूतानामागतिं गतिम्।
सर्गश्च निधनं चैव कुत एतत् प्रवर्तते॥ २॥

मैं लोकका तत्त्व पूर्णरूपसे जानना चाहता हूँ। प्राणियोंके आवागमन और सृष्टि-प्रलय किससे होते हैं?॥ २॥

यदि तेऽनुग्रहे बुद्धिरस्मास्विह सतां वर।
एतद् भवन्तं पृच्छामि तद् भवान् प्रब्रवीतु मे॥ ३॥

सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह! यदि आपका हमलोगोंपर अनुग्रह करनेका विचार है तो मैं यही बात आपसे पूछता हूँ। आप मुझे बताइये॥ ३॥

पूर्वं हि कथितं श्रुत्वा भृगुभाषितमुत्तमम्।
भरद्वाजस्य विप्रर्षेस्ततो मे बुद्धिरुत्तमा॥ ४॥

पहले ब्रह्मर्षि भरद्वाजके प्रति भृगुजीका जो उत्तम उपदेश हुआ था, उसे आपके मुँहसे सुनकर मुझे उत्तम बुद्धि प्राप्त हुई थी॥ ४॥

जाता परमधर्मिष्ठा दिव्यसंस्थानसंस्थिता।
ततो भूयस्तु पृच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ ५॥

मेरी बुद्धि परम धर्मिष्ठ एवं दिव्य स्थितिमें स्थित हो गयी थी; इसीलिये फिर पूछता हूँ। आप इस विषयका वर्णन करनेकी कृपा करें॥ ५॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
जगौ यद् भगवान् व्यासः पुत्राय परिपृच्छते॥ ६॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें भगवान् व्यासने अपने पुत्रके पूछनेपर जो उपदेश दिया था, वही प्राचीन इतिहास मैं दुहराऊँगा॥ ६॥

अधीत्य वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदस्तथा।
अन्विच्छन्नैष्ठिकं कर्म धर्मनैपुणदर्शनात्॥ ७॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासं पुत्रो वैयासकिः शुकः।
पप्रच्छ संदेहमिमं छिन्नधर्मार्थसंशयम्॥ ८॥

अङ्गों और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके व्यासपुत्र शुकदेवने नैष्ठिक कर्मको जाननेकी इच्छासे अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासकी धर्मज्ञानविषयक निपुणता देखकर उनसे अपने मनका संदेह पूछा। उन्हें यह विश्वास था कि पिताजीके उपदेशसे मेरा धर्म और अर्थविषयक सारा संशय दूर हो जायगा॥ ७-८॥

श्रीशुक उवाच

भूतग्रामस्य कर्तारं कालज्ञाने च निश्चयम्।
ब्राह्मणस्य च यत् कृत्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति॥ ९॥

श्रीशुकदेवजी बोले—पिताजी! इस प्राणिसमुदायको उत्पन्न करनेवाला कौन है? कालके ज्ञानके विषयमें आपका क्या निश्चय है? और ब्राह्मणका क्या कर्तव्य है? ये सब बातें आप बतानेकी कृपा करें॥ ९॥

भीष्म उवाच

तस्मै प्रोवाच तत् सर्वं पिता पुत्राय पृच्छते।
अतीतानागते विद्वान् सर्वज्ञः सर्वधर्मवित्॥ १०॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! भूत और भविष्यके ज्ञाता सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले सर्वज्ञ विद्वान् पिता व्यासने अपने पुत्रके पूछनेपर उसे उन सब बातोंका यथावत् उपदेश किया॥ १०॥

व्यास उवाच

अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे सम्प्रवर्तते॥ ११॥

व्यासजी बोले—बेटा! सृष्टिके आरम्भमें अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्य, अजर-अमर, ध्रुव, अविकारी, अतर्क्य और ज्ञानातीत ब्रह्म ही रहता है॥ ११॥

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव
त्रिंशत् तु काष्ठा गणयेत् कलां ताम्।
त्रिंशत्कलश्चापि भवेन्मुहूर्तो
भागः कलाया दशमश्च यः स्यात्॥ १२॥

(अब कालका विभाग इस प्रकार समझना चाहिये) पन्द्रह निमेषकी एक काष्ठा और तीस काष्ठाकी एक कला गिननी चाहिये। तीस कलाका एक मुहूर्त होता है। उसके साथ कलाका दसवाँ भाग और सम्मिलित होता है अर्थात् तीस कला और तीन काष्ठाका एक मुहूर्त होता है॥ १२॥

त्रिंशन्मुहूर्तं तु भवेदहश्च
रात्रिश्च संख्या मुनिभिः प्रणीता।
मासः स्मृतो रात्र्यहनी च त्रिंशत्
संवत्सरो द्वादशमास उक्तः॥ १३॥

तीस मुहूर्तका एक दिन-रात होता है। महर्षियोंने दिन और रात्रिके मुहूर्तोंकी संख्या उतनी ही बतायी है। तीस रात-दिनका एक मास और बारह मासोंका एक संवत्सर बताया गया है॥ १३॥

संवत्सरं [illegible] त्वयने वदन्ति
संख्याविदो दक्षिणमुत्तरं च ॥ १४ ॥

विद्वान् पुरुष दो अयनोंको मिलाकर एक संवत्सर कहते हैं। वे दो अयन हैं—उत्तरायण और दक्षिणायन ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषलौकिके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ १५ ॥

मनुष्यलोकके दिन-रातका विभाग सूर्यदेव करते हैं। रात प्राणियोंके सोनेके लिये है और दिन काम करनेके लिये ॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तयोः पुनः।
शुक्लोऽहः कर्मचेष्टायां कृष्णः स्वप्नाय शर्वरी ॥ १६ ॥

मनुष्योंके एक मासमें पितरोंका एक दिन-रात होता है। शुक्लपक्ष उनके काम-काज करनेके लिये दिन है और कृष्णपक्ष उनके विश्रामके लिये रात है ॥ १६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद् दक्षिणायनम् ॥ १७ ॥

मनुष्योंका एक वर्ष देवताओंके एक दिन-रातके बराबर है, उनके दिन-रातका विभाग इस प्रकार है। उत्तरायण उनका दिन है और दक्षिणायन उनकी रात्रि ॥ १७ ॥

ये ते रात्र्यहनी पूर्वे कीर्तिते जीवलौकिके।
तयोः संख्याय वर्षाग्रं ब्राह्मे वक्ष्याम्यहःक्षपे ॥ १८ ॥
पृथक् संवत्सराग्राणि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
कृते त्रेतायुगे चैव द्वापरे च कलौ तथा ॥ १९ ॥

पहले मनुष्योंके जो दिन-रात बताये गये हैं, उन्हींकी संख्याके हिसाबसे अब मैं ब्रह्माके दिन-रातका मान [illegible] हूँ। साथ ही सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन चारों युगोंकी वर्ष-संख्या भी अलग-अलग बता रहा हूँ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः ॥ २० ॥

देवताओंके चार हजार वर्षोंका एक सत्ययुग होता है। सत्ययुगमें चार सौ दिव्य वर्षोंकी संध्या होती है और उतने ही वर्षोंका एक संध्यांश भी होता है। (इस प्रकार सत्ययुग अड़तालीस सौ दिव्य वर्षोंका होता है) ॥

इतरेषु ससंध्येषु संध्यांशेषु ततस्त्रिषु।
एकपादेन हीयन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ २१ ॥

संध्या और संध्यांशोंसहित अन्य तीन युगोंमें यह (चार हजार आठ सौ वर्षोंकी) संख्या क्रमशः एक-एक चौथाई घटती जाती है* ॥ २१ ॥

एतानि शाश्वताँल्लोकान् धारयन्ति सनातनान्।
एतद् ब्रह्मविदां तात विदितं [illegible] शाश्वतम् ॥ २२ ॥

ये चारों युग प्रवाहरूपसे सदा रहनेवाले सनातन लोकोंको धारण करते हैं। [illegible]! यह युगात्मक काल ब्रह्मवेत्ताओंके सनातन ब्रह्मका ही स्वरूप है ॥ २२ ॥

चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चित् परस्तस्य प्रवर्तते ॥ २३ ॥

सत्ययुगमें सत्य और धर्मके चारों चरण मौजूद रहते हैं—उस समय सत्य और धर्मका पूरा-पूरा पालन होता है उस समय कोई भी धर्मशास्त्र अधर्मसे संयुक्त नहीं होता; उसका उत्तम रीतिसे पालन होता है ॥ २३ ॥

इतरेष्वागमाद् धर्मः पादशस्त्ववरोप्यते।
चौर्यकानृतमायाभिरधर्मश्चोपचीयते ॥ २४ ॥

अन्य युगोंमें शास्त्रोक्त धर्मका क्रमशः एक-एक चरण क्षीण होता जाता है और चोरी, असत्य तथा छल-कपट आदिके द्वारा अधर्मकी वृद्धि होने लगती है ॥ २४ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतायुगे त्वेषां पादशो ह्रसते वयः ॥ २५ ॥

सत्ययुगके मनुष्य नीरोग होते हैं। उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ सिद्ध होती हैं तथा वे चार सौ वर्षोंकी आयुवाले होते हैं। त्रेतायुग आनेपर उनकी आयु एक चौथाई घटकर तीन सौ वर्षोंकी रह जाती है। इसी प्रकार द्वापरमें दो सौ और कलियुगमें सौ वर्षोंकी [illegible] होती है ॥ २५ ॥

वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम्।
आयूंषि चाशिषश्चैव वेदस्यैव [illegible] यत्फलम् ॥ २६ ॥

त्रेता आदि युगोंमें वेदोंका स्वाध्याय और मनुष्योंकी आयु घटने लगती है, ऐसा सुना गया है। उनकी कामनाओं-की सिद्धिमें भी बाधा पड़ती है और वेदाध्ययनके फलमें भी न्यूनता आ जाती है ॥ २६ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ २७ ॥

युगोंके ह्रासके अनुसार सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगमें मनुष्योंके धर्म भी भिन्न-भिन्न प्रकारके हो जाते हैं ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुत्तमम्।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ २८ ॥

सत्ययुगमें तपस्याको ही सबसे बड़ा धर्म माना गया है। त्रेतामें ज्ञानको ही उत्तम बताया गया है। द्वापरमें यज्ञ और कलियुगमें एकमात्र दान [illegible] कहा गया है ॥

एतां द्वादशसाहस्रीं युगाख्यां कवयो विदुः।
सहस्रपरिवर्तं तद् ब्राह्मं दिवसमुच्यते ॥ २९ ॥

इस प्रकार देवताओंके बारह हजार वर्षोंका एक चतुर्युग होता है; यह विद्वानोंकी मान्यता है। एक सहस्र चतुर्युगको ब्रह्माका एक दिन बताया जाता [illegible] ॥ २९ ॥

रात्रिमेतावतीं चैव तदादौ विश्वमीश्वरः।
प्रलये ध्यानमाविश्य सुप्त्वा सोऽन्ते विबुद्ध्यते ॥ ३० ॥

* अर्थात् संध्या और संध्यांशोंसहित त्रेतायुग छत्तीस सौ वर्षोंका, द्वापर चौबीस सौ वर्षोंका और कलियुग बारह सौ वर्षोंका होता है।

इतने ही युगोंकी उनकी एक रात्रि भी होती है। भगवान् [illegible] अपने दिनके आरम्भमें संसारकी [illegible] [illegible] हैं और रातमें जब [illegible] समय होता है, [illegible] सबको अपनेमें लीन करके योगनिद्राका आश्रय ले सो जाते हैं; फिर प्रलय-का अन्त होने अर्थात् रात बीतनेपर वे [illegible] उठते हैं ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो [illegible] ॥ ३१ ॥

एक हजार चतुर्युगका जो ब्रह्माका एक दिन बताया गया है और उतनी ही बड़ी जो उनकी रात्रि कही गयी है, उसको जो लोग ठीक ठीक जानते हैं, वे ही दिन और रात अर्थात् कालतत्त्वको जाननेवाले हैं ॥ ३१ ॥

प्रतिबुद्धो विकुरुते ब्रह्माक्षय्यं क्षपाक्षये।
सृजते च महद्भूतं तस्माद् व्यक्तात्मकं मनः ॥ ३२ ॥

रात्रि समाप्त होनेपर जाग्रत् हुए ब्रह्माजी पहले अपने [illegible] स्वरूपको मायासे विकारयुक्त बनाते हैं फिर महत्तत्त्वको [illegible] करते हैं। तत्पश्चात् उससे स्थूल जगत्को धारण करनेवाले मनकी उत्पत्ति होती है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकका अनुप्रश्नविषयक दो सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

व्यासजीका शुकदेवको सृष्टिके उत्पत्ति-क्रम तथा युगधर्मोंका उपदेश

व्यास उवाच

ब्रह्म तेजोमयं शुक्रं [illegible] सर्वमिदं जगत्।
[illegible] ब्रह्मभूतस्य द्वयं स्थावरजङ्गमम् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! तेजोमय ब्रह्म ही [illegible] बीज है, उसीसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। उस एक ही ब्रह्मसे स्थावर और जङ्गम दोनोंकी उत्पत्ति होती है ॥

अहर्मुखे विबुद्धः सन् सृजतेऽविद्यया जगत्।
अग्र एव महद्भूतमाशु व्यक्तात्मकं मनः ॥ २ ॥

पहले कह आये हैं, ब्रह्माजी अपने दिनके आरम्भमें जागकर अविद्या (त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके) द्वारा सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करते हैं। सबसे पहले महत्तत्त्व प्रकट होता है। उससे स्थूल सृष्टिका आधारभूत मन उत्पन्न होता है ॥

अभिभूयेह चार्चिष्मद् व्यसृजत् सप्त मानसान्।
दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम् ॥ ३ ॥

उस मनकी दूरतक गति है तथा वह अनेक प्रकारसे गमनागमन करता है। प्रार्थना और संशयवृत्तिवाली वह मन चैतन्यसे संयुक्त होकर सम्पूर्ण पदार्थोंको अभिभूत करके [illegible] मानस ऋषियोंकी सृष्टि करता है ॥ [illegible] ॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात् तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ४ ॥

फिर सृष्टिकी इच्छासे प्रेरित होनेपर मन नाना प्रकारकी सृष्टि करता है। उससे आकाशकी उत्पत्ति होती है। आकाश-का गुण 'शब्द' माना गया है ॥ ४ ॥

आकाशात् तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् जब आकाशमें विकार होता है, [illegible] उससे पवित्र और सम्पूर्ण गन्धोंको वहन करनेवाले बलवान् वायु-[illegible] आविर्भाव होता है। उसका गुण 'स्पर्श' माना गया है ॥ ५ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाज्ज्योतिर्भवति भास्वरम्।
रोचिष्णु जायते शुक्रं तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ६ ॥

फिर वायुमें भी विकार होता है और उससे प्रकाशपूर्ण अग्नि-तत्त्व प्रकट होता है। वह अग्नि-तत्त्व चमचमाता हुआ एवं दीप्तिमान् है। उसका गुण 'रूप' बताया जाता है ॥

ज्योतिषोऽपि विकुर्वाणाद् भवन्त्यापो रसात्मिकाः।
अद्भ्यो गन्धवहा भूमिः सर्वेषां सृष्टिरुच्यते ॥ ७ ॥

फिर अग्नि-तत्त्वमें विकार आनेपर रसमय जल-तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। जलसे गन्धका वहन करनेवाली पृथ्वीका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि बतायी जाती है ॥ ७ ॥

गुणाः सर्वस्य पूर्वस्य प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम्।
तेषां यावद् यथा यच्च तत्तत् तावद्गुणं स्मृतम् ॥ ८ ॥

पीछे प्रकट हुए वायु आदि भूत उत्तरोत्तर अपने पूर्ववर्ती सभी भूतोंके गुण धारण करते हैं। इन सब भूतोंमेंसे जो भूत जितने समयतक जिस प्रकार रहता है, उसके गुण [illegible] उतने ही समयतक रहते हैं ॥ ८ ॥

उपलभ्याप्सु चेद्गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणात्।

१. इन सप्तर्षियोंके नाम [illegible] प्रकार हैं—

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठ [illegible] सप्तैते मानसा निर्मिता [illegible] ॥

(महा० शान्ति० ३४० । ६९)

मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजीके) [illegible] ही अपने मनसे रचे [illegible] हैं।

पृथिव्यामेव तं विद्यादपां वायोश्च संश्रितम् ॥ ९ ॥

यदि कुछ मनुष्य जलमें गन्ध पाकर अयोग्यतावश यह कहने लगें कि यह जलका ही गुण है तो उनका वह कथन मिथ्या होगा; क्योंकि गन्ध वास्तवमें पृथ्वीका गुण है; अतः उसे पृथ्वीमें ही स्थित जानना चाहिये । जल और वायुमें तो वह आगन्तुककी भाँति स्थित होता है ॥ ९ ॥

एते सप्तविधात्मानो नानावीर्याः पृथक् पृथक् ।
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः ॥ १० ॥

ये नाना प्रकारकी शक्तिवाले महत्तत्त्व, मन (अहंकार) और पञ्चसूक्ष्म महाभूत—सात पदार्थ पृथक् पृथक् रहकर जबतक सब-के-सब मिल न सके; तबतक उनमें प्रजाकी सृष्टि करनेकी शक्ति नहीं आयी ॥ १० ॥

ते समेत्य महात्मानो ह्यन्योन्यमभिसंश्रिताः ।
शरीराश्रयणं प्राप्तास्ततः पुरुष उच्यते ॥ ११ ॥

परंतु ये सातों व्यापक पदार्थ ईश्वरकी इच्छा होनेपर जब एक दूसरेसे मिलकर परस्पर सहयोगी हो गये, तब भिन्न-भिन्न शरीरके आकारमें परिणत हुए । उस शरीर-नामक पुरमें निवास करनेके कारण जीवात्मा पुरुष कहलाता है ॥

शरीरं श्रयणाद् भवति मूर्तिमत् षोडशात्मकम् ।
तमाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मणा ॥ १२ ॥

पाँच स्थूल महाभूत, दस इन्द्रियाँ और मन—इन सोलह तत्त्वोंसे शरीरका निर्माण हुआ है । इन [illegible] होनेके कारण ही देहको शरीर कहते हैं । शरीरके उत्पन्न होनेपर उसमें जीवोंके भोगावशिष्ट कर्मोंके साथ सूक्ष्म महाभूत प्रवेश करते हैं ॥ १२ ॥

सर्वभूतान्युपादाय तपसश्चरणाय हि ।
आदिकर्ता स भूतानां तमेवाहुः प्रजापतिम् ॥ १३ ॥

भूतोंके आदि कर्ता ब्रह्माजी ही तपस्याके लिये समस्त सूक्ष्म भूतोंको साथ लेकर समष्टि शरीरमें प्रवेश करके स्थित होते हैं; इसलिये मुनिजन उन्हें प्रजापति कहते हैं ॥

स वै सृजति भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
ततः स सृजति ब्रह्मा देवर्षिपितृमानवान् ॥ १४ ॥
लोकान् नदीः समुद्रांश्च दिशः शैलान् वनस्पतीन् ।
नरकिंनररक्षांसि वयःपशुमृगोरगान् ।
अव्ययं च व्ययं चैव द्वयं स्थावरजङ्गमम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वे ब्रह्मा ही चराचर प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं । वे ही देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य, नाना प्रकारके लोक, नदी, समुद्र, दिशा, पर्वत, वनस्पति, किन्नर, राक्षस, पशु, पक्षी, मृग तथा सर्पोंको भी उत्पन्न करते हैं । अविनाशी आकाश आदि और क्षयशील चराचर प्राणियोंकी सृष्टि भी उन्हींके द्वारा हुई है ॥ १४-१५ ॥

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे ।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥ १६ ॥

पूर्वकल्पकी सृष्टिमें जिन प्राणियोंद्वारा जैसे कर्म किये गये होते हैं, दूसरे कल्पोंमें बारंबार जन्म लेनेपर वे उन पूर्वकृत कर्मोंकी वासनासे प्रभावित होनेके कारण वैसे ही कर्म करने लगते हैं ॥ १६ ॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते ॥ १७ ॥

एक जन्ममें मनुष्य हिंसा अहिंसा, कोमलता-कठोरता, धर्म-अधर्म और सच-झूठ आदि जिन गुणों या दोषोंको अपनाता है, दूसरे जन्ममें भी उनके संस्कारोंसे प्रभावित होकर उन्हीं गुणोंको वह पसंद करता और वैसे ही कार्योंमें लग जाता है ॥ १७ ॥

महाभूतेषु नानात्वमिन्द्रियार्थेषु मूर्तिषु ।
विनियोगं च भूतानां धातैव विदधात्युत ॥ १८ ॥

आकाश आदि महाभूतोंमें, शब्द आदि विषयोंमें तथा देवता आदिकी आकृतियोंमें जो अनेकता और भिन्नता है तथा प्राणियोंकी जो भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्ति है, इन सबका विधान विधाता ही करते हैं ॥ १८ ॥

केचित् पुरुषकारं तु प्राहुः कर्मसु मानवाः ।
दैवमित्यपरे विप्राः स्वभावं भूतचिन्तकाः ॥ १९ ॥

कुछ लोग कर्मोंकी सिद्धिमें पुरुषार्थको ही प्रधान मानते हैं । दूसरे ब्राह्मण दैवको प्रधानता देते हैं और भूत-चिन्तक नास्तिकगण स्वभावको ही कार्यसिद्धिका कारण बताते हैं ॥ १९ ॥

पौरुषं कर्म दैवं च फलवृत्तिः स्वभावतः ।
त्रय एतेऽपृथग्भूता न विवेकं तु केचन ॥ २० ॥

कुछ विद्वान् कहते हैं कि पुरुषार्थ, दैव और स्वभावसे अनुगृहीत कर्म—इन तीनोंके सहयोगसे फलकी सिद्धि होती है । ये तीनों मिलकर ही कार्यसाधक होते हैं । इनका अलग-अलग होना कार्यकी सिद्धिका हेतु नहीं होता है ॥

एतमेव च नैवं च न चोभे नानुभे न च ।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ २१ ॥

कर्मवादी इस विषयमें यह पुरुषार्थ ही कार्यसाधक है, ऐसा नहीं कहते । ऐसा नहीं है, अर्थात् पुरुषार्थ नहीं, दैव कारण है, यह भी नहीं कहते । दोनों मिलकर कार्यसिद्धिके हेतु हैं, यह भी नहीं कहते और दोनों नहीं हैं, यह भी नहीं कहते हैं । तात्पर्य यह है कि वे इस विषयमें कुछ निश्चय नहीं कर पाते हैं; परंतु जो सत्त्वस्वरूप परमात्मामें स्थित हुए योगी हैं, वे समदर्शी हैं अर्थात् शम (ब्रह्म) को ही कारण मानते हैं ॥ २१ ॥

तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः ।
तेन सर्वानवाप्नोति यान् कामान् मनसेच्छति ॥ २२ ॥

तप ही जीवके कल्याणका मुख्य साधन है । तपका मूल है शम और दम । पुरुष अपने मनसे जिन-जिन कामनाओं

को पाना चाहता है, उन सबको वह तपस्यासे प्राप्त कर लेता है ॥ २२ ॥

तपसा तदवाप्नोति यद्भूतं सृजते जगत्।
स तद्भूतश्च सर्वेषां भूतानां भवति प्रभुः ॥ २३ ॥

तपस्यासे वह उस परमात्मसत्ताको भी [illegible] कर लेता है, जिससे इस जगत्‌की सृष्टि होती है। तपसे परमात्मस्वरूप होकर मनुष्य [illegible] प्राणियोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है ॥ २३ ॥

ऋषयस्तपसा वेदानध्यैषन्त दिवानिशम्।
अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ॥ २४ ॥

तपके ही प्रभावसे महर्षिगण दिन [illegible] वेदोंका अध्ययन करते थे। तपःशक्तिसे सम्पन्न होकर ही ब्रह्माजीने आदि-अन्तसे रहित वेदमयी वाणीका प्रथम उच्चारण किया ॥ २४ ॥

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां [illegible] प्रवर्तनम् ॥ २५ ॥
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।

ऋषियोंके नाम, वेदोक्त सृष्टिक्रमके अनुसार रचे हुए सब पदार्थोंके नाम, प्राणियोंके अनेकविध रूप तथा उनके कर्मोंका विधान—यह सब कुछ वे ऐश्वर्यशाली प्रजापति सृष्टिके आदिकालमें वेदोक्त शब्दोंके अनुसार ही रचते हैं ॥ २५½ ॥

नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु सृष्टयः ॥ २६ ॥
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यजः।

वेदोंमें ऋषियोंके नाम तो हैं ही, सृष्टिमें उत्पन्न हुए [illegible] पदार्थोंके भी नाम हैं। अजन्मा ब्रह्माजी अपनी रात्रिके अन्तमें अर्थात् नूतन सृष्टिके प्रभातकालमें अपने द्वारा रचे गये सभी पदार्थोंका दूसरोंके लिये नाम-निर्देश करते हैं ॥ २६½ ॥

नामभेदतपःकर्मयज्ञाख्या लोकसिद्धयः ॥ २७ ॥

फिर ब्रह्माजीने ऋग्वेद आदिके नाम, वर्ण और आश्रम-[illegible] भेद, तप, शम, दम (कृच्छ्र-चान्द्रायणादि [illegible]), कर्म (सन्ध्योपासन आदि नित्य-कर्म) और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ बनाये। ये नाम आदि लौकिक सिद्धियाँ हैं ॥ २७ ॥

आत्मसिद्धिस्तु वेदेषु प्रोच्यते दशभिः क्रमैः।
यदुक्तं वेदवादेषु गहनं वेददर्शिभिः।
तदन्तेषु यथायुक्तं क्रमयोगेन लक्ष्यते ॥ २८ ॥

आत्मा ([illegible] मोक्ष) की सिद्धि तो वेदोंमें दस[1] उपायोंद्वारा बतायी जाती है। जो गहन (दुर्बोध) [illegible] वेदवाक्यों-[illegible] वेददर्शी विद्वानोंद्वारा वर्णित हुआ है और वेदान्तवचनोंमें जिसका स्पष्टरूपसे वर्णन किया [illegible] है, वह क्रमयोगसे लक्षित होता है ॥ २८ ॥

कर्मजोऽयं पृथग्भावो द्वन्द्वयुक्तोऽपि देहिनः।
तमात्मसिद्धिर्विज्ञानाज्जहाति पुरुषो बलात् ॥ २९ ॥

देहाभिमानी जीवको जो यह पृथक्-पृथक् शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका भोग प्राप्त होता है, वह कर्मजनित है। मनुष्य तत्त्वज्ञानके द्वारा उस द्वन्द्वभोगको त्याग देता है तथा ज्ञानके ही बलसे आत्मसिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है ॥

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ३० ॥

ब्रह्मके दो स्वरूप जानने चाहिये—एक शब्द ब्रह्म और दूसरा परब्रह्म, जो शब्द [illegible] अर्थात् वेदका पूर्ण विद्वान् है, वह सुगमतासे परब्रह्मका [illegible] कर लेता है ॥ ३० ॥

आलम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्रास्तु तपोयज्ञा द्विजातयः ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणोंके लिये तप ही यज्ञ है, क्षत्रियोंके लिये हिंसा-[illegible] युद्ध आदि ही यज्ञ हैं, वैश्योंके लिये घृत आदि हविष्यकी आहुति देना ही यज्ञ है और शूद्रोंके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा ही यज्ञ है ॥ ३१ ॥

त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे।
द्वापरे विप्लवं यान्ति यज्ञाः कलियुगे तथा ॥ ३२ ॥

[illegible] यज्ञोंका विधान त्रेतायुगमें ही था, सत्ययुगमें नहीं। द्वापरसे [illegible] क्षीण होते हुए यज्ञ कलियुगमें [illegible] हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

अपृथग्धर्मिणो मर्त्या ऋक्सामानि यजूंषि च।
[illegible] इष्टीः पृथग् दृष्ट्वा तपोभिस्तप एव च ॥ ३३ ॥

सत्ययुगमें अद्वैत धर्ममें निष्ठा रखनेवाले मनुष्य ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद तथा सकाम इष्टियोंको ज्ञानरूप तपस्या-[illegible] भिन्न देखकर उन सबको छोड़ केवल ज्ञानरूप तपस्यामें ही संलग्न होते हैं ॥ ३३ ॥

त्रेतायां तु समस्ता ये प्रादुरासन् महाबलाः।
संयन्तारः स्थावराणां जङ्गमानां च सर्वशः ॥ ३४ ॥

त्रेतायुगमें जो महाबली नरेश प्रकट हुए थे, वे सब-के-सब समस्त चराचर प्राणियोंके नियन्ता थे ॥ ३४ ॥

त्रेतायां संहता वेदा [illegible] वर्णाश्रमास्तथा।
संरोधादायुषस्त्वेते भ्रश्यन्ते द्वापरे युगे ॥ ३५ ॥

त्रेतायुगमें वेद, यज्ञ और वर्णाश्रम-धर्म सुव्यवस्थितरूपसे पालित होते थे; परंतु द्वापरयुगमें आयुकी न्यूनता होनेसे लोगोंमें उनके पालनका उत्साह कम हो गया—वे वेद [illegible] आदिसे च्युत होने लगे ॥ ३५ ॥

दृश्यन्ते न च दृश्यन्ते वेदाः कलियुगेऽखिलाः।
उत्सीदन्ते सयज्ञाश्च केवलाधर्मपीडिताः ॥ ३६ ॥

कलियुग आनेपर तो कहीं वेदोंका दर्शन होता है और कहीं नहीं होता है। [illegible] समय केवल अधर्मसे पीड़ित होकर यज्ञ और वेद [illegible] हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

---

१. स्वाध्याय, गार्हस्थ्य, सन्ध्यावन्दनादि, कृच्छ्रचान्द्रायणादि, यज्ञ, पूर्तकर्म, योग, दान, गुरुशुश्रूषा और समाधि—ये दस क्रमयोग [illegible]।

कृते युगे यस्तु धर्मो ब्राह्मणेषु प्रदृश्यते।
आत्मवत्सु तपोवत्सु श्रुतवत्सु प्रतिष्ठितः॥ ३७॥

सत्ययुगमें जिस चारों चरणोंवाले धर्मकी चर्चा की गयी है, वह अन्य युगोंमें भी मनको वशमें रखनेवाले तपस्वी एवं वेद-वेदान्तोंके ज्ञाता ब्राह्मणोंमें प्रतिष्ठित देखा जाता है॥ ३७॥

स्वधर्मव्रतसंयोगं यथाधर्मं युगे युगे।
विक्रियन्ते स्वधर्मस्था वेदवादा यथागमम्॥ ३८॥

सत्ययुगमें मनुष्य स्वभावके अनुसार यज्ञ, व्रत और तीर्थाटन आदि करते हैं और त्रेता आदि युगमें वेदवादी एवं स्वधर्मनिष्ठ पुरुष शास्त्रके कथनानुसार धर्मके ह्राससे विकारको [illegible] होते हैं॥ ३८॥

यथा विश्वानि भूतानि वृष्ट्या भूयांसि प्रावृषि।
सृज्यन्ते जङ्गमस्थानि तथा धर्मा युगे युगे॥ ३९॥

जैसे वर्षाकालमें जलकी वर्षा होनेसे स्थावर और जङ्गम [illegible] पदार्थ वृद्धिको प्राप्त होते हैं और वर्षा बीतनेपर उनका [illegible] होने लगता है, उसी प्रकार प्रत्येक युगमें धर्म और अधर्मकी वृद्धि एवं ह्रास होते रहते हैं॥ ३९॥

यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा ब्रह्महरादिषु॥ ४०॥

जैसे वसन्त आदि ऋतुओंमें फूल और फल आदि नाना प्रकारके ऋतुचिह्न दृष्टिगोचर होते हैं और भिन्न ऋतुओंमें उन चिह्नोंका दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरमें भी सृष्टि, रक्षा और संहारकी शक्तियाँ कभी न्यून और कभी अधिक दिखायी देती हैं॥ ४०॥

विहितं कालनानात्वमनादिनिधनं तथा।
कीर्तितं तत्पुरस्तात् ते तत्सूते चात्ति च प्रजाः॥ ४१॥

स्वयं ब्रह्माजीने ही सत्ययुग, त्रेता आदिके रूपमें काल-भेदका विधान किया है। वह अनादि और अनन्त है। वह काल ही लोककी सृष्टि और संहार करता है। बेटा! यह बात मैं तुमसे पहले ही बता चुका हूँ॥ ४१॥

दधाति प्रभवे स्थानं भूतानां संयमो यमः।
स्वभावेनैव वर्तन्ते द्वन्द्वयुक्तानि भूरिशः॥ ४२॥

काल ही सम्पूर्ण प्राणियोंको संयम और नियममें रखनेवाला है। वही उनकी उत्पत्तिके लिये [illegible] धारण करता है। सारे प्राणी स्वभावसे ही द्वन्द्वोंसे युक्त होकर अत्यन्त कष्ट पाते हैं॥ ४२॥

सर्गकालक्रिया वेदाः कर्ता कार्यं क्रियाफलम्।
प्रोक्तं ते पुत्र सर्वं वै यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ ४३॥

बेटा! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसके अनुसार मैंने तुम्हें सृष्टि, काल, क्रिया, वेद, कर्ता, कार्य तथा क्रिया-[illegible] आदि सब विषय बता दिये॥ ४३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २३२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बत्तीसवाँ [illegible] पूरा हुआ॥ २३२॥

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

[illegible] एवं महाप्रलयका वर्णन

व्यास उवाच

प्रत्याहारं [illegible] वक्ष्यामि शर्वर्यादौ गतेऽहनि।
यथेदं कुरुतेऽध्यात्मं सुसूक्ष्मं विश्वमीश्वरः॥ १॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! अब मैं यह बता रहा हूँ [illegible] ब्रह्माजीका दिन बीतनेपर उनकी रात्रि आरम्भ होनेके पहले [illegible] प्रकार इस सृष्टिका लय होता है तथा लोकेश्वर ब्रह्माजी स्थूल जगत्‌को अत्यन्त सूक्ष्म करके इसे कैसे अपने भीतर लीन कर लेते हैं?॥ १॥

दिवि सूर्यस्तथा [illegible] दहन्ति शिखिनोऽर्चिषः।
सर्वमेतत् तदार्चिर्भिः पूर्णं जाज्वल्यते जगत्॥ २॥

जब प्रलयका समय आता है, तब आकाशमें ऊपरसे सूर्य और नीचेसे अग्निकी [illegible] ज्वालाएँ संसारको भस्म करने लगती हैं। [illegible] समय यह सारा जगत् ज्वालाओंसे व्याप्त होकर जाज्वल्यमान दिखायी देने लगता है॥ २॥

पृथिव्यां यानि भूतानि जङ्गमानि ध्रुवाणि च।
तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते भूमित्वमुपयान्ति च॥ ३॥

भूतलके जितने भी चराचर प्राणी हैं, वे सब पहले ही दग्ध होकर पृथ्वीमें एकाकार हो जाते हैं॥ ३॥

[illegible] प्रलीने सर्वस्मिन् स्थावरे जङ्गमे [illegible]।
निर्वृक्षा निस्तृणा भूमिर्दृश्यते कूर्मपृष्ठवत्॥ ४॥

तदनन्तर स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण प्राणियोंके लीन हो जानेपर तृण और वृक्षोंसे रहित हुई यह भूमि कछुएकी पीठ-सी दिखायी देने लगती है॥ ४॥

भूमेरपि गुणं गन्धमाप आददते यदा।
आत्तगन्धा तदा भूमिः प्रलयत्वाय कल्पते॥ ५॥

तत्पश्चात् जब जल पृथ्वीके गुण गन्धको ग्रहण कर लेता है, [illegible] गन्धहीन हुई पृथ्वी अपने कारणभूत जलमें लीन हो जाती है॥ ५॥

आपस्तत्र प्रतिष्ठन्ति ऊर्मिमत्यो महास्वनाः।
सर्वमेवेदमापूर्य तिष्ठन्ति च चरन्ति च॥ ६॥

फिर तो [illegible] गम्भीर शब्द करता हुआ चारों ओर उमड़ पड़ता है और उसमें उत्ताल तरङ्गें उठने लगती हैं। वह सम्पूर्ण विश्वको अपनेमें निमग्न करके लहराता रहता है॥ ६॥

अपामपि गुणं तात ज्योतिराददते यदा ।
आपस्तदा त्वात्तगुणा ज्योतिःषूपरमन्ति वै ॥ ७ ॥

वत्स ! तदनन्तर तेज जलके गुण रसको ग्रहण कर लेता है और रसहीन जल तेजमें लीन हो जाता है ॥ ७ ॥

यदाऽऽदित्यं स्थितं मध्ये गूहन्ति शिखिनोऽर्चिषः ।
सर्वमेवेदमर्चिर्भिः पूर्णं जाज्वल्यते नभः ॥ ८ ॥

आगकी लपटें सूर्यको अपने भीतर करके चारों ओरसे ढक लेती हैं, तब सम्पूर्ण आकाश ज्वालाओंसे होकर प्रज्वलित होता-सा जान पड़ता है ॥ ८ ॥

ज्योतिषोऽपि गुणं रूपं वायुराददते यदा ।
प्रशाम्यति ततो ज्योतिर्वायुर्दोधूयते महान् ॥ ९ ॥

फिर तेजके गुण रूपको वायुतत्त्व ग्रहण कर लेता है। इससे हो जाती है और वायुमें मिल जाती है। तब वायु अपने महान् वेगसे सम्पूर्ण आकाशको क्षुब्ध कर डालती है ॥ ९ ॥

ततस्तु वायुः सम्भवमात्मनः ।
अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च दोधवीति दिशो दश ॥ १० ॥

वह बड़े जोरसे हरहराती और अपने वेगसे उत्पन्न आवाजको फैलाती हुई ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर दसों दिशाओंमें चलने लगती है ॥ १० ॥

वायोरपि गुणं स्पर्शमाकाशं ग्रसते यदा ।
प्रशाम्यति तदा वायुः खं तु तिष्ठति नादवत् ॥ ११ ॥

इसके बाद आकाश वायुके गुण स्पर्शको भी ग्रस लेता है। तब वायु शान्त हो जाती और आकाशमें मिल जाती है; फिर तो आकाश महान् शब्दसे युक्त हो अकेला ही रह जाता है ॥ ११ ॥

अरूपमरसस्पर्शमगन्धं च मूर्तिमत् ।
सर्वलोकप्रणदितं खं तिष्ठति नादवत् ॥ १२ ॥

उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्शका नाम भी नहीं रह जाता । किसी भी मूर्त पदार्थकी सत्ता नहीं रहती । जिसका शब्द सभी लोकोंमें निनादित होता था, वह आकाश ही केवल गुणसे युक्त होकर शेष रहता है ॥ १२ ॥

गुणं शब्दमभिव्यक्तात्मकं ।
मनसो व्यक्तमव्यक्तं सम्प्रतिसंचरः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् प्रपञ्चको व्यक्त करनेवाला आकाशके गुण शब्दको, जो मनसे ही प्रकट हुआ था, अपनेमें लीन कर लेता है। मन और (महत्तत्त्व) का ब्रह्माके मनमें लय होना प्रलय कहलाता है ॥ १३ ॥

तदात्मगुणमाविश्य मनो ग्रसति चन्द्रमाः ।
मनस्युपरते चापि चन्द्रमस्युपतिष्ठते ॥ १४ ॥

महाप्रलयके चन्द्रमा व्यक्त मनको आत्मगुणमें प्रविष्ट करके स्वयं उसको ग्रस लेते हैं। तब मन उपरत (शान्त) हो जाता है; फिर वह चन्द्रमामें उपस्थित रहता है ॥ १४ ॥

तं कालेन महता संकल्पः कुरुते वशे ।
चित्तं ग्रसति संकल्पं ज्ञानमनुत्तमम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् (अव्यक्त मन) दीर्घकालमें उस व्यक्त-मनसहित चन्द्रमाको अपने वशीभूत कर लेता है और समष्टि बुद्धि संकल्पको ग्रस लेती है। उसी बुद्धिको परम उत्तम ज्ञान माना गया है ॥ १५ ॥

कालो गिरति विज्ञानं कालं बलमिति श्रुतिः ।
बलं कालो ग्रसति तं विद्वान् कुरुते वशे ॥ १६ ॥

सुननेमें आया है कि काल ज्ञान (समष्टि बुद्धि) को ग्रस लेता है, शक्ति उस कालको अपने अधीन कर लेती है; फिर महाकाल शक्तिको और परब्रह्म महाकालको अपने अधीन कर लेता है ॥ १६ ॥

आकाशस्य यथा घोषं तं विद्वान् कुरुतेऽऽत्मनि ।
तदव्यक्तं परं तच्छाश्वतमनुत्तमम् ।
एवं सर्वाणि भूतानि ब्रह्मैव प्रतिसंचरः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार अपने गुण शब्दको आत्मसात् कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म महाकालको अपनेमें विलीन कर लेता है। वह परब्रह्म परमात्मा अव्यक्त, सनातन और सर्वोत्तम है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंका लय होता है और सबके लयका अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा ही है ॥ १७ ॥

यथावत् कीर्तितं सम्यगेवमेतदसंशयम् ।
बोध्यं विद्यामयं दृष्ट्वा योगिभिः परमात्मभिः ॥ १८ ॥

इस प्रकार परमात्मस्वरूप योगियोंने इस ज्ञानमय बोध्य-तत्त्वका साक्षात्कार करके इसका यथार्थरूपसे वर्णन किया है, यह निःसंदेह ऐसा ही है ॥ १८ ॥

एवं विस्तारसंक्षेपौ ब्रह्माव्यक्ते पुनः पुनः ।
युगसाहस्रयोरादावहोरात्रस्तथैव च ॥ १९ ॥

इस प्रकार बारंबार अव्यक्त परब्रह्ममें सृष्टिका विस्तार और लय होता है। ब्रह्माजीका दिन एक हजार चतुर्युगका होता है और उनकी भी उतनी ही बड़ी होती है; यह बात पहले ही बता दी गयी है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंका कर्तव्य और उन्हें दान देनेकी महिमाका वर्णन

व्यास उवाच

भूतग्रामे नियुक्तं यत् तदेतत् कीर्तितं मया ।
ब्राह्मणस्य तु यत् कृत्यं तत् ते वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! तुमने भूतसमुदायके

विषयमें जो प्रश्न किया था, उसीके उत्तरमें मैंने यह बताया है। अब मैं तुम्हें ब्राह्मणका जो कर्तव्य है, वह रहा हूँ, सुनो ॥ १ ॥

जातकर्मप्रभृत्यस्य कर्मणां दक्षिणावताम्।
क्रिया स्यादासमावृत्तेराचार्ये वेदपारगे ॥ २ ॥

ब्राह्मण-बालकके जातकर्मसे लेकर समावर्तनतक समस्त संस्कार वेदोंके पारङ्गत विद्वान् आचार्यके निकट रहकर सम्पन्न होने चाहिये और उनमें समुचित दक्षिणा देनी चाहिये॥

अधीत्य वेदानखिलान् गुरुशुश्रूषणे रतः।
गुरूणामनृणो भूत्वा समावर्तेत यज्ञवित् ॥ ३ ॥

उपनयनके पश्चात् ब्राह्मण-बालक गुरुशुश्रूषामें तत्पर हो सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करे। तत्पश्चात् पर्याप्त गुरु-दक्षिणा दे। गुरु-ऋणसे उऋण हो वह यज्ञवेत्ता बालक समावर्तन-संस्कारके पश्चात् घर लौटे ॥ ३ ॥

आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम्।
आविमोक्षाच्छरीरस्य सोऽवतिष्ठेद् यथाविधि॥ ४ ॥

तदनन्तर आचार्यकी आज्ञा लेकर चारों आश्रमोंमेंसे किसी एक आश्रममें शास्त्रोक्त विधिके अनुसार जीवनपर्यन्त रहे (अथवा क्रमशः सभी आश्रमोंमें प्रवेश करे) ॥ ४ ॥

प्रजासर्गेण दारैश्च ब्रह्मचर्येण वा पुनः।
वने गुरुसकाशे वा यतिधर्मेण पुनः ॥ ५ ॥

उसकी इच्छा हो तो स्त्री-परिग्रह करके गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए संतान उत्पन्न करे अथवा आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे या वनमें रहकर वानप्रस्थ-धर्मका आचरण करे अथवा गुरुके समीप रहे या संन्यास-धर्मके अनुसार जीवन व्यतीत करे ॥ ५ ॥

गृहस्थस्त्वेव धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्यते।
यत्र पक्वकषायो हि दान्तः सर्वत्र सिध्यति ॥ ६ ॥

यह गृहस्थ-आश्रम धर्मोंका मूल कहा जाता है। इसमें रहकर अन्तःकरणके रागादि दोष पक जानेपर जितेन्द्रिय पुरुषको सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ६ ॥

प्रजावाञ्श्रोत्रियो यज्वा मुक्त एव ऋणैस्त्रिभिः।
अथान्यानाश्रमान् पश्चात् पूतो गच्छेत कर्मभिः॥ ७ ॥

गृहस्थ पुरुष संतान करके पितृ-ऋणसे, वेदोंका स्वाध्याय करके ऋषि-ऋणसे और यज्ञोंका अनुष्ठान करके देव-ऋणसे छुटकारा पाता है। इस प्रकार तीनों ऋणोंसे मुक्त हो विहित कर्मोंका सम्पादन करके पवित्र बने। तत्पश्चात् दूसरे आश्रमोंमें प्रवेश करे ॥ ७ ॥

यत् पृथिव्यां पुण्यतमं विद्यात् स्थानं तदावसेत्।
यतेत तस्मिन् प्रामाण्यं गन्तुं यशसि चोत्तमे ॥ ८ ॥

इस पृथ्वीपर जो स्थान पवित्र एवं उत्तम जान पड़े, वहीं निवास करे। उसी स्थानमें रहकर उत्तम यशके विषयमें अपनेको आदर्श पुरुष बनानेका प्रयत्न करे ॥ ८ ॥

तपसा वा सुमहता विद्यानां पारणेन वा।
इज्यया प्रदानैर्वा विप्राणां वर्धते यशः ॥ ९ ॥
यावदस्य भवत्यस्मिन् कीर्तिर्लोके यशस्करी।
तावत् पुण्यकृतां लोकाननन्तान् पुरुषोऽश्नुते ॥ १० ॥

महान् तप, पूर्ण विद्याध्ययन, यज्ञ अथवा दान करनेसे ब्राह्मणोंका यश बढ़ता है। जबतक इस जगत्में यशको बढ़ाने वाली उसकी कीर्ति बनी रहती है, तबतक वह पुण्यवानोंके अक्षय लोकोंमें निवास करके दिव्य सुख भोगता रहता है॥

अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेत वा।
न वृथा प्रतिगृह्णीयान्न च दद्यात् कथंचन ॥ ११ ॥

ब्राह्मणको अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंका आश्रय लेना चाहिये; परंतु उसे किसी तरह न तो अनुचित प्रतिग्रह स्वीकार करना चाहिये, न व्यर्थ दान ही देना चाहिये ॥ ११ ॥

याज्यतः शिष्यतो वापि कन्याया वा धनं महत्।
यदाऽऽगच्छेद् यजेद् दद्यान्नैकोऽश्नीयात् कथंचन ॥

यजमानसे, शिष्यसे अथवा कन्या-शुल्कसे जब महान् धन प्राप्त हो, तब उसके द्वारा यज्ञ करे, दान दे, अकेला किसी तरह उस धनका उपभोग न करे ॥ १२ ॥

गृहमावसतो नान्यत् तीर्थं प्रतिग्रहात्।
देवर्षिपितृगुर्वर्थं वृद्धातुरबुभुक्षताम् ॥ १३ ॥

देवता, ऋषि, पितर, गुरु, वृद्ध, रोगी और भूखे मनुष्योंको भोजन देनेके लिये गृहस्थ ब्राह्मणको प्रतिग्रह स्वीकार करना चाहिये। प्रतिग्रहके सिवा ब्राह्मणके लिये धन-संग्रहका दूसरा कोई पवित्र मार्ग नहीं है ॥ १३ ॥

अन्तर्हिताभितप्तानां यथाशक्ति बुभूषताम्।
द्रव्याणामतिशक्त्यापि देयमेषां कृतादपि ॥ १४ ॥
अर्हतामनुरूपाणां नादेयं ह्यस्ति किंचन।
उच्चैःश्रवसमप्यश्वं प्रापणीयं सतां विदुः ॥ १५ ॥

जो दारिद्र्यग्रस्त होनेके कारण लज्जासे छिपे-छिपे फिरते हैं तथा अत्यन्त सतप्त हैं, अथवा जो यथाशक्ति अपनी पारमार्थिक उन्नतिके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं, ऐसे भूदेवों-को उपार्जित धनमेंसे यथाशक्ति देना चाहिये। योग्य एवं पूजनीय ब्राह्मणोंके लिये कोई भी वस्तु अदेय नहीं है। वेदे सत्पात्रोंके लिये तो उच्चैःश्रवा घोड़ा भी दिया जा सकता है। यह श्रेष्ठ पुरुषोंका है ॥ १४-१५ ॥

अनुनीय यथाकामं सत्यसंधो महाव्रतः।
स्वैः प्राणैर्ब्राह्मणप्राणान् परित्राय दिवं गतः ॥ १६ ॥

महान् व्रतधारी राजा सत्यसघने इच्छानुसार अनुनय विनय करके अपने प्राणोंद्वारा एक ब्राह्मणके प्राणोंकी रक्षा की थी, ऐसा करके वे स्वर्गलोकमें गये थे ॥ १६ ॥

रन्तिदेवश्च सांकृत्यो वसिष्ठाय महात्मने।
अपः प्रदाय शीतोष्णा नाकपृष्ठे महीयते ॥ १७ ॥

संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवने महात्मा वसिष्ठको शीतोष्ण जल प्रदान किया था, जिससे वे स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हैं ॥

आत्रेयश्चेन्द्रदमनो ह्यर्हते विविधं धनम् ।
दत्त्वा लोकान् ययौ धीमाननन्तान् स महीपतिः ॥१८॥

अत्रिवंशज बुद्धिमान् राजा इन्द्रदमनने एक योग्य ब्राह्मणको नाना प्रकारके धनका दान करके अक्षय लोक प्राप्त किये थे ॥

शिबिरौशीनरोऽङ्गानि सुतं च प्रियमौरसम् ।
ब्राह्मणार्थमुपाहृत्य नाकपृष्ठमितो [illegible] ॥ १९ ॥

उशीनरके पुत्र राजा शिबिने किसी ब्राह्मणके लिये अपने शरीर और प्रिय औरस पुत्रका दान कर दिया था, जिससे वे यहाँसे स्वर्गलोकमें गये थे ॥ १९ ॥

प्रतर्दनः काशिपतिः प्रदाय नयने स्वके ।
ब्राह्मणायातुलां कीर्तिमिह चामुत्र चाश्नुते ॥ २० ॥

काशिराज प्रतर्दनने किसी ब्राह्मणको अपने दोनों नेत्र प्रदान करके इस लोकमें अनुपम कीर्ति प्राप्त की और परलोकमें वे उत्तम सुख भोगते हैं ॥ २० ॥

दिव्यमष्टशलाकं तु सौवर्णं परमर्द्धिमत् ।
छत्रं देवावृधो दत्त्वा सराष्ट्रोऽभ्यपतद् दिवम् ॥ २१ ॥

राजा देवावृधने आठ शलाकाओं (ताड़ियों) से युक्त सोनेका बना हुआ बहुमूल्य छत्र दान करके अपने देशकी प्रजाके [illegible] स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ २१ ॥

सांकृतिश्च तथाऽऽत्रेयः शिष्येभ्यो [illegible] निर्गुणम् ।
उपदिश्य महातेजा गतो लोकाननुत्तमान् ॥ २२ ॥

अत्रिवंशमें उत्पन्न महातेजस्वी सांकृति अपने शिष्योंको निर्गुण ब्रह्मका उपदेश देकर उत्तम लोकोंको प्राप्त हुए ॥

अम्बरीषो गवां दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यः प्रतापवान् ।
अर्बुदानि दशैकं च सराष्ट्रोऽभ्यपतद् दिवम् ॥ २३ ॥

प्रतापी राजा अम्बरीषने ब्राह्मणोंको ग्यारह अर्बुद (एक अरब दस करोड़) गौएँ दानमें देकर देशवासियों-सहित स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ २३ ॥

सावित्री कुण्डले दिव्ये शरीरं जनमेजयः ।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य जग्मतुर्लोकमुत्तमम् ॥ २४ ॥

सावित्रीने दो दिव्य कुण्डल दान किये थे और राजा जनमेजयने ब्राह्मणके लिये अपने शरीरका परित्याग किया था । इससे वे दोनों उत्तम लोकमें गये ॥ २४ ॥

सर्वरत्नं वृषादर्भिर्युवनाश्वः प्रियाः स्त्रियः ।
रम्यमावसथं चैव दत्त्वा स्वर्लोकमास्थितः ॥ २५ ॥

वृषदर्भके पुत्र युवनाश्व सब प्रकारके रत्न, अभीष्ट स्त्रियाँ तथा सुरम्य गृह दान करके स्वर्गलोकमें निवास करते हैं ॥

निमी राष्ट्रं च वैदेहो जामदग्न्यो वसुन्धराम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ चापि गयश्चोर्वीं सपत्तनाम् ॥ २६ ॥

विदेहराज निमिने अपना राज्य और जमदग्निनन्दन परशुराम तथा राजा गयने नगरोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मणको दानमें दे दी थी ॥ २६ ॥

अवर्षति च पर्जन्ये सर्वभूतानि भूतकृत् ।
वसिष्ठो जीवयामास प्रजापतिरिव प्रजाः ॥ २७ ॥

एक बार पानी न बरसनेपर महर्षि वसिष्ठने प्राणियोंकी सृष्टि करनेवाले दूसरे प्रजापतिके समान सम्पूर्ण प्रजाको जीवन-दान दिया था ॥ २७ ॥

करन्धमस्य [illegible] कृतात्मा मरुतस्तथा ।
कन्यामङ्गिरसे दत्त्वा दिवमाशु जगाम ह ॥ २८ ॥

करन्धमके पुण्यात्मा पुत्र राजा मरुत्तने महर्षि अङ्गिराको कन्यादान करके [illegible] स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया था ॥

ब्रह्मदत्तश्च पाञ्चाल्यो राजा बुद्धिमतां वरः ।
निधिं शङ्खं द्विजाग्र्येभ्यो दत्त्वा लोकानवाप्तवान् ॥ २९ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पाञ्चाल राज ब्रह्मदत्तने उत्तम ब्राह्मणोंको शङ्खनिधि देकर पुण्यलोक प्राप्त किये थे ॥ २९ ॥

राजा मित्रसहश्चापि वसिष्ठाय महात्मने ।
मदयन्ती प्रियां दत्त्वा तया सह दिवं गतः ॥ ३० ॥

राजा मित्रसहने महात्मा वसिष्ठको अपनी प्यारी रानी मदयन्ती देकर उसके साथ ही स्वर्गलोकमें पदार्पण किया था ॥

सहस्रजिच्च राजर्षिः प्राणानिष्टान् महायशाः ।
ब्राह्मणार्थे परित्यज्य गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३१ ॥

महायशस्वी राजर्षि सहस्रजित् ब्राह्मणके लिये अपने प्यारे प्राणोंका परित्याग करके परम उत्तम लोकोंमें गये ॥

सर्वकामैश्च सम्पूर्णं दत्त्वा वेश्म हिरण्मयम् ।
मुद्गलाय गतः स्वर्गं शतद्युम्नो महीपतिः ॥ ३२ ॥

महाराज शतद्युम्न मुद्गल ब्राह्मणको समस्त भोगोंसे सम्पन्न सुवर्णमय भवन देकर स्वर्गलोकमें गये थे ॥ ३२ ॥

[illegible] च द्युतिमान् नाम शाल्वराजः प्रतापवान् ।
दत्त्वा राज्यमृचीकाय गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३३ ॥

प्रतापी शाल्वराज द्युतिमान्ने ऋचीकको राज्य देकर परम उत्तम लोक प्राप्त किये थे ॥ ३३ ॥

लोमपादश्च राजर्षिः शान्तां दत्त्वा सुतां प्रभुः ।
ऋष्यशृङ्गाय विपुलैः सर्वकामैरयुज्यत ॥ ३४ ॥

शक्तिशाली राजर्षि लोमपाद अपनी पुत्री शान्ताका ऋष्यशृङ्गमुनिको दान करके सब प्रकारके प्रचुर भोगोंसे सम्पन्न हो गये ॥ ३४ ॥

मदिराश्वश्च राजर्षिर्दत्त्वा कन्यां सुमध्यमाम् ।
हिरण्यहस्ताय गतो लोकान् देवैरभिष्टुतान् ॥ ३५ ॥

राजर्षि मदिराश्व हिरण्यहस्तको अपनी सुन्दरी कन्या देकर देववन्दित लोकोंमें गये थे ॥ ३५ ॥

दत्त्वा शतसहस्रं [illegible] गवां राजा प्रसेनजित् ।
सवत्सानां महातेजा गतो लोकाननुत्तमान् ॥ ३६ ॥

महातेजस्वी राजा प्रसेनजित्ने एक लाख सवत्सा गौओं-[illegible] दान करके उत्तम लोक प्राप्त किये थे ॥ ३६ ॥

एते चान्ये च बहवो दानेन तपसैव च ।
महात्मानो गताः स्वर्गं शिष्टात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ ३७ ॥

[illegible] तथा और भी बहुतसे शिष्ट स्वभाववाले जितेन्द्रिय

महात्मा दान और तपस्यासे स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ३७ ॥

तेषां प्रतिष्ठिता कीर्तिर्यावत् स्थास्यति मेदिनी ।
दानयज्ञप्रजासर्गैरेते हि दिवमाप्नुवन् ॥ ३८ ॥

जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक उनकी कीर्ति संसारमें स्थिर रहेगी। उन सबने दान, यज्ञ और प्रजा-सृष्टिके द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त किया था ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकानुप्रश्नविषयक दो सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणके कर्तव्यका प्रतिपादन करते हुए कालरूप नदको पार करनेका उपाय बतलाना

व्यास उवाच

त्रयीं विद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तामथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥ १ ॥
तिष्ठत्येतेषु भगवान् षट्सु कर्मसु संस्थितः ।

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! ब्राह्मणको चाहिये कि वेदोंमें बतायी गयी त्रयी विद्या—'अ उ म्' इन तीन अक्षरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रणवविद्याका चिन्तन एवं विचार करे। वेदके छहों अङ्गोंसहित ऋक्, साम, यजुष् एवं अथर्वके मन्त्रोंका स्वर-व्यञ्जनके सहित अध्ययन करे; क्योंकि यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें विराजमान भगवान् धर्म ही इन वेदोंमें प्रतिष्ठित हैं ॥

वेदवादेषु कुशला ह्यध्यात्मकुशलाश्च ये ॥ २ ॥
सत्त्ववन्तो महाभागाः पश्यन्ति प्रभवाप्ययौ ।
एवं धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ॥ ३ ॥

जो लोग वेदोंके प्रवचनमें निपुण, अध्यात्मज्ञानमें कुशल, सत्त्वगुणसम्पन्न और महान् भाग्यशाली हैं, वे जगत्‌की सृष्टि और प्रलयको ठीक-ठीक जानते हैं; अतः ब्राह्मणको इस प्रकार धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए शिष्ट पुरुषोंकी भाँति सदाचारका पालन करना चाहिये ॥ २-३ ॥

असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत वै द्विजः ।
सद्भ्य आगतविज्ञानः शिष्टः शास्त्रविचक्षणः ॥ ४ ॥

ब्राह्मण किसी भी जीवको कष्ट न देकर—उसकी जीविकाका हनन न करके अपनी जीविका चलानेकी इच्छा करे। संतोंकी सेवामें रहकर तत्त्वज्ञान प्राप्त करे, सत्पुरुष बने और शास्त्रकी व्याख्या करनेमें कुशल हो ॥ ४ ॥

स्वधर्मेण क्रिया लोके कुर्वाणः सत्यसंगरः ।
तिष्ठते तेषु गृहवान् षट्सु कर्मसु स द्विजः ॥ ५ ॥

जगत्‌में अपने धर्मके अनुकूल कर्म करे, सत्यप्रतिज्ञ बने। गृहस्थ ब्राह्मणको पूर्वोक्त छः कर्मोंमें ही स्थित रहना चाहिये ॥

पञ्चभिः सततं यज्ञैः श्रद्दधानो यजेत च ।
धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ॥ ६ ॥

सदा श्रद्धापूर्वक पञ्च-महायज्ञोंद्वारा परमात्माका पूजन करे, सर्वदा धैर्य धारण करे। प्रमाद (अकर्तव्य कर्मोंको करने और कर्तव्य कर्मकी अवहेलना करने) से बचे, इन्द्रियोंको संयममें रक्खे, धर्मका ज्ञाता बने और मनको भी अपने अधीन रक्खे ॥ ६ ॥

वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ।
दानमध्ययनं यज्ञस्तपो ह्रीरार्जवं दमः ॥ ७ ॥
एतैर्वर्धयते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ।

जो [illegible] हर्ष, मद और क्रोधसे रहित है, उसे कभी दुःख नहीं उठाना पड़ता है। दान, वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, लज्जा, सरलता और इन्द्रियसंयम—इन सद्गुणोंसे ब्राह्मण अपने तेजकी वृद्धि और पापका नाश करता है ॥ ७½ ॥

धूतपाप्मा च मेधावी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ।

इस प्रकार पाप धुल जानेपर बुद्धिमान् ब्राह्मण स्वल्पाहार करते हुए इन्द्रियोंको जीते और काम तथा क्रोधको अधीन करके ब्रह्मपदको प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥ ८½ ॥

अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चार्चेद् देवताः प्रणमेत च ॥ ९ ॥
वर्जयेदुशतीं वाचं हिंसां चाधर्मसंहिताम् ।
[illegible] पूर्वगता वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ॥ १० ॥

अग्नि, ब्राह्मण और देवताओंको प्रणाम एवं उनका पूजन करे। कड़वी बात मुँहसे न निकाले और हिंसा [illegible] करे; क्योंकि वह अधर्मसे युक्त है। यह ब्राह्मणके लिये परम्परागत वृत्ति (कर्तव्य) का विधान किया गया है ॥ ९-१० ॥

ज्ञात्वागमेन कर्माणि कुर्वन् कर्मसु सिध्यति ।
पञ्चेन्द्रियजलां घोरां लोभकूलां सुदुस्तराम् ॥ ११ ॥
मन्युपङ्कामनाधृष्यां नदीं तरति बुद्धिमान् ।
कालमभ्युद्यतं पश्येन्नित्यमत्यन्तमोहनम् ॥ १२ ॥

कर्मोंके तत्त्वको जानकर उनका अनुष्ठान करनेसे अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। संसारका जीवन एक भयंकर नदीके समान है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इस नदीका जल हैं। लोभ किनारा है। क्रोध इसके भीतर कीचड़ है। इसे पार करना अत्यन्त कठिन है और इसके वेगको दबाना अत्यन्त असम्भव है, तथापि बुद्धिमान् पुरुष इसे पार कर [illegible] है। प्राणियोंको अत्यन्त मोहमें डालनेवाला काल सदा आक्रमण करनेके लिये उद्यत है, इस बातकी ओर सदा ही दृष्टि रक्खे ॥ ११-१२ ॥

महता विधिदृष्टेन बलेनाप्रतिघातिना ।
स्वभावस्रोतसा वृत्तमुह्यते सततं जगत् ॥ १३ ॥

जो महान् है, जो विधाताकी ही दृष्टिमें आ सकता है तथा जिसका बल कहीं प्रतिहत नहीं होता, उस स्वभावरूप

धारा-प्रवाहमें यह सारा जगत् निरन्तर बहता जा रहा है ॥

कालोदकेन महता वर्षावर्तेन संततम् ।
मासोर्मिणर्तुवेगेन पक्षोलपतृणेन च ॥ १४ ॥
निमेषोन्मेषफेनेन अहोरात्रजलेन च ।
कामग्राहेण घोरेण वेदयज्ञप्लवेन च ॥ १५ ॥
धर्मद्वीपेन भूतानां चार्थकामजलेन च ।
ऋतवाङ्मोक्षतीरेण विहिंसातरुवाहिना ॥ १६ ॥
युगह्रदौघमध्येन ब्रह्मप्रायभवेन च ।
धात्रा सृष्टानि भूतानि कृष्यन्ते यमसादनम् ॥ १७ ॥

कालरूपी महान् नद बह रहा है । इसमें वर्षरूपी भँवरें ▇▇ उठ रही हैं । महीने इसकी उत्ताल तरंगें हैं । ऋतु वेग हैं । ▇▇ ▇▇ और तृण हैं । निमेष और उन्मेष फेन हैं । दिन और ▇▇ जल-प्रवाह हैं । कामदेव भयंकर ग्राह है । वेद और ▇▇ नौका हैं । धर्म प्राणियोंका आश्रयभूत द्वीप है । अर्थ और ▇▇ जल हैं । सत्यभाषण और मोक्ष दोनों किनारे हैं । हिंसारूपी वृक्ष ▇▇ कालरूपी प्रवाहमें बह रहे हैं । युग ह्रद हैं ▇▇ ▇▇ ही उस कालनदको उत्पन्न करनेवाला पर्वत है । उसी प्रवाहमें पड़कर विधाताके रचे हुए समस्त प्राणी यमलोककी ओर खिंचे चले जा रहे हैं ॥ १४—१७ ॥

एतत् प्रज्ञामयैर्धीरा निस्तरन्ति मनीषिणः ।
प्लवैरप्लववन्तो हि किं करिष्यन्त्यचेतसः ॥ १८ ॥

बुद्धिमान् और धीर मनुष्य प्रज्ञारूप नौकाओंद्वारा ▇▇ कालनदके पार हो जाते हैं । जो वैसी नौकाओंसे रहित हैं, वे अविवेकी मनुष्य क्या करेंगे ? ॥ १८ ॥

उपपन्नं हि यत् प्राज्ञो निस्तरेन्नेतरो जनः ।
दूरतो गुणदोषौ हि प्राज्ञः सर्वत्र पश्यति ॥ १९ ॥

विद्वान् पुरुष जो कालनदसे पार हो जाता है और अज्ञानी मनुष्य नहीं पार होता है, यह युक्तिसङ्गत ही है; क्योंकि ज्ञानवान् पुरुष सर्वत्र गुण और दोषोंको दूरसे ही देख लेता है ॥ १९ ॥

संशयं ▇ तु कामात्मा चलचित्तोऽल्पचेतनः ।
अप्राज्ञो न तरत्येनं यो ह्यास्ते न स गच्छति ॥ २० ॥

कामनाओंमें आसक्त, चञ्चलचित्त, मन्दबुद्धि एवं अज्ञानी पुरुष संदेहमें पड़ जानेके कारण कालनदको पार नहीं कर पाता तथा जो निश्चेष्ट होकर बैठ ▇▇ है, वह भी उसके पार नहीं जा सकता ॥ २० ॥

अप्लवो हि महादोषं मुह्यमानो नियच्छति ।
कामग्राहगृहीतस्य ज्ञानमप्यस्य न प्लवः ॥ २१ ॥

जिसके पास ज्ञानमयी नौका नहीं है, वह मोहितचित्त मूढ मानव महान् दोषको प्राप्त होता ▇ । कामरूपी ग्राहसे पीड़ित होनेके कारण ज्ञान भी उसके लिये नौका नहीं बन पाता ॥ २१ ॥

तस्मादुन्मज्जनस्यार्थे प्रयतेत विचक्षणः ।
एतदुन्मज्जनं तस्य यदयं ब्राह्मणो भवेत् ॥ २२ ॥

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको कालनद या भवसागरसे पार होनेका अवश्य ▇▇ करना चाहिये । उसका पार होना यही है कि वह वास्तवमें ▇▇ बन जाय अर्थात् ब्रह्मज्ञान ▇▇ करे ॥ २२ ॥

अवदातेषु संजातस्त्रिसंदेहस्त्रिकर्मकृत् ।
तस्मादुन्मज्जने तिष्ठेत् प्रज्ञया निस्तरेद् यथा ॥ २३ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ ▇▇ अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह—इन तीन कर्मोंको संदेहकी दृष्टिसे देखे (कि कहीं इनमें आसक्त न हो जाऊँ) और अध्ययन, यजन तथा दान—इन तीन कर्मोंका ▇▇ पालन करे । वह जैसे भी हो प्रज्ञाद्वारा अपने उद्धारका प्रयत्न करे, उस कालनदसे पार हो जाय ॥ २३ ॥

संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः ।
▇▇▇▇ सिद्धिरिहलोके परत्र च ॥ २४ ॥

जिसके वैदिक संस्कार विधिवत् सम्पन्न हुए हैं, जो नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियोंपर विजय पा चुका है, ▇▇ विज्ञ पुरुषको इहलोक और परलोकमें कहीं भी सिद्धि ▇▇ होते देर नहीं लगती ॥ २४ ॥

वर्तेत तेषु गृहवानक्रुध्यन्ननसूयकः ।
पञ्चभिः सततं यज्ञैर्विघसाशी यजेत च ॥ २५ ॥

गृहस्थ ▇▇ क्रोध और दोष-दृष्टिका त्याग करके पूर्वोक्त नियमोंके पालनमें संलग्न रहे । नित्य पञ्चमहायज्ञोंका अनुष्ठान करे और यज्ञशिष्ट अन्नका ही भोजन करे ॥ २५ ॥

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत् ।
असंरोधेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेदगर्हिताम् ॥ २६ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंके धर्मके अनुसार चले और शिष्टाचारका पालन करे तथा ऐसी आजीविका ▇▇ करनेकी इच्छा करे, जिससे दूसरे लोगोंकी जीविकाका हनन न हो और जिसकी लोकमें निन्दा न होती हो ॥ २६ ॥

श्रुतिविज्ञानतत्त्वज्ञः शिष्टाचारो विचक्षणः ।
स्वधर्मेण क्रियावांश्च कर्मणा सोऽप्यसंकरः ॥ २७ ॥

ब्राह्मणको वेदका विद्वान्, तत्त्वज्ञानी, सदाचारी और चतुर होना चाहिये । वह अपने धर्मके अनुसार कार्य करे, परंतु कर्मद्वारा संकरता न फैलावे अर्थात् स्वधर्म और परधर्मका सम्मिश्रण न करे ॥ २७ ॥

क्रियावाञ्श्रद्दधानो हि दान्तः प्राज्ञोऽनसूयकः ।
धर्माधर्मविशेषज्ञः सर्वं तरति दुस्तरम् ॥ २८ ॥

जो अपने धर्मके अनुसार कार्य करनेवाला, श्रद्धालु, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, विद्वान्, किसीके दोष न देखनेवाला तथा धर्म और अधर्मका विशेषज्ञ है, वह सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाता है ॥ २८ ॥

धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ।
वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ॥ २९ ॥

जो धैर्यवान्, प्रमादशून्य, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, मनस्वी

तथा हर्ष, मद और क्रोधसे रहित है, वह ब्राह्मण कभी विषादको नहीं प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

एषा पुरातनी वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
ज्ञानवत्त्वेन कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति ॥ ३० ॥

यह ब्राह्मणकी प्राचीनकालसे चली आनेवाली वृत्तिका विधान किया गया है। ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले ब्राह्मणको सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३० ॥

अधर्मे धर्मकामो हि करोति ह्यविचक्षणः।
धर्मे चाधर्मसंकाशं शोचन्निव करोति [illegible] ॥ ३१ ॥

धर्मं करोमीति करोत्यधर्म-
मधर्मकामश्च करोति धर्मम्।
उभे बालः कर्मणी न प्रजानन्
स जायते म्रियते चापि देही ॥ ३२ ॥

जो मूढ है, वह धर्मकी इच्छा रखकर भी अधर्म करता है अथवा शोकमग्न-सा होकर अधर्मतुल्य धर्मका सम्पादन करता है। मूर्ख या अविवेकी मनुष्य न जाननेके कारण 'मैं धर्म कर रहा हूँ' ऐसा समझकर अधर्म करता है और अधर्मकी इच्छा रखकर धर्म करता है, इस प्रकार अज्ञानपूर्वक दोनों तरहके कर्म करनेवाला देहधारी मनुष्य बारबार जन्म लेता और मरता है ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३५ ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३५ ॥

षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ध्यानके सहायक योग, उनके फल और सात प्रकारकी धारणाओंका वर्णन तथा सांख्य एवं योगके अनुसार ज्ञानद्वारा मोक्षकी प्राप्ति

व्यास उवाच

अथ चेद् रोचयेदेतद्दुह्येत स्रोतसा यथा।
उन्मज्जंश्च निमज्जंश्च ज्ञानवान् प्लववान् भवेत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—वत्स! मनुष्य जिस [illegible] डूबता-उतराता हुआ जलके प्रवाहमें बहता रहता है और यदि संयोगवश कोई नौका मिल गयी तो उसकी सहायतासे पार [illegible] जाता है, उसी प्रकार संसार-सागरमें डूबता-उतराता हुआ मानव यदि इस संकटसे मुक्त होना चाहे तो उसे ज्ञानरूपी नौकाका आश्रय लेना चाहिये ॥ १ ॥

प्रज्ञया निश्चिता धीरास्तारयन्त्यबुधान् प्लवैः।
नाबुधास्तारयन्त्यन्यानात्मानं वा कथंचन ॥ २ ॥

जिन्हें बुद्धिद्वारा तत्त्वका पूर्ण निश्चय हो गया है, वे धीर पुरुष अपनी ज्ञाननौकाद्वारा दूसरे अज्ञानियोंको भी भवसागर- [illegible] पार कर देते हैं, परंतु जो अज्ञानी हैं वे न तो दूसरोंको तार सकते हैं और न अपना ही किसी प्रकार उद्धार कर पाते हैं ॥ २ ॥

छिन्नदोषो मुनिर्योगान् युक्तो युञ्जीत द्वादश।
देशकर्मानुरागार्थानुपायापायनिश्चयैः ॥ ३ ॥
चक्षुराहारसंहारैर्मनसा दर्शनेन च।

समाहितचित्त मुनिको चाहिये कि वह हृदयके राग आदि दोषोंको नष्ट करके योगमें सहायता पहुँचानेवाले देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष्, आहार, संहार, मन और दर्शन—इन बारह योगोंका आश्रय ले ध्यानयोगका अभ्यास करे* ॥ ३½ ॥

यच्छेद् वाङ्मनसी बुद्ध्या य इच्छेज्ज्ञानमुत्तमम् ॥ [illegible] ॥
ज्ञानेन यच्छेदात्मानं य इच्छेच्छान्तिमात्मनः।

जो उत्तम ज्ञान प्राप्त करना चाहता हो, उसे बुद्धिके [illegible] और वाणीको जीतना चाहिये तथा जो अपने लिये शान्ति चाहे, उसे ज्ञानद्वारा बुद्धिको परमात्मामें नियन्त्रित [illegible] चाहिये ॥ ४½ ॥

एतेषां चेदनुद्रष्टा पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥ ५ ॥
यदि वा सर्ववेदज्ञो यदि वाप्यनृचो द्विजः।
यदि वा धार्मिको [illegible] यदि वा पापकृत्तमः ॥ ६ ॥

* ध्यानयोगके साधकको ऐसे स्थानपर आसन लगाना चाहिये, जो समतल और पवित्र हो। निर्जन वन, गुफा या ऐसा ही कोई एकान्त स्थान [illegible] ध्यानके लिये उपयोगी होता है। ऐसे स्थानपर आसन लगानेको देशयोग कहते [illegible]। आहार-विहार, चेष्टा, सोना और जागना—ये सब परिमित और नियमानुकूल होने चाहिये। यही कर्मनामक योग है। परमात्मा एवं उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तीव्र अनुराग रखना अनुरागयोग कहलाता है। केवल आवश्यक सामग्रीको ही रखना अर्थयोग है। ध्यानोपयोगी आसनसे बैठना उपाययोग है। संसारके विषयों और सगे-सम्बन्धियोंमें आसक्ति [illegible] ममता हटा लेनेको अपाययोग कहते हैं। गुरु और वेदशास्त्रके वचनोंपर विश्वास रखनेका नाम निश्चययोग है। चक्षुको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करना चक्षुर्योग है। शुद्ध और सात्त्विक भोजनका नाम है आहारयोग। विषयोंकी ओर दौड़नेवाली [illegible] इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोकना संहारयोग कहलाता है। मनको संकल्प-विकल्पसे रहित करके एकाग्र करना मनोयोग है। [illegible], मृत्यु, जरा और रोग आदि होनेके समय महान् दुःख और [illegible] दोषोंका वैराग्यपूर्वक दर्शन करना दर्शनयोग है। जिसे योगमें [illegible] सिद्धि [illegible] करनी हो, उसे इन बारह योगोंका अवश्य अवलम्बन करना चाहिये।

यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लेशधारितः ।
तरत्येवं महादुर्गं जरामरणसागरम् ॥ ७ ॥

मनुष्य अत्यन्त दारुण हो या सम्पूर्ण वेदोंका [illegible] हो अथवा ब्राह्मण होकर भी वैदिकज्ञानसे शून्य हो अथवा धर्म-परायण एवं यज्ञशील हो या घोर पापाचारी हो अथवा पुरुषों- [illegible] सिंहके समान शूरवीर हो या बड़े कष्टसे जीवन धारण करता हो, [illegible] यदि इन बारह योगोंका भलीभाँति साक्षात्कार अर्थात् ज्ञान कर ले तो जरा-मृत्युके परम दुर्गम समुद्रसे पार हो जाता है ॥ ५–७ ॥

एवं ह्येतेन योगेन युञ्जानो ह्येवमन्ततः ।
अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ८ ॥

इस प्रकार सिद्धिपर्यन्त इस योगका अभ्यास करनेवाला पुरुष यदि [illegible] जिज्ञासु हो तो वेदोक्त सकाम कर्मोंकी सीमाको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

धर्मोपस्थो ह्रीवरूथ उपायापायकूबरः ।
अपानाक्षः प्राणयुगः प्रज्ञायुर्जीवबन्धनः ॥ ९ ॥
चेतनाबन्धुरश्चारुश्चाचारग्रहनेमिमान् ।
दर्शनस्पर्शनवहो घ्राणश्रवणवाहनः ॥ १० ॥
प्रज्ञानाभिः सर्वतन्त्रप्रतोदो ज्ञानसारथिः ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितो धीरः श्रद्धादमपुरःसरः ॥ ११ ॥
त्यागसूक्ष्मानुगः क्षेम्यः शौचगो ध्यानगोचरः ।
जीवयुक्तो रथो दिव्यो ब्रह्मलोके विराजते ॥ १२ ॥

यह योग एक सुन्दर रथ है । धर्म ही इसका पिछला भाग या बैठक है । लज्जा आवरण है । पूर्वोक्त उपाय और अपाय इसका कूबर है । अपानवायु धुरा है । प्राणवायु जूआ है । बुद्धि आयु है । जीवन बन्धन है । चैतन्य बन्धुर है । सदाचार-ग्रहण इस रथकी नेमि हैं । नेत्र, त्वचा, [illegible] और श्रवण इसके वाहन हैं । प्रज्ञा नाभि है । सम्पूर्ण [illegible] चाबुक है । ज्ञान सारथि है । क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) इसपर रथी बन-कर बैठा हुआ है । यह रथ धीरे-धीरे चलनेवाला है । श्रद्धा और इन्द्रियदमन इस रथके आगे-आगे चलनेवाले रक्षक हैं । त्यागरूपी सूक्ष्म गुण इसके अनुगामी (पृष्ठ-रक्षक) हैं । यह मङ्गलमय रथ ध्यानके पवित्र मार्गपर चलता है । इस प्रकार यह जीवयुक्त दिव्य रथ ब्रह्मलोकमें विराजमान होता है अर्थात् इसके द्वारा जीवात्मा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ॥ ९–१२ ॥

[illegible] संत्वरमाणस्य रथमेवं युयुक्षतः ।
अक्षरं गन्तुमनसो विधिं वक्ष्यामि शीघ्रगम् ॥ १३ ॥

[illegible] प्रकार योगरथपर आरूढ़ हो साधनकी इच्छा रखने-वाले तथा अविनाशी [illegible] परमात्माको [illegible] प्राप्त करने- [illegible] कामनावाले साधकको जिस उपायसे शीघ्र सफलता मिलती है, [illegible] उपाय मैं बता रहा हूँ ॥ १३ ॥

सप्त या धारणाः कृत्स्ना वाग्यतः प्रतिपद्यते ।
पृष्ठतः पार्श्वतश्चान्यास्तावत्यस्ताः प्रधारणाः ॥ १४ ॥

साधक वाणीका [illegible] करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, [illegible], बुद्धि और अहंकारसम्बन्धी [illegible] धारणाओंको सिद्ध करता है । इनके विषयों (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, अहंवृत्ति और निश्चय) से सम्बन्धित सात प्रधारणाएँ इनकी पार्श्ववर्तिनी एवं पृष्ठवर्तिनी हैं ॥ १४ ॥

क्रमशः पार्थिवं यच्च वायव्यं खं [illegible] पयः ।
ज्योतिषो यत् तदैश्वर्यमहङ्कारस्य बुद्धितः ।
अव्यक्तस्य तथैश्वर्यं क्रमशः प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥

साधक क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और बुद्धिके ऐश्वर्यपर अधिकार कर लेता है । इसके बाद वह क्रमपूर्वक अव्यक्त ब्रह्मका ऐश्वर्य भी प्राप्त कर लेता है* ॥

विक्रमाश्चापि यस्यैते तथा युक्तेषु योगतः ।
[illegible] योगस्य युक्तस्य सिद्धिमात्मनि पश्यतः ॥ १६ ॥

अब योगाभ्यासमें प्रवृत्त हुए योगियोंमेंसे जिस योगीको ये आगे बताये जानेवाले पृथ्वीजय आदि ऐश्वर्य जिस प्रकार [illegible] होते हैं; यह बताता हूँ तथा धारणापूर्वक ध्यान करते [illegible] ब्रह्म-प्राप्तिका अनुभव करनेवाले योगीको जो सिद्धि [illegible] होती है, उसका भी वर्णन करता हूँ ॥ १६ ॥

निर्मुच्यमानः सूक्ष्मत्वाद् रूपाणीमानि पश्यतः ।
शैशिरस्तु यथा धूमः सूक्ष्मः संश्रयते नभः ॥ १७ ॥

[illegible] जब स्थूल देहके अभिमानसे मुक्त होकर ध्यानमें स्थित होता है, [illegible] [illegible] सूक्ष्मदृष्टिसे युक्त होनेके [illegible] उसे कुछ इस तरहके रूप (चिह्न) दिखायी पड़ते हैं । प्रारम्भमें पृथ्वीकी धारणा करते समय मालूम होता है कि शिशिरकालीन कुहरेके समान कोई सूक्ष्म वस्तु सम्पूर्ण आकाशको आच्छादित कर रही है ॥ १[illegible] ॥

तथा देहाद् विमुक्तस्य पूर्वं रूपं भवत्युत ।
[illegible] धूमस्य विरमे द्वितीयं रूपदर्शनम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार देहाभिमानसे मुक्त हुए योगीके अनुभवका यह पहला रूप है । जब कुहरा निवृत्त हो जाता है, [illegible] दूसरे [illegible] दर्शन होता है ॥ १८ ॥

---

* पातञ्जलयोग दर्शनमें 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' अर्थात् एक-देशमें चित्तको एकाग्र करना धारणा बतलाया गया है । साधक सर्वप्रथम पृथ्वीतत्त्वमें चित्तको लगावे । [illegible] धारणासे [illegible] पृथ्वीतत्त्वपर अधिकार हो [illegible] है । फिर पृथ्वीतत्त्वको जलतत्त्वमें विलीन करके जलतत्त्वकी धारणा करे । इससे [illegible] जलतत्त्वका ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है । फिर [illegible] तत्त्वको अग्नितत्त्वमें विलीन करके अग्नितत्त्वकी धारणा करे । इससे अग्नितत्त्वपर अधिकार हो जाता है । तदनन्तर अग्निको वायुमें विलीन करके चित्तको वायुतत्त्वमें एकाग्र करे । इससे साधक वायुतत्त्वपर प्रभुत्व [illegible] कर लेता है । इसीप्रकार क्रमशः वायुको आकाशमें और आकाशको मनमें और मनको बुद्धिमें [illegible] करके उस-उस तत्त्वकी धारणा करे । इस प्रकार धारणाके ये सात [illegible] हैं । अन्तमें बुद्धिको अव्यक्त ब्रह्ममें विलीन [illegible] देना चाहिये ।

जलरूपमिवाकाशे तथैवात्मनि पश्यति।
अपां व्यतिक्रमे चास्य वह्निरूपं प्रकाशते ॥ १९ ॥

वह सम्पूर्ण आकाशमें जल-ही-जल-सा देखता है और आत्माको भी जलरूप अनुभव करता है (यह अनुभव जल-तत्त्वकी धारणा करते समय होता है)। फिर जलका लय हो जानेपर अग्नितत्त्वकी धारणा करते समय उसे सर्वत्र अग्नि प्रकाशित दिखायी देती है ॥ १९ ॥

तस्मिन्नुपरतेऽजोऽस्य पीतशस्त्रः प्रकाशते।
ऊर्णारूपसवर्णस्य तस्य रूपं प्रकाशते ॥ २० ॥

उसके भी लय हो जानेपर योगीको आकाशमें सर्वत्र फैले हुए वायुका ही अनुभव होता है। उस समय वृक्ष और पर्वत आदि अपने समस्त शस्त्रोंको पी जानेके कारण वायुकी 'पीतशस्त्र' संज्ञा हो जाती है अर्थात् पृथ्वी, जल और तेजरूप समस्त पदार्थोंको निगलकर वायु केवल आकाशमें ही आन्दोलित होता रहता है और योगी स्वयं भी ऊनके धागेके समान अत्यन्त छोटा और हलका होकर अपनेको निराधार आकाशमें वायुके साथ ही स्थित मानता है ॥ २० ॥

अथ श्वेतां गतिं गत्वा वायव्यं सूक्ष्ममप्युत।
अशुक्लं चेतसः सौक्ष्म्यमप्युक्तं ब्राह्मणस्य वै ॥ २१ ॥

तदनन्तर तेजका संहार और वायु-तत्त्वपर विजय प्राप्त होनेके पश्चात् वायुका सूक्ष्म रूप स्वच्छ आकाशमें लीन हो जाता है और केवल नीलाकाशमात्र शेष रह जाता है। उस अवस्थामें ब्रह्मभावको प्राप्त होनेकी इच्छा रखनेवाले योगीका चित्त अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, ऐसा बताया गया है। (उसे अपने स्थूल रूपका तनिक भी भान नहीं रहता। यही वायुका लय और आकाशतत्त्वपर विजय कहलाता है।) ॥ २१ ॥

एतेष्वपि हि जातेषु फलजातानि मे शृणु।
जातस्य पार्थिवैश्वर्यैः सृष्टिरत्र विधीयते ॥ २२ ॥

इन सब लक्षणोंके प्रकट हो जानेपर योगीको जो-जो फल प्राप्त होते हैं, उन्हें मुझसे सुनो। पार्थिव ऐश्वर्यकी सिद्धि हो जानेपर योगीमें सृष्टि करनेकी शक्ति आ जाती है ॥

प्रजापतिरिवाक्षोभ्यः शरीरात् सृजते प्रजाः।
अङ्गुल्यङ्गुष्ठमात्रेण हस्तपादेन वा तथा ॥ २३ ॥
पृथिवीं कम्पयत्येको गुणो वायोरिति श्रुतिः।

वह प्रजापतिके समान क्षोभरहित होकर अपने शरीरसे प्रजाकी सृष्टि कर सकता है। जिसको वायुतत्त्व सिद्ध हो जाता है, वह बिना किसीकी सहायताके हाथ-पैर, अँगूठे अथवा अङ्गुलिमात्रसे दबाकर पृथ्वीको कम्पित कर सकता है—ऐसा सुननेमें आया है २३½ ॥

आकाशभूतश्चाकाशे सवर्णत्वात् प्रकाशते ॥ २४ ॥
वर्णतो गृह्यते चापि कामात् पिबति चाशयान्।

आकाशको सिद्ध करनेवाला पुरुष आकाशमें आकाशके ही-समान सर्वव्यापी हो जाता है। वह अपने शरीरको अन्तर्धान करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। जिसका जल-तत्त्वपर अधिकार होता है, वह इच्छा करते ही बड़े-बड़े जलाशयोंको पी जाता है ॥ २४½ ॥

न चास्य तेजसा रूपं दृश्यते शाम्यते तथा।
अहङ्कारेऽस्य विजिते पञ्चैते स्युर्वशानुगाः ॥ २५ ॥

अग्नितत्त्वको सिद्ध कर लेनेपर वह अपने शरीरको इतना तेजस्वी बना लेता है कि कोई उसकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता और न उसके तेजको बुझा ही सकता है। अहंकारको जीत लेनेपर पाँचों भूत योगीके वशमें हो जाते हैं ॥

षण्णामात्मनि बुद्धौ च जितायां प्रभवत्यथ।
निर्दोषप्रतिभा ह्येनं कृत्स्ना समभिवर्तते ॥ २६ ॥

पञ्चभूत और अहंकार—इन छः तत्त्वोंका आत्मा है बुद्धि। उसको जीत लेनेपर सम्पूर्ण ऐश्वर्योंकी प्राप्ति हो जाती है तथा उस योगीको निर्दोष प्रतिभा (विशुद्ध तत्त्वज्ञान) पूर्ण रूपसे प्राप्त हो जाती है ॥ २६ ॥

तथैव व्यक्तमात्मानमव्यक्तं प्रतिपद्यते।
यतो निःसरते लोको भवति व्यक्तसंज्ञकः ॥ २७ ॥

उपर्युक्त सात पदार्थोंका कार्यभूत व्यक्त जगत् अव्यक्त परमात्मामें ही विलीन हो जाता है, क्योंकि उन्हीं परमात्मासे यह जगत् उत्पन्न होता है और व्यक्त नाम धारण करता है ॥

तत्राव्यक्तमयीं विद्यां शृणु त्वं विस्तरेण मे।
तथा व्यक्तमयं चैव सांख्ये पूर्वं निबोध मे ॥ २८ ॥

राजन्! तुम सांख्यदर्शनमें वर्णित अव्यक्तविद्याका विस्तारपूर्वक मुझसे श्रवण करो। सर्वप्रथम सांख्यशास्त्रमें कथित व्यक्तविद्याको मुझसे समझो ॥ २८ ॥

पञ्चविंशति तत्त्वानि तुल्यान्युभयतः समम्।
योगे सांख्येऽपि च तथा विशेषं तत्र मे शृणु ॥ २९ ॥

सांख्य और पातञ्जलयोग—इन दोनों दर्शनोंमें समान-भावसे पच्चीस तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है*। इस

---

* सांख्य-कारिकामें बतलाया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥
(सा० का० ३)

मूलप्रकृति—अव्याकृत माया, महत्तत्त्व आदि प्रकृतिके सात विकार—महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), सोलह विकार—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, हाथ, पैर, गुदा और शिश्न) एवं मन और पञ्चमहाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) एवं पुरुष, जो न प्रकृति है और न प्रकृतिका विकार ही—इस प्रकार सांख्यके अनुसार ये पचीस तत्त्व हैं।

पातञ्जलयोगदर्शनमें इनका इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।
(योग० साधनपाद १९)

'विशेष—पञ्चमहाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन, अविशेष—पञ्चतन्मात्रा और अहंकार, लिङ्गमात्र—महत्तत्त्व, अलिङ्ग—मूलप्रकृति, इस प्रकार ये चौबीस तत्त्व एवं पचीसवाँ द्रष्टा (पुरुष) है।

विषयमें जो विशेष बात है, वह मुझसे सुनो ॥ २९ ॥

प्रोक्तं तद् व्यक्तमित्येव जायते वर्धते च यत्।
जीर्यते म्रियते चैव चतुर्भिर्लक्षणैर्युतम् ॥ ३० ॥

जन्म, वृद्धि, जरा और मरण—इन चार लक्षणोंसे युक्त जो तत्त्व है, उसीको व्यक्त कहते हैं ॥ ३० ॥

विपरीतमतो यत् तु तदव्यक्तमुदाहृतम्।
द्वावात्मानौ च वेदेषु सिद्धान्तेष्वप्युदाहृतौ ॥ ३१ ॥

जो तत्त्व इसके विपरीत है अर्थात् जिसमें जन्म आदि चारों विकार नहीं है, उसे अव्यक्त कहा गया है। वेदों और सिद्धान्तप्रतिपादक शास्त्रोंमें उस अव्यक्तके दो भेद बताये गये हैं—जीवात्मा और परमात्मा ॥ ३१ ॥

चतुर्लक्षणजं त्वाद्यं चतुर्वर्गं प्रचक्षते।
व्यक्तमव्यक्तजं चैव तथा बुद्धमथेतरत् ॥
सत्त्वं क्षेत्रज्ञ इत्येतद् द्वयमप्यनुदर्शितम् ॥ ३२ ॥
द्वावात्मानौ च वेदेषु विषयेष्वनुरज्यतः।
विषयात् प्रतिसंहारः सांख्यानां सिद्धिलक्षणम् ॥ ३३ ॥

अव्यक्त होते हुए भी जीवात्मा व्यक्तके सम्पर्कसे जन्म, वृद्धि, जरा और मृत्यु—इन चार लक्षणोंसे युक्त तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंसे सम्बन्धित कहा जाता है। दूसरा अव्यक्त परमात्मा ज्ञानस्वरूप है। व्यक्त (जडवर्ग) की उत्पत्ति उसी अव्यक्त (परमात्मा) से होती है। व्यक्तको सत्त्व (जडवर्ग—क्षेत्र) तथा अव्यक्त जीवात्माको क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनोंहीका वर्णन किया गया है। वेदोंमें भी पूर्वोक्त दो आत्मा बताये गये हैं। विषयोंमें आसक्त हुआ जीवात्मा जब आसक्तिरहित होकर विषयोंसे निवृत्त हो जाता है, तब वह मुक्त कहलाता है। सांख्यवादियोंके मतमें यही मोक्षका लक्षण है ॥ ३२-३३ ॥

निर्ममश्चानहङ्कारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः।
नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृता भाषते गिरः ॥ ३४ ॥
आक्रुष्टस्ताडितश्चैव मैत्रेण ध्याति नाशुभम्।
वाग्दण्डकर्ममनसां त्रयाणां च निवर्तकः ॥ ३५ ॥
समः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्माणमभिवर्तते।

जिसने ममता और अहंकारका त्याग कर दिया है, जो शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंको समानभावसे सहता है, जिसके संशय दूर हो गये हैं, जो कभी क्रोध और द्वेष नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, किसीकी गाली सुनकर और मार खाकर भी [illegible] अहित नहीं सोचता, सबपर मित्रभाव ही रखता है, जो मन, वाणी और कर्मसे किसी जीवको कष्ट नहीं पहुँचाता और [illegible] प्राणियोंपर समानभाव रखता है, वही योगी ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ३४-३५½ ॥

नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्रव्यवस्थितः ॥ ३६ ॥
अलोलुपोऽव्यथो दान्तो न कृती न निराकृतिः।
नास्येन्द्रियमनेकाग्रं न विक्षिप्तमनोरथः ॥ ३७ ॥
सर्वभूतसदृङ्मैत्रः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ ३८ ॥
अस्पृहः सर्वकामेभ्यो ब्रह्मचर्यदृढव्रतः।
अहिंस्रः सर्वभूतानामीदृक् सांख्यो विमुच्यते ॥ ३९ ॥

जो किसी वस्तुकी न तो इच्छा करता है, न अनिच्छा ही करता है, जीवन-निर्वाहमात्रके लिये जो कुछ मिल जाता है, उसीपर संतोष करता है, जो निर्लोभ, व्यथारहित और जितेन्द्रिय है, जिसको न तो कुछ करनेसे प्रयोजन है और न कुछ न करनेसे ही, जिसकी इन्द्रियाँ और मन कभी चञ्चल नहीं होते, जिसका मनोरथ पूर्ण हो गया है, जो समस्त प्राणियोंपर समान दृष्टि और मैत्रीभाव रखता है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और स्वर्णको एक-सा समझता है, जिसकी दृष्टिमें प्रिय और अप्रियका भेद नहीं है, जो धीर है और अपनी निन्दा तथा स्तुतिमें [illegible] रहता है, जो सम्पूर्ण भोगोंमें स्पृहारहित है, जो दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित है तथा जो [illegible] प्राणियोंमें हिंसाभावसे रहित है, ऐसा सांख्ययोगी (ज्ञानी) संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३६-३९ ॥

[illegible] योगाद् विमुच्यन्ते कारणैर्यैर्निबोध तत्।
योगैश्वर्यमतिक्रान्तो यो निष्क्रामति मुच्यते ॥ ४० ॥

योगी जिस प्रकार और जिन कारणोंसे योगके फलस्वरूप मोक्ष लाभ करते हैं, अब उन्हें बताता हूँ, सुनो। जो पर-वैराग्यके बलसे योगजनित ऐश्वर्यको लाँघकर उसकी सीमासे बाहर निकल जाता है, वही मुक्त होता है ॥ ४० ॥

इत्येषा भावजा बुद्धिः कथिता ते न संशयः।
एवं भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्माणं चाधिगच्छति ॥ ४१ ॥

बेटा! यह तुम्हारे निकट मैंने भावशुद्धिसे प्राप्त होनेवाली बुद्धिका वर्णन किया है। जो उपर्युक्तरूपसे साधना करके द्वन्द्वोंसे रहित हो जाता है, वही ब्रह्मभावको प्राप्त होता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने षट्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

सृष्टिके समस्त कार्योंमें बुद्धिकी प्रधानता और प्राणियोंकी श्रेष्ठताके तारतम्यका वर्णन

व्यास उवाच

अथ ज्ञानप्लवं धीरो गृहीत्वा शान्तिमात्मनः।
उन्मज्जंश्च निमज्जंश्च ज्ञानमेवाभिसंश्रयेत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—वत्स! धीर पुरुषको चाहिये

कि वह विवेकरूप नौकाका अवलम्बन लेकर भवसागरमें डूबता-उतरता हुआ अर्थात् प्रत्येक परिस्थितिमें अपनी परम शान्तिके लिये वास्तविक ज्ञानके आश्रित हो जाय ॥ १ ॥

शुक उवाच

किं तज्ज्ञानमथो विद्या यया निस्तरते द्वयम् ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिरिति वा वद ॥ २ ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! जिसके द्वारा मनुष्य जन्म और मृत्यु दोनोंके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है, वह ज्ञान अथवा विद्या क्या है ? वह प्रवृत्तिरूप धर्म है या निवृत्तिरूप ? यह मुझे बताइये ॥ २ ॥

व्यास उवाच

यस्तु पश्यन् स्वभावेन विनाभावमचेतनः ।
पुष्यते च पुनः सर्वान् प्रज्ञया मुक्तहेतुकान् ॥ ३ ॥

व्यासजीने कहा—जो यह समझता है कि यह जगत् स्वभावसे ही उत्पन्न है, इसका कोई चेतन मूल कारण नहीं है, वह अज्ञानी मनुष्य व्यर्थ तर्कयुक्त बुद्धिद्वारा हेतुरहित वचनोंका बारंबार पोषण करता रहता है ॥ ३ ॥

येषां चैकान्तभावेन स्वभावात् कारणं मतम् ।
पूत्वा तृणमिषीकां वा ते लभन्ते न किंचन ॥ ४ ॥

जिनकी यह मान्यता है कि निश्चित-रूपसे वस्तुगत स्वभाव ही जगत्का कारण है—स्वभावसे भिन्न अन्य कोई कारण नहीं है, (किंतु इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध न होने मात्र हेतुसे उनका यह मानना कि ईश्वर-जैसा कोई जगत्का कारण है ही नहीं, युक्तिसङ्गत नहीं है; क्योंकि) मूँजके भीतर स्थित दिखायी न देनेवाली सींक क्या मूँजको चीर डालनेपर उन्हें उपलब्ध नहीं होती ? अपितु अवश्य होती है (उसी प्रकार समस्त जगत्में व्याप्त परमात्मा यद्यपि इन्द्रियोंद्वारा दिखायी नहीं देता तो भी उसकी उपलब्धि दिव्य-ज्ञानके द्वारा अवश्य होती है) ॥ ४ ॥

ये चैनं पक्षमाश्रित्य निवर्तन्त्यल्पमेधसः ।
स्वभावं कारणं ज्ञात्वा न श्रेयः प्राप्नुवन्ति ते ॥ ५ ॥

जो मन्दबुद्धि मानव इस नास्तिक-मतका अवलम्बन करके स्वभावहीको कारण जानकर परमेश्वरकी उपासनासे निवृत्त हो जाते हैं, वे कल्याणके भागी नहीं होते हैं ॥ ५ ॥

स्वभावो हि विनाशाय मोहकर्म मनोभवः ।
निरुक्तमेतयोरेतत् स्वभावपरिभावयोः ॥ ६ ॥

नास्तिक लोग जो स्वभाववादका आश्रय लेकर ईश्वर और अदृष्टकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते हैं, यह उनका मोहजनित कार्य है, स्वभाववाद मूढ़ोंकी कल्पनामात्र है। यह मानवोंको परमार्थसे वञ्चित करके उनका विनाश करनेके लिये ही उपस्थित किया गया है । स्वभाव और परिभावके तत्त्वका यह आगे बताया जानेवाला विवेचन सुनो ॥ ६ ॥

कृष्यादीनीह कर्माणि सस्यसंहरणानि च ।
प्रज्ञावद्भिः प्रक्लृप्तानि यानासनगृहाणि च ॥ ७ ॥

देखा जाता है कि जगत्में बुद्धिसम्पन्न चेतन प्राणियोंद्वारा ही भूमिको जोतने आदिके कार्य, अनाजके बीजोंका संग्रह तथा सवारी, आसन और गृहनिर्माण—ये सब कार्य सदा ही किये जाते हैं । यदि स्वभावसे ये कार्य हो जाते तो कोई इनमें प्रवृत्त ही न होता ॥ ७ ॥

आक्रीडानां गृहाणां च गदानामगदस्य च ।
प्रज्ञावन्तः प्रयोक्तारो ज्ञानवद्भिरनुष्ठिताः ॥ ८ ॥

बेटा ! चेतन प्राणी क्रीडाके लिये स्थान और रहनेके लिये घर बनाते हैं । वे ही रोगोंको पहचानकर उनपर ठीक ठीक दवाका प्रयोग करते हैं । बुद्धिमान् पुरुषोंद्वारा ही इन सब कार्योंका यथावत् अनुष्ठान होता है (स्वभावसे-अपने आप नहीं) ॥ ८ ॥

प्रज्ञा संयोजयत्यर्थैः [illegible] श्रेयोऽधिगच्छति ।
राजानो भुञ्जते राज्यं प्रज्ञया तुल्यलक्षणाः ॥ ९ ॥

बुद्धि ही धनकी प्राप्ति कराती है । बुद्धिसे ही मनुष्य कल्याणको [illegible] होता है । एक-से लक्षणोंवाले राजाओंमें भी जो बुद्धिमें बढ़े-चढ़े होते हैं, वे ही राज्यका उपभोग और दूसरोंपर शासन करते हैं ॥ ९ ॥

परावरं तु भूतानां ज्ञानेनैवोपलभ्यते ।
विद्यया [illegible] सृष्टानां विद्यैवेह परा गतिः ॥ १० ॥

[illegible] ! प्राणियोंके स्थूल-सूक्ष्म या छोटे-बड़ेका भेद बुद्धिसे ही [illegible] जाता है । इस जगत्में [illegible] प्राणियोंकी सृष्टि विद्यासे हुई है और उनकी परम गति विद्या ही है ॥ १० ॥

भूतानां जन्म सर्वेषां विविधानां चतुर्विधम् ।
जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजं चोपलक्षयेत् ॥ ११ ॥

संसारमें जो नाना प्रकारके जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चतुर्विध प्राणी हैं, उन सबके जन्मको भी लक्ष्य करना चाहिये ॥ ११ ॥

स्थावरेभ्यो विशिष्टानि जङ्गमान्युपधारयेत् ।
उपपन्नं हि यच्चेष्टा विशिष्येत विशेष्यया ॥ १२ ॥

स्थावर प्राणियोंसे जङ्गम प्राणियोंको श्रेष्ठ समझना चाहिये । यह बात युक्तिसङ्गत भी है, क्योंकि उनमें विशेषरूप से चेष्टा देखी जाती है, इस विशेषताके कारण जङ्गम प्राणियों की विशिष्टता स्वतः सिद्ध है ॥ १२ ॥

आहुर्वै बहुपादानि जङ्गमानि द्वयानि तु ।
बहुपाद्भ्यो विशिष्टानि द्विपदानि बहून्यपि ॥ १३ ॥

जङ्गम जीवोंमें भी बहुत पैरवाले और दो पैरवाले—ये दो तरहके प्राणी होते हैं । इनमें बहुत पैरवालोंकी अपेक्षा दो पैरवाले अनेक प्राणी श्रेष्ठ बताये गये हैं ॥ १३ ॥

द्विपदानि द्वयान्याहुः पार्थिवानीतराणि च ।
पार्थिवानि विशिष्टानि तानि ह्यन्नानि भुञ्जते ॥ १४ ॥

दो पैरवाले जङ्गम प्राणी भी दो प्रकारके कहे गये हैं— पार्थिव (मनुष्य) और अपार्थिव (पक्षी) । अपार्थिवसे पार्थिव श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे अन्न भोजन करते हैं ॥ १४ ॥

पार्थिवानि द्वयान्याहुर्मध्यमान्यधमानि च।
मध्यमानि विशिष्टानि जातिधर्मोपधारणात्॥ १५॥

पार्थिव (मनुष्य) भी दो प्रकारके बताये गये हैं—मध्यम और अधम। उनमें मध्यम मनुष्य अधमकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे जाति-धर्मको धारण करते हैं॥ १५॥

मध्यमानि द्वयान्याहुर्धर्मज्ञानीतराणि च।
धर्मज्ञानि विशिष्टानि कार्याकार्योपधारणात्॥ १६॥

मध्यम मनुष्य दो प्रकारके कहे गये हैं—धर्मज्ञ और धर्मसे अनभिज्ञ। इनमें धर्मज्ञ ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका विवेक रखते और कर्त्तव्यका पालन करते हैं॥१६॥

धर्मज्ञानि द्वयान्याहुर्वेदज्ञानीतराणि च।
वेदज्ञानि विशिष्टानि वेदो ह्येषु प्रतिष्ठितः॥ १७॥

धर्मज्ञोंके भी दो भेद कहे गये हैं—वेदज्ञ और अवेदज्ञ। इनमें वेदज्ञ श्रेष्ठ हैं; क्योंकि उन्हींमें वेद प्रतिष्ठित है॥ १७॥

वेदज्ञानि द्वयान्याहुः प्रवक्तॄणीतराणि च।
प्रवक्तॄणि विशिष्टानि सर्वधर्मोपधारणात्॥१८॥

वेदज्ञ भी दो प्रकारके बताये गये हैं—प्रवक्ता और अप्रवक्ता। इनमें प्रवक्ता (प्रवचन करनेवाले) श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे वेदमें बताये हुए सम्पूर्ण धर्मोंको धारण करनेवाले होते हैं।१८।

विज्ञायन्ते हि यैर्वेदाः सधर्माः सक्रियाफलाः।
सधर्मा निखिला वेदाः प्रवक्तृभ्यो विनिःसृताः॥१९॥

एव उन्हींके द्वारा धर्म, कर्म और फलोंसहित वेदोंका ज्ञान दूसरोंको होता है। धर्मसहित सम्पूर्ण वेद प्रवक्ताओंके ही मुखसे प्रकट होते हैं॥ १९॥

प्रवक्तॄणि द्वयान्याहुरात्मज्ञानीतराणि च।
आत्मज्ञानि विशिष्टानि जन्माजन्मोपधारणात्॥ २०॥

प्रवक्ता भी दो प्रकारके कहे गये हैं—आत्मज्ञ और अनात्मज्ञ। इनमें आत्मज्ञ पुरुष ही श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे जन्म और मृत्युके तत्त्वको समझते हैं॥ २०॥

धर्मद्वयं हि यो वेद स सर्वज्ञः स सर्ववित्।
स त्यागी सत्यसंकल्पः सत्यः शुचिरथेश्वरः॥ २१॥

जो प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप दो प्रकारके धर्मको जानता है, वही सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता, त्यागी, सत्यसंकल्प, सत्यवादी, पवित्र और समर्थ होता है॥ २१॥

ब्रह्मज्ञानप्रतिष्ठं हि तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
शब्दब्रह्मणि निष्णातं परे च कृतनिश्चयम्॥ २२॥

जो शब्दब्रह्म (वेद) में पारङ्गत होकर परब्रह्मके तत्त्वका निश्चय कर चुका है और सदा ब्रह्मज्ञानमें ही स्थित रहता है, उसे ही देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं॥ २२॥

अन्तःस्थं च बहिष्ठं च साधियज्ञाधिदैवतम्।
ज्ञानान्विता हि पश्यन्ति ते देवास्तात ते द्विजाः॥ २३॥

बेटा! जो लोग ज्ञानवान् होकर बाहर और भीतर व्याप्त अधियज्ञ (परमात्मा) और अधिदैव (पुरुष) का साक्षात्कार कर लेते हैं, वे ही देवता और वे ही द्विज हैं॥२३॥

तेषु विश्वमिदं भूतं सर्वं च जगदाहितम्।
तेषां माहात्म्यभावस्य सदृशं नास्ति किंचन॥ २४॥

उन्हींमें यह सारा विश्व, सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। उनके माहात्म्यकी कहीं कोई तुलना नहीं है॥ २४॥

आद्यन्तं निधनं चैव कर्म चातीत्य सर्वशः।
चतुर्विधस्य भूतस्य सर्वस्येशाः स्वयम्भुवः॥ २५॥

वे जन्म, मृत्यु और कर्मकी सीमाको भलीभाँति लाँघकर समस्त चतुर्विध प्राणियोंके अधीश्वर एवं स्वयम्भू होते हैं॥ २५॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने सप्तत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २३७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३७॥

अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

नाना प्रकारके भूतोंकी समीक्षापूर्वक कर्मतत्त्वका विवेचन, युगधर्मका वर्णन एवं कालका महत्त्व

व्यास उवाच

एषा पूर्वतरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
ज्ञानवानेव कर्माणि कुर्वन् सर्वत्र सिध्यति॥ १॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! यह ब्राह्मणकी अत्यन्त प्राचीनकालसे चली आयी हुई वृत्ति है, जो शास्त्रविहित है। ज्ञानवान् मनुष्य ही सर्वत्र कर्म करता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है॥ १॥

तत्र चेन्न भवेदेवं संशयः कर्मसिद्धये।
किं नु कर्म स्वभावोऽयं ज्ञानं कर्मेति वा पुनः॥ २॥

यदि कर्ममें संशय न हो तो वह सिद्धि देनेवाला होता है। यहाँ संदेह यह होता है कि क्या यह कर्म स्वभावसिद्ध है अथवा ज्ञानजनित?॥ २॥

तत्र वेदविधिः स स्याज्ज्ञानं चेत् पुरुषं प्रति।
उपपत्त्युपलब्धिभ्यां वर्णयिष्यामि तच्छृणु॥ ३॥

उपर्युक्त संशय होनेपर यह कहा जाता है कि यदि पुरुषके लिये वैदिक विधानके अनुसार कर्त्तव्य हो तो ज्ञान-जन्य है, अन्यथा स्वाभाविक है। मैं युक्ति और फल-प्राप्तिके सहित इस विषयका वर्णन करूँगा, तुम उसे सुनो॥ ३॥

पौरुषं कारणं केचिदाहुः कर्मसु मानवाः।
दैवमेके प्रशंसन्ति स्वभावमपरे जनाः॥ ४॥

कुछ मनुष्य कर्मोंमें पुरुषार्थको कारण बताते हैं। कोई-कोई दैव (प्रारब्ध अथवा भावी)की प्रशंसा करते हैं और दूसरे लोग स्वभावके गुण गाते हैं॥ ४॥

पौरुषं कर्म दैवं च कालवृत्तिस्वभावतः ।
त्रयमेतत् पृथग्भूतमविवेकं तु केचन ॥ ५ ॥

कितने ही मनुष्य पुरुषार्थद्वारा की हुई क्रिया, दैव और कालगत स्वभाव—इन तीनोंको कारण मानते हैं। कुछ लोग इन्हें पृथक्-पृथक् प्रधानता देते हैं अर्थात् इनमेंसे एक प्रधान है और दूसरे दो अप्रधान कारण हैं—ऐसा कहते हैं और कुछ लोग इन तीनोंको पृथक् न करके इनके समुच्चयको ही कारण बताते हैं ॥ ५ ॥

एवमेतं च नैवं च न चोभे नानुभे तथा ।
कर्मस्था विषयं ब्रूयुः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः ॥ ६ ॥

कुछ कर्मनिष्ठ विचारक घट-पट आदि विषयोंके सम्बन्धमें कहते हैं कि 'यह ऐसा ही है।' दूसरे कहते हैं कि 'यह ऐसा नहीं है।' तीसरोंका कहना है कि 'ये दोनों ही सम्भव हैं अर्थात् यह ऐसा है और नहीं भी है।' अन्य लोग कहते हैं कि 'ये दोनों ही मत सम्भव नहीं हैं' परंतु सत्त्वगुणमें स्थित हुए योगी पुरुष सर्वत्र समस्वरूप ब्रह्मको ही कारणरूपमें देखते हैं ॥ ६ ॥

त्रेतायां द्वापरे चैव कलिजाश्चससंशयाः ।
तपस्विनः प्रशान्ताश्च सत्त्वस्थाश्च कृते युगे ॥ ७ ॥

त्रेता, द्वापर तथा कलियुगके मनुष्य परमार्थके विषयमें संशयशील होते हैं; परंतु सत्ययुगके लोग तपस्वी और सत्त्वगुणी होनेके कारण प्रशान्त (संशयरहित) होते हैं ॥ ७ ॥

अपृथग्दर्शनाः सर्वे ऋक्सामसु यजुःषु च ।
कामद्वेषौ पृथक् कृत्वा तपः कृत उपासते ॥ ८ ॥

सत्ययुगमें सभी द्विज ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीनोंमें भेददृष्टि न रखते हुए राग-द्वेषको मनसे हटाकर तपस्याका आश्रय लेते हैं ॥ ८ ॥

तपोधर्मेण संयुक्तस्तपोनित्यः सुसंशितः ।
तेन सर्वानवाप्नोति कामान् यान् मनसेच्छति ॥ ९ ॥

जो मनुष्य तपस्यारूप धर्मसे संयुक्त हो पूर्णतया संयमका पालन करते हुए सदा तपमें ही तत्पर रहता है, वह उसीके द्वारा अपने मनसे जिन-जिन कामनाओंको चाहता है, उन सबको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

तपसा तदवाप्नोति यद् भूत्वा सृजते जगत् ।
तद् भूतश्च ततः सर्वभूतानां भवति प्रभुः ॥ १० ॥

तपस्यासे मनुष्य उस ब्रह्मभावको प्राप्त कर लेता है, जिसमें स्थित होकर वह सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करता है, अतः ब्रह्मभावको प्राप्त व्यक्ति समस्त प्राणियोंका प्रभु हो जाता है ॥ १० ॥

तदुक्तं वेदवादेषु गहनं वेददर्शिभिः ।
वेदान्तेषु पुनर्व्यक्तं कर्मयोगेन लक्ष्यते ॥ ११ ॥

वह ब्रह्म वेदके कर्मकाण्डोंमें गुप्तरूपसे प्रतिपादित हुआ है; अतः वेदज्ञ विद्वानोंद्वारा भी वह अज्ञात ही रहता है। किंतु वेदान्तमें उसी ब्रह्मका स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया गया है और निष्काम कर्मयोगके द्वारा उस ब्रह्मका साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ ११ ॥

आलम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः ।
परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातयः ॥ १२ ॥

क्षत्रिय आलम्भ[1] यज्ञ करनेवाले होते हैं, वैश्य हविष्प्रधान यज्ञ करनेवाले माने गये हैं, शूद्र सेवारूप यज्ञ करनेवाले और ब्राह्मण जपयज्ञ करनेवाले होते हैं ॥ १२ ॥

परिनिष्ठितकार्यो हि स्वाध्यायेन द्विजो भवेत् ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ १३ ॥

क्योंकि ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्यायसे ही कृतकृत्य हो जाता है। वह और कोई कार्य करे या न करे, सब प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला होनेके कारण ही वह ब्राह्मण कहलाता है ॥

त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा ।
संरोधादायुपस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे ॥ १४ ॥

सत्ययुग और त्रेतामें वेद, यज्ञ तथा वर्णाश्रम धर्म विशुद्ध रूपमें पालित होते हैं, परन्तु द्वापरयुगमें लोगोंकी आयुका ह्रास होनेके कारण ये भी क्षीण होने लगते हैं ॥ १४ ॥

द्वापरे विप्लवं यान्ति वेदाः कलियुगे तथा ।
दृश्यन्ते नापि दृश्यन्ते कलेरन्ते पुनः किल ॥ १५ ॥

द्वापर और कलियुगमें वेद प्रायः लुप्त हो जाते हैं। कलियुगके अन्तिम भागमें तो वे कभी कहीं दिखायी देते हैं और कभी दिखायी भी नहीं देते हैं ॥ १५ ॥

उत्सीदन्ति स्वधर्माश्च तत्राधर्मेण पीडिताः ।
गवां भूमेश्च ये चापामोषधीनां च ये रसाः ॥ १६ ॥

उस समय अधर्मसे पीड़ित हो सभी वर्णोंके स्वधर्म नष्ट हो जाते हैं। गौ, जल, भूमि और ओषधियोंके रस भी नष्टप्राय हो जाते हैं ॥ १६ ॥

अधर्मान्तर्हिता वेदा वेदधर्मास्तथाऽऽश्रमाः ।
विक्रियन्ते स्वधर्मस्थाः स्थावराणि चराणि च ॥ १७ ॥

वेद, वैदिक धर्म तथा स्वधर्मपरायण आश्रम ये—सभी उस समय अधर्मसे आच्छादित हो अदृश्य हो जाते हैं और स्थावर जङ्गम सभी प्राणी अपने धर्मसे विकृत हो जाते हैं अर्थात् सबमें विकार उत्पन्न हो जाता है ॥ १७ ॥

यथा सर्वाणि भूतानि वृष्टिर्भौमानि वर्षति ।
सृजते सर्वतोऽङ्गानि तथा वेदा युगे युगे ॥ १८ ॥

जैसे वर्षा भूतलके समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करती है और सब ओरसे उनके अङ्गोंको पुष्ट करती है, उसी प्रकार वेद प्रत्येक युगमें सम्पूर्ण योगाङ्गोंका पोषण करते हैं ॥ १८ ॥

---

१. आलम्भके दो अर्थ हैं—स्पर्श और हिंसा। इसलिये क्षत्रिय किसी वस्तुका स्पर्श करके अथवा छूकर जो दान देते हैं, वह आलम्भ कहलाता है। इसी प्रकार वे प्रजाकी रक्षाके लिये जो हिंसक जन्तुओं तथा दुष्ट डाकुओंका वध करते हैं, वह भी आलम्भ यज्ञके अन्तर्गत है।

निश्चितं कालनानात्वमनादिनिधनं ■ यत् ।
कीर्तितं यत् पुरस्तान्मे सूते यच्चात्ति च प्रजाः ॥ १९ ॥

इसी प्रकार निश्चय ही कालके भी अनेक रूप हैं। उसका न आदि है और न अन्त। वही प्रजाकी सृष्टि करता है और अन्तमें वही सबको अपना ग्रास बना लेता है। यह बात मैंने तुमको पहले ही बता दी है ॥ १९ ॥

यच्चेदं प्रभवः स्थानं भूतानां संयमो यमः ।
स्वभावेनैव वर्तन्ते द्वन्द्वसृष्टानि भूरिशः ॥ २० ॥

यह जो काल नामक तत्त्व है, वही प्राणियोंकी उत्पत्ति, पालन, संहार और नियन्त्रण करनेवाला है। उसीमें द्वन्द्वयुक्त असंख्य प्राणी स्वभावसे ही निवास करते हैं ॥ २० ॥

सर्गः कालो धृतिर्वेदाः कर्ता कार्यं क्रियाफलम् ।
एतत् ते कथितं ■■ यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २१ ॥

तात ! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसके अनुसार मैंने तुम्हारे समक्ष सर्ग, काल, धारणा, वेद, कर्ता, कार्य और क्रियाफलके विषयमें ये ■ बातें कही हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने अष्टात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३८ ॥

■ प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ज्ञानका साधन और उसकी महिमा

भीष्म उवाच

इत्युक्तोऽभिप्रशस्यैतत् परमर्षेस्तु शासनम् ।
मोक्षधर्मार्थसंयुक्तमिदं प्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार महर्षि व्यासके उपदेश देनेपर शुकदेवजीने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और मोक्षधर्मके विषयमें पूछनेके लिये उत्सुक होकर इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

शुक उवाच

प्रज्ञावाञ्श्रोत्रियो यज्वा कृतप्रज्ञोऽनसूयकः ।
अनागतमनैतिह्यं कथं ब्रह्माधिगच्छति ॥ २ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी ! प्रज्ञावान्, वेदवेत्ता, याज्ञिक, दोष दृष्टिसे रहित तथा शुद्ध बुद्धिवाला पुरुष ■ ब्रह्मको कैसे प्राप्त करता है, जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी अज्ञात है तथा वेदके द्वारा भी जिसका इदमित्थरूपसे वर्णन नहीं किया गया है ॥ २ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण सर्वत्यागेन मेधया ।
सांख्ये वा यदि वा योग एतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ ३ ॥

सांख्य एवं योगमें तप, ब्रह्मचर्य, सर्वस्वका त्याग और मेधाशक्ति—इनमेंसे किस साधनके द्वारा तत्त्वका साक्षात्कार माना गया है ? यह आपसे मेरा प्रश्न है, आप मुझे कृपापूर्वक इस विषयका उपदेश दीजिये ॥ ३ ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां च यथैकाग्र्यमवाप्यते ।
येनोपायेन पुरुषैस्तत् त्वं व्याख्यातुमर्हसि ॥ ■ ॥

मनुष्य मन और इन्द्रियोंको जिस उपायसे और जिस तरह एकाग्र कर सकता है, उस विषयका आप विशद विवेचन कीजिये ॥ ४ ॥

व्यास उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात् सिद्धिं विन्दति कश्चन ॥ ५ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! विद्या, तप, इन्द्रियनिग्रह और सर्वस्वत्यागके बिना कोई भी सिद्धि नहीं पा सकता ॥ ५ ॥

महाभूतानि सर्वाणि पूर्वसृष्टिः स्वयम्भुवः ।
भूयिष्ठं प्राणभृद्ग्रामे निविष्टानि शरीरिषु ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण महाभूत विधाताकी पहली सृष्टि हैं। वे समस्त प्राणिसमुदायमें तथा सभी देहधारियोंके शरीरोंमें अधिक-से-अधिक भरे हुए हैं ॥ ६ ॥

भूमेर्देहो जलात् स्नेहो ज्योतिषश्चक्षुषी स्मृते ।
प्राणापानाश्रयो वायुः खेष्वाकाशं शरीरिणाम् ॥ ७ ॥

देहधारियोंकी देहका निर्माण पृथ्वीसे हुआ है, चिकनाहट और पसीने आदि जलसे प्रकट होते हैं, अग्निसे नेत्र तथा वायुसे प्राण और अपानका प्रादुर्भाव हुआ है। नाक, ■ आदिके छिद्रोंमें आकाश तत्त्व स्थित है ॥ ७ ॥

क्रान्ते विष्णुर्बले शक्रः कोष्ठेऽग्निर्भोक्तुमिच्छति ।
कर्णयोः प्रदिशः श्रोत्रं जिह्वायां वाक् सरस्वती ॥ ८ ॥

चरणोंकी गतिमें विष्णु और बाहुबल [पाणिनामक इन्द्रिय]में इन्द्र स्थित हैं। उदरमें अग्निदेवता प्रतिष्ठित हैं, जो भोजन चाहते और पचाते हैं। कानोंमें श्रवणशक्ति और दिशाएँ हैं तथा जिह्वामें वाणी और सरस्वती देवीका निवास है ॥ ८ ॥

कर्णौ त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
दर्शनानीन्द्रियोक्तानि द्वाराण्याहारसिद्धये ॥ ९ ॥

दोनों कान, त्वचा, दोनों नेत्र, जिह्वा और पाँचवीं नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हें विषयानुभवका द्वार बतलाया गया है ॥ ९ ॥

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
इन्द्रियार्थान् पृथग्विद्यादिन्द्रियेभ्यस्तु नित्यदा ॥ १० ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं। इन्हें सदा इन्द्रियोंसे पृथक् समझना चाहिये ॥ १० ॥

इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते वश्यान् यन्तेव वाजिनः ।
मनश्चापि सदा युङ्क्ते भूतात्मा हृदयाश्रितः ॥ ११ ॥

जैसे सारथि घोड़ोंको अपने वशमें रखकर उन्हें इच्छानुसार चलाता है, इसी प्रकार मन इन्द्रियोंको काबूमें रखकर

उन्हें स्वेच्छासे विषयोंकी ओर प्रेरित करता है, परंतु हृदयमें रहनेवाला जीवात्मा सदा उस मनपर भी शासन किया करता है ॥ ११ ॥

इन्द्रियाणां तथैवैषां सर्वेषामीश्वरं मनः।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मानसस्तथा ॥ १२ ॥

जैसे मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंका राजा और उन्हें विषयोंकी ओर प्रवृत्त करने तथा रोकनेमें भी समर्थ है, उसी प्रकार हृदयस्थित जीवात्मा भी मनका स्वामी तथा उसके निग्रह-अनुग्रहमें समर्थ है ॥ १२ ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च स्वभावश्चेतना मनः।
प्राणापानौ च जीवश्च नित्यं देहेषु देहिनाम् ॥ १३ ॥

इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके रूप, रस आदि विषय, स्वभाव [शीतोष्णादि धर्म], चेतना, मन, प्राण, अपान और जीव—ये देहधारियोंके शरीरोंमें सदा विद्यमान रहते हैं ॥ १३ ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य गुणाः शब्दो न चेतना।
सत्त्वं हि तेजः सृजति न गुणान् वै कथंचन ॥ १४ ॥

शरीर भी वास्तवमें सत्त्व अर्थात् बुद्धिका आश्रय नहीं है; क्योंकि पाञ्चभौतिक शरीर तो उसका कार्य है तथा गुण, शब्द एवं चेतना भी बुद्धिके आश्रय (कारण) नहीं हैं; क्योंकि बुद्धि चेतनाकी सृष्टि करती है, परंतु बुद्धि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको उत्पन्न नहीं करती; क्योंकि बुद्धि स्वयं उसका कार्य है ॥ १४ ॥

एवं सप्तदशं देहे वृतं षोडशभिर्गुणैः।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १५ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् ब्राह्मण इस शरीरमें पाँच इन्द्रिय, पाँच विषय, स्वभाव, चेतना, मन, प्राण, अपान और जीव—इन सोलह तत्त्वोंसे आवृत सत्रहवें परमात्माका बुद्धिके द्वारा अन्तःकरणमें साक्षात्कार करता है ॥ १५ ॥

न ह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः।
मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते ॥ १६ ॥

इस परमात्माका नेत्रों अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे भी दर्शन नहीं हो सकता। यह विशुद्ध मनरूपी दीपकसे ही बुद्धिमें प्रकाशित होता है ॥ १६ ॥

अशब्दस्पर्शरूपं तदरसागन्धमव्ययम्।
अशरीरं शरीरेषु निरीक्षेत निरिन्द्रियम् ॥ १७ ॥

वह आत्मतत्त्व यद्यपि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे हीन, अविकारी तथा शरीर और इन्द्रियोंसे रहित है तो भी शरीरोंके भीतर ही इसका अनुसंधान करना चाहिये ॥

अव्यक्तं सर्वदेहेषु मर्त्येषु परमाश्रितम्।
योऽनुपश्यति स प्रेत्य कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ १८ ॥

जो इस विनाशशील समस्त शरीरोंमें अव्यक्तभावसे स्थित परमेश्वरका ज्ञानमयी दृष्टिसे निरन्तर दर्शन करता रहता है, वह मृत्युके पश्चात् ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ हो जाता है ॥

विद्याभिजनसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १९ ॥

पण्डितजन विद्या और उत्तम कुलसे सम्पन्न ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे स्थित ब्रह्मका दर्शन करनेवाले होते हैं ॥ १९ ॥

स हि सर्वेषु भूतेषु जङ्गमेषु ध्रुवेषु च।
वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥ २० ॥

जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह एक परमात्मा ही समस्त चराचर प्राणियोंके भीतर निवास करता है ॥ २० ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ २१ ॥

जब जीवात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनेको और अपनेमें सम्पूर्ण प्राणियोंको स्थित देखता है, उस समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥

यावानात्मनि वेदात्मा तावानात्मा परात्मनि।
य एवं सततं वेद सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २२ ॥

अपने शरीरके भीतर जैसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वैसा ही दूसरोंके शरीरमें भी है, जिस पुरुषको निरन्तर ऐसा ज्ञान बना रहता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होनेमें समर्थ है ॥ २२ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य विभोर्भूतहितस्य च।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ २३ ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा होकर सब प्राणियोंके हितमें लगा हुआ है, जिसका अपना कोई विशेष मार्ग नहीं है तथा जो ब्रह्मपदको प्राप्त करना चाहता है, उस समर्थ ज्ञानयोगीके मार्गकी खोज करनेमें देवता भी मोहित हो जाते हैं ॥ २३ ॥

शकुन्तानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः ॥ २४ ॥

जैसे आकाशमें चिड़ियोंके और जलमें मछलियोंके पदचिह्न नहीं दिखायी देते, उसी प्रकार ज्ञानियोंकी गतिका भी किसीको पता नहीं चलता है ॥ २४ ॥

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येवात्मनात्मनि।
यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तं वेदेह न कश्चन ॥ २५ ॥

काल सम्पूर्ण प्राणियोंको स्वयं ही अपने भीतर पकाता रहता है, परंतु जहाँ काल भी पकाया जाता है, जो कालका भी काल है; उस परमात्माको यहाँ कोई नहीं जानता ॥ २५ ॥

न तदूर्ध्वं न तिर्यक् च नाधो न च पुनः पुनः।
न मध्ये प्रतिगृह्णीते नैव किंचिन्न कुतश्चन ॥ २६ ॥
सर्वेऽन्तःस्था इमे लोका बाह्यमेषां न किंचन।

वह परमात्मा न ऊपर है न नीचे और न वह अगल-बगलमें अथवा बीचमें ही है। कोई भी स्थानविशेष उसको ग्रहण नहीं कर सकता, वह परमात्मा किसी एक स्थानसे दूसरे स्थानको

१. अन्तःकरणमें जो ज्ञानशक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य सुख-दुःख और समस्त पदार्थोंका अनुभव करते हैं, जो कि अन्तःकरणकी एक वृत्तिविशेष है, इसे ही 'चेतना' कहते हैं।

नहीं जाता है। ये सम्पूर्ण लोक उसके भीतर ही स्थित हैं, इनका कोई भी भाग या प्रदेश उस परमात्मासे बाहर नहीं है॥

यद्यजस्रं समागच्छेद् यथा बाणो गुणच्युतः ॥ २७ ॥
नैवान्तं कारणस्येयाद् यद्यपि स्यान्मनोजवः ।

यदि कोई धनुषसे छूटे हुए बाणके समान अथवा मनके तीव्र वेगसे निरन्तर दौड़ता रहे तो भी जगत्के कारण-स्वरूप उस परमेश्वरका अन्त नहीं पा सकता ॥ २७½ ॥

तस्मात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नास्ति स्थूलतरं ततः॥ २८॥
सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ २९ ॥

उस सूक्ष्मस्वरूप परमात्मासे बढ़कर सूक्ष्मतर वस्तु कोई नहीं है, उससे बढ़कर स्थूलतर वस्तु भी कोई नहीं है। उसके सब ओर हाथ पैर हैं, सब ओर नेत्र, सिर और मुख हैं तथा सब ओर कान हैं। वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है॥

तदेवाणोरणुतरं तन्महद्भ्यो महत्तरम् ।
तदन्तःसर्वभूतानां ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते ॥ ३० ॥

वह लघुसे भी अत्यन्त लघु और महान्से भी अत्यन्त महान् है, वह निश्चय ही समस्त प्राणियोंके भीतर स्थित है तो भी किसीको दिखायी नहीं देता ॥ ३० ॥

अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधीभावोऽयमात्मनः ।
क्षरः सर्वेषु भूतेषु दिव्यं त्वमृतमक्षरम् ॥ ३१ ॥

उस परमात्माके क्षर और अक्षर ये दो भाव (स्वरूप) हैं, सम्पूर्ण भूतोंमें तो उसका क्षर (विनाशी) रूप है और दिव्य अमृतस्वरूप चेतनात्मा अक्षर (अविनाशी) है ॥ ३१ ॥

नवद्वारं पुरं गत्वा हंसो हि नियतो वशी ।
ईशः सर्वस्य भूतस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ ३२ ॥

स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंका ईश्वर स्वाधीन परमात्मा नव द्वारोंवाले शरीरमें प्रवेश करके हंस (जीव) रूपसे स्थिरतापूर्वक स्थित है ॥ ३२ ॥

हानिभङ्गविकल्पानां नवानां संचयेन च ।
शरीराणामजस्याहुर्हंसत्वं पारदर्शिनः ॥ ३३ ॥

पारदर्शी (तत्त्वज्ञानी) पुरुष परिणाममें हानि, भङ्ग एवं विकल्पसे युक्त नवीन शरीरोंको बारंबार ग्रहण करनेके कारण अजन्मा परमात्माके अंशभूत जीवात्माको 'हंस' कहते हैं ॥ ३३ ॥

हंसोक्तं चाक्षरं चैव कूटस्थं यत् तदक्षरम् ।
तद् विद्वानक्षरं प्राप्य जहाति प्राणजन्मनी ॥ ३४ ॥

हंस नामसे जिस अविनाशी जीवात्माका प्रतिपादन किया गया है, वह कूटस्थ अक्षर ही है, इस प्रकार जो विद्वान् उस अक्षर आत्माको यथार्थरूपसे जान लेता है, वह प्राण, जन्म और मृत्युके बन्धनको सदाके लिये त्याग देता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३९ ॥

चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

योगसे परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन

व्यास उवाच

पृच्छतस्तव सत्पुत्र यथावदिह तत्त्वतः ।
सांख्यज्ञानेन संयुक्तं यदेतत् कीर्तितं मया ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—सत्पुत्र शुक ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने जो यहाँ ज्ञानके विषयका यथार्थ रूपसे तात्त्विक वर्णन किया है, ये सब सांख्यज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं ॥ १ ॥

योगकृत्यं तु ते कृत्स्नं वर्तयिष्यामि तच्छृणु ।
एकत्वं बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणां च सर्वशः ॥ २ ॥
आत्मनो व्यापिनस्तात ज्ञानमेतदनुत्तमम् ।

अब योगसम्बन्धी सम्पूर्ण कृत्योंका वर्णन आरम्भ करता हूँ, सुनो। तात ! इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको सब ओरसे रोककर सर्वव्यापी आत्माके साथ उनकी एकता स्थापित करना ही योगशास्त्रियोंके मतमें सर्वोत्तम ज्ञान है ॥ २½ ॥

तदेतदुपशान्तेन दान्तेनाध्यात्मशीलिना ॥ ३ ॥
आत्मारामेण बुद्धेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा ।

इसे प्राप्त करनेके लिये साधक सब ओरसे मनको हटाकर शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न हो आत्मतत्त्वका चिन्तन करे, एकमात्र परमात्मामें ही रमण करे, ज्ञानवान् पुरुषसे ज्ञान ग्रहण करे एवं शास्त्रविहित पवित्र कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे अनुष्ठान करके उस तत्त्वको जाने ॥ ३½ ॥

योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः॥ ४ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम् ।
क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात् ॥ ५ ॥
सत्त्वसंसेवनाद् धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति ।

विद्वानोंने योगके जो काम, क्रोध, लोभ, भय और पाँचवाँ स्वप्न—ये पाँच दोष बताये हैं उनका पूर्णतया उच्छेद करे। इनमेंसे क्रोधको शम (मनोनिग्रह) के द्वारा जीते, कामको संकल्पके त्यागद्वारा पराजित करे तथा धीर पुरुष सत्त्वगुणका सेवन करनेसे निद्राका उच्छेद कर सकता है ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ॥ ६ ॥
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनोवाचं च कर्मणा ।
अप्रमादाद् भयं जह्याद् दम्भं प्राज्ञोपसेवनात् ॥ ७ ॥

मनुष्य धैर्यका सहारा लेकर शिश्न और उदरकी रक्षा करे अर्थात् विषयभोग और भोजनकी चिन्ता दूर कर दे। नेत्रोंकी

सहायतासे हाथ और पैरोंकी, मनके द्वारा नेत्र और कानोंकी तथा कर्मके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे अर्थात् इनको [illegible] बनावे। सावधानीके द्वारा भयका और विद्वान् पुरुषोंके सेवनसे दम्भका त्याग करे ॥ ६-७ ॥

एवमेतान् योगदोषान् जयेन्नित्यमतन्द्रितः ।
अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चार्चेद् देवताः प्रणमेत च ॥ ८ ॥

इस प्रकार सदैव सावधानीपूर्वक आलस्य छोड़कर इन योगसम्बन्धी दोषोंको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये। एवं अग्नि और ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये तथा देवताओंको प्रणाम करना चाहिये ॥ ८ ॥

वर्जयेदुशतीं वाचं हिंसायुक्तां मनोनुदाम् ।
ब्रह्म तेजोमयं शुक्रं [illegible] सर्वमिदं रसः ॥ ९ ॥
[illegible] भूतं भव्यस्य दृष्टं स्थावरजङ्गमम् ।

साधकको चाहिये कि मनको पीड़ा देनेवाली हिंसायुक्त वाणीका प्रयोग न करे। तेजोमय निर्मल ब्रह्म सबका बीज (कारण) है। यह जो कुछ दिखायी दे रहा है, सब उसीका रस (कार्य) है। सम्पूर्ण चराचर जगत् उस ब्रह्मके ही ईक्षण (संकल्प) का परिणाम है ॥ ९½ ॥

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा ॥ १० ॥
शौचमाचारसंशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः ।
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥ ११ ॥

ध्यान, वेदाध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, [illegible] शौच, आचारशुद्धि एवं इन्द्रियोंका निग्रह—इनके द्वारा तेजकी वृद्धि होती है और पापोंका नाश हो जाता है ॥ १०-११ ॥

सिध्यन्ति चास्य सर्वार्था विज्ञानं च प्रवर्तते ।
[illegible] सर्वेषु भूतेषु लब्धालब्धेन वर्तयन् ॥ १२ ॥
धूतपाप्मा [illegible] तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥ १३ ॥

इतना ही नहीं, इनसे साधकके सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं तथा उसे विज्ञानकी भी प्राप्ति होती है। योगीको चाहिये कि वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान भाव रक्खे। जो कुछ भी मिले या न मिले, उसीसे संतोषपूर्वक निर्वाह करे। पापोंको धो डाले तथा तेजस्वी, मिताहारी और जितेन्द्रिय होकर [illegible] और क्रोधको वशमें करके ब्रह्मपदको पानेकी इच्छा करे ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां च कृत्वैकाग्र्यं समाहितः ।
पूर्वरात्रापरार्धे च धारयेन्मन आत्मनि ॥ १४ ॥

योगी मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके रातके पहले और पिछले पहरमें ध्यानस्थ होकर मनको आत्मामें लगावे ॥

जन्तोः पञ्चेन्द्रियस्यास्य यदेकं छिद्रमिन्द्रियम् ।
ततोऽस्य स्रवते [illegible] दृतेः पादादिवोदकम् ॥ १५ ॥

जैसे मशकमें एक जगह भी छेद हो जाय तो वहींसे पानी बह जाता है, उसी प्रकार पाँच इन्द्रियोंसे युक्त जीवात्माकी एक इन्द्रिय भी यदि छिद्रयुक्त हुई—विषयोंकी ओर प्रवृत्त हुई तो उसीसे उसकी बुद्धि क्षीण हो जाती है ॥

मनस्तु पूर्वमादद्यात् कुमीनमिव मत्स्यहा ।
ततः श्रोत्रं ततश्चक्षुर्जिह्वां घ्राणं च योगवित् ॥ १६ ॥

[illegible] मछलीमार जाल काटनेवाली दुष्ट मछलीको पहले पकड़ता है, उसी तरह योगवेत्ता साधक पहले अपने मनको वशमें करे। उसके बाद कानका, फिर नेत्रका, तदनन्तर जिह्वा और घ्राण आदिका निग्रह करे ॥ १६ ॥

तत एतानि संयम्य मनसि स्थापयेद् यतिः ।
तथैवापोह्य संकल्पान्मनो ह्यात्मनि धारयेत् ॥ १७ ॥

यत्नशील साधक इन पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करके मनमें स्थापित करे। इसी प्रकार संकल्पोंका परित्याग करके मनको बुद्धिमें लीन करे ॥ १७ ॥

पञ्चेन्द्रियाणि संधाय मनसि स्थापयेद् यतिः ।
यदैतान्यवतिष्ठन्ते मनःषष्ठान्यथात्मनि ॥ १८ ॥
प्रसीदन्ति च संस्थाय तदा [illegible] प्रकाशते ।

योगी पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करके उन्हें दृढ़तापूर्वक मनमें स्थापित करे। जब छठे मनसहित ये इन्द्रियाँ बुद्धिमें स्थिर होकर प्रसन्न (स्वच्छ) हो जाती हैं, तब उस योगीको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है ॥ १८½ ॥

विधूम इव दीप्तार्चिरादित्य इव दीप्तिमान् ॥ १९ ॥
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि ।

वह योगी अपने अन्तःकरणमें धूमरहित प्रज्वलित अग्नि, दीप्तिमान् सूर्य तथा आकाशमें चमकती हुई बिजलीकी ज्योतिके [illegible] प्रकाशस्वरूप आत्माका दर्शन करता है ॥ १९½ ॥

सर्वस्तत्र स सर्वत्र व्यापकत्वाच्च दृश्यते ॥ २० ॥
तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
धृतिमन्तो महाप्राज्ञाः सर्वभूतहिते रताः ॥ २१ ॥

सब उस आत्मामें दृष्टिगोचर होते हैं और व्यापक होनेके कारण वह आत्मा सबमें दिखायी देता है। जो महात्मा ब्राह्मण मनीषी, महाज्ञानी, धैर्यवान् और सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले हैं, वे ही उस परमात्माका दर्शन कर पाते हैं ॥

एवं परिमितं कालमाचरन् संशितव्रतः ।
आसीनो हि रहस्येको गच्छेदक्षरसात्मताम् ॥ २२ ॥

जो योगी प्रतिदिन नियत समयतक अकेला एकान्त स्थानमें बैठकर भलीभाँति नियमोंके पालनपूर्वक इस प्रकार योगाभ्यास करता है, वह अक्षर-ब्रह्मकी समताको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

प्रमोहो भ्रम आवर्तो घ्राणं श्रवणदर्शने ।
अद्भुतानि रसस्पर्शे शीतोष्णे मारुताकृतिः ॥ २३ ॥

योगसाधनामें अग्रसर होनेपर मोह, भ्रम और आवर्त आदि विघ्न प्राप्त होते हैं। फिर दिव्य सुगन्ध आती है और दिव्य शब्दोंके श्रवण एवं दिव्य रूपोंके दर्शन होते हैं। नाना प्रकारके अद्भुत रस और स्पर्शका अनुभव होता है। इच्छानुकूल सर्दी और गर्मी प्राप्त होती है तथा वायुरूप होकर आकाशमें चलने-फिरनेकी शक्ति आ जाती है ॥ २३ ॥

प्रतिभामुपसर्गांश्चाप्युपसंगृह्य योगतः।
तांस्तत्त्वविदनादृत्य आत्मन्येव निवर्तयेत् ॥ २४ ॥

प्रतिभा बढ़ जाती है। दिव्य भोग अपने आप उपस्थित हो जाते हैं। इन सब सिद्धियोंको योगबलसे प्राप्त करके भी तत्त्ववेत्ता योगी उनका आदर न करे; क्योंकि ये सब योगके विघ्न हैं। अतः मनको उनकी ओरसे लौटाकर आत्मामें ही एकाग्र करे ॥ २४ ॥

कुर्यात् परिचयं योगे त्रैकाल्ये नियतो मुनिः।
गिरिशृङ्गे तथा चैत्ये वृक्षाग्रेषु च योजयेत् ॥ २५ ॥

नित्य नियमसे रहकर योगी मुनि किसी पर्वतके शिखरपर किसी देववृक्षके समीप या एकान्त मन्दिरमें अथवा वृक्षोंके सम्मुख बैठकर तीन समय (सबेरे तथा रातके पहले और पिछले पहरोंमें) योगका अभ्यास करे ॥ २५ ॥

संनियम्येन्द्रियग्रामं कोष्ठे भाण्डमना इव।
एकाग्रं चिन्तयेन्नित्यं योगान्नोद्वेजयेन्मनः ॥ २६ ॥

द्रव्य चाहनेवाले मनुष्य जैसे सदा द्रव्यसमुदायको कोठे- में बाँध करके रखता है, उसी तरह योगका साधक भी इन्द्रिय- समुदायको संयममें रखकर हृदयकमलमें स्थित नित्य आत्माका एकाग्रभावसे चिन्तन करे। मनको योगसे उद्विग्न न होने दे ॥

येनोपायेन शक्येत संनियन्तुं चलं मनः।
तं च युक्तो निषेवेत न चैव विचलेत् ततः ॥ २७ ॥

जिस उपायसे चञ्चल मनको रोका जा सके, योगका साधक उसका सेवन करे और उस साधनसे वह कभी विचलित न हो ॥ २७ ॥

शून्या गिरिगुहाश्चैव देवतायतनानि च।
शून्यागाराणि चैकाग्रो निवासार्थमुपक्रमेत् ॥ २८ ॥

एकाग्रचित्त योगी पर्वतकी सूनी गुफा, देवमन्दिर तथा एकान्तस्थ शून्य गृहको ही अपने निवासके लिये चुने ॥ २८ ॥

नाभिष्वजेत् परं वाचा कर्मणा मनसापि वा।
उपेक्षको यताहारो लब्धालब्धे समो भवेत् ॥ २९ ॥

योगका साधक मन, वाणी या क्रियाद्वारा भी किसी दूसरेमें आसक्त न हो। सबकी ओरसे उपेक्षाका भाव रक्खे। नियमित भोजन करे और लाभ हानिमें भी समान भाव रक्खे॥

यश्चैनमभिनन्देत यश्चैनमपवादयेत्।
समस्तयोश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम् ॥ ३० ॥

जो उसकी प्रशंसा करे और जो उसकी निन्दा करे, उन दोनोंमें वह समान भाव रक्खे, एककी भलाई या दूसरेकी बुराई न सोचे ॥ ३० ॥

न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु च चिन्तयेत्।
समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मा मातरिश्वनः ॥ ३१ ॥

कुछ लाभ होनेपर हर्षसे फूल न उठे और न होनेपर चिन्ता न करे। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समान दृष्टि रखे। वायुके समान सर्वत्र विचरता हुआ भी असङ्ग और अनिकेत रहे ॥ ३१ ॥

एवं स्वस्थात्मनः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः।
षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ३२ ॥

इस प्रकार स्वस्थचित्त और सर्वत्र समदर्शी रहकर कर्मफलका उल्लङ्घन करके छः महीनेतक नित्य योगाभ्यास करनेवाला श्रेष्ठ योगी वेदोक्त परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ३२ ॥

वेदनार्ताः प्रजा दृष्ट्वा समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
एतस्मिन् विरतो मार्गे विरमेन्न च मोहितः ॥ ३३ ॥

प्रजाको धनकी प्राप्तिके लिये वेदनासे पीड़ित देख धन- की ओरसे विरक्त हो जाय—मिट्टीके ढेले, पत्थर तथा स्वर्ण- को समान समझे। विरक्त पुरुष इस योगमार्गसे न तो विरत हो और न मोहमें ही पड़े ॥ ३३ ॥

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ ३४ ॥

कोई नीच वर्णका पुरुष और स्त्री ही क्यों न हो, यदि उनके मनमें धर्मसम्पादनकी अभिलाषा है तो इस योगमार्गका सेवन करनेसे उन्हें भी परमगतिकी प्राप्ति हो सकती है ॥ ३४ ॥

अजं पुराणमजरं सनातनं
यदिन्द्रियैरुपलभेत निश्चलैः।
अणोरणीयो महतो महत्तरं
तदात्मना पश्यति युक्तमात्मवान् ॥ ३५ ॥

जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, वही योगी निश्चल मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जिसकी उपलब्धि होती है, उस अजन्मा, पुरातन, अजर, सनातन, नित्यमुक्त, अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् परमात्माका आत्मासे अनुभव करता है ॥ ३५ ॥

इदं महर्षेर्वचनं महात्मनो
यथावदुक्तं मनसानुदृश्य च।
अवेक्ष्य चेमां परमेष्ठिसाम्यतां
प्रयान्ति चाभूतगतिं मनीषिणः ॥ ३६ ॥

महर्षि महात्मा व्यासके यथावत् रूपसे कहे गये इस उपदेशवाक्यपर मन ही-मन विचार करके एवं इसको भली- भाँति समझकर जो इसके अनुसार आचरण करते हैं, वे मनीषी पुरुष ब्रह्माजीकी समानताको प्राप्त होते हैं और प्रलयकालपर्यन्त ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके साथ रहकर अन्तमें उन्हींके साथ मुक्त हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कर्म और ज्ञानका अन्तर [illegible] ब्रह्मप्राप्तिके उपायका वर्णन

शुक उवाच

यदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ।
कां दिशं विद्यया यान्ति कां च गच्छन्ति कर्मणा ॥ १ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी ! वेदमें 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये जो दो प्रकारके वचन मिलते हैं, उनके सम्बन्धमें [illegible] यह जानना चाहता हूँ कि विद्या (ज्ञान) के द्वारा कर्मको त्याग देनेपर मनुष्य किस दिशामें जाते हैं ? और कर्म करनेसे उन्हें किस गतिकी प्राप्ति होती है ? ॥ १ ॥

एतद् वै श्रोतुमिच्छामि तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ।
एतच्चान्योन्यवैरूप्ये वर्तेते प्रतिकूलतः ॥ २ ॥

मैं इस विषयको सुनना चाहता हूँ, आप कृपापूर्वक मुझे यह बतावें । ये दोनों वचन एक दूसरेके विपरीत हैं, अतः प्रतिकूल परिणाम ही उत्पन्न कर सकते हैं ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं पराशरसुतः सुतम् ।
कर्मविद्यामयावेतौ व्याख्यास्यामि क्षराक्षरौ ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! शुकदेवजीके इस प्रकार पूछनेपर पराशरनन्दन भगवान् व्यासने यों उत्तर दिया—'बेटा ! ये कर्ममय और ज्ञानमय मार्ग क्रमशः विनाशशील और अविनाशी हैं, मैं इनकी [illegible] आरम्भ करता हूँ ॥ ३ ॥

यां दिशं विद्यया यान्ति यां च गच्छन्ति कर्मणा ।
शृणुष्वैकमना वत्स गह्वरं ह्येतदन्तरम् ॥ [illegible] ॥

'वत्स ! ज्ञानसे मनुष्य जिस दिशाको जाते हैं और कर्मद्वारा उन्हें जिस गतिकी प्राप्ति होती है, वह सब बताता हूँ, एकचित्त होकर सुनो । इन दोनोंका अन्तर अत्यन्त गहन है ॥

अस्ति धर्म इति प्रोक्तं नास्तीत्यत्रैव यो वदेत् ।
तस्य पक्षस्य सदृशमिदं मम भवेद् [illegible] ॥ ५ ॥

'धर्म है, ऐसा शास्त्रका उपदेश है, इसके विपरीत यदि कोई कहे कि धर्म नहीं है तो उसे सुनकर एक आस्तिकको जितना [illegible] होता है, उसके पक्षके ही समान यह कर्म और विद्याका तारतम्यविषयक प्रश्न मेरे लिये क्लेशदायक है ॥

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च सुभाषितः ॥ ६ ॥

'प्रवृत्तिलक्षण धर्म और निवृत्तिके उद्देश्यसे प्रतिपादित धर्म, ये दो मार्ग हैं जहाँ वेद प्रतिष्ठित हैं ॥ ६ ॥

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया [illegible] प्रमुच्यते ।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥ [illegible] ॥

'सकामकर्मसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है, अतः दूरदर्शी यति कर्म नहीं करते हैं ॥ ७ ॥

कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्तिमान् षोडशात्मकः ।
विद्यया जायते नित्यमव्यक्तं ह्यव्ययात्मकम् ॥ ८ ॥

'कर्म करनेसे मनुष्य मृत्युके पश्चात् सोलह* तत्त्वोंसे बने हुए मूर्तिमान् शरीरको धारण करके जन्म लेता है; [illegible] ज्ञानके प्रभावसे जीव नित्य, अव्यक्त, अविनाशी परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

कर्म त्वेके प्रशंसन्ति स्वल्पबुद्धिरता नराः ।
तेन ते देहजालानि रमयन्त उपासते ॥ ९ ॥

'अधूरे ज्ञानमें आसक्त अर्थात् इन्द्रियज्ञानको ही ज्ञान माननेवाले कुछ मनुष्य सकामकर्मकी प्रशंसा करते हैं, इसलिये वे भोगासक्त होकर बारंबार विभिन्न शरीरोंमें आनन्द मानकर उनका सेवन करते हैं ॥ ९ ॥

ये तु बुद्धिं परां प्राप्ता धर्मनैपुण्यदर्शिनः ।
[illegible] ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां पिबन्निव ॥ १० ॥

'परंतु जो धर्मके तत्त्वको भलीभाँति समझकर सर्वोत्तम ज्ञान [illegible] कर चुके हैं, वे कर्मकी उसी तरह प्रशंसा नहीं करते हैं, जैसे प्रतिदिन नदीका पानी पीनेवाले मनुष्य कुएँका आदर नहीं करते हैं ॥ १० ॥

कर्मणः फलमाप्नोति सुखदुःखे भवाभवौ ।
विद्यया तदवाप्नोति [illegible] गत्वा न शोचति ॥ ११ ॥

'कर्मके फल हैं सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु । कर्मद्वारा मनुष्य इन्हींको पाते हैं, परंतु ज्ञानके द्वारा उन्हें उस परमपदकी प्राप्ति होती है, जहाँ जानेसे सदाके लिये शोकसे मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

यत्र गत्वा [illegible] म्रियते यत्र गत्वा न जायते ।
न पुनर्जायते यत्र यत्र गत्वा न वर्तते ॥ १२ ॥

'जहाँ जाकर फिर मृत्युका कष्ट नहीं उठाना पड़ता, जहाँ जानेसे फिर जन्म नहीं होता, जहाँ पुनर्जन्मका भय नहीं रहता तथा जहाँ जाकर मनुष्य फिर इस संसारमें नहीं लौटता ॥ १२ ॥

यत्र तद् ब्रह्म परममव्यक्तमचलं ध्रुवम् ।
अव्याकृतमनायासममृतं चावियोगि च ॥ १३ ॥

'जहाँ बिना क्लेशके प्राप्त होनेवाले और मिलकर कभी विलग न होनेवाले, अव्यक्त, अचल, नित्य, अनिर्वचनीय [illegible] विकारशून्य उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है ॥ १३ ॥

द्वन्द्वैर्न यत्र बाध्यन्ते मानसेन च कर्मणा ।
समाः सर्वत्र मैत्राश्च सर्वभूतहिते रताः ॥ १४ ॥

'उस स्थितिको प्राप्त हुए मनुष्योंको सुख-दुःखादि द्वन्द्व,

---

* पाँच इन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियोंके विषय, स्वभाव ([illegible] धर्म), चेतना (ज्ञानशक्ति), मन, प्राण, अपान और [illegible]—ये सोलह [illegible] पूर्वमें २३९ वें अध्यायके १३ वें श्लोकमें [illegible] चुके [illegible] ।

मानसिक [illegible] और कर्म-संस्कार बाधा नहीं पहुँचाते। वहाँ पहुँचे हुए मानव सर्वत्र समानभाव रखते हैं, सबको मित्र मानते हैं और [illegible] प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं॥

विद्यामयोऽन्यः पुरुषस्तात कर्ममयोऽपरः।
विद्धि चन्द्रमसं दर्शे सूक्ष्मया [illegible] स्थितम्॥ १५॥

'तात! ज्ञानी मनुष्य कुछ और ही होता है, कर्मासक्त मनुष्य उससे सर्वथा भिन्न है। जैसे चन्द्रमा घटते-घटते अमावास्याको एक सूक्ष्म कलाके रूपमें ही शेष रह [illegible] है, यही अवस्था तुम कर्मासक्त मनुष्योंकी भी समझो—उसे क्षय और वृद्धिके ही चक्करमें पड़े रहना पड़ता है॥ १५॥

तदेतदृषिणा प्रोक्तं विस्तरेणानुमीयते।
नवजं शशिनं दृष्ट्वा वक्रतन्तुमिवाम्बरे॥ १६॥

'इस बातको एक मन्त्रद्रष्टा ऋषिने विस्तारके साथ बताया है। अमावास्याके बाद आकाशमें एक टेढ़े और पतले सूतके समान प्रतीत होनेवाले नवोदित चन्द्रमाको देखकर ऐसा ही अनुमान किया जाता है॥ १६॥

एकादशविकारात्मा कलासम्भारसम्भृतः।
मूर्तिमानिति तं विद्धि [illegible] कर्मगुणात्मकम्॥ १७॥

'कर्मजन्य कलाओंके भारको धारण करनेवाला कर्मासक्त मनुष्य मन और इन्द्रियरूप ग्यारह विकारोंसे युक्त होकर जन्म धारण किया करता है। इस प्रकार वह मूर्तिमान् (देहधारी) व्यक्ति होता है। तुम उसे कर्मफलसम्भूत त्रिगुणात्मक शरीरसे युक्त तथा चन्द्रमाके समान वृद्धि और ह्रासका भागी होनेवाला समझो॥ १७॥

देवो यः संश्रितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीयान्नित्यं योगजितात्मकम्॥ १८॥

'प्राणियोंके अन्तःकरण (हृदयाकाश) में जो स्वयम्प्रकाश चिन्मय देवता कमलके पत्तेपर पड़ी हुई पानीकी बूँदके समान निर्लेपभावसे विराजमान है तथा जिसने योगके द्वारा चित्तको वशमें किया है, उस आत्मतत्त्वको तुम सदैव क्षेत्रज्ञ समझो॥ १८॥

तमो [illegible] सत्त्वं च विद्धि जीवगुणात्मकम्।
जीवमात्मगुणं विद्यादात्मानं परमात्मनः॥ १९॥

'तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनोंको बुद्धिका गुण समझो, इनके सम्बन्धसे जीव गुणस्वरूप और गुण जीवस्वरूप प्रतीत होने लगते हैं। अतः वास्तवमें जीवात्मा परमात्माका ही अंश है, ऐसा समझो॥ १९॥

सचेतनं जीवगुणं वदन्ति
[illegible] चेष्टते जीवयते च सर्वम्।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति
प्राकल्पयद् यो भुवनानि [illegible]॥ २०॥

'शरीर स्वयं तो अचेतन (जड) है, परंतु चेतनसे युक्त होनेसे उसे जीवात्माके गुण चैतन्यसे युक्त कहा जाता है। जीवात्मा ही शरीरके द्वारा चेष्टा करता है और वही समस्त शरीरको जीवन (चेतना) प्रदान करता है, परंतु जिस परमात्माने सातों भुवनोंकी सृष्टि की है, उसे क्षेत्रवेत्ता विद्वान् उस जीवात्मासे भी श्रेष्ठ बताते हैं'॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २४१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ एकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४१॥

द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

आश्रमधर्मकी प्रस्तावना करते हुए ब्रह्मचर्य-आश्रमका वर्णन

शुक उवाच

क्षरात्प्रभृति यः सर्गः सगुणानीन्द्रियाणि च।
बुद्ध्यैश्वर्यातिसर्गोऽयं [illegible] श्रुतम्॥ १॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी! [illegible] अर्थात् प्रधानसे जो चौबीस तत्त्वोंवाली सामान्य सृष्टि हुई है [illegible] शब्द आदि विषयोंसहित जो इन्द्रियाँ हैं, उनकी सृष्टि बुद्धिके सामर्थ्यसे हुई है, [illegible] यह अतिसर्ग—असाधारण सृष्टि है। बन्धनकारी होनेके [illegible] इसे प्रमुख या [illegible] माना गया है, यह दोनों प्रकारकी सृष्टि पुरुषके सन्निधानसे, प्रकृतिसे उत्पन्न हुई है; यह [illegible] मैंने पहले सुन लिया है॥ १॥

भूय [illegible] तु लोकेऽस्मिन् सद्वृत्तिं कालहैतुकीम्।
यथा [illegible] प्रवर्तन्ते तदिच्छाम्यनुवर्तितुम्॥ २॥

अब पुनः इस संसारमें प्रत्येक युगके अनुसार जो शिष्ट पुरुषोंकी आचार-परम्परा रही है तथा जिसके अनुकूल सत्पुरुषोंका बर्ताव होता आया है, उसका मैं भी अनुसरण करना चाहता [illegible]॥ २॥

वेदे वचनमुक्तं तु कुरु कर्म त्यजेति [illegible]।
कथमेतद् विजानीयां [illegible] व्याख्यातुमर्हसि॥ ३॥

वेदमें 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये दोनों बातें कही गयी हैं। मैं इनका तात्पर्य कैसे समझूँ? जिससे इनका विरोध हट जाय। आप इस विषयकी व्याख्या करें॥ ३॥

लोकवृत्तान्ततत्त्वज्ञः पूतोऽहं गुरुशासनात्।
कृत्वा बुद्धिं विमुक्तात्मा द्रक्ष्याम्यात्मानमव्ययम्॥ ४॥

मैं आप-जैसे गुरुके उपदेशसे पवित्र हो गया हूँ तथा मुझे जगत्के वृत्तान्त (लौकिक नीति-रीति) [illegible] भी ज्ञान हो गया है; अतः धर्माचरणसे बुद्धिका संस्कार करके स्थूल देहका अभिमान त्यागकर अपने अविनाशीस्वरूप परमात्माका दर्शन करूँगा॥ ४॥

व्यास उवाच

यथा वै विहिता वृत्तिः पुरस्ताद् ब्रह्मणा स्वयम्।
एषा पूर्वतरैः सद्भिराचीर्णा परमर्षिभिः॥ ५॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! पूर्वकालमें साक्षात् ब्रह्माजी-ने जिस आचार-व्यवहारका विधान कर दिया है, पहलेके सत्पुरुष तथा ऋषि-महर्षि भी उसीका पालन करते आ रहे हैं॥

ब्रह्मचर्येण वै लोकान् जयन्ति परमर्षयः ।
आत्मनश्च ततः श्रेयांस्यन्विच्छन् मनसाऽऽत्मनि॥ ६ ॥

परम ऋषियोंने ब्रह्मचर्यके पालनसे ही उत्तम लोकोंपर विजय पायी है; अतः मन-ही-मन अपने कल्याणकी इच्छा रखकर पहले ब्रह्मचर्यका पालन करे ॥ ६ ॥

वने मूलफलाशी च तप्यन् सुविपुलं तपः ।
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः ॥ ७ ॥

(फिर वानप्रस्थ-धर्मका आश्रय ले) वनमें फल-मूल खाकर रहे, भारी तपस्यामें तत्पर हो जाय, पुण्य तीर्थोंमें भ्रमण करे और किसी भी प्राणीकी अपने द्वारा हिंसा न होने दे ॥ ७ ॥

विधूमे न्यस्तमुसले वानप्रस्थप्रतिश्रये ।
काले प्राप्ते चरन् भैक्ष्यं कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ ८ ॥

इसके बाद संन्यासी होकर यथासमय भिक्षासे जीवन-निर्वाह करते हुए भिक्षाके लिये 'वानप्रस्थी' के आश्रमपर उस समय जाना चाहिये, जब कि मूसलसे धान कूटनेकी आवाज न सुनायी पड़े और रसोईघरसे धूँआ निकलना बंद हो जाय। इस प्रकार जीवन बितानेवाला संन्यासी ब्रह्मभावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ ८ ॥

निःस्तुतिर्निर्नमस्कारः परित्यज्य शुभाशुभे ।
अरण्ये विचरैकाकी येन केनचिदाशितः ॥ ९ ॥

शुकदेव ! तुम भी स्तुति और नमस्कारसे अलग रहकर शुभाशुभ कर्मोंका परित्याग करके जो कुछ फल-मूल मिल जाय, उसीसे भूख मिटाते हुए वनमें अकेले विचरते रहो ॥

शुक उवाच

यदिदं वेदवचनं लोकवादे विरुध्यते ।
प्रमाणे वाप्रमाणे च विरुद्धे शास्त्रता कुतः ॥ १० ॥
इत्येतच्छ्रोतुमिच्छामि प्रमाणं तूभयं कथम् ।
कर्मणामविरोधेन कथं मोक्षः प्रवर्तते ॥ ११ ॥

शुकदेवने पूछा—पिताजी ! 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो'—ये जो वेदके दो तरहके वचन हैं, लोकदृष्टिसे विचार करनेपर परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं। ये प्रामाणिक हैं या अप्रामाणिक ! यदि प्रामाणिक हैं तो परस्पर विरोध रहते हुए इन्हें शास्त्रवचन कैसे माना जा सकता है तथा दोनों ही प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं ? यह सब मैं सुनना चाहता हूँ। साथ ही यह भी बताइये कि कर्मोंका विरोध किये बिना मोक्षकी प्राप्ति किस तरह हो सकती है ? ॥ १०-११ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं गन्धवत्याः सुतः सुतम् ।
ऋषिस्तत्पूजयन् वाक्यं पुत्रस्यामिततेजसः ॥ १२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उनके इस प्रकार पूछनेपर गन्धवती (सत्यवती) के पुत्र महर्षि व्यासने अपने अमिततेजस्वी पुत्रके वचनका आदर करते हुए उससे इस प्रकार कहा ॥ १२ ॥

व्यास उवाच

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये सभी अपने-अपने आश्रमके लिये विहित शास्त्रोक्त कर्मोंका पालन करते हुए परम गतिको प्राप्त होते हैं।

एको वाप्याश्रमानेतान् योऽनुतिष्ठेद् यथाविधि ।
अकामद्वेषसंयुक्तः स परत्र विधीयते ॥ १४ ॥

यदि कोई एक पुरुष भी इन आश्रमोंके धर्मोंका राग द्वेषसे शून्य होकर विधिपूर्वक अनुष्ठान कर ले तो वह परब्रह्म परमात्माको तत्त्वसे जाननेका अधिकारी हो जाता है ॥ १४ ॥

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता ।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते ॥ १५ ॥

ये चारों आश्रम ब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित हैं और वहाँतक पहुँचानेके लिये चार पैंड़ीवाली सीढ़ीके समान माने गये हैं। इस सीढ़ीपर चढ़कर मनुष्य ब्रह्मलोकमें सम्मानित होता है ॥

आयुषस्तु चतुर्भागं ब्रह्मचार्यनसूयकः ।
गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद् धर्मार्थकोविदः ॥ १६ ॥

द्विजके बालकको चाहिये कि ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरु अथवा गुरुपुत्रकी सेवामें अपनी आयुके एक चौथाई भाग अर्थात् पचीस वर्षोंतक रहे। वहाँ रहते हुए किसीके दोष न देखे। ऐसा करनेवाला ब्रह्मचारी धर्म और अर्थके ज्ञानमें कुशल होता है ॥ १६ ॥

जघन्यशायी पूर्वं स्यादुत्थाय गुरुवेश्मनि ।
यच्च शिष्येण कर्तव्यं कार्यं दासेन वा पुनः ॥ १७ ॥

वह गुरुके सोनेके पश्चात् नीचे आसनपर सोवे और उनके जागनेसे पहले ही उठ जाय। गुरुके घरमें एक शिष्य या दासके करने योग्य जो कुछ भी कार्य हो, उसे वह स्वयं पूरा करे ॥ १७ ॥

कृतमित्येव तत्सर्वं कृत्वा तिष्ठेत पार्श्वतः ।
किंकरः सर्वकारी स्यात् सर्वकर्मसु कोविदः ॥ १८ ॥

गुरुजी जो भी आज्ञा दें उसके लिये सदा यही उत्तर दे कि 'भगवन् ! इसे अभी पूरा किया' और वह सब कार्य करके उनके पास आकर खड़ा हो जाय। 'मेरे लिये क्या आज्ञा है ?' ऐसा पूछते हुए एक आज्ञाकारी सेवककी भाँति गुरुका सारा कार्य करनेके लिये तैयार रहे और सभी कर्मके सम्पादनमें कुशल हो ॥ १८ ॥

कर्मातिशेषेण गुरावध्येतव्यं बुभूषता ।
दक्षिणोऽनपवादी स्यादाहूतो गुरुमाश्रयेत् ॥ १९ ॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले शिष्यको गुरुकी सेवा तथा का सब कार्य समाप्त करके उनके पास बैठकर अध्ययन

करना चाहिये। [illegible] सबके प्रति [illegible] उदार रहे और किसी-पर कोई कलङ्क न लगावे। गुरुके बुलानेपर [illegible] उनकी सेवामें उपस्थित हो जाय ॥ १९ ॥

शुचिर्दक्षो गुणोपेतो ब्रूयादिष्टमिवान्तरा ।
चक्षुषा गुरुमव्यग्रो निरीक्षेत जितेन्द्रियः ॥ २० ॥

बाहर-भीतरसे पवित्र रहे। कार्यमें कुशल हो। गुणवान् बने। भीतरसे सद्भावना रखकर बीच-बीचमें ऐसी बात बोले जो गुरुको प्रिय लगनेवाली हो। शान्त-भावसे भक्तिभरी दृष्टि डालकर गुरुकी ओर देखे और इन्द्रियोंको वशमें रखे ॥ २० ॥

नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत्।
नातिष्ठति तथाऽऽसीत नासुप्ते प्रस्वपेत च ॥ २१ ॥

आचार्य [illegible] भोजन न कर लें, [illegible] स्वयं भी न खाय। वे जबतक जल-पान न कर लें, [illegible] स्वयं भी न करे। उनके बैठनेसे पहले स्वयं भी न बैठे और उनके सोनेसे पहले स्वयं भी न सोये ॥ २१ ॥

उत्तानाभ्यां च पाणिभ्यां पादावस्य मृदु स्पृशेत्।
दक्षिणं दक्षिणेनैव सव्यं सव्येन पीडयेत् ॥ २२ ॥

दोनों हाथ फैलाकर अपने दाहिने हाथसे गुरुका दाहिना चरण और बायें हाथसे उनका बायाँ चरण धीरे-धीरे छूकर प्रणाम करे ॥ २२ ॥

अभिवाद्य गुरुं ब्रूयादधीष्व भगवन्निति ।
इदं करिष्ये भगवन्निदं चापि कृतं मया ॥ २३ ॥

इस प्रकार अभिवादनके पश्चात् हाथ जोड़कर गुरुसे कहे—'भगवन्! अब आप मुझे पढ़ावें। मैंने अमुक [illegible] पूरा कर लिया है और यह अमुक कार्य अभी करूँगा ॥२३॥

ब्रह्मंस्तदपि कर्तास्मि यद् भवान् वक्ष्यते पुनः।
इति सर्वमनुज्ञाप्य निवेद्य [illegible] यथाविधि ॥ २४ ॥
कुर्यात् कृत्वा [illegible] तत्सर्वमाख्येयं गुरवे पुनः।

'ब्रह्मन्! इसके सिवा और भी जिन कार्योंके लिये आप आज्ञा देंगे, उन्हें भी मैं शीघ्र पूर्ण करूँगा।' इस तरह सब बातें विधिवत् निवेदन करके गुरुकी आज्ञा लेकर फिर दूसरा कार्य करे और उसे पूरा करके पुनः उसका सारा समाचार गुरुजीको बतावे ॥ २४½ ॥

यांस्तु गन्धान् रसान् वापि ब्रह्मचारी न सेवते ॥२५॥
सेवेत तान् समावृत्य इति धर्मेषु निश्चयः ।

जिन-जिन गन्धों और रसोंका ब्रह्मचारीको सेवन नहीं करना चाहिये, उनका वह ब्रह्मचर्यकालमें त्याग करे। समावर्तनसंस्कारके बाद ही वह उनका सेवन कर [illegible] है, यही धर्मका निश्चय है ॥ २५½ ॥

ये केचिद् विस्तरेणोक्ता नियमा ब्रह्मचारिणः ॥ २६ ॥
तान् सर्वानाचरेन्नित्यं भवेच्चानपगो गुरोः ।

शास्त्रोंमें ब्रह्मचारीके लिये जो कोई भी नियम विस्तार-पूर्वक बताये गये हैं, उन सबका वह पालन करे तथा सदा गुरुके समीप ही रहे ॥ २६½ ॥

स एवं गुरवे प्रीतिमुपहृत्य यथाबलम् ॥ २७ ॥
आश्रमादाश्रमेष्वेव शिष्यो वर्तेत कर्मणा ।

इस प्रकार शिष्य यथाशक्ति सेवा करके गुरुको प्रसन्न करे और उन्हें उपहार देकर उनकी आज्ञासे ब्रह्मचर्य-आश्रम-से दूसरे आश्रमोंमें पदार्पण करे और वहाँ भी उन आश्रमोंके कर्तव्योंका पालन करता रहे ॥ २७½ ॥

वेदव्रतोपवासेन चतुर्थे चायुषो गते ॥ २८ ॥
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावर्तेद् यथाविधि ॥ २९ ॥

जब वेदसम्बन्धी व्रत और [illegible] करते हुए आयुका एक चौथाई भाग व्यतीत हो जाय, तब गुरुको दक्षिणा देकर विधिपूर्वक समावर्तन-संस्कार सम्पन्न करे ॥ २८-२९ ॥

धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनुत्पाद्य यत्नतः ।
द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी भवेद् व्रती ॥ ३० ॥

धर्मतः पत्नीका पाणिग्रहण करके उसके साथ यत्नपूर्वक अग्निकी स्थापना करे और आयुके द्वितीय भाग अर्थात् पचास वर्षकी [illegible] उत्तम व्रतका पालन करते हुए गृहस्थ बना रहे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्विचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४२ ॥

[illegible] श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंके उपलक्षणसे गार्हस्थ्य-धर्मका वर्णन

व्यास उवाच

द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी गृहे वसेत्।
धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनाहृत्य सुव्रतः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! [illegible] पुरुष अपनी आयुके दूसरे [illegible] गृहस्थधर्मका पालन करते हुए घरपर ही रहे। धर्मानुसार स्त्रीसे विवाह करके उसके साथ अग्नि-स्थापना करनेके पश्चात् नित्य अग्निहोत्र आदि करे और उत्तम [illegible] पालन करता रहे ॥ १ ॥

गृहस्थवृत्तयश्चैव चतस्रः कविभिः स्मृताः।
कुसूलधान्यः [illegible] कुम्भधान्यस्त्वनन्तरम् ॥ २ ॥
अश्वस्तनोऽथ कापोतीमाश्रितो वृत्तिमाहरेत् ।
तेषां परः परो ज्यायान् धर्मतो धर्मजित्तमः ॥ ३ ॥

गृहस्थ ब्राह्मणके लिये विद्वानोंने चार प्रकारकी आजीविका बतायी है—कोठेभर अनाजका संग्रह करके रखना, यह पहली जीविकावृत्ति है। कुंडेभर अन्नका संग्रह करना, [illegible] दूसरी वृत्ति है तथा उतने [illegible] अन्नका संग्रह करना जो

दूसरे दिनके लिये शेष न रहे, यह तीसरी वृत्ति है । अथवा 'कापोतीवृत्ति' (उञ्छवृत्ति) का आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करे, यह चौथी वृत्ति है । इन चारोंमें पहलीकी अपेक्षा दूसरी-दूसरी वृत्ति श्रेष्ठ है । अन्तिम वृत्तिका आश्रय लेनेवाला धर्मकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ है और वही सबसे बढ़कर धर्मविजयी है ॥ २-३ ॥

षट्कर्मा वर्तयत्येकस्त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रे व्यवस्थितः ॥ ४ ॥

पहली श्रेणीके अनुसार जीविका चलानेवाले ब्राह्मणको यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान और प्रतिग्रह—ये छः कर्म करने चाहिये । दूसरी श्रेणीवालेको अध्ययन, यजन और दान—इन तीन कर्मोंमें ही प्रवृत्त होना चाहिये । तीसरी श्रेणीवालेको अध्ययन और दान—ये दो ही कर्म करने चाहिये तथा चौथी श्रेणीवालेको केवल ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन) करना उचित है ॥ ४ ॥

गृहमेधिव्रतान्यत्र महान्तीह प्रचक्षते ।
नात्मार्थं पाचयेदन्नं न वृथा घातयेत् पशून् ॥ ५ ॥

गृहस्थोंके लिये शास्त्रोंमें बहुत से श्रेष्ठ नियम बताये गये हैं । वह केवल अपने ही भोजनके लिये रसोई न बनावे (अपितु देवता, पितर और अतिथियोंके उद्देश्यसे ही बनावे) और पशुहिंसा न करे, क्योंकि यह अनर्थमूलक है ॥

प्राणी वा यदि वाप्राणी संस्कारं यजुषार्हति ।
न दिवा प्रस्वपेज्जातु न पूर्वापररात्रिषु ॥ ६ ॥

यज्ञमें यजमान एवं हविष्य आदि सबका यजुर्वेदके मन्त्रसे संस्कार होना चाहिये । गृहस्थ पुरुष दिनमें कभी न सोये । रातके पहले और पिछले भागमें भी नींद न ले ॥ ६ ॥

न भुञ्जीतान्तरा काले नानृतावाह्वयेत् स्त्रियम् ।
नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत् कश्चिदपूजितः ॥ ७ ॥

सबेरे और शाम दो ही समय भोजन करे, बीचमें न करे । ऋतुकालके सिवा अन्य समयमें स्त्रीको अपनी शय्यापर न बुलावे । उसके घरपर आया हुआ कोई ब्राह्मण अतिथि आदर-सत्कार और भोजन पाये बिना न रह जाय ॥ ७ ॥

तथास्यातिथयः पूज्या हव्यकव्यवहाः सदा ।
वेदविद्याव्रतस्नाताः श्रोत्रिया वेदपारगाः ॥ ८ ॥
स्वधर्मजीविनो दान्ताः क्रियावन्तस्तपस्विनः ।
तेषां हव्यं च कव्यं चाप्यर्हणार्थं विधीयते ॥ ९ ॥

यदि द्वारपर अतिथिके रूपमें वेदके पारङ्गत विद्वान्, स्नातक, श्रोत्रिय, हव्य (यज्ञान्न) और कव्य (श्राद्धान्न) भोजन करनेवाले, जितेन्द्रिय, क्रियानिष्ठ, स्वधर्मसे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले और तपस्वी ब्राह्मण आ जायँ तो सदा उनकी विधिवत् पूजा करके उन्हें हव्य और कव्य समर्पित करने चाहिये । उनके सत्कारके लिये यह सब करनेका विधान है ॥ ८-९ ॥

नखरै सम्प्रयातस्य स्वधर्मज्ञापकस्य च ।
अपविद्धाग्निहोत्रस्य गुरोर्वालीककारिणः ॥ १० ॥
संविभागोऽत्र भूतानां सर्वेषामेव शिष्यते ।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥ ११ ॥

जो धार्मिकताका ढोंग दिखानेके लिये अपने नख और बाल बढ़ाकर आया हो, अपने ही मुखसे अपने किये हुए धर्मका विज्ञापन करता हो, अकारण अग्निहोत्रका त्याग कर चुका हो अथवा गुरुके साथ कपट करनेवाला हो, ऐसा मनुष्य भी गृहस्थके घरमें अन्न पानेका अधिकारी है । वहाँ सभी प्राणियोंके लिये अन्न-वितरणकी विधि है । जो अपने हाथसे भोजन नहीं बनाते, ऐसे लोगों (ब्रह्मचारियों और संन्यासियों) के लिये गृहस्थ पुरुषको सदा ही अन्न देना चाहिये ॥ १०-११ ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः ।
अमृतं यज्ञशेषं स्याद् भोजनं हविषा समम् ॥ १२ ॥

गृहस्थको सदा विघस और अमृत अन्नका भोजन करना चाहिये । यज्ञसे बचा हुआ भोजन हविष्यके समान और अमृत माना गया है ॥ १२ ॥

भृत्यशेषं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम् ।
विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम् ॥ १३ ॥

कुटुम्बमें भरण-पोषणके योग्य जितने लोग हैं, उनको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नको जो भोजन करता है, उसे विघसाशी (विघस अन्न भोजन करनेवाला) बताया गया है । पोष्यवर्गसे बचे हुए अन्नको विघस तथा पञ्चमहायज्ञ एवं बलिवैश्वदेवसे बचे हुए अन्नको अमृत कहते हैं ॥

स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ॥ १४ ॥
वृद्धबालातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ॥ १५ ॥
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ।
एतान् विमुच्य संवादान् सर्वपापैर्विमुच्यते ॥ १६ ॥

गृहस्थ पुरुष सदा अपनी ही स्त्रीसे प्रेम करे । इन्द्रियोंका संयम करके जितेन्द्रिय बने । किसीके गुणोंमें दोष न ढूँढ़े । वह ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, जाति-भाई, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव, माता-पिता, कुटुम्बकी स्त्री, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री तथा सेवक-समूहके साथ कभी विवाद न करे । जो इन सबके साथ कलह त्याग देता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १४–१६ ॥

एतैर्जितस्तु जयति सर्वाँल्लोकान् न संशयः ।
आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ॥ १७ ॥
अतिथिस्त्विन्द्रलोकस्य देवलोकस्य चर्त्विजः ।
जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवे तु ज्ञातयः ॥ १८ ॥

इनसे हार मानकर रहनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंपर विजय पाता है, इसमें संशय नहीं है । आचार्य ब्रह्मलोकका

स्वामी है, पिता प्रजापतिलोकका ईश्वर है, अतिथि इन्द्रलोकके और ऋत्विज देवलोकके स्वामी हैं। कुटुम्बकी स्त्रियाँ अप्सराओंके लोककी स्वामिनी हैं और जाति-भाई विश्वेदेव लोकके अधिकारी हैं ॥ १७-१८ ॥

सम्बन्धिबान्धवा दिक्षु पृथिव्यां मातृमातुलौ ।
वृद्धबालातुरकृशास्त्वाकाशे प्रभविष्णवः ॥ १९ ॥

सम्बन्धी और बन्धु-बान्धव दिशाओंपर, माता और [illegible] पृथ्वीपर तथा वृद्ध, बालक और निर्बल रोगी आकाशपर अपना प्रभुत्व रखते [illegible]। इन सबको संतुष्ट रखनेसे उन-उन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ।
[illegible] स्वा दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ॥ २० ॥

बड़ा भाई पिताके समान है। पत्नी और पुत्र अपने ही शरीर [illegible] तथा सेवकगण अपनी छायाके समान हैं। बेटी तो और भी अधिक दयनीय है ॥ २० ॥

तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेन्नित्यमसंज्वरः ।
गृहधर्मपरो विद्वान् धर्मशीलो जितक्लमः ॥ २१ ॥

अतः इनके द्वारा कभी अपना तिरस्कार भी हो जाय तो सदा क्रोधरहित रहकर सहन कर लेना चाहिये। गृहस्थधर्मका पालन करनेवाले विद्वान् पुरुषको निश्चिन्त होकर क्लेश और थकावटको जीतकर धर्मका निरन्तर पालन करते रहना चाहिये ॥ २[illegible] ॥

न चार्थबद्धः कर्माणि धर्मवान् कश्चिदाचरेत् ।
गृहस्थवृत्तयस्तिस्रस्तासां निःश्रेयसं परम् ॥ २२ ॥

किसी भी धर्मात्मा पुरुषको धनके लोभसे धर्मकर्मोंका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। गृहस्थ ब्राह्मणके लिये जो तीन आजीविकाकी वृत्तियाँ बतायी गयी हैं, उनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ एवं कल्याणकारिणी हैं ॥ २२ ॥

परं परं तथैवाहुश्चातुराश्रम्यमेव तत् ।
यथोक्ता नियमास्तेषां सर्वं कार्यं बुभूषता ॥ २३ ॥

इसी प्रकार चारों आश्रम भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहे गये हैं। उन आश्रमोंके जो शास्त्रोक्त नियम हैं, उन सबका अपनी उन्नति चाहनेवाले पुरुषको पालन करना चाहिये ॥ २३ ॥

कुम्भधान्यैरुञ्छशिलैः कापोतीं चास्थितास्तथा ।
यस्मिंश्चैते वसन्त्यर्हास्तद् राष्ट्रमभिवर्धते ॥ २४ ॥

कुडेभर अनाजका संग्रह करके अथवा उञ्छशिल (अनाजके एक-एक दाने बीनने अथवा उस अनाजकी बाली बीनने) के द्वारा अन्नका संग्रह करके 'कापोती-वृत्ति' [illegible] आश्रय लेनेवाले पूजनीय ब्राह्मण जिस देशमें निवास करते हैं, उस राष्ट्रकी वृद्धि होती है ॥ २४ ॥

पूर्वान् दश दश परान् पुनाति च पितामहान् ।
गृहस्थवृत्तीश्चाप्येता वर्तयेद् यो गतव्यथः ॥ २५ ॥

जो मनमें तनिक भी क्लेशका अनुभव न करके गृहस्थकी इन वृत्तियोंके सहारे जीवन निभाता है, वह अपनी दस पीढ़ीके पूर्वजोंको तथा दस पीढ़ीतक आगे होनेवाली संतानोंको पवित्र कर देता है ॥ २५ ॥

[illegible] चक्रधरलोकानां सदृशीमाप्नुयाद् गतिम् ।
जितेन्द्रियाणामथवा गतिरेषा विधीयते ॥ २६ ॥

उसे चक्रधारी श्रीविष्णुके लोकके सदृश उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है अथवा वह जितेन्द्रिय पुरुषको मिलनेवाली श्रेष्ठ गति प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

स्वर्गलोको गृहस्थानामुदारमनसां हितः ।
स्वर्गो विमानसंयुक्तो वेददृष्टः सुपुष्पितः ॥ २७ ॥

उदारचित्तवाले गृहस्थोंको हितकारक स्वर्गलोक प्राप्त होता है। उनके लिये विमानसहित सुन्दर फूलोंसे सुशोभित परम रमणीय स्वर्ग सुलभ होता है, जिसका वेदोंमें वर्णन है ॥

स्वर्गलोको गृहस्थानां प्रतिष्ठा नियतात्मनाम् ।
[illegible] विहिता योनिरेषा यस्माद् विधीयते ।
द्वितीयं क्रमशः प्राप्य स्वर्गलोके महीयते ॥ २८ ॥

मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले गृहस्थोंके लिये स्वर्गलोकको ही प्रतिष्ठाका स्थान नियत किया है। ब्रह्माजीने गार्हस्थ्य-आश्रमको स्वर्गकी प्राप्तिका कारण बनाया है; इसीलिये इसके पालनका विधान किया गया है। इस प्रकार क्रमशः द्वितीय आश्रम गार्हस्थ्यको पाकर मनुष्य स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ २८ ॥

अतः परं परमुदारमाश्रमं
तृतीयमाहुस्त्यजतां कलेवरम् ।
वनौकसां गृहपतिनामनुत्तमं
शृणुष्व संक्लिष्टशरीरकारिणाम् ॥ २९ ॥

इस गृहस्थाश्रमके पश्चात् तीसरा उससे भी श्रेष्ठ परम उदार वानप्रस्थ-आश्रम है, जो शरीरको सुखाकर अस्थिचर्मावशिष्ट कर देनेवाले तथा वनमें रहकर तपस्यापूर्वक शरीरको त्यागनेवाले वानप्रस्थियोंका आश्रय है। यह गृहस्थोंसे श्रेष्ठतम माना गया है, अब इसके धर्म बताता हूँ, सुनो ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमके धर्म और महिमाका वर्णन

भीष्म उवाच

प्रोक्ता गृहस्थवृत्तिस्ते विहिता या मनीषिभिः ।
तदनन्तरमुक्तं यत् तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ १ ॥
(व्यासेन कथितं पूर्वं सुताय सुमहात्मने ।)

भीष्मजी कहते हैं—बेटा युधिष्ठिर ! मनीषी पुरुषों-द्वारा जिसका विधान एवं आचरण किया गया है, उस गृहस्थ-वृत्तिका मैंने तुमसे वर्णन किया । तदनन्तर व्यासजीने अपने महात्मा पुत्र शुकदेवसे जो कुछ कहा था, वह सब [illegible] हूँ, सुनो ॥ १ ॥

क्रमशस्त्ववधूयैनां तृतीयां वृत्तिमुत्तमाम् ।
संयोगव्रतखिन्नानां वानप्रस्थाश्रमौकसाम् ॥ २ ॥
श्रूयतां पुत्र भद्रं ते सर्वलोकाश्रमात्मनाम् ।
प्रेक्षापूर्वं प्रवृत्तानां पुण्यदेशनिवासिनाम् ॥ ३ ॥

वत्स ! तुम्हारा कल्याण हो । गृहस्थकी इस उत्तम तृतीय वृत्तिकी भी उपेक्षा करके सहधर्मिणीके संयोगसे किये जानेवाले व्रत-नियमोंद्वारा जो खिन्न हो चुके हैं तथा वानप्रस्थ-आश्रमको जिन्होंने अपना आश्रय बना लिया है, सम्पूर्ण लोक और आश्रम जिनके अपने ही स्वरूप हैं, जो विचारपूर्वक व्रत और नियमोंमें प्रवृत्त हैं तथा पवित्र स्थानोंमें निवास करते हैं, ऐसे वनवासी मुनियोंका जो धर्म है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ २-३ ॥

व्यास उवाच

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदा श्रयेत् ॥ ४ ॥
तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत् ।
तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः ॥ ५ ॥

व्यासजी बोले—बेटा ! गृहस्थ पुरुष जब अपने सिरके बाल सफेद दिखायी दें, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जायँ और पुत्रको भी पुत्रकी प्राप्ति हो जाय तो अपनी आयुका तीसरा भाग व्यतीत करनेके लिये वनमें जाय और वानप्रस्थ-आश्रममें रहे । [illegible] वानप्रस्थ-आश्रममें भी उन्हीं अग्नियोंका सेवन करे, जिनकी गृहस्थाश्रममें उपासना करता था । साथ ही वह प्रतिदिन देवाराधन भी करता रहे ॥ ४-५ ॥

नियतो नियताहारः षष्ठभुक्तोऽप्रमत्तवान् ।
तदग्निहोत्रं ता गावो यज्ञाङ्गानि च सर्वशः ॥ ६ ॥

वानप्रस्थी पुरुष नियमके साथ रहे, नियमानुकूल भोजन करे । दिनके छठे भाग अर्थात् तीसरे पहरमें एक बार अन्न ग्रहण करे और प्रमादसे बचा रहे । गृहस्थाश्रमकी ही भाँति अग्निहोत्र, वैसी ही गो-सेवा तथा उसी प्रकार यज्ञके सम्पूर्ण अङ्गोंका सम्पादन करना वानप्रस्थका धर्म है ॥ ६ ॥

अफालकृष्टं व्रीहियवं नीवारं विघसानि च ।
हवींषि सम्प्रयच्छेत मखेष्वत्रापि पञ्चसु ॥ ७ ॥

वनवासी मुनि बिना जोती हुई पृथ्वीसे पैदा हुआ धान, जौ, नीवार तथा विघस (अतिथियोंको देनेसे बचे हुए) अन्नसे जीवन-निर्वाह करे । वानप्रस्थमें भी पञ्चमहायज्ञोंमें हविष्य वितरण करे ॥ [illegible] ॥

वानप्रस्थाश्रमेऽप्येताश्चतस्रो वृत्तयः स्मृताः ।
सद्यःप्रक्षालकाः केचित् केचिन्मासिकसंचयाः ॥ ८ ॥

वानप्रस्थ-आश्रममें भी चार प्रकारकी वृत्तियाँ मानी गयी हैं । कोई उतने ही अन्नका संग्रह करते हैं कि तुरंत बना-खाकर बर्तनको धो माँजकर साफ कर ले अर्थात् वे दूसरे दिनके लिये कुछ नहीं बचाते । कुछ दूसरे लोग वे हैं, जो एक महीनेके लिये अनाजका संग्रह करते हैं ॥ ८ ॥

वार्षिकं संचयं केचित् केचिद् द्वादशवार्षिकम् ।
कुर्वन्त्यतिथिपूजार्थं यज्ञतन्त्रार्थमेव वा ॥ ९ ॥

कोई वर्षभरके लिये और कोई बारह वर्षोंके लिये अन्नका संग्रह करते हैं । उनका यह संग्रह अतिथि-[illegible] तथा यज्ञकर्मके लिये होता है ॥ ९ ॥

अभ्रावकाशा वर्षासु हेमन्ते जलसंश्रयाः ।
ग्रीष्मे [illegible] पञ्च तपसः शश्वच्च मितभोजनाः ॥ १० ॥

वे वर्षाके [illegible] खुले आकाशके नीचे और सर्दीमें पानीके भीतर खड़े रहते हैं । जब गर्मी आती है, तब पञ्चाग्निसे शरीरको तपाते हैं और सदा स्वल्प भोजन करनेवाले होते हैं ॥

भूमौ विपरिवर्तन्ते तिष्ठन्ति प्रपदैरपि ।
स्थानासनैर्वर्तयन्ति सवनेष्वभिषिञ्चते ॥ ११ ॥

वानप्रस्थी महात्मा जमीनपर लोट-पोट करते, पंजोंके बल खड़े होते, एक स्थानपर आसन लगाकर बैठते तथा तीनों काल स्नान और संध्या करते हैं ॥ ११ ॥

दन्तोलूखलिकाः केचिदश्मकुट्टास्तथा परे ।
शुक्लपक्षे पिबन्त्येके यवागूं क्वथितां सकृत् ॥ १२ ॥
कृष्णपक्षे पिबन्त्यन्ये भुञ्जते [illegible] यथागतम् ।

कोई दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेते हैं, अर्थात् कच्चे अन्नको चबा-चबाकर खाते हैं । दूसरे लोग पत्थरपर कूटकर भोजन करते हैं और कोई-कोई शुक्लपक्ष या कृष्णपक्षमें एक बार जौका औटाया हुआ माँड़ पीकर रह जाते हैं अथवा समयानुसार जो कुछ मिल जाय वही खाकर जीवन निर्वाह करते हैं ॥ १२½ ॥

मूलैरेके फलैरेके पुष्पैरेके दृढव्रताः ॥ १३ ॥
वर्तयन्ति यथान्यायं वैखानसगतिं श्रिताः ।

वानप्रस्थ-धर्मका आश्रय लेकर कोई कन्द-मूलसे और कोई-कोई दृढ व्रतका पालन करते हुए फूलोंसे ही धर्मानुकूल जीविका चलाते हैं ॥ १३½ ॥

एताश्चान्याश्च विविधा दीक्षास्तेषां मनीषिणाम् ॥ १४ ॥
चतुर्थश्चौपनिषदो धर्मः साधारणः स्मृतः ।
वानप्रस्थाद् गृहस्थाच्च ततोऽन्यः सम्प्रवर्तते ॥ १५ ॥

उन मनीषी पुरुषोंके लिये ये तथा और भी बहुत-से नाना प्रकारके नियम शास्त्रोंमें बताये गये हैं । चौथे संन्यास-आश्रममें विहित जो उपनिषद्-प्रतिपादित शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधानरूप धर्म है, वह सभी आश्रमोंके लिये साधारण माना गया है, उसका पालन सभी आश्रमवालोंको करना चाहिये; किंतु चौथे आश्रम संन्यासका जो विशेष धर्म है, वह वानप्रस्थ और गृहस्थसे भिन्न है ॥ १४-१५ ॥

अस्मिन्नेव युगे तात विप्रैः सर्वार्थदर्शिभिः ।
अगस्त्यः सप्त ऋषयो मधुच्छन्दोऽघमर्षणः ॥ १६ ॥
सांकृतिः सुदिवा तण्डिर्यथावासोऽकृतश्रमः ।
अहोवीर्यस्तथा काव्यस्ताण्ड्यो मेधातिथिर्बुधः ॥ १७ ॥
बलवान् कर्णनिर्वाकः शून्यपालः कृतश्रमः ।
एतं धर्मं कृतवन्तस्ततः स्वर्गमुपागमन् ॥ १८ ॥

तात ! इस युगमे भी सर्वार्थदर्शी ब्राह्मणोंने इस वानप्रस्थ-धर्मका पालन एवं प्रसार किया । अगस्त्य, सप्तर्षिगण, मधुच्छन्द, अघमर्षण, सांकृति, सुदिवा, तण्डि, यथावास, अकृतश्रम, अहोवीर्य, काव्य (शुक्राचार्य), ताण्ड्य, मेधातिथि, बुध, शक्तिशाली कर्ण निर्वाक, शून्यपाल और कृतश्रम—इन सबने इस धर्मका पालन किया, जिससे ये सभी स्वर्गलोकको प्राप्त हुए ॥ १६–१८ ॥

तात प्रत्यक्षधर्माणस्तथा यायावरा गणाः ।
ऋषीणामुग्रतपसां धर्मनैपुणदर्शिनाम् ॥ १९ ॥
अन्ये चापरिमेयाश्च ब्राह्मणा वनमाश्रिताः ।
वैखानसा वालखिल्याः सैकताश्च तथा परे ॥ २० ॥

तात ! जिनकी तपस्या उग्र है, जिन्होंने धर्मकी निपुणताको देखा और अनुभव किया है, उन ऋषियोंके यायावर नामक गण भी वानप्रस्थी हैं, जिन्हें धर्मके फलका प्रत्यक्ष अनुभव है । ये तथा और भी असंख्य वनवासी [illegible] वालखिल्य और सैकत नामवाले दूसरे मुनि भी वैखानस ([illegible]) धर्मका पालन करनेवाले हैं ॥ १९-२० ॥

कर्मभिस्ते निरानन्दा धर्मनित्या जितेन्द्रियाः ।
गताः प्रत्यक्षधर्माणस्ते सर्वे वनमाश्रिताः ॥ २१ ॥
अनक्षत्रास्त्वनाधृष्या दृश्यन्ते ज्योतिषां गणाः ।

ये सब [illegible] प्रायः उपवास आदि क्लेशदायक कर्म करनेके कारण लौकिक सुखसे रहित थे । [illegible] धर्ममें तत्पर रहते और इन्द्रियोंको वशमें रखते थे । उन्हें धर्मके फल[illegible] प्रत्यक्ष अनुभव था । वे सब-के-सब वानप्रस्थी थे । इस लोकसे जानेपर आकाशमें वे नक्षत्र भिन्न, दुर्धर्ष ज्योतिर्मय तारोंके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं २१½ ॥

जरया [illegible] परिद्यूनो व्याधिना [illegible] प्रपीडितः ॥ २२ ॥
चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत् ।
सद्यस्कारां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार वानप्रस्थकी अवधि पूरी कर लेनेके बाद जब आयुका चौथा भाग शेष रह जाय, वृद्धावस्थासे शरीर दुर्बल हो [illegible] और रोग सताने लगें तो उस आश्रमका परित्याग कर दे (और संन्यास-आश्रम ग्रहण कर [illegible]) । संन्यासकी दीक्षा लेते समय एक दिनमें पूरा होनेवाला यज्ञ करके अपना सर्वस्व दक्षिणामें दे डाले ॥ २२-२३ ॥

आत्मयाजी सोऽऽत्मरतिरात्मक्रीडात्मसंश्रयः ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य त्यक्त्वा सर्वपरिग्रहान् ॥ २४ ॥
सद्यस्कांश्च यजेद् यज्ञानिष्टीश्चैवेह सर्वदा ।
यदैव याजिनां यज्ञादात्मनीज्या प्रवर्तते ॥ २५ ॥

फिर आत्माका ही यजन, आत्मामें ही रत होकर आत्मा[illegible] ही क्रीडा करे । [illegible] प्रकारसे आत्माका ही आश्रय ले । अग्निहोत्रकी अग्नियोंको आत्मामें ही आरोपित करके सम्पूर्ण संग्रह-परिग्रहका त्याग दे और तुरंत सम्पन्न किये जानेवाले ब्रह्मयज्ञ आदि यज्ञों तथा इष्टियोंका सदा ही मानसिक अनु[illegible] करता रहे । ऐसा तबतक करे, [illegible] कि याज्ञिकोंके कर्ममय यज्ञसे हटकर आत्मयज्ञका अभ्यास न [illegible] [illegible] ॥ २४-२५ ॥

त्रींश्चैवाग्नीन् यजेत् सम्यगात्मन्येवात्ममोक्षणात् ।
प्राणेभ्यो यजुषः पञ्च षट् प्राश्नीयादकुत्सयन् ॥ २६ ॥

आत्मयज्ञका स्वरूप इस प्रकार है, अपने भीतर ही तीनों अग्नियोंकी विधिपूर्वक स्थापना करके देहपात होनेतक प्राणाग्निहोत्रकी विधिसे भलीभाँति यजन करता रहे । यजुर्वेदके 'प्राणाय स्वाहा'[1] आदि मन्त्रोंका उच्चारण [illegible] हुआ पहले अन्नके पाँच-छः ग्रास ग्रहण करे (फिर आचमनके पश्चात्) शेष अन्नकी निन्दा न करते हुए मौनभावसे भोजन करे ॥ २६ ॥

केशलोमनखान् वाप्य वानप्रस्थो मुनिस्ततः ।
आश्रमादाश्रमं पुण्यं पूतो गच्छति कर्मभिः ॥ २७ ॥

[illegible] मुनि केश, लोम और [illegible] कटाकर कर्मोंसे पवित्र हो वानप्रस्थ-आश्रमसे पुण्यमय संन्यास-आश्रम[illegible] प्रवेश करे ॥ २७ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् द्विजः ।
लोकास्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ॥ २८ ॥

जो ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देकर संन्यासी हो [illegible] है, वह मरनेके पश्चात् तेजोमय लोकमें [illegible] है और अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ २८ ॥

सुशीलवृत्तो व्यपनीतकल्मषो
न चेह नामुत्र च कर्तुमीहते ।
अरोषमोहो गतसंधिविग्रहो
भवेदुदासीनवदात्मवित्तरः ॥ २९ ॥

आत्मज्ञानी पुरुष सुशील, सदाचारी और पापरहित होता है । वह इहलोक और परलोकके लिये भी कोई कर्म करना नहीं चाहता । क्रोध, मोह, संधि और विग्रहका त्याग करके वह सब ओरसे उदासीन-सा रहता है ॥ २९ ॥

यमेषु चैवानुगतेषु न व्यथे
स्वशास्त्रसूत्राहुतिमन्त्रविक्रमः ।

१. [illegible] स्वाहा, [illegible] अपानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा, [illegible] उदानाय स्वाहा—ये प्राणाग्निहोत्रके पाँच मन्त्र हैं, भोजन आरम्भ करते [illegible] पहले आचमन करके इनमेंसे एक-एक मन्त्रको पढ़कर एक-एक ग्रास अन्न मुँहमें डाले । [illegible] प्रकार पाँच [illegible] पूरे होनेपर [illegible] आचमन कर के । [illegible] प्राणाग्निहोत्र [illegible] ।

भवेद् यथेष्टागतिरात्मवेदिनि
न संशयो धर्मपरे जितेन्द्रिये ॥ ३० ॥

जो अहिंसा आदि यमों और शौच-संतोष आदि नियमो- का पालन करनेमें कभी कष्टका अनुभव नहीं करता, संन्यास-आश्रमका विधान करनेवाले शास्त्रके सूत्रभूत वचनोंके अनुसार त्यागमयी अग्निमें अपने सर्वस्वकी आहुति दे देनेके लिये निरन्तर उत्साह दिखाता है, उसे इच्छानुसार गति (मुक्ति) प्राप्त होती है । ऐसे जितेन्द्रिय एवं धर्मपरायण आत्मज्ञानीकी मुक्तिके विषयमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है ॥ ३० ॥

ततः परं श्रेष्ठमतीव सद्गुणै-
रधिष्ठितं त्रीनधिवृत्तिमुत्तमम्।
चतुर्थमुक्तं परमाश्रमं शृणु
प्रकीर्त्यमानं परमं परायणम् ॥ ३१ ॥

जो वानप्रस्थ-आश्रमसे उत्कृष्ट तथा अपने सद्गुणोंके कारण अति ही श्रेष्ठ है, जो पूर्वोक्त तीनों आश्रमोंमें ऊपर है, जिसमें शम आदि गुणोंका अधिक विकास होता है, जो सबसे श्रेष्ठ और सबकी परम गति है, उस सर्वोत्तम चतुर्थ आश्रम-का यद्यपि वर्णन किया गया है, तथापि पुनः विशेषरूपसे उसका प्रतिपादन करता हूँ; तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुश्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३१½ श्लोक हैं)

पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

संन्यासीके आचरण और ज्ञानवान् संन्यासीकी प्रशंसा

शुक उवाच

वर्तमानस्तथैवात्र वानप्रस्थाश्रमे यथा ।
योक्तव्योऽऽत्मा कथं शक्त्या वेद्यं वै काङ्क्षता परम्॥१॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमोंमें जैसे शास्त्रोक्त नियमके अनुसार चलना आवश्यक है, उसी प्रकार इस वानप्रस्थ आश्रममें भी शास्त्रोक्त नियमका पालन करते हुए चलना चाहिये । यह बात तो मैंने सुन लिया । अब मैं यह जानना चाहता हूँ, जो जानने योग्य परब्रह्म परमात्माको पाना चाहता हो, उसे अपनी शक्तिके अनुसार उस परमात्माका चिन्तन कैसे करना चाहिये ? ॥ १ ॥

व्यास उवाच

प्राप्य संस्कारमेताभ्यामाश्रमाभ्यां ततः परम्।
यत्कार्यं परमार्थं तु तदिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमके धर्मोंद्वारा चित्तका संस्कार (शोधन) करनेके अनन्तर मुक्तिके लिये जो वास्तविक कर्तव्य है, उसे बताता हूँ, तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

कषायं पाचयित्वाऽऽशु श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

पङ्क्तिक्रमसे स्थित पूर्वोक्त तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थमें चित्तके राग-द्वेष आदि दोषोंको पकाकर—उन्हें नष्ट करके शीघ्र ही सर्वोत्तम चतुर्थ आश्रम संन्यासको ग्रहण कर ले॥

तद् भवानेवमभ्यस्य वर्ततां श्रूयतां तथा ।
एक एव चरेद् धर्मं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ॥ ४ ॥

बेटा ! तुम इस संन्यास-धर्मके नियमोंको सुनो और उन्हें अभ्यासमें लाकर उसीके अनुसार वर्ताव करो । संन्यासीको चाहिये कि वह सिद्धि प्राप्त करनेके लिये किसीको साथ न लेकर अकेला ही संन्यास-धर्मका पालन करे ॥ ४ ॥

एकश्चरति यः पश्यन् न जहाति न हीयते ।
अनग्निरनिकेतश्च ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ॥ ५ ॥

जो आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करके एकाकी विचरता रहता है, वह सर्वव्यापी होनेके कारण न तो स्वयं किसीका त्याग करता है और न दूसरे ही उसका त्याग करते हैं । संन्यासी कभी न तो अग्निकी स्थापना करे और न घर या मठ ही बनाकर रहे; केवल भिक्षा लेनेके लिये ही गाँवमें जाय ॥ ५ ॥

अश्वस्तनविधाता स्यान्मुनिर्भावसमाहितः ।
लघ्वाशी नियताहारः सकृदन्ननिषेविता ॥ ६ ॥

वह दूसरे दिनके लिये अन्नका संग्रह न करे । चित्त-वृत्तियोंको एकाग्र करके मौनभावसे रहे । हलका और नियमानुकूल भोजन करे तथा दिन-रातमें केवल एक ही बार अन्न ग्रहण करे ॥ ६ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम् ॥ ७ ॥

भिक्षापात्र एवं कमण्डलु रखे । वृक्षकी जड़में सोये या निवास करे । जो देखनेमें सुन्दर न हो, ऐसा वस्त्र धारण करे । किसीको साथ न रखे और सब प्राणियोंकी उपेक्षा कर दे । ये सब संन्यासीके लक्षण हैं ॥ ७ ॥

यस्मिन् वाचः प्रविशन्ति कूपे त्रस्ता द्विपा इव।
न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत्॥ ८ ॥

जैसे डरे हुए हाथी भागकर किसी जलाशयमें प्रवेश कर जाते हैं, फिर सहसा निकलकर अपने पूर्व स्थानको नहीं लौटते उसी प्रकार जिस पुरुषमें दूसरोंके कहे हुए निन्दात्मक या प्रशंसात्मक वचन समा जाते हैं, परंतु प्रत्युत्तरके रूपमें वे वापस पुनः नहीं लौटते अर्थात् जो किसीकी की हुई निन्दा

[illegible] स्तुतिका कोई उत्तर नहीं देता, वही सन्यास आश्रममें निवास [illegible] सकता है ॥ ८ ॥

नैव पश्येन्न शृणुयादवाच्यं जातु कस्यचित् ।
ब्राह्मणानां विशेषेण नैव ब्रूयात् कथंचन ॥ ९ ॥

सन्यासी किसीकी निन्दा करनेवाले पुरुषकी ओर आँख उठाकर देखे नहीं, कभी किसीका निन्दात्मक वचन सुने नहीं तथा विशेषतः ब्राह्मणोंके प्रति किसी प्रकार न कहने योग्य बात न कहे ॥ ९ ॥

यद् ब्राह्मणस्य कुशलं तदेव सततं वदेत् ।
तूष्णीमासीत निन्दायां कुर्वन् भैषज्यमात्मनः ॥ १० ॥

जिससे ब्राह्मणोंका हित हो, वैसा ही वचन सदा बोले । अपनी निन्दा सुनकर भी चुप रह जाय—इस मौनावलम्बनको भवरोगसे छूटनेकी दवा समझकर इसका सेवन करता रहे ॥

येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा ।
शून्यं येन जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ११ ॥

जो सदा अपने सर्वव्यापी स्वरूपसे स्थित होनेके कारण अकेले ही सम्पूर्ण आकाशमें परिपूर्ण-सा हो रहा है तथा जो असङ्ग होनेके कारण लोगोंसे भरे हुए स्थानको भी सूना [illegible] है, उसे ही देवतालोग ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) मानते हैं ॥ ११ ॥

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचन शायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १२ ॥

जो जिस किसी भी (वस्त्र-वल्कल आदि) वस्तुसे अपना शरीर [illegible] लेता है, समयपर जो भी रूखा-सूखा मिल जाय, उसीसे भूख मिटा लेता है और जहाँ कहीं भी सो रहता है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी समझते हैं ॥ १२ ॥

अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव ।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १३ ॥

जो जनसमुदायको सर्प-सा समझकर उसके निकट जानेसे [illegible] है, स्वादिष्ट भोजनजनित तृप्तिको नरक-सा मानकर उससे दूर रहता है और स्त्रियोंको मुर्दोंके समान समझकर उनकी ओरसे विरक्त होता है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥

न क्रुद्ध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः ।
सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ १४ ॥

जो सम्मान प्राप्त होनेपर हर्षित, अपमानित होनेपर कुपित नहीं होता तथा जिसने सम्पूर्ण प्राणियोंको अभय-दान कर दिया है, उसे ही देवता लोग ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥१४॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा ॥ १५ ॥

संन्यासी न तो जीवनका अभिनन्दन करे और न मृत्युका ही। जैसे सेवक स्वामीके आदेशकी प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार उसे भी कालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये ॥ १५ ॥

अनभ्याहतचित्तः स्यादनभ्याहतवाग् भवेत् ।
निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो निरमित्रस्य किं भयम् ॥ १६ ॥

संन्यासी अपने चित्तको राग-द्वेष आदि दोषोंसे दूषित न होने दे । अपनी वाणीको निन्दा आदि दोषोंसे बचावे और सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर सर्वथा शत्रुहीन हो जाय । जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो उसे किसीसे क्या भय हो सकता है ? ॥ १६ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो भूतानामभयं ततः ।
[illegible] मोहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ १७ ॥

जिसे सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय प्राप्त है तथा जिसकी ओरसे किसी भी प्राणीको कोई भय नहीं है, उस मोहमुक्त पुरुषको किसीसे भी भय नहीं होता ॥ १७ ॥

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम् ।
सर्वाण्येवापिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे ॥ १८ ॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते ।
अमृतः स नित्यं वसति यो हिंसां न प्रपद्यते ॥ १९ ॥

जैसे पैरोंद्वारा चलनेवाले अन्य प्राणियोंके सम्पूर्ण पदचिह्न हाथीके पदचिह्नमें समा जाते हैं, उसी प्रकार सारा धर्म और अर्थ अहिंसाके अन्तर्भूत है । जो किसीकी हिंसा नहीं करता, वह सदा अमृत (जन्म और मृत्युके बन्धनसे मुक्त) होकर निवास करता है ॥ १८-१९ ॥

अहिंसकः समः सत्यो धृतिमान् नियतेन्द्रियः ।
शरण्यः सर्वभूतानां गतिमाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ २० ॥

जो हिंसा न करनेवाला, समदर्शी, सत्यवादी, धैर्यवान्, जितेन्द्रिय और सम्पूर्ण प्राणियोंको शरण देनेवाला है, वह अत्यन्त उत्तम गति पाता है ॥ २० ॥

एवं प्रज्ञानतृप्तस्य निर्भयस्य निराशिषः ।
न मृत्युरतिगो भावः स मृत्युमधिगच्छति ॥ २१ ॥

इस प्रकार जो ज्ञानानन्दसे तृप्त होकर भय और कामनाओंसे रहित हो गया है, उसपर मृत्युका जोर नहीं चलता । वह स्वयं ही मृत्युको लाँघ जाता है ॥ २१ ॥

विमुक्तं सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत् स्थितम् ।
अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २२ ॥

जो सब प्रकारकी आसक्तियोंसे छूटकर मुनिवृत्तिसे [illegible] है, आकाशकी भाँति निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तुको अपनी नहीं मानता, एकाकी विचरता और शान्तभावसे रहता है, उसे देवता ब्रह्मवेत्ता मानते हैं ॥२२॥

जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च ।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २३ ॥

जिसका जीवन धर्मके लिये और धर्म भगवान् श्रीहरिके लिये होता है, जिसके दिन और रात धर्म-पालनमें ही व्यतीत होते हैं, उसे देवता [illegible] मानते हैं ॥ २३ ॥

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
निर्मुक्तं बन्धनैः सर्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २४ ॥

जो कामनाओंसे रहित तथा सब प्रकारके आरम्भोंसे रहित है, नमस्कार और स्तुतिसे दूर रहता तथा सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होता है, उसे ही देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥२४॥

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते
सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते ।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः
कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्दधानः ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण प्राणी सुखमें प्रसन्न होते और दुःखसे बहुत डरते हैं; अतः प्राणियोंपर भय आता देखकर जिसे खेद होता है, उस श्रद्धालु पुरुषको भयदायक कर्म नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥

दानं हि भूताभयदक्षिणायाः
सर्वाणि दानान्यधितिष्ठतीह ।
तीक्ष्णां तनुं [illegible] प्रथमं जहाति
सोऽनन्त्यमाप्नोत्यभयं प्रजाभ्यः ॥ २६ ॥

इस जगत्में जीवोंको अभयकी दक्षिणा देना सब दानोंसे बढ़कर है । जो पहलेसे ही हिंसाका त्याग कर देता है, वह सब प्राणियोंसे निर्भय होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

उत्तान आस्ये [illegible] हविर्जुहोति
लोकस्य नाभिर्जगतः प्रतिष्ठा ।
तस्याङ्गमङ्गानि कृताकृतं [illegible]
वैश्वानरः सर्वमिदं प्रपेदे ॥ २७ ॥

जो संन्यासी खोले हुए मुखमें 'प्राणाय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रोंसे प्राणोंके लिये अन्नकी आहुति नहीं देता, अपितु प्राणों (इन्द्रिय-मन आदि) को ही आत्मामें होम देता—लीन करता है, उसका मस्तक आदि सारा अङ्गसमुदाय [illegible] किया हुआ और नहीं किया हुआ कर्मसमूह अग्निका ही अवयव हो जाता है अर्थात् वह उस अग्निका स्वरूप हो [illegible] है, जो सृष्टिके आरम्भसे ही प्राणियोंके नाभिस्थान—उदरमें जठरानलरूपमें विराजमान है तथा सम्पूर्ण जगत्का आश्रय है । उस वैश्वानर (अग्नि) ने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है ॥ २७ ॥

प्रादेशमात्रे हृदि निःसृतं यत्
तस्मिन् प्राणानात्मयाजी जुहोति ।
तस्याग्निहोत्रं हुतमात्मसंस्थं
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ॥ २८ ॥

आत्मयज्ञ करनेवाला ज्ञानी पुरुष नाभिसे लेकर हृदय-तकका जो प्रादेशमात्र स्थान है, उसमें प्रकट हुई जो चैतन्य-ज्योति है, उसीमें समस्त प्राणोंकी—इन्द्रिय, मन आदिकी आहुति देता है अर्थात् समस्त प्राणादिका आत्मामें लय करता है । उसका प्राणाग्निहोत्र यद्यपि अपने शरीरके भीतर ही होता है तथापि वह सर्वात्मा होनेके कारण उसके द्वारा देवताओंसहित सम्पूर्ण लोकोंमें प्राणाग्निहोत्रकर्म सम्पन्न हो जाता है; अर्थात् उसके प्राणोंकी तृप्तिसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके प्राण तृप्त हो जाते हैं ॥ २८ ॥

दैवं त्रिधातुं त्रिवृतं सुपर्णं
ये विद्युरग्र्यां परमात्मतां च ।
ते सर्वलोकेषु महीयमाना
देवाः समर्त्याः सुकृतं वदन्ति ॥ २९ ॥

जो सम्पूर्ण जगत्में अपने चिन्मयस्वरूपसे प्रकाशित होता है, तीन धातु (वर्ण—अकार, उकार, मकार) अर्थात् प्रणव जिसका वाचक है, जो सत्त्व आदि तीनों गुणोंमें—त्रिगुणमयी मायामें उसके नियन्तारूपसे विद्यमान है तथा जिसके जगत्-सम्बन्धी व्यापार वृक्षके सुन्दर पत्तोंके समान विस्तारको [illegible] हुए हैं, उस अन्तर्यामी पुरुषको तथा उसकी उत्तम परब्रह्मस्वरूपताको जो जानते हैं, वे सम्पूर्ण लोकोंमें सम्मानित होते हैं और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण देवता उनके शुभकर्मकी [illegible] करते हैं ॥ २९ ॥

वेदांश्च वेद्यं [illegible] विधिं च कृत्स्न-
मथो निरुक्तं परमार्थतां च ।
सर्वं शरीरात्मनि [illegible] प्रवेद
तस्यैव देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥ ३० ॥

सम्पूर्ण वेदशास्त्र, ज्ञेय वस्तु (आकाश आदि भूत और भौतिक जगत्), [illegible] विधि (कर्मकाण्ड), निरुक्त (शब्द-प्रमाणगम्य परलोक आदि) और परमार्थता (आत्माकी सत्यस्वरूपता)—यह सब कुछ शरीरके भीतर विद्यमान आत्मामें ही प्रतिष्ठित है । ऐसा जो जानता है, उस सर्वात्मा ज्ञानी पुरुषकी सेवाके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं ॥ ३० ॥

भूमावसक्तं दिवि चाप्रमेयं
हिरण्मयं योऽण्डजमण्डमध्ये ।
पतत्रिणं पक्षिणमन्तरिक्षे
यो वेद भोग्यात्मनि रश्मिदीप्तः ॥ ३१ ॥

जो पृथ्वीपर रहकर भी उसमें आसक्त नहीं है, अनन्त आकाशमें अप्रमेयभावसे स्थित है, जो हिरण्मय (चिन्मय ज्योतिस्स्वरूप), अण्डज—ब्रह्माण्डके भीतर प्रादुर्भूत और अण्ड-पिण्डात्मक शरीरके मध्यभागमें स्थित हृदय-कमलके आसनपर, भोग्यात्मा (शरीर) के अन्तर्गत हृदयाकाशमें जीवरूपसे विराजमान है; जिसमें अनेक अङ्गदेवता छोटे-छोटे पंखोंके समान शोभा पाते हैं तथा जो मोद और प्रमोद नामक दो प्रमुख पंखोंसे शोभायमान है; उस सुवर्णमय पक्षीरूप जीवात्मा एवं ब्रह्मको जो जानता है, वह ज्ञानकी तेजोमयी किरणोंसे प्रकाशित होता है ॥ ३१ ॥

आवर्तमानमजरं विवर्तनं
षण्णाभिकं द्वादशारं सुपर्व ।
यस्येदमास्ये परियाति विश्वं
तत् कालचक्रं निहितं गुहायाम् ॥ ३२ ॥

जो निरन्तर घूमता रहता है, कभी जीर्ण या क्षीण नहीं होता, जो लोगोंकी आयुको क्षीण करता है, छः ऋतुएँ जिसकी नाभि हैं, बारह महीने जिसके अरे हैं, दर्श पौर्णमास आदि जिसके सुन्दर पर्व हैं, यह सम्पूर्ण विश्व जिसके मुँहमें भक्ष्य पदार्थके समान जाता है, वह कालचक्र बुद्धिरूपी गुहामें स्थित है (उसे जो जानता है, देवगण उसके शुभकर्म-की प्रशंसा करते हैं) ॥ ३२ ॥

यः सम्प्रसादो जगतः शरीरं
सर्वान् स लोकानधिगच्छतीह ।
तस्मिन् हितं तर्पयतीह देवां-
स्ते वै तृप्तास्तर्पयन्त्यास्यमस्य ॥ ३३ ॥

जो मनको प्रसन्नता प्रदान करता है, इस जगत्का शरीर है अर्थात् सम्पूर्ण जगत् जिसके विराट् शरीरमें विराजित है, वह परमात्मा इस जगत्में सब लोकोंको घेरे हुए स्थित है। उस परमात्मामें ध्यानद्वारा स्थापित किया हुआ मन, इस देहमें स्थित देवताओं-प्राणोंको तृप्त करता है और वे तृप्त हुए प्राण उस ज्ञानीके मुखको ज्ञानामृतसे तृप्त करते हैं ॥ ३३ ॥

तेजोमयो नित्यमयः पुराणो
लोकाननन्तानभयानुपैति ।
भूतानि यस्मान्न त्रसन्ते कदाचित्
स भूतानां न त्रसते कदाचित् ॥ ३४ ॥

जो ब्रह्मज्ञानमय तेजसे सम्पन्न और पुरातन नित्य-ब्रह्म-परायण है, वह भिक्षु अनन्त एवं निर्भय लोकोंको प्राप्त होता है। जिससे जगत्के प्राणी कभी भयभीत नहीं होते, वह भी संसारके प्राणियोंसे कभी भय नहीं पाता है ॥ ३४ ॥

अगर्हणीयो न च गर्हतेऽन्यान्
स वै विप्रः परमात्मानमीक्षेत् ।
विनीतमोहो व्यपनीतकल्मषो
न चेह नामुत्र च सोऽन्नमृच्छति ॥ ३५ ॥

जो न तो स्वयं निन्दनीय है और न दूसरोंकी निन्दा करता है, वही ब्राह्मण परमात्माका दर्शन कर सकता है। जिसके मोह और पाप दूर हो गये हैं, वह इस लोक और परलोकके भोगोंमें आसक्त नहीं होता ॥ ३५ ॥

अरोषमोहः समलोष्टकाञ्चनः
प्रहीणकोशो गतसंधिविग्रहः ।
अपेतनिन्दास्तुतिरप्रियाप्रिय-
श्चरन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ३६ ॥

ऐसे संन्यासीको रोष और मोह नहीं छू सकते। वह मिट्टीके ढेले और सोनेको समान समझता है। पाँच कोशोंका अभिमान त्याग देता है और संधि-विग्रह तथा निन्दा-स्तुतिसे रहित हो जाता है। उसकी दृष्टिमें न कोई प्रिय होता है न अप्रिय। वह संन्यासी उदासीनकी भाँति सर्वत्र विचरता रहता है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्माकी श्रेष्ठता, उसके दर्शनका उपाय तथा इस ज्ञानमय उपदेशके पात्रका निर्णय

व्यास उवाच

प्रकृत्यास्तु विकारा ये क्षेत्रज्ञस्तैरधिष्ठितः ।
न चैनं ते प्रजानन्ति स तु जानाति तानपि ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! देह, इन्द्रिय और मन आदि जो प्रकृतिके विकार हैं, वे क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के ही आधारपर स्थित रहते हैं। वे जड होनेके कारण क्षेत्रज्ञको नहीं जानते; परंतु क्षेत्रज्ञ उन सबको जानता है ॥ १ ॥

तैश्चैवं कुरुते कार्यं मनःषष्ठैरिहेन्द्रियैः ।
सुदान्तैरिव संयन्ता दृढैः परमवाजिभिः ॥ २ ॥

जैसे चतुर सारथि अपने वशमें किये हुए बलवान् और उत्तम घोड़ोंसे अच्छी तरह काम लेता है, उसी प्रकार यहाँ क्षेत्रज्ञ भी अपने वशमें किये हुए मनसहित इन्द्रियोंके द्वारा सम्पूर्ण कार्य सिद्ध करता है ॥ २ ॥

इन्द्रियेभ्यः परे ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ ३ ॥

इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय बलवान् हैं, विषयोंसे मन बलवान् है, मनसे बुद्धि बलवान् है और बुद्धिसे जीवात्मा बलवान् है ॥ ३ ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् परतोऽमृतम् ।
अमृतान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ४ ॥

जीवात्मासे बलवान् है अव्यक्त (मूल प्रकृति) और अव्यक्तसे बलवान् और श्रेष्ठ है अमृतस्वरूप परमात्मा। उस परमात्मासे बढ़कर श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वही श्रेष्ठताकी चरम सीमा और परम गति है ॥ ४ ॥

एवं सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ ५ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर उनकी हृदय-गुफामें छिपा हुआ वह परमात्मा इन्द्रियोंद्वारा प्रकाशमें नहीं आता। सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी महात्मा ही अपनी सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ बुद्धिद्वारा उसका दर्शन करते हैं ॥ ५ ॥

अन्तरात्मनि संलीय मनःषष्ठानि मेधया ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च बहुचिन्त्यमचिन्तयन् ॥ ६ ॥
ध्यानेनोपरमं कृत्वा विद्यासम्पादितं मनः ।
अनीश्वरः प्रशान्तात्मा ततोऽर्च्छत्यमृतं पदम् ॥ ७ ॥

योगी बुद्धिके द्वारा मनसहित इन्द्रियों और उनके विषयोंको अन्तरात्मामें लीन करके नाना प्रकारके चिन्तनीय विषयका चिन्तन न करता हुआ जब विवेकद्वारा विशुद्ध किये हुए मनको ध्यानके द्वारा सब ओरसे पूर्णतया उपरत करके अपनेको कुछ भी करनेमें असमर्थ मान लेता है अर्थात् सर्वथा कर्तापनके अभिमानसे शून्य हो जाता है, तब उसका मन अविचल परम शान्ति-

सम्पन्न हो जाता है और वह अमृतस्वरूप परमात्माको [illegible] हो जाता है ॥ ६-७ ॥

इन्द्रियाणां [illegible] सर्वेषां वश्यात्मा चलितस्मृतिः ।
आत्मनः सम्प्रदानेन मर्त्यो मृत्युमुपाश्नुते ॥ ८ ॥

जिसका मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंके वशमें होता है, वह मनुष्य विवेक-शक्तिको खो देता है और अपनेको काम आदि शत्रुओंके हाथोंमें सौंपकर मृत्युका कष्ट भोगता है ॥ ८ ॥

आहत्य सर्वसंकल्पान् सत्त्वे चित्तं निवेशयेत् ।
सत्त्वे चित्तं समावेश्य ततः कालंजरो भवेत् ॥ ९ ॥

अतः सब प्रकारके संकल्पोंका नाश करके चित्तको सूक्ष्म बुद्धिमें लीन करे । इस प्रकार बुद्धिमें चित्तका लय करके वह कालपर विजय पा जाता है ॥ ९ ॥

चित्तप्रसादेन यतिर्जहातीह शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमत्यन्तमश्नुते॥ १० ॥

चित्तकी पूर्ण शुद्धिसे सम्पन्न हुआ यत्नशील योगी इस जगत्में शुभ और अशुभको त्याग देता है और प्रसन्नचित्त एवं आत्मनिष्ठ होकर अक्षय सुखका उपभोग करता है ।१०।

लक्षणं [illegible] प्रसादस्य यथा स्वप्ने सुखं स्वपेत् ।
निवाते वा यथा दीपो दीप्यमानो न कम्पते ॥ ११ ॥

मनुष्य नींदके समय जैसे सुखसे सोता है—सुषुप्तिके सुखका अनुभव करता है, अथवा जैसे वायुरहित स्थानमें जलता हुआ दीपक कम्पित नहीं होता, एकतार [illegible] है, उसी प्रकार मन कभी चञ्चल न हो, यही उसके प्रसादका अर्थात् परम शुद्धिका लक्षण है ॥ ११ ॥

एवं पूर्वापरे काले युञ्जन्नात्मानमात्मनि ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १२ ॥

जो मिताहारी और शुद्धचित्त होकर रातके पहले और पिछले पहरोंमें उपर्युक्त प्रकारसे आत्माको परमात्माके ध्यानमें लगाता है, वही अपने अन्तःकरणमें परमात्माका दर्शन [illegible] है ॥ १२ ॥

रहस्यं सर्ववेदानामनैतिह्यमनागमम् ।
आत्मप्रत्ययिकं शास्त्रमिदं पुत्रानुशासनम् ॥ १३ ॥

बेटा ! मैंने जो यह उपदेश दिया है, यह परमात्माका ज्ञान करानेवाला शास्त्र है । यही सम्पूर्ण वेदोंका रहस्य है । केवल अनुमान या आगमसे इसका ज्ञान नहीं होता, अनुभवसे ही यह ठीक-ठीक समझमें आता है ॥ १३ ॥

धर्माख्यानेषु सर्वेषु सत्याख्याने च यद् वसु ।
दशेदमृक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥ १४ ॥

धर्म और सत्यके जितने भी आख्यान हैं, उन [illegible] यह सारभूत धन है । ऋग्वेदकी दस हजार ऋचाओंका मन्थन करके यह अमृतमय सारतत्त्व निकाला गया है ॥१४॥

नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च ।
तथैव विदुषां ज्ञानं पुत्र हेतोः समुद्धृतम् ॥ १५ ॥

बेटा ! मनुष्य जैसे दहीसे मक्खन निकालते हैं और काठसे आग प्रकट करते हैं, उसी प्रकार मैंने भी विद्वानोंके लिये ज्ञानजनक यह मोक्षशास्त्र शास्त्रोंको मथकर निकाला है ॥

स्नातकानामिदं शास्त्रं वाच्यं पुत्रानुशासनम् ।
तदिदं नाप्रशान्ताय नादान्तायातपस्विने ॥ १६ ॥

बेटा ! व्रतधारी स्नातकोंको ही तुम इस मोक्षशास्त्रका उपदेश करना । जिसका मन शान्त नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं तथा जो तपस्वी नहीं है, उसे इस ज्ञानका उपदेश नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

नावेदविदुषे वाच्यं तथा नानुगताय च ।
नासूयकायानृजवे न चानिर्दिष्टकारिणे ॥ १७ ॥
न तर्कशास्त्रदग्धाय तथैव पिशुनाय च ।

जो वेदका विद्वान् न हो, अनुगत भक्त न हो, दोषदृष्टिसे रहित न हो, सरल स्वभावका न हो और आज्ञाकारी न हो तथा तर्कशास्त्रकी आलोचना करते-करते जिसका हृदय दग्ध—रस-शून्य हो गया हो और जो दूसरोंकी चुगली खाता हो-ऐसे लोगोंको इस ज्ञानका उपदेश देना उचित नहीं है ॥ १७½ ॥

श्लाघिने श्लाघनीयाय प्रशान्ताय तपस्विने ॥ १८ ॥
इदं प्रियाय पुत्राय शिष्यायानुगताय च ।
रहस्यधर्मं वक्तव्यं नान्यस्मै तु कथंचन ॥ १९ ॥

जो तत्त्वज्ञानकी अभिलाषा रखनेवाला, स्पृहणीय गुणोंसे युक्त, शान्तचित्त, तपस्वी एवं अनुगत शिष्य हो अथवा इन्हीं गुणोंसे युक्त प्रिय पुत्र हो, उसीको इस गूढ रहस्यमय धर्मका उपदेश देना चाहिये; दूसरे किसीको किसी प्रकार भी नहीं ॥ १८-१९ ॥

यद्यप्यस्य महीं दद्याद् रत्नपूर्णामिमां नरः ।
इदमेव [illegible] श्रेय इति मन्येत तत्त्ववित् ॥ २० ॥

यदि कोई मनुष्य रत्नोंसे भरी हुई यह सम्पूर्ण पृथ्वी देने लगे तो भी तत्त्ववेत्ता पुरुष यही समझे कि इस सारे धनकी अपेक्षा यह ज्ञान ही श्रेष्ठ है ॥ २० ॥

अतो गुह्यतरार्थं तदध्यात्ममतिमानुषम् ।
यद् तन्महर्षिभिर्दृष्टं वेदान्तेषु च गीयते ॥ २१ ॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ २२ ॥

बेटा ! तुम मुझसे जो प्रश्न कर रहे हो, उसके अनुसार मैं इससे भी गूढतर अर्थवाले अलौकिक अध्यात्मज्ञानका उपदेश करूँगा, जिसे महर्षियोंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है और जिसका वेदान्तशास्त्र—उपनिषदोंमें गान किया गया है ॥ २१-२२ ॥

यच्च ते मनसि वर्तते परं
यत्र चास्ति [illegible] संशयः क्वचित् ।
श्रूयतामयमहं तवाग्रतः
पुत्र किं हि कथयामि ते पुनः ॥ २३ ॥

पुत्र ! तुम्हारे मनमें जो वस्तु सर्वश्रेष्ठ जान पड़ती हो [illegible] जिसके विषयमें तुम्हें कहीं संशय हो रहा हो, उसे पूछो और उसके उत्तरमें मैं जो कुछ तुम्हारे सामने कहूँ, उसे सुनो । बोलो, [illegible] फिर तुम्हें किस विषयका उपदेश करूँ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने षट्चत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२४६॥

सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

महाभूतादि तत्त्वोंका विवेचन

शुक उवाच

अध्यात्मं विस्तरेणेह पुनरेव वदस्व मे ।
यदध्यात्मं यथा वेद भगवन्नृषिसत्तम ॥ १ ॥

शुकदेवजीने कहा—भगवन् ! मुनिश्रेष्ठ ! अब पुनः मुझे अध्यात्मज्ञानका विस्तारपूर्वक उपदेश दीजिये । अध्यात्म क्या है और उसे [illegible] कैसे जानूँगा ? ॥ [illegible] ॥

व्यास उवाच

अध्यात्मं यदिदं तात पुरुषस्येह पठ्यते ।
तत् तेऽहं वर्तयिष्यामि तस्य व्याख्यामिमां शृणु ॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—तात ! मनुष्यके लिये शास्त्रमें जो यह अध्यात्मविषयकी चर्चा की जाती है, उसका परिचय [illegible] तुम्हें दे रहा हूँ; तुम अध्यात्मकी यह व्याख्या सुनो ॥२॥

भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाश [illegible] च ।
महाभूतानि भूतानां सागरस्योर्मयो यथा ॥ ३ ॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरमें स्थित हैं । जैसे समुद्रकी लहरें उठती और विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार ये पाँचों महाभूत प्राणियोंके शरीरके रूपमें जन्मग्रहण करते और विलीन होते रहते हैं ॥ ३ ॥

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तद्वन्महान्ति भूतानि यवीयःसु विकुर्वते ॥ [illegible] ॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको सब ओर फैलाकर फिर समेट लेता है, इसी [illegible] ये सारे महाभूत छोटे-छोटे शरीरोंमें विकृत होते—उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं ॥४॥

इति तन्मयमेवेदं सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
सर्गे च प्रलये चैव तस्मिन् निर्दिश्यते तथा ॥ ५ ॥

इस प्रकार यह समस्त स्थावर-जङ्गम जगत् पञ्चभूतमय ही है । सृष्टिकालमें पञ्चभूतोंसे [illegible] सबकी उत्पत्ति होती है और प्रलयके [illegible] उन्हींमें सबका [illegible] बताया [illegible] है ॥५॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत् ।
अकरोत् तात वैषम्यं यस्मिन् यदनुपश्यति ॥ ६ ॥

यद्यपि सम्पूर्ण शरीरोंमें पाँच ही भूत हैं तथापि लोगोंको उनमेंसे जिसमें जो वैषम्य दिखायी देता है, उसका [illegible] है कि सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले ब्रह्माजीने [illegible] प्राणियोंमें उनके कर्मानुसार [illegible] न्यूनाधिकरूपमें उन भूतोंका समावेश किया है ॥ ६ ॥

शुक उवाच

अकरोद् यच्छरीरेषु कथं तदुपलक्षयेत् ।
इन्द्रियाणि गुणाः केचित् कथं तानुपलक्षयेत् ॥ [illegible] ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी ! देवता, मनुष्य, पशु और पक्षी आदिके शरीरोंमें विधाताने जो वैषम्य किया है, उसको किस प्रकार लक्ष्य किया [illegible] ! शरीरमें इन्द्रियाँ भी हैं और कुछ गुण भी हैं, उन्हें कैसे देखा जाय—उनमेंसे कौन किस महाभूतके कार्य हैं, इसकी पहचान कैसे हो ? ॥ ७ ॥

व्यास उवाच

एतत् ते वर्तयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।
शृणु तत् त्वमिहैकाग्रो यथातत्त्वं यथा च तत् ॥ ८ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! मैं इस विषयका [illegible] और यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन करूँगा । यह समस्त विषय [illegible] जैसा है, वह सब तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥

शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशसम्भवम् ।
प्राणश्चेष्टा [illegible] स्पर्श एते वायुगुणास्त्रयः ॥ ९ ॥

शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय तथा शरीरके सम्पूर्ण छिद्र—ये तीनों वस्तुएँ आकाशसे [illegible] हुई हैं । प्राण, चेष्टा तथा स्पर्श—ये तीनों वायुके गुण (कार्य) हैं ॥ ९ ॥

रूपं चक्षुर्विपाकश्च त्रिधा ज्योतिर्विधीयते ।
रसोऽथ रसनं स्नेहो गुणास्त्वेते त्रयोऽम्भसः ॥ १० ॥

रूप, नेत्र और जठरानल—इन तीन रूपोंमें अग्निका ही कार्य प्रकट हुआ है । रस, रसना और स्नेह—ये तीनों जलके कार्य हैं ॥ १० ॥

घ्रेयं घ्राणं शरीरं च भूमेरेते गुणास्त्रयः ।
एतावानिन्द्रियग्रामो व्याख्यातः पाञ्चभौतिकः ॥ ११ ॥

गन्ध, नासिका और शरीर—ये तीनों भूमिके गुण हैं । इस प्रकार इन्द्रियसमुदायसहित यह शरीर पाञ्चभौतिक बताया गया है ॥ ११ ॥

वायोः स्पर्शो रसोऽद्भ्यश्च ज्योतिषो रूपमुच्यते ।
आकाशप्रभवः शब्दो गन्धो भूमिगुणः स्मृतः ॥ १२ ॥

स्पर्श वायुका, रस जलका और रूप तेजका गुण [illegible] जाता है एवं शब्द आकाशका और गन्ध भूमिका गुण माना गया है ॥ १२ ॥

मनो बुद्धिः स्वभावश्च त्रय एते स्वयोनिजाः ।
न गुणानतिवर्तन्ते गुणेभ्यः परमागताः ॥ १३ ॥

मन, बुद्धि और स्वभाव (अहंभाव)—ये तीनों अपने कारणभूत पूर्वसंस्कारोंसे उत्पन्न हुए हैं। ये तीनों पाञ्चभौतिक होते हुए भी भूतोंके अन्य कार्य जो श्रोत्रादि हैं, उनसे श्रेष्ठ हैं तो भी गुणोंका सर्वथा उल्लङ्घन नहीं कर पाते हैं ॥ १३ ॥

यथा कूर्म इहाङ्गानि प्रसार्य विनियच्छति ।
एवमेवेन्द्रियग्रामं बुद्धिः सृष्ट्वा नियच्छति ॥ १४ ॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर फैलाकर फिर उन्हें वहाँसे हटा लेती है ॥ १४ ॥

यदूर्ध्वं पादतलयोरवाङ्मूर्ध्नश्च पश्यति ।
एतस्मिन्नेव कृत्ये तु वर्तते बुद्धिरुत्तमा ॥ १५ ॥

पैरोंसे ऊपर और मस्तकसे नीचे मनुष्य जो कुछ देखता है अर्थात् सम्पूर्ण शरीरको जो अहंभावसे देखना है, इस कार्यमें उत्तम बुद्धि प्रवृत्त होती है। तात्पर्य यह कि शरीरमें जो अहंभावका अनुभव है, वह बुद्धिका ही रूपान्तर है ॥ १५ ॥

गुणान् नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि ।
मनःषष्ठानि सर्वाणि बुद्ध्यभावे कुतो गुणाः ॥ १६ ॥

बुद्धि ही शब्द आदि गुणोंको श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके पास बार-बार ले जाती है और बुद्धि ही मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंको विषयोंके पास पुनः-पुनः खींच ले जाती है; यदि इनके साथ बुद्धि न रहे तो इन्द्रियोंद्वारा शब्द आदि विषयोंका अनुभव कैसे हो सकता है ॥ १६ ॥

इन्द्रियाणि नरे पञ्च षष्ठं तु मन उच्यते ।
सप्तमीं बुद्धिमेवाहुः क्षेत्रज्ञं पुनरष्टमम् ॥ १७ ॥

मनुष्यके शरीरमें पाँच इन्द्रियाँ हैं। छठा तत्त्व मन है। सातवाँ तत्त्व बुद्धि और आठवाँ क्षेत्रज्ञ बताया गया है ॥ १७ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः ।
बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ १८ ॥

आँख देखनेका काम करती है, (यह उपलक्षण है। इससे सभी इन्द्रियोंके कार्यका लक्ष्य कराया गया है) मन संदेह [illegible] है और बुद्धि उसका निश्चय करती है; किंतु क्षेत्रज्ञ (आत्मा) उन सबका साक्षी कहलाता है ॥ १८ ॥

रजस्तमश्च सत्त्वं [illegible] एते स्वयोनिजाः ।
समाः सर्वेषु भूतेषु तान् गुणानुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥

रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण—ये तीनों अपने कारणभूत मूल प्रकृतिसे प्रकट हुए हैं; ये तीनों गुण सब प्राणियोंमें समानरूपसे रहते हैं। उनकी पहचान उनके कार्योंद्वारा करे ॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव संशुद्धं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २० ॥

जब अपनेमें कुछ प्रसन्नतायुक्त विशुद्ध और शान्त-सा भाव दिखायी दे, तब यह निश्चय करे कि सत्त्वगुण प्रवृत्त हुआ है॥

यत् तु संतापसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत् ।
प्रवृत्तं रज इत्येवं तत्र चाप्युपलक्षयेत् ॥ २१ ॥

शरीर अथवा मनमें जब कुछ संतापयुक्त भाव दृष्टिगोचर हो, तब वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि रजोगुणकी प्रवृत्ति हो रही है ॥ २१ ॥

यत् [illegible] सम्मोहसंयुक्तमव्यक्तविषयं भवेत् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधार्यताम् ॥ २२ ॥

जब मोहयुक्त भाव मनपर छा जाय, किसी भी विषयमें कोई बात स्पष्ट न जान पड़े, जब तर्क भी काम न दे और किसी तरह कोई बात समझमें न आवे, तब समझना चाहिये कि तमोगुण प्रवृत्त हुआ है ॥ २२ ॥

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः साम्यं स्वस्थात्मचित्तता ।
अकस्माद् यदि वा कस्माद् वर्तन्ते सात्त्विका गुणाः॥२३॥

जब अतिशय हर्ष, प्रेम, आनन्द, [illegible] और स्वस्थचित्तता—ये सद्गुण अकस्मात् या किसी कारणवश विकसित हों, तब समझना चाहिये कि ये सात्त्विक गुण हैं ॥ २३ ॥

अभिमानो मृषावादो लोभो मोहस्तथाक्षमा ।
लिङ्गानि रजसस्तानि वर्तन्ते हेत्वहेतुतः ॥ २४ ॥

अभिमान, असत्यभाषण, लोभ, मोह और असहनशीलता—ये दोष चाहे किसी कारणसे प्रकट हुए हों अथवा बिना कारणके हर एक परिस्थितिमें रजोगुणके ही चिह्न माने गये हैं ।२४

[illegible] मोहः प्रमादश्च निद्रा तन्द्राप्रबोधिता ।
कथंचिदभिवर्तन्ते विज्ञेयास्तामसा गुणाः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार मोह, [illegible] निद्रा, तन्द्रा और अज्ञान किसी कारणसे हो जायँ, उन्हें तमोगुणका कार्य जानना चाहिये॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने सप्तचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

बुद्धिकी श्रेष्ठता और प्रकृति-पुरुष-विवेक

व्यास उवाच

मनो विसृजते भावं बुद्धिरध्यवसायिनी ।
हृदयं प्रियाप्रिये वेद त्रिविधा कर्मचोदना ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र ! कर्म करनेमें तीन प्रकारसे प्रेरणा प्राप्त होती है । पहले तो मन संकल्पमात्रसे नाना प्रकारके भावकी सृष्टि करता है, बुद्धि उसका निश्चय करती है। तत्पश्चात् हृदय उनकी अनुकूलता और प्रतिकूलताका अनुभव करता है। (इसके बाद कर्ममें प्रवृत्ति होती है)॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यः परमं [illegible] ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो मतः ॥ [illegible] ॥

इन्द्रियोंसे उनके विषय बलवान् हैं (क्योंकि वे बलात् इन्द्रियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं), उन विषयोंसे मन बलवान् है (क्योंकि वह इन्द्रियोंको उनसे हटानेमें समर्थ है)। मनसे बुद्धि बलवान् है (क्योंकि वह मनको वशमें रख सकती है) और बुद्धिसे आत्मा बलवान् माना गया है (क्योंकि वह बुद्धिको भी बनाकर स्वाधीन कर लेता है) ॥ २ ॥

बुद्धिरात्मा मनुष्यस्य बुद्धिरेवात्मनाऽऽत्मनि।
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सा मनः ॥ ३ ॥

बुद्धि प्राणियोंकी समस्त इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री है, इसलिये वह जीवात्माके समान ही उनकी आत्मा मानी गयी है। बुद्धि ही जब अपने भीतर अब भिन्न भिन्न विषयोंको ग्रहण करनेके लिये विकृत हो नाना प्रकारके रूप धारण करती है, तब वही मन बन जाती है ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावाद् बुद्धिर्विक्रियते ह्यणु।
शृण्वती भवति श्रोत्रं स्पृशती स्पर्श उच्यते ॥ ४ ॥

इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् हैं, इसलिये उनकी क्रियाएँ भी पृथक्-पृथक् हैं। अतः उन्हींके लिये बुद्धि नाना प्रकारके रूप धारण करती है। वही जब सुनती है तो श्रोत्र कहलाती है और स्पर्श करते समय स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) के नामसे पुकारी जाती है ॥ ४ ॥

पश्यती भवते दृष्टी रसती रसनं भवेत्।
जिघ्रती भवति घ्राणं बुद्धिर्विक्रियते पृथक् ॥ ५ ॥

वही देखते समय दृष्टि और रसास्वादनके समय रसना हो जाती है। जब वह गन्धको ग्रहण करती है, तब वही घ्राणेन्द्रिय कहलाती है। इस प्रकार बुद्धि ही पृथक्-पृथक् विकृत होती है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि तु तान्याहुस्तेष्वदृश्योऽधितिष्ठति।
तिष्ठती पुरुषे बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ॥ ६ ॥

बुद्धिके इन विकारोंको ही इन्द्रियाँ कहते हैं। अदृश्य जीवात्मा उन सबमें अधिष्ठित है। बुद्धि उस जीवात्मामें ही स्थित हो सात्त्विक आदि तीनों भावोंमें रहती है ॥ ६ ॥

कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदपि शोचति।
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदिह युज्यते ॥ ७ ॥

इसी हेतुसे वह कभी प्रेम और प्रसन्नता लाभ करती है (यह उसका सात्त्विक भाव है)। कभी शोकमें डूबती है (यह उसका राजस भाव है)। और कभी न तो सुखसे युक्त होती है एवं न दुःखसे ही; उसपर मोह छाया रहता है (यही उसका तामस भाव है) ॥ ७ ॥

सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतानतिवर्तते।
सरितां सागरो भर्ता महावेलामिवोर्मिमान् ॥ ८ ॥

जैसे उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त सरिताओंका स्वामी समुद्र कभी-कभी अपनी विशाल तटभूमिको भी लाँघ जाता है, उसी प्रकार यह भावात्मिका बुद्धि चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगमें स्थित होनेपर इन तीनों भावोंको लाँघ जाती है ॥ ८ ॥

यदा प्रार्थयते किंचित् तदा भवति सा मनः।
अधिष्ठानानि वै बुद्ध्या पृथगेतानि संस्मरेत्।
इन्द्रियाण्येव मेध्यानि विजेतव्यानि कृत्स्नशः ॥ ९ ॥

मनुष्य जब किसी वस्तुकी इच्छा करता है, तब उसकी बुद्धि मनके रूपमें परिणत हो जाती है। ये जो एक दूसरेसे पृथक्-पृथक् इन्द्रियोंके भाव हैं, इन्हें बुद्धिके ही अन्तर्गत समझना चाहिये। 'मेधा' कहते हैं रूप आदिके ज्ञानको, उसमें हितकर या सहायक होनेके कारण इन्द्रियाँ 'मेध्य' कही गयी हैं। योगीको सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनी चाहिये ॥ ९ ॥

सर्वाण्येवानुपूर्व्येण यद् यदानुविधीयते।
अविभागगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ॥ १० ॥

बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंमेंसे जब जिस इन्द्रियके साथ हो जाती है, उस समय पहले अलग न होनेपर भी वह बुद्धि संकल्पात्मक मन एवं घटादि पदार्थोंमें उपस्थित होती है अर्थात् बुद्धिसे अनुगृहीत होनेपर ही कोई भी इन्द्रिय संकल्पजनित घट-पटादिको क्रमशः ग्रहण करती है ॥ १० ॥

ये चैव भावा वर्तन्ते सर्व एष्वेव ते त्रिषु।
अन्वर्थाः सम्प्रवर्तन्ते रथनेमिमरा इव ॥ ११ ॥

जगत्में जो भी भाव हैं, वे सब-के-सब सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों भावोंके ही अन्तर्गत हैं। जैसे अरे रथकी नेमिसे जुड़े होते हैं, उसी प्रकार सभी भाव सात्त्विक आदि गुणोंके अनुगामी हैं ॥ ११ ॥

प्रदीपार्थं मनः कुर्यादिन्द्रियैर्बुद्धिसत्तमैः।
निश्चरद्भिर्यथायोगमुदासीनैर्यदृच्छया ॥ १२ ॥

बुद्धिरूप अधिष्ठानमें स्थित हुई उदासीनभावसे स्वभावके अनुसार यथासम्भव विषयोंकी ओर जानेवाली इन्द्रियोंद्वारा मन दीपकका कार्य करता है अर्थात् जैसे दीपक अपनी प्रभाद्वारा घटादि वस्तुओंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मन नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा घट-पट आदि वस्तुओंका दर्शन एवं ग्रहण कराता है ॥ १२ ॥

एवं स्वभावमेवेदमिति विद्वान् न मुह्यति।
अशोचन्नप्रहृष्यन् हि नित्यं विगतमत्सरः ॥ १३ ॥

इस जगत्का ऐसा ही परिवर्तनस्वभाव है, ऐसा जाननेवाला ज्ञानी पुरुष कभी मोहमें नहीं पड़ता, हर्ष और शोक नहीं करता तथा ईर्ष्या-द्वेष आदिसे रहित रहता है ॥ १३ ॥

न ह्यात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैः कामगोचरैः।
प्रवर्तमानैरजयैर्दुष्करैरकृतात्मभिः ॥ १४ ॥

जो दुष्कर्मपरायण और अशुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, वे अज्ञानी पुरुष अन्यायपूर्वक मनोवाञ्छित विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंद्वारा आत्माका दर्शन नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

तेषां तु मनसा रश्मीन् यदा सम्यङ्नियच्छति।
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा दीपदीप्ता यथाऽऽकृतिः ॥ १५ ॥

परंतु जब मनुष्य अपने मनके द्वारा इन्द्रियरूपी अश्वोंकी बागडोरको सदा पकड़े रहकर उन्हें अच्छी तरह काबूमें कर लेता है, तब उसे ज्ञानके प्रकाशमें आत्माका दर्शन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार दीपकके प्रकाशमें किसी वस्तुकी आकृति स्पष्ट दिखायी देती है ॥ १५ ॥

सर्वेषामेव भूतानां तमस्यपगते यथा।
प्रकाशं भवते सर्वं तथेदमुपधार्यताम् ॥ १६ ॥

जैसे अन्धकार दूर हो जानेपर सभी प्राणियोंके सामने प्रकाश छा जाता है, उसी प्रकार यह निश्चितरूपसे समझ लो कि अज्ञानका नाश होनेपर ही ज्ञानस्वरूप आत्माका [illegible]त्कार होता है ॥ १६ ॥

यथा वारिचरः पक्षी न लिप्यति जले चरन्।
विमुक्तात्मा तथा योगी गुणदोषैर्न लिप्यते ॥ १७ ॥

जैसे जलचर पक्षी जलमें विचरता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार मुक्तात्मा योगी संसारमें रहकर भी उसके गुण और दोषोंसे लिपायमान नहीं होता ॥ १७ ॥

एवमेव कृतप्रज्ञो न दोषैर्विषयांश्चरन्।
असज्जमानः सर्वेषु कथंचन न लिप्यते ॥ १८ ॥

इसी प्रकार जिसकी बुद्धि [illegible] है, वह स्त्री, पुत्र आदि सम्बन्धियोंमें आसक्त न होनेके कारण विषयोंका सेवन [illegible] हुआ भी किसी प्रकार उनके दोषोंसे लिप्त नहीं होता है ॥१८॥

[illegible] पूर्वकृतं कर्म रतिर्यस्य सदाऽऽत्मनि।
सर्वभूतात्मभूतस्य गुणधर्मेष्वसज्जतः ॥ १९ ॥

जो अपने पूर्वकृत कर्मोंके संस्कारोंका त्याग करके सदा परमात्मामें ही अनुराग रखता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा हो जाता है और विषयोंमें कभी आसक्त नहीं होता ॥

सत्त्वमात्मा प्रसरति गुणान् वापि कदाचन।
न गुणा विदुरात्मानं गुणान् वेद स सर्वदा ॥ २० ॥
परिद्रष्टा गुणानां च परिस्रष्टा यथातथम्।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः ॥ २१ ॥

जीवात्मा कभी बुद्धिकी ओर झुकता है और कभी गुणोंकी ओर। गुण आत्माको नहीं जानते, किंतु आत्मा गुणोंको सदा जानता रहता है, क्योंकि वह गुणोंका द्रष्टा और यथावत्‌रूपसे स्रष्टा भी है। यद्यपि बुद्धि और क्षेत्रज्ञ दोनों ही सूक्ष्म वस्तु हैं, किंतु उन दोनोंमें यही अन्तर समझो कि बुद्धि दृश्य है और आत्मा [illegible] है ॥ २०-२१ ॥

सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान्।
पृथग्भूतौ प्रकृत्या तौ सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा ॥ २२ ॥

इन दोनोंमेंसे एक (बुद्धि) तो गुणोंकी सृष्टि करती है और दूसरा (आत्मा) गुणोंकी सृष्टि नहीं करता है। वे दोनों स्वरूपतः एक दूसरेसे पृथक् हैं; परंतु सदा संयुक्त रहते हैं ॥

यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तौ तथैव तौ।
मशकोदुम्बरौ वापि सम्प्रयुक्तौ यथा सह ॥ २३ ॥

जैसे मछली जलसे भिन्न है, फिर भी वे एक दूसरेसे संयुक्त रहते हैं। जैसे गूलर और उसके कीड़े एक दूसरेसे पृथक् हैं तथापि परस्पर संयुक्त रहते हैं। उसी प्रकार बुद्धि और क्षेत्रज्ञको भी समझना चाहिये ॥ २३ ॥

इषीका वा यथा मुञ्जे पृथक् च सह चैव च।
तथैव सहितावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ ॥ २४ ॥

जैसे मूँजमें जो सींक है, वह उससे पृथक् है तो भी वे दोनों साथ ही रहते हैं, उसी प्रकार बुद्धि और क्षेत्रज्ञ सर्वथा एक दूसरेसे पृथक् होते हुए भी दोनों साथ-साथ और एक दूसरेके आश्रित रहते हैं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने अष्टचत्वारिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ज्ञानके साधन तथा ज्ञानीके लक्षण और महिमा

व्यास उवाच

सृजते तु गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञस्त्वधितिष्ठति।
गुणान् विक्रियतः सर्वानुदासीनवदीश्वरः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र! प्रकृति ही गुणोंकी सृष्टि करती है। क्षेत्रज्ञ—आत्मा तो उदासीनकी भाँति उन सम्पूर्ण विकारशील गुणोंको देखा करता है। वह स्वाधीन एवं उनका अधिष्ठाता है ॥ १ ॥

स्वभावयुक्तं तत् सर्वं यदिमान् सृजते गुणान्।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं सृजते तद्गुणांस्तथा ॥ २ ॥

जैसे मकड़ी अपने शरीरसे तन्तुओंकी सृष्टि करती है, उसी प्रकार प्रकृति भी समस्त त्रिगुणात्मक पदार्थोंको उत्पन्न करती है। प्रकृति जो इन [illegible] विषयोंकी सृष्टि करती है, वह सब उसके स्वभावसे ही होता है ॥ २ ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते।
एवमेके व्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ॥ ३ ॥

किन्हींका मत है कि तत्त्वज्ञानसे जब गुणोंका नाश कर दिया जाता है, तब भी वे सर्वथा नष्ट नहीं होते; किंतु तत्त्वज्ञके लिये उनकी उपलब्धि नहीं होती अर्थात् उनसे उनके सम्बन्ध नहीं रहता। दूसरे लोग मानते हैं कि उनकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है अर्थात् उनका अस्तित्व नहीं रहता ॥

उभयं सम्प्रधार्यैतद्व्यवस्येद् यथामति।
अनेनैव विधानेन भवेद् गर्भशयो महान् ॥ ४ ॥

इन दोनों मतोंपर अपनी बुद्धिके अनुसार विचार करके सिद्धान्तका निश्चय करे। इस प्रकार निश्चय करनेसे (बार-बार) गर्भमें [illegible] करनेवाला जीव महान् हो जाता है ॥ ४ ॥

अनादिनिधनो ह्यात्मा तं बुद्ध्वा विचरेन्नरः।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च नित्यं विगतमत्सरः ॥ ५ ॥

आत्मा आदि और अन्तसे रहित है। उसे जानकर मनुष्य सदा हर्ष, क्रोध और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित हो विचरता रहे॥

इत्येवं हृदयग्रन्थिं बुद्धिचिन्तामयं दृढम्।
अनित्यं सुखमासीत अशोचंश्छिन्नसंशयः ॥ ६ ॥

साधकको चाहिये कि बुद्धिके चिन्ता आदि धर्मोंसे सुदृढ़ हुई हृदयकी अविद्यामयी अनित्य ग्रन्थिको उपर्युक्त प्रकारसे काटकर शोक और संदेहसे रहित हो सुखपूर्वक परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जाय ॥ ६ ॥

तास्येयुः प्रच्युताः पृथ्व्या यथा पूर्णां नदीं नराः।
[illegible] ह्यविद्वांसो विद्धि लोकमिमं तथा ॥ ७ ॥

जैसे तैरनेकी कला न जाननेवाले मनुष्य यदि किनारेकी भूमिसे जलपूर्ण नदीमें गिर पड़ते हैं तो गोते खाते हुए महान् क्लेश सहन करते हैं; उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य इस संसार-सागरमें डूबकर [illegible] भोगते रहते हैं—ऐसा समझो ॥ ७ ॥

न तु ताम्यति वै विद्वान् स्थले चरति तत्त्ववित्।
एवं यो विन्दतेऽऽत्मानं केवलं ज्ञानमात्मनः ॥ ८ ॥

परंतु जो तैरना जानता है, वह कष्ट नहीं उठाता। [illegible] तो जलमें भी स्थलकी ही भाँति [illegible] है, उसी [illegible] [illegible] विशुद्ध आत्माको प्राप्त हुआ तत्त्ववेत्ता संसार-सागरसे पार हो जाता है ॥ ८ ॥

एवं बुद्ध्वा नरः सर्वं भूतानामागतिं गतिम्।
समवेक्ष्य [illegible] वैषम्यं लभते शममुत्तमम् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंके आवागमनको जानता तथा उनकी विषम अवस्थापर विचार करता है, उसे परम उत्तम शान्ति प्राप्त होती [illegible] ॥ ९ ॥

एतद् वै जन्मसामर्थ्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
आत्मज्ञानं शमश्चैव पर्याप्तं तत्परायणम् ॥ १० ॥

विशेषरूपसे ब्राह्मणमें और समानभावसे मनुष्यमात्रमें इस ज्ञानको [illegible] करनेकी जन्मसिद्ध शक्ति है। मन और इन्द्रियोंका संयम तथा आत्मज्ञान मोक्ष-प्राप्तिके लिये पर्याप्त साधन है ॥ १० ॥

एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम्।
विज्ञायैतद् विमुच्यन्ते कृतकृत्या मनीषिणः ॥ ११ ॥

[illegible] और आत्मतत्त्वको जानकर पुरुष अत्यन्त शुद्ध-[illegible] हो जाता है। ज्ञानीका इसके सिवा और क्या लक्षण हो सकता है। बुद्धिमान् मनुष्य इस आत्मतत्त्वको जानकर कृतार्थ और मुक्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

[illegible] भवति विदुषां महद्भयं
यदविदुषां सुमहद्भयं परत्र।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचिद्
भवति हि या विदुषः सनातनी ॥ १२ ॥

परलोकमें जो अज्ञानी मनुष्योंको महान् भय प्राप्त होता है, वह महान् भय ज्ञानी पुरुषोंको नहीं होता। ज्ञानीको जो सनातन गति प्राप्त होती है, उससे बढ़कर उत्तम गति और किसीको भी प्राप्त नहीं होती ॥ १२ ॥

लोकमातुरमसूयते जन-
स्तत् तदेव च निरीक्ष्य शोचते।
तत्र पश्य कुशलानशोचतो
ये विदुस्तदुभयं कृताकृतम् ॥ १३ ॥

[illegible] लोग मनुष्योंको दुखी और रोगी देखकर उनमें दोष-दृष्टि करते हैं और दूसरे लोग उनकी वह [illegible] देखकर शोक करते हैं। परंतु जो कार्य और कारण दोनोंको तत्त्वसे जानते हैं, वे शोक नहीं करते। तुम उन्हीं लोगोंको वहाँ कुशल समझो ॥ १३ ॥

यत् करोत्यनभिसंधिपूर्वकं
तच्च निर्णुदति तत् पुराकृतम्।
[illegible] प्रियं तदुभयं [illegible] चाप्रियं
[illegible] तज्जनयतीह कुर्वतः [illegible] १४ ॥

कर्मपरायण मनुष्य निष्कामभावसे जिस कर्मका अनुष्ठान करते हैं, वह पहलेके किये हुए सकाम या अशुभ कर्मोंको भी नष्ट कर देता है; इस प्रकार कर्म करनेवाले साधकके कर्म इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी उसका भला-बुरा या दोनों कुछ भी नहीं कर सकते ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकोनपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २४९ ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४९ ॥

पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

परमात्माकी प्राप्तिका साधन, संसार-नदीका वर्णन और ज्ञानसे ब्रह्मकी प्राप्ति

शुक उवाच

यस्माद् धर्मात् परो धर्मो विद्यते नेह कश्चन।
यो विशिष्टश्च धर्मेभ्यस्तं भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ [illegible] ॥

शुकदेवजीने पूछा—पिताजी! इस जगत्में जिस धर्मसे [illegible] दूसरा कोई धर्म नहीं है तथा जो सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है, उसका आप मुझसे वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

व्यास उवाच

धर्मं ते सम्प्रवक्ष्यामि पुराणमृषिभिः कृतम्।
विशिष्टं सर्वधर्मेभ्यस्तमिहैकमनाः शृणु ॥ २ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा! [illegible] ऋषियोंके बताये हुए

उस प्राचीन धर्मका, जो सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है, तुमसे यहाँ वर्णन करता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि बुद्ध्या संयम्य यत्नतः ।
सर्वतो निष्पतिष्णूनि पिता बालानिवात्मजान् ॥ ३ ॥

जैसे पिता अपने छोटे पुत्रोंको काबूमें रखता है, उसी प्रकार मनुष्यको चाहिये कि वह सब विषयोंपर टूट पड़नेवाली अपनी प्रमथनशील इन्द्रियोंका बुद्धिके द्वारा यत्नपूर्वक संयम करके उन्हें वशमें रखे ॥ ३ ॥

मनसश्चेन्द्रियाणां चाप्यैकाग्र्यं परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥ ४ ॥

मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही सबसे बड़ी तपस्या है। यही सब धर्मोंसे श्रेष्ठतम परम धर्म बताया जाता है ॥४॥

तानि सर्वाणि संधाय मनःषष्ठानि मेधया ।
आत्मतृप्त इवासीत बहुचिन्त्यमचिन्तयन् ॥ ५ ॥

मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंको बुद्धिके द्वारा स्थिर करके बहुत-से चिन्तनीय विषयोंका चिन्तन न करते हुए अपनी आत्मामें तृप्त-सा होकर निश्चिन्त और निश्चल हो जाय ॥५॥

गोचरेभ्यो निवृत्तानि यदा स्थास्यन्ति वेश्मनि ।
तदा त्वमात्मनाऽऽत्मानं परं द्रक्ष्यसि शाश्वतम् ॥ ६ ॥

जिस समय ये इन्द्रियाँ अपने विषयोंसे हटकर अपने निवासस्थानमें स्थित हो जायँगी, उस समय तुम अपने ही उस सनातन परमात्माका दर्शन कर लोगे ॥ ६ ॥

सर्वात्मानं महात्मानं विधूममिव पावकम् ।
तं पश्यन्ति महात्मानो ब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥ ७ ॥

धूमरहित अग्निके समान देदीप्यमान वह परमेश्वर ही सबका आत्मा और परम महान् है। महात्मा एवं ज्ञानी ब्राह्मण ही उसे देख पाते हैं ॥ ७ ॥

यथा पुष्पफलोपेतो बहुशाखो महाद्रुमः ।
आत्मनो नाभिजानीते क्व मे पुष्पं क्व मे फलम् ॥ ८ ॥
एवमात्मा न जानीते क्व गमिष्ये कुतस्त्वहम् ।
अन्यो ह्यत्रान्तरात्मास्ति यः सर्वमनुपश्यति ॥ ९ ॥

जैसे फल और फूलोंसे भरा हुआ अनेक शाखाओंसे युक्त विशाल वृक्ष अपने ही विषयमें यह नहीं जानता कि कहाँ मेरा फूल है और कहाँ मेरा फल है; उसी प्रकार जीवात्मा यह नहीं जानता कि मैं कहाँसे आया हूँ और कहाँ जाऊँगा। किंतु शरीरमें जीवसे पृथक् दूसरा ही अन्तरात्मा है, जो सबको सब प्रकारसे निरन्तर देखता रहता है ॥ ८-९ ॥

ज्ञानदीपेन दीप्तेन पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
दृष्ट्वा त्वमात्मनाऽऽत्मानं निरात्मा भव सर्ववित् ॥ १० ॥

पुरुष प्रज्वलित ज्ञानमय प्रदीपके द्वारा अपनेमें ही परमात्माका दर्शन करता है; इसी प्रकार तुम भी आत्माद्वारा परमात्माका साक्षात्कार करके सर्वज्ञ और स्वाभिमानसे रहित हो जाओ ॥ १० ॥

विमुक्तः सर्वपापेभ्यो मुक्तत्वच इवोरगः ।
परां बुद्धिमवाप्येह विपाप्मा विगतज्वरः ॥ ११ ॥

केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पके समान सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो उत्तम बुद्धि पाकर तुम यहाँ पाप और चिन्तासे रहित हो जाओ ॥ ११ ॥

सर्वतःस्रोतसं घोरां नदीं लोकप्रवाहिनीम् ।
पञ्चेन्द्रियग्राहवतीं मनःसंकल्परोधसम् ॥ १२ ॥
लोभमोहतृणच्छन्नां कामक्रोधसरीसृपाम् ।
सत्यतीर्थानृतक्षोभां क्रोधपङ्कां सरिद्वराम् ॥ १३ ॥
अव्यक्तप्रभवां शीघ्रां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
प्रतरस्व नदीं बुद्ध्या कामग्राहसमाकुलाम् ॥ १४ ॥
संसारसागरगमां योनिपातालदुस्तराम् ।
आत्मकर्मोद्भवां तात जिह्वावर्तां दुरासदाम् ॥ १५ ॥

यह संसार एक भयंकर नदी है, जो सम्पूर्ण लोकमें प्रवाहित हो रही है। इसके स्रोत सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर बहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ इसके भीतर पाँच ग्राहोंके समान हैं। मनके संकल्प ही इसके किनारे हैं। लोभ और मोहरूपी घास और सेवारसे यह ढकी हुई है। काम और क्रोध इसमें सर्पके समान निवास करते हैं। सत्य इसका तीर्थ है। मिथ्या इसकी हलचल है। क्रोध ही कीचड़ है। यह नदी दूसरी नदियोंसे श्रेष्ठ है। यह अव्यक्त प्रकृतिरूपी पर्वतसे प्रकट हुई है। इसके जलका वेग बड़ा प्रखर है। अजितात्मा पुरुषोंके लिये इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। इसमें कामरूप ग्राह सब ओर भरे हैं। यह नदी संसार-सागरमें मिली है। वासनारूपी गहरे गड्ढोंके कारण इसे पार करना अत्यन्त कठिन है। तात! यह अपने कर्मोंसे ही उत्पन्न हुई है। जिह्वा भँवर है तथा इस नदीको लाँघना दुष्कर है। तुम अपनी विशुद्ध बुद्धिके द्वारा इस नदीको पार कर जाओ ॥ १२-१५ ॥

यां तरन्ति कृतप्रज्ञा धृतिमन्तो मनीषिणः ।
तां तीर्णः सर्वतो मुक्तो विधूतात्माऽऽत्मविच्छुचिः ॥ १६ ॥
उत्तमां बुद्धिमास्थाय ब्रह्मभूयान् भविष्यसि ।
संतीर्णः सर्वसंसारात् प्रसन्नात्मा विकल्मषः ॥ १७ ॥

धैर्यशाली, मनीषी और तत्त्वज्ञानी लोग जिस नदीको पार करते हैं, उसे तुम भी तैर जाओ। सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त, संयतचित्त, आत्मज्ञ और पवित्र हो जाओ। उत्तम बुद्धि (ज्ञान) का आश्रय ले तुम सब प्रकारके सांसारिक बन्धनोंसे छूट जाओगे और निष्पाप एवं प्रसन्नचित्त हो ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाओगे ॥ १६-१७ ॥

भूमिष्ठानीव भूतानि पर्वतस्थो निशामय ।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च न नृशंसमतिस्तथा ॥ १८ ॥

जैसे पर्वतके शिखरपर खड़ा हुआ पुरुष धरतीपर रहनेवाले समस्त प्राणियोंको सुस्पष्ट देखता है, उसी प्रकार तुम भी ज्ञानरूपी शैलशिखरपर आरूढ़ हो समस्त प्राणियोंकी अवस्थापर दृष्टिपात करो। क्रोध और हर्षसे रहित हो जाओ तथा बुद्धिकी क्रूरतासे भी रहित हो जाओ ॥ १८ ॥

ततो द्रक्ष्यसि सर्वेषां भूतानां प्रभवाप्ययौ।
एवं वै सर्वभूतेभ्यो विशिष्टं मेनिरे बुधाः।
धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठा मुनयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १९ ॥

ऐसा करनेसे तुम [illegible] भूतोंके उत्पत्ति और प्रलयको देख सकोगे। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तत्त्वदर्शी ज्ञानी मुनि इस धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ॥ १९ ॥

आत्मनो व्यापिनो ज्ञानमिदं पुत्रानुशासनम्।
[illegible] प्रवक्तव्यं हितायानुगताय च ॥ २० ॥

बेटा! यह उपदेश व्यापक आत्माका ज्ञान करानेवाला है। जो संयतचित्त, हितैषी और अनुगत भक्त हो, उसीके समक्ष इसका वर्णन करना चाहिये ॥ २० ॥

आत्मज्ञानमिदं गुह्यं सर्वगुह्यतमं महत्।
अबुधं यदहं तात आत्मसाक्षिकमञ्जसा ॥ २१ ॥

यह गोपनीय आत्मज्ञान सबसे अधिक गुह्यतम और महान् है। [illegible]! मैंने जिसका उपदेश किया है, वह यथार्थतः मेरे अपने प्रत्यक्ष अनुभवमें आया हुआ [illegible] है ॥ २१ ॥

नैव स्त्री न पुमानेतन्नैव चेदं नपुंसकम्।
अदुःखमसुखं [illegible] भूतभव्यभवात्मकम् ॥ २२ ॥

दुःख और सुखसे रहित तथा भूत, भविष्य एवं वर्तमानस्वरूप [illegible] सो न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है ॥

नैतज्ज्ञात्वा पुमान् स्त्री [illegible] पुनर्भवमवाप्नुते।
अभवप्रतिपत्त्यर्थमेतद् धर्मं विधीयते ॥ २३ ॥

पुरुष हो या स्त्री, इस ब्रह्मको जान ले तो [illegible] पुनः इस संसारमें जन्म नहीं होता। अपुनर्भवस्थिति [illegible]नेके लिये ही इस ब्रह्मज्ञानरूप धर्मका विधान किया गया है ॥ २३ ॥

[illegible] मतानि सर्वाणि तथैतानि यथा तथा।
कथितानि मया पुत्र भवन्ति न भवन्ति च ॥ २४ ॥

बेटा! सारे विभिन्न [illegible] जैसे रहे हैं, वैसे ही मेरेद्वारा तुम्हारे समक्ष यथार्थरूपसे बताये गये हैं। जो इन मतोंका अनुसरण करते हैं; वे मुक्त हो जाते हैं, जो नहीं करते हैं, वे नहीं होते हैं ॥ २४ ॥

तत् प्रीतियुक्तेन गुणान्वितेन
पुत्रेण सत्पुत्र दमान्वितेन।
पृष्टो हि सम्प्रीतमना [illegible]
ब्रूयात् सुतस्येह यदुक्तमेतत् ॥ २५ ॥

सत्पुत्र शुकदेव! प्रीतियुक्त, गुणवान् [illegible] इन्द्रियसंयमी पुत्र यदि प्रश्न करे तो पिता संतुष्टचित्त होकर उस जिज्ञासु पुत्रके समीप यथार्थरूपसे इस ज्ञानका उपदेश करे, जो कुछ मैंने तुम्हारे निकट कहा है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५० ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५० ॥

एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणके लक्षण और परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

व्यास उवाच

गन्धान् रसान् नानुरुन्ध्यात् सुखं [illegible]
नालंकारांश्चाप्नुयात् तस्य [illegible]।
मानं च कीर्तिं [illegible] नेच्छेत्
स वै प्रचारः पश्यतो ब्राह्मणस्य ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! साधकको चाहिये कि गन्ध और [illegible] आदि विषयोंका उपभोग न करे, विषयसेवन-जनित सुखकी ओर न जाय, स्वर्ण आदिके बने हुए सुन्दर-सुन्दर आभूषणोंको भी न धारण करे तथा मान, बड़ाई और यशकी इच्छा न करे, यही ज्ञानवान् ब्राह्मणका आचार है ॥ १ ॥

सर्वान् वेदानधीयीत शुश्रूषुर्ब्रह्मचर्यवान्।
ऋचो यजूंषि सामानि न तेन न [illegible] वै द्विजः ॥ २ ॥

जो सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर ले, गुरुकी सेवामें रहे, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद-का पूरा पूरा ज्ञान [illegible] कर ले, वही मुख्य ब्राह्मण है ॥ २ ॥

ज्ञातिवत् सर्वभूतानां सर्ववित् सर्ववेदवित्।
नाकामो म्रियते जातु न तेन न [illegible] वै द्विजः ॥ ३ ॥

जो [illegible] प्राणियोंको अपने कुटुम्बकी भाँति समझकर उनपर दया करता है। जाननेयोग्य तत्त्वका ज्ञाता तथा [illegible] वेदोंका तत्त्वज्ञ है और कामनासे रहित है। वह कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता अर्थात् जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये [illegible] हो जाता है। इन लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुष ब्राह्मण नहीं है ऐसी [illegible] नहीं, किंतु वही सच्चा ब्राह्मण है ॥ ३ ॥

इष्टीश्च विविधाः [illegible] क्रतूंश्चैवाप्तदक्षिणान्।
प्राप्नोति नैव ब्राह्मण्यमविधानात् कथंचन ॥ [illegible] ॥

नाना प्रकारकी इष्टियों और बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंका अनुष्ठान करनेमात्रसे बिना विधानके अर्थात् बिना आत्मज्ञानके किसीको किसी तरह भी ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ४ ॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि [illegible] सम्पद्यते तदा ॥ ५ ॥

जिस समय वह दूसरे प्राणियोंसे नहीं डरता और दूसरे प्राणी भी उससे भयभीत नहीं होते तथा जब वह इच्छा और द्वेषका सर्वथा परित्याग कर देता है, उसी समय उसे ब्रह्म-भावकी प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

यदा [illegible] कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ६ ॥

जब वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीकी

बुराई करनेका विचार अपने मनमें नहीं करता, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम् ।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ७ ॥

जगत्में कामना ही एकमात्र बन्धन है, यहाँ दूसरा कोई बन्धन नहीं है। जो कामनाके बन्धनसे छूट जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है ॥ ७ ॥

कामतो मुच्यमानस्तु धूम्राभ्रादिव चन्द्रमाः ।
विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण वर्तते ॥ ८ ॥

कामनासे मुक्त हुआ रजोगुणरहित धीर पुरुष धूमिल रंगके बादलसे निकले हुए चन्द्रमाकी भाँति निर्मल होकर धैर्यपूर्वक कालकी प्रतीक्षा करता रहता है ॥ ८ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामः॥ ९ ॥

जैसे नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण और अविचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही [illegible] जाते हैं, उसी प्रकार सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी [illegible] विकार उत्पन्न किये बिना ही प्रविष्ट हो जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं॥

[illegible] कामकान्तो न तु कामकामः
[illegible] वै कामात् स्वर्गमुपैति देही ॥ १० ॥

भोग ही उस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी कामना करते हैं, परंतु वह भोगोंकी कामना नहीं रखता। जो कामभोग चाहनेवाला देहाभिमानी है, वह कामनाओंके फलस्वरूप स्वर्गलोकमें चला जाता है॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषद् दानं दानस्योपनिषत् तपः ॥ ११ ॥

वेदका सार है [illegible] वचन, सत्यका सार है इन्द्रियोंका संयम, संयमका सार है दान और दानका सार है तपस्या ॥

तपसोपनिषत् त्यागस्त्यागस्योपनिषत् सुखम् ।
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः स्वर्गस्योपनिषच्छमः ॥ १२ ॥

तपस्याका सार है त्याग, त्यागका सार है सुख, सुखका सार है स्वर्ग और स्वर्गका सार है शान्ति ॥ १२ ॥

क्लेदनं शोकमनसोः संतापं तृष्णया सह ।
सत्त्वमिच्छसि संतोषाच्छान्तिलक्षणमुत्तमम् ॥ १३ ॥

मनुष्यको संतोषपूर्वक रहकर शान्तिके उत्तम [illegible] सत्त्वगुणको अपनानेकी इच्छा करनी चाहिये। सत्त्वगुण मनकी तृष्णा, शोक और संकल्पको उसी प्रकार जलाकर नष्ट करनेवाला है, जैसे गरम जल चावलको गला देता है ॥

विशोको निर्ममः शान्तः प्रसन्नात्मा विमत्सरः ।
षड्भिर्लक्षणवानेतैः समग्रः पुनरेष्यति ॥ १४ ॥

शोकशून्य, ममतारहित, शान्त, प्रसन्नचित्त, मात्सर्यहीन और संतोषी—इन छः लक्षणोंसे युक्त मनुष्य पूर्ण ज्ञानसे तृप्त हो मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

षड्भिः सत्त्वगुणोपेतैः प्राज्ञैरधिगतं त्रिभिः ।
ये विदुः प्रेत्य चात्मानमिहस्थं तं गुणं विदुः ॥ १५ ॥

जो देहाभिमानसे मुक्त होकर सत्त्वप्रधान सत्य, दम, दान, तप, त्याग और शम—इन छः गुणों तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप त्रिविध साधनोंसे प्राप्त होनेवाले आत्माको इस शरीरके रहते हुए ही जान लेते हैं, वे परम शान्तिरूप गुणको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

अकृत्रिममसंहार्यं प्राकृतं निरुपस्कृतम् ।
अध्यात्मं सुकृतं प्राप्तः सुखमव्ययमश्नुते ॥ १६ ॥

जो उत्पत्ति और विनाशसे रहित, स्वभावसिद्ध, श्रृङ्गार-शून्य तथा शरीरके भीतर स्थित सुकृत नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह अक्षय सुखका भागी होता है ॥ १६ ॥

निष्प्रचारं मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः ।
यामयं लभते तुष्टिं सा न शक्याऽऽत्मनोऽन्यथा॥ १७ ॥

अपने मनको इधर-उधर जानेसे रोककर आत्मामें सम्पूर्णरूपसे स्थापित कर लेनेपर पुरुषको जिस संतोष और सुखकी प्राप्ति होती है, उसका दूसरे किसी उपायसे प्राप्त होना असम्भव है॥

येन तृप्यत्यभुञ्जानो येन तृप्यत्यवित्तवान् ।
येनास्नेहो बलं धत्ते यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १८ ॥

जिससे बिना भोजनके भी मनुष्य तृप्त हो जाता है, जिसके होनेसे निर्धनको भी पूर्ण संतोष रहता है तथा जिसका आश्रय मिलनेसे घृत आदि स्निग्ध पदार्थका सेवन किये बिना भी मनुष्य अपनेमें अनन्त बलका अनुभव करता है, उस ब्रह्मको जो जानता है, वही वेदोंका तत्त्वज्ञ है ॥ १८ ॥

संगुप्तान्यात्मनो द्वाराण्यपिधाय विचिन्तयन् ।
यो ह्यास्ते ब्राह्मणः शिष्टः स आत्मरतिरुच्यते ॥ १९ ॥

जो अपनी इन्द्रियोंके सुरक्षित द्वारोंको सब ओरसे बंद करके नित्य [illegible] चिन्तन करता रहता है, वही श्रेष्ठ ब्राह्मण आत्माराम कहलाता है ॥ १९ ॥

समाहितं परे तत्त्वे क्षीणकाममवस्थितम् ।
सर्वतः सुखमन्वेति वपुश्चान्द्रमसं यथा ॥ २० ॥

जो अपनी कामनाओंको नष्ट करके परम तत्त्वरूप परमात्मामें एकाग्रचित्त होकर स्थित है, उसका सुख शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति सब ओरसे बढ़ता रहता है ॥ २० ॥

अविशेषाणि भूतानि गुणांश्च जहतो मुनेः ।
सुखेनापोह्यते दुःखं भास्करेण तमो यथा ॥ २१ ॥

जो सामान्यतः सम्पूर्ण भूतों और भौतिक गुणोंका त्याग कर देता है, उस मुनिका दुःख उसी प्रकार सुखपूर्वक अनायास [illegible] हो [illegible] है, जैसे सूर्योदयसे अन्धकार ॥ २१ ॥

तमतिक्रान्तकर्माणमतिक्रान्तगुणक्षयम् ।
ब्राह्मणं विषयाश्लिष्टं जरामृत्यू न विन्दतः ॥ २२ ॥

गुणोंके ऐश्वर्य तथा कर्मोंका परित्याग करके विषयवासना-रहित हुए उस ब्रह्मवेत्ता पुरुषको जरा और मृत्यु नहीं प्राप्त होती हैं ॥ २२ ॥

स यदा सर्वतो मुक्तः [illegible] पर्यवतिष्ठते ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च शरीरस्थोऽतिवर्तते ॥ २३ ॥

जब मनुष्य समस्त बन्धनोंसे पूर्णतया मुक्त होकर समतामें स्थित हो [illegible] है, उस समय इस शरीरके भीतर रहकर भी वह इन्द्रियों और उनके विषयोंकी पहुँचके बाहर हो जाता है॥

कारणं परमं प्राप्य अतिक्रान्तस्य कार्यताम् ।
पुनरावर्तनं नास्ति सम्प्राप्तस्य परं पदम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार जो परम कारणस्वरूप ब्रह्मको [illegible] कार्यमयी प्रकृतिकी सीमाको लाँघ जाता है, [illegible] ज्ञानी परमपदको [illegible] हो जाता है । उसे पुनः इस संसारमें नहीं लौटना पड़ता है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने एकपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५१ ॥

इस [illegible] श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीरमें पञ्चभूतोंके कार्य और गुणोंकी पहचान

व्यास उवाच

द्वन्द्वानि मोक्षजिज्ञासुरर्थधर्मावनुष्ठितः ।
वक्त्रा गुणवता शिष्यः श्राव्यः पूर्वमिदं महत् ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा ! जो अर्थ और धर्मका अनुष्ठान करके सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको धैर्यपूर्वक सहता हो और मोक्षकी जिज्ञासा रखता हो, उस श्रद्धालु शिष्यको गुणवान् वक्ता पहले इस महत्त्वपूर्ण अध्यात्मशास्त्रका [illegible] कराये ॥ १ ॥

आकाशं मारुतो ज्योतिरापः पृथ्वी च पञ्चमी ।
भावाभावौ च कालश्च सर्वभूतेषु पञ्चसु ॥ २ ॥

आकाश, वायु, जल, तेज और पाँचवीं पृथ्वी [illegible] भावपदार्थ अर्थात् गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय एवं अभाव और काल (दिक्, आत्मा और मन)—ये सब-के-सब समस्त पाञ्चभौतिक शरीरधारी प्राणियोंमें स्थित हैं ॥

अन्तरात्मकमाकाशं तन्मयं श्रोत्रमिन्द्रियम् ।
तस्य शब्दं गुणं विद्यान्मूर्तिशास्त्रविधानवित् ॥ ३ ॥

आकाश अवकाशस्वरूप है और श्रवणेन्द्रिय आकाशमय है । शरीर-शास्त्रके विधानको जाननेवाला मनुष्य शब्दको आकाशका गुण जाने ॥ [illegible] ॥

चरणं मारुतात्मेति प्राणापानौ च तन्मयौ ।
स्पर्शनं चेन्द्रियं विद्यात् तथा स्पर्शं च तन्मयम् ॥ [illegible] ॥

चलना-फिरना वायुका धर्म है । प्राण और अपान भी वायुस्वरूप ही हैं (समान, उदान और व्यानको भी वायुरूप ही मानना चाहिये)। स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) तथा स्पर्श नामक गुणको भी वायुमय ही समझना चाहिये ॥ ४ ॥

तापः पाकः प्रकाशश्च ज्योतिश्चक्षुश्च पञ्चमम् ।
तस्य रूपं गुणं विद्यात् ताम्रगौरासितात्मकम् ॥ ५ ॥

ताप, पाक, प्रकाश [illegible]और नेत्रेन्द्रिय—ये [illegible]ब तेज या अग्नितत्त्वके कार्य हैं । श्याम, गौर और ताम्र आदि वर्णवाले रूपको उसका गुण समझना चाहिये ॥ ५ ॥

प्रक्लेदः क्षुद्रता स्नेह इत्यपामुपदिश्यते ।
असृङ्मज्जा च यच्चान्यत् स्निग्धं विद्यात् तदात्मकम् ॥ ६ ॥

क्लेदन (किसी वस्तुको सड़ा-गला देना), क्षुद्रता (सूक्ष्मता) तथा स्निग्धता—ये जलके धर्म बताये जाते हैं । रक्त, मज्जा तथा अन्य जो कुछ स्निग्ध पदार्थ है, [illegible] सबको जलमय समझे ॥ ६ ॥

रसनं चेन्द्रियं जिह्वा रसश्चापां गुणो मतः ।
संघातः पार्थिवो धातुरस्थिदन्तनखानि च ॥ ७ ॥

रसनेन्द्रिय, जिह्वा और रस—ये सब जलके गुण माने गये हैं । शरीरमें जो संघात [illegible] कड़ापन है, वह पृथ्वीका कार्य है, अतः हड्डी, दाँत और [illegible] आदिको पृथ्वीका अंश [illegible] चाहिये ॥ ७ ॥

[illegible] रोम च केशाश्च शिरा स्नायु च चर्म च ।
इन्द्रियं घ्राणसंज्ञातं नासिकेत्यभिसंज्ञिता ॥ ८ ॥
गन्धश्चेवेन्द्रियार्थोऽयं विज्ञेयः पृथिवीमयः ।

इसी [illegible] दाढ़ी, मूँछ, शरीरके रोएँ, केश, नाड़ी, स्नायु और चर्म—इन सबकी उत्पत्ति भी पृथ्वीसे ही हुई है । नासिका नामसे प्रसिद्ध जो घ्राणेन्द्रिय है, वह भी पृथ्वीका ही [illegible] है । इस गन्धनामक विषयको भी पार्थिव गुण [illegible] जानना चाहिये ॥ ८½ ॥

उत्तरेषु गुणाः सन्ति सर्वतत्त्वेषु चोत्तराः ॥ ९ ॥

उत्तरोत्तर सभी भूतोंमें पूर्ववर्ती भूतोंके गुण विद्यमान हैं, (जैसे आकाशमें शब्दमात्र गुण है; वायुमें शब्द और स्पर्श दो गुण; तेजमें शब्द, स्पर्श और रूप—तीन गुण; जलमें शब्द, स्पर्श, [illegible] और रस—चार गुण तथा पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँच गुण हैं)॥ ९ ॥

पञ्चानां भूतसंघानां संततिं मुनयो विदुः ।
मनो नवममेषां [illegible] बुद्धिस्तु दशमी स्मृता ॥ १० ॥

मुनिलोग भावना, अज्ञान और कर्म—इन तीनोंको पाँच महाभूतोंके समुदायकी संतति मानते हैं । इन्हीं तीनोंको अविद्या, [illegible] और कर्म भी कहते हैं । ये सब मिलकर आठ हुए । इनके [illegible] मनको नवाँ और बुद्धिको दसवाँ [illegible] माना गया है ॥ १० ॥

एकादशस्त्वनन्तात्मा स सर्वः पर उच्यते ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिर्मनो व्याकरणात्मकम् ।
कर्मानुमानाद् विज्ञेयः स जीवः क्षेत्रसंज्ञकः ॥ ११ ॥

अविनाशी आत्मा ग्यारहवाँ तत्त्व है। उसीको सर्वस्वरूप और श्रेष्ठ बताया जाता है। बुद्धि निश्चयात्मिका होती है और मनका स्वरूप संशय बताया गया है। कर्मोंका [illegible] और कर्ता कोई भी जड़तत्त्व नहीं हो सकता, इस अनुमान-ज्ञानसे [illegible] क्षेत्रज्ञ नामक जीवात्माको समझना चाहिये ॥ ११ ॥

एभिः कालात्मकैर्भावैर्यः सर्वैः सर्वमन्वितम् ।
पश्यत्यकलुषं कर्म स मोहं नानुवर्तते ॥ १२ ॥

जो मनुष्य सारे जगत्‌को इन समस्त कालात्मक भावोंसे सम्पन्न देखता और निष्पाप कर्म करता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता है ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने द्विपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरसे भिन्न जीवात्माका और परमात्माका योगके द्वारा साक्षात्कार करनेका प्रकार

व्यास उवाच

शरीराद् विप्रमुक्तं हि सूक्ष्मभूतं शरीरिणम् ।
कर्मभिः परिपश्यन्ति शास्त्रोक्तैः शास्त्रवेदिनः ॥ १ ॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र ! योगशास्त्रके ज्ञाता शास्त्रोक्त कर्मोंके द्वारा स्थूल शरीरसे निकले हुए सूक्ष्म स्वरूप जीवात्माको देखते हैं ॥ १ ॥

यथा मरीच्यः सहिताश्चरन्ति
सर्वत्र तिष्ठन्ति च दृश्यमानाः ।
देहैर्विमुक्तानि चरन्ति लोकां-
स्तथैव सत्त्वान्यतिमानुषाणि ॥ २ ॥

जैसे सूर्यकी किरणें परस्पर मिली हुई ही सर्वत्र विचरती हैं एवं स्थित हुई दृष्टिगोचर होती हैं, उसी प्रकार अलौकिक जीवात्मा स्थूल शरीरसे निकलकर सम्पूर्ण लोकोंमें जाते हैं। (यह ज्ञानदृष्टिसे ही जाननेमें आ सकता है) ॥ २ ॥

प्रतिरूपं यथैवाप्सु तापः सूर्यस्य लक्ष्यते ।
सत्त्ववत्सु तथा सत्त्वं प्रतिरूपं स पश्यति ॥ ३ ॥

जैसे विभिन्न जलाशयोंके जलमें सूर्यकी किरणोंका पृथक्-पृथक् दर्शन होता है, उसी प्रकार योगी पुरुष सभी सजीव शरीरोंके भीतर सूक्ष्मरूपसे स्थित पृथक्-पृथक् जीवोंको देखता है ॥ ३ ॥

तानि सूक्ष्माणि सत्त्वानि विमुक्तानि शरीरतः ।
स्वेन सत्त्वेन [illegible] पश्यन्ति नियतेन्द्रियाः ॥ ४ ॥

शरीरके तत्त्वको जाननेवाले जितेन्द्रिय योगीजन उन स्थूलशरीरोंसे निकले हुए सूक्ष्म लिङ्गशरीरोंसे युक्त जीवोंको अपने आत्माके द्वारा देखते हैं ॥ ४ ॥

स्वपतां जाग्रतां चैव सर्वेषामात्मचिन्तितम् ।
प्रधानाद्वैधमुक्तानां जहतां कर्मजं रजः ॥ ५ ॥
यथाहनि तथा रात्रौ यथा रात्रौ तथाहनि ।
वशे तिष्ठति [illegible] सततं योगयोगिनाम् ॥ ६ ॥

जो अपने मनमें चिन्तित कर्मजनित रजोगुणका अर्थात् रजोगुणजनित काम आदिका योगबलसे परित्याग कर देते हैं [illegible] जो प्रकृतिके तादात्म्यभावसे भी मुक्त हैं, उन सभी योगपरायण योगी पुरुषोंका जीवात्मा [illegible] दिनमें वैसे रातमें, जैसे रातमें वैसे दिनमें सोते-जागते समय निरन्तर उनके वश-में रहता है ॥ ५-६ ॥

तेषां नित्यं सदा नित्यो भूतात्मा सततं गुणैः ।
सप्तभिस्त्वन्वितः सूक्ष्मैश्चरिष्णुरजरामरः ॥ ७ ॥

उन योगियोंका नित्य स्वरूप जीव सदा [illegible] सूक्ष्म गुणों (महत्तत्त्व, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राओं) से युक्त हो अजर-अमर देवताओंकी भाँति नित्यप्रति विचरता रहता है ॥ ७ ॥

मनोबुद्धिपराभूतः स्वदेहपरदेहवित् ।
स्वप्नेष्वपि भवत्येष विज्ञाता सुखदुःखयोः ॥ ८ ॥

जिन मूढ़ मनुष्योंका जीवात्मा मन और बुद्धिके वशीभूत रहता है, वह अपने और पराये शरीरको जाननेवाला मनुष्य स्वप्न-अवस्थामें भी सूक्ष्म शरीरसे सुख-दुःखका अनुभव करता है ॥ ८ ॥

तत्रापि लभते दुःखं तत्रापि लभते सुखम् ।
क्रोधलोभौ तु तत्रापि कृत्वा व्यसनमृच्छति ॥ ९ ॥

वहाँ (स्वप्नमें भी) उसे दुःख और सुख प्राप्त होते हैं। एवं उस स्वप्नमें भी (जाग्रत्‌की भाँति ही) क्रोध और लोभ करके वह संकटमें पड़ जाता है ॥ ९ ॥

प्रीणितश्चापि भवति महतोऽर्थानवाप्य हि ।
करोति पुण्यं तत्रापि जीवन्निव च पश्यति ॥ १० ॥

वहाँ भी महान् धन पाकर वह प्रसन्न होता है तथा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करता है; इतना ही नहीं, जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति वह स्वप्नमें भी [illegible] वस्तुओंको देखता है ॥ १० ॥

महोष्मान्तर्गतश्चापि गर्भत्वं समुपेयिवान् ।
दश मासान् वसन् कुक्षौ नैषोऽन्नमिव जीर्यते ॥ ११ ॥

(यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है कि) गर्भभावको प्राप्त हुआ जीवात्मा दस मासतक माताके उदरमें निवास करता है और जठरानलकी अधिक आँचसे संतप्त होता रहता है तो भी अन्नकी भाँति पच नहीं जाता ॥ ११ ॥

तमेतमतितेजोंऽशं भूतात्मानं हृदि स्थितम् ।
तमोरजोभ्यामाविष्टा नानुपश्यन्ति मूर्तिषु ॥ १२ ॥

यह जीवात्मा परमात्माका ही अंग है और देहधारियोंके हृदयमें विराजमान है तथापि जो लोग रजोगुण और तमोगुण-से अभिभूत हैं, वे देहके भीतर उस जीवात्माकी स्थितिको देख या समझ नहीं पाते हैं ॥ १२ ॥

योगशास्त्रपरा भूत्वा तमात्मानं परीप्सवः।
अनुच्छ्वासान्यमूर्तानि यानि वज्रोपमान्यपि ॥ १३ ॥

जड स्थूल शरीर, अमूर्त सूक्ष्म शरीर तथा वज्रतुल्य सुदृढ कारण शरीर—ये जो तीन प्रकारके शरीर हैं, इन्हें आत्माको प्राप्त करनेकी इच्छावाले योगीजन योगशास्त्रपरायण होकर लाँघ जाते हैं ॥ १३ ॥

पृथग्भूतेषु सृष्टेषु चतुर्थाश्रमकर्मसु।
समाधौ योगमेवैतच्छाण्डिल्यः शममब्रवीत् ॥ १४ ॥

संन्यास आश्रमके कर्म भिन्न-भिन्न प्रकारके बताये गये हैं। उनमें समाधिके विषयमें मैंने जो कुछ बताया है, इसीको शाण्डिल्य मुनिने शमके नामसे (छान्दोग्यउपनिषद् शाण्डिल्य ब्राह्मणमें) कहा है ॥ १४ ॥

विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं च महेश्वरम्।
प्रधानविनियोगज्ञः परं ब्रह्मानुपश्यति ॥ १५ ॥

जो पञ्चतन्मात्रा तथा मन और बुद्धि—इन सात सूक्ष्म तत्त्वोंको शाश्वत जानकर एवं छः अङ्गोंसे यानी ऐश्वर्योंसे युक्त महेश्वरका ज्ञान प्राप्त करके इस बातको जान लेता है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका परिणाम ही यह सम्पूर्ण जगत् है, वह परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने त्रिपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

कामरूपी अद्भुत वृक्षका तथा उसे काटकर मुक्ति प्राप्त करनेके उपायका और शरीररूपी नगरका वर्णन

व्यास उवाच

हृदि कामद्रुमश्चित्रो मोहसंचयसम्भवः।
क्रोधमानमहास्कन्धो विधित्सापरिषेचनः ॥ १ ॥
तस्य चाज्ञानमाधारः प्रमादः परिषेचनम्।
सोऽभ्यसूयापलाशो हि पुरा दुष्कृतसारवान् ॥ २ ॥

व्यासजी कहते हैं—बेटा! मनुष्यके हृदयभूमिमें मोहरूपी बीजसे उत्पन्न हुआ एक विचित्र वृक्ष है, जिसका नाम है काम। क्रोध और अभिमान उसके महान् स्कन्ध हैं। कुछ करनेकी इच्छा उसमें जल सींचनेका पात्र है। अज्ञान उसकी जड है। प्रमाद ही उसे सींचनेवाला जल है। दूसरोंके दोष देखना उस वृक्षका पत्ता है तथा पूर्व जन्ममें किये हुए पाप उसके सारभाग हैं ॥ १-२ ॥

सम्मोहचिन्ताविटपः शोकशाखो भयाङ्कुरः।
मोहनीभिः पिपासाभिर्लताभिरनुवेष्टितः ॥ ३ ॥

शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ता डालियाँ एवं भय उसके अङ्कुर हैं। मोहमें डालनेवाली तृष्णारूपी लताएँ उसमें लिपटी हुई हैं ॥ ३ ॥

उपासते महावृक्षं सुलुब्धास्तत्फलेप्सवः।
आयसैः संयुताः पाशैः फलदं परिवेष्ट्य तम् ॥ ४ ॥

लोभी मनुष्य लोहेकी जंजीरोंके समान वासनाके बन्धनोंमें बँधकर उस फलदायक महान् वृक्षको चारों ओरसे घेरकर आसपास बैठे हैं और उसके फलको प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

यस्तान् पाशान् वशे कृत्वा तं वृक्षमपकर्षति।
गतः स दुःखयोरन्तं जरामरणयोर्द्वयोः ॥ ५ ॥

जो उन वासनाके बन्धनोंको वशमें करके वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा उस काम-वृक्षको काट डालता है, वह मनुष्य जरा और मृत्युजनित दोनों प्रकारके दुःखोंसे पार हो जाता है ॥ ५ ॥

संरोहत्यकृतप्रज्ञः सदा येन हि पादपम्।
स तमेव ततो हन्ति विषग्रन्थिरिवातुरम् ॥ ६ ॥

परंतु जो मूर्ख फलके लोभसे सदा उस वृक्षपर चढ़ता है, उसे वह वृक्ष ही मार डालता है; ठीक वैसे ही, जैसे खायी हुई विषकी गोली रोगीको मार डालती है ॥ ६ ॥

तस्यानुगतमूलस्य मूलमुद्ध्रियते बलात्।
योगप्रसादात् कृतिना साम्येन परमासिना ॥ ७ ॥

उस काम-वृक्षकी जड़ें बहुत दूरतक फैली हुई हैं। कोई विद्वान् पुरुष ही ज्ञानयोगके प्रसादसे समतारूप उत्तम खड्गके द्वारा बलपूर्वक उस वृक्षका मूलोच्छेद कर डालता है ॥ ७ ॥

एवं यो वेद कामस्य केवलस्य निवर्तनम्।
बन्धं वै कामशास्त्रस्य स दुःखान्यतिवर्तते ॥ ८ ॥

इस प्रकार जो केवल कामनाओंको निवृत्त करनेका उपाय जानता है तथा भोगविधायक शास्त्र बन्धनकारक है—इस बातको समझता है, वह सम्पूर्ण दुःखोंको लाँघ जाता है ॥ ८ ॥

शरीरं पुरमित्याहुः स्वामिनी बुद्धिरिष्यते।
तत्रबुद्धेः शरीरस्थं मनो नामार्थचिन्तकम् ॥ ९ ॥

इस शरीरको पुर या नगर कहते हैं। बुद्धि इस नगरकी रानी मानी गयी है और शरीरके भीतर रहनेवाला मन निश्चयात्मिका बुद्धिरूप रानीके अर्थकी सिद्धिका विचार करनेवाला मन्त्री है ॥ ९ ॥

इन्द्रियाणि मनःपौरास्तदर्थं तु परा कृतिः।
तत्र द्वौ दारुणौ दोषौ तमो नाम रजस्तथा।
तदर्थमुपजीवन्ति पौराः सह पुरेश्वरैः ॥ १० ॥

इन्द्रियाँ इस नगरमें निवास करनेवाली प्रजा हैं। वे मनरूपी मन्त्रीकी आज्ञाके अधीन रहती हैं। उन प्रजाओंकी रक्षाके लिये मनको बड़े-बड़े कार्य करने पड़ते हैं। वहाँ दो

दारुण दोष हैं, जो रज और तमके नामसे प्रसिद्ध हैं। नगरके शासक मन, बुद्धि और जीव इन तीनोंके साथ समस्त पुरवासी रूप इन्द्रियगण मनके द्वारा प्रस्तुत किये हुए शब्द आदि विषयोंका उपभोग करते हैं ॥ १० ॥

अद्वारेण तमेवार्थं द्वौ दोषावुपजीवतः।
तत्र बुद्धिर्हि दुर्धर्षा मनः सामान्यमश्नुते ॥ ११ ॥

रजोगुण और तमोगुण—ये दो दोष निषिद्धमार्गके द्वारा उस विषय-सुखका आश्रय लेते हैं। वहाँ बुद्धि दुर्धर्ष होनेपर भी मनके साथ रहनेसे उसीके समान हो जाती है ॥ ११ ॥

पौराश्चापि मनस्त्रस्तास्तेषामपि चला स्थितिः।
तदर्थं बुद्धिरध्यास्ते सोऽनर्थः परिषीदति ॥ १२ ॥

उस समय इन्द्रियरूपी पुरवासी जन मनके भयसे त्रस्त हो जाते हैं; अतः उनकी स्थिति भी चञ्चल ही रहती है। बुद्धि भी उस अनर्थका ही निश्चय करती है। इसलिये वह अनर्थ आ बसता है ॥ १२ ॥

यदर्थं पृथगध्यास्ते मनस्तत्परिषीदति।
पृथग्भूतं मनो बुद्ध्या मनो भवति केवलम् ॥ १३ ॥

बुद्धि जिस विषयका अवलम्बन करती है, मन भी उसी का आश्रय लेता है। मन जब बुद्धिसे पृथक् होता है, तब केवल मन रह जाता है ॥ १३ ॥

तत्रैनं विधृतं शून्यं रजः पर्यवतिष्ठते।
तन्मनः कुरुते सख्यं रजसा सह सङ्गतम्।
तं चादाय जनं पौरं रजसे सम्प्रयच्छति ॥ १४ ॥

उस समय रजोगुणजनित काम मनको आत्माके बलसे युक्त होनेपर भी विवेकसे रहित होनेके कारण सब ओरसे घेर लेता है। तब वह कामसे घिरा हुआ मन उस रजोगुणरूप कामके साथ मित्रता स्थापित कर लेता है। उसके बाद वह मन ही उस इन्द्रियरूप पुरवासीजनको रजोगुणजनित कामके हाथमें समर्पित कर देता है (जैसे राजाका विरोधी मन्त्री राज्य और प्रजाको शत्रुके हाथमें सौंप देता है) ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने चतुष्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

पञ्चभूतोंके तथा मन और बुद्धिके गुणोंका विस्तृत वर्णन

भीष्म उवाच

भूतानां परिसंख्यानं भूयः पुत्र निशामय।
द्वैपायनमुखाद् भ्रष्टं श्लाघया [illegible] ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—निष्पाप पुत्र युधिष्ठिर! द्वैपायन व्यासजीके मुखसे वर्णित जो पञ्चमहाभूतोंका निरूपण है, वह मैं पुनः तुम्हें बता रहा हूँ; तुम बड़ी स्पृहाके साथ इस विषयको सुनो ॥ १ ॥

दीप्तानलनिभः प्राह भगवान् धूमवर्चसे।
ततोऽहमपि वक्ष्यामि भूयः पुत्र निदर्शनम् ॥ २ ॥

[illegible]! प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी भगवान् वेदव्यासने धूमाच्छादित अग्निके [illegible] विराजमान अपने पुत्र शुकदेवके समक्ष पहले जिस प्रकार इस विषयका प्रतिपादन किया था, उसे [illegible] पुनः तुमसे कहूँगा। बेटा! तुम सुनिश्चित दर्शन-शास्त्रको श्रवण करो ॥ २ ॥

भूमेः स्थैर्यं गुरुत्वं च काठिन्यं प्रसवार्थता।
गन्धो गुरुत्वं शक्तिश्च संघातः स्थापना धृतिः ॥ ३ ॥

स्थिरता, भारीपन, कठिनता (कड़ापन), बीजको अङ्कुरित करनेकी शक्ति, गन्ध, विशालता, शक्ति, संघात, स्थापना और धारणशक्ति—ये दस पृथ्वीके गुण हैं ॥ ३ ॥

अपां शैत्यं रसः क्लेदो द्रवत्वं स्नेहसौम्यता।
जिह्वा विस्यन्दनं चापि भौमानां श्रपणं [illegible] ॥ ४ ॥

शीतलता, रस, क्लेद (गलाना या गीला करना), द्रवत्व (पिघलना), स्नेह (चिकनाहट), सौम्यभाव, जिह्वा, टपकना, ओले या बर्फके रूपमें जम जाना तथा पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले चावल-दाल आदिको गला देना—ये सब जलके गुण हैं ॥ ४ ॥

अग्नेर्दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम्।
शोको रागो लघुस्तैक्ष्ण्यं सततं चोर्ध्वभासिता ॥ ५ ॥

दुर्धर्ष होना, जलना, ताप देना, पकाना, प्रकाश करना, शोक, राग, हल्कापन, तीक्ष्णता और आगकी लपटोंका सदा ऊपरकी ओर उठना एवं प्रकाशित होना—ये सब अग्निके गुण हैं ॥ ५ ॥

वायोरनियमस्पर्शो वादस्थानं स्वतन्त्रता।
बलं शैघ्र्यं च मोक्षं च कर्म चेष्टाऽऽत्मता भवः ॥ ६ ॥

अनियत स्पर्श, वाक्-इन्द्रियकी स्थिति, चलने फिरने आदिकी स्वतन्त्रता, बल, शीघ्रगामिता, मल-मूत्र आदिको शरीरसे बाहर निकालना, उत्क्षेपण आदि कर्म, क्रिया-शक्ति, प्राण और जन्म-मृत्यु—ये सब वायुके गुण हैं ॥ ६ ॥

[illegible] गुणः शब्दो व्यापित्वं छिद्रतापि च।
अनाश्रयमनालम्बमव्यक्तमविकारिता[illegible] ॥ ७ ॥
अप्रतीघातिता चैव भूतत्वं विकृतानि च।
गुणाः पञ्चाशतं प्रोक्ताः पञ्चभूतात्मभाविताः ॥ ८ ॥

शब्द, व्यापकता, छिद्र होना, किसी स्थूल पदार्थका [illegible] न होना, स्वयं किसी दूसरे आधारपर न रहना, अव्यक्तता, निर्विकारता, प्रतिघातशून्यता और भूतता अर्थात् श्रवणेन्द्रियका कारण होना और विकृतिसे युक्त होना—ये छः

आकाशके गुण हैं। इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंके ये पचास गुण बताये गये हैं ॥ ७-८ ॥

धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ॥ ९ ॥

धैर्य, तर्क-वितर्कमें कुशलता, स्मरण, भ्रान्ति, कल्पना, क्षमा, शुभ एवं अशुभ संकल्प और चञ्चलता—ये मनके नौ गुण हैं ॥ ९ ॥

इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवसायः समाधिता।
संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पञ्चगुणान् विदुः ॥ १० ॥

इष्ट और अनिष्ट वृत्तियोंका नाश, विचार, समाधान, संदेह और निश्चय—ये पाँच बुद्धिके गुण माने गये हैं ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं पञ्चगुणा बुद्धिः कथं पञ्चेन्द्रिया गुणाः।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व सूक्ष्मज्ञानं पितामह ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! बुद्धिके पाँच ही गुण कैसे हैं? तथा पाँच इन्द्रियाँ भी भूतोंके गुण कैसे हो सकती हैं? यह सारा सूक्ष्म ज्ञान आप मुझे बताइये ॥ ११ ॥

भीष्म उवाच

आहुः षष्टिं बुद्धिगुणान् वै
भूतविशिष्टा नित्यविषक्ताः।
भूतविभूतीश्चाक्षरसृष्टाः
पुत्र न नित्यं तदिह वदन्ति ॥ १२ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स युधिष्ठिर! महर्षियोंका कहना है कि बुद्धिके साठ गुण हैं अर्थात् पाँचों भूतोंके पूर्वोक्त पचास गुण तथा बुद्धिके पाँच गुण मिलकर पचपन हुए। इनमें पञ्चभूतोंको भी बुद्धिके गुणरूपसे गिन लेनेपर वे साठ हो जाते हैं। ये सभी गुण नित्य चैतन्यसे मिले हुए हैं। पञ्चमहाभूत और उनकी विभूतियाँ अविनाशी परमात्माकी सृष्टि हैं; परंतु परिवर्तनशील होनेके कारण उसे तत्त्वज्ञ पुरुष नित्य नहीं बताते हैं ॥ १२ ॥

तत् पुत्र चिन्ताकलिलं तदुक्त-
मनागतं वै तव सम्प्रतीह।
भूतार्थतत्त्वं तदवाप्य सर्वं
भूतप्रभावाद् भव शान्तबुद्धिः ॥ १३ ॥

बेटा युधिष्ठिर! अन्य वक्ताओंने जगत्‌की उत्पत्तिके विषयमें पहले जो कुछ कहा है, वह सब वेदविरुद्ध और विचार-दूषित है, अतः इस समय तुम नित्यसिद्ध परमात्माका यथार्थ तत्त्व सुनकर उन्हीं परमेश्वरके प्रभाव एवं प्रसादसे शान्त-बुद्धि हो जाओ ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकानुप्रश्ने पञ्चपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका अनुप्रश्नविषयक दो सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका मृत्युविषयक प्रश्न, नारदजीका राजा अकम्पनसे मृत्युकी उत्पत्तिका प्रसंग सुनाते हुए ब्रह्माजीकी रोषाग्निसे प्रजाके दग्ध होनेका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

य इमे पृथिवीपालाः शेरते पृथिवीतले।
पृतनामध्य एते हि गतसंज्ञा महाबलाः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! ये जो असंख्य भूपाल (प्राणशून्य होकर) इस भूतलपर सेनाके बीचमें सो रहे हैं इनकी ओर दृष्टिपात कीजिये। ये महान् बलवान् थे तो भी संज्ञाहीन होकर पड़े हैं ॥ १ ॥

एकैकशो भीमबला नागायुतबलास्तथा।
एते हि निहताः संख्ये तुल्यतेजोबलैर्नरैः ॥ २ ॥

इनमेंसे एक-एक नरेश भयानक बलसे सम्पन्न था। दस-दस हजार हाथियोंकी शक्ति रखता था। ये सब-के-सब इस युद्धस्थलमें अपने समान ही तेजस्वी और बलवान् मनुष्यों-द्वारा मारे गये हैं ॥ २ ॥

नैषां पश्यामि हन्तारं प्राणिनां संयुगे परम्।
विक्रमेणोपसम्पन्नास्तेजोबलसमन्विताः ॥ ३ ॥

इन प्राणशक्ति-सम्पन्न नरेशोंको कोई दूसरा वीर संग्राम-भूमिमें मार सके—ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता था; क्योंकि ये सब-के-सब बल-पराक्रमसे सम्पन्न और तेजस्वी थे ॥ ३ ॥

अथ चेमे महाप्राज्ञाः शेरते हि गतासवः।
मृता इति च शब्दोऽयं वर्तत्येषु गतासुषु ॥ ४ ॥

किंतु इस समय ये महाबुद्धिमान् भूपाल निष्प्राण होकर पड़े हैं। इनके प्राण निकल जानेपर इनके लिये मृत शब्दका व्यवहार होता है अर्थात् 'ये मर गये' ऐसा कहा जाता है ॥ ४ ॥

इमे मृता नृपतयः प्रायशो भीमविक्रमाः।
तत्र मे संशयो जातः कुतः संज्ञा मृता इति ॥ ५ ॥
कस्य मृत्युः कुतो मृत्युः केन मृत्युरिह प्रजाः।
हरत्यमरसंकाश तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

ये जो नरेश मृत्युको प्राप्त हो गये हैं, इनमें बहुत-से भयानक पराक्रमसे सम्पन्न हैं। यहाँ मेरे मनमें यह संदेह होता है कि इन्हें मृत नाम कैसे दिया गया? किसकी मृत्यु होती है? किससे मृत्यु होती है? और किस कारणसे मृत्यु यहाँ समस्त प्राणियोंका अपहरण करती है? देवतुल्य पितामह! मुझे यह सब बतानेकी कृपा करें ॥ ५-६ ॥

भीष्म उवाच

पुरा कृतयुगे तात राजा ह्यासीदकम्पनः।
स शत्रुवशमापन्नः संग्रामे क्षीणवाहनः॥ ७॥

भीष्मजीने कहा—तात! प्राचीन सत्ययुगकी बात है, अकम्पन नामके एक राजा थे। एक समय संग्राममें उनका रथ नष्ट हो गया और वे शत्रुके वशमें पड़ गये॥ ७॥

तस्य पुत्रो हरिर्नाम नारायणसमो बले।
स शत्रुभिर्हतः संख्ये सबलः सपदानुगः॥ ८॥

उनके एक पुत्र था, जिसका नाम था हरि। वह बलमें भगवान् नारायणके ही समान जान पड़ता था, परंतु उस समराङ्गणमें शत्रुओंने सेना और सेवकोंसहित उस राजकुमारको मार गिराया॥ ८॥

स राजा शत्रुवशगः पुत्रशोकसमन्वितः।
यदृच्छया शान्तिपरो ददर्श भुवि नारदम्॥ ९॥

राजा अकम्पन स्वतन्त्र भूपाल न रहकर शत्रुके अधीन हो गये तथा पुत्रके शोकमें डूबे रहने लगे। वे शान्तिका उपाय ढूँढ़ रहे थे। इतनेहीमें दैवेच्छासे भूतलपर विचरते हुए देवर्षि नारदका उन्हें दर्शन हुआ॥ ९॥

तस्मै स सर्वमाचष्ट यथावृत्तं जनेश्वरः।
शत्रुभिर्ग्रहणं संख्ये पुत्रस्य मरणं तथा॥ १०॥

राजाने युद्धस्थलमें शत्रुओंद्वारा अपने पकड़े जाने एवं पुत्रकी मृत्यु होनेका सारा समाचार यथावत् रूपसे नारदजीके सामने कह सुनाया॥ १०॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा नारदोऽथ तपोधनः।
आख्यानमिदमाचष्ट पुत्रशोकापहं तदा॥ ११॥

राजाका वह कथन सुनकर तपस्याके धनी नारदजीने उस समय उनसे यह प्राचीन इतिहास कहना आरम्भ किया, जो उनके पुत्रशोकको मिटानेवाला था॥ ११॥

नारद उवाच

राजञ्शृणु समाख्यानमद्येदं बहुविस्तरम्।
यथावृत्तं श्रुतं चैव मयेदं वसुधाधिप॥ १२॥

नारदजी बोले—राजन्! आज यह अत्यन्त विस्तृत आख्यान सुनो। पृथ्वीनाथ! मैंने इसे जैसा सुना है, वह यथावत् वृत्तान्त तुम्हें सुना रहा हूँ॥ १२॥

प्रजाः सृष्ट्वा महातेजाः प्रजासर्गे पितामहः।
अतीव वृद्धा बहुला नामृष्यत पुनः प्रजाः॥ १३॥

प्रजाकी सृष्टि करते समय महातेजस्वी पितामह ब्रह्माने बहुत-से प्राणियोंकी सृष्टि कर डाली, तब उनकी संख्या बहुत अधिक हो गयी। इतनी अधिक प्रजाओंका होना ब्रह्माजीसे सहन न हो सका॥ १३॥

न ह्यन्तरमभूत् किञ्चित् क्वचिज्जन्तुभिरच्युत।
निरुच्छ्वासमिवोदद्धं त्रैलोक्यमभवन्नृप॥ १४॥

अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले नरेश! उस समय कहीं कोई थोड़ा-सा भी ऐसा स्थान नहीं रह गया, जो जीव जन्तुओंसे भरा न हो। सारी त्रिलोकी अवरुद्ध हो गयी। लोगोंका कहीं साँस लेना भी असम्भव-सा हो गया—सबका दम घुटने लगा॥ १४॥

तस्य चिन्ता समुत्पन्ना संहारं प्रति भूपते।
चिन्तयन् नाध्यगच्छच्च संहारे हेतुकारणम्॥ १५॥

भूपाल! अब ब्रह्माजीके मनमें प्रजाके संहारकी—उसकी संख्या घटानेकी चिन्ता उत्पन्न हुई। वे बहुत देरतक सोचते विचारते रहे, परंतु प्रजाके संहारका कोई युक्तियुक्त कारण ध्यानमें नहीं आया॥ १५॥

तस्य रोषान्महाराज खेभ्योऽग्निरुदतिष्ठत।
तेन सर्वा दिशो राजन् ददाह स पितामहः॥ १६॥

महाराज! उस समय रोषवश ब्रह्माजीके नेत्र आदि इन्द्रियगोलकोंसे अग्नि प्रकट हो गयी। राजन्! उस अग्निसे पितामहने सम्पूर्ण दिशाओंको दग्ध करना आरम्भ किया॥

ततो दिवं भुवं खं च जगच्च सचराचरम्।
ददाह पावको राजन् भगवत्कोपसम्भवः॥ १७॥

राजन्! भगवान् ब्रह्माके क्रोधसे प्रकट हुई वह आग स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को जलाने लगी॥ १७॥

तत्रादह्यन्त भूतानि जङ्गमानि ध्रुवाणि च।
महता क्रोधवेगेन कुपिते प्रपितामहे॥ १८॥

प्रपितामह ब्रह्माके कुपित होनेपर उनके क्रोधके महान् वेगसे सभी स्थावर-जङ्गम प्राणी दग्ध होने लगे॥ १८॥

ततोऽध्वरजटः स्थाणुर्वेदाध्वरपतिः शिवः।
जगाम शरणं देवो ब्रह्माणं परवीरहा॥ १९॥

तब यज्ञ ही जिनकी जटाएँ हैं तथा जो वेदों और यज्ञोंके प्रतिपालक हैं, वे शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कल्याणकारी भगवान् शिव ब्रह्माजीकी शरणमें गये॥ १९॥

तस्मिन्नभिगते स्थाणौ प्रजानां हितकाम्यया।
अब्रवीत् परमो देवो ज्वलन्निव तदा शिवम्॥ २०॥

प्रजावर्गके हितकी इच्छासे महादेवजीके अपने सामने आनेपर तेजसे जलते हुए-से परमदेव ब्रह्माजी उनसे इस प्रकार बोले—॥ २०॥

करवाण्यद्य कं कामं वरार्होऽसि मतो मम।
कर्ता ह्यस्मि प्रियं शम्भो तव यद्धृदि वर्तते॥ २१॥

'शम्भो! मैं तुम्हें वर पानेके योग्य समझता हूँ। बोलो, आज तुम्हारी कौन-सी इच्छा पूर्ण करूँ? तुम्हारे हृदयमें जो भी प्रिय मनोरथ हो, उसे मैं पूर्ण करूँगा'॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादोपक्रमे षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २५६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिके संवादका उपक्रमविषयक दो सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५६॥

सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

महादेवजीकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीके द्वारा अपनी रोषाग्निका उपसंहार तथा मृत्युकी उत्पत्ति

स्थाणुरुवाच

प्रजासर्गनिमित्तं मे कार्यवत्तामिमां प्रभो।
विद्धि सृष्टास्त्वया हीमा मा कुप्यासां पितामह ॥ १ ॥

महादेवजीने कहा—प्रभो ! पितामह ! मेरा मनोरथ या प्रयोजन आपसे प्रजासर्गकी रक्षाके लिये प्रार्थना करना है। आप इस बातको जान लें। आपहीने इन प्रजाओंकी सृष्टि की है; अतः आप इनपर क्रोध न कीजिये ॥ १ ॥

तव तेजोऽग्निना देव प्रजा दह्यन्ति सर्वशः।
ता दृष्ट्वा मम कारुण्यं [illegible] कुप्यासां जगत्प्रभो ॥ २ ॥

देव ! जगदीश्वर ! आज आपकी क्रोधाग्निसे सारी प्रजाएँ दग्ध हो रही हैं। उन्हें उस अवस्थामें देखकर मुझे दया आती है; आप उनपर क्रोध न करें ॥ २ ॥

प्रजापतिरुवाच

न कुप्ये न च मे कामो न भवेयुः प्रजा इति।
लाघवार्थं धरण्यास्तु ततः संहार इष्यते ॥ ३ ॥

प्रजापति ब्रह्माजी बोले—शिव ! मैं प्रजापर कुपित नहीं हूँ और न मेरी यही इच्छा है कि प्रजाओंका विनाश हो जाय। पृथ्वीका भार [illegible] करनेके लिये ही प्रजाके संहारकी [illegible] प्रतीत हुई है ॥ ३ ॥

इयं हि मां सदा देवी भारार्ता समचोदयत्।
संहारार्थं महादेव भारेणाप्सु निमज्जति ॥ ४ ॥

महादेव ! यह पृथ्वीदेवी भारी भारसे पीड़ित हो सदा मुझे प्रजाके संहारके लिये प्रेरित करती रही है; क्योंकि यह जगत्‌के भारसे समुद्रमें डूबी जा रही है ॥ ४ ॥

यदाहं नाधिगच्छामि बुद्ध्या बहु विचारयन्।
संहारमासां वृद्धानां ततो मां क्रोध आविशत् ॥ ५ ॥

जब बहुत विचार करनेपर भी मुझे इन बढ़ी हुई प्रजाओंके संहारका कोई उपाय न सूझा, तब मुझे क्रोध [illegible] गया ॥ ५ ॥

स्थाणुरुवाच

संहारार्थं प्रसीदस्व मा क्रुधो विबुधेश्वर।
मा प्रजाः स्थावरं चैव जङ्गमं च व्यनीनशत् ॥ ६ ॥

महादेवजीने कहा—देवेश्वर ! संहारके लिये आप क्रोध न करें। प्रजापर प्रसन्न हों। कहीं ऐसा न हो कि समस्त चराचर प्राणियोंका विनाश हो जाय ॥ ६ ॥

पल्वलानि च सर्वाणि सर्वं चैव तृणोपलम्।
स्थावरं जङ्गमं चैव भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥ [illegible] ॥
तदेतद् भस्मसाद्भूतं जगत् सर्वमुपप्लुतम्।
प्रसीद भगवन् साधो वर एष वृतो मया ॥ ८ ॥

ये सारे जलाशय, सब-के-सब [illegible] और लता-बेलें तथा चार प्रकारके प्राणिसमुदाय (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज, जरायुज) भस्मीभूत हो रहे हैं। सारे जगत्‌का प्रलय उपस्थित हो [illegible] है। भगवन् ! प्रसन्न होइये। साधो ! मैं आपसे यही वर माँगता हूँ ॥ ७-८ ॥

[illegible] न पुनरेष्यन्ति प्रजा ह्येताः कथंचन।
तस्मान्निवर्त्यतामेतत् तेन स्वेनैव तेजसा ॥ ९ ॥

यदि इन प्रजाओंका [illegible] हो गया तो ये किसी तरह फिर यहाँ उपस्थित न हो सकेंगी। इसलिये आप अपने ही प्रभावसे इस क्रोधाग्निको निवृत्त कीजिये ॥ ९ ॥

उपायमन्यं सम्पश्य भूतानां हितकाम्यया।
यथामी जन्तवः सर्वे न दह्येरन् पितामह ॥ १० ॥

पितामह ! आप सम्पूर्ण प्राणियोंके हितके लिये संहारका कोई दूसरा ही उपाय सोचिये, जिससे ये सारे जीव-जन्तु एक [illegible] ही दग्ध न हो जायँ ॥ १० ॥

अभावं हि न गच्छेयुरुच्छिन्नप्रजनाः प्रजाः।
अधिदैवे नियुक्तोऽस्मि त्वया लोकेश्वरेश्वर ॥ ११ ॥

लोकेश्वरेश्वर ! आपने मुझे देवताओंके आधिपत्य पदपर नियुक्त किया है, अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, यदि प्रजाकी संततिका उच्छेद होगा तो [illegible] प्रजाओंका सर्वथा [illegible] ही हो जायगा; अतः आप इस विनाशको [illegible] कीजिये ॥

त्वद्भवं हि जगन्नाथ जगत् स्थावरजङ्गमम्।
प्रसाद्य त्वां महादेव याचाम्यावृत्तिजाः प्रजाः ॥ १२ ॥

जगन्नाथ ! महादेव ! यह समस्त चराचर जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है; अतः मैं आपको प्रसन्न करके यह याचना करता हूँ कि ये सारी [illegible] पुनरावर्तनशील हों—मरकर पुनः [illegible] धारण करें ॥ १२ ॥

नारद उवाच

श्रुत्वा तु वचनं देवः स्थाणोर्नियतवाङ्मनाः।
तेजस्तत् संनिजग्राह पुनरेवान्तरात्मनि ॥ १३ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! महादेवजीकी यह बात सुनकर भगवान् ब्रह्माने मन और वाणीका संयम किया [illegible] [illegible] अग्निको पुनः अपनी अन्तरात्मामें ही लीन कर लिया ॥

ततोऽग्निमुपसंगृह्य भगवाँल्लोकपूजितः।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कल्पयामास वै प्रभुः ॥ १४ ॥

तब लोकपूजित भगवान् ब्रह्माने उस अग्निका उपसंहार करके प्रजाके लिये जन्म और मृत्युकी व्यवस्था की ॥ १४ ॥

उपसंहरतस्तस्य तमग्निं रोषजं तदा।
प्रादुर्बभूव विश्वेभ्यः खेभ्यो नारी महात्मनः ॥ १५ ॥

उस क्रोधाग्निका उपसंहार करते समय महात्मा ब्रह्माजीकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे एक मूर्तिमती नारी प्रकट हुई ॥ १५ ॥

कृष्णरक्ताम्बरधरा कृष्णनेत्रतलान्तरा।
दिव्यकुण्डलसम्पन्ना दिव्याभरणभूषिता ॥ १६ ॥

उसके वस्त्र काले और लाल थे। आँखोंके निम्न और आभ्यन्तर प्रदेश भी काले रंगके ही थे। वह दिव्य कुण्डलोंसे कान्तिमती तथा अलौकिक आभूषणोंसे विभूषित थी॥ १६॥

विनिःसृत्य वै खेभ्यो दक्षिणामाश्रिता दिशम्।
ददृशाते च तां कन्यां देवौ विश्वेश्वरावुभौ॥ १७॥

वह ब्रह्माजीके इन्द्रियच्छिद्रोंसे निकलकर दक्षिण दिशाकी ओर चल दी। उस समय उन दोनों जगदीश्वरों (ब्रह्मा और शिव) ने उस कन्याको देखा॥ १७॥

तामाहूय तदा देवो लोकानामादिरीश्वरः।
मृत्यो इति महीपाल जहि चेमाः प्रजा इति॥ १८॥

भूपाल! तब लोकोंके आदिकारण भगवान् ब्रह्माने उसे 'मृत्यु' कहकर पुकारा और निकट बुलाकर कहा—'तुम इन प्रजाओंका समय-समयपर विनाश करती रहो॥ १८॥

त्वं हि संहारबुद्ध्या मे चिन्तिता रुषितेन च।
तस्मात् संहर सर्वास्त्वं प्रजाः सजडपण्डिताः॥ १९॥

'मैंने प्रजाके संहारकी भावनासे रोषमें भरकर तुम्हारा चिन्तन किया था; इसलिये तुम मूढ़ और विद्वान् सम्पूर्ण प्रजाओंका संहार करो॥ १९॥

अविशेषेण चैव त्वं प्रजाः संहर कामिनि।
मम त्वं हि नियोगेन श्रेयः परमवाप्स्यसि॥ २०॥

'कामिनि! तुम मेरे आदेशसे सामान्यतः सर्वसाधारण प्रजाका संहार करो। इससे तुम्हें परम कल्याणकी प्राप्ति होगी'॥ २०॥

एवमुक्ता तु देवी मृत्युः कमलमालिनी।
प्रदध्यौ दुःखिता बाला साश्रुपातमतीव च॥ २१॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर कमलोंकी मालासे अलंकृत नवयौवना मृत्यु देवी नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई दुःखी हो बड़ी चिन्तामें पड़ गयी॥ २१॥

पाणिभ्यां चैव जग्राह तान्यश्रूणि जनेश्वरः।
मानवानां हितार्थाय ययाचे पुनरेव च॥ २२॥

तब जनेश्वर ब्रह्माजीने मानवोंके हितके लिये अपने दोनों हाथोंमें मृत्युके आँसू ले लिये। फिर मृत्युने उनसे इस प्रकार प्रार्थना की॥ २२॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादे सप्तपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २५७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिका संवादविषयक दो सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २५७॥

अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

मृत्युकी घोर तपस्या और प्रजापतिकी आज्ञासे उसका प्राणियोंके संहारका कार्य स्वीकार करना

नारद उवाच

विनीय दुःखमबला साऽऽत्मनैवायतेक्षणा।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा लतेवावर्जिता तदा॥ १॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वह विशाल नेत्रोंवाली अबला स्वयं ही उस दुःखको दूर हटाकर झुकायी हुई लताके समान विनम्र हो हाथ जोड़कर ब्रह्माजीसे बोली—॥

त्वया कथं नारी मादृशी वदतां वर।
रौद्रकर्माभिजायेत सर्वप्राणिभयङ्करी॥ २॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रजापते! (यदि मुझसे क्रूर कर्म ही कराना था तो) आपने मुझ-जैसी कोमलहृदया नारीको क्यों उत्पन्न किया? मुझ-जैसी स्त्री समस्त प्राणियोंके लिये भयकर क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाली हो सकती है?॥ २॥

बिभेम्यहमधर्मस्य धर्म्यमादिश कर्म मे।
त्वं मां भीतामवेक्षस्व शिवेनेक्षस्व चक्षुषा॥ ३॥

'भगवन्! मैं अधर्मसे बहुत डरती हूँ। आप मुझे धर्मानुकूल कार्य करनेकी आज्ञा दें। मुझ भयभीत अबलापर दृष्टिपात करें और कल्याणमयी दृष्टिसे मेरी ओर देखें॥ ३॥

वृद्धान् वयस्यांश्च न हरेयमनागसः।
प्राणिनः प्राणिनामीश नमस्तेऽस्तु प्रसीद मे॥ ४॥

'समस्त प्राणियोंके अधीश्वर! मैं निरपराध बालक, वृद्ध और तरुण प्राणियोंके प्राण नहीं लूँगी। आपको नमस्कार है, आप मुझपर प्रसन्न हों॥ ४॥

प्रियान् पुत्रान् वयस्यांश्च भ्रातॄन् मातॄः पितॄनपि।
अपध्यास्यन्ति यद्येवं मृतास्तेषां बिभेम्यहम्॥ ५॥

'जब मैं लोगोंके प्यारे पुत्रों, मित्रों, भाइयों, माताओं तथा पिताओंको मारने लगूँगी, तब उनके सम्बन्धी उनके इस प्रकार मारे जानेके कारण मेरा अनिष्ट-चिन्तन करेंगे; अतः मैं उन लोगोंसे बहुत डरती हूँ॥ ५॥

कृपणाश्रुपरिक्लेदो दहेन्मां शाश्वतीः समाः।
तेभ्योऽहं बलवद् भीता शरणं त्वामुपागता॥ ६॥

'उन दीन-दुखियोंके नेत्रोंसे जो आँसू बहकर उनके अंगों और वक्षःस्थलको भिगो देगा, वह मुझे सदा अनन्त वर्षोंतक जलाता रहेगा। मैं उनसे बहुत डरी हुई हूँ, इसलिये आपकी शरणमें आयी हूँ॥ ६॥

यमस्य भवने देव पात्यन्ते पापकर्मिणः।
प्रसादये त्वां वरद प्रसादं कुरु मे प्रभो॥ ७॥

'वरदायक प्रभो! देव! सुना है कि पापाचारी प्राणी यमराजके लोकमें गिराये जाते हैं, अतः आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करती हूँ, आप मुझपर कृपा कीजिये॥ ७॥

एतदिच्छाम्यहं कामं त्वत्तो लोकपितामह।
इच्छेयं त्वत्प्रसादार्थं तपस्तप्तुं महेश्वर॥ ८॥

'लोकपितामह! महेश्वर! मैं आपसे अपनी इस अभिलाषाकी पूर्ति चाहती हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं आपकी प्रसन्नताके लिये कहीं जाकर तप करूँ'॥ ८॥

पितामह उवाच

मृत्यो संकल्पिता मे त्वं प्रजासंहारहेतुना ।
गच्छ संहर सर्वास्त्वं प्रजा मा च विचारय ॥ ९ ॥

ब्रह्माजीने कहा—मृत्यो ! प्रजाके संहारके लिये ही मैंने संकल्पपूर्वक तुम्हारी सृष्टि की है। जाओ, सारी प्रजाका संहार करो। इसके लिये मनमें कोई विचार न करो ॥ ९ ॥

एतदेवमवश्यं हि भविता नैतदन्यथा ।
क्रियतामनवद्याङ्गि यथोक्तं मद्वचोऽनघे ॥ १० ॥

यह बात अवश्य ही इसी प्रकार होनेवाली है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। निर्दोष अङ्गोंवाली देवि ! मैंने जो बात कही है, उसका पालन करो। इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा ॥ १० ॥

एवमुक्ता महाबाहो मृत्युः परपुरंजय ।
न व्याजहार तस्थौ च प्रह्वा भगवदुन्मुखी ॥ ११ ॥

महाबाहो ! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले नरेश ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर मृत्यु उन्हींकी ओर मुँह करके हाथ जोड़े खड़ी रह गयी—कुछ बोल न सकी ॥ ११ ॥

पुनः पुनरथोक्ता सा गतसत्त्वेव भामिनी ।
तूष्णीमासीत् ततो देवो देवानामीश्वरेश्वरः ॥ १२ ॥
प्रससाद किल ब्रह्मा स्वयमेवात्मनाऽऽत्मनि ।
स्मयमानश्च लोकेशो लोकान् सर्वानवैक्षत ॥ १३ ॥

उनके बार-बार कहनेपर वह मानिनी नारी निष्प्राण-सी होकर मौन रह गयी। 'हाँ' या 'ना' कुछ भी न बोल सकी। तदनन्तर देवताओंके भी देवता और ईश्वरोंके भी ईश्वर लोकनाथ ब्रह्माजी स्वयं ही अपने मनमें बड़े प्रसन्न हुए और मुसकराते हुए समस्त लोकोंकी ओर देखने लगे ॥ १२-१३ ॥

निवृत्तरोषे तस्मिंस्तु भगवत्यपराजिते ।
सा कन्यापि जगामास्य समीपादिति नः श्रुतम् ॥ १४ ॥

उन अपराजित भगवान् ब्रह्माका रोष निवृत्त हो जानेपर वह कन्या भी उनके निकटसे चली गयी, ऐसा हमने सुना है ॥ १४ ॥

अपसृत्याप्रतिश्रुत्य प्रजासंहरणं तदा ।
त्वरमाणेव राजेन्द्र मृत्युर्धेनुकमभ्यगात् ॥ १५ ॥

राजेन्द्र ! उस समय प्रजाका संहार करनेके विषयमें कोई प्रतिज्ञा न करके मृत्यु वहाँसे हट गयी और बड़ी उतावलीके साथ धेनुकाश्रममें जा पहुँची ॥ १५ ॥

सा तत्र परमं देवी तपोऽचरद् दुश्चरम् ।
समा ह्येकपदे तस्थौ दश पद्मानि पञ्च च ॥ १६ ॥

वहाँ मृत्युदेवीने अत्यन्त दुष्कर और उत्तम तपस्या की। वह पंद्रह पद्म वर्षोंतक एक पैरपर खड़ी रही ॥ १६ ॥

तां तथा कुर्वतीं तत्र तपः परमदुश्चरम् ।
पुनरेव महातेजा ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

इस प्रकार वहाँ अत्यन्त दुष्कर तपस्या करती हुई मृत्युसे महातेजस्वी ब्रह्माजीने पुनः जाकर इस प्रकार कहा— ॥ १७ ॥

कुरुष्व मे वचो मृत्यो तदनादृत्य सत्वरा ।
तथैवैकपदे तात पुनरन्यानि सप्त सा ॥ १८ ॥
तस्थौ पद्मानि षट् चैव पञ्च द्वे चैव मानद ।

'मृत्यो ! तुम मेरी आज्ञाका पालन करो।' दूसरोंको मान देनेवाले तात ! उनके इस कथनका आदर न करके मृत्युने तुरंत ही दूसरे बीस पद्म वर्षोंतक पुनः एक पैरपर खड़ी हो तपस्या आरम्भ कर दी ॥ १८½ ॥

भूयः पद्मायुतं तात मृगैः सह चचार सा ॥ १९ ॥
द्वे चायुते नरश्रेष्ठ वाय्वाहारा महामते ।

तात ! महामते ! नरश्रेष्ठ ! फिर वह दस हजार पद्म वर्षोंतक मृगोंके साथ विचरती रही। इसके बाद बीस हजार वर्षोंतक उसने केवल वायुका आहार किया ॥ १९½ ॥

पुनरेव ततो राजन् मौनमातिष्ठदुत्तमम् ॥ २० ॥
अप्सु वर्षसहस्राणि सप्त चैकं च पार्थिव ।

राजन् ! तदनन्तर उसने उत्तम मौन-व्रत धारण कर लिया। पृथ्वीपते ! फिर उसने जलमें आठ हजार वर्षोंतक रहकर तपस्या की ॥

ततो जगाम सा कन्या कौशिकीं नृपसत्तम ॥ २१ ॥
तत्र वायुजलाहारा चचार नियमं पुनः ।

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर वह कन्या कौशिकी नदीके तटपर गयी। वहाँ वायु और जलका आहार करके उसने पुनः कठोर नियमोंका पालन किया ॥ २१½ ॥

ततो ययौ महाभागा गङ्गां मेरुं च केवलम् ॥ २२ ॥
तस्थौ दार्विव निश्चेष्टा प्रजानां हितकाम्यया ।

तत्पश्चात् वह महाभागा ब्रह्मकन्या गङ्गाजीके किनारे और केवल मेरुपर्वतपर गयी। वहाँ प्रजावर्गके हितकी इच्छासे वह काठकी भाँति निश्चेष्ट खड़ी रही ॥ २२½ ॥

ततो हिमवतो मूर्ध्नि यत्र देवाः समीजिरे ॥ २३ ॥
तत्राङ्गुष्ठेन राजेन्द्र निखर्वमपरं ततः ।
तस्थौ पितामहं चैव तोषयामास यत्नतः ॥ २४ ॥

राजेन्द्र ! तदनन्तर हिमालय पर्वतके शिखरपर जहाँ पहले देवताओंने यज्ञ किया था, उस स्थानपर वह परम सुन्दरी कन्या एक निखर्व वर्षोंतक अँगूठेके बलपर खड़ी रही। इस प्रकार यत्न करके उसने पितामह ब्रह्माजीको संतुष्ट कर लिया॥

ततस्तामब्रवीत् तत्र लोकानां प्रभवाप्ययः ।
किमिदं वर्तसे पुत्रि क्रियतां मम तद् वचः ॥ २५ ॥

तब सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलयके कारणभूत ब्रह्माजी वहाँ उस कन्यासे बोले—'बेटी ! तुम यह क्या करती हो ? मेरी आज्ञाका पालन करो' ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीत् पुनर्मृत्युर्भगवन्तं पितामहम् ।
न हरेयं प्रजा देव पुनश्चाहं प्रसादये ॥ २६ ॥

तब मृत्युने पुनः भगवान् पितामहसे कहा—'देव ! मैं प्रजाका संहार नहीं कर सकती। इसके लिये पुनः आपका कृपाप्रसाद चाहती हूँ' ॥ २६ ॥

तामधर्मभयाद् भीतां पुनरेव प्रयाचतीम् ।
तदाब्रवीद् देवदेवो निगृह्येदं वचस्ततः ॥ २७ ॥

अधर्मके भयसे डरकर पुनः कृपाकी भीख माँगती हुई मृत्युको रोककर देवाधिदेव ब्रह्माने उससे यह बात कही—॥

अधर्मो नास्ति ते मृत्यो संयच्छेमाः प्रजाः शुभे।
मया ह्युक्तं मृषा भद्रे भविता नेह किंचन ॥ २८ ॥

'मृत्यो! तुम इन प्रजाओंका संहार करो। शुभे! इससे तुम्हें पाप नहीं लगेगा। भद्रे! मेरी कही हुई कोई भी बात यहाँ झूठी नहीं हो सकती ॥ २८ ॥

धर्मः सनातनश्च त्वामिहैवानुप्रवेक्ष्यति।
अहं च विबुधाश्चैव त्वद्धिते निरताः सदा ॥ २९ ॥

'सनातन धर्म यहीं तुम्हारे भीतर प्रवेश करेगा। मैं तथा ये सम्पूर्ण देवता सदा तुम्हारे हितमें लगे रहेंगे ॥

इममन्यं च ते कामं ददानि मनसेप्सितम्।
न त्वां दोषेण यास्यन्ति व्याधिसम्पीडिताः प्रजाः॥ ३०॥
पुरुषेषु स्वरूपेण पुरुषस्त्वं भविष्यसि।
स्त्रीषु स्त्रीरूपिणी चैव तृतीयेषु नपुंसकम् ॥ ३१ ॥

'मैं तुम्हें यह दूसरा भी मनोवाञ्छित वर दे रहा हूँ कि रोगोंसे पीड़ित हुई [illegible] तुम्हारे प्रति दोष दृष्टि नहीं करेगी। तुम पुरुषोंमें पुरुषरूपसे रहोगी, स्त्रियोंमें स्त्रीरूप धारण कर लोगी और नपुंसकोंमें नपुंसक हो जाओगी' ॥ ३०-३१ ॥

सैवमुक्ता महाराज कृताञ्जलिरुवाच ह।
पुनरेव महात्मानं नेति देवेशमव्ययम् ॥ ३२ ॥

महाराज! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर मृत्यु हाथ जोड़कर उन अविनाशी महात्मा देवेश्वर ब्रह्मासे पुनः इस [illegible] बोली—'प्रभो! मैं प्राणियोंका संहार नहीं करूँगी' ॥ ३२ ॥

तामब्रवीत् तदा देवो मृत्यो संहर मानवान्।
अधर्मस्ते न भविता [illegible] ध्यास्याम्यहं शुभे ॥ ३३ ॥

तब ब्रह्माजीने उससे कहा—'मृत्यो! तुम मनुष्योंका संहार करो, तुम्हें पाप नहीं लगेगा। शुभे! मैं तुम्हारे लिये शुभ-चिन्तन करता रहूँगा ॥ ३३ ॥

यानश्रुबिन्दून् पतितानपश्यं
ये पाणिभ्यां धारितास्ते पुरस्तात्।
ते व्याधयो मानवान् घोररूपाः
प्राप्ते काले कालयिष्यन्ति मृत्यो ॥ ३४ ॥

'मृत्यो! मैंने पहले तुम्हारे जिन अश्रुबिन्दुओंको गिरते देखा और जिन्हें अपने हाथोंमें धारण कर लिया था, वे ही [illegible] आनेपर भयंकर रोग बनकर मनुष्योंको कालके गालमें डाल देंगे ॥ ३४ ॥

सर्वेषां त्वं प्राणिनामन्तकाले
कामक्रोधौ सहितौ योजयेथाः।
एवं धर्मस्त्वामुपैष्यत्यमेयो
न चाधर्मं लप्स्यसे तुल्यवृत्तिः ॥ ३५ ॥

'सभी प्राणियोंके अन्तकालमें तुम काम और क्रोधको एक साथ नियुक्त कर देना। इस प्रकार तुम्हें अप्रमेय धर्मकी प्राप्ति होगी और तुम्हें पाप नहीं लगेगा; क्योंकि तुम्हारी चित्तवृत्ति सम (राग द्वेषसे शून्य) है ॥ ३५ ॥

एवं धर्मं पालयिष्यस्यथो त्वं
न चात्मानं मज्जयिष्यस्यधर्मे।
तस्मात् कामं रोचयाभ्यागतं त्वं
संयोज्याथो संहरस्वेह जन्तून् ॥ ३६ ॥

'इस प्रकार तुम धर्मका पालन करोगी और अपने आपको पापमें नहीं डुबाओगी; अतः अपनेको प्राप्त होनेवाले इस अधिकारको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करो और कामको इस कार्यमें लगाकर इस जगत्‌के प्राणियोंका संहार करो' ॥ ३६ ॥

सा वै तदा मृत्युसंज्ञापदेशा
भीता शापाद् बाढमित्यब्रवीत् तम्।
अथो प्राणान् प्राणिनामन्तकाले
कामक्रोधौ प्राप्य निर्मोह्य हन्ति ॥ ३७ ॥

तब वह मृत्यु नामवाली नारी शापसे डरकर ब्रह्माजीसे बोली—'बहुत अच्छा, आपकी आज्ञा स्वीकार है।' वही मृत्यु प्राणियोंका अन्तकाल आनेपर काम और क्रोधसे प्रेरित करके उनके द्वारा उन्हें मोहमें डालकर मार डालती है ॥

मृत्योर्ये ते व्याधयश्चाश्रुपाता
मनुष्याणां रुज्यते यैः शरीरम्।
सर्वेषां वै प्राणिनां प्राणनान्ते
तस्माच्छोकं मा कृथा बुद्ध्य बुद्ध्या ॥

पहले मृत्युके जो अश्रुबिन्दु गिरे थे, वे ही ज्वर आदि रोग हो गये; जिनके द्वारा मनुष्योंका शरीर रुग्ण हो [illegible] है। वह मृत्यु सभी प्राणियोंकी आयु समाप्त होनेपर उनके पास आती है। अतः राजन्! तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो। इस विषयको बुद्धिके द्वारा समझो ॥

सर्वे देवाः प्राणिनां प्राणनान्ते
गत्वा वृत्ताः संनिवृत्तास्तथैव।
एवं सर्वे मानवाः प्राणनान्ते
गत्वा वृत्ता देववद् राजसिंह ॥ ३९ ॥

राजसिंह! जैसे इन्द्रियाँ जाग्रत्-अवस्थाके अन्तमें सुषुप्तिके समय निष्क्रिय होकर विलीन हो जाती हैं और जाग्रत्-अवस्था आनेपर पुनः लौट आती हैं, उसी प्रकार सारे प्राणी ही जीवनके अन्तमें परलोकमें जाकर कर्मोंके अनुसार देवताओंके तुल्य अथवा नरकगामी होते हैं और कर्मोंके क्षीण होनेपर इस जगत्‌में लौटकर पुनः मनुष्य आदि योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं ॥ ३९ ॥

वायुर्भीमो भीमनादो महौजाः
स सर्वेषां प्राणिनां प्राणभृत्तः।
नानावृत्तिर्देहिनां देहभेदे
तस्माद् वायुर्देवदेवो विशिष्टः ॥ ४० ॥

भयंकर शब्द करनेवाला महान् बलशाली भयानक प्राणवायु ही समस्त प्राणियोंका प्राणस्वरूप है। वही देह

धारियोंके देहका नाश होनेपर नाना प्रकारके रूपों या शरीरोंको प्राप्त होता है। [illegible]ः इस शरीरके भीतर देवाधिदेव वायु (प्राण) ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ४० ॥

सर्वे देवा मर्त्यसंज्ञाविशिष्टाः
सर्वे मर्त्या देवसंज्ञाविशिष्टाः ।
तस्मात् पुत्रं मा शुचो राजसिंह
पुत्रः स्वर्गं प्राप्य ते मोदते ह ॥ ४१ ॥

सभी देवता पुण्य क्षय होनेपर इस लोकमें आकर मरण-धर्मा नामसे विभूषित होते हैं और सभी मरणधर्मा मनुष्य पुण्यके प्रभावसे मृत्युके पश्चात् देवसंज्ञासे संयुक्त होते हैं। [illegible] राजसिंह ! तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो। तुम्हारा पुत्र स्वर्गलोकमें जाकर आनन्द भोग रहा है ॥ ४१ ॥

एवं मृत्युर्देवसृष्टा प्रजानां
प्राप्ते काले संहरन्ती यथावत् ।
तस्याश्चैव व्याधयस्तेऽश्रुपाताः
प्राप्ते काले संहरन्तीह जन्तून् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार ब्रह्माजीने ही प्राणियोंकी मृत्यु रची है। वह मृत्यु ठीक समय आनेपर यथावत् रूपसे जीवोंका संहार करती है। उसके जो अश्रुपात हैं, वे ही मृत्युकाल प्राप्त होनेपर रोग बनकर इस जगत्के प्राणियोंका संहार करते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मृत्युप्रजापतिसंवादे अष्टपञ्चाशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२५८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें मृत्यु और प्रजापतिका संवादविषयक दो सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्माधर्मके स्वरूपका निर्णय

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै मानवाः सर्वे धर्मं प्रति विशङ्किताः ।
कोऽयं धर्मः कुतो धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! ये सभी मनुष्य [illegible] धर्मके विषयमें संशयशील हैं, अतः [illegible] जानना चाहता [illegible] कि धर्म क्या है ? और उसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई है ? यह मुझे बताइये ॥ [illegible] ॥

धर्मस्त्वयमिहार्थः किममुत्रार्थोऽपि वा भवेत् ।
उभयार्थो हि वा धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! इस लोकमें सुख पानेके लिये जो कर्म किया [illegible] है, वही धर्म है या परलोकमें कल्याणके लिये जो कुछ किया [illegible] है, उसे धर्म कहते हैं ? अथवा लोक-परलोक दोनोंके सुधारके लिये [illegible] किया जानेवाला कर्म [illegible] धर्म कहलाता है ? यह मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वेद, स्मृति और सदाचार—ये तीन धर्मके स्वरूपको लक्षित करानेवाले हैं। कुछ विद्वान् अर्थको भी धर्मका चौथा लक्षण बताते हैं ॥

अपि ह्युक्तानि धर्म्याणि व्यवस्यन्त्युत्तरावरे ।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ॥ [illegible] ॥

शास्त्रोंमें जो धर्मानुकूल कार्य बताये गये हैं, उन्हें ही प्रधान एवं अप्रधान सभी लोग निश्चित रूपसे धर्म मानते हैं। लोकयात्राका निर्वाह करनेके लिये ही महर्षियोंने यहाँ धर्मकी मर्यादा स्थापित की है ॥ ४ ॥

[illegible] सुखोदर्क इह चैव परत्र च ।
[illegible] निपुणं धर्मं पापः पापेन युज्यते ॥ ५ ॥

धर्मका पालन करनेसे आगे चलकर इस लोक और परलोकमें भी सुख मिलता है। पापी मनुष्य विचारपूर्वक धर्मका आश्रय न लेनेसे पापमें प्रवृत्त हो उसके दुःखरूप [illegible] भागी होता है ॥ ५ ॥

न च पापकृतः पापान्मुच्यन्ते केचिदापदि ।
अपापवादी भवति [illegible] भवति धर्मकृत् ।
धर्मस्य निष्ठा त्वाचारस्तमेवाश्रित्य भोत्स्यसे ॥ ६ ॥

पापाचारी मनुष्य आपत्तिकालमें कष्ट भोगकर भी उस पापसे मुक्त नहीं होते और धर्मका आचरण करनेवाले लोग आपत्तिकालमें भी पापका समर्थन नहीं करते हैं। आचार (शौचाचार सदाचार) ही धर्मका आधार है; अतः युधिष्ठिर ! तुम उस आचारका आश्रय लेकर ही धर्मके यथार्थ स्वरूपको जान सकोगे ॥ ६ ॥

[illegible] धर्मसमाविष्टो धनं गृह्णाति तस्करः ।
रमते निर्हरन् स्तेनः परवित्तमराजके ॥ [illegible] ॥

जैसे चोर धर्मकार्यमें प्रवृत्त होकर भी दूसरोंके धनका अपहरण कर ही लेता है और अराजक-अवस्थामें पराये धनका अपहरण करनेवाला लुटेरा सुखका अनुभव करता है ॥

यदास्य तद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ।
तदा तेषां स्पृहयते ये वै तुष्टाः स्वकैर्धनैः ॥ ८ ॥

परंतु जब दूसरे लोग उस चोरका भी धन हर लेते हैं, [illegible] वह चोर भी प्रजाकी रक्षा करने और चोरोंको दण्ड देनेवाले राजाको चाहता है—उसकी आवश्यकताका अनुभव

करता है। उस अवस्थामें वह उन पुरुषोंके समान बननेकी इच्छा करता है, जो अपने ही धनसे संतुष्ट रहते हैं—दूसरोंके धनपर हाथ लगाना पाप समझते हैं ॥ ८ ॥

अभीतः शुचिरभ्येति राजद्वारमशङ्कितः।
न हि दुश्चरितं किंचिदन्तरात्मनि पश्यति ॥ ९ ॥

जो पवित्र है—जिसमें चोरी आदिके दोष नहीं हैं, वह मनुष्य निर्भय और निःशङ्क होकर राजाके द्वारपर चला जाता है; क्योंकि वह अपनी अन्तरात्मामें कोई दुराचार नहीं देखता है॥९॥

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

सत्य बोलना शुभ कर्म है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई कार्य नहीं है। सत्यने ही सबको धारण कर रक्खा है और सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

अपि पापकृतो रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक्।
अद्रोहमविसंवादं प्रवर्तन्ते तदाश्रयाः ॥ ११ ॥

क्रूर स्वभाववाले पापी भी पृथक्-पृथक् सत्यकी शपथ खाकर ही आपसमें द्रोह [illegible] विवादसे बचे रहते हैं। इतना ही नहीं, वे सत्यका आश्रय लेकर सत्यकी ही दुहाई देकर अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ११ ॥

ते चेन्मिथोऽधृतिं कुर्युर्विनश्येयुरसंशयम्।
न हर्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः ॥ १२ ॥

वे यदि आपसकी शपथको भंग कर दे तो निस्संदेह परस्पर लड़-भिड़कर नष्ट हो जायँ। दूसरोंके धनका अपहरण नहीं करना चाहिये—यही सनातन धर्म है ॥ १२ ॥

मन्यन्ते बलवन्तस्तं दुर्बलैः सम्प्रवर्तितम्।
यदा नियतिदौर्बल्यमथैषामेव रोचते ॥ १३ ॥

कुछ बलवान् लोग (बलके घमंडमें नास्तिकभावका आश्रय लेकर) धर्मको दुर्बलोंका चलाया हुआ मानते हैं; किंतु [illegible] भाग्यवश वे भी दुर्बल हो जाते हैं, तब अपनी रक्षाके लिये उन्हें भी धर्मका ही सहारा लेना अच्छा जान पड़ता है ॥ १३ ॥

न ह्यत्यन्तं बलवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि वा।
तस्मादनार्जवे बुद्धिर्न कार्या ते कदाचन ॥ १४ ॥

संसारमें कोई भी न तो अत्यन्त बलवान् होते हैं और न बहुत सुखी ही। इसलिये तुम्हें अपनी बुद्धिमें कभी कुटिलताका विचार नहीं लाना चाहिये ॥ १४ ॥

असाधुभ्योऽस्य न भयं न चौरेभ्यो न राजतः।
अकिंचित् कस्यचित् कुर्वन् निर्भयः शुचिरावसेत् ॥ १५ ॥

जो किसीका कुछ बिगाड़ता नहीं है, उसे दुष्टों, चोरों अथवा राजासे भय नहीं होता। शुद्ध आचार-विचारवाला पुरुष सदा निर्भय रहता है ॥ १५ ॥

सर्वतः शङ्कते स्तेनो मृगो ग्राममिवेयिवान्।
बहुधाऽऽचरितं पापमन्यत्रैवानुपश्यति ॥ १६ ॥

गाँवोंमें आये हुए हिरणकी भाँति चोर सबसे डरता रहता है। वह अनेकों बार दूसरोंके साथ जैसा पापाचार कर चुका है, दूसरोंको भी वैसा ही पापाचारी समझता है ॥ १६ ॥

मुदितः शुचिरभ्येति सर्वतो निर्भयः सदा।
न हि दुश्चरितं किंचिदात्मनोऽन्येषु पश्यति ॥ १७ ॥

जिसका आचार विचार शुद्ध है, उसे कहींसे कोई खटका नहीं होता। वह सदा प्रसन्न एवं सब ओरसे निर्भय बना रहता है तथा वह अपना कोई दुष्कर्म दूसरोंमें नहीं देखता॥ १७ ॥

दातव्यमित्ययं धर्म उक्तो भूतहिते रतैः।
तं मन्यन्ते धनयुताः कृपणैः सम्प्रवर्तितम् ॥ १८ ॥

समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले महात्माओंने 'दान करना चाहिये' ऐसा कहकर इसे धर्म बताया है; परंतु बहुत-से धनवान् उसे दरिद्रोंका चलाया हुआ धर्म समझते हैं ॥ १८ ॥

यदा नियतिकार्पण्यमथैषामेव रोचते।
न ह्यत्यन्तं धनवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि [illegible] ॥ १९ ॥

परंतु यदि भाग्यवश वे भी निर्धन या दर-दरके भिखारी हो जाते हैं, [illegible] समय उनको भी यह धर्म उत्तम जान पड़ता है; क्योंकि कोई भी न तो अत्यन्त धनवान् होते हैं और न अतिशय सुखी ही हुआ करते हैं (अतः धनका अभिमान नहीं करना चाहिये) ॥ १९ ॥

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ २० ॥

मनुष्य दूसरोंद्वारा किये हुए जिस व्यवहारको अपने लिये वाञ्छनीय नहीं मानता, दूसरोंके प्रति भी वह वैसा बर्ताव न करे। उसे यह जानना चाहिये कि जो बर्ताव अपने लिये अप्रिय है, वह दूसरोंके लिये भी प्रिय नहीं हो सकता ॥ २० ॥

योऽन्यस्य स्यादुपपतिः स कं किं वक्तुमर्हति।
यदन्यस्य ततः कुर्यान्न मृष्येदिति मे मतिः ॥ २१ ॥

जो स्वयं दूसरेके घरमें उपपति (जार) बनकर [illegible] है—परायी स्त्रीके साथ व्यभिचार करता है, वह दूसरेको वैसा ही कर्म करते देख किससे क्या कह सकता है? यदि दूसरोंको उसी प्रवृत्तिके कारण वह निन्दा करे तो वह पुरुष उनकी निन्दाको नहीं सह सकता—ऐसा मेरा विश्वास है ॥ २१ ॥

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद् यदात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत् ॥ २२ ॥

जो स्वयं जीवित रहना चाहता हो, वह दूसरोंके प्राण कैसे ले सकता है? मनुष्य अपने लिये जो-जो सुख-सुविधा

चाहे, वही दूसरेके लिये भी सुलभ करानेकी बात सोचे ॥

अतिरिक्तैः संविभजेद् भोगैरन्यानकिंचनान्।
एतस्मात् कारणाद् धात्रा कुसीदं सम्प्रवर्तितम्॥ २३ ॥

जो अपनी आवश्यकतासे अधिक हो, उन भोगपदार्थोंको दूसरे दीन दुखियोंके लिये बाँट दे। इसीलिये विधाताने सूदपर धन देनेकी वृत्ति चलायी है ॥ २३ ॥

यस्मिंस्तु देवाः समये संतिष्ठेरंस्तथा भवेत्।
अथवा लाभसमये स्थितिर्धर्मेऽपि शोभना ॥ २४ ॥

जिस सन्मार्ग या मर्यादापर देवता स्थित होते हैं, उसीपर मनुष्यको भी स्थिर रहना चाहिये अथवा धन-लाभके समय धर्ममें स्थित रहना भी अच्छा है ॥ २४ ॥

सर्वं प्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः।
पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर! सबके साथ प्रेमपूर्ण बर्ताव करनेसे जो कुछ होता है, वह सब धर्म है, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है और जो इसके विपरीत है, वह अधर्म है। तुम धर्म और अधर्मका संक्षेपसे यही लक्षण समझो ॥ २५ ॥

लोकसंग्रहसंयुक्तं विधात्रा विहितं पुरा।
सूक्ष्मधर्मार्थनियतं सतां चरितमुत्तमम् ॥ २६ ॥

विधाताने पूर्वकालमें सत्पुरुषोंके जिस उत्तम आचरणका विधान किया है, वह विश्वके कल्याणकी भावनासे युक्त है और उससे धर्म एवं अर्थके सूक्ष्म स्वरूपका ज्ञान होता है ॥

धर्मलक्षणमाख्यातमेतत् ते कुरुसत्तम।
तस्मादनार्जवे बुद्धिर्न ते कार्या कथंचन ॥ २७ ॥

कुरुश्रेष्ठ! यह मैंने तुमसे धर्मका लक्षण बताया है; अतः तुम्हें किसी तरह कुटिल मार्गमें अपनी बुद्धिको नहीं ले जाना चाहिये ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्मलक्षणे एकोनषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्मका लक्षणविषयक दो सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५९ ॥

षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धर्मकी प्रामाणिकतापर संदेह उपस्थित करना

युधिष्ठिर उवाच

सूक्ष्मं साधु समादिष्टं भवता धर्मलक्षणम्।
प्रतिभा त्वस्ति मे काचित् तां ब्रूयामनुमानतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! आपने धर्मका सूक्ष्म एवं सुन्दर लक्षण बताया है; परंतु मुझे कुछ और ही स्फुरित हो रहा है। अतः मैं उसके सम्बन्धमें अनुमानसे ही कुछ कहूँगा ॥ १ ॥

भूयांसो हृदये ये मे प्रश्नास्ते व्याहृतास्त्वया।
इमं त्वन्यत् प्रवक्ष्यामि न राजन् विग्रहादिव ॥ २ ॥

मेरे हृदयमें जो बहुत-से प्रश्न उठे थे, उन सबका निराकरण आपने कर दिया। महाराज! अब मैं यह दूसरा प्रश्न उपस्थित कर रहा हूँ। इसमें जिज्ञासा ही कारण है, दुराग्रह नहीं ॥ २ ॥

इमानि हि प्राणयन्ति सृजन्त्युत्तारयन्ति च।
न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेदितुम् ॥ ३ ॥

भरतनन्दन! धर्म ही इन प्राणियोंकी सृष्टि करते हैं। धर्म ही उनके जीवनधारण और उद्धारमें कारण होते हैं; परंतु धर्मको केवल वेदोंके पाठमात्रसे नहीं जाना जा सकता॥

अन्यो धर्मः समस्थस्य विषमस्थस्य चापरः।
आपदस्तु कथं शक्याः परिपाठेन वेदितुम् ॥ ४ ॥

जो मनुष्य अच्छी स्थितिमें है, उसका धर्म दूसरा है और जो संकटमें पड़ा हुआ है, उसका धर्म दूसरा ही है। केवल वेदोंके पाठसे आपद्धर्मका ज्ञान कैसे हो सकता है?॥४॥

सदाचारो मतो धर्मः सन्तस्त्वाचारलक्षणाः।
साध्यासाध्यं कथं शक्यं सदाचारो ह्यलक्षणः ॥ ५ ॥

आपके कथनानुसार सत्पुरुषोंका आचरण धर्म माना गया है और जिनमें धर्माचरण लक्षित होता है, वे ही सत्पुरुष हैं। ऐसी दशामें अन्योन्याश्रय दोष पड़नेके कारण साध्य और असाध्यका विवेक कैसे हो सकता है? ऐसी दशामें सदाचार धर्मका लक्षण नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

दृश्यते हि धर्मरूपेणाधर्मं प्राकृतश्चरन्।
धर्मं चाधर्मरूपेण कश्चिदप्राकृतश्चरन् ॥ ६ ॥

इस लोकमें देखा जाता है कि कितने ही प्राकृत मनुष्य धर्म-से दिखायी देनेवाले अधर्मका आचरण करते हैं और कितने ही अप्राकृत (शिष्ट) पुरुष अधर्म प्रतीत होनेवाले धर्मका अनुष्ठान करते हैं (अतः केवल आचारसे धर्माधर्मका निर्णय नहीं हो सकता) ॥ ६ ॥

पुनरस्य प्रमाणं हि निर्दिष्टं शास्त्रकोविदैः।
वेदवादाश्चानुयुगं ह्रसन्तीतीह नः श्रुतम् ॥ ७ ॥

शास्त्रज्ञ पुरुषोंने धर्ममें वेदको ही प्रमाण बताया है; किंतु हमने सुना है कि युग-युगमें वेदोंका ह्रास होता है अर्थात् धर्मके सम्बन्धमें जो वेदोंका निश्चय है, वह प्रत्येक युगमें बदलता रहता है ॥ ७ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे धर्मा यथाशक्ति कृता इव ॥ ८ ॥

सत्ययुगके धर्म कुछ और हैं, त्रेता और द्वापरके धर्म

कुछ और ही हैं और कलियुगके धर्म कुछ और ही बताये गये हैं। मानो मुनियोंने लोगोंकी शक्तिके अनुसार ही धर्मकी व्यवस्था की है ॥ ८ ॥

आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोकसंग्रहः।
आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतोमुखाः ॥ ९ ॥

वेदोंका वचन सत्य है, यह कथन लोकरञ्जनमात्र है। वेदोंसे ही सर्वतोमुखी स्मृतियोंका प्रचार और प्रसार हुआ है॥

ते चेत् सर्वप्रमाणं वै प्रमाणं [illegible] विद्यते।
प्रमाणेऽप्यप्रमाणेन विरुद्धे शास्त्रता कुतः ॥ १० ॥

यदि सम्पूर्ण वेद प्रामाणिक हैं तो स्मृतियाँ भी प्रामाणिक हो सकती हैं; परंतु जब (युग-युगमें धर्मके विषयमें विभिन्न प्रकारकी बात कहनेसे) प्रमाणभूत वेद भी अप्रामाणिक हो तो वेदमूलक स्मृतियाँ भी प्रामाणिक नहीं रहेंगी। यदि स्मृतिका श्रुतिके साथ विरोध हो, तो उसमें शास्त्रत्व कैसे रह सकता है ? ॥ १० ॥

धर्मस्य क्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः।
या या विक्रियते संस्था ततः सापि प्रणश्यति ॥ ११ ॥

जब धर्मका अनुष्ठान हो रहा हो, उस समय बलवान् दुरात्माओंद्वारा उसमें जो-जो विकृति उत्पन्न की जाती है, उसके कारण उस धर्ममर्यादाका ही लोप हो जाता है ॥११॥

विद्म चैवं न वा विद्म शक्यं वा वेदितुं न वा।
अणीयान् क्षुरधाराया गरीयानपि पर्वतात् ॥ १२ ॥

हम धर्मको जानते हों या न जानते हों, धर्मस्वरूप जाना जा सकता हो या नहीं; इतना तो हम समझते ही हैं कि धर्म छूरेकी धारसे भी सूक्ष्म और पर्वतसे भी अधिक विशाल एवं भारी है ॥ १२ ॥

गन्धर्वनगराकारः प्रथमं सम्प्रदृश्यते।
अन्वीक्ष्यमाणः कविभिः पुनर्गच्छत्यदर्शनम् ॥ १३ ॥

धर्मके विषयमें जब आलोचना की जाती है, तब पहले तो वह गन्धर्वनगरके समान दिखायी देता है; फिर विद्वानोंद्वारा विशेष रूपसे विचार करनेपर यह प्रतीत होता है कि वह अदृश्य हो गया ॥ १३ ॥

निपानानीव गोभ्योऽपि क्षेत्रे कुल्ये च भारत।
स्मृतिर्हि शाश्वतो धर्मो विप्रहीणो न दृश्यते ॥ १४ ॥

भरतनन्दन ! जैसे बहुत-सी गौओंको पानी पिलानेसे निपान (क्षुद्र जलाशय) सूख जाते हैं तथा जैसे अधिक खेतोंकी सिंचाई करनेसे नहरोंका पानी निघट जाता है, उसी प्रकार सनातन वैदिक धर्म अथवा स्मृति-शास्त्र धीरे-धीरे क्षीण होकर कलियुगके अन्तिम भागमें दिखायी ही नहीं देता है ॥

कामादन्येच्छया चान्ये कारणैरपरैस्तथा।
असन्तोऽपि वृथाचारं भजन्ते बहवोऽपरे ॥ १५ ॥

क्योंकि उस समय कुछ लोग स्वार्थवश, दूसरे लोग दूसरोंकी इच्छासे तथा अन्य मनुष्य अन्यान्य कारणोंसे धर्माचरण करते हैं और बहुत से असाधु पुरुष भी व्यर्थ धर्माचरणका ढोंग फैला लेते हैं ॥ १५ ॥

धर्मो भवति स क्षिप्रं प्रलापस्त्वेव साधुषु।
अथैतानाहुरुन्मत्तानपि चावहसन्त्युत ॥ १६ ॥

उन दिनों लोगोंद्वारा प्रायः सकामभावसे ही धर्मका आचरण होता देखा जाता है। श्रेष्ठ पुरुषोंमें जो यथार्थ धर्म होता है, वह शीघ्र ही मूढ मनुष्योंकी दृष्टिमें प्रलापमात्र सिद्ध होता है। वे मूढ उन धर्मात्मा पुरुषोंको पागल कहते और उनकी हँसी उड़ाते हैं ॥ १६ ॥

महाजना ह्युपावृत्ता राजधर्मं समाश्रिताः।
[illegible] हि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते ॥ १७ ॥

आचार्य द्रोण-जैसे महापुरुष भी स्वधर्मसे हटकर क्षत्रिय धर्मका आश्रय लेते हैं; अतः कोई भी आचार ऐसा नहीं है, जो सबके लिये समानरूपसे हितकर या सबके द्वारा समानरूपसे पालित हो ॥ १७ ॥

तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः।
दृश्यते चैव स पुनस्तुल्यरूपो यदृच्छया ॥ १८ ॥

यह भी देखा जाता है कि उसी धर्मके आचरणसे विश्वामित्र आदि अन्य महापुरुषोंने उन्नति प्राप्त की है तथा रावणादि निशाचर उसी धर्मके बलसे दूसरोंको पीड़ा देते हैं एवं कश्यप आदि अनेक महर्षि ईश्वरकी इच्छासे उसी धर्मके द्वारा सदा एक-सी स्थितिमें दिखायी देते हैं ॥ १८ ॥

येनैवान्यः प्रभवति सोऽपरानपि बाधते।
आचाराणामनैकाग्र्यं सर्वेषामुपलक्षयेत् ॥ १९ ॥

जिस धर्मको अपनाकर एक व्यक्ति उन्नति करता है, उसीसे दूसरा दूसरोंको पीड़ा देता है; अतः सबके लिये आचारोंकी एकरूपता कोई नहीं दिखा सकता ॥१९॥

चिराभिपन्नः कविभिः पूर्वं धर्म उदाहृतः।
तेनाचारेण पूर्वेण संस्था भवति शाश्वती ॥ २० ॥

आपने पहले उसी धर्मका वर्णन किया है, जिसे विद्वान् लोग चिरकालसे धारण करते चले आ रहे हैं। मैं भी यही समझता हूँ कि [illegible] पूर्वप्रचलित धर्मके आचरणद्वारा ही समाजकी मर्यादा दीर्घकालतक टिकी रहती है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्मप्रामाण्याक्षेपे षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६० ॥

[illegible] श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्मकी प्रामाणिकतापर आक्षेपविषयक दो सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६०॥

एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिकी घोर तपस्या, सिरपर जटाओंमें पक्षियोंके घोंसला बनानेसे उनका अभिमान और आकाशवाणीकी प्रेरणासे [illegible] तुलाधार वैश्यके पास जाना

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तुलाधारस्य वाक्यानि धर्मे जाजलिना [illegible] ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! धर्मके विषयमें जाजलिके [illegible] तुलाधार वैश्यकी जो बातें हुई थीं, उसी प्राचीन इतिहासका विद्वान् पुरुष यहाँ उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

वने वनचरः कश्चिज्जाजलिर्नाम वै द्विजः ।
सागरोद्देशमागम्य तपस्तेपे महातपाः ॥ २ ॥

प्राचीन कालमें जाजलि नामसे प्रसिद्ध एक [illegible] थे, जो वनमें ही रहते और विचरते थे । उन महातपस्वी जाजलिने समुद्रके तटपर जाकर बड़ी भारी तपस्या की ॥२॥

नियतो नियताहारश्चीराजिनजटाधरः ।
मलपङ्कधरो धीमान् बहून् वर्षगणान् मुनिः ॥ ३ ॥

वे नियमसे रहते, नियमित भोजन करते और वल्कल, मृगचर्म एवं जटा धारण किया करते थे । वे बुद्धिमान् मुनि बहुत वर्षोंतक शरीरपर मैल और कीचड़ धारण किये खड़े रहे ॥ ३ ॥

स कदाचिन्महातेजा जलवासो महीपते ।
चचार लोकान् विप्रर्षिः प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ४ ॥

राजन्! फिर किसी समय समुद्रतटस्थ जलयुक्त प्रदेशमें निवास करनेवाले वे महातेजस्वी विप्रर्षि सम्पूर्ण लोकोंको देखनेके लिये मनके समान तीव्र गतिसे विचरण करने लगे ॥ ४ ॥

[illegible] चिन्तयामास मुनिर्जलवासे कदाचन ।
विप्रेक्ष्य सागरान्तां वै महीं सवनकाननाम् ॥ ५ ॥

वन और काननोंसहित समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका निरीक्षण करके समुद्रतटवर्ती [illegible] प्रदेशमें निवास करते [illegible] जाजलि मुनि कभी इस प्रकार विचार करने लगे ॥ ५ ॥

न [illegible] सदृशोऽस्तीह लोके स्थावरजङ्गमे ।
अप्सु वैहायसं गच्छेन्मया योऽन्यः सहेति वै ॥ ६ ॥

इस चराचर जगत्‌में मेरे सिवा ऐसा कोई दूसरा मनुष्य नहीं है, जो मेरे साथ जलमें विचरने और आकाशमें घूमने-फिरनेकी शक्ति [illegible] हो ॥ ६ ॥

अदृश्यमानो रक्षोभिर्जलमध्ये वदंस्तथा ।
अब्रुवंश्च पिशाचास्तं नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ [illegible] ॥

राक्षसोंसे अदृश्य रहकर जलयुक्त प्रदेशमें निवास करनेवाले जाजलि मुनिने जब इस प्रकार कहा, तब [illegible] पिशाचोंने उनसे कहा, 'मुने! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये [illegible]

तुलाधारो वणिग्धर्मा वाराणस्यां [illegible] ।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं [illegible] त्वं द्विजसत्तम ॥ ८ ॥

'द्विजश्रेष्ठ! काशीमें महायशस्वी तुलाधार रहते हैं, जो वणिक्-धर्मका पालन करते हैं; किंतु वे भी ऐसी [illegible] नहीं कह सकते, जैसी आज आप कह रहे हैं' ॥ ८ ॥

इत्युक्तो जाजलिर्भूतैः प्रत्युवाच महातपाः ।
पश्येयं तमहं प्राज्ञं तुलाधारं यशस्विनम् ॥ ९ ॥

उन अदृश्य भूतोंके ऐसा कहनेपर महातपस्वी जाजलिने उनसे कहा—'क्या मैं उन ज्ञानी एवं यशस्वी तुलाधारका दर्शन कर सकता हूँ' ॥ ९ ॥

इति ब्रुवाणं तमृषिं रक्षांस्युद्धृत्य सागरात् ।
अब्रुवन् गच्छ पन्थानमास्थायेमं द्विजोत्तम ॥ १० ॥

ऐसा कहते हुए उन महर्षिको समुद्रतटवर्ती जलप्रदेशसे बाहर निकालकर राक्षसोंने उनसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! इस मार्ग[illegible] आश्रय लेकर काशीपुरी चले जाइये' ॥ १० ॥

इत्युक्तो जाजलिर्भूतैर्जगाम विमनास्तदा ।
वाराणस्यां तुलाधारं समासाद्याब्रवीदिदम् ॥ ११ ॥

उन अदृश्य भूतोंके ऐसा कहनेपर जाजलि मुनि उदास होकर काशीमें गये और तुलाधारके पास पहुँचकर उनसे इस [illegible] बोले ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं कृतं दुष्करं [illegible] कर्म जाजलिना पुरा ।
येन सिद्धिं परां प्राप्तस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! पूर्वकालमें जाजलिने कौन-[illegible] ऐसा दुष्कर कार्य किया था, जिससे वे परम सिद्धिको [illegible] हो गये, यह मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

अतीव [illegible] युक्तो घोरेण [illegible] बभूव ह ।
तथोपस्पर्शनरतः सायं प्रातर्महातपाः ॥ १३ ॥
अग्नीन् परिचरन् सम्यक् स्वाध्यायपरमो द्विजः ।
वानप्रस्थविधानज्ञो जाजलिर्ज्वलितः श्रिया ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा! जाजलि मुनि महान् तपस्वी थे और अत्यन्त घोर तपस्यामें लगे हुए थे । वे प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल स्नान एवं संध्योपासना करके विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते और वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहते थे । ब्रह्मर्षि जाजलि वानप्रस्थके धर्मकी विधिको जानने और पालनेवाले थे, वे अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे ॥ १३-१४ ॥

वने तपस्यतिष्ठत् स [illegible] च धर्ममवैक्षत ।
वर्षास्वाकाशशायी च हेमन्ते जलसंश्रयः ॥ १५ ॥
वातातपसहो ग्रीष्मे न च धर्ममविन्दत ।
दुःखशय्याश्च विविधा भूमौ च परिवर्तते ॥ १६ ॥

वे वनमें रहकर तपस्यामें ही लगे रहते, किंतु अपने धर्मकी कभी अवहेलना नहीं करते थे । वे वर्षाके दिनोंमें

खुले आकाशके नीचे सोते और हेमन्त ऋतुमें पानीके भीतर बैठा करते थे। इसी तरह गर्मीके महीनोंमें कड़ी धूप और लूका कष्ट सहते थे; परंतु उनको वास्तविक धर्मका ज्ञान नहीं हुआ। वे पृथ्वीपर ही लोटते और तरह तरहसे इस प्रकार सोते, जिससे दुःख और कष्टका ही अधिक अनुभव होता था॥

ततः कदाचित् स मुनिर्वर्षास्वाकाशमास्थितः।
अन्तरिक्षाज्जलं मूर्ध्ना प्रत्यगृह्णान्मुहुर्मुहुः॥ १७॥

तदनन्तर किसी समय वर्षा-ऋतु आनेपर वे मुनि खुले आकाशके नीचे खड़े हो गये और आकाशसे जो जलकी मूसलाधार वृष्टि होती थी, उसके आघातको बारबार अपने मस्तकपर ही सहने लगे॥ १७॥

अथ तस्य जटाः क्लिन्ना बभूवुर्ग्रथिताः प्रभो।
अरण्यगमनान्नित्यं मलिनोऽमलसंयुतः॥ १८॥

प्रभो! उनके सिरके बाल बराबर भींगे रहनेके [illegible] जटाके रूपमें परिणत हो गये। सदा वनमें ही विचरण करनेके कारण उनके शरीरपर मैल जम गयी थी; परंतु उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया था॥ १८॥

स कदाचिन्निराहारो वायुभक्षो महातपाः।
तस्थौ काष्ठवदव्यग्रो न चचाल च कर्हिचित्॥ १९॥

एक समयकी बात है, वे महातपस्वी जाजलि निराहार रहकर वायु-भक्षण करते हुए काठकी भाँति खड़े हो गये, उस समय उनके चित्तमें तनिक भी व्यग्रता नहीं थी और वे क्षणभरके लिये भी कभी विचलित नहीं होते थे॥ १९॥

तस्य स्म स्थाणुभूतस्य निर्विचेष्टस्य भारत।
कुलिङ्गशकुनौ राजन् नीडं शिरसि चक्रतुः॥ २०॥

भरतनन्दन! वे चेष्टाशून्य होनेके कारण किसी ठूँठे पेड़के समान जान पड़ते थे। राजन्! उस समय उनके सिरपर गौरैया पक्षीके एक जोड़ेने अपने रहनेके लिये एक घोंसला बना लिया॥ २०॥

स तौ दयावान् ब्रह्मर्षिरुपप्रैक्षत दम्पती।
कुर्वाणौ नीडकं तत्र जटासु तृणतन्तुभिः॥ २१॥

वे विप्रर्षि बड़े दयालु थे, इसलिये उन्होंने उन दोनों पक्षियोंको तिनकोंसे अपनी जटाओंमें घोंसला बनाते देखकर भी उनकी उपेक्षा कर दी—उन्हें हटाने या उड़ानेकी कोई चेष्टा नहीं की॥ २१॥

यदा न [illegible] चलत्येव स्थाणुभूतो महातपाः।
ततस्तौ सुखविश्वस्तौ सुखं तत्रोषतुस्तदा॥ २२॥

[illegible] वे महातपस्वी ठूँठे काठके समान होकर जरा भी हिले-डुले नहीं, तब अच्छी तरह विश्वास जम जानेके कारण वे दोनों पक्षी वहाँ बड़े सुखसे रहने लगे॥ २२॥

अतीतास्वथ वर्षासु शरत्काल उपस्थिते।
प्राजापत्येन विधिना विश्वासात् काममोहितौ॥ २३॥
तत्रापातयतां राजन् शिरस्यण्डानि खेचरौ।
तान्यबुध्यत तेजस्वी स विप्रः संशितव्रतः॥ २४॥

राजन्! धीरे-धीरे वर्षा-ऋतु बीत गयी और शरत्काल उपस्थित हुआ। उस समय कामसे मोहित होकर उन गौरैयों ने संतानोत्पादनकी विधिसे परस्पर समागम किया और विश्वासके कारण महर्षिके सिरपर ही अण्डे दिये। कठोर व्रतका पालन करनेवाले उन तेजस्वी ब्राह्मणको यह मालूम हो गया कि पक्षियोंने मेरी जटाओंमें अण्डे दिये हैं॥ २३-२४॥

बुद्ध्वा च स महातेजा न चचाल च जाजलिः।
धर्मे कृतमना नित्यं नाधर्मं स त्वरोचयत्॥ २५॥

इस बातको जानकर भी महातेजस्वी जाजलि विचलित नहीं हुए। उनका मन सदा धर्ममें लगा रहता था; अतः उन्हें अधर्मका कार्य पसंद नहीं था॥ २५॥

अहन्यहनि चागत्य ततस्तौ तस्य मूर्धनि।
आश्वासितौ निवसतः सम्प्रहृष्टौ तदा विभो॥ २६॥

प्रभो! चिड़ियोंके वे जोड़े प्रतिदिन चारा चुगनेके लिये जाते और फिर लौटकर उनके मस्तकपर ही बसेरा लेते थे, वहाँ उन्हें बड़ा आश्वासन मिलता था और वे बहुत प्रसन्न रहते थे॥

अण्डेभ्यस्त्वथ पुष्टेभ्यः प्राजायन्त शकुन्तकाः।
व्यवर्धन्त च तत्रैव न चाकम्पत जाजलिः॥ २७॥

अण्डोंके पुष्ट होनेपर उन्हें फोड़कर बच्चे बाहर निकले और वहीं पलकर बड़े होने लगे, तथापि जाजलि मुनि हिले डुले नहीं॥

स रक्षमाणस्त्वण्डानि कुलिङ्गानां धृतव्रतः।
तथैव तस्थौ धर्मात्मा निर्विचेष्टः समाहितः॥ २८॥

दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले वे एकाग्रचित्त धर्मात्मा मुनि उन पक्षियोंके अण्डोंकी रक्षा करते हुए पूर्ववत् निश्चेष्टभावसे खड़े रहे॥ २८॥

ततस्तु कालसमये बभूवुस्तेऽथ पक्षिणः।
बुबुधे तांस्तु [illegible] मुनिर्जातपक्षान् कुलिङ्गकान्॥ २९॥

तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर उन सब बच्चोंके पर निकल आये, मुनिको यह बात मालूम हो गयी कि चिड़ियोंके इन बच्चोंके पंख निकल आये हैं॥ २९॥

ततः कदाचित् तांस्तत्र पश्यन् पक्षीन् यतव्रतः।
बभूव परमप्रीतस्तदा मतिमतां वरः॥ ३०॥
[illegible] तानपि संवृद्धान् दृष्ट्वा चाप्नुवतां मुदम्।
शकुनौ निर्भयौ तत्र ऊषतुश्चात्मजैः सह॥ ३१॥

संयमपूर्वक व्रतके पालनमें तत्पर रहनेवाले बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जाजलि किसी दिन वहाँ उन पंखधारी बच्चोंको उड़ते देख बड़े प्रसन्न हुए तथा अपने बच्चोंको बड़ा हुआ देख वे दोनों पक्षी भी बड़े आनन्दका अनुभव करने लगे और अपनी संतानोंके साथ निर्भय होकर वहीं रहने लगे॥ ३०-३१॥

जातपक्षांश्च सोऽपश्यदुड्डीनान् पुनरागतान्।
सायं सायं द्विजान् विप्रो न चाकम्पत जाजलिः॥ ३२॥

बच्चोंके पंख हो गये थे, इसलिये वे दिनमें चारा चुगनेके लिये उड़कर निकल जाते और प्रतिदिन शामको फिर वहीं लौट आते थे। ब्राह्मणप्रवर जाजलि उन पक्षियोंको [illegible]

मुनि जाजलिकी तपस्या

प्रकार आते-आते देखते, परंतु हिलते-डुलते नहीं थे ॥ ३२ ॥

कदाचित् पुनरभ्येत्य पुनर्गच्छन्ति संततम्।
त्यक्ता मातापितृभ्यां ते न चाकम्पत जाजलिः ॥ ३३ ॥

किसी समय माता-पिता उनको छोड़कर उड़ गये। अब वे बच्चे कभी आकर फिर चले जाते और जाकर फिर चले आते थे, इस प्रकार वे सदा आने-जाने लगे। उस समयतक जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ॥ ३३ ॥

[illegible] ते दिवसं चापि गत्वा सायं पुनर्नृप।
उपावर्तन्त तत्रैव निवासार्थं शकुन्तकाः ॥ ३४ ॥

नरेश्वर! अब वे पक्षी दिनभर चरनेके लिये चले जाते और शामको पुनः बसेरा लेनेके लिये वहीं आते थे ॥ ३४ ॥

कदाचिद् दिवसान् [illegible] समुत्पत्य विहङ्गमाः।
षष्ठेऽहनि समाजग्मुर्नैवाकम्पत जाजलिः ॥ ३५ ॥

कभी-कभी वे विहङ्गम उड़कर पाँच-पाँच दिनतक बाहर ही रह जाते और छठे दिन वहाँ लौटते थे, तबतक भी जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ॥ ३५ ॥

क्रमेण च पुनः सर्वे दिवसान् सुबहूनथ।
नोपावर्तन्त शकुना जातप्राणाः स्म ते यदा ॥ ३६ ॥

फिर क्रमशः वे सब पक्षी बहुत दिनोंके लिये जाने और आने लगे, अब वे हृष्ट-पुष्ट और बलवान् हो गये थे। [illegible] बाहर निकल जानेपर जल्दी नहीं लौटते थे ॥ ३६ ॥

कदाचिन्मासमात्रेण समुत्पत्य विहङ्गमाः।
नैवागच्छंस्ततो राजन् प्रातिष्ठत स जाजलिः ॥ ३७ ॥

राजन्! एक समय वे आकाशचारी पक्षी उड़ जानेके बाद एक मासतक लौटकर नहीं आये, तब जाजलि मुनि वहाँसे अन्यत्र चल दिये ॥ ३७ ॥

ततस्तेषु प्रलीनेषु जाजलिर्जातविस्मयः।
सिद्धोऽस्मीति मतिं चक्रे ततस्तं मान आविशत् ॥ ३८ ॥

उन पक्षियोंके अदृश्य हो जानेपर जाजलिको बड़ा विस्मय हुआ, वे मन-ही मन यह मानने लगे कि [illegible] सिद्ध हो गया, फिर तो उनके भीतर अहंकार [illegible] गया ॥ ३८ ॥

स [illegible] निर्गतान् दृष्ट्वा शकुन्तान् नियतव्रतः।
सम्भावितात्मा सम्भाव्य भृशं प्रीतमनाऽभवत् ॥ ३९ ॥

नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले वे सम्भावितात्मा महर्षि उन पक्षियोंको इस प्रकार गया हुआ देख अपनी सिद्धिकी सम्भावना करके मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३९ ॥

स नद्यां समुपस्पृश्य तर्पयित्वा हुताशनम्।
उदयन्तमथादित्यमुपातिष्ठन्महातपाः ॥ ४० ॥

फिर नदीके तटपर जाकर उन महातपस्वी मुनिने स्नान किया और सन्ध्या तर्पणके पश्चात् अग्निहोत्रके द्वारा अग्निदेवको [illegible] करके उगते हुए सूर्यका उपस्थान किया ॥ ४० ॥

सम्भाव्य चटकान् मूर्ध्नि जाजलिर्जपतां वरः।
आस्फोटयत् तथाऽऽकाशे धर्मः प्राप्तो मयेति वै ॥ ४१ ॥

जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ जाजलि अपने मस्तकपर चिड़ियोंके पैदा होने और बढ़ने आदिकी बातें याद करके अपनेको महान् धर्मात्मा समझने लगे और आकाशमें मानो ताल ठोंकते हुए [illegible] वाणीमें बोले, मैंने धर्मको प्राप्त कर लिया ॥ ४१ ॥

अथान्तरिक्षे वागासीत् तां च शुश्राव जाजलिः।
धर्मेण न समस्त्वं वै तुलाधारस्य जाजले ॥ ४२ ॥
वाराणस्यां महाप्राज्ञस्तुलाधारः प्रतिष्ठितः।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं भाषसे द्विज ॥ ४३ ॥

इतनेहीमें आकाशवाणी हुई[1]—'जाजले! तुम धर्ममें तुलाधारके समान नहीं हो, काशीपुरीमें महाज्ञानी तुलाधार वैश्य प्रतिष्ठित हैं। विप्रवर! वे तुलाधार भी ऐसी बात नहीं कह सकते, जैसी तुम कह रहे हो।' जाजलिने [illegible] आकाशवाणीको सुना ॥ ४२-४३ ॥

सोऽमर्षवशमापन्नस्तुलाधारदिदृक्षया ।
पृथिवीमचरद् राजन् [illegible] सायंगृहो मुनिः ॥ ४४ ॥

राजन्! इससे वे अमर्षके वशीभूत हो गये और वे तुलाधारको देखनेके लिये पृथ्वीपर विचरने लगे। जहाँ सन्ध्या होती, वहीं वे मुनि टिक जाते थे ॥ ४४ ॥

कालेन महतागच्छत् स तु वाराणसीं पुरीम्।
विक्रीणन्तं [illegible] पण्यानि तुलाधारं ददर्श सः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार दीर्घकालके पश्चात् वे वाराणसी पुरीमें जा पहुँचे, वहाँ उन्होंने तुलाधारको सौदा बेचते देखा ॥ ४५ ॥

सोऽपि दृष्ट्वैव तं विप्रमायान्तं भाण्डजीवनः।
समुत्थाय सुसंहृष्टः स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥ ४६ ॥

विविध पदार्थोंके क्रय विक्रयसे जीवन-निर्वाह करनेवाले तुलाधार भी ब्राह्मणको आते देख तुरंत ही उठकर खड़े हो गये और बड़े हर्षके साथ आगे बढ़कर उन्होंने ब्राह्मणका स्वागत-सत्कार किया ॥ ४६ ॥

तुलाधार उवाच

आयानेवासि विदितो [illegible] ब्रह्मन् [illegible] संशयः।
ब्रवीमि यत् [illegible] वचनं तच्छृणुष्व द्विजोत्तम ॥ [illegible] ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन्! आप मेरे [illegible] आ रहे हैं, यह बात मुझे पहले ही मालूम हो गयी थी, इसमें संशय नहीं है। द्विजश्रेष्ठ! अब जो कुछ मैं कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनिये ॥ ४७ ॥

सागरानूपमाश्रित्य तपस्तप्तं [illegible] महत्।
[illegible] च धर्मस्य संज्ञां त्वं पुरा वेत्थ कथंचन ॥ [illegible] ॥

आपने सागरके तटपर [illegible] प्रदेशमें रहकर बड़ी भारी तपस्या की है, परंतु पहले कभी किसी तरह आपको यह बोध नहीं हुआ था कि मैं बड़ा धर्मवान् हूँ ॥ ४८ ॥

ततः सिद्धस्य [illegible] विप्र शकुन्तकाः।

१. इसी अध्यायमें पहले अदृश्य भूत-पिशाचोंके द्वारा उपर्युक्त [illegible] गया है। यहाँ उसीको आकाशवाणी बतला रहे हैं।

क्षिप्रं शिरस्यजायन्त ते च सम्भावितास्त्वया ॥ ४९ ॥

विप्रवर ! जब आप तपस्यासे सिद्ध हो गये, तब पक्षियोंने शीघ्र ही आपके सिरपर अण्डे दिये और उनसे बच्चे पैदा हुए; आपने उन सबकी भलीभाँति रक्षा की ॥ ४९ ॥

जातपक्षा यदा ते च गताश्चारीमितस्ततः ।
मन्यमानस्ततो धर्मं चटकप्रभवं द्विज ॥ ५० ॥

ब्रह्मन् ! जब उनके पर निकल आये और वे चारा चुगनेके लिये उड़कर इधर-उधर चले गये, तब उन पक्षियोंके पालनजनित धर्मको आप बहुत बड़ा मानने लगे ॥ ५० ॥

खे वाचं त्वमथाश्रौषीर्मां प्रति द्विजसत्तम ।
अमर्षवशमापन्नस्ततः प्राप्तो भवानिह ।
करवाणि प्रियं किं ते तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥ ५१ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! उसी समय मेरे विषयमें आकाशवाणी हुई, जिसे आपने सुना और सुनते ही अमर्षके वशीभूत होकर आप यहाँ मेरे पास चले आये । विप्रवर ! बताइये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे एकषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार-जाजलि-संवादविषयक दो सौ एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलि और तुलाधारका धर्मके विषयमें संवाद

भीष्म उवाच

इत्युक्तः स तदा तेन तुलाधारेण धीमता ।
प्रोवाच वचनं धीमाञ्जाजलिर्जपतां वरः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! उस समय बुद्धिमान् तुलाधारके इस प्रकार कहनेपर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ मतिमान् जाजलिने यह बात कही ॥ १ ॥

जाजलिरुवाच

विक्रीणतः सर्वरसान् सर्वगन्धांश्च वाणिज ।
वनस्पतीनोषधीश्च तेषां मूलफलानि च ॥ २ ॥

जाजलि बोले—वैश्यपुत्र ! तुम तो सब प्रकारके रस, गन्ध, वनस्पति, ओषधि, मूल और फल आदि बेचा करते हो ॥ २ ॥

अध्यगा नैष्ठिकीं बुद्धिं कुतस्त्वामिदमागतम् ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं निखिलेन महामते ॥ ३ ॥

महामते ! तुम्हें यह धर्ममें निष्ठा रखनेवाली बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई ? तुम्हें यह ज्ञान कैसे सुलभ हुआ ? यह सब पूर्णरूपसे मुझे बताओ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तुलाधारो ब्राह्मणेन यशस्विना ।
उवाच धर्मसूक्ष्माणि वैश्यो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यशस्वी ब्राह्मण जाजलिके इस प्रकार पूछनेपर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले तुलाधार वैश्यने उन्हें धर्म-सम्बन्धी सूक्ष्म बातोंको इस तरह बताना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

तुलाधार उवाच

वेदाहं जाजले धर्मं सरहस्यं सनातनम् ।
सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणं यं जना विदुः ॥ ५ ॥

तुलाधार बोले—जाजले ! जो समस्त प्राणियोंके लिये हितकारी और सबके प्रति मैत्रीभावकी स्थापना करनेवाला है, जिसे सब लोग पुरातन धर्मके रूपमें जानते हैं, गूढ़ रहस्योंसहित उस सनातन धर्मका मुझे ज्ञान है ॥ ५ ॥

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ॥ ६ ॥

जिसमें किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करना पड़े अथवा कम-से-कम द्रोह करनेसे काम चल जाय, ऐसी जो जीवन वृत्ति है, वही उत्तम धर्म है । जाजले ! मैं उसीसे जीवननिर्वाह करता हूँ ॥ ६ ॥

परच्छिन्नैः काष्ठतृणैर्मयेदं शरणं कृतम् ।
अलक्तं पद्मकं तुङ्गं गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा ॥ ७ ॥

मैंने दूसरोंके द्वारा काटे गये काठ और घास फूससे यह घर तैयार किया है । अलक्तक (वृक्षविशेषकी छाल), पद्मक (पद्माख), तुङ्गकाष्ठ तथा चन्दनादि गन्धद्रव्य एवं अन्य छोटी-बड़ी वस्तुओंको मैं दूसरोंसे खरीदकर बेचता हूँ ॥ ७ ॥

रसांश्च तांस्तान् विप्रर्षे मद्यवर्ज्यान् बहूनहम् ।
क्रीत्वा वै प्रतिविक्रीणे परहस्तादमायया ॥ ८ ॥

विप्रर्षे ! मेरे यहाँ मदिरा नहीं बेची जाती, उसे छोड़कर बहुत-से पीनेयोग्य रसोंको दूसरोंसे खरीदकर बेचता हूँ । माल बेचनेमें छल-कपट एवं असत्यसे काम नहीं लेता ॥ ८ ॥

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥ ९ ॥

जाजले ! जो सब जीवोंका सुहृद् होता और मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा सदा सबके हितमें लगा रहता है, वही वास्तवमें धर्मको जानता है ॥ ९ ॥

नानुरुद्ध्ये विरुध्ये वा न द्वेष्मि न च कामये ।
समोऽहं सर्वभूतेषु पश्य मे जाजले व्रतम् ।
तुला मे सर्वभूतेषु समा तिष्ठति जाजले ॥ १० ॥

मैं न किसीसे अनुरोध करता हूँ, न विरोध करता हूँ और न कहीं मेरा द्वेष है, न किसीसे कुछ कामना करता हूँ । समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा समभाव है । जाजले ! यही मेरा व्रत और नियम है, इसपर दृष्टिपात करो । जाजले ! मेरी तराजू सब मनुष्योंके लिये सम है—सबके लिये बराबर तौलती है ।

वैश्य तुलाधारके द्वारा मुनि जाजलिका सत्कार

नाहं परेषां कृत्यानि प्रशंसामि न गर्हये ।
आकाशस्येव विप्रेन्द्र पश्यँल्लोकस्य चित्रताम् ॥ ११ ॥

विप्रवर ! मैं आकाशकी भाँति असङ्ग रहकर जगत्के कार्योंकी विचित्रताको देखता हुआ दूसरोंके कार्योंकी न तो प्रशंसा करता हूँ और न निन्दा ही ॥ ११ ॥

इति मां त्वं विजानीहि सर्वलोकस्य जाजले ।
समं मतिमतां श्रेष्ठ समलोष्टाश्मकाञ्चनम् ॥ १२ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जाजले ! इस प्रकार तुम मुझे सब लोगोंके प्रति समता रखनेवाला और मिट्टीके ढेले, पत्थर [illegible] सुवर्णको समान समझनेवाला जानो ॥ १२ ॥

यथान्धबधिरोन्मत्ता उच्छ्वासपरमाः सदा ।
देवैरपिहितद्वाराः सोपमा पश्यतो [illegible] ॥ १३ ॥

जैसे अन्धे, बहरे और उन्मत्त (पागल) मनुष्य, जिनके नेत्र, कान आदि द्वार देवताओंने सदाके लिये बंद कर दिये हैं, सदा केवल साँस लेते रहते हैं, मुझ द्रष्टा पुरुषकी भी वैसी ही उपमा है (अर्थात् मैं देखकर भी नहीं देखता, सुनकर भी नहीं सुनता और विषयोंकी ओर मन नहीं ले जाता, केवल साक्षीरूपसे देखता हुआ श्वास-प्रश्वासमात्रकी क्रिया करता रहता हूँ) ॥ १३ ॥

[illegible] वृद्धातुरकृशा निःस्पृहा विषयान् प्रति ।
तथार्थकामभोगेषु ममापि विगता स्पृहा ॥ १४ ॥

जैसे वृद्ध, रोगी और दुर्बल मनुष्य विषयभोगोंकी स्पृहा नहीं रखते, उसी प्रकार मेरे मनसे भी धन और विषय-भोगोंकी इच्छा दूर हो गयी है ॥ १४ ॥

[illegible] चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति [illegible] द्वेष्टि [illegible] सम्पद्यते तदा ॥ १५ ॥

जब यह पुरुष दूसरेसे भयभीत नहीं होता, जब दूसरे प्राणी भी इससे भयभीत नहीं होते तथा जब यह न तो किसीकी इच्छा रखता है और न किसीसे द्वेष ही करता है, तब ब्रह्मभावको [illegible] हो जाता है ॥ १५ ॥

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा [illegible] सम्पद्यते तदा ॥ १६ ॥

जब समस्त प्राणियोंके प्रति मन, वाणी और क्रियाद्वारा भी बुरे भाव नहीं होते हैं तब मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त होता है॥

न भूतो न भविष्योऽस्ति न च धर्मोऽस्ति कश्चन ।
योऽभयः सर्वभूतानां स प्राप्नोत्यभयं पदम् ॥ १७ ॥

जिसका भूत या भविष्यमें कोई कार्य नहीं है तथा जिसके लिये कोई धर्म करना शेष नहीं है, साथ ही सम्पूर्ण भूतोंको अभय प्रदान करता है, वही निर्भय पदको प्राप्त होता है ॥

यस्मादुद्विजते लोकः सर्वो मृत्युमुखादिव ।
वाक्क्रूराद् दण्डपरुषात् स प्राप्नोति महद् भयम् ॥ १८ ॥

जैसे सब लोग मौतके मुखमें जानेसे डरते हैं, उसी प्रकार जिसके स्मरणमात्रसे सब लोग उद्विग्न हो उठते हैं [illegible] जो कटुवचन बोलनेवाला और दण्ड देनेमें कठोर है, ऐसे मनुष्यको महान् भयका सामना करना पड़ता है ॥ १८ ॥

यथावद् वर्तमानानां वृद्धानां पुत्रपौत्रिणाम् ।
अनुवर्तामहे वृत्तमहिंस्राणां महात्मनाम् ॥ १९ ॥

जो [illegible] हैं, पुत्र और पौत्रोंसे सम्पन्न हैं, शास्त्रके अनुसार यथोचित आचरण करते हैं और किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करते हैं, उन्हीं महात्माओंके बर्तावका मैं भी अनुसरण [illegible] हूँ ॥

प्रणष्टः शाश्वतो धर्मस्त्वनाचारेण मोहितः ।
तेन वैद्यस्तपस्वी वा बलवान् वा विमुह्यते ॥ २० ॥

अनाचारसे सनातनधर्म मोहयुक्त होकर नष्ट हो जाता है। उसके द्वारा विद्वान्, तपस्वी तथा काम-क्रोधको जीतनेवाला बलवान् पुरुष भी मोहमें पड़ जाता है ॥ २० ॥

आचारज्जाजले [illegible] क्षिप्रं धर्ममवाप्नुयात् ।
एवं यः साधुभिर्दान्तश्चरेदद्रोहचेतसा ॥ २१ ॥

जाजले ! जो जितेन्द्रिय पुरुष अपने चित्तमें दूसरोंके प्रति द्रोह न रखकर, इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा पालित आचारको अपने आचरणमें लाता है, वह विद्वान् वेदबोधित सदाचारका पालन करनेसे शीघ्र ही धर्मके रहस्यको जान लेता है॥

नद्यां चेह यथा काष्ठमुह्यमानं यदृच्छया ।
यदृच्छयैव काष्ठेन सन्धिं गच्छेत केनचित् ॥ २२ ॥

तत्रापराणि दारूणि संसृज्यन्ते परस्परम् ।
तृणकाष्ठकरीषाणि कदाचिन्न समीक्षया ॥ २३ ॥

जैसे यहाँ नदीकी धारामें दैवेच्छासे बहता हुआ काठ अकस्मात् किसी दूसरे काठसे संयुक्त हो जाता है; फिर वहाँ दूसरे-दूसरे काष्ठ, तिनके, छोटी छोटी लकड़ियाँ और सूखे गोबर भी आकर एक दूसरेसे जुड़ जाते हैं, परंतु इन सबका वह संयोग आकस्मिक ही होता है, समझ-बूझकर नहीं (इसी प्रकार संसारके प्राणियोंके भी परस्पर संयोग-वियोग होते रहते हैं) ॥ २२-२३ ॥

यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन ।
अभयं सर्वभूतेभ्यः स प्राप्नोति सदा मुने ॥ २४ ॥

मुने ! जिससे कोई भी प्राणी कभी किसी तरह भी उद्विग्न नहीं होता, वह सदा सम्पूर्ण भूतोंसे अभय [illegible] कर लेता है ॥

यस्मादुद्विजते विद्वन् सर्वलोको वृकादिव ।
क्रोशतस्तीरमासाद्य यथा सर्वे जलेचराः ॥ २५ ॥
स भयं सर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोति महामते ।

महामते ! विद्वन् ! जैसे नदीके तीरपर आकर कोलाहल करनेवाले मनुष्यके डरसे सभी जलचर जन्तु भयके मारे छिप जाते हैं तथा जिस प्रकार भेड़ियेको देखकर सभी थर्रा उठते हैं, उसी प्रकार जिससे [illegible] लोग डरते हैं, उसे भी सम्पूर्ण प्राणियोंसे भय प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

एवमेवायमाचारः प्रादुर्भूतो यतस्ततः ।
सहायवान् द्रव्यवान् यः सुभगोऽन्यपरस्तथा ॥ २६ ॥

इस प्रकार यह अभयदानरूप आचार प्रकट हुआ है, जो सभी उपायोंसे साध्य है—जैसे बने वैसे इसका पालन करना चाहिये । जो इसे आचरणमें लाता है वह सहायवान्, द्रव्यवान्, सौभाग्यशाली तथा श्रेष्ठ समझा जाता है ॥ २६ ॥

ततस्तानेव कवयः शास्त्रेषु प्रवदन्त्युत ।
कीर्त्यर्थमल्पहृल्लेखाः पटवः कृत्स्ननिर्णयाः ॥ २७ ॥

अतः जो अभयदान देनेमें समर्थ होते हैं, उन्हींको विद्वान् पुरुष शास्त्रोंमें श्रेष्ठ बताते हैं । उनमेंसे जो बहिर्मुख होकर अपने हृदयमें क्षणभङ्गुर विषय-सुखोंकी इच्छा रखते हैं, वे तो कीर्ति और मान-बड़ाईके लिये ही अभयदानरूप [illegible] पालन करते हैं; परंतु जो पटु या प्रवीण पुरुष हैं, वे पूर्णस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही इस व्रतका आश्रय लेते हैं ॥ २७ ॥

तपोभिर्यज्ञदानैश्च वाक्यैः प्रज्ञाश्रितैस्तथा ।
प्राप्नोत्यभयदानस्य यद् यत् फलमिहाश्नुते ॥ २८ ॥

तप, यज्ञ, दान और ज्ञान-सम्बन्धी उपदेशके द्वारा मनुष्य यहाँ जो-जो फल प्राप्त करता है, वह सब उसे केवल अभय-दानसे मिल जाता है ॥ २८ ॥

लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम् ।
स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम् ॥ २९ ॥

जो जगत्में सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयकी दक्षिणा देता है, वह मानो समस्त यज्ञोंका अनुष्ठान कर लेता है [illegible] उसे भी सब ओरसे अभय-दान प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ।
यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन ।
सोऽभयं सर्वभूतेभ्यः सम्प्राप्नोति महामुने ॥ ३० ॥

प्राणियोंकी हिंसा न करनेसे जिस धर्मकी सिद्धि होती है, उससे बढ़कर महान् धर्म कोई नहीं है । महामुने ! जिससे कभी कोई भी प्राणी किसी तरह उद्विग्न नहीं होता, वह भी सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

यस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव ।
न स धर्ममवाप्नोति इहलोके परत्र च ॥ ३१ ॥

घरके भीतर रहनेवाले सर्पके समान जिस पुरुषसे सब लोग भयभीत रहते हैं, वह इहलोक और परलोकमें भी कभी धर्मके फलको नहीं पाता ॥ ३१ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः ।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ ३२ ॥

जो समस्त प्राणियोंका आत्मा हो गया है और सम्पूर्ण भूतोंको अपनेसे अभिन्न देखता है, उसे किसी विशेष स्थानकी प्राप्ति नहीं होती । वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । उसके पदचिह्नकी खोज करनेवाले देवता भी उस ज्ञानी पुरुषके मार्गके विषयमें मोहित हो जाते हैं—उसकी गतिका पता नहीं लगा पाते ॥

दानं भूताभयस्याहुः सर्वदानेभ्य उत्तमम् ।
ब्रवीमि ते सत्यमिदं श्रद्धत्स्व च जाजले ॥ ३३ ॥

प्राणियोंको अभयदान देना सब दानोंसे उत्तम बताया गया है । जाजले ! मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ, तुम इसपर विश्वास करो ॥ ३३ ॥

स एव सुभगो भूत्वा पुनर्भवति दुर्भगः ।
व्यापत्तिं कर्मणां दृष्ट्वा जुगुप्सन्ति जनाः सदा ॥ ३४ ॥

जो स्वर्गादिकी कामना करके धर्मकार्य करते हैं, वे ही स्वर्गादि फलोंको पाकर सौभाग्यवान् कहलाते हैं, फिर वे ही पुण्यक्षीण होनेके पश्चात् जब स्वर्गसे नीचे गिरते हैं, तब दुर्भाग्यसे दूषित माने जाते हैं; इस प्रकार कर्मोंका विनाश देखकर विज्ञ पुरुष सदा ही सकाम कर्मोंकी निन्दा करते हैं ॥ ३४ ॥

अकारणो हि नैवास्ति धर्मः सूक्ष्मो हि जाजले ।
भूतभव्यार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम् ॥ ३५ ॥

जाजले ! कोई भी धर्म निष्प्रयोजन या निष्फल नहीं है, [illegible] स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है; स्वर्ग या ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही यहाँ धर्मकी व्याख्या की गयी है ॥ ३५ ॥

सूक्ष्मत्वान्न स विज्ञातुं शक्यते बहुनिह्नवः ।
उपलभ्यान्तरा चान्यानाचारानवबुध्यते ॥ ३६ ॥

धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वह सबकी समझमें नहीं आ सकता; क्योंकि उसके स्वरूपको छिपानेवाली बहुत-सी बातें हैं । बीच बीचमें विभिन्न सत्पुरुषोंके आचारोंको देखकर मनुष्य वास्तविक धर्मका ज्ञान प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

ये च च्छिन्दन्ति वृषणान् ये च भिन्दन्ति नस्तकान् ।
वहन्ति महतो भारान् बध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ३७ ॥
हत्वा सत्त्वानि खादन्ति तान् कथं न विगर्हसे ।
मानुषा मानुषानेव दासभावेन भुञ्जते ॥ ३८ ॥

जो लोग बैलोंको बधिया करके बाँधते-नाथते, उनसे भारी बोझ ढुलाते और उनका दमन करके उन्हें सवारीमें निकालते हैं, जो कितने ही जीवोंको मारकर खा जाते हैं, मनुष्य होकर मनुष्योंको दास बनाकर और उनके परिश्रमका फल आप भोगते हैं, उनकी तुम निन्दा क्यों नहीं करते हो ? ॥

वधबन्धनिरोधेन कारयन्ति दिवानिशम् ।
आत्मनश्चापि जानाति यद् दुःखं वधबन्धने ॥ ३९ ॥

जो लोग वध और बन्धनकी दशामें अपनेको कितना कष्ट होता है, इस बातको जानते हैं तो भी दूसरोंको वध, बन्धन और कैदके कष्टमें डालकर उनसे दिन-रात काम कराते हैं, उनकी निन्दा तुम क्यों नहीं करते हो ? ॥ ३९ ॥

पञ्चेन्द्रियेषु भूतेषु सर्वं वसति दैवतम् ।
आदित्यश्चन्द्रमा वायुर्ब्रह्मा प्राणः क्रतुर्यमः ॥ ४० ॥

तानि जीवानि विक्रीय का मृतेषु विचारणा ।

पाँच इन्द्रियोंवाले समस्त प्राणियोंमें सूर्य, चन्द्र, वायु, [illegible] प्राण, यज्ञ और यमराज—इन सब देवताओंका निवास है, जो उन्हें जीते-जी बेचकर जीविका चलाते हैं, उन्हें अधर्मकी प्राप्ति होती है । फिर मृत जीवोंका विक्रय करनेवालोंके विषयमें तो कहा ही क्या जाय ? ॥ ४०½ ॥

अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट् ॥ ४१ ॥
धेनुर्वत्सश्च सोमो वै विक्रीयैतन्न सिध्यति ।

बकरा अग्निका, भेड़ वरुणका, घोड़ा सूर्यका और पृथ्वी विराट्का रूप है तथा गाय और बछड़े चन्द्रमाके स्वरूप हैं, इनको बेचनेसे कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४१½ ॥

[illegible] तैले का घृते ब्रह्मन् मधुन्यप्यौषधेषु वा ॥ ४२ ॥
अदंशमशके देशे सुखसंवर्धितान् पशून् ।
तांश्च मातुः प्रियाञ्जानन्नाक्रम्य बहुधा नराः ॥ ४३ ॥
बहुदंशाकुलान् देशान् नयन्ति बहुकर्दमान् ।
वाहसम्पीडिता धुर्याः सीदन्त्यविधिना परे ॥ ४४ ॥

किंतु ब्रह्मन् ! तेल, घी, शहद और दवाओंकी बिक्री करनेमें क्या हानि है, बहुत-से मनुष्य तो डंस और मच्छरोंसे रहित देशमें उत्पन्न और सुखसे पले हुए पशुओंको यह जानते हुए भी कि ये अपनी माताओंको बहुत प्रिय हैं और इनके बिछुड़नेसे उन्हें बहुत कष्ट होगा, जबरदस्ती आक्रमण करके ऐसे देशोंमें ले जाते हैं जहाँ डंस, मच्छर और कीचड़की अधिकता होती है । कितने ही बोझ ढोनेवाले पशु भारी भारसे पीड़ित हो लोगोंद्वारा अनुचित रूपसे सताये जाते हैं ॥

न मन्ये भ्रूणहत्यापि विशिष्टा तेन कर्मणा ।
कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा च वृत्तिः सुदारुणा ॥ ४५ ॥

[illegible] समझता हूँ कि उस क्रूर कर्मसे बढ़कर भ्रूणहत्याका पाप भी नहीं है । कुछ लोग खेतीको अच्छा मानते हैं, परंतु वह वृत्ति भी अत्यन्त कठोर है ॥ ४५ ॥

भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ।
तथैवानडुहो युक्तान् समवेक्षस्व जाजले ॥ ४६ ॥

जाजले ! जिसके मुखपर फाल [illegible] हुआ है, वह हल पृथ्वीको पीड़ा देता है और उसके भीतर रहनेवाले जीवोंका भी वध कर डालता है और उसमें जो बैल जोते जाते हैं, उनकी दुर्दशापर भी दृष्टिपात करो ॥ ४६ ॥

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत् तु यः ॥ ४७ ॥

श्रुतिमें गौओंको अघ्न्या (अवध्य) कहा गया है, फिर कौन उन्हें मारनेका विचार करेगा ? जो पुरुष गाय और बैलोंको मारता है, वह महान् पाप करता है ॥ ४७ ॥

ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन् ।
गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम् ॥ ४८ ॥
अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामस्त्वत्कृते व्यथाम् ।
शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन् ॥ ४९ ॥
ऋषयस्ते महाभागाः प्रजास्वेव हि जाजले ।
भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः ॥ ५० ॥

एक समयकी बात है, ऋषियों और यतियोंने राजा नहुषके पास जाकर निवेदन किया कि तुमने माता गौ और प्रजापति वृषभका वध किया है, नहुष ! यह तुम्हारे द्वारा न करनेयोग्य पापकर्म किया गया है, तुम्हारे इस कुकृत्यके कारण हम सब लोगोंको बड़ी व्यथा हो रही है । जाजले ! ऐसा कहकर नहुषके द्वारा प्रशंसित उन महाभाग ऋषियोंने पापको एक सौ एक रोगोंके रूपमें परिणत करके समस्त प्राणियोंपर डाल दिया, राजा नहुषको भ्रूणहत्यारा बताया और [illegible] कह दिया कि हमलोग तुम्हारे यज्ञमें हविष्यकी आहुति नहीं देंगे॥

इत्युक्त्वा ते महात्मानः सर्वे तत्त्वार्थदर्शिनः ।
ऋषयो यतयः शान्तास्तपसा प्रत्यवेदयन् ॥ ५१ ॥

ऐसा कहकर उन समस्त तत्त्वार्थदर्शी महात्माओंने तपस्या (ध्यान) द्वारा सारी बातें [illegible] लीं और नहुषके अज्ञानवश यह पाप होनेके कारण उन्हें निर्दोष [illegible] वे सब ऋषि और यति शान्त हो गये ॥ ५१ ॥

ईदृशानशिवान् घोरानाचारानिह जाजले ।
केवलाचरितत्वात् तु निपुणो नावबुद्ध्यसे ॥ ५२ ॥

जाजले ! इस तरहके अमङ्गलकारी और भयंकर आचार इस जगत्में बहुत-से प्रचलित हैं; केवल इसलिये कि अमुक कर्म पूर्वजोंद्वारा भी किया गया है, तुम चतुर होते हुए भी उसकी बुराईपर ध्यान नहीं देते ॥ ५२ ॥

कारणाद् धर्ममन्विच्छेन्न लोकचरितं चरेत् ।
यो हन्याद् यश्च मां स्तौति तत्रापि शृणु जाजले ॥ ५३ ॥
समौ तावपि मे स्यातां न हि मेऽस्ति प्रियाप्रियम् ।
एतदीदृशकं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः ॥ ५४ ॥

इस कर्मका हेतु या परिणाम क्या है ? इसपर विचार करके ही तुम्हें किसी भी धर्मको स्वीकार करना चाहिये । लोगोंने किया है या कर रहे हैं, यह जानकर उनका अन्धानुकरण नहीं करना चाहिये । जाजले ! अब मैं अपने विषयमें कुछ निवेदन करता हूँ, उसे सुनो, जो मुझे मारता है तथा जो मेरी प्रशंसा करता है, वे दोनों ही मेरे लिये बराबर हैं । उनमेंसे कोई भी मेरे लिये प्रिय या अप्रिय नहीं है, मनीषी पुरुष ऐसे ही धर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥ ५३-५४ ॥

उपपत्त्या हि सम्पन्नो यतिभिश्चैव सेव्यते ।

सततं धर्मशीलैश्च निपुणेनोपलक्षितः ॥ ५५ ॥

यही युक्तिसंगत है, यति भी इसीका सेवन करते हैं तथा धर्मात्मा मनुष्य अच्छी तरह विचारकर सदा इसी धर्मका अनुष्ठान करते हैं ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे द्विषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार और जाजलिका संवादविषयक दो सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५५½ श्लोक हैं)

त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिको तुलाधारका आत्मयज्ञविषयक धर्मका उपदेश

जाजलिरुवाच

अयं प्रवर्तितो धर्मस्तुलां धारयता त्वया ।
स्वर्गद्वारं च वृत्तिं च भूतानामवरोत्स्यते ॥ १ ॥

जाजलिने कहा—वणिक् महोदय ! तुम हाथमें तराजू लेकर सौदा तौलते हुए जिस धर्मका उपदेश करते हो, उससे तो स्वर्गका दरवाजा ही बंद किये देते हो और प्राणियोंकी जीविकावृत्तिमें भी रुकावट पैदा करते हो ॥ १ ॥

कृष्या ह्यन्नं प्रभवति ततस्त्वमपि जीवसि ।
पशुभिश्चौषधीभिश्च मर्त्या जीवन्ति वाणिज ॥ २ ॥

वैश्यपुत्र ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि खेतीसे ही अन्न पैदा होता है, जिससे तुम भी जी रहे हो । अन्न और पशुओंसे ही मनुष्यका जीवन-निर्वाह होता है ॥ २ ॥

ततो यज्ञः प्रभवति नास्तिक्यमपि जल्पसि ।
न हि वर्तेदयं लोको वार्तामुत्सृज्य केवलाम् ॥ ३ ॥

उन्हींसे यज्ञकार्य सम्पन्न होता है । तुम तो नास्तिकताकी भी बातें करते हो । यदि पशुओंके कष्टका ख्याल करके खेती आदि वृत्तियोंका त्याग कर दिया जाय, तो इस संसारका जीवन ही समाप्त हो जायगा ॥ ३ ॥

तुलाधार उवाच

वक्ष्यामि जाजले वृत्तिं नास्मि ब्राह्मण नास्तिकः ।
न यज्ञं च विनिन्दामि यज्ञवित् तु सुदुर्लभः ॥ ४ ॥

तुलाधारने कहा—जाजले ! मैं तुम्हें हिंसारहित जीविका-वृत्ति बताऊँगा । ब्राह्मणदेव ! मैं नास्तिक नहीं हूँ और न यज्ञकी ही निन्दा करता हूँ; परंतु यज्ञके यथार्थ स्वरूपको समझनेवाला पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४ ॥

नमो ब्राह्मणयज्ञाय ये च यज्ञविदो जनाः ।
स्वयज्ञं ब्राह्मणा हित्वा क्षत्रयज्ञमिहास्थिताः ॥ ५ ॥

विप्र ! ब्राह्मणोंके लिये जिस यज्ञका विधान है, उसको तो मैं नमस्कार करता हूँ और जो लोग उस यज्ञको ठीक-ठीक जानते हैं, उनके चरणोंमें भी मस्तक झुकाता हूँ, किंतु खेद है, इस समय ब्राह्मणलोग अपने यज्ञका परित्याग करके क्षत्रियोचित यज्ञोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ५ ॥

लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम् ।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥ ६ ॥

ब्रह्मन् ! धन कमानेके प्रयत्नमें लगे हुए बहुतसे लोभी और नास्तिक पुरुषोंने वैदिक वचनोंका तात्पर्य न समझकर सत्य-से प्रतीत होनेवाले मिथ्या यज्ञोंका प्रचार कर दिया है ॥ ६ ॥

इदं देयमिदं देयमिति चायं प्रशस्यते ।
अतः स्तैन्यं प्रभवति विकर्माणि च जाजले ॥ ७ ॥

जाजले ! श्रुतियों और स्मृतियोंमें कहा गया है कि अमुक कर्मके लिये यह दक्षिणा देनी चाहिये, यह दक्षिणा देनी चाहिये, उसके अनुसार वैसी दक्षिणा देनेसे भी यह यज्ञ श्रेष्ठ माना जाता है; अन्यथा शक्ति रहते हुए यदि यज्ञकर्ताने लोभ दिखाया तो उसको चोरी करनेका पाप लगता है और उस कर्ममें भी विपरीतता आ जाती है ॥ ७ ॥

यदेव सुकृतं हव्यं तेन तुष्यन्ति देवताः ।
नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथा ॥ ८ ॥
पूजा स्याद् देवतानां हि यथा शास्त्रनिदर्शनम् ।

शुभ कर्मके द्वारा जिस हविष्यका संग्रह किया जाता है, उसीके होमसे देवता संतुष्ट होते हैं । शास्त्रके कथनानुसार नमस्कार, स्वाध्याय, घी और अन्न—इन सबके द्वारा देवताओंकी पूजा हो सकती है ॥ ८½ ॥

इष्टापूर्तादसाधूनां विगुणा जायते प्रजा ॥ ९ ॥

जो लोग कामनाके वशीभूत होकर यज्ञ करते, तालाब खुदवाते या बगीचे लगवाते हैं, उन (सकामभावयुक्त) असाधु पुरुषोंसे उन्हींके समान गुणहीन संतान उत्पन्न होती है ॥ ९ ॥

लुब्धेभ्यो जायते लुब्धः समेभ्यो जायते समः ।
यजमाना यथाऽऽत्मानमृत्विजश्च तथा प्रजाः ॥ १० ॥

लोभी पुरुषोंसे लोभीका जन्म होता है और समदर्शी पुरुषोंसे समदर्शी पुत्र उत्पन्न होता है । यजमान और ऋत्विज स्वयं जैसे होते हैं, उनकी प्रजा भी वैसी ही होती है ॥

यज्ञात् प्रजा प्रभवति नभसोऽम्भ इवामलम् ।
अग्नौ प्रास्ताहुतिर्ब्रह्मन्नादित्यमुपगच्छति ॥ ११ ॥
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।

जिस प्रकार आकाशसे निर्मल जलकी वर्षा होती है उसी प्रकार शुद्ध भावसे किये हुए यज्ञसे योग्य प्रजाकी उत्पत्ति होती है। विप्रवर! अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यमण्डलको प्राप्त होती है, सूर्यसे जलकी वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न उपजता है और अन्नसे सम्पूर्ण प्रजा जन्म तथा जीवन धारण करती है ॥ ११½ ॥

तस्मात् सुनिष्ठिताः पूर्वे सर्वान् कामांश्च लेभिरे ॥ १२ ॥
अकृष्टपच्या पृथिवी आशीर्भिर्वीरुधोऽभवन् ।

पहलेके लोग कर्तव्य समझकर यज्ञमें श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त होते थे और उस यज्ञसे उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ स्वतः पूर्ण हो जाती थीं। पृथ्वीसे बिना जोते-बोये ही काफी अन्न पैदा होता तथा जगत्की भलाईके लिये उनके शुभ संकल्पसे ही वृक्षों और लताओंमें [illegible] फूल लगते थे ॥ १२½ ॥

न ते यज्ञेष्वात्मसु वा फलं पश्यन्ति किंचन ॥ १३ ॥
शङ्कमानाः फलं यज्ञे ये यजेरन् कथंचन ।
जायन्तेऽसाधवो धूर्ता लुब्धा वित्तप्रयोजनाः ॥ १४ ॥

वे यज्ञोंमें अपने लिये किसी फलकी ओर दृष्टि नहीं रखते थे। जो मनुष्य यज्ञसे कोई फल मिलता है या नहीं, इस प्रकार-[illegible] संदेह मनमें लेकर किसी तरह यज्ञोंमें प्रवृत्त होते हैं, वे धन चाहनेवाले लोभी, धूर्त और दुष्ट होते हैं ॥ १३-१४ ॥

स स्म पापकृतां लोकान् गच्छेदशुभकर्मणा ।
प्रमाणमप्रमाणेन यः कुर्यादशुभं नरः ॥ १५ ॥
पापात्मा सोऽकृतप्रज्ञः सदैवेह द्विजोत्तम ।

द्विजश्रेष्ठ! जो मनुष्य प्रमाणभूत वेदको अपने अप्रामाणिक कुतर्कद्वारा अमङ्गलकारी सिद्ध करता है, उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, उसका मन सदा यहाँ पापोंमें ही लगा रहता है और वह अपने अशुभ कर्मके कारण पापाचारियोंके लोकों (नरकों) [illegible] ही जाता है ॥ १५½ ॥

कर्तव्यमिति कर्तव्यं वेत्ति वै ब्राह्मणो भयम् ॥ १६ ॥
ब्रह्मैव वर्तते लोके नैव कर्तव्यतां पुनः ।

जो करने योग्य कर्मोंको अपना कर्तव्य समझता है और उसका पालन न होनेपर भय मानता है, जिसकी दृष्टिमें (ऋत्विक्, हविष्य, मन्त्र और अग्नि आदि) सब कुछ ब्रह्म ही है तथा जो किसी भी कर्तव्यको अपना नहीं मानता—कर्तापनका अभिमान नहीं रखता, वही [illegible] ब्राह्मण है ॥ १६½ ॥

विगुणं च पुनः कर्म ज्याय इत्यनुशुश्रुम ॥ १७ ॥
सर्वभूतोपघातश्च फलभावे च संयमः ।

हमने सुना है कि यदि कर्ममें किसी प्रकारकी त्रुटि हो जानेके कारण वह गुणहीन हो जाय तो भी यदि वह निष्कामभावसे किया जा रहा है तो श्रेष्ठ ही है अर्थात् वह कल्याणकारी ही होता है। निष्कामभावसे किये जानेवाले कर्ममें यदि कुत्ते आदि अपवित्र पशुओंके द्वारा स्पर्श हो जानेसे कोई बाधा भी आ जाय तथापि वह कर्म नष्ट नहीं होता, वह श्रेष्ठतम ही माना जाता है, अतः प्रत्येक कर्ममें फलकी भावना या कामनापर संयम—नियन्त्रण रखना आवश्यक है ॥ १७½ ॥

सत्ययज्ञा दमयज्ञा अर्थलुब्धार्थतृप्तयः ॥ १८ ॥
उत्पन्नत्यागिनः सर्वे जना आसन्नमत्सराः ।

प्राचीन कालके ब्राह्मण सत्यभाषण और इन्द्रियसंयमरूप यज्ञका अनुष्ठान करते थे। वे परम पुरुषार्थ (मोक्ष) के प्रति लोभ रखते थे, उन्हें लौकिक धनकी प्यास नहीं रहती थी, वे उस ओरसे सदा तृप्त रहते थे। वे सब लोग [illegible] वस्तुका त्याग करनेवाले और ईर्ष्या-द्वेषसे रहित थे ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञतत्त्वज्ञाः स्वयज्ञपरिनिष्ठिताः ॥ १९ ॥
ब्राह्मं वेदमधीयन्तस्तोषयन्त्यपरानपि ।

वे क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) के तत्त्वको जाननेवाले और आत्मयज्ञ-परायण थे। उपनिषदोंके अध्ययनमें तत्पर रहते तथा स्वयं संतुष्ट होकर दूसरोंको भी संतोष देते थे ॥ १९½ ॥

अखिलं दैवतं सर्वं [illegible] ब्रह्मणि संश्रितम् ॥ २० ॥
तुष्यन्ति तृप्यतो देवास्तृप्तास्तृप्तस्य जाजले ।

[illegible] सर्वस्वरूप है, सम्पूर्ण देवता उसीके रूप हैं, वह ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणके भीतर विराजमान है। इसलिये जाजले! इसके तृप्त होनेपर सम्पूर्ण देवता तृप्त एवं संतुष्ट हो जाते हैं ॥

यथा सर्वरसैस्तृप्तो नाभिनन्दति किंचन ॥ २१ ॥
[illegible] प्रज्ञानतृप्तस्य नित्यतृप्तिः सुखोदया ।

जैसे सब प्रकारके रसोंसे तृप्त हुआ मनुष्य किसी भी रसका अभिनन्दन नहीं करता, उसी प्रकार जो ज्ञानानन्दसे परितृप्त है, उसे अक्षय सुख देनेवाली नित्य तृप्ति बनी रहती है ॥

धर्माधारा धर्मसुखाः कृत्स्नव्यवसितास्तथा ॥ २२ ॥
अस्ति नस्तत्त्वतो भूय इति प्राज्ञस्तवेक्षते ।

हममेंसे बहुत लोग ऐसे हैं, जिनका धर्म ही आधार है, जो धर्ममें ही सुख मानते हैं तथा जिन्होंने सम्पूर्ण कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय कर लिया है, परंतु हमलोगोंका जो यथार्थरूप है, उसकी अपेक्षा बहुत महान् और व्यापक परमात्मा सर्वत्र सर्वात्मा रूपसे विराजमान है—ऐसा ज्ञानी पुरुष देखता है ॥ २२½ ॥

ज्ञानविज्ञानिनः केचित् परं पारं तितीर्षवः ॥ २३ ॥
अतीव पुण्यदं पुण्यं पुण्याभिजनसंहितम् ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति न च्यवन्ति व्यथन्ति च ॥ २४ ॥

भवसागरसे पार उतरनेकी इच्छावाले कोई-कोई ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न महात्मा पुरुष ही अत्यन्त पवित्र और पुण्यात्माओंसे सेवित पुण्यदायक ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं,

जहाँ जाकर वे न तो शोक करते हैं, न वहाँसे नीचे गिरते हैं और न मनमें किसी प्रकारकी व्यथाका ही अनुभव करते हैं ॥ २३-२४ ॥

ते तु तद् ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्तीह सात्त्विकाः।
नै[illegible] ते स्वर्गमिच्छन्ति न यजन्ति यशोधनैः ॥ २५ ॥
सतां वर्त्मानुवर्तन्ते यजन्ते चाविहिंसया।
वनस्पतीनोषधीश्च फलं मूलं च ते विदुः ॥ २६ ॥
न चैतानृत्विजो लुब्धा याजयन्ति फलार्थिनः।

वे सात्त्विक महापुरुष उस ब्रह्मधामको ही प्राप्त होते हैं, उन्हें स्वर्गकी इच्छा नहीं होती, वे यश और धनके लिये यज्ञ नहीं करते, सत्पुरुषोंके मार्गपर चलते और हिंसा-रहित यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं। वनस्पति, अन्न और फल-मूलको ही वे हविष्य मानते हैं, धनकी इच्छा रखनेवाले लोभी ऋत्विज इनका यज्ञ नहीं कराते हैं ॥ २५-२६½ ॥

स्वमेव चार्थं कुर्वाणा यज्ञं चक्रुः पुनर्द्विजाः ॥ २७ ॥
परिनिष्ठितकर्माणः प्रजानुग्रहकाम्यया।

ज्ञानी ब्राह्मणोंने अपनेको ही यज्ञका उपकरण मानकर मानसिक यज्ञका अनुष्ठान किया है। उन्होंने प्रजाहितकी कामनासे ही मानसिक यज्ञका अनुष्ठान किया है ॥ २७½ ॥

तस्मात् तानृत्विजो लुब्धा याजयन्त्यशुभान् नरान् २८
प्रापयेयुः प्रजाः स्वर्गं स्वधर्माचरणेन वै।
इति मे वर्तते बुद्धिः समा सर्वत्र जाजले ॥ २९ ॥

लोभी ऋत्विज तो ऐसे लोगोंका ही यज्ञ कराते हैं, जो अशुभ (मोक्षकी इच्छासे रहित) होते हैं, श्रेष्ठ पुरुष तो स्वधर्मका आचरण करते हुए ही प्रजाको स्वर्गमें पहुँचा देते हैं। जाजले ! यही सोचकर मेरी बुद्धि भी सर्वत्र समान भाव ही रखती है ॥ २८-२९ ॥

यानि यज्ञे ष्विहेज्यन्ति सदा प्राज्ञा द्विजर्षभाः।
तेन ते देवयानेन पथा यान्ति महामुने ॥ ३० ॥

महामुने ! श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण सदा ही जिन द्रव्योंको लेकर उनका यज्ञोंमें उपयोग करते हैं उन्हींके द्वारा वे दिव्य मार्गसे पुण्य लोकोंमें जाते हैं ॥ ३० ॥

आवृत्तिस्तस्य चैकस्य नास्त्यावृत्तिर्मनीषिणः।
उभौ तौ देवयानेन गच्छतो जाजले यथा ॥ ३१ ॥

जाजले ! जो कामनाओंमें आसक्त है, उसी मनुष्यकी इस संसारमें पुनरावृत्ति होती है। ज्ञानीका पुनः यहाँ जन्म नहीं होता। यद्यपि दोनों दिव्यमार्गसे ही पुण्यलोकोंमें [illegible] हैं,तथापि संकल्प-भेदसे ही उनकी आवृत्ति और अनावृत्ति होती है॥

स्वयं चैषामनडुहो युज्यन्ति च वहन्ति च।
स्वयमुस्राश्च दुह्यन्ते मनःसंकल्पसिद्धिभिः ॥ ३२ ॥

ज्ञानी महात्माओंकी इच्छा होते ही उनके मानसिक संकल्पकी सिद्धियोंके अनुसार बैल स्वयं गाड़ीमें जुतकर उनकी सवारी ढोने लगते हैं, दूध देनेवाली गौएँ [illegible] ही सब प्रकारके मनोरथोंकी सिद्धिरूप दुग्ध प्रदान [illegible] हैं॥

स्वयं यूपानुपादाय यजन्ते स्वाप्तदक्षिणैः।
यस्तथा भावितात्मा स्यात् स गामालब्धुमर्हति ॥ ३३ ॥

योगसिद्ध पुरुषोंके पास स्वयं यज्ञयूप उपस्थित हो जाते हैं और उन्हें लेकर वे पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त [illegible] यजन करते हैं। उनके ऋत्विजोंके पास दक्षिणा भी स्वतः उपस्थित हो जाती है। जिसका अन्तःकरण इस प्रकार शुद्ध एवं सिद्ध हो गया है, वही पृथ्वीको उपलब्ध कर सकता है॥

ओषधीभिस्तथा ब्रह्मन् यजेरंस्ते न तादृशाः।
इति त्यागं पुरस्कृत्य तादृशं प्रब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

ब्रह्मन् ! इसलिये वे योगसिद्ध पुरुष ओषधियों—अन्न आदिके द्वारा यज्ञ कर सकते हैं। जो पहले बताये [illegible] मूढ लोग हैं, वे उस तरहका यज्ञ नहीं कर सकते। धर्म-फलका त्याग करनेवाले महात्माओंका ऐसा अद्भुत माहात्म्य है, इसलिये मैं त्यागको आगे रखकर तुमसे ऐसी बात कह रहा हूँ॥

निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३५ ॥

जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी [illegible] इच्छासे कर्मोंका आरम्भ नहीं करता, नमस्कार और स्तुतिसे अलग रहता है, जिसका धर्म नहीं क्षीण हुआ है, कर्म-बन्धन क्षीण हो गया है, उसी पुरुषको देवतालोग ब्राह्मण मानते हैं॥

न श्रावयन् न च यजन् न ददद् ब्राह्मणेषु च।
काम्यां वृत्तिं लिप्समानः कां गतिं याति जाजले।
इदं तु दैवतं कृत्वा यथा यज्ञमवाप्नुयात् ॥ ३६ ॥

जाजले ! जो ब्राह्मण वेदाध्ययन, यजन और ब्राह्मणोंको दान देना आदि वर्णोचित कर्म नहीं करता और मनोहर भोग पदार्थोंकी लिप्सा रखता है, वह कुत्सित गतिको प्राप्त होता है। किंतु निष्काम धर्मको देवताके समान आराध्य बनानेवाला मनुष्य यज्ञके यथार्थ फल—मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

जाजलिरुवाच

न वै मुनीनां शृणुमः [illegible] तत्त्वं
पृच्छामि ते वाणिज कष्टमेतत्।
पूर्वैः पूर्वं चास्य नावेक्षमाणा
नातः परं तमृषयः स्थापयन्ति ॥ ३७ ॥

जाजलिने पूछा—वैश्यप्रवर ! मैंने आत्मज्ञानी मुनियोंके समीप तुम्हारेद्वारा प्रतिपादित तत्त्वको कभी नहीं सुना। सम्भवतः यह समझनेमें कठिन भी है, क्योंकि पूर्ववर्ती महर्षियोंने उसके ऊपर विशेष विचार नहीं किया है। जिन्होंने विचार किया है, उन्होंने भी उत्तम होनेपर भी इस धर्मकी जगत्‌में स्थापना नहीं की है अतः मैं तुमसे ही पूछता हूँ ॥ ३७ ॥

यस्मिन्नेवात्मतीर्थे न पशवः प्राप्नुयुर्मखम् ।
अथ स्म कर्मणा केन वाणिज प्राप्नुयात् सुखम् ॥ ३८ ॥
शंस मे तन्महाप्राज्ञ भृशं वै श्रद्दधामि ते ।

वणिक्पुत्र ! यदि इस प्रकार आत्मतीर्थमें पशु अर्थात् अज्ञानी मानव आत्मयज्ञका सौभाग्य नहीं पा सकते, तो किस कर्मसे उन्हें सुखकी प्राप्ति हो सकती है ? महामते ! यह बात मुझे बताओ । मैं तुम्हारे कथनपर अधिक श्रद्धा रखता हूँ ॥

तुलाधार उवाच

उत यज्ञा उतायज्ञा मखं नार्हन्ति ते क्वचित् ॥ ३९ ॥
आज्येन पयसा दध्ना पूर्णाहुत्या विशेषतः ।
वालैः शृङ्गेण पादेन सम्भरत्येव गौर्मखम् ॥ ४० ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन् ! जिन दम्भी पुरुषोंके यज्ञ अश्रद्धा आदि दोषोंके कारण यज्ञ कहलानेयोग्य नहीं रह जाते, वे न तो मानसिक यज्ञके अधिकारी हैं और न क्रियात्मक यज्ञके ही । श्रद्धालु पुरुष तो घी, दूध, दही और विशेषतः पूर्णाहुतिसे ही अपना यज्ञ पूर्ण करते हैं । श्रद्धालुओंमें जो असमर्थ हैं, उनका यज्ञ गाय अपनी पूँछके बालोंके स्पर्शसे, शृङ्गजलसे और पैरोंकी धूलसे ही पूर्ण कर देती है ॥ ३९-४० ॥

पत्नीं चानेन विधिना प्रकरोति नियोजयन् ।
इष्टं तु दैवतं कृत्वा यथा यज्ञमवाप्नुयात् ॥ ४१ ॥

इसी विधिसे देवताके लिये घी आदि द्रव्य समर्पित करनेके लिये श्रद्धाको ही पत्नी बनाये और यज्ञको ही देवताके समान आराध्य बनाकर यथावत् रूपसे यज्ञपुरुष भगवान् विष्णुको प्राप्त करे ॥ ४१ ॥

पुरोडाशो हि सर्वेषां पशूनां मेध्य उच्यते ।
सर्वा नद्यः सरस्वत्यः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः ॥ ४२ ॥

यज्ञविहित समस्त पशुओंके दुग्ध आदिसे निर्मित पुरोडाशको ही पवित्र बताया जाता है । सारी नदियाँ ही सरस्वतीका रूप हैं और समस्त पर्वत ही पुण्यमय प्रदेश हैं ॥

जाजले तीर्थमात्मैव मा स्म देशातिथिर्भव ।
एतानीदृशकान् धर्मानाचरन्निह जाजले ॥ ४३ ॥
कारणैर्धर्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान् ।

जाजले ! यह आत्मा ही प्रधान तीर्थ है । आप तीर्थ-सेवनके लिये देश-देशमें मत भटकिये । जो यहाँ मेरे बताये हुए अहिंसाप्रधान धर्मोंका आचरण करता है तथा विशेष कारणोंसे धर्मका अनुसंधान करता है, वह कल्याणकारी लोकोंको [illegible] होता है ॥ ४३½ ॥

भीष्म उवाच

एतानीदृशकान् धर्मांस्तुलाधारः प्रशंसति ॥ ४४ ॥
उपपत्त्याभिसम्पन्नान् नित्यं सद्भिर्निषेवितान् ॥ ४५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार हिंसा-रहित, युक्तिसंगत तथा श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सेवित धर्मोंकी ही [illegible] वैश्यने सदा प्रशंसा की थी ॥ ४४-४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे त्रिषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार और जाजलिका संवादविषयक दो सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जाजलिको पक्षियोंका उपदेश

तुलाधार उवाच

सद्भिर्वा यदि वासद्भिः पन्थानमिममास्थितम् ।
प्रत्यक्षं क्रियतां साधु ततो ज्ञास्यसि तद् यथा ॥ १ ॥

तुलाधारने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने धर्मके जिस मार्गका दर्शन कराया है, उसपर सज्जन पुरुष चलते हैं या दुर्जन ? इस बातको अच्छी तरह जाँचकर प्रत्यक्ष कर लो । तब तुम्हें इसकी यथार्थताका ज्ञान होगा ॥ १ ॥

एते शकुन्ता बहवः समन्ताद् विचरन्ति ह ।
तवोत्तमाङ्गे सम्भूताः श्येनाश्चान्याश्च जातयः ॥ २ ॥

देखो ! आकाशमें ये जो बहुत-से श्येन एवं दूसरी जातियोंके पक्षी चारों ओर विचरण कर रहे हैं, इनमें तुम्हारे सिरपर उत्पन्न हुए पक्षी भी हैं ॥ २ ॥

आहूयैनान् महाब्रह्मन् विशमानांस्ततस्ततः ।
पश्येमान् हस्तपादैश्च श्लिष्टान् देहेषु सर्वशः ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् ! ये यत्र-तत्र घोंसलोंमें घुस रहे हैं । देखो, इन सबके हाथ-पैर सिकुड़कर शरीरोंसे सट गये हैं । इन सबको बुलाकर पूछो ॥ ३ ॥

सम्भावयन्ति पितरं त्वया सम्भाविताः खगाः ।
असंशयं पिता वै त्वं पुत्रानाह्वय जाजले ॥ ४ ॥

ये पक्षी तुम्हारे द्वारा पालित और समादृत हुए हैं । अतः तुम्हारा पिताके समान सम्मान करते हैं । जाजले ! इसमें संदेह नहीं कि तुम इनके पिता ही हो; अतः इन पुत्रोंको बुलाकर प्रश्न करो ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

ततो जाजलिना तेन समाहूताः पतत्त्रिणः ।
वाचमुच्चारयन्ति स्म धर्मस्य वचनात् किल ॥ ५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर जाजलिने उन पक्षियोंको बुलाया । उनका धर्मयुक्त वचन सुनकर

वे पक्षी वहाँ आये और उनसे मनुष्यके समान [illegible] वाणीमें बोलने लगे—॥ ५ ॥

अहिंसादिकृतं कर्म इह चैव परत्र च।
श्रद्धां निहन्ति वै ब्रह्मन् सा हता हन्ति तं नरम्॥ ६ ॥

'अहिंसा और दया आदि भावोंसे प्रेरित होकर किया हुआ कर्म इहलोक और परलोकमें भी उत्तम फल देनेवाला है। ब्रह्मन्! यदि मनमें हिंसाकी भावना हो तो वह श्रद्धाका नाश कर देती है। फिर नष्ट हुई श्रद्धा कर्म करनेवाले इस हिंसक मनुष्यका ही सर्वनाश कर डालती है॥ ६॥

समानां श्रद्दधानानां संयतानां सुचेतसाम्।
कुर्वतां यज्ञ इत्येव न यज्ञो जातु नेष्यते॥ ७ ॥

'जो हानि और लाभमें समान भाव रखनेवाले, श्रद्धालु, संयमी और शुद्ध चित्तवाले पुरुष हैं तथा यज्ञको कर्तव्य समझकर करते हैं, उनका यज्ञ कभी असफल नहीं होता॥७॥

[illegible] वैवस्वती सेयं सूर्यस्य दुहिता द्विज।
सावित्री प्रसवित्री च बहिर्वाङ्मनसी ततः॥ ८ ॥

'ब्रह्मन्! श्रद्धा सूर्यकी पुत्री है, इसलिये उसे वैवस्वती, सावित्री और प्रसवित्री (विशुद्ध जन्मदायिनी) भी कहते हैं। वाणी और मन भी श्रद्धाकी अपेक्षा बहिरङ्ग हैं॥ ८॥

वाग्वृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धं च भारत।
श्रद्धावृद्धं वाङ्मनसी न कर्म त्रातुमर्हति॥ ९ ॥

'भरतनन्दन! यदि वाणीके दोषसे मन्त्रके उच्चारणमें त्रुटि रह जाय और मनकी चञ्चलताके कारण इष्टदेवताका ध्यान आदि कर्म सम्पन्न न हो सके तो भी यदि श्रद्धा हो तो वह वाणी और मनके दोषको दूर करके उस कर्मकी [illegible] कर सकती है। परंतु यदि श्रद्धा न होनेके कारण कर्ममें त्रुटि रह जाय तो वाणी और मन (मन्त्रोच्चारण और ध्यान) उस कर्मकी रक्षा नहीं कर सकते॥ ९॥

[illegible] गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
शुचेरश्रद्दधानस्य श्रद्दधानस्य चाशुचेः॥ १० ॥
देवा वित्तममन्यन्त सदृशं यज्ञकर्मणि।
श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः॥ ११ ॥
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन्।

इस विषयमें प्राचीन वृत्तान्तोंको जाननेवाले लोग ब्रह्माजीकी गायी हुई गाथाका वर्णन किया करते हैं, जो इस प्रकार है—पहले देवतालोग श्रद्धाहीन पवित्र और पवित्रतारहित श्रद्धालुके द्रव्यको यज्ञकर्मके लिये एक-सा ही समझते थे। इसी प्रकार वे कृपण वेदवेत्ता और महादानी सूदखोरके अन्नमें भी कोई अन्तर नहीं मानते थे। देवताओंने खूब सोच-विचार कर दोनों प्रकारके अन्नोंको समान निश्चित किया था॥ १०-११½॥

प्रजापतिस्तानुवाच विषमं कृतमित्युत॥ १२ ॥
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्।

'किंतु एक बार यज्ञमें प्रजापतिने उनसे इन बातोंको देखकर कहा—'देवताओ! तुमने यह अनुचित किया है। वास्तवमें उदारका अन्न उसकी श्रद्धाके कारण पवित्र होता है और कंजूसका अश्रद्धाके कारण अपवित्र एवं नष्टप्राय समझा जाता है*॥ १२½॥

भोज्यमन्नं वदान्यस्य कदर्यस्य न वार्धुषेः॥ १३ ॥
अश्रद्दधान एवैको देवानां नार्हते हविः।
तस्यैवान्नं न भोक्तव्यमिति धर्मविदो विदुः॥ १४ ॥

'साराश यह कि उदारका ही अन्न भोजन करना चाहिये, कृपण, श्रोत्रिय एवं केवल सूदखोरका नहीं। जिसमें श्रद्धा नहीं है, एकमात्र वही देवताओंको हविष्य अर्पण करनेका अधिकार नहीं रखता है। उसीका अन्न नहीं खाना चाहिये। धर्मज्ञ पुरुष ऐसा ही मानते हैं॥ १३-१४॥

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥ १५ ॥

'अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पापसे छुटकारा दिलानेवाली है। जैसे साँप अपने पुरानी केंचुलको छोड़ देता है, उसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष पापका परित्याग कर देता है॥ १५॥

ज्यायसी [illegible] पवित्राणां निवृत्तिः श्रद्धया सह।
निवृत्तशीलदोषो यः श्रद्धावान् पूत [illegible] सः॥ १६ ॥

'श्रद्धा होनेके साथ-ही-साथ पापोंसे निवृत्त हो जाना [illegible] पवित्रताओंसे बढ़कर है। जिसके शीलसम्बन्धी दोष दूर हो गये हैं, वह श्रद्धालु पुरुष सदा पवित्र ही है॥ १६॥

किं तस्य तपसा कार्यं किं वृत्तेन किमात्मना।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव [illegible]॥ १७ ॥

'उसे तपस्याद्वारा क्या लेना है? आचार-व्यवहार अथवा आत्मचिन्तनद्वारा कौन सा प्रयोजन सिद्ध करना है? यह पुरुष श्रद्धामय है, जिसकी जैसी सात्त्विकी, राजसी या तामसी श्रद्धा होती है, वह वैसा सात्त्विक, राजस या तामस होता है॥१७॥

इति धर्मः समाख्यातः सद्भिर्धर्मार्थदर्शिभिः।
वयं जिज्ञासमानास्तु सम्प्राप्ता धर्मदर्शनात्॥ १८ ॥

'धर्म और अर्थका साक्षात्कार करनेवाले सत्पुरुषोंने इसी प्रकार धर्मकी व्याख्या की है। हमलोगोंने धर्मदर्शन नामक मुनिसे जिज्ञासा प्रकट करनेपर उस धर्मका ज्ञान प्राप्त किया है॥ १८॥

श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ ततः प्राप्स्यसि यत् परम्।
श्रद्धावाञ्श्रद्दधानश्च धर्मश्चैव हि जाजले।

* अतः श्रद्धाहीन पवित्रकी अपेक्षा पवित्रताहीन श्रद्धालुका ही अन्न ग्रहण करने योग्य है। इसी प्रकार [illegible] वेदोंके [illegible] दानी सूदखोरमेंसे दानी सूदखोरका ही अन्न श्रद्धापूत एवं [illegible] है। केवल सूदखोर और केवल कृपणका अन्न तो त्याज्य है ही।

स्ववर्त्मनि स्थितश्चैव गरीयानेव जाजले ॥ १९ ॥

महाज्ञानी जाजलि ! तुम इसपर श्रद्धा करो । तदनन्तर इसके अनुसार आचरण करनेसे तुम्हें परमगतिकी प्राप्ति होगी। [illegible] करनेवाला श्रद्धालु पुरुष साक्षात् धर्मका स्वरूप है । जाजले ! जो श्रद्धापूर्वक अपने धर्मपर स्थित है, वही सबसे श्रेष्ठ माना गया है' ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच

ततोऽचिरेण कालेन तुलाधारः स एव [illegible] ।
दिवं गत्वा महाप्राज्ञौ विहरेतां यथासुखम् ॥ २० ॥
स्वं स्वं स्थानमुपागम्य स्वकर्मफलनिर्जितम् ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर थोड़े ही समयमें तुलाधार और जाजलि दोनों महाज्ञानी पुरुष परमधाम- [illegible] जाकर अपने शुभ कर्मोंके फलस्वरूप अपने-अपने स्थानको पाकर वहाँ सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ २०३ ॥

[illegible] बहुविधार्थं [illegible] तुलाधारेण भाषितम् ॥ २१ ॥
सम्यक् चेदमुपालब्धो धर्मश्चोक्तः सनातनः ।
[illegible] विख्यातवीर्यस्य श्रुत्वा वाक्यानि स द्विजः ॥ २२ ॥

इस प्रकार तुलाधारने नाना प्रकारके वक्तव्य विषयोंसे युक्त उत्तम भाषण किया । उन्होंने सनातनधर्मका भी वर्णन किया । ब्राह्मण जाजलिने विख्यात प्रभावशाली तुलाधारके वे वचन सुनकर उनके इस तात्पर्यको भलीभाँति हृदयंगम किया ॥ २१-२२ ॥

तुलाधारस्य कौन्तेय शान्तिमेवान्वपद्यत ।
एवं बहुमतार्थं च तुलाधारेण भाषितम् ।
यथौपम्योपदेशेन किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन ! तुलाधारने जो उपदेश दिया था, वह बहुजनसम्मत अर्थसे युक्त था । उसे सुनकर जाजलिको परम शान्ति प्राप्त हुई । उसे यथावत् दृष्टान्तपूर्वक [illegible] गया है । अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि तुलाधारजाजलिसंवादे चतुःषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तुलाधार-जाजलि-संवादविषयक दो सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६४ ॥

पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

राजा विचख्नुके [illegible] अहिंसा-धर्मकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रजानामनुकम्पार्थं गीतं [illegible] विचख्नुना ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! प्राचीन कालमें राजा विचख्नुने [illegible] प्राणियोंपर दया करनेके लिये जो उद्गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहासका इस प्रसङ्गमें जानकार मनुष्य उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम् ।
गोग्रहे [illegible] प्रेक्षमाणः स पार्थिवः ॥ २ ॥

एक समय किसी यज्ञशालामें राजाने देखा कि एक बैलकी गरदन कटी हुई है और वहाँ बहुत-सी गौएँ आर्तनाद कर रही हैं । यज्ञशालाके प्राङ्गणमें कितनी ही गौएँ खड़ी हैं । यह सब देखकर राजा बोले—॥ २ ॥

स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम् ।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता ॥ ३ ॥

'संसारमें समस्त गौओंका कल्याण हो ।' जब हिंसा [illegible] होने जा रही थी, उस समय उन्होंने गौओंके लिये [illegible] शुभ कामना प्रकट की और [illegible] हिंसाका निषेध करते हुए कहा—॥ ३ ॥

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥ ४ ॥

'जो धर्मकी मर्यादासे भ्रष्ट हो चुके हैं, मूर्ख हैं, नास्तिक हैं [illegible] जिन्हें आत्माके विषयमें संदेह है एवं जिनकी कहीं प्रसिद्धि नहीं है, ऐसे लोगोंने ही हिंसाका समर्थन किया है ॥

सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नराः ॥ ५ ॥

धर्मात्मा मनुने सम्पूर्ण कर्मोंमें अहिंसाका ही प्रतिपादन किया है । मनुष्य अपनी ही इच्छासे यज्ञकी बाह्यवेदीपर पशुओंका बलिदान करते हैं ॥ ५ ॥

तस्मात् [illegible] कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥ ६ ॥

अतः विज्ञ पुरुषको उचित है कि [illegible] वैदिक प्रमाणसे धर्मके सूक्ष्म स्वरूपका निर्णय करे । सम्पूर्ण भूतोंके लिये जिन धर्मोंका विधान किया गया है, उनमें अहिंसा ही सबसे बड़ी मानी गयी है ॥ ६ ॥

उपोष्य संशितो भूत्वा हित्वा वेदकृताः श्रुतीः ।
[illegible] इत्यनाचारः कृपणाः फलहेतवः ॥ ७ ॥

उपवासपूर्वक कठोर नियमोंका पालन करे । वेदकी फलश्रुतियोंका परित्याग कर दे अर्थात् काम्य कर्मोंको छोड़ दे, सकामकर्मोंके आचरणको अनाचार समझकर उनमें प्रवृत्त न हो । कृपण (क्षुद्र) मनुष्य ही फलकी इच्छासे कर्म करते हैं ॥ ७ ॥

यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः ।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते ॥ ८ ॥

यदि कहे कि मनुष्य यूपनिर्माणके उद्देश्यसे जो वृक्ष काटते और यज्ञके उद्देश्यसे पशुबलि देकर जो मांस खाते हैं, वह व्यर्थ नहीं है अपि तु धर्म ही है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसे धर्मकी कोई प्रशंसा नहीं करते ॥ ८ ॥

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥ ९ ॥

सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली तथा तिल और चावलकी खिचड़ी—इन सब वस्तुओंको धूर्तोंने यज्ञमें प्रचलित कर दिया है। वेदोंमें इनके उपयोगका विधान नहीं है ॥ ९ ॥

मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम् ।

उन धूर्तोंने अभिमान, मोह और लोभके वशीभूत होकर उन वस्तुओंके प्रति अपनी यह लोलुपता ही प्रकट की है ।९½।

विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥ १० ॥
पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम् ।

ब्राह्मण तो सम्पूर्ण यज्ञोंमें भगवान् विष्णुका ही आदर-भाव मानते हैं और खीर तथा फूल आदिसे ही उनकी पूजाका विधान है ॥ १०½ ॥

यज्ञियाश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः ॥ ११ ॥
यच्चापि किंचित् कर्तव्यमन्यच्चोक्षैः सुसंस्कृतम् ।
महासत्त्वैः शुद्धभावैः सर्वं देवार्हमेव तत् ॥ १२ ॥

वेदोंमें जो यज्ञ-सम्बन्धी वृक्ष बताये गये हैं, उन्हींका यज्ञोंमें उपयोग होना चाहिये। शुद्ध आचार विचारवाले महान् सत्त्वगुणी पुरुष अपनी विशुद्ध भावनासे प्रोक्षण आदिके द्वारा उत्तम संस्कार करके जो कोई भी हविष्य या नैवेद्य तैयार करते हैं, वह सब देवताओंको अर्पण करनेके योग्य ही होता है ॥ ११-१२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

शरीरमापदश्चापि विवदन्त्यविहिंसतः ।
कथं यात्रा शरीरस्य निरारम्भस्य सेत्स्यते ॥ १३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो हिंसासे अलग दूर रहनेवाला है, उस पुरुषका शरीर और आपत्तियाँ परस्पर विवाद करने लगती हैं—आपत्तियाँ शरीरका शोषण करती हैं और शरीर आपत्तियोंका नाश चाहता है; अतः सूक्ष्म हिंसाके भयसे कृषि आदि किसी कार्यका आरम्भ न करनेवाले पुरुषकी शरीरयात्राका निर्वाह कैसे होगा ? ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच

यथा शरीरं न ग्लायेन्नेयान्मृत्युवशं यथा ।
तथा कर्मसु वर्तेत समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! कर्मोंमें इस प्रकार प्रवृत्त होना चाहिये, जिससे शरीरकी शक्ति सर्वथा क्षीण न हो जाय, जिससे वह मृत्युके अधीन न हो जाय; क्योंकि मनुष्य शरीरके समर्थ होनेपर ही धर्मका पालन कर सकता है ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि विचख्नुगीतायां पञ्चषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें विचख्नुगीताविषयक दो सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६५ ॥

षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

महर्षि गौतम और चिरकारीका उपाख्यान—दीर्घकालतक सोच-विचारकर कार्य करनेकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

कथं कार्यं परीक्षेत शीघ्रं वाथ चिरेण वा ।
सर्वथा कार्यदुर्गेऽस्मिन् भवान् नः परमो गुरुः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आप मेरे परम गुरु हैं। कृपया यह बतलाइये कि यदि कभी सर्वथा ऐसा कार्य उपस्थित हो जाय, जो गुरुजनोंकी आज्ञाके कारण अवश्य कर्तव्य हो, परंतु हिंसायुक्त होनेके कारण दुष्कर एवं अनुचित प्रतीत होता हो तो ऐसे अवसरपर उस कार्यकी परख कैसे करनी चाहिये ? उसे शीघ्र कर डाले या देरतक उसपर विचार करता रहे ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चिरकारेस्तु यत् पूर्वं वृत्तमाङ्गिरसे कुले ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! इस विषयमें जानकार लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जो पहले आङ्गिरस-कुलमें उत्पन्न चिरकारीपर बीत चुका है ॥ २ ॥

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक ।
चिरकारी हि मेधावी नापराध्यति कर्मसु ॥ ३ ॥

'चिरकारी ! तुम्हारा कल्याण हो। चिरकारी ! तुम्हारा मङ्गल हो। चिरकारी बड़ा बुद्धिमान् है। चिरकारी कर्मोंके पालनमें कभी अपराध नहीं करता है।' (यह बात चिरकारीकी प्रशंसा करते हुए उसके पिताने कही थी) ॥ ३ ॥

चिरकारी महाप्राज्ञो गौतमस्याभवत् सुतः ।
चिरेण सर्वकार्याणि विमृश्यार्थान् प्रपद्यते ॥ ४ ॥

कहते हैं, महर्षि गौतमके एक महाज्ञानी पुत्र था, जिसका नाम था चिरकारी। वह कर्तव्य विषयोंका भलीभाँति

विचार करके सारे कार्य विलम्बसे किया करता था ॥ ४ ॥

चिरं [illegible] चिन्तयत्यर्थांश्चिरं जाग्रच्चिरं स्वपन्।
चिरं कार्याभिपत्तिं च चिरकारी तथोच्यते ॥ ५ ॥

वह सभी विषयोंपर बहुत देरतक विचार करता था, चिरकालतक जागता और चिरकालतक सोता था तथा चिर-विलम्बके बाद ही कार्य पूर्ण करता था; इसलिये सब लोग उसे चिरकारी कहने लगे ॥ ५ ॥

अलसग्रहणं प्राप्तो दुर्मेधावी तथोच्यते।
बुद्धिलाघवयुक्तेन जनेनादीर्घदर्शिना ॥ ६ ॥

जो दूरतककी [illegible] नहीं सोच सकते, ऐसे मन्दबुद्धि मानवोंने उसे आलसीकी उपाधि दे दी। उसे दुर्बुद्धि कहा जाने [illegible] ॥ ६ ॥

व्यभिचारे [illegible] कस्मिंश्चिद् व्यतिक्रम्यापरान् सुतान्।
पित्रोक्तः कुपितेनाथ जहीमां जननीमिति ॥ ७ ॥

एक दिनकी [illegible] है, गौतमने अपनी स्त्रीके [illegible] किये गये किसी व्यभिचारपर कुपित [illegible] अपने दूसरे पुत्रोंको न कहकर चिरकारीसे कहा—'बेटा! तू अपनी इस पापिनी माताको मार डाल' ॥ ७ ॥

इत्युक्त्वा स तदा विप्रो गौतमो जपतां वरः।
अविमृश्य महाभागो वनमेव जगाम सः ॥ ८ ॥

उस समय बिना विचारे ही ऐसी आज्ञा देकर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि महाभाग गौतम वनमें चले गये ॥ ८ ॥

स तथेति चिरेणोक्त्वा स्वभावाच्चिरकारिकः।
विमृश्य चिरकारित्वाच्चिन्तयामास वै चिरम् ॥ ९ ॥

चिरकारीने अपने स्वभावके अनुसार देर करके कहा, 'बहुत अच्छा'। चिरकारी तो वह था ही, चिरकालतक उस बातपर विचार करता रहा ॥ ९ ॥

पितुराज्ञां कथं कुर्यां न हन्यां मातरं कथम्।
[illegible] धर्मच्छलेनास्मिन् निमज्जेयमसाधुवत् ॥ १० ॥

उसने सोचा [illegible] 'मैं किस उपायसे [illegible] दूँ जिससे पिताकी आज्ञाका पालन भी हो [illegible] और माताका वध भी न करना पड़े। धर्मके बहाने यह मेरे ऊपर महान् संकट आ गया है। भला, अन्य असाधु पुरुषोंकी भाँति [illegible] भी इसमें डूबनेका कैसे साहस करूँ? ॥ १० ॥

पितुराज्ञा परो धर्मः स्वधर्मो मातृरक्षणम्।
[illegible] च पुत्रत्वं किं [illegible] मां नानुपीडयेत् ॥ ११ ॥

'पिताकी आज्ञाका पालन परम धर्म है और माताकी रक्षा करना पुत्रका प्रधान धर्म है। पुत्र कभी स्वतन्त्र नहीं होता, वह सदा माता-पिताके अधीन ही रहता है, अतः क्या करूँ जिससे मुझे धर्मकी हानिरूप पीड़ा न हो ॥ ११ ॥

स्त्रियं हत्वा मातरं च को हि जातु सुखी भवेत्।
पितरं चाप्यवज्ञाय [illegible] प्रतिष्ठामवाप्नुयात् ॥ १२ ॥

[illegible] तो स्त्री-जाति, दूसरे माताका वध करके कौन पुत्र कभी भी सुखी हो सकता है? पिताकी अवहेलना करके भी कौन प्रतिष्ठा पा [illegible] है? ॥ १२ ॥

अनवज्ञा पितुर्युक्ता धारणं मातृरक्षणम्।
युक्तक्षमावुभावेतौ नातिवर्तेत मां कथम् ॥ १३ ॥

'पिताका अनादर उचित नहीं है, साथ ही माताकी [illegible] करना भी पुत्रका धर्म है। ये दोनों ही धर्म उचित और योग्य हैं। मैं किस प्रकार इनका उल्लङ्घन न करूँ? ॥ १३ ॥

पिता ह्यात्मानमाधत्ते जायायां अशिवानिति।
शीलचारित्रगोत्रस्य धारणार्थं कुलस्य च ॥ १४ ॥

'पिता स्वयं अपने शील, सदाचार, कुल और गोत्रकी रक्षाके लिये स्त्रीके गर्भमें अपना ही आधान [illegible] और पुत्ररूपमें [illegible] होता है ॥ १४ ॥

सोऽहं मात्रा स्वयं पित्रा पुत्रत्वे प्रकृतः पुनः।
[illegible] मे कथं न स्याद् द्वौ बुद्ध्ये चात्मसम्भवम् ॥ १५ ॥

'अतः मुझे [illegible] और पिता—दोनोंने ही पुत्रके रूपमें जन्म दिया है। मैं इन दोनोंको ही अपनी उत्पत्तिका [illegible] [illegible] हूँ। मेरा ऐसा ही ज्ञान क्यों न सदा बना रहे? ॥

जातकर्मणि यत् प्राह पिता यच्चोपकर्मणि।
पर्याप्तः स दृढीकारः पितुर्गौरवनिश्चये ॥ १६ ॥

'जातकर्म-संस्कार और उपनयन-संस्कारके [illegible] पिताने जो आशीर्वाद दिया है, वह पिताके गौरवका निश्चय करानेमें पर्याप्त एवं सुदृढ़ प्रमाण है ॥ १६ ॥

गुरुरग्र्यः परो धर्मः पोषणाध्यापनान्वितः।
पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः ॥ १७ ॥

'पिता भरण-पोषण करने [illegible] शिक्षा देनेके कारण पुत्रका प्रधान गुरु है। [illegible] परम धर्मका साक्षात् [illegible] है। पिता जो कुछ आज्ञा दे, उसे ही धर्म समझकर स्वीकार [illegible] चाहिये। वेदोंमें भी उसीको धर्म निश्चित किया [illegible] है ॥ १७ ॥

प्रीतिमात्रं पितुः पुत्रः सर्वं पुत्रस्य वै पिता।
शरीरादीनि देयानि पिता त्वेकः प्रयच्छति ॥ १८ ॥

'पुत्र पिताकी सम्पूर्ण प्रीतिरूप है और पिता पुत्रका सर्वस्व है। केवल पिता ही पुत्रको देह आदि सम्पूर्ण देने योग्य वस्तुओंको देता है ॥ १८ ॥

तस्मात् पितुर्वचः कार्यं न विचार्यं कदाचन।
पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः ॥ १९ ॥

'इसलिये पिताके आदेशका पालन करना चाहिये। उसपर कभी कोई विचार नहीं करना चाहिये। जो पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाला है, [illegible]के पातक भी नष्ट हो जाते हैं ॥ १९ ॥

भोग्ये भोज्ये प्रवचने सर्वलोकनिदर्शने।

भर्त्रा चैव समायोगे सीमन्तोन्नयने तथा ॥ २० ॥

'पुत्रके भोग्य (वस्त्र आदि), भोज्य (अन्न आदि), प्रवचन (वेदाध्ययन), सम्पूर्ण लोक व्यवहारकी शिक्षा तथा गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन आदि संस्कारोंके सम्पादनमे पिता ही प्रभु है ॥ २० ॥

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीयन्ति देवताः ॥ २१ ॥

'इसलिये पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सबसे बड़ी तपस्या है । पिताके प्रसन्न होनेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं ॥ २१ ॥

आशिषस्ता भजन्त्येनं परुषं प्राह यत् पिता ।
निष्कृतिः सर्वपापानां पिता यच्चाभिनन्दति ॥ २२ ॥

'पिता पुत्रसे यदि कुछ कठोर बातें कह देता है तो वे आशीर्वाद बनकर उसे अपना लेती हैं और पिता यदि पुत्रका अभिनन्दन करता है—मीठे वचन बोलकर उसके प्रति प्यार और आदर दिखाता है तो इससे पुत्रके सम्पूर्ण पापोका प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ २२ ॥

मुच्यते बन्धनात् पुष्पं फलं वृक्षात् प्रमुच्यते ।
क्लिश्यन्नपि सुतं स्नेहैः पिता पुत्रं न मुञ्चति ॥ २३ ॥

'फूल डंठलसे अलग हो जाता है, फल वृक्षसे [illegible] हो जाता है; परंतु पिता कितने ही कष्टमें क्यों न हो, लाड़-प्यारसे पाले हुए अपने पुत्रको कभी नहीं छोड़ता है अर्थात् पुत्र कभी पितासे अलग नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

एतद् विचिन्तितं तावत् पुत्रस्य पितृगौरवम् ।
पिता नाल्पतरं स्थानं चिन्तयिष्यामि मातरम् ॥ २४ ॥

'पुत्रके निकट पिताका कितना गौरव होना चाहिये, इस बातपर पहले विचार किया है । विचार करनेसे यह बात [illegible] हो गयी कि पिता पुत्रके लिये कोई छोटा-मोटा आश्रय नहीं है । [illegible] मैं माताके विषयमें सोचता हूँ ॥ २४ ॥

यो ह्ययं मयि संघातो मर्त्यत्वे पाञ्चभौतिकः ।
अस्य मे जननी हेतुः पावकस्य यथारणिः ॥ २५ ॥

'मेरे लिये जो [illegible] पाञ्चभौतिक मनुष्यशरीर मिला है, इसके उत्पन्न होनेमें मेरी माता ही मुख्य हेतु है । जैसे अग्निके [illegible] होनेका मुख्य आधार अरणी-काष्ठ है ॥ २५ ॥

माता देहारणिः पुंसां सर्वस्यार्तस्य निर्वृतिः ।
मातृलाभे सनाथत्वमनाथत्वं विपर्यये ॥ २६ ॥

'माता मनुष्योंके शरीररूपी अग्निको [illegible] करनेवाली अरणी है । संसारके समस्त आर्त प्राणियोंको सुख और सान्त्वना प्रदान करनेवाली माता ही है । जबतक माता जीवित रहती है, मनुष्य अपनेको सनाथ समझता है और उसके न रहनेपर वह अनाथ हो जाता है ॥ २६ ॥

न च शोचति नाप्येनं स्थाविर्यमपकर्षति ।
श्रिया हीनोऽपि यो गेहमम्बेति प्रतिपद्यते ॥ २७ ॥

'माताके रहते मनुष्यको कभी चिन्ता नहीं होती है, बुढ़ापा उसे अपनी ओर नहीं खींचता है । जो अपनी माँको पुकारता हुआ घरमें जाता है, वह निर्धन होनेपर भी मानो माता अन्नपूर्णाके पास चला जाता है ॥ २७ ॥

पुत्रपौत्रोपपन्नोऽपि जननीं यः समाश्रितः ।
अपि वर्षशतस्यान्ते स द्विहायनवच्चरेत् ॥ २८ ॥

'पुत्र और पौत्रोंसे सम्पन्न होनेपर भी जो अपनी माताके आश्रयमें रहता है, वह सौ वर्षकी अवस्थाके बाद भी उसके पास दो वर्षके बच्चेके समान आचरण करता है ॥ २८ ॥

समर्थं वासमर्थं वा कृशं वाप्यकृशं तथा ।
रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः ॥ २९ ॥

'पुत्र असमर्थ हो या समर्थ, दुर्बल हो या हृष्ट-पुष्ट, माता उसका पालन करती ही है । माताके सिवा दूसरा कोई विधिपूर्वक पुत्रका पालन-पोषण नहीं कर सकता ॥ २९ ॥

तदा स वृद्धो भवति तदा भवति दुःखितः ।
तदा शून्यं जगत् तस्य यदा मात्रा वियुज्यते ॥ ३० ॥

'जब मातासे विछोह हो जाता है, उसी समय मनुष्य अपनेको बुड्ढा समझने लगता है, दुखी हो जाता है और उसके लिये सारा संसार सूना प्रतीत होने लगता है ॥ ३० ॥

नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः ।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥ ३१ ॥

'माताके समान दूसरी कोई छाया नहीं है अर्थात् माताकी छत्रछायामें जो सुख है, वह कहीं नहीं है । माताके तुल्य दूसरा सहारा नहीं है, माताके सदृश अन्य कोई रक्षक नहीं है तथा बच्चेके लिये माके समान दूसरी कोई प्रिय वस्तु नहीं है ॥ ३१ ॥

कुक्षिसंधारणाद् धात्री जननाज्जननी स्मृता ।
अङ्गानां वर्धनादम्बा वीरसूत्वेन वीरसूः ॥ ३२ ॥

'वह गर्भाशयमें धारण करनेके कारण धात्री, जन्म देनेके कारण जननी, शिशुका अङ्गवर्धन (पालन-पोषण) करनेसे अम्बा तथा वीर-संतानका प्रसव करनेके कारण वीरसू कही गयी है ॥ ३२ ॥

शिशोः शुश्रूषणाच्छुश्रूर्माता देहमनन्तरम् ।
चेतनावान् नरो हन्याद् यस्य नासुषिरं शिरः ॥ ३३ ॥

'वह शिशुकी शुश्रूषा करके शुश्रू नाम धारण करती है । माता अपना निकटतम शरीर है । जिसका मस्तिष्क विचारशून्य नहीं हो गया है, ऐसा कोई सचेतन मनुष्य कभी अपनी माताकी हत्या नहीं कर सकता ॥ ३३ ॥

दम्पत्योः प्राणसंश्लेषे योऽभिसंधिः कृतः किल ।
तं माता च पिता चेति भूतार्थो मातरि स्थितः ॥ ३४ ॥

'पति और पत्नी मैथुनकालमें सुयोग्य पुत्र होनेके लिये

जो अभिलाषा करते हैं, उसे यद्यपि पिता और माता—दोनों धारण करते हैं तथापि वास्तवमें वह अभिलाषा मातामें ही प्रतिष्ठित होती है ॥ ३४ ॥

[illegible] जानाति यद्गोत्रं माता जानाति [illegible] सः ।
मातुर्भरणमात्रेण प्रीतिः स्नेहः पितुः [illegible] ॥ ३५ ॥

'पुत्रका गोत्र क्या है ? यह माता जानती है । वह किस पिताका पुत्र है ? यह भी [illegible] ही जानती है । माता बालकको अपने गर्भमें धारण करती है, इसलिये उसीका उसपर अधिक स्नेह और प्रेम होता है । पिताका तो अपनी संतानपर प्रभुत्वमात्र है ॥ ३५ ॥

पाणिबन्धं स्वयं कृत्वा [illegible] धर्ममुपेत्य च ।
यदा यास्यन्ति पुरुषाः स्त्रियो नार्हन्ति वाच्यताम्॥ ३६ ॥

'जब स्वयं ही पत्नीका पाणिग्रहण करके साथ-साथ धर्माचरण करनेकी प्रतिज्ञा लेकर भी पुरुष परायी स्त्रियोंके पास जायँगे (और उनपर बलात्कार करेंगे), तब इसके लिये स्त्रियोंको दोषी नहीं ठहराया जा [illegible] ॥ ३६ ॥

भरणाद्धि स्त्रियो भर्ता पालनाद्धि पतिस्तथा ।
गुणस्यास्य निवृत्तौ [illegible] न भर्ता [illegible] पुनः पतिः॥ ३७ ॥

'पुरुष अपनी स्त्रीका भरण-पोषण करनेसे भर्ता और पालन करनेके कारण पति कहलाता है । इन गुणोंके न रहनेपर [illegible] न तो भर्ता है और न पति [illegible] कहलाने योग्य है ॥

एवं स्त्री नापराध्नोति नर एवापराध्यति ।
व्युच्चरंश्च महादोषं नर एवापराध्यति ॥ ३८ ॥

'वास्तवमें स्त्रीका कोई अपराध नहीं होता है, पुरुष ही अपराध करता है । व्यभिचारका महान् पाप पुरुष ही करता है, इसलिये वही अपराधी है ॥ ३८ ॥

स्त्रिया हि परमो भर्ता दैवतं परमं स्मृतम् ।
तस्यात्मना [illegible] सदृशमात्मानं परमं ददौ ॥ ३९ ॥

'स्त्रीके लिये पति ही परम आदरणीय है, वही उसका सबसे बड़ा देवता माना गया है । मेरी माताने ऐसे पुरुषको आत्मसमर्पण किया है, जो शरीरसे, वेशभूषासे पिताजीके समान ही था ॥ ३९ ॥

नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति ।
सर्वकार्यापराध्यत्वान्नापराध्यन्ति चाङ्गनाः ॥ ४० ॥

'ऐसे अवसरोंपर स्त्रियोंका अपराध नहीं होता, पुरुष ही अपराधी होता है । सभी कार्योंमें अबला होनेके कारण स्त्रियोंको अपराधके लिये विवश [illegible] दिया जाता है, अतः पराधीन होनेके कारण वे अपराधिनी नहीं हैं ॥ ४० ॥

यश्च -नोक्तोऽथ निर्देशः स्त्रिया मैथुनतृप्तये ।
तस्य स्मारयतो व्यक्तमधर्मो नास्ति संशयः ॥ ४१ ॥

'स्त्रीके द्वारा मैथुनजनित सुखसे तृप्त होनेके लिये कोई संकेत न करनेपर भी उसके कामको उद्दीप्त करनेवाले पुरुषको [illegible] ही अधर्मकी प्राप्ति होती [illegible] । इसमें संशय नहीं है ॥

एवं नारीं मातरं च गौरवे चाधिके स्थिताम् ।
अवध्यां तु विजानीयुः पशवोऽप्यविचक्षणाः ॥ ४२ ॥

'इस प्रकार विचार करनेसे एक तो वह नारी होनेके [illegible] ही अवध्य है, दूसरे मेरी पूजनीया माता है । माताका गौरव पितासे भी [illegible] है, जिसमें मेरी मा प्रतिष्ठित है । [illegible] भी [illegible] और माताको अवध्य मानते [illegible] (फिर [illegible] समझदार मनुष्य होकर भी उसका वध कैसे करूँ !) ॥

देवतानां समावायमेकस्थं पितरं विदुः ।
मर्त्यानां देवतानां च स्नेहादभ्येति मातरम् ॥ ४३ ॥

'मनीषी पुरुष यह जानते हैं कि पिता एक स्थानपर स्थित सम्पूर्ण देवताओंका समूह है; परंतु माताके भीतर उसके स्नेहवश समस्त मनुष्यों और देवताओंका समुदाय स्थित रहता है (अतः [illegible] गौरव पितासे भी अधिक है) ॥ ४३ ॥

एवं विमृशतस्तस्य चिरकारितया बहु ।
दीर्घः कालो व्यतिक्रान्तस्ततोऽस्याभ्यागमत् पिता॥४४॥

विलम्ब करनेका स्वभाव होनेके कारण चिरकारी इस प्रकार सोचता-विचारता रहा । इसी सोच-विचारमें बहुत अधिक [illegible] व्यतीत हो गया । इतनेमें ही उसके पिता वनसे लौट आये ॥ ४४ ॥

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः ।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम्॥ ४५ ॥
सोऽब्रवीद् भृशसंतप्तो दुःखेनाश्रूणि वर्तयन् ।
श्रुतधैर्यप्रसादेन पश्चात्तापमुपागतः ॥ ४६ ॥

महाज्ञानी तपोनिष्ठ मेधातिथि गौतम [illegible] समय पत्नीके वधके अनौचित्यपर विचार करके अधिक संतप्त हो गये । वे दुःखसे आँसू बहाते हुए वेदाध्ययन और धैर्यके प्रभावसे किसी तरह अपनेको सँभाले रहे और पश्चात्ताप करते हुए मन-ही-[illegible] इस प्रकार कहने लगे—॥ ४५-४६ ॥

आश्रमं [illegible] सम्प्राप्तस्त्रिलोकेशः पुरंदरः ।
अतिथिव्रतमास्थाय ब्राह्मणं रूपमास्थितः ॥ ४७ ॥
स मया सान्त्वितो वाग्भिः स्वागतेनाभिपूजितः ।
[illegible] यथान्यायं मया च प्रतिपादितः ॥ [illegible] ॥

'अहो ! त्रिभुवनका स्वामी इन्द्र ब्राह्मणका [illegible] धारण करके मेरे आश्रमपर आया था । मैंने अतिथि-सत्कारके गृहस्थोचित व्रतका आश्रय लेकर उसे मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना दी, उसका स्वागत-सत्कार किया और यथोचित रूपसे अर्घ्य-पाद्य आदि निवेदन करके मैंने स्वयं ही उसकी विधिवत् पूजा की ॥ ४७-४८ ॥

परवानस्मि चेत्युक्तः प्रणयिष्यति तेन च ।
अत्र चाकुशले जाते स्त्रिया नास्ति व्यतिक्रमः॥ ४९ ॥

'मैंने विनयपूर्वक कहा—'भगवन् ! [illegible] आपके अधीन

हूँ । आपके पदार्पणसे मैं सनाथ हो गया ।' मुझे [illegible] कि मेरे इस सद्व्यवहारसे संतुष्ट होकर अतिथिदेवता मुझसे प्रेम करेंगे; परंतु यहाँ इन्द्रकी विषयलोलुपताके कारण दुःखद घटना घटित हो गयी । इसमें मेरी स्त्रीका कोई अपराध नहीं॥

एवं न स्त्री न चैवाहं नाध्वगस्त्रिदशेश्वरः ।
अपराध्यति धर्मस्य प्रमादस्त्वपराध्यति ॥ ५० ॥

'इस प्रकार न तो स्त्री अपराधिनी है, न [illegible] अपराधी हूँ और न एक पथिक ब्राह्मणके वेशमें आया हुआ देवताओंका राजा इन्द्र ही अपराधी है । मेरेद्वारा धर्मके विषयमें जो स्त्रीवध-रूप प्रमाद हुआ है, वही इस अपराधकी जड़ है ॥ ५० ॥

ईर्ष्याजं व्यसनं प्राहुस्तेन चैवोर्ध्वरेतसः ।
ईर्ष्यया त्वहमाक्षिप्तो मग्नो दुष्कृतसागरे ॥ ५१ ॥

'ऊर्ध्वरेता मुनि उस प्रमादके ही कारण ईर्ष्याजनित संकट-की प्राप्ति बताते हैं; ईर्ष्याने मुझे पापके समुद्रमें ढकेल दिया है और मैं उसमें डूब गया हूँ ॥ ५१ ॥

हत्वा साध्वीं च नारीं च व्यसनित्वाच्च वासिताम्।
भर्तव्यत्वेन भार्यां च को [illegible] मां तारयिष्यति ॥ ५२ ॥

'जिसे मैंने पत्नीके रूपमें अपने घरमें आश्रय दिया था । जो एक सती-साध्वी नारी थी और भार्या होनेके कारण मुझसे भरण-पोषण पानेकी अधिकारिणी थी, उसीका मैंने प्रमादरूपी व्यसनके वशीभूत होनेके कारण वध करा डाला । [illegible] इस पापसे मेरा कौन उद्धार करेगा ? ॥ ५२ ॥

अन्तरेण मयाऽऽज्ञप्तश्चिरकारीत्युदारधीः ।
यद्यद्य चिरकारी स्यात् स मां त्रायेत पातकात्॥ ५३ ॥

'परंतु मैंने उदारबुद्धि चिरकारीको उसकी माताके वधके लिये आज्ञा दी थी । यदि उसने इस कार्यमें विलम्ब करके अपने नामको सार्थक किया हो, तो वही मुझे स्त्रीहत्याके पापसे बचा सकता है ॥ ५३ ॥

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिक ।
यद्यद्य चिरकारी त्वं ततोऽसि चिरकारिकः ॥ ५४ ॥

'बेटा चिरकारी ! तेरा कल्याण हो । चिरकारी ! तेरा मङ्गल हो । यदि आज भी तूने विलम्बसे कार्य करनेके अपने स्वभावका अनुसरण किया हो तभी तेरा चिरकारी नाम सफल हो सकता है ॥ ५४ ॥

त्राहि मां मातरं चैव तपो यच्चार्जितं मया ।
आत्मानं पातकेभ्यश्च भवाद्य चिरकारिकः ॥ ५५ ॥

'बेटा ! आज विलम्ब करके तू वास्तवमें चिरकारी बन और मेरी, अपनी माताकी तथा मैंने जो तपका उपार्जन किया है, उसकी भी रक्षा कर । साथ ही अपने आपको भी पातकोंसे बचा ले ॥ ५५ ॥

सहजं चिरकारित्वमतिप्रज्ञतया तव ।
सफलं तत् तथा तेऽस्तु भवाद्य चिरकारिकः॥ ५६ ॥

'अत्यन्त बुद्धिमान् होनेके कारण तुझमें जो चिरकारिता [illegible] सहज गुण है, वह इस [illegible] सफल हो । आज तू वास्तवमें चिरकारी बन ॥ ५६ ॥

चिरमाशंसितो मात्रा चिरं गर्भेण धारितः ।
सफलं चिरकारित्वं कुरु त्वं चिरकारिक ॥ ५७ ॥

'तेरी माता चिरकालसे तेरे जन्मकी आशा लगाये बैठी थी । उसने चिरकालतक तुझे गर्भमें धारण किया है, अतः बेटा चिरकारी ! आज तू अपनी माताकी रक्षा करके चिर-कारिताको [illegible] कर ले ॥ ५७ ॥

चिरायते च संतापाच्चिरं स्वपिति वारितः ।
आवयोश्चिरसंतापादवेक्ष्य चिरकारिकः ॥ ५८ ॥

'मेरा बेटा चिरकारी कोई दुःख [illegible] संताप प्राप्त होनेपर भी कार्य करनेमें विलम्ब करनेका स्वभाव नहीं छोड़ता है । मना करनेपर भी चिरकालतक सोता रहता है । आज हम दोनों माता-पिताका चिरसंताप देखकर [illegible] अवश्य चिरकारी बने' ॥ ५८ ॥

एवं स दुःखितो राजन् महर्षिर्गौतमस्तदा ।
चिरकारिं ददर्शाथ पुत्रं स्थितमथान्तिके ॥ ५९ ॥

राजन् ! इस प्रकार दुखी हुए महर्षि गौतमने घर आने-पर अपने पुत्र चिरकारीको [illegible] ही खड़ा देखा ॥ ५९ ॥

चिरकारी तु पितरं दृष्ट्वा परमदुःखितः ।
शस्त्रं त्यक्त्वा ततो मूर्ध्ना प्रसादायोपचक्रमे॥ ६० ॥

पिताको उपस्थित देख चिरकारी बहुत दुखी हुआ । वह हथियार फेंककर उनके चरणोंमें मस्तक झुका उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगा ॥ ६० ॥

गौतमस्तं ततो दृष्ट्वा शिरसा पतितं भुवि ।
पत्नीं चैव निराकारां परामभ्यागमन्मुदम् ॥ ६१ ॥

गौतमने देखा, चिरकारी पृथ्वीपर माथा टेककर पड़ा है और पत्नी लज्जाके मारे निश्चेष्ट खड़ी है । यह देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ६१ ॥

न हि सा तेन सम्भेदं पत्नी नीता महात्मना ।
विजने चाश्रमस्थेन पुत्रश्चापि समाहितः ॥ ६२ ॥

एकान्त वनमें उस आश्रमके भीतर रहनेवाले महात्मा गौतमने अपनी पत्नी तथा एकाग्रचित्त पुत्र चिरकारीको कभी अपनेसे अलग नहीं किया ॥ ६२ ॥

हन्या इति समादेशः शस्त्रपाणौ सुते स्थिते ।
विनीते प्रसवत्यर्थे विचासे चात्मकर्मसु ॥ ६३ ॥

अपने आवश्यक कर्म जप-ध्यान आदिके लिये महर्षि गौतमके बाहर चले जानेपर उनका पुत्र चिरकारी [illegible] हाथमें हथियार लेकर खड़ा [illegible] तथापि माताकी रक्षाके लिये वह विनीतभावसे कुछ सोचता-विचारता रहा । [illegible]

चिरकारी शस्त्र त्यागकर अपने पिताको प्रणाम कर रहे हैं

माताको मार डालनेका जो आदेश प्राप्त हुआ था, वह पालित न हो सका ॥ ६३ ॥

बुद्धिश्चासीत् सुतं दृष्ट्वा पितुश्चरणयोर्नतम् ।
शस्त्रग्रहणचापल्यं संवृणोति भयादिति ॥ ६४ ॥

पुत्रको अपने चरणोंमें नतमस्तक हुआ देख गौतमके मनमें यह विचार हुआ कि सम्भवतः चिरकारी भयके मारे हथियार उठानेकी चपलताको छिपा रहा है ॥ ६४ ॥

ततः पित्रा चिरं स्तुत्वा चिरं चाघ्राय मूर्धनि।
चिरं दोर्भ्यां परिष्वज्य चिरं जीवेत्युदाहृतः ॥ ६५ ॥

तब पिताने चिरकालतक उसकी [illegible] करके देरतक उसका मस्तक सूँघा और चिरकालतक दोनों भुजाओंसे खींचकर उसे हृदयसे लगाये रक्खा और आशीर्वाद देते हुए कहा—'बेटा ! चिरञ्जीवी हो' ॥ ६५ ॥

एवं स गौतमः पुत्रं प्रीतिहर्षगुणैर्युतः ।
अभिनन्द्य महाप्राज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ६६ ॥

महामते ! इस प्रकार प्रेम और हर्षसे भरे हुए गौतमने पुत्रका अभिनन्दन करके यह बात कही—॥६६॥

चिरकारिक भद्रं ते चिरकारी चिरं भव ।
चिराय यदि ते सौम्य चिरमस्मि न दुःखितः॥ ६७ ॥

'बेटा चिरकारी ! तेरा कल्याण हो ! तू चिरकालतक चिरकारी एवं चिरञ्जीवी बना रह । सौम्य ! यदि तू चिरकालतक ऐसे ही स्वभावका बना रहा तो [illegible] दीर्घकालतक कभी दुखी नहीं होऊँगा' ॥ ६७ ॥

गाथाश्चाप्यब्रवीद् विद्वान् गौतमो मुनिसत्तमः ।
चिरकारिषु धीरेषु गुणोद्देशसमाश्रयाः ॥ ६८ ॥

तदनन्तर विद्वान् मुनिश्रेष्ठ गौतमने कुछ गाथाएँ गायीं । चिरकालतक सोच-विचारकर [illegible] करनेवाले धीर पुरुषोंमें जो गुण होते हैं, उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वे गाथाएँ इस [illegible] हैं—॥ ६८ ॥

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत् ।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ॥ ६९ ॥

चिरकालतक सोच-विचार करके किसीके [illegible] मित्रता जोड़नी चाहिये और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिये । यदि छोड़नेकी आवश्यकता पड़ ही जाय तो उसके परिणामपर चिरकालतक विचार कर लेना चाहिये । दीर्घकालतक सोच-विचार करके बनाया हुआ जो मित्र है, उसीकी मैत्री चिरकालतक टिक पाती है ॥६९॥

रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ।
अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७० ॥

'राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापाचरण और किसीका अप्रिय करनेमें जो विलम्ब करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है ॥ ७० ॥

बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च ।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ॥ ७१ ॥

'बन्धुओं, सुहृदों, सेवकों और स्त्रियोंके छिपे हुए अपराधोंके विषयमें कुछ निर्णय करनेमें भी जो जल्दबाजी न करके दीर्घकालतक सोच-विचार करता है, उसीकी प्रशंसा [illegible] जाती है' ॥ ७१ ॥

एवं स गौतमस्तत्र प्रीतः पुत्रस्य भारत ।
कर्मणा तेन कौरव्य चिरकारितया तथा ॥ ७२ ॥

भारत ! कुरुनन्दन ! इस [illegible] गौतम वहाँ अपने पुत्रके विलम्बपूर्वक कार्य करनेके कारण बहुत प्रसन्न हुए थे ॥७२॥

एवं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ।
चिरेण निश्चयं [illegible] चिरं न परितप्यते ॥ ७३ ॥

इस [illegible] सभी कार्योंमें विचार करके चिरकालके पश्चात् किसी निश्चयपर पहुँचनेवाले पुरुषको दीर्घकालतक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता ॥ ७३ ॥

[illegible] धारयते रोषं चिरं कर्म नियच्छति ।
पश्चात्तापकरं कर्म न किंचिदुपपद्यते ॥ ७४ ॥

जो चिरकालतक रोषको अपने भीतर ही दबाये रखता है और रोषपूर्वक किये जानेवाले कर्मको देरतक रोके रहता है, उसके द्वारा कोई कर्म ऐसा नहीं बनता, जो पश्चात्ताप करानेवाला हो ॥ ७४ ॥

चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत् ।
चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम् ॥ ७५ ॥

दीर्घकालतक बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करे । दीर्घकालतक उनका सङ्ग करके उनकी पूजा (आदर-सत्कार) करे । चिर-[illegible] धर्मका सेवन और दीर्घकालतक उसका अनुसंधान करे॥

चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान् निषेव्य च ।
चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम् ॥ ७६ ॥

अधिक समयतक विद्वानोंका सङ्ग करके चिरकालतक शिष्ट पुरुषोंकी सेवामें रहे तथा चिरकालतक अपने मनको वशमें रखे । इससे मनुष्य चिरकालतक अवज्ञाका नहीं किंतु सम्मानका भागी होता है ॥ ७६ ॥

ब्रुवतश्च परस्यापि वाक्यं धर्मोपसंहितम् ।
चिरं पृष्टोऽपि च ब्रूयाच्चिरं न परितप्यते ॥ ७७ ॥

धर्मोपदेश करनेवाले पुरुषसे यदि कोई प्रश्न करे तो उसे देरतक सोच-विचार [illegible] ही उत्तर देना चाहिये । ऐसा करनेसे उसको देरतक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता है ॥ ७७ ॥

[illegible] बहुलास्तस्मिन्नाश्रमे सुमहातपाः ।

समाः स्वर्गं गतो विप्रः पुत्रेण सहितस्तदा ॥ ७८ ॥

वे महातपस्वी ब्रह्मर्षि गौतम उस आश्रममें बहुत वर्षोंतक रहकर अन्तमें पुत्र चिरकारीके साथ ही स्वर्गको सिधारे ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चिरकारिकोपाख्याने षट्षष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें चिरकारीका उपाख्यानविषयक दो सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६६ ॥

सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्युमत्सेन और सत्यवान्‌का संवाद—अहिंसापूर्वक राज्यशासनकी श्रेष्ठताका कथन

युधिष्ठिर उवाच

कथं राजा प्रजा रक्षेन्न च किंचित् प्रघातयेत्।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह ! मैं आपसे यह पूछ रहा हूँ कि राजा किस प्रकार प्रजाकी रक्षा करे, जिससे उसको किसीकी हिंसा न करनी पड़े; यह आप मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
द्युमत्सेनस्य संवादं राज्ञा सत्यवता सह ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें राजा सत्यवान्‌के साथ उनके पिता द्युमत्सेनका जो संवाद हुआ था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

अव्याहृतं व्याजहार सत्यवानिति नः श्रुतम्।
वधायोन्नीयमानेषु पितुरेवानुशासनात् ॥ ३ ॥

हमने सुना है कि एक दिन सत्यवान्‌ने देखा कि पिताकी आज्ञासे बहुत-से अपराधी शूलीपर चढ़ा देनेके लिये ले जाये जा रहे हैं। उस समय उन्होंने पिताके पास जाकर ऐसी बात कही, जो पहले किसीने नहीं कही थी ॥ ३ ॥

अधर्मतां याति धर्मो यात्यधर्मश्च धर्मताम्।
वधो नाम भवेद् धर्मो नैतद् भवितुमर्हति ॥ ४ ॥

'पिताजी ! यह ठीक है कि कभी ऊपरसे धर्म-सा दिखायी देनेवाला कार्य अधर्मरूप हो जाता है और अधर्म भी धर्मके रूपमें परिणत हो जाता है, तथापि किसी प्राणीका वध करना भी धर्म हो—ऐसा कदापि नहीं हो सकता' ॥ ४ ॥

द्युमत्सेन उवाच

अथ चेदवधो धर्मोऽधर्मः को जातु चिद् भवेत्।
दस्यवश्चेन्न हन्येरन् सत्यवन् संकरो भवेत् ॥ ५ ॥

द्युमत्सेन बोले—बेटा सत्यवान् ! यदि अपराधीका वध न करना भी कभी धर्म हो तो अधर्म क्या हो सकता है ! यदि चोर-डाकू मारे न जायँ तो प्रजामें वर्णसंकरता और धर्मसंकरता फैल जाय ॥ ५ ॥

ममेदमिति नास्यैतत् प्रवर्तेत कलौ युगे।
लोकयात्रा न चैव स्यादथ चेद् वेत्थ शंस नः ॥ ६ ॥

कलियुग आनेपर तो लोग 'यह वस्तु मेरी है, इसकी नहीं है' ऐसा कहकर सीधे ही दूसरोंका धन हड़प लेंगे। इस तरह लोकयात्राका निर्वाह असम्भव हो जायगा। यदि तुम इसका कोई समाधान जानते हो, तो मुझसे बताओ ॥ ६ ॥

सत्यवानुवाच

सर्वं एते त्रयो वर्णाः कार्या ब्राह्मणबन्धनाः।
धर्मपाशनिबद्धानामन्योऽप्येवं चरिष्यति ॥ ७ ॥

सत्यवान् बोले—पिताजी ! क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन तीनों वर्णोंको ब्राह्मणोंके अधीन कर देना चाहिये। जब चारों वर्णोंके लोग धर्मके बन्धनमें बँधकर उसका पालन करने लगेंगे तो उनकी देखा-देखी दूसरे मनुष्य सूत-मागध आदि भी धर्मका आचरण करेंगे ॥ ७ ॥

यो यस्तेषामपचरेत् तमाचक्षीत वै द्विजः।
अयं मे न शृणोतीति तस्मिन् राजा प्रधारयेत् ॥ ८ ॥

इनमेंसे जो भी ब्राह्मणकी आज्ञाके विपरीत आचरण करे, उसके विषयमें ब्राह्मणको राजाके पास जाकर कहना चाहिये कि 'अमुक मनुष्य मेरी बात नहीं सुनता है।' तब राजा उसी व्यक्तिको दण्ड दे ॥ ८ ॥

तत्त्वाभेदेन यच्छास्त्रं तत् कार्यं नान्यथाविधम्।
असमीक्ष्यैव कर्माणि नीतिशास्त्रं यथाविधि ॥ ९ ॥

जो दण्ड-विधान शरीरके पाँचों तत्त्वोंको अलग-अलग न कर सके अर्थात् किसीके प्राण न ले, उसीका प्रयोग करना चाहिये। नीतिशास्त्रकी आलोचना और अपराधीके कार्यका भलीभाँति विचार किये बिना ही इसके विपरीत कोई दण्ड नहीं देना चाहिये ॥ ९ ॥

दस्यून् निहन्ति वै राजा भूयसो वाप्यनागसः।
भार्या माता पिता पुत्रो हन्यन्ते पुरुषेण ते।
परेणापकृतो राजा तस्मात् सम्यक् प्रधारयेत् ॥ १० ॥

राजा डाकुओं अथवा दूसरे बहुत-से निरपराध मनुष्यों को मार डालता है और इस प्रकार उसके द्वारा मारे गये पुरुषके पिता-माता, स्त्री और पुत्र आदि भी जीविकाका कोई उपाय न रह जानेके कारण मानो मार दिये जाते हैं, अतः किसी दूसरेके अपकार करनेपर राजाको भलीभाँति विचार करना चाहिये (जल्दबाजी करके किसीको प्राणदण्ड नहीं देना चाहिये) ॥ १० ॥

असाधुश्चैव पुरुषो लभते शीलमेकदा।
साधोश्चापि ह्यसाधुभ्यः शोभना जायते ■ ॥ ११ ॥

दुष्ट पुरुष भी कभी साधुसङ्गसे सुधरकर सुशील बन जाता है तथा बहुत से दुष्ट पुरुषोंकी संतानें भी अच्छी निकल जाती हैं ॥ ११ ॥

न मूलघातः कर्तव्यो नैष धर्मः सनातनः।
अपि स्वल्पवधेनैव प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ १२ ॥

इसलिये दुष्टोंको प्राणदण्ड देकर उनका मूलोच्छेद नहीं करना चाहिये। किसीकी ■ उखाड़ना सनातन धर्म नहीं है। अपराधके अनुरूप साधारण दण्ड देना चाहिये, उसीसे अपराधीके पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है ॥ १२ ॥

उद्वेजनेन बन्धेन विरूपकरणेन च।
वधदण्डेन ते क्लिश्या न पुरोहितसंसदि ॥ १३ ॥

अपराधीको ■ सर्वस्व छीन लेनेका भय दिखाया ■ अथवा उसे कैद कर लिया ■ या उसके किसी अङ्गको भङ्ग करके उसे कुरूप बना दिया जाय; परंतु प्राणदण्ड देकर उनके कुटुम्बियोंको क्लेश पहुँचाना उचित नहीं है। इसी तरह यदि वे पुरोहित ब्राह्मणकी शरणमें आ चुके हों तो भी राजा उन्हें दण्ड न दे ॥ १३ ॥

यदा पुरोहितं वा ते पर्येयुः शरणैषिणः।
करिष्यामः पुनर्ब्रह्मन् न पापमिति वादिनः ॥ १४ ॥
तदा विसर्गमर्हाः स्युरितीदं धातृशासनम्।
बिभ्रद् दण्डाजिनं मुण्डो ब्राह्मणोऽर्हति शासनम्॥ १५॥

यदि शरण चाहनेवाले डाकू या दुष्ट पुरुष पुरोहितकी शरणमें चले जायँ और यह प्रतिज्ञा करें कि 'ब्रह्मन्! अब हम फिर ऐसा पाप नहीं करेंगे' तो उन्हें छोड़ देना चाहिये। यह ब्रह्माजीका आदेश है। सिर मुड़ाकर दण्ड और मृगचर्म धारण करनेवाला संन्यासी ब्राह्मण भी यदि पाप करे तो दण्ड पानेका अधिकारी है ॥ १४-१५ ॥

गरीयांसो गरीयांसमपराधे पुनः पुनः।
तदा विसर्गमर्हन्ति न यथा प्रथमे तथा ॥ १६ ॥

यदि मनुष्य बारंबार अपराध करे, तो प्रमुख विचारकगण उसके अपराधके लिये गुरुतर दण्ड प्रदान करें। ■ अवस्थामें पहले बारके अपराधकी भाँति वे बिना दण्ड दिये छोड़ देनेके योग्य नहीं रह जाते हैं ॥ १६ ॥

द्युमत्सेन उवाच

■ ■ शक्येरन् संयन्तुं समये प्रजाः।
स तावान् प्रोच्यते धर्मो ■ प्रतिलङ्घ्यते ॥ १७ ॥

द्युमत्सेनने कहा—बेटा! जहाँ-जहाँ भी प्रजाको धर्मकी मर्यादाके भीतर नियन्त्रित करके रखा जा सके वहाँ-वहाँ वैसा करना धर्म ही बताया ■ है। जबतक कि धर्मका उल्लङ्घन नहीं किया जाता (तबतक ही वहाँ ऐसी व्यवस्था कर लेनी चाहिये) ॥ १७ ॥

अहन्यमानेषु पुनः सर्वमेव पराभवेत्।
पूर्वे पूर्वतरे चैव सुशास्या ह्यभवन् ■ ॥ १८ ॥
मृदवः सत्यभूयिष्ठा अल्पद्रोहाल्पमन्यवः।
पुरा धिग्दण्ड एवासीद् वाग्दण्डस्तदनन्तरम्॥ १९ ॥

यदि धर्मका उल्लङ्घन करनेपर भी लुटेरोंका ■ न किया जाय तो उनसे सारी प्रजाको ■ पहुँच सकता है। पहले और बहुत पहलेके लोगोंपर शासन करना सुगम था, क्योंकि उनका स्वभाव कोमल था, सत्यमें उनकी विशेष रुचि थी और द्रोह तथा क्रोधकी मात्रा उनमें बहुत कम थी। पहले अपराधीको धिक्कार देना ही बड़ा भारी दण्ड ■ ■ ■। तदनन्तर अपराधकी मात्रा बढ़नेपर वाग्दण्डका प्रचार हुआ—अपराधीको कटुवचन सुनाकर छोड़ दिया जाने ■ ॥ १८-१९ ॥

आसीदादानदण्डोऽपि वधदण्डोऽद्य वर्तते।
वधेनापि ■ शक्यन्ते नियन्तुमपरे जनाः ॥ २० ॥

इसके बाद आवश्यकता समझकर अर्थदण्ड भी चालू किया गया और आजकल तो वधका दण्ड भी प्रचलित हो गया है। बहुत ■ दुरात्मा मनुष्योंको तो प्राणदण्डके द्वारा भी काबूमें लाना या मर्यादाके भीतर रखना असम्भव-सा हो ■ है ॥ २० ॥

नैव दस्युर्मनुष्याणां न देवानामिति श्रुतिः।
न गन्धर्वपितृणां च कः कस्येह न ■ ॥ २१ ॥

सुननेमें आया है कि डाकू मनुष्यों, देवताओं, गन्धर्वों ■ पितरोंमेंसे किसीका आत्मीय नहीं होता। इतना ही नहीं, इस संसारमें कौन लुटेरा किसका है, यह प्रश्न ही नहीं उठ ■। कोई डाकू किसीका नहीं होता है, यही कहना यथार्थ है ॥ २१ ॥

पद्मं श्मशानादादत्ते पिशाचाच्चापि दैवतम्।
तेषु यः समयं कश्चित् कुर्वीत हतबुद्धिषु ॥ २२ ॥

वह तो मरघटमें जाकर मृत शरीरसे चिह्नभूत वस्त्र आदि उतार लाता है और देवताकी सम्पत्तिको भी लूट लेता है। जिनकी बुद्धि मारी गयी है, उन डाकुओंपर जो कोई विश्वास करता है, वह मूर्ख है ॥ २२ ॥

सत्यवानुवाच

तान् न शक्नोषि चेत् साधून् परित्रातुमहिंसया।
कस्यचिद् भूतभव्यस्य लाभेनान्तं तथा ■ ॥ २३ ॥

सत्यवान्ने कहा—पिताजी! यदि आप लुटेरोंका वध न करके साधुओंकी ■ करनेमें असमर्थ हैं, अथवा उन दस्युओंको ही साधु बनाकर अहिंसाद्वारा उनकी प्राणरक्षा नहीं कर सकते तो भूत, वर्तमान और भविष्यमें उनके पारमार्थिक लाभका उद्देश्य सामने रखकर किसी ■ उपायसे उनका या उनकी दस्युवृत्तिका अन्त कर दीजिये॥

राजानो लोकयात्रार्थं तप्यन्ते परमं तपः।
तेऽपत्रपन्ति तादृग्भ्यस्तथावृत्ता भवन्ति च ॥ २४ ॥

बहुत से नरेश, लोगोंकी जीवनयात्राका यथावत् रूपसे निर्वाह हो, इस उद्देश्यसे बड़ी भारी [illegible] करते हैं। वे राजा अपने राज्यमें चोर-डाकुओंके होनेसे लज्जाका अनुभव करते हैं। इसीलिये प्रजाको शुद्ध, सदाचारी एवं सुखी बनानेकी इच्छासे वैसी तपस्यामें प्रवृत्त होते हैं ॥ २४ ॥

वित्रास्यमानाः सुकृतो न कामाद् घ्नन्ति दुष्कृतीन्।
सुकृतेनैव राजानो भूयिष्ठं शासते प्रजाः ॥ २५ ॥

जब प्रजामें दण्डका भय उत्पन्न किया जाता है, तब वह सत्कर्मपरायण होती है; अतः भय दिखाकर प्रजाको धर्ममें लगाना ही दण्डका उद्देश्य है, किसीका प्राण लेना नहीं। राजालोग अपनी इच्छासे दुष्टोंका वध नहीं करते हैं। श्रेष्ठ नरेश प्रायः सत्कर्मों और सद्व्यवहारोंद्वारा ही दीर्घकालतक प्रजापर शासन करते हैं ॥ २५ ॥

श्रेयसः श्रेयसोऽप्येवं वृत्तं लोकोऽनुवर्तते।
सदैव हि गुरोर्वृत्तमनुवर्तन्ति मानवाः ॥ २६ ॥

इस प्रकार परम श्रेष्ठ राजाके सद्व्यवहारका सब लोग अनुसरण करते हैं। मनुष्य स्वभावसे ही सदा बड़ोंके आचरणोंका अनुकरण करते हैं ॥ २६ ॥

आत्मानमसमाधाय समाधित्सति यः परान्।
विषयेष्विन्द्रियवशं मानवाः प्रहसन्ति तम् ॥ २७ ॥

जो राजा स्वयं विषय भोगनेके लिये इन्द्रियोंका दास हो रहा है, अपने मनको काबूमें नहीं रख पाता है, वह यदि दूसरोंको सदाचारका उपदेश देने लगे तो लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं ॥ २७ ॥

यो राज्ञो दम्भमोहेन किंचित् कुर्यादसाम्प्रतम्।
सर्वोपायैर्नियम्यः स [illegible] पापान्निवर्तते ॥ २८ ॥

यदि कोई मनुष्य दम्भ या मोहके कारण राजाके साथ किञ्चिन्मात्र भी कोई अनुचित बर्ताव करने लगे तो सभी उपायोंसे उसका दमन करना चाहिये। ऐसा करनेपर वह पापकर्मसे दूर हट जाता है ॥ २८ ॥

आत्मैवादौ नियन्तव्यो दुष्कृतं संनियच्छता।
दण्डयेच्च महादण्डैरपि बन्धूननन्तरान् ॥ २९ ॥

जो राजा पापकी प्रवृत्तिको रोकना चाहता हो, उसे पहले अपने मनको ही वशमें करना चाहिये। फिर अपने सगे बन्धु-बान्धव भी अपराध करें तो उनको भी भारी-से-भारी दण्ड देना चाहिये ॥ २९ ॥

यत्र वै पापकृन्नीचो न महद् दुःखमर्च्छति।
वर्धन्ते तत्र पापानि धर्मो ह्रसति च ध्रुवम् ॥ ३० ॥

जहाँ पाप करनेवाले नीचको महान् दुःख नहीं भोगना पड़ता है, वहाँ निश्चय ही पाप बढ़ता है और धर्मका ह्रास होता है ॥ ३० ॥

इति कारुण्यशीलस्तु विद्वान् वै ब्राह्मणोऽन्वशात्।
इति चैवानुशिष्टोऽस्मि पूर्वैस्तात पितामहैः ॥ ३१ ॥
आश्वासयद्भिः सुभृशमनुक्रोशात् तथैव च।
एतत् प्रथमकल्पेन राजा कृतयुगे जयेत् ॥ ३२ ॥

पिताजी! एक दयालु एवं विद्वान् ब्राह्मणने मुझे यह सब उपदेश दिया था। उस समय उसने कहा था कि तात सत्यवान्! मेरे पूर्वज पितामहोंने मुझे आश्वासन देते हुए अत्यन्त कृपापूर्वक ऐसी शिक्षा दी थी। इसलिये राजाको सत्ययुगमें जब कि धर्म अपने चारों चरणोंसे मौजूद रहता है, पूर्वोक्त प्रथम श्रेणीके (अहिंसामय) दण्डद्वारा ही प्रजाको वशमें करना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

पादोनेनापि धर्मेण गच्छेत् त्रेतायुगे तथा।
द्वापरे तु द्विपादेन पादेन त्वपरे युगे ॥ ३३ ॥

'त्रेतायुग आनेपर धर्मका प्रचार एक चौथाई कम हो [illegible] है, द्वापरमें धर्मके दो ही पैर रह जाते हैं; परंतु कलियुगमें तो धर्मका चतुर्थ भाग ही शेष रह जाता है ॥ ३३ ॥

तथा कलियुगे प्राप्ते राज्ञो दुश्चरितेन ह।
भवेत् कालविशेषेण कला धर्मस्य षोडशी ॥ ३४ ॥

'इस प्रकार कलियुग उपस्थित होनेपर राजाके दुर्व्यवहारसे तथा उस कालविशेषका प्रभाव पड़नेसे सम्पूर्ण धर्मकी सोलहवीं कलामात्र शेष रह जायगी ॥ ३४ ॥

[illegible] प्रथमकल्पेन सत्यवन् संकरो भवेत्।
आयुः शक्तिं [illegible] कालं च निर्दिश्य तप आदिशेत् ॥ ३५ ॥

'सत्यवान्! यदि प्रथम श्रेणीके अहिंसात्मक दण्डसे धर्म और अधर्मका सम्मिश्रण होने लगे, तब दण्डनीय व्यक्तिकी आयु, शक्ति और कालको ध्यानमें रखते हुए राजा यथोचित दण्डके लिये आज्ञा प्रदान करे ॥ ३५ ॥

सत्याय हि यथा नेह जह्याद् धर्मफलं महत्।
भूतानामनुकम्पार्थं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

'स्वायम्भुव मनुने प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये धर्मका उपदेश किया है, जिससे इस जगत्में वह सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले धर्मके महान् फलसे वञ्चित न रह जाय' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि द्युमत्सेनसत्यवत्संवादे सप्तषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें द्युमत्सेन और सत्यवान्का संवादविषयक दो सौ सरसठवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ २६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्यूमरश्मि और कपिलका संवाद—स्यूमरश्मिके द्वारा यज्ञकी अवश्यकर्तव्यताका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

अविरोधेन भूतानां योगः षाड्गुण्यकारकः ।
यः स्यादुभयभाग्धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! प्राणियोंका विरोध (अहित) न करते हुए मनुष्योंको शम-दमादि छहों गुणोंकी प्राप्ति करानेवाला जो योग है तथा जो भोग और मोक्ष दोनों फलोंको प्राप्त करानेवाला धर्म है, वह मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

गार्हस्थ्यस्य च धर्मस्य योगधर्मस्य चोभयोः ।
अदूरसम्प्रस्थितयोः किंस्विच्छ्रेयः पितामह ॥ २ ॥

दादाजी ! गार्हस्थ्यधर्म और योगधर्म दोनों एक दूसरेसे दूर नहीं हैं, तथापि उन दोनोंमेंसे कौन श्रेष्ठ है ? यह बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

उभौ धर्मौ महाभागावुभौ परमदुश्चरौ ।
उभौ महाफलौ तौ तु सद्भिराचरितावुभौ ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! गार्हस्थ्य और योगधर्म दोनों महान् सौभाग्य प्रदान करनेवाले हैं, दोनों अत्यन्त दुष्कर हैं। दोनोंके ही फल महान् हैं और दोनोंका ही श्रेष्ठ पुरुषोंने आचरण किया है ॥ ३ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि प्रामाण्यमुभयोस्तयोः ।
शृणुष्वैकमनाः पार्थ छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ४ ॥

कुन्तीनन्दन ! मैं तुम्हें इन दोनों धर्मोंकी प्रामाणिकताका प्रतिपादन करूँगा और तुम्हारे धर्म तथा अर्थविषयक संदेहको मिटा दूँगा । तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कपिलस्य गोश्च संवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार लोग महर्षि कपिल और गौके भीतर आविष्ट हुए स्यूमरश्मिके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥ ५ ॥

आम्नायमनुपश्यन् हि पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ।
नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥

हमने सुना है कि पूर्वकालमें राजा नहुषने वेदके अनुशासनको प्राचीन, सनातन एवं नित्य समझकर अपने घरपर आये हुए अतिथि त्वष्टाके लिये एक गायका आलम्भ करनेका विचार किया ॥ ६ ॥

तां नियुक्तामदीनात्मा सत्त्वस्थः संयमे रतः ।
ज्ञानवान् नियताहारो ददर्श कपिलस्तथा ॥ ७ ॥

उस समय सत्त्वगुणमें स्थित, संयमपरायण, मिताहारी, उदारचित्त और ज्ञानवान् कपिलमुनिने त्वष्टाके लिये नियुक्त हुई उस गायको देखा ॥ ७ ॥

स बुद्धिमुत्तमां प्राप्तो नैष्ठिकीमकुतोभयाम् ।
सतीमशिथिलां सत्यां वेदा इत्यब्रवीत् सकृत् ॥ ८ ॥

उन उत्तम, निर्भय, सुस्थिर, सत्य, सद्भावयुक्त एवं उत्साहयुक्त बुद्धिको प्राप्त हुए महर्षि कपिलने केवल एक बार इतना ही कहा—हा वेद ! (जो तुम्हारे नामपर लोग ऐसा अनाचार करते हैं) ॥ ८ ॥

तां गामृषिः स्यूमरश्मिः प्रविश्य यतिमब्रवीत् ।
हंहो वेदा यदि मता धर्माः केनापरे मताः ॥ ९ ॥

उसी समय स्यूमरश्मि नामक एक ऋषिने उस गायके भीतर प्रवेश करके कपिलमुनिसे कहा—'अहो ! यदि वेदोंकी प्रामाणिकतापर आपको संदेह है तो अन्य धर्मशास्त्रोंको किस आधारपर प्रमाणभूत माना जा सकता है ? ॥ ९ ॥

तपस्विनो धृतिमन्तः श्रुतिविज्ञानचक्षुषः ।
सर्वमार्षं हि मन्यन्ते व्याहृतं विदितात्मनः ॥ १० ॥

'तपस्वी, धैर्यवान्, वेद एवं विज्ञानरूप दृष्टिवाले ऋषि-मुनि वेदको नित्यज्ञानसम्पन्न परमेश्वरकी निःश्वासभूत वाणी मानते हैं ॥ १० ॥

तस्यैवं गततृष्णस्य विज्वरस्य निराशिषः ।
का विवक्षास्ति वेदेषु निरारम्भस्य सर्वतः ॥ ११ ॥

'जो तृष्णारहित, उद्वेगशून्य, निष्काम तथा सब प्रकारके आरम्भोंसे रहित है, उस परमेश्वरके निःश्वाससे निःसृत वेदोंके विषयमें आप विपरीत वचन क्यों कह रहे हैं ?' ॥ ११ ॥

कपिल उवाच

नाहं वेदान् विनिन्दामि न विवक्ष्यामि कर्हिचित् ।
पृथगाश्रमिणां कर्माण्येकार्थानीति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

कपिलने कहा—मैं न तो वेदोंकी निन्दा करता हूँ और न कभी उन्हें विपरीत बात बतानेवाला बताता हूँ । पृथक्-पृथक् आश्रमवालोंके जो कर्म हैं, उन सबके उद्देश्य एक ही हैं—ऐसा हमने सुन रखा है ॥ १२ ॥

गच्छत्येव परित्यागी वानप्रस्थश्च गच्छति ।
गृहस्थो ब्रह्मचारी च उभौ तावपि गच्छतः ॥ १३ ॥

संन्यासी परमपदको प्राप्त कर लेता है, वानप्रस्थ भी वहीं जा पहुँचता है। गृहस्थ और ब्रह्मचारी—ये दोनों भी उसी पदको प्राप्त हो सकते हैं ॥ १३ ॥

देवयाना हि पन्थानश्चत्वारः शाश्वता मताः ।
एषां ज्यायः कनीयस्त्वं फलेषूक्तं बलाबलम् ॥ १४ ॥

चारों आश्रम ही देवयाननामक चार सनातन मार्ग माने गये हैं । इनमें कौन बड़ा है कौन छोटा; अतः कौन सबल है, कौन दुर्बल—यह उनके फलोंको निमित्त बनाकर बताया गया है ॥ १४ ॥

एवं विदित्वा सर्वार्थानारभेतेति वैदिकम् ।
नारभेतेति चान्यत्र नैष्ठिकी श्रूयते श्रुतिः ॥ १५ ॥

ऐसा जानकर समस्त कार्योंका आरम्भ करे, यह वैदिक [illegible] है। अन्यत्र यह सिद्धान्तभूत श्रुति भी सुनी जाती है कि कर्मोंका आरम्भ ही न करे ॥ १५ ॥

अनालम्भे ह्यदोषः स्यादालम्भे दोष उत्तमः ।
एवं स्थितस्य [illegible] दुर्विज्ञेयं बलाबलम् ॥ १६ ॥

क्योंकि यज्ञ आदि कार्योंमें आलम्भन न करनेपर दोषकी प्राप्ति नहीं होती है और आलम्भन करनेपर महान् दोष [illegible] होता है। ऐसी स्थितिमें वेदवचनोंके बलाबलको जानना अत्यन्त कठिन है ॥ १६ ॥

[illegible] किञ्चित् प्रत्यक्षमहिंसायाः परं मतम् ।
ऋते त्वागमशास्त्रेभ्यो ब्रूहि तद् यदि पश्यसि ॥ १७ ॥

वेदों और तदनुकूल आगमोंको छोड़कर अन्यत्र अहिंसासे भिन्न हिंसाबोधक शास्त्रका कोई फल यदि युक्तिसे भी [illegible] दिखायी देनेवाला प्रतीत होता हो अथवा तुम अनुभवमें उसका साक्षात्कार कर रहे हो तो उसे स्पष्ट बताओ ॥१७॥

स्यूमरश्मिरुवाच

स्वर्गकामो यजेतेति सततं श्रूयते श्रुतिः ।
फलं प्रकल्प्य पूर्वं हि ततो यज्ञः प्रतायते ॥ १८ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—'स्वर्गकी इच्छा रखनेवाला पुरुष यज्ञ करे' यह श्रुति सदा ही सुनी जाती है। अतः मनुष्य पहले स्वर्गरूप फलकी कल्पना (संकल्प) करके फिर यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ करता है ॥ १८ ॥

अजश्चाश्वश्च मेषश्च गौश्च पक्षिगणाश्च ये ।
ग्राम्यारण्याश्चौषधयः प्राणस्यान्नमिति श्रुतिः ॥ १९ ॥

बकरा, घोड़ा, भेड़, गाय, पक्षी, ग्राम्य अन्न तथा जंगली अन्न आदि सारी वस्तुएँ प्राणके लिये अन्न हैं—ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ १९ ॥

तथैवान्नं ह्यहरहः सायंप्रातर्निरूप्यते ।
पशवश्चाथ धान्यं [illegible] यज्ञस्याङ्गमिति श्रुतिः ॥ २० ॥

प्रतिदिन सबेरे-शाम अन्नको प्राणका भोज्य बताया [illegible] है। पशु और धान्य—ये यज्ञके अङ्ग हैं, ऐसा श्रुति कहती है॥

एतानि [illegible] यज्ञेन प्रजापतिरकल्पयत् ।
तेन प्रजापतिर्देवान् यज्ञेनायजत प्रभुः ॥ २१ ॥

भगवान् प्रजापतिने यज्ञके साथ-साथ इन सबकी सृष्टि की। फिर उन प्रजापतिने ही इन यज्ञसामग्रियोंद्वारा देवताओंसे यज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ २१ ॥

तदन्योन्यवराः सर्वे प्राणिनः सप्त सप्तधा ।
यज्ञेषूपाकृतं विश्वं प्राहुरुत्तमसंज्ञितम् ॥ २२ ॥

सात-सात प्रकारके जो ग्राम्य और आरण्य (जंगली) प्राणी हैं, वे सब एक-दूसरेकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। इन सबमें 'उत्तम' नामसे प्रसिद्ध जो सब-के-सब पुरुष या मनुष्यसंज्ञक प्राणी हैं, उन्हें भी यज्ञके लिये नियुक्त बताया गया है ॥

एतच्चैवाभ्यनुज्ञातं पूर्वैः पूर्वतरैस्तथा ।
को जातु न विचिन्वीत विद्वान् स्वां शक्तिमात्मनः ॥ २३ ॥

पूर्ववर्ती तथा अधिक पूर्ववर्ती पुरुषोंने इन समस्त द्रव्योंको यज्ञका अङ्ग माना है, अतः कौन विद्वान् मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार कभी किसी यज्ञको अपने लिये नहीं चुनेगा ॥ २३ ॥

[illegible] मनुष्याश्च द्रुमाश्चौषधिभिः सह ।
स्वर्गमेवाभिकाङ्क्षन्ते न च स्वर्गस्ततो मखात् ॥ २४ ॥

पशु, मनुष्य, वृक्ष और ओषधियाँ—ये सब-के-सब स्वर्ग चाहते हैं, परंतु यज्ञको छोड़कर और किसी साधनसे यह त्रिकाल स्वर्गलोक सुलभ नहीं हो सकता है ॥ २४ ॥

ओषध्यः पशवो [illegible] वीरुदाज्यं पयो दधि ।
हविर्भूमिर्दिशः श्रद्धा कालश्चैतानि द्वादश ॥ २५ ॥

ओषधि (अन्न आदि), पशु, वृक्ष, लता, घी, दूध, दही, अन्यान्य हविष्य, भूमि, दिशा, श्रद्धा और काल—ये बारह यज्ञके अङ्ग हैं ॥ २५ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि यजमानश्च षोडश ।
अग्निर्ज्ञेयो गृहपतिः [illegible] सप्तदश उच्यते ॥ २६ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और यजमान—ये चार मिलकर सोलह यज्ञाङ्ग होते हैं तथा गार्हपत्य अग्निको सत्रहवाँ यज्ञाङ्ग समझना चाहिये। इस प्रकार ये सत्रह अङ्ग बताये जाते हैं ॥ २६ ॥

अङ्गान्येतानि यज्ञस्य यज्ञो मूलमिति श्रुतिः ।
आज्येन पयसा दध्ना शकृताऽऽमिक्षया त्वचा ॥ २७ ॥
वालैः शृङ्गेण पादेन सम्भवत्येव गौर्मखम् ।
एवं प्रत्येकशः सर्वं यद् यदस्य विधीयते ॥ २८ ॥

ये [illegible] यज्ञके अङ्ग हैं और यज्ञ इस जगत्की स्थितिका मूल कारण है; ऐसा श्रुतिका कथन है। घी, दूध, दही, छाछ, गोबर, चमड़ा, बाल, सींग और पैर—इन सबके द्वारा गौ यज्ञकर्मका सम्पादन करती है। इस प्रकार इनमेंसे प्रत्येक वस्तु-का, जो-जो विहित है, संग्रह करना चाहिये ॥ २७-२८ ॥

यज्ञं वहन्ति सम्भूय सहर्त्विग्भिः सदक्षिणैः ।
संहत्यैतानि सर्वाणि यज्ञं निर्वर्तयन्त्युत ॥ २९ ॥

ऋत्विक् और दक्षिणाओंके साथ ये सब मिलकर यज्ञका निर्वाह करते हैं। यजमान इन सारी वस्तुओंका संग्रह करके यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥ २९ ॥

यज्ञार्थानि हि सृष्टानि यथार्था श्रूयते श्रुतिः ।
एवं पूर्वतराः सर्वे प्रवृत्ताश्चैव मानवाः ॥ ३० ॥

ये सारी वस्तुएँ यज्ञके लिये रची गयी हैं, यह श्रुतिका कथन यथार्थ ही है। पहलेके सभी मनुष्य इसी प्रकार यज्ञा-नुष्ठानमें प्रवृत्त होते आये हैं ॥ ३० ॥

न हिनस्ति नारभते नाभिद्रुह्यति किंचन ।
यज्ञो यष्टव्य इत्येव यो यजत्यफलेप्सया ॥ ३१ ॥

[illegible] अनुष्ठान अपना कर्तव्य है—ऐसा समझकर जो फलकी इच्छा न रखते हुए [illegible] करता है, वह न तो हिंसा करता है, न किसीसे द्रोह करता है और न अहंकारपूर्वक किसी कर्मका आरम्भ ही करता है ॥ ३१ ॥

यज्ञाङ्गान्यपि चैतानि यज्ञोक्तान्यनुपूर्वशः ।
विधिना विधियुक्तानि धारयन्ति परस्परम् ॥ ३२ ॥

यज्ञशास्त्रमें क्रमशः वर्णित ये सम्पूर्ण यज्ञाङ्ग विधिपूर्वक यज्ञमें प्रयुक्त हो एक दूसरेको धारण करते हैं ॥ ३२ ॥

आम्नायमार्षं पश्यामि यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
तं विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ब्राह्मणस्यानुदर्शनात् ॥ ३३ ॥

[illegible] ऋषियोंद्वारा कथित आम्नाय (धर्मशास्त्र) को देखता हूँ, जिसमें सारे वेद प्रतिष्ठित हैं। कर्ममें प्रवृत्ति करानेवाले ब्राह्मणग्रन्थके वाक्योंका उसमें दर्शन होनेसे विद्वान् पुरुष [illegible] आर्षग्रन्थको प्रमाणभूत मानते हैं ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणप्रभवो यज्ञो ब्राह्मणार्पण एव च ।
अनुयज्ञं जगत् सर्वं यज्ञश्चानुजगत् सदा ॥ ३४ ॥

वेदोंके ब्राह्मणभागसे यज्ञका प्राकट्य हुआ है। वह [illegible] ब्राह्मणोंको ही अर्पित किया [illegible] है। यज्ञके पीछे सारा जगत् और जगत्के पीछे सदा [illegible] रहता है ॥ ३४ ॥

ओमिति ब्रह्मणो योनिर्नमः [illegible] स्वधा वषट् ।
यस्यैतानि प्रयुज्यन्ते यथाशक्ति कृतान्यपि ॥ ३५ ॥

'ॐ' यह वेदका मूल कारण है। वह ॐ तथा नमः, स्वाहा, स्वधा और वषट्—ये पद यथाशक्ति जिसके यज्ञमें प्रयुक्त होते हैं, उसीका यज्ञ साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होता है ॥

न तस्य त्रिषु लोकेषु परलोकभयं विदुः ।
इति वेदा वदन्तीह सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ३६ ॥

ऐसे मनुष्यको तीनों लोकोंमें किसी भी प्राणीसे भय नहीं होता है। यह [illegible] यहाँ सम्पूर्ण वेद तथा सिद्ध महर्षि भी कहते हैं ॥ ३६ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि स्तोभाश्च विधिचोदिताः ।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि भवन्तीह स वै द्विजः ॥ ३७ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और विधिविहित स्तोभ[1]—ये सब जिसमें विद्यमान होते हैं, वही इस जगत्में द्विज कहलानेका अधिकारी है ॥ ३७ ॥

अग्न्याधेये यद् भवति [illegible] सोमे सुते द्विज ।
यच्चेतरैर्महायज्ञैर्वेद तद् भगवान् पुनः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मन्! अग्न्याधान, (अग्निहोत्र) तथा सोमयाग करनेसे जो फल मिलता है और अन्यान्य महायज्ञोंके अनुष्ठानसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, उसे आप जानते हैं ॥ ३८ ॥

तस्माद् ब्रह्मन् यजेच्चैव याजयेच्चाविचारयन् ।
[illegible] स्वर्गविधिना प्रेत्य स्वर्गफलं महत् ॥ ३९ ॥

अतः विप्रवर! प्रत्येक द्विजको चाहिये कि वह बिना किसी विचारके यज्ञ करे और करावे। जो स्वर्गदायक विधिसे [illegible] करता है, उसे देहत्यागके पश्चात् महान् स्वर्गफलकी प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां परश्चेति विनिश्चयः ।
वेदवादविदश्चैव प्रमाणमुभयं तदा ॥ ४० ॥

यह निश्चय है कि जो यज्ञ नहीं करते हैं, ऐसे पुरुषोंके लिये न तो यह लोक सुखदायक होता है और न स्वर्ग ही। जो वेदोक्त विषयोंके जानकार हैं, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंको ही प्रमाणभूत मानते हैं ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये अष्टषष्ट्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

प्रवृत्ति एवं निवृत्तिमार्गके विषयमें स्यूमरश्मि-कपिल-संवाद

कपिल उवाच

एतावदनुपश्यन्ति यतयो यान्ति मार्गगाः ।
नैषां सर्वेषु लोकेषु कश्चिदस्ति व्यतिक्रमः ॥ १ ॥

कपिलने कहा—यम नियमोंका पालन करनेवाले संन्यासी ज्ञानमार्गका आश्रय लेकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। वे इस दृश्य प्रपञ्चको नश्वर समझते हैं। सम्पूर्ण लोकोंमें उनकी गतिका कहीं कोई अवरोध नहीं होता ॥

निर्द्वन्द्वा निर्नमस्कारा निराशीर्बन्धना बुधाः ।
विमुक्ताः सर्वपापेभ्यश्चरन्ति शुचयोऽमलाः ॥ २ ॥

उन्हें सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्व विचलित नहीं करते। वे न तो किसीको प्रणाम करते हैं और न आशीर्वाद ही देते हैं। इतना ही नहीं, वे विद्वान् पुरुष कामनाओंके बन्धनमें भी नहीं बँधते हैं। सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त, पवित्र और निर्मल होकर सर्वत्र विचरते रहते हैं ॥ २ ॥

अपवर्गेऽथ संत्यागे बुद्धौ च कृतनिश्चयाः ।
ब्रह्मिष्ठा ब्रह्मभूताश्च ब्रह्मण्येव कृतालयाः ॥ ३ ॥

वे मोक्षकी प्राप्ति और सर्वस्वके त्यागके लिये अपनी बुद्धिमें दृढ निश्चय रखते हैं। ब्रह्मके ध्यानमें तत्पर एवं

१. सामगानके जो 'हाऽऽयि, हाऽऽवु' इत्यादि पूरक अक्षर हैं, उन्हें 'स्तोभ' कहते हैं।

ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्ममें ही निवास करते हैं ॥ ३ ॥

विशोका नष्टरजसस्तेषां लोकाः सनातनाः।
तेषां गतिं परां प्राप्य गार्हस्थ्ये किं प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

उन्हें वे सनातन लोक प्राप्त होते हैं, जहाँ शोक और दुःखका सर्वथा अभाव है तथा जहाँ रजोगुण (काम-क्रोध आदि) का दर्शन नहीं होता। उस परम गतिको पाकर उन्हें गार्हस्थ्य-आश्रममें रहने और वहाँके धर्मोंके पालन करनेकी क्या आवश्यकता रह जाती है ? ॥ ४ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

यद्येषा परमा काष्ठा यद्येषा परमा गतिः।
गृहस्थाननपाश्रित्य नाश्रमोऽन्यः प्रवर्तते ॥ ५ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ज्ञान प्राप्त करके परब्रह्ममें स्थित हो जाना ही यदि पुरुषार्थकी चरम सीमा है, यदि वही उत्तम गति है, तब तो गृहस्थ-धर्मका महत्त्व और भी बढ़ जाता है; क्योंकि गृहस्थोंका सहारा लिये बिना कोई भी आश्रम न तो चल सकता है और न तो ज्ञानकी निष्ठा ही प्रदान कर सकता है ॥ ५ ॥

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः ॥ ६ ॥

जैसे समस्त प्राणी माताकी गोदका सहारा पाकर ही जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ आश्रमका आश्रय लेकर ही दूसरे आश्रम टिके हुए हैं ॥ ६ ॥

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।
गार्हस्थ्यमस्य धर्मस्य मूलं यत्किंचिदेजते ॥ ७ ॥

गृहस्थ ही यज्ञ करता है, गृहस्थ ही तप करता है। मनुष्य जो कुछ भी चेष्टा करता है—जिस किसी भी शुभ कर्मका आचरण करता है, उस धर्मका मूल कारण गार्हस्थ्य-आश्रम ही है ॥ ७ ॥

प्रजनाद्यभिनिर्वृत्ताः सर्वे प्राणभृतो जनाः।
प्रजनं चाप्युतान्यत्र न कथंचन विद्यते ॥ ८ ॥

सभी प्राणधारी जीव संतानके उत्पादन आदिसे सुखका अनुभव करते हैं, परंतु संतान गार्हस्थ्य-आश्रमके सिवा अन्यत्र किसी तरह सुलभ नहीं है ॥ ८ ॥

यास्तु स्युर्बहिरोषध्यो बहिरन्यास्तथाद्रिजाः।
ओषधिभ्यो बहिर्यस्मात् प्राणात् कश्चिन्न दृश्यते ॥ ९ ॥

कुश-काश आदि तृण, धान-जौ आदि ओषधि, नगरके बाहर उत्पन्न होनेवाली दूसरी ओषधियाँ तथा पर्वतपर होनेवाली जो ओषधियाँ हैं, उन सबका मूल भी गार्हस्थ्य-आश्रम ही है (क्योंकि वहींके यज्ञसे पर्जन्य (मेघ) की उत्पत्ति होती है, जिससे वर्षा आदिके द्वारा तृण-लता, ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं)। प्राणस्वरूप जो ओषधियाँ हैं, उससे बाहर कोई दिखायी नहीं देता ॥ ९ ॥

कस्यैषा वाग् भवेत् सत्या मोक्षो नास्ति गृहादिति।
अश्रद्दधानैरप्राज्ञैः सूक्ष्मदर्शनवर्जितैः ॥ १० ॥

निराशैरलसैः श्रान्तैस्तप्यमानैः स्वकर्मभिः।
शमस्योपरमो दृष्टः प्रव्रज्यायामपण्डितैः ॥ ११ ॥

गृहस्थाश्रमके धर्मोंका पालन करनेसे मोक्ष नहीं होता है, ऐसी किसकी वाणी सत्य होगी। जो श्रद्धारहित, मूढ और सूक्ष्मदृष्टिसे वञ्चित है, अस्थिर, आलसी, श्रान्त और अपने पूर्वकृत कर्मोंसे संतप्त हैं, वे अज्ञानी पुरुष ही संन्यास-मार्गका आश्रय ले गृहस्थाश्रममें शान्तिका अभाव देखते हैं ॥ १०-११ ॥

त्रैलोक्यस्यैव हेतुर्हि मर्यादा शाश्वती ध्रुवा।
ब्राह्मणो नाम भगवान् जन्मप्रभृति पूज्यते ॥ १२ ॥

वैदिक धर्मकी सनातन मर्यादा तीनों लोकोंका हित करनेवाली एवं ध्रुव है। ब्राह्मण पूजनीय है और जन्मकालसे ही उसका सबके द्वारा समादर होता है ॥ १२ ॥

प्राग्गर्भाधानान्मन्त्रा हि प्रवर्तन्ते द्विजातिषु।
अविश्रम्भेषु वर्तन्ते विश्रम्भेष्वप्यसंशयम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तीनों वर्णोंमें गर्भाधानसे पहले वेदमन्त्रोंका उच्चारण किया जाता है। फिर लौकिक और पारलौकिक सभी कार्योंमें निस्संदेह उन वेदमन्त्रोंकी प्रवृत्ति होती है ॥ १३ ॥

दाहे पुनः संश्रयणे संश्रिते पात्रभोजने।
दाने गवां पशूनां वा पिण्डानामप्सु मज्जने ॥ १४ ॥

मृतकके दाह-संस्कारमें, पुनः देह धारण करनेमें, देह धारण कर लेनेपर, मृत व्यक्तिकी तृप्तिके लिये प्रतिदिन तर्पण और श्राद्ध करनेमें, वैतरणीके निमित्त गौओं अथवा अन्य पशुओंका दान करनेमें तथा श्राद्धकर्ममें दिये हुए पिण्डोंका जलके भीतर विसर्जन करनेमें भी वैदिक मन्त्रोंका उपयोग होता है—इन सब कार्योंके मूल वेद-मन्त्र हैं ॥ १४ ॥

अर्चिष्मन्तो बर्हिषदः क्रव्यादाः पितरस्तथा।
मृतस्याप्यनुमन्यन्ते मन्त्रान् मन्त्राश्च कारणम् ॥ १५ ॥

अर्चिष्मत्, बर्हिषद् तथा क्रव्यवाह नामक पितर भी मृत व्यक्तिके (सुख-शान्ति एवं प्रसन्नता) के लिये मन्त्रपाठकी अनुमति देते हैं। मन्त्र ही सब धर्मोंके कारण हैं ॥

एवं क्रोशत्सु वेदेषु कुतो मोक्षोऽस्ति कस्यचित्।
ऋणवन्तो यदा मर्त्याः पितृदेवद्विजातिषु ॥ १६ ॥

वे ही वेद-मन्त्र जब पुकार-पुकारकर कहते हैं कि मनुष्य देवताओं, पितरों और ऋषियोंके जन्मसे ही ऋणी होते हैं, तब गृहस्थाश्रममें रहकर उन ऋणोंको चुकाये बिना किसीको भी मोक्ष कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

श्रिया विहीनैरलसैः पण्डितैः सम्प्रवर्तितम्।
वेदवादापरिज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥ १७ ॥

श्रीहीन और आलसी पण्डितोंने कर्मके त्यागसे मोक्ष मिलता है—ऐसा मत चलाया है। यह सुननेमें सत्य-सा आभासित होता है, परंतु है मिथ्या। इस मार्गमें चलनेवालेको वेद के सिद्धान्तोंका तनिक भी ज्ञान नहीं है ॥ १७ ॥

न वै पापैर्ह्रियते कृष्यते वा
यो ब्राह्मणो यजते वेदशास्त्रैः।
ऊर्ध्वं यज्ञैः पशुभिः सार्धमेति
संतर्पितस्तर्पयते च कामैः ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मण वेद-शास्त्रोंके अनुसार यज्ञ अनुष्ठान करता है, उसपर पापोंका आक्रमण नहीं हो सकता और न पाप उसे अपनी ओर खींच ही सकते हैं। वह अपने किये हुए यज्ञों और उनमें उपयोगी पशुओंके साथ ऊपरके पुण्यलोकोंमें जाता है और स्वयं सब प्रकारके भोगोंसे तृप्त होकर दूसरोंको भी तृप्त करता है ॥ १८ ॥

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया।
महत् प्राप्नोति पुरुषो ब्रह्मणि ब्रह्म विन्दति ॥ १९ ॥

वेदोंका अनादर करनेसे, शठतासे तथा छल-कपटसे कोई भी मनुष्य परब्रह्म परमात्माको नहीं पाता है। वेदों तथा उनमें बताये हुए कर्मोंका आश्रय लेनेपर ही उसे परब्रह्म-की प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

कपिल उवाच

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु धर्मः सनातनः ॥ २० ॥

कपिलजीने कहा—बुद्धिमान् पुरुषके लिये दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य आदिके अनुष्ठानका विधान है; क्योंकि उनमें सनातनधर्मकी स्थिति है ॥ २० ॥

अनारम्भाः सुधृतयः शुचयो ब्रह्मसंज्ञिताः।
ब्रह्मणैव स्म ते देवांस्तर्पयन्त्यमृतैषिणः ॥ २१ ॥

परंतु जो संन्यास धर्म स्वीकार करके कर्मानुष्ठानसे निवृत्त हो गये हैं तथा धीर, पवित्र एवं ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हैं, वे अविनाशी ब्रह्मको चाहनेवाले महात्मा पुरुष ब्रह्मज्ञानसे ही देवताओंको तृप्त करते हैं ॥ २१ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतानि पश्यतः।
देवाऽपि मार्गे मुह्यन्ति अपदस्य पदैषिणः ॥ २२ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंके आत्मारूपसे स्थित हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मभावसे ही देखते हैं, जिनका कोई विशेष पद नहीं है, उन ज्ञानी पुरुषका पदचिह्न ढूँढनेवाले—उनकी गतिका पता लगानेवाले देवता भी मार्गमें मोहित हो जाते हैं ॥ २२ ॥

चतुर्द्वारं पुरुषं चतुर्मुखं
चतुर्धा चैनमुपयाति वाचा।
बाहुभ्यां वाच उदरादुपस्थात्
तेषां द्वारं द्वारपालो बुभूषेत् ॥ २३ ॥

मनुष्योंके हाथ-पैर, वाणी, उदर और उपस्थ—ये चार द्वार हैं। इनका द्वारपाल होनेकी इच्छा करे अर्थात् इनपर संयम रखे। वह शास्त्रवाक्योंके अनुसार इन चारों द्वारोंके संयमसे प्राप्य ऋक्, यजुः, साम, अथर्वरूप—चार मुखोंसे युक्त परमपुरुषको भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं अष्टाङ्गयोग—इन चार उपायोंसे प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

नाक्षैर्दीव्येन्नाददीतान्यवित्तं
न चायोनीयस्य शृतं प्रगृह्णीयात्।
क्रुद्धो न चैव प्रहरेत धीमां-
स्तथास्य तत्पाणिपादं सुगुप्तम् ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् पुरुष जूआ न खेले, दूसरोंका धन न ले, नीच पुरुषका बनाया हुआ अन्न न ग्रहण करे और क्रोधमें आकर किसीको मार न बैठे—ऐसा करनेसे उसके हाथ-पैर सुरक्षित रहते हैं ॥ २४ ॥

नाक्रोशमृच्छेन्न मृषा वदेच्च
न पैशुनं जनवादं च कुर्यात्।
सत्यव्रतो मितभाषोऽप्रमत्त-
स्तथास्य वाग्द्वारमथो सुगुप्तम् ॥ २५ ॥

किसीको गाली न दे, व्यर्थ न बोले, दूसरोंकी चुगली या निन्दा न करे, मितभाषी हो, सत्य वचन बोले तथा इसके लिये सदा सावधान रहे—ऐसा करनेसे वाक् इन्द्रिय-रूप द्वारकी रक्षा होती है ॥ २५ ॥

नानाशनः स्यान्न महाशनः स्या-
दलोलुपः साधुभिरागतः स्यात्।
यात्रार्थमाहारमिहाददीत
तथास्य स्याज्जाठरी द्वारगुप्तिः ॥ २६ ॥

उपवास न करे, किंतु बहुत अधिक भी न खाय, सदा भोजनके लिये लालायित न रहे। सज्जनोंका सङ्ग करे और जीवननिर्वाहके लिये जितना आवश्यक हो, उतना ही अन्न पेटमें डाले—इससे उदरद्वारका संरक्षण होता है ॥ २६ ॥

न वीर पत्नीं विहरेत नारीं
न चापि नारीमनृतावाह्वयीत।
भार्याव्रतं ह्यात्मनि धारयीत
तथास्योपस्थद्वारगुप्तिर्भवेत ॥ २७ ॥

वीर युधिष्ठिर! अपनी धर्मपत्नीके साथ ही विहार करे, परायी स्त्रीके साथ नहीं, अपनी स्त्रीको भी जबतक वह ऋतु-स्नाता न हुई हो, समागमके लिये अपने पास न बुलाये और मनमें एकपत्नीव्रत धारण करे। ऐसा करनेसे उसके उपस्थ-द्वारकी रक्षा हो सकती है ॥ २७ ॥

द्वाराणि यस्य सर्वाणि सुगुप्तानि मनीषिणः।
उपस्थमुदरं बाहू वाक् चतुर्थी स वै द्विजः ॥ २८ ॥

जिस मनीषी पुरुषके उपस्थ, उदर, हाथ-पैर और वाणी—ये सभी द्वार पूर्णतः रक्षित हैं, वही वास्तवमें ब्राह्मण है ॥

मोघान्यगुप्तद्वारस्य सर्वाण्येव भवन्त्युत।
किं तस्य तपसा कार्यं किं यज्ञेन किमात्मना ॥ २९ ॥

जिसके ये द्वार सुरक्षित नहीं हैं, उसके सारे शुभ-कर्म निष्फल होते हैं, ऐसे मनुष्यको तपस्या, यज्ञ तथा आत्मचिन्तन-से क्या लाभ हो सकता है ? ॥ २९ ॥

अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्णशायिनम् ।
बाहूपधानं शाम्यन्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३० ॥

जिसके पास वस्त्रके नामपर एक लंगोटी मात्र है, ओढनेके लिये एक चादरतक नहीं है, जो बिना बिछौनेके ही सोता है, बाँहोंका ही तकिया लगाता है और सदा शान्तभावसे रहता है, उसीको देवता ब्राह्मण मानते हैं ॥ ३० ॥

द्वन्द्वारामेषु सर्वेषु य एको रमते मुनिः ।
परेषामननुध्यायंस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३१ ॥

जो मुनि शीत-उष्ण आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वरूपी उपवनोंमें अकेला ही आनन्दपूर्वक रहता है और दूसरोंका चिन्तन नहीं करता, उसे देवतालोग ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) समझते हैं ॥

येन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ।
गतिज्ञः सर्वभूतानां तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३२ ॥

जिसको इस सम्पूर्ण जगत्की नश्वरताका ज्ञान है, जो प्रकृति और उसके विकारोंसे परिचित है तथा जिसे सम्पूर्ण भूतोंकी गतिका ज्ञान है, उसे देवतालोग ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ ३२ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ।
सर्वभूतात्मभूतो यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ३३ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंसे निर्भय है, जिससे समस्त प्राणी भय नहीं मानते हैं तथा जो सब भूतोका आत्मा है, उसीको देवता ब्रह्मज्ञानी मानते हैं ॥ ३३ ॥

नान्तरेणानुजानन्ति दानयज्ञक्रियाफलम् ।
अविज्ञाय च तत् सर्वमन्यद् रोचयते फलम् ॥ ३४ ॥

परंतु मूढ़ मानव दान और यज्ञ-कर्मके फलके सिवा योग आदिके फलका अनुमोदन नहीं करते । वे उन मोक्षप्रद [illegible] साधनोंके महत्त्वको न जाननेके कारण स्वर्ग आदि अन्य फलोंमें ही रुचि रखते हैं ॥ ३४ ॥

स्वकर्मभिः संश्रितानां तपो घोरत्वमागतम् ।
तं सदाचारमाश्रित्य पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

किंतु उस पुराण, शाश्वत एवं ध्रुव यौगिक सदाचारका आश्रय लेकर अपने कर्तव्य कर्मोंमें परायण रहनेवाले ज्ञानियों-का तप उत्तरोत्तर तीव्रताको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

अशक्नुवन्तश्चरितुं किंचिद् धर्मेषु सूत्रितम् ।
निरापद्धर्म आचारो ह्यप्रमादोऽपराभवः ॥ ३६ ॥

प्रवृत्तिमार्गी मनुष्य योगशास्त्रके सूत्रोंमें कथित यम-नियमादिका अनुष्ठान नहीं कर सकते । वह यौगिक [illegible] आपत्तिशून्य, प्रमादरहित है । वह कामादिसे पराभवको नहीं प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

फलवन्ति च कर्माणि व्युष्टिमन्ति ध्रुवाणि च ।
विगुणानि च पश्यन्ति तथानैकान्तिकानि च ॥ ३७ ॥

योगशास्त्रमें कथित कर्म श्रेष्ठ फल देनेवाले, उन्नति करनेवाले एवं स्थायी हैं; तो भी प्रवृत्तिमार्गी मनुष्य उनको गुणरहित (निष्फल) और अस्थिर समझते हैं ॥ ३७ ॥

गुणाश्चात्र सुदुर्ज्ञेया ज्ञाताश्चात्र सुदुष्कराः ।
अनुष्ठिताश्चान्तवन्त इति त्वमनुपश्यसि ॥ ३८ ॥

गुणोंके कार्यभूत जो यज्ञ-यागादि हैं, उनके स्वरूप और विधि-विधानको समझना बहुत कठिन है । समझ लेनेपर भी उनका अनुष्ठान करना तो और भी कठिन है । यदि अनुष्ठान भी किया जाय तो भी उनसे नाशवान् फलकी ही प्राप्ति होती है । इन सब बातोंको तुम भी देखते और समझते हो ॥ ३८ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

यथा च वेदप्रामाण्यं त्यागश्च सफलो यथा ।
तौ पन्थानावुभौ व्यक्तौ भगवंस्तद् वदस्व मे ॥ ३९ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—भगवन् ! 'कर्म करो' और 'कर्म छोड़ो' ये जो परस्परविरुद्ध दो [illegible] मार्ग हैं, इनका उपदेश करनेवाले वेदकी प्रामाणिकताका निर्वाह कैसे हो ? तथा त्याग कैसे [illegible] होता है ? यह आप मुझसे बताइये ॥ ३९ ॥

कपिल उवाच

प्रत्यक्षमिह पश्यन्ति भवन्तः सत्पथे स्थिताः ।
प्रत्यक्षं तु किमत्रास्ति यद् भवन्त उपासते ॥ ४० ॥

कपिलने कहा—आपलोग सन्मार्गमें स्थित रहकर यहाँ योगमार्गके फलका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं; परंतु कर्ममार्गमें रहकर आपलोग जिस यज्ञकी उपासना करते हैं, उससे यहाँ कौन सा प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है ? ॥ ४० ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

स्यूमरश्मिरहं ब्रह्मन् जिज्ञासार्थमिहागतः ।
श्रेयस्कामः प्रत्यवोचमार्जवान्न विवक्षया ॥ ४१ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ब्रह्मन् ! मेरा नाम स्यूमरश्मि है । मैं ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छासे यहाँ आया हूँ । मैंने कल्याण की इच्छा रखकर सरल भावसे ही अपनी बातें आपकी सेवामें उपस्थित की हैं, वाद-विवादकी इच्छासे नहीं ॥ ४१ ॥

इमं [illegible] संशयं घोरं भगवान् प्रब्रवीतु मे ।
प्रत्यक्षमिह पश्यन्तो भवन्तः सत्पथे स्थिताः ।
किमत्र प्रत्यक्षतमं भवन्तो यदुपासते ॥ ४२ ॥
अन्यत्र तर्कशास्त्रेभ्य आगमार्थं यथागमम् ।

मेरे मनमें एक भयानक संशय उठ खड़ा हुआ है, इसे आप ही मिटा सकते हैं । आपने कहा था कि तुम सन्मार्गमें स्थित रहकर यहाँ योगमार्गके फलका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते

हो। मैं पूछता हूँ कि आप जिसकी उपासना करते हैं, यहाँ [illegible] अत्यन्त [illegible] फल क्या है ? आप उसका तर्कका सहारा न लेकर प्रतिपादन कीजिये, जिससे मैं आगमके अर्थको जान सकूँ ॥ ४२½ ॥

आगमो वेदवादास्तु तर्कशास्त्राणि चागमः ॥ ४३ ॥

वेदमतका अनुसरण करनेवाले [illegible] तो आगम हैं ही, तर्कशास्त्र (वेदोंके अर्थका निर्णय करनेवाले पूर्वोत्तर मीमांसा आदि) भी आगम हैं ॥ ४३ ॥

यथाश्रममुपासीत आगमस्तत्र सिध्यति ।
सिद्धिः प्रत्यक्षरूपा च दृश्यत्यागमनिश्चयात् ॥ ४४ ॥

जिस-जिस आश्रममें जो-जो धर्म विहित है, वहाँ वहाँ उसी-उसी धर्मकी उपासना करनी चाहिये। उस-उस स्थानपर उसी-उसी धर्मका आचरण करनेसे वहाँ आगम [illegible] होता है। एवं शास्त्रके निश्चयसे ही सिद्धिका प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥ ४४ ॥

नौर्नावीव निबद्धा हि स्रोतसा सनिबन्धना ।
ह्रियमाणा कथं विप्र कुबुद्धींस्तारयिष्यति ।
एतद् ब्रवीतु भगवानुपपन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥ ४५ ॥

जैसे एक जगह जानेवाली नावमें दूसरी जगह जानेवाली [illegible] बाँध दी जाय तो वह जलके स्रोतसे अपहृत हो किसीको गन्तव्य [illegible] नहीं पहुँचा सकती, उसी प्रकार पूर्वजन्मके कर्मोंकी वासनासे बँधी हुई हमारी कर्ममयी नौका हम कुबुद्धि पुरुषोंको कैसे भवसागरसे पार उतारेगी ! भगवन् ! यह आप मुझे बताइये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझे उपदेश दीजिये ॥ ४५ ॥

नैव त्यागी न संतुष्टो नाशोको न निरामयः ।
न निर्विधित्सो नावृत्तो नापवृत्तोऽस्ति कश्चन ॥ ४६ ॥

वास्तवमें इस जगत्के भीतर न कोई त्यागी है न संतुष्ट, न शोकहीन है न नीरोग। न तो कोई पुरुष कर्म करनेकी इच्छासे सर्वथा शून्य है, न आसक्तिसे रहित है और न सर्वथा कर्मका त्यागी ही है ॥ ४६ ॥

भवन्तोऽपि च हृष्यन्ति शोचन्ति च [illegible] वयम् ।
इन्द्रियार्थाश्च भवतां समानाः सर्वजन्तुषु ॥ ४७ ॥

आप भी हमलोगोंकी ही भाँति हर्ष और शोक प्रकट करते हैं। समस्त प्राणियोंके समान आपके समक्ष भी शब्द, स्पर्श आदि विषय उपस्थित और गृहीत होते हैं ॥ ४७ ॥

एवं चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां प्रवृत्तिषु ।
एकमालम्बमानानां निर्णये किं निरामयम् ॥ ४८ ॥

इस प्रकार चारों वर्णों और आश्रमोंके लोग सभी प्रवृत्तियोंमें एकमात्र सुखका ही आश्रय लेते हैं—उसीको अपना लक्ष्य बनाकर चलते हैं, [illegible] सिद्धान्ततः अक्षय सुख क्या है, यह बताइये ॥ ४८ ॥

कपिल उवाच

यद् यदाचरते शास्त्रमर्थ्यं सर्वप्रवृत्तिषु ।
यस्य [illegible] ह्यनुष्ठानं तत्र तत्र निरामयम् ॥ ४९ ॥

कपिलने कहा—जो-जो [illegible] जिस-जिस अर्थका आचरण—प्रतिपादन करता है, वह-वह सभी प्रवृत्तियोंमें [illegible] होता है। जिस साधनका जहाँ अनुष्ठान होता है, वहाँ-वहाँ [illegible] सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ४९ ॥

ज्ञानं प्लावयते सर्वं यो ज्ञानं ह्यनुवर्तते ।
ज्ञानादपेत्य या वृत्तिः सा विनाशयति प्रजाः ॥ ५० ॥

जो ज्ञानका अनुसरण [illegible] है, ज्ञान उसके समस्त संसारबन्धनका नाश कर देता है। बिना ज्ञानकी जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रजाको जन्म और मरणके चक्करमें डालकर उसका विनाश कर देती है ॥ ५० ॥

भवन्तो ज्ञानिनो व्यक्तं सर्वतश्च निरामयाः ।
ऐकात्म्यं [illegible] कश्चिद्धि कदाचिदुपपद्यते ॥ ५१ ॥

आपलोग ज्ञानी हैं, यह बात सर्वविदित है। आप सब ओरसे नीरोग भी हैं; परंतु क्या आपलोगोंमेंसे कोई भी किसी भी कालमें एकात्मताको प्राप्त हुआ है ? (जब एक-[illegible] अद्वितीय आत्मा अर्थात् ब्रह्मकी ही सत्ताका सर्वत्र बोध होने लगे, [illegible] उसे एकात्मताका ज्ञान कहते हैं) ॥ ५१ ॥

शास्त्रं ह्यबुद्ध्वा तत्त्वेन केचिद् वादबलाज्जनाः ।
कामद्वेषाभिभूतत्वादहङ्कारवशं गताः ॥ ५२ ॥

शास्त्रको यथार्थरूपसे न जानकर कुछ लोग वितण्डावादके ही बलसे राग-द्वेषसे अभिभूत होनेके कारण अहंकारके अधीन हो गये हैं ॥ ५२ ॥

याथातथ्यमविज्ञाय शास्त्राणां शास्त्रदस्यवः ।
ब्रह्मस्तेना निरारम्भा दम्भमोहवशानुगाः ॥ ५३ ॥

वे शास्त्रोंके यथार्थ तात्पर्यको न जाननेके कारण शास्त्रदस्यु (शास्त्रोंके अर्थपर डाका डालनेवाले लुटेरे) कहे जाते हैं। सर्वव्यापी ब्रह्मका भी अपलाप करनेके कारण ब्रह्मचोरकी पदवीसे विभूषित होते हैं। शम-दम आदि साधनोंका कभी अनुष्ठान नहीं करते हैं तथा दम्भ और मोहके वशमें पड़े रहते हैं ॥ ५३ ॥

नैर्गुण्यमेव पश्यन्ति न गुणाननुयुञ्जते ।
तेषां तमःशरीराणां तम [illegible] परायणम् ॥ ५४ ॥

वे शम-दम आदि साधनोंको सदा निष्फल ही देखते और समझते हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य आदि सद्गुणोंकी जिज्ञासा नहीं करते हैं। उन तमोमय शरीरवाले पुरुषोंका तमोगुण ही सबसे बड़ा अवलम्ब है ॥ ५४ ॥

यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः प्रकृतेः स्याद् वशानुगः ।
[illegible] द्वेषश्च कामश्च क्रोधो दम्भोऽनृतं मदः ।
नित्यमेवाभिवर्तन्ते गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ॥ ५५ ॥

जिस प्राणीकी जैसी प्रकृति होती है, उस प्रकृतिके अधीन होता है। उसके भीतर द्वेष, काम, क्रोध, दम्भ, असत्य और मद—ये प्रकृतिजनित गुण सदा ही विद्यमान रहते हैं ॥ ५५ ॥

एवं ध्यात्वानुपश्यन्तः संत्यजेयुः शुभाशुभम्।
परां गतिमभीप्सन्तो यतयः संयमे रताः ॥ ५६ ॥

परम गति प्राप्त करनेकी इच्छावाले संयमशील यति इस प्रकार सोच-विचारकर शुभ और अशुभ दोनोंका परित्याग कर देते हैं ॥ ५६ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

सर्वमेतन्मया ब्रह्मन् शास्त्रतः परिकीर्तितम्।
न ह्यविज्ञाय शास्त्रार्थं प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः ॥ ५७ ॥

स्यूमरश्मिने कहा—ब्रह्मन्! मैंने यहाँ जो कुछ कहा है, वह शास्त्रसे प्रतिपादित है; क्योंकि शास्त्रके अर्थको जाने बिना किसीकी किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती ।५७।

यः कश्चिन्न्याय्य आचारः सर्वं शास्त्रमिति श्रुतिः।
यदन्याय्यमशास्त्रं तदित्येषा श्रूयते श्रुतिः ॥ ५८ ॥

जो कोई भी न्यायोचित आचार है, वह सब शास्त्र है, ऐसा श्रुतिका कथन है। जो अन्यायपूर्ण बर्ताव है, वह अशास्त्रीय है, ऐसी श्रुति भी सुनी जाती है ॥ ५८ ॥

न प्रवृत्तिर्ऋते शास्त्रात् काचिदस्तीति निश्चयः।
यदन्यद् वेदवादेभ्यस्तदशास्त्रमिति श्रुतिः ॥ ५९ ॥

शास्त्रके बिना अर्थात् शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके कोई प्रवृत्ति सफल नहीं हो सकती, यह विद्वानोंका निश्चय है। जो वैदिक वचनोंके विरुद्ध है, वह सब अशास्त्रीय है, ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ ५९ ॥

शास्त्रादपेतं पश्यन्ति बहवो व्यक्तमानिनः।
शास्त्रदोषान् न पश्यन्ति शोचन्ति च यथा वयम्।
इन्द्रियार्थांश्च भवतां समानाः सर्वजन्तुषु ॥ ६० ॥

बहुत-से मनुष्य प्रत्यक्षको ही माननेवाले हैं। वे शास्त्रसे पृथक् इहलोकपर ही दृष्टि रखते हैं। शास्त्रोक्त दोषोंको नहीं देखते हैं और जैसे हमलोग शोक करते हैं, वैसे ही वे भी अवैदिकमतका आश्रय लेकर शोक किया करते हैं। आप-जैसे ज्ञानियोंको भी सब जन्तुओंके समान ही इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव होता है ॥ ६० ॥

एवं चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां प्रवृत्तिषु।
एकमालम्बमानानां निर्णये सर्वतोदिशम् ॥ ६१ ॥
आनन्त्यं वदमानेन शक्तेनावर्जितात्मना।
अविज्ञानहतप्रज्ञा हीनप्रज्ञास्तमोवृताः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार चारों वर्णों और आश्रमोंकी जो प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें लगे हुए मनुष्य एकमात्र सुखका ही आश्रय लेते हैं—उसे ही प्राप्त करना चाहते हैं। उनमेंसे हम जैसे लोग अज्ञानसे हतबुद्धि, तुच्छ विषयोंमें मन लगानेवाले तथा तमोगुणसे आवृत हैं। आप ऊहापोह करनेमें समर्थ—कुशल हैं, अतः सार्वदेशिक विद्वान्‌के रूपमें मोक्षसुखकी अनन्तता आपने मनसे हमें शान्ति पहुँचायी है ॥ ६१-६२ ॥

शक्यं त्वेकेन युक्तेन कृतकृत्येन सर्वशः।
पिण्डमात्रं व्यपाश्रित्य चरितुं विजितात्मना ॥ ६३ ॥
वेदवादं व्यपाश्रित्य मोक्षोऽस्तीति प्रभाषितुम्।
अपेतन्यायशास्त्रेण सर्वलोकविगर्हिणा ॥ ६४ ॥

जो आपके समान एकाकी, योगयुक्त, कृतकृत्य और मनपर विजय पानेवाला है तथा जो केवल शरीरका अथवा उसकी रक्षाके लिये स्वल्प भिक्षान्नमात्रका सहारा लेकर सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण कर सकता है, जिसने न्यायशास्त्रका परित्याग कर दिया है तथा जो सम्पूर्ण संसारको नाशवान् होनेके कारण गर्हित समझता है, ऐसा पुरुष ही वेद-वाक्योंका आश्रय लेकर 'मोक्ष है' यह साधिकार कह सकता है ।६३-६४।

इदं तु दुष्करं कर्म कुटुम्बमभिसंश्रितम्।
दानमध्ययनं यज्ञः प्रजासंतानमार्जवम् ॥ ६५ ॥

गृहस्थाश्रमके अनुसार जो यह कुटुम्बके भरण-पोषणसे सम्बन्ध रखनेवाला कार्य है तथा दान, स्वाध्याय, यज्ञ, संतानोत्पादन एवं सदा और कोमल भावसे बर्ताव करना रूप जो कर्म है, यह मनुष्यके लिये अत्यन्त दुष्कर है ॥ ६५ ॥

यद्येतदेवं कृत्वापि न विमोक्षोऽस्ति कस्यचित्।
धिक् कर्तारं च कार्यं च श्रमश्चायं निरर्थकः ॥ ६६ ॥

यदि यह सब दुष्कर कर्म करके भी किसीको मोक्ष नहीं प्राप्त हुआ तो कर्ताको धिक्कार है। उसके उस कार्यको धिक्कार है। और इसमें जो परिश्रम हुआ, वह व्यर्थ हो गया ॥६६॥

नास्तिक्यमन्यथा च स्याद् वेदानां पृष्ठतः क्रिया।
एतस्यानन्त्यमिच्छामि भगवञ्छ्रोतुमञ्जसा ॥ ६७ ॥

यदि कर्मकाण्डको व्यर्थ समझकर छोड़ दिया जाय तो यह नास्तिकता और वेदोंकी अवहेलना होगी; अतः भगवन्! मैं यह सुनना चाहता हूँ कि कर्मकाण्ड किस प्रकार सुगमतापूर्वक मोक्षका साधक होगा ॥ ६७ ॥

तत्त्वं वदस्व मे ब्रह्मन्नुपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः।
यथा ते विदितो मोक्षस्तथेच्छाम्युपशिक्षितुम् ॥ ६८ ॥

ब्रह्मन्! आप मुझे तत्त्वकी बात बताइये। मैं शिष्यभावसे आपकी शरणमें आया हूँ। गुरुदेव! मुझे उपदेश कीजिये। आपको मोक्षके स्वरूपका जैसा ज्ञान है, वैसा ही मैं भी सीखना और जानना चाहता हूँ ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये एकोनसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६९ ॥

सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

स्यूमरश्मि-कपिल-संवाद—चारों आश्रमोंमें उत्तम साधनोंके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्तिका कथन

कपिल उवाच

वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्॥ १॥

कपिलने कहा—स्यूमरश्मे! सम्पूर्ण लोकोंके लिये वेद ही प्रमाण हैं। अतः वेदोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। ब्रह्मके दो रूप समझने चाहिये—शब्दब्रह्म (वेद) और परब्रह्म (सच्चिदानन्दघन परमात्मा)॥ १॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।
शरीरमेतत् कुरुते यद् वेदे कुरुते तनुम्॥ २॥
कृतशुद्धशरीरो हि पात्रं भवति ब्राह्मणः।
आनन्त्यमत्र युञ्ज्येदं कर्मणां तद् ब्रवीमि ते॥ ३॥

जो पुरुष शब्दब्रह्ममें पारगत (वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठान-से शुद्धचित्त हो चुका) है, वह परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। पिता और माता वेदोक्त गर्भाधानकी विधिसे बालकके जिस शरीरको जन्म देते हैं, वे उस बालकके उस शरीरका ही संस्कार करते हैं। इस प्रकार जिसका शरीर वैदिक संस्कारसे शुद्ध हो चुका है, वही ब्राह्मण पात्र होता है। अब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हें यह बता रहा हूँ कि कर्म किस प्रकार अक्षय मोक्ष-सुखकी प्राप्ति करानेमें कारण होते हैं॥ २-३॥

अनागममनैतिह्यं प्रत्यक्षं लोकसाक्षिकम्।
धर्म इत्येव ये यज्ञान् वितन्वन्ति निराशिषः॥ ४॥

जो अपना धर्म (कर्तव्य) समझकर बिना किसी प्रकारकी भोगेच्छाके यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, उनके उस यज्ञका फल वेद या इतिहासद्वारा नहीं जाना जाता है। वह प्रत्यक्ष है और उसे सब लोग अपनी आँखों देखते हैं॥ ४॥

उत्पन्नत्यागिनोऽलुब्धाः कृपासूयाविवर्जिताः।
धनानामेष वै पन्थास्तीर्थेषु प्रतिपादनम्॥ ५॥
अनाश्रिताः पापकर्म कदाचित् कर्मयोगिनः।
मनःसंकल्पसंसिद्धा विशुद्धज्ञाननिश्चयाः॥ ६॥

जो प्राप्त हुए पदार्थोंका त्याग सब प्रकारके लालचको छोड़कर करते हैं, जो कृपणता और असूयासे रहित हैं और 'धनके उपयोगका यही सर्वोत्तम मार्ग है' ऐसा समझकर सत्पात्रोंको दान करते हैं, कभी पापकर्मका आश्रय नहीं लेते तथा सदा कर्मयोगके साधनमें ही लगे रहते हैं, उनके मान-सिक संकल्पकी सिद्धि होने लगती है और उन्हें विशुद्ध ज्ञान-द्वारा परब्रह्मके विषयमें दृढ निश्चय हो जाता है॥ ५-६॥

अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः।
ज्ञाननिष्ठास्त्रिशुक्लाश्च सर्वभूतहिते रताः॥ ७॥

वे किसीपर क्रोध नहीं करते, कहीं दोषदृष्टि नहीं रखते, अहंकार तथा मात्सर्यसे दूर रहते हैं, ज्ञानके साधनोंमें उनकी निष्ठा होती है, उनके जन्म, कर्म और विद्या—तीनों ही शुद्ध होते हैं तथा वे समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहते हैं॥ ७॥

आसन् गृहस्था भूयिष्ठा अव्युत्क्रान्ताः स्वकर्मसु।
राजानश्च तथा युक्ता ब्राह्मणाश्च यथाविधि॥ ८॥

पूर्वकालमें बहुत-से ब्राह्मण और राजा ऐसे हो गये हैं, जो गृहस्थ आश्रममें ही रहते हुए अपने-अपने कर्मोंका त्याग न करके उनमें निष्काम भावसे विधिपूर्वक लगे रहे॥ ८॥

समा ह्यार्जवसम्पन्नाः संतुष्टा ज्ञाननिश्चयाः।
प्रत्यक्षधर्माः शुचयः श्रद्दधानाः परावरे॥ ९॥

वे सब प्राणियोंपर समान दृष्टि रखते थे। सरल, संतुष्ट, ज्ञाननिष्ठ, प्रत्यक्ष फल देनेवाले धर्मके अनुष्ठाता और शुद्धचित्त होते थे तथा शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म—दोनोंमें ही श्रद्धा रखते थे॥ ९॥

पुरस्ताद् भावितात्मानो यथावच्चरितव्रताः।
चरन्ति धर्मं कृच्छ्रेऽपि दुर्गे चैवापि संहताः॥ १०॥
संहत्य धर्मं चरतां पुराऽऽसीत् सुखमेव तत्।
तेषां नासीद् विधातव्यं प्रायश्चित्तं कथंचन॥ ११॥

वे आवश्यक नियमोंका यथावत् पालन करके पहले अपने चित्तको शुद्ध करते थे और कठिनाई तथा दुर्गम स्थानोंमें पड़ जानेपर भी परस्पर मिलकर धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहते थे। संघबद्ध होकर धर्मानुष्ठान करनेवाले उन पूर्ववर्ती पुरुषोंको इसमें सुखका ही अनुभव होता था। उन्हें किसी प्रकारका प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी॥ १०-११॥

सत्यं हि धर्ममास्थाय दुराधर्षतमा मताः।
न मात्रामनुरुध्यन्ते न धर्मच्छलमन्ततः॥ १२॥

वे सत्यधर्मका आश्रय लेकर ही अत्यन्त दुर्धर्ष माने जाते थे। लेशमात्र भी पाप नहीं करते थे और अन्ततोगत्वा अवसर उपस्थित होनेपर भी धर्मके विषयमें छलसे काम नहीं लेते थे॥ १२॥

य एव प्रथमः कल्पस्तमेवाभ्याचरन् सह।
तेषां नासीद् विधातव्यं प्रायश्चित्तं कदाचन॥ १३॥

जो प्रथम श्रेणीका धर्म माना जाता था, उसीका वे सब लोग साथ रहकर आचरण करते थे, अतः उनके सामने कभी प्रायश्चित्त करनेका अवसर नहीं आता था॥ १३॥

तस्मिन् विधौ स्थितानां हि प्रायश्चित्तं न विद्यते।
दुर्बलात्मन उत्पन्नं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः॥ १४॥

धर्मकी उस उत्तम श्रेणीमें स्थित हुए उन शुद्धचित्त

पुरुषोंके लिये प्रायश्चित्त हैं ही नहीं। जिनका हृदय दुर्बल है, उन्हींसे पाप होता है और उन्हींके लिये प्रायश्चित्तका विधान किया गया है--ऐसा सुननेमें आता है ॥ १४ ॥

एवं बहुविधा विप्राः पुराणा यज्ञवाहनाः।
त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो यशस्विनः ॥ १५ ॥

इस प्रकार बहुत-से ब्राह्मण पूर्वकालमें यज्ञका निर्वाह करते थे। वे वेदविद्याके ज्ञानमें बढ़े-चढ़े, पवित्र, सदाचारी और यशस्वी थे ॥ १५ ॥

यजन्तोऽहरहर्यज्ञैर्निराशीर्बन्धना बुधाः।
तेषां यज्ञाश्च वेदाश्च कर्माणि च यथागमम् ॥ १६ ॥

वे विद्वान् पुरुष प्रतिदिन कामनाओंके बन्धनसे मुक्त हो यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करते थे। उनके वे यज्ञ, वेदाध्ययन तथा अन्यान्य कर्म शास्त्रविधिके अनुसार सम्पन्न होते थे ॥ १६ ॥

आगमाश्च यथाकाले संकल्पाश्च यथाक्रमम्।
अपेतकामक्रोधानां दुश्चराचारकर्मणाम् ॥ १७ ॥

उन्होंने काम और क्रोधको त्याग दिया था। उनके आचार कर्म दूसरोंके लिये आचरणमें लाने अत्यन्त कठिन थे। उनके हृदयमें यथासमय शास्त्र-ज्ञान और सत्संकल्पका क्रमशः उदय होता था ॥ १७ ॥

स्वकर्मभिः शंसितानां प्रकृत्या शंसितात्मनाम्।
ऋजूनां शमनित्यानां स्वेषु कर्मसु वर्तताम् ॥ १८ ॥

अपने उत्तम कर्मोंके कारण उनकी बड़ी प्रशंसा होती थी। वे स्वभावसे ही पवित्रचित्त, सरल, शान्तिपरायण और स्वधर्मनिष्ठ होते थे ॥ १८ ॥

सर्वमानन्त्यमेवासीदिति नः शाश्वती श्रुतिः।
तेषामदीनसत्त्वानां दुश्चराचारकर्मणाम् ॥ १९ ॥

उनके हृदय बड़े उदार थे, उनके आचार और कर्म दूसरोंके लिये आचरणमें लानेमें अत्यन्त कठिन थे, अतः [illegible] सारा शुभ कर्म ही अक्षय मोक्षरूप फल देनेवाला था। यह बात सदा हमारे सुननेमें आयी है ॥ १९ ॥

स्वकर्मभिः सम्भृतानां तपो घोरत्वमागतम्।
तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ २० ॥

वे अपने-अपने कर्मोंसे ही परिपुष्ट थे। उनकी [illegible] घोर रूप धारण [illegible] चुकी थी। वे आश्चर्यजनक सदाचार- [illegible] पालन करते थे और [illegible] उन्हें पुरातन, शाश्वत एवं अविनाशी ब्रह्मरूप [illegible] होता था ॥ २० ॥

अशक्नुवद्भिश्चरितुं किंचिद् धर्मेषु सूक्ष्मताम्।
निरापद्धर्म आचारो ह्यप्रमादोऽपराभवः ॥ २१ ॥

धर्मोंमें जो किंचित् सूक्ष्मता है, उसका आचरण करनेमें कितने ही लोग असमर्थ हो जाते हैं। वास्तवमें वेदोक्त आचार और धर्म आपत्तिसे रहित है। उसमें न तो [illegible] है और न पराभव ही है ॥ २१ ॥

सर्ववर्णेषु जातेषु नासीत् कश्चिद् व्यतिक्रमः।
व्यस्तमेकं चतुर्धा हि ब्राह्मणा आश्रमं विदुः ॥ २२ ॥

पूर्वकालमें सब वर्णोंकी उत्पत्ति हो जानेपर आश्रमके विषयमें कोई वैषम्य नहीं था। तदनन्तर एक ही आश्रमको अवस्था-भेदसे चार भागोंमें विभक्त किया गया। इस बातको सभी ब्राह्मण जानते रहे ॥ २२ ॥

तं सन्तो विधिवत् प्राप्य गच्छन्ति परमां गतिम्।
गृहेभ्य एव निष्क्रम्य वनमन्ये समाश्रिताः ॥ २३ ॥
गृहमेवाभिसंश्रित्य ततोऽन्ये ब्रह्मचारिणः।
[illegible] एते दिवि दृश्यन्ते ज्योतिर्भूता द्विजातयः ॥ २४ ॥
नक्षत्राणीव धिष्ण्येषु बहवस्तारकागणाः।
आनन्त्यमुपसम्प्राप्ताः संतोषादिति वैदिकम् ॥ २५ ॥

श्रेष्ठ पुरुष विधिपूर्वक उन सब आश्रमोंमें प्रवेश करके उनके धर्मका पालन करते हुए परमगतिको प्राप्त होते हैं। उनमेंसे कुछ लोग तो घरसे निकलकर (अर्थात् संन्यासी होकर), कुछ लोग वानप्रस्थका आश्रय लेकर, कुछ मानव गृहस्थ ही रहकर और कोई ब्रह्मचर्य आश्रमका सेवन करते हुए ही उस आश्रमधर्मका पालन करके परमपदको प्राप्त होते हैं। उस समय वे ही द्विजगण आकाशमें ज्योतिर्मयरूपसे दिखायी देते हैं, जो कि नक्षत्रोंके समान ही आकाशके विभिन्न स्थानोंमें अनेक तारागण हैं--इन सबने सन्तोषके द्वारा ही यह अनन्त पद प्राप्त किया है, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है ॥ २३--२५ ॥

यद्यागच्छन्ति संसारं पुनर्योनिषु तादृशाः।
न लिप्यन्ते पापकृत्यैः कदाचित् कर्मयोनितः ॥ २६ ॥

ऐसे पुण्यात्मा पुरुष यदि कभी पुनः संसारकी कर्माधिकार युक्त योनियोंमें आते या जन्म ग्रहण करते हैं तो वे उस योनिके सम्बन्धसे पापकर्मोंद्वारा लिप्त नहीं होते हैं ॥ २६ ॥

एवमेव ब्रह्मचारी शुश्रूषुर्घोरनिश्चयः।
एवं युक्तो ब्राह्मणः स्यादन्यो ब्राह्मणको भवेत् ॥ २७ ॥

इसी प्रकार गुरुकी सेवामें [illegible] रहनेवाला, ब्रह्मचर्यपरायण, दृढ़ निश्चयवाला तथा योगयुक्त ब्रह्मचारी ही उत्तम ब्राह्मण हो सकता है। उससे भिन्न अन्य प्रकार- [illegible] ब्राह्मण निम्न कोटिका अथवा नाममात्रका ब्राह्मण [illegible] जाता है ॥ २७ ॥

कर्मैवं पुरुषस्याह शुभं वा यदि वाशुभम्।
एवं पक्वकषायाणामानन्त्येन श्रुतेन च ॥ २८ ॥
सर्वमानन्त्यमासीद् वै एवं नः शाश्वती श्रुतिः।
तेषामपेततृष्णानां निर्णिक्तानां शुभात्मनाम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्म ही पुरुषका तदनुरूप नाम नियत करता है। जिनके राग-द्वेष आदि कषाय पक गये हैं, जिनके मनसे तृष्णा निकल गयी है, जो बाहर-भीतरसे शुद्ध हैं तथा जिनकी बुद्धि कल्याणमयहर [illegible]

लगी हुई है, उन तत्त्वज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें अनन्त ब्रह्मज्ञान तथा शास्त्रज्ञानके प्रभावसे [illegible] कुछ ब्रह्मस्वरूप हो गया था; यह बात सदा ही हमारे सुननेमें आयी है ॥ २८-२९ ॥

चतुर्थोपनिषद् धर्मः साधारण इति स्मृतिः ।
संसिद्धैः साध्यते नित्यं ब्राह्मणैर्नियतात्मभिः ॥ ३० ॥

तुरीय ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली जो उपनिषद्-विद्या है, उसकी प्राप्ति करानेवाले शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधानरूप जो धर्म हैं, वह सभी वर्ण और आश्रमके लोगोंके लिये साधारण हैं—ऐसा स्मृतिका कथन है। परंतु जो संयतचित्त और तपःसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ पुरुष हैं, वे ही सदा उस धर्मका साधन [illegible] पाते हैं ॥ ३० ॥

संतोषमूलस्त्यागात्मा ज्ञानाधिष्ठानमुच्यते ।
अपवर्गमतिर्नित्यो यतिधर्मः सनातनः ॥ ३१ ॥

संतोष ही जिसके सुखका मूल है, त्याग ही जिसका स्वरूप है, जो ज्ञानका आश्रय कहा जाता है, जिसमें मोक्षदायिनी बुद्धि—ब्रह्मसाक्षात्काररूप वृत्ति नित्य आवश्यक है, वह संन्यास आश्रमरूप धर्म सनातन है ॥ ३१ ॥

साधारणः केवलो वा यथाबलमुपासते ।
गच्छतां गच्छतां क्षेमं दुर्बलोऽत्रावसीदति ।
[illegible] पदमन्विच्छन् संसारान्मुच्यते शुचिः ॥ ३२ ॥

यह यतिधर्म अन्य आश्रमके धर्मोंसे मिला हुआ हो या [illegible] हो, जो अपने वैराग्य-बलके अनुसार इसका [illegible] लेते हैं, वे कल्याणके भागी होते हैं। इस मार्गसे जानेवाले सभी पथिकोंका परम कल्याण होता है; परंतु जो दुर्बल है—मन और इन्द्रियोंको वशमें न रखनेके कारण जो इसके साधनमें असमर्थ है, वही यहाँ शिथिल होकर बैठ रहता है। जो बाहर और भीतरसे पवित्र है, वह ब्रह्मपदका अनुसंधान [illegible] हुआ संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

ये भुञ्जते ये ददते यजन्तेऽधीयते च ये ।
मात्राभिरुपलब्धाभिर्ये वा त्यागं समाश्रिताः ॥ ३३ ॥
एतेषां प्रेत्यभावे तु कतमः स्वर्गजित्तमः ।
एतदाचक्ष्व मे ब्रह्मन् यथातत्त्वेन पृच्छतः ॥ ३४ ॥

स्यूमरश्मिने पूछा—ब्रह्मन्! जो लोग [illegible] हुए धनके द्वारा केवल भोग भोगते हैं, जो दान करते हैं, जो उस धनको यज्ञमें लगाते हैं, जो स्वाध्याय करते हैं अथवा जो त्यागका आश्रय लेते हैं, इनमेंसे कौन पुरुष मृत्युके पश्चात् प्रधानरूपसे स्वर्गलोकपर विजय पाता है? मैं जिज्ञासुभावसे पूछ रहा हूँ; आप मुझे यह [illegible] यथार्थरूपसे बताइये ॥ ३३-३४ ॥

कपिल उवाच

परिग्रहाः शुभाः सर्वे गुणतोऽभ्युदयाश्च ये ।
न [illegible] त्यागसुखं प्राप्ता एतत् त्वमपि पश्यसि ॥ ३५ ॥

कपिलजीने कहा—जिनका सात्त्विक गुणसे प्राकट्य हुआ है, ऐसे सभी परिग्रह शुभ हैं; परंतु त्यागमें जो सुख है, उसे इनमेंसे कोई भी नहीं पा सके हैं। इस बातको तुम भी देखते ही हो ॥ ३५ ॥

स्यूमरश्मिरुवाच

भवन्तो ज्ञाननिष्ठा वै गृहस्थाः कर्मनिश्चयाः ।
आश्रमाणां च सर्वेषां निष्ठायामैक्यमुच्यते ॥ ३६ ॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन विशेषो नात्र दृश्यते ।
तद् यथावद् यथान्यायं भगवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ३७ ॥

स्यूमरश्मिने पूछा—भगवन्! आप तो ज्ञाननिष्ठ हैं और गृहस्थलोग कर्मनिष्ठ होते हैं; परंतु आप इस समय निष्ठामें सभी आश्रमोंकी एकताका प्रतिपादन कर रहे हैं। इस प्रकार ज्ञान और कर्मकी एकता और पृथक्ता—दोनोंका [illegible] होनेसे इनका ठीक-ठीक अन्तर समझमें नहीं आता है। इसलिये आप मुझे उसे यथोचित एवं यथार्थरीतिसे बतानेकी कृपा करें ॥ ३६-३७ ॥

कपिल उवाच

शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे रसज्ञाने च तिष्ठति ॥ ३८ ॥

कपिलजीने कहा—कर्म स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी शुद्धि करनेवाले हैं, किंतु [illegible] परम गतिरूप है। [illegible] कर्मोंद्वारा चित्तके रागादि दोष जल जाते हैं, तब मनुष्य रसस्वरूप ज्ञानमें स्थित हो जाता है ॥ ३८ ॥

आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम् ।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा ॥ ३९ ॥
पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम् ।
तद् विद्वाननुबुद्ध्येत मनसा कर्मनिश्चयम् ॥ [illegible] ॥

समस्त प्राणियोंपर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, [illegible] अद्रोह, निरभिमानता, [illegible], तितिक्षा और शम—ये परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके मार्ग हैं। इनके द्वारा पुरुष परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार विद्वान् पुरुषको मनके द्वारा कर्मके वास्तविक परिणामका निश्चय समझना चाहिये ॥ ३९-४० ॥

यां विप्राः सर्वतः शान्ता विशुद्धा ज्ञाननिश्चयाः ।
गतिं गच्छन्ति संतुष्टास्तामाहुः परमां गतिम् ॥ ४१ ॥

सब ओरसे शान्त, संतुष्ट, विशुद्धचित्त और ज्ञाननिष्ठ विप्र जिस गतिको प्राप्त होते हैं, उसीको परमगति कहते हैं ॥

वेदांश्च वेदितव्यं च विदित्वा च यथास्थितिम् ।
एवं वेदविदित्याहुरतोऽन्यो वातरेचकः ॥ ४२ ॥

जो वेदों और उनके द्वारा जानने योग्य परब्रह्मको ठीक-ठीक जानता है, उसीको वेदवेत्ता कहते हैं। उससे भिन्न जो दूसरे लोग हैं, वे मुँहसे वेद नहीं पढ़ते, धौंकनीके समान केवल [illegible] छोड़ते हैं ॥ ४२ ॥

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च ॥ ४३ ॥

वेदज्ञ पुरुष सभी विषयोंको जानते हैं; क्योंकि वेदमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। जो-जो वस्तु है और जो नहीं है, उन सबकी स्थिति वेदमें बतायी गयी है ॥ ४३ ॥

एषैव निष्ठा सर्वत्र यत् तदस्ति च नास्ति च ।
एतदन्तं च मध्यं च [illegible] विजानतः ॥ ४४ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंकी एकमात्र निष्ठा यही है कि जो-जो [illegible] पदार्थ है वह प्रतीतिकालमें तो विद्यमान है, परंतु परमार्थ ज्ञानकी स्थितिमें बाधित हो जानेपर वह नहीं है। ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें सदसत् स्वरूप ब्रह्म ही इस जगत्का आदि, मध्य और अन्त है ॥ ४४ ॥

समाप्तं त्याग इत्येव सर्ववेदेषु निष्ठितम् ।
संतोष इत्यनुगतमपवर्गे प्रतिष्ठितम् ॥ ४५ ॥

[illegible] कुछ त्याग देनेपर ही उस ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यही बात सम्पूर्ण वेदोंमें निश्चित की गयी है। वह अपने आनन्दस्वरूपसे सबमें अनुगत तथा अपवर्ग (मोक्ष) में प्रतिष्ठित है ॥ ४५ ॥

ऋतं सत्यं विदितं वेदितव्यं
सर्वस्यात्मा स्थावरं जङ्गमं च ।
[illegible] सुखं यच्छिवमुत्तरं च
ब्रह्माव्यक्तं प्रभवश्चाव्ययं च ॥ ४६ ॥

अतः वह ब्रह्म ऋत, सत्य, ज्ञात, [illegible], सबका आत्मा, स्थावर-जङ्गमरूप, सम्पूर्ण सुखरूप, कल्याणमय, सर्वोत्कृष्ट, अव्यक्त, सबकी उत्पत्तिका कारण और अविनाशी है ॥ ४६ ॥

तेजः क्षमा शान्तिरनामयं शुभं
तथाविधं व्योम सनातनं ध्रुवम् ।
एतैः सर्वैर्गम्यते बुद्धिनेत्रै-
स्तस्मै नमो ब्रह्मणे ब्राह्मणाय ॥ ४७ ॥

उस आकाशके समान असङ्ग, अविनाशी और सदा एकरस तत्त्वका ज्ञान-नेत्रोंवाले सभी पुरुष तेज, क्षमा और शान्तिरूप शुभ साधनोंके द्वारा साक्षात्कार करते हैं। जो वास्तवमें ब्रह्मवेत्तासे अभिन्न है, उस परब्रह्म परमात्माको नमस्कार है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि गोकपिलीये सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें गोकपिलीयोपाख्यानविषयक दो सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७० ॥

एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धन और काम-भोगोंकी अपेक्षा [illegible] और तपस्याका उत्कर्ष सूचित करनेवाली ब्राह्मण और कुण्डधार मेघकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

धर्ममर्थं च कामं च वेदाः शंसन्ति भारत ।
कस्य लाभो विशिष्टोऽत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

[illegible] युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन पितामह ! वेद तो धर्म, अर्थ और काम—तीनोंकी ही प्रशंसा करते हैं; [illegible] आप मुझे [illegible] बताइये कि इन तीनोंमेंसे किसकी प्राप्ति मेरे लिये सबसे बढ़कर है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

[illegible] ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् ।
कुण्डधारेण यत् प्रीत्या भक्तायोपकृतं पुरा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा, जिसके अनुसार कुण्डधार नामक मेघने पूर्वकालमें प्रसन्न होकर अपने एक भक्तका उपकार किया था ॥ २ ॥

अधनो ब्राह्मणः कश्चित् कामाद् धर्ममवैक्षत ।
यज्ञार्थं सततोऽर्थार्थी तपोऽतप्यत दारुणम् ॥ ३ ॥

किसी समय एक निर्धन ब्राह्मणने सकामभावसे धर्म करनेका विचार किया। वह [illegible] करनेके लिये सदा ही धनकी इच्छा रखता था, अतः बड़ी कठोर तपस्या करने लगा ॥

स निश्चयमथो कृत्वा पूजयामास देवताः ।
भक्त्या न चैवाध्यगच्छद् धनं सम्पूज्य देवताः ॥ [illegible] ॥

यही निश्चय करके उसने भक्तिपूर्वक देवताओंकी पूजा-अर्चा आरम्भ की। परंतु देवताओंकी पूजा करके भी वह धन न पा सका ॥ ४ ॥

ततश्चिन्तामनुप्राप्तः कतमद्दैवतं तु तत् ।
यन्मे द्रुतं प्रसीदेत मानुषैरजडीकृतम् ॥ ५ ॥

[illegible] वह इस चिन्तामें पड़ा कि वह कौन-सा देवता है, जो मुझपर शीघ्र प्रसन्न हो [illegible] और मनुष्योंने आराधना करके जिसे जड न बना दिया हो ॥ ५ ॥

सोऽथ सौम्येन मनसा देवानुचरमन्तिके ।
प्रत्यपश्यज्जलधरं कुण्डधारमवस्थितम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर उस ब्राह्मणने शान्त मनसे देवताओंके अनुचर कुण्डधार नामक मेघको पास ही खड़ा देखा ॥ ६ ॥

दृष्ट्वैव तं महाबाहुं तस्य भक्तिरजायत ।
अयं मे धास्यति श्रेयो वपुरेतद्धि तादृशम् ॥ [illegible] ॥

उस महाबाहु मेघको देखते ही ब्राह्मणके मनमें उसके

प्रति भक्ति उत्पन्न हो गयी और सोचने लगा कि यह मेरा कल्याण करेगा; क्योंकि इसका यह शरीर वैसे ही लक्षणोंसे सम्पन्न है ॥ ७ ॥

संनिकृष्टश्च देवस्य न चान्यैर्मानुषैर्वृतः ।
एष मे दास्यति धनं प्रभूतं शीघ्रमेव च ॥ ८ ॥

यह देवताका संनिकटवर्ती है और दूसरे मनुष्योंने इसे घेर नहीं रखा है । इसलिये यह मुझे शीघ्र ही प्रचुर धन देगा ॥

ततो धूपैश्च गन्धैश्च माल्यैरुच्चावचैरपि ।
बलिभिर्विविधाभिश्च पूजयामास तं द्विजः ॥ ९ ॥

ब्राह्मणने धूप, गन्ध, छोटे-बड़े माल्य तथा भाँति-भाँतिके पूजोपहार अर्पित करके कुण्डधार मेघका पूजन किया ॥

ततस्त्वल्पेन कालेन तुष्टो जलधरस्तदा ।
तस्योपकारनियतामिमां वाचमुवाच ह ॥ १० ॥

इससे वह मेघ थोड़े ही समयमें संतुष्ट हो गया और उसने ब्राह्मणके उपकारमें नियमपूर्वक प्रवृत्ति सूचित करनेवाली यह बात कही— ॥ १० ॥

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ ११ ॥

'ब्रह्मन् ! ब्रह्महत्यारे, शराबी, चोर और व्रतभङ्ग करनेवाले मनुष्यके लिये साधुपुरुषोंने प्रायश्चित्तका विधान किया है, किंतु कृतघ्नके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥ ११ ॥

आशायास्तनयोऽधर्मः क्रोधोऽसूयासुतः स्मृतः ।
लोभः पुत्रो निकृत्यास्तु कृतघ्नो नार्हति प्रजाम् ॥ १२ ॥

'आशाका पुत्र अधर्म है । असूयाका पुत्र क्रोध माना । निकृति ( ) का पुत्र लोभ है; परंतु कृतघ्न मनुष्य संतान पानेके योग्य नहीं है' ॥ १२ ॥

ततः स ब्राह्मणः स्वप्ने कुण्डधारस्य तेजसा ।
अपश्यत् सर्वभूतानि कुशेषु शयितस्तदा ॥ १३ ॥

तदनन्तर वह ब्राह्मण कुण्डधारके तेजसे प्रेरित हो कुशोंकी सो गया और स्वप्नमें उसने समस्त प्राणियोंको देखा ॥

शमेन तपसा चैव भक्त्या च निरुपस्कृतः ।
शुद्धात्मा ब्राह्मणो रात्रौ निदर्शनमपश्यत ॥ १४ ॥

वह शम-दम, तप और भक्तिभावसे सम्पन्न, भोगरहित तथा शुद्धचित्तवाला था । ब्राह्मणको रातमें कुछ ऐसा दृष्टान्त दिखायी दिया, जिससे उसे कुण्डधारके प्रति अपनी भक्तिका परिचय मिल गया ॥ १४ ॥

मणिभद्रं स तत्रस्थं देवतानां महाद्युतिम् ।
अपश्यत महात्मानं व्यादिशन्तं युधिष्ठिर ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर ! उसने देखा कि महातेजस्वी महात्मा यक्षराज मणिभद्र वहाँ विराजमान हैं और देवताओंके समक्ष विभिन्न याचकोंको उपस्थित कर रहे हैं ॥ १५ ॥

तत्र देवाः प्रयच्छन्ति राज्यानि च धनानि च ।
शुभैः कर्मभिरारब्धाः प्रच्छिन्दन्त्यशुभेषु च ॥ १६ ॥

वहाँ देवतालोग उन याचकोंके शुभकर्मके बदले और धन आदि दे रहे थे और अशुभ कर्मका भोग उपस्थित होनेपर पहलेके दिये हुए राज्य आदिको भी छीन लेते थे ॥

यक्षाणां कुण्डधारो महाद्युतिः ।
निपत्य पतितो भूमौ देवानां भरतर्षभ ॥ १७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहाँ यक्षोंके देखते-देखते महातेजस्वी कुण्डधारने देवताओंके आगे धरतीपर माथा टेक दिया ॥ १७ ॥

ततस्तु देववचनान्मणिभद्रो महामनाः ।
उवाच पतितं भूमौ कुण्डधार किमिष्यते ॥ १८ ॥

तब महामनस्वी मणिभद्रने देवताओंके कहनेसे पृथ्वीपर पड़े हुए उस मेघसे पूछा, 'कुण्डधार ! तुम क्या चाहते हो ?' ॥

कुण्डधार उवाच

यदि प्रसन्ना देवा मे भक्तोऽयं ब्राह्मणो मम ।
अस्यानुग्रहमिच्छामि कृतं किंचित् सुखोदयम् ॥ १९ ॥

कुण्डधार बोला—यह ब्राह्मण मेरा भक्त है । यदि देवतालोग मुझपर प्रसन्न हों तो इसके ऊपर उनका ऐसा अनुग्रह चाहता हूँ, जिससे इसे भविष्यमें कुछ सुख मिल सके ॥

ततस्तं मणिभद्रस्तु पुनर्वचनमब्रवीत् ।
देवानामेव वचनात् कुण्डधारं महाद्युतिम् ॥ २० ॥

तब मणिभद्रने देवताओंकी ही आज्ञासे महातेजस्वी कुण्डधारके प्रति पुनः यह कही ॥ २० ॥

मणिभद्र उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते कृतकृत्यः सुखी भव ।

धनार्थी यदि विप्रोऽयं धनमस्मै प्रदीयताम् ॥ २१ ॥

मणिभद्र बोले—कुण्डधार! उठो, उठो; तुम्हारा कल्याण हो, तुम कृतकृत्य और सुखी हो जाओ। यदि यह ब्राह्मण धन चाहता हो तो इसे धन दे दिया जाय ॥ २१ ॥

यावद् धनं प्रार्थयते ब्राह्मणोऽयं सखा तव।
देवानां शासनात् तावदसंख्येयं ददाम्यहम् ॥ २२ ॥

तुम्हारा सखा यह ब्राह्मण जितना धन चाहता हो, देवताओंकी आज्ञासे मैं उतना ही अथवा असंख्य धन इसे दे रहा हूँ ॥ २२ ॥

विचार्य कुण्डधारस्तु मानुष्यं चलमध्रुवम्।
तपसे मतिमाधत्त ब्राह्मणस्य युधिष्ठिर ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर! परंतु कुण्डधारने यह सोचकर कि मानव-जीवन चञ्चल एवं अस्थिर है, उस ब्राह्मणके तपोबलको ही बढ़ानेका विचार किया ॥ २३ ॥

कुण्डधार उवाच

नाहं धनानि याचामि ब्राह्मणाय धनप्रद ॥ २४ ॥
अन्यमेवाहमिच्छामि भक्तायानुग्रहं कृतम्।
पृथिवीं रत्नपूर्णां वा महद् वा रत्नसंचयम् ॥ २५ ॥
भक्ताय नाहमिच्छामि भवेदेष तु धार्मिकः।
धर्मेऽस्य रमतां बुद्धिर्धर्मं चैवोपजीवतु।
धर्मप्रधानो भवतु ममैषोऽनुग्रहो मतः ॥ २६ ॥

कुण्डधार बोला—धनदाता देव! मैं ब्राह्मणके लिये धनकी याचना नहीं करता हूँ। मेरी इच्छा है कि मेरे इस भक्तपर किसी और प्रकारका ही अनुग्रह किया जाय। मैं अपने इस भक्तको रत्नोंसे भरी हुई पृथ्वी अथवा रत्नोंका विशाल भण्डार नहीं देना चाहता। मेरी तो यह इच्छा है कि यह धर्मात्मा हो। इसकी बुद्धि धर्ममें लगी रहे तथा यह धर्मसे ही जीवन-निर्वाह करे। इसके जीवनमें धर्मकी ही प्रधानता रहे। इसीको मैं इसके लिये महान् अनुग्रह मानता हूँ ॥ २४–२६ ॥

मणिभद्र उवाच

सदा धर्मफलं राज्यं सुखानि विविधानि च।
फलान्येवायमश्नातु कायक्लेशविवर्जितः ॥ २७ ॥

मणिभद्र बोला—धर्मके फल तो सदा राज्य और नाना प्रकारके सुख ही हैं; अतः यह ब्राह्मण शारीरिक कष्टसे रहित हो केवल उन फलोंका ही उपभोग करे ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तदेव बहुशः कुण्डधारो महायशाः।
अभ्यासमकरोद् धर्मे ततस्तुष्टास्तु देवताः ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! मणिभद्रके ऐसा कहनेपर भी महायशस्वी कुण्डधारने बार-बार अपनी वही बात दुहरायी। ब्राह्मणका धर्म बढ़े, इसीके लिये आग्रह किया। इससे सब देवता संतुष्ट हो गये ॥ २८ ॥

मणिभद्र उवाच

प्रीतास्ते देवताः सर्वा द्विजस्यास्य तथैव च।
भविष्यत्येष धर्मात्मा धर्मे चाधास्यते मतिः ॥ २९ ॥

तब मणिभद्रने कहा—कुण्डधार! सब देवता तुमपर और इस ब्राह्मणपर भी बहुत प्रसन्न हैं। यह धर्मात्मा होगा और इसकी बुद्धि धर्ममें ही लगी रहेगी ॥ २९ ॥

ततः प्रीतो जलधरः कृतकार्यो युधिष्ठिर।
ईप्सितं मनसो लब्ध्वा वरमन्यैः सुदुर्लभम् ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ मनोवाञ्छित वर पाकर कृतकृत्य एवं सफलमनोरथ हो वह मेघ बड़ा प्रसन्न हुआ ॥ ३० ॥

ततोऽपश्यत चीराणि सूक्ष्माणि द्विजसत्तमः।
पार्श्वतोऽभ्याशतो न्यस्तान्यथ निर्वेदमागतः ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने अपने निकट अगल-बगलमें रक्खे हुए बहुत-से सूक्ष्म चीर (वल्कल आदि) देखे। इससे उसके मनमें बड़ा खेद एवं वैराग्य हुआ ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण उवाच

अयं न सुकृतं वेत्ति कोन्वन्यो वेत्स्यते कृतम्।
गच्छामि वनमेवाहं वरं धर्मेण जीवितुम् ॥ ३२ ॥

ब्राह्मण मन-ही-मन बोला—जब मेरे इस दुष्कर तपका उद्देश्य यह कुण्डधार ही नहीं समझ पा रहा है, तब दूसरा कौन जानेगा! अच्छा, अब मैं वनको ही चलता हूँ। धर्ममय जीवन बिताना ही अच्छा है ॥ ३२ ॥

भीष्म उवाच

निर्वेदाद् देवतानां च प्रसादात् स द्विजोत्तमः।
वनं प्रविश्य सुमहत् तप आरब्धवांस्तदा ॥ ३३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वैराग्य और देवताओंके कृपाप्रसादसे वनमें जाकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने उस समय बड़ी भारी तपस्या आरम्भ की ॥ ३३ ॥

देवतातिथिशेषेण फलमूलाशनो द्विजः।
धर्मे चास्य महाराज दृढा बुद्धिरजायत ॥ ३४ ॥

देवताओं और अतिथियोंको अर्पण करके शेष बचे हुए फल-मूल आदिका वह आहार करता था। महाराज! धर्मके विषयमें उसकी बुद्धि अटल हो गयी थी ॥ ३४ ॥

त्यक्त्वा मूलफलं सर्वं पर्णाहारोऽभवद् द्विजः।
पर्णं त्यक्त्वा जलाहारः पुनरासीद् द्विजस्तदा ॥ ३५ ॥
वायुभक्षस्ततः पश्चाद् बहून् वर्षगणानभूत्।
न चास्य क्षीयते प्राणस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३६ ॥

कुछ कालके बाद वह ब्राह्मण सारे फल-मूलका भोजन छोड़कर केवल पत्ते चबाकर रहने लगा। फिर पत्तेको भी त्याग करके केवल जल पीकर निर्वाह करने लगा। तदनन्तर बहुत वर्षोंतक वह केवल वायु पीकर रहा। फिर भी उसके

प्राणशक्ति क्षीण नहीं होती थी, यह एक अद्भुत-सी बात थी ॥

धर्मे च श्रद्दधानस्य तपस्युग्रे च वर्ततः ।
कालेन महता [illegible] दिव्या दृष्टिरजायत ॥ ३७ ॥

धर्ममें श्रद्धा रखते हुए दीर्घकालतक उग्र तपस्यामें लगे हुए उस ब्राह्मणको दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी ॥ ३७ ॥

[illegible] बुद्धिः प्रादुरासीद् यदि दद्यामहं धनम् ।
तुष्टः कस्यचिदेवेह मिथ्यावाङ् न भवेन्मम ॥ ३८ ॥

[illegible] समय उसे यह अनुभव हुआ कि यदि मैं संतुष्ट होकर इस जगत्में किसीको प्रचुर धन दे दूँ तो मेरा दिया हुआ वचन मिथ्या नहीं होगा ॥ ३८ ॥

ततः प्रहृष्टवदनो भूय आरब्धवांस्तपः ।
भूयश्चाचिन्तयत् सिद्धो यत्परं सोऽभिमन्यते ॥ ३९ ॥

यह विचार आते ही [illegible] मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और उसने बड़े उत्साहके साथ पुनः तपस्या आरम्भ की । पुनः सिद्धि प्राप्त होनेपर उसने देखा कि वह मनमें जो-जो संकल्प करता है, वह अत्यन्त महान् होनेपर भी सामने प्रस्तुत हो जाता है । यह देखकर ब्राह्मणने पुनः यों विचार किया—॥ ३९ ॥

यदि दद्यामहं राज्यं तुष्टो वै [illegible] कस्यचित् ।
स भवेदचिराद् राजा न मिथ्या वाग् भवेन्मम ।

'यदि मैं संतुष्ट होकर जिस किसीको भी राज्य दे दूँ तो वह शीघ्र ही राजा हो जायगा । मेरी यह बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती' ॥ ३९½ ॥

[illegible] साक्षात् कुण्डधारो दर्शयामास भारत ॥ ४० ॥
ब्राह्मणस्य तपोयोगात् सौहृदेनाभिचोदितः ॥ ४१ ॥
समागम्य स तेनाथ पूजां चक्रे यथाविधि ।
[illegible] कुण्डधारस्य विस्मितश्चाभवन्नृप ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन ! इतनेहीमें ब्राह्मणकी तपस्याके प्रभावसे तथा उसके प्रति सौहार्दसे प्रेरित होकर कुण्डधारने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया । उससे मिलकर ब्राह्मणने कुण्डधारकी विधिपूर्वक पूजा की । नरेश्वर ! उसे देखकर ब्राह्मणको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥

ततोऽब्रवीत् कुण्डधारो दिव्यं ते चक्षुरुत्तमम् ।
पश्य राज्ञां गतिं विप्र लोकांश्चैव [illegible] चक्षुषा ॥ ४३ ॥

तब कुण्डधारने ब्राह्मणसे कहा—'विप्रवर ! तुम्हें परम उत्तम दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई है; अतः तुम अपनी आँखोंसे देख लो कि राजाओंको किस गतिकी प्राप्ति होती है तथा वे किन-किन लोकोंमें जाते हैं' ॥ ४३ ॥

ततो राजसहस्राणि मग्नानि निरये तदा ।
दूरादपश्यद् विप्रः स दिव्ययुक्तेन चक्षुषा ॥ ४४ ॥

तब उस ब्राह्मणने दूरसे ही अपने दिव्य नेत्रोंसे देखा कि सहस्रों राजा नरकमें डूबे हुए हैं ॥ ४४ ॥

कुण्डधार उवाच

मां पूजयित्वा भावेन यदि त्वं दुःखमाप्नुयाः ।
कृतं मया भवेत् किं ते [illegible] तेऽनुग्रहो भवेत् ॥ ४५ ॥

कुण्डधार बोला—ब्रह्मन् ! तुमने बड़े भक्तिभावसे मेरी पूजा की थी । इसपर भी यदि तुम धन पाकर दुःख ही भोगते रहते तो मेरे द्वारा तुम्हारा क्या उपकार हुआ होता और तुम्हारे ऊपर मेरा कौन-सा अनुग्रह सिद्ध हो सकता था ॥ ४५ ॥

पश्य पश्य [illegible] भूयस्त्वं कामानिच्छेत् कथं नरः ।
स्वर्गद्वारं हि संरुद्धं मानुषेषु विशेषतः ॥ ४६ ॥

देखो-देखो, एक [illegible] फिर लोगोंकी दशापर दृष्टिपात करो । यह सब देख-सुनकर मनुष्य भोगोंकी इच्छा कैसे कर सकता है । जो धन और भोगोंमें आसक्त हैं, ऐसे लोगों, विशेषतः मनुष्योंके लिये स्वर्गका दरवाजा प्रायः बंद ही रहता है ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

ततोऽपश्यत् स कामं च क्रोधं लोभं भयं मदम् ।
निद्रां तन्द्रीं तथाऽऽलस्यमावृत्य पुरुषान् स्थितान् ॥ ४७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर ब्राह्मणने देखा कि उन भोगी पुरुषोंको काम, क्रोध, लोभ, भय, मद, निद्रा, तन्द्रा और आलस्य आदि शत्रु घेरकर खड़े हैं ॥ ४७ ॥

कुण्डधार उवाच

एतैर्लोकाः सुसंरुद्धा देवानां मानुषाद् भयम् ।
तथैव देववचनाद् विघ्नं कुर्वन्ति सर्वशः ॥ ४८ ॥

कुण्डधार बोला—विप्रवर ! देखो, सब लोग इन्हीं दोषोंसे घिरे हुए हैं । देवताओंको मनुष्योंसे भय बना रहता है, इसलिये ये काम आदि दोष देवताओंके आदेशसे मनुष्यके धर्म और तपस्यामें सब प्रकारसे विघ्न डाला करते हैं ॥ ४८ ॥

न देवैरननुज्ञातः कश्चिद् भवति धार्मिकः ।
एष शक्तोऽसि तपसा दातुं राज्यं धनानि च ॥ ४९ ॥

देवताओंकी अनुमति प्राप्त किये बिना कोई निर्विघ्नरूपसे धर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकता; किंतु तुम्हें तो देवताओंका अनुग्रह प्राप्त हो गया है । इसलिये अब तुम अपने तपके प्रभावसे दूसरोंको राज्य और धन देनेमें समर्थ हो गये हो ॥

भीष्म उवाच

ततः [illegible] शिरसा ब्राह्मणस्तोयधारिणे ।
उवाच चैनं धर्मात्मा महान् मेऽनुग्रहः [illegible] ॥ ५० ॥
कामलोभानुबन्धेन पुरा ते यदसूयितम् ।
मया स्नेहमविज्ञाय तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! तब उस धर्मात्मा ब्राह्मणने धरतीपर मस्तक टेककर कुण्डधार मेघको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उससे कहा—'प्रभो ! आपने मुझपर महान् अनुग्रह किया है । आपके स्नेहको न समझकर काम और लोभके बन्धनमें बँधे रहनेसे मैंने पहले आपके प्रति जो दोषदृष्टि

कर ली थी, उसके लिये आप मुझे क्षमा करें' ॥५०-५१ ॥

क्षान्तमेव मयेत्युक्त्वा कुण्डधारो द्विजर्षभम् ।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५२ ॥

(कुण्डधारने कहा—) 'विप्रवर ! मैं तो पहलेसेही क्षमा कर चुका हूँ' ऐसा कहकर उस मेघने उस श्रेष्ठ ब्राह्मणको अपनी दोनों भुजाओंद्वारा हृदयसे लगा लिया और वह फिर वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ ५२ ॥

[illegible] सर्वांस्तदा लोकान् ब्राह्मणोऽनुचचार ह ।
कुण्डधारप्रसादेन तपसा सिद्धिमागतः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर कुण्डधारके कृपाप्रसादसे तपस्याद्वारा सिद्धि पाकर वह ब्राह्मण सम्पूर्ण लोकोंमें विचरने लगा ॥ ५३ ॥

विहायसा च गमनं तथा संकल्पितार्थता ।
धर्माच्छक्त्या तथा योगाद् या चैव परमा गतिः॥५४॥

आकाशमार्गसे चलना, संकल्पमात्रसे ही अभीष्ट वस्तुका प्राप्त हो जाना तथा धर्म, शक्ति और योगके द्वारा जो परमगति प्राप्त होती है, वह सब कुछ उस ब्राह्मणको प्राप्त हो गयी ॥५४॥

देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः ।
धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान् न कामिनः॥ ५५ ॥

देवता, ब्राह्मण, साधु-संत, यक्ष, मनुष्य और चारण—ये सब-के-सब इस जगत्में धर्मात्माओंका ही पूजन करते हैं, धनियों और भोगियोंका नहीं ॥ ५५ ॥

सुप्रसन्ना हि ते देवा यत्ते धर्मे रता मतिः ।
धने सुखकला काचिद् धर्मे [illegible] परमं सुखम् ॥ ५६ ॥

राजन् ! तुम्हारे ऊपर भी देवता बहुत प्रसन्न हैं, जिससे तुम्हारी बुद्धि धर्ममें लगी हुई है । धनमें तो सुखका कोई लेशमात्र ही रहता है । परमसुख तो धर्ममें ही है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि कुण्डधारोपाख्याने एकसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें कुण्डधारका उपाख्यानविषयक दो सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२७१॥

द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

यज्ञमें हिंसाकी निन्दा और अहिंसाकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

बहूनां यज्ञतपसामेकार्थानां पितामह ।
धर्मार्थं न सुखार्थार्थं कथं यज्ञः समाहितः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यज्ञ और तप तो बहुत [illegible] और ये सब एकमात्र भगवत्प्रीतिके लिये किये जा सकते हैं; परंतु उनमेंसे जिस यज्ञका प्रयोजन केवल धर्म हो, स्वर्ग-सुख अथवा धनकी प्राप्ति न हो, उसका सम्पादन कैसे होता है ? ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नारदेनानुकीर्तितम् ।
उञ्छवृत्तेः पुरावृत्तं यज्ञार्थे ब्राह्मणस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! पूर्वकालमें उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेवाले एक ब्राह्मणका यज्ञके सम्बन्धमें जैसा वृत्तान्त है और जिसे नारदजीने मुझसे कहा था, वही प्राचीन इतिहास मैं यहाँ तुम्हें बता रहा हूँ ॥ २ ॥

नारद उवाच

राष्ट्रे धर्मोत्तरे श्रेष्ठे विदर्भेष्वभवद् द्विजः ।
उञ्छवृत्तिर्ऋषिः कश्चिद् यज्ञं यष्टुं समादधे ॥ ३ ॥

नारदजीने कहा—जहाँ धर्मकी ही प्रधानता है, उस उत्तम राष्ट्र विदर्भमें कोई [illegible] ऋषि निवास करता था। [illegible] कटे हुए खेत या खलिहानसे अन्नके बिखरे हुए दानोंको बीन [illegible] और उसीसे जीवन-निर्वाह करता था । एक बार उसने [illegible] करनेका निश्चय किया ॥ ३ ॥

श्यामाकमशनं [illegible] सूर्यपर्णी सुवर्चला ।
तिक्तं च विरसं शाकं तपसा स्वादुतां गतम् ॥ ४ ॥

जहाँ वह रहता था, वहाँ अन्नके नामपर साँवाँ मिलता था । दाल बनानेके लिये सूर्यपर्णी (जगली उड़द) मिलती थी और शाक-भाजीके लिये सुवर्चला (ब्राह्मी लता) तथा अन्य प्रकारके तिक्त एवं रसहीन शाक उपलब्ध होते थे; परंतु ब्राह्मणकी तपस्यासे उपर्युक्त सभी वस्तुएँ सुस्वादु हो गयी थीं ॥ ४ ॥

उपगम्य वने सिद्धिं सर्वभूताविहिंसया ।
अपि मूलफलैरिष्टो यज्ञः स्वर्ग्यः परंतप ॥ ५ ॥

परंतप युधिष्ठिर ! उस ब्राह्मणने वनमें तपस्याद्वारा सिद्धि लाभ करके समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा न करते हुए मूल और फलोंद्वारा भी स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ ५ ॥

[illegible] भार्या व्रतकृशा शुचिः पुष्करधारिणी ।
यज्ञपत्नी समानीता सत्येनानुविधीयते ॥ ६ ॥

उस ब्राह्मणके एक पत्नी थी, जिसका नाम था पुष्करधारिणी । उसके आचार-विचार परम पवित्र थे । वह व्रत उपवास करते-करते दुर्बल हो गयी थी । ब्राह्मणका नाम सत्य था । यद्यपि वह ब्राह्मणी अपने पति सत्यके हिंसाप्रधान यज्ञकी इच्छा प्रकट करनेपर उसके अनुकूल नहीं होती थी, तो भी ब्राह्मण उसे यज्ञपत्नीके स्थानपर आग्रहपूर्वक बुला ही लाता था ॥ ६ ॥

सा [illegible] शापपरित्रस्ता तत्स्वभावानुवर्तिनी ।
मायूरजीर्णपर्णानां वस्त्रं तस्याश्च वर्णितम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणी शापसे डरकर पतिके स्वभावका सर्वथा अनुसर

करती थी। ऐसा कहा जाता है कि वह मोरोंकी टूटकर गिरी पुरानी पाँखोंको जोड़कर उनसे ही अपना शरीर ढँकती थी ॥ ७ ॥

अकामया कृतस्तत्र यज्ञो होत्रनुशासनात्।
शुक्रस्य पुनराजातिः पर्णादो नाम धर्मवित् ॥ ८ ॥

होताके आदेशसे इच्छा न होनेपर भी ब्राह्मण पत्नीने उस यज्ञका कार्य सम्पन्न किया। होताका कार्य पर्णाद नामसे प्रसिद्ध एक धर्मज्ञ ऋषि करते थे, जो शुक्राचार्यके वंशज थे ॥ ८ ॥

तस्मिन् वने समीपस्थो मृगोऽभूत् सहवासिकः।
वचोभिरब्रवीत् सत्यं त्वयेदं दुष्कृतं कृतम् ॥ ९ ॥

उस वनमें सत्यका सहवासी एक मृग था, जो वहाँ पास ही रहता था। एक दिन उसने मनुष्यकी बोलीमें सत्यसे कहा—'ब्राह्मण ! तुमने यज्ञके नामपर यह दुष्कर्म किया है ॥ ९ ॥

यदि मन्त्राङ्गहीनोऽयं यज्ञो भवति वै कृतः।
मां भोः प्रक्षिप होत्रे त्वं गच्छ स्वर्गमनिन्दितः॥ १० ॥

'यदि किया हुआ यज्ञ मन्त्र और अङ्गसे हीन हो तो वह यजमानके लिये दुष्कर्म ही है। ब्राह्मणदेव ! तुम मुझे होताको सौंप दो और तुम निन्दारहित होकर स्वर्गलोकमें जाओ' ॥ १० ॥

ततस्तु यज्ञे सावित्री साक्षात् तं संन्यमन्त्रयत्।
निमन्त्रयन्ती प्रत्युक्ता न हन्यां सहवासिनम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर उस यज्ञमें साक्षात् सावित्रीने पधारकर उस ब्राह्मणको मृगकी आहुति देनेकी सलाह दी। ब्राह्मणने यह कहकर कि मैं अपने सहवासी मृगका वध नहीं कर सकता, सावित्रीकी आज्ञा माननेसे इनकार कर दी ॥ ११ ॥

एवमुक्ता निवृत्ता सा प्रविष्टा यज्ञपावकम्।
किं नु दुश्चरितं यज्ञे दिदृक्षुः सा रसातलम् ॥ १२ ॥

ब्राह्मणसे इस प्रकार कोरा जवाब मिल जानेपर सावित्रीदेवी लौट पड़ीं और यज्ञाग्निमें प्रविष्ट हो गयीं। यज्ञमें कौन-सा दुष्कर्म या त्रुटि है—यही देखनेकी इच्छासे वे आयी थीं और फिर रसातलमें चली गयीं ॥ १२ ॥

स तु बद्धाञ्जलिं सत्यमयाचद्धरिणः पुनः।
सत्येन स परिष्वज्य संदिष्टो गम्यतामिति ॥ १३ ॥

सत्य सावित्रीदेवीकी ओर हाथ जोड़कर खड़ा था। इतनेहीमें उस हरिणने पुनः अपनी आहुति देनेके लिये याचना की। सत्यने मृगको हृदयसे लगा लिया और बड़े प्यारसे कहा—'तुम यहाँसे चले जाओ' ॥ १३ ॥

ततः स हरिणो गत्वा पदान्यष्टौ न्यवर्तत।
साधु हिंसय मां सत्य हतो यास्यामि सद्गतिम् ॥ १४ ॥

तब वह हरिण आठ पग आगे जाकर लौट पड़ा और बोला—'सत्य ! तुम विधिपूर्वक मेरी हिंसा करो। मैं यज्ञमें वधको प्राप्त होकर उत्तम गति पा लूँगा ॥ १४ ॥

पश्य ह्यप्सरसो दिव्या मया दत्तेन चक्षुषा।
विमानानि विचित्राणि गन्धर्वाणां महात्मनाम्॥ १५ ॥

'मैंने तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान की है; उससे देखो, आकाशमें वे दिव्य अप्सराएँ खड़ी हैं। महात्मा गन्धर्वोंके विचित्र विमान भी शोभा पा रहे हैं' ॥ १५ ॥

ततः स सुचिरं दृष्ट्वा स्पृहालग्नेन चक्षुषा।
मृगमालोक्य हिंसायां स्वर्गवासं समर्थयत् ॥ १६ ॥

सत्यकी आँखें बड़ी चाहसे उधर ही जा लगीं। उसने बड़ी देरतक वह रमणीय दृश्य देखा, फिर मृगकी ओर दृष्टिपात करके 'हिंसा करनेपर ही मुझे स्वर्गवासका सुख मिल सकता है' यह मन-ही-मन निश्चय किया ॥ १६ ॥

स तु धर्मो मृगो भूत्वा बहुवर्षोषितो वने।
तस्य निष्कृतिमाधत्त न ह्यसौ यज्ञसंविधिः ॥ १७ ॥

वास्तवमें उस मृगके रूपमें साक्षात् धर्म थे, जो मृगका शरीर धारण करके बहुत वर्षोंसे वनमें निवास करते थे। पशुहिंसा यज्ञकी विधिके प्रतिकूल कर्म है। भगवान् धर्मने उस ब्राह्मणका उद्धार करनेका विचार किया ॥ १७ ॥

तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया ॥ १८ ॥

मैं उस पशुका वध करके स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा; यह सोचकर मृगकी हिंसा करनेके लिये उद्यत हुए उस ब्राह्मणका महान् तप तत्काल नष्ट हो गया। इसलिये हिंसा यज्ञके लिये हितकर नहीं है ॥ १८ ॥

ततस्तं भगवान् धर्मो यज्ञं याजयत स्वयम्।
समाधानं च भार्याया लेभे स तपसा परम्॥ १९ ॥

तदनन्तर भगवान् धर्मने स्वयं सत्यका यज्ञ कराया। फिर सत्यने तपस्या करके अपनी पत्नी पुष्करधारिणीके मनकी जैसी स्थिति थी, वैसा ही उत्तम समाधान प्राप्त किया (उसे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि हिंसासे बड़ी हानि होती है, अहिंसा ही परम कल्याणका साधन है) ॥ १९ ॥

अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः।
सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्मः सत्यवादिनाम्॥ २० ॥

अहिंसा ही सम्पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है और अधर्म अहितकारक होता है। अब मैं तुम्हें सत्यका महत्त्व बताऊँगा, जो सत्यवादी पुरुषोंका परम धर्म है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि यज्ञनिन्दानाम द्विसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हिंसात्मक यज्ञकी निन्दा नामक दो सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७२ ॥

त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

धर्म, अधर्म, वैराग्य और मोक्षके विषयमें युधिष्ठिरके चार प्रश्न और उनका उत्तर

युधिष्ठिर उवाच

कथं भवति पापात्मा कथं धर्मं करोति वा।
केन निर्वेदमादत्ते मोक्षं वा केन गच्छति ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! मनुष्य पापात्मा कैसे हो जाता है? वह धर्मका आचरण किस प्रकार करता है? किस हेतुसे उसे वैराग्य प्राप्त होता है और किस साधनसे वह मोक्ष पाता है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

विदिताः सर्वधर्मास्ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि।
शृणु मोक्षं सनिर्वेदं पापं धर्मं च मूलतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! तुम्हें सब धर्मोंका ज्ञान है। तुम तो लोकमर्यादाकी रक्षा तथा मेरी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये मुझसे प्रश्न कर रहे हो। अच्छा अब तुम मोक्ष, वैराग्य, पाप और धर्मका मूल क्या है, इसको श्रवण करो ॥ २ ॥

विज्ञानार्थं हि पञ्चानामिच्छा पूर्वं प्रवर्तते।
प्राप्यैकं जायते कामो द्वेषो वा भरतर्षभ ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुष्यको (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—इन) पाँचों विषयोंका अनुभव करनेके लिये पहले इच्छा होती है। फिर उन पाँचों विषयोंमेंसे किसी एकको पाकर उसके प्रति राग या द्वेष हो जाता है ॥ ३ ॥

ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत्।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च चिकीर्षति ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् जिसके प्रति राग होता है, उसे पानेके लिये वह प्रयत्न करता है। बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ करता है। वह अपने इच्छित रूप और गन्ध आदिका बारंबार सेवन करना चाहता है ॥ ४ ॥

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम्।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ॥ ५ ॥

इससे उन विषयोंके प्रति उसके मनमें राग उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर प्रतिकूल विषयमें द्वेष होता है। फिर अनुकूल विषयके लिये लोभ होता है और लोभके बाद उसके मनपर मोह अधिकार जमा लेता है ॥ ५ ॥

लोभमोहाभिभूतस्य रागद्वेषान्वितस्य च।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद् धर्मं करोति च ॥ ६ ॥

लोभ और मोहसे घिरे हुए तथा राग-द्वेषके वशीभूत हुए मनुष्यकी बुद्धि धर्ममें नहीं लगती है। वह किसी-न-किसी बहानेसे दिखाऊ धर्मका आचरण करता है ॥ ६ ॥

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते।
व्याजेन सिद्ध्यमानेषु धनेषु कुरुनन्दन ॥ ७ ॥
तत्रैव कुरुते बुद्धिं ततः पापं चिकीर्षति।
सुहृद्भिर्वार्यमाणोऽपि पण्डितैश्चापि भारत ॥ ८ ॥
उत्तरं न्यायसम्बद्धं ब्रवीति विधिचोदितम्।

कुरुनन्दन ! वह कोई बहाना लेकर ही धर्म करता है, कपटसे ही धन कमानेकी रुचि रखता है और यदि कपटसे धन प्राप्त करनेमें सफलता मिल गयी तो वह उसीमें अपनी सारी बुद्धि लगा देता है। भरतनन्दन ! फिर तो विद्वानों और सुहृदोंके मना करनेपर भी वह केवल पाप ही करना चाहता है तथा मना करनेवालोंको धर्मशास्त्रके वाक्योंके द्वारा प्रतिपादित न्याययुक्त उत्तर दे देता है ॥ ७-८½ ॥

अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्धते रागमोहजः ॥ ९ ॥
पापं चिन्तयते चैव प्रब्रवीति करोति च।

उसका राग और मोहजनित तीन प्रकारका अधर्म बढ़ता है। वह मनसे पापकी ही बात सोचता है, वाणीसे पाप ही बोलता है और क्रियाद्वारा पाप ही करता है ॥ ९½ ॥

तस्याधर्मप्रवृत्तस्य दोषान् पश्यन्ति साधवः ॥ १० ॥
एकशीलाश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्मिणः।
स नेह सुखमाप्नोति कुत एव परत्र वै ॥ ११ ॥

श्रेष्ठ पुरुष तो अधर्ममें प्रवृत्त हुए मनुष्यके दोष जानते हैं, परंतु उस पापीके समान स्वभाववाले पापाचारी मनुष्य उसके साथ मित्रता स्थापित करते हैं। ऐसा पुरुष इस लोकमें ही सुख नहीं पाता है, फिर परलोकमें तो पा ही कैसे सकता है ॥ १०-११ ॥

एवं भवति पापात्मा धर्मात्मानं तु मे शृणु।
यथा कुशलधर्मा स कुशलं प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥
कुशलेनैव धर्मेण गतिमिष्टां प्रपद्यते।

इस प्रकार मनुष्य पापात्मा हो जाता है। अब धर्मात्माके विषयमें मुझसे सुनो। वह जिस प्रकार परहितसाधक कल्याणकारी धर्मका आचरण करता है, उसी प्रकार कल्याणका भागी होता है। वह क्षेमकारक धर्मके प्रभावसे ही अभीष्ट गतिको प्राप्त होता है ॥ १२½ ॥

य एतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति ॥ १३ ॥
कुशलः सुखदुःखानां साधूंश्चाप्युपसेवते।
तस्य साधुसमाचारादभ्यासाच्चैव वर्धते ॥ १४ ॥

जो पुरुष अपनी बुद्धिसे राग आदि दोषोंको पहले ही देख लेता है, वह सुख-दुःखको समझनेमें कुशल होता है। फिर वह श्रेष्ठ पुरुषोंका सेवन करता है। सत्पुरुषोंका सेवा का सत्संगमें और सत्कर्मोंके अभ्याससे उस पुरुषकी बुद्धि बढ़ती है ॥ १३-१४ ॥

प्रज्ञा धर्मे च रमते धर्मं चैवोपजीवति।

सोऽथ धर्मादवाप्तेषु धनेषु कुरुते मनः ॥ १५ ॥

[illegible] बढ़ी हुई बुद्धि धर्ममें ही सुख मानती और उसीका [illegible] लेती है । [illegible] पुरुष धर्मसे [illegible] होनेवाले धनमें मन लगाता है ॥ १५ ॥

तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति तत्र वै ।
धर्मात्मा भवति ह्येवं मित्रं च लभते शुभम् ॥ १६ ॥

[illegible] जहाँ गुण देखता है, उसीके मूलको सींचता है । ऐसा करनेसे वह पुरुष धर्मात्मा होता है और शुभकारक मित्र प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

[illegible] मित्रधनलाभात् तु प्रेत्य चेह च नन्दति ।
शब्दे स्पर्शे रसे रूपे [illegible] गन्धे [illegible] भारत ॥ १७ ॥
प्रभुत्वं लभते जन्तुर्धर्मस्यैतत् फलं विदुः ।
[illegible] धर्मफलं लब्ध्वा न हृष्यति युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

भारत ! उत्तम मित्र और धनके लाभसे वह इहलोक और परलोकमें भी आनन्दित होता है । ऐसा पुरुष शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन पाँचों विषयोंपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है । इसे धर्मका फल माना जाता है । युधिष्ठिर ! वह धर्मका फल पाकर भी हर्षसे फूल नहीं उठता है ॥ १७-१८ ॥

अतृप्यमाणो निर्वेदमादत्ते ज्ञानचक्षुषा ।
प्रज्ञाचक्षुर्यदा कामे रसे गन्धे [illegible] रज्यते ॥ १९ ॥
शब्दे स्पर्शे तथा रूपे न च भावयते मनः ।
विमुच्यते तदा कामान्न च धर्मं विमुञ्चति ॥ २० ॥

वह इससे तृप्त न होनेके कारण विवेकदृष्टिसे वैराग्यको [illegible] ग्रहण करता है, बुद्धिरूप नेत्रके खुल जानेके [illegible] वह कामोपभोग, रस और गन्धमें अनुरक्त नहीं होता तथा शब्द, स्पर्श और रूपमें भी [illegible] चित्त नहीं फँसता, तब वह सब कामनाओंसे मुक्त हो जाता है और धर्मका [illegible] नहीं करता ॥ १९-२० ॥

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम् ।
ततो मोक्षाय यतते नानुपायादुपायतः ॥ २१ ॥
शनैर्निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च ।
धर्मात्मा चैव भवति मोक्षं च लभते परम् ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण लोकोंको नाशवान् समझकर वह सर्वस्वका मनसे [illegible] कर देनेका यत्न करता है । तदनन्तर वह अयोग्य उपायसे नहीं किंतु योग्य उपायसे मोक्षके लिये यत्नशील हो [illegible] है । इस प्रकार धीरे-धीरे मनुष्यको वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर वह पापकर्म तो छोड़ देता है और धर्मात्मा बन [illegible] है । तत्पश्चात् परम मोक्षको [illegible] कर लेता है ।२१-२२।

एतत् ते कथितं [illegible] यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
पापं धर्मस्तथा मोक्षो निर्वेदश्चैव भारत ॥ २३ ॥

तात ! भरतनन्दन ! तुमने मुझसे पाप, धर्म, वैराग्य और मोक्षके विषयमें जो प्रश्न किया था, वह [illegible] मैंने कह सुनाया ॥ २३ ॥

तस्माद् धर्मे प्रवर्तेथाः सर्वावस्थं युधिष्ठिर ।
धर्मे स्थितानां कौन्तेय सिद्धिर्भवति शाश्वती ॥ २४ ॥

अतः कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! तुम सभी अवस्थाओंमें धर्मका ही आचरण करो; क्योंकि जो लोग धर्ममें स्थित रहते हैं, उन्हें सदा रहनेवाली मोक्षरूप परम सिद्धि प्राप्त होती है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चतुःप्रश्निको नाम त्रिसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें चार प्रश्न और उनका उत्तरनामक दो [illegible] तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२७३॥

चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

मोक्षके साधनका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

मोक्षः पितामहेनोक्त उपायान्नानुपायतः ।
तमुपायं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामि भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने योग्य उपायसे मोक्षकी प्राप्ति बतायी, अयोग्य उपायसे नहीं । भरतनन्दन ! वह यथायोग्य उपाय क्या है ? इसे मैं सुनना चाहता हूँ ॥१॥

भीष्म उवाच

त्वय्येवैतन्महाप्राज्ञ युक्तं निपुणदर्शनम् ।
येनोपायेन सर्वार्थं नित्यं मृगयसेऽनघ ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—महाप्राज्ञ निष्पाप नरेश ! तुम उचित उपायसे ही सदा सम्पूर्ण धर्म आदि पुरुषार्थोंकी खोज किया करते हो । इसलिये तुममें सुने हुए विषयोंकी परीक्षा करनेकी निपुण दृष्टिका होना उचित ही है ॥ २ ॥

करणे घटस्य [illegible] बुद्धिर्घटोत्पत्तौ न सा मता ।
एवं धर्माभ्युपायेषु नान्यधर्मेषु कारणम् ॥ ३ ॥

घटके निर्माणकालमें जिस बुद्धिका उपयोग है, [illegible] घटकी उत्पत्ति हो जानेपर आवश्यक नहीं रहती, इसी प्रकार चित्त-शुद्धिके उपायभूत यज्ञादि धर्मोंका [illegible] पूरा हो जानेपर मोक्षसाधनरूप शम-दमादि अन्य धर्मोंके लिये वे आवश्यक नहीं रहते ॥ ३ ॥

पूर्वे समुद्रे य[illegible] पन्थाः स न गच्छति पश्चिमम् ।
[illegible] पन्था हि मोक्षस्य तन्मे विस्तरतः शृणु ॥ ४ ॥

देखो, जो मार्ग पूर्व समुद्रकी ओर जाता है, वह पश्चिम समुद्रकी ओर नहीं जा सकता । इसी प्रकार मोक्षका भी एक [illegible] मार्ग है, उसे मैं विस्तारपूर्वक बता रहा हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

क्षमया क्रोधमुच्छिन्द्यात् कामं संकल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनाद् धीरो निद्रां च च्छेत्तुमर्हति ॥ ५ ॥

मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि क्षमासे क्रोधका और संकल्पोंके त्यागसे कामनाओंका उच्छेद कर डाले। धीर पुरुष ज्ञान-ध्यानादि सात्त्विक गुणोंके सेवनसे निद्राका क्षय करे ॥ ५ ॥

अप्रमादाद् भयं रक्षेच्छ्वासं क्षेत्रज्ञशीलनात्।
इच्छां द्वेषं च कामं च धैर्येण विनिवर्तयेत् ॥ ६ ॥

अप्रमादसे भयको दूर करे, आत्माके चिन्तनसे श्वासकी रक्षा करे अर्थात् प्राणायाम करे और धैर्यके द्वारा इच्छा, द्वेष एवं कामका निवारण करे ॥ ६ ॥

भ्रमं सम्मोहमावर्तमभ्यासाद् विनिवर्तयेत् ।
निद्रां च प्रतिभां चैव ज्ञानाभ्यासेन तत्त्ववित्॥ [illegible] ॥

तत्त्ववेत्ता पुरुष शास्त्रके अभ्याससे भ्रम, मोह और संशयका तथा आलस्य और प्रतिभा (नानाविषयिणी बुद्धि)— इन दोनों दोषोंका ज्ञानके अभ्याससे निराकरण करे ॥ [illegible] ॥

उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्।
लोभं मोहं च संतोषाद् विषयांस्तत्त्वदर्शनात् ॥ ८ ॥

शारीरिक उपद्रवों तथा रोगोंका हितकर, सुपाच्य और परिमित आहारसे, लोभ और मोहका संतोषसे तथा विषयोंका तात्त्विक दृष्टिसे निवारण करे ॥ ८ ॥

अनुक्रोशादधर्मं च जयेद् धर्ममवेक्षया।
आयत्या [illegible] जयेदाशामर्थं संगविवर्जनात् ॥ ९ ॥

अधर्मको दयासे और धर्मको विचारपूर्वक पालन करनेसे जीते। भविष्यका विचार करके आशापर और आसक्तिके त्यागसे अर्थपर विजय प्राप्त करे ॥ ९ ॥

अनित्यत्वेन च स्नेहं क्षुधां योगेन पण्डितः।
कारुण्येनात्मनो मानं तृष्णां च परितोषतः ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुष वस्तुओंकी अनित्यताका चिन्तन करके स्नेहको, योगाभ्यासके द्वारा क्षुधाको, करुणाके द्वारा अपने अभिमानको और संतोषसे तृष्णाको जीते ॥ १० ॥

उत्थानेन जयेत् तन्द्रीं वितर्कं निश्चयाज्जयेत्।
मौनेन बहुभाष्यं च शौर्येण च भयं त्यजेत् ॥ ११ ॥

आलस्यको उद्योगसे और विपरीत तर्कको शास्त्रके प्रति दृढ़ विश्वाससे जीते, मौनावलम्बनद्वारा बहुत बोलनेकी आदतको और शूरवीरताके द्वारा भयको त्याग दे ॥ ११ ॥

यच्छेद् वाङ्मनसी बुद्ध्या तां यच्छेज्ज्ञानचक्षुषा।
ज्ञानमात्मावबोधेन यच्छेदात्मानमात्मना ॥ १२ ॥

तदेतदुपशान्तेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा।

मन और वाणीको अर्थात् मनसहित समस्त इन्द्रियोंको बुद्धिद्वारा वशमें करे, बुद्धिका विवेकरूप नेत्रद्वारा शमन करे, फिर आत्मज्ञानद्वारा विवेकज्ञानका शमन करे और आत्माको परमात्मामें विलीन कर दे। इस प्रकार पवित्र आचार विचारसे युक्त साधकको [illegible] ओरसे उपरत होकर शान्तभावसे परमात्माका साक्षात्कार करना चाहिये ॥ १२½ ॥

योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः ॥ १३ ॥
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्।
परित्यज्य निषेवेत यतवाग् योगसाधनान् ॥ १४ ॥

काम, क्रोध, लोभ, भय और निद्रा—ये ही योगसम्बन्धी वे पाँच दोष हैं, जिनको विद्वान् पुरुष जानते हैं। इनका मूलोच्छेद कर देना चाहिये तथा इनका परित्याग करके वाणीको संयममें रखते हुए योगसाधनोंका सेवन करना चाहिये ॥

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचमाहारतः शुद्धिरिन्द्रियाणां च संयमः ॥ १५ ॥
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानमुपहन्ति च।
सिध्यन्ति चास्य संकल्पा विज्ञानं च प्रवर्तते ॥ १६ ॥

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, बाहर-भीतरकी पवित्रता, आहारशुद्धि और इन्द्रियोंका संयम—ये ही योगके साधन हैं। इन सबके द्वारा साधकका तेज बढ़ता है। वह अपने पापोंका नाश कर डालता है। उसके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं और हृदयमें विज्ञानका आविर्भाव हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

धूतपापः [illegible] तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार जब पाप धुल जायँ और साधक तेजस्वी, मिताहारी और जितेन्द्रिय हो जाय, [illegible] वह काम और क्रोधको अपने अधीन करके अपने-आपको ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठित करनेकी इच्छा करे ॥ १७ ॥

अमूढत्वमसंगित्वं कामक्रोधविवर्जनम्।
अदैन्यमनुदीर्णत्वमनुद्वेगो व्यवस्थितिः ॥ १८ ॥
एष मार्गो हि मोक्षस्य प्रसन्नो विमलः शुचिः।
तथा वाक्कायमनसां नियमः कामतोऽन्यथा ॥ १९ ॥

मूढता और आसक्तिका अभाव, काम और क्रोधका त्याग एवं दीनता, उद्दण्डता तथा उद्वेगसे रहित होना और चित्तकी स्थिरता एवं निष्कामभावसे मन, वाणी और इन्द्रियोंका संयम—यह मोक्षका स्वच्छ, निर्मल एवं पवित्र मार्ग है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि योगाचारानुवर्णनं नाम चतुःसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें योगसम्बन्धी आचारका वर्णननामक दो सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७४ ॥

पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

जीवात्माके देहाभिमानसे मुक्त होनेके विषयमें नारद और असितदेवलका संवाद

भीष्म उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादं देवलस्यासितस्य च ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस विषयमें देवर्षि नारद तथा ब्रह्मर्षि असितदेवलके संवादरूप प्राचीन इतिहासका विद्वान् पुरुष उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

आसीनं देवलं वृद्धं बुद्ध्वा बुद्धिमतां वरम्।
नारदः परिपप्रच्छ भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ बूढ़े असितदेवलको आसनपर बैठा हुआ जान नारदजीने उनसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके विषयमें प्रश्न किया ॥ २ ॥

नारद उवाच

कुतः सृष्टमिदं विश्वं ब्रह्मन् स्थावरजङ्गमम्।
प्रलये च कमभ्येति तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ३ ॥

नारदजीने पूछा—ब्रह्मन् ! इस समस्त चराचर जगत्‌की सृष्टि किससे हुई है तथा यह प्रलयके समय किसमें लीन हो जाता है, यह आप मुझे बताइये ! ॥ ३ ॥

असित उवाच

येभ्यः सृजति भूतानि काले भावप्रचोदितः।
महाभूतानि पञ्चेति तान्याहुर्भूतचिन्तकाः ॥ ४ ॥

असितदेवलने कहा—देवर्षे ! सृष्टिके समय परमात्मा प्राणियोंकी वासनाओंसे प्रेरित हो समयपर जिन तत्त्वोंसे सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करते हैं, उन्हें भूतचिन्तक (भौतिक विज्ञानवादी) विद्वान् पञ्चमहाभूत कहते हैं ॥ ४ ॥

तेभ्यः सृजति भूतानि [illegible] आत्मप्रचोदितः।
एतेभ्यो यः परं ब्रूयादसद् ब्रूयादसंशयम् ॥ ५ ॥

परमात्माकी प्रेरणासे काल इन पाँच तत्त्वोंद्वारा समस्त प्राणियोंकी सृष्टि करता है। जो इनसे भिन्न किसी अन्य तत्त्वको प्राणियोंके शरीरोंका उपादान कारण बताता है, वह निस्संदेह झूठी बात कहता है ॥ ५ ॥

विद्धि नारद पञ्चैताञ्शाश्वतानचलान् ध्रुवान्।
महतस्तेजसो राशीन् कालषष्ठान् स्वभावतः ॥ ६ ॥

नारद ! पाँच भूत और छठा काल—इन [illegible] तत्त्वोंको तुम प्रवाहरूपसे शाश्वत, अविचल और ध्रुव समझो। ये तेजोमय महत्तत्त्वकी स्वाभाविक कलाएँ हैं ॥ ६ ॥

आपश्चैवान्तरिक्षं च पृथिवी वायुपावकौ।
नासीद्धि परमं तेभ्यो भूतेभ्यो मुक्तसंशयम् ॥ ७ ॥

जल, आकाश, पृथ्वी, वायु और अग्नि—इन भूतोंसे भिन्न कोई तत्त्व कभी नहीं था; इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

नोपपत्त्या [illegible] युक्त्या त्वसद् ब्रूयादसंशयम्।
वेत्थैतानभिनिर्वृत्तान् षडेते यस्य राशयः ॥ ८ ॥

किसी भी युक्ति या प्रमाणसे इन छःके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं बताया जा [illegible]। इसलिये जो कोई दूसरी [illegible] कहता है, वह निस्संदेह झूठ बोलता है। तुम सभी कार्योंमें अनुगत हुए इन छः तत्त्वोंको और जिसके ये कार्य हैं, उस कारणको भी जानते हो ॥ ८ ॥

पञ्चैव तानि कालश्च भावाभावौ च केवलौ।
अष्टौ भूतानि भूतानां शाश्वतानि भवाप्ययौ ॥ ९ ॥

पाँच महाभूत, काल तथा विशुद्ध भाव और अभाव अर्थात् नित्य आत्मतत्त्व और परिवर्तनशील महत्तत्त्व—ये आठ तत्त्व नित्य हैं। ये ही चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान हैं ॥ ९ ॥

अभावं यान्ति तेष्वेव तेभ्यश्च प्रभवन्त्यपि।
विनष्टोऽप्यनु तान्येव जन्तुर्भवति पञ्चधा ॥ १० ॥

सब प्राणी उन्हींमें लीन होते [illegible] और उन्हींसे उनका [illegible] भी होता है। जीवोंका शरीर नष्ट हो जानेपर पाँच भागोंमें विभक्त होकर अपने-अपने कारणमें विलीन हो [illegible] है ॥ १० ॥

[illegible] भूमिमयो देहः श्रोत्रमाकाशसम्भवम्।
सूर्याच्चक्षुरसुर्वायोरद्भ्यस्तु खलु शोणितम् ॥ ११ ॥

प्राणियोंका शरीर पृथ्वीका विकार है, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशसे उत्पन्न हुई है, नेत्रेन्द्रिय सूर्यसे, प्राण वायुसे और रक्त जलसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ११ ॥

चक्षुषी नासिकाकर्णौ त्वक् जिह्वेति च पञ्चमी।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थानां ज्ञानानि कवयो विदुः ॥ १२ ॥

विद्वान् पुरुष ऐसा मानते हैं कि नेत्र, नासिका, कर्ण, त्वचा और पाँचवीं जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही विषयोंको ग्रहण करनेवाली हैं ॥ १२ ॥

दर्शनं श्रवणं घ्राणं स्पर्शनं रसनं तथा।
उपपत्त्या गुणान् विद्धि पञ्च पञ्चसु पञ्चधा ॥ १३ ॥

बाह्य पदार्थोंको देखना, सुनना, सूँघना, छूना तथा रस लेना—ये क्रमशः नेत्र आदि पाँच इन्द्रियोंके कार्य हैं। उन्हें युक्तिसे तुम इन इन्द्रियोंके गुण ही समझो। पाँचों इन्द्रियाँ पाँचों विषयोंमें पाँच प्रकारसे (दर्शन आदि क्रियाओंके रूपमें) विद्यमान हैं ॥ १३ ॥

रूपं गन्धो रसः स्पर्शः शब्दश्चैवाथ तद्गुणाः।
इन्द्रियैरुपलभ्यन्ते पञ्चधा पञ्च पञ्चभिः ॥ १४ ॥

नेत्र आदि पाँच इन्द्रियोंद्वारा रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द—ये पाँच गुण दर्शन आदि पाँच प्रकारोंसे उपलब्ध किये जाते हैं ॥ १४ ॥

रूपं गन्धं रसं स्पर्शं शब्दं चैवाथ तद्गुणान् ।
इन्द्रियाणि न बुध्यन्ते क्षेत्रज्ञस्तैस्तु बुध्यते ॥ १५ ॥

रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द—इन्द्रियोंके इन पाँचों गुणोंको स्वयं इन्द्रियाँ नहीं जानती हैं। उन इन्द्रियोंद्वारा क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) ही उनका अनुभव करता है ॥ १५ ॥

चित्तमिन्द्रियसंघातात् परं तस्मात् परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः क्षेत्रज्ञो बुद्धितः परः ॥ १६ ॥

शरीर और इन्द्रियोंके संघातसे चित्त श्रेष्ठ है, चित्तसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे भी क्षेत्रज्ञ श्रेष्ठ है॥

पूर्वं चेतयते जन्तुरिन्द्रियैर्विषयान् पृथक् ।
विचार्य मनसा पश्चादथ बुद्ध्या व्यवस्यति ।
इन्द्रियैरुपलब्धार्थान् बुद्धिमांस्तु व्यवस्यति ॥ १७ ॥

जीव पहले तो इन्द्रियोंद्वारा उनके अलग-अलग विषयोंको प्रकाशित करता है, फिर मनसे विचार करके बुद्धिद्वारा उसका निश्चय करता है। बुद्धियुक्त जीव ही इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध विषयोंका निश्चितरूपसे अनुभव करता है ॥ १७ ॥

चित्तमिन्द्रियसंघातं मनो बुद्धिस्तथाष्टमी ।
अष्टौ ज्ञानेन्द्रियाण्याहुरेतान्यध्यात्मचिन्तकाः ॥ १८ ॥

अध्यात्मतत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले पुरुष पाँच इन्द्रिय तथा चित्त, मन और आठवीं बुद्धि— इन आठोंको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं ॥ १८ ॥

पाणिपादं च पायुश्च मेहनं पञ्चमं मुखम् ।
इति संशब्द्यमानानि शृणु कर्मेन्द्रियाण्यपि ॥ १९ ॥

हाथ, पैर, पायु और उपस्थ तथा पाँचवाँ मुख—ये सब-के-सब कर्मेन्द्रिय कहे जाते हैं। तुम इनका भी विवरण सुनो ॥ १९ ॥

जल्पनाभ्यवहारार्थं मुखमिन्द्रियमुच्यते ।
गमनेन्द्रियं तथा पादौ कर्मणः करणे करौ ॥ २० ॥

मुख-इन्द्रियका उपयोग बोलने और भोजन करनेके लिये बताया जाता है। पैर चलनेकी और हाथ काम करनेकी इन्द्रियाँ हैं॥

पायूपस्थं विसर्गार्थमिन्द्रिये तुल्यकर्मणी ।
विसर्गे च पुरीषस्य विसर्गे चापि कामिके ॥ २१ ॥

पायु और उपस्थ—ये दो इन्द्रियाँ क्रमशः मल और मूत्रका त्याग करनेके लिये हैं। इन दोनोंके त्यागरूप कर्म समान ही हैं। इनमेंसे पायु-इन्द्रिय मलका त्याग करती है और उपस्थ मैथुनके समय वीर्यका भी त्याग करता है ॥२१॥

बलं षष्ठं षडेतानि वाचा सम्यग्यथा [illegible] ।
ज्ञानचेष्टेन्द्रियगुणाः सर्वेषां शब्दिता मया ॥ २२ ॥

इसके सिवा छठी कर्मेन्द्रिय बल अर्थात् प्राणशक्ति है। इस प्रकार मैंने अपनी वाणीद्वारा तुम्हें समस्त इन्द्रियाँ और उनके ज्ञान, कर्म एवं गुण सुना दिये ॥ २२ ॥

इन्द्रियाणां स्वकर्मभ्यः श्रमादुपरमो यदा ।
भवतीन्द्रियसंत्यागादथ स्वपिति वै नरः ॥ २३ ॥

जब अपने-अपने कर्मोंसे थककर इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं, तब इन्द्रियोंका त्याग करके जीवात्मा सो जाता है ॥

इन्द्रियाणां व्युपरमे मनोऽव्युपरतं यदि ।
सेवते विषयानेव तं विद्यात् स्वप्नदर्शनम् ॥ २४ ॥

इन्द्रियोंके उपरत हो जानेपर भी यदि मन निवृत्त न होकर विषयोंका ही सेवन [illegible] है तो उसे स्वप्नदर्शनकी अवस्था समझना चाहिये ॥ २४ ॥

सात्त्विकाश्चैव ये भावास्तथा तामसराजसाः ।
कर्मयुक्तान् प्रशंसन्ति सात्त्विकानितरांस्तथा ॥ २५ ॥

जो सात्त्विक, राजस और तामसभाव प्रसिद्ध हैं, वे ही जब भोग प्रदान करनेवाले कर्मोंसे संयुक्त होते हैं, तब उन सात्त्विक आदि भावोंकी मनुष्य प्रशंसा करते हैं ॥ २५ ॥

आनन्दः कर्मणां सिद्धिः प्रतिपत्तिः परा गतिः ।
सात्त्विकस्य निमित्तानि भावान् संश्रयते स्मृतिः ॥२६॥

आनन्द, सुख, कर्मोंकी सिद्धि जाननेकी सामर्थ्य और उत्तम गति—ये चार सात्त्विक भाव हैं। सात्त्विक पुरुषकी स्मृति इन्हीं चार निमित्तोंका आश्रय लेती है अर्थात् सात्त्विक पुरुष जाग्रत् कालकी भाँति स्वप्नमें भी आनन्द आदि भावोंका ही स्मरण करता है ॥ २६ ॥

जन्तुष्वेकतमेष्वेवं भावा ये विधिमास्थिताः ।
भावयोरीप्सितं नित्यं प्रत्यक्षं गमनं तयोः ॥ २७ ॥

इनसे भिन्न राजस और तामस-प्राणियोंमेंसे भिन्न किसी एक श्रेणीके जीवोंमें जो-जो भाव (वासनाएँ), विधि (धर्म गति) का आश्रय लेकर स्थित हैं, उन्हीं भावोंको उनकी स्मृति ग्रहण करती है। अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न-दोनों ही अवस्थाओंमें उन मनुष्योंको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार राजस और तामस पदार्थोंका सदा प्रत्यक्ष दर्शन होता है ॥

इन्द्रियाणि च भावाश्च गुणाः सप्तदश स्मृताः ।
तेषामष्टादशो देही यः शरीरे स शाश्वतः ॥ २८ ॥
अथवा सशरीरास्ते गुणाः सर्वे शरीरिणाम् ।
संश्रितास्तद्वियोगे हि सशरीरा न सन्ति ते ॥ २९ ॥

पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चित्त, मन, बुद्धि, प्राण तथा सात्त्विक आदि तीन भाव—ये सत्रह गुण माने गये हैं। इनका अधिष्ठाता देहाभिमानी जीवात्मा अठारहवाँ है, जो इस शरीरके भीतर निवास करता है। उसे सनातन माना गया है। अथवा शरीरसहित वे सभी गुण देहधारियोंके आश्रित रहते हैं।

[illegible] जीवका वियोग हो [illegible] है, तब शरीर और उसमें रहने-वाले वे [illegible] भी नहीं रह जाते ॥ २८-२९ ॥

अथवा संनिपातोऽयं शरीरं पाञ्चभौतिकम् ।
[illegible] चाष्टौ [illegible] गुणाः [illegible] शरीरिणा ॥ ३० ॥

[illegible] इन सबका समुदाय ही पाञ्चभौतिक शरीर है। एक महत्तत्त्व और जीवसहित पूर्वोक्त अठारह गुण— ये सभी इस समुदायके अन्तर्गत हैं ॥ ३० ॥

[illegible] विंशो [illegible] संघातः पाञ्चभौतिकः ।
महान् संधारयत्येतच्छरीरं वायुना [illegible] ॥ ३१ ॥

जठरानलके साथ-साथ उक्त तत्त्वोंकी गणना करनेपर यह पाञ्चभौतिक संघात बीस तत्त्वोंका समूह है। महत्तत्त्व प्राणवायुके [illegible] शरीरको धारण करता है। यह वायु शरीर-का भेदन करनेमें प्रभावशाली महत्तत्त्वका, उपकरणमात्र है [illegible]

[illegible] प्रभावयुक्तस्य निमित्तं देहभेदने ।
यथैवोत्पद्यते किंचित् पञ्चत्वं गच्छते [illegible] ॥ ३२ ॥
पुण्यपापविनाशान्ते पुण्यपापसमीरितः ।
देहं विशति कालेन ततोऽयं कर्मसम्भवम् ॥ ३३ ॥

जैसे इस जगत्में घट आदि कोई वस्तु [illegible] होती और फिर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार प्रारब्ध, पुण्य और पापका क्षय होनेपर शरीर पञ्चत्वको प्राप्त हो [illegible] है [illegible] संचित पुण्य और पापसे प्रेरित हो जीव समयानुसार कर्म-जनित दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है ॥ ३२-३३ ॥

हित्वा हित्वा ह्ययं प्रैति देहाद् देहं कृताश्रयः ।
कालसंचोदितः क्षेत्री विशीर्णाद् वा गृहाद् गृहम् ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार घरमें रहनेवाला पुरुष एक घरके गिरनेपर दूसरेमें और दूसरेके गिरनेपर तीसरेमें चला जाता है, उसी प्रकार कालसे प्रेरित हुआ जीव क्रमशः एक-एक शरीरको छोड़कर पूर्वकल्पके द्वारा निर्मित दूसरे-दूसरे शरीरमें जाता है ॥

[illegible] नैवानुतप्यन्ते [illegible] निश्चितनिश्चयाः ।
कृपणास्त्वनुतप्यन्ते जनाः सम्बन्धदर्शिनः ॥ ३५ ॥

विद्वान् पुरुष यह निश्चितरूपसे जानते हैं कि आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न, असङ्ग और अविनाशी है, [illegible] शरीरका वियोग होनेपर उन्हें तनिक भी संताप नहीं होता; परंतु अज्ञानीजन देहसे अपना सम्बन्ध मानते हैं; इसलिये देह छूटनेसे उन्हें बड़ा दुःख होता है ॥ ३५ ॥

न ह्ययं कस्यचित् कश्चिन्नास्य [illegible] विद्यते ।
भवत्येको ह्ययं नित्यं शरीरे सुखदुःखभाक् ॥ ३६ ॥

यह जीव वास्तवमें किसीका कोई नहीं है और न कोई दूसरा ही उसका कुछ है। वास्तवमें यह तो सदा अकेला ही है। परंतु शरीरमें रहकर उसे अपना माननेके कारण ही यह सुख-दुःखका भागी होता है ॥ ३६ ॥

नैव संजायते जन्तुर्न च जातु विपद्यते ।
याति देहमयं मुक्त्वा कदाचित्परमां गतिम् ॥ ३७ ॥

जीव न कभी उत्पन्न होता है और [illegible] मरता है। जब कभी इसे तत्त्वज्ञान होता है, तब यह शरीर-अभिमान छोड़कर परमगतिको [illegible] कर लेता है ॥ ३७ ॥

पुण्यपापमयं देहं क्षपयन् कर्मसंक्षयात् ।
क्षीणदेहः पुनर्देही ब्रह्मत्वमुपगच्छति ॥ ३८ ॥

[illegible] शरीर पुण्य-पापमय है। देहधारी जीव प्रारब्ध-कर्मोंके क्षयके साथ-साथ [illegible] शरीरको क्षीण करता रहता है। इस प्रकार शरीरका [illegible] हो जानेपर वह मुक्त पुरुष ब्रह्मभावको [illegible] हो जाता है ॥ ३८ ॥

पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते ।
तत्क्षये [illegible] पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम् ॥ ३९ ॥

पुण्य और पापोंके क्षयके लिये ही ज्ञानयोगको साधन बताया गया है। उनका [illegible] हो जानेपर जब जीवात्माको ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो जाती है, तब विद्वान्लोग उसकी परमगति मानते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारदासितसंवादे पञ्चसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारद और असितदेवलका संवादविषयक दो सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

तृष्णाके परित्यागके विषयमें [illegible] मुनि और जनकका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

भ्रातरः पितरः पौत्रा [illegible] सुताः ।
अर्थहेतोर्हताः क्रूरैरस्माभिः पापकर्मभिः ॥ १ ॥
येयमर्थोद्भवा तृष्णा कथमेतां पितामह ।
निवर्तयेयं पापानि [illegible] कारिता वयम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! हमलोग बड़े पापी और [illegible] हैं। हमने धनके लिये ही भाई, पिता, पौत्र, कुटुम्बीजन, सुहृद् और पुत्र—इन सबका संहार [illegible] । यह जो धनजनित तृष्णा है, इसीने हमसे बड़े-बड़े पाप करवाये हैं। हम इस तृष्णाको किस तरह दूर करें ? ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं विदेहराजेन माण्डव्यायानुपृच्छते ॥ [illegible]

भीष्मजी बोले—राजन् ! [illegible] बार माण्डव्य मुनिने

विदेहराज जनकसे ऐसा ही प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें विदेहराजने जो उद्गार प्रकट किया था, उसी प्राचीन इतिहासको विज्ञ पुरुष ऐसे अवसरोंपर उदाहरणके तौरपर दुहराया करते हैं ॥ ३ ॥

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन ॥ ४ ॥

राजा जनकने कहा था कि मैं बड़े सुखसे जीवन व्यतीत करता हूँ; क्योंकि इस जगत्‌की कोई भी वस्तु मेरी नहीं है। किसीपर भी मेरा ममत्व नहीं है। यदि सारी मिथिलामें आग [illegible] जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलता है ॥ ४ ॥

अर्थाः खलु समृद्धा हि बाढं दुःखं विजानताम् ।
असमृद्धास्त्वपि सदा मोहयन्त्यविचक्षणान् ॥ ५ ॥
यच्च कामसुखं लोके [illegible] दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ ६ ॥

जो विवेकी हैं, उन्हें बड़े समृद्धिसम्पन्न विषय भी दुःखरूप ही [illegible] पड़ते हैं। परंतु अज्ञानियोंको तुच्छ विषय भी [illegible] मोहमें डाले रहते हैं। लोकमें जो कामजनित सुख है तथा जो स्वर्गका दिव्य एवं महान् सुख है, वे दोनों तृष्णा-क्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाकी भी तुलना पानेके योग्य नहीं हैं ॥ ५-६ ॥

यथैव शृङ्गं गोः काले वर्धमानस्य वर्धते ।
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते ॥ ७ ॥

जिस प्रकार समयानुसार बड़े होते हुए बछड़ेका सींग भी उसके शरीरके साथ ही बढ़ता है, उसी प्रकार बढ़ते हुए धनके साथ उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है ॥ ७ ॥

किंचिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापाय नाशे सम्पद्यते पुनः ॥ ८ ॥

कोई भी वस्तु क्यों न हो, जब उसके प्रति ममता कर ली जाती है—वह वस्तु अपनी मान ली जाती है, तब नष्ट होनेपर वही संतापका कारण बन जाती है ॥ ८ ॥

न कामाननुरुध्येत दुःखं कामेषु वै रतिः ।
प्राप्यार्थमुपयुञ्जीत धर्मं [illegible] विसर्जयेत् ॥ ९ ॥

इसलिये कामनाओं या भोगोंकी वृद्धिके लिये आग्रह नहीं रखना चाहिये। भोगोंमें जो आसक्ति होती है, वह दुःखरूप ही है। धन पाकर भी उसे धर्ममें ही लगा देना चाहिये। काम-भोगोंको तो सर्वथा त्याग ही देना चाहिये ॥

विद्वान् सर्वेषु भूतेषु आत्मना सोपमो भवेत् ।
कृतकृत्यो विशुद्धात्मा सर्वं त्यजति चैव ह ॥ १० ॥

विद्वान् पुरुष सभी प्राणियोंके प्रति अपने समान ही भाव रखे। इससे वह कृतकृत्य और शुद्धचित्त होकर समस्त दोषोंको त्याग देता है ॥ १० ॥

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ प्रियाप्रिये ।
भयाभयं च संत्यज्य [illegible] प्रशान्तो निरामयः ॥ ११ ॥

वह सत्य-असत्य, हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय [illegible] भय अभय आदि सभी द्वन्द्वोंको त्यागकर अत्यन्त शान्त और निर्विकार हो [illegible] है ॥ ११ ॥

[illegible] दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां [illegible] सुखम् ॥ १२ ॥

खोटी बुद्धिवाले मूढ पुरुषोंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो शरीरके जराजीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण न होकर नयी-नवेली ही बनी रहती है तथा जिसे प्राणान्तकाल [illegible] रहनेवाला रोग [illegible] है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको [illegible] सुख मिलता है ॥ १२ ॥

चारित्रमात्मनः पश्यंश्चन्द्रशुद्धमनामयम् ।
धर्मात्मा लभते कीर्तिं प्रेत्य चेह यथासुखम् ॥ १३ ॥

जो अपने सदाचारको चन्द्रमाके समान विशुद्ध, उज्ज्वल एवं निर्विकार देखता है, वह धर्मात्मा पुरुष इहलोक और परलोकमें कीर्ति एवं उत्तम सुख पाता है ॥ १३ ॥

राज्ञस्तद् वचनं श्रुत्वा प्रीतिमानभवद् द्विजः ।
पूजयित्वा च तद् वाक्यं माण्डव्यो मोक्षमाश्रितः ॥ १४ ॥

राजाके ये वचन सुनकर ब्रह्मर्षि माण्डव्य बड़े प्रसन्न हुए। उनके कथनकी प्रशंसा करके मुनिने मोक्षमार्गका आश्रय लिया ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि माण्डव्यजनकसंवादे षट्सप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें माण्डव्य और जनकका संवादविषयक दो सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शरीर और संसारकी अनित्यता तथा आत्मकल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके कर्तव्यका निर्देश—पिता-पुत्रका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतभयावहे ।
[illegible] श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! सम्पूर्ण प्राणियोंको [illegible] देनेवाला [illegible] काल धीरे-धीरे बीता जा रहा है। (कौन कब [illegible] जीवित रहेगा, इसका कुछ निश्चय नहीं है।) ऐसी दशामें मनुष्य किस कार्यको अपने लिये कल्याणकारी समझे, वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष पिता-पुत्र संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो ॥ २ ॥

द्विजातेः कस्यचित् पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै ।
पुत्रो बभूव मेधावी मेधावी नाम नामतः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन ! प्राचीनकालमें किसी स्वाध्यायपरायण ब्राह्मणके एक बड़ा मेधावी पुत्र [illegible] हुआ, जिसका नाम 'मेधावी' ही था ॥ ३ ॥

सोऽब्रवीत् पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम् ।
मोक्षधर्मेष्वकुशलं मोक्षधर्मविचक्षणः ॥ ४ ॥

उसके पिता सदा स्वाध्यायमें ही तत्पर रहते थे, किंतु मोक्षधर्ममें इतने निपुण नहीं थे । पुत्र मोक्षधर्मके ज्ञानमें कुशल था; [illegible] उसने अपने पितासे पूछा ॥ ४ ॥

पुत्र उवाच

धीरः किंस्वित् तात कुर्यात् प्रजानन्
क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम् ।
पितस्तथाऽऽख्याहि यथार्थयोगं
ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम् ॥ ५ ॥

पुत्र बोला—तात ! मनुष्योंकी आयु तीव्रगतिसे बीती जा रही है । इस बातको अच्छी तरह जाननेवाला धीर पुरुष किस धर्मका अनुष्ठान करे ? पिताजी ! यह [illegible] क्रमशः और यथार्थरूपसे आप मुझे बताइये, जिससे मैं भी उस धर्म- [illegible] आचरण कर सकूँ ॥ ५ ॥

पितोवाच

अधीत्य वेदान् ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम् ।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ६ ॥

पिताने कहा—बेटा ! द्विजको चाहिये कि वह पहले ब्रह्मचर्य-आश्रममें रहकर वेदोंका अध्ययन कर ले, फिर पितरोंका उद्धार करनेके लिये गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके पुत्रोत्पादनकी इच्छा करे । वहाँ विधिपूर्वक अग्नियोंकी स्थापना करके उनमें विधिवत् अग्निहोत्र करे । इस प्रकार यज्ञकर्मका सम्पादन करके वानप्रस्थ-आश्रममें प्रविष्ट हो मुनिवृत्तिसे रहनेकी इच्छा करे ॥ ६ ॥

पुत्र उवाच

एवमभ्याहते लोके समन्ततः परिवारिते ।
अमोघासु पतन्तीषु [illegible] धीर इव भाषसे ॥ ७ ॥

पुत्रने पूछा—पिताजी ! यह लोक तो किसीके द्वारा अत्यन्त ताड़ित और [illegible] ओरसे घिरा हुआ जान पड़ता है । यहाँ ये अमोघ वस्तुएँ निरन्तर हमलोगोंपर टूटी पड़ती हैं । ऐसी दशामें [illegible] धीर पुरुषके समान कैसे बातचीत कर रहे हैं ? ॥ ७ ॥

पितोवाच

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः ।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम् ॥ ८ ॥

पिता बोले—पुत्र ! तुम मुझे डरानेकी चेष्टा क्यों करते हो ? भला, यह लोक कैसे ताड़ित होता है अथवा किसने इसे घेर [illegible] है ? और यहाँ कौन-सी अमोघ वस्तुएँ हमपर टूटी पड़ती हैं ? ॥ ८ ॥

पुत्र उवाच

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः ।
अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥ ९ ॥

पुत्र बोला—पिताजी ! देखिये, मृत्यु सारे जगत्को पीट रही है । बुढ़ापेने इसे घेर लिया है । ये दिन और रात्रियाँ हमपर टूटी पड़ती हैं । इस बातको आप [illegible] क्यों नहीं रहे हैं ? ॥ ९ ॥

यदाहमेव जानामि [illegible] मृत्युस्तिष्ठतीति ह ।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये ज्ञानेनापिहितश्चरन् ॥ १० ॥

जब मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि मौत मेरे कहनेसे क्षणभर भी रुक नहीं सकती और मैं ज्ञानरूपी कवचसे अपनेको बिना ढके हुए ही विचर रहा हूँ, तब यह समझकर भी मैं अपने कल्याणसाधनमें एक क्षणकी भी प्रतीक्षा कैसे करूँगा ? ॥ १० ॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा ।
गाधोदके [illegible] [illegible] सुखं विन्देत कस्तदा ॥ ११ ॥

जब प्रत्येक [illegible] बीतनेके बाद आयु क्षीण होकर कुछ-न-कुछ थोड़ी होती चली जा रही है, [illegible] छिछले पानीमें रहनेवाली मछलीके समान कौन सुख पा सकता है ? ॥ ११ ॥

पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्र गतमानसम् ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥ १२ ॥

जैसे मनुष्य वनमें फूल चुन [illegible] हो, उसी बीचमें कोई हिंसक जीव उसपर आक्रमण [illegible] दे; उसी प्रकार जब मनुष्यका मन दूसरी ओर (विषयभोगोंमें) लगा होता है, उसी समय उसकी इच्छा पूर्ण होनेके पहले ही सहसा मौत आकर उसे दबोच लेती है ॥ १२ ॥

[illegible] कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम् ॥ १३ ॥

इसलिये जिस कामको [illegible] करना हो, उसे आज ही कर ले । जिसे अपराह्णमें [illegible] हो, उसे पूर्वाह्णमें [illegible] कर डाले;

क्योंकि मृत्यु इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करती कि इसका काम पूरा हो गया या नहीं ॥ १३ ॥

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगान्महान् ।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ॥ १४ ॥

जो कल्याणकारी कार्य है, उसे आप [illegible] ही कर डालिये। यह महान् काल आपको लाँघ न जाय; क्योंकि कौन जानता है कि आज किसकी मृत्युकी घड़ी आ पहुँचेगी ॥ १४ ॥

अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ।
युवैव धर्मशीलः स्यादनिमित्तं [illegible] जीवितम् ॥ १५ ॥

सारे काम अधूरे ही रह जाते हैं और मौत अपनी ओर खींच लेती है, इसलिये युवावस्थामें ही मनुष्यको धर्मका आचरण करना चाहिये; क्योंकि जीवनका [illegible] ठिकाना नहीं है ॥ १५ ॥

कृते धर्मे भवेत् प्रीतिरिह प्रेत्य च शाश्वती ।
मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः ॥ १६ ॥
कृत्वा कार्यमकार्यं वा तुष्टिमेषां प्रयच्छति ।
तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम् ॥ १७ ॥
सुप्तं व्याघ्रं महौघो वा मृत्युरादाय ग[illegible]

धर्माचरण करनेसे इस लोकमें प्रसन्नता [illegible] होती है और मृत्युके पश्चात् परलोकमें अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है। जिसपर मोहका आवेश होता है, वही स्त्री-पुत्रोंके लिये तरह-तरहके काम-धंधोंकी खटपटमें [illegible] रहता है। वह करने और न करने योग्य काम करके भी इन सबको संतोष देता है। पुत्रों और पशुओंसे सम्पन्न हो [illegible] मनुष्यका मन उन्हींमें आसक्त रहता है, उसी समय जैसे नदीका महान् जलप्रवाह अपने तटपर सोये हुए व्याघ्रको बहा ले जाता है, उसी प्रकार मृत्यु उस मनुष्यको लेकर चल देती है ।१६-१७½।

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम् ॥ १८ ॥
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ।

वह भोग-सामग्रियोंका संचय करता और कामनाओंसे अतृप्त ही रहता है। तभी [illegible] आकर उसे उसी तरह उठा ले जाती है, जैसे बाघिन भेड़के पास पहुँचकर उसे दबोच लेती है ॥१८½ ॥

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ॥ १९ ॥
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरादाय गच्छति ।

मनुष्य सोचता है कि यह काम तो मैंने कर लिया, इस कामको अभी करना है और यह दूसरा कार्य कुछ हदतक हो गया है और शेष बाकी पड़ा है। इस प्रकार मनसूबे बाँधनेमें लगे हुए उस मनुष्यको मौत लेकर चल देती है ॥ १९½ ॥

कृतानां फलमप्राप्तं कार्याणां कर्मसङ्गिनाम् ॥ २० ॥
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युर्हरादाय गच्छति ।

वह अपने खेत, दूकान और घरके ही चक्करमें पड़ा रहता है। उनके लिये तरह-तरहके कर्मोंमें [illegible] है; परंतु [illegible] फल मिलने भी नहीं पाता कि मौत उसको इस संसारसे उठा [illegible] जाती है ॥ २०½ ॥

दुर्बलं बलवन्तं च प्राज्ञं शूरं जडं कविम् ॥ २१ ॥
अप्राप्तसर्वकामार्थं मृत्युर्हरादाय गच्छति ।

मनुष्य दुर्बल हो या बलवान्, बुद्धिमान् हो या शूरवीर अथवा मूर्ख हो या विद्वान्—मृत्यु उसकी समस्त कामनाओंके पूर्ण होनेसे पहले ही उसे उठा ले जाती है ॥ २१½ ॥

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम् ॥ २२ ॥
अनत्याज्यं यदा मर्त्यैः किं [illegible] इव तिष्ठसि ।

पिताजी ! जब इस शरीरमें मृत्यु, जरा, व्याधि और अनेक कारणोंसे होनेवाले दुःखोंका ताँता बँधा ही रहता है और मनुष्य किसी [illegible] भी उनसे अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकते, तब ऐसी दशामें आप निश्चिन्त-से क्यों बैठे हैं ॥।

जातमेवान्तकोऽन्ताय [illegible] चाभ्येति देहिनम् ॥ २३ ॥
अनुषक्ता ह्यनेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः ।

मनुष्यके जन्म लेते ही उसका अन्त कर डालनेके लिये अन्तक (यमराज) उसके पीछे लग जाता है और बुढ़ापा भी देहधारीके पास आता ही है। समस्त चराचर पदार्थ इन दोनोंसे बँधे हुए हैं ॥ २३½ ॥

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ॥ २४ ॥
बलात् सत्यमृते त्वेकं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ।

एकमात्र सत्यके बिना कोई भी मनुष्य कभी सामने आती हुई मृत्युकी सेनाको बलपूर्वक नहीं दबा [illegible] (अतः असत्यको त्यागकर सत्यका ही आश्रय लेना चाहिये); क्योंकि सत्यमें ही अमृत (ब्रह्म) प्रतिष्ठित है ॥ २४½ ॥

मृत्योर्वा गृहमेतद् वै या ग्रामे वसतो रतिः ॥ २५ ॥
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः ।

गाँव या नगरमें रहकर स्त्री-पुत्रोंमें आसक्ति रखना—यह मृत्युका घर ही है। 'यदरण्यम्' इस श्रुतिके अनुसार जो वानप्रस्थ-आश्रम है, वह देवताओंकी गोशालाके समान है ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ॥ २६ ॥
छित्त्वैनां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ।

गाँवोंमें रहकर विषय-भोगोंमें आसक्त होना—यह जीवको बाँधनेवाली रस्सीके समान है। केवल पुण्यात्मा पुरुष ही इसे काटकर निकल पाते हैं। पापी पुरुष इसे नहीं काट सकते ॥ २६½ ॥

यो न हिंसति सत्त्वानि मनोवाक्कर्महेतुभिः ॥ २७ ॥
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स बध्यते ।

जो मन, वाणी, क्रिया तथा अन्य कारणोंद्वारा भी प्राणीकी जीविकाका अपहरण करके उसकी हिंसा नहीं करता, उसको दूसरे प्राणी भी या बन्धनके कष्टमें नहीं डालते ॥ २७½ ॥

तस्मात् सत्यव्रताचारः ॥ २८ ॥
सत्यकामः समो दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत्।

अतः मनुष्यको सत्यव्रतका आचरण करना चाहिये। सत्यरूपी व्रतके पालनमें चाहिये। वह सत्यकी कामना करे। सबके प्रति समान भाव रखे। जितेन्द्रिय बने और सत्यके द्वारा ही मृत्युपर विजय प्राप्त करे ॥ २८½ ॥

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ॥ २९ ॥
मृत्युरापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम्।

अमृत और मृत्यु—ये दोनों इस शरीरमें ही विद्यमान हैं। मोहसे मृत्यु प्राप्त होती है और सत्यसे अमृतपदकी उपलब्धि होती है ॥ २९½ ॥

सोऽहं सत्यमहिंसार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः ॥ ३० ॥
समाश्रित्य सुखं क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमृत्युवत्।

अतः अब मैं काम और क्रोधको त्यागकर अहिंसा-धर्मके पालनकी इच्छा करूँगा। सत्यका आश्रय लेकर कल्याणका भागी बनूँगा और अमरकी भाँति मृत्युको दूर हटा दूँगा ॥ ३०½ ॥

शान्तियज्ञरतो दान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः ॥ ३१ ॥
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने।

सूर्यके उत्तरायण होनेपर शान्तिमय यज्ञमें तत्पर, जितेन्द्रिय, ब्रह्मयज्ञपरायण एवं मननशील होकर मैं जप-स्वाध्यायरूप वाग्यज्ञ, मनोयज्ञ और शास्त्रविहित कर्मोंका निष्काम-भावसे आचरणरूप कर्मयज्ञका अनुष्ठान करूँगा ॥ ३१½ ॥

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति ॥ ३२ ॥
अन्तवद्भिरुत प्राज्ञः क्षत्रयज्ञैः पिशाचवत्।

मेरे-जैसा ज्ञानवान् पुरुष हिंसाप्रधान पशुयज्ञोंद्वारा कैसे यजन कर सकता है? अथवा पिशाचके समान विनाश-शील क्षत्रिय—यज्ञोंके अनुष्ठानमें कैसे प्रवृत्त हो सकता है ॥

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजः पितः ॥ ३३ ॥
आत्मयज्ञो भविष्यामि न मां तारयति प्रजा।

पिताजी! आत्मासे अपने आपमें ही हुआ हूँ। अपने आपमें ही स्थित हूँ। मेरे कोई संतान नहीं है। मैं ही यजमान होऊँगा। मुझे संतान नहीं तार सकती है ॥ ३३½ ॥

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा ॥ ३४ ॥
योगश्च तैः सर्वमवाप्नुयात्।

जिसकी वाणी और मन सदा एकाग्र रहते तथा जिसमें तप, त्याग और योग—तीनोंका समावेश है, वह उनके द्वारा सब कुछ पा लेता है ॥ ३४½ ॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति विद्यासमं फलम् ॥ ३५ ॥
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥ ३६ ॥

संसारमें ब्रह्मविद्याके समान कोई नेत्र नहीं है, ब्रह्म-विद्याके समान कोई फल नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है ॥ ३५-३६ ॥

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च।
शीले स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥ ३७ ॥

ब्रह्ममें एकीभाव, समता, सत्यपरायणता, सदाचारनिष्ठा, त्याग (अहिंसा), तथा प्रकारके कर्मोंसे निवृत्ति—इनके दूसरा कोई धन नहीं है ॥ ३७ ॥

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते
किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते गताः पिता ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणदेव (पिताजी)! जब दिन आपको मरना ही है, तब इन धन-वैभव, बन्धु-बान्धव तथा स्त्री-पुत्रोंसे प्रयोजन है? अपनी हृदयगुहामें विराजमान आत्माकी खोज कीजिये। सोचिये तो सही, आपके पिताजी कहाँ हैं, दादा बाबा कहाँ चले गये ॥ ३८ ॥

भीष्म उवाच

पुत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा तथाकार्षीत् पिता नृप।
त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥ ३९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! पुत्रका यह वचन सुनकर उसके पिताने कुछ उसके कथनानुसार किया। उसी प्रकार तुम भी सत्य और धर्ममें तत्पर होकर उसी प्रकार आचरण करो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पितापुत्रसंवादे सप्तसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पिता और पुत्रका संवादविषयक दो सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

हारीत मुनिके द्वारा प्रतिपादित संन्यासीके स्वभाव, आचरण और धर्मोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपरायणः।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम्॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! प्रकृतिसे परे जो परब्रह्मका अविनाशी परमधाम है, उसे कैसे स्वभाव, किस तरहके आचरण, कैसी विद्या और किन कर्मोंमें तत्पर रहनेवाला पुरुष प्राप्त कर सकता है?॥ १॥

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु निरतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
प्राप्नोति परमं स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम्॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो पुरुष मोक्षधर्ममें तत्पर, मिताहारी और जितेन्द्रिय होता है, वह उस प्रकृतिसे परे परब्रह्म परमात्माका जो अविनाशी परमधाम है, उसे प्राप्त कर लेता है॥ २॥

(अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
हारीतेन पुरा गीतं तं निबोध युधिष्ठिर॥)

युधिष्ठिर! पूर्वकालमें हारीत मुनिने जो [illegible] उपदेश किया है, इस विषयमें विज्ञ पुरुष उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो॥

स्वगृहादभिनिःसृत्य लाभेऽलाभे समो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्॥ ३॥

[illegible] पुरुषको चाहिये कि लाभ और हानिमें समान भाव रखकर मुनिवृत्तिसे रहे और भोगोंके उपस्थित होनेपर भी उनकी आकाङ्क्षासे रहित हो अपने घरसे निकलकर संन्यास ग्रहण कर ले॥ ३॥

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित्॥ ४॥

न नेत्रसे, न मनसे और न वाणीसे ही वह दूसरेके दोष देखे, सोचे या कहे। किसीके सामने या परोक्षमें पराये दोषकी चर्चा कहीं न करे॥ ४॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ५॥

[illegible] प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा न करे—किसीको भी पीड़ा न दे। सबके प्रति मित्रभाव रखकर विचरता रहे। इस नश्वर जीवनको लेकर किसीके साथ शत्रुता न करे॥ ५॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नाभिमन्येत [illegible]।
क्रोध्यमानः प्रियं ब्रूयादाक्रुष्टः कुशलं वदेत्॥ ६॥

यदि कोई अपने प्रति अमर्यादित [illegible] कहे—निन्दा या कटुवचन सुनाये तो उसके उन वचनोंको चुपचाप सह ले। किसीके प्रति अहंकार या घमंड न प्रकट करे। कोई क्रोध करे तो भी उससे प्रिय वचन ही बोले। यदि कोई गाली दे तो भी उसके प्रति हितकर वचन ही मुँहसे निकाले॥ ६॥

प्रदक्षिणं च सव्यं च ग्राममध्ये च नाचरेत्।
भैक्षचर्यामनापन्नो न गच्छेत् पूर्वकेतितः॥ [illegible]॥

गाँव या जनसमुदायमें दायें-बायें न करे—किसीकी पक्ष-विपक्ष न करे तथा भिक्षावृत्तिको छोड़कर किसीके यहाँ पहलेसे निमन्त्रित होकर भोजनके लिये न जाय॥ ७॥

अवकीर्णः सुगुप्तश्च न वाचा ह्यप्रियं वदेत्।
मृदुः स्यादप्रतिक्रूरो विस्रब्धः स्यादकत्थनः॥ ८॥

कोई अपने ऊपर धूल या कीचड़ फेंके तो मुमुक्षु पुरुष उससे आत्मरक्षामात्र करे। बदलेमें स्वयं भी वैसा ही न करे और न मुँहसे कोई अप्रिय वचन [illegible] निकाले। सर्वदा मृदुताका बर्ताव करे। किसीके प्रति कठोरता न करे। निश्चिन्त रहे और बहुत बढ़-बढ़कर बातें न बनाये॥ ८॥

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसंचारे भिक्षां लिप्सेत वै मुनिः॥ ९॥

[illegible] रसोईघरसे धूआँ निकलना बंद हो जाय, अनाज-मसाला कूटनेके लिये उठाया हुआ मूसल अलग [illegible] दिया जाय, चूल्हेकी आग ठंडी पड़ जाय, घरके लोग भोजन कर चुके हों और बर्तनोंका सचार—रसोई परोसी हुई थाली [illegible] इधर-उधर ले जाया जाना बंद हो जाय, उस समय संन्यासी मुनिको भिक्षा प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये॥

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रालाभेष्वनादृतः।
अलाभे न विहन्येत लाभश्चैनं न हर्षयेत्॥ १०॥

उसे केवल अपनी प्राणयात्राके निर्वाहमात्रका यत्न करना चाहिये। भर पेट भोजन मिल जाय, इसकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। यदि भिक्षा न मिले तो उससे मनमें पीड़ाका अनुभव न करे और मिल जाय तो उसके कारण वह हर्षित न हो॥ १०॥

लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः।
अभिपूजितलाभं हि जुगुप्सेतैव तादृशः॥ ११॥

साधारण (लौकिक) लाभकी इच्छा न करे। जहाँ विशेष आदर एवं पूजा होती हो, वहाँ भोजन न करे। मुमुक्षु पुरुष को आदर-सत्कारके लाभकी तो निन्दा करनी चाहिये॥ ११॥

न चान्नदोषान् निन्देत न गुणानभिपूजयेत्।
शय्यासने विविक्ते च नित्यमेवाभिपूजयेत्॥ १२॥

भिक्षामें मिले हुए अन्नके दोष बताकर उनकी निन्दा

न करे और न उसके गुण बताकर उन गुणोंकी प्रशंसा [illegible] करे। सोने और बैठनेके लिये सदा एकान्तका ही आदर करे॥

शून्यागारं वृक्षमूलमरण्यमथवा गुहाम्।
अज्ञातचर्यां गत्वान्यां ततोऽन्यत्रैव संविशेत्॥ १३॥

सूने घर, वृक्षकी जड़, [illegible] [illegible] पर्वतकी गुफामें अथवा अन्य किसी गुप्त स्थानमें अज्ञातभावसे रहकर आत्म-चिन्तनमें ही लगा रहे॥ १३॥

अनुरोधविरोधाभ्यां समः स्यादचलो ध्रुवः।
सुकृतं दुष्कृतं चोभे नानुरुध्येत कर्मणा॥ १४॥

लोगोंके अनुरोध या विरोध करनेपर भी सदा समभावसे रहे, निश्चल एवं स्थिरचित्त हो [illegible] तथा अपने कर्मोंद्वारा पुण्य एवं पापका अनुसरण न करे॥ १४॥

नित्यतृप्तः सुसंतुष्टः प्रसन्नवदनेन्द्रियः।
विभीर्जप्यपरो मौनी वैराग्यं समुपाश्रितः॥ १५॥

सर्वदा तृप्त और संतुष्ट रहे। [illegible] और इन्द्रियोंको [illegible] रखे। भयको [illegible] न आने दे। [illegible] आदिका जप [illegible] रहे तथा वैराग्यका आश्रय ले मौन रहे॥ १५॥

अभ्यस्तं भौतिकं पश्यन् भूतानामागतिं गतिम्।
निःस्पृहः समदर्शी च पक्वापक्वेन वर्तयन्।
आत्मना यः प्रशान्तात्मा लघ्वाहारो जितेन्द्रियः॥ १६॥

भौतिक देह, इन्द्रिय आदि सभी वस्तुएँ [illegible] होनेवाली हैं और प्राणियोंके आवागमन—जन्म और मरण—बारबार होते रहते हैं। यह [illegible] देख और सोचकर जो सर्वत्र निःस्पृह तथा समदर्शी हो गया है, पके (रोटी, भात आदि) और कच्चे ([illegible] मूल आदि) [illegible] जीवन-निर्वाह करता है, आत्मलाभ-[illegible] लिये जो शान्तचित्त हो [illegible] है तथा जो मिताहारी और जितेन्द्रिय है, वही वास्तवमें संन्यासी कहलाने योग्य है॥ १६॥

वाचो वेगं [illegible] क्रोधवेगं
हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् विषहेद् वै तपस्वी
निन्दा [illegible] हृदयं नोपहन्यात्॥ १७॥

संन्यासी तपस्वी होकर वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थ—इनके वेगोंको सहता हुआ इन्हें वशमें रखे। दूसरोंद्वारा की हुई निन्दा उसके हृदयमें कोई विकार न उत्पन्न करे॥ १७॥

[illegible] [illegible] तिष्ठेत प्रशंसानिन्दयोः समः।
एतत् पवित्रं परमं परिव्राजक आश्रमे॥ १८॥

प्रशंसा और निन्दा—दोनोंमें समान भाव [illegible] उदासीन ही रहना चाहिये। संन्यासाश्रममें इस प्रकारका आचरण [illegible] पवित्र माना गया है॥ १८॥

महात्मा सर्वतो दान्तः सर्वत्रैवानपाश्रितः।
अपूर्वचारकः सौम्यो अनिकेतः समाहितः॥ १९॥

संन्यासीको महामनस्वी, [illegible] प्रकारसे जितेन्द्रिय, सब ओरसे असङ्ग, सौम्य, [illegible] और कुटियासे रहित तथा एकाग्रचित्त होना चाहिये। उसे अपने पूर्व आश्रमके परिचित स्थानोंमें नहीं विचरना चाहिये॥ १९॥

वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित्।
अज्ञातलिप्सां लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत्॥ २०॥

वानप्रस्थों और गृहस्थोंके साथ उसे कभी संसर्ग नहीं [illegible] चाहिये। अपनी रुचि प्रकट किये बिना ही जो वस्तु [illegible] हो जाय, उसीको लेनेकी इच्छा रखनी चाहिये [illegible] अभीष्ट वस्तुके मिलनेपर उसके मनमें हर्षका आवेश नहीं होना चाहिये॥ २०॥

विजानतां मोक्ष एष श्रमः स्यादविजानताम्।
मोक्षयानमिदं कृत्स्नं विदुषां हारितोऽब्रवीत्॥ २१॥

यह संन्यासाश्रम ज्ञानियोंके लिये तो मोक्षरूप है, परंतु अज्ञानियोंके लिये श्रमरूप ही है। हारीत मुनिने विद्वानोंके लिये इस सम्पूर्ण धर्मको मोक्षका विमान बताया है॥ २१॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् गृहात्।
लोकास्तेजोमयास्तस्य तथाऽऽनन्त्याय कल्पते॥ २२॥

जो पुरुष सबको अभय-दान देकर घरसे निकल [illegible] है, उसे तेजोमय लोकोंकी प्राप्ति होती है तथा वह अनन्त परमात्मपदको [illegible] करनेमें समर्थ होता है॥ २२॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हारीतगीतायां अष्टसप्तत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २७८॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हारीतगीताविषयक दो सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २७८॥

(दाक्षिणात्य अधिक [illegible] १ श्लोक मिलाकर कुल २३ श्लोक [illegible])

एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय तथा उस विषयमें वृत्र-शुक्र-संवादका आरम्भ

युधिष्ठिर उवाच

धन्या धन्या इति जनाः सर्वेऽस्मान् प्रवदन्त्युत।
न दुःखिततरः कश्चित् पुमानस्माभिरस्ति [illegible]॥ [illegible]॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! सभी लोग हमलोगोंको धन्य-धन्य कहते हैं, परंतु हमलोगोंसे बढ़कर अत्यन्त दुःखी दूसरा कोई मनुष्य नहीं है॥ १॥

लोकसम्भावितैर्दुःखं यत् प्राप्तं कुरुसत्तम।
प्राप्य [illegible] मनुष्येषु देवैरपि पितामह॥ [illegible]॥

कुरुश्रेष्ठ पितामह ! देवताओंद्वारा मानवलोकमें जन्म पाकर तथा सब लोगोंद्वारा सम्मानित होकर भी हमें यहाँ महान् दुःख प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

कदा वयं करिष्यामः संन्यासं दुःखसंज्ञकम् ।
दुःखमेतच्छरीराणां धारणं कुरुसत्तम ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! संसारी मनुष्य जिसे दुःख कहते हैं, उस संन्यासका अवलम्बन हमलोग कब करेंगे ! हमें तो इन शरीरोंका धारण करना ही दुःख जान पड़ता है ॥ ३ ॥

विमुक्ताः सप्तदशभिर्हेतुभूतैश्च पञ्चभिः ।
इन्द्रियार्थैर्गुणैश्चैव अष्टाभिश्च पितामह ॥ ४ ॥
[illegible] गच्छन्ति पुनर्भावं मुनयः संशितव्रताः ।
कदा वयं गमिष्यामो राज्यं हित्वा परंतप ॥ ५ ॥

पितामह ! [illegible] ज्ञानेन्द्रिय, [illegible] कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व; काम, क्रोध, लोभ, [illegible] और स्वप्न—ये संसारके पाँच हेतु; शब्द, स्पर्श, रूप, [illegible] और गन्ध—ये पाँच विषय; सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण [illegible] पाँच भूतोंसहित अविद्या, अहंकार और कर्म—ये आठ तत्त्वोंके समुदाय सब मिलाकर अट्ठतीस तत्त्व होते हैं। इन सबसे [illegible] हुए तीक्ष्ण व्रतधारी मुनि पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते हैं। परंतप पितामह ! हमलोग भी कब अपना राज्य छोड़कर इसी स्थितिको [illegible] होंगे ॥ ४-५ ॥

भीष्म उवाच

नास्त्यनन्तं महाराज सर्वं संख्यानगोचरः ।
पुनर्भावोऽपि विख्यातो नास्ति किंचिदिहाचलम् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज ! दुःख अनन्त नहीं है। जगत्की सभी वस्तुएँ संख्याकी सीमामें ही हैं—असंख्य नहीं हैं। पुनर्जन्म भी नश्वरताके लिये विख्यात ही है। तात्पर्य यह कि इस जगत्में कोई भी वस्तु अचल या स्थायी नहीं है ॥ ६ ॥

न चापि मन्यसे राजन्नेष दोषः प्रसङ्गतः ।
उद्योगादेव धर्मज्ञाः कालेनैव गमिष्यथ ॥ [illegible] ॥

तुम जो ऐसा मानते हो कि ऐश्वर्य दोषकारक होता है, क्योंकि [illegible] आसक्तिका हेतु होनेके कारण मोक्षका प्रतिबन्धक है तो तुम्हारी [illegible] मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि [illegible] लोग धर्मके [illegible] हो। स्वयं ही उद्योग करके शम, दम आदि साधनोंद्वारा कुछ ही कालमें मोक्ष [illegible] कर सकते हो ॥ ७ ॥

नेशोऽयं सततं देही नृपते पुण्यपापयोः ।
[illegible] समुत्थेन तमसा रुध्यतेऽपि च ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! यह जीवात्मा पुण्य और पापके फल [illegible] और दुःख भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं है, [illegible] पुण्य और पापोंसे उत्पन्न संस्काररूप अन्धकारसे यह आच्छन्न हो जाता है ॥ ८ ॥

यथाञ्जनमयो वायुः पुनर्मानःशिलं रजः ।
अनुप्रविश्य तद्वर्णो दृश्यते रञ्जयन् दिशः ॥ ९ ॥
तथा कर्मफलैर्देही रञ्जितस्तमसाऽऽवृतः ।
विवर्णो वर्णमाश्रित्य देहेषु परिवर्तते ॥ १० ॥

जैसे अन्धकारमयी वायु मैनसिलके लाल पीले चूर्णमें प्रवेश करके उसीके रंगसे युक्त हो सम्पूर्ण दिशाओंको रँगती दिखायी देती है, उसी प्रकार स्वभावतः वर्णविहीन यह जीवात्मा तमोमय अज्ञानसे आवृत और कर्मफलसे रञ्जित हो वही वर्ण ग्रहण कर अर्थात् विभिन्न शरीरोंके धर्मोंको स्वीकार करके [illegible] प्राणियोंके शरीरोंमें घूमता रहता है ॥ ९-१० ॥

ज्ञानेन हि यदा जन्तुरज्ञानप्रभवं तमः ।
व्यपोहति तदा [illegible] प्रकाशति सनातनम् ॥ ११ ॥

जब जीव तत्त्वज्ञानद्वारा अज्ञानजनित अन्धकारको दूर कर देता है, तब उसके हृदयमें सनातन ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है ॥ ११ ॥

अयत्नसाध्यं मुनयो वदन्ति
ये चापि मुक्तास्त उपासितव्याः ।
त्वया च लोकेन [illegible] सामरेण
तस्मान्नमस्यामि महर्षिसङ्घान् ॥ १२ ॥

ऋषि-मुनि कहते हैं कि ब्रह्मकी प्राप्ति किसी क्रियात्मक यत्नसे साध्य नहीं है। इसके लिये तो देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत्को और तुमको उन पुरुषोंकी [illegible] करनी चाहिये, जो जीवन्मुक्त हैं; अतएव मैं महर्षियोंके समुदायको नमस्कार करता हूँ ॥ १२ ॥

अस्मिन्नर्थे पुरा गीतं शृणुष्वैकमना नृप ।
[illegible] दैत्येन वृत्रेण भ्रष्टैश्वर्येण चेष्टितम् ॥ १३ ॥
निर्जितेनासहायेन हृतराज्येन भारत ।
अशोचता शत्रुमध्ये बुद्धिमास्थाय केवलाम् ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास कहा जाता है। उसे एकचित्त होकर सुनो। भरतनन्दन ! पूर्वकालमें वृत्रासुर पराजित और ऐश्वर्य-भ्रष्ट हो गया था। उसका कोई सहायक नहीं रह गया था। देवताओंने उसका राज्य छीन लिया था। [illegible] दशामें पड़कर भी उस असुरने जैसी चेष्टा की थी, उसीका इस कथामें वर्णन है। वह शत्रुओंके बीचमें रहकर भी आसक्तिशून्य बुद्धिका आश्रय ले शोक नहीं करता था ॥ १३-१४ ॥

भ्रष्टैश्वर्यं पुरा वृत्रमुशना वाक्यमब्रवीत् ।
कच्चित् पराजितस्याद्य न व्यथा तेऽस्ति दानव ॥ १५ ॥

पूर्वकालकी बात है कि वृत्रासुरको ऐश्वर्यभ्रष्ट हुआ देख शुक्राचार्यने उससे पूछा—दानवराज ! तुम्हें देवताओंने पराजित [illegible] दिया है तो भी आजकल तुम्हारे चित्तमें किसी प्रकारकी [illegible] नहीं है; इसका क्या कारण है ?' ॥ १५ ॥

वृत्र उवाच

सत्येन तपसा चैव विदित्वासंशयं ह्यहम् ।
न शोचामि न हृष्यामि भूतानामागतिं गतिम् ॥ १६ ॥

वृत्रासुरने कहा—ब्रह्मन् ! मैंने सत्य और तपके प्रभावसे जीवोंके आवागमनका रहस्य निश्चितरूपसे जान लिया है; इसलिये [illegible] उसके विषयमें हर्ष और शोक नहीं करता हूँ ॥ १६ ॥

कालसंचोदिता जीवा मज्जन्ति नरकेऽवशाः ।
परितुष्टानि सर्वाणि दिव्यान्याहुर्मनीषिणः ॥ १७ ॥

कालसे प्रेरित हुए जीव अपने पापकर्मोंके फलस्वरूप विवश होकर नरकमें डूबते हैं और पुण्यके फलसे वे सब-के-[illegible] स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ आनन्द भोगते हैं । ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है ॥ १७ ॥

क्षपयित्वा [illegible] तं कालं गणितं कालचोदिताः ।
सावशेषेण कालेन सम्भवन्ति पुनः पुनः ॥ १८ ॥

[illegible] प्रकार स्वर्ग अथवा नरकमें कर्मफलभोगद्वारा निश्चित समय व्यतीत करके भोगनेसे बचे हुए कर्मसहित कालकी प्रेरणासे वे बारबार इस संसारमें जन्म लेते रहते [illegible] ॥ १८ ॥

तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च ।
निर्गच्छन्त्यवशा जीवाः [illegible] ॥ १९ ॥

कामनाओंके बन्धनमें बँधकर विवश हुए कितने ही जीव सहस्रों बार तिर्यक्योनि तथा नरकमें पड़कर पुनः वहाँसे निकलते हैं ॥ १९ ॥

एवं संसरमाणानि जीवान्यहमदृष्टवान् ।
[illegible] कर्म [illegible] [illegible] इति शास्त्रनिदर्शनम् ॥ २० ॥

इस प्रकार मैंने सभी जीवोंको जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ देखा है । [illegible] भी ऐसा सिद्धान्त है कि जैसा कर्म होता है, वैसा ही [illegible] मिलता है ॥ २० ॥

तिर्यग् गच्छन्ति नरकं मानुष्यं दैवमेव च ।
सुखदुःखे प्रिये द्वेष्ये चरित्वा पूर्वमेव ह ॥ २१ ॥

प्राणी पहले ही सुख-दुःख तथा प्रिय और अप्रिय-विषयोंमें विचरण करके कर्मके अनुसार नरक, तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि अथवा देवयोनिमें जाते हैं ॥ २१ ॥

कृतान्तविधिसंयुक्तः सर्वो लोकः प्रपद्यते ।
गतं गच्छन्ति चाध्वानं सर्वभूतानि सर्वदा ॥ २२ ॥

[illegible] जीव जगत्-विधाताके विधानसे ही परिचालित हो सुख-दुःख पाता है और [illegible] प्राणी सदा चले हुए मार्ग-पर ही चलते हैं ॥ २२ ॥

कालसंख्यानसंख्यातं सृष्टिस्थितिपरायणम् ।
तं भाषमाणं भगवानुशना प्रत्यभाषत ।
धीमन् दुष्टप्रलापांस्त्वं तात कस्मात् प्रभाषसे ॥ २३ ॥

जो काल नामसे प्रसिद्ध एवं सृष्टि और पालनके परम आश्रय हैं, उन परमात्माका प्रतिपादन करते हुए वृत्रासुरकी [illegible] सुनकर भगवान् शुक्राचार्यने उससे कहा—'तात ! तुम तो बड़े बुद्धिमान् हो, फिर ये असुरभावके विपरीत दोषयुक्त निरर्थक वचन कैसे कह रहे हो ?' ॥ २३ ॥

वृत्र उवाच

प्रत्यक्षमेतद् भवतस्तथान्येषां मनीषिणाम् ।
मया यज्जयलुब्धेन पुरा तप्तं महत् तपः ॥ २४ ॥

वृत्रासुरने कहा—ब्रह्मन् ! आपने तथा दूसरे मनीषी महानुभावोंने यह तो प्रत्यक्ष देखा है कि मैंने पहले विजयके लोभसे बड़ी भारी तपस्या की थी ॥ २४ ॥

गन्धानादाय भूतानां रसांश्च विविधानपि ।
अवर्धं त्रीन् समाक्रम्य लोकान् वै स्वेन तेजसा ॥ २५ ॥

मैं बलमें बहुत बढ़ा-चढ़ा था; अतः मैंने अपने ही तेजसे तीनों लोकोंपर आक्रमण करके दूसरे प्राणियोंको धूलमें मिलाकर उनके उपभोगकी गन्ध और रस आदि विविध वस्तुएँ छीन ली थीं ॥ २५ ॥

ज्वालामालापरिक्षिप्तो वैहायसचरस्तथा ।
अजेयः सर्वभूतानामासं नित्यमपेतभीः ॥ २६ ॥

मेरे शरीरसे आगकी लपटें निकलती थीं और [illegible] ज्वाला-मालाओंसे घिरकर सदा आकाशमें निर्भय विचरता हुआ [illegible] प्राणियोंके लिये अजेय हो गया था ॥ २६ ॥

ऐश्वर्यं तपसा प्राप्तं भ्रष्टं [illegible] स्वकर्मभिः ।
धृतिमास्थाय भगवन् न शोचामि ततस्त्वहम् ॥ २७ ॥

भगवन् ! इस प्रकार मैंने तपस्याके प्रभावसे जो ऐश्वर्य [illegible] किया था, वह मेरे अपने ही कर्मोंसे नष्ट हो गया । तथापि मैं धैर्य धारण करके उसके लिये शोक नहीं करता हूँ ॥

युयुत्सुना महेन्द्रेण पुंसा सार्धं महात्मना ।
ततो मे भगवान् दृष्टो हरिर्नारायणः प्रभुः ॥ २८ ॥

महामनस्वी पुरुषप्रवर देवराज इन्द्र जब युद्धकी इच्छासे मेरे सामने आये, उस समय उनके साथ उन्हींकी सहायताके लिये आये हुए सबके प्रभु भगवान् श्रीनारायण हरिका मैंने दर्शन किया था ॥ २८ ॥

वैकुण्ठः पुरुषोऽनन्तः शुक्लो विष्णुः सनातनः ।
मुञ्जकेशो हरिश्मश्रुः सर्वभूतपितामहः ॥ २९ ॥

वे भगवान् वैकुण्ठ, पुरुष, अनन्त, [illegible], विष्णु, सनातन, मुञ्जकेश, हरिश्मश्रु तथा सम्पूर्ण भूतोंके पितामह हैं ॥

नूनं [illegible] [illegible] तपसः सावशेषमिहास्ति वै ।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि भगवन् कर्मणः फलम् ॥ ३० ॥

भगवन् ! अवश्य ही मेरी उस तपस्याका कोई [illegible] भी शेष रह गया है, अतः मैं उस कर्मफलके विषयमें प्रश्न करना चाहता हूँ ॥ ३० ॥

ऐश्वर्यं वै महद् [illegible] वर्णे कस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।

निवर्तते चापि पुनः कथमैश्वर्यमुत्तमम् ॥ ३१ ॥

अणिमा आदि ऐश्वर्य और महद् ब्रह्म किस वर्णमें प्रतिष्ठित हैं ? तथा वह उत्तम ऐश्वर्य कैसे नष्ट हो जाता है ? ॥

कस्माद् भूतानि जीवन्ति प्रवर्तन्ते तथा पुनः ।
किं वा फलं परं प्राप्य जीवस्तिष्ठति शाश्वतः ॥ ३२ ॥

प्राणी किस हेतुसे जीवन धारण करते हैं ? तथा किस कारणसे कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ? जीव किस परम फलको पाकर अविनाशी एवं सनातनरूपसे प्रतिष्ठित होता है ? ॥ ३२ ॥

केन वा कर्मणा शक्यमथ ज्ञानेन केन वा ।
तदवाप्तुं फलं विप्र तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३३ ॥

विप्रवर ! किस कर्म अथवा ज्ञानसे उस फलको प्राप्त किया जा सकता है ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ३३ ॥

इतीदमुक्तः स मुनिस्तदानीं
प्रत्याह यत् तच्छृणु राजसिंह ।
मयोच्यमानं पुरुषर्षभ त्व-
मनन्यचित्तः सह सोदरीयैः ॥ ३४ ॥

राजसिंह ! पुरुषप्रवर युधिष्ठिर ! उसके ऐसा प्रश्न करनेपर मुनिवर शुक्राचार्यने उस समय उसे जो उत्तर दिया, उसे मैं बता रहा हूँ, तुम अपने भाइयोंके साथ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रगीतासु एकोनाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्र-गीताविषयक दो सौ उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७९ ॥

अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरको सनत्कुमारका अध्यात्मविषयक उपदेश देना और उसकी परमगति तथा भीष्मद्वारा युधिष्ठिरकी शङ्काका निवारण

उशनोवाच

नमस्तस्मै भगवते देवाय प्रभविष्णवे ।
यस्य पृथ्वीतलं तात साकाशं बाहुगोचरः ॥ १ ॥

शुक्राचार्यने कहा—तात ! आकाशसहित यह सारी पृथ्वी जिनकी भुजाओंके बलपर स्थित है, महान् प्रभावशाली उन भगवान् विष्णुदेवको नमस्कार है ॥ १ ॥

मूर्धा यस्य त्वनन्तं च स्थानं दानवसत्तम ।
तस्याहं ते प्रवक्ष्यामि विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥

दानवश्रेष्ठ ! जिनका मस्तक और स्थान भी अनन्त है, उन भगवान् विष्णुका उत्तम माहात्म्य मैं तुम्हें बताऊँगा ॥

तयोः संवदतोरेवमाजगाम महामुनिः ।
सनत्कुमारो धर्मात्मा संशयच्छेदनाय वै ॥ ३ ॥

शुक्राचार्य और वृत्रासुरमें ये बातें हो ही रही थीं कि वहाँ महामुनि धर्मात्मा सनत्कुमार उनके संशयका निवारण करनेके लिये आ पहुँचे ॥ ३ ॥

स पूजितोऽसुरेन्द्रेण मुनिनोशनसा तथा ।
निषसादासने राजन् महार्हे मुनिपुङ्गवः ॥ ४ ॥

राजन् ! असुरराज वृत्र और मुनि शुक्राचार्यके द्वारा पूजित हो मुनिवर सनत्कुमार एक बहुमूल्य सिंहासनपर विराजमान हुए ॥ ४ ॥

तमासीनं महाप्रज्ञमुशना वाक्यमब्रवीत् ।
ब्रूह्यस्मै दानवेन्द्राय विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ॥ ५ ॥

जब महाज्ञानी सनत्कुमार आरामसे बैठ गये, तब शुक्राचार्यने उनसे कहा—'भगवन् ! आप इस दानवराजको भगवान् विष्णुका उत्तम माहात्म्य बताइये' ॥ ५ ॥

सनत्कुमारस्तु ततः श्रुत्वा प्राह वचोऽर्थवत् ।
विष्णोर्माहात्म्यसंयुक्तं दानवेन्द्राय धीमते ॥ ६ ॥

यह सुनकर सनत्कुमारजीने बुद्धिमान् दानवराज वृत्रासुरके प्रति भगवान् विष्णुकी महिमासे युक्त यह सार्थक वचन कहा— ॥ ६ ॥

शृणु सर्वमिदं दैत्य विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम् ।
विष्णौ जगत् स्थितं सर्वमिति विद्धि परंतप ॥ ७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले दैत्य ! भगवान् विष्णुका यह सम्पूर्ण उत्तम माहात्म्य सुनो—तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि यह समस्त संसार भगवान् विष्णुमें ही स्थित है ॥

सृजत्येष महाबाहो भूतग्रामं चराचरम् ।
एष चाक्षिपते काले काले विसृजते पुनः ॥ ८ ॥

'पर महाबाहो ! ये श्रीविष्णु ही सम्पूर्ण चराचर प्राणि समुदायकी सृष्टि करते हैं और ये ही समय आनेपर उसका विनाश करते हैं एवं समय आनेपर पुनः सृष्टि भी करते हैं ॥ ८ ॥

अस्मिन् गच्छन्ति विलयमस्माच्च प्रभवन्त्युत ।
नैष ज्ञानवता शक्यस्तपसा नैव चेज्यया ।
सम्प्राप्तुमिन्द्रियाणां तु संयमेनैव शक्यते ॥ ९ ॥

'समस्त प्राणी इन्हींमें लयको प्राप्त होते हैं और इन्हींसे प्रकट भी होते हैं । इन्हें कोई ज्ञानवान्, तपस्या और यज्ञके द्वारा भी नहीं पा सकता । केवल इन्द्रियोंके संयमसे ही उनकी उपलब्धि हो सकती है ॥ ९ ॥

बाह्ये चाभ्यन्तरे चैव कर्मणा मनसि स्थितः ।
निर्मलीकुरुते बुद्ध्या सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते ॥ १० ॥

'जो बाह्य ([illegible] आदि) और आभ्यन्तर ([illegible]

सनकादि महर्षियोंकी शुक्राचार्य एवं वृत्रासुरसे भेंट

आदि) कर्मोंमें प्रवृत्त होकर मनके विषयमें स्थिरता प्राप्त करके अर्थात् मनको स्थिर करके बुद्धिके द्वारा उसे निर्मल बनाता है, वह परलोकमें अक्षय सुख (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥

यथा हिरण्यकर्ता [illegible] रूप्यमग्नौ विशोधयेत् ।
बहुशोऽतिप्रयत्नेन महताऽऽत्मकृतेन ह ॥ ११ ॥
तद्वज्जातिशतैर्जीवः शुद्ध्यतेऽनेन कर्मणा ।
यत्नेन महता चैवाप्येकजातौ विशुद्ध्यते ॥ १२ ॥

'जैसे सोनार बारंबार किये हुए अपने महान् प्रयत्नके द्वारा चाँदीको आगमें डालकर उसे [illegible] करता है, उसी प्रकार जीव सैकड़ों जन्मोंमें अपने मनको [illegible] पाता है; परंतु इस यज्ञ आदि और शम-दम आदि कर्मोंद्वारा यदि [illegible] महान् प्रयत्न करे तो एक ही जन्ममें [illegible] हो जाता है [illegible] ११-१२ ॥

लीलयाल्पं यथा गात्रात् प्रमृज्यादात्मनो रजः ।
बहुयत्नेन महता दोषनिर्हरणं तथा ॥ १३ ॥

'जैसे अपने शरीरमें लगी हुई थोड़ी सी धूलको मनुष्य साधारण चेष्टासे खेल-खेलमें ही झाड़-पोंछ देता है, उसी [illegible] बारंबार किये हुए महान् प्रयत्नसे वह अपने राग-द्वेष आदि दोषोंको भी दूर [illegible] सकता है ॥ १३ ॥

यथा चाल्पेन माल्येन वासितं तिलसर्षपम् ।
न मुञ्चति स्वकं गन्धं तद्वत् सूक्ष्मस्य दर्शनम् ॥ १४ ॥

'जैसे थोड़े-से पुष्प एवं मालाद्वारा वासित किया हुआ तिल और सरसोंका तेल अपनी गन्ध नहीं छोड़ता है, उसी [illegible] थोड़े-से प्रयत्नसे न तो दोष दूर होते हैं और न सूक्ष्म [illegible] ही हो पाता है ॥ १४ ॥

तदेव बहुभिर्माल्यैर्वास्यमानं पुनः पुनः ।
विमुञ्चति स्वकं गन्धं माल्यगन्धे च तिष्ठति ॥ १५ ॥
एवं जातिशतैर्युक्तो गुणैरेव प्रसङ्गिषु ।
बुद्ध्या निवर्तते दोषो यत्नेनाभ्यासजेन ह ॥ १६ ॥

'वही तिल या सरसोंका तेल बहुत-से सुगन्धित पुष्पोंद्वारा बारंबार वासित होनेपर अपनी गन्धको छोड़ देता है और उस फूलकी गन्धमें ही स्थित हो जाता है। उसी प्रकार सैकड़ों जन्मोंमें स्त्री पुत्र आदिके संसर्गसे युक्त तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंद्वारा प्रवर्तित दोषसमूह बुद्धि तथा अभ्यासजनित यत्नसे निवृत्त हो पाता है ॥ १५-१६ ॥

कर्मणा त्वनुरक्तानि विरक्तानि च दानव ।
यथा कर्मविशेषांश्च प्राप्नुवन्ति तथा शृणु ॥ १७ ॥

'दनुनन्दन ! कर्मसे अनुरक्त और कर्मसे विरक्त होनेवाले प्राणिसमूह जिस प्रकार राग और विरागके हेतुभूत विभिन्न कर्मोंको प्राप्त होते हैं, वह सुनो ॥ १७ ॥

यथावत् सम्प्रवर्तन्ते यस्मिंस्तिष्ठन्ति वा विभो ।
तत् तेऽनुपूर्व्या व्याख्यास्ये तदिहैकमनाः [illegible] ॥ १८ ॥

'प्रभो ! जिस प्रकार वे कर्ममें प्रवृत्त होते तथा जिस निमित्तसे उसमें स्थित होते हैं और जिस अवस्थामें उससे निवृत्त हो जाते हैं, वह सब [illegible] तुमसे क्रमशः बताऊँगा । तुम उसे यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ १८ ॥

अनादिनिधनः श्रीमान् हरिर्नारायणः प्रभुः ।
देवः सृजति भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ १९ ॥

'श्रीमान् भगवान् नारायण हरि आदि और अन्तसे रहित हैं। वे ही चराचर प्राणियोंकी रचना करते हैं ॥१९॥

स वै सर्वेषु भूतेषु क्षरश्चाक्षर एव च ।
एकादशविकारात्मा जगत् पिबति रश्मिभिः ॥ २० ॥

'वे ही सम्पूर्ण प्राणियोंमें क्षर और अक्षररूपसे विद्यमान हैं। ग्यारह इन्द्रियोंका जो वैकारिक सर्ग है, [illegible] भी उन्हींका स्वरूप है। वे अपनी चैतन्यमयी किरणोंद्वारा सम्पूर्ण जगत्‌में [illegible] हो रहे हैं ॥ २० ॥

पादौ तस्य महीं विद्धि मूर्धानं दिवमित्युत ।
बाहवस्तु दिशो दैत्य श्रोत्रमाकाशमेव च ॥ २१ ॥
तस्य तेजोमयः सूर्यो मनश्चन्द्रमसि स्थितम् ।
बुद्धिर्ज्ञानगता नित्यं रसस्त्वप्सु प्रतिष्ठितः ॥ २२ ॥

'दैत्यराज ! पृथ्वीको भगवान् विष्णुके दोनों चरण समझो, स्वर्गलोकको [illegible] जानो, ये चारों दिशाएँ उनकी [illegible] भुजाएँ हैं, [illegible] है, तेजस्वी सूर्य उनका नेत्र है, [illegible] चन्द्रमा है, बुद्धि (महत्तत्त्व) उनकी नित्य ज्ञानवृत्ति [illegible] और [illegible] रसनेन्द्रिय है ॥ २१-२२ ॥

भ्रुवोरनन्तरास्तस्य [illegible] दानवसत्तम ।
नक्षत्रचक्रं नेत्राभ्यां पादयोर्भूश्च दानव ॥ २३ ॥

'दानवप्रवर ! सम्पूर्ण ग्रह उनकी दोनों भौंहोंके बीचमें स्थित हैं। नक्षत्रमण्डल नेत्रोंसे [illegible] हुआ है। दनुनन्दन ! [illegible] पृथ्वी उनके दोनों चरणोंमें स्थित है ॥ २३ ॥

(तं विद्धि भूतं विश्वादिं परमं विद्धि चेश्वरम् ।)
[illegible] सत्त्वं च विद्धि नारायणात्मकम् ।
सोऽऽश्रमाणां फलं तात कर्मणस्तत् फलं विदुः ॥ २४ ॥

'उन्हें [illegible] सम्पूर्ण भूतस्वरूप, इस जगत्‌का आदिकारण और परमेश्वर समझो। रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनोंको नारायणमय ही मानो। तात ! समस्त आश्रमोंका

१. श्रीविष्णुपुराणमें तीन प्रकारकी प्राकृत सृष्टि बतायी गयी है—पहली महत्तत्त्वकी सृष्टि है, जिसे यहाँ 'क्षर' शब्दसे कहा गया है। दूसरी भूत-सृष्टि मानी गयी है, जो तन्मात्राओंकी सृष्टि है। यहाँ 'भूतेषु' पदके द्वारा उसीकी ओर संकेत किया गया है। 'एकादशविकारात्मा' इस पदके द्वारा तीसरी सृष्टिका निर्देश किया गया है, जिसे वैकारिक [illegible] ऐन्द्रियक सर्ग भी कहते हैं। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इन ग्यारह तत्त्वोंकी रचना हुई है।

फल वे ही हैं। विद्वान् पुरुष समस्त कर्मोंद्वारा प्राप्तव्य फल उन्हींको मानते हैं॥ २४॥

अकर्मणः फलं चैव स एव परमव्ययः।
छन्दांसि यस्य रोमाणि ह्यक्षरं च सरस्वती॥ २५॥

'कर्मोंका त्यागरूप जो संन्यास है, उसका फल भी वे ही अविनाशी परमात्मा हैं। वेद-मन्त्र उनके रोम हैं तथा प्रणव उनकी वाणी है॥ २५॥

बह्वाश्रयो बहुमुखो धर्मो हृदि समाश्रितः।
स यज्ञः परमो धर्मस्तपश्च सदसच्च सः॥ २६॥

'बहुत-से वर्ण और आश्रम उनके आश्रय हैं, उनके अनेक मुख हैं। हृदयमें आश्रित धर्म भी उन्हींका स्वरूप है। वे ही ब्रह्म हैं। वे ही आत्मदर्शनरूप परम धर्म हैं। वे ही तप और सदसत्स्वरूप हैं॥ २६॥

श्रुतिशास्त्रग्रहोपेतः षोडशर्त्विक् क्रतुश्च सः।
पितामहश्च विष्णुश्च सोऽश्विनौ च पुरंदरः।
मित्रोऽथ वरुणश्चैव यमोऽथ धनदस्तथा॥ २७॥

'श्रुति (वेद), शास्त्र और [1]सोमपात्रसहित सोलह ऋत्विजोंवाला यज्ञ भी वे ही हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु, अश्विनीकुमार, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम और कुबेर हैं॥ २७॥

ते पृथग्दर्शनास्तस्य संविदन्ति तथैकताम्।
एकत्वं विद्धि देवस्य सर्वं जगदिदं वशे॥ २८॥

'उनका दर्शन पृथक्-पृथक् होनेपर भी वे अपनी एकताको जानते हैं। तुम भी इस सम्पूर्ण जगत्को एक परमात्मदेवके ही अधीन समझो॥ २८॥

नानाभूतस्य दैत्येन्द्र तस्यैकत्वं वदत्ययम्।
जन्तुः पश्यति विज्ञानात् ततो ब्रह्म प्रकाशते॥ २९॥

'दैत्यराज! अनेक रूपोंमें प्रकट हुए उन परमात्माकी एकताका यह वेद प्रतिपादन करता है। जीव विज्ञानबलसे ही उनका साक्षात्कार करता है। उस समय उसकी बुद्धिमें वह ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है॥ २९॥

संहारविक्षेपसहस्रकोटी-
स्तिष्ठन्ति जीवाः प्रचरन्ति चान्ये।
प्रजाविसर्गस्य च पारिमाण्यं
वापीसहस्राणि बहूनि दैत्य॥ ३०॥

'कितने ही जीव करोड़ों कल्पोंतक स्थावररूपसे एक स्थानमें स्थित रहते हैं और कितने ही उनसे अनन्तगुने इधर-उधर विचरते रहते हैं। दैत्यराज! प्रजाकी सृष्टिका परिमाण कई हजार बावड़ियोंके जलके समान है॥

वाप्यः पुनर्योजनविस्तृतास्ताः
क्रोशं च गम्भीरतयावगाढाः।
आयामतः पञ्चशताश्च सर्वाः
प्रत्येकशो योजनतः प्रवृद्धाः॥ ३१॥
वाप्या जलं क्षिप्यति वालकोट्या
त्वह्ना सकृच्चाप्यथ न द्वितीयम्।
तासां क्षये विद्धि परं विसर्गं
संहारमेकं च तथा प्रजानाम्॥ ३२॥

'वे सारी बावड़ियाँ पाँच सौ योजन चौड़ी, पाँच सौ योजन लंबी और एक-एक कोस गहरी हों। गहराई इतनी हो कि कोई उनमें प्रवेश न कर सके। तात्पर्य यह कि प्रत्येक बावड़ी बहुत लंबी-चौड़ी और गहरी हो—उनमेंसे एक बावड़ीके जलको कोई दिन भरमें एक ही बार एक बालकी नोकसे उलीचे, दूसरी बार न उलीचे। इस प्रकार उलीचनेसे उन सारी बावड़ियोंका जल जितने समयमें समाप्त हो जाता है, उतने ही समयमें प्राणियोंकी सृष्टि और संहारके क्रमकी समाप्ति हो सकती है (अर्थात् जैसे उस प्रकारसे उलीचनेपर उन बावड़ियोंका जल सूखना असम्भव है, वैसे ही बिना ज्ञानके संसारका उच्छेद होना असम्भव है।)॥ ३१-३२॥

षड् जीववर्णाः परमं प्रमाणं
कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम्।
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु
हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम्॥ ३३॥

'प्राणियोंके वर्ण[1] छः प्रकारके हैं—कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हरिद्रा (पीला) और शुक्ल। इनमेंसे कृष्ण, धूम्र

---

१. सोलह ऋत्विजोंके नाम इस प्रकार हैं—१—ब्रह्मा, २—ब्राह्मणाच्छंसी, ३—आग्नीध्र और ४—पोता—ये चार ऋत्विज सम्पूर्ण वेदोंके ज्ञाता होते हैं। ५—होता, ६—मैत्रावरुण, ७—अच्छावाक और ८—ग्रावस्तोता—ये चार ऋत्विज ऋग्वेदी होते हैं। ९—अध्वर्यु, १०—प्रतिप्रस्थाता, ११—नेष्टा और १२—उन्नेता—ये चार यजुर्वेदी होते हैं। १३—उद्गाता, १४—प्रस्तोता, १५—प्रतिहर्ता और १६—सुब्रह्मण्य—ये सामवेदके गायक होते हैं।

१. जब तमोगुणकी अधिकता, सत्त्वगुणकी न्यूनता और रजोगुणकी सम अवस्था हो, तब कृष्णवर्ण होता है। यह स्थावर सृष्टिका रंग माना गया है। तमोगुणकी अधिकता, रजोगुणकी न्यूनता और सत्त्वगुणकी सम अवस्था होनेपर धूम्रवर्ण होता है। यह पशु-पक्षीकी योनिमें जन्म लेनेवाले प्राणियोंका वर्ण माना गया है। रजोगुणकी अधिकता, सत्त्वगुणकी न्यूनता और तमोगुणकी सम अवस्था होनेपर नीलवर्ण होता है। यह मानवसर्गका वर्ण बताया गया है। इसीमें जब सत्त्वगुणकी सम अवस्था और तमोगुणकी न्यूनता हो तो मध्यमवर्ण होता है। उसका रंग लाल होता है। इसे अनुग्रह सर्ग कहते हैं। जब सत्त्वगुणकी अधिकता, रजोगुणकी न्यूनता और तमोगुणकी सम अवस्था हो तो हरिद्राके समान पीतवर्ण होता है। यही देवताओंका वर्ण है, अतः इसे देवसर्ग कहते हैं। इसीमें जब रजोगुणकी सम अवस्था और तमोगुणकी न्यूनता हो तो शुक्लवर्ण होता है। इसीको कौमारसर्ग कहा गया है।

और नील वर्णका सुख मध्यम होता है। रक्तवर्ण विशेष रूपसे सहन करने योग्य होता है। हरिद्राकी-सी कान्ति सुख देनेवाली होती है और शुक्लवर्ण अत्यन्त सुखदायक होता है॥

परं [illegible] शुक्लं विमलं विशोकं
गतक्लमं सिद्ध्यति दानवेन्द्र।
गत्वा [illegible] योनिप्रभवाणि दैत्य
सहस्रशः सिद्धिमुपैति जीवः॥ ३४॥

'दानवराज! शुक्लवर्ण निर्मल, शोकहीन, परिश्रमशून्य होनेके कारण सिद्धिकारक होता है। दितिकुलनन्दन! जीव सहस्रों योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेके बाद मनुष्य-योनिमें आकर कभी सिद्धि लाभ करता है॥ ३४॥

गतिं च यां दर्शनमाह देवो
गत्वा शुभं दर्शनमेव चापि।
गतिः पुनर्वर्णकृता प्रजानां
वर्णस्तथा कालकृतोऽसुरेन्द्र॥ ३५॥

'असुरेन्द्र! देवराज इन्द्रने मंगलमय तत्त्वज्ञान प्राप्त करके हमारे निकट जिस गति और दर्शन-शास्त्रका वर्णन किया है, वह प्राणियोंकी वर्णजनित गति है अर्थात् शुक्लवर्णवालोंको वही सिद्धि प्राप्त होती है। वह वर्ण कालकृत माना गया है॥

शतं सहस्राणि चतुर्दशेह
परा गतिर्जीवगणस्य दैत्य।
आरोहणं तत्कृतमेव विद्धि
स्थानं तथा निःसरणं च तेषाम्॥ ३६॥

'दैत्यप्रवर! इस जगत्‌में समस्त जीव-समुदायकी परा गति चौदह लाख बतायी गयी है। (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चौदह करण हैं। इन्हींके भेदसे चौदह प्रकारकी गति होती है। फिर विषय-भेदसे वृत्तिभेद होनेके कारण चौदह [illegible] प्रकारकी गति होती है।) जीवका जो ऊर्ध्वलोकोंमें गमन होता है, वह भी उन्हीं चौदह करणोंद्वारा सम्पादित होता है। विभिन्न स्थानोंमें जो स्थिरतापूर्वक निवास है, वह और उन स्थानोंसे जो उन जीवोंका अधःपतन होता है, वह भी उन्हींके सम्बन्धसे होता है। इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो (अतः इन चौदह करणोंको सात्त्विक मार्गाभिमुखी बनाना चाहिये)॥ ३६॥

[illegible] वर्णस्य गतिर्निकृष्टा
[illegible] सज्जते नरके पच्यमानः।
स्थानं [illegible] दुर्गतिभिस्तु तस्य
प्रजाविसर्गान् सुबहून् वदन्ति॥ ३७॥

'कृष्णवर्णकी गति नीच बतायी गयी है। वह नरक प्रदान करनेवाले निषिद्ध कर्मोंमें आसक्त होता है, इसीलिये नरककी आगमें पकाया जाता है। वह कुमार्गमें प्रवृत्त हुए पूर्वोक्त चौदह करणोंद्वारा पापाचार करनेके कारण अनेक कल्पोंतक नरकमें ही निवास [illegible] है—ऐसा ऋषि-मुनि कहते हैं॥ ३७॥

शतं सहस्राणि ततश्चरित्वा
प्राप्नोति वर्णं हरितं तु पश्चात्।
स चैव तस्मिन् निवसत्यनीशो
युगक्षये तपसा संवृतात्मा॥ ३८॥

'तदनन्तर वह जीव लाखों बार (या लाखों वर्षोंतक) नरकमें विचरण करके फिर धूम्रवर्ण पाता है (पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जन्म लेता है)। [illegible] योनिमें भी [illegible] विवश होकर बड़े दुःखसे निवास करता है। फिर युगक्षय होनेपर [illegible] तप (पुरातन पुण्यकर्म या विवेक) के प्रभावसे सुरक्षित होकर उस संकटसे उद्धार पा जाता है॥ ३८॥

[illegible] [illegible] यदा सत्त्वगुणेन युक्त-
स्तमो व्यपोहन् घटते स्वबुद्ध्या।
[illegible] लोहितं वर्णमुपैति नीलान्
मनुष्यलोके परिवर्तते च॥ ३९॥

'वही जीव जब सत्त्वगुणसे युक्त होता है, तब अपनी बुद्धिके द्वारा तमोगुणकी प्रवृत्तिको दूर हटाता हुआ अपने कल्याणके लिये प्रयत्न करता है। उस समय सत्त्वगुणके [illegible] जानेपर [illegible] रक्तवर्णको प्राप्त होता है (इसीको [illegible] सर्ग [illegible] गया है, चित्तकी विभिन्न वृत्तियोंपर अनुग्रह करनेवाले देवविशेषका ही नाम 'अनुग्रह' है)। जब सत्त्वगुणमें [illegible] कमी रह जाती है, तब [illegible] जीव नीलवर्णको प्राप्त होकर मनुष्यलोकमें आवागमन करने लगता है॥ ३९॥

स [illegible] संहारविसर्गमेकं
स्वधर्मजैर्बन्धनैः क्लिश्यमानः।
[illegible] [illegible] हारिद्रमुपैति वर्णं
संहारविक्षेपशते व्यतीते॥ ४०॥

'तत्पश्चात् वह मनुष्यलोकमें एक कल्पतक स्वधर्मजनित बन्धनोंसे बँधकर क्लेश उठाता हुआ जब धीरे-धीरे अपनी तपस्याको बढ़ाता है, तब हल्दीकी-सी कान्तिवाले पीतवर्ण—देवताभावको प्राप्त होता है। वहाँ भी सैकड़ों [illegible] व्यतीत कर लेनेपर वह पुनः पुण्यक्षयके पश्चात् मनुष्य होता है (इस प्रकार वह देवतासे मनुष्य और मनुष्यसे देवता होता रहता है)॥

हारिद्रवर्णस्तु प्रजाविसर्गात्
सहस्रशस्तिष्ठति संचरन् वै।
अविप्रमुक्तो निरये च दैत्य
[illegible] सहस्राणि दशापराणि॥ ४१॥
गतीः सहस्राणि च पञ्च तस्य
चत्वारि संवर्तकृतानि चैव।
विमुक्तमेनं निरयाच्च विद्धि
सर्वेषु चान्येषु च सम्भवेषु॥ ४२॥

'दैत्य! सहस्रों कल्पोंतक देवरूपसे विचरते रहनेपर भी

जीव विषयभोगसे मुक्त नहीं होता तथा प्रत्येक कल्पमें किये हुए अशुभ कर्मोंके फलोंको नरकमें रहकर भोगता हुआ जीव उन्नीस हजार विभिन्न गतियोंको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् उसे नरकसे छुटकारा मिलता है। मनुष्यके सिवा अन्य सभी योनियोंमें केवल सुख-दुःखके भोग प्राप्त होते हैं। मोक्षका सुयोग हाथ नहीं लगता है। इस बातको तुम्हें भलीभाँति समझ लेना चाहिये ॥ ४१-४२ ॥

[illegible] देवलोके विहरत्यभीक्ष्णं
ततश्च्युतो मानुषतामुपैति।
संहारविक्षेपशतानि चाष्टौ
मर्त्येषु तिष्ठत्यमृतत्वमेति ॥ ४३ ॥

'वह जीव निरन्तर देवलोकमें विहार करता है और वहाँसे भ्रष्ट होनेपर मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है। मर्त्यलोकमें वह आठ सौ कल्पोंतक बारंबार जन्म लेता रहता है। तत्पश्चात् शुभकर्म करके वह पुनः देवभावको प्राप्त [illegible] है ([illegible] आवागमनका चक्र तभीतक चलता है, [illegible] जीवको परमज्ञान या अनन्य भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो जाती, उसकी प्राप्ति होनेपर तो वह मुक्त या परमात्माको [illegible] हो जाता है।) ॥ ४३ ॥

सोऽस्मादथ भ्रश्यति कालयोगात्
कृष्णे तले तिष्ठति सर्वकृष्टे।
यथा त्वयं सिद्ध्यति जीवलोक-
स्तत् तेऽभिधास्याम्यसुरप्रवीर ॥ ४४ ॥

'असुरोंके प्रमुख वीर! वह जीव कालक्रमसे अशुभ कर्म करके कभी-कभी मर्त्यलोकसे भी नीचे गिर जाता है और सबसे निकृष्ट, तलप्रदेशकी भाँति निम्नतम, कृष्णवर्ण (स्थावर योनि) में जन्म ग्रहण करके स्थित होता है। इस प्रकार उत्थान-पतनके चक्रमें पड़े हुए इस जीवसमूहको जिस प्रकार सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होती है, वह [illegible] तुम्हें [illegible] रहा हूँ ॥ ४४ ॥

दैवानि स व्यूहशतानि [illegible]
रक्तो हरिद्रोऽथ तथैव शुक्लः।
संश्रित्य संधावति शुक्लमेत-
मष्टावरानर्च्यतमान् स लोकान् ॥ ४५ ॥

'क्रमशः रक्तवर्ण (अनुग्राहक देवता), हरिद्रावर्ण (देवता) तथा शुक्लवर्ण (सनकादिकुमारों-जैसा सिद्ध शरीरधारी) होकर वह जीव बारी-बारीसे सात सौ दिव्य शरीरोंका आश्रय ले भू आदि सात उत्तमोत्तम लोकोंमें विचरण करके पूर्व पुण्यके प्रभावसे वेगपूर्वक विशुद्ध ब्रह्मलोकमें चला जाता है ॥ ४५ ॥

अष्टौ च षष्टिं च शतानि चैव
मनोनिरुद्धानि महाद्युतीनाम्।
शुक्लस्य वर्णस्य परा गतिर्या
त्रीण्येव रुद्धानि महानुभाव ॥ ४६ ॥

'महानुभाव वृत्रासुर! प्रकृति, महत्तत्त्व, [illegible] और पञ्चतन्मात्राएँ—ये आठ, तथा दूसरे साठ तत्त्व और इनसे जो सैकड़ों वृत्तियाँ हैं—ये सब महातेजस्वी योगियोंके मनके द्वारा अवरुद्ध की हुई होती हैं। तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको भी वे अवरुद्ध कर देते हैं। अतः शुक्लवर्णवाले (सनकादिकोंके समान सिद्ध) पुरुषको जो उत्तम गति प्राप्त होती है, वही उन योगियोंको मिलती है ॥

संहारविक्षेपमनिष्टमेकं
चत्वारि चान्यानि वसत्यनीशः।
[illegible] वर्णस्य परा गतिर्या
सिद्धावसिद्धस्य गतक्लमस्य ॥ ४७ ॥

'जो परमगति छठे (शुक्ल) वर्णके साधकको मिलती है, उसे पानेका अधिकार प्राप्त करके भी जो असिद्ध हो रहा है एवं जिसके समस्त पाप नष्ट हो चुके हैं ऐसा योगी भी यदि योगजनित ऐश्वर्यके सुखभोगकी वासनाका त्याग करनेमें असमर्थ है तो वह न चाहनेपर भी एक कल्पतक अपनी साधनाके [illegible] महर्, जन, [illegible] और सत्य—इन चारों लोकोंमें क्रमशः निवास करता है (और कल्पके अन्तमें [illegible] हो जाता है) ॥ ४७ ॥

सप्तोत्तरं तत्र वसत्यनीशः
संहारविक्षेपशतं सशेषम्।
तस्मादुपावृत्य मनुष्यलोके
ततो महान् मानुषतामुपैति ॥ ४८ ॥

'किंतु जो भलीभाँति योगसाधनमें असमर्थ है, वह योगभ्रष्ट पुरुष सौ कल्पोंतक ऊपरके [illegible] लोकोंमें निवास करता है। फिर बचे हुए कर्मसंस्कारोंके सहित वहाँसे लौटकर मनुष्यलोकमें पहलेसे बढ़कर महत्त्वसम्पन्न हो मनुष्ययोनिको पाता है ॥ ४८ ॥

तस्मादुपावृत्य [illegible] क्रमेण
सोऽग्रेण संतिष्ठति भूतसर्गम्।
[illegible] सप्तकृत्वश्च परैति लोकान्
संहारविक्षेपकृतप्रभावः ॥ ४९ ॥

'तदनन्तर मनुष्ययोनिसे निकलकर वह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ देवादि योनियोंकी ओर अग्रसर होता है एवं सातों लोकोंमें प्रभावशाली होकर एक कल्पतक निवास करता है ॥ ४९ ॥

---

१. [illegible] इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—ये छब्बीस भोगके साधन हैं, विषय और वृत्तियोंके भेदसे इन्हींके इतने [illegible] सौ और उतने ही हजार प्रकार हो जाते हैं।

१. पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय—ये दस [illegible] सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तथा [illegible] सुषुप्तिके भेदसे प्रत्येक छः छः प्रकारकी होती हैं। [illegible] इनके साठ भेद हो जाते हैं।

सत्तैव संहारमुपप्लवानि
सम्भाव्य संतिष्ठति जीवलोके।
ततोऽव्ययं स्थानमनन्तमेति
देवस्य विष्णोरथ ब्रह्मणश्च।
शेषस्य चैवाथ नरस्य चैव
देवस्य विष्णोः [illegible] चैव ॥ ५० ॥

'फिर वह योगी भू आदि सात लोकोंको विनाशशील क्षणभङ्गुर समझकर पुनः मनुष्यलोकमें भलीभाँति (शोक-मोहसे रहित होकर) निवास करता है। तदनन्तर शरीरका अन्त होनेपर वह अव्यय (अविनाशी या निर्विकार) [illegible] अनन्त (देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेदसे शून्य) स्थान (परब्रह्मपद) को प्राप्त होता है। वह अव्यय [illegible] अनन्त स्थान किसीके मतमें महादेवजीका कैलासधाम है। किसीके मतमें भगवान् विष्णुका वैकुण्ठधाम है। किसीके मतमें ब्रह्माजीका सत्यलोक है। कोई-कोई उसे भगवान् शेष [illegible] अनन्तका धाम बताते हैं। कोई वह जीवका ही परमधाम है—ऐसा कहते [illegible] और कोई-कोई उसे सर्वव्यापी चिन्मय प्रकाशसे युक्त परब्रह्मका स्वरूप बताते हैं ॥ ५० ॥

संहारकाले परिदग्धकाया
ब्रह्माणमायान्ति सदा [illegible] हि।
चेष्टात्मनो देवगणाश्च सर्वे
ये ब्रह्मलोकेऽपराः स्म तेऽपि ॥ ५१ ॥

'ज्ञानाग्निके द्वारा जिनके सूक्ष्म, स्थूल और कारणशरीर दग्ध हो गये हैं, वे प्रजाजन अर्थात् योगीलोग प्रलयकालमें सदा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं एवं जो ब्रह्मलोकसे नीचेके लोकोंमें रहनेवाले साधनशील दैवी प्रकृतिसे सम्पन्न [illegible] हैं, वे [illegible] परब्रह्मको [illegible] हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

प्रजाविसर्गं तु सशेषकाले
स्थानानि स्वान्येव सरन्ति जीवाः।
निःशेषतस्तत्पदं यान्ति चान्ते
सर्वे देवा ये सदृशा मनुष्याः ॥ ५२ ॥

'प्रलयकालमें जो जीव देवभावको [illegible] थे, वे यदि अपने सम्पूर्ण कर्मफलोंका उपभोग समाप्त करनेसे पहले ही लयको [illegible] हो जाते हैं तो कल्पान्तरमें पुनः प्रजाकी सृष्टि होनेपर वे शेष फलका उपभोग करनेके लिये उन्हीं स्थानोंको प्राप्त होते हैं, जो उन्हें पूर्वकल्पमें प्राप्त थे, किंतु जो कल्पान्तमें [illegible] योनिसम्बन्धी कर्मफल-भोगको पूर्ण कर चुके हैं, वे स्वर्गलोकका [illegible] हो जानेपर दूसरे कल्पमें उनके जैसे कर्म हैं, उसीके सदृश अन्य प्राणियोंकी भाँति मनुष्य-योनिको ही प्राप्त होते [illegible] ॥ ५२ ॥

ये तु च्युताः सिद्धलोकात् क्रमेण
तेषां गतिं यान्ति तथाऽऽनुपूर्व्या।
जीवाः परे तद्बलतुल्यरूपाः
स्वं स्वं विधिं यान्ति विपर्ययेण ॥ ५३ ॥

'जो योगी सिद्धलोकसे गिरकर मृत्युलोकमें आये हैं, उनके [illegible] साधनबलसे सम्पन्न जो अन्य योगी हैं, वे भी एक लोकसे दूसरे लोकमें ऊपर उठते हुए [illegible] उन सिद्ध पुरुषोंकी ही गतिको [illegible] होते हैं। परंतु जो वैसे नहीं हैं, वे विपरीतभावके कारण अपनी-अपनी गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ५३ ॥

स यावदेवास्ति सशेषभुक् ते
[illegible] देव्यौ च तथैव शुक्रे।
तावत् तदङ्गेषु विशुद्धभावः
संयम्य पञ्चेन्द्रियरूपमेतत् ॥ ५४ ॥

'विशुद्धभावसे सम्पन्न सिद्ध पुरुष [illegible] पञ्चेन्द्रिय-[illegible] इस करणसमुदायका संयम करके शेष प्रारब्ध कर्मका उपभोग करता है, तबतक उसके शरीरमें समस्त प्रजागणोंका अर्थात् इन्द्रियोंके देवताओंका तथा अपरा और परा विद्याका निवास रहता है ॥ ५४ ॥

शुद्धां गतिं तां परमां परैति
शुद्धेन नित्यं मनसा विचिन्वन्।
ततोऽव्ययं स्थानमुपैति ब्रह्म
दुष्प्रापमभ्येति स शाश्वतं वै ॥ ५५ ॥

'जो साधक सदा शुद्ध मनसे उस विशुद्ध परमगतिका अनुसंधान करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर अविकारी, दुर्लभ एवं सनातन ब्रह्मपदको प्राप्त करके वह उसीमें प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ५५ ॥

इत्येतदाख्यातमहीनसत्त्व
नारायणस्येह बलं मया ते ॥ ५६ ॥

'उत्कृष्ट बलशाली दैत्यराज! इस प्रकार यहाँ मैंने तुमसे यह भगवान् नारायणका बल एवं प्रभाव बताया है' ॥

वृत्र उवाच

एवं गते मे न विषादोऽस्ति कश्चित्
सम्यक् च पश्यामि वचस्तथैतत्।
श्रुत्वा तु ते वाचमदीनसत्त्व
विकल्मषोऽस्म्यद्य तथा विपाप्मा ॥ ५७ ॥

वृत्रासुर बोला—उदारचित्त महात्मा सनत्कुमारजी! यदि ऐसी बात है तो मुझे कोई विषाद नहीं है। मैं आपके वचनको अच्छी तरह समझता और इसे यथार्थ मानता हूँ। आज मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि आपकी इस वाणीको सुनकर मेरे सारे पाप और कलुष दूर हो गये ॥ ५७ ॥

प्रवृत्तमेतद् भगवन् महर्षे
महाद्युतेश्चक्रमनन्तवीर्यम्।
विष्णोरनन्तस्य सनातनं तत्
[illegible] सर्गा [illegible] सर्वे प्रवृत्ताः।

▪ वै महात्मा पुरुषोत्तमो वै
तस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितम्॥५८॥

भगवन् ! महर्षे ! महातेजस्वी, अनन्त एवं सर्वव्यापी भगवान् विष्णुका यह अमित शक्तिशाली संसारचक्र चल रहा है । यह भगवान् विष्णुका वह सनातन स्थान है, जहाँसे सारी सृष्टियोंका आरम्भ होता है । महात्मा विष्णु पुरुषोत्तम हैं । उन्हींमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥५८॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स कौन्तेय वृत्रः प्राणानवासृजत् ।
योजयित्वा तथाऽऽत्मानं परं स्थानमवाप्तवान् ॥ ५९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! ऐसा कहकर वृत्रासुरने अपने आत्माको परमात्मामें लगाकर उन्हींका ध्यान करते हुए प्राण त्याग दिये और परमेश्वरके परमधामको प्राप्त कर लिया ॥ ५९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं ▪ भगवान् देवः पितामह जनार्दनः ।
सनत्कुमारो वृत्राय यत्तदाख्यातवान् पुरा ॥ ६० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पूर्वकालमें महात्मा सनत्कुमारने वृत्रासुरसे जिनके स्वरूपका वर्णन किया था, वे भगवान् विष्णु—ये हमारे जनार्दन श्रीकृष्ण ही तो हैं ? ॥

भीष्म उवाच

मूलस्थायी महादेवो भगवान् स्वेन तेजसा ।
तत्स्थः सृजति तान् भावान् नानारूपान् महामनाः ।६१।

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! मूल-कारणरूपसे स्थित, महान् देव, महामनस्वी भगवान् नारायण हैं । वे अपने उस चिन्मय स्वरूपमें स्थित होकर अपने प्रभावसे नाना प्रकारके सम्पूर्ण पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं ॥ ६१ ॥

तुरीयांशेन तस्येमं विद्धि केशवमच्युतम् ।
तुरीयार्धेन लोकांस्त्रीन् भावयत्येष बुद्धिमान् ॥ ६२ ॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले इन भगवान् श्रीकृष्णको तुम उस श्रीनारायणके एक चतुर्थ अंशसे सम्पन्न समझो । बुद्धिमान् श्रीकृष्ण अपने उस चतुर्थ अंशसे ही तीनों लोकोंकी रचना करते हैं ॥ ६२ ॥

अर्वाक् स्थितस्तु यः स्थायी कल्पान्ते परिवर्तते ।
स शेते भगवानप्सु योऽसावतिबलः प्रभुः ।
तान् विधाता प्रसन्नात्मा लोकांश्चरति शाश्वतान्।६३।

जो परवर्ती सनातन नारायण प्रलयकालमें भी विद्यमान हैं, वे ही अत्यन्त बलशाली और सबके अधीश्वर भगवान् श्रीहरि कल्पान्तमें जलके भीतर शयन करते हैं तथा वे प्रसन्नात्मा सृष्टिकर्ता ईश्वर उन समस्त शाश्वत लोकोंमें विचरण करते हैं ▪

सर्वाण्यशून्यानि करोत्यनन्तः
सनातनः संचरते च लोकान् ।
स चानिरुद्धः सृजते महात्मा
तत्स्थं जगत् सर्वमिदं विचित्रम्॥ ६४ ॥

अनन्त एवं सनातन भगवान् श्रीहरि समस्त [illegible] और स्फूर्ति देकर परिपूर्ण करते और लीलापूर्वक [illegible] लोकोंमें विचरण करते हैं । उन महापुरुषकी गतिको कोई रोक नहीं सकता । वे ही इस जगत्की सृष्टि करते हैं । उन्हींमें यह सम्पूर्ण विचित्र विश्व प्रतिष्ठित है ॥ ६४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

वृत्रेण परमार्थज्ञ दृष्टा मन्येऽऽत्मनो गतिः ।
शुभा तस्मात् स सुखितो न शोचति पितामह ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—परमार्थतत्त्वके ज्ञाता पितामह ! मैं समझता हूँ कि वृत्रासुरने आत्माके शुभ एवं यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया था; इसीलिये वह सुखी था, शोक नहीं करता था ॥ ६५ ॥

शुक्लः शुक्लाभिजातीयः साध्यो नावर्ततेऽनघ ।
तिर्यग्गतेश्च निर्मुक्तो निरयाच्च पितामह ॥ ६६ ॥

निष्पाप पितामह ! वह शुद्ध कुलमें उत्पन्न हुआ था और स्वभावसे भी शुद्ध था । जान पड़ता है वह साध्य नामक देवता ही था; इसीलिये पुनः संसारमें नहीं लौटा । वह पशु पक्षियोंकी योनि तथा नरकसे छुटकारा पा गया ॥ ६६ ॥

हारिद्रवर्णे रक्ते वा वर्तमानस्तु पार्थिव ।
तिर्यगेवानुपश्येत कर्मभिस्तामसैर्वृतः ॥ ६७ ॥

पृथ्वीनाथ ! पीतवर्णवाले देवसर्गमें तथा रक्तवर्णवाले अनुग्रहसर्गमें विद्यमान प्राणी कभी तामस कर्मोंसे आवृत होकर तिर्यग्योनिका भी दर्शन कर सकता है ॥ ६७ ॥

वयं ▪ भृशमापन्ना रक्ता दुःखसुखेऽसुखे ।
कां गतिं प्रतिपत्स्यामो नीलां कृष्णाधमामथ ॥ ६८ ॥

हमलोग तो और भी अधिक आसक्तिसे घिरे हुए हैं । दुःख-सुखसे मिश्रित भावमें अथवा केवल दुःखमय भावमें आसक्त हैं । ऐसी दशामें पता नहीं हमें किस गतिकी प्राप्ति होगी । हम नीलवर्णवाली मानव-योनिमें पड़ेंगे या कृष्णवर्णवाली स्थावर योनिसे भी हीनदशाको जा पहुँचेंगे ॥ ६८ ॥

भीष्म उवाच

शुद्धाभिजनसम्पन्नाः पाण्डवाः संशितव्रताः ।
विहृत्य देवलोकेषु पुनर्मानुष्यमेष्यथ ॥ ६९ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! तुम सभी पाण्डव विशुद्ध कुलसे सम्पन्न और तीक्ष्ण व्रतोंका भलीभाँति पालन करनेवाले हो; अतः देवताओंके लोकोंमें विहार करके पुनः मनुष्य शरीरको ही प्राप्त करोगे ॥ ६९ ॥

प्रजाविसर्गं च सुखेन काले
प्रत्येत्य देवेषु सुखानि भुक्त्वा ।
सुखेन संयास्यथ सिद्धसंख्यां
मा वो भयं भूद् विमलाः स्थ सर्वे॥ ७० ॥

तुम सब लोग यथासमय सुखसे देवलोकमें [illegible]

देवलोकोंमें [illegible] सुख भोगोगे। तत्पश्चात् सुखपूर्वक सिद्धि प्राप्त करके सिद्धोंमें गिने जाओगे। तुम्हारे मनमें दुर्गतिका [illegible] नहीं होना चाहिये; क्योंकि तुम सब लोग निर्मल एवं निष्पाप हो॥ ७०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रगीतासु अशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २८०॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्रगीताविषयक दो सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २८०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ७०½ श्लोक हैं)

एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्र और वृत्रासुरके युद्धका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अहो धर्मिष्ठता तात वृत्रस्यामिततेजसः।
यस्य विज्ञानमतुलं विष्णोर्भक्तिश्च तादृशी॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! अमित तेजस्वी वृत्रासुरकी धर्मनिष्ठा अद्भुत थी। उसका विज्ञान भी अनुपम [illegible] और भगवान् विष्णुके प्रति उसकी भक्ति भी वैसी ही उच्चकोटिकी थी॥ १॥

दुर्विज्ञेयं पदं [illegible] विष्णोरमिततेजसः।
कथं वा राजशार्दूल पदं [illegible] ज्ञातवानसौ॥ २॥

[illegible]! अनन्त तेजस्वी श्रीविष्णुके स्वरूपका ज्ञान तो अत्यन्त कठिन है। नृपश्रेष्ठ! उस वृत्रासुरने उस परमपदका ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया? यह बड़े आश्चर्यकी बात है॥ २॥

भवता कथितं ह्येतच्छ्रद्दधे चाहमच्युत।
भूयस्तु मे समुत्पन्ना बुद्धिरव्यक्तदर्शनात्॥ ३॥

आपने इस घटनाका वर्णन किया है; इसलिये [illegible] इसे सत्य मानता और इसपर विश्वास करता हूँ; क्योंकि आप कभी सत्यसे विचलित नहीं होते हैं तथापि यह बात स्पष्टरूपसे मेरी समझमें नहीं आयी है; अतः पुनः मेरी बुद्धिमें प्रश्न उत्पन्न हो गया॥ ३॥

कथं विनिहतो वृत्रः शक्रेण पुरुषर्षभ।
धार्मिको विष्णुभक्तश्च [illegible] पदान्वये॥ ४॥

पुरुषप्रवर! वृत्रासुर धर्मात्मा, भगवान् विष्णुका भक्त और वेदान्तके पदोंका अन्वय करके उनके तात्पर्यको ठीक-ठीक समझनेमें कुशल था तो भी इन्द्रने उसे कैसे मार डाला?॥

एतन्मे संशयं ब्रूहि पृच्छते भरतर्षभ।
वृत्रस्तु राजशार्दूल यथा शक्रेण निर्जितः॥ ५॥

भरतभूषण! नृपश्रेष्ठ! मैं यह [illegible] आपसे पूछता हूँ, आप मेरे इस संशयका समाधान कीजिये। इन्द्रने वृत्रासुरको कैसे परास्त किया?॥ ५॥

यथा चैवाभवद् युद्धं तच्चाचक्ष्व पितामह।
विस्तरेण महाबाहो परं कौतूहलं हि मे॥ ६॥

महाबाहु पितामह! इन्द्र और वृत्रासुरमें किस प्रकार [illegible] हुआ था, [illegible] विस्तारपूर्वक बताइये; इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्सुकता हो रही है॥ ६॥

भीष्म उवाच

रथेनेन्द्रः प्रयातो वै सार्धं देवगणैः पुरा।
ददर्शाथाग्रतो वृत्रं धिष्ठितं पर्वतोपमम्॥ [illegible]॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! प्राचीन कालकी बात है, इन्द्र रथपर आरूढ़ हो देवताओंको साथ ले वृत्रासुरसे युद्ध करनेके लिये चले। उन्होंने अपने सामने खड़े हुए पर्वतके समान विशालकाय वृत्रको देखा॥ [illegible]॥

योजनानां शतान्यूर्ध्वं पञ्चोच्छ्रितमरिंदम।
शतानि विस्तरेणाथ त्रीण्येवाभ्यधिकानि च॥ ८॥

शत्रुदमन नरेश! वह पाँच सौ योजन ऊँचा था और [illegible] अधिक तीन सौ योजन उसकी मोटाई थी॥ ८॥

तत् प्रेक्ष्य तादृशं रूपं त्रैलोक्येनापि दुर्जयम्।
[illegible] देवाः संत्रस्ता [illegible] शान्तिमुपलेभिरे॥ ९॥

वृत्रासुरका वह वैसा रूप, जो तीनों लोकोंके लिये भी दुर्जय था, देखकर देवतालोग डर गये। उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी॥ ९॥

शक्रस्य [illegible] तदा राजन्नूरुस्तम्भो व्यजायत।
भयाद् वृत्रस्य सहसा दृष्ट्वा तद् रूपमुत्तमम्॥ १०॥

राजन्! उस समय वृत्रासुरका वह उत्तम एवं विशाल [illegible] देखकर सहसा भयके मारे इन्द्रकी दोनों जाँघें अकड़ गयीं॥

ततो नादः समभवद् वादित्राणां च निःस्वनः।
देवासुराणां सर्वेषां तस्मिन् युद्धे ह्युपस्थिते॥ ११॥

तदनन्तर वह युद्ध उपस्थित होनेपर समस्त देवताओं और असुरोंके दलोंमें रणवाद्योंका भीषण नाद होने लगा॥

[illegible] वृत्रस्य कौरव्य दृष्ट्वा शक्रमवस्थितम्।
[illegible] सम्भ्रमो न भीः काचिदास्था वा समजायत॥ १२॥

कुरुनन्दन! इन्द्रको खड़ा देखकर भी वृत्रासुरके मनमें [illegible] घबराहट हुई, न कोई भय हुआ और न इन्द्रके प्रति उसकी कोई युद्धविषयक चेष्टा ही हुई॥ १२॥

ततः समभवद् युद्धं त्रैलोक्यस्य भयंकरम्।
शक्रस्य च सुरेन्द्रस्य वृत्रस्य च महात्मनः॥ १३॥

फिर तो देवराज इन्द्र और महामनस्वी वृत्रासुरमें भारी युद्ध छिड़ गया, जो तीनों लोकोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाला था॥ १३॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैः शक्तितोमरमुद्गरैः।
शिलाभिर्विविधाभिश्च कार्मुकैश्च महास्वनैः ॥ १४ ॥
शस्त्रैश्च विविधैर्दिव्यैः पावकोल्काभिरेव च।
देवासुरैस्ततः सैन्यैः सर्वमासीत् समाकुलम् ॥ १५ ॥

उस समय तलवार, पट्टिश, त्रिशूल, शक्ति, तोमर, मुद्गर, नाना प्रकारकी शिला, भयानक टङ्कार करनेवाले धनुष, अनेक प्रकारके दिव्य अस्त्र-शस्त्र तथा आगकी ज्वालाओंसे एवं देवताओं और असुरोंकी सेनाओंसे यह सारा आकाश व्याप्त हो गया ॥

पितामहपुरोगाश्च सर्वे देवगणास्तथा।
ऋषयश्च महाभागास्तद् युद्धं द्रष्टुमागमन् ॥ १६ ॥
विमानाग्र्यैर्महाराज सिद्धाश्च भरतर्षभ।
गन्धर्वाश्च विमानाग्र्यैरप्सरोभिः समागमन् ॥ १७ ॥

भरतभूषण महाराज ! ब्रह्मा आदि समस्त देवता, महाभाग ऋषि, सिद्धगण तथा अप्सराओंसहित गन्धर्व—ये सबके सब श्रेष्ठ विमानोंपर आरूढ़ हो उस अद्भुत युद्धका दृश्य देखनेके लिये वहाँ आ गये थे ॥ १६-१७ ॥

ततोऽन्तरिक्षमावृत्य वृत्रो धर्मभृतां वरः।
अश्मवर्षेण देवेन्द्रं समाकिरदतिद्रुतम् ॥ १८ ॥

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ वृत्रासुरने आकाशको घेरकर बड़ी उतावलीके साथ देवराज इन्द्रपर पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १८ ॥

ततो देवगणाः क्रुद्धाः सर्वतः शरवृष्टिभिः।
अश्मवर्षमपोहन्त वृत्रप्रेरितमाहवे ॥ १९ ॥

यह देख देवगण कुपित हो उठे। उन्होंने युद्धमें सब ओरसे बाणोंकी वर्षा करके वृत्रासुरके चलाये हुए पत्थरोंकी वर्षाको नष्ट कर दिया ॥ १९ ॥

वृत्रस्तु कुरुशार्दूल महामायो महाबलः।
मोहयामास देवेन्द्रं मायायुद्धेन सर्वशः ॥ २० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! महामायावी महाबली वृत्रासुरने सब ओरसे मायामय युद्ध छेड़कर देवराज इन्द्रको मोहमें डाल दिया ॥ २० ॥

तस्य वृत्रार्दितस्याथ मोह आसीच्छतक्रतोः।
रथन्तरेण तं तत्र वसिष्ठः समबोधयत् ॥ २१ ॥

वृत्रासुरसे पीड़ित हुए इन्द्रपर मोह छा गया। तब वसिष्ठजीने रथन्तर सामद्वारा वहाँ इन्द्रको सचेत किया ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

देवश्रेष्ठोऽसि देवेन्द्र दैत्यासुरनिबर्हण।
त्रैलोक्यबलसंयुक्तः कस्माच्छक्र विषीदसि ॥ २२ ॥

वसिष्ठजीने कहा—देवेन्द्र ! तुम सब देवताओंमें श्रेष्ठ हो। दैत्यों तथा असुरोंका संहार करनेवाले शक्र ! तुम तो त्रिलोकीके बलसे सम्पन्न हो; फिर इस प्रकार विषादमें क्यों पड़े हो ? ॥ २२ ॥

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवश्चैव जगत्पतिः।
सोमश्च भगवान् देवः सर्वे च परमर्षयः ॥ २३ ॥
(समुद्विग्नं समीक्ष्य त्वां स्वस्त्याहुर्जयाय ते।)

ये जगदीश्वर ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा भगवान् सोमदेव और समस्त महर्षि तुम्हें उद्विग्न देखकर तुम्हारी विजयके लिये स्वस्तिवाचन कर रहे हैं ॥ २३ ॥

मा कार्षीः कश्मलं शक्र कश्चिदेवेतरो यथा।
आर्यां युद्धे मतिं कृत्वा जहि शत्रून् सुराधिप ॥ २४ ॥

इन्द्र ! किसी साधारण मनुष्यके समान तुम कायरता न प्रकट करो। सुरेश्वर ! युद्धके लिये श्रेष्ठ बुद्धिका सहारा लेकर अपने शत्रुओंका संहार करो ॥ २४ ॥

एष लोकगुरुस्त्र्यक्षः सर्वलोकनमस्कृतः।
निरीक्षते त्वां भगवांस्त्यज मोहं सुराधिप ॥ २५ ॥

देवराज ! ये सर्वलोकवन्दित लोकगुरु भगवान् त्रिलोचन शिव तुम्हारी ओर कृपापूर्ण दृष्टिसे देख रहे हैं। तुम मोहको त्याग दो ॥ २५ ॥

एते ब्रह्मर्षयश्चैव बृहस्पतिपुरोगमाः।
स्तवेन शक्र दिव्येन स्तुवन्ति त्वां जयाय वै ॥ २६ ॥

शक्र ! ये बृहस्पति आदि ब्रह्मर्षि तुम्हारी विजयके लिये दिव्य स्तोत्रद्वारा स्तुति कर रहे हैं ॥ २६ ॥

भीष्म उवाच

एवं सम्बोध्यमानस्य वसिष्ठेन महात्मना।
अतीव वासवस्यासीद् बलमुत्तमतेजसः ॥ २७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महात्मा वसिष्ठके द्वारा इस प्रकार सचेत किये जानेपर महातेजस्वी इन्द्रका बल बहुत बढ़ गया ॥

ततो बुद्धिमुपागम्य भगवान् पाकशासनः।
योगेन महता युक्तस्तां मायां व्यपकर्षत ॥ २८ ॥

तब भगवान् पाकशासनने उत्तम बुद्धिका आश्रय ले महान् योगसे युक्त हो उस मायाको नष्ट कर दिया ॥ २८ ॥

ततोऽङ्गिरःसुतः श्रीमांस्ते चैव सुमहर्षयः।
दृष्ट्वा वृत्रस्य विक्रान्तमुपागम्य महेश्वरम् ॥ २९ ॥
ऊचुर्वृत्रविनाशार्थं लोकानां हितकाम्यया।

तदनन्तर अङ्गिराके पुत्र श्रीमान् बृहस्पति तथा बड़े-बड़े महर्षियोंने जब वृत्रासुरका पराक्रम देखा, तब महादेवजीके पास आकर लोकहितकी कामनासे वृत्रासुरके विनाशके लिये उनसे निवेदन किया ॥ २९½ ॥

ततो भगवतस्तेजो ज्वरो भूत्वा जगत्पतेः ॥ ३० ॥
समाविशत् तदा रौद्रो वृत्रं लोकपतिं तदा।

तब जगदीश्वर भगवान् शिवका तेज रौद्र ज्वर होकर लोकेश्वर वृत्रके शरीरमें समा गया ॥ ३०½ ॥

विष्णुश्च भगवान् देवः सर्वलोकाभिपूजितः ॥ ३१ ॥
ऐन्द्रं समाविशद् वज्रं लोकसंरक्षणे रतः।

फिर लोकरक्षापरायण सर्वलोकपूजित देवेश्वर भगवान् विष्णुने भी इन्द्रके वज्रमें प्रवेश किया ॥ ३१½ ॥

ततो बृहस्पतिर्धीमानुपागम्य शतक्रतुम्।

वसिष्ठश्च महातेजाः सर्वे च परमर्षयः ॥ ३२ ॥
ते समासाद्य वरदं वासवं लोकपूजितम् ।
ऊचुरेकाग्रमनसो जहि वृत्रमिति प्रभो ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् बुद्धिमान् बृहस्पति, महातेजस्वी वसिष्ठ तथा सम्पूर्ण महर्षि वरदायक, लोकपूजित शतक्रतु इन्द्रके पास जाकर एकाग्रचित्त हो इस प्रकार बोले—'प्रभो ! वृत्रासुरका वध करो' ॥ ३२-३३ ॥

महेश्वर उवाच

एष वृत्रो महाञ्शक्र बलेन महता वृतः ।
विश्वात्मा सर्वगश्चैव बहुमायश्च विश्रुतः ॥ ३४ ॥

महेश्वर बोले—इन्द्र ! यह महान् वृत्रासुर बड़ी भारी सेना-से घिरा हुआ तुम्हारे सामने खड़ा है । ज्ञाननिष्ठ होनेके कारण यह सम्पूर्ण विश्वका आत्मा है । इसमें सर्वत्र गमन करनेकी शक्ति है । यह अनेक प्रकारकी मायाओंका सुविख्यात ज्ञाता भी है ॥ ३४ ॥

तदेनमसुरश्रेष्ठं त्रैलोक्येनापि दुर्जयम् ।
जहि त्वं योगमास्थाय मावमंस्थाः सुरेश्वर ॥ ३५ ॥

सुरेश्वर ! यह श्रेष्ठ असुर तीनों लोकोंके लिये भी दुर्जय है । तुम योगका आश्रय लेकर इसका वध करो । इसकी अवहेलना न करो ॥ ३५ ॥

अनेन हि तपस्तप्तं बलार्थममराधिप ।
षष्टिं वर्षसहस्राणि ब्रह्मा चास्मै वरं ददौ ॥ ३६ ॥

अमरेश्वर ! इस वृत्रासुरने बलकी प्राप्तिके लिये ही साठ हजार वर्षोंतक तप किया था और तब ब्रह्माजीने इसे मनो-वाञ्छित वर दिया था ॥ ३६ ॥

महत्त्वं योगिनां चैव महामायत्वमेव च ।
महाबलत्वं च तथा तेजश्चाग्र्यं सुरेश्वर ॥ ३७ ॥

सुरेन्द्र ! उन्होंने इसे योगियोंकी महिमा, महामायावी-पन, महान् बल-पराक्रम तथा सर्वश्रेष्ठ तेज प्रदान किया है ॥

एतत् त्वां मामकं तेजः समाविशति वासव ।
व्यग्रमेनं त्वमप्येनं वज्रेण जहि दानवम् ॥ ३८ ॥

वासव ! लो, यह मेरा तेज तुम्हारे शरीरमें प्रवेश करता है । इस समय दानव वृत्र ज्वरके कारण बहुत व्यग्र हो रहा है; इसी अवस्थामें तुम वज्रसे इसे मार डालो ॥ ३८ ॥

शक्र उवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादेन दितिजं सुदुरासदम् ।
वज्रेण निहनिष्यामि पश्यतस्ते सुरर्षभ ॥ ३९ ॥

इन्द्रने कहा—भगवन् ! सुरश्रेष्ठ ! आपकी कृपासे इस दुर्धर्ष दैत्यको मैं आपके देखते-देखते वज्रसे मार डालूँगा ॥

भीष्म उवाच

आविश्यमाने दैत्ये तु ज्वरेणाथ महासुरे ।
देवतानामृषीणां च हर्षान्नादो महानभूत् ॥ ४० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! जब महादैत्य वृत्रासुरके शरीरमें ज्वरने प्रवेश किया, तब देवता और ऋषियोंका महान् हर्षनाद वहाँ गूँज उठा ॥ ४० ॥

ततो दुन्दुभयश्चैव शङ्खाश्च सुमहास्वनाः ।
मुरजा डिण्डिमाश्चैव प्रावाद्यन्त सहस्रशः ॥ ४१ ॥

फिर तो दुन्दुभियाँ, जोर-जोरसे बजनेवाले शङ्ख, ढोल और नगाड़े आदि सहस्रों बाजे बजाये जाने लगे ॥ ४१ ॥

असुराणां तु सर्वेषां स्मृतिलोपो महानभूत् ।
मायानाशश्च बलवान् क्षणेन समपद्यत ॥ ४२ ॥

समस्त असुरोंकी स्मरण शक्तिका बड़ा भारी लोप हो गया । क्षणभरमें उनकी सारी मायाओंका पूर्णरूपसे विनाश हो गया ॥ ४२ ॥

तथाविष्टमथो ज्ञात्वा ऋषयो देवतास्तथा ।
स्तुवन्तः शक्रमीशानं तथा प्राचोदयन्नपि ॥ ४३ ॥

इस प्रकार वृत्रासुरमें महादेवजीके ज्वरका आवेश हुआ जान देवता और ऋषि देवेश्वर इन्द्रकी स्तुति करते हुए उन्हें वृत्रवधके लिये प्रेरणा देने लगे ॥ ४३ ॥

रथस्थस्य हि शक्रस्य युद्धकाले महात्मनः ।
ऋषिभिः स्तूयमानस्य रूपमासीत् सुदुर्दृशम् ॥ ४४ ॥

युद्धके समय रथपर बैठकर ऋषियोंके द्वारा अपनी स्तुति सुनते हुए महामना इन्द्रका रूप ऐसा तेजस्वी प्रतीत होता था कि उसकी ओर देखना भी अत्यन्त कठिन जान पड़ता था ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रवधे एकाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वृत्रासुरका वधविषयक दो सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं)

द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

वृत्रासुरका वध और उससे प्रकट हुई ब्रह्महत्याका ब्रह्माजीके द्वारा चार स्थानोंमें विभाजन

भीष्म उवाच

वृत्रस्य तु महाराज ज्वराविष्टस्य सर्वशः ।
अभवन् यानि लिङ्गानि शरीरे तानि मे शृणु ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज ! ज्वरसे आविष्ट हुए वृत्रासुरके शरीरमें जो लक्षण प्रकट हुए थे, उन्हें मुझसे सुनो ॥

ज्वलितास्योऽभवद् घोरो वैवर्ण्यं चागमत् परम् ।
गात्रकम्पश्च सुमहाञ्छ्वासश्चाप्यभवन्महान् ॥ २ ॥

उसके मुखमें विशेष जलन होने लगी । उसकी आकृति बड़ी भयानक हो गयी । अङ्गकान्ति बहुत फीकी पड़ गयी । शरीर जोर-जोरसे काँपने लगा तथा बड़े वेगसे साँस चलने लगी ॥

रोमहर्षश्च तीव्रोऽभून्निःश्वासश्च महान् नृप ।
शिवा चाशिवसंकाशा तस्य वक्त्रात् सुदारुणा ॥ ३ ॥

निष्पपात महाघोरा स्मृतिः सा तस्य भारत।

नरेश्वर ! उसके सारे शरीरमें तीव्र रोमाञ्च हो आया। वह लंबी साँस खींचने लगा। भरतनन्दन ! वृत्रासुरके मुखसे अत्यन्त भयंकर अकल्याणस्वरूपा महाघोर गीदड़ीके रूपमें उसकी स्मरणशक्ति ही बाहर निकल पड़ी ॥ ३½ ॥

उल्काश्च ज्वलितास्तस्य दीप्ताः पार्श्वे प्रपेदिरे ॥ ४ ॥
गृध्राः कङ्का बलाकाश्च वाचोऽमुञ्चन् सुदारुणाः।
वृत्रस्योपरि संहृष्टाश्चक्रवत् परिबभ्रमुः ॥ ५ ॥

उसके पार्श्वभागमें प्रज्वलित एवं प्रकाशित उल्काएँ गिरने लगीं। गीध, कंक, बगले आदि भयंकर पक्षी अपनी बोली सुनाने लगे और एक दूसरेसे सटकर वृत्रासुरके ऊपर चक्रकी भाँति घूमने लगे ॥ ४-५ ॥

ततस्तं रथमास्थाय देवाप्यायित आहवे।
वज्रोद्यतकरः शक्रस्तं दैत्यं समवैक्षत ॥ ६ ॥

तदनन्तर महादेवजीके तेजसे परिपुष्ट हो वज्र हाथमें लिये हुए इन्द्रने रथपर बैठकर युद्धमें उस दैत्यकी ओर देखा ॥

अमानुषमथो नादं [illegible] मुमोच महासुरः।
व्यजृम्भच्चैव राजेन्द्र तीव्रज्वरसमन्वितः ॥ [illegible] ॥

राजेन्द्र ! इसी समय तीव्र ज्वरसे पीड़ित हो उस महान् असुरने अमानुषी गर्जना की और बारंबार जँभाई ली ॥ ७ ॥

अथास्य जृम्भतः शक्रस्ततो वज्रमवासृजत्।
स वज्रः सुमहातेजाः कालाग्निसदृशोपमः ॥ ८ ॥

जँभाई लेते समय ही इन्द्रने उसके ऊपर वज्रका प्रहार किया। वह महातेजस्वी वज्र कालाग्निके समान जान पड़ता [illegible] ॥

क्षिप्रमेव महाकायं वृत्रं दैत्यमपातयत्।
ततो नादः समभवत् पुनरेव समन्ततः ॥ ९ ॥
वृत्रं विनिहतं दृष्ट्वा देवानां भरतर्षभः।

उसने उस महाकाय दैत्य वृत्रासुरको तुरत ही धराशायी कर दिया*। भरतश्रेष्ठ ! फिर तो वृत्रासुरको मारा गया देख चारों ओरसे देवताओंका सिंहनाद वहाँ बारंबार गूँजने लगा ॥

वृत्रं तु हत्वा मघवा दानवारिर्महायशाः ॥ १० ॥
वज्रेण विष्णुयुक्तेन दिवमेव समाविशत्।

दानवशत्रु महायशस्वी इन्द्रने विष्णुके तेजसे व्याप्त हुए वज्रके द्वारा वृत्रासुरका वध करके पुनः स्वर्गलोकमें ही प्रवेश किया ॥ १०½ ॥

[illegible] वृत्रस्य कौरव्य शरीरादभिनिःसृता ॥ ११ ॥
ब्रह्मवध्या महाघोरा रौद्रा लोकभयावहा।
करालदशना भीमा विकृता कृष्णपिङ्गला ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! तदनन्तर वृत्रासुरके मृत शरीरसे सम्पूर्ण जगत्को भय देनेवाली महाघोर एवं क्रूर स्वभाववाली ब्रह्महत्या प्रकट हुई। उसके दाँत बड़े विकराल थे। उसकी आकृति कृष्ण और पिङ्गल वर्णकी थी। वह देखनेमें बड़ी भयानक और विकृत रूपवाली थी ॥ ११-१२ ॥

प्रकीर्णमूर्धजा चैव घोरनेत्रा च भारत।
कपालमालिनी चैव कृत्येव भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! उसके बाल बिखरे हुए थे, नेत्र बड़े भयानक थे। उसके गलेमें नरमुण्डोंकी माला थी। भरतश्रेष्ठ ! वह कृत्या-सी जान पड़ती थी ॥ १३ ॥

रुधिरार्द्रा च धर्मज्ञ चीरवल्कलवासिनी।
साभिनिष्क्रम्य राजेन्द्र तादृग्रूपा भयावहा ॥ १४ ॥
वज्रिणं मृगयामास तदा भरतसत्तम।

धर्मज्ञ राजेन्द्र ! भरतसत्तम ! उसके सारे अङ्ग रक्तसे भीगे हुए थे। उसने चीर और वल्कल पहन रखे थे। ऐसे विकराल रूपवाली वह भयानक ब्रह्महत्या वृत्रके शरीरसे निकलकर तत्काल ही वज्रधारी इन्द्रको खोजने लगी ॥ १४½ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य वृत्रहा कुरुनन्दन ॥ १५ ॥
स्वर्गायाभिमुखः प्रायाल्लोकानां हितकाम्यया।
सा विनिःसरमाणं तु दृष्ट्वा [illegible] महौजसम् ॥ १६ ॥

कुरुनन्दन ! उस समय वृत्रविनाशक इन्द्र लोकहितकी कामनासे स्वर्गकी ओर जा रहे थे। महातेजस्वी इन्द्रको युद्धभूमिसे निकलकर जाते देख ब्रह्महत्या कुछ ही समयमें उनके पास जा पहुँची ॥ १५-१६ ॥

[illegible] वध्या देवेन्द्रं सुलग्ना चाभवत् तदा।
स हि तस्मिन् समुत्पन्ने ब्रह्मवध्याकृते भये ॥ १७ ॥

* अध्याय २८० के ५९ वें श्लोकमें आया है कि 'वृत्रासुरने अपने आत्माको परमात्मामें लगाकर उन्हींका चिन्तन करते हुए प्राण [illegible]ग दिये और परमेश्वरके परम धामको [illegible] कर लिया'—यहाँ भी इतनी बात और समझ लेनी चाहिये।

नलिन्या बिसमध्यस्थ उवासाब्दगणान् बहून् ।

[illegible] ब्रह्महत्याने देवेन्द्रको पकड़ लिया और वह तुरंत ही उनके शरीरसे [illegible] गयी। वह ब्रह्महत्याजनित भय उपस्थित होनेपर इन्द्र उससे पिण्ड छुड़ानेके लिये मारे और कमलकी नालके भीतर घुसकर उसीमें बहुत वर्षोंतक छिपे रहे ॥१७½॥

अनुसृत्य [illegible] यत्नात् स [illegible] [illegible] ब्रह्महत्यया ॥ १८ ॥
तदा गृहीतः कौरव्य निस्तेजाः समपद्यत ।

परंतु [illegible] ब्रह्महत्याने यत्नपूर्वक उनका पीछा करके वहाँ भी उन्हें जा पकड़ा । कुरुनन्दन ! ब्रह्महत्याद्वारा पकड़ लिये जानेपर इन्द्र निस्तेज हो गये ॥ १८½ ॥

तस्या व्यपोहने [illegible] परं यत्नं [illegible] ह ॥ १९ ॥
न चाशकत् तां देवेन्द्रो ब्रह्मवध्यां व्यपोहितुम् ।

देवेन्द्रने उसके निवारणके लिये महान् प्रयत्न किया; परंतु किसी तरह भी वे उसे दूर न कर सके ॥ १९½ ॥

गृहीत एव [illegible] [illegible] देवेन्द्रो भरतर्षभ ॥ २० ॥
पितामहमुपागम्य शिरसा प्रत्यपूजयत् ।

भरतभूषण ! ब्रह्महत्याने देवराज इन्द्रको अपना बंदी बना ही लिया । वे उसी अवस्थामें ब्रह्माजीके पास गये और मस्तक झुकाकर उन्होंने ब्रह्माजीको प्रणाम किया ॥ २०½ ॥

[illegible] गृहीतं शक्रं स द्विजप्रवरवध्यया ॥ २१ ॥
ब्रह्मा स चिन्तयामास तदा भरतसत्तम ।

भरतसत्तम ! एक श्रेष्ठ ब्राह्मणके वधसे पैदा हुई ब्रह्महत्याने इन्द्रको पकड़ लिया है—यह जानकर ब्रह्माजी विचार करने लगे ॥ २१½ ॥

तामुवाच महाबाहो ब्रह्मवध्यां पितामहः ॥ २२ ॥
स्वरेण मधुरेणाथ सान्त्वयन्निव भारत ।

महाबाहु भारत ! तब ब्रह्माजीने [illegible] ब्रह्महत्याको अपनी मीठी वाणीद्वारा सान्त्वना देते हुए-से उससे कहा—॥२२½॥

मुच्यतां त्रिदशेन्द्रोऽयं मत्प्रियं [illegible] भाविनि ॥ २३ ॥
ब्रूहि किं ते करोम्यद्य कामं किं त्वमिहेच्छसि ॥ २४ ॥

'भाविनि ! ये देवताओंके राजा इन्द्र हैं, इन्हें छोड़ दो । मेरा यह प्रिय कार्य करो । बोलो, [illegible] तुम्हारी कौन-सी अभिलाषा पूर्ण करूँ । तुम जिस किसी मनोरथको पाना चाहो उसे बताओ' ॥ २३-२४ ॥

ब्रह्मवध्योवाच

त्रिलोकपूजिते देवे प्रीते त्रैलोक्यकर्तरि ।
कृतमेव हि मन्यामि निवासं तु विधत्स्व मे ॥ २५ ॥

ब्रह्महत्या बोली—तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले त्रिभुवनपूजित [illegible] परमदेवके प्रसन्न हो जानेपर [illegible] अपने सारे मनोरथोंको पूर्ण हुआ ही मानती हूँ । अब आप मेरे लिये केवल निवासस्थानका प्रबन्ध कर दीजिये ॥ २५ ॥

त्वया कृतेयं मर्यादा लोकसंरक्षणार्थिना ।
स्थापना वै सुमहती त्वया देव प्रवर्तिता ॥ २६ ॥

आपने सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षाके लिये [illegible] धर्मकी मर्यादा बाँधी है । देव ! आपहीने इस महत्त्वपूर्ण मर्यादाकी स्थापना करके इसे चलाया है ॥ २६ ॥

प्रीते [illegible] त्वयि धर्मज्ञ सर्वलोकेश्वर प्रभो ।
शक्रादपगमिष्यामि निवासं संविधत्स्व मे ॥ २७ ॥

धर्मके [illegible] सर्वलोकेश्वर प्रभो ! जब आप [illegible] हैं तो मैं इन्द्रको छोड़कर हट जाऊँगी; परंतु आप मेरे लिये निवासस्थानकी व्यवस्था कर दीजिये ॥ २७ ॥

भीष्म उवाच

तथेति तां प्राह तदा ब्रह्मवध्यां पितामहः ।
उपायतः स [illegible] ब्रह्मवध्यां व्यपोहत ॥ २८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब ब्रह्माजीने ब्रह्महत्यासे कहा—'बहुत अच्छा, मैं तुम्हारे रहनेकी [illegible] [illegible] हूँ' ऐसा कहकर उन्होंने उपायद्वारा इन्द्रकी ब्रह्महत्याको दूर किया ॥ २८ ॥

[illegible] स्वयम्भुवा ध्यातस्तत्र वह्निर्महात्मना ।
ब्रह्माणमुपसंगम्य ततो वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

तदनन्तर महात्मा स्वयम्भूने वहाँ अग्निदेवका स्मरण किया । उनके स्मरण करते ही वे ब्रह्माजीके पास आ गये और [illegible] [illegible] बोले—॥ २९ ॥

प्राप्तोऽस्मि भगवन् देव त्वत्सकाशमनिन्दित ।
यत् कर्तव्यं मया देव तद् भवान् वक्तुमर्हसि ॥ ३० ॥

'भगवन् ! अनिन्द्य देव ! [illegible] आपके निकट आया हूँ । प्रभो ! मुझे जो कार्य करना हो, उसके लिये आप मुझे [illegible] दें' ॥ ३० ॥

ब्रह्मोवाच

बहुधा विभजिष्यामि ब्रह्मवध्यामिमामहम् ।
शक्रस्याद्यविमोक्षार्थं चतुर्भागं प्रतीच्छ वै ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अग्निदेव ! [illegible] इन्द्रको पापमुक्त करनेके लिये इस ब्रह्महत्याके कई भाग करूँगा । इसका एक चतुर्थांश तुम भी ग्रहण कर लो ॥ ३१ ॥

अग्निरुवाच

मम मोक्षस्य कोऽन्तो वै ब्रह्मन् ध्यायस्व वै प्रभो ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वतो लोकपूजित ॥ ३२ ॥

अग्निने कहा—ब्रह्मन् ! प्रभो ! मेरे लिये आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, परंतु [illegible] भी इस ब्रह्महत्यासे मुक्त हो सकूँ, इसके लिये इसकी अन्तिम अवधि क्या होगी; इसपर आप विचार करें । विश्ववन्द्य पितामह ! मैं इस बातको ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ ॥ ३२ ॥

ब्रह्मोवाच

यस्त्वां ज्वलन्तमासाद्य स्वयं वै मानवः क्वचित् ।
बीजौषधिरसैर्वह्ने न यक्ष्यति तमोवृतः ॥ ३३ ॥
तमेषा यास्यति क्षिप्रं तत्रैव च निवत्स्यति ।

ब्रह्मवध्या हव्यवाह व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ ३४ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अग्निदेव ! यदि किसी स्थानपर तुम प्रज्वलित हो रहे हो, वहाँ पहुँचकर कोई अधिकारी मानव तमोगुणसे आवृत होनेके कारण बीज, ओषधि [illegible] रसोंसे स्वयं ही तुम्हारा पूजन नहीं करेगा तो उसीपर तुरंत यह ब्रह्महत्या चली जायगी और उसीके भीतर निवास करने लगेगी; अतः हव्यवाहन ! तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ॥ ३३-३४ ॥

इत्युक्तः प्रतिजग्राह तद् वचो हव्यकव्यभुक् ।
पितामहस्य भगवांस्तथा च तदभूत् प्रभो ॥ ३५ ॥

प्रभो ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर हव्य और कव्यके भोक्ता भगवान् अग्निदेवने उन पितामहकी वह आज्ञा स्वीकार कर ली । इस प्रकार ब्रह्महत्याका एक चौथाई भाग अग्निमें चला गया ॥ ३५ ॥

ततो वृक्षौषधितृणं समाहूय पितामहः ।
इममर्थं महाराज वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ३६ ॥

महाराज ! इसके बाद पितामह वृक्ष, तृण और ओषधियोंको बुलाकर उनसे भी वही बात कहने लगे ॥ ३६ ॥

(ब्रह्मोवाच

इयं वृत्रादनुप्राप्ता [illegible] महाभया ।
पुरुहूतं चतुर्थांशमस्या यूयं प्रतीच्छथ ॥)

ब्रह्माजी बोले—वृत्रासुरके वधसे यह महाभयंकर ब्रह्महत्या प्रकट होकर इन्द्रके पीछे लगी है । तुमलोग उसका एक चौथाई भाग स्वयं ग्रहण कर लो ॥

ततो वृक्षौषधितृणं तथैवोक्तं यथातथम् ।
व्यथितं वह्निवद् राजन् ब्रह्माणमिदमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

राजन् ! ब्रह्माजीने जब उसी प्रकार [illegible] बातें ठीक-ठीक सामने रख दीं, तब अग्निके ही समान वृक्ष, तृण और ओषधियों- [illegible] समुदाय भी व्यथित हो उठा और उन सबने ब्रह्माजीसे इस [illegible] कहा— ॥ ३७ ॥

अस्माकं ब्रह्मवध्यायाः कोऽन्तो लोकपितामह ।
दैवेनाभिहतानस्मान् न पुनर्हन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥

'लोकपितामह ! हमारी [illegible] ब्रह्महत्याका अन्त [illegible] होगा ? हम तो यों ही दैवके मारे हुए स्थावर योनिमें पड़े हैं; अतः अब आप पुनः हमें न मारें ॥ ३८ ॥

वयमग्निं [illegible] शीतं वर्षं च पवनेरितम् ।
सहामः सततं देव तथा च्छेदनभेदने ॥ ३९ ॥

ब्रह्मवध्यामिमामद्य भवतः शासनाद् वयम् ।
ग्रहीष्यामस्त्रिलोकेश मोक्षं चिन्तयतां भवान् ॥ ४० ॥

'देव ! त्रिलोकीनाथ ! हमलोग सदा अग्नि और धूपका ताप, सर्दी, वर्षा, आँधी और अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा भेदन-छेदनका [illegible] सहते रहते हैं । आज आपकी आज्ञासे इस ब्रह्महत्याको भी ग्रहण कर लेंगे; किंतु आप इससे हमारे छुटकारेका उपाय भी तो सोचिये' ॥ ३९-४० ॥

ब्रह्मोवाच

पर्वकाले [illegible] सम्प्राप्ते यो वै च्छेदनभेदनम् ।
करिष्यति नरो मोहात् तमेषानुगमिष्यति ॥ ४१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—संक्रान्ति, ग्रहण, पूर्णिमा, अमावास्या आदि पर्वकाल प्राप्त होनेपर जो मनुष्य मोहवश तुम्हारा भेदन छेदन करेगा, उसीके पीछे तुम्हारी यह ब्रह्महत्या लग जायगी ॥

भीष्म उवाच

ततो वृक्षौषधितृणमेवमुक्तं महात्मना ।
ब्रह्माणमभिसम्पूज्य जगामाशु यथागतम् ॥ ४२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महात्मा ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर वृक्ष, ओषधि और तृणका समुदाय उनकी पूजा करके जैसे आया था, वैसे ही शीघ्र लौट गया ॥ ४२ ॥

आहूयाप्सरसो देवस्ततो लोकपितामहः ।
[illegible] मधुरया [illegible] सान्त्वयन्निव भारत ॥ ४३ ॥

भारत ! तत्पश्चात् लोकपितामह ब्रह्माजीने अप्सराओंको बुलाकर उन्हें मीठे वचनोंद्वारा [illegible] देते हुए-से कहा— ॥

इयमिन्द्रादनुप्राप्ता ब्रह्मवध्या वराङ्गनाः ।
चतुर्थमस्या भागांशं मयोक्ताः सम्प्रतीच्छत ॥ ४४ ॥

'सुन्दरियो ! यह ब्रह्महत्या इन्द्रके पाससे आयी है । तुमलोग मेरे कहनेसे इसका एक चतुर्थांश ग्रहण कर लो' ॥

अप्सरस ऊचुः

ग्रहणे कृतबुद्धीनां देवेश तव शासनात् ।
मोक्षं समयतोऽस्माकं चिन्तयस्व पितामह ॥ ४५ ॥

अप्सराएँ बोलीं—देवेश पितामह ! आपकी आज्ञासे हमने इस ब्रह्महत्याको ग्रहण कर लेनेका विचार किया है, किंतु इससे हमारे छुटकारेके समयका भी विचार करनेकी कृपा करें ॥ ४५ ॥

ब्रह्मोवाच

रजस्वलासु नारीषु यो वै मैथुनमाचरेत् ।
तमेषा यास्यति क्षिप्रं व्येतु वो मानसो ज्वरः ॥ ४६ ॥

ब्रह्माजीने कहा—जो पुरुष रजस्वला स्त्रियोंके [illegible] मैथुन करेगा, उसपर यह ब्रह्महत्या शीघ्र चली जायगी, अतः तुम्हारी यह मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये ।

भीष्म उवाच

तथेति हृष्टमनस इत्युक्त्वाप्सरसां गणाः ।
स्वानि स्थानानि सम्प्राप्य रेमिरे भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! यह सुनकर अप्सराओं [illegible] का मन प्रसन्न हो गया । वे 'बहुत अच्छा' कह [illegible] अपने-अपने स्थानोंमें जाकर विहार करने लगीं ॥ ४७ ॥

ततस्त्रिलोककृद् देवः पुनरेव महातपाः।
अपः संचिन्तयामास ध्यातास्ताश्चाप्यथागमन्॥ ४८॥

तब त्रिभुवनकी सृष्टि करनेवाले महातपस्वी भगवान् ब्रह्माने पुनः जलका चिन्तन किया। उनके स्मरण करते ही तुरंत जल देवता वहाँ उपस्थित हो गये॥ ४८॥

तास्तु सर्वाः समागम्य ब्रह्माणममितौजसम्।
इदमूचुर्वचो राजन् प्रणिपत्य पितामहम्॥ ४९॥

राजन्! वे सब अमित तेजस्वी पितामह ब्रह्माजीके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार बोले—॥ ४९॥

इमाः स्म देव सम्प्राप्तास्त्वत्सकाशमरिंदम।
शासनात् तव लोकेश समाज्ञापय नः प्रभो॥ ५०॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले प्रभो! देव! लोकनाथ! हम आपकी आज्ञासे सेवामें उपस्थित हुए हैं। हमें आज्ञा दीजिये, हम कौन-सी सेवा करें?'॥ ५०॥

ब्रह्मोवाच

इयं वृत्रादनुप्राप्ता पुरुहूतं महाभया।
ब्रह्मवध्या चतुर्थांशमस्या यूयं प्रतीच्छत॥ ५१॥

ब्रह्माजीने कहा—वृत्रासुरके वधसे इन्द्रको यह महाभयंकर ब्रह्महत्या प्राप्त हुई है। तुमलोग इसका एक चौथाई भाग ग्रहण कर लो॥ ५१॥

आप ऊचुः

एवं भवतु लोकेश यथा वदसि नः प्रभो।
मोक्षं समयतोऽस्माकं संचिन्तयितुमर्हसि॥ ५२॥

जलदेवताने कहा—लोकेश्वर! प्रभो! आप जैसा कहते हैं, ऐसा ही होगा; परंतु हम इस ब्रह्महत्यासे किस समय छुटकारा पायेंगे, इसका भी विचार करें॥ ५२॥

त्वं हि देवेश सर्वस्य जगतः परमा गतिः।
कोऽन्यः प्रसादो हि भवेद् यः कृच्छ्रात् समुद्धरेत्॥ ५३॥

देवेश्वर! आप ही इस सम्पूर्ण जगत्‌के परम आश्रय हैं। आप हमारा इस संकटसे उद्धार करें, इससे बढ़कर हम लोगोंपर दूसरा कौन अनुग्रह होगा॥ ५३॥

ब्रह्मोवाच

अल्पा इति मतिं कृत्वा यो नरो बुद्धिमोहितः।
श्लेष्ममूत्रपुरीषाणि युष्मासु प्रतिमोक्ष्यति॥ ५४॥
तमियं यास्यति क्षिप्रं तत्रैव च निवत्स्यति।
तथा वो भविता मोक्ष इति सत्यं ब्रवीमि वः॥ ५५॥

ब्रह्माजीने कहा—जो मनुष्य अपनी बुद्धिकी मन्दतासे मोहित होकर जलमें तुच्छ बुद्धि करके तुम्हारे भीतर थूक, खँखार या मल-मूत्र डालेगा, तुम्हें छोड़कर यह ब्रह्महत्या तुरंत उसीपर चली जायगी और उसीके भीतर निवास करेगी। इस प्रकार तुमलोगोंका ब्रह्महत्यासे उद्धार हो जायगा, यह मैं सत्य कहता हूँ॥ ५४-५५॥

ततो विमुच्य देवेन्द्रं ब्रह्मवध्या युधिष्ठिर।
यथा विसृष्टं तं वासमगमद् देवशासनात्॥ ५६॥

युधिष्ठिर! तदनन्तर देवराज इन्द्रको छोड़कर वह ब्रह्महत्या ब्रह्माजीकी आज्ञासे उनके दिये हुए पूर्वोक्त निवास-स्थानोंको चली गयी॥ ५६॥

एवं शक्रेण सम्प्राप्ता ब्रह्मवध्या जनाधिप।
पितामहमनुज्ञाप्य सोऽश्वमेधमकल्पयत्॥ ५७॥

नरेश्वर! इस प्रकार इन्द्रको ब्रह्महत्या प्राप्त हुई थी, फिर उन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञा लेकर अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया॥ ५७॥

श्रूयते च महाराज सम्प्राप्ता वासवेन वै।
ब्रह्मवध्या ततः शुद्धिं हयमेधेन लब्धवान्॥ ५८॥

महाराज! सुननेमें आता है कि इन्द्रको जो ब्रह्महत्या लगी थी, उससे उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करके ही शुद्धि लाभ की थी॥ ५८॥

समवाप्य श्रियं देवो हत्वारींश्च सहस्रशः।
प्रहर्षमतुलं लेभे वासवः पृथिवीपते॥ ५९॥

पृथ्वीनाथ! देवराज इन्द्रने सहस्रों शत्रुओंका वध करके अपनी खोयी हुई राजलक्ष्मीको पाकर अनुपम आनन्द प्राप्त किया॥ ५९॥

वृत्रस्य रुधिराच्चैव शिखण्डाः पार्थ जज्ञिरे।
द्विजातिभिरभक्ष्यास्ते दीक्षितैश्च तपोधनैः॥ ६०॥

कुन्तीनन्दन! वृत्रासुरके रक्तसे बहुतेरे छत्रक उत्पन्न हुए थे, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये तथा यज्ञकी दीक्षा लेनेवालोंके लिये और तपस्वियोंके लिये अभक्षणीय हैं॥ ६०॥

सर्वावस्थं त्वमप्येषां द्विजातीनां प्रियं कुरु।
इमे हि भूतले देवाः प्रथिताः कुरुनन्दन॥ ६१॥

कुरुनन्दन! तुम भी इन ब्राह्मणोंका सभी अवस्थाओंमें प्रिय करो। ये इस पृथ्वीपर देवताके रूपमें विख्यात हैं॥ ६१॥

एवं शक्रेण कौरव्य बुद्धिसौक्ष्म्यान्महासुरः।
उपायपूर्वं निहतो वृत्रो ह्यमिततेजसा॥ ६२॥

कुरुकुलभूषण! इस तरह अमित तेजस्वी देवराज इन्द्रने अपनी सूक्ष्म बुद्धिसे काम लेकर उपायपूर्वक महान् असुर वृत्रका वध किया था॥ ६२॥

एवं त्वमपि कौन्तेय पृथिव्यामपराजितः।
भविष्यसि यथा देवः शतक्रतुरमित्रहा॥ ६३॥

कुन्तीकुमार! जैसे स्वर्गलोकमें शत्रुसूदन इन्द्रदेव विजयी हुए थे, उसी प्रकार तुम भी इस पृथ्वीपर किसीसे पराजित होनेवाले नहीं हो॥ ६३॥

ये च शक्रकथां दिव्यामिमां पर्वसु पर्वसु।
विप्रमध्ये वदिष्यन्ति न ते प्राप्स्यन्ति किल्बिषम्॥ ६४॥

जो प्रत्येक पर्वके दिन ब्राह्मणोंकी सभामें इस दिव्य कथाका प्रवचन करेंगे, उन्हें किसी प्रकारका पाप नहीं होगा ॥ ६४ ॥

इत्येतद् वृत्रमाश्रित्य शक्रस्यात्यद्भुतं महत्।
कथितं कर्म ते तात किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥ ६५ ॥

इस प्रकार वृत्रासुरके प्रसंगसे मैंने तुम्हें यह इन्द्रका अत्यन्त अद्भुत चरित्र सुना दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ब्रह्महत्याविभागे द्व्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ब्रह्महत्याका विभाजनविषयक दो सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६६ श्लोक हैं)

त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शिवजीद्वारा दक्षयज्ञका भंग और उनके क्रोधसे ज्वरकी उत्पत्ति तथा उसके विविध रूप

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
अस्मिन् वृत्रवधे देव विवक्षा हि जायते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञानमें निपुण महाप्राज्ञ पितामह ! देव ! इस वृत्रवधके प्रसंगमें मुझे कुछ पूछनेकी इच्छा हो रही है ॥ १ ॥

ज्वरेण मोहितो वृत्रः कथितस्ते जनाधिप।
निहतो वासवेनेह वज्रेणेति तदानघ ॥ २ ॥

निष्पाप जनेश्वर ! आपने कहा है कि वृत्रासुर ज्वरसे मोहित हो गया था, उसी अवस्थामें इन्द्रने अपने वज्रसे उसे मार डाला ॥ २ ॥

कथमेष महाप्राज्ञ ज्वरः प्रादुर्बभौ कुतः।
ज्वरोत्पत्तिं निपुणतः श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ ३ ॥

महामते ! प्रभो ! यह ज्वर कैसे और कहाँसे उत्पन्न हुआ ? मैं ज्वरकी उत्पत्तिका प्रसंग भलीभाँति सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् ज्वरस्येमं सम्भवं लोकविश्रुतम्।
विस्तरं चास्य वक्ष्यामि यादृशश्चैव भारत ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! ज्वरकी उत्पत्तिका यह वृत्तान्त सम्पूर्ण लोकोंमें प्रसिद्ध है, सुनो। भारत ! यह प्रसंग जैसा है, उसे मैं विस्तारपूर्वक बता रहा हूँ ॥ ४ ॥

पुरा मेरोर्महाराज शृङ्गं त्रैलोक्यपूजितम्।
ज्योतिष्कं नाम सावित्रं सर्वरत्नविभूषितम् ॥ ५ ॥
अप्रमेयमनाधृष्यं सर्वलोकेषु भारत।

भरतनन्दन ! महाराज ! पूर्वकालमें सुमेरु पर्वतका ज्योतिष्क नामसे प्रसिद्ध एक शिखर था, जो सविता (सूर्य) देवतासे सम्बन्ध रखनेके कारण सावित्र कहलाता था। वह सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, अप्रमेय, समस्त लोकोंके लिये अगम्य और तीनों लोकोंद्वारा पूजित था ॥ ५½ ॥

तत्र देवो गिरितटे हेमधातुविभूषिते ॥ ६ ॥
पर्यङ्क इव विभ्राजन्नुपविष्टो बभूव ह।
शैलराजसुता चास्य नित्यं पार्श्वे स्थिता बभौ ॥ ७ ॥

सुवर्णमय धातुसे विभूषित उस पर्वतशिखरके ऊपर बैठे हुए महादेवजी उसी प्रकार अपूर्व शोभा पाते थे मानो किसी सुन्दर पर्यङ्कपर बैठे हों। वहीं प्रतिदिन उनके वामभागमें रहकर गिरिराजनन्दिनी भगवती पार्वती भी अनुपम शोभा पाती थीं ॥ ६-७ ॥

तथा देवा महात्मानो वसवश्चामितौजसः।
तथैव च महात्मानावश्विनौ भिषजां वरौ ॥
तथा वैश्रवणो राजा गुह्यकैरभिसंवृतः ॥ ८ ॥
यक्षाणामीश्वरः श्रीमान् कैलासनिलयः प्रभुः।
(शङ्खपद्मनिधिभ्यां च ऋद्ध्या परमया सह ।)
उपासन्त महात्मानमुशना च महामुनिः ॥ ९ ॥

इसी प्रकार वहाँ बहुत-से महामनस्वी देवता, अमित तेजस्वी वसुगण, चिकित्सकोंमें श्रेष्ठ महामना अश्विनीकुमार, शङ्खनिधि, पद्मनिधि तथा उत्तम ऋद्धिके साथ गुह्यकोंसे घिरे हुए कैलासवासी यक्षपति प्रभुतासम्पन्न श्रीमान् राजा कुबेर तथा महामुनि शुक्राचार्य—ये सभी परमात्मा महादेवजीकी उपासना किया करते थे ॥ ८-९ ॥

सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव च महर्षयः।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा देवर्षयोऽपरे ॥ १० ॥
विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा नारदपर्वतौ।
अप्सरोगणसंघाश्च समाजग्मुरनेकशः ॥ ११ ॥

सनत्कुमार आदि महर्षि, अङ्गिरा आदि दूसरे देवर्षि, विश्वावसु गन्धर्व, नारद, पर्वत और अप्सराओंके अनेक समुदाय उस पर्वतपर महादेवजीकी आराधनाके लिये आया करते थे ॥ १०-११ ॥

ववौ सुखः शिवो वायुर्नानागन्धवहः शुचिः।
सर्वर्तुकुसुमोपेताः पुष्पवन्तो द्रुमास्तथा ॥ १२ ॥

वहाँ नाना प्रकारकी सुगन्धको बहानेवाली पवित्र, सुखद एवं मङ्गलमयी वायु चलती रहती थी। सभी ऋतुओंके फूलोंसे सुशोभित होनेवाले खिले हुए वृक्ष उस शिखरकी शोभा बढ़ाते थे ॥ १२ ॥

तथा विद्याधराश्चैव सिद्धाश्चैव तपोधनाः।
महादेवं पशुपतिं पर्युपासन्त भारत ॥ १३ ॥

भारत ! तपस्याके धनी सिद्ध और विद्याधर भी [illegible] पशुपति महादेवजीकी उपासनामें तत्पर रहते थे ॥ १३ ॥

भूतानि च महाराज नानारूपधराण्यथ।
राक्षसाश्च महारौद्राः पिशाचाश्च महाबलाः ॥ १४ ॥
बहुरूपधरा [illegible] नानाप्रहरणोद्यताः।
देवस्यानुचरास्तत्र तस्थिरे चानलोपमाः ॥ १५ ॥

महाराज ! अनेक रूप धारण करनेवाले भूत, महाभयङ्कर राक्षस, महाबली और बहुत से रूप [illegible] करनेवाले पिशाच, जो महादेवजीके अनुचर थे, वहाँ हर्षमें भरकर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये खड़े रहते थे। वे सब-के-सब अग्निके समान तेजस्वी थे ॥ १४-१५ ॥

नन्दी च भगवांस्तत्र देवस्यानुमते स्थितः।
प्रगृह्य ज्वलितं शूलं दीप्यमानः स्वतेजसा ॥ १६ ॥

महादेवजीकी आज्ञासे भगवान् नन्दी अपने तेजसे देदीप्यमान हो हाथमें प्रज्वलित [illegible] लेकर वहाँ खड़े रहते थे ॥

गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा सर्वतीर्थजलोद्भवा।
पर्युपासत तं देवं रूपिणी कुरुनन्दन ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! समस्त तीर्थोंके जलोंको लेकर प्रकट हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजी वहाँ दिव्यरूप धारण करके देवाधिदेव महादेवजीकी आराधना करती थीं ॥ १७ ॥

स एवं भगवांस्तत्र पूज्यमानः सुरर्षिभिः।
देवैश्च सुमहातेजा महादेवो व्यतिष्ठत ॥ १८ ॥

इस प्रकार देवताओं और देवर्षियोंसे पूजित होते हुए महातेजस्वी भगवान् महादेव वहाँ नित्य विराजमान थे ॥१८॥

कस्यचित् [illegible] कालस्य दक्षो नाम प्रजापतिः।
पूर्वोक्तेन विधानेन यक्ष्यमाणोऽन्वपद्यत ॥ १९ ॥

[illegible] कालके अनन्तर दक्ष नामसे प्रसिद्ध प्रजापतिने पूर्वोक्त शास्त्रीय विधानके अनुसार [illegible] करनेका संकल्प लेकर उसके लिये तैयारी आरम्भ कर दी ॥ १९ ॥

ततस्तस्य मखं देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः।
गमनाय समागम्य बुद्धिमापेदिरे तदा ॥ २० ॥

उस समय इन्द्र आदि [illegible] देवताओंने दक्ष प्रजापतिके यज्ञमें जानेके लिये परस्पर मिलकर निश्चय किया ॥ २० ॥

ते विमानैर्महात्मानो ज्वलनार्कसमप्रभैः।
देवस्यानुमतेऽगच्छन् गङ्गाद्वारमिति श्रुतिः ॥ २१ ॥

वे महामनस्वी देवता सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी विमानोंपर बैठकर महादेवजीकी आज्ञा ले गङ्गाद्वार (हरिद्वार) को गये—यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥

प्रस्थिता देवता दृष्ट्वा शैलराजसुता तदा।
उवाच वचनं साध्वी देवं पशुपतिं पतिम् ॥ २२ ॥

देवताओंको प्रस्थित हुआ देख सती साध्वी गिरिराज-नन्दिनी उमाने अपने स्वामी पशुपति महादेवजीसे पूछा—॥

भगवन् [illegible] नु यान्त्येते देवाः शक्रपुरोगमाः।
ब्रूहि तत्त्वेन [illegible] संशयो मे महानयम् ॥ २३ ॥

'भगवन् ! [illegible] इन्द्र आदि देवता कहाँ जा रहे हैं ? तत्त्वज्ञ परमेश्वर ! ठीक-ठीक बताइये। मेरे मनमें यह महान् संशय उत्पन्न हुआ है' ॥ २३ ॥

महेश्वर उवाच

दक्षो नाम महाभागे प्रजानां पतिरुत्तमः।
हयमेधेन यजते तत्र यान्ति दिवौकसः ॥ २४ ॥

महेश्वरने कहा—महाभागे ! श्रेष्ठ प्रजापति दक्ष अश्वमेध यज्ञ करते हैं; उसीमें ये [illegible] देवता जा रहे हैं ॥ २४ ॥

उमोवाच

यज्ञमेतं महादेव किमर्थं नाधिगच्छसि।
केन वा प्रतिषेधेन गमनं ते [illegible] विद्यते ॥ २५ ॥

उमा बोलीं—महादेव ! इस यज्ञमें आप क्यों नहीं [illegible] रहे हैं ? किस प्रतिबन्धके कारण आपका वहाँ जाना नहीं हो रहा है ? ॥२५ ॥

महेश्वर उवाच

सुरैरेव महाभागे पूर्वमेतदनुष्ठितम्।
यज्ञेषु सर्वेषु [illegible] न भाग उपकल्पितः ॥ २६ ॥

महेश्वरने कहा—महाभागे ! देवताओंने ही पहले ऐसा निश्चय किया था। उन्होंने सभी यज्ञोंमेंसे किसीमें भी मेरे लिये भाग नियत नहीं किया ॥ २६ ॥

पूर्वोपायोपपन्नेन मार्गेण वरवर्णिनि।
न मे सुराः प्रयच्छन्ति भागं [illegible] धर्मतः ॥ २७ ॥

सुन्दरि ! पूर्वनिश्चित नियमके अनुसार धर्मकी दृष्टिसे ही देवतालोग यज्ञमें मुझे भाग नहीं अर्पित करते हैं ॥२७॥

उमोवाच

भगवन् सर्वभूतेषु प्रभावाभ्यधिको गुणैः।
अजय्यश्चाप्यधृष्यश्च तेजसा यशसा श्रिया ॥ २८ ॥
अनेन ते महाभाग प्रतिषेधेन भागतः।
अतीव दुःखमुत्पन्नं वेपथुश्च ममानघ ॥ २९ ॥

उमाने कहा—भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली, गुणवान्, अजेय, अधृष्य, तेजस्वी, यशस्वी तथा श्रीसम्पन्न हैं। महाभाग ! यज्ञमें जो इस प्रकार आपको भाग देनेका निषेध किया गया है, इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ है। अनघ ! इस अपमानसे मेरा सारा शरीर काँप रहा है ॥ २८-२९ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा तु सा देवी तदा पशुपतिं पतिम्।
तूष्णींभूताभवद् राजन् दह्यमानेन चेतसा ॥ ३० ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! अपने पति भगवान् पशुपतिसे ऐसा कहकर पार्वतीदेवी चुप हो गयीं, परंतु उनका हृदय शोकसे दग्ध हो रहा था ॥ ३० ॥

अथ देव्या मतं ज्ञात्वा हृद्गतं यच्चिकीर्षितम्।
स समाज्ञापयामास तिष्ठ त्वमिति नन्दिनम् ॥ ३१ ॥

पार्वतीदेवीके मनमें क्या है और वे क्या करना चाहती हैं, इस बातको जानकर महादेवजीने नन्दीको आज्ञा दी कि तुम यहीं खड़े रहो ॥ ३१ ॥

ततो योगबलं कृत्वा सर्वयोगेश्वरेश्वरः।
तं यज्ञं स महातेजा भीमैरनुचरैस्तदा ॥ ३२ ॥
सहसा घातयामास देवदेवः पिनाकधृक्।

तदनन्तर सम्पूर्ण योगेश्वरोंके भी ईश्वर महातेजस्वी देवाधिदेव पिनाकधारी शिवने योगबलका आश्रय ले अपने भयानक सेवकोंद्वारा उस यज्ञको सहसा [illegible] करा दिया ॥

केचिन्नादानमुञ्चन्त केचिद्धासांश्च चक्रिरे ॥ ३३ ॥
रुधिरेणापरे राजंस्तत्राग्निं समवाकिरन्।

राजन्! भगवान् शिवके अनुचरोंमेंसे कोई तो जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे, किन्हींने अट्टहास करना आरम्भ [illegible] दिया तथा दूसरे यज्ञाग्निको बुझानेके लिये उसपर रक्तकी वर्षा करने लगे ॥ ३३½ ॥

केचिद् यूपान् समुत्पाट्य बभ्रमुर्विकृताननाः ॥ ३४ ॥
आस्यैरन्ये चाग्रसन्त तथैव परिचारकान्।

कोई विकराल मुखवाले पार्षद यज्ञके यूपोंको उखाड़कर वहाँ चारों ओर चक्कर लगाने लगे। दूसरोंने यज्ञके परिचारकोंको अपने मुखका ग्रास बना लिया ॥ ३४½ ॥

ततः स यज्ञो नृपते वध्यमानः समन्ततः ॥ ३५ ॥
आस्थाय मृगरूपं वै खमेवाभ्यगमत् तदा।

नरेश्वर! इस प्रकार जब सब ओरसे आघात होने लगा, तब वह यज्ञ मृगका रूप धारण करके आकाशकी ओर ही भाग चला ॥ ३५½ ॥

तं [illegible] यज्ञं तथारूपं गच्छन्तमुपलभ्य सः ॥ ३६ ॥
धनुरादाय बाणेन तदान्वसरत प्रभुः।

यज्ञको मृगका रूप धारण करके भागते देख भगवान् शिवने धनुष हाथमें लेकर अपने बाणके द्वारा उसका पीछा किया ॥ ३६½ ॥

ततस्तस्य सुरेशस्य क्रोधादमिततेजसः ॥ ३७ ॥
ललाटात् प्रसृतो घोरः स्वेदबिन्दुर्बभूव ह।
तस्मिन् पतितमात्रे च स्वेदबिन्दौ तदा भुवि ॥ ३८ ॥
प्रादुर्बभूव सुमहानग्निः कालानलोपमः।

तत्पश्चात् अमिततेजस्वी देवेश्वर महादेवजीके क्रोधके कारण उनके ललाटसे भयंकर पसीनेकी बूँद प्रकट हुई। उस पसीनेके बिन्दुके पृथ्वीपर पड़ते ही कालाग्निके [illegible] विशाल अग्निपुञ्जका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ३७-३८½ ॥

तत्र चाजायत तदा पुरुषः पुरुषर्षभ ॥ ३९ ॥
ह्रस्वोऽतिमात्रं रक्ताक्षो हरिश्मश्रुर्विभीषणः।

पुरुषप्रवर! उस समय उस आगसे एक नाटा [illegible] पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसकी आँखें बहुत ही लाल थीं। दाढ़ी और मूँछके [illegible] भूरे रंगके थे। वह देखनेमें बड़ा डरावना जान पड़ता था ॥ ३९½ ॥

ऊर्ध्वकेशोऽतिरोमाङ्गः श्येनोलूकस्तथैव च ॥ ४० ॥
करालकृष्णवर्णश्च रक्तवासास्तथैव च।
[illegible] यज्ञं सुमहासत्त्वोऽदहत् कक्षमिवानलः ॥ ४१ ॥

उसके केश ऊपरकी ओर उठे हुए थे। उसके सारे अङ्ग बाज और उल्लूके समान अतिशय रोमावलियोंसे भरे थे। शरीरका रंग काला और विकराल था। उसके [illegible] लाल रंगके थे। उस महान् शक्तिशाली पुरुषने उस यज्ञको उसी प्रकार दग्ध कर दिया, जैसे आग सूखे काठ या घास फूसके ढेरको जलाकर भस्म कर डालती है ॥ ४०-४१ ॥

व्यचरत् सर्वतो देवान् प्राद्रवत् स ऋषींस्तथा।
देवाश्चाप्याद्रवन् सर्वे ततो भीता दिशो दश ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् वह पुरुष सब ओर विचरने लगा और देवताओं तथा ऋषियोंकी ओर दौड़ा। उसे देखकर सब देवता भयभीत हो दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ ४२ ॥

तेन तस्मिन् विचरता पुरुषेण विशाम्पते।
पृथिवी ह्यचलद् राजन्नतीव भरतर्षभ ॥ ४३ ॥

राजन्! भरतभूषण! प्रजानाथ! उस यज्ञमें विचरते हुए उस पुरुषके पैरोंकी धमकसे यह पृथ्वी बड़े जोर-जोरसे काँपने लगी ॥ ४३ ॥

हाहाभूतं जगत् सर्वमुपलक्ष्य तदा प्रभुः।
पितामहो महादेवं दर्शयन् प्रत्यभाषत ॥ ४४ ॥

उस समय सारे जगत्‌में हाहाकार मचा गया। यह [illegible] देखकर भगवान् ब्रह्माने महादेवजीको [illegible] दुर्दशा दिखाते हुए उनसे इस प्रकार कहा ॥ ४४ ॥

ब्रह्मोवाच

भवतोऽपि सुराः सर्वे भागं दास्यन्ति वै प्रभो।
क्रियतां प्रतिसंहारः सर्वदेवेश्वर त्वया ॥ ४५ ॥

ब्रह्माजी बोले—सर्वदेवेश्वर! प्रभो! अब आप अपने बढ़े हुए उस क्रोधको शान्त कीजिये। आजसे सब देवता आपको भी यज्ञका भाग दिया करेंगे ॥ ४५ ॥

इमा हि देवताः सर्वा ऋषयश्च परंतप।
तव क्रोधान्महादेव न शान्तिमुपलेभिरे ॥ ४६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले महादेव! ये सब देवता और ऋषि आपके क्रोधसे त्रस्त होकर कहीं शान्ति नहीं पा रहे हैं ॥ ४६ ॥

यश्चैष पुरुषो जातः स्वेदात् ते विबुधोत्तम ।
ज्वरो नामैष धर्मज्ञ लोकेषु प्रचरिष्यति ॥ ४७ ॥

धर्मज्ञ देवेश्वर ! आपके पसीनेसे जो यह पुरुष प्रकट हुआ है, इसका नाम होगा ज्वर । यह समस्त लोकोंमें विचरण करेगा ॥ ४७ ॥

एकीभूतस्य न त्वस्य धारणे तेजसः प्रभो ।
समर्था सकला पृथ्वी बहुधा सृज्यतामयम् ॥ ४८ ॥

प्रभो ! आपका तेजरूप यह ज्वर जबतक एक रूपमें रहेगा, तबतक यह सारी पृथ्वी इसे धारण करनेमें समर्थ न हो सकेगी । अतः इसे अनेक रूपोंमें विभक्त कर दीजिये ॥

इत्युक्तो ब्रह्मणा देवो भागे चापि प्रकल्पिते ।
भगवन्तं तथेत्याह ब्रह्माणममितौजसम् ॥ ४९ ॥

जब ब्रह्माजीने इस प्रकार कहा और यज्ञमें भाग मिलनेकी भी व्यवस्था हो गयी, तब महादेवजी अमित-तेजस्वी भगवान् ब्रह्मासे इस प्रकार बोले—'तथास्तु' ऐसा ही हो ॥ ४९ ॥

परां च प्रीतिमगमदुत्स्मयंश्च पिनाकधृक् ।
अवाप च तदा भागं यथोक्तं ब्रह्मणा भवः ॥ ५० ॥

पिनाकधारी शिवको उस समय बड़ी प्रसन्नता हुई और वे मुस्कराने लगे । जैसा कि ब्रह्माजीने कहा था, उसके अनुसार उन्होंने यज्ञमें भाग प्राप्त कर लिया ॥ ५० ॥

ज्वरं च सर्वधर्मज्ञो बहुधा व्यसृजत् तदा ।
शान्त्यर्थं सर्वभूतानां शृणु तच्चापि पुत्रक ॥ ५१ ॥

बेटा युधिष्ठिर ! उस समय समस्त धर्मोंके ज्ञाता भगवान् शिवने सम्पूर्ण प्राणियोंकी शान्तिके लिये ज्वरको अनेक रूपोंमें बाँट दिया, उसे भी सुन लो ॥ ५१ ॥

शीर्षाभितापो नागानां पर्वतानां शिलाजतु ।
अपां तु नीलिकां विद्यान्निर्मोकं भुजगेषु च ॥ ५२ ॥
खोरकः सौरभेयाणामूषरं पृथिवीतले ।
पशूनामपि धर्मज्ञ दृष्टिप्रत्यवरोधनम् ॥ ५३ ॥

हाथियोंके मस्तकमें जो ताप या पीड़ा होती है, वही उनका ज्वर है । पर्वतोंका ज्वर शिलाजितके रूपमें प्रकट होता है । सेवारको पानीका ज्वर समझना चाहिये । सर्पोंका ज्वर केंचुल है । गाय, बैलोंके खुरोंमें जो खोरक नामवाला रोग होता है, वही उनका ज्वर है । पृथ्वीका ज्वर ऊसरके रूपमें प्रकट होता है । धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! पशुओंकी दृष्टि-शक्तिका जो अवरोध होता है, वह भी उनका ज्वर ही है ॥ ५२-५३ ॥

रन्ध्रागतमथाश्वानां शिखोद्भेदश्च बर्हिणाम् ।
नेत्ररोगः कोकिलस्य ज्वरः प्रोक्तो महात्मना ॥ ५४ ॥

घोड़ोंके गलेके छेदमें जो मांसखण्ड बढ़ जाता है, वही उनका ज्वर है । मोरोंकी शिखाका निकलना ही उनके लिये ज्वर है । कोकिलका जो नेत्ररोग है, उसे भी महात्मा शिवने ज्वर बताया है ॥ ५४ ॥

अवीनां पित्तभेदश्च सर्वेषामिति नः श्रुतम् ।
शुकानामपि सर्वेषां हिक्किका प्रोच्यते ज्वरः ॥ ५५ ॥

समस्त भेड़ोंका पित्तभेद भी ज्वर ही है—यह हमारे सुननेमें आया है । समस्त तोतोंके लिये हिचकीको ही ज्वर कहा गया है ॥ ५५ ॥

शार्दूलेष्वथ धर्मज्ञ श्रमो ज्वर इहोच्यते ।
मानुषेषु तु धर्मज्ञ ज्वरो नामैष भारत ॥ ५६ ॥

धर्मज्ञ भरतनन्दन ! सिंहोंमें थकावटका होना ही ज्वर कहलाता है; परंतु मनुष्योंमें यह ज्वरके नामसे ही प्रसिद्ध है ॥ ५६ ॥

मरणे जन्मनि तथा मध्ये चाविशते नरम् ।
एतन्माहेश्वरं तेजो ज्वरो नाम सुदारुणः ॥ ५७ ॥
नमस्यश्चैव मान्यश्च सर्वप्राणिभिरीश्वरः ।
अनेन हि समाविष्टो वृत्रो धर्मभृतां वरः ॥ ५८ ॥

भगवान् महेश्वरका तेजरूप यह ज्वर अत्यन्त दारुण है । यह मृत्युकालमें, जन्मके समय तथा बीचमें भी मनुष्योंके शरीरमें प्रवेश कर जाता है । यह सर्वसमर्थ माहेश्वर ज्वर समस्त प्राणियोंके लिये वन्दनीय और माननीय है । इसीने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ वृत्रासुरके शरीरमें प्रवेश किया था ॥

व्यजृम्भत ततः शक्रस्तस्मै वज्रमवासृजत् ।
प्रविश्य वज्रं वृत्रं च दारयामास भारत ॥ ५९ ॥

भारत ! तब ज्वरसे पीड़ित होकर वृत्र वह जँभाई लेने लगा, उसी समय इन्द्रने उसपर वज्रका प्रहार किया । वज्रने उसके शरीरमें घुसकर उसे चीर डाला ॥ ५९ ॥

दारितश्च स वज्रेण महायोगी महासुरः ।
जगाम परमं स्थानं विष्णोरमिततेजसः ॥ ६० ॥

वज्रसे विदीर्ण हुआ महायोगी एव महान् असुर वृत्र अमिततेजस्वी भगवान् विष्णुके परम धामको चला गया ॥

विष्णुभक्त्या हि तेनेदं जगद् व्याप्तमभूत् तदा ।
तस्माच्च निहतो युद्धे विष्णोः स्थानमवाप्तवान् ॥ ६१ ॥

भगवान् विष्णुकी भक्तिके प्रभावसे ही उसने अपनी विशाल कायाद्वारा इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर लिया था । अतः युद्धमें मारे जानेपर उसने विष्णुधाम प्राप्त कर लिया ॥ ६१ ॥

इत्येष वृत्रमाश्रित्य ज्वरस्य महतो मया ।
विस्तरः कथितः पुत्र किमन्यत् प्रब्रवीमि ते ॥ ६२ ॥

बेटा ! इस प्रकार वृत्रासुरके वधके प्रसंगसे मैंने महान् माहेश्वर ज्वरकी उत्पत्तिका वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कह सुनाया । अब तुमसे और क्या कहूँ ? ॥ ६२ ॥

इमां ज्वरोत्पत्तिमदीनमानसः
पठेत् सदा यः सुसमाहितो नरः ।
विमुक्तरोगः स सुखी मुदा युतो
लभेत कामान् स यथामनीषितान् ।६३।

जो उदारचित्त एवं एकाग्र होकर ज्वरकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली इस कथाका सदा पढ़ता है, वह मनुष्य रोगमुक्त, सुखी एवं प्रसन्न होकर मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ज्वरोत्पत्तिर्नाम त्र्यशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें ज्वरकी उत्पत्तिविषयक दो सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ६३½ श्लोक हैं)

चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पार्वतीके रोष एवं खेदका निवारण करनेके लिये भगवान् शिवके द्वारा दक्षयज्ञका विध्वंस, दक्षद्वारा किये हुए शिवसहस्रनामस्तोत्रसे संतुष्ट होकर महादेवजीका उन्हें वरदान देना तथा इस स्तोत्रकी महिमा

जनमेजय उवाच

प्राचेतसस्य दक्षस्य कथं वैवस्वतेऽन्तरे ।
विनाशमगमद् ब्रह्मन् हयमेधः प्रजापतेः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! वैवस्वत मन्वन्तरमें प्रचेताओंके पुत्र दक्षप्रजापतिका अश्वमेध यज्ञ कैसे नष्ट हो गया ? ॥ १ ॥

देव्या मन्युकृतं मत्वा क्रुद्धः सर्वात्मकः प्रभुः ।
प्रसादात् तस्य दक्षेण स यज्ञः संधितः कथम् ।
एतद् वेदितुमिच्छेयं तन्मे ब्रूहि यथातथम् ॥ २ ॥

दक्षके यज्ञमें मेरा आवाहन न होना पार्वतीके दुःखका कारण बन गया है—यह जानकर भगवान् शंकर, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा हैं, कुपित हो उठे, तब फिर उन्हींकी कृपापूर्ण प्रसन्नतासे दक्षप्रजापतिका वह यज्ञ कैसे सम्पन्न हुआ ? मैं यह वृत्तान्त जानना चाहता हूँ, आप इसे यथार्थ रूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

पुरा हिमवतः पृष्ठे दक्षो वै यज्ञमाहरत् ।
गङ्गाद्वारे शुभे देशे ऋषिसिद्धनिषेविते ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—प्राचीन कालकी बात है—हिमालयके पार्श्ववर्ती गङ्गाद्वार (हरिद्वार) के शुभ देशमें, जहाँ ऋषियों तथा सिद्ध पुरुषोंका निवास है, प्रजापति दक्षने अपने यज्ञका आयोजन किया था ॥ ३ ॥

गन्धर्वाप्सरसाकीर्णे नानाद्रुमलतावृते ।
ऋषिसङ्घैः परिवृतं दक्षं धर्मभृतां वरम् ॥ ४ ॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये च स्वर्लोकवासिनः ।
सर्वे प्राञ्जलयो भूत्वा उपतस्थुः प्रजापतिम् ॥ ५ ॥

वह स्थान गन्धर्वों और अप्सराओंसे भरा था। भाँति-भाँतिके वृक्षसमूह और लताएँ वहाँ सब ओर छा रही थीं । धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ प्रजापति दक्ष ऋषिसमुदायसे घिरे हुए बैठे । उस समय पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गलोकके निवासी भी वहाँ जुटे हुए थे और वे सब-के-सब हाथ जोड़ कर प्रजापतिको प्रणाम करके उनकी सेवामें खड़े थे ॥ ४-५ ॥

देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ।
हाहाहूहूश्च गन्धर्वौ तुम्बुरुर्नारदस्तथा ॥ ६ ॥
विश्वावसुर्विश्वसेनो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।

देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, राक्षस, हाहा और हूहू नामक गन्धर्व, तुम्बुरु, नारद, विश्वावसु, विश्वसेन तथा दूसरे-दूसरे गन्धर्व और अप्सराएँ वहाँ उपस्थित थीं ॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्याः सह मरुद्गणैः ॥ ७ ॥
इन्द्रेण सहिताः सर्वे आजग्मुर्यज्ञभागिनः ।

आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य और मरुद्गण—ये सब-के-सब इन्द्रके साथ यज्ञमें भाग लेनेके लिये वहाँ पधारे थे ॥ ७½ ॥

ऊष्मपाः सोमपाश्चैव धूमपा आज्यपास्तथा ॥ ८ ॥
ऋषयः पितरश्चैव आजग्मुर्ब्रह्मणा सह ।

ऊष्मपा (सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले), सोमपा (सोमरस पीनेवाले), धूमपा (यज्ञमें धूम-पान करनेवाले) और आज्यपा (घृत-पान करनेवाले) पितर और ऋषि भी ब्रह्माजीके साथ उस यज्ञमें पधारे थे ॥ ८½ ॥

एते चान्ये च बहवो भूतग्रामाश्चतुर्विधाः ॥ ९ ॥
जरायुजाण्डजाश्चैव सहसा स्वेदजोद्भिजः ।

ये तथा और भी बहुत-से चतुर्विध प्राणिसमुदाय जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज वहाँ उपस्थित हुए थे ॥

आहूता मन्त्रिताः सर्वे देवाश्च सह पत्निभिः ॥ १० ॥
विराजन्ते विमानस्था दीप्यमाना इवाग्नयः ।

जिन्हें निमन्त्रित करके बुलाया गया था, वे सब देवता अपनी पत्नियोंके साथ विमानपर बैठकर आते समय प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १०½ ॥

तान् दृष्ट्वा मन्युनाऽऽविष्टो दधीचिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

नायं यज्ञो न वा धर्मो [illegible] रुद्रो न इज्यते ।
वधबन्धं प्रपन्ना वै किं [illegible] कालस्य पर्ययः ॥ १२ ॥

(महामुनि दधीचि भी [illegible] यज्ञमण्डपमें उपस्थित थे। उन्होंने देखा कि देवता और दानव आदिका [illegible] तो खूब जुटा हुआ है; परन्तु भगवान् शंकर दिखायी नहीं देते हैं। जान पड़ता है उनका आवाहन नहीं किया गया है। इससे उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ।) उन सब देवताओंको वहाँ उपस्थित देख दधीचि क्रोधसे भर गये और बोले—'सज्जनो! जिसमें भगवान् शिवकी पूजा नहीं होती है, वह न [illegible] है और न धर्म। यह [illegible] भी भगवान् शिवके बिना यज्ञ कहनेयोग्य नहीं रहा। इसका आयोजन करनेवाले लोग वध और बन्धनकी दुर्दशामें पड़नेवाले हैं। अहो! कालका कैसा उलट-फेर है ॥ ११-१२ ॥

किंतु मोहान्न पश्यन्ति विनाशं पर्युपस्थितम् ।
उपस्थितं महाघोरं न बुध्यन्ति महाध्वरे ॥ १३ ॥

'इस महायज्ञमें अत्यन्त घोर विनाश उपस्थित होनेवाला है; किंतु मोहवश कोई देख नहीं रहे हैं—समझ नहीं पाते हैं' ॥

इत्युक्त्वा [illegible] महायोगी पश्यति ध्यानचक्षुषा ।
स पश्यति महादेवं देवीं च वरदां शुभाम् ॥ १४ ॥
नारदं च महात्मानं तस्या देव्याः समीपतः ।
संतोषं परमं लेभे इति निश्चित्य योगवित् ॥ १५ ॥
एकमन्त्रास्तु ते सर्वे येनेशो न निमन्त्रितः ।

ऐसा कहकर महायोगी दधीचिने जब ध्यान लगाकर देखा, तब उन्हें भगवान् शंकर और मङ्गलमयी वरदायिनी देवी पार्वतीजीका दर्शन हुआ। उनके पास ही महात्मा नारदजी भी दिखायी दिये, इससे उनको बड़ा संतोष हुआ। योगवेत्ता दधीचिको यह निश्चय हो गया [illegible] ये सब देवता एकमत हो गये हैं। इसीलिये इन्होंने महेश्वरको यहाँ निमन्त्रित नहीं किया है ॥ १४-१५½ ॥

तस्माद् देशादपक्रम्य दधीचिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १६ ॥
अपूज्यपूजनाच्चैव पूज्यानां चाप्यपूजनात् ।
नृघातकसमं पापं शश्वत् प्राप्नोति मानवः ॥ १७ ॥

यह बात ध्यानमें आते ही दधीचि यज्ञशालासे [illegible] हो गये और दूर [illegible] कहने लगे—'सज्जनो! अपूजनीय पुरुषकी पूजा करनेसे और पूजनीय महापुरुषकी पूजा न करनेसे मनुष्य सदा ही नरहत्याके समान पापका भागी होता है ॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ।
देवतानामृषीणां च मध्ये सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥

'मैंने पहले कभी झूठ नहीं कहा है और आगे भी कभी झूठ नहीं कहूँगा। इन देवताओं तथा ऋषियोंके बीचमें [illegible] सच्ची बात कह रहा हूँ' ॥ १८ ॥

आगतं पशुभर्तारं स्रष्टारं [illegible] पतिम् ।
अध्वरे ह्यग्रभोक्तारं सर्वेषां पश्यत प्रभुम् ॥ १९ ॥

'भगवान् शंकर सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करनेवाले, सम्पूर्ण जीवोंके [illegible] स्वामी तथा सबके प्रभु हैं। तुम सब लोग देख लेना, वे इस यज्ञमें प्रधान भोक्ताके रूपमें उपस्थित होंगे' ॥

दक्ष उवाच

सन्ति नो बहवो रुद्राः [illegible] कपर्दिनः ।
एकादशस्थानगता नाहं वेद्मि महेश्वरम् ॥ २० ॥

दक्षने कहा—हाथोंमें शूल और मस्तकपर जटा-जूट धारण करनेवाले बहुत-से रुद्र हमारे यहाँ रहते हैं। वे ग्यारह हैं और ग्यारह स्थानोंमें निवास करते हैं। उनके सिवा दूसरे किसी महेश्वरको [illegible] नहीं जानता ॥ २० ॥

दधीचिरुवाच

सर्वेषामेव मन्त्रोऽयं येनासौ न निमन्त्रितः ।
यथाहं शंकरादूर्ध्वं नान्यं पश्यामि दैवतम् ।
तथा दक्षस्य विपुलो यज्ञोऽयं न भविष्यति ॥ २१ ॥

दधीचि बोले—मैं जानता हूँ, [illegible] सब लोगोंका ही यह मिल-जुलकर किया हुआ निश्चय है। इसीलिये उन महादेवजीको निमन्त्रित नहीं किया गया है; परंतु मैं भगवान् शंकरसे बढ़कर दूसरे किसी देवताको नहीं देखता। यदि यह सत्य है तो प्रजापति दक्षका यह विशाल यज्ञ निश्चय ही नष्ट हो जायगा ॥

दक्ष उवाच

एतन्मखेशाय सुवर्णपात्रे
हविः समस्तं विधिमन्त्रपूतम् ।

विष्णोर्नयाम्यप्रतिमस्य भागं
प्रभुर्विभुश्चाहवनीय एषः ॥ २२ ॥

दक्षने कहा—महर्षे ! देखो, विधिपूर्वक मन्त्रसे पवित्र की हुई यह सारी हवि सुवर्णके पात्रमें रखी हुई है। यह यज्ञेश्वर श्रीविष्णुको समर्पित है। भगवान् विष्णुकी कहीं समता नहीं है। मैं उन्हींको हविष्यका यह भाग अर्पित करूँगा। ये भगवान् विष्णु ही सर्वसमर्थ, व्यापक और यज्ञ-भाग अर्पित करनेके योग्य हैं ॥ २२ ॥

देव्युवाच

किं नाम दानं नियमं तपो वा
कुर्यामहं येन पतिर्ममाद्य ।
लभेत भागं भगवानचिन्त्यो
ह्यर्धं तथा भागमथो तृतीयम् ॥ २३ ॥

(दूसरी ओर कैलास पर्वतपर) पार्वती देवी (बहुत दुखी होकर) कह रही थीं—आह, मैं कौन-सा ऐसा दान या तप करूँ, जिसके प्रभावसे आज मेरे पतिदेव अचिन्त्य भगवान् शंकरको यज्ञका आधा अथवा तिहाई भाग अवश्य प्राप्त हो ?' ॥ २३ ॥

एवं ब्रुवाणां भगवान् स्वपत्नीं
प्रहृष्टरूपः क्षुभितामुवाच ।
न वेत्सि मां देवि कृशोदराङ्गि
किं नाम युक्तं वचनं मखेशे ॥ २४ ॥

क्षोभमें भरकर इस प्रकार बोलती हुई पत्नीकी बात सुनकर भगवान् शंकर हर्षसे खिल उठे और इस प्रकार बोले—'देवि ! कृशोदराङ्गि ! तू मुझे नहीं जानती, मैं सम्पूर्ण यज्ञोंका ईश्वर हूँ। मेरे विषयमें किस प्रकारके वचन कहना चाहिये, यह भी तुम नहीं जानती ॥ २४ ॥

अहं विजानामि विशालनेत्रे
ध्यानेन हीना न विदन्त्यसन्तः ।
तवाद्य मोहेन च सेन्द्रदेवा
लोकास्त्रयः सर्वत एव मूढाः ॥ २५ ॥

'पर मैं सब कुछ जानता हूँ। विशाललोचने ! जिनका चित्त एकाग्र नहीं है, वे ध्यानशून्य असाधु पुरुष मेरे स्वरूप-को नहीं जानते। आज तुम्हारे इस मोहसे इन्द्र आदि देवताओंसहित तीनों लोक सब ओरसे किंकर्तव्यविमूढ हो गये हैं ॥ २५ ॥

मामध्वरे शंसितारः स्तुवन्ति
रथन्तरं सामगाश्चोपगान्ति ।
मां ब्राह्मणा ब्रह्मविदो यजन्ते
ममाध्वर्यवः कल्पयन्ते च भागम् ॥ २६ ॥

'यज्ञमें प्रस्तोतालोग मेरी स्तुति करते हैं। सामगान करनेवाले ब्राह्मण रथन्तर सामके रूपमें मेरी ही महिमाका गान करते हैं। वेदवेत्ता विप्र मेरा ही यजन करते हैं और ऋत्विजलोग यज्ञमें मुझे ही भाग अर्पित करते हैं' ॥ २६ ॥

देव्युवाच

सुप्राकृतोऽपि पुरुषः सर्वः स्त्रीजनसंसदि ।
स्तौति गर्वायते चापि स्वमात्मानं न संशयः ॥ २७ ॥

देवीने कहा—नाथ ! अत्यन्त गँवार पुरुष भी क्यों न हो, प्रायः सभी स्त्रियोंके बीचमें अपनी प्रशंसाके गीत गाते और अपनी श्रेष्ठतापर गर्व करते हैं—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

नात्मानं स्तौमि देवेशि पश्य मे तनुमध्यमे ।
यं स्रक्ष्यामि वरारोहे यागार्थे वरवर्णिनि ॥ २८ ॥

श्रीभगवान् शिव बोले—देवेश्वरि ! तनुमध्यमे ! वरारोहे ! वरवर्णिनि ! मैं अपनी प्रशंसा नहीं करता हूँ। मेरा प्रभाव देखो। जिसके कारण तुम्हें दुःख हुआ है, उस यज्ञको नष्ट करनेके लिये मैं जिस वीर पुरुषकी सृष्टि कर रहा हूँ उसपर दृष्टिपात करो ॥ २८ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् पत्नीमुमां प्राणैरपि प्रियाम् ।
सोऽसृजद् भगवान् वक्त्राद् भूतं घोरं प्रहर्षणम् ॥ २९ ॥

अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यारी पत्नी उमासे ऐसी बात कहकर भगवान् महेश्वरने अपने मुखसे एक अद्भुत एवं भयंकर प्राणीको प्रकट किया, जो उनका हर्ष बढानेवाला था ॥ २९ ॥

तमुवाचाक्षिप मखं दक्षस्येति महेश्वरः ।
ततो वक्त्राद् विसृष्टेन सिंहेनैकेन लीलया ॥ ३० ॥
देव्या मन्युव्यपोहार्थं हतो दक्षस्य वै क्रतुः ।

महेश्वरने उस पुरुषको आज्ञा दी—'वीर ! तुम दक्षके यज्ञका नाश कर दो।' फिर तो भगवान्‌के मुखसे निकले हुए उस सिंहके समान पराक्रमी एक ही वीरने पार्वतीदेवीके दुःख और क्रोधका निवारण करनेके लिये खेल-ही-खेलमें प्रजापति दक्षके उस यज्ञका विध्वंस कर डाला ॥ ३०½ ॥

मन्युना च महाभीमा महाकाली महेश्वरी ॥ ३१ ॥
आत्मनः कर्मसाक्षित्वे तेन सार्धं सहानुगा ।

उस समय भवानीके क्रोधसे प्रकट हुई अत्यन्त भयानक रूपवाली महाकाली महेश्वरीने भी अपना पराक्रम दिखानेके लिये सेवकोंसहित उस वीरके साथ प्रस्थान किया था ॥ ३१½ ॥

देवस्यानुमतं मत्वा प्रणम्य शिरसा ततः ॥ ३२ ॥
आत्मनः सदृशः शौर्याद् बलरूपसमन्वितः ।
स एव भगवान् क्रोधः प्रतिरूपसमन्वितः ॥ ३३ ॥
अनन्तबलवीर्यश्च अनन्तबलपौरुषः ।
वीरभद्र इति ख्यातो देव्या मन्युप्रमार्जकः ॥ ३४ ॥

(वीरभद्रने किस प्रकार उस यज्ञका विध्वंस किया, यह

प्रसङ्ग आगे बताया जाता है—) महादेवजीकी अनुमति जानकर उसने [illegible] झुकाकर उन्हें प्रणाम किया। वह वीर अपने [illegible] शौर्य, रूप और बलसे सम्पन्न [illegible] (उसकी कहीं उपमा नहीं थी)। भगवान् शिवका वह [illegible] कुछ करनेमें समर्थ क्रोध ही मूर्तिमान् होकर उस वीरके रूपमें प्रकट हुआ था। उसके बल, वीर्य, शक्ति और पुरुषार्थका कहीं अन्त नहीं था। पार्वतीदेवीके क्रोध और खेदका निवारण करनेवाला [illegible] पुरुष वीरभद्रके नामसे विख्यात हुआ ॥ ३२—३४ ॥

सोऽसृजद् रोमकूपेभ्यो रौम्यान् नाम गणेश्वरान्।
रुद्रतुल्या गणा रौद्रा रुद्रवीर्यपराक्रमाः ॥ ३५ ॥

उसने अपने रोमकूपोंसे रौम्य नामवाले गणेश्वरोंको प्रकट किया, जो रुद्रके समान ही होनेके कारण रौद्रगण कहलाये। उन सबके बल-पराक्रम भी रुद्रके ही समान थे ॥ ३५ ॥

ते निपेतुस्ततस्तूर्णं दक्षयज्ञविहिंसया।
भीमरूपा महाकायाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३६ ॥
ततः किलकिलाशब्दैराकाशं पूरयन्निव।

वे भयंकर रूपधारी विशालकाय रुद्रगण सैकड़ों और हजारोंकी टोलियाँ बनाकर अपनी किलकारियोंसे आकाशको गुँजाते हुए-से दक्षयज्ञका विध्वंस करनेके लिये बड़ी तेजीके साथ टूट पड़े ॥ ३६½ ॥

तेन शब्देन [illegible] त्रस्तास्तत्र दिवौकसः ॥ ३७ ॥
पर्वताश्च व्यशीर्यन्त चकम्पे च वसुंधरा।
मारुताश्चैव घूर्णन्ते चुक्षुभे वरुणालयः ॥ ३८ ॥

उस महाभयंकर कोलाहलसे उस यज्ञमें पधारे हुए समस्त देवता व्याकुल हो उठे। पर्वत टूक-टूक होकर बिखर गये। धरती डोलने लगी, आँधी चलने लगी और समुद्रमें तूफान [illegible] गया ॥ ३७-३८ ॥

अग्नयो नैव दीप्यन्ते नैव दीप्यति भास्करः।
ग्रहा नैव प्रकाशन्ते नक्षत्राणि न चन्द्रमाः ॥ ३९ ॥
ऋषयो [illegible] प्रकाशन्ते न देवा [illegible] च मानुषाः।
एवं तु तिमिरीभूते निर्दहन्त्यपमानिताः ॥ ४० ॥

उस [illegible] आग नहीं जलती थी, सूर्यका प्रकाश फीका [illegible] गया; ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा भी निस्तेज हो गये। इस प्रकार वहाँ चारों ओर अँधेरा छा गया। देवता, ऋषि और मनुष्य—सभी छिप गये—कोई दिखायी नहीं देते थे। दक्षसे अपमानित [illegible] रुद्रगण यज्ञशालामें [illegible] ओर आग लगाने लगे ॥ ३९-४० ॥

प्रहरन्त्यपरे घोरा यूपानुत्पाटयन्ति च।
प्रमर्दन्ति [illegible] चान्ये विमर्दन्ति तथा परे ॥ ४१ ॥

दूसरे भयंकर भूत उसी यज्ञके सदस्योंको पीटने लगे। [illegible] यूप उखाड़ने लगे। बहुतेरे रुद्रगण यज्ञकी सामग्रीको कुचलने और रौंदने लगे ॥ ४१ ॥

आधावन्ति प्रधावन्ति वायुवेगा मनोजवाः।
चूर्ण्यन्ते यज्ञपात्राणि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ४२ ॥

वायु और मनके समान वेगशाली कितने ही पार्षद इधर-उधर दौड़ लगाने लगे। कुछ लोग यज्ञके उपयोगमें आनेवाले पात्रों तथा दिव्य आभूषणोंको चूर चूर [illegible] रहे थे ॥

विशीर्यमाणा दृश्यन्ते [illegible] [illegible] नभस्तले।
दिव्यान्नपानभक्ष्याणां राशयः पर्वतोपमाः ॥ ४३ ॥

उनके बिखरकर गिरते हुए टुकड़े आकाशमें छिटके हुए तारोंके [illegible] दिखायी देते थे। [illegible] यज्ञभूमिमें जहाँ-तहाँ दिव्य अन्न, पान और भक्ष्य पदार्थोंके पर्वतों-जैसे ढेर दिखायी देते थे ॥ ४३ ॥

क्षीरनद्योऽथ दृश्यन्ते घृतपायसकर्दमाः।
दधिमण्डोदका दिव्याः खण्डशर्करवालुकाः ॥ ४४ ॥

दूधकी दिव्य नदियाँ वहाँ बहती दीखती थीं, घी और खीरकी कीच [illegible] गयी थी, दही और [illegible] पानीकी [illegible] बह रहे थे तथा खाँड और शक्कर वहाँ बालूकी भाँति बिछ गये थे ॥ ४४ ॥

षड् रसान् निवहन्त्येता गुडकुल्या मनोरमाः।
उच्चावचानि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च ॥ ४५ ॥

ये [illegible] नदियाँ षड्रस भोजन प्रवाहित कर रही थीं। गुड़के रसकी छोटी छोटी मनोरम नहरें दृष्टिगोचर होती थीं। [illegible] प्रकारके फलोंके गूदे और भाँति भाँतिके भक्ष्य-पदार्थ प्रस्तुत किये गये थे ॥ ४५ ॥

पानकानि च दिव्यानि लेह्यचोष्याणि यानि [illegible]।
भुञ्जते विविधैर्वक्त्रैर्विलुम्पन्त्याक्षिपन्ति च ॥ ४६ ॥

दिव्य पेय पदार्थ, लेह्य और चोष्य आदि जो-जो भोजन वहाँ उपलब्ध हुए, उन सबको वे रुद्रगण अपने विविध मुखोंद्वारा खाने, नष्ट करने और चारों ओर छींटने तथा फेंकने लगे ॥ ४६ ॥

रुद्रकोपान्महाकायाः कालाग्निसदृशोपमाः।
क्षोभयन् सुरसैन्यानि भीषयन्तः समन्ततः ॥ ४७ ॥

वे विशालकाय भूत रुद्रदेवके क्रोधसे कालाग्निके समान होकर देवताओंकी सेनाओंको चारों ओरसे डराने और क्षुब्ध करने लगे ॥ ४७ ॥

क्रीडन्ति विविधाकाराश्चिक्षिपुः सुरयोषितः।
रुद्रकोधात् प्रयत्नेन सर्वदेवैः सुरक्षितम् ॥ ४८ ॥
तं यज्ञमदहच्छीघ्रं रुद्रकर्मा समन्ततः।

अनेक प्रकारकी आकृतिवाले वे रुद्रगण खेलते-कूदते और देवाङ्गनाओंको दूर फेंक देते थे। यद्यपि सम्पूर्ण देवताओंने मिलकर प्रयत्नपूर्वक उस यज्ञकी [illegible] की थी तथापि रुद्रकर्मा वीरभद्रने रुद्रदेवके क्रोधसे प्रेरित हो [illegible] ओरसे शीघ्र ही उसे जलाकर [illegible] [illegible] दिया ॥ ४८½ ॥

चकार भैरवं नादं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ४९ ॥
छित्त्वा शिरो वै यज्ञस्य ननाद च मुमोद च ।

तत्पश्चात् उसने ऐसी भीषण गर्जना की, जो समस्त प्राणियोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाली थी । फिर उसने यज्ञका सिर [illegible] बड़े जोरसे सिंहनाद किया और मन-ही-मन आनन्दका अनुभव किया ॥ ४९½ ॥

ततो ब्रह्मादयो देवा दक्षश्चैव प्रजापतिः ॥ ५० ॥
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे कथ्यतां को भवानिति ।

तब ब्रह्मा आदि देवता तथा प्रजापति दक्ष—ये सब-के-सब हाथ जोड़कर बोले—'देवदेव ! कहिये, आप कौन हैं ?' ॥

वीरभद्र उवाच

नाहं रुद्रो न वा देवी नैव भोक्तुमिहागतः ॥ ५१ ॥
देव्या मन्युकृतं मत्वा क्रुद्धः सर्वात्मकः प्रभुः ।

वीरभद्रने कहा—ब्रह्मन् ! मैं [illegible] तो रुद्र हूँ, न देवी हूँ और न यहाँ भोजन करनेके लिये ही आया हूँ । तुम्हारा यह यज्ञ देवी पार्वतीके रोषका कारण बन गया है—ऐसा जानकर सर्वात्मा भगवान् शिव कुपित हो उठे हैं ॥ ५१½ ॥

द्रष्टुं वा नैव विप्रेन्द्रान् नैव कौतूहलेन वा ॥ ५२ ॥
तव यज्ञविघातार्थं सम्प्राप्तं विद्धि मामिह ।

मैं यहाँ आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका दर्शन करने या कौतूहलवश इस यज्ञका तमाशा देखनेके लिये नहीं आया हूँ । तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि मैं तुम्हारे इस यज्ञका विनाश करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ ॥ ५२½ ॥

वीरभद्र इति ख्यातो रुद्रकोपाद् विनिःसृतः ॥ ५३ ॥
भद्रकालीति विख्याता देव्याः कोपाद् विनिःसृता ।
प्रेषितौ देवदेवेन यज्ञान्तिकमिहागतौ ॥ ५४ ॥

मेरा नाम वीरभद्र है । रुद्रदेवके क्रोधसे मेरा [illegible] हुआ है । यह नारी भद्रकालीके नामसे विख्यात है और देवी पार्वतीके कोपसे प्रकट हुई है । देवाधिदेव महादेवने हम दोनोंको यहाँ भेजा है । इसलिये हम दोनों इस यज्ञके निकट आये हैं ॥ ५३-५४ ॥

शरणं गच्छ विप्रेन्द्र देवदेवमुमापतिम् ।
वरं क्रोधोऽपि देवस्य वरदानं न चान्यतः ॥ ५५ ॥

विप्रवर ! तुम देवाधिदेव उमावल्लभ भगवान् शिवकी शरणमें जाओ । महादेवजीका क्रोध भी परम मङ्गलमय है और दूसरोंसे मिला हुआ वरदान भी मङ्गलकारक नहीं होता ॥

वीरभद्रवचः श्रुत्वा दक्षो धर्मभृतां वरः ।
तोषयामास स्तोत्रेण प्रणिपत्य महेश्वरम् ॥ ५६ ॥

वीरभद्रकी यह बात सुनकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ दक्षने भगवान् शिवके उद्देश्यसे प्रणाम करके निम्नाङ्कित स्तोत्रके द्वारा उनकी स्तुति की—॥ ५६ ॥

प्रपद्ये देवमीशानं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ।
महादेवं महात्मानं विश्वस्य जगतः पतिम् ॥ ५७ ॥

'जो सम्पूर्ण जगत्के शासक, पालक, महान् आत्मा, नित्य, सनातन, अविकारी और आराध्यदेव हैं, उन महादेवजीकी [illegible] मैं शरण लेता हूँ' ॥ ५७ ॥

प्राणापानौ संनिरुध्य वक्त्रस्थानेन यत्नतः ।
विचार्य सर्वतो दृष्टिं बहुदृष्टिरमित्रजित् ॥ ५८ ॥
सहसा देवदेवेशो ह्यग्निकुण्डात् समुत्थितः ।
बिभ्रत्सूर्यसहस्रस्य तेजः संवर्तकोपमः ॥ ५९ ॥
स्मितं कृत्वाब्रवीद् वाक्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ।

तब अनेक नेत्रोंवाले, शत्रुविजयी, महादेव अपने मुखके द्वारा यत्नपूर्वक प्राण और अपान वायुको अवरुद्ध करके सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टिपात करते हुए सहसा अग्निकुण्डसे निकल पड़े । प्रलयकालीन अग्निके समान तेजस्वी स्वरूप [illegible] सहस्रों सूर्योंकी प्रभा धारण किये [illegible] दक्षके सामने खड़े हो गये और मुसकराकर बोले—'प्रजापते ! बोलो, मैं आज तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ' ॥ ५८-५९½ ॥

श्राविते च मखाध्याये देवानां गुरुणा ततः ॥ ६० ॥
तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा दक्षो देवं प्रजापतिः ।
भीतशङ्कितवित्रस्तः सबाष्पवदनेक्षणः ॥ ६१ ॥
यदि प्रसन्नो भगवान् यदि चाहं भवत्प्रियः ।
यदि वाहमनुग्राह्यो यदि वा वरदो मम ॥ ६२ ॥
यद् दग्धं भक्षितं पीतमशितं यच्च नाशितम् ।
चूर्णीकृतापविद्धं च यज्ञसम्भारमीदृशम् ॥ ६३ ॥
दीर्घकालेन महता प्रयत्नेन सुसंचितम् ।
[illegible] मिथ्या भवेन्मह्यं वरमेतमहं वृणे ॥ ६४ ॥

उस समय देवगुरु बृहस्पतिने महादेवजीको वेदका मखाध्याय पढ़कर सुनाया । तत्पश्चात् प्रजापति दक्ष दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहाते हुए हाथ जोड़कर भय और शङ्कासे सहमे हुए-से बोले—'भगवन् ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, यदि मैं आपका प्रिय हूँ, आपके अनुग्रहका पात्र हूँ अथवा यदि आप मुझे वर देनेको उद्यत हैं तो मैं यही वर माँगता हूँ कि मैंने दीर्घकालमें महान् प्रयत्न करके जो [illegible] यज्ञ-सम्भार जुटा रखा था, उसमेंसे जो जला दिया गया, खा-पी लिया गया, [illegible] किया गया अथवा चूर-चूर करके फेंक दिया गया, वह सब मेरे लिये व्यर्थ न हो' ॥ ६०—६४ ॥

तथास्त्वित्याह भगवान् भगनेत्रहरो हरः ।
धर्माध्यक्षो विरूपाक्षस्त्र्यक्षो देवः प्रजापतिः ॥ ६५ ॥

तब धर्मके अध्यक्ष, प्रजापालक, विरूपाक्ष, त्रिनेत्रधारी, भगनेत्रहारी देवेश्वर भगवान् हरने 'तथास्तु' कहकर दक्षको मनोवाञ्छित वर दे दिया ॥ ६५ ॥

जानुभ्यामवनीं गत्वा दक्षो लब्ध्वा भवाद् वरम् ।
नाम्नामष्टसहस्रेण स्तुतवान् वृषभध्वजम् ॥ ६६ ॥

दक्षके यज्ञमें शिवजीका प्राकट्य

महादेवजीसे वर पाकर दक्षने धरतीपर घुटने टेककर उन्हें प्रणाम किया और एक हजार आठ नामोंद्वारा उन भगवान् वृषभध्वजका स्तवन किया ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

येर्नामधेयैः स्तुतवान् दक्षो देवं प्रजापतिः ।
वक्तुमर्हसि मे तात श्रोतुं [illegible] ममानघ ॥ ६७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! निष्पाप पितामह ! प्रजापति दक्षने जिन नामोंद्वारा महादेवजीकी स्तुति की थी, उनका मुझसे वर्णन कीजिये । उन्हें सुननेके लिये मेरे हृदयमें बड़ी श्रद्धा है ॥ ६७ ॥

भीष्म उवाच

श्रूयतां देवदेवस्य नामान्यद्भुतकर्मणः ।
गूढव्रतस्य गुह्यानि प्रकाशानि च भारत ॥ ६८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! अद्भुत कर्म करनेवाले गूढ व्रतधारी देवाधिदेव महादेवजीके कुछ नाम गोपनीय हैं और कुछ प्रकाशित हैं । तुम उन सबको सुनो ॥ ६८ ॥

नमस्ते देवदेवेश देवारिबलसूदन ।
देवेन्द्रबलविष्टम्भ देवदानवपूजित ॥ ६९ ॥

(दक्ष बोले)—देवदेवेश्वर ! आपको नमस्कार है । [illegible] देववैरी दानवोंकी सेनाके संहारक और देवराज इन्द्रकी शक्तिको भी स्तम्भित करनेवाले हैं । देवता और दानव—सबने आपकी पूजा की है ॥ ६९ ॥

सहस्राक्ष विरूपाक्ष त्र्यक्ष यक्षाधिपप्रिय ।
सर्वतःपाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुख ॥ [illegible] ॥

आप सहस्रों नेत्रोंसे युक्त होनेके कारण सहस्राक्ष हैं । आपकी इन्द्रियाँ सबसे विलक्षण अर्थात् परोक्ष विषयको भी [illegible] करनेवाली हैं, इसलिये आपको विरूपाक्ष कहते हैं । आप त्रिनेत्रधारी होनेके कारण त्र्यक्ष कहलाते हैं । यक्षराज कुबेरके भी आप प्रिय (इष्टदेव) हैं । आपके सब ओर हाथ और पैर हैं [illegible] सब ओर नेत्र, [illegible] और [illegible] हैं ॥

सर्वतःश्रुतिमँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठसि ।
शङ्कुकर्ण महाकर्ण कुम्भकर्णार्णवालय ॥ ७१ ॥
गजेन्द्रकर्ण गोकर्ण पाणिकर्ण नमोऽस्तु ते ।

आपके कान भी [illegible] ओर हैं । संसारमें जो कुछ है, सबको व्याप्त करके आप स्थित हैं । शङ्कुकर्ण, महाकर्ण, कुम्भकर्ण, अर्णवालय, गजेन्द्रकर्ण, गोकर्ण और पाणिकर्ण—ये सात पार्षद् आपके ही स्वरूप हैं । इन सबके रूपमें आपको नमस्कार है ॥ ७१½ ॥

शतोदर शतावर्त शतजिह्व नमोऽस्तु ते ॥ ७२ ॥
गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणं त्वा शतक्रतुमूर्ध्वं खमिव मेनिरे ॥ ७३ ॥

आपके सैकड़ों उदर, सैकड़ों आवर्त और सैकड़ों जिह्वाएँ होनेके कारण आप क्रमशः शतोदर, शतावर्त और शतजिह्व नामसे प्रसिद्ध हैं । आपको प्रणाम है । गायत्री-मन्त्रका जप करनेवाले द्विज आपकी ही महिमाका गान करते हैं और सूर्योपासक सूर्यके रूपमें आपकी ही आराधना करते हैं । ऋषिगण आपको ही [illegible] शतक्रतु इन्द्र और आकाशके [illegible] सर्वोच्च पद मानते हैं ॥ ७२-७३ ॥

मूर्तौ हि ते महामूर्ते समुद्राम्बरसंनिभ ।
सर्वा वै देवता ह्यस्मिन् गावो गोष्ठ इवासते ॥ [illegible] ॥

समुद्र और आकाशके समान अपार, अनन्त रूप धारण करनेवाले महामूर्तिधारी महेश्वर ! जैसे गोशालामें गौएँ निवास करती हैं, उसी प्रकार आपकी भूमि, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा एवं यजमानरूप [illegible] प्रकारकी मूर्तियोंमें सम्पूर्ण देवताओंका निवास है ॥ ७४ ॥

भवच्छरीरे पश्यामि सोममग्निं जलेश्वरम् ।
आदित्यमथ वै विष्णुं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ७५ ॥

मैं आपके शरीरमें सोम, अग्नि, वरुण, सूर्य, विष्णु, [illegible] तथा बृहस्पतिको भी देख रहा हूँ ॥ ७५ ॥

भगवान् कारणं कार्यं क्रिया करणमेव च ।
असतश्च सतश्चैव तथैव प्रभवाप्ययौ ॥ ७६ ॥

[illegible] ही कारण, कार्य, क्रिया ([illegible]) और [illegible] हैं । सत् और असत् पदार्थोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान भी [illegible] ही हैं ॥ ७६ ॥

नमो भवाय शर्वाय रुद्राय वरदाय च ।
पशूनां पतये नित्यं नमोऽस्त्वन्धकघातिने ॥ ७७ ॥

आप सबके उद्भवका स्थान होनेसे भव, संहार करनेके [illegible] शर्व, 'रु' अर्थात् पाप एवं दुःखको दूर करनेसे रुद्र, वरदाता होनेसे वरद तथा पशुओं (जीवों) के पालक होनेके कारण सदा पशुपति कहलाते हैं । आपने ही अन्धकासुरका वध किया है, इसलिये आपका नाम अन्धकघाती है । आपको बारंबार नमस्कार है ॥ [illegible] ॥

त्रिजटाय त्रिशीर्षाय त्रिशूलवरपाणिने ।
त्र्यम्बकाय त्रिनेत्राय त्रिपुरघ्नाय वै नमः ॥ ७८ ॥

आप तीन [illegible] और तीन [illegible] धारण करनेवाले हैं । आपके हाथमें श्रेष्ठ त्रिशूल शोभा पाता है । [illegible] त्र्यम्बक, त्रिनेत्रधारी तथा त्रिपुरासुरका विनाश करनेवाले हैं । आपको नमस्कार है ॥ ७८ ॥

नमश्चण्डाय कुण्डाय अण्डायाण्डधराय च ।
दण्डिने समकर्णाय दण्डिमुण्डाय वै नमः ॥ ७९ ॥

आप दुष्टोंपर अत्यन्त क्रोध करनेके कारण चण्ड हैं । कुण्डमें जलकी भाँति आपके उदरमें सम्पूर्ण जगत् स्थित है,

इसलिये आपको कुण्ड कहते हैं। आप अण्ड (ब्रह्माण्ड-स्वरूप) और अण्डधर (ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले) हैं। आप दण्डधारी (सबको दण्ड देनेवाले) और समकर्ण (सबकी समान रूपसे सुननेवाले) हैं। दण्डधारण करके मूँड़ मुँड़ानेवाले संन्यासी भी आपके ही स्वरूप हैं, इसलिये आपका नाम दण्डिमुण्ड है। आपको नमस्कार है ॥ ७९ ॥

नमोर्ध्वदंष्ट्रकेशाय शुक्लायावतताय च।
विलोहिताय धूम्राय नीलग्रीवाय [illegible] नमः ॥ ८० ॥

आपकी दाढ़ें बड़ी-बड़ी और सिरके बाल ऊपरकी ओर उठे हुए हैं, इसलिये आप ऊर्ध्वदंष्ट्र तथा ऊर्ध्वकेश कहलाते हैं। आप ही शुक्ल (विशुद्ध ब्रह्म) और आप ही अवतत (जगत्‌के रूपमें विस्तृत) हैं। आप रजोगुणको अपनानेपर विलोहित और तमोगुणका [illegible] लेनेपर धूम्र कहलाते हैं। आपकी ग्रीवामें नीले रंगका चिह्न है, इसलिये आपको नीलग्रीव कहते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८० ॥

नमोऽस्त्वप्रतिरूपाय विरूपाय शिवाय च।
सूर्याय सूर्यमालाय सूर्यध्वजपताकिने ॥ ८१ ॥

आपके रूपकी कहीं भी समता नहीं है, इसलिये [illegible] अप्रतिरूप हैं। विविध रूप धारण करनेके कारण [illegible] नाम विरूप है। आप ही परम कल्याणकारी शिव हैं। [illegible] ही सूर्य हैं, आप ही सूर्यमण्डलके भीतर सुशोभित होते हैं। आप अपनी ध्वजा और पताकापर सूर्यका चिह्न धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८१ ॥

[illegible] प्रमथनाथाय वृषस्कन्धाय धन्विने।
शत्रुदमाय दण्डाय पर्णचीरपटाय च ॥ ८२ ॥

आप प्रमथगणोंके अधीश्वर हैं। वृषभके कंधोंके [illegible] आपके कंधे भरे हुए हैं। आप पिनाक धनुष धारण करते हैं। शत्रुओंका दमन करनेवाले और दण्डस्वरूप हैं। किरात या तपस्वीके रूपमें विचरते [illegible] [illegible] भोजपत्र और वल्कल-वस्त्र धारण करते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८२ ॥

नमो हिरण्यगर्भाय हिरण्यकवचाय च।
हिरण्यकृतचूडाय हिरण्यपतये [illegible] ॥ ८३ ॥

हिरण्य (सुवर्ण) को [illegible] करनेके कारण हिरण्यगर्भ कहलाते हैं। सुवर्णके ही कवच और मुकुट धारण करनेसे आपको हिरण्यकवच और हिरण्यचूड [illegible] गया है। आप सुवर्णके अधिपति हैं। आपको सादर नमस्कार है ॥

नमः स्तुताय स्तुत्याय स्तूयमानाय वै नमः।
सर्वाय सर्वभक्षाय सर्वभूतान्तरात्मने ॥ ८४ ॥

जिनकी स्तुति हो चुकी है, वे आप [illegible]। जो स्तुतिके योग्य हैं, वे भी आप हैं और जिनकी स्तुति हो रही है, वे भी [illegible] ही हैं। आप सर्वस्वरूप, सर्वभक्षी और सम्पूर्ण भूतोंके अन्तरात्मा हैं। आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ८४ ॥

नमो होत्रेऽथ मन्त्राय शुक्लध्वजपताकिने।
नमो नाभाय नाभ्याय नमः कटकटाय च ॥ ८५ ॥

आप ही होता और मन्त्र हैं। आपको नमस्कार है। आपकी ध्वजा और पताकाका रंग श्वेत है। आपको नमस्कार है। आप नाभ (नाभिमें सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करनेवाले), नाभ्य (संसार-चक्रके नाभि-स्थान) तथा कट-कट (आवरणके भी आवरण) हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८५ ॥

नमोऽस्तु कृशनासाय कृशाङ्गाय कृशाय च।
संहृष्टाय विहृष्टाय नमः किलकिलाय च ॥ ८६ ॥

आपकी नासिका कृश (पतली) है, इसलिये आप कृशनास कहलाते हैं। आपके अवयव कृश होनेसे आपको कृशाङ्ग तथा शरीर दुबला होनेसे कृश कहते हैं। आप अत्यन्त हर्षोल्लाससे परिपूर्ण, विशेष हर्षका अनुभव करनेवाले और हर्षकी किल-किल ध्वनि हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८६ ॥

नमोऽस्तु शयमानाय शयितायोत्थिताय च।
स्थिताय धावमानाय मुण्डाय जटिलाय च ॥ ८७ ॥

आप [illegible] प्राणियोंके भीतर शयन करनेवाले अन्तर्यामी पुरुष हैं। प्रलयकालमें योगनिद्राका आश्रय लेकर सोते और सृष्टिके प्रारम्भकालमें [illegible] निद्रासे जागते हैं। [illegible] ब्रह्म रूपसे सर्वत्र स्थित और कालरूपसे [illegible] दौड़नेवाले हैं। मूँड़ मुँड़ानेवाले संन्यासी और जटाधारी तपस्वी भी आपके ही स्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ ८७ ॥

नमो नर्तनशीलाय मुखवादित्रवादिने।
नाद्योपहारलुब्धाय गीतवादित्रशालिने ॥ ८८ ॥

आपका ताण्डव-नृत्य बराबर चलता रहता है। आप मुखसे शृङ्गी आदि बाजे बजानेमें कुशल हैं। कमलपुष्पकी भेंट लेनेके लिये [illegible] उत्सुक रहते हैं। गाने और बजानेकी कलामें तत्पर रहकर आप बड़ी शोभा पाते हैं। आपको [illegible] है ॥ ८८ ॥

नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय बलप्रमथनाय च।
कालनाथाय कल्याय क्षयायोपक्षयाय च ॥ ८९ ॥

आप अवस्थामें सबसे ज्येष्ठ और गुणोंमें भी सबसे श्रेष्ठ हैं। आपने बल नामक दैत्यको इन्द्ररूपसे मथ डाला था। आप कालके भी नियन्ता और सर्वशक्तिमान् हैं। महाप्रलय और अवान्तर-प्रलय भी आप [illegible] हैं। आपको नमस्कार है ॥

भीमदुन्दुभिहासाय भीमव्रतधराय च।
[illegible] [illegible] नमो नित्यं नमोऽस्तु दशबाहवे ॥ ९० ॥

प्रभो ! आपका अट्टहास भयंकर शब्द करनेवाली दुन्दुभिके [illegible] जान पड़ता है। आप भीषण व्रतको धारण करनेवाले हैं। दस भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले उमापतिरूपधारी आपको मेरा नित्य बारंबार नमस्कार है ॥ ९० ॥

आप ही अन्नदाता, अन्नपति और अन्नके भोक्ता हैं। आपके सहस्रों मस्तक और सहस्रों चरण हैं। आपको बारंबार प्रणाम है ॥ १०३ ॥

सहस्रोद्यतशूलाय सहस्रनयनाय च।
नमो बालार्कवर्णाय बालरूपधराय [illegible] ॥१०४॥

आप अपने सहस्रों हाथोंमें सहस्रों शूल लिये रहते हैं। आपके सहस्रों नेत्र हैं। आपकी अङ्गकान्ति प्रातःकालीन सूर्यके समान देदीप्यमान है। आप बालरूप धारण करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०४ ॥

बालानुचरगोप्त्राय बालक्रीडनकाय च।
नमो वृद्धाय लुब्धाय क्षुब्धाय क्षोभणाय च ॥१०५॥

आप श्रीकृष्णरूपसे संगी-साथी बालकोंके रक्षक [illegible] बालकोंके साथ खेल करनेवाले हैं। आप सबकी अपेक्षा वृद्ध हैं। भक्ति और प्रेमके लोभी हैं। दुष्टोंके पापाचारसे क्षुब्ध हो उठते हैं और दुराचारियोंको क्षोभमें डालनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०५ ॥

तरङ्गाङ्कितकेशाय मुञ्जकेशाय वै नमः।
[illegible] षट्कर्मतुष्टाय त्रिकर्मनिरताय च ॥१०६॥

आपके केश गङ्गाके तरङ्गोंसे अङ्कित तथा मुञ्जके [illegible] हैं। आपको नमस्कार है। आप ब्राह्मणोंकेछः कर्म--अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन तथा दान और प्रतिग्रहसे संतुष्ट रहते हैं; स्वयं यजन, अध्ययन और दानरूप तीन कर्मोंमें ही तत्पर रहते हैं। आपको मेरा प्रणाम है ॥ १०६ ॥

वर्णाश्रमाणां विधिवत् पृथक्कर्मनिवर्तिने।
नमो घुष्याय घोषाय नमः [illegible] च ॥१०७॥

आप वर्ण और आश्रमोंके भिन्न-भिन्न कर्मोंका विधिवत् विभाग करनेवाले, जपनीय मन्त्ररूप, घोषस्वरूप तथा कोलाहलमय हैं। आपको बारंबार नमस्कार है ॥ १०७ ॥

श्वेतपिङ्गलनेत्राय कृष्णरक्तेक्षणाय च।
[illegible] दण्डाय स्फोटनाय कृशाय च ॥१०८॥

आपके नेत्र श्वेत और पिङ्गलवर्णके हैं, काले और [illegible] रंगके हैं। आप प्राणवायु ([illegible]) को जीतनेवाले, दण्ड (आयुध) रूप, ब्रह्माण्डरूपी घटको फोड़नेवाले [illegible] कृश-शरीरधारी हैं। आपको नमस्कार है ॥ १०८ ॥

धर्मकामार्थमोक्षाणां कथनीयकथाय च।
सांख्याय सांख्यमुख्याय सांख्ययोगप्रवर्तिने ॥१०९॥

धर्म, अर्थ, [illegible] [illegible] मोक्ष देनेके विषयमें आपकी कीर्तिकथा वर्णन करनेके योग्य है। आप सांख्यस्वरूप, सांख्ययोगियोंमें प्रधान तथा सांख्यशास्त्रको प्रवृत्त करनेवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ १०९ ॥

नमो रथ्यविरथ्याय चतुष्पथरथाय च।
कृष्णाजिनोत्तरीयाय व्यालयज्ञोपवीतिने ॥११०॥

आप रथपर बैठकर तथा बिना रथके भी घूमनेवाले हैं। जल, अग्नि, वायु तथा आकाश--इन चारों मार्गोंमें आपकी गति है। आप काले मृगचर्मको दुपट्टेकी भाँति ओढ़नेवाले तथा सर्पमय यज्ञोपवीत धारण करनेवाले हैं। आपको [illegible] है ॥ ११० ॥

ईशान वज्रसंघात हरिकेश नमोऽस्तु ते।
त्र्यम्बकाम्बिकनाथाय व्यक्ताव्यक्त नमोऽस्तु ते ॥१११॥

ईशान ! आपका शरीर वज्रके समान कठोर है। हरिकेश ! आपको नमस्कार है। व्यक्ताव्यक्तस्वरूप परमेश्वर ! आप त्रिनेत्रधारी तथा अम्बिकाके स्वामी हैं। आपको नमस्कार है ॥ १११ ॥

काम कामद कामघ्न तृप्तातृप्तविचारिणे।
सर्व सर्वद सर्वघ्न संध्याराग नमोऽस्तु ते ॥११२॥

आप कामस्वरूप, कामनाओंको पूर्ण करनेवाले, कामदेवके नाशक, तृप्त और अतृप्तका विचार करनेवाले, सर्वस्वरूप, सब कुछ देनेवाले, सबके संहारक और संध्याकालके समान रंगवाले हैं। आपको प्रणाम है ॥ ११२ ॥

[illegible] महाबाहो महासत्त्व महाद्युते।
महामेघचयप्रख्य महाकाल नमोऽस्तु ते ॥११३॥

महाबल ! महाबाहो ! महासत्त्व ! महाद्युते ! आप महान् मेघोंकी घटाके समान रंगवाले महाकालस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११३ ॥

स्थूल जीर्णाङ्ग जटिले वल्कलाजिनधारिणे।
दीप्तसूर्याग्निजटिले वल्कलाजिनवाससे।
सहस्रसूर्यप्रतिम तपोनित्य नमोऽस्तु ते ॥११४॥

आपका श्रीविग्रह स्थूल और जीर्ण है। आप जटाधारी हैं। वल्कल और मृगचर्म धारण करते हैं। देदीप्यमान सूर्य और अग्निके समान ज्योतिर्मयी जटासे सुशोभित हैं। वल्कल और मृगचर्म ही आपके वस्त्र हैं। आप सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशमान और सदा तपस्यामें संलग्न रहनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११४ ॥

उन्मादन शतावर्त गङ्गातोयार्द्रमूर्धज।
चन्द्रावर्त युगावर्त मेघावर्त नमोऽस्तु ते ॥११५॥

आप जगत्को उन्माद (मोह) में डालनेवाले हैं। आपके मस्तकपर गङ्गाजीकी सैकड़ों लहरें और भँवरें उठती रहती हैं। आपके केश सदा गङ्गाजलसे भीगे रहते हैं। आप ही चन्द्रमाको क्षय-वृद्धिके चक्करमें डालनेवाले हैं। आप ही युगोंकी पुनरावृत्ति करनेवाले और मेघोंके प्रवर्तक हैं। आपको नमस्कार है ॥ ११५ ॥

त्वमन्नमन्नभोक्ता च अन्नदोऽन्नभुगेव च।

अन्नस्रष्टा [illegible] पक्ता च पक्वभुक्पवनोऽनलः ॥११६॥

[illegible] अन्न, अन्नके भोक्ता, अन्नदाता, [illegible] पालन करनेवाले, अन्नस्रष्टा, [illegible] पक्वान्नभोजी, प्राण-[illegible] जठरानलरूप हैं ॥ ११६ ॥

जरायुजाण्डजाश्चैव स्वेदजाश्च तथोद्भिजाः ।
त्वमेव देवदेवेश भूतग्रामश्चतुर्विधः ॥११७॥

देवदेवेश्वर ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज—ये चार प्रकारके प्राणिसमूह आप ही है ॥ ११७ ॥

चराचरस्य [illegible] त्वं प्रतिहर्ता तथैव च ।
त्वामाहुर्ब्रह्मविदुषो ब्रह्म ब्रह्मविदां [illegible] ॥११८॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ! [illegible] ही चराचर जीवोंकी सृष्टि तथा संहार करनेवाले हैं । ब्रह्मज्ञानी पुरुष आपहीको ब्रह्म कहते हैं ॥ ११८ ॥

[illegible] परमा योनिः खं वायुर्ज्योतिषां निधिः ।
ऋक्सामानि तथोङ्कारमाहुस्त्वां ब्रह्मवादिनः ॥११९॥

वेदवादी विद्वान् आपको ही मनका परम कारण, [illegible] वायु, तेजकी निधि, ऋक्, [illegible] ॐकार बताते हैं ॥ ११९ ॥

हायिहायिहुवाहायिहाहुवायि तथासकृत् ।
गायन्ति त्वां सुरश्रेष्ठ सामगा ब्रह्मवादिनः ॥१२०॥

सुरश्रेष्ठ ! सामगान करनेवाले वेदवेत्ता पुरुष [illegible] ३ यि, हा ३ यि, हु ३ वा, हा ३ यि, हा ३ हु, [illegible] यि' आदिका बारबार उच्चारण करके निरन्तर आपकी ही महिमाका गान करते हैं ॥ १२० ॥

यजुर्मयो [illegible] त्वमाहुतिमयस्तथा ।
पठ्यसे स्तुतिभिश्चैव वेदोपनिषदां गणैः ॥१२१॥

यजुर्वेद और ऋग्वेद आपके ही स्वरूप हैं । आप ही हविष्य हैं । वेदों और उपनिषदोंके समूह अपनी स्तुतियोंद्वारा आपकी ही महिमाका प्रतिपादन करते हैं ॥ १२१ ॥

[illegible] क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वर्णावराश्च ये ।
त्वमेव मेघसंघाश्च विद्युतस्तनितगर्जितः ॥१२२॥

[illegible] क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज—ये आपके ही स्वरूप हैं । मेघोंकी घटा, बिजली, गर्जना और गड़गड़ाहट भी आप ही हैं ॥ १२२ ॥

संवत्सरस्त्वमृतवो मासो मासार्धमेव च ।
युगं निमेषाः [illegible] नक्षत्राणि ग्रहाः [illegible] ॥१२३॥

[illegible] ऋतु, मास, पक्ष, युग, निमेष, काष्ठा, नक्षत्र, ग्रह और [illegible] भी आप ही हैं ॥ १२३ ॥

वृक्षाणां ककुदोऽसि त्वं गिरीणां शिखराणि च ।
व्याघ्रो मृगाणां पततां तार्क्ष्योऽनन्तश्च भोगिनाम् ॥१२४॥

वृक्षोंमें प्रधान वट-पीपल आदि, पर्वतोंमें उनके शिखर, वन-जन्तुओंमें व्याघ्र, पक्षियोंमें [illegible] तथा सर्पोंमें अनन्त [illegible] ही हैं ॥ १२४ ॥

क्षीरोदो ह्युदधीनां च यन्त्राणां धनुरेव च ।
वज्रः प्रहरणानां च व्रतानां सत्यमेव च ॥१२५॥

समुद्रोंमें क्षीरसागर, यन्त्रों (अस्त्रों) में धनुष, चलाये जानेवाले आयुधोंमें [illegible] और व्रतोंमें [illegible] भी आप ही हैं ॥

त्वमेव द्वेष इच्छा च रागो मोहः क्षमाक्षमे ।
व्यवसायो धृतिर्लोभः कामक्रोधौ जयाजयौ ॥१२६॥

आप ही द्वेष, इच्छा, राग, मोह, [illegible] अक्षमा, व्यवसाय, धैर्य, लोभ, काम, क्रोध, [illegible] पराजय हैं ॥

त्वं गदी त्वं शरी चापी खट्वाङ्गी झर्झरी तथा ।
छेत्ता भेत्ता प्रहर्ता त्वं नेता मन्ता पिता मतः ॥१२७॥

आप गदा, बाण, धनुष, [illegible] अङ्ग तथा झर्झर [illegible] करनेवाले हैं । आप छेदन, भेदन और प्रहार करनेवाले हैं । सत्पथपर ले जानेवाले, शुभका मनन करनेवाले [illegible] पिता माने गये हैं ॥ १२७ ॥

दशलक्षणसंयुक्तो धर्मोऽर्थः काम एव च ।
[illegible] समुद्राः सरितः पल्वलानि सरांसि [illegible] ॥१२८॥
लता वल्ल्यस्तृणौषध्यः पशवो मृगपक्षिणः ।
द्रव्यकर्मसमारम्भः कालः पुष्पफलप्रदः ॥१२९॥

दस लक्षणोंवाला धर्म तथा अर्थ और काम भी आप ही हैं । गङ्गा, समुद्र, नदियाँ, गड्ढे, तालाब, लता, वल्ली, तृण, ओषधि, पशु, मृग, पक्षी, द्रव्य और कर्मोंके आरम्भ तथा फूल और [illegible] देनेवाला [illegible] भी [illegible] ही हैं ॥१२८-१२९॥

आदिश्चान्तश्च देवानां गायत्र्योंकार [illegible] च ।
हरितो रोहितो नीलः कृष्णो रक्तस्तथारुणः ।
कद्रुश्च कपिलश्चैव कपोतो मेचकस्तथा ॥१३०॥

आप देवताओंके आदि और अन्त हैं । गायत्री-मन्त्र और ॐकार भी आप ही हैं । हरित, लोहित, नील, [illegible] रक्त, अरुण, कद्रु, कपिल, कबूतरके समान तथा मेचक (श्याम मेघके समान)—ये दस प्रकारके रंग भी आपके ही स्वरूप हैं ॥ १३० ॥

अवर्णश्च सुवर्णश्च वर्णकारो घनोपमः ।
सुवर्णनामा [illegible] तथा सुवर्णप्रिय एव च ॥१३१॥

आप वर्णरहित होनेके [illegible] अवर्ण और अच्छे वर्णवाले होनेसे सुवर्ण कहलाते हैं । आप वर्णोंके निर्माता और मेघके समान हैं । आपके नाममें सुन्दर वर्णों (अक्षरों) [illegible] उपयोग हुआ है, इसलिये [illegible] सुवर्णनामा हैं तथा आपको श्रेष्ठ वर्ण प्रिय है ॥ १३१ ॥

त्वमिन्द्रश्च यमश्चैव वरुणो धनदोऽनलः ।
उपप्लवश्चित्रभानुः स्वर्भानुर्भानुरेव च ॥१३२॥

आप ही इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, अग्नि, सूर्य-चन्द्र-का ग्रहण, चित्रभानु (सूर्य), राहु और भानु हैं ॥१३२॥

होत्रं होता च होम्यं च हुतं चैव [illegible] प्रभुः ।
त्रिसौपर्णं तथा [illegible] यजुषां शतरुद्रियम् ॥१३३॥

होत्र (स्रुवा), होता, हवनीय पदार्थ, हवन-क्रिया [illegible] (उसके फल देनेवाले) परमेश्वर भी आप ही हैं । वेदकी त्रिसौपर्ण नामक श्रुतियोंमें तथा यजुर्वेदके शतरुद्रिय-प्रकरणमें जो बहुत-से वैदिक नाम हैं, वे सब आपहीके नाम हैं ॥१३३॥

पवित्रं च पवित्राणां मङ्गलानां च मङ्गलम् ।
गिरिको हिंडुको वृक्षो जीवः पुद्गल एव च ॥१३४॥
प्राणः सत्त्वं रजश्चैव तमश्चाप्रमदस्तथा ।
प्राणोऽपानः [illegible] उदानो व्यान एव च ॥१३५॥
उन्मेषश्च निमेषश्च क्षुतं जृम्भितमेव च ।
लोहितान्तर्गता दृष्टिर्महावक्त्रो महोदरः ॥१३६॥

आप पवित्रोंके भी पवित्र और मङ्गलोंके भी मङ्गल हैं । आप ही गिरिक (अचेतनको भी चेतन करनेवाले), हिंडुक (गमनागमन करनेवाले), संसार-वृक्ष, जीव, शरीर, प्राण, सत्त्व, रज, तम, अप्रमद (स्त्रीरहित—ऊर्ध्वरेता), प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, उन्मेष, निमेष (आँखोंका खोलना-मींचना), छींकना और जँभाई लेना आदि चेष्टाएँ भी आप ही हैं । आपकी अग्निमयी [illegible] रंगकी दृष्टि भीतर छिपी हुई है । आपके मुख और उदर महान् हैं ॥

सूचीरोमा हरिश्मश्रुरूर्ध्वकेशश्चलाचलः ।
गीतवादित्रतत्त्वज्ञो गीतवादनकप्रियः ॥१३७॥

रोएँ सूईके समान हैं । दाढ़ी-मूछ काली है । सिरके [illegible] ऊपरकी ओर उठे हुए हैं । आप चराचर-स्वरूप हैं । गाने-बजानेके तत्त्वको जाननेवाले हैं । गाना-बजाना आपको अधिक प्रिय है ॥ १३७ ॥

मत्स्यो जलचरो जाल्योऽकलः केलिकलः कलिः ।
अकालश्चातिकालश्च दुष्कालः काल [illegible] च ॥१३८॥

[illegible] मत्स्य, [illegible] और जालधारी घड़ियाल हैं । फिर भी [illegible] (बन्धनसे परे) हैं । आप केलिकलासे युक्त और कलहरूप हैं । आप ही अकाल, अतिकाल, दुष्काल [illegible] काल हैं ॥ १३८ ॥

मृत्युः क्षुरश्च कृत्यश्च पक्षोऽपक्षक्षयंकरः ।
मेघकालो महादंष्ट्रः संवर्तकबलाहकः ॥१३९॥

मृत्यु, क्षुर (छेदन करनेका शस्त्र), कृत्य (छेदन करने योग्य), [illegible] (मित्र) तथा अपक्ष-क्षयंकर (शत्रुपक्षका नाश करनेवाले) भी आप [illegible] हैं । आप मेघके समान काले, बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले और प्रलयकालीन मेघ हैं ॥ १३९ ॥

घण्टोऽघण्टो घटी घण्टी चरुचेली मिलीमिली ।
ब्रह्मकायिकमग्नीनां दण्डी मुण्डस्त्रिदण्डधृक् ॥१४०॥

घण्ट (प्रकाशवान्), अघण्ट (अत्यन्त प्रकाशवान्), घटी (कर्मफलसे युक्त करनेवाले), घण्टी (घण्टावाले), चरुचेली (जीवोंके साथ क्रीडा करनेवाले) तथा मिलीमिली (कारणरूपसे सबमें व्याप्त)—ये सब आप ही हैं । आप ही [illegible] अग्नियोंके स्वरूप, दण्डी, मुण्ड तथा त्रिदण्डधारी हैं ।

चतुर्युगश्चतुर्वेदश्चातुर्होत्रप्रवर्तकः ।
चातुराश्रम्यनेता [illegible] चातुर्वर्ण्यकरश्च यः ॥१४१॥

चार युग और चार वेद आपके ही स्वरूप हैं तथा चार प्रकारके होतृ-कर्मोंके प्रवर्तक आप ही हैं । आप चारों आश्रमोंके नेता तथा चारों वर्णोंकी सृष्टि करनेवाले हैं ॥ १४१ ॥

सदा चाक्षप्रियो धूर्तो गणाध्यक्षो गणाधिपः ।
रक्तमाल्याम्बरधरो गिरिशो गिरिकप्रियः ॥१४२॥

आप ही अक्षप्रिय, धूर्त, गणाध्यक्ष और गणाधिप आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं । आप रक्त [illegible] तथा लाल फूलोंकी माला पहनते हैं, पर्वतपर शयन करते और गेरुए वस्त्रसे प्रेम रखते हैं ॥ १४२ ॥

शिल्पिकः शिल्पिनां श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्तकः ।
भगनेत्राङ्कुशश्चण्डः पूष्णो दन्तविनाशनः ॥१४३॥

आप ही शिल्पियोंमें सर्वश्रेष्ठ शिल्पी (कारीगर) तथा [illegible] प्रकारकी शिल्पकलाके प्रवर्तक हैं । आप भगदेवताकी आँख फोड़नेके लिये अङ्कुश, [illegible] (अत्यन्त कोप करनेवाले) और पूषाके दाँत नष्ट करनेवाले हैं ॥ १४३ ॥

स्वाहा [illegible] वषट्कारो नमस्कारो नमो नमः ।
गूढव्रतो गुह्यतपास्तारकस्तारकामयः ॥१४४॥

स्वाहा, स्वधा, वषट्, नमस्कार और नमो नमः आदि पद आपके ही नाम हैं । आप गूढ व्रतधारी, गुप्त तपस्या करनेवाले, तारकमन्त्र और ताराओंसे भरे हुए आकाश हैं ॥ १४४ ॥

धाता विधाता संधाता विधाता धारणोऽधरः ।
[illegible] [illegible] सत्यं च ब्रह्मचर्यमथार्जवम् ॥१४५॥
भूतात्मा भूतकृद्भूतो भूतभव्यभवोद्भवः ।
भूर्भुवः स्वरितश्चैव ध्रुवो दान्तो महेश्वरः ॥१४६॥

धाता (धारण करनेवाले), विधाता (सृष्टि करनेवाले), संधाता (जोड़नेवाले), विधाता, धारण और अधर (आधाररहित) भी आपहीके नाम हैं । आप ब्रह्म, तप, सत्य, ब्रह्मचर्य, आर्जव (सरलता), भूतात्मा (प्राणियोंके आत्मा), भूतोंकी सृष्टि करनेवाले, भूत (नित्यसिद्ध), भूत, भविष्य और वर्तमानकी उत्पत्तिके कारण, भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, ध्रुव (स्थिर), दान्त (दमनशील) और महेश्वर हैं ॥ १४५-१४६ ॥

दीक्षितोऽदीक्षितः क्षान्तो दुर्दान्तोऽदान्तनाशनः ।
चन्द्रावर्तो युगावर्तः संवर्तः सम्प्रवर्तकः ॥१४७॥

दीक्षित (यज्ञकी दीक्षा लेनेवाले), अदीक्षित, क्षमावान्, दुर्दान्त, उद्दण्ड प्राणियोंका नाश करनेवाले, चन्द्रमाकी आवृत्ति करनेवाले ([illegible]), युगोंकी आवृत्ति करनेवाले (कल्प), संवर्त ([illegible]) तथा सम्प्रवर्तक (पुनः सृष्टि-सञ्चालन करनेवाले) भी आप ही हैं ॥१४७॥

कामो बिन्दुरणुः स्थूलः कर्णिकारस्रजप्रियः ।
नन्दीमुखो भीममुखः सुमुखो दुर्मुखोऽमुखः ॥१४८॥
चतुर्मुखो बहुमुखो रणेष्वग्निमुखस्तथा ।
हिरण्यगर्भः शकुनिर्महोरगपतिर्विराट् ॥१४९॥

[illegible] ही काम, बिन्दु, अणु ([illegible]) और स्थूलरूप हैं । आप कनेरके फूलकी माला अधिक पसंद करते हैं । आप ही नन्दीमुख, भीममुख (भयंकर मुखवाले), सुमुख, दुर्मुख, अमुख (मुखरहित), चतुर्मुख, बहुमुख तथा युद्धके [illegible] शत्रुका संहार करनेके [illegible] अग्निमुख (अग्निके [illegible] मुखवाले) हैं । हिरण्यगर्भ ([illegible]), शकुनि (पक्षीके समान असङ्ग), महान् सर्पोंके स्वामी (शेषनाग) और विराट् भी आप ही हैं ॥१४८-१४९॥

अधर्महा महापार्श्वश्चण्डधारो गणाधिपः ।
गोनर्दो गोप्रतारश्च गोवृषेश्वरवाहनः ॥१५०॥
त्रैलोक्यगोप्ता गोविन्दो गोमार्गोऽमार्ग एव च ।
श्रेष्ठः स्थिरश्च [illegible] निष्कम्पः कम्प एव च ॥१५१॥
दुर्वारणो दुर्विषहो दुःसहो दुरतिक्रमः ।
दुर्धर्षो दुष्प्रकम्पश्च दुर्विषो दुर्जयो [illegible] ॥१५२॥
शशः शशाङ्कः [illegible] शीतोष्णक्षुज्जराधिकृत् ।
आधयो व्याधयश्चैव व्याधिहा व्याधिरेव च ॥१५३॥

आप अधर्मके [illegible] महापार्श्व, चण्डधार, गणाधिप, गोनर्द, गौओंको आपत्तिसे बचानेवाले, नन्दीकी सवारी करनेवाले, त्रैलोक्यरक्षक, गोविन्द (श्रीकृष्णरूप), गोमार्ग (इन्द्रियोंके [illegible]), अमार्ग (इन्द्रियोंके अगोचर), श्रेष्ठ, स्थिर, स्थाणु, निष्कम्प, कम्प, दुर्वारण (जिनका सामना करना कठिन है, ऐसे), दुर्विषह ([illegible] वेगवाले), दुःसह, दुर्लङ्घ्य, दुर्द्धर्ष, दुष्प्रकम्प, दुर्विष, दुर्जय, [illegible] (शीघ्रगामी), [illegible] (चन्द्रमा) तथा शमन (यमराज) [illegible] । सर्दी-गर्मी, क्षुधा, वृद्धावस्था तथा मानसिक चिन्ताको दूर करनेवाले भी आप ही हैं । आप ही आधि-व्याधि तथा उसे [illegible] करनेवाले हैं ॥ १५०—१५३ ॥

मम यज्ञमृगव्याधो व्याधीनामागमो गमः ।
शिखण्डी पुण्डरीकाक्षः पुण्डरीकवनालयः ॥१५४॥
[illegible] उग्रदण्डोऽण्डनाशनः ।
विषाग्निपाः सुरश्रेष्ठः सोमपास्त्वं मरुत्पतिः ॥१५५॥

मेरे यज्ञरूपी मृगके वधिक तथा व्याधियोंको लाने और मिटानेवाले भी [illegible] ही हैं । (कृष्णरूपमें) मस्तकपर शिखण्ड (मोरपङ्ख) धारण करनेके कारण आप शिखण्डी हैं । आप कमलके [illegible] नेत्रोंवाले, कमलके वनमें निवास करनेवाले, दण्ड धारण करनेवाले, त्र्यम्बक, उग्रदण्ड और ब्रह्माण्डके संहारक हैं । विषाग्निको पी जानेवाले, देवश्रेष्ठ, सोमरसका पान करनेवाले और मरुद्गणोंके स्वामी [illegible] ॥ १५४-१५५ ॥

अमृतपास्त्वं जगन्नाथ देवदेव गणेश्वरः ।
विषाग्निपा मृत्युपाश्च क्षीरपाः सोमपास्तथा ।
मधुश्च्युतानामग्रपास्त्वमेव तुषिताद्यपाः ॥ १५६ ॥

देवाधिदेव ! जगन्नाथ ! आप अमृत पान करनेवाले और गणोंके स्वामी हैं । विषाग्नि तथा मृत्युसे रक्षा करनेवाले और दूध एवं सोमरसका पान करनेवाले हैं । आप सुखसे [illegible] हुए जीवोंके प्रधान [illegible] तथा तुषितनामक देवताओंके आदिभूत ब्रह्माजीका भी पालन करनेवाले हैं ॥ १५६ ॥

हिरण्यरेताः पुरुषस्त्वमेव
त्वं स्त्री पुमांस्त्वं च नपुंसकं च ।
बालो युवा स्थविरो जीर्णदंष्ट्र-
स्त्वं नागेन्द्र शक्रस्त्वं विश्वकृद्विश्वकर्ता ॥१५७॥
विश्वकृद् विश्वकृतां वरेण्यस्त्वं विश्ववाहो
विश्वरूपस्तेजस्वी विश्वतोमुखः ।
चन्द्रादित्यौ चक्षुषी ते हृदयं च पितामहः ॥१५८॥

आप ही हिरण्यरेता (अग्नि), पुरुष (अन्तर्यामी) [illegible] आप ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक हैं । बालक-युवा और [illegible] भी [illegible] ही हैं । नागेश्वर ! आप जीर्ण दाढ़ोंवाले और इन्द्र हैं । आप विश्वकृत् (जगत्‌के संहारक), विश्वकर्ता (प्रजापति), विश्वकृत् (ब्रह्माजी), विश्वकी रचना करनेवाले प्रजापतियोंमें श्रेष्ठ, विश्वका भार वहन करनेवाले, विश्वरूप, तेजस्वी और सब ओर मुखवाले हैं । चन्द्रमा और सूर्य आपके नेत्र तथा पितामह ब्रह्मा आपके हृदय हैं ॥ १५७-१५८ ॥

महोदधिः सरस्वती वाग् बलमनलोऽ-
निलः अहोरात्रं निमेषोन्मेषकर्म ॥१५९॥

[illegible] ही समुद्र हैं, सरस्वती आपकी वाणी है, अग्नि और वायु [illegible] हैं तथा आपके नेत्रोंका खुलना और बंद होना ही दिन और रात्रि हैं ॥ १५९ ॥

न [illegible] न च गोविन्दः पौराणा ऋषयो [illegible] ते ।
माहात्म्यं वेदितुं शक्ता याथातथ्येन ते शिव ॥१६०॥

शिव ! आपके माहात्म्यको ठीक-ठीक जाननेमें ब्रह्मा, विष्णु [illegible] प्राचीन ऋषि भी समर्थ नहीं [illegible] ॥ १६० ॥

या मूर्तयःसुसूक्ष्मास्ते न मह्यं यान्ति दर्शनम् ।
त्राहि मां सततं रक्ष पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१६१॥

आपके जो सूक्ष्म रूप हैं, वे हमलोगोंकी दृष्टिमें नहीं आते। भगवन्! जैसे पिता अपने औरस पुत्रकी रक्षा करता है, उसी तरह आप सर्वदा मेरी रक्षा करें ॥ १६१ ॥

रक्ष्य मां रक्षणीयोऽहं तवानघ नमोऽस्तु ते।
भक्तानुकम्पी भगवान् भक्तश्चाहं सदा त्वयि ॥१६२॥

अनघ! मैं आपके द्वारा रक्षित होने योग्य हूँ, आप अवश्य मेरी रक्षा करें, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप भक्तों-पर दया करनेवाले भगवान् हैं और मैं सदाके लिये आपका भक्त हूँ ॥ १६२ ॥

जटी सहस्राण्यनेकानि पुंसामावृत्य दुर्दृशः।
तिष्ठत्येकः समुद्रान्ते स मे गोप्तास्तु नित्यशः ॥१६३॥

जो हजारों मनुष्योंपर मायाका परदा डालकर सबके लिये दुर्बोध हो रहे हैं, अद्वितीय हैं तथा समुद्रके समान कामनाओंका अन्त होनेपर प्रकाशमें आते हैं, वे परमेश्वर नित्य मेरी रक्षा करें ॥ १६३ ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः॥१६४॥

जो निद्राके वशीभूत न होकर प्राणोंपर विजय पा चुके हैं और इन्द्रियोंको जीतकर सत्त्वगुणमें स्थित हैं, ऐसे योगी-लोग ध्यानमें जिस ज्योतिर्मय तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, उस योगात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ १६४ ॥

जटिले दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥१६५॥

जो सदा जटा और दण्ड धारण किये रहते हैं, जिनका उदर और शरीर विशाल है तथा कमण्डलु ही जिनके लिये तरकसका काम देता है, ऐसे ब्रह्माजीके रूपमें विराजमान भगवान् शिवको प्रणाम है ॥ १६५ ॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसंधिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥१६६॥

जिनके केशोंमें बादल, शरीरकी संधियोंमें नदियाँ और उदरमें चारों समुद्र हैं, उन जलस्वरूप परमात्माको नमस्कार है॥

सम्भक्ष्य सर्वभूतानि युगान्ते पर्युपस्थिते।
यः शेते जलमध्यस्थस्तं प्रपद्येऽम्बुशायिनम् ॥१६७॥

जो प्रलयकाल उपस्थित होनेपर सब प्राणियोंका संहार करके एकार्णवके जलमें शयन करते हैं, उन जलशायी भगवान्‌की मैं शरण लेता हूँ ॥ १६७ ॥

प्रविश्य वदनं राहोर्यः सोमं पिबते निशि।
ग्रसत्यर्कं च स्वर्भानुर्भूत्वा मां सोऽभिरक्षतु ॥१६८॥

जो रातमें राहुके मुखमें प्रवेश करके स्वयं चन्द्रमाके अमृतका पान करते हैं तथा स्वयं ही राहु बनकर सूर्यपर ग्रहण लगाते हैं, वे परमात्मा मेरी रक्षा करें ॥ १६८ ॥

ये चानुपतिता गर्भा यथा भागानुपासते।
नमस्तेभ्यः स्वधा स्वाहा प्राप्नुवन्तु मुदन्तु ते ॥१६९॥

ब्रह्माजीके बाद उत्पन्न होनेवाले जो देवता और पितर बालककी भाँति यज्ञमें अपने अपने भाग ग्रहण करते हैं, उन्हें नमस्कार है। वे 'स्वाहा और स्वधा' के द्वारा अपने भाग प्राप्त करके प्रसन्न हों ॥ १६९ ॥

येऽङ्गुष्ठमात्राः पुरुषा देहस्थाः सर्वदेहिनाम्।
रक्षन्तु ते हि मां नित्यं नित्यं चाप्याययन्तु माम्॥१७०॥

जो अङ्गुष्ठमात्र जीवके रूपमें सम्पूर्ण देहधारियोंके भीतर विराजमान हैं, वे सदा मेरी रक्षा और वृद्धि करें ॥ १७० ॥

ये न रोदन्ति देहस्था देहिनो रोदयन्ति च।
हर्षयन्ति न हृष्यन्ति नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः॥१७१॥

जो देहके भीतर रहते हुए स्वयं न रोकर देहधारियोंको ही रुलाते हैं, स्वयं हर्षित न होकर उन्हें ही हर्षित करते हैं, उन सब रुद्रोंको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ ॥ १७१ ॥

ये नदीषु समुद्रेषु पर्वतेषु गुहासु च।
वृक्षमूलेषु गोष्ठेषु कान्तारे गहनेषु च ॥१७२॥
चतुष्पथेषु रथ्यासु चत्वरेषु तटेषु च।
हस्त्यश्वरथशालासु जीर्णोद्यानालयेषु च ॥१७३॥
येषु पञ्चसु भूतेषु दिशासु विदिशासु च।
चन्द्रार्कयोर्मध्यगता ये च चन्द्रार्करश्मिषु ॥१७४॥
रसातलगता ये च ये च तस्मै परं गताः।
नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः॥१७५॥

नदी, समुद्र, पर्वत, गुहा, वृक्षोंकी जड़, गोशाला, दुर्गम पथ, वन, चौराहे, सड़क, चौतरे, किनारे, हस्तिशाला, अश्वशाला, रथशाला, पुराने बगीचे, जीर्ण गृह, पञ्चभूत, दिशा, विदिशा, चन्द्रमा, सूर्य तथा उन-उनकी किरणोंमें, रसातलमें और उससे भिन्न स्थानोंमें भी जो अधिष्ठातृ देवताके रूपमें स्थित हैं, उन सबको सदा नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है ॥

येषां न विद्यते संख्या प्रमाणं रूपमेव च।
असंख्येयगुणा रुद्रा नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ॥१७६॥

जिनकी संख्या, प्रमाण और रूपकी सीमा नहीं है, जिनके गुणोंकी गिनती नहीं हो सकती, उन रुद्रोंको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥ १७६ ॥

सर्वभूतकरो यस्मात् सर्वभूतपतिर्हरः।
सर्वभूतान्तरात्मा च तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥१७७॥

आप सम्पूर्ण भूतोंके जन्मदाता, पालक और संहारक हैं तथा आप ही समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं, इसीलिये मैंने आपको पृथक् निमन्त्रण नहीं दिया ॥ १७७ ॥

त्वमेव हीज्यसे यस्माद् यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
त्वमेव कर्ता सर्वस्य तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥१७८॥

नाना प्रकारकी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंद्वारा आपहीका यजन किया [illegible] है और आप ही सबके कर्ता हैं, इसीलिये मैंने आपको अलग निमन्त्रण नहीं दिया ॥ १७८ ॥

अथवा मायया देव सूक्ष्मया [illegible] मोहितः ।
एतस्मात् कारणाद् वापि तेन त्वं न निमन्त्रितः ॥१७९॥

अथवा देव ! आपकी सूक्ष्म मायासे मैं मोहमें पड़ गया था, इस कारणसे भी मैंने आपको निमन्त्रण नहीं दिया ॥

प्रसीद मम भद्रं ते [illegible] भावगतस्य मे ।
त्वयि मे हृदयं देव त्वयि बुद्धिर्मनस्त्वयि ॥१८०॥

भगवन् भव ! आपका भला हो, मैं भक्तिभावके साथ आपकी शरणमें आया हूँ; इसलिये अब मुझपर प्रसन्न होइये । मेरा हृदय, मेरी बुद्धि और मेरा मन सब आपमें समर्पित हैं॥

स्तुत्वैवं स महादेवं विरराम प्रजापतिः ।
भगवानपि सुप्रीतः पुनर्दक्षमभाषत ॥१८१॥

इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करके प्रजापति दक्ष चुप हो गये । तब भगवान् शिवने भी बहुत प्रसन्न होकर दक्षसे कहा—॥

परितुष्टोऽस्मि ते दक्ष स्तवेनानेन सुव्रत ।
बहुनात्र किमुक्तेन मत्समीपे भविष्यसि ॥१८२॥

'उत्तम [illegible] पालन करनेवाले [illegible] ! तुम्हारेद्वारा की हुई इस स्तुतिसे मैं बहुत संतुष्ट हूँ । यहाँ अधिक क्या कहूँ, [illegible] मेरे निकट निवास करोगे ॥ १८२ ॥

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च ।
प्रजापते मत्प्रसादात् फलभागी भविष्यसि ॥१८३॥

'प्रजापते ! मेरे प्रसादसे तुम्हें एक हजार अश्वमेध तथा एक सौ वाजपेय यज्ञका [illegible] मिलेगा' ॥ १८३ ॥

अथैनमब्रवीद् वाक्यं लोकस्याधिपतिर्भवः ।
आश्वासनकरं वाक्यं वाक्यविद् वाक्यसम्मतम् ॥१८४॥

तदनन्तर वाक्यविशारद, लोकनाथ भगवान् शिवने प्रजापतिको सान्त्वना देनेवाला युक्तियुक्त एवं उत्तम वचन कहा—॥ १८४ ॥

दक्ष दक्ष न कर्तव्यो मन्युर्विघ्नमिमं प्रति ।
[illegible] यज्ञहरस्तुभ्यं दृष्टमेतत् पुरातनम् ॥१८५॥

'दक्ष ! दक्ष ! इस यज्ञमें जो विघ्न डाला गया है, इसके लिये तुम खेद न करना । मैंने पहले कल्पमें भी तुम्हारे यज्ञका विध्वंस किया था । यह घटना भी पूर्वकल्पके अनुसार ही हुई है ॥ १८५ ॥

भूयश्च ते वरं दद्मि तं त्वं गृह्णीष्व सुव्रत ।
प्रसन्नवदनो भूत्वा तदिहैकमनाः शृणु ॥१८६॥

'सुव्रत ! [illegible] पुनः तुम्हें वरदान देता हूँ, तुम इसे स्वीकार करो और प्रसन्नवदन तथा एकाग्रचित्त होकर यहाँ मेरी यह [illegible] सुनो ॥ १८६ ॥

वेदात् षडङ्गादुद्धृत्य सांख्ययोगाच्च युक्तितः ।
तपः सुतप्तं विपुलं दुश्चरं देवदानवैः ॥१८७॥

'पूर्वकालमें षडङ्ग वेद, सांख्ययोग और तर्कसे निश्चित करके देवताओं और दानवोंने जिस विशाल एवं दुष्कर तपका अनुष्ठान किया था (उससे भी उत्तम व्रत मैं तुम्हें बता रहा हूँ)॥

अपूर्वं सर्वतोभद्रं सर्वतोमुखमव्ययम् ।
अब्दैर्दशाहसंयुक्तं गूढमप्राज्ञनिन्दितम् ॥१८८॥
वर्णाश्रमकृतैर्धर्मैर्विपरीतं क्वचित्समम् ।
गतान्तैरध्यवसितमत्याश्रममिदं व्रतम् ॥१८९॥
मया पाशुपतं दक्ष शुभमुत्पादितं पुरा ।
तस्य चीर्णस्य तत् सम्यक् फलं भवति पुष्कलम् ।
तच्चास्तु ते महाभाग त्यज्यतां मानसो ज्वरः ॥१९०॥

'दक्ष ! मैंने पूर्वकालमें एक शुभकारक पाशुपत [illegible] व्रतको प्रकट किया था, जो अपूर्व है, साधन और सिद्धि सभी अवस्थाओंमें सब प्रकारसे कल्याणकारी, सर्वतोमुखी (सभी वर्णों और आश्रमोंके अनुकूल) तथा मोक्षका साधक होनेके कारण अविनाशी है । वर्षोंतक पुण्यकर्म करने और यम नियम नामक दस साधनोंको अभ्यासमें लानेसे उसकी उपलब्धि होती है । वह गूढ है । मूर्ख मनुष्य उसकी निन्दा करते हैं । वह समस्त वर्णधर्म और आश्रम-धर्मके अनुकूल, सम और किसी किसी अंशमें विपरीत भी है । जिन्हें सिद्धान्तका ज्ञान है, उन्होंने इसे अपनानेका पूर्ण निश्चय कर लिया है । यह व्रत सभी आश्रमोंसे बढ़कर है । इसके अनुष्ठानसे उत्तम एवं प्रचुर फलकी प्राप्ति होती है । महाभाग ! उस पाशुपत व्रतके अनुष्ठानका फल तुम्हें प्राप्त हो । अब तुम अपनी मानसिक चिन्ताका परित्याग कर दो' ॥ १८८—१९० ॥

एवमुक्त्वा महादेवः सपत्नीकः सहानुगः ।
अदर्शनमनुप्राप्तो दक्षस्यामितविक्रमः ॥१९१॥

दक्षसे ऐसा कहकर पत्नी और पार्षदोंसहित अमित पराक्रमी महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ १९१ ॥

दक्षप्रोक्तं स्तवमिमं कीर्तयेद् यः शृणोति वा ।
नाशुभं प्राप्नुयात् किंचिद् दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥१९२॥

जो मनुष्य दक्षके द्वारा कहे हुए इस स्तोत्रका कीर्तन अथवा श्रवण करेगा, उसे कोई अमङ्गल नहीं प्राप्त होगा । वह दीर्घ आयु प्राप्त करता है ॥ १९२ ॥

[illegible] सर्वेषु देवेषु वरिष्ठो भगवाञ्छिवः ।
तथा स्तवो वरिष्ठोऽयं स्तवानां ब्रह्मसम्मितः ॥१९३॥

जैसे भगवान् शिव सब देवताओंमें श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार यह वेदतुल्य स्तोत्र सभी स्तुतियोंमें श्रेष्ठ है ॥ १९३ ॥

यशोराज्यसुखैश्वर्यकामार्थधनकाङ्क्षिभिः ।
श्रोतव्यो भक्तिमास्थाय विद्याकामैश्च यत्नतः ॥१९४॥

यश, राज्य, सुख, ऐश्वर्य, काम, अर्थ, धन और विद्याकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको भक्तिभावका आश्रय लेकर यत्नपूर्वक इस स्तोत्रका श्रवण करना चाहिये ॥ १९४ ॥

व्याधितो दुःखितो दीनश्चोरग्रस्तो भयार्दितः।
राजकार्याभियुक्तो वा मुच्यते महतो भयात् ॥१९५॥

रोगी, दुखी, दीन, चोरके हाथमें पड़ा हुआ, भयभीत तथा राजकार्यका अपराधी मनुष्य भी इस स्तोत्रका पाठ करनेसे महान् भयसे छुटकारा पा जाता है ॥ १९५ ॥

अनेनैव तु देहेन गणानां समतां व्रजेत्।
तेजसा यशसा चैव युक्तो भवति निर्मलः ॥१९६॥

इतना ही नहीं, वह इसी शरीरसे भगवान् शिवके गणोंकी समानता प्राप्त कर लेता है तथा तेज और यशसे सम्पन्न होकर निर्मल हो जाता है ॥ १९६ ॥

न राक्षसाः पिशाचा वा न भूता न विनायकाः।
विघ्नं कुर्युर्गृहे तस्य यत्रायं पठ्यते स्तवः ॥१९७॥

जिसके यहाँ इस स्तोत्रका पाठ होता है, उसके घरमें राक्षस, पिशाच, भूत और विनायक कभी कोई विघ्न नहीं करते हैं ॥ १९७ ॥

शृणुयाच्चैव या नारी तद्भक्ता ब्रह्मचारिणी।
पितृपक्षे भर्तृपक्षे पूज्या भवति देववत् ॥१९८॥

जो नारी भगवान् शङ्करमें भक्तिभाव रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करती हुई इस स्तोत्रको सुनती है, वह पितृकुल और पतिकुलमें देवताके समान आदरणीय होती है ॥ १९८ ॥

शृणुयाद् यः स्तवं कृत्स्नं कीर्तयेद् वा समाहितः।
तस्य सर्वाणि कर्माणि सिद्धिं गच्छन्त्यभीक्ष्णशः ॥१९९॥

जो एकाग्रचित्त होकर इस सम्पूर्ण स्तोत्रको सुनता अथवा पढ़ता है, उसके सारे कार्य सदा ही सिद्ध होते रहते हैं ॥ १९९ ॥

मनसा चिन्तितं यच्च यच्च वाचानुकीर्तितम्।
सर्वं सम्पद्यते तस्य स्तवस्यास्यानुकीर्तनात् ॥२००॥

वह मनसे जिस वस्तुके लिये चिन्तन करता है अथवा वाणीसे जिस मनोरथकी याचना करता है, उसका वह सारा अभीष्ट इस स्तोत्रके बार-बार पाठसे सिद्ध हो जाता है ॥ २०० ॥

देवस्य च गुहस्यापि देव्या नन्दीश्वरस्य च।
बलिं सुविहितं कृत्वा दमेन नियमेन च ॥२०१॥
ततस्तु युक्तो गृह्णीयान्नामान्याशु यथाक्रमम्।
ईप्सिताँल्लभते सोऽर्थान् भोगान् कामांश्च मानवः ॥२०२॥
मृतश्च स्वर्गमाप्नोति तिर्यक्षु च न जायते।
इत्याह भगवान् व्यासः पराशरसुतः प्रभुः ॥२०३॥

मनुष्यको चाहिये कि वह इन्द्रियोंको संयममें रखकर शौच-संतोष आदि नियमोंका पालन करते हुए महादेवजी, कार्तिकेय, पार्वतीदेवी और नन्दिकेश्वरको विधिपूर्वक पूजोपहार समर्पित करे, फिर एकाग्रचित्त होकर क्रमशः इन सहस्र नामोंका पाठ करे। ऐसा करनेसे मनुष्य शीघ्र ही मनोवाञ्छित पदार्थों, भोगों और कामनाओंको प्राप्त कर लेता है तथा मृत्युके पश्चात् स्वर्गमें जाता है। उसे पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें जन्म नहीं लेना पड़ता है। इस प्रकार सर्वसमर्थ पराशरनन्दन भगवान् व्यासजीने इस स्तोत्रका माहात्म्य बतलाया है ॥ २०१–२०३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि दक्षप्रोक्तशिवसहस्रनामस्तवे चतुरशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें दक्षद्वारा कथित शिवसहस्रनामस्तोत्रविषयक दो सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अध्यात्मज्ञानका और उसके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अध्यात्मं नाम यदिदं पुरुषस्येह विद्यते।
यदध्यात्मं यतश्चैव तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! शास्त्रमें पुरुषके लिये जो यह अध्यात्मतत्त्व बताया गया है, वह अध्यात्म क्या है? और उसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई है? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वज्ञानं परं बुद्ध्या यन्मां त्वमनुपृच्छसि।
तद् व्याख्यास्यामि ते तात तस्य व्याख्यामिमां शृणु ॥२॥

भीष्मजीने कहा—तात! तुम मुझसे जिस अध्यात्मतत्त्वको पूछ रहे हो, वह बुद्धिके द्वारा सभी विषयोंका उत्तम ज्ञान प्रदान करनेवाला है। मैं तुमसे उसकी व्याख्या करूँगा, तुम उस व्याख्याको ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
महाभूतानि भूतानां सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ॥ ३ ॥

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये पाँच महाभूत समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं ॥ ३ ॥

ततः तेषां गुणसंघातः शरीरं भरतर्षभ।
सततं हि प्रलीयन्ते गुणास्ते प्रभवन्ति च ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ! प्राणियोंका शरीर उन्हीं पाँचों महाभूतोंका कार्यसमूह है। वे कार्यरूपमें परिणत भूतगण सदा लीन होते और प्रकट होते रहते हैं ॥ ४ ॥

ततः सृष्टानि भूतानि तानि यान्ति पुनः पुनः।
महाभूतानि भूतेभ्य ऊर्मयः सागरे यथा ॥ ५ ॥

जैसे महाभूत [illegible] भूतोंसे प्रकट होते और उन्हींमें लयको प्राप्त होते [illegible] तथा जैसे लहरें समुद्रसे प्रकट होकर फिर उसीमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार परमात्मासे समस्त प्राणी उत्पन्न होते और पुनः उसीमें लीन हो जाते हैं ॥ ५ ॥

प्रसारयित्वेहाङ्गानि कूर्मः संहरते यथा ।
तद्वद् भूतानि भूतानामल्पीयांसि स्थवीयसाम् ॥ ६ ॥

जैसे कछुआ यहाँ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंके शरीर आकाश आदि पाँच महाभूतोंसे [illegible] होते और फिर उन्हींमें लीन हो जाते हैं ॥

आकाशात् खलु यो घोषः संघातस्तु महीगुणः ।
वायोः प्राणो रसस्त्वद्भ्यो रूपं तेजस उच्यते ॥ ७ ॥

शरीरमें जो शब्द होता है, वह [illegible] गुण है । यह स्थूल शरीर पृथ्वीका गुण [illegible] कार्य है । प्राण वायुका, रस [illegible] तेजका गुण बताया जाता है ॥ [illegible] ॥

इत्येतन्मयमेवैतत् सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलये च तमभ्येति तस्मादुद्दिश्यते पुनः ॥ ८ ॥

इस प्रकार यह समस्त स्थावर जङ्गम शरीर पञ्चभूतमय ही है । प्रलयकालमें यह परमात्मामें ही लीन होता है और सृष्टिके आरम्भमें पुनः उन्हींसे प्रकट हो जाता है ॥ ८ ॥

महाभूतानि पञ्चैव सर्वभूतेषु भूतकृत् ।
विषयान् कल्पयामास यस्मिन् यदनुपश्यति ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले ईश्वरने समस्त प्राणियोंमें पञ्चमहाभूतोंका ही विभागपूर्वक समावेश किया है । देहके भीतर जिस भूतके स्थित होनेसे मनुष्य जो कार्य देखता है, वह बताता हूँ; सुनो ॥ ९ ॥

शब्दः श्रोत्रं तथा खानि त्रयमाकाशयोनिजम् ।
[illegible] स्नेहश्च जिह्वा च अपामेते गुणाः स्मृताः ॥ १० ॥

शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय और सम्पूर्ण छिद्र—ये तीन आकाशके कार्य हैं । रस, स्नेह [illegible] जिह्वा—ये तीनों जलके गुण या कार्य माने गये [illegible] ॥ १० ॥

रूपं चक्षुर्विपाकश्च [illegible] ज्योतिरुच्यते ।
घ्रेयं घ्राणं शरीरं च एते भूमिगुणाः स्मृताः ॥ ११ ॥

रूप, नेत्र और परिपाक—इन तीन गुणोंके रूपमें तेजकी ही स्थिति बतायी जाती है । गन्ध, घ्राण तथा शरीर—ये तीनों भूमिके गुण माने गये [illegible] ॥ ११ ॥

प्राणः स्पर्शश्च चेष्टा च वायोरेते गुणाः स्मृताः ।
इति सर्वगुणा राजन् व्याख्याताः पाञ्चभौतिकाः ॥ १२ ॥

प्राण, स्पर्श और चेष्टा—ये तीनों वायुके गुण बताये गये हैं । राजन् ! इस प्रकार मैंने समस्त पाञ्चभौतिक गुणोंकी व्याख्या कर दी ॥ १२ ॥

सत्त्वं रजस्तमः [illegible] कर्म बुद्धिश्च भारत ।
मनःषष्ठानि चैतेषु ईश्वरः समकल्पयत् ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! ईश्वरने इन प्राणियोंके शरीरोंमें सत्त्व, रज, तम, काल, कर्म, बुद्धि [illegible] मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों-[illegible] की है ॥ १३ ॥

यदूर्ध्वं पादतलयोरवाङ् मूर्ध्नश्च पश्यसि ।
एतस्मिन्नेव कृत्स्नेयं वर्तते बुद्धिरन्तरे ॥ १४ ॥

पैरोंके तलुओंसे लेकर ऊपरकी ओर और मस्तकसे नीचेकी ओर जितना भी शरीर है, इसके भीतर यह बुद्धि पूर्णरूपसे [illegible] हो रही है ॥ १४ ॥

इन्द्रियाणि नरे [illegible] षष्ठं तु मन उच्यते ।
सप्तमीं बुद्धिमेवाहुः क्षेत्रज्ञः पुनरष्टमः ॥ १५ ॥

मानव-शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और [illegible] मन [illegible] जाता है । बुद्धिको सातवीं और क्षेत्रज्ञको आठवाँ कहते हैं ॥

इन्द्रियाणि च कर्ता च विचेतव्यानि भागशः ।
[illegible] सत्त्वं रजश्चैव तेऽपि भावास्तदाश्रयाः ॥ १६ ॥

पाँच इन्द्रियाँ और जीवात्मा—इन सबको कार्य-विभागके अनुसार अलग-अलग समझना चाहिये । सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तथा उनके सात्त्विक, राजस और तामस भाव जीवात्माके ही आश्रित हैं ॥ १६ ॥

चक्षुरालोचनायैव संशयं कुरुते मनः ।
बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ उच्यते ।
तमः सत्त्वं रजश्चेति कालः कर्म च भारत ॥ १७ ॥
गुणैर्नेनीयते बुद्धिर्बुद्धिरेवेन्द्रियाणि च ।
मनःषष्ठानि सर्वाणि बुद्ध्यभावे कुतो गुणाः ॥ १८ ॥

नेत्र आदि इन्द्रियाँ दर्शन आदि कार्योंके लिये हैं । मन संशय [illegible] है और बुद्धि उस विषयका ठीक-ठीक निश्चय करनेके लिये है । क्षेत्रज्ञ (आत्मा) को साक्षी बताया [illegible] है । भरतनन्दन ! सत्त्व, रज, [illegible] और कर्म—इन पाँच गुणोंद्वारा बुद्धि बार-बार विभिन्न विषयोंकी ओर ले जायी जाती है । बुद्धि मनसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंका संचालन करती है । यदि बुद्धि न हो तो ये गुण—इन्द्रिय आदि कैसे कोई कार्य कर सकते हैं ॥ १७-१८ ॥

येन पश्यति तच्चक्षुः शृण्वती श्रोत्रमुच्यते ।
जिघ्रती भवति घ्राणं रसती रसना रसान् [illegible] १९ ॥
स्पर्शनं स्पर्शती स्पर्शान् बुद्धिर्विक्रियतेऽसकृत् ।
[illegible] प्रार्थयते किंचित् तदा भवति सा मनः [illegible] २० ॥

बुद्धि जिसके द्वारा देखती है, [illegible] इन्द्रियका नाम दृष्टि या नेत्र है । वही अपने वृत्तिविशेषके द्वारा जब सुनने लगती है, तब श्रोत्र कहलाती है । गन्धको ग्रहण करते [illegible] वह घ्राण बन जाती है । रसास्वादन करते समय रसना कहलाती है और स्पर्शोंका अनुभव करते समय वही स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) नाम धारण करती है । [illegible] प्रकार

बुद्धि बार-बार विकृत होती है। जब वह कुछ प्रार्थना (याचना) करती है, तब मन बन जाती है ॥ १९-२० ॥

अधिष्ठानानि बुद्ध्या हि पृथगेतानि पञ्चधा।
इन्द्रियाणीति तान्याहुस्तेषु दुष्टेषु दुष्यति ॥ २१ ॥

बुद्धिके ये जो पृथक्-पृथक् पाँच अधिष्ठान हैं, इन्हींको इन्द्रिय कहते हैं। इन इन्द्रियोंके दूषित होनेपर बुद्धि भी दूषित हो जाती है ॥ २१ ॥

पुरुषे तिष्ठती बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते।
कदाचिल्लभते प्रीतिं कदाचिदपि शोचति ॥ २२ ॥

साक्षी आत्माके आश्रित रहनेवाली बुद्धि सात्त्विक, राजस और तामस तीन भावोंमें (जो सुख दुःख और मोह-रूप हैं) स्थित होती है, इसीलिये कभी (सत्त्वगुणका उद्रेक होनेपर) उसे आनन्द प्राप्त होता है और कभी (रजोगुणकी अधिकता होनेपर) वह दुःख-शोकका अनुभव करती है ॥ २२ ॥

न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि वर्तते।
सेयं भावात्मिका भावांस्त्रीनेतान् परिवर्तते ॥ २३ ॥

कभी (तमोगुणकी अधिकतासे मोहाच्छन्न होनेपर) उसका न सुखसे संयोग होता है न दुःखसे (वह निद्रा और आलस्य आदिमें मग्न रहती है)। इस प्रकार यह भावात्मिका बुद्धि इन तीन भावोंका अनुसरण करती है ॥ २३ ॥

सरितां सागरो भर्ता यथा वेलामिवोर्मिमान्।
इति भावगता बुद्धिर्भावे मनसि वर्तते ॥ २४ ॥

जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र उत्ताल तरंगोंसे युक्त होनेपर भी अपनी तटभूमिका उल्लङ्घन नहीं करता है, उसी प्रकार सात्त्विक आदि भावोंसे युक्त बुद्धि तीनों गुणोंका उल्लङ्घन नहीं करती। भावनामय मनमें ही चक्कर लगाती रहती है ॥ २४ ॥

प्रवर्तमानं तु रजस्तद्भावेनानुवर्तते।
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता ॥ २५ ॥
कथंचिदुपपद्यन्ते पुरुषे सात्त्विका गुणाः।

जब रजोगुणकी प्रवृत्ति होती है, तब बुद्धि राजसिक भावका अनुसरण करती है। यदि पुरुषमें किसी प्रकार अधिक हर्ष, प्रीति, आनन्द, सुख और चित्तमें शान्ति उपलब्ध हो तो ये सात्त्विक गुण हैं ॥ २५½ ॥

परिदाहस्तथा शोकः संतापोऽपूर्तिरक्षमा ॥ २६ ॥
लिङ्गानि रजसस्तानि दृश्यन्ते हेत्वहेतुभिः।

यदि शरीर या मनमें किसी कारणसे या अकारण ही दाह, शोक, संताप, अपूर्णता (लोभ-लिप्सा) और असहन-शीलताके भाव दिखायी देते हों तो उन्हें रजोगुणके चिह्न समझना चाहिये ॥ २६½ ॥

अविद्या रागमोहौ च प्रमादः स्तब्धता भयम् ॥ २७ ॥
असमृद्धिस्तथा दैन्यं प्रमोहः स्वप्नतन्द्रिता।
कथंचिदुपवर्तन्ते विविधास्तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

यदि किसी प्रकार अविद्या, राग, मोह, प्रमाद, स्तब्धता, भय, दरिद्रता, दीनता, प्रमोह (मूर्च्छा), स्वप्न, निद्रा और आलस्य आदि दोष आ घेरते हों तो उन्हें तमोगुणके ही विविध रूप जाने ॥ २७-२८ ॥

तत्र यत् प्रीतिसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत्।
वर्तते सात्त्विको भाव इत्युपेक्षेत तत् तथा ॥ २९ ॥

ऐसी स्थितिमें शरीर अथवा मनके भीतर यदि कोई प्रसन्नताका भाव हो तो वह सात्त्विक भाव है, ऐसा विचार करना चाहिये ॥ २९ ॥

अथ यद् दुःखसंयुक्तमप्रीतिकरमात्मनः।
प्रवृत्तं रज इत्येव तदसंरभ्य चिन्तयेत् ॥ ३० ॥

जब अपने लिये अप्रसन्नताका हेतु और दुःखयुक्त भाव अनुभवमें आये, तब रजोगुणकी प्रवृत्ति हुई है, ऐसा अपने मनमें विचार करे तथा वैसे किसी कार्यका आरम्भ न करके उसकी ओरसे अपना ध्यान हटा ले ॥ ३० ॥

अथ यन्मोहसंयुक्तं काये मनसि वा भवेत्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार शरीर या मनमें जो मोहयुक्त भाव अतर्कित एवं अविज्ञातरूपसे उपस्थित हो गया हो, उसके विषयमें यही निश्चय करे कि यह तमोगुण है ॥ ३१ ॥

इति बुद्धिगतीः सर्वा व्याख्याता यावतीरिह।
एतद् बुद्ध्वा भवेद् बुद्धः किमन्यद् बुद्धलक्षणम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार बुद्धिकी जितनी अवस्थाएँ हैं, उनकी व्याख्या यहाँ कर दी गयी। यह सब जानकर मनुष्य ज्ञानी हो जाता है। इसके सिवा ज्ञानीका और क्या लक्षण हो सकता है ? ॥ ३२ ॥

सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरेतदन्तरं विद्धि सूक्ष्मयोः।
सृजतेऽत्र गुणानेक एको न सृजते गुणान् ॥ ३३ ॥

बुद्धि और क्षेत्रज्ञ (आत्मा)—ये दोनों सूक्ष्मतर हैं। इन दोनोंमें जो अन्तर है, उसे समझो। इनमेंसे एक अर्थात् बुद्धि तो गुणोंकी सृष्टि करती है और दूसरा (आत्मा) गुणोंकी सृष्टि नहीं करता—केवल साक्षीभावसे देखता रहता है ॥ ३३ ॥

पृथग्भूतौ प्रकृत्या तु सम्प्रयुक्तौ च सर्वदा।
यथा मत्स्योऽद्भिरन्यः स्यात् सम्प्रयुक्तो भवेत् तथा ॥ ३४ ॥

वे दोनों बुद्धि और क्षेत्रज्ञ स्वभावतः एक दूसरेसे भिन्न हैं, परंतु सदा परस्पर मिले हुए-से प्रतीत होते हैं। जैसे मछली जलसे भिन्न है तो भी उसमें सदा संयुक्त रहती है, उसी प्रकार बुद्धि और आत्मा परस्पर भिन्न होते हुए भी अभिन्न रहते हैं ॥ ३४ ॥

न गुणा विदुरात्मानं स गुणान् वेद सर्वतः।
परिद्रष्टा गुणानां तु संस्रष्टा मन्यते यथा ॥ ३५ ॥

[illegible] आदि गुण [illegible] होनेके कारण आत्माको नहीं जानते; परंतु आत्मा चेतन है, इसलिये गुणोंको पूर्णरूपसे जानता है। वह गुणोंका साक्षी है तथापि मूढ मनुष्य उसे गुणोंसे संश्लिष्ट या संयुक्त समझते हैं ॥ ३५ ॥

आश्रयो नास्ति सत्त्वस्य गुणसर्गेण चेतना।
सत्त्वमस्य सृजन्त्यन्ये गुणान् वेद कदाचन ॥ ३६ ॥

बुद्धि जब सत्त्वादि गुणोंकी सृष्टि करती है, उस समय जीवात्मा उसका आश्रय नहीं होता। अन्य गुणोंकी रचना बुद्धि ही करती है और [illegible] गुणोंको जीव कभी जानता है ॥

सृजते हि गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति।
सम्प्रयोगस्तयोरेष सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्ध्रुवः ॥ ३७ ॥

बुद्धि गुणोंको उत्पन्न करती है और आत्मा केवल देखता है। बुद्धि और आत्माका यह सम्बन्ध अनादि है ॥ ३७ ॥

इन्द्रियैस्तु प्रदीपार्थं क्रियते बुद्धिरन्तरा।
निश्चक्षुर्भिरजानद्भिरिन्द्रियाणि प्रदीपवत् ॥ ३८ ॥

ज्ञानशक्तिरहित न जाननेवाली इन्द्रियाँ वस्तुओंको प्रकाशित करनेके लिये बुद्धिको बीचमें करती हैं। इन्द्रियाँ तो वस्तुको प्रकट करनेमें दीपककी भाँति केवल सहायक हैं ॥

एवंस्वभावमेवैतत् तद् बुद्ध्वा विहरेन्नरः।
अशोचन्नप्रहृष्यंश्च स वै विगतमत्सरः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार 'आत्मा असंग एवं निर्लेप है' इस बातको जानकर मनुष्य शोक, हर्ष और द्वेषका परित्याग करके विचरण करे ॥ ३९ ॥

स्वभावसिद्धमेवैतद् यदिमान् सृजते गुणान्।
ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं विज्ञेयास्तन्तुवद् गुणाः ॥ ४० ॥

जैसे मकड़ी जाला बुनती है, उसी प्रकार बुद्धि गुणोंकी सृष्टि करती है—यह स्वभावसिद्ध है, अतएव गुणोंको जालेके [illegible] और बुद्धिको मकड़ीके समान जानना चाहिये ॥ ४० ॥

प्रध्वस्ता न निवर्तन्ते प्रवृत्तिर्नोपलभ्यते।
एवमेके व्यवस्यन्ति निवृत्तिरिति चापरे ॥ ४१ ॥

वे गुण नष्ट होनेपर पुनः [illegible] नहीं आते; क्योंकि फिर उनकी प्रवृत्ति उपलब्ध नहीं होती। एक श्रेणीके विद्वानोंका ऐसा ही निश्चय है। दूसरी श्रेणीके लोग उन नष्ट हुए गुणोंकी पुनरावृत्ति भी मानते हैं ॥ ४१ ॥

इतीदं हृदयग्रन्थिं बुद्धिचिन्तामयं दृढम्।
विमुच्य सुखमासीत विशोकश्छिन्नसंशयः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार बुद्धिकी चिन्तास्वरूप इस सुदृढ हृदयग्रन्थिको त्यागकर शोक और संशयसे रहित हो सुखपूर्वक रहना चाहिये ॥ ४२ ॥

ताम्येयुः प्रच्युताः पृथ्वीं मोहपूर्णां नदीं नराः।
यथा गाधमविद्वांसो बुद्धियोगमयं [illegible] ॥ ४३ ॥

जलकी गहराईको न जाननेवाले मनुष्य जैसे नदीके तल-प्रदेशमें [illegible] दुःखका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार बुद्धि-योग (ज्ञान) से अनभिज्ञ सभी मनुष्य इस मोहपूर्ण विशाल संसारनदीमें पड़कर क्लेश भोगते हैं ॥ ४३ ॥

नैव ताम्यन्ति विद्वांसः प्लवन्तः पारमम्भसः।
अध्यात्मविदुषो धीरा ज्ञानं [illegible] परमं प्लवः ॥ ४४ ॥

जो तैरनेकी [illegible] जानते हैं, वे तैरकर अगाध जलसे पार हो जाते हैं। उन्हें [illegible] नहीं भोगना पड़ता। उसी प्रकार अध्यात्मतत्त्वके ज्ञाता धीर पुरुष अनायास संसार-सागरको पार कर जाते हैं। उनके लिये परम ज्ञान ही जहाज बन [illegible] है ॥ ४४ ॥

न भवति विदुषां महद्भयं
यदविदुषां सुमहद्भयं भवेत्।
न हि गतिरधिकास्ति कस्यचित्
सकृदुपदर्शयतीह तुल्यताम् ॥ ४५ ॥

अज्ञानियोंको जिस संसारसे महान् भय बना रहता है, उससे ज्ञानियोंको वह गुरुतर भय तनिक भी नहीं प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुषोंमेंसे किसीको भी अधिक या न्यून गति नहीं प्राप्त होती—वे सब समान गतिके भागी होते हैं। 'सकृद्विभातो ह्येष ब्रह्मलोकः' इत्यादि श्रुति यहाँ ज्ञानियोंकी गतिकी समानता दिखाती है ॥ ४५ ॥

यत् करोति बहुदोषमेकतः
[illegible] दूषयति यत्पुरा कृतम्।
नाप्रियं तदुभयं करोत्यसौ
यच्च दूषयति यत् करोति च ॥ ४६ ॥

अज्ञानावस्थामें मनुष्य जो अनेक दोषसे युक्त कर्म करता है और वह पहलेके जो कर्म कर चुका है, उनके लिये शोक करता है। इसके सिवा अज्ञानावस्थामें जो वह दूसरेके किये हुए अप्रिय कर्मको दोषरूपमें देखता है और राग आदि दोषके कारण स्वयं जो दूषित कर्म करता है, वह दोनों ही प्रकारका कार्य वह ज्ञान होनेके बाद नहीं करता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पाञ्चभौतिके पञ्चाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पाञ्चभौतिक तत्त्वोंका वर्णनविषयक दो सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८५ ॥

षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

समङ्गके द्वारा नारदजीसे अपनी शोकहीन स्थितिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

शोकाद् दुःखाच्च मृत्योश्च त्रसन्ते प्राणिनः सदा।
उभयं नो यथा न स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! संसारके सभी प्राणी सदा शोक, दुःख और मृत्युसे डरते रहते हैं; अतः आप हमें ऐसा उपदेश दें, जिससे हमलोगोंको उन दोनोंका भय न रहे ॥१॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादं समङ्गस्य च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन! इस विषयमें विद्वान् पुरुष देवर्षि नारद और समङ्गके संवादरूप प्राचीन इतिहास- [illegible] उदाहरण दिया करते हैं ॥ [illegible] ॥

नारद उवाच

उरसेव प्रणमसे बाहुभ्यां तरसीव च।
सम्प्रहृष्टमना नित्यं विशोक [illegible] लक्ष्यसे ॥ ३ ॥

नारदजीने पूछा—समङ्गजी! दूसरे लोग तो सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं; परंतु आप हृदयसे प्रणाम करते [illegible] पड़ते हैं। मालूम होता है, आप इस संसारसागरको अपनी इन दोनों भुजाओंसे ही तैरकर पार हो जायँगे। आपका [illegible] नित्य प्रसन्न रहता है तथा आप सदा शोकशून्य-से दिखायी [illegible] हैं ॥ ३ ॥

उद्वेगं [illegible] ते किंचित् सुसूक्ष्ममपि लक्षये।
नित्यतृप्त [illegible] स्वस्थो बालवच्च विचेष्टसे ॥ ४ ॥

मैं आपके चित्तमें कभी कोई थोड़ा-सा भी उद्वेग नहीं देख [illegible] हूँ। आप नित्य तृप्तकी भाँति अपने आपमें ही स्थित रहकर बालकोंके समान चेष्टा करते हैं (इसका क्या कारण है?) ॥ ४ ॥

समङ्ग उवाच

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वमेतत् तु मानद।
तेषां तत्त्वानि जानामि ततो न विमना ह्यहम् ॥ ५ ॥

समङ्गजीने कहा—दूसरोंको मान देनेवाले देवर्षे! [illegible] भूत, वर्तमान और भविष्य इन [illegible] स्वरूप तथा तत्त्व जानता हूँ; इसलिये मेरे मनमें कभी विषाद नहीं होता ॥५॥

उपक्रमानहं वेद पुनरेव फलोदयान्।
लोके फलानि चित्राणि ततो न विमना ह्यहम् ॥ ६ ॥

मुझे कर्मोंके आरम्भका तथा उनके फलोदयकालका भी ज्ञान है और लोकमें जो भाँति-भाँतिके कर्मफल प्राप्त होते हैं, उनको भी [illegible] जानता हूँ; इसीलिये मेरे मनमें कभी खेद नहीं होता ॥ ६ ॥

अगाधाश्चाप्रतिष्ठाश्च गतिमन्तश्च नारद।
अन्धा जडाश्च जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥ ७ ॥

नारदजी! देखिये, जैसे जगत्में गम्भीर, अप्रतिष्ठित, प्रगतिशील, अन्धे और [illegible] मनुष्य भी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जी रहे हैं ॥ ७ ॥

विहितेनैव जीवन्ति अरोगाङ्गा दिवौकसः।
बलवन्तोऽबलाश्चैव तस्मादस्मान् सभाजय ॥ ८ ॥

नीरोग शरीरवाले देवता, बलवान् और निर्बल सभी अपने प्रारब्ध-विधानके अनुसार जीवन धारण करते हैं; अतः [illegible] भी प्रारब्धपर ही अवलम्बित रहकर किसी कर्मका आरम्भ नहीं करते हैं, इसलिये हमारे प्रति भी आप आदर बुद्धि रखें (अकर्मण्य समझकर हमारा निरादर न करें) ॥ ८ ॥

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा।
शाकेन चान्ये जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥ ९ ॥

जिनके [illegible] हजारों रुपये हैं, वे भी जीते हैं। जिनके पास सैकड़ों रुपयोंका संग्रह है, वे भी जीवन धारण करते हैं। दूसरे लोग सागसे ही जीवन-निर्वाह करते हैं। उसी तरह हमें भी जीवित समझिये ॥ ९ ॥

यदा न शोचेमहि किंनु नः स्याद्
धर्मेण [illegible] नारद कर्मणा वा।
कृतान्तवश्यानि यदा सुखानि
दुःखानि वा यन्न विधर्षयन्ति ॥ १० ॥

नारदजी! जब अज्ञान दूर हो जानेके कारण हम शोक ही नहीं करते हैं तो धर्म अथवा लौकिक कर्मसे हमारा क्या प्रयोजन है। सारे सुख और दुःख कालके अधीन होनेके कारण क्षणभङ्गुर हैं, अतः वे ज्ञानी पुरुषको पराभूत नहीं कर सकते हैं ॥

यस्मै [illegible] कथयन्ते मनुष्याः
प्रज्ञामूलं हीन्द्रियाणां प्रसादः।
मुह्यन्ति शोचन्ति तथेन्द्रियाणि
प्रज्ञालाभो नास्ति मूढेन्द्रियस्य ॥ ११ ॥

ज्ञानी पुरुष जिसके लिये कहा करते हैं, उस प्रज्ञाकी जड़ है इन्द्रियोंकी निर्मलता। जिसकी इन्द्रियाँ मोह और शोकमें [illegible] मग्न हैं, उस मोहाच्छन्न इन्द्रियवाले पुरुषको कभी प्रज्ञाका लाभ नहीं मिल सकता ॥ ११ ॥

मूढस्य दर्पः [illegible] पुनर्मोह एव
मूढस्य नायं न परोऽस्ति लोकः।

न ह्येव दुःखानि सदा भवन्ति
सुखस्य वा नित्यशो लाभ एव ॥ १२ ॥

मूढ मनुष्यको गर्व होता है। उसका वह गर्व मोहरूप ही है। मूढके लिये न तो यह लोक सुखद होता है और न परलोक ही। किसीको भी न तो सदा दुःख ही उठाने पड़ते हैं और न नित्य, निरन्तर सुखका ही लाभ होता है ॥ १२ ॥

भवात्मकं सम्परिवर्तमानं
न मादृशः संज्वरं जातु कुर्यात्।
इष्टान् भोगान् नानुरुध्येत् सुखं वा
न चिन्तयेद् दुःखमभ्यागतं वा ॥ १३ ॥

संसारके स्वरूपको परिवर्तित होता देख मेरे-जैसा मनुष्य कभी संताप नहीं करता है। अभीष्ट भोग अथवा सुखका भी अनुसरण नहीं करता तथा दुःख आ जाय तो उसके लिये चिन्तित नहीं होता ॥ १३ ॥

समाहितो न स्पृहयेत् परेषां
नानागतं चाभिनन्देच्च लाभम्।
न चापि हृष्येद् विपुलेऽर्थलाभे
तथार्थनाशे च न वै विषीदेत् ॥ १४ ॥

सब प्रकारसे उपरत महापुरुष दूसरोंसे कुछ भी नहीं चाहता। भविष्यमें होनेवाले अर्थलाभका भी अभिनन्दन नहीं करता। बहुत-सी सम्पत्ति पाकर हर्षित नहीं होता तथा धनका नाश हो जानेपर भी खेद नहीं करता ॥ १४ ॥

न बान्धवा न च वित्तं न कौल्यं
न च श्रुतं न च मन्त्रा न वीर्यम्।
दुःखात् त्रातुं सर्व एवोत्सहन्ते
परत्र शीलेन तु यान्ति शान्तिम् ॥ १५ ॥

बन्धु-बान्धव, धन, उत्तम कुल, शास्त्राध्ययन, मन्त्र तथा पराक्रम—ये सब-के-सब मिलकर भी किसीको दुःखसे छुटकारा नहीं दिला सकते हैं। परलोकमें मनुष्य उत्तम स्वभावके कारण ही शान्ति पाते हैं ॥ १५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नायोगाद् विन्दते सुखम्।
धृतिश्च दुःखत्यागश्चेत्युभयं नः सुखं नृप ॥ १६ ॥

जिसका चित्त योगयुक्त नहीं है, उसे समत्व बुद्धि नहीं प्राप्त होती। योगके बिना कोई सुख नहीं पाता है। नरेश्वर! दुःखोंके सम्बन्धका त्याग और धैर्य—ये ही दोनों सुखके कारण हैं ॥ १६ ॥

प्रियं हि हर्षजननं हर्ष उत्सेकवर्धनः।
उत्सेको नरकायैव तस्मात् तान् संत्यजाम्यहम् ॥ १७ ॥

प्रिय वस्तु हर्षजनक होती है। हर्ष अभिमानको बढ़ाता है और अभिमान नरकमें ही डुबानेवाला है। इसलिये मैं इन तीनोंका त्याग करता हूँ ॥ १७ ॥

एताञ्शोकभयोत्सेकान् मोहनान् सुखदुःखयोः।
पश्यामि साक्षिवल्लोके देहस्यास्य विचेष्टनात् ॥ १८ ॥

शोक, भय और अभिमान—ये प्राणियोंको सुख-दुःखमें डालकर मोहित करनेवाले हैं; इसलिये जबतक यह शरीर चेष्टा कर रहा है, तबतक मैं इन सबको साक्षीकी भाँति देखता हूँ ॥

अर्थकामौ परित्यज्य विशोको विगतज्वरः।
तृष्णामोहौ तु संत्यज्य चरामि पृथिवीमिमाम् ॥ १९ ॥

अर्थ और कामको त्यागकर एवं तृष्णा और मोहका सर्वथा परित्याग करके मैं शोक और संतापसे रहित हुआ इस पृथ्वीपर विचरता हूँ ॥ १९ ॥

न मे मृत्योर्न चाधर्मान्न लोभान्न कुतश्चन।
पीतामृतस्येवात्यन्तमिह चामुत्र च भयम् ॥ २० ॥

जैसे अमृत पीनेवालेको मृत्युसे भय नहीं होता, उसी प्रकार मुझे भी इहलोक या परलोकमें मृत्यु, अधर्म, लोभ तथा दूसरे किसीसे भी भय नहीं है ॥ २० ॥

एतद् ब्रह्मन् विजानामि महत् कृत्वा तपोऽव्ययम्।
तेन नारद सम्प्राप्तो न मां शोकः प्रबाधते ॥ २१ ॥

ब्रह्मन्! मैंने महान् और अक्षय तप करके यही ज्ञान पाया है, अतः नारदजी! शोककी परिस्थिति उपस्थित होकर भी मुझे व्याकुल नहीं कर सकती ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि समङ्गनारदसंवादे षडशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें समङ्ग और नारदजीका संवादविषयक दो सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८६ ॥

सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

नारदजीका गालव मुनिको श्रेयका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतत्त्वज्ञस्य शास्त्राणां सततं संशयात्मनः।
अकृतव्यवसायस्य श्रेयो ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो शास्त्रोंके तत्त्वको नहीं जानता, जिसका मन सदा संशयमें ही पड़ा रहता है तथा जिसने परमार्थके लिये कोई निश्चित ध्येय नहीं बनाया है, उस

पुरुषका कल्याण कैसे हो सकता है । यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

गुरुपूजा च सततं वृद्धानां पर्युपासनम् ।
श्रवणं चैव शास्त्राणां कूटस्थं श्रेय उच्यते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! सदा गुरुजनोंकी पूजा, वृद्ध पुरुषोंकी सेवा और शास्त्रोंका श्रवण—ये तीन कल्याणके अमोघ साधन बताये जाते हैं ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गालवस्य च संवादं देवर्षेर्नारदस्य [illegible] ॥ ३ ॥

इस विषयमें भी जानकर मनुष्य देवर्षि नारद और महर्षि गालवके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

स्वाश्रमं समनुप्राप्तं नारदं देववर्चसम् ।
वीतमोहक्लमं विप्रं ज्ञानतृप्तं जितेन्द्रियः ।
श्रेयस्कामो यतात्मानं नारदं गालवोऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, कल्याणकी इच्छा रखनेवाले जितेन्द्रिय गालव मुनिने अपने आश्रमपर पधारे हुए देवोपम तेजस्वी ब्राह्मण, मोह और क्लान्तिसे रहित, ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण एवं मनको वशमें रखनेवाले देवर्षि नारदजीसे इस प्रकार पूछा— ॥

यैः कश्चित् सम्मतो लोके गुणैश्च पुरुषो मुने ।
भवत्यनपगान् सर्वांस्तान् गुणाँल्लक्षयामहे ॥ ५ ॥

'मुने ! संसारमें कोई भी पुरुष जिन गुणोंद्वारा सम्मानित होता है, उन समस्त गुणोंका मैं आपमें कभी अभाव नहीं देखता हूँ ॥ ५ ॥

भवानेवंविधोऽस्माकं संशयं छेत्तुमर्हति ।
अमूढश्चिरमूढानां लोकतत्त्वमजानताम् ॥ ६ ॥

'लोक-तत्त्वके ज्ञानसे शून्य और चिरकालसे अज्ञानमें पड़े हुए हम-जैसे लोगोंके संशयका निवारण सर्वगुणसम्पन्न आप-जैसा ज्ञानी महात्मा ही कर सकता है ॥ ६ ॥

ज्ञाने ह्येवं प्रवृत्तिः स्यात् कार्याणामविशेषतः ।
यत् कार्यं न व्यवस्यामस्तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ७ ॥

'मुने ! शास्त्रोंमें बहुत-से कर्तव्यकर्म बताये गये हैं, उनमेंसे अमुक कर्मके इस प्रकार करनेसे ज्ञानमार्गमें प्रवृत्ति हो सकती है, इसका विशेषरूपसे हमें निश्चय नहीं हो पाता है; अतः हमारे लिये जो कर्तव्य हो और जिसका निर्धारण हम न कर पाते हों, उसे आप ही हमें बतानेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

भगवन्नाश्रमाः सर्वे पृथगाचारदर्शिनः ।
इदं श्रेय इदं श्रेय इति सर्वे प्रबोधिताः ॥ ८ ॥

'भगवन् ! सभी आश्रमोंवाले पृथक्-पृथक् आचारका दर्शन कराते हैं तथा 'यह श्रेष्ठ है, यह श्रेष्ठ है' ऐसा उपदेश देते हुए वे (अपने ही सिद्धान्तोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं और) सभी मनुष्योंकी बुद्धिमें यही बात जमा देते हैं ॥ ८ ॥

तांस्तु विप्रस्थितान् दृष्ट्वा शास्त्रैः शास्त्राभिनन्दिनः ।
स्वशास्त्रैः परितुष्टाश्च श्रेयो नोपलभामहे ॥ ९ ॥

'जिनके मनमें वह बात बैठ गयी है, उन मनुष्योंको उन शास्त्रोंके उपदेशके अनुसार नाना प्रकारसे आचार करते चलते और अपने-अपने शास्त्रोंका अभिनन्दन करते देखकर जैसे हम अपनी मान्यतामें संतुष्ट हैं, वैसे ही उन्हें भी संतुष्ट पाकर हमारे मनमें संशय उत्पन्न हो गया है । हम यह ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पा रहे हैं कि परम कल्याणकी प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय क्या है ? ॥ ९ ॥

शास्त्रं यदि भवेदेकं श्रेयो व्यक्तं भवेत् तदा ।
[illegible] बहुभिर्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम् ॥ १० ॥

'यदि शास्त्र एक होता तो श्रेयकी प्राप्तिका उपाय भी एक ही होनेके कारण वह स्पष्टरूपसे समझमें आ जाता, परंतु बहुत-से शास्त्रोंने नाना प्रकारसे वर्णन करके श्रेयको गुप्त अवस्थामें पहुँचा दिया है—उसे अत्यन्त गूढ बना डाला है ॥

एतस्मात् कारणाच्छ्रेयः कलिलं प्रतिभाति मे ।
ब्रवीतु भगवांस्तन्मे उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥ ११ ॥

'इस कारणसे मुझे श्रेयका स्वरूप संशयाच्छन्न जान पड़ता है । भगवन् ! अब आप ही मुझे उसका उपदेश दें । मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप [illegible] शिष्यको श्रेयोमार्गका बोध करावें' ।

नारद उवाच

आश्रमास्तात चत्वारो यथासंकल्पिताः पृथक् ।
तान् सर्वाननुपश्य त्वं समाश्रित्येति गालव ॥ १२ ॥

नारदजीने कहा—तात ! आश्रम चार हैं और शास्त्रोंमें उनकी पृथक्-पृथक् व्यवस्था की गयी है । गालव ! तुम ज्ञानका आश्रय लेकर उन सबको यथार्थरूपसे जानो ॥ १२ ॥

तेषां तेषां तथा हि त्वमाश्रमाणां ततस्ततः ।
नानारूपगुणोद्देशं पश्य विप्र स्थितं पृथक् ॥ १३ ॥

विप्रवर ! उन-उन आश्रमोंके जो नाना प्रकारके गुणमय धर्म बताये गये हैं, उनकी पृथक्-पृथक् स्थिति है । इस बात को तुम देखो और समझो ॥ १३ ॥

न यान्ति चैव ते सम्यगभिप्रेतमसंशयम् ।
अन्येऽपश्यंस्तथा सम्यगाश्रमाणां परां गतिम् ॥ १४ ॥

जो साधारण मनुष्य हैं, वे उन आश्रमोंके आन्तरिक अभिप्रायको भलीभाँति संशयरहित नहीं जान पाते, किंतु उनसे भिन्न जो तत्त्वज्ञ हैं, वे इन आश्रमोंके परम लक्ष्यको ठीक-ठीक समझते हैं ॥ १४ ॥

यत् तु निःश्रेयसं सम्यक् तच्चैवासंशयात्मकम् ॥ १५ ॥
अनुग्रहं च मित्राणाममित्राणां च निग्रहम् ।

संग्रहं च त्रिवर्गस्य श्रेय आहुर्मनीषिणः ॥ १६ ॥

जो अच्छी तरह कल्याण करनेवाला साधन होता है, वह सर्वथा संशयरहित होता है। सुहृदोंपर अनुग्रह करना, शत्रुभाव रखनेवाले दुष्टोंको दण्ड देना तथा धर्म, अर्थ और [illegible] [illegible] करना—इसे मनीषी पुरुष श्रेय कहते हैं ॥ १५-१६ ॥

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता।
सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम् ॥ १७ ॥

पापकर्मसे दूर रहना, निरन्तर पुण्यकर्मोंमें लगे रहना और सत्पुरुषोंके साथ रहकर सदाचारका ठीक-ठीक पालन करना—यह संशयरहित कल्याणका मार्ग है ॥ १७ ॥

मार्दवं सर्वभूतेषु व्यवहारेषु चार्जवम्।
वाक् चैव मधुरा प्रोक्ता श्रेय एतदसंशयम् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति कोमलताका बर्ताव करना, व्यवहारमें [illegible] होना [illegible] मीठे वचन बोलना—यह भी कल्याणका संदेहरहित मार्ग है ॥ १८ ॥

दैवतेभ्यः पितृभ्यश्च संविभागोऽतिथिष्वपि।
असंत्यागश्च भृत्यानां श्रेय एतदसंशयम् ॥ १९ ॥

देवताओं, पितरों और अतिथियोंको उनका भाग देना [illegible] भरण-पोषण करनेयोग्य व्यक्तियोंका [illegible] न करना—[illegible] कल्याणका निश्चित साधन है ॥ १९ ॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥ २० ॥

सत्य बोलना भी श्रेयस्कर है, परंतु सत्यको यथार्थरूपसे जानना कठिन है। मैं तो उसीको सत्य कहता हूँ, जिससे प्राणियोंका [illegible] हित होता हो ॥ २० ॥

अहंकारस्य च त्यागः प्रमादस्य च निग्रहः।
संतोषश्चैकचर्या च कूटस्थं श्रेय उच्यते ॥ २१ ॥

अहंकारका त्याग, प्रमादको रोकना, संतोष और एकान्तवास—यह सुनिश्चित श्रेय कहलाता है ॥ २१ ॥

धर्मेण वेदाध्ययनं वेदाङ्गानां तथैव च।
ज्ञानार्थानां च जिज्ञासा श्रेय एतदसंशयम् ॥ २२ ॥

धर्माचरणपूर्वक वेद और वेदाङ्गोंका [illegible] करना तथा उनके सिद्धान्तको जाननेकी इच्छाको जगाये रखना निस्संदेह कल्याणका साधन है ॥ २२ ॥

शब्दरूपरसस्पर्शान् सह गन्धेन केवलान्।
नात्यर्थमुपसेवेत श्रेयसोऽर्थी कथंचन ॥ २३ ॥

जिसे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो, उस मनुष्यको किसी तरह भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंका अधिक सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २३ ॥

नक्तंचर्यां दिवास्वप्नमालस्यं पैशुनं मदम्।
अतियोगमयोगं च श्रेयसोऽर्थी परित्यजेत् ॥ २४ ॥

कल्याण चाहनेवाला पुरुष रातमें घूमना, दिनमें सोना, आलस्य, चुगली, मादक वस्तुका सेवन, आहार-विहारका अधिक मात्रामें सेवन और उसका सर्वथा त्याग—ये सब बातें त्याग दे ॥ २४ ॥

आत्मोत्कर्षं न मार्गेत परेषां परिनिन्दया।
स्वगुणैरेव मार्गेत विप्रकर्षं पृथग्जनात् ॥ २५ ॥

दूसरोंकी निन्दा करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेका प्रयत्न न करे। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा जो अपनी उत्कृष्टता है, उसे अपने गुणोंद्वारा ही सिद्ध करे (बातोंसे नहीं) ॥ २५ ॥

निर्गुणास्त्वेव भूयिष्ठमात्मसम्भाविता नराः।
दोषैरन्यान् गुणवतः क्षिपन्त्यात्मगुणक्षयात् ॥ २६ ॥

गुणहीन मनुष्य ही अधिकतर अपनी प्रशंसा किया करते हैं। वे अपनेमें गुणोंकी कमी देखकर दूसरे गुणवान् पुरुषोंके गुणोंमें दोष [illegible] उनपर आक्षेप किया करते हैं ॥ २६ ॥

अनुच्यमानास्तु पुनस्ते मन्यन्तु महाजनात्।
गुणवत्तरमात्मानं स्वेन मानेन दर्पिताः ॥ २७ ॥

यदि उनको उत्तर दिया [illegible] तो फिर वे घमंडमें [illegible] अपने-आपको महापुरुषोंसे भी अधिक गुणवान् मानने लगें ॥

[illegible] कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन्।
विपश्चिद् गुणसम्पन्नः प्राप्नोत्येव महद् यशः ॥ २८ ॥

परंतु जो दूसरे किसीकी निन्दा तथा अपनी प्रशंसा नहीं करता, ऐसा [illegible] गुणसम्पन्न विद्वान् पुरुष ही महान् यशका भागी होता है ॥ २८ ॥

अब्रुवन् वाति सुरभिर्गन्धः सुमनसां शुचिः।
तथैवाव्याहरन् भाति विमलो भानुरम्बरे ॥ २९ ॥

फूलोंकी पवित्र एवं मनोरम सुगन्ध बिना कुछ बोले ही महक उठती है। निर्मल सूर्य अपनी प्रशंसा किये बिना ही आकाशमें प्रकाशित होने लगते हैं ॥ २९ ॥

एवमादीनि चान्यानि परित्यक्तानि मेधया।
ज्वलन्ति यशसा लोके यानि न व्याहरन्ति च ॥ ३० ॥

इस प्रकार संसारमें और भी बहुत-सी ऐसी बुद्धिसे रहित वस्तुएँ हैं, जो अपनी प्रशंसा नहीं करती हैं, किंतु अपने यशसे जगमगाती रहती हैं ॥ ३० ॥

न लोके दीप्यते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया।
अपि चापिहितः श्वभ्रे कृतविद्यः प्रकाशते ॥ ३१ ॥

मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसा करनेसे ही जगत्में ख्याति नहीं पा सकता। विद्वान् पुरुष गुफामें छिपा रहे तो भी उसकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो जाती है ॥ ३१ ॥

असदुच्चैरपि प्रोक्तः शब्दः समुपशाम्यति।

दीप्यते त्वेव लोकेषु शनैरपि सुभाषितम् ॥ ३२ ॥

बुरी बात जोर-शोरसे कही गयी हो तो भी वह शून्यमें विलीन हो जाती है, लोकमें उसका आदर नहीं होता है; किंतु अच्छी बात धीरेसे कही जाय तो भी वह संसारमें प्रकाशित होती है—उसका आदर होता और प्रभाव बढ़ता है॥

मूढानामवलिप्तानामसारं भाषितं बहु ।
दर्शयत्यन्तरात्मानमग्निरूपमिवांशुमान् ॥ ३३ ॥

घमंडी मूर्खोंकी कही हुई असार बातें उनके दूषित अन्तःकरणका ही प्रदर्शन कराती हैं, ठीक उसी तरह जैसे सूर्य सूर्यकान्तमणिके योगसे अपने दाहक अग्निरूपको ही प्रकट करता है ॥ ३३ ॥

एतस्मात् कारणात् प्रज्ञां मृगयन्ते पृथग्विधाम् ।
प्रज्ञालाभो हि भूतानामुत्तमः प्रतिभाति मे ॥ ३४ ॥

इस कारण कल्याणकी इच्छा रखनेवाले साधु पुरुष अनेक शास्त्रोंके अध्ययनसे नाना प्रकारकी [illegible] (उत्तम बुद्धि) [illegible] ही अनुसंधान करते हैं। मुझे तो सभी प्राणियोंके लिये प्रज्ञाका लाभ ही उत्तम जान पड़ता है ॥ ३४ ॥

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नाप्यन्यायेन पृच्छतः ।
ज्ञानवानपि मेधावी जडवत् समुपाविशेत् ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान् पुरुष ज्ञानवान् होनेपर भी बिना पूछे किसीको कोई उपदेश न करे। अन्यायपूर्वक पूछनेपर भी किसीके प्रश्नका उत्तर न दे। जडकी भाँति चुपचाप बैठा रहे ॥

ततो वासं परीक्षेत धर्मनित्येषु साधुषु ।
मनुष्येषु वदान्येषु स्वधर्मनिरतेषु [illegible] ॥ ३६ ॥

मनुष्यको सदा धर्ममें लगे रहनेवाले साधु-महात्माओं तथा स्वधर्मपरायण उदार पुरुषोंके समीप निवास करनेकी इच्छा रखनी चाहिये ॥ ३६ ॥

चतुर्णां यत्र वर्णानां धर्मव्यतिकरो भवेत् ।
न [illegible] वासं कुर्वीत श्रेयोऽर्थी वै कथंचन ॥ ३७ ॥

जहाँ चारों वर्णोंके धर्मोंका उल्लङ्घन होता हो, वहाँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषको किसी तरह भी नहीं रहना चाहिये ॥ ३७ ॥

निरारम्भोऽप्ययमिह यथालब्धोपजीवनः ।
पुण्यं पुण्येषु विमलं पापं पापेषु चाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

किसी कर्मका आरम्भ न करनेवाला और जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन-निर्वाह करनेवाला पुरुष भी यदि पुण्यात्माओंके समाजमें रहे तो उसे निर्मल पुण्यकी प्राप्ति होती है और पापियोंके संसर्गमें रहे तो वह पापका ही भागी होता है॥

अपामग्नेस्तथेन्दोश्च स्पर्शं वेदयते यथा ।
[illegible] पश्यामहे स्पर्शमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ ३९ ॥

जैसे जल, अग्नि और चन्द्रमाकी किरणोंके [illegible] आनेपर मनुष्य क्रमशः शीत, उष्ण और सुखदायी स्पर्शका अनुभव करता है, उसी प्रकार हम पुण्यात्मा और पापियोंके संगसे पुण्य और पाप दोनोंके स्पर्शका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं॥

अपश्यन्तोऽनुविषयं भुञ्जते विघसाशिनः ।
भुञ्जानाश्चात्मविषयान् विषयान् विद्धि कर्मणाम् ॥ ४० ॥

जो विघसाशी (भृत्यवर्ग और अतिथि आदिको भोजन करानेके बाद बचा हुआ भोजन करनेवाले) हैं, वे तिक्त-मधुर रस या स्वादकी आलोचना न करते हुए अन्न ग्रहण करते हैं; किंतु जो अपनी रसनाका विषय समझकर स्वादु और अस्वादुका विचार रखते हुए भोजन करते हैं, उन्हें कर्मपाशमें बँधा हुआ ही समझना चाहिये ॥ ४० ॥

यत्रागमयमानानामसत्कारेण पृच्छताम् ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणो धर्मं त्यजेत् तं देशमात्मवान् ॥ ४१ ॥

जहाँ ब्राह्मण अनादर एवं अन्यायपूर्वक धर्म शास्त्रविषयक प्रश्न करनेवाले पुरुषोंको धर्मका उपदेश करता हो, आत्मपरायण साधकको उस देशका परित्याग कर देना चाहिये ॥

शिष्योपाध्यायिकावृत्तिर्यत्र स्यात् सुसमाहिता ।
यथावच्छास्त्रसम्पन्ना कस्तं देशं परित्यजेत् ॥ ४२ ॥

जहाँ गुरु और शिष्यका व्यवहार सुव्यवस्थित, [illegible] सम्मत एवं यथावत् रूपसे चलता है, कौन उस देशका परित्याग करेगा ? ॥ ४२ ॥

आकाशस्था ध्रुवं यत्र दोषं ब्रूयुर्विपश्चिताम् ।
आत्मपूजाभिकामो वै को वसेत् तत्र पण्डितः ॥ ४३ ॥

जहाँके लोग बिना किसी आधारके ही विद्वान् पुरुषोंपर निश्चितरूपसे दोषारोपण करते हों, उस देशमें आत्मसम्मानकी इच्छा रखनेवाला कौन मनुष्य निवास करेगा ? ॥ ४३ ॥

[illegible] संलोडिता लुब्धैः प्रायशो धर्मसेतवः ।
प्रदीप्तमिव चैलान्तं कस्तं देशं [illegible] संत्यजेत् ॥ ४४ ॥

जहाँ लालची मनुष्योंने प्रायः धर्मकी मर्यादाएँ तोड़ डाली हों, जलते हुए कपड़ेकी भाँति उस देशको कौन नहीं त्याग देगा [illegible] ॥ ४४ ॥

यत्र धर्ममनाशङ्काश्चरेयुर्वीतमत्सराः ।
भवेत् तत्र वसेच्चैव पुण्यशीलेषु साधुषु ॥ ४५ ॥

परंतु जहाँके लोग मात्सर्य और शङ्कासे रहित होकर धर्मका आचरण करते हों, वहाँ पुण्यशील साधु पुरुषोंके पास अवश्य निवास करे ॥ ४५ ॥

धर्ममर्थनिमित्तं च चरेयुर्यत्र मानवाः ।
नताननुवसेज्जातु ते हि पापकृतो जनाः ॥ ४६ ॥

जहाँके मनुष्य धनके लिये धर्मका अनुष्ठान करते हों,

वहाँ उनके पास कदापि न रहे; क्योंकि वे सब-के-सब पापाचारी होते हैं ॥ ४६ ॥

कर्मणा यत्र पापेन वर्तन्ते जीवितेप्सवः ।
व्यवधावेत् ततस्तूर्णं ससर्पाच्छरणादिव ॥ ४७ ॥

जहाँ जीवनकी रक्षाके लिये लोग पापकर्मसे जीविका चलाते हों, सर्पयुक्त घरके समान उस स्थानसे तुरंत दूर हट जाना चाहिये ॥ ४७ ॥

येन खट्वां [illegible] कर्मणानुशयी भवेत् ।
आदितस्तन्न कर्तव्यमिच्छता [illegible] ॥ ४८ ॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले साधकको चाहिये [illegible] जिस पापकर्मके संस्कारोंसे युक्त हुआ मनुष्य खाटपर पड़कर दुःख भोगता है, [illegible] कर्मको पहलेसे ही न करे ॥ ४८ ॥

यत्र राजा च [illegible] पुरुषाः प्रत्यनन्तराः ।
कुटुम्बिनामग्रभुजस्त्यजेत् तद् राष्ट्रमात्मवान् ॥ ४९ ॥

जहाँ [illegible] और राजाके निकटवर्ती अन्य पुरुष कुटुम्बीजनोंसे पहले ही भोजन कर लेते हैं, [illegible] राष्ट्रको मनस्वी पुरुष अवश्य त्याग दे ॥ ४९ ॥

श्रोत्रियास्त्वग्रभोक्तारो धर्मनित्याः सनातनाः ।
याजनाध्यापने युक्ता यत्र तद् राष्ट्रमावसेत् ॥ ५० ॥

जिस देशमें [illegible] धर्मपरायण, यज्ञ कराने और पढ़ाने[illegible] कार्यमें संलग्न सनातनधर्मी श्रोत्रिय ब्राह्मण ही सबसे पहले भोजन पाते हों, [illegible] राष्ट्रमें अवश्य निवास करे ॥ ५० ॥

स्वाहास्वधावषट्कारा [illegible] सम्यगनुष्ठिताः ।
अजस्रं चैव वर्तन्ते वसेत् तत्राविचारयन् ॥ ५१ ॥

जहाँ स्वाहा (अग्निहोत्र), [illegible] (श्राद्धकर्म) तथा वषट्कारका भलीभाँति अनुष्ठान होता हो और निरन्तर ये सभी कर्म किये जाते हों, वहाँ बिना विचारे ही निवास [illegible] चाहिये ॥ ५१ ॥

अशुचीन् यत्र पश्येत ब्राह्मणान् वृत्तिकर्शितान् ।
त्यजेत् तद् राष्ट्रमासन्नमुपसृष्टमिवामिषम् ॥ ५२ ॥

जहाँ ब्राह्मणोंको जीविकाके लिये [illegible] पाते [illegible] अपवित्र अवस्थामें रहते देखे, उस राष्ट्रको निकटवर्ती होनेपर भी विषमिश्रित भोग्यवस्तुकी भाँति त्याग दे ॥ ५२ ॥

प्रीयमाणा [illegible] [illegible] प्रयच्छेयुरयाचिताः ।
स्वस्थचित्तो वसेत् [illegible] [illegible] इवात्मवान् ॥ ५३ ॥

जहाँके लोग प्रसन्नतापूर्वक बिना माँगे ही भिक्षा देते हों, वहाँ मनको वशमें करनेवाला पुरुष कृतकृत्यकी भाँति स्वस्थचित्त होकर निवास करे ॥ ५३ ॥

दण्डो यत्राविनीतेषु [illegible] कृतात्मसु ।
चरेत् [illegible] वसेच्चैव पुण्यशीलेषु साधुषु ॥ ५४ ॥

जहाँ उद्दण्ड पुरुषोंको दण्ड दिया [illegible] हो और जितात्मा पुरुषोंका [illegible] किया जाता हो, वहाँ पुण्यशील श्रेष्ठ पुरुषोंके बीच विचरना और निवास करना चाहिये ॥

उपसृष्टेषु दान्तेषु दुराचारेषु साधुषु ।
अविनीतेषु लुब्धेषु सुमहद् दण्डधारणम् ॥ ५५ ॥

जो जितेन्द्रिय पुरुषोंपर क्रोध और श्रेष्ठ पुरुषोंपर अत्या[illegible] करते हों, उद्दण्ड और लोभी हों, ऐसे लोगोंको जहाँ अत्यन्त कठोर और महान् दण्ड दिया जाता हो, [illegible] देशमें बिना विचारे निवास करना चाहिये ॥ ५५ ॥

[illegible] [illegible] धर्मनित्यो राज्यं धर्मेण पालयेत् ।
अपास्य कामान् कामेशो वसेत् तत्राविचारयन् ॥ ५६ ॥

जहाँका राजा सदा धर्मपरायण रहकर धर्मानुसार [illegible] राज्यका पालन करता हो और सम्पूर्ण कामनाओंका स्वामी होकर भी विषयभोगसे विमुख रहता हो, वहाँ बिना [illegible] सोचे-विचारे निवास [illegible] चाहिये ॥ ५६ ॥

यथाशीला हि [illegible] सर्वान् विषयवासिनः ।
श्रेयसा योजयत्याशु श्रेयसि प्रत्युपस्थिते ॥ ५७ ॥

क्योंकि राजाके शील-स्वभाव जैसे होते हैं, वैसे ही प्रजाके भी हो जाते हैं । [illegible] अपने कल्याणका अवसर उपस्थित होनेपर [illegible] प्रजाको भी शीघ्र ही [illegible] भागी [illegible] देता है ॥ ५७ ॥

पृच्छतस्ते मया [illegible] श्रेय एतदुदाहृतम् ।
न हि शक्यं प्रधानेन श्रेयः संख्यातुमात्मनः ॥ ५८ ॥

[illegible] ! मैंने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार यह श्रेयोमार्गका वर्णन किया है । पूर्णतया तो आत्मकल्याणकी परिगणना हो ही नहीं सकती ॥ ५८ ॥

एवं प्रवर्तमानस्य वृत्तिं प्राणिहितात्मनः ।
तपसैवेह बहुलं श्रेयो व्यक्तं भविष्यति ॥ ५९ ॥

जो इस प्रकारकी वृत्तिसे रहकर जीविका चलाता है और प्राणियोंके हितमें मन लगाये रहता है, उस पुरुषको स्वधर्मरूप तपके अनुष्ठानसे इस लोकमें ही परम कल्याणकी [illegible] उपलब्धि हो जायगी ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि श्रेयोवाचिको [illegible] सप्ताशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें श्रेयोमार्गका प्रतिपादन नामक दो सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८७ ॥

अष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अरिष्टनेमिका राजा सगरको वैराग्योत्पादक मोक्षविषयक उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

कथं नु युक्तः पृथिवीं चरेदस्मद्विधो नृपः।
नित्यं कैश्च गुणैर्युक्तः संगपाशाद् विमुच्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! मेरे-जैसा राजा कैसे साधन और व्यवहारसे युक्त होकर पृथ्वीपर विचरे और किन गुणोंसे सम्पन्न होकर आसक्तिके बन्धनसे मुक्त हो?॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
अरिष्टनेमिना प्रोक्तं सगरायानुपृच्छते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें राजा सगरके प्रश्न करनेपर अरिष्टनेमिने जो उत्तर दिया था, वह प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें बताऊँगा ॥ २ ॥

सगर उवाच

किं श्रेयः परमं ब्रह्मन् कृत्वेह सुखमश्नुते।
कथं न शोचेन्न क्षुभ्येदेतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥

सगरने पूछा—ब्रह्मन्! इस जगत्‌में मनुष्य किस परम कल्याणकारी कर्मका अनुष्ठान करके सुखका भागी होता है? तथा किस उपायसे उसे शोक या क्षोभ प्राप्त नहीं होता? यह मैं जानना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्तस्तदा तार्क्ष्यः सर्वशास्त्रविदां वरः।
विबुध्य सम्पदं चाग्र्यां सद्वाक्यमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! राजा सगरके इस प्रकार पूछनेपर सम्पूर्ण शास्त्रज्ञोंमें श्रेष्ठ तार्क्ष्य (अरिष्टनेमि) ने उनमें सर्वोत्तम दैवी सम्पत्तिके गुण जानकर उनको इस प्रकार उत्तम उपदेश दिया—॥ ४ ॥

सुखं मोक्षसुखं लोके न च मूढोऽवगच्छति।
प्रसक्तः पुत्रपशुषु धनधान्यसमाकुलः ॥ ५ ॥

'सगर! संसारमें मोक्षका सुख ही वास्तविक सुख है, परंतु जो धनधान्यके उपार्जनमें व्यग्र तथा पुत्र और पशुओंमें आसक्त है, उस मूढ़ मनुष्यको उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता ॥ ५ ॥

सक्तबुद्धिरशान्तात्मा न शक्यं तच्चिकित्सितुम्।
स्नेहपाशसितो मूढो न स मोक्षाय कल्पते ॥ ६ ॥

'जिसकी बुद्धि विषयोंमें आसक्त है, जिसका मन अशान्त रहता है, ऐसे मनुष्यकी चिकित्सा करनी कठिन है; क्योंकि जो स्नेहके बन्धनमें बँधा हुआ है, वह मूढ मोक्ष पानेके लिये योग्य नहीं होता ॥ ६ ॥

स्नेहजानिह ते पाशान् वक्ष्यामि शृणु तान् मम।
सकर्णकेन शिरसा शक्याः श्रोतुं विजानता ॥ ७ ॥

'मैं तुम्हें स्नेहजनित बन्धनोंका परिचय देता हूँ, उन्हें तुम मुझसे सुनो। श्रवणेन्द्रियसम्पन्न समझदार मनुष्य ही ऐसी बातोंको बुद्धिपूर्वक सुन सकता है ॥ ७ ॥

सम्भाव्य पुत्रान् कालेन यौवनस्थान् निवेश्य च।
समर्थान् जीवने ज्ञात्वा मुक्तश्चर यथासुखम् ॥ ८ ॥

'समयानुसार पुत्रोंको उत्पन्न करके जब वे जवान हो जायँ, तब उनका विवाह कर दो और जब यह मालूम हो जाय कि अब ये दूसरेके सहयोगके बिना ही जीवन-निर्वाह करनेमें समर्थ हैं, तब उनके स्नेह-पाशसे मुक्त हो सुखपूर्वक विचरो ॥ ८ ॥

भार्यां पुत्रवतीं वृद्धां लालितां पुत्रवत्सलाम्।
ज्ञात्वा प्रजहि कालेन परार्थमनुदृश्य च ॥ ९ ॥

'पत्नी पुत्रवती होकर बूढ़ी हो गयी। अब पुत्रगण उसका लालन करते हैं और वह भी पुत्रोंपर पूर्ण वात्सल्य रखती है, यह जानकर परम पुरुषार्थ मोक्षको अपना लक्ष्य बनाकर यथासमय उसका परित्याग कर दे ॥ ९ ॥

सापत्यो निरपत्यो वा मुक्तश्चर यथासुखम्।
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थांस्त्वमनुभूय यथाविधि ॥ १० ॥
कृतकौतूहलस्तेषु मुक्तश्चर यथासुखम्।

'शास्त्र-विधिके अनुसार इन्द्रियोंद्वारा इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव करके जब तुम उनके खेलको पूरा कर चुको, तब संतान हुई हो चाहे न हुई हो, उनसे मुक्त होकर सुखपूर्वक विचरो ॥ १०½ ॥

उपपत्त्योपलब्धेषु लोकेषु च समो भव ॥ ११ ॥

'दैवेच्छासे जो भी लौकिक पदार्थ उपलब्ध हों, उनमें समान भाव रक्खो—राग-द्वेष न करो ॥ ११ ॥

एष तावत् समासेन तव संकीर्तितो मया।
मोक्षार्थो विस्तरेणाथ भूयो वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १२ ॥

'यह संक्षेपमें मैंने तुम्हें मोक्षका विषय बताया है। अब पुनः इसीको विस्तारके साथ बता रहा हूँ, सुनो ॥ १२ ॥

मुक्ता वीतभया लोके चरन्ति सुखिनो नराः।
सक्तभावा विनश्यन्ति नरास्तत्र न संशयः ॥ १३ ॥
आहारसंचयाश्चैव तथा कीटपिपीलिकाः।
असक्ताः सुखिनो लोके सक्ताश्चैव विनाशिनः ॥ १४ ॥

'मुक्त पुरुष सुखी होते हैं और संसारमें निर्भय होकर विचरते हैं; किंतु जिनका चित्त विषयोंमें आसक्त होता है, वे कीड़े-मकोड़ोंकी भाँति आहारका संग्रह करते-करते ही नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है; अतः जो आसक्तिसे रहित हैं, वे ही इस संसारमें सुखी हैं। आसक्त मनुष्योंका तो नाश ही होता है ॥ १३-१४ ॥

स्वजने न च ते चिन्ता कर्तव्या मोक्षबुद्धिना ।
इमे मया विनाभूता भविष्यन्ति कथं त्विति ॥ १५ ॥

'यदि तुम्हारी बुद्धि मोक्षमें लगी हुई है तो तुम्हें स्वजनोंके विषयमें ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि ये मेरे बिना कैसे रहेंगे ॥ १५ ॥

स्वयमुत्पद्यते जन्तुः स्वयमेव विवर्धते ।
सुखदुःखे तथा मृत्युं स्वयमेवाधिगच्छति ॥ १६ ॥

'प्राणी स्वयं जन्म लेता है, स्वयं बढ़ता है और स्वयं ही सुख-दुःख तथा मृत्युको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

भोजनाच्छादने चैव मात्रा पित्रा च संग्रहम् ।
स्वकृतेनाधिगच्छन्ति लोके नास्त्यकृतं पुरा ॥ १७ ॥

'मनुष्य पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही भोजन, वस्त्र तथा अपने माता-पिताके द्वारा संग्रह किया हुआ धन प्राप्त करता है। संसारमें जो कुछ मिलता है, वह पूर्वकृत कर्मोंके फलके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है ॥ १७ ॥

धात्रा विहितभक्ष्याणि सर्वभूतानि मेदिनीम् ।
लोके विपरिधावन्ति रक्षितानि स्वकर्मभिः ॥ १८ ॥

'संसारमें सभी प्राणी अपने कर्मोंसे सुरक्षित हो सारी पृथ्वीकी दौड़ लगाते हैं और विधाताने उनके प्रारब्धके अनुसार जो आहार नियत कर दिया है, उसे प्राप्त करते हैं ॥

स्वयं मृत्पिण्डभूतस्य परतन्त्रस्य सर्वदा ।
को हेतुः स्वजनं पोष्टुं रक्षितुं वाप्दृढात्मनः ॥ १९ ॥

'जो स्वयं ही शरीरकी दृष्टिसे मिट्टीका लौंदामात्र है, सर्वदा परतन्त्र है, वह दुर्बल मनवाला मनुष्य स्वजनोंका पोषण और रक्षण करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है ? ॥१९॥

स्वजनं हि यदा मृत्युर्हन्त्येव तव पश्यतः ।
कृतेऽपि यत्ने महति तत्र बोद्धव्यमात्मना ॥ २० ॥

'जब स्वजनोंको तुम्हारे देखते-देखते मौत मार ही डालती है और तुम उन्हें बचानेके लिये महान् प्रयत्न करनेपर भी सफल नहीं हो पाते, तब इस विषयमें तुम्हें स्वयं ही यह विचार करना चाहिये कि मेरी क्या शक्ति है ? ॥ २०॥

जीवन्तमपि चैवैनं भरणे रक्षणे तथा ।
असमाप्ते परित्यज्य पश्चादपि मरिष्यसि ॥ २१ ॥

'यदि ये स्वजन जीवित रह जायँ तो भी इनके भरण-पोषण और संरक्षणका कार्य समाप्त होनेसे पहले ही तुम इन्हें छोड़कर पीछे तुम भी तो मर जाओगे ॥ २१ ॥

यदा मृतं च स्वजनं न ज्ञास्यसि कदाचन ।
सुखितं दुःखितं वापि ननु बोद्धव्यमात्मना ॥ २२ ॥

'अथवा जब कोई स्वजन मरकर इस लोकसे चला जायगा, तब उसके विषयमें यह कभी नहीं जान सकोगे कि वह सुखी है या दुःखी, अतः इस विषयमें तुम्हें स्वयं ही विचार करना चाहिये ॥ २२ ॥

मृते वा त्वयि जीवे वा यदा भोक्ष्यति वै जनः ।
स्वकृतं ननु बुद्‌ध्वैवं कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २३ ॥

'तुम जीवित रहो या मर जाओ। तुम्हारा प्रत्येक स्वजन जब अपनी-अपनी करनीका ही फल भोगेगा, तब इस बातको जानकर तुम्हें भी अपने कल्याणके ही साधनमें लग जाना चाहिये ॥ २३ ॥

एवं विज्ञानँल्लोकेऽस्मिन् कः कस्येत्यभिनिश्चितः ।
मोक्षे निवेशय मनो भूयश्चाप्युपधारय ॥ २४ ॥

'ऐसा जानकर, इस संसारमें कौन किसका है, इस बातका भलीभाँति विचार करके अपने मनको मोक्षमें लगा दो और फिर ही पुनः इस बातपर ध्यान दो ॥ २४ ॥

क्षुत्पिपासादयो भावा जिता यस्येह देहिनः ।
क्रोधो लोभस्तथा मोहः सत्त्ववान् मुक्त एव सः ॥ २५ ॥

'जिसने क्षुधा, पिपासा, क्रोध, लोभ और मोह आदि भावोंपर विजय पा ली है, वह सत्त्वसम्पन्न पुरुष सदा मुक्त ही है ॥ २५ ॥

द्यूते पाने तथा स्त्रीषु मृगयायां च यो नरः ।
न प्रमाद्यति सम्मोहात् सततं मुक्त एव सः ॥ २६ ॥

'जो मोहवश जूआ, मद्यपान, परस्त्रीसंसर्ग तथा मृगया आदि व्यसनोंमें आसक्त होनेका प्रमाद नहीं करता है, वह भी सदा मुक्त ही है ॥ २६ ॥

दिवसे दिवसे नाम रात्रौ रात्रौ पुमान् सदा ।
भोक्तव्यमिति यः खिन्नो दोषबुद्धिः स उच्यते ॥ २७ ॥

'जो पुरुष सदा प्रत्येक दिन और प्रत्येक रात्रिमें भोग भोगने या भोजन करनेकी ही चिन्तामें पड़कर दुःखी रहता है, वह दोषबुद्धिसे युक्त कहलाता है ॥ २७ ॥

आत्मभावं तथा स्त्रीषु मुक्तमेव पुनः पुनः ।
यः पश्यति सदा युक्तो यथावन्मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

'जो सदा योगयुक्त रहकर स्त्रियोंके प्रति अपने भाव (अनुराग या आसक्ति) को निवृत्त हुआ ही देखता है

अर्थात् जिसकी स्त्रियोंके प्रति भोग्यबुद्धि नहीं होती, वही वास्तवमें मुक्त है ॥ २८ ॥

सम्भवं च विनाशं च भूतानां चेष्टितं तथा।
यस्तत्त्वतो विजानाति लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ २९ ॥

'जो प्राणियोंके जन्म, मृत्यु और चेष्टाओंको ठीक-ठीक जानता है, वह भी इस संसारमें मुक्त ही है ॥ २९ ॥

प्रस्थं वाहसहस्रेषु यात्रार्थं चैव कोटिषु।
प्रासादे मञ्चकं स्थानं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३० ॥

'जो हजारों और करोड़ों गाड़ी अन्नमेंसे केवल एक प्रस्थ (पेट भरने लायक) को ही अपने जीवननिर्वाहके लिये पर्याप्त समझता है (उससे अधिकका संग्रह करना नहीं चाहता) तथा बड़े-से-बड़े महलमें मॉच बिछाने भरकी जगहको ही अपने लिये पर्याप्त समझता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३० ॥

मृत्युनाभ्याहतं लोकं व्याधिभिश्चोपपीडितम्।
अवृत्तिकर्शितं चैव यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३१ ॥

'जो इस जगत्को रोगोंसे पीड़ित, जीविकाके अभावसे दुर्बल और मृत्युके आघातसे आहत हुआ देखता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३१ ॥

स पश्यति स संतुष्टो न पश्यंश्च विहन्यते।
यश्चाप्यल्पेन संतुष्टो लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ ३२ ॥

'जो ऐसा देखता है, वह संतुष्ट एवं मुक्त होता है; किंतु जो ऐसा नहीं देखता, वह मारा जाता है—जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ा रहता है। जो थोड़ेसे लाभमें ही संतुष्ट रहता है, वह भी जगत्में मुक्त ही है ॥ ३२ ॥

अग्नीषोमाविदं सर्वमिति यश्चानुपश्यति।
न च संस्पृश्यते भावैरद्भुतैर्मुक्त एव सः ॥ ३३ ॥

'जो इस सम्पूर्ण जगत्को अग्नि और सोम (भोक्ता और भोज्य) रूप ही देखता है और स्वयंको उनसे भिन्न मानता है, उसे मायाके अद्भुत भाव—सुख-दुःख आदि छू नहीं सकते। वह सर्वथा मुक्त ही है ॥ ३३ ॥

पर्यङ्कशय्या भूमिश्च समाने यस्य देहिनः।
शालयश्च कदन्नं च यस्य स्यान्मुक्त एव सः ॥ ३४ ॥

'जिस देहधारीके लिये पलंगकी सेज और भूमि—दोनों समान हैं; जो अगहनीके चावल और कोदो आदिको एक-सा समझता है, वह मुक्त ही है ॥ ३४ ॥

क्षौमं च कुशचीरं च कौशेयं वल्कलानि च।
आविकं चर्म च समं यस्य स्यान्मुक्त एव सः ॥ ३५ ॥

जिसके लिये सनके वस्त्र, कुशके चीर, रेशमी वस्त्र, वल्कल, ऊनी वस्त्र और मृगचर्म—सब समान है, वह भी मुक्त ही है ॥ ३५ ॥

पञ्चभूतसमुद्भूतं लोकं यश्चानुपश्यति।
तथा च वर्तते दृष्ट्वा लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥ ३६ ॥

'जो संसारको पाञ्चभौतिक देखता और उस दृष्टिके अनुसार ही बर्ताव करता है, वह भी इस जगत्में मुक्त ही है ॥ ३६ ॥

सुखदुःखे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ।
इच्छाद्वेषौ भयोद्वेगौ सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ३७ ॥

'जिसकी दृष्टिमें सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय सम हैं तथा जिसके इच्छा-द्वेष, भय और उद्वेग सर्वथा नष्ट हो गये हैं, वही मुक्त है ॥ ३७ ॥

रक्तमूत्रपुरीषाणां दोषाणां संचयांस्तथा।
शरीरं दोषबहुलं दृष्ट्वा चैव विमुच्यते ॥ ३८ ॥

'यह शरीर क्या है, बहुत से दोषोंका भण्डार। इसमें रक्त, मल-मूत्र तथा और भी अनेक दोषोंका संचय हुआ है। जो इस बातको देखता और समझता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

वलीपलितसंयोगे कार्श्यं वैवर्ण्यमेव च।
कुब्जभावं च जरया यः पश्यति स मुच्यते ॥ ३९ ॥

'बुढ़ापा आनेपर इस शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। सिरके बाल सफेद हो जाते हैं। देह दुबली-पतली एवं कान्तिहीन हो जाती है तथा कमर झुक जानेके कारण मनुष्य कुबड़ा-सा हो जाता है। इन सब बातोंकी ओर जिसकी सदा ही दृष्टि रहती है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ३९ ॥

पुंस्त्वोपघातं कालेन दर्शनोपरमं तथा।
बाधिर्यं प्राणमन्दत्वं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४० ॥

'समय आनेपर पुरुषत्व नष्ट हो जाता है, आँखोंसे दिखायी नहीं देता है, कान बहरे हो जाते हैं और प्राणशक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है। इन सब बातोंको जो सदा देखता और इनपर विचार करता रहता है, वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ४० ॥

गतानृषींस्तथा देवानसुरांश्च तथा गतान्।
लोकादस्मात् परं लोकं यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४१ ॥

'कितने ही ऋषि, देवता तथा असुर इस लोकसे परलोकको चले गये। जो सदा यह देखता और स्मरण करता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

प्रभावैरन्वितास्तैस्तैः पार्थिवेन्द्राः सहस्रशः।
ये गताः पृथिवीं त्यक्त्वा इति ज्ञात्वा विमुच्यते ॥ ४२ ॥

'सहस्रों प्रभावशाली नरेश इस पृथ्वीको छोड़कर कालके गालमें चले गये। इस बातको जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

अर्थाश्च दुर्लभाँल्लोके क्लेशांश्च सुलभांस्तथा।

दुःखं चैव कुटुम्बार्थे यः पश्यति स मुच्यते ॥ ४३ ॥

'संसारमें धन दुर्लभ है और क्लेश सुलभ। कुटुम्बके पालन-पोषणके लिये भी जहाँ बहुत दुःख उठाना पड़ता है, यह [illegible] जिसकी दृष्टिमें है, [illegible] मुक्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

अपत्यानां च वैगुण्यं जनं विगुणमेव च।
पश्यन् भूयिष्ठशो लोके को मोक्षं नाभिपूजयेत् ॥ [illegible] ॥

'इतना ही नहीं, इस जगत्में अपनी संतानोंकी गुणहीनता-[illegible] दुःख भी देखना पड़ता है। विपरीत गुणवाले मनुष्योंसे भी सम्बन्ध हो जाता है। [illegible] प्रकार जो यहाँ अधिकांश [illegible] ही देखता है, ऐसा कौन मनुष्य मोक्षका आदर नहीं करेगा? ॥ ४४ ॥

शास्त्राल्लोकाच्च यो बुद्धः सर्वं पश्यति मानवः।
असारमिव मानुष्यं सर्वथा मुक्त एव [illegible] ॥ ४५ ॥

'जो मनुष्य शास्त्रोंके अध्ययन तथा लौकिक अनुभवसे भी ज्ञानसम्पन्न होकर [illegible] मानव-जगत्को सारहीन-सा देखता है, [illegible] प्रकारसे मुक्त ही है ॥ ४५ ॥

एतच्छ्रुत्वा मम वचो भवांश्चरतु मुक्तवत्।
गार्हस्थ्ये यदि वा मोक्षे कृता बुद्धिरविक्लवा ॥ ४६ ॥

'मेरे इस वचनको सुनकर तुम अपनी बुद्धिको व्याकुलतासे रहित बनाकर गृहस्थाश्रममें [illegible] संन्यास-आश्रममें चाहे जहाँ रहकर मुक्तकी भाँति आचरण करो' ॥ ४६ ॥

तत् तस्य वचनं श्रुत्वा सम्यक् स पृथिवीपतिः।
मोक्षजैश्च गुणैर्युक्तः पालयामास च प्रजाः ॥ ४७ ॥

राजा सगर अरिष्टनेमिके उपर्युक्त उपदेशको भलीभाँति सुनकर मोक्षोपयोगी गुणोंसे सम्पन्न हो प्रजाका पालन करने लगे ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सगरारिष्टनेमिसंवादेऽष्टाशीत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सगर और अरिष्टनेमिका संवादविषयक दो सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८८ ॥

एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भृगुपुत्र उशनाका चरित्र और उन्हें शुक्र नामकी प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

विद्यते मे [illegible] [illegible] कौतूहलमिदं हृदि।
तदहं श्रोतुमिच्छामि [illegible] कुरुपितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! कुरुकुलके पितामह! मेरे हृदयमें चिरकालसे यह एक कौतूहलपूर्ण प्रश्न खड़ा है, जिसका समाधान मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

कथं देवर्षिरुशना सदा काव्यो महामतिः।
असुराणां प्रियकरः सुराणामप्रिये रतः ॥ २ ॥

परम बुद्धिमान् कवित्वसम्पन्न देवर्षि उशना क्यों सदा [illegible] असुरोंका प्रिय तथा देवताओंका अप्रिय करनेमें लगे रहते हैं? ॥ २ ॥

वर्धयामास तेजश्च किमर्थममितौजसाम्।
नित्यं वैरनिबद्धाश्च दानवाः सुरसत्तमैः ॥ ३ ॥

उन्होंने अमित तेजस्वी दानवोंका तेज किसलिये बढ़ाया? दानव तो सदा श्रेष्ठ देवताओंके साथ वैर ही बाँधे रहते हैं ॥ ३ ॥

कथं चाप्युशना प्राप शुक्रत्वममरद्युतिः।
ऋद्धिं च स कथं प्राप्तः सर्वमेतद् वदस्व मे ॥ ४ ॥

देवोपम तेजस्वी मुनिवर उशनाका नाम शुक्र क्यों हो गया? उन्हें ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई? यह [illegible] मुझे बताइये ॥

न याति च [illegible] तेजस्वी मध्येन नभसः कथम्।
एतदिच्छामि विज्ञातुं निखिलेन पितामह ॥ ५ ॥

पितामह! देवर्षि उशना हैं तो बड़े तेजस्वी; परंतु [illegible] आकाशके बीचसे होकर क्यों नहीं जाते? इन सब बातोंको [illegible] पूर्णरूपसे जानना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन्नवहितः सर्वमेतद् यथातथम्।
यथामति यथा चैतच्छ्रुतपूर्वं मयानघ ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—निष्पाप नरेश! मैंने इन सब बातोंको पहले जिस तरह [illegible] [illegible] है, वह सारा वृत्तान्त अपनी बुद्धिके अनुसार यथार्थरूपसे बता रहा हूँ; तुम ध्यानपूर्वक सुनो ॥

[illegible] भार्गवदायादो मुनिर्मान्यो दृढव्रतः।
सुराणां विप्रियकरो निमित्ते कारणात्मके ॥ ७ ॥

ये भृगुपुत्र मुनिवर उशना सबके लिये माननीय तथा दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं। एक विशेष कारण [illegible] जानेसे [illegible] होकर ये देवताओंके विरोधी हो गये* ॥

* कहते हैं, किसी स[illegible] असुरगण देवताओंको कष्ट [illegible]हुँचाकर भृगुपत्नीके आश्रममें [illegible] छिप जाते थे। असुरोंने 'माता' कहकर [illegible] [illegible] ली [illegible] और उन्होंने पुत्र मानकर उन सबको निर्भय

इन्द्रोऽथ धनदो राजा यक्षरक्षोऽधिपः सदा ।
प्रभविष्णुश्च कोशस्य जगतश्च [illegible] प्रभुः ॥ ८ ॥

उस समय इन्द्र तीनों लोकोंके अधीश्वर थे और सदा यक्षों तथा राक्षसोंके अधिपति प्रभावशाली जगत्पति राजा कुबेर उनके कोषाध्यक्ष बनाये गये थे ॥ ८ ॥

तस्यात्मानमथाविश्य योगसिद्धो महामुनिः ।
रुद्ध्वा धनपतिं देवं योगेन हृतवान् वसु ॥ ९ ॥

योगसिद्ध महामुनि उशनाने योगबलसे धनाध्यक्ष कुबेरके भीतर प्रवेश करके उन्हें अपने काबूमें कर लिया और उनके सारे धनका अपहरण कर लिया ॥ ९ ॥

हृते धने ततः शर्म न लेभे धनदस्तथा ।
आपन्नमन्युः संविग्नः सोऽभ्यगात् सुरसत्तमम् ॥ १० ॥

धनका अपहरण हो जानेपर कुबेरको चैन नहीं पड़ा । वे कुपित और उद्विग्न होकर देवेश्वर महादेवजीके पास गये ॥

निवेदयामास तदा शिवायामिततेजसे ।
देवश्रेष्ठाय रुद्राय सौम्याय बहुरूपिणे ॥ ११ ॥

[illegible] समय उन्होंने अमित तेजस्वी अनेक रूपधारी सौम्य एवं शिवस्वरूप देवेश्वर रुद्रसे इस प्रकार निवेदन किया—॥

योगात्मकेनोशनसा रुद्ध्वा मम हृतं [illegible] ।
योगेनात्मगतं कृत्वा निःसृतश्च महातपाः ॥ १२ ॥

'प्रभो ! महर्षि उशना योगबलसे सम्पन्न हैं । उन्होंने अपनी शक्तिसे मुझे बंदी बनाकर मेरा [illegible] धन हर लिया । वे महान् तपस्वी तो हैं ही, योगबलसे मुझे अपने अधीन करके अपना काम बनाकर निकल गये' ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा ततः क्रुद्धो महायोगी महेश्वरः ।
संरक्तनयनो राजञ्शूलमादाय तस्थिवान् ॥ १३ ॥

राजन् ! यह सुनकर महायोगी महेश्वर कुपित हो गये और लाल आँखें किये हाथमें त्रिशूल लेकर खड़े हो गये ॥ १३ ॥

क्वासौ क्वासाविति प्राह गृहीत्वा परमायुधम् ।
उशना दूरतस्तस्य बभौ ज्ञात्वा चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

[illegible] उत्तम अस्त्रको लेकर वे सहसा बोल उठे—'कहाँ है, कहाँ है वह उशना ?' महादेवजी क्या करना चाहते हैं, यह जानकर [illegible] उनसे दूर हो गये ॥ १४ ॥

[illegible] महायोगिनो बुद्ध्वा तं रोषं वै महात्मनः ।
गतिमागमनं वेत्ति स्थानं चैव ततः प्रभुः ॥ १५ ॥

महायोगी महात्मा भगवान् शिवके उस रोषको समझकर वे उनसे दूर हट गये थे, योगसिद्ध उशना गमन, आगमन और स्थानको जानते थे अर्थात् कब हटना चाहिये, कब आना चाहिये तथा किस अवस्थामें कहीं अन्यत्र न जाकर अपने स्थानपर ही ठहरे रहना चाहिये, इन सब बातोंको वे अच्छी तरह समझते थे ॥ १५ ॥

संचिन्त्योग्रेण तपसा महात्मानं महेश्वरम् ।
उशना योगसिद्धात्मा शूलाग्रे प्रत्यदृश्यत ॥ १६ ॥

योगसिद्धात्मा उशना अपनी [illegible] तपस्याद्वारा महात्मा महेश्वरका चिन्तन करके उनके त्रिशूलके अग्रभागमें दिखायी दिये ॥ १६ ॥

विज्ञातरूपः स तदा तपःसिद्धोऽथ धन्विना ।
[illegible] शूलं च देवेशः पाणिना समनामयत् ॥ १७ ॥

तपःसिद्ध शुक्राचार्यको उस रूपमें पहचानकर देवेश्वर शिवने उन्हें शूलपर स्थित जानकर अपने धनुषयुक्त हाथसे [illegible] शूलको झुका दिया ॥ १७ ॥

आनतेनाथ शूलेन पाणिनामिततेजसा ।
पिनाकमिति चोवाच शूलमुग्रायुधः प्रभुः ॥ १८ ॥

[illegible] अमित तेजस्वी शूल उनके हाथसे मुड़कर धनुषके रूपमें परिणत हो गया, तब उग्र धनुर्धर भगवान् गिरने पाणिसे आनत होनेके कारण उस शूलको 'पिनाक' कहा ॥ १८ ॥

पाणिमध्यगतं दृष्ट्वा भार्गवं तमुमापतिः ।
आस्यं विवृत्य ककुदी पाणिना प्राक्षिपच्छनैः ॥ १९ ॥

उसके मुड़नेके साथ ही भृगुपुत्र उशना उनके हाथमें आ गये, उशनाको हाथमें आया देख देवेश्वर उमावल्लभ भगवान् शिवने मुँह फैला लिया और धीरेसे हाथसे धक्का देकर उशनाको मुखके भीतर डाल दिया ॥ १९ ॥

स तु प्रविष्ट उशना कोष्ठं माहेश्वरं प्रभुः ।
व्यचरच्चापि तत्रासौ महात्मा भृगुनन्दनः ॥ २० ॥

महादेवजीके पेटमें घुसकर प्रभावशाली महात्मा भृगुनन्दन उशना उसके भीतर सब ओर विचरने लगे ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमर्थं व्यचरद् राजन्नुशना तस्य धीमतः ।
जठरे देवदेवस्य किं चाकार्षीन्महाद्युतिः ॥ २१ ॥

कर दिया था । देवता जब असुरोंको दण्ड देनेके लिये उनका पीछा करते हुए आते, तब भृगुपत्नीके प्रभावसे उनके आश्रममें प्रवेश नहीं [illegible] पाते थे । [illegible] देख समस्त देवताओंने भगवान् विष्णुकी शरण ली । भुवनपालक भगवान् विष्णुने देवताओं और दैवी-सम्पत्तिकी रक्षाके लिये [illegible] उठाया तथा असुरों एवं आसुर भावके उत्थानमें योग देनेवाली भृगुपत्नीका सिर काट लिया । उस समय मरनेसे बचे हुए असुर भृगुपुत्र उशनाकी शरणमें गये । उशना माताके वधसे [illegible] थे; इसलिये उन्होंने असुरोंको अभयदान दे दिया । तभीसे वे देवताओंकी उन्नतिके मार्गमें असुरोंद्वारा बाधाएँ खड़ी करते रहते हैं ।

युधिष्ठिरने पूछा—राजन् ! महातेजस्वी उशनाने बुद्धिमान् देवाधिदेव महादेवजीके उदरमें किसलिये विचरण किया और वहाँ [illegible] किया ? ॥ २१ ॥

भीष्म उवाच

पुरा सोऽन्तर्जलगतः स्थाणुभूतो महाव्रतः ।
वर्षाणामभवद् राजन् प्रयुतान्यर्बुदानि च ॥ २२ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर ! प्राचीनकालमें महान् व्रतधारी महादेवजी जलके भीतर ठूँठे काठकी भाँति स्थिर भावसे खड़े हो लाखों-अरबों वर्षोंतक [illegible] करते रहे ॥ २२ ॥

उदतिष्ठत् [illegible] दुश्चरं च महाह्रदात् ।
ततो देवातिदेवस्तं [illegible] [illegible] समसर्पत ॥ २३ ॥

[illegible] दुष्कर [illegible] पूरी करके जब वे जलके उस महान् सरोवरसे बाहर निकले, तब देवदेव ब्रह्माजी उनके पास गये ॥ २३ ॥

तपोवृद्धिमपृच्छच्च कुशलं चैवमव्ययः ।
[illegible] सुचीर्णमिति च प्रोवाच वृषभध्वजः ॥ २४ ॥

अविनाशी ब्रह्माजीने उनकी तपोवृद्धिका कुशल-समाचार पूछा । तब भगवान् वृषभध्वजने यह [illegible] कि 'मेरी तपस्या भलीभाँति सम्पन्न हो गयी' ॥ २४ ॥

ततस्संयोगेन वृद्धिं चाप्यपश्यत् स तु शंकरः ।
महामतिरचिन्त्यात्मा सत्यधर्मरतः सदा ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् परम बुद्धिमान्, अचिन्त्यस्वरूप और सदा सत्यधर्मपरायण महादेवजीने अपनी तपस्याके सम्पर्कसे उशनाकी तपस्यामें भी वृद्धि हुई देखी ॥ २५ ॥

[illegible] तेनाढ्यो महायोगी [illegible] च धनेन च ।
व्यराजत महाराज त्रिषु लोकेषु वीर्यवान् ॥ २६ ॥

महाराज ! महायोगी उशना [illegible] तपस्यारूप धनसे सम्पन्न एवं शक्तिशाली हो तीनों लोकोंमें प्रकाशित होने लगे ॥

ततः पिनाकी योगात्मा ध्यानयोगं समाविशत् ।
उशना तु समुद्विग्नो निलिल्ये जठरे ततः ॥ २७ ॥

तदनन्तर पिनाकधारी योगी महादेवने ध्यान लगाया । उस समय उशना अत्यन्त उद्विग्न हो उनके उदरमें ही विलीन होने लगे ॥ २७ ॥

तुष्टाव च महायोगी देवं तत्रस्थ एव च ।
निःसारं काङ्क्षमाणः [illegible] तेन [illegible] प्रतिहन्यते ॥ २८ ॥

महायोगी उशनाने वहीं रहकर महादेवजीकी स्तुति की । वे निकलनेका मार्ग चाहते थे; परंतु महादेवजी उनकी गतिको प्रतिहत कर देते थे ॥ २८ ॥

उशना [illegible] तथोवाच जठरस्थो महामुनिः ।
[illegible] मे कुरुष्वेति पुनः पुनररिंदम ॥ २९ ॥

शत्रुदमन नरेश ! [illegible] उदरमें ही रहकर महामुनि उशनाने महादेवजीसे बारंबार प्रार्थना की—'प्रभो ! मुझपर [illegible] कीजिये' ॥ २९ ॥

तमुवाच महादेवो गच्छ शिश्नेन मोक्षणम् ।
इति सर्वाणि स्रोतांसि रुद्ध्वा त्रिदशपुङ्गवः ॥ ३० ॥

तब महादेवजीने उनसे कहा—'शिश्नके मार्गसे [illegible] तुम्हारा उद्धार होगा, अतः उसीसे निकलो ।' ऐसा कहकर देवेश्वर शिवने अन्य सारे द्वार रोक दिये ॥ ३० ॥

अपश्यमानस्तद् द्वारं सर्वतः पिहितो मुनिः ।
पर्यक्रामद् दह्यमान इतश्चेतश्च तेजसा ॥ ३१ ॥

सब ओरसे घिरे हुए मुनिवर उशना [illegible] शिश्नद्वारको देख नहीं पाते थे । अतः भगवान् शङ्करके तेजसे दग्ध होते हुए वे उदरमें ही इधर-उधर चक्कर काटने लगे ॥ ३१ ॥

स वै निष्क्रम्य शिश्नेन शुक्रत्वमभिपेदिवान् ।
कार्येण तेन नभसो नाध्यगच्छत मध्यतः ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् वे शिश्नके द्वारसे निकलकर सहसा बाहर आ गये । [illegible] द्वारसे निकलनेके कारण ही उनका नाम [illegible] (वीर्य) हो गया । यही [illegible] है जिससे वे आकाशके बीचसे होकर नहीं निकलते ॥ ३२ ॥

विनिष्क्रान्तं [illegible] तं दृष्ट्वा ज्वलन्तमिव तेजसा ।
भवो रोषसमाविष्टः शूलोद्यतकरः स्थितः ॥ ३३ ॥

बाहर निकलनेपर शुक्र अपने तेजसे प्रज्वलित-से हो रहे थे । उन्हें [illegible] अवस्थामें देखकर हाथमें त्रिशूल लेकर खड़े हुए भगवान् शिव पुनः रोषसे भर गये ॥ ३३ ॥

[illegible] तं देवी क्रुद्धं पशुपतिं पतिम् ।
पुत्रत्वमगमद् देव्या वारिते शंकरे [illegible] सः ॥ ३४ ॥

उस समय देवी पार्वतीने कुपित हुए अपने पतिदेव भगवान् पशुपतिको रोका । देवीके [illegible] भगवान् शङ्करके रोक दिये जानेपर शुक्राचार्य उनके पुत्रभावको प्राप्त हुए ॥ ३४ ॥

देव्युवाच

हिंसनीयस्त्वया नैव मम पुत्रत्वमागतः ।
न हि देवोदरात् कश्चिन्निःसृतो नाशमृच्छति ॥ ३५ ॥

देवी पार्वतीने कहा—प्रभो ! अब यह शुक्र मेरा पुत्र हो गया; अतः आपको इसका विनाश नहीं [illegible] चाहिये । देव ! जो आपके उदरसे निकला हो, ऐसा कोई भी पुरुष विनाशको नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ३५ ॥

[illegible] प्रीतो भवो देव्याः प्रहसंश्चेदमब्रवीत् ।

गच्छत्वेष यथाकाममिति राजन् पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

राजन्! यह सुनकर महादेवजी पार्वतीजीपर बहुत प्रसन्न हुए और हँसते हुए बारंबार कहने लगे—'अब यह जहाँ चाहे जा सकता है' ॥ ३६ ॥

ततः प्रणम्य वरदं देवं देवीमुमां तथा।
उशना प्राप तद्धीमान् गतिमिष्टां महामुनिः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् महामुनि शुक्राचार्यने वरदायक देवता महादेवजी तथा उमादेवीको प्रणाम करके अभीष्ट गति प्राप्त कर ली ॥ ३७ ॥

एतत् ते कथितं तात भार्गवस्य महात्मनः।
चरितं भरतश्रेष्ठ यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ! तात युधिष्ठिर! तुमने जैसा मुझसे पूछा था, उसके अनुसार मैंने यह महात्मा भृगुपुत्र शुक्राचार्यका चरित्र तुमसे कह सुनाया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भवभार्गवसमागमे एकोननवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२८९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें महादेवजी और शुक्राचार्यका समागमविषयक दो सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८९ ॥

नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीताका आरम्भ—पराशर मुनिका राजा जनकको कल्याणकी प्राप्तिके साधनका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

ततः परं महाबाहो यच्छ्रेयस्तद् वदस्व मे।
न तृप्याम्यमृतस्येव वचसस्ते पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाबाहु पितामह! अब इसके बाद जो भी कल्याण-प्राप्तिका उपाय हो, वह मुझे बताइये। जैसे अमृत पीनेसे मन नहीं भरता, उसी तरह आपके वचन सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

किं कर्म पुरुषः कृत्वा शुभं पुरुषसत्तम।
श्रेयः परमवाप्नोति प्रेत्य चेह च तद् वद ॥ २ ॥

पुरुषप्रवर! इसीलिये मैं पूछता हूँ कि पुरुष कौन-सा शुभ कर्म करे तो उसे इस लोक और परलोकमें भी परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है, यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथापूर्वं महायशाः।
पराशरं महात्मानं पप्रच्छ जनको नृपः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें भी मैं तुम्हें पूर्ववत् एक प्राचीन प्रसङ्ग सुनाऊँगा। एक समय महायशस्वी राजा जनकने महात्मा पराशर मुनिसे पूछा—॥३॥

किं श्रेयः सर्वभूतानामस्मिँल्लोके परत्र च।
यद् भवेत् प्रतिपत्तव्यं तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥ ४ ॥

'मुने! कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो सभी प्राणियोंके लिये इहलोक और परलोकमें भी कल्याणकारी एवं जानने योग्य है? उसे आप मुझे बताइये' ॥ ४ ॥

ततः स तपसा युक्तः सर्वधर्मविधानवित्।
नृपायानुग्रहमना मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ५ ॥

तब सम्पूर्ण धर्मोंके विधानको जाननेवाले वे तपस्वी मुनि राजा जनकपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे इस प्रकार बोले ॥ ५ ॥

पराशर उवाच

धर्म एव कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥ ६ ॥

पराशरजीने कहा—राजन्! जैसा कि मनीषी पुरुषोंका कथन है, धर्मका ही विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाय तो वह इहलोक और परलोकमें भी कल्याणकारी होता है। उससे बढ़कर दूसरा कोई श्रेयका उत्तम साधन नहीं है ॥ ६ ॥

प्रतिपद्य नरो धर्मं स्वर्गलोके महीयते।
धर्मात्मकः कर्मविधिर्देहिनां नृपसत्तम ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ! धर्मको जानकर उसका आश्रय लेनेवाला मनुष्य स्वर्गलोकमें सम्मानित होता है। वेदोंमें जो 'सत्यं वद, धर्मं चर, यजेत, जुहुयात्' इत्यादि वाक्योंद्वारा मनुष्योंका कर्तव्य-विधान किया गया है, वही धर्मका लक्षण है ॥ ७ ॥

तस्मिन्नाश्रमिणः सन्तः स्वकर्माणीह कुर्वते ॥ ८ ॥

सभी आश्रमोंके लोग उस धर्ममें ही स्थित रहकर इस जगत्में अपने-अपने कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं ॥ ८ ॥

चतुर्विधा हि लोकेऽस्मिन् यात्रा तात विधीयते।
मर्त्या यत्रावतिष्ठन्ते सा च कामात् प्रवर्तते ॥ ९ ॥

तात! इस लोकमें चार प्रकारकी जीविकाका विधान है

(ब्राह्मणके लिये यज्ञादि कराकर दक्षिणा लेना, क्षत्रियके लिये [illegible] लेना, वैश्यके लिये खेती आदि करना और शूद्रके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा [illegible])। मनुष्य इन्हीं चार प्रकारकी जीविकाओंका आश्रय लेकर रहते हैं। [illegible] जीविका दैवेच्छा-[illegible] चलती है ॥ ९ ॥

सुकृतासुकृतं कर्म निषेव्य विविधैः क्रमैः ।
दशार्धप्रविभक्तानां भूतानां बहुधा गतिः ॥ १० ॥

जो प्राणी नाना प्रकारके क्रमसे पुण्य और पापकर्मका सेवन करके पञ्चत्वको [illegible] हो गये हैं अर्थात् स्थूल शरीरका त्याग कर देते हैं उनको मिलनेवाली गति नाना प्रकारकी बतायी गयी है ॥ १० ॥

सौवर्णं राजतं चापि यथा भाण्डं निषिच्यते ।
तथा निषिच्यते जन्तुः पूर्वकर्मवशानुगः ॥ ११ ॥

जैसे ताँबे आदिके बर्तनोंपर जब सोने और चाँदीकी कलई चढ़ा दी जाती है, तब वे वैसे ही दिखायी देने लगते हैं, उसी प्रकार पूर्व कर्मोंके वशीभूत प्राणी पूर्वकृत कर्मसे लिप्त रहता है (पुण्यकर्मसे लिप्त होनेके कारण वह सुखी होता है और पापसे लिप्त होनेके कारण उसे दुःख उठाना पड़ता है) ॥ ११ ॥

नाबीजाज्जायते किंचिन्नाकृत्वा सुखमेधते ।
सुकृतैर्विन्दते सौख्यं प्राप्य देहक्षयं नरः ॥ १२ ॥

जैसे बिना बीजके कोई अङ्कुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार पुण्यकर्म किये बिना कोई सुखी [illegible] समृद्धिशाली नहीं हो सकता; अतः मनुष्य देहत्यागके पश्चात् पुण्यकर्मोंके फलसे [illegible] सुख पाता है ॥ १२ ॥

दैवं तात न पश्यामि नास्ति दैवस्य साधनम् ।
स्वभावतो [illegible] संसिद्धा देवगन्धर्वदानवाः ॥ १३ ॥

[illegible] । [illegible] विषयमें नास्तिक कहते हैं 'मैं प्रारब्धको [illegible] नहीं देख पाता [illegible] प्रारब्धके अस्तित्वका सूचक अनुमानप्रमाण भी नहीं है। किंतु देवता, गन्धर्व और दानव आदि योनियाँ तो स्वभावसे ही प्राप्त होती हैं' ॥ १३ ॥

प्रेत्य जातिकृतं कर्म न स्मरन्ति सदा जनाः ।
ते [illegible] तस्य फलप्राप्तौ कर्म चापि चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

इसके उत्तरमें [illegible] कहा जा सकता है कि मरकर गये हुए प्राणी पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंको सदैव याद नहीं रख सकते। किंतु [illegible] किसी पूर्वकृत कर्मका [illegible] प्राप्त होता है, [illegible] वे ही लोग सदा ([illegible] वाणी, नेत्र और क्रियाद्वारा किये हुए) चार प्रकारके कर्मोंका स्मरण करते हैं—अर्थात् [illegible] कहते हैं कि मैंने पूर्व जन्ममें कोई ऐसा कर्म किया होगा जिसका [illegible] इस रूपमें प्राप्त हुआ है ॥ १४ ॥

लोकयात्राश्रयश्चैव शब्दो वेदाश्रयः कृतः ।
शान्त्यर्थं मनसस्तात नैतद् वृद्धानुशासनम् ॥ १५ ॥

[illegible] । नास्तिक लोग जो यह कहते हैं कि लोकयात्राके निर्वाह और मनकी शान्तिके लिये वेदोक्त शब्दोंको प्रमाण माना गया है अर्थात् वेदोंमें जो कर्म करनेका विधान है, [illegible] तो असमर्थ पुरुषोंके जीविकानिर्वाहके लिये है और जो पूर्वजन्मके किये हुए कर्मकी चर्चा आयी है, [illegible] दुखी मनुष्योंके मनको धीरज बँधानेके लिये है, परंतु यह मत ठीक नहीं है; क्योंकि पतञ्जलि आदि ज्ञानवृद्ध पुरुषोंने ऐसा उपदेश नहीं किया है (पतञ्जलिने 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' इस सूत्रके द्वारा जाति (जन्म), आयु और सुख-दुःखरूप भोगको पूर्वकृत कर्मका फल बताया है) ॥ १५ ॥

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ १६ ॥

मनुष्य नेत्र, मन, वाणी और क्रियाके द्वारा चार प्रकारके कर्म करता है और जैसा कर्म [illegible] है, वैसा ही [illegible] फल पाता है ॥ १६ ॥

निरन्तरं च मिश्रं च लभते कर्म पार्थिव ।
कल्याणं यदि वा पापं [illegible] नाशोऽस्य विद्यते ॥ १७ ॥

राजन्! मनुष्य कर्मके फलरूपसे कभी केवल सुख, कभी सुख-दुःख दोनोंको एक [illegible] प्राप्त [illegible] है। पुण्य [illegible] पाप कोई भी कर्म क्यों न हो, फल भोगे बिना उसका नाश नहीं होता ॥ १७ ॥

कदाचित् सुकृतं [illegible] कूटस्थमिव तिष्ठति ।
[illegible] संसारे यावद् दुःखाद्विमुच्यते ॥ १८ ॥
ततो दुःखक्षयं [illegible] सुकृतं कर्म सेवते ।
सुकृतक्षयाद् दुष्कृतं तद् [illegible] मनुजाधिप ॥ १९ ॥

[illegible] ! संसार-सागरमें डूबते हुए मनुष्यका पुण्यकर्म कभी-कभी [illegible] स्थिर-जैसा रहता है, [illegible] कि दुःखसे उसका छुटकारा नहीं हो जाता है। तदनन्तर दुःखका भोग [illegible] कर लेनेपर जीव अपने पुण्य कर्मके फलका उपभोग आरम्भ [illegible] है। [illegible] पुण्यका भी [illegible] हो जाता है, [illegible] फिर वह पापका [illegible] भोगता है। नरेश्वर! इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ १८-१९ ॥

दमः क्षमा धृतिस्तेजः संतोषः सत्यवादिता ।
ह्रीरहिंसाव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः ॥ २० ॥

इन्द्रियसंयम, क्षमा, धैर्य, तेज, संतोष, सत्यभाषण, लज्जा, अहिंसा, दुर्व्यसनका अभाव [illegible] दक्षता—ये सब [illegible] देनेवाले हैं ॥ २० ॥

दुष्कृते सुकृते चापि न जन्तुर्नियतो भवेत् ।
नित्यं मनःसमाधाने प्रयतेत विचक्षणः ॥ २१ ॥

विद्वान् पुरुषको जीवनपर्यन्त पाप या पुण्यमें भी आसक्त न होकर अपने मनको परमात्माके ध्यानमें लगानेका [illegible] करना चाहिये ॥ २१ ॥

नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते।
करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ २२ ॥

जीव दूसरेके किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्मको नहीं भोगता, वह स्वयं जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है॥

सुखदुःखे समाधाय पुमानन्येन गच्छति।
अन्येनैव जनः सर्वः संगतो यश्च पार्थिवः ॥ २३ ॥

विवेकी पुरुष सुख और दुःखको अपने भीतर विलीन करके अन्य मार्गसे अर्थात् मोक्षप्राप्तिके मार्गद्वारा चलता है। जो स्त्री, पुत्र और धन आदिमें आसक्त हैं, वे सब संसारी जीव उससे भिन्न दूसरे ही मार्गपर चलते हैं; अतः जन्मते और मरते रहते हैं ॥ २३ ॥

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति ॥ २४ ॥

मनुष्य दूसरेके जिस कर्मकी निन्दा करे, उसको स्वयं भी न करे। जो दूसरेकी निन्दा तो करता है; किंतु स्वयं उसी निन्द्य कर्ममें लगा रहता है, वह उपहासका पात्र होता है ॥ २४ ॥

भीरू राजन्यो ब्राह्मणः सर्वभक्ष्यो
वैश्योऽनीहावान् हीनवर्णोऽलसश्च।
विद्वांश्चाशीलो वृत्तहीनः कुलीनः
सत्याद् विभ्रष्टो धार्मिकः स्त्री च दुष्टा २५
रागी युक्तः पचमानोऽऽत्महेतो-
र्मूर्खो वक्ता नृपहीनं च राष्ट्रम्।
एते सर्वे शोच्यतां यान्ति राजन्
यश्चायुक्तः स्नेहहीनः प्रजासु ॥ २६ ॥

राजन्! डरपोक क्षत्रिय, (भक्ष्याभक्ष्यका विचार न करके) सब कुछ खानेवाला ब्राह्मण, धनोपार्जनकी चेष्टासे रहित या अकर्मण्य वैश्य, आलसी शूद्र, उत्तम गुणोंसे रहित विद्वान्, सदाचारका पालन न करनेवाला कुलीन पुरुष, सत्यसे भ्रष्ट हुआ धार्मिक पुरुष, दुराचारिणी स्त्री, विषयासक्त योगी, केवल अपने लिये भोजन बनानेवाला मनुष्य, मूर्ख वक्ता, राजासे रहित राष्ट्र तथा अजितेन्द्रिय होकर प्रजाके प्रति स्नेह न रखनेवाला राजा—ये सब-के-सब शोकके योग्य हैं अर्थात् निन्दनीय हैं ॥ २५-२६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९० ॥

एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—कर्मफलकी अनिवार्यता तथा पुण्यकर्मसे लाभ

पराशर उवाच

मनोरथरथं प्राप्य इन्द्रियाश्वहयं नरः।
रश्मिभिर्ज्ञानसम्भूतैर्यो गच्छति स बुद्धिमान् ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन्! इन्द्रियरूप घोड़ोंसे [illegible] मनोमय (सूक्ष्म शरीर) एक रथ है। ज्ञानाकार वृत्तियाँ ही इस रथके घोड़ोंकी बागडोर हैं। इन उपकरणोंसे युक्त रथपर आरूढ होकर जो पुरुष यात्रा करता है, वह बुद्धिमान् है ॥ १ ॥

सेवाऽऽश्रितेन मनसा वृत्तिहीनस्य शस्यते।
द्विजातिहस्तान्निर्वृत्ता न तु तुल्यात् परस्परात् ॥ २ ॥

जो मनुष्य इन्द्रियोंकी बाह्य वृत्तिसे रहित (अन्तर्मुख) होकर ईश्वरकी शरणमें गये हुए मनके द्वारा उनकी उपासना करता है, उसकी वह उपासना श्रेष्ठ समझी जाती है। ऐसी उपासना किसी विद्वान् एवं भक्त ब्राह्मणके वरद हस्तसे ही उपलब्ध होती है। समान योग्यतावाले आपसके लोगोंसे उसकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २ ॥

आयुर्न सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशाम्पते।
उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा ॥ ३ ॥

प्रजानाथ! मनुष्य-शरीरकी आयु सुलभ नहीं है—यह दुर्लभ वस्तु है, उसे पाकर आत्माको नीचे नहीं गिराना चाहिये। मनुष्यको चाहिये कि वह पुण्यकर्मके अनुष्ठानद्वारा आत्माके उत्थानके लिये सदा प्रयत्न करता रहे ॥ ३ ॥

वर्णेभ्यो हि परिभ्रष्टो न वै सम्मानमर्हति।
न तु यः सत्क्रियां [illegible] राजसं कर्म सेवते ॥ ४ ॥

जो मनुष्य दुष्कर्म करके वर्णसे भ्रष्ट हो जाता है, वह कदापि सम्मान पानेके योग्य नहीं है। इसके सिवा जो मनुष्य सत्त्वगुणके द्वारा सत्कार पाकर फिर राजस कर्मका सेवन करने लगता है, वह भी सम्मानके योग्य नहीं है ॥

वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा ।
दुर्लभं तमलब्ध्वा हि हन्यात् पापेन कर्मणा ॥ ५ ॥

पुण्य कर्मसे ही मनुष्य उत्तम वर्णमें जन्म पाता है । पापीके लिये वह अत्यन्त दुर्लभ है । वह उसे न पाकर अपने पापकर्मके द्वारा अपना ही नाश करता है ॥ ५ ॥

अज्ञानाद्धि कृतं पापं तपसैवाभिनिर्णुदेत् ।
पापं हि कर्म फलति पापमेव स्वयं कृतम् ।
तस्मात् पापं न सेवेत कर्म दुःखफलोदयम् ॥ ६ ॥

अनजानमें जो पाप बन जाय, उसे तपस्याके द्वारा नष्ट कर दे; क्योंकि अपना किया हुआ पाप कर्म पापरूप दुःखके रूपमें ही फलता है । अतः दुःखमय फल देनेवाले पापकर्मका कदापि सेवन न करे ॥ ६ ॥

पापानुबन्धं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् ।
तन्न सेवेत मेधावी शुचिः कुशलिनं यथा ॥ ७ ॥

पापसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कर्म है, उसका कितना ही बड़ा लौकिक सुखरूप फल क्यों न हो, बुद्धिमान् पुरुष उसका कदापि सेवन न करे । वह उससे उसी तरह दूर रहे, जैसे पवित्र मनुष्य चाण्डालसे ॥ ७ ॥

किं कष्टमनुपश्यामि फलं पापस्य कर्मणः ।
प्रत्यापन्नस्य हि ततो नात्मा तावद् विरोचते ॥ ८ ॥

क्या पापकर्मका कोई दुःखदायक फल मैं देखता हूँ ? अर्थात् नहीं देखता । ऐसा मानकर पापमें प्रवृत्त हुए मनुष्यको परमात्माका चिन्तन अच्छा नहीं लगता ॥ ८ ॥

प्रत्यापत्तिश्च यस्येह बालिशस्य न जायते ।
तस्यापि सुमहांस्तापः प्रस्थितस्योपजायते ॥ ९ ॥

इस संसारमें जिस मूर्खको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, उस मनुष्यको परलोकमें जानेपर महान् संताप भोगना पड़ता है ॥ ९ ॥

विरक्तं शोध्यते वस्त्रं न तु कृष्णोपसंहितम् ।
प्रयत्नेन मनुष्येन्द्र पापमेवं निबोध मे ॥ १० ॥

नरेन्द्र ! बिना रँगा हुआ वस्त्र धोनेसे साफ हो जाता है; किंतु जो काले रंगमें रँगा हो वह प्रयत्न करनेसे भी सफेद नहीं होता; पापको भी ऐसा ही समझो । उसका रंग भी जल्दी नहीं उतरता है ॥ १० ॥

स्वयं कृत्वा तु यः पापं शुभमेवानुतिष्ठति ।
प्रायश्चित्तं नरः कर्तुमुभयं सोऽश्नुते पृथक् ॥ ११ ॥

जो स्वयं जान-बूझकर पाप करनेके पश्चात् उसके प्रायश्चित्तके उद्देश्यसे शुभ कर्मका अनुष्ठान करता है, वह शुभ और अशुभ दोनोंका पृथक्-पृथक् फल भोगता है ॥

अज्ञानात् तु कृतां हिंसामहिंसा व्यपकर्षति ।
ब्राह्मणाः शास्त्रनिर्देशादित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ॥ १२ ॥
तथा कामकृतं नास्य विहिंसैवानुकर्षति ।
इत्याहुर्ब्रह्मशास्त्रज्ञा ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ॥ १३ ॥

अनजानमें जो हिंसा हो जाती है, उसे अहिंसा-व्रतका पालन दूर कर देता है । ब्रह्मवादी ब्राह्मण शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार ऐसा ही कहते हैं; किंतु स्वेच्छासे किये हुए हिंसामय पापकर्मको अहिंसाका व्रत भी दूर नहीं कर सकता । ऐसा वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता, वेदका उपदेश देनेवाले ब्राह्मणोंका कथन है ॥

अहं तु तावत् पश्यामि कर्म यद् वर्तते कृतम् ।
गुणयुक्तं प्रकाशं वा पापेनानुपसंहितम् ॥ १४ ॥

परंतु मैं तो ऐसा देखता हूँ कि जो कर्म किया गया है, वह पुण्य हो या पापयुक्त, प्रकटरूपमें किया गया हो या छिपाकर (तथा जान-बूझकर किया गया हो या अनजानमें), वह अपना फल अवश्य देता ही है ॥ १४ ॥

यथा सूक्ष्माणि कर्माणि फलन्तीह यथातथम् ।
बुद्धियुक्तानि तानीह कृतानि मनसा सह ॥ १५ ॥
भवत्यल्पफलं कर्म सेवितं नित्यमुल्बणम् ।
अबुद्धिपूर्वं धर्मज्ञ कृतमुग्रेण कर्मणा ॥ १६ ॥

धर्मज्ञ राजा जनक ! जैसे मनसे सोच-विचारकर बुद्धिद्वारा निश्चय करके जो स्थूल या सूक्ष्म कर्म यहाँ किये जाते हैं, वे यथायोग्य फल अवश्य देते हैं, उसी प्रकार हिंसा आदि उग्र कर्मके द्वारा अनजानमें किया हुआ भयंकर पाप यदि सदा बनता रहे तो उसका फल भी मिलता ही है; अन्तर इतना ही है कि जान-बूझकर किये हुए कर्मकी अपेक्षा उसका फल बहुत कम हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा ।
न चरेत् तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत् ॥ १७ ॥

देवताओं और मुनियोंद्वारा जो अनुचित कर्म किये गये हों, धर्मात्मा पुरुष उनका अनुकरण न करे और उन कर्मोंको सुनकर भी उन देवता आदिकी निन्दा भी न करे ॥ १७ ॥

संचिन्त्य मनसा राजन् विदित्वा शक्यमात्मनः ।
करोति यः शुभं कर्म स वै भद्राणि पश्यति ॥ १८ ॥

राजन् ! जो मनुष्य मनसे खूब सोच-विचारकर, 'अमुक काम मुझसे हो सकेगा या नहीं' इसका निश्चय करके शुभकर्मका अनुष्ठान करता है, वह अवश्य ही अपनी भलाई देखता है ॥

नवे कपाले सलिलं संन्यस्तं हीयते यथा ।
नवेतरे तथाभावं प्राप्नोति सुखभावितम् ॥ १९ ॥

जैसे नये बने हुए कच्चे घड़ेमें रक्खा हुआ जल नष्ट

हो जाता है, परंतु पके-पकाये घड़ेमें रखा हुआ ज्यों-का-त्यों बना रहता है, उसी प्रकार परिपक्व विशुद्ध अन्तःकरणमें सम्पादित सुखदायक शुभकर्म निश्चल रहते हैं ॥ १९ ॥

सतोयेऽन्यत् तु यत् तोयं तस्मिन्नेव प्रसिच्यते।
वृद्धे वृद्धिमवाप्नोति सलिले सलिलं यथा ॥ २० ॥
एवं कर्माणि यानीह बुद्धियुक्तानि पार्थिव।
समानि चैव यानीह तानि पुण्यतमान्यपि ॥ २१ ॥

राजन्! उसी जलयुक्त पक्के घड़ेमें यदि दूसरा जल डाला जाय तो पात्रमें रखा हुआ पहलेका जल और नया डाला हुआ जल—दोनों मिलकर बढ़ जाते हैं और इस प्रकार वह घड़ा अधिक जलसे सम्पन्न हो जाता है, उसी तरह यहाँ विवेकपूर्वक किये हुए जो पुण्य कर्म संचित हैं, उन्हींके समान जो नये पुण्यकर्म किये जाते हैं, वे दोनों मिलकर अधिक पुण्यतम कर्म हो जाते हैं (और उनके द्वारा वह पुरुष महान् पुण्यात्मा हो जाता है) ॥ २०-२१ ॥

[illegible] जेतव्याः शत्रवश्चोन्नताश्च
सम्यक् कर्तव्यं पालनं [illegible] प्रजानाम्।
अग्निश्चेयो बहुभिश्चापि यज्ञै-
रन्त्ये मध्ये वा वनमाश्रित्य स्थेयम् ॥ २२ ॥

नरेश्वर! राजाको चाहिये कि वह बढ़े हुए शत्रुओंको जीते। प्रजाका न्यायपूर्वक पालन करे। नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा अग्निदेवको तृप्त करे तथा वैराग्य होनेपर मध्यम अवस्थामें अथवा अन्तिम अवस्थामें वनमें जाकर रहे ॥ २२ ॥

दमान्वितः पुरुषो धर्मशीलो
भूतानि चात्मानमिवानुपश्येत्।
गरीयसः पूजयेदात्मशक्त्या
सत्येन शीलेन सुखं नरेन्द्र ॥ २३ ॥

राजन्! प्रत्येक पुरुषको इन्द्रियसंयमी और धर्मात्मा होकर समस्त प्राणियोंको अपने ही समान समझना चाहिये। जो विद्या, तप और अवस्थामें अपनेसे बड़े हों अथवा गुरु कोटिके लोग हों, उन सबकी यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये। सत्यभाषण और अच्छे आचार विचारसे ही सुख मिलता है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां एकनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९१ ॥

द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—धर्मोपार्जित धनकी श्रेष्ठता, अतिथि-सत्कारका महत्त्व, पाँच प्रकारके ऋणोंसे छूटनेकी विधि, भगवत्स्तवनकी महिमा एवं सदाचार तथा गुरुजनोंकी सेवासे महान् लाभ

पराशर उवाच

[illegible] चोपकुरुते [illegible] कस्मै प्रयच्छति।
प्राणी करोत्ययं कर्म सर्वमात्मार्थमात्मना ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन्! कौन किसका उपकार करता है और कौन किसको देता है? यह प्राणी सारा कार्य स्वयं अपने ही लिये करता है ॥ १ ॥

गौरवेण परित्यक्तं निःस्नेहं परिवर्जयेत्।
सोदर्यं भ्रातरमपि किमुतान्यं पृथग्जनम् ॥ २ ॥

अपना सगा भाई भी यदि अपने श्रेष्ठ स्वभावका और स्नेहका त्याग कर दे तो लोग उसको त्याग देते हैं; फिर दूसरे किसी साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है ॥ २ ॥

विशिष्टस्य विशिष्टाच्च तुल्यौ दानप्रतिग्रहौ।
तयोः पुण्यतरं दानं तद् द्विजस्य प्रयच्छतः ॥ ३ ॥

श्रेष्ठ पुरुषको दिया हुआ दान और श्रेष्ठ पुरुषसे [illegible] हुआ प्रतिग्रह—इन दोनोंका महत्त्व बराबर है तो भी इन दोनोंमेंसे ब्राह्मणके लिये प्रतिग्रह स्वीकार करनेकी अपेक्षा दान देना अधिक पुण्यमय माना गया है ॥ ३ ॥

न्यायागतं धनं चैव न्यायेनैव विवर्धितम्।
संरक्ष्यं [illegible] धर्मार्थमिति निश्चयः ॥ ४ ॥

जो धन न्यायसे प्राप्त किया गया हो और न्यायसे ही बढ़ाया गया हो, उसको यत्नपूर्वक धर्मके उद्देश्यसे बचाये रखना चाहिये। यही धर्मशास्त्रका निश्चय है ॥ ४ ॥

न धर्मार्थी नृशंसेन कर्मणा धनमर्जयेत्।
शक्तितः सर्वकार्याणि कुर्यान्नर्द्धिमनुस्मरेत् ॥ ५ ॥

धर्म चाहनेवाले पुरुषको क्रूरकर्मके द्वारा धनका उपार्जन नहीं करना चाहिये। अपनी शक्तिके अनुसार समस्त शुभ कर्म करे। धन बढ़ानेकी चिन्तामें न पड़े ॥ ५ ॥

अपो हि प्रयतः शीतास्तापिता ज्वलनेन वा।
शक्तितोऽतिथये दत्त्वा क्षुधार्तायाश्नुते फलम् ॥ ६ ॥

जो मौसमका विचार करके अपनी शक्तिके अनुसार प्यासे और भूखे अतिथिको ठंडा या गरम किया हुआ जल [illegible] पवित्रभावसे अर्पण करता है, वह उत्तम फल पाता है।

रन्तिदेवेन लोकेष्टा सिद्धिः प्राप्ता महात्मना।
फलपत्रैरथो मूलैर्मुनीनर्चितवांश्च सः ॥ ७ ॥

महात्मा राजा रन्तिदेवने फल-मूल और पत्तोंसे ऋषि-मुनियोंका पूजन किया था। इसीसे उन्हें वह सिद्धि प्राप्त हुई, जिसकी [illegible] लोग अभिलाषा रखते हैं ॥ ७ ॥

तैरेव फलपत्रैश्च [illegible] माठरमतोषयत्।
तस्माल्लेभे परं स्थानं शैब्योऽपि पृथिवीपतिः ॥ ८ ॥

पृथ्वीपालक महाराज शैब्यने भी उन फल और पत्तोंसे ही माठर मुनिको संतुष्ट किया था, जिससे उन्हें उत्तम लोककी प्राप्ति हुई ॥ ८ ॥

देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा।
ऋणवान् जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत् ॥ ९ ॥

प्रत्येक मनुष्य देवता, अतिथि, भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजन, पितर तथा अपने-आपका भी ऋणी होकर जन्म लेता है; [illegible] उसे [illegible] ऋणसे मुक्त होनेका यत्न करना चाहिये ॥ ९ ॥

स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च ॥ १० ॥

वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करके ऋषियोंके, यज्ञ-कर्मद्वारा देवताओंके, श्राद्ध और दानसे पितरोंके तथा स्वागत-सत्कार, सेवा आदिसे अतिथियोंके ऋणसे छुटकारा होता है ॥ १० ॥

वाचा शेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च।
यथावद् भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म आदितः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार वेद-वाणीके पठन, श्रवण एवं मननसे, यज्ञ-शेष अन्नके भोजनसे तथा जीवोंकी रक्षा करनेसे मनुष्य अपने ऋणसे मुक्त होता है। भरणीय कुटुम्बीजनके पालन-पोषणका आरम्भसे ही प्रबन्ध करना चाहिये। इससे उनके ऋणसे भी मुक्ति हो जाती है ॥ ११ ॥

प्रयत्नेन [illegible] संसिद्धा धनैरपि विवर्जिताः।
सम्यग्घुत्वा हुतवहं मुनयः सिद्धिमागताः ॥ १२ ॥

ऋषि-मुनियोंके पास धन नहीं था तो भी वे अपने प्रयत्नसे ही सिद्ध हो गये। उन्होंने विधिपूर्वक अग्निहोत्र करके सिद्धि प्राप्त की थी ॥ १२ ॥

विश्वामित्रस्य पुत्रत्वमृचीकतनयोऽगमत्।
ऋग्भिः स्तुत्वा महाबाहो देवान् वै यज्ञभागिनः ॥ १३ ॥

महाबाहो! ऋचीकके पुत्र यज्ञमें भाग लेनेवाले देवताओंकी वेद-मन्त्रोंद्वारा स्तुति करके विश्वामित्रके पुत्र हो गये ॥ १३ ॥

गतः शुक्रत्वमुशना देवदेवप्रसादनात्।
देवीं स्तुत्वा तु गगने मोदते यशसा वृतः ॥ १४ ॥

महर्षि उशना देवाधिदेव महादेवजीको प्रसन्न करके उनके शुक्रत्वको [illegible] हो उसी नामसे प्रसिद्ध हुए। साथ ही पार्वतीदेवीकी स्तुति करके वे यशस्वी मुनि आकाशमें ग्रहरूपसे स्थित हो आनन्द भोग रहे हैं ॥ १४ ॥

असितो देवलश्चैव [illegible] नारदपर्वतौ।
कक्षीवान् जामदग्न्यश्च रामस्ताण्ड्यस्तथाऽऽत्मवान् ॥
वसिष्ठो जमदग्निश्च विश्वामित्रोऽत्रिरेव च।
भरद्वाजो हरिश्मश्रुः कुण्डधारः श्रुतश्रवाः ॥ १६ ॥
एते महर्षयः स्तुत्वा विष्णुमृग्भिः समाहिताः।
लेभिरे तपसा सिद्धिं प्रसादात् तस्य धीमतः ॥ १७ ॥

असित, देवल, नारद, पर्वत, कक्षीवान्, जमदग्निनन्दन परशुराम, मनको वशमें रखनेवाले ताण्ड्य, वसिष्ठ, जमदग्नि, विश्वामित्र, अत्रि, भरद्वाज, हरिश्मश्रु, कुण्डधार तथा श्रुतश्रवा—इन महर्षियोंने एकाग्रचित्त हो वेदकी ऋचाओंद्वारा भगवान् विष्णुकी स्तुति करके उन्हीं बुद्धिमान् श्रीहरिकी कृपा[illegible] तपस्या करके सिद्धि प्राप्त कर ली ॥ १५—१७ ॥

अनर्हाश्चार्हतां [illegible] सन्तः स्तुत्वा तमेव ह।
न तु वृद्धिमिहान्विच्छेत् कर्म कृत्वा जुगुप्सितम् ॥ १८ ॥

जो पूजाके योग्य नहीं थे, वे भी भगवान् विष्णुकी स्तुति करके पूजनीय [illegible] होकर उन्हींको प्राप्त हो गये। इस लोकमें निन्दनीय आचरण करके किसीको भी अपने अभ्युदयकी [illegible] नहीं रखनी चाहिये ॥ १८ ॥

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकाङ्क्षया ॥ १९ ॥

धर्मका पालन करते हुए ही जो धन [illegible] होता है, वही सच्चा धन है। जो अधर्मसे [illegible] होता है, वह धन तो धिक्कार देने योग्य है। संसारमें धनकी इच्छासे शाश्वत धर्मका त्याग कभी नहीं करना चाहिये ॥ १९ ॥

आहिताग्निर्हि धर्मात्मा यः [illegible] पुण्यकृदुत्तमः।
वेदा हि सर्वे राजेन्द्र स्थितास्त्रिष्वग्निषु प्रभो ॥ २० ॥

राजेन्द्र! जो प्रतिदिन अग्निहोत्र करता है, वही धर्मात्मा है और वही पुण्यकर्म करनेवालोंमें श्रेष्ठ है। प्रभो! सम्पूर्ण वेद दक्षिण, आहवनीय तथा गार्हपत्य—इन तीन अग्नियोंमें ही स्थित हैं ॥ २० ॥

स चाप्यग्न्याहितो विप्रः क्रिया यस्य न हीयते।
श्रेयो ह्यनाहिताग्नित्वमग्निहोत्रं न निष्क्रियम् ॥ २१ ॥

जिसका सदाचार एवं सत्कर्म कभी [illegible] नहीं होता, वह ब्राह्मण (अग्निहोत्र न करनेपर भी) अग्निहोत्री ही है। सदाचारका ठीक-ठीक पालन होनेपर अग्निहोत्र न हो सके तो भी अच्छा है; किंतु सदाचारका त्याग करके केवल अग्नि-

होत्र करना कदापि कल्याणकारी नहीं है ॥ २१ ॥

अग्निरात्मा च माता च पिता जनयिता तथा।
गुरुश्च नरशार्दूल परिचर्या यथातथम् ॥ २२ ॥

पुरुषसिंह ! अग्नि, आत्मा, माता, जन्म देनेवाले पिता तथा गुरु—इन सबकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये ॥ २२ ॥

मानं त्यक्त्वा यो नरो वृद्धसेवी
विद्वान् क्लीबः पश्यति प्रीतियोगात्।
दाक्ष्येण हीनो धर्मयुक्तो नदान्तो
लोकेऽस्मिन् वै पूज्यते सद्भिरार्यः॥२३॥

जो अभिमानका त्याग करके वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करता, विद्वान् एवं काम-भोगमें अनासक्त होकर सबको प्रेमभावसे देखता, मनमें चतुराई न रखकर धर्ममें संलग्न रहता और दूसरोंका दमन या हिंसा नहीं करता है, वह मनुष्य इस लोकमें श्रेष्ठ है तथा सत्पुरुष भी उसका आदर करते हैं ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां द्विनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥२९२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९२ ॥

त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—शूद्रके लिये सेवावृत्तिकी प्रधानता, सत्सङ्गकी महिमा और चारों वर्णोंके धर्मपालनका महत्त्व

पराशर उवाच

वृत्तिः सकाशाद् वर्णेभ्यस्त्रिभ्यो हीनस्य शोभना।
प्रीत्योपनीता निर्दिष्टा धर्मिष्ठान् कुरुते सदा ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—राजन् ! शूद्रके लिये तीनों वर्णोंकी सेवासे जीवन-निर्वाह करना ही सबसे उत्तम है। शूद्रके लिये निर्दिष्ट सेवावृत्तिका यदि वे प्रेमपूर्वक पालन करें तो वह सदा उन्हें धर्मिष्ठ बनाती है ॥ १ ॥

वृत्तिश्चेन्नास्ति शूद्रस्य पितृपैतामही ध्रुवा।
न वृत्तिं परतो मार्गेच्छुश्रूषां तु प्रयोजयेत् ॥ २ ॥

यदि शूद्रके पास बाप-दादोंका दिया हुआ जीविकाका कोई निश्चित साधन नहीं है तो वह दूसरी किसी वृत्तिका अनुसंधान न करे। तीनों वर्णोंकी सेवाको ही जीविकाके उपयोगमें लाये ॥ २ ॥

सद्भिस्तु सह संसर्गः शोभते धर्मदर्शिभिः।
नित्यं सर्वास्ववस्थासु नासद्भिरिति मे मतिः ॥ ३ ॥

धर्मपर दृष्टि रखनेवाले सत्पुरुषोंके संसर्गमें रहना सदा ही श्रेष्ठ है; परंतु किसी भी दशामें कभी दुष्ट पुरुषोंका संग अच्छा नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है ॥ ३ ॥

यथोदयगिरौ द्रव्यं संनिकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्संनिकर्षेण हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४ ॥

जैसे सूर्यका सामीप्य प्राप्त होनेसे उदयाचल पर्वतकी प्रत्येक वस्तु चमक उठती है, उसी प्रकार साधु पुरुषोंके निकट रहनेसे नीच वर्णका मनुष्य भी सद्गुणोंसे सुशोभित होने लगता है ॥ ४ ॥

यादृशेन हि वर्णेन भाव्यते शुक्लमम्बरम्।
तादृशं कुरुते रूपमेतदेवमवेहि मे ॥ ५ ॥

श्वेत वस्त्रको जैसे रंगमें रँगा जाता है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जैसा सङ्ग किया जाता है, वैसा ही रंग अपने ऊपर चढ़ता है। यह बात मुझसे अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

तस्माद् गुणेषु रज्येथा मा दोषेषु कदाचन।
अनित्यमिह मर्त्यानां जीवितं हि चलाचलम् ॥ ६ ॥

इसलिये तुम गुणोंमें ही अनुराग रक्खो, दोषोंमें कभी नहीं; क्योंकि यहाँ मनुष्योंका जीवन अनित्य और चञ्चल है॥

सुखे वा यदि वा दुःखे वर्तमानो विचक्षणः।
यश्चिनोति शुभान्येव स तन्त्राणीह पश्यति ॥ ७ ॥

जो विद्वान् सुख अथवा दुःखमें रहकर भी सदा शुभ कर्मका ही अनुष्ठान करता है, वही यहाँ शास्त्रोंको देखता और समझता है ॥ ७ ॥

धर्मादपेतं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ॥ ८ ॥

धर्मके विपरीत कर्म यदि लौकिक दृष्टिसे बहुत लाभदायक हो तो भी बुद्धिमान् पुरुषको उसका सेवन नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसे इस जगत्में हितकर नहीं बताया जाता है ॥ ८ ॥

(धर्मेण सहितं यत् तु भवेदल्पफलोदयम्।
तत् कार्यमविशङ्केन कर्मात्यन्तं सुखावहम् ॥)
यो हृत्वा गोसहस्राणि नृपो दद्यादरक्षिता।
स शब्दमात्रफलभाग् राजा भवति तस्करः ॥ ९ ॥

जो कार्य धर्मके अनुकूल हो, वह अल्प लाभदायक होनेपर भी निःशङ्क होकर [illegible] लेने योग्य है, क्योंकि वह अन्तमें अत्यन्त सुख देनेवाला होता है। जो राजा दूसरोंकी हजारों गौएँ छीनकर दान करता है और प्रजाकी रक्षा नहीं करता, [illegible] नाममात्रका ही दानी और राजा है। वास्तवमें तो वह चोर और डाकू है ॥ ९ ॥

स्वयम्भूरसृजच्चाग्रे धातारं लोकसत्कृतम्।
धातासृजत् पुत्रमेकं लोकानां धारणे रतम्॥ १० ॥

ईश्वरने सबसे पहले लोकपूजित ब्रह्माको उत्पन्न किया। ब्रह्माने एक पुत्र (पर्जन्य) को जन्म दिया, जो सम्पूर्ण लोकोंको धारण करनेमें तत्पर है ॥ १० ॥

तमर्चयित्वा वैश्यस्तु कुर्यादत्यर्थमृद्धिमत्।
रक्षितव्यं तु राजन्यैरुपयोज्यं द्विजातिभिः ॥ ११ ॥
अजिह्मैरशठक्रोधैर्हव्यकव्यप्रयोक्तृभिः ।
शूद्रैर्निर्मार्जनं कार्यमेवं धर्मो न नश्यति ॥ १२ ॥

उसीकी पूजा करके वैश्यको चाहिये कि खेती और पशु-पालन आदिके द्वारा उसे अत्यन्त समृद्धिशाली बनाये। राजाको उसकी [illegible] करनी चाहिये और ब्राह्मणोंको चाहिये [illegible] कुटिलता, शठता एवं क्रोधको त्यागकर हव्य-कव्यका प्रयोग करते [illegible] उस अन्न-धनका यज्ञ (लोकहितके कार्य) [illegible] सदुपयोग करें। शूद्रोंको यज्ञभूमि तथा त्रैवर्णिकोंके घरोंको झाड़-बुहारकर साफ रखना चाहिये। ऐसा करनेसे धर्मका नाश नहीं होता ॥ ११-१२ ॥

अप्रणष्टे ततो धर्मे भवन्ति सुखिताः प्रजाः ।
सुखेन तासां राजेन्द्र मोदन्ते दिवि देवताः ॥ १३ ॥

धर्मका नाश न होकर [illegible] पालन होता रहे तो सारी [illegible] सुखी होती है। राजेन्द्र ! प्रजाओंके सुखी होनेपर स्वर्गमें देवता भी प्रसन्न रहते हैं ॥ १३ ॥

तस्माद् यो रक्षति [illegible] धर्मेणेति पूज्यते ।
अधीते चापि यो विप्रो वैश्यो यश्चार्जने [illegible] ॥ १४ ॥
यश्च शुश्रूषते शूद्रः [illegible] नियतेन्द्रियः ।
अतोऽन्यथा मनुष्येन्द्र स्वधर्मात् परिहीयते ॥ १५ ॥

जो [illegible] धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करता है, वह [illegible] धर्माचरणके कारण ही लोकमें पूजित होता है। इसी प्रकार जो ब्राह्मण धर्मपूर्वक स्वाध्याय करता है, जो वैश्य धर्मके अनुसार धनोपार्जनमें तत्पर रहता है तथा जो शूद्र जितेन्द्रिय भावसे रहकर सर्वदा द्विजातियोंकी सेवा करता है, वे सभी अपने-अपने धर्माचरणके कारण लोकमें सम्मानित होते हैं। नरेन्द्र ! इसके विपरीत आचरण करनेसे सब लोग अपने धर्मसे गिर जाते हैं ॥ १४-१५ ॥

प्राणसंतापनिर्दिष्टाः काकिण्योऽपि महाफलाः ।
न्यायेनोपार्जिता दत्ताः किमुतान्याः सहस्रशः ॥ १६ ॥

प्राणोंको [illegible] देकर भी यदि न्यायसे कमायी हुई थोड़ी-सी कौड़ियोंका भी दान किया जाय तो वे महान् [illegible] देनेवाली होती हैं; फिर जो दूसरी वस्तुएँ हजारोंकी संख्यामें दी जाती हैं, उनकी तो बात ही क्या है ॥ १६ ॥

सत्कृत्य हि द्विजातिभ्यो यो ददाति नराधिपः ।
यादृशं तादृशं नित्यमश्नाति फलमूर्जितम् ॥ १७ ॥

जो राजा ब्राह्मणोंका [illegible] करके उन्हें जैसा दान देता है, वैसे ही उत्तम [illegible] वह सदा ही उपभोग [illegible] है ॥ १७ ॥

अभिगम्य च तत् तुष्ट्या दत्तमाहुरभिष्टुतम् ।
याचितेन [illegible] यद् दत्तं तदाहुर्मध्यमं बुधाः ॥ १८ ॥

[illegible] ही ब्राह्मणके पास जाकर उसे संतुष्ट करते हुए जो दान दिया जाता है, उसे प्रशंसनीय—उत्तम बताया [illegible] है और [illegible] करनेपर जो कुछ दिया जाता है, उसे विद्वान् पुरुष मध्यम श्रेणीका दान कहते हैं ॥ १८ ॥

[illegible] दीयते यत् तथैवाश्रद्धयापि वा ।
तमाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः ॥ १९ ॥
अतिक्रामेन्मज्जमानो विविधेन नरः सदा ।
[illegible] प्रयत्नं कुर्वीत यथा मुच्येत संशयात् ॥ २० ॥

अवहेलना अथवा अश्रद्धासे जो कुछ दिया जाता है, उसे सत्यवादी मुनियोंने अधम श्रेणीका दान कहा है। डूबता हुआ मनुष्य जिस तरह नाना प्रकारके उपायद्वारा समुद्रसे पार हो जाता है, वैसे ही तुमको भी सदा ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिस प्रकार संसारसमुद्रसे छुटकारा मिले ॥ १९-२० ॥

दमेन शोभते विप्रः क्षत्रियो विजयेन तु ।
[illegible] वैश्यः शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते ॥ २१ ॥

ब्राह्मण इन्द्रियसंयमसे, क्षत्रिय युद्धमें विजय पानेसे, [illegible] न्यायपूर्वक उपार्जित धनसे और शूद्र सदा सेवाकार्यमें कुशलताका परिचय देनेसे शोभा पाता है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां त्रिनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ [illegible]९३ ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका [illegible] श्लोक मिलाकर [illegible] २२ श्लोक हैं)

चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—ब्राह्मण और शूद्रकी जीविका, निन्दनीय कर्मोंके त्यागकी आज्ञा, मनुष्योंमें आसुरभावकी उत्पत्ति और भगवान् शिवके द्वारा उसका निवारण तथा स्वधर्मके अनुसार कर्तव्यपालनका आदेश

पराशर उवाच

प्रतिग्रहागता विप्रे क्षत्रिये युधि निर्जिताः।
वैश्ये न्यायार्जिताश्चैव शूद्रे शुश्रूषयार्जिताः॥ १ ॥
स्वल्पाप्यर्थाः प्रशस्यन्ते धर्मस्यार्थे महाफलाः।

पराशरजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मणके यहाँ प्रतिग्रहसे मिला हुआ, क्षत्रियके घर युद्धसे जीतकर लाया हुआ, वैश्यके पास न्यायपूर्वक (खेती आदिसे) कमाया हुआ और शूद्रके यहाँ सेवासे प्राप्त हुआ थोड़ा-सा भी धन हो तो उसकी बड़ी प्रशंसा होती है तथा धर्मके कार्यमें उसका उपयोग हो तो वह महान् फल देनेवाला होता है ॥ १½ ॥

नित्यं त्रयाणां वर्णानां शुश्रूषुः शूद्र उच्यते॥ २ ॥
क्षत्रधर्मा वैश्यधर्मा नावृत्तिः पतते द्विजः।
शूद्रधर्मा यदा [illegible] स्यात् तदा पतति वै द्विजः॥ ३ ॥

शूद्रको तीनों वर्णोंका नित्य सेवक बताया जाता है। यदि ब्राह्मण जीविकाके अभावमें क्षत्रिय अथवा वैश्यके धर्मसे जीवन-निर्वाह करे तो वह पतित नहीं होता है; किंतु जब वह शूद्रके धर्मको अपनाता है, तब तत्काल पतित हो जाता है॥

वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्।
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्न जायते॥ ४ ॥

जब शूद्र सेवावृत्तिसे जीविका न चला सके, तब उसके लिये भी व्यापार, पशुपालन तथा शिल्पकला आदिसे जीवन-निर्वाह करनेकी आज्ञा है॥ ४ ॥

रङ्गावतरणं चैव तथा रूपोपजीवनम्।
मद्यमांसोपजीव्यं [illegible] विक्रयं लोहचर्मणोः॥ ५ ॥
अपूर्विणा न कर्तव्यं कर्म लोके विगर्हितम्।
कृतपूर्वि [illegible] त्यजतो महान् धर्म इति श्रुतिः॥ ६ ॥

रंगमञ्चपर स्त्री आदिके वेषमें उतरकर नाचना या खेल दिखाना, बहुरूपियेका [illegible] करना, मदिरा और मांस बेचकर जीविका चलाना तथा लोहे और चमड़ेकी बिक्री करना—ये सब काम (सबके लिये) लोकमें निन्दित माने गये हैं। जिसके घरमें पूर्वपरम्परासे ये [illegible] न होते आये हों, उसे स्वयं इनका आरम्भ नहीं करना चाहिये। जिसके यहाँ पहलेसे इन्हें करनेकी प्रथा हो, वह भी छोड़ दे तो महान् धर्म होता है—ऐसा [illegible] निर्णय है॥ ५-६ ॥

संसिद्धः पुरुषो लोके यदाचरति पापकम्।
मदेनाभिप्लुतमनास्तच्च न ग्राह्यमुच्यते॥ [illegible] ॥

यदि कोई जगत्में प्रसिद्ध हुआ पुरुष घमण्डमें आकर या मनमें लोभ भरा रहनेके कारण पापाचरण करने लगे तो उसका वह कार्य अनुकरण करने योग्य नहीं बताया गया है॥

श्रूयन्ते हि पुराणेषु प्रजा धिग्दण्डशासनाः।
दान्ता धर्मप्रधानाश्च न्यायधर्मानुवर्तिकाः॥ ८ ॥

पुराणोंमें सुना जाता है कि पहले अधिकांश मनुष्य संयमी, धार्मिक तथा न्यायोचित आचारका ही अनुसरण करनेवाले थे। उस समय अपराधियोंको धिक्कारमात्रका ही दण्ड दिया जाता था॥ ८ ॥

धर्म एव सदा नृणामिह राजन् प्रशस्यते।
धर्मवृद्धा गुणानेव सेवन्ते हि नरा भुवि॥ ९ ॥

राजन्! इस जगत्में सदा मनुष्योंके धर्मकी ही प्रशंसा होती आयी है। धर्ममें बढ़े-चढ़े लोग इस भूतलपर केवल सद्गुणोंका ही सेवन करते हैं॥ ९ ॥

तं धर्ममसुरास्तात नामृष्यन्त जनाधिप।
विवर्धमानाः क्रमशस्तत्र तेऽन्वाविशन् प्रजाः॥ १० ॥

तात! जनेश्वर! परंतु उस धर्मको असुर नहीं सह सके। वे क्रमशः बढ़ते हुए प्रजाके शरीरमें समा गये॥ १० ॥

तासां दर्पः समभवत् प्रजानां धर्मनाशनः।
दर्पात्मनां [illegible] पश्चात् क्रोधस्तासामजायत॥ ११ ॥

तब प्रजाओंमें धर्मको नष्ट करनेवाला दर्प प्रकट हुआ। फिर जब प्रजाओंके मनमें दर्प आ गया, तब क्रोधका भी प्रादुर्भाव हो गया॥ ११ ॥

[illegible] क्रोधाभिभूतानां वृत्तं लज्जासमन्वितम्।
ह्रीश्चैवाप्यनशद् राजंस्ततो मोहो व्यजायत॥ १२ ॥

राजन्! तदनन्तर क्रोधसे आक्रान्त होनेपर मनुष्योंके लज्जायुक्त सदाचारका लोप हो गया। उनका संकोच भी जाता रहा। इसके बाद उनमें मोहकी उत्पत्ति हुई॥ १२ ॥

ततो मोहपरीतास्ता नापश्यन्त यथा पुरा।
परस्परावमर्देन वर्धयन्त्यो यथासुखम्॥ १३ ॥

मोहसे घिर जानेपर उनमें पहले-जैसी विचारदृष्टि नहीं रह गयी; अतः वे परस्पर एक दूसरेका विनाश करके अपने-अपने सुखको बढ़ानेकी चेष्टा करने लगे॥ १३ ॥

ताः प्राप्य तु स धिग्दण्डो [illegible] कारणमतोऽभवत्।

ततोऽभ्यगच्छन् देवांश्च ब्राह्मणांश्चावमन्य [illegible] ॥ १४ ॥

[illegible] बिगड़े हुए लोगोंको पाकर धिक्कारका दण्ड उन्हें राहपर लानेमें [illegible] न हो सका। सभी मनुष्य देवता और ब्राह्मणोंका अपमान करके मनमाने तौरपर विषय-भोगोंका सेवन करने लगे ॥ १४ ॥

एतस्मिन्नेव काले [illegible] देवा देववरं शिवम्।
अगच्छन् शरणं धीरं बहुरूपं गुणाधिकम् ॥ १५ ॥

ऐसा [illegible] उपस्थित होनेपर सम्पूर्ण देवता अनेक रूपधारी, अधिक गुणशाली, धीरजस्वभाव देवेश्वर भगवान् शिवकी शरणमें गये ॥ १५ ॥

तेन [illegible] ते गगनगाः सपुराः पातिताः क्षितौ।
त्रिधाप्येकेन बाणेन देवाप्यायिततेजसा ॥ १६ ॥

तब शिवजीने देवताओंके द्वारा बढ़ाये हुए तेजसे युक्त एक ही शक्तिशाली बाणके द्वारा तीन नगरोंसहित आकाशमें विचरनेवाले उन समस्त असुरोंको मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया ॥ १६ ॥

तेषामधिपतिस्त्वासीद् भीमो भीमपराक्रमः।
देवतानां भयकरः स हतः शूलपाणिना ॥ १७ ॥

[illegible] असुरोंका स्वामी भयंकर आकारवाला तथा भीषण पराक्रमी था। देवताओंको वह सदा भयभीत किये रहता था; किंतु भगवान् शूलपाणिने उसे भी मार डाला ॥ १७ ॥

तस्मिन् हतेऽथ स्वं भावं प्रत्यपद्यन्त मानवाः।
प्रावर्तन्त च वेदान् वै शास्त्राणि च यथा पुरा ॥ १८ ॥

[illegible] असुरके मारे जानेपर सब मनुष्य प्रकृतिस्थ हो गये तथा उन्हें पूर्ववत् वेद और शास्त्रोंका ज्ञान हो गया ॥ १८ ॥

ततोऽभिषिच्य राज्येन देवानां दिवि वासवम्।
सप्तर्षयश्चान्वयुञ्जन् नराणां दण्डधारणे ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् सप्तर्षियोंने इन्द्रको स्वर्गमें देवताओंके राज्यपर अभिषिक्त किया और वे स्वयं मनुष्यके शासनकार्यमें लग गये ॥ १९ ॥

सप्तर्षीणामथोर्ध्वं च विपृथुर्नाम पार्थिवः।
[illegible] [illegible]त्रियाश्चैव मण्डलेषु पृथक् पृथक् ॥ २० ॥

सप्तर्षियोंके बाद विपृथुनामक राजा भूमण्डलका स्वामी हुआ तथा और भी बहुत-से क्षत्रिय भिन्न-भिन्न मण्डलोंके [illegible] हुए ॥ २० ॥

महाकुलेषु ये [illegible] वृद्धाः पूर्वतराश्च ये।
तेषामप्यासुरो भावो हृदयान्नापसर्पति ॥ २१ ॥

[illegible] [illegible] जो उच्च कुलोंमें उत्पन्न हुए थे, अवस्था और गुणोंमें बढ़े-चढ़े थे तथा जो उनसे भी पूर्ववर्ती पुरुष थे, उनके हृदयसे भी आसुरभाव पूर्णरूपसे नहीं निकला था ॥ २१ ॥

तस्मात् तेनैव भावेन सानुषङ्गेण पार्थिवाः।
आसुराण्येव कर्माणि न्यसेवन् भीमविक्रमाः ॥ २२ ॥

अतः उसी आनुषङ्गिक आसुरभावसे युक्त होकर कितने ही भयकर पराक्रमी भूपाल असुरोचित कर्मोंका ही सेवन करने लगे ॥ २२ ॥

प्रत्यतिष्ठंश्च तेष्वेव तान्येव स्थापयन्त्यपि।
भजन्ते तानि चाद्यापि ये बालिशतरा नराः ॥ २३ ॥

जो मनुष्य अत्यन्त मूर्ख हैं, वे आज भी उन्हीं आसुर-भावोंमें स्थित हैं, उन्हींकी स्थापना करते हैं और उन्हींको सब प्रकारसे अपनाते हैं ॥ २३ ॥

तस्मादहं ब्रवीमि त्वां राजन् संचिन्त्य शास्त्रतः।
संसिद्धाधिगमं कुर्यात् कर्म हिंसात्मकं त्यजेत् ॥ २४ ॥

अतः राजन्! मैं शास्त्रके अनुसार खूब सोच-विचारकर कहता हूँ कि मनुष्यको उन्नत होनेका [illegible] तो करना चाहिये, किंतु हिंसात्मक कर्मका त्याग कर देना चाहिये ॥ २४ ॥

न संकरेण द्रविणं प्रचिन्वीयाद् विचक्षणः।
धर्मार्थं न्यायमुत्सृज्य न तत् कल्याणमुच्यते ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह धर्म करनेके लिये न्यायको त्यागकर पापमिश्रित मार्गसे धनका संग्रह न करे; क्योंकि उसे कल्याणकारी नहीं बताया जाता है ॥ २५ ॥

स त्वमेवंविधो दान्तः क्षत्रियः प्रियबान्धवः।
प्रजा भृत्यांश्च पुत्रांश्च स्वधर्मेणानुपालय ॥ २६ ॥

नरेश्वर! [illegible] भी इसी प्रकार जितेन्द्रिय क्षत्रिय होकर बन्धु-बान्धवोंसे प्रेम रखते हुए प्रजा, भृत्य और पुत्रोंका स्वधर्मके अनुसार पालन करो ॥ २६ ॥

इष्टानिष्टसमायोगो वैरं सौहार्दमेव च।
[illegible] जातिसहस्राणि बहूनि परिवर्तते ॥ २७ ॥

इष्ट और अनिष्टका संयोग, वैर और सौहार्द—इन सबका अनुभव करते-करते जीवके कई सहस्र जन्म बीत जाते हैं ॥ २७ ॥

तस्माद् गुणेषु रज्येथा [illegible] दोषेषु कथंचन।
निर्गुणोऽपि हि दुर्बुद्धिरात्मनः सोऽतिरज्यते ॥ २८ ॥

इसलिये तुम सद्गुणोंमें ही अनुराग रखो, दोषोंमें किसी प्रकार नहीं; क्योंकि गुणहीन और दुर्बुद्धि मनुष्य भी अपने गुणोंके अभिमानसे अत्यन्त संतुष्ट रहता है ॥ २८ ॥

मानुषेषु [illegible] धर्माधर्मौ प्रवर्ततः।
न तथान्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह ॥ २९ ॥

महाराज! यहाँ मनुष्योंमें जैसे धर्म और अधर्म निवास करते हैं, उस प्रकार मनुष्येतर अन्य प्राणियोंमें नहीं ॥ २९ ॥

धर्मशीलो नरो विद्वानीहकोऽनीहकोऽपि वा ।
आत्मभूतः सदा लोके चरेद् भूतान्यहिंसया ॥ ३० ॥

धर्मशील विद्वान् मनुष्य सचेष्ट हो चाहे चेष्टारहित, उसे चाहिये कि सदैव जगत्में सबके प्रति आत्मभाव रखकर किसी भी प्राणीकी हिंसा न करते हुए समभावसे व्यवहार करे ॥ ३० ॥

यदा व्यपेतहृल्लेखं मनो भवति तस्य वै ।
नानृतं चैव भवति तदा कल्याणमृच्छति ॥ ३१ ॥

जब मनुष्यका मन कामना और कर्मसंस्कारोंसे रहित हो जाता है तथा [illegible] मिथ्याचारसे रहित हो जाता है, उस समय उसे कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां चतुर्नवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ चौरानबेवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ २९४ ॥

पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—विषयासक्त मनुष्यका पतन, तपोबलकी श्रेष्ठता तथा दृढ़तापूर्वक स्वधर्मपालनका आदेश

पराशर उवाच

एष धर्मविधिस्तात गृहस्थस्य प्रकीर्तितः ।
तपोविधिं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ १ ॥

पराशरजी कहते हैं—तात ! यह मैंने गृहस्थके धर्म-[illegible] विधान बताया है । अब [illegible] तपकी विधि बताऊँगा, उसे मेरे मुखसे सुनो ॥ १ ॥

प्रायेण च गृहस्थस्य ममत्वं नाम जायते ।
सङ्गागतं नरश्रेष्ठ भावै राजसतामसैः ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ ! गृहस्थ पुरुषको प्रायः राजस और तामस भावों-के संसर्गवश पदार्थ और व्यक्तियोंमें ममता हो जाती है ॥ २ ॥

गृहाण्याश्रित्य [illegible] क्षेत्राणि च धनानि च ।
दाराः पुत्राश्च भृत्याश्च भवन्तीह नरस्य वै ॥ ३ ॥

घरका आश्रय लेते ही मनुष्यका गौ, खेती-बारी, धन-दौलत, स्त्री-पुत्र तथा भरण-पोषणके योग्य अन्यान्य कुटुम्बी-जनोंसे सम्बन्ध स्थापित हो जाता है ॥ ३ ॥

एवं तस्य प्रवृत्तस्य नित्यमेवानुपश्यतः ।
रागद्वेषौ विवर्धेते ह्यनित्यत्वमपश्यतः ॥ [illegible] ॥

इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें रहकर वह नित्य ही उन वस्तुओंको देखता है, किंतु इनकी अनित्यताकी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती; इसलिये उसके मनमें इनके प्रति राग और द्वेष बढ़ने लगते हैं ॥ ४ ॥

रागद्वेषाभिभूतं च नरं द्रव्यवशानुगम् ।
मोहजाता रतिर्नाम समुपैति नराधिप ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! राग और द्वेषके वशीभूत होकर जब मनुष्य द्रव्यमें आसक्त हो जाता है, तब मोहकी कन्या रति उसके पास आ जाती है ॥ ५ ॥

कृतार्थं भोगिनं मत्वा सर्वो रतिपरायणः ।
लाभं ग्राम्यसुखादन्यं रतितो नानुपश्यति ॥ ६ ॥

तब रतिकी उपासनामें लगे हुए सभी लोग भोगीको [illegible] कृतार्थ मानकर रतिके द्वारा जो विषय-सुख [illegible] होता है, उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं समझते हैं ॥ ६ ॥

ततो लोभाभिभूतात्मा संगाद् वर्धयते जनम् ।
पुष्ट्यर्थं चैव तस्येह जनस्यार्थं चिकीर्षति ॥ ७ ॥

तदनन्तर उनके मनपर लोभका अधिकार हो जाता है और वे आसक्तिवश अपने परिजनोंकी संख्या बढ़ाने लगते हैं । इसके बाद उन कुटुम्बी जनोंके पालन-पोषणके लिये मनुष्यके मनमें धन-संग्रहकी इच्छा होती है ॥ ७ ॥

स जानन्नपि चाकार्यमर्थार्थं सेवते नरः ।
बालस्नेहपरीतात्मा तत्क्षयाच्चानुतप्यते ॥ ८ ॥

यद्यपि मनुष्य जानता है कि अमुक काम करना पाप है, तो भी [illegible] धनके लिये उसका सेवन करता है । बाल-बच्चोंके स्नेहमें उसका मन डूबा रहता है और उनमेंसे जब कोई मर जाता है, तब उनके लिये वह बारंबार संतप्त होता है ॥ ८ ॥

ततो मानेन सम्पन्नो रक्षन्नात्मपराजयम् ।
करोति येन भोगी स्यामिति तस्माद् विनश्यति ॥ ९ ॥

धनसे जब लोकमें सम्मान बढ़ता है, तब वह मानसम्पन्न पुरुष सदा अपने अपमानसे बचनेके लिये प्रयत्न करता रहता है एवं मैं भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न होऊँ' यह उद्देश्य लेकर ही वह सारा कार्य करता है और इसी प्रयत्नमें एक दिन नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

तथा हि बुद्धियुक्तानां शाश्वतं ब्रह्मवादिनाम् ।
अन्विच्छतां शुभं कर्म नराणां त्यजतां सुखम् ॥ १० ॥

वास्तवमें जो शुभ कर्मोंका अनुष्ठान तो करते हैं, परंतु उनसे [illegible] पानेकी इच्छाको त्याग देते हैं, [illegible] समत्व-बुद्धिसे युक्त ब्रह्मवादी पुरुषोंको ही सनातन पदकी प्राप्ति होती है ॥

स्नेहायतननाशाच्च धननाशाच्च पार्थिव ।
आधिव्याधिप्रतापाच्च निर्वेदमुपगच्छति ॥ ११ ॥

पृथ्वीनाथ ! संसारी जीवोंको तो [illegible] उनके स्नेहके आधारभूत स्त्री पुत्र आदिका नाश हो जाता, धन [illegible] और रोग तथा चिन्तासे [illegible] उठाना पड़ता है, तभी वैराग्य होता है ॥ ११ ॥

निर्वेदादात्मसम्बोधः सम्बोधाच्छास्त्रदर्शनम् ।
शास्त्रार्थदर्शनाद् राजंस्तप एवानुपश्यति ॥ १२ ॥

राजन् ! वैराग्यसे मनुष्यको आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा होती है । जिज्ञासासे शास्त्रोंके स्वाध्यायमें मन लगता है तथा शास्त्रोंके अर्थ और भावके ज्ञानसे वह तपको ही कल्याणका साधन समझता है ॥ १२ ॥

दुर्लभो हि मनुष्येन्द्र नरः प्रत्यवमर्शवान् ।
यो वै प्रियसुखे क्षीणे तपः कर्तुं व्यवस्यति ॥ १३ ॥

नरेन्द्र ! संसारमें ऐसा विवेकी मनुष्य दुर्लभ है, जो स्त्री-पुत्र आदि प्रियजनोंसे मिलनेवाले सुखके न रहनेपर तपमें प्रवृत्त होनेका ही निश्चय करता है ॥ १३ ॥

तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते ।
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गप्रवर्तकम् ॥ १४ ॥

[illegible] ! तपस्यामें सभीका अधिकार है । जितेन्द्रिय और मनोनिग्रहसम्पन्न हीन वर्णके लिये भी तपका विधान है; क्योंकि तप पुरुषको स्वर्गकी राहपर लानेवाला है ॥ १४ ॥

प्रजापतिः [illegible] पूर्वमसृजत् [illegible] विभुः ।
क्वचित् क्वचिद् व्रतपरो व्रतान्यास्थाय पार्थिव ॥ १५ ॥

भूपाल ! पूर्वकालमें शक्तिशाली प्रजापतिने तपमें स्थित होकर और कभी-कभी व्रतपरायण व्रतमें स्थित होकर संसारकी रचना की थी ॥ १५ ॥

आदित्या वसवो रुद्रास्तथैवाग्न्यश्विमारुताः ।
विश्वेदेवास्तथा साध्याः पितरोऽथ मरुद्गणाः ॥ १६ ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वाः सिद्धाश्चान्ये दिवौकसः ।
संसिद्धास्तपसा [illegible] ये चान्ये स्वर्गवासिनः ॥ १७ ॥

तात ! आदित्य, वसु, रुद्र, अग्नि, अश्विनीकुमार, वायु, विश्वेदेव, साध्य, पितर, मरुद्गण, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, सिद्ध [illegible] अन्य जो स्वर्गवासी देवता हैं, वे सब-के-सब तपस्यासे ही सिद्धिको [illegible] हुए हैं ॥ १६-१७ ॥

ये चादौ ब्राह्मणाः [illegible] [illegible] तपसा पुरा ।
ते भावयन्तः पृथिवीं विचरन्ति दिवं तथा ॥ १८ ॥

ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिन मरीचि आदि ब्राह्मणोंको [illegible] किया था, वे तपके ही प्रभावसे पृथ्वी और आकाशको पवित्र करते हुए ही विचरते हैं ॥ १८ ॥

मर्त्यलोके च राजानो ये चान्ये गृहमेधिनः ।
महाकुलेषु दृश्यन्ते तत् सर्वं तपसः फलम् ॥ १९ ॥

मर्त्यलोकमें भी जो राजे महाराजे तथा अन्यान्य गृहस्थ महान् कुलोंमें उत्पन्न देखे जाते हैं, वह सब उनकी तपस्याका ही फल है ॥ १९ ॥

कौशिकानि च वस्त्राणि शुभान्याभरणानि च ।
वाहनासनपानानि तत् सर्वं तपसः फलम् ॥ २० ॥

रेशमी [illegible] सुन्दर आभूषण, वाहन, [illegible] और [illegible] खान-पान आदि [illegible] कुछ तपस्याका ही [illegible] ॥२०॥

मनोऽनुकूलाः प्रमदा [illegible] सहस्रशः ।
वासः प्रासादपृष्ठे च तत् सर्वं [illegible] फलम् ॥ २१ ॥

मनके अनुकूल चलनेवाली सहस्रों रूपवती युवतियाँ और महलोंका निवास आदि [illegible] कुछ तपस्याका ही [illegible] है॥

शयनानि च मुख्यानि भोज्यानि विविधानि च ।
अभिप्रेतानि सर्वाणि भवन्ति शुभकर्मिणाम् ॥ २२ ॥

श्रेष्ठ शय्या, भाँति-भाँतिके [illegible] भोजन तथा सभी मनोवाञ्छित पदार्थ पुण्यकर्म करनेवाले लोगोंको ही प्राप्त होते हैं॥

नाप्राप्यं तपसः किंचित् त्रैलोक्येऽपि परंतप ।
उपभोगपरित्यागः फलान्यकृतकर्मणाम् ॥ २३ ॥

परंतप ! त्रिलोकीमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो तपस्यासे [illegible] न हो सके; किंतु जिन्होंने काम्य अथवा निषिद्ध कर्म नहीं किये हैं, उनकी तपस्याका [illegible] सुखभोगोंका परित्याग ही है ॥ २३ ॥

सुखितो दुःखितो वापि नरो लोभं परित्यजेत् ।
अवेक्ष्य [illegible] [illegible] बुद्ध्या [illegible] नृपसत्तम ॥ २४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! मनुष्य सुखमें हो या दुःखमें, मन और बुद्धि-[illegible] [illegible] तत्त्व समझकर लोभका परित्याग कर दे ॥२४॥

असंतोषोऽसुखायेति लोभादिन्द्रियसम्भ्रमः ।
ततोऽस्य नश्यति [illegible] विद्येवाभ्यासवर्जिता ॥ २५ ॥

असंतोष दुःखका ही कारण है । लोभसे मन और इन्द्रियाँ चञ्चल होती हैं, उससे मनुष्यकी बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे बिना अभ्यासके विद्या ॥ २५ ॥

नष्टप्रज्ञो यदा [illegible] स्यात् तदा न्यायं न पश्यति ।
तस्मात् सुखक्षये प्राप्ते पुमानुग्रं तपश्चरेत् ॥ २६ ॥

जब मनुष्यकी बुद्धि [illegible] हो जाती है, तब वह न्यायको नहीं देख पाता अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय नहीं

कर पाता है। इसलिये सुखका क्षय हो जानेपर प्रत्येक पुरुषको घोर तपस्या करनी चाहिये ॥ २६ ॥

यदिष्टं तत् सुखं प्राहुर्द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते।
कृताकृतस्य तपसः फलं पश्यस्व यादृशम् ॥ २७ ॥

जो अपनेको प्रिय जान पड़ता है, उसे [illegible] कहते हैं तथा जो मनके प्रतिकूल होता है, वह दुःख कहलाता है। तपस्या करनेसे सुख और न करनेसे दुःख होता है। इस प्रकार तप करने और न करनेका जैसा फल होता है, उसे तुम भलीभाँति समझ लो ॥ २७ ॥

नित्यं भद्राणि पश्यन्ति विषयांश्चोपभुञ्जते।
प्राकाश्यं चैव गच्छन्ति कृत्वा निष्कल्मषं तपः ॥ २८ ॥

मनुष्य पापरहित [illegible] करके सदा अपना [illegible] ही देखते हैं। मनोवाञ्छित विषयोंका उपभोग करते हैं और संसारमें उनकी ख्याति होती है ॥ २८ ॥

अप्रियाण्यवमानांश्च दुःखं बहुविधात्मकम्।
फलार्थी तत्फलं त्यक्त्वा प्राप्नोति विषयात्मकम् ॥ २९ ॥

मनके अनुकूल फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य [illegible] कर्मका अनुष्ठान करके अप्रिय, अपमान और नाना प्रकारके दुःख पाता है, किंतु [illegible] परित्याग करके [illegible] सम्पूर्ण विषयोंके आत्मस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है ॥

धर्मे तपसि दाने च विचिकित्सास्य जायते।
[illegible] कृत्वा पापकान्येव निरयं प्रतिपद्यते ॥ ३० ॥

जिसे धर्म, तपस्या और दानमें संशय उत्पन्न हो जाता है, वह पापकर्म करके नरकमें पड़ता है ॥ ३० ॥

सुखे तु वर्तमानो वै दुःखे वापि नरोत्तम।
सुवृत्ताद् यो न चलते शास्त्रचक्षुः स मानवः ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ! मनुष्य सुखमें हो या दुःखमें, जो सदाचारसे कभी विचलित नहीं होता, वही [illegible] जाता है ॥ ३१ ॥

इषुप्रपातमात्रं हि स्पर्शयोगे रतिः स्मृता।
रसने दर्शने घ्राणे श्रवणे [illegible] विशाम्पते ॥ ३२ ॥

प्रजानाथ! बाणको धनुषसे छूटकर पृथ्वीपर गिरनेमें जितनी देर लगती है, उतना ही [illegible] स्पर्शेन्द्रिय, रसना, नेत्र, नासिका और कानके विषयोंका सुख अनुभव करनेमें लगता है अर्थात् विषयोंका सुख क्षणिक है ॥ ३२ ॥

ततोऽस्य जायते तीव्रा वेदना तत्क्षयात् पुनः।
अबुधा न प्रशंसन्ति मोक्षं सुखमनुत्तमम् ॥ ३३ ॥

फिर वह सुख जब नष्ट हो जाता है, तब उसके लिये मनमें बड़ी वेदना होती है। इतनेपर भी अज्ञानी पुरुष (विषयोंमें ही लिप्त रहते हैं, वे) सर्वोत्तम मोक्ष-सुखकी प्रशंसा नहीं करते हैं अर्थात् उसे नहीं चाहते ॥ ३३ ॥

ततः फलार्थं सर्वस्य भवन्ति ज्यायसे गुणाः।
धर्मवृत्त्या च सततं कामार्थाभ्यां न हीयते ॥ ३४ ॥

अतः प्रत्येक विवेकी पुरुषके मनमें श्रेष्ठ मोक्षरूपी प्राप्ति करानेके लिये शम-दम आदि गुणोंकी उत्पत्ति होती है। निरन्तर धर्मका पालन करनेसे मनुष्य कभी धन और भोगोंसे वञ्चित नहीं रहता ॥ ३४ ॥

अप्रयत्नागताः सेव्या गृहस्थैर्विषयाः सदा।
प्रयत्नेनोपगम्यश्च स्वधर्म इति मे मतिः ॥ ३५ ॥

इसलिये गृहस्थ पुरुषको सदा बिना प्रयत्न अपने-आप [illegible] हुए विषयोंका ही सेवन करना चाहिये और प्रयत्न करके तो अपने धर्मका ही पालन करना चाहिये। यही मेरा [illegible] है ॥

मानिनां कुलजातानां नित्यं शास्त्रार्थचक्षुषाम्।
क्रियाधर्मविमुक्तानामशक्त्या संवृतात्मनाम् ॥ ३६ ॥
क्रियमाणं यदा कर्म नाशं गच्छति मानुषम्।
तेषां नान्यदृते लोके तपसः कर्म विद्यते ॥ ३७ ॥

जब उत्तम कुलमें उत्पन्न, सम्मानित तथा शास्त्रके अर्थको जाननेवाले पुरुषोंका और असमर्थताके कारण कर्म-धर्मसे रहित एवं आत्मतत्त्वसे अनभिज्ञ मनुष्योंका भी किया हुआ लौकिक कर्म [illegible] हो ही जाता है, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत्में उनके लिये तपके सिवा दूसरा कोई सत्कर्म नहीं है ॥ ३६-३७ ॥

सर्वात्मनानुकुर्वीत गृहस्थः कर्मनिश्चयम्।
दाक्ष्येण हव्यकव्यार्थं स्वधर्मं विचरन् नृप ॥ ३८ ॥

नरेश्वर! गृहस्थको सर्वथा अपने कर्तव्यका निश्चय करके स्वधर्मका पालन करते हुए कुशलतापूर्वक यज्ञ तथा श्राद्ध आदि कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३८ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ३९ ॥

जैसे सम्पूर्ण नदियाँ और नद समुद्रमें जाकर स्थित होते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रम गृहस्थपर ही स्थित रहते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां पञ्चनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ पञ्चानबेवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ २९५ ॥

षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—वर्णविशेषकी उत्पत्तिका रहस्य, तपोबलसे उत्कृष्ट वर्णकी प्राप्ति, विभिन्न वर्णोंके विशेष और सामान्य धर्म, सत्कर्मकी श्रेष्ठता तथा हिंसारहित धर्मका वर्णन

जनक उवाच

वर्णो विशेषवर्णानां महर्षे केन जायते।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

जनकने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! ब्राह्मण आदि विशेष-विशेष वर्णोंका जो वर्ण है, वह कैसे उत्पन्न होता है? यह मैं जानना चाहता हूँ। आप इस विषयको बतावें ॥ १ ॥

यदेतज्जायतेऽपत्यं स एवायमिति श्रुतिः।
कथं ब्राह्मणतो जातो विशेषग्रहणं गतः ॥ २ ॥

श्रुति कहती है कि जिससे वह संतान उत्पन्न होती है, तद्रूप ही समझी जाती है। अर्थात् संततिके रूपमें जन्मदाता पिता ही नूतन जन्म धारण करता है। ऐसी दशामें प्रारम्भमें ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे ही सबका जन्म हुआ है, तब उनकी क्षत्रिय आदि विशेष संज्ञा कैसे हो गयी? ॥ २ ॥

पराशर उवाच

एवमेतन्महाराज येन जातः स एव सः।
तपसस्त्वपकर्षेण जातिग्रहणतां गतः ॥ ३ ॥

पराशरजीने कहा—महाराज! यह ठीक है कि जिससे जो जन्म लेता है, उसीका वह स्वरूप होता है तथापि तपस्याकी न्यूनताके कारण लोग निकृष्ट जातिको प्राप्त हो गये हैं ॥ ३ ॥

सुक्षेत्राच्च सुबीजाच्च पुण्यो भवति सम्भवः।
अतोऽन्यतरतो हीनादवरो नाम जायते ॥ ४ ॥

उत्तम क्षेत्र और उत्तम बीजसे जो जन्म होता है, वह पवित्र ही होता है। यदि क्षेत्र और बीजमेंसे एक भी निम्नकोटिका हो तो उससे निम्न संतानकी ही उत्पत्ति होती है॥

वक्त्राद् भुजाभ्यामूरुभ्यां पद्भ्यां चैवाथ जज्ञिरे।
सृजतः प्रजापतेर्लोकानिति धर्मविदो विदुः ॥ ५ ॥

धर्मज्ञ पुरुष यह जानते हैं कि प्रजापति ब्रह्माजी जब मानव-जगत्‌की सृष्टि करने लगे, उस समय उनके मुख, भुजा, जाँघ और पैर—इन अङ्गोंसे मनुष्योंका प्रादुर्भाव हुआ था ॥

मुखजा ब्राह्मणास्तात बाहुजाः क्षत्रियाः स्मृताः।
ऊरुजा धनिनो राजन् पादजाः परिचारकाः ॥ ६ ॥

तात! जो मुखसे उत्पन्न हुए, वे ब्राह्मण कहलाये। दोनों भुजाओंसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंको क्षत्रिय माना गया। राजन्! जो ऊरुओं (जाँघों) से उत्पन्न हुए, वे धनवान् (वैश्य) कहे गये; जिनकी उत्पत्ति चरणोंसे हुई, वे सेवक या शूद्र कहलाये ॥ ६ ॥

चतुर्णामेव वर्णानामागमः पुरुषर्षभ।
अतोऽन्ये त्वतिरिक्ता ये ते वै संकरजाः स्मृताः ॥ ७ ॥

पुरुषप्रवर! इस प्रकार ब्रह्माजीके चार अङ्गोंसे चार वर्णोंकी ही उत्पत्ति हुई। इनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे मनुष्य हैं, वे इन्हीं चार वर्णोंके सम्मिश्रणसे उत्पन्न होनेके कारण वर्णसंकर कहलाते हैं ॥ ७ ॥

क्षत्रियातिरथाम्बष्ठा उग्रा वैदेहकास्तथा।
श्वपाकाः पुल्कसाः स्तेना निषादाः सूतमागधाः ॥ ८ ॥
अयोगाः करणा व्रात्याश्चाण्डालाश्च नराधिप।
एते चतुर्भ्यो वर्णेभ्यो जायन्ते वै परस्परात् ॥ ९ ॥

नरेश्वर! क्षत्रिय, अतिरथ, अम्बष्ठ, उग्र, वैदेह, श्वपाक, पुल्कस, स्तेन, निषाद, सूत, मागध, अयोग, करण, व्रात्य और चाण्डाल—ये ब्राह्मण आदि चार वर्णोंसे अनुलोम और विलोम वर्णकी स्त्रियोंके साथ परस्पर संयोग होनेसे उत्पन्न होते हैं ॥ ८-९ ॥

जनक उवाच

ब्रह्मणैकेन जातानां नानात्वं गोत्रतः कथम्।
बहूनीह हि लोके वै गोत्राणि मुनिसत्तम ॥ १० ॥

जनकने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! जब सबको एकमात्र ब्रह्माजीने ही जन्म दिया है, तब मनुष्योंके भिन्न-भिन्न गोत्र कैसे हुए? इस जगत्‌में मनुष्योंके बहुत-से गोत्र सुने जाते हैं ॥

यत्र तत्र कथं जाताः स्वयोनिं मुनयो गताः।
शुद्धयोनौ समुत्पन्ना वियोनौ च तथा परे ॥ ११ ॥

ऋषि-मुनि जहाँ-तहाँ जन्म ग्रहण करके अर्थात् जो शुद्ध योनिमें और दूसरे जो विपरीत योनिमें उत्पन्न हुए हैं, वे सब ब्राह्मणत्वको कैसे प्राप्त हुए? ॥ ११ ॥

पराशर उवाच

राजन्नेतद् भवेद् ग्राह्यमपकृष्टेन जन्मना।
महात्मनां समुत्पत्तिस्तपसा भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥

पराशरजीने कहा—राजन्! तपस्यासे जिनके अन्तःकरण शुद्ध हो गये हैं, उन महात्मा पुरुषोंके द्वारा जिस संतानकी उत्पत्ति होती है, अथवा वे स्वेच्छासे जहाँ-कहीं भी जन्म ग्रहण करते हैं, वह क्षेत्रकी दृष्टिसे निकृष्ट होनेपर भी उसे उत्कृष्ट ही मानना चाहिये ॥ १२ ॥

उत्पाद्य पुत्रान् मुनयो नृपते यत्र तत्र ह।
स्वेनैव तपसा तेषामृषित्वं विदधुः पुनः ॥ १३ ॥

नरेश्वर! मुनियोंने जहाँ-तहाँ कितने ही पुत्र उत्पन्न

करके उन सबको अपने ही तपोबलसे ऋषि बना दिया ॥

पितामहश्च मे पूर्वमृष्यश्रृङ्गश्च काश्यपः।
वेदस्ताण्ड्यः कृपश्चैव कक्षीवान् कमठादयः ॥ १४ ॥
यवक्रीतश्च नृपते द्रोणश्च वदतां वरः।
आयुर्मतङ्गो दत्तश्च द्रुपदो मत्स्य एव च ॥ १५ ॥
एते स्वां प्रकृतिं प्राप्ता वैदेह तपसोऽऽश्रयात्।
प्रतिष्ठिता वेदविदो दमेन तपसैव हि ॥ १६ ॥

विदेहराज ! मेरे पितामह वसिष्ठजी, काश्यप-गोत्रीय ऋष्यशृङ्ग, वेद, ताण्ड्य, कृप, कक्षीवान्, कमठ आदि, यवक्रीत, वक्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोण, आयु, मतङ्ग, दत्त, द्रुपद तथा मत्स्य—ये सब तपस्याका आश्रय लेनेसे ही अपनी-अपनी प्रकृतिको प्राप्त हुए थे। इन्द्रियसंयम और तपसे ही वे वेदोंके विद्वान् तथा समाजमें प्रतिष्ठित हुए थे ॥ १४–१६ ॥

मूलगोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि पार्थिव।
अङ्गिराः कश्यपश्चैव वसिष्ठो भृगुरेव च ॥ १७ ॥
कर्मतोऽन्यानि गोत्राणि समुत्पन्नानि पार्थिव।
नामधेयानि तपसा तानि च ग्रहणं सताम् ॥ १८ ॥

पृथ्वीनाथ ! पहले अङ्गिरा, कश्यप, वसिष्ठ और भृगु—ये ही चार मूल गोत्र प्रकट हुए थे। अन्य गोत्र कर्मके अनुसार पीछे उत्पन्न हुए हैं। वे गोत्र और उनके नाम उन गोत्र-प्रवर्तक महर्षियोंकी तपस्यासे ही साधुसमाजमें सुविख्यात एवं सम्मानित हुए हैं ॥ १७-१८ ॥

जनक उवाच

विशेषधर्मान् वर्णानां प्रब्रूहि भगवन् मम।
तथा सामान्यधर्मांश्च सर्वत्र कुशलो ह्यसि ॥ १९ ॥

जनकने पूछा—भगवन् ! आप मुझे सब वर्णोंके विशेष धर्म बताइये, फिर सामान्य धर्मोंका भी वर्णन कीजिये; क्योंकि आप सब विषयोंका प्रतिपादन करनेमें कुशल हैं ॥ १९ ॥

पराशर उवाच

प्रतिग्रहो याजनं च तथैवाध्यापनं नृप।
विशेषधर्मो विप्राणां रक्षा क्षत्रस्य शोभना ॥ २० ॥

पराशरजीने कहा—राजन् ! दान लेना, यज्ञ कराना तथा विद्या पढाना—ये ब्राह्मणोंके विशेष धर्म हैं (जो उनकी जीविकाके साधन हैं)। प्रजाकी रक्षा करना क्षत्रियके लिये श्रेष्ठ धर्म है ॥ २० ॥

कृषिश्च पाशुपाल्यं च वाणिज्यं च विशामपि।
द्विजानां परिचर्या च शूद्रकर्म नराधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! कृषि, पशुपालन और व्यापार—ये वैश्योंके कर्म हैं तथा द्विजातियोंकी सेवा शूद्रका धर्म है ॥ २१ ॥

विशेषधर्मा नृपते वर्णानां परिकीर्तिताः।
धर्मान् साधारणांस्तात विस्तरेण शृणुष्व मे ॥ २२ ॥

महाराज ! ये वर्णोंके विशेष धर्म बताये गये हैं। तात ! अब उनके साधारण धर्मोंका विस्तारपूर्वक वर्णन मुझसे सुनो ॥

आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥ २३ ॥
स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप ॥ २४ ॥

क्रूरताका अभाव (दया), अहिंसा, अप्रमाद (सावधानी), देवता-पितर आदिको उनके भाग समर्पित करना अथवा दान देना, श्राद्धकर्म, अतिथिसत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी ही पत्नीमें संतुष्ट रहना, पवित्रता रखना, कभी किसीके दोष न देखना, आत्मज्ञान तथा सहनशीलता—ये सभी वर्णोंके सामान्य धर्म हैं ॥ २३-२४ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
अत्र तेषामधीकारो धर्मेषु द्विपदां वर ॥ २५ ॥

नरश्रेष्ठ ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीन वर्ण द्विजाति कहलाते हैं। उपर्युक्त धर्मोंमें इन्हींका अधिकार है ॥

विकर्मावस्थिता वर्णाः पतन्ति नृपते त्रयः।
उन्नमन्ति यथासन्तमाश्रित्येह स्वकर्मसु ॥ २६ ॥

नरेश्वर ! ये तीन वर्ण विपरीत कर्मोंमें प्रवृत्त होनेपर पतित हो जाते हैं। सत्पुरुषोंका आश्रय ले अपने अपने कर्मोंमें लगे रहनेसे जैसे इनकी उन्नति होती है, वैसे ही विपरीत कर्मोंके आचरणसे पतन भी हो जाता है ॥ २६ ॥

न चापि शूद्रः पततीति निश्चयो
न चापि संस्कारमिहार्हतीति वा।
श्रुतिप्रवृत्तं न च धर्ममाप्नुते
न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं कृतम् ॥ २७ ॥

यह निश्चय है कि शूद्र पतित नहीं होता तथा वह उपनयन आदि संस्कारका भी अधिकारी नहीं है। उसे वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मोंके अनुष्ठानका भी अधिकार नहीं प्राप्त है; परंतु उपर्युक्त सामान्य धर्मोंका उसके लिये निषेध भी नहीं किया गया है ॥ २७ ॥

वैदेहकं शूद्रमुदाहरन्ति
द्विजा महाराज श्रुतोपपन्नाः।
अहं हि पश्यामि नरेन्द्र देवं
विश्वस्य विष्णुं जगतः प्रधानम् ॥ २८ ॥

महाराज विदेहनरेश ! वेद-शास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न द्विज शूद्रको प्रजापतिके तुल्य बताते हैं (क्योंकि वह परिचर्या द्वारा समस्त प्रजाका पालन करता है); परंतु नरेन्द्र ! मैं तो उसे सम्पूर्ण जगत्के प्रधान रक्षक भगवान् विष्णुके रूपमें देखता हूँ (क्योंकि पालन कर्म विष्णुका ही है और वह अपने उस कर्मद्वारा पालनकर्ता श्रीहरिकी आराधना करके उन्हींको प्राप्त होता है) ॥ २८ ॥

सतां वृत्तमधिष्ठाय निहीना उद्दिधीर्षवः।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति कुर्वाणाः पौष्टिकीः क्रियाः ॥ २९ ॥

हीनवर्णके मनुष्य (शूद्र) यदि अपना उद्धार करना

चाहें तो सदाचारका पालन करते हुए आत्माको उन्नत बनानेवाली [illegible] क्रियाओंका अनुष्ठान करें; परन्तु वैदिक मन्त्रका उच्चारण न करें। ऐसा करनेसे वे दोषके भागी नहीं होते हैं ॥ २९ ॥

यथा यथा हि सद्वृत्तमालम्बन्तीतरे जनाः।
[illegible] सुखं [illegible] प्रेत्य चेह च मोदते ॥ ३० ॥

इतर जातीय मनुष्य भी जैसे-जैसे सदाचारका आश्रय लेते हैं, वैसे-ही-वैसे [illegible] पाकर इहलोक और परलोकमें भी [illegible] भोगते हैं ॥ ३० ॥

जनक उवाच

[illegible] कर्म दूषयत्येनमथो जातिर्महामुने।
संदेहो मे समुत्पन्नस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३१ ॥

जनकने पूछा—महामुने! मनुष्यको उसके कर्म दूषित करते हैं या जाति? मेरे मनमें यह संदेह उत्पन्न हुआ है, आप इसका विवेचन कीजिये ॥ ३१ ॥

पराशर उवाच

असंशयं महाराज उभयं दोषकारकम्।
कर्म चैव हि जातिश्च विशेषं [illegible] निशामय ॥ ३२ ॥

पराशरजीने कहा—महाराज! इसमें संदेह नहीं कि कर्म और जाति दोनों [illegible] दोषकारक होते हैं; परंतु इसमें जो विशेष बात है, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ ३२ ॥

जात्या च कर्मणा चैव दुष्टं कर्म [illegible] सेवते।
[illegible] दुष्टश्च यः पापं न करोति [illegible] पूरुषः ॥ ३३ ॥

जो जाति और कर्म—इन दोनोंसे श्रेष्ठ तथा पापकर्मका सेवन नहीं करता एवं जातिसे दूषित होकर भी जो पापकर्म नहीं [illegible] है, वही पुरुष कहलाने योग्य है ॥ ३३ ॥

[illegible] प्रधानं पुरुषं कुर्वाणं कर्म धिक्कृतम्।
कर्म तद् दूषयत्येनं तस्मात् कर्म न शोभनम् ॥ ३४ ॥

जातिसे श्रेष्ठ पुरुष भी यदि निन्दित कर्म करता है तो [illegible] कर्म उसे कलङ्कित [illegible] देता है; इसलिये किसी भी दृष्टिसे बुरा कर्म करना अच्छा नहीं है ॥ ३४ ॥

जनक उवाच

कानि कर्माणि धर्म्याणि लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम।
न हिंसन्तीह भूतानि क्रियमाणानि सर्वदा ॥ ३५ ॥

जनकने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! इस लोकमें कौन-कौन-से ऐसे धर्मानुकूल कर्म हैं, जिनका अनुष्ठान करते समय कभी किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं होती? ॥ ३५ ॥

पराशर उवाच

[illegible] मेऽत्र महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
यानि कर्माण्यहिंस्राणि नरं त्रायन्ति सर्वदा ॥ ३६ ॥

पराशरजीने कहा—महाराज! तुम जिन कर्मोंके विषयमें पूछ रहे हो, उन्हें बताता हूँ, मुझसे सुनो। जो कर्म हिंसासे रहित हैं, वे सदा मनुष्यकी रक्षा करते हैं ॥ ३६ ॥

संन्यस्याग्नीनुदासीनाः पश्यन्ति विगतज्वराः।
नैःश्रेयसं कर्मपथं समारुह्य यथाक्रमम् ॥ ३७ ॥
प्रश्रिता विनयोपेता दमनित्याः सुसंशिताः।
प्रयान्ति स्थानमजरं सर्वकर्मविवर्जिताः ॥ ३८ ॥

जो लोग (संन्यासकी दीक्षा ले) अग्निहोत्रका त्याग करके उदासीनभावसे सब कुछ देखते रहते हैं और सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित हो क्रमशः कल्याणकारी कर्मके पथपर [illegible] होकर नम्रता, विनय और इन्द्रियसंयम आदि गुणोंको अपनाते तथा तीक्ष्ण [illegible] पालन करते हैं, वे सब कर्मोंसे रहित हो अविनाशी पदको प्राप्त कर लेते हैं ॥

सर्वे वर्णा धर्मकार्याणि सम्यक्
कृत्वा राजन् सत्यवाक्यानि चोक्त्वा।
त्यक्त्वाधर्मं दारुणं जीवलोके
यान्ति स्वर्गं [illegible] कार्यो विचारः ॥ ३९ ॥

राजन्! सभी वर्णोंके लोग इस जीव-जगत्में अपने-अपने धर्मानुसार कर्मका भलीभाँति अनुष्ठान करके, सदा [illegible] बोलकर तथा भयानक पापकर्मका सर्वथा परित्याग करके स्वर्गलोकमें जाते हैं। इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां षण्णवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९६ ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९६ ॥

सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीता—नाना प्रकारके धर्म और कर्तव्योंका उपदेश

पराशर उवाच

पिता सखायो गुरवः स्त्रियश्च
न निर्गुणानां हि भवन्ति लोके।
[illegible] प्रियवादिनश्च
हिताश्च वश्याश्च भवन्ति राजन् ॥ १ ॥

राजन्! संसारमें पिता, सखा, गुरुजन और स्त्रियाँ—ये कोई भी उसके नहीं होते, जो सर्वथा गुणहीन हैं; किंतु जो प्रभुके अनन्य भक्त, प्रियवादी, हितैषी और इन्द्रियविजयी हैं, वे ही उसके होते हैं अर्थात् उसका त्याग नहीं करते ॥ १ ॥

पिता परं दैवतं मानवानां
मातुर्विशिष्टं पितरं वदन्ति।

ज्ञानस्य लाभं परमं वदन्ति
जितेन्द्रियार्थाः परमाप्नुवन्ति ॥ २ ॥

पिता मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ देवता है। कोई-कोई पिताको मातासे भी बढ़कर बताते हैं। श्रेष्ठ पुरुष ज्ञानके लाभको ही परम लाभ कहते हैं। जिन्होंने श्रोत्र आदि इन्द्रियों और शब्द आदि विषयोंपर विजय पा ली है, वे परमपदको प्राप्त होते हैं॥ २॥

रणाजिरे यत्र शराग्निसंस्तरे
नृपात्मजो घातमवाप्य दह्यते।
प्रयाति लोकानमरैः सुदुर्लभान्
निषेवते स्वर्गफलं यथासुखम्॥ ३॥

क्षत्रियका पुत्र यदि समराङ्गणमें घायल होकर बाणोंकी चितापर दग्ध होता है तो वह देवदुर्लभ लोकोंमें जाता और वहाँ आनन्दपूर्वक स्वर्गीय-सुख भोगता है॥ ३॥

श्रान्तं भीतं भ्रष्टशस्त्रं रुदन्तं
पराङ्मुखं पारिबर्हैश्च हीनम्।
अनुद्यन्तं रोगिणं याचमानं
न वै हिंस्याद् बालवृद्धौ च राजन्॥ ४॥

राजन्! जो युद्धमें थका हुआ हो, भयभीत हो, जिसने हथियार नीचे डाल दिया हो, जो रोता हो, पीठ दिखाकर भाग रहा हो, जिसके पास युद्धका कोई भी सामान न रह गया हो, जो युद्धविषयक उद्यम छोड़ चुका हो, रोगी हो और प्राणोंकी भीख माँगता हो तथा जो अवस्थामें बालक या वृद्ध हो, ऐसे शत्रुका वध नहीं करना चाहिये॥ ४॥

पारिबर्हैः सुसंयुक्तमुद्यतं तुल्यतां गतम्।
अतिक्रमेत् तं नृपतिः संग्रामे क्षत्रियात्मजम्॥ ५॥

किंतु जिसके पास युद्धका सामान हो, जो युद्धके लिये तैयार हो और अपने बराबरका हो, सग्रामभूमिमें उस क्षत्रिय-कुमारको राजा अवश्य जीतनेका प्रयत्न करे॥ ५॥

तुल्यादिह वधः श्रेयान् विशिष्टाच्चेति निश्चयः।
निहीनात् कातराच्चैव कृपणाद् गर्हितो वधः॥ ६॥

अपने समान या अपनी अपेक्षा बड़े वीरके हाथसे वध होना श्रेष्ठ है, ऐसा युद्ध-शास्त्रके ज्ञाताओंका निश्चय है। अपनेसे हीन, कातर तथा दीन पुरुषके हाथसे होनेवाली मृत्यु निन्दित है॥ ६॥

पापात् पापसमाचारान्निहीनाच्च नराधिप।
पाप एव वधः प्रोक्तो नरकायेति निश्चयः॥ ७॥

नरेश्वर! पापी, पापाचारी और हीन मनुष्यके हाथसे जो वध होता है, [illegible] पापरूप ही बताया गया है तथा वह नरकमें गिरानेवाला है, यही शास्त्रका निश्चय है॥ ७॥

न कश्चित् त्राति वै राजन् दिष्टान्तवशमागतम्।
सावशेषायुषं चापि कश्चिन्नैवापकर्षति॥ ८॥

राजन्! मृत्युके वशमें पड़े हुए प्राणीको कोई बचा नहीं सकता और जिनकी आयु शेष है, उसे कोई मार भी नहीं सकता॥ ८॥

स्निग्धैश्च क्रियमाणानि कर्माणीह निवर्तयेत्।
हिंसात्मकानि सर्वाणि नायुरिच्छेत् परायुषा॥ ९॥

मनुष्यको चाहिये कि उसके प्रियजन यदि कोई हिंसात्मक कर्म उसके लिये करते हों तो वह उन सब कर्मोंको रोक दे। दूसरेकी आयुसे अपनी आयु बढ़ानेकी अर्थात् दूसरोंके प्राण लेकर अपने प्राण बचानेकी इच्छा न करे॥ ९॥

गृहस्थानां तु सर्वेषां विनाशमभिकाङ्क्षताम्।
निधनं शोभनं तात पुलिनेषु क्रियावताम्॥ १०॥

[illegible]! मरनेकी इच्छावाले समस्त गृहस्थोंके लिये तो वही मृत्यु सबसे उत्तम मानी गयी है, जो गङ्गादि पवित्र नदियोंके तटोंपर शुभकर्मोंका अनुष्ठान करते हुए [illegible] हो॥ १०॥

आयुषि क्षयमापन्ने पञ्चत्वमुपगच्छति।
[illegible] ह्यकारणाद् भवति कारणैरुपपादितम्॥ ११॥

जब आयु समाप्त हो जाती है तभी देहधारी जीव पञ्चत्वको प्राप्त होता है। यह बिना कारणके भी हो जाता है और कभी विभिन्न कारणोंसे उपपादित होता है॥ ११॥

[illegible] शरीरं भवति देहाद् येनोपपादितम्।
अध्वानं गतकश्चायं प्राप्तश्चायं गृहाद् गृहम्॥ १२॥

जो लोग देहको पाकर हठपूर्वक उसका परित्याग कर देते हैं, उनको पूर्ववत् ही यातनामय शरीरकी प्राप्ति होती है। ऐसे लोग (मोक्षके साधनरूप मनुष्यशरीरको पाकर भी आत्म-हत्याके कारण उस लाभसे वञ्चित हो) एक घरसे दूसरे घरमें जानेवाले मनुष्यके समान एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होते हैं॥ १२॥

द्वितीयं कारणं तत्र नान्यत् किंचन विद्यते।
तद् देहं देहिनां युक्तं पञ्चभूतेषु वर्तते॥ १३॥

इनकी उस अवस्थाके प्राप्त होनेमें आत्महत्याके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं है। उन प्राणियोंको उस शरीरका मिलना उचित ही है, जो कि पञ्चभूतमय है॥ १३॥

शिरास्नाय्वस्थिसंघातं बीभत्सामेध्यसंकुलम्।
भूतानामिन्द्रियाणां च गुणानां च समागमम्॥ १४॥

यह शरीर नस, नाड़ी और हड्डियोंका समूह है। घृणित और अपवित्र मल-मूत्र आदिसे भरा हुआ है। पञ्चमहाभूतों, श्रोत्र आदि इन्द्रियों तथा गुणों (वासनामय विषयों) का समुदाय है॥ १४॥

त्वगन्तं देहमित्याहुर्विद्वांसोऽध्यात्मचिन्तकाः।
गुणैरपि परिक्षीणं शरीरं मर्त्यतां गतम्॥ १५॥

अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि इस शरीरके अन्तमें अर्थात् सबसे ऊपर त्वचा (चमड़ा)

मात्र है। यह सौन्दर्य आदि गुणोंसे भी रहित है। इसकी मृत्यु अनिवार्य है ॥ १५ ॥

शरीरिणा परित्यक्तं निश्चेष्टं गतचेतनम्।
भूतैः प्रकृतिमापन्नैस्ततो भूमौ निमज्जति ॥ १६ ॥

जब जीवात्मा इस देहका परित्याग [illegible] देता है, तब यह देह निश्चेष्ट और चेतनाशून्य हो जाती है। एवं इसके पाँच भूत अपनी-अपनी प्रकृतिके साथ मिल जाते हैं। फिर तो यह पृथ्वीमे निमग्न हो जाती है ॥ १६ ॥

भावितं कर्मयोगेन जायते तत्र [illegible] ह।
इदं शरीरं वैदेह म्रियते यत्र यत्र ह।
तत्स्वभावोऽपरो दृष्टो विसर्गः कर्मणस्तथा ॥ १७ ॥

विदेहराज! यह शरीर जिस किसी स्थानमें मृत्युको प्राप्त हो जाता है; फिर प्रारब्धकर्मके योगसे भावित होकर जहाँ-कहीं भी जन्म ले लेता है। कर्मोंका फलस्वरूप यह स्वभावसिद्ध पुनर्जन्म देखा गया है ॥ १७ ॥

न जायते तु नृपते कंचित् कालमयं पुनः।
परिभ्रमति भूतात्मा द्यामिवाम्बुधरो महान् ॥ १८ ॥

नरेश्वर! जैसे विशाल मेघ आकाशमें सब ओर भ्रमण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा प्रारब्ध-कर्मके फलसे कुछ कालतक घूमता रहता है, जन्म नहीं लेता है ॥ १८ ॥

स पुनर्जायते राजन् प्राप्येहायतनं नृप।
मनसः परमो ह्यात्मा इन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥ १९ ॥

राजन्! वही यहाँ फिर कोई आधार पाकर पुनः जन्म लेता है। मनसे आत्मा श्रेष्ठ है और इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है ॥

विविधानां [illegible] भूतानां जङ्गमाः परमा नृप।
जङ्गमानामपि तथा द्विपदाः परमा [illegible] ॥ २० ॥

महाराज! संसारके विविध प्राणियोंमें चलने फिरनेवाले जीव श्रेष्ठ माने गये हैं। इन जङ्गम प्राणियोंमे भी दो पैरवाले जीव (मनुष्य) श्रेष्ठ कहे गये हैं ॥ २० ॥

द्विपदानामपि तथा द्विजा वै परमाः स्मृताः।
द्विजानामपि राजेन्द्र प्रज्ञावन्तः परा मताः।
प्राज्ञानामात्मसम्बुद्धाः सम्बुद्धानाममानिनः ॥ २१ ॥

मनुष्योंमें भी द्विज श्रेष्ठ कहे गये हैं। राजेन्द्र! द्विजोंमें बुद्धिमान् और बुद्धिमानोंमें भी आत्मज्ञानी श्रेष्ठ समझे जाते हैं। उनमें भी जो अहङ्काररहित हैं, उन्हें सर्वश्रेष्ठ माना गया है ॥२१॥

जातमन्वेति मरणं नृणामिति विनिश्चयः।
अन्तवन्ति हि कर्माणि सेवन्ते गुणतः प्रजाः ॥ २२ ॥

जन्मके साथ ही मृत्यु मनुष्योंके पीछे लगी रहती है। यह विद्वानोंका निश्चय है। समस्त प्रजा सत्त्व आदि गुणोंसे प्रेरित होकर विनाशशील कर्मोंका आचरण करती है ॥२२॥

आपन्ने तूत्तरां काष्ठां सूर्ये यो निधनं व्रजेत्।
नक्षत्रे च [illegible] च पुण्ये राजन् [illegible] पुण्यकृत् ॥ २३ ॥

राजन्! जो सूर्यके उत्तरायण होनेपर उत्तम नक्षत्र और पवित्र मुहूर्तमें मृत्युको प्राप्त होता है, वह पुण्यात्मा है ॥२३॥

अयोजयित्वा क्लेशेन जनं प्लाव्य च दुष्कृतम्।
मृत्युनाऽऽत्मकृतेनेह कर्म कृत्वाऽऽत्मशक्तिभिः ॥ २४ ॥

वह किसीको भी कष्ट न देकर प्रायश्चित्तके द्वारा अपने पापको नष्ट कर डालता है और अपनी शक्तिके अनुसार शुभकर्म करके स्वेच्छासे मृत्युको अङ्गीकार करता है ॥ २४ ॥

विषमुद्बन्धनं दाहो दस्युहस्तात् तथा वधः।
दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च प्राकृतो [illegible] उच्यते ॥ २५ ॥

किंतु विष खा लेनेसे, गलेमें फाँसी लगानेसे, आगमें जलनेसे, लुटेरोंके हाथसे तथा दाढ़वाले पशुओंके आघातसे जो वध होता है, वह अधम श्रेणीका माना जाता है ॥२५॥

न चैभिः पुण्यकर्माणो युज्यन्ते चाभिसंधिजैः।
एवंविधैश्च बहुभिरपरैः प्राकृतैरपि ॥ २६ ॥

पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्य इस तरहके उपायोंसे प्राण नहीं देते तथा ऐसे-ऐसे दूसरे अधम उपायोंसे भी उनकी मृत्यु नहीं होती ॥ २६ ॥

ऊर्ध्वं भित्त्वा प्रतिष्ठन्ते प्राणाः पुण्यवतां नृप।
मध्यतो मध्यपुण्यानामधो दुष्कृतकर्मणाम् ॥ २७ ॥

राजन्! पुण्यात्मा पुरुषोंके प्राण ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर निकलते हैं। जिनके पुण्यकर्म मध्यम श्रेणीके हैं, उनके प्राण मध्यद्वार (मुख, नेत्र आदि) से बाहर होते हैं तथा जिन्होंने केवल पाप ही किया है, उनके प्राण नीचेके छिद्र (गुदा [illegible] शिश्नद्वार) से निकलते हैं ॥ २[illegible] ॥

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रु-
रज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।
येनावृतः कुरुते सम्प्रयुक्तो
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥ २८ ॥

राजन्! पुरुषका एक ही शत्रु है, उसके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है। वह है अज्ञान; जिससे आवृत और प्रेरित होकर मनुष्य अत्यन्त घोर [illegible]र क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है ॥ २८ ॥

प्रबोधनार्थं श्रुतिधर्मयुक्तान्
वृद्धानुपास्य प्रभवेत यस्य।
प्रयत्नसाध्यो हि स राजपुत्र
प्रज्ञाशरेणोन्मथितः परैति ॥ २९ ॥

राजकुमार! उस शत्रुको पराजित करनेमें वही समर्थ हो सकता है, जो वेदोक्त धर्मसम्पन्न वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करके प्रज्ञा (स्थिरबुद्धि) को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अज्ञानमय शत्रुको जीतना महान् प्रयत्नसाध्य कर्म है। वह प्रज्ञारूपी बाणकी चोट खाकर ही नष्ट होता है ॥ २९ ॥

अधीत्य वेदं तपसा ब्रह्मचारी
यज्ञाञ्शक्त्या संनिगृह्येह पञ्च।
वनं गच्छेत् पुरुषो धर्मकामः
श्रेयः स्थित्वा स्थापयित्वा स्ववंशम्॥२०॥

द्विजको पहले ब्रह्मचर्य-आश्रममें रहकर तपस्यापूर्वक वेदोंका अध्ययन करना चाहिये; फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके अपनी शक्तिके अनुसार इन्द्रियसंयमपूर्वक पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये। तत्पश्चात् अपने पुत्रको घर-बारकी रक्षामें नियुक्त करके कल्याणमार्गमें स्थित हो केवल धर्म-पालनकी इच्छा रखकर उसे वनको प्रस्थान करना चाहिये॥

उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः।
चण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम्॥ २१॥

तात! उपभोगके साधनोंसे वञ्चित होनेपर भी मनुष्य अपने-आपको हीन न समझे। चाण्डालकी योनिमें भी यदि मनुष्य-जन्म प्राप्त हो तो वह मानवेतर प्राणियोंकी अपेक्षा सर्वथा उत्तम है॥ २१॥

इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः॥ २२॥

क्योंकि पृथ्वीनाथ! मनुष्यकी योनि ही वह अद्वितीय योनि है, जिसे पाकर शुभकर्मोंके अनुष्ठानसे [illegible] उद्धार किया जा सकता है॥ २२॥

कथं न विप्रणश्येम योनितोऽस्या इति प्रभो।
कुर्वन्ति धर्मं मनुजाः श्रुतिप्रामाण्यदर्शनात्॥ २३॥

'प्रभो! हम कौन ऐसा उपाय करें, जिससे हमें इस मनुष्य-योनिसे नीचे न गिरना पड़े' [illegible] सोचकर और वैदिक प्रमाणोंपर विचार करके मनुष्य धर्मका अनुष्ठान करते हैं॥

यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः।
धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत्स खलु वञ्च्यते॥ २४॥

जो मानव अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर भी दूसरोंसे द्वेष करता है और धर्मका अनादर करता है तथा मनसे कामनाओंमें आसक्त हो जाता है, वह महान् लाभसे वञ्चित होता है॥ २४॥

यस्तु प्रीतिपुरोगेण चक्षुषा तात पश्यति।
दीपोपमानि भूतानि यावदर्थान्न पश्यति॥ २५॥

तात! जो समस्त प्राणियोंको दीपकके समान स्नेहसे संवर्धन करनेयोग्य मानता है और उन्हें स्नेहभरी दृष्टिसे देखता है एवं जो समस्त विषयोंकी ओर कभी दृष्टिपात नहीं करता, [illegible] परलोकमें सम्मानित होता है॥ २५॥

सान्त्वेनान्नप्रदानेन प्रियवादेन चाप्युत।
समदुःखसुखो भूत्वा स परत्र महीयते॥ २६॥

जो [illegible] लोगोंको सान्त्वना प्रदान करता, भूखोंको भोजन देता और प्रिय वचन बोलकर सबका सत्कार करता है, वह सुख-दुःखमें सम रहकर (इहलोक और) परलोकमें प्रतिष्ठित होता है॥ २६॥

दानं त्यागः शोभना मूर्तिरद्भ्यो
भूतप्लाव्यं तपसा वै शरीरम्।
सरस्वतीनैमिषपुष्करेषु
ये चाप्यन्ये पुण्यदेशाः पृथिव्याम्॥ २७॥

राजन्! सरस्वती नदी, नैमिषारण्यक्षेत्र, पुष्करतीर्थ तथा और भी जो पृथ्वीके पावन तीर्थ हैं, उनमें जाकर दान देना, भोगोंका त्याग करना, शान्तभावसे रहना तथा तपस्या और तीर्थके जलसे तन-मनको पवित्र करना चाहिये॥ २७॥

गृहेषु येषामसवः पतन्ति
तेषामथो निर्हरणं प्रशस्तम्।
यानेन वै प्रापणं च श्मशाने
शौचेन नूनं विधिना चैव दाहः॥ २८॥

घरोंमें जिनके प्राण निकल रहे हों, उन्हें शीघ्र ही घरसे बाहर ले जाना उत्तम है। मृत्युके पश्चात् उन्हें विमानपर सुलाकर श्मशानमें पहुँचाना तथा पवित्रतापूर्वक शास्त्रोक्त विधिसे उनका दाह-संस्कार करना आवश्यक कर्तव्य है॥२८॥

इष्टिः पुष्टिर्यजनं याजनं [illegible]
दानं पुण्यानां कर्मणां च प्रयोगः।
शक्त्या पित्र्यं यच्च किंचित् प्रशस्तं
सर्वाण्यात्मार्थे मानवोऽयं करोति॥२९॥

मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार इष्टि-पुष्टि (शान्तिकर्म), यजन, याजन, दान, पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान तथा श्राद्ध आदि जो भी कुछ उत्तम कार्य करता है, [illegible] अपने ही लिये करता है॥ २९॥

धर्मशास्त्राणि वेदाश्च षडङ्गानि नराधिप।
श्रेयसोऽर्थे विधीयन्ते नरस्याक्लिष्टकर्मणः॥ ३०॥

नरेश्वर! धर्मशास्त्र और छहों अङ्गोंसहित वेद पुण्यकर्म करनेवाले पुरुषके कल्याणके लिये ही कर्तव्यका विधान करते हैं॥ ३०॥

भीष्म उवाच

एतद् वै सर्वमाख्यातं मुनिना सुमहात्मना।
विदेहराजाय पुरा श्रेयसोऽर्थे नराधिप॥ ३१॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! प्राचीनकालमें महात्मा पराशर मुनिने विदेहराज जनकके कल्याणके लिये यह सब उपदेश दिया था॥ ३१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायां सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २९७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २९७॥

अष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

पराशरगीताका उपसंहार—राजा जनकके विविध प्रश्नोंका उत्तर

भीष्म उवाच

पुनरेव तु पप्रच्छ जनको मिथिलाधिपः।
पराशरं महात्मानं धर्मे परमनिश्चयम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर मिथिलानरेश जनकने उन धर्मके विषयमें [illegible] निश्चय रखनेवाले महात्मा पराशर मुनिसे इस प्रकार पूछा ॥ १ ॥

जनक उवाच

किं श्रेयः का गतिर्ब्रह्मन् किं कृतं न विनश्यति।
[illegible] गतो न निवर्तेत तन्मे ब्रूहि महामते ॥ २ ॥

जनक बोले—ब्रह्मन्! श्रेयका साधन क्या है? [illegible] गति कौन-सी है? कौन-सा कर्म नष्ट नहीं होता तथा कहाँ गया हुआ जीव फिर इस संसारमें नहीं लौटता है? महामते! मेरे इन प्रश्नोंका समाधान कीजिये ॥ २ ॥

पराशर उवाच

असङ्गः श्रेयसो मूलं ज्ञानं चैव परा गतिः।
चीर्णं तपो न प्रणश्येद्वापः क्षेत्रे न नश्यति ॥ ३ ॥

पराशरजीने कहा—राजन्! आसक्तिका अभाव ही श्रेयका मूल कारण है। ज्ञान ही सबसे [illegible] गति है। स्वयं किया हुआ तप तथा सुपात्रको दिया हुआ दान—ये कभी नष्ट नहीं होते ॥ ३ ॥

छित्त्वाधर्ममयं पाशं यदा धर्मेऽभिरज्यते।
दत्त्वाभयकृतं दानं [illegible] सिद्धिमवाप्नुते ॥ [illegible] ॥

जो मनुष्य [illegible] अधर्ममय बन्धनका उच्छेद करके धर्ममें अनुरक्त हो [illegible] और सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान [illegible] देता है, उसे उसी समय [illegible] सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४ ॥

यो ददाति सहस्राणि गवामश्वशतानि च।
अभयं सर्वभूतेभ्यः सदा तमभिवर्तते ॥ ५ ॥

जो एक हजार गौ तथा एक सौ घोड़े दान करता है तथा दूसरा जो सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देता है, वह सदा गौ और अश्वदान करनेवालेसे बढ़ा-चढ़ा रहता है ॥ ५ ॥

वसन् विषयमध्येऽपि न वसत्येव बुद्धिमान्।
संवसत्येव दुर्बुद्धिरसत्सु विषयेष्वपि ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष विषयोंके बीचमें रहता हुआ भी (असङ्ग होनेके कारण) उनमें नहीं रहनेके बराबर ही है; किंतु जिसकी बुद्धि दूषित होती है, वह विषयोंके निकट न होनेपर भी [illegible] उन्हींमें रहता है ॥ ६ ॥

नाधर्मः श्लिष्यते प्राज्ञं पयः पुष्करपर्णवत्।
अप्राज्ञमधिकं पापं श्लिष्यते जतुकाष्ठवत् ॥ ७ ॥

जैसे पानी कमलके पत्तेको लिपायमान नहीं कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषोंको अधर्म लिप्त नहीं कर सकता; परंतु जैसे लाह काठमें चिपक जाती है, उसी प्रकार पाप अज्ञानी मनुष्यमें अधिक लिप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

नाधर्मः कारणापेक्षी कर्तारमभिमुञ्चति।
कर्ता खलु यथाकालं ततः समभिपद्यते ॥ ८ ॥

अधर्म [illegible] प्रदानके अवसरकी प्रतीक्षा करनेवाला है, [illegible] कर्ताका पीछा नहीं छोड़ता। समय आनेपर उस कर्ताको [illegible] पापका फल अवश्य भोगना पड़ता है ॥ ८ ॥

न भिद्यन्ते कृतात्मान आत्मप्रत्ययदर्शिनः।
बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां हि प्रमत्तो यो न बुद्ध्यते।
शुभाशुभे प्रसक्तात्मा प्राप्नोति सुमहद् भयम् ॥ ९ ॥

पवित्र अन्तःकरणवाले आत्मज्ञानी पुरुष कर्मोंके शुभाशुभ फलोंसे कभी विचलित नहीं होते हैं। जो प्रमादवश ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंद्वारा होनेवाले पापोंपर विचार नहीं [illegible] तथा शुभ एवं अशुभमें [illegible] रहता है, उसे महान् भयकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

वीतरागो जितक्रोधः सम्यग् भवति यः सदा।
विषये वर्तमानोऽपि न स पापेन युज्यते ॥ १० ॥

परंतु जो वीतराग होकर क्रोधको जीत लेता और नित्य सदाचारका [illegible] है, वह विषयोंमें वर्तमान रहकर भी पापकर्मसे सम्बन्ध नहीं जोड़ता है ॥ १० ॥

मर्यादायां धर्मसेतुर्निबद्धो नैव सीदति।
पुष्टस्रोत इवासक्तः स्फीतो भवति संचयः ॥ ११ ॥

जैसे नदीमें बँधा हुआ मजबूत बाँध टूटता नहीं है और उसके कारण वहाँ जलका स्रोत बढ़ता [illegible] है, उसी प्रकार प्राचीन मर्यादापर बँधा हुआ धर्मरूपी बाँध नष्ट नहीं होता है तथा उससे आसक्तिरहित सञ्चित तपकी वृद्धि होने लगती है ॥ ११ ॥

[illegible] भानुगतं तेजो मणिः शुद्धः समाधिना।
आदत्ते राजशार्दूल तथा योगः प्रवर्तते ॥ १२ ॥

नृपश्रेष्ठ! जिस प्रकार [illegible] सूर्यकान्तमणि सूर्यके तेजको [illegible] लेती है, उसी प्रकार योगका साधक समाधिके द्वारा ब्रह्मके स्वरूपको ग्रहण [illegible] है ॥ १२ ॥

यथा तिलानामिह पुष्पसंश्रयात्
पृथक्पृथग्याति गुणोऽतिसौम्यताम्।
[illegible] नराणां भुवि भावितात्मनां
यथाऽऽश्रयं सत्त्वगुणः प्रवर्तते ॥ १३ ॥

जैसे तिलका तेल भिन्न-भिन्न प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंसे वासित होकर अत्यन्त मनोरम गन्ध ग्रहण करता है, वैसे ही पृथ्वीपर शुद्धचित्त पुरुषोंका स्वभाव सत्पुरुषोंके सङ्गके अनु[illegible] सत्त्वगुणसम्पन्न हो जाता है ॥ १३ ॥

जहाति दारांश्च जहाति सम्पदः
पदं च यानं विविधाश्च याः क्रियाः।
त्रिविष्टपे जातमतिर्यदा नर-
स्तदास्य बुद्धिर्विषयेषु भिद्यते ॥ १४ ॥

जिस समय मनुष्य सर्वोत्तम पद पानेके लिये उत्सुक हो जाता है, उस समय उसकी बुद्धि विषयोंसे विलग हो जाती है तथा वह स्त्री, सम्पत्ति, पद, वाहन और नाना प्रकारकी जो क्रियाएँ हैं, उनका भी परित्याग कर देता है ॥ १४ ॥

प्रसक्तबुद्धिर्विषयेषु यो नरो
न बुध्यते ह्यात्महितं कथंचन ।
स सर्वभावानुगतेन चेतसा
नृपामिषेणेव झषो विकृष्यते ॥ १५ ॥

परंतु जिसकी बुद्धि विषयोंमें आसक्त हो जाती है, वह मनुष्य किसी तरह अपने हितकी बात नहीं समझता। राजन्! जैसे मछली काँटेमें गुँथे हुए मांसपर आकृष्ट होती है और दुःख पाती है, उसी तरह वह सब प्रकारकी वासनाओंसे वासित चित्तके द्वारा विषयोंकी ओर आकृष्ट होता है और दुःख भोगता है ॥ १५ ॥

संघातवन्मर्त्यलोकः परस्परमपाश्रितः।
कदलीगर्भनिःसारो नौरिवाप्सु निमज्जति ॥ १६ ॥

जैसे शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग एक-दूसरेके आश्रित हैं, उसी प्रकार यह मर्त्यलोक—स्त्री-पुत्र और पशु आदिका समुदाय आपसमें एक-दूसरेपर अवलम्बित है। यह संसार केलेके भीतरी भागके समान निस्सार है। जैसे नौका पानीमें डूब जाती है, उसी प्रकार यह सब कुछ कालके प्रवाहमें निमग्न हो जाता है ॥ १६ ॥

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो
न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते ।
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना
यदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते ॥ १७ ॥

पुरुषके लिये धर्म करनेका कोई विशेष समय निश्चित नहीं है; क्योंकि मृत्यु किसीकी बाट नहीं जोहती। जब मनुष्य सदा मौतके मुखमें ही है, तब नित्य-निरन्तर धर्मका आचरण करते रहना ही उसके लिये शोभाकी बात है ॥ १७ ॥

यथान्धः स्वगृहे युक्तो ह्यभ्यासादेव गच्छति।
तथा युक्तेन मनसा प्राज्ञो गच्छति तां गतिम् ॥ १८ ॥

जैसे अन्धा प्रतिदिनके अभ्याससे ही सावधानीके साथ बाहरसे अपने घरमें आ जाता है, उसी प्रकार विवेकी मनुष्य योगयुक्त चित्तके द्वारा उस परम गतिको प्राप्त कर लेता है ॥ १८ ॥

मरणं जन्मनि प्रोक्तं जन्म वै मरणाश्रितम्।
अविद्वान् मोक्षधर्मेषु बद्धो भ्रमति चक्रवत्।
बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च ॥ १९ ॥

जन्ममें मृत्युकी स्थिति बतायी गयी है और मृत्युमें जन्म निहित है। जो मोक्ष-धर्मको नहीं जानता, वह अज्ञानी मनुष्य संसारमें आबद्ध होकर जन्म-मृत्युके चक्रमें घूमता रहता है; किंतु ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको इहलोक और परलोकमें भी सुख मिलता है ॥ १९ ॥

विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः।
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ॥ २० ॥

कर्मोंका विस्तार क्लेशयुक्त होता है और संक्षेप सुखदायक है। सभी कर्म-विस्तार परार्थ हैं अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये हैं; परंतु त्याग अपने लिये हितकर माना गया है ॥ २० ॥

यथा मृणालानुगतमाशु मुञ्चति कर्दमम्।
तथाऽऽत्मा पुरुषस्येह मनसा परिमुच्यते ॥ २१ ॥

जैसे (पानीसे निकालते समय) कमलकी नालमें लगी हुई कीचड़ पानीसे तुरंत धुल जाती है, उसी प्रकार त्यागी पुरुषका आत्मा मनके द्वारा संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

मनः प्रणयतेऽऽत्मानं स एनमभियुञ्जति।
युक्तो यदा स भवति तदा तं पश्यते परम् ॥ २२ ॥

मन आत्माको योगकी ओर ले जाता है। योगी इस मनको योगयुक्त (आत्मामें लीन) करता है। इस प्रकार जब वह योगमें सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब वह उस परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ २२ ॥

परार्थे वर्तमानस्तु स्वं कार्यं योऽभिमन्यते।
इन्द्रियार्थेषु संयुक्तः स्वकार्यात् परिमुच्यते ॥ २३ ॥

जो परके लिये अर्थात् इन बाह्य इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये विषयभोगोंमें प्रवृत्त होकर इसे अपना मुख्य कार्य समझता है, वह अपने वास्तविक कर्तव्यसे च्युत हो जाता है ॥ २३ ॥

अधस्तिर्यग्गतिं चैव स्वर्गं चैव परां गतिम्।
प्राप्नोति स्वकृतैरात्मा प्राज्ञस्येहेतरस्य च ॥ २४ ॥

इहलोकमें बुद्धिमान् हो या मूढ़, उसका आत्मा अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार ही नरकको, पशु पक्षी आदि योनियोंको, स्वर्गको और परम गतिको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

मृण्मये भाजने पक्वे यथा वै न्यस्यति द्रवः।
तथा शरीरं तपसा तप्तं विषयमश्नुते ॥ २५ ॥

जैसे पके हुए मिट्टीके बर्तनमें रक्खा हुआ जल आदि तरल पदार्थ न तो चूता है और न नष्ट ही होता है, उसी प्रकार तपस्यासे तपा हुआ सूक्ष्म शरीर ब्रह्मलोकतकके विषयोंका अनुभव करता है ॥ २५ ॥

विषयानश्नुते यस्तु न स भोक्ष्यत्यसंशयम् ।
यस्तु भोगांस्त्यजेदात्मा स वै भोक्तुं व्यवस्यति॥ २६ ॥

जो मनुष्य शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका उपभोग करता है, वह निश्चय ही ब्रह्मानन्दके अनुभवसे वञ्चित रह जायगा, परंतु जो विषयोंका परित्याग करता है, वह अवश्य ही ब्रह्मानन्दके अनुभवमें समर्थ हो सकता है ॥ २६ ॥

नीहारेण हि संवीतः शिश्नोदरपरायणः ।
जात्यन्ध इव पन्थानमावृतात्मा न बुद्ध्यते ॥ २७ ॥

जैसे जन्मका अंधा रास्तेको नहीं देख पाता, वैसे ही शिश्नोदरपरायण एवं अज्ञानसे आवृत जीव मायारूप कुहासासे आच्छादित होनेके कारण मोक्षमार्गको नहीं जान पाता है ॥ २७ ॥

वणिग् यथा समुद्राद् वै यथार्थं लभते धनम् ।
तथा मर्त्यार्णवे जन्तोः कर्मविज्ञानतो गतिः ॥ २८ ॥

जैसे वैश्य समुद्रमार्गसे व्यापार करने जाकर अपने मूलधनके अनुसार द्रव्य कमाकर लाता है, उसी प्रकार संसारसागरमें व्यापार करनेवाला जीव अपने कर्म एवं विज्ञानके अनुरूप गति पाता है ॥ २८ ॥

अहोरात्रमये लोके जरारूपेण संचरन् ।
मृत्युर्ग्रसति भूतानि पवनं पन्नगो यथा ॥ २९ ॥

दिन और रात्रिमय संसारमें बुढ़ापाका रूप धारण करके घूमती हुई मृत्यु समस्त प्राणियोंको उसी प्रकार खाती रहती है, जैसे सर्प हवा पीया करता है ॥ २९ ॥

स्वयंकृतानि कर्माणि जातो जन्तुः प्रपद्यते ।
नाकृत्वा लभते कश्चित् किंचिदत्र प्रियाप्रियम् ॥ ३० ॥

जीव जगत्‌में जन्म लेकर अपने पूर्वकृत कर्मोंका ही फल भोगता है; पूर्वजन्ममें कुछ किये बिना यहाँ कोई भी किसी इष्ट या अनिष्ट फलको नहीं पाता है ॥ ३० ॥

शयानं यान्तमासीनं प्रवृत्तं विषयेषु च ।
शुभाशुभानि कर्माणि प्रपद्यन्ते नरं सदा ॥ ३१ ॥

मनुष्य सोता हो, बैठा हो, चलता हो या विषयभोगमें लगा हो, उसके शुभाशुभ कर्म सदा उसे प्राप्त होते रहते हैं ॥

न ह्यन्यत् तीरमासाद्य पुनस्तर्तुं व्यवस्यति ।
दुर्लभो दृश्यते ह्यस्य विनिपातो महार्णवे ॥ ३२ ॥

जैसे समुद्रके परलेपार पहुँचकर पुनः कोई उसमें तैरनेका विचार नहीं करता, उसी प्रकार संसार-सागरसे पार हुए मनुष्यका फिर उसमें पड़ना अर्थात् वापस आना दुर्लभ दिखायी देता है ॥ ३२ ॥

यथा भावावसन्ना हि नौर्महाम्भसि तन्तुना ।
तथा मनोभियोगाद् वै शरीरं प्रचिकीर्षति ॥ ३३ ॥

जैसे गम्भीर जलमें डूबी हुई नौका नाविकद्वारा रस्सीसे खींची जानेपर उसके मनोभावके अधीन होकर चलती है, उसी प्रकार जीव इस शरीररूपी नौकाको अपने मनके अभिप्रायानुसार चलाना चाहता है ॥ ३३ ॥

यथा समुद्रमभितः संश्रिताः सरितोऽपराः ।
तथाद्या प्रकृतिर्योगादभिसंश्रियते सदा ॥ ३४ ॥

जैसे बहुत-सी नदियाँ सब ओरसे आकर समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार योगसे वशमें किया हुआ मन सदाके लिये मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है ॥ ३४ ॥

स्नेहपाशैर्बहुविधैरासक्तमनसो नराः ।
प्रकृतिस्था विषीदन्ति जले सैकतवेश्मवत् ॥ ३५ ॥

जिनका मन नाना प्रकारके स्नेह-बन्धनोंमें जकड़ा हुआ है, वे प्रकृतिमें स्थित हुए जीव जलमें ढह जानेवाले बालूके मकानकी भाँति महान् दुःखसे आतुर हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

शरीरगृहसंस्थस्य शौचतीर्थस्य देहिनः ।
बुद्धिमार्गप्रयातस्य सुखं त्विह परत्र च ॥ ३६ ॥

शरीर ही जिसका घर है, जो बाहर-भीतरकी पवित्रताको ही तीर्थ मानता है तथा बुद्धिपूर्वक कल्याणके मार्गपर चलता है, उस देहधारी जीवको इहलोक और परलोकमें भी सुख मिलता है ॥ ३६ ॥

विस्तराः क्लेशसंयुक्ताः संक्षेपास्तु सुखावहाः ।
परार्थं विस्तराः सर्वे त्यागमात्महितं विदुः ॥ ३७ ॥

क्रियाओंका विस्तार क्लेशदायक होता है और संक्षेप सुखदायक है। सभी कर्मविस्तार परार्थरूप अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये होते हैं, परंतु त्याग अपने लिये हितकर माना गया है ॥ ३७ ॥

संकल्पजो मित्रवर्गो ज्ञातयः कारणात्मकाः ।
भार्या पुत्रश्च दासश्च स्वमर्थमनुयुञ्जते ॥ ३८ ॥

कोई-न-कोई संकल्प (मनोरथ) लेकर ही लोग मित्र बनते हैं, कुटुम्बी जन भी किसी हेतुसे ही नाता रखते हैं, पत्नी, पुत्र और सेवक सभी अपने-अपने स्वार्थका ही अनुसरण करते हैं ॥ ३८ ॥

न माता न पिता किंचित् कस्यचित् प्रतिपद्यते ।
दानपथ्यौदनो जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते ॥ ३९ ॥

माता और पिता भी परलोक-साधनमें किसीकी कुछ सहायता नहीं कर सकते । परलोकके पथमें तो अपना किया हुआ दान अर्थात् त्याग ही राहखर्चका काम देता है। प्रत्येक जीव अपने कर्मका ही फल भोगता है ॥ ३९ ॥

माता पुत्रः पिता भ्राता भार्या मित्रजनस्तथा ।
अष्टापदपदस्थाने लक्षमुद्रेव लक्ष्यते ॥ ४० ॥

माता, पिता, पुत्र, भ्राता, भार्या और मित्रगण—ये सब सुवर्णके सिक्कोंके स्थानपर रखी हुई लाखकी मुद्राके समान देखे जाते हैं ॥ ४० ॥

सर्वाणि कर्माणि पुरा कृतानि
शुभाशुभान्यात्मनो यान्ति जन्तोः ।

उपस्थितं कर्मफलं विदित्वा
बुद्धिं तथा चोदयतेऽन्तरात्मा ॥ ४१ ॥

पूर्वजन्मके किये हुए सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म जीवका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार प्राप्त हुई परिस्थितिको अपने कर्मोंका फल जानकर जिसका मन अन्तर्मुख हो गया है, वह अपनी बुद्धिको वैसी शुभ प्रेरणा देता है जिससे भविष्य-मे दुःख न भोगना पड़े ॥ ४१ ॥

व्यवसायं समाश्रित्य सहायान् योऽधिगच्छति।
न तस्य कश्चिदारम्भः कदाचिदवसीदति ॥ ४२ ॥

जो दृढ निश्चय एवं पूर्ण उद्योगका सहारा ले तदनुकूल सहायकोंका संग्रह करता है, उसका कोई भी कार्य कभी भी व्यर्थ नहीं होता ॥ ४२ ॥

अद्वैधमनसं युक्तं शूरं धीरं विपश्चितम्।
न श्रीः संत्यजते नित्यमादित्यमिव रश्मयः ॥ ४३ ॥

जिसके मनमे दुविधा नहीं होती, जो उद्योगी, शूरवीर, धीर और विद्वान् होता है, उसे सम्पत्ति उसी तरह कभी नहीं छोड़ती, जैसे किरणे सूर्यको ॥ ४३ ॥

आस्तिक्यव्यवसायाभ्यामुपायाद् विस्मयाद् धिया।
समारभेदनिन्द्यात्मा न सोऽर्थः परिषीदति ॥ ४४ ॥

जिसका हृदय उदार एवं प्रशस्त है, जो आस्तिक भाव, निश्चय एवं आवश्यक उपायसे गर्वहीनताके साथ उत्तम बुद्धिपूर्वक कार्य आरम्भ करता है, उसका वह कार्य कभी असफल नहीं होता है ॥ ४४ ॥

सर्वः स्वानि शुभाशुभानि नियतं कर्माणि जन्तुः स्वयं
गर्भात् सम्प्रतिपद्यते तदुभयं यत् तेन पूर्वं कृतम्।
मृत्युश्चापरिहारवान् समगतिः कालेन विच्छेदिना
दारोश्चूर्णमिवाश्मसारविहितं कर्मान्तिकं प्रापयेत् ॥ ४५ ॥

सभी जीव, पूर्वजन्ममें उन्होंने जो कुछ किया है, उन अपने शुभाशुभ कर्मोंके नियत फलोको गर्भमें प्रवेश करनेके समयसे ही क्रमशः पाने और भोगने लगते हैं। जैसे वायु आरेसे चीरकर बनाये गये लकड़ीके चूरेको उड़ा देती है, उसी प्रकार कभी टाली न जा सकनेवाली मृत्यु विनाशकारी कालकी सहायतासे मनुष्यका अन्त कर देती है ॥ ४५ ॥

स्वरूपतामात्मकृतं च विस्तरं
कुलान्वयं द्रव्यसमृद्धिसंचयम्।
नरो हि सर्वो लभते यथाकृतं
शुभाशुभेनात्मकृतेन कर्मणा ॥ ४६ ॥

सब मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मके अनुसार ही सुन्दर या असुन्दर रूप, अपनेसे होनेवाले योग्य-अयोग्य पुत्र-पौत्र आदिका विस्तार, उत्तम या अधम कुलमें जन्म तथा द्रव्य-समृद्धिका संचय आदि पाते हैं ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो जनको राजन् याथातथ्यं मनीषिणा।
श्रुत्वा धर्मविदां श्रेष्ठः परां मुदमवाप ह ॥ ४७ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ज्ञानी महात्मा पराशर मुनिके मुखसे इस यथार्थ उपदेशको सुनकर धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ राजा जनक बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पराशरगीतायामष्टनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पराशरगीताविषयक दो सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९८ ॥

नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

हंसगीता—हंसरूपधारी ब्रह्माका साध्यगणोंको उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दमं क्षमां प्रज्ञां प्रशंसन्ति पितामह।
विद्वांसो मनुजा लोके कथमेतन्मतं तव ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! संसारमें बहुत-से विद्वान् सत्य, इन्द्रिय-संयम, क्षमा और प्रज्ञा (उत्तम बुद्धि) की प्रशंसा करते हैं। इस विषयमे आपका कैसा मत है ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

[illegible] ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
साध्यानामिह संवादं हंसस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमे साध्यगणों-[illegible] हंसके साथ जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ २ ॥

हंसो भूत्वाथ सौवर्णस्त्वजो नित्यः प्रजापतिः।
[illegible] वै पर्येति लोकांस्त्रीनथ साध्यानुपागमत् ॥ ३ ॥

एक समय नित्य अजन्मा प्रजापति सुवर्णमय हंसका रूप धारण करके तीनो लोकोंमें विचर रहे थे। घूमते घामते वे साध्यगणोंके [illegible] जा पहुँचे ॥ ३ ॥

साध्या ऊचुः

शकुने वयं [illegible] देवा वै साध्यास्त्वामनुयुङ्क्ष्महे।
पृच्छामस्त्वां मोक्षधर्मं भवांश्च किल मोक्षवित् ॥ ४ ॥

उस समय साध्योंने कहा—हंस! हमलोग साध्य देवता हैं और आपने मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न करना चाहते हैं; क्योंकि आप मोक्ष-तत्त्वके ज्ञाता हैं, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

साध्यगणोंको हंसरूपमें ब्रह्माजीका उपदेश

श्रुतोऽसि नः पण्डितो धीरवादी
साधुशब्दश्चरते ते पतत्रिन्।
किं मन्यसे श्रेष्ठतमं द्विज त्वं
कस्मिन् मनस्ते रमते महात्मन् ॥ ५ ॥

महात्मन्! हमने सुना है कि आप पण्डित और धीर [illegible] हैं। पतत्रिन्! आपकी उत्तम वाणीका सर्वत्र प्रचार है। पक्षि-प्रवर! आपके मतमें सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है? आपका मन किसमें रमता है? ॥ ५ ॥

तन्नः कार्यं पक्षिवर प्रशाधि
यत् कार्याणां मन्यसे श्रेष्ठमेकम्।
यत् [illegible] पुरुषः सर्वबन्धै-
र्विमुच्यते विहगेन्द्रेह शीघ्रम् ॥ ६ ॥

पक्षिराज! खगश्रेष्ठ! समस्त कार्योंमेंसे जिस एक कार्यको आप सबसे उत्तम समझते हों तथा जिसके करनेसे जीवको सब प्रकारके बन्धनोंसे शीघ्र छुटकारा मिल सके, उसीका हमें उपदेश कीजिये ॥ ६ ॥

हंस उवाच

इदं कार्यममृताशाः शृणोमि
तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः।
ग्रन्थीन् विमुच्य हृदयस्य सर्वान्
प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत ॥ ७ ॥

हंसने कहा—अमृतभोजी देवताओ! मैं तो सुनता हूँ कि तप, इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह आदि कार्य ही सबसे उत्तम हैं। हृदयकी सारी गाँठें खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने वशमें करे अर्थात् उनके लिये हर्ष एवं विषाद न करे ॥ ७ ॥

नारुन्तुदः [illegible] नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
[illegible] वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम् ॥ ८ ॥

किसीके मर्ममें आघात न पहुँचाये। दूसरोंसे निष्ठुर वचन न बोले। किसी नीच मनुष्यसे अध्यात्मशास्त्रका उप-देश न ग्रहण करे तथा जिसे सुनकर दूसरोंको उद्वेग हो, ऐसी नरकमें डालनेवाली अमङ्गलमयी बात भी मुँहसे न निकाले ॥ ८ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ९ ॥

वचनरूपी बाण जब मुँहसे निकल पड़ते हैं, तब उनके द्वारा बींधा गया मनुष्य रात-दिन शोकमें डूबा रहता है, क्योंकि वे दूसरोंके मर्मपर आघात पहुँचाते हैं, इसलिये विद्वान् पुरुषको किसी दूसरे मनुष्यपर वाग्बाणका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

परश्चेदेनमतिवादबाणै-
र्भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यः।
संरोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः
स आदत्ते सुकृतं वै परस्य ॥ १० ॥

दूसरा कोई भी यदि इस विद्वान् पुरुषको कटुवचनरूपी बाणोंसे बहुत अधिक चोट पहुँचाये तो भी उसे [illegible] ही रहना चाहिये। जो दूसरोंके क्रोध करनेपर भी स्वयं बदलेमें प्रसन्न ही रहता है, वह उसके पुण्यको ग्रहण कर लेता है ॥ १० ॥

क्षेपायमाणमभिषङ्गव्यलीकं
निगृह्णाति ज्वलितं यश्च मन्युम्।
अदुष्टचेता मुदितोऽनसूयुः
स आदत्ते सुकृतं वै परेषाम् ॥ ११ ॥

जो जगत्में निन्दा करानेवाले और आवेशमें डालनेके कारण अप्रिय प्रतीत होनेवाले प्रज्वलित क्रोधको रोक लेता है, जिसमें कोई विकार या दोष नहीं आने देता, प्रसन्न रहता और दूसरोंके दोष नहीं देखता है, वह पुरुष अपने प्रति शत्रुभाव रखनेवाले लोगोंके पुण्य ले लेता है ॥ ११ ॥

आक्रुश्यमानो न वदामि किंचित्
क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यम्।
श्रेष्ठं ह्येतद् यत्क्षमामाहुरार्याः
सत्यं तथैवार्जवमानृशंस्यम् ॥ १२ ॥

मुझे कोई गाली दे तो भी बदलेमें कुछ नहीं कहता हूँ। कोई मार दे तो उसे सदा क्षमा ही करता हूँ; क्योंकि श्रेष्ठ जन क्षमा, सत्य, सरलता और दयाको ही उत्तम बताते हैं ॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम् ॥ १३ ॥

वेदाध्ययनका सार है सत्यभाषण, सत्यभाषणका सार है इन्द्रियसंयम और इन्द्रियसंयमका फल है मोक्ष। यही सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश है ॥ १३ ॥

वाचो वेगं [illegible] क्रोधवेगं
विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णां-
स्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥ १४ ॥

जो वाणीका वेग, मन और क्रोधका वेग, तृष्णाका वेग तथा पेट और जननेन्द्रियका वेग—इन स[illegible] प्रचण्ड वेगोंको सह लेता है, उसीको मैं ब्रह्मवेत्ता और मुनि मानता हूँ ॥ १४ ॥

अक्रोधनः क्रुध्यतां वै विशिष्ट-
स्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः।

अमानुषान्मानुषो वै विशिष्ट-
स्तथाज्ञानाज्ज्ञानविद् वै विशिष्टः ॥ १५ ॥

क्रोधी मनुष्योंसे क्रोध न करनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ है। असहनशीलसे सहनशील पुरुष बड़ा है। मनुष्येतर प्राणियोंसे मनुष्य ही बढ़कर है तथा अज्ञानीसे ज्ञानवान् ही श्रेष्ठ है॥ १५॥

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ १६ ॥

जो दूसरेके द्वारा गाली दी जानेपर भी बदलेमें उसे गाली नहीं देता, उस क्षमाशील मनुष्यका दबा हुआ क्रोध ही उस गाली देनेवालेको भस्म कर देता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है ॥ १६ ॥

यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा
यो [illegible] हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्।
पापं च यो नेच्छति तस्य हन्तु-
स्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥ १७॥

जो दूसरोंके द्वारा अपने लिये कड़वी [illegible] कही जानेपर भी उसके प्रति कठोर या प्रिय कुछ भी नहीं कहता [illegible] किसीके द्वारा चोट खाकर भी धैर्यके कारण बदलेमें न तो मारनेवालेको मारता है और न उसकी बुराई ही चाहता है, उस महात्मासे मिलनेके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं ॥ १७ ॥

पापीयसः क्षमेतैव श्रेयसः [illegible] च।
विमानितो हतोत्क्रुष्ट एवं सिद्धिं गमिष्यति ॥ १८ ॥

पाप करनेवाला अपराधी अवस्थामें अपनेसे बड़ा हो [illegible] बराबर, उसके द्वारा अपमानित होकर, मार खाकर और गाली सुनकर भी उसे क्षमा ही कर देना चाहिये। ऐसा करनेवाला पुरुष परम सिद्धिको प्राप्त होगा ॥ १८ ॥

सदाहमार्यान्निभृतोऽप्युपासे
न [illegible] विधित्सोत्सहते न रोषः।
न चाप्यहं लिप्समानः परैमि
न चैव किंचिद् विषयेण यामि ॥ १९ ॥

यद्यपि मैं सब प्रकारसे परिपूर्ण हूँ (मुझे कुछ जानना या पाना शेष नहीं है) तो भी मैं श्रेष्ठ पुरुषोंकी उपासना (सत्सङ्ग) [illegible] रहता हूँ। मुझपर न तृष्णाका वश है न रोषका। मैं कुछ पानेके लोभसे धर्मका उल्लङ्घन नहीं करता और न विषयोंकी प्राप्तिके लिये ही कहीं आता-जाता हूँ ॥ १९ ॥

नाहं शप्तः प्रतिशपामि कंचिद्
दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि।
गुह्यं [illegible] तदिदं वो ब्रवीमि
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् ॥ २० ॥

कोई मुझे शाप दे दे तो भी मैं बदलेमें उसे शाप नहीं देता। इन्द्रियसंयमको ही मोक्षका द्वार मानता हूँ। इस समय तुमलोगोंको एक बहुत गुप्त बात बता रहा हूँ, सुनो। मनुष्ययोनिसे बढ़कर कोई उत्तम योनि नहीं है ॥ २० ॥

निर्मुच्यमानः पापेभ्यो घनेभ्य [illegible] चन्द्रमाः।
विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण सिद्ध्यति ॥ २१ ॥

जिस प्रकार चन्द्रमा बादलोंके ओटसे निकलनेपर अपनी प्रभासे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार पापोंसे मुक्त हुआ निर्मल अन्तःकरणवाला धीर पुरुष धैर्यपूर्वक कालकी प्रतीक्षा करता हुआ सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥

यः सर्वेषां भवति ह्यर्चनीय
उत्सेधनस्तम्भ इवाभिजातः।
यस्मै वाचं सुप्रसन्नां वदन्ति
स वै देवान् गच्छति संयतात्मा ॥ २२ ॥

जो अपने मनको वशमें रखनेवाला विद्वान् पुरुष ऊँचे उठानेवाले खम्भेकी भाँति उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ सबके लिये आदरके योग्य हो जाता है तथा जिसके प्रति सब लोग प्रसन्नतापूर्वक मधुर वचन बोलते हैं, वह मनुष्य देवभावको [illegible] हो जाता है ॥ २२ ॥

न [illegible] वक्तुमिच्छन्ति कल्याणान् पुरुषे गुणान्।
यथैषां वक्तुमिच्छन्ति नैर्गुण्यमनुयुञ्जकाः ॥ २३ ॥

किसीसे ईर्ष्या रखनेवाले मनुष्य जिस तरह उसके दोषोंका वर्णन करना चाहते हैं, उस प्रकार उसके कल्याणमय गुणोंका बखान करना नहीं चाहते हैं ॥ २३ ॥

[illegible] वाङ्मनसी गुप्ते सम्यक् प्रणिहिते सदा।
वेदास्तपश्च त्यागश्च [illegible] इदं सर्वमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

जिसकी वाणी और मन सुरक्षित होकर सदा सब प्रकारसे परमात्मामें लगे रहते हैं, वह वेदाध्ययन, तप और त्याग—इन सबके फलको पा लेता है ॥ २४ ॥

आक्रोशनविमानाभ्यां नाबुधान् बोधयेद् बुधः।
[illegible] वर्धयेदन्यं न चात्मानं विहिंसयेत् ॥ २५ ॥

अतः समझदार मनुष्यको चाहिये कि वह कटुवचन कहने या अपमान करनेवाले अज्ञानियोंको उनके उक्त दोष बताकर समझानेका प्रयत्न न करे। उसके सामने दूसरेको बढ़ावा न दे तथा उसपर आक्षेप करके उसके द्वारा अपनी हिंसा [illegible] कराये ॥ २५ ॥

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य पण्डितः।
सुखं ह्यवमतः शेते योऽवमन्ता स नश्यति ॥ २६ ॥

विद्वान्को चाहिये कि वह अपमान पाकर अमृत पीनेकी भाँति संतुष्ट हो; क्योंकि अपमानित पुरुष तो सुखसे सोता है, किंतु अपमान करनेवालेका नाश हो जाता है ॥ २६ ॥

यत् क्रोधनो यजति यद् ददाति
यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं
मोघः श्रमो भवति हि क्रोधनस्य ॥ २७ ॥

क्रोधी मनुष्य जो यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है अथवा जो हवन करता है, उसके उन सब कर्मोंके फलको यमराज हर [illegible] हैं। क्रोध करनेवालेका वह किया हुआ सारा परिश्रम व्यर्थ [illegible] है ॥ २७ ॥

चत्वारि यस्य द्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमाः ।
उपस्थमुदरं हस्तौ वाक् चतुर्थी स धर्मवित् ॥ २८ ॥

देवेश्वरो ! जिस पुरुषके उपस्थ, उदर, दोनों हाथ और वाणी—ये चारों [illegible] सुरक्षित होते हैं, वही धर्मज्ञ है ॥ २८ ॥

सत्यं दमं ह्यार्जवमानृशंस्यं
धृतिं तितिक्षामतिसेवमानः ।
स्वाध्यायनित्योऽस्पृहयन् परेषा-
मेकान्तशील्यूर्ध्वगतिर्भवेत् [illegible] ॥ २९ ॥

जो [illegible], इन्द्रिय-संयम, सरलता, दया, धैर्य और क्षमा-का अधिक सेवन करता है, सदा स्वाध्यायमें लगा रहता है, दूसरेकी वस्तु नहीं लेना चाहता तथा एकान्तमें निवास करता है, [illegible] ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

सर्वांश्चैताननुचरन् वत्सवच्चतुरः स्तनान् ।
न पावनतमं किंचित् सत्यादध्यगमं क्वचित् ॥ ३० ॥

जैसे बछड़ा अपनी माताके चारों स्तनोंका पान करता है, उसी [illegible] मनुष्यको उपर्युक्त सभी सद्गुणोंका सेवन करना चाहिये। मैंने अबतक सत्यसे बढ़कर परम पावन वस्तु कहीं किसीको नहीं समझा है ॥ ३० ॥

आचक्षेऽहं मनुष्येभ्यो देवेभ्यः प्रतिसंचरन् ।
[illegible] स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ३१ ॥

मैं चारों ओर घूमकर मनुष्यों और देवताओंसे कहा करता [illegible] कि जैसे [illegible] समुद्रसे पार होनेका साधन है, उसी प्रकार सत्य ही स्वर्गलोकमें पहुँचनेकी सीढ़ी है ॥ ३१ ॥

यादृशैः संनिवसति यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ ३२ ॥

पुरुष जैसे लोगोंके [illegible] रहता है, जैसे मनुष्योंका सेवन [illegible] है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही होता है ॥ ३२ ॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि [illegible] स्तेनमेव ।
वासो यथा रंगवशं प्रयाति
तथा [illegible] तेषां वशमभ्युपैति ॥ ३३ ॥

जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय, वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोरका सेवन करता है तो वह उन्हीं-जैसा हो जाता है अर्थात् उसपर उन्हींका रंग [illegible] जाता है ॥ ३३ ॥

सदा देवाः साधुभिः संवदन्ते
न मानुषं विषयं यान्ति द्रष्टुम् ।
नेन्दुः समः स्यादसमो हि वायु-
रुच्चावचं विषयं यः स वेद ॥ ३४ ॥

देवतालोग सदा सत्पुरुषोंका सङ्ग—उन्हींके [illegible] वार्तालाप करते हैं; इसीलिये वे मनुष्योंके क्षणभङ्गुर भोगोंकी ओर देखने भी नहीं जाते। जो विभिन्न विषयोंके नश्वर स्वभावको ठीक-ठीक जानता है, उसकी समानता न चन्द्रमा [illegible] सकते हैं न वायु ॥ ३४ ॥

अदुष्टं वर्तमाने [illegible] हृदयान्तरपूरुषे ।
तेनैव देवाः प्रीयन्ते सतां मार्गस्थितेन वै ॥ ३५ ॥

हृदयगुफामें रहनेवाला अन्तर्यामी आत्मा जब दोषभावसे रहित हो जाता है, [illegible] अवस्थामें उसका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष सन्मार्गगामी [illegible] जाता है। उसकी इस स्थितिसे ही देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ३५ ॥

शिश्नोदरे ये निरताः सदैव
स्तेना नरा वाक्परुषाश्च नित्यम् ।
अपेतदोषानपि तान् विदित्वा
दूराद् देवाः सम्परिवर्जयन्ति ॥ ३६ ॥

किंतु जो सदा पेट पालने और उपस्थ-इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें ही लगे रहते हैं [illegible] जो चोरी करने एवं सदा कठोर [illegible] बोलनेवाले हैं, वे यदि प्रायश्चित्त आदिके द्वारा [illegible] कर्मोंके दोषसे छूट जायँ तो भी देवतालोग उन्हें पहचानकर दूरसे ही त्याग देते हैं ॥ ३६ ॥

न [illegible] देवा हीनसत्त्वेन तोष्याः
सर्वाशिना दुष्कृतकर्मणा वा ।
[illegible] ये [illegible] नराः कृतज्ञा
धर्मे रतास्तैः [illegible] सम्भजन्ते ॥ ३७ ॥

सत्त्वगुणसे रहित और सब कुछ भक्षण करनेवाले पापाचारी मनुष्य देवताओंको संतुष्ट नहीं [illegible] सकते। जो मनुष्य नियमपूर्वक [illegible] बोलनेवाले, [illegible] और धर्मपरायण हैं, उन्हींके साथ देवता स्नेह सम्बन्ध स्थापित करते हैं ॥ ३७ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम् ।
वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
प्रियं धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ ३८ ॥

व्यर्थ बोलनेकी अपेक्षा मौन रहना अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी [illegible] विशेषता है) सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है, प्रिय बोलना वाणीकी तीसरी विशेषता है। धर्मसम्मत बोलना यह वाणीकी चौथी विशेषता है (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है) ॥ ३८ ॥

साध्या ऊचुः

केनायमावृतो लोकः केन ■ न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ३९ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! इस जगत्‌को किसने आवृत कर रक्खा है ? किस कारणसे उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता है ? मनुष्य किस हेतुसे मित्रोंका त्याग करता है ? और किस दोषसे वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता ? ॥ ३९ ॥

हंस उवाच

अज्ञानेनावृतो लोको मात्सर्यान्न प्रकाशते ।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात् स्वर्गं न गच्छति ॥ ४० ॥

हंसने कहा—देवताओ ! अज्ञानने इस लोकको आवृत कर रक्खा है । आपसमें डाह होनेके कारण इसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता । मनुष्य लोभसे मित्रोंका त्याग करता है और आसक्तिदोषके कारण वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता ॥ ४० ॥

साध्या ऊचुः

■ स्विदेको रमते ब्राह्मणानां
■ स्विदेको बहुभिर्जोषमास्ते ।
■ स्विदेको बलवान् दुर्बलोऽपि
कः स्विदेषां कलहं नान्ववैति ॥ ४१ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! ब्राह्मणोंमें कौन एकमात्र सुखका अनुभव करता है ? वह कौन ऐसा एक मनुष्य है, जो बहुतोंके साथ रहकर भी चुप रहता है ? वह कौन एक मनुष्य है, जो दुर्बल होनेपर भी बलवान् है तथा इनमें कौन ऐसा है, जो किसीके साथ कलह नहीं करता ? ॥ ४१ ॥

हंस उवाच

■ एको रमते ब्राह्मणानां
प्राज्ञश्चैको बहुभिर्जोषमास्ते ।
■ एको बलवान् दुर्बलोऽपि
■ एषां कलहं नान्ववैति ॥ ४२ ॥

हंसने कहा—देवताओ ! ब्राह्मणोंमें जो ज्ञानी है, एकमात्र वही परम सुखका अनुभव ■ है । ज्ञानी ही बहुतोंके साथ रहकर भी मौन रहता है । एकमात्र ज्ञानी दुर्बल होनेपर भी बलवान् है और इनमें ज्ञानी ही किसीके साथ कलह नहीं करता है ॥ ४२ ॥

साध्या ऊचुः

किं ब्राह्मणानां देवत्वं किं च साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं च किं तेषां किमेषां मानुषं मतम् ॥ ४३ ॥

साध्योंने पूछा—हंस ! ब्राह्मणोंका देवत्व क्या है ? उनमें साधुता क्या बतायी जाती है ? उनके भीतर असाधुता और मनुष्यता क्या मानी गयी है ? ॥ ४३ ॥

हंस उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुष्यमुच्यते ॥ ४४ ॥

हंसने कहा—साध्यगण ! वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय ■ ब्राह्मणोंका देवत्व है । उत्तम व्रतोंका पालन करना ही उनमें साधुता बतायी जाती है । दूसरोंकी निन्दा ■ ■ उनकी असाधुता है और मृत्युको प्राप्त होना ही उनकी मनुष्यता बतायी गयी है ॥ ४४ ॥

भीष्म उवाच

(इत्युक्त्वा परमो देवो भगवान् नित्य अव्ययः ।
साध्यैर्देवगणैः सार्धं दिवमेवारुरोह सः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर नित्य अविनाशी परमदेव भगवान् ब्रह्मा साध्य देवताओंके साथ ही ऊपर स्वर्गलोककी ओर चल दिये ॥

एतद् यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्ग्याय च ध्रुवम् ।
दर्शितं देवदेवेन परमेणाव्ययेन च ॥)

सर्वश्रेष्ठ अविनाशी देवाधिदेव ब्रह्माजीके द्वारा प्रकाशमें लाया हुआ यह पुण्यमय तत्त्वज्ञान ■ और आयुकी वृद्धि करनेवाला है तथा यह स्वर्गलोककी प्राप्तिका निश्चित साधन है ॥

संवाद इत्ययं श्रेष्ठः साध्यानां परिकीर्तितः ।
क्षेत्रं वै कर्मणां योनिः सद्भावः सत्यमुच्यते ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार साध्योंके साथ जो हंसका संवाद हुआ था, उसका मैंने तुमसे वर्णन किया । यह शरीर ही कर्मोंकी योनि है और सद्भावको ही ■ कहते हैं ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हंसगीतासमाप्तौ नवनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें हंसगीताकी समाप्ति विषयक दो सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ४७ श्लोक हैं)

त्रिशततमोऽध्यायः

सांख्य और योगका अन्तर बतलाते हुए योगमार्गके स्वरूप, साधन, फल और प्रभावका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सांख्ये योगे च मे तात विशेषं वक्तुमर्हसि ।
तव धर्मज्ञ सर्वं हि विदितं कुरुसत्तम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! धर्मज्ञ कुरुश्रेष्ठ ! सांख्य और योगमें क्या अन्तर है ? यह बतानेकी कृपा करें; क्योंकि आपको सब बातोंका ज्ञान है ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सांख्याः सांख्यं प्रशंसन्ति योगा योगं द्विजातयः।
वदन्ति कारणं श्रेष्ठं स्वपक्षोद्भावनाय वै ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! सांख्यके विद्वान् सांख्यकी और योगके ज्ञाता द्विज योगकी प्रशंसा करते हैं। दोनों ही अपने-अपने पक्षकी उत्कृष्टता सूचित करनेके लिये उत्तमोत्तम युक्तियोंका प्रतिपादन करते हैं ॥ २ ॥

अनीश्वरः कथं मुच्येदित्येवं शत्रुकर्शन।
वदन्ति कारणैः श्रैष्ठ्यं योगाः सम्यङ्मनीषिणः॥ ३ ॥

शत्रुसूदन! योगके मनीषी विद्वान् अपने मतकी श्रेष्ठता बताते हुए यह युक्ति उपस्थित करते हैं कि ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किये बिना किसीकी भी मुक्ति कैसे हो सकती है? (अतः मोक्षदाता ईश्वरकी सत्ता अवश्य स्वीकार करनी चाहिये) ॥ ३ ॥

वदन्ति कारणं चेदं सांख्याः सम्यग् द्विजातयः।
विज्ञायेह गतीः सर्वा विरक्तो विषयेषु यः ॥ ४ ॥
ऊर्ध्वं स देहात् सुव्यक्तं विमुच्येदिति नान्यथा।
एतदाहुर्महाप्राज्ञाः सांख्ये वै मोक्षदर्शनम् ॥ ५ ॥

सांख्यमतके माननेवाले महाज्ञानी द्विज मोक्षका युक्तियुक्त कारण इस प्रकार बताते हैं—सब प्रकारकी गतियोंको जानकर जो विषयोंसे विरक्त हो जाता है, वही देहत्यागके अनन्तर मुक्त होता है। यह बात स्पष्टरूपसे सबकी समझमें आ सकती है। दूसरे किसी उपायसे मोक्ष मिलना असम्भव है। इस प्रकार वे सांख्यको ही मोक्षदर्शन कहते हैं ॥४-५॥

स्वपक्षे कारणं ग्राह्यं समर्थं वचनं हितम्।
शिष्टानां हि मतं ग्राह्यं त्वद्विधैः शिष्टसम्मतैः॥ ६ ॥

अपने-अपने पक्षमें युक्तियुक्त कारण ग्राह्य होता है तथा सिद्धान्तके अनुकूल हितकारक वचन मानने योग्य समझा जाता है। शिष्ट पुरुषोंद्वारा सम्मानित तुम जैसे लोगोंको श्रेष्ठ पुरुषोंका ही मत ग्रहण करना चाहिये ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षहेतवो योगाः सांख्याः शास्त्रविनिश्चयाः।
उभे चैते मते तत्त्वे मम तात युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

योगके विद्वान् प्रधानतया प्रत्यक्ष प्रमाणको ही माननेवाले होते हैं और सांख्यमतानुयायी शास्त्र-प्रमाणपर ही विश्वास करते हैं। तात युधिष्ठिर! ये दोनों ही मत मुझे तात्त्विक जान पड़ते हैं ॥ ७ ॥

उभे चैते मते ज्ञाते नृपते शिष्टसम्मते।
अनुष्ठिते यथाशास्त्रं नयेतां परमां गतिम् ॥ ८ ॥

नरेश्वर! इन दोनों मतोंका श्रेष्ठ पुरुषोंने आदर किया है। इन दोनों ही मतोंको जानकर शास्त्रके अनुसार उनका आचरण किया जाय तो वे परमगतिकी प्राप्ति करा सकते हैं।

तुल्यं शौचं तपोयुक्तं दया भूतेषु चानघ।
व्रतानां धारणं तुल्यं दर्शनं न समं तयोः ॥ ९ ॥

बाहर-भीतरकी पवित्रता, तप, प्राणियोंपर दया और व्रतोंका पालन आदि नियम दोनों मतोंमें समान रूपसे स्वीकार किये गये हैं। केवल उनके दर्शनोंमें अर्थात् पद्धतियोंमें समानता नहीं है ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यदि तुल्यं व्रतं शौचं दया चात्र फलं तथा।
न तुल्यं दर्शनं कस्मात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! यदि इन दोनों मतोंमें उत्तम व्रत, बाहर-भीतरकी पवित्रता और दया समान है एवं दोनोंका परिणाम भी एक ही है तो इनके दर्शनमें समानता क्यों नहीं है, यह मुझे बताइये ॥ १० ॥

भीष्म उवाच

रागं मोहं तथा स्नेहं कामं क्रोधं च केवलम्।
योगाच्छित्त्वा ततो दोषान् पञ्चैतान् प्राप्नुवन्ति तत् ११

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! योगी पुरुष केवल योगबलसे राग, मोह, स्नेह, काम और क्रोध—इन पाँच दोषोंका मूलोच्छेद करके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ११ ॥

यथा चानिमिषाः स्थूला जालं छित्त्वा पुनर्जलम्।
प्राप्नुवन्ति तथा योगास्तत् पदं वीतकल्मषाः॥ १२ ॥

जैसे बड़े-बड़े और मोटे मत्स्य जालको काटकर फिर जलमें जा मिलते हैं, उसी प्रकार योगी अपने पापोंका नाश करके परमात्मपदको प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

तथैव वागुरां छित्त्वा बलवन्तो यथा मृगाः।
प्राप्नुयुर्विमलं मार्गं विमुक्ताः सर्वबन्धनैः ॥ १३ ॥
लोभजानि तथा राजन् बन्धनानि बलान्विताः।
छित्त्वा योगाः परं मार्गं गच्छन्ति विमलं शिवम्॥ १४ ॥

राजन्! इसी प्रकार जैसे बलवान् मृग जालको तोड़कर सारे बन्धनोंसे मुक्त हो निर्विघ्न मार्गपर चले जाते हैं, वैसे ही योगबलसे सम्पन्न योगी पुरुष लोभजनित सब बन्धनोंको तोड़कर परम निर्मल कल्याणमय मार्गको प्राप्त कर लेते हैं ॥१३-१४॥

अबलाश्च मृगा राजन् वागुरासु तथा परे।
विनश्यन्ति न संदेहस्तद्वद् योगबलादृते ॥ १५ ॥

नरेश्वर! जैसे निर्बल मृग तथा दूसरे पशु जालमें पड़कर निस्सन्देह नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार योगबलसे रहित मनुष्यकी भी दशा होती है ॥ १५ ॥

बलहीनाश्च कौन्तेय यथा जालं गता झषाः।
वधं गच्छन्ति राजेन्द्र योगास्तद्वत् सुदुर्बलाः ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन राजेन्द्र! जैसे निर्बल मत्स्य जालमें फँसकर वधको प्राप्त होते हैं, वही दशा योगबलसे सर्वथा रहित मनुष्योंकी भी होती है ॥ १६ ॥

यथा च शकुनाः सूक्ष्मं प्राप्य जालमरिंदम।
तत्र सक्ता विपद्यन्ते मुच्यन्ते च बलान्विताः॥ १७॥
कर्मजैर्बन्धनैर्बद्धास्तद्वद् योगाः परंतप।
अबला वै विनश्यन्ति मुच्यन्ते च बलान्विताः॥ १८॥

शत्रुदमन! जैसे निर्बल पक्षी सूक्ष्म जालमें फँसकर बन्धनको प्राप्त हो अपने प्राण खो देते हैं और बलवान् पक्षी जाल तोड़कर उसके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्मजनित बन्धनोंसे बँधे हुए निर्बल योगी सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, किंतु परंतप! योगबलसे सम्पन्न योगी उस प्रकारके बन्धनोंसे छुटकारा पा जाते हैं॥ १७-१८॥

अल्पकश्च यथा राजन् वह्निः शाम्यति दुर्बलः।
आक्रान्त इन्धनैः स्थूलैस्तद्वद् योगोऽबलः प्रभो॥ १९॥

राजन्! जैसे अल्प होनेके कारण दुर्बल अग्निपर बड़े-बड़े मोटे ईंधन रख देनेसे वह जलनेके बजाय बुझ जाती है, प्रभो! उसी प्रकार निर्बल योगी महान् योगके भारसे दबकर नष्ट हो जाता है॥ १९॥

स एव च यदा राजन् वह्निर्जातबलः पुनः।
समीरणगतः क्षिप्रं दहेत् कृत्स्नां महीमपि॥ २०॥

राजन्! वही आग जब हवाका सहारा पाकर प्रबल हो जाती है, तब सम्पूर्ण पृथ्वीको भी तत्काल भस्म कर सकती है॥ २०॥

तद्वज्जातबलो योगी दीप्ततेजा महाबलः।
अन्तकाल इवादित्यः कृत्स्नं संशोषयेज्जगत्॥ २१॥

इसी तरह योगीका भी योगबल बढ़ जानेसे जब वह उद्दीप्त तेजसे [illegible] और महान् शक्तिशाली हो जाता है, तब [illegible] जैसे प्रलयकालीन सूर्य [illegible] जगत्को सुखा [illegible] है, वैसे ही [illegible] रागादि दोषोंका नाश कर देता है॥२१॥

दुर्बलश्च यथा राजन् स्रोतसा ह्रियते नरः।
बलहीनस्तथा योगो विषयैर्ह्रियतेऽवशः॥ २२॥

राजन्! जैसे दुर्बल मनुष्य पानीके वेगसे बह जाता है, उसी तरह दुर्बल योगी विवश होकर विषयोंकी ओर खिंच जाता है॥ २२॥

तदेव च महास्रोतो विष्टम्भयति वारणः।
तद्वद् योगबलं लब्ध्वा व्यूहते विषयान् बहून्॥ २३॥

परंतु जलके उसी महान् स्रोतको जैसे गजराज रोक देता है अर्थात् उसमें नहीं बहता, उसी प्रकार योगका महान् बल पाकर योगी भी उन सभी बहुसंख्यक विषयोंको अवरुद्ध कर देता है अर्थात् उनके प्रवाहमें नहीं बहता॥ २३॥

विशन्ति चावशाः पार्थ योगाद् योगबलान्विताः।
प्रजापतीनृषीन् देवान् महाभूतानि चेश्वराः॥ २४॥

कुन्तीनन्दन! योगशक्तिसम्पन्न पुरुष स्वतन्त्रतापूर्वक प्रजापति, ऋषि, देवता और पञ्चमहाभूतोंमें प्रवेश कर जाते हैं। उनमें ऐसा करनेकी सामर्थ्य आ जाती है॥ २४॥

न यमो नान्तकः क्रुद्धो न मृत्युर्भीमविक्रमः।
ईशते नृपते सर्वे योगस्यामिततेजसः॥ २५॥

नरेश्वर! अमित तेजस्वी योगीपर क्रोधमें भरे हुए यमराज, अन्तक और भयंकर पराक्रम दिखानेवाली मृत्युका भी शासन नहीं चलता है॥ २५॥

आत्मनां च सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ।
योगः कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥ २६॥

भरतश्रेष्ठ! योगी योगबल पाकर अपने हजारों रूप बना सकता है और उन सबके द्वारा इस पृथ्वीपर विचर सकता है॥

प्राप्नुयाद् विषयांश्चैव पुनश्चोग्रं तपश्चरेत्।
संक्षिपेच्च पुनस्तात सूर्यस्तेजोगुणानिव॥ २७॥

तात! वह उन शरीरोंद्वारा विषयोंका सेवन और उग्र तपस्या भी करता है। तदनन्तर अपनी तेजोमयी किरणोंको समेट लेनेवाले सूर्यकी भाँति सभी रूपोंको अपनेमें लीन [illegible] लेता है॥ २७॥

[illegible] हि योगस्य बन्धनेशस्य पार्थिव।
विमोक्षप्रभविष्णुत्वमुपपन्नमसंशयम्॥ २८॥

पृथ्वीनाथ! बलवान् योगी बन्धनोंको तोड़नेमें समर्थ होता है, उसमें अपनेको मुक्त करनेकी पूर्ण शक्ति [illegible] जाती है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है॥ २८॥

बलानि योगप्राप्तानि मयैतानि विशाम्पते।
निदर्शनार्थं सूक्ष्माणि वक्ष्यामि च पुनस्तव॥ २९॥

प्रजापालक नरेश! [illegible] दृष्टान्तके लिये योगसे प्राप्त होनेवाली कुछ सूक्ष्म शक्तियोंका पुनः तुमसे वर्णन करूँगा॥

[illegible] समाधाने धारणां प्रति वा विभो।
निदर्शनानि सूक्ष्माणि शृणु मे भरतर्षभ॥ ३०॥

प्रभो! भरतश्रेष्ठ! आत्मसमाधिके लिये जो धारणा की जाती है, उसके विषयमें भी कुछ सूक्ष्म दृष्टान्त बतलाता हूँ, सुनो॥ ३०॥

अप्रमत्तो तथा धन्वी लक्ष्यं हन्ति समाहितः।
युक्तः सम्यक् तथा योगी मोक्षं प्राप्नोत्यसंशयम्॥३१॥

जैसे सदा सावधान रहनेवाला धनुर्धर वीर चित्तको एकाग्र करके बाण चलानेपर लक्ष्यको अवश्य बींध डालता है, उसी प्रकार जो योगी मनको परमात्माके ध्यानमें लगा देता है, वह निस्संदेह मोक्षको प्राप्त [illegible] लेता है॥ ३१॥

स्नेहपूर्णे यथा पात्रे मन आधाय निश्चलम्।
पुरुषो युक्त आरोहेत् सोपानं युक्तमानसः॥ ३२॥
युक्तस्तथायमात्मानं योगः पार्थिव निश्चलम्।
करोत्यमलमात्मानं भास्करोपमदर्शनम्॥ ३३॥

पृथ्वीनाथ! जैसे सिरपर रक्खे हुए तेलसे भरे पात्रकी

ओर मनको स्थिरभावसे लगाये रखनेवाला पुरुष एकाग्रचित्त हो सीढ़ियोंपर [illegible] जाता है और जरा भी तेल नहीं छलकता, उसी तरह योगी भी योगयुक्त होकर जब आत्माको परमात्मामें स्थिर करता है, [illegible] समय उसका आत्मा अत्यन्त निर्मल तथा अचल सूर्यके समान तेजस्वी हो जाता है ॥ ३२-३३ ॥

यथा च नावं कौन्तेय कर्णधारः समाहितः।
महार्णवगतां शीघ्रं नयेत् पार्थिवसत्तम ॥ ३४ ॥
तद्वदात्मसमाधानं युक्त्वा योगेन तत्त्ववित्।
दुर्गमं स्थानमाप्नोति हित्वा देहमिमं नृप ॥ ३५ ॥

कुन्तीकुमार ! नृपश्रेष्ठ ! जैसे सावधान नाविक समुद्रमें पड़ी हुई नौकाको शीघ्र ही किनारेपर लगा देता है, उसी [illegible] योगके अनुसार तत्त्वको जाननेवाला पुरुष समाधिके द्वारा मनको परमात्मामें लगाकर इस देहका त्याग करनेके अनन्तर दुर्गम स्थान (परमधाम) को प्राप्त होता है ॥

सारथिश्च यथा युक्त्वा सदश्वान् सुसमाहितः।
देशमिष्टं नयत्याशु धन्विनं पुरुषर्षभ ॥ ३६ ॥
तथैव नृपते योगी धारणासु समाहितः।
प्राप्नोत्याशु परं स्थानं लक्षं मुक्त इवाशुगः ॥ ३७ ॥

पुरुषप्रवर ! राजन् ! जिस तरह अत्यन्त सावधान रहनेवाला सारथि अच्छे घोड़ोंको रथमें जोतकर धनुर्धर योद्धाको तुरंत ही अभीष्ट स्थानपर पहुँचा देता है, वैसे ही धारणाओंमें एकाग्रचित्त हुआ योगी लक्ष्यकी ओर छोड़े हुए बाणकी भाँति शीघ्र परम पदको प्राप्त हो जाता है ॥ ३६-३७ ॥

प्रवेश्यात्मनि चात्मानं योगी तिष्ठति योऽचलः।
पापं हन्ति पुनीतानां पदमाप्नोति सोऽजरम् ॥ ३८ ॥

जो योगी समाधिके द्वारा आत्माको परमात्मामें स्थिर करके अचल हो जाता है, वह अपने पापको नष्ट कर देता है और पवित्र पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले अविनाशी पदको पा लेता है ॥ ३८ ॥

नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः।
दर्शने श्रवणे चापि घ्राणे चामितविक्रम ॥ ३९ ॥
स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः।
आत्मना सूक्ष्ममात्मानं युङ्क्ते सम्यग्विशाम्पते ॥ ४० ॥
[illegible] शीघ्रमचलप्रख्यं कर्म दग्ध्वा शुभाशुभम्।
उत्तमं योगमास्थाय यदीच्छति विमुच्यते ॥ ४१ ॥

अमित पराक्रमी नरेश ! योगके महान् व्रतमें एकाग्रचित्त रहनेवाला जो योगी नाभि, कण्ठ, मस्तक, हृदय, वक्षःस्थल, पार्श्वभाग, नेत्र, कान और नासिका आदि स्थानोंमें धारणाके द्वारा सूक्ष्म आत्माको परमात्माके साथ भलीभाँति संयुक्त करता है, वह यदि इच्छा करे तो अपने पर्वताकार विशाल शुभाशुभ कर्मोंको शीघ्र ही भस्म करके उत्तम योगका आश्रय लेकर [illegible] हो जाता है ॥ ३९—४१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आहारान् कीदृशान् कृत्वा कानि जित्वा च भारत।
योगी बलमवाप्नोति तद् भवान् वक्तुमर्हसि ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! योगी कैसे आहार करके और किन-किनको जीतकर योगशक्ति प्राप्त [illegible] लेता है यह [illegible] मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच

कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत।
स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! जो धानकी खुद्दी और तिलकी खली खाता तथा घी-तेलका परित्याग कर देता है, उसी योगीको योगबलकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥

भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालमरिंदम।
एकाहारो विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४४ ॥

शत्रुदमन नरेश ! जो दीर्घकालतक एक समय जौका [illegible] दलिया [illegible] है, वह योगी शुद्धचित्त होकर योगबलकी प्राप्ति कर सकता है ॥ ४४ ॥

[illegible] मासानृतूंश्चैतान् संवत्सरानहस्तथा।
[illegible] पीत्वा पयोमिश्रा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४५ ॥

जो योगी दुग्धमिश्रित जलको दिनमें एक [illegible] पीता है; फिर पंद्रह दिनोंमें एक बार पीता है। तत्पश्चात् एक महीनेमें, एक ऋतुमें और एक वर्षमें एक बार उसे ग्रहण करता है, उसको योगशक्ति प्राप्त होती है ॥ ४५ ॥

अखण्डमपि [illegible] मांसं सततं मनुजेश्वर।
उपोष्य सम्यक् शुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात् ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! जो लगातार जीवनभरके लिये मांस नहीं [illegible] है और विधिपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करके अपने अन्तःकरणको शुद्ध बना लेता है, वह योगी भी योगशक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ४६ ॥

कामं जित्वा [illegible] क्रोधं शीतोष्णे वर्षमेव च।
भयं शोकं [illegible] श्वासं पौरुषान् विषयांस्तथा ॥ ४७ ॥
अरतिं दुर्जयां चैव घोरां तृष्णां च पार्थिव।
स्पर्शं निद्रां [illegible] तन्द्रीं दुर्जयां नृपसत्तम ॥ ४८ ॥
दीपयन्ति महात्मानः सूक्ष्ममात्मानमात्मना।
वीतरागा महाप्राज्ञा ध्यानाध्ययनसम्पदा ॥ ४९ ॥

पृथ्वीनाथ ! नृपश्रेष्ठ ! काम, क्रोध, सर्दी, गर्मी, वर्षा, भय, शोक, श्वास, मनुष्योंको प्रिय लगनेवाले विषय, दुर्जय असंतोष, घोर तृष्णा, स्पर्श, निद्रा तथा दुर्जय आलस्यको जीतकर वीतराग, महान् एवं उत्तम बुद्धिसे युक्त महात्मा योगी स्वाध्याय [illegible] ध्यानका सम्पादन करके बुद्धिके द्वारा [illegible] आत्माका साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ ४७—४९ ॥

दुर्गस्त्वेष [illegible] [illegible] ब्राह्मणानां विपश्चिताम्।
[illegible] कश्चिद् व्रजति ह्यस्मिन् क्षेमेण भरतर्षभ ॥ ५० ॥

भरतश्रेष्ठ ! विद्वान् ब्राह्मणोंने योगके इस मार्गको दुर्गम माना है। कोई विरला ही इस मार्गको कुशलपूर्वक तै कर सकता है ॥ ५० ॥

यथा कश्चिद् वनं घोरं बहुसर्पसरीसृपम्।
श्वभ्रवत् तोयहीनं च दुर्गमं बहुकण्टकम् ॥ ५१ ॥
अभक्तमटवीप्रायं दावदग्धमहीरुहम्।
पन्थानं तस्कराकीर्णं क्षेमेणाभिपतेद् युवा ॥ ५२ ॥
योगमार्गं तथाऽऽसाद्य यः कश्चिद् व्रजते द्विजः।
क्षेमेणोपरमेन्मार्गाद् बहुदोषो हि स स्मृतः ॥ ५३ ॥

जैसे कोई-कोई विरला नवयुवक ही अनेकानेक सर्पों [illegible] बिच्छू आदिसे भरे हुए गड्ढों और बहुत-से काँटोंवाले, जल-शून्य, दुर्गम एवं घोर वनमें सकुशल यात्रा कर सकता है तथा जहाँ भोजन मिलना असम्भव है, जिसमें प्रायः जंगल-ही-जंगल पड़ता है, जहाँके वृक्ष दावानलसे जलकर भस्म हो गये हैं तथा जो चोर-डाकुओंसे भरा हुआ है, ऐसे मार्गको सकुशल तै कर सकता है; उसी प्रकार योगमार्गका आश्रय लेकर कोई विरला ही द्विज उसपर कुशलपूर्वक चल पाता है, क्योंकि वह बहुत-से दोषों (कठिनाइयों) से भरा हुआ [illegible] गया है ॥५१-५३॥

सुस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु महीपते।
धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः ॥ ५४ ॥

पृथ्वीपते ! छुरेकी तीखी धारपर कोई सुखपूर्वक खड़ा रह सकता है; किंतु जिनका चित्त शुद्ध नहीं है, ऐसे मनुष्योंका योगकी धारणाओंमें स्थिर रहना नितान्त कठिन है ॥ ५४ ॥

विपन्ना धारणास्तात नयन्ति न शुभां गतिम्।
नेतृहीना यथा नावः पुरुषानर्णवे नृप ॥ ५५ ॥

[illegible] ! नरेश्वर ! जैसे समुद्रमें बिना नाविककी नाव मनुष्योंको पार नहीं लगा सकती, उसी प्रकार यदि योगकी धारणाएँ सिद्ध न हुई तो वे शुभगतिकी प्राप्ति नहीं करा सकतीं ॥ ५५ ॥

यस्तु तिष्ठति कौन्तेय धारणासु यथाविधि।
मरणं जन्म दुःखं च सुखं च स विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो विधिपूर्वक योगकी धारणाओंमें स्थिर रहता है, वह जन्म, मृत्यु, दुःख और सुखके बन्धनोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ५६ ॥

नानाशास्त्रेषु निष्पन्नं योगेष्विदमुदाहृतम्।
परं योगस्य यत् कृत्यं निश्चितं तद् द्विजातिषु ॥ ५७ ॥

यह मैंने तुम्हें योगविषयक नाना शास्त्रोंका सिद्धान्त बतलाया है। योग-साधनाका जो-जो कृत्य है, वह द्विजातियोंके लिये ही निश्चित किया गया है अर्थात् उन्हींका उसमें अधिकार है ॥ ५७ ॥

परं हि तद् ब्रह्म महन्महात्मन्
ब्रह्माणमीशं वरदं च विष्णुम्।
भवं च धर्मं च षडाननं च
यद् ब्रह्मपुत्रांश्च महानुभावान् ॥ ५८ ॥
तमश्च कष्टं सुमहद् रजश्च
सत्त्वं विशुद्धं प्रकृतिं परां च।
सिद्धिं च देवीं वरुणस्य पत्नीं
तेजश्च कृत्स्नं सुमहच्च धैर्यम् ॥ ५९ ॥
ताराधिपं खे विमलं सतारं
विश्वांश्च देवानुरगान् पितॄंश्च।
शैलांश्च कृत्स्नानुदधींश्च घोरान्
नदीश्च सर्वाः सवनान् घनांश्च ॥ ६० ॥
नागान् नगान् यक्षगणान् दिशश्च
गन्धर्वसंघान् पुरुषान् स्त्रियश्च।
परस्परं प्राप्य महान्महात्मा
विशेत योगी न चिराद् विमुक्तः ॥ ६१ ॥

महात्मन् ! योगसिद्ध महात्मा पुरुष यदि चाहे तो तुरंत ही मुक्त होकर महान् परब्रह्मके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है अथवा वह अपने योगबलसे भगवान् ब्रह्मा, वरदायक विष्णु, महादेवजी, धर्म, छः मुखोंवाले कार्तिकेय, ब्रह्माजीके महानुभाव पुत्र सनकादि, कष्टदायक तमोगुण, महान् रजोगुण, विशुद्ध सत्त्वगुण, मूल प्रकृति, वरुणपत्नी सिद्धिदेवी, सम्पूर्ण तेज, महान् धैर्य, ताराओंसहित आकाशमें प्रकाशित होनेवाले निर्मल तारापति चन्द्रमा, विश्वेदेव, नाग, पितर, सम्पूर्ण पर्वत, भयंकर समुद्र, सम्पूर्ण नदी-समुदाय, वन, मेघ, नाग, वृक्ष, यक्ष, दिशा, गन्धर्वगण, समस्त पुरुष और स्त्री—इनमेंसे प्रत्येकके पास पहुँचकर उसके भीतर प्रवेश कर सकता है ॥५८-६१॥

[illegible] च येयं नृपते प्रसक्ता
देवे महावीर्यमतौ शुभेयम्।
योगी स सर्वानभिभूय मर्त्यान्
नारायणात्मा कुरुते महात्मा ॥ ६२ ॥

नरेश्वर ! महान् बल और बुद्धिसे सम्पन्न परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली वह कल्याणमयी वार्ता मैंने प्रसंगवश तुम्हें सुनायी है। योगसिद्ध महात्मा पुरुष सब मनुष्योंसे ऊपर उठकर नारायणस्वरूप हो जाता है और संकल्पमात्रसे सृष्टि करने लगता है ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि योगविधौ त्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें योगविधिविषयक तीन सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०० ॥

नारदजीको भगवान्‌के विश्वरूपका दर्शन

एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सांख्ययोगके अनुसार [illegible] और उसके फलका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सम्यक् त्वयायं नृपते वर्णितः शिष्टसम्मतः।
योगमार्गो यथान्यायं शिष्यायेह हितैषिणा ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज ! [illegible] मेरे हितैषी हैं, आपने [illegible] शिष्यके प्रति शिष्ट पुरुषोंके मतके अनुसार इस योगमार्गका यथोचितरूपसे वर्णन किया ॥ [illegible] ॥

सांख्ये त्विदानीं कार्त्स्न्येन विधिं प्रब्रूहि पृच्छते।
त्रिषु लोकेषु यज्ज्ञानं सर्वं तद् विदितं हि ते ॥ २ ॥

अब मैं सांख्यविषयक सम्पूर्ण विधि पूछ रहा हूँ। [illegible] मुझे उसे बतानेकी कृपा करें; क्योंकि तीनों लोकोंमें जो ज्ञान है, वह [illegible] आपको विदित है ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

शृणु मे त्वमिदं सूक्ष्मं सांख्यानां विदितात्मनाम्।
विहितं यतिभिः सर्वैः कपिलादिभिरीश्वरैः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! आत्मतत्त्वके जाननेवाले सांख्यशास्त्रके विद्वानोंका यह सूक्ष्म ज्ञान तुम मुझसे सुनो। इसे ईश्वरकोटिके कपिल आदि सम्पूर्ण यतियोंने प्रकाशित किया है ॥ ३ ॥

यस्मिन् न विभ्रमाः केचिद् दृश्यन्ते मनुजर्षभ।
गुणाश्च यस्मिन् बहवो दोषहानिश्च केवला ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ ! इस मतमें किसी प्रकारकी भूल नहीं दिखायी देती। इसमें गुण तो बहुत-से हैं; किंतु दोषोंका सर्वथा अभाव है ॥ ४ ॥

ज्ञानेन परिसंख्याय सदोषान् विषयान् नृप।
मानुषान् दुर्जयान् कृत्स्नान् पैशाचान् विषयांस्तथा ॥ ५ ॥
राक्षसान् विषयान् [illegible] यक्षाणां विषयांस्तथा।
विषयानौरगान् [illegible] गान्धर्वविषयांस्तथा ॥ ६ ॥
पितॄणां विषयान् [illegible] तिर्यक्षु चरतां नृप।
सुपर्णविषयान् [illegible] मरुतां विषयांस्तथा ॥ [illegible] ॥
राजर्षिविषयान् [illegible] ब्रह्मर्षिविषयांस्तथा।
आसुरान् विषयान् ज्ञात्वा वैश्वदेवांस्तथैव च ॥ ८ ॥
देवर्षिविषयान् [illegible] योगानामपि चेश्वरान्।
प्रजापतीनां विषयान् ब्रह्मणो विषयांस्तथा ॥ ९ ॥
आयुषश्च परं कालं लोके विज्ञाय तत्त्वतः।
सुखस्य च परं तत्त्वं विज्ञाय वदतां वर ॥ १० ॥
प्राप्ते काले च यद् दुःखं सततं विषयैषिणाम्।
तिर्यक्षु पततां दुःखं पततां नरके च यत् ॥ ११ ॥
स्वर्गस्य च गुणान् कृत्स्नान् दोषान् सर्वांश्च भारत।
वेदवादेऽपि ये दोषा गुणा ये चापि वैदिकाः ॥ १२ ॥
ज्ञानयोगे च ये दोषा गुणा योगे [illegible] ये नृप।
सांख्यज्ञाने च ये दोषास्तथैव [illegible] गुणा नृप ॥ १३ ॥
सत्त्वं दशगुणं [illegible] रजो नवगुणं तथा।
तमश्चाष्टगुणं [illegible] बुद्धिं सप्तगुणां [illegible] ॥ १४ ॥
षड्गुणं च मनो ज्ञात्वा नभः पञ्चगुणं तथा।
बुद्धिं चतुर्गुणां ज्ञात्वा [illegible] त्रिगुणं [illegible] ॥ १५ ॥
द्विगुणं च रजो ज्ञात्वा सत्त्वमेकगुणं पुनः।
मार्गं विज्ञाय तत्त्वेन प्रलये प्रेक्षणे [illegible] ॥ १६ ॥
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः कारणैर्भाविताः शुभाः।
प्राप्नुवन्ति शुभं मोक्षं सूक्ष्मा इव नभः परम् ॥ १७ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर ! जो ज्ञानके द्वारा मनुष्य, पिशाच, [illegible] यक्ष, सर्प, गन्धर्व, पितर, तिर्यग्योनि, गरुड़, मरुद्गण, राजर्षि, ब्रह्मर्षि, असुर, विश्वेदेव, देवर्षि, योगी, प्रजापति [illegible] ब्रह्माजीके भी सम्पूर्ण दुर्जय विषयोंको सदोष जानकर, संसारके मनुष्योंका परमायुकाल [illegible] सुखके परम [illegible] ठीक-ठीक [illegible] प्राप्त कर लेते हैं और विषयोंकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको समय-समयपर जो दुःख [illegible] होता है, उसको, तिर्यग्योनि और नरकमें पड़नेवाले जीवोंके दुःखको, स्वर्ग तथा वेदकी फल श्रुतियोंके सम्पूर्ण गुण दोषोंको जानकर ज्ञानयोग, सांख्यज्ञान और योगमार्गके गुण-दोषोंको भी समझ लेते हैं [illegible] भरतनन्दन ! सत्त्वगुणके दस[1], रजोगुणके नौ[2], तमोगुणके आठ[3], बुद्धिके सात[4], मनके छः[5] और आकाशके पाँच[6] गुणोंका [illegible] प्राप्त करके बुद्धिके दूसरे चार[7], तमोगुणके दूसरे तीन[8], रजोगुणके दूसरे दो[9] और सत्त्वगुणके पुनः एक[10] गुणको जानकर आत्माकी प्राप्ति करानेवाले मार्ग—प्राकृत प्रलय तथा आत्मविचारको ठीक-ठीक जान लेते हैं, वे ज्ञान विज्ञानसे सम्पन्न तथा मोक्षोपयोगी साधनोंके अनुष्ठानसे शुद्धचित्त हुए

---

१. ज्ञानशक्ति, वैराग्य, स्वामिभाव, तप, सत्य, क्षमा, धैर्य, स्वच्छता, आत्मबोध और अधिष्ठातृत्व—ये दस सात्त्विक गुण बताये गये हैं। २. असंतोष, पश्चात्ताप, शोक, लोभ, अक्षमा, दमन करनेकी प्रवृत्ति, काम, क्रोध और ईर्ष्या—ये नौ राजस गुण बताये गये हैं। ३. अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न, निद्रा, अभिमान, विषाद और प्रीतिका अभाव—ये आठ तामस गुण हैं। ४. महत्, अहंकार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा—ये [illegible] गुण बुद्धिके हैं। ५. श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—इन पाँच इन्द्रियोंसहित [illegible] मन—ये मनके छः [illegible] हैं। ६. आकाश, वायु, अग्नि, [illegible] और पृथ्वी—ये आकाशके पाँच गुण हैं। ७. संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण—ये बुद्धिके चार गुण [illegible]। ८. अप्रतिपत्ति, विप्रतिपत्ति और विपरीत प्रतिपत्ति—ये तीन [illegible] तमके हैं। ९. प्रवृत्ति तथा दुःख—ये दो [illegible] रजके हैं। १०. प्रकाश सत्त्वका एक प्रधान गुण है।

कल्याणमय सांख्ययोगी परम आकाशको [illegible] होनेवाले सूक्ष्म भूतोंके समान मङ्गलमय मोक्षको [illegible] कर लेते हैं ॥५-१७॥

रूपेण दृष्टिं संयुक्तां घ्राणं गन्धगुणेन च ।
शब्दे सक्तं तथा श्रोत्रं जिह्वां रसगुणेषु च ॥ १८ ॥

नेत्र रूप-गुणसे संयुक्त हैं । घ्राणेन्द्रिय गन्ध नामक गुणसे सम्बन्ध रखती है । श्रोत्रेन्द्रिय शब्दमें आसक्त है और रसना रसगुणमें ॥ १८ ॥

तनुं स्पर्शे तथा सक्तां वायुं नभसि चाश्रितम् ।
मोहं तमसि संयुक्तं लोभमर्थेषु संश्रितम् ॥ १९ ॥

[illegible] स्पर्शनामक गुणमें आसक्त है । इसी प्रकार वायुका [illegible] मोहका आश्रय तमोगुण और लोभका आश्रय इन्द्रियोंके विषय हैं ॥ १९ ॥

विष्णुं क्रान्ते बले शक्रं कोष्ठे सक्तं तथानलम् ।
अप्सु देवीं समासक्तामपस्तेजसि संश्रिताः ॥ २० ॥
तेजो वायौ [illegible] संसक्तं वायुं नभसि चाश्रितम् ।
नभो महति संयुक्तं महद् बुद्धौ च संश्रितम् ॥ २१ ॥

गतिका आधार विष्णु, बलका इन्द्र, उदरका अग्नि [illegible] पृथ्वीदेवीका आधार जल है । [illegible] तेज, तेजका वायु, वायुका आकाश, आकाशका आश्रय महत्तत्त्व अर्थात् महत्तत्त्वका कार्य अहंकार है और अहंकारका अधिष्ठान समष्टि बुद्धि है ॥ २०-२१ ॥

बुद्धिं तमसि संसक्तां तमो रजसि संश्रितम् ।
रजः सत्त्वे [illegible] सक्तं सत्त्वं सक्तं तथाऽऽत्मनि ॥ २२ ॥
सक्तमात्मानमीशे [illegible] देवे नारायणे तथा ।
देवं मोक्षे च संसक्तं मोक्षं सक्तं [illegible] न कचित् ॥ २३ ॥

बुद्धिका आश्रय तमोगुण, तमोगुणका आश्रय रजोगुण और रजोगुणका आश्रय सत्त्वगुण है । सत्त्वगुण जीवात्माके आश्रित है । जीवात्माको भगवान् नारायणदेवके आश्रित समझो । भगवान् नारायणका आश्रय है मोक्ष (परब्रह्म), परंतु मोक्षका कोई भी आश्रय नहीं है (वह अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित है) ॥ २२-२३ ॥

[illegible] सत्त्वगुणं देहं वृतं षोडशभिर्गुणैः ।
स्वभावं चेतनां चैव ज्ञात्वा देहसमाश्रिते ॥ २४ ॥
मध्यस्थमेकमात्मानं पापं यस्मिन् न विद्यते ।
द्वितीयं कर्म विज्ञाय नृपते विषयैषिणाम् ॥ २५ ॥

इन बातोंको भलीभाँति जानकर तथा सत्त्वगुणको, मन-सहित ग्यारह इन्द्रिय, पाँच प्राण—इन सोलह गुणोंसे घिरे हुए सूक्ष्म शरीरको, शरीरके आश्रित रहनेवाले स्वभाव और चेतनाको जाने । नरेश्वर ! जिसमें पापका लेश भी नहीं है, वह एकमात्र जीवात्मा शरीरके भीतर हृदयरूपी गुफामें उदासीनभावसे विद्यमान है, इस बातको जाने । विषयकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्योंका जो कर्म है, वह शरीरके भीतर आत्माके अतिरिक्त दूसरा तत्त्व है । [illegible] भी अच्छी [illegible] ॥

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च सर्वानात्मनि संश्रितान् ।
दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञाय श्रुतिपूर्वकम् ॥ २६ ॥

इन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषय—ये सबके [illegible] शरीरके भीतर स्थित हैं । मोक्ष [illegible] दुर्लभ वस्तु है । इन सब बातोंको वेदोंके स्वाध्यायपूर्वक भलीभाँति समझ ले ॥ २६ ॥

प्राणापानौ समानं च व्यानोदानौ च तत्त्वतः ।
अधश्चैवानिलं ज्ञात्वा प्रवहं चानिलं पुनः ॥ २७ ॥
[illegible] वातांस्तथा ज्ञात्वा सप्तधा विहितान् पुनः ।
प्रजापतीनृषींश्चैव मार्गांश्चैव बहून् वरान् ॥ २८ ॥

[illegible] अपान, समान, व्यान और उदान—ये पाँच प्राण-[illegible] हैं । अधोगामी वायु [illegible] और ऊर्ध्वगामी प्रवह नामक [illegible] सातवाँ है । ये वायुके जो सात भेद हैं, इनमेंसे प्रत्येकके सात-सात भेद और हो जाते हैं । इस प्रकार कुल उनचास वायु होते हैं । अनेक प्रजापति, अनेक ऋषि तथा मुक्तिके अनेकानेक [illegible] मार्ग हैं । इन सबकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये ॥ २७-२८ ॥

सप्तर्षींश्च बहून् ज्ञात्वा राजर्षींश्च परंतप ।
सुरर्षीन् महतश्चान्यान् ब्रह्मर्षीन् सूर्यसंनिभान् ॥ २९ ॥

परंतप ! सप्तर्षियों, बहुसंख्यक राजर्षियों, देवर्षियों, अन्यान्य महापुरुषों [illegible] सूर्यके [illegible] तेजस्वी ब्रह्मर्षियोंका भी [illegible] करे ॥ २९ ॥

ऐश्वर्याच्च्यावितान् दृष्ट्वा कालेन [illegible] नृप ।
महतां भूतसंघानां श्रुत्वा नाशं च पार्थिव ॥ ३० ॥
गतिं चाप्यशुभां ज्ञात्वा नृपते पापकर्मिणाम् ।
वैतरण्यां च यद् दुःखं पतितानां यमक्षये ॥ ३१ ॥

पृथ्वीनाथ ! महान् कालकी प्रेरणासे मनुष्य ऐश्वर्यसे [illegible] कर दिये जाते हैं । बड़े-बड़े जो भूत-समुदाय हैं, उनका भी कालके द्वारा नाश हो जाता है । यह सब देख-सुनकर पापकर्मी मनुष्योंको जो अशुभ गति प्राप्त होती है तथा यमलोकमें जाकर वैतरणी नदीमें गिरे हुए प्राणियोंको जो दुःख होता है, उसको भी जाने ॥ ३०-३१ ॥

योनीषु च विचित्रासु संसारानशुभांस्तथा ।
जठरे चाशुभे वासं शोणितोदकभाजने ॥ ३२ ॥
श्लेष्ममूत्रपुरीषे च तीव्रगन्धसमन्विते ।
शुक्रशोणितसंघाते मज्जास्नायुपरिग्रहे ॥ ३३ ॥
शिराशतसमाकीर्णे नवद्वारे पुरेऽशुचौ ।
विज्ञाय हितमात्मानं योगांश्च विविधान् नृप ॥ ३४ ॥

प्राणियोंको विचित्र-विचित्र योनियोंमें अशुभ जन्म धारण करने पड़ते हैं । रक्त और मूत्रके पात्ररूप अपवित्र गर्भाशयमें निवास करना पड़ता है, जहाँ कफ, मूत्र और मल भरा होता है तथा तीव्र दुर्गन्ध व्याप्त रहती है, जो रज और वीर्यका समुदायमात्र है, मज्जा एवं स्नायुका [illegible] है, सैकड़ों नस-नाड़ियोंसे व्याप्त है तथा जिसमें नौ [illegible]

हैं; [illegible] अपवित्र पुर अर्थात् शरीरमें जीवको रहना पड़ता है। नरेश्वर! इन [illegible] बातोंको जानकर अपने परम हितस्वरूप आत्माको और उसकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंद्वारा बताये हुए नाना प्रकारके योगों (साधनों) की जानकारी [illegible] करनी चाहिये ॥ ३२–३४ ॥

तामसानां च जन्तूनां रमणीयावृतात्मनाम्।
सात्त्विकानां च जन्तूनां कुत्सितं भरतर्षभ ॥ ३५ ॥
गर्हितं महतामर्थे सांख्यानां विदितात्मनाम्।

भरतश्रेष्ठ! तामस, राजस और सात्त्विक—इन तीन प्रकारके प्राणियोंके जो तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषोंद्वारा निन्दित—मोक्षविरोधी व्यवहार हैं, उनको भी जानना चाहिये ॥

उपप्लवांस्तथा घोरान्शशिनस्तेजसस्तथा ॥ ३६ ॥
ताराणां पतनं दृष्ट्वा नक्षत्राणां च पर्ययम्।
द्वन्द्वानां विप्रयोगं च विज्ञाय कृपणं नृप ॥ ३७ ॥

नरेश्वर! घोर उत्पात, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, ताराओंका टूटकर गिरना, नक्षत्रोंकी गतिमें उलट-फेर होना तथा पति-पत्नियोंका दुःखदायक वियोग होना आदि बातें, जो इस जगत्‌में घटित होती हैं, उनको भी जानकर अपने कल्याणका उपाय करना चाहिये ॥ ३६-३७ ॥

अन्योन्यभक्षणं दृष्ट्वा भूतानामपि चाशुभम्।
बाल्ये मोहं च विज्ञाय क्षयं देहस्य चाशुभम् ॥ ३८ ॥
रागे मोहे च सम्प्राप्ते क्वचित् सत्त्वं समाश्रितम्।
सहस्रेषु नरः कश्चिन्मोक्षबुद्धिं समाश्रितः ॥ ३९ ॥

संसारके प्राणी एक-दूसरेको खा जाते हैं, यह कैसी अशुभ घटना है! इसपर दृष्टिपात करो। बाल्यावस्थामें मनपर मोह [illegible] रहता है और वृद्धावस्थामें शरीरका अमङ्गलकारी विनाश उपस्थित होता है। राग और मोह प्राप्त होनेपर अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, इन सबको जानकर कहीं किसी-किसीको ही सत्त्वगुणसे युक्त देखा [illegible] है। सहस्रों मनुष्योंमेंसे कोई विरला ही मोक्षविषयक बुद्धिका [illegible] लेता है ॥ ३८–३९ ॥

दुर्लभत्वं च मोक्षस्य विज्ञाय श्रुतिपूर्वकम्।
बहुमानमलब्धेषु लब्धे मध्यस्थतां पुनः ॥ ४० ॥

वेद-वाक्योंके श्रवणद्वारा मुक्तिकी दुर्लभताको जानकर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर भी [illegible] परिस्थितिके प्रति अधिक आदर-बुद्धि रखे और मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त हो जाय, तो भी उसकी ओरसे उदासीन ही रहे ॥ ४० ॥

विषयाणां च दौरात्म्यं विज्ञाय नृपते पुनः।
गतासूनां च कौन्तेय देहान् दृष्ट्वा तथाशुभान् ॥ ४१ ॥

नरेश्वर! शब्द-स्पर्श आदि विषय दुःखरूप [illegible] हैं, इस बातको जाने। कुन्तीनन्दन! जिनके प्राण चले जाते हैं, उन मनुष्योंके शरीरोंकी जो अशुभ एवं बीभत्स दशा होती है, उसपर भी दृष्टिपात करे ॥ ४१ ॥

वासं कुलेषु जन्तूनां दुःखं विज्ञाय भारत।
ब्रह्मघ्नानां गतिं [illegible] पतितानां सुदारुणाम् ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन! प्राणियोंका घरोंमें निवास [illegible] भी दुःखरूप ही है, इस बातको अच्छी तरह समझे तथा ब्रह्मघाती और पतित मनुष्योंकी जो अत्यन्त भयंकर दुर्गति होती है, उसको भी जाने ॥ ४२ ॥

सुरापाने च सक्तानां ब्राह्मणानां दुरात्मनाम्।
गुरुदारप्रसक्तानां गतिं विज्ञाय चाशुभाम् ॥ ४३ ॥

मदिरापानमें [illegible] दुरात्मा ब्राह्मणोंकी तथा गुरुपत्नीगामी मनुष्योंकी जो अशुभ गति होती है, उसका भी विचार करे ॥ ४३ ॥

जननीषु च वर्तन्ते ये न सम्यग् युधिष्ठिर।
सदेवकेषु लोकेषु ये न वर्तन्ति मानवाः ॥ [illegible] ॥
तेन ज्ञानेन विज्ञाय गतिं चाशुभकर्मणाम्।
तिर्यग्योनिगतानां च विज्ञाय [illegible] पृथक् ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर! जो मनुष्य माताओं, देवताओं तथा सम्पूर्ण लोकोंके प्रति उत्तम बर्ताव नहीं करते हैं, उनकी दुर्गतिका [illegible] जिससे होता है, उसी ज्ञानसे पापाचारी पुरुषोंकी अधोगति-[illegible] करे तथा तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियोंकी जो विभिन्न गतियाँ होती हैं, उनको भी जान ले ॥ ४४-४५ ॥

वेदवादांस्तथा चित्रानृतूनां पर्ययांस्तथा।
क्षयं संवत्सराणां च मासानां च क्षयं तथा ॥ ४६ ॥
पक्षक्षयं तथा दृष्ट्वा दिवसानां च संक्षयम्।
क्षयं वृद्धिं च चन्द्रस्य दृष्ट्वा प्रत्यक्षतस्तथा ॥ ४७ ॥
वृद्धिं दृष्ट्वा समुद्राणां क्षयं तेषां [illegible] पुनः।
क्षयं धनानां दृष्ट्वा च पुनर्वृद्धिं तथैव च ॥ ४८ ॥

वेदोंके भाँति-भाँतिके विचित्र वचन, ऋतुओंके परिवर्तन [illegible] दिन, [illegible] मास और संवत्सर आदि काल जो प्रतिक्षण बीत रहा है, उसकी ओर भी ध्यान दे। चन्द्रमाकी ह्रास-वृद्धि तो प्रत्यक्ष दिखायी देती है। समुद्रोंका ज्वारभाटा भी प्रत्यक्ष ही है। धनवानोंके [illegible] नाश और नाशके बाद पुनः वृद्धिका [illegible] भी दृष्टिगोचर होता ही रहता है। इन सबको देखकर अपने कर्तव्यका निश्चय करे ॥ ४६–४८ ॥

संयोगानां क्षयं दृष्ट्वा युगानां च विशेषतः।
क्षयं च दृष्ट्वा शैलानां क्षयं च सरितां तथा ॥ ४९ ॥
वर्णानां च क्षयं दृष्ट्वा क्षयान्तं च पुनः पुनः।
जरामृत्युं तथा [illegible] दृष्ट्वा दुःखानि चैव ह ॥ ५० ॥

संयोगोंका, युगोंका, पर्वतोंका और सरिताओंका जो [illegible] होता है, उसपर दृष्टि डाले। वर्णोंका [illegible] और [illegible] अन्त भी बारंबार देखे। जन्म, मृत्यु [illegible]र जरावस्थाके दुःखोंपर दृष्टिपात करे ॥ ४९-५० ॥

देहदोषांस्तथा ज्ञात्वा तेषां दुःखं च तत्त्वतः।
देहविक्लवतां चैव सम्यग् विज्ञाय तत्त्वतः ॥ ५१ ॥

देहके दोषोंको जानकर उनसे मिलनेवाले दुःखका भी यथार्थ [illegible] प्राप्त करे। शरीरकी व्याकुलताको भी ठीक-ठीक जाननेका प्रयत्न करे ॥ ५१ ॥

आत्मदोषांश्च विज्ञाय सर्वानात्मनि संश्रितान्।
स्वदेहादुत्थितान् गन्धांस्तथा विज्ञाय चाशुभान्॥ ५२॥

अपने शरीरमें स्थित जो अपने ही दोष हैं, उन सबको जानकर शरीरसे जो निरन्तर दुर्गन्ध उठती रहती है, उसकी ओर भी ध्यान दे (तथा विरक्त होकर परमात्माका चिन्तन करते हुए भवबन्धनसे मुक्त होनेका प्रयत्न करे) ॥ ५२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कान् स्वगात्रोद्भवान् दोषान् पश्यस्यमितविक्रम।
एतन्मे संशयं कृत्स्नं वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ ५३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—अमितपराक्रमी पितामह ! आपके देखनेमें कौन-कौन-से दोष ऐसे हैं, जो अपने ही शरीरसे उत्पन्न होते हैं ? आप मेरे इस सम्पूर्ण संदेहका यथार्थ-रूपसे समाधान करनेकी कृपा करें ॥ ५३ ॥

भीष्म उवाच

[illegible] दोषान् प्रभो देहे प्रवदन्ति मनीषिणः।
मार्गज्ञाः कापिलाः सांख्याः शृणु तानरिसूदन ॥ ५४ ॥

भीष्मजीने कहा—प्रभो ! शत्रुसूदन ! कपिल-सांख्य-मतके अनुसार चलनेवाले उत्तम मार्गोंके [illegible] मनीषी पुरुष इस देहके भीतर पाँच दोष बतलाते हैं, उन्हें [illegible] हूँ, सुनो ॥ ५४ ॥

कामक्रोधौ भयं निद्रा [illegible] श्वास उच्यते।
एते दोषाः शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम् ॥ ५५ ॥

काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास—ये पाँच दोष [illegible] देहधारियोंके शरीरोंमें देखे जाते हैं ॥ ५५ ॥

छिन्दन्ति क्षमया क्रोधं कामं संकल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनान्निद्रामप्रमादाद् भयं [illegible] ॥ ५६ ॥
छिन्दन्ति पञ्चमं श्वासमल्पाहारतया नृप ॥ ५७॥

सत्पुरुष क्षमासे क्रोधका, संकल्पके त्यागसे कामका, सत्त्वगुणके सेवनसे निद्राका, प्रमादके त्यागसे भयका तथा अल्पाहारके सेवनद्वारा पाँचवें श्वास-दोषका नाश करते हैं ॥

गुणान् गुणशतैर्ज्ञात्वा दोषान् दोषशतैरपि।
हेतून् हेतुशतैश्चित्रैश्चित्रान् विज्ञाय तत्त्वतः ॥ ५८ ॥
अपां फेनोपमं लोकं विष्णोर्मायाशतैर्वृतम्।
चित्रभित्तिप्रतीकाशं नलसारमनर्थकम् ॥ ५९ ॥
तमः श्वभ्रनिभं दृष्ट्वा वर्षबुद्बुदसंनिभम्।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमिहावशम् ॥ ६० ॥
रजस्तमसि सम्मग्नं पङ्के द्विपमिवावशम्।
सांख्या राजन् महाप्राज्ञास्त्यक्त्वा स्नेहं प्रजाकृतम्॥६१॥
ज्ञानयोगेन सांख्येन व्यापिना महता नृप।
राजसानशुभान् गन्धांस्तामसांश्च तथाविधान्॥ ६२ ॥
पुण्यांश्च सात्त्विकान् गन्धान् स्पर्शजान् देहसंश्रितान्।
छित्त्वाऽऽशु ज्ञानशस्त्रेण तपोदण्डेन भारत ॥ ६३ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! महाबुद्धिमान् सांख्यके विद्वान् सैकड़ों गुणोंके द्वारा गुणोंको, सैकड़ों दोषोंके द्वारा दोषोंको तथा सैकड़ों विचित्र हेतुओंसे विचित्र हेतुओंको तत्त्वतः जानकर व्यापक ज्ञानके प्रभावसे संसारको पानीके फेनके समान नश्वर, विष्णुकी सैकड़ों मायाओंसे ढका हुआ, दीवारपर बने हुए चित्रके समान, नरकुलके समान सारहीन, अन्धकारसे भरे हुए गड्ढेकी भाँति भयंकर, वर्षाकालके पानीके बुल्बुलों-के समान क्षणभङ्गुर, सुखहीन, पराधीन, नष्टप्राय तथा कीचड़में फँसे हुए हाथीकी तरह रजोगुण और तमोगुणमें मग्न समझते हैं। इसलिये वे संतान आदिकी आसक्तिको दूर करके तपरूप दण्डसे युक्त विवेकरूपी शस्त्रसे राजस-तामस अशुभ गन्धोंको और सुन्दर शोभनीय सात्त्विक गन्धों-को तथा स्पर्शेन्द्रियके देहाश्रित भोगोंकी आसक्तिको शीघ्र ही काट डालते हैं ॥ ५८—६३ ॥

ततो दुःखोदकं घोरं चिन्ताशोकमहाह्रदम्।
व्याधिमृत्युमहाग्राहं महाभयमहोरगम् ॥ ६४ ॥
तमःकूर्मं रजोमीनं [illegible] संतरन्त्युत।
स्नेहपङ्कं जरादुर्गं ज्ञानद्वीपमरिंदम ॥ ६५ ॥
कर्मागाधं सत्यतीरं स्थितव्रतमरिंदम।
हिंसाशीघ्रमहावेगं नानारससमाकरम् ॥ ६६ ॥
नानाप्रीतिमहारत्नं दुःखज्वरसमीरणम्।
शोकतृष्णामहावर्तं तीक्ष्णव्याधिमहागजम् ॥ ६७ ॥
अस्थिसंघातसंघट्टं श्लेष्मफेनमरिंदम।
दानमुक्ताकरं घोरं शोणितह्रदविद्रुमम् ॥ ६८ ॥
हसितोत्क्रुष्टनिर्घोषं नानाज्ञानसुदुस्तरम्।
रोदनाश्रुमलक्षारं संगत्यागपरायणम्॥ ६९ ॥
पुत्रदारजलौकौघं मित्रबान्धवपत्तनम्।
अहिंसासत्यमर्यादं प्राणत्यागमहोर्मिणम् ॥ ७० ॥
वेदान्तगमनद्वीपं सर्वभूतदयोदधिम्।
मोक्षदुर्लभविषयं वडवामुखसागरम् ॥ ७१ ॥
तरन्ति यतयः सिद्धा ज्ञानयानेन भारत।
तीर्त्वातिदुस्तरं जन्म विशन्ति विमलं नभः ॥ ७२ ॥

शत्रुसूदन ! तदनन्तर वे सिद्ध यति ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा उस संसाररूपी घोर सागरको [illegible] जाते हैं, जिसमें दुःखरूपी [illegible] भरा है। चिन्ता और शोकके बड़े-बड़े कुण्ड हैं। नाना प्रकारके रोग और मृत्यु विशाल ग्राहोंके समान हैं। महान् भय ही महानागोंके समान हैं। तमोगुण कछुए और रजोगुण मछलियाँ हैं। स्नेह ही कीचड़ है। बुढ़ापा ही उससे पार होनेमें कठिनाई है। ज्ञान ही उसका द्वीप है। नाना प्रकारके कर्मोंद्वारा वह अगाध बना हुआ है।

ही उसका तीर है। नियम-व्रत आदि स्थिरता है। हिंसा उसका शीघ्रगामी महान् वेग है। वह नाना प्रकारके रसों- भण्डार है। अनेक प्रकारकी प्रीतियाँ ही भवसागरके महारत्न हैं। दुःख और संताप ही वहाँकी वायु है। शोक और तृष्णाकी बड़ी-बड़ी भँवरें उठती रहती हैं। तीव्र व्याधियाँ उसके भीतर रहनेवाले महान् जलहस्ती हैं। हड्डियाँ उसके घाट हैं। पेन हैं। दान मोतियोंकी राशि हैं। रक्त उसके कुण्डमें रहनेवाले मूँगा हैं। हँसना और चिल्लाना ही उस सागरकी गम्भीर गर्जना है। अनेक प्रकारके अज्ञान ही इसे अत्यन्त दुस्तर बनाये हुए हैं। रोदनजनित आँसू ही उसमें मलिन खारे जलके समान हैं। आसक्तियोंका त्याग ही उसमें परम या दूसरा है। स्त्री-पुत्र जोंकके समान हैं। मित्र और बन्धु-बान्धव तटवर्ती नगर हैं। अहिंसा और उसकी सीमा हैं। प्राणोंका परित्याग ही उसकी उत्ताल तरङ्गें हैं। वेदान्तज्ञान द्वीप है। समस्त प्राणियोंके प्रति दया-भाव इसकी जलराशि है। मोक्ष उसमें दुर्लभ विषय है और नाना प्रकारके संताप उस संसारसागरके बड़वानल हैं। भरतनन्दन! उससे पार होकर वे आकाशस्वरूप निर्मल परब्रह्ममें प्रवेश कर जाते हैं॥ ६४-७२॥

तत्र तान् सुकृतीन् सांख्यान् सूर्यो वहति रश्मिभिः।
पद्मतन्तुवदाविश्य विषयान् ॥ ७३॥

राजन्! उन पुण्यात्मा सांख्ययोगी सिद्ध पुरुषोंको अपनी रश्मियोंद्वारा उनमें प्रविष्ट हुआ सूर्य अर्चिमार्गसे उस ब्रह्मलोकमें ले आनेके लिये ऊपरके लोकोंमें उसी प्रकार वहन करता है, जैसे कमलकी नाल सरोवरके जलको खींच लेती है॥

तान् प्रवहो वायुः प्रतिगृह्णाति भारत।
वीतरागान् यतीन् सिद्धान् वीर्ययुक्तांस्तपोधनान्॥७४॥

वहाँ प्रवहनामक वायु-अभिमानी देवता वीतराग शक्तिसम्पन्न सिद्ध तपोधन महापुरुषोंको सूर्य-अभिमानी देवतासे अपने अधिकारमें ले लेता है॥ ७४॥

सूक्ष्मः शीतः सुगन्धी सुखस्पर्शश्च भारत।
सप्तानां मरुतां श्रेष्ठो लोकान् गच्छति यः शुभान्।
स तान् वहति कौन्तेय नभसः परमां गतिम्॥ ७५॥

भरतनन्दन! कुन्तीकुमार! सूक्ष्म, शीतल, सुगन्धित, सुखस्पर्श एवं सातों वायुओंमें श्रेष्ठ जो वायुदेव शुभ लोकों- जाते हैं, वे फिर उन सांख्ययोगियोंको आकाश-की ऊँची स्थितिमें पहुँचा देते हैं॥ ७५॥

नभो वहति लोकेश परमां गतिम्।
रजो वहति राजेन्द्र परमां गतिम्॥ ७६॥
वहति शुद्धात्मन् परं नारायणं प्रभुम्।
प्रभुर्वहति शुद्धात्मा परमात्मानमात्मना॥ ७७॥

परमात्मानमासाद्य तद्भूतायतनामलाः।
अमृतत्वाय कल्पन्ते न निवर्तन्ति वा विभो॥ ७८॥

लोकेश्वर! आकाशाभिमानी देवता उन योगियोंको रजो-गुणकी परमागतितक वहन करता है। अर्थात् तेजोमय विद्युत्-अभिमानी देवताओंके पहुँचा देता है। राजेन्द्र! रजोगुण अर्थात् विद्युदभिमानी देवता उनको सत्यकी परमगतितक अर्थात् जहाँ श्रीनारायणके पार्षदगण उनको लेनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं, वहाँतक वहन है। शुद्धात्मन्! वहाँसे सत्त्वगुणयुक्त वे भगवान्‌के पार्षद उनको प्रभु श्रीनारायणके पहुँचा देते हैं। समर्थ राजन्! भगवान् नारायण स्वयं उनको विशुद्ध पर-मात्मामें प्रविष्ट कर देते हैं। परमात्माको पाकर तद्रूप हुए वे निर्मल योगीजन अमृतभावसम्पन्न हो जाते हैं, फिर नहीं लौटते॥

सा गतिः पार्थ निर्द्वन्द्वानां महात्मनाम्।
सत्यार्जवरतानां वै सर्वभूतदयावताम्॥ ७९॥

कुन्तीकुमार! जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित, सत्यवादी, सरल तथा सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेवाले हैं, उन महात्माओंको वही परमगति मिलती है॥ ७९॥

युधिष्ठिर उवाच

स्थानमुत्तममासाद्य भगवन्तं स्थिरव्रताः।
आजन्ममरणं ते स्मरन्त्युत न वानघ॥ ८०॥
यदत्र तथ्यं तन्मे त्वं यथावद् वक्तुमर्हसि।
त्वदृते पुरुषं नान्यं प्रष्टुमर्हामि कौरव॥ ८१॥

युधिष्ठिरने पूछा—निष्पाप पितामह! स्थिरतापूर्वक श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले वे सांख्ययोगी महात्मा भगवान् नारायणको एवं उत्तम परमात्मपद (मोक्ष) को लेनेपर अपने जन्मसे लेकर मृत्युतकके बीते हुए वृत्तान्तको फिर कभी याद करते हैं नहीं। (मोक्षावस्थामें विशेष-विशेष बातोंका रहता है या नहीं। यही मेरा प्रश्न है।) इस विषयमें जो तथ्य बात है, उसे आप यथार्थरूपसे बतानेकी करें। कुरुनन्दन! आपके सिवा दूसरे किसी पुरुषसे मैं ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता॥ ८०-८१॥

मोक्षे दोषो महानेष प्राप्य सिद्धिं गतानृषीन्।
यदि विज्ञाने वर्तन्ते यतयः परे॥ ८२॥
प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं पश्यामि परमं नृप।
मग्नस्य हि परे ज्ञाने किं नु दुःखतरं भवेत्॥ ८३॥

सिद्धावस्थाको ऋषियोंके लिये मोक्षमें यह एक बड़ा दोष प्रतीत होता है। वह यह कि यदि मोक्ष प्राप्त होनेपर भी वे यतिलोग विशेष ज्ञानमें ही विचरण करते हैं अर्थात् उनको पहलेकी स्मृति रहती है, तब तो प्रवृत्तिरूप धर्मको ही सर्वश्रेष्ठ समझता। यदि कहें, मुक्तावस्थामें विशेष विज्ञानका अनुभव नहीं होता तो परम ज्ञानमें डूब जानेपर

विशेष जानकारीका अभाव हो जाता है, इससे बढ़कर दुःख और क्या हो [illegible] है ? ॥ ८२-८३ ॥

भीष्म उवाच

यथान्यायं त्वया तात प्रश्नः पृष्टः सुसंकटः ।
बुधानामपि सम्मोहः प्रश्नेऽस्मिन् भरतर्षभ ॥ ८४ ॥

भीष्मजीने कहा—तात ! भरतश्रेष्ठ ! तुमने यथोचित रीतिसे यह बहुत [illegible] जटिल प्रश्न उपस्थित किया । [illegible] प्रश्न-पर विचार करते समय बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं॥

अत्रापि तत्त्वं परमं शृणु सम्यङ्मयेरितम् ।
बुद्धिश्च परमा यत्र कापिलानां महात्मनाम् ॥ ८५ ॥

इस विषयमें भी जो परम तत्त्व है, उसे [illegible] भलीभाँति बता रहा हूँ, सुनो । यहाँ कपिलजीके द्वारा प्रतिपादित सांख्य-[illegible] अनुसरण करनेवाले महात्मा पुरुषोंका जो [illegible] विचार है, वही प्रस्तुत किया जाता है ॥ ८५ ॥

इन्द्रियाण्येव बुध्यन्ते स्वदेहे देहिनां नृप ।
कारणान्यात्मनस्तानि सूक्ष्मः पश्यति तैस्तु सः ॥ ८६ ॥

नरेश्वर ! देहधारियोंके अपने-अपने शरीरमें जो इन्द्रियाँ हैं, वे ही विशेष-विशेष विषयोंको देखती या अनुभव करती हैं; वे ही आत्माको विभिन्न ज्ञान करानेमें कारण हैं; क्योंकि [illegible] सूक्ष्म [illegible] उन इन्द्रियोंद्वारा ही बाह्य विषयोंका दर्शन या प्रकाशन करता है (मुक्तावस्थामें [illegible] और इन्द्रियोंसे सम्बन्ध न रहनेके कारण ही उसमें इन्द्रियजनित विशेष ज्ञानका अभाव देखा जाता है) ॥ ८६ ॥

आत्मना विप्रहीणानि काष्ठकुड्यसमानि तु ।
विनश्यन्ति न संदेहः फेना इव महार्णवे ॥ ८७ ॥

जैसे महासागरमें उठे हुए फेन [illegible] हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मासे परित्यक्त होनेपर मनुष्यकी काठ और दीवारकी भाँति जड इन्द्रियाँ प्रकृतिमें विलीन हो जाती हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ ८७ ॥

इन्द्रियैः [illegible] सुप्तस्य देहिनः शत्रुतापन ।
सूक्ष्मश्चरति सर्वत्र नभसीव समीरणः ॥ ८८ ॥

शत्रुओंको ताप देनेवाले नरेश ! जब शरीरधारी प्राणी इन्द्रियोंसहित निद्रित हो जाता है, [illegible] उसका सूक्ष्मशरीर आकाशमें वायुके समान सर्वत्र विचरण करने लगता है अर्थात् स्वप्न देखने लगता है ॥ ८८ ॥

स पश्यति यथान्यायं स्पर्शान् स्पृशति वा विभो ।
बुध्यमानो यथापूर्वमखिलेनेह भारत ॥ ८९ ॥

प्रभो ! भरतनन्दन ! वह जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति स्वप्नमें भी यथोचित रीतिसे दृश्य वस्तुओंको देखता है तथा स्पृश्य पदार्थोंका स्पर्श करता है । सारांश [illegible] कि सम्पूर्ण विषयोंका वह जाग्रत्के समान ही अनुभव करता है ॥ ८९ ॥

इन्द्रियाणीह सर्वाणि स्वे स्वे स्थाने यथाविधि ।
अनीशत्वात् प्रलीयन्ते सर्पा हतविषा [illegible] ॥ ९० ॥

फिर सुषुप्ति-अवस्था होनेपर विषय-ज्ञानमें असमर्थ हुई सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थानमें उसी प्रकार विधिवत् लीन हो जाती हैं, [illegible] विषहीन सर्प (भयसे) छिपे रहते हैं ॥ ९० ॥

इन्द्रियाणां [illegible] सर्वेषां स्वस्थानेष्वेव सर्वशः ।
आक्रम्य गतयः सूक्ष्माश्चरत्यात्मा न संशयः ॥ ९१ ॥

स्वप्नावस्थामें अपने-अपने स्थानोंमें स्थित हुई सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी [illegible] गतियोंको आक्रान्त करके जीवात्मा सूक्ष्म विषयोंमें विचरण [illegible] है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ९१ ॥

सत्त्वस्य च गुणान् कृत्स्नान् रजसश्च गुणान् पुनः ।
गुणांश्च [illegible] सर्वान् गुणान् बुद्धेश्च भारत ॥ ९२ ॥
गुणांश्च मनसश्चापि नभसश्च गुणांश्च सः ।
गुणान् वायोश्च धर्मात्मंस्तेजसश्च गुणान् पुनः ॥ ९३ ॥
[illegible] गुणांस्तथा पार्थ पार्थिवांश्च गुणानपि ।
सर्वाण्येव गुणैर्व्याप्य क्षेत्रज्ञेषु युधिष्ठिर ॥ ९४ ॥
मनोऽनु याति क्षेत्रज्ञं कर्मणी च शुभाशुभे ।
शिष्या [illegible] महात्मानमिन्द्रियाणि [illegible] तं प्रभो ॥ ९५ ॥
प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य गच्छत्यात्मानमव्ययम् ।
परं नारायणात्मानं निर्द्वन्द्वं प्रकृतेः परम् ॥ ९६ ॥

भरतनन्दन ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ! परब्रह्म परमात्मा सात्त्विक, राजस और [illegible] गुणोंको एवं बुद्धि, मन, [illegible] वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन सबके सम्पूर्ण गुणोंको [illegible] [illegible] सब वस्तुओंको भी अपने गुणोंद्वारा व्याप्त करके सभी क्षेत्रज्ञों (जीवात्माओं) में स्थित हैं, प्रभो ! जैसे शिष्य अपने गुरुके पीछे चलते हैं, उसी प्रकार मन, इन्द्रियाँ और शुभाशुभ कर्म भी उस जीवात्माके पीछे-पीछे चलते हैं । जब जीवात्मा इन्द्रियों और प्रकृतिको भी लाँघकर जाता है, तब उस नारायणस्वरूप अविनाशी परमात्माको [illegible] हो जाता है, जो द्वन्द्वरहित और मायासे अतीत है ॥ ९२-९६ ॥

विमुक्तः पुण्यपापेभ्यः प्रविष्टस्तमनामयम् ।
परमात्मानमगुणं न निवर्तति भारत ॥ ९७ ॥

भारत ! पुण्य-पापसे रहित हुआ सांख्ययोगी मुक्त होकर जब उन्हीं निर्गुण-निर्विकार नारायणस्वरूप परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है, फिर वह इस संसारमें नहीं लौटता है ॥ ९७ ॥

शिष्टं तत्र मनस्तात इन्द्रियाणि च भारत ।
आगच्छन्ति यथाकालं गुरोः संदेशकारिणः ॥ ९८ ॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुषका आत्मा तो परमात्मामें मिल जाता है, परंतु प्रारब्धवश जबतक शरीर रहता है, तबतक उसके मन और इन्द्रियाँ शेष रहते हैं और गुरुके आदेश पालन करनेवाले शिष्योंके समान यथा-समय यहाँ गमनागमन करते हैं ॥ ९८ ॥

शक्यं चाल्पेन कालेन शान्तिं प्राप्तुं गुणार्थिना ।
एवमुक्तेन कौन्तेय युक्तज्ञानेन मोक्षिणा ॥ ९९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस [illegible] बताये हुए ज्ञानसे [illegible] मोक्षाधिकारी तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी अभिलाषा रखनेवाला पुरुष थोड़े ही समयमें परम शान्ति [illegible] कर सकता है॥

सांख्या राजन् महाप्राज्ञा गच्छन्ति परमां गतिम्।
ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते ॥१००॥

राजन् ! कुन्तीकुमार ! महाज्ञानी सांख्ययोगी ऊपर बताये हुए इसी परमगतिको प्राप्त होते हैं। [illegible] ज्ञानके समान दूसरा कोई ज्ञान नहीं है ॥ १०० ॥

अत्र ते संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम्।
अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥१०१॥

सांख्यज्ञान सबसे [illegible] माना गया है। इस विषयमें तुम्हें तनिक भी संशय नहीं होना चाहिये। इसमें [illegible] ध्रुव एवं पूर्ण सनातन ब्रह्मका ही प्रतिपादन हुआ है ॥१०१॥

अनादिमध्यनिधनं निर्द्वन्द्वं कर्तृ शाश्वतम्।
कूटस्थं चैव नित्यं च यद् वदन्ति मनीषिणः ॥१०२॥

वह [illegible] आदि, मध्य और अन्तसे रहित, निर्द्वन्द्व, जगत्‌की उत्पत्तिका हेतुभूत, [illegible] कूटस्थ और नित्य है, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं ॥ १०२ ॥

यतः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
यच्च शंसन्ति शास्त्रेषु वदन्ति परमर्षयः ॥१०३॥

संसारकी सृष्टि और प्रलयरूप सारे विकार उसीसे सम्भव [illegible]। महर्षि अपने शास्त्रोंमें उसीकी प्रशंसा करते हैं ॥१०३॥

[illegible] विप्राश्च देवाश्च तथा शमविदो जनाः।
ब्रह्मण्यं परमं देवमनन्तं परमच्युतम् ॥१०४॥
प्रार्थयन्तश्च तं विप्रा वदन्ति गुणबुद्धयः।
सम्यग्युक्तास्तथा योगाः सांख्याश्चामितदर्शनाः ॥१०५॥

समस्त ब्राह्मण, देवता और शान्तिका अनुभव करनेवाले लोग उसी अनन्त, अच्युत, ब्राह्मणहितैषी तथा परमदेव परमात्माकी स्तुति-प्रार्थना करते हैं। उनके गुणोंका चिन्तन करते हुए उनकी महिमाका गान करते हैं। योगमें उत्तम सिद्धिको प्राप्त हुए योगी तथा अपार ज्ञानवाले सांख्यवेत्ता पुरुष भी उसीके गुण गाते हैं ॥ १०४-१०५ ॥

अमूर्तेस्तस्य कौन्तेय सांख्यं मूर्तिरिति श्रुतिः।
अभिज्ञानानि तस्याहुर्मतं हि भरतर्षभ ॥१०६॥

कुन्तीनन्दन ! ऐसी प्रसिद्धि है कि यह सांख्यशास्त्र ही [illegible] निराकार परमात्माका आकार है। भरतश्रेष्ठ ! जितने ज्ञान हैं, वे सब सांख्यकी ही मान्यताका प्रतिपादन करते हैं ॥

द्विविधानीह भूतानि पृथिव्यां पृथिवीपते।
जङ्गमागमसंज्ञानि जङ्गमं [illegible] विशिष्यते ॥१०७॥

पृथ्वीनाथ ! इस भूतलपर स्थावर और जङ्गम—दो प्रकार[illegible] प्राणी उपलब्ध होते हैं। उनमें भी जङ्गम ही श्रेष्ठ है ॥१०७॥

ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन्
वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे
सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥१०८॥

राजन् ! नरेश्वर ! महात्मा पुरुषोंमें, वेदोंमें, सांख्यों (दर्शनों) में, योगशास्त्रमें तथा पुराणोंमें जो नाना प्रकारका उत्तम ज्ञान देखा जाता है, वह सब सांख्यसे [illegible] आया हुआ है ॥ १०८ ॥

यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं
यच्चार्थशास्त्रे नृप शिष्टजुष्टे।
ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित्
सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् ॥१०९॥

नरेश ! महात्मन् ! बड़े-बड़े इतिहासोंमें, सत्पुरुषोंद्वारा सेवित अर्थशास्त्रमें तथा [illegible] संसारमें जो [illegible] भी महान् ज्ञान देखा गया है, वह [illegible] सांख्यसे ही प्राप्त हुआ है ॥ १०९ ॥

शमश्च दृष्टः परमं बलं च
ज्ञानं च सूक्ष्मं च यथावदुक्तम्।
तपांसि सूक्ष्माणि सुखानि चैव
सांख्ये यथावद् विहितानि राजन् ॥११०॥

राजन् ! प्रत्यक्ष प्राप्त मन और इन्द्रियोंका संयम, [illegible] बल, सूक्ष्मज्ञान तथा परिणाममें [illegible] देनेवाले जो सूक्ष्म [illegible] बतलाये गये हैं, [illegible] सबका सांख्यशास्त्रमें यथावत् वर्णन किया गया है ॥ ११० ॥

विपर्यये तस्य हि पार्थ देवान्
गच्छन्ति सांख्याः सततं सुखेन।
तांश्चानुसंचार्य ततः कृतार्थाः
पतन्ति विप्रेषु यतेषु भूयः ॥१११॥

कुन्तीकुमार ! यदि साधनमें कुछ त्रुटि रह जानेके कारण सांख्यका सम्यक् ज्ञान [illegible] नहीं हुआ हो तो भी सांख्ययोगके साधक देवलोकमें अवश्य जाते हैं और वहाँ निरन्तर सुखसे रहते हुए देवताओंका आधिपत्य पाकर कृतार्थ हो जाते हैं। तदनन्तर पुण्यक्षयके पश्चात् वे इस लोकमें आकर पुनः साधनके लिये यत्नशील ब्राह्मणोंके यहाँ जन्म ग्रहण करते हैं॥

हित्वा च देहं प्रविशन्ति देवं
दिवौकसो द्यामिव पार्थ सांख्याः।
अतोऽधिकं तेऽभिरता महार्हे
सांख्ये द्विजाः पार्थिव शिष्टजुष्टे ॥११२॥

पार्थ ! सांख्यज्ञानी शरीर-त्यागके पश्चात् परमदेव परमात्मामें उसी प्रकार प्रवेश कर जाते हैं, जैसे देवता स्वर्गमें। पृथ्वीनाथ ! अतः शिष्ट पुरुषोंद्वारा सेवित परम पूजनीय सांख्यशास्त्रमें वे सभी द्विज अधिक अनुरक्त रहते हैं ॥ ११२॥

तेषां न तिर्यग्गमनं हि दृष्टं
नार्वाग्गतिः पापकृताधिवासः।
न वा प्रधाना अपि ते द्विजातयो
ये ज्ञानमेतन्नृपतेऽनुरक्ताः ॥११३॥

राजन्! जो इस सांख्य-ज्ञानमें अनुरक्त हैं, वे ही [illegible] प्रधान हैं, [illegible] उन्हें मृत्युके पश्चात् कभी पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जाना पड़ा हो, ऐसा नहीं देखा गया है। वे कभी नरकादि अधोगतिको भी नहीं प्राप्त होते हैं तथा उन्हें पापाचारियोंके बीचमें भी नहीं रहना पड़ता है ॥ ११३ ॥

सांख्यं विशालं परमं पुराणं
महार्णवं विमलमुदारकान्तम्।
कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मा
नारायणो धारयतेऽप्रमेयम् ॥ ११४ ॥

सांख्यका ज्ञान अत्यन्त विशाल और परम प्राचीन है। यह महासागरके समान अगाध, निर्मल, उदार भावोंसे परिपूर्ण और अतिसुन्दर है। नरनाथ! परमात्मा भगवान् नारायण इस सम्पूर्ण अप्रमेय सांख्य-ज्ञानको पूर्णरूपसे धारण करते हैं ॥ ११४ ॥

एतन्मयोक्तं नरदेव तत्त्वं
नारायणो विश्वमिदं पुराणम्।
स सर्गकाले च करोति सर्गं
संहारकाले च तदत्ति भूयः ॥ ११५ ॥
संहृत्य सर्वं निजदेहसंस्थं
कृत्वाप्सु शेते जगदन्तरात्मा ॥ ११६ ॥

नरदेव! यह मैंने तुमसे सांख्यका तत्त्व बतलाया है। इस पुरातन विश्वके रूपमें साक्षात् भगवान् नारायण ही सर्वत्र विराजमान हैं। वे ही सृष्टिके समय जगत्की सृष्टि और संहारकालमें उसको अपनेमें विलीन कर लेते हैं। इस प्रकार जगत्को अपने शरीरके भीतर ही स्थापित करके वे जगत्के अन्तरात्मा भगवान् नारायण एकार्णवके जलमें शयन करते हैं ॥ ११५-११६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सांख्यकथने एकाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०१ ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सांख्यतत्त्वका वर्णनविषयक तीन सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०१ ॥

द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

वसिष्ठ और करालजनकका संवाद—क्षर और अक्षरतत्त्वका निरूपण और इनके ज्ञानसे मुक्ति

युधिष्ठिर उवाच

[illegible] तदक्षरमित्युक्तं यस्मान्नावर्तते पुनः।
किं च तत्क्षरमित्युक्तं यस्मादावर्तते पुनः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! वह अक्षर तत्त्व [illegible] है, जिसे [illegible] कर लेनेपर जीव फिर इस संसारमें नहीं लौटता [illegible] पदार्थ [illegible] है, जिसको जानने या पा लेनेपर भी पुनः इस संसारमें लौटना पड़ता है? ॥ [illegible] ॥

अक्षरक्षरयोर्व्यक्तिं पृच्छाम्यरिनिषूदन।
उपलब्धुं महाबाहो तत्त्वेन कुरुनन्दन ॥ २ ॥

शत्रुसूदन! महाबाहु! कुरुनन्दन! क्षर और अक्षरके स्वरूपको स्पष्टरूपसे समझनेके लिये [illegible] मैंने आपसे यह प्रश्न किया है ॥ २ ॥

त्वं हि ज्ञाननिधिर्विप्रैरुच्यसे वेदपारगैः।
ऋषिभिश्च महाभागैर्यतिभिश्च महात्मभिः ॥ ३ ॥

वेदोंके पारङ्गत विद्वान् [illegible] महाभाग महर्षि तथा महात्मा यति भी आपको ज्ञाननिधि कहते हैं ॥ ३ ॥

शेषमल्पं दिनानां ते दक्षिणायनभास्करे।
आवृत्ते भगवत्यर्के गन्तासि परमां गतिम् ॥ [illegible] ॥

अब सूर्यके दक्षिणायनमें रहनेके थोड़े ही दिन शेष हैं। भगवान् सूर्यके उत्तरायणमें पदार्पण करते ही [illegible] परमधामको पधारेंगे ॥ ४ ॥

त्वयि प्रतिगते श्रेयः कुतः श्रोष्यामहे वयम्।
कुरुवंशप्रदीपस्त्वं ज्ञानदीपेन दीप्यसे ॥ ५ ॥

आपके चले जानेपर हमलोग अपने कल्याणकी बातें किससे सुनेंगे? आप कुरुवंशको प्रकाशित करनेवाले प्रदीप हैं और ज्ञानदीपसे उद्भासित हो रहे [illegible] ॥ ५ ॥

तदेतच्छ्रोतुमिच्छामि त्वत्तः कुरुकुलोद्वह।
न तृप्यामीह राजेन्द्र शृण्वन्नमृतमीदृशम् ॥ ६ ॥

अतः कुरुकुलधुरन्धर! राजेन्द्र! मैं आपहीके मुँहसे यह सब सुनना चाहता हूँ। आपके इन अमृतमय वचनोंको सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती है (अतएव आप मुझे यह क्षर-अक्षरका विषय बताइये।) ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

[illegible] ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
वसिष्ठस्य च संवादं करालजनकस्य च ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें कराल नामक जनक और वसिष्ठका जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास [illegible] तुम्हें बतलाऊँगा ॥ [illegible] ॥

वसिष्ठं श्रेष्ठमासीनमृषीणां भास्करद्युतिम्।
[illegible] जनको राजा ज्ञानं नैःश्रेयसं परम् ॥ ८ ॥

एक समयकी बात है, ऋषियोंमें सूर्यके समान तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ अपने आश्रमपर विराजमान थे। वहाँ राजा जनकने पहुँचकर उनसे परम कल्याणकारी ज्ञानके विषयमें पूछा ॥ ८ ॥

परमध्यात्मकुशलमध्यात्मगतिनिश्चयम्।
मैत्रावरुणिमासीनमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ ९ ॥
स्वक्षरं प्रश्रितं वाक्यं मधुरं चाप्यनुल्बणम्।
पप्रच्छर्षिवरं राजा करालजनकः पुरा ॥ १० ॥

महर्षि वशिष्ठका राजा करालजनकको उपदेश

मित्रावरुणके पुत्र वसिष्ठजी अध्यात्मविषयक प्रवचनमें अत्यन्त कुशल थे और उन्हें अध्यात्मज्ञानका निश्चय हो गया था। वे एक आसनपर विराजमान थे। पूर्वकालमें [illegible] नामक राजा जनकने उन मुनिवरके पास जा हाथ जोड़कर प्रणाम किया और सुन्दर अक्षरोंसे युक्त विनयपूर्ण तथा कुतर्करहित मधुर वाणीमें इस प्रकार पूछा—॥ ९-१० ॥

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि परं ब्रह्म सनातनम्।
यस्मान्न पुनरावृत्तिमाप्नुवन्ति मनीषिणः ॥ ११ ॥

'भगवन्! जहाँसे मनीषी पुरुष पुनः इस संसारमें लौटकर नहीं आते हैं, [illegible] सनातन परब्रह्मके स्वरूपका [illegible] वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

[illegible] तत् क्षरमित्युक्तं यत्रेदं क्षरते जगत्।
यच्चाक्षरमिति प्रोक्तं शिवं क्षेम्यमनामयम् ॥ १२ ॥

'तथा जिसे क्षर कहा गया है, उसे भी जानना चाहता हूँ। जिसमें इस जगत्का [illegible] (लय) होता है और जिसे अक्षर कहा गया है, [illegible] निर्विकार कल्याणमय शिवस्वरूप अधिष्ठानका भी [illegible] प्राप्त करना चाहता हूँ' ॥ १२ ॥

वसिष्ठ उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल क्षरतीदं यथा जगत्।
यन्न क्षरति पूर्वेण यावत्कालेन चाप्यथ ॥ १३ ॥

वसिष्ठजीने कहा—भूपाल! जिस प्रकार इस जगत्का क्षय (परिवर्तन) होता है, उसको तथा जो किसी भी कालमें क्षरित (नष्ट) नहीं होता, उस अक्षरको भी बता रहा हूँ, सुनो ॥ १३ ॥

युगं द्वादशसाहस्रं कल्पं विद्धि चतुर्युगम्।
दशकल्पशतावृत्तमहस्तद् ब्राह्ममुच्यते ॥ १४ ॥

देवताओंके बारह हजार वर्षोंका एक चतुर्युग होता है। इसीको कल्प अर्थात् महायुग समझो। ऐसे एक हजार महायुगोंका ब्रह्माजीका एक दिन बताया जाता है ॥ १४ ॥

रात्रिश्चैतावती राजन् यस्यान्ते प्रतिबुद्ध्यते।
सृजत्यनन्तकर्माणं महान्तं भूतमग्रजम् ॥ १५ ॥
मूर्तिमन्तममूर्तात्मा विश्वं शम्भुः स्वयम्भुवः।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानं ज्योतिरव्ययम् ॥ १६ ॥
सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १७ ॥

राजन्! उनकी रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है; जिसके अन्तमें वे जागते हैं। अनन्तकर्मा ब्रह्माजी सबके अग्रज और महान् भूत हैं। यह सम्पूर्ण विश्व उन्हींका स्वरूप है। जो अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियोंपर शासन करनेवाले हैं, वे कल्याणस्वरूप निराकार परमेश्वर ही उन मूर्तिमान् ब्रह्माकी सृष्टि करते हैं। परमात्मा ज्योतिःस्वरूप स्वयं प्रकट और अविनाशी हैं। उनके हाथ, पैर, नेत्र, मस्तक और मुख सब ओर हैं। कान भी सब ओर हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १५-१७ ॥

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यजः ॥ १८ ॥

परमेश्वरसे उत्पन्न जो सबके अग्रज भगवान् हिरण्यगर्भ हैं, वे ही बुद्धि कहे गये हैं। योगशास्त्रमें ये ही महान् कहे गये हैं। इन्हींको विरिञ्चि तथा अज भी कहते हैं ॥ १८ ॥

सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः।
विचित्ररूपो विश्वात्मा एकाक्षर इति स्मृतः ॥ १९ ॥
वृतं नैकात्मकं येन कृतं त्रैलोक्यमात्मना।
तथैव बहुरूपत्वाद् विश्वरूप इति स्मृतः ॥ २० ॥

अनेक नाम और रूपोंसे युक्त इन हिरण्यगर्भ [illegible] सांख्यशास्त्रमें भी वर्णन आता है। ये विचित्र रूपधारी, विश्वात्मा और एकाक्षर कहे गये हैं। इस अनेक रूपोंवाली त्रिलोकीकी रचना उन्होंने ही की है और स्वयं ही इसे व्याप्त कर रक्खा है। इस प्रकार बहुत-से रूप धारण करनेके [illegible] वे विश्वरूप माने गये हैं ॥ १९-२० ॥

एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना।
अहङ्कारं महातेजाः प्रजापतिमहंकृतम् ॥ २१ ॥

ये महातेजस्वी भगवान् हिरण्यगर्भ विकारको प्राप्त हो [illegible] ही अहंकारकी और उसके अभिमानी प्रजापति विराट्की सृष्टि करते हैं ॥ २१ ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमापन्नं विद्यासर्गं वदन्ति तम्।
महान्तं चाप्यहङ्कारमविद्यासर्गमेव च ॥ २२ ॥

इनमें निराकारसे साकार रूपमें प्रकट होनेवाली मूल प्रकृतिको तो विद्यासर्ग कहते हैं और महत्तत्त्व एवं अहंकारको अविद्यासर्ग कहते हैं ॥ २२ ॥

अविधिश्च विधिश्चैव समुत्पन्नौ तथैकतः।
विद्याविद्येति विख्याते श्रुतिशास्त्रार्थचिन्तकैः ॥ २३ ॥

अविधि (ज्ञान) और विधि (कर्म) की उत्पत्ति भी उस परमात्मासे ही हुई है। श्रुति तथा शास्त्रके अर्थका विचार करनेवाले विद्वानोंने उन्हें विद्या और अविद्या बतलाया है ॥

भूतसर्गमहङ्कारात् तृतीयं विद्धि पार्थिव।
अहङ्कारेषु सर्वेषु चतुर्थं विद्धि वैकृतम् ॥ २४ ॥

पृथ्वीनाथ! अहंकारसे जो सूक्ष्म भूतोंकी सृष्टि होती है, उसे तीसरा सर्ग समझो। सात्त्विक, राजस और [illegible] भेदसे तीन प्रकारके अहंकारोंसे जो चौथी सृष्टि उत्पन्न होती है, उसे वैकृत-सर्ग समझो ॥ २४ ॥

वायुर्ज्योतिरथाकाशमापोऽथ पृथिवी तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ॥ २५ ॥

आकाश, वायु, तेज, [illegible] और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय वैकृत-सर्गके अन्तर्गत हैं ॥ २५ ॥

एवं युगपदुत्पन्नं दशवर्गमसंशयम्।

पञ्चमं विद्धि राजेन्द्र भौतिकं सर्गमर्थवत् ॥ २६ ॥

इन दसोंकी उत्पत्ति एक ही साथ होती है, इसमें [illegible] नहीं है। राजेन्द्र ! पाँचवाँ भौतिक सर्ग समझो। जो प्राणियोंके लिये विशेष प्रयोजनीय होनेके कारण सार्थक है ॥ २६ ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमेव च पञ्चमम्।
वाक् च हस्तौ च पादौ [illegible] पायुर्मेढ्रं तथैव च ॥२७॥
बुद्धीन्द्रियाणि चैतानि तथा कर्मेन्द्रियाणि च।
सम्भूतानीह युगपन्मनसा सह पार्थिव ॥ २८ ॥

इस भौतिक सर्गके अन्तर्गत आँख, कान, नाक, त्वचा और जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। पृथ्वीनाथ ! मनसहित इन सबकी उत्पत्ति भी एक ही साथ होती है ॥ २७-२८ ॥

एषा तत्त्वचतुर्विंशा सर्वाकृतिषु वर्तते।
यां ज्ञात्वा नाभिशोचन्ति ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः॥ २९ ॥

ये चौबीस तत्त्व सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें मौजूद रहते हैं। तत्त्वदर्शी ब्राह्मण इनके यथार्थ स्वरूपको जानकर कभी शोक नहीं करते हैं ॥ २९ ॥

एतद् देहं समाख्यातं त्रैलोक्ये सर्वदेहिषु।
वेदितव्यं नरश्रेष्ठ सदेवनरदानवे ॥ ३० ॥
सयक्षभूतगन्धर्वे सकिंनरमहोरगे।
सचारणपिशाचे वै सदेवर्षिनिशाचरे ॥ ३१ ॥
सदंशकीटमशके सपूतिकृमिमूषिके।
शुनि श्वपाके चैणेये सचाण्डाले सपुल्कसे ॥ ३२ ॥
हस्त्यश्वखरशार्दूले सवृक्षे गवि चैव ह।
यच्च मूर्तिमयं किंचित् सर्वत्रैतन्निदर्शनम् ॥ ३३ ॥

नरश्रेष्ठ ! तीनों लोकोंमें जितने देहधारी हैं, उन सबमें इन्हीं तत्त्वोंके समुदायको देह समझना चाहिये। देवता, मनुष्य, दानव, यक्ष, भूत, गन्धर्व किंनर, महासर्प, चारण, पिशाच, देवर्षि, निशाचर, दंश (डंक मारनेवाली मक्खी), कीट, मच्छर, दुर्गन्धित कीड़े, चूहे, कुत्ते, चाण्डाल, हिरन, श्वपाक (कुत्ताका मास खानेवाला), पुल्कस (म्लेच्छ), हाथी, घोड़े, गधे, सिंह, वृक्ष और गौ आदिके रूपमें जो कुछ मूर्तिमान् पदार्थ है, सर्वत्र इन्हीं तत्त्वोंका दर्शन होता है ॥ ३०–३३ ॥

जले भुवि तथाऽऽकाशे नान्यत्रेति विनिश्चयः।
स्थानं देहवतामासीदित्येवमनुशुश्रुम ॥ ३४ ॥

पृथ्वी, [illegible] और आकाशमें ही देहधारियोंका निवास है, और कहीं नहीं; यह विद्वानोंका निश्चय है। ऐसा मैंने सुन रक्खा है ॥ ३४ ॥

कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरते व्यक्तसंज्ञितम्।
अहन्यहनि भूतात्मा [illegible] क्षर इति स्मृतः ॥ ३५ ॥

हे तात ! यह सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक जगत् व्यक्त कहलाता है और प्रतिदिन इसका क्षरण होता है, इसलिये इसको क्षर कहते हैं ॥ ३५ ॥

एतदक्षरमित्युक्तं क्षरतीदं [illegible] जगत्।
जगन्मोहात्मकं प्राहुरव्यक्ताद् व्यक्तसंज्ञकम् ॥ ३६ ॥

इससे भिन्न जो तत्त्व है, उसे अक्षर कहा गया है। इस प्रकार उस अव्यक्त अक्षरसे उत्पन्न हुआ यह व्यक्तसंज्ञक मोहात्मक जगत् क्षरित होनेके कारण क्षर नाम धारण करता है ॥ ३६ ॥

महांश्चैवाग्रजो नित्यमेतत् क्षरनिदर्शनम्।
कथितं ते महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ३७ ॥

क्षर-तत्त्वोंमें सबसे पहले महत्तत्त्वकी ही सृष्टि हुई है। यह बात सदा ध्यानमें रखनेयोग्य है। यही क्षरका परिचय है। महाराज ! तुमने जो मुझसे पूछा था, उसके अनुसार यह मैंने तुम्हारे समक्ष क्षर-अक्षरके विषयका वर्णन किया है ॥

पञ्चविंशतिमो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः।
तत्त्वसंश्रयणादेतत् तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥ ३८ ॥

इन चौबीस तत्त्वोंसे परे जो भगवान् विष्णु (सर्वव्यापी परमात्मा) हैं, उन्हें पचीसवाँ तत्त्व कहा गया है। तत्त्वोंको आश्रय देनेके कारण ही मनीषी पुरुष उन्हें तत्त्व कहते हैं ॥

यन्मर्त्यमसृजद् व्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति।
चतुर्विंशतिमोऽव्यक्तो ह्यमूर्तः पञ्चविंशकः ॥ ३९ ॥

महत्तत्त्व आदि व्यक्त पदार्थ जिन मरणशील (नश्वर) पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं, वे किसी-न-किसी आकार या मूर्तिका आश्रय लेकर स्थित होते हैं। गणना करनेपर चौबीसवाँ तत्त्व है अव्यक्त प्रकृति और पचीसवाँ है निराकार परमात्मा ॥३९॥

स एव हृदि सर्वासु मूर्तिष्वातिष्ठतेऽऽत्मवान्।
केवलश्चेतनो नित्यः सर्वमूर्तिरमूर्तिमान् ॥ ४० ॥

जो अद्वितीय, चेतन, नित्य, सर्वस्वरूप, निराकार एवं सबके आत्मा हैं, वे परम पुरुष परमात्मा ही समस्त शरीरोंके हृदयदेशमें निवास करते हैं ॥ ४० ॥

सर्गप्रलयधर्मिण्या असर्गप्रलयात्मकः।
गोचरे वर्तते नित्यं निर्गुणं गुणसंज्ञितम् ॥ ४१ ॥

यद्यपि सृष्टि और प्रलय प्रकृतिके ही धर्म हैं। पुरुष तो उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित है तथापि उस प्रकृतिके संसर्गवश पुरुष भी उस सृष्टि और प्रलयरूप धर्मसे सम्बद्ध-सा जान पड़ता है। इन्द्रियोंका विषय न होनेपर भी इन्द्रियगोचर-सा हो जाता है तथा निर्गुण होनेपर भी गुणवान्-सा जान पड़ता है ॥

एवमेष महानात्मा सर्गप्रलयकोविदः।
विकुर्वाणः प्रकृतिमानभिमन्यत्यबुद्धिमान् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार सृष्टि और प्रलयके तत्त्वको जाननेवाला यह महान् आत्मा अविकारी होकर भी प्रकृतिके संसर्गसे गुण ही विकारवान्-सा हो जाता है एवं प्राकृत-बुद्धिसे रहित होकर भी शरीरमें आत्माभिमान कर लेता है ॥ ४२ ॥

तमःसत्त्वरजोयुक्तस्तासु तास्विह योनिषु ।
नियते प्रतिबुद्धित्वादबुद्धजनसेवनात् ॥ ४३ ॥

प्रकृतिके संसर्गवश ही वह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे युक्त हो जाता है तथा अज्ञानी मनुष्योंका सङ्ग करनेसे उन्हीं-की भाँति अपनेको शरीरस्थ समझनेके कारण वह उन-उन सात्त्विक, राजस, तामस योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है ॥

सहवासविनाशित्वान्नान्योऽहमिति मन्यते ।
योऽहं सोऽहमिति ह्युक्त्वा गुणानेवानुवर्तते ॥ ४४ ॥

प्रकृतिके सहवाससे अपने स्वरूपका बोध हो जानेके कारण पुरुष यह समझने लगता है कि शरीरसे भिन्न नहीं हूँ । 'मैं यह हूँ, वह हूँ, अमुकका पुत्र हूँ, अमुक जातिका हूँ', इस कहता हुआ वह सात्त्विक आदि गुणोंका ही अनुसरण करता है ॥ ४४ ॥

तामसान् भावान् विविधान् प्रतिपद्यते ।
राजसांश्चैव सात्त्विकान् सत्त्वसंश्रयात् ॥ ४५ ॥

वह तमोगुणसे मोह आदि नाना प्रकारके तामस भावों-को, रजोगुणसे प्रवृत्ति आदि राजस भावोंको तथा सत्त्वगुणका आश्रय लेकर प्रकाश आदि सात्त्विक भावोंको होता है ॥

शुक्ललोहितकृष्णानि रूपाण्येतानि त्रीणि तु ।
सर्वाण्येतानि रूपाणि यानीह प्राकृतानि वै ॥ ४६ ॥

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे क्रमशः शुक्ल, रक्त और कृष्ण—ये तीन वर्ण प्रकट होते हैं । प्रकृतिसे जो-जो रूप प्रकट हुए हैं, वे इन्हीं तीनों वर्णोंके अन्तर्गत हैं ॥

निरयं यान्ति राजसा मानुषानथ ।
सात्त्विका देवलोकाय गच्छन्ति सुखभागिनः ॥ ४७ ॥

तमोगुणी प्राणी नरकमें पड़ते हैं, राजस स्वभावके जीव मनुष्यलोकमें जाते हैं तथा सुखके भागी सात्त्विक पुरुष देव-लोकको प्रस्थान करते हैं ॥ ४७ ॥

निष्कैवल्येन पापेन तिर्यग्योनिमवाप्नुयात् ।
पुण्यपापेन मानुष्यं पुण्येनैकेन देवताः ॥ ४८ ॥

अत्यन्त केवल पापकर्मोंके फलस्वरूप जीव पशु पक्षी आदि तिर्यग्योनिको प्राप्त होता है । पुण्य और पाप दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्यलोक मिलता है तथा केवल पुण्यसे प्राणी देवयोनिको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

एवमव्यक्तविषयं क्षरमाहुर्मनीषिणः ।
पञ्चविंशतिमो योऽयं ज्ञानादेव प्रवर्तते ॥ ४९ ॥

इस प्रकार ज्ञानी पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए पदार्थोंको क्षर कहते हैं । उपर्युक्त चौबीस तत्त्वोंसे भिन्न जो पचीसवाँ तत्त्व—परमपुरुष परमात्मा बताया गया है, वही अक्षर है । उसकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे द्व्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और संवादविषयक तीन सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०२ ॥

त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृति-संसर्गके कारण जीवका अपनेको ना प्रकारके कर्मोंका कर्ता और भोक्ता मानना एवं नाना योनियोंमें बारंबार जन्म ग्रहण

वसिष्ठ उवाच

एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धमनुवर्तते ।
देहाद् देहसहस्राणि समभिपद्यते ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार जीव बोध-हीन होनेके कारण ही अनुसरण करता है; इसीलिये उसे एक शरीरसे सहस्रों शरीरोंमें भ्रमण करना पड़ता है ॥ १ ॥

तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद् देवतास्वपि ।
उपपद्यति संयोगाद् गुणैः सह गुणक्षयात् ॥ २ ॥

वह गुणोंके साथ सम्बन्ध होनेसे उन्हीं गुणोंकी सामर्थ्यसे कभी सहस्रों बार तिर्यग्योनियोंमें और कभी देवताओंमें जन्म लेता है ॥ २ ॥

मानुषत्वाद् दिवं याति दिवो मानुष्यमेव च ।
मानुष्यान्निरयस्थानमानन्त्यं प्रतिपद्यते ॥ ३ ॥

कभी मानव-योनिसे स्वर्गलोकमें जाता है और कभी स्वर्गसे मनुष्यलोकमें लौट है । मनुष्यलोकसे कभी-कभी अनन्त नरकोंमें भी पड़ता है ॥ ॥

कोशकारो यथाऽऽत्मानं कीटः समवरुन्धति ।
सूत्रतन्तुगुणैर्नित्यं तथायमगुणो गुणैः ॥ ॥

जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही उत्पन्न किये हुए तन्तुओंसे अपनेको सब ओरसे बाँध लेता है, उसी प्रकार यह निर्गुण भी अपने ही प्रकट किये हुए प्राकृत गुणोंसे बँध जाता है ॥ ४ ॥

द्वन्द्वमेति निर्द्वन्द्वस्तासु तास्विह योनिषु ।
शीर्षरोगेऽक्षिरोगे च दन्तशूले गलग्रहे ॥ ५ ॥

वह स्वयं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेपर भी भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म धारण करके सुख-दुःखको भोगता है । उसे कभी सिरमें दर्द होता, कभी आँख दुखती, कभी दाँतमें व्यथा होती और कभी गलेमें पेचा निकल आता है ॥

जलोदरे तृषारोगे ज्वरगण्डे विषूचके ।
श्वित्रकुष्ठेऽग्निदग्धे च सिध्मापस्मारयोरपि ॥ ६ ॥

इसी प्रकार वह जलोदर, तृषारोग, ज्वर, गलगण्ड, (गलसुआ), विषूचिका (हैजा), सफेद कोढ़, अग्निदाह,

सिध्मा¹ (सफेद दाग या सेहुँवा), अपस्मार (मृगी) आदि रोगोंका शिकार होता रहता है ॥ ६ ॥

यानि चान्यानि द्वन्द्वानि प्राकृतानि शरीरिषु ।
उत्पद्यन्ते विचित्राणि तान्येषोऽप्यभिमन्यते ॥ [illegible] ॥

इनके सिवा और भी जितने प्रकारके प्रकृतिजन्य विचित्र रोग या द्वन्द्व देहधारियोंमें उत्पन्न होते हैं, उन सबसे यह अपनेको आक्रान्त मानता है ॥ ७ ॥

तिर्यग्योनिसहस्रेषु कदाचिद् देवतास्वपि ।
अभिमन्यत्यभीमानात् तथैव सुकृतान्यपि ॥ ८ ॥

कभी अपनेको सहस्रों तिर्यग्योनियोंका जीव समझता है और कभी देवत्वका अभिमान धारण करता है तथा इसी अभिमानके कारण उन-उन शरीरोंद्वारा किये हुए कर्मोंका फल भी भोगता है ॥ ८ ॥

शुक्लवासाश्च दुर्वासाः शायी नित्यमधस्तथा ।
मण्डूकशायी च तथा वीरासनगतस्तथा ॥ ९ ॥
चीरधारणमाकाशे शयनं स्थानमेव च ।
इष्टकाप्रस्तरे चैव कण्टकप्रस्तरे [illegible] ॥ १० ॥
भस्मप्रस्तरशायी च भूमिशय्या तलेषु च ।
वीरस्थानाम्बुपङ्के च शयनं फलकेषु च ॥ ११ ॥
विविधासु च शय्यासु फलगृद्ध्यान्वितस्तथा ।
मुञ्जमेखलनग्नत्वं क्षौमकृष्णाजिनानि च ॥ १२ ॥

फलकी आशासे बँधा हुआ मनुष्य कभी नये-धुले सफेद [illegible] पहनता है और कभी फटे-पुराने मैले [illegible] धारण [illegible] है, कभी पृथ्वीपर सोता है, कभी मेढकके समान हाथ-पैर सिकोड़कर शयन करता है, कभी वीरासनसे बैठता है और कभी खुले आकाशके नीचे । कभी चीर और वल्कल पहनता है, कभी ईंट और पत्थरपर सोता-बैठता है तो कभी काँटोंके बिछौनोंपर । कभी राख बिछाकर सोता है, कभी भूमिपर ही लेट जाता है, कभी किसी पेड़के नीचे पड़ा रहता है । कभी युद्धभूमिमें, कभी पानी और कीचड़में, कभी चौकियोंपर तथा कभी नाना प्रकारकी शय्याओंपर सोता है । कभी मूँजकी मेखला बाँधे कौपीन धारण करता है, कभी नंग-धड़ंग घूमता है । कभी रेशमी [illegible] और कभी [illegible] मृगचर्म पहनता है ॥

शाणीवालपरीधानो व्याघ्रचर्मपरिच्छदः ।
सिंहचर्मपरीधानः पट्टवासास्तथैव च ॥ १३ ॥

कभी सन या ऊनके बने वस्त्र धारण करता है । कभी [illegible] या सिंहके चमड़ोंसे अपने अङ्गोंको ढँक लेता है । कभी रेशमी पीताम्बर पहनता है ॥ १३ ॥

फलकंपरिधानश्च [illegible] कण्टकवस्त्रधृक् ।
कीटकावसनश्चैव चीरवासास्तथैव च ॥ १४ ॥

कभी फलकवस्त्र (भोजपत्रकी छाल), कभी साधारण वस्त्र और कभी कण्टकवस्त्र धारण करता है । कभी कीड़ों निकले हुए रेशमके मुलायम वस्त्र पहनता है तो कभी चिथड़े पहनकर रहता है ॥ १४ ॥

वस्त्राणि चान्यानि बहून्यभिमन्यत्यबुद्धिमान् ।
भोजनानि विचित्राणि रत्नानि विविधानि च ॥ १५ ॥

वह अज्ञानी जीव इनके अतिरिक्त भी नाना प्रकारके [illegible] पहनता, विचित्र-विचित्र भोजनोंके स्वाद लेता और भाँति-भाँतिके रत्न धारण करता है ॥ १५ ॥

एकरात्रान्तराशित्वमेककालिकभोजनम् ।
चतुर्थाष्टमकालश्च षष्ठकालिक एव च ॥ १६ ॥

कभी एक रातका अन्तर देकर भोजन करता है, कभी दिन-रातमें एक बार अन्न ग्रहण करता है और कभी दिनके चौथे, छठे या आठवें पहरमें भोजन करता है ॥ १६ ॥

षड्रात्रभोजनश्चैव तथैवाष्टाहभोजनः ।
सप्तरात्रदशाहारो द्वादशाहिकभोजनः ॥ १७ ॥

कभी छः रात बिताकर खाता है और कभी सात, आठ, दस अथवा बारह दिनोंके बाद अन्न ग्रहण करता है ॥ १७ ॥

मासोपवासी मूलाशी फलाहारस्तथैव च ।
वायुभक्षोऽम्बुपिण्याकदधिगोमयभोजनः ॥ १८ ॥

कभी लगातार एक मासतक उपवास करता है । कभी [illegible] खाकर रहता है और कभी कन्द-मूलके भोजनसे निर्वाह करता है । कभी पानी-हवा पीकर रह जाता है । कभी तिलकी खली, कभी दही और कभी गोबर खाकर ही रहता है ॥ १८ ॥

गोमूत्रभोजनश्चैव शाकपुष्पाद एव च ।
शैवालभोजनश्चैव तथाऽऽचामेन वर्तयन् ॥ १९ ॥

कभी वह गोमूत्रका भोजन करनेवाला बनता है । कभी वह साग- फूल या सेवार खाता है तथा कभी जलका आचमन मात्र करके जीवन-निर्वाह करता है ॥ १९ ॥

वर्तयन् शीर्णपर्णैश्च प्रकीर्णफलभोजनः ।
विविधानि [illegible] कृच्छ्राणि सेवते सिद्धिकाङ्क्षया ॥ २० ॥

कभी सूखे पत्ते और पेड़से गिरे हुए फलोंको ही खाकर रह जाता है । इस प्रकार सिद्धि पानेकी अभिलाषासे वह नाना प्रकारके कठोर नियमोंका सेवन करता है ॥ २० ॥

चान्द्रायणानि विधिवल्लिङ्गानि विविधानि [illegible] ।
चातुराश्रम्यपन्थानमाश्रयत्यपथानपि ॥ २१ ॥

कभी विधिपूर्वक चान्द्रायण-व्रतका अनुष्ठान करता और अनेक प्रकारके धार्मिक चिह्न धारण करता है । कभी चारों आश्रमोंके मार्गपर चलता और कभी विपरीत पथका भी आश्रय लेता है ॥ २१ ॥

उपाश्रमानप्यपरान् पाषण्डान् विविधानपि ।
विविक्ताश्च शिलाच्छायास्तथा प्रस्रवणानि च ॥ २२ ॥

कभी नाना प्रकारके उपाश्रमों तथा भाँति-भाँतिके

---

१. किसी-किसी टीकाकारने 'सिध्मा' का अर्थ 'खाँसी' और 'दमा' भी किया है । परंतु कोष-प्रसिद्ध अर्थ 'सफेद [illegible] या सेहुँवा' ही है ।

पाखण्डोंको अपनाता है। कभी एकान्तमें शिलाखण्डोंकी छायामें बैठता और कभी झरनोंके समीप निवास करता है ॥ २२ ॥

पुलिनानि विविक्तानि विविक्तानि वनानि च ।
देवस्थानानि पुण्यानि विविक्तानि सरांसि च ॥ २३ ॥

कभी नदियोंके एकान्त तटोंमें, कभी निर्जन वनोंमें, कभी पवित्र देवमन्दिरोंमें तथा कभी एकान्त सरोवरोंके आसपास रहता है ॥ २३ ॥

विविक्ताश्चापि शैलानां गुहा गृहनिभोपमाः ।
विविक्तानि च जप्यानि व्रतानि विविधानि च ॥ २४ ॥
नियमान् विविधांश्चापि विविधानि तपांसि च ।
यज्ञांश्च विविधाकारान् विधींश्च विविधांस्तथा ॥ २५ ॥

कभी पर्वतोंकी एकान्त गुफाओंमें, जो गृहके समान ही होती हैं, निवास करता है । उन स्थानोंमें नाना प्रकारके गोपनीय जप, व्रत, नियम, तप, यज्ञ तथा अन्य भाँति-भाँतिके कर्मोंका अनुष्ठान करता है ॥ २४-२५ ॥

वणिक्पथं द्विजं क्षत्रं वैश्यशूद्रांस्तथैव च ।
दानं च विविधाकारं दीनान्धकृपणादिषु ॥ २६ ॥

वह कभी व्यापार करता, कभी ब्राह्मण और क्षत्रियोंके कर्तव्यका पालन करता तथा कभी वैश्यों और शूद्रोंके कर्मोंका आश्रय लेता । दीन-दुखी और अन्धोंको नाना प्रकारके दान देता है ॥ २६ ॥

अभिमन्यत्यसम्बोधात् तथैव त्रिविधान् गुणान् ।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव धर्मार्थौ काम एव च ॥ २७ ॥

अज्ञानवश वह अपनेमें सत्त्व, रज, तम—इन त्रिविध गुणों और धर्म, अर्थ एवं कामका अभिमान कर लेता है ॥

प्रकृत्याऽऽत्मानमेवात्मा एवं प्रविभजत्युत ।
स्वधाकारवषट्कारौ स्वाहाकारनमस्क्रियाः ॥ २८ ॥

इस प्रकार आत्मा प्रकृतिके द्वारा अपने ही स्वरूपके अनेक विभाग करता है । वह कभी स्वाहा, कभी स्वधा, कभी वषट्कार और कभी नमस्कारमें प्रवृत्त होता है ॥ २८ ॥

याजनाध्यापनं दानं तथैवाहुः प्रतिग्रहम् ।
यजनाध्ययने चैव यच्चान्यदपि किंचन ॥ २९ ॥

कभी यज्ञ करता और कराता, कभी वेद पढ़ता और पढ़ाता तथा कभी दान करता और प्रतिग्रह लेता है । इसी प्रकार वह दूसरे-दूसरे कार्य भी किया करता है ॥ २९ ॥

जन्ममृत्युविवादे च तथा विशसनेऽपि च ।
शुभाशुभमयं सर्वमेतदाहुः क्रियापथम् ॥ ३० ॥

कभी जन्म लेता, कभी मरता तथा कभी विवाद और संग्राममें प्रवृत्त रहता है । विद्वान् पुरुषोंका कहना है कि यह सब शुभाशुभ कर्ममार्ग है ॥ ३० ॥

प्रकृतिः कुरुते देवी भवं प्रलयमेव च ।
दिवसान्ते गुणानेतानभ्येत्यैकोऽवतिष्ठते ॥ ३१ ॥
रश्मिजालमिवादित्यस्तत् तत्काले नियच्छति ।

प्रकृतिदेवी ही जगत्की सृष्टि और प्रलय करती है । जैसे सूर्य प्रतिदिन प्रातःकाल अपनी किरणोंको फैलाता और सायंकालमें अपने किरण-जालको समेट लेता है, वैसे ही आदिपुरुष ब्रह्मा अपने दिन—कल्पके आरम्भमें तीनों गुणोंका विस्तार करता और अन्तमें सबको समेटकर अकेला ही रह जाता है ॥ ३१½ ॥

एवमेषोऽसकृत्पूर्वं क्रीडार्थमभिमन्यते ॥ ३२ ॥
आत्मरूपगुणानेतान् विविधान् हृदयप्रियान् ।

इस प्रकार प्रकृतिसे संयुक्त हुआ पुरुष तत्त्वज्ञान होनेसे पहले मनको प्रिय लगनेवाले नाना प्रकारके अपने व्यापारोंको क्रीडाके लिये बार-बार करता और उन्हें अपना कर्तव्य मानता है ॥ ३२½ ॥

एवमेतां विकुर्वाणः सर्गप्रलयधर्मिणीम् ॥ ३३ ॥
क्रियां क्रियापथे रक्तस्त्रिगुणां त्रिगुणाधिपः ।
क्रियां क्रियापथोपेतस्तथा तदिति मन्यते ॥ ३४ ॥

सृष्टि और प्रलय जिसके धर्म हैं, उस त्रिगुणमयी प्रकृतिको विकृत करके तीनों गुणोंका स्वामी आत्मा कर्ममार्गमें अनुरक्त और प्रवृत्त हो उस प्रकृतिके द्वारा होनेवाले प्रत्येक त्रिगुणात्मक कार्यको अपना मान लेता है ॥ ३३-३४ ॥

प्रकृत्या सर्वमेवेदं जगदन्धीकृतं विभो ।
रजसा तमसा चैव व्याप्तं सर्वमनेकधा ॥ ३५ ॥

प्रभो ! प्रकृतिने इस सम्पूर्ण जगत्को अन्धा बना दिया है । उसीके संयोगसे समस्त पदार्थ अनेक प्रकारसे रजोगुण और तमोगुणसे व्याप्त हो रहे हैं ॥ ३५ ॥

एवं द्वन्द्वान्यथैतानि समावर्तन्ति नित्यशः ।
ममैवैतानि जायन्ते धावन्ते तानि मामिति ॥ ३६ ॥
निस्तर्तव्यान्यथैतानि सर्वाणीति नराधिप ।
मन्यतेऽयं ह्यबुद्धत्वात् तथैव सुकृतान्यपि ॥ ३७ ॥
भोक्तव्यानि मयैतानि देवलोकगतेन वै ।
इहैव चैनं भोक्ष्यामि शुभाशुभफलोदयम् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार प्रकृतिकी प्रेरणासे स्वभावतः सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंकी सदा पुनरावृत्ति होती रहती है; किंतु जीवात्मा अज्ञानवश यह मान बैठता है कि ये सारे द्वन्द्व मुझपर ही धावा करते हैं और मुझे इनसे निस्तार पानेकी चेष्टा करनी चाहिये । (ऐसा मानकर वह दुखी होता है) नरेश्वर ! प्रकृतिसे संयुक्त हुआ पुरुष अज्ञानवश यह मान लेता है कि मैं देवलोकमें जाकर अपने समस्त पुण्योंके फलका उपभोग करूँगा और पूर्वजन्मके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका जो फल प्रकट हो रहा है, उसे यहीं भोगूँगा ॥ ३६-३८ ॥

सुखमेव तु कर्तव्यं सकृत् कृत्वा सुखं मम ।
यावदन्तं च मे सौख्यं जात्यां जात्यां भविष्यति ॥ ३९ ॥

अब मुझे सुखके साधनभूत पुण्यका ही अनुष्ठान करना चाहिये । उसका एक बार भी अनुष्ठान कर लेनेपर मुझे

आजीवन सुख मिलेगा तथा भविष्यमें भी प्रत्येक जन्ममें सुखकी प्राप्ति होती रहेगी ॥ ३९ ॥

भविष्यति च मे दुःखं कृतेनेहाप्यनन्तकम्।
महद् दुःखं हि मानुष्यं निरये चापि मज्जनम् ॥ ४० ॥

यदि इस जन्ममें मैं बुरे कर्म करूँगा तो मुझे यहाँ भी अनन्त दुःख भोगना पड़ेगा। यह मानव-जन्म महान् दुःखसे भरा हुआ है। इसके सिवा पापके फलसे नरकमें भी डूबना पड़ेगा ॥ ४० ॥

निरयाच्चापि मानुष्यं कालेनैष्याम्यहं पुनः।
मनुष्यत्वाच्च देवत्वं देवत्वात् पौरुषं पुनः ॥ ४१ ॥

नरकसे दीर्घकालके बाद छुटकारा मिलनेपर मैं पुनः मनुष्यलोकमें जन्म लूँगा। मानवयोनिसे पुण्यके फलस्वरूप देवयोनिमें जाऊँगा और वहाँसे पुण्य-क्षीण होनेपर पुनः मानव-शरीरमें जन्म लूँगा ॥ ४१ ॥

मनुष्यत्वाच्च निरयं पर्यायेणोपगच्छति।
य एवं वेत्ति नित्यं वै निरात्माऽऽत्मगुणैर्वृतः ॥ ४२ ॥
तेन देवमनुष्येषु निरये चोपपद्यते।

इसी तरह बारी-बारीसे वह जीव मानव-योनिसे नरकमें (और नरकसे मानवयोनिमें) आता-जाता रहता है। आत्मासे भिन्न [illegible] आत्माके गुण चैतन्य आदिसे युक्त जो इन्द्रियोंका समुदाय शरीरमें ऐसी भावना [illegible] है कि 'यह [illegible] हूँ' वही देवलोक, मनुष्यलोक, नरक तथा तिर्यग्योनिमें जाता है ॥ ४२½ ॥

ममत्वेनावृतो नित्यं तत्रैव परिवर्तते ॥ ४३ ॥
सर्गकोटिसहस्राणि मरणान्तासु मूर्तिषु।

स्त्री-पुत्र आदिके प्रति ममतासे बँधा हुआ पुरुष उन्हींके संसर्गमें रहकर सहस्र-सहस्र कोटि सृष्टिपर्यन्त नश्वर शरीरोंमें ही सदा चक्कर लगाता रहता है ॥ ४३½ ॥

य एवं कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम् ॥ ४४ ॥
स एवं फलमाप्नोति त्रिषु लोकेषु मूर्तिमान्।

जो इस प्रकार शुभाशुभ फल देनेवाला कर्म करता है, वही तीनों लोकोंमें शरीर धारण करके इन उपर्युक्त फलोंको पाता है ॥ ४४½ ॥

प्रकृतिः कुरुते कर्म शुभाशुभफलात्मकम्।
प्रकृतिश्च तदश्नाति त्रिषु लोकेषु कामगा ॥ ४५ ॥

वास्तवमें तो प्रकृति ही शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करती है और तीनों लोकोंमें इच्छानुसार विचरण करनेवाली वह प्रकृति ही उन कर्मोंका फल भोगती है (किंतु पुरुष अज्ञानके कारण कर्ता-भोक्ता बन जाता है) ॥ ४५ ॥

तिर्यग्योनिमनुष्यत्वं देवलोके [illegible] च।
त्रीणि स्थानानि चैतानि जानीयात् प्राकृतानि ह ॥ ४६ ॥

तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि तथा देवलोकमें देवयोनि—ये कर्म-फल-भोगके तीन स्थान हैं। इन सबको प्राकृत समझो ॥

अलिङ्गां प्रकृतिं त्वाहुर्लिङ्गैरनुमिमीमहे।
तथैव पौरुषं लिङ्गमनुमानाद्धि मन्यते ॥ ४७ ॥

मुनिगण प्रकृतिको लिङ्गरहित बताते हैं; किंतु हमलोग विशेष हेतुओंके द्वारा ही उसका अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार अनुमानद्वारा ही हमें पुरुषके स्वरूपका अर्थात् उसके होनेका ज्ञान होता है ॥ ४७ ॥

[illegible] लिङ्गान्तरमासाद्य प्राकृतं लिङ्गमव्रणः।
व्रणद्वाराण्यधिष्ठाय कर्मण्यात्मनि मन्यते ॥ ४८ ॥

पुरुष स्वयं छिद्ररहित होते हुए भी प्रकृतिनिर्मित चिह्नस्वरूप विभिन्न शरीरोंका अवलम्बन करके छिद्रोंमें स्थित रहनेवाली इन्द्रियोंका अधिष्ठाता बनकर उन सबके कर्मोंको अपनेमें मान लेता है ॥ ४८ ॥

श्रोत्रादीनि तु सर्वाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाण्यथ।
वागादीनि प्रवर्तन्ते गुणेष्विह गुणैः सह ॥ ४९ ॥

इस जगत्में श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने गुणोंके साथ गुणमय शरीरोंमें स्थित हैं ॥ ४९ ॥

अहमेतानि वै सर्वं मय्येतानीन्द्रियाणि ह।
निरिन्द्रियो हि मन्येत व्रणवानस्मि निर्व्रणः ॥ ५० ॥

किंतु यह जीव वास्तवमें इन्द्रियोंसे रहित है तो भी यह [illegible] है कि मैं ही ये सब कर्म करता हूँ और मुझमें ही सब इन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार यह छिद्रशून्य होकर भी अपनेको छिद्रयुक्त मानता है ॥ ५० ॥

अलिङ्गो लिङ्गमात्मानमकालः कालमात्मनः।
असत्त्वं सत्त्वमात्मानमतत्त्वं तत्त्वमात्मनः ॥ ५१ ॥

वह लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरसे हीन होनेपर भी अपनेको उससे युक्त मानता है। कालधर्म (मृत्यु) से रहित होकर भी अपनेको कालधर्मी (मरणशील) समझता है। सत्त्वसे भिन्न होकर भी अपनेको सत्त्वरूप मानता है तथा महाभूतादि तत्त्वसे रहित होकर भी अपने आपको तत्त्वस्वरूप समझता है ॥ ५१ ॥

अमृत्युर्मृत्युमात्मानमचरश्चरमात्मनः।
अक्षेत्रः क्षेत्रमात्मानमसर्गः सर्गमात्मनः ॥ ५२ ॥

वह मृत्युसे सर्वथा रहित है तो भी अपनेको मृत्युग्रस्त मानता है। अचर होनेपर भी अपनेको चलने फिरनेवाला मानता है। क्षेत्रसे भिन्न होनेपर भी अपनेको क्षेत्र मानता है। सृष्टिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होनेपर भी सृष्टिको अपनी ही समझता है ॥ ५२ ॥

अतपास्तप आत्मानमगतिर्गतिमात्मनः।
अभवो भवमात्मानमभयो भयमात्मनः ॥ ५३ ॥
अक्षरः क्षरमात्मानमबुद्धिस्त्वभिमन्यते ॥ ५४ ॥

वह कभी तप नहीं करता तो भी अपनेको तपस्वी

मानता है। कहीं गमन नहीं करता तो भी अपनेको आने-जानेवाला समझता है। संसाररहित होकर भी अपनेको संसारी और निर्भय होकर भी अपनेको भयभीत मानता है। यद्यपि वह अक्षर (अविनाशी) है तो भी अपनेको [illegible] (नाशवान्) समझता है तथा बुद्धिसे परे होनेपर भी बुद्धिमत्ताका अभिमान रखता है ॥ ५३-५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे त्र्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०३ ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०३ ॥

चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृतिके संसर्गदोषसे जीवका पतन

वसिष्ठ उवाच

एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धजनसेवनात् ।
सर्गकोटिसहस्राणि पतनान्तानि गच्छति ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन्! इस तरह अज्ञानके कारण अज्ञानी पुरुषोंका सग करनेसे जीवका निरन्तर पतन होता है तथा उसे हजारों-करोड़ बार [illegible] लेने पड़ते हैं ॥ १ ॥

[illegible] धामसहस्राणि मरणान्तानि गच्छति ।
तिर्यग्योनिमनुष्यत्वे देवलोके तथैव च ॥ २ ॥

वह पशु-पक्षी, मनुष्य [illegible] देवताओंकी योनियोंमें [illegible] एक स्थानसे सहस्रों स्थानोंमें बारबार मरकर जाता और जन्म लेता है ॥ २ ॥

चन्द्रमा इव भूतानां पुनस्तत्र सहस्रशः ।
लीयतेऽप्रतिबुद्धत्वादेवमेष ह्यबुद्धिमान् ॥ ३ ॥

जैसे चन्द्रमाका सहस्रों बार [illegible] और सहस्रों बार वृद्धि होती रहती है, उसी [illegible] अज्ञानी जीव भी अज्ञानवश ही सहस्रों बार लयको [illegible] होता है (और जन्म लेता है)॥ ३ ॥

[illegible] पञ्चदशी योनिस्तद्धाम प्रतिबुध्यते ।
नित्यमेतद् विजानीहि सोमं वै षोडशीं कलाम् ॥ ४ ॥

राजन्! चन्द्रमाकी पंद्रह कलाओंके समान जीवोंकी [illegible] कलाएँ ही उत्पत्तिके [illegible] हैं। अज्ञानी जीव उन्हींको अपना [illegible] समझता है; परंतु उसकी जो सोलहवीं कला है, उसको तुम नित्य समझो। वह चन्द्रमाकी अमा नामक सोलहवीं कलाके समान है ॥ ४ ॥

कलायां जायतेऽजस्रं पुनः पुनरबुद्धिमान् ।
धाम तस्योपयुञ्जन्ति भूय एवोपजायते ॥ ५ ॥

अज्ञानी जीव सदा बारंबार उन्हीं कलाओंमें स्थित हुआ जन्म ग्रहण करता है। वे ही कलाएँ जीवके आश्रय लेने-योग्य हैं, अतः जीवका उन्हींसे पुनः-पुनः जन्म होता रहता है ॥ ५ ॥

षोडशी [illegible] [illegible] सूक्ष्मा स सोम उपधार्यताम् ।
[illegible] तूपयुज्यते देवैर्देवानुपयुनक्ति सा ॥ ६ ॥

[illegible] नामक जो सोलहवीं सूक्ष्म कला है, वही सोम है अर्थात् जीवकी प्रकृति है, यह तुम निश्चितरूपसे जान लो। देवतालोग अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियगण जिनको पंद्रह कलाओंके नामसे कहा गया, वे [illegible] सोलहवीं कलाका उपयोग नहीं कर सकते; किंतु वे सोलहवीं [illegible] अर्थात् उन सबकी कारणभूता प्रकृति ही उनका उपयोग करती है ॥ ६ ॥

एतामक्षपयित्वा हि जायते नृपसत्तम ।
[illegible] [illegible] प्रकृतिर्दृष्टा तत्क्षयान्मोक्ष उच्यते ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ! जीव अपने अज्ञानवश [illegible] सोलहवीं कला-रूप प्रकृतिके संयोगका क्षय नहीं कर पाता, इसलिये बारंबार जन्म ग्रहण करता है। वह ही कला जीवकी प्रकृति अर्थात् उत्पत्तिका कारण देखी गयी है। उसके संयोगका क्षय होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति बतायी जाती है ॥ ७ ॥

तदेव षोडशकलं देहमव्यक्तसंज्ञकम् ।
ममायमिति मन्वानस्तत्रैव परिवर्तते ॥ ८ ॥

(मूल प्रकृति, दस इन्द्रियाँ—एक प्राण और चार प्रकारका अन्तःकरण—इन) सोलह कलाओंसे युक्त जो यह सूक्ष्मशरीर है, इसे 'यह मेरा है' ऐसा माननेके कारण अज्ञानी जीव उसीमें भटकता रहता है ॥ ८ ॥

पञ्चविंशो महानात्मा तस्यैवाप्रतिबोधनात् ।
विमलस्य विशुद्धस्य शुद्धाशुद्धनिषेवणात् ॥ ९ ॥
अशुद्ध एव शुद्धात्मा तादृग् भवति पार्थिव ।
अबुद्धसेवनाच्चापि बुद्धोऽप्यबुद्धतां व्रजेत् ॥ १० ॥

पचीसवाँ तत्त्वरूप जो महान् आत्मा है, वह निर्मल एवं विशुद्ध है। उसको न जाननेके कारण तथा शुद्ध-अशुद्ध वस्तुओंके सेवनसे वह निर्मल, संगरहित आत्मा भी [illegible] और अशुद्ध वस्तुओंके सदृश हो जाता है। पृथ्वीनाथ! अविवेकी-के संगसे विवेकशील भी अविवेकी हो जाता है ॥ ९-१० ॥

तथैवाप्रतिबुद्धोऽपि विज्ञेयो नृपसत्तम ।
प्रकृतेस्त्रिगुणायास्तु सेवनात् त्रिगुणो भवेत् ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मूर्ख भी विवेकशीलका संग करनेसे विवेकशील हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये। त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके सम्बन्धसे निर्गुण आत्मा भी त्रिगुणमय सा हो जाता है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे चतुरधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०४ ॥

पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

क्षर-अक्षर एवं प्रकृति-पुरुषके विषयमें राजा जनककी शङ्का और उसका वसिष्ठजीद्वारा उत्तर

जनक उवाच

अक्षरक्षरयोरेष द्वयोः सम्बन्ध इष्यते।
स्त्रीपुंसोर्वापि भगवन् सम्बन्धस्तद्वदुच्यते ॥ १ ॥

राजा जनकने कहा—भगवन् ! क्षर और अक्षर (प्रकृति और पुरुष) दोनोंका यह सम्बन्ध वैसा ही माना जाता है, जैसा कि नारी और पुरुषका दाम्पत्य-सम्बन्ध बताया जाता है ॥ १ ॥

ऋते तु पुरुषं नेह स्त्री गर्भं धारयत्युत।
ऋते स्त्रियं न पुरुषो रूपं निर्वर्तयेत् तथा ॥ २ ॥

इस जगत्‌मे न तो पुरुषके बिना स्त्री गर्भ धारण कर सकती है और न स्त्रीके बिना कोई पुरुष ही किसी शरीरको उत्पन्न कर सकता है ॥ २ ॥

अन्योन्यस्याभिसम्बन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात्।
रूपं निर्वर्तयत्येतदेवं सर्वासु योनिषु ॥ ३ ॥

दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धसे एक दूसरेके गुणोंका आश्रय लेकर ही किसी शरीरका निर्माण होता है। प्रायः सभी योनियोंमें ऐसी ही स्थिति है ॥ ३ ॥

रत्यर्थमभिसम्बन्धादन्योन्यगुणसंश्रयात्।
ऋतौ निर्वर्त्यते रूपं तद् वक्ष्यामि निदर्शनम् ॥ ४ ॥
ये गुणाः पुरुषस्येह ये च मातृगुणास्तथा।
अस्थि स्नायुश्च मज्जा च जानीमः पितृतो गुणाः ॥ ५ ॥
त्वङ्मांसं शोणितं चेति मातृजान्यपि शुश्रुम।
एवमेतद् द्विजश्रेष्ठ वेदे शास्त्रे च पठ्यते ॥ ६ ॥

जब स्त्री ऋतुमती होती है, उस समय रतिके लिये पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध होनेसे दोनोंके गुणोंका मिश्रण होनेपर शरीरकी उत्पत्ति होती है। शरीरमें पुरुष अर्थात् पिताके जो गुण हैं तथा माताके जो गुण है, उन्हें मैं दृष्टान्तके तौरपर बता रहा हूँ। हड्डी, स्नायु और मज्जा—इन्हें मैं पितासे पैदा हुए गुण समझता हूँ तथा त्वचा, मांस और रक्त—ये मातासे पैदा हुए गुण हैं, ऐसा मैंने सुना है। द्विजश्रेष्ठ ! यही बात वेद और शास्त्रमें भी पढ़ी जाती है ॥ ४—६ ॥

प्रमाणं यत् स्ववेदोक्तं शास्त्रोक्तं यच्च पठ्यते।
वेदशास्त्रद्वयं चैव प्रमाणं तत् सनातनम् ॥ ७ ॥

वेदोंमें जो प्रमाण बताया गया है तथा शास्त्रमें कहे हुए जिस प्रमाणको पढ़ा और सुना जाता है, वह सब ठीक है; क्योंकि वेद और शास्त्र दोनों ही सनातन प्रमाण हैं ॥ ७ ॥

अन्योन्यगुणसंरोधादन्योन्यगुणसंश्रयात्।
एवमेवाभिसम्बद्धौ नित्यं प्रकृतिपूरुषौ ॥ ८ ॥
पश्यामि भगवंस्तस्मान्मोक्षधर्मो न विद्यते।

भगवन् ! इस प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनों ही एक दूसरेके गुणोंको आच्छादित करके एक दूसरेके गुणोंका आश्रय* लेते हुए सृष्टि करते हैं। इस तरह मैं इन दोनोंको सदा एक दूसरेसे सम्बद्ध देखता हूँ। अतः पुरुषके लिये मोक्ष-धर्मकी सिद्धि असम्भव जान पड़ती है ॥ ८½ ॥

अथवानन्तरकृतं किंचिदेव निदर्शनम् ॥ ९ ॥
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन प्रत्यक्षो ह्यसि सर्वदा।

अथवा पुरुषके मोक्षका साक्षात्कार करानेवाला कोई दृष्टान्त हो तो आप उसे बताइये और मुझे ठीक-ठीक समझा दीजिये; क्योंकि आपको सदा सब कुछ प्रत्यक्ष है ॥ ९½ ॥

मोक्षकामा वयं चापि काङ्क्षामो यदनामयम्।
अदेहमजरं नित्यमतीन्द्रियमनीश्वरम् ॥ १० ॥

मैं भी मोक्षकी अभिलाषा रखता हूँ और उस परम पदको पाना चाहता हूँ, जो निर्विकार, निराकार, अजर, अमर, नित्य और इन्द्रियातीत है तथा जिसे प्राप्त हुए पुरुषका कोई शासक नहीं रह जाता ॥ १० ॥

वसिष्ठ उवाच

यदेतदुक्तं भवता वेदशास्त्रनिदर्शनम्।
एवमेतद् यथा चैतन्निगृह्णाति तथा भवान् ॥ ११ ॥

वसिष्ठजीने कहा—राजन् ! तुमने वेद और शास्त्रोंके दृष्टान्त देकर यह जो कुछ कहा है, वह ठीक है। तुम जैसा समझते हो, वैसी ही बात है ॥ ११ ॥

धार्यते हि त्वया ग्रन्थ उभयोर्वेदशास्त्रयोः।
न तु ग्रन्थस्य तत्त्वज्ञो यथातत्त्वं नरेश्वर ॥ १२ ॥

* पुरुष प्रकृतिकी जड़ताको आच्छादित करके उसके गुणका आश्रय लेता है तथा प्रकृति पुरुषके आनन्दगुणको आच्छादित करके उसके चैतन्य गुणका आश्रय लेती है। तात्पर्य यह कि प्रकृतिके संयोगसे पुरुष आनन्दसे वञ्चित हो दुःखका भागी होता है और प्रकृति पुरुषके संगसे अपनी जड़ताको भुलाकर चेतनकी भाँति कर्म करने लगती है।

नरेश्वर ! इसमें संदेह नहीं [illegible] वेद-शास्त्रोंमें जो कुछ लिखा है, [illegible] तुम्हें याद है; परंतु ग्रन्थके यथार्थ [illegible] तुम्हें ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है ॥ १२ ॥

यो [illegible] वेदे [illegible] शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः ।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा ॥ १३ ॥

जो वेद और शास्त्रके ग्रन्थोंको तो याद रखनेमें तत्पर है, किंतु उनके यथार्थ तत्त्वको नहीं समझता, [illegible] याद रखना व्यर्थ है ॥ १३ ॥

भारं [illegible] वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः ।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ॥ १४ ॥

जो ग्रन्थके अर्थको नहीं समझता, वह केवल रटकर मानो उन ग्रन्थोंका बोझ ढोता है; परंतु जो ग्रन्थके अर्थको [illegible] समझता है, उसके [illegible] ग्रन्थका अध्ययन व्यर्थ नहीं है ॥ १४ ॥

ग्रन्थस्यार्थस्य पृष्टः संस्तादृशो वक्तुमर्हति ।
[illegible] तत्त्वाभिगमनादर्थं [illegible] स विन्दति ॥ १५ ॥

ऐसा पुरुष पूछनेपर तत्त्वज्ञानपूर्वक ग्रन्थके अर्थको जैसा समझता है, वैसा दूसरोंको भी बता सकता है ॥ १५ ॥

न यः संसत्सु कथयेद् ग्रन्थार्थं स्थूलबुद्धिमान् ।
[illegible] कथं मन्दविज्ञानो ग्रन्थं वक्ष्यति निर्णयात् ॥ १६ ॥

जो स्थूल एवं मन्दबुद्धिसे [illegible] होनेके कारण विद्वानोंकी सभामें शास्त्रग्रन्थका अर्थ नहीं बता सकता, [illegible] निर्णयपूर्वक उस ग्रन्थका तात्पर्य कैसे कह सकता है ? ॥ १६ ॥

निर्णयं चापि छिद्रात्मा [illegible] तं वक्ष्यति तत्त्वतः ।
सोपहासात्मतामेति यस्माच्चैवात्मवानपि ॥ १७ ॥

जिसका चित्त शास्त्रज्ञानसे शून्य है, वह ग्रन्थके तात्पर्यका ठीक-ठीक निर्णय कर ही नहीं [illegible] । यदि वह [illegible] कहता है तो मनस्वी होनेपर भी लोगोंके उपहासका पात्र बनता है ॥ १७ ॥

तस्मात् त्वं [illegible] राजेन्द्र यथैतदनुदृश्यते ।
याथातथ्येन सांख्येषु योगेषु च महात्मसु ॥ १८ ॥

इसलिये राजेन्द्र ! सांख्य और योगके [illegible] महात्मा पुरुषोंके मतमें मोक्षका जैसा स्वरूप देखा [illegible] है, उसे [illegible] तुम्हें यथार्थरूपसे बताता हूँ, सुनो ॥ १८ ॥

यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स बुद्धिमान् ॥ १९ ॥

योगी जिस तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, सांख्यवेत्ता विद्वान् भी उसीका ज्ञा[illegible] प्राप्त करते हैं । जो सांख्य और योगको फलकी दृष्टिसे एक समझता है, [illegible]ही बुद्धिमान् है ॥ १९ ॥

त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जा च स्नायु च ।
अथ चैन्द्रियकं तात तद् भवानिदमाह माम् ॥ २० ॥

तात ! तुम मुझसे [illegible] चुके हो [illegible] शरीरमें जो त्वचा, मांस, रुधिर, मेदा, पित्त, मज्जा, स्नायु और इन्द्रिय-समुदाय हैं (वे सब माता-पिताके सम्बन्धसे प्रकट हुए हैं) ॥ २० ॥

द्रव्याद् द्रव्यस्य निर्वृत्तिरिन्द्रियादिन्द्रियं तथा ।
देहाद् देहमवाप्नोति बीजाद् बीजं तथैव च ॥ २१ ॥

जैसे बीजसे बीजकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार द्रव्यसे द्रव्य, इन्द्रियसे इन्द्रिय [illegible] देहसे देहकी प्राप्ति होती है ॥ २१ ॥

निरिन्द्रियस्याबीजस्य निर्द्रव्यस्याप्यदेहिनः ।
कथं गुणा भविष्यन्ति निर्गुणत्वान्महात्मनः ॥ २२ ॥

परंतु परमात्मा तो इन्द्रिय, बीज, द्रव्य और देहसे रहित तथा निर्गुण है; अतः उसमें गुण कैसे हो सकते हैं ॥

गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निविशन्ति च ।
एवं गुणाः प्रकृतितो जायन्ते निविशन्ति च ॥ २३ ॥

जैसे आकाश आदि गुण सत्त्व आदि गुणोंसे [illegible] होते और उन्हींमें लीन हो जाते हैं; उसी प्रकार सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण भी प्रकृतिसे [illegible] होते और उसीमें लीन होते हैं ॥ २३ ॥

त्वङ्मांसं रुधिरं मेदः पित्तं मज्जास्थि स्नायु च ।
अष्टौ [illegible] शुक्रेण जानीहि प्राकृतानि वै [illegible] ॥ २४ ॥

राजन् ! तुम यह जान लो कि त्वचा, मांस, रुधिर, मेदा, पित्त, मज्जा, अस्थि और स्नायु—ये आठों वस्तुएँ वीर्य-[illegible] उत्पन्न हुई हैं; इसलिये प्राकृत ही हैं ॥ २४ ॥

पुमांश्चैवापुमांश्चैव त्रैलिङ्ग्यं प्राकृतं स्मृतम् ।
न वापुमान् पुमांश्चैव [illegible] लिङ्गीत्यभिधीयते ॥ २५ ॥

पुरुष और प्रकृति—ये दो तत्त्व हैं । इनके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले जो तीन प्रकारके सात्त्विक, राजस और तामस चिह्न हैं, वे [illegible] प्राकृत माने गये हैं; परंतु जो लिङ्गी अर्थात् इन [illegible] आधार [illegible] है, वह न पुरुष [illegible] सकता है और न प्रकृति ही । वह इन दोनोंसे विलक्षण है ॥ २५ ॥

अलिङ्गात् प्रकृतिर्लिङ्गैरुपलभ्यति सात्मजैः ।
यथा पुष्पफलैर्नित्यमृतवोऽमूर्तयस्तथा ॥ २६ ॥

जैसे फूलों और फलोंद्वारा सदा निराकार ऋतुओंका अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार निराकार पुरुषका संयोग [illegible] होनेके द्वारा उत्पन्न [illegible] हुए जो महत्तत्त्व आदि लिङ्ग हैं, उन्हींके [illegible] प्रकृति अनुमानका विषय होती है ॥

एवमप्यनुमानेन ह्यलिङ्गमुपलभ्यते ।
पञ्चविंशतिमस्तात लिङ्गेषु नियतात्मकः ॥ २७ ॥

इसी [illegible] लिङ्गसे भिन्न जो [illegible] चेतनरूप आत्मा है, वह भी अनुमानसे बोधका विषय होता है अर्थात् [illegible] दृश्यको प्रकाशित करनेके कारण सूर्य दृश्यसे भिन्न है, उसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप आत्मा भी ज्ञेय वस्तुओंको प्रकाशित करनेके कारण उनसे भिन्न [illegible] रखता है । तात ! वही पचीसवाँ [illegible] है, जो सभी लिङ्गोंमें नियतरूपसे व्याप्त है ॥

अनादिनिधनोऽनन्तः सर्वदर्शी निरामयः।
केवलं त्वभिमानित्वाद् गुणेषु गुण उच्यते ॥ २८ ॥

आत्मा तो जन्म-मृत्युसे रहित, अनन्त, सबका [illegible] और निर्विकार है। वह सत्त्व आदि गुणोंमें केवल अभिमान करनेके कारण ही गुणस्वरूप कहलाता है ॥ २८ ॥

गुणा गुणवतः सन्ति निर्गुणस्य कुतो गुणाः।
तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः ॥ २९ ॥
यदा त्वेष गुणानेतान् प्राकृतानभिमन्यते।
तदा स गुणहान्यै तं परमेवानुपश्यति ॥ ३० ॥

गुण तो गुणवान्‌में ही रहते हैं। निर्गुण आत्मामें गुण कैसे रह सकते हैं। [illegible] गुणोंके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् पुरुषोंका यही सिद्धान्त है कि जब जीवात्मा इन गुणोंको प्रकृतिका कार्य मानकर उनमें अपनेपनका अभिमान त्याग देता है, उस समय वह देह आदिमें आत्मबुद्धिका परित्याग करके अपने विशुद्ध परमात्मस्वरूपका साक्षात्कार करता है ॥

यत् तद् बुद्धेः परं प्राहुः सांख्या योगाश्च सर्वशः।
बुद्ध्यमानं महाप्राज्ञमबुद्धपरिवर्जनात् ॥ ३१ ॥
अप्रबुद्धमथाव्यक्तं सगुणं प्राहुरीश्वरम्।
निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च ॥ ३२ ॥
प्रकृतेश्च गुणानां च पञ्चविंशतिकं बुधाः।
सांख्ययोगे च [illegible] बुध्यन्ते परमैषिणः ॥ ३३ ॥

सांख्य और योगके सम्पूर्ण विद्वान् जिसको बुद्धिसे परे बताते हैं, जो परम ज्ञानसम्पन्न है, अहंकार आदि जड तत्त्वोंका परित्याग (बाध) कर देनेपर शेष रहे हुए चिन्मय तत्त्वके रूपमें जिसका बोध होता है, जो अज्ञात, अव्यक्त, सगुण ईश्वर, निर्गुण ईश्वर, नित्य और अधिष्ठाता कहा गया है, [illegible] ही प्रकृति और उसके गुणों (चौबीस तत्त्वों) की अपेक्षा पचीसवाँ तत्त्व है, ऐसा सांख्य और योगमें कुशल [illegible] परमतत्त्वकी खोज करनेवाले विद्वान् पुरुष समझते हैं ॥ ३१–३३ ॥

यदा प्रबुद्धा ह्यव्यक्तमवस्थाजन्मभीरवः।
बुध्यमानं प्रबुध्यन्ति गमयन्ति समं तदा ॥ ३४ ॥

जिस समय बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था अथवा जन्म-मरणसे भयभीत हुए विवेकी पुरुष चेतन-स्वरूप अव्यक्त परमात्माके तत्त्वको ठीक-ठीक समझ लेते हैं, उस समय उन्हें परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ३४ ॥

एतन्निदर्शनं सम्यगसम्यगनिदर्शनम्।
बुध्यमानाप्रबुद्धानां पृथक्पृथगरिंदम ॥ ३५ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश! ज्ञानी पुरुषोंका यह ज्ञान युक्तियुक्त होनेके कारण उत्तम और (अज्ञानियोंकी धारणासे) पृथक् है। इसके विपरीत अज्ञानी पुरुषोंका जो अप्रामाणिक ज्ञान है, [illegible] युक्तियुक्त न होनेके कारण ठीक नहीं है। यह पूर्वोक्त सम्यक् ज्ञानसे पृथक् है ॥ ३५ ॥

परस्परेणैतदुक्तं क्षराक्षरनिदर्शनम्।
एकत्वमक्षरं प्राहुर्नानात्वं क्षरमुच्यते ॥ ३६ ॥

[illegible] और अक्षरके तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाला यह दर्शन मैंने तुम्हें बताया है। [illegible] और अक्षरमें परस्पर क्या अन्तर है? इसे इस प्रकार समझो—सदा एकरूपमें रहनेवाले परमात्मतत्त्वको अक्षर बताया गया है और नाना रूपोंमें प्रतीत होनेवाला यह प्राकृत प्रपञ्च क्षर कहलाता है ॥ ३६ ॥

पञ्चविंशतिनिष्ठोऽयं यदा सम्यक् प्रवर्तते।
एकत्वं दर्शनं [illegible] नानात्वं चाप्यदर्शनम् ॥ ३७ ॥

जब यह पुरुष पचीसवें तत्त्वस्वरूप परमात्मामें स्थित हो [illegible] है, तब उसकी स्थिति [illegible] बतायी जाती है—वह ठीक बर्ताव करता है, ऐसा माना [illegible] है। एकत्वका बोध ही [illegible] है और नानात्वका बोध ही अज्ञान है ॥ ३७ ॥

तत्त्वनिस्तत्त्वयोरेतत् पृथगेव निदर्शनम्।
पञ्चविंशतिसर्गं तु तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥ ३८ ॥
निस्तत्त्वं पञ्चविंशस्य परमाहुर्निदर्शनम्।
सर्गस्य वर्गमाधारं तत्त्वं तत्त्वात् सनातनम् ॥ ३९ ॥

[illegible] (क्षर) और निस्तत्त्व (अक्षर) [illegible] यह पृथक् पृथक् [illegible] समझना चाहिये। कुछ मनीषी पुरुष पचीस तत्त्वोंको ही [illegible] कहते हैं; परंतु दूसरे विद्वानोंने चौबीस जड तत्त्वोंको तो तत्त्व कहा है और पचीसवें चेतन परमात्माको निस्तत्त्व (तत्त्वसे भिन्न) बताया है। यह चैतन्य ही परमात्मा- [illegible] है। महत्तत्त्व आदि जो विकार हैं, वे क्षरतत्त्व हैं और परम पुरुष परमात्मा उन 'क्षर' तत्त्वोंसे भिन्न उनका [illegible] आधार है ॥ ३८-३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे पञ्चाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्म-पर्वमें वसिष्ठकरालजनकसंवादविषयक तीन सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०५ ॥

षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः

योग और सांख्यके स्वरूपका वर्णन तथा आत्मज्ञानसे मुक्ति

जनक उवाच

नानात्वैकत्वमित्युक्तं त्वयैतदृषिसत्तम।
पश्याम्येतद्धि संदिग्धमेतयोर्वै निदर्शनम् ॥ १ ॥

जनकने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! आपने क्षरको [illegible] और अक्षरको एकरूप बताया; किंतु इन दोनोंके तत्त्वका जो निर्णय किया गया है, उसे मैं अब भी संदेहकी दृष्टिसे [illegible] देखता हूँ ॥ १ ॥

मिथिलेश्वर ! जब योगी मनके द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियोंको और बुद्धिके द्वारा मनको स्थिर करके पत्थरकी भाँति अविचल हो जाय, सूखे काठकी भाँति निष्कम्प और पर्वतकी तरह स्थिर रहने लगे तभी शास्त्रके विधानको जाननेवाले विद्वान् पुरुष अपने अनुभवसे ही उसको योगयुक्त कहते हैं ॥ १४-१५ ॥

न शृणोति न चाघ्राति न रस्यति न पश्यति।
न च स्पर्शं विजानाति न संकल्पयते मनः ॥ १६ ॥
न चाभिमन्यते किंचिन्न च बुध्यति काष्ठवत्।
तदा प्रकृतिमापन्नं युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १७ ॥

जिस समय वह न तो सुनता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न देखता है और न स्पर्शका ही अनुभव करता है, जब उसके मनमें किसी प्रकारका संकल्प नहीं उठता तथा काठकी भाँति स्थित होकर वह किसी भी वस्तुका अभिमान या सुख-दुःख नहीं रखता, उसी समय मनीषी पुरुष उसे अपने शुद्धस्वरूपको प्राप्त एवं योगयुक्त कहते हैं ॥ १६-१७ ॥

निर्वाते हि यथा दीप्यन् दीपस्तद्वत् प्रकाशते।
निर्लिङ्गोऽविचलश्चोर्ध्वं न तिर्यग् गतिमाप्नुयात् ॥ १८ ॥

उस अवस्थामें वह वायुरहित स्थानमें रखे हुए निश्चल-भावसे प्रज्वलित दीपककी भाँति प्रकाशित होता है। लिङ्ग शरीरसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह ऐसा निश्चल हो जाता है कि उसकी ऊपर-नीचे अथवा मध्यमें कहीं भी गति नहीं होती ॥ १८ ॥

तदा तमनुपश्येत यस्मिन् दृष्टे न कथ्यते।
हृदयस्थोऽन्तरात्मेति ज्ञेयो ज्ञस्तात मद्विधैः ॥ १९ ॥

जिनका साक्षात्कार कर लेनेपर मनुष्य कुछ बोल नहीं पाता, योगकालमें योगी उसी परमात्माको देखे। तात ! मुझ-जैसे लोगोंको अपने-अपने हृदयमें स्थित सबके ज्ञाता अन्त-रात्माका ही ज्ञान प्राप्त करना उचित है ॥ १९ ॥

विधूम इव सप्तार्चिरादित्य इव रश्मिमान्।
वैद्युतोऽग्निरिवाकाशे दृश्यतेऽऽत्मा तथाऽऽत्मनि ॥ २० ॥

ध्याननिष्ठ योगीको अपने हृदयमें उसी प्रकार परमात्माका साक्षात् दर्शन होता है जैसे धूमरहित अग्निका, किरणमालाओंसे मण्डित सूर्यका तथा आकाशमें विद्युत्के प्रकाशका दर्शन होता है ॥ २० ॥

यं पश्यन्ति महात्मानो धृतिमन्तो मनीषिणः।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ह्ययोनिममृतात्मकम् ॥ २१ ॥

धैर्यवान्, मनीषी, ब्रह्मबोधक शास्त्रोंमें निष्ठा रखनेवाले और महात्मा ब्राह्मण ही उस अजन्मा एवं अमृतस्वरूप ब्रह्म-का दर्शन कर पाते हैं ॥ २१ ॥

तदेवाहुरणुभ्योऽणु तन्महद्भ्यो महत्तरम्।
तत् तत्त्वं सर्वभूतेषु ध्रुवं तिष्ठन् न दृश्यते ॥ २२ ॥

उसे ही अणुसे भी अणु और महान्से भी महान् कहा गया है। सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर वह अन्तर्यामीरूपसे अवश्य स्थिर रहता है तथापि किसीको दिखायी नहीं देता है ॥ २२ ॥

बुद्धिद्रव्येण दृश्येत मनोदीपेन लोककृत्।
महतस्तमसस्तात पारे तिष्ठन्नतामसः ॥ २३ ॥
स तमोनुद इत्युक्तः सर्वज्ञैर्वेदपारगैः।
विमलो वितमस्कश्च निर्लिङ्गोऽलिङ्गसंज्ञितः ॥ २४ ॥
योग एष हि योगानां किमन्यद् योगलक्षणम्।
एवं पश्यं प्रपश्यन्ति आत्मानमजरं परम् ॥ २५ ॥

सूक्ष्म बुद्धिरूप धन सम्पन्न पुरुष ही मनोमय दीपकके द्वारा उस लोकस्रष्टा परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं। वह परमात्मा महान् अन्धकारसे परे और तमोगुणसे रहित है; इसलिये वेदके पारगामी सर्वज्ञ पुरुषोंने उसे तमोनुद (अज्ञान-नाशक) कहा है। वह निर्मल, अज्ञानरहित, लिङ्गहीन और अलिङ्ग नामसे प्रसिद्ध (उपाधिशून्य) है। यही योगियोंका योग है। इसके सिवा योगका और क्या लक्षण हो सकता है। इस तरह साधना करनेवाले योगी सबके द्रष्टा अजर-अमर परमात्माका दर्शन करते हैं ॥ २३–२५ ॥

योगदर्शनमेतावदुक्तं ते तत्त्वतो मया।
सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम् ॥ २६ ॥

यहाँतक मैंने तुम्हें यथार्थरूपसे योग-दर्शनकी बात बतायी है, अब सांख्यका वर्णन करता हूँ; यह विचारप्रधान दर्शन है ॥ २६ ॥

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः।
तस्मान्महत् समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम ॥ २७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! प्रकृतिवादी विद्वान् मूल प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं। उससे दूसरा तत्त्व प्रकट हुआ, जिसे महत्तत्त्व कहते हैं ॥ २७ ॥

अहङ्कारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम्।
पञ्चभूतान्यहङ्कारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः ॥ २८ ॥

महत्तत्त्वसे अहंकार प्रकट हुआ; जो तीसरा तत्त्व है। ऐसा हमारे सुननेमें आया है। अहंकारसे पाँच सूक्ष्म भूतोंकी अर्थात् पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति हुई; यह सांख्यात्मदर्शी विद्वानोंका कथन है ॥ २८ ॥

एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकाराश्चापि षोडश।
पञ्च चैव विशेषा वै तथा पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ २९ ॥

ये आठ प्रकृतियाँ हैं। इनसे सोलह तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है, जिन्हें विकार कहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूलभूत—ये सोलह विकार हैं। इनमेंसे आकाश आदि पाँच तत्त्व और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—ये विशेष कहलाते हैं ॥ २९ ॥

एतावदेव तत्त्वानां सांख्यमाहुर्मनीषिणः।
सांख्ये विधिविधानज्ञा नित्यं सांख्यपथे रताः ॥ ३० ॥

सांख्यशास्त्रीय विधिविधानके ज्ञाता और सदा सांख्यमार्गमें ही अनुरक्त रहनेवाले मनीषी पुरुष इतनी ही सांख्यसम्मत

सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं [illegible] तत्त्वतः ।
एवमेतद् विजानन्तः साम्यतां प्रति यान्त्युत ॥ ४५ ॥

इस प्रकार मैंने तुमसे यह सम्यग्दर्शन (साख्य) [illegible] यथावत्‌रूपसे वर्णन किया है । जो इसे इस प्रकार जानते हैं, वे [illegible] ब्रह्मको [illegible] होते [illegible] ॥ ४५ ॥

सम्यङ्‌निदर्शनं नाम प्रत्यक्षं प्रकृतेस्तथा ।
गुणतत्त्वान्यथैतानि निर्गुणोऽन्यस्तथा भवेत् ॥ ४६ ॥

प्रकृति-पुरुषका प्रत्यक्ष-दर्शन (अपरोक्ष-अनुभव) ही सम्यग्दर्शन है । ये जो गुणमय तत्त्व हैं, इनसे भिन्न परमपुरुष परमात्मा निर्गुण हैं ॥ ४६ ॥

न त्वेवं वर्तमानानामावृत्तिर्विद्यते पुनः ।
विद्यतेऽक्षरभावत्वादपरं परमव्ययम् ॥ ४७ ॥

इस दर्शनके अनुसार ज्ञान प्राप्त करनेवालोंकी इस संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती; क्योंकि वे अविनाशी ब्रह्मभावको [illegible] हो जाते हैं, [illegible] परापरस्वरूप निर्विकार परब्रह्मरूपसे ही उनकी स्थिति होती है ॥ ४७ ॥

पश्येरन्नेकमतयो न सम्यक् तेषु दर्शनम् ।
ते व्यक्तं प्रतिपद्यन्ते पुनः पुनररिंदम ॥ ४८ ॥

शत्रुदमन नरेश ! जिनकी बुद्धि नानात्वका दर्शन करती है, उन्हें सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती । ऐसे लोगोंको बारंबार शरीर धारण करना पड़ता है ॥ ४८ ॥

सर्वमेतद् विजानन्तो नासर्वस्य प्रबोधनात् ।
व्यक्तीभूता भविष्यन्ति व्यक्तस्य वशवर्तिनः ॥ ४९ ॥

जो इस सारे प्रपञ्चको ही जानते हैं, वे इससे भिन्न परमात्माका [illegible] न जाननेके कारण निश्चय ही शरीरधारी होंगे और शरीर तथा काम-क्रोध आदि दोषोंके वशवर्ती बने रहेंगे ॥ ४९ ॥

सर्वमव्यक्तमित्युक्तमसर्वः पञ्चविंशकः ।
य एनमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते ॥ ५० ॥

'सर्व' नाम है अव्यक्त प्रकृतिका और उससे भिन्न पचीसवें [illegible] परमात्माको असर्व कहा गया है । जो उन्हें इस प्रकार जानते हैं, उन्हें [illegible] भय नहीं होता है ॥५०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकराळजनकसंवादे षडधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ और करालजनकका संवादविषयक तीन सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०६ ॥

सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः

विद्या-अविद्या, अक्षर और क्षर तथा प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका एवं विवेकीके उद्धारका वर्णन

वसिष्ठ उवाच

सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम ।
विद्याविद्ये त्विदानीं मे त्वं निबोधानुपूर्वशः ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! यहाँतक मैंने तुम्हें सांख्यदर्शनकी [illegible] बतायी है । [illegible] इस समय तुम मुझसे विद्या और अविद्याका वर्णन क्रमसे सुनो ॥ १ ॥

अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै ।
सर्गप्रलयनिर्मुक्तां विद्यां [illegible] पञ्चविंशकः ॥ २ ॥

मुनियोंने सृष्टि और प्रलयरूप धर्मवाले कार्यसहित अव्यक्तको [illegible] अविद्या [illegible] है [illegible] चौबीस तत्त्वोंसे परे जो पचीसवाँ तत्त्व परम पुरुष परमात्मा है, जो सृष्टि और प्रलयसे रहित है, उसीको विद्या कहते हैं ॥ २ ॥

परस्परस्य विद्यां वै त्वं निबोधानुपूर्वशः ।
यथोक्तमृषिभिस्तात सांख्यस्यातिनिदर्शनम् ॥ ३ ॥

तात ! ऋषियोंने जिस प्रकार सांख्यदर्शनकी [illegible] बतायी है, उसी प्रकार तुम अव्यक्तका जो पारस्परिक भेद है, उनमें जो जिसकी विद्या है अर्थात् श्रेष्ठ है, उसका वर्णन क्रमसे सुनो ॥ ३ ॥

कर्मेन्द्रियाणां सर्वेषां विद्या बुद्धीन्द्रियं स्मृतम् ।
बुद्धीन्द्रियाणां च तथा विशेषा इति नः श्रुतम् ॥ [illegible] ॥

हमने सुन रक्खा है कि समस्त कर्मेन्द्रियोंकी विद्या ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गयी हैं । अर्थात् कर्मेन्द्रियोंसे ज्ञानेन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं और ज्ञानेन्द्रियोंकी विद्या पञ्चमहाभूत हैं ॥ ४ ॥

विशेषाणां मनस्तेषां विद्यामाहुर्मनीषिणः ।
[illegible] पञ्च भूतानि विद्या इत्यभिचक्षते ॥ ५ ॥

मनीषी पुरुष कहते हैं कि स्थूल पञ्चभूतोंकी विद्या मन है और मनकी विद्या सूक्ष्म पञ्चभूत हैं ॥ ५ ॥

अहङ्कारस्तु भूतानां पञ्चानां नात्र संशयः ।
अहङ्कारस्य च [illegible] बुद्धिर्विद्या नरेश्वर ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! उन सूक्ष्मपञ्चभूतोंकी विद्या अहंकार है, इसमें कोई संशय नहीं है तथा अहंकारकी विद्या बुद्धि मानी गयी है ॥ ६ ॥

विद्या प्रकृतिरव्यक्तं तत्त्वानां परमेश्वरी ।
विद्या ज्ञेया नरश्रेष्ठ विधिश्च परमः स्मृतः ॥ ७ ॥

नरश्रेष्ठ ! अव्यक्त नामवाली जो परमेश्वरी प्रकृति है, वह सम्पूर्ण तत्त्वोंकी विद्या है । यह विद्या जानने योग्य है । इसीको ज्ञानकी परम विधि कहते हैं ॥ ७ ॥

अव्यक्तस्य परं प्राहुर्विद्यां वै पञ्चविंशकम् ।
सर्वस्य सर्वमित्युक्तं ज्ञेयं ज्ञानस्य पार्थिव ॥ ८ ॥

पचीसवें तत्त्वके रूपमें जिस परम पुरुष परमात्मा

चर्चा की गयी है, उसीको अव्यक्त प्रकृतिकी परम विद्या बताया गया है। राजन्! वही सम्पूर्ण [illegible] सर्वरूप ज्ञेय है ॥

ज्ञानमव्यक्तमित्युक्तं ज्ञेयो [illegible] पञ्चविंशकः ।
तथैव ज्ञानमव्यक्तं विज्ञाता पञ्चविंशकः ॥ ९ ॥

ज्ञान [illegible] है और परम पुरुष [illegible] बताया गया है; उसी प्रकार [illegible] अव्यक्त है और [illegible] ज्ञाता परम पुरुष है ॥ ९ ॥

विद्याविद्यार्थतत्त्वेन मयोक्ता ते विशेषतः ।
अक्षरं च क्षरं चैव यदुक्तं तन्निबोध मे ॥ १० ॥

राजन्! मैंने तुम्हारे समक्ष यथार्थरूपसे विद्यासहित अविद्याका विशेषरूपसे वर्णन किया है। अब जो [illegible] और [illegible] कहे गये हैं; उनके विषयमें मुझसे सुनो ॥ १० ॥

उभावेवाक्षरावुक्तावुभावेतावनक्षरौ ।
कारणं [illegible] प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं [illegible] ॥ ११ ॥

सांख्यमतमें प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही अक्षर कहा गया है तथा ये ही दोनों क्षर भी हैं। मैं अपने ज्ञानके अनुसार इसका यथार्थ कारण बतलाता हूँ ॥ ११ ॥

अनादिनिधनावेतावुभावेवेश्वरौ मतौ ।
तत्त्वसंज्ञावुभावेतौ प्रोच्येते ज्ञानचिन्तकैः ॥ १२ ॥

ये दोनों ही अनादि और अनन्त हैं; अतः परस्पर संयुक्त होकर दोनों ही ईश्वर (सर्वसमर्थ) माने गये हैं। सांख्यशास्त्रका विचार करनेवाले विद्वान् इन दोनों- [illegible] ही 'तत्त्व' कहते हैं ॥ १२ ॥

सर्गप्रलयधर्मत्वादव्यक्तं प्राहुरक्षरम् ।
तदेतद् गुणसर्गाय विकुर्वाणं पुनः पुनः ॥ १३ ॥

सृष्टि और प्रलय प्रकृतिका धर्म है। इसलिये प्रकृतिको अक्षर कहा [illegible] है। वही प्रकृति महत्तत्त्व आदि गुणोंकी सृष्टिके लिये बारंबार विकारको [illegible] होती है; इसलिये उसे [illegible] भी कहा जाता है ॥ १३ ॥

गुणानां महदादीनामुत्पत्तिश्च परस्परम् ।
अधिष्ठानात् क्षेत्रमाहुरेतत्तत् पञ्चविंशकम् ॥ १४ ॥

महत्तत्त्व आदि गुणोंकी उत्पत्ति प्रकृति और पुरुषके परस्पर संयोगसे होती है; [illegible] दूसरेका अधिष्ठान होनेके कारण पुरुषको भी क्षेत्र कहते हैं ॥ १४ ॥

यदा [illegible] गुणजालं तदव्यक्तात्मनि संक्षिपेत् ।
तदा सह गुणैस्तैस्तु पञ्चविंशो विलीयते ॥ १५ ॥

योगी [illegible] अपने योगके प्रभावसे प्रकृतिके गुणसमूहको अव्यक्त मूल प्रकृतिमें विलीन कर देता है, तब उन गुणोंका विलय होनेके साथ-साथ पचीसवाँ तत्त्व पुरुष भी परमात्मामें मिल [illegible] है। इस दृष्टिसे उसे भी [illegible] कह सकते हैं ॥ १५ ॥

गुणा गुणेषु लीयन्ते तदैका प्रकृतिर्भवेत् ।
क्षेत्रज्ञोऽपि यदा तात तत्क्षेत्रे सम्प्रलीयते ॥ १६ ॥

[illegible]! [illegible] कार्यभूत गुण कारणभूत गुणोंमें लीन हो जाते हैं, [illegible] समय [illegible] कुछ एकमात्र प्रकृतिस्वरूप हो जाता है [illegible] जब क्षेत्रज्ञ भी परमात्मामें लीन हो [illegible] है, तब [illegible] भी पृथक् अस्तित्व नहीं रहता ॥ १६ ॥

तदा क्षरत्वं प्रकृतिर्गच्छते गुणसंश्रिता ।
निर्गुणत्वं च वैदेह गुणेष्वप्रतिवर्तनात् ॥ १७ ॥

विदेहराज! [illegible] त्रिगुणमयी प्रकृति [illegible] (नाश) को प्राप्त होती है और पुरुष भी गुणोंमें प्रवृत्त न होनेके कारण निर्गुण (गुणातीत) हो जाता है ॥ १७ ॥

एवमेव च क्षेत्रज्ञः क्षेत्रज्ञानपरिक्षये ।
प्रकृत्या निर्गुणस्त्वेष इत्येवमनुशुश्रुम ॥ १८ ॥

इस प्रकार जब क्षेत्रका ज्ञान नहीं रहता अर्थात् पुरुषको प्रकृतिका ज्ञान नहीं रहता, तब वह स्वभावसे ही निर्गुण है—यह हमने सुन [illegible] है ॥ १८ ॥

क्षरो भवत्येष यदा तदा गुणवतीमथ ।
प्रकृतिं त्वभिजानाति निर्गुणत्वं तथाऽऽत्मनः ॥ १९ ॥

जब यह पुरुष [illegible]र होता है, अर्थात् परमात्मामें लीन हो [illegible] है, उस समय वह प्रकृतिके सगुणत्वको और अपने निर्गुणत्वको यथार्थ समझ लेता है ॥ १९ ॥

तदा विशुद्धो भवति प्रकृतेः परिवर्जनात् ।
अन्योऽहमन्येयमिति यदा बुध्यति बुद्धिमान् ॥ २० ॥

इस तरह ज्ञानवान् पुरुष जब यह जान लेता है कि मैं [illegible] और यह प्रकृति मुझसे भिन्न है, तब वह प्रकृतिसे रहित हो जानेसे अपने [illegible] स्वरूपमें स्थित होता है ॥

तदैष तत्त्वतामेति न चापि मिश्रतां व्रजेत् ।
प्रकृत्या चैव राजेन्द्र मिश्रो [illegible] दृश्यते ॥ २१ ॥

राजेन्द्र! प्रकृतिसे संयोगके [illegible] उससे अभिन्न-सा प्रतीत होनेके [illegible] यह पुरुष तद्रूपताको प्राप्त हुआ-सा [illegible] पड़ता है, परंतु [illegible] अवस्थामें भी उसका प्रकृतिके [illegible] मिश्रण नहीं होता, उसकी पृथक्ता बनी रहती है। [illegible] प्रकार पुरुष प्रकृतिके साथ संयुक्त और पृथक् भी दिखायी देता है ॥ २१ ॥

[illegible] तु गुणजालं तत् प्राकृतं [illegible] जुगुप्सते ।
पश्यते च परं पश्यं तदा पश्यन्न संत्यजेत् ॥ २२ ॥

[illegible] वह प्राकृत गुणसमुदायको कुत्सित समझकर उससे विरत हो जाता है, उस समय वह परम दर्शनीय परमात्माका दर्शन [illegible] जाता है और उसको देखकर फिर भी उसका त्याग नहीं करता अर्थात् उससे अलग नहीं होता ॥ २२ ॥

[illegible] मया कृतमेतावद् योऽहं कालमिमं जनम् ।
मत्स्यो जालं ह्यविज्ञानादनुवर्तितवानिह ॥ २३ ॥

(जिस समय जीवात्माको विवेक होता है, उस समय वह [illegible] विचार करने लगता है—) 'ओह! मैंने यह क्या किया! जैसे मछली अज्ञानवश स्वयं ही जाकर जालमें फँस-जाती है, उसी [illegible] भी आजतक यहाँ इस प्राकृत शरीर-का ही अनुसरण करता रहा ॥ २३ ॥

अहमेव हि सम्मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् ।
मत्स्यो यथोदकज्ञानादनुवर्तितवानहम् ॥ २४ ॥

'जैसे मत्स्य पानीको ही अपने जीवनका मूल [illegible] एक जलाशयसे दूसरे जलाशयको जाता है, उसी तरह मैं भी मोहवश एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भटकता रहा ॥२४॥

मत्स्योऽन्यत्वं यथाज्ञानादुदकान्नाभिमन्यते ।
आत्मानं तद्वदज्ञानादन्यत्वं नैव वेद्म्यहम् ॥२५॥

'जैसे [illegible] अज्ञानवश अपनेको जलसे भिन्न नहीं समझता, उसी प्रकार मैं भी अपनी अज्ञताके कारण [illegible] प्राकृत शरीरसे अपनेको भिन्न नहीं समझता था ॥ २५ ॥

ममास्तु धिगबुद्धस्य योऽहं मग्नमिमं पुनः ।
अनुवर्तितवान् मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम् ॥२६॥

'मुझ मूढ़को धिक्कार है; जो कि संसारसागरमें डूबे हुए इस शरीरका आश्रय ले मोहवश एक शरीरसे दूसरे शरीरका अनुसरण करता रहा ॥ २६ ॥

अयमत्र भवेद् बन्धुरनेन सह मे क्षमम् ।
साम्यमेकत्वमायातो यादृशस्तादृशस्त्वहम् ॥२७॥

'वास्तवमें इस जगत्के भीतर यह परमात्मा ही मेरा बन्धु है । इसीके साथ मेरी मैत्री हो सकती है । पहले मैं कैसा भी क्यों न रहा होऊँ, इस [illegible] तो [illegible] इसकी [illegible] और एकताको प्राप्त हो चुका हूँ, जैसा वह है वैसा ही मैं हूँ॥

तुल्यतामिह पश्यामि सदृशोऽहमनेन वै ।
अयं हि विमलो व्यक्तमहमीदृशकस्तथा ॥२८॥

'इसीमें मुझे अपनी समानता दिखायी देती है । [illegible] इसके ही [illegible] हूँ । यह परमात्मा प्रत्यक्ष ही [illegible] निर्मल है और मैं भी ऐसा ही हूँ ॥ २८ ॥

योऽहमज्ञानसम्मोहादज्ञया सम्प्रवृत्तवान् ।
ससङ्गयाहं निःसङ्गः स्थितः कालमिमं त्वहम् ॥ २९ ॥

'मैं जो कि आसक्तिसे सर्वथा रहित हूँ तो भी अज्ञान एवं मोहके वशीभूत होकर इतने [illegible] इस आसक्तिमयी [illegible] प्रकृतिके साथ रमता रहा ॥ २९ ॥

अनयाहं वशीभूतः कालमेतं न बुद्धवान् ।
उच्चमध्यमनीचानां तामहं कथमावसे ॥ ३०॥

'इसने मुझे इस तरह वशमें कर लिया था कि मुझे आजतकके समयका पता ही न चला । यह तो उच्च, मध्यम तथा नीच सब श्रेणीके लोगोंके साथ रहती है । भला, इसके साथ मैं कैसे रह सकता हूँ ? ॥ ३० ॥

समानयानया चेह सह वासमहं कथम् ।
गच्छाम्यबुद्धभावत्वादेषेदानीं स्थिरो भवे ॥ ३१॥

'जो मेरे साथ संयुक्त होकर मेरी [illegible] करने लगी है, ऐसी इस प्रकृतिके साथ मैं मूर्खतावश सहवास कैसे कर सकता [illegible] ? यह लो, अब मैं स्थिर हो रहा हूँ ॥ ३१॥

सहवासं न यास्यामि कालमेतद्धि वञ्चनात् ।
वञ्चितोऽस्म्यनया यद्धि निर्विकारो विकारया ॥ ३२॥

'मैं निर्विकार होकर भी इस विकारमयी प्रकृतिके द्वारा ठगा गया । इतने समयतक इसने मेरे साथ ठगी की है । इसलिये अब इसके साथ नहीं रहूँगा ॥ ३२ ॥

न चायमपराधोऽस्या ह्यपराधो ह्ययं मम ।
योऽहमत्राभवं सक्तः पराङ्मुखमुपस्थितः ॥ ३३॥

'किंतु यह इसका अपराध नहीं है, सारा अपराध मेरा ही है; जो कि [illegible] परमात्मासे विमुख होकर इसमें आसक्त हुआ स्थित रहा ॥ ३३ ॥

ततोऽस्मि बहुरूपासु स्थितो मूर्तिष्वमूर्तिमान् ।
अमूर्तश्चापि मूर्तात्मा ममत्वेन प्रधर्षितः ॥ ३४॥

'यद्यपि मैं सर्वथा अमूर्त हूँ अर्थात् किसी आकारवाला नहीं हूँ तो भी मैं प्रकृतिकी अनेक रूपवाली मूर्तियोंमें स्थित हुआ देहरहित होकर भी ममतासे परास्त होनेके कारण देहधारी बना रहा ॥ ३४॥

प्राक् कृतेन ममत्वेन तासु तास्विह योनिषु ।
निर्ममस्य ममत्वेन किं कृतं [illegible] तासु च ॥ ३५॥

'पहले जो मैंने इसके प्रति ममता की थी, उसके कारण मुझे भिन्न-भिन्न योनियोंमें भटकना पड़ा । यद्यपि मैं ममतारहित हूँ तो भी इस प्रकृतिजनित ममताने भिन्न भिन्न योनियोंमें मुझे डालकर मेरी बड़ी दुर्दशा [illegible] डाली ॥ ३५॥

योनीषु वर्तमानेन नष्टसंज्ञेन चेतसा ।
न ममात्रानया कार्यमहंकारकृतात्मया ॥ ३६॥

'इसके साथ नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकनेके कारण मेरी चेतना खो गयी थी । अब इस अहंकारमयी प्रकृतिसे मेरा कोई काम नहीं है ॥ ३६ ॥

आत्मानं बहुधा कृत्वा येयं भूयो युनक्ति माम् ।
इदानीमेष बुद्धोऽस्मि निर्ममो निरहंकृतः ॥ ३७॥

'अब भी यह बहुत से [illegible] धारण करके मेरे साथ संयोगकी चेष्टा [illegible] रही है; किंतु [illegible] सावधान हो गया हूँ, इसलिये ममता और अहंकारसे रहित हो गया हूँ ॥३७॥

ममत्वमनया नित्यमहंकारकृतात्मकम् ।
अपेत्याहमिमां हित्वा संश्रयिष्ये निरामयम् ॥ ३८॥

'अब तो इसको और इसकी अहंकारस्वरूपिणी ममताको त्यागकर इससे सर्वथा अतीत होकर मैं निरामय परमात्माकी शरण लूँगा ॥ ३८ ॥

अनेन साम्यं यास्यामि नानयाहमचेतया ।
क्षेमं मम सहानेन नैकत्वमनया सह ॥ ३९॥

'[illegible] परमात्माकी ही समानता प्राप्त करूँगा । इस जड़ प्रकृतिकी समानता नहीं धारण करूँगा । परमात्माके साथ संयोग करनेमें ही मेरा कल्याण है । [illegible] प्रकृतिके [illegible] नहीं॥

एवं परमसम्बोधात् पञ्चविंशोऽनुबुद्धवान् ।
अक्षरत्वं नियच्छेत त्यक्त्वा क्षरमनामयम् ॥ ४०॥

"इस प्रकार उत्तम विवेकके द्वारा अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवाँ [illegible] क्षरभाव (विनाशशीलता) का त्याग करके निरामय अक्षरभावको [illegible] होता है ॥ ४० ॥

अव्यक्तं व्यक्तधर्माणं सगुणं निर्गुणं तथा ।
निर्गुणं प्रथमं दृष्ट्वा तादृग् भवति मैथिल ॥ ४१ ॥

"मिथिलानरेश ! अव्यक्त प्रकृति, व्यक्त महत्तत्त्वादि, सगुण (जडवर्ग), निर्गुण (आत्मा) तथा सबके आदि-भूत निर्गुण परमात्माका साक्षात्कार करके मनुष्य स्वयं भी वैसा ही हो [illegible] है ॥ ४१ ॥

अक्षरक्षरयोरेतदुक्तं तव निदर्शनम् ।
मयेह ज्ञानसम्पन्नं यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४२ ॥

राजन् ! वेदमें जैसा वर्णन किया गया है, उसके अनुरूप यह क्षर-अक्षरका विवेक करानेवाला ज्ञान मैंने तुम्हें सुनाया है ॥

निःसंदिग्धं च सूक्ष्मं च विबुद्धं विमलं [illegible] ।
प्रवक्ष्यामि [illegible] ते भूयस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥ ४३ ॥

अब पुनः श्रुतिके अनुसार संदेहरहित, सूक्ष्म [illegible] अत्यन्त निर्मल विशिष्ट ज्ञानकी बात तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो ॥

सांख्ययोगौ मया प्रोक्तौ शास्त्रद्वयनिदर्शनात् ।
यदेव शास्त्रं सांख्योक्तं योगदर्शनमेव तत् ॥ ४४ ॥

मैंने सांख्य और योगका जो वर्णन किया है, उसमें इन दोनोंको पृथक्-पृथक् दो शास्त्र बताया है; परंतु वास्तवमें जो सांख्यशास्त्र है, वही योगशास्त्र भी है (क्योंकि दोनोंका फल एक ही है) ॥ ४४ ॥

प्रबोधनकरं ज्ञानं सांख्यानामवनीपते ।
विस्पष्टं प्रोच्यते तत्र शिष्याणां हितकाम्यया ॥ ४५ ॥

पृथ्वीनाथ ! मैंने शिष्योंके हितकी कामनासे उनके लिये [illegible] जो सांख्यदर्शन है, उसका तुम्हारे निकट स्पष्टरूपसे वर्णन किया है ॥ ४५ ॥

बृहच्चैवमिदं शास्त्रमित्याहुर्विदुषो जनाः ।
अस्मिंश्च शास्त्रे योगानां पुनर्वेदे पुरःसरः ॥ ४६ ॥

विद्वान् पुरुषोंका कहना है कि यह सांख्यशास्त्र महान् है । इस शास्त्रमें, योगशास्त्रमें [illegible] वेदमें अधिक प्रामाणि-[illegible] समझकर मनुष्यको इनके अध्ययनके लिये आगे बढ़ना चाहिये ॥ ४६ ॥

पञ्चविंशात् परं तत्त्वं पठ्यते न नराधिप ।
सांख्यानां तु परं तत्त्वं यथावदनुवर्णितम् ॥ ४७ ॥

नरेश्वर ! सांख्यशास्त्रके आचार्य पचीसवें तत्त्वसे परे और किसी तत्त्वका वर्णन नहीं करते हैं । यह मैंने सांख्योंके परम [illegible] यथावत्‌रूपसे वर्णन किया है ॥ ४७ ॥

बुद्धमप्रतिबुद्धत्वाद् बुध्यमानं च तत्त्वतः ।
बुध्यमानं [illegible] बुद्धं च प्राहुर्योगनिदर्शनम् ॥ ४८ ॥

जो नित्य [illegible] परब्रह्म परमात्मा है, वही [illegible] है [illegible] जो परमात्मतत्त्वको न जाननेके कारण जिज्ञासु जीवात्मा है, उसकी 'बुध्यमान' संज्ञा होती है । इस प्रकार योगके सिद्धान्तके अनुसार बुद्ध (नित्य ज्ञानसम्पन्न परमात्मा) और बुध्यमान (जिज्ञासु जीव)—ये दो चेतन माने गये हैं ॥४८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादे सप्ताधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०७ ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठकरालजनकसंवादविषयक तीन सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०७ ॥

अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

क्षर-अक्षर और परमात्म-तत्त्वका वर्णन, जीवके नानात्व और एकत्वका दृष्टान्त, उपदेशके अधिकारी और अनधिकारी तथा इस ज्ञानकी परम्पराको बताते हुए वसिष्ठ-करालजनक-संवादका उपसंहार

वसिष्ठ उवाच

अथ बुद्धमथाबुद्धमिमं गुणविधिं शृणु ।
आत्मानं बहुधा कृत्वा तान्येव प्रविचक्षते ॥ १ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—राजन् ! अब बुद्ध (परमात्मा), अबुद्ध (जीवात्मा) और इस गुणमयी सृष्टि (प्राकृत प्रपञ्च) [illegible] वर्णन सुनो । जीवात्मा अपने आपको अनेक रूपोंमें प्रकट करके उन रूपोंको [illegible] मानकर देखता रहता है ॥

एतदेवं विकुर्वाणो बुध्यमानो न बुध्यते ।
गुणान् धारयते [illegible] सृजत्याक्षिपते तदा ॥ २ ॥

वास्तवमें ज्ञानसम्पन्न होनेपर भी [illegible] प्रकार प्रकृतिके संसर्गसे विकारको प्राप्त हुआ जीवात्मा ब्रह्मको नहीं जान पाता । वह गुणोंको धारण करता है; अतः कर्तृत्वका अभिमान लेकर रचना और संहार किया करता है ॥ [illegible] ॥

अजस्रं त्विह क्रीडार्थं विकरोति जनाधिप ।
अव्यक्तबोधनाच्चैव बुध्यमानं वदन्त्यपि ॥ ३ ॥

जनेश्वर ! जीवात्मा इस जगत्‌में सदा क्रीड़ा करनेके लिये ही विकारको प्राप्त होता है । वह अव्यक्त प्रकृतिको जानता है, इसलिये ऋषि-मुनि उसे 'बुध्यमान' कहते हैं ॥ ३ ॥

न त्वेव बुध्यतेऽव्यक्तं सगुणं तात निर्गुणम् ।
कदाचित् त्वेव खल्वेतदाहुरप्रतिबुद्धकम् ॥ [illegible] ॥

[illegible] ! परब्रह्म परमात्मा सगुण हो या निर्गुण, उसे प्रकृति कभी नहीं जानती (क्योंकि वह जड है), अतः सांख्यवादी विद्वान् [illegible] प्रकृतिको अप्रतिबुद्ध (ज्ञानशून्य) कहते हैं ॥ ४ ॥

बुध्यते यदि वाव्यक्तमेतद् वै पञ्चविंशकम् ।

बुध्यमानो भवत्येव सङ्गात्मक इति श्रुतिः।
अनेनाप्रतिबुद्धेति वदन्त्यव्यक्तमच्युतम् ॥ ५ ॥

यदि यह मान लिया जाय कि प्रकृति भी जानती है तो यह केवल पचीसवें तत्त्व--पुरुषको ही उससे संयुक्त होकर जान पाती है, प्रकृतिके साथ संयुक्त होनेके कारण ही जीव सङ्गात्मक (सङ्गी) होता है; ऐसा श्रुतिका कथन है। इस सङ्गदोषके कारण ही अव्यक्त एवं अविकारी जीवात्माको लोग 'मूढ़' कह दिया करते हैं ॥ ५ ॥

अव्यक्तबोधनाच्चापि बुध्यमानं वदन्त्युत।
पञ्चविंशं महात्मानं न चासावपि बुध्यते ॥ ६ ॥
षड्विंशं विमलं बुद्धमप्रमेयं सनातनम्।
स तु तं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च बुध्यते ॥ [illegible] ॥

पचीसवाँ तत्त्वरूप महान् आत्मा अव्यक्त प्रकृतिको [illegible] है, इसलिये उसे 'बुध्यमान' कहते हैं; परंतु वह भी छब्बीसवें तत्त्वरूप निर्मल नित्य शुद्ध बुद्ध अप्रमेय सनातन परमात्माको नहीं जानता है; किंतु वह सनातन परमात्मा [illegible] पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको तथा चौबीसवीं प्रकृतिको भी भलीभाँति जानता है ॥ ६-७ ॥

दृश्यादृश्ये ह्यनुगतं स्वभावेन महाद्युते।
अव्यक्तमत्र तद् ब्रह्म बुध्यते तात केवलम् ॥ ८ ॥

तात ! महातेजस्वी नरेश ! वह अव्यक्त एवं अद्वितीय [illegible] यहाँ दृश्य और अदृश्य सभी वस्तुओंमें स्वभावसे ही व्याप्त है; अतः वह सबको जानता है ॥ ८ ॥

केवलं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं न पश्यति।
बुध्यमानो यदाऽऽत्मानमन्योऽहमिति मन्यते ॥ ९ ॥
तदा प्रकृतिमानेष भवत्यव्यक्तलोचनः।

चौबीसवीं अव्यक्त प्रकृति न तो अद्वितीय ब्रह्मको देख पाती है और न पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको। जब जीवात्मा अव्यक्त ब्रह्मकी ओर दृष्टि रखकर अपनेको प्रकृतिसे भिन्न मानता है, तब यह प्रकृतिका अधिपति हो जाता है ॥ ९½ ॥

बुध्यते [illegible] परां बुद्धिं विशुद्धाममलां यदा ॥ १० ॥
षड्विंशो राजशार्दूल [illegible] बुद्धत्वमाव्रजेत्।
ततस्त्यजति सोऽव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! जब जीवात्मा शुद्ध ब्रह्मविषयिणी, निर्मल एवं सर्वोत्कृष्ट बुद्धिको प्राप्त कर लेता है, तब वह छब्बीसवें तत्त्वरूप परब्रह्मका साक्षात्कार करके तद्रूप हो जाता है। [illegible] स्थितिमें [illegible] नित्य शुद्ध-बुद्ध ब्रह्मभावमें ही प्रतिष्ठित होता है। फिर तो वह सृष्टि और प्रलयरूप धर्मवाली अव्यक्त प्रकृतिसे सर्वथा अतीत हो जाता है ॥ १०-११ ॥

निर्गुणः प्रकृतिं वेद गुणयुक्तामचेतनाम्।
ततः केवलधर्मासौ भवत्यव्यक्तदर्शनात् ॥ १२ ॥

वह गुणोंसे अतीत होकर त्रिगुणमयी प्रकृतिको जडरूपमें जान लेता है, इस प्रकार प्रकृतिको अपनेसे सर्वथा [illegible] देखनेके कारण वह कैवल्यको प्राप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

केवलेन [illegible] विमुक्तोऽऽत्मानमाप्नुयात्।
एतत् [illegible] तत्त्वमित्याहुर्निस्तत्त्वमजरामरम् ॥ १३ ॥

केवल (अद्वितीय) ब्रह्मसे मिलकर [illegible] प्रकारके बन्धनों से मुक्त हुआ अपने परमार्थस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसीको परमार्थतत्त्व कहते हैं। यह सब तत्त्वोंसे अतीत तथा जरा-मरणसे रहित है ॥ १३ ॥

तत्त्वसंश्रयणादेतत् तत्त्ववन्न च मानद।
पञ्चविंशति तत्त्वानि प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १४ ॥

सबको मान देनेवाले नरेश ! जीवात्मा तत्त्वोंका आश्रय लेनेसे ही तत्त्व-सदृश प्रतीत होता है। वास्तवमें वह तत्त्वोंका द्रष्टामात्र होनेके कारण तत्त्व नहीं है--तत्त्वोंसे सर्वथा भिन्न ही है। इस प्रकार मनीषी पुरुष (प्रकृतिके चौबीस तत्त्वोंके साथ) जीवात्माको भी एक तत्त्व मानकर कुल पचीस तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं ॥ १४ ॥

न चैष तत्त्ववांस्तात निस्तत्त्वस्त्वेष बुद्धिमान्।
एष मुञ्चति तत्त्वं हि क्षिप्रं बुद्धस्य लक्षणम् ॥ १५ ॥

तात ! यह जीवात्मा वास्तवमें तत्त्वोंसे अतीत है, अतः तद्रूप नहीं होता है; अपितु ज्ञानवान् होनेके कारण ब्रह्मज्ञानका उदय होनेपर यह शीघ्र ही प्राकृत तत्त्वोंका त्याग कर देता है और उसमें नित्य शुद्ध-बुद्ध ब्रह्मके लक्षण प्रकट हो जाते हैं ॥

षड्विंशोऽहमिति प्राज्ञो गृह्यमाणोऽजरामरः।
केवलेन बलेनैव समतां यात्यसंशयम् ॥ १६ ॥

'मैं पचीस तत्त्वोंसे भिन्न छब्बीसवाँ परमात्मा हूँ। नित्य ज्ञानसम्पन्न और जाननेके योग्य अजर अमरस्वरूप हूँ,' इस प्रकार विचार करते-करते जीवात्मा केवल विवेक-बलसे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ १६ ॥

षड्विंशेन प्रबुद्धेन बुध्यमानोऽप्यबुद्धिमान्।
एतन्नानात्वमित्युक्तं सांख्यश्रुतिनिदर्शनात् ॥ १७ ॥

जीव छब्बीसवें तत्त्व ज्ञानस्वरूप परमात्माके प्रकाशसे ही जडवर्गको जानता है; परंतु उसे जानकर भी परमात्माको न जाननेके कारण वह अज्ञानी ही रह जाता है। यह अज्ञान ही जीवके नानात्वरूप बन्धनका कारण बताया जाता है। जैसा कि सांख्यशास्त्र और श्रुतियोंद्वारा दिग्दर्शन कराया गया है ॥

चेतनेन समेतस्य पञ्चविंशतिकस्य ह।
एकत्वं वै भवत्यस्य यदा बुद्ध्या न बुध्यते ॥ १८ ॥

जब जीवात्मा बुद्धिके द्वारा जडवर्गको अपना नहीं समझता अर्थात् उससे सम्बन्ध नहीं जोड़ता, तब नित्य चेतन परमात्मासे संयुक्त हुए [illegible] जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता हो जाती है ॥ १८ ॥

बुध्यमानोऽप्रबुद्धेन समतां याति मैथिल।
सङ्गधर्मा भवत्येष निःसङ्गात्मा नराधिप ॥ १९ ॥

मिथिलानरेश ! [illegible] जीवात्मा जडवर्गको अपना

समझता है, तबतक वह जडवर्गकी ही समताको वह प्राप्त होता है। यद्यपि वह स्वरूपसे असङ्ग है, तो भी प्रकृतिके सम्पर्कसे आसक्तिरूप धर्मवाला हो जाता है ॥ १९ ॥

निःसङ्गात्मानमासाद्य षड्विंशकमजं विभुम्।
विभुस्त्यजति चाव्यक्तं यदा त्वेतद् विबुद्ध्यते ॥ २० ॥
चतुर्विंशमसारं च षड्विंशस्य प्रबोधनात्।

छब्बीसवाँ तत्त्व परमात्मा अजन्मा, सर्वव्यापी और सङ्ग-दोषसे रहित है। उसकी शरण लेकर जब जीवात्मा उसके स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है, तब परमात्मज्ञानके प्रभावसे स्वयं भी सर्वव्यापी हो जाता है तथा चौबीस तत्त्वोंसे युक्त प्रकृतिको असार समझकर त्याग देता है ॥ २०३ ॥

एष ह्यप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ ॥ २१ ॥
प्रोक्तो बुद्धश्च तत्त्वेन यथाश्रुतिनिदर्शनात्।
नानात्वैकत्वमेतावद् द्रष्टव्यं शास्त्रदर्शनात् ॥ २२ ॥

निष्पाप नरेश ! इस प्रकार मैंने तुमसे अप्रतिबुद्ध (क्षर), बुध्यमान (अक्षर जीवात्मा) और बुद्ध (ज्ञान-स्वरूप परमात्मा)—इन तीनोंका श्रुतिके निर्देशके अनुसार यथार्थरूपसे प्रतिपादन किया है। शास्त्रीय दृष्टिके अनुसार जीवात्माके नानात्व और एकत्वको इसी तरह समझना चाहिये ॥

मशकोदुम्बरे यद्वदन्यत्वं तद्वदेतयोः।
मत्स्योदके यथा तद्वदन्यत्वमुपलभ्यते ॥ २३ ॥

जैसे गूलर और उसके कीड़े एक साथ रहते हुए भी परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुषमें भी भिन्नता है। जैसे मछली और जल एक-दूसरेसे भिन्न हैं, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुषमें भी भेद उपलब्ध होता है ॥ २३ ॥

एवमेवावगन्तव्यं नानात्वैकत्वमेतयोः।
एतद्धि मोक्ष इत्युक्तमव्यक्तज्ञानसंहितम् ॥ २४ ॥

इसी प्रकार प्रकृति और पुरुषकी एकता और अनेकता-को समझना चाहिये। अव्यक्त प्रकृतिका पुरुषसे जो नित्य भेद है, उसके यथार्थज्ञानसे पुरुष उसके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। इसीको मोक्ष कहा जाता है ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतिकस्यास्य योऽयं देहेषु वर्तते।
एष मोक्षयितव्येति प्राहुरव्यक्तगोचरात् ॥ २५ ॥

इस शरीरमें जो पचीसवाँ तत्त्व अन्तर्यामी पुरुष विद्यमान है, उसे अव्यक्तके कार्यभूत महत्तत्त्वादिके बन्धनसे मुक्त करना आवश्यक है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं ॥ २५ ॥

सोऽयमेवं विमुच्येत नान्यथेति विनिश्चयः।
परेण परधर्मा च भवत्येष समेत्य वै ॥ २६ ॥

वह यह जीवात्मा पूर्वोक्त प्रकारसे ही मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। यही विद्वानोंका निश्चय है। वह दूसरेसे मिल-कर उसीका समानधर्मी हो जाता है ॥ २६ ॥

विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान्।
विमुक्तधर्मा मुक्तेन समेत्य पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥

पुरुषप्रवर ! जीवात्मा शुद्ध पुरुषका सङ्ग करके विशुद्ध धर्मवाला होता है। किसी ज्ञानी या बुद्धिमान्‌का सङ्ग करनेसे बुद्धिमान् होता है। किसी मुक्तसे मिलनेपर उसमें मुक्तके-से ही धर्म या [illegible] होते हैं ॥ २७ ॥

वियोगधर्मिणा चैव विमुक्तात्मा भवत्यथ।
विमोक्षिणा विमोक्षश्च समेत्येह [illegible] भवेत् ॥ २८ ॥

जिसका प्रकृतिसे सम्बन्ध छूट गया है, ऐसे पुरुषसे मिलनेपर वह विमुक्तात्मा होता है। जो मोक्षधर्मसे युक्त है, उसका साथ करनेसे जीवको मोक्ष प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

शुचिकर्मा शुचिश्चैव भवत्यमितदीप्तिमान्।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना ॥ २९ ॥

जिसके आचार-विचार शुद्ध हैं, उससे मिलनेपर वह पवित्र-कर्मा एवं पवित्र होता है। जिसका अन्तःकरण निर्मल है, उसके सम्पर्कमें जानेपर वह भी निर्मलात्मा और अमित-तेजस्वी होता है ॥ २९ ॥

केवलात्मा [illegible] चैव केवलेन समेत्य वै।
[illegible] स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नुते ॥ ३० ॥

अद्वितीय परमात्मासे सम्बन्ध स्थापित करके वह तद्रूपता-को [illegible] हो जाता है अर्थात् अद्वितीय परमात्माको प्राप्त हो जाता है। स्वतन्त्र परमेश्वरसे सम्बन्ध रखनेके कारण वह वास्तवमें स्वतन्त्र होकर वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है ॥

एतावदेतत् कथितं मया ते
तथ्यं महाराज यथार्थतत्त्वम्।
अमत्सरत्वं परिगृह्य चार्थं
सनातनं ब्रह्म विशुद्धमाद्यम् ॥ ३१ ॥

महाराज ! मैंने ईर्ष्या-द्वेषसे रहित भावको स्वीकार करके और तुम्हारे प्रयोजनको समझकर तुमसे प्रेमपूर्वक इस शुद्ध सनातन एवं सबके आदिभूत सत्यस्वरूप ब्रह्मके यथार्थ तत्त्वका इस रूपमें वर्णन किया है ॥ ३१ ॥

नावेदनिष्ठस्य जनस्य राजन्
प्रदेयमेतत् परमं त्वया भवेत्।
विधित्समानाय विबोधकारणं
प्रबोधहेतोः प्रणतस्य शासनम् ॥ ३२ ॥

राजन् ! जो मनुष्य वेदमें श्रद्धा रखनेवाला न हो, उसे इस उत्तम ज्ञानका उपदेश तुम्हें नहीं करना चाहिये। जिसे बोधके लिये अधिक प्यास हो तथा जो जिज्ञासुभावसे शरणमें आया हो, वही इस उपदेशको सुननेका अधिकारी है ॥ ३२ ॥

न देयमेतच्च तथानृतात्मने
शठाय क्लीबाय न जिह्मबुद्धये।
न पण्डितज्ञानपरोपतापिने
देयं [illegible] देयं [illegible] निबोध यादृशे ॥ ३३ ॥

असत्यवादी, शठ, नीच, कपटी, अपनेको पण्डित माननेवाले और दूसरेको [illegible] पहुँचानेवाले मनुष्यको भी

इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। कैसे पुरुषको इस ज्ञानका उपदेश देना और अवश्य देना चाहिये—यह भी सुन लो ॥ ३३ ॥

श्रद्धान्विताथाय गुणान्विताय
परापवादाद् विरताय नित्यम्।
विशुद्धयोगाय बुधाय नित्यं
क्रियावते च क्षमिणे हिताय ॥ ३४ ॥
विविक्तशीलाय विधिप्रियाय
विवादहीनाय बहुश्रुताय।
विजानते चैव न चाहितक्षमे
दमे च [illegible] शमे च देयम् ॥ ३५ ॥

श्रद्धालु, गुणवान्, परनिन्दासे सदा दूर रहनेवाले, विशुद्ध योगी, विद्वान्, सदा शास्त्रोक्त कर्म करनेवाले, क्षमाशील, सबके हितैषी, एकान्तवासी, शास्त्रविधिका आदर करनेवाले, विवादहीन, बहुज्ञ, विज्ञ, किसीका अहित न करनेवाले [illegible] इन्द्रियसंयम एवं मनोनिग्रहमें समर्थ पुरुषको ही इस [illegible] उपदेश देना चाहिये ॥ ३४-३५ ॥

एतैर्गुणैर्हीनतमे [illegible] देय-
मेतत् परं [illegible] विशुद्धमाहुः।
[illegible] श्रेयसा योक्ष्यति तादृशे कृतं
धर्मप्रवक्तारमपात्रदानात् ॥ ३६ ॥

जो इन सद्गुणोंसे अत्यन्त हीन हो, उसे इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। यह ज्ञान विशुद्ध परब्रह्मस्वरूप बताया गया है। वैसे गुणहीन पुरुषको दिया हुआ यह [illegible] उसके लिये कल्याणकारी नहीं होगा तथा कुपात्रको उपदेश देनेसे यह वक्ताका भी कल्याण नहीं करेगा ॥ ३६ ॥

पृथ्वीमिमां यद्यपि रत्नपूर्णां
दद्यान्न देयं त्विदमव्रताय।
जितेन्द्रियायैतदसंशयं ते
भवेत् प्रदेयं परमं नरेन्द्र ॥ ३७ ॥

नरेन्द्र! जिसने [illegible] और नियमोंका पालन न किया हो, वह यदि रत्नोंसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीका राज्य दे तो भी उसे इस ज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये। परंतु जितेन्द्रिय पुरुषको निस्संदेह इस परम उत्तम ज्ञानका उपदेश देना तुम्हें उचित है ॥ ३७ ॥

[illegible] मा ते भयमस्तु किञ्चि-
देतच्छ्रुतं [illegible] परं त्वयाद्य।
यथावदुक्तं परमं पवित्रं
विशोकमत्यन्तमनादिमध्यम् ॥ ३८ ॥
अगाधजन्मामरणं च राजन्
निरामयं वीतभयं शिवं च।
समीक्ष्य मोहं त्यज [illegible] सर्वं
ज्ञानस्य तत्त्वार्थमिदं विदित्वा ॥ ३९ ॥

कराल! तुमने मुझसे आज परब्रह्मका ज्ञान सुना है; अतः तुम्हारे मनमें तनिक भी भय नहीं होना चाहिये। वह परब्रह्म परम पवित्र, शोकरहित, आदि, मध्य और अन्तसे शून्य, जन्म-मृत्युसे बचानेवाला, निरामय, निर्भय तथा कल्याणमय है। राजन्! उसका मैंने यथावत्‌रूपसे प्रतिपादन किया है। यही सम्पूर्ण ज्ञानोंका तात्त्विक अर्थ है। ऐसा जान कर उसका ज्ञान प्राप्त करके आज मोहका परित्याग कर दो ॥

अवाप्तमेतद्धि मया सनातना-
द्धिरण्यगर्भाद् गदतो नराधिप।
प्रसाद्य [illegible] तमुग्रचेतसं
सनातनं [illegible] यथाद्य वै त्वया ॥ ४० ॥

नरेश्वर! जिस [illegible] आज तुमने मुझसे सनातन ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया है; इसी प्रकार मैंने भी हिरण्यगर्भ नामसे प्रसिद्ध सनातन उग्रचेता ब्रह्माजीके मुखसे, उन्हें बड़े यत्नसे प्रसन्न करके, इसे प्राप्त किया था ॥ ४० ॥

पृष्टस्त्वया चास्मि [illegible] नरेन्द्र
यथा मयेदं त्वयि चोक्तमद्य।
तथावाप्तं ब्रह्मणो मे नरेन्द्र
महाज्ञानं मोक्षविदां परायणम् ॥ ४१ ॥

नरेन्द्र! जैसे तुमने मुझसे पूछा है और जैसे मैंने तुम्हारे प्रति आज इस ज्ञानका उपदेश किया है, उसी प्रकार मैंने भी ब्रह्माजीसे प्रश्न करके उनके मुखसे इस महान् ज्ञानको प्राप्त किया है। यह मोक्षज्ञानियोंका परम आश्रय है ॥ ४१ ॥

भीष्म उवाच

एतदुक्तं परं ब्रह्म यस्मान्नावर्तते पुनः।
पञ्चविंशो महाराज परमर्षिनिदर्शनात् ॥ ४२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज! महर्षि वसिष्ठके बताये अनुसार यह परब्रह्मका स्वरूप मैंने तुम्हें बताया है, जिसे पाकर जीवात्मा फिर इस संसारमें नहीं लौटता ॥ ४२ ॥

पुनरावृत्तिमाप्नोति परं ज्ञानमवाप्य च।
नावबुध्यति तत्त्वेन बुध्यमानोऽजरामरम् ॥ ४३ ॥

जो इस उत्तम ज्ञानको गुरुके मुखसे पाकर भी भली-भाँति समझता नहीं है, वह पुनरावृत्ति (बारंबार आवागमन) को प्राप्त होता है और जो इसे तत्त्वतः [illegible] लेता है, वह जरा-मृत्युसे रहित परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥

एतन्निःश्रेयसकरं ज्ञानं ते परमं मया।
कथितं तत्त्वतस्तात श्रुत्वा देवर्षितो नृप ॥ ४४ ॥

तात! नरेश्वर! यह परम कल्याणकारी उत्तम ज्ञान मैंने देवर्षि नारदजीके मुँहसे सुना था। जिसे यथार्थरूपसे तुम्हें भी बताया है ॥ ४४ ॥

हिरण्यगर्भादृषिणा वसिष्ठे[illegible] महात्मना।
वसिष्ठादृषिशार्दूलान्नारदोऽवाप्तवानिदम् ॥ ४५ ॥
नारदाद् विदितं मह्यमेतद् ब्रह्म सनातनम्।
मा शुचः कौरवेन्द्र त्वं श्रुत्वैतत् परमं पदम् ॥ ४६ ॥

ब्रह्माजीसे महात्मा वसिष्ठ मुनिने यह ज्ञान प्राप्त किया [illegible]। मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठसे [illegible] नारदजीको उपलब्ध हुआ और नारदजीसे मुझे [illegible] सनातन [illegible] उपदेश प्राप्त हुआ है। कौरवनरेश! यह ज्ञान परमपद है। इसे सुनकर अब तुम शोकका त्याग कर दो ॥ ४५-४६ ॥

येन क्षराक्षरे वित्ते भयं तस्य न विद्यते।
विद्यते तु भयं तस्य यो नैतद् वेत्ति पार्थिव ॥ ४७ ॥

पृथ्वीनाथ! जिसने क्षर और अक्षरके तत्त्वको जान लिया है, उसमें किसी प्रकारका भी भय नहीं होता। जो इसे नहीं जानता, उसीमें भय रहता है ॥ ४७ ॥

अविज्ञानाच्च मूढात्मा पुनः पुनरुपाद्रवत्।
प्रेत्य जातिसहस्राणि मरणान्तान्युपाश्नुते ॥ ४८ ॥

मूर्ख मनुष्य इस तत्त्वको न जाननेके कारण बारंबार संसारमें [illegible] है और हजारों योनियोंमें जन्म-मरणके कष्टका अनुभव करता है ॥ ४८ ॥

देवलोकं तथा तिर्यङ्मानुष्यमपि चाश्नुते।
यदि शुध्यति कालेन तस्मादज्ञानसागरात् ॥ ४९ ॥
(उत्तीर्णोऽस्मादगाधात् स परमाप्नोति शोभनम्।)

वह देव, मनुष्य और पशु-पक्षी आदिकी योनिमें भटकता रहता है। यदि कभी समयके अनुसार शुद्ध हो गया तो [illegible] अगाध अज्ञानसमुद्रसे पार होकर परम कल्याणका भागी होता है ॥ ४९ ॥

अज्ञानसागरो घोरो ह्यव्यक्तोऽगाध उच्यते।
अहन्यहनि मज्जन्ति यत्र भूतानि भारत ॥ ५० ॥

भरतनन्दन! अज्ञानरूपी समुद्र अव्यक्त, अगाध और भयंकर बताया जाता है। इसमें असंख्य प्राणी प्रतिदिन गोते खाते रहते हैं ॥ ५० ॥

यस्मादगाधादव्यक्तादुत्तीर्णस्त्वं सनातनात्।
तस्मात् त्वं विरजाश्चैव वितमस्कश्च पार्थिव ॥ ५१ ॥

राजन्! तुम मेरा उपदेश पाकर इस अव्यक्त, अगाध एवं प्रवाहरूपमें सदा रहनेवाले भवसागरसे पार हो गये हो, इसलिये अब तुम रजोगुण और तमोगुणसे भी रहित हो गये हो ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वसिष्ठकरालजनकसंवादसमाप्तौ अष्टाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें वसिष्ठ-करालजनक-संवादकी समाप्तिविषयक तीन सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३०८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक [illegible] ½ श्लोक मिलाकर कुल ५१½ श्लोक हैं)

नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जनकवंशी वसुमान्को [illegible] मुनिका धर्मविषयक उपदेश

भीष्म उवाच

मृगयां विचरन् कश्चिद् विजने [illegible]।
वने ददर्श विप्रेन्द्रमृषिं वंशधरं भृगोः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! एक समयकी बात है, जनकवंशका कोई राजकुमार शिकार खेलनेके लिये एक निर्जन वनमें घूम रहा था। उसने वनमें बैठे हुए एक मुनिको देखा; जो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ एवं महर्षि भृगुके वंशधर थे ॥ १ ॥

उपासीनमुपासीनः [illegible] शिरसा मुनिम्।
पश्चादनुमतस्तेन पप्रच्छ वसुमानिदम् ॥ २ ॥

पास ही बैठे हुए मुनिको [illegible] झुकाकर प्रणाम करके वह राजकुमार उनके समीपमें ही बैठ गया। [illegible] नाम वसुमान् था। उसने महर्षिकी आज्ञा लेकर उनसे [illegible] पूछा— ॥ २ ॥

भगवन् किमिदं श्रेयः प्रेत्य चापीह वा भवेत्।
पुरुषस्याध्रुवे देहे कामस्य वशवर्तिनः ॥ ३ ॥

'भगवन्! [illegible] क्षणभङ्गुर शरीरमें कामके अधीन होकर रहनेवाले पुरुषका इस लोक और परलोकमें किस उपायसे [illegible] है?' ॥ ३ ॥

सत्कृत्य परिपृष्टः सन् सुमहात्मा महातपाः।
निजगाद ततस्तस्मै श्रेयस्करमिदं वचः ॥ ४ ॥

सत्कारपूर्वक प्रश्न करनेपर [illegible] महातपस्वी महात्मा मुनिने राजकुमार वसुमान्से यह कल्याणकारी वचन कहा ॥

ऋषिरुवाच

मनसोऽप्रतिकूलानि प्रेत्य चेह [illegible] वाञ्छसि।
भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व यतेन्द्रियः ॥ ५ ॥

ऋषि बोले—राजकुमार! यदि तुम इस लोक और परलोकमें अपने मनके अनुकूल वस्तुएँ पाना चाहते हो तो अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर समस्त प्राणियोंके प्रतिकूल आचरणोंसे दूर हट जाओ ॥ ५ ॥

धर्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम्।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः ॥ ६ ॥

धर्म ही सत्पुरुषोंका कल्याण करनेवाला और धर्म ही उनका आश्रय है। तात! चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोक धर्मसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ६ ॥

स्वादुकामुक कामानां वैतृष्ण्यं किं न गच्छसि।
मधु पश्यसि दुर्बुद्धे प्रपातं नानुपश्यसि ॥ ७ ॥

भोगोंका [illegible] लेनेकी इच्छा रखनेवाले दुर्बुद्धि मानव! तुम्हारी कामपिपासा शान्त क्यों नहीं होती? अभी तुम्हें वृक्षकी ऊँची डालीमें [illegible] हुआ केवल मधु ही दिखायी

देता है। वहाँसे गिरनेपर प्राणान्त हो सकता है, इसकी ओर तुम्हारी दृष्टि नहीं है (अर्थात् अभी तुम भोगोंकी मिठास-पर ही लुभाये हुए हो। उससे होनेवाले पतनकी ओर तुम्हारा ध्यान नहीं जा रहा है) ॥ ७ ॥

यथा ज्ञाने परिचयः कर्तव्यस्तत्फलार्थिना।
तथा धर्मे परिचयः कर्तव्यस्तत्फलार्थिना ॥ ८ ॥

जैसे ज्ञानका फल चाहनेवालेके लिये ज्ञानसे परिचित होना आवश्यक है, उसी प्रकार धर्मका फल चाहनेवाले मनुष्यको भी धर्मका परिचय प्राप्त करना चाहिये ॥ ८ ॥

असता धर्मकामेन विशुद्धं कर्म दुष्करम्।
सता तु धर्मकामेन सुकरं कर्म दुष्करम् ॥ ९ ॥

दुष्ट पुरुष यदि धर्मकी इच्छा करे तो भी उसके द्वारा विशुद्ध कर्मका सम्पादन होना कठिन है और साधु पुरुष यदि धर्मके अनुष्ठानकी इच्छा करे तो उसके लिये कठिन-से-कठिन कर्म भी करना सहज है ॥ ९ ॥

वने ग्राम्यसुखाचारो यथा ग्राम्यस्तथैव [illegible]।
ग्रामे वनसुखाचारो यथा वनचरस्तथा ॥ १० ॥

वनमें रहकर भी जो ग्रामीण सुखोंका उपभोग करनेमें लगा है, उसको ग्रामीण ही समझना चाहिये तथा गाँवोंमें रहकर भी जो वनवासी मुनियोंके-से बर्तावमें ही सुख मानता है, उसकी गिनती वनवासियोंमें ही करनी चाहिये ॥ १० ॥

मनोवाक्कायिके धर्मे कुरु श्रद्धां समाहितः।
निवृत्तौ वा प्रवृत्तौ वा सम्प्रधार्य गुणागुणान् ॥ ११ ॥

पहले निवृत्ति और प्रवृत्ति-मार्गमें जो गुण-अवगुण हैं, उनका तुम अच्छी तरह निश्चय कर लो; फिर एकाग्रचित्त हो मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले धर्ममें श्रद्धा करो (अर्थात् श्रद्धापूर्वक धर्मके पालनमें लग जाओ) ॥ ११ ॥

नित्यं च बहु दातव्यं साधुभ्यश्चानसूयता।
प्रार्थितं व्रतशौचाभ्यां सत्कृतं देशकालयोः ॥ १२ ॥

प्रतिदिन [illegible] और शौचाचारका पालन करते हुए उत्तम देश और कालमें साधु पुरुषोंको प्रार्थना और सत्कार-पूर्वक अधिक-से-अधिक दान करना चाहिये और उनमें दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिये ॥ १२ ॥

शुभेन विधिना लब्धमर्हाय प्रतिपादयेत्।
क्रोधमुत्सृज्य दद्याच्च नानुतप्येन्न कीर्तयेत् ॥ १३ ॥

शुभकर्मोंद्वारा प्राप्त हुआ धन सत्पात्रको अर्पण करना चाहिये। क्रोधको त्यागकर दान देना चाहिये और देनेके बाद न तो उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और न उसे दूसरोंको बताना ही चाहिये ॥ १३ ॥

अनृशंसः शुचिर्दान्तः सत्यवागार्जवे स्थितः।
योनिकर्मविशुद्धश्च पात्रं स्याद् वेदविद् द्विजः ॥ १४ ॥

दयालु, पवित्र, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरलतापूर्ण बर्ताव करनेवाला तथा योनिसे अर्थात् जन्मसे और कर्मसे शुद्ध वेदवेत्ता ब्राह्मण ही दान पानेका उत्तम पात्र है ॥ १४ ॥

सत्कृता चैकपत्नी च जात्या योनिरिहेष्यते।
ऋग्यजुःसामगो विद्वान् षट्कर्मा पात्रमुच्यते ॥ १५ ॥

अपनी ही जातिके उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई तथा पतिद्वारा सम्मानित पतिव्रता स्त्री यहाँ उत्तम योनि मानी गयी है। अतः जिसका ऐसी मातासे जन्म हुआ, हो वह जन्मसे शुद्ध है। ऋक्, यजुष् और सामवेदका विद्वान् होकर सदा (यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन) छः कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला ब्राह्मण कर्मसे शुद्ध एवं उत्तम पात्र बताया गया है ॥ १५ ॥

स एव धर्मः सोऽधर्मस्तं तं प्रति नरं भवेत्।
पात्रकर्मविशेषेण देशकालावपेक्ष्य च ॥ १६ ॥

देश, काल, पात्र और कर्मविशेषपर विचार करनेसे एक ही कर्म भिन्न-भिन्न मनुष्यके लिये धर्म और अधर्मरूप हो जाता है ॥ १६ ॥

लीलयाल्पं यथा गात्रात् प्रमृज्यात् तु [illegible] पुमान्।
बहुयत्नेन च महत् पापनिर्हरणं तथा ॥ १७ ॥

जैसे शरीरमें थोड़ी-सी धूल लगी हुई हो तो मनुष्य उसे [illegible] ही झाड़-पोंछकर दूर कर देता है; परंतु बहुत अधिक मैल बैठ जाय तो उसे बड़े प्रयत्नसे दूर [illegible] सकता है, उसी [illegible] थोड़ा पाप थोड़े से प्रयत्नसे और महान् [illegible] महान् प्रायश्चित्त करनेसे दूर होता है ॥ १७ ॥

विरिक्तस्य [illegible] सम्यग् घृतं भवति भेषजम्।
[illegible] निर्हृतदोषस्य प्रेत्य धर्मः सुखावहः ॥ १८ ॥

जैसे जिसने विरेचनके द्वारा अपने पेटको अच्छी तरह [illegible] कर लिया हो, वह मनुष्य यदि घी खाय तो वह उसके लिये दवाके [illegible] लाभदायक होता है। उसी तरह जिसके सारे पाप-दोष दूर हो गये हैं, उसीके लिये धर्म परलोकमें सुख देनेवाला होता है ॥ १८ ॥

मानसं सर्वभूतेषु वर्तते वै शुभाशुभम्।
अशुभेभ्यः सदाऽऽक्षिप्य शुभेष्वेवावतारयेत् ॥ १९ ॥

सभी प्राणियोंके मनमें शुभ और अशुभ विचार उठते रहते हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह चित्तको सदा अशुभ विचारोंकी ओरसे हटाकर शुभ विचारोंमें ही लगाये ॥ १९ ॥

सर्वं सर्वेण सर्वत्र क्रियमाणं च पूजय।
स्वधर्मे यत्र रागस्ते कामं धर्मो विधीयताम् ॥ २० ॥

अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार सबके द्वारा सब जगह किये जानेवाले सब प्रकारके कर्मोंका आदर करो। तुम भी अपने धर्मके अनुसार जिस कर्ममें तुम्हारा अनुराग हो, उस [illegible] इच्छानुसार पालन करते रहो ॥ २० ॥

अधृतात्मन् धृतौ तिष्ठ दुर्बुद्धे बुद्धिमान् भव।
अप्रशान्तः प्रशाम्य त्वमप्राज्ञः प्राज्ञवच्चर ॥ २१ ॥

अधीरचित्त नरेश! धीरताका आश्रय लो। दुर्बुद्धे!

बुद्धिमान् बनो। तुम सदा अशान्त रहते हो। अबसे शान्त हो जाओ और अबतक मूर्खोंके-से बर्ताव करते रहे, अब विद्वानोंके समान आचरण करो ॥ २१ ॥

तेजसा शक्यते प्राप्तुमुपायः सहचारिणा।
इह च प्रेत्य च श्रेयस्तस्य मूलं धृतिः परा ॥ २२ ॥

जो सत्पुरुषोंका सङ्ग करता है, उसे उन्हींके तेज या प्रतापसे कोई ऐसा उपाय [illegible] हो सकता है, जो इस लोक और परलोकमें भी कल्याण करनेवाला हो। उत्तम धृति (मनकी स्थिरता) ही कल्याणका मूल है ॥ २२ ॥

राजर्षिरधृतिः स्वर्गात् पतितो [illegible] महाभिषः।
ययातिः क्षीणपुण्योऽपि धृत्या लोकानवाप्तवान् ॥ २३ ॥

राजर्षि महाभिष धृतिमान् न होनेके कारण [illegible] स्वर्गसे नीचे गिरे और राजा ययाति अपना पुण्यक्षीण हो जानेके [illegible] भी धृतिके ही बलसे उत्तम लोकोंको प्राप्त हुए ॥ २३ ॥

तपस्विनां धर्मवतां विदुषां चोपसेवनात्।
प्राप्स्यसे विपुलां बुद्धिं तथा श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ २४ ॥

राजन्! तपस्वी, धर्मात्मा एवं विद्वानोंकी सेवा करनेसे तुम्हें विशाल बुद्धि [illegible] होगी, जिससे तुम कल्याणके भागी हो सकोगे ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच

[illegible] स्वभावसम्पन्नस्तच्छ्रुत्वा मुनिभाषितम्।
विनिवर्त्य [illegible] कामाद् धर्मे बुद्धिं चकार ह ॥ २५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजकुमार वसुमान् अच्छे स्वभावसे सम्पन्न था। उसने मुनिके [illegible] उपदेशको सुनकर अपने मनको कामनाओंसे हटा लिया और बुद्धिको धर्ममें ही लगा दिया ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जनकानुशासने नवाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३०९ ॥

[illegible] [illegible] श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें जनकवंशी वसुमानको उपदेशविषयक तीन सौ नवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ ३०९ ॥

दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

याज्ञवल्क्यका राजा जनकको उपदेश—सांख्यमतके अनुसार चौबीस तत्त्वों और नौ प्रकारके सर्गोंका निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

धर्माधर्मविमुक्तं यद् विमुक्तं सर्वसंशयात्।
जन्ममृत्युविमुक्तं [illegible] विमुक्तं पुण्यपापयोः ॥ १ ॥
यच्छिवं नित्यमभयं नित्यमक्षरमव्ययम्।
शुचि नित्यमनायासं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! जो धर्म और अधर्मके बन्धनसे मुक्त, सम्पूर्ण संशयोंसे रहित, जन्म और मृत्युसे रहित, पुण्य और पापसे मुक्त, नित्य, निर्भय, कल्याणमय, अक्षर, अव्यय (अविकारी), पवित्र एवं क्लेशरहित तत्त्व है, उसका आप हमें उपदेश कीजिये ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

[illegible] ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम्।
[illegible] संवादं [illegible] च भारत ॥ ३ [illegible]

भीष्मजी बोले—भरतनन्दन! इस विषयमें [illegible] तुम्हें जनक और याज्ञवल्क्यका संवादरूप एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा ॥ [illegible] ॥

याज्ञवल्क्यमृषिश्रेष्ठं दैवरातिर्महायशाः।
पप्रच्छ जनको [illegible] प्रश्नं प्रश्नविदां वरम् ॥ [illegible] ॥

एक बार देवरातके महायशस्वी पुत्र राजा जनकने [illegible] [illegible] समझनेवालोंमें श्रेष्ठ मुनिवर याज्ञवल्क्यजीसे पूछा ॥ ४ ॥

जनक उवाच

कतीन्द्रियाणि विप्रर्षे कति प्रकृतयः स्मृताः।
किमव्यक्तं परं ब्रह्म तस्माच्च परतस्तु किम् ॥ ५ ॥
प्रभवं चाप्ययं चैव कालसंख्यां तथैव [illegible]।
वक्तुमर्हसि विप्रेन्द्र त्वदनुग्रहकाङ्क्षिणः ॥ ६ [illegible]

[illegible] बोले—ब्रह्मर्षे! इन्द्रियाँ कितनी हैं? प्रकृतिके कितने भेद माने गये हैं? अव्यक्त क्या है? और उससे परे परब्रह्म परमात्माका क्या स्वरूप है? सृष्टि और प्रलय क्या है? और कालकी गणना कैसे की जाती है? विप्रेन्द्र! ये [illegible] बतानेकी कृपा करें; क्योंकि हमलोग आपकी कृपाके अभिलाषी हैं ॥

अज्ञानात् परिपृच्छामि त्वं हि ज्ञानमयो निधिः।
तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वमेतदसंशयम् ॥ [illegible] ॥

मैं इन बातोंको नहीं [illegible] इसलिये पूछ [illegible] हूँ। आप ज्ञानके भण्डार हैं, इसलिये आपहीसे इन [illegible] विषयोंको सुननेकी इच्छा हो रही है; जिससे सारा संदेह दूर हो जाय ॥

याज्ञवल्क्य उवाच

श्रूयतामवनीपाल यदेतदनुपृच्छसि।
योगानां [illegible] ज्ञानं सांख्यानां [illegible] विशेषतः ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्यजीने कहा—भूपाल! सुनो, तुम जो कुछ पूछते हो, वह योग और विशेषतः सांख्यका परम रहस्यमय ज्ञान तुम्हें [illegible] हूँ ॥ ८ ॥

न तवाविदितं किंचिन्मां [illegible] जिज्ञासते भवान्।
पृष्टेन चापि वक्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥

यद्यपि तुमसे कोई भी विषय अज्ञात नहीं है, फिर भी मुझसे पूछते हो तो कहना ही पड़ता है; क्योंकि किसीके पूछनेपर जानकार मनुष्यको उसके प्रश्नका उत्तर देना ही चाहिये। यही सनातन धर्म है ॥ ९ ॥

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश।
तत्र [illegible] प्रकृतीरष्टौ प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ॥ १० ॥
अव्यक्तं च महान्तं च तथाहङ्कार एव च।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ११ ॥

प्रकृतियाँ आठ बतायी गयी हैं और उनके विकार सोलह। अध्यात्मशास्त्रका चिन्तन करनेवाले विद्वान् आठ प्रकृतियोंके नाम इस प्रकार बतलाते हैं—अव्यक्त (मूल प्रकृति), महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ॥ १०-११ ॥

एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकारानपि मे शृणु।
श्रोत्रं त्वक्चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम् ॥ १२ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
वाक्च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढ्रं तथैव च॥ १३ ॥

ये आठ प्रकृतियाँ कही गयीं। अब मुझसे विकारोंका भी वर्णन सुनो—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, पाँचवीं नासिका, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वाणी, हाथ, पैर, लिङ्ग और गुदा ॥ १२-१३ ॥

एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पञ्चसु।
बुद्धीन्द्रियाण्यथैतानि सविशेषाणि मैथिल ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! उनमें पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्द आदि पाँच विषयोंकी 'विशेष' संज्ञा है और ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ 'सविशेष' कहलाती हैं। मिथिलानरेश ! ये 'विशेष' और 'सविशेष' तत्त्व पञ्चमहाभूतोंमें ही स्थित हैं ॥ १४ ॥

मनः षोडशकं प्राहुरध्यात्मगतिचिन्तकाः।
त्वं चैवान्ये च विद्वांसस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ॥ १५ ॥

(ये [illegible] मिलकर पंद्रह हैं) इनके साथ सोलहवाँ मन है। अध्यात्मगतिका चिन्तन करनेवाले तत्त्वज्ञान-विशारद तुम और दूसरे विद्वान् भी इन्हींको सोलह विकार कहते हैं ॥

अव्यक्ताच्च महानात्मा समुत्पद्यति पार्थिव।
प्रथमं सर्गमित्येतदाहुः प्राधानिकं बुधाः ॥ १६ ॥

पृथ्वीनाथ ! अव्यक्त प्रकृतिसे महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। इसे विद्वान् पुरुष प्रथम एवं प्राकृत सृष्टि कहते [illegible] ॥ १६ ॥

महतश्चाप्यहङ्कार उत्पन्नो हि नराधिप।
द्वितीयं सर्गमित्याहुरेतद् बुद्ध्यात्मकं स्मृतम् ॥१७॥

नरेश्वर ! महत्तत्त्वसे अहंकार प्रकट होता है, जो दूसरा सर्ग बताया जाता है। इसे बुध्यात्मक-सृष्टि माना गया [illegible] ॥

अहङ्काराच्च सम्भूतं मनो भूतगुणात्मकम्।
तृतीयः सर्ग इत्येष आहङ्कारिक उच्यते ॥ १८ ॥

अहंकारसे मन उत्पन्न हुआ है, जो पञ्चभूत और शब्दादि गुणस्वरूप है। इसे तीसरा और आहंकारिक सर्ग कहा जाता है ॥ १८ ॥

मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप।
चतुर्थं सर्गमित्येतन्मानसं विद्धि मे मतम् ॥ १९ ॥

राजन् ! मनसे पाँच सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न हुए हैं। यह चौथा सर्ग है। मेरे मतके अनुसार इसे मानसी सृष्टि समझो ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
पञ्चमं सर्गमित्याहुर्भौतिकं भूतचिन्तकाः ॥ २० ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न हुए हैं। यह पाँचवीं सृष्टि है। भूत चिन्तक विद्वान् इसे भौतिक सर्ग कहते हैं ॥ २० ॥

श्रोत्रं त्वक् चैव चक्षुश्च जिह्वा घ्राणं च पञ्चमम्।
सर्गं [illegible] षष्ठमित्याहुर्बहुचिन्तात्मकं स्मृतम् ॥ २१ ॥

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और पाँचवीं नासिका—इसे छठा सर्ग बताया गया है। यह बहुचिन्तात्मक सर्ग माना गया है ॥ २१ ॥

[illegible] श्रोत्रेन्द्रियग्राम उत्पद्यति नराधिप।
सप्तमं सर्गमित्याहुरेतदैन्द्रियकं स्मृतम् ॥ २२ ॥

नरेन्द्र ! श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके बाद कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। इसे सातवाँ सर्ग कहते हैं। इसीको ऐन्द्रियक सृष्टि भी कहा जाता है ॥ २२ ॥

ऊर्ध्वं स्रोतस्तथा तिर्यगुत्पद्यति नराधिप।
अष्टमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं स्मृतम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर जिसका प्रवाह ऊपरकी ओर है, वह प्राण एवं तिरछा चलनेवाले समान, व्यान और उदान—ये सब प्रकट हुए। यह आठवाँ सर्ग है। इसीको आर्जवक सर्ग कहा गया है ॥ २३ ॥

तिर्यक्स्रोतस्त्वधःस्रोत उत्पद्यति नराधिप।
नवमं सर्गमित्याहुरेतदार्जवकं बुधाः ॥ २४ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् जिसका प्रवाह तिरछा चलता है, वे व्यान और उदान अपान वायुके साथ निम्नभागमें प्रकट हुए। इसे नवम सर्ग कहते हैं। इसे भी विद्वान् पुरुष आर्ज- [illegible] सृष्टिके नामसे ही पुकारते हैं ॥ २४ ॥

एतानि नव सर्गाणि तत्त्वानि च नराधिप।
चतुर्विंशतिरुक्तानि यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! ये नौ सर्ग और चौबीस तत्त्व श्रुतिके निर्देशके अनुसार यहाँ बताये गये हैं ॥ २५ ॥

[illegible] ऊर्ध्वं महाराज गुणस्यैतस्य [illegible]।

महात्मभिरनुप्रोक्तां कालसंख्यां निबोध मे ॥ २६ ॥

महाराज ! अब इसके बाद महात्मा पुरुषोंद्वारा बतायी गयी इस गुणमयी सृष्टिकी कालसंख्या भी मुझसे यथावत्‌रूप- [illegible] सुनो ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१० ॥

इस [illegible] श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनक-संवादविषयक तीन सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१० ॥

एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, मन और विषयोंकी कालसंख्याका एवं सृष्टिका वर्णन तथा इन्द्रियोंमें मनकी प्रधानताका प्रतिपादन

याज्ञवल्क्य उवाच

[illegible] नरश्रेष्ठ कालसंख्यां निबोध मे ।
पञ्चकल्पसहस्राणि द्विगुणान्यहरुच्यते ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! अब [illegible] मुझसे अव्यक्तकी काल-संख्या सुनो । दस हजार कल्पोंका (महा-युगोंका) इस अव्यक्तका एक दिन बताया जाता है ॥ १ ॥

रात्रिरेतावती चास्य प्रतिबुद्धो नराधिप ।
सृजत्योषधिमेवाग्रे जीवनं सर्वदेहिनाम् ॥ २ ॥

नरेश्वर ! उसकी रात्रि भी उतनी ही बड़ी होती है । ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा पहले समस्त प्राणियोंके जीवन-निर्वाहके लिये ओषधि (नाना प्रकारके अन्न) की सृष्टि करते [illegible] ॥ २ ॥

ततो ब्रह्माणमसृजद्धिरण्याण्डसमुद्भवम् ।
सा मूर्तिः सर्वभूतानामित्येवमनुशुश्रुम ॥ ३ ॥

हमने सुना है कि परमात्माने ओषधियोंकी सृष्टिके बाद ब्रह्माजीकी सृष्टि की थी, जो सुवर्णमय अण्डके भीतरसे प्रकट [illegible] थे । वे ही सम्पूर्ण भूतोंके उद्गमस्थान हैं ॥ ३ ॥

संवत्सरमुषित्वाण्डे निष्क्रम्य च महामुनिः ।
संदधे [illegible] महीं कृत्स्नां दिवमूर्ध्वं प्रजापतिः ॥ ४ ॥

वे महामुनि प्रजापति ब्रह्मा [illegible] सुवर्णमय अण्डके भीतर एक वर्षतक निवास करके उससे बाहर निकल आये । फिर उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी, आकाश और ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) की सृष्टिके लिये विचार आरम्भ किया ॥ ४ ॥

द्यावापृथिव्योरित्ये[illegible] राजन् वेदेषु पठ्यते ।
तयोः शकलयोर्मध्यमाकाशमकरोत् प्रभुः ॥ ५ ॥

राजन् ! शक्तिशाली ब्रह्माजीने [illegible] अण्डके दोनों टुकड़ोंके एवं स्वर्ग तथा भूतलके मध्यभागमें आकाशकी सृष्टि की । यह बात वेदोंमें कही गयी है ॥ ५ ॥

एतस्यापि च संख्यानं वेदवेदाङ्गपारगैः ।
दशकल्पसहस्राणि पादोनान्यहरुच्यते ॥ ६ ॥

वेदों और वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् ब्रह्माजीकी भी कालसंख्याका विचार करते हुए कहते हैं कि दस हजार कल्पोंमेंसे एक चौथाई कम कर देनेपर जितना शेष रहता है, उतना ही ब्रह्माजीके एक दिनका मान है अर्थात् साढ़े सात हजार कल्पोंका उनका एक दिन होता है ॥ [illegible] ॥

रात्रिमेतावतीं चास्य प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ।
सृजत्यहङ्कारमृषिर्भूतं दिव्यात्मकं तथा ॥ ७ ॥

अध्यात्मतत्त्वोंका चिन्तन करनेवाले विद्वानोंका कथन है कि ब्रह्माजीकी रात्रि भी इतनी ही बड़ी है । महान् ऋषि ब्रह्मा अहंकार नामक दिव्य भूतकी सृष्टि करते [illegible] ॥ ७ ॥

चतुरश्चापरान् पुत्रान् देहात् पूर्वं महानृषिः ।
ते वै पितृणां पितरः श्रूयन्ते राजसत्तम ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! महान् ऋषि ब्रह्माने पूर्वकालमें भौतिक देहकी उत्पत्तिसे पहले चार अन्य पुत्रोंको उत्पन्न किया (जिनके [illegible] ये हैं—बुद्धि, अहंकार, मन और चित्त) । वे चारों पुत्र 'पितरोंके भी पितर' अर्थात् पञ्चमहाभूतोंके भी जनक सुने जाते हैं ॥ ८ ॥

देवाः पितृणां च सुता देवैर्लोकाः समावृताः ।
चराचरा नरश्रेष्ठ इत्येवमनुशुश्रुम ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ ! देवता (श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ) पितरों (पञ्च-महाभूतों) के पुत्र हैं अर्थात् सारी इन्द्रियाँ पञ्चमहाभूतोंसे ही उत्पन्न हुई हैं और वे समस्त चराचर जगत्‌का आश्रय लेकर स्थित हैं, ऐसा हमने सुना है ॥ ९ ॥

परमेष्ठी त्वहङ्कारः सृजन् भूतानि पञ्चधा ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ १० ॥

स्रष्टाके उत्तम पदपर प्रतिष्ठित हुआ अहंकार आकाश, वायु, तेज, [illegible] और पृथ्वी—इन पाँच प्रकारके भूतोंकी सृष्टि करता है ॥ १० ॥

एतस्यापि निशामाहुस्तृतीयमिह कुर्वतः ।
पञ्चकल्पसहस्राणि तावदेवाहरुच्यते ॥ ११ ॥

इस तृतीय भौतिक सर्गकी सृष्टि करनेवाले अहंकारकी रात्रि पाँच हजार कल्पोंकी होती है । उसका दिन भी उतना ही बड़ा बताया जाता है ॥ ११ ॥

शब्दः [illegible] रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
एते विशेषा राजेन्द्र महाभूतेषु पञ्चसु ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! आकाश आदि पाँच महाभूतोंमें क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, [illegible] और गन्ध—ये विशेष गुण [illegible] ॥ १२ ॥

यैराविष्टानि भूतानि अहन्यहनि पार्थिव ।

अन्योन्यं स्पृहयन्त्येते अन्योन्यस्य हिते रताः ॥ १३ ॥
अन्योन्यमतिवर्तन्ते अन्योन्यस्पर्धिनस्तथा ।
ते वध्यमाना ह्यन्योन्यं गुणैर्हारिभिरव्ययैः ॥ १४ ॥

पृथ्वीनाथ ! प्रवाहरूपसे सदा विद्यमान रहनेवाले इन मनोहर शब्द आदि विषयोंसे आविष्ट होकर सभी प्राणी प्रतिदिन कभी एक-दूसरेको चाहते हैं, कभी पारस्परिक हित-साधनमें तत्पर रहते हैं, कभी एक-दूसरेको नीचा दिखानेकी चेष्टा करते हैं, कभी आपसमें ईर्ष्या रखते हैं और कभी परस्पर प्रहार भी कर बैठते हैं ॥ १३-१४ ॥

इहैव परिवर्तन्ते तिर्यग्योनिप्रवेशिनः ।
त्रीणि कल्पसहस्राणि एतेषामहरुच्यते ॥ १५ ॥
रात्रिरेतावती चैव मनसश्च नराधिप ।

ऐसे विषयासक्त प्राणी तिर्यग्योनियोंमें प्रवेश करके इसी संसारमें चक्कर काटते रहते हैं । इन शब्दादि विषयोंका एक दिन तीन हजार कल्पोंका बताया जाता है । नरेश्वर ! इनकी रात भी इतनी ही बड़ी है । मनके भी दिन-रातका परिमाण इतना ही है ॥ १५½ ॥

मनश्चरति राजेन्द्र चरितं सर्वमिन्द्रियैः ॥ १६ ॥
न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति [illegible] एवानुपश्यति ।
चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा तु न चक्षुषा ॥ १७ ॥

राजेन्द्र ! मन इन्द्रियोंद्वारा संचालित होकर [illegible] विषयोंकी ओर जाता है । इन्द्रियाँ उन विषयोंको नहीं देखतीं, मन ही उन्हें निरन्तर देखता है । आँख मनके सहयोगसे ही [illegible] दर्शन करती है, अपनी शक्तिसे नहीं ॥ १६-१७ ॥

मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ।
तथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते ॥ १८ ॥

जिस समय मन व्यग्र रहता है, उस समय आँख देखती हुई भी नहीं देख पाती । लोग भ्रमवश ही ऐसा कहते हैं कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विषयोंको प्रत्यक्ष करती हैं ॥ १८ ॥

न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति [illegible] एवात्र पश्यति ।
मनस्युपरते राजन्निन्द्रियोपरमो भवेत् ॥ १९ ॥

किंतु इन्द्रियाँ कुछ नहीं देखतीं, केवल मन ही देखता है । राजन् ! मन विषयोंसे उपरत हो जाय तो इन्द्रियाँ भी विषयोंसे निवृत्त हो जाती हैं ॥ १९ ॥

न चेन्द्रियव्युपरमे मनस्युपरमो भवेत् ।
एवं मनःप्रधानानि इन्द्रियाणि प्रभावयेत् ॥ २० ॥

परंतु इन्द्रियोंके उपरत होनेपर मनमें उपरति नहीं आती। इस प्रकार, यह निश्चय करना चाहिये कि सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें मन ही प्रधान है ॥ २० ॥

इन्द्रियाणां [illegible] सर्वेषामीश्वरं मन उच्यते ।
एतद् विशन्ति भूतानि सर्वाणीह महायशः ॥ २१ ॥

मनको सम्पूर्ण इन्द्रियोंका स्वामी कहा जाता है । महायशस्वी नरेश ! जगत्‌के [illegible] प्राणी इस मनका ही आश्रय लेते हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनकका संवादविषयक तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३११ ॥

द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

संहारक्रमका वर्णन

याज्ञवल्क्य उवाच

तत्त्वानां सर्वसंख्या च कालसंख्या तथैव च ।
[illegible] प्रोक्ताऽऽनुपूर्व्येण संहारमपि मे शृणु ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—राजन् ! अब मेरेद्वारा क्रमशः बतायी हुई तत्त्वोंकी सम्पूर्ण संख्या, कालसंख्या तथा तत्त्वोंके संहारकी वार्ता सुनो ॥ [illegible] ॥

यथा संहरते जन्तून् ससर्ज च पुनः पुनः ।
अनादिनिधनो [illegible] नित्यश्चाक्षर [illegible] च ॥ २ ॥

आदि और अन्तसे रहित नित्य अक्षरस्वरूप ब्रह्माजी किस प्रकार बारंबार प्राणियोंकी सृष्टि और संहार करते हैं—[illegible] बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

अहःक्षयमथो बुद्ध्वा निशि स्वप्नमनास्तथा ।
चोदयामास भगवानव्यक्तोऽहंकृतं नरम् ॥ ३ ॥

भगवान् ब्रह्माजी [illegible] देखते हैं कि मेरे दिनका [illegible] हो गया, तब उनके मनमें रातको शयन करनेकी इच्छा होती है, इसलिये वे अहंकारके अभिमानी देवता रुद्रको संहारके लिये प्रेरित करते हैं ॥ ३ ॥

ततः शतसहस्रांशुरव्यक्तेनाभिचोदितः ।
कृत्वा द्वादशधाऽऽत्मानमादित्यो ज्वलदग्निवत् ॥ [illegible] ॥

उस समय वे रुद्रदेव ब्रह्माजीसे प्रेरित होकर प्रचण्ड सूर्यका रूप धारण करते हैं और अपनेको बारह रूपोंमें अभिव्यक्त करके अग्निके समान प्रज्वलित हो उठते हैं ॥४॥

चतुर्विधं महीपाल निर्दहत्याशु तेजसा ।
जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जं च नराधिप ॥ ५ ॥

भूपाल ! नरेश्वर ! फिर वे अपने तेजसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—इन चार प्रकारके प्राणियोंसे भरे हुए सम्पूर्ण जगत्‌को शीघ्र ही भस्म कर डालते हैं ॥ ५ ॥

एतदुन्मेषमात्रेण विनष्टं स्थाणु जङ्गमम् ।
कूर्मपृष्ठसमा भूमिर्भवत्यथ समन्ततः ॥ ६ ॥

पलक मारते-मारते इस समस्त चराचर जगत्‌का नाश

हो जाता है और यह भूमि [illegible] ओरसे कछुएकी पीठकी [illegible] प्रतीत होने लगती है ॥ ६ ॥

जगद् दग्ध्वामितबलः केवलां जगतीं ततः ।
अम्भसा बलिना क्षिप्रमापूरयति सर्वशः ॥ ७ ॥

जगत्‌को दग्ध करनेके बाद अमित बलवान् रुद्र इस अकेली बची हुई समूची पृथ्वीको शीघ्र ही जलके महान् प्रवाहमें डुबो देते हैं ॥ ७ ॥

[illegible] कालाग्निमासाद्य तदम्भो याति संक्षयम् ।
विनष्टेऽम्भसि राजेन्द्र जाज्वलत्यनलो महान् ॥ ८ ॥

तदनन्तर कालाग्निकी लपटमें पड़कर वह सारा [illegible] सूख [illegible] है। राजेन्द्र! जलके नष्ट हो जानेपर आग अत्यन्त भयानक रूप धारण करती है और सब ओर बड़े जोरसे प्रज्वलित होने लगती है ॥ ८ ॥

तमप्रमेयोऽतिबलं ज्वलमानं विभावसुम् ।
ऊष्माणं सर्वभूतानां सप्तार्चिषमथाञ्जसा ॥ ९ ॥
भक्षयामास भगवान् वायुरष्टात्मको बली ।
विचरन्नमितप्राणस्तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ॥ १० ॥

सम्पूर्ण भूतोंको गर्मी पहुँचानेवाली तथा अत्यन्त प्रबल वेगसे जलती हुई [illegible] सात ज्वालाओंसे युक्त आगको बलवान् वायुदेव अपने आठ रूपोंमें प्रकट होकर निगल जाते हैं और ऊपर-नीचे तथा बीचमें [illegible] ओर प्रवाहित होने लगते हैं ॥ ९-१० ॥

तमप्रतिबलं भीममाकाशं ग्रसतेऽऽत्मना ।
आकाशमप्यभिनदन्मनो ग्रसति चाधिकम् ॥ ११ ॥

तदनन्तर आकाश उस अत्यन्त प्रबल एवं भयकर वायुको स्वयं ही ग्रस लेता है। फिर गर्जन-तर्जन करनेवाले [illegible] आकाशको उससे भी अधिक शक्तिशाली मन अपना ग्रास बना लेता है ॥ ११ ॥

मनो ग्रसति भूतात्मा सोऽहंकारः प्रजापतिः ।
अहंकारं महानात्मा भूतभव्यभविष्यवित् ॥ १२ ॥

[illegible] भूतात्मा और प्रजापतिस्वरूप अहंकार मनको अपनेमें लीन कर लेता है। तत्पश्चात् भूत, भविष्य और वर्तमानका ज्ञाता बुद्धिस्वरूप महत्तत्त्व अहंकारको अपना [illegible] बना लेता है ॥ १२ ॥

तमप्यनुपमात्मानं विश्वं शम्भुः प्रजापतिः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १३ ॥
सर्वतःपाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥
हृदयं सर्वभूतानां पर्वणाङ्गुष्ठमात्रकः ।
[illegible] ग्रसत्यनन्तो हि महात्मा विश्वमीश्वरः ॥ १५ ॥

इसके बाद, जिनके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, मस्तक और [illegible] हैं, [illegible] ओर [illegible] हैं तथा जो जगत्‌में सबको [illegible] करके स्थित हैं, जो सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें अङ्गुष्ठपर्वके बराबर आकार धारण करके विराजमान हैं, अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि ऐश्वर्य जिनके अधीन हैं, जो सबके नियन्ता, ज्योतिःस्वरूप, अविनाशी, कल्याणमय, प्रजाके स्वामी, अनन्त, महान् आत्मा और सर्वेश्वर हैं, वे परब्रह्म परमात्मा उस अनुपम विश्वरूप बुद्धितत्त्वको अपनेमें लीन [illegible] लेते हैं ॥ १३—१५ ॥

[illegible] समभवत् सर्वमक्षयाव्ययमव्रणम् ।
भूतभव्यभविष्याणां स्रष्टारमनघं तथा ॥ १६ ॥

तदनन्तर [illegible] और वृद्धिसे रहित, अविनाशी और निर्विकार, सर्वस्वरूप परब्रह्म ही शेष रह जाता है। उसीने भूत, भविष्य और वर्तमानकी सृष्टि करनेवाले निष्पाप ब्रह्माकी भी सृष्टि की है ॥ १६ ॥

एषोऽप्ययस्ते राजेन्द्र यथावत् समुदाहृतः ।
अध्यात्ममधिभूतं च अधिदैवं [illegible] श्रूयताम् ॥ १७ ॥

राजेन्द्र! इस प्रकार मैंने तुम्हारे समक्ष संहारक्रमका यथावत्‌रूपसे वर्णन किया है। अब [illegible] अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवका वर्णन सुनो ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१२ ॥

त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवतका वर्णन [illegible] सात्त्विक, राजस और तामस भावोंके लक्षण

याज्ञवल्क्य उवाच

पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।
गन्तव्यमधिभूतं च विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—राजन्! [illegible]दर्शी ब्राह्मणों[illegible] कथन है कि दोनों पैर अध्यात्म हैं, गन्तव्य स्थान अधिभूत [illegible] और विष्णु अधिदैवत हैं ॥ [illegible] ॥

पायुरध्यात्ममित्याहुर्यथा तत्त्वार्थदर्शिनः ।
विसर्गमधिभूतं च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ २ ॥

तत्त्वार्थदर्शी विद्वान् गुदाको अध्यात्म कहते हैं। मलत्याग अधिभूत है और मि[illegible] अधिदैवत हैं ॥ २ ॥

उपस्थोऽध्यात्ममित्याहुर्यथा योगप्रदर्शिनः ।
अधिभूतं तथाऽऽनन्दो दैवतं च प्रजापतिः ॥ ३ ॥

योगमतका प्रदर्शन करनेवाले जैसा कहते हैं, उसके अनुसार उपस्थ अध्यात्म है, मैथुनजनित आनन्द अधिभूत है और प्रजापति अधिदैवत हैं ॥ ३ ॥

हस्तावध्यात्ममित्याहुर्यथा संख्यानदर्शिनः ।
कर्तव्यमधिभूतं तु इन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ४ ॥

सांख्यदर्शी विद्वानोंके कथनानुसार दोनों हाथ अध्यात्म हैं, कर्तव्य अधिभूत है और इन्द्र अधिदैवत हैं ॥ ४ ॥

वागध्यात्ममिति प्राहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥ ५ ॥

वेदार्थपर विचार करनेवाले विद्वान् जैसा कहते हैं, उसके अनुसार वाक् अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और अग्नि अधिदैवत हैं ॥ ५ ॥

चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रूपमत्राधिभूतं तु सूर्यश्चाप्यधिदैवतम् ॥ ६ ॥

वेददर्शी विद्वान् जैसा बताते हैं, उसके अनुसार नेत्र अध्यात्म है, रूप अधिभूत है और सूर्य अधिदैवत हैं ॥ ६ ॥

श्रोत्रमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
शब्दस्तत्राधिभूतं तु दिशश्चात्राधिदैवतम् ॥ ७ ॥

वैदिक सिद्धान्तका ज्ञान रखनेवाले विद्वान् पुरुष कहते हैं कि श्रोत्र अध्यात्म है, शब्द अधिभूत है और दिशाएँ अधिदैवत हैं ॥ ७ ॥

जिह्वामध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
रस एवाधिभूतं तु आपस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८ ॥

वेदके अनुसार दृष्टि रखनेवाले विद्वानोंका कथन है कि जिह्वा अध्यात्म है, रस अधिभूत है और जल अधिदैवत है ॥

घ्राणमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः ।
गन्ध एवाधिभूतं तु पृथिवी चाधिदैवतम् ॥ ९ ॥

वैदिक मतके अनुसार यथार्थ तत्त्वका ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि नासिका अध्यात्म है, गन्ध अधिभूत है और पृथ्वी अधिदैवत है ॥ ९ ॥

त्वगध्यात्ममिति प्राहुस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः ।
स्पर्शमेवाधिभूतं तु पवनश्चाधिदैवतम् ॥ १० ॥

तत्त्वज्ञानमें कुशल पुरुषोंका कथन है कि त्वचा अध्यात्म है, स्पर्श अधिभूत है और वायु अधिदैवत है ॥ १० ॥

मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथा शास्त्रविशारदाः ।
मन्तव्यमधिभूतं तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥ ११ ॥

शास्त्रज्ञाननिपुण विद्वान् कहते हैं कि मन अध्यात्म है, मन्तव्य अधिभूत है और चन्द्रमा अधिदेवता है ॥ ११ ॥

अहंकारिकमध्यात्ममाहुस्तत्त्वनिदर्शिनः ।
अभिमानोऽधिभूतं तु रुद्रश्चात्राधिदैवतम् ॥ १२ ॥

तत्त्वदर्शी पुरुषोंका कथन है कि अहङ्कार अध्यात्म है, अभिमान अधिभूत है और रुद्र अधिदेवता हैं ॥ १२ ॥

बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदभिदर्शिनः ।
बोद्धव्यमधिभूतं तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥ १३ ॥

यथार्थ ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि बुद्धि अध्यात्म है, बोद्धव्य अधिभूत है और आत्मा अधिदेवता है ॥ १३ ॥

एषा ते व्यक्तितो राजन् विभूतिरनुदर्शिता ।
आदौ मध्ये तथान्ते च यथातत्त्वेन तत्त्ववित् ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञ नरेश ! यह मैंने तुम्हारे निकट आदि, मध्य और अन्तमें तत्त्वतः प्रकाशित होनेवाली जीवकी व्यक्तिगत विभूतिका वर्णन किया है ॥ १४ ॥

प्रकृतिर्गुणान् विकुरुते स्वच्छन्देनात्मकाम्यया ।
क्रीडार्थं तु महाराज शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १५ ॥

महाराज ! प्रकृति स्वतन्त्रतापूर्वक खेल करनेके लिये अपनी ही इच्छासे सैकड़ों और हजारों गुणोंको उत्पन्न करती है ॥

यथा दीपसहस्राणि दीपान्मर्त्याः प्रकुर्वते ।
प्रकृतिस्तथा विकुरुते पुरुषस्य गुणान् बहून् ॥ १६ ॥

जैसे मनुष्य एक दीपकसे हजारों दीपक जला लेते हैं, उसी प्रकार प्रकृति पुरुषके सम्बन्धसे अनेक गुण [illegible] कर देती है ॥ १६ ॥

सत्त्वमानन्द उद्रेकः प्रीतिः प्राकाश्यमेव च ।
सुखं शुद्धित्वमारोग्यं संतोषः श्रद्दधानता ॥ १७ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भः क्षमा धृतिरहिंसता ।
[illegible] सत्यमानृण्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ १८ ॥
शौचमार्जवमाचारमलौल्यं हृद्यसम्भ्रमः ।
इष्टानिष्टवियोगानां कृतानामविकत्थना ॥ १९ ॥
दानेन चात्मग्रहणमस्पृहत्वं परार्थता ।
सर्वभूतदया चैव सत्त्वस्यैते गुणाः स्मृताः ॥ २० ॥

धैर्य, आनन्द, प्रीति, उत्कर्ष, प्रकाश (ज्ञानशक्ति), सुख, शुद्धि, आरोग्य, संतोष, श्रद्धा, अकार्पण्य (दीनताका अभाव), असंरम्भ (क्रोधका अभाव), क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, ऋणसे रहित होना, मृदुता, लज्जा, अचञ्चलता, शौच, सरलता, सदाचार, अलोलुपता, हृदयमें सम्भ्रमका न होना, [illegible] और अनिष्टके वियोगका बखान न करना, दानके द्वारा धैर्य धारण करना, किसी वस्तुकी इच्छा न करना, परोपकार और सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया—ये सब सत्त्वसम्बन्धी गुण बताये गये हैं ॥ १७–२० ॥

रजोगुणानां संघातो रूपमैश्वर्यविग्रहौ ।
अत्यागित्वमकारुण्यं सुखदुःखोपसेवनम् ॥ २१ ॥
परापवादेषु रतिर्विवादानां च सेवनम् ।
अहंकारमसत्कारश्चिन्ता वैरोपसेवनम् ॥ २२ ॥
परितापोऽभिहरणं ह्रीनाशोऽनार्जवं तथा ।
भेदः परुषता चैव कामः क्रोधो मदस्तथा ॥ २३ ॥
दर्पो द्वेषोऽतिवादश्च एते प्रोक्ता रजोगुणाः ।
तामसानां तु संघातं प्रवक्ष्याम्युपधार्यताम् ॥ २४ ॥

रूप, ऐश्वर्य, विग्रह, त्यागका अभाव, करुणाका अभाव, दुःख-सुखका उपभोग, परनिन्दामें प्रीति, वाद-विवाद करना, अहङ्कार, माननीय पुरुषोंका सत्कार न करना, चिन्ता, वैर-भाव रखना, संताप करना, दूसरोंका धन हड़प लेना, निर्लज्जता, कुटिलता, भेदबुद्धि, कठोरता, काम, क्रोध, मद, दर्प, द्वेष और बहुत बोलनेका स्वभाव—यह रजोगुणका समूह है। ये सारे भाव रजोगुणके कार्य बताये गये हैं। अब मैं [illegible] भावोंके समूहका परिचय देता हूँ, ध्यान देकर सुनो॥

मोहोऽप्रकाशस्तामिस्रमन्धतामिस्रसंज्ञितम् ।
मरणं चान्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते ॥ २५ ॥
तमसो लक्षणानीह भक्षणाद्यभिरोचनम् ।
भोजनानामपर्याप्तिस्तथा पेयेष्वतृप्तता ॥ २६ ॥
गन्धवासो विहारेषु शयनेष्वासनेषु च ।
दिवास्वप्नेऽतिवादे च प्रमादेषु च वै रतिः ॥ २७ ॥
नृत्यवादित्रगीतानामज्ञानाच्छ्रद्दधानता ।
द्वेषो धर्मविशेषाणामेते वै तामसा गुणाः ॥ २८ ॥

मोह, अप्रकाश (अज्ञान), तामिस्र और अन्धतामिस्र—ये [illegible] तमोगुणके लक्षण हैं। इनमें तामिस्र क्रोधका वाचक है और अन्धतामिस्र मरणका। भोजनमें रुचिका न होना, खानेकी वस्तुओंसे तृप्ति या संतोषका अभाव अथवा कितना ही भोजन क्यों न मिले, उसे पर्याप्त न मानना, पीनेकी वस्तुओंसे कभी तृप्त न होना, दुर्गन्धयुक्त [illegible] अनुचित विहार, मलिन शय्या और आसनोंका सेवन, दिनमें सोना, अत्यन्त वाद-विवादमें और प्रमादमें [illegible] आसक्त रहना, अज्ञानवश नाच-गीत और नाना प्रकारके बाजोंमें श्रद्धा, नाना प्रकारके धर्मोंसे द्वेष—ये तमोगुणके [illegible] हैं ॥ २५—२८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३१३॥

इस [illegible] श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ तेरहवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ ३१३ ॥

चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सात्त्विक, राजस और [illegible] प्रकृतिके मनुष्योंकी गतिका वर्णन [illegible] राजा जनकके प्रश्न

याज्ञवल्क्य [illegible]

एते [illegible] गुणास्त्रयः पुरुषसत्तम ।
कृत्स्नस्य चैव जगतस्तिष्ठन्त्यनपगाः सदा ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—पुरुषप्रवर! सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिके गुण हैं, जो सम्पूर्ण जगत्में सदा विद्यमान रहते हैं। कभी उससे अलग नहीं होते हैं॥ १॥

अव्यक्तरूपो भगवान् [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] चैव [illegible] [illegible] ॥ २ ॥
कोटिशश्च करोत्येष प्रत्यगात्मानमात्मना ।

यह ऐश्वर्यशालिनी प्रकृति अपने ही प्रभावसे जीवको सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों रूपोंमें प्रकट कर देती है॥

सात्त्विकस्योत्तमं स्थानं राजसस्येह मध्यमम् ॥ ३ ॥
[illegible]ां स्थानं प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः ।

अध्यात्म-शास्त्रका चिन्तन करनेवाले विद्वान् कहते हैं कि सात्त्विक पुरुषको उत्तम, रजोगुणीको मध्यम और तमोगुणीको [illegible] स्थानकी प्राप्ति होती है ॥ ३½ ॥

केवलेनेह पुण्येन गतिमूर्ध्वामवाप्नुयात् ॥ [illegible] ॥
पुण्यपापेन मानुष्यमधर्मेणाप्यधोगतिम् ।

केवल पुण्य करनेसे मनुष्य ऊर्ध्वलोकमें गमन करता है, पुण्य और पाप दोनोंके अनुष्ठानसे मर्त्यलोकमें जन्म लेता है तथा केवल पापाचार करनेपर उसे अधोगतिमें गिरना पड़ता है ॥ ४½ ॥

द्वन्द्वमेषां त्रयाणां तु संनिपातं च तत्त्वतः ॥ ५ ॥
[illegible] रजसश्चैव [illegible] शृणुष्व मे ।

[illegible] ॥ सत्त्व, [illegible] और तम—इन तीनों गुणोंके द्वन्द्व और संनिपातका यथार्थरूपसे वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ५½ ॥

[illegible] तु रजो दृष्टं रजसश्च तमस्तथा ॥ ६ ॥
तमसश्च तथा सत्त्वं सत्त्वस्याव्यक्तमेव [illegible] ।
अव्यक्तः सत्त्वसंयुक्तो देवलोकमवाप्नुयात् ॥ [illegible] ॥

सत्त्वगुणके साथ रजोगुण, रजोगुणके साथ तमोगुण, तमोगुणके [illegible] सत्त्वगुण तथा सत्त्वगुणके साथ अव्यक्त (जीवात्मा) का सम्मिश्रण देखा जाता है (यह दो तत्त्वोंका संयोग या मेल ही द्वन्द्व है)। जीवात्मा जब सत्त्वगुणसे संयुक्त होता है, [illegible] देवलोकको [illegible] होता है ॥ ६-७ ॥

रजःसत्त्वसमायुक्तो मानुषेषु प्रपद्यते ।
रजस्तमोभ्यां संयुक्तस्तिर्यग्योनिषु जायते ॥ ८ ॥

रजोगुण और सत्त्वगुणसे संयुक्त होनेपर वह मनुष्य-लोकमें जाता है तथा रजोगुण और तमोगुणसे संयुक्त होनेपर वह पशु-पक्षी आदिकी योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है ॥ ८ ॥

राजसैस्तामसैः सत्त्वैर्युक्तो मानुषमाप्नुयात् ।
पुण्यपापवियुक्तानां स्थानमाहुर्महात्मनाम् ।
[illegible]ं चाव्ययं चैवमक्षयं चामृतं च तत् ॥ ९ ॥

राजस, [illegible] और सात्त्विक तीनों भावोंसे युक्त होनेपर जीवको मनुष्ययोनिकी प्राप्ति होती है। जो पुण्य और पाप

१-२ दो गुणोंके मेलको द्वन्द्व और तीन गुणोंके मेलको संनिपात कहते हैं।

दोनोंसे रहित हैं, उन महात्मा पुरुषोंके लिये सनातन, अविकारी, अक्षय और अमृतपदकी प्राप्ति बतायी गयी है॥ ९॥

ज्ञानिनां सम्भवं श्रेष्ठं स्थानमव्रणमच्युतम्।
अतीन्द्रियमबीजं च जन्ममृत्युतमोनुदम्॥ १०॥

जहाँ किसी प्रकारका [illegible] नहीं है, जहाँसे कभी पतन नहीं होता है, जो इन्द्रियातीत है, जहाँ बन्धनमें डालनेवाला कोई कारण नहीं है तथा जो जन्म, मृत्यु और अज्ञानका विनाश करनेवाला है, वह श्रेष्ठ स्थान (परमपद) ज्ञानियोंको ही प्राप्त हो सकता है॥ १०॥

अव्यक्तस्थं परं यत् तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप।
स एष प्रकृतिस्थो हि तत्स्थ इत्यभिधीयते॥ ११॥

नरेश्वर! तुमने जो अव्यक्त प्रकृतिमें स्थित परमतत्त्वके विषयमें मुझसे प्रश्न किया था, उसके उत्तरमें यह निवेदन है कि यह परमतत्त्व प्राकृत शरीरमें स्थित होनेसे ही प्रकृतिस्थ कहलाता है॥ ११॥

अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव।
एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते संहरत्यपि॥ १२॥

पृथ्वीनाथ! प्रकृति अचेतन मानी गयी है। इस परम-तत्त्वद्वारा अधिष्ठित होकर ही वह सृष्टि एवं संहार करती है॥ १२॥

जनक उवाच

अनादिनिधनावेतावुभावेव महामते।
अमूर्तिमन्तावचलावप्रकम्प्यगुणागुणौ॥ १३॥

जनकने पूछा—महामते! प्रकृति और पुरुष दोनों आदि-अन्तसे रहित, मूर्तिहीन और अचल हैं। दोनों अपने-अपने गुणमें स्थिर रहनेवाले और दोनों ही निर्गुण हैं॥१३॥

अग्राह्यावृषिशार्दूल कथमेको ह्यचेतनः।
चेतनावांस्तथा चैकः क्षेत्रज्ञ इति भाषितः॥ १४॥

मुनिश्रेष्ठ! वे दोनों ही बुद्धि-अगोचर हैं। फिर इन दोनोंमेंसे एक प्रकृतिको आपने अचेतन क्यों बताया है? तथा दूसरेको चेतन एवं क्षेत्रज्ञ कैसे कहा है?॥ १४॥

त्वं हि विप्रेन्द्र कार्त्स्न्येन मोक्षधर्ममुपाससे।
साकल्यं मोक्षधर्मस्य श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ १५॥

विप्रवर! आप पूर्णरूपसे मोक्षधर्मका सेवन करते हैं, इसलिये आपहीके मुँहसे मैं सम्पूर्ण मोक्ष-धर्मका यथावत् रूपसे श्रवण करना चाहता हूँ॥ १५॥

अस्तित्वं केवलत्वं च विनाभावं तथैव च।
दैवतानि च मे ब्रूहि देहं याल्याश्रितानि वै॥ १६॥

आप पुरुषके अस्तित्व, केवलत्व और प्रकृतिसे पृथक् सत्ताका स्पष्टीकरण कीजिये और देहका आश्रय ग्रहण करनेवाले जो देवता हैं, उनका तत्त्व भी मुझे समझाइये॥ १६॥

तथैवोत्क्रामिणः स्थानं देहिनो वै विपर्ययतः।
कालेन यद्धि प्राप्नोति स्थानं तत् प्रब्रवीहि मे॥ १७॥

तथा मरनेवाले जीवके प्राणोंका जब उत्क्रमण होता है, [illegible] समय उसे समयानुसार किस स्थानकी प्राप्ति होती है। इसपर भी [illegible] डालिये॥ १७॥

सांख्यज्ञानं च तत्त्वेन पृथग्योगं तथैव च।
अरिष्टानि च तत्त्वानि वक्तुमर्हसि सत्तम।
विदितं सर्वमेतत् ते पाणावामलकं यथा॥ १८॥

साधुशिरोमणे! साथ ही पृथक् पृथक् सांख्य और योगके ज्ञानका तथा मृत्युसूचक लक्षणोंका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये; क्योंकि ये सारी बातें आपको हाथपर रखे हुए आँवलेके समान ज्ञात हैं॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३१४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१४॥

पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

प्रकृति–पुरुषका विवेक और उसका फल

याज्ञवल्क्य उवाच

न शक्यो निर्गुणस्तात गुणीकर्तुं विशाम्पते।
गुणवांश्चाप्यगुणवान् यथातत्त्वं निबोध मे॥ १॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—तात! प्रजापालक नरेश! निर्गुणको सगुण और सगुणको निर्गुण नहीं किया जा सकता। इस विषयमें जो यथार्थ [illegible] है, वह मुझसे सुनो॥ १॥

गुणैर्हि गुणवानेव निर्गुणश्चागुणस्तथा।
प्राहुरेवं महात्मानो मुनयस्तत्त्वदर्शिनः॥ २॥

तत्त्वदर्शी महात्मा मुनि कहते हैं, जिसका गुणोंके [illegible] सम्पर्क है, वह गुणवान् है तथा जो गुणोंके संसर्गसे रहित है, वह निर्गुण कहलाता है॥ २॥

गुणस्वभावस्त्वव्यक्तो गुणान् नैवातिवर्तते।
उपयुङ्क्ते च तानेव स चैवाज्ञः स्वभावतः॥ ३॥

अव्यक्त प्रकृति स्वभावसे ही गुणवती है। वह गुणोंका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकती है। उन्हींको उपयोगमें लाती है और स्वभावसे ही ज्ञानरहित है॥ ३॥

अव्यक्तस्तु न जानीते पुरुषो ज्ञः स्वभावतः।
न मत्तः परमोऽस्तीति नित्यमेवाभिमन्यते॥ ४॥

प्रकृतिको किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता। इसके विपरीत पुरुष स्वभावसे ही ज्ञानी है। वह सदा इस बातको जानता रहता है कि मुझसे कोई दूसरा उत्कृष्ट पदार्थ नहीं है॥ ४॥

अनेन कारणेनैतदव्यक्तं स्यादचेतनम्।

नित्यत्वाच्चाक्षरत्वाच्च क्षरत्वाच्च तदन्यथा ॥ ५ ॥

इस कारणसे प्रकृतिको अचेतन माना गया है। भाव अर्थात् विनाशी होनेके कारण वह जडके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकती। इधर नित्य तथा अक्षर (अविनाशी) होनेके कारण पुरुष चेतन है ॥ ५ ॥

यदाज्ञानेन कुर्वीत गुणसर्गं पुनः पुनः।
यदाऽऽत्मानं न जानीते तदाऽऽत्मापि न मुच्यते ॥ ६ ॥

परंतु वह जबतक अज्ञानवश बारंबार गुणोंका संसर्ग करता और अपने असङ्गस्वरूपको नहीं जानता है, तबतक उसकी मुक्ति नहीं होती है ॥ ६ ॥

कर्तृत्वाच्चापि सर्गाणां सर्गधर्मा तथोच्यते।
कर्तृत्वाच्चापि योगानां योगधर्मा तथोच्यते ॥ ७ ॥

वह अपनेको सृष्टिका कर्ता माननेके कारण सर्गधर्मा कहलाता है और योगका कर्ता माननेसे योगधर्मा कहा जाता है ॥ ७ ॥

कर्तृत्वात् प्रकृतीनां च तथा प्रकृतिधर्मिता ॥ ८ ॥

नाना प्रकृतियोंको अपनेमें स्वीकार कर लेनेसे वह प्रकृतिधर्मवाला हो जाता है ॥ ८ ॥

कर्तृत्वाच्चापि बीजानां बीजधर्मा तथोच्यते।
गुणानां प्रसवत्वाच्च प्रलयत्वात् तथैव च ॥ ९ ॥

तथा स्थावर पदार्थोंके बीजोंका कर्ता होनेसे उसे बीजधर्मा कहते हैं। साथ ही वह गुणोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कर्ता है, इसलिये गुणधर्मा कहलाता है ॥ ९ ॥

उपेक्षत्वादनन्यत्वादभिमानाच्च केवलम्।
मन्यन्ते यतयः सिद्धा अध्यात्मज्ञा गतज्वराः।
अनित्यं नित्यमव्यक्तं व्यक्तमेतद्धि शुश्रुम ॥ १० ॥

अध्यात्मशास्त्रको जाननेवाले चिन्तारहित सिद्ध यति लोग पुरुषको केवल (प्रकृतिके सङ्गसे रहित) मानते हैं; क्योंकि वह साक्षी और अद्वितीय है, उसे सुख-दुःखका अनुभव तो अभिमानके कारण होता है। वह वास्तवमें तो नित्य और अव्यक्त है, किंतु प्रकृतिके सम्बन्धसे अनित्य और व्यक्त प्रतीत होता है ॥ १० ॥

अव्यक्तैकत्वमित्याहुर्नानात्वं पुरुषे तथा।
सर्वभूतदयावन्तः केवलं ज्ञानमास्थिताः ॥ ११ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेवाले और केवल ज्ञानका सहारा लेनेवाले कुछ सांख्यके विद्वान् प्रकृतिको एक तथा पुरुषको अनेक मानते हैं ॥ ११ ॥

अन्यः स पुरुषोऽव्यक्तस्त्वध्रुवो ध्रुवसंज्ञकः।
यथा मुञ्ज इषीकाणां तथैवैतद्धि जायते ॥ १२ ॥

पुरुष प्रकृतिसे भिन्न और नित्य है तथा अव्यक्त (प्रकृति) पुरुषसे भिन्न एवं अनित्य है। जैसे सींकसे मूँज अलग होती है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुषसे पृथक् है ॥

अन्यं च मशकं विद्यादन्यच्चोदुम्बरं तथा।
न चोदुम्बरसंयोगैर्मशकस्तत्र लिप्यते ॥ १३ ॥
अन्य एव तथा मत्स्यस्तदन्यदुदकं स्मृतम्।
न चोदकस्य स्पर्शेन मत्स्यो लिप्यति सर्वशः ॥ १४ ॥

जैसे गूलर और उसके कीड़े एक साथ होनेपर भी अलग-अलग समझे जाते हैं, गूलरके संयोगसे कीड़े उससे लिप्त नहीं होते तथा जैसे मत्स्य दूसरी वस्तु है और जल दूसरी। पानीके स्पर्शसे कभी कोई मत्स्य लिप्त नहीं होता है ॥ १३-१४ ॥

अन्यो ह्यग्निरुखाप्यन्या नित्यमेवमवेहि भोः।
न चोपलिप्यते सोऽग्निरुखासंस्पर्शनेन वै ॥ १५ ॥

राजन्! जैसे अग्नि दूसरी वस्तु है और मिट्टीकी हँड़िया दूसरी वस्तु। इन दोनोंके भेदको नित्य समझो। उस हँड़ियेके स्पर्शसे अग्नि दूषित नहीं होती है ॥ १५ ॥

पुष्करं त्वन्यदेवात्र तथान्यदुदकं स्मृतम्।
न चोदकस्य स्पर्शेन लिप्यते तत्र पुष्करम् ॥ १६ ॥

जैसे कमल दूसरी वस्तु है और पानी दूसरी, पानीके स्पर्शसे कमल लिप्त नहीं होता है। उसी प्रकार पुरुष भी प्रकृतिसे भिन्न और असङ्ग है ॥ १६ ॥

एतेषां सहवासं च निवासं चैव नित्यशः।
याथातथ्येन पश्यन्ति न नित्यं प्राकृता जनाः ॥ १७ ॥
ये त्वन्यथैव पश्यन्ति न सम्यक् तेषु दर्शनम्।
ते व्यक्तं निरयं घोरं प्रविशन्ति पुनः पुनः ॥ १८ ॥

साधारण मनुष्य इनके सहवास और निवासको कभी ठीक-ठीक समझ नहीं पाते। जो इन दोनोंके स्वरूपको अन्यथा जानते हैं अर्थात् प्रकृति और पुरुषको एक दूसरेसे भिन्न नहीं जानते हैं उनकी दृष्टि ठीक नहीं है। वे अवश्य ही बारबार घोर नरकमें पड़ते हैं ॥ १७-१८ ॥

सांख्यदर्शनमेतत् ते परिसंख्यातमुत्तमम्।
एवं हि परिसंख्याय सांख्याः केवलतां गताः ॥ १९ ॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें यह विचारप्रधान उत्तम सांख्यदर्शन बताया है। सांख्यशास्त्रके विद्वान् इस प्रकार जान करके कैवल्यको प्राप्त हो गये हैं ॥ १९ ॥

ये त्वन्ये तत्त्वकुशलास्तेषामेतन्निदर्शनम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योगानामनुदर्शनम् ॥ २० ॥

दूसरे भी जो तत्त्वविचारकुशल विद्वान् हैं, उनका भी ऐसा ही मत है। इसके बाद मैं योगियोंके शास्त्रका वर्णन करूँगा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे पञ्चदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकके संवादमें तीन सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१५ ॥

षोडशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

योगका वर्णन और उसके साधनसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति

याज्ञवल्क्य उवाच

सांख्यज्ञानं मया प्रोक्तं योगज्ञानं निबोध मे।
यथाश्रुतं यथादृष्टं तत्त्वेन नृपसत्तम ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! मैं सांख्यसम्बन्धी ज्ञान तो तुम्हें बतला चुका। अब जैसा मैंने देखा, सुना या समझा है, उसके अनुसार योगशास्त्रका तात्त्विक ज्ञान मुझसे सुनो॥

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्।
तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्मृतौ ॥ २ ॥

सांख्यके समान कोई ज्ञान नहीं है। योगके समान कोई बल नहीं है। इन दोनोंका लक्ष्य एक है और वे दोनों ही मृत्युका निवारण करनेवाले माने गये हैं ॥ २॥

पृथक् पृथक् प्रपश्यन्ति येऽल्पबुद्धिरता नराः।
वयं तु राजन् पश्याम एकमेव तु निश्चयात् ॥ ३ ॥

राजन्! जो मनुष्य अज्ञानपरायण हैं, वे ही इन दोनों शास्त्रोंको सर्वथा भिन्न मानते हैं। हम तो विचारके द्वारा पूर्ण निश्चय करके दोनोंको एक ही समझते हैं ॥ ३ ॥

यदेव योगाः पश्यन्ति तत् सांख्यैरपि दृश्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥ ४ ॥

योगी जिस तत्त्वका साक्षात्कार करते हैं, वही सांख्योंद्वारा भी देखा जाता है; अतः जो सांख्य और योगको एक देखता है, वही तत्त्वज्ञानी है ॥ ४ ॥

रुद्रप्रधानानपरान् विद्धि योगान्परंतप।
तेनैव चाथ देहेन विचरन्ति दिशो दश ॥ ५ ॥

शत्रुदमन नरेश! योग-साधनोंमें रुद्र अर्थात् प्राण प्रधान है। इन सबको तुम सर्वश्रेष्ठ समझो। प्राणको अपने वशमें कर लेनेपर योगी इसी शरीरसे दसों दिशाओंमें स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं ॥ ५॥

यावद्धि [illegible] सूक्ष्मेणाष्टगुणेन ह।
योगेन लोकान् विचरन् सुखं संन्यस्य चानघ ॥ ६ ॥

प्रिय निष्पाप भूपाल! जबतक मृत्यु न हो जाय, तबतक ही योगी योगबलसे स्थूल शरीरको यहीं छोड़कर अष्टविध ऐश्वर्यसे युक्त सूक्ष्मशरीरके द्वारा लोक-लोकान्तरोंमें सुखपूर्वक विचरण करता है ॥ ६ ॥

वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः।
सूक्ष्ममष्टगुणं प्राहुर्नेतरं नृपसत्तम ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ! मनीषी पुरुषोंका कहना है कि वेदमें स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकारके योगोंका वर्णन है। उनमें स्थूल योग अणिमा आदि आठ प्रकारकी सिद्धि प्रदान करनेवाला है और सूक्ष्म योग ही (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन) आठ गुणों (अङ्गों) से युक्त है; दूसरा नहीं ॥ ७ ॥

द्विगुणं योगकृत्यं तु योगानां प्राहुरुत्तमम्।
सगुणं निर्गुणं चैव यथा शास्त्रनिदर्शनम् ॥ ८ ॥

योगका मुख्य साधन दो प्रकारका बताया गया है—सगुण और निर्गुण (सबीज और निर्बीज)। ऐसा ही शास्त्रोंका निर्णय है ॥ ८ ॥

धारणं चैव मनसः प्राणायामश्च पार्थिव।
एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च ॥ ९ ॥

पृथ्वीनाथ! किसी विशेष देशमें चित्तको स्थापित करनेका नाम 'धारणा' है। मनकी धारणाके साथ किया जानेवाला प्राणायाम सगुण है और देश-विशेषका आश्रय न लेकर मनको निर्बीज समाधिमें एकाग्र [illegible] निर्गुण प्राणायाम कहलाता है ॥ ९ ॥

प्राणायामो हि सगुणो निर्गुणं धारयेन्मनः।
यद्यदृश्यति मुञ्चन् वै प्राणान् मैथिलसत्तम।
वाताधिक्यं भवत्येव तस्मात् तं न समाचरेत् ॥ १० ॥

सगुण प्राणायाम मनको निर्गुण अर्थात् वृत्तिशून्य करके स्थिर करनेमें सहायक होता है। मैथिलशिरोमणे! यदि पूरक आदिके समय नियत देवता आदिका ध्यानद्वारा साक्षात्कार किये बिना ही कोई प्राणवायुका रेचन करता है तो उसके शरीरमें वायुका प्रकोप बढ़ जाता है; अतः ध्यानरहित प्राणायामको नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

निशायाः प्रथमे यामे चोदना द्वादश स्मृताः।
मध्ये स्वप्नात् परे यामे द्वादशैव तु चोदनाः ॥ ११ ॥

रातके पहले पहरमें वायुको धारण करनेकी बारह प्रेरणाएँ बतायी गयी हैं। मध्य रात्रिमें रात्रिके बिचले दो पहरोंमें सोना चाहिये तथा पुनः अन्तिम प्रहरमें बारह प्रेरणाओंका ही अभ्यास करना चाहिये* ॥ ११ ॥

तदेवमुपशान्तेन दान्तेनैकान्तशीलिना।
आत्मारामेण बुद्धेन योक्तव्योऽऽत्मा न संशयः ॥ १२ ॥

इस प्रकार प्राणायामके द्वारा मनको वशमें करके शान्त और जितेन्द्रिय हो एकान्तवास करनेवाले आत्माराम ज्ञानीको चाहिये कि मनको परमात्मामें लगावे। इसमें संशय नहीं है ॥

पञ्चानामिन्द्रियाणां तु दोषानाक्षिप्य पञ्चधा।
शब्दं रूपं तथा स्पर्शं रसं गन्धं तथैव च ॥ १३ ॥

* एक प्राणायाममें पूरक, कुम्भक और रेचकके [illegible] प्रेरणाएँ समझनी चाहिये। इस प्रकार जहाँ बारह प्रेरणाओंके अभ्यासका विधान किया गया है, वहाँ चार-चार प्राणायाम करनेकी विधि समझनी चाहिये। तात्पर्य [illegible] कि रातके पहले और [illegible] पहरोंमें ध्यानपूर्वक चार-चार प्राणायामोंका नित्य [illegible] योगीके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

प्रतिभामपवर्गं च प्रतिसंहृत्य मैथिल ।
इन्द्रियग्राममखिलं मनस्यभिनिवेश्य ह ॥ १४ ॥
मनस्तथैवाहंकारे प्रतिष्ठाप्य नराधिप ।
अहंकारं तथा बुद्धौ बुद्धिं च प्रकृतावपि ॥ १५ ॥
एवं हि परिसंख्याय ततो ध्यायन्ति केवलम् ।
विरजस्कमलं नित्यमनन्तं शुद्धमव्रणम् ॥ १६ ॥
तस्थुषं पुरुषं नित्यमभेद्यमजरामरम् ।
शाश्वतं चाव्ययं चैव ईशानं [illegible] चाव्ययम् ॥ १७ ॥

मिथिलानरेश ! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— ये इन्द्रियोंके पाँच दोष हैं। इन दोषोंको दूर करे। फिर लय और विक्षेपको शान्त करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मनमें स्थिर करे। नरेश्वर ! तत्पश्चात् मनको अहंकारमें, अहंकारको बुद्धिमें और बुद्धिको प्रकृतिमें स्थापित करे। इस प्रकार सबका लय करके योगी पुरुष केवल [illegible] परमात्माका ध्यान करते हैं, जो रजोगुणसे रहित, निर्मल, नित्य, अनन्त, शुद्ध, छिद्ररहित, कूटस्थ, अन्तर्यामी, अभेद्य, अजर, अमर, अविकारी, सबका शासन करनेवाला और सनातन [illegible] है ॥ १३–१७ ॥

युक्तस्य तु महाराज लक्षणान्युपधारय ।
लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत् ॥ १८ ॥

महाराज ! अब समाधिमें स्थित हुए योगीके [illegible] सुनो। जैसे तृप्त हुआ मनुष्य सुखसे सोता है, उसी [illegible] योगयुक्त पुरुषके चित्तमें सदा प्रसन्नता बनी रहती है— वह समाधिसे विरत होना नहीं चाहता। यही उसकी प्रसन्नताकी पहचान है ॥ १८ ॥

निर्वाते [illegible] यथा दीपो ज्वलेत् स्नेहसमन्वितः ।
निश्चलोर्ध्वशिखस्तद्वद् युक्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १९ ॥

जैसे तेलसे भरा हुआ दीपक वायुशून्य स्थानमें एकतार जलता रहता है। उसकी शिखा स्थिरभावसे ऊपरकी ओर उठी रहती है, उसी तरह समाधिनिष्ठ योगीको भी मनीषी पुरुष स्थिर बताते हैं ॥ १९ ॥

पाषाण [illegible] मेघोत्थैर्यथा बिन्दुभिराहतः ।
[illegible] चालयितुं [illegible] युक्तस्य लक्षणम् ॥ २० ॥

जैसे बादलकी बरसायी हुई बूँदोंके आघातसे पर्वत चञ्चल नहीं होता, उसी तरह अनेक प्रकारके विक्षेप आकर योगीको विचलित नहीं कर सकते। यही योगयुक्त पुरुषकी पहचान है ॥ २० ॥

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्विविधैर्गीतवादितैः ।
क्रियमाणैर्न कम्पेत युक्तस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २१ ॥

उसके पास बहुत-से शङ्ख और नगाड़ोंकी ध्वनि हो और तरह-तरहके गाने बजाने किये जायँ तो भी उसका ध्यान भङ्ग नहीं हो सकता। यही उसकी सुदृढ समाधिकी पहचान है ॥ २१ ॥

तैलपात्रं यथा पूर्णं कराभ्यां गृह्य पूरुषः ।
सोपानमारुहेद् भीतस्तर्ज्यमानोऽसिपाणिभिः ॥२२॥
संयतात्मा भयात् तेषां न पात्राद् बिन्दुमुत्सृजेत् ।
तथैवोत्तरमागम्य एकाग्रमनसस्तथा ॥ २३ ॥
स्थिरत्वादिन्द्रियाणां तु निश्चलत्वात् तथैव च ।
एवं युक्तस्य तु मुनेर्लक्षणान्युपलक्षयेत् ॥ २४ ॥

जैसे मनको संयममें रखनेवाला [illegible] मनुष्य हाथोंमें तेलसे भरा कटोरा लेकर सीढ़ीपर चढ़े और [illegible] बहुत-से पुरुष हाथमें तलवार लेकर उसे डराने-धमकाने लगें तो भी वह उनके डरसे एक बूँद भी तेल पात्रसे गिरने नहीं देता, उसी प्रकार योगकी ऊँची स्थितिको प्राप्त हुआ एकाग्रचित्त योगी इन्द्रियोंकी स्थिरता और मनकी अविचल स्थितिके कारण समाधिसे विचलित नहीं होता। योगसिद्ध मुनिके ऐसे ही [illegible] समझने चाहिये ॥ २२–२४ ॥

स्वयुक्तः पश्यते ब्रह्म यत् तत्परममव्ययम् ।
महतस्तमसो मध्ये स्थितं ज्वलनसंनिभम् ॥ २५ ॥

जो अच्छी तरह समाधिमें स्थित हो जाता है, वह महान् अन्धकारके बीचमें प्रकाशित होनेवाली प्रज्वलित अग्निके समान हृदयदेशमें स्थित अविनाशी (ज्ञानस्वरूप) परब्रह्मका साक्षात्कार करता है ॥ २५ ॥

एतेन केवलं याति त्यक्त्वा देहमसाक्षिकम् ।
कालेन महता राजञ्श्रुतिरेषा सनातनी ॥ २६ ॥

राजन् ! इस साधनाके द्वारा मनुष्य दीर्घकालके पश्चात् इस अचेतन देहका परित्याग करके केवल (प्रकृतिके संसर्गसे रहित) परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। ऐसी सनातन श्रुति है ॥ २६ ॥

एतद्धि योगं योगानां किमन्यद् योगलक्षणम् ।
विज्ञाय तद्धि मन्यन्ते [illegible] मनीषिणः ॥ २७ ॥

यही योगियोंका योग है। इसके सिवा योगका और क्या [illegible] हो सकता है ? इसे जानकर मनीषी पुरुष अपने आपको कृतकृत्य मानते हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे षोडशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन [illegible] सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१६ ॥

सप्तदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

विभिन्न अङ्गोंसे प्राणोंके उत्क्रमणका फल तथा मृत्युसूचक लक्षणोंका वर्णन और मृत्युको जीतनेका उपाय

याज्ञवल्क्य उवाच

तथैवोत्क्रममाणं तु शृणुष्वावहितो नृप।
पद्भ्यामुत्क्रममाणस्य वैष्णवं स्थानमुच्यते ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरेश्वर ! देह-त्यागके समय मनुष्यके जिन-जिन अङ्गोंसे निकलकर प्राण जिन-जिन ऊर्ध्वलोकोंमें जाते हैं, उनके विषयमें बता रहा हूँ; तुम सावधान होकर सुनो। पैरोंके मार्गसे प्राणोंके उत्क्रमण करनेपर मनुष्यको भगवान् विष्णुके परमधामकी प्राप्ति होती बतायी जाती है ॥ १ ॥

जङ्घाभ्यां तु वसून् देवानाप्नुयादिति नः श्रुतम्।
जानुभ्यां च महाभागान् साध्यान् देवानवाप्नुयात्॥२॥

जिसके प्राण दोनों पिण्डलियोंके मार्गसे बाहर निकलते हैं, वह वसु नामक देवताओंके लोकमें जाता है; ऐसा हमने सुन रक्खा है। घुटनोंसे प्राणत्याग करनेपर महाभाग साध्य-देवताओंके लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

पायुनोत्क्रममाणस्तु मैत्रं स्थानमवाप्नुयात्।
पृथिवीं जघनेनाथ ऊरुभ्यां च प्रजापतिम् ॥ ३ ॥

जिसके प्राण गुदामार्गसे निकलकर ऊपरकी ओर जाते हैं, वह मित्रदेवताके उत्तम स्थानको पाता है। कटिके अग्रभागसे प्राण निकलनेपर पृथ्वीलोककी और दोनों जाँघोंसे निकलनेपर प्रजापतिलोककी प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

पार्श्वाभ्यां मरुतो देवान् नाभ्यामिन्द्रत्वमेव च।
बाहुभ्यामिन्द्रमेवाहुरुरसा रुद्रमेव च ॥ ४ ॥

दोनों पसलियोंसे प्राणोंका निष्क्रमण हो तो मरुत् नामक देवताओंकी, नाभिसे हो तो इन्द्रपदकी, दोनों भुजाओंसे हो तो भी इन्द्रपदकी ही और वक्षःस्थलसे हो तो रुद्रलोककी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

ग्रीवया तु मुनिश्रेष्ठं नरमाप्नोत्यनुत्तमम्।
विश्वेदेवान् मुखेनाथ दिशः श्रोत्रेण चाप्नुयात्॥ ५ ॥

ग्रीवासे प्राणोंका निष्क्रमण होनेपर मनुष्य मुनियोंमें श्रेष्ठ परम उत्तम नरका सांनिध्य प्राप्त करता है। मुखसे प्राण-त्याग करनेपर वह विश्वेदेवोंको और श्रोत्रसे प्राण त्यागनेपर दिशाओंकी अधिष्ठात्री देवियोंको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

घ्राणेन गन्धवहनं नेत्राभ्यामग्निमेव च।
भ्रूभ्यां चैवाश्विनौ देवौ ललाटेन पितृनथ ॥ ६ ॥

नासिकासे प्राणोंका उत्क्रमण हो तो मनुष्य वायुदेवताको, दोनों नेत्रोंसे हो तो अग्निदेवताको, दोनों भौंहोंसे हो तो अश्विनीकुमारोंको और ललाटसे हो तो पितरोंको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

ब्रह्माणमाप्नोति विभुं मूर्ध्ना देवाग्रजं [illegible]।
एतान्युत्क्रमणस्थानान्युक्तानि मिथिलेश्वर ॥ ७ ॥

मस्तकसे प्राणोंका परित्याग करनेपर मनुष्य देवताओंके अग्रज भगवान् ब्रह्माजीके लोकको जाता है। मिथिलेश्वर ! ये प्राणोंके निष्क्रमणके स्थान बताये गये हैं ॥ ७ ॥

अरिष्टानि प्रवक्ष्यामि विहितानि मनीषिभिः।
संवत्सरवियोगस्य सम्भवन्ति शरीरिणः ॥ ८ ॥

अब मैं ज्ञानी पुरुषोंद्वारा नियत किये हुए अमङ्गल अथवा मृत्युको सूचित करनेवाले उन चिह्नोंका वर्णन करता हूँ, जो देहधारीके शरीर छूटनेमें केवल एक वर्ष शेष रह जानेपर उसके सामने प्रकट होते हैं ॥ ८ ॥

योऽरुन्धतीं न पश्येत दृष्टपूर्वां कदाचन।
तथैव ध्रुवमित्याहुः पूर्णेन्दुं दीपमेव च ॥ ९ ॥
खण्डाभासं दक्षिणतस्तेऽपि संवत्सरायुषः।

जो कभी पहलेकी देखी हुई अरुन्धती और ध्रुवको न देख पाता हो तथा पूर्णचन्द्रमाका मण्डल और दीपककी शिखा जिसे दाहिने भागसे खण्डित जान पड़े, ऐसे लोग केवल एक वर्षतक जीवित रहनेवाले होते हैं ॥ ९½ ॥

परचक्षुषि चात्मानं ये न पश्यन्ति पार्थिव ॥ १० ॥
आत्मच्छायाकृतीभूतं तेऽपि संवत्सरायुषः।

पृथ्वीनाथ ! जो लोग दूसरेके नेत्रोंमें अपनी परछाईं न देख सकें, उनकी आयु भी एक ही वर्षतक शेष समझनी चाहिये॥

अतिद्युतिरतिप्रज्ञा [illegible] चाद्युतिस्तथा ॥ ११ ॥
प्रकृतेर्विक्रियापत्तिः षण्मासान्मृत्युलक्षणम्।

यदि मनुष्यकी बहुत बढ़ी-चढ़ी कान्ति भी अत्यन्त फीकी पड़ जाय, अधिक बुद्धिमत्ता भी बुद्धिहीनतामें परिणत हो जाय और स्वभावमें भी भारी उलट-फेर हो जाय तो यह उसके छः महीनेके भीतर ही होनेवाली मृत्युका सूचक है ॥ ११½ ॥

दैवतान्यवजानाति ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥ १२ ॥
कृष्णश्यावच्छविच्छायः षण्मासान्मृत्युलक्षणम्।

जो काले रंगका होकर भी पीला पड़ने लगे, देवताओंका अनादर करे और ब्राह्मणोंके साथ विरोध करे, वह भी छः महीनेसे अधिक नहीं जी सकता; यह उक्त लक्षणोंसे सूचित होता है ॥ १२½ ॥

ऊर्णनाभेर्यथा चक्रं छिद्रं सोमं प्रपश्यति ॥ १३ ॥
तथैव च सहस्रांशुं सप्तरात्रेण मृत्युभाक्।

जो मनुष्य सूर्य और चन्द्रमाके मण्डलको मकड़ीके जालेके समान छिद्रयुक्त देखता है, वह सात रातमें ही मृत्युका भागी होता है ॥ १३½ ॥

शवगन्धमुपाघ्राति सुरभिं प्राप्य यो नरः ॥ १४ ॥
देवतायतनस्थस्तु सप्तरात्रेण मृत्युभाक्।

जो देवमन्दिरमें बैठकर वहाँकी सुगन्धित वस्तुमें सड़े मुर्देकी-सी दुर्गन्धका अनुभव करता है, वह [illegible] दिनमें ही मृत्युको प्राप्त हो [illegible] है ॥ १४½ ॥

कर्णनासावनमनं दन्तदृष्टिविरागिता ॥ १५ ॥
संज्ञालोपो निरूष्मत्वं सद्योमृत्युनिदर्शनम् ।
अकस्माच्च स्रवेद् यस्य वाममक्षि नराधिप ॥ १६ ॥
मूर्धतश्चोत्पतेद् धूमः सद्योमृत्युनिदर्शनम् ।

नरेश्वर ! जिसके नाक और कान टेढ़े हो जायँ, दाँत और नेत्रोंका रंग बिगड़ जाय, जिसे बेहोशी होने लगे, जिसका शरीर ठंढा पड़ जाय तथा जिसकी बायीं आँखसे अकस्मात् आँसू बहने और मस्तकसे धुआँ उठने लगे, उसकी तत्काल [illegible] हो जाती है । उपर्युक्त [illegible] तत्काल होनेवाली मृत्युके सूचक हैं ॥ १५–१६½ ॥

एतावन्ति त्वरिष्टानि विदित्वा मानवोऽऽत्मवान् ॥ १७ ॥
[illegible] चाहनि चात्मानं योजयेत् परमात्मनि ।
प्रतीक्षमाणस्तत्कालं यत्कालं प्रेतता भवेत् ॥ १८ ॥

इन मृत्युसूचक लक्षणोंको जानकर मनको वशमें रखने-[illegible] साधक रात-दिन परमात्माका ध्यान करे और जिस समय मृत्यु होनेवाली हो, उस कालकी प्रतीक्षा करता रहे ॥ १७-१८ ॥

[illegible] नेष्टं मरणं स्थातुमिच्छेदिमां क्रियाम् ।
सर्वगन्धान् रसांश्चैव धारयीत नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! यदि योगीको मृत्यु अभीष्ट न हो, अभी वह इस जगत्‌में रहना चाहे तो यह क्रिया करे । पूर्वोक्त रीतिसे पञ्चभूतविषयक धारणा करके पृथ्वी आदि तत्त्वोंपर विजय [illegible] करते हुए सम्पूर्ण गन्धों, रसों तथा रूप आदि विषयोंको अपने वशमें करे [illegible] ॥ १९ ॥

ससांख्यधारणं चैव विदितात्मा नरर्षभ ।
जयेच्च मृत्युं योगेन तत्परेणान्तरात्मना ॥ २० ॥

नरश्रेष्ठ ! [illegible] और योगके अनुसार धारणापूर्वक आत्म-[illegible] ज्ञान [illegible] करके ध्यानयोगके द्वारा अन्तरात्माको परमात्मामें लगा देनेसे योगी मृत्युको जीत लेता है ॥ २० ॥

गच्छेत् प्राप्याक्षयं कृत्स्नमजन्म शिवमव्ययम् ।
शाश्वतं स्थानमचलं दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ २१ ॥

ऐसा करनेसे वह [illegible] सनातन पदको प्राप्त करता है, जो अशुद्ध चित्तवाले पुरुषोंको दुर्लभ है तथा जो अक्षय, अजन्मा, अचल, अविकारी, पूर्ण एवं कल्याणमय है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादे सप्तदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१७ ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य और जनकका संवादविषयक तीन सौ सतरहवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ ३१७ ॥

अष्टादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः

याज्ञवल्क्यद्वारा अपनेको सूर्यसे वेदज्ञानकी प्राप्तिका प्रसङ्ग सुनाना, विश्वावसुको जीवात्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानका उपदेश देकर उसका फल मुक्ति बताना तथा जनकको उपदेश देकर विदा होना

याज्ञवल्क्य उवाच

अव्यक्तस्थं परं यत् तत् पृष्टस्तेऽहं नराधिप ।
परं गुह्यमिमं प्रश्नं शृणुष्वावहितो नृप ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—नरेश्वर ! तुमने जो मुझसे अव्यक्तमें स्थित परब्रह्मके विषयमें प्रश्न किया है, वह अत्यन्त गूढ है । उसके विषयमें ध्यान देकर सुनो ॥ १ ॥

यथाऽऽर्षेणेह विधिना चरतावनतेन ह ।
मयाऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप ॥ २ ॥

मिथिलापते ! पूर्वकालमें मैंने शास्त्रोक्त विधिसे व्रतका आचरण करते हुए नतमस्तक होकर भगवान् सूर्यसे जिस प्रकार शुक्लयजुर्वेदके मन्त्र उपलब्ध किये थे, वह [illegible] प्रसङ्ग सुनो ॥ २ ॥

---

* धारणाद्वारा पञ्चभूतोंपर विजय या अधिकार प्राप्त करके योगी जन्म, जरा, [illegible] आदिको जीत लेता है; [illegible] विषयमें [illegible] सूत्र भी [illegible] है—

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः [illegible] योगाग्निमयं शरीरम् ॥

'ध्यानयोगका साधन करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतोंका उत्थान हो जाता है अर्थात् [illegible] पाँचों महाभूतोंपर अधिकार हो जाता है और [illegible] पाँचों महाभूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली योगविषयक पाँचों सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, उस [illegible] योगाग्निमय शरीरको प्राप्त [illegible] लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी [illegible] ही होती है । अभिप्राय यह कि उसकी इच्छाके बिना [illegible] शरीर नष्ट नहीं हो [illegible] (योगद० ३ । ४६, ४७) ।

महता तपसा देवस्तपिष्णुः सेवितो मया।
प्रीतेन चाहं विभुना सूर्येणोक्तस्तदानघ ॥ ३ ॥

निष्पाप नरेश ! पहलेकी बात है, मैंने बड़ी भारी तपस्या करके तपनेवाले भगवान् सूर्यकी आराधना की थी। उससे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यने मुझसे कहा – ॥ ३ ॥

वरं वृणीष्व विप्रर्षे यदिष्टं ते सुदुर्लभम्।
तत् ते दास्यामि प्रीतात्मा मत्प्रसादो हि दुर्लभः ॥ ४ ॥

'ब्रह्मर्षे ! तुम्हारी जैसी इच्छा हो, उसके अनुसार कोई वर माँगो। वह अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी मैं तुम्हें दे दूँगा; क्योंकि मेरा मन तुम्हारी तपस्यासे बहुत संतुष्ट है। मेरा कृपा-प्रसाद प्रायः दुर्लभ है' ॥ ४ ॥

ततः प्रणम्य शिरसा मयोक्तस्तपतां वरः।
यजूंषि नोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५ ॥

तब मैंने मस्तक झुकाकर तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् सूर्यको प्रणाम किया और उनसे कहा—'प्रभो ! मैं शीघ्र ही ऐसे यजुर्मन्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, जो आजसे पहले दूसरे किसीके उपयोगमें नहीं आये हैं' ॥ ५ ॥

ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज।
सरस्वतीह वाग्भूता शरीरं ते प्रवेक्ष्यति ॥ ६ ॥
ततो मामाह भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु।
विवृतं च ततो मेऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती ॥ ७ ॥

तब भगवान् सूर्यने मुझसे कहा—'ब्रह्मन् ! मैं तुम्हें यजुर्वेद प्रदान करता हूँ। तुम अपना मुँह खोलो। वाङ्मयी सरस्वती देवी तुम्हारे शरीरमें प्रवेश करेंगी।' यह सुनकर मैंने मुँह खोल दिया और सरस्वती देवी उसमें प्रविष्ट हो गयीं ॥

ततो विदह्यमानोऽहं प्रविष्टोऽम्भस्तदानघ।
अविज्ञानादमर्षाच्च भास्करस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

निष्पाप नरेश ! सरस्वतीके प्रवेश करते ही मैं तापसे जलने लगा और जलमें घुस गया। महात्मा भास्करकी महिमाको न जानने तथा अपनेमें सहनशीलता न होनेके कारण मुझे उस समय विशेष कष्ट हुआ था ॥ ८ ॥

ततो विदह्यमानं मामुवाच भगवान् रविः।
मुहूर्तं सह्यतां दाहस्ततः शीतीभविष्यति ॥ ९ ॥

तदनन्तर मुझे तापसे दग्ध होता देख भगवान् सूर्यने कहा—'तात ! तुम दो घड़ीतक इस तापको सहन करो। फिर यह स्वयं ही शीतल एवं [illegible] हो जायगा' ॥ ९ ॥

शीतीभूतं च मां दृष्ट्वा भगवानाह भास्करः।
प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिलः सोत्तरो द्विज ॥ १० ॥

जब मैं पूर्ण शीतल हो गया, तब मुझे देखकर भगवान् भास्करने कहा—'विप्रवर ! खिल और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेद तुम्हारे भीतर प्रतिष्ठित होंगे ॥ १० ॥

कृत्स्नं शतपथं चैव प्रणेष्यसि द्विजर्षभ।
तस्यान्ते चापुनर्भावे बुद्धिस्तव भविष्यति ॥ ११ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! तुम सम्पूर्ण शतपथका भी प्रणयन (सम्पादन) करोगे। इसके बाद तुम्हारी बुद्धि मोक्षमें स्थिर होगी ॥ ११ ॥

प्राप्स्यसे च यदिष्टं तत् सांख्ययोगेप्सितं पदम्।
एतावदुक्त्वा भगवानस्तमेवाभ्यवर्तत ॥ १२ ॥

'तुम उस अभीष्ट पदको प्राप्त करोगे, जिसे सांख्यवेत्ता तथा योगी भी पाना चाहते हैं।' इतना कहकर भगवान् सूर्य वहीं अदृश्य हो गये ॥ १२ ॥

ततोऽनुव्याहृतं श्रुत्वा गते देवे विभावसौ।
गृहमागत्य संहृष्टोऽचिन्तयं वै सरस्वतीम् ॥ १३ ॥

मैंने सूर्यदेवका वह कथन सुना। फिर जब वे चले गये, तब मैंने घर आकर प्रसन्नतापूर्वक सरस्वतीका चिन्तन किया ॥

ततः प्रवृत्तातिशुभा स्वरव्यञ्जनभूषिता।
ओङ्कारमादितः कृत्वा मम देवी सरस्वती ॥ १४ ॥

मेरे स्मरण करते ही स्वर और व्यञ्जन-वर्णोंसे विभूषित अत्यन्त मङ्गलमयी सरस्वतीदेवी ॐकारको आगे करके मेरे सम्मुख प्रकट हुई ॥ १४ ॥

ततोऽहमर्घ्यं विधिवत् सरस्वत्यै न्यवेदयम्।
तपतां च वरिष्ठाय निषण्णस्तत्परायणः ॥ १५ ॥

तब मैंने सरस्वतीदेवी तथा तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् भास्करको अर्घ्य निवेदन किया और उन्हींका चिन्तन करता हुआ बैठ गया ॥ १५ ॥

ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम्।
चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥ १६ ॥

उस समय बड़े हर्षके साथ मैंने रहस्य, संग्रह और परिशिष्ट-भागसहित समस्त शतपथका संकलन किया ॥ १६ ॥

कृत्वा चाध्ययनं तेषां शिष्याणां शतमुत्तमम्।
विप्रियार्थं सशिष्यस्य मातुलस्य महात्मनः ॥ १७ ॥
[illegible] सशिष्येण मया सूर्येणेव गभस्तिभिः।
व्यस्तो यज्ञो महाराज पितुस्तव महात्मनः ॥ १८ ॥

महाराज ! तदनन्तर मैंने अपने सौ उत्तम शिष्योंको शतपथका अध्ययन कराया। इसके बाद शिष्यसहित अपने महामनस्वी मामाका (जो पहले मुझे तिरस्कृत कर चुके थे) अप्रिय करनेके लिये किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले सूर्यकी भाँति शिष्योंसे सुशोभित हो मैंने तुम्हारे पिता महात्मा राजा जनकके यज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ १७-१८ ॥

मिषतो देवलस्यापि ततोऽर्धं हृतवानहम्।
स्ववेददक्षिणायार्थे विमर्दे मातुलेन ह ॥ १९ ॥

उस समय अपने वेदकी दक्षिणाके लिये मामाके साथ विशेष आग्रह होनेपर महर्षि देवलके सामने ही मैंने आधी दक्षिणा उन्हें दे दी और आधी स्वयं ग्रहण की ॥ १९ ॥

सुमन्तुनाथ पैलेन तथा जैमिनिना च वै।
पित्रा ते मुनिभिश्चैव ततोऽहमनुमानितः ॥ २० ॥

तदनन्तर सुमन्तु, पैल, जैमिनि, तुम्हारे पिता तथा अन्य

महर्षि याज्ञवल्क्यके स्मरणसे देवी सरस्वतीका प्राकट्य

ऋषि-मुनियोंने मेरा बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ २० ॥

दश [illegible] च प्राप्तानि यजूंष्यर्कान्मयानघ ।
तथैव रोमहर्षेण पुराणमवधारितम् ॥ २१ ॥

निष्पाप नरेश ! इस प्रकार मैंने सूर्यदेवसे शुक्लयजुर्वेदकी पंद्रह शाखाएँ [illegible] कीं । इसी तरह रोमहर्षण सूतसे मैंने पुराणोंका अध्ययन किया ॥ २१ ॥

बीजमेतत् पुरस्कृत्य देवीं चैव सरस्वतीम् ।
सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोऽहं नराधिप ॥ २२ ॥
कर्तुं शतपथं वेदमपूर्वं [illegible] कृतं मया ।
यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥ २३ ॥

नरेश्वर ! तदनन्तर मैंने बीजरूप प्रणव और सरस्वती देवीको सामने करके भगवान् सूर्यकी कृपासे शतपथकी रचना आरम्भ की और इस अपूर्व ग्रन्थको पूर्ण कर लिया और जो मोक्षका मार्ग मुझे अभीष्ट था, उसका भी भलीभाँति सम्पादन किया ॥ २२-२३ ॥

शिष्याणामखिलं कृत्स्नमनुज्ञातं ससंग्रहम् ।
सर्वे च शिष्याः शुचयो गताः परमहर्षिताः ॥ २४ ॥

फिर मैंने शिष्योंको वह सारा ग्रन्थ रहस्य और संग्रहसहित पढ़ाया और उन्हें घर जानेकी अनुमति दे दी । फिर वे सभी शुद्ध आचार-विचारवाले शिष्य अत्यन्त हर्षित हो अपने-अपने घरको चले गये ॥ २४ ॥

शाखाः पञ्चदशेमास्तु विद्या भास्करदेशिताः ।
प्रतिष्ठाप्य यथाकामं वेद्यं तदनुचिन्तयम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार सूर्यदेवके द्वारा उपदेश की हुई शुक्लयजुर्वेद विद्याकी इन पंद्रह शाखाओंका ज्ञान प्राप्त करके मैंने इच्छानुसार वेद्यतत्त्वका चिन्तन किया है ॥ २५ ॥

किमत्र ब्रह्मण्यमृतं किं च वेद्यमनुत्तमम् ।
चिन्तयंस्तत्र चागत्य गन्धर्वो मामपृच्छत ॥ २६ ॥
विश्वावसुस्ततो राजन् वेदान्तज्ञानकोविदः ।

राजन् ! एक समय वेदान्तज्ञानमें कुशल विश्वावसु नामक गन्धर्व मेरे पास आया एवं इस बातका विचार करते हुए कि यहाँ ब्राह्मण-जातिके लिये हितकर क्या है ! सत्य और सर्वोत्तम ज्ञातव्य वस्तु क्या है ? मुझसे पूछने लगा ॥ २६½ ॥

चतुर्विंशांस्ततोऽपृच्छत् प्रश्नान् वेदस्य पार्थिव ॥ २७ ॥
पञ्चविंशतिमं प्रश्नं पप्रच्छान्वीक्षिकीं तदा ।
विश्वाविश्वं तथाश्वाश्वं मित्रं वरुणमेव च ॥ २८ ॥

पृथ्वीनाथ ! तत्पश्चात् उन्होंने वेदके सम्बन्धमें चौबीस प्रश्न पूछे । फिर आन्वीक्षिकी विद्याके सम्बन्धमें पचीसवाँ प्रश्न उपस्थित किया । वे चौबीस प्रश्न इस प्रकार हैं—१. विश्व क्या है ? २. अविश्व क्या है ? ३. अश्वा क्या है ? ४. अश्व क्या है ? ५. मित्र क्या है ? ६. वरुण क्या है ? ॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञोऽज्ञः कस्तपा अतपास्तथा ।
सूर्यातिसूर्य इति च विद्याविद्ये तथैव च ॥ २९ ॥

७. [illegible] क्या है ? ८. ज्ञेय क्या है ? ९. ज्ञाता क्या है ? १०. अज्ञ क्या है ? ११. क कौन है ? १२. कौन तपस्वी है ? १३. और कौन अतपस्वी है ? १४. कौन सूर्य है ? १५. [illegible] कौन अतिसूर्य ? १६. और विद्या क्या है ? १७. तथा अविद्या क्या है ? ॥ २९ ॥

वेद्यावेद्यं तथा राजन्नचलं चलमेव च ।
अपूर्वमक्षयं क्षय्यमेतत् प्रश्नमनुत्तमम् ॥ ३० ॥

१८. राजन् ! वेद्य [illegible] है ? १९. अवेद्य क्या है ? २०. [illegible] है ? २१. अचल क्या है ? २२. अपूर्व क्या है ? २३. अक्षय क्या है ? २४. और विनाशशील [illegible] है ? ये ही उनके परम उत्तम प्रश्न हैं ॥ ३० ॥

अथोक्तश्च महाराज राजा गन्धर्वसत्तमः ।
पृष्टवाननुपूर्वेण प्रश्नमर्थविदुत्तमम् ॥ ३१ ॥
मुहूर्तं मृष्यतां तावद् यावदेनं विचिन्तये ।
बाढमित्येव कृत्वा च तूष्णीं गन्धर्व आस्थितः ॥ ३२ ॥

महाराज ! इन प्रश्नोंको सुनकर मैंने गन्धर्वशिरोमणि राजा विश्वावसुसे कहा—'राजन् ! आपने क्रमशः बड़े उत्तम प्रश्न उपस्थित किये हैं । आप अर्थके ज्ञाता हैं । थोड़ी देर ठहर जाइये, तबतक मैं आपके इन प्रश्नोंपर विचार कर लेता हूँ ।' तब 'बहुत अच्छा' कहकर गन्धर्वराज चुपचाप बैठे रहे ॥ ३१-३२ ॥

ततोऽनुचिन्तयमहं भूयो देवीं सरस्वतीम् ।
मनसा स च मे प्रश्नो दध्नो घृतमिवोद्धृतम् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर मैंने पुनः सरस्वतीदेवीका मन-ही-मन चिन्तन किया । फिर तो जैसे दहीसे घी निकल आता है, उसी प्रकार उन प्रश्नोंका उत्तर निकल आया ॥ ३३ ॥

तत्रोपनिषदं चैव परिशेषं च पार्थिव ।
मथ्नामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षिकीं पराम् ॥ ३४ ॥

राजन् ! तात ! उस समय मैं वहाँ उपनिषद्, उसके परिशिष्ट भाग और परम उत्तम आन्वीक्षिकी विद्यापर दृष्टिपात करके मनके द्वारा उन सबका मन्थन करने लगा ॥ ३४ ॥

चतुर्थी राजशार्दूल विद्यैषा साम्परायिकी ।
उदीरिता मया तुभ्यं पञ्चविंशादधिष्ठिता ॥ ३५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह आन्वीक्षिकी विद्या (त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—इन तीन विद्याओंकी अपेक्षासे) चौथी बतायी गयी है । यह मोक्षमें सहायक है । पचीसवें तत्त्वरूप पुरुषसे अधिष्ठित उस विद्याका मैंने तुमसे प्रतिपादन किया था (वही विश्वावसुके निकट भी कही गयी) ॥ ३५ ॥

अथोक्तस्तु मया राजन् राजा विश्वावसुस्तदा ।
श्रूयतां यद् भवानस्मान् प्रश्नं सम्पृष्टवानिह ॥ ३६ ॥

राजन् ! उस समय मैंने राजा विश्वावसुसे कहा—'गन्धर्वराज ! आपने यहाँ मुझसे जो प्रश्न पूछे हैं, उनका उत्तर सुनिये ॥ ३६ ॥

विश्वाविश्वेति यदिदं गन्धर्वेन्द्रानुपृच्छसि।
विश्वाव्यक्तं परं विद्याद् भूतभव्यभयंकरम् ॥३७॥

गन्धर्वपते! आपने जो विश्वा और अविश्व इत्यादि कहकर यह प्रश्नावली उपस्थित की है, उसमें विश्वा अव्यक्त प्रकृतिका नाम है। वह संसार-बन्धनमें डालनेवाली होनेके कारण भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें भयंकर है—इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें॥ ३७॥

त्रिगुणं गुणकर्तृत्वादविश्वो निष्कलस्तथा।
अश्वश्चाश्वा च मिथुनमेवमेवानुदृश्यते॥ ३८॥

इस प्रकार विश्वा नामसे प्रसिद्ध जो अव्यक्त प्रकृति है, वह त्रिगुणमयी है; क्योंकि वही त्रिगुणात्मक जगत्को उत्पन्न करनेवाली है। उससे भिन्न जो निष्कल (कलाओंसे रहित) आत्मा है, वही अविश्व कहलाता है। इसी तरह अश्व और अश्वाकी जोड़ी भी देखी जाती है (अर्थात् अश्वा अव्यक्त प्रकृति है और अश्व पुरुष)॥ ३८॥

अव्यक्तं प्रकृतिं प्राहुः पुरुषेति च निर्गुणम्।
[illegible] मित्रं पुरुषं वरुणं प्रकृतिं तथा॥ ३९॥

अव्यक्त प्रकृतिको सगुण बताया गया है और पुरुषको निर्गुण। इसी प्रकार वरुणको प्रकृति समझना चाहिये और मित्रको पुरुष॥ ३९॥

ज्ञानं तु प्रकृतिं प्राहुर्ज्ञेयं निष्कलमेव च।
[illegible] ज्ञश्च पुरुषस्तस्मान्निष्कल उच्यते॥ ४०॥

(भौतिक) ज्ञान शब्दसे प्रकृतिका प्रतिपादन किया गया है और निष्कल आत्माको ज्ञेय बताया गया है। इसी तरह अज्ञ प्रकृति है और उससे भिन्न निष्कल पुरुषको 'ज्ञाता' बताया गया है॥ ४०॥

[illegible] अतपाः प्रोक्तः कोऽसौ पुरुष उच्यते।
तपास्तु प्रकृतिं प्राहुरतपा निष्कलः स्मृतः॥ ४१॥

क, तपा और अतपाके विषयमें जो प्रश्न उपस्थित किया गया है, उसके विषयमें बताया जाता है। पुरुषको ही 'क' कहते हैं। प्रकृतिका ही नाम तपा है और निष्कल पुरुषको अतपा नाम दिया गया है॥ ४१॥

(सूर्यमव्यक्तमित्युक्तमतिसूर्यस्तु निष्कलः।
अविद्या प्रकृतिर्ज्ञेया विद्या पुरुष उच्यते॥)

अव्यक्त प्रकृतिको ही सूर्य और निष्कल पुरुषको अतिसूर्य कहा गया है। प्रकृतिको अविद्या जानना चाहिये और पुरुष विद्या कहलाता है॥

तथैवावेद्यमव्यक्तं वेद्यः पुरुष उच्यते।
चलाचलमिति प्रोक्तं [illegible] तदपि मे शृणु॥ ४२॥

इसी तरह अवेद्य नामसे अव्यक्त प्रकृतिका और वेद्य नामसे पुरुषका प्रतिपादन किया जाता है। आपने जो चल और अचलके विषयमें प्रश्न किया है, उसका भी उत्तर सुनिये॥

चलां [illegible] प्रकृतिं प्राहुः कारणं क्षयसर्गयोः।
आक्षेपसर्गयोः कर्ता निश्चलः पुरुषः स्मृतः॥ ४३॥

सृष्टि और संहारकी कारणभूता प्रकृतिको 'चल' कहा गया है और सृष्टि और प्रलयका कर्ता पुरुष ही निश्चल पुरुष माना गया है॥ ४३॥

तथैव वेद्यमव्यक्तमवेद्यः पुरुषस्तथा।
अज्ञावुभौ ध्रुवौ चैव अक्षयौ चाप्युभावपि॥ [illegible]
अजौ नित्यावुभौ प्राहुरध्यात्मगतिनिश्चयाः॥ ४५॥

उसी प्रकार अव्यक्त प्रकृति वेद्य (जाननेमें आनेवाली) है और पुरुष अवेद्य (जाननेमें न आनेवाला)। अध्यात्म तत्त्वका निश्चयात्मक ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अज्ञ हैं, दोनों ही निश्चल हैं और दोनों ही अक्षय, अजन्मा तथा नित्य हैं॥ ४४-४५॥

अक्षयत्वात् प्रजनने अजमत्राहुरव्ययम्।
अक्षयं पुरुषं प्राहुः क्षयो ह्यस्य न विद्यते॥ ४६॥

ज्ञानी पुरुषोंका कथन है कि जन्म ग्रहण करनेपर भी क्षयरहित होनेके कारण यहाँ पुरुषको अजन्मा, अविनाशी और अक्षय कहा गया है; क्योंकि उसका कभी [illegible] नहीं होता है॥ ४६॥

गुणक्षयत्वात् प्रकृतिः कर्तृत्वादक्षयं बुधाः।
[illegible] तेऽऽन्वीक्षिकी विद्या चतुर्थी साम्परायिकी॥४७॥

गुणोंका [illegible] होनेके कारण प्रकृति क्षयशील मानी गयी है और [illegible] प्रेरक होनेके कारण पुरुषको विद्वानोंने अक्षय कहा है। गन्धर्वराज! यह मैंने आपको चौथी आन्वीक्षिकी विद्या, जो मोक्षमें सहायक है, बतायी है॥ ४७॥

विद्योपेतं धनं कृत्वा कर्मणा नित्यकर्मणि।
एकान्तदर्शना वेदाः सर्वे विश्वावसो स्मृताः॥ ४८॥

विश्वावसो! आन्वीक्षिकी विद्यासहित वेद-विद्यारूपी धनका उपार्जन करके प्रयत्नपूर्वक नित्यकर्ममें संलग्न रहना चाहिये। सभी वेद एकान्ततः स्वाध्याय और मनन करनेके योग्य माने गये [illegible]॥ ४८॥

जायन्ते [illegible] म्रियन्ते च यस्मिन्नेते यतश्च्युताः।
वेदार्थं ये न जानन्ति वेद्यं गन्धर्वसत्तम॥ ४९॥

गन्धर्वराज! [illegible] भूत जिसमें स्थित हैं, जिससे उत्पन्न होते और जिसमें लीन हो जाते हैं, उस वेदप्रतिपाद्य ज्ञेय परमात्माको जो नहीं जानते हैं, वे परमार्थसे भ्रष्ट होकर जन्मते और मरते रहते हैं॥ ४९॥

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं [illegible] जानीते वेदभारवहो [illegible] सः॥ ५०॥

साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़कर भी जो वेदोंके द्वारा जाननेके योग्य परमेश्वरको नहीं जानता, वह मूढ केवल वेदोंका [illegible] ढोनेवाला है॥ ५०॥

यो घृतार्थी खरीक्षीरं मथेद् गन्धर्वसत्तम।
विष्ठां तत्रानुपश्येत न मण्डं न च [illegible] घृतम्॥ ५१॥

गन्धर्वशिरोमणे ! जो घी पानेकी इच्छा रखकर गधीके दूधको मथता है, उसे वहाँ विष्ठा ही दिखायी देती है । उसे न तो वहाँ मक्खन ही मिलता है और न घी ही ॥ ५१ ॥

[illegible] वेद्यमवेद्यं [illegible] वेदविद्यो न विन्दति ।
स केवलं मूढमतिर्ज्ञानभारवहः स्मृतः ॥ ५२ ॥

इसी प्रकार जो वेदोंका अध्ययन करके भी वेद्य और अवेद्यका तत्त्व नहीं जानता, वह मूढबुद्धि मानव केवल [illegible] बोझ ढोनेवाला माना गया है ॥ ५२ ॥

द्रष्टव्यौ नित्यमेवैतौ तत्परेणान्तरात्मना ।
तथास्य जन्मनिधने न भवेतां पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

मनुष्यको सदा ही तत्पर होकर अन्तरात्माके द्वारा इन दोनों प्रकृति और पुरुषका ज्ञान [illegible] करना चाहिये । जिससे बारंबार उसे जन्म-मृत्युके चक्करमें न पड़ना पड़े ॥ ५३ ॥

अजस्रं जन्मनिधनं चिन्तयित्वा त्रयीमिमाम् ।
परित्यज्य क्षयमिह अक्षयं धर्ममास्थितः ॥ ५४ ॥

संसारमें जन्म और मरणकी परम्परा निरन्तर चलती रहती है—ऐसा सोचकर वैदिक कर्मकाण्डमें बताये हुए सभी कर्मों और उनके फलोंको विनाशशील जानकर उनका परित्याग करके मनुष्यको यहाँ अक्षय धर्मका आश्रय लेना चाहिये ॥

यदानुपश्यतेऽत्यन्तमहन्यहनि काश्यप ।
[illegible] [illegible] केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ५५ ॥

काश्यपनन्दन ! जब साधक प्रतिदिन परमात्माके स्वरूपका विचार एवं चिन्तन करने लगता है, तब वह प्रकृतिके संसर्गसे रहित होकर छब्बीसवें तत्त्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है ॥ ५५ ॥

[illegible] शाश्वतोऽव्यक्तस्तथान्यः पञ्चविंशकः ।
[illegible] द्वावनुपश्येतां तमेकमिति साधवः ॥ ५६ ॥

मूढबुद्धि मानव [illegible] आत्माके सम्बन्धमें द्वैतभावसे युक्त धारणा रखते हुए कहते हैं—'सनातन अव्यक्त परमात्मा दूसरा है और पचीसवाँ तत्त्वरूप जीवात्मा दूसरा, परंतु साधु पुरुष उन दोनोंको एक मानते हैं ॥ ५६ ॥

ते नैतच्चाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम् ।
जन्ममृत्युभयाद् योगाः सांख्याश्च परमैषिणः ॥ ५७ ॥

वे जन्म और मृत्युके भयसे रहित होकर परमपद पानेकी इच्छा रखनेवाले सांख्यवेत्ता और योगी जीवात्मा और परमात्माको एक दूसरेसे भिन्न नहीं मानते हैं । जीव और ईश्वरका अभेद बतानेवाला जो यह पूर्वोक्त दर्शन अथवा साधुमत है, उसका वे भी अभिनन्दन करते ही हैं ॥

विश्वावसुरुवाच

पञ्चविंशं यदेतत् ते प्रोक्तं ब्राह्मणसत्तम ।
[illegible] [illegible] [illegible] वेति तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥ ५८ ॥

विश्वावसुने कहा—ब्राह्मणशिरोमणे ! आपने जो यह पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको परमात्मासे अभिन्न [illegible] है, उसमें [illegible] संदेह उठता है कि जीवात्मा वास्तवमें परमात्मासे अभिन्न है या नहीं ? अतः [illegible] इस बातका स्पष्टरूपसे वर्णन करें ॥ ५८ ॥

जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम् ।
[illegible] विप्रर्षेर्वार्षगण्यस्य धीमतः ॥ ५९ ॥
भृगोः पञ्चशिखस्यास्य कपिलस्य शुकस्य च ।
गौतमस्यार्ष्टिषेणस्य गर्गस्य च महात्मनः ॥ ६० ॥
नारदस्यासुरेश्चैव पुलस्त्यस्य [illegible] धीमतः ।
सनत्कुमारस्य [illegible] शुक्रस्य [illegible] महात्मनः ॥ ६१ ॥
कश्यपस्य पितुश्चैव पूर्वमेव मया श्रुतम् ।

मैंने मुनिवर जैगीषव्य, असित, देवल, ब्रह्मर्षि पराशर, बुद्धिमान् वार्षगण्य, भृगु, पञ्चशिख, कपिल, शुक, गौतम, आर्ष्टिषेण, महात्मा गर्ग, नारद, आसुरि, बुद्धिमान् पुलस्त्य, सनत्कुमार, महात्मा शुक्र तथा अपने पिता कश्यपजीके मुखसे भी पहले इस विषयका प्रतिपादन [illegible] था ॥ ५९—६१½ ॥

तदनन्तरं च रुद्रस्य विश्वरूपस्य धीमतः ॥ ६२ ॥
दैवतेभ्यः पितृभ्यश्च दैतेयेभ्यस्ततस्ततः ।
प्राप्तमेतन्मया कृत्स्नं वेद्यं नित्यं वदन्त्युत ॥ ६३ ॥

तदनन्तर रुद्र, बुद्धिमान् विश्वरूप, अन्यान्य देवता, पितर तथा दैत्योंसे भी जहाँ-तहाँसे यह सम्पूर्ण ज्ञान [illegible] किया । वे सब लोग ज्ञेय तत्त्वको पूर्ण और नित्य बतलाते हैं ॥ ६२-६३ ॥

तस्मात् तद् वै भवद्बुद्ध्या श्रोतुमिच्छामि ब्राह्मण ।
भवान् प्रबर्हः शास्त्राणां प्रगल्भश्चातिबुद्धिमान् ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणदेव ! अब मैं इस विषयमें आपकी बुद्धिसे किये गये निर्णयको सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप विद्वानोंमें श्रेष्ठ, शास्त्रोंके प्रगल्भ पण्डित और अत्यन्त बुद्धिमान् हैं ॥

न तवाविदितं किंचिद् भवाञ्छ्रुतिनिधिः स्मृतः ।
कथ्यते देवलोके च पितृलोके च [illegible] ॥ ६५ ॥

ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसे आप न जानते हों । वैदिक ज्ञानके तो आप भण्डार ही माने जाते हैं । ब्रह्मन् ! देवलोक और पितृलोकमें भी आपकी ख्याति है ॥ ६५ ॥

ब्रह्मलोकगताश्चैव कथयन्ति महर्षयः ।
पतिश्च तपतां शश्वदादित्यस्तव भाषिता ॥ ६६ ॥

ब्रह्मलोकमें गये हुए महर्षि भी आपकी महिमाका वर्णन करते हैं । तपनेवाले तेजस्वी ग्रहोंके पति अदितिनन्दन सनातन भगवान् सूर्यने आपको वेदका उपदेश किया है ॥

सांख्यज्ञानं त्वया ब्रह्मन्नवाप्तं कृत्स्नमेव च ।
तथैव योगशास्त्रं च याज्ञवल्क्य विशेषतः ॥ ६७ ॥

ब्रह्मन् ! याज्ञवल्क्य ! आपने सम्पूर्ण सांख्य तथा योग-[illegible] भी विशेष ज्ञान प्राप्त किया है ॥ ६७ ॥

निःसंदिग्धं प्रबुद्धस्त्वं बुध्यमानश्चराचरम् ।

श्रोतुमिच्छामि तज्ज्ञानं घृतं मण्डमयं यथा ॥ ६८ ॥

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि आप पूर्ण ज्ञानी हैं और सम्पूर्ण चराचर जगत्को जानते हैं; अतः मैं माखन-मय घीके समान स्वादिष्ट एवं सारभूत वह तत्त्वज्ञान आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ ॥ ६८ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच

कृत्स्नधारिणमेव त्वां मन्ये गन्धर्वसत्तम।
जिज्ञाससे च मां राजंस्तन्निबोध यथाश्रुतम् ॥ ६९ ॥

याज्ञवल्क्यजीने कहा—अर्थात् मैंने उत्तर दिया—गन्धर्वशिरोमणे ! आपको मैं निःसंदेह सम्पूर्ण ज्ञानोंको धारण करनेवाली मेधाशक्तिसे सम्पन्न मानता हूँ। राजन् ! आप सब कुछ जानते हुए भी मुझसे प्रश्न करते और मेरे विचार-को जानना चाहते हैं; इसलिये मैंने जैसा सुना है, वह बताता हूँ सुनिये ॥ ६९ ॥

अबुध्यमानां प्रकृतिं बुध्यते पञ्चविंशकः।
न तु बुध्यति गन्धर्व प्रकृतिः पञ्चविंशकम् ॥ ७० ॥

गन्धर्व ! प्रकृति जड है, इसलिये उसे पचीसवाँ तत्त्व—जीवात्मा तो जानता है; किंतु प्रकृति जीवात्माको नहीं जानती ॥ ७० ॥

अनेन प्रतिबोधेन प्रधानं प्रवदन्ति तत्।
सांख्ययोगाश्च [illegible] यथाश्रुतिनिदर्शनात् ॥ ७१ ॥

सांख्य और योगके तत्त्वज्ञानी विद्वान् श्रुतिमें किये हुए निरूपणके अनुसार जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाले चन्द्रमाके समान प्रकृतिमें ज्ञानस्वरूप जीवात्माके बोधका प्रतिबिम्ब पड़नेसे उस प्रकृतिको प्रधान कहते हैं ॥ ७१ ॥

पश्यंस्तथैव चापश्यन् पश्यत्यन्यः सदानघ।
षड्विंशं पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च पश्यति ॥ ७२ ॥

निष्पाप गन्धर्व ! जीवात्मा जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें सब कुछ देखता है। सुषुप्ति और समाधि अवस्थामें कुछ भी नहीं देखता है तथा परमात्मा सदा ही छब्बीसवें [illegible] अपने-आपको, पचीसवें तत्त्वरूप जीवात्माको और चौबीसवें तत्त्वरूप प्रकृतिको भी देखता रहता है ॥ ७२ ॥

न तु पश्यति पश्यंस्तु यश्चैनमनुपश्यति।
पञ्चविंशोऽभिमन्येत नान्योऽस्ति परतो [illegible] ॥ ७३ ॥

किंतु यदि जीवात्मा यह अभिमान करता है कि मुझसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है तो जो परमात्मा उसे निरन्तर देखता है, उसे वह समझता हुआ भी नहीं समझता ॥७३॥

न चतुर्विंशको ग्राह्यो मनुजैर्ज्ञानदर्शिभिः।
मत्स्यश्चोदकमन्वेति प्रवर्तेत प्रवर्तनात् ॥ ७४ ॥

तत्त्वज्ञानी मनुष्योंको चाहिये कि वे प्रकृतिको आत्मभावसे ग्रहण न करें। जैसे मत्स्य जलका अनुसरण करता है, परंतु अपनेको उससे भिन्न ही मानता है, उसी प्रकार मनुष्य उसकी प्रवृत्तिके अनुसार स्वयं भी प्रवृत्त होवे; परंतु प्रकृति-को अपना स्वरूप न माने ॥ ७४ ॥

यथैव बुध्यते मत्स्यस्तथैषोऽप्यनुबुध्यते।
स स्नेहात् सहवासाच्च साभिमानाच्च नित्यशः ॥ ७५ ॥
स निमज्जति कालस्य यदैकत्वं न बुध्यते।
उन्मज्जति हि कालस्य समत्वेनाभिसंवृतः ॥ ७६ ॥

जैसे मछली जलमें रहती हुई भी उस जलको अपनेसे भिन्न समझती है, उसी प्रकार यह जीवात्मा प्राकृत शरीरमें रहकर भी प्रकृतिसे अपनेको भिन्न समझता है तथापि वह शरीरके प्रति स्नेह, सहवास और अभिमानके कारण जब परमात्माके साथ अपनी एकताका अनुभव नहीं करता है, तब कालके समुद्रमें डूब जाता है। परंतु जब वह समत्व-बुद्धिसे युक्त हो अपनी और परमात्माकी एकताको समझ लेता है, तब उस कालसमुद्रसे उसका उद्धार हो जाता है ॥

यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति ॥ ७७ ॥

जब द्विज इस बातको समझ लेता है कि मैं अन्य हूँ और यह प्राकृत शरीर अथवा अनात्म-जगत् मुझसे सर्वथा भिन्न है, तब वह प्रकृतिके संसर्गसे रहित हो छब्बीसवें तत्त्व परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ७७ ॥

[illegible] राजन्नवरस्तथान्यः पञ्चविंशकः।
तत्स्थानाच्चानुपश्यन्ति एक एवेति साधवः ॥ ७८ ॥

राजन् ! परमात्मा भिन्न है और जीवात्मा भिन्न; क्योंकि परमात्मा जीवात्माका आश्रय है; परंतु ज्ञानी संत महात्मा उन दोनोंको एक ही देखते और समझते हैं ॥ ७८ ॥

ते नैतन्नाभिनन्दन्ति पञ्चविंशकमच्युतम्।
जन्ममृत्युभयाद् भीता योगाः सांख्याश्च काश्यप ॥ ७९ ॥

कश्यपनन्दन ! जन्म और मृत्युके भयसे डरे हुए योग और सांख्यके साधक भगवत्परायण हो शुद्ध भावसे छब्बीसवें तत्त्व परमात्माका दर्शन करते हुए जीवात्मा और परमात्माको एक समझते हैं और इस अभेद-दर्शनका सदा अभिनन्दन ही करते हैं ॥ ७९ ॥

षड्विंशमनुपश्यन्तः शुचयस्तत्परायणाः।
यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति।
तदा [illegible] सर्वविद् विद्वान् न पुनर्जन्म विन्दति ॥ ८० ॥

[illegible] जीवात्मा प्रकृतिके संसर्गसे रहित हो परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह सर्वज्ञ विद्वान् होकर इस संसारमें पुनर्जन्म नहीं पाता है ॥ ८० ॥

एवमप्रतिबुद्धश्च बुध्यमानश्च तेऽनघ।
बुद्धश्चोक्तो यथातत्त्वं मया श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ८१ ॥

निष्पाप गन्धर्वराज ! इस प्रकार मैंने तुमसे जड प्रकृति, चेतन जीवात्मा और बोधस्वरूप परमात्माका श्रुतिके अनुसार यथावत्रूपसे निरूपण किया है ॥ ८१ ॥

पश्यापश्यं यो न पश्येत् क्षेम्यं तत्त्वं च काश्यप।
केवलाकेवलं [illegible] [illegible]विंशं परं च यत् ॥ ८२ ॥

कश्यपनन्दन ! जो मनुष्य जीवात्माको और प्रकृति आदि जडवर्गको पृथक्-पृथक् नहीं जानता, मङ्गलकारी [illegible] दृष्टि नहीं रखता, केवल (प्रकृति-संसर्गसे रहित), अकेवल (प्रकृति-संसर्गसे युक्त), सबके आदिकारण जीवात्मा तथा [illegible] परमात्माको भी यथार्थरूपसे नहीं [illegible] (वह आवागमनके चक्करमे पड़ा रहता है) ॥ ८२ ॥

विश्वावसुरुवाच

तथ्यं शुभं चैतदुक्तं त्वया विभो
सम्यक् क्षेम्यं दैवताद्यं यथावत् ।
स्वस्त्यक्षयं भवतश्चास्तु नित्यं
बुद्ध्या सदा बुद्धियुक्तं मनस्ते ॥ ८३ ॥

विश्वावसुने कहा—प्रभो ! आपने सब देवताओंके आदिकारण ब्रह्मके विषयमे जो यथावत् वर्णन किया है, [illegible] सत्य, शुभ, सुन्दर तथा परम मङ्गलकारी है । [illegible] [illegible] सदा ही इसी प्रकार ज्ञानमें स्थित रहे तथा आपको नित्य [illegible] कल्याणकी प्राप्ति हो (अच्छा, अब [illegible] जाता हूँ)॥

याज्ञवल्क्य उवाच

एवमुक्त्वा सम्प्रयातो दिवं [illegible]
विभ्राजन् वै श्रीमता दर्शनेन ।
हृष्टश्च तुष्ट्या परयाभिनन्द्य
प्रदक्षिणं मम [illegible] ॥ ८४ ॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं राजन् ! ऐसा कहकर महामना गन्धर्वराज विश्वावसु अपने कान्तिमान् दर्शनसे प्रकाशित होते हुए मेरी परिक्रमा और अभिनन्दन करके स्वर्गलोकको चले गये । उस समय मैने भी बड़े संतोषसे उनकी ओर देखा था ॥ ८४ ॥

ब्रह्मादीनां खेचराणां क्षितौ [illegible]
ये चाधस्तात् संवसन्ते नरेन्द्र ।
तत्रैव तद्दर्शनं दर्शयन् वै
सम्यक् क्षेम्यं ये पथं संश्रिता वै ॥ ८५ ॥

राजा जनक ! आकाशमें विचरनेवाले जो ब्रह्मा आदि देवता हैं, पृथ्वीपर निवास करनेवाले जो मनुष्य हैं तथा जो पृथ्वीसे नीचेके लोकोंमें रहते हैं, उनमेंसे जो लोग कल्याणमय मोक्षमार्गका आश्रय लिये हुए थे, उन सबको उन्हीं स्थानोंमें जाकर विश्वावसुने मेरे बताये हुए इस सम्यक्-दर्शनका उपदेश दिया था ॥ ८५ ॥

सांख्याः सर्वे सांख्यधर्मे रताश्च
तद्वद् योगा योगधर्मे रताश्च ।
ये चाप्यन्ये मोक्षकामा मनुष्या-
स्तेषामेतद् दर्शनं ज्ञानदृष्टम् ॥ ८६ ॥

सांख्यधर्ममें तत्पर रहनेवाले सम्पूर्ण सांख्यवेत्ता, योग-धर्मपरायण योगी तथा दूसरे जो मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले मनुष्य हैं, उन सबको यह उपदेश [illegible] [illegible] देनेवाला है ॥ ८६ ॥

ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह
नास्त्यज्ञानादेवमाहुर्नरेन्द्र ।
तस्माज्ज्ञानं तत्त्वतोऽन्वेषितव्यं
येनात्मानं मोक्षयेज्जन्ममृत्योः ॥ ८७ ॥

राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी नरेन्द्र ! ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, अज्ञानसे नहीं—ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं । इसलिये यथार्थ ज्ञानका अनुसंधान करना चाहिये, जिससे अपने-आपको जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुड़ाया जा सके ॥

प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा
वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम् ।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं
न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम् ॥ ८८ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा नीच वर्णमें उत्पन्न हुए पुरुषसे भी यदि ज्ञान मिलता हो तो उसे प्राप्त करके श्रद्धालु मनुष्यको सदा उसपर श्रद्धा रखनी चाहिये । जिसके भीतर श्रद्धा है, उस मनुष्यमें जन्म-मृत्युका प्रवेश नहीं हो सकता ॥ ८८ ॥

सर्वे वर्णा ब्राह्मणा [illegible]
सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म ।
तत्त्वं शास्त्रं ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि
सर्वं विश्वं ब्रह्म चैतत् समस्तम् ॥ ८९ ॥

ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण सभी वर्ण ब्राह्मण हैं । सभी सदा ब्रह्मका उच्चारण करते हैं । [illegible] ब्रह्मबुद्धिसे यथार्थ शास्त्रका सिद्धान्त बता रहा [illegible] । यह सम्पूर्ण जगत्, यह सारा दृश्यप्रपञ्च ब्रह्म ही है ॥ ८९ ॥

ब्रह्मास्यतो ब्राह्मणाः सम्प्रसूता
बाहुभ्यां [illegible] क्षत्रियाः सम्प्रसूताः ।
नाभ्यां वैश्याः पादतश्चापि शूद्राः
सर्वे वर्णा नान्यथा वेदितव्याः ॥ ९० ॥

ब्रह्मके मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं, ब्रह्मकी ही भुजाओंसे क्षत्रियोंकी उत्पत्ति हुई है, ब्रह्मकी ही नाभिसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र प्रकट हुए हैं, अतः सभी वर्णके लोग ब्रह्मरूप ही हैं । किसी भी वर्णको ब्रह्मसे भिन्न नहीं समझना चाहिये ॥ ९० ॥

अज्ञानतः कर्मयोनिं भजन्ते
तां तां राजंस्ते तथा यान्त्यभावम् ।
तथा वर्णा ज्ञानहीनाः पतन्ते
घोरादज्ञानात् प्राकृतं योनिजालम् ॥ ९१ ॥

राजन् ! मनुष्य अज्ञानके कारण ही कर्मानुष्ठानसे भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेते और मरते हैं । ज्ञानहीन मनुष्य ही [illegible]ने भयंकर [illegible]नके कारण नाना प्रकारकी प्राकृत योनियोंमें गिरते हैं ॥ ९१ ॥

तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं
सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते।
तस्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो य-
स्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र ॥ ९२ ॥

नरेन्द्र ! अतः सब ओरसे ज्ञान प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। यह तो मैं तुमसे बता ही चुका हूँ कि सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने आश्रममें रहते हुए ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; अतः जो ब्राह्मण ज्ञानमें स्थित है अथवा जो दूसरे वर्णका मनुष्य भी ज्ञाननिष्ठ है, उसके लिये नित्य मोक्षकी प्राप्ति बतायी गयी है ॥ ९२ ॥

यत् ते पृष्टं तन्मया चोपदिष्टं
याथातथ्यं तद्विशोको भवस्व।
राजन् गच्छस्वैतदर्थस्य पारं
सम्यक् प्रोक्तं स्वस्ति ते त्वस्तु नित्यम् ॥

राजन्! तुमने जो पूछा था उसके उत्तरमें मैंने तुम्हें यथार्थ ज्ञानका उपदेश किया है; अतः अब तुम शोकरहित हो जाओ और इस तत्त्वज्ञानमें पारङ्गत बनो। मैंने तुम्हें ज्ञानका भलीभाँति उपदेश कर दिया है। जाओ, तुम्हारा सदा कल्याण हो ॥ ९३ ॥

भीष्म उवाच

स एवमनुशास्तस्तु याज्ञवल्क्येन धीमता।
प्रीतिमानभवद् राजा मिथिलाधिपतिस्तदा ॥ ९४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! बुद्धिमान् याज्ञवल्क्यजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर मिथिलापति राजा जनक उस समय बहुत प्रसन्न हुए ॥ ९४ ॥

गते मुनिवरे तस्मिन् कृते चापि प्रदक्षिणम्।
दैवरातिर्नरपतिरासीनस्तत्र मोक्षवित् ॥ ९५ ॥
गोकोटिं स्पर्शयामास हिरण्यं च तथैव च।
रत्नाञ्जलिमथैकं च ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा ॥ ९६ ॥

उन्होंने सत्कारपूर्वक मुनिकी प्रदक्षिणा करके उन्हें विदा किया। जब वे मुनिवर याज्ञवल्क्य चले गये, तब मोक्षके ज्ञाता देवरातनन्दन राजा जनकने वहीं बैठे-बैठे एक करोड़ गौएँ छूकर ब्राह्मणोंको दान कर दीं और प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक अञ्जलि रत्न और सुवर्ण प्रदान किये ॥ ९५-९६ ॥

विदेहराज्यं च तदा प्रतिष्ठाप्य सुतस्य वै।
यतिधर्ममुपासंश्चाप्यवसन्मिथिलाधिपः ॥ ९७ ॥

इसके बाद मिथिलानरेशने विदेहदेशका राज्य अपने पुत्रको सौंप दिया और स्वयं वे यति-धर्मका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ ९७ ॥

सांख्यज्ञानमधीयानो योगशास्त्रं च कृत्स्नशः।
धर्माधर्मं च राजेन्द्र प्राकृतं परिगर्हयन् ॥ ९८ ॥
अनन्त इति कृत्वा स नित्यं केवलमेव च।
धर्माधर्मौ पुण्यपापे सत्यासत्ये तथैव च ॥ ९९ ॥
जन्ममृत्यू च राजेन्द्र प्राकृतं तदचिन्तयत्।
व्यक्ताव्यक्तस्य कर्मेदमिति नित्यं नराधिप ॥ १०० ॥

राजेन्द्र! नरेश्वर! उन्होंने सम्पूर्ण सांख्य, ज्ञान और योगशास्त्रका स्वाध्याय करके प्राकृत धर्म और अधर्मको त्याज्य मानते हुए यह निश्चय किया कि 'मैं अनन्त हूँ।' ऐसा निश्चय करके वे धर्म-अधर्म, पुण्य पाप, सत्य असत्य तथा जन्म और मृत्युको व्यक्त (बुद्धि आदि) और अव्यक्त (प्रकृति) का कार्य मानकर सबको प्राकृत (प्रकृतिजन्य एवं मिथ्या) समझते हुए प्रकृतिसंसर्गसे रहित अपने शुद्ध एवं नित्य स्वरूपका ही चिन्तन करने लगे ॥ ९८-१०० ॥

पश्यन्ति योगाः सांख्याश्च स्वशास्त्रकृतलक्षणाः।
इष्टानिष्टविमुक्तं हि तस्थौ ब्रह्म परात्परम् ॥ १०१ ॥

युधिष्ठिर! सांख्य और योगके विद्वान् अपने अपने शास्त्रोंमें वर्णित लक्षणोंके अनुसार ऐसा देखते और समझते हैं कि वह ब्रह्म इष्ट और अनिष्टसे मुक्त, अचल-भावसे स्थित एवं परात्पर है ॥ १०१ ॥

नित्यं तदाहुर्विद्वांसः शुचि तस्माच्छुचिर्भव।
दीयते यच्च लभते दत्तं यच्चानुमन्यते ॥ १०२ ॥
ददाति च नरश्रेष्ठ प्रतिगृह्णाति [illegible] ह।
ददात्यव्यक्त इत्येतत् प्रतिगृह्णाति तच्च वै ॥ १०३ ॥

विद्वान् पुरुष उस ब्रह्मको नित्य एवं पवित्र बताते हैं; अतः तुम भी उसे जानकर पवित्र हो जाओ। नरश्रेष्ठ! जो कुछ दिया जाता है, जो दी हुई वस्तु किसीको प्राप्त होती है, जो दानका अनुमोदन करता है, जो देता है तथा जो [illegible] दानको ग्रहण करता है, वह सब अव्यक्त परमात्मा ही है। परमात्मा ही यह सब कुछ देता और लेता है।

[illegible] ह्येवात्मनो ह्येकः कोऽन्यस्तस्मात्परो भवेत्।
एवं मन्यस्व सततमन्यथा मा विचिन्तय ॥ १०४ ॥

युधिष्ठिर! एकमात्र परमात्मा ही अपना है। उससे बढ़कर आत्मीय दूसरा कौन हो सकता है। तुम सदा ऐसा ही मानो और इसके विपरीत दूसरी किसी बातका चिन्तन न करो ॥ १०४ ॥

यस्याव्यक्तं न विदितं सगुणं निर्गुणं पुनः।
तेन तीर्थानि यज्ञाश्च सेवितव्या विपश्चिता ॥ १०५ ॥

जिसे अव्यक्त प्रकृतिका ज्ञान न हुआ हो, सगुण निर्गुण परमात्माकी पहचान न हुई हो, उस विद्वान्को तीर्थोंका सेवन और यज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १०५ ॥

न स्वाध्यायैस्तपोभिर्वा यज्ञैर्वा कुरुनन्दन।
लभतेऽव्यक्तिकं स्थानं ज्ञात्वा व्यक्तं महीयते ॥ १०६ ॥

कुरुनन्दन! स्वाध्याय, तप अथवा यज्ञोंद्वारा मनुष्य परमात्मपदकी प्राप्ति नहीं होती (ये तो उनके तत्त्व जाननेमें सहायक होते हैं)। इनके द्वारा परमात्माका स्व

(अपरोक्ष) [illegible] करके [illegible] मनुष्य महिमान्वित होता है॥

तथैव महतः स्थानमाहङ्कारिकमे[illegible] च।
अहङ्कारात् परं चापि स्थानानि समवाप्नुयात् ॥१०७॥

महत्तत्त्वकी उपासना करनेवाले महत्तत्त्वको और अहंकार-के उपासक अहंकारको प्राप्त होते हैं; परंतु महत्तत्त्व और अहंकारसे भी श्रेष्ठ जो स्थान हैं, उन्हें प्राप्त करना चाहिये॥१०७॥

ये त्वव्यक्तात् परं नित्यं जानते शास्त्रतत्पराः।
जन्ममृत्युविमुक्तं च विमुक्तं सदसच्च यत् ॥१०८॥

जो शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर होते हैं, वे ही प्रकृतिसे पर, नित्य, जन्म-मृत्युसे रहित, मुक्त एवं सदसत्स्वरूप परमात्माका ज्ञान [illegible] करते हैं ॥ १०८ ॥

एतन्मयाऽऽप्तं जनकात् पुरस्तात्
तेनापि चाप्तं नृप याज्ञवल्क्यात्।
ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि [illegible]
ज्ञानेन दुर्गं तरते न यज्ञैः ॥१०९॥

युधिष्ठिर! यह ज्ञान मुझे पूर्वकालमें राजा जनकसे मिला [illegible] और जनकको याज्ञवल्क्यजीसे [illegible] हुआ था। [illegible] सबसे उत्तम साधन है। यज्ञ इसकी समानता नहीं कर सकते। ज्ञानसे ही मनुष्य [illegible] दुर्गम संसार सागरसे पार हो [illegible] है; यज्ञोंद्वारा नहीं॥ १०९ ॥

दुर्गं जन्म निधनं चापि राजन्
न भौतिकं ज्ञानविदो वदन्ति।
यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्व्रतैश्च
दिवं समासाद्य पतन्ति भूमौ ॥११०॥

राजन्! ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि भौतिक जन्म और मृत्युको पार करना अत्यन्त कठिन है। यज्ञ आदिके द्वारा भी मनुष्य [illegible] दुर्गम संकटसे पार नहीं हो सकता। यज्ञ, [illegible] नियम और व्रतोंद्वारा तो लोग स्वर्गलोकमें जाते और पुण्य क्षीण होनेपर फिर इस पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं ॥ ११० ॥

तस्मादुपास्स्व परं महच्छुचि
शिवं विमोक्षं विमलं पवित्रम्।
क्षेत्रं ज्ञात्वा पार्थिव ज्ञानयज्ञ-
मुपास्य वै तत्त्वमृषिर्भविष्यसि ॥१११॥

इसलिये तुम प्रकृतिसे पर, महत्, पवित्र, कल्याणमय, निर्मल, शुद्ध तथा मोक्षस्वरूप ब्रह्मकी उपासना करो। पृथ्वी-नाथ! क्षेत्रको जानकर और ज्ञानयज्ञका आश्रय लेकर तुम निश्चय ही तत्त्वज्ञानी ऋषि बन जाओगे ॥ १११ ॥

यदुपनिषदमुपाकरोत् तथासौ
जनकनृपस्य पुरा हि याज्ञवल्क्यः।
यदुपगणितशाश्वताव्ययं त-
च्छुभममृतत्वमशोकमर्च्छति ॥११२॥

पूर्वकालमें [illegible] मुनिने राजा जनकको जिस उप-निषद् ([illegible]) [illegible] उपदेश दिया था, उसका मनन करनेसे मनुष्य पूर्वकथित सनातन अविनाशी, शुभ, अमृतमय तथा शोकरहित [illegible] परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ११२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि याज्ञवल्क्यजनकसंवादसमाप्तौ अष्टादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३१८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें याज्ञवल्क्य-जनक-संवादकी समाप्तिविषयक तीन [illegible] अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका [illegible] श्लोक मिलाकर कुल ११३ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जरा-मृत्युका उल्लङ्घन करनेके विषयमें पञ्चशिख और [illegible] जनकका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

ऐश्वर्यं [illegible] महत् प्राप्य धनं वा भरतर्षभ।
दीर्घमायुरवाप्याथ कथं मृत्युमतिक्रमेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! महान् ऐश्वर्य या प्रचुर धन [illegible] बहुत बड़ी आयु पाकर मनुष्य किस तरह मृत्युका उल्लङ्घन कर सकता है ?॥ १ ॥

[illegible] वा [illegible] कर्मणा वा श्रुतेन वा।
रसायनप्रयोगैर्वा कैर्नाप्नोति जरान्तकौ ॥ २ ॥

[illegible] गुरुतर तपस्या करके, महान् कर्मोंका अनुष्ठान करके, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके अथवा नाना प्रकारके रसायनों-का प्रयोग करके किन उपायोंद्वारा जरा और मृत्युको प्राप्त नहीं होता है ?॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भिक्षोः पञ्चशिखस्येह संवादं जनकस्य च ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें विद्वान् पुरुष संन्यासी पञ्चशिख तथा राजा जनकके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

वैदेहो जनको राजा महर्षिं वेदवित्तमम्।
पर्यपृच्छत् पञ्चशिखं छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥ ४ ॥

एक समयकी बात है, विदेहदेशके राजा जनकने वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षि पञ्चशिखसे, जिनके धर्म और अर्थ-विषयक संदेह नष्ट हो गये थे, इस प्रकार प्रश्न किया—॥ ४ ॥

केन वृत्तेन भगवन्नतिक्रामेज्जरान्तकौ।
तपसा [illegible] बुद्ध्या वा कर्मणा वा श्रुतेन वा ॥ ५ ॥

'भगवन्! किस आचार, तपस्या, बुद्धि, कर्म अथवा शास्त्रज्ञानके द्वारा मनुष्य जरा और मृत्युको लाँघ सकता है?' ॥

एवमुक्तः स वैदेहं प्रत्युवाचापरोक्षवित्।
निवृत्तिर्न तयोरस्ति नानिवृत्तिः कथञ्चन ॥ ६ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर अपरोक्षज्ञानसे सम्पन्न महर्षि पञ्चशिखने विदेहराजको इस प्रकार उत्तर दिया—'जरा और मृत्युकी निवृत्ति नहीं होती है, परंतु ऐसा भी नहीं है कि किसी प्रकार उनकी निवृत्ति हो ही नहीं सकती (धन और ऐश्वर्य आदिसे उनकी निवृत्ति नहीं होती, परंतु ज्ञानसे तो पुनर्जन्मकी भी निवृत्ति हो जाती है; फिर जरा और मृत्युकी तो बात ही क्या ?) ॥ ६ ॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः क्षपाः।
सोऽयं प्रपद्यतेऽध्वानं चिराय ध्रुवमध्रुवः ॥ ७ ॥

दिन, रात और महीनोंके जो चक्र चल रहे हैं, वे किसीके टाले नहीं टलते हैं। इसी प्रकार जन्म, मृत्यु और जरा आदिके क्रम प्रायः चलते ही रहते हैं। जिसके जीवनका कुछ ठिकाना नहीं, वह मरणधर्मा मानव कभी दीर्घकालके पश्चात् नित्य-पथ (मोक्षमार्ग) का आश्रय लेता है ॥ ७ ॥

सर्वभूतसमुच्छेदः स्रोतसेवोह्यते सदा।
ऊह्यमानं निमज्जन्तमप्लवे कालसागरे ॥ ८ ॥
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदभिपद्यते।

काल समस्त प्राणियोका उच्छेद कर डालता है। जैसे जलका प्रवाह किसी वस्तुको बहाये लिये जाता है, उसी प्रकार काल सदा ही प्राणियोको अपने वेगसे बहाया करता है। यह काल बिना नौकाके समुद्रकी भाँति लहरा रहा है। जरा और मृत्यु विशाल ग्राहका रूप धारण करके उसमे बैठे हुए हैं। उस काल-सागरमे बहते और डूबते हुए जीवको कोई भी बचा नहीं सकता ॥ ८½ ॥

नैवास्य कश्चिद् भवति नासौ भवति कस्यचित् ॥ ९ ॥
पथि सङ्गतमेवेदं दारैरन्यैश्च बन्धुभिः।
नायमत्यन्तसंवासो लब्धपूर्वो हि केनचित् ॥ १० ॥

यहाँ इस जीवका कोई भी अपना नहीं है और वह भी किसीका अपना नहीं है। रास्तेमे मिले हुए राहगीरोंके समान यहाँ पत्नी तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंका साथ हो जाता है, परंतु यहाँ पहले कभी किसीने किसीके साथ चिरकालतक सहवास-का सुख नहीं उठाया है ॥ ९-१० ॥

क्षिप्यन्ते तेन तेनैव निघ्नन्तः पुनः पुनः।
कालेन जाता याता हि वायुनेवाभ्रसंचयाः ॥ ११ ॥

जैसे गर्जते हुए बादलोंको हवा बारंबार उड़ाकर छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार काल यहाँ जन्म लेनेवाले प्राणियोंको उनके रोने-चिल्लानेपर भी विनाशकी आगमे झोंक देता है ॥ ११ ॥

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥ १२ ॥

कोई बलवान् हो या दुर्बल, बड़ा हो या छोटा, उन सब प्राणियोको बुढ़ापा और मौत व्याघ्रकी भाँति खा जाती है ॥ १२ ॥

एवंभूतेषु भूतात्मा नित्यभूतोऽध्रुवेषु च।
कथं हि हृष्येज्जातेषु मृतेषु च कथं ज्वरेत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार जब सभी प्राणी विनाशशील ही हैं, तब नित्य-स्वरूप जीवात्मा उन प्राणियोंके लिये जन्म लेनेपर हर्ष किस लिये माने और मर जानेपर शोक क्यों करे ? ॥ १३ ॥

कुतोऽहमागतः कोऽस्मि क्व गमिष्यामि कस्य वा।
कस्मिन् स्थितः क्व भविता कस्मात्किमनुशोचसि ॥ १४ ॥

मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? किसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ? किस स्थानमें स्थित होकर कहाँ फिर जन्म लूँगा ? इन सब बातोंको लेकर तुम किस लिये क्या शोक कर रहे हो ? ॥ १४ ॥

द्रष्टा स्वर्गस्य कोऽन्योऽस्ति तथैव नरकस्य च।
आगमांस्त्वनतिक्रम्य दद्याच्चैव यजेत च ॥ १५ ॥

जो शुभ और अशुभ कर्म करता है, उसके सिवा दूसरा कौन ऐसा है जो उन कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और नरकका दर्शन एवं उपभोग करेगा; अतः शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करते हुए सब लोगोंको दान और यज्ञ आदि सत्कर्म करते रहने चाहिये ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पञ्चशिखजनकसंवादे एकोनविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पञ्चशिख और जनकका संवादविषयक तीन सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१९ ॥

विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा जनककी परीक्षा करनेके लिये आयी हुई सुलभाका उनके शरीरमें प्रवेश करना, राजा जनकका उसपर दोषारोपण करना एवं सुलभाका युक्तियोंद्वारा निराकरण करते हुए राजा जनकको अज्ञानी बताना

युधिष्ठिर उवाच

अपरित्यज्य गार्हस्थ्यं कुरुराजर्षिसत्तम।
कः प्राप्तो विनयं बुद्ध्या मोक्षतत्त्वं वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुकुलराजर्षिशिरोमणे ! जहाँ बुद्धिका लय हो जाता है, उस मोक्षतत्त्वको गृहस्थाश्रमका त्याग बिना किये कौन पुरुष प्राप्त हुआ है, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

संन्यस्यते यथाऽऽत्मायं व्यक्तस्यात्मा यथा च यत्।
परं मोक्षस्य यच्चापि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २ ॥

पितामह ! मनुष्यशरीर जिस प्रकार स्थूल शरीरका त्याग करता है और जिस प्रकार स्थूल शरीरका आत्मा सूक्ष्म शरीरका त्याग करता है अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म—इन दोनों शरीरोंके अभिमानसे जिस प्रकार रहित हो सकता है एवं उनके त्यागका जो स्वरूप है और जो मोक्षका है, मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
जनकस्य च संवादं सुलभायाश्च भारत ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! इस विषयमें जानकार मनुष्य जनक और सुलभाके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

संन्यासफलिकः कश्चिद् बभूव नृपतिः पुरा ।
मैथिलो जनको नाम धर्मध्वज इति श्रुतः ॥ ४ ॥

प्राचीन कालमें मिथिलापुरीके कोई एक राजा जनक हो गये हैं, जो धर्मध्वज नामसे प्रसिद्ध थे । उन्हें (गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी) संन्यासका जो सम्यग्ज्ञानरूप है, वह प्राप्त हो गया था ॥ ४ ॥

स वेदे मोक्षशास्त्रे च स्वे च शास्त्रे कृतश्रमः ।
इन्द्रियाणि समाधाय वसुधामिमाम् ॥ ५ ॥

उन्होंने वेदमें, मोक्षशास्त्रमें तथा अपने शास्त्र (दण्डनीति) में भी बड़ा परिश्रम किया था । वे इन्द्रियोंको एकाग्र करके इस वसुन्धराका शासन करते थे ॥ ५ ॥

वेदविदः प्राज्ञाः श्रुत्वा तां साधुवृत्तताम् ।
लोकेषु स्पृहयन्त्यन्ये पुरुषाः पुरुषेश्वर ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! वेदोंके ज्ञाता विद्वान् पुरुष उनकी उस साधुवृत्तिका समाचार सुनकर उन्हींके समान सज्जन होनेकी इच्छा करते थे ॥ ६ ॥

अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता ।
महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ॥ ७ ॥

वह धर्मप्रधान युगका समय था । उन दिनों सुलभा नामवाली एक संन्यासिनी योगधर्मके अनुष्ठानद्वारा सिद्धि प्राप्त करके अकेली ही इस पृथ्वीपर विचरण करती थी ॥ ७ ॥

जगदिदं कृत्स्नमटन्त्या मिथिलेश्वरः ।
तत्र श्रुतो मोक्षे कथ्यमानस्त्रिदण्डिभिः ॥ ८ ॥

इस सम्पूर्ण जगत्में घूमती हुई सुलभाने यत्र तत्र अनेक स्थानोंमें त्रिदण्डी संन्यासियोंके मुखसे मोक्ष-तत्त्वकी जानकारीके विषयमें मिथिलापति राजा जनककी प्रशंसा सुनी ॥ ८ ॥

सातिसूक्ष्मां कथां श्रुत्वा तथ्यं नेति ससंशया ।
दर्शने जातसंकल्पा जनकस्य बभूव ह ॥ ९ ॥

उनके कही जानेवाली अत्यन्त सूक्ष्म परब्रह्मविषयक वार्ता दूसरोंके मुखसे सुनकर सुलभाके मनमें यह संदेह हुआ कि नहीं जनकके सम्बन्धमें जो बातें सुनी जाती हैं, वे सत्य हैं या नहीं । यह उत्पन्न होनेपर उसके हृदयमें जनकके दर्शनका संकल्प उदित हुआ ॥ ९ ॥

तत्र विप्रहायाथ पूर्वरूपं हि योगतः ।
अबिभ्रदनवद्याङ्गी रूपमन्यदनुत्तमम् ॥ १० ॥
चक्षुर्निमेषमात्रेण लघ्वस्त्रगतिगामिनी ।
विदेहानां पुरीं सुभ्रूर्जगाम कमलेक्षणा ॥ ११ ॥

उसने योगशक्तिसे अपना पहला शरीर छोड़कर दूसरा परम सुन्दर रूप धारण कर लिया । अब उसका प्रत्येक अङ्ग अनिन्द्य सौन्दर्यसे प्रकाशित होने लगा । सुन्दर भौंहोंवाली वह कमलनयनी बाला बाणोंके समान तीव्र गतिसे चलकर पलभरमें विदेहदेशकी राजधानी मिथिलामें जा पहुँची ॥ १०-११ ॥

मिथिलां रम्यां प्रभूतजनसंकुलाम् ।
भैक्ष्यचर्यापदेशेन ददर्श मिथिलेश्वरम् ॥ १२ ॥

प्रचुर जनसमुदायसे भरी हुई उस रमणीय मिथिलानगरीमें पहुँचकर संन्यासिनी सुलभाने भिक्षा लेनेके बहाने मिथिलानरेशका दर्शन किया ॥ १२ ॥

तस्याः परं दृष्ट्वा सौकुमार्यं वपुस्तदा ।
केयं कुतो वेति बभूवागतविस्मयः ॥ १३ ॥

उसके परम सुकुमार शरीर और सौन्दर्यको देखकर राजा जनक आश्चर्यसे चकित हो उठे और मन-ही-मन सोचने लगे, 'यह कौन है, किसकी है अथवा कहाँसे आयी है?' ॥ १३ ॥

ततोऽस्याः स्वागतं कृत्वा व्यादिश्य च वरासनम् ।
पूजितां पादशौचेन वरान्नेनाप्यतर्पयत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर उसका स्वागत करके राजाने उसे सुन्दर आसन समर्पित किया और पैर धुलाकर उसका यथोचित पूजन करनेके पश्चात् उत्तमोत्तम अन्न देकर उसे किया ॥ १४ ॥

अथ भुक्तवती प्रीता राजानं मन्त्रिभिर्वृतम् ।
सर्वभाष्यविदां मध्ये चोदयामास भिक्षुकी ॥ १५ ॥

भोजन करके संतुष्ट हुई संन्यासिनी सुलभाने सम्पूर्ण भाष्यवेत्ता विद्वानोंके बीचमें मन्त्रियोंसे घिरकर बैठे हुए राजा जनकसे कुछ प्रश्न करनेका विचार किया ॥ १५ ॥

सुलभा त्वस्य धर्मेषु मुक्तो नेति ससंशया ।
सत्त्वं सत्त्वेन योगज्ञा प्रविवेश महीपतेः ॥ १६ ॥

सुलभा मोक्षधर्मके विषयमें राजासे कुछ पूछना चाहती थी । उसके मनमें यह संदेह था कि राजा जनक जीवन्मुक्त हैं या नहीं । वह योगशक्तियोंकी जानकार तो थी ही, अपनी सूक्ष्म बुद्धिद्वारा राजाकी बुद्धिमें प्रविष्ट हो गयी ॥ १६ ॥

नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्य रश्मीन् संयम्य रश्मिभिः ।
सा स्म तं चोदयिष्यन्ती योगबन्धैर्बबन्ध ह ॥ १७ ॥

राजा जनकसे प्रश्न करनेके लिये उद्यत हो उसने अपने नेत्रोंकी किरणोंद्वारा उनके नेत्रोंकी किरणोंको संयत करके

योगबलसे उनके चित्तको बाँधकर उन्हें वशमें कर लिया॥ १७॥

जनकोऽप्युत्स्मयन् राजा भावमस्या विशेषयन्।
प्रतिजग्राह भावेन भावमस्या नृपोत्तम ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ! तब राजा जनकने सुलभाके अभिप्रायको जानकर उसका आदर करते हुए मुस्कराकर अपने भावद्वारा उसके भावको ग्रहण कर लिया ॥ १८ ॥

तदेकस्मिन्नधिष्ठाने संवादः श्रूयतामयम्।
छत्रादिषु विमुक्तस्य मुक्तायाश्च त्रिदण्डके ॥ १९ ॥

फिर छत्र आदि राजचिह्नोंसे रहित हुए राजा जनक और त्रिदण्डरूप संन्यास-चिह्नसे मुक्त हुई सुलभाका एक ही शरीरमें रहकर जो संवाद हुआ था, उसे सुनो ॥ १९ ॥

जनक उवाच

भगवत्याः क्व चर्येयं कृता क्व च गमिष्यसि।
[illegible] च त्वं कुतो वेति पप्रच्छैनां महीपतिः ॥ २० ॥

जनकने पूछा—भगवति! आपको यह संन्यासकी दीक्षा कहाँसे प्राप्त हुई है, आप कहाँ जायँगी? किसकी हैं और कहाँसे यहाँ आपका शुभागमन हुआ है? ये सब बातें राजा जनकने सुलभासे पूछीं ॥ २० ॥

श्रुते वयसि जातौ [illegible] सद्भावो नाधिगम्यते।
एष्वर्थेषूत्तरं तस्मात् प्रवेद्यं मत्समागमे ॥ २१ ॥

वे बोले, किसीसे पूछे बिना उसके शास्त्रज्ञान, [illegible] और जातिके विषयमें सच्ची बात नहीं मालूम होती; अतः मेरे साथ जो तुम्हारा समागम हुआ है, इस अवसरपर इन [illegible] विषयोंकी जानकारीके लिये यथार्थ उत्तर जानना आवश्यक है॥

छत्रादिषु विशेषेषु मुक्तं मां विद्धि तत्त्वतः।
स त्वां सम्मन्तुमिच्छामि मानार्हासि मतासि मे ॥ २२ ॥

छत्र आदि जो विशेष राजोचित चिह्न हैं, उन्हें इस समय [illegible] त्याग चुका हूँ; अतः अब आप मुझे यथार्थरूपसे जान लें। मैं आपका सम्मान करना चाहता हूँ; क्योंकि आप मुझे सम्मानके योग्य जान पड़ती हैं ॥ २२ ॥

यस्माच्चैतन्मया प्राप्तं ज्ञानं वैशेषिकं पुरा।
यस्य नान्यः प्रवक्तास्ति मोक्षं तमपि मे शृणु ॥ २३ ॥

मैंने पूर्वकालमें सर्वश्रेष्ठ मोक्षविषयक ज्ञान जिनसे प्राप्त किया था, जिसका उनके सिवा दूसरा कोई प्रतिपादन करनेवाला नहीं है, उस ज्ञान और ज्ञानदाता गुरुका भी परिचय आप मुझसे सुनो ॥ २३ ॥

पाराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः ॥ २४ ॥

पराशरगोत्री संन्यास-धर्मावलम्बी वृद्ध महात्मा पञ्चशिख मेरे गुरु हैं। मैं उनका परम प्रिय शिष्य हूँ ॥ २४ ॥

सांख्यज्ञाने च योगे च महीपालविधौ तथा।
त्रिविधे मोक्षधर्मेऽस्मिन् गताध्वा छिन्नसंशयः ॥ २५ ॥

सांख्यज्ञान, योगविद्या [illegible] राजधर्म—इन तीन प्रकारके मोक्षधर्ममें मुझे गन्तव्य मार्ग गुरुदेवसे प्राप्त हो चुका है। इन विषयोंके मेरे सारे संशय दूर हो गये हैं ॥ २५ ॥

स यथाशास्त्रदृष्टेन मार्गेणेह परिभ्रमन्।
वार्षिकांश्चतुरो मासान् पुरा मयि सुखोषितः ॥ २६ ॥

पहलेकी बात है, वे आचार्यचरण शास्त्रोक्त मार्गसे चलते हुए घूमते-घामते इधर आ निकले और वर्षा-ऋतुके चार महीने मेरे यहाँ सुखपूर्वक रहे ॥ २६ ॥

तेनाहं सांख्यमुख्येन सुदृष्टार्थेन तत्त्वतः।
श्रावितस्त्रिविधं मोक्षं न च राज्याद् विचालितः ॥ २७ ॥

वे सांख्यशास्त्रके प्रमुख विद्वान् हैं और सारा सिद्धान्त उन्हें यथावत् रूपसे प्रत्यक्षकी भाँति ठीक-ठीक ज्ञात है। उन्होंने मुझे त्रिविध मोक्षधर्म श्रवण कराया है, परंतु राज्यसे दूर हटनेकी आज्ञा नहीं दी है ॥ २७ ॥

सोऽहं तामखिलां वृत्तिं त्रिविधां मोक्षसंहिताम्।
मुक्तरागश्चराम्येकः पदे परमके स्थितः ॥ २८ ॥

इस प्रकार उपदेश पाकर मैं विषयोंकी आसक्तिसे रहित हो मुक्तिविषयक तीन प्रकारकी समस्त वृत्तियोंका आचरण करता हूँ और अकेला ही परमपदमें स्थित हूँ ॥ २८ ॥

वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो विधिः।
ज्ञानादेव [illegible] वैराग्यं जायते येन मुच्यते ॥ २९ ॥

वैराग्य ही इस मुक्तिका प्रधान कारण है और ज्ञानसे ही वह वैराग्य प्राप्त होता है, जिससे मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ २९ ॥

ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत्।
महद् द्वन्द्वप्रमोक्षाय सा सिद्धिर्या वयोऽतिगा ॥ ३० ॥

मनुष्य ज्ञानके द्वारा मुक्ति पानेके लिये यत्न करता है। उस यत्नसे महान् आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। वह महान् आत्मज्ञान ही सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे छुटकारा दिलानेका साधन है, वही सिद्धि है, जो काल (मृत्यु) को भी लाँघ जानेवाली है ॥ ३० ॥

सेयं परमिका बुद्धिः प्राप्ता निर्द्वन्द्वता मया।
इहैव गतमोहेन चरता मुक्तसङ्गिना ॥ ३१ ॥

मेरा मोह दूर हो गया है। मैं समस्त सङ्गोंका त्याग कर चुका हूँ; इसलिये मैंने इस गृहस्थधर्ममें रहते हुए ही बुद्धिकी परम निर्द्वन्द्वता प्राप्त कर ली है ॥ ३१ ॥

यथा क्षेत्रं मृदूभूतमद्भिराप्लावितं तथा।
जनयत्यङ्कुरं कर्म नृणां तद्वत् पुनर्भवम् ॥ ३२ ॥

जैसे जिस खेतको जोतकर खूब मुलायम बना दिया गया हो और यथासमय उसे पानीसे सींचा गया हो, वही बोये हुए बीजमें अङ्कुर उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मनुष्योंका शुभ-अशुभ कर्म ही पुनर्जन्मका उत्पादन करता है ॥ ३२ ॥

यथा चोत्तापितं बीजं कपाले यत्र तत्र [illegible]।
प्राप्याप्यङ्कुरहेतुत्वमबीजत्वान्न जायते ॥ ३३ ॥

तद्वद् भगवतानेन शिखा प्रोक्तेन भिक्षुणा।
ज्ञानं कृतमबीजं मे विषयेषु न जायते ॥ ३४ ॥

जैसे मिट्टीके खपरेमें या और किसी भी बर्तनमें भूना गया बीज बीज न रह जानेके कारण अङ्कुर उगाने योग्य खेतमें पड़कर भी नहीं जमता है, उसी प्रकार मेरे संन्यासी गुरु भगवान् पञ्चशिखने मुझे जो ज्ञान प्रदान किया है, वह निर्बीज है। इसलिये विषयोंके क्षेत्रमें अङ्कुरित नहीं होता है ॥ ३३-३४ ॥

नाभिरज्यति कस्मिंश्चिन्नानर्थे न परिग्रहे।
नाभिरज्यति चैतेषु व्यर्थत्वाद् रागरोषयोः ॥ ३५ ॥

मेरी बुद्धि किसी अनर्थमें [illegible] भोगोंके संग्रहमें भी आसक्त नहीं होती है। स्त्री आदिके विषयमें जो अनुराग और शत्रु आदिके विषयमें जो क्रोध होता है, वह व्यर्थ होनेके कारण उसकी ओर मेरी बुद्धिकी प्रवृत्ति नहीं होती है ॥ ३५ ॥

यश्च मे दक्षिणं बाहुं चन्दनेन समुक्षयेत्।
सव्यं वास्यापि यस्तक्षेत् समावेतावुभौ [illegible] ॥ ३६ ॥

जो मेरी दाहिनी बाँहपर चन्दन छिड़के और जो बायीं बाँहको बँसूलेसे काटे तो ये दोनों ही मनुष्य मेरे लिये एक समान हैं ॥ ३६ ॥

सुखी सोऽहमवाप्तार्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
मुक्तसङ्गः स्थितो राज्ये विशिष्टोऽन्यैस्त्रिदण्डिभिः ॥ ३७ ॥

मैं आप्तकाम होकर सदा सुखका अनुभव करता हूँ। मेरी दृष्टिमें मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण सब एक-से हैं। मैं आसक्तिरहित होकर राजाके पदपर प्रतिष्ठित हूँ। अतः अन्य त्रिदण्डी साधुओंसे मेरा स्थान विशिष्ट है ॥ ३७ ॥

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टान्यैर्मोक्षवित्तमैः।
[illegible] लोकोत्तरं [illegible] सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ॥ ३८ ॥

अलौकिक जो ज्ञान है, अलौकिक जो संन्यास है तथा जो कर्मोंका अलौकिक अनुष्ठान है अर्थात् निष्काम भावसे कर्मोंका [illegible] है—इन तीन प्रकारकी निष्ठाओंको ही मोक्षवेत्ता विद्वानोंने मोक्षका उपाय देखा और समझा है ॥ ३८ ॥

ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥ ३९ ॥

मोक्षशास्त्रका [illegible] रखनेवाले एक श्रेणीके लोग कहते हैं कि ज्ञाननिष्ठा ही मोक्षका साधन है तथा दूसरे सूक्ष्मदर्शी यति लोग कर्मनिष्ठाको ही मुक्तिका उपाय बताते हैं ॥ ३९ ॥

प्रहायोभयमप्येव ज्ञानं कर्म च केवलम्।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥ ४० ॥

किंतु उन महात्मा पञ्चशिखाचार्यने पूर्वोक्त केवल ज्ञान और केवल कर्म—इन दोनों पक्षोंका परित्याग करके एक तीसरी निष्ठा बतायी है ॥ ४० ॥

यमे च नियमे चैव कामे द्वेषे परिग्रहे।
माने दम्भे तथा स्नेहे सदृशास्ते कुटुम्बिभिः ॥ ४१ ॥

यम, नियम, काम, द्वेष, परिग्रह, मान, दम्भ तथा स्नेह करके उनसे होनेवाले लाभ और हानिमें संन्यासी भी गृहस्थोंके ही तुल्य हैं अर्थात् यम-नियम आदिका अभ्यास करनेपर गृहस्थ भी मोक्षलाभ कर सकते हैं और कामना [illegible] द्वेष होनेपर सन्यासी भी मुक्तिसे वञ्चित हो सकते हैं ॥

त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञानेन कस्यचित्।
छत्रादिषु कथं न स्यात् तुल्यहेतौ परिग्रहे ॥ ४२ ॥

सन्यासी त्रिदण्ड आदि धारण करते हैं और गृहस्थ नरेश छत्र-चवँर आदि। यदि त्रिदण्ड धारण करनेपर किसीको ज्ञानद्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है तो छत्र आदि धारण करनेपर दूसरेको उसी ज्ञानके द्वारा मोक्ष कैसे प्राप्त नहीं हो [illegible]? क्योंकि प्रतिबन्धका कारण परिग्रह दोनोंके लिये [illegible] है—एक त्रिदण्ड आदिका संग्रह करता है और दूसरा [illegible] आदिका ॥ ४२ ॥

येन येन हि यस्यार्थः कारणेनेह कर्मणि।
तत्तदालम्बते सर्वः स्वे स्वे स्वार्थपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

अपने-अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये जिस मनुष्यको जिस-जिस साधनभूत वस्तुसे प्रयोजन होता है, वे सभी अपना-अपना काम बनानेके लिये उन-उन वस्तुओंका आश्रय लेते हैं ॥

दोषदर्शी तु गार्हस्थ्ये यो व्रजत्याश्रमान्तरे।
उत्सृजन् परिगृह्णंश्च सोऽपि सङ्गान्न मुच्यते ॥ ४४ ॥

जो गृहस्थ-आश्रममें दोष देखकर उसका परित्याग करके दूसरे आश्रममें चला जाता है, वह भी कुछ छोड़ता है और कुछ ग्रहण करता है; अतः उसे भी सङ्गदोषसे छुटकारा नहीं मिलता है ॥ ४४ ॥

आधिपत्ये तथा तुल्ये निग्रहानुग्रहात्मके।
राजभिर्भिक्षुकास्तुल्या मुच्यन्ते केन हेतुना ॥ ४५ ॥

किसीका निग्रह और किसीपर अनुग्रह करना ही आधिपत्य (प्रभुत्व) कहलाता है। यह जैसे राजामें है, वैसे संन्यासीमें भी है। इस दृष्टिसे जब संन्यासी भी राजाओंके ही समान हैं, तब केवल वे ही मुक्त होते हैं—ऐसा माननेका [illegible] कारण है? ॥ ४५ ॥

[illegible] सत्याधिपत्येऽपि ज्ञानेनैवेह केवलम्।
मुच्यन्ते सर्वपापेभ्यो देहे परमके स्थिताः ॥ ४६ ॥

मनुष्यरूप उत्तम शरीरमें स्थित हुए प्राणी प्रभुत्व रखते हुए भी केवल ज्ञानके ही बलसे यहाँ समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुम्।
लिङ्गान्युत्पथभूतानि न मोक्षायेति मे मतिः ॥ ४७ ॥

मेरी तो यह धारणा है कि गेरुआ [illegible] पहनना, मस्तक मुड़ा लेना तथा त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करना—ये सब उत्कृष्ट सन्यासमार्गका परिचय देनेवाले चिह्नमात्र हैं। इनके द्वारा मोक्षकी सिद्धि नहीं होती ॥ ४७ ॥

यदि सत्यपि लिङ्गेऽस्मिन् ज्ञानमेवात्र कारणम् ।
निर्मोक्षायेह दुःखस्य लिङ्गमात्रं निरर्थकम् ॥ ४८ ॥

यदि इन चिह्नोंके रहते हुए भी यहाँ दुःखसे सर्वथा मोक्ष पानेके लिये एकमात्र ज्ञान ही उपाय है तो जितने भी चिह्न धारण किये जाते हैं, वे सब निरर्थक हैं ॥ ४८ ॥

अथवा दुःखशैथिल्यं वीक्ष्य लिङ्गे कृता मतिः ।
किं तदेवार्थसामान्यं छत्रादिषु न लक्ष्यते ॥ ४९ ॥

अथवा यदि कहे कि त्रिदण्ड और गैरिक [illegible] आदि धारण करनेसे कुछ सुविधा प्राप्त होती है और [illegible] कम होता है, इसलिये संन्यासियोंने उन चिह्नोंको धारण करनेका विचार किया है तो छत्र आदि धारण करनेमें भी इसी सामान्य प्रयोजनकी ओर क्यों न दृष्टि रखी जाय ? ॥ ४९ ॥

आकिंचन्ये न मोक्षोऽस्ति किंचन्ये नास्ति बन्धनम् ।
किंचन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते ॥ ५० ॥

न तो अकिञ्चनता (दरिद्रता) में मोक्ष है और न किञ्चनता (आवश्यक वस्तुओंसे सम्पन्न होने) [illegible] बन्धन ही है । धन और निर्धनता दोनों ही अवस्थाओंमें ज्ञानसे ही जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ५० ॥

तस्माद् धर्मार्थकामेषु [illegible] राज्यपरिग्रहे ।
बन्धनायतनेष्वेषु विद्ध्यबन्धे पदे स्थितम् ॥ ५१ ॥

इसलिये धर्म, अर्थ, काम तथा राज्यपरिग्रह—इन बन्धन-[illegible] स्थानोंमें रहते हुए भी मुझे आप बन्धनरहित (जीवन्मुक्त) पदपर प्रतिष्ठित समझें ॥ ५१ ॥

राज्यैश्वर्यमयः पाशः स्नेहायतनबन्धनः ।
मोक्षाश्मनिशितेनेह छिन्नस्त्यागासिना मया ॥ ५२ ॥

मैंने मोक्षरूपी पत्थरपर रगड़कर तेज किये हुए त्याग-वैराग्यरूपी तलवारसे राज्य और ऐश्वर्यरूपी पाशको [illegible] स्नेहके आश्रयभूत स्त्री-पुत्र आदिके ममत्वरूपी बन्धनको [illegible] डाला है ॥ ५२ ॥

सोऽहमेवंगतो मुक्तो जातास्थस्त्वयि भिक्षुकि ।
अयथार्थं हि ते वर्णं वक्ष्यामि शृणु तन्मम ॥ ५३ ॥

संन्यासिनी ! इस प्रकार मैं जीवन्मुक्त हूँ । आपमें योग-[illegible] प्रभाव देखकर यद्यपि आपके प्रति मेरी आस्था और आदर-बुद्धि हो गयी है तथापि [illegible] आपके इस रूप और सौन्दर्यको योगसाधनाके योग्य नहीं मानता, अतः इस विषयमें मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरे उस वचनको आप सुनिये ॥५३॥

सौकुमार्यं तथा रूपं वपुरग्र्यं तथा वयः ।
तवैतानि समस्तानि नियमश्चेति संशयः ॥ ५४ ॥

सुकुमारता, सौन्दर्य, मनोहर शरीर तथा यौवनावस्था—ये सारी वस्तुएँ योगके विरुद्ध हैं; फिर भी आपमें इन सब गुणोंके साथ-साथ योग और नियम भी है ही, यह कैसे सम्भव हुआ ? यही मेरे मनमें संदेह है ॥ ५४ ॥

यच्चाप्यननुरूपं ते लिङ्गस्यास्य विचेष्टितम् ।
मुक्तोऽयं स्यान्न वेति स्याद् धर्षितो मत्परिग्रहः ॥ ५५ ॥

यह जो त्रिदण्डधारणरूप चिह्न है, उसके अनुरूप आप की कोई चेष्टा नहीं है । यह मुक्त है या नहीं, इसकी परीक्षा लेनेके लिये आपने मेरे शरीरको अभिभूत कर दिया है—उस पर बलात्कारपूर्वक अधिकार जमा लिया है ॥ ५५ ॥

न च कामसमायुक्ते युक्तेऽप्यस्ति त्रिदण्डके ।
न रक्ष्यते त्वया चेदं न मुक्तस्यास्ति गोपना ॥ ५६ ॥

मनुष्य योगयुक्त होकर भी यदि कामभोगमें आसक्त हो जाय तो उसका त्रिदण्ड धारण करना अनुचित एवं व्यर्थ है । आप अपने इस बर्तावद्वारा संन्यास-आश्रमके नियमकी रक्षा नहीं कर रही हैं । यदि अपने स्वरूपको छिपानेके लिये आपने ऐसा किया हो तो जीवन्मुक्त पुरुषके लिये आत्मगोपन आवश्यक नहीं है ॥ ५६ ॥

मत्पक्षसंश्रयाच्चायं शृणु यस्ते व्यतिक्रमः ।
आश्रयन्त्याः स्वभावेन मम पूर्वपरिग्रहम् ॥ ५७ ॥

आपने स्वभावतः सोच-समझकर मेरे पूर्व-शरीरका आश्रय लेनेकी चेष्टा की है, अतः मेरे पक्षका आश्रय लेने—मेरे शरीरमें प्रवेश करनेके कारण आपसे जो व्यतिक्रम बन गया है, उसे बताता हूँ, सुनिये ॥ ५७ ॥

प्रवेशस्ते कृतः केन [illegible] राष्ट्रे पुरेऽपि वा ।
[illegible] वा संनिकर्षात् त्वं प्रविष्टा हृदयं [illegible] ॥ ५८ ॥

आपने किस कारणसे मेरे राज्य अथवा नगरमें प्रवेश किया है अथवा किसके संकेतसे आप मेरे हृदयमें घुस आयी हैं ? ॥ ५८ ॥

वर्णप्रवरमुख्यासि ब्राह्मणी क्षत्रियस्त्वहम् ।
नावयोरेकयोगोऽस्ति मा कृथा वर्णसंकरम् ॥ ५९ ॥

वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी जो कन्याएँ हैं, उन सबमें आप प्रमुख हैं । आप ब्राह्मणी हैं और [illegible] क्षत्रिय हूँ; [illegible] हम दोनोंका एकत्र संयोग होना कदापि उचित नहीं है; इसलिये आप वर्णसंकर नामक दोषका उत्पादन न कीजिये ॥ ५९ ॥

वर्तसे मोक्षधर्मेण त्वं गार्हस्थ्येऽहमाश्रमे ।
अयं चापि सुकष्टस्ते द्वितीयोऽऽश्रमसंकरः ॥ ६० ॥

आप मोक्षधर्म (संन्यास-आश्रम) के अनुसार बर्ताव करती हैं और मैं गृहस्थ-आश्रममें स्थित हूँ; अतः आपके द्वारा यह दूसरा आश्रमसंकर नामक दोषका उत्पादन किया जा रहा है, जो अत्यन्त कष्टप्रद है ॥ ६० ॥

सगोत्रां वासगोत्रां वा [illegible] वेद त्वां न वेत्थ माम् ।
सगोत्रमाविशन्त्यास्ते तृतीयो गोत्रसंकरः ॥ ६१ ॥

मैं यह भी नहीं जानता कि आप सगोत्रा हैं या असगोत्रा । इसी प्रकार आप भी मेरे विषयमें कुछ नहीं जानतीं । अतः मुझ सगोत्रमें प्रवेश करनेके कारण आपके द्वारा तीसरा गोत्रसंकर नामक दोष उत्पन्न किया गया है ॥ ६१ ॥

अथ जीवति ते भर्ता प्रोषितोऽप्यथवा क्वचित् ।

[illegible] परभार्येति चतुर्थो धर्मसंकरः ॥ ६२ ॥

यदि आपके पति जीवित हैं अथवा कहीं परदेशमें चले गये [illegible] तो आप परायी [illegible] होनेके कारण मेरे लिये सर्वथा [illegible] हैं । ऐसी दशामें [illegible] [illegible] वर्ताव धर्मसंकर नामक चौथा दोष है [illegible] ६२ ॥

[illegible] त्वमेतान्यकार्याणि कार्यापेक्षा व्यवस्यसि ।
अविज्ञानेन वा युक्ता मिथ्याज्ञानेन [illegible] पुनः ॥ ६३ ॥

आप कार्य-साधनकी अपेक्षा [illegible] [illegible] अथवा मिथ्याज्ञानसे युक्त हो ये सब न करने योग्य कार्य कर डालनेको [illegible] हो गयी हैं ॥ ६३ ॥

अथवापि स्वतन्त्रासि स्वदोषेणेह कर्हिचित् ।
यदि किंचिच्छ्रुतं तेऽस्ति सर्वं कृतमनर्थकम् ॥ ६४ ॥

[illegible] यदि आप [illegible] हैं तो कभी आपके द्वारा यदि कुछ [illegible] [illegible] किया गया हो तो आपने अपने ही दोषसे वह सब व्यर्थ कर दिया है ॥ ६४ ॥

इदमन्यच्चतुर्थं ते भावस्पर्शविघातकम् ।
दुष्टाया लक्ष्यते लिङ्गं प्रवृष्वत्याप्रकाशितम् ॥ ६५ ॥

आपका जो दोष छिपा हुआ [illegible] उसे आपने [illegible] ही प्रकाशित कर दिया । इससे आप दुष्ट जान पड़ती हैं । आपकी दुष्टताका यह और चौथा चिह्न [illegible] दिखायी दे रहा है, जो हृदयकी प्रीतिपर आघात करनेवाला है ॥ ६५ ॥

न मय्येवाभिसंधिस्ते जयैषिण्या जये कृतः ।
येयं मत्परिषत् कृत्स्ना जेतुमिच्छसि तामपि ॥ ६६ ॥

आप अपनी विजय चाहती हैं । आपने केवल मुझे [illegible] जीतनेकी इच्छा नहीं की है, अपितु यह जो मेरी सारी [illegible] बैठी है, इसे भी जीतना चाहती हैं ॥ ६६ ॥

तथाह्येतस्ततश्च त्वं दृष्टिं स्वां प्रतिमुञ्चसि ।
मत्पक्षप्रतिघाताय स्वपक्षोद्भावनाय च ॥ ६७ ॥

आप मेरे पक्षकी पराजय और अपने पक्षकी विजयके लिये इन माननीय सभासदोंपर भी बारंबार अपनी दृष्टि फेंक रही हैं ॥ ६७ ॥

सा स्वेनामर्षजेन त्वमृद्धिमोहेन मोहिता ।
भूयः सृजसि योगांस्त्वं विषामृतमिवैकताम् ॥ ६८ ॥

[illegible] अपनी असहिष्णुताजनित योगसमृद्धिके मोहसे मोहित हो विष और अमृतको एक करनेके समान कामके साथ योगका सम्बन्ध जोड़ रही हैं ॥ ६८ ॥

इच्छतोरत्र यो लाभः स्त्रीपुंसोरमृतोपमः ।
अलाभश्चापि रक्तस्य सोऽपि दोषो विषोपमः ॥ ६९ ॥

[illegible] और पुरुष जब एक-दूसरेको चाहते हों, उस समय उन्हें जो संयोग-सुखका लाभ होता है, वह अमृतके समान मधुर है । यदि अनुरक्त नारीको अनुरक्त पुरुषकी प्राप्ति नहीं हुई तो वह दोष विषके समान भयंकर होता है ॥ ६९ ॥

मा स्प्राक्षीः साधु जानीष्व स्वशास्त्रमनुपालय ।
कृतेयं हि विजिज्ञासा मुक्तो नेति त्वया मम ।
एतत् सर्वं प्रतिच्छन्नं मयि नार्हसि गूहितुम् ॥ ७० ॥

आप मेरा स्पर्श न करें । मेरे चरित्रको उत्तम और निष्कलङ्क समझें और अपने [illegible] (संन्यास-धर्म) [illegible] निरन्तर [illegible] करती रहें । आपने मेरे विषयमें यह जाननेकी इच्छा [illegible] थी कि यह राजा जीवन्मुक्त है या नहीं । यह सारा [illegible] आपके हृदयमें प्रच्छन्नभावसे स्थित था, अतः [illegible] समय आप मुझसे इसको छिपा नहीं सकतीं ॥ ७० ॥

सा यदि त्वं स्वकार्येण यद्यन्यस्य महीपतेः ।
तत् त्वं सत्रप्रतिच्छन्ना मयि नार्हसि गूहितुम् ॥ ७१ ॥

यदि आप अपने कार्यसे या किसी दूसरे राजाके कार्यसे यहाँ वेष [illegible] आयी हों [illegible] [illegible] आपके लिये यथार्थ बातको गुप्त रखना उचित नहीं है ॥ ७१ ॥

न राजानं मृषा गच्छेन्न द्विजातिं कथंचन ।
न स्त्रियं स्त्रीगुणोपेतां हन्युर्ह्येते मृषा गताः ॥ ७२ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह किसी राजाके पास [illegible] किसी ब्राह्मणके निकट अथवा स्त्रीजनोचित पातिव्रत्य गुणसे सम्पन्न [illegible] सती-साध्वी नारीके समीप छद्मवेष धारण करके न जाय; क्योंकि ये राजा, ब्राह्मण और पतिव्रता स्त्री उस छद्मवेषधारी मनुष्यके धोखा देनेपर उसपर कुपित हो उसका विनाश [illegible] देते [illegible] ॥ ७२ ॥

राज्ञां हि बलमैश्वर्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
रूपयौवनसौभाग्यं स्त्रीणां बलमनुत्तमम् ॥ ७३ ॥

राजाओंका बल ऐश्वर्य है, वेदज्ञ ब्राह्मणोंका बल वेद है तथा स्त्रियोंका परम उत्तम बल रूप, यौवन और सौभाग्य है ॥

अत एतैर्बलैरेव बलिनः स्वार्थमिच्छता ।
आर्जवेनाभिगन्तव्या विनाशाय ह्यनार्जवम् ॥ ७४ ॥

ये इन्हीं बलोंसे बलवान् होते हैं । अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको इनके पास सरलभावसे जाना चाहिये; क्योंकि इनके प्रति किया हुआ कुटिल भाव विनाशका [illegible] बन [illegible] है ॥ ७४ ॥

सा त्वं जातिं श्रुतं वृत्तं भावं प्रकृतिमात्मनः ।
कृत्यमागमने चैव वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ ७५ ॥

अतः संन्यासिनि ! आपको अपनी जाति, शास्त्रज्ञान, चरित्र, अभिप्राय, स्वभाव एवं यहाँ आगमनका प्रयोजन भी यथार्थरूपसे बताना उचित है ॥ ७५ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतैरसुखैर्वाक्यैरयुक्तैरसमञ्जसैः ।
प्रत्यादिष्टा नरेन्द्रेण सुलभा न व्यकम्पत ॥ ७६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजा जनकने [illegible] दुःखजनक, अयोग्य और असङ्गत वचनोंद्वारा उसका बड़ा तिरस्कार किया, तो भी सुलभा अपने मनमें तनिक भी विचलित [illegible] हुई ॥ ७६ ॥

उक्तवाक्ये तु नृपतौ सुलभा चारुदर्शना।
ततश्चारुतरं वाक्यं प्रचक्रामाथ भाषितुम् ॥ ७७ ॥

जब राजाकी बात समाप्त हो गयी, तब परम सुन्दरी सुलभाने अत्यन्त मधुर वचनोंमें भाषण देना आरम्भ किया ॥

सुलभोवाच

नवभिर्नवभिश्चैव दोषैर्वाग्बुद्धिदूषणैः।
अपेतमुपपन्नार्थमष्टादशगुणान्वितम् ॥ ७८ ॥
सौक्ष्म्यं सांख्यक्रमौ चोभौ निर्णयः सप्रयोजनः।
पञ्चैतान्यर्थजातानि वाक्यमित्युच्यते नृप ॥ ७९ ॥

सुलभा बोली—राजन्! वाणी और बुद्धिको दूषित करनेवाले जो नौ-नौ दोष हैं, उनसे रहित, अठारह गुणोंसे सम्पन्न और युक्तिसङ्गत अर्थसे युक्त पदसमूहको वाक्य कहते हैं। उस वाक्यमें सौक्ष्म्य, सांख्य, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पाँच प्रकारके अर्थ रहने चाहिये ॥ ७८-७९ ॥

एषामेकैकशोऽर्थानां सौक्ष्म्यादीनां सुलक्षणम्।
शृणु संसार्यमाणानां पदार्थपदवाक्यतः ॥ ८० ॥

ये जो सौक्ष्म्य आदि अर्थ हैं, ये पद, वाक्य, पदार्थ और वाक्यार्थरूपसे खोलकर बताये जा रहे हैं। आप इनमेंसे एक-एकका अलग अलग लक्षण सुनिये ॥ ८० ॥

ज्ञानं ज्ञेयेषु भिन्नेषु यदा भेदेन वर्तते।
तत्रातिशायिनी बुद्धिस्तत् सौक्ष्म्यमिति वर्तते ॥ ८१ ॥

जहाँ अनेक भिन्न-भिन्न ज्ञेय (अर्थ) उपस्थित [illegible] और 'यह [illegible] है, यह पट है' इस प्रकार वस्तुओंका पृथक् पृथक् ज्ञान होता हो, ऐसे स्थलोंमें यथार्थ निर्णय करनेवाली जो बुद्धि है, उसीका नाम सौक्ष्म्य है ॥ ८१ ॥

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥ ८२ ॥

जहाँ किसी विशेष अर्थको अभीष्ट मानकर उसके दोषों और गुणोंकी विभागपूर्वक गणना की जाती है, उस अर्थको संख्या अथवा सांख्य [illegible] चाहिये ॥ ८२ ॥

इदं पूर्वमिदं पश्चाद् वक्तव्यं यद् विवक्षितम्।
क्रमयोगं तमप्याहुर्वाक्यं वाक्यविदो जनाः ॥ ८३ ॥

परिगणित गुणों और दोषोंमेंसे अमुक गुण या दोष पहले कहना चाहिये और अमुकको पीछे कहना अभीष्ट है। इस प्रकार जो पूर्वापरके क्रमका विचार होता है, उसका नाम क्रम है और जिस वाक्यमें ऐसा क्रम हो, उस वाक्यको वाक्यवेत्ता विद्वान् क्रमयुक्त कहते हैं ॥ ८३ ॥

धर्मकामार्थमोक्षेषु प्रतिज्ञाय विशेषतः।
इदं तदिति वाक्यान्ते प्रोच्यते स विनिर्णयः ॥ ८४ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें किसी एकका विशेषरूपसे प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करके प्रवचनके अन्तमें 'यही वह अभीष्ट विषय है' ऐसा कहकर जो सिद्धान्त स्थिर किया जाता है, उसीका नाम निर्णय है ॥ ८४ ॥

इच्छाद्वेषभवैर्दुःखैः प्रकर्षो यत्र जायते।
तत्र या नृपते वृत्तिस्तत् प्रयोजनमिष्यते ॥ ८५ ॥

नरेश्वर! इच्छा अथवा द्वेषसे उत्पन्न हुए दुःखोंद्वारा जहाँ किसी एक प्रकारके दुःखकी प्रधानता हो जाय, वहाँ जो वृत्ति उदय होती है, उसीको प्रयोजन कहते हैं ॥ ८५ ॥

तान्येतानि यथोक्तानि सौक्ष्म्यादीनि जनाधिप।
एकार्थसमवेतानि वाक्यं मम निशामय ॥ ८६ ॥

जनेश्वर! जिस वाक्यमें पूर्वोक्त सौक्ष्म्य आदि गुण एक अर्थमें सम्मिलित हों, मेरे वैसे ही वाक्यको आप श्रवण करें ॥ ८६ ॥

उपेतार्थमभिन्नार्थं न्यायवृत्तं न चाधिकम्।
नाश्लक्ष्णं न च संदिग्धं वक्ष्यामि परमं ततः ॥ ८७ ॥

मैं ऐसा वाक्य बोलूँगी, जो सार्थक होगा। उसमें अर्थभेद नहीं होगा। वह न्याययुक्त होगा। उसमें आवश्यकतासे अधिक, कर्णकटु एवं संदेह-जनक पद नहीं होंगे। इस प्रकार मैं परम उत्तम वाक्य बोलूँगी ॥ ८७ ॥

न गुर्वक्षरसंयुक्तं पराङ्मुखसुखं न च।
नानृतं न त्रिवर्गेण विरुद्धं नाप्यसंस्कृतम् ॥ ८८ ॥

मेरे इस वचनमें गुरु एवं निष्ठुर अक्षरोंका संयोग नहीं होगा; उसमें कोमलकान्त सुकुमार पदावली होगी। वह पराङ्मुख व्यक्तियोंके लिये सुखद नहीं होगा। वह [illegible] तो झूठ होगा [illegible] धर्म, अर्थ और कामके विरुद्ध और संस्कारशून्य ही होगा ॥ ८८ ॥

[illegible] न्यूनं कष्टशब्दं वा विक्रमाभिहितं न च।
न शेषमनु कल्पेन निष्कारणमहेतुकम् ॥ ८९ ॥

मेरे उस वाक्यमें न्यूनपदत्व नामक दोष नहीं रहेगा, कष्टकर शब्दोंका प्रयोग नहीं होगा, उसका क्रमरहित उच्चारण नहीं होगा। उसमें दूसरे पदोंके अध्याहार और लक्षणकी आवश्यकता नहीं होगी। यह [illegible] निष्प्रयोजन और युक्तिशून्य भी नहीं होगा ॥ ८९ ॥

कामात् क्रोधाद् भयाल्लोभाद् दैन्यादानार्यकात् तथा।
ह्रीतोऽनुक्रोशतो मानान्न वक्ष्यामि कथंचन ॥ ९० ॥

मैं काम, क्रोध, भय, लोभ, दैन्य, अनार्यता, लज्जा, दया तथा अभिमानसे किसी तरह कोई बात नहीं बोलूँगी ॥

[illegible] श्रोता च वाक्यं च यदा त्वविकलं नृप।
सममेति विवक्षायां तदा सोऽर्थः प्रकाशते ॥ ९१ ॥

नरेश्वर! बोलनेकी इच्छा होनेपर जब वक्ता, श्रोता और वाक्य—तीनों अविकलभावसे सम-स्थितिमें आ जाते हैं, [illegible] वक्ताका कहा हुआ अर्थ प्रकाशित होता है (श्रोताके समझमें [illegible] जाता है) ॥ ९१ ॥

वक्तव्ये [illegible] यदा वक्ता श्रोतारमवमन्य वै।
स्वार्थमाह परार्थं तत् तदा वाक्यं [illegible] रोहति ॥ ९२ ॥

जब बोलते समय वक्ता श्रोताकी अवहेलना करके दूसरेके लिये अपनी बात कहने लगता है, उस समय वह वाक्य श्रोताके हृदयमें प्रवेश नहीं करता है ॥ ९२ ॥

अथ यः स्वार्थमुत्सृज्य परार्थं ... मानवः ।
विशङ्का जायते तस्मिन् वाक्यं तदपि दोषवत् ॥ ९३ ॥

और जो मनुष्य स्वार्थ त्यागकर दूसरेके लिये कुछ कहता है, ... उसके प्रति श्रोताके हृदयमें आशङ्का उत्पन्न होती है, अतः वह ... भी दोषयुक्त ही है ॥ ९३ ॥

यस्तु वक्ता द्वयोरर्थमविरुद्धं प्रभाषते ।
श्रोतुश्चैवात्मनश्चैव ... वक्ता नेतरो नृप ॥ ९४ ॥

परंतु नरेश्वर ! जो वक्ता अपने और श्रोता दोनोंके लिये अनुकूल विषय ही बोलता है, वही वास्तवमें वक्ता है, दूसरा नहीं ॥ ९४ ॥

तदर्थवदिदं वाक्यमुपेतं वाक्यसम्पदा ।
अविक्षिप्तमना राजन्नेकाग्रः श्रोतुमर्हसि ॥ ९५ ॥

अतः राजन् ! आप स्थिरचित्त एवं एकाग्र होकर यह वाक्यसम्पत्तिसे युक्त सार्थक वचन सुनिये ॥ ९५ ॥

कासि कस्य कुतश्चेति त्वयाहमभिचोदिता ।
तत्रोत्तरमिदं वाक्यं राजन्नेकमनाः शृणु ॥ ९६ ॥

महाराज ! आपने मुझसे पूछा था कि आप कौन हैं, किसकी हैं और कहाँसे आयी हैं ? अतः इसके उत्तरमें मेरा यह कथन एकचित्त होकर सुनिये ॥ ९६ ॥

यथा ... काष्ठं च पांसवश्चोदबिन्दवः ।
संश्लिष्टानि ... राजन् प्राणिनामिह ... ॥ ९७ ॥

राजन् ! जैसे काठके साथ लाह और धूलके साथ पानीकी बूँदें मिलकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार इस जगत्में प्राणियोंका जन्म कई तत्त्वोंके मेलसे होता है ॥ ९७ ॥

शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धः पञ्चेन्द्रियाणि च ।
पृथगात्मान आत्मानं संश्लिष्टा जतुकाष्ठवत् ॥ ९८ ॥
... चैषां चोदना काचिदस्तीत्येष विनिश्चयः ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ—ये आत्मासे पृथक् होनेपर भी काठमें सटे हुए लाहके समान आत्माके साथ जुड़े हुए हैं; परंतु इनमें स्वतन्त्र कोई प्रेरणा-शक्ति नहीं है । यही विद्वानोंका निश्चय है ॥ ९८½ ॥

एकैकस्येह विज्ञानं नास्त्यात्मनि तथा परे ॥ ९९ ॥
न वेद चक्षुश्चक्षुष्ट्वं श्रोत्रं नात्मनि वर्तते ।

इनमेंसे एक-एक इन्द्रियको न तो अपना ज्ञान है और न दूसरेका । नेत्र अपने नेत्रत्वको नहीं जानता । इसी प्रकार कान भी अपने विषयमें कुछ नहीं जानता ॥ ९९½ ॥

... व्यभिचारेण ... वर्तन्ते परस्परम् ॥ १०० ॥
प्रश्लिष्टं च न जानन्ति यथाऽऽप इव पांसवः ।

इसी तरह ये इन्द्रियाँ और विषय परस्पर एक दूसरेसे मिल-जुलकर भी नहीं जान सकते। जैसे कि जल और धूल परस्पर मिलकर भी अपने सम्मिश्रणको नहीं जानते ॥ १००½ ॥

बाह्यानन्यानपेक्षन्ते गुणांस्तानपि मे शृणु ॥ १०१ ॥
रूपं चक्षुः प्रकाशश्च दर्शने हेतवस्त्रयः ।

शरीरस्थ इन्द्रियाँ विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करते ... अन्यान्य बाह्य गुणोंकी अपेक्षा रखती हैं । उन गुणोंको आप मुझसे सुनिये । रूप, नेत्र और प्रकाश—ये तीन किसी वस्तुको प्रत्यक्ष देखनेमें हेतु हैं ॥ १०१½ ॥

यथैवात्र तथान्येषु ज्ञानज्ञेयेषु हेतवः ॥ १०२ ॥
ज्ञानज्ञेयान्तरे तस्मिन् मनो नामापरो गुणः ।
विचारयति येनायं निश्चये साध्वसाधुनी ॥ १०३ ॥

जैसे प्रत्यक्ष दर्शनमें ये तीन हेतु हैं, उसी प्रकार अन्यान्य ... और ज्ञेयमें भी तीन-तीन हेतु जानने चाहिये । ... और ज्ञातव्य विषयोंके बीचमें किसी ज्ञानेन्द्रियके अतिरिक्त ... नामक एक दूसरा गुण भी रहता है, जिससे यह जीवात्मा किसी विषयमें भले-बुरेका निश्चय करनेके लिये विचार करता है ॥ १०२-१०३ ॥

द्वादशस्त्वपरस्तत्र बुद्धिर्नाम गुणः स्मृतः ।
येन संशयपूर्वेषु बोद्धव्येषु व्यवस्यति ॥ १०४ ॥

वहीं एक और बारहवाँ गुण भी है, जिसका नाम है बुद्धि । जिससे किसी ... विषयमें ... उत्पन्न होनेपर मनुष्य एक निश्चयपर पहुँचता है ॥ १०४ ॥

अथ द्वादशके तस्मिन् सत्त्वं नामापरो गुणः ।
महासत्त्वोऽल्पसत्त्वो वा जन्तुर्येनानुमीयते ॥ १०५ ॥

उस बारहवें गुण बुद्धिमें ... एक (तेरहवाँ) गुण है, जिससे महासत्त्व और अल्पसत्त्व प्राणीका अनुमान किया ... है ॥ १०५ ॥

अहं कर्तेति चाप्यन्यो गुणस्तत्र चतुर्दशः ।
ममायमिति येनायं मन्यते न ममेति च ॥ १०६ ॥

उस सत्त्वमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे अभिमानसे युक्त अहंकार ... एक अन्य चौदहवाँ गुण है, जिससे जीवात्मा 'यह वस्तु मेरी है और यह वस्तु मेरी नहीं है' ऐसा ... है ॥

अथ पञ्चदशो राजन् गुणस्तत्रापरः स्मृतः ।
पृथक्कलासमूहस्य सामग्र्यं तदिहोच्यते ॥ १०७ ॥
गुणस्त्वेवापरस्तत्र संघात ... षोडशः ।

राजन् ! ... अहंकारमें वासना नामक एक गुण और माना ... है, जो पन्द्रहवाँ है । वहाँ पृथक्-पृथक् कलाओंके समूहकी जो समग्रता है, वह एक अन्य गुण है । वह संघातकी भाँति यहाँ सोलहवाँ कहा जाता है ॥ १०७½ ॥

प्रकृतिर्व्यक्तिरित्येतौ गुणौ यस्मिन् समाश्रितौ ॥ १०८ ॥

जिसमें प्रकृति (माया) और व्यक्ति (प्रकाश)—ये दो गुण आश्रित हैं (यहाँतक सत्र अठारह हुए) ॥ १०८ ॥

सुखासुखे जरामृत्यू लाभालाभौ प्रियाप्रिये ।
इति चैकोनविंशोऽयं द्वन्द्वयोग इति स्मृतः ॥ १०९ ॥

सुख और दुःख, जरा और मृत्यु, लाभ और हानि तथा प्रिय और अप्रिय इत्यादि द्वन्द्वोंका जो योग है, यह उन्नीसवाँ ... माना गया है ॥ १०९ ॥

ऊर्ध्वं चैकोनविंशत्या कालो नामापरो गुणः ।
इतीमं विद्धि विंशत्या भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥११०॥

इस उन्नीसवें गुणसे परे कालनामक दूसरा गुण और है । इसे बीसवाँ गुण समझिये । इसीसे प्राणियोंकी उत्पत्ति और लय होते हैं ॥ ११० ॥

विंशकश्चैष संघातो महाभूतानि पञ्च च ।
सदसद्भावयोगौ तु गुणावन्यौ प्रकाशकौ ॥१११॥

इन बीस गुणोंका समुदाय एवं पाँच महाभूत [illegible] सद्भावयोग और असद्भावयोग—ये दो अन्य प्रकाशक गुण, ये सब मिलकर सत्ताईस हैं ॥ १११ ॥

इत्येवं विंशकश्चैव गुणाः सप्त च ये स्मृताः ।
विधिः शुक्रं बलं चेति त्रय एते गुणाः परे ॥११२॥

ये जो बीस और सात गुण बताये गये हैं, इनके सिवा तीन गुण और हैं—विधि[3], शुक्र[4] और बल[5] ॥ ११२ ॥

विंशतिर्दश चैवं हि गुणाः संख्यानतः स्मृताः ।
समग्रा [illegible] वर्तन्ते तच्छरीरमिति स्मृतम् ॥११३॥

इस प्रकार गणना करनेसे बीस और दस तीस गुण होते हैं । ये सारे-के-सारे गुण जहाँ विद्यमान हैं, उसको शरीर [illegible] गया है ॥ ११३ ॥

अव्यक्तं प्रकृतिं त्वासां कलानां कश्चिदिच्छति ।
व्यक्तं चासां तथा चान्यः स्थूलदर्शी प्रपश्यति ॥११४॥

कोई-कोई विद्वान् अव्यक्त प्रकृतिको इन तीस कलाओंका उपादान कारण मानते हैं । दूसरे स्थूलदर्शी विचारक व्यक्त अर्थात् परमाणुओंको कारण मानते हैं तथा कोई-कोई अव्यक्त और व्यक्तको अर्थात् प्रकृति और परमाणु—इन दोनोंको उनका उपादान कारण समझते हैं ॥ ११४ ॥

अव्यक्तं यदि वा व्यक्तं द्वयीमथ चतुष्टयीम् ।
प्रकृतिं सर्वभूतानां पश्यन्त्यध्यात्मचिन्तकाः ॥११५॥

अव्यक्त हो, व्यक्त हो, दोनों [illegible] अथवा चारों ([illegible] माया, जीव और अविद्या) कारण हों, अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले विद्वान् प्रकृतिको ही सम्पूर्ण भूतोंका उपादान कारण समझते हैं ॥ ११५ ॥

येयं प्रकृतिरव्यक्ता कलाभिर्व्यक्ततां गता ।
अहं च त्वं च राजेन्द्र ये चाप्यन्ये शरीरिणः ॥११६॥

राजेन्द्र ! यह जो अव्यक्त प्रकृति सबका उपादान कारण है, यही पूर्वोक्त तीस कलाओंके रूपमें व्यक्तभावको प्राप्त हुई है । मैं, आप तथा जो अन्य शरीरधारी हैं, उन सबके शरीरोंकी उत्पत्ति प्रकृतिसे ही हुई है ॥ ११६ ॥

बिन्द्वन्यासादयोऽवस्थाः शुक्रशोणितसम्भवाः ।
यासामेव निपातेन कललं नाम जायते ॥११७॥

प्राणियोंकी वीर्यस्थापनासे लेकर रजोवीर्यसंयोगसम्भूत कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनके सम्मिश्रणसे ही 'कलल' नामक एक पदार्थ उत्पन्न होता है ॥ ११७ ॥

कललाद् बुद्बुदोत्पत्तिः पेशी च बुद्बुदात् स्मृता ।
पेश्यास्त्वङ्गाभिनिर्वृत्तिर्नखरोमाणि चाङ्गतः ॥११८॥

कललसे बुद्बुदकी उत्पत्ति होती है । बुद्बुदसे मांस-पेशीका प्रादुर्भाव माना गया है । पेशीसे विभिन्न अङ्गोंका निर्माण होता है और अङ्गोंसे रोमावलियाँ तथा नख प्रकट होते हैं ॥ ११८ ॥

सम्पूर्णे नवमे मासि जन्तोर्जातस्य मैथिल ।
जायते नामरूपत्वं स्त्री पुमान् वेति लिङ्गतः ॥११९॥

मिथिलानरेश ! गर्भमें नौ मास पूर्ण हो जानेपर जीव जन्म ग्रहण करता है । उस समय उसे नाम और रूप [illegible] होता है तथा वह विशेष प्रकारके चिह्नसे स्त्री अथवा पुरुष [illegible] जाता है ॥ ११९ ॥

जातमात्रं तु तद्रूपं दृष्ट्वा ताम्रनखाङ्गुलि ।
कौमारं रूपमापन्नं रूपतो नोपलभ्यते ॥१२०॥

जिस समय बालकका जन्म होता है, उस समय उसका जो रूप देखनेमें आता है, उसके नख और अङ्गुलियाँ ताँबेके समान लाल-लाल होती हैं, फिर जब वह कुमारावस्थाको प्राप्त होता है तो [illegible] पहलेका वह रूप नहीं उपलब्ध होता है ॥ १२० ॥

कौमाराद् यौवनं चापि स्थाविर्यं चापि यौवनात् ।
अनेन क्रमयोगेन पूर्वं पूर्वं न लभ्यते ॥१२१॥

इसी प्रकार कुमारावस्थासे जवानीको और जवानीसे बुढ़ापेको वह प्राप्त होता है । इस क्रमसे उत्तरोत्तर अवस्थामें पहुँचनेपर पूर्व-पूर्व अवस्थाका रूप नहीं देखनेमें आता है ॥

कलानां पृथगर्थानां प्रतिभेदः क्षणे क्षणे ।
वर्तते सर्वभूतेषु सौक्ष्म्यात् तु न विभाव्यते ॥१२२॥

सभी प्राणियोंमें विभिन्न प्रयोजनकी सिद्धिके लिये जो पूर्वोक्त कलाएँ हैं, उनके स्वरूपमें प्रतिक्षण भेद या परिवर्तन हो रहा है; परंतु वह इतना सूक्ष्म है कि जान नहीं पड़ता ॥ १२२ ॥

न चैषामत्ययो राजल्लँक्ष्यते प्रभवो न च ।
अवस्थायामवस्थायां दीपस्येवार्चिषो गतिः ॥१२३॥

राजन् ! प्रत्येक अवस्थामें इन कलाओंका लय और [illegible] होता रहता है, किंतु दिखायी नहीं देता है; ठीक उसी [illegible]

---

१. 'इह घटो अस्ति (यहाँ घड़ा है)'—इत्यादि रूपसे जो सत्तासूचक व्यवहार होता है, उसका नाम 'सद्भावयोग' है । २. 'इह घटो नास्ति (यहाँ घड़ा नहीं है)'—इत्यादि रूपसे जो असत्तासूचक व्यवहार होता है, वही 'असद्भावयोग' है । ३. यहाँ 'विधि' शब्दसे वासनाके बीजभूत धर्म और अधर्म समझने चाहिये । ४. वासनाका उद्बोधक संस्कार ही 'शुक्र' है । ५. वासनाके अनुसार विषयकी प्राप्तिके अनुकूल जो [illegible] है, वही 'बल' है ।

जैसे दीपककी लौ क्षण-क्षणमें मिटती और उत्पन्न होती रहती है, पर दिखायी नहीं देती ॥१२३॥

तस्याप्येवंप्रभावस्य सदश्वस्येव धावतः।
अजस्रं सर्वलोकस्य कः कुतो वा न वा कुतः ॥१२४॥
कस्येदं कस्य वा नेदं कुतो वेदं न वा कुतः।
सम्बन्धः कोऽस्ति भूतानां स्वैरप्यवयवैरिह ॥१२५॥

जैसे दौड़ता हुआ अच्छा घोड़ा इतनी तीव्र गतिसे एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानपर पहुँच जाता है कि कुछ कहते नहीं बनता, उसी प्रकार यह प्रभावशाली लोक निरन्तर वेगपूर्वक एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें जा रहा है, अतः उसके विषयमें यह प्रश्न नहीं बन सकता कि 'कौन कहाँसे आता है और कौन कहाँसे नहीं आता है, यह किसका है? किसका नहीं है? किससे उत्पन्न हुआ है और किससे नहीं हुआ है। प्राणियोंका अपने अङ्गोंके साथ भी यहाँ क्या सम्बन्ध है?' अर्थात् कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ॥ १२४-२५॥

यथाऽऽदित्यान्मणेश्चापि वीरुद्भ्यश्चैव पावकः।
जायन्त्येवं समुदयात् कलानामिव जन्तवः ॥१२६॥

जैसे सूर्यकी किरणोंका सम्पर्क पाकर सूर्यकान्तमणिसे आग प्रकट हो जाती है, परस्पर रगड़ खानेपर काठसे अग्निका प्रादुर्भाव हो जाता है, इसी प्रकार पूर्वोक्त कलाओंके समुदायसे जीव जन्म ग्रहण करते हैं ॥ १२६ ॥

आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं यथा त्वमनुपश्यसि।
एवमेवात्मनाऽऽत्मानमन्यस्मिन् किं न पश्यसि॥१२७॥

जैसे आप स्वयं अपनेद्वारा अपनेहीमें आत्माका दर्शन करते हैं, उसी प्रकार अपनेद्वारा दूसरोंमें आत्माका दर्शन क्यों नहीं करते हैं? ॥ १२७ ॥

यद्यात्मनि परस्मिंश्च समतामध्यवस्यसि।
अथ मां कासि कस्येति किमर्थमनुपृच्छसि ॥१२८॥

यदि आप अपनेमें और दूसरेमें भी समभाव रखते हैं तो मुझसे बारबार क्यों पूछते हैं कि 'आप कौन हैं और किसकी हैं?' ॥ १२८ ॥

इदं मे स्यादिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य मैथिल।
कासि कस्य कुतो वेति वचनैः किं प्रयोजनम् ॥१२९॥

मिथिलानरेश! 'यह मुझे प्राप्त हो जाय, यह न हो!' इत्यादि रूपसे जो द्वन्द्वविषयक चिन्ता होती है, उससे यदि आप मुक्त हैं तो 'आप कौन हैं! किसकी हैं? अथवा कहाँसे आयी हैं?' इन वचनोंद्वारा प्रश्न करनेसे आपका क्या प्रयोजन है? ॥ १२९ ॥

रिपौ मित्रेऽथ मध्यस्थे विजये संधिविग्रहे।
कृतवान् यो महीपालः किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम्॥१३०॥

शत्रु-मित्र और मध्यस्थके विषयमें, विजय, संधि और विग्रहके अवसरोंपर जिस भूपालने यथोचित कार्य किये हैं, उसमें जीवन्मुक्तका क्या लक्षण है? ॥ १३० ॥

त्रिवर्गं सप्तधा व्यक्तं यो न वेदेह कर्मसु।
सङ्गवान् यस्त्रिवर्गेण किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम्॥१३१॥

धर्म, अर्थ और कामको त्रिवर्ग कहते हैं। यह सात रूपोंमें अभिव्यक्त होता है। जो कर्मोंमें इस त्रिवर्गको नहीं जानता तथा जो सदा त्रिवर्गसे सम्बन्ध रखता है, ऐसे पुरुषमें जीवन्मुक्तका क्या लक्षण है? ॥ १३१ ॥

प्रिये चाप्यप्रिये चापि दुर्बले बलवत्यपि।
यस्य नास्ति समं चक्षुः किं तस्मिन् मुक्तलक्षणम्॥१३२॥

प्रिय अथवा अप्रियमें, दुर्बल अथवा बलवान्‌में जिसकी समदृष्टि नहीं है, उसमें मुक्तका क्या लक्षण है? ॥ १३२ ॥

तदयुक्तस्य ते मोक्षे योऽभिमानो भवेन्नृप।
सुहृद्भिः संनिवार्यस्तेऽविरक्तस्येव भेषजम् ॥१३३॥

नरेश्वर! वास्तवमें आप योगयुक्त नहीं हैं तथापि आपको जो जीवन्मुक्तिका अभिमान हो रहा है, वह आपके सुहृदोंको दूर कर देना चाहिये अर्थात् यह नहीं मानना चाहिये कि आप जीवन्मुक्त हैं, ठीक उसी तरह जैसे अपथ्यशील रोगीको दवा देना बंद कर दिया जाता है ॥ १३३ ॥

तानि तानि तु संचिन्त्य सङ्गस्थानान्यरिंदम।
आत्मनाऽऽत्मनि सम्पश्येत् किमन्यन्मुक्तलक्षणम्॥१३४॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज! नाना प्रकारके जो-जो पदार्थ हैं, उन सबको आसक्तिके स्थान समझकर अपनेद्वारा अपनेहीमें अपनेको देखे। इसके सिवा मुक्तका और क्या लक्षण हो सकता है? ॥ १३४ ॥

इमान्यन्यानि सूक्ष्माणि मोक्षमाश्रित्य कानिचित्।
चतुरङ्गप्रवृत्तानि सङ्गस्थानानि मे शृणु ॥१३५॥

राजन्! अपने मोक्षका आश्रय लेकर भी ये और दूसरे जो कुछ चार अङ्गोंमें प्रवृत्त आसक्तिके जो सूक्ष्म स्थान हैं, उनको भी अपना रखा है, उन्हें बताती हूँ, आप मुझसे सुनें ॥

य इमां पृथिवीं कृत्स्नामेकच्छत्रां प्रशास्ति ह।
एक एव स वै राजा पुरमध्यावसत्युत ॥१३६॥

जो इस सारी पृथ्वीका एकच्छत्र शासन करता है, वह एक ही सार्वभौम नरेश भी एकमात्र नगरमें ही निवास करता है ॥ १३६ ॥

तत्पुरे चैकमेवास्य गृहं यदधितिष्ठति।
गृहे शयनमप्येकं निशायां यत्र लीयते ॥१३७॥

उस नगरमें भी उसके लिये एक ही महल होता है, जिसमें वह निवास करता है। उस महलमें भी उसके लिये एक ही शय्या होती है, जिसपर वह रातमें सोता है ॥१३७॥

शय्यार्धं तस्य चाप्यत्र स्त्रीपूर्वमधितिष्ठति।
तदनेन प्रसङ्गेन फलेनैवेह युज्यते ॥१३८॥

उस शय्याके भी आधे भागपर राजाकी स्त्रीका अधिकार होता है; अतः इस प्रसङ्गसे वह बहुत अल्प फलका ही भागी होता है ॥ १३८ ॥

एवमेवोपभोगेषु भोजनाच्छादनेषु च ।
गुणेषु परिमेयेषु निग्रहानुग्रहं प्रति ॥१३९॥
परतन्त्रः सदा राजा स्वल्पेष्वपि प्रसज्जते ।
संधिविग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतन्त्रता ॥१४०॥

इसी प्रकार उपभोग, भोजन, आच्छादन तथा अन्यान्य परिमित विषयोंके सेवनमें और दुष्टोंके दमन एवं शिष्ट पुरुषोंके प्रति अनुग्रहके विषयमें भी राजा सदा ही परतन्त्र है। इसी प्रकार वह बहुत थोड़े कार्योंमें भी स्वतन्त्र नहीं है तो भी उनमें आसक्त रहता है। संधि और विग्रह करनेमें भी राजाको कहाँ स्वतन्त्रता प्राप्त है ? ॥ १३९-१४० ॥

स्त्रीषु क्रीडाविहारेषु नित्यमस्यास्वतन्त्रता ।
मन्त्रे चामात्यसमितौ कुतस्तस्य स्वतन्त्रता ॥१४१॥

स्त्री सहवास, क्रीड़ा और विहारमें भी उसे सदा परतन्त्रता रहती है। मन्त्रियोंकी सभामें बैठकर मन्त्रणा करते समय भी उसे कहाँ स्वतन्त्रता रहती है ॥ १४१ ॥

यदा ह्याज्ञापयत्यन्यांस्तत्रास्योक्ता स्वतन्त्रता ।
अवशः कार्यते तत्र तस्मिंस्तस्मिन् क्षणे स्थितः ॥१४२॥

राजा जिस समय दूसरोंको कुछ करनेकी आज्ञा देता है, [illegible] समय वहाँ उसकी स्वतन्त्रता बतायी जाती है; परंतु ऐसे अवसरोंपर भी भिन्न-भिन्न क्षणोंमें राजासनपर बैठा हुआ नरेश सलाह देनेवाले मन्त्रियोंद्वारा अपनी इच्छाके विपरीत करनेके लिये विवश कर दिया जाता है ॥ १४२ ॥

स्वप्नकामो न लभते स्वप्तुं कार्यार्थिभिर्जनैः ।
शयने चाप्यनुज्ञातः सुप्त उत्थाप्यतेऽवशः ॥१४३॥

वह सोना चाहता है, परंतु कार्यार्थी मनुष्योंद्वारा घिरा रहनेके कारण सोने नहीं पाता । शय्यापर सोये हुए राजाको भी लोगोंके अनुरोधसे विवश होकर उठना पड़ता है ॥१४३॥

स्नाह्यालभ पिब प्राश जुहुध्यग्नीन् यजेत्यपि ।
ब्रवीहि शृणु चापीति विवशः कार्यते परैः ॥१४४॥

'महाराज ! स्नान कीजिये, तेल लगवाइये, पानी पीजिये, भोजन कीजिये, आहुति दीजिये, अग्निहोत्रमें संलग्न होइये, अपनी कहिये और दूसरोंकी सुनिये ।' इत्यादि बातें कह-कहकर दूसरे लोग राजाको वैसा करनेके लिये विवश कर देते हैं॥

अभिगम्याभिगम्यैवं याचन्ते सततं नराः ।
न चाप्युत्सहते दातुं वित्तरक्षी महाजनान् ॥१४५॥

याचक मनुष्य सदा निकट आ-आकर राजासे धनकी याचना करते हैं; किंतु जो लोग दानके श्रेष्ठ पात्र हैं, उनके लिये भी वह कुछ देनेका साहस नहीं करता। अपने धनको सर्वथा सुरक्षित रखना चाहता है ॥ १४५ ॥

दाने कोषक्षयोऽप्यस्य वैरं चास्याप्रयच्छतः ।
क्षणेनास्योपवर्तन्ते दोषा वैराग्यकारकाः ॥१४६॥

यदि सबको धनका दान करे तो उसका खजाना ही खाली हो जाय और किसीको कुछ न दे तो सबके साथ वैर बढ़ जाय। उसके सामने क्षण क्षणमें ऐसे दोष उपस्थित होते हैं, जो उसे राज-काजसे विरक्त कर देते हैं ॥ १४६ ॥

प्राज्ञाञ्शूरांस्तथैवाढ्यानेकस्थानपि शङ्कते ।
भयमप्यभये राज्ञो यैश्च नित्यमुपास्यते ॥१४७॥

विद्वानों, शूरवीरों तथा धनियोंको भी जब वह एक स्थानपर जुटा हुआ देख लेता है, तब उसके मनमें उनके प्रति शङ्का उत्पन्न हो जाती है। जहाँ भयका कोई कारण नहीं है, वहाँ भी राजाको भय होता है। जो लोग सदा उसके पास उठते-बैठते या सेवामें रहते हैं, उनसे भी वह सशङ्क बना रहता है ॥ १४७ ॥

तथा चैते प्रदुष्यन्ति राजन् ये कीर्तिता मया ।
तथैवास्य भयं तेभ्यो जायते पश्य यादृशम् ॥१४८॥

राजन् ! मैंने जिनका नाम लिया है, वे विद्वान् और शूरवीर आदि अपने प्रति राजाकी आशङ्का देखकर सचमुच ही उसके प्रति दुर्भाव रखने लगते हैं और फिर उनसे राजाको जैसा भय प्राप्त होता है, उसको आप स्वयं ही [illegible] लें॥

सर्वः स्वे स्वे गृहे राजा सर्वः स्वे स्वे गृहे गृही ।
निग्रहानुग्रहान् कुर्वंस्तुल्यो जनक राजभिः ॥१४९॥

[illegible] ! सब लोग अपने-अपने घरमें राजा हैं और सभी अपने अपने घरमें गृहस्वामी हैं, सभी किसीको दण्ड देते और किसीपर अनुग्रह करते हैं; अतः वे [illegible] लोग राजाओंके [illegible] ही हैं ॥ १४९ ॥

पुत्रा दारास्तथैवात्मा कोशो मित्राणि संचयाः ।
परैः साधारणा ह्येते तैस्तैरेवास्य हेतुभिः ॥१५०॥

स्त्री, पुत्र, शरीर, कोष, मित्र [illegible] संग्रह—ये सब वस्तुएँ राजाओंकी भाँति दूसरोंके पास भी साधारणतया रहते ही हैं। जिन कारणोंसे वह राजा कहलाता है, उन्हीं युक्तियोंसे दूसरे लोग भी उसके समान ही कहे जा सकते हैं ॥ १५० ॥

हतो देशः पुरं दग्धं प्रधानः कुञ्जरो मृतः ।
लोकसाधारणेष्वेषु मिथ्याज्ञानेन तप्यते ॥१५१॥

'हाय ! देश [illegible] हो गया, सारा नगर आगसे जल गया और वह प्रधान हाथी मर गया ।' यद्यपि ये सब बातें सब लोगोंके लिये साधारण हैं—सबपर समान रूपसे ये कष्ट प्राप्त होते हैं तथापि राजा अपने मिथ्याज्ञानके कारण केवल अपनी ही हानि समझकर संतप्त होता रहता है ॥ १५१ ॥

अमुक्तो मानसैर्दुःखैरिच्छाद्वेषभयोद्भवैः ।
शिरोरोगादिभी रोगैस्तथैवाभिनियन्तृभिः ॥१५२॥

इच्छा, द्वेष और भयजनित मानसिक दुःख राजाको कभी नहीं छोड़ते हैं। सिरदर्द आदि शारीरिक रोग भी उसे सब ओरसे नियन्त्रणमें रखकर व्याकुल किये रहते हैं ॥ १५२ ॥

द्वन्द्वैस्तैस्तैरुपहतः सर्वतः परिशङ्कितः ।
बहुप्रत्यर्थिकं राज्यमुपास्ते गणयन्निशाः ॥१५३॥

वह नाना प्रकारके द्वन्द्वोंसे आहत और [illegible] ओरसे

शङ्कित हो रातें गिनता हुआ अनेक शत्रुओंसे भरे हुए राज्यका सेवन करता है ॥ १५३ ॥

तदल्पसुखमत्यर्थं बहुदुःखमसारवत् ।
तृणाग्निज्वलनप्रख्यं फेनबुद्बुदसंनिभम् ॥१५४॥
को राज्यमभिपद्येत [illegible] चोपशमं लभेत् ।

जिसमें सुख तो बहुत थोड़ा, किंतु दुःख बहुत अधिक है, जो सर्वथा सारहीन है, जो घास-फूसमें लगी आगके समान क्षणस्थायी और फेन तथा बुद्बुदके समान क्षणभङ्गुर है, ऐसे राज्यको कौन ग्रहण करेगा ? और ग्रहण [illegible] लेनेपर कौन शान्ति पा [illegible] है ? ॥ १५४½ ॥

ममेदमिति यच्चेदं पुरं राष्ट्रं च मन्यसे ॥१५५॥
बलं कोशममात्यांश्च कस्यैतानि न वा नृप ।

नरेश्वर ! आप जो इस नगरको, राष्ट्रको, सेनाको [illegible] कोष और मन्त्रियोंको भी 'ये सब मेरे हैं' ऐसा कहते हुए अपना मानते हैं, वह [illegible] [illegible] ही है । [illegible] पूछती हूँ, ये सब किसके हैं और किसके नहीं [illegible] ? ॥ १५५½ ॥

मित्रामात्यपुरं राष्ट्रं दण्डः कोशो महीपतिः ॥१५६॥
सप्ताङ्गस्यास्य राज्यस्य त्रिदण्डस्येव तिष्ठतः ।
अन्योन्यगुणयुक्तस्य [illegible] केन गुणतोऽधिकः ॥१५७॥

मित्र, मन्त्री, नगर, राष्ट्र, दण्ड, कोष और राजा—ये राज्यके [illegible] अङ्ग हैं । जैसे मेरे हाथमें त्रिदण्ड है, वैसे आपके हाथमें यह राज्य स्थित है । आपका सात अङ्गोंवाला राज्य और मेरा त्रिदण्ड—ये दोनों परस्पर उत्कृष्ट गुणोंसे युक्त हैं। फिर इनमेंसे कौन किस गुणके कारण अधिक है ? ॥१५६-१५७॥

तेषु तेषु हि कालेषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत् सिध्यते कार्यं तत् प्राधान्याय कल्पते ॥१५८॥

राज्यके जो [illegible] अङ्ग हैं, उनमें सभी समय-समयपर अपनी विशिष्टता सिद्ध करते हैं । जिस अङ्गसे जो कार्य सिद्ध होता है, उसके लिये उसीकी प्रधानता मानी जाती है ॥१५८॥

सप्ताङ्गश्चैव संघातस्त्रयश्चान्ये नृपोत्तम ।
सम्भूय दशवर्गोऽयं भुङ्क्ते राज्यं हि राजवत् ॥१५९॥

नृपश्रेष्ठ ! [illegible] सात अङ्गोंका समुदाय और तीन अन्य शक्तियाँ (प्रभु-शक्ति, उत्साहशक्ति और मन्त्रशक्ति)—ये सब मिलकर राज्यके दस वर्ग [illegible] । ये दसों वर्ग संगठित होकर राजाके समान ही राज्यका उपभोग करते हैं ॥ १५९ ॥

[illegible] राजा महोत्साहः क्षत्रधर्मे रतो भवेत् ।
स तुष्येद् दशभागेन ततस्त्वन्यो दशावरैः ॥१६०॥

जो राजा महान् उत्साही और क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर होता है, वह 'कर'के रूपमें प्रजाकी आयका दसवाँ भाग लेकर संतुष्ट हो जाता है तथा उससे भिन्न साधारण भूपाल दसवें भागसे कम लेकर भी संतोष कर लेते हैं ॥ १६० ॥

नास्त्यसाधारणो राजा नास्ति राज्यमराजकम् ।
राज्येऽसति कुतो धर्मो धर्मेऽसति कुतः परम् ॥१६१॥

साधारण प्रजा न हो तो कोई राजा नहीं हो सकता । [illegible] न हो तो [illegible] नहीं टिक सकता । राज्य न हो तो धर्म कैसे रह सकता है और धर्म न हो तो परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ १६१ ॥

योऽप्यत्र परमो धर्मः पवित्रं राजराज्ययोः ।
पृथिवी दक्षिणा [illegible] सोऽश्वमेधेन युज्यते ॥१६२॥

यहाँ राजा और राज्यके लिये जो परम धर्म और परम पवित्र वस्तु है, उसे सुनिये । जिसकी पृथ्वी दक्षिणारूपमें दे दी जाती है अर्थात् जो अपनी राज्यभूमिका दान कर देता है, वह अश्वमेध यज्ञके पुण्यफलका भागी होता है ॥ १६२ ॥

साहमेतानि कर्माणि राजदुःखानि मैथिल ।
समर्था शतशो वक्तुमथवापि सहस्रशः ॥१६३॥

मिथिलानरेश ! जो राजाको दुःख देनेवाले हैं, ऐसे सैकड़ों और हजारों कर्म [illegible] यहाँ बता सकती हूँ ॥ १६३ ॥

स्वदेहेनाभिषङ्गो [illegible] कुतः परपरिग्रहे ।
[illegible] मामेवंविधां युक्तामीदृशं वक्तुमर्हसि ॥१६४॥

मेरी तो अपने ही शरीरमें आसक्ति नहीं है, फिर दूसरेके शरीरमें कैसे हो सकती है ? इस प्रकार योगयुक्त रहनेवाली मुझ संन्यासिनीके प्रति आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये १६४

ननु नाम त्वया मोक्षः [illegible] पञ्चशिखाच्छ्रुतः ।
सोपायः सोपनिषदः सोपासङ्गः सनिश्चयः ॥१६५॥
[illegible] ते मुक्तसङ्गस्य पाशानाक्रम्य तिष्ठतः ।
छत्रादिषु विशेषेषु पुनः सङ्गः कथं नृप ॥१६६॥

नरेश्वर ! जब आपने महर्षि पञ्चशिखाचार्यसे उपाय (निदिध्यासन), उपनिषद् (उसके श्रवण-मनन), उपासङ्ग (यम-नियम आदि योगाङ्ग) और निश्चय (ब्रह्म और जीवात्माकी एकताका अनुभव)—इन सबके सहित सम्पूर्ण मोक्षशास्त्रका श्रवण किया है, आप आसक्तियोंसे मुक्त हो गये हैं और सम्पूर्ण बन्धनोंको काटकर खड़े हैं, [illegible] आपकी छत्र-चँवर आदि विशेष-विशेष वस्तुओंमें आसक्ति कैसे हो रही है ? ॥ १६५-१६६ ॥

श्रुतं ते न श्रुतं मन्ये मृषा वापि श्रुतं श्रुतम् ।
अथवा श्रुतसंकाशं श्रुतमन्यच्छ्रुतं त्वया ॥१६७॥

[illegible] समझती हूँ कि आपने पञ्चशिखाचार्यसे शास्त्रका श्रवण करके भी श्रवण नहीं किया है अथवा उनसे यदि कोई शास्त्र सुना है तो उसे सुनकर भी मिथ्या कर दिया है; [illegible] यह भी हो सकता है कि आपने वेद-शास्त्र-जैसा प्रतीत होनेवाला कोई और ही शास्त्र उनसे सुना हो ॥ १६७ ॥

अथापीमासु संज्ञासु लौकिकीषु प्रतिष्ठसे ।
अभिषङ्गावरोधाभ्यां बद्धस्त्वं प्राकृतो यथा ॥१६८॥

इतनेपर भी यदि आप 'विदेहराज' 'मिथिलापति' आदि इन लौकिक नामोंमें ही प्रतिष्ठित हो रहे हैं तो आप दूसरे साधारण मनुष्योंकी भाँति आसक्ति और अवरोधसे ही [illegible] हुए हैं ॥ १६८ ॥

सत्त्वेनानुप्रवेशो हि योऽयं त्वयि कृतो मया ।
किं तवापकृतं तत्र यदि मुक्तोऽसि सर्वशः ॥१६९॥

यदि आप सर्वथा मुक्त हैं तो मैंने जो बुद्धिके द्वारा आपके भीतर प्रवेश किया है, इसमें आपका क्या अपराध किया है ? ॥ १६९ ॥

नियमो ह्येषु वर्णेषु यतीनां शून्यवासिता ।
शून्यमावेशयन्त्या च मया किं कस्य दूषितम् ॥१७०॥

इन सभी वर्णोंमें यह नियम प्रसिद्ध है कि संन्यासियोंको एकान्त स्थानमें रहना चाहिये । मैंने भी आपके शून्य शरीरमें निवास करके किसकी किस वस्तुको दूषित कर दिया है ? ॥१७०॥

न पाणिभ्यां न बाहुभ्यां पादोरुभ्यां न चानघ ।
न गात्रावयवैरन्यैः स्पृशामि त्वां नराधिप ॥१७१॥

निष्पाप नरेश ! न तो हाथोंसे, न भुजाओंसे, न पैरोंसे, न जाँघोंसे और न शरीरके दूसरे ही अवयवोंसे मैं आपका स्पर्श कर रही हूँ ॥ १७१ ॥

कुले महति जातेन ह्रीमता दीर्घदर्शिना ।
नैतत्सदसि वक्तव्यं सद्वासद्वा मिथः कृतम् ॥१७२॥

आप महान् कुलमें उत्पन्न, लज्जाशील तथा दीर्घदर्शी पुरुष हैं । हम दोनोंने परस्पर भला या बुरा जो कुछ भी किया है, उसे आपको इस भरी सभामें नहीं कहना चाहिये ॥

ब्राह्मणा गुरवश्चेमे तथा मान्या गुरूत्तमाः ।
त्वं चाथ गुरुरप्येषामेवमन्योन्यगौरवम् ॥१७३॥

यहाँ ये सभी वर्णोंके गुरु ब्राह्मण विद्यमान हैं । इन गुरुओंकी अपेक्षा भी उत्तम कितने ही माननीय महापुरुष यहाँ बैठे हैं तथा आप भी राजा होनेके कारण इन सबके लिये गुरुस्वरूप हैं । इस प्रकार आप सबका गौरव एक दूसरेपर अवलम्बित है ॥ १७३ ॥

तदेवमनुसंदृश्य वाच्यावाच्यं परीक्षता ।
स्त्रीपुंसोः समवायोऽयं त्वया वाच्यो न संसदि ॥१७४॥

अतः इस प्रकार विचार करके यहाँ क्या कहना चाहिये और क्या नहीं, इसको जाँच-बूझ लेना आवश्यक है । इस भरी सभामें आपको स्त्री-पुरुषोंके संयोगकी चर्चा कदापि नहीं करनी चाहिये ॥ १७४ ॥

यथा पुष्करपर्णस्थं जलं तत्पर्णमस्पृशत् ।
तिष्ठत्यस्पृशती तद्वत् त्वयि वत्स्यामि मैथिल ॥१७५॥

मिथिलानरेश ! जैसे कमलके पत्तेपर पड़ा हुआ जल उस पत्तेका स्पर्श नहीं करता है, उसी प्रकार मैं आपका स्पर्श न करती हुई आपके भीतर निवास करूँगी ॥ १७५ ॥

यदि वाप्यस्पृशन्त्या मे स्पर्शं जानासि कञ्चन ।
ज्ञानं कृतमबीजं ते कथं तेनेह भिक्षुणा ॥१७६॥

यद्यपि मैं स्पर्श नहीं कर रही हूँ तो भी यदि आप मेरे स्पर्शका अनुभव करते हैं तो मुझे यह कहना पड़ता है कि उन संन्यासी महात्मा पञ्चशिखने आपको ज्ञानका उपदेश क्या कर दिया ? क्योंकि आपने उसे निर्बीज कर दिया ? ॥ १७६ ॥

स गार्हस्थ्याच्च्युतश्च त्वं मोक्षं चानाप्य दुर्विदम् ।
उभयोरन्तराले वै वर्तसे मोक्षवार्तिकः ॥१७७॥

परस्त्रीके स्पर्शका अनुभव करनेके कारण आप गार्हस्थ्य-धर्मसे तो गिर गये और दुर्बोध एवं दुर्लभ मोक्ष भी नहीं पा सके, अतः केवल मोक्षकी बात करते हुए आप गार्हस्थ्य और मोक्ष दोनोंके बीचमें लटक रहे हैं ॥ १७७ ॥

न हि मुक्तस्य मुक्तेन ज्ञस्यैकत्वपृथक्त्वयोः ।
भावाभावसमायोगे जायते वर्णसंकरः ॥१७८॥

जीवन्मुक्त ज्ञानीका जीवन्मुक्त ज्ञानीके साथ, एकत्वका पृथक्त्वके साथ तथा भाव (आत्मा) का अभाव (प्रकृति) के साथ संयोग होनेपर वर्णसंकरताकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥

वर्णाश्रमाः पृथक्त्वेन दृष्टार्थस्यापृथक्त्विनः ।
नान्यदन्यदिति ज्ञात्वा नान्यदन्यत्र वर्तते ॥१७९॥

मैं मानती हूँ कि समस्त वर्ण और आश्रम पृथक् पृथक् बताये गये हैं । तथापि जिसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो गया है, जो अभेदज्ञानसे सम्पन्न है और यह जानकर सारा बर्ताव करता है कि आत्मासे भिन्न दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है तथा अन्य वस्तु अपनेसे भिन्न दूसरी वस्तुमें विद्यमान नहीं है, उसका किसी अन्यके साथ संयोग होना सम्भव नहीं है; अतः वर्णसंकरता नहीं हो सकती ॥ १७९ ॥

पाणौ कुण्डं तथा कुण्डे पयः पयसि मक्षिका ।
आश्रिताश्रययोगेन पृथक्त्वेनाश्रिताः पुनः ॥१८०॥

हाथमें कुंडी है, कुंडीमें दूध है और दूधमें मक्खी पड़ी हुई है । ये तीनों परस्पर पृथक् होते हुए भी आधाराधेय-भाव सम्बन्धसे एक दूसरेके आश्रित हो एक साथ हो गये हैं ॥१८०॥

न तु कुण्डे पयोभावः पयश्चापि न मक्षिका ।
स्वयमेवाप्नुवन्त्येते भावा न तु पराश्रयम् ॥१८१॥

फिर भी कुंडीमें दुग्धत्व नहीं आया है और दूध भी मक्खी नहीं बन गया है । ये सारे आधेय पदार्थ स्वयं ही अपनेसे भिन्न आधारको प्राप्त होते हैं ॥ १८१ ॥

पृथक्त्वादाश्रमाणां च वर्णान्यत्वे तथैव च ।
परस्परपृथक्त्वाच्च कथं ते वर्णसंकरः ॥१८२॥

सारे आश्रम पृथक्-पृथक् हैं तथा चारों वर्ण भी भिन्न हैं । जब इनमें परस्पर पार्थक्य बना हुआ है, तब पृथक्त्वको जाननेवाले आपके वर्णका संकर कैसे हो सकता है ? ॥ १८२ ॥

नास्मि वर्णोत्तमा जात्या न वैश्या नावरा तथा ।
तव राजन् सवर्णास्मि शुद्धयोनिरविप्लुता ॥१८३॥

राजन् ! मैं जातिसे ब्राह्मणी नहीं हूँ और न वैश्या अथवा शूद्रा ही हूँ । मैं तो आपके समान वर्णवाली क्षत्रिया ही हूँ । मेरा जन्म शुद्ध वंशमें हुआ है और मैंने अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया है ॥ १८३ ॥

प्रधानो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः ।
कुले तस्य समुत्पन्नां सुलभां नाम विद्धि माम् ॥१८४॥

आपने प्रधान नामक राजर्षिका नाम अवश्य सुना होगा। [illegible] उन्हींके कुलमें उत्पन्न हुई हूँ। आपको मालूम होना चाहिये कि मेरा नाम सुलभा है ॥ १८४ ॥

द्रोणश्च शतशृङ्गश्च चक्रद्वारश्च पर्वतः।
मम सत्रेषु पूर्वेषां चिता [illegible] ॥१८५॥

मेरे पूर्वजोंके यज्ञोंमें देवराज इन्द्रके सहयोगसे द्रोण, शतशृङ्ग और चक्रद्वार नामक पर्वत यज्ञवेदीमें ईंटोंकी जगह चुने गये थे ॥ १८५ ॥

साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्यसति मद्विधे।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम् ॥१८६॥

मेरा जन्म उसी महान् कुलमें हुआ है। मैंने अपने योग्य पतिके न मिलनेपर मोक्षधर्मकी शिक्षा ली तथा मुनिव्रत धारण करके [illegible] अकेली विचरती रहती हूँ ॥ १८६ ॥

नास्मि सत्रप्रतिच्छन्ना न परस्वापहारिणी।
[illegible] धर्मसंकरकरी स्वधर्मेऽस्मि धृतव्रता ॥१८७॥

मैंने संन्यासिनीका छद्मवेष नहीं धारण किया है। मैं पराये धनका अपहरण नहीं करती हूँ और न धर्मसंकरता ही फैलाती हूँ। मैं दृढतापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करती हुई अपने धर्ममें स्थित रहती हूँ ॥ १८७ ॥

नास्थिरा स्वप्रतिज्ञायां नासमीक्ष्य प्रवादिनी।
नासमीक्ष्यागता चेह त्वत्सकाशं जनाधिप ॥१८८॥

जनेश्वर! मैं अपनी प्रतिज्ञासे कभी विचलित नहीं होती हूँ। बिना सोचे-समझे कोई बात नहीं बोलती हूँ और आपके पास भी यहाँ खूब सोच-विचारकर ही आयी हूँ ॥ १८८ ॥

मोक्षे ते भावितां बुद्धिं श्रुत्वाहं कुशलैषिणी।
[illegible] मोक्षस्य [illegible] जिज्ञासार्थमिहागता ॥१८९॥

मैंने सुना था कि आपकी बुद्धि मोक्षधर्ममें लगी हुई है, [illegible] आपकी मङ्गलाकाङ्क्षिणी होकर आपके इस मोक्षज्ञानका मर्म जाननेके लिये [illegible] यहाँ आयी हूँ ॥ १८९ ॥

न वर्गस्था ब्रवीम्येतत् स्वपक्षपरपक्षयोः।
मुक्तो व्यायच्छते यश्च शान्तौ यश्च न शाम्यति ॥१९०॥

मैं स्वपक्ष और परपक्षमेंसे अपने पक्षमें स्थित हो पक्षपातपूर्वक [illegible] [illegible] नहीं [illegible] रही हूँ, आपके हितको दृष्टिमें रखकर बोलती हूँ; क्योंकि जो वाणीका व्यायाम नहीं करता और जो शान्त परब्रह्ममें निमग्न रहता है, वही मुक्त है ॥

[illegible] शून्ये पुरागारे भिक्षुरेकां निशां वसेत्।
तथाहं त्वच्छरीरेऽस्मिन्निमां वत्स्यामि शर्वरीम् ॥१९१॥

जैसे नगरके किसी सूने घरमें संन्यासी एक रात निवास [illegible] लेता है, इसी तरह आपके [illegible] शरीरमें [illegible] आजकी [illegible] रहूँगी ॥ १९१ ॥

साहं मानप्रदानेन वागातिथ्येन चार्चिता।
[illegible] सुशरणं प्रीता श्वो गमिष्यामि मैथिल ॥१९२॥

आपने मुझे बड़ा [illegible] दिया। अपनी वाणीरूप आतिथ्यके द्वारा मेरा भलीभाँति सत्कार किया। मिथिलानरेश! [illegible] [illegible] प्रसन्नतापूर्वक आपके शरीररूपी सुन्दर गृहमें सोकर कल सबेरे यहाँसे चली जाऊँगी ॥ १९२ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतानि [illegible] वाक्यानि हेतुमन्त्यर्थवन्ति च।
[illegible] नाधिजगौ राजा किञ्चिदन्यदतः परम् ॥१९३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! सुलभाके ये युक्तियुक्त और सार्थक वचन सुनकर राजा जनक इसके बाद और कोई [illegible] नहीं बोले ॥ १९३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सुलभाजनकसंवादे विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें सुलभा और जनकका संवादविषयक तीन सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२० ॥

एकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका अपने पुत्र शुकदेवको वैराग्य और धर्मपूर्ण उपदेश देते हुए सावधान करना

युधिष्ठिर उवाच

कथं निर्वेदमापन्नः शुको वैयासकिः पुरा।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! पूर्वकालमें व्यासपुत्र शुकदेवको किस प्रकार वैराग्य [illegible] हुआ [illegible]! मैं यह सुनना चाहता हूँ। इस विषयमें मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ १ ॥

अव्यक्तव्यक्ततत्त्वानां निश्चयं बुद्धिनिश्चयम्।
वक्तुमर्हसि कौरव्य देवस्याजस्य या कृतिः ॥ २ ॥

कुरुनन्दन! इसके सिवा आप मुझे व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वोंका बुद्धिद्वारा निश्चित किया हुआ स्वरूप बतलाइये तथा अजन्मा भगवान् नारायणका जो चरित्र है, उसे भी सुनानेकी कृपा करें ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

प्राकृतेन सुवृत्तेन चरन्तमकुतोभयम्।
अध्याप्य कृत्स्नं स्वाध्यायमन्वशाद् वै पिता सुतम् ॥३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! पुत्र शुकदेवको साधारण लोगोंकी भाँति आचरण करते और सर्वथा निर्भय विचरते देख पिता श्रीव्यासजीने [illegible] सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन [illegible] और फिर यह उपदेश दिया ॥ ३ ॥

व्यास उवाच

धर्मे पुत्र निषेवस्व सुतीक्ष्णौ च हिमातपौ ।
क्षुत्पिपासे च वायुं च जय नित्यं जितेन्द्रियः ॥ ४ ॥

व्यासजीने कहा—बेटा ! तुम सदा धर्मका सेवन करते रहो और जितेन्द्रिय होकर कड़ीसे कड़ी सर्दी, गर्मी, भूख-प्यासको सहन करते हुए प्राणवायुपर विजय प्राप्त करो ॥ ४ ॥

सत्यमार्जवमक्रोधमनसूयां दमं तपः ।
अहिंसां चानृशंस्यं च विधिवत् परिपालय ॥ ५ ॥

सत्य, सरलता, अक्रोध, दोषदर्शनका अभाव, इन्द्रिय-संयम, तप, अहिंसा और दया आदि धर्मोंका विधिपूर्वक पालन करो ॥ ५ ॥

सत्ये तिष्ठ रतो धर्मे हित्वा सर्वमनार्जवम् ।
देवतातिथिशेषेण यात्रां प्राणस्य संलिह ॥ ६ ॥

सत्यपर डटे रहो तथा सब प्रकारकी कुटिलता छोड़कर धर्ममें अनुराग करो । देवताओं और अतिथियोंका सत्कार करके जो अन्न बचे, उसीका प्राणरक्षाके लिये आस्वादन करो ॥ ६ ॥

फेनमात्रोपमे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते ।
अनित्ये प्रियसंवासे कथं स्वपिषि पुत्रक ॥ ७ ॥

बेटा ! यह शरीर जलके फेनकी तरह क्षणभङ्गुर है । इसमें जीव पक्षीकी तरह बसा हुआ है और यह प्रियजनोंका सहवास भी सदा रहनेवाला नहीं है । फिर भी तुम क्यों सोये पड़े हो ? ॥ ७ ॥

अप्रमत्तेषु जाग्रत्सु नित्ययुक्तेषु शत्रुषु ।
अन्तरं लिप्समानेषु बालस्त्वं नावबुध्यसे ॥ ८ ॥

तुम्हारे शत्रु सर्वदा सावधान, जगे हुए, सर्वथा उद्यत और तुम्हारे छिद्रोंको देखनेमें लगे हुए हैं; परंतु तुम अभी बालक हो, इसलिये [illegible] नहीं रहे हो ॥ ८ ॥

अहःसु गण्यमानेषु क्षीयमाणे तथाऽऽयुषि ।
जीविते लिख्यमाने च किमुत्थाय न धावसि ॥ ९ ॥

तुम्हारी आयुके दिन गिने जा रहे हैं । आयु क्षीण होती जा रही है और जीवन मानो कहीं लिखा जा रहा है ([illegible] हो रहा है) । फिर तुम उठकर भागते क्यों नहीं हो ? (शीघ्रतापूर्वक कर्तव्यपालनमें लग क्यों नहीं जाते हो ?) ॥ ९ ॥

ऐहलौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम् ।
पारलौकिककार्येषु प्रसुप्ता भृशनास्तिकाः ॥ १० ॥

अत्यन्त नास्तिक मनुष्य केवल इस लोकके स्वार्थको चाहते हुए शरीरमें मांस और रक्तको बढ़ानेवाली चेष्टा [illegible] करते रहते हैं । पारलौकिक कार्योंकी ओरसे तो वे [illegible] सोये ही रहते हैं ॥ १० ॥

धर्माय येऽभ्यसूयन्ति बुद्धिमोहान्विता नराः ।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाताऽपि पीड्यते ॥ ११ ॥

जो बुद्धिके व्यामोहमें डूबे हुए मनुष्य धर्मसे द्वेष करते हैं, वे सदा कुमार्गसे ही चलते हैं । उनकी तो बात ही क्या है, उनके अनुयायियोंको भी कष्ट भोगना पड़ता है ॥ ११ ॥

ये [illegible] तुष्टाः श्रुतिपरा महात्मानो महाबलाः ।
धर्म्यं पन्थानमारूढास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥ १२ ॥

इसलिये जो महान् धर्मबलसे सम्पन्न महात्मा पुरुष संतुष्ट और श्रुतिपरायण होकर सर्वदा धर्मपथपर ही आरूढ रहते हैं, तुम उन्हींकी सेवामें रहो और उन्हींसे अपना कर्तव्य पूछो ॥ १२ ॥

उपधार्य मतं तेषां बुधानां धर्मदर्शिनाम् ।
नियच्छ परया बुद्ध्या चित्तमुत्पथगामि [illegible] ॥ १३ ॥

उन धर्मदर्शी विद्वानोंका मत जानकर तुम अपनी श्रेष्ठ बुद्धिके द्वारा अपने कुपथगामी मनको काबूमें करो ॥

आद्यकालिकया बुद्ध्या दूरे श्व इति निर्भयाः ।
सर्वभक्ष्या न पश्यन्ति कर्मभूमिमचेतसः ॥ १४ ॥

जिसकी केवल वर्तमान सुखपर ही दृष्टि रहती है, [illegible] बुद्धिके द्वारा भावी परिणामको बहुत दूर जानकर जो निर्भय रहते और सब प्रकारके अभक्ष्य पदार्थोंको खाते रहते हैं, वे बुद्धिहीन मनुष्य [illegible] कर्मभूमिके महत्त्वको नहीं देख पाते हैं ॥ १४ ॥

धर्मं निःश्रेणिमास्थाय किंचित् किंचित् [illegible] ।
कोषकारवदात्मानं वेष्टयन्नावबुध्यसे ॥ १५ ॥

तुम धर्मरूपी सीढ़ीको पाकर धीरे-धीरे उसपर चढ़ते जाओ । अभी तो तुम रेशमके कीड़ेकी तरह अपने-आपको वासनाओंके जालसे ही लपेटते [illegible] रहे हो, तुम्हें चेत नहीं हो रहा है ॥ १५ ॥

नास्तिकं भिन्नमर्यादं कूलपातमिव स्थितम् ।
वामतः कुरु विस्रब्धो नरं वेणुमिवोद्धृतम् ॥ १६ ॥

जो नास्तिक हो, धर्मकी मर्यादा भङ्ग कर रहा हो और किनारेको तोड़-फोड़कर गिरा देनेवाले नदीके महान् जल-प्रवाहकी भाँति स्थित हो, ऐसे मनुष्यको उखाड़े हुए बाँसकी तरह बिना किसी हिचकके त्याग दो ॥ १६ ॥

कामं क्रोधं च मृत्युं च पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥ १७ ॥

काम, क्रोध, मृत्यु और जिसमें पाँच इन्द्रियरूपी जल भरा हुआ है, ऐसी विषयासक्तिरूपी नदीको तुम शान्तिकी धृतिरूप नौकाका आश्रय [illegible] पार कर [illegible] और इस प्रकार जन्म-मृत्युरूपी दुर्गम संकटसे पार हो जाओ ॥ १७ ॥

मृत्युनाभ्याहते लोके जरया परिपीडिते ।
अमोघासु पतन्तीषु धर्मपोतेन संतर ॥ १८ ॥

[illegible] संसार मृत्युके थपेड़े खाता हुआ वृद्धावस्थासे पीड़ित हो रहा है । [illegible] रातें प्राणियोंकी आयुका अपहरण

करके अपनेको [illegible] बनाती हुई बीत रही हैं। तुम धर्मरूपी नौकापर चढ़कर भवसागरसे पार हो जाओ ॥ १८ ॥

तिष्ठन्तं च शयानं च मृत्युरन्वेषते यदा।
निर्वृत्तिं लभते कस्मादकस्मान्मृत्युनाश्रितः ॥ १९ ॥

मनुष्य खड़ा हो या सो [illegible] हो, [illegible] निरन्तर उसे खोजती फिरती है। [illegible] प्रकार तुम अकस्मात् मृत्युके ग्रास बन जानेवाले हो, [illegible] निश्चिन्त एवं शान्त कैसे बैठे हो ? ॥ १९ ॥

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ २० ॥

मनुष्य भोगसामग्रियोंके सञ्चयमें लगा ही रहता है और उनसे तृप्त भी नहीं होने पाता है कि भेड़के बच्चेको उठा ले जानेवाली बाघिनकी भाँति मौत उसे अपनी दाढ़में दबाकर चल देती है ॥ २० ॥

क्रमशः संचितशिखो धर्मबुद्धिमयो [illegible]।
अन्धकारे प्रवेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्यताम् ॥ २१ ॥

यदि तुम्हें इस संसाररूपी अन्धकारमें प्रवेश करना है तो हाथमें उस धर्म-बुद्धिमय महान् दीपकको यत्नपूर्वक धारण कर लो, जिसकी शिखा [illegible] प्रज्वलित [illegible] रही हो ॥ २१ ॥

सम्पतन् देहजालानि कदाचिदिह मानुषे।
ब्राह्मण्यं लभते जन्तुस्तत् पुत्र परिपालय ॥ २२ ॥

बेटा ! जीव अनेक प्रकारके शरीरोंमें जन्मता-मरता हुआ कभी इस मानव-योनिमें आकर ब्राह्मणका शरीर पाता है, अतः तुम ब्राह्मणोचित कर्तव्यका [illegible] करो ॥

ब्राह्मणस्य [illegible] देहोऽयं न कामार्थाय जायते।
[illegible] क्लेशाय तपसे प्रेत्य त्वनुपमं सुखम् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणका यह शरीर भोग भोगनेके लिये नहीं पैदा होता है। यह तो यहाँ क्लेश उठाकर तपस्या करने और मृत्युके पश्चात् अनुपम [illegible] भोगनेके लिये रचा गया है ॥ २३ ॥

ब्राह्मण्यं बहुभिरवाप्यते तपोभि-
स्तल्लब्ध्वा न रतिपरेण हेलितव्यम्।
स्वाध्याये तपसि दमे [illegible] नित्ययुक्तः
क्षेमार्थी कुशलपरः सदा यतस्व ॥ [illegible] ॥

बहुत समयतक बड़ी भारी तपस्या करनेसे ब्राह्मणका शरीर मिलता है। उसे पाकर विषयानुरागमें फँसकर बरबाद नहीं करना चाहिये। [illegible] यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो कुशलप्रद कर्ममें संलग्न हो सदा स्वाध्याय, तपस्या और इन्द्रियसंयममें पूर्णतः तत्पर रहनेका [illegible] करो ॥ २४ ॥

अव्यक्तप्रकृतिरयं कलाशरीरः
सूक्ष्मात्मा क्षणत्रुटिशो निमेषरोमा।
ऋत्वास्यः समबलशुक्लकृष्णनेत्रो
मासाङ्गो द्रवति वयोहयो नराणाम् ॥ २५ ॥
तं दृष्ट्वा प्रसृतमजस्रमुग्रवेगं
गच्छन्तं सततमिहाव्यपेक्षमाणम्।
चक्षुस्ते यदि न परप्रणेतृनेयं
धर्मे ते भवतु मनः परं निशाम्य ॥ २६ ॥

मनुष्योंका आयुरूप अश्व बड़े वेगसे दौड़ा जा रहा है। इसका स्वभाव [illegible] है। कला-काष्ठा आदि इसके शरीर हैं। इसका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। क्षण, त्रुटि (चुटकी) और निमेष आदि इसके रोम हैं। ऋतुएँ मुख हैं। समान बलवाले शुक्ल और कृष्णपक्ष नेत्र [illegible] तथा महीने इसके विभिन्न अङ्ग हैं। वह भयंकर वेगशाली अश्व यहाँकी किसी वस्तुकी अपेक्षा न [illegible] निरन्तर अविराम गतिसे वेगपूर्वक भागा जा रहा है। उसे देखकर यदि तुम्हारी ज्ञानदृष्टि दूसरेके द्वारा चलाने-पर चलनेवाली नहीं है; तो तुम्हारा मन धर्ममें ही लगना चाहिये। तुम दूसरे धर्मात्माओंपर भी दृष्टि डालो ॥२५-२६॥

ये चात्र प्रचलितधर्मकामवृत्ताः
क्रोशन्तः सततमनिष्टसम्प्रयोगाः।
क्लिश्यन्तः परिगतवेदनाशरीरा
बह्वीभिः सुभृशमधर्मकारणाभिः ॥ २७ ॥

जो लोग यहाँ धर्मसे विचलित हो स्वेच्छाचारमें लगे हुए हैं, दूसरोंको बुरा-भला कहते हुए सदा अनिष्टकारी [illegible] कर्मोंमें ही लगे हुए हैं, वे मरनेके बाद यातनादेह पाकर अपने अनेक पापकर्मोंके कारण अत्यन्त क्लेश भोगते हैं ॥ २७ ॥

राजा [illegible] धर्मपरः शुभाशुभस्य गोप्ता
समीक्ष्य सुकृतिनां दधाति लोकान्।
बहुविधमपि चरति प्रविशति
सुखमनुपगतं निरवद्यम् ॥ २८ ॥

जो राजा सर्वदा धर्मपरायण रहकर उत्तम और अधम प्रजाका यथायोग्य विचारपूर्वक पालन करता है, वह पुण्यात्माओंके लोकोंको प्राप्त होता है। यदि वह स्वयं भी नाना प्रकारके शुभ कर्मोंका आचरण करता है तो उसके फलस्वरूप उसे अप्राप्त एवं निर्दोष सुख प्राप्त होता है ॥

श्वानो भीषणकाया अयोमुखानि वयांसि
बलगृध्रकुलपक्षिणां च संघाः।
नरकदने रुधिरपा गुरुवचन-
नुदमुपरतं विशसन्ति ॥ २९ ॥

परंतु जो गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करते हैं, उनके मरणके पश्चात् नरकमें स्थित भयानक शरीरवाले कुत्ते, लौहमुख पक्षी, कौए-गीध आदि पक्षियोंके समुदाय तथा रक्त पीनेवाले कीट उनके यातना-शरीरपर आक्रमण करके उसे नोचते और काटते हैं ॥ २९ ॥

मर्यादा नियताः स्वयम्भुवा य इहेमाः
प्रभिनत्ति दशगुणा मनोऽनुगत्वात्।
निवसति भृशमसुखं पितृविषय-
विपिनमवगाह्य स पापः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य मनचाही करनेके कारण स्वायम्भुवमनुकी बाँधी हुई धर्मकी दस[1] प्रकारकी मर्यादाओंको तोड़ता है, वह पापात्मा पितृलोकके असिपत्रवनमें [illegible] वहाँ अत्यन्त दुःख भोगता रहता है ॥ ३० ॥

यो लुब्धः सुभृशं प्रियानृतश्च मनुष्यः
सततनिकृतिवञ्चनाभिरतिः स्यात्।
उपनिधिभिरसुखकृत्स परमनिरयगो
भृशमसुखमनुभवति दुष्कृतकर्मा ॥ ३१ ॥

जो पुरुष अत्यन्त लोभी, असत्यसे प्रेम करनेवाला और सर्वदा कपटभरी बातें बनानेवाला और ठगाईमें रत है [illegible] जो तरह-तरहके साधनोंसे दूसरोंको दुःख देता है, वह [illegible] घोर नरकमें पड़कर अत्यन्त दुःख भोगता है ॥ ३१ ॥

उष्णां वैतरणीं महानदी-
मवगाढोऽसिपत्रवनभिन्नगात्रः।
परशुवनशयो निपतितो
वसति च महानिरये भृशार्तः ॥ ३२ ॥

उसे [illegible] उष्ण महानदी वैतरणीमें गोता [illegible] पड़ता है । असिपत्रवनमें उसका अङ्ग-अङ्ग छिन्न-भिन्न हो जाता है और परशुवनमें उसे शयन करना पड़ता है । इस प्रकार महानरकमें पड़कर वह अत्यन्त आतुर हो उठता है और विवश होकर उसीमें निवास करता है ॥ ३२ ॥

महापदानि कत्थसे न चाप्यवेक्षसे परम्।
चिरस्य मृत्युकारिकामनागतां न बुध्यसे ॥ ३३ ॥

तुम ब्रह्मलोक आदि बड़े-बड़े स्थानोंकी बातें तो बनाते हो, परंतु परमपदपर तुम्हारी दृष्टि नहीं है । भविष्यमें जो मृत्युकी परिचारिका वृद्धावस्था आनेवाली है, उसका तुम्हें पता ही नहीं है ॥ ३३ ॥

प्रयायतां किमास्यते समुत्थितं महद् भयम्।
अतिप्रमाथि दारुणं सुखस्य संविधीयताम् ॥ ३४ ॥

वत्स ! चुपचाप क्यों बैठे हो ? जल्दीसे आगे बढ़ो । तुम्हारे ऊपर हृदयको अत्यन्त मथ डालनेवाला, भयकर एवं महान् भय उठ खड़ा हुआ है; अतः परमानन्दकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करो ॥ ३४ ॥

पुरा मृतः प्रणीयसे यमस्य राजशासनात्।
त्वमन्तकाय दारुणैः प्रयत्नमार्जवे कुरु ॥ ३५ ॥

तुम्हें मरनेपर यमराजकी आज्ञासे भयानक यमदूतोंद्वारा उनके सामने उपस्थित किया जाय, इसके पहले ही सरलता रूप धर्मके सम्पादनके लिये प्रयत्न करो ॥ ३५ ॥

पुरा समूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यदुःखवित्।
तवेह जीवितं यमो न चास्ति तस्य वारकः ॥ ३६ ॥

यमराज सबके स्वामी हैं । वे किसीका दुःख-दर्द नहीं समझते हैं । वे मूल और बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारे प्राण हर लेंगे । उन्हें रोकनेवाला कोई नहीं है । वह समय आनेके पहले ही तुम अपनी रक्षाके लिये प्रयत्न कर लो ॥ ३६ ॥

पुराभिवाति मारुतो यमस्य यः पुरःसरः।
पुरैक [illegible] नीयसे कुरुष्व साम्परायिकम् ॥ ३७ ॥

जिस समय यमराजके आगे-आगे चलनेवाला प्रचण्ड कालरूपी पवन चल पड़ेगा, [illegible] समय वह अकेले तुम्हींको वहाँ ले जायगा; अतः तुम पहलेसे ही परलोकमें सुख देनेवाले धर्मका आचरण करो ॥ ३७ ॥

पुरा स हि क एव ते प्रवाति मारुतोऽन्तकः।
पुरा च विभ्रमन्ति ते दिशो महाभयागमे ॥ ३८ ॥

पूर्वजन्ममें तुम्हारे सामने जो प्राणनाशक पवन [illegible] रहा [illegible] वह कहाँ है ? अब भी जब मृत्युरूप महान् भय उपस्थित होगा, तब तुम्हें सम्पूर्ण दिशाएँ घूमती दिखायी देंगी; अतः पहलेसे ही सावधान हो जाओ ॥ ३८ ॥

श्रुतिश्च संनिरुध्यते पुरा तवेह पुत्रक।
समाकुलस्य गच्छतः समाधिमुत्तमं कुरु ॥ ३९ ॥

बेटा ! जब तुम इस शरीरको छोड़कर चलने लगोगे, [illegible] व्याकुलताके कारण तुम्हारी श्रवणशक्ति भी नष्ट हो जायगी । इसलिये तुम सुदृढ़ समाधि प्राप्त कर लो ॥ ३९ ॥

शुभाशुभे पुरा कृते प्रमादकर्मविप्लुते।
स्मरन् पुरा न तप्यसे निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ४० ॥

तुम पहले असावधानतावश जो अनुचितरूपसे शुभाशुभ कर्म कर चुके हो, उसे स्मरण करके उनके फलभोगसे संतप्त होनेके पहले ही अपने लिये केवल ज्ञानका भण्डार भर लो ॥

पुरा जरा कलेवरं विजर्जरीकरोति ते।
बलाङ्गरूपहारिणी निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ४१ ॥

देखो, बल, अङ्ग और रूपका विनाश करनेवाली वृद्धा [illegible] एक दिन तुम्हारे शरीरको जर्जर कर डालेगी, उसके पहले ही तुम अपने लिये ज्ञानका भण्डार भर लो ॥ ४१ ॥

पुरा शरीरमन्तको भिनत्ति रोगसारथिः।
[illegible] जीवितक्षये तपो महद् समाचर ॥ ४२ ॥

रोग जिसका सारथि है, वह काल हठात् तुम्हारे शरीरको विदीर्ण कर डालेगा, इसलिये इस जीवनका नाश होनेसे पहले ही तुम महान् तपका अनुष्ठान कर लो ॥ ४२ ॥

पुरा वृका भयंकरा मनुष्यदेहगोचराः।

---

[1] मनुजीने धर्मके दस भेद ये बताये हैं—
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
'धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, पवित्रता, इन्द्रियसंयम, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं ।'

अभिद्रवन्ति सर्वतो यतस्व पुण्यशीलने ॥ ४३ ॥

इस मानव-शरीरमें रहनेवाले काम-क्रोध आदि भयंकर शत्रु तुमपर चारों ओरसे आक्रमण कर रहे हैं, इसलिये पहलेसे ही तुम पुण्यसंचयके लिये प्रयत्न करो ॥ ४३ ॥

पुरान्धकारमेकको़ऽनुपश्यसि त्वरस्व वै ।
पुरा हिरण्मयान् नगान् निरीक्षसेऽद्रिमूर्धनि ॥ ४४ ॥

मरनेके समय तुम्हें पहले घोर अन्धकार दिखलायी देगा। फिर पर्वतके शिखरपर सुनहरे वृक्ष दृष्टिगोचर होंगे। वह समय आनेसे पहले ही अपने कल्याणके लिये तुम शीघ्र प्रयत्न करो ॥ ४४ ॥

पुरा कुसङ्गतानि ते सुहृन्मुखाश्च शत्रवः ।
विचालयन्ति दर्शनाद् घटस्व पुत्र यत्परम् ॥ ४५ ॥

इस संसारमें दुष्ट पुरुषोंके सङ्ग तथा ऊपरसे मित्रभाव एवं भीतरसे शत्रुता रखनेवाले लोग दर्शनमात्रसे तुम्हें कर्तव्य-पथसे विचलित कर देंगे, इसलिये तुम पहलेसे ही परम उत्तम पुण्यसंचयके लिये प्रयत्न करो ॥ ४५ ॥

धनस्य यस्य राजतो भयं न चास्ति चोरतः ।
मृतं च यन्न मुञ्चति समर्जयस्व तद् धनम् ॥ ४६ ॥

जिस धनको न तो राजासे भय है और न चोरसे ही तथा जो मर जानेपर भी जीवका साथ नहीं छोड़ता है, उस धर्मरूपी धनका उपार्जन करो ॥ ४६ ॥

न तत्र संविभुज्यते स्वकर्मभिः परस्परम् ।
यदेव यस्य यौतकं तदेव तत्र सोऽश्नुते ॥ ४७ ॥

अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए उस धनको परलोकमें परस्पर बाँटना नहीं पड़ता है। वहाँ तो जो जिसकी निजी सम्पत्ति है, उसे ही वह भोगता है ॥ ४७ ॥

परत्र येन जीव्यते तदेव पुत्र दीयताम् ।
धनं यदक्षरं ध्रुवं समर्जयस्व तत् स्वयम् ॥ ४८ ॥

बेटा! जिससे परलोकमें भी जीवन-निर्वाह हो सकता है तथा जो अविनाशी और अटल धन है, उसीका दान करो एवं उसीका स्वयं भी उपार्जन करते रहो ॥ ४८ ॥

न यावदेव पच्यते महाजनस्य यावकम् ।
अपक्व एव यावके पुरा प्रलीयसे त्वर ॥ ४९ ॥

बेटा! घरपर आये हुए किसी समादरणीय अतिथिके लिये जितनी देरमें यावक (घृत और खाँड़ मिलाकर तैयार किया हुआ जौके आटेका पूआ) पकाया जाता है, उसके पकनेसे भी पहले तुम्हारी मृत्यु हो सकती है; अतः ज्ञान-रूपी धनके उपार्जनके लिये शीघ्रता करो ॥ ४९ ॥

न मातृपुत्रबान्धवा न संस्तुतः प्रियो जनः ।
अनुव्रजन्ति संकटे व्रजन्तमेकपातिनम् ॥ ५० ॥

जीव जब अकेला ही परलोकके पथपर प्रस्थान करता है, उस संकटके समय माता, पुत्र, भाई-बन्धु तथा अन्यान्य प्रशंसित प्रियजन भी उसके साथ नहीं जाते हैं ॥ ५० ॥

यदेव कर्म केवलं पुरा कृतं शुभाशुभम् ।
तदेव पुत्र सार्थिकं भवत्यमुत्र गच्छतः ॥ ५१ ॥

पुत्र! परलोकमें जाते समय अपना पहलेका किया हुआ जो शुभाशुभ कर्म होता है, केवल वही साथ रहता है ॥ ५१ ॥

हिरण्यरत्नसंचयाः शुभाशुभेन संचिताः ।
न तस्य देहसंक्षये भवन्ति कार्यसाधकाः ॥ ५२ ॥

मनुष्यके द्वारा अच्छे-बुरे सभी तरहके कर्म करके जो सुवर्ण और रत्नोंके ढेर इकट्ठे किये जाते हैं, वे भी उस मनुष्यके शरीरका नाश होनेपर उसके किसी काम नहीं आते हैं (क्योंकि वे सब यहीं रह जाते हैं) ॥ ५२ ॥

परत्रगामिकस्य ते कृताकृतस्य कर्मणः ।
न साक्षि आत्मना समो नृणामिहास्ति कश्चन ॥ ५३ ॥

परलोककी यात्रा करते समय तुम्हारे किये और न किये हुए कर्मका साक्षी आत्माके समान मनुष्योंमें दूसरा कोई नहीं है ॥ ५३ ॥

मनुष्यदेहशून्यकं भवत्यमुत्र गच्छतः ।
प्रविश्य बुद्धिचक्षुषा प्रदृश्यते हि सर्वशः ॥ ५४ ॥

परलोकमें जाते समय इस मनुष्य-शरीरका अभाव हो जाता है अर्थात् यह यहीं छूट जाता है। जीव सूक्ष्म शरीरसे लोकान्तरमें प्रवेश करके अपने बुद्धिरूपी नेत्रसे वहाँ सब कुछ देखता है ॥ ५४ ॥

इहाग्निसूर्यवायवः शरीरमाश्रितास्त्रयः ।
त एव तस्य साक्षिणो भवन्ति धर्मदर्शिनः ॥ ५५ ॥

इस लोकमें अग्नि, वायु और सूर्य—ये तीन देवता जीवके शरीरका आश्रय करके रहते हैं। वे ही उसके धर्माचरणको देखनेवाले हैं और वे ही परलोकमें उसके साक्षी होते हैं ॥ ५५ ॥

अहर्निशेषु सर्वतः स्पृशत्सु सर्वचारिषु ।
प्रकाशगूढवृत्तिषु स्वधर्ममेव पालय ॥ ५६ ॥

दिन सब पदार्थोंको प्रकाशित करता है और रात्रि उन्हें छिपा लेती है। ये सर्वत्र व्याप्त हैं और सभी वस्तुओंका स्पर्श करते हैं, अतः तुम इनकी वेलामें सर्वदा अपने धर्मका ही पालन करो ॥ ५६ ॥

अनेकपारिपन्थिके विरूपरौद्रमक्षिके ।
स्वमेव कर्म रक्ष्यतां स्वकर्म तत्र गच्छति ॥ ५७ ॥

परलोकके मार्गपर बहुत-से लुटेरे और बटमार रहते हैं तथा विकराल एवं भयंकर डाँस एवं मक्खियाँ होती हैं। वहाँ केवल अपना किया हुआ कर्म ही साथ जाता है; अतः तुम्हें अपने सत्कर्मोंकी ही रक्षा करनी चाहिये ॥ ५७ ॥

न तत्र संविभज्यते स्वकर्मणा परस्परम् ।
यथा कृतं स्वकर्मजं तदेव भुज्यते फलम् ॥ ५८ ॥

वहाँ अपने कर्मके अनुसार जो फल प्राप्त होता है, उसका किसीके साथ बँटवारा नहीं होता। वहाँ तो अपने किये हुए कर्मोंका ही फल भोगना होता है ॥ ५८ ॥

यथाप्सरोगणाः फलं सुखं महर्षिभिः सह ।
तथाऽऽप्नुवन्ति कर्मजं विमानकामगामिनः ॥ ५९ ॥

जैसे महर्षियोंके साथ झुंड-की-झुंड अप्सराएँ होती हैं और वे सब पुण्यके फलस्वरूप सुख भोगते हैं, उसी प्रकार वहाँ पुण्यात्मा लोग विमानोंपर चढ़कर इच्छानुसार विचरते और पुण्यकर्मजनित सुख भोगते हैं ॥ ५९ ॥

यथेह यत् कृतं शुभं विपाप्मभिः कृतात्मभिः ।
तदाप्नुवन्ति मानवास्तथा विशुद्धयोनयः ॥ ६० ॥

निष्पाप पुण्यात्मा पुरुषोंद्वारा इस लोकमें जो शुभ कर्म सम्पादित होता है, जन्मान्तरमें विशुद्ध योनिमें [illegible] लेकर उसका वैसा ही [illegible] पाते हैं ॥ ६० ॥

प्रजापतेः सलोकतां बृहस्पतेः शतक्रतोः ।
प्रजन्ति [illegible] परां गतिं गृहस्थधर्मसेतुभिः ॥ ६१ ॥

गृहस्थ-धर्मकी मर्यादाका पालन करनेवाले लोग प्रजापति, बृहस्पति अथवा इन्द्रके लोकमें उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं ॥

सहस्रशोऽप्यनेकशः प्रवक्तुमुत्सहाम ते ।
अबुद्धिमोहनं पुनः प्रभुर्विनाय [illegible] ॥ ६२ ॥

[illegible] ! मैं तुम्हारे सामने हजारों तथा उससे भी अधिक बार यह बात जोर देकर कह सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् तथा सबको पवित्र करनेवाले धर्मने, जिसकी बुद्धिपर मोह नहीं [illegible] गया है, उस धर्मात्मा पुरुषको सदा ही पुण्यलोकमें पहुँचाया है ॥ ६२ ॥

गता त्रिरष्टवर्षता ध्रुवोऽसि पञ्चविंशकः ।
कुरुष्व धर्मसंचयं वयो हि तेऽतिवर्तते ॥ ६३ ॥

बेटा ! तुम्हारी आयुके चौबीस वर्ष बीत गये । अब निश्चय ही तुम पचीस सालके हो गये; अतः धर्मका संचय करो । तुम्हारी सारी आयु यों ही बीती जा रही है ॥ ६३ ॥

पुरा करोति सोऽन्तकः प्रमादगोमुखां चमूम् ।
यथागृहीतमुत्थितस्त्वरस्व धर्मपालने ॥ ६४ ॥

देखो, तुम्हारा जो प्रमाद है, उसमें निवास करनेवाला काल तुम्हारी इन्द्रियोंके समुदायको मुखरहित (भोगशक्तिसे हीन) [illegible] रहा है । इनके असमर्थ हो जानेके पहले ही तुम खड़े हो जाओ और अपने शरीरसे धर्मका पालन करनेके लिये जल्दी करो ॥ ६४ ॥

यथा त्वमेव पृष्ठतस्त्वमग्रतो गमिष्यसि ।
तथा गतिं गमिष्यतः किमात्मना परेण वा ॥ ६५ ॥

जिस समय तुम शरीर छोड़कर परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हीं पीछे रहोगे और तुम्हीं आगे चलोगे—तुम्हारे सिवा दूसरा कोई वहाँ आगे-पीछे चलनेवाला न होगा । ऐसी दशामें किसी अपने या पराये व्यक्तिसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? ॥ ६५ ॥

यदेकपातिनां सतां भवत्यमुत्र गच्छताम् ।
भयेषु साम्परायिकं निधत्स्व केवलं निधिम् ॥ ६६ ॥

भय उपस्थित होनेपर अकेले यात्रा करनेवाले सत्पुरुषोंके लिये परलोकमें जो हितकर होता है, [illegible] धर्म या ज्ञानकी निधिको शुद्धभावसे संचित करो ॥ ६६ ॥

सकूलमूलबान्धवं प्रभुर्हरत्यसङ्गवान् ।
न सन्ति यस्य वारकाः कुरुष्व धर्मसंनिधिम् ॥ ६७ ॥

सर्वसमर्थ काल किसीके प्रति भी स्नेह नहीं करता । वह कूल और मूल अर्थात् आदि-अन्तसहित समस्त बन्धु-बान्धवोंको हर ले जाता है । उसको रोकनेवाले कोई नहीं हैं; इसलिये तुम धर्मका संचय करो ॥ ६७ ॥

इदं निदर्शनं मया तवेह पुत्र साम्प्रतम् ।
स्वदर्शनानुमानतः प्रवर्णितं कुरुष्व तत् ॥ ६८ ॥

बेटा ! मैंने अपने शास्त्रज्ञान और अनुमानके द्वारा इस समय तुम्हें जिस ज्ञानका उपदेश किया है, तुम उसीके अनुसार आचरण करो ॥ ६८ ॥

दधाति यः स्वकर्मणा ददाति यस्य कस्यचित् ।
अबुद्धिमोहजैर्गुणैः स एक एव युज्यते ॥ ६९ ॥

जो पुरुष अपने सत्कर्मोंद्वारा धर्मको धारण करता है और जिस किसीको भी निष्कामभावसे दान देता है, वह अकेला ही मोहरहित बुद्धिसे प्राप्त होनेवाले गुणोंसे संयुक्त होता है ॥ ६९ ॥

श्रुतं समस्तमश्नुते प्रकुर्वतः शुभाः क्रियाः ।
तदेतदर्थदर्शनं कृतज्ञमर्थसंहितम् ॥ ७० ॥

जो [illegible] शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करता और तदनुसार शुभ कर्मोंके अनुष्ठानमें लगा रहता है, उसीके लिये इस ज्ञानका उपदेश किया गया है; क्योंकि कृतज्ञ पुरुषको जो भी उपदेश दिया जाता है, वही सफल होता है ॥ ७० ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः ।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥ ७१ ॥

मनुष्य जब गाँवमें रहकर वहाँके पदार्थोंसे प्रेम करने लगता है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सी ही है । पुण्यात्मा लोग इसे काटकर उत्तम लोकोंमें चले जाते हैं, परंतु पापात्मा पुरुष इसे नहीं काट पाते हैं ॥ ७१ ॥

किं ते धनेन किं बन्धुभिस्ते
किं ते पुत्रैः पुत्रक यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क [illegible] सर्वे ॥ ७२ ॥

बेटा ! जब तुम्हें एक दिन मरना ही है, तब धन, बन्धु और पुत्र आदिसे तुम्हें क्या लेना है; अतः तुम हृदयकी गुफामें छिपे हुए आत्मतत्त्वका अनुसंधान करो । सोचो तो सही; आज तुम्हारे सारे पूर्वज—पितामह कहाँ चले गये ? ॥ ७२ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वाकृतम् ॥ ७३ ॥

जो काम कल करना हो, उसे आज ही कर लेना चाहिये

और जो दोपहर-बाद करना हो, उसे पहले ही पहरमें पूरा कर डालना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम पूरा हुआ है या नहीं ॥ ७३ ॥

अनुगम्य विनाशान्ते निवर्तन्ते ह बान्धवाः ।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं ज्ञातयः सुहृदस्तथा ॥ ७४ ॥

मृत्युके बाद भाई-बन्धु, कुटुम्बी और सुहृद् श्मशान-भूमितक पीछे-पीछे जाते हैं और मृत पुरुषके शरीरको चिताकी आगमें डालकर लौट आते हैं ॥ [illegible] ॥

नास्तिकान् निरनुक्रोशान् नरान् पापमते स्थितान् ।
वामतः कुरु विस्रब्धं परं प्रेप्सुरतन्द्रितः ॥ ७५ ॥

अतः तुम परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके इच्छुक हो आलस्य छोड़कर नास्तिक, निर्दय [illegible] पापबुद्धि मनुष्योंको बिना किसी हिचकके बायें कर दो—कभी भूलकर भी उनका साथ न दो ॥ ७५ ॥

एवमभ्याहते लोके कालेनोपनिपीडिते ।
सुमहद् धैर्यमालम्ब्य धर्मं सर्वात्मना कुरु ॥ ७६ ॥

इस प्रकार जब [illegible] संसार कालसे [illegible] और पीड़ित [illegible] रहा है, [illegible] तुम महान् धैर्यका आश्रय ले सम्पूर्ण हृदयसे धर्मका आचरण करो ॥ ७६ ॥

अथेमं दर्शनोपायं सम्यग् यो वेत्ति [illegible] ।
सम्यक् स्वधर्मं कृत्वेह परत्र सुखमश्नुते ॥ ७७ ॥

जो मनुष्य परमात्माके साक्षात्कारके इस साधनको भली-भाँति जानता है, वह इस लोकमें स्वधर्मका ठीक-ठीक पालन करके परलोकमें सुख भोगता है ॥ ७७ ॥

न देहभेदे मरणं विजानतां
न च प्रणाशः स्वनुपालिते पथि ।
धर्मं [illegible] यो वर्धयते [illegible] पण्डितो
य एव धर्माच्च्यवते स मुह्यति ॥ ७८ ॥

जो ऐसा जानते [illegible] कि शरीरका नाश हो जानेपर भी अपनी मृत्यु नहीं होती है और शिष्ट पुरुषोंद्वारा पालित धर्म-मार्गपर चलनेवालोंका कभी [illegible] नहीं होता है, वे [illegible] बुद्धि-मान् हैं । जो [illegible] [illegible] बातोंको सोच-विचारकर धर्मको बढ़ाता [illegible] है, [illegible] विद्वान् है । जो धर्मसे गिर [illegible] है, वही मोह-ग्रस्त अथवा मूढ़ है ॥ ७८ ॥

प्रयुक्तयोः कर्मपथि स्वकर्मणोः
फलं प्रयोक्ता लभते यथाकृतम् ।
निहीनकर्मा निरयं प्रपद्यते
त्रिविष्टपं गच्छति धर्मपारगः ॥ ७९ ॥

कर्मके मार्गपर प्रयोग (आचरण) [illegible] लाये गये जो अपने [illegible] कर्म हैं, उनका [illegible] कर्ताको [illegible] कर्मके अनुसार [illegible] होता है । नीच कर्म करनेवाला नरकमें [illegible] है और धर्माचरणमें पारङ्गत पुरुष स्वर्गलोकको [illegible] है ॥

सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
तथाऽऽत्मानं समादध्याद् भ्रश्यते न पुनर्यथा ॥ ८० ॥

यह दुर्लभ मानव-शरीर स्वर्गलोकमें पहुँचनेके लिये सीढ़ी-के समान है । इसे पाकर अपने-आपको इस प्रकार धर्ममें एकाग्र करे, जिससे फिर उसे स्वर्गसे नीचे न गिरना पड़े ॥

[illegible] नोत्क्रामति मतिः स्वर्गमार्गानुसारिणी ।
तमाहुः पुण्यकर्माणमशोच्यं पुत्रबान्धवैः ॥ ८१ ॥

स्वर्गलोकके मार्गका अनुसरण करनेवाली जिसकी बुद्धि धर्मका कभी उल्लङ्घन नहीं करती, उसको पुण्यात्मा कहते हैं । वह पुत्रों और बन्धु-बान्धवोंके लिये कदापि शोचनीय नहीं है ॥ ८१ ॥

यस्य नोपहता बुद्धिर्निश्चये ह्यवलम्बते ।
स्वर्गे कृतावकाशस्य नास्ति तस्य महद् भयम् ॥ ८२ ॥

जिसकी बुद्धि दूषित न होकर दृढ़ निश्चयका सहारा लेती है, उसने स्वर्गमें अपने लिये स्थान बना लिया है । उसे नरकका महान् भय नहीं प्राप्त होता ॥ ८२ ॥

तपोवनेषु ये जातास्तत्रैव निधनं गताः ।
तेषामल्पतरो धर्मः कामभोगानजानताम् ॥ ८३ ॥

जो लोग तपोवनोंमें पैदा हुए और वहीं मृत्युको [illegible] हो गये, उन्हें थोड़े-से ही धर्मकी प्राप्ति होती है; क्योंकि वे काम-भोगोंको जानते ही नहीं थे (अतः उन्हें त्यागनेके लिये उनको [illegible] सहन नहीं [illegible] पड़ता) ॥ ८३ ॥

यस्तु भोगान् परित्यज्य शरीरेण तपश्चरेत् ।
न तेन किंचिन्न प्राप्तं तन्मे बहु मतं फलम् ॥ ८४ ॥

जो भोगोंका परित्याग करके तपोवनमें जाकर शरीरसे तपस्या करता है, उसके लिये कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो प्राप्त [illegible] हो । यही [illegible] मुझे अधिक जान पड़ता है ॥ ८४ ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
अनागतान्यतीतानि [illegible] ते [illegible] वा वयम् ॥ ८५ ॥

हजारों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्र पहले जन्मोंमें हो चुके हैं और भविष्यमें होंगे । वे हममेंसे किसके हैं और हम उनमेंसे किसके हैं ? ॥ ८५ ॥

अहमेको [illegible] मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं [illegible] पश्यामि यो मम ॥ ८६ ॥

मैं अकेला हूँ । न तो दूसरा कोई मेरा है और न [illegible] दूसरे किसीका हूँ । [illegible] ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता, जिसका [illegible] होऊँ तथा ऐसा भी कोई नहीं दिखायी देता, जो मेरा हो ॥ ८६ ॥

न तेषां भवता कार्यं [illegible] कार्यं तव तैरपि ।
स्वकृतैस्तानि यातानि भवांश्चैव गमिष्यति ॥ [illegible] ॥

न उनका [illegible] कुछ कर सकते हो और न वे तुम्हारे किसी [illegible] आ सकते हैं । वे अपने कर्मोंके साथ चले गये और तुम भी चले जाओगे ॥ ८७ ॥

इह लोके हि धनिनां [illegible] स्वजनायते ।

स्वजनस्तु दरिद्राणां जीवतामपि नश्यति ॥ ८८ ॥

इस संसारमें जो धनवान् हैं, उन्हींके स्वजन उनके [illegible] स्वजनोचित बर्ताव करते हैं; दरिद्रोंके स्वजन तो उनके जीते-जी ही उन्हें छोड़कर उनकी आँखसे ओझल हो जाते हैं।८८।

संचिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः।
ततः क्लेशमवाप्नोति परत्रेह तथैव च ॥ ८९ ॥

मनुष्य अपनी स्त्रीके लिये अशुभ कर्मका संचय करता है, फिर उसके फलरूपमें इहलोक और परलोकमें भी [illegible] उठाता है ॥ ८९ ॥

पश्यति च्छिन्नभूतं हि जीवलोकं स्वकर्मणा।
तत् कुरुष्व तथा पुत्र कृत्स्नं यत् समुदाहृतम् ॥ ९० ॥

मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही इस जीव-जगत्को छिन्न-भिन्न हुआ देखता है, अतः बेटा! मैंने जो कुछ कहा है, [illegible] सब काममें लाओ ॥ ९० ॥

तदेतत् सम्प्रदृश्यैव कर्मभूमिं प्रपश्यतः।
शुभान्याचरितव्यानि परलोकमभीप्सता ॥ ९१ ॥

इहलोक कर्मभूमि है—ऐसा समझकर इसकी ओर देखते हुए दिव्य लोकोंकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको शुभकर्मोंका ही आचरण करना चाहिये ॥ ९१ ॥

मासर्तुसंज्ञापरिवर्तकेण
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
स्वकर्मनिष्ठाफलसाक्षिकेण
भूतानि कालः पचति प्रसह्य ॥ ९२ ॥

यह कालरूपी रसोइया बलपूर्वक सब जीवोंको पका रहा है। [illegible] और ऋतु नामक करछुलसे वह जीवोंको उलटता-पलटता रहता है। सूर्य उसके लिये आगका काम देते हैं और कर्मफलके साक्षी रात और दिन उसके लिये ईंधन बने हुए हैं ॥ ९२ ॥

धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते
बलेन किं येन रिपुं न बाधते।
श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी ॥ ९३ ॥

उस धनसे क्या लाभ, जिसे मनुष्य न तो किसीको दे सकता और न अपने उपभोगमें ही ला सकता है। उस बलसे क्या लाभ, जिससे शत्रुओंको बाधित न किया जा सके? उस शास्त्रज्ञानसे क्या लाभ, जिसके द्वारा मनुष्य धर्माचरण न कर सके? और उस जीवात्मासे क्या लाभ, जो न तो जितेन्द्रिय है और न मनको ही वशमें रख सकता है? ॥ ९३ ॥

भीष्म उवाच

इदं द्वैपायनवचो हितमुक्तं निशम्य तु।
शुको गतः परित्यज्य पितरं मोक्षदैशिकम् ॥ ९४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! व्यासजीके कहे हुए ये हितकर वचन सुनकर शुकदेवजी अपने पिताको छोड़कर मोक्षतत्त्वके उपदेशक गुरुके पास चले गये ॥ ९४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पावकाध्ययनं नामैकविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें पावकाध्ययन नामक तीन सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मोंका परिणाम कर्ताको अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं [illegible] तपस्तप्तं तथैव च।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! यदि दान, यज्ञ, [illegible] अथवा गुरु-शुश्रूषा करनेसे कोई [illegible] मिलता है तो वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः।
स कर्म कलुषं कृत्वा क्लेशे महति धीयते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जब बुद्धि काम-क्रोध आदि अनर्थोंसे युक्त हो जाती है, तब उससे प्रेरित हुए मनुष्यका मन पापमें प्रवृत्त होने लगता है। फिर वह मनुष्य दोषयुक्त कर्म करके महान् क्लेशमें पड़ जाता है ॥ २ ॥

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम्।
मृतेभ्यः प्रमृता यान्ति दरिद्राः पापकर्मिणः ॥ ३ ॥

पापकर्म करनेवाले दरिद्र मानव दुर्भिक्षसे दुर्भिक्षको, क्लेशसे क्लेशको तथा भयसे भयको पाते हुए मरे हुओंसे भी अधिक मृतकतुल्य हो जाते हैं ॥ ३ ॥

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम्।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः ॥ ४ ॥

जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न तथा शुभकर्मपरायण होते हैं, वे उत्सवसे अधिक उत्सवको, स्वर्गसे अधिक स्वर्गको तथा सुखसे अधिक सुखको पाते हैं ॥ ४ ॥

व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचौरभयेषु च।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम् ॥ ५ ॥

नास्तिक मनुष्योंके हाथमें हथकड़ी डालकर राजा उन्हें राज्यसे दूर निकाल देता है और वे उन जङ्गलोंमें चले जाते हैं, जो मतवाले हाथियोंके कारण दुर्गम तथा [illegible] और चोर आदिके भयसे भरे हुए होते हैं। इससे बढ़कर उन्हें और [illegible] दण्ड मिल सकता है? ॥ ५ ॥

प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम् ॥ [illegible] ॥

जिन्हें देवपूजा और अतिथि-सत्कार प्रिय है, जो उदार हैं तथा श्रेष्ठ पुरुष जिन्हें अच्छे लगते हैं, वे पुण्यात्मा मनुष्य अपने दाहिने हाथके समान मङ्गलकारी एवं मनको वशमें रखनेवाले योगियोंको ही प्राप्त होने योग्य मार्गपर आरूढ होते हैं ॥ ६ ॥

पुलाका इव धान्येषु पूत्यण्डा इव पक्षिषु ।
तद्विधास्ते मनुष्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ७ ॥

जिनका उद्देश्य धर्मपालन नहीं है, ऐसे मनुष्य मानव-समाजके भीतर वैसे ही समझे जाते हैं जैसे धानोंमें थोथा धान और पक्षियोंमें सड़ा हुआ अंडा ॥ ७ ॥

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति ।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥ ८ ॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति ।
करोति कुर्वतः कर्म छायेवानुविधीयते ॥ ९ ॥

जिस जिस मनुष्यने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है । यदि कर्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजीके साथ उसके पीछे जाता है । जब वह सोता है, तब उसका कर्मफल भी उसीके साथ सो जाता है । जब वह खड़ा होता है, तब वह भी उसके पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है, तब वह भी उसके पीछे-पीछे चलने लगता है । इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता । सदा छायाके समान पीछे लगा रहता है ॥ ८-९ ॥

येन येन यथा यद् यत्पुरा कर्म सुनिश्चितम् ।
तत् तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ॥ १० ॥

जिस-जिस मनुष्यने अपने-अपने पूर्वजन्मोंमें जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वह अपने ही किये हुए उन कर्मोंका फल सदा अकेला ही भोगता है ॥ १० ॥

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम् ।
भूतग्राममिमं कालः समन्तादपकर्षति ॥ ११ ॥

अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है, वह शास्त्र-विधानके अनुसार सुरक्षित रहता है । उपयुक्त अवसर आनेपर काल इस प्राणिसमुदायको कर्मानुसार खींच ले आता है ॥ ११ ॥

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥ १२ ॥

जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लङ्घन नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पदे पदे ॥ १३ ॥

सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्व-जन्मके कर्मोंके अनुसार पग-पगपर प्राप्त होते हैं और प्रारब्ध-भोगके पश्चात् पुनः निवृत्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् ।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥ १४ ॥

दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है । जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्व शरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है ॥ १४ ॥

बालो युवा वा वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि जन्मनि ॥ १५ ॥

कोई बालक हो, तरुण हो या बूढ़ा हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, जन्म-जन्मान्तरमें उसी अवस्थामें उस कर्मका फल भोगता है ॥ १५ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १६ ॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओंमेंसे अपनी माँको पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहलेका किया हुआ कर्म भी अपने कर्ताके पास पहुँच जाता है ॥ १६ ॥

मलिनं हि यथा वस्त्रं पश्चाच्छुद्ध्यति वारिणा ।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम् ॥ १७ ॥

जैसे मलिन हुआ वस्त्र पीछे जलसे धोनेपर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार जो उपवासपूर्वक तपस्या करते हैं, (उनका अन्तःकरण शुद्ध होकर) उन्हें कभी समाप्त न होनेवाला महान् सुख मिलता है ॥ १७ ॥

दीर्घकालेन तपसा सेवितेन महामते ।
धर्मनिर्धूतपापानां संसिध्यन्ते मनोरथाः ॥ १८ ॥

महामते ! दीर्घकालतक की हुई तपस्या तथा धर्मा-चरणद्वारा जिनके सारे पाप धुल गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनो-रथ सिद्ध हो जाते हैं ॥ १८ ॥

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके ।
पदं यथा न दृश्येत तथा पुण्यकृतां गतिः ॥ १९ ॥

जैसे आकाशमें पक्षियोंके और जलमें मछलियोंके चरण-चिह्न दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार पुण्यात्मा ज्ञानियोंकी भी गतिका पता नहीं चलता ॥ १९ ॥

अलमन्यैरुपालब्धैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः ।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥ २० ॥

दूसरोंको उलाहने देने तथा लोगोंके अन्यान्य अपराधों-की चर्चा करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है । जो सुन्दर, अनुकूल और अपने लिये हितकर जान पड़े, वही कर्म करना चाहिये ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि धर्मसूक्तिको नाम द्वाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें धर्मसूक्तिकनामक तीन सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीकी पुत्रप्राप्तिके लिये तपस्या और भगवान् शंकरसे वरप्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

कथं व्यासस्य धर्मात्मा शुको जज्ञे महातपाः।
सिद्धिं च परमां प्राप्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! व्यासजीके यहाँ महातपस्वी और धर्मात्मा शुकदेवजीका जन्म कैसे हुआ ? तथा उन्होंने परम सिद्धि कैसे प्राप्त की ? यह मुझे बताइये ॥

कस्यां चोत्पादयामास शुकं व्यासस्तपोधनः।
न ह्यस्य जननीं विद्म जन्म चाग्र्यं महात्मनः ॥ २ ॥

तपस्याके धनी व्यासजीने किस स्त्रीके गर्भसे शुकदेवजीको उत्पन्न किया ? हमें उन महात्मा शुकदेवजीकी माताका नाम नहीं मालूम है और हम उनके श्रेष्ठ जन्मका वृत्तान्त भी नहीं जानते हैं ॥ २ ॥

कथं च बालस्य सतः सूक्ष्मज्ञाने गता मतिः।
यथा नान्यस्य लोकेऽस्मिन् द्वितीयस्येह कस्यचित्॥३॥

शुकदेवजी अभी बालक थे तो भी सूक्ष्मज्ञानमें उनकी बुद्धि कैसे लगी ? इस संसारमें उनके सिवा दूसरे किसीकी ऐसी बुद्धि नहीं देखी गयी ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामते।
न हि मे तृप्तिरस्तीह शृण्वतोऽमृतमुत्तमम् ॥ ४ ॥

महामते ! मैं इस प्रसङ्गको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। आपका यह अमृतके समान उत्तम एवं मधुर प्रवचन सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ ४ ॥

माहात्म्यमात्मयोगं च विज्ञानं च शुकस्य ह।
यथावदानुपूर्व्येण तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥

पितामह ! आप मुझे शुकदेवजीका माहात्म्य, आत्मयोग और विज्ञान यथार्थ रीतिसे क्रमशः बताइये ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! कोई अधिक वर्षोंकी अवस्था हो जानेसे, बाल पक जानेसे, अधिक धन होनेसे तथा भाई-बन्धुओंकी संख्या बढ़ जानेसे भी बड़ा नहीं होता। ऋषियोंने यह नियम बनाया है कि हमलोगोंमेंसे जो वेदोंका प्रवचन कर सकेगा, वही महान् माना जायगा ॥६॥

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि पाण्डव।
तदिन्द्रियाणि संयम्य तपो भवति नान्यथा ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे हो, उस सबकी जड़ तपस्या है। इन्द्रियोंका संयम करनेसे ही तपस्याकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव सिद्धिमाप्नोति मानवः ॥ ८ ॥

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य इन्द्रियोंकी विषयासक्तिके कारण ही दोषको प्राप्त होता है और उन्हीं इन्द्रियोंको काबूमें कर लेनेपर वह सिद्धिका भागी होता है ॥ ८ ॥

अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च।
योगस्य कलया तात न तुल्यं विद्यते फलम् ॥ ९ ॥

तात ! सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञोंका जो फल है, वह योगकी सोलहवीं कलाके फलकी भी समानता नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि जन्मयोगफलं तथा।
शुकस्याग्र्यां गतिं चैव दुर्विदामकृतात्मभिः ॥ १० ॥

राजन् ! मैं तुम्हें शुकदेवजीका जन्म-वृत्तान्त, योगफल तथा अजितात्मा पुरुषोंकी समझमें न आनेवाली उनकी उत्कृष्ट गति बता रहा हूँ ॥ १० ॥

मेरुशृङ्गे किल पुरा कर्णिकारवनायुते।
विजहार महादेवो भीमैर्भूतगणैर्वृतः ॥ ११ ॥

कहते हैं, पूर्वकालमें कनेरके वनोंसे सुशोभित मेरुपर्वतके शिखरपर भगवान् शङ्कर भयानक भूतगणोंको साथ ले विहार करते थे ॥ ११ ॥

शैलराजसुता चैव देवी तत्राभवत् पुरा।
तत्र दिव्यं तपस्तेपे कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ १२ ॥

वहीं गिरिराजकुमारी उमादेवी भी उनके साथ ही निवास करती थीं। उन्हीं दिनों श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास उस पर्वतपर दिव्य तपस्या कर रहे थे ॥ १२ ॥

योगेनात्मानमाविश्य योगधर्मपरायणः।
धारयन् स तपस्तेपे पुत्रार्थं कुरुसत्तम ॥ १३ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! योगधर्मपरायण व्यासजी योगके द्वारा अपने मनको परमात्मामें लगाकर धारणापूर्वक तपका अनुष्ठान करते थे। उनके तपका उद्देश्य था पुत्रकी प्राप्ति ॥ १३ ॥

अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य वा विभो।
धैर्येण सम्मितः पुत्रो मम भूयादिति स्म ह ॥ १४ ॥

उन्होंने यह संकल्प लेकर कि मुझे अग्नि, भूमि, जल, वायु अथवा आकाशके समान धैर्यशाली पुत्र प्राप्त हो, तपस्या आरम्भ की थी ॥ १४ ॥

संकल्पेनाथ योगेन दुष्प्रापमकृतात्मभिः।
वरयामास देवेशमास्थितस्तप उत्तमम् ॥ १५ ॥

उक्त संकल्प लेकर योगके द्वारा उत्तम तपस्यामें लगे हुए वेदव्यासजीने अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्लभ देवेश्वर महादेवजीसे वर-प्रार्थना की ॥ १५ ॥

अतिष्ठन्मारुताहारः शतं किल समाः प्रभुः।
आराधयन्महादेवं बहुरूपमुमापतिम् ॥ १६ ॥

शक्तिशाली व्यासजी सौ वर्षोंतक केवल वायुभक्षण करते हुए अनेक रूपधारी उमापति महादेवजीकी आराधनामें लगे रहे ॥ १६ ॥

तत्र ब्रह्मर्षयश्चैव सर्वे राजर्षयस्तथा ।
लोकपालाश्च लोकेशं साध्याश्च वसुभिः सह ॥ १७ ॥
आदित्याश्चैव रुद्राश्च दिवाकरनिशाकरौ ।
वसवो मरुतश्चैव सागराः सरितस्तथा ॥ १८ ॥
अश्विनौ देवगन्धर्वास्तथा नारदपर्वतौ ।
विश्वावसुश्च गन्धर्वः सिद्धाश्चाप्सरसस्तथा ॥ १९ ॥

वहाँ सम्पूर्ण ब्रह्मर्षि, सभी राजर्षि, लोकपाल, वसुओंके अनुचरोंके सहित साध्य, आदित्य, रुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, वसुगण, मरुद्गण, समुद्र, सरिताएँ, दोनो अश्विनीकुमार, देवता, गन्धर्व, नारद, पर्वत, गन्धर्वराज विश्वावसु, सिद्ध तथा अप्सराएँ भी लोकेश्वर महादेवजीकी आराधना करती थीं ॥

तत्र रुद्रो महादेवः कर्णिकारमयीं शुभाम् ।
धारयाणः स्रजं भाति ज्योत्स्नामिव निशाकरः ॥ २० ॥
तस्मिन् दिव्ये वने रम्ये देवदेवर्षिसंकुले ।
आस्थितः परमं योगमृषिः पुत्रार्थमच्युतः ॥ २१ ॥

वहाँ महान् रुद्रदेव कनेर पुष्पोंकी मनोहर माला धारण किये चाँदनीसहित चन्द्रमाके समान शोभा पाते थे । देवताओं तथा देवर्षियोंसे भरे हुए उस दिव्य रमणीय वनमें पुत्र-प्राप्तिके लिये परम योगका आश्रय ले मुनिवर व्यास तपस्यामें प्रवृत्त थे और उससे विचलित नहीं होते थे ॥ २०-२१ ॥

न चास्य हीयते प्राणो न ग्लानिरुपजायते ।
त्रयाणामपि लोकानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २२ ॥

ऐसा कठोर तप करनेपर भी न तो उनके प्राण नष्ट हुए और न उन्हें ग्लानि ही हुई । यह तीनों लोकोंके लिये अद्भुत-सी बात हुई ॥ २२ ॥

जटाश्च तेजसा तस्य वैश्वानरशिखोपमाः ।
प्रज्वलन्त्यः स्म दृश्यन्ते युक्तस्यामिततेजसः ॥ २३ ॥

योगयुक्त हुए अमित तेजस्वी व्यासजीकी जटाएँ उनके तेजसे आगकी लपटोंके समान प्रज्वलित दिखायी देती थीं ॥ २३ ॥

मार्कण्डेयो हि भगवानेतदाख्यातवान् मम ।
स देवचरितानीह कथयामास मे सदा ॥ २४ ॥

मुझे तो यह वृत्तान्त भगवान् मार्कण्डेयजीने सुनाया था । वे मुझे सदा ही देवताओंके चरित्र सुनाया करते थे ॥ २४ ॥

एता अद्यापि कृष्णस्य तपसा तेन दीपिताः ।
अग्निवर्णा जटास्तात प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ २५ ॥

तात ! उसी तपस्यासे उद्दीप्त हुई महात्मा व्यासजीकी वे जटाएँ आज भी अग्निके समान प्रकाशित हो रही हैं ॥ २५ ॥

एवंविधेन तपसा तस्य भक्त्या च भारत ।
महेश्वरः प्रसन्नात्मा चकार मनसा मतिम् ॥ २६ ॥

भारत ! उनकी ऐसी तपस्या और भक्ति देखकर महादेवजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने मन-ही-मन उन्हें अभीष्ट वर देनेका विचार किया ॥ २६ ॥

उवाच चैवं भगवांस्त्र्यम्बकः प्रहसन्निव ।
एवंविधस्ते तनयो द्वैपायन भविष्यति ॥ २७ ॥

भगवान् शिव व्यासजीके सामने आये और हँसते हुए-से बोले—'द्वैपायन ! तुम जैसा चाहते हो, वैसा ही पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा ॥ २७ ॥

यथा ह्यग्निर्यथा वायुर्यथा भूमिर्यथा जलम् ।
यथा च खं तथा शुद्धो भविता ते सुतो महान् ॥ २८ ॥

'जैसे अग्नि, जैसे वायु, जैसे पृथ्वी, जैसे जल और जैसे आकाश शुद्ध है, तुम्हारा पुत्र भी वैसा ही शुद्ध एवं महान् होगा ॥ २८ ॥

तद्भावभावी तद्बुद्धिस्तदात्मा तदपाश्रयः ।
तेजसाऽऽवृत्य लोकांस्त्रीन् यशः प्राप्स्यति ते सुतः ॥ २९ ॥

'वह भगवद्भावमें रँगा होगा, भगवान्में ही उसकी बुद्धि होगी, भगवान्में ही उसका मन लगा रहेगा और एकमात्र भगवान्को ही वह अपना आश्रय समझेगा । उसके तेजसे तीनों लोक व्याप्त हो जायँगे और तुम्हारा वह पुत्र महान् यश प्राप्त करेगा' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ त्रयोविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी उत्पत्ति और उनके यज्ञोपवीत, वेदाध्ययन एवं समावर्तन संस्कारका वृत्तान्त

भीष्म उवाच

स लब्ध्वा परमं देवाद् वरं सत्यवतीसुतः ।
अरणी सहिते गृह्य ममन्थाग्निचिकीर्षया ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महादेवजीसे उत्तम वर पाकर एक दिन सत्यवतीनन्दन व्यासजी अग्नि प्रकट करनेकी इच्छासे दो अरणी काष्ठ लेकर उनका मन्थन करने लगे ॥

अथ रूपं परं राजन् बिभ्रतीं स्वेन तेजसा ।
घृताचीं नामाप्सरसमपश्यद् भगवानृषिः ॥ २ ॥

नरेश्वर ! इसी समय उन भगवान् महर्षि व्यासने वहाँ आयी हुई घृताची नामक अप्सराको देखा, जो अपने तेजसे परम मनोहर रूप धारण किये हुए थी ॥ २ ॥

ऋषिरप्सरसं दृष्ट्वा सहसा काममोहितः ।

अभवद् भगवान् व्यासो वने तस्मिन् युधिष्ठिर ॥ ३ ॥
सा च दृष्ट्वा तदा व्यासं कामसंविग्नमानसम्।
शुकी भूत्वा महाराज घृताची समुपागमत् ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! उस वनमें उस अप्सराको देखकर ऋषि भगवान् व्यास सहसा कामसे मोहित हो गये। महाराज ! उस समय व्यासजीका हृदय कामसे व्याकुल हुआ देख घृताची अप्सरा शुकी होकर उनके पास आयी ॥ ३-४ ॥

स तामप्सरसं दृष्ट्वा रूपेणान्येन संवृताम्।
शरीरजेनानुगतः सर्वगात्रातिगेन ह ॥ ५ ॥

उस अप्सराको दूसरे रूपसे छिपी हुई देख उनके सम्पूर्ण शरीरमें कामवेदना व्याप्त हो गयी ॥ ५ ॥

स तु धैर्येण महता निगृह्णन् हृच्छयं मुनिः।
न शशाक नियन्तुं तद् व्यासः प्रविसृतं मनः ॥ ६ ॥

मुनिवर व्यास महान् धैर्यके साथ अपने कामवेगको रोकने लगे; परंतु अप्सराकी ओर गये हुए मनको रोकनेमें वे किसी तरह समर्थ न हो सके ॥ ६ ॥

भावित्वाच्चैव भावस्य घृताच्या वपुषा हृतः।
यत्नान्नियच्छतस्तस्य मुनेरग्निचिकीर्षया ॥ ७ ॥
अरण्यामेव सहसा तस्य शुक्रमवापतत्।

होनहार होकर ही रहती है; इसलिये व्यासजी घृताचीके रूपसे आकृष्ट हो गये। अग्नि प्रकट करनेकी इच्छासे अपने कामवेगको यत्नपूर्वक रोकते हुए महर्षि व्यासका वीर्य सहसा उस अरणीकाष्ठपर ही गिर पड़ा ॥ ७½ ॥

सोऽविशंकेन मनसा तथैव द्विजसत्तमः ॥ ८ ॥
अरणीं ममन्थ ब्रह्मर्षिस्तस्यां जज्ञे शुको नृप।

नरेश्वर ! उस समय भी द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मर्षि व्यास निःशङ्क मनसे दोनों अरणियोंके मन्थनमें ही लगे रहे। उसी समय अरणीसे शुकदेवजी प्रकट हो गये ॥ ८½ ॥

शुक्रे निर्मथ्यमाने स शुको जज्ञे महातपाः ॥ ९ ॥
परमर्षिर्महायोगी अरणीगर्भसम्भवः।

अरणीके साथ-साथ शुक्रका भी मन्थन होनेसे महातपस्वी तथा महायोगी परम ऋषि शुकदेवजीका जन्म हो गया। वे अरणीके ही गर्भसे प्रकट हुए ॥ ९½ ॥

यथाध्वरे समिद्धोऽग्निर्भाति हव्यमुदावहन् ॥ १० ॥
तथारूपः शुको जज्ञे प्रज्वलन्निव तेजसा।

जैसे यज्ञमें हविष्यका वहन करनेवाली प्रज्वलित अग्नि प्रकाशित होती है, वैसे ही रूपसे शुकदेवजी प्रकट हुए थे। वे अपने तेजसे मानो जाज्वल्यमान हो रहे थे ॥ १०½ ॥

बिभ्रत् पितुश्च कौरव्य रूपवर्णमनुत्तमम् ॥ ११ ॥
बभौ तदा भावितात्मा विधूम इव पावकः।

कुरुनन्दन ! अपने पिताके समान ही परम उत्तम रूप और कान्ति धारण किये पवित्रात्मा शुकदेव धूमरहित अग्निके [illegible] देदीप्यमान हो रहे थे ॥ ११½ ॥

[illegible] गङ्गा सरितां श्रेष्ठा मेरुपृष्ठे जनेश्वर ॥ १२ ॥
स्वरूपिणी तदाभ्येत्य तर्पयामास वारिणा।

जनेश्वर ! उसी समय सरिताओंमें श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी मूर्तिमती होकर मेरुपर्वतपर आयीं और उन्होंने अपने जलसे शुकदेवजीको तृप्त किया ॥ १२½ ॥

अन्तरिक्षाच्च कौरव्य दण्डः कृष्णाजिनं च ह ॥ १३ ॥
पपात भूमिं राजेन्द्र शुकस्यार्थे महात्मनः।

कुरुनन्दन ! राजेन्द्र ! आकाशसे महात्मा शुकदेवके लिये दण्ड और काला मृगचर्म—ये दोनों वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरीं ॥ १३½ ॥

जेगीयन्ते स्म गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ १४ ॥
देवदुन्दुभयश्चैव प्रावाद्यन्त महास्वनाः।
विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा तुम्बुरुनारदौ ॥ १५ ॥
हाहा हूहूश्च गन्धर्वौ तुष्टुवुः शुकसम्भवम्।

गन्धर्व गाने और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बड़े जोर-जोरसे बज उठीं। विश्वावसु, तुम्बुरु, नारद, हाहा और हूहू आदि गन्धर्व शुकदेवजीके जन्मकी बधाई गाने लगे ॥ १४-१५½ ॥

[illegible] शक्रपुरोगाश्च लोकपालाः समागताः ॥ १६ ॥
देवा देवर्षयश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽपि च।

इन्द्र आदि सम्पूर्ण लोकपाल, देवता, देवर्षि और ब्रह्मर्षि भी वहाँ आये ॥ १६½ ॥

दिव्यानि सर्वपुष्पाणि प्रववर्ष च मारुतः ॥ १७ ॥
जङ्गमाजङ्गमं चैव प्रहृष्टमभवज्जगत्।

वायुने सब प्रकारके दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की। चर और अचर सारा संसार हर्षसे खिल उठा ॥ १७½ ॥

तं महात्मा स्वयं प्रीत्या देव्या सह महाद्युतिः ॥ १८ ॥
जातमात्रं मुनेः पुत्रं विधिनोपानयत् तदा।

तब महातेजस्वी महात्मा भगवान् शङ्करने देवी पार्वतीके साथ स्वयं प्रसन्नतापूर्वक पधारकर महर्षि व्यासके उस नवजात पुत्रका विधिपूर्वक उपनयन संस्कार किया ॥ १८½ ॥

तस्य देवेश्वरः शक्रो दिव्यमद्भुतदर्शनम् ॥ १९ ॥
ददौ कमण्डलुं प्रीत्या देववासांसि वा विभो।

प्रभो ! उस समय देवेश्वर इन्द्रने उन्हें प्रेमपूर्वक दिव्य एवं अद्भुत कमण्डलु तथा देवोचित वस्त्र प्रदान किये ॥ १९½ ॥

हंसाश्च शतपत्राश्च सारसाश्च सहस्रशः ॥ २० ॥
प्रदक्षिणमवर्तन्त शुकाश्चाषाश्च भारत।

भारत ! सहस्रों हंस, शतपत्र, सारस, शुक और नीलकण्ठ आदि पक्षी उनकी प्रदक्षिणा करने लगे ॥ २०½ ॥

आरणेयस्ततो दिव्यं प्राप्य जन्म महाद्युतिः ॥ २१ ॥
तत्रैवोवास मेधावी व्रतचारी समाहितः।

तदनन्तर महातेजस्वी अरणिसम्भूत शुक वह दिव्य जन्म पाकर ब्रह्मचर्यकी दीक्षा ले वहीं रहने लगे। वे बड़े

बुद्धिमान्, व्रतपालक तथा चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे॥२१½॥

उत्पन्नमात्रं तं वेदाः सरहस्याः ससंग्रहाः ॥ २२ ॥
उपतस्थुर्महाराज [illegible] पितरं तथा ।

महाराज ! शुकदेवजीके जन्म लेते ही रहस्य और संग्रह-सहित सम्पूर्ण वेद उसी प्रकार उनकी सेवामें उपस्थित हो गये, जैसे वे उनके पिता वेदव्यासकी सेवामें उपस्थित हुए थे ।

बृहस्पतिं च वव्रे [illegible] वेदवेदाङ्गभाष्यवित् ॥ २३ ॥
उपाध्यायं महाराज धर्ममेवानुचिन्तयन् ।

महाराज ! वेद-वेदाङ्गोंकी विस्तृत व्याख्याके ज्ञाता शुकदेवजीने धर्मका विचार करके बृहस्पतिको अपना गुरु बनाया ॥ २३½ ॥

सोऽधीत्य निखिलान् वेदान् सरहस्यान् ससंग्रहान् ॥
इतिहासं [illegible] कार्त्स्न्येन राजशास्त्राणि चा विभो ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावृत्तो महामुनिः ॥ २५ ॥

प्रभो ! महामुनि शुकदेवने उनसे रहस्य और संग्रह-सहित सम्पूर्ण वेदोंका, समूचे इतिहासका तथा राजशास्त्रका भी अध्ययन करके गुरुको दक्षिणा दे समावर्तन संस्कारके पश्चात् घरको प्रस्थान किया ॥ २४-२५ ॥

उग्रं तपः समारेभे ब्रह्मचारी समाहितः ।
देवतानामृषीणां च बाल्येऽपि [illegible] महातपाः ।
सम्मन्त्रणीयो मान्यश्च ज्ञानेन [illegible] तथा ॥ २६ ॥

उन्होंने एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए [illegible] प्रारम्भ की । महातपस्वी शुकदेव ज्ञान और तपस्याके द्वारा बाल्यकालमें भी देवताओं तथा ऋषियोंके आदरणीय और उन्हें सलाह देने योग्य हो गये थे ॥ २६ ॥

[illegible] त्वस्य रमते बुद्धिराश्रमेषु नराधिप ।
त्रिषु गार्हस्थ्यमूलेषु मोक्षधर्मानुदर्शिनः ॥ २७ ॥

नरेश्वर ! वे मोक्षधर्मपर ही दृष्टि रखते थे; अतः उनकी बुद्धि गार्हस्थ्य आश्रमपर अवलम्बित रहनेवाले तीनों आश्रमोंमें प्रसन्नताका अनुभव नहीं करती थी ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ चतुर्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पिताकी आज्ञासे शुकदेवजीका मिथिलामें [illegible] और वहाँ उनका द्वारपाल, मन्त्री और युवती स्त्रियोंके द्वारा सत्कृत होनेके [illegible] ध्यानमें स्थित हो जाना

भीष्म उवाच

स मोक्षमनुचिन्त्यैव शुकः पितरमभ्यगात् ।
प्राहाभिवाद्य [illegible] गुरुं श्रेयोऽर्थी विनयान्वितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! शुकदेवजी मोक्षका विचार करते हुए ही अपने पिता एवं गुरु व्यासजीके पास गये और विनीतभावसे उनके चरणोंमें प्रणाम करके कल्याण-प्राप्तिकी इच्छा रखकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

मोक्षधर्मेषु कुशलो भगवान् प्रब्रवीतु मे ।
[illegible] मे मनसः शान्तिः परमा सम्भवेत् प्रभो ॥ २ ॥

'प्रभो ! आप मोक्षधर्ममें कुशल हैं; अतः मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मेरे चित्तको परम शान्ति मिले' ॥२॥

श्रुत्वा पुत्रस्य [illegible] वचः परमर्षिरुवाच तम् ।
अधीष्व पुत्र मोक्षं वै धर्मांश्च विविधानपि ॥ ३ ॥

पुत्रकी वह [illegible] सुनकर महर्षि व्यासने कहा, 'बेटा ! तुम मोक्ष तथा अन्यान्य विविध धर्मोंका अध्ययन करो' ॥३॥

पितुर्नियोगाज्जग्राह शुको धर्मभृतां वरः ।
योगशास्त्रं च निखिलं कापिलं चैव भारत ॥ ४ ॥

भारत ! पिताकी आज्ञासे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ शुकने सम्पूर्ण योगशास्त्र [illegible] समस्त सांख्यका अध्ययन किया ॥ ४ ॥

स तं ब्राह्म्या श्रि[illegible] युक्तं ब्रह्मतुल्यपराक्रमम् ।
मेने पुत्रं यदा व्यासो मोक्षधर्मविशारदम् ॥ ५ ॥
उवाच गच्छेति तदा जनकं मिथिलेश्वरम् ।
स ते वक्ष्यति मोक्षार्थं निखिलं मिथिलेश्वरः ॥ ६ ॥

जब व्यासजीने यह समझ लिया कि मेरा पुत्र ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और मोक्षधर्ममें कुशल हो गया है तथा समस्त शास्त्रोंमें इसकी ब्रह्माके समान गति हो गयी है, तब उन्होंने कहा—'बेटा ! अब तुम मिथिलाके राजा जनकके पास जाओ । वे मिथिलानरेश तुम्हें सम्पूर्ण मोक्षशास्त्रका सार सिद्धान्त बता देंगे' ॥ ५-६ ॥

पितुर्नियोगमादाय जगाम मिथिलां नृप ।
प्रष्टुं धर्मस्य निष्ठां वै मोक्षस्य च परायणम् ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! पिताकी [illegible] पाकर शुकदेवजी धर्मकी निष्ठा और मोक्षका परम आश्रय पूछनेके लिये मिथिलाकी ओर [illegible] दिये ॥ ७ ॥

[illegible] मानुषेण त्वं [illegible] गच्छेत्यविस्मितः ।
न प्रभावेण गन्तव्यमन्तरिक्षचरे[illegible] वै ॥ ८ ॥

जाते समय व्यासजीने फिर बिना किसी विस्मयके कहा—'बेटा ! जिस मार्गसे साधारण मनुष्य चलते हों, उसीसे तुम भी जाना । अपनी योगशक्तिका आश्रय लेकर आकाशमार्गसे कदापि यात्रा न करना ॥ ८ ॥

आर्जवेनैव गन्तव्यं न सुखान्वेषिणा तथा ।
नान्वेष्टव्या विशेषास्तु विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥ ९ ॥

'सरलभावसे ही यात्रा करनी चाहिये। रास्तेमें सुख और सुविधाकी खोज नहीं करनी चाहिये। विशेष-विशेष व्यक्तियों अथवा स्थानोंका अनुसंधान न करना; क्योंकि इससे उनके प्रति आसक्ति हो जाती है ॥ ९ ॥

अहंकारो न कर्तव्यो याज्ये तस्मिन् नराधिपे।
स्थातव्यं च वशे तस्य स ते छेत्स्यति संशयम् ॥ १० ॥

'राजा जनक मेरे यजमान हैं, ऐसा समझकर उनके प्रति अहंकार न प्रकट करना तथा सब प्रकारसे उनकी आज्ञाके अधीन रहना। वे तुम्हारी सब शङ्काओंका समाधान कर देंगे ॥ १० ॥

स धर्मकुशलो राजा मोक्षशास्त्रविशारदः।
याज्यो मम स यद् ब्रूयात् तत् कार्यमविशङ्कया ॥ ११ ॥

'मेरे यजमान राजा जनक धर्मनिपुण तथा मोक्षशास्त्रमें प्रवीण हैं। वे तुम्हें जो आज्ञा दें, उसीका निःशङ्क होकर पालन करना' ॥ ११ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा जगाम मिथिलां मुनिः।
पद्भ्यां शक्तोऽन्तरिक्षेण क्रान्तुं पृथ्वीं ससागराम् ॥ १२ ॥

पिताके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा मुनि शुकदेवजी मिथिलाकी ओर चल दिये। यद्यपि वे आकाशमार्गसे सारी पृथ्वीको लाँघ जानेमें समर्थ थे, तो भी पैदल ही चले ॥ १२ ॥

स गिरींश्चाप्यतिक्रम्य नदीतीर्थसरांसि च।
बहुव्यालमृगाकीर्णा ह्यटवीश्च वनानि च ॥ १३ ॥
मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः।
क्रमेणैवं व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत् ॥ १४ ॥

मार्गमें उन्हें अनेक पर्वत, नदी, तीर्थ और सरोवर पार करने पड़े। बहुत-से सर्पों और वन्य पशुओंसे भरे हुए कितने ही जंगलोंमें होकर जाना पड़ा। उन सबको लाँघकर क्रमशः मेरु (इलावृत) वर्ष, हरिवर्ष और हैमवत (किम्पुरुष) वर्षको पार करते हुए वे भारतवर्षमें आये ॥ १३-१४ ॥

स देशान् विविधान् पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान्।
आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः ॥ १५ ॥

चीन और हूण जातिके लोगोंसे सेवित नाना प्रकारके देशोंका दर्शन करते हुए महामुनि शुकदेवजी इस आर्यावर्त देशमें आ पहुँचे ॥ १५ ॥

पितुर्वचनमाज्ञाय तमेवार्थं विचिन्तयन्।
अध्वानं सोऽतिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥ १६ ॥

पिताकी आज्ञा मानकर उसी ज्ञातव्य विषयका चिन्तन करते हुए उन्होंने सारा मार्ग पैदल ही तै किया। जैसे आकाशचारी पक्षी आकाशमें विचरता है, उसी प्रकार वे भूतलपर विचरण करते थे ॥ १६ ॥

पत्तनानि च रम्याणि स्फीतानि नगराणि च।
रत्नानि च विचित्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १७ ॥

रास्तेमें बड़े सुन्दर-सुन्दर शहर और कस्बे तथा समृद्धिशाली नगर दिखायी पड़े। भाँति-भाँतिके विचित्र रत्न दृष्टिगोचर हुए; किंतु शुकदेवजी उनकी ओर देखते हुए भी नहीं देखते थे ॥ १७ ॥

उद्यानानि च रम्याणि तथैवायतनानि च।
पुण्यानि चैव रत्नानि सोऽत्यक्रामदथाध्वगः ॥ १८ ॥

पथिक शुकदेवजीने बहुत-से मनोहर उद्यान तथा घर और मन्दिर देखकर उनकी उपेक्षा कर दी। कितने ही पवित्र रत्न उनके सामने पड़े, परंतु वे सबको लाँघकर आगे बढ़ गये ॥ १८ ॥

सोऽचिरेणैव कालेन विदेहानाससाद ह।
रक्षितान् धर्मराजेन जनकेन महात्मना ॥ १९ ॥

इस प्रकार यात्रा करते हुए वे थोड़े ही समयमें धर्मराज महात्मा जनकद्वारा पालित विदेहप्रान्तमें जा पहुँचे ॥ १९ ॥

तत्र ग्रामान् बहून् पश्यन् बह्वन्नरसभोजनान्।
पल्लीघोषान् समृद्धांश्च बहुगोकुलसंकुलान् ॥ २० ॥

वहाँ बहुत-से गाँव उनकी दृष्टिमें आये, जहाँ अन्न, पानी तथा नाना प्रकारकी खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रामें मौजूद थी। छोटी-छोटी टोलियाँ तथा गोष्ठ (गौओंके रहनेके स्थान) भी दृष्टिगोचर हुए, जो बड़े समृद्धिशाली और बहुसंख्यक गोसमुदायोंसे भरे हुए थे ॥ २० ॥

स्फीतांश्च शालियवसैर्हंससारससेवितान्।
पद्मिनीभिश्च शतशः श्रीमतीभिरलङ्कृतान् ॥ २१ ॥

सारे विदेहप्रान्तमें सब ओर अगहनी धानकी खेती लहलहा रही थी। वहाँके निवासी धन-धान्यसे सम्पन्न थे। उस देशमें चारों ओर हंस और सारस निवास करते थे। कमलोंसे अलंकृत सैकड़ों सुन्दर सरोवर विदेहराज्यकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २१ ॥

स विदेहानतिक्रम्य समृद्धजनसेवितान्।
मिथिलोपवनं रम्यमाससाद समृद्धिमत् ॥ २२ ॥

इस प्रकार समृद्धिशाली मनुष्योंद्वारा सेवित विदेहदेशको लाँघकर वे मिथिलाके समृद्धिसम्पन्न रमणीय उपवनके पास जा पहुँचे ॥ २२ ॥

हस्त्यश्वरथसंकीर्णं नरनारीसमाकुलम्।
पश्यन्नपश्यन्निव तत् समतिक्रामदच्युतः ॥ २३ ॥

वह स्थान हाथी, घोड़े और रथोंसे भरा था। असंख्य नर-नारी वहाँ आते-जाते दिखायी देते थे। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले शुकदेवजी वह सब देखकर भी नहीं देखते हुए-से वहाँसे आगे बढ़ गये ॥ २३ ॥

मनसा तं वहन् भारं तमेवार्थं विचिन्तयन्।
आत्मारामः प्रसन्नात्मा मिथिलामाससाद ह ॥ २४ ॥
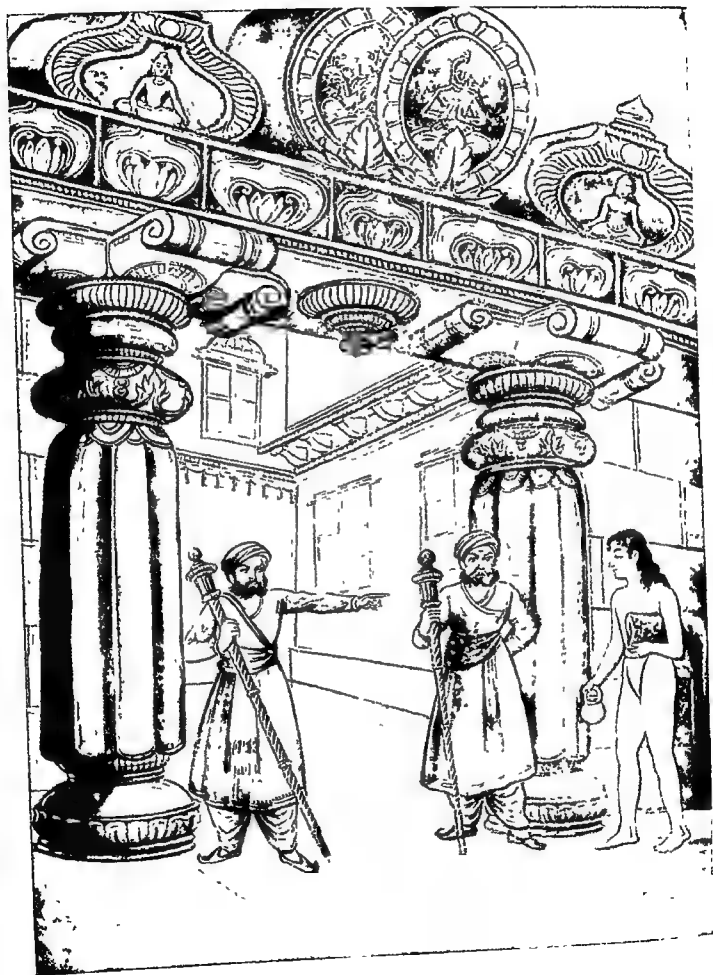
मनसे जिज्ञासाका भार वहन करते और उस ज्ञेय वस्तु-

राजा जनकके द्वारपर शुकदेवजी

ही चिन्तन करते हुए आत्माराम प्रसन्नचित्त शुकदेवने मिथिलामें प्रवेश किया ॥ २४ ॥

द्वारं निःशङ्कः प्रविवेश ह ।
तत्रापि द्वारपालास्तमुग्रवाचा न्यषेधयन् ॥ २५ ॥

नगरद्वारपर पहुँचकर वे निःशङ्कभावसे उसके भीतर प्रवेश करने लगे। तब वहाँ द्वारपालोंने कठोर वाणीद्वारा उन्हें डाँटकर भीतर जानेसे रोक दिया ॥ २५ ॥

तथैव च शुकस्तत्र निर्मन्युः समतिष्ठत ।
न चातपाध्वसंतप्तः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ॥ २६ ॥

शुकदेवजी वहीं खड़े हो गये; किंतु उनके मनमें किसी प्रकारका खेद या क्रोध नहीं हुआ। रास्तेकी थकावट और सूर्यकी धूपसे उन्हें संताप नहीं पहुँचा था। भूख और प्यास उन्हें नहीं दे सकी थी ॥ २६ ॥

प्रताम्यति ग्लायति वा नापैति च तथाऽऽतपात् ।
तेषां तु द्वारपालानामेकः शोकसमन्वितः ॥ २७ ॥

वे उस धूपसे न तो होते थे, न ग्लानिका अनुभव करते थे और न धूपसे हटकर छायामें ही जाते थे। उस समय उन द्वारपालोंमेंसे एकको अपने व्यवहारपर बड़ा दुःख हुआ ॥ २७ ॥

मध्यं गतमिवादित्यं दृष्ट्वा शुकमवस्थितम् ।
पूजयित्वा यथान्यायमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥ २८ ॥
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां द्वितीयां राजवेश्मनः ।

उसने मध्याह्नकालीन तेजस्वी सूर्यकी भाँति शुकदेवजीको चुपचाप खड़ा देख हाथ जोड़कर प्रणाम किया और शास्त्रीय विधिके अनुसार उनकी यथोचित पूजा करके उन्हें राजभवनकी दूसरी कक्षामें पहुँचा दिया ॥ २८½ ॥

तत्रासीनः शुकस्तात मोक्षमेवान्वचिन्तयत् ॥ २९ ॥
छायायामातपे चैव समदर्शी महाद्युतिः ।

तात ! वहाँ जगह बैठकर महातेजस्वी शुकदेवजी मोक्षका ही चिन्तन करने लगे। धूप हो छाया, दोनोंमें उनकी समान दृष्टि थी ॥ २९½ ॥

तं मुहूर्तादिवागम्य राज्ञो मन्त्री कृताञ्जलिः ॥ ३० ॥
प्रावेशयत् ततः कक्ष्यां तृतीयां राजवेश्मनः ।

थोड़ी ही देरमें राजमन्त्री हाथ जोड़े हुए वहाँ पधारे और उन्हें अपने महलकी तीसरी ड्योढ़ीमें ले गये ॥

तत्रान्तःपुरसम्बद्धं महच्चैत्ररथोपमम् ॥ ३१ ॥
सुविभक्तजलाक्रीडं रम्यं पुष्पितपादपम् ।
शुकं प्रावेशयन्मन्त्री प्रमदावनमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

वहाँ अन्तःपुरसे सटा हुआ एक बहुत सुन्दर विशाल बगीचा था,जो चैत्ररथ वनके समान मनोहर जान पड़ता था। उसमें पृथक्-पृथक् जलक्रीड़ाके लिये अनेक सुन्दर जलाशय बने हुए थे। वह रमणीय उपवन खिले हुए वृक्षोंसे सुशोभित होता था। उस उत्तम उद्यानका नाम था प्रमदावन। मन्त्रीने शुकदेवजीको उसके भीतर पहुँचा दिया ॥ ३१-३२ ॥

स तस्यासनमादिश्य निश्चक्राम पुनः ।
तं चारुवेषाः सुश्रोण्यस्तरुण्यः प्रियदर्शनाः ॥ ३३ ॥
सूक्ष्मरक्ताम्बरधरास्तप्तकाञ्चनभूषणाः ।
संलापोल्लापकुशला नृत्यगीतविशारदाः ॥ ३४ ॥
स्मितपूर्वाभिभाषिण्यो रूपेणाप्सरसां समाः ।
कामोपचारकुशला सर्वकोविदाः ॥ ३५ ॥
परं पञ्चाशतं नार्यो वारमुख्याः समाद्रवन् ।

वहाँ उनके लिये सुन्दर आसन बताकर राजमन्त्री पुनः प्रमदावनसे बाहर निकल आये। मन्त्रीके जाते ही पचास प्रमुख वाराङ्गनाएँ शुकदेवजीके पास दौड़ी आयीं। उनकी वेषभूषा बड़ी मनोहारिणी थी। वे सब-की-सब देखनेमें परम सुन्दरी और नवयुवती थीं। वे सुरम्य कटिप्रदेशसे सुशोभित थीं। उनके सुन्दर अङ्गोंपर लाल रंगकी महीन साड़ियाँ शोभा रही थीं। तपाये हुए सुवर्णके आभूषण उनका सौन्दर्य बढ़ा रहे थे। वे बातचीत करनेमें कुशल और नाचने-गानेकी कलामें बड़ी प्रवीण थीं। उनका रूप अप्सराओंके समान था, वे मन्द मुसकानके साथ बातें करतीं और दूसरोंके मनका लेती थीं। कामचर्यामें कुशल और सम्पूर्ण कलाओं- विशेष ज्ञान रखनेवाली थीं ॥ ३३—३५½ ॥

पाद्यादीनि प्रतिग्राह्य पूजया पर्यार्चयन् ॥ ३६ ॥
कालोपपन्नेन तदा स्वाद्वन्नेनाभ्यतर्पयन् ।

उन्होंने पाद्य, अर्घ्य आदि निवेदन करके उत्तम विधिसे शुकदेवजीका पूजन किया और उन्हें समयानुकूल स्वादिष्ट अन्न भोजन कराकर पूर्णतः तृप्त किया ॥ ३६½ ॥

तस्य भुक्तवतस्तात तदन्तःपुरकाननम् ॥ ३७ ॥
सुरम्यं दर्शयामासुरेकैकश्येन ।

! भरतनन्दन ! जब वे भोजन कर चुके, तब वे वाराङ्गनाएँ उन्हें साथ लेकर अन्तःपुरके सुरम्य कानन— प्रमदावनकी सैर कराने और वहाँकी एक-एक वस्तुको दिखाने लगीं ॥ ३७½ ॥

क्रीडन्त्यश्च हसन्त्यश्च गायन्त्यश्चापि ताः शुभम् ॥ ३८ ॥
उदारसत्त्वं सत्त्वज्ञाः स्त्रियः पर्यचरंस्तथा ।

उस समय वे हँसती, गाती तथा नाना प्रकारकी सुन्दर क्रीड़ाएँ करती थीं। मनके भावको समझनेवाली वे सुन्दरियाँ उन उदारचित्त शुकदेवजीकी सब प्रकारसे सेवा करने लगीं ॥

आरणेयस्तु शुद्धात्मा निःसंदेहः स्वकर्मकृत् ॥ ३९ ॥
वश्येन्द्रियो जितक्रोधो न हृष्यति कुप्यति ।

परंतु अरणिसम्भव शुकदेवजीका अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध । वे इन्द्रियों और क्रोधपर विजय पा चुके थे। उन्हें न तो किसी बातपर हर्ष होता था और न वे किसीपर क्रोध ही

करते थे। उनके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था और वे सदा अपने कर्तव्यका पालन किया करते थे ॥ ३९½ ॥

तस्मै शय्यासनं दिव्यं देवार्हं रत्नभूषितम् ॥ ४० ॥
स्पर्ध्यास्तरणसंकीर्णं ददुस्ताः परमस्त्रियः ।

उन सुन्दरी रमणियोंने देवताओंके बैठने योग्य एक दिव्य पलंग, जिसमें रत्न जड़े हुए थे और जिसपर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे, शुकदेवजीको सोनेके लिये दिया ॥ ४०½ ॥

पादशौचं तु कृत्वैव शुकः संध्यामुपास्य च ॥ ४१ ॥
निषसादासने पुण्ये तमेवार्थं विचिन्तयन् ।
पूर्वरात्रे तु तत्रासौ भूत्वा ध्यानपरायणः ॥ ४२ ॥
मध्यरात्रे यथान्यायं निद्रामाहारयत् प्रभुः ।

परंतु शुकदेवजीने पहले हाथ-पैर धोकर संध्योपासना की। उसके बाद पवित्र आसनपर बैठकर वे मोक्षतत्त्वका ही विचार करने लगे। रातके पहले पहरमें वे ध्यानस्थ होकर बैठे रहे। फिर रात्रिके मध्यभाग (दूसरे और तीसरे पहर) में प्रभावशाली शुकने यथोचित निद्राको स्वीकार किया ॥

ततो मुहूर्तादुत्थाय कृत्वा शौचमनन्तरम् ॥ ४३ ॥
स्त्रीभिः परिवृतो धीमान् ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ ४४ ॥

तदनन्तर जब दो घड़ी रात बाकी रह गयी, ब्रह्मवेलामें वे पुनः उठ गये और शौच-स्नान करनेके अनन्तर बुद्धिमान् शुकदेव फिर परमात्माके ध्यानमें ही निमग्न हो गये। भी वे सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें घेरकर बैठी थीं ॥४३-४४॥

अनेन विधिना कार्ष्णिस्तदहःशेषमच्युतः ।
तां च रात्रिं नृपकुले वर्तयामास भारत ॥ ४५ ॥

भरतनन्दन ! इस विधिसे अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले व्यासनन्दन शुकने दिनका शेष भाग और समूची रात राजभवनमें रहकर व्यतीत की ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ पञ्चविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुककी उत्पत्तिविषयक तीन सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३२५॥

षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा जनकके द्वारा शुकदेवजीका पूजन तथा उनके प्रश्नका समाधान करते हुए ब्रह्मचर्याश्रममें परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद अन्य तीनों आश्रमोंकी अनावश्यकताका प्रतिपादन करना तथा मुक्त पुरुषके लक्षणोंका वर्णन

भीष्म उवाच

ततः स राजा जनको मन्त्रिभिः सह भारत ।
पुरः पुरोहितं कृत्वा सर्वाण्यन्तःपुराणि च ॥ १ ॥
आसनं च पुरस्कृत्य रत्नानि विविधानि च ।
शिरसा चार्घ्यमादाय गुरुपुत्रं समभ्यगात् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर मन्त्रियोंसहित राजा जनक अन्तःपुरकी सम्पूर्ण स्त्रियों और पुरोहितको आगे करके आसन तथा नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट लिये मस्तकपर अर्घ्यपात्र रखकर गुरुपुत्र शुकदेवजीके पास आये ॥ १-२ ॥

स तदाऽऽसनमादाय बहुरत्नविभूषितम् ।
स्पर्ध्यास्तरणसंस्तीर्णं सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ॥ ३ ॥
पुरोधसा संगृहीतं हस्तेनालभ्य पार्थिवः ।
प्रददौ गुरुपुत्राय शुकाय परमार्चितम् ॥ ४ ॥

उस समय जिसे पुरोहितने ले रखा था, वह सर्वतोभद्र नामक बहुरत्नजटित आसन, जिसपर मूल्यवान् बिछौने बिछे हुए थे, उनके हाथसे अपने हाथमें लेकर राजा जनकने गुरुपुत्र शुकदेवको समर्पित किया। वह आसन समृद्धिसे सम्पन्न था ॥

तत्रोपविष्टं तं कार्ष्णिं शास्त्रतः प्रत्यपूजयत् ।
पाद्यं निवेद्य प्रथममर्घ्यं गां च न्यवेदयत् ॥ ५ ॥

व्यासपुत्र शुकदेव जब उस आसनपर विराजमान हुए, तब राजा जनकने शास्त्रके अनुसार उनका पूजन आरम्भ किया। पहले पाद्य और अर्घ्य आदि निवेदन करके राजाने उन्हें एक गौ प्रदान की ॥ ५ ॥
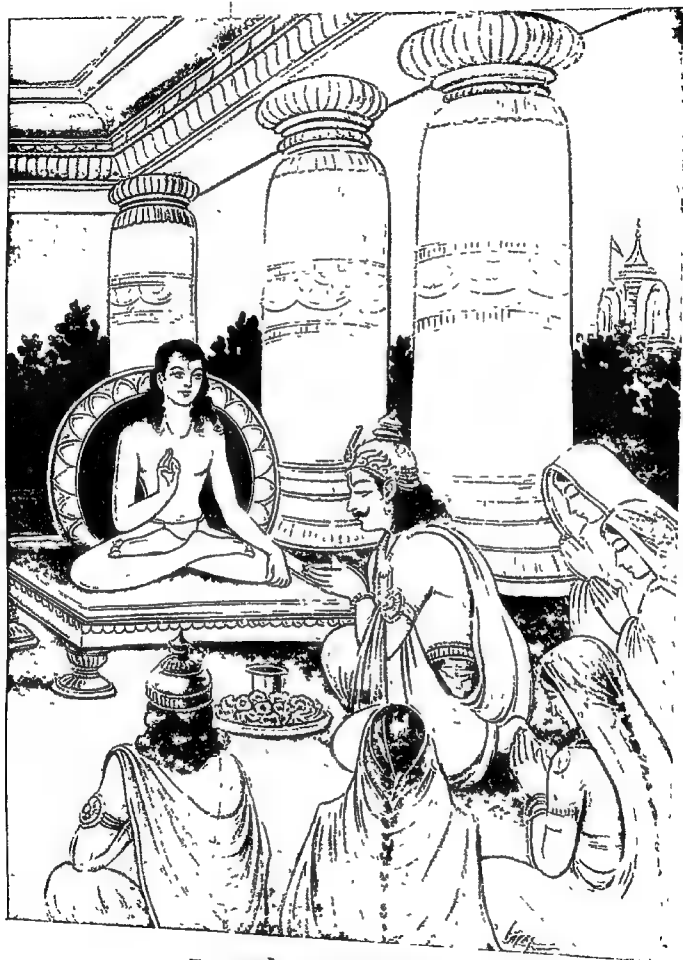
राजा जनकके द्वारा शुकदेवजीका पूजन

स च तां मन्त्रवत्पूजां प्रत्यगृह्णाद् यथाविधि ।
प्रतिगृह्य [illegible] तां पूजां जनकाद् द्विजसत्तमः ॥ ६ ॥
गां चैव समनुज्ञाय राजानमनुमान्य च ।
पर्यपृच्छन्महातेजा राज्ञः कुशलमव्ययम् ॥ ७ ॥

द्विजश्रेष्ठ शुकदेवजीने राजा जनककी ओरसे [illegible] हुई [illegible] मन्त्रयुक्त सविधि पूजा स्वीकार की। पूजा ग्रहण करनेके पश्चात् गोदान स्वीकार करके राजाको आदर देते हुए महातेजस्वी शुकने [illegible] सदा बना रहनेवाला कुशल-समाचार पूछा ॥ ६-७ ॥

अनामयं च राजेन्द्र शुकः सानुचरस्य ह ।
अनुशिष्टस्तु तेनासौ निषसाद सहानुगः ॥ ८ ॥
उदारसत्त्वाभिजनो भूमौ [illegible] कृताञ्जलिः ।
कुशलं [illegible] [illegible] पृष्ट्वा वैयासकिं नृपः ।
किमागमनमित्येवं पर्यपृच्छत पार्थिवः ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! सेवकोंसहित राजाके आरोग्यका समाचार भी उन्होंने पूछा। फिर उनकी [illegible] [illegible] राजा अपने अनुचरवर्गके साथ वहाँ हाथ जोड़े हुए भूमिपर ही बैठ गये। राजाका हृदय तो उदार था ही, उनका कुल भी परम उदार था। उन पृथ्वीपति नरेशने व्यासनन्दन शुकसे उनके कुशल-मङ्गलकी जिज्ञासा करके पूछा—'ब्रह्मन्! किस निमित्तसे यहाँ आपका शुभागमन हुआ है ?' ॥ ८-९ ॥

शुक उवाच

पित्राहमुक्तो भद्रं ते मोक्षधर्मार्थकोविदः ।
विदेहराजो याज्यो मे जनको [illegible] विश्रुतः ॥ १० ॥
[illegible] गच्छस्व वै तूर्णं यदि ते हृदि संशयः ।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा स ते च्छेत्स्यति संशयम् ॥ ११ ॥

शुकदेवजीने कहा—राजन्! आपका कल्याण हो। मेरे पिताजीने मुझसे कहा है कि मेरे यजमान लोकप्रसिद्ध विदेहराज [illegible] मोक्षधर्मके विशेषज्ञ हैं। यदि प्रवृत्ति या निवृत्ति-धर्मके विषयमें तुम्हारे हृदयमें कोई संदेह हो तो तुरत ही उनके पास चले जाओ। वे तुम्हारी सारी शङ्काओंका समाधान कर देंगे ॥

सोऽहं पितुर्नियोगात् त्वामुपप्रष्टुमिहागतः ।
तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश! पिताकी इस आज्ञासे ही मैं यहाँ आपके [illegible] [illegible] पूछनेके लिये आया हूँ। आप मेरे प्रश्नोंका यथावत् उत्तर दें ॥ १२ ॥

[illegible] कार्यं ब्राह्मणेनेह मोक्षार्थश्च किमात्मकः ।
[illegible] च मोक्षः प्राप्तव्यो ज्ञानेन [illegible] ॥ १३ ॥

[illegible] कर्तव्य क्या है ? मोक्षनामक पुरुषार्थका क्या स्वरूप है ? उस मोक्षको ज्ञानसे अथवा तपस्यासे किस साधनसे प्राप्त किया जा सकता है ? ॥ १३ ॥

जनक उवाच

यत् कार्यं ब्राह्मणेनेह जन्मप्रभृति तच्छृणु ।
कृतोपनयनस्तात भवेद् वेदपरायणः ॥ १४ ॥

जनकने कहा—तात ! ब्राह्मणको जन्मसे लेकर जो-जो कर्म करने चाहिये, उनको सुनिये—यज्ञोपवीत संस्कार हो जानेके बाद ब्राह्मण-बालकको वेदाध्ययनमें तत्पर होना चाहिये ॥

[illegible] गुरुवृत्त्या [illegible] ब्रह्मचर्येण [illegible] विभो ।
देवतानां पितृणां चाप्यनृणो ह्यनसूयकः ॥ १५ ॥
वेदानधीत्य नियतो दक्षिणामपवर्ज्य च ।
अभ्यनुज्ञामथ प्राप्य समावर्तेत वै द्विजः ॥ १६ ॥

प्रभो ! तपस्या, गुरुकी सेवा [illegible] ब्रह्मचर्यका पालन—इन तीन कर्मोंके साथ-साथ वेदाध्ययनका कार्य सम्पन्न करना चाहिये। हवनकर्मद्वारा देवताओंके और तर्पणद्वारा वह पितरोंके ऋणसे [illegible] होनेका [illegible] करे। किसीके दोष न देखे और संयमपूर्वक रहकर वेदाध्ययन [illegible] करनेके पश्चात् गुरुको दक्षिणा दे और उनकी आज्ञा लेकर समावर्तन-संस्कारके पश्चात् घरको लौटे ॥ १५-१६ ॥

समावृत्तश्च गार्हस्थ्ये स्वदारनिरतो वसेत् ।
अनसूयुर्यथान्यायमाहिताग्निस्तथैव च ॥ १७ ॥

घर आनेपर विवाह करके गार्हस्थ्यधर्मका पालन करे और अपनी ही स्त्रीके प्रति अनुराग रखे। दूसरोंके दोष न देखकर सबके साथ यथोचित बर्ताव करे और अग्निकी स्थापनाके पश्चात् प्रतिदिन अग्निहोत्र करता रहे ॥ १७ ॥

उत्पाद्य पुत्रपौत्रं तु वन्याश्रमपदे वसेत् ।
तानेवाग्नीन् यथाशास्त्रमर्चयन्नतिथिप्रियः ॥ १८ ॥

वहाँ पुत्र-पौत्र उत्पन्न करके पुत्रको गार्हस्थ्यधर्मका भार सौंपकर वनमें [illegible] वानप्रस्थ आश्रममें रहे। [illegible] समय भी शास्त्रविधिके अनुसार उन्हीं गार्हपत्य आदि अग्नियोंकी आरा[illegible] करते हुए अतिथियोंका प्रेमपूर्वक सत्कार करे ॥ १८ ॥

स वनेऽग्नीन् यथान्यायमात्मन्यारोप्य धर्मवित् ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा ब्रह्माश्रमपदे वसेत् ॥ १९ ॥

इसके बाद धर्मज्ञ पुरुष शास्त्रीय विधिके अनुसार अग्निहोत्रकी अग्नियोंका आत्मामें आरोप करके निर्द्वन्द्व एवं वीतराग होकर ब्रह्मचिन्तनसे सम्बन्ध रखनेवाले संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे ॥ १९ ॥

शुक उवाच

उत्पन्ने ज्ञानविज्ञाने निर्द्वन्द्वे हृदि शाश्वते ।
किमवश्यं निवस्तव्यमाश्रमेषु भवेत् त्रिषु ॥ २० ॥

शुकदेवजीने पूछा—राजन् ! यदि किसीके हृदयमें ब्रह्मचर्य आश्रममें ही सनातन ज्ञान-विज्ञान प्रकट हो [illegible] और हृदयके राग-द्वेष आदि द्वन्द्व दूर हो जायँ तो भी [illegible] उसके लिये शेष तीन आश्रमोंमें [illegible] आवश्यक है ? ॥ २० ॥

एतद् भवन्तं पृच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति ।
[illegible] वेदार्थतत्त्वेन ब्रूहि मे त्वं जनाधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! मैं यही बात आपसे पूछता हूँ। आप मुझे यह

बतानेकी कृपा करें। वेदके वास्तविक सिद्धान्तके अनुसार [illegible] करना उचित है। यह आप मुझे बताइये ॥ २१ ॥

जनक उवाच

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्।
न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः ॥ २२ ॥

जनकने कहा—ब्रह्मन्! जैसे ज्ञान-विज्ञानके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सद्गुरुसे सम्बन्ध हुए बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते।
विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ॥ २३ ॥

गुरु इस संसारसागरसे पार उतारनेवाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान यहाँ नौकाके समान बताया [illegible] है। मनुष्य उस ज्ञानको पाकर भवसागरसे पार और कृतकृत्य हो [illegible] है। जैसे नदीको पार कर लेनेपर मनुष्य नाव और नाविक दोनोंको छोड़ देता है, उसी प्रकार [illegible] हुआ पुरुष गुरु और ज्ञान दोनोंको छोड़ दे ॥ २३ ॥

अनुच्छेदाय लोकानामनुच्छेदाय कर्मणाम्।
पूर्वैराचरितो धर्मश्चातुराश्रम्यसंकटः ॥ २४ ॥

पहलेके विद्वान् लोकमर्यादाकी तथा कर्मपरम्पराकी [illegible] करनेके लिये चारों आश्रमोंसहित वर्णधर्मोंका [illegible] करते थे ॥

अनेन क्रमयोगेन बहुजातिषु कर्मणाम्।
हित्वा शुभाशुभं कर्म मोक्षो नामेह लभ्यते ॥ २५ ॥

इस तरह क्रमशः नाना प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए शुभाशुभ कर्मोंकी आसक्तिका परित्याग करनेसे यहाँ मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ २५ ॥

भावितैः करणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु।
आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥ २६ ॥

अनेक जन्मोंसे कर्म करते-करते जब सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पवित्र हो जाती हैं, [illegible] शुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य पहले ही आश्रममें अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रममें मोक्षरूप ज्ञान [illegible] सकता है ॥ २६ ॥

तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः।
त्रिष्वाश्रमेषु को न्वर्थो भवेत् परमभीप्सतः ॥ २७ ॥

उसे [illegible] जब ब्रह्मचर्य-आश्रममें ही [illegible] साक्षात्कार हो [illegible] तो परमात्माको चाहनेवाले जीवन्मुक्त विद्वान्के लिये शेष तीन आश्रमोंमें जानेकी क्या [illegible] है। अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं है ॥ २७ ॥

राजसांस्तामसांश्चैव नित्यं दोषान् विवर्जयेत्।
सात्त्विकं मार्गमास्थाय पश्येदात्मानमात्मना ॥ २८ ॥

विद्वान्को चाहिये कि [illegible] राजस और तामस दोषोंका सदा [illegible] परित्याग कर दे और सात्त्विक मार्गका आश्रय लेकर बुद्धिके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करे ॥ २८ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नोपलिप्येत जले वारिचरो यथा ॥ २९ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको देखता है, वह संसारमें उसी तरह कहीं भी आसक्त नहीं होता जैसे जलचर पक्षी जलमें रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता ॥ २९ ॥

पक्षिवत् प्लवणादूर्ध्वममुत्रानन्त्यमश्नुते।
विहाय देहान्निर्मुक्तो निर्द्वन्द्वः प्रशमं गतः ॥ ३० ॥

वह तो घोंसलेको छोड़कर उड़ जानेवाले पक्षीकी भाँति इस देहसे पृथक् हो निर्द्वन्द्व एवं शान्त होकर परलोकमें अक्षयपद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता [illegible] ॥ ३० ॥

[illegible] गाथाः पुरा गीताः शृणु राज्ञा ययातिना।
धार्यन्ते या द्विजैस्तात मोक्षशास्त्रविशारदैः ॥ ३१ ॥

तात! इस विषयमें पूर्वकालमें राजा ययातिके [illegible] गायी हुई गाथाएँ सुनिये, जिन्हें मोक्षशास्त्रके ज्ञाता द्विज [illegible] याद रखते हैं ॥ ३१ ॥

ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत् समम्।
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ॥ ३२ ॥

अपने भीतर ही आत्मज्योतिका [illegible] है, अन्यत्र नहीं। [illegible] ज्योति सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर समानरूपसे स्थित है। अपने चित्तको भलीभाँति एकाग्र करनेवाला उसको स्वयं देख सकता है ॥ ३२ ॥

न बिभेति परो यस्मान्न बिभेति पराच्च यः।
[illegible] नेच्छति न द्वेष्टि [illegible] सम्पद्यते तदा ॥ ३३ ॥

जिससे दूसरा कोई प्राणी नहीं डरता, जो स्वयं दूसरे किसी प्राणीसे भयभीत नहीं होता तथा जो [illegible] तो किसी वस्तुकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष ही [illegible] है, वह [illegible] ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३३ ॥

[illegible] भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा [illegible] सम्पद्यते तदा ॥ ३४ ॥

जब मनुष्य मन, वाणी [illegible] क्रियाके द्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापभाव नहीं करता अर्थात् समस्त प्राणियोंमें द्वेषरहित हो [illegible] है, उस समय वह ब्रह्मभावको [illegible] हो [illegible] है ॥ ३४ ॥

संयोज्य मनसाऽऽत्मानमीर्ष्यामुत्सृज्य मोहनीम्।
त्यक्त्वा कामं च मोहं च तदा ब्रह्मत्वमश्नुते ॥ ३५ ॥

[illegible] मोहमें डालनेवाली ईर्ष्या, काम एवं मोहका त्याग करके [illegible] अपने मनको आत्मामें [illegible] देता है, उस समय वह ब्रह्मको [illegible] हो जाता है ॥ ३५ ॥

यदा श्राव्ये च दृश्ये च सर्वभूतेषु चाप्ययम्।
समो भवति निर्द्वन्द्वो ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३६ ॥

जब यह साधक सुनने और देखने योग्य पदार्थोंमें [illegible]

सम्पूर्ण प्राणियोंमें समान भाववाला हो जाता है एवं [illegible] दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित हो [illegible] है, [illegible] ब्रह्म-भावको प्राप्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

यदा स्तुतिं च निन्दां च समत्वेनैव पश्यति ।
काञ्चनं चायसं चैव सुखं दुःखं तथैव च ॥ ३७ ॥
शीतमुष्णं तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम् ।
[illegible] मरणं चैव [illegible] सम्पद्यते तदा ॥ ३८ ॥

जिस समय मनुष्य निन्दा और स्तुतिको समान भावसे [illegible] है, सोना-लोहा, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, अर्थ-अनर्थ, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन-मरणमें भी उसकी [illegible] जाती है, उस [illegible] वह साक्षात् ब्रह्मभावको [illegible] हो जाता है ॥ ३७-३८ ॥

प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः ।
तथेन्द्रियाणि मनसा संयन्तव्यानि भिक्षुणा ॥ ३९ ॥

[illegible] कछुआ अपने अङ्गोंको फैलाकर फिर समेट लेता है, उसी [illegible] संन्यासीको मनके द्वारा इन्द्रियोंपर नियन्त्रण रखना चाहिये ॥ ३९ ॥

तमःपरिगतं वेश्म [illegible] दीपेन दृश्यते ।
तथा बुद्धिप्रदीपेन [illegible] आत्मा निरीक्षितुम् ॥ ४० ॥

जैसे अन्धकारसे आच्छादित हुआ घर दीपकके [illegible] से देखा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानान्धकारसे [illegible] आत्माका विशुद्ध बुद्धिरूपी दीपकके द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है ॥ ४० ॥

एतत् सर्वं च पश्यामि त्वयि बुद्धिमतां वर ।
यच्चान्यदपि वेत्तव्यं तत्त्वतो वेद तद् भवान् ॥ ४१ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ शुकदेवजी ! उपर्युक्त सारी बातें मुझे आपके भीतर दिखायी देती हैं। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ जानने योग्य [illegible] है, उसे आप ठीक-ठीक जानते हैं ॥

ब्रह्मर्षे विदितश्चासि विषयान्तमुपागतः ।
गुरोस्तव प्रसादेन तव चैवोपशिक्षया ॥ ४२ ॥

ब्रह्मर्षे ! [illegible] आपको अच्छी [illegible] गया । आप अपने पिताजीकी [illegible] और उन्हींसे मिली हुई शिक्षा-द्वारा विषयोंसे परे हो चुके हैं ॥ ४२ ॥

तस्यैव च [illegible]सादेन प्रादुर्भूतं महामुने ।
ज्ञानं दिव्यं ममापीदं तेनासि विदितो मम ॥ ४३ ॥

महामुने ! उन्हीं गुरुदेवकी कृपासे मुझे भी यह दिव्य ज्ञान [illegible] हुआ है, जिससे [illegible] आपकी स्थितिको ठीक-ठीक समझ [illegible] हूँ ॥ ४३ ॥

अधिकं तव विज्ञानमधिका च गतिस्तव ।
अधिकं तव चैश्वर्यं तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥ ४४ ॥

आपका विज्ञान, आपकी गति और आपका ऐश्वर्य—ये सभी अधिक हैं; परंतु आपको इस बातका [illegible] नहीं है ॥ ४४ ॥

बाल्याद् वा संशयाद् वापि भयाद् वाप्यविमोक्षजात् ।
उत्पन्ने चापि विज्ञाने नाधिगच्छति तां गतिम् ॥ ४५ ॥

बालस्वभावके कारण, संशयसे अथवा मोक्ष न मिलनेके काल्पनिक भयसे मनुष्यको विज्ञान प्राप्त हो जानेपर भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४५ ॥

व्यवसायेन शुद्धेन मद्विधैश्छिन्नसंशयः ।
विमुच्य हृदयग्रन्थीनासादयति तां गतिम् ॥ ४६ ॥

मेरे-जैसे लोगोंके द्वारा जिसका [illegible] नष्ट हो गया है, वह साधक विशुद्ध निश्चयके द्वारा हृदयकी गाँठें खोलकर उस परमगतिको [illegible] लेता है ॥ ४६ ॥

भवांश्चोत्पन्नविज्ञानः स्थिरबुद्धिरलोलुपः ।
व्यवसायादृते ब्रह्मन्नासादयति तत्परम् ॥ ४७ ॥

ब्रह्मन् ! आपको [illegible] हो चुका है । आपकी बुद्धि भी स्थिर है तथा आपमें विषयलोलुपताका भी सर्वथा [illegible] हो गया है, परंतु विशुद्ध निश्चयके बिना कोई परमात्म-भावको नहीं प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

[illegible] ते सुखदुःखेषु विशेषो नास्ति लोलुपः ।
नौत्सुक्यं नृत्यगीतेषु न [illegible] उपजायते ॥ ४८ ॥

[illegible] सुख-दुःखमें कोई अन्तर नहीं समझते । आपके मनमें लोभ नहीं है । आपको न तो नाच देखनेकी उत्कण्ठा होती है और न गीत सुननेकी । किसी विषयके प्रति आपके मनमें राग नहीं उत्पन्न होता है ॥ ४८ ॥

न बन्धुष्वनुबन्धस्ते न भयेष्वस्ति ते भयम् ।
पश्यामि त्वां महाभाग तुल्यलोष्टाश्मकाञ्चनम् ॥ ४९ ॥

[illegible] ! न तो भाई-बन्धुओंमें आपकी आसक्ति है, न भयदायक पदार्थोंसे आपको [illegible] ही होता है । [illegible] देखता हूँ, आपके लिये मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण एक-से [illegible] ॥ ४९ ॥

अहं त्वामनुपश्यामि ये चाप्यन्ये मनीषिणः ।
आस्थितं परमं मार्गमक्षयं तमनामयम् ॥ ५० ॥

मैं तथा दूसरे मनीषी पुरुष भी आपको अक्षय एवं अनामय परम मार्ग (मोक्ष) में स्थित मानते हैं ॥ ५० ॥

यत् फलं ब्राह्मणस्येह मोक्षार्थश्च यदात्मकः ।
तस्मिन् वै वर्तसे ब्रह्मन् किमन्यत् परिपृच्छसि ॥ ५१ ॥

ब्रह्मन् ! इस जगत्में ब्राह्मण होनेका जो फल है और मोक्षका जो स्वरूप है, उसीमें आपकी स्थिति है । अब और [illegible] पूछना चाहते हैं ? ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तौ षड्विंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२६ ॥

[illegible] प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकोत्पत्तिविषयक तीन सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा [illegible] ॥ ३२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीका पिताके पास लौट आना तथा व्यासजीका अपने शिष्योंको स्वाध्यायकी विधि बताना

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं कृतात्मा कृतनिश्चयः।
आत्मनाऽऽत्मानमास्थाय दृष्ट्वा चात्मानमात्मना॥ १ ॥
कृतकार्यः सुखी शान्तस्तूष्णीं प्रायादुदङ्मुखः।
शैशिरं गिरिमुद्दिश्य सधर्मा मातरिश्वनः॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजा जनककी यह बात सुनकर विशुद्ध अन्तःकरणवाले शुकदेवजी एक दृढ़ निश्चयपर पहुँच गये और बुद्धिके द्वारा आत्मामें स्थित होकर स्वयं अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करके कृतार्थ हो गये। एवं आनन्दमग्न हो, बड़ी शान्तिका अनुभव करते हुए हिमालयपर्वतको लक्ष्य करके वायुके समान वेगसे चुपचाप उत्तर दिशाकी ओर चल दिये॥ १-२॥

एतस्मिन्नेव काले तु देवर्षिर्नारदस्तथा।
हिमवन्तमियाद् द्रष्टुं सिद्धचारणसेवितम्॥ ३ ॥

इसी समय देवर्षि नारद सिद्धों और चारणोंसे सेवित हिमालय पर्वतपर उसका दर्शन करनेके लिये आये॥ ३॥

तमप्सरोगणाकीर्णं शान्तस्वननिनादितम्।
किन्नराणां सहस्रैश्च भृङ्गराजैस्तथैव च॥ ४ ॥
मद्गुभिः खञ्जरीटैश्च विचित्रैर्जीवजीवकैः॥ ५ ॥
चित्रवर्णैर्मयूरैश्च केकाशतविराजितैः।
राजहंससमूहैश्च कृष्णैः परभृतैस्तथा॥ ६ ॥

[illegible] पर्वतपर [illegible] और अप्सराएँ विचर रही थीं। चारों ओर विविध प्राणियोंकी शान्तिमयी ध्वनिसे वहाँका सारा प्रान्त [illegible] हो रहा था। सहस्रों किन्नर, भ्रमर, मद्गु, विचित्र खञ्जरीट, चकोर, सैकड़ों मधुर वाणीसे सुशोभित विचित्र वर्णवाले मयूर, राजहंसोंके समुदाय [illegible] काले कोकिल वहाँ अपनी शान्त मधुर ध्वनि फैला रहे थे॥ ४-६॥

पक्षिराजो गरुत्मांश्च यं नित्यमधितिष्ठति।
चत्वारो लोकपालाश्च देवाः सर्षिगणास्तथा॥ [illegible] ॥
तत्र नित्यं समायान्ति लोकस्य हितकाम्यया।

पक्षिराज गरुड उस पर्वतपर नित्य विराजमान होते हैं। चारों लोकपाल, देवता तथा ऋषिगण सम्पूर्ण जगत्के हितकी कामनासे वहाँ सदा आते रहते हैं॥ ७½॥

विष्णुना यत्र पुत्रार्थे तपस्तप्तं महात्मना॥ ८ ॥
तत्रैव च कुमारेण बाल्ये क्षिप्ता दिवौकसः।
शक्तिर्न्यस्ता क्षितितले त्रैलोक्यमवमन्य वै॥ ९ ॥

वहीं महात्मा श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) ने पुत्रके लिये तप किया था। वहीं कुमार कार्तिकेयने बाल्यावस्थामें देवताओंपर आक्षेप किया था और त्रिलोकीका अपमान करके पृथ्वीमें अपनी शक्ति गाड़ दी थी॥ ८-९॥

तत्रोवाच जगत् स्कन्दः क्षिपन् वाक्यमिदं तदा।
योऽन्योऽस्ति मत्तोऽभ्यधिको विप्रा यस्याधिकं प्रियाः॥
यो ब्रह्मण्यो द्वितीयोऽस्ति त्रिषु लोकेषु वीर्यवान्।
सोऽभ्युद्धरत्विमां शक्तिमथवा कम्पयत्विति॥ ११॥

[illegible] वहाँ स्कन्दने सम्पूर्ण जगत्पर आक्षेप करते हुए यह बात कही थी—'जो कोई भी दूसरा पुरुष मुझसे अधिक बलवान् हो, जिसे ब्राह्मण अधिक प्रिय हों, जो दूसरा व्यक्ति मुझसे भी अधिक ब्राह्मणभक्त तथा तीनों लोकोंमें पराक्रमशाली हो, वह इस शक्तिको उखाड़ दे अथवा हिला दे'॥ १०-११॥

तच्छ्रुत्वा व्यथिता लोकाः क इमामुद्धरेदिति।
[illegible] देवगणं सर्वं सम्भ्रान्तेन्द्रियमानसम्॥ १२॥
अपश्यद् भगवान् विष्णुः क्षिप्तं सासुरराक्षसम्।
किं त्वत्र सुकृतं कार्यं भवेदिति विचिन्तयन्॥ १३॥

उनकी यह तिरस्कारपूर्ण घोषणा सुनकर सब लोग व्यथित हो उठे और मन-ही-मन सोचने लगे, 'भला, कौन वीर इस शक्तिको उखाड़ सकता है?' उस समय भगवान् विष्णुने देखा [illegible] सम्पूर्ण देवताओंकी इन्द्रियाँ और चित्त भयसे व्याकुल हैं तथा असुर और राक्षसोंसहित सम्पूर्ण जगत्पर स्कन्दद्वारा आक्षेप किया गया है। यह देखकर वे सोचने लगे कि यहाँ क्या करना अच्छा होगा?॥ १२-१३॥

अनामृष्य [illegible] क्षेपमवैक्षत च पावकिम्।
सम्प्रगृह्य विशुद्धात्मा शक्तिं प्रज्वलितां तदा॥ १४॥
कम्पयामास सव्येन पाणिना पुरुषोत्तमः।

तब उस आक्षेपको सहन न करके विशुद्धात्मा भगवान् विष्णुने अग्निकुमार स्कन्दकी ओर देखा। फिर [illegible] पुरुषोत्तमने उस [illegible] प्रज्वलित शक्तिको बायें हाथसे पकड़कर हिला दिया॥ १४½॥

शक्त्यां तु कम्प्यमानायां विष्णुना बलिना तदा॥ १५॥
मेदिनी कम्पिता सर्वा सशैलवनकानना।

बलवान् भगवान् विष्णुके द्वारा उस शक्तिके कम्पित किये जानेपर पर्वत, वन और काननोंसहित सारी पृथ्वी काँप उठी॥ १५½॥

शक्तेनापि समुद्धर्तुं कम्पि[illegible] साभवत् तदा॥ १६॥
रक्षिता स्कन्दराजस्य धर्षणा प्रभविष्णुना।

यद्यपि प्रभावशाली भगवान् विष्णु उसे उखाड़ फेंकनेमें समर्थ थे तो भी उन्होंने कुमार स्कन्दका तिरस्कार नहीं होने दिया। उन्हें अपमानसे बचा लिया॥ १६½॥

तां कम्पयित्वा भगवान् प्रह्लादमिदमब्रवीत्॥ १७॥
पश्य वीर्यं कुमारस्य नैतदन्यः करिष्यति।

उस शक्तिको हिलाकर भगवान्‌ने प्रह्लादसे कहा—'देखो, कुमारमें कितना बल है ! यह कार्य दूसरा कोई नहीं [illegible] सकेगा' ॥ १७½ ॥

सोऽमृष्यमाणस्तद्वाक्यं समुद्धरणनिश्चितः ॥ १८ ॥
[illegible] तां [illegible] शक्तिं [illegible] चैनां [illegible] व्यकम्पयत् ।

भगवान्‌के इस कथनको सहन न कर सकनेके कारण प्रह्लादने स्वयं ही [illegible] शक्तिको उखाड़ फेंकनेका दृढ़ निश्चय [illegible] लिया और [illegible] शक्तिको पकड़कर खींचा; परंतु वे उसे हिला भी न सके ॥ १८½ ॥

नादं महान्तं मुक्त्वा [illegible] मूर्च्छितो गिरिमूर्धनि ॥ १९ ॥
विह्वलः प्रापतद् भूमौ हिरण्यकशिपोः सुतः ।

हिरण्यकशिपुकुमार प्रह्लाद बड़े जोरसे चिग्घाड़कर मूर्च्छित एवं व्याकुल हो उस पर्वतशिखरकी भूमिपर गिर पड़े ॥ १९½ ॥

ततोत्तरां दिशं [illegible] शैलराजस्य पार्श्वतः ॥ २० ॥
तपोऽतप्यत दुर्धर्षं [illegible] नित्यं वृषध्वजः ।

तात ! उसी गिरिराज हिमालयके पार्श्वभागमें उत्तर दिशाकी ओर जाकर भगवान् वृषध्वज शिवने नित्य-निरन्तर दुर्धर्ष [illegible] की है ॥ २०½ ॥

पावकेन परिक्षिप्तं दीप्यता यस्य चाश्रमम् ॥ २१ ॥
आदित्यपर्वतं नाम दुर्धर्षमकृतात्मभिः ।
न [illegible] शक्यते गन्तुं यक्षराक्षसदानवैः ॥ २२ ॥

भगवान् शङ्करके [illegible] आश्रमको प्रज्वलित अग्निने चारों ओरसे घेर रक्खा है। उस पर्वतशिखरका नाम आदित्यगिरि है, जिसपर अजितात्मा पुरुष नहीं चढ़ सकते। यक्ष, [illegible] और दानवोंके लिये वहाँ पहुँचना सर्वथा असम्भव है ॥

दशयोजनविस्तारमग्निज्वालासमावृतम् ।
भगवान् [illegible] स्वयं तिष्ठति वीर्यवान् ॥ २३ ॥

वह दस योजन विस्तृत शिखर आगकी लपटोंसे घिरा हुआ है। शक्तिशाली भगवान् अग्निदेव वहाँ स्वयं विराजमान हैं ॥ २३ ॥

सर्वान् विघ्नान् प्रशमयन् महादेवस्य धीमतः ।
दिव्यं वर्षसहस्रं हि पादेनैकेन तिष्ठतः ॥ २४ ॥
देवान् संतापयंस्तत्र महादेवो महाव्रतः ।

परम बुद्धिमान् महादेवजी सहस्र दिव्य वर्षोंतक वहाँ एक पैरसे खड़े रहे और उनकी तपस्याके सम्पूर्ण विघ्नोंका निवारण करते हुए अग्निदेव वहीं विराजमान थे। महान् व्रतधारी महादेवजी वहाँ देवताओंको संतप्त करते हुए महान् तपमें प्रवृत्त थे ॥ २४½ ॥

ऐन्द्रीं तु दिशमास्थाय शैलराजस्य धीमतः ॥ २५ ॥
विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः ।
वेदानध्यापयामास व्यासः शिष्यान् महामतिः ॥ २६ ॥
सुमन्तुं च महाभागं वैशम्पायनमेव च ।
जैमिनिं च महाप्राज्ञं पैलं चापि तपस्विनम् ॥ २७ ॥

उसी बुद्धिमान् गिरिराज हिमवान्‌की पूर्व दिशाका [illegible] लेकर पर्वतके एकान्त तटप्रान्तमें महातपस्वी महाबुद्धिमान् पराशरनन्दन [illegible] अपने शिष्य महाभाग सुमन्तु, महाबुद्धिमान् जैमिनि, तपस्वी पैल [illegible] वैशम्पायन—इन चार शिष्योंको वेद [illegible] रहे थे ॥ २५—२७ ॥

[illegible] शिष्यैः परिवृतो [illegible] आस्ते महातपाः ।
तत्राश्रमपदं रम्यं ददर्श पितुरुत्तमम् ॥ २८ ॥

जहाँ महातपस्वी व्यास अपने शिष्योंसे घिरे हुए बैठे थे, वहाँ शुकदेवजीने अपने पिताके उस रमणीय एवं उत्तम आश्रमको देखा ॥ २८ ॥

आरणेयो विशुद्धात्मा नभसीव दिवाकरः ।
अथ व्यासः परिक्षिप्तं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ २९ ॥
ददर्श सुतमायान्तं दिवाकरसमप्रभम् ।

[illegible] समय विशुद्ध अन्तःकरणवाले अरणीनन्दन शुकदेव आकाशमें स्थित सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे, इतनेहीमें व्यासजीने भी प्रज्वलित अग्नि तथा सूर्यके समान तेजस्वी पुत्रको सब ओर अपनी प्रभा बिखेरते हुए आते देखा ॥

असज्जमानं वृक्षेषु शैलेषु विषयेषु च ।
योगयुक्तं महात्मानं [illegible] बाणं गुणच्युतम् ॥ ३० ॥

योगयुक्त महात्मा शुकदेव धनुषकी डोरीसे छूटे हुए बाणके समान तीव्र गतिसे [illegible] रहे थे। वे वृक्षों और पर्वतोंमें कहीं भी अटक नहीं पाते थे ॥ ३० ॥

सोऽभिगम्य पितुः पादावगृह्णादरणीसुतः ।
यथोपजोषं तैश्चापि समागच्छन्महामुनिः ॥ ३१ ॥

निकट आकर अरणीपुत्र महामुनि शुकदेवने पिताके दोनों पैर पकड़ लिये और शान्तभावसे उनके अन्य सब शिष्योंके साथ भी मिले ॥ ३१ ॥

ततो निवेदयामास पित्रे सर्वमशेषतः ।
शुको जनकराजेन संवादं प्रीतमानसः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर प्रसन्नचित्त हुए शुकने [illegible] जनकके साथ जो वार्तालाप हुआ था, वह सारा-का-सारा वृत्तान्त अपने पितासे कह सुनाया ॥ ३२ ॥

एवमध्यापयञ्शिष्यान् व्यासः पुत्रं च [illegible]
[illegible] हिमवत्पृष्ठे पाराशर्यो महामुनिः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार शक्तिशाली महामुनि पराशरनन्दन व्यास अपने शिष्यों और पुत्रको पढ़ाते हुए हिमालयके शिखरपर ही रहने लगे ॥ ३३ ॥

ततः कदाचिच्छिष्यास्तं परिवार्योपतस्थिरे ।
वेदाध्ययनसम्पन्नाः शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ ३४ ॥
वेदेषु निष्ठां सम्प्राप्य साङ्गेष्वपि तपस्विनः ।
अथोचुस्ते तदा व्यासं शिष्याः प्राञ्जलयो [illegible]म् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर किसी समय वेदाध्ययनसे सम्पन्न, शान्तचित्त,

जितेन्द्रिय, साङ्गवेदमें पारङ्गत और तपस्वी शिष्यगण गुरुवर व्यासजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गये और उनसे जोड़कर इस प्रकार बोले ॥ ३४-३५ ॥

शिष्या ऊचुः

महता तेजसा युक्ता चापि वर्धिताः ।
एकं त्विदानीमिच्छामो गुरुणानुग्रहं कृतम् ॥ ३६ ॥

शिष्योंने कहा—गुरुदेव ! हम आपकी कृपासे महान् तेजस्वी हो गये हैं। हमारा भी चारों ओर बढ़ है। इस समय हम यह चाहते हैं कि आप एक और हमलोगोंपर अनुग्रह करें ॥ ३६ ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा ब्रह्मर्षिस्तानुवाच ह ।
उच्यतामिति तद् वत्सा यद् वः कार्यं प्रियं मया ॥ ३७ ॥

शिष्योंकी यह सुनकर ब्रह्मर्षि व्यासने उनसे कहा—'बच्चो ! कहो, क्या चाहते हो ? मुझे तुम्हारा कौन-प्रिय कार्य करना है ?' ॥ ३७ ॥

एतद् वाक्यं गुरोः श्रुत्वा शिष्यास्ते हृष्टमानसाः ।
पुनः प्राञ्जलयो भूत्वा प्रणम्य शिरसा गुरुम् ॥ ३८ ॥
ऊचुस्ते सहिता राजन्निदं वचनमुत्तमम् ।
यदि प्रीत उपाध्यायो धन्याः स्मो मुनिसत्तम ॥ ३९ ॥

गुरुदेवका यह वचन सुनकर उन शिष्योंका हृदय हर्षसे खिल उठा। राजन् ! वे पुनः हाथ जोड़ मस्तक गुरुजीको प्रणाम करके एक साथ यह उत्तम वचन बोले—'मुनिश्रेष्ठ ! आप हमारे उपाध्याय हैं। यदि प्रसन्न हैं तो हम धन्य हो गये ॥ ३८-३९ ॥

काङ्क्षामस्तु वयं सर्वे वरं दातुं महर्षिणा ।
षष्ठः शिष्यो ते ख्यातिं गच्छेदत्र प्रसीद नः ॥ ४० ॥

'हम सब लोग यह चाहते हैं कि महर्षि एक वरदान दें, वह यह कि आपका कोई छठा शिष्य प्रसिद्ध न हो। यहाँ हमलोगोंपर इतनी ही कृपा कीजिये ॥ ४० ॥

चत्वारस्ते वयं शिष्या गुरुपुत्रश्च पञ्चमः ।
वेदाः प्रतिष्ठेरन्नेष काङ्क्षितो वरः ॥ ४१ ॥

'हम चार आपके शिष्य हैं और पञ्चम शिष्य गुरुपुत्र शुकदेव हैं। इन पाँचोंमें ही आपके पढ़ाये हुए सम्पूर्ण वेद प्रतिष्ठित हों; यही हमारे लिये मनोवाञ्छित है' ॥ ४१ ॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा व्यासो वेदार्थतत्त्ववित् ।
पराशरात्मजो धीमान् परलोकार्थचिन्तकः ॥ ४२ ॥
उवाच शिष्यान् धर्मात्मा धर्म्यं नैःश्रेयसं वचः ।

शिष्योंकी यह सुनकर वेदार्थके तत्त्वज्ञ, पारलौकिक अर्थका चिन्तन करनेवाले, धर्मात्मा, पराशरनन्दन बुद्धिमान् व्यासजीने अपने शिष्योंसे यह धर्मानुकूल कारी वचन कहा—॥ ४२½ ॥

ब्राह्मणाय सदा देयं ब्रह्म शुश्रूषवे तथा ॥ ४३ ॥
ब्रह्मलोके निवासं यो ध्रुवं समभिकाङ्क्षते ।

'शिष्यगण ! जो ब्रह्मलोकमें निवास चाहता हो, उसका कर्तव्य है कि वह पढ़नेकी इच्छासे आये हुए को सदा ही वेद पढ़ावे ॥ ४३½ ॥

भवन्तो बहुलाः सन्तु वेदो विस्तार्यतामयम् ॥
नाशिष्ये सम्प्रदातव्यो नाव्रते नाकृतात्मनि ।

'तुमलोग बहुसंख्यक हो जाओ और इस वेदका विस्तार करो। जिसका मन वशमें न हो, जो ब्रह्मचर्य-व्रतका न करता हो जो शिष्यभावसे पढ़ने न आया हो, उसे वेदाध्ययन नहीं कराना चाहिये ॥ ४४½ ॥

एते शिष्यगुणाः सर्वे विज्ञातव्या यथार्थतः ॥ ४५ ॥
नापरीक्षितचारित्रे विद्या देया कथंचन ।

'ये सभी शिष्यके गुण हैं। किसीको शिष्य बनानेसे पहले उसके इन गुणोंको यथार्थरूपसे लेना चाहिये। जिसके सदाचारकी परीक्षा न ली गयी हो, उसे किसी प्रकार विद्यादान नहीं देना चाहिये ॥ ४५½ ॥

कनकं शुद्धं तापच्छेदनिकर्षणैः ॥ ४६ ॥
परीक्षेत शिष्यानीक्षेत् कुलगुणादिभिः ।

'जैसे आगमें तपाने, काटने और कसौटीपर कसनेसे सोनेकी की जाती है, उसी प्रकार कुल और गुण आदिके शिष्योंकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ ४६½ ॥

न नियोज्याश्च शिष्या अनियोगे महाभये ॥
यथामति यथापाठं तथा विद्या फलिष्यति ।
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ॥ ४८ ॥

'तुमलोग अपने शिष्योंको किसी अनुचित या महान् भयदायक कार्यमें न लगाना। तुम्हारे पढ़ानेपर भी जिसकी जैसी बुद्धि होगी और जो पढ़नेमें जैसा परिश्रम करेगा, उसीके अनुसार उसकी विद्या सफल होगी। लोग दुर्गम संकटसे पार और सभी अपना कल्याण देखें ॥ ४७-४८ ॥

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
वेदस्याध्ययनं हीदं कार्यं महत् स्मृतम् ॥ ४९ ॥

'ब्राह्मणको आगे रखकर चारों वर्णोंको उपदेश देना चाहिये। यह वेदाध्ययन महान् कार्य माना गया है। इसे अवश्य करना चाहिये ॥ ४९ ॥

स्तुत्यर्थमिह देवानां वेदाः सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
यो निर्वदेत सम्मोहाद् ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ ५० ॥
सोऽभिध्यानाद् पराभूयादसंशयम् ।

'स्वयम्भू ब्रह्माने यहाँ देवताओंकी स्तुतिके लिये वेदोंकी सृष्टि की है। जो मोहवश वेदके पारङ्गत ब्राह्मणकी निन्दा है, उसके अनिष्ट-चिन्तनके कारण निस्संदेह पराभवको प्राप्त होता है ॥ ५०½ ॥

यश्चाधर्मेण विब्रूयाद् यश्चाधर्मेण पृच्छति ॥ ५१ ॥
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति ।

'जो धार्मिक विधिका उल्लङ्घन करके प्रश्न करता है

और जो अधर्मपूर्वक [illegible] [illegible] देता है, [illegible] दोनोंमेंसे एककी मृत्यु हो जाती है [illegible] एक दूसरेके द्वेषका पात्र [illegible] जाता [illegible] ॥ ५१½ ॥

एतद् वः सर्वमाख्यातं स्वाध्यायस्य विधिं प्रति।
उपकुर्याच्च शिष्याणामेतच्च हृदि वो भवेत् ॥ ५२ ॥

'यह सब मैंने तुमलोगोंसे स्वाध्यायकी विधि बतायी है। यह तुम्हारे हृदयमें सदा स्मरण रहे; क्योंकि यह शिष्योंका [illegible] [illegible] सकती है' ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि सप्तविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२७ ॥

इस [illegible] श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शिष्योंके जानेके बाद व्यासजीके पास नारदजीका आगमन और व्यासजीको वेदपाठके लिये प्रेरित करना तथा व्यासजीका शुकदेवको अनध्यायका कारण बताते हुए 'प्रवह' आदि सात वायुओंका परिचय देना

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा गुरोर्वाक्यं व्यासशिष्या महौजसः।
अन्योन्यं हृष्टमनसः परिषस्वजिरे तदा ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! अपने गुरु व्यासके इस उपदेशको सुनकर उनके महातेजस्वी शिष्य मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और आपसमें एक-दूसरेको हृदयसे लगाने लगे ॥ १ ॥

उक्ताः स्मो यद् भगवता तदात्वायतिसंहितम्।
तन्नो मनसि [illegible] करिष्यामस्तथा च तत् ॥ २ ॥

फिर व्यासजीसे बोले—'भगवन्! आपने भविष्यमें हमारे हितका विचार करके जो बातें बतायी हैं, वे हमारे मनमें बैठ गयी हैं। हम अवश्य उनका पालन करेंगे' ॥ २ ॥

अन्योन्यं संविभाष्यैवं सुप्रीतमनसः पुनः।
विज्ञापयन्ति स्म गुरुं पुनर्वाक्यविशारदाः ॥ ३ ॥

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करके गुरु और शिष्य सभी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर प्रवचनकुशल शिष्योंने गुरुसे इस प्रकार निवेदन किया—॥ [illegible] ॥

शैलादस्मान्महीं गन्तुं काङ्क्षितं नो महामुने।
वेदाननेकधा कर्तुं यदि ते रुचितं प्रभो ॥ ४ ॥

'महामुने! अब हम इस पर्वतसे पृथ्वीपर जाना चाहते हैं। वेदोंके अनेक विभाग करके उनका प्रचार करना ही हमारी इस यात्राका उद्देश्य है। प्रभो! यदि आपको यह रुचिकर जान पड़े तो हमें जानेकी [illegible] दें' ॥ ४ ॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम् ॥ ५ ॥

शिष्योंकी यह बात सुनकर पराशरनन्दन भगवान् व्यास यह धर्म और अर्थयुक्त हितकर वचन बोले—॥ ५ ॥

क्षितिं वा देवलोकं वा गम्यतां यदि रोचते।
अप्रमादश्च वः कार्यो ब्रह्म हि प्रचुरच्छलम् ॥ ६ ॥

'शिष्यो! यदि तुम्हें यही अच्छा लगता है तो [illegible] पृथ्वीपर या देवलोकमें जहाँ चाहो जा सकते हो; परंतु प्रमाद न करना; क्योंकि वेदमें बहुत सी प्ररोचनात्मक श्रुतियाँ हैं, जो व्याजसे (फलोंका लोभ दिखाकर) धर्मका प्रतिपादन करती हैं' ॥ ६ ॥

तेऽनुज्ञातास्ततः सर्वे गुरुणा सत्यवादिना।
जग्मुः प्रदक्षिणं कृत्वा व्यासं मूर्ध्नाभिवाद्य च ॥ [illegible] ॥

सत्यवादी गुरुकी यह आज्ञा पाकर सभी शिष्योंने उनके चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम किया। तत्पश्चात् वे व्यासजीकी प्रदक्षिणा करके वहाँसे चले गये ॥ [illegible] ॥

अवतीर्य महीं तेऽथ चातुर्होत्रमकल्पयन्।
संयाजयन्तो विप्रांश्च राजन्यांश्च विशस्तथा ॥ [illegible] ॥
पूज्यमाना द्विजैर्नित्यं मोदमाना गृहे रताः।
याजनाध्यापनरताः श्रीमन्तो लोकविश्रुताः ॥ ९ ॥

पृथ्वीपर उतरकर उन्होंने चातुर्होत्र कर्म (अग्निहोत्रसे लेकर सोमयागतक) [illegible] प्रचार किया और गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंके यज्ञ कराते हुए वे द्विजातियोंसे पूजित हो बड़े आनन्दसे रहने लगे। [illegible] कराने और वेदोंकी शिक्षा देनेमें ही वे तत्पर रहते थे। इन्हीं कर्मोंके कारण वे श्रीसम्पन्न और लोक-विख्यात हो गये थे ॥ ८-९ ॥

अवतीर्णेषु शिष्येषु व्यासः पुत्रसहायवान्।
तूष्णीं ध्यानपरो धीमानेकान्ते समुपाविशत् ॥ १० ॥

शिष्योंके पर्वतसे नीचे उतर जानेपर व्यासजीके साथ उनके पुत्र शुकदेवके सिवा और कोई नहीं रह गया। वे बुद्धिमान् व्यासजी एकान्तमें ध्यानमग्न होकर चुपचाप बैठे थे ॥ १० ॥

तं ददर्शाश्रमपदे नारदः सुमहातपाः।
अथैनमब्रवीत् काले मधुराक्षरया गिरा ॥ ११ ॥

उसी समय महातपस्वी नारदजी उस आश्रमपर पधारकर व्यासजीसे मिले और मधुर अक्षरोंसे युक्त मीठी वाणीमें उनसे [illegible] प्रकार बोले—॥ ११ ॥

भो भो ब्रह्मर्षिवासिष्ठ ब्रह्मघोषो न वर्तते ।
एको ध्यानपरस्तूष्णीं किमास्से चिन्तयन्निव ॥ १२ ॥

'हे ब्रह्मर्षिवासिष्ठ ! आज आपके इस आश्रममें वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि क्यों नहीं हो रही है ? आप अकेले [illegible] होकर चुपचाप क्यों बैठे हैं ? जान पड़ता है, आप किसी चिन्तामें मग्न हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्मघोषैर्विरहितः पर्वतोऽयं न शोभते ।
रजसा तमसा चैव सोमः सोपप्लवो [illegible] ॥ १३ ॥
[illegible] भ्राजते यथापूर्वं निषादानामिवालयः ।
देवर्षिगणजुष्टोऽपि वेदध्वनिनिराकृतः ॥ १४ ॥

'वेदध्वनि न होनेके कारण इस पर्वतकी पहले-जैसी शोभा नहीं रही। रज और तमसे [illegible] हो यह राहुग्रस्त चन्द्रमाके [illegible] जान पड़ता है। देवर्षियोंसे सेवित होनेपर भी यह शैल-शिखर ब्रह्मघोषके बिना भीलोंके घरकी तरह श्रीहीन प्रतीत होता है ॥ १३-१४ ॥

ऋषयश्च हि देवाश्च गन्धर्वाश्च महौजसः ।
वियुक्ता ब्रह्मघोषेण न भ्राजन्ते यथा पुरा ॥ १५ ॥

'यहाँके ऋषि, देवता और महाबली गन्धर्व भी ब्रह्मघोष-[illegible] विमुक्त हो अब पहलेकी भाँति शोभा नहीं पा रहे हैं' ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
महर्षे यत् [illegible] प्रोक्तं वेदवादविचक्षण ॥ १६ ॥
एतन्मनोऽनुकूलं मे भवानर्हति भाषितुम् ।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वत्र च कुतूहली ॥ १७ ॥

नारदजीकी [illegible] सुनकर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने कहा—'वेदविद्याके विद्वान् महर्षे ! आपने जो कुछ कहा है, यह मेरे मनके अनुकूल ही है। आप ही ऐसी [illegible] कह सकते हैं। आप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सर्वत्रकी बातें जाननेके लिये उत्कण्ठित रहनेवाले हैं ॥ १६-१७ ॥

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं सर्वं तव मते स्थितम् ।
तदाज्ञापय विप्रर्षे ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १८ ॥

'तीनों लोकोंमें जो बात होती है या हो चुकी है, वह सब आपकी जानकारीमें है। ब्रह्मर्षे ! बताइये, आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ १८ ॥

यन्मया समनुष्ठेयं ब्रह्मर्षे तदुदाहर ।
विमुक्तस्येह शिष्यैर्मे नातिहृष्टमिदं मनः ॥ १९ ॥

'ब्रह्मर्षि नारद ! इस समय मेरा जो कर्तव्य है, उसे भी बताइये। अपने प्यारे शिष्योंसे बिछुड़ जानेके कारण [illegible] समय मेरा यह मन विशेष प्रसन्न नहीं है' ॥ १९ ॥

नारद उवाच

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ।
मलं पृथिव्या वाहीकाः स्त्रीणां कौतूहलं मलम् ॥ २० ॥

नारदजीने कहा—व्यासजी ! वेद पढ़कर उसका अभ्यास (पुनरावृत्ति) न करना वेदाध्ययनका दूषण है। व्रतका पालन न करना ब्राह्मणका दूषण है। वाहीक देशके लोग पृथ्वीके दूषण हैं और नये-नये खेल-तमाशा देखनेकी लालसा स्त्रीके लिये दोषकी बात है ॥ २० ॥

अधीयतां भवान् वेदान् सार्धं पुत्रेण धीमता ।
विधुन्वन् ब्रह्मघोषेण रक्षोभयकृतं तमः ॥ २१ ॥

आप अपने वेदोच्चारणकी ध्वनिसे राक्षसभयजनित अन्धकारका नाश करते हुए बुद्धिमान् पुत्र शुकदेवजीके साथ वेदोंका स्वाध्याय करते रहे ॥ २१ ॥

भीष्म उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा व्यासः परमधर्मवित् ।
तथेत्युवाच संहृष्टो वेदाभ्यासदृढव्रतः ॥ २२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! नारदजीकी [illegible] सुनकर परम धर्मज्ञ व्यासजीने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और हर्षमें भरकर वे वेदाभ्यासरूपी व्रतका दृढतापूर्वक पालन करने लगे ॥ २२ ॥

शुकेन सह पुत्रेण वेदाभ्यासमथाकरोत् ।
स्वरेणोच्चैः [illegible] शैक्ष्येण लोकानापूरयन्निव ॥ २३ ॥

उन्होंने अपने पुत्र शुकदेवके [illegible] शिक्षाके नियमानुसार उच्चस्वरसे तीनों लोकोंको परिपूर्ण करते हुए-से वेदोंकी आवृत्ति आरम्भ कर दी ॥ २३ ॥

तयोरभ्यस्यतोरेव नानाधर्म[illegible]नोः ।
वातोऽतिमात्रं प्रववौ समुद्रानिलवेजितः ॥ २४ ॥

नाना प्रकारके धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले [illegible] पिता-पुत्र उक्त रूपसे वेदोंका अभ्यास कर ही रहे थे कि समुद्री हवासे प्रेरित होकर बड़े जोरकी आँधी चलने लगी ॥ २४ ॥

ततोऽनध्याय इति तं व्यासः पुत्रमवारयन्।
शुको वारितमात्रस्तु कौतूहलसमन्वितः॥ २५॥

तब अनध्याय-काल बताकर व्यासजीने अपने पुत्रको वेद पढ़नेसे [illegible] रोक दिया। उनके मना करनेपर शुकदेवजीके मनमें इसका कारण जाननेके लिये [illegible] उत्कण्ठा हुई॥ २५॥

अपृच्छत् पितरं ब्रह्मन् कुतो वायुरभूदयम्।
आख्यातुमर्हति भवान् वायोः [illegible] विचेष्टितम्॥ २६॥

उन्होंने अपने पितासे पूछा—'ब्रह्मन्! इस वायुकी उत्पत्ति किससे हुई है? आप वायुकी सारी चेष्टाओंका विस्तारपूर्वक वर्णन करें'॥ २६॥

शुकस्यैतद् वचः श्रुत्वा व्यासः परमविस्मितः।
अनध्यायनिमित्तेऽस्मिन्निदं वचनमब्रवीत्॥ २७॥

शुकदेवजीका यह वचन सुनकर व्यासजी अत्यन्त आश्चर्य-[illegible] चकित हो उठे और अनध्यायके कारणपर प्रकाश डालते हुए इस प्रकार बोले—॥ २७॥

दिव्यं ते चक्षुरुत्पन्नं स्वयं ते निर्मलं मनः।
तमसा रजसा चापि त्यक्तः सत्त्वे व्यवस्थितः॥ २८॥

'बेटा! तुम्हें स्वय ही दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है। तुम्हारा हृदय अत्यन्त निर्मल है। तुम रजोगुण और तमोगुण-[illegible] रहित होकर सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित हो॥ २८॥

आदर्शे स्वामिव च्छायां पश्यस्यात्मानमात्मना।
न्यस्यात्मनि स्वयं वेदान् बुद्ध्या समनुचिन्तय॥ २९॥

'जैसे लोग दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं, उसी प्रकार तुम बुद्धिके द्वारा आत्माका साक्षात्कार करते हो; अतः स्वयं ही वेदोंको अपने भीतर स्थापित करके बुद्धिद्वारा अनध्यायके कारणभूत वायुके विषयमें विचार करो॥ २९॥

देवयानचरो विष्णोः पितृयाणश्च तामसः।
द्वावेतौ प्रेत्य पन्थानौ दिवं [illegible]॥ ३०॥

'मरकर ऊपरके लोकोंमें जानेवाले और नीचेके लोकोंमें जानेवाले मनुष्योंके लिये दो मार्ग हैं, एक तो देवयान जो कि विष्णुलोकका मार्ग है, [illegible] सात्त्विक है; दूसरा पितृयान जो कि तामस है॥ ३०॥

पृथिव्यामन्तरिक्षे [illegible] संवान्ति वायवः।
सप्तैते वायुमार्गा वै तान् निबोधानुपूर्वशः॥ ३१॥

'पृथ्वीपर या आकाशमें जहाँ भी [illegible] चलती है, उसके बहनेके लिये [illegible] मार्ग हैं। तुम क्रमशः उनका वर्णन सुनो॥

तत्र देवगणाः साध्या महाभूता महाबलाः।
तेषामप्यभवत् पुत्रः समानो नाम दुर्जयः॥ ३२॥

'पृथ्वी और आकाशमें जो महाबली और महान् भूतस्वरूप साध्य नामक देवगण अदृश्यभावसे रहते हैं, उनके दुर्जय पुत्रका नाम है समान॥ ३२॥

उदानस्तस्य पुत्रोऽभूद् व्यानस्तस्याभवत् सुतः।
अपानश्च ततो ज्ञेयः प्राणश्चापि ततोऽपरः॥ ३३॥

'समानका पुत्र है उदान, उदानका पुत्र है व्यान, उसके पुत्रका नाम अपान जानना चाहिये और अपानसे प्राणकी उत्पत्ति हुई है॥ ३३॥

अनपत्योऽभवत् प्राणो दुर्धर्षः शत्रुतापनः।
पृथक् कर्माणि तेषां ते प्रवक्ष्यामि यथातथम्॥ ३४॥

'प्राणके कोई संतान नहीं हुई। वह शत्रुओंको संताप देनेवाला और दुर्जय है। उन सबके कर्म पृथक्-पृथक् हैं, जिनका मैं तुमसे यथावत्‌रूपसे वर्णन करता हूँ॥ ३४॥

प्राणिनां सर्वतो वायुश्चेष्टां वर्तयते पृथक्।
प्राणनाच्चैव भूतानां प्राण इत्यभिधीयते॥ ३५॥

'वायुदेव प्राणियोंकी पृथक्-पृथक् [illegible] चेष्टाओंका सम्पादन करते हैं [illegible] सम्पूर्ण भूतोंको अनुप्राणित (जीवित) रखते हैं, इसलिये 'प्राण' कहलाते हैं॥ ३५॥

प्रेरयत्यभ्रसंघातान् धूमजांश्चोष्मजांश्च यः।
[illegible] प्रथमे मार्गे प्रवहो नाम योऽनिलः॥ ३६॥

'जो धूम तथा गर्मीसे उत्पन्न बादलों और ओलोंको इधरसे उधर ले जाता है, वह प्रथम मार्गमें प्रवाहित होनेवाला 'प्रवह' [illegible] प्रथम वायु है॥ ३६॥

अम्बरे स्नेहमभ्येत्य विद्युद्भ्यश्च महाद्युतिः।
आवहो [illegible] संवाति द्वितीयः श्वसनो नदन्॥ ३७॥

'जो आकाशमें रसकी मात्राओं और बिजली आदिकी उत्पत्तिके लिये प्रकट होता है, वह महान् तेजसे सम्पन्न द्वितीय वायु 'आवह' नामसे प्रसिद्ध है। वह बड़ी भारी आवाजके साथ बहता है॥ ३७॥

उदयं ज्योतिषां शश्वत् सोमादीनां करोति यः।
अन्तर्देहेषु चोदानं यं वदन्ति मनीषिणः॥ ३८॥
यश्चतुर्भ्यः समुद्रेभ्यो वायुर्धारयते जलम्।
उद्धृत्याददते चापो जीमूतेभ्योऽम्बरेऽनिलः [illegible]॥ ३९॥
योऽद्भिः संयोज्य जीमूतान् पर्जन्याय प्रयच्छति।
उद्वहो नाम बंहिष्ठस्तृतीयः [illegible] सदागतिः॥ [illegible]॥

'जो सदा सोम, सूर्य आदि ग्रहोंका उदय एवं उद्भव करता है, मनीषी पुरुष शरीरके भीतर जिसे 'उदान' कहते हैं, जो चारों समुद्रोंसे जलको ऊपर उठाकर जीमूत नामक मेघोंमें स्थापित करता है [illegible] जीमूत [illegible] मेघोंको जलसे संयुक्त करके उन्हें पर्जन्यके हवाले कर देता है, वह महान् वायु 'उद्वह' कहलाता है, जो तृतीय मार्गपर चलनेके कारण तीसरा कहा गया है॥ ३८–४०॥

समुह्यमाना बहुधा येन नीताः पृथग् घनाः।
वर्षमोक्षकृतारम्भास्ते भवन्ति घनाघनाः॥ ४१॥
संहता येन चाविद्धा भवन्ति नदतां नदाः।
रक्षणार्थाय सम्भूता मेघत्वमुपयान्ति च॥ ४२॥

योऽसौ वहति भूतानां विमानानि विहायसा ।
चतुर्थः संवहो नाम वायुः स गिरिमर्दनः ॥ ४३ ॥

'जिसके द्वारा इधर-उधर ले जाये गये अनेक प्रकारके महामेघ घटा बाँधकर जल बरसाना आरम्भ करते हैं, घटाके रूपमें घनीभूत होनेपर भी जिसकी प्रेरणासे सारे बादल फट जाते हैं, फिर वे वेणुनादके समान शब्द करनेके कारण 'नद' कहलाते हैं तथा प्राणियोंकी रक्षाके लिये पुनः जलका संग्रह करके घनीभूत हो जाते हैं, जो वायु देवताओंके आकाशमार्गसे जानेवाले विमानोंको स्वयं ही वहन करता है, वह पर्वतोंका मान मर्दन करनेवाला चतुर्थ वायु 'संवह' नामसे प्रसिद्ध है ॥

येन वेगवता रुग्णा रूक्षेण रुवता नगान् ।
वायुना संहिता मेघास्ते भवन्ति बलाहकाः ॥ ४४ ॥
दारुणोत्पातसंचारो नभसः स्तनयित्नुमान् ।
पञ्चमः स महावेगो विवहो नाम मारुतः ॥ ४५ ॥

'जो रूक्षभावसे वेगपूर्वक महान् शब्दके साथ बहकर बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ देता और उखाड़ फेंकता है तथा जिसके द्वारा संगठित हुए प्रलयकालीन मेघ 'बलाहक' संज्ञा धारण करते हैं, जिस वायुका संचरण भयानक उत्पात लानेवाला होता है तथा जो आकाशमें अपने साथ मेघोंकी घटाएँ लिये रहता है, उस अत्यन्त वेगशाली पाँचवें वायुको 'विवह' कहा दिया गया है ॥ ४४-४५ ॥

यस्मिन् पारिप्लवा दिव्या वहन्त्यापो विहायसा ।
पुण्यं चाकाशगङ्गायास्तोयं विष्टभ्य तिष्ठति ॥ ४६ ॥
दूरात् प्रतिहतो यस्मिन्नेकरश्मिर्दिवाकरः ।
योनिरंशुसहस्रस्य येन भाति वसुन्धरा ॥ ४७ ॥
यस्मादाप्यायते सोमो निधिर्दिव्योऽमृतस्य च ।
षष्ठः परिवहो नाम स वायुर्जयतां वरः ॥ ४८ ॥

'जिस वायुके आधारपर आकाशमें दिव्य जल ऊपर-ही-ऊपर प्रवाहित होते हैं, जो आकाशगङ्गाके पवित्र जलको धारण करके स्थित है और जिसके द्वारा दूरसे ही प्रतिहत होकर सहस्रों किरणोंके उत्पत्तिस्थान सूर्यदेव, जिनसे यह पृथ्वी प्रकाशित होती है, एक ही किरणसे युक्त जान पड़ते हैं तथा जिससे अमृतकी दिव्य निधि चन्द्रमाका भी पोषण होता है, वह विजयशीलोंमें श्रेष्ठ छठा वायुतत्त्व 'परिवह' नामसे प्रसिद्ध है ॥ ४६—४८ ॥

सर्वप्राणभृतां प्राणान् योऽन्तकाले निरस्यति ।
यस्य वर्त्मानुवर्तेते मृत्युवैवस्वतावुभौ ॥ ४९ ॥
सम्यगन्वीक्षतां बुद्ध्या शान्तयाध्यात्मनित्यया ।
ध्यानाभ्यासाभिरामाणां योऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ५० ॥
यं समासाद्य वेगेन दिशोऽन्तं प्रतिपेदिरे ।
दक्षस्य दशपुत्राणां सहस्राणि प्रजापतेः ॥ ५१ ॥
येन स्पृष्टः पराभूतो यात्येव न निवर्तते ।
परावहो नाम परो वायुः स दुरतिक्रमः ॥ ५२ ॥

'जो वायु अन्तकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्राणोंको शरीरसे निकालता है, जिसके इस प्राणनिष्कासनरूप मार्गका मृत्यु तथा सूर्यपुत्र यम अनुगमनमात्र करते हैं, सदा अध्यात्मचिन्तनमें लगी हुई शान्त बुद्धिके द्वारा भलीभाँति अनुसंधान करनेवाले तथा ध्यानके अभ्यासमें ही सानन्द रत रहनेवाले पुरुषोंको जो अमृतत्व देनेमें समर्थ है, जिसमें स्थित होकर प्रजापति दक्षके दस हजार पुत्र सम्पूर्ण दिशाओंके अन्तमें पहुँच गये तथा जिससे स्पर्शित होकर विलीन हुआ प्राणी यहाँसे केवल जाता है वापस नहीं लौटता, उस सर्वश्रेष्ठ सप्तम वायुका नाम 'परावह' है। उसका अतिक्रमण करना सभीके लिये सर्वथा कठिन है ॥ ४९—५२ ॥

एवमेते दितेः पुत्रा मारुताः परमाद्भुताः ।
अनारतं ते संयान्ति सर्वगाः सर्वधारिणः ॥ ५३ ॥

'इस प्रकार ये सात मरुद्गण दितिके अत्यन्त अद्भुत पुत्र हैं। इनकी सर्वत्र गति है। ये निरन्तर बहते और सबको धारण करते हैं ॥ ५३ ॥

एतत् तु महदाश्चर्यं यदयं पर्वतोत्तमः ।
कम्पितः सहसा तेन वायुनातिप्रवायता ॥ ५४ ॥

'यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि अत्यन्त वेगसे बहते हुए उस वायुके द्वारा यह पर्वतोंमें श्रेष्ठ हिमालय भी सहसा काँप उठा है ॥ ५४ ॥

विष्णोर्निःश्वासवातोऽयं यदा वेगसमीरितः ।
सहसोदीर्यते तात जगत् प्रव्यथते तदा ॥ ५५ ॥

'तात ! यह भगवान् विष्णुका निःश्वास है। जब कभी सहसा वह निःश्वास वेगसे निकल पड़ता है, उस समय यह सारा जगत् व्यथित हो उठता है ॥ ५५ ॥

तस्माद् ब्रह्मविदो वेदान् नाधीयन्तेऽतिवायति ।
वायोर्वायुभयं ह्युक्तं ब्रह्म तत्पीडितं भवेत् ॥ ५६ ॥

'इसलिये ब्रह्मवेत्ता पुरुष प्रचण्ड वायु (आँधी) चलनेपर वेदका पाठ नहीं करते हैं। वेद भी भगवान्का निःश्वास ही है। उस समय वेदपाठ करनेपर वायुको वायुसे भय प्राप्त होता है और उस वेदको भी पीड़ा होती है' ॥ ५६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं पराशरसुतः प्रभुः ।
उक्त्वा पुत्रमधीष्वेति व्योमगङ्गामगात् तदा ॥ ५७ ॥

अनध्यायके विषयमें यह बात कहकर पराशरनन्दन भगवान् व्यास अपने पुत्र शुकदेवसे बोले—'अब तुम वेद-पाठ करो।' यों कहकर वे आकाशगङ्गाके तटपर चले गये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अनध्यायनिमित्तकथनं नामाष्टाविंशत्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें अनध्यायके कारणका कथन नामक तीन सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२८ ॥

शुकदेवजीको नारदजीका उपदेश

एकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीको नारदजीका वैराग्य और ज्ञानका उपदेश

भीष्म उवाच

एतस्मिन्नन्तरे शून्ये नारदः समुपागमत्।
शुकं स्वाध्यायनिरतं वेदार्थान् वक्तुमीप्सितान्॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! व्यासजीके चले जानेके बाद उस सूने आश्रममें स्वाध्यायपरायण शुकदेवसे अपना इच्छित वेदोंका अर्थ कहनेके लिये देवर्षि नारदजी पधारे॥१॥

देवर्षिं तु शुको दृष्ट्वा नारदं समुपस्थितम्।
अर्घ्यपूर्वेण विधिना वेदोक्तेनाभ्यपूजयत्॥ २ ॥

देवर्षि नारदको उपस्थित देख शुकदेवने वेदोक्त विधिसे अर्घ्य आदि निवेदन करके उनका पूजन किया॥ २॥

नारदोऽथाब्रवीत् प्रीतो ब्रूहि धर्मभृतां वर।
केन त्वां श्रेयसा वत्स योजयामीति हृष्टवत्॥ ३ ॥

तब नारदजीने प्रसन्न होकर कहा—'वत्स! तुम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हो। बताओ, तुम्हें किस श्रेष्ठ वस्तुकी प्राप्ति कराऊँ?' यह बात उन्होंने बड़े हर्षके साथ कही॥ ३॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः प्रोवाच भारत।
अस्मिँल्लोके हितं यत् स्यात् तेन मां योक्तुमर्हसि॥ ४ ॥

भरतनन्दन! नारदजीकी यह बात सुनकर शुकदेवने कहा—'इस लोकमें जो परम कल्याणका साधन हो, उसीका मुझे उपदेश देनेकी कृपा करें'॥ ४॥

नारद उवाच

तत्त्वं जिज्ञासतां पूर्वमृषीणां भावितात्मनाम्।
सनत्कुमारो भगवानिदं वचनमब्रवीत्॥ ५ ॥

नारदजीने कहा—वत्स! पूर्वकालकी बात है, पवित्र अन्तःकरणवाले ऋषियोंने तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रश्न किया। उसके उत्तरमें भगवान् सनत्कुमारने यह उपदेश दिया॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥ ६ ॥

विद्याके समान कोई नेत्र नहीं है। सत्यके समान कोई तप नहीं है। रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है॥ ६॥

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम्॥ ७ ॥

पापकर्मोंसे दूर रहना, सदा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करना, श्रेष्ठ पुरुषोंके से बर्ताव और सदाचारका पालन करना—यही सर्वोत्तम श्रेय (कल्याण) का साधन है॥ ७॥

मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति।
नालं स दुःखमोक्षाय संयोगो दुःखलक्षणम्॥ ८ ॥

जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे इस मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहको प्राप्त होता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप ही है, अतः दुःखोंसे छुटकारा नहीं दिला सकता॥ ८॥

सक्तस्य बुद्धिश्चलति मोहजालविवर्धनी।
मोहजालावृतो दुःखमिह चामुत्र सोऽश्नुते॥ ९ ॥

विषयासक्त पुरुषकी बुद्धि चञ्चल होती है। वह मोहजालको बढ़ानेवाली है, मोहजालमें बँधा हुआ पुरुष इस लोक तथा परलोकमें दुःख ही भोगता है॥ ९॥

सर्वोपायात् तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
कार्यः श्रेयोऽर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ॥ १० ॥

जिसे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो, उसे सभी उपायोंसे काम और क्रोधको दबाना चाहिये; क्योंकि ये दोनों दोष कल्याणका नाश करनेके लिये उद्यत रहते हैं॥ १०॥

नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः॥ ११ ॥

मनुष्यको चाहिये कि सदा तपको क्रोधसे, लक्ष्मीको डाहसे, विद्याको मानापमानसे और अपने आपको प्रमादसे बचावे॥ ११॥

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं न सत्याद् विद्यते परम्॥ १२ ॥

क्रूर स्वभावका परित्याग सबसे बड़ा धर्म है। क्षमा सबसे बड़ा बल है। आत्माका ज्ञान ही सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है और सत्यसे बढ़कर तो कुछ है ही नहीं॥ १२॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम॥ १३ ॥

सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ है; परंतु सत्यसे भी श्रेष्ठ है हितकारक वचन बोलना। जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, वही मेरे विचारसे सत्य है॥ १३॥

सर्वारम्भपरित्यागी निराशीर्निष्परिग्रहः।
येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः॥ १४ ॥

जो कार्य आरम्भ करनेके सभी संकल्पोंको छोड़ चुका है, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता तथा जिसने सब कुछ त्याग दिया है, वही विद्वान् है और वही पण्डित॥ १४॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थान् यश्चरत्यात्मवशैरिह।
असज्जमानः शान्तात्मा निर्विकारः समाहितः॥ १५ ॥
आत्मभूतैरतद्भूतः सह चैव विनैव च।
स विमुक्तः परं श्रेयो नचिरेणाधिगच्छति॥ १६ ॥

जो अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा यहाँ अनासक्त भावसे विषयोंका अनुभव करता है, जिसका चित्त शान्त, निर्विकार और एकाग्र है तथा जो आत्मस्वरूप प्रतीत

होनेवाले देह और इन्द्रियाँ हैं, उनके साथ रहकर भी उनसे तद्रूप न हो अलग-सा ही रहता है, वह मुक्त है और उसे बहुत शीघ्र परम कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ १५-१६ ॥

अदर्शनमसंस्पर्शस्तथासम्भाषणं सदा।
यस्य भूतैः सह मुने स श्रेयो विन्दते परम् ॥ १७ ॥

मुने ! जिसकी किसी प्राणीकी ओर दृष्टि नहीं जाती, जो किसीका स्पर्श तथा किसीसे बातचीत नहीं करता, वह परम कल्याणको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जन्म समासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ १८ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे। सबके प्रति मित्रभाव रखते हुए विचरे तथा यह मनुष्य-जन्म पाकर किसीके साथ वैर न करे ॥ १८ ॥

आकिञ्चन्यं सुसंतोषो निराशीस्त्वमचापलम्।
एतदाहुः परं श्रेय आत्मज्ञस्य जितात्मनः ॥ १९ ॥

जो आत्मतत्त्वका ज्ञाता तथा मनको वशमें रखनेवाला है, उसके लिये यही परम कल्याणका साधन बताया गया है कि वह किसी वस्तुका संग्रह न करे, संतोष रखे तथा कामना और चञ्चलताको त्याग दे ॥ १९ ॥

परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम् ॥ २० ॥

तात शुकदेव ! तुम संग्रहका त्याग करके जितेन्द्रिय हो जाओ तथा उस पदको प्राप्त करो, जो इस लोक और परलोकमें भी निर्भय एवं सर्वथा शोकरहित है ॥ २० ॥

निरामिषा न शोचन्ति त्यजेदामिषमात्मनः।
परित्यज्यामिषं सौम्य दुःखतापाद् विमोक्ष्यसे ॥ २१ ॥

जिन्होंने भोगोंका परित्याग कर दिया है, वे कभी शोकमें नहीं पड़ते, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको भोगासक्तिका त्याग करना चाहिये। सौम्य ! भोगोंका त्याग कर देनेपर तुम दुःख और संतापसे छूट जाओगे ॥ २१ ॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना ॥ २२ ॥

जो अजित् (परमात्मा) को जीतनेकी इच्छा रखता हो, उसे तपस्वी, जितेन्द्रिय, मननशील, संयतचित्त और विषयोंमें अनासक्त रहना चाहिये ॥ २२ ॥

गुणसङ्गेष्वनासक्त एकचर्यारतः सदा।
ब्राह्मणो नचिरादेव सुखमायात्यनुत्तमम् ॥ २३ ॥

जो ब्राह्मण त्रिगुणात्मक विषयोंमें आसक्त न होकर सदा एकान्तवास करता है, वह शीघ्र ही सर्वोत्तम सुखरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ २३ ॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु य एको रमते मुनिः।
विद्धि प्रज्ञानतृप्तं तं ज्ञानतृप्तो न शोचति ॥ २४ ॥

जो मुनि मैथुनमें सुख माननेवाले प्राणियोंके बीचमें रहकर भी अकेले रहनेमें ही आनन्द मानता है, उसे विज्ञान- [illegible] परितृप्त समझना चाहिये। जो ज्ञानसे तृप्त होता है, वह कभी शोक नहीं करता ॥ २४ ॥

शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम्।
अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः ॥ २५ ॥

जीव सदा कर्मोंके अधीन रहता है। वह शुभकर्मोंके अनुष्ठानसे देवता होता है, दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्य-जन्म पाता है और केवल अशुभ कर्मोंसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २५ ॥

तत्र मृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः।
संसारे पच्यते जन्तुस्तत्कथं नावबुद्ध्यसे ॥ २६ ॥

उन-उन योनियोंमें जीवको सदा जरा मृत्यु और नाना प्रकारके दुःखोंसे संतप्त होना पड़ता है। इस प्रकार संसारमें जन्म लेनेवाला प्रत्येक प्राणी संतापकी आगमें पकाया [illegible] है—इस बातकी ओर तुम क्यों नहीं ध्यान देते ? ॥ २६ ॥

अहिते हितसंज्ञस्त्वमध्रुवे ध्रुवसंज्ञकः।
अनर्थे चार्थसंज्ञस्त्वं किमर्थं नावबुद्ध्यसे ॥ २७ ॥

तुमने अहितमें ही हित-बुद्धि कर ली है, जो अध्रुव (विनाशशील) वस्तुएँ हैं, उन्हींको 'ध्रुव' (अविनाशी) नाम दे रक्खा है और अनर्थमें ही तुम्हें अर्थका बोध हो रहा है। यह बात तुम्हारी समझमें क्यों नहीं आती है ? ॥ २७ ॥

संवेष्ट्यमानं बहुभिर्मोहात् तन्तुभिरात्मजैः।
कोपकार इवात्मानं वेष्टयन् नावबुध्यसे ॥ २८ ॥

जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही शरीरसे उत्पन्न हुए तन्तुओंद्वारा अपने आपको आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार तुम भी मोहवश अपनेहीसे उत्पन्न सम्बन्धके बन्धनोंद्वारा अपने आपको बाँधते [illegible] रहे हो तो भी यह बात तुम्हारी समझमें नहीं आ रही है ॥ २८ ॥

अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः।
कृमिर्हि कोपकारस्तु बध्यते स्व परिग्रहात् ॥ २९ ॥

यहाँ विभिन्न वस्तुओंके संग्रहकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि संग्रहसे महान् दोष प्रकट होता है। रेशमका कीड़ा अपने संग्रह-दोषके कारण ही बन्धनमें पड़ता है ॥ २९ ॥

पुत्रदारकुटुम्बेषु [illegible] सीदन्ति जन्तवः।
सरःपङ्कार्णवे [illegible] जीर्णा वनगजा इव ॥ ३० ॥

स्त्री-पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त रहनेवाले प्राणी उसी [illegible] पाते हैं, जैसे जंगलके बूढ़े हाथी तालाबके दल दलमें फँसकर दुःख उठाते हैं ॥ ३० ॥

महाजालसमाकृष्टान् स्थले मत्स्यानिवोद्धृतान्।
स्नेहजालसमाकृष्टान् पश्य जन्तून् सुदुःखितान् ॥ ३१ ॥

जिस [illegible] महान् जालमें फँसकर पानीसे बाहर आये हुए मत्स्य तड़पते हैं, उसी प्रकार स्नेह-जालसे आकृष्ट होकर

अत्यन्त ■ उठाते हुए इन प्राणियोंकी ओर दृष्टिपात करो ॥ ३१ ॥

कुटुम्बं पुत्रदारांश्च शरीरं संचयाश्च ये।
पारक्यमध्रुवं सर्वं किं स्वं सुकृतदुष्कृतम् ॥ ३२ ॥

संसारमें कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, शरीर और संग्रह—सब कुछ पराया है। सब नाशवान् है। इसमें अपना क्या है, केवल पाप और पुण्य ॥ ३२ ॥

यदा सर्वं परित्यज्य गन्तव्यमवशेन ते।
अनर्थे ■ प्रसक्तस्त्वं स्वमर्थं नानुतिष्ठसि ॥ ३३ ॥

जब सब कुछ छोड़कर तुम्हें यहाँसे विवश होकर चल देना है, तब इस अनर्थमय जगत्में क्यों आसक्त हो रहे हो? अपने वास्तविक अर्थ—मोक्षका साधन क्यों नहीं करते हो? ॥ ३३ ॥

अविश्रान्तमनालम्बमपाथेयमदैशिकम्।
तमःकान्तारमध्वानं कथमेको गमिष्यसि ॥ ३४ ॥

जहाँ ठहरनेके लिये कोई स्थान नहीं, कोई सहारा देनेवाला नहीं, राहखर्च नहीं तथा अपने देशका कोई साथी अथवा राह बतानेवाला नहीं है, जो अन्धकारसे व्याप्त और दुर्गम है, उस मार्गपर तुम अकेले कैसे चल सकोगे? ॥ ३४ ॥

न हि त्वां प्रस्थितं कश्चित् पृष्ठतोऽनुगमिष्यति।
सुकृतं दुष्कृतं ■ त्वां यास्यन्तमनुयास्यति ॥ ३५ ॥

जब तुम परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हारे पीछे कोई नहीं जायगा। केवल तुम्हारा किया हुआ पुण्य या पाप ही वहाँ जाते समय तुम्हारा अनुसरण करेगा ॥ ३५ ॥

विद्या कर्म च शौचं च ज्ञानं च बहुविस्तरम्।
अर्थार्थमनुसार्यन्ते सिद्धार्थश्च विमुच्यते ॥ ३६ ॥

अर्थ (परमात्मा) की प्राप्तिके लिये ही विद्या, कर्म, पवित्रता और अत्यन्त विस्तृत ज्ञानका सहारा लिया जाता है। जब कार्यकी सिद्धि (परमात्माकी प्राप्ति) हो जाती है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः ॥ ३७ ॥

गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्यकी विषयोंके प्रति जो आसक्ति होती है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सीके समान है। पुण्यात्मा पुरुष उसे काटकर आगे—परमार्थके पथपर बढ़ जाते हैं; किंतु जो पापी हैं, वे उसे नहीं काट पाते ॥ ३७ ॥

रूपकूलां मनःस्रोतां स्पर्शद्वीपां रसावहाम्।
गन्धपङ्कां शब्दजलां स्वर्गमार्गदुरावहाम् ॥ ३८ ॥
क्षमारित्रां सत्यमयीं धर्मस्थैर्यवटारकाम्।
त्यागवाताध्वगां शीघ्रां नौतार्यां तां नदीं तरेत् ॥ ३९ ॥

यह संसार एक नदीके समान है; जिसका उपादान ■ उद्गम सत्य है, रूप इसका किनारा, मन स्रोत, स्पर्श द्वीप और रस ही प्रवाह है। गन्ध ■ नदीकी कीचड़, शब्द जल और स्वर्गरूपी दुर्गम घाट है। शरीररूपी नौकाकी सहायतासे उसे पार किया जा सकता है। ■ इसको खेनेवाली लग्गी और धर्म इसको स्थिर करनेवाली रस्सी (लंगर) है। यदि त्यागरूपी अनुकूल पवनका सहारा मिले तो इस शीघ्रगामिनी नदीको पार किया ■ सकता है। इसे पार करनेका अवश्य ■ करे ॥ ३८-३९ ॥

■ धर्ममधर्मं ■ ■ सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं ■ ॥ ४० ॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो। ■ और असत्यको भी त्याग दो और उन दोनोंका त्याग करके जिसके द्वारा त्याग करते हो, उसको भी त्याग दो ॥ ४० ॥

■ धर्ममसंकल्पादधर्मं चाप्यलिप्सया।
उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात् ॥ ४१ ॥

संकल्पके त्यागद्वारा धर्मको और लिप्साके अभाव- ■ अधर्मको भी त्याग दो। फिर बुद्धिके द्वारा सत्य और असत्यका त्याग करके परमतत्त्वके निश्चयद्वारा बुद्धिको भी त्याग दो ॥ ४१ ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ४२ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥ ४३ ॥

यह शरीर पञ्चभूतोंका घर है। इसमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं। यह नस नाड़ियोंसे बँधा हुआ, रक्त-मांससे लिपा हुआ और चमड़ेसे मढ़ा हुआ है। इसमें मल-मूत्र भरा है, जिससे दुर्गन्ध आती रहती है। यह बुढ़ापा और शोकसे व्याप्त, रोगोंका घर, दुःखरूप, रजोगुणरूपी धूलसे ढका हुआ और अनित्य है; ■ तुम्हें इसकी आसक्तिको त्याग देना चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

इदं विश्वं जगत् सर्वमजगच्चापि यद् भवेत्।
महाभूतात्मकं सर्वं महद् यत् परमाश्रयात् ॥ ४४ ॥
इन्द्रियाणि च पञ्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः ॥ ४५ ॥

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये महाभूतस्वरूप ही है। जो शरीरसे परे है, वह महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म महाभूत अर्थात् तन्मात्राएँ, पाँच प्राण तथा सत्त्व आदि गुण—इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायका नाम अव्यक्त है ॥

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैश्च व्यक्ताव्यक्तैर्हि संहितः।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः ॥ ४६ ॥

इनके साथ ही इन्द्रियोंके पाँच विषय अर्थात् स्पर्श, शब्द, रूप, रस और गन्ध एवं मन और अहङ्कार—इन सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्तको मिलानेसे जो चौबीस तत्त्वोंका

समूह होता है, उसे व्यक्ताव्यक्तमय समुदाय कहा गया है ॥

एतैः सर्वैः समायुक्तः पुमानित्यभिधीयते ।
त्रिवर्गो सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा ॥ ४७ ॥
य इदं वेद तत्त्वेन स वेद प्रभवाप्ययौ ।

इन सब तत्त्वोंसे जो संयुक्त है, उसे पुरुष कहते हैं। जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम, सुख-दुःख और जीवन-मरणके तत्त्वको ठीक-ठीक समझता है, वही उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको भी यथार्थरूपसे जानता है ॥ ४७½ ॥

पारम्पर्येण बोद्धव्यं ज्ञानानां यच्च किञ्चन ॥ ४८ ॥
इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्थितिः ।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ ४९ ॥

ज्ञानके सम्बन्धमें जितनी बातें हैं, उन्हें परम्परासे जानना चाहिये। जो पदार्थ इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें व्यक्त कहते हैं और जो इन्द्रियोंके अगोचर होनेके कारण अनुमानसे जाने जाते हैं, उनको अव्यक्त कहते हैं ॥४८-४९॥

इन्द्रियैर्नियतैर्देही धाराभिरिव तर्प्यते ।
लोके विततमात्मानं लोकांश्चात्मनि पश्यति ॥ ५० ॥

जिनकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, वे जीव उसी प्रकार तृप्त हो जाते हैं, जैसे वर्षाकी धारासे प्यासा मनुष्य। ज्ञानी पुरुष अपनेको प्राणियोंमें व्याप्त और प्राणियोंको अपनेमें स्थित देखते हैं ॥ ५० ॥

परावरदृशः शक्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ।
पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ॥ ५१ ॥
सर्वभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते ।

उस परावरदर्शी ज्ञानी पुरुषकी ज्ञानमूलक शक्ति कभी नष्ट नहीं होती। जो सम्पूर्ण भूतोंको सभी अवस्थाओंमें सदा देखा करता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंके सहवासमें आकर भी कभी अशुभ कर्मोंसे युक्त नहीं होता अर्थात् अशुभ कर्म नहीं करता ॥ ५१½ ॥

ज्ञानेन विविधान् क्लेशानतिवृत्तस्य मोहजान् ॥ ५२ ॥
लोके बुद्धिप्रकाशेन लोकमार्गो न रिष्यते ।

जो ज्ञानके बलसे मोहजनित नाना प्रकारके क्लेशोंसे पार हो गया है, उसके लिये जगत्में बौद्धिक प्रकाशसे कोई भी लोक-व्यवहारका मार्ग अवरुद्ध नहीं होता ॥ ५२½ ॥

अनादिनिधनं जन्तुमात्मनि स्थितमव्ययम् ॥ ५३ ॥
अकर्तारममूर्तं च भगवानाह तीर्थवित् ।

मोक्षके उपायको जाननेवाले भगवान् नारायण कहते हैं कि आदि-अन्तसे रहित, अविनाशी, अकर्ता और निराकार जीवात्मा इस शरीरमें स्थित है ॥ ५२-५३½ ॥

यो जन्तुः स्वकृतैस्तैस्तैः कर्मभिर्नित्यदुःखितः ॥ ५४ ॥
स दुःखप्रतिघातार्थं हन्ति जन्तूननेकधा ।

जो जीव अपने ही किये हुए विभिन्न कर्मोंके कारण सदा दुखी रहता है, वही उस दुःखका निवारण करनेके लिये नाना प्रकारके प्राणियोंकी हत्या करता है ॥ ५४½ ॥

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु ॥ ५५ ॥
तप्यतेऽथ पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः ।

तदनन्तर वह और भी बहुत-से नये-नये कर्म करता है और जैसे रोगी अपथ्य खाकर दुःख पाता है, उसी प्रकार उस कर्मसे वह अधिकाधिक कष्ट पाता रहता है ॥ ५५½ ॥

अजस्रमेव मोहान्धो दुःखेषु सुखसंज्ञितः ॥ ५६ ॥
बध्यते मथ्यते चैव कर्मभिर्मन्थवत् सदा ।

जो मोहसे अन्धा (विवेकशून्य) हो गया है, वह सदा ही दुःखद भोगोंमें ही सुखबुद्धि कर लेता है और मथानीकी भाँति कर्मोंसे बँधता एवं मथा जाता है ॥५६½॥

ततो निबद्धः स्वां योनिं कर्मणामुदयादिह ॥ ५७ ॥
परिभ्रमति संसारं चक्रवद् बहुवेदनः ।

फिर प्रारब्ध कर्मोंके उदय होनेपर वह बद्ध प्राणी कर्मके अनुसार जन्म पाकर संसारमें नाना प्रकारके दुःख भोगता हुआ उसमें चक्रकी भाँति घूमता रहता है ॥ ५७½ ॥

स त्वं निवृत्तबन्धस्तु निवृत्तश्चापि कर्मतः ॥ ५८ ॥
सर्ववित् सर्वजित् सिद्धो भव भावविवर्जितः ।

इसलिये तुम कर्मोंसे निवृत्त, सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त, सर्वज्ञ, सर्वविजयी, सिद्ध और सांसारिक भावनासे रहित हो जाओ ॥ ५८½ ॥

संयमेन नवं बन्धं निवर्त्य तपसो बलात् ।
सम्प्राप्ता बहवः सिद्धिमप्यबाधां सुखोदयाम् ॥ ५९ ॥

बहुत-से ज्ञानी पुरुष संयम और तपस्याके बलसे नवीन बन्धनोंका उच्छेद करके अनन्त सुख देनेवाली अबाध सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि एकोनत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२९ ॥

त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवको नारदजीका सदाचार और अध्यात्मविषयक उपदेश

नारद उवाच

अशोकं शोकनाशार्थं शास्त्रं शान्तिकरं शिवम् ।
निशम्य लभते बुद्धिं तां लब्ध्वा सुखमेधते ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव! शास्त्र शोकको दूर

करनेवाला, शान्ति-कारक और कल्याणमय है। जो अपने शोक-का नाश करनेके लिये [illegible] श्रवण करता है, वह उत्तम बुद्धि पाकर सुखी होता है ॥ १ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २ ॥

शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं, जो प्रतिदिन मूढ पुरुषोंपर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान्‌पर नहीं ॥ २ ॥

तस्मादनिष्टनाशार्थमितिहासं निबोध मे।
तिष्ठते चेद् वशे बुद्धिर्लभते शोकनाशनम् ॥ ३ ॥

इसलिये अपने अनिष्टका नाश करनेके लिये मेरा यह उपदेश सुनो—यदि बुद्धि अपने वशमें रहे तो सदाके लिये शोकका नाश हो जाता है ॥ ३ ॥

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते स्वल्पबुद्धयः ॥ ४ ॥

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुकी प्राप्ति और प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर मन-ही-मन दुखी होते हैं ॥ ४ ॥

द्रव्येषु समतीतेषु ये गुणास्तान् न चिन्तयेत्।
न तानाद्रियमाणस्य स्नेहबन्धः प्रमुच्यते ॥ ५ ॥

जो वस्तु भूतकालके गर्भमें छिप गयी (नष्ट हो गयी), उसके गुणोंका स्मरण नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो आदरपूर्वक उसके गुणोंका चिन्तन करता है, उसका उसके प्रति आसक्तिका बन्धन नहीं छूटता है ॥ ५ ॥

दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र रागः प्रवर्तते।
अनिष्टवर्धितं पश्येत् तथा क्षिप्रं विरज्यते ॥ ६ ॥

जहाँ चित्तकी आसक्ति बढ़ने लगे, वहीं दोषदृष्टि करनी चाहिये और उसे अनिष्टको बढ़ानेवाला समझना चाहिये। ऐसा करनेपर उससे शीघ्र ही वैराग्य हो जाता है ॥ ६ ॥

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥ ७ ॥

जो बीती बातके लिये शोक करता है, उसे न तो अर्थकी प्राप्ति होती है न धर्मकी और न यशकी ही प्राप्ति होती है। वह उसके अभावका अनुभव करके केवल दुःख ही उठाता है। उससे अभाव दूर नहीं होता ॥ ७ ॥

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते ॥ ८ ॥

सभी प्राणियोंको उत्तम पदार्थोंसे संयोग और वियोग प्राप्त होते रहते हैं। किसी एकपर ही यह शोकका अवसर आता हो, ऐसी बात नहीं है ॥ ८ ॥

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥ ९ ॥

जो मनुष्य भूतकालमें मरे हुए किसी व्यक्तिके लिये अथवा [illegible] हुई किसी वस्तुके लिये निरन्तर शोक करता है, वह एक दुःखसे दूसरे दुःखको [illegible] होता है। इस [illegible] उसे दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं ॥ ९ ॥

नाश्रु कुर्वन्ति ये बुद्ध्या दृष्ट्वा लोकेषु संततिम्।
सम्यक् प्रपश्यतः सर्वं नाश्रुकर्मोपपद्यते ॥ १० ॥

जो मनुष्य संसारमें अपनी संतानकी मृत्यु हुई देखकर भी अश्रुपात नहीं करते, वे ही धीर हैं। सभी वस्तुओंपर समीचीन भावसे दृष्टिपात या विचार करनेपर किसीका भी आँसू बहाना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है ॥ १० ॥

दुःखोपघाते शारीरे मानसे वाप्युपस्थिते।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तन्नानुचिन्तयेत् ॥ ११ ॥

यदि कोई शारीरिक या मानसिक दुःख उपस्थित हो जाय और उसे दूर करनेके लिये कोई यत्न न किया जा सके अथवा किया हुआ यत्न काम न दे सके तो उसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ ११ ॥

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ॥ १२ ॥

दुःख दूर करनेकी सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका बार-बार चिन्तन न किया जाय। चिन्तन करनेसे वह घटता नहीं, बल्कि बढ़ता ही जाता है ॥ १२ ॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद् विज्ञान[illegible]र्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ १३ ॥

इसलिये मानसिक दुःखको बुद्धिके द्वारा विचारसे और शारीरिक कष्टको औषध-सेवनद्वारा नष्ट करना चाहिये। शास्त्र-ज्ञानके प्रभावसे ही ऐसा होना सम्भव है। दुःख पड़नेपर बालकोंकी तरह रोना उचित नहीं है ॥ १३ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः ॥ १४ ॥

रूप, यौवन, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य तथा प्रियजनोंका सहवास—ये सब अनित्य हैं। विद्वान् पुरुषको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ १४ ॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥ १५ ॥

सारे देशपर आये हुए संकटके लिये किसी एक व्यक्तिको शोक करना उचित नहीं है। यदि उस संकटको टालनेका कोई उपाय दिखायी दे तो शोक छोड़कर उसे ही करना चाहिये ॥ १५ ॥

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नात्र संशयः।
स्निग्धत्वं चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥ १६ ॥

इसमें संदेह नहीं कि जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है। किंतु सभीको मोहवश विषयोंके प्रति अनुराग होता है और मृत्यु अप्रिय लगती है ॥ १६ ॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः।

अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः॥ १७ ॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंकी ही चिन्ता छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। विद्वान् पुरुष उसके लिये शोक नहीं करते हैं ॥ १७ ॥

त्यज्यन्ते दुःखमर्था हि पालने न च ते सुखाः।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत् ॥ १८ ॥

धन खर्च करते समय बड़ा दुःख होता है। उसकी रक्षामें भी सुख नहीं है और उसकी प्राप्ति भी बड़े कष्टसे होती है, अतः धनको प्रत्येक अवस्थामें दुःखदायक समझकर उसके नष्ट होनेपर चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ १८ ॥

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः।
अतृप्ता यान्ति विध्वंसं संतोषं यान्ति पण्डिताः ॥ १९ ॥

मनुष्य धनका संग्रह करते-करते पहलेकी अपेक्षा ऊँची धन-सम्पन्न स्थितिको प्राप्त होकर भी कभी तृप्त नहीं होते। वे और अधिककी आशा लिये हुए ही मर जाते हैं; किंतु विद्वान् पुरुष सदा संतुष्ट रहते हैं (वे धनकी तृष्णामें नहीं पड़ते) ॥ १९ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥ २० ॥

संग्रहका अन्त है विनाश। ऊँचे चढ़नेका [illegible] है नीचे गिरना। संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका [illegible] है मरण ॥ २० ॥

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ॥ २१ ॥

तृष्णाका कभी अन्त नहीं होता। संतोष ही परम सुख है, [illegible] पण्डितजन इस लोकमें संतोषको ही उत्तम धन समझते हैं ॥ २१ ॥

निमेषमात्रमपि हि वयो गच्छन्न तिष्ठति।
स्वशरीरेष्वनित्येषु नित्यं किमनुचिन्तयेत् ॥ २२ ॥

आयु निरन्तर बीती जा रही है। वह पलभर भी ठहरती नहीं है। जब अपना शरीर ही अनित्य है, तब इस संसारकी किस वस्तुको नित्य समझा जाय ॥ २२ ॥

भूतेषु भावं संचिन्त्य ये बुद्ध्वा [illegible] परम्।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम् ॥ २३ ॥

जो मनुष्य [illegible] प्राणियोंके भीतर मनसे परे परमात्माकी स्थिति जानकर उन्हींका चिन्तन करते हैं, वे संसार-यात्रा समाप्त होनेपर परमपदका साक्षात्कार करते हुए शोकके पार हो जाते हैं ॥ २३ ॥

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ २४ ॥

जैसे जंगलमें नयी-नयी घासकी खोजमें विचरते हुए अतृप्त पशुको सहसा व्याघ्र आकर दबोच लेता है, उसी प्रकार भोगोंकी खोजमें लगे हुए अतृप्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है ॥ २४ ॥

तथाप्युपायं सम्पश्येद् दुःखस्य परिमोक्षणम्।
अशोचन् नारभेच्चैव मुक्तश्चाव्यसनी भवेत् ॥ २५ ॥

तथापि सबको दुःखसे छूटनेका उपाय अवश्य सोचना चाहिये। जो शोक छोड़कर साधन आरम्भ करता है और किसी व्यसनमें आसक्त नहीं होता, वह निश्चय ही दुःखोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

शब्दे स्पर्शे च रूपे च गन्धेषु च रसेषु च।
नोपभोगात् परं किंचिद् धनिनो वाधनस्य च ॥ २६ ॥

धनी हो या निर्धन, सबको उपभोगकालमें ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और उत्तम गन्ध आदि विषयोंमें किञ्चित् सुखकी प्रतीति होती है, उपभोगके पश्चात् नहीं ॥ २६ ॥

प्राक्सम्प्रयोगाद् भूतानां नास्ति दुःखं परायणम्।
विप्रयोगात् तु सर्वस्य [illegible] शोचेत् प्रकृतिस्थितः॥ २७ ॥

प्राणियोंके एक दूसरेसे संयोग होनेके पहले कोई दुःख नहीं रहता। जब संयोगके बाद वियोग होता है तभी सबको दुःख हुआ करता है। अतः अपने स्वरूपमें स्थित विवेकी पुरुषको किसीके वियोगमें कभी भी शोक नहीं करना चाहिये ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं [illegible] चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया ॥ २८ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह धैर्यके द्वारा शिश्न और उदरकी, नेत्रके द्वारा हाथ और पैरकी, मनके द्वारा आँख और कानकी तथा सद्विद्याके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे ॥ २८ ॥

प्रणयं प्रतिसंहृत्य संस्तुतेष्वितरेषु च।
विचरेदसमुन्नद्धः स सुखी [illegible] च पण्डितः ॥ २९ ॥

जो पूजनीय तथा अन्य मनुष्योंमें आसक्तिको हटाकर विनीतभावसे विचरण करता है, वही सुखी और वही विद्वान् है ॥ २९ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत् ॥ ३० ॥

जो अध्यात्मविद्यामें अनुरक्त, कामनाशून्य तथा भोगासक्तिसे दूर है, जो अकेला ही विचरण करता है, वह सुखी होता है ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका ऊर्ध्वगमनविषयक तीन सौ तीसवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ ३३० ॥

एकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका शुकदेवको कर्मफल-प्राप्तिमें परतन्त्रताविषयक उपदेश तथा शुकदेवजीका सूर्यलोकमें जानेका निश्चय

नारद उवाच

सुखदुःखविपर्यासो यदा समनुपद्यते।
नैनं [illegible] सुनीतं वा त्रायते नापि पौरुषम्॥ १॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव! जब मनुष्य सुखको दुःख और दुःखको सुख समझने लगता है, उस समय बुद्धि, उत्तम नीति और पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाता॥

स्वभावाद् यत्नमातिष्ठेद् यत्नवान् नावसीदति।
जरामरणरोगेभ्यः प्रियमात्मानमुद्धरेत्॥ २॥

अतः मनुष्यको स्वभावतः ज्ञान-प्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये; क्योंकि यत्न करनेवाला पुरुष कभी दुःखमें नहीं पड़ता। आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है; अतः जरा, मृत्यु और रोगोंके कष्टसे उसका उद्धार करे॥ २॥

रुजन्ति हि शरीराणि रोगाः शारीरमानसाः।
सायका इव तीक्ष्णाग्राः प्रयुक्ता दृढधन्विभिः॥ ३॥

शारीरिक और मानसिक रोग सुदृढ धनुष धारण करनेवाले वीर पुरुषोंके छोड़े हुए तीक्ष्ण बाणोंके समान शरीरको पीड़ा देते हैं॥ ३॥

व्यथितस्य विधित्साभिस्ताम्यतो जीवितैषिणः।
अवशस्य विनाशाय शरीरमपकृष्यते॥ ४॥

तृष्णासे व्यथित, दुःखी एवं विवश होकर जीनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यका शरीर विनाशकी ओर ही खिंचता चला जाता है॥ ४॥

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव।
आयुरादाय मर्त्यानां राज्यहानि पुनः पुनः॥ ५॥

जैसे नदियोंका प्रवाह आगेकी ओर ही बढ़ता चला जाता है, पीछेकी ओर नहीं लौटता, उसी प्रकार रात और दिन भी मनुष्योंकी आयुका अपहरण करते हुए बारबार आते और बीतते चले जाते हैं॥ ५॥

व्यत्ययो ह्ययमत्यन्तं पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः।
जातान् मर्त्याञ्जरयति निमेषान् नावतिष्ठते॥ ६॥

शुक्ल और कृष्ण—दोनों पक्षोंका निरन्तर होनेवाला यह परिवर्तन मनुष्योंको जराजीर्ण कर रहा है। यह कुछ क्षणके लिये भी विश्राम नहीं लेता है॥ ६॥

सुखदुःखानि भूतानामजरो जरयत्यसौ।
आदित्यो ह्यस्तमभ्येति पुनः पुनरुदेति च॥ ७॥

सूर्य प्रतिदिन अस्त होते और फिर उदय लेते हैं। वे स्वयं अजर होकर भी प्रतिदिन प्राणियोंके सुख और दुःखको जीर्ण करते रहते हैं॥ ७॥

अदृष्टपूर्वानादाय भावानपरिशङ्कितान्।
इष्टानिष्टान् मनुष्याणामस्तं गच्छन्ति रात्रयः॥ ८॥

ये रात्रियाँ मनुष्योंके लिये कितनी ही अपूर्व तथा असम्भावित प्रिय-अप्रिय घटनाएँ लिये आती और चली जाती हैं॥ ८॥

योऽयमिच्छेद् यथाकामं कामानां तदवाप्नुयात्।
यदि [illegible] पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम्॥ ९॥

यदि जीवके किये हुए कर्मोंका [illegible] पराधीन [illegible] होता तो जो जिस वस्तुकी इच्छा करता, वह अपनी उसी कामनाको रुचिके अनुसार प्राप्त कर लेता॥ ९॥

संयताश्च हि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः।
दृश्यन्ते निष्फलाः संतः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः॥ १०॥

बड़े-बड़े संयमी, बुद्धिमान् और चतुर मनुष्य भी समस्त कर्मोंसे श्रान्त होकर असफल होते देखे जाते हैं॥ १०॥

अपरे बालिशाः सन्तो निर्गुणाः पुरुषाधमाः।
आशीर्भिरप्यसंयुक्ता दृश्यन्ते सर्वकामिनः॥ ११॥

किंतु दूसरे मूर्ख, गुणहीन और अधम मनुष्य भी किसी[illegible] आशीर्वाद न मिलनेपर भी सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न दिखायी देते हैं॥ ११॥

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेष्वेव जीर्यते॥ १२॥

कोई-कोई मनुष्य तो सदा प्राणियोंकी हिंसामें ही लगा रहता है और सब लोगोंको धोखा दिया करता है, तो भी वह सुख ही भोगते-भोगते बूढ़ा होता है॥ १२॥

अचेष्टमानमासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठते।
कश्चित् कर्मानुसृत्यान्यो न प्राप्यमधिगच्छति॥ १३॥

कितने ही ऐसे हैं, जो कोई काम न करके चुपचाप बैठे रहते हैं, फिर भी लक्ष्मी उनके पास अपने-आप पहुँच जाती है और कुछ लोग काम करके भी अपनी प्राप्य वस्तुको उपलब्ध नहीं कर पाते॥ १३॥

अपराधं समाचक्ष्व पुरुषस्य स्वभावतः।
शुक्रमन्यत्र सम्भूतं पुनरन्यत्र गच्छति॥ १४॥

इसमें स्वभावतः पुरुषका ही अपराध (प्रारब्ध-दोष) समझो। वीर्य अन्यत्र उत्पन्न होता है और संतानोत्पादनके लिये अन्यत्र जाता है॥ १४॥

तस्य योनौ प्रयुक्तस्य गर्भो भवति वा न वा।
आम्रपुष्पोपमा यस्य निवृत्तिरुपलभ्यते॥ १५॥

कभी तो वह योनिमें पहुँचकर गर्भ धारण करानेमें समर्थ होता है और कभी नहीं होता तथा कभी-कभी आमके बौरके समान वह व्यर्थ ही झर जाता है॥ १५॥

केषाञ्चित् पुत्रकामानामनुसंतानमिच्छताम् ।
सिद्धौ प्रयतमानानां न चाण्डमुपजायते ॥ १६ ॥

कुछ लोग पुत्रकी इच्छा रखते हैं और उस पुत्रके भी संतान चाहते हैं तथा इसकी सिद्धिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करते हैं, तो भी उनके एक अंडा भी उत्पन्न नहीं होता ॥

गर्भाच्चोद्विजमानानां क्रुद्धादाशीविषादिव ।
आयुष्माञ्जायते पुत्रः कथं प्रेत इवाभवत् ॥ १७ ॥

बहुत-से मनुष्य बच्चा पैदा होनेसे उसी तरह डरते हैं, जैसे क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पसे लोग भयभीत रहते हैं, तथापि उनके यहाँ दीर्घजीवी पुत्र उत्पन्न होता है और क्या मजाल कि वह कभी किसी तरह रोग आदिसे मृतकतुल्य हो सके ॥ १७ ॥

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः ।
दश मासान् परिधृता जायन्ते कुलपांसनाः ॥ १८ ॥

पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाले दीन स्त्री-पुरुषोंद्वारा देवताओंकी पूजा और तपस्या करके दस मासतक गर्भ धारण किया जाता है तथापि उनके कुलाङ्गार पुत्र उत्पन्न होते है ॥

अपरे धनधान्यानि भोगांश्च पितृसंचितान् ।
विपुलानभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः ॥ १९ ॥

तथा बहुत-से ऐसे हैं, जो आमोद-प्रमोदमें ही जन्म धारण करके पिताके सञ्चित किये हुए अपार धनधान्य एवं विपुल भोगोंके अधिकारी होते हैं ॥ १९ ॥

अन्योन्यं समभिप्रेत्य मैथुनस्य समागमे ।
उपद्रव इवाविष्टो योनिं गर्भः प्रपद्यते ॥ २० ॥

पति-पत्नीकी पारस्परिक इच्छाके अनुसार मैथुनके लिये जब उनका समागम होता है, उस समय किसी उपद्रवके समान गर्भ योनिमें प्रवेश करता है ॥ २० ॥

शीघ्रं परशरीराणि च्छिन्नबीजं शरीरिणम् ।
प्राणिनं प्राणसंरोधे मांसश्लेष्मविवेष्टितम् ॥ २१ ॥

जिसका स्थूल शरीर क्षीण हो गया है तथा जो कफ और मासमय शरीरसे घिरा हुआ है, उस देहधारी प्राणीको मृत्युके बाद शीघ्र ही दूसरे शरीर उपलब्ध हो जाते हैं ॥ २१ ॥

निर्दग्धं परदेहेऽपि परदेहं चलाचलम् ।
विनश्यन्तं विनाशान्ते नावि नावमिवाहितम् ॥ २२ ॥

जैसे एक नौकाके भग्न होनेपर उसपर बैठे हुए लोगोंको उतारनेके लिये दूसरी नाव प्रस्तुत रहती है, उसी प्रकार एक शरीरसे मृत्युको [illegible] होते हुए जीवको [illegible] करके मृत्युके बाद उसके कर्मफलभोगके लिये दूसरा नाशवान् शरीर उपस्थित कर दिया जाता है ॥ २२ ॥

सङ्गत्या जठरे न्यस्तं रेतोबिन्दुमचेतनम् ।
केन यत्नेन जीवन्तं गर्भं त्वमिह पश्यसि ॥ २३ ॥

शुकदेव ! पुरुष स्त्रीके [illegible] समागम करके उसके उदरमें जिस अचेतन शुक्रबिन्दुको स्थापित करता है, वही गर्भरूपमें परिणत होता है । फिर वह गर्भ किस यत्नसे वहाँ जीवित रहता है, क्या तुम कभी इसपर विचार करते हो ? ॥ २३ ॥

अन्नपानानि जीर्यन्ते यत्र भक्षाश्च भक्षिताः ।
तस्मिन्नेवोदरे गर्भः किं नान्नमिव जीर्यते ? ॥ २४ ॥

जहाँ खाये हुए अन्न और जल पच जाते हैं तथा सभी तरहके भक्ष्य पदार्थ जीर्ण हो जाते हैं, उसी पेटमें पड़ा हुआ गर्भ अन्नके समान क्यों नहीं पच जाता है ॥ २४ ॥

गर्भे मूत्रपुरीषाणां स्वभावनियता गतिः ।
धारणे वा विसर्गे वा न कर्ता विद्यते वशः ॥ २५ ॥

स्रवन्ति ह्युदरात् गर्भा जायमानास्तथा परे ।
आगमेन तथान्येषां विनाश उपपद्यते ॥ २६ ॥

गर्भमें मल और मूत्रके धारण करने या त्यागमें कोई स्वभावनियत गति है; किंतु कोई स्वाधीन कर्ता नहीं है । कुछ गर्भ माताके पेटसे गिर जाते हैं, कुछ जन्म लेते हैं और कितनोंकी ही जन्म लेनेके बाद मृत्यु हो जाती है ॥२५-२६॥

एतस्माद् योनिसम्बन्धाद् यो जीवन् परिमुच्यते।
प्रजां च लभते काञ्चित् पुनर्द्वन्द्वेषु सज्जति ॥ २७ ॥

इस योनि-सम्बन्धसे कोई सकुशल जीता हुआ बाहर निकल आता है, तब कोई संतानको प्राप्त होता है और पुनः परस्परके सम्बन्धमें संलग्न हो जाता है ॥ २७ ॥

[illegible] सप्तमीं नवमीं दशाम् ।
प्राप्नुवन्ति ततः [illegible] न भवन्ति गतायुषः ॥ २८ ॥

अनादिकालसे साथ उत्पन्न होनेवाले शरीरके साथ जीवात्मा अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । इस शरीरकी गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, यौवन, वृद्धत्व, जरा, प्राणरोध और नाश—ये दस दशाएँ होती हैं । इनमेंसे सातवीं और नवीं दशाको भी शरीरगत पाँचों भूत ही [illegible] होते हैं, आत्मा नहीं । आयु समाप्त होनेपर शरीरकी नवीं दशामें पहुँचनेपर ये पाँच भूत नहीं रहते । अर्थात् दसवीं दशाको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २८ ॥

नाभ्युत्थाने मनुष्याणां योगाः स्युर्नात्र संशयः।
व्याधिभिश्च विमथ्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव ॥ २९ ॥

जैसे व्याध छोटे मृगोंको कष्ट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार जब नाना प्रकारके रोग मनुष्योंको मथ डालते हैं, [illegible] उनमें उठने बैठनेकी भी शक्ति नहीं रह जाती, इसमें संशय नहीं है ॥ २९ ॥

व्याधिभिर्मथ्यमानानां त्यजतां विपुलं धनम् ।
वेदनां नापकर्षन्ति यतमानाश्चिकित्सकाः ॥ ३० ॥

रोगोंसे पीडित हुए मनुष्य वैद्योंको बहुत-सा धन देते हैं और वैद्यलोग रोग दूर करनेकी बहुत चेष्टा करते हैं, तो भी उन रोगियोंकी पीड़ा दूर नहीं कर पाते हैं ॥ ३० ॥

ते चातिनिपुणा वैद्याः कुशलाः सम्भृतौषधाः ।
व्याधिभिः परिकृष्यन्ते मृगा व्याधैरिवार्दिताः ॥ ३१ ॥

बहुत-सी ओषधियोंका संग्रह करनेवाले चिकित्सामें कुशल चतुर वैद्य भी व्याधोंके मारे हुए मृगोंकी भाँति रोगोंके शिकार हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च ।
दृश्यन्ते जरया [illegible] [illegible] नागैरिवोत्तमैः ॥ ३२ ॥

वे तरह-तरहके काढे और नाना प्रकारके घी पीते रहते हैं, तो भी बड़े-बड़े हाथी जैसे वृक्षोंको झुका देते हैं, वैसे ही वृद्धावस्था उनकी कमर टेढी [illegible] देती है; यह देखा जाता है ॥ ३२ ॥

के [illegible] भुवि चिकित्सन्ते रोगार्तान् मृगपक्षिणः ।
श्वापदानि दरिद्रांश्च प्रायो नार्ता भवन्ति ते ॥ ३३ ॥

इस पृथ्वीपर मृग, पक्षी, हिंसक पशु और दरिद्र मनुष्योंको जब रोग सताता है, तब कौन उनकी चिकित्सा करने आते हैं ? किंतु प्रायः उन्हें रोग होता ही नहीं है ॥ ३३ ॥

घोरानपि दुराधर्षान् नृपतीनुग्रतेजसः ।
आक्रम्याददते रोगाः पशून् पशुगणा इव ॥ ३४ ॥

परंतु बड़े-बड़े पशु जैसे छोटे पशुओंपर आक्रमण करके उन्हें दबा देते हैं, उसी प्रकार प्रचण्ड तेजवाले, घोर एवं दुर्धर्ष राजाओंपर भी बहुत-से रोग आक्रमण करके उन्हें अपने वशमें [illegible] लेते हैं ॥ ३४ ॥

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम् ।
स्रोतसा सहसाऽऽक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार [illegible] लोग भवसागरके प्रबल प्रवाहमें [illegible] पड़कर इधर-उधर बहते हुए मोह और शोकमें डूब रहे [illegible] और आर्तनादतक नहीं कर पाते हैं ॥ ३५ ॥

न धनेन [illegible] राज्येन नोग्रेण तपसा तथा ।
स्वभावमतिवर्तन्ते ये नियुक्ताः शरीरिणः ॥ ३६ ॥

विधाताके द्वारा कर्मफल-भोगमें नियुक्त हुए देहधारी मनुष्य धन, राज्य [illegible] कठोर तपस्याके प्रभावसे प्रकृतिका उल्लङ्घन नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

न म्रियेरन् न जीर्येरन् सर्वे स्युः सर्वकामिनः ।
नाप्रियं प्रति पश्येयुरुत्थानस्य फले सति ॥ ३७ ॥

यदि प्रयत्नका [illegible] अपने हाथमें होता तो मनुष्य न तो बूढ़े होते और न मरते ही । सबकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जातीं और किसीको अप्रिय नहीं देखना पड़ता ॥ ३७ ॥

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते ।
यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा ॥ ३८ ॥

सब लोग लोकोंके ऊपर-से-ऊपर स्थानमें जाना चाहते हैं और यथाशक्ति इसके लिये चेष्टा भी करते हैं; किंतु वैसा करनेमें समर्थ नहीं होते ॥ ३८ ॥

ऐश्वर्यमदमत्तांश्च मत्तान् मद्यमदेन च ।
अप्रमत्ताः शठान्क्रूरा विक्रान्ताः पर्युपासते ॥ ३९ ॥

प्रमादरहित पराक्रमी शूरवीर भी ऐश्वर्य तथा मदिराके मदसे उन्मत्त रहनेवाले शठ मनुष्योंकी सेवा करते हैं ॥ ३९ ॥

क्लेशाः परिनिवर्तन्ते केषाञ्चिदसमीक्षिताः ।
स्वं स्वं च पुनरन्येषां न किंचिदधिगम्यते ॥ ४० ॥

कितने ही लोगोंके क्लेश ध्यान दिये बिना ही निवृत्त हो जाते हैं तथा दूसरोंको अपने ही धनमेंसे समयपर कुछ भी नहीं मिलता ॥ ४० ॥

महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसंधिषु ।
वहन्ति शिबिकामन्ये यान्त्यन्ये शिबिकागताः ॥ ४१ ॥

कर्मोंके फलमें भी बड़ी भारी विषमता देखनेमें आती है । कुछ लोग पालकी ढोते हैं और दूसरे लोग उसी पालकीमें बैठकर चलते हैं ॥ ४१ ॥

सर्वेषामृद्धिकामानामन्ये रथपुरःसराः ।
मनुष्याश्च गतस्त्रीकाः शतशो विविधस्त्रियः ॥ ४२ ॥

सभी मनुष्य धन और समृद्धि चाहते हैं; परंतु उनमेंसे थोड़ेसे ही ऐसे लोग होते हैं, जो रथपर चढ़कर चलते हैं । कितने ही पुरुष स्त्रीरहित हैं और सैकड़ों मनुष्य कई स्त्रियोंवाले हैं ॥ ४२ ॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु गच्छन्त्येकैकशो नराः ।
इदमन्यत् पदं पश्य [illegible] मोहं करिष्यसि ॥ ४३ ॥

सभी प्राणी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें रम रहे हैं । मनुष्य उनमेंसे एक-एकका अनुभव करते हैं अर्थात् किसीको [illegible] अनुभव होता है, किसीको दुःखका । यह जो ब्रह्म-नामक वस्तु है, इसे सबसे भिन्न एवं विलक्षण समझो । इसके विषयमें तुम्हें मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये ॥ ४३ ॥

[illegible] धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते [illegible] ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं [illegible] ॥ [illegible] ॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो । सत्य और असत्य दोनोंका [illegible] करो । सत्य और [illegible] दोनोंका त्याग करके जिससे त्याग करते हो, उस अहंकारको भी त्याग दो ॥ ४४ ॥

एतत् ते परमं गुह्यमाख्यातमृषिसत्तम ।
येन देवाः परित्यज्य मर्त्यलोकं दिवं गताः ॥ ४५ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे परम गूढ बात बतलायी है, जिससे देवतालोग मर्त्यलोक छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४५ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः परमबुद्धिमान् ।
संचिन्त्य [illegible] धीरो निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ ४६ ॥

नारदजीकी बात सुनकर परम बुद्धिमान् और धीरचित्त शुकदेवजीने मन-ही-मन बहुत विचार किया; किंतु सहसा वे किसी निश्चयपर न पहुँच सके ॥ ४६ ॥

पुत्रदारैर्महान् क्लेशो विद्याम्नाये महाञ्छ्रमः ।
किं नु स्याच्छाश्वतं स्थानमल्पक्लेशं महोदयम् ॥ ४७ ॥

वे सोचने लगे, स्त्री-पुत्रोंके झमेलेमें पड़नेसे महान् [illegible] होगा । विद्याभ्यासमें भी बहुत अधिक परिश्रम है ।

कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे सनातन पद प्राप्त हो जाय। [illegible] साधनमें क्लेश तो थोड़ा हो, किंतु अभ्युदय महान् हो ॥ ४७ ॥

ततो मुहूर्तं संचिन्त्य निश्चितां गतिमात्मनः।
परावरज्ञो धर्मस्य परां नैःश्रेयसीं गतिम् ॥ ४८ ॥

तदनन्तर उन्होंने दो घड़ीतक अपनी निश्चित गतिके विषय[illegible] विचार किया; फिर भूत और भविष्यके ज्ञाता शुकदेवजीको अपने धर्मकी कल्याणमयी परम गतिका निश्चय हो गया ॥ ४८ ॥

कथं त्वहमसंश्लिष्टो गच्छेयं गतिमुत्तमाम्।
नावर्तेयं यथा भूयो योनिसंकरसागरे ॥ ४९ ॥

फिर वे सोचने लगे, मैं सब प्रकारकी उपाधियोंसे मुक्त होकर किस प्रकार उस उत्तम गतिको प्राप्त करूँ, जहाँसे फिर इस संसार-सागरमें आना न पड़े ॥ ४९ ॥

परं भावं हि काङ्क्षामि यत्र नावर्तते पुनः।
सर्वसङ्गान् परित्यज्य निश्चितो मनसा गतिम् ॥ ५० ॥

जहाँ जानेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती, मैं उसी परमभावको प्राप्त करना चाहता हूँ। सब प्रकारकी आसक्तियोंका परित्याग करके मैंने मनके द्वारा उत्तम गति [illegible] करनेका निश्चय किया है ॥ ५० ॥

तत्र यास्यामि यत्रात्मा शमं मेऽधिगमिष्यति।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्र स्थास्यामि शाश्वतः ॥ ५१ ॥

अब [illegible] वहीं जाऊँगा, जहाँ मेरे आत्माको शान्ति मिलेगी तथा जहाँ मैं अक्षय, अविनाशी और सनातनरूपसे स्थित रहूँगा ॥ ५१ ॥

न [illegible] योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमा गतिः।
अवबन्धो हि बुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते ॥ ५२ ॥

परंतु योगके बिना उस परम गतिको नहीं प्राप्त किया जा सकता। बुद्धिमान्‌का कर्मोंके निकृष्ट बन्धनसे बँधा रहना उचित नहीं है ॥ ५२ ॥

तस्माद् योगं समास्थाय त्यक्त्वा गृहकलेवरम्।
वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम् ॥ ५३ ॥

अतः [illegible] योगका आश्रय ले इस देह-गेहका परित्याग करके वायुरूप हो तेजोराशिमय सूर्यमण्डलमें प्रवेश करूँगा ॥ ५३ ॥

न ह्येष क्षयतां याति सोमः सुरगणैर्यथा।
कम्पितः पतते भूमिं पुनश्चैवाधिरोहति ॥ ५४ ॥

देवतालोग चन्द्रमाका अमृत पीकर जिस प्रकार उसे क्षीण [illegible] देते हैं, उस प्रकार सूर्यदेवका क्षय नहीं होता। धूममार्गसे चन्द्रमण्डलमें गया हुआ जीव कर्मभोग समाप्त होनेपर कम्पित हो फिर इस पृथ्वीपर गिर पड़ता है। इसी प्रकार नूतन कर्मफल भोगनेके लिये वह पुनः चन्द्रलोकमें जाता है (सारांश यह कि चन्द्रलोकमें जानेवालेको आवागमनसे छुटकारा नहीं मिलता है) ॥ ५४ ॥

क्षीयते हि सदा सोमः पुनश्चैवाभिपूर्यते।
नेच्छाम्येवं विदित्वैते ह्रासवृद्धी पुनः पुनः ॥ ५५ ॥

इसके सिवा चन्द्रमा सदा घटता-बढ़ता रहता है। उसकी ह्रास-वृद्धिका क्रम कभी टूटता नहीं है। इन सब बातोंको जानकर मुझे चन्द्रलोकमें जाने या ह्रास-वृद्धिके चक्करमें पड़नेकी इच्छा नहीं होती है ॥ ५५ ॥

रविस्तु संतापयते लोकान् रश्मिभिरुल्बणैः।
सर्वतस्तेज आदत्ते नित्यमक्षयमण्डलः ॥ ५६ ॥

सूर्यदेव अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समस्त जगत्‌को संतप्त करते हैं। वे [illegible] जगहसे तेजको स्वयं ग्रहण करते हैं (उनके तेजका कभी ह्रास नहीं होता); इसलिये उनका मण्डल सदा अक्षय बना रहता है ॥ ५६ ॥

अतो मे रोचते गन्तुमादित्यं दीप्ततेजसम्।
अत्र वत्स्यामि दुर्धर्षो निःशङ्केनान्तरात्मना ॥ ५७ ॥

अतः उद्दीप्त तेजवाले आदित्यमण्डलमें जाना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है। इसमें मैं निर्भीकचित्त होकर निवास करूँगा। किसीके लिये भी मेरा पराभव करना कठिन होगा ॥ ५७ ॥

सूर्यस्य सदने चाहं निक्षिप्येदं कलेवरम्।
ऋषिभिः सह यास्यामि सौरं तेजोऽतिदुःसहम् ॥ ५८ ॥

इस शरीरको सूर्यलोकमें छोड़कर मैं ऋषियोंके साथ सूर्यदेवके अत्यन्त दुःसह तेजमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ५८ ॥

आपृच्छामि नगान् नागान् गिरिमुर्वीं दिशो दिवम्।
देवदानवगन्धर्वान् पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ५९ ॥

इसके लिये [illegible] नग-नाग, पर्वत, पृथ्वी, दिशा, द्युलोक, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, सर्प और राक्षसोंसे आज्ञा माँगता हूँ ॥ ५९ ॥

लोकेषु सर्वभूतानि प्रवेक्ष्यामि न संशयः।
पश्यन्तु योगवीर्यं मे सर्वे देवाः सहर्षिभिः ॥ ६० ॥

आज मैं निःसंदेह जगत्‌के सम्पूर्ण भूतोंमें प्रवेश करूँगा। समस्त देवता और ऋषि मेरी योगशक्तिका प्रभाव देखें ॥ ६० ॥

अथानुज्ञाप्य तमृषिं नारदं लोकविश्रुतम्।
तस्मादनुज्ञां सम्प्राप्य जगाम पितरं प्रति ॥ ६१ ॥

ऐसा निश्चय करके शुकदेवजीने विश्वविख्यात देवर्षि नारदजीसे आज्ञा माँगी। उनसे आज्ञा लेकर वे अपने पिता व्यासजीके पास गये ॥ ६१ ॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं मुनिम्।
शुकः प्रदक्षिणं कृत्वा कृष्णमापृष्टवान् मुनिम् ॥ ६२ ॥

वहाँ अपने पिता महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिको प्रणाम करके शुकदेवजीने उनकी प्रदक्षिणा की और उनसे जानेके लिये आज्ञा माँगी ॥ ६२ ॥

श्रुत्वा चर्षिस्तद् वचनं शुकस्य
प्रीतो महात्मा पुनराह चैनम्।
भो भो पुत्र स्थीयतां तावदद्य
यावच्चक्षुः प्रीणयामि त्वदर्थे ॥ ६३ ॥

शुकदेवकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए महात्मा व्यासने उनसे कहा—'बेटा ! बेटा ! आज यहीं रहो, जिससे तुम्हें जी-भर निहारकर अपने नेत्रोंको तृप्त कर लूँ' ॥ ६३ ॥

निरपेक्षः शुको भूत्वा निःस्नेहो मुक्तसंशयः।
मोक्षमेवानुसंचिन्त्य [illegible] मनो दधे ॥ ६४ ॥

परंतु शुकदेवजी स्नेहका बन्धन तोड़कर निरपेक्ष हो गये थे। तत्त्वके विषयमें उन्हें कोई संशय नहीं रह गया था; [illegible] बारंबार मोक्षका ही चिन्तन करते हुए उन्होंने वहाँसे जानेका ही विचार किया ॥ ६४ ॥

पितरं सम्परित्यज्य जगाम मुनिसत्तमः।
कैलासपृष्ठं विपुलं सिद्धसंघनिषेवितम् ॥ ६५ ॥

पिताको वहीं छोड़कर मुनिश्रेष्ठ शुकदेव सिद्ध समुदायसे सेवित विशाल कैलासशिखरपर चले गये ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिगमने एकत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवका प्रस्थानविषयक तीन सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी ऊर्ध्वगतिका वर्णन

भीष्म उवाच

गिरिशृङ्गं [illegible] सुतो व्यासस्य भारत।
समे देशे विविक्ते स निःशलाक उपाविशत् ॥ १ ॥
धारयामास चात्मानं यथाशास्त्रं यथाविधि।
पादप्रभृतिगात्रेषु क्रमेण क्रमयोगवित् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! कैलासशिखरपर [illegible] हो व्यासपुत्र शुकदेव एकान्तमें तृणरहित समतल भूमिपर बैठ गये और शास्त्रोक्त विधिसे पैरसे लेकर सिरतक सम्पूर्ण अङ्गोंमें क्रमशः आत्माकी धारणा करने लगे। वे क्रमयोगके पूर्ण ज्ञाता थे ॥ १-२ ॥

[illegible] स प्राङ्मुखो विद्वानादित्ये नचिरोदिते।
पाणिपादं समादाय विनीतवदुपाविशत् ॥ ३ ॥
न तत्र पक्षिसंघातो न शब्दो नातिदर्शनम्।
यत्र वैयासकिर्धीमान् योक्तुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

थोड़ी ही देरमें [illegible] सूर्योदय हुआ, तब ज्ञानी शुकदेव हाथ-पैर समेटकर विनीतभावसे पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठे और योगमें प्रवृत्त हो गये। उस समय बुद्धिमान् व्यासनन्दन जहाँ योगयुक्त हो रहे थे, वहाँ न तो पक्षियोंका समुदाय था, न कोई शब्द सुनायी पड़ता था और न दृष्टिको आकृष्ट करनेवाला कोई दृश्य [illegible] उपस्थित था ॥ ३-४ ॥

[illegible] ददर्श तदाऽऽत्मानं सर्वसंगविनिःसृतम्।
प्रजहास ततो हासं शुकः सम्प्रेक्ष्य तत्परम् ॥ ५ ॥

उस समय उन्होंने सब प्रकारके सङ्गोंसे रहित आत्माका [illegible] [illegible]। [illegible] परमतत्त्वका साक्षात्कार करके शुकदेवजी जोर-जोरसे हँसने लगे ॥ ५ ॥

[illegible] पुनर्योगमास्थाय मोक्षमार्गोपलब्धये।
महायोगेश्वरो भूत्वा सोऽत्यक्रामद् विहायसम् ॥ ६ ॥

फिर मोक्षमार्गकी उपलब्धिके लिये योगका आश्रय ले महान् योगेश्वर होकर वे आकाशमें उड़नेके लिये तैयार हो गये ॥ ६ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा देवर्षिं नारदं ततः।
निवेदयामास च तं स्वं योगं परमर्षये ॥ ७ ॥

तदनन्तर देवर्षि नारदके पास जा उनकी प्रदक्षिणा की और उन परम ऋषिसे अपने योगके सम्बन्धमें इस प्रकार निवेदन किया ॥ ७ ॥

शुक उवाच

दृष्टो मार्गः प्रवृत्तोऽस्मि स्वस्ति तेऽस्तु तपोधन।
त्वत्प्रसादाद् गमिष्यामि गतिमिष्टां महाद्युते ॥ ८ ॥

शुकदेव बोले—महातेजस्वी तपोधन ! आपका कल्याण हो। अब मुझे मोक्षमार्गका दर्शन हो गया। मैं वहाँ जानेको तैयार हूँ। आपकी कृपासे मैं अभीष्ट गति प्राप्त करूँगा ॥ ८ ॥

नारदेनाभ्यनुज्ञातः शुको द्वैपायनात्मजः।
अभिवाद्य पुनर्योगमास्थायाकाशमाविशत् ॥ ९ ॥
कैलासपृष्ठादुत्पत्य स [illegible] दिवं तदा।
अन्तरिक्षचरः श्रीमान् वायुभूतः सुनिश्चितः ॥ १० ॥

नारदजीकी आज्ञा पाकर व्यासकुमार शुकदेवजी उन्हें प्रणाम करके पुनः योगमें स्थित हो आकाशमें प्रविष्ट हुए। कैलासशिखरसे उछलकर वे तत्काल आकाशमें जा पहुँचे और सुनिश्चित ज्ञान पाकर वायुका रूप धारण करके श्रीमान् शुकदेव अन्तरिक्षमें विचरने लगे ॥ ९-१० ॥

तमुद्यन्तं द्विजश्रेष्ठं वैनतेयसमद्युतिम्।
ददृशुः सर्वभूतानि मनोमारुतरंहसम् ॥ ११ ॥

उस समय सम[illegible] प्राणियोंने ऊपर जाते हुए द्विजश्रेष्ठ शुकदेवको विनतानन्दन गरुडके समान कान्तिमान् तथा मन और वायुके समान वेगशाली देखा ॥ ११ ॥

व्यवसायेन लोकांस्त्रीन् सर्वान् सोऽथ विचिन्तयन्।

आस्थितो दीर्घमध्वानं पावकार्कसमप्रभः ॥ १२ ॥

वे निश्चयात्मक बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण त्रिलोकीको आत्म-भावसे देखते हुए बहुत दूरतक आगे बढ़ गये । उस समय उनका तेज सूर्य और अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था ॥

तमेकमनसं यान्तमव्यग्रमकुतोभयम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि जङ्गमानि चराणि च ॥ १३ ॥
यथाशक्ति यथान्यायं पूजां वै चक्रिरे तदा ।
पुष्पवर्षैश्च दिव्यैस्तमवचक्रुर्दिवौकसः ॥ १४ ॥

उन्हें निर्भय होकर शान्त और एकाग्रचित्तसे ऊपर जाते समय समस्त चराचर प्राणियोंने देखा और अपनी शक्ति [illegible] रीतिके अनुसार उनका यथोचित पूजन किया । देवताओंने उनपर दिव्य फूलोंकी वर्षा की ॥ १३-१४ ॥

तं दृष्ट्वा विस्मिताः सर्वे गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
ऋषयश्चैव संसिद्धाः परं विस्मयमागताः ॥ १५ ॥

उन्हें इस प्रकार जाते देख समस्त गन्धर्व, अप्सराओंके समुदाय तथा सिद्ध ऋषि-मुनि महान् आश्चर्यमें पड़ गये ॥

अन्तरिक्षगतः कोऽयं तपसा सिद्धिमागतः ।
अधःकायोर्ध्ववक्त्रश्च नेत्रैः समभिरज्यते ॥ १६ ॥

और आपसमें कहने लगे—'तपस्यासे सिद्धिको प्राप्त हुआ [illegible] कौन महात्मा आकाशमार्गसे जा रहा है, जिसका मुख-[illegible] ऊपरकी ओर और शरीरका निचला भाग नीचेकी ओर ही है ? हमारी आँखें बरबस इसकी ओर खिंच जाती हैं' ॥ १६ ॥

[illegible] परमधर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
भास्करं समुदीक्षन् स प्राङ्मुखो वाग्यतोऽगमत् ॥ १७ ॥

तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध परम धर्मात्मा शुकदेवजी पूर्व-दिशाकी ओर मुँह करके सूर्यको देखते हुए मौनभावसे आगे बढ़ रहे थे ॥ १७ ॥

शब्देनाकाशमखिलं पूरयन्निव सर्वशः ।
तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा सर्वाप्सरोगणाः ॥ १८ ॥
सम्भ्रान्तमनसो राजन्नासन् परमविस्मिताः ।

वे अपने शब्दसे सम्पूर्ण आकाशको पूर्ण-सा कर रहे थे । राजन् ! उन्हें सहसा आते देख सम्पूर्ण अप्सराएँ मन-ही-मन घबरा उठीं और अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गयीं ॥ १८½ ॥

पञ्चचूडाप्रभृतयो भृशमुत्फुल्ललोचनाः ॥ १९ ॥
दैवतं कतमं ह्येतदुत्तमां गतिमास्थितम् ।
सुनिश्चितमिहायाति विमुक्तमिव निःस्पृहम् ॥ २० ॥

पञ्चचूड़ा आदि अप्सराओंके नेत्र विस्मयसे अत्यन्त खिल उठे थे । वे परस्पर कहने लगीं कि उत्तम गतिका आश्रय लेकर यह कौन-सा देवता यहाँ आ [illegible] है ? इसका निश्चय अत्यन्त दृढ़ है । यह सब प्रकारके बन्धनों तथा संशयोंसे मुक्त-सा हो गया है और इसके भीतर किसी वस्तुकी कामना नहीं रह गयी है ॥ १९-२० ॥

ततः समभिचक्राम मलयं नाम पर्वतम् ।
उर्वशी पूर्वचित्तिश्च यं नित्यमुपसेवतः ॥ २१ ॥

कुछ ही देरमें वे मलय नामक पर्वतपर जा पहुँचे, जहाँ उर्वशी और पूर्वचित्ति—ये दो अप्सराएँ सदा निवास करती हैं ॥ २१ ॥

तस्य ब्रह्मर्षिपुत्रस्य विस्मयं ययतुः परम् ।
अहो बुद्धिसमाधानं वेदाभ्यासरते द्विजे ॥ २२ ॥
अचिरेणैव कालेन नभश्चरति चन्द्रवत् ।
पितृशुश्रूषया बुद्धिं सम्प्राप्तोऽयमनुत्तमाम् ॥ २३ ॥

ब्रह्मर्षि व्यासजीके पुत्रकी यह उत्तम गति देख उन दोनोंको बड़ा विस्मय हुआ । वे आपसमें कहने लगीं, 'अहो ! इस वेदाभ्यासपरायण ब्राह्मणकी बुद्धिमें कितनी अद्भुत एकाग्रता है ? पिताकी सेवासे थोड़े ही समयमें उत्तम बुद्धि पाकर यह चन्द्रमाके समान आकाशमें विचर रहा है ॥ २२-२३ ॥

पितृभक्तो दृढतपाः पितुः सुदयितः सुतः ।
अनन्यमनसा तेन कथं पित्रा विसर्जितः ॥ २४ ॥

'यह बड़ा ही तपस्वी और पितृभक्त था और अपने पिताका बहुत ही प्यारा बेटा था । उनका मन सदा इसीमें लगा रहता था; फिर भी उन्होंने इसे जानेकी आज्ञा कैसे दे दी ?' ॥

उर्वश्या वचनं श्रुत्वा शुकः परमधर्मवित् ।
उदैक्षत दिशः सर्वा वचने गतमानसः ॥ २५ ॥

उर्वशीकी बात सुनकर परम धर्मज्ञ शुकदेवजीने सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखा । उस समय उनका चित्त उसकी बातों की ओर चला गया था ॥ २५ ॥

सोऽन्तरिक्षं महीं चैव सशैलवनकाननाम् ।
विलोकयामास तदा सरांसि सरितस्तथा ॥ २६ ॥

आकाश, पर्वत, [illegible] और काननोंसहित पृथ्वी एवं सरोवरों और सरिताओंकी ओर भी उन्होंने दृष्टि डाली ॥ २६ ॥

ततो द्वैपायनसुतं बहुमानात् समन्ततः ।
कृताञ्जलिपुटाः सर्वा निरीक्षन्ते [illegible] देवताः ॥ २७ ॥

उस समय इन सबकी अधिष्ठात्री देवियोंने सब ओरसे बड़े आदरके साथ द्वैपायनकुमार शुकदेवजीको देखा । वे सब-की-सब अञ्जलि बाँधे खड़ी थीं ॥ २७ ॥

अब्रवीत् तास्तदा वाक्यं शुकः परमधर्मवित् ।
पिता यद्यनुगच्छेन्मां क्रोशमानः शुकेति [illegible] ॥ २८ ॥
ततः प्रतिवचो देयं सर्वैरेव समाहितैः ।
एतन्मे स्नेहतः सर्वे वचनं कर्तुमर्हथ ॥ २९ ॥

तब परम धर्मज्ञ शुकदेवजीने उन सबसे कहा—'देवियो ! यदि मेरे पिताजी मेरा नाम लेकर पुकारते हुए इधर आ निकलें तो आप सब लोग सावधान होकर मेरी ओरसे उन्हें उत्तर देना । आप लोगोंका मुझपर बड़ा स्नेह है, इसलिये आप सब मेरी इतनी-सी बात मान लेना' ॥ २८-२९ ॥

शुकस्य वचनं श्रुत्वा दिशः सर्वाः सकाननाः ।
समुद्राः सरितः शैलाः प्रत्यूचुस्तं समन्ततः ॥ ३० ॥

शुकदेवजीकी यह बात सुनकर काननोंसहित सम्पूर्ण दिशाओं, समुद्रों, नदियों, पर्वतों और पर्वतोंकी अधिष्ठात्री देवियोंने सब ओरसे यह उत्तर दिया—॥ ३० ॥

यथाऽऽज्ञापयसे विप्र बाढमेवं भविष्यति ।
ऋषेर्व्याहरतो वाक्यं प्रतिवक्ष्यामहे वयम् ॥ ३१ ॥

'ब्रह्मन् ! आप जैसी आज्ञा देते हैं, निश्चय ही वैसा ही होगा। जब महर्षि व्यास आपको पुकारेंगे, तब हम सब लोग उन्हें उत्तर देंगी' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकाभिपतने द्वात्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीका ऊर्ध्वगमनविषयक तीन सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

शुकदेवजीकी परमपद-प्राप्ति तथा पुत्र-शोकसे व्याकुल व्यासजीको महादेवजीका आश्वासन देना

भीष्म उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं ब्रह्मर्षिः सुमहातपाः ।
प्रातिष्ठत शुकः सिद्धिं हित्वा दोषांश्चतुर्विधान् ॥ १ ॥
तमो ह्यष्टविधं हित्वा जहौ पञ्चविधं रजः ।
ततः सत्त्वं जहौ धीमांस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह वचन कहकर महातपस्वी शुकदेवजी सिद्धि पानेके उद्देश्यसे आगे बढ़ गये। बुद्धिमान् शुकने चार प्रकारके दोषोंका, आठ प्रकारके तमोगुणका तथा पाँच प्रकारके रजोगुणका परित्याग करके सत्त्वगुणको भी त्याग दिया*; वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥

ततस्तस्मिन् पदे नित्ये निर्गुणे लिङ्गवर्जिते ।
ब्रह्मणि प्रत्यतिष्ठत् स विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् वे नित्य निर्गुण एवं लिङ्गरहित ब्रह्मपदमें स्थित हो गये। उस समय उनका तेज धूमहीन अग्निकी भाँति देदीप्यमान हो रहा था ॥ ३ ॥

उल्कापाता दिशां दाहो भूमिकम्पस्तथैव च ।
प्रादुर्भूताः क्षणे तस्मिंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४ ॥

उसी क्षण उल्काएँ टूटकर गिरने लगीं। दिशाओंमें दाह होने लगा और धरती डोलने लगी। यह सब आश्चर्य-की-सी घटना घटित हुई ॥ ४ ॥

द्रुमाः शाखाश्च मुमुचुः शिखराणि च पर्वताः ।
निर्घातशब्दैश्च गिरिर्हिमवान् दीर्यतीव ह ॥ ५ ॥

वृक्षोंने अपनी शाखाएँ अपने आप तोड़कर गिरा दीं। पर्वतोंने अपने शिखर भङ्ग कर दिये। वज्रपातके शब्दोंसे गिरिराज हिमालय विदीर्ण-सा होता जान पड़ता था ॥

न बभासे सहस्रांशुर्न जज्वाल च पावकः ।
ह्रदाश्च सरितश्चैव चुक्षुभुः सागरास्तथा ॥ ६ ॥

सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी। आग प्रज्वलित नहीं होती थी। सरोवर, सरिता और समुद्र सभी क्षुब्ध हो उठे ॥

ववर्ष वासवस्तोयं रसवच्च सुगन्धि च ।
ववौ समीरणश्चापि दिव्यगन्धवहः शुचिः ॥ ७ ॥

इन्द्रने रसमय और सुगन्धित जलकी वर्षा की तथा दिव्य गन्ध फैलाती हुई परम पवित्र वायु चलने लगी ॥७॥

स शृङ्गे प्रथमे दिव्ये हिमवन्मेरुसम्भवे ।
संश्लिष्टे श्वेतपीते द्वे रुक्मरूप्यमये शुभे ॥ ८ ॥
शतयोजनविस्तारे तिर्यगूर्ध्वं च भारत ।
उदीचीं दिशमास्थाय रुचिरे संददर्श ह ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! आगे बढ़नेपर श्रीशुकदेवजीने पर्वतके दो दिव्य एवं सुन्दर शिखर देखे, जो एक दूसरेसे सटे हुए थे। उनमेंसे एक हिमालयका शिखर था और दूसरा मेरुपर्वतका। हिमालयका शिखर रजतमय होनेके कारण श्वेत दिखायी देता था और सुमेरुका स्वर्णमय शृङ्ग पीले रंगका था। इन दोनोंकी लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई सौ-सौ योजनकी थी। उत्तरदिशाकी ओर जाते समय ये दोनों सुरम्य शिखर शुकदेवजीकी दृष्टिमें पड़े ॥ ८-९ ॥

सोऽविशङ्केन मनसा तदैवाभ्यपतच्छुकः ।
ततः पर्वतशृङ्गे द्वे सहसैव द्विधाकृते ॥ १० ॥
अदृश्येतां महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ।

उन्हें देखकर वे पूर्ववत् निःशङ्क मनसे उनके ऊपर चढ़ गये। फिर तो वे दोनों पर्वतशिखर सहसा दो भागोंमें बँट गये और बीचसे फटे हुए-से दिखायी देने लगे। महाराज ! यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १०½ ॥

ततः पर्वतशृङ्गाभ्यां सहसैव विनिःसृतः ॥ ११ ॥
न च प्रतिजघानास्य स गतिं पर्वतोत्तमः ।

तत्पश्चात् उन पर्वतशिखरोंसे वे सहसा आगे निकल गये। वह श्रेष्ठ पर्वत उनकी गतिको रोक न सका ॥११½॥

ततो महानभूच्छब्दो दिवि सर्वदिवौकसाम् ॥ १२ ॥
गन्धर्वाणामृषीणां च ये च शैलनिवासिनः ।

यह देख सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों, ऋषियों तथा जो

* सत्त्वगुण भी सुख और ज्ञानके सम्बन्धसे बाँधनेवाला होता है। 'मैं सुखी हूँ, अज्ञानी हूँ,' ऐसा जो अभिमान हो जाता है, वह ज्ञानीको गुणातीत अवस्थासे वञ्चित रख देता है। इसलिये यहाँ सत्त्वगुणको भी त्याग देनेकी बात कही गयी है।

उस पर्वतपर रहनेवाले दूसरे लोग थे, उन सबने बड़े जोरसे हर्षनाद किया। उनकी हर्षध्वनि आकाशमें चारों ओर गूँज उठी ॥ १२½ ॥

दृष्ट्वा शुकमतिक्रान्तं पर्वतं च द्विधाकृतम् ॥ १३ ॥
साधु साध्विति तत्रासीन्नादः सर्वत्र भारत।

भारत! शुकदेवजीको पर्वत लाँघकर आगे बढ़ते और उस पर्वतको दो टुकड़ोंमें विदीर्ण हुआ देख वहाँ सब ओर 'साधु-साधु' शब्द सुनायी पड़ने लगे ॥ १३½ ॥

स पूज्यमानो देवैश्च गन्धर्वैर्ऋषिभिस्तथा ॥ १४ ॥
यक्षराक्षससंघैश्च विद्याधरगणैस्तथा।
दिव्यैः पुष्पैः समाकीर्णमन्तरिक्षं समन्ततः ॥ १५ ॥
आसीत् किल महाराज शुकाभिपतने तदा।

महाराज! देवता, गन्धर्व, ऋषि, यक्ष, राक्षस और विद्याधरोंने उनका पूजन किया। वहाँसे शुकदेवजीके ऊपर उठते समय उनके चढ़ाये हुए दिव्य पुष्पोंकी वर्षासे वहाँ सब ओरका सारा आकाश [illegible] गया ॥ १४-१५½ ॥

ततो मन्दाकिनीं रम्यामुपरिष्टादभिव्रजन् ॥ १६ ॥
शुको ददर्श धर्मात्मा पुष्पितद्रुमकाननाम्।

राजन्! धर्मात्मा शुकने ऊर्ध्वलोकमें जाते समय खिले हुए वृक्षों और वनोंसे सुशोभित रमणीय मन्दाकिनी (आकाश-गङ्गा) का दर्शन किया ॥ १६½ ॥

तस्यां क्रीडन्त्यभिरतास्ते चैवाप्सरसां गणाः ॥ १७ ॥
शून्याकारं निराकाराः शुकं दृष्ट्वा विवाससः।

उसमें बहुत-सी अप्सराएँ स्नान एवं जलक्रीडा कर रही थीं। यद्यपि वे नंगी थीं, तो भी शुकदेवजीको शून्याकार (बाह्यज्ञानसे रहित एवं आत्मनिष्ठ) देख अपने शरीरको ढकने या छिपानेके लिये उद्यत नहीं हुईं ॥ १७½ ॥

तं प्रक्रामन्तमाज्ञाय पिता स्नेहसमन्वितः ॥ १८ ॥
उत्तमां गतिमास्थाय पृष्ठतोऽनुससार ह।

उन्हें इस प्रकार सिद्धिके लिये उत्क्रमण करते जान उनके पिता वेदव्यासजी भी स्नेहवश उत्तम गतिका आश्रय ले उनके पीछे-पीछे जाने लगे ॥ १८½ ॥

शुकस्तु मारुतादूर्ध्वं गतिं कृत्वान्तरिक्षगाम् ॥ १९ ॥
दर्शयित्वा प्रभावं स्वं ब्रह्मभूतोऽभवत् तदा।

उधर शुकदेव वायुमें आकाशगामिनी ऊर्ध्वगतिका आश्रय ले अपना प्रभाव दिखाकर तत्काल ब्रह्मीभूत हो गये ॥ १९½ ॥

महायोगगतिं त्वन्यां व्यासोत्थाय महातपाः ॥ २० ॥
निमेषान्तरमात्रेण शुकाभिपतनं ययौ।
स ददर्श द्विधा कृत्वा पर्वताग्रं शुकं गतम् ॥ २१ ॥

महातपस्वी व्यासजी दूसरी महायोगसम्बन्धिनी गतिका अवलम्बन करके ऊपरको उठे और पलक मारते-मारते [illegible] स्थानपर जा पहुँचे, जहाँसे उन पर्वत-शिखरोंको दो भागोंमें विदीर्ण करके शुकदेवजी आगे बढ़े थे। वह स्थान शुकाभिपतनके नामसे प्रसिद्ध हो गया था। उन्होंने उन स्थानको देखा ॥ २०-२१ ॥

शशंसुर्ऋषयस्तत्र कर्म पुत्रस्य तत् तदा।
[illegible] शुकेति दीर्घेण शब्देनाक्रन्दितस्तदा ॥ २२ ॥

वहाँ रहनेवाले ऋषियोंने आकर व्यासजीसे उनके पुत्रका वह अलौकिक कर्म कह सुनाया। तब व्यासजीने शुकदेवका नाम लेकर बड़े जोरसे रोदन किया ॥ २२ ॥

स्वयं पित्रा स्वरेणोच्चैस्त्रीँल्लोकाननुनाद्य वै।
शुकः सर्वगतो भूत्वा सर्वात्मा सर्वतोमुखः ॥ २३ ॥
प्रत्यभाषत धर्मात्मा भोः शब्देनानुनादयन्।

जब पिताने उच्चस्वरसे तीनों लोकोंको गुँजाते हुए पुकारा, तब सर्वव्यापी, सर्वात्मा एवं सर्वतोमुख होकर धर्मात्मा शुकने 'भोः' शब्दसे सम्पूर्ण जगत्को प्रतिध्वनित करते हुए पिताको उत्तर दिया ॥ २३½ ॥

तत एकाक्षरं नादं भोरित्येव समीरयन् ॥ २४ ॥
प्रत्याहरञ्जगत् सर्वमुच्चैः स्थावरजङ्गमम्।

उसीके साथ-साथ सम्पूर्ण चराचर जगत्ने उच्चस्वरसे 'भोः' इस एकाक्षर शब्दका उच्चारण करते हुए उत्तर दिया ॥ २४½ ॥

ततः प्रभृति चाद्यापि शब्दानुच्चारितान् पृथक् ॥ २५ ॥
गिरिगह्वरपृष्ठेषु व्याहरन्ति शुकं प्रति।

तभीसे आजतक पर्वतोंके शिखरपर अथवा गुफाओंके आस-पास जब-जब आवाज दी जाती है, तब-तब वहाँके चराचर निवासी प्रतिध्वनिके रूपमें उसका उत्तर देते हैं, जैसा कि उन्होंने शुकदेवजीके लिये किया था ॥ २५½ ॥

अन्तर्हितः प्रभावं [illegible] दर्शयित्वा शुकस्तदा ॥ २६ ॥
गुणान् संत्यज्य शब्दादीन् पदमभ्यगमत् परम्।

इस प्रकार अपना प्रभाव दिखलाकर शुकदेवजी अन्तर्धान हो गये और शब्द आदि गुणोंका परित्याग करके परमपदको [illegible] हुए ॥ २६½ ॥

महिमानं तु तं दृष्ट्वा पुत्रस्यामिततेजसः ॥ २७ ॥
निषसाद गिरिप्रस्थे पुत्रमेवानुचिन्तयन्।

अपने अमिततेजस्वी पुत्रकी यह महिमा देखकर व्यासजी उसीका चिन्तन करते हुए उस पर्वतके शिखर-पर बैठ गये ॥ २७½ ॥

ततो मन्दाकिनीतीरे क्रीडन्तोऽप्सरसां गणाः ॥ २८ ॥
आसाद्य तमृषिं सर्वाः सम्भ्रान्ता गतचेतसः।
जले निलिल्यिरे काश्चित् काश्चिद् गुल्मान् प्रपेदिरे ॥ २९ ॥

उस समय मन्दाकिनीके तटपर क्रीड़ा करती हुई समस्त अप्सराएँ महर्षि व्यासको अपने निकट पाकर बड़ी घबराहटमें पड़ गयीं, अचेत-सी हो गयीं। कोई उन्हें छिप गयीं और कोई लताओंकी झुरमुटमें ॥ २८-२९ ॥

वसनान्याददुः काश्चित् तं दृष्ट्वा मुनिसत्तमम् ।
तां मुक्ततां तु विज्ञाय मुनिः पुत्रस्य वै तदा ॥ ३० ॥
सक्ततामात्मनश्चैव प्रीतोऽभूद् व्रीडितश्च ह ॥ ३१ ॥

कुछ अप्सराओंने मुनिश्रेष्ठ व्यासको देखकर अपने वस्त्र पहन लिये। उस समय अपने पुत्रकी मुक्तता जानकर मुनि बड़े प्रसन्न हुए और अपनी आसक्तिका विचार करके वे बहुत लज्जित भी हुए ॥ ३०-३१ ॥

तं देवगन्धर्ववृतो महर्षिगणपूजितः ।
पिनाकहस्तो भगवानभ्यागच्छत शंकरः ॥ ३२ ॥
तमुवाच महादेवः सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तं कृष्णद्वैपायनं तदा ॥ ३३ ॥

इसी समय देवताओं और गन्धर्वोंसे घिरे हुए तथा महर्षियोंसे पूजित पिनाकधारी भगवान् शङ्कर वहाँ आ पहुँचे और पुत्र-शोकसे संतप्त वेदव्यासजीको सान्त्वना देते हुए कहने लगे—॥ ३२-३३ ॥

अग्नेर्भूमेरपां वायोरन्तरिक्षस्य चैव ह ।
वीर्येण सदृशः पुत्रः पुरा मत्तस्त्वया वृतः ॥ ३४ ॥
स तथालक्षणो जातस्तपसा तव सम्भृतः ।
मम चैव प्रसादेन ब्रह्मतेजोमयः शुचिः ॥ ३५ ॥

'ब्रह्मन्! तुमने पहले अग्नि, भूमि, जल, वायु और आकाशके समान शक्तिशाली पुत्र होनेका मुझसे वरदान माँगा था; अतः तुम्हें तुम्हारी तपस्याके प्रभाव तथा मेरी कृपासे पालित वैसा ही पुत्र प्राप्त हुआ। वह महातेजसे सम्पन्न और परम पवित्र था ॥ ३४-३५ ॥

स गतिं परमां प्राप्तो दुष्प्रापामजितेन्द्रियैः ।
दैवतैरपि विप्रर्षे तं त्वं किमनुशोचसि ॥ ३६ ॥

'ब्रह्मर्षे! इस समय उसने ऐसी उत्तम गति प्राप्त की है, जो अजितेन्द्रिय पुरुषों तथा देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, फिर भी तुम उसके लिये क्यों शोक कर रहे हो? ॥ ३६ ॥

यावत् स्थास्यन्ति गिरयो यावत् स्थास्यन्ति सागराः ।
तावत् तवाक्षया कीर्तिः सपुत्रस्य भविष्यति ॥ ३७ ॥

'जबतक इस संसारमें पर्वतोंकी सत्ता रहेगी और जबतक समुद्रोंकी स्थिति बनी रहेगी, तबतक तुम्हारी और तुम्हारे पुत्रकी अक्षय कीर्ति इस संसारमें छायी रहेगी ॥

छायां स्वपुत्रसदृशीं सर्वतोऽनपगां सदा ।
द्रक्ष्यसे त्वं च लोकेऽस्मिन् मत्प्रसादान्महामुने ॥ ३८ ॥

'महामुने! तुम मेरे प्रसादसे इस जगत्में सदा अपने पुत्रसदृश छायाका दर्शन करते रहोगे। वह सब ओर दिखायी देगी, कभी तुम्हारी आँखोंसे ओझल न होगी' ॥

सोऽनुनीतो भगवता स्वयं रुद्रेण भारत ।
छायां पश्यन् समावृत्तः स मुनिः परया मुदा ॥ ३९ ॥

भरतनन्दन! साक्षात् भगवान् शंकरके इस प्रकार आश्वासन देनेपर सर्वत्र अपने पुत्रकी छाया देखते हुए मुनिवर व्यास बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने आश्रमपर लौट आये ॥ ३९ ॥

इति जन्म गतिश्चैव शुकस्य भरतर्षभ ।
विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ४० ॥

भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! तुम मुझसे जिसके विषयमें पूछ रहे थे, वह शुकदेवजीके जन्म और परमपद-प्राप्तिकी कथा मैंने तुम्हें विस्तारसे सुनायी है ॥ ४० ॥

एतदाचष्ट मे राजन् देवर्षिर्नारदः पुरा ।
व्यासश्चैव महायोगी संजल्पेषु पदे पदे ॥ ४१ ॥

राजन्! सबसे पहले देवर्षि नारदजीने यह वृत्तान्त मुझे बताया था। महायोगी व्यासजी भी बातचीतके प्रसंगमें पद-पदपर इस प्रसङ्गको दुहराया करते हैं ॥ ४१ ॥

इतिहासमिमं पुण्यं मोक्षधर्मोपसंहितम् ।
धारयेद् यः शमपरः स गच्छेत् परमां गतिम् ॥ ४२ ॥

जो पुरुष मोक्षधर्मसे युक्त इस परम पवित्र इतिहासको सुनकर या पढ़कर अपने हृदयमें धारण करेगा, वह शान्ति-परायण हो परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होगा ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शुकोत्पत्तिसमाप्तिर्नाम त्रयस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें शुकदेवजीकी ऊर्ध्वगतिके वर्णनको समाप्ति नामक तीन सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

बदरिकाश्रममें नारदजीके पूछनेपर भगवान् नारायणका परमदेव परमात्माको ही सर्वश्रेष्ठ पूजनीय बताना

युधिष्ठिर उवाच

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
य इच्छेत् सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ अथवा संन्यासी जो भी सिद्धि पाना चाहे, वह किस देवताका पूजन करे? ॥ १ ॥

कुतो ह्यस्य ध्रुवः स्वर्गः कुतो नैःश्रेयसं परम् ।
विधिना केन जुहुयाद् दैवं पित्र्यं तथैव च ॥ २ ॥

मनुष्यको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? उसे परम कल्याण किस साधनसे सुलभ हो [illegible] है ? वह किस विधिसे देवताओं तथा पितरोंके उद्देश्यसे होम करे ? ॥ २ ॥

मुक्तश्च कां गतिं गच्छेन्मोक्षश्चैव किमात्मकः ।
स्वर्गतश्चैव किं कुर्याद् येन न च्यवते दिवः ॥ ३ ॥

मुक्त पुरुष किस गतिको प्राप्त होता है ? मोक्षका क्या स्वरूप है ? स्वर्गमें गये हुए मनुष्यको [illegible] करना चाहिये, जिससे वह स्वर्गसे नीचे न गिरे ? ॥ ३ ॥

देवतानां च को देवः पितॄणां च पिता तथा ।
तस्मात् परतरं यच्च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ४ ॥

देवताओंका भी देवता और पितरोंका भी पिता कौन है ? अथवा उससे भी श्रेष्ठ तत्त्व क्या है ? पितामह ! इन सब बातोंको आप मुझे बताइये ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

गूढं मां प्रश्नवित् प्रश्नं पृच्छसे त्वमिहानघ ।
न ह्येतत् तर्कया शक्यं वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ ५ ॥
ऋते देवप्रसादाद् वा राजन् ज्ञानागमेन वा ।
गहनं ह्येतदाख्यानं व्याख्यातव्यं तवारिहन् ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—निष्पाप युधिष्ठिर ! तुम [illegible] खूब जानते हो । इस समय तुमने मुझसे बड़ा गूढ़ प्रश्न किया है । राजन् ! भगवान्‌की कृपा अथवा [illegible] शास्त्रके विना केवल तर्कके द्वारा सैकड़ों वर्षोंमें भी [illegible] प्रश्नोंका उत्तर नहीं दिया जा सकता । शत्रुसूदन ! यद्यपि यह विषय समझनेमें बहुत कठिन है, तो भी तुम्हारे लिये तो इसकी व्याख्या करनी ही है ॥ ५-६ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ७ ॥

इस विषयमें जानकार लोग देवर्षि नारद और [illegible] ऋषिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ७ ॥

नारायणो हि विश्वात्मा चतुर्मूर्तिः सनातनः ।
धर्मात्मजः सम्बभूव पितैवं मेऽभ्यभाषत ॥ ८ ॥

मेरे पिताजीने मुझे यह बताया था कि भगवान् नारायण सम्पूर्ण जगत्‌के आत्मा, चतुर्मूर्ति और सनातन देवता हैं । वे ही एक समय धर्मके पुत्ररूपसे प्रकट हुए थे ॥ ८ ॥

कृते युगे महाराज पुरा स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
नरो नारायणश्चैव हरिः कृष्णः स्वयम्भुवः ॥ ९ ॥

महाराज ! स्वायम्भुव मन्वन्तरके सत्ययुगमें उन स्वयम्भू भगवान् वासुदेवके चार अवतार हुए थे, जिनके नाम [illegible] प्रकार हैं—नर, नारायण, हरि और कृष्ण ॥ ९ ॥

तेषां नारायणनरौ तपस्तेपतुरव्ययौ ।
बदर्याश्रममासाद्य शकटे कनकामये ॥ १० ॥

उनमेंसे अविनाशी नारायण और नर बदरिकाश्रममें जाकर एक सुवर्णमय रथपर स्थित हो घोर तपस्या करने लगे ॥ १० ॥

अष्टचक्रं हि तद् यानं भूतयुक्तं मनोरमम् ।
तत्राद्यौ लोकनाथौ तौ कृशौ धमनिसंततौ ॥ ११ ॥
तपसा तेजसा चैव दुर्निरीक्ष्यौ सुरैरपि ।
यस्य प्रसादं कुर्वाते स देवौ द्रष्टुमर्हति ॥ १२ ॥

उनका वह मनोरम रथ आठ पहियोंसे युक्त था और उसमें अनेकानेक प्राणी जुते हुए थे । वे दोनों आदिपुरुष जगदीश्वर तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये । उनके शरीरकी नसें दिखायी देने लगीं । तपस्यासे उनका तेज इतना बढ़ गया था कि देवताओंको भी उनकी ओर देखना कठिन हो रहा था । जिनपर वे कृपा करते थे, वही उन दोनों देवेश्वरोंका दर्शन कर सकता था ॥ ११-१२ ॥

नूनं तयोरनुमते हृदि हृच्छयचोदितः ।
महामेरोर्गिरेः शृङ्गात् प्रच्युतो गन्धमादनम् ॥ १३ ॥

निश्चय ही उन दोनोंकी इच्छाके अनुसार अपने हृदयमें अन्तर्यामीकी प्रेरणा होनेपर देवर्षि नारद महामेरु पर्वतके शिखरसे गन्धमादन पर्वतपर उतर पड़े ॥ १३ ॥

नारदः सुमहद्भूतं सर्वलोकानचीचरत् ।
तं देशमगमद् राजन् बदर्याश्रममाशुगः ॥ १४ ॥

राजन् ! नारदजी सम्पूर्ण लोकोंमें विचरते थे; [illegible] वे शीघ्रगामी मुनि बदरिकाश्रमके [illegible] विशाल प्रदेशमें घूमते-घामते आ पहुँचे, जो महान् प्राणियोंसे युक्त था ॥ १४ ॥

तयोराह्निकवेलायां तस्य कौतूहलं त्वभूत् ।
इदं तदास्पदं कृत्स्नं यस्मिँल्लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥
सदेवासुरगन्धर्वाः सकिन्नरमहोरगाः ।

[illegible] वहाँ भगवान् नर और नारायणके नित्यकर्मका [illegible] हुआ, उसी [illegible] नारदजीके मनमें उनके दर्शनके लिये बड़ी उत्कण्ठा हुई । वे सोचने लगे, 'अहो ! [illegible] उन्हीं भगवान्‌का स्थान है, जिनके भीतर देवता, असुर, गन्धर्व, किन्नर और महान् नागोंसहित सम्पूर्ण लोक निवास करते हैं ॥ १५½ ॥

एका मूर्तिरियं पूर्वं जाता भूयश्चतुर्विधा ॥ १६ ॥
धर्मस्य कुलसंताने धर्मादेभिर्विवर्धितः ।
अहो ह्यनुगृहीतोऽद्य धर्म एभिः सुरैरिह ॥ १७ ॥
नरनारायणाभ्यां च कृष्णेन हरिणा तथा ।

'पहले ये एक ही रूपमें विद्यमान थे; फिर धर्मकी वंश-परम्पराका विस्तार करनेके [illegible] चार विग्रहोंमें प्रकट हुए । इन चारोंने अपने उपार्जित धर्मसे धर्मदेवकी वंश-परम्पराको बढ़ाया है । अहो ! इस समय नर, नारायण, [illegible] और हरि—इन चारों देवताओंने धर्मपर बड़ा अनुग्रह किया है ॥ १६-१७½ ॥
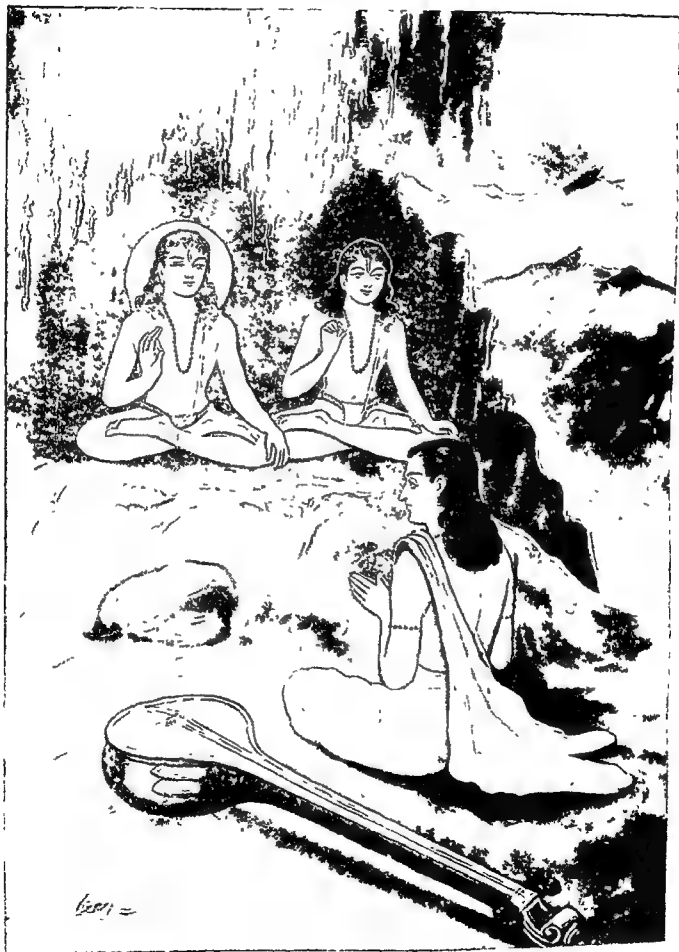
नर-नारायणका नारदजीके साथ संवाद

[illegible] कृष्णो हरिश्चैव कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ॥ १८ ॥
स्थितौ धर्मोत्तरौ ह्येतौ [illegible] तपसि धिष्ठितौ ।

'इनमेंसे हरि और [illegible] किसी और कार्यमें संलग्न हैं; परंतु ये दोनों भाई नारायण और नर धर्मको ही प्रधान मानते हुए तपस्यामें संलग्न [illegible] ॥ १८½ ॥

एतौ [illegible] परमं धाम कान्तयोराह्निकक्रिया ॥ १९ ॥
पितरौ सर्वभूतानां दैवतं च यशस्विनौ ।
कां देवतां तु यजतः पितॄन् वा कान् महामती [illegible] २० ॥

'ये ही दोनों परमधामस्वरूप हैं। इनका यह नित्यकर्म कैसा है? ये दोनों यशस्वी देवता सम्पूर्ण प्राणियोंके पिता और देवता [illegible]। [illegible] बुद्धिमान् दोनों बन्धु [illegible] किस देवताका यजन और किन पितरोंका पूजन करते हैं?' ॥ १९-२० ॥

इति संचिन्त्य [illegible] [illegible] नारायणस्य [illegible] ।
[illegible] प्रादुरभवत् समीपे देवयोस्तदा ॥ २१ ॥

मन-ही-मन ऐसा सोचकर भगवान् नारायणके प्रति भक्तिसे प्रेरित हो नारदजी सहसा उन देवताओंके समीप प्रकट हो गये ॥ २१ ॥

कृते दैवे [illegible] पित्र्ये [illegible] ततस्ताभ्यां निरीक्षितः ।
पूजितश्चैव विधिना यथाप्रोक्तेन शास्त्रतः ॥ २२ ॥

भगवान् नर और नारायण जब देवता और पितरोंकी पूजा समाप्त [illegible] चुके, तब उन्होंने नारदजीको देखा और [illegible] बतायी हुई विधिसे उनका पूजन किया ॥ २२ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यमपूर्वं विधिविस्तरम् ।
उपोपविष्टः सुप्रीतो नारदो भगवानृषिः ॥ २३ ॥

उनके द्वारा शास्त्रविधिका यह अपूर्व विस्तार और अत्यन्त आश्चर्यजनक व्यवहार देखकर उनके [illegible] ही बैठे [illegible] देवर्षि भगवान् नारद अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥

नारायणं संनिरीक्ष्य प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
नमस्कृत्वा महादेवमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

[illegible] चित्तसे महादेव भगवान् नारायणकी ओर देखकर नारदजीने उन्हें नमस्कार किया और इस [illegible] [illegible] ॥ २४ ॥

नारद उवाच

वेदेषु सपुराणेषु साङ्गोपाङ्गेषु गीयसे ।
[illegible] शाश्वतो धाता मातामृतमनुत्तमम् ॥ २५ ॥

नारदजी बोले—भगवन्! अङ्ग और उपाङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदों तथा पुराणोंमें आपकी ही महिमाका गान किया जाता है। आप अजन्मा, सनातन, सबके माता-पिता और सर्वोत्तम अमृतरूप हैं ॥ २५ ॥

प्रतिष्ठितं भूतभव्यं त्वयि सर्वमिदं जगत् ।
चत्वारो ह्याश्रमा देव सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः ॥ २६ ॥
यजन्ते त्वामहरहर्नानामूर्तिसमास्थितम् ।

देव! आपमें ही भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। गार्हस्थ्यमूलक चारों आश्रमों-के सब लोग नाना रूपोंमें स्थित हुए आपकी [illegible] प्रतिदिन पूजा करते हैं ॥ २६½ ॥

पिता [illegible] च सर्वस्य [illegible] शाश्वतो गुरुः ।
कं [illegible] यजसे देवं पितरं कं न विद्महे ॥ २७ ॥
(कमर्चसि महाभाग तन्मे ब्रूहीह पृच्छतः ।)

आप ही सम्पूर्ण जगत्के माता, पिता और सनातन गुरु हैं, तो भी आज आप किस देवता और किस पितरकी पूजा करते हैं? यह मैं [illegible] नहीं [illegible]। [illegible] महाभाग! [illegible] आपसे पूछ रहा हूँ, मुझे बताइये कि आप किसकी पूजा करते [illegible]? ॥ २७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अवाच्यमेतद् वक्तव्यमात्मगुह्यं सनातनम् ।
तव भक्तिमतो [illegible] वक्ष्यामि तु यथातथम् ॥ २८ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन्! तुमने जिसके विषयमें [illegible] किया है, वह अपने लिये गोपनीय विषय है। यद्यपि यह सनातन [illegible] किसीसे कहने योग्य नहीं है, तथापि तुम-जैसे भक्त पुरुषको तो उसे बताना ही चाहिये; अतः [illegible] यथार्थ रूपसे इस विषयका वर्णन करूँगा ॥ २८ ॥

यत् तत् सूक्ष्ममविज्ञेयमव्यक्तमचलं ध्रुवम् ।
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैश्च सर्वभूतैश्च वर्जितम् ॥ २९ ॥
स [illegible] भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते ।
त्रिगुणव्यतिरिक्तो वै पुरुषश्चेति कल्पितः ॥ ३० ॥
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम ।
अव्यक्ता व्यक्तभावस्था [illegible] [illegible] प्रकृतिरव्यया ॥ ३१ ॥

जो सूक्ष्म, अज्ञेय, अव्यक्त, अचल और ध्रुव है, जो इन्द्रियों, विषयों और सम्पूर्ण भूतोंसे परे है, वही [illegible] प्राणियोंका अन्तरात्मा है; अतः क्षेत्रज्ञ नामसे कहा जाता है, वही त्रिगुणातीत तथा पुरुष कहलाता है। उसीसे त्रिगुण-मय अव्यक्तकी उत्पत्ति हुई है। द्विजश्रेष्ठ! उसीको व्यक्त-भावमें स्थित, अविनाशिनी अव्यक्त प्रकृति कहा गया है ॥ २९–३१ ॥

तां योनिमावयोर्विद्धि योऽसौ सदसदात्मकः ।
आवाभ्यां पूज्यतेऽसौ हि दैवे पित्र्ये च कल्प्यते ॥ ३२ ॥

वह सदसत्स्वरूप परमात्मा ही हम दोनोंकी उत्पत्तिका कारण है, इस बातको जान लो। हम दोनों उसीकी पूजा करते तथा उसीको देवता और पितर मानते हैं ॥ ३२ ॥

नास्ति तस्मात् परोऽन्यो हि पिता देवोऽथवा द्विज ।
आत्मा हि नः स विज्ञेयस्ततस्तं पूजयावहे ॥ ३३ ॥

ब्रह्मन्! उससे बढ़कर दूसरा कोई देवता या पितर नहीं है। वही हमलोगोंका आत्मा है, यह जानना चाहिये; अतः हम उसीकी पूजा करते हैं ॥ ३३ ॥

तेनैषा प्रथिता ब्रह्मन् मर्यादा लोकभाविनी ।

दैवं पित्र्यं च कर्तव्यमिति तस्यानुशासनम् ॥ ३४ ॥

ब्रह्मन् ! उसीने लोकको उन्नतिके पथपर ले जानेवाली यह धर्मकी मर्यादा स्थापित की है। देवताओं और पितरोंकी पूजा करनी चाहिये, यह उसीकी आज्ञा है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मा स्थाणुर्मनुर्दक्षो भृगुर्धर्मस्तपो यमः।
मरीचिरङ्गिराऽत्रिश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ ३५ ॥
वसिष्ठः परमेष्ठी च विवस्वान् सोम एव च।
कर्दमश्चापि यः प्रोक्तः क्रोधो विक्रीत एव च ॥ ३६ ॥
एकविंशतिरुत्पन्नास्ते प्रजापतयः स्मृताः।
तस्य देवस्य मर्यादां पूजयन्तः सनातनीम् ॥ ३७ ॥

ब्रह्मा, रुद्र, मनु, दक्ष, भृगु, धर्म, तप, यम, मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा, कर्दम, क्रोध और विक्रीत—ये इक्कीस प्रजापति उसी परमात्मासे उत्पन्न बताये गये हैं तथा उसी परमात्माकी सनातन धर्म-मर्यादाका पालन एवं पूजन करते हैं ॥ ३५—३७ ॥

दैवं पित्र्यं च सततं तस्य विज्ञाय तत्त्वतः।
आत्मप्राप्तानि च ततः प्राप्नुवन्ति द्विजोत्तमाः ॥ ३८ ॥

श्रेष्ठ द्विज उसीके उद्देश्यसे किये जानेवाले देवता तथा पितृ-सम्बन्धी कार्योंको ठीक-ठीक जानकर अपनी अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३८ ॥

स्वर्गस्था अपि ये केचित् तान् नमस्यन्ति देहिनः।
ते तत्प्रसादाद् गच्छन्ति तेनादिष्टफलां गतिम् ॥ ३९ ॥

स्वर्गमें रहनेवाले प्राणियोंमेंसे भी जो कोई उस परमात्माको प्रणाम करते हैं, वे उसके कृपा-प्रसादसे उसीकी आज्ञाके अनुसार फल देनेवाली उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ३९ ॥

ये हीनाः सप्तदशभिर्गुणैः कर्मभिरेव च।
कलाः पञ्चदश त्यक्त्वा ते मुक्ता इति निश्चयः ॥ ४० ॥

जो पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धिरूप सत्रह गुणोंसे, सब कर्मोंसे रहित हो [illegible] कलाओंको त्याग करके स्थित हैं, वे ही मुक्त हैं, यह [illegible] सिद्धान्त है ॥ ४० ॥

मुक्तानां तु गतिर्ब्रह्मन् क्षेत्रज्ञ इति कल्पिता।
स हि सर्वगुणश्चैव निर्गुणश्चैव कथ्यते ॥ ४१ ॥

ब्रह्मन् ! मुक्त पुरुषोंकी गति क्षेत्रज्ञ परमात्मा निश्चित किया गया है। वही सर्वसद्गुणसम्पन्न तथा निर्गुण भी कहलाता है ॥ ४१ ॥

दृश्यते ज्ञानयोगेन आवां च प्रसृतौ ततः।
एवं ज्ञात्वा तमात्मानं पूजयावः सनातनम् ॥ ४२ ॥

ज्ञानयोगके द्वारा उसका साक्षात्कार होता है। हम दोनोंका आविर्भाव उसीसे हुआ है—ऐसा जानकर हम दोनों [illegible] सनातन परमात्माकी पूजा करते हैं ॥ ४२ ॥

तं वेदाश्चाश्रमाश्चैव नानामतसमास्थिताः।
भक्त्या सम्पूजयन्त्याशु गतिं चैषां ददाति सः ॥ ४३ ॥

चारों वेद, चारों आश्रम तथा नाना प्रकारके मतोंका आश्रय लेनेवाले लोग भक्तिपूर्वक उसकी पूजा करते हैं और वह इन सबको शीघ्र ही उत्तम गति प्रदान [illegible] है ॥ ४३ ॥

ये तु तद्भाविता लोके ह्येकान्तित्वं समास्थिताः।
एतदभ्यधिकं तेषां यत् ते तं प्रविशन्त्युत ॥ ४४ ॥

जो सदा [illegible] स्मरण करते तथा अनन्य भावसे उसकी शरण लेते हैं, उन्हें सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि वे उसके स्वरूपमें प्रवेश [illegible] जाते हैं ॥ ४४ ॥

इति गुह्यसमुद्देशस्तव नारद कीर्तितः।
भक्त्या प्रेम्णा च विप्रर्षे अस्मद्भक्त्या च ते श्रुतः ॥ ४५ ॥

नारद ! ब्रह्मर्षे ! तुममें भगवान्‌के प्रति भक्ति और प्रेम है। हमलोगोंके प्रति भी तुम्हारा भक्तिभाव [illegible] हुआ है। इसलिये हमने तुम्हारे सामने इस गोपनीय विषयका वर्णन किया है और तुम्हें इसे सुननेका शुभ अवसर मिला है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

पञ्चत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका श्वेतद्वीपदर्शन, वहाँके निवासियोंके स्वरूपका वर्णन, राजा उपरिचरका चरित्र तथा पाञ्चरात्रकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग

भीष्म उवाच

[illegible] एवमुक्तो द्विपदां वरिष्ठो
नारायणेनोत्तमपूरुषेण।
जगाद वाक्यं द्विपदां वरिष्ठं
नारायणं लोकहिताधिवासम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! पुरुषोत्तम भगवान् नारायणने जब पुरुषप्रवर नारदजीसे इस प्रकार कहा, तब वे लोकहितके आश्रयभूत पुरुषाग्रगण्य भगवान् नारायणसे यों बोले ॥ १ ॥

नारद उवाच

यदर्थमात्मप्रभवेण जन्म
कृतं त्वया धर्मगृहे चतुर्धा।

तत् साध्यतां लोकहितार्थमद्य
गच्छामि द्रष्टुं प्रकृतिं तवाद्याम् ॥ २ ॥

नारदजीने कहा—प्रभो ! आप पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारण हैं। आपने जिसके लिये धर्मके गृहमें चार स्वरूपोंमें अवतार धारण किया है, उस प्रयोजनकी लोकहितके लिये सिद्धि कीजिये। अब मैं (श्वेतद्वीपमें स्थित) आपके आदिविग्रहका दर्शन करने जाता हूँ ॥ २ ॥

पूजां गुरूणां सततं करोमि
परस्य गुह्यं न च भिन्नपूर्वम्।
वेदाः स्वधीता मम लोकनाथ
तप्तं तपो नानृतमुक्तपूर्वम् ॥ ३ ॥

लोकनाथ ! मैं गुरुजनोंका सदा आदर करता हूँ। किसीकी गुप्त बात पहले कभी दूसरोंके समक्ष प्रकट नहीं की है। मैंने वेदोंका स्वाध्याय किया, तपस्या की और कभी असत्य-भाषण नहीं किया है ॥ ३ ॥

गुप्तानि चत्वारि यथागमं मे
शत्रौ च मित्रे च समोऽस्मि नित्यम्।
तं चादिदेवं सततं प्रपन्न
एकान्तभावेन वृणोम्यजस्रम् ॥ ४ ॥
एभिर्विशेषैः परिशुद्धसत्त्वः
कस्मान्न पश्येयमनन्तमीशम्।

शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार हाथ, पैर, उदर और उपस्थ—इन चारोंकी मैंने रक्षा की है। शत्रु और मित्रके प्रति मैं सदा समानभाव रखता हूँ। इन आदिदेव परमात्मा श्रीनारायणकी निरन्तर शरण लेकर मैं अनन्यभावसे सदा उन्हींका भजन करता हूँ। इन सब विशेष कारणोंसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है। ऐसी दशामें मैं उन अनन्त परमेश्वरका दर्शन कैसे नहीं कर सकता हूँ ? ॥ ४½ ॥

तत् पारमेष्ठ्यस्य वचो निशम्य
नारायणः शाश्वतधर्मगोप्ता ॥ ५ ॥
गच्छेति तं नारदमुक्तवान् स
सम्पूजयित्वाऽऽत्मविधिक्रियाभिः।

ब्रह्मपुत्र नारदजीका यह वचन सुनकर सनातन धर्मके रक्षक भगवान् नारायणने उनकी विधिवत् पूजा करके उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी ॥ ५½ ॥

ततो विसृष्टः परमेष्ठिपुत्रः
सोऽभ्यर्चयित्वा तमृषिं पुराणम् ॥ ६ ॥
खमुत्पपातोत्तमयोगयुक्त-
स्ततोऽधिमेरौ सहसा निलिल्ये।

उनसे विदा लेकर ब्रह्मकुमार नारद उन पुरातन ऋषि नारायणका पूजन करके उत्तम योगसे युक्त हो आकाशकी ओर उड़े और सहसा मेरुपर्वतपर पहुँचकर अदृश्य हो गये ॥

तत्रावतस्थे च मुनिर्मुहूर्त-
मेकान्तमासाद्य गिरेः स शृङ्गे ॥ ७ ॥
आलोकयन्नुत्तरपश्चिमेन
ददर्श चाप्यद्भुतमुक्तरूपम्।

मेरुके शिखरपर एकान्त स्थानमें जाकर नारद मुनिने दो घड़ीतक विश्राम किया। फिर वहाँसे उत्तर-पश्चिमकी ओर दृष्टिपात करनेपर उन्होंने पूर्व-वर्णित एक अद्भुत दृश्य देखा ॥

क्षीरोदधेरुत्तरतो हि द्वीपः
श्वेतः स नाम्ना प्रथितो विशालः ॥ ८ ॥
मेरोः सहस्रैः स हि योजनानां
द्वात्रिंशतोर्ध्वं कविभिर्निरुक्तः।
अतीन्द्रियाश्चानशनाश्च तत्र
निष्पन्दहीनाः सुसुगन्धिनस्ते ॥ ९ ॥

क्षीरसागरके उत्तरभागमें जो श्वेत नामसे प्रसिद्ध विशाल द्वीप है, वह उनके सामने प्रकट हो गया। विद्वानोंने उस द्वीपको मेरुपर्वतसे बत्तीस हजार योजन ऊँचा बताया है। वहाँके निवासी इन्द्रियोंसे रहित, निराहार तथा चेष्टारहित एवं ज्ञानसम्पन्न होते हैं। उनके अङ्गोंसे उत्तम सुगन्ध निकलती रहती है ॥ ८-९ ॥

श्वेताः पुमांसो गतसर्वपापा-
श्चक्षुर्मुषः पापकृतां नराणाम्।
वज्रास्थिकायाः सममानोन्माना
दिव्यावयवरूपाः शुभसारोपेताः ॥ १० ॥
छत्राकृतिशीर्षा मेघौघनिनादाः
समसुष्कचतुष्का राजीवच्छतपादाः।
षष्ट्या दन्तैर्युक्ताः शुक्लैरष्टाभिर्दंष्ट्राभिर्ये
जिह्वाभिर्ये विष्वग्वक्त्रं लेलिह्यन्ते सूर्यप्रख्यम् ॥ ११ ॥

उस द्वीपमें सब प्रकारके पापोंसे रहित श्वेत वर्णवाले पुरुष निवास करते हैं। उनकी ओर देखनेसे पापी मनुष्योंकी आँखें चौंधिया जाती हैं। उनके शरीर तथा हड्डियाँ वज्रके समान सुदृढ होती हैं। वे मान और अपमानको समान समझते हैं। उनके अङ्ग दिव्य होते हैं। वे शुभ (योगके प्रभावसे उत्पन्न) बलसे सम्पन्न होते हैं। उनके मस्तकका आकार छत्रके समान और स्वर मेघोंकी घटाके गर्जनकी भाँति गम्भीर होता है। उनके बराबर-बराबर चार भुजाएँ होती हैं। उनके पैर सैकड़ों कमलसदृश रेखाओंसे सुशोभित होते हैं। उनके मुँहमें साठ सफेद दाँत और आठ दाढ़ें होती हैं। वे सूर्यके समान कान्तिमान् तथा सम्पूर्ण विश्वको अपने मुखमें रखनेवाले महाकालको भी अपनी जिह्वाओंसे चाट लेते हैं ॥ १०-११ ॥

देवं भक्त्या विश्वोत्पन्नं
यस्मात् सर्वे लोकाः सम्प्रसूताः।
वेदा धर्मा मुनयः शान्ता
देवाः सर्वे तस्य निसर्गाः ॥ १२ ॥

जिनसे सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है, सारे लोक ■ हुए हैं, वेद, धर्म, शान्त स्वभाववाले मुनि ■ सम्पूर्ण देवता जिनकी सृष्टि हैं, उन अनन्त शक्तिसम्पन्न परमेश्वरको श्वेतद्वीपके निवासी भक्तिभावसे अपने हृदयमें धारण करते हैं ■

युधिष्ठिर उवाच

अतीन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः।
कथं ते पुरुषा जाताः का तेषां गतिरुत्तमा ॥ १३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! श्वेतद्वीपमें रहनेवाले पुरुष इन्द्रिय, आहार तथा चेष्टासे रहित क्यों होते हैं ? उनके शरीरसे सुन्दर गन्ध क्यों निकलती है ? उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है तथा वे किस उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं ? ॥१३॥

ये च मुक्ता भवन्तीह नरा भरतसत्तम।
तेषां लक्षणमेतद्धि तच्छ्वेतद्वीपवासिनाम् ॥ १४ ॥
तस्मान्मे संशयं छिन्धि परं कौतूहलं हि मे।
त्वं हि सर्वकथारामस्त्वां चैवोपाश्रिता वयम् ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस लोकसे मुक्त होनेवाले पुरुषोंका शास्त्रोंमें जो लक्षण बताया गया है, वैसा ही आपने श्वेतद्वीपके निवासियोंका भी बताया है। इसलिये मुझे संदेह होता है, अतः मेरे इस संशयका निवारण कीजिये। इसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है। आप सम्पूर्ण ज्ञानमयी कथाओंमें रस लेनेवाले हैं और हम आपके शरणागत ■ ॥ १४-१५ ॥

भीष्म उवाच

विस्तीर्णैषा कथा राजन् श्रुता मे पितृसंनिधौ।
यैषा तव हि वक्तव्या कथासारो हि ■ मता ॥ १६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! यह कथा बहुत विस्तृत है। इसे मैंने अपने पिताजीके निकट सुना था। इस समय जो कथा तुम्हारे सामने कहनी है, वह सम्पूर्ण कथाओंकी सारभूत मानी गयी है ॥ १६ ॥

(शान्तनोः कथयामास नारदो मुनिसत्तमः।
राज्ञा पृष्टः पुरा प्राह तत्राहं श्रुतवान् पुरा ॥)

पूर्वकालमें मेरे पिता महाराज शान्तनुके पूछनेपर मुनिश्रेष्ठ नारदजीने उनसे यह कथा कही थी। उसी ■ वहाँ मैंने भी इसे सुना था ॥

राजोपरिचरो ■ बभूवाधिपतिर्भुवः।
आखण्डलसखः ख्यातो भक्तो नारायणं हरिम् ॥ १७ ॥

पहलेकी बात है, इस पृथ्वीपर एक उपरिचर नामक राजा राज्य करते थे। वे इन्द्रके मित्र और पापहारी भगवान् नारायणके विख्यात भक्त ■ ॥ १७ ॥

धार्मिको नित्यभक्तश्च पितुर्नित्यमतन्द्रितः।
साम्राज्यं तेन सम्प्राप्तं नारायणवरात् पुरा ॥ १८ ॥

वे धर्मात्मा तथा पिताके नित्य भक्त थे। आलस्यका उनमें सर्वथा अभाव था। पूर्वकालमें भगवान् नारायणके वरसे उन्होंने भूमण्डलका साम्राज्य प्राप्त किया था ॥ १८ ॥

सात्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुखनिःसृतम्।
पूजयामास देवेशं तच्छेषेण पितामहान् ॥ १९ ॥
पितृशेषेण विप्रांश्च संविभज्याश्रितांश्च सः।
शेषान्नभुक् सत्यपरः सर्वभूतेष्वहिंसकः ॥ २० ॥

जो पहले भगवान् सूर्यके मुखसे प्रकट हुआ था, ■ वैष्णव शास्त्रोक्त विधिका आश्रय ले वे प्रथम तो देवेश्वर भगवान् नारायणका पूजन करते। फिर उनकी सेवासे बचे हुए पदार्थोंसे पितरोंका, पितरोंकी सेवासे बचे हुए पदार्थोंसे ब्राह्मणोंका तथा अन्य आश्रितजनोंका विभागपूर्वक सत्कार करते थे। सबको देनेके अनन्तर बचे हुए अन्नका भोजन करते थे, सत्यमें तत्पर रहते और किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करते थे ॥ १९-२० ॥

सर्वभावेन भक्तः ■ देवदेवं जनार्दनम्।
अनादिमध्यनिधनं लोककर्तारमव्ययम् ॥ २१ ॥

वे आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अविनाशी, लोककर्ता देवदेव जनार्दनके भजनमें सम्पूर्णभावसे लगे रहते थे ॥

■ नारायणे भक्तिं वहतोऽमित्रकर्षिणः।
एकशय्यासनं देवो दत्तवान् देवराट् स्वयम् ॥ २२ ॥

भगवान् नारायणमें भक्ति रखनेवाले उस शत्रुसूदन नरेशपर प्रसन्न हो देवराज इन्द्र उन्हें अपने साथ ■ शय्या और एक आसनपर बिठाया करते थे ॥ २२ ॥

आत्मराज्यं धनं चैव कलत्रं वाहनं तथा।
यत्तद्भागवतं सर्वमिति तत् प्रोक्षितं सदा ॥ २३ ॥

राजा उपरिचरने अपने राज्य, धन, स्त्री और वाहन आदि ■ उपकरणोंको भगवान्‌की ही वस्तु समझकर सब उन्हींको समर्पित कर रखा ■ ॥ २३ ॥

काम्यनैमित्तिका राजन् यज्ञियाः परमक्रियाः।
सर्वाः सात्वतमास्थाय विधिं चक्रे समाहितः ॥ २४ ॥

राजन् ! वे सदा सावधान रहकर सकाम और नैमित्तिक यज्ञोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको वैष्णवशास्त्रोक्त विधिसे सम्पन्न किया करते ■ ॥ २४ ॥

पाञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः।
प्रायणं भगवत्प्रोक्तं भुञ्जते वाग्रभोजनम् ॥ २५ ॥

उन महात्मा नरेशके घरमें पाञ्चरात्र शास्त्रके मुख्य-मुख्य विद्वान् सदा मौजूद रहते ■ और भगवान्‌को समर्पित किया हुआ प्रसाद अथवा भोज्य पदार्थ सबसे पहले वे ही भोजन करते थे ॥ २५ ॥

तस्य प्रशासतो राज्यं धर्मेणामित्रघातिनः।
नानृता वाक् समभवन्मनो दुष्टं न चाभवत् ॥ २६ ॥
न च कायेन कृतवान् ■ पापं परमण्वपि।

धर्मपूर्वक राज्यका शासन करते हुए उन शत्रुघाती नरेशने न तो कभी असत्य-भाषण किया और न कभी उनका मन ही बुरे विचारोंसे दूषित हुआ। अपने शरीरसे

तस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुः स्वायम्भुवः स्वयम्॥ ४४ ॥
उशना बृहस्पतिश्चैव यदोत्पन्नौ भविष्यतः।
तदा प्रवक्ष्यतः शास्त्रं युष्मन्मतिभिरुद्धृतम्॥ ४५ ॥

'स्वायम्भुव मनु स्वयं इसी ग्रन्थके अनुसार धर्मोंका उपदेश करेंगे। शुक्राचार्य और बृहस्पति जब प्रकट होंगे, तब वे भी तुम्हारी बुद्धिसे निकले हुए इस शास्त्रका प्रवचन करेंगे ॥ ४४-४५ ॥

स्वायम्भुवेषु धर्मेषु शास्त्रे चौशनसे कृते।
बृहस्पतिमते चैव लोकेषु प्रतिचारिते॥ ४६ ॥
युष्मत्कृतमिदं शास्त्रं प्रजापालो वसुस्ततः।
बृहस्पतिसकाशाद् वै प्राप्स्यते द्विजसत्तमाः॥ ४७ ॥

'द्विजश्रेष्ठगण! स्वायम्भुव मनुके धर्मशास्त्र, शुक्राचार्यके [illegible] तथा बृहस्पतिके मतका जब लोकमें प्रचार हो जायगा, तब प्रजापालक वसु (राजा उपरिचर) बृहस्पतिजीसे तुम्हारे बनाये हुए इस शास्त्रका अध्ययन करेगा ।४६-४७।

स हि सद्भावितो [illegible] मद्भक्तश्च भविष्यति।
तेन शास्त्रेण लोकेषु क्रियाः सर्वाः करिष्यति॥ ४८ ॥

'सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित वह राजा मेरा बड़ा भक्त होगा और लोकमें उसी शास्त्रके अनुसार सम्पूर्ण कार्य करेगा ॥४८॥

एतद्धि युष्मच्छास्त्राणां शास्त्रमुत्तमसंज्ञितम्।
एतदर्थ्यं च धर्म्यं [illegible] रहस्यं चैतदुत्तमम्॥ ४९ ॥

'तुम्हारा बनाया हुआ यह शास्त्र सब शास्त्रोंसे श्रेष्ठ माना जायगा। यह धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं उत्तम रहस्यमय ग्रन्थ है ॥ ४९ ॥

अस्य प्रवर्तनाच्चैव प्रजावन्तो भविष्यथ।
स च राजश्रिया युक्तो भविष्यति महान् वसुः॥ ५०॥

'इसके प्रचारसे तुम सब लोग संतानवान् होओगे अर्थात् तुम्हारी प्रजाकी वृद्धि होगी तथा राजा उपरिचर भी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न एवं महान् पुरुष होगा ॥५०॥

संस्थिते [illegible] नृपे तस्मिञ्शास्त्रमेतत् सनातनम्।
अन्तर्धास्यति तत् सर्वमेतद् वः कथितं [illegible]॥ ५१॥

'उस राजाके दिवंगत होनेके बाद यह सनातन शास्त्र सर्वसाधारणकी दृष्टिसे लुप्त हो जायगा। इसके सम्बन्धमें सारी बातें मैंने तुमलोगोंको [illegible] दीं' ॥ ५१ ॥

एतावदुक्त्वा वचनमदृश्यः पुरुषोत्तमः।
विसृज्य तानृषीन् सर्वान् कामपि प्रस्थितो दिशम्॥५२॥

अदृश्यभावसे ऐसी बात कहकर भगवान् पुरुषोत्तम उन [illegible] ऋषियोंको वहीं छोड़कर किसी अज्ञात दिशाकी ओर चल दिये ॥ ५२ ॥

ततस्ते लोकपितरः सर्वलोकार्थचिन्तकाः।
प्रावर्तयन्त तच्छास्त्रं धर्मयोनिं सनातनम्॥ ५३॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण लोकोंका हितचिन्तन करनेवाले उन लोकपिता प्रजापतियोंने धर्मके मूलभूत उस [illegible] शास्त्रका जगत्‌में प्रचार किया ॥ ५३ ॥

उत्पन्नेऽङ्गिरसे चैव युगे प्रथमकल्पिते।
साङ्गोपनिषदं शास्त्रं स्थापयित्वा बृहस्पतौ॥ ५४॥
जग्मुर्यथेप्सितं देशं तपसे कृतनिश्चयाः।
धारणाः सर्वलोकानां सर्वधर्मप्रवर्तकाः॥ ५५॥

फिर आदिकल्पके प्रारम्भिक युगमें [illegible] बृहस्पतिका प्रादुर्भाव हुआ, तब उन्होंने साङ्गोपाङ्ग वेद और उपनिषदोंसहित वह शास्त्र उनको पढ़ाया। तदनन्तर सब धर्मोंका प्रचार और समस्त लोकोंको धर्ममर्यादाके भीतर स्थापित करनेवाले वे ऋषिगण तपस्याका निश्चय करके अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ ५४-५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये पञ्चत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणका महत्त्वविषयक तीन सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक [illegible] १ श्लोक मिलाकर कुल ५६ श्लोक हैं)

षट्त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

राजा उपरिचरके यज्ञमें भगवान्‌पर बृहस्पतिका क्रोधित होना, एकत आदि मुनियोंका बृहस्पतिसे श्वेतद्वीप एवं भगवान्‌की महिमाका वर्णन करके उनको शान्त करना

भीष्म उवाच

ततोऽतीते महाकल्पे उत्पन्नेऽङ्गिरसः सुते।
बभूवुर्निर्वृता देवा जाते देवपुरोहिते॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर बीते हुए महान् कल्पके आरम्भमें [illegible] अङ्गिराके पुत्र बृहस्पति उत्पन्न हुए और देवताओंके पुरोहित बन गये, तब देवताओंको बड़ा संतोष प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

बृहद् [illegible] महच्चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः।
एभिः समन्वितो राजन् गुणैर्विद्वान् बृहस्पतिः॥ २ ॥

राजन्! बृहत्, [illegible] और महत्—ये तीनों शब्द [illegible] अर्थके वाचक हैं। इन तीनों शब्दोंके गुण देवपुरोहितमें मौजूद थे; इसलिये वे विद्वान् देवगुरु 'बृहस्पति' कहलाते थे॥

तस्य शिष्यो बभूवाग्र्यो राजोपरिचरो वसुः।
अधीतवांस्तदा शास्त्रं सम्यक् चित्रशिखण्डिजम्॥ ३ ॥

उनके श्रेष्ठ शिष्य हुए राजा उपरिचर वसु, जिन्होंने उनसे उन दिनों चित्रशिखण्डियोंके बनाये हुए तन्त्रशास्त्रका विधिवत् [illegible] किया ॥ ३ ॥

स राजा भावितः पूर्वं दैवेन विधिना वसुः ।
पालयामास पृथिवीं दिवमाखण्डलो यथा ॥ [illegible] ॥

वे राजा उपरिचर वसु पहले दैवविधानसे भावित हो इस पृथ्वीका उसी प्रकार पालन करने लगे, जैसे इन्द्र स्वर्गका ॥ ४ ॥

[illegible] यज्ञो महानासीदश्वमेधो महात्मनः ।
बृहस्पतिरुपाध्यायस्तत्र होता बभूव ह ॥ ५ ॥

एक समय उन महात्मा नरेशने महान् अश्वमेध-यज्ञका आयोजन किया । उसमें उनके उपाध्याय बृहस्पति होता हुए ॥ ५ ॥

प्रजापतिसुताश्चात्र सदस्यास्त्वभवंस्त्रयः ।
[illegible] द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः ॥ ६ ॥

प्रजापतिके तीन पुत्र एकत, द्वित और त्रित नामक महर्षि उस यज्ञमें [illegible] हुए ॥ ६ ॥

धनुषाक्षोऽथ रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू ।
ऋषिर्मेधातिथिश्चैव ताण्ड्यश्चैव महानृषिः ॥ ७ ॥
ऋषिः शान्तिर्महाभागस्तथा वेदशिराश्च यः ।
ऋषिश्रेष्ठश्च कपिलः शालिहोत्रपिता स्मृतः ॥ ८ ॥
आद्यः कठस्तैत्तिरिश्च वैशम्पायनपूर्वजः ।
कण्वोऽथ देवहोत्रश्च एते षोडश कीर्तिताः ॥ ९ ॥

इनके सिवा (तेरह सदस्य और थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—) धनुष, रैभ्य, अर्वावसु, परावसु, मुनिवर मेधातिथि, महर्षि ताण्ड्य, महाभाग शान्ति मुनि, वेदशिरा, शालिहोत्रके पिता ऋषिश्रेष्ठ कपिल, आद्यकठ, वैशम्पायनके बड़े भाई तैत्तिरि, कण्व और देवहोत्र । ये कुल मिलाकर सोलह सदस्य बताये गये हैं ॥ ७—९ ॥

सम्भूताः सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ ।
न [illegible] पशुघातोऽभूत् स राजैवं स्थितोऽभवत् ॥ १० ॥

राजन् ! उस महान् यज्ञमें सारे सामान एकत्र किये गये; परंतु उसमें किसी पशुका वध नहीं हुआ । वे राजा उपरिचर इसी भावसे उस यज्ञमें स्थित हुए थे ॥ १० ॥

अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो निराशीः कर्मसंस्तुतः ।
आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥ ११ ॥

वे हिंसाभावसे रहित, पवित्र, उदार तथा कामनाओंसे रहित थे और इसी भावसे कर्मोंमें प्रवृत्त हुए थे । जंगलमें उत्पन्न हुए फल-मूल आदि पदार्थोंसे ही उस यज्ञमें देवताओंके भाग निश्चित किये गये थे ॥ ११ ॥

प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेवः पुरातनः ।
साक्षात् तं दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥ १२ ॥

उस समय पुराणपुरुष देवाधिदेव भगवान् नारायणने [illegible] होकर राजाको प्रत्यक्ष दर्शन दिया; परंतु दूसरे किसीको उनका दर्शन नहीं हुआ ॥ १२ ॥

स्वयं भागमुपाघ्राय पुरोडाशं गृहीतवान् ।
अदृश्येन हृतो भागो देवेन हरिमेधसा ॥ १३ ॥

भगवान् हयग्रीवने स्वयं अदृश्य रहकर ही अपने लिये अर्पित पुरोडाशको ग्रहण किया और उसे सूँघकर अपने अधीन [illegible] लिया ॥ १३ ॥

बृहस्पतिस्ततः क्रुद्धः स्रुचमुद्यम्य वेगितः ।
आकाशं घ्नन् स्रुचः पातै रोषादश्रूण्यवर्तयत् ॥ १४ ॥

यह देख बृहस्पति क्रोधमें भर गये । उन्होंने बड़े वेगसे स्रुवा उठा लिया और आकाशमें उसे दे मारा । साथ ही वे रोषवश अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ १४ ॥

[illegible] चोपरिचरं मया भागोऽयमुद्यतः ।
ग्राह्यः स्वयं हि देवेन मत्प्रत्यक्षं न संशयः ॥ १५ ॥

फिर वे राजा उपरिचरसे बोले—'मैंने जो यह भाग प्रस्तुत किया है, उसे भगवान्‌को मेरी आँखोंके सामने प्रकट होकर ग्रहण करना चाहिये, यही [illegible] है, इसमें संशय नहीं है' ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

[illegible] यज्ञभागा हि साक्षात् प्राप्ताः सुरैरिह ।
किमर्थमिह [illegible] प्राप्तो दर्शनं स हरिर्विभुः ॥ १६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जब सभी देवताओंने [illegible] दर्शन देकर अपने-अपने भाग ग्रहण किये, तब भगवान् विष्णुने [illegible] यज्ञमें पधारकर भी क्यों प्रत्यक्ष दर्शन नहीं दिया ? ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

ततः [illegible] तं समुद्धूतं भूमिपालो महान् वसुः ।
प्रसादयामास मुनिं सदस्यास्ते [illegible] सर्वशः ॥ १७ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इसका कारण बताता हूँ, सुनो । वे महान् भूपाल वसु तथा अन्य सम्पूर्ण सदस्य मिलकर [illegible] समय रोषमें भरे [illegible]ए मुनि बृहस्पतिको मनाने लगे ॥ १७ ॥

ऊचुश्चैनमसम्भ्रान्ता न रोषं कर्तुमर्हसि ।
नैष धर्मः कृतयुगे यस्त्वं रोषमचीकृथाः ॥ १८ ॥

[illegible] लोग शान्तचित्त होकर उनसे बोले—'मुने ! आप रोष न करें । आपने जो रोष किया है, यह सत्ययुगका धर्म नहीं है ॥ १८ ॥

अरोषणो ह्यसौ देवो यस्य भागोऽयमुद्यतः ।
न शक्यः स त्वया द्रष्टुमस्माभिर्वा बृहस्पते ॥ १९ ॥
यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति ।

'बृहस्पते ! जिनको यह भाग समर्पित किया गया है, वे भगवान् क[illegible] क्रोध नहीं करते हैं । हम और आप उन्हें स्वेच्छासे नहीं देख सकते हैं । जिसपर वे [illegible] करते हैं, वही उनका दर्शन कर पाता है' ॥ १९½ ॥

एकतद्वितत्रिताश्चोचुस्ततश्चित्रशिखण्डिनः ॥ २० ॥
वयं हि ब्रह्मणः पुत्रा मानसाः परिकीर्तिताः ।
गता निःश्रेयसार्थं हि कदाचिद् दिशमुत्तराम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर एकत, द्वित और त्रितने तथा चित्रशिखण्डी नामवाले ऋषियोंने उनसे कहा—'बृहस्पते ! हमलोग ब्रह्माजीके मानसपुत्र कहलाते हैं । एक बार अपने कल्याणकी इच्छासे हम सबने उत्तर दिशाकी यात्रा की ॥ २०-२१ ॥

तप्त्वा वर्षसहस्राणि चरित्वा तप उत्तमम् ।
एकपादाः स्थिताः सम्यक् काष्ठभूताः समाहिताः॥२२॥
मेरोरुत्तरभागे तु क्षीरोदस्यानुकूलतः ।
स देशो यत्र नस्तप्तं तपः परमदारुणम् ॥ २३ ॥
कथं पश्येम हि वयं देवं नारायणात्मकम् ।
वरेण्यं वरदं तं वै देवदेवं सनातनम् ॥ २४ ॥

'वहाँ मेरुके उत्तर और क्षीरसागरके किनारे एक पवित्र स्थान है, जहाँ हमलोगोंने हजार वर्षोंतक एकाग्रचित्त हो काष्ठकी भाँति एक पैरसे खड़े होकर बड़ी कठोर तपस्या की थी । वह उत्तम तपस्या करके हम यही चाहते थे कि किसी तरह वरदायक सनातन देवाधिदेव वरणीय भगवान् नारायणका दर्शन कर लें ॥ २२—२४ ॥

कथं पश्येम हि वयं देवं नारायणं त्विति ।
अथ व्रतस्यावभृथे वागुवाचाशरीरिणी ॥ २५ ॥
स्निग्धगम्भीरया वाचा प्रहर्षणकरी विभो ।

'हम बारंबार यही सोचते थे कि हमें श्रीनारायणदेवका दर्शन कैसे प्राप्त होगा ? तदनन्तर व्रतकी समाप्ति होनेपर हमें हर्ष प्रदान करनेवाली किसी शरीररहित वाणीने स्नेहपूर्ण गम्भीर स्वरसे इस प्रकार कहा—॥ २५½ ॥

सुतप्तं वस्तपो विप्राः प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥ २६ ॥
यूयं जिज्ञासवो भक्ताः कथं द्रक्ष्यथ तं विभुम् ।

'ब्राह्मणो ! तुमने प्रसन्न हृदयसे भलीभाँति तप किया है । तुम भगवान्‌के भक्त हो और यह जानना चाहते हो कि उन सर्वव्यापी परमात्माका दर्शन कैसे हो ? ॥ २६½ ॥

क्षीरोदधेरुत्तरतः श्वेतद्वीपो महाप्रभः ॥ २७ ॥
तत्र नारायणपरा मानवाश्चन्द्रवर्चसः ।

'इसका उपाय सुनो । क्षीरसागरके उत्तरभागमें अत्यन्त प्रकाशमान श्वेतद्वीप है । वहाँ भगवान् नारायणका भजन करनेवाले पुरुष रहते हैं, जो चन्द्रमाके समान कान्तिमान् हैं ॥ २७½ ॥

एकान्तभावोपगतास्ते भक्ताः पुरुषोत्तमम् ॥ २८ ॥
ते सहस्रार्चिषं देवं प्रविशन्ति सनातनम् ।
अनिन्द्रिया निराहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः ॥ २९ ॥

'वे स्थूल इन्द्रियोंसे रहित, निराहार और निश्चेष्ट होते हैं । उनके शरीरसे मनोहर सुगन्ध निकलती रहती है तथा वे भगवान्‌के अनन्य भक्त होते हैं और सहस्रों किरणोंवाले उन सनातनदेव भगवान् पुरुषोत्तममें प्रवेश कर जाते हैं ॥ २८-२९ ॥

एकान्तिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीपनिवासिनः ।
गच्छध्वं तत्र मुनयस्तत्रात्मा मे प्रकाशितः ॥ ३० ॥

'मुनियो ! वे श्वेतद्वीपके निवासी मेरे एकान्त भक्त हैं, तुम वहीं जाओ । वहाँ मेरे स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन होता है' ॥३०॥

अथ श्रुत्वा वयं सर्वे वाचं तामशरीरिणीम् ।
यथाख्यातेन मार्गेण तं देशं प्रतिपेदिरे ॥ ३१ ॥

'इस आकाशवाणीको सुनकर हमलोग उसके बताये हुए मार्गसे उस स्थानको गये ॥ ३१ ॥

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं तच्चित्तास्तद्दिदृक्षवः ।
ततोऽस्मद्दृष्टिविषयस्तदा प्रतिहतोऽभवत् ॥ ३२ ॥

'श्वेतनामक महाद्वीपमें पहुँचकर हमारा चित्त भगवान्‌में ही लगा रहा । हम उनके दर्शनकी इच्छासे उत्कण्ठित हो रहे थे । वहाँ जाते ही हमारी दृष्टिशक्ति प्रतिहत हो गयी ॥

न च पश्याम पुरुषं तत्तेजोहृतदर्शनाः ।
ततो नः प्रादुरभवद् विज्ञानं देवयोगजम् ॥ ३३ ॥
न किलातप्ततपसा शक्यते द्रष्टुमञ्जसा ।

'वहाँके निवासियोंके तेजसे आँखें चौंधिया जानेके कारण हम वहाँ किसी पुरुषको देख नहीं पाते थे । तदनन्तर दैव-योगसे हमारे हृदयमें यह ज्ञान प्रकट हुआ कि तपस्या किये बिना हमलोग भगवान्‌को सुगमतापूर्वक नहीं देख सकते ॥

ततः पुनर्वर्षशतं तप्त्वा तात्कालिकं महत् ॥ ३४ ॥
व्रतावसाने च शुभान् नरान् ददृशिरे वयम् ।
श्वेतांश्चन्द्रप्रतीकाशान् सर्वलक्षणलक्षितान् ॥ ३५ ॥

'तदनन्तर हमने तत्काल पुनः सौ वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या की । उस तपोमय व्रतके पूर्ण होनेपर हमलोगोंको वहाँके शुभलक्षण पुरुषोंका दर्शन हुआ, जो चन्द्रमाके समान गौरवर्ण और सब प्रकारके उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे ॥ ३४-३५ ॥

नित्याञ्जलिकृतान् ब्रह्म जपतः प्रागुदङ्मुखान् ।
मानसो नाम स जपो जप्यते तैर्महात्मभिः ॥ ३६ ॥

'वे प्रतिदिन ईशानकोणकी ओर मुँह करके हाथ जोड़े हुए ब्रह्मका मानसजप करते थे ॥ ३६ ॥

तेनैकाग्रमनस्त्वेन प्रीतो भवति वै हरिः ।
याभवन्मुनिशार्दूल भाः सूर्यस्य युगक्षये ॥ ३७ ॥
एकैकस्य प्रभा तादृक् साभवन्मानवस्य ह ।

'उनके मनकी इस एकाग्रतासे भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते थे । मुनिश्रेष्ठ ! प्रलयकालमें सूर्यकी जैसी प्रभा होती है, वैसी ही उस द्वीपमें रहनेवाले प्रत्येक पुरुषकी थी ॥ ३७½ ॥

तेजोनिवासः स द्वीप इति वै मेनिरे वयम् ॥ ३८ ॥
न तत्राभ्यधिकः कश्चित् सर्वे ते समतेजसः ।

'हमलोगोंने तो यही समझा कि यह द्वीप तेजका ही निवासस्थान है । वहाँ कोई किसीसे बढ़कर नहीं था । सबका तेज समान था ॥ ३८½ ॥

[illegible] सूर्यसहस्रस्य प्रभां युगपदुत्थिताम् ॥ ३९ ॥
सहसा [illegible] [illegible] पुनरेव बृहस्पते ।

'बृहस्पते ! थोड़ी ही देरमें हमारे सामने एक ही साथ हजारों सूर्योंके समान [illegible] प्रकट हुई । हमारी दृष्टि सहसा [illegible] ओर खिंच गयी ॥ ३९½ ॥

सहिताश्चाभ्यधावन्त ततस्ते [illegible] द्रुतम् ॥ ४० ॥
कृताञ्जलिपुटा [illegible] नम इत्येव वादिनः ।

'तदनन्तर वहाँके निवासी पुरुष बड़ी प्रसन्नताके साथ दोनों हाथ जोड़े 'नमो नमः' कहते हुए एक ही साथ तीव्र गतिसे उस तेजकी ओर दौड़े ॥ ४०½ ॥

ततो [illegible] वदतां तेषामश्रौष्म विपुलं ध्वनिम् ॥ ४१ ॥
बलिः किलोपह्रियते [illegible] देवस्य तैर्नरैः ।

'इसके बाद जब वे स्तुति करने लगे, तब उनकी तुमुल ध्वनि हमारे कानोंमें पड़ी । वे सब लोग उन तेजोमय भगवान्‌को पूजाकी सामग्री अर्पण कर रहे [illegible] ॥ ४१½ ॥

वयं [illegible] तेजसा [illegible] [illegible] हृतचेतसः ॥ ४२ ॥
[illegible] किंचिदपि पश्यामो हतचक्षुर्बलेन्द्रियाः ।

'भगवान्‌के उस अनिर्वचनीय तेजने हमारे चित्तको [illegible] खींच लिया था; परंतु हमारे नेत्र, बल और इन्द्रियाँ प्रतिहत हो गयी थीं, इसलिये हम स्पष्ट रूपसे [illegible] देख नहीं पाते थे ॥

एकस्तु शब्दो विततः श्रुतोऽस्माभिरुदीरितः ॥ ४३ ॥
जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुषपूर्वज ॥ ४४ ॥

'परन्तु एक शब्द जो उच्चस्वरसे उच्चारित होकर दूरतक फैल रहा था, हमने भी सुना । [illegible] लोग कह रहे थे—'पुण्डरीकाक्ष ! आपकी जय हो । विश्वभावन ! आपको प्रणाम है । महापुरुषोंके भी पूर्वज हृषीकेश ! आपको नमस्कार है' ॥

इति शब्दः श्रुतोऽस्माभिः शिक्षाक्षरसमन्वितः ।
एतस्मिन्नन्तरे वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः ॥ ४५ ॥
दिव्यान्युवाह पुष्पाणि कर्मण्याश्चौषधीस्तथा ।
तैरिष्टः पञ्चकालज्ञैर्हरिरेकान्तिभिर्नरैः ॥ ४६ ॥
भक्त्या [illegible] युक्तैर्मनोवाक्कर्मभिस्तदा ।

'शिक्षा और अक्षरसे [illegible] [illegible] वाक्य हमलोगोंको श्रवणगोचर हुआ । इतनेहीमें पवित्र और सुगन्धित वायु बहुत-से दिव्य पुष्प और कार्योपयोगी ओषधियाँ [illegible] आयी, जिनसे वहाँके पञ्चकालवेत्ता अनन्य भक्तोंने बड़ी भक्तिके साथ मन, वाणी और क्रियाद्वारा उन श्रीहरिका पूजन किया ॥४५-४६½॥

नूनं तत्रागतो देवो यथा तैर्वागुदीरिता ॥ ४७ ॥
वयं त्वेनं न पश्यामो मोहितास्तस्य मायया ।

'जैसी बातचीत उन्होंने की थी, उससे हमें विश्वास हो [illegible] था कि निश्चय [illegible] यहाँ भगवान् पधारे हुए हैं, परंतु उन्हींकी मायासे मोहित होनेके कारण हम उन्हें देख नहीं पाते थे ॥ ४७½ ॥

मारुते संनिवृत्ते च बलौ [illegible] प्रतिपादिते ॥ ४८ ॥
चिन्ताव्याकुलितात्मानो जाताः स्मोऽङ्गिरसां वर ।

'बृहस्पते ! जब उस सुगन्धित वायुका चलना बंद हो [illegible] और भगवान्‌को बलिसमर्पणका कार्य पूर्ण हो गया, [illegible] हमलोग मन-ही-मन चिन्तासे व्याकुल हो उठे ॥४८½॥

मानवानां सहस्रेषु तेषु [illegible] शुद्धयोनिषु ॥ ४९ ॥
[illegible] न कश्चिन्मनसा चक्षुषा वाप्यपूजयत् ।

'वहाँ शुद्ध कुलवाले सहस्रों पुरुष थे; परंतु उनमेंसे किसीने मनसे [illegible] दृष्टिपातद्वारा भी हमलोगोंका सत्कार नहीं किया ॥ ४९½ ॥

तेऽपि स्वस्था मुनिगणा एकभावमनुव्रताः ॥ ५० ॥
नास्मासु दधिरे भावं ब्रह्मभावमनुष्ठिताः ।

'वहाँ जो [illegible] मुनिगण थे, वे भी अनन्य भावसे भगवान्‌[illegible] भजनमें ही मन लगाये रहते थे । उन ब्रह्मभावमें स्थित मुनियोंने हमलोगोंकी ओर ध्यान नहीं दिया ॥५०½॥

ततोऽस्मान् सुपरिश्रान्तांस्तपसा चातिकर्शितान् ॥ ५१ ॥
[illegible] स्वस्थं किमपि भूतं तत्राशरीरकम् ।

'हमलोग तपस्यासे थककर अत्यन्त दुर्बल हो गये थे । [illegible] [illegible] हमलोगोंसे किसी शरीररहित स्वस्थ प्राणी (देवता) ने [illegible] ॥ ५१½ ॥

देव उवाच

दृष्टा वः पुरुषाः श्वेताः सर्वेन्द्रियविवर्जिताः ॥ ५२ ॥
दृष्टो भवति देवेश एभिर्दृष्टैर्द्विजोत्तमैः ।

देवता बोले—मुनिवरो ! तुमलोगोंने श्वेतद्वीपनिवासी श्वेतकाय इन्द्रियरहित पुरुषोंका दर्शन किया । इन श्रेष्ठ द्विजोंके दर्शन होनेसे साक्षात् देवेश्वर भगवान्‌का ही दर्शन हो जाता है ॥ ५२½ ॥

गच्छध्वं मुनयः सर्वे यथागतमितोऽचिरात् [illegible] ५३ ॥
[illegible] स शक्यस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथंचन ।

मुनियो ! तुम सब लोग जैसे आये हो, वैसे ही शीघ्र लौट जाओ । भगवान्‌में अनन्य भक्ति हुए बिना किसीको किसी तरह भी उनका साक्षात् दर्शन नहीं हो [illegible] ॥ ५३½ ॥

कामं कालेन [illegible] एकान्तित्वमुपागतैः ॥ ५४ ॥
शक्यो द्रष्टुं स भगवान् प्रभामण्डलदुर्दृशः ।

हाँ, बहुत समयतक उनकी भक्ति करते-करते जब पूरी अनन्यता आ जायगी, [illegible] ज्योतिःपुञ्जके कारण कठिनतासे देखे जानेवाले भगवान्‌का दर्शन सम्भव हो [illegible] है ॥ ५४½ ॥

महत् कार्यं च कर्तव्यं युष्माभिर्द्विजसत्तमाः ॥ ५५ ॥
इतः कृतयुगेऽतीते विपर्यासं गतेऽपि च ।
वैवस्वतेऽन्तरे विप्राः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः ॥ ५६ ॥
सुराणां कार्यसिद्ध्यर्थं सहाया [illegible] भविष्यथ ।

विप्रवरो ! [illegible] [illegible] तुम्हें अभी बहुत बड़ा [illegible]

करना है। इस सत्ययुगके बीतनेपर जब धर्ममें किञ्चित् व्यतिक्रम आ जायगा और वैवस्वत मन्वन्तरके त्रेतायुगका आरम्भ होगा, उस समय देवताओंके कार्यकी सिद्धिके लिये तुमलोग ही सहायक होगे ॥ ५५-५६½ ॥

ततस्तदद्भुतं वाक्यं निशम्यैवामृतोपमम् ॥ ५७ ॥
[illegible] प्रसादात् प्राप्ताः स्मो देशमीप्सितमञ्जसा ।

'यह अमृतके समान मधुर एवं अद्भुत वचन सुनकर हमलोग भगवान्‌की कृपासे अनायास ही अपने अभीष्ट स्थानपर आ पहुँचे ॥ ५७½ ॥

एवं सुतपसा चैव हव्यकव्यैस्तथैव च ॥ ५८ ॥
देवोऽस्माभिर्न दृष्टः स कथं त्वं द्रष्टुमर्हसि ।

'बृहस्पते! इस प्रकार हमने बड़ी भारी तपस्या की, हव्य-कव्योंके द्वारा भगवान्‌का पूजन भी किया, तो भी हमें उनका दर्शन न हो सका। फिर तुम कैसे अनायास ही उनका दर्शन पा लोगे? ॥ ५८½ ॥

नारायणो महद्भूतं विश्वसृग्घव्यकव्यभुक् ॥ ५९ ॥
अनादिनिधनोऽव्यक्तो देवदानवपूजितः ।

'भगवान् नारायण सबसे महान् देवता हैं। वे ही संसारके स्रष्टा और हव्य-कव्यके भोक्ता हैं। उनका आदि और अन्त नहीं है। उन अव्यक्त परमेश्वरकी देवता और दानव भी पूजा करते हैं' ॥ ५९½ ॥

एवमेकतवाक्येन द्वितत्रितमतेन [illegible] ॥ ६० ॥
अनुनीतः सदस्यैश्च बृहस्पतिरुदारधीः ।
समापयत् ततो यज्ञं दैवतं समपूजयत् ॥ ६१ ॥

इस प्रकार एकतके कहनेसे, द्वित और त्रितकी सम्मतिसे [illegible] अन्य सदस्योंद्वारा अनुनय किये जानेसे उदारबुद्धि बृहस्पतिने उस यज्ञको समाप्त किया और भगवान्‌की पूजा की ॥ ६०-६१ ॥

समाप्तयज्ञो राजापि प्रजां पालितवान् वसुः ।
ब्रह्मशापाद् दिवो भ्रष्टः प्रविवेश महीं ततः ॥ ६२ ॥

राजा वसु भी [illegible] पूरा करके प्रजाका पालन करने लगे। एक बार ब्रह्मशापसे उन्हें स्वर्गसे [illegible] होना पड़ा था। उस समय वे पृथ्वीके भीतर रसातलमें समा गये थे ॥ ६२ ॥

स राजा राजशार्दूल सत्यधर्मपरायणः ।
अन्तर्भूमिगतश्चैव सततं धर्मवत्सलः ॥ ६३ ॥
नारायणपरो भूत्वा नारायणजपं जपन् ।
तस्यैव च प्रसादेन पुनरेवोत्थितस्तु सः ॥ ६४ ॥
महीतलाद् गतः स्थानं ब्रह्मणः समनन्तरम् ।
परां गतिमनुप्राप्त इति नैष्ठिकमञ्जसा ॥ ६५ ॥

नृपश्रेष्ठ! सदा धर्मपर अनुराग रखनेवाले सत्यधर्मपरायण राजा उपरिचर भूमिके भीतर प्रवेश करके भी निरन्तर नारायण-मन्त्रका जप करते हुए भी उन्हींकी आराधनामें तत्पर रहते थे। अतः उन्हींकी कृपासे वे पुनः ऊपरको उठे और भूतलसे ब्रह्मलोकमें जाकर उन्होंने परम गति प्राप्त कर ली। अनायास ही उन्हें निष्ठावानोंकी यह उत्तम गति प्राप्त हो गयी ॥ ६३—६५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये षट्‌त्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महत्ताका वर्णनविषयक तीन सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३६ ॥

सप्तत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

यज्ञमें आहुतिके लिये अजका अर्थ अन्न है, [illegible] नहीं—इस बातको जानते हुए भी पक्षपात करनेके कारण राजा उपरिचरके अधःपतनकी और भगवत्कृपासे उनके पुनरुत्थानकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद् राजा महान् वसुः ।
किमर्थं [illegible] परिभ्रष्टो विवेश विवरं भुवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! राजा वसु [illegible] भगवान्‌के अत्यन्त भक्त और महान् पुरुष थे, तब वे स्वर्गसे भ्रष्ट होकर पातालमें कैसे प्रविष्ट हुए? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऋषीणां चैव संवादं त्रिदशानां च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन! इस विषयमें ज्ञानीजन ऋषियों और देवताओंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासको उद्धृत किया करते हैं— ॥ २ ॥

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः ॥ ३ ॥

'अजके द्वारा यज्ञ करना चाहिये—ऐसा विधान है।' ऐसा कहकर देवताओंने वहाँ आये हुए सभी श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंसे कहा, 'यहाँ अजका अर्थ बकरा समझना चाहिये, दूसरा पशु नहीं, ऐसा निश्चय है' ॥ [illegible] ॥

ऋषय ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छागं नो हन्तुमर्हथ ॥ ४ ॥

ऋषियोंने कहा—देवताओ! यज्ञोंमें बीजोंद्वारा यजन करना चाहिये, ऐसी वैदिकी श्रुति है। बीजोंका ही नाम अज है; अतः बकरेका वध करना हमें उचित नहीं है ॥ ४ ॥

नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः॥ ५ ॥

देवताओ ! जहाँ कहीं भी यज्ञमें पशुका वध हो, वह सत्पुरुषोंका धर्म नहीं है। यह श्रेष्ठ सत्ययुग चल रहा है। इसमें पशुका वध [illegible] किया [illegible] [illegible] है ? ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

तेषां संवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह।
मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्तं देशं प्राप्तवान् वसुः॥ ६ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार [illegible] ऋषियोंका देवताओंके साथ [illegible] चल रहा था, उसी समय नृपश्रेष्ठ वसु भी [illegible] मार्गसे आ निकले और [illegible] स्थानपर पहुँच गये ॥ ६ ॥

अन्तरिक्षचरः श्रीमान् समग्रबलवाहनः।
[illegible] दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम्॥ ७ ॥
ऊचुर्द्विजातयो देवानेष छेत्स्यति संशयम्।
[illegible] दानपतिः श्रेष्ठः सर्वभूतहितप्रियः॥ ८ ॥

श्रीमान् राजा उपरिचर अपनी सेना और वाहनोंके [illegible] आकाशमार्गसे चलते थे। उन अन्तरिक्षचारी वसुको सहसा आते देख ब्रह्मर्षियोंने देवताओंसे कहा—'ये नरेश हमलोगोंका संदेह दूर कर देंगे; क्योंकि ये यज्ञ करनेवाले, दानपति, श्रेष्ठ [illegible] सम्पूर्ण भूतोंके हितैषी एवं प्रिय हैं ॥ ७-८ ॥

कथंस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्यं महान् वसुः।
एवं ते संविदं कृत्वा विबुधा ऋषयस्तथा॥ ९ ॥
अपृच्छन् सहिताभ्येत्य वसुं राजानमन्तिकात्।

'ये महान् पुरुष वसु शास्त्रके विपरीत वचन कैसे कह सकते हैं।' ऐसी सम्मति करके देवताओं और ऋषियोंने एक [illegible] [illegible] वसुके पास [illegible] अपना प्रश्न उपस्थित किया—॥ ९½ ॥

रो राजन् केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः॥ १० ॥
[illegible] संशयं छिन्धि प्रमाणं नो भवान् [illegible]।

'राजन् ! किसके द्वारा यज्ञ करना चाहिये ? बकरेके द्वारा अथवा अन्नद्वारा ? हमारे इस संदेहका आप निवारण करें। हमलोगोंकी रायमें आप ही प्रामाणिक व्यक्ति ' ॥ १०½ ॥

स तान् कृताञ्जलिर्भूत्वा परिपप्रच्छ वै वसुः॥ ११ ॥
कस्य वै को [illegible] कामो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः।

[illegible] राजा वसुने हाथ जोड़कर उन सबसे पूछा—'विप्रवरो ! आपलोग सच-सच बताइये, आपलोगोंमेंसे किसको कौन-सा मत अभीष्ट है ? कौन अजका अर्थ बकरा [illegible] है और कौन अन्न ?' ॥ ११½ ॥

[illegible] ऊचुः

धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप॥ १२ ॥
देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन् वदस्व नः।

ऋषि बोले—नरेश्वर ! हमलोगोंका [illegible] यह है कि अन्नसे यज्ञ करना चाहिये तथा देवताओंका पक्ष यह है कि छाग नामक पशुके द्वारा [illegible] होना चाहिये। राजन् ! [illegible] आप हमें अपना निर्णय बताइये ॥ १२½ ॥

भीष्म उवाच

देवानां तु मतं [illegible] वसुना [illegible] संश्रयात्॥ १३ ॥
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! देवताओंका [illegible] जानकर राजा वसुने उन्हींका [illegible] लेकर कह दिया कि अजका अर्थ है, [illegible] (बकरा); अतः उसीके [illegible] [illegible] करना चाहिये ॥ १३½ ॥

कुपितास्ते [illegible] सर्वे मुनयः सूर्यवर्चसः॥ १४ ॥
ऊचुर्वसुं विमानस्थं देवपक्षार्थवादिनम्।

यह सुनकर [illegible] सभी सूर्यके समान तेजस्वी ऋषि कुपित हो उठे और विमानपर बैठकर देवपक्षकी बात कहनेवाले वसुसे बोले—॥ १४½ ॥

सुरपक्षो गृहीतस्ते यस्मात् तस्माद् दिवः पत॥ १५ ॥
अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः।
अस्मच्छापाभिघातेन महीं भित्त्वा प्रवेक्ष्यसि॥ १६ ॥

'राजन् ! तुमने यह [illegible] भी कि अजका अर्थ अज है, देवताओंका [illegible] लिया है; इसलिये स्वर्गसे नीचे गिर जाओ। आजसे तुम्हारी आकाशमें विचरनेकी शक्ति नष्ट हो गयी। हमारे शापके आघातसे तुम पृथ्वीको भेदकर पातालमें प्रवेश करोगे ॥ १५-१६ ॥

(विरुद्धं वेदसूत्राणामुक्तं यदि भवेन्नृप।
वयं विरुद्धवचना यदि [illegible] पतामहे॥)

'नरेश्वर ! तुमने यदि वेद और सूत्रोंके विरुद्ध कहा हो तो हमारा यह शाप अवश्य लागू हो और यदि हम शास्त्रविरुद्ध [illegible] कहते हों तो हमारा पतन हो जाय' ॥

ततस्तस्मिन् मुहूर्तेऽथ राजोपरिचरस्तदा।
अधो [illegible] सम्बभूवाशु भूमेर्विवरगो नृप॥ १७ ॥

राजन् ! ऋषियोंके इतना कहते ही उसी क्षण राजा उपरिचर आकाशसे नीचे आ गये और तत्काल पृथ्वीके विवरमें प्रवेश कर गये ॥ १७ ॥

स्मृतिस्त्वेनं न हि जहौ [illegible] नारायणाज्ञया।
देवास्तु सहिताः सर्वे वसोः शापविमोक्षणम्॥ १८ ॥
चिन्तयामासुरव्यग्राः सुकृतं हि [illegible] तत्।
अनेनास्मत्कृते राज्ञा शापः प्राप्तो [illegible]॥ १९ ॥

उस समय भी भगवान् नारायणकी आज्ञासे उनकी स्मरणशक्ति उन्हें छोड़ न सकी। इधर सब देवता एकत्र होकर राजाको शापसे छुटकारा दिलानेका उपाय सोचने लगे। वे शान्तभावसे परस्पर बोले—'राजाने तो पुण्य-ही-

पुण्य किया है। उन महात्मा नरेशको हमारे कारणसे ही यह शाप प्राप्त हुआ है ॥ १८-१९ ॥

अस्य प्रतिप्रियं कार्यं सहितैर्नो दिवौकसः।
इति बुद्ध्या व्यवस्याशु गत्वा निश्चयमीश्वराः ॥ २० ॥
ऊचुः संहृष्टमनसो राजोपरिचरं तदा।

'देवताओ! हमलोगोंको एक साथ होकर उनका अतिशय प्रिय करना चाहिये।' अपनी बुद्धिके द्वारा ऐसा निश्चय करके वे सभी देवता राजा उपरिचर वसुके पास जाकर प्रसन्नचित्त हो बोले—॥ २०½ ॥

ब्रह्मण्यदेवभक्तस्त्वं सुरासुरगुरुर्हरिः ॥ २१ ॥
कामं स तव तुष्टात्मा कुर्याच्छापविमोक्षणम्।

'राजन्! तुम ब्रह्मण्यदेव भगवान् विष्णुके भक्त हो और वे श्रीहरि देवता तथा असुर सबके गुरु हैं। उनका मन तुमपर संतुष्ट है; इसलिये वे तुम्हारी इच्छाके अनुसार तुम्हें अवश्य शापसे मुक्त कर देंगे ॥ २१½ ॥

माननं तु द्विजातीनां कर्तव्यं वै महात्मनाम् ॥ २२ ॥
अवश्यं तपसा तेषां फलितव्यं नृपोत्तम।
यतस्त्वं सहसा भ्रष्ट आकाशान्मेदिनीतलम् ॥ २३ ॥

'नृपश्रेष्ठ! तुम्हें महात्मा ब्राह्मणोंका सदा ही समादर करना चाहिये। अवश्य ही यह उनकी तपस्याका फल है; जिससे तुम आकाशसे सहसा भ्रष्ट होकर पातालमें चले आये हो ॥ २२-२३ ॥

एकं त्वनुग्रहं तुभ्यं दद्मो वै नृपसत्तम।
यावत् त्वं शापदोषेण कालमासिष्यसेऽनघ ॥ २४ ॥
भूमेर्विवरगो भूत्वा तावत् त्वं कालमाप्स्यसि।
यज्ञेषु सुहुतां विप्रैर्वसोर्धारां समाहितैः ॥ २५ ॥

'निष्पाप नृपशिरोमणे! हम तुम्हें अपना एक अनुग्रह प्रदान करते हैं। तुम शापदोषके कारण जबतक—जितने समयतक पृथ्वीके विवरमें रहोगे, तबतक एकाग्रचित्त ब्राह्मणोंद्वारा यज्ञोंमें दी हुई वसुधाराकी आहुति तुम्हें प्राप्त होती रहेगी ॥ २४-२५ ॥

प्राप्स्यसेऽस्मदनुध्यानान्मा च त्वां ग्लानिरस्पृशत्।
न क्षुत्पिपासे राजेन्द्र भूमेश्छिद्रे भविष्यतः ॥ २६ ॥
वसोर्धाराभिपीतत्वात् तेजसाऽऽप्यायितेन च।
स देवोऽस्मद्वरात् प्रीतो ब्रह्मलोकं हि नेष्यति ॥ २७ ॥

'राजेन्द्र! हमारे चिन्तनसे तुम्हें वसुधाराकी प्राप्ति होगी, जिससे ग्लानि तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकेगी और इस पातालमें रहते हुए भी तुम्हें भूख और प्यासका कष्ट नहीं होगा; क्योंकि वसुधाराका पान करनेसे तुम्हारे तेजकी वृद्धि होती रहेगी। हमारे वरदानसे भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हो तुम्हें ब्रह्मलोकमें ले जायँगे' ॥ २६-२७ ॥

एवं दत्त्वा वरं राज्ञे सर्वे ते च दिवौकसः।
गताः स्वभवनं देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ २८ ॥

इस प्रकार राजाको वरदान देकर वे सब देवता तथा तपोधन ऋषि अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ २८ ॥

चक्रे वसुस्ततः पूजां विष्वक्सेनाय भारत।
जप्यं जगौ च सततं नारायणमुखोद्गतम् ॥ २९ ॥

भारत! तदनन्तर वसुने भगवान् विष्वक्सेनकी पूजा आरम्भ की और भगवान् नारायणके मुखसे प्रकट हुए जपनीय मन्त्र (ॐ नमो नारायणाय) का निरन्तर जप करने लगे ॥ २९ ॥

तत्रापि पञ्चभिर्यज्ञैः पञ्चकालानरिंदम।
अयजद्धरिं सुरपतिं भूमेर्विवरगोऽपि सन् ॥ ३० ॥

शत्रुदमन युधिष्ठिर! वहाँ पातालके विवरमें रहते हुए भी राजा उपरिचर पाँच समय पाँच यज्ञोंद्वारा देवेश्वर श्रीहरिकी आराधना करते थे ॥ ३० ॥

ततोऽस्य तुष्टो भगवान् भक्त्या नारायणो हरिः।
अनन्यभक्तस्य सतस्तत्परस्य जितात्मनः ॥ ३१ ॥

उन्होंने अपने मनको जीत लिया था और वे सदा भगवान्‌के भजनमें ही लगे रहते थे। अपने उस अनन्य भक्तकी भक्तिसे भगवान् श्रीनारायण हरि बहुत संतुष्ट हुए ॥ ३१ ॥

वरदो भगवान् विष्णुः समीपस्थं द्विजोत्तमम्।
गरुत्मन्तं महावेगमाबभाषेप्सितं तदा ॥ ३२ ॥

फिर उन वरदायक भगवान् विष्णुने अपने पास ही खड़े हुए महान् वेगशाली पक्षिराज गरुड़से अपनी अभीष्ट बात इस प्रकार कही—॥ ३२ ॥

द्विजोत्तम महाभाग पश्यतां वचनान्मम।
सम्राड् राजा वसुर्नाम धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ ३३ ॥

'महाभाग पक्षिप्रवर! तुम मेरी आज्ञासे कठोर व्रतका पालन करनेवाले धर्मात्मा सम्राट् राजा वसुके पास जाकर उन्हें देखो ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणानां प्रकोपेन प्रविष्टो वसुधातलम्।
मानितास्ते तु विप्रेन्द्रास्त्वं तु गच्छ द्विजोत्तम ॥ ३४ ॥

'पक्षिराज! वे ब्राह्मणोंके कोपसे पातालमें प्रविष्ट हुए हैं। फिर भी उन्होंने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका सदा सम्मान ही किया है; अतः तुम उनके पास जाओ ॥ ३४ ॥

भूमेर्विवरसंगुप्तं गरुडेह ममाज्ञया।
अधश्चरं नृपश्रेष्ठं खेचरं कुरु मा चिरम् ॥ ३५ ॥

'गरुड! पृथ्वीके विवरमें सुरक्षितरूपसे रहनेवाले इन पातालचारी नृपश्रेष्ठ वसुको तुम मेरी आज्ञासे शीघ्र ही आकाशचारी बना दो' ॥ ३५ ॥

गरुत्मानथ विक्षिप्य पक्षौ मारुतवेगवान्।
विवेश विवरं भूमेर्यत्रास्ते पार्थिवो वसुः ॥ ३६ ॥

यह आज्ञा पाकर वायुके समान वेगशाली गरुड अपने

दोनों पंख फैलाकर उड़े और पातालमें जहाँ राजा [illegible] विराजमान थे, घुस गये ॥ ३६ ॥

[illegible] एनं समुत्क्षिप्य सहसा विनतासुतः ।
उत्पपात नभस्तूर्णं [illegible] चैनममुञ्चत ॥ ३७ ॥

विनतानन्दन गरुड सहसा राजाको वहाँसे ऊपर उठाकर तुरंत आकाशमें ले उड़े और वहीं इन्हें छोड़ दिया ॥

अस्मिन् मुहूर्ते संजज्ञे [illegible] पुनः ।
सशरीरो गतश्चैव ब्रह्मलोकं नृपोत्तमः ॥ ३८ ॥

उसी क्षण राजा वसु पुनः उपरिचर हो गये। फिर वे नृपश्रेष्ठ सशरीर ब्रह्मलोकमें चले गये ॥ ३८ ॥

एवं तेनापि कौन्तेय वाग्दोषाद् देवताज्ञया ।
[illegible] गतिरधस्तात् [illegible] द्विजशापान्महात्मना ॥ ३९ ॥

कुन्तीनन्दन! इस प्रकार [illegible] महामनस्वी नरेशने भी देवताओंकी आज्ञासे वाचिक अपराध करनेके कारण ब्राह्मणोंके शापसे अधोगति [illegible] की थी ॥ ३९ ॥

केवलं पुरुषस्तेन सेवितो हरिरीश्वरः ।
ततः शीघ्रं जहौ शापं ब्रह्मलोकमवाप [illegible] ॥ ४० ॥

फिर उन्होंने केवल पुरुषप्रवर भगवान् श्रीहरिका सेवन किया, जिससे वे उस शापसे शीघ्र ही छूट गये और ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे ॥ ४० ॥

भीष्म उवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं सम्भूता [illegible] यथा ।
नारदोऽपि यथा श्वेतं द्वीपं स गतवानृषिः ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना [illegible] ॥ ४१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! श्वेतद्वीपके निवासी पुरुष जैसे हैं, उनकी सारी स्थिति मैंने तुमसे कह सुनायी। [illegible] देवर्षि नारद जिस प्रकार श्वेतद्वीपमें गये, वह [illegible] प्रसङ्ग तुमसे कहूँगा। तुम एकचित्त होकर सुनो ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये सप्तत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाका वर्णनविषयक तीन सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

अष्टत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदजीका दो सौ नामोंद्वारा भगवान्‌की स्तुति करना

भीष्म उवाच

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं नारदो भगवानृषिः ।
ददर्श तानेव नराञ्श्वेतांश्चन्द्रसमप्रभान् ॥ १ ॥
पूजयामास शिरसा मनसा तैश्च पूजितः ।
दिदृक्षुर्जप्यपरमः सर्वकृच्छ्रगतः स्थितः ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस महान् श्वेतद्वीपमें पहुँचकर भगवान् देवर्षि नारदने जब वहाँके उन चन्द्रमाके समान कान्तिमान् पुरुषोंको देखा, तब मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मन-ही-मन उनकी पूजा की। तत्पश्चात् श्वेतद्वीपनिवासी पुरुषोंने भी नारदजीका सत्कार किया। फिर वे भगवान्‌के दर्शनकी इच्छासे उनके नामका जप करने लगे एवं कठोर नियमोंका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ १-२ ॥

भूत्वैकाग्रमना विप्र ऊर्ध्वबाहुः समाहितः ।
स्तोत्रं जगौ स विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने ॥ ३ ॥

नारदजी वहाँ अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर एकाग्रचित्त हो निर्गुण सगुणरूप विश्वात्मा भगवान् नारायणकी इस प्रकार (दो सौ नामोंद्वारा) स्तुति करने लगे ॥

नारद उवाच

१ नमस्ते देवदेवेश २ निष्क्रिय ३ निर्गुण ४ लोकसाक्षिन् ५ क्षेत्रज्ञ ६ पुरुषोत्तम ७ अनन्त ८ पुरुष ९ महापुरुष १० पुरुषोत्तम ११ त्रिगुण १२ प्रधान १३ अमृत १४ अमृताख्य १५ अनन्ताख्य १६ व्योम १७ सनातन १८ सदसद्व्यक्ताव्यक्त १९ ऋतधामन् २० आदिदेव २१ वसुप्रद २२ प्रजापते २३ सुप्रजापते २४ वनस्पते २५ महाप्रजापते २६ ऊर्जस्पते २७ वाचस्पते २८ जगत्पते २९ मनस्पते ३० दिवस्पते ३१ मरुत्पते ३२ सलिलपते ३३ पृथिवीपते ३४ दिक्पते ३५ पूर्वनिवास ३६ [illegible] ३७ [illegible]पुरोहित ३८ ब्रह्मकायिक ३९ महाराजिक ४० चातुर्महाराजिक ४१ भासुर ४२ महाभासुर ४३ सप्तमहाभाग ४४ याम्य ४५ महायाम्य ४६ संज्ञासंज्ञ ४७ तुषित ४८ महातुषित ४९ प्रमर्दन ५० परिनिर्मित ५१ अपरिनिर्मित ५२ वशवर्तिन् ५३ अपरिनिन्दित ५४ अपरिमित ५५ वशवर्तिन् ५६ अवशवर्तिन् ५७ [illegible] ५८ महायज्ञ ५९ यज्ञसम्भव ६० यज्ञयोने ६१ यज्ञगर्भ ६२ यज्ञहृदय ६३ यज्ञस्तुत ६४ यज्ञभागहर ६५ पञ्चयज्ञ ६६ पञ्चकालकर्तृपते ६७ पाञ्चरात्रिक ६८ वैकुण्ठ ६९ अपराजित ७० मानसिक ७१ नामनामिक ७२ परस्वामिन् ७३ सुस्नात ७४ हंस ७५ परमहंस ७६ महाहंस ७७ परमयाज्ञिक ७८ सांख्ययोग ७९ सांख्यमूर्ते ८० अमृतेशय ८१ हिरण्येशय ८२ देवेशय ८३ कुशेशय ८४ ब्रह्मेशय ८५ पद्मेशय ८६ विश्वेश्वर ८७ विष्वक्सेन ८८ त्वं जगदन्वयः ८९ त्वं जगत्प्रकृतिः

९० तवाग्निरास्यम् ९१ वडवामुखोऽग्निः ९२ त्वमाहुतिः ९३ सारथिः ९४ त्वं वषट्कारः ९५ त्वमोङ्कारः ९६ त्वं तपः ९७ त्वं [illegible] ९८ त्वं चन्द्रमाः ९९ त्वं चक्षुरादित्यं १०० त्वं सूर्यः १०१ त्वं दिशां गजः १०२ त्वं दिग्भानो १०३ विदिग्भानो १०४ हयशिरः १०५ प्रथमत्रिसौपर्णः १०६ वर्णधरः १०७ पञ्चाग्ने १०८ त्रिणाचिकेत १०९ षडङ्गनिधान ११० प्राग्ज्योतिष १११ ज्येष्ठसामग ११२ सामिकव्रतधर ११३ अथर्वशिराः ११४ पञ्चमहाकल्प ११५ फेनपाचार्य ११६ वालखिल्य ११७ वैखानस ११८ अभग्नयोग ११९ अभग्नपरिसंख्यान १२० युगादे १२१ युगमध्य १२२ युगनिधन १२३ [illegible] १२४ प्राचीनगर्भ १२५ कौशिक १२६ पुरुष्टुत १२७ पुरुहूत १२८ विश्वकृत् १२९ विश्वरूप १३० अनन्तगते १३१ अनन्तभोग १३२ अनन्त १३३ अनादे १३४ अमध्य १३५ अव्यक्तमध्य १३६ अव्यक्तनिधन १३७ व्रतावास १३८ समुद्राधिवास १३९ यशोवास १४० तपोवास १४१ दमावास १४२ लक्ष्म्यावास १४३ विद्यावास १४४ कीर्त्यावास १४५ श्रीवास १४६ सर्वावास १४७ वासुदेव १४८ सर्वच्छन्दक १४९ हरिहय १५० हरिमेध १५१ महायज्ञभागहर १५२ वरप्रद १५३ सुखप्रद १५४ [illegible]मन् १५५ हरिमेध १५६ [illegible] १५७ नियम १५८ महानियम १५९ कृच्छ्र १६० अतिकृच्छ्र १६१ महाकृच्छ्र १६२ सर्वकृच्छ्र १६३ नियमधर १६४ निवृत्तभ्रम १६५ प्रवचनगत १६६ पृश्निगर्भप्रवृत्त १६७ प्रवृत्तवेदक्रिय १६८ अज १६९ सर्वगते १७० सर्वदर्शिन् १७१ अग्राह्य १७२ अचल १७३ महाविभूते १७४ माहात्म्यशरीर १७५ पवित्र १७६ महापवित्र १७७ हिरण्मय १७८ बृहत् १७९ अप्रतर्क्य १८० अविज्ञेय १८१ ब्रह्माग्र्य १८२ प्रजासर्गकर १८३ प्रजानिधनकर १८४ महामायाधर १८५ चित्रशिखण्डिन् १८६ वरप्रद १८७ पुरोडाशभागहर १८८ गताध्वर १८९ छिन्नतृष्ण १९० छिन्नसंशय १९१ सर्वतोवृत्त १९२ निवृत्तिरूप १९३ ब्राह्मणरूप १९४ ब्राह्मणप्रिय १९५ विश्वमूर्ते १९६ महामूर्ते १९७ बान्धव १९८ भक्तवत्सल १९९ ब्रह्मण्यदेव भक्तोऽहं त्वां दिदृक्षुरेकान्तदर्शनाय २०० नमो नमः ॥

१—देवदेवेश ! आपको नमस्कार है। २—आप निष्क्रिय, ३—निर्गुण और ४— [illegible] जगत्के साक्षी हैं। ५—क्षेत्रज्ञ, ६—पुरुषोत्तम (क्षर-अक्षर पुरुषसे उत्तम), ७—अनन्त, ८—पुरुष, ९—महापुरुष, १०—पुरुषोत्तम (परमात्मा), ११—त्रिगुण, १२—प्रधान, १३—अमृत, १४ अमृताख्य, १५—अनन्ताख्य (शेषनागरूप), १६—व्योम (महाकाशरूप), १७—सनातन, १८—सदसद्व्यक्ताव्यक्त, १९—ऋतधामा (सत्यधामस्वरूप), २०—आदिदेव, २१—वसुप्रद (कर्म-फलके दाता), २२—प्रजापते (दक्ष आदि), २३—सुप्रजापते (प्रजापतियोंमें [illegible]), २४—वनस्पते, २५—महाप्रजापते (ब्रह्मस्वरूप), २६—ऊर्जस्पते (महाशक्तिशाली), २७—वाचस्पते (बृहस्पति), २८—जगत्पते, २९—मनस्पते, ३०—दिवस्पते (सूर्य), ३१—मरुत्पते (वायुदेवताके स्वामी), ३२—सलिलपते (जलके स्वामी), ३३—पृथ्वीपते, ३४—दिक्पते, ३५—पूर्वनिवास (महाप्रलयके समय जगत्के आधाररूप), ३६—गुह्य(स्वरूप), ३७—ब्रह्मपुरोहित, ३८—ब्रह्माकायिक, ३९—महाराजिक, ४०—चातुर्महाराजिक, ४१—भासुर (प्रकाशमान), ४२—महाभासुर (महाप्रकाशमान), ४३—सप्तमहाभाग, ४४—याम्य, ४५—महायाम्य, ४६—संज्ञासंज्ञ, ४७—तुषित, ४८—महातुषित, ४९—प्रमर्दन (मृत्युरूप), ५०—परिनिर्मित, ५१—अपरिनिर्मित, ५२—वशवर्ती, ५३—अपरिनिन्दित (शम-दम आदि गुणसम्पन्न), ५४—अपरिमित (अनन्त), ५५—वशवर्ती, ५६—अवशवर्ती, ५७—यज्ञ, ५८—महायज्ञ, ५९—यज्ञसम्भव, ६०—यज्ञयोनि(वेदस्वरूप), ६१—यज्ञगर्भ, ६२—यज्ञहृदय, ६३—यज्ञस्तुत, ६४—यज्ञभागहर, ६५—पञ्चयज्ञ, ६६—पञ्चकालकर्तृपति (अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और संवत्सररूप कालके स्वामी), ६७—पाञ्चरात्रिक, ६८—वैकुण्ठ (परमधाम), ६९—अपराजित, ७०—मानसिक, ७१—नामानामिक (जिनमें सब नामोंका समावेश है), ७२—परस्वामी (परमेश्वर), ७३—सुस्नात, ७४—हंस, ७५—परमहंस, ७६—महाहंस, ७७—परमयाज्ञिक, ७८—सांख्ययोगरूप, ७९—सांख्यमूर्ति (ज्ञानमूर्ति), ८०—अमृतेशय (विष्णु), ८१—हिरण्येशय, ८२—देवेशय, ८३—कुशेशय, ८४—ब्रह्मेशय, ८५—पद्मेशय (विष्णु), ८६—विश्वेश्वर और ८७—विष्वक्सेन आदि आपहीके नाम हैं। ८८—आप ही जगदन्वय (जगत्में ओतप्रोत) तथा ८९—आप ही जगत्के कारणस्वरूप हैं। ९०—अग्नि आपका मुख है। ९१—आप ही बड़वानल, ९२—आप ही आहुतिरूप, ९३—सारथि, ९४—वषट्कार, ९५—ॐकार, ९६—तपःस्वरूप, ९७—मनःस्वरूप, ९८—चन्द्रमास्वरूप, ९९—चक्षुके देवता सूर्य आप ही हैं। १००—सूर्य, १०१—दिग्गज, १०२—दिग्भानु (दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले), १०३—विदिग्भानु (विदिशाओंको प्रकाशित करनेवाले)तथा १०४—हयग्रीवरूप हैं। १०५—आप प्रथम त्रिसौपर्ण मन्त्र, १०६—ब्राह्मणादि वर्णोंको धारण करनेवाले तथा १०७—पञ्चाग्निरूप हैं। १०८—नाचिकेत नामसे प्रसिद्ध त्रिविध अग्नि भी आप ही हैं। १०९—आप शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष नामक [illegible] अङ्गोंके भण्डार हैं। ११०—प्राग्ज्योतिषस्वरूप, १११—ज्येष्ठ सामगस्वरूप आप ही हैं। ११२—सामिक व्रतधारी, ११३—अथर्वशिरा ११४—

पञ्चमहाकल्परूप (आप ही सौर, शाक्त, गाणपत्य, शैव और वैष्णव शास्त्रोंके उपास्यदेव) हैं। ११५–फेनपाचार्य, ११६–बालखिल्य-मुनिरूप, ११७–वैखानस मुनिरूप आप ही हैं। ११८–अभग्नयोग (अखण्डयोग), ११९–अभग्नपरिसंख्यान ([illegible] विचार), १२०–युगादि (युगके आदिरूप), १२१–युगमध्य (युगके मध्यरूप), १२२–युगान्त (युगके [illegible] आप ही [illegible]); १२३–आखण्डल (इन्द्र), १२४–आपही प्राचीनगर्भ, १२५–कौशिकमुनि, १२६–पुरुष्टुत (सबके द्वारा प्रचुर स्तुति करने योग्य), १२७–पुरुहूत, १२८–विश्वकृत् (विश्वके रचयिता); १२९–विश्वरूप, १३०–अनन्तगति, १३१–अनन्तभोग, १३२–आपका न तो अन्त है, १३३–न आदि, १३४–न मध्य, १३५–अव्यक्तमध्य, १३६–अव्यक्तनिधन, १३७–व्रतावास (व्रतके आश्रय), १३८–समुद्रवासी (क्षीरसागरशायी); १३९–यशोवास (यशके निवासस्थान), १४०–तपोवास (तपके निवास-[illegible]), १४१–दमावास (संयमके आधार), १४२–लक्ष्मी-निवास, १४३–विद्याके आश्रय, १४४–कीर्तिके आधार, १४५–सम्पत्तिके आश्रय, १४६–सर्वावास (सबके निवासस्थान), १४७–वासुदेव, १४८–सर्वच्छन्दक (सबकी इच्छा पूर्ण करनेवाले), १४९–हरिहय, १५०–हरिमेध (अश्वमेध-यज्ञरूप), १५१–महायज्ञभागहर, १५२–वरप्रद (भक्तों-को वरदान देनेवाले), १५३–सुखप्रद (सबको सुख [illegible] करनेवाले), १५४–धनप्रद (सबको धन देनेवाले), १५५–हरिमेध (भगवद्भक्त भी आप ही हैं), १५६–यम, १५७–नियम, १५८–महानियम आदि साधन भी आप ही हैं। १५९–कृच्छ्र, १६०–अतिकृच्छ्र, १६१–महाकृच्छ्र, १६२–सर्वकृच्छ्र आदि चान्द्रायणव्रत भी आप ही हैं। १६३–नियमधर (नियमोंको धारण करनेवाले), १६४–निवृत्तभ्रम (भ्रमरहित), १६५–प्रवचनगत (वेदवाक्यके विषय), १६६–पृश्निगर्भप्रवृत्त, १६७–प्रवृत्तवेदक्रिय (वैदिक कर्मोंके प्रवर्तक), १६८–अज (जन्मरहित), १६९–सर्वगति (सर्वव्यापी), १७०–सर्वदर्शी, १७१–अग्राह्य, १७२–अचल, १७३–महाविभूति (सृष्टिरूप विभूतिवाले), १७४–माहात्म्य-शरीर (अतुलित प्रभावशाली स्वरूपवाले), १७५–पवित्र, १७६–महापवित्र (पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले), १७७–हिरण्मय, १७८–बृहद् (ब्रह्म), १७९–अप्रतर्क्य (तर्कसे जाननेमें न आनेवाले), १८०–अविज्ञेय, १८१–ब्रह्माग्रय, १८२–प्रजाकी सृष्टि करनेवाले, १८३–प्रजाका अन्त करने-वाले, १८४–महामायाधर, १८५–चित्रशिखण्डी, १८६–वर-प्रद, १८७–पुरोडाश भागको ग्रहण करनेवाले, १८८–गता-ध्वर (प्राप्तयज्ञ), १८९–छिन्नतृष्ण (तृष्णारहित), १९०–छिन्नसंशय (संशयरहित), १९१–सर्वतोवृत्त (सर्वव्यापक), १९२–निवृत्तिरूप, १९३–ब्राह्मणरूप, १९४–ब्राह्मणप्रिय, १९५–विश्वमूर्ति, १९६–महामूर्ति, १९७–बान्धव (जगत्‌के बन्धु), १९८–भक्तवत्सल तथा १९९–ब्रह्मण्यदेव आदि नामोंसे पुकारे जानेवाले परमेश्वर ! आपको नमस्कार है। मैं आपका भक्त हूँ। आपके दर्शनकी इच्छासे यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। २००–एकान्तमें दर्शन देनेवाले आप परमात्माको बारंबार नमस्कार है॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि अष्टत्रिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें तीन सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

श्वेतद्वीपमें नारदजीको भगवान्‌का दर्शन, भगवान्‌का वासुदेव-सङ्कर्षण आदि अपने व्यूह-स्वरूपोंका परिचय कराना और भविष्यमें होनेवाले अवतारोंके कार्योंकी सूचना देना और इस कथाके श्रवण-पठनका माहात्म्य

भीष्म उवाच

एवं स्तुतः स भगवान् गुह्यैस्तथ्यैश्च नामभिः।
तं मुनिं दर्शयामास नारदं विश्वरूपधृक् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार गुह्य तथा सत्य नामोंसे जब नारदजीने भगवान्‌की स्तुति की, तब उन्होंने विश्वरूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया ॥ १ ॥

किंचिच्चन्द्राद् विशुद्धात्मा किंचिच्चन्द्राद् विशेषवान्।
कृशानुवर्णः किंचिच्च किंचिद्धिष्ण्याकृतिः प्रभुः॥ २ ॥

उनका वह स्वरूप [illegible] चन्द्रमासे भी अधिक निर्मल और कुछ चन्द्रमासे भी विलक्षण था। कुछ अग्निके समान देदीप्यमान और कुछ नक्षत्रोंके समान जाज्वल्यमान था ॥ २ ॥

शुकपत्रनिभः किंचित् किंचित्स्फटिकसंनिभः।
नीलाञ्जनचयप्रख्यो जातरूपप्रभः क्वचित् ॥ ३ ॥

कुछ तोतेकी पाँखके समान हरा, कुछ स्फटिकमणिके समान उज्ज्वल, कहींसे कज्जलराशिके समान काला और कहींसे सुवर्णके समान कान्तिमान् था ॥ ३ ॥

प्रवालाङ्कुरवर्णश्च श्वेतवर्णस्तथा क्वचित्।
क्वचित् सुवर्णवर्णाभो वैदूर्यसदृशः क्वचित् ॥ ४ ॥

कहीं नवाङ्कुरित पल्लवके समान था। कहीं श्वेतवर्ण दिखायी देता था, कहीं सुनहरी आभा दिखायी देती थी और कहीं-कहीं वैदूर्यमणिकी-सी छटा छिटक रही थी ॥ ४ ॥

नीलवैदूर्यसदृश इन्द्रनीलनिभः क्वचित्।

मयूरग्रीववर्णाभो मुक्ताहारनिभः क्वचित् ॥ ५ ॥

कहीं नीलवैदूर्य, कहीं इन्द्रनीलमणि, कहीं मोरकी ग्रीवाके सदृश वर्ण और कहीं मोतीके हारकी-सी कान्ति दृष्टि-गोचर होती थी ॥ ५ ॥

एतान् बहुविधान् वर्णान् रूपैर्बिभ्रत्सनातनः।
सहस्रनयनः श्रीमाञ्छतशीर्षः सहस्रपात् ॥ ६ ॥
सहस्रोदरबाहुश्च [illegible] इति च क्वचित्।

इस प्रकार वे सनातन भगवान् श्रीहरि अपने स्वरूपमें नाना प्रकारके रंग धारण किये हुए थे। उनके हजारों नेत्र, सैकड़ों (हजारों) मस्तक, हजारों पैर, हजारों उदर और हजारों हाथ थे। वे अपूर्व कान्तिसे सम्पन्न थे और कहीं-कहीं उनकी आकृति अव्यक्त थी ॥ ६½ ॥

ओङ्कारमुद्गिरन् वक्त्रात् सावित्रीं च तदन्वयाम् ॥७॥
शेषेभ्यश्चैव वक्त्रेभ्यश्चतुर्वेदान् गिरन् बहून्।
आरण्यकं जगौ देवो हरिर्नारायणो वशी ॥ ८ ॥

सबको वशमें रखनेवाले वे भगवान् नारायण हरि एक मुखसे तो ॐकार तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली गायत्रीका जप करते थे एवं अन्यान्य मुखोंसे चारों वेदों और उनके आरण्यकभागका गान कर रहे थे ॥ ७-८ ॥

वेदिं कमण्डलुं शुभ्रान् मणीनुपानहौ कुशान्।
अजिनं दण्डकाष्ठं च ज्वलितं च हुताशनम् ॥ ९ ॥
धारयामास देवेशो हस्तैर्यज्ञपतिस्तदा।

यज्ञोंके स्वामी उन भगवान् देवेश्वर विष्णुने उस [illegible] अपने हाथोंमें यज्ञवेदी, कमण्डलु, चमकीले मणिरत्न, उपानह, कुशा, मृगचर्म, दण्ड-काष्ठ और प्रज्वलित अग्नि—ये सब वस्तुएँ ले रखी थीं ॥ ९½ ॥

तं प्रसन्नं प्रसन्नात्मा नारदो द्विजसत्तमः ॥ १० ॥
वाग्यतः प्रणतो भूत्वा ववन्दे परमेश्वरम्।

उनका दर्शन करनेके पश्चात् प्रसन्नचित्त हुए द्विजश्रेष्ठ नारदने मौनभावसे नतमस्तक हो उन प्रसन्न हुए परमेश्वरकी वन्दना की ॥ १०½ ॥

तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः ॥ ११ ॥

मस्तक झुकाकर चरणोंमें पड़े हुए नारदजीसे देवताओंके आदिकारण अविनाशी श्रीहरिने इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥

श्रीभगवानुवाच

एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः।
इमं देशमनुप्राप्ता मम दर्शनलालसाः ॥ १२ ॥

श्रीभगवान् बोले—देवर्षे ! महर्षि एकत, द्वित और त्रित—ये सब भी मेरे दर्शनकी इच्छासे [illegible] स्थानपर आये हुए थे ॥ १२ ॥

[illegible] च मां ते ददृशिरे न च द्रक्ष्यति कश्चन।
ऋते ह्येकान्तिकश्रेष्ठात् त्वं चैवैकान्तिकोत्तमः॥ १३ ॥

किंतु उन्हें मेरा दर्शन न [illegible] हो सका। वास्तवमें [illegible] अनन्य भक्तके सिवा और कोई मनुष्य मेरा दर्शन नहीं कर [illegible]। तुम तो मेरे अनन्य भक्तोंमें श्रेष्ठ हो; इसीलिये तुम्हें मेरा दर्शन हुआ है ॥ १३ ॥

ममैतास्तनवः श्रेष्ठा जाता धर्मगृहे द्विज।
तास्त्वं भजस्व सततं साधयस्व यथागतम् ॥ १४ ॥

विप्रवर ! धर्मके घरमें जो अवतीर्ण हुए हैं, वे नर-नारायण आदि चारों भाई मेरे ही स्वरूप हैं; अतः तुम सदा उनका भजन किया करो तथा जो कार्य प्राप्त हो, उसका साधन करो ॥

वृणीष्व च वरं विप्र मत्तस्त्वं यदिहेच्छसि।
प्रसन्नोऽहं तवाद्येह विश्वमूर्तिरिहाव्ययः ॥ १५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं अविनाशी विश्वरूप परमेश्वर आज तुमपर प्रसन्न हुआ हूँ; अतः तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, वह वर माँग लो ॥ १५ ॥

नारद उवाच

[illegible] मे तपसो देव [illegible] नियमस्य च।
सद्यः फलमवाप्तं वै दृष्टो यद् भगवान् मया ॥ १६ ॥

नारदजीने कहा—देव ! जब मैंने आप भगवान्का दर्शन पा लिया, तब मुझे तप, यम और नियम—सबका फल [illegible] ही मिल गया ॥ १६ ॥

[illegible] एष ममात्यन्तं दृष्टस्त्वं यत् सनातनः।
भगवन् विश्वदृक् सिंहः सर्वमूर्तिर्महान् प्रभुः ॥ १७ ॥

भगवन् ! आप सम्पूर्ण विश्वके द्रष्टा, सिंहके समान निर्भय, सर्वस्वरूप, महान् एवं सनातन प्रभु हैं। आपका जो दर्शन हो गया, यही मेरे लिये सबसे बड़ा वरदान है ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

एवं संदर्शयित्वा तु नारदं परमेष्ठिनम्।
उवाच वचनं भूयो [illegible] नारद मा चिरम् ॥ १८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार दर्शन देकर भगवान्ने ब्रह्मपुत्र नारदजीसे फिर कहा, 'नारद ! जाओ, विलम्ब न करो ॥ १८ ॥

इमे ह्यनिन्द्रियाहारा मद्भक्ताश्चन्द्रवर्चसः।
एकाग्राश्चिन्तयेयुर्मां नैषां विघ्नो भवेदिति ॥ १९ ॥

'ये इन्द्रिय और आहारसे शून्य, चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मेरे भक्तजन एकाग्रभावसे मेरा चिन्तन कर सकें और इनके ध्यानमें किसी प्रकारका विघ्न न हो, इसके लिये तुम्हें यहाँसे चले जाना चाहिये ॥ १९ ॥

सिद्धा ह्येते महाभागाः पुरा ह्येकान्तिनोऽभवन्।
तमोरजोभिर्निर्मुक्ता मां प्रवेक्ष्यन्त्यसंशयम् ॥ २० ॥

'यहाँ निवास करनेवाले ये सभी महाभाग सिद्ध हो चुके हैं। ये पहले भी मेरे अनन्य भक्त रहे हैं। ये तमोगुण और रजोगुणसे मुक्त हैं; अतः निःसंदेह मुझमें ही प्रवेश करेंगे ॥ २० ॥

न दृश्यश्चक्षुषा योऽसौ न स्पृश्यः स्पर्शनेन च ।
न घ्रेयश्चैव गन्धेन रसेन [illegible] विवर्जितः ॥ २१ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव न गुणास्तं भजन्ति वै ।
[illegible] सर्वगतः साक्षी लोकस्यात्मेति कथ्यते ॥ २२ ॥
भूतग्रामशरीरेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।
अजो नित्यः शाश्वतश्च निर्गुणो निष्कलस्तथा ॥ २३ ॥
द्विर्द्वादशेभ्यस्तत्त्वेभ्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः ।
पुरुषो निष्क्रियश्चैव ज्ञानदृश्यश्च कथ्यते ॥ २४ ॥
यं प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता [illegible] द्विजसत्तमाः ।
[illegible] वासुदेवो विज्ञेयः परमात्मा [illegible] ॥ २५ ॥

'जो नेत्रोंसे देखा नहीं जाता, त्वचासे जिसका स्पर्श नहीं होता, गन्ध ग्रहण करनेवाली घ्राणेन्द्रियसे जो सूँघनेमें नहीं आता, जो रसनेन्द्रियकी पहुँचसे परे है; सत्त्व, रज और तम नामक गुण जिसपर कोई प्रभाव नहीं डाल पाते, जो सर्वव्यापी, साक्षी और सम्पूर्ण जगत्का आत्मा कहलाता है, सम्पूर्ण प्राणियोंका नाश हो जानेपर भी जो स्वयं नष्ट नहीं होता है, जिसे अजन्मा, नित्य, सनातन, निर्गुण और निष्कल बताया गया है, जो चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवें तत्त्वके रूपमें विख्यात है, जिसे अन्तर्यामी पुरुष, निष्क्रिय तथा [illegible] नेत्रोंसे ही देखने योग्य बताया जाता है, जिसमें प्रवेश करके श्रेष्ठ द्विज यहाँ मुक्त हो जाते हैं, वही [illegible] परमात्मा है । उसीको वासुदेव नामसे जानना चाहिये ॥ २१—२५ ॥

पश्य देवस्य माहात्म्यं महिमानं च नारद ।
शुभाशुभैः कर्मभिर्यो न लिप्यति कदाचन ॥ २६ ॥

'नारद ! उस परमात्मदेवका माहात्म्य और महिमा तो देखो, जो शुभाशुभ कर्मोंसे कभी लिप्त नहीं होता है ॥ २६ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणानेतान् प्रचक्षते ।
एते सर्वशरीरेषु तिष्ठन्ति विचरन्ति च ॥ २७ ॥

'सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण बताये जाते हैं, जो सम्पूर्ण शरीरोंमें स्थित रहते हैं और विचरते हैं ॥ २७ ॥

एतान् गुणांस्तु क्षेत्रज्ञो भुङ्क्ते नैभिः स युज्यते ।
निर्गुणो गुणभुक् चैव गुणस्रष्टा गुणाधिकः ॥ २८ ॥

'इन गुणोंको क्षेत्रज्ञ स्वयं भोगता है, किंतु इन गुणोंके द्वारा वह क्षेत्रज्ञ भोगा नहीं जाता; क्योंकि वह निर्गुण, गुणोंका भोक्ता, गुणोंका [illegible] तथा गुणोंसे उत्कृष्ट है ॥२८॥

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते ।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते ॥ २९ ॥

'देवर्षे ! यह सम्पूर्ण जगत् जिसपर प्रतिष्ठित है, वह पृथ्वी जलमें विलीन हो जाती है । जलका तेजमें और तेजका वायुमें लय होता है ॥ २९ ॥

खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च ।
मनो हि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते ॥ ३० ॥

'वायुका आकाशमें लय होता है, आकाश मनमें विलीन होता है । मन उत्कृष्ट भूत है । वह अव्यक्त प्रकृतिमें लीन होता है ॥ ३० ॥

अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्क्रिये सम्प्रलीयते ।
नास्ति तस्मात् परतरः पुरुषाद् वै सनातनात् ॥ ३१ ॥

'ब्रह्मन् ! अव्यक्तका निष्क्रिय पुरुषमें लय होता है । उस [illegible] पुरुषसे उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है ॥ ३१ ॥

नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् ।
ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम् ॥ ३२ ॥

'संसारमें उस एकमात्र सनातन पुरुष वासुदेवको छोड़कर कोई भी चराचर भूत नित्य नहीं है ॥ ३२ ॥

सर्वभूतात्मभूतो हि वासुदेवो महाबलः ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ ३३ ॥

'महाबली वासुदेव सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं ॥ ३३ ॥

ते समेता महात्मानः शरीरमिति संज्ञितम् ।
तदा विशति यो ब्रह्मन्नदृश्यो लघुविक्रमः ॥ ३४ ॥

'ये सब महाभूत एक साथ मिलकर ही शरीर नाम धारण करते हैं । ब्रह्मन् ! उस [illegible] अदृश्यभावसे जो शीघ्रगामी चेतन उसमें प्रवेश करता है, वही जीवात्मा है ॥ ३४ ॥

[illegible] [illegible] भवति शरीरं चेष्टयन् प्रभुः ।
न विना धातुसंघातं शरीरं भवति क्वचित् ॥ ३५ ॥

'उसका शरीरमें प्रवेश करना ही [illegible] होना बताया जाता है । वही शरीरको चेष्टाशील बनाता है । वही इसके सञ्चालनमें समर्थ है । कहीं भी पाँचों भूतोंके मिलित समुदायके बिना कोई शरीर नहीं होता ॥ ३५ ॥

न च जीवं विना [illegible] वायवश्चेष्टयन्त्युत ।
[illegible] जीवः परिसंख्यातः शेषः संकर्षणः प्रभुः ॥ ३६ ॥

'ब्रह्मन् ! जीवके बिना प्राणवायु चेष्टा नहीं करती । वह जीव ही शेष या भगवान् सङ्कर्षण कहा गया है ॥ ३६ ॥

तस्मात् सनत्कुमारत्वं योऽलभत् स्वेन कर्मणा ।
यस्मिंश्च सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति संक्षयम् ॥ ३७ ॥
स मनः सर्वभूतानां प्रद्युम्नः परिपठ्यते ।

'जो उसी सङ्कर्षण अथवा जीवसे उत्पन्न होकर अपने कर्म (ध्यान, पूजन आदि) के द्वारा सनत्कुमारत्व (जीवन्मुक्ति) प्राप्त कर लेता है, जिसमें समस्त प्राणी लय एवं क्षयको प्राप्त होते हैं, वह सम्पूर्ण भूतोंका मन ही 'प्रद्युम्न' कहलाता है ॥ ३७½ ॥

तस्मात् प्रसूतो [illegible] कर्ता कारणं कार्यमेव [illegible] ॥ ३८ ॥

'उस प्रद्युम्नसे जिसकी उत्पत्ति हुई है, वह (अहंकार ही) तन्मात्रा आदिका कर्ता, परम्परा-सम्बन्धसे महाभूतोंका [illegible] तथा महत्तत्त्वका कार्य है ॥ ३८ ॥

तस्मात् सर्वं सम्भवति जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
सोऽनिरुद्धः स ईशानो व्यक्तः [illegible] सर्वकर्मसु ॥ ३९ ॥

'उसीसे समस्त चराचर जगत्‌की उत्पत्ति होती है। वही 'अनिरुद्ध' एवं 'ईशान' कहलाता है। वह (कर्तृत्वके अभिमानरूपसे) सम्पूर्ण कर्मोंमें व्यक्त होता है ॥ ३९ ॥

यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ।
ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः ॥ ४० ॥
संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते ।
प्रद्युम्नाद् योऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकारः स ईश्वरः ॥ ४१ ॥

'राजेन्द्र ! जो भगवान् वासुदेव क्षेत्रज्ञस्वरूप एवं निर्गुण-रूपसे जाननेयोग्य बताये गये हैं, वे ही प्रभावशाली सङ्कर्षण-रूप जीवात्मा हैं। सङ्कर्षणसे प्रद्युम्नका प्रादुर्भाव हुआ है, जो मनोमय कहलाते हैं। प्रद्युम्नसे जो अनिरुद्ध प्रकट हुए हैं, वे ही अहंकार और ईश्वर हैं ॥ ४०-४१ ॥

मत्तः सर्वं सम्भवति जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
अक्षरं च क्षरं चैव सच्चासच्चैव नारद ॥ ४२ ॥

'नारद ! मुझसे ही समस्त स्थावर-जङ्गमरूप जगत्‌की उत्पत्ति होती है। क्षर और अक्षर तथा असत् और सत् भी मुझसे ही प्रकट हुए हैं ॥ ४२ ॥

मां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता भक्तास्तु ये मम ।
अहं हि पुरुषो ज्ञेयो निष्क्रियः पञ्चविंशकः ॥ ४३ ॥

'यहाँ जो मेरे भक्त हैं, वे मुझमें ही प्रवेश करके मुक्त होते हैं। मैं ही पचीसवें तत्त्व निष्क्रिय पुरुषरूपसे जानने योग्य हूँ ॥ ४३ ॥

निर्गुणो निष्कलश्चैव निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
एतत् त्वया न विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते ॥ ४४ ॥
[illegible] मुहूर्तान्नश्येयमीशोऽहं जगतो गुरुः ।

'मैं निर्गुण, निष्कल, द्वन्द्वोंसे अतीत और परिग्रहसे शून्य हूँ। तुम ऐसा न समझ लेना कि ये रूपवान् हैं, इस-लिये दिखायी देते हैं; क्योंकि मैं इच्छा करते ही एक ही क्षणमें अदृश्य हो सकता हूँ; क्योंकि मैं सम्पूर्ण जगत्‌का ईश्वर और गुरु हूँ ॥ ४४½ ॥

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ॥ ४५ ॥
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि ।

'नारद ! तुम जो मुझे देख रहे हो, इस रूपमें मैंने माया रची है। तुम मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंके गुणोंसे युक्त न जानो ॥ ४५½ ॥

मयैतत् कथितं सम्यक् तव मूर्तिचतुष्टयम् ॥ ४६ ॥
अहं हि जीवसंज्ञातो मयि जीवः समाहितः ।
नैवं ते बुद्धिरत्राभूद् दृष्टो जीवो मयेति वै ॥ ४७ ॥

'मैंने अपने वासुदेव, सङ्कर्षण आदि चार स्वरूपोंका तुम्हारे सामने भलीभाँति वर्णन किया है। मैं ही जीव नामसे प्रसिद्ध हूँ, मुझमें ही जीवकी स्थिति है; परंतु तुम्हारे मनमें ऐसा विचार नहीं उठना चाहिये कि मैंने जीवको देखा है ॥ ४६-४७ ॥

अहं सर्वत्रगो ब्रह्मन् भूतग्रामान्तरात्मकः ।
भूतग्रामशरीरेषु नश्यत्सु न नशाम्यहम् ॥ ४८ ॥

'ब्रह्मन् ! मैं सर्वव्यापी और समस्त प्राणिसमुदायका अन्तरात्मा हूँ। सम्पूर्ण भूतसमुदाय और शरीरोंके नष्ट हो जानेपर भी मेरा नाश नहीं होता है ॥ ४८ ॥

सिद्धा हि ते महाभागा नरा ह्येकान्तिनोऽभवन् ।
तमोरजोभ्यां निर्मुक्ताः प्रवेक्ष्यन्ति च मां मुने ॥ ४९ ॥

'मुने ! ये महाभाग श्वेतद्वीपनिवासी सिद्ध हैं। ये पहले मेरे अनन्य भक्त रहे हैं। ये तमोगुण और रजोगुणसे मुक्त हो गये हैं; इसलिये मेरे भीतर प्रवेश करेंगे ॥ ४९ ॥

हिरण्यगर्भो लोकादिश्चतुर्वक्त्रोऽनिरुक्तगः ।
ब्रह्मा सनातनो देवो मम बह्वर्थचिन्तकः ॥ ५० ॥

'जो सम्पूर्ण जगत्‌के आदि, चतुर्मुख, अनिर्वचनीयस्वरूप, हिरण्यगर्भ एवं सनातन देवता हैं, वे ब्रह्मा मेरे बहुत-से कार्योंका चिन्तन करनेवाले हैं ॥ ५० ॥

ललाटाच्चैव मे रुद्रो देवः क्रोधाद् विनिःसृतः ।
पश्यैकादश मे रुद्रान् दक्षिणं पार्श्वमास्थितान् ॥ ५१ ॥

'मेरे क्रोधवश ललाटसे मेरे ही रुद्रदेवका प्राकट्य हुआ है। देखो, ये ग्यारह रुद्र मेरे दाहिने भागमें विराजमान हैं ॥ ५१ ॥

द्वादशैव तथाऽऽदित्यान् वामपार्श्वे समास्थितान् ।
अग्रतश्चैव मे पश्य वसूनष्टौ सुरोत्तमान् ॥ ५२ ॥

'इसी प्रकार मेरे बायें भागमें बारह आदित्य विराज रहे हैं। अग्रभागमें सुरश्रेष्ठ आठ वसु विद्यमान हैं। इन सबको प्रत्यक्ष देखो ॥ ५२ ॥

नासत्यं चैव दस्रं च भिषजौ पश्य पृष्ठतः ।
सर्वान् प्रजापतीन् पश्य पश्य [illegible] ऋषींस्तथा ॥ ५३ ॥
वेदान् यज्ञांश्च [illegible] पश्यामृतमथौषधीः ।
तपांसि नियमांश्चैव यमानपि पृथग्विधान् ॥ ५४ ॥

'मेरे पृष्ठभागमें भी दृष्टिपात करो, जहाँ नासत्य और दस्र—ये दोनों देववैद्य अश्विनीकुमार स्थित हैं। इनके सिवा मेरे विभिन्न अङ्गोंमें समस्त प्रजापतियों, सप्तर्षियों, सम्पूर्ण वेदों, सैकड़ों यज्ञों, ओषधियों तथा अमृतको भी देखो। [illegible] तथा नाना प्रकारके यम-नियम भी यहाँ मूर्तिमान् हैं ॥ ५३-५४ ॥

तथाष्टगुणमैश्वर्यमेकस्थं पश्य मूर्तिमत् ।
श्रियं लक्ष्मीं च कीर्तिं च पृथिवीं च ककुद्मिनीम् ॥ ५५ ॥
वेदानां मातरं पश्य मत्स्थां देवीं सरस्वतीम् ।
ध्रुवं [illegible] ज्योतिषां श्रेष्ठं पश्य नारद खेचरम् ॥ ५६ ॥

'आठ प्रकारके ऐश्वर्य भी यहाँ एक ही जगह साकार-रूपसे प्रकट हैं, इन्हें देखो। श्री, लक्ष्मी, कीर्ति, पर्वतोंसहित पृथ्वी तथा वेदमाता सरस्वतीदेवी भी मेरे भीतर विराजमान हैं, उन सबका दर्शन करो। नारद ! ये नक्षत्रोंमें श्रेष्ठ आकाशचारी ध्रुव दिखायी दे रहे हैं, इनकी ओर भी दृष्टि-[illegible] करो ॥ ५५-५६ ॥

अम्भोधरान् समुद्रांश्च सरांसि सरितस्तथा ।
मूर्तिमन्तः पितृगणांश्चतुरः पश्य सत्तम ॥ ५७ ॥

'साधुशिरोमणे ! बादल, समुद्र, सरोवर और सरिताओंको भी मेरे भीतर मूर्तिमान् देख लो । चारों प्रकारके पितृगण भी सशरीर प्रकट हैं, इनका भी दर्शन कर लो ॥ ५७ ॥

त्रींश्चैवेमान् गुणान् पश्य मत्स्थान् मूर्तिविवर्जितान् ।
देवकार्यादपि मुने पितृकार्यं विशिष्यते ॥ ५८ ॥

'मेरे शरीरमें स्थित हुए मूर्तिरहित इन तीन गुणोंको भी मूर्तिमान् देख लो । मुने ! देवकार्यसे भी पितृकार्य [illegible] है ॥ ५८ ॥

देवानां च पितॄणां च पिता ह्येकोऽहमादितः ।
अहं हयशिरा भूत्वा समुद्रे पश्चिमोत्तरे ॥ ५९ ॥
पिबामि सुहुतं हव्यं कव्यं [illegible] श्रद्धयान्वितम् ।

'एकमात्र मैं ही देवताओं और पितरोंका भी पिता हूँ । [illegible] ही हयग्रीवरूप धारण करके समुद्रमें वायव्यकोणकी ओर रहता हूँ और विधिपूर्वक हवन किये हुए हव्य और श्रद्धापूर्वक समर्पित किये हुए कव्यका भी पान करता हूँ ॥ ५९½ ॥

[illegible] [illegible] पुरा [illegible] मां यज्ञमयजत् स्वयम् ॥ ६० ॥
ततस्तस्मिन् वरान् प्रीतो दत्तवानस्म्यनुत्तमान् ।

'पूर्वकालमें मेरे द्वारा उत्पन्न किये गये ब्रह्माने स्वयं ही [illegible] यज्ञपुरुषका यजन किया था । इससे प्रसन्न होकर मैंने उन्हें [illegible] वरदान दिये थे ॥ ६०½ ॥

मत्पुत्रत्वं च कल्पादौ लोकाध्यक्षत्वमेव च ॥ ६१ ॥
अहंकारकृतं चैव [illegible] पर्यायवाचकम् ।
त्वया कृतां च मर्यादां नातिक्रंस्यति कश्चन ॥ ६२ ॥

(वे वरदान इस प्रकार हैं—) "ब्रह्मन् ! तुम प्रत्येक कल्पके आदिमें मेरे पुत्ररूपसे उत्पन्न होओगे । तुम्हें लोकाध्यक्षका पद प्राप्त होगा । तुम्हारा पर्यायवाची नाम होगा, अहङ्कारकर्ता । तुम्हारी बाँधी हुई मर्यादाका कोई उल्लङ्घन नहीं करेगा ॥ ६१-६२ ॥

त्वं चैव वरदो ब्रह्मन् वरेप्सूनां भविष्यसि ।
सुरासुरगणानां च ऋषीणां [illegible] तपोधन ॥ ६३ ॥
पितॄणां च महाभाग सततं संशितव्रत ।
विविधानां च भूतानां त्वमुपास्यो भविष्यसि ॥ ६४ ॥

"ब्रह्मन् ! तुम वर चाहनेवाले साधकोंको वर देनेमें समर्थ होओगे । कठोर व्रतका पालन करनेवाले महाभाग तपोधन ! [illegible] देवताओं, असुरों, ऋषियों, पितरों तथा नाना प्रकारके प्राणियोंके सदा ही उपास्य होओगे ॥ ६३-६४ ॥

प्रादुर्भावगतश्चाहं सुरकार्येषु नित्यदा ।
अनुशास्यस्त्वया ब्रह्मन् नियोज्यश्च सुतो यथा ॥ ६५ ॥

"ब्रह्मन् ! जब मैं देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये अवतार धारण करूँ, उन दिनों सदा तुम मुझपर शासन करना और पुत्रकी भाँति मुझे प्रत्येक कार्यमें नियुक्त करना' ॥

एतांश्चान्यांश्च रुचिरान् ब्रह्मणेऽमिततेजसे ।
अहं दत्त्वा वरान् प्रीतो निवृत्तिपरमोऽभवम् ॥ ६६ ॥

'नारद ! अमित तेजस्वी ब्रह्माको ये तथा और भी बहुत-से सुन्दर वर देकर मैं प्रसन्नतापूर्वक निवृत्तिपरायण हो गया ॥

निर्वाणं सर्वधर्माणां निवृत्तिः परमा स्मृता ।
तस्मान्निवृत्तिमापन्नश्चरेत् सर्वाङ्गनिर्वृतः ॥ ६७ ॥

'समस्त कर्मोंसे उपरत हो जाना ही परम निवृत्ति है; [illegible] जो निवृत्तिको प्राप्त हो गया है, वह सभी अङ्गोंसे सुखी होकर विचरण करे ॥ ६७ ॥

विद्यासहायवन्तं च आदित्यस्थं समाहितम् ।
कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्यनिश्चितनिश्चयाः ॥ ६८ ॥

'सांख्यशास्त्रके सिद्धान्तका निश्चय करनेवाले आचार्यगण मुझे ही विद्याकी सहायतासे युक्त, सूर्यमण्डलमें स्थित एवं समाहितचित्त कपिल कहते हैं ॥ ६८ ॥

हिरण्यगर्भो भगवानेष च्छन्दसि सुष्टुतः ।
सोऽहं योगरतिर्ब्रह्मन् योगशास्त्रेषु शब्दितः ॥ ६९ ॥

'वेदमें जिनकी स्तुति की गयी है, वे भगवान् हिरण्यगर्भ मेरे ही स्वरूप हैं । ब्रह्मन् ! योगीलोग जिसमें रमण करते हैं, वह योगशास्त्रप्रसिद्ध पुरुषविशेष ईश्वर भी मैं ही हूँ ॥ ६९ ॥

एषोऽहं व्यक्तिमागत्य तिष्ठामि दिवि शाश्वतः ।
ततो युगसहस्रान्ते संहरिष्ये जगत् पुनः ॥ [illegible] ॥

'इस [illegible] मैं सनातन परमात्मा ही व्यक्तरूप धारण करके आकाशमें स्थित हूँ । फिर एक सहस्र चतुर्युग व्यतीत होनेपर मैं ही इस जगत्का संहार करूँगा ॥ ७० ॥

कृत्वाऽऽत्मस्थानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
एकाकी विद्यया सार्धं विहरिष्ये जगत् पुनः ॥ ७१ ॥

'उस समय सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको अपनेमें लीन करके मैं अकेला ही अपनी विद्या-शक्तिके साथ सूने संसारमें विहार करूँगा ॥ ७१ ॥

ततो भूयो जगत् सर्वं करिष्यामीह विद्यया ।
अस्मन्मूर्तिश्चतुर्थी या सासृजच्छेषमव्ययम् ॥ ७२ ॥

'तदनन्तर सृष्टिका समय आनेपर फिर [illegible] विद्याशक्तिके ही द्वारा संसारके सारे चराचर प्राणियोंकी सृष्टि करूँगा । मेरी जो चार मूर्तियाँ हैं, उनमें जो चौथी वासुदेव मूर्ति है, उसने अविनाशी शेषको उत्पन्न किया है ॥ ७२ ॥

स हि संकर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजीजनत् ।
प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहं सर्गो [illegible] पुनः पुनः ॥ ७३ ॥

'उस शेषको ही सङ्कर्षण कहा गया है । सङ्कर्षणने प्रद्युम्नको प्रकट किया है और प्रद्युम्नसे अनिरुद्धका आविर्भाव हुआ है । वह [illegible] मैं ही हूँ । बारबार उत्पन्न होनेवाला यह सृष्टि-विस्तार मेरा ही है ॥ ७३ ॥

अनिरुद्धात् तथा [illegible] तन्नाभिकमलोद्भवः ।
ब्रह्मणः सर्वभूतानि चराणि स्थावराणि च ॥ ७४ ॥

'मेरी अनिरुद्ध मूर्तिमें ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं, जिनका प्राकट्य मेरे नाभिकमलसे हुआ है। ब्रह्मासे समस्त चराचर भूत उत्पन्न हुए हैं ॥ ७४ ॥

एतां सृष्टिं विजानीहि कल्पादिषु पुनः पुनः।
यथा सूर्यस्य गगनादुदयास्तमने इह ॥ ७५ ॥

'कल्पके आदिमें बारंबार इस सृष्टिको मैं प्रकट करता हूँ (और अन्तमें इसका संहार कर डालता हूँ)। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो। जैसे आकाशसे सूर्यका उदय होता है और आकाशमें ही वह अस्त होता है—ये उदय-अस्तके क्रम सदा चलते रहते हैं (उसी प्रकार मुझसे ही जगत्‌की उत्पत्ति होती है और मुझमें ही उनका लय होता है। यह सृष्टि और संहारका क्रम यों ही चला करता है) ॥

नष्टे पुनर्बलात् काल आनयत्यमितद्युतिः।
तथा बलादहं पृथ्वीं सर्वभूतहिताय वै ॥ ७६ ॥

'जैसे अमिततेजस्वी काल सूर्यके अदृश्य होनेपर पुनः बलपूर्वक उसे दृष्टिपथमें ला देता है, उसी प्रकार मैं भी [illegible] प्राणियोंके हितके लिये इस पृथ्वीको समुद्रके जलसे बलपूर्वक ऊपर लाता हूँ' ॥ ७६ ॥

(*भीष्म उवाच*

नारदस्त्वथ पप्रच्छ भगवन्तं जनार्दनम्।
केषु केषु च भावेषु त्वं द्रष्टव्यो महाप्रभो ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर नारदजीने भगवान् जनार्दनसे पूछा—'महाप्रभो! किन-किन स्वरूपोंमें आपका दर्शन (और स्मरण) करना चाहिये?' ॥

श्रीभगवानुवाच

शृणु नारद तत्त्वेन प्रादुर्भावान् महामुने।
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहश्च वामनः ॥
रामो [illegible] रामश्च कृष्णः कल्की [illegible] ते दश।

श्रीभगवान् बोले—महामुनि नारद! तुम मेरे अवतारोंके नाम सुनो—मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि—ये दस अवतार हैं ॥

पूर्वं मीनो भविष्यामि स्थापयिष्याम्यहं प्रजाः ॥
लोकान् वेदान् धरिष्यामि मज्जमानान् महार्णवे।

पहले मैं 'मत्स्य' रूपसे प्रकट होऊँगा और [illegible] प्रजाको निर्भय अवस्थामें स्थापित करूँगा। महासागरमें डूबते हुए लोकों और वेदोंकी भी रक्षा करूँगा ॥

द्वितीयं कूर्मरूपं मे हेमकूटनिभं सुत ॥
मन्दरं धारयिष्यामि अमृतार्थे द्विजोत्तम।

वत्स! मेरा दूसरा अवतार होगा कूर्म—कच्छप। [illegible] समय मैं हेमकूट पर्वतके समान कच्छपरूप धारण करूँगा। द्विजश्रेष्ठ! जब देवता अमृतके लिये क्षीरसागरका मन्थन करेंगे, तब मैं अपनी पीठपर मन्दराचलको धारण करूँगा ॥

मग्नां महार्णवे घोरे भाराक्रान्तामिमां पुनः ॥)

सत्त्वैराक्रान्तसर्वाङ्गां नष्टां सागरमेखलाम्।
आनयिष्यामि स्वस्थानं वाराहं रूपमास्थितः ॥ ७७ ॥
हिरण्याक्षं वधिष्यामि दैतेयं बलगर्वितम्।

जिसके सारे अङ्ग प्राणियोंसे भरे हुए हैं तथा जो समुद्रसे घिरी हुई है, वही यह पृथ्वी जब भारी भारसे दबकर घोर महासागरमें निमग्न हो जायगी, उस समय मैं वाराहरूप धारण करके इसे पुनः अपने स्थानपर ला दूँगा। उसी समय बलके घमडमें भरे हुए हिरण्याक्ष नामक दैत्यका वध कर डालूँगा ॥ ७७½ ॥

नारसिंहं वपुः कृत्वा हिरण्यकशिपुं पुनः ॥ ७८ ॥
सुरकार्ये हनिष्यामि यज्ञघ्नं दितिनन्दनम्।

तदनन्तर देवताओंके कार्यके लिये नरसिंहरूप धारण करके यज्ञनाशक दितिनन्दन हिरण्यकशिपुका संहार कर डालूँगा ॥ ७८½ ॥

विरोचनस्य बलवान् बलिः पुत्रो महासुरः ॥ ७९ ॥
अवध्यः सर्वलोकानां सदेवासुररक्षसाम्।
भविष्यति [illegible] शक्रं वा स्वराज्याच्च्यावयिष्यति ॥ ८० ॥

विरोचनके एक बलवान् पुत्र होगा, जो महासुर बलिके नामसे विख्यात होगा। उसे देवता, असुर तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण लोक भी नहीं मार सकेंगे। वह इन्द्रको राज्यसे भ्रष्ट [illegible] देगा ॥ ७९-८० ॥

त्रैलोक्येऽपहृते तेन विमुखे च शचीपतौ।
अदित्यां द्वादशादित्यः सम्भविष्यामि कश्यपात् ॥ ८१ ॥

जब वह त्रिलोकीका अपहरण कर लेगा और शचीपति इन्द्र युद्धमें पीठ दिखाकर भाग जायँगे, उस समय मैं कश्यपजीके अंश और अदितिके गर्भसे बारहवाँ आदित्य वामन बनकर प्रकट होऊँगा ॥ ८१ ॥

(जटी गत्वा यज्ञसदः स्तूयमानो द्विजोत्तम।
यज्ञस्तवं करिष्यामि श्रुत्वा प्रीतो भवेद् बलिः ॥

द्विजश्रेष्ठ! उस समय [illegible] लोग मेरी स्तुति करेंगे और मैं जटाधारी ब्रह्मचारीके रूपमें बलिके यज्ञमण्डपमें जाकर उसके उस यज्ञकी भूरि-भूरि प्रशंसा करूँगा, जिसे सुनकर बलि बहुत प्रसन्न होगा ॥

किमिच्छसि वटो ब्रूहीत्युक्तो याचे महद् वरम्।
दीयतां त्रिपदीमात्रमिति याचे महासुरम् ॥

[illegible] कहेगा कि 'ब्रह्मचारी ब्राह्मण! बताओ, क्या चाहते हो?' तब मैं उससे महान् वरकी याचना करूँगा। मैं [illegible] महान् असुरसे कहूँगा कि 'मुझे तीन पग भूमिमात्र दे दो' ॥

[illegible] दद्यान्मयि सम्प्रीतः प्रतिषिद्धश्च मन्त्रिभिः।
यावज्जलं हस्तगतं त्रिभिर्विक्रमणैर्वृतम् ॥)
ततो राज्यं प्रदास्यामि शक्रायामिततेजसे।
देवताः स्थापयिष्यामि स्वस्वस्थानेषु नारद ॥ ८२ ॥

वह अपने मन्त्रियोंके मना करनेपर भी मुझपर प्रसन्न होनेके कारण वह वर मुझे दे देगा। ज्यों ही संकल्पका [illegible] मेरे हाथपर आयेगा, त्यों ही तीन पगोंसे त्रिलोकीको नापकर उसका सारा राज्य अमिततेजस्वी इन्द्रको समर्पित कर दूँगा। नारद! इस प्रकार मैं सम्पूर्ण देवताओंको अपने-अपने स्थानों-पर स्थापित कर दूँगा ॥ ८२ ॥

बलिं चैव करिष्यामि पातालतलवासिनम्।
दानवं च बलिं श्रेष्ठमवध्यं सर्वदैवतैः ॥ ८३ ॥

साथ ही-सम्पूर्ण देवताओंके लिये अवध्य [illegible] दानव बलिको भी पातालतलका निवासी बना दूँगा ॥ ८३ ॥

त्रेतायुगे भविष्यामि रामो भृगुकुलोद्वहः।
क्षत्रं चोत्सादयिष्यामि समृद्धबलवाहनम् ॥ ८४ ॥

फिर त्रेतायुगमें भृगुकुलभूषण परशुरामके रूपमें [illegible] होऊँगा और सेना तथा सवारियोंसे सम्पन्न क्षत्रियकुलका संहार कर डालूँगा ॥ ८४ ॥

संध्यांशे समनुप्राप्ते त्रेतायां द्वापरस्य च।
अहं दाशरथी रामो भविष्यामि जगत्पतिः ॥ ८५ ॥

तदनन्तर जब त्रेता और द्वापरकी सन्ध्या उपस्थित होगी, उस समय मैं जगत्पति दशरथनन्दन रामके रूपमें अवतार लूँगा॥

त्रितोपघाताद् वैरूप्यमेकतोऽथ द्वितस्तथा।
प्राप्स्येते वानरत्वं हि प्रजापतिसुतावृषी ॥ ८६ ॥

त्रित नामक मुनिके साथ विश्वासघात करनेके [illegible] एकत और द्वित—ये दो प्रजापतिके पुत्र ऋषि विरूप वानर-योनिको प्राप्त होंगे ॥ ८६ ॥

तयोर्ये त्वन्वये [illegible] भविष्यन्ति वनौकसः।
महाबला महावीर्याः शक्रतुल्यपराक्रमाः ॥ ८७ ॥

उन दोनोंके वंशमें जो वनवासी वानर जन्म लेंगे, वे महाबली, महापराक्रमी और इन्द्रके तुल्य पराक्रम प्रकट करनेमें समर्थ होंगे ॥ ८७ ॥

ते सहाया भविष्यन्ति सुरकार्ये [illegible] द्विज।
ततो रक्षःपतिं घोरं पुलस्त्यकुलपांसनम् ॥ ८८ ॥
हरिष्ये रावणं रौद्रं सगणं लोककण्टकम्।

ब्रह्मन्! ये देवकार्यकी सिद्धिके लिये मेरे सहायक होंगे। तदनन्तर [illegible] पुलस्त्यकुलाङ्गार भयंकर राक्षसराज रावणको, जो [illegible] जगत्के लिये भयावह होगा, उसके गणोंसहित मार डालूँगा ॥ ८८½ ॥

[illegible] कलेश्चैव संधौ पार्यवसानिके ॥ ८९ ॥
प्रादुर्भावः कंसहेतोर्मथुरायां भविष्यति।

फिर द्वापर और कलिकी सन्धिका [illegible] बीतते-बीतते कंसका वध करनेके लिये मथुरामें मेरा अवतार होगा ॥८९½॥

(कंसं केशिं तथा कालमरिष्टं च महासुरम्।
चाणूरं च महावीर्यं मुष्टिकं च महाबलम् ॥
[illegible] धेनुकं चैव अरिष्टं वृषरूपिणम्।
कालीयं [illegible] वशे कृत्वा यमुनायां महाह्रदे ॥
गोकुले [illegible] पश्चाद् गवार्थं तु महागिरिम्।
सप्तरात्रं धरिष्यामि वर्षमाणे तु वासवे ॥
अपक्रान्ते ततो वर्षे गिरिमूर्धन्यवस्थितः।
इन्द्रेण [illegible] संवादं करिष्यामि [illegible] द्विज ॥)

उस समय कंस, केशी, कालासुर, महादैत्य अरिष्टासुर, महापराक्रमी चाणूर, महाबली मुष्टिक, प्रलम्ब, धेनुकासुर तथा वृषभरूपधारी अरिष्टको मारकर यमुनाके विशाल कुण्डमें स्थित कालियनागको वशमें करके गोकुलमें इन्द्रके वर्षा करते समय गौओंकी रक्षाके लिये महान् पर्वत गोवर्धनको [illegible] दिन-रात अपने हाथसे छत्रकी भाँति धारण किये रहूँगा। ब्रह्मन्! [illegible] वर्षा बंद हो जायगी, [illegible] पर्वतके शिखरपर आरूढ़ हो मैं इन्द्रके [illegible] संवाद करूँगा ॥

तत्राहं दानवान् हत्वा सुबहून् देवकण्टकान् ॥ ९० ॥
कुशस्थलीं करिष्यामि निवेशं द्वारकां पुरीम्।

वहाँ मैं बहुत-से देवकण्टक दानवोंको मारकर कुशस्थली-को द्वारकापुरीके नामसे बसाऊँगा और उसीमें निवास करूँगा॥

वसानस्तत्र वै पुर्यामदितेर्विप्रियंकरम् ॥ ९१ ॥
हनिष्ये नरकं भौमं मुरं पीठं च दानवम्।
प्राग्ज्योतिषं पुरं रम्यं नानाधनसमन्वितम् ॥ ९२ ॥
कुशस्थलीं नयिष्यामि हत्वा वै दानवोत्तमम्।

वहाँ रहकर देवमाता अदितिका अप्रिय करनेवाले भूमि पुत्र नरकासुर, मुर तथा पीठ नामक दानवोंका संहार करूँगा। [illegible] प्रकारके धन-धान्यसे सम्पन्न जो प्राग्ज्योतिषपुर नामक रमणीय नगर है, वहाँ दानवराज नरकका [illegible] करके उसका [illegible] वैभव कुशस्थलीमें पहुँचा दूँगा ॥ ९१-९२½ ॥

(कृकलासं नृगं चैव मोचयिष्ये ह वै पुनः।
तत्र पौत्रनिमित्तेन [illegible] शोणितं पुरम्।
[illegible] पुरं [illegible] करिष्ये कदनं महत् ॥)

गिरगिटकी योनिमें पड़े हुए राजा नृगका भी उद्धार करूँगा। उसी अवतारमें अपने पौत्र अनिरुद्धके निमित्त बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरमें जाकर वहाँकी असुरसेना-का महान् संहार कर डालूँगा ॥

महेश्वरमहासेनौ बाणप्रियहितैषिणौ ॥ ९३ ॥
पराजेष्याम्यथोद्युक्तौ देवौ लोकनमस्कृतौ।

बाणासुरका प्रिय और हित चाहनेवाले विश्ववन्दित देवता भगवान् शङ्कर और कार्तिकेय भी जब मेरे [illegible] युद्धके लिये [illegible] होंगे, [illegible] उन दोनोंको पराजित कर दूँगा ॥ ९३½ ॥

ततः [illegible] बलेर्जित्वा बाणं बाहुसहस्रिणम् ॥ ९४ ॥
विनाशयिष्यामि [illegible] सर्वान् सौभनिवासिनः।

तदनन्तर सहस्र भुजाओंसे सुशोभित बलिपुत्र बाणासुरको पराजित करके शाल्वके सौभ विमानमें रहनेवाले समस्त योद्धाओंका विनाश [illegible] डालूँगा ॥ ९४½ ॥

यः कालयवनः ख्यातो गर्गतेजोऽभिसंवृतः ॥ ९५ ॥
भविष्यति वधस्तस्य मत्त एव द्विजोत्तम ।

द्विजोत्तम ! गर्गाचार्यके तेजसे उत्पन्न होकर शक्तिशाली बना हुआ जो कालयवन नामक विख्यात असुर होगा, उसका वध भी मेरे ही द्वारा सम्भव होगा ॥ ९५½ ॥

जरासंधश्च बलवान् सर्वराजविरोधनः ॥ ९६ ॥
भविष्यत्यसुरः स्फीतो भूमिपालो गिरिव्रजे ।
मम बुद्धिपरिस्पन्दाद् वधस्तस्य भविष्यति ॥ ९७ ॥

गिरिव्रजमें जरासंध नामक एक बहुत समृद्धिशाली और बलवान् असुर राजा होगा, जो सम्पूर्ण राजाओंसे वैर मोल लेता फिरेगा। मेरे ही बौद्धिक प्रयत्नसे उसका भी वध हो सकेगा ॥ ९६-९७ ॥

शिशुपालं वधिष्यामि यज्ञे धर्मसुतस्य वै ।
समागतेषु बलिषु पृथिव्यां सर्वराजसु ॥ ९८ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरके यज्ञमें भूमण्डलके समस्त बलवान् राजा पधारेंगे, उनके बीचमें मैं शिशुपालका वध कर डालूँगा॥

वासविः सुसहायो वै मम ह्येको भविष्यति ।
युधिष्ठिरं स्थापयिष्ये स्वराज्ये भ्रातृभिः सह ॥ ९९ ॥

एकमात्र इन्द्रकुमार अर्जुन मेरा सखा एवं सुन्दर सहायक होगा। मैं राजा युधिष्ठिरको उनके भाइयोंसहित पुनः राजपदपर प्रतिष्ठित करूँगा ॥ ९९ ॥

एवं लोका वदिष्यन्ति नरनारायणावृषी ।
उद्युक्तौ दहतः क्षत्रं लोककार्यार्थमीश्वरौ ॥१००॥

उस समयके लोग कहेंगे कि 'ये ईश्वररूप नर और नारायण नामक ऋषि ही एक साथ उद्यत हो लोकहितके लिये क्षत्रियजातिका संहार कर रहे हैं ॥ १०० ॥

कृत्वा भारावतरणं वसुधाया यथेप्सितम् ।
सर्वसात्वतमुख्यानां द्वारकायाश्च सत्तम ॥१०१॥
करिष्ये प्रलयं घोरमात्मज्ञातिविनाशनम् ।

साधुशिरोमणे ! पृथ्वीदेवीकी इच्छाके अनुसार [illegible] भार उतारकर मैं द्वारकाके [illegible] यादवशिरोमणियोंका [illegible] करके अपनी जातिका विनाशरूप घोर कर्म करूँगा॥१०१½॥

कर्माण्यपरिमेयाणि चतुर्मूर्तिधरो ह्यहम् ॥१०२॥
कृत्वा लोकान् गमिष्यामि स्वानहं ब्रह्मसत्कृतान् ।

श्रीकृष्ण, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार स्वरूपोंका धारण करनेवाला मैं असंख्य कर्म करके ब्रह्माजीके द्वारा सम्मानित अपने धामको चला जाऊँगा ॥ १०२½ ॥

हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावा द्विजोत्तम ॥१०३॥
वराहो नरसिंहश्च वामनो राम [illegible] च ।
रामो दाशरथिश्चैव सात्वतः कल्किरेव च ॥१०४॥

द्विजश्रेष्ठ ! हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, [illegible] परशुराम, दशरथनन्दन राम, यदुवंशी श्रीकृष्ण तथा कल्कि— ये सब मेरे अवतार हैं ॥ १०३-१०४ ॥

यदा वेदश्रुतिर्नष्टा मया प्रत्याहृता पुनः ।
सवेदाः सश्रुतीकाश्च कृताः पूर्वं कृते युगे ॥१०५॥

जब जब वेद-श्रुति लुप्त हुई है, तब तब अवतार लेकर मैंने पुनः उसे प्रकाशमें ला दिया है। मैंने ही पहले सत्ययुगमें वेदोंसहित श्रुतियोंको प्रकट किया था ॥ १०५ ॥

अतिक्रान्ताः पुराणेषु श्रुतास्ते यदि वा क्वचित् ।
अतिक्रान्ताश्च बहवः प्रादुर्भावा ममोत्तमाः ॥१०६॥

मेरे जो अवतार [illegible] व्यतीत हो चुके हैं, उन्हें सम्भवतः तुमने पुराणोंमें सुना होगा। मेरे कई उत्तमोत्तम अवतार हो चुके हैं ॥ १०६ ॥

लोककार्याणि कृत्वा च पुनः स्वां प्रकृतिं गताः ।
न ह्येतद् ब्रह्मणा प्राप्तमीदृशं मम दर्शनम् ॥१०७॥
यत् त्वया प्राप्तमद्येह एकान्तगतबुद्धिना ।

वे अवतार लोकहितके कार्य सम्पन्न करके पुनः अपने मूलस्वरूपमें मिल गये हैं। मुझमें अनन्य भक्ति रखनेके कारण आज तुमने यहाँ जिस स्वरूपका दर्शन पाया है, मेरे ऐसे स्वरूपका दर्शन अबतक ब्रह्माको भी नहीं प्राप्त [illegible] सका है ॥ १०७½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं ब्रह्मन् भक्तिमतो मया॥१०८॥
पुराणं [illegible] भविष्यं च सरहस्यं च सत्तम ।

ब्रह्मन् ! साधुप्रवर ! तुम मुझमें भक्तिभाव रखनेवाले हो, इसलिये मैंने तुमसे भूत और भविष्यके सारे अवतारोंका रहस्यसहित वर्णन किया है ॥ १०८½ ॥

भीष्म उवाच

एवं [illegible] भगवान् देवो विश्वमूर्तिधरोऽव्ययः ॥१०९॥
एतावदुक्त्वा वचनं तत्रैवान्तर्दधे पुनः ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! विश्वरूपधारी अविनाशी भगवान् नारायणदेव इतनी [illegible] कहकर वहीं पुनः अन्तर्धान हो गये ॥ १०९½ ॥

नारदोऽपि महातेजाः प्राप्यानुग्रहमीप्सितम् ॥११०॥
नरनारायणौ द्रष्टुं बदर्याश्रममाद्रवत् ।

तब महातेजस्वी नारदजी भी भगवान्‌का मनोवाञ्छित अनुग्रह पाकर नर नारायणका दर्शन करनेके लिये बदरिकाश्रमकी ओर चल दिये ॥ ११०½ ॥

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् ॥१११॥
सांख्ययोगकृतं तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम् ।
नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः ॥११२॥
ब्रह्मणः सदने [illegible] यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।

यह महान् उपनिषद् (ज्ञान) चारों वेदोंके विज्ञानसे सम्पन्न है। इसमें सांख्य और योगका सिद्धान्त कूट-कूटकर भरा है। इसकी पाञ्चरात्र आगमके नामसे प्रसिद्धि है। साक्षात् नारायणके मुखसे इसका गान हुआ है। तात ! इस

विषयको नारदजीने श्वेतद्वीपमें जैसा देखा और सुना [illegible] वैसा ही ब्रह्माजीके भवनमें सुनाया था ॥ १११-११२½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एतदाश्चर्यभूतं हि माहात्म्यं [illegible] धीमतः ॥११२॥
किं वै ब्रह्मा न जानीते यतः शुश्राव नारदात् ।

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! बुद्धिमान् नारायणदेवका माहात्म्य तो बड़ा ही आश्चर्यमय है । क्या ब्रह्माजी इसे नहीं जानते थे कि नारदजीके मुखसे इसका श्रवण किया ? ॥

पितामहोऽपि भगवांस्तस्माद् देवादनन्तरः ॥११४॥
कथं स न विजानीयात् प्रभावममितौजसः ।

भगवान् ब्रह्मा तो उन्हीं नारायणसे प्रकट हुए हैं। फिर वे उन महातेजस्वी नारायणका प्रभाव कैसे नहीं जानते होंगे ? ॥ ११४½ ॥

भीष्म उवाच

महाकल्पसहस्राणि महाकल्पशतानि च ॥११५॥
समतीतानि राजेन्द्र सर्गाश्च प्रलयाश्च ह ।
सर्गस्यादौ स्मृतो ब्रह्मा प्रजासर्गकरः प्रभुः ॥११६॥

भीष्मजीने कहा—राजेन्द्र ! अबतक सैकड़ों और हजारों महाकल्प बीत चुके हैं, कितने ही सर्ग और प्रलय समाप्त हो चुके [illegible] । सर्गके आरम्भमें ब्रह्माजी ही प्रजावर्गके सृष्टिकर्ता माने गये हैं [illegible] ११५-११६ ॥

जानाति देवप्रवरं भूयश्चातोऽधिकं नृप ।
परमात्मानमीशानमात्मनः प्रभवं तथा ॥११७॥

नरेश्वर ! वे अपनी उत्पत्तिके कारणभूत देवप्रवर नारायणको इससे भी अधिक जानते हैं । उन्हें सर्वेश्वर और परमात्मा समझते हैं ॥ ११७ ॥

ये त्वन्ये ब्रह्मसदने सिद्धसंघाः समागताः ।
तेभ्यस्तच्छ्रावयामास पुराणं वेदसम्मितम् ॥११८॥

ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके अलावा जो दूसरे-दूसरे सिद्धसमुदाय निवास करते हैं, उनके लिये नारदजीने यह वेदतुल्य पुरातन पाञ्चरात्र सुनाया था ॥ ११८ ॥

तेषां सकाशात् सूर्यस्तु श्रुत्वा वै भावितात्मनाम् ।
आत्मानुगामिनां राजन् श्रावयामास वै ततः ॥११९॥
षट् षष्टिर्हि सहस्राणि ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
सूर्यस्य तपतो लोकान् निर्मिता ये पुरःसराः ॥१२०॥
तेषामकथयत् सूर्यः सर्वेषां भावितात्मनाम् ।

पवित्र अन्तःकरणवाले उन सिद्धोंके मुखसे भगवान् सूर्यने इस माहात्म्यको सुना । राजन् ! सूर्यने सुनकर अपने पीछे चलनेवाले साठ हजार भावितात्मा मुनियोंको इसका श्रवण कराया । लोकमें तपते हुए सूर्यके आगे चलनेके लिये जिन ऋषियोंकी सृष्टि हुई है, उन भावितात्माओंको भी सूर्यदेवने भगवान्‌की यह महिमा सुनायी थी ॥११९-१२०½॥

सूर्यानुगामिभिस्तात ऋषिभिस्तैर्महात्मभिः ॥१२१॥
मेरौ समागता देवाः श्राविताश्चेदमुत्तमम् ।

तात ! सूर्यदेवका अनुसरण करनेवाले उन महात्मा ऋषियोंने मेरुपर्वतपर आये हुए देवताओंको वह उत्तम माहात्म्य सुनाया था ॥ १२१½ ॥

देवानां तु सकाशाद् वै ततः श्रुत्वासितो द्विजः ॥१२२॥
श्रावयामास राजेन्द्र पितृणां मुनिसत्तमः ।

राजेन्द्र ! मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मण असितने देवताओंके मुखसे [illegible] माहात्म्यको सुनकर पितरोंको सुनाया ॥ १२२½ ॥

(एवं परम्पराख्यातमिदं शान्तनुमाश्रितम्)
[illegible] चापि पिता [illegible] कथयामास शान्तनुः ॥१२३॥

इस प्रकार परम्परया प्राप्त होकर यह उत्तम ज्ञान महाराज शान्तनुको मिला । [illegible] ! फिर पिता शान्तनुने मुझे इसका उपदेश दिया ॥ १२३ ॥

ततो मयापि श्रुत्वा च कीर्तितं तव भारत ।
सुरैर्वा मुनिभिर्वापि पुराणं यैरिदं श्रुतम् ॥१२४॥
सर्वे ते परमात्मानं पूजयन्ते समन्ततः ।

भरतनन्दन ! पिताजीके मुखसे इस प्रसङ्गको सुनकर मैंने अब तुमसे इसका वर्णन किया है । देवताओं, मुनियों अथवा जिन लोगोंने भी इस पुरातन ज्ञानको सुना है, वे सभी सब ओर परमात्माका पूजन करते हैं ॥ १२४½ ॥

इदमाख्यानमार्षेयं पारम्पर्यागतं नृप ॥१२५॥
नावासुदेवभक्ताय त्वया देयं कथंचन ।

नरेश्वर ! इस प्रकार यह ऋषिसम्बन्धी आख्यान परम्परासे प्राप्त हुआ है । जो भगवान् वासुदेवका भक्त न हो, उसे किसी तरह भी इसका उपदेश तुम्हें नहीं देना चाहिये ॥ १२५½ ॥

(आख्यानमुत्तमं चेदं श्रावयेद् यः सदा नृप ।
तदैव मनुजो भक्तः शुचिर्भूत्वा समाहितः ॥
प्राप्नुयादचिराद् राजन् विष्णुलोकं सनातनम् ।)

नरेश्वर ! जो मनुष्य सदा इस उत्तम उपाख्यानको सुनायेगा, वह भक्त मनुष्य पवित्र एवं एकाग्रचित्त होकर शीघ्र ही भगवान् विष्णुके सनातनलोकको प्राप्त होगा ॥

मत्तोऽन्यानि च ते राजन्नुपाख्यानशतानि वै ॥१२६॥
यानि श्रुतानि सर्वाणि तेषां सारोऽयमुद्धृतः ।

राजन् ! तुमने मुझसे जो अन्य सैकड़ों उपाख्यान सुने हैं, उन सबका यह सारभाग निकालकर तुम्हारे सामने रक्खा गया है ॥ १२६½ ॥

सुरासुरैर्यथा राजन् निर्मथ्यामृतमुद्धृतम् ॥१२७॥
एवमेतत् पुरा विप्रैः कथामृतमिहोद्धृतम् ।

युधिष्ठिर ! जैसे देवताओं और असुरोंने समुद्रको मथकर उससे अमृत निकाला था, उसी प्रकार प्राचीनकालमें ब्राह्मणोंने सारे शास्त्रोंको मथकर इस अमृतमयी कथाको यहाँ प्रकाशित किया [illegible] १२७½ ॥

यश्चेदं पठते नित्यं यश्चेदं शृणुयान्नरः ॥१२८॥
एकान्तभावोपगत एकान्तेषु समाहितः ।
प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं भूत्वा चन्द्रप्रभो नरः ॥१२९॥
स सहस्रार्चिषं देवं प्रविशेन्नात्र संशयः ।

जो मनुष्य प्रतिदिन इसका पाठ करेगा और जो इसे सदा सुनेगा, वह भगवान्‌के प्रति अनन्यभावको प्राप्त होकर उनके अनन्य भक्तोंमें एकाग्रचित्तसे अनुरक्त हो श्वेतनामक महाद्वीपमें पहुँच जायगा और वह मनुष्य चन्द्रमाके समान कान्तिमान् रूप धारण करके उन सहस्रों किरणोंवाले भगवान् नारायण-देवमें प्रवेश करेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ १२८-१२९½ ॥

मुच्येदार्तस्तथा रोगाच्छ्रुत्वेमामादितः कथाम् ॥१३०॥
जिज्ञासुर्लभते कामान् भक्तो भक्तगतिं व्रजेत् ।

इस कथाको आदिसे ही सुनकर रोगी रोगसे मुक्त हो जायगा, जिज्ञासु पुरुषको इच्छानुसार ज्ञान प्राप्त होगा और भक्त पुरुष भक्तजनोचित गतिको प्राप्त होगा ॥ १३०½ ॥

त्वयापि सततं राजन्नभ्यर्च्यः पुरुषोत्तमः ॥१३१॥
स हि माता पिता चैव कृत्स्नस्य जगतो गुरुः ।

राजन् ! तुम्हें भी सदा ही भगवान् पुरुषोत्तमकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि वे ही सम्पूर्ण जगत्‌के माता, पिता और गुरु हैं ॥ १३१½ ॥

ब्रह्मण्यदेवो भगवान् प्रीयतां ते सनातनः ॥१३२॥
युधिष्ठिर महाबाहो महाबुद्धिर्जनार्दनः ।

महाबाहु युधिष्ठिर ! ब्राह्मणहितैषी परम बुद्धिमान् सनातन पुरुष भगवान् जनार्दन देव तुमपर सदा प्रसन्न रहें ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतदाख्यानवरं धर्मराड् जनमेजय ॥१३३॥
भ्रातरश्चास्य ते सर्वे नारायणपराऽभवन् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस उत्तम उपाख्यानको सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर और उनके सभी भाई भगवान् नारायणके परम भक्त हो गये ॥ १३३½ ॥

जितं भगवता तेन पुरुषेणेति भारत ॥१३४॥
नित्यं जप्यपरा भूत्वा सरस्वतीमुदीरयन् ।

भरतनन्दन ! वे नित्यप्रति भगवन्नामके जपमें तत्पर होकर 'भगवान् पुरुषोत्तमकी जय हो' ऐसी वाणी बोला करते थे ॥ १३४½ ॥

यो ह्यस्माकं गुरुश्रेष्ठः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥१३५॥
जगौ परमकं जप्यं नारायणमुदीरयन् ।

जो हमारे परमगुरु मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास हैं, वे भी परम उत्तम नारायणमन्त्रका जप करते हुए निरन्तर उनकी महिमाका गान करते रहते हैं ॥ १३५½ ॥

गत्वान्तरिक्षात् सततं क्षीरोदममृताशयम् ॥१३६॥
पूजयित्वा च देवेशं पुनरायात् स्वमाश्रमम् ।

व्यासजी सदा ही आकाशमार्गसे अमृतनिधि क्षीरसागर-के तटपर जाकर देवेश्वर श्रीहरिकी पूजा करनेके पश्चात् पुनः अपने आश्रमपर लौट आते हैं ॥ १३६½ ॥

भीष्म उवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं नारदोक्तं मयेरितम् ॥१३७॥
पारम्पर्यागतं ह्येतत् पित्रा मे कथितं पुरा ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! नारदजीका कहा हुआ यह सारा उपाख्यान मैंने तुमसे कह सुनाया। यह पूर्व-परम्परासे पहले मेरे पिताजीको प्राप्त हुआ । फिर पिताजीने मुझसे कहा था ॥ १३७½ ॥

सौतिरुवाच

एतत् ते सर्वमाख्यातं वैशम्पायनकीर्तितम् ॥१३८॥
जनमेजयेन तच्छ्रुत्वा कृतं सम्यग् यथाविधि ।
यूयं हि तप्ततपसः सर्वे च चरितव्रताः ॥१३९॥

सूतपुत्र बोले—शौनक ! वैशम्पायनजीका कहा हुआ यह सारा आख्यान मैंने तुमसे कहा है । जनमेजयने इसे सुनकर उत्तम विधिपूर्वक भगवान्‌का यजन किया । तुमलोग भी तपस्वी और व्रतका पालन करनेवाले हो ॥१३८-१३९॥

सर्वे वेदविदो मुख्या नैमिषारण्यवासिनः ।
शौनकस्य महासत्रं प्राप्ताः सर्वे द्विजोत्तमाः ॥१४०॥

नैमिषारण्यमें निवास करनेवाले प्रायः सभी ऋषि प्रमुख वेदवेत्ता हैं और सभी श्रेष्ठ द्विज शौनकके इस महायज्ञमें एकत्र हुए हैं ॥ १४० ॥

यजध्वं सुहुतैर्यज्ञैः शाश्वतं परमेश्वरम् ।
पारम्पर्यागतं ह्येतत् पित्रा मे कथितं पुरा ॥१४१॥

आप सब लोग विधिवत् हवन करके उत्तम यज्ञोंद्वारा उन सनातन परमेश्वरका यजन करें । यह परम्परासे प्राप्त हुआ उत्तम आख्यान मेरे पिताने पहले-पहल मुझसे कहा था ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये एकोनचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणका माहात्म्यविषयक तीन सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३३९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५½ श्लोक मिलाकर कुल १५६½ श्लोक हैं)

चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका अपने शिष्योंको भगवान्‌द्वारा ब्रह्मादि देवताओंसे कहे हुए प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप धर्मके उपदेशका रहस्य बताना

शौनक उवाच

कथं स भगवान् देवो यज्ञेष्वग्रहरः प्रभुः ।
यज्ञधारी च सततं वेदवेदाङ्गवित् तथा ॥ १ ॥

शौनकजीने कहा—सूतनन्दन ! वे प्रभु

शाली वेदवेद्य भगवान् नारायणदेव यज्ञोंमे प्रथम भाग ग्रहण करनेवाले माने गये हैं तथा वे ही वेदों और वेदाङ्गोंके ज्ञाता परमेश्वर नित्य निरन्तर यज्ञधारी (यज्ञकर्ता) भी बताये गये हैं। एक ही भगवान्में यज्ञोंके कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों कैसे सम्भव होते हैं ? ॥ १ ॥

निवृत्तं चास्थितो धर्मं क्षमी भागवतः प्रभुः।
निवृत्तिधर्मान् विदधे स एव भगवान् प्रभुः॥ २ ॥

सबके स्वामी क्षमाशील भगवान् नारायण स्वयं तो निवृत्तिधर्ममे ही स्थित हैं और उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान्ने निवृत्तिधर्मोंका विधान किया है ॥ २ ॥

कथं प्रवृत्तिधर्मेषु भागार्हा देवताः कृताः।
कथं निवृत्तिधर्माश्च [illegible] व्यावृत्तबुद्धयः॥ ३ ॥

इस प्रकार निवृत्तिधर्मावलम्बी होते हुए भी उन्होंने देवताओंको प्रवृत्तिधर्मोंमें अर्थात् यज्ञादि कर्मोंमें भाग लेनेका अधिकारी क्यों बनाया ? तथा ऋषि-मुनियोंको विषयोंमे विरक्तबुद्धि और निवृत्तिधर्मपरायण किस कारण बनाया ? ॥

एतं [illegible] संशयं सौते छिन्धि गुह्यं सनातनम्।
त्वया नारायणकथाः श्रुता वै धर्मसंहिताः॥ ४ ॥

सूतनन्दन ! यह गूढ संदेह हमारे मनमे सदा उठता रहता है, आप इसका निवारण कीजिये; क्योंकि आपने भगवान् नारायणकी बहुत-सी धर्मसङ्गत कथाएँ सुन रक्खी हैं ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच

जनमेजयेन यत् पृष्टः शिष्यो व्यासस्य धीमतः।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि पौराणं शौनकोत्तम॥ ५ ॥

सूतपुत्रने कहा—मुनिश्रेष्ठ शौनक ! राजा जनमेजयने बुद्धिमान् व्यासजीके शिष्य वैशम्पायनजीके सम्मुख जो प्रश्न उपस्थित किया था, उस पुराणप्रोक्त विषयका मैं तुम्हारे सामने वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥

श्रुत्वा माहात्म्यमेतस्य देहिनां परमात्मनः।
जनमेजयो महाप्राज्ञो वैशम्पायनमब्रवीत्॥ ६ ॥

परम बुद्धिमान् जनमेजयने समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप इन परमात्मा नारायणदेवका माहात्म्य सुनकर उनसे इस प्रकार कहा ॥ ६ ॥

जनमेजय उवाच

[illegible] सब्रह्मका लोकाः ससुरासुरमानवाः।
क्रियास्वभ्युदयोक्तासु सक्ता दृश्यन्ति सर्वशः॥ ७ ॥

जनमेजय बोले—मुने ! ब्रह्मा, देवगण, असुरगण तथा मनुष्योंसहित ये समस्त लोक लौकिक अभ्युदयके लिये बताये गये कर्मोंमें ही आसक्त देखे जाते हैं ॥ ७ ॥

मोक्षश्चोक्तस्त्वया ब्रह्मन् निर्वाणं परमं सुखम्।
ये तु मुक्ता भवन्तीह पुण्यपापविवर्जिताः॥ ८ ॥
ते सहस्रार्चिषं देवं प्रविशन्तीह शुश्रुम।

ब्रह्मन् ! परंतु आपने मोक्षको परम शान्ति एवं परम सुखस्वरूप बताया है। जो मुक्त होते हैं, वे पुण्य और पापसे रहित हो सहस्रों किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले भगवान् नारायणदेवमें प्रवेश करते हैं, यह बात मैंने सुन रक्खी है ।८½।

अयं हि दुरनुष्ठेयो मोक्षधर्मः सनातनः॥ ९ ॥
यं हित्वा देवताः सर्वा हव्यकव्यभुजोऽभवन्।

किंतु यह सनातन मोक्षधर्म अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है, जिसे छोड़कर [illegible] देवता हव्य और कव्योंके भोक्ता बन गये हैं ॥ ९½ ॥

किं च ब्रह्मा च रुद्रश्च [illegible] बलभित् प्रभुः॥ १० ॥
सूर्यस्ताराधिपो वायुरग्निर्वरुण एव च।
आकाशं जगती चैव ये च शेषा दिवौकसः॥ ११ ॥
प्रलयं न विजानन्ति आत्मनः परिनिर्मितम्।
ततस्तेनास्थिता मार्गं ध्रुवमक्षरमव्ययम्॥ १२ ॥

इनके सिवा ब्रह्मा, रुद्र और बलासुरका वध करनेवाले सामर्थ्यशाली इन्द्र एवं सूर्य, तारापति चन्द्रमा, वायु, अग्नि, वरुण, आकाश, पृथ्वी तथा जो अवशिष्ट देवता बताये गये हैं, वे सब क्या परमात्माके रचे हुए अपने मोक्षमार्गको नहीं जानते हैं ? जिससे कि निश्चल, क्षयशून्य एवं अविनाशी मार्गका आश्रय नहीं लेते हैं ? ॥ १०—१२ ॥

स्मृत्वा कालपरीमाणं प्रवृत्तिं ये समास्थिताः।
दोषः कालपरीमाणे महानेष क्रियावताम्॥ १३ ॥

जो लोग नियत कालतक प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फलोंको लक्ष्य करके प्रवृत्तिमार्गका आश्रय लेते हैं, उन कर्मपरायण पुरुषोंके लिये यही सबसे बड़ा दोष है कि वे कालकी सीमामे आबद्ध रहकर ही कर्मका फल भोग करते हैं ॥ १३ ॥

एतन्मे संशयं विप्र हृदि शल्यमिवार्पितम्।
छिन्धीतिहासकथनात् परं कौतूहलं हि मे॥ १४ ॥

विप्रवर ! यह संशय मेरे हृदयमें काँटेके समान चुभता है। आप इतिहास सुनाकर मेरे संदेहका निवारण करें। मेरे मनमें इस विषयको जाननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥

कथं भागहराः प्रोक्ता देवताः क्रतुषु द्विज।
किमर्थं चाध्वरे ब्रह्मन्निज्यन्ते त्रिदिवौकसः॥ १५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! देवताओंको यज्ञोंमे भाग लेनेका अधिकारी क्यों बताया गया है ? ब्रह्मन् ! स्वर्गलोकमे निवास करनेवाले देवताओंकी ही यज्ञमें किसलिये पूजा की जाती है ? ॥ १५ ॥

ये च भागं प्रगृह्णन्ति यज्ञेषु द्विजसत्तम।
ते यजन्तो महायज्ञैः कस्य भागं ददन्ति वै॥ १६ ॥

ब्राह्मणशिरोमणे ! जो यज्ञोंमें भाग ग्रहण करते हैं, वे देवता जब स्वयं महायज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, तब किसको भाग समर्पित करते हैं ? ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

अहो गूढतमः प्रश्नस्त्वया पृष्टो जनेश्वर।

नातप्ततपसा ह्येष नावेदविदुषा तथा ॥ १७ ॥
नापुराणविदा चैव शक्यो व्याहर्तुमञ्जसा ।

वैशम्पायनजीने कहा—जनेश्वर ! तुमने बड़ा गूढ़ प्रश्न उपस्थित किया है। जिसने तपस्या नहीं की है तथा जो वेदों और पुराणोंका विद्वान् नहीं है, वह मनुष्य अनायास ही ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता ॥ १७½ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मे पृष्टः पुरा गुरुः ॥ १८ ॥
कृष्णद्वैपायनो व्यासो वेदव्यासो महानृषिः ।

अब मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देता हूँ। पूर्वकालमें मेरे पूछनेपर वेदोंका विस्तार करनेवाले गुरुदेव महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने जो कुछ बताया था, वही मैं तुमसे कहूँगा ॥ १८½ ॥

सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव पैलश्च सुदृढव्रतः ॥ १९ ॥
अहं चतुर्थः शिष्यो वै पञ्चमश्च शुकः स्मृतः ।

सुमन्तु, जैमिनि, दृढतापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पैल—इन तीनके सिवा व्यासजीका चौथा शिष्य मैं ही हूँ और पाँचवें शिष्य उनके पुत्र शुकदेव माने गये हैं ॥ १९½ ॥

एतान् समागतान् सर्वान् पञ्च शिष्यान् दमान्वितान् ॥ २० ॥
शौचाचारसमायुक्ताञ्जितक्रोधाञ्जितेन्द्रियान् ।
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ॥ २१ ॥

ये पाँचों शिष्य इन्द्रियदमन एवं मनोनिग्रहसे सम्पन्न, शौच तथा सदाचारसे संयुक्त, क्रोधशून्य और जितेन्द्रिय हैं। अपनी सेवामें आये हुए इन सभी शिष्योंको व्यासजीने चारों वेदों तथा पाँचवें वेद महाभारतका अध्ययन कराया। २०-२१।

मेरौ गिरिवरे रम्ये सिद्धचारणसेविते ।
तेषामभ्यस्यतां वेदान् कदाचित् संशयोऽभवत् ॥ २२ ॥
एष वै यस्त्वया पृष्टस्तेन तेषां प्रकीर्तितः ।
[illegible] श्रुतो मया चापि तवाख्येयोऽद्य भारत ॥ २३ ॥

सिद्धों और चारणोंसे सेवित गिरिवर मेरुके रमणीय शिखरपर वेदाभ्यास करते हुए हम सब शिष्योंके मनमें किसी समय यही संदेह उत्पन्न हुआ, जिसे आज तुमने पूछा है। भारत ! व्यासजीने हम शिष्योंको जो उत्तर दिया, उसे मैंने भी उन्हींके मुखसे सुना था। वही आज तुम्हें भी बताता हूँ ॥

शिष्याणां वचनं श्रुत्वा सर्वाज्ञानतमोनुदः ।
पराशरसुतः श्रीमान् व्यासो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ २४ ॥

अपने शिष्योंका संशययुक्त वचन सुनकर सबके अज्ञानान्धकारका निवारण करनेवाले पराशरनन्दन श्रीमान् व्यासजीने यह बात कही—॥ २४ ॥

मया हि सुमहत् [illegible] तपः परमदारुणम् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च जानीयामिति सत्तमाः ॥ २५ ॥

'साधु पुरुषोंमें श्रेष्ठ शिष्यगण ! एक समयकी [illegible] है कि मैंने भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका ज्ञान [illegible] करनेके लिये अत्यन्त कठोर और बड़ी भारी तपस्या की ॥

[illegible] मे तप्ततपसो निगृहीतेन्द्रियस्य च ।
नारायणप्रसादेन क्षीरोदस्यानुकूलतः ॥ २६ ॥
त्रैकालिकमिदं ज्ञानं प्रादुर्भूतं यथेप्सितम् ।
तच्छृणुध्वं यथान्यायं वक्ष्ये संशयमुत्तमम् ॥ २७ ॥

'जब मैं इन्द्रियोंको वशमें करके अपनी तपस्या पूर्ण कर चुका, तब भगवान् नारायणके कृपाप्रसादसे क्षीरसागरके तटपर मुझे मेरी इच्छाके अनुसार यह तीनों कालोंका ज्ञान प्राप्त हुआ। अतः मैं तुम्हारे संदेहके निवारणके लिये उत्तम एवं न्यायोचित बात कहूँगा। तुमलोग ध्यान देकर सुनो ॥

यथा वृत्तं हि कल्पादौ दृष्टं मे ज्ञानचक्षुषा ।
परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविदो जनाः ॥ २८ ॥
महापुरुषसंज्ञां स लभते स्वेन कर्मणा ।
तस्मात् प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तं विदुर्बुधाः ॥ २९ ॥

'कल्पके आदिमें जैसा वृत्तान्त घटित हुआ था और जिसे मैंने ज्ञानदृष्टिसे देखा था, वह सब बता रहा हूँ। सांख्य और योगके विद्वान् जिन्हें परमात्मा कहते हैं, वे ही अपने कर्मके प्रभावसे महापुरुष नाम धारण करते हैं। उन्हींसे अव्यक्तकी उत्पत्ति हुई है, जिसे विद्वान् पुरुष प्रधानके नामसे भी जानते हैं ॥ २८-२९ ॥

अव्यक्ताद् व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात् ।
अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मेति कथ्यते ॥ ३० ॥

'जगत्की सृष्टिके लिये उन्हीं महापुरुष और अव्यक्तसे व्यक्तकी उत्पत्ति हुई, जिसे सम्पूर्ण लोकोंमें अनिरुद्ध एवं महान् आत्मा कहते हैं ॥ ३० ॥

योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम् ।
सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि [illegible] ॥ ३१ ॥

'व्यक्तभावको [illegible] हुए उन्हीं अनिरुद्धने पितामह ब्रह्माकी सृष्टि की। वे ब्रह्मा सम्पूर्ण तेजोमय हैं और उन्हींको समष्टि अहंकार कहा गया है ॥ ३१ ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
अहंकारप्रसूतानि महाभूतानि पञ्चधा ॥ ३२ ॥

'पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये पाँच सूक्ष्म-महाभूत अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ३२ ॥

महाभूतानि सृष्ट्वैव तान् गुणान् निर्ममे पुनः ।
भूतेभ्यश्चैव निष्पन्ना मूर्तिमन्तश्च ताञ्शृणु ॥ ३३ ॥

'अहंकारस्वरूप ब्रह्माने पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि करके फिर उनके शब्द-स्पर्श आदि गुणोंका निर्माण किया। उन भूतोंसे जो मूर्तिमान् प्राणी उत्पन्न हुए, उनके नाम सुनो ॥ ३३ ॥

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठश्च महात्मा वै मनुः स्वायम्भुवस्तथा ॥ ३४ ॥

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, महात्मा वसिष्ठ और स्वायम्भुव मनु ॥ ३४ ॥

ज्ञेयाः प्रकृतयोऽष्टौ ता यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः।
वेदवेदाङ्गसंयुक्तान् यज्ञान् यज्ञाङ्गसंयुतान् ॥ ३५ ॥
निर्ममे लोकसिद्ध्यर्थं ब्रह्मा लोकपितामहः।
अष्टाभ्यः प्रकृतिभ्यश्च जातं विश्वमिदं जगत् ॥ ३६ ॥

'इन आठोंको प्रकृति जानना चाहिये, जिनमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। लोकपितामह ब्रह्माने सम्पूर्ण लोकोंके जीवन-निर्वाहके लिये वेद-वेदाङ्ग और यज्ञाङ्गोंसे युक्त यज्ञोंकी सृष्टि की है। पूर्वोक्त आठ प्रकृतियोंसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ ३५-३६ ॥

रुद्रो रोषात्मको जातो दशान्यान् सोऽसृजत् स्वयम्।
एकादशैते रुद्रास्तु विकारपुरुषाः स्मृताः ॥ ३७ ॥

'ब्रह्माजीके रोषसे रुद्रका प्रादुर्भाव हुआ है। उन रुद्रने स्वयं ही दस अन्य रुद्रोंकी भी सृष्टि कर ली है। इस प्रकार ये ग्यारह रुद्र हैं, जो विकारपुरुष माने गये हैं ॥ ३७ ॥

ते रुद्राः प्रकृतिश्चैव सर्वे चैव सुरर्षयः।
उत्पन्ना लोकसिद्ध्यर्थं ब्रह्माणं समुपस्थिताः ॥ ३८ ॥

'वे ग्यारह रुद्र, आठ प्रकृति और समस्त देवर्षिगण, जो लोकरक्षाके लिये उत्पन्न हुए थे, ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ३८ ॥

वयं सृष्टा हि भगवंस्त्वया च प्रभविष्णुना।
येन यस्मिन्नधीकारे वर्तितव्यं पितामह ॥ ३९ ॥
योऽसौ त्वयाभिनिर्दिष्टो ह्यधिकारोऽर्थचिन्तकः।
परिपाल्यः कथं तेन साहंकारेण कर्तृणा ॥ ४० ॥

(और इस प्रकार बोले—) 'भगवन्! पितामह! आप महान् प्रभावशाली हैं। आपने ही हमलोगोंकी सृष्टि की है। हममेंसे जिसको जिस अधिकार या कार्यमें प्रवृत्त होना है तथा आपके द्वारा जिस अर्थसाधक अधिकारका निर्देश किया गया है, उसका पालन अहंकारयुक्त कर्ताके द्वारा कैसे हो सकता है? ॥ ३९-४० ॥

प्रदिशस्व बलं तस्य योऽधिकारार्थचिन्तकः।
एवमुक्तो महादेवो देवांस्तानिदमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

'उस अधिकार और प्रयोजनका चिन्तन करनेवाला जो पुरुष है, उसे आप कर्तव्यपालनकी शक्ति प्रदान कीजिये।' उनके ऐसा कहनेपर महान् देव ब्रह्माजीने उन देवताओंसे इस प्रकार कहा ॥ ४१ ॥

ब्रह्मोवाच

साध्वहं ज्ञापितो देवा युष्माभिर्भद्रमस्तु वः।
ममाप्येषा समुत्पन्ना चिन्ता या भवतां मता ॥ ४२ ॥

ब्रह्माजी बोले—देवताओ! तुमने मुझे अच्छी बात सुझायी है। तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे हृदयमें जो चिन्ता हुई है, वही मेरे हृदयमें भी पैदा हुई है ॥ ४२ ॥

लोकत्रयस्य [illegible] कथं कार्यः परिग्रहः।
[illegible] बलक्षयो न स्याद् युष्माकं [illegible] मे ॥ ४३ ॥

किस प्रकार तीनों लोकोंके अधिकृत कार्यका सम्पादन किया [illegible] तथा किस तरह तुम्हारी और मेरी शक्तिका भी क्षय न हो ॥ ४३ ॥

इतः सर्वेऽपि गच्छामः शरणं लोकसाक्षिणम्।
महापुरुषमव्यक्तं स नो वक्ष्यति यद्धितम् ॥ ४४ ॥

हम सब लोग यहाँसे अव्यक्त लोकसाक्षी महापुरुष नारायण-देवकी शरणमें चलें। वे हमारे लिये हितकी बात बतायेंगे ॥

ततस्ते ब्रह्मणा सार्धमृषयो विबुधास्तथा।
क्षीरोदस्योत्तरं कूलं जग्मुर्लोकहितार्थिनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर वे सब ऋषि और देवता सम्पूर्ण जगत्के हितकी भावना लेकर ब्रह्माजीके साथ क्षीरसागरके उत्तर तट-पर गये ॥ ४५ ॥

ते तपः समुपातिष्ठन् ब्रह्मोक्तं वेदकल्पितम्।
स महानियमो नाम तपश्चर्यासु दारुणः ॥ ४६ ॥

वहाँ ब्रह्माजीके कथनानुसार उन सबने वेदोक्त रीतिसे [illegible] आरम्भ की। उनका वह महान् नियम सभी तपस्याओंमें कठोर [illegible] ॥ ४६ ॥

ऊर्ध्वा दृष्टिर्बाहवश्च एकाग्रं च मनोऽभवत्।
एकपादाः स्थिताः सर्वे काष्ठभूताः समाहिताः ॥ ४७ ॥

उनकी आँखें ऊपरकी ओर लगी थीं, भुजाएँ भी ऊपर-की ओर ही उठी हुई थीं। मन एकाग्र था। वे [illegible]के-सब समाहितचित्त हो एक पैरसे खड़े हो काष्ठके समान जान पड़ते थे ॥ ४७ ॥

दिव्यं वर्षसहस्रं ते तपस्तप्त्वा सुदारुणम्।
शुश्रुवुर्मधुरां वाणीं वेदवेदाङ्गभूषिताम् ॥ ४८ ॥

एक हजार दिव्य वर्षोंतक अत्यन्त कठोर तपस्या करनेके पश्चात् उन्हें वेद और वेदाङ्गोंसे विभूषित मधुर वाणी सुनायी दी॥

श्रीभगवानुवाच

भो भोः सब्रह्मका देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
स्वागतेनार्च्य वः सर्वाञ्छ्रावये वाक्यमुत्तमम् ॥ ४९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे तपस्याके धनी ब्रह्मा आदि देवताओ तथा ऋषियो! मैं स्वागतके द्वारा तुम सबका सत्कार करके तुम्हें यह उत्तम वचन सुनाता हूँ ॥ ४९ ॥

विज्ञातं वो मया कार्यं तच्च लोकहितं महत्।
प्रवृत्तियुक्तं कर्तव्यं युष्मत्प्राणोपबृंहणम् ॥ ५० ॥

तुम्हारा प्रयोजन क्या है? यह मुझे ज्ञात हो गया है। वह सम्पूर्ण जगत्के लिये अत्यन्त हितकर है। तुम्हें प्रवृत्ति-युक्त धर्मका पालन करना चाहिये। वह तुम्हारे प्राणोंका पोषक तथा शक्तिका संवर्द्धन करनेवाला होगा ॥ ५० ॥

[illegible] च तपो देवा ममाराधनकाम्यया।
भोक्ष्यथास्य महासत्त्वास्तपसः फलमुत्तमम् ॥ ५१ ॥

महान् धैर्यशाली देवताओ! तुमलोगोंने मेरी आराधना-की इच्छासे बड़ी भारी तपस्या की है। उस तपस्याके उत्तम फलका तुम अवश्य उपभोग करोगे ॥ ५१ ॥

एष ब्रह्मा लोकगुरुर्महाँल्लोकपितामहः ।
यूयं च विबुधश्रेष्ठा मां यजध्वं समाहिताः ॥ ५२ ॥

ये सम्पूर्ण जगत्‌के महान् गुरु लोकपितामह ब्रह्मा और तुम सभी श्रेष्ठ देवगण एकाग्रचित्त हो यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करो ॥

सर्वे भागान् कल्पयध्वं यज्ञेषु मम नित्यशः ।
तथा श्रेयोऽभिधास्यामि यथाधीकारमीश्वराः ॥ ५३ ॥

लोकेश्वरो ! तुम सब लोग यज्ञोंमे सदा मेरे लिये भाग समर्पित करते रहो । ऐसा होनेपर मैं तुम्हे तुम्हारे अधिकारके अनुसार कल्याणमार्गका उपदेश करता रहूँगा ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतद् देवदेवस्य वाक्यं हृष्टतनूरुहाः ।
ततस्ते विबुधाः सर्वे [illegible] ते च महर्षयः [illegible] ५४ ॥
वेददृष्टेन विधिना वैष्णवं क्रतुमाहरन् ।
तस्मिन् सत्रे सदा ब्रह्मा स्वयं भागमकल्पयत् [illegible] ५५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवाधिदेव भगवान् नारायणका यह वचन सुनकर उन सबके रोम हर्षसे खिल उठे । तदनन्तर उन सब देवताओं, महर्षियों और ब्रह्माजी-ने वेदोक्त विधिसे वैष्णव यज्ञका अनुष्ठान किया । उस यज्ञमें ब्रह्माजीने स्वयं भगवान्‌के लिये भाग निश्चित किया ।५४-५५।

देवा देवर्षयश्चैव स्वं स्वं भागमकल्पयन् ।
ते कार्तयुगधर्माणो भागाः परमसत्कृताः ॥ ५६ ॥

उसी प्रकार देवताओं और देवर्षियोंने भी अपना-अपना भाग भगवान्‌के लिये निश्चित किया । सत्ययुगके न्यायानुसार निश्चित किये हुए वे उत्तम यज्ञभाग सबके द्वारा अत्यन्त सत्कृत हुए ॥ ५६ ॥

प्राहुरादित्यवर्णं तं पुरुषं [illegible] परम् ।
बृहन्तं सर्वगं देवमीशानं वरदं प्रभुम् ॥ ५७ ॥

ऋषि कहते हैं कि 'भगवान् नारायण सूर्यके समान तेजस्वी, अन्तर्यामी पुरुष, अज्ञानान्धकारसे परे, सर्वव्यापी, सर्वगामी, ईश्वर, वरदाता और सर्वसमर्थ हैं' ॥ ५७ ॥

ततोऽथ वरदो देवस्तान् सर्वानमरान् स्थितान् ।
अशरीरो बभाषेदं वाक्यं खस्थो महेश्वरः ॥ ५८ ॥

यज्ञभाग निश्चित हो जानेपर उन वरदायक देवता महेश्वर नारायणदेवने आकाशमें बिना शरीरके ही स्थित हो वहाँ खड़े हुए उन समस्त देवताओंसे यह बात कही—॥५८॥

येन यः कल्पितो भागः [illegible] मामुपागतः ।
प्रीतोऽहं प्रदिशाम्यद्य फलमावृत्तिलक्षणम् ॥ ५९ ॥

'देवताओ ! जिसने जो भाग हमारे लिये निश्चित किया था, वह उसी रूपमें मुझे प्राप्त हो गया । इससे प्रसन्न होकर आज मैं तुम्हे पुनरावृत्तिरूप फल प्रदान करता हूँ ॥

एतद् वो लक्षणं देवा मत्प्रसादसमुद्भवम् ।
स्वयं यज्ञैर्यजमानाः समाप्तवरदक्षिणैः ॥ ६० ॥
युगे युगे भविष्यध्वं प्रवृत्तिफलभागिनः ।

'देवताओ ! मेरी कृपासे तुम्हारा ऐसा ही लक्षण होगा । तुम प्रत्येक युगमें उत्तम दक्षिणाओंसे संयुक्त यज्ञोंद्वारा यजन करके प्रवृत्तिरूप धर्मफलके भागी होओगे ॥ ६०½ ॥

यज्ञैर्ये चापि यक्ष्यन्ति सर्वलोकेषु वै सुराः ॥ ६१ ॥
कल्पयिष्यन्ति वो भागांस्ते नरा वेदकल्पितान् ।

'देवगण ! सम्पूर्ण लोकोंमें जो मनुष्य यज्ञोंद्वारा यजन करेंगे, वे तुम्हारे लिये वेदके कथनानुसार यज्ञभाग निश्चित करेंगे ॥ ६१½ ॥

यो मे यथा कल्पितवान् भागमस्मिन् महाक्रतौ ॥ ६२ ॥
[illegible] यज्ञभागार्हो वेदसूत्रे मया कृतः ।

'इस महान् यज्ञमें जिस देवताने मेरे लिये जैसा भाग निश्चित किया है, वह वैदिक सूत्रमें मेरेद्वारा वैसे ही यज्ञ-भागका अधिकारी बनाया गया ॥ ६२½ ॥

यूयं लोकान् भावयध्वं यज्ञभागफलोचिताः ॥ ६३ ॥
सर्वार्थचिन्तका लोके यथाधीकारनिर्मिताः ।

'तुमलोग यज्ञमें भाग लेकर यजमानको उसका फल देनेमें प्रवृत्त हो जगत्‌में अपने अधिकारके अनुसार सबके सभी मनोरथोंका चिन्तन करते हुए सब लोगोंको उन्नतिशील बनाओ ॥ ६३½ ॥

[illegible] क्रियाः प्रचरिष्यन्ति प्रवृत्तिफलसत्कृताः ॥ ६४ ॥
आभिराप्यायितबला लोकान् वै धारयिष्यथ ।

'प्रवृत्ति-फलसे समादृत होनेवाली जिन यज्ञ क्रियाओंका जगत्‌में प्रचार होगा, उन्हींसे तुम्हारे बलकी वृद्धि होगी और बलिष्ठ होकर तुमलोग सम्पूर्ण लोकोंका भरण पोषण करोगे ॥ ६४½ ॥

यूयं हि भाविता यज्ञैः सर्वयज्ञेषु मानवैः ॥ ६५ ॥
मां ततो भावयिष्यध्वमेषा वो भावना [illegible] ।

'सम्पूर्ण यज्ञोंमें मनुष्य तुम्हारा यजन करके तुम्हें उन्नतिशील एवं पुष्ट बनायेंगे, फिर तुमलोग भी मुझे इसी प्रकार परिपुष्ट करोगे । यही तुम्हारे लिये मेरा उपदेश है ॥

इत्यर्थं निर्मिता वेदा यज्ञाश्चौषधिभिः सह ॥ ६६ ॥
एभिः सम्यक् प्रयुक्तैर्हि प्रीयन्ते देवताः क्षितौ ।

'इसीके लिये मैंने वेदों तथा ओषधियों (अन्न-फल आदि) सहित यज्ञोंकी सृष्टि की है । इनका भलीभाँति पृथ्वी-पर अनुष्ठान होनेसे सम्पूर्ण देवता तृप्त होंगे ॥ ६६½ ॥

निर्माणमेतद् युष्माकं प्रवृत्तिगुणकल्पितम् ॥ ६७ ॥
मया कृतं सुरश्रेष्ठा यावत्कल्पक्षयादिह ।
चिन्तयध्वं लोकहितं यथाधीकारमीश्वराः ॥ ६८ ॥

'देवश्रेष्ठगण ! मैंने प्रवृत्तिप्रधान गुणके सहित तुमलोगोंकी सृष्टि की है, अतः लोकेश्वरो ! जबतक कल्पका अन्त न हो जाय, तबतक तुमलोग अपने अधिकारके अनुसार लोगोंका हितचिन्तन करते रहो ॥ ६७-६८ ॥

मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।

वसिष्ठ इति सप्तैते [illegible] निर्मिता हि ते ॥ ६९ ॥

'मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये [illegible] ऋषि ब्रह्माजीके द्वारा मनसे उत्पन्न किये गये हैं ॥ ६९ ॥

एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः ।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥ ७० ॥

'ये प्रधान वेदवेत्ता और प्रवृत्ति-धर्मावलम्बी हैं। इन सबको वेदाचार्य माना गया है और प्रजापतिके पदपर प्रतिष्ठित किया गया है ॥ ७० ॥

अयं क्रियावतां पन्था व्यक्तीभूतः सनातनः ।
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकसर्गकरः प्रभुः ॥ ७१ ॥

'यह कर्मपरायण पुरुषोंके लिये सनातन मार्ग प्रकट हुआ है। इस पद्धतिसे लोकोंकी सृष्टि करनेवाले प्रभावशाली पुरुषको अनिरुद्ध कहा गया है ॥ ७१ ॥

सनः सनत्सुजातश्च [illegible] ससनन्दनः ।
सनत्कुमारः कपिलः [illegible] सनातनः ॥ ७२ ॥
सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः ।
स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममास्थिताः ॥ ७३ ॥

'सन, सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल तथा सातवें सनातन—ये सात ऋषि भी ब्रह्माके मानस पुत्र कहे गये हैं। इन्हें स्वयं विज्ञान प्राप्त है और ये निवृत्ति-धर्ममें स्थित हैं ॥ ७२-७३ ॥

एते योगविदो मुख्याः सांख्यज्ञानविशारदाः ।
आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः ॥ ७४ ॥

'ये प्रमुख योगवेत्ता, सांख्यज्ञान-विशारद, धर्मशास्त्रोंके आचार्य तथा मोक्षधर्मके प्रवर्तक हैं ॥ ७४ ॥

यतोऽहं प्रसृतः पूर्वमव्यक्तात् त्रिगुणो महान् ।
तस्मात् परतरो योऽसौ क्षेत्रज्ञ इति कल्पितः॥ ७५ ॥

'पूर्वकालमें अव्यक्त प्रकृतिसे जो त्रिगुणात्मक महान् अहंकार प्रकट हुआ था, उससे अत्यन्त परे जिसकी स्थिति है, वह समष्टि चेतन क्षेत्रज्ञ माना गया है ॥ ७५ ॥

सोऽहं क्रियावतां पन्थाः पुनरावृत्तिदुर्लभः ।
यो यथा निर्मितो जन्तुर्यस्मिन् यस्मिंश्च कर्मणि ॥७६॥
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा तत्फलं सोऽश्नुते महत् ।

'वह क्षेत्रज्ञ मैं हूँ। जो कर्मपरायण मनुष्य हैं, वे पुनरावृत्तिशील हैं; अतः उनके लिये यह निवृत्तिमार्ग दुर्लभ है। जिस प्राणीका जिस प्रकार निर्माण हुआ है तथा वह जिस-जिस प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप कर्ममें संलग्न होता है, वह उसीके महान् फलका भागी होता है ॥ ७६½ ॥

एष लोकगुरुर्ब्रह्मा जगदादिकरः प्रभुः ॥ ७७ ॥
एष माता पिता चैव युष्माकं च पितामहः ।
मयानुशिष्टो भविता सर्वभूतवरप्रदः ॥ ७८ ॥

'ये लोकगुरु ब्रह्मा जगत्के आदि स्रष्टा और प्रभु हैं। ये [illegible] तुम्हारे माता-पिता और पितामह हैं। मेरी आज्ञाके अनुसार ये सम्पूर्ण भूतोंको वर प्रदान करनेवाले होंगे ॥

अस्य चैवात्मजो रुद्रो ललाटाद् [illegible] समुत्थितः ।
ब्रह्मानुशिष्टो भविता सर्वभूतधरः प्रभुः ॥ ७९ ॥

'इनके ललाटसे जो रुद्र उत्पन्न हुए हैं, वे भी इन (ब्रह्माजी) के ही पुत्र हैं। ब्रह्माजीकी आज्ञासे वे सम्पूर्ण भूतोंकी रक्षा करनेमें समर्थ होंगे ॥ ७९ ॥

गच्छध्वं स्वानधीकारांश्चिन्तयध्वं यथाविधि ।
प्रवर्तन्तां क्रियाः सर्वाः सर्वलोकेषु मा चिरम् ॥ ८० ॥

'तुम [illegible] लाग जाओ और अपने-अपने अधिकारोंका विधिपूर्वक पालन करो। समस्त लोकोंमें सम्पूर्ण वैदिक क्रियाएँ अविलम्ब प्रचलित हो जानी चाहिये ॥ ८० ॥

प्रदिश्यन्तां च कर्माणि प्राणिनां गतयस्तथा ।
परिनिष्ठितकालानि आयूंषीह सुरोत्तमाः ॥ ८१ ॥

'सुरश्रेष्ठगण! तुमलोग प्राणियोंको उनके कर्म, उन कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली गति तथा नियत कालतककी आयु प्रदान करो ॥ ८१ ॥

इदं कृतयुगं [illegible] कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः ।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन् [illegible] तदन्यथा ॥ ८२ ॥

'यह सत्ययुग नामक श्रेष्ठ समय चल रहा है। इस युगमें यज्ञ-पशुओंकी हिंसा नहीं की जाती। अहिंसाधर्मके विपरीत यहाँ कुछ भी नहीं होता है ॥ ८२ ॥

चतुष्पात् सकलो धर्मो भविष्यत्यत्र वै सुराः ।
ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति ॥ ८३ ॥

'देवताओ! इस सत्ययुगमें चारों चरणोंसे युक्त सम्पूर्ण धर्मका पालन होगा। तदनन्तर त्रेतायुग आयेगा, जिसमें वेदत्रयीका प्रचार होगा ॥ ८३ ॥

प्रोक्षिता यत्र पशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे ।
यत्र पादश्चतुर्थो वै धर्मस्य न भविष्यति ॥ ८४ ॥

'उस युगमें यज्ञमें मन्त्रोंद्वारा पवित्र किये गये पशुओंका वध किया जायगा* और धर्मका एक पाद—चतुर्थ अंश कम [illegible] जायगा ॥ ८४ ॥

ततो वै द्वापरं नाम मिश्रः कालो भविष्यति ।
द्विपादहीनो धर्मश्च युगे तस्मिन् भविष्यति ॥ ८५ ॥

'उसके बाद द्वापर युगका आगमन होगा। वह समय धर्म और अधर्मके सम्मिश्रणसे युक्त होगा। उस युगमें धर्मके दो चरण नष्ट हो जायँगे ॥ ८५ ॥

ततस्तिष्येऽथ सम्प्राप्ते युगे कलिपुरस्कृते ।
एकपादस्थितो धर्मो यत्र तत्र भविष्यति ॥ ८६ ॥

'तदनन्तर पुष्य नक्षत्रमें कलियुगका पदार्पण होगा। उस समय यत्र-तत्र धर्मका एक चरण ही शेष रह जायगा' ॥

* पशुवधसे यहाँ क्या अभिप्राय है, ठीक समझमें नहीं आया।

देवा देवर्षयश्चोचुस्तमेवंवादिनं गुरुम् ।
एकपादस्थिते धर्मे यत्र क्वचन गामिनि ॥ ८७ ॥
कथं कर्तव्यमस्माभिर्भगवंस्तद् वदस्व नः ।

तब देवताओं और देवर्षियोंने उपर्युक्त बात कहनेवाले गुरुस्वरूप भगवान्‌से कहा—'भगवन्! जब कलियुगमें जहाँ कहीं भी धर्मका एक ही चरण अवशिष्ट रहेगा, तब हमें क्या करना होगा ? यह बताइये' ॥ ८७½ ॥

श्रीभगवानुवाच

यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा ॥ ८८ ॥
अहिंसाधर्मसंयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः ।
स वो देशः सेवितव्यो मा वोऽधर्मः पदा स्पृशेत्॥

श्रीभगवान् बोले—सुरश्रेष्ठगण! जहाँ वेद, यज्ञ, तप, सत्य, इन्द्रियसंयम और अहिंसाधर्म प्रचलित हों, उसी देशका तुम्हें सेवन करना चाहिये। ऐसा करनेसे तुम्हें अधर्म अपने एक पैरसे भी नहीं छू सकेगा ॥ ८८-८९ ॥

व्यास उवाच

तेऽनुशिष्टा भगवता देवाः सर्षिगणास्तथा ।
नमस्कृत्वा भगवते जग्मुर्देशान् यथेप्सितान् ॥ ९० ॥

व्यासजी कहते हैं—शिष्यो! भगवान्‌का यह उपदेश पाकर ऋषियोंसहित देवता उन्हें नमस्कार करके अपने अभीष्ट देशोंको चले गये ॥ ९० ॥

गतेषु त्रिदिवौकःसु ब्रह्मैकः पर्यवस्थितः ।
दिदृक्षुर्भगवन्तं तमनिरुद्धतनौ स्थितम् ॥ ९१ ॥

स्वर्गवासी देवताओंके चले जानेपर अकेले ब्रह्माजी ही वहाँ खड़े रहे। वे अनिरुद्धविग्रहमें स्थित भगवान् श्रीहरिका दर्शन करना चाहते थे ॥ ९१ ॥

तं देवो दर्शयामास कृत्वा हयशिरो महत् ।
साङ्गानावर्तयन् वेदान् कमण्डलुत्रिदण्डधृक् ॥ ९२ ॥

तब भगवान्‌ने महान् हयग्रीवरूप धारण करके ब्रह्माजीको दर्शन दिया। वे कमण्डलु और त्रिदण्ड धारण करके छहों अङ्गोंसहित वेदोंकी आवृत्ति कर रहे थे ॥ ९२ ॥

ततोऽश्वशिरसं दृष्ट्वा तं देवममितौजसम् ।
लोककर्ता प्रभुर्ब्रह्मा लोकानां हितकाम्यया ॥ ९३ ॥
मूर्ध्ना प्रणम्य वरदं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ।
स परिष्वज्य देवेन वचनं श्रावितस्तदा ॥ ९४ ॥

उस समय अमित पराक्रमी भगवान् हयग्रीवका दर्शन करके सम्पूर्ण जगत्‌के हितकी कामनासे लोककर्ता भगवान् ब्रह्माने उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और उन वरदायक देवताके सम्मुख वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तब भगवान्‌ने उनको हृदयसे लगाकर यह बात सुनायी ।

श्रीभगवानुवाच

लोककार्यगतीः सर्वास्त्वं चिन्तय यथाविधि ।
धाता त्वं सर्वभूतानां त्वं प्रभुर्जगतो गुरुः ॥ ९५ ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन्! तुम सम्पूर्ण लोकोंके समस्त कर्मों और उनसे मिलनेवाली गतियोंका विधिपूर्वक चिन्तन करो; क्योंकि तुम्हीं सम्पूर्ण प्राणियोंके धाता हो, तुम्हीं सबके प्रभु हो और तुम्हीं इस जगत्‌के गुरु हो ॥ ९५ ॥

त्वय्यावेशितभारोऽहं धृतिं प्राप्स्याम्यथाञ्जसा ।
यदा च सुरकार्यं ते अविषह्यं भविष्यति ॥ ९६ ॥
प्रादुर्भावं गमिष्यामि तदाऽऽत्मज्ञानदैशिकः ।
एवमुक्त्वा हयशिरास्तत्रैवान्तरधीयत ॥ ९७ ॥

तुमपर यह भार रखकर मैं अनायास ही धैर्य धारण करूँगा। जब कभी तुम्हारे लिये देवताओंका कार्य असह्य हो जायगा, तब मैं आत्मज्ञानका उपदेश देनेके लिये तुम्हारे सामने प्रकट हो जाऊँगा। ऐसा कहकर भगवान् हयग्रीव वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ९६-९७ ॥

तेनानुशिष्टो ब्रह्मापि स्वलोकमचिराद् गतः ।
एवमेष महाभागः पद्मनाभः सनातनः ॥ ९८ ॥
यज्ञेष्वग्रहरः प्रोक्तो यज्ञधारी च नित्यदा ।
निवृत्तिं चास्थितो धर्मं गतिमक्षयधर्मिणाम् ।
प्रवृत्तिधर्मान् विदधे कृत्वा लोकस्य चित्रताम् ॥९९॥

भगवान्‌का यह उपदेश पाकर ब्रह्मा भी शीघ्र ही अपने लोकको चले गये। इस प्रकार ये महाभाग सनातन पुरुष भगवान् पद्मनाभ यज्ञोंमें अग्रभोक्ता और सदा ही यज्ञके पोषक एवं प्रवर्तक बताये गये हैं। वे कभी अक्षयधर्मी महात्माओंके निवृत्तिधर्मका आश्रय लेते हैं और कभी लोककी विचित्र चित्तवृत्ति करके प्रवृत्तिधर्मका विधान करते हैं ॥

स आदिः स मध्यः स चान्तः प्रजानां
स धाता स धेयं स कर्ता स कार्यम् ।
युगान्ते प्रसुप्तः सुसंक्षिप्य लोकान्
युगादौ प्रबुद्धो जगद्ध्युत्ससर्ज ॥१००॥

वे ही भगवान् नारायण प्रजाके आदि, मध्य और अन्त हैं। वे ही धाता, धेय, कर्ता और कार्य हैं। वे ही युगान्तके समय सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके सो जाते हैं और वे ही कल्पके आदिमें जाग्रत् हो सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करते हैं ॥ १०० ॥

तस्मै नमध्वं देवाय निर्गुणाय महात्मने ।
[illegible] विश्वरूपाय धाम्ने सर्वदिवौकसाम् ॥१०१॥

शिष्यो! तुम उन्हीं अजन्मा, विश्वरूप, सम्पूर्ण देवताओंके आश्रय निर्गुण परमात्मा नारायणदेवको नमस्कार करो ॥

महाभूताधिपतये रुद्राणां पतये तथा ।
आदित्यपतये चैव वसूनां पतये तथा ॥१०२॥

वे ही महाभूतोंके अधिपति तथा रुद्रों, आदित्यों और वसुओंके स्वामी हैं। उन्हें नमस्कार करो ॥ १०२ ॥

अश्विभ्यां पतये चैव मरुतां पतये तथा ।
वेदयज्ञाधिपतये वेदाङ्गपतयेऽपि [illegible] ॥१०३॥

वे अश्विनीकुमारोंके पति, मरुद्गणोंके पालक, वेद और यज्ञोंके अधिपति तथा वेदाङ्गोंके भी स्वामी हैं। उन्हें प्रणाम करो ॥ १०३ ॥

समुद्रवासिने नित्यं हरये मुञ्जकेशिने।
[illegible] सर्वभूतानां मोक्षधर्मानुभाषिणे ॥१०४॥

जो सदा समुद्रमें निवास करते हैं, जिनका केश मूँजके समान है [illegible] जो [illegible] प्राणियोंको मोक्षधर्मका उपदेश देते हैं, [illegible] शान्तस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार करो ॥ १०४ ॥

तपसां तेजसां चैव पतये यशसामपि।
वचसां पतये नित्यं सरितां पतये [illegible] ॥१०५॥

जो तप, तेज, यश, वाणी तथा सरिताओंके स्वामी एवं नित्य [illegible] हैं, [illegible] श्रीहरिको नमस्कार करो ॥ १०५॥

कपर्दिने वराहाय [illegible] धीमते।
विवस्वतेऽश्वशिरसे चतुर्मूर्तिधृते सदा ॥१०६॥

जो जटाजूटधारी, एक सींगवाले वराह, बुद्धिमान्, विवस्वान्, हयग्रीव तथा चतुर्मूर्तिधारी हैं, उन श्रीनारायणदेवको सदा नमस्कार करो ॥ १०६ ॥

गुह्याय ज्ञानदृश्याय अक्षराय क्षराय च।
एष देवः संचरति सर्वत्रगतिरव्ययः ॥१०७॥

जिनका [illegible] गुह्य है, जो ज्ञानरूपी नेत्रसे ही देखे जाते [illegible] तथा [illegible] और क्षररूप हैं, उन श्रीहरिको [illegible] करो। ये अविनाशी नारायणदेव सर्वत्र सञ्चरण करते हैं; इनकी सर्वत्र गति है ॥ १०७ ॥

एष चैतत् परं [illegible] ज्ञेयो विज्ञानचक्षुषा।
एवमेतत् पुरा दृष्टं मया वै ज्ञानचक्षुषा ॥१०८॥

ये ही परब्रह्म हैं। विज्ञानमय नेत्रसे ही इनका दर्शन एवं [illegible] हो सकता है। पूर्वकालमें मैंने ज्ञानदृष्टिसे ही इनका [illegible] प्रकार साक्षात्कार किया था ॥ १०८ ॥

कथितं [illegible] वै सर्वं [illegible] पृष्टेन तत्त्वतः।
क्रियतां मद्वचः शिष्याः सेव्यतां हरिरीश्वरः।
गीयतां वेदशब्दैश्च पूज्यतां च यथाविधि ॥१०९॥

शिष्यो! तुमलोगोंके पूछनेपर मैंने ये सारी बातें यथार्थरूपसे कही हैं। तुम मेरी बात मानो और सर्वेश्वर श्रीहरिका सेवन करो। वेदमन्त्रोंद्वारा उन्हींकी महिमाका [illegible] और उन्हींका विधिपूर्वक पूजन करो ॥ १०९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तास्तु वयं तेन वेदव्यासेन धीमता।
सर्वे शिष्याः [illegible] [illegible] परमधर्मवित् ॥११०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! परम बुद्धिमान् वेदव्यासने हम सब शिष्योंको तथा अपने परम धर्मज्ञ पुत्र शुकदेवको ऐसा [illegible] उपदेश दिया ॥ ११० ॥

स चास्माकमुपाध्यायः सहास्माभिर्विशाम्पते।
चतुर्वेदोद्गताभिस्तमृग्भिः समभितुष्टुवे ॥१११॥

प्रजानाथ! फिर हमारे उपाध्याय व्यासने हमारे [illegible] चारों वेदोंकी ऋचाओंद्वारा [illegible] नारायणदेवका स्तवन किया ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
एवं मेऽकथयद् राजन् पुरा द्वैपायनो गुरुः ॥११२॥

राजन्! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने कह सुनाया। पूर्वकालमें मेरे गुरु व्यासजीने मुझे ऐसा ही उपदेश दिया था ॥ ११२ ॥

यश्चेदं शृणुयान्नित्यं यश्चैनं परिकीर्तयेत्।
नमो भगवते कृत्वा समाहितमतिर्नरः ॥११३॥
भवत्यरोगो मतिमान् बलरूपसमन्वितः।
आतुरो मुच्यते रोगाद् बद्धो मुच्येत बन्धनात् ॥११४॥

जो प्रतिदिन इसे सुनता है और जो भगवान्को नमस्कार करके एकाग्रचित्त हो सदा इसका पाठ [illegible] है, [illegible] बुद्धिमान्, बलवान्, रूपवान् तथा रोगरहित होता है। रोगी रोगसे और बँधा हुआ पुरुष बन्धनसे [illegible] हो जाता है ॥

कामान् कामी लभेत् कामं दीर्घं चायुरवाप्नुयात्।
ब्राह्मणः सर्ववेदी स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत् ॥११५॥

[illegible] पुरुष मनोवाञ्छित कामनाओंको [illegible] है तथा बड़ी भारी आयु [illegible] कर लेता है। ब्राह्मण सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञाता और क्षत्रिय विजयी होता है ॥ ११५ ॥

वैश्यो विपुललाभः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात्।
अपुत्रो लभते पुत्रं कन्या चैवेप्सितं पतिम् ॥११६॥

वैश्य इसको पढ़ने और सुननेसे महान् लाभका भागी होता है। शूद्र सुख पाता है। पुत्रहीनको पुत्र और कन्याको मनोवाञ्छित पतिकी प्राप्ति होती है ॥ ११६ ॥

लग्नगर्भा विमुच्येत गर्भिणी जनयेत् सुतम्।
वन्ध्या प्रसवमाप्नोति पुत्रपौत्रसमृद्धिमत् ॥११७॥

जिसका गर्भ अटक गया हो, वह इसको सुननेसे [illegible] सङ्कटसे छूट जाती है। गर्भवती स्त्री यथासमय पुत्र पैदा करती है। वन्ध्या भी प्रसवको प्राप्त होती है तथा उसका वह [illegible] पुत्र-पौत्र एवं समृद्धिसे सम्पन्न होता है ॥११७॥

क्षेमेण गच्छेदध्वानमिदं यः पठते पथि।
यो यं कामं कामयते [illegible] तमाप्नोति च ध्रुवम् ॥११८॥

जो मार्गमें इसका पाठ करता है, वह कुशलतापूर्वक अपनी यात्रा पूरी करता है। इसे पढ़ने और सुननेवाला पुरुष जिस वस्तुकी इच्छा [illegible] है, वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है ॥ ११८ ॥

इदं महर्षेर्वचनं विनिश्चितं
महात्मनः पुरुषवरस्य कीर्तितम्।
समागमं चर्षिदिवौकसामिमं
निशम्य भक्ताः सुसुखं लभन्ते ॥११९॥

पुरुषप्रवर महात्मा महर्षि व्यासके कहे हुए इस सिद्धान्तभूत वचनको तथा ऋषियों और देवताओंके समागमसम्बन्धी इस वृत्तान्तको श्रवण करके भक्तजन उत्तम सुख पाते हैं ॥ ११९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका अर्जुनको अपने प्रभावका वर्णन करते हुए अपने नामोंकी व्युत्पत्ति एवं माहात्म्य बताना

जनमेजय उवाच

अस्तौषीद् यैरिमं व्यासः सशिष्यो मधुसूदनम् ।
नामभिर्विविधैरेषां निरुक्तं भगवन् मम ॥ १ ॥
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोः प्रजापतिपतेर्हरेः ।
श्रुत्वा भवेयं यत् पूतः शरच्चन्द्र इवामलः ॥ २ ॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! शिष्योंसहित महर्षि व्यासने जिन नाना प्रकारके नामोंद्वारा इन मधुसूदनका स्तवन किया था, उनका निर्वचन (व्युत्पत्ति) मुझे बतानेकी कृपा करें । मैं प्रजापतियोंके पति भगवान् श्रीहरिके नामोंकी व्याख्या सुनना चाहता हूँ; क्योंकि उन्हें सुनकर मैं शरच्चन्द्रके [illegible] निर्मल एवं पवित्र हो जाऊँगा ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् यथाऽऽचष्ट फाल्गुनस्य हरिः प्रभुः ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनो नाम्नां निरुक्तं गुणकर्मजम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! भगवान् श्रीहरिने अर्जुनपर प्रसन्न होकर उनसे गुण और कर्मके अनुसार स्वयं अपने नामोंकी जैसी व्याख्या की थी, वही तुम्हें सुना रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

नामभिः कीर्तितैस्तस्य केशवस्य महात्मनः ।
पृष्टवान् केशवं राजन् फाल्गुनः परवीरहा ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! जिन नामोंके द्वारा उन महात्मा केशवका कीर्तन किया जाता है, शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने श्रीकृष्णसे उनके विषयमें [illegible] प्रकार पूछा ॥ ४ ॥

अर्जुन उवाच

भगवन् भूतभव्येश सर्वभूतसृगव्यय ।
लोकधाम जगन्नाथ लोकानामभयप्रद ॥ ५ ॥
यानि नामानि ते देव कीर्तितानि महर्षिभिः ।
वेदेषु सपुराणेषु यानि गु[illegible]नि कर्मभिः ॥ ६ ॥
तेषां निरुक्तं त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि केशव ।
न ह्यन्यो वर्णयेन्नाम्नां निरुक्तं त्वामृते प्रभो ॥ [illegible] ॥

अर्जुन बोले—भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके स्वामी, सम्पूर्ण भूतोंके स्रष्टा, अविनाशी, जगदाधार तथा सम्पूर्ण लोकोंको अभय देनेवाले जगन्नाथ, भगवन्, नारायणदेव ! महर्षियोंने आपके जो-जो नाम कहे हैं तथा पुराणों और वेदोंमें कर्मानुसार जो-जो गोपनीय नाम पढ़े गये हैं, उन सबकी व्याख्या मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ । प्रभो ! केशव ! आपके सिवा दूसरा कोई उन नामोंकी व्युत्पत्ति नहीं बता सकता ॥ ५—७ ॥

श्रीभगवानुवाच

ऋग्वेदे सयजुर्वेदे तथैवाथर्वसामसु ।
पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्योतिषेऽर्जुन ॥ ८ ॥
सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च ।
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः ॥ ९ ॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—अर्जुन ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, उपनिषद्, पुराण, ज्योतिष, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र तथा आयुर्वेदमें महर्षियोंने मेरे बहुत-से नाम कहे हैं ॥

गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि [illegible] कानिचित् ।
निरुक्तं कर्मजानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ ॥ १० ॥

उनमें कुछ नाम तो गुणोंके अनुसार हैं और कुछ कर्मोंसे हुए हैं । निष्पाप अर्जुन ! तुम पहले एकाग्रचित्त होकर मेरे कर्मजनित नामोंकी व्याख्या सुनो ॥ १० ॥

कथ्यमानं [illegible] त्वं हि मेऽर्धं स्मृतः पुरा ।
नमोऽतियशसे तस्मै देहिनां परमात्मने ॥ ११ ॥
नारायणाय विश्वाय निर्गुणाय गुणात्मने ।

[illegible] ! मैं तुमसे उन नामोंकी व्युत्पत्ति बताता हूँ, क्योंकि पूर्वकालमें ही तुम मेरे आधे शरीर माने गये हो । जो समस्त देहधारियोंके उत्कृष्ट आत्मा हैं, उन महायशस्वी, निर्गुण-सगुणरूप विश्वात्मा भगवान् नारायणदेवको नमस्कार है ॥

यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रश्च क्रोधसम्भवः ॥ १२ ॥
योऽसौ योनिर्हि सर्वस्य स्थावरस्य [illegible] च ।

जिनके प्रसादसे ब्रह्मा और क्रोधसे रुद्र प्रकट हुए हैं, वे श्रीहरि ही सम्पूर्ण चराचर जगत्की उत्पत्तिके कारण हैं ॥

अष्टादशगुणं यत् तत् सत्त्वं सत्त्ववतां वर ॥ १३ ॥
प्रकृतिः सा परा मह्यं रोदसी योगधारिणी ।
ऋता सत्यामराजय्या लोकानामात्मसंज्ञिता ॥ १४ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अठारह[1] गुणोंवाला जो [illegible]

1. प्रीति, प्रकाश, उत्कर्ष, हलकापन, सुख, कृपणताका अभाव, रोषका अभाव, संतोष, [illegible] क्षमा, धृति, अहिंसा, शौच, अक्रोध, सरलता, समता, सत्य [illegible] दोषदृष्टिका अभाव—ये सत्त्वके अठारह गुण हैं ।

है अर्थात् आदिपुरुष है, वही मेरी परा प्रकृति है। पृथ्वी और आकाशकी [illegible] वह योगबलसे समस्त लोकोंको धारण करनेवाली है। वही ऋता (कर्मफलभूत गतिस्वरूपा), [illegible] (त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूपा) अमर, अजेय तथा सम्पूर्ण लोकोंकी आत्मा है ॥ १३-१४ ॥

तस्मात् सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
तपो [illegible] [illegible] च पुराणः पुरुषो विराट् ॥ १५ ॥
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकानां प्रभवाप्ययः ।

उसीसे सृष्टि और [illegible] आदि सम्पूर्ण विकार प्रकट होते हैं। वही तप, [illegible] और यजमान है, वही पुरातन विराट् पुरुष है, उसे ही अनिरुद्ध [illegible] गया है। उसीसे लोकोंकी सृष्टि और [illegible] होते हैं ॥ १५½ ॥

ब्राह्मे रात्रिक्षये प्राप्ते [illegible] ह्यमिततेजसः ॥ १६ ॥
प्रसादात् प्रादुरभवत् पद्मं पद्मनिभेक्षण ।
ततो ब्रह्मा समभवत् स तस्यैव प्रसादजः ॥ १७ ॥

जब प्रलयकी रात व्यतीत हुई थी, उस समय उन अमित तेजस्वी अनिरुद्धकी कृपासे एक [illegible] प्रकट हुआ। कमलनयन अर्जुन! उसी कमलसे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ। वे [illegible] भगवान् अनिरुद्धके प्रसादसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥

अह्नः क्षये [illegible] सुतो देवस्य वै तथा ।
क्रोधाविष्टस्य संजज्ञे [illegible] संहारकारकः ॥ १८ ॥

[illegible] दिन बीतनेपर क्रोधके आवेशमें आये हुए [illegible] देवके ललाटसे उनके पुत्ररूपमें संहारकारी रुद्र प्रकट हुए ॥

एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजावुभौ ।
तदादेशितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ॥ १९ ॥

ये दोनों श्रेष्ठ देवता—ब्रह्मा और रुद्र भगवान्‌के प्रसाद और क्रोधसे प्रकट हुए हैं तथा उन्हींके बताये हुए मार्गका आश्रय [illegible] सृष्टि और संहारका कार्य पूर्ण करते हैं ॥ १९ ॥

निमित्तमात्रं तावत्र सर्वप्राणिवरप्रदौ ।
कपर्दी जटिलो मुण्डः श्मशानगृहसेवकः ॥ २० ॥
उग्रव्रतचरो रुद्रो योगी परमदारुणः ।
दक्षक्रतुहरश्चैव भगनेत्रहरस्तथा ॥ २१ ॥

[illegible] प्राणियोंको वर देनेवाले ये दोनों देवता सृष्टि और प्रलयके निमित्तमात्र हैं। (वास्तवमें तो वह सब कुछ भगवान्‌की इच्छासे [illegible] होता है।) इनमेंसे संहारकारी रुद्रके कपर्दी (जटाजूटधारी), जटिल, मुण्ड, श्मशानगृहका सेवन करनेवाले, उग्र व्रतका आचरण करनेवाले, रुद्र, योगी, परम दारुण, दक्षयज्ञ-विध्वंसक तथा भगनेत्रहारी आदि अनेक [illegible] हैं ॥ २०-२१ ॥

नारायणात्मको ज्ञेयः पाण्डवेय युगे युगे ।
तस्मिन् हि पूज्यमाने वै देवदेवे महेश्वरे ॥ २२ ॥
सम्पूजितो भवेत् पार्थ देवो नारायणः प्रभुः ।

पाण्डुनन्दन! इन भगवान् रुद्रको नारायणस्वरूप ही [illegible] चाहिये। पार्थ! प्रत्येक युगमें उन देवाधिदेव महेश्वरकी पूजा करनेसे सर्वसमर्थ भगवान् नारायणकी [illegible] पूजा होती है ॥ २२½ ॥

अहमात्मा हि लोकानां विश्वेषां पाण्डुनन्दन ॥ २३ ॥
तस्मादात्मानमेवाग्रे रुद्रं सम्पूजयाम्यहम् ।

पाण्डुकुमार! मैं सम्पूर्ण जगत्‌का आत्मा [illegible]। इसलिये मैं पहले अपने आत्मारूप रुद्रकी ही पूजा करता हूँ ॥ २३½ ॥

यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम् ॥ २४ ॥
आत्मानं नार्चयेत् कश्चिदिति मे भावितात्मनः ।

यदि मैं वरदाता भगवान् शिवकी पूजा [illegible] करूँ तो दूसरा कोई भी उन आत्मरूप शङ्करका पूजन नहीं करेगा, ऐसी मेरी धारणा है ॥ २४½ ॥

[illegible] प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते ॥ २५ ॥
प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम् ।
यस्तं वेत्ति स मां वेत्ति योऽनु तं स हि मामनु ॥ २६ ॥

मेरे किये हुए कार्यको प्रमाण [illegible] आदर्श मानकर सब लोग उसका अनुसरण करते हैं। जिनकी पूजनीयता वेद-शास्त्रोंद्वारा प्रमाणित है, उन्हीं देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा सोचकर ही मैं रुद्रदेवकी पूजा करता हूँ। जो रुद्रको जानता है, वह मुझे जानता है। जो उनका अनुगामी है, [illegible] मेरा भी अनुगामी है ॥ २५-२६ ॥

रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम् ।
लोके चरति कौन्तेय व्यक्तिस्थं सर्वकर्मसु ॥ २७ ॥

कुन्तीनन्दन! रुद्र और नारायण दोनों एक ही स्वरूप हैं, जो दो स्वरूप धारण करके भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें स्थित हो संसारमें यज्ञ आदि सब कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ २७ ॥

न हि मे केनचिद् देयो वरः पाण्डवनन्दन ।
इति संचिन्त्य मनसा पुराणं रुद्रमीश्वरम् ॥ २८ ॥
पुत्रार्थमाराधितवानहमात्मानमात्मना ।

पाण्डवोंको आनन्दित करनेवाले अर्जुन! मुझे दूसरा कोई वर नहीं दे सकता; यही सोचकर मैंने पुत्र-प्राप्तिके लिये [illegible] ही अपने आत्मस्वरूप पुराणपुरुष जगदीश्वर रुद्रकी आराधना की थी ॥ २८½ ॥

न हि विष्णुः प्रणमति कस्मैचिद् वि[illegible]धाय च ॥ २९ ॥
ऋते आत्मानमेवेति ततो रुद्रं भजाम्यहम् ।

विष्णु अपने आत्मस्वरूप रुद्रके सिवा किसी दूसरे देवताको प्रणाम नहीं करते; इसलिये [illegible] रुद्रका भजन करता हूँ ॥ २९½ ॥

सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवाः सहर्षिभिः ॥ ३[illegible] ॥
अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् ।

ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र तथा ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता सुरश्रेष्ठ नारायणदेव श्रीहरिकी अर्चना करते हैं ॥ ३०½ ॥

भविष्यतां वर्ततां [illegible] भूतानां चैव भारत ॥ ३१ ॥

सर्वेषामग्रणीर्विष्णुः सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः ।

भरतनन्दन ! भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाले समस्त पुरुषोंके भगवान् विष्णु ही अग्रगण्य हैं; अतः सबको सदा उन्हींकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥ ३१½ ॥

नमस्व हव्यदं विष्णुं तथा शरणदं नम ॥ ३२ ॥
वरदं नमस्व कौन्तेय हव्यकव्यभुजं नम ।

कुन्तीकुमार ! तुम हव्यदाता विष्णुको नमस्कार करो, शरणदाता श्रीहरिको शीश झुकाओ, वरदाता विष्णुकी वन्दना करो तथा हव्यकव्यभोक्ता भगवान्‌को प्रणाम करो ॥ ३२½ ॥

चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि मे श्रुतम् ॥ ३३ ॥
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः ।
अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् ॥ ३४ ॥

तुमने मुझसे सुना है कि आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके मनुष्य मेरे भक्त हैं। इनमें जो एकान्ततः मेरा ही भजन करते हैं, दूसरे देवताओंको अपना आराध्य नहीं मानते हैं, वे सबसे श्रेष्ठ हैं। निष्कामभावसे सब कर्म करनेवाले उन भक्तोंकी परमगति मैं ही हूँ ॥

ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः ।
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् ॥ ३५ ॥

जो शेष तीन प्रकारके भक्त हैं, वे फलकी इच्छा रखनेवाले माने गये हैं। अतः वे सभी नीचे गिरनेवाले होते हैं—पुण्यभोगके अनन्तर स्वर्गादिलोकोंसे च्युत हो जाते हैं, परंतु ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ फल (भगवत्प्राप्ति) का भागी होता है ॥

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः ।
प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत् परम् ॥ ३६ ॥

ज्ञानी भक्त ब्रह्मा, शिव तथा दूसरे देवताओंकी निष्काम भावसे सेवा करते हुए भी अन्तमें मुझ परमात्माको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

भक्तं प्रति विशेषस्ते एष पार्थानुकीर्तितः ।
त्वं चैवाहं च कौन्तेय नरनारायणौ स्मृतौ ॥ ३७ ॥
भारावतरणार्थं तु प्रविष्टौ मानुषीं तनुम् ।

पार्थ ! यह मैंने तुमसे भक्तोंका अन्तर बतलाया है। कुन्तीनन्दन ! तुम और मैं दोनों ही नर-नारायण नामक ऋषि हैं और पृथ्वीका भार उतारनेके लिये हमने मानव-शरीरमें प्रवेश किया है॥

जानाम्यध्यात्मयोगांश्च योऽहं यस्माच्च भारत ॥ ३८ ॥
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽभ्युदयिकोऽपि च ।
नराणामयनं ख्यातमहमेकः सनातनः ॥ ३९ ॥

भारत ! मैं अध्यात्मयोगोंको जानता हूँ तथा मैं कौन हूँ और कहाँसे आया हूँ—इस बातका भी मुझे ज्ञान है। लौकिक अभ्युदयका साधक प्रवृत्तिधर्म और निःश्रेयस प्रदान करनेवाला निवृत्तिधर्म भी मुझसे अज्ञात नहीं है। एकमात्र मैं सनातन पुरुष ही सम्पूर्ण मनुष्योंका सुविख्यात आश्रयभूत नारायण हूँ ॥ ३८-३९ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
अयनं मम तत् पूर्वमतो नारायणो ह्यहम् ॥ ४० ॥

नरसे उत्पन्न होनेके कारण जलको नार कहा गया है। वह नार (जल) पहले मेरा अयन (निवासस्थान) था; इसलिये ही मैं 'नारायण' कहलाता हूँ ॥ ४० ॥

छादयामि जगद् विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ॥ ४१ ॥

(जो सबमें व्याप्त हो अथवा जो किसीका निवासस्थान हो, उसे 'वासु' कहते हैं।) मैं ही सूर्यरूप धारण करके अपनी किरणोंसे सम्पूर्ण जगत्‌को आच्छादित करता हूँ तथा मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका वासस्थान हूँ; इसलिये मेरा नाम 'वासुदेव' है ॥

गतिश्च सर्वभूतानां प्रजनश्चापि भारत ।
व्याप्ता मे रोदसी पार्थ कान्तिश्चाभ्यधिका मम ॥ ४२ ॥
अधिभूतानि चान्तेषु तदिच्छंश्चास्मि भारत ।
क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः ॥ ४३ ॥

भारत ! मैं सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति और उत्पत्तिका स्थान हूँ। पार्थ ! मैंने आकाश और पृथ्वीको व्याप्त कर रक्खा है। मेरी कान्ति सबसे बढ़कर है। भरतनन्दन ! सम्पूर्ण प्राणी अन्तकालमें जिस ब्रह्मको पानेकी इच्छा करते हैं, वह भी मैं ही हूँ। कुन्तीकुमार ! मैं सबका अतिक्रमण करके स्थित हूँ। इन सभी कारणोंसे मेरा नाम 'विष्णु' हुआ है* ॥ ४२-४३ ॥

दमात् सिद्धिं परीप्सन्तो मां जनाः कामयन्ति ह ।
दिवं चोर्वीं च मध्यं च तस्माद् दामोदरो ह्यहम् ॥ ४४ ॥

मनुष्य दम (इन्द्रियसंयम) के द्वारा सिद्धि पानेकी इच्छा करते हुए मुझे पाना चाहते हैं तथा दमके द्वारा ही वे पृथ्वी, स्वर्ग एवं मध्यवर्ती लोकोंमें ऊँची स्थिति पानेकी अभिलाषा करते हैं, इसलिये मैं 'दामोदर' कहलाता हूँ (दम एव दामः तेन उदीर्यति—उन्नतिं प्राप्नोति यस्मात् स दामोदरः—यह दामोदर शब्दकी व्युत्पत्ति है) ॥ ४४ ॥

पृश्निरित्युच्यते चान्नं वेद आपोऽमृतं तथा ।
ममैतानि सदा गर्भः पृश्निगर्भस्ततो ह्यहम् ॥ ४५ ॥

अन्न, वेद, जल और अमृतको पृश्नि कहते हैं। ये सदा मेरे गर्भमें रहते हैं; इसलिये मेरा नाम 'पृश्निगर्भ' है ॥

ऋषयः प्राहुरेवं मां त्रितं कूपनिपातितम् ।
पृश्निगर्भ त्रितं पाहीत्येकतद्वितपातितम् ॥ ४६ ॥
ततः स ब्रह्मणः पुत्र आद्यो ह्युषिवरस्त्रितः ।
उत्ततारोदपानाद् वै पृश्निगर्भानुकीर्तनात् ॥ ४७ ॥

* 'विच्छ गतौ' (तुदादि), 'विच्छ दीप्तौ' (चुरादि), 'विषु सेचने' (भ्वादि), 'विष्लृ व्याप्तौ' (जुहोत्यादि), 'विश प्रवेशने' (तुदादि), 'ष्णु प्रस्रवणे' (अदादि)—इन सभी धातुओंसे 'विष्णु' शब्दकी सिद्धि होती है, अतः गति, दीप्ति, सेचन, व्याप्ति, प्रवेश तथा प्रस्रवण—ये सभी अर्थ 'विष्णु' शब्दमें निहित हैं।

जब त्रितमुनि अपने भाइयोंद्वारा कुएँमें गिरा दिये गये, उस समय ऋषियोंने मुझसे इस प्रकार प्रार्थना की--'पृश्निगर्भ ! एकत और द्वितके गिराये हुए त्रितको डूबनेसे बचाइये।' मेरे पृश्निगर्भ नामका बारंबार कीर्तन करनेसे ब्रह्माजीके आदिपुत्र ऋषिप्रवर त्रित कुएँसे बाहर हो गये॥

सूर्यस्य तपतो लोकानग्नेः सोमस्य चाप्युत ।
अंशवो यत् प्रकाशन्ते ममैते केशसंज्ञिताः ॥ ४८ ॥
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः ।

जगत्‌को तपानेवाले सूर्यकी तथा अग्नि और चन्द्रमाकी जो किरणें प्रकाशित होती हैं, वे सब मेरा केश कहलाती हैं। केशसे युक्त होनेके सर्वज्ञ द्विजश्रेष्ठ मुझे 'केशव' कहते हैं ॥ ४८½ ॥

एवं हि वरदं केशवेति ममार्जुन ।
देवानामथ सर्वेषामृषीणां च महात्मनाम् ॥ ४९ ॥

अर्जुन ! इस मेरा 'केशव' नाम सम्पूर्ण देवताओं और महात्मा ऋषियोंके लिये वरदायक ॥ ४९ ॥

अग्निः सोमेन संयुक्त एकयोनित्वमागतः ।
अग्नीषोममयं तस्माज्जगत् कृत्स्नं चराचरम् ॥ ५० ॥

अग्नि सोमके संयुक्त हो एक योनिको प्राप्त हुए, इसलिये सम्पूर्ण चराचर जगत् अग्नि सोममय है ॥ ५० ॥

अपि हि पुराणे भवति एकयोन्यात्मकावग्नीषोमौ देवाश्चाग्निमुखा इति एकयोनित्वाच्च परस्परमर्हन्तो लोकान् धारयन्त इति ॥ ५१ ॥

पुराणमें यह कहा गया है कि अग्नि और सोम एकयोनि हैं सम्पूर्ण देवताओंके मुख अग्नि हैं। एकयोनि होनेके ये एक दूसरेको आनन्द प्रदान करते और लोकोंको धारण करते हैं ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये एकचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सृष्टिकी प्रारम्भिक अवस्थाका वर्णन, ब्राह्मणोंकी हिमा बतानेवाली अनेक प्रकारकी संक्षिप्त कथाओं-का उल्लेख, भगवन्नामोंके हेतु तथा रुद्रके होनेवाले युद्धमें नारायणकी विजय

अर्जुन उवाच

अग्नीषोमौ कथं पूर्वमेकयोनी प्रवर्तितौ ।
एष मे संशयो जातस्तं छिन्धि मधुसूदन ॥ १ ॥

अर्जुनने पूछा--मधुसूदन ! अग्नि और सोम पूर्वकालमें एकयोनि कैसे हो गये ? मेरे मनमें यह संदेह उत्पन्न हुआ है। आप इसका निवारण कीजिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते वर्तयिष्यामि पुराणं पाण्डुनन्दन ।
आत्मतेजोद्भवं पार्थ शृणुष्वैकमना ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले--पाण्डुनन्दन ! कुन्तीकुमार ! अपने तेजके उद्भवका प्राचीन वृत्तान्त मैं तुम्हें हर्षपूर्वक बताऊँगा। तुम एकचित्त होकर मुझसे सुनो ॥ २ ॥

सम्प्रक्षालनकालेऽतिक्रान्ते चतुर्युगसहस्रान्ते अव्यक्ते सर्वभूते प्रलये सर्वभूतस्थावरजङ्गमे ज्योतिर्धरणिवायुरहितेऽन्धे तमसि जलैकार्णवे लोके ॥ ३ ॥

एक सहस्र चतुर्युग बीत जानेपर सम्पूर्ण लोकोंके लिये प्रलयकाल आ पहुँचा । भूतोंका अव्यक्तमें लय हो गया था। स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी विलीन हो गये थे। पृथ्वी, तेज और वायुका कहीं पता नहीं था। चारों ओर घोर अन्धकार छा रहा तथा समस्त संसार एकार्णवके जलमें निमग्न हो चुका था ॥ ३ ॥

आप इत्येवं ब्रह्मभूतसंज्ञकेऽद्वितीये प्रतिष्ठिते ॥ ४ ॥

और केवल ही-जल स्थित । दूसरा कोई तत्त्व नहीं दिखायी देता था, मानो एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म अपनी महिमामें प्रतिष्ठित हो ॥ ४ ॥

न वै रात्र्यां न दिवसे सति नासति न व्यक्ते न चाप्यव्यक्ते व्यवस्थिते ॥ ५ ॥

उस समय न रात थी, न दिन। न सत् था, न असत्। न व्यक्त था और न अव्यक्तकी ही स्थिति थी ॥ ५ ॥

एवमस्यां व्यवस्थायां नारायणगुणाश्रयादजराम-रादनिन्द्रियादग्राह्यादसम्भवात् सत्यादहिंस्राल्ललामाद् विविधप्रवृत्तिविशेषाद्वैरादक्षयादमरादजरादमूर्तितः सर्वव्यापिनः सर्वकर्तुः शाश्वतस्तमसात् पुरुषः प्रादुर्भूतो हरिरव्ययः ॥ ६ ॥

इस अवस्थामें नारायणके गुणोंका आश्रय लेकर रहनेवाले अजर, अमर, इन्द्रियरहित, अग्राह्य, असम्भव, सत्य स्वरूप, हिंसारहित, सुन्दर, नाना प्रकारकी विशेष प्रवृत्तियोंके हेतुभूत, वैररहित, अक्षय, अमर, जरारहित, निराकार, सर्व-व्यापी तथा सर्वकर्ता तत्त्वसे विनाशी सनातन पुरुष हरिका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ६ ॥

निदर्शनमपि भवति ॥ ॥

इस विषयमें श्रुतिका यह दृष्टान्त भी है ॥ ॥

नासीदहो रात्रिरासीच्च सदासीन्नासदासीत् एव पुरस्तादभवद् विश्वरूपम् । सा विश्वरूपस्य रजनी हि एवमस्यार्थोऽनुभाष्यः ॥ ८ ॥

[illegible] प्रलयकालमें न दिन था न रात थी, न सत् था न असत् था, केवल [illegible] ही सामने था। वही सर्वरूप हो रहा था। यही विश्वात्माकी रात्रि है। इस प्रकार इस श्रुतिका अर्थ कहना और समझना चाहिये ॥ ८ ॥

तस्येदानीं तमसः सम्भवस्य पुरुषस्य ब्रह्मयोनेर्ब्रह्मणः प्रादुर्भावे स पुरुषः [illegible] सिसृक्षमाणो नेत्राभ्यामग्नीषोमौ ससर्ज । ततो भूतसर्गेषु सृष्टेषु प्रजाक्रमवशाद् ब्रह्मक्षत्रमुपातिष्ठत्। [illegible] सोमस्तद् ब्रह्म यद् ब्रह्म ते ब्राह्मणा योऽग्निस्तत् क्षत्रं क्षत्राद् [illegible] बलवत्तरम्। कस्मादिति लोकप्रत्यक्षगुणमेतत्तद्यथा। ब्राह्मणेभ्यः परं भूतं नोत्पन्नपूर्वं दीप्यमानेऽग्नौ जुहोति । यो ब्राह्मणमुखे जुहोतीति कृत्वा ब्रवीमि भूतसर्गः कृतो ब्रह्मणा भूतानि च प्रतिष्ठाप्य त्रैलोक्यं धार्यत इति मन्त्रवादोऽपि हि भवति ॥ ९ ॥

उस समय उस मायाविशिष्ट ईश्वरसे [illegible] हुए [illegible] ब्रह्मयोनि पुरुषसे जब ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ, तब उस पुरुषने प्रजासृष्टिकी इच्छासे अपने नेत्रोंद्वारा अग्नि और सोमको उत्पन्न किया। इस प्रकार भौतिक सर्गकी सृष्टि हो जानेपर प्रजाकी उत्पत्तिके समय क्रमशः ब्रह्म और क्षत्रका प्रादुर्भाव हुआ। जो सोम है, वही ब्रह्म है और जो ब्रह्म है, वही ब्राह्मण। जो अग्नि है, वही क्षत्र या क्षत्रिय जाति है। क्षत्रियसे ब्राह्मण जाति अधिक प्रबल है। यदि कहो कैसे? तो इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मणकी यह प्रबलताका गुण सब लोगोंको [illegible] है। यथा ब्राह्मणसे बढ़कर कोई प्राणी पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ। जो ब्राह्मणके मुखमें भोजन देता है, वह मानो प्रज्वलित अग्निमें आहुति प्रदान [illegible] है। यही सोचकर मैं ऐसा कहता हूँ। ब्रह्माने भूतोंकी सृष्टि की और सम्पूर्ण भूतोंको यथास्थान स्थापित करके वे तीनों लोकोंको धारण करते हैं। यह मन्त्रवाक्य भी इसी बातका समर्थक है॥ ९॥

त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितो देवानां मानुषाणां च [illegible] इति ॥ १० ॥

अग्ने! तुम यज्ञोंके होता तथा सम्पूर्ण देवताओं, मनुष्यों और सारे जगत्के हितैषी हो ॥ १० ॥

निदर्शनं चात्र भवति विश्वेषामग्ने यज्ञानां त्वं होतेति। त्वं हितो देवैर्मनुष्यैर्जगत इति ॥ ११ ॥

इस विषयमें यह दृष्टान्त भी है—हे अग्निदेव! तुम सम्पूर्ण यज्ञोंके होता हो। समस्त देवताओं तथा मनुष्योंसहित जगत्के हितैषी हो ॥ ११ ॥

अग्निर्हि यज्ञानां होता कर्ता स चाग्निर्ब्रह्म ॥१२॥

अग्निदेव यज्ञोंके होता और कर्ता हैं। वे अग्निदेव [illegible] है ॥ १२ ॥

न ह्यृते मन्त्राणां हवनमस्ति न विना पुरुषं तपः सम्भवति। हविर्मन्त्राणां सम्पूजा विद्यते देवमानुषऋषीणामनेन त्वं होतेति नियुक्तः। ये च मानुषहोत्राधिकारास्ते [illegible] ब्राह्मणस्य हि याजनं विधीयते न क्षत्रवैश्ययोर्द्विजात्योस्तस्माद् ब्राह्मणा ह्यग्निभूता यज्ञानुद्वहन्ति। यज्ञास्ते देवांस्तर्पयन्ति देवाः पृथिवीं भावयन्ति शतपथेऽपि हि ब्राह्मणमुखे भवति ॥१३॥

क्योंकि मन्त्रोंके बिना हवन नहीं होता और पुरुषके बिना [illegible] सम्भव नहीं होती। हविष्ययुक्त मन्त्रोंके सम्बन्धसे देवताओं, मनुष्यों और ऋषियोंकी पूजा होती है; इसलिये हे अग्निदेव! [illegible] होता नियुक्त किये गये हो। मनुष्योंमें जो होताके अधिकारी हैं, वे ब्राह्मणके ही हैं; क्योंकि उसीके लिये [illegible] करानेका विधान है। द्विजातियोंमें जो क्षत्रिय और वैश्य हैं, उन्हें यज्ञ करानेका अधिकार नहीं है; इसलिये अग्निस्वरूप [illegible] ही यज्ञोंका भार वहन करते हैं। वे यज्ञ देवताओंको तृप्त करते हैं और देवता भूमण्डलको धन-धान्यसे सम्पन्न बनाते हैं। शतपथ ब्राह्मणमें भी ब्राह्मणके मुखमें आहुति देनेकी बात कही गयी है ॥ १३ ॥

अग्नौ समिद्धे स जुहोति यो विद्वान् ब्राह्मणमुखेनाहुतिं जुहोति ॥ १४ ॥

जो विद्वान् ब्राह्मणके मुखरूपी अग्निमें अन्नकी आहुति देता है, [illegible] मानो प्रज्वलित अग्निमें होम करता है ॥ १४ ॥

एवमप्यग्निभूता ब्राह्मणा विद्वांसोऽग्निं भावयन्ति। अग्निर्विष्णुः सर्वभूतान्यनुप्रविश्य [illegible] धारयति ॥ १५ ॥

इस प्रकार ब्राह्मण अग्निस्वरूप हैं। विद्वान् ब्राह्मण अग्निकी आराधना करते हैं। अग्निदेव विष्णु हैं। वे समस्त प्राणियोंके भीतर प्रवेश करके उनके प्राणोंको धारण करते हैं॥

अपि चात्र सनत्कुमारगीताः श्लोका भवन्ति—

[illegible] विश्वं सृजत् पूर्वं सर्वादिर्निरवस्करम्।
ब्रह्मघोषैर्दिवं यान्त्यमरा ब्रह्मयोनयः ॥ १६ ॥

इसके सिवा इस विषयमें सनत्कुमारजीके द्वारा गाये हुए श्लोक भी उपलब्ध होते हैं। सबके आदिकारण ब्रह्माजीने (जो ब्राह्मण ही हैं) पहले निर्मल विश्वकी सृष्टि की थी। [illegible] जिनकी उत्पत्तिके [illegible] हैं, वे अमर देवता ब्राह्मणोंकी वेदध्वनिसे ही स्वर्गलोकको जाते हैं ॥ १६ ॥

ब्राह्मणानां मतिर्वाक्यं कर्म श्रद्धा तपांसि च।
धारयन्ति महीं द्यां च शैक्यो वागमृतं तथा ॥ १७ ॥

जैसे छींका दूध, दही आदिको धारण करता है, उसी प्रकार ब्राह्मणोंकी बुद्धि, वाक्य, कर्म, श्रद्धा, [illegible] और वचनामृत पृथ्वी और स्वर्गको धारण करते हैं ॥ १७ ॥

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नास्ति मातृसमो गुरुः।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति प्रेत्य चेह च भूतये ॥ १८ ॥

सत्यसे बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है। माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है तथा ब्राह्मणोंसे बढ़कर इहलोक और पर-

लोकमें कल्याण करनेवाला और कोई नहीं है ॥ १८ ॥

नैषामुक्षा वहति नोत वाहा
न गर्गरो मथ्यति सम्प्रदाने।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति
येषां राष्ट्रे [illegible] वृत्तिहीनाः ॥ १९ ॥

जिनके राज्यमें ब्राह्मणोंके लिये कोई आजीविका न हो, [illegible] राजाओंकी सवारी, बैल और घोड़े नहीं रहते, दूसरोंको देनेके लिये उनके यहाँ दही-दूधके मटके नहीं मथे जाते हैं तथा वे अपनी मर्यादासे [illegible] होकर लुटेरे हो जाते हैं ॥ १९ ॥

वेदपुराणेतिहासप्रामाण्यान्नारायणमुखोद्गताः
सर्वात्मानः सर्वकर्तारः सर्वभावाश्च ब्राह्मणाश्च ॥ २० ॥

वेद, पुराण और इतिहासके प्रमाणसे यह सिद्ध है कि ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति भगवान् नारायणके मुखसे हुई है; [illegible] वे ब्राह्मण सर्वात्मा, सर्वकर्ता और सर्वभावस्वरूप हैं ॥ २० ॥

वाक्संयमकाले हितस्य वरप्रदस्य देवदेवस्य [illegible] प्रथमं प्रादुर्भूता ब्राह्मणेभ्यश्च शेषा वर्णाः प्रादुर्भूताः ॥ २१ ॥

वाणीके संयमकालमें सबके हितैषी, वरदाता, देवाधिदेव ब्रह्माजीके द्वारा सबसे पहले [illegible] हुए। फिर ब्राह्मणोंसे शेष वर्णोंका प्रादुर्भाव हुआ ॥ २१ ॥

इत्थं च सुरासुरविशिष्टा ब्राह्मणा य[illegible] मया ब्रह्मभूतेन पुरा स्वयमेवोत्पादिताः सुरासुरमहर्षयो भूतविशेषाः स्थापिता निगृहीताश्च ॥ २२ ॥

इस प्रकार ब्राह्मण देवताओं और असुरोंसे भी श्रेष्ठ हैं। पूर्वकालमें मैंने स्वयं ही ब्रह्मारूप होकर [illegible] ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया था। देवता, असुर और महर्षि आदि जो भूतविशेष हैं, उन्हें ब्राह्मणोंने ही उनके अधिकारपर स्थापित किया और उनके [illegible] अपराध होनेपर उन्हें दण्ड भी दिया ॥ २२ ॥

अहल्याधर्षणनिमित्तं हि गौतमाद्धरिश्मश्रुतामिन्द्रः प्राप्तः कौशिकनिमित्तं चेन्द्रो मुष्कवियोगं मेषवृषणत्वं [illegible] ॥ २३ ॥

अहल्यापर बलात्कार करनेके [illegible] गौतमके शापसे इन्द्रको हरिश्मश्रु (हरी दाढ़ी-मूछोंसे युक्त) होना पड़ा तथा विश्वामित्रके शापसे इन्द्रको अपना अण्डकोष खो देना पड़ा और उनके मेढ़ेके अण्डकोष जोड़े गये ॥ २३ ॥

अश्विनोर्ग्रहप्रतिषेधोद्यतवज्रस्य पुरन्दरस्य च्यवनेन स्तम्भितौ [illegible] ॥ २४ ॥

अश्विनीकुमारोंके लिये नियत यज्ञभागका निषेध करनेके [illegible] उठाये हुए इन्द्रकी दोनों भुजाओंको महर्षि च्यवनने स्तम्भित [illegible] दिया [illegible] ॥ २४ ॥

क्रतुवधप्राप्तमन्युना च दक्षेण भूयस्तपसा चात्मानं संयोज्य नेत्राकृतिरन्या ललाटे रुद्रस्योत्पादिता ॥ २५ ॥

इसी प्रकार [illegible] प्रजापतिने रुद्रद्वारा किये गये अपने यज्ञके विध्वंससे कुपित हो बड़ी भारी तपस्या की और रुद्रदेवके ललाटमें एक तीसरा नेत्र-चिह्न प्रकट कर दिया था ॥

त्रिपुरवधार्थं दीक्षामुपगतस्य रुद्रस्य उशनसा [illegible] शिरस उत्कृत्य प्रयुक्तास्ततः प्रादुर्भूता भुजगास्तैरस्य भुजगैः पीड्यमानः कण्ठो नीलतामुपगतः पूर्वे च मन्वन्तरे स्वायम्भुवे नारायणहस्तग्रहणान्नीलकण्ठत्वमेव च ॥ २६ ॥

जिस [illegible] रुद्रने त्रिपुरनिवासी दैत्योंके वधके लिये दीक्षा ली थी, उस समय शुक्राचार्यने अपने मस्तकसे जटाएँ उखाड़कर उन्हींका महादेवजीपर प्रयोग किया। फिर तो उन जटाओं[illegible] बहुतेरे सर्प उत्पन्न हुए, जिन्होंने रुद्रदेवके कण्ठमें डँसना आरम्भ किया। इससे [illegible] कण्ठ नीला हो गया तथा पहले स्वायम्भुव मन्वन्तरमें नारायणने अपने हाथसे उनका कण्ठ पकड़ा था, इसलिये भी कण्ठका रंग नीला हो जानेसे वे रुद्रदेव नीलकण्ठ हो गये ॥ २६ ॥

अमृतोत्पादने पुरश्चरणतामुपगतस्याङ्गिरसो बृहस्पतेरुपस्पृशतो न प्रसादं गतवत्यः किलापः, [illegible] बृहस्पतिरपां चुक्रोध यस्मान्ममोपस्पृशतः कलुषीभूता न च प्रसादमुपगतास्तस्मादद्यप्रभृति झषमकरकच्छपजन्तुभिः कलुषीभवतेति, तदा प्रभृत्यापो यादोभिः संकीर्णाः सम्प्रवृत्ताः ॥ २७ ॥

अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिने अमृत उत्पन्न करनेके समय पुरश्चरण आरम्भ किया। उस समय जब वे आचमन करने लगे, तब [illegible] स्वच्छ नहीं हुआ। इससे बृहस्पति जलके प्रति कुपित हो उठे और बोले—'मेरे आचमन करते समय भी तुम स्वच्छ न हुए, मैले ही बने रह गये; इसलिये आजसे मत्स्य, मकर और कछुए आदि जन्तुओंद्वारा तुम कलुषित होते रहो।' तभीसे सारे जलाशय जलजन्तुओंसे भरे रहने लगे ॥ २७ ॥

विश्वरूपो हि वै त्वाष्ट्रः पुरोहितो देवानामासीत्, स्वस्रीयोऽसुराणां स प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमदात् परोक्षमसुरेभ्यः ॥ २८ ॥

त्वष्टाके पुत्र विश्वरूप देवताओंके पुरोहित थे। वे असुरोंके भानजे लगते थे; अतः देवताओंको प्रत्यक्ष और असुरोंको परोक्षरूपसे यज्ञो[illegible] भाग दिया करते थे ॥ २८ ॥

अथ हिरण्यकशिपुं पुरस्कृत्य विश्वरूपमातरं स्वसारमसुरा वरमयाचन्त हे स्वसरयं ते पुत्रस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपस्त्रिशिरा देवानां पुरोहितः प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागमदात् परोक्षमस्माकं ततो देवा वर्धन्ते वयं क्षीयामस्तदेनं त्वं वारयितुमर्हसि तथा यथास्मान् भजेदिति ॥ २९ ॥

कुछ कालके अनन्तर हिरण्यकशिपुको आगे करके सब असुर विश्वरूपकी माताके पास गये और उनसे वर माँगने लगे—'बहिन ! यह तुम्हारा पुत्र विश्वरूप, जिसके तीन सिर हैं,

देवताओंका पुरोहित बना हुआ है। यह देवताओंको तो प्रत्यक्ष भाग देता है और हमलोगोंको परोक्षरूपसे भाग समर्पित करता है। इससे देवता तो बढ़ते हैं और हमलोग निरन्तर क्षीण होते चले जा रहे हैं। तुम इसे मना कर दो, जिससे यह देवताओंको छोड़कर हमारा पक्ष ग्रहण करे' ॥ २९ ॥

अथ विश्वरूपं नन्दनवनमुपगतं मातोवाच पुत्र किं परपक्षवर्धनस्त्वं मातुलपक्षं नाशयसि नार्हस्येवं कर्तुमिति स विश्वरूपो मातुर्वाक्यमनतिक्रमणीयमिति मत्वा सम्पूज्य हिरण्यकशिपुमगात् ॥ ३० ॥

तब एक दिन माताने नन्दनवनमें गये हुए विश्वरूपसे कहा-'बेटा! क्यों तुम दूसरे पक्षकी वृद्धि करते हुए मामाके पक्षका नाश कर रहे हो? तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।' विश्वरूपने माताकी आज्ञाको अलङ्घनीय मानकर उसका सम्मान करके विदा कर दिया और वे स्वयं हिरण्यकशिपुके पास चले गये ॥ ३० ॥

हैरण्यगर्भाच्च वसिष्ठाद्धिरण्यकशिपुः शापं प्राप्तवान् यस्मात् त्वयान्यो वृतो होता तस्मादसमाप्तयज्ञस्त्वमपूर्वात् सत्त्वजाताद् वधं प्राप्स्यसीति तच्छापदानाद्धिरण्यकशिपुः प्राप्तवान् वधम् ॥ ३१ ॥

(हिरण्यकशिपुने उन्हें अपना होता बना लिया)। इधर ब्रह्माजीके पुत्र वसिष्ठकी ओरसे हिरण्यकशिपुको शाप प्राप्त हुआ—'तुमने मेरी अवहेलना करके दूसरा होता चुन लिया है; इसलिये इस यज्ञकी समाप्ति होनेसे पहले ही किसी अभूतपूर्व प्राणीके हाथसे तुम्हारा वध हो जायगा।' वसिष्ठजीके वैसा शाप देनेसे हिरण्यकशिपु वधको प्राप्त हुआ ॥ ३१ ॥

अथ विश्वरूपो मातृपक्षवर्धनोऽत्यर्थं तपस्यभवत् तस्य व्रतभङ्गार्थमिन्द्रो बह्वीःश्रीमत्योऽप्सरसो नियुयोज ताश्च दृष्ट्वा मनः क्षुभितं तस्याभवत् तासु चाप्सरःसु नचिरादेव सक्तोऽभवत् सक्तं चैनं ज्ञात्वा अप्सरस ऊचुर्गच्छामहे वयं यथागतमिति ॥ ३२ ॥

तदनन्तर विश्वरूप मातृपक्षकी वृद्धि करनेके लिये बड़ी भारी तपस्यामें संलग्न हो गये। यह देख उनके व्रतको भङ्ग करनेके लिये इन्द्रने बहुत-सी सुन्दरी अप्सराओंको नियुक्त कर दिया। उन अप्सराओंको देखते ही विश्वरूपका मन चञ्चल हो गया और वे तुरंत ही उनमें आसक्त हो गये। उन्हें आसक्त जानकर अप्सराओंने कहा—'अब हमलोग जहाँसे आयी हैं, वहीं जा रही हैं' ॥ ३२ ॥

तास्त्वाष्ट्र उवाच क्व गमिष्यथास्यतां तावन्मया सह श्रेयो भविष्यतीति तास्तमब्रुवन् वयं देवस्त्रियोऽप्सरस इन्द्रं देवं वरदं पुरा प्रभविष्णुं वृणीमह इति ॥ ३३ ॥

तब त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपने उनसे कहा-'कहाँ जाओगी? अभी यहीं मेरे साथ रहो। इससे तुम्हारा भला होगा।' यह सुनकर वे अप्सराएँ बोलीं-'हम सब देवाङ्गना-अप्सराएँ हैं। हमने पहलेसे ही वरदायक देवता प्रभावशाली इन्द्रका वरण कर लिया है' ॥ ३३ ॥

अथ ता विश्वरूपोऽब्रवीदद्यैव सेन्द्रा देवा न भविष्यन्तीति ततो मन्त्रान् जजाप तैर्मन्त्रैरवर्धत त्रिशिरा एकेनास्येन सर्वलोकेषु यथावद् द्विजैः क्रियावद्भिर्यज्ञेषु सुहुतं सोमं पपावेकेनान्नमेकेन सेन्द्रान् देवानथेन्द्रस्तं विवर्धमानं सोमपानाप्यायितसर्वगात्रं दृष्ट्वा चिन्तामापेदे सह देवैः ॥ ३४ ॥

तब विश्वरूपने उनसे कहा-'आज ही इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंका अभाव हो जायगा।' ऐसा कहकर वे मन्त्रोंका जप करने लगे। उन मन्त्रोंसे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। तीन सिरोंवाले विश्वरूप अपने एक मुखसे सारे संसारके क्रियानिष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा विधिपूर्वक यज्ञोंमें होमे गये सोमरसको पी लेते थे, दूसरेसे अन्न खाते थे और तीसरेसे इन्द्र आदि देवताओंके तेजको पी लेते थे। इन्द्रने देखा, विश्वरूपका सारा शरीर सोमपानसे परिपुष्ट हो रहा है। यह देखकर देवताओं सहित इन्द्रको बड़ी चिन्ता हुई ॥ ३४ ॥

ते देवाः सेन्द्रा ब्रह्माणमभिजग्मुरूचुश्च विश्वरूपेण सर्वयज्ञेषु सुहुतः सोमः पीयते वयमभागाः संवृत्ता असुरपक्षो वर्धते वयं क्षीयामस्तदर्हसि नो विधातुं श्रेयोऽनन्तरमिति ॥ ३५ ॥

तदनन्तर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता ब्रह्माजीके पास गये और इस प्रकार बोले-'भगवन्! विश्वरूप सम्पूर्ण यज्ञोंमें विधिपूर्वक होमे गये सोमरसको पी लेते हैं। हम यज्ञभागसे वञ्चित हो गये। असुरपक्ष बढ़ रहा है और हमलोग क्षीण होते जा रहे हैं; अतः आपको अब हमलोगोंका कल्याण साधन करना चाहिये' ॥ ३५ ॥

तान् ब्रह्मोवाच ऋषिर्भार्गवस्तपस्तप्यते दधीचः स याच्यतां वरं स यथा कलेवरं जह्यात् तस्य विधीयतां तस्यास्थिभिर्वज्रं क्रियतामिति ॥ ३६ ॥

तब ब्रह्माजीने उन देवताओंसे कहा—'भृगुवंशी दधीचि ऋषि तपस्या करते हैं। उनके पास जाकर ऐसा वर माँगो, जिससे वे अपने शरीरको त्याग दें। फिर उन्हींकी हड्डियोंसे वज्र नामक अस्त्रका निर्माण करो' ॥ ३६ ॥

ततो देवास्तत्रागच्छन् यत्र दधीचो भगवानृषिस्तपस्तेपे सेन्द्रा देवास्तं तथाभिगम्योचुर्भगवंस्तपः सुकुशलमविघ्नं चेति ॥ ३७ ॥

तब देवता वहाँ गये, जहाँ भगवान् दधीचि ऋषि तपस्या करते थे। इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता उनके निकट जाकर इस प्रकार बोले-'भगवन्! आपकी तपस्या सकुशल चल रही है न? उसमें कोई बाधा तो नहीं आती है?' ॥ ३७ ॥

तान् दधीच उवाच स्वागतं भवद्भ्यः उच्यतां किं क्रियतामिति यद् वक्ष्यथ तत् करिष्यामि ॥ ३८ ॥

दधीचिने इन देवताओंसे कहा—'आपलोगोंका स्वागत है। बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आप जो कहेंगे, वही करूँगा' ॥ ३८ ॥

ते तमब्रुवञ्शरीरपरित्यागं लोकहितार्थं भग-[illegible] कर्तुमर्हतीति ॥ ३९ ॥

देवता बोले—'भगवन् ! आप लोकहितके लिये अपने शरीरका परित्याग कर दें' ॥ ३९ ॥

अथ दधीचस्तथैवाविमनाः सुखदुःखसमो महा-योगी आत्मानं समाधाय शरीरपरित्यागं चकार ॥ ४० ॥

यह सुनकर दधीचिके मनमें पूर्ववत् उत्साह बना रहा, तनिक भी उदासी नहीं हुई। वे सुख और दुःखमें समान भाव रखनेवाले महान् योगी थे। उन्होंने आत्माको परमात्मामें लगाकर अपने शरीरका परित्याग कर दिया ॥ ४० ॥

[illegible] परमात्मन्यपसृते तान्यस्थीनि धाता संगृह्य वज्रमकरोत् तेन वज्रेणाभेद्येनाप्रधृष्येण ब्रह्मास्थिसम्भूतेन विष्णुप्रविष्टेनेन्द्रो विश्वरूपं जघान शिरसां चास्य च्छेदनमकरोत् तस्मादनन्तरं विश्वरूपगात्रमथन-सम्भवं त्वष्ट्रोत्पादितमेवारिं वृत्रमिन्द्रो जघान ॥ ४१ ॥

उनके परमात्मामें लीन हो जानेपर उनकी उन अस्थियोंका संग्रह करके धाताने वज्रास्त्रका निर्माण किया। ब्राह्मणकी हड्डीसे बने हुए उस अभेद्य एवं दुर्जय वज्रसे, जिसमें भगवान् विष्णु प्रविष्ट हुए थे, इन्द्रने विश्वरूपका वध कर डाला और उनके तीनों सिरोंको काट दिया। तदनन्तर त्वष्टा प्रजापतिने विश्वरूपके शरीरका मन्थन करके जिसे उत्पन्न किया था, उस अपने वैरी वृत्रासुरका भी इन्द्रने उसी वज्रसे संहार कर डाला ॥

तस्यां द्वैधीभूतायां ब्रह्मवध्यायां भयादिन्द्रो देव-राज्यं पर्यत्यजदप्सु सम्भवां च शीतलां मानससरो-गतां नलिनीं प्रतिपेदे तत्र चैश्वर्ययोगादणुमात्रो भूत्वा बिसग्रन्थिं प्रविवेश ॥ ४२ ॥

[illegible] इन्द्रके पास दोहरी ब्रह्महत्या उपस्थित हुई। उसके भयसे इन्द्रने देवराजपदका परित्याग [illegible] दिया और मानसरोवरके जलमें उत्पन्न हुई एक शीतल कमलिनीके पास जा पहुँचे। वहाँ अणिमा आदि ऐश्वर्यके योगसे इन्द्र अणुमात्र रूप धारण करके कमलनालकी ग्रन्थिमें प्रविष्ट हो गये ॥ ४२ ॥

अथ ब्रह्मवध्याभयप्रणष्टे त्रैलोक्यनाथे शचीपतौ जगदनीश्वरं बभूव देवान् रजस्तमश्चाविवेश मन्त्रा [illegible] प्रावर्तन्त महर्षीणां रक्षांसि प्रादुरभवन् [illegible] चो-त्सादनं जगामानिन्द्राश्चाबला लोकाः सुप्रधृष्या बभूवुः ॥ ४३ ॥

ब्रह्महत्याके भयसे त्रिलोकीनाथ शचीपति इन्द्रके भागकर [illegible] हो जानेपर इस जगत्का कोई ईश्वर नहीं रहा। देवताओंमें रजोगुण और तमोगुणका आवेश हो गया। महर्षियोंके मन्त्र अब कुछ [illegible] नहीं दे रहे थे। राक्षस बढ़ गये। वेदोंका स्वाध्याय बंद हो गया। तीनों लोक इन्द्रसे अरक्षित होनेके कारण निर्बल एवं सुगमतासे जीत लेने योग्य हो गये ॥ ४३ ॥

[illegible] देवा ऋषयश्चायुषः पुत्रं नहुषं नाम देव-राज्येऽभिषिषिचुर्नहुषः पञ्चभिः शतैर्ज्योतिषां ललाटे ज्वलद्भिः सर्वतेजोहरैस्त्रिविष्टपं पालयांबभूव ॥ ४४ ॥

तदनन्तर देवताओं और ऋषियोंने आयुके पुत्र नहुषको देवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया। नहुषके ललाटमें [illegible] प्राणियोंके तेजको हर लेनेवाली पाँच सौ प्रज्वलित ज्योतियाँ जगमगाती रहती थीं। उनके द्वारा वे स्वर्गके राज्यका पालन करने लगे ॥ ४४ ॥

[illegible] लोकाः प्रकृतिमापेदिरे स्वस्थाश्च हृष्टाश्च बभूवुः ॥ ४५ ॥

ऐसा होनेपर सब लोग स्वाभाविक स्थितिमें आ गये। सभी स्वस्थ एवं प्रसन्न हो गये ॥ ४५ ॥

अथोवाच नहुषः सर्वं मां शक्रोपभुक्तमुपस्थितं ऋते शचीमिति स एवमुक्त्वा शचीसमीपमगमदु-वाचैनां सुभगेऽहमिन्द्रो देवानां भजस्व मामिति तं शची प्रत्युवाच प्रकृत्या त्वं धर्मवत्सलः सोमवंशो-द्भवश्च नार्हसि परपत्नीधर्षणं कर्तुमिति ॥ ४६ ॥

कुछ कालके पश्चात् नहुषने देवताओंसे कहा—'इन्द्रके उपभोगमें आनेवाली अन्य सारी वस्तुएँ तो मेरी सेवामें उपस्थित हैं। केवल शची मुझे नहीं मिली है।' ऐसा कहकर वे शचीके पास गये और उनसे बोले—'सौभाग्यशालिनि ! मैं देवताओंका राजा इन्द्र हूँ। मेरी सेवा स्वीकार करो।' शचीने उत्तर दिया—'महाराज ! आप स्वभावसे ही धर्मवत्सल और चन्द्रवंशके रत्न हैं। आपको परायी स्त्रीका बलात्कार नहीं करना चाहिये' ॥ ४६ ॥

तामथोवाच नहुषः ऐन्द्रं पदमध्यास्यते मया-ऽहमिन्द्रस्य राज्यरत्नहरो नात्राधर्मः कश्चित् त्वमिन्द्रोप-भुक्तेति सा तमुवाचास्ति [illegible] किंचिद् व्रतमपर्यवसितं तस्यावभृथे त्वामुपगमिष्यामि कैश्चिदेवाहोभिरिति स शच्यैवमभिहितो [illegible] ॥ ४७ ॥

तब नहुषने शचीसे कहा—'देवि ! इस समय मैं इन्द्रपद-पर प्रतिष्ठित हूँ। इन्द्रके राज्य और रत्न दोनोंका अधिकारी हो गया हूँ; अतः तुम्हारे साथ समागम करनेमें कोई अधर्म नहीं है; क्योंकि तुम इन्द्रके उपभोगमें आयी हुई वस्तु हो।' यह सुनकर शचीने कहा—'महाराज ! मैंने एक व्रत ले रक्खा है। वह अभी समाप्त नहीं हुआ है। उसकी समाप्ति हो जानेपर कुछ ही दिनोंमें मैं आपकी सेवामें उपस्थित होऊँगी।' शचीके ऐसा कहनेपर नहुष चले गये ॥ ४७ ॥

[illegible] शची दुःखशोकार्ता भर्तृदर्शनलालसा नहुष-भयगृहीता बृहस्पतिमुपागच्छत् स च तामत्युद्विग्नां दृष्ट्वैव ध्यानं प्रविश्य भर्तृकार्यतत्परां ज्ञात्वा बृहस्पति-

रुवाचानेनैव व्रतेन तपसा चान्विता देवीं वरदामुपश्रुतिमाह्वय तदा सा ते इन्द्रं दर्शयिष्यतीति [illegible] महानियमस्थिता देवीं वरदामुपश्रुतिं मन्त्रैराह्वयति सोपश्रुतिः शचीसमीपमगादुवाच चैनामियमस्मीति त्वयाऽऽहूतोपस्थिता किं ते प्रियं करवाणीति तां मूर्ध्ना प्रणम्योवाच शची भगवत्यर्हसि मे भर्तारं दर्शयितुं त्वं सत्या ऋता चेति सैनां मानसं सरोऽनयत् तत्रेन्द्रं विसग्रन्थिगतमदर्शयत् ॥ ४८ ॥

इसके बाद नहुषके भयसे डरी हुई शची दुःख-शोकसे आतुर तथा पतिके दर्शनके लिये उत्कण्ठित हो बृहस्पतिजीके पास गयीं। उन्हें अत्यन्त उद्विग्न देख बृहस्पतिजीने ध्यानस्थ होकर यह जान लिया कि यह अपने स्वामीके कार्यसाधनमें लगी हुई है। तब उन्होंने शचीसे कहा—'देवि! इसी [illegible] और तपस्यासे सम्पन्न हो तुम वरदायिनी देवी उपश्रुतिका आवाहन करो। तब वह तुम्हे इन्द्रका दर्शन करायेगी।' गुरुका यह आदेश पाकर महान् नियममें तत्पर हुई शचीने मन्त्रोंद्वारा वरदायिनी देवी उपश्रुतिका आह्वान किया। [illegible] उपश्रुतिदेवी शचीके समीप आयी और उनसे इस प्रकार बोलीं—'इन्द्राणी! यह मैं तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। तुमने बुलाया और मैं तत्काल उपस्थित हो गयी। बोलो, मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' शचीने देवीके चरणोंमें [illegible] रखकर प्रणाम किया और कहा—'भगवति! आप मुझे मेरे पतिदेवके दर्शन करानेकी कृपा करें। आप ही ऋत और सत्य हैं।' उपश्रुति शचीको मानसरोवरपर ले गयीं। वहाँ उसने मृणालकी ग्रन्थियोंमें छिपे हुए इन्द्रका उन्हे दर्शन करा दिया ॥ ४८ ॥

तामथ पत्नीं कृशां ग्लानां चेन्द्रो दृष्ट्वा चिन्तयाम्बभूव अहो मम दुःखमिदमुपगतं नष्टं हि मामियमन्विष्य यत्पत्न्यभ्यगमद् दुःखार्तेति तामिन्द्र [illegible] कथं वर्तयसीति सा तमुवाच नहुषो मामाह्वयति पत्नीं कर्तुं कालश्चास्य मया कृत इति तामिन्द्र उवाच गच्छ नहुषस्त्वया वाच्योऽपूर्वेण मामृषियुक्तेन यानेन त्वमधिरूढ उद्वहस्वेति इन्द्रस्य महान्ति वाहनानि सन्ति मनःप्रियाण्यधिरूढानि मया त्वमन्येनोपयातुमर्हसीति सैवमुक्ता [illegible] जगामेन्द्रोऽपि विसग्रन्थिमेवाविवेश भूयः ॥ ४९ ॥

अपनी पत्नी शचीको दुर्बल और दुखी देख इन्द्र मन-ही-मन कहने लगे—'अहो! यह बड़े दुःखकी बात है कि मैं यहाँ छिपा हुआ बैठा हूँ और मेरी यह पत्नी दुःखसे आतुर हो मुझे ढूँढ़ती हुई यहाँतक आयी है।' इस प्रकार खेद प्रकट करके इन्द्रने अपनी पत्नीसे कहा—'देवि! कैसे दिन बिता रही हो?' शची बोली—'प्राणनाथ! राजा नहुष इन्द्र बना बैठा है और मुझे अपनी पत्नी बनानेके लिये बुला रहा है। इसके लिये मुझे कुछ ही दिनोंका समय मिला है और मैंने नियत समयके बाद उसकी बात माननेका वचन दे दिया है।' तब इन्द्रने उनसे कहा 'जाओ और नहुषसे इस प्रकार कहो—'राजन्! आप ऋषियोंसे जुते हुए अपूर्व वाहनपर आरूढ होकर आइये और मुझे अपनी सेवामें ले चलिये। इन्द्रके पास मनको प्रिय लगनेवाले बड़े बड़े वाहन हैं, किंतु उन सबपर मैं आरूढ हो चुकी हूँ, अतः आप उन सबसे भिन्न किसी और ही विलक्षण वाहनसे मेरे पास आइये।'' इन्द्रके इस प्रकार सुझाव देनेपर शची हर्षपूर्वक लौट गयीं और इन्द्र भी पुनः उस कमलनालकी ग्रन्थिमें ही प्रविष्ट हो गये ॥ ४९ ॥

अथेन्द्राणीमभ्यागतां दृष्ट्वा तामुवाच नहुषः पूर्णः [illegible] इति तं शच्यब्रवीच्छक्रेण यथोक्तं स महर्षियुक्तं वाहनमधिरूढः शचीसमीपमुपागच्छत् ॥ ५० ॥

इन्द्राणीको आयी हुई देख नहुषने उससे कहा—'देवि! तुमने जो समय दिया था, वह पूरा हो गया है।' तब शचीने इन्द्रके बताये अनुसार सारी बातें कह सुनायीं। नहुष महर्षियोंसे जुते हुए वाहनपर आरूढ हो शचीके समीप चले ॥

अथ मैत्रावरुणिः कुम्भयोनिरगस्त्य ऋषिवरो महर्षीन् धिक्क्रियमाणांस्तान् नहुषेणापश्यत् पद्भ्यां च तेनास्पृश्यत ततः स नहुषमब्रवीदकार्यप्रवृत्त पाप [illegible] महीं सर्पो भव यावद्भूमिर्गिरयश्च तिष्ठेयुस्तावदिति [illegible] महर्षिवाक्यसमकालमेव तस्माद् यानादवापतत् ॥ ५१ ॥

इसी समय मित्रावरुणके पुत्र कुम्भज मुनिवर अगस्त्यने देखा कि नहुष महर्षियोंको तीव्र गतिसे चलनेके लिये धिक्कार और फटकार रहा है। उसने अगस्त्यके शरीरमें भी दोनों पैरोंसे धक्के दिये। तब अगस्त्यने नहुषसे कहा—'न करने योग्य नीच कर्ममें प्रवृत्त हुए पापी नहुष! तू अभी पृथ्वीपर गिर जा तथा जबतक पृथ्वी और पर्वत स्थिर रहें, तबतकके लिये सर्प हो [illegible]।' महर्षिके इतना कहते ही नहुष उस वाहनसे नीचे गिर पड़ा ॥ ५१ ॥

अथानिन्द्रं पुनस्त्रैलोक्यमभवत् ततो देवा ऋषयश्च भगवन्तं विष्णुं शरणमिन्द्रार्थेऽभिजग्मुरूचुश्चैनं भगवन्निन्द्रं ब्रह्महत्याभिभूतं त्रातुमर्हसीति ततः स वरदस्तानब्रवीदश्वमेधं यज्ञं वैष्णवं शक्रोऽभियजतां ततः स्वस्थानं प्राप्स्यतीति ततो देवा ऋषयश्चेन्द्रं नापश्यन् यदा तदा शचीमूचुर्गच्छ सुभगे इन्द्रमानयस्वेति [illegible] पुनस्तत्सरः समभ्यगच्छदिन्द्रश्च तस्मात् सरसः प्रत्युत्थाय बृहस्पतिमभिजगाम बृहस्पतिश्चाश्वमेधं महाक्रतुं शक्रायाहरत् तत्र कृष्णसारङ्गं मेध्यमश्वमुत्सृज्य वाहनं तमेव कृत्वा इन्द्रं मरुत्पतिं बृहस्पतिः स्वं स्थानं प्रापयामास ॥ ५२ ॥

नहुषका पतन हो जानेपर त्रिलोकीका राज्य पुनः बिना इन्द्रके हो गया, तब देवता और ऋषि इन्द्रके लिये भगवान् विष्णुकी शरणमें गये और उनसे बोले—'भगवन्! ब्रह्महत्यासे पीड़ित हुए इन्द्रकी रक्षा कीजिये।' तब वरदायक भगवान् विष्णुने उन देवताओंसे कहा—'देवगण! इन्द्र विष्णुके उद्देश्यसे अश्वमेध यज्ञ करें। तब वे फिर अपना स्थान प्राप्त करेंगे।' यह सुनकर देवता और महर्षि इन्द्रको ढूँढ़ने लगे। जब वे कहीं उनका पता न पा सके, तब वे शचीसे बोले—'सुभगे! तुम्हीं जाओ और इन्द्रको यहाँ ले आओ।' तब शची पुनः मानसरोवरपर गयीं। शचीके कहनेसे इन्द्र उस सरोवरसे निकलकर बृहस्पतिजीके पास आये। बृहस्पतिजीने इन्द्रके लिये अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान किया। उस यज्ञमें उन्होंने कृष्णसारङ्ग नामक यज्ञीय अश्वको छोड़ा था। उसीको वाहन बनाकर बृहस्पतिने पुनः देवराज इन्द्रको अपने पदपर प्रतिष्ठित किया॥ ५२॥

[illegible] स देवराड् देवैर्ऋषिभिः स्तूयमानस्त्रिविष्टपस्थो निष्कल्मषो बभूव ह ब्रह्मवध्यां चतुर्षु स्थानेषु वनिताग्निवनस्पतिगोषु व्यभजदेवमिन्द्रो ब्रह्मतेजःप्रभावोपबृंहितः शत्रुवधं कृत्वा स्वं स्थानं प्रापितः॥५३॥

तदनन्तर देवताओं और ऋषियोंसे अपनी स्तुति सुनते हुए देवराज इन्द्र निष्पाप हो स्वर्गलोकमें रहने लगे। अपनी ब्रह्महत्याको उन्होंने स्त्री, अग्नि, वृक्ष और गौ—इन चार स्थानोंमें विभक्त कर दिया। ब्रह्मतेजके प्रभावसे वृद्धिको [illegible] हुए इन्द्रने शत्रुओंका वध करके पुनः अपना स्थान प्राप्त कर लिया॥ ५३॥

(नहुषस्य शापमोक्षनिमित्तं देवैर्ऋषिभिश्च याच्यमानोऽगस्त्यः प्राह।

यावत् स्वकुलजः श्रीमान् धर्मराजो युधिष्ठिरः।
कथयित्वा स्वकान् प्रश्नान् भीमं [illegible] विमोक्ष्यते॥)

उधर नहुषको शापसे छुटकारा दिलानेके लिये देवताओं और ऋषियोंके प्रार्थना करनेपर अगस्त्यने कहा—'जब नहुष- [illegible] कुलमें उत्पन्न हुए श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर उनके प्रश्नोंका उत्तर देकर भीमसेनको उनके बन्धनसे छुड़ा देंगे, तब नहुषको भी वे शापसे मुक्त कर देंगे'॥

आकाशगङ्गागतश्च पुरा भरद्वाजो महर्षिरुपास्पृशत् त्रीन् क्रमान् क्रमता विष्णुनाभ्यासादितः स भरद्वाजेन ससलिलेन पाणिनोरसि ताडितः सलक्षणोरस्कः संवृत्तः॥ ५४॥

प्राचीन कालमें महर्षि भरद्वाज आकाश-गङ्गाके जलमें खड़े हो आचमन कर रहे थे। उस समय तीन पगसे त्रिलोकीको नापते हुए भगवान् विष्णु उनके पासतक [illegible] पहुँचे। तब भरद्वाजने जलसहित हाथसे उनकी छातीमें प्रहार किया। इससे उनकी छातीमें एक चिह्न बन गया॥ ५४॥

भृगुणा महर्षिणा शप्तोऽग्निः सर्वभक्षत्वमुपानीतः॥ ५५॥

महर्षि भृगुके शापसे अग्निदेव सर्वभक्षी हो गये॥५५॥

अदितिर्वै देवानामन्नमपचदेतद् भुक्त्वासुरान् हनिष्यन्तीति [illegible] बुधो व्रतचर्यासमाप्तावागच्छददितिं चावोचद् भिक्षां देहीति [illegible] देवैः पूर्वमेतत् प्राश्यं नान्येनेत्यदितिर्भिक्षां नादादथ भिक्षाप्रत्याख्यानरुषितेन बुधेन ब्रह्मभूतेनादितिः [illegible] अदितेरुदरे भविष्यति [illegible] विवस्वतो द्वितीयजन्मन्यण्डसंज्ञितस्य अण्डं मातुरदित्या मारितं स मार्तण्डो विवस्वानभवच्छ्राद्धदेवः॥ ५६॥

अदितिने देवताओंके लिये इस उद्देश्यसे रसोई तैयार की थी कि वे इसे खाकर असुरोंका वध कर सकेंगे। इसी [illegible] बुध अपनी व्रतचर्या समाप्त करके अदितिके पास गये और बोले—'मुझे भिक्षा दीजिये।' अदितिने सोचा यह अन्न पहले देवताओंको ही खाना चाहिये, दूसरे किसीको नहीं; इसलिये उन्होंने बुधको भिक्षा नहीं दी। भिक्षा न मिलनेसे रोषमें भरे हुए ब्राह्मण बुधने अदितिको यह शाप दिया कि 'अण्ड नामधारी विवस्वान्‌के दूसरे जन्मके समय अदितिके उदरमें पीड़ा होगी।' माता अदितिके पेटका वह अण्ड [illegible] पीड़ाद्वारा मारा गया। मृत अण्डसे प्रकट होनेके कारण श्राद्धदेवसंज्ञक विवस्वान् मार्तण्ड नामसे प्रसिद्ध हुए॥५६॥

दक्षस्य या वै दुहितरः षष्टिरासंस्ताभ्यः कश्यपाय त्रयोदश प्रादाद् दश धर्माय दश मनवे सप्तविंशतिमिन्दवे तासु तुल्यासु नक्षत्राख्यां गतासु सोमो रोहिण्यामभ्यधिकं प्रीतिमानभूत् ततस्ताः शिष्टाः पत्न्य ईर्ष्यावत्यः पितुः समीपं गत्वेममर्थं शशंसुर्भगवन्नस्मासु तुल्यप्रभावासु सोमो रोहिणीमत्यधिकं भजतीति सोऽब्रवीद् यक्ष्मैनमाविश्यतेति दक्षशापात् सोमं राजानं यक्ष्मा विवेश [illegible] यक्ष्मणाऽऽविष्टो दक्षमगाद् दक्षश्चैनमब्रवीन्न समं वर्तयसीति तत्रर्षयः सोममब्रुवन् क्षीयसे यक्ष्मणा पश्चिमायां दिशि समुद्रे हिरण्यसरस्तीर्थं तत्र गत्वा आत्मानमभिषेचयस्वेत्यथागच्छत् सोमस्तत्र हिरण्यसरस्तीर्थं गत्वा चात्मनः सेचनमकरोत् स्नात्वा चात्मानं पाप्मनो मोक्षयामास तत्र चावभासितस्तीर्थे यदा सोमस्तदा प्रभृति च तीर्थं तत् प्रभासमिति नाम्ना ख्यातं बभूव॥ ५७॥

प्रजापति दक्षके साठ कन्याएँ थीं। उनमेंसे तेरहका विवाह उन्होंने कश्यपजीके साथ कर दिया। दस कन्याएँ धर्मको, दस मनुको और सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको दे डालीं। उन सत्ताईस कन्याओंकी नक्षत्र नामसे प्रसिद्धि हुई। यद्यपि वे सब-की-सब एक समान रूपवती थीं तो भी चन्द्रमा सबसे

अधिक रोहिणीपर ही प्रेम करने लगे। यह देख शेष पत्नियोंके मनमें ईर्ष्या हुई और उन्होंने पिताके समीप जाकर यह [illegible] बतायी—'भगवन्! हम सब बहिनोंका प्रभाव एक-सा है तो भी चन्द्रदेव रोहिणीपर ही अधिक स्नेह रखते [illegible]।' यह सुनकर दक्षने कहा—'इनके भीतर यक्ष्माका प्रवेश होगा।' इस प्रकार ब्राह्मण दक्षके शापसे राजा सोमके शरीरमें यक्ष्माने प्रवेश किया। यक्ष्मासे ग्रस्त होकर राजा सोम प्रजापति दक्षके पास गये। रोषका कारण पूछनेपर दक्षने उनसे कहा—'तुम अपनी सभी पत्नियोंके प्रति समान बर्ताव नहीं करते हो, उसीका यह दण्ड है।' वहाँ दूसरे ऋषियोंने सोमसे कहा—'तुम यक्ष्मासे क्षीण होते चले जा रहे हो। अतः पश्चिम दिशामें समुद्रके तटपर जो हिरण्यसर नामक तीर्थ है, वहाँ जाकर अपने-आपको स्नान कराओ।' तब सोमने हिरण्यसर तीर्थमें जाकर वहाँ स्नान किया। स्नान करके उन्होंने अपने-आपको पापसे छुड़ाया। उस तीर्थमें वे दिव्य प्रभासे प्रभासित हो उठे थे, इसलिये उसी समयसे वह स्थान प्रभासतीर्थके नामसे विख्यात हो गया॥ ५७॥

तच्छापादद्यापि क्षीयते सोमोऽमावास्यान्तरस्थः पौर्णमासीमात्रेऽधिष्ठितो मेघलेखाप्रतिच्छन्नं वपुर्दर्शयति मेघसदृशं वर्णमगमत् तदस्य शशलक्ष्म विमलमभवत्॥ ५८॥

उसी शापसे आज भी चन्द्रमा कृष्णपक्षमें अमावास्यातक क्षीण होता रहता है और शुक्लपक्षमें पूर्णिमातक उसकी वृद्धि होती रहती है। उसका मण्डलाकार स्वरूप मेघकी श्याम रेखासे आच्छन्न-सा दिखायी देता है। उसके शरीरमें खरगोश-का-सा चिह्न मेघके समान श्यामवर्णका है। वह स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है॥ ५८॥

स्थूलशिरा महर्षिर्मेरोः प्रागुत्तरे दिग्विभागे तपस्तेपे ततस्तस्य [illegible] सर्वगन्धवहः शुचिर्वायुर्वायमानः शरीरमस्पृशत् स [illegible] तापितशरीरः कृशो वायुनोपवीज्यमानो हृदये परितोषमगमत् तत्र किल तस्यानिलव्यजनकृतपरितोषस्य सद्यो वनस्पतयः पुष्पशोभां निदर्शितवन्त इति स एताञ्शशाप न सर्वकालं पुष्पवन्तो भविष्यथेति॥ ५९॥

पूर्वकालकी बात है, मेरुपर्वतके पूर्वोत्तर भागमें स्थूलशिरा नामक महर्षि बड़ी भारी [illegible] कर रहे थे। उनके तपस्या करते समय [illegible] प्रकार सुगन्ध लिये पवित्र वायु बहने लगी। उस वायुने प्रवाहित होकर मुनिके शरीरका स्पर्श किया। तपस्यासे संतप्त शरीरवाले उन कृशकाय मुनिने उस वायुसे वीजित हो अपने हृदयमें बड़े संतोषका अनुभव किया। वायुके [illegible] व्यजन डुलानेसे संतुष्ट हुए मुनिके समक्ष वृक्षोंने [illegible] फूलकी शोभा दिखलायी। इससे [illegible] होकर मुनिने उन्हें शाप दिया कि तुम हर समय फूलोंसे भरे-पूरे नहीं रहोगे॥ ५९॥

नारायणो लोकहितार्थं वडवामुखो नाम पुरा महर्षिर्बभूव तस्य मेरौ तपस्तप्यतः समुद्र आहूतो नागतस्तेनामर्षितेनात्मगात्रोष्मणा समुद्रः स्तिमितजलः कृतः स्वेदप्रस्यन्दनसदृशश्चास्य लवणभावो जनितः॥ ६०॥

एक समय भगवान् नारायण लोकहितके लिये वडवामुख नामक महर्षि हुए। जब वे मेरुपर्वतपर तपस्या कर रहे थे, उन्हीं दिनों उन्होंने समुद्रका आवाहन किया; किंतु वह नहीं आया। इससे अमर्षमें भरकर उन्होंने अपने शरीरकी गर्मीसे समुद्रके जलको चञ्चल [illegible] दिया और पसीनेके प्रवाहकी भाँति उसमें खारापन प्रकट कर दिया॥ ६०॥

उक्तश्चाप्यपेयो भविष्यस्येतच्च ते तोयं वडवामुखसंज्ञितेन पेपीयमानं मधुरं भविष्यति तदेतदद्यापि वडवामुखसंज्ञितेनानुवर्तिना तोयं समुद्रात् पीयते॥ ६१॥

साथ ही उससे कहा—'समुद्र! तू पीनेयोग्य नहीं रह जायगा। तेरा यह जल वडवामुखके द्वारा बारंबार पीया जानेपर मधुर होगा।' यह बात आज भी देखनेमें आती है। वडवामुखसंज्ञक अग्नि समुद्रसे [illegible] लेकर पीती है॥ ६१॥

हिमवतो गिरेर्दुहितरमुमां कन्यां रुद्रश्चकमे भृगुरपि च महर्षिर्हिमवन्तमागत्याब्रवीत् कन्यामिमां मे देहीति तमब्रवीद्धिमवानभिलक्षितो वरो रुद्र इति तमब्रवीद् भृगुर्यस्मात् त्वयाहं कन्यावरणकृतभावः प्रत्याख्यातस्तस्मान्न रत्नानां भवान् भाजनं भविष्यतीति॥ ६२॥

हिमवान्‌की पुत्री उमाको जब वह कुमारी अवस्थामें थी तभी रुद्रने पानेकी इच्छा की। दूसरी ओरसे महर्षि भृगु भी वहाँ आकर हिमवान्‌से बोले—'अपनी यह कन्या मुझे दे दो।' तब हिमवान्‌ने उनसे कहा—'इस कन्याके लिये देख-सुनकर लक्षित किये हुए वर रुद्रदेव हैं।' [illegible] भृगुने कहा—'मैं कन्याका वरण करनेकी भावना लेकर यहाँ आया था; किंतु तुमने मेरी उपेक्षा कर दिया है; इसलिये [illegible] शाप देता हूँ [illegible] तुम रत्नोंके भण्डार नहीं होओगे'॥ ६२॥

अद्यप्रभृत्येतदवस्थितमृषिवचनं तदेवंविधं माहात्म्यं ब्राह्मणानाम्॥ ६३॥

आज भी महर्षिका वह वचन हिमवान्‌पर ज्यों-का-त्यों लागू हो रहा है। ऐसा ब्राह्मणोंका माहात्म्य है॥ ६३॥

क्षत्रमपि [illegible] ब्राह्मणप्रसादादेव शाश्वतीमव्ययां च पृथिवीं पत्नीमभिगम्य बुभुजे॥ ६४॥

क्षत्रिय जाति भी ब्राह्मणोंकी कृपासे ही सदा रहनेवाली इस अविनाशिनी पृथ्वीको पत्नीकी भाँति पाकर इसका उपभोग करती है॥ ६४॥

यदेतद् ब्रह्माग्नीषोमीयं तेन जगद् धार्यते ॥ ६५ ॥

यह जो अग्नि और सोमसम्बन्धी ब्रह्म है, उसीके द्वारा सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है ॥ ६५ ॥

उच्यते—

सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुः केशाश्चैवांशवः स्मृताः ।
बोधयंस्तापयंश्चैव जगदुत्तिष्ठते पृथक् ॥ ६६ ॥

कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा (अग्नि और सोम) मेरे नेत्र हैं तथा उनकी किरणोंको केश कहा गया है । सूर्य और चन्द्रमा जगत्को क्रमशः ताप और मोद प्रदान करते हुए पृथक्-पृथक् उदित होते हैं ॥ ६६ ॥

(नाम्नां निरुक्तं वक्ष्यामि शृणुष्वैकाग्रमानसः ।)
बोधनात् तापनाच्चैव जगतो हर्षणं भवेत् ।
अग्नीषोमकृतैरेभिः कर्मभिः पाण्डुनन्दन ।
हृषीकेशोऽहमीशानो वरदो लोकभावनः ॥ ६७ ॥

[illegible] मैं अपने नामोंकी व्याख्या करूँगा । तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो । जगत्को मोद और ताप प्रदान करनेके कारण चन्द्रमा और सूर्य हर्षदायक होते हैं । पाण्डुनन्दन ! अग्नि और सोमद्वारा किये गये इन कर्मोंद्वारा मैं विश्वभावन वरदायक ईश्वर ही 'हृषीकेश'[1] कहलाता हूँ ॥ ६७ ॥

इलोपहूतयोगेन हरे भागं क्रतुष्वहम् ।
वर्णश्च मे हरिः श्रेष्ठस्तस्माद्धरिरहं स्मृतः ॥ ६८ ॥

यज्ञमें 'इलोपहूता सह दिवा' आदि मन्त्रसे आवाहन करनेपर मैं अपना भाग हरण (स्वीकार) करता हूँ तथा मेरे शरीरका रंग भी हरित (श्याम) है, इसलिये मुझे 'हरि' कहते हैं ॥ ६८ ॥

[illegible] सारो हि भूतानामृतं चैव विचारितम् ।
ऋतधामा ततो विप्रैः सत्यश्चाहं प्रकीर्तितः ॥ ६९ ॥

प्राणियोंके सारका नाम है धाम और ऋतका अर्थ है सत्य, ऐसा विद्वानोंने विचार किया है । इसीलिये ब्राह्मणोंने तत्काल मेरा [illegible] 'ऋतधामा' [illegible] दिया था ॥ ६९ ॥

नष्टां च धरणीं पूर्वमविन्दं वै गुहागताम् ।
गोविन्द इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः ॥ ७० ॥

मैंने पूर्वकालमें नष्ट होकर रसातलमें गयी हुई पृथ्वीको पुनः वराहरूप धारण करके प्राप्त किया था, इसलिये देवताओंने अपनी वाणीद्वारा 'गोविन्द' कहकर मेरी स्तुति की थी (गां विन्दति इति गोविन्दः—जो पृथ्वीको प्राप्त करे, उसका नाम गोविन्द है) ॥ ७० ॥

शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च यो भवेत् ।
तेनाविष्टं तु यत्किंचिच्छिपिविष्टेति च स्मृतः ॥ ७१ ॥

मेरे 'शिपिविष्ट' नामकी व्याख्या इस प्रकार है । रोमहीन प्राणीको शिपि कहते हैं—तथा विष्टका अर्थ है व्यापक । मैंने निराकाररूपसे समस्त जगत्को व्याप्त कर [illegible] है, इसलिये मुझे 'शिपिविष्ट' कहते हैं ॥ ७१ ॥

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान् ।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥ ७२ ॥

यास्कमुनिने शान्तचित्त होकर अनेक यज्ञोंमें शिपिविष्ट कहकर मेरी महिमाका गान किया है; अतः मैं इस गुह्यनामको धारण [illegible] हूँ ॥ ७२ ॥

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥ ७३ ॥

उदारचेता यास्क मुनिने शिपिविष्ट नामसे मेरी स्तुति करके मेरी ही कृपासे पाताललोकमें नष्ट हुए निरुक्तशास्त्रको पुनः प्राप्त किया था ॥ ७३ ॥

न हि जातो न जायेयं न जनिष्ये कदाचन ।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः ॥ ७४ ॥

मैंने न तो पहले कभी जन्म लिया है, न अब जन्म लेता हूँ और न आगे कभी जन्म लूँगा । मैं समस्त प्राणियोंके शरीरमें रहनेवाला क्षेत्रज्ञ आत्मा हूँ । इसीलिये मेरा नाम 'अज' है ॥ ७४ ॥

नोक्तपूर्वं मया क्षुद्रमश्लीलं [illegible] कदाचन ।
[illegible] ब्रह्मसुता सा मे [illegible] देवी सरस्वती ॥ ७५ ॥
सच्चासच्चैव कौन्तेय मयाऽऽवेशितमात्मनि ।
पौष्करे ब्रह्मसदने सत्यं मामृषयो विदुः ॥ ७६ ॥

मैंने कभी ओछी या अश्लील बात मुँहसे नहीं निकाली है । सत्यस्वरूपा ब्रह्मपुत्री सरस्वतीदेवी मेरी वाणी है । कुन्तीकुमार ! सत् और असत्को भी मैंने अपने भीतर ही प्रविष्ट कर रक्खा है; इसलिये मेरे नाभि-कमलरूप ब्रह्मलोक[illegible] रहनेवाले ऋषिगण मुझे 'सत्य' कहते हैं ॥ [illegible]५-७६ ॥

सत्त्वान्न च्युतपूर्वोऽहं सत्त्वं वै विद्धि मत्कृतम् ।
जन्मनीहा भवेत् सत्त्वं पौर्विकं मे धनंजय ॥ ७७ ॥
निराशीःकर्मसंयुक्तः सात्त्वतश्चाप्यकल्मषः ।
सात्त्वतज्ञानदृष्टोऽहं सात्त्वतामिति सात्त्वतः ॥ ७८ ॥

धनंजय ! मैं पहले कभी सत्त्वसे च्युत नहीं हुआ हूँ । सत्त्वको मुझसे ही उत्पन्न हुआ समझो । मेरा वह पुरातन सत्त्व [illegible] अवतारकालमें भी विद्यमान है । सत्त्वके कारण ही मैं पापसे रहित हो निष्कामकर्ममें लगा रहता हूँ । भगवत्प्राप्त पुरुषोंके सात्त्वतज्ञान (पाञ्चरात्रादि वैष्णवतन्त्र) से मेरे स्वरूपका बोध हो[illegible] है । इन सब कारणोंसे लोग मुझे 'सात्त्वत' कहते हैं ॥ ७७-७८ ॥

कृषामि मेदिनीं पार्थ भूत्वा कार्ष्णायसो महान् ।
कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात् तस्मात् [illegible]ष्णोऽहमर्जुन ॥ ७९ ॥

पृथापुत्र अर्जुन ! [illegible] काले लोहेका विशाल [illegible] बनकर इस पृथ्वीको जोतता हूँ तथा मेरे शरीरका रंग भी काला

१. सूर्य और चन्द्रमा ही अग्नि एवं सोम हैं । वे जगत्को हर्ष प्रदान करनेके कारण 'हृषी' कहलाते हैं । वे ही भगवान्के केश अर्थात् किरणें हैं, इसलिये भगवान्का नाम 'हृषीकेश' है ।

है; इसलिये मैं 'कृष्ण' कहलाता हूँ* ॥ ७९ ॥

मया संश्लेषिता भूमिरद्भिर्व्योम च वायुना ।
वायुश्च तेजसा सार्धं वैकुण्ठत्वं ततो मम ॥ ८० ॥

मैंने भूमिको जलके साथ, आकाशको वायुके साथ और वायुको तेजके साथ संयुक्त किया है। इसलिये (विगता कुण्ठा पञ्चाना भूताना मेलने असामर्थ्यं यस्य सः विकुण्ठः, विकुण्ठ एव वैकुण्ठः—पाँचों भूतोंको मिलानेमें जिनकी शक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती, वे भगवान् वैकुण्ठ हैं, इस व्युत्पत्तिके अनुसार) मैं 'वैकुण्ठ' कहलाता हूँ ॥ ८० ॥

निर्वाणं परमं [illegible] धर्मोऽसौ [illegible] उच्यते ।
तस्मान्न च्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा ॥ ८१ ॥

परम शान्तिमय जो ब्रह्म है, वही परम धर्म कहा गया है। उससे पहले कभी मैं च्युत नहीं हुआ हूँ; इसलिये लोग मुझे 'अच्युत' कहते हैं ॥ ८१ ॥

पृथिवीनभसी चोभे विश्रुते विश्वतोमुखे ।
तयोः संधारणार्थं हि मामधोक्षजमञ्जसा ॥ ८२ ॥

('अधः' का अर्थ है पृथ्वी, 'अक्ष' का अर्थ है [illegible] और 'ज' का अर्थ है इनको धारण करनेवाला) पृथ्वी और आकाश दोनों सर्वतोमुखी एवं प्रसिद्ध हैं। उनको अनायास ही धारण करनेके कारण लोग मुझे 'अधोक्षज' कहते हैं ॥ ८२ ॥

निरुक्तं वेदविदुषो वेदशब्दार्थचिन्तकाः ।
ते मां गायन्ति प्राग्वंशे अधोक्षज इति स्थितिः ॥ ८३ ॥

वेदोंके शब्द और अर्थपर विचार करनेवाले वेदवेत्ता विद्वान् प्राग्वंश (यज्ञशालाके एक भाग) में बैठकर अधोक्षज नामसे मेरी महिमाका गान करते हैं; इसलिये भी मेरा नाम 'अधोक्षज' है ॥ ८३ ॥

(अधो न क्षीयते यस्माद् वदन्त्यन्ये ह्यधोक्षजम् ।)

जिसके अनुग्रहसे जीव अधोगतिमें पड़कर क्षीण नहीं होता, उन भगवान्‌को दूसरे लोग इसी व्युत्पत्तिके अनुसार 'अधोक्षज' कहते हैं ॥

शब्द एकपदैरेष व्याहृतः परमर्षिभिः ।
नान्यो ह्यधोक्षजो लोके ऋते नारायणं प्रभुम् ॥ ८४ ॥

महर्षि लोग अधोक्षज शब्दको पृथक्-पृथक् तीन पदों- [illegible] एक समुदाय मानते हैं—'अ' का अर्थ है लय-स्थान, 'धोक्ष' [illegible] अर्थ है पालन-स्थान और 'ज' [illegible] अर्थ है उत्पत्ति-स्थान। उत्पत्ति, स्थिति और लयके स्थान एकमात्र नारायण ही हैं; अतः उन भगवान् नारायणको छोड़कर संसारमें दूसरा कोई 'अधोक्षज' नहीं कहला सकता ॥ ८४ ॥

घृतं ममार्चिषो लोके जन्तूनां प्राणधारणम् ।
घृतार्चिरहमव्यग्रैर्वेदज्ञैः परिकीर्तितः ॥ ८५ ॥

प्राणियोंके प्राणोंकी पुष्टि करनेवाला घृत मेरे स्वरूप-भूत अग्निदेवकी अर्चिष् अर्थात् ज्वालाको जगानेवाला है; इसलिये शान्तचित्त वेदज्ञ विद्वानोंने मुझे 'घृतार्चि' कहा है ॥ ८५ ॥

त्रयो हि [illegible] ख्याताः कर्मजा इति ते स्मृताः ।
पित्तं श्लेष्मा च वायुश्च एष संघात उच्यते ॥ ८६ ॥
एतैश्च धार्यते जन्तुरेतैः क्षीणैश्च क्षीयते ।
आयुर्वेदविदस्तस्मात् त्रिधातुं मां प्रचक्षते ॥ ८७ ॥

शरीरमें तीन धातु विख्यात हैं वात, पित्त और कफ। वे सब-के-सब कर्मजन्य माने गये हैं। इनके समुदायको त्रिधातु कहते हैं। जीव इन धातुओंके रहनेसे जीवन धारण करते हैं और उनके क्षीण हो जानेपर क्षीण हो जाते हैं। इसलिये आयुर्वेदके विद्वान् मुझे 'त्रिधातु' कहते हैं ॥

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु [illegible] ।
नैघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ॥ ८८ ॥

भरतनन्दन ! भगवान् धर्म सम्पूर्ण लोकोंमें वृषके नामसे विख्यात हैं। वैदिक शब्दार्थबोधक कोशमें वृषका अर्थ धर्म बताया गया है; अतः उत्तम धर्मस्वरूप मुझ वासुदेव-को 'वृष' समझो ॥ ८८ ॥

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥ ८९ ॥

कपि शब्दका अर्थ वराह एवं श्रेष्ठ है और वृष कहते हैं धर्मको। मैं धर्म और श्रेष्ठ वराहरूपधारी हूँ; इसलिये प्रजापति कश्यप मुझे 'वृषाकपि' कहते हैं ॥ ८९ ॥

[illegible] चादं न मध्यं [illegible] चैव नान्तं
कदाचिद् विदन्ते सुराश्चासुराश्च ।
अनाद्यो ह्यमध्यस्तथा चाप्यनन्तः
प्रगीतोऽहमीशो विभुर्लोकसाक्षी ॥ ९० ॥

मैं जगत्‌का साक्षी और सर्वव्यापी ईश्वर हूँ। देवता तथा असुर भी मेरे आदि, मध्य और अन्तका कभी पता नहीं पाते हैं; इसलिये मैं 'अनादि', 'अमध्य' और 'अनन्त' कहलाता हूँ ॥ ९० ॥

शुचीनि श्रवणीयानि शृणोमीह धनंजय ।
[illegible] च पापानि गृह्णामि ततोऽहं वै शुचिश्रवाः ॥ ९१ ॥

धनंजय ! मैं यहाँ पवित्र एवं श्रवण करने योग्य वचनों को ही सुनता हूँ और पापपूर्ण वार्तोंको कभी ग्रहण नहीं करता हूँ, इसलिये मेरा नाम 'शुचिश्रवा' है ॥ ९१ ॥

एकशृङ्गः पुरा भूत्वा वराहो नन्दिवर्धनः ।
इमां चोद्धृतवान् भूमिमेकशृङ्गस्ततो ह्यहम् ॥ ९२ ॥

पूर्वकालमें मैंने एक सींगवाले वराहका रूप धारण करके इस पृथ्वीको पानीसे बाहर निकाला और सारे जगत्‌का आनन्द बढ़ाया; इसलिये मैं 'एकशृङ्ग' कहलाता हूँ ॥ ९२ ॥

* 'कृष्ण' नामकी दूसरी व्युत्पत्ति भी इस प्रकार है—कृष् नाम है सत्‌का और ण कहते हैं आनन्दको। इन दोनोंसे उपलक्षित सच्चिदानन्दघन श्यामसुन्दर गोलोकविहारी नन्दनन्दन श्रीकृष्ण कहलाते हैं।

तथैवासं त्रिककुदो वाराहं रूपमास्थितः।
त्रिककुत् तेन विख्यातः शरीरस्य तु मापनात् ॥ ९३ ॥

इसी प्रकार वराहरूप धारण करनेपर मेरे शरीरमें तीन ककुद् (ऊँचे स्थान) थे; इसलिये शरीरके मापसे मैं 'त्रिककुद्' नामसे विख्यात हुआ ॥ ९३ ॥

विरिञ्च इति यत् प्रोक्तं कापिलज्ञानचिन्तकैः।
स प्रजापतिरेवाहं चेतनात् सर्वलोककृत् ॥ ९४ ॥

कपिल मुनिके द्वारा प्रतिपादित सांख्यशास्त्रका विचार करनेवाले विद्वानोंने जिसे विरिञ्च कहा है, वह सर्वलोकस्रष्टा प्रजापति 'विरिञ्च' मैं ही हूँ, क्योंकि मैं ही सबको चेतना प्रदान करता हूँ ॥ ९४ ॥

विद्यासहायवन्तं मामादित्यस्थं सनातनम्।
कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्या निश्चितनिश्चयाः ॥ ९५ ॥

तत्त्वका निश्चय करनेवाले सांख्यशास्त्रके आचार्योंने मुझे आदित्य-मण्डलमें स्थित, विद्याशक्तिके साहचर्यसे सम्पन्न सनातन देवता 'कपिल' कहा है। ॥ ९५ ॥

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स एवाहं भुवि स्मृतः ॥ ९६ ॥

वेदोंमें जिनकी स्तुति की गयी है तथा इस जगत्‌में योगीजन सदा जिनकी पूजा और स्मरण करते हैं, वह तेजस्वी 'हिरण्यगर्भ' मैं ही हूँ ॥ ९६ ॥

एकविंशतिसाहस्रं ऋग्वेदं मां प्रचक्षते।
सहस्रशाखं यत् साम ये वै वेदविदो जनाः ॥ ९७ ॥

वेदके विद्वान् मुझे ही इक्कीस हजार ऋचाओंसे युक्त 'ऋग्वेद' और एक हजार शाखाओंवाला 'सामवेद' कहते हैं॥९७॥

गायन्त्यारण्यके विप्रा मद्भक्तास्ते हि दुर्लभाः।
षट्पञ्चाशतमष्टौ च सप्तत्रिंशतमित्युत ॥ ९८ ॥
यस्मिञ्छाखा यजुर्वेदे सोऽहमाध्वर्यवे स्मृतः।

आरण्यकोंमें ब्राह्मणलोग मेरा ही गान करते हैं। वे मेरे परम भक्त दुर्लभ हैं। जिस यजुर्वेदकी छप्पन + आठ + सैंतीस = एक सौ एक शाखाएँ मौजूद हैं, उस यजुर्वेदमें भी मेरा ही गान किया गया है ॥ ९८½ ॥

पञ्चकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृंहितम् ॥ ९९ ॥
कल्पयन्ति हि मां विप्रा अथर्वाणविदस्तथा।

अथर्ववेदी ब्राह्मण मुझे ही कृत्याओं—आभिचारिक प्रयोगोंसे सम्पन्न पञ्चकल्पात्मक 'अथर्ववेद' मानते हैं ॥ ९९½ ॥

शाखाभेदाश्च ये केचिद् याश्च शाखासु गीतयः ॥१००॥
स्वरवर्णसमुच्चाराः सर्वांस्तान् विद्धि मत्कृतान्।

वेदोंमें जो भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, उन शाखाओंमें जितने गीत हैं तथा उन गीतोंमें स्वर और वर्णके उच्चारण करनेकी जितनी रीतियाँ हैं, उन सबको मेरी बनायी हुई ही समझो ॥१००½॥

यत् तद्धयशिरः पार्थ समुदेति वरप्रदम् ॥१०१॥
सोऽहमेवोत्तरे भागे क्रमाक्षरविभागवित्।

कुन्तीनन्दन! सबको वर देनेवाले जो हयग्रीव प्रकट होते हैं, उनके रूपमें मैं ही अवतीर्ण होता हूँ। मैं ही उत्तरभागमें वेद-मन्त्रोंके क्रम-विभाग और अक्षर-विभागका ज्ञाता हूँ* ॥१०१½॥

वामादेशितमार्गेण मत्प्रसादान्महात्मना ॥१०२॥
पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तस्तस्माद् भूतात् सनातनात्।

महात्मा पाञ्चालने वामदेवके बताये हुए ध्यान-मार्गसे मेरी आराधना करके मुझ सनातन पुरुषके ही कृपाप्रसादसे वेदका क्रमविभाग प्राप्त किया था ॥ १०२½ ॥

बाभ्रव्यगोत्रः स बभौ प्रथमं क्रमपारगः ॥१०३॥
नारायणाद् वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम्।
क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः ॥१०४॥

बाभ्रव्य-गोत्रमें उत्पन्न हुए वे महर्षि गालव भगवान् नारायणसे वर एवं परम उत्तम योग पाकर वेदके क्रमविभाग एवं शिक्षाका प्रणयन करके सबसे पहले क्रमविभागके पारङ्गत विद्वान् हुए थे ॥ १०३-१०४ ॥

कण्डरीकोऽथ राजा च ब्रह्मदत्तः प्रतापवान्।
जातीमरणजं दुःखं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ॥१०५॥
सप्तजातिषु मुख्यत्वाद् योगानां सम्पदं गतः।

कण्डरीक-कुलमें उत्पन्न हुए प्रतापी राजा ब्रह्मदत्तने सात जन्मोंके जन्म-मृत्युसम्बन्धी दुःखोंका बार-बार स्मरण करके तीव्रतम वैराग्यके कारण शीघ्र ही योगजनित ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया था ॥ १०५½ ॥

पुराहमात्मजः पार्थ प्रथितः कारणान्तरे ॥१०६॥
धर्मस्य कुरुशार्दूल ततोऽहं धर्मजः स्मृतः।

कुरुश्रेष्ठ! कुन्तीकुमार! पूर्वकालमें किसी कारणवश मैं धर्मके पुत्ररूपसे प्रसिद्ध हुआ था। इसीलिये मुझे 'धर्मज' कहा गया है ॥ १०६½ ॥

नरनारायणौ पूर्वं तपस्तेपतुरव्ययम् ॥१०७॥
धर्मयानं समारूढौ पर्वते गन्धमादने।
तत्कालसमये चैव दक्षयज्ञो बभूव ह ॥१०८॥

पहले नर और नारायणने जब धर्ममय रथपर आरूढ हो गन्धमादन पर्वतपर अक्षय तप किया था, उसी समय प्रजापति दक्षका यज्ञ आरम्भ हुआ ॥ १०७-१०८ ॥

न चैवाकल्पयद् भागं दक्षो रुद्रस्य भारत।
ततो दधीचिवचनाद् दक्षयज्ञमपाहरत् ॥१०९॥

भारत! उस यज्ञमें दक्षने रुद्रके लिये भाग नहीं दिया

*वेदमन्त्रके दो-दो पदका उच्चारण करके पहले-पहलेको छोड़ते जाना और उत्तरोत्तर पदको मिलाकर दो-दो पदोंका पाठ करते रहना क्रमविभाग कहलाता है। जैसे—'अग्निमीळे पुरोहितम्' इस मन्त्रका क्रमपाठ इस प्रकार है—'अग्निमीळे ईळे पुरोहितं पुरोहित यज्ञस्य' इत्यादि। अक्षरविभागका अर्थ है पदविभाग—एक-एक पदको अलग-अलग करके पढ़ना। यथा 'अग्निम्, ईळे, पुरोहितम्' इत्यादि।

था; इसलिये दधीचिके कहनेसे रुद्रदेवने दक्षके यज्ञका विध्वंस कर डाला ॥ १०९ ॥

ससर्ज शूलं कोपेन प्रज्वलन्तं मुहुर्मुहुः ।
तच्छूलं भस्मसात्कृत्वा दक्षयज्ञं सविस्तरम् ॥११०॥
आवयोः सहसागच्छद् बदर्याश्रममन्तिकात् ।

रुद्रने क्रोधपूर्वक अपने प्रज्वलित त्रिशूलका बारबार प्रयोग किया । वह त्रिशूल दक्षके विस्तृत यज्ञको भस्म करके सहसा बदरिकाश्रममें हम दोनों (नर और नारायण) के निकट आ पहुँचा ॥ ११०½ ॥

वेगेन महता पार्थ पतन्नारायणोरसि ॥१११॥
ततस्तत् तेजसाऽऽविष्टाः केशा नारायणस्य ह ।
बभूवुर्मुञ्जवर्णास्तु ततोऽहं मुञ्जकेशवान् ॥११२॥

पार्थ ! उस समय नारायणकी छातीमें वह त्रिशूल बड़े वेगसे जा लगा । उससे निकलते हुए तेजकी लपटमें आकर नारायणके केश मूँजके समान रंगवाले हो गये । इससे मेरा नाम 'मुञ्जकेश' हो गया ॥ १११-११२ ॥

तच्च शूलं विनिर्धूतं हुंकारेण महात्मना ।
जगाम शंकरकरं नारायणसमाहतम् ॥११३॥

तब महात्मा नारायणने हुंकारध्वनिके द्वारा उस त्रिशूलको पीछे हटा दिया । नारायणके हुंकारसे प्रतिहत होकर वह शङ्करजीके हाथमें चला गया ॥ ११३ ॥

अथ रुद्र उपाधावत् तावृषी तपसान्वितौ ।
तत एनं समुद्भूतं कण्ठे जग्राह पाणिना ॥११४॥
नारायणः स विश्वात्मा तेनास्य शितिकण्ठता ।

यह देख रुद्र तपस्यामें लगे हुए उन ऋषियोंपर टूट पड़े । उन विश्वात्मा नारायणने अपने हाथसे उन आक्रमणकारी रुद्रदेवका गला पकड़ लिया । इसीसे कण्ठ नीला हो जानेके कारण वे 'नीलकण्ठ'के नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ११४½ ॥

अथ रुद्रविघातार्थमिषीकां नर उद्धरन् ॥११५॥
मन्त्रैश्च संयुयोजाशु सोऽभवत् परशुर्महान् ।

इसी समय रुद्रका विनाश करनेके लिये नरने एक सींक निकाली और उसे मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके शीघ्र ही छोड़ दिया । वह सींक एक बहुत बड़े परशुके रूपमें परिणत हो गयी ॥ ११५½ ॥

क्षिप्तश्च सहसा तेन खण्डनं प्राप्तवांस्तदा ॥११६॥
ततोऽहं खण्डपरशुः स्मृतः परशुखण्डनात् ।

नरका चलाया हुआ वह परशु सहसा रुद्रके द्वारा खण्डित कर दिया गया । मेरे परशुका खण्डन हो जानेसे मैं 'खण्डपरशु' कहलाया ॥ ११६½ ॥

अर्जुन उवाच

अस्मिन् युद्धे तु वार्ष्णेय त्रैलोक्यशमने तदा ॥११७॥
को जयं प्राप्तवांस्तत्र शंसैतन्मे जनार्दन ।

अर्जुनने पूछा—वृष्णिनन्दन ! त्रिलोकीका संहार करनेवाले उस युद्धके उपस्थित होनेपर वहाँ रुद्र और नारायणमेंसे किसको विजय प्राप्त हुई ? जनार्दन ! आप यह बात मुझे बताइये ॥ ११७½ ॥

श्रीभगवानुवाच

तयोः संलग्नयोर्युद्धे रुद्रनारायणात्मनोः ॥११८॥
उद्विग्नाः सहसा कृत्स्नाः सर्वे लोकास्तदाभवन् ।
नागृह्णात् पावकः शुभ्रं मखेषु सुहुतं हविः ॥११९॥

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! रुद्र और नारायण जब इस प्रकार परस्पर युद्धमें संलग्न हो गये, उस समय सम्पूर्ण लोकोंके समस्त प्राणी सहसा उद्विग्न हो उठे । अग्निदेव यज्ञोंमें विधिपूर्वक होम किये गये विशुद्ध हविष्यको भी ग्रहण नहीं कर पाते थे ॥ ११८-११९ ॥

वेदा न प्रतिभान्ति स्म ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
देवान् रजस्तमश्चैव समाविविशतुस्तदा ॥१२०॥

पवित्रात्मा ऋषियोंको वेदोंका स्मरण नहीं हो पाता था । उस समय देवताओंमें रजोगुण और तमोगुणका आवेश हो गया था ॥ १२० ॥

वसुधा संचकम्पे च नभश्च विचचाल ह ।
निष्प्रभाणि च तेजांसि ब्रह्मा चैवासनच्युतः ॥१२१॥
अगाच्छोषं समुद्रश्च हिमवांश्च व्यशीर्यत ।

पृथ्वी काँपने लगी, आकाश विचलित हो गया । समस्त तेजस्वी पदार्थ (ग्रह-नक्षत्र आदि) निष्प्रभ हो गये । ब्रह्मा अपने आसनसे गिर पड़े । समुद्र सूखने लगा और हिमालय पर्वत विदीर्ण होने लगा ॥ १२१½ ॥

तस्मिन्नेवं समुत्पन्ने निमित्ते पाण्डुनन्दन ॥१२२॥
ब्रह्मा वृतो देवगणैर्ऋषिभिश्च महात्मभिः ।
आजगामाशु तं देशं यत्र युद्धमवर्तत ॥१२३॥

पाण्डुनन्दन ! ऐसे अपशकुन प्रकट होनेपर ब्रह्माजी देवताओं तथा महात्मा ऋषियोंको साथ ले शीघ्र उस स्थानपर आये, जहाँ वह युद्ध हो रहा था ॥ १२२-१२३ ॥

सोऽञ्जलिप्रग्रहो भूत्वा चतुर्वक्त्रो निरुक्तगः ।
उवाच वचनं रुद्रं लोकानामस्तु वै शिवम् ॥१२४॥
न्यस्यायुधानि विश्वेश जगतो हितकाम्यया ।

निरुक्तगम्य भगवान् चतुर्मुखने हाथ जोड़कर रुद्रदेवसे कहा—'प्रभो ! समस्त लोकोंका कल्याण हो । विश्वेश्वर ! आप जगत्‌के हितकी कामनासे अपने हथियार डाल दीजिये ॥ १२४½ ॥

यदक्षरमथाव्यक्तमीशं लोकस्य भावनम् ॥१२५॥
कूटस्थं कर्तृ निर्द्वन्द्वमकर्तेति च यं विदुः ।
व्यक्तिभावगतस्यास्य एका मूर्तिरियं शुभा ॥१२६॥

'जो सम्पूर्ण जगत्‌का उत्पादक, अविनाशी और अव्यक्त ईश्वर हैं, जिन्हें ज्ञानी पुरुष कूटस्थ, निर्द्वन्द्व, कर्ता और अकर्ता मानते हैं, व्यक्त-भावको प्राप्त हुए उन्हीं परमेश्वरकी यह एक कल्याणमयी मूर्ति है ॥१२५-१२६॥

नरो नारायणश्चैव जातौ धर्मकुलोद्वहौ ।
[illegible] [illegible] युक्तौ देवश्रेष्ठौ महाव्रतौ ॥१२७॥

'धर्मकुलमें उत्पन्न हुए ये दोनों महाव्रती देवश्रेष्ठ नर और नारायण महान् तपस्यासे युक्त हैं ॥ १२७ ॥

अहं प्रसादजस्तस्य कुतश्चित् कारणान्तरे ।
त्वं चैव क्रोधजस्तात पूर्वसर्गे सनातनः ॥१२८॥

'किसी निमित्तसे उन्हीं नारायणके कृपाप्रसादसे मेरा जन्म हुआ है। तात! आप भी पूर्वसर्गमें उन्हीं भगवान्‌के क्रोधसे [illegible] हुए [illegible] पुरुष हैं ॥ १२८ ॥

[illegible] च सार्धं वरद विबुधैश्च महर्षिभिः ।
[illegible] लोकानां शान्तिर्भवतु [illegible] चिरम् ॥१२९॥

'वरद! आप देवताओं और महर्षियोंके तथा मेरे [illegible] शीघ्र [illegible] भगवान्‌को [illegible] कीजिये, जिससे सम्पूर्ण जगत्‌में शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो' ॥ १२९ ॥

ब्रह्मणा त्वेवमुक्तस्तु रुद्रः क्रोधाग्निमुत्सृजन् ।
प्रसादयामास ततो देवं नारायणं प्रभुम् ।
शरणं च जगामाद्यं वरेण्यं वरदं प्रभुम् ॥१३०॥

ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर रुद्रदेवने अपनी क्रोधाग्निका त्याग किया। फिर आदिदेव, वरेण्य, वरदायक, सर्वसमर्थ भगवान् नारायणको प्रसन्न किया और उनकी शरण ली ॥

ततोऽथ वरदो देवो जितक्रोधो जितेन्द्रियः ।
प्रीतिमानभवत् तत्र रुद्रेण सह संगतः ॥१३१॥

तब क्रोध और इन्द्रियोंको जीत लेनेवाले वरदायक देवता [illegible] वहाँ बड़े [illegible] हुए और रुद्रदेवसे गले मिले ॥ १३१ ॥

ऋषिभिर्ब्रह्मणा चैव विबुधैश्च सुपूजितः ।
उवाच देवमीशानमीशः [illegible] जगतो हरिः ॥१३२॥
यस्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति यस्त्वामनु स मामनु ।
नावयोरन्तरं किंचिन्मा तेऽभूद् बुद्धिरन्यथा ॥१३३॥

तदनन्तर देवताओं, ऋषियों और ब्रह्माजीसे अत्यन्त पूजित हो जगदीश्वर श्रीहरिने रुद्रदेवसे कहा—'प्रभो! जो तुम्हें जानता है, वह मुझे भी जानता है। जो तुम्हारा अनुगामी है, वह मेरा भी अनुगामी है। हम दोनोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है। [illegible]म्हारे मनमें इसके विपरीत विचार नहीं होना चाहिये ॥ १३२-१३३ ॥

अद्यप्रभृति श्रीवत्सः शूलाङ्को [illegible] भवत्वयम् ।
[illegible] पाण्यङ्कितश्चापि श्रीकण्ठस्त्वं भविष्यसि ॥१३४॥

'आजसे तुम्हारे शूलका यह चिह्न मेरे वक्षःस्थलमें 'श्रीवत्स'के नामसे प्रसिद्ध होगा और तुम्हारे कण्ठमें मेरे हाथके चिह्नसे अङ्कित होनेके कारण तुम भी 'श्रीकण्ठ' कहलाओगे' ॥ १३४ ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं लक्षणमुत्पाद्य परस्परकृतं तदा ।
सख्यं चैवातुलं कृत्वा रुद्रेण सहितावृषी ॥१३५॥
तपस्तेपतुरव्यग्रौ विसृज्य त्रिदिवौकसः ।
एष ते कथितः पार्थ नारायणजयो मृधे ॥१३६॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—पार्थ! इस प्रकार अपने-अपने शरीरमें एक दूसरेके द्वारा किये हुए ऐसे लक्षण (चिह्न) उत्पन्न करके वे दोनों ऋषि रुद्रदेवके साथ अनुपम मैत्री स्थापित कर देवताओंको विदा करनेके पश्चात् शान्तचित्त हो पूर्ववत् तपस्या करने लगे। इस [illegible] मैंने तुम्हें युद्धमें नारायणकी विजयका वृत्तान्त बताया है ॥ १३५-१३६ ॥

नामानि चैव गुह्यानि निरुक्तानि च भारत ।
ऋषिभिः कथितानीह यानि संकीर्तितानि ते ॥१३७॥

भारत! मेरे जो गोपनीय नाम हैं, उनकी व्युत्पत्ति मैंने बतायी है। ऋषियोंने मेरे जो नाम निश्चित किये हैं, [illegible] भी मैंने तुमसे वर्णन किया है ॥ १३७ ॥

एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम् ।
ब्रह्मलोकं च कौन्तेय गोलोकं [illegible] सनातनम् ॥१३८॥

कुन्तीनन्दन! इस प्रकार अनेक तरहके रूप धारण करके [illegible] इस पृथ्वीपर विचरता हूँ, ब्रह्मलोकमें रहता हूँ और [illegible] गोलोकमें विहार [illegible] हूँ ॥ १३८ ॥

[illegible] त्वं रक्षितो युद्धे महान्तं प्राप्तवाञ्जयम् ।
यस्तु ते सोऽग्रतो याति युद्धे सम्प्रत्युपस्थिते ॥१३९॥
तं विद्धि रुद्रं कौन्तेय देवदेवं कपर्दिनम् ।
कालः स [illegible] कथितः क्रोधजेति [illegible] [illegible] ॥१४०॥

मुझसे सुरक्षित होकर तुमने महाभारत युद्धमें महान् विजय [illegible] की है। कुन्तीनन्दन! युद्ध उपस्थित होनेपर जो पुरुष तुम्हारे आगे-आगे चलते थे, उन्हें तुम जटाजूटधारी देवाधिदेव रुद्र समझो। उन्हींको मैंने तुमसे क्रोधद्वारा उत्पन्न बताया है। वे ही काल कहे गये हैं ॥ १३९-१४० ॥

निहतास्तेन [illegible] पूर्वं हतवानसि यान् रिपून् ।
अप्रमेयप्रभावं तं देवदेवमुमापतिम् ।
नमस्व देवं प्रयतो विश्वेशं हरमक्षयम् ॥१४१॥

तुमने जिन शत्रुओंको मारा है, वे पहले ही रुद्रदेवके हाथसे मार दिये गये थे। उनका प्रभाव अप्रमेय है। तुम उन देवाधिदेव, उमावल्लभ विश्वनाथ, पापहारी एवं अविनाशी महादेवजीको संयतचित्त होकर नमस्कार करो ॥ १४१ ॥

यश्च ते कथितः पूर्वं क्रोधजेति पुनः पुनः ।

तस्य प्रभाव एवाग्रे यच्छ्रुतं ते धनंजय ॥१४२॥

धनंजय ! जिन्हें क्रोधज बताकर मैंने तुमसे बारंबार उनका परिचय दिया है और पहले तुमने जो कुछ सुन रक्खा है, वह सब उन रुद्रदेवका ही प्रभाव है ॥ १४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये द्विचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १४४ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

जनमेजयका प्रश्न, देवर्षि नारदका श्वेतद्वीपसे लौटकर नर-नारायणके पास जाना और उनके पूछनेपर उनसे वहाँके महत्त्वपूर्ण दृश्यका वर्णन करना

शौनक उवाच

सौते सुमहदाख्यानं भवता परिकीर्तितम् ।
यच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे विस्मयं परमं गताः ॥ १ ॥

शौनकने कहा—सूतनन्दन ! आपने यह बहुत बड़ा आख्यान सुनाया है । इसे सुनकर समस्त ऋषियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ है ॥ १ ॥

सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
न तथा फलदं सौते नारायणकथा [illegible] ॥ २ ॥

सूतकुमार ! सम्पूर्ण ऋषि-आश्रमोंकी यात्रा करना और समस्त तीर्थोंमें स्नान करना भी वैसा फलदायक नहीं है, जैसी कि भगवान् नारायणकी कथा है ॥ २ ॥

पाविताङ्गाः [illegible] संवृत्ताः श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।
नारायणाश्रयां पुण्यां सर्वपापप्रमोचनीम् ॥ ३ ॥

समस्त पापोंसे छुड़ानेवाली नारायणसम्बन्धिनी इस पुण्यमयी कथाको आरम्भसे ही सुनकर हमारे तन-मन पवित्र हो गये ॥ [illegible] ॥

दुर्दर्शो भगवान् देवः सर्वलोकनमस्कृतः ।
सब्रह्मकैः सुरैः कृत्स्नैरन्यैश्चैव महर्षिभिः ॥ ४ ॥

सर्वलोकवन्दित भगवान् नारायणदेवका दर्शन तो ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवताओं तथा अन्यान्य महर्षियोंके लिये भी दुर्लभ है ॥ ४ ॥

दृष्टवान् नारदो यत्तु देवं नारायणं हरिम् ।
नूनमेतद्ध्यनुमतं तस्य देवस्य सूतज ॥ ५ ॥

सूतनन्दन ! नारदजीने जो देवदेव नारायण हरिका दर्शन कर लिया, यह निश्चय ही उन भगवान्‌की अनुमतिसे ही सम्भव हुआ ॥ ५ ॥

यद् दृष्टवान् जगन्नाथमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
यत् प्राद्रवत् पुनर्भूयो नारदो देवसत्तमौ ॥ ६ ॥
नरनारायणौ द्रष्टुं कारणं तद् ब्रवीहि मे ।

नारदजीने जो अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित हुए जगन्नाथ श्रीहरिका दर्शन किया और पुनः जो वे वहाँसे देवश्रेष्ठ नर-नारायणका दर्शन करनेके लिये उनके पास दौड़े गये, इसका क्या कारण है ? यह मुझे बताइये ॥ ६½ ॥

सौतिरुवाच

तस्मिन् यज्ञे वर्तमाने राज्ञः पारिक्षितस्य वै ॥ [illegible] ॥
कर्मान्तरेषु विधिवद् वर्तमानेषु शौनक ।
कृष्णद्वैपायनं व्यासमृषिं वेदनिधिं प्रभुम् ॥ ८ ॥
परिपप्रच्छ राजेन्द्रः पितामहपितामहम् ।

सूतपुत्रने कहा—शौनक ! राजा जनमेजयका [illegible] विधिपूर्वक चल रहा था । उसमें विभिन्न कर्मोंके बीचमें [illegible] मिलनेपर राजेन्द्र जनमेजयने अपने पितामहोंके पितामह वेदनिधि भगवान् कृष्णद्वैपायन महर्षि व्याससे इस प्रकार पूछा ॥ ७-८½ ॥

जनमेजय उवाच

श्वेतद्वीपान्निवृत्तेन नारदेन सुरर्षिणा ॥ ९ ॥
[illegible] भगवद्वाक्यं चेष्टितं किमतः परम् ।

जनमेजय बोले—भगवन् ! भगवान् नारायणके कथनपर विचार करते हुए देवर्षि नारद जब श्वेतद्वीपसे लौट आये, तब उसके बाद उन्होंने क्या किया ? ॥ ९½ ॥

बदर्याश्रममागम्य समागम्य च तावृषी ॥ १० ॥
कियन्तं कालमवसत् कां कथां पृष्टवांश्च [illegible] ।

बदरिकाश्रममें आकर उन दोनों ऋषियोंसे मिलनेके पश्चात् नारदजीने वहाँ कितने [illegible] निवास किया और उन दोनोंसे कौन-सी कथा पूछी ? ॥ १०½ ॥

इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात् ॥ ११ ॥
आमन्थ्य मतिमन्थेन ज्ञानोदधिमनुत्तमम् ।

एक लाख श्लोकोंसे युक्त विस्तृत महाभारत इतिहाससे निकालकर जो आपने यह सारभूत कथा सुनायी है, यह बुद्धिरूपी मथानीके द्वारा ज्ञानके उत्तम समुद्रको [illegible] निकाले गये अमृतके [illegible] है ॥ ११½ ॥

नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा ॥ १२ ॥
आरण्यकं [illegible] वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ।
समुद्धृतमिदं ब्रह्मन् कथामृतमिदं तथा ॥ १३ ॥

ब्रह्मन् ! जैसे दहीसे मक्खन, मलयपर्वतसे चन्दन, वेदोंसे आरण्यक और ओषधियोंसे अमृत निकाला [illegible] है, उसी प्रकार आपने यह कथारूपी अमृत निकालकर रक्खा है ॥ १२-१३ ॥

तपोनिधे त्वयोक्तं हि नारायणकथाश्रयम् ।
स ईशो भगवान् देवः सर्वभूतात्मभावनः [illegible] १४ ॥

तपोनिधे ! आपने भगवान् नारायणकी कथासे सम्बन्ध रखनेवाली जो बातें कही हैं, वे सब इस ग्रन्थकी सारभूत हैं । सबके ईश्वर भगवान् नारायणदेव सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ १४ ॥

अहो नारायणं तेजो दुर्दर्शं द्विजसत्तम ।
यत्राविशन्ति कल्पान्ते सर्वे ब्रह्मादयः सुराः ॥ १५ ॥
ऋषयश्च सगन्धर्वा [illegible] किंचिच्चराचरम् ।
[illegible] ततोऽस्ति परं मन्ये पावनं दिवि चेह च ॥ १६ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! उन भगवान् नारायणका तेज अद्भुत है । मनुष्यके लिये उसकी ओर देखना भी कठिन है । कल्पके अन्तमें जिनके भीतर [illegible] आदि सम्पूर्ण देवता, ऋषि, गन्धर्व तथा जो कुछ भी चराचर जगत् है, वह सब विलीन हो जाता है, उनसे बढ़कर परम पावन एवं महान् इस भूतल और स्वर्गलोकमें मैं दूसरे किसीको नहीं मानता ॥ १५-१६ ॥

सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
न तथा फलदं चापि नारायणकथा यथा ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण ऋषि आश्रमोंकी यात्रा करना और समस्त तीर्थोंमें स्नान करना भी वैसा फल देनेवाला नहीं है, जैसा कि भगवान् नारायणकी कथा प्रदान करती है ॥ १७ ॥

सर्वथा पाविताः स्मेह श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।
हरेर्विश्वेश्वरस्येह सर्वपापप्रणाशनीम् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण विश्वके स्वामी श्रीहरिकी कथा सब पापोंका नाश करनेवाली है । उसे आरम्भसे ही सुनकर हम सब लोग यहाँ सर्वथा पवित्र हो गये हैं ॥ १८ ॥

[illegible] चित्रं कृतवांस्तत्र यदार्यो मे धनंजयः ।
वासुदेवसहायो यः प्राप्तवाञ्जयमुत्तमम् ॥ १९ ॥

मेरे पितामह अर्जुनने जो भगवान् वासुदेवकी सहायता पाकर उत्तम विजय प्राप्त कर ली, वह वहाँ उन्होंने कोई अद्भुत कार्य नहीं किया है [illegible] १९ ॥

न चास्य किंचिदप्राप्यं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु ।
त्रैलोक्यनाथो विष्णुः स यथाऽऽसीत् साह्यकृत् स वै ॥

त्रिलोकीनाथ भगवान् कृष्ण ही [illegible] उनके सहायक थे, तब उनके लिये तीनों लोकोंमें किसी वस्तुकी प्राप्ति असम्भव रही हो, यह [illegible] नहीं मानता ॥ २० ॥

धन्याश्च सर्व एवासन् ब्रह्मंस्ते मम पूर्वजाः ।
हिताय श्रेयसे चैव येषामासीज्जनार्दनः ॥ २१ ॥

ब्रह्मन् ! मेरे सभी पूर्वज धन्य थे, जिनका हित और कल्याण करनेके लिये साक्षात् जनार्दन तैयार रहते थे ॥

[illegible] सुदृश्यो हि भगवाँल्लोकपूजितः ।
यं दृष्टवन्तस्ते साक्षाच्छ्रीवत्साङ्कविभूषणम् ॥ २२ ॥

लोकपूजित भगवान् नारायणका दर्शन तो तपस्यासे ही हो सकता है; किंतु मेरे पितामहोंने श्रीवत्सके चिह्नसे विभूषित उन भगवान्का साक्षात् दर्शन अनायास ही पा लिया था ॥ २२ ॥

तेभ्यो धन्यतरश्चैव नारदः परमेष्ठिजः ।
न चाल्पतेजसमृषिं वेद्मि नारदमव्ययम् ॥ २३ ॥
श्वेतद्वीपं समासाद्य येन दृष्टः स्वयं हरिः ।
देवप्रसादानुगतं व्यक्तं तत् तस्य दर्शनम् ॥ २४ ॥

[illegible] सबसे भी अधिक धन्यवादके योग्य ब्रह्मपुत्र नारदजी हैं । मैं अविनाशी नारदजीको [illegible] तेजस्वी ऋषि नहीं समझता, जिन्होंने श्वेतद्वीपमें पहुँचकर साक्षात् श्रीहरिका दर्शन [illegible] कर लिया । उनका वह भगवद्-दर्शन स्पष्ट ही उन भगवान्की कृपाका फल है ॥ २३-२४ ॥

तद् दृष्टवांस्तदा देवमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
बदरीमाश्रमं यत् [illegible] नारदः प्राद्रवत् पुनः ॥ २५ ॥
नरनारायणौ द्रष्टुं किं नु तत् कारणं मुने ।

मुने ! नारदजीने [illegible] समय श्वेतद्वीपमें जाकर जो अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित नारायणदेवका साक्षात्कार किया तथा पुनः नर-नारायणका दर्शन करनेके लिये जो बदरिकाश्रमको प्रस्थान किया, इसका क्या कारण है ? ॥ २५½ [illegible]

श्वेतद्वीपान्निवृत्तश्च नारदः परमेष्ठिजः ॥ २६ ॥
बदरीमाश्रमं प्राप्य समागम्य च तावृषी ।
कियन्तं कालमवसत् प्रश्नान् कान् पृष्टवांश्च ह ॥ २७ ॥

ब्रह्मपुत्र नारदजी श्वेतद्वीपसे लौटनेपर जब बदरिकाश्रममें पहुँचकर उन दोनों ऋषियोंसे मिले, [illegible] वहाँ उन्होंने कितने समयतक निवास किया ? और वहाँ उनसे किन-किन प्रश्नोंको पूछा ? ॥ २६-२७ ॥

श्वेतद्वीपादुपावृत्ते तस्मिन् वा सुमहात्मनि ।
किमब्रूतां महात्मानौ नरनारायणावृषी ॥ २८ ॥
तदेतन्मे यथातत्त्वं सर्वमाख्यातुमर्हसि ।

श्वेतद्वीपसे लौटे हुए उन नारदजीसे महात्मा नर-

नारायण ऋषियोंने क्या बात की थी ? ये सब बातें आप यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ २८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

नमो भगवते तस्मै व्यासायामिततेजसे ॥ २९ ॥
यस्य प्रसादाद् वक्ष्यामि नारायणकथामिमाम् ।

वैशम्पायनजीने कहा—अमिततेजस्वी भगवान् व्यासको नमस्कार है, जिनके कृपाप्रसादसे मैं भगवान् नारायणकी यह कथा कह रहा हूँ ॥ २९½ ॥

प्राप्य श्वेतं महाद्वीपं दृष्ट्वा च हरिमव्ययम् ॥ ३० ॥
निवृत्तो नारदो राजंस्तरसा मेरुमागमत् ।
हृदयेनोद्वहन् भारं यदुक्तं परमात्मना ॥ ३१ ॥

राजन् ! श्वेतनामक महाद्वीपमें जाकर वहाँ अविनाशी श्रीहरिका दर्शन करके जब नारदजी लौटे, तब बड़े वेगसे मेरुपर्वतपर आ पहुँचे । परमात्मा श्रीहरिने उनसे जो कुछ कहा था, उस कार्यभारको वे हृदयसे ढो रहे थे ॥ ३०-३१ ॥

पश्चादस्याभवद् राजन्नात्मनः साध्वसं महत् ।
यद् गत्वा दूरमध्वानं क्षेमी पुनरिहागतः ॥ ३२ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् उनके मनमें यह सोचकर बड़ा भारी विस्मय हुआ कि मैं इतनी दूरका मार्ग तै करके पुनः यहाँ सकुशल कैसे लौट आया ! ॥ ३२ ॥

मेरोः प्रचक्राम ततः पर्वतं गन्धमादनम् ।
निपपात च खात् तूर्णं विशालां बदरीमनु ॥ ३३ ॥

तदनन्तर वे मेरुसे गन्धमादन पर्वतकी ओर चले और बदरीविशालतीर्थके समीप तुरंत ही आकाशसे नीचे उतर पड़े ॥ ३३ ॥

ततः स ददृशे देवौ पुराणावृषिसत्तमौ ।
तपश्चरन्तौ सुमहदात्मनिष्ठौ महाव्रतौ ॥ ३४ ॥

वहाँ उन्होंने उन दोनों पुरातन देवता ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायणका दर्शन किया, जो आत्मनिष्ठ हो महान् व्रत लेकर बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे ॥ ३४ ॥

तेजसाभ्यधिकौ सूर्यात् सर्वलोकविरोचनात् ।
श्रीवत्सलक्षणौ पूज्यौ जटामण्डलधारिणौ ॥ ३५ ॥

वे दोनों सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करनेवाले सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी थे । उन पूज्य महात्माओंके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सके चिह्न सुशोभित हो रहे थे और वे अपने मस्तकपर जटामण्डल धारण किये हुए थे ॥ ३५ ॥

जालपादभुजौ तौ तु पादयोश्चक्रलक्षणौ ।
व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ तथा मुष्कचतुष्किणौ ॥ ३६ ॥
षष्टिदन्तावष्टदंष्ट्रौ मेघौघसदृशस्वनौ ।
स्वास्यौ पृथुललाटौ च सुभ्रू सुहनुनासिकौ ॥ ३७ ॥

उनके हाथोंमें हंसका और चरणोंमें चक्रका चिह्न था । विशाल वक्षःस्थल, बड़ी-बड़ी भुजाएँ, अण्डकोशमें चार-चार बीज, मुखमें साठ दाँत और आठ दाढ़ें, मेघके समान गम्भीर स्वर, सुन्दर मुख, चौड़े ललाट, बाँकी भौंहें, सुन्दर ठोढ़ी और मनोहर नासिकासे उन दोनोंकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ ३६-३७ ॥

आतपत्रेण सदृशे शिरसी देवयोस्तयोः ।
एवं लक्षणसम्पन्नौ महापुरुषसंज्ञितौ ॥ ३८ ॥
तौ दृष्ट्वा नारदो हृष्टस्ताभ्यां च प्रतिपूजितः ।
स्वागतेनाभिभाष्याथ पृष्टश्चानामयं तथा ॥ ३९ ॥

उन दोनों देवताओंके मस्तक छत्रके समान प्रतीत होते थे । ऐसे शुभलक्षणोंसे सम्पन्न उन दोनों महापुरुषोंका दर्शन करके नारदजीको बड़ी प्रसन्नता हुई । भगवान् नर और नारायणने भी नारदजीका स्वागत-सत्कार करके उनका कुशल-समाचार पूछा ॥ ३८-३९ ॥

बभूवान्तर्गतमतिर्निरीक्ष्य पुरुषोत्तमौ ।
सदोगतास्तत्र ये वै सर्वभूतनमस्कृताः ॥ ४० ॥
श्वेतद्वीपे मया दृष्टास्तादृशावृषिसत्तमौ ।

तदनन्तर नारदजीने उन दोनों पुरुषोत्तमोंकी ओर देखकर मन-ही-मन विचार किया, अहो ! मैंने श्वेतद्वीपमें भगवान्‌की सभाके भीतर जिन सर्वभूतवन्दित सदस्योंको देखा था, ये दोनों ऋषिश्रेष्ठ भी वैसे ही हैं ॥ ४०½ ॥

इति संचिन्त्य मनसा कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ॥ ४१ ॥
स चोपविविशे तत्र पीठे कुशमये शुभे ।

मन-ही-मन ऐसा सोचकर वे उन दोनोंकी प्रदक्षिणा करके एक सुन्दर कुशासनपर बैठ गये ॥ ४१½ ॥

ततस्तौ तपसां वासौ यशसां तेजसामपि ॥ ४२ ॥
ऋषी शमदमोपेतौ कृत्वा पौर्वाह्णिकं विधिम् ।
पश्चान्नारदमव्यग्रौ पाद्यार्घ्याभ्यामथार्चतः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर तपस्या, यश और तेजके भी निवासस्थान वे शम-दमसम्पन्न दोनों ऋषि पूर्वाह्नकालका नित्य कर्म पूर्ण करके फिर शान्त-भावसे पाद्य और अर्घ्य आदि निवेदन करके नारदजीकी पूजा करने लगे ॥ ४२-४३ ॥

पीठयोश्चोपविष्टौ तौ कृतातिथ्याह्निकौ नृप ।
तेषु तत्रोपविष्टेषु स देशोऽभिव्यराजत ॥ ४४ ॥
आज्याहुतिमहाज्वालैर्यज्ञवाटो यथाग्निभिः ।

नरेश्वर ! अपने नित्यकर्म तथा नारदजीका आतिथ्य-सत्कार करके वे दोनों ऋषि भी कुशासनपर बैठ गये । वहाँ उन तीनोंके बैठ जानेपर वह प्रदेश घीकी आहुतिसे प्रज्वलित विशाल लपटोंवाले तीन अग्नियोंसे प्रकाशित यज्ञमण्डपकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ ४४½ ॥

[illegible] [illegible] नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४५ ॥
सुखोपविष्टं विश्रान्तं कृतातिथ्यं सुखस्थितम् ।

इसके बाद वहाँ आतिथ्य ग्रहण करके सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करते हुए नारदजीसे नारायणने इस प्रकार कहा ॥

नरनारायणावूचतुः

अपीदानीं स भगवान् परमात्मा सनातनः ॥ ४६ ॥
श्वेतद्वीपे [illegible] [illegible] आवयोः प्रकृतिः परा ।

नर-नारायण बोले—देवर्षे ! क्या तुमने इस समय श्वेतद्वीपमें जाकर हम दोनोंका परम कारणरूप सनातन परमात्मा भगवान्‌का दर्शन कर लिया ? ॥ ४६½ ॥

नारद उवाच

दृष्टो मे पुरुषः श्रीमान् विश्वरूपधरोऽव्ययः ॥ ४७ ॥
सर्वे लोका हि [illegible] देवाः सहर्षिभिः ।

नारदजीने कहा—भगवन् ! मैंने विश्वरूपधारी उन अविनाशी एवं कान्तिमान् परम पुरुषका दर्शन कर लिया । ऋषियोंसहित देवता तथा सम्पूर्ण लोक उन्हींके भीतर विराजमान हैं ॥ ४७½ ॥

अद्यापि चैनं पश्यामि युवां पश्यन् सनातनौ ॥ ४८ ॥
यैर्लक्षणैरुपेतः [illegible] हरिरव्यक्तरूपधृक् ।
तैर्लक्षणैरुपेतौ हि व्यक्तरूपधरौ युवाम् ॥ ४९ ॥

मैं इस समय भी आप दोनों सनातन पुरुषोंको देखकर यहीं श्वेतद्वीपनिवासी भगवान्‌की झाँकी कर रहा हूँ । वहाँ मैंने अव्यक्तरूपधारी श्रीहरिको जिन लक्षणोंसे सम्पन्न देखा था, आप दोनों व्यक्तरूपधारी पुरुष भी उन्हीं लक्षणोंसे सुशोभित हैं ॥ ४८-४९ ॥

दृष्टौ युवां [illegible] [illegible] [illegible] देवस्य पार्श्वतः ।
इहैव चागतोऽस्म्यद्य विसृष्टः परमात्मना ॥ ५० ॥

इतना ही नहीं, मैंने आप दोनोंको वहाँ भी परमदेवके पास उपस्थित देखा था और उन्हीं परमात्माके भेजनेसे आज [illegible] फिर यहाँ आया हूँ ॥ ५० ॥

को हि [illegible] भवेत् तस्य तेजसा यशसा श्रिया ।
सदृशस्त्रिषु लोकेषु ऋते धर्मात्मजौ युवाम् ॥ ५१ ॥

तीनों लोकोंमें धर्मके पुत्र आप दोनों महापुरुषोंके सिवा दूसरा कौन है, जो तेज, यश और श्रीमें उन्हीं परमेश्वरके समान हो ॥ ५१ ॥

तेन मे कथितः कृत्स्नो धर्मः क्षेत्रज्ञसंज्ञितः ।
प्रादुर्भावाश्च कथिता भविष्या [illegible] ये यथा ॥ ५२ ॥

उन भगवान् श्रीहरिने मुझसे सम्पूर्ण धर्मका वर्णन किया था । क्षेत्रज्ञका भी परिचय दिया था और वहाँ भविष्यमें उनके जो अवतार जैसे होनेवाले हैं, उन्हें भी बताया था ॥ ५२ ॥

[illegible] ये पुरुषाः श्वेताः पञ्चेन्द्रियविवर्जिताः ।
प्रतिबुद्धाश्च ते सर्वे [illegible] पुरुषोत्तमम् ॥ ५३ ॥

वहाँ जो चन्द्रमाके समान गौरवर्णके पुरुष थे, वे सब-के-[illegible] पाँचों इन्द्रियोंसे रहित अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीरसे शून्य, ज्ञानवान् तथा पुरुषोत्तम श्रीविष्णुके भक्त थे ॥ ५३ ॥

तेऽर्चयन्ति सदा देवं तैः सार्धं रमते च सः ।
प्रियभक्तो हि भगवान् [illegible] द्विजप्रियः ॥ ५४ ॥

वे सदा उन नारायणदेवकी पूजा-अर्चा करते रहते हैं और भगवान् भी सदा उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक क्रीड़ा करते रहते हैं । भगवान्‌को अपने भक्त बहुत ही प्रिय हैं तथा वे [illegible] श्रीहरि ब्राह्मणोंके भी प्रेमी हैं ॥ ५४ ॥

रमते सोऽर्च्यमानो हि सदा भागवतप्रियः ।
विश्वभुक् सर्वगो देवो माधवो भक्तवत्सलः ॥ ५५ ॥

वे विश्वका पालन करनेवाले सर्वव्यापी भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं । भगवद्भक्तोंके प्रेमी और प्रियतम श्रीहरि उनसे पूजित हो वहाँ सदा सुप्रसन्न रहते हैं ॥ ५५ ॥

स कर्ता कारणं चैव कार्यं चातिबलद्युतिः ।
हेतुश्चाज्ञा विधानं च तत्त्वं चैव महायशाः ॥ ५६ ॥

वे ही कर्ता, कारण और कार्य हैं । उनका बल और तेज [illegible] है । वे महायशस्वी भगवान् ही हेतु, आज्ञा, विधि और तत्त्वरूप हैं ॥ ५६ ॥

तपसा योज्य सोऽऽत्मानं श्वेतद्वीपात् परं हि यत् ।
तेज इत्यभिविख्यातं स्वयंभासावभासितम् ॥ ५७ ॥

वे अपने आपको तपस्यामें लगाकर श्वेतद्वीपसे भी परे प्रकाशमान तेजोमय स्वरूपसे विख्यात हैं । उनका वह तेज अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है ॥ ५७ ॥

शान्तिः [illegible] त्रिषु लोकेषु विहिता भावितात्मना ।
एतया शुभया बुद्ध्या नैष्ठिकं व्रतमास्थितः ॥ ५८ ॥

उन पूतात्मा परमात्माने तीनों लोकोंमें [illegible] शान्तिका विस्तार किया है । अपनी इस कल्याणमयी बुद्धिके द्वारा वे नैष्ठिक व्रतका आश्रय लेकर स्थित हैं ॥ ५८ ॥

न [illegible] सूर्यस्तपति न सोमोऽभिविराजते ।
न वायुर्वाति देवेशे तपश्चरति दुश्चरम् ॥ ५९ ॥

वहाँ सूर्य नहीं तपते, चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होते तथा दुष्कर तपस्यामें लगे हुए देवेश्वर श्रीहरिके समीप यह लौकिक वायु भी नहीं चलती है ॥ ५९ ॥

वेदीमष्टनलोत्सेधां भूमावास्थाय विश्वकृत् ।
एकपादस्थितो देव ऊर्ध्वबाहुरुदङ्मुखः ॥ ६० ॥

वहाँकी भूमिपर एक ऊँची वेदी बनी है, जिसकी ऊँचाई आठ अंगुलियोंकी लंबाईके बराबर है । उसपर आरूढ़ हो

वे विश्वकर्ता परमात्मा दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये और उत्तरकी ओर मुँह किये एक पैरसे खड़े हैं ॥ ६० ॥

साङ्गानावर्तयन् वेदांस्तपस्तेपे सुदुश्चरम्।
यद् ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत् ॥ ६१ ॥
शेषाश्च विबुधश्रेष्ठा दैत्यदानवराक्षसाः।
नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः सिद्धा राजर्षयश्च ये ॥ ६२ ॥
हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते।
कृत्स्नं तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठति ॥ ६३ ॥

वे अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंकी आवृत्ति करते हुए अत्यन्त कठोर तपस्यामे संलग्न हैं। ब्रह्मा, स्वयं महादेव, सम्पूर्ण ऋषि और शेष श्रेष्ठ देवता तथा दैत्य, दानव, राक्षस, नाग, गरुड़, गन्धर्व, सिद्ध एवं राजर्षिगण सदा विधिपूर्वक जो हव्य और कव्य अर्पण करते हैं, वह सब कुछ उन्हीं भगवान्‌के चरणोंमे उपस्थित होता है ॥ ६१—६३ ॥

[illegible] क्रियाः सम्प्रयुक्ताश्च एकान्तगतबुद्धिभिः।
ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम् ॥ ६४ ॥

जिनकी बुद्धि अनन्य भावसे एकमात्र भगवान्‌में ही लगी हुई है, उन भक्तोंद्वारा जो क्रियाएँ समर्पित की जाती हैं, उन सबको वे भगवान् स्वयं शिरोधार्य करते हैं ॥ ६४ ॥

न तस्यान्यः प्रियतरः प्रतिबुद्धैर्महात्मभिः।
विद्यते त्रिषु लोकेषु ततोऽस्यैकान्तिकं गतः ॥ ६५ ॥

वहाँके ज्ञानी-महात्मा भक्तोंसे बढ़कर भगवान्‌को तीनों लोकोंमें दूसरा कोई प्रिय नहीं है; अतः मैं अनन्य भावसे उन्हींकी शरणमे गया हूँ ॥ ६५ ॥

[illegible] चैवागतस्तेन विसृष्टः परमात्मना।
एवं मे भगवान् देवः स्वयमाख्यातवान् हरिः।
आसिष्ये तत्परो भूत्वा युवाभ्यां सह नित्यशः ॥ ६६ ॥

यहाँ भी [illegible] उन्हीं परमात्माके भेजनेसे आया हूँ। स्वयं भगवान् श्रीहरिने मुझसे ऐसा कहा था। अब [illegible] उन्हींकी आराधनामें तत्पर हो आप दोनोंके साथ यहाँ नित्य निवास करूँगा ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ तैंतालीसवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ ३४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नर-नारायणका नारदजीकी प्रशंसा करते हुए उन्हें भगवान् वासुदेवका माहात्म्य बतलाना

नरनारायणावूचतुः

धन्योऽस्यनुगृहीतोऽसि यत् ते दृष्टः स्वयं प्रभुः।
न हि तं दृष्टवान् कश्चित् पद्मयोनिरपि स्वयम् ॥ १ ॥

नर-नारायणने कहा—नारद ! तुमने श्वेतद्वीपमें जाकर जो साक्षात् भगवान्‌का दर्शन कर लिया, इससे तुम धन्य हो गये। वास्तवमें भगवान्‌ने तुमपर बड़ा भारी अनुग्रह किया। तुम्हारे सिवा और किसीने, साक्षात् कमलयोनि ब्रह्माजीने भी भगवान्‌का इस प्रकार दर्शन नहीं किया ॥ १ ॥

अव्यक्तयोनिर्भगवान् दुर्दर्शः पुरुषोत्तमः।
नारदैतद्धि नौ सत्यं वचनं समुदाहृतम् ॥ २ ॥
नास्य भक्तात् प्रियतरो लोके [illegible] विद्यते।
ततः स्वयं दर्शितवान् स्वमात्मानं द्विजोत्तम ॥ ३ ॥

नारद ! वे भगवान् पुरुषोत्तम अव्यक्त प्रकृतिके मूल कारण हैं। उनका दर्शन मिलना अत्यन्त कठिन है। द्विजश्रेष्ठ ! हम दोनों तुमसे सच कहते हैं कि भगवान्‌को इस जगत्‌में भक्तसे बढ़कर दूसरा कोई प्रिय नहीं है। इसलिये उन्होंने स्वयं ही तुम्हें अपने स्वरूपका दर्शन कराया है ॥ २-३ ॥

तपो हि तप्यतस्तस्य यत् स्थानं परमात्मनः।
[illegible] तत् सम्प्राप्नुते कश्चिदृते ह्यावां द्विजोत्तम ॥४॥

द्विजोत्तम ! तपस्यामे लगे हुए उन परमात्माका जो [illegible] है, वहाँ हम दोनोंके सिवा दूसरा कोई नहीं पहुँच सकता ॥ ४ ॥

या हि सूर्यसहस्रस्य समस्तस्य भवेद् द्युतिः।
स्थानस्य सा भवेत् [illegible] स्वयं तेन विराजता ॥ ५ ॥

एक हजार सूर्योंके एकत्र होनेपर जितनी कान्ति हो सकती है, उतनी ही उस स्थानकी भी कान्ति है, जहाँ भगवान् विराज रहे हैं ॥ ५ ॥

तस्मादुत्तिष्ठते विप्र देवाद् विश्वभुवः पतेः।
क्षमा क्षमावतां श्रेष्ठ यया भूमिस्तु युज्यते ॥ ६ ॥

विप्रवर ! क्षमाशीलोंमें श्रेष्ठ नारद ! विश्वविधाता ब्रह्माजीके भी पति उन परमेश्वरसे ही क्षमाकी उत्पत्ति हुई है, जिससे पृथ्वीका संयोग होता है ॥ ६ ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात् सर्वभूतहिताद् रसः।
आपो हि तेन युज्यन्ते द्रवत्वं प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाले उन नारायणदेवसे [illegible] रस प्रकट हुआ है, जिसका जलके साथ संयोग है और जिसके कारण [illegible] द्रवीभूत होता है ॥ ७ ॥

तस्मादेव समुद्भूतं तेजो रूपगुणात्मकम् ।
येन संयुज्यते सूर्यस्ततो लोके विराजते ॥ ८ ॥

उन्हींसे रूप-गुणविशिष्ट तेजका प्रादुर्भाव हुआ है, जिससे सूर्यदेव संयुक्त हुए हैं। इसीलिये वे लोकमें प्रकाशित [illegible] रहे [illegible] ॥ ८ ॥

तस्माद् देवात् समुद्भूतः स्पर्शस्तु पुरुषोत्तमात् ।
येन संयुज्यते वायुस्ततो लोकान् विवात्यसौ ॥ ९ ॥

उन्हीं भगवान् पुरुषोत्तमसे स्पर्शकी उत्पत्ति हुई है, जिससे वायुदेव संयुक्त होते हैं और उससे संयुक्त होनेके कारण ही वे सम्पूर्ण लोकोंमें प्रवाहित होते हैं ॥ ९ ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते शब्दः सर्वलोकेश्वरात् प्रभोः ।
आकाशं युज्यते येन ततस्तिष्ठत्यसंवृतम् ॥ १० ॥

उन्हीं सर्वलोकेश्वर प्रभुसे शब्दका प्रादुर्भाव होता है, जिससे आकाशका नित्य संयोग है और जिसके ही कारण वह निरावृत रहता है ॥ १० ॥

तस्माच्चोत्तिष्ठते देवात् सर्वभूतगतं मनः ।
चन्द्रमा येन संयुक्तः प्रकाशगुणधारणः ॥ ११ ॥

उन्हीं नारायणदेवसे सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर रहनेवाले मनकी भी उत्पत्ति हुई है। उस मनसे संयुक्त होकर ही चन्द्रमा प्रकाश-गुणको धारण करता है ॥ ११ ॥

सद्भूतोत्पादकं [illegible] तत् स्थानं वेदसंज्ञितम् ।
विद्यासहायो यत्रास्ते भगवान् हव्यकव्यभुक् ॥ १२ ॥

जहाँ भगवान् श्रीहरि हव्य और कव्यका भोग ग्रहण करते हुए विद्याशक्तिके [illegible] विराजमान हैं, वह वेदसंज्ञक स्थान सद्भूतोत्पादक कहलाता है ॥ १२ ॥

ये हि निष्कलुषा लोके पुण्यपापविवर्जिताः ।
तेषां वै क्षेममध्वानं गच्छतां द्विजसत्तम ॥ १३ ॥
सर्वलोकतमोहन्ता आदित्यो द्वारमुच्यते ।

द्विजश्रेष्ठ ! संसारमें जो लोग पुण्य और पापसे रहित एवं निर्मल हैं, वे कल्याणमय मार्गसे भगवद्धामको [illegible] होते हैं, [illegible] समय सम्पूर्ण लोकोंके अन्धकारका [illegible] करनेवाले भगवान् [illegible] ही उनके [illegible] मोक्षधामका द्वार बताये जाते हैं ॥ १३½ ॥

आदित्यदग्धसर्वाङ्गा अदृश्याः केनचित् क्वचित् ॥ १४ ॥
परमाणुभूता भूत्वा [illegible] तं देवं प्रविशन्त्युत ।

सूर्यदेव उनके सम्पूर्ण अङ्गोंको जलाकर [illegible] कर देते हैं। फिर कहीं कोई उन्हें देख नहीं [illegible]। वे परमाणुस्वरूप होकर उन्हीं सूर्यदेवमें प्रवेश [illegible] जाते हैं ॥ १४½ ॥

तस्मादपि च निर्मुक्ता अनिरुद्धतनौ स्थिताः ॥ १५ ॥
मनोभूतास्ततो भूत्वा प्रद्युम्नं प्रविशन्त्युत ।

फिर उनसे भी मुक्त होकर वे अनिरुद्धविग्रहमें स्थित होते हैं। फिर मनोमय होकर प्रद्युम्नमें प्रवेश करते हैं ॥ १५½ ॥

प्रद्युम्नाच्चापि निर्मुक्ता जीवं संकर्षणं ततः ॥ १६ ॥
विशन्ति विप्रप्रवराः सांख्या भागवतैः सह ।

प्रद्युम्नसे भी मुक्त होकर वे सांख्यज्ञानसम्पन्न श्रेष्ठ ब्राह्मण भगवद्भक्तोंके [illegible] जीवस्वरूप संकर्षणमें प्रविष्ट होते हैं ॥ १६½ ॥

ततस्त्रैगुण्यहीनास्ते परमात्मानमञ्जसा ॥ १७ ॥
प्रविशन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्षेत्रज्ञं निर्गुणात्मकम् ।
सर्वावासं वासुदेवं क्षेत्रज्ञं विद्धि तत्त्वतः ॥ १८ ॥

तदनन्तर तीनों गुणोंसे मुक्त हो वे श्रेष्ठ द्विज अनायास ही निर्गुणस्वरूप क्षेत्रज्ञ परमात्मामें प्रवेश कर जाते हैं। तुम सबके निवासस्थान भगवान् वासुदेवको ही क्षेत्रज्ञ समझो ॥ १७-१८ ॥

समाहितमनस्काश्च नियताः संयतेन्द्रियाः ।
एकान्तभावोपगता वासुदेवं विशन्ति ते ॥ १९ ॥

जिन्होंने अपने मनको एकाग्र कर लिया है, जो शौच-संतोष आदि नियमोंसे सम्पन्न और जितेन्द्रिय हैं, वे अनन्य भावसे भगवान्की शरणमें गये हुए भक्त साक्षात् वासुदेवमें प्रवेश करते हैं ॥ १९ ॥

आवामपि [illegible] धर्मस्य गृहे जातौ द्विजोत्तम ।
रम्यां विशालामाश्रित्य तप उग्रं समास्थितौ ॥ २० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! [illegible] दोनों भी धर्मके घरमें अवतीर्ण हो इस रमणीय बदरिकाश्रमतीर्थका आश्रय ले कठोर तपस्यामें संलग्न हैं ॥ २० ॥

ये तु तस्यैव देवस्य प्रादुर्भावाः सुरप्रियाः ।
भविष्यन्ति त्रिलोकस्थास्तेषां स्वस्तीत्यथो द्विज ॥ २१ ॥

ब्रह्मन् ! उन्हीं भगवान् परमदेव परमात्माके तीनों लोकोंमें जो देवप्रिय अवतार होनेवाले हैं, उनका सदा ही परम मङ्गल हो—यही हमारी इस [illegible] उद्देश्य है ॥ २१ ॥

विधिना स्वेन युक्ताभ्यां यथापूर्वं द्विजोत्तम ।
आस्थिताभ्यां सर्वकृच्छ्रं व्रतं सम्यगनुत्तमम् ॥ २२ ॥
आवाभ्यामपि दृष्टस्त्वं श्वेतद्वीपे तपोधन ।
समागतो भगवता संजल्पं कृतवांस्तथा ॥ २३ ॥
सर्वं हि नौ संविदितं त्रैलोक्ये सचराचरे ।
यद् भविष्यति वृत्तं [illegible] वर्तते वा शुभाशुभम् ।
[illegible] [illegible] ते कथितवान् देवदेवो महामुने ॥ २४ ॥

द्विजोत्तम ! हम दोनोंने पूर्ववत् अपने कर्ममें संलग्न हो सर्वोत्तम एवं सम्पूर्ण कठिनाइयोंसे युक्त उत्तम व्रतमें तत्पर रहते हुए ही श्वेतद्वीपमें उपस्थित होकर वहाँ तुम्हें देखा था। तपोधन ! तुम वहाँ भगवान्‌से मिले और उनके साथ वार्तालाप किया। ये सारी बातें हम दोनोंको अच्छी तरह विदित हैं। महामुने ! चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें जो शुभ या अशुभ बात हो चुकी है, हो रही है अथवा होनेवाली है, वह सब उस समय देवदेव भगवान् श्रीहरिने तुमसे कही थी ॥ २२—२४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तयोर्वाक्यं तपस्युग्रे च वर्ततोः ।
नारदः प्राञ्जलिर्भूत्वा नारायणपरायणः ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कठोर तपस्यामें लगे हुए भगवान् नर और नारायणकी यह बात सुनकर नारदजीने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और नारायणकी शरण लेकर उन्हींकी आराधनामें लग गये ॥ २५ ॥

जजाप विधिवन्मन्त्रान् नारायणगतान् बहून् ।
दिव्यं वर्षसहस्रं हि नरनारायणाश्रमे ॥ २६ ॥

उन्होंने नारायणसम्बन्धी बहुत-से मन्त्रोंका विधिपूर्वक जप किया और एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक वे नर-नारायणके आश्रममें टिके रहे ॥ २६ ॥

अवसत् स महातेजा नारदो भगवानृषिः ।
तमेवाभ्यर्चयन् देवं नरनारायणौ च तौ ॥ २७ ॥

महातेजस्वी भगवान् नारद मुनि प्रतिदिन उन्हीं भगवान् वासुदेवकी तथा उन दोनों नर और नारायणकी भी आराधना करते हुए वहाँ रहने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये चतुश्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

भगवान् वराहके द्वारा पितरोंके पूजनकी मर्यादाका स्थापित होना

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य नारदः परमेष्ठिजः ।
दैवं कृत्वा यथान्यायं पित्र्यं चक्रे ततः परम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! किसी समय ब्रह्मपुत्र नारदजीने शास्त्रीय विधिके अनुसार पहले देवकार्य (हवन-पूजन) करके फिर पितृकार्य (श्राद्ध-तर्पण) किया ॥ १ ॥

ततस्तं वचनं प्राह ज्येष्ठो धर्मात्मजः प्रभुः ।
क इज्यते द्विजश्रेष्ठ दैवे पित्र्ये च कल्पिते ॥ २ ॥
त्वया मतिमतां श्रेष्ठ तन्मे शंस यथागमम् ।
किमेतत् क्रियते कर्म फलं चास्य किमिष्यते ॥ ३ ॥

तब धर्मके ज्येष्ठ पुत्र नरने उनसे इस प्रकार पूछा—'द्विजश्रेष्ठ ! तुम बुद्धिमानोंमें अग्रगण्य हो। तुम्हारे द्वारा देव-कार्य और पितृकार्यके सम्पादित होनेपर उन कर्मोंसे किसकी पूजा सम्पन्न होती है ? यह मुझे शास्त्रके अनुसार बताओ। तुम यह कौन-सा कर्म करते हो ? और इसके द्वारा किस फलको प्राप्त करना चाहते हो ?' ॥ २-३ ॥

नारद उवाच

त्वयैतत् कथितं पूर्वं दैवं कर्तव्यमित्यपि ।
दैवतं च परो यज्ञः परमात्मा सनातनः ॥ ४ ॥

नारदजीने कहा—प्रभो ! आपने ही पहले यह कहा था कि देवकर्म सबके लिये कर्तव्य है; क्योंकि देवकर्म उत्तम यज्ञ है और यज्ञ सनातन परमात्माका स्वरूप है ॥ ४ ॥

ततस्तद्भावितो नित्यं यजे वैकुण्ठमव्ययम् ।
तस्माच्च प्रसूतः पूर्वं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ५ ॥

अतः आपके उस उपदेशसे प्रभावित होकर मैं प्रतिदिन अविनाशी भगवान् वैकुण्ठका यजन करता हूँ। उन्हींसे सर्व-प्रथम लोक-पितामह ब्रह्माजी प्रकट हुए हैं ॥ ५ ॥

मम वै पितरं प्रीतः परमेष्ठ्यप्यजीजनत् ।
अहं संकल्पजस्तस्य पुत्रः प्रथमकल्पितः ॥ ६ ॥

परमेष्ठी ब्रह्माने प्रसन्न होकर मेरे पिता प्रजापतिको उत्पन्न किया *। मैं उनका संकल्पजनित प्रथम पुत्र हूँ ॥ ६ ॥

यजामि वै पितॄन् साधो नारायणविधौ कृते ।
एवं स एव भगवान् पिता माता पितामहः ॥ ७ ॥

साधो ! मैं पहले नारायणकी आराधनाका कार्य पूर्ण कर लेनेपर पितरोंका पूजन करता हूँ। इस प्रकार वे भगवान् नारायण ही मेरे पिता, माता और पितामह हैं ॥ ७ ॥

* यद्यपि नारदजी ब्रह्माजीके ही पुत्र हैं तथापि दक्षके शापवश उन्हें पुनः प्रजापतिसे जन्म ग्रहण करना पड़ा। यह कथा हरिवंशमें आयी है।

इज्यते पितृयज्ञेषु तथा नित्यं जगत्पतिः।
श्रुतिश्चाप्यपरा देवी पुत्रान् हि पितरोऽयजन् ॥ ८ ॥

पितृयज्ञोंमें सदा श्रीहरिकी ही आराधना की जाती है। एक दूसरी श्रुति है कि पिताओं (देवताओं) ने पुत्रों (अग्निष्वात्त* आदि) [illegible] पूजन किया ॥ ८ ॥

वेदश्रुतिः प्रणष्टा [illegible] पुनरध्यापिता सुतैः।
ततस्ते मन्त्रदाः पुत्राः पितृत्वमुपपेदिरे ॥ ९ ॥

देवताओंका वेदज्ञान भूल गया था; फिर उनके पुत्रोंने ही उन्हें वेदश्रुतियोंको पढ़ाया। इसीसे वे मन्त्रदाता पुत्र पितृभावको प्राप्त हुए ॥ ९ ॥

नूनं पुरैतद् विदितं युवयोर्भावितात्मनोः।
पुत्राश्च पितरश्चैव परस्परमपूजयन् ॥ १० ॥

पुत्रों और पिताओंने जो परस्पर एक दूसरेका पूजन किया, यह बात आप दोनों शुद्धात्मा पुरुषोंको निश्चय ही पहलेसे ही [illegible] रही होगी ॥ १० ॥

त्रीन् पिण्डान् न्यस्य वै पृथ्व्यां पूर्वं दत्त्वा कुशानिति।
कथं तु पिण्डसंज्ञां ते पितरो लेभिरे पुरा ॥ ११ ॥

देवताओंने पृथ्वीपर पहले कुश बिछाकर उनपर पितरोंके निमित्त तीन पिण्ड रखकर जो उनका पूजन किया था, इसका क्या कारण है? पूर्वकालमें पितरोंने पिण्डनाम कैसे [illegible] किया? ॥ ११ ॥

नरनारायणावूचतुः

इमां हि धरणीं पूर्वं नष्टां सागरमेखलाम्।
गोविन्द उज्जहाराशु वाराहं रूपमास्थितः ॥ १२ ॥

नर-नारायण बोले—मुने! यह समुद्रसे घिरी हुई पृथ्वी पहले एकार्णवके जलमें डूबकर अदृश्य हो गयी थी। [illegible] समय भगवान् गोविन्दने वाराह-रूप धारण करके शीघ्रतापूर्वक इसका उद्धार किया [illegible] ॥ १२ ॥

स्थापयित्वा तु धरणीं स्वे स्थाने पुरुषोत्तमः।
जलकर्दमलिप्ताङ्गो लोककार्यार्थमुद्यतः ॥ १३ ॥

वे पुरुषोत्तम पृथ्वीको अपने स्थानपर स्थापित करके जल और कीचड़से लिपटे अङ्गोंसे ही लोकहितका कार्य करनेके लिये उद्यत हुए ॥ १३ ॥

प्राप्ते चाह्निककाले [illegible] मध्यदेशगते रवौ।
दंष्ट्राविलग्नांस्त्रीन् पिण्डान् विधाय सहसा प्रभुः ॥ १४ ॥

[illegible] वै पृथ्व्यां कुशानास्तीर्य नारद।
स तेष्वात्मानमुद्दिश्य पित्र्यं चक्रे यथाविधि ॥ १५ ॥

जब सूर्य दिनके मध्य भागमें आ पहुँचे और तत्कालोचित नित्यकर्मका समय उपस्थित हुआ, तब भगवान्‌ने अपनी दाढ़ोंमें लगी हुई मिट्टीके सहसा तीन पिण्ड बनाये। नारद! फिर पृथ्वीपर कुश बिछाकर उन्होंने उन कुशोंपर ही वे पिण्ड रख दिये। इसके बाद अपने ही उद्देश्यसे उन पिण्डोंपर विधिपूर्वक पितृपूजनका कार्य सम्पन्न किया ॥ १४-१५ ॥

संकल्पयित्वा त्रीन् पिण्डान् स्वेनैव विधिना प्रभुः।
आत्मगात्रोष्मसम्भूतैः स्नेहगर्भैस्तिलैरपि ॥ १६ ॥
प्रोक्ष्यापसव्यं देवेशः प्राङ्मुखः कृतवान् स्वयम्।
मर्यादास्थापनार्थं च ततो वचनमुक्तवान् ॥ १७ ॥

अपने ही विधानसे प्रभुने वे तीनों पिण्ड संकल्पित किये। फिर अपने शरीरकी ही गर्मीसे उत्पन्न हुए स्नेहयुक्त तिलोंद्वारा अपसव्यभावसे उन पिण्डोंका प्रोक्षण किया। तदनन्तर देवेश्वर श्रीहरिने स्वयं ही पूर्वाभिमुख हो प्रार्थना की और धर्म-मर्यादाकी स्थापनाके लिये यह बात कही ॥ १६-१७ ॥

वृषाकपिरुवाच

अहं हि पितरः स्रष्टुमुद्यतो लोककृत् स्वयम्।
तस्य चिन्तयतः सद्यः पितृकार्यविधीन् परान् ॥ १८ ॥
दंष्ट्राभ्यां प्रविनिर्धूता ममैते दक्षिणां दिशम्।
आश्रिता धरणीं पिण्डास्तस्मात् पितर एव ते ॥ १९ ॥

भगवान् वराहने कहा—मैं ही सम्पूर्ण लोकोंका स्रष्टा हूँ। मैं स्वयं ही जब पितरोंकी सृष्टिके लिये उद्यत हो पितृकार्यसम्बन्धी दूसरी विधियोंका चिन्तन करने लगा, उसी क्षण मेरी दो दाढ़ोंसे ये तीन पिण्ड दक्षिण दिशाकी ओर पृथ्वीपर गिर पड़े; अतः ये पिण्ड पितृस्वरूप ही हैं ॥ १८-१९ ॥

त्रयो मूर्तिविहीना वै पिण्डमूर्तिधरास्त्विमे।
भवन्तु पितरो लोके मया सृष्टाः सनातनाः ॥ २० ॥

तीन पितर मूर्तिहीन या अमूर्त होते हैं; जो पिण्ड-रूप मूर्ति धारण करके प्रकट हुए हैं, लोकमें मेरेद्वारा उत्पन्न किये गये वे सनातन पितर हों ॥ २० ॥

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः।
अहमेवात्र विज्ञेयस्त्रिषु पिण्डेषु संस्थितः ॥ २१ ॥

पिता, पितामह और प्रपितामह—इनके रूपमें मुझे ही इन तीन पिण्डोंमें स्थित जानना चाहिये ॥ २१ ॥

नास्ति मत्तोऽधिकः कश्चित् को वान्योऽर्च्यो मया स्वयम्।
को वा मम पिता लोके अहमेव पितामहः ॥ २२ ॥

मुझसे श्रेष्ठ कोई नहीं है; फिर दूसरा कौन है जिसका स्वयं मैं पूजन करूँ? संसारमें मेरा पिता कौन है? उसका दादा-बाबा तो मैं ही हूँ ॥ २२ ॥

---

* अग्निष्वात्त आदि पितृगण देवताओंके ही पुत्र हैं। एक समय देवता दीर्घकालतक असुरोंके साथ युद्धमें लगे रहे, इसलिये उन्हें अपने पढ़े हुए वेद भूल गये। फिर उन पुत्रोंसे ही वेदोंको पढ़कर देवताओंने उनको पितृपदपर प्रतिष्ठित किया।

पितामहपिता चैव अहमेवात्र कारणम् ।
इत्येतदुक्त्वा वचनं देवदेवो वृषाकपिः ॥ २३ ॥
वराहपर्वते विप्र दत्त्वा पिण्डान् सविस्तरान् ।
आत्मानं पूजयित्वैव तत्रैवादर्शनं गतः ॥ २४ ॥

पितामहका पिता—परदादा भी मैं ही हूँ। मैं ही इस जगत्का कारण हूँ। विप्रवर ! ऐसी बात कहकर देवाधिदेव भगवान् वराहने वराहपर्वतपर विस्तारपूर्वक पिण्डदान दे पितरोंके रूपमें अपने आपका ही पूजन करके वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २३-२४ ॥

एषा तस्य स्थितिर्विप्र पितरः पिण्डसंज्ञिताः ।
लभन्ते सततं पूजां वृषाकपिवचो यथा ॥ २५ ॥

ब्रह्मन् ! यह भगवान्की ही नियत की हुई मर्यादा है। इस प्रकार पितरोंको पिण्डसंज्ञा प्राप्त हुई है। भगवान् वराहके कथनानुसार वे पितर सदा सबके द्वारा पूजा प्राप्त करते हैं ॥२५॥

ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूंश्चैवातिथींस्तथा ।
गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं यथा ॥ २६ ॥
कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते ।
अन्तर्गतः स भगवान् सर्वसत्त्वशरीरगः ॥ २७ ॥

जो देवता, पितर, गुरु, अतिथि, गौ, श्रेष्ठ ब्राह्मण, पृथ्वी और माताकी मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा पूजा करते हैं, वे वास्तवमें भगवान् विष्णुकी ही आराधना करते हैं; क्योंकि भगवान् विष्णु समस्त प्राणियोंके शरीरमें अन्तरात्मारूपसे विराजमान हैं ॥ २६-२७ ॥

समः सर्वेषु भूतेषु ईश्वरः सुखदुःखयोः ।
महान् महात्मा सर्वात्मा नारायण इति श्रुतिः ॥ २८ ॥

सुख और दुःखके स्वामी श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें समभावसे स्थित हैं। श्रीनारायण महान्, महात्मा एवं सर्वात्मा हैं; ऐसा श्रुतिमें कहा गया है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये पञ्चचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३४५॥

षट्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारायणकी महिमासम्बन्धी उपाख्यानका उपसंहार

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतन्नारदो वाक्यं नरनारायणेरितम् ।
अत्यन्तं भक्तिमान् देवे एकान्तित्वमुपेयिवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नर-नारायणका वह कथन सुनकर भगवान्के प्रति नारदजीकी भक्ति बहुत बढ़ गयी। वे उनके अनन्य भक्त हो गये ॥ १ ॥

प्रोष्य वर्षसहस्रं तु नरनारायणाश्रमे ।
श्रुत्वा भगवदाख्यानं दृष्ट्वा च हरिमव्ययम् ॥ २ ॥
हिमवन्तं जगामाशु यत्रास्य स्वक आश्रमः ।

नर-नारायणके आश्रममें भगवान्की कथा सुनते और प्रतिदिन अविनाशी श्रीहरिका दर्शन करते हुए जब नारदजीके एक हजार दिव्य वर्ष पूरे हो गये, तब वे शीघ्र ही हिमालयपर्वतके उस भागमें चले गये, जहाँ उनका अपना आश्रम था ॥ २½ ॥

तावपि ख्याततपसौ नरनारायणावृषी ॥ ३ ॥
तस्मिन्नेवाश्रमे रम्ये तेपतुस्तप उत्तमम् ।

तत्पश्चात् वे विख्यात तपस्वी नर-नारायण ऋषि भी पुनः उसी रमणीय आश्रममें रहते हुए उत्तम तपस्यामें संलग्न हो गये ॥ ३½ ॥

त्वमप्यमितविक्रान्तः पाण्डवानां कुलोद्वहः ॥ ४ ॥
पावितात्माद्य संवृत्तः श्रुत्वेमामादितः कथाम् ।

जनमेजय ! तुम पाण्डवोंके कुलभूषण और अत्यन्त पराक्रमी हो। तुम भी प्रारम्भसे ही इस कथाको सुनकर आज परम पवित्र हो गये हो ॥ ४½ ॥

नैव तस्यापरो लोको नायं पार्थिवसत्तम ॥ ५ ॥
कर्मणा मनसा वाचा यो द्विष्याद् विष्णुमव्ययम् ।

नृपश्रेष्ठ ! जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा अविनाशी भगवान् विष्णुके साथ द्वेष रखता है, उसका न इस लोकमें ठिकाना है और न परलोकमें ॥ ५½ ॥

मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः ॥ ६ ॥
यो द्विष्याद् विबुधश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् ।

जो देवश्रेष्ठ भगवान् नारायण हरिसे द्वेष करता है, उसके पितर सदाके लिये नरकमें डूब जाते हैं ॥ ६½ ॥

कथं नाम भवेद् द्वेष्य आत्मा लोकस्य कस्यचित् ॥ ७ ॥
आत्मा हि पुरुषव्याघ्र ज्ञेयो विष्णुरिति स्थितिः ।

पुरुषसिंह ! भगवान् विष्णुको सबका आत्मा जानना चाहिये। यही वास्तविक स्थिति है। कोई भी मनुष्य भला अपने आत्माके साथ द्वेष कैसे कर सकता है ? ॥ ७½ ॥

य एष गुरुरस्माकमृषिर्गन्धवतीसुतः ॥ ८ ॥
तेनैतत् कथितं तात माहात्म्यं परमव्ययम् ।
तस्माच्छ्रुतं मया चेदं कथितं च तवानघ ॥ ९ ॥

[illegible] ! ये जो हमलोगोंके गुरु गन्धवतीपुत्र महर्षि व्यास बैठे हैं, इन्होंने ही भगवान्के परम उत्तम अविनाशी माहात्म्यका वर्णन किया है । निष्पाप ! उन्हींसे मैंने यह सब सुना है और मेरेद्वारा तुमको भी [illegible] गया है ॥ ८-९ ॥

नारदेन [illegible] [illegible] सरहस्यः ससंग्रहः ।
[illegible] धर्मो जगन्नाथात् साक्षान्नारायणान्नृप ॥ १० ॥

नरेश्वर ! देवर्षि नारदने तो रहस्य और संग्रहसहित इस धर्मको साक्षात् जगदीश्वर नारायणसे ही प्राप्त किया था ॥ १० ॥

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार यह महान् धर्म मैंने तुम्हें पहले हरिगीतामें संक्षेपसे बताया है ॥ ११ ॥

कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं भुवि ।
को [illegible] पुरुषव्याघ्र महाभारतकृद् भवेत् ॥ १२ ॥

पुरुषसिंह ! तुम कृष्णद्वैपायन व्यासको इस भूतलपर नारायणका ही स्वरूप समझो । भला, भगवान्के सिवा दूसरा कौन महाभारतका कर्ता हो सकता है ? ॥ १२ ॥

धर्मान् नानाविधांश्चैव को ब्रूयात् तमृते प्रभुम् ॥ १३ ॥
वर्ततां ते महायज्ञो यथा संकल्पितस्त्वया ।
संकल्पिताश्वमेधस्त्वं श्रुतधर्मश्च तत्त्वतः ॥ १४ ॥

भगवान्के सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो नाना प्रकारके धर्मोंका वर्णन कर सके ? तुम्हारा यह महान् यज्ञ, जैसा कि तुमने संकल्प कर रक्खा है, निरन्तर चालू रहे । तुमने अश्वमेध-यज्ञ करनेका संकल्प लिया है और सब धर्मोंका यथार्थरूपसे श्रवण किया है ॥ १३-१४ ॥

सौतिरुवाच

एतत् [illegible] महदाख्यानं श्रुत्वा पार्थिवसत्तमः ।
ततो यज्ञसमाप्त्यर्थं क्रियाः सर्वाः समारभत् ॥ १५ ॥

सूतपुत्र कहते हैं—शौनक ! वैशम्पायनजीके मुखसे यह महान् उपाख्यान सुनकर राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजयने अपने यज्ञको पूर्ण करनेका सारा कार्य आरम्भ किया ॥ १५ ॥

नारायणीयमाख्यानमेतत् ते कथितं मया ।
पृष्टेन शौनकाद्येह नैमिषारण्यवासिषु ॥ १६ ॥

शौनक ! [illegible] तुम्हारे प्रश्नके अनुसार इन नैमिषारण्यनिवासी मुनियोंके समीप मैंने यहाँ यह नारायणका माहात्म्य-सम्बन्धी उपाख्यान तुम्हें सुनाया है ॥ १६ ॥

नारदेन पुरा राजन् गुरवे मे निवेदितम् ।
ऋषीणां पाण्डवानां च शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः ॥ १७ ॥

राजन् ! पूर्वकालमें नारदजीने ऋषियों, पाण्डवों, श्रीकृष्ण [illegible] भीष्मके सुनते हुए य[illegible] प्रसङ्ग मेरे गुरु व्यासजीको बताया था ॥ १७ ॥

स हि परमगुरुर्जनभुवनपतिः
पृथुधरणिधरः श्रुतिविनयनिधिः ।
शमनियमनिधिर्द्विजपरमहित-
[illegible] भवतु गतिर्हरिरमरहितः ॥ १८ ॥

वे परम गुरु, जनपति, भुवनपति, विशाल पृथ्वीको धारण करनेवाले, वेदज्ञान और विनयके भण्डार, [illegible] और नियमकी निधि, ब्राह्मणोंके परम हितैषी तथा देवताओंके हितचिन्तक श्रीहरि तुम्हारे आश्रय हों ॥ १८ ॥

असुरवधकरस्तपसां निधिः
सुमहतां यशसां च भाजनम् ।
मधुकैटभहा कृतधर्मविदां गतिदो-
ऽभयदो मखभागहरोऽस्तु शरणं स ते ॥ १९ ॥

असुरोंका वध करनेवाले, तपस्याकी निधि, विशाल यशके भाजन, मधु और कैटभके हन्ता, सत्ययुगके धर्मोंका ज्ञान रखकर उनका पालन करनेवालोंको सद्गति प्रदान करनेवाले, अभयदाता तथा यज्ञका भाग ग्रहण करनेवाले भगवान् नारायण तुम्हें [illegible] दें ॥ १९ ॥

त्रिगुणो विगुणश्चतुरात्मधरः
पूर्तेष्टयोश्च फलभागहरः ।
विदधातु नित्यमजितोऽतिबलो
गतिमात्मगां सुकृतिनामृषीणाम् ॥ २० ॥

जो तीनों गुणोंसे विशिष्ट होते हुए भी निर्गुण हैं, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध नामक चार विग्रहोंको धारण करनेवाले हैं, इष्ट (यज्ञ-याग आदि), आपूर्त (वापी, कूप, तड़ाग-निर्माण आदि) के फलभागको ग्रहण करनेवाले हैं, जो कभी किसीसे पराजित नहीं होते तथा धैर्य [illegible] मर्यादासे विचलित नहीं होते, वे भगवान् श्रीहरि पुण्यात्मा ऋषियोंको आत्मज्ञानजन्य सद्गति प्रदान करें ॥ २० ॥

तं लोकसाक्षिणमजं पुरुषं पुराणं
रविवर्णमीश्वरं गतिं बहुशः ।
प्रणमध्वमेकमनसो यतः
सलिलोद्भवोऽपि तमृषिं प्रणतः ॥ २१ ॥

जो सम्पूर्ण जगत्के साक्षी, अजन्मा, अन्तर्यामी, पुराण-पुरुष, सूर्यके समान तेजस्वी, ईश्वर और सब प्रकारसे सबकी गति हैं, उन परमेश्वरको तुम [illegible] लोग एकाग्रचित्त होकर प्रणाम करो; क्योंकि उन वासुदेवस्वरूप [illegible]रायण ऋषिको शेषशायी भी प्रणाम करते हैं ॥ २१ ॥

स हि लोकयोनिरमृतस्य पदं
सूक्ष्मं परायणमचलं हि पदम् ।

तत्सांख्ययोगिभिरुदार वृतं
बुद्ध्या यतात्मभिरिदं सनातनम् ॥ २२॥

वे इस जगत्के आदिकारण, अमृतपद (मोक्षके आश्रय), सूक्ष्मस्वरूप, दूसरोंको शरण देनेवाले, अविचल और सनातन पद हैं। उदार शौनक ! अपने मनको वशमें रखनेवाले सांख्ययोगी बुद्धिके द्वारा उन्हींका वरण करते हैं ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये षट्चत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

हयग्रीव-अवतारकी कथा, वेदोंका उद्धार, मधुकैटभका वध तथा नारायणकी महिमाका वर्णन

शौनक उवाच

श्रुतं भगवतस्तस्य माहात्म्यं परमात्मनः।
[illegible] धर्मगृहे चैव नरनारायणात्मकम् ॥ १ ॥

शौनकने कहा—सूतनन्दन ! हमलोगोंने षड्विध ऐश्वर्यसे सम्पन्न उन परमात्मा श्रीहरिका माहात्म्य सुना और धर्मके घरमें उन्होंने ही नर-नारायणरूपसे जन्म ग्रहण किया था, इस बातको भी जान लिया ॥ १ ॥

महावराहसृष्टा च पिण्डोत्पत्तिः पुरातनी।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यो यथा परिकल्पितः ॥ २ ॥
तथा च नः श्रुतो ब्रह्मन् कथ्यमानस्त्वयानघ।

निष्पाप सूतपुत्र ! भगवान् महावराहने जो प्राचीन कालमें पिण्डोंकी उत्पत्ति करके पिण्डदानकी मर्यादा चलायी तथा प्रवृत्ति और निवृत्तिके विषयमें जिस विधिकी जैसी कल्पना की, वह [illegible] आपके मुखसे हमलोगोंने सुना ॥ २½ ॥

हव्यकव्यभुजो विष्णुरुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३ ॥
यच्च तत् कथितं पूर्वं त्वया हयशिरो महत्।
तच्च दृष्टं भगवता ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥ ४ ॥

समुद्रके उत्तर-पूर्वभागमें हव्य और कव्यका भोग ग्रहण करनेवाले भगवान् विष्णुने महान् हयग्रीवावतार धारण किया था, यह बात आपने पहले मुझसे कही थी। साथ ही यह भी बतायी थी कि भगवान् परमेष्ठी ब्रह्माने उस रूपका प्रत्यक्ष दर्शन किया था ॥ ३-४ ॥

किं तदुत्पादितं पूर्वं हरिणा लोकधारिणा।
रूपं प्रभावं महतामपूर्वं धीमतां वर ॥ ५ ॥

महान् बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ सूतपुत्र ! सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाले श्रीहरिने पूर्वकालमें वह अद्भुत प्रभावशाली रूप क्यों प्रकट किया ! उनका वैसा रूप तो पहले कभी देखनेमें नहीं आया था ॥ ५ ॥

[illegible] हि विबुधश्रेष्ठमपूर्वममितौजसम्।
तदश्वशिरसं पुण्यं ब्रह्मा किमकरोन्मुने ॥ ६ ॥

मुने ! अमित बलशाली एवं अपूर्वरूपधारी उन पुण्यात्मा सुरश्रेष्ठ हयग्रीवका दर्शन करके ब्रह्माजीने क्या किया ? ॥ ६ ॥

एतन्नः संशयं ब्रह्मन् पुराणं ज्ञानसम्भवम्।
कथयस्वोत्तममते महापुरुषनिर्मितम् ॥ [illegible] ॥
पाविताः [illegible] त्वया ब्रह्मन् पुण्यां कथयता कथाम्।

सूतनन्दन ! आपकी बुद्धि बड़ी उत्तम है। महापुरुष भगवान्के अवतारसम्बन्धी इस पुरातन ज्ञानके विषयमें हमलोगोंको संशय हो रहा है। आप इसका समाधान कीजिये। आपने यह पुण्यमयी कथा कहकर हमलोगोंको पवित्र कर दिया है ॥ ७½ ॥

सौतिरुवाच

कथयिष्यामि ते सर्वं पुराणं वेदसम्मितम् ॥ ८ ॥
जगौ यद् भगवान् व्यासो राज्ञः पारिक्षितस्य वै।

सूतपुत्रने कहा—शौनकजी ! मैं तुमसे वेदतुल्य प्रमाणभूत सारा पुरातन वृत्तान्त कहूँगा, जिसे भगवान् व्यासने* राजा जनमेजयको सुनाया था ॥ ८½ ॥

श्रुत्वाश्वशिरसो मूर्तिं देवस्य हरिमेधसः ॥ ९ ॥
उत्पन्नसंशयो राजा एतदेवमचोदयत्।

भगवान् विष्णुके हयग्रीवावतारकी चर्चा सुनकर तुम्हारी ही तरह राजा जनमेजयको भी संदेह हो गया था। तब उन्होंने इस प्रकार प्रश्न किया— ॥ ९½ ॥

जनमेजय उवाच

यत्तद् दर्शितवान् ब्रह्मा देवं हयशिरोधरम् ॥ १० ॥
किमर्थं तत् समभवत् तन्ममाचक्ष्व सत्तम।

जनमेजय बोले—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ मुने ! ब्रह्माजीने भगवान्के जिस हयग्रीवावतारका दर्शन किया था, उसका प्रादुर्भाव किसलिये हुआ था ? यह मुझे बताइये ॥ १०½ ॥

* वैशम्पायनजीने जनमेजयको महाभारतकी [illegible] वेदव्यासजी की आज्ञासे सुनायी थी [illegible] कारण यहाँ ऐसा लिखा है।

वैशम्पायन उवाच

यत् किंचिदिह लोके वै देहबद्धं विशाम्पते ॥ ११ ॥
[illegible] पञ्चभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिभिः ।

वैशम्पायनजीने कहा—प्रजानाथ ! इस जगत्में जितने प्राणी हैं, वे [illegible] ईश्वरके सङ्कल्पसे उत्पन्न हुए पाँच महाभूतोंसे युक्त हैं ॥ ११½ ॥

ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा प्रभुर्नारायणो विराट् ॥ १२ ॥
भूतान्तरात्मा वरदः सगुणो निर्गुणोऽपि च ।

विराट्स्वरूप भगवान् नारायण इस जगत्के ईश्वर और स्रष्टा हैं, वे ही [illegible] जीवोंके अन्तरात्मा, वरदाता, सगुण और निर्गुणरूप हैं ॥ १२½ ॥

भूतप्रलयमत्यन्तं शृणुष्व नृपसत्तम ॥ १३ ॥
धरण्यामथ लीनायामप्सु चैकार्णवे पुरा ।
ज्योतिर्भूते जले चापि लीने ज्योतिषि चानिले ॥ १४ ॥
वायौ चाकाशसंलीने आकाशे च मनोऽनुगे ।
व्यक्ते मनसि संलीने व्यक्ते चाव्यक्ततां गते ॥ १५ ॥
अव्यक्ते पुरुषं याते पुंसि सर्वगतेऽपि च ।
तम एवाभवत् सर्वं न प्राज्ञायत किंचन ॥ १६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब तुम पञ्चभूतोंके आत्यन्तिक प्रलयकी [illegible] सुनो । पूर्वकालमें जब इस पृथ्वीका एकार्णवके जलमें लय हो गया । जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें, आकाशका मनमें, मनका व्यक्त (महत्तत्त्व) में, व्यक्तका अव्यक्त प्रकृतिमें, अव्यक्तका पुरुषमें अर्थात् मायाविशिष्ट ईश्वरमें और पुरुषका सर्वव्यापी परमात्मामें लय हो गया, उस समय सब ओर केवल अन्धकार-ही-अन्धकार छा गया । उसके सिवा और कुछ भी ज्ञान नहीं पड़ता था ॥ १३—१६ ॥

तमसो ब्रह्म सम्भूतं तमोमूलामृतात्मकम् ।
तद्विश्वभावसंज्ञान्तं पौरुषीं तनुमाश्रितम् ॥ १७ ॥

तमसे जगत्का कारणभूत ब्रह्म (परम व्योम) [illegible] हुआ है । [illegible] मूल [illegible] अधिष्ठानभूत अमृततत्त्व । वह मूलभूत अमृत ही तमसे युक्त हो सभी नाम-रूपमें प्रपञ्चको प्रकट [illegible] है और विराट् शरीरका आश्रय लेकर रहता है ॥ १७ ॥

सोऽनिरुद्ध इति प्रोक्तस्तत् प्रधानं प्रचक्षते ।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं त्रिगुणं नृपसत्तम ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! उसीको अनिरुद्ध कहा गया है । उसीको प्रधान भी कहते हैं तथा उसीको त्रिगुणमय अव्यक्त जानना चाहिये ॥

विद्यासहायवान् देवो विष्वक्सेनो हरिः प्रभुः ।
अप्स्वेव शयनं चक्रे निद्रायोगमुपागतः ॥ १९ ॥

[illegible] अवस्थामें विद्याशक्तिसे सम्पन्न सर्वव्यापी भगवान् श्रीहरिने योगनिद्राका आश्रय लेकर जलमें शयन किया ॥ १९ ॥

जगतश्चिन्तयन् सृष्टिं चित्रां बहुगुणोद्भवाम् ।
[illegible] चिन्तयतः सृष्टिं महानात्मगुणः स्मृतः ॥ २० ॥
अहंकारस्ततो जातो ब्रह्मा स [illegible] चतुर्मुखः ।
हिरण्यगर्भो भगवान् सर्वलोकपितामहः ॥ २१ ॥

उस समय वे नाना गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली जगत्की अद्भुत सृष्टिके विषयमें विचार करने लगे । सृष्टिके विषयमें विचार करते हुए उन्हें अपने गुण महान् (महत्तत्त्व) का स्मरण हो आया । उससे अहङ्कार प्रकट हुआ । वह अहङ्कार ही चार मुखोंवाले ब्रह्माजी हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके पितामह और भगवान् हिरण्यगर्भके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ २०-२१ ॥

पद्मेऽनिरुद्धात् सम्भूतस्तदा पद्मनिभेक्षणः ।
सहस्रपत्रे द्युतिमानुपविष्टः सनातनः ॥ २२ ॥
ददृशेऽद्भुतसंकाशो लोकानापोमयान् प्रभुः ।
सत्त्वस्थः परमेष्ठी स ततो भूतगणान् सृजन् ॥ २३ ॥

ब्रह्माण्डमें पद्मसे अनिरुद्ध (अहङ्कार) से कमलनयन [illegible] उस समय प्रादुर्भाव हुआ था । वे अद्भुत रूपधारी एवं तेजस्वी सनातन भगवान् ब्रह्मा सहस्रदल कमलपर [illegible] समान हो चार दिशाओंमें दृष्टि डालने लगे, तब उन्हें समस्त जगत् जलमय दिखायी दिया । तब ब्रह्माजी सत्त्वगुणमें स्थित होकर प्राणियोंकी सृष्टिमें प्रवृत्त हुए ॥ २२-२३ ॥

पूर्वमेव च पद्मस्य पत्रे सूर्यांशुसप्रभे ।
नारायणकृतौ बिन्दू अपामास्तां गुणोत्तरौ ॥ २४ ॥

वे जिस कमलपर बैठे थे, उसका पत्ता सूर्यके समान देदीप्यमान होता था । उसपर पहलेसे ही भगवान् नारायणकी प्रेरणासे जलकी दो बूँदें पड़ी थीं, जो रजोगुण और तमोगुणकी प्रतीक थीं ॥ २४ ॥

तावपश्यत् स भगवाननादिनिधनोऽच्युतः ।
एकस्तत्राभवद् बिन्दुर्मध्वाभो रुचिरप्रभः ॥ २५ ॥
[illegible] तामसो मधुर्जातस्तदा नारायणाज्ञया ।
कठिनस्त्वपरो बिन्दुः कैटभो राजसस्तु सः ॥ २६ ॥

आदि-अन्तसे रहित भगवान् अच्युतने उन दोनों बूँदोंकी ओर देखा । उनमेंसे एक बूँद भगवान्की दृष्टि पड़ते ही उनकी प्रेरणासे तमोमय मधुनामक दैत्यके आकारमें परिणत हो गयी । [illegible] दैत्यका रंग मधुके समान था और उसकी कान्ति बड़ी सुन्दर थी । जलकी दूसरी बूँद, जो कुछ कड़ी थी, नारायणकी आज्ञासे रजोगुणसे उत्पन्न कैटभ नामक दैत्यके रूपमें प्रकट हुई ॥ २५-२६ ॥

तावभ्यधावतां श्रेष्ठौ [illegible] रजसान्वितौ ।
बलवन्तौ गदाहस्तौ पद्मनालानुसारिणौ ॥ २७ ॥

तमोगुण और रजोगुणसे युक्त वे दोनों श्रेष्ठ दैत्य [illegible]धु और कैटभ बड़े बलवान् थे । वे अपने हाथोंमें गदा

लिये कमलनालका अनुसरण करते हुए आगे बढ़ने लगे ।

ददृशातेऽरविन्दस्थं ब्रह्माणममितप्रभम् ।
सृजन्तं प्रथमं वेदांश्चतुरश्चारुविग्रहान् ॥ २८ ॥

ऊपर जाकर उन्होंने कमल-पुष्पके आसनपर बैठकर सृष्टि-रचनामें प्रवृत्त हुए अमित तेजस्वी ब्रह्माजीको देखा एवं उनके पास ही मनोहर रूप धारण किये हुए चारों वेदोंको देखा ॥ २८ ॥

ततो विग्रहवन्तौ तौ वेदान् दृष्ट्वासुरोत्तमौ ।
सहसा जगृहतुर्वेदान् ब्रह्मणः पश्यतस्तदा ॥ २९ ॥

उन विशालकाय श्रेष्ठ असुरोंने उस समय वेदोंपर दृष्टि पड़ते ही उन्हें ब्रह्माजीके देखते-देखते सहसा हर लिया ॥

अथ तौ दानवश्रेष्ठौ वेदान् [illegible] सनातनान् ।
रसां विविशतुस्तूर्णमुदक्पूर्वे महोदधौ ॥ ३० ॥

सनातन वेदोंका अपहरण करके वे दोनों श्रेष्ठ दानव उत्तर-पूर्ववर्ती महासागरमें घुस गये और तुरंत रसातलमें [illegible] पहुँचे ॥ ३० ॥

ततो हृतेषु वेदेषु ब्रह्मा कश्मलमाविशत् ।
ततो वचनमीशानं प्राह वेदैर्विनाकृतः ॥ ३१ ॥

वेदोंका अपहरण हो जानेपर ब्रह्माजीको बड़ा खेद हुआ । उनपर मोह [illegible] गया । वे वेदोंसे वञ्चित होकर मन-ही-मन परमात्मासे इस प्रकार कहने लगे ॥ ३१ ॥

ब्रह्मोवाच

वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम् ।
वेदा मे परमं धाम वेदा मे [illegible] चोत्तरम् ॥ ३२ ॥

[illegible] बोले—भगवन् ! वेद ही मेरे उत्तम नेत्र हैं, वेद ही मेरे परम बल हैं । वेद ही मेरे परम आश्रय तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य देव हैं ॥ ३२ ॥

मम वेदा हृताः सर्वे दानवाभ्यां बलादितः ।
अन्धकारा हि मे लोका जाता वेदैर्विनाकृताः ॥ ३३ ॥

मेरे वे सभी वेद [illegible] दो दानवोंने बलपूर्वक यहाँसे छीन लिये हैं । अब वेदोंके बिना मेरे लिये सम्पूर्ण लोक अन्धकारमय हो गये हैं ॥ ३३ ॥

वेदानृते हि कुर्यां लोकानां सृष्टिमुत्तमाम् ।
अहो बत महद् दुःखं वेदनाशनजं [illegible] ॥ ३४ ॥
प्राप्तं दुनोति हृदयं तीव्रं शोकपरायणम् ।
को हि शोकार्णवे मग्नं मामितोऽद्य समुद्धरेत् ॥ ३५ ॥
वेदांस्तांश्चानयेन्नष्टान् [illegible] चाहं प्रियो भवे ।

मैं वेदोंके बिना संसारकी उत्तम सृष्टि कैसे कर [illegible] हूँ ? अहो ! आज वेदोंके नष्ट होनेसे मुझपर बड़ा भारी दुःख आ पड़ा है, जो मेरे शोकमग्न हृदयको दुःसह पीड़ा दे रहा है । आज शोकके समुद्रमें डूबे हुए मुझ असहायका यहाँसे कौन उद्धार करेगा ? उन नष्ट हुए वेदोंको कौन लायेगा ? मैं किसको इतना प्रिय हूँ, जो मेरी ऐसी सहायता करेगा ?

इत्येवं भाषमाणस्य ब्रह्मणो नृपसत्तम ॥ ३६ ॥
हरेः स्तोत्रार्थमुद्भूता बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ।
ततो जगौ परं जप्यं साञ्जलिप्रग्रहः प्रभुः ॥ ३७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ऐसी बातें कहते हुए ब्रह्माजीके मनमें भगवान् श्रीहरिकी स्तुति करनेका विचार उत्पन्न हुआ । बुद्धिमानोंमें अग्रगण्य नरेश ! तब भगवान् ब्रह्माने हाथ जोड़कर उत्तम एवं जपने योग्य स्तोत्रका गान आरम्भ किया ॥ ३६-३७ ॥

ब्रह्मोवाच

ॐ नमस्ते ब्रह्महृदय नमस्ते [illegible] पूर्वज ।
लोकाद्य भुवनश्रेष्ठ सांख्ययोगनिधे प्रभो ॥ ३८ ॥

ब्रह्माजी बोले—प्रभो ! वेद आपका हृदय है, आपको नमस्कार है । मेरे पूर्वज ! आपको प्रणाम है । जगत्के आदि कारण ! भुवनश्रेष्ठ ! सांख्ययोगनिधे ! प्रभो ! आपको बारंबार नमस्कार है ॥ ३८ ॥

व्यक्ताव्यक्तकराचिन्त्य क्षेमं पन्थानमास्थित ।
विश्वभुक् सर्वभूतानामन्तरात्मन्नयोनिज ।
अहं प्रसादजस्तुभ्यं लोकधाम स्वयम्भुवः ॥ ३९ ॥

व्यक्त जगत् और अव्यक्त प्रकृतिको उत्पन्न करनेवाले परमात्मन् ! आपका स्वरूप अचिन्त्य है । आप कल्याणमय मार्गमें स्थित हैं । विश्वपालक ! आप सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मा, किसी योनिसे उत्पन्न न होनेवाले, जगत्के आधार और स्वयम्भू हैं । मैं आपकी कृपासे उत्पन्न हुआ हूँ ॥ ३९ ॥

त्वत्तो [illegible] मानसं जन्म प्रथमं द्विजपूजितम् ।
चाक्षुषं वै द्वितीयं मे [illegible] चासीत् पुरातनम् ॥ ४० ॥

आपसे मेरा प्रथम बार जो जन्म हुआ था, वह द्विजों-द्वारा सम्मानित मानस जन्म कहा गया है अर्थात् प्रथम बार मैं आपके मनसे उत्पन्न हुआ । तदनन्तर पूर्वकालमें मैं आपके नेत्रसे उत्पन्न हुआ । वह मेरा दूसरा जन्म था ॥

त्वत्प्रसादात् तु मे जन्म तृतीयं वाचिकं महत् ।
त्वत्तः श्रवणजं चापि चतुर्थं जन्म मे विभो ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् आपके कृपाप्रसादसे मेरा जो तीसरा महत्त्वपूर्ण जन्म हुआ, वह वाचिक था अर्थात् आपके वचनमात्रसे सुलभ हो गया था । विभो ! उसके बाद आपके कानोंसे मेरा चतुर्थ जन्म हुआ था ॥ ४१ ॥

नासिक्यं चापि मे [illegible] त्वत्तः परममुच्यते ।
अण्डजं चापि मे [illegible] त्वत्तः [illegible] विनिर्मितम् ॥ [illegible]२ ॥

उसके बाद आपकी नासिकासे मेरा पाँचवाँ उत्तम जन्म [illegible] जाता है। तदनन्तर मैं आपके द्वारा ब्रह्माण्डसे उत्पन्न किया गया। वह मेरा [illegible] जन्म [illegible] ॥ ४२ ॥

इदं च सप्तमं [illegible] पद्मजन्मेति वै प्रभो।
सर्गे सर्गे ह्यहं पुत्रस्तव त्रिगुणवर्जित ॥ ४३ ॥

प्रभो! यह मेरा सातवाँ जन्म है, जो कमलसे उत्पन्न हुआ है। त्रिगुणातीत परमेश्वर! [illegible] प्रत्येक कल्पमें आपका पुत्र होकर प्रकट होता हूँ [illegible] ४३ ॥

प्रथितः पुण्डरीकाक्ष प्रधानगुणकल्पितः।
त्वमीश्वरः [illegible] स्वयम्भूः पुरुषोत्तमः ॥ ४४ ॥

कमलनयन! [illegible] पुत्र मैं [illegible] सत्त्वमय शरीरसे उत्पन्न हुआ हूँ। आप ईश्वर, स्वभाव, स्वयम्भू एवं पुरुषोत्तम हैं ॥ ४४ ॥

[illegible] विनिर्मितोऽहं वै वेदचक्षुर्वयोतिगः।
ते मे वेदा हृताश्चक्षुरन्धो जातोऽस्मि जागृहि ॥ ४५॥
ददस्व चक्षूंषि [illegible] प्रियोऽहं ते प्रियोऽसि मे।

आपने मुझे वेदरूपी नेत्रोंसे युक्त बनाया है। आपकी ही कृपासे कालातीत हूँ—मुझपर कालका जोर नहीं चलता। मेरे नेत्ररूप वे वेद दानवोंद्वारा हर लिये गये हैं; अतः मैं अन्धा-सा हो गया हूँ। प्रभो! निद्रा त्यागकर जागिये। मुझे मेरे नेत्र वापस दीजिये; क्योंकि मैं आपका प्रिय भक्त हूँ और आप मेरे प्रियतम स्वामी हैं ॥ ४५½ ॥

एवं स्तुतः [illegible] भगवान् पुरुषः सर्वतोमुखः ॥ ४६ ॥
जहौ निद्रामथ तदा वेदकार्यार्थमुद्यतः।

ब्रह्माजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर सब ओर मुखवाले सबके अन्तर्यामी [illegible] भगवान्‌ने उसी [illegible] निद्रा त्याग दी और वे वेदोंकी [illegible] करनेके लिये उद्यत हो गये ॥ ४६½ ॥

ऐश्वर्येण प्रयोगेण द्वितीयां तनुमास्थितः ॥ ४७ ॥
सुनासिकेन कायेन भूत्वा चन्द्रप्रभस्तदा।
[illegible] हयशिरः शुभ्रं वेदानामालयं प्रभुः ॥ ४८ ॥

उन्होंने अपने ऐश्वर्यके योगसे दूसरा शरीर धारण किया, जो चन्द्रमाके [illegible] कान्तिमान् था। सुन्दर नासिका-वाले शरीरसे युक्त हो वे प्रभु घोड़ेके समान गर्दन और मुख [illegible] करके स्थित हुए। उनका वह [illegible] मुख सम्पूर्ण वेदोंका [illegible] [illegible] ॥ ४७-४८ ॥

तस्य मूर्धा समभवद् द्यौः सनक्षत्रतारका।
केशाश्चास्याभवन् दीर्घा रवेरंशुसमप्रभाः ॥ ४९ ॥

नक्षत्रों और तारओंसे युक्त स्वर्गलोक उनका सिर था। सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले बड़े-बड़े बाल थे ॥ ४९ ॥

कर्णावाकाशपाताले [illegible] भूतधारिणी।
[illegible] [illegible] [illegible]श्रोण्यौ भ्रुवावास्तां महोदधी ॥ ५० ॥

[illegible] और [illegible] उनके कान थे एवं समस्त भूतोंको धारण करनेवाली पृथ्वी ललाट थी। गङ्गा और सरस्वती उनके नितम्ब तथा दो समुद्र उनकी दोनों भौंहें थे ॥ ५० ॥

चक्षुषी सोमसूर्यौ ते नासा संध्या पुनः स्मृता।
ॐकारस्त्वथ संस्कारो विद्युज्जिह्वा च निर्मिता ॥ ५१ ॥

चन्द्रमा और सूर्य उनके दोनों नेत्र [illegible] नासिका [illegible] थी। ॐकार संस्कार (आभूषण) और विद्युत् जिह्वा बनी हुई थी ॥ ५१ ॥

दन्ताश्च पितरो राजन् सोमपा इति विश्रुताः।
गोलोको ब्रह्मलोकश्च ओष्ठावास्तां महात्मनः ॥ ५२ ॥

राजन्! सोमपान करनेवाले पितर उनके दाँत सुने गये हैं तथा गोलोक और ब्रह्मलोक उन महात्माके ओष्ठ थे ॥

ग्रीवा चास्याभवद् राजन् कालरात्रिर्गुणोत्तरा।
एतद्धयशिरः कृत्वा नानामूर्तिभिरावृतम् [illegible] ५३ ॥
अन्तर्दधौ स विश्वेशो विवेश च रसां प्रभुः।

नरेश्वर! तमोमयी कालरात्रि उनकी ग्रीवा थी। इस [illegible] अनेक मूर्तियोंसे आवृत हयग्रीव रूप धारण करके [illegible] जगदीश्वर श्रीहरि वहाँसे अन्तर्धान हो गये और रसातलमें [illegible] पहुँचे ॥ ५३½ ॥

रसां पुनः प्रविष्टश्च योगं परममास्थितः ॥ ५४ ॥
शैक्ष्यं स्वरं [illegible] उद्गीतं प्रासृजत् स्वरम्।

रसातलमें प्रवेश करके परम योगका आश्रय ले शिक्षा-के नियमानुसार उदात्त आदि स्वरोंसे युक्त उच्च स्वरसे सामवेदका गान करने लगे ॥ ५४½ ॥

[illegible] स्वरः सानुनादी [illegible] सर्वशः स्निग्ध एव च [illegible] ५५ ॥
बभूवान्तर्महीभूतः सर्वभूतगुणोदितः।

नाद और स्वरसे विशिष्ट सामगानकी वह सर्वथा स्निग्ध एवं मधुर ध्वनि रसातलमें सब ओर फैल गयी, जो समस्त प्राणियोंके लिये गुणकारक थी [illegible] ५५½ ॥

ततस्तावसुरौ [illegible] वेदान् समयबन्धनान् ॥ ५६ ॥
रसातले विनिक्षिप्य [illegible] शब्दस्ततो द्रुतौ।

उन दोनों असुरोंने वह शब्द सुनकर वेदोंको कालपाशसे आबद्ध करके रसातलमें फेंक दिया और स्वयं उसी ओर दौड़े जिधरसे वह ध्वनि [illegible] रही थी ॥ ५६½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राजन् देवो हयशिरोधरः ॥ ५७ ॥
जग्राह वेदानखिलान् रसातलगतान् हरिः।
प्रादाच्च ब्रह्मणे भूयस्ततः स्वां प्रकृतिं गतः ॥ ५८ [illegible]

राजन्! इसी बीचमें हयग्री[illegible] रूपधारी भगवान् श्रीहरिने रसातलमें पड़े हुए उन सम्पूर्ण वेदोंको ले लिया तथा

ब्रह्माजीको पुनः वापस दे दिया और फिर वे अपने आदि रूपमें आ गये ॥ ५७-५८ ॥

स्थापयित्वा हयशिर उदक्पूर्वे महोदधौ ।
वेदानामालयं चापि बभूवाश्वशिरास्ततः ॥ ५९ ॥

भगवान्‌ने महासागरके पूर्वोत्तरभागमें वेदोंके आश्रयभूत अपने हयग्रीव रूपकी स्थापना करके पुनः पूर्वरूप धारण कर लिया । तबसे भगवान् हयग्रीव वहीं रहने लगे ॥ ५९ ॥

अथ किंचिदपश्यन्तौ दानवौ मधुकैटभौ ।
पुनराजग्मतुस्तत्र वेगितौ पश्यतां च तौ ॥ ६० ॥
यत्र वेदा विनिक्षिप्तास्तत् स्थानं शून्यमेव च ।

इधर वेदध्वनिके स्थानपर आकर मधु और कैटभ दोनों दानवोंने जब कुछ नहीं देखा, तब वे बड़े वेगसे फिर वहीं लौट आये, जहाँ उन वेदोंको नीचे डाल रखा था । वहाँ देखनेपर उन्हें वह स्थान सूना ही दिखायी दिया ॥ ६०½ ॥

तत उत्तममास्थाय वेगं बलवतां वरौ ॥ ६१ ॥
पुनरुत्तस्थतुः शीघ्रं रसानामालयात् तदा ।
ददृशाते च पुरुषं तमेवादिकरं प्रभुम् ॥ ६२ ॥
श्वेतं चन्द्रविशुद्धाभमनिरुद्धतनौ स्थितम् ।
भूयोऽप्यमितविक्रान्तं निद्रायोगमुपागतम् ॥ ६३ ॥

तब वे बलवानोंमें श्रेष्ठ दोनों दानव पुनः उत्तम वेगका आश्रय ले रसातलसे शीघ्र ही ऊपर उठे और ऊपर आकर देखते हैं तो वे ही आदिकर्ता भगवान् पुरुषोत्तम दृष्टिगोचर हुए । जो चन्द्रमाके समान विशुद्ध, उज्ज्वल प्रभासे विभूषित, गौरवर्णके थे । वे उस समय अनिरुद्ध-विग्रहमें स्थित थे और वे अमित पराक्रमी भगवान् योगनिद्राका आश्रय लेकर सो रहे थे ॥ ६१-६३ ॥

आत्मप्रमाणरचिते अपामुपरि कल्पिते ।
शयने नागभोगाढ्ये ज्वालामालासमावृते ॥ ६४ ॥
निष्कल्मषेण सत्त्वेन सम्पन्नं रुचिरप्रभम् ।
तं दृष्ट्वा दानवेन्द्रौ तौ महाहासममुञ्चताम् ॥ ६५ ॥

पानीके ऊपर शेषनागके शरीरकी शय्या निर्मित हुई थी, जिसकी लम्बाई भगवान्‌के श्रीविग्रहके अनुरूप ही थी । वह शय्या ज्वालामालाओंसे आवृत जान पड़ती थी । उसके ऊपर विशुद्ध सत्त्वगुणसे सम्पन्न मनोहर कान्तिवाले भगवान् नारायण सो रहे थे । उन्हें देखकर वे दोनों दानवराज ठहाका मारकर जोर-जोरसे हँसने लगे ॥ ६४-६५ ॥

ऊचतुश्च समाविष्टौ रजसा तमसा च तौ ।
अयं स पुरुषः श्वेतः शेते निद्रामुपागतः ॥ ६६ ॥
अनेन नूनं वेदानां कृतमाहरणं रसात् ।
कस्यैष को नु खल्वेष किं च स्वपिति भोगवान् ॥ ६७ ॥

रजोगुण और तमोगुणसे आविष्ट हुए वे दोनों [illegible] परस्पर कहने लगे, 'यह जो श्वेतवर्णवाला पुरुष निद्रामें निमग्न होकर सो रहा है, निश्चय ही इसीने रसातलसे वेदोंका अपहरण किया है । यह किसका पुत्र है ? कौन है ? और क्यों यहाँ सर्पके शरीरकी शय्यापर सो रहा है ?' ॥ ६६-६७ ॥

इत्युच्चारितवाक्यौ तौ बोधयामासतुर्हरिम् ।
युद्धार्थिनौ हि विज्ञाय विबुद्धः पुरुषोत्तमः ॥ ६८ ॥
निरीक्ष्य चासुरेन्द्रौ तौ ततो युद्धे मनो दधे ।

इस प्रकार बातचीत करके उन दोनोंने भगवान्‌को जगाया । उन्हें युद्धके लिये उत्सुक जान भगवान् पुरुषोत्तम जाग उठे । फिर उन दोनों असुरेन्द्रोंका अच्छी तरह निरीक्षण करके उन्होंने मन-ही-मन उनके साथ युद्ध करनेका निश्चय किया ॥ ६८½ ॥

[illegible] युद्धं समभवत् तयोर्नारायणस्य वै ॥ ६९ ॥
रजस्तमोविष्टतनू तावुभौ मधुकैटभौ ।
ब्रह्मणोपचितिं कुर्वन् जघान मधुसूदनः ॥ ७० ॥

फिर तो उन दोनों असुरोंका और भगवान् नारायणका युद्ध आरम्भ हो गया । भगवान् मधुसूदनने ब्रह्माजीका मान रखनेके लिये तमोगुण और रजोगुणसे आविष्ट शरीरवाले [illegible] दोनों दैत्यों—मधु और कैटभको मार डाला ॥ ६९-७० ॥

ततस्तयोर्वधेनाशु वेदापहरणेन च ।
शोकापनयनं चक्रे ब्रह्मणः पुरुषोत्तमः ॥ ७१ ॥

[illegible] प्रकार वेदोंको वापस लाकर और [illegible]-कैटभका वध करके भगवान् पुरुषोत्तमने ब्रह्माजीका शोक दूर [illegible] दिया ॥

ततः परिवृतो ब्रह्मा हरिणा वेदसत्कृतः।
निर्ममे स तदा लोकान् कृत्स्नान् स्थावरजङ्गमान् ॥७२॥

तत्पश्चात् वेदसे सम्मानित और भगवान्‌से सुरक्षित होकर ब्रह्माजीने समस्त चराचर जगत्‌की सृष्टि की ॥ ७२ ॥

दत्त्वा पितामहायाग्र्यां मतिं लोकविसर्गिकीम्।
तत्रैवान्तर्दधे देवो यत आगतो हरिः ॥ ७३॥

ब्रह्माजीको लोक-रचनाकी श्रेष्ठ बुद्धि देकर भगवान् नारायणदेव वहीं अन्तर्धान हो गये। वे जहाँसे आये थे, वहीं चले गये ॥ ७३ ॥

तौ दानवौ हरिर्हत्वा कृत्वा हयशिरस्तनुम्।
पुनः प्रवृत्तिधर्मार्थं तामेव विदधे तनुम् ॥ ७४ ॥

श्रीहरिने इस प्रकार हयग्रीवरूप धारण करके उन दोनों दानवोंका वध किया था। उन्होंने पुनः प्रवृत्तिधर्मका प्रचार करनेके लिये ही उस शरीरको प्रकट किया था ॥ ७४ ॥

एवमेष महाभागो बभूवाश्वशिरा हरिः।
पौराणमेतत् प्रख्यातं रूपं वरदमैश्वरम् ॥ ७५ ॥

इस तरह महाभाग श्रीहरिने हयग्रीवरूप धारण किया था। भगवान्‌का यह वरदायक रूप पुरातन एवं पुराण-प्रसिद्ध है॥

यो ह्येतद् ब्राह्मणो नित्यं शृणुयाद् धारयीत वा।
न तस्याध्ययनं नाशमुपगच्छेत् कदाचन ॥ ७६ ॥

जो ब्राह्मण प्रतिदिन इस अवतार-कथाको सुनता या स्मरण करता है, उसका अध्ययन कभी नष्ट (निष्फल) नहीं होता है ॥ ७६ ॥

आराध्य तपसोग्रेण देवं हयशिरोधरम्।
पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तो देवेन पथि देशिते ॥ ७७ ॥

महादेवजीके बताये हुए मार्गपर चलकर उग्र तपस्याद्वारा भगवान् हयग्रीवकी आराधना करके पाञ्चालदेशीय गालवमुनिने वेदोंका क्रमविभाग प्राप्त किया था ॥ ७७ ॥

एतद्धयशिरो राजन्नाख्यानं तव कीर्तितम्।
पुराणं वेदसमितं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥७८॥

राजन्! तुमने जिसके लिये मुझसे पूछा था, यह हयग्रीवावतारकी वेदानुमोदित प्राचीन कथा मैंने तुम्हें सुनायी॥

यां यामिच्छेत् तनुं देवः कर्तुं कार्यविधौ क्वचित्।
तां तां कुर्याद् विकुर्वाणः स्वयमात्मानमात्मना ॥ ७९॥

परमात्मा कार्यसाधनके लिये जिस-जिस शरीरको धारण करना चाहते हैं, उसे कार्य करते समय स्वयं ही प्रकट कर लेते हैं ॥ ७९ ॥

एष वेदनिधिः श्रीमानेष वै तपसो निधिः।
एष योगश्च सांख्यं च ब्रह्म चाग्र्यं हविर्विभुः ॥ ८० ॥

ये श्रीमान् हरि वेद और तपस्याकी निधि हैं। ये ही योग, सांख्य, ब्रह्म, श्रेष्ठ हविष्य और विभु हैं ॥ ८० ॥

नारायणपरा वेदा यज्ञा नारायणात्मकाः।
तपो नारायणपरं नारायणपरा गतिः ॥ ८१ ॥

वेदोंका पर्यवसान भगवान् नारायणमें ही है। यज्ञ नारायणके ही स्वरूप हैं। तपस्याके परम फल भगवान् नारायण ही हैं तथा नारायणकी प्राप्ति ही सर्वोत्तम गति है ॥ ८१ ॥

नारायणपरं सत्यमृतं नारायणात्मकम्।
नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ॥ ८२ ॥

सत्यके परम लक्ष्य नारायण ही हैं। ऋत नारायणका ही स्वरूप है। जिसके आचरणसे पुनर्जन्मकी प्राप्ति नहीं होती, उस निवृत्तिप्रधान धर्मके भी चरम लक्ष्य भगवान् नारायण ही हैं ॥ ८२ ॥

प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः।
नारायणात्मको गन्धो भूमौ श्रेष्ठतमः स्मृतः ॥ ८३ ॥

प्रवृत्तिरूप धर्म भी नारायणका ही स्वरूप है। भूमिका श्रेष्ठतम गुण गन्ध भी नारायणमय ही है ॥ ८३ ॥

अपां चापि गुणा राजन् रसा नारायणात्मकाः।
ज्योतिषां च परं रूपं स्मृतं नारायणात्मकम् ॥ ८४ ॥

राजन्! जलका गुण रस भी नारायणका ही स्वरूप है। तेजका उत्तम गुण रूप भी नारायणमय ही है ॥ ८४ ॥

नारायणात्मकश्चापि स्पर्शो वायुगुणः स्मृतः।
नारायणात्मकश्चैव शब्द आकाशसम्भवः ॥ ८५ ॥

वायुका गुण स्पर्श भी नारायणस्वरूप ही है तथा आकाशका गुण शब्द भी नारायणमय ही है ॥ ८५ ॥

मनश्चापि ततो भूतमव्यक्तगुणलक्षणम्।
नारायणपरः कालो ज्योतिषामयनं च यत् ॥ ८६ ॥

अव्यक्त गुण एवं लक्षणवाला मन नामक भूत, काल और नक्षत्रमण्डल—ये सब नारायणके ही आश्रित हैं ॥ ८६ ॥

नारायणपरा कीर्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च देवताः।
नारायणपरं सांख्यं योगो नारायणात्मकः ॥ ८७ ॥

कीर्ति, श्री और लक्ष्मी आदि देवियाँ नारायणको ही अपना परम आश्रय मानती हैं। सांख्यका परम तात्पर्य भी नारायण ही हैं और योग भी नारायणका ही स्वरूप है ॥

कारणं पुरुषो ह्येषां प्रधानं चापि कारणम्।
स्वभावश्चैव कर्माणि दैवं येषां च कारणम् ॥ ८८ ॥

पुरुष, प्रधान, स्वभाव, कर्म तथा दैव—ये जिन वस्तुओंके कारण हैं, वे भी नारायणरूप ही हैं ॥ ८८ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधा च तथा चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ ८९ ॥
पञ्चकारणसंख्यातो निष्ठा सर्वत्र वै हरिः।

अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न-भिन्न प्रकारके करण, नाना

प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ तथा पाँचवाँ दैव—इन पाँच कारणोंके रूपमें सर्वत्र श्रीहरि ही विराजमान हैं ॥ ८९३ ॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः ॥ ९० ॥
तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः प्रभुः ।

जो लोग सर्वव्यापक हेतुओंद्वारा तत्त्वको जाननेकी इच्छा रखते हैं, उनके लिये महायोगी भगवान् नारायण हरि ही एकमात्र ज्ञातव्य तत्त्व हैं ॥ ९०३ ॥

ब्रह्मादीनां स लोकानामृषीणां च महात्मनाम् ॥ ९१ ॥
सांख्यानां योगिनां चापि यतीनामात्मवेदिनाम् ।
मनीषितं विजानाति केशवो न तु तस्य ते ॥ ९२ ॥

भगवान् केशव ब्रह्मा आदि देवताओं, सम्पूर्ण लोकों, महात्मा-ऋषियों, सांख्यवेत्ताओं, योगियों और आत्मज्ञानी यतियोंके मनकी बातें भी जानते हैं; परंतु उनके मनमें क्या है ? यह उनमेंसे किसीको पता नहीं है ॥ ९१-९२ ॥

ये केचित् सर्वलोकेषु दैवं पित्र्यं च कुर्वते ।
दानानि च प्रयच्छन्ति तप्यन्ते च तपो महत् ॥ ९३ ॥
सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वरं विधिमास्थितः ।
सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥ ९४ ॥

समस्त विश्वमें जो कोई देवताओंके लिये यज्ञ और पितरोंके लिये श्राद्ध करते हैं, दान देते हैं और बड़ी भारी तपस्या करते हैं, उन सबके आश्रय भगवान् विष्णु ही हैं । वे अपने ऐश्वर्ययोगमें स्थित रहते हैं । सम्पूर्ण प्राणियोंके आवासस्थान होनेके कारण वे 'वासुदेव' कहे जाते हैं ॥ ९३-९४ ॥

अयं हि नित्यः परमो महर्षि-
र्महाविभूतिर्गुणवर्जिताख्यः ।
गुणैश्च संयोगमुपैति शीघ्रं
कालो यथर्तावृतुसम्प्रयुक्तः ॥ ९५ ॥

ये परम महर्षि नारायण नित्य, महान् ऐश्वर्यसे युक्त और गुणोंसे रहित हैं तथापि जैसे गुणहीन काल ऋतुके गुणोंसे युक्त होता है, उसी प्रकार वे भी समय-समयपर गुणोंको स्वीकार करके उनसे संयुक्त होते हैं ॥ ९५ ॥

नैवास्य विन्दन्ति गतिं महात्मनो
न चागतिं कश्चिदिहानुपश्यति ।
ज्ञानात्मकाः सन्ति हि ये महर्षयः
पश्यन्ति नित्यं पुरुषं गुणाधिकम् ॥ ९६ ॥

उन महात्माकी गतिको कोई नहीं जानता । उनके आगमनका भी यहाँ किसीको कुछ पता नहीं चलता । जो ज्ञानस्वरूप महर्षि हैं, वे ही उन नित्य, अन्तर्यामी एवं अनन्तगुणविभूषित परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये सप्तचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाविषयक तीन सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४७ ॥

अष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

सात्वत-धर्मकी उपदेश-परम्परा तथा भगवान्‌के प्रति ऐकान्तिक भावकी महिमा

जनमेजय उवाच

अहो ह्येकान्तिनः सर्वान् प्रीणाति भगवान् हरिः ।
विधिप्रयुक्तां पूजां च गृह्णाति भगवान् स्वयम् ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! भगवान् अनन्यभावसे भजन करनेवाले सभी भक्तोंको प्रसन्न करते और उनकी विधिवत् की हुई पूजाको स्वयं ग्रहण करते हैं; यह कितने आनन्दकी बात है ॥ १ ॥

ये तु दग्धेन्धना लोके पुण्यपापविवर्जिताः ।
तेषां त्वयाभिनिर्दिष्टा पारम्पर्यागता गतिः ॥ २ ॥

संसारमें जिन लोगोंकी वासनाएँ दग्ध हो गयी हैं और जो पुण्य-पापसे रहित हो गये हैं, उन्हें परम्परासे जो गति प्राप्त होती है, उसका भी आपने वर्णन किया है ॥ २ ॥

चतुर्थ्यां चैव ते गत्यां गच्छन्ति पुरुषोत्तमम् ।
एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम् ॥ ३ ॥

जो भगवान्‌के अनन्य भक्त हैं, वे साधुपुरुष अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और सङ्कर्षणकी अपेक्षा न रखकर वासुदेवसंज्ञक चौथी गतिमें पहुँचकर भगवान् पुरुषोत्तम एवं उनके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३ ॥

नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः ।
अगत्वा गतयस्तिस्रो यद् गच्छन्त्यव्ययं हरिम् ॥ ४ ॥

निश्चय ही यह अनन्यभावसे भगवान्‌का भजनरूप धर्म श्रेष्ठ एवं श्रीनारायणको परम प्रिय है; क्योंकि इसका आश्रय लेनेवाले भक्तजन उक्त तीन गतियोंको प्राप्त न होकर सीधे चौथी गतिमें पहुँचकर अविनाशी श्रीहरिको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४ ॥

सहोपनिषदान् वेदान् ये विप्राः सम्यगास्थिताः ।
पठन्ति विधिमास्थाय ये चापि यतिधर्मिणः ॥ ५ ॥

तेभ्यो विशिष्टां जानामि गतिमेकान्तिनां नृणाम्।

जो ब्राह्मण उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका भलीभाँति आश्रय ले उनका विधिपूर्वक स्वाध्याय करते हैं तथा जो संन्यास-धर्मका पालन करनेवाले हैं, इन सबसे उत्तम गति उन्हींको प्राप्त होती है, जो भगवान्‌के अनन्य भक्त होते हैं॥ ५½ ॥

केनैष धर्मः कथितो देवेन ऋषिणापि वा ॥ ६ ॥
एकान्तिनां च का चर्या कदा चोत्पादिता विभो।
एतन्मे संशयं छिन्धि परं कौतूहलं हि मे ॥ ७ ॥

भगवन्! इस भक्तिरूप धर्मका किस देवता अथवा ऋषिने उपदेश किया है? अनन्य भक्तोंकी जीवनचर्या क्या है? और वह कबसे प्रचलित हुई? मेरे इस संशयका निवारण कीजिये। इस विषयको सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है॥

वैशम्पायन उवाच

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! जिस समय कौरव और पाण्डवोंकी सेनाएँ युद्धके लिये आमने-सामने डटी हुई थीं और अर्जुन युद्धसे अनमने हो रहे थे, उस समय स्वयं भगवान्‌ने उन्हें गीतामें इस धर्मका उपदेश दिया ॥ ८ ॥

आगतिश्च गतिश्चैव पूर्वं ते कथिता मया।
गहनो ह्येष धर्मो वै दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ ९ ॥

मैंने पहले तुमसे गति और अगतिका स्वरूप भी बताया था। यह धर्म गहन तथा अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्गम है ॥ ९ ॥

सम्मितः सामवेदेन पुरैवादियुगे कृतः।
धार्यते स्वयमीशेन राजन् नारायणेन च ॥ १० ॥

राजन्! यह धर्म सामवेदके समान है। प्राचीनकालके सत्ययुगसे ही यह प्रचलित हुआ है। स्वयं जगदीश्वर भगवान् नारायण ही इस धर्मको धारण करते हैं ॥ १० ॥

एतदर्थं महाराज पृष्टः पार्थेन नारदः।
ऋषिमध्ये महाभागः शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः॥ ११ ॥

महाराज! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने ऋषियोंके बीचमें महाभाग नारदजीसे यही विषय पूछा था। उस समय श्रीकृष्ण और भीष्म भी इस विषयको सुन रहे थे ॥ ११ ॥

गुरुणा च मयाप्येष कथितो नृपसत्तम।
यथा तत् कथितं तत्र नारदेन तथा शृणु ॥ १२ ॥

नृपश्रेष्ठ! मेरे गुरु व्यासजीने और मैंने भी यह विषय कहा था; परंतु वहाँ नारदजीने उस विषयका जैसा वर्णन किया था, उसे बताता हूँ, सुनो ॥ १२ ॥

यदासीन्मानसं जन्म नारायणमुखोद्गतम्।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल तदा नारायणः स्वयम् ॥ १३ ॥

तेन धर्मेण कृतवान् दैवं पित्र्यं च भारत।
फेनपा ऋषयश्चैव तं धर्मं प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥

भूपाल! सृष्टिके आदिमें जब भगवान् नारायणके मुखसे ब्रह्माजीका मानसिक जन्म हुआ था, उस समय साक्षात् नारायणने उन्हें इस धर्मका उपदेश किया था। भरतनन्दन! नारायणने उस धर्मसे देवताओं और पितरोंका पूजनादि कर्म किया था। फिर फेनप ऋषियोंने उस धर्मको ग्रहण किया ॥ १३-१४ ॥

वैखानसाः फेनपेभ्यो धर्मं तं प्रतिपेदिरे।
वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः सोऽन्तर्दधे पुनः ॥ १५ ॥

फेनपोंसे वैखानसोंने उस धर्मको उपलब्ध किया। उनसे सोमने उसे ग्रहण किया। तदनन्तर वह धर्म फिर लुप्त हो गया ॥

यदासीच्चाक्षुषं जन्म द्वितीयं ब्रह्मणो नृप।
तदा पितामहेनैव सोमाद् धर्मः परिश्रुतः ॥ १६ ॥
नारायणात्मको राजन् रुद्राय प्रददौ च तम्।

नरेश्वर! जब ब्रह्माजीका नेत्रजनित द्वितीय जन्म हुआ, तब उन्होंने सोमसे उस नारायण-स्वरूप धर्मको सुना था। राजन्! ब्रह्माजीने रुद्रको इसका उपदेश दिया ॥ १६½ ॥

ततो योगस्थितो रुद्रः पुरा कृतयुगे नृप ॥ १७ ॥
वालखिल्यानृषीन् सर्वान् धर्ममेतदपाठयत्।
अन्तर्दधे ततो भूयस्तस्य देवस्य मायया ॥ १८ ॥

नरेश्वर! तत्पश्चात् योगनिष्ठ रुद्रने पूर्वकालके कृतयुगमें सम्पूर्ण वालखिल्य ऋषियोंको इस धर्मसे अवगत कराया; तदनन्तर भगवान् विष्णुकी मायासे वह धर्म फिर लुप्त हो गया ॥ १७-१८ ॥

तृतीयं ब्रह्मणो जन्म यदासीद् वाचिकं महत्।
तत्रैष धर्मः सम्भूतः स्वयं नारायणान्नृप ॥ १९ ॥

राजन्! जब भगवान्‌की वाणीसे ब्रह्माजीका तीसरा महत्त्व-पूर्ण जन्म हुआ, तब फिर साक्षात् नारायणसे ही यह धर्म प्रकट हुआ ॥ १९ ॥

सुपर्णो नाम तमृषिः प्राप्तवान् पुरुषोत्तमात्।
तपसा वै सुतप्तेन दमेन नियमेन च ॥ २० ॥

सुपर्ण नामक ऋषिने इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहपूर्वक भलीभाँति तपस्या करके भगवान् पुरुषोत्तमसे इस धर्मको प्राप्त किया ॥ २० ॥

त्रिः परिक्रान्तवानेतत् सुपर्णो धर्ममुत्तमम्।
यस्मात् तस्माद् व्रतं ह्येतत् त्रिसौपर्णमिहोच्यते ॥ २१ ॥

सुपर्णने प्रतिदिन इस उत्तम धर्मकी तीन आवृत्ति की थी, इसलिये इस व्रत या धर्मको यहाँ 'त्रिसौपर्ण' कहते हैं ॥ २१ ॥

ऋग्वेदपाठपठितं व्रतमेतद्धि दुश्चरम्।
सुपर्णाच्चाप्यधिगतो धर्म एष सनातनः ॥ २२ ॥
वायुना द्विपदां श्रेष्ठ कथितो जगदायुषा।

यह दुष्कर धर्म ऋग्वेदके पाठमें स्पष्टरूपसे पढ़ा गया है। नरश्रेष्ठ ! सुपर्णसे उस सनातन धर्मको इस जगत्‌के प्राणस्वरूप वायुने प्राप्त किया ॥ २२½ ॥

वायोः सकाशात् प्राप्तश्च ऋषिभिर्विघसाशिभिः ॥ २३ ॥
ततो महोदधिश्चैव प्राप्तवान् धर्ममुत्तमम् ।
अन्तर्दधे ततो भूयो नारायणसमाहितः ॥ २४ ॥

वायुसे विघसाशी ऋषियोंने इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया। उनसे महोदधिको इस उत्तम धर्मकी प्राप्ति हुई। तत्पश्चात् यह धर्म फिर लुप्त होकर भगवान् नारायणमें विलीन हो गया ॥ २३-२४ ॥

यदा भूयः श्रवणजा सृष्टिरासीन्महात्मनः ।
ब्रह्मणः पुरुषव्याघ्र तत्र कीर्तयतः शृणु ॥ २५ ॥

पुरुषसिंह ! जब पुनः भगवान्‌के कानोंसे महात्मा ब्रह्माजीकी चौथी बार उत्पत्ति हुई, तब जिस प्रकार इस धर्मका प्रादुर्भाव हुआ था, वह बताता हूँ; सुनो ॥ २५ ॥

जगत्स्रष्टुमना देवो हरिर्नारायणः स्वयम् ।
चिन्तयामास पुरुषं जगत्सर्गकरं प्रभुम् ॥ २६ ॥

साक्षात् भगवान् नारायण हरिने जगत्‌की सृष्टि करनेकी इच्छासे एक ऐसे पुरुषका चिन्तन किया, जो संसारकी सृष्टि करनेमें पूर्णतः समर्थ हो ॥ २६ ॥

अथ चिन्तयतस्तस्य कर्णाभ्यां पुरुषः स्मृतः ।
प्रजासर्गकरो ब्रह्मा तमुवाच जगत्पतिः ॥ २७ ॥
सृज प्रजाः पुत्र सर्वा मुखतः पादतस्तथा ।

कहा जाता है, चिन्तन करते समय भगवान्‌के दोनों कानोंसे एक पुरुषका प्रादुर्भाव हुआ। वही प्रजाकी सृष्टि करनेवाला ब्रह्मा हुआ। जगदीश्वर नारायणने ब्रह्मासे कहा—'बेटा ! तुम अपने मुखसे लेकर पैरतकके अङ्गोंसे समस्त प्रजाकी सृष्टि करो ॥ २७½ ॥

श्रेयस्तव विधास्यामि बलं तेजश्च सुव्रत ॥ २८ ॥
धर्मं च मत्तो गृह्णीष्व सात्वतं नाम नामतः ।
तेन सृष्टं कृतयुगं स्थापयस्व यथाविधि ॥ २९ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुत्र ! मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा और तुम्हारे भीतर तेज एवं बलकी वृद्धि करता रहूँगा। तुम मुझसे इस सात्वत नामक धर्मको ग्रहण करो और उसके द्वारा विधिपूर्वक सत्ययुगकी सृष्टि करके उसकी स्थापना करो' ॥ २९ ॥

ततो ब्रह्मा नमश्चक्रे देवाय हरिमेधसे ।
धर्मं चाग्र्यं स जग्राह सरहस्यं ससंग्रहम् ॥ ३० ॥
आरण्यकेन सहितं नारायणमुखोद्भवम् ।

तदनन्तर ब्रह्माने भगवान् श्रीहरिको नमस्कार किया और उन्हीं नारायणदेवके मुखसे प्रकट आरण्यक, [illegible] तथा रहस्यसहित उस श्रेष्ठ धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ३०½ ॥

उपदिश्य ततो धर्मं ब्रह्मणेऽमिततेजसे ॥ ३१ ॥
त्वं कर्ता युगधर्माणां निराशीःकर्मसंज्ञितम् ।

अमिततेजस्वी ब्रह्माको इस धर्मका उपदेश देकर उस समय भगवान्‌ने उनसे कहा—'तुम निष्कामभावसे सारे कर्म करते हुए युगधर्मोंके प्रवर्तक बनो' ॥ ३१½ ॥

जगाम तमसः पारं यत्राव्यक्तं व्यवस्थितम् ॥ ३२ ॥
ततोऽथ वरदो देवो ब्रह्मा लोकपितामहः ।
असृजत् स ततो लोकान् कृत्स्नान् स्थावरजङ्गमान् ॥ ३३ ॥

यह आदेश देकर वे अज्ञानान्धकारसे परे विराजमान अपने परम अव्यक्त धामको चले गये। तदनन्तर वरदायक देवता लोकपितामह ब्रह्माने सम्पूर्ण चराचर लोकोंकी सृष्टि की ॥ ३२-३३ ॥

ततः प्रावर्तत तदा आदौ कृतयुगं शुभम् ।
ततो हि सात्वतो धर्मो व्याप्य लोकानवस्थितः ॥ ३४ ॥

फिर तो सृष्टिके आरम्भमें कल्याणकारी कृतयुगकी प्रवृत्ति हुई और तबसे सात्वतधर्म सारे संसारमें व्याप्त हो गया ॥ ३४ ॥

तेनैवाद्येन धर्मेण ब्रह्मा लोकविसर्गकृत् ।
पूजयामास देवेशं हरिं नारायणं प्रभुम् ॥ ३५ ॥

लोकस्रष्टा ब्रह्माने उसी आदिधर्मके द्वारा देवेश्वर भगवान् नारायण हरिकी आराधना की ॥ ३५ ॥

धर्मप्रतिष्ठाहेतोश्च मनुं स्वारोचिषं ततः ।
अध्यापयामास तदा लोकानां हितकाम्यया ॥ ३६ ॥

फिर इस धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये समस्त लोकोंके हितकी कामनासे उन्होंने स्वारोचिषमनुको उस समय इस धर्मका उपदेश किया ॥ ३६ ॥

ततः स्वारोचिषः पुत्रं स्वयं शङ्खपदं नृप ।
अध्यापयत् पुराव्यग्रः सर्वलोकपतिर्विभुः ॥ ३७ ॥

नरेश्वर ! उन दिनों स्वारोचिष मनु ही सम्पूर्ण लोकोंके अधिपति एवं प्रभु थे। उन्होंने शान्तभावसे पहले अपने पुत्र शङ्खपदको स्वयं इस धर्मका ज्ञान प्रदान किया ॥ ३७ ॥

ततः शङ्खपदश्चापि पुत्रमात्मजमौरसम् ।
दिशां पालं सुवर्णाभमध्यापयत भारत ।
सोऽन्तर्दधे ततो भूयः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः ॥ ३८ ॥

भारत ! फिर शङ्खपदने भी अपने औरस पुत्र दिक्पाल सुवर्णाभको इस धर्मका अध्ययन कराया। इसके बाद त्रेता युग प्राप्त होनेपर वह धर्म फिर लुप्त हो गया ॥ ३८ ॥

नासिक्ये जन्मनि पुरा ब्रह्मणः पार्थिवोत्तम ।
धर्ममेतं स्वयं देवो हरिर्नारायणः प्रभुः ॥ ३९ ॥
तज्जगादारविन्दाक्षो ब्रह्मणः पश्यतस्तदा ।

नृपश्रेष्ठ ! फिर पूर्वकालमें ब्रह्माजीने नासिकाके द्वारा

जब पाँचवाँ जन्म ग्रहण किया, तब स्वयं कमलनयन भगवान् नारायण हरिने ब्रह्माजीके सामने इस धर्मका उपदेश दिया ॥

सनत्कुमारो भगवांस्ततः प्राधीतवान् नृप ॥ ४० ॥
सनत्कुमारादपि च वीरणो वै प्रजापतिः ।
कृतादौ कुरुशार्दूल धर्ममेतदधीतवान् ॥ ४१ ॥

नरेश्वर ! तत्पश्चात् भगवान् सनत्कुमारने उनसे उस सात्वत धर्मका उपदेश ग्रहण किया । कुरुश्रेष्ठ ! सनत्कुमारसे वीरण प्रजापतिने कृतयुगके आदिमें इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ४०-४१ ॥

वीरणश्चाप्यधीत्यैनं रैभ्याय मुनये ददौ ।
रैभ्यः पुत्राय शुद्धाय सुव्रताय सुमेधसे ॥ ४२ ॥
कुक्षिनाम्ने स प्रददौ दिशां पालाय धर्मिणे ।
ततोऽप्यन्तर्दधे भूयो नारायणमुखोद्भवः ॥ ४३ ॥

वीरणने इसका अध्ययन करके रैभ्यमुनिको उपदेश दिया । रैभ्यने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ बुद्धिसे युक्त धर्मात्मा एवं शुद्ध आचार-विचारवाले अपने पुत्र दिक्पाल कुक्षिको इसका उपदेश दिया । तदनन्तर नारायणके मुखसे निकला हुआ यह सात्वत धर्म फिर लुप्त हो गया ॥४२-४३॥

अण्डजे जन्मनि पुनर्ब्रह्मणे हरियोनये ।
एष धर्मः समुद्भूतो नारायणमुखात् पुनः ॥ ४४ ॥

इसके बाद जब ब्रह्माजीका अण्डसे ■■ जन्म हुआ, तब भगवान्से उत्पन्न हुए ब्रह्माजीके लिये पुनः भगवान् नारायणके मुखसे यह धर्म प्रकट हुआ ॥ ४४ ॥

गृहीतो ब्रह्मणा राजन् प्रयुक्तश्च यथाविधि ।
अध्यापिताश्च मुनयो नाम्ना बर्हिषदो नृप ॥ ४५ ॥

राजन् ! ब्रह्माजीने इस धर्मको ग्रहण किया और वे विधिपूर्वक उसे अपने उपयोगमें लाये । नरेश्वर ! फिर उन्होंने बर्हिषद् नामवाले मुनियोंको इसका अध्ययन कराया ॥ ४५ ॥

बर्हिषद्भ्यश्च सम्प्राप्तः सामवेदान्तगं द्विजम् ।
ज्येष्ठं नामाभिविख्यातं ज्येष्ठसामव्रतो हरिः ॥ ४६ ॥

बर्हिषद् नामक ऋषियोंसे इस धर्मका उपदेश ज्येष्ठ नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मणको मिला, जो सामवेदके पारङ्गत विद्वान् थे । ज्येष्ठसामकी उपासनाका उन्होंने व्रत ले रखा था । इसलिये वे ज्येष्ठसामव्रती हरि कहलाते थे ॥ ४६ ॥

ज्येष्ठाच्चाप्यनुसंक्रान्तो राजानमविकम्पनम् ।
अन्तर्दधे ततो राजन्नेष धर्मः प्रभो हरेः ॥ ४७ ॥

राजन् ! ज्येष्ठने राजा अविकम्पनको इस धर्मका उपदेश प्राप्त हुआ । प्रभो ! तदनन्तर यह भागवत-धर्म फिर लुप्त हो गया ॥ ४७ ॥

यदिदं सप्तमं ■■ पद्मजं ब्रह्मणो नृप ।
तत्रैष धर्मः कथितः स्वयं नारायणेन ह ॥ ४८ ॥
पितामहाय शुद्धाय युगादौ लोकधारिणे ।
पितामहश्च दक्षाय धर्ममेतं पुरा ददौ ॥ ४९ ॥

नरेश्वर ! यह जो ब्रह्माजीका भगवान्के नाभिकमलसे सातवाँ जन्म हुआ है, इसमें स्वयं नारायणने ही कल्पके आरम्भमें जगद्धाता शुद्धस्वरूप ब्रह्माको इस धर्मका उपदेश दिया; फिर ब्रह्माजीने सबसे पहले प्रजापति दक्षको इस धर्मकी शिक्षा दी ॥ ४८-४९ ॥

ततो ज्येष्ठे ■ दौहित्रे प्रादाद् दक्षो नृपोत्तम ।
आदित्ये सवितुर्ज्येष्ठे विवस्वाञ्जगृहे ततः ॥ ५० ॥

नृपश्रेष्ठ ! इसके बाद दक्षने अपने ज्येष्ठ दौहित्र—अदितिके सवितासे भी बड़े पुत्रको इस धर्मका उपदेश दिया । उन्हींसे विवस्वान् (सूर्य) ने इस धर्मका उपदेश ग्रहण किया ॥ ५० ॥

त्रेतायुगादौ ■ ततो विवस्वान् मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ॥ ५१ ॥

फिर त्रेतायुगके आरम्भमें सूर्यने मनुको और मनुने सम्पूर्ण जगत्के कल्याणके लिये अपने पुत्र इक्ष्वाकुको इसका उपदेश दिया ॥ ५१ ॥

इक्ष्वाकुणा ■ कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ।
गमिष्यति क्षयान्ते ■ पुनर्नारायणं नृप ॥ ५२ ॥

इक्ष्वाकुके उपदेशसे इस सात्वत धर्मका सम्पूर्ण जगत्में ■■ और प्रसार हो गया । नरेश्वर ! कल्पान्तमें यह धर्म फिर भगवान् नारायणको ही प्राप्त हो जायगा ॥ ५२ ॥

यतीनां चापि यो धर्मः ■ ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥ ५३ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यतियोंका जो धर्म है, वह मैंने पहले ही तुम्हें हरिगीतामें संक्षेप शैलीसे ■■ दिया है ॥ ५३ ॥

नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः ।
एष धर्मो जगन्नाथात् साक्षान्नारायणान्नृप ॥ ५४ ॥

महाराज ! नारदजीने रहस्य और संग्रहसहित इस धर्मको साक्षात् जगदीश्वर नारायणसे भलीभाँति प्राप्त किया था ॥५४॥

एवमेष महान् धर्म आद्यो राजन् सनातनः ।
दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च सात्वतैर्धार्यते सदा ॥ ५५ ॥

राजन् ! इस प्रकार यह आदि एवं महान् धर्म सनातन-कालसे चला आ रहा है । यह दूसरोंके लिये दुर्जेय और दुष्कर है । भगवान्के भक्त सदा ■ इस धर्मको धारण करते हैं ।५५।

धर्मज्ञानेन चैतेन सुप्रयुक्तेन कर्मणा ।
अहिंसाधर्मयुक्तेन प्रीयते हरिरीश्वरः ॥ ५६ ॥

इस धर्मको जाननेसे और अहिंसाभावसे ■■ ■■

सात्वतधर्मको क्रियारूपसे आचरणमें लानेसे जगदीश्वर श्रीहरि प्रसन्न होते हैं ॥ ५६ ॥

एकव्यूहविभागो वा क्वचिद् द्विव्यूहसंज्ञितः ।
त्रिव्यूहश्चापि संख्यातश्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते ॥ ५७ ॥

भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कभी केवल एक व्यूह—भगवान् वासुदेवकी; कभी दो व्यूह-वासुदेव और सङ्कर्षणकी, कभी प्रद्युम्नसहित तीन व्यूहोंकी और कभी अनिरुद्धसहित चार व्यूहोंकी उपासना देखी जाती है ॥ ५७ ॥

हरिरेव हि क्षेत्रज्ञो निर्ममो निष्कलस्तथा ।
जीवश्च सर्वभूतेषु पञ्चभूतगुणातिगः ॥ ५८ ॥

भगवान् श्रीहरि ही क्षेत्रज्ञ हैं, ममतारहित और निष्कल हैं । ये ही सम्पूर्ण भूतोंमें पाञ्चभौतिक गुणोंसे अतीत जीवात्मा-रूपमें विराजमान हैं ॥ ५८ ॥

मनश्च प्रथितं राजन् पञ्चेन्द्रियसमीरणम् ।
एष लोकविधिर्धीमानेष लोकविसर्गकृत् ॥ ५९ ॥

राजन् ! पाँचों इन्द्रियोंका प्रेरक जो विख्यात मन है, वह भी श्रीहरि ही हैं । ये बुद्धिमान् श्रीहरि ही सम्पूर्ण जगत्‌के प्रेरक और स्रष्टा हैं ॥ ५९ ॥

अकर्ता चैव कर्ता च कार्यं कारणमेव च ।
यथेच्छति तथा राजन् क्रीडते पुरुषोऽव्ययः ॥ ६० ॥

नरेश्वर ! ये अविनाशी पुरुष नारायण ही अकर्ता, कर्ता, कार्य तथा कारण हैं । ये जैसा चाहते हैं, वैसे ही क्रीडा करते हैं ॥ ६० ॥

[illegible] एकान्तधर्मस्ते कीर्तितो नृपसत्तम ।
[illegible] गुरुप्रसादेन दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः ॥ ६१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! यह मैंने तुमसे गुरुकृपासे ज्ञात हुए अनन्य भक्तिरूप धर्मका वर्णन किया है । जिनका अन्तःकरण पवित्र नहीं है, ऐसे लोगोंके लिये इस धर्मका ज्ञान होना बहुत ही कठिन है ॥ ६१ ॥

एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप ।
यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत् स्यात् कुरुनन्दन ॥ ६२ ॥
अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः ।
भवेत् कृतयुगप्राप्तिराशीःकर्मविवर्जिता ॥ ६३ ॥

नरेश्वर ! भगवान्‌के अनन्य भक्त दुर्लभ हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष बहुत नहीं हुआ करते । कुरुनन्दन ! यदि सम्पूर्ण भूतोंके हितमें तत्पर रहनेवाले, आत्मज्ञानी, अहिंसक एवं अनन्य भक्तोंसे जगत् भर जाय तो यहाँ सर्वत्र सत्ययुग ही [illegible] जाय और कहीं भी सकाम कर्मोंका अनुष्ठान न हो ॥ ६२-६३ ॥

एवं स भगवान् व्यासो गुरुर्मम विशाम्पते ।
कथयामास धर्मज्ञो धर्मराज्ञे द्विजोत्तमः ॥ ६४ ॥
ऋषीणां संनिधौ राजञ्शृण्वतोः कृष्णभीष्मयोः ।

प्रजानाथ ! इस प्रकार मेरे धर्मज्ञ गुरु द्विजश्रेष्ठ भगवान् व्यासने श्रीकृष्ण और भीष्मके सुनते हुए ऋषि-मुनियोंके समीप धर्मराजको इस धर्मका उपदेश किया था ॥ ६४½ ॥

तस्याप्यकथयत् पूर्वं नारदः सुमहातपाः ॥ ६५ ॥
देवं परमकं ब्रह्म श्वेतं चन्द्राभमच्युतम् ।
यत्र चैकान्तिनो यान्ति नारायणपरायणाः ॥ ६६ ॥

राजन् ! उनसे भी प्राचीनकालमें महातपस्वी नारदजीने इसका प्रतिपादन किया [illegible] । नारायणकी आराधनामें लगे हुए अनन्य भक्त चन्द्रमाके समान गौरवर्णवाले उन्हीं परब्रह्मस्वरूप भगवान् अच्युतको प्राप्त होते हैं ॥६५-६६½॥

जनमेजय उवाच

एवं बहुविधं धर्मं प्रतिबुद्धैर्निषेवितम् ।
[illegible] कुर्वन्ति कथं विप्रा अन्ये नानाव्रते स्थिताः ॥ ६७ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! इस प्रकार ज्ञानी पुरुषों-द्वारा सेवित जो यह अनेक सद्गुणोंसे सम्पन्न धर्म है, इसे नाना प्रकारके व्रतोंमें लगे हुए दूसरे [illegible] क्यों आचरणमें नहीं लाते हैं ? ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तिस्रः प्रकृतयो राजन् देहबन्धेषु निर्मिताः ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चैव भारत ॥ ६८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतनन्दन ! शरीरके बन्धनमें बँधे हुए जो जीव हैं, उनके लिये ईश्वरने तीन प्रकारकी प्रकृतियाँ बनायी हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी ॥ ६८ ॥

देहबन्धेषु पुरुषः श्रेष्ठः कुरुकुलोद्वह ।
सात्त्विकः पुरुषव्याघ्र भवेन्मोक्षाय निश्चितः ॥ ६९ ॥

पुरुषसिंह ! कुरुकुलधुरंधर वीर ! इन तीन प्रकृतियों-वाले जीवोंमें जो सात्त्विकी प्रकृतिसे युक्त सात्त्विक पुरुष है, वही श्रेष्ठ है; क्योंकि वही मोक्षका निश्चित अधिकारी है ॥ ६९ ॥

अत्रापि स विजानाति पुरुषं ब्रह्मवित्तमम् ।
नारायणपरो मोक्षस्ततो वै सात्त्विकः स्मृतः ॥ ७० ॥

यहाँ भी वह इस बातको अच्छी तरह जानता है कि परमपुरुष नारायण सर्वोत्तम वेदवेत्ता हैं और मोक्षके परम आश्रय भगवान् नारायण ही हैं, इसीलिये वह मनुष्य सात्त्विक माना गया है ॥ ७० ॥

मनीषितं च प्राप्नोति चिन्तयन् पुरुषोत्तमम् ।
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः ॥ ७१ ॥

भगवान् नारायणके आश्रित उनका अनन्य भक्त

अपने मनके अभीष्ट भगवान् पुरुषोत्तमका निरन्तर चिन्तन करता हुआ उनको [illegible] कर लेता है ॥ ७१ ॥

मनीषिणो हि ये केचिद् यतयो मोक्षधर्मिणः ।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥ ७२ ॥

मोक्षधर्ममें तत्पर रहनेवाले जो कोई भी मनीषी यति हैं तथा जिनकी तृष्णाका सर्वथा नाश हो गया है, उनके योग-क्षेमका भार स्वयं भगवान् नारायण वहन करते हैं ॥ ७२ ॥

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः ।
सात्त्विकस्तु [illegible] विज्ञेयो भवेन्मोक्षे च निश्चितः ॥ ७३ ॥

जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए जिस पुरुषको भगवान् मधुसूदन अपनी कृपा दृष्टिसे देख लेते हैं, उसे सात्त्विक जानना चाहिये । वह मोक्षका सुनिश्चित अधिकारी हो जाता है ॥ ७३ ॥

सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः ।
नारायणात्मके मोक्षे ततो यान्ति परां गतिम् ॥ ७४ ॥

एकान्त भक्तोंद्वारा सेवित धर्म सांख्य और योगके तुल्य है । उसके सेवनसे मनुष्य नारायणस्वरूप मोक्षमें ही [illegible] गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ७४ ॥

नारायणेन दृष्टस्तु प्रतिबुद्धो भवेत् पुमान् ।
एवमात्मेच्छया राजन् प्रतिबुद्धो न जायते ॥ ७५ ॥

राजन् ! जिसपर भगवान् नारायणकी कृपादृष्टि हो जाती है, वह पुरुष ही ज्ञानवान् होता है । इस तरह अपनी इच्छा-मात्रसे कोई ज्ञानी नहीं होता ॥ ७५ ॥

राजसी तामसी चैव व्यामिश्रे प्रकृती स्मृते ।
तदात्मकं हि पुरुषं जायमानं विशाम्पते ॥ ७६ ॥
प्रवृत्तिलक्षणैर्युक्तं नावेक्षति हरिः स्वयम् ।

प्रजानाथ ! राजसी और तामसी—ये दो प्रकृतियाँ दोषोंसे मिश्रित होती हैं । जो पुरुष राजस और तामस प्रकृतिसे युक्त होकर जन्म धारण [illegible] है, वह प्रायः सकाम कर्ममें प्रवृत्तिके लक्षणोंसे युक्त होता है । [illegible] भगवान् श्रीहरि उसकी ओर नहीं देखते ॥ ७६½ ॥

पश्यत्येनं जायमानं [illegible] लोकपितामहः ॥ ७७ ॥
रजसा [illegible] [illegible] मानसं समभिप्लुतम् ।

ऐसा पुरुष जब जन्म लेता है, तब उसपर लोकपितामह ब्रह्माकी कृपादृष्टि होती है (और वे उसे प्रवृत्तिमार्गमें नियुक्त कर देते हैं) । उसका मन रजोगुण और तमोगुणके प्रवाहमें डूबा रहता है ॥ ७७½ ॥

कामं देवा ऋषयश्च सत्त्वस्था नृपसत्तम ॥ ७८ ॥
हीनाः सत्त्वेन शुद्धेन ततो वैकारिकाः स्मृताः ।

नृपश्रेष्ठ ! देवता और ऋषि कामनायुक्त सत्त्वगुणमें [illegible] होते हैं । उनमें भी शुद्ध सत्त्वगुणकी कमी होती है, इसलिये वे वैकारिक माने जाते हैं ॥ ७८½ ॥

जनमेजय उवाच

कथं वैकारिको गच्छेत् पुरुषः पुरुषोत्तमम् ॥ ७९ ॥
वद सर्वं यथादृष्टं प्रवृत्तिं च यथाक्रमम् ।

जनमेजयने पूछा—मुने ! वैकारिक पुरुष भगवान् पुरुषोत्तमको कैसे [illegible] कर [illegible] है ? यह [illegible] आप अपने अनुभवके अनुसार बताइये और उसकी प्रवृत्तिका भी क्रमशः वर्णन कीजिये ॥ ७९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

सुसूक्ष्मं सत्त्वसंयुक्तं संयुक्तं त्रिभिरक्षरैः ॥ ८० ॥
पुरुषः पुरुषं गच्छेन्निष्क्रियः पञ्चविंशकः ।

वैशम्पायनजीने कहा—जो [illegible] सूक्ष्म, सत्त्व-गुणसे संयुक्त तथा अकार, उकार और मकार—इन तीन अक्षरोंसे युक्त प्रणवस्वरूप है, उस परम पुरुष परमात्माको पचीसवाँ तत्त्वरूप पुरुष (जीवात्मा) कर्तृत्वके अहंकारसे शून्य होनेपर प्राप्त करता है ॥ ८०½ ॥

एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च ॥ ८१ ॥
परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते ।
एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार आत्मा और अनात्माका विवेक करानेवाला सांख्य, चित्तवृत्तियोंके निरोधका उपदेश देनेवाला योग, जीव और ब्रह्मके अभेदका बोध करानेवाला वेदोंका आरण्यक-भाग (उपनिषद्) तथा भक्तिमार्गका प्रतिपादन करनेवाला पाञ्चरात्र आगम—ये [illegible] शास्त्र एक लक्ष्यके साधक होनेके कारण एक बताये जाते हैं । ये सब एक-दूसरेके अङ्ग हैं । सारे कर्मोंको भगवान् नारायणके चरणारविन्दोंमें समर्पित कर देना यह एकान्त भक्तोंका धर्म है ॥ ८१-८२ ॥

यथा समुद्रात् प्रसृता जलौघा-
स्तमेव राजन् पुनराविशन्ति ।
इमे [illegible] ज्ञानमहाजलौघा
नारायणं वै पुनराविशन्ति ॥ ८३ ॥

राजन् ! जैसे सारे जल-प्रवाह समुद्रसे ही प्रसारको [illegible] होते हैं और फिर उस समुद्रमें ही आकर मिल जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी जलके महान् प्रवाह नारायणसे ही प्रकट होकर फिर उन्हींमें लीन हो जाते हैं ॥ ८३ ॥

एष ते कथितो धर्मः [illegible] कुरुनन्दन ।
कुरुष्वैनं यथान्यायं यदि शक्नोऽसि [illegible] ॥ ८४ ॥

भरतभूषण ! कुरुनन्दन ! यह तुम्हें सात्वत-धर्मका

परिचय दिया गया है। यदि तुमसे हो सके तो यथोचित-रूपसे इस धर्मका पालन करो ॥ ८४ ॥

एवं हि स महाभागो नारदो गुरवे मम।
श्वेतानां यतिनां चाह एकान्तगतिमव्ययाम् ॥ ८५ ॥

इस प्रकार महाभाग नारदजीने मेरे गुरु व्यासजीसे श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थों और काषायवस्त्रधारी संन्यासियोंकी अविनश्वर एकान्त गतिका वर्णन किया है ॥ ८५ ॥

व्यासश्चाकथयत् प्रीत्या धर्मपुत्राय धीमते।
स एवायं मया तुभ्यमाख्यातः प्रसृतो गुरोः ॥ ८६ ॥

व्यासजीने भी बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिरको प्रेमपूर्वक इस धर्मका उपदेश दिया। गुरुके मुखसे प्रकट हुए उसी धर्मका मैंने यहाँ तुम्हारे लिये वर्णन किया है ॥ ८६ ॥

इत्थं हि दुश्चरो धर्म एष पार्थिवसत्तम।
यथैव त्वं तथैवान्ये भवन्तीह विमोहिताः ॥ ८७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! इस तरह यह धर्म दुष्कर है। तुम्हारी तरह दूसरे लोग भी इसके विषयमें मोहित हो जाते हैं ॥ ८७ ॥

कृष्ण एव हि लोकानां भावनो मोहनस्तथा।
संहारकारकश्चैव कारणं च विशांपते ॥ ८८ ॥

प्रजानाथ ! भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण लोकोंके पालक, मोहक, संहारक तथा कारण हैं (अतः तुम उन्हींका भक्ति-भावसे भजन करो।) ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये ऐकान्तिकभावेऽष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३४८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमा एवं उनके प्रति ऐकान्तिकभावविषयक तीन सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

व्यासजीका सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान् नारायणके अंशसे सरस्वतीपुत्र अपान्तरतमाके रूपमें जन्म होनेकी और उनके प्रभावकी कथा

जनमेजय उवाच

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदारण्यकमेव च।
ज्ञानान्येतानि ब्रह्मर्षे लोकेषु प्रचरन्ति ह ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मर्षे ! सांख्य, योग, पाञ्चरात्र और वेदोंके आरण्यकभाग—ये चार प्रकारके ज्ञान सम्पूर्ण लोकोंमें प्रचलित हैं ॥ १ ॥

किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वा मुने।
प्रब्रूहि वै मया पृष्टः प्रवृत्तिं च यथाक्रमम् ॥ २ ॥

मुने ! क्या ये सब एक ही लक्ष्यका बोध करानेवाले हैं अथवा पृथक्-पृथक् लक्ष्यके प्रतिपादक हैं ? मेरे इस प्रश्नका आप यथावत् उत्तर दें और प्रवृत्तिका भी क्रमशः वर्णन करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

जज्ञे बहुज्ञं परमत्युदारं
यं द्वीपमध्ये सुतमात्मयोगात्।
पराशरात् सत्यवती महर्षिं
तस्मै नमोऽज्ञानतमोनुदाय ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! देवी सत्यवतीने यमुनातटवर्ती द्वीपमें पराशर मुनिसे अपने शरीरका संयोग करके जिन बहुज्ञ और अत्यन्त उदार महर्षिको पुत्ररूपसे [illegible] किया था, अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करनेवाले ज्ञानसूर्यस्वरूप उन गुरुदेव व्यासजीको मेरा नमस्कार है ॥ ३ ॥

पितामहाद् यं प्रवदन्ति [illegible]
महर्षिमार्षेयविभूतियुक्तम्।
नारायणस्यांशजमेकपुत्रं
द्वैपायनं वेद महानिधानम् ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीके आदिपुरुष जो नारायण हैं, उनके स्वरूपभूत जिन महर्षिको पूर्वपुरुष नारायणसे छठी पीढ़ीमें* उत्पन्न बताते हैं, जो ऋषियोंके सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं, नारायणके अंशसे उत्पन्न हैं, अपने पिताके एक ही पुत्र हैं और द्वीपमें उत्पन्न होनेके कारण द्वैपायन कहलाते हैं, उन वेदके महान् भण्डाररूप व्यासजीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥

तमादिकालेषु महाविभूति-
र्नारायणो ब्रह्ममहानिधानम्।
ससर्ज पुत्रार्थमुदारतेजा
व्यासं महात्मानमजं पुराणम् ॥ ५ ॥

प्राचीनकालमें उदार तेजस्वी, महान् वैभवसम्पन्न भगवान् नारायणने वैदिक ज्ञानकी महानिधिरूप महात्मा अजन्मा और पुराणपुरुष व्यासजीको अपने पुत्ररूपसे उत्पन्न किया था ॥ ५ ॥

---

* १. नारायण, २. ब्रह्मा, ३. वसिष्ठ, ४. शक्ति, ५. पराशर, ६. व्यास—इस प्रकार व्यासजी छठी पीढ़ीमें [illegible] हुए हैं।

जनमेजय उवाच

त्वयैव कथितं पूर्वं सम्भवे द्विजसत्तम।
वसिष्ठस्य सुतः शक्तिः शक्तिपुत्रः पराशरः॥ ६ ॥
पराशरस्य दायादः कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
भूयो नारायणसुतं त्वमेवैनं प्रभाषसे ॥ ७ ॥

जनमेजयने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपहीने पहले आदिपर्वकी कथा सुनाते समय यह कहा [illegible] कि वसिष्ठके पुत्र शक्ति, शक्तिके पुत्र पराशर और पराशरके पुत्र मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास हैं और [illegible] पुनः आप इन्हें नारायण-[illegible] पुत्र बतला रहे हैं ॥ ६-७ ॥

किमतः पूर्वजं [illegible] व्यासस्यामिततेजसः।
कथयस्वोत्तममते [illegible] नारायणोद्भवम् ॥ ८ ॥

श्रेष्ठ बुद्धिवाले मुनीश्वर ! [illegible] अमिततेजस्वी व्यासजीका इससे पहले भी कोई जन्म हुआ था ? नारायणसे व्यासजीका जन्म कब और कैसे हुआ ? [illegible] बतानेकी कृपा करें ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

वेदार्थान् वेत्तुकामस्य धर्मिष्ठस्य तपोनिधेः।
गुरोर्मे ज्ञाननिष्ठस्य हिमवत्पाद आसतः॥ ९ ॥
कृत्वा भारतमाख्यानं तपःश्रान्तस्य धीमतः।
शुश्रूषां तत्परा राजन् कृतवन्तो वयं तदा ॥ १० ॥
सुमन्तुर्जैमिनिश्चैव पैलश्च सुदृढव्रतः।
अहं चतुर्थः शिष्यो वै शुको व्यासात्मजस्तथा ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! मेरे धर्मिष्ठ गुरु वेदव्यास तपस्याकी निधि और ज्ञाननिष्ठ हैं । पहले वे वेदोंके अर्थका वास्तविक [illegible] [illegible] करनेकी इच्छासे हिमालयके एक शिखरपर रहते थे । वे महाभारत नामक इतिहासकी रचना करके तपस्या करते-करते थक गये थे । [illegible] दिनों इन बुद्धिमान् गुरुकी सेवामें तत्पर हम पाँच शिष्य उनके [illegible] रहते थे । सुमन्तु, जैमिनि, दृढतापूर्वक [illegible] धर्मका पालन करनेवाले पैल, चौथा मैं और पाँचवें व्यासपुत्र शुकदेव थे ॥ ९—११ ॥

एभिः परिवृतो [illegible] शिष्यैः पञ्चभिरुत्तमैः।
शुशुभे हिमवत्पादे भूतैर्भूतपतिर्यथा ॥ १२ ॥

इन पाँच [illegible] शिष्योंसे [illegible] हुए व्यासजी हिमालयके शिखरपर भूतोंसे परिवेष्टित भूतनाथ भगवान् शिवके [illegible] शोभा पाते थे ॥ १२ ॥

वेदानावर्तयन् [illegible] भारतार्थांश्च सर्वशः।
तमेकमनसं दान्तं युक्ता वयमुपास्महे ॥ १३ ॥

वहाँ [illegible]जी अङ्गोंसहित सब वेदों तथा महाभारतके अर्थोंकी आवृत्ति करते और हम [illegible] शिष्योंको पढ़ाते थे एवं हम सब लोग सदा उद्यत रहकर उन एकाग्रचित्त एवं जितेन्द्रिय गुरुकी सेवा करते थे ॥ १३ ॥

कथान्तरेऽथ कस्मिंश्चित् पृष्टोऽस्माभिर्द्विजोत्तमः।
वेदार्थान् भारतार्थां[illegible] जन्म नारायणात् तथा ॥ १४ ॥

एक दिन किसी बातचीतके प्रसङ्गमें हमलोगोंने द्विजश्रेष्ठ व्यासजीसे वेदों और महाभारतका अर्थ तथा भगवान् नारायणसे उनके जन्म होनेका वृत्तान्त पूछा ॥ १४ ॥

स पूर्वमुक्त्वा वेदार्थान् भारतार्थांश्च तत्त्ववित्।
नारायणादिदं जन्म व्याहर्तुमुपचक्रमे [illegible] १५ ॥

तत्त्वज्ञानी व्यासजीने पहले हमें वेदों और महाभारतका अर्थ बताया । उसके बाद भगवान् नारायणसे अपने जन्मका वृत्तान्त इस प्रकार बताना आरम्भ किया—॥ १५ [illegible]

शृणुध्वमाख्यानवरमिदमार्षेयमुत्तमम् [illegible]
आदिकालोद्भवं विप्रास्तपसाधिगतं [illegible] [illegible] १६ ॥

'विप्रगण ! ऋषिसम्बन्धी यह उत्तम आख्यान सुनो । प्राचीन कालका यह वृत्तान्त मैंने तपस्याके द्वारा जाना है ॥ १६ ॥

प्राप्ते प्रजाविसर्गे वै सप्तमे पद्मसम्भवे।
नारायणो महायोगी शुभाशुभविवर्जितः ॥ १७ ॥
ससृजे नाभितः पूर्वं ब्रह्माणममितप्रभः।
[illegible] स प्रादुरभवदथैनं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

[illegible] सातवें कल्पके आरम्भमें सातवीं बार ब्रह्माजीके कमलसे जन्म-ग्रहण करनेका अवसर आया, तब शुभ और अशुभसे रहित अमिततेजस्वी महायोगी भगवान् नारायणने सबसे पहले अपने नाभिकमलसे ब्रह्माजीको [illegible] किया । जब ब्रह्माजी प्रकट हो गये, तब उनसे भगवान्ने यह बात कही—॥ १७-१८ ॥

मम त्वं नाभितो [illegible] प्रजासर्गकरः प्रभुः।
सृज प्रजास्त्वं विविधा [illegible] सजडपण्डिताः ॥ १९ [illegible]

'ब्रह्मन् ! तुम मेरी नाभिसे प्रजावर्गकी सृष्टि करनेके लिये [illegible] हुए हो और इस कार्यमें समर्थ हो; अतः जड-चेतनसहित नाना प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करो' ॥ १९ ॥

[illegible] एवमुक्तो विमुखश्चिन्ताव्याकुलमानसः।
[illegible] वरदं देवमुवाच हरिमीश्वरम् ॥ २० ॥

'भगवान्के इस प्रकार आदेश देनेपर ब्रह्माजीका [illegible] चिन्तासे व्याकुल हो [illegible] । वे सृष्टिकार्यसे विमुख हो वरदायक देवता सर्वेश्वर श्रीहरिको [illegible] करके इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

का शक्तिर्मम देवेश प्रजाः स्रष्टुं नमोऽस्तु ते।
अप्रज्ञावानहं देव विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ २१ ॥

''देवेश्वर ! मुझमें प्रजाकी [illegible] करनेकी [illegible] शक्ति है ! आपको नमस्कार है । देव ! [illegible] सृष्टिविषयक बुद्धिसे सर्वथा

रहित हूँ—यह जानकर अब आपको जो उचित जान पड़े, वह कीजिये' ॥ २१ ॥

स एवमुक्तो भगवान् भूत्वाथान्तर्हितस्ततः।
चिन्तयामास देवेशो बुद्धिं बुद्धिमतां वरः ॥ २२ ॥

'ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ देवेश्वर भगवान् विष्णुने अदृश्य होकर बुद्धिका चिन्तन किया ॥ २२ ॥

स्वरूपिणी ततो बुद्धिरुपतस्थे हरिं प्रभुम्।
योगेन चैनां निर्योगः स्वयं नियुयुजे तदा ॥ २३ ॥

'उनके चिन्तन करते ही मूर्तिमती बुद्धि उन सामर्थ्यशाली श्रीहरिकी सेवामें उपस्थित हो गयी। तदनन्तर जिनपर दूसरोंका वश नहीं चलता, उन भगवान् नारायणने स्वयं ही [illegible] बुद्धिको उस समय योगशक्तिसे सम्पन्न [illegible] दिया। २३।

स तामैश्वर्ययोगस्थां बुद्धिं गतिमतीं सतीम्।
उवाच वचनं देवो बुद्धिं वै प्रभुरव्ययः ॥ २४ ॥

'अविनाशी प्रभु नारायणदेवने ऐश्वर्ययोगमें स्थित हुई [illegible] सती-साध्वी प्रगतिशील बुद्धिसे कहा—॥ २४ ॥

ब्रह्माणं प्रविशस्वेति लोकसृष्ट्यर्थसिद्धये।
ततस्तमीश्वरादिष्टा बुद्धिः क्षिप्रं विवेश सा ॥ २५ ॥

''तुम संसारकी सृष्टिरूप अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये ब्रह्माजीके भीतर प्रवेश करो।' ईश्वरका यह आदेश पाकर बुद्धि शीघ्र ही ब्रह्माजीमें प्रवेश कर गयी ॥ २५ ॥

अथैनं बुद्धिसंयुक्तं पुनः स ददृशे हरिः।
भूयश्चैव वचः प्राह सृजेमा विविधाः प्रजाः ॥ २६ ॥

'जब ब्रह्माजी सृष्टिविषयक बुद्धिसे संयुक्त हो गये, [illegible] श्रीहरिने पुनः उनकी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखा और फिर इस प्रकार कहा—'अब तुम इन नाना प्रकारकी प्रजाओंकी सृष्टि करो' ॥ २६ ॥

बाढमित्येव कृत्वासौ यथाऽऽज्ञां शिरसा हरेः।
एवमुक्त्वा स भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ २७ ॥

'तब 'बहुत अच्छा' कहकर उन्होंने श्रीहरिकी [illegible] शिरोधार्य की। इस प्रकार उन्हें सृष्टिका आदेश देकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २७ ॥

प्राप चैनं मुहूर्तेन संस्थानं देवसंज्ञितम्।
तां चैव प्रकृतिं प्राप्य एकीभावगतोऽभवत् ॥ २८ ॥

'वे एक ही मुहूर्तमें अपने देवधाममें [illegible] पहुँचे और अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो उसके साथ एकीभूत हो गये ॥ २८ ॥

[illegible] बुद्धिरभवत् पुनरन्या तदा किल।
सृष्टाः प्रजा इमाः सर्वा ब्रह्मणा परमेष्ठिना ॥ २९ ॥

'तदनन्तर कुछ कालके बाद भगवान्‌के मनमें फिर दूसरा विचार उठा। वे सोचने लगे, परमेष्ठी ब्रह्माने इन समस्त प्रजाओंकी सृष्टि तो कर दी ॥ २९ ॥

दैत्यदानवगन्धर्वरक्षोगणसमाकुला।
जाता हीयं वसुमती भाराक्रान्ता तपस्विनी ॥ ३० ॥

'किंतु दैत्य, दानव, गन्धर्व और राक्षसोंसे व्याप्त हुई यह तपस्विनी पृथ्वी भारसे पीड़ित हो गयी है ॥ ३० ॥

बहवो बलिनः पृथ्व्यां दैत्यदानवराक्षसाः।
भविष्यन्ति तपोयुक्ता वरान् प्राप्स्यन्ति चोत्तमान् ॥ ३१ ॥

'इस पृथ्वीपर बहुत-से ऐसे बलवान् दैत्य, दानव और राक्षस होंगे, जो तपस्यामें प्रवृत्त हो उत्तमोत्तम वर प्राप्त करेंगे ॥

अवश्यमेव तैः सर्वैर्वरदानेन दर्पितैः।
बाधितव्याः सुरगणा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ ३२ ॥

'वरदानसे घमंडमें आकर वे [illegible] दानव निश्चय ही देवसमूहों तथा तपोधन ऋषियोंको बाधा पहुँचायेंगे ॥ ३२ ॥

तत्र न्याय्यमिदं कर्तुं भारावतरणं मया।
[illegible] नानासमुद्भूतैर्वसुधायां यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

'अतः अब मुझे पृथ्वीपर क्रमशः नाना अवतार धारण करके इसके भारको उतारना उचित होगा ॥ ३३ ॥

निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण च।
इयं तपस्विनी सत्या धारयिष्यति मेदिनी ॥ ३४ ॥

'पापियोंको दण्ड देने और साधु पुरुषोंपर अनुग्रह करनेसे यह तपस्विनी सत्यस्वरूपा पृथ्वी बलसे टिकी रह सकेगी ॥ ३४ ॥

[illegible] शेषा हि ध्रियते पातालस्थेन भोगिना।
मया धृता धारयति जगद् विश्वं चराचरम् ॥ ३५ ॥

'मैं पातालमें शेषनागके रूपसे रहकर इस पृथ्वीको धारण करता हूँ और मेरेद्वारा धारित होकर यह सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को धारण करती है ॥ ३५ ॥

तस्मात् पृथ्व्याः परित्राणं करिष्ये सम्भवं गतः।
एवं स चिन्तयित्वा तु भगवान् मधुसूदनः ॥ ३६ ॥
रूपाण्यनेकान्यसृजत् प्रादुर्भावे भवाय सः।
वाराहं नारसिंहं च वामनं मानुषं तथा ॥ ३७ ॥
एभिर्मया निहन्तव्या दुर्विनीताः सुरारयः।

'इसलिये मैं अवतार लेकर इस पृथ्वीकी रक्षा अवश्य करूँगा। ऐसा सोच-विचारकर भगवान् मधुसूदनने जगत्‌के लिये अवतार ग्रहण करनेके निमित्त अपने अनेक रूपोंकी सृष्टि की अर्थात् वाराह, नरसिंह, वामन एवं मनुष्यरूपोंका स्मरण किया। उन्होंने यह निश्चय किया था कि मुझे इन अवतारोंद्वारा उद्दण्ड दैत्योंका वध करना है ॥ ३६-३७½ ॥

[illegible] भूयो जगत्स्रष्टा भोःशब्देनानुनादयन् ॥ ३८ ॥

सरस्वतीमुच्चचार तत्र सारस्वतोऽभवत्।
अपान्तरतमा नाम सुतो वाक्सम्भवः प्रभुः ॥ ३९ ॥

'तदनन्तर सत्यस्रष्टा श्रीहरिने "भोः" शब्दसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए सरस्वती (वाणी) का उच्चारण किया। इससे वहाँ सारस्वतका आविर्भाव हुआ। सरस्वती या वाणीसे उत्पन्न हुए उस शक्तिशाली पुत्रका नाम 'अपान्तरतमा' हुआ ॥ ३८-३९ ॥

भूतभव्यभविष्यज्ञः सत्यवादी [illegible]।
तमुवाच नतं मूर्ध्ना देवानामादिरव्ययः ॥ ४० ॥

'वे अपान्तरतमा भूत, वर्तमान और भविष्यके ज्ञाता, सत्यवादी तथा दृढतापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले थे। मस्तक झुकाकर खड़े हुए उस पुत्रसे देवताओंके आदिकारण अविनाशी श्रीहरिने कहा—॥ ४० ॥

वेदाख्याने श्रुतिः कार्या [illegible] मतिमतां वर।
तस्मात् कुरु यथाऽऽज्ञप्तं ममैतद् वचनं मुने ॥ ४१ ॥

"बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ मुने! तुम्हें वेदोंकी व्याख्याके लिये ऋक्, साम, यजुष् आदि श्रुतियोंका पृथक्-पृथक् समूह [illegible] चाहिये। अतः तुम मेरी आज्ञाके अनुसार कार्य करो। मुझे तुमसे इतना ही कहना है' ॥ ४१ ॥

तेन भिन्नास्तदा वेदा मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे।
ततस्तुतोष भगवान् हरिस्तेनास्य कर्मणा ॥ ४२ ॥
तपसा च सुतप्तेन यमेन नियमेन च।
मन्वन्तरेषु पुत्रत्वमेवमेव प्रवर्तकः ॥ ४३ ॥

'अपान्तरतमाने स्वायम्भुव मन्वन्तरमें भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार वेदोंका विभाग किया। उनके इस कर्मसे तथा उनके द्वारा की हुई उत्तम तपस्या, यम और नियमसे भी भगवान् श्रीहरि बहुत संतुष्ट हुए और बोले—"बेटा! तुम सभी मन्वन्तरोंमें इसी प्रकार धर्मके प्रवर्तक होओगे ॥ ४२-४३ ॥

भविष्यस्यचलो ब्रह्मन्नप्रधृष्यश्च नित्यशः।
पुनस्तिष्ये [illegible] सम्प्राप्ते कुरवो [illegible] भारताः ॥ ४४ ॥
भविष्यन्ति महात्मानो राजानः प्रथिता भुवि।

"ब्रह्मन्! [illegible] [illegible] ही अविचल एवं अजेय बने रहोगे। फिर द्वापर और कलियुगकी संधिका समय आनेपर भरतवंशमें कुरुवंशी क्षत्रिय होंगे। वे महामनस्वी राजा समस्त भूमण्डलमें विख्यात होंगे ॥ ४४½ ॥

तेषां त्वत्तः प्रसूतानां कुलभेदो भविष्यति ॥ ४५ ॥
परस्परविनाशार्थं त्वामृते द्विजसत्तम।

"द्विजश्रेष्ठ! उनमेंसे जो लोग तुम्हारी संतानोंके वंशज होंगे, उनमें परस्पर विनाशके लिये फूट हो जायगी। तुम्हारे सहयोगके बिना उनमें विग्रह होगा ॥ ४५½ ॥

तत्राप्यनेकधा वेदान् भेत्स्यसे तपसान्वितः ॥ ४६ ॥
कृष्णे युगे च सम्प्राप्ते कृष्णवर्णो भविष्यसि।

"उस समय भी तुम तपोबलसे सम्पन्न हो वेदोंके अनेक विभाग करोगे। उस समय कलियुग [illegible] आनेपर तुम्हारे शरीरका वर्ण काला होगा ॥ ४६½ ॥

धर्माणां विविधानां च कर्ता ज्ञानकरस्तथा।
भविष्यसि तपोयुक्तो न च रागाद् विमोक्ष्यसे॥ ४७ ॥

"तुम नाना प्रकारके धर्मोंके प्रवर्तक, ज्ञानदाता और तपस्वी होओगे, परंतु रागसे सर्वथा मुक्त नहीं रहोगे ॥ ४७ ॥

वीतरागश्च पुत्रस्ते परमात्मा भविष्यति।
महेश्वरप्रसादेन नैतद् वचनमन्यथा ॥ ४८ ॥

"तुम्हारा पुत्र भगवान् महेश्वरकी कृपासे वीतराग होकर परमात्मस्वरूप हो जायगा। मेरी यह बात [illegible] नहीं सकती ॥

यं मानसं वै प्रवदन्ति विप्राः
पितामहस्योत्तमबुद्धियुक्तम्।
वसिष्ठमग्र्यं [illegible] तपोनिधानं
यस्यातिसूर्यं व्यतिरिच्यते भाः ॥ ४९ ॥
तस्यान्वये चापि ततो महर्षिः
पराशरो नाम महाप्रभावः।
पिता स ते वेदनिधिर्वरिष्ठो
महातपा वै तपसो निवासः ॥ ५० ॥

"जिन्हें ब्राह्मणलोग ब्रह्माजीका मानसपुत्र कहते हैं, जो उत्तम बुद्धिसे युक्त, तपस्याकी निधि एवं सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठमुनिके नामसे प्रसिद्ध हैं और जिनका तेज भगवान् सूर्यसे भी बढ़कर प्रकाशित होता है, उन्हीं ब्रह्मर्षि वसिष्ठके वंशमें पराशर नामवाले महान् प्रभावशाली महर्षि होंगे। वे वैदिक ज्ञानके भण्डार, मुनियोंमें श्रेष्ठ, महान् तपस्वी एवं तपस्याके आवासस्थान होंगे। वे ही पराशर मुनि [illegible] समय तुम्हारे पिता होंगे ॥ ४९-५० ॥

कानीनगर्भः पितृकन्यकायां
तस्मादृषेस्त्वं भविता [illegible] पुत्रः ॥ ५१ ॥

"उन्हीं ऋषिसे तुम पिताके घरमें रहनेवाली एक कुमारी कन्याके पुत्ररूपसे जन्म लोगे और कानीनगर्भ (कन्याकी संतान) कहलाओगे ॥ ५१ ॥

भूतभव्यभविष्याणां छिन्नसर्वार्थसंशयः।
ये ह्यतिक्रान्तकाः पूर्वं सहस्रयुगपर्ययाः ॥ ५२ ॥
तांश्च सर्वान् मयोद्दिष्टान् द्रक्ष्यसे तपसान्वितः।
पुनर्द्रक्ष्यसि चानेकसहस्रयुगपर्ययान् ॥ ५३ ॥

"भूत, वर्तमान और भविष्यके सभी विषयोंमें तुम्हारा संशय नष्ट हो जायगा। पहले जो सहस्र युगोंके कल्प व्यतीत हो चुके हैं, उन सबको मेरी आज्ञासे तुम देख सकोगे और तपो-

बलसे सम्पन्न बने रहोगे। भविष्यमें होनेवाले अनेक कल्प भी तुम्हें दृष्टिगोचर होंगे ॥ ५२-५३ ॥

अनादिनिधनं लोके चक्रहस्तं च मां मुने।
अनुध्यानान्मम मुने नैतद् वचनमन्यथा ॥ ५४ ॥

''मुने! तुम निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे जगत्में मुझ अनादि और अनन्त परमेश्वरको चक्र हाथमें लिये देखोगे। मेरी यह बात कभी मिथ्या नहीं होगी ॥ ५४ ॥

भविष्यति महासत्त्व ख्यातिश्चाप्यतुला तव।
शनैश्चरः सूर्यपुत्रो भविष्यति मनुर्महान् ॥ ५५ ॥
तस्मिन्मन्वन्तरे चैव मन्वादिगणपूर्वकः।
त्वमेव भविता वत्स मत्प्रसादान्न संशयः ॥ ५६ ॥

''महान् शक्तिशाली मुनीश्वर! जगत्में तुम्हारी अनुपम ख्याति होगी। [illegible]। जब सूर्यपुत्र शनैश्चर मन्वन्तरके प्रवर्तक हो महामनुके पदपर प्रतिष्ठित होंगे, उस मन्वन्तरमें तुम्हीं मेरे कृपा-प्रसादसे मन्वादि गणोंमें प्रधान होओगे। इसमें संशय नहीं है ॥

यत्किंचिद् विद्यते लोके सर्वं तन्मद्विचेष्टितम्।
अन्यो ह्यन्यं चिन्तयति स्वच्छन्दं विदधाम्यहम्॥ ५७ ॥

''संसारमें जो कुछ हो रहा है, वह सब मेरी ही चेष्टाका फल है। दूसरे लोग दूसरी-दूसरी बातें सोचते रहते हैं, परंतु मैं स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार कार्य करता हूँ' ॥

एवं सारस्वतमृषिमपान्तरतमं तथा।
उक्त्वा वचनमीशानः साधयस्वेत्यथाब्रवीत् ॥ ५८ ॥

'सरस्वती-पुत्र अपान्तरतम मुनिसे ऐसा कहकर भगवान् उन्हें विदा करते हुए बोले—'जाओ, अपना काम करो' ॥५८॥

सोऽहं [illegible] प्रसादेन देवस्य हरिमेधसः।
अपान्तरतमा नाम ततो जातोऽऽज्ञया हरेः।
पुनश्च जातो विख्यातो वसिष्ठकुलनन्दनः ॥ ५९ ॥

'इस प्रकार मैं भगवान् विष्णुके कृपा-प्रसादसे पहले अपान्तरतमा नामसे उत्पन्न हुआ था और अब उन्हीं श्रीहरिकी आज्ञासे पुनः वसिष्ठकुलनन्दन व्यासके नामसे उत्पन्न होकर प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५९ ॥

तदेतत् कथितं जन्म मया पूर्वकमात्मनः।
नारायणप्रसादेन तथा नारायणांशजम् ॥ ६० ॥

'नारायणकी कृपासे और उन्हींके अंशसे जो पहले मेरा जन्म हुआ था, उसका यह वृत्तान्त मैंने तुम सब लोगोंसे कहा है ॥

मया हि सुमहत् तप्तं तपः परमदारुणम्।
पुरा मतिमतां श्रेष्ठाः परमेण समाधिना ॥ ६१ ॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ शिष्यगण! पूर्वकालमें मैंने उत्तम समाधिके द्वारा अत्यन्त कठोर एवं बड़ी भारी तपस्या की थी ॥

एतद् वः कथितं सर्वं यन्मां पृच्छत पुत्रकाः।
पूर्वजन्म भविष्यं च भक्तानां स्नेहतो मया ॥ ६२ ॥

'पुत्रो! तुमलोग मुझसे जो कुछ पूछते थे, वह सब मैंने तुम्हें कह सुनाया। तुम गुरुभक्त शिष्योंके स्नेहवश ही मैंने यह अपने पूर्वजन्म और भविष्यका वृत्तान्त तुम्हें बताया है' ।६२।

वैशम्पायन उवाच

एष ते कथितः पूर्वं सम्भवोऽस्मद्गुरोर्नृप।
व्यासस्याक्लिष्टमनसो यथा पृष्टः पुनः शृणु ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरेश्वर! तुमने जैसा मुझसे प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने पहले क्लेशरहित चित्तवाले अपने गुरु व्यासजीके जन्मका वृत्तान्त कहा है। अब दूसरी बातें सुनो ॥ ६३ ॥

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै ॥ ६४ ॥

राजर्षे! सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद और पाशुपत-शास्त्र—इन ज्ञानोंको तुम नाना प्रकारके मत समझो ॥ ६४ ॥

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः ॥ ६५ ॥

सांख्यशास्त्रके वक्ता कपिल हैं। वे परमर्षि कहलाते हैं। योगशास्त्रके पुरातन ज्ञाता हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ही हैं, दूसरा नहीं ॥ ६५ ॥

अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्यः स उच्यते।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन ॥ ६६ ॥

मुनिवर अपान्तरतमा वेदोंके आचार्य बताये जाते हैं। यहाँ कुछ लोग उन महर्षिको प्राचीनगर्भ कहते हैं ॥ ६६ ॥

उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ॥ ६७ ॥

ब्रह्माजीके पुत्र भूतनाथ श्रीकण्ठ उमापति भगवान् शिवने शान्तचित्त होकर पाशुपतज्ञानका उपदेश किया है ।६७।

पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्।
सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते ॥ ६८ ॥
यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुः।
न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशाम्पते ॥ ६९ ॥

नृपश्रेष्ठ! सम्पूर्ण पाञ्चरात्रके ज्ञाता तो साक्षात् भगवान् नारायण ही हैं। यदि वेदशास्त्र और अनुभवके अनुसार विचार किया जाय तो इन सभी ज्ञानोंमें इनके परम तात्पर्यरूपसे भगवान् नारायण ही स्थित दिखायी देते हैं। प्रजानाथ! जो अज्ञानमें डूबे हुए हैं, वे लोग भगवान् श्रीहरिको इस रूपमें नहीं जानते हैं ॥ ६८-६९ ॥

तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः।
निष्ठां नारायणमृषिं नान्योऽस्तीति वचो [illegible] ॥७०॥

शास्त्रके रचयिता ज्ञानीजन उन नारायण ऋषिको ही समस्त शास्त्रोंका परम लक्ष्य बताते हैं; दूसरा कोई उनके समान नहीं है—यह मेरा कथन है ॥ ७० ॥

निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः।
ससंशयान् हेतुबलान्नाध्यावसति माधवः ॥ ७१ ॥

ज्ञानके बलसे जिनके संशयका निवारण हो [illegible] है, उन सबके भीतर सदा श्रीहरि निवास करते हैं; परंतु कुतर्कके बलसे जो संशयमें पड़े हुए हैं, उनके भीतर भगवान् माधव- [illegible] निवास नहीं है ॥ ७१ ॥

पाञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप।
एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै ॥ ७२ ॥

नरेश्वर ! जो पाञ्चरात्रके [illegible] हैं और उसमें बताये हुए क्रमके अनुसार सेवापरायण हो अनन्यभावसे भगवान्की शरणमें प्राप्त हैं, वे उन भगवान् श्रीहरिमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ७२ ॥

सांख्यं च योगं [illegible] सनातने द्वे
वेदाश्च सर्वे निखिलेन राजन्।
सर्वैः समस्तैर्ऋषिभिर्निरुक्तो
नारायणो विश्वमिदं पुराणम् [illegible] ७२ ॥

राजन् ! सांख्य और योग—ये दो सनातन [illegible] [illegible] सम्पूर्ण वेद सर्वथा यही कहते हैं और [illegible] ऋषियोंने भी यही बताया है कि यह पुरातन विश्व भगवान् नारायण [illegible] हैं ॥ ७२ ॥

शुभाशुभं कर्म समीरितं यत्
प्रवर्तते सर्वलोकेषु किञ्चित्।
तस्मादृषेस्तद्भवतीति विद्याद्
दिव्यन्तरिक्षे भुवि चाप्सु चेति ॥ [illegible] ॥

स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूतल और जल—इन सभी स्थानोंमें और सम्पूर्ण लोकोंमें जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म होता [illegible] गया है, वह सब नारायणकी सत्तासे ही हो [illegible] है—ऐसा [illegible] चाहिये ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि द्वैपायनोत्पत्तौ एकोनपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३४९ ॥

इस [illegible] श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें द्वैपायनकी उत्पत्तिविषयक तीन सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४९ ॥

पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

वैजयन्त पर्वतपर [illegible] और रुद्रका मिलन एवं ब्रह्माजीद्वारा परम पुरुष नारायणकी महिमाका वर्णन

जनमेजय उवाच

[illegible] पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो [illegible] [illegible] तु।
को [illegible] पुरुषः श्रेष्ठः को [illegible] योनिरिहोच्यते ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! पुरुष अनेक हैं या एक ? इस जगत्में कौन पुरुष सबसे श्रेष्ठ है ? अथवा किसे यहाँ सबकी उत्पत्तिका [illegible] [illegible] जाता है ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

[illegible] पुरुषा लोके सांख्ययोगविचारणे।
नैनदिच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—कुरुकुलका भार वहन करनेवाले नरेश ! सांख्य और योगकी विचारधाराके अनुसार इस जगत्में पुरुष अनेक हैं। वे 'एकपुरुषवाद' नहीं स्वीकार करते हैं ॥ २ ॥

बहूनां पुरुषाणां च यथैका योनिरुच्यते।
[illegible] तं पुरुषं विश्वं व्याख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥ ३ ॥

नमस्कृत्वा च गुरवे व्यासाय विदितात्मने।
तपोयुक्ताय दान्ताय [illegible] परमर्षये [illegible] ॥

बहुत-से पुरुषोंकी उत्पत्तिका स्थान एक ही पुरुष कैसे [illegible] जाता है ? यह समझानेके लिये आत्मज्ञानी, तपस्वी, जितेन्द्रिय एवं वन्दनीय परमर्षि गुरु व्यासजीको नमस्कार करके मैं तुम्हारे सामने अधिक गुणशाली विश्वात्मा पुरुषकी [illegible] करूँगा ॥ ३-४ ॥

इदं पुरुषसूक्तं हि सर्ववेदेषु पार्थिव।
ऋतं सत्यं च विख्यातमृषिसिंहेन चिन्तितम् ॥ ५ ॥

राजन् ! यह पुरुषसम्बन्धी सूक्त तथा ऋत और [illegible] सम्पूर्ण वेदोंमें विख्यात है। ऋषिसिंह व्यासने इसका भली-भाँति चिन्तन किया है ॥ ५ ॥

उत्सर्गेणापवादेन ऋषिभिः कपिलादिभिः।
अध्यात्मचिन्तामाश्रित्य शास्त्राण्युक्तानि भारत ॥ ६ ॥

[illegible] ! कपिल आदि ऋषियोंने सामान्य और विशेष-

रूपमें अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करके विभिन्न शास्त्रोंका प्रतिपादन किया है ॥ ६ ॥

समासतस्तु यद् [illegible] पुरुषैकत्वमुक्तवान् ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि प्रसादादमितौजसः ॥ ७ ॥

परंतु व्यासजीने संक्षेपसे पुरुषकी एकताका जिस तरह प्रतिपादन किया है, उसीको मैं भी उन अमिततेजस्वी गुरुके कृपा-प्रसादसे तुम्हें बताऊँगा ॥ ७ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्रह्मणा सह संवादं [illegible] विशाम्पते ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! इस विषयमें जानकार मनुष्य ब्रह्माजीके साथ रुद्रके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ८ ॥

क्षीरोदस्य समुद्रस्य मध्ये हाटकसप्रभः ।
वैजयन्त इति ख्यातः पर्वतप्रवरो नृप ॥ ९ ॥

नरेश्वर ! क्षीरसागरके मध्यभागमें वैजयन्त नामसे विख्यात एक श्रेष्ठ पर्वत है, जो सुवर्णकी सी कान्तिसे प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

तत्राध्यात्मगतिं देव एकाकी प्रविचिन्तयन् ।
वैराजसदनान्नित्यं वैजयन्तं निषेवते ॥ १० ॥

वहाँ एकाकी ब्रह्मा अध्यात्मगतिका चिन्तन करनेके लिये ब्रह्मलोकसे प्रतिदिन आते और उस वैजयन्त पर्वतका सेवन करते थे ॥ १० ॥

अथ तत्रासतस्तस्य चतुर्वक्त्रस्य धीमतः ।
ललाटप्रभवः पुत्रः शिव आगाद् यदृच्छया ॥ ११ ॥
आकाशेन महायोगी पुरा त्रिनयनः प्रभुः ।
ततः खान्निपपाताशु धरणीधरमूर्धनि ॥ १२ ॥

पहले एक दिन बुद्धिमान् चतुर्मुख ब्रह्माजी जब वहाँ बैठे हुए थे, उसी समय उनके ललाटसे उत्पन्न हुए पुत्र महायोगी त्रिनेत्रधारी भगवान् शिव अनायास ही आकाशमार्गसे घूमते हुए वैजयन्तपर्वतके सामने आये और शीघ्र ही आकाशसे उस पर्वतशिखरपर उतर पड़े ॥ ११-१२ ॥

अग्रतश्चाभवत् प्रीतो ववन्दे चापि पादयोः ।
तं पादयोर्निपतितं दृष्ट्वा सव्येन पाणिना ॥ १३ ॥
उत्थापयामास तदा प्रभुरेकः प्रजापतिः ।
उवाच चैनं भगवांश्चिरस्यागतमात्मजम् ॥ १४ ॥

सामने ब्रह्माजीको देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उनके दोनों चरणोंमें सिर झुकाकर [illegible] किया । भगवान् शिवको अपने चरणोंमें पड़ा देख उस [illegible] एकमात्र सर्वसमर्थ भगवान् प्रजापतिने दाहिने हाथसे उन्हें उठाया और दीर्घकालके पश्चात् अपने निकट आये हुए पुत्रसे इस प्रकार कहा ॥ १३-१४ ॥

पितामह उवाच

स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मेऽन्तिकम् ।
कच्चित् ते कुशलं पुत्र स्वाध्यायतपसोः सदा ॥ १५ ॥
नित्यमुग्रतपास्त्वं हि ततः पृच्छामि ते पुनः ॥ १६ ॥

ब्रह्माजी बोले—महाबाहो ! तुम्हारा स्वागत है । सौभाग्यसे मेरे निकट आये हो । बेटा ! तुम्हारा स्वाध्याय और तप [illegible] सकुशल चल रहा है न ? तुम सर्वदा कठोर तपस्यामें ही लगे रहते हो; इसलिये मैं तुमसे बारंबार तपके विषयमें पूछता हूँ ॥ १५-१६ ॥

रुद्र उवाच

त्वत्प्रसादेन भगवन् स्वाध्यायतपसोर्मम ।
कुशलं चाव्ययं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥ १७ ॥

रुद्रने कहा—भगवन् ! आपकी कृपासे मेरे स्वाध्याय और तप सकुशल चल रहे हैं; कभी भङ्ग नहीं हुए हैं । सम्पूर्ण जगत् भी कुशल-क्षेमसे है ॥ १७ ॥

चिरदृष्टो हि भगवान् वैराजसदने मया ।
ततोऽहं पर्वतं प्राप्तस्त्विमं त्वत्पादसेवितम् ॥ १८ ॥

प्रभो ! बहुत दिन हुए, मैंने ब्रह्मलोकमें आपका दर्शन किया था । इसीलिये आज आपके चरणोंद्वारा सेवित इस पर्वतपर पुनः दर्शनके लिये आया हूँ ॥ १८ ॥

कौतूहलं चापि हि मे एकान्तगमनेन ते ।
नैतत् कारणमल्पं हि भविष्यति पितामह ॥ १९ ॥

पितामह ! आपके एकान्तमें जानेसे मेरे मनमें बड़ा कौतूहल पैदा हुआ । मैंने सोचा, इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं होगा ॥ १९ ॥

किं नु तत्सदनं श्रेष्ठं क्षुत्पिपासाविवर्जितम् ।
सुरासुरैरध्युषितं ऋषिभिश्चामितप्रभैः ॥ २० ॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च सततं संनिषेवितम् ।
उत्सृज्येमं गिरिवरमेकाकी प्राप्तवानसि ॥ २१ ॥

क्या कारण है कि क्षुधा-पिपासासे रहित उस श्रेष्ठ धामको, जहाँ निरन्तर देवता, असुर, अमिततेजस्वी ऋषि, गन्धर्व और अप्सराओंके [illegible]ह आपकी सेवामें उपस्थित रहते हैं, छोड़कर आप अकेले इस श्रेष्ठ पर्वतपर चले आये हैं ? ॥ २०-२१ ॥

ब्रह्मोवाच

वैजयन्तो गिरिवरः सततं सेव्यते मया ।
अत्रैकाग्रेण मनसा पुरुषश्चिन्त्यते विराट् ॥ २२ ॥

ब्रह्माजीने कहा—वत्स ! मैं इन दिनों गिरिवर वैजयन्तका जो निरन्तर सेवन कर रहा हूँ, इसका कारण यह है कि यहाँ एकाग्रचित्तसे विराट् पुरुषका चिन्तन किया करता हूँ ॥ २२ ॥

रुद्र उवाच

बहवः पुरुषा ब्रह्मंस्त्वया सृष्टाः स्वयम्भुवा ।
सृज्यन्ते चापरे ब्रह्मन् स चैकः पुरुषो विराट् ॥ २३ ॥

रुद्र बोले—ब्रह्मन् ! आप स्वयम्भू हैं । आपने बहुत-से पुरुषोंकी सृष्टि की है और अभी दूसरे-दूसरे पुरुषोंकी सृष्टि करते जा रहे हैं । वह विराट् भी तो एक पुरुष ही है, फिर उसमें क्या विशेषता है ? ॥ २३ ॥

को ह्यसौ चिन्त्यते ब्रह्मंस्त्वयैकः पुरुषोत्तमः ।
एतन्मे संशयं ब्रूहि महत् कौतूहलं हि मे ॥ २४ ॥

प्रभो ! आप जिन एक पुरुषोत्तमका चिन्तन करते हैं, वे कौन हैं ? मेरे इस संशयका समाधान कीजिये । इस विषयको सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ २४ ॥

ब्रह्मोवाच

बहवः पुरुषाः पुत्र त्वया ये समुदाहृताः ।
एवमेतदतिक्रान्तं द्रष्टव्यं नैवमित्यपि ॥ २५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! तुमने जिन बहुत-से पुरुषोंका उल्लेख किया है, उनके विषयमें तुम्हारा यह कथन ठीक ही है । जिनकी सृष्टि मैं करता हूँ, उनका चिन्तन मैं क्यों करूँगा ? ॥ २५ ॥

आधारं तु प्रवक्ष्यामि एकस्य पुरुषस्य ते ।
बहूनां पुरुषाणां स यथैका योनिरुच्यते ॥ २६ ॥

मैं तुम्हें उस एक पुरुषके सम्बन्धमें बताऊँगा, जो सबका आधार है और जिस प्रकार वह बहुत-से पुरुषोंका एकमात्र कारण बताया जाता है ॥ २६ ॥

तथा तं पुरुषं विश्वं परमं सुमहत्तमम् ।
निर्गुणं निर्गुणा भूत्वा प्रविशन्ति सनातनम् ॥ २७ ॥

जो लोग साधन करते-करते गुणातीत हो जाते हैं, वे ही उस विश्वरूप, अत्यन्त महान्, सनातन एवं निर्गुण परम पुरुषमें प्रवेश करते हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीये ब्रह्मरुद्रसंवादे पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाके प्रसङ्गमें ब्रह्मा तथा रुद्रका संवादविषयक तीन सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५० ॥

एकपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

ब्रह्मा और रुद्रके संवादमें नारायणकी महिमाका विशेषरूपसे वर्णन

ब्रह्मोवाच

शृणु पुत्र यथा ह्येष पुरुषः शाश्वतोऽव्ययः ।
अक्षयश्चाप्रमेयश्च सर्वगश्च निरुच्यते ॥ १ ॥

ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! वह विराट् पुरुष जिस प्रकार सनातन, अविकारी, अविनाशी, अप्रमेय और सर्वव्यापी बताया जाता है, वह सुनो ॥ १ ॥

न स शक्यस्त्वया द्रष्टुं मयान्यैर्वापि सत्तम ।
सगुणो निर्गुणो विश्वो ज्ञानदृश्यो ह्यसौ स्मृतः ॥ २ ॥

साधुशिरोमणे ! तुम, मैं अथवा दूसरे लोग भी उस सगुण-निर्गुण विश्वात्मा पुरुषको इन चर्म-चक्षुओंसे नहीं देख सकते । वे ज्ञानसे ही देखने योग्य माने गये हैं ॥ २ ॥

अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ ।
वसन्नपि शरीरेषु न स लिप्यति कर्मभिः ॥ ३ ॥

वे स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे रहित होकर भी सम्पूर्ण शरीरोंमें निवास करते हैं और उन शरीरोंमें रहते हुए भी कभी उनके कर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं ॥ ३ ॥

ममान्तरात्मा तव च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः ।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् ॥ ४ ॥

वे मेरे, तुम्हारे तथा दूसरे जो देहधारी संज्ञावाले जीव हैं, उनके भी अन्तरात्मा हैं । सबके साक्षी वे पुरुषोत्तम श्रीहरि कहीं किसीके द्वारा भी पकड़में नहीं आते ॥ ४ ॥

विश्वमूर्धा विश्वभुजो विश्वपादाक्षिनासिकः ।
एकश्चरति क्षेत्रेषु स्वैरचारी यथासुखम् ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण विश्व ही उनका मस्तक, भुजा, पैर, नेत्र और नासिका है । वे स्वच्छन्द विचरनेवाले एकमात्र पुरुषोत्तम सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें सुखपूर्वक विचरण करते हैं ॥ ५ ॥

क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभम् ।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ ६ ॥

वे योगात्मा श्रीहरि क्षेत्रसंज्ञक शरीरोंको और शुभाशुभ कर्मरूप उनके कारणको भी जानते हैं, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं ॥ ६ ॥

नागतिर्न गतिस्तस्य ज्ञेया भूतेषु केनचित् ।
सांख्येन विधिना चैव योगेन [illegible] यथाक्रमम् ॥ [illegible] ॥
चिन्तयामि गतिं चास्य न गतिं वेद्मि चोत्तराम्।
यथाज्ञानं [illegible] वक्ष्यामि पुरुषं तु सनातनम् ॥ ८ ॥

समस्त प्राणियोंमेंसे कोई भी यह नहीं जान पाता कि वे किस तरह शरीरोंमें आते और जाते हैं ? मैं क्रमशः सांख्य और योगकी विधिसे उनकी गतिका चिन्तन करता हूँ; परंतु [illegible] उत्कृष्ट गतिको [illegible] नहीं पाता । तथापि मुझे जैसा अनुभव है, उसके अनुसार [illegible] सनातन पुरुषका वर्णन [illegible] हूँ ॥ ७-८ ॥

तस्यैकत्वं महत्त्वं च स चैकः पुरुषः स्मृतः।
महापुरुषशब्दं स बिभर्त्येकः सनातनः ॥ ९ ॥

उनमें एकत्व भी है और महत्त्व भी; अतः एकमात्र वे ही पुरुष माने गये हैं । एक सनातन श्रीहरि ही महापुरुष नाम धारण करते हैं ॥ ९ ॥

एको हुताशो बहुधा समिध्यते
एकः सूर्यस्तपसो योनिरेका ।
एको वायुर्बहुधा वाति लोके
महोदधिश्चाम्भसां योनिरेकः ।
पुरुषश्चैको निर्गुणो विश्वरूप-
स्तं निर्गुणं पुरुषं चाविशन्ति ॥ १० ॥

अग्नि एक ही है; परन्तु वह अनेक रूपोंमें प्रज्वलित एवं प्रकाशित होती है । एक ही सूर्य सारे जगत्को ताप एवं [illegible] देते हैं । [illegible] अनेक प्रकारका है; परंतु [illegible] मूल एक ही है । एक ही वायु इस जगत्में विविध रूपसे प्रवाहित होती है [illegible] जलोंकी उत्पत्ति और लयका स्थान समुद्र भी एक [illegible] है । उसी प्रकार वह निर्गुण विश्वरूप पुरुष भी एक ही है । उसी निर्गुण पुरुषमें [illegible] होता है ॥ १० ॥

हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म हित्वा शुभाशुभम् ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा एवं भवति निर्गुणः ॥ ११ ॥

देह, इन्द्रिय आदि समस्त गुणमय पदार्थोंकी ममता छोड़कर शुभाशुभ कर्मको त्यागकर तथा सत्य और मिथ्या दोनोंका परित्याग करके ही कोई साधक निर्गुण हो सकता है ॥

अचिन्त्यं चापि तं [illegible] भावसूक्ष्मं चतुष्टयम् ।
विचरेद् योऽसमुन्नद्धः स गच्छेत् पुरुषं शुभम् ॥ १२ ॥

जो चारों सूक्ष्म भावोंसे युक्त [illegible] निर्गुण पुरुषको अचिन्त्य जानकर अहङ्कारशून्य होकर विचरण करता है, वही कल्याणमय परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

एवं हि परमात्मानं केचिदिच्छन्ति पण्डिताः ।
एकात्मानं तथाऽऽत्मानमपरे ज्ञानचिन्तकाः ॥ १३ ॥

इस प्रकार कुछ विद्वान् (अपनेसे भिन्न) परमात्माको [illegible] चाहते हैं । कुछ अपनेसे अभिन्न परमात्मा—एकात्माको पानेकी इच्छा रखते हैं तथा दूसरे विचारक केवल आत्माको ही जानना या [illegible] चाहते हैं ॥ १३ ॥

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः ।
[illegible] हि नारायणो ज्ञेयः सर्वात्मा पुरुषो हि सः ॥ १४ ॥

इनमें जो परमात्मा है, वह नित्य निर्गुण माना गया है । उसीको नारायण नामसे जानना चाहिये । वही सर्वात्मा पुरुष है ॥ १४ ॥

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ।
कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ॥ १५ ॥

जैसे कमलका पत्ता पानीमें रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा कर्मफलोंसे निर्लिप्त रहता है । परंतु जो कर्मोंका कर्ता है एवं बन्धन और मोक्षसे सम्बन्ध जोड़ता है, वह जीवात्मा उससे भिन्न है ॥ १५ ॥

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः ।
एवं बहुविधः प्रोक्तः पुरुषस्ते यथाक्रमम् ॥ १६ ॥

उसीका पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच भूत, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके राशिभूत सूक्ष्म शरीरसे संयोग होता है । वही कर्मभेदसे देव-तिर्यक् आदि भावोंको [illegible] होनेके कारण बहुविध बताया गया है । इस प्रकार तुम्हें क्रमशः पुरुषकी एकता और अनेकताकी [illegible] बतायी गयी ॥

यत् तत्कृत्स्नं लोकतन्त्रस्य धाम
वेद्यं परं बोधनीयं [illegible] बोद्धा ।
मन्ता मन्तव्यं प्राशिता प्राशनीयं
घ्राता घ्रेयं स्पर्शिता स्पर्शनीयम् ॥ १७ ॥

जो लोकतन्त्रका सम्पूर्ण [illegible] प्रकाशक है, वह परम पुरुष ही वेदनीय (जाननेयोग्य) परम तत्त्व है । वही ज्ञाता और वही ज्ञातव्य है । वही मनन करनेवाला और वही मननीय वस्तु है । वही भोक्ता और वही भोज्य पदार्थ है । वही सूँघनेवाला और वही सूँघनेयोग्य वस्तु है । वही स्पर्श करनेवाला तथा वही स्पर्शके योग्य वस्तु है ॥ १७ ॥

द्रष्टा द्रष्टव्यं श्राविता श्रावणीयं
[illegible] ज्ञेयं सगुणं निर्गुणं च ।
यद् वै प्रोक्तं तात सम्यक् प्रधानं
नित्यं चैतच्छाश्वतं चाव्ययं च ॥ १८ ॥

वही [illegible] और द्रष्टव्य है। वही सुनानेवाला और सुनाने-योग्य वस्तु है। वही [illegible] और ज्ञेय है [illegible] वही सगुण और निर्गुण है। [illegible]! जिसे सम्यक् प्रधान तत्त्व कहा गया है, वह भी यह पुरुष ही है। [illegible] नित्य [illegible] और अविनाशी तत्त्व है ॥ १८ ॥

यद् वै सूते धातुराद्यं विधानं
तद् वै विप्राः प्रवदन्तेऽनिरुद्धम्।
यद् [illegible] लोके वैदिकं कर्म साधु
आशीर्युक्तं तद्धि तस्यैव भाव्यम्॥ १९ ॥

वही [illegible] विधाताके आदि विधानको उत्पन्न करता है। विद्वान् ब्राह्मण उसीको अनिरुद्ध कहते हैं। लोकमें [illegible] भावसे जो वैदिक सत्कर्म किये जाते हैं, वे उस अनिरुद्धात्मा पुरुषकी प्रसन्नताके लिये [illegible] होते हैं—ऐसा चिन्तन करना चाहिये [illegible] १९ ॥

देवाः सर्वे मुनयः साधु [illegible]
स्तं प्राग्वंशे यज्ञभागैर्यजन्ते।
अहं ब्रह्मा [illegible] ईशः प्रजानां
तस्माज्जातस्त्वं च मत्तः प्रसूतः ॥ २० ॥

सम्पूर्ण देवता और शान्त स्वभाववाले मुनि यज्ञशालामें यज्ञभागोंद्वारा उसीका यजन करते [illegible]। मै प्रजाओंका आदि ईश्वर [illegible] उसी [illegible] पुरुषसे [illegible] हुआ हूँ और मुझसे तुम्हारी उत्पत्ति हुई है ॥ २० ॥

मत्तो जगज्जङ्गमं स्थावरं च
सर्वे वेदाः सरहस्या हि पुत्र ॥ २१ ॥

पुत्र ! मुझसे [illegible] चराचर जगत् तथा रहस्यसहित सम्पूर्ण वेद [illegible] हुए [illegible] ॥ २१ ॥

चतुर्विभक्तः पुरुषः [illegible] क्रीडति यथेच्छति।
एवं स भगवान् स्वेन ज्ञानेन प्रतिबोधितः ॥ २२ ॥

वासुदेव आदि चार व्यूहोंमें विभक्त [illegible] वे परम पुरुष ही जैसी इच्छा होती है, वैसी क्रीड़ा करते हैं। इसी तरह वे भगवान् अपने ही ज्ञानसे जाननेमें आते हैं ॥ २२ ॥

एतत् ते कथितं पुत्र यथावदनुपृच्छतः।
सांख्यज्ञाने तथा योगे यथावदनुवर्णितम् ॥ २३ ॥

पुत्र ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने यथावत्‌रूपसे ये [illegible] बातें बतायी हैं। सांख्य और योगमें इस विषयका यथार्थरूपसे वर्णन किया गया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारायणीयसमाप्तौ एकपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें नारायणकी महिमाका उपसंहारविषयक तीन [illegible] इक्यावनवाँ अध्याय पूरा [illegible] ॥ ३५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नारदके द्वारा इन्द्रको उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणकी कथा सुनानेका उपक्रम

युधिष्ठिर उवाच

धर्माः पितामहेनोक्ता मोक्षधर्माश्रिताः शुभाः।
धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हति [illegible] भवान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! आपके बतलाये हुए कल्याणमय मोक्षसम्बन्धी धर्मोंका मैंने श्रवण किया। अब [illegible] आश्रमधर्मोंका पालन करनेवाले मनुष्योंके लिये जो सबसे [illegible] धर्म हो, उसका उपदेश करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं महत्।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! सभी आश्रमोंमें स्वधर्म-पालनका विधान है, सबमें स्वर्गका तथा महान् सत्यफल—मोक्षका भी साधन है। धर्मके यज्ञ, दान, तप आदि [illegible] द्वार हैं; अ[illegible] इस जगत्‌में धर्मकी कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती ॥ २ ॥

यस्मिन् यस्मिंश्च विषये यो यो याति विनिश्चयम्।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो-जो मनुष्य जिस-जिस विषय—स्वर्ग या मोक्षके लिये साधन करके उसमें सुनिश्चित सफलताको प्राप्त [illegible] लेता है, उसी साधन या धर्मको वह श्रेष्ठ समझता है, दूसरेको नहीं ॥ ३ ॥

इमां च त्वं नरव्याघ्र श्रोतुमर्हसि मे कथाम्।
पुरा शक्रस्य कथितां नारदेन महर्षिणा ॥ ४ ॥

पुरुषसिंह ! इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा सुना रहा हूँ, उसे सुनो। पूर्वकालमें महर्षि नारदने इन्द्रको यह कथा सुनायी थी ॥ ४ ॥

महर्षिर्नारदो राजन् सिद्धस्त्रैलोक्यसम्मतः ।
पर्येति क्रमशो लोकान् वायुरव्याहतो यथा ॥ ५ ॥

राजन् ! महर्षि नारद तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित सिद्ध पुरुष हैं । वायुके समान उनकी सर्वत्र अबाधित गति है । वे क्रमशः सभी लोकोंमें घूमते रहते हैं ॥ ५ ॥

स कदाचिन्महेष्वास देवराजालयं गतः ।
सत्कृतश्च महेन्द्रेण प्रत्यासन्नगतोऽभवत् ॥ ६ ॥

महाधनुर्धर नरेश ! एक समय वे नारदजी देवराज इन्द्रके यहाँ पधारे । इन्द्रने उन्हें अपने समीप ही बिठाकर उनका बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ ६ ॥

तं कृतक्षणमासीनं पर्यपृच्छच्छचीपतिः ।
महर्षे किंचिदाश्चर्यमस्ति दृष्टं त्वयानघ ॥ ७ ॥

जब नारदजी थोड़ी देर बैठकर विश्राम ले चुके, तब शचीपति इन्द्रने पूछा—'निष्पाप महर्षे ! इधर आपने कोई आश्चर्यजनक घटना देखी है क्या ?' ॥ ७ ॥

यदा त्वमपि विप्रर्षे त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
जातकौतूहलो नित्यं सिद्धश्चरसि साक्षिवत् ॥ ८ ॥

'ब्रह्मर्षे ! आप सिद्ध पुरुष हैं और कौतूहलवश चराचर प्राणियोंसे युक्त तीनों लोकोंमें सदा साक्षीकी भाँति विचरते रहते हैं ॥ ८ ॥

न ह्यस्त्यविदितं लोके देवर्षे तव किंचन ।
श्रुतं वाप्यनुभूतं वा दृष्टं वा कथयस्व मे ॥ ९ ॥

'देवर्षे ! जगत्में कोई भी ऐसी बात नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो । यदि आपने कोई अद्भुत बात देखी हो, सुनी हो अथवा अनुभव की हो तो वह मुझे बताइये' ॥ ९ ॥

तस्मै राजन् सुरेन्द्राय नारदो वदतां वरः ।
आसीनायोपपन्नाय प्रोक्तवान् विपुलां कथाम् ॥ १० ॥

राजन् ! उनके इस प्रकार पूछनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारदजीने अपने पास ही बैठे हुए सुरेन्द्रको एक विस्तृत कथा सुनायी ॥ १० ॥

यथा येन च कल्पेन स तस्मै द्विजसत्तमः ।
कथां कथितवान् पृष्टस्तथा त्वमपि मे शृणु ॥ ११ ॥

इन्द्रके पूछनेपर द्विजश्रेष्ठ नारदने उन्हें जैसे और जिस ढंगसे वह कथा कही थी, वैसे ही मैं भी कहूँगा । तुम भी मेरी कही हुई उस कथाको ध्यान देकर सुनो ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने द्विपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

महापद्मपुरमें एक श्रेष्ठ ब्राह्मणके सदाचारका वर्णन और उसके घरपर अतिथिका आगमन

भीष्म उवाच

आसीत् किल नरश्रेष्ठ महापद्मे पुरोत्तमे ।
गङ्गाया दक्षिणे तीरे कश्चिद् विप्रः समाहितः ॥ १ ॥
सौम्यः सोमान्वये वेदे गताध्वा छिन्नसंशयः ।
धर्मनित्यो जितक्रोधो नित्यतृप्तो जितेन्द्रियः ॥ २ ॥
तपःस्वाध्यायनिरतः सत्यः सज्जनसम्मतः ।
न्यायप्राप्तेन वित्तेन स्वेन शीलेन चान्वितः ॥ ३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! (नारदजीने जो कथा सुनायी, वह इस प्रकार है—) गङ्गाके दक्षिणतटपर महापद्म नामक कोई श्रेष्ठ नगर है । वहाँ एक ब्राह्मण रहता था । वह एकाग्रचित्त और सौम्य स्वभावका मनुष्य था । उसका जन्म चन्द्रमाके कुलमें—अत्रिगोत्रमें हुआ था । वेदमें उसकी अच्छी गति थी और उसके मनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं था । वह सदा धर्मपरायण, क्रोधरहित, नित्य संतुष्ट, जितेन्द्रिय, तप और स्वाध्यायमें संलग्न, सत्यवादी और सत्पुरुषोंके सम्मानका पात्र था । न्यायोपार्जित धन और अपने ब्राह्मणोचित शीलसे सम्पन्न था ॥ १—३ ॥

ज्ञातिसम्बन्धिविपुले सत्त्वाद्याश्रयसम्मिते ।
कुले महति विख्याते विशिष्टां वृत्तिमास्थितः ॥ ४ ॥

उसके कुलमें सगे-सम्बन्धियोंकी संख्या अधिक थी । सभी लोग सत्त्वप्रधान सद्गुणोंका सहारा लेकर श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करते थे । उस महान् एवं विख्यात कुलमें रहकर वह उत्तम आजीविकाके सहारे जीवन-निर्वाह करता था ॥ ४ ॥

स पुत्रान् सुबहुलान् दृष्ट्वा विपुले कर्मणि स्थितः ।
कुलधर्माश्रितो राजन् धर्मचर्यास्थितोऽभवत् ॥ ५ ॥

राजन् ! उसने देखा कि मेरे बहुत-से पुत्र हो गये, तब वह लौकिक कार्यसे विरक्त हो महान् कर्ममें संलग्न हो गया

और अपने कुलधर्मका आश्रय ले धर्माचरणमें ही [illegible] रहने लगा ॥ ५ ॥

ततः [illegible] धर्मं वेदोक्तं [illegible] शास्त्रोक्तमेव च ।
शिष्टाचीर्णं [illegible] धर्मं च त्रिविधं चिन्त्य चेतसा ॥ ६ ॥

तदनन्तर उसने वेदोक्त धर्म, शास्त्रोक्त धर्म तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरित धर्म—इन तीन प्रकारके धर्मोंपर मन-ही-मन विचार करना आरम्भ किया—॥ [illegible] ॥

किन्नु मे स्याच्छुभं [illegible] किं कृतं किं परायणम् ।
इत्येवं खिद्यते नित्यं न च याति विनिश्चयम् ॥ [illegible] ॥

'क्या करनेसे मेरा [illegible] होगा ? मेरा क्या कर्तव्य है तथा कौन मेरे लिये परम आश्रय है ?' [illegible] प्रकार वह सदा सोचते-सोचते खिन्न हो जाता था; परंतु किसी निर्णयपर नहीं पहुँच [illegible] ॥ [illegible] ॥

तस्यैवं खिद्यमानस्य धर्मं परममास्थितः ।
कदाचिदतिथिः प्राप्तो [illegible] सुसमाहितः ॥ ८ ॥

एक दिन [illegible] वह इसी तरह सोच-विचारमें पड़ा हुआ [illegible] रहा था, उसके यहाँ एक परम धर्मात्मा तथा एकाग्र-चित्त ब्राह्मण अतिथिके रूपमें आ पहुँचा ॥ ८ ॥

[illegible] तस्मै सत्क्रियां चक्रे क्रियायुक्तेन हेतुना ।
विश्रान्तं सुखमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

ब्राह्मणने उस अतिथिका क्रियायुक्त हेतु (शास्त्रोक्त विधि) से आदर-सत्कार किया और जब वह सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करने लगा, तब उससे इस प्रकार [illegible] ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने
त्रिपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५३ ॥

चतुःपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिद्वारा स्वर्गके विभिन्न मार्गोंका कथन

ब्राह्मण उवाच

समुत्पन्नाभिधानोऽस्मि वाङ्माधुर्येण तेऽनघ ।
मित्रत्वमभिपन्नस्त्वं किंचिद् वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ १ ॥

ब्राह्मण बोला—निष्पाप ! आपकी मीठी बातें सुनकर ही मैं आपके प्रति स्नेह-बन्धनसे बँध गया हूँ। आपके ऊपर मेरा मित्रभाव हो गया है; अतः आपसे कुछ कह रहा हूँ, मेरी बात सुनिये ॥ [illegible] ॥

गृहस्थधर्मं विप्रेन्द्र कृत्वा पुत्रगतं त्वहम् ।
धर्मं परमकं कुर्यां को हि मार्गो भवेद् द्विज ॥ २ ॥

विप्रवर ! [illegible] गृहस्थधर्मको अपने पुत्रोंके अधीन करके सर्वश्रेष्ठ धर्मका पालन करना चाहता हूँ। ब्रह्मन् ! बताइये, मेरे लिये कौन [illegible] मार्ग श्रेयस्कर होगा ? ॥ २ ॥

अहमात्मानमास्थाय [illegible] एवात्मनि स्थितिम् ।
[illegible] काङ्क्षामि नेच्छामि बद्धः साधारणैर्गुणैः ॥ ३ ॥

कभी मेरी इच्छा होती है कि अकेला ही रहूँ और आत्माका आश्रय लेकर उसीमें स्थित हो जाऊँ ? परंतु इन तुच्छ विषयोंसे बँधा होनेके कारण वह इच्छा नष्ट हो जाती है ॥ ३ ॥

यावदेतदतीतं मे वयः पुत्रफलाश्रितम् ।
तावदिच्छामि पाथेयमादातुं पारलौकिकम् ॥ ४ ॥

अबतककी सारी आयु पुत्रसे फल पानेकी कामनामें ही बीत गयी । अब ऐसे धर्ममय धनका संग्रह करना चाहता हूँ, जो परलोकके मार्गमें पाथेय (राहखर्च) का काम दे सके ॥ ४ ॥

अस्मिन् हि लोकसम्भारे परं पारमभीप्सतः ।
उत्पन्ना मे मतिरियं कुतो धर्ममयः प्लवः ॥ ५ ॥

मुझे इस संसारसागरसे पार जानेकी इच्छा हुई है, अतः मेरे [illegible]में यह जिज्ञासा हो रही है कि मुझे धर्ममयी नौका कहाँसे प्राप्त होगी ? ॥ ५ ॥

संयुज्यमानानि निशम्य लोके
निर्यात्यमानानि च सात्त्विकानि ।
दृष्ट्वा तु धर्मध्वजकेतुमालां
प्रकीर्यमाणामुपरि प्रजानाम् ॥ ६ ॥
[illegible] मे मनो रज्यति भोगकाले
दृष्ट्वा यतीन् प्रार्थयतः परत्र ।
तेनातिथे बुद्धिबलाश्रयेण
धर्मेण धर्मे विनियुङ्क्ष्व मां त्वम् ॥ ७ ॥

जब मैं सुनता हूँ कि संसारमें विषयोंके सम्पर्कमें आये हुए सात्त्विक पुरुष भी तरह तरहकी यातनाएँ भोगते हैं तथा जब देखता हूँ कि समस्त प्रजाके ऊपर यमराजकी

ध्वजाएँ फहरा रही हैं, तब भोगकालमें भोगोंके प्राप्त होनेपर भी उन्हें भोगनेकी रुचि मेरे मनमें नहीं होती है । संन्यासियोंको भी दूसरोंके दरवाजोंपर अन्न-वस्त्रकी भीख माँगते देखता हूँ, तब संन्यासधर्ममें भी मेरा मन नहीं है; अतिथिदेव ! आप अपनी ही बुद्धिके बलसे अब मुझे धर्मद्वारा धर्ममें लगाइये ॥ ६-७ ॥

सोऽतिथिर्वचनं तस्य श्रुत्वा धर्माभिभाषिणः ।
प्रोवाच वचनं श्लक्ष्णं प्राज्ञो मधुरया गिरा ॥ ८ ॥

धर्मयुक्त वचन बोलनेवाले ब्राह्मणकी बात सुनकर उस विद्वान् अतिथिने मधुर वाणीमें यह उत्तम वचन कहा ॥ ८ ॥

अतिथिरुवाच

अहमप्यत्र मुह्यामि ममाप्येष मनोरथः ।
न च संनिश्चयं यामि बहुद्वारे त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

अतिथिने कहा—विप्रवर ! मेरा भी ऐसा ही मनोरथ है । मैं भी आपकी ही भाँति श्रेष्ठ धर्मका आश्रय लेना चाहता हूँ, परंतु मुझे भी इस विषयमें मोह ही हुआ है । स्वर्गके अनेक द्वार (साधन) हैं, अतः किसका लिया । इसका निश्चय भी नहीं कर पाता हूँ ॥ ९ ॥

केचिन्मोक्षं प्रशंसन्ति केचिद् यज्ञफलं द्विजाः ।
वानप्रस्थाश्रयाः केचिद् गार्हस्थ्यं केचिदास्थिताः ॥ १० ॥

कोई द्विज मोक्षकी प्रशंसा करते हैं तो कोई यज्ञफलकी । कोई वानप्रस्थधर्मका आश्रय लेते हैं तो कोई गार्हस्थ्यधर्मका ॥ १० ॥

राजधर्माश्रयं केचित् केचिदात्मफलाश्रयम् ।
गुरुधर्माश्रयं केचित्केचिद् वाक्संयमाश्रयम् ॥ ११ ॥

कोई राजधर्म, कोई आत्मज्ञान, कोई गुरुशुश्रूषा और कोई मौनव्रतका ही आश्रय लिये बैठे हैं ॥ ११ ॥

मातरं पितरं केचिच्छुश्रूषन्तो दिवं गताः ।
अहिंसया परे स्वर्गं सत्येन च परे ॥ १२ ॥

कुछ लोग माता-पिताकी सेवा करके स्वर्गमें चले गये । कोई अहिंसासे और कोई सत्यसे ही स्वर्गलोकके भागी हुए हैं ॥ १२ ॥

आहवेऽभिमुखाः केचिन्निहतास्त्रिदिवं गताः ।
केचिदुञ्छव्रतैः सिद्धाः स्वर्गमार्गं समाश्रिताः ॥ १३ ॥

कुछ वीर पुरुष युद्धमें शत्रुओंका सामना करते हुए मारे जाकर स्वर्गलोकमें पहुँचे हैं । कितने ही मनुष्य उञ्छवृत्तिके द्वारा सिद्धि करके स्वर्गगामी हुए हैं ॥ १३ ॥

केचिदध्ययने युक्ता वेदव्रतपराः शुभाः ।
बुद्धिमन्तो गताः स्वर्गं तुष्टात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ १४ ॥

कुछ बुद्धिमान् पुरुष संतुष्टचित्त और जितेन्द्रिय हो वेदोक्त पालन तथा स्वाध्याय करते हुए शुभसम्पन्न हो स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर चुके हैं ॥ १४ ॥

आर्जवेनापरे युक्ता निहतानार्जवैर्जनैः ।
ऋजवो नाकपृष्ठे शुद्धात्मानः प्रतिष्ठिताः ॥ १५ ॥

कितने ही और शुद्धात्मा पुरुष सरलतासे ही संयुक्त हो कुटिल मनुष्योंद्वारा मारे गये और स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हुए हैं ॥ १५ ॥

एवं बहुविधैर्लोकैर्धर्मद्वारैरनावृतैः ।
ममापि मतिराविग्ना मेघलेखेव वायुना ॥ १६ ॥

इस प्रकार लोकमें धर्मके विविध एवं बहुत-से दरवाजे खुले हुए हैं, उनसे मेरी बुद्धि भी उसी प्रकार उद्विग्न एवं हो उठी है, जैसे वायुसे मेघोंकी घटा ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने चतुःपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५४ ॥

श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५४ ॥

पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिद्वारा नागराज पद्मनामके सदाचार और सद्गुणोंका वर्णन तथा ब्राह्मणको उसके पास जानेके लिये प्रेरणा

अतिथिरुवाच

उपदेशं तु ते विप्र करिष्येऽहं यथाक्रमम् ।
गुरुणा मे यथाख्यातमर्थतत्त्वं तु मे शृणु ॥ १ ॥

अतिथिने कहा—विप्रवर ! मेरे गुरुने इस विषयमें जो तात्त्विक बात बतलायी है, उसीका मैं तुमको क्रमशः उपदेश करूँगा । तुम मेरे इस कथनको सुनो ॥ १ ॥

यत्र पूर्वाभिसर्गे वै धर्मचक्रं प्रवर्तितम् ।
[illegible] गोमतीतीरे तत्र नागाह्वयं पुरम् ॥ २ ॥
समग्रैस्त्रिदशैस्तत्र इष्टमासीद् द्विजर्षभ ।
यत्रेन्द्रातिक्रमं चक्रे [illegible] राजसत्तमः ॥ ३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! पूर्वकल्पमें जहाँ प्रजापतिने धर्मचक्र प्रवर्तित किया [illegible] सम्पूर्ण देवताओंने जहाँ यज्ञ किया था तथा जहाँ राजाओंमें श्रेष्ठ मान्धाता [illegible] करनेमें इन्द्रसे भी आगे बढ़ गये थे, [illegible] नैमिषारण्यमें गोमतीके तटपर नागपुर नामक [illegible] नगर है ॥ २-३ ॥

कृताधिवासो धर्मात्मा तत्र चक्षुःश्रवा महान् ।
पद्मनाभो महाभागः पद्म इत्येव विश्रुतः ॥ [illegible] ॥

वहाँ एक महान् धर्मात्मा सर्प निवास करता है। उस [illegible] [illegible] तो है पद्मनाभ; परंतु पद्म नामसे ही उसकी प्रसिद्धि है ॥ ४ ॥

[illegible] वाचा कर्मणा चैव [illegible] [illegible] द्विजर्षभ ।
प्रसादयति भूतानि त्रिविधे वर्त्मनि स्थितः ॥ ५ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! पद्म मन, वाणी और क्रियाद्वारा कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों मार्गोंका आश्रय लेकर रहता और सम्पूर्ण भूतोंको प्रसन्न रखता है ॥ ५ ॥

[illegible] भेदेन दानेन दण्डेनेति चतुर्विधम् ।
विषमस्थं समस्थं च चक्षुर्ध्यानेन रक्षति ॥ ६ ॥

वह विषमतापूर्ण बर्ताव करनेवाले पुरुषको [illegible] [illegible] दण्ड और भेद-नीतिके द्वारा राहपर लाता है, समदर्शीकी [illegible] करता है और नेत्र आदि इन्द्रियोंको विचारके द्वारा कुमार्गमें जानेसे बचाता है ॥ ६ ॥

तमतिक्रम्य विधिना प्रष्टुमर्हसि काङ्क्षितम् ।
स ते परमकं धर्मं न मिथ्या दर्शयिष्यति ॥ [illegible] ॥

तुम उसीके पास [illegible] विधिपूर्वक अपना मनोवाञ्छित प्रश्न पूछो। वह तुम्हें परम [illegible] धर्मका दर्शन करायेगा; मिथ्या धर्मका उपदेश नहीं करेगा ॥ [illegible] ॥

स हि सर्वातिथिर्नागो बुद्धिशास्त्रविशारदः ।
गुणैरनुपमैर्युक्तः समस्तैराभिकामिकैः ॥ ८ ॥

वह नाग बड़ा बुद्धिमान् और शास्त्रोंका पण्डित है। [illegible] अतिथि-सत्कार करता है। समस्त अनुपम तथा वाञ्छनीय सद्गुणोंसे [illegible] है ॥ ८ ॥

[illegible] नित्यसलिलो नित्यमध्ययने रतः ।
तपोदमाभ्यां संयुक्तो वृत्तेनानवरेण च ॥ ९ ॥

स्वभाव तो उसका पानीके [illegible] है। [illegible] सदा स्वाध्यायमें लगा रहता है। तप, इन्द्रिय-संयम [illegible] उत्तम आचार-विचारसे संयुक्त है ॥ ९ ॥

[illegible] दानपतिः क्षान्तो वृत्ते च परमे स्थितः ।
सत्यवागनसूयश्च शीलवान्नियतेन्द्रियः ॥ १० ॥

वह यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला, दानियोंका शिरोमणि, क्षमाशील, श्रेष्ठ सदाचारमें संलग्न, सत्यवादी, दोषदृष्टिसे रहित, शीलवान् और जितेन्द्रिय है ॥ १० ॥

शेषान्नभोक्ता वचनानुकूलो
हितार्जवोत्कृष्टकृताकृतज्ञः ।
अवैरकृद् भूतहिते नियुक्तो
गङ्गाह्रदाम्भोऽभिजनोपपन्नः ॥ ११ ॥

यज्ञशेष अन्नका वह भोजन करता है, अनुकूल वचन बोलता है, हित और सरलभावसे रहता है। उत्कृष्ट कर्तव्य और अकर्तव्यको जानता है, किसीसे भी वैर नहीं करता है। [illegible] प्राणियोंके हितमें लगा रहता है तथा वह गङ्गाजीके समान पवित्र एवं निर्मल कुलमें उत्पन्न हुआ है ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने
पञ्चपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक
तीन सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५५ ॥

षट्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

अतिथिके वचनोंसे संतुष्ट [illegible] ब्राह्मणका उसके कथनानुसार नागराजके घरकी ओर [illegible]

ब्राह्मण उवाच

अतिभारोऽद्य तस्यैव भारावतरणं महत् ।
पराश्वासकरं वाक्यमिदं मे [illegible] श्रुतम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—अतिथिदेव ! मुझपर बड़ा भारी बोझ-सा लदा हुआ था, उसे आज आपने उतार दिया। यह बहुत बड़ा कार्य हो गया। आपकी यह बात जो मैंने सुनी है, दूसरोंको पूर्ण सान्त्वना प्रदान करनेवाली है ॥ १ ॥

अध्वक्लान्तस्य शयनं स्थानक्लान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधार्तस्य [illegible] भोजनम् ॥ २ ॥

राह चलनेसे थके हुए बटोहीको शय्या, खड़े-खड़े जिसके

पैर दुख रहे हों, उसके लिये बैठनेका आसन, प्यासेको पानी और भूखसे पीड़ित मनुष्यको भोजन मिलनेसे जितना संतोष होता है, उतनी ही प्रसन्नता मुझे आपकी यह बात सुनकर हुई है ॥ २ ॥

ईप्सितस्येव सम्प्राप्तिरन्नस्य समयेऽतिथेः।
एषितस्यात्मनः काले वृद्धस्यैव सुतो यथा ॥ ३ ॥
मनसा चिन्तितस्येव प्रीतिस्निग्धस्य दर्शनम्।
प्रह्लादयति मां वाक्यं भवता यदुदीरितम् ॥ ४ ॥

भोजनके समय मनोवाञ्छित अन्नकी प्राप्ति होनेसे अतिथिको, समयपर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेसे अपने मनको, पुत्रकी प्राप्ति होनेसे वृद्धको तथा मनसे जिसका चिन्तन हो रहा हो, उस प्रेमी मित्रका दर्शन होनेसे मित्रको जितना आनन्द प्राप्त होता है, आज आपने जो बात कही है, वह मुझे उतना ही आनन्द दे रही है ॥ ३-४ ॥

दत्तचक्षुरिवाकाशे पश्यामि विमृशामि च।
प्रज्ञानवचनाद्योऽयमुपदेशो हि मे कृतः ॥ ५ ॥

आपने मुझे यह उपदेश क्या दिया, अन्धेको आँख दे दी। आपके इस ज्ञानमय वचनको सुनकर मैं आकाशकी ओर देखता और कर्तव्यका विचार करता हूँ ॥ ५ ॥

बाढमेवं करिष्यामि यथा मे भाषते भवान्।
इमां हि रजनीं साधो निवसस्व मया सह ॥ ६ ॥
प्रभाते यास्यति भवान् पर्याश्वस्तः सुखोषितः।
असौ हि भगवान् सूर्यो मन्दरश्मिरवाङ्मुखः ॥ ७ ॥

विद्वन्! आप मुझे जैसी सलाह दे रहे हैं, अवश्य ऐसा ही करूँगा। साधो! ये भगवान् सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहे हैं। उनकी किरणें मन्द हो गयी हैं; अतः आप इस रातमें मेरे साथ यहीं रहिये और सुखपूर्वक विश्राम करके भलीभाँति अपनी थकावट दूर कीजिये; फिर सबेरे अपने अभीष्ट स्थानको चले जाइयेगा ॥ ६-७ ॥

भीष्म उवाच

ततस्तेन कृतातिथ्यः सोऽतिथिः शत्रुसूदन।
उवास किल तां रात्रिं सह तेन द्विजेन वै ॥ ८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—शत्रुसूदन! तदनन्तर वह अतिथि उस ब्राह्मणका आतिथ्य ग्रहण करके रातभर वहीं उस ब्राह्मणके साथ रहा ॥ ८ ॥

चतुर्थधर्मसंयुक्तं तयोः कथयतोस्तदा।
व्यतीता सा निशा कृत्स्ना सुखेन दिवसोपमा ॥ ९ ॥

मोक्षधर्मके सम्बन्धमें बातें करते हुए उन दोनोंकी वह सारी रात दिनके समान ही बड़े सुखसे बीत गयी ॥ ९ ॥

ततः प्रभातसमये सोऽतिथिस्तेन पूजितः।
ब्राह्मणेन यथाशक्त्या स्वकार्यमभिकाङ्क्षता ॥ १० ॥

फिर सबेरा होनेपर अपने कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले उस ब्राह्मणद्वारा यथाशक्ति सम्मानित हो वह अतिथि चला गया ॥ १० ॥

ततः स विप्रः कृतकर्मनिश्चयः
कृताभ्यनुज्ञः स्वजनेन धर्मकृत्।
यथोपदिष्टं भुजगेन्द्रसंश्रयं
जगाम काले सुकृतैकनिश्चयः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् वह धर्मात्मा ब्राह्मण अपने अभीष्ट कार्यको पूर्ण करनेका निश्चय करके स्वजनोंकी अनुमति ले अतिथिके बताये अनुसार यथासमय नागराजके घरकी ओर चल दिया। उसने अपने शुभ कार्यको सिद्ध करनेका एक दृढ़ निश्चय कर लिया था ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने षट्पञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५६ ॥

सप्तपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागपत्नीके द्वारा ब्राह्मणका सत्कार और वार्तालापके बाद ब्राह्मणके द्वारा नागराजके आगमनकी प्रतीक्षा

भीष्म उवाच

स वनानि विचित्राणि तीर्थानि च सरांसि च।
अभिगच्छन् क्रमेण स कंचिन्मुनिमुपस्थितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वह ब्राह्मण क्रमशः अनेकानेक विचित्र वनों, तीर्थों और सरोवरोंको लाँघता हुआ किसी मुनिके आश्रमपर उपस्थित हुआ ॥ १ ॥

तं स तेन यथोद्दिष्टं नागं विप्रेण ब्राह्मणः।
पर्यपृच्छद् यथान्यायं श्रुत्वैव च जगाम सः ॥ २ ॥

उस मुनिसे ब्राह्मणने अपने अतिथिके बताये हुए नागका पता पूछा। मुनिने जो कुछ बताया, उसे

यथावत्‌रूपसे सुनकर वह पुनः आगे बढ़ा ॥ २ ॥

सोऽभिगम्य यथान्यायं नागायतनमर्थवित्।
प्रोक्तवानहमस्मीति भोःशब्दालंकृतं वचः॥ ३ ॥

अपने उद्देश्यको ठीक-ठीक समझनेवाला वह ब्राह्मण विधिपूर्वक यात्रा करके नागके घरपर पहुँचा। घरके द्वारपर पहुँचकर उसने 'भोः' शब्दसे विभूषित वचन बोलते हुए पुकार लगायी—'कोई है? मैं यहाँ द्वारपर आया हूँ'॥

ततस्तस्य वचनं श्रुत्वा रूपिणी धर्मवत्सला।
दर्शयामास तं विप्रं नागपत्नी पतिव्रता॥ ४ ॥

उसकी वह बात सुनकर धर्मके प्रति अनुराग रखनेवाली नागराजकी परम सुन्दरी पतिव्रता पत्नीने उस ब्राह्मणको दर्शन दिया॥ ४ ॥

सा तस्मै विधिवत् पूजां चक्रे धर्मपरायणा।
स्वागतेनागतं कृत्वा किं करोमीति चाब्रवीत्॥ ५ ॥

उस धर्मपरायणा सतीने ब्राह्मणका विधिपूर्वक पूजन किया और स्वागत करते हुए कहा—'ब्राह्मणदेव! आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'॥ ५ ॥

ब्राह्मण उवाच

विश्रान्तोऽभ्यर्चितश्चास्मि भवत्या श्लक्ष्णया गिरा।
द्रष्टुमिच्छामि भवति देवं नागमनुत्तमम्॥ ६ ॥

ब्राह्मणने कहा—देवि! आपने मधुर वाणीसे मेरा स्वागत और पूजन किया। इससे मेरी सारी थकावट दूर हो गयी। अब मैं परम उत्तम नागदेवका दर्शन करना चाहता हूँ॥

एतद्धि परमं कार्यमेतन्मे परमेप्सितम्।
अनेन चार्थेनास्म्यद्य सम्प्राप्तः पन्नगाश्रमम्॥ ७ ॥

यही मेरा सबसे बड़ा कार्य है और यही मेरा महान् मनोरथ है, मैं इसी उद्देश्यसे आज नागराजके इस आश्रमपर आया हूँ॥ ७ ॥

नागभार्योवाच

आर्यः सूर्यरथं वोढुं गतोऽसौ मासचारिकः।
सप्ताष्टभिर्दिनैर्विप्र दर्शयिष्यत्यसंशयम्॥ ८ ॥

नागपत्नीने कहा—विप्रवर! मेरे माननीय पतिदेव सूर्यदेवका रथ ढोनेके लिये गये हुए हैं। वर्षमें एक बार एक मासतक उन्हें यह कार्य करना पड़ता है। पंद्रह दिनोंमें ही वे यहाँ दर्शन देंगे—इसमें संशय नहीं है॥ ८ ॥

एतद्विदितमार्यस्य विवासकरणं तव।
भर्तुर्भवतु किं चान्यत् क्रियतां तद् वदस्व मे॥ ९ ॥

मेरे पतिदेव—आर्यपुत्रके बाहर जानेका यह कारण आपको विदित हो। उनके दर्शनके सिवा और क्या काम है? यह मुझे बताइये, जिससे वह पूर्ण किया जाय॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच

अनेन निश्चयेनाहं साध्वि सम्प्राप्तवानिह।
प्रतीक्षन्नागमं देवि वत्स्याम्यस्मिन् महावने॥ १० ॥

ब्राह्मणने कहा—सती-साध्वी देवि! मैं उनके दर्शन करनेका निश्चय करके ही यहाँ आया हूँ; अतः उनके आगमनकी प्रतीक्षा करता हुआ मैं इस महान् वनमें निवास करूँगा॥ १० ॥

सम्प्राप्तस्यैव चाव्यग्रमावेद्योऽहमिहागतः।
ममाभिगमनं प्राप्तो वाच्यश्च वचनं त्वया॥ ११ ॥

जब नागराज यहाँ आ जायँ, तब उन्हें शान्तभावसे यह बतला देना चाहिये कि मैं यहाँ आया हूँ। तुम्हें ऐसी बात उनसे कहनी चाहिये, जिससे वे मेरे निकट आकर मुझे दर्शन दें॥ ११ ॥

अहमप्यत्र वत्स्यामि गोमत्याः पुलिने शुभे।
कालं परिमिताहारो यथोक्तं परिपालयन्॥ १२ ॥

मैं भी यहाँ गोमतीके सुन्दर तटपर परिमित आहार करके तुम्हारे बताये हुए समयकी प्रतीक्षा करता हुआ निवास करूँगा॥ १२ ॥

ततः स विप्रस्तां नागीं समाधाय पुनः पुनः।
तदेव पुलिनं नद्याः प्रययौ ब्राह्मणर्षभः॥ १३ ॥

तदनन्तर वह श्रेष्ठ ब्राह्मण नागपत्नीको बारंबार (नागराजको भेजनेके लिये) जताकर गोमती नदीके तटपर ही चला गया॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने सप्तपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५७ ॥

अष्टपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजके दर्शनके लिये ब्राह्मणकी तपस्या तथा नागराजके परिवारवालोंका भोजनके लिये ब्राह्मणसे आग्रह करना

भीष्म उवाच

अथ तेन नरश्रेष्ठ ब्राह्मणेन तपस्विना।
निराहारेण वसता दुःखितास्ते भुजङ्गमाः॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ! तदनन्तर गोमतीके

तटपर रहता हुआ वह [illegible] निराहार रहकर तपस्या करने [illegible] । उसके भोजन न करनेसे वहाँ रहनेवाले नागोंको बड़ा दुःख हुआ ॥ १ ॥

सर्वे सम्भूय सहिता ह्यस्य नागस्य बान्धवाः।
भ्रातरस्तनया भार्या ययुस्तं ब्राह्मणं प्रति ॥ २ ॥

[illegible] नागराजके भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र [illegible] मिलकर [illegible] ब्राह्मणके पास गये ॥ २ ॥

तेऽपश्यन् पुलिने तं वै विविक्ते नियतव्रतम्।
समासीनं निराहारं द्विजं जप्यपरायणम् ॥ ३ ॥

उन्होंने देखा, ब्राह्मण गोमतीके तटपर एकान्त प्रदेशमें व्रत और नियमके पालनमें तत्पर हो निराहार बैठा हुआ है और मन्त्रका जप कर रहा है ॥ ३ ॥

ते सर्वे समतिक्रम्य विप्रमभ्यर्च्य चासकृत्।
ऊचुर्वाक्यमसंदिग्धमातिथेयस्य बान्धवाः ॥ [illegible] ॥

अतिथि-सत्कारके लिये प्रसिद्ध हुए नागराजके सब भाई-बन्धु ब्राह्मणके पास जा उसकी बारंबार पूजा करके संदेह-रहित वाणीमें बोले—॥ ४ ॥

षष्ठो हि दिवसस्तेऽद्य प्राप्तस्येह तपोधन।
[illegible] चाभिभाषसे किंचिदाहारं धर्मवत्सल ॥ ५ ॥

'धर्मवत्सल तपोधन ! आपको यहाँ आये आज छः दिन हो गये; किंतु अभीतक आप कुछ भोजन लानेके लिये हमें आज्ञा नहीं दे रहे हैं ॥ ५ ॥

अस्मानभिगतश्चासि वयं [illegible] त्वामुपस्थिताः।
कार्यं चातिथ्यमस्माभिर्वयं सर्वे कुटुम्बिनः ॥ ६ ॥

'आप हमारे घर अतिथिके रूपमें आये हैं और हम आपकी सेवामें उपस्थित हुए हैं। आपका आतिथ्य करना हमारा कर्तव्य है; क्योंकि हम सब लोग गृहस्थ हैं ॥ ६ ॥

मूलं फलं वा पर्णं वा पयो वा द्विजसत्तम।
आहारहेतोरन्नं वा भोक्तुमर्हसि ब्राह्मण ॥ ७ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ब्राह्मणदेव ! आप क्षुधाकी निवृत्तिके लिये हमारे लाये हुए फल-मूल, साग, दूध अथवा अन्नको अवश्य ग्रहण करनेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

त्यक्ताहारेण भवता वने निवसता त्वया।
बालवृद्धमिदं सर्वं पीड्यते धर्मसंकटात् ॥ ८ ॥

'इस वनमें रहकर आपने भोजन छोड़ दिया है। इससे हमारे धर्ममें बाधा आती है। बालकसे लेकर वृद्धतक हम सब लोगोंको इस बातसे बड़ा कष्ट हो रहा है ॥ ८ ॥

न हि नो भ्रूणहा कश्चिज्जातापत्यमृतोऽपि वा।
पूर्वाशी वा कुले ह्यस्मिन् देवतातिथिबन्धुषु ॥ ९ ॥

'हमारे इस कुलमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसने कभी भ्रूणहत्या की हो, जिसकी संतान पैदा होकर मर गयी हो, जिसने मिथ्या भाषण किया हो अथवा जो देवता, अतिथि एवं बन्धुओंको अन्न देनेके पहले ही भोजन कर लेता हो' ॥ ९ ॥

ब्राह्मण उवाच

उपदेशेन युष्माकमाहारोऽयं कृतो मया।
द्विरूनं दशरात्रं वै नागस्यागमनं प्रति ॥ १० ॥

ब्राह्मणने कहा—नागगण ! आपलोगोंके इस उपदेशसे ही मैं तृप्त हो गया। आपलोग ऐसा समझें कि मैंने यह आहार ही प्राप्त कर लिया। नागराजके आनेमें केवल आठ रातें बाकी हैं ॥ १० ॥

यद्यष्टरात्रेऽतिक्रान्ते नागमिष्यति पन्नगः।
तदाहारं करिष्यामि तन्निमित्तमिदं व्रतम् ॥ ११ ॥

यदि आठ रात बीत जानेपर भी नागराज नहीं आयेंगे तो मैं भोजन कर लूँगा। उनके आगमनके लिये ही मैंने यह व्रत लिया है ॥ ११ ॥

कर्तव्यो न च संतापो गम्यतां च यथागतम्।
तन्निमित्तमिदं सर्वं नैतद् भेत्तुमिहार्हथ ॥ १२ ॥

आपलोगोंको इसके लिये संताप नहीं करना चाहिये। आप जैसे आये हैं, वैसे ही घर लौट जाइये। नागराजके दर्शनके लिये ही मेरा यह सारा [illegible] और नियम है। अतः आपलोग इसे भङ्ग न करें ॥ १२ ॥

ते तेन समनुज्ञाता ब्राह्मणेन भुजङ्गमाः।
स्वमेव भवनं जग्मुरकृतार्था नरर्षभ ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ ! उस ब्राह्मणके इस प्रकार आदेश देनेपर वे नाग अपने प्रयत्नमें असफल हो घरको ही लौट गये ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने अष्टपञ्चाशदधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ अट्ठावनवाँ [illegible] पूरा हुआ ॥ ३५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजका घर लौटना, पत्नीके साथ उनकी धर्मविषयक बातचीत [illegible] पत्नीका उनसे ब्राह्मणको दर्शन देनेके लिये अनुरोध

भीष्म उवाच

अथ काले बहुतिथे पूर्णे प्राप्तो भुजङ्गमः।
दत्ताभ्यनुज्ञः स्वं वेश्म कृतकर्मा विवस्वता ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर कई दिनोंका समय पूरा होनेपर [illegible] नागराजका काम पूरा हो गया, तब सूर्यदेवकी आज्ञा पाकर वे अपने घरको लौटे ॥ १ ॥

तं भार्याप्युपचक्राम पादशौचादिभिर्गुणैः।
उपपन्नां च तां साध्वीं [illegible] पर्यपृच्छत ॥ २ ॥

वहाँ नागराजकी पत्नी पैर धोनेके लिये जल—पाद्य आदि उत्तम सामग्रियोंके [illegible] पतिकी सेवामें उपस्थित हुई। अपनी साध्वी पत्नीको समीप आयी देख नागराजने पूछा—॥

[illegible] त्वमसि कल्याणि देवतातिथिपूजने।
पूर्वमुक्तेन विधिना युक्ता युक्तेन मत्समम् ॥ ३ ॥

'कल्याणि ! मेरे द्वारा बतायी हुई उपयुक्त विधिसे युक्त हो तुम मेरे ही समान देवताओं और अतिथियोंके पूजनमें तत्पर तो रही हो न ? ॥ ३ ॥

[illegible] खल्वस्यकृतार्थेन स्त्रीबुद्ध्या मार्दवीकृता।
मद्वियोगेन सुश्रोणि वियुक्ता धर्मसेतुना ॥ ४ ॥

'सुन्दरि ! मेरे वियोगमें तुम्हें शिथिल तो नहीं [illegible] दिया था ? तुम्हारी स्त्री-बुद्धिके कारण कहीं धर्मकी मर्यादा असफल या अरक्षित तो नहीं रह गयी और उसके कारण [illegible] धर्म-पालनसे विमुख या दूर तो नहीं हो गयीं ? ॥ ४ ॥

नागभार्योवाच

शिष्याणां गुरुशुश्रूषा विप्राणां वेदधारणम्।
भृत्यानां स्वामिवचनं राज्ञो लोकानुपालनम् ॥ ५ ॥

नागपत्नीने कहा—शिष्योंका धर्म है गुरुकी सेवा करना, ब्राह्मणोंका धर्म है वेदोंको धारण करना, सेवकोंका धर्म है स्वामीकी आज्ञाका पालन तथा राजाका धर्म है प्रजावर्गका सतत संरक्षण ॥ ५ ॥

सर्वभूतपरित्राणं क्षत्रधर्म इहोच्यते।
वैश्यानां यज्ञसंवृत्तिरातिथेयसमन्विता ॥ ६ ॥

इस जगत्‌में समस्त प्राणियोंकी [illegible] करना क्षत्रिय-धर्म बताया जाता है। [illegible]तिथिसत्कारके साथ-साथ यज्ञोंका अनुष्ठान करना वैश्योंका धर्म कहा गया है ॥ ६ ॥

विप्रक्षत्रियवैश्यानां शुश्रूषा शूद्रकर्म तत्।
गृहस्थधर्मो नागेन्द्र सर्वभूतहितैषिता ॥ [illegible] ॥

नागराज ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका कर्तव्य बताया गया है और [illegible] प्राणियोंके हितकी इच्छा रखना गृहस्थका धर्म है ॥ [illegible] ॥

नियताहारता नित्यं व्रतचर्या यथाक्रमम्।
धर्मो हि धर्मसम्बन्धादिन्द्रियाणां विशेषतः ॥ [illegible] ॥

नियमित आहारका सेवन और विधिवत् [illegible] पालन उसका धर्म है। धर्म-पालनके सम्बन्धसे इन्द्रियोंकी विशेष-रूपसे शुद्धि होती है ॥ ८ ॥

अहं [illegible] कुतो वापि कः को मे [illegible] भवेदिति।
प्रयोजनमतिर्नित्यमेवं मोक्षाश्रमे वसेत् ॥ ९ ॥

'मैं किसका हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? मेरा कौन है ? तथा इस जीवनका प्रयोजन क्या है ?' इत्यादि बातोंका सदा विचार करते हुए ही सन्यासीको सन्यास-आश्रममें रहना चाहिये ॥

पतिव्रतात्वं भार्यायाः परमो धर्म उच्यते।
तवोपदेशान्नागेन्द्र तच्च तत्त्वेन वेद्मि वै ॥ १० ॥

[illegible] ! पत्नीके लिये पातिव्रत्य ही सबसे बड़ा धर्म [illegible] है। आपके उपदेशसे अपने [illegible] धर्मको मैं अच्छी तरह समझती हूँ ॥ १० ॥

साहं धर्मं विजानन्ती धर्मनित्ये त्वयि स्थिते।
सत्पथं कथमुत्सृज्य यास्यामि विपथं पथः ॥ ११ ॥

जब आप—मेरे पतिदेव सदा धर्मपर स्थित रहते हैं, [illegible] धर्मको जानती हुई भी [illegible] कैसे सन्मार्गका त्याग करके कुमार्गपर पैर रखूँगी ? ॥ ११ ॥

देवतानां महाभाग धर्मचर्या न हीयते।
अतिथीनां [illegible] सत्कारे नित्ययुक्तास्म्यतन्द्रिता ॥ १२ ॥

महाभाग ! देवताओंकी आराधनारूप धर्मचर्यामें कोई कमी नहीं आयी है, अतिथियोंके सत्कारमें भी [illegible] सदा [illegible] छोड़कर लगी रही हूँ ॥ १२ ॥

सप्ताष्टदिवसास्त्वद्य विप्रस्येहागतस्य वै।
[illegible] न मे ख्याति दर्शनं [illegible] काङ्क्षति ॥ १३ ॥

परंतु आज पंद्रह दिनसे एक ब्राह्मणदेवता यहाँ पधारे हुए हैं। वे मुझसे अपना कोई कार्य नहीं बता रहे हैं। केवल आपका दर्शन चाहते हैं ॥ १३ ॥

गोमत्यास्त्वेष पुलिने त्वद्दर्शनसमुत्सुकः।
आसीनो वर्तयन् ब्रह्म [illegible] संशितव्रतः ॥ १४ ॥

वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण वेदोंका पारायण करते हुए आपके दर्शनके लिये उत्सुक हो गोमतीके किनारे बैठे हुए हैं ॥ १४ ॥

अहं त्वनेन नागेन्द्र सत्यपूर्वं समाहिता।
प्रस्थाप्यो मत्सकाशं स सम्प्राप्तो भुजगोत्तमः ॥ १५ ॥

नागराज ! उन्होंने मुझसे पहले सच्ची प्रतिज्ञा करा ली है कि नागराजके आते ही तुम उन्हें मेरे पास भेज देना ॥

एतच्छ्रुत्वा महाप्राज्ञ तत्र गन्तुं त्वमर्हसि।
दातुमर्हसि वा तस्य दर्शनं दर्शनश्रवः ॥ १६ ॥

महाप्राज्ञ नागराज ! मेरी यह बात सुनकर अब आपको वहाँ जाना चाहिये और ब्राह्मणदेवताको दर्शन देना चाहिये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने एकोनषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५९ ॥

षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

पत्नीके धर्मयुक्त वचनोंसे नागराजके अभिमान एवं रोषका नाश और उनका ब्राह्मणको दर्शन देनेके लिये उद्यत होना

नाग उवाच

अथ ब्राह्मणरूपेण कं तं समनुपश्यसि।
मानुषं केवलं विप्रं देवं वाथ शुचिस्मिते ॥ १ ॥

नागने पूछा—पवित्र मुस्कानवाली देवि ! ब्राह्मणरूपमें तुमने किसका दर्शन किया है ? वे ब्राह्मण कोई मनुष्य हैं या देवता ? ॥ १ ॥

को हि मां मानुषः शक्तो द्रष्टुकामो यशस्विनि।
संदर्शनरुचिर्वाक्यमाज्ञापूर्वं वदिष्यति ॥ २ ॥

यशस्विनि ! भला, कौन मनुष्य मुझे देखनेकी इच्छा कर सकता है और यदि दर्शनकी इच्छा करे भी तो कौन इस तरह मुझे आज्ञा देकर बुला सकता है ? ॥ २ ॥

सुरासुरगणानां च देवर्षीणां च भाविनि।
ननु नागा महावीर्याः सौरसेयास्तरस्विनः ॥ ३ ॥
वन्दनीयाश्च वरदा वयमप्यनुयायिनः।
मनुष्याणां विशेषेण नावेक्ष्या इति मे मतिः ॥ ४ ॥

भाविनि ! सुरसाके वंशज नाग महापराक्रमी और अत्यन्त वेगशाली होते हैं। वे देवताओं, असुरों और देवर्षियोंके लिये भी वन्दनीय हैं। हमलोग भी अपने सेवकको वर देनेवाले हैं। विशेषतः मनुष्योंके लिये हमारा दर्शन सुलभ नहीं है, ऐसी मेरी धारणा है ॥ ३-४ ॥

नागभार्योवाच

आर्जवेन विजानामि नासौ देवोऽनिलाशन।
एकं त्वस्मिन् विजानामि भक्तिमानतिरोषण ॥ ५ ॥

नागपत्नी बोली—अत्यन्त क्रोधी स्वभाववाले वायुभोजी नागराज ! उन ब्राह्मणकी सरलतासे तो मैं यही समझती हूँ कि वे देवता नहीं हैं। मुझे उनमें एक बहुत बड़ी विशेषता यह जान पड़ी है कि वे आपके भक्त हैं ॥ ५ ॥

स हि कार्यान्तराकाङ्क्षी जलेप्सुः स्तोकको यथा।
वर्षं वर्षप्रियः पक्षी दर्शनं तव काङ्क्षति ॥ ६ ॥

जैसे वर्षाके जलका प्रेमी प्यासा पपीहा पक्षी पानीके लिये वर्षाकी बाट जोहता रहता है, उसी प्रकार वे ब्राह्मण किसी दूसरे कार्यको सिद्ध करनेकी इच्छासे आपका दर्शन चाहते हैं ॥ ६ ॥

हित्वा त्वद्दर्शनं किंचिद् विघ्नं न प्रतिपालयेत्।
तुल्योऽप्यभिजने जातो न कश्चित् पर्युपासते ॥ ७ ॥

वे आपका दर्शन छोड़कर दूसरी किसी वस्तुको विघ्न समझते हैं; अतः वह विघ्न उन्हें नहीं प्राप्त होना चाहिये। उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ आपके समान कोई सद्गृहस्थ अतिथिकी उपेक्षा करके घरमें नहीं बैठता है ॥ ७ ॥

तद्रोषं सहजं त्यक्त्वा त्वमेनं द्रष्टुमर्हसि।
आशाच्छेदेन तस्याद्य नात्मानं दग्धुमर्हसि ॥ ८ ॥

अतः आप अपने सहज रोषको त्यागकर इन ब्राह्मणदेवताका दर्शन कीजिये। आज इनकी आशा भंग करके अपने-आपको भस्म न कीजिये ॥ ८ ॥

आशया ह्यभिपन्नानामकृत्वाश्रुप्रमार्जनम्।
राजा वा राजपुत्रो वा भ्रूणहत्यैव युज्यते ॥ ९ ॥

जो आशा लगाकर अपनी शरणमें आये हों, उनके आँसू जो नहीं पोंछता है, वह राजा हो या राजकुमार, उसे भ्रूणहत्याका पाप लगता है ॥ ९ ॥

मौनेन ज्ञानफलावाप्तिर्दानेन च यशो महत्।
वाग्मित्वं सत्यवाक्येन परत्र च महीयते ॥ १० ॥

मौन रहनेसे ज्ञानरूपी फलकी प्राप्ति होती है, दान देनेसे महान् यशकी वृद्धि होती है । [illegible] बोलनेसे वाणीकी पटुता और परलोकमें प्रतिष्ठा [illegible] होती है ॥ १० ॥

भूप्रदानेन [illegible] गतिं लभत्याश्रमसम्मिताम् ।
न्यायप्राप्तस्यार्थस्य सम्प्राप्तिं कृत्वा फलमुपाश्नुते ॥ ११ ॥

भूदान करनेसे मनुष्य आश्रम-धर्मके पालनके समान उत्तम गति [illegible] है । न्यायपूर्वक धनका उपार्जन करके पुरुष श्रेष्ठ फलका भागी होता है ॥ ११ ॥

अभिप्रेतामसंक्लिष्टां [illegible] चात्महितां क्रियाम् ।
न याति निरयं कश्चिदिति धर्मविदो विदुः ॥ १२ ॥

अपनी रुचिके अनुकूल कर्म भी यदि पापके सम्पर्कसे रहित और अपने लिये हितकर हो तो उसे करके कोई भी नरकमें नहीं पड़ता है । ऐसा धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ १२ ॥

नाग उवाच

अभिमानैर्न मानो मे जातिदोषेण वै महान् ।
रोषः संकल्पजः साध्वि दग्धो वागग्निना त्वया ॥ १३ ॥

साध्वि ! मुझमें अहंकारके कारण अभिमान नहीं है; अपितु जाति-दोषके कारण महान् रोष भरा हुआ है । मेरे उस संकल्पजनित रोषको अब तुमने अपनी वाणीरूप अग्निसे जलाकर भस्म [illegible] दिया ॥ १३ ॥

[illegible] रोषादहं साध्वि पश्येयमधिकं तमः ।
[illegible] वक्तव्यतां यान्ति विशेषेण भुजङ्गमाः ॥ १४ ॥

पतिव्रते ! [illegible] रोषसे बढ़कर मोहमें डालनेवाला दूसरा कोई दोष नहीं देखता और क्रोधके लिये सर्प ही अधिक बदनाम हैं ॥ १४ ॥

रोषस्य हि वशं [illegible] दशग्रीवः प्रतापवान् ।
[illegible] शक्रप्रतिस्पर्धी हतो रामेण संयुगे ॥ १५ ॥

इन्द्रसे भी टक्कर लेनेवाला प्रतापी दशानन रावण रोषके ही अधीन होकर युद्धमें श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे मारा [illegible] ॥ १५ ॥

अन्तःपुरगतं वत्सं श्रुत्वा रामेण निर्हृतम् ।
धर्षणारोषसंविग्नाः कार्तवीर्यसुता हताः ॥ १६ ॥

'होमधेनुके बछड़ेका अपहरण करके उसे राजाके अन्तःपुरमें रख दिया गया है' ऐसा सुनकर परशुरामजीने तिरस्कारजनक रोषसे भरे हुए कार्तवीर्यपुत्रोंको मार डाला ॥ १६ ॥

जामदग्न्येन रामेण सहस्रनयनोपमः ।
संयुगे निहतो रोषात् कार्तवीर्यो महाबलः ॥ १७ ॥

महाबली राजा कार्तवीर्य अर्जुन इन्द्रके समान पराक्रमी था; परंतु रोषके ही कारण जमदग्निनन्दन परशुरामके द्वारा युद्धमें मारा गया ॥ १७ ॥

तदेष तपसां शत्रुः श्रेयसां विनिपातकः ।
निगृहीतो [illegible] रोषः श्रुत्वैवं वचनं [illegible] ॥ १८ ॥

इसलिये आज तुम्हारी बात सुनकर ही तपस्याके शत्रु और कल्याणमार्गसे भ्रष्ट करनेवाले इस क्रोधको मैंने काबूमें कर लिया है ॥ १८ ॥

आत्मानं च विशेषेण प्रशंसाम्यनपायिनी ।
[illegible] मे त्वं विशालाक्षि भार्या गुणसमन्विता ॥ १९ ॥

विशाललोचने ! [illegible] अपनी एवं अपने सौभाग्यकी विशेषरूपसे प्रशंसा [illegible] हूँ, जिसे तुम-जैसी सद्गुणवती तथा कभी बिलग न होनेवाली पत्नी प्राप्त हुई है ॥ १९ ॥

[illegible] तत्रैव गच्छामि यत्र तिष्ठत्यसौ द्विजः ।
सर्वथा चोक्तवान् वाक्यं स कृतार्थः प्रयास्यति ॥ २० ॥

यह लो, अब [illegible] वहीं [illegible] हूँ, जहाँ वे ब्राह्मण देवता विराजमान हैं । वे जो कहेंगे वही करूँगा । वे सर्वथा कृतार्थ होकर यहाँसे जायँगे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने षष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६० ॥

एकषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराज और [illegible] परस्पर मिलन [illegible] बातचीत

भीष्म उवाच

[illegible] पन्नगपतिस्तत्र प्रययौ ब्राह्मणं प्रति ।
तमेव [illegible] ध्यायन् कार्यवत्तां विचारयन् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह कहकर नागराज मन-ही-मन [illegible] ब्राह्मणके कार्यका विचार करते हुए उसके पास गये ॥ १ ॥

तमतिक्रम्य नागेन्द्रो मतिमान् स नरेश्वर ।
प्रोवाच मधुरं वाक्यं प्रकृत्या धर्मवत्सलः ॥ २ ॥

नरेश्वर ! उसके निकट पहुँचकर बुद्धिमान् नागेन्द्र, जो स्वभावसे ही धर्मानुरागी थे, मधुर वाणीमें बोले— ॥ २ ॥

भो भोः क्षाम्याभिभाषे त्वां न रोषं कर्तुमर्हसि ।
इह त्वमभिसम्प्राप्तः कस्यार्थे किं प्रयोजनम् ॥ ३ ॥

'हे ब्राह्मणदेव ! आप मेरे अपराधोंको क्षमा करें । मुझपर रोष न करें । मैं आपसे पूछता हूँ कि आप यहाँ किसके लिये आये हैं ? आपका क्या प्रयोजन है ? ॥ ३ ॥

आभिमुख्यादभिक्रम्य स्नेहात् पृच्छामि ते द्विज।
विविक्ते गोमतीतीरे कं वा त्वं पर्युपाससे ॥ ४ ॥

'ब्रह्मन् ! मैं आपके सामने आकर प्रेमपूर्वक पूछता हूँ कि गोमतीके इस एकान्त तटपर आप किसकी उपासना करते हैं ?' ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच

धर्मारण्यं हि मां विद्धि नागं द्रष्टुमिहागतम्।
पद्मनाभं द्विजश्रेष्ठ तत्र मे कार्यमाहितम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपको विदित हो कि मेरा नाम धर्मारण्य है । मैं नागराज पद्मनाभका दर्शन करनेके लिये यहाँ आया हूँ । उन्हींसे मुझे कुछ काम है ॥ ५ ॥

तस्य चाहमसांनिध्यं श्रुतवानस्मि तं गतम्।
स्वजनात् तं प्रतीक्षामि पर्जन्यमिव कर्षकः ॥ ६ ॥

उनके स्वजनोंसे मैंने सुना है कि वे यहाँसे दूर गये हुए हैं, अतः जैसे किसान वर्षाकी राह देखता है, उसी तरह मैं भी उनकी बाट जोहता हूँ ॥ ६ ॥

तस्य चाक्लेशकरणं स्वस्तिकारसमाहितम्।
आवर्तयामि तद् ब्रह्म योगयुक्तो निरामयः ॥ ७ ॥

उन्हें कोई क्लेश न हो । वे सकुशल घर लौटकर आ जायँ, इसके लिये नीरोग एवं योगयुक्त होकर मैं वेदोंका पारायण कर रहा हूँ ॥ ७ ॥

नाग उवाच

अहो कल्याणवृत्तस्त्वं साधुः सज्जनवत्सलः।
अवाच्यस्त्वं महाभाग परं स्नेहेन पश्यसि ॥ ८ ॥

नागने कहा—महाभाग ! आपका आचरण बड़ा ही कल्याणमय है । आप बड़े ही साधु हैं और सज्जनोंपर स्नेह रखते हैं । किसी भी दृष्टिसे आप निन्दनीय नहीं हैं; क्योंकि दूसरोंको स्नेहदृष्टिसे देखते हैं ॥ ८ ॥

अहं स नागो विप्रर्षे यथा मां विन्दते भवान्।
आज्ञापय यथा स्वैरं किं करोमि प्रियं तव ॥ ९ ॥

ब्रह्मर्षे ! मैं ही वह नाग हूँ, जिससे आप मिलना चाहते हैं। आप मुझे जैसा जानते हैं, मैं वैसा ही हूँ । इच्छानुसार आज्ञा दीजिये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ ९ ॥

भवन्तं स्वजनादस्मि सम्प्राप्तं श्रुतवानहम्।
अतस्त्वां स्वयमेवाहं द्रष्टुमभ्यागतो द्विज ॥ १० ॥

ब्रह्मन् ! अपने स्वजन (पत्नी) से मैंने आपके आगमनका समाचार सुना है; इसलिये स्वयं ही आपका दर्शन करनेके लिये चला आया हूँ ॥ १० ॥

सम्प्राप्तश्च भवानद्य कृतार्थः प्रतियास्यति।
विस्रब्धो मां द्विजश्रेष्ठ विषये योक्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! जब आप यहाँतक आ गये हैं, तब अब कृतार्थ होकर ही यहाँसे लौटेंगे; अतः बेखटके मुझे अपने अभीष्ट कार्यके साधनमें लगाइये ॥ ११ ॥

वयं हि भवता सर्वे गुणक्रीता विशेषतः।
यस्त्वमात्महितं त्यक्त्वा मामेवेहानुरुध्यसे ॥ १२ ॥

आपने हम सब लोगोंको विशेषरूपसे अपने गुणोंसे खरीद लिया है; क्योंकि आप अपने हितकी बातको अलग रखकर मेरे ही कल्याणका चिन्तन कर रहे हैं ॥ १२ ॥

ब्राह्मण उवाच

आगतोऽहं महाभाग तव दर्शनलालसः।
कंचिदर्थमनर्थज्ञः प्रष्टुकामो भुजङ्गम ॥ १३ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाभाग नागराज ! मैं आपहीके दर्शनकी लालसासे यहाँ आया हूँ । आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ, जिसे मैं स्वयं नहीं जानता हूँ ॥ १३ ॥

अहमात्मानमात्मस्थो मार्गमाणोऽऽत्मनो गतिम्।
वासार्थिनं महाप्राज्ञं चलचित्तमुपासि ह ॥ १४ ॥

मैं विषयोंसे निवृत्त हो अपने आपमें ही स्थित रहकर जीवात्माओंकी परमगतिस्वरूप परब्रह्म परमात्माकी खोज कर रहा हूँ, तो भी महान् बुद्धियुक्त गृहमें आसक्त हुए इस

चञ्चल चित्तकी उपासना करता हूँ (अतः मैं न तो आसक्त हूँ और न विरक्त ही हूँ)॥ १४ ॥

प्रकाशितस्त्वं स्वगुणैर्यशोगर्भगभस्तिभिः ।
शशाङ्ककरसंस्पर्शैर्हृद्यैरात्मप्रकाशितैः ॥ १५ ॥

आप चन्द्रमाकी किरणोंकी भाँति सुखद स्पर्शवाले और स्वतः प्रकाशित होनेवाले सुयशरूपी किरणोंसे युक्त अपने मनोरम गुणोंसे ही प्रकाशमान हैं ॥ १५ ॥

तस्य मे प्रश्नमुत्पन्नं छिन्धि त्वमनिलाशन ।
पश्चात् कार्यं वदिष्यामि श्रोतुमर्हति तद् भवान् ॥ १६ ॥

पवनाशन ! इस समय मेरे मनमें एक नया प्रश्न उठा है । पहले इसका समाधान कीजिये । उसके बाद मैं आपसे अपना कार्य निवेदन करूँगा और आप उसे ध्यानसे सुनियेगा ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने एकषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजका ब्राह्मणके पूछनेपर सूर्यमण्डलकी आश्चर्यजनक घटनाओंको सुनाना

ब्राह्मण उवाच

विवस्वतो गच्छति पर्ययेण
वोढुं भवांस्तं रथमेकचक्रम् ।
आश्चर्यभूतं यदि तत्र किंचिद्
दृष्टं त्वया शंसितुमर्हसि त्वम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—नागराज ! आप सूर्यके एक पहियेके रथको खींचनेके लिये बारी-बारीसे जाया करते हैं । यदि वहाँ कोई आश्चर्यजनक बात आपने देखी हो तो उसे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

नाग उवाच

आश्चर्याणामनेकानां प्रतिष्ठा भगवान् रविः ।
यतो भूताः प्रवर्तन्ते सर्वे त्रैलोक्यसम्मताः ॥ २ ॥

नागने कहा—ब्रह्मन् ! भगवान् सूर्य तो अनेकानेक आश्चर्योंके निधि हैं; क्योंकि तीनों लोकोंमें जितने भी प्राणी हैं, वे सब उन्हींसे प्रेरित होकर अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं ॥

यस्य रश्मिसहस्रेषु शाखास्विव विहंगमाः ।
वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह ॥ ३ ॥

जैसे वृक्षकी शाखाओंपर बहुत-से पक्षी बसेरा लेते हैं, उसी प्रकार सूर्यदेवकी सहस्रों किरणोंका आश्रय ले देवताओं-सहित सिद्ध और मुनि निवास करते हैं ॥ ३ ॥

यतो वायुर्विनिःसृत्य सूर्यरश्म्याश्रितो महान् ।
विजृम्भत्यम्बरे विप्र किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ४ ॥

महान् वायुदेव सूर्यमण्डलसे निकलकर सूर्यकी किरणोंका आश्रय ले समूचे आकाशमें फैल जाते हैं । इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ? ॥ ४ ॥

विभज्य तं तु विप्रर्षे प्रजानां हितकाम्यया ।
तोयं सृजति वर्षासु किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मर्षे ! प्रजाके हितकी कामनासे भगवान् सूर्य उस वायुको अनेक भागोंमें विभक्त करके वर्षाऋतुमें जो जलकी सृष्टि करते हैं, उससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ? ॥५॥

यस्य मण्डलमध्यस्थो महात्मा परमत्विषा ।
दीप्तः समीक्षते लोकान् किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ६ ॥

सूर्यमण्डलके मध्यमें उनके अन्तर्यामी महात्मा सूर्यदेव अपनी उत्तम प्रभासे प्रकाशित होते हुए सम्पूर्ण लोकोंका निरीक्षण करते हैं, उससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा ? ॥

शुक्रो नामासितः पादो यश्च वारिधरोऽम्बरे ।
तोयं सृजति वर्षासु किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ७ ॥

शुक्र नामक जो काला मेघ, जो आकाशमें वर्षाके समय जल उत्पन्न करता है, वह भी सूर्यका ही स्वरूप है । इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा ? ॥ ७ ॥

योऽष्टमासांस्तु शुचिना किरणेनोक्षितं पयः ।
प्रत्यादत्ते पुनः काले किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ८ ॥

सूर्यदेव बरसातमें पृथ्वीपर जो पानी बरसाते हैं, उसे अपनी विशुद्ध किरणोंद्वारा आठ महीनेमें पुनः सोख लेते हैं । इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या होगी ? ॥ ८ ॥

यस्य तेजोविशेषेषु नित्यमात्मा प्रतिष्ठितः ।
यतो बीजं मही चेयं धार्यते सचराचरा ॥ ९ ॥
यत्र देवो महाबाहुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ।
अनादिनिधनो विप्र किमाश्चर्यमतः परम् ॥ १० ॥

विप्रवर ! जिन सूर्यदेवके विशिष्ट तेजमें साक्षात् परमात्मा-का निवास है, जिनसे नाना प्रकारके बीज उत्पन्न होते हैं, जिनके ही सहारे चराचर प्राणियोंसहित यह सम्पूर्ण पृथ्वी टिकी हुई है तथा जिनके मण्डलमें आदि-अन्तरहित महाबाहु सनातन पुरुषोत्तम भगवान् नारायण विराजमान हैं, उनसे बढ़कर आश्चर्यकी वस्तु और क्या हो सकती है ? ॥ ९-१० ॥

आश्चर्याणामिवाश्चर्यमिदमेकं तु मे शृणु।
विमले यन्मया दृष्टमम्बरे सूर्यसंश्रयात्॥ ११॥

किंतु इन सब आश्चर्योंमें भी एक परम आश्चर्यकी यह बात जो मैंने सूर्यके सहारे निर्मल आकाशमें अपनी आँखों देखी है, उसे बता रहा हूँ—सुनिये॥ ११॥

पुरा मध्याह्नसमये लोकांस्तपति भास्करे।
प्रत्यादित्यप्रतीकाशः सर्वतः समदृश्यत॥ १२॥

पहलेकी बात है, एक दिन मध्याह्नकालमें भगवान् भास्कर सम्पूर्ण लोकोंको तपा रहे थे। उसी समय दूसरे सूर्यके समान एक तेजस्वी पुरुष दिखायी दिया, जो सब ओरसे प्रकाशित हो रहा था॥ १२॥

स लोकांस्तेजसा सर्वान् [illegible] निर्विभासयन्।
आदित्याभिमुखोऽभ्येति गगनं पाटयन्निव॥ १३॥

वह अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करता हुआ मानो आकाशको चीरकर सूर्यकी ओर बढ़ा आ रहा था॥१३॥

हुताहुतिरिव ज्योतिर्व्याप्य तेजोमरीचिभिः।
अनिर्देश्येन रूपेण द्वितीय इव भास्करः॥ १४॥

घीकी आहुति डालनेसे प्रज्वलित हुई अग्निके [illegible] अपनी तेजोमयी किरणोंसे समस्त ज्योतिर्मण्डलको व्याप्त करके अनिर्वचनीयरूपसे द्वितीय सूर्यकी भाँति देदीप्यमान होता था॥ १४॥

तस्याभिगमनप्राप्तौ हस्तौ दत्तौ विवस्वता।
तेनापि दक्षिणो हस्तो दत्तः प्रत्यर्चितार्थिना॥ १५॥

जब वह निकट आया, तब भगवान् सूर्यने उसके स्वागतके लिये अपनी दोनों भुजाएँ उसकी ओर बढ़ा दीं। उसने भी उनके सम्मानके लिये अपना दाहिना हाथ उनकी ओर बढ़ा दिया॥ १५॥

ततो भित्त्वैव गगनं प्रविष्टो रश्मिमण्डलम्।
एकीभूतं च तत् तेजः क्षणेनादित्यतां गतम्॥ १६॥

तत्पश्चात् आकाशको भेदकर वह सूर्यकी किरणोंके समूहमें समा गया और एक ही क्षणमें तेजोराशिके साथ एकाकार होकर सूर्यस्वरूप हो गया॥ १६॥

तत्र नः संशयो जातस्तयोस्तेजःसमागमे।
अनयोः को भवेत् सूर्यो रथस्थो योऽयमागतः॥ १७॥

[illegible] समय उन दोनों तेजोंके मिल जानेपर हमलोगोंके मनमें यह संदेह हुआ कि इन दोनोंमें असली सूर्य कौन थे? जो उस रथपर बैठे हुए थे वे, अथवा जो अभी पधारे थे वे?॥ १७॥

ते वयं जातसंदेहाः पर्यपृच्छामहे रविम्।
क एष दिवमाक्रम्य गतः सूर्य इवापरः॥ १८॥

ऐसी शङ्का होनेपर हमने सूर्यदेवसे पूछा—'भगवन्! ये जो दूसरे सूर्यके समान आकाशको लाँघकर यहाँतक आये थे, कौन थे?'॥ १८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने द्विषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥ ३६२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥३६२॥

त्रिषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

उञ्छ एवं शिलवृत्तिसे सिद्ध हुए पुरुषकी दिव्य गति

सूर्य उवाच

नैष देवोऽनिलसखो नासुरो न च पन्नगः।
उञ्छवृत्तिव्रते सिद्धो मुनिरेष दिवं गतः॥ १॥

सूर्यदेवने कहा—ये न तो वायुके सखा अग्निदेव थे, न कोई असुर थे और न नाग ही थे। ये उञ्छवृत्तिसे जीवन-निर्वाहके व्रतका पालन करनेसे सिद्धिको [illegible] हुए एक मुनि थे, जो दिव्यधाममें [illegible] पहुँचे हैं॥ १॥

[illegible] मूलफलाहारः शीर्णपर्णाशनस्तथा।
अब्भक्षो वायुभक्षश्च आसीद् विप्रः समाहितः॥ २॥

ये ब्राह्मणदेवता फल-मूलका आहार करते, सूखे पत्ते चबाते अथवा पानी या हवा पीकर रह जाते थे और सदा एकाग्र-चित्त होकर ध्यानमग्न रहते थे॥ २॥

भवश्चानेन विप्रेण संहिताभिरभिष्टुतः।
स्वर्गद्वारे कृतोद्योगो येनासौ त्रिदिवं [illegible]॥ ३॥

इन श्रेष्ठ ब्राह्मणने संहिताके मन्त्रोंद्वारा भगवान् शङ्करका स्तवन किया था। इन्होंने स्वर्गलोक पानेकी साधना की थी, इसलिये ये स्वर्गमें गये हैं॥ ३॥

असङ्गतिरनाकाङ्क्षी नित्यमुञ्छशिलाशनः।
सर्वभूतहिते युक्त एष विप्रो भुजङ्गम॥ ४॥

नागराज! ये ब्राह्मण असङ्ग रहकर लौकिक कामनाओंका त्याग कर चुके थे और सदा उञ्छ[1] एवं शिल वृत्तिसे प्राप्त

१. 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्।' कटे हुए खेतसे वहाँ गिरे हुए अन्नके दाने बीनकर लाना अथवा बाजार उठ जानेपर वहाँ बिखरे हुए अन्नके एक-एक दाने को बीन लाना 'उञ्छ' कहलाता है। इसी तरह धान, गेहूँ और जौ आदिकी [illegible] बीनकर लाना 'शिल' कहा गया है।

हुए अन्नको ही खाते थे। वे निरन्तर [illegible] प्राणियोंके हित-साधनमें [illegible] रहते थे ॥ ४ ॥

[illegible] हि देवा न गन्धर्वा नासुरा न च पन्नगाः।
प्रभवन्तीह भूतानां प्राप्तानामुत्तमां गतिम् ॥ ५ ॥

ऐसे लोगोंको जो उत्तम गति [illegible] होती है, उसे न देवता, [illegible] गन्धर्व, न असुर और न नाग ही [illegible] सकते हैं ॥ ५ ॥

एतदेवंविधं दृष्टमाश्चर्यं [illegible] मे द्विज।
संसिद्धो मानुषः कामं योऽसौ सिद्धगतिं [illegible]।
सूर्येण सहितो ब्रह्मन् पृथिवीं परिवर्तते ॥ ६ ॥

विप्रवर ! सूर्यमण्डलमें मुझे यह ऐसा ही आश्चर्य दिखायी दिया था कि उञ्छवृत्तिसे सिद्ध हुआ वह मनुष्य इच्छानुसार सिद्ध-गतिको प्राप्त हुआ। ब्रह्मन् ! अब वह सूर्यके साथ रहकर समूची पृथ्वीकी परिक्रमा करता है ॥ ६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने त्रिषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६३ ॥

चतुःषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

[illegible] नागराजसे बातचीत करके और उञ्छव्रतके पालनका निश्चय करके अपने घरको जानेके लिये नागराजसे विदा माँगना

ब्राह्मण उवाच

आश्चर्यं नात्र संदेहः सुप्रीतोऽस्मि भुजङ्गम।
अन्वर्थोपगतैर्वाक्यैः पन्थानं चास्मि दर्शितः ॥ १ ॥

ब्राह्मणने कहा—नागराज ! इसमें संदेह नहीं कि यह एक आश्चर्यजनक वृत्तान्त है। इसे सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरे मनमें जो अभिलाषा थी, उसके अनुकूल वचन कहकर आपने मुझे रास्ता दिखा दिया ॥ १ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधो भुजगसत्तम।
स्मरणीयोऽस्मि भवता सम्प्रेषणनियोजनैः ॥ २ ॥

भुजङ्गशिरोमणे ! आपका कल्याण हो। अब [illegible] यहाँसे चला जाऊँगा, यदि आपको मुझे कहीं भेजना हो या किसी काममें नियुक्त करना हो तो ऐसे अवसरोंपर मेरा अवश्य स्मरण करना चाहिये ॥ २ ॥

नाग उवाच

अनुक्त्वा मद्गतं कार्यं क्वेदानीं प्रस्थितो भवान्।
उच्यतां द्विज यत् कार्यं यदर्थं त्वमिहागतः ॥ ३ ॥

नागने कहा—विप्रवर ! आपने अभी अपने मनकी बात तो बतायी ही नहीं, फिर इस समय आप कहाँ चले जा रहे हैं ? आपका जो कार्य है, जिसके लिये [illegible] यहाँ आये हैं, उसे बताइये तो सही ॥ ३ ॥

उक्तानुक्ते कृते कार्ये मामामन्त्र्य द्विजर्षभ।
मया प्रत्यनुज्ञातस्ततो यास्यसि सुव्रत ॥ [illegible] ॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले द्विजश्रेष्ठ ! आप कहें या न कहें। मेरे द्वारा [illegible] आपका कार्य सम्पन्न हो जाय, तब आप मुझसे पूछकर, मेरी अनुमति लेकर अपने घरको जाइयेगा ॥ ४ ॥

न हि मां केवलं दृष्ट्वा त्यक्त्वा प्रणयवानिह।
गन्तुमर्हसि विप्रर्षे वृक्षमूलगतो यथा ॥ ५ ॥

ब्रह्मर्षे ! आपका मुझमें प्रेम है; इसलिये वृक्षके नीचे बैठे हुए बटोहीकी तरह केवल मुझे देखकर ही चल देना आपके लिये उचित नहीं है ॥ ५ ॥

त्वयि चाहं द्विजश्रेष्ठ भवान् मयि न संशयः।
लोकोऽयं भवतः सर्वः का चिन्ता मयि तेऽनघ ॥ ६ ॥

विप्रवर ! आपमें मैं हूँ और मुझमें आप हैं, इसमें संशय नहीं है। निष्पाप ब्राह्मण ! यह [illegible] लोक आपका ही है। [illegible] रहते हुए आपको किस बातकी चिन्ता है ? ॥ ६ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ विदितात्मन् भुजङ्गम।
नातिक्रान्तास्त्वया देवाः सर्वथैव यथातथम् ॥ [illegible] ॥

ब्राह्मणने कहा—महाप्राज्ञ आत्मज्ञानी नागराज ! यह इसी प्रकार है। देवता भी आपसे बढ़कर नहीं हैं। यह बात सर्वथा यथार्थ है ॥ ७ ॥

स एव त्वं स एवाहं योऽहं [illegible] तु भवानपि।
अहं भवांश्च भूतानि सर्वे यत्र गताः सदा ॥ ८ ॥

(आपने सूर्यमण्डलमें जिन पुरुषोत्तम नारायणदेवकी स्थिति बतायी है) मैं, आप तथा समस्त प्राणी सदा जिसमें स्थित हैं वही आप हैं, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही आप भी हैं ॥ ८ ॥

आसीत् तु मे भोगपते संशयः पुण्यसंचये।
सोऽहमुञ्छव्रतं साधो चरिष्याम्यर्थसाधनम् ॥ ९ ॥

नागराज ! मुझे पुण्यसंग्रहके विषयमें संशय हो गया था। मैं यह निश्चय नहीं कर पाता था कि किस साधनको अपनाऊँ ? किंतु अब [illegible] संदेह दूर हो गया है। साधो ! अब मैं अपने अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये उञ्छव्रतका ही आचरण करूँगा ॥ ९ ॥

एष मे निश्चयः साधो [illegible] कारणमुत्तमम्।
आमन्त्रयामि भद्रं ते कृतार्थोऽस्मि भुजङ्गम ॥ १० ॥

महात्मन् ! यही मेरा निश्चय है। आपके [illegible] मेरा कार्य बड़े उत्तम ढंगसे सम्पन्न हो गया। भुजङ्गम ! मैं कृतार्थ हो गया। आपका कल्याण हो। अब मैं जानेकी आज्ञा चाहता हूँ ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने चतुःषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३६४॥

पञ्चषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः

नागराजसे विदा ले ब्राह्मणका च्यवनमुनिसे उञ्छवृत्तिकी दीक्षा लेकर साधनपरायण होना और इस कथाकी परम्पराका वर्णन

भीष्म उवाच

स चामन्त्र्योरगश्रेष्ठं ब्राह्मणः कृतनिश्चयः।
दीक्षाकाङ्क्षी तदा राजंश्च्यवनं भार्गवं श्रितः॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार नागराजकी अनुमति लेकर वह दृढ़ निश्चयवाला ब्राह्मण उञ्छव्रतकी दीक्षा लेनेके लिये भृगुवंशी च्यवन ऋषिके पास गया ॥ १ ॥

स तेन कृतसंस्कारो धर्ममेवाधितस्थिवान्।
तथैव च कथामेतां राजन् कथितवांस्तदा॥ २ ॥

उन्होंने उसका दीक्षा-संस्कार सम्पन्न किया और वह धर्मका ही आश्रय लेकर रहने लगा। राजन्! उसने उञ्छवृत्तिकी महिमासे सम्बन्ध रखनेवाली इस कथाको च्यवन मुनिसे भी कहा ॥ २ ॥

भार्गवेणापि राजेन्द्र जनकस्य निवेशने।
कथैषा कथिता पुण्या नारदाय महात्मने॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! च्यवनने भी राजा जनकके दरबारमें महात्मा नारदजीसे यह पवित्र कथा कही ॥ ३ ॥

नारदेनापि राजेन्द्र देवेन्द्रस्य निवेशने।
कथिता भरतश्रेष्ठ पृष्टेनाक्लिष्टकर्मणा॥ [illegible] ॥

नृपश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! फिर अनायास ही उत्तम कर्म करनेवाले नारदजीने भी देवराज इन्द्रके भवनमें उनके पूछनेपर यह कथा सुनायी ॥ ४ ॥

देवराजेन च पुरा कथितैषा कथा शुभा।
समस्तेभ्यः प्रशस्तेभ्यो विप्रेभ्यो वसुधाधिप॥ ५ ॥

पृथ्वीनाथ ! तत्पश्चात् पूर्वकालमें देवराज इन्द्रने समी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके [illegible] [illegible] शुभ कथा कही ॥ ५ ॥

यदा च [illegible] रामेण युद्धमासीत् सुदारुणम्।
वसुभिश्च तदा राजन् कथेयं कथिता [illegible]॥ ६ ॥

राजन् ! जब परशुरामजीके साथ मेरा भयङ्कर युद्ध हुआ था, उस [illegible] वसुओंने मुझे [illegible] कथा सुनायी थी ॥ ६ ॥

पृच्छमानाय तत्त्वेन [illegible] चैवोत्तमा तव।
कथेयं कथिता पुण्या धर्म्या धर्मभृतां वर॥ [illegible] ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! इस समय जब तुमने [illegible] धर्मके सम्बन्धमें मुझसे प्रश्न किया है, तब उसीके उत्तरमें मैंने यथार्थरूपसे यह पुण्यमयी धर्मसम्मत श्रेष्ठ कथा तुमसे कही है॥७॥

यदयं परमो धर्मो यन्मां पृच्छसि भारत।
आसीद् धीरो ह्यनाकाङ्क्षी धर्मार्थकरणे नृप॥ ८ ॥

भरतनन्दन नरेश्वर ! तुमने जिसके विषयमें मुझसे पूछा था, वह श्रेष्ठ धर्म यही है। वह धीर ब्राह्मण निष्कामभावसे धर्म और अर्थसम्बन्धी कार्यमें संलग्न रहता था ॥ ८ ॥

[illegible] किल कृतनिश्चयो द्विजो
भुजगपतिप्रतिदेशितात्मकृत्यः।
यमनियमसहो वनान्तरं
परिगणितोञ्छशिलाशनः प्रविष्टः॥ ९ ॥

नागराजके उपदेशके अनुसार अपने कर्तव्यको समझकर [illegible] ब्राह्मणने उसके पालनका [illegible] निश्चय कर लिया और दूसरे वनमें जाकर उञ्छशिलवृत्तिसे [illegible] हुए परिमित अन्नका भोजन करता हुआ यम-नियमका [illegible] करने [illegible] ॥ ९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि उञ्छवृत्त्युपाख्याने पञ्चषष्ट्यधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्वमें उञ्छवृत्तिका उपाख्यानविषयक तीन सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६५ ॥

शान्तिपर्व सम्पूर्णम्

	अनुष्टुप्	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंका ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	गद्य	[illegible] योग
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	[illegible]३२९६॥	(६०९)	८३७।=	१३७॥।-	१४२०१॥=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	४३०॥	(१७)	२३।=		४५३॥।=
			शान्तिपर्वकी कुल श्लोक-संख्या		१४७२५॥-

Government Oriental Library Series.

BIBLIOTHECA SANSKRITA—No. 10.

मण्डलब्राह्मणोपनिषत्

राजयोगभाष्यसहिता.

THE

MANḌALA-BRÁHMAṆOPANISHAD

WITH A COMMENTARY.

EDITED BY

A. MAHA'DEVA S'A'STRI, B. A.,
Curator, Government Oriental Library, Mysore.

AND

PANDITARATNAM K. RANGA'CHA'RYA,
Pandit, Government Oriental Library, Mysore.

Published under the Authority of the Government of His Highness the Maharaja of Mysore.

MYSORE:

PRINTED AT THE GOVERNMENT BRANCH PRESS,

1896.

PREFACE.

The Maṇḍala-Bráhmaṇopanishad professedly belongs to one of the S'ákhás of the S'ukla-Yajur-Veda and treats of what is called Rája-Yoga, that method of attaining a direct knowledge of Brahma whose process consists in the psychological development of mind by concentration and meditation upon certain aspects of the Supreme Entity in man at their respective centres of manifestation. Along with the text is given a sort of commentary treating of the same subject in the same order, sometimes repeating the original verbatim and at other times adding some explanatory matter, and said to have been written by S'rí S'aṅkaráchárya. In one of the MSS. the colophon at the end of the first section of the so-called Bhâshya runs as follows :—

इति श्रीसदानन्दावधूतशिष्यविरचिते विजृम्भितयोगशास्त्रे प्रथमप्रकरणं समाप्तम्.

Similar colophons giving the name of the same author are found with necessary changes at the end of several other sections of the Rája-Yoga-Bháshya. In all other MSS. S'rí S'aṅkaráchárya is mentioned in the colophons as the author of the commentary. But the Rája-Yoga-Bháshya so differs in its style and language from His genuine bháshyas on the Upanishads, the S'áríraka-sútras and the Bhagavad-Gítá, and the philosophy embodied in the Rája-Yoga-Bháshya so differs in some important details from that taught in the bháshyas referred to, that it is hard to believe that He is really the author of the Rája-Yoga-Bháshya. It is more likely that the other person mentioned as a disciple of Sadânandâvadhûta has written the commentary.

Though this Upanishad cannot be allowed to occupy the same rank in the Vedic literature as some other Upanishads which are often referred to by S'rí S'aṅkaráchárya and other eminent writers on Vedantic philosophy in their genuine works,

the teaching therein embodied is not the less authoritative on that account. As Tradition has it, a full knowledge of such practices as are taught in the Upanishad is as a rule imparted by a Guru to his disciple orally and by means of secret initiations and is hardly ever committed to writing. It is only in extreme cases that such occult teachings are allowed to see the light of the day. They are, moreover, not easy of verification by ordinary methods of investigation. Under these circumstances one would naturally hesitate to subject writings embodying mystic teachings of this class to ordinary canons of criticism. It is often in a most incomplete form that such teachings are published and committed to writing, and as they pass from hand to hand among the uninitiated they are often distorted beyond recognition. Thus the MSS. of the Upanishad and the Bháshya abound in errors of various kinds. The present edition, prepared as it was originally by His Excellency Sir K. Sheshadri Iyer from a careful collation of several MSS., is tolerably correct. It is, however, capable of improvement by a further collation with a few better MSS. I have secured two manuscript copies since the printing of this Edition was completed, and they present some variations of reading from the printed edition. All the important variations have been noted at the end of the volume.

A synoptical view of the contents of the Upanishad is given in the accompanying Sanskrit Preface.

25/5/96. A. M.

पीठिका.

मण्डलब्राह्मणोपनिषदियं शुक्लयजुर्वेदीया अष्टोत्तरशतोपनिषदामन्यतमा दुरन्तसंसारकान्तारानारतचङ्क्रमणसंक्रान्तश्रान्तिशान्तिकरं राजयोगमविलम्बितमहाफलयोगं जिज्ञासूनां सुसूक्ष्मतरतत्वसाक्षात्काराधानोपदेशं विदधती विराजते।

आदित्यमण्डलान्तस्स्थपुरुषयाज्ञवल्क्ययोः प्रश्नोत्तररूपेण प्रवृत्ततया ब्राह्मणरूपतया चास्याः मण्डलब्राह्मणोपनिषदिति संज्ञा समजनि यथा कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदित्यादिः.

तत्र पञ्च ब्राह्मणानि. आद्ये—राजयोगस्याष्टावङ्गानि, लक्ष्यत्रयं च। द्वितीये—अन्तर्लक्ष्यादेर्विस्तरः। तृतीये—अमनस्कविस्तरः। चतुर्थे व्योमपञ्चकम्। पञ्चमे—अमनस्कफलम्। इति विषयविभागः॥

एतस्या एवोपनिषदोर्थं स्फुटं प्रतिपादयति राजयोगभाष्यं नाम। तदिदं भाष्यं ब्रह्मसूत्रादिभाष्यकाराः शङ्कराचार्या एव रचयामासुरिति प्रथते किंवदन्ती. दृश्यते च तथैव प्रायस्तत्कोशान्तिमभागे उपसंहारवाक्यम्. राजयोगभाष्यगतां पदवाक्यादिशैलीं शीलयन्तस्तु विचक्षणा अत्र विप्रतिपद्यन्ते. केषुचित्तु कोशेषु "सदानन्दावधूतविरचितं राजयोगभाष्यं समाप्तम्" इत्यपि लिखितमुपलभ्यते.

तदिदं राजयोगभाष्यं कस्यचिदपि मूलस्य प्रतीकादिग्रहणेन पदच्छेदादिना च विनाकृतं स्वातन्त्र्येणैव राजयोगं निरूपयत् यद्यपि न मण्डलब्राह्मणोपनिषदो व्याख्यानपदं लब्धुमर्हति. तथाऽपि अर्थतः तदर्थविबोधपरं सत्तद्भाष्यस्थानापन्नमिति भाष्यमिति व्यवहरन्ति व्यवहर्तारः.

अत्रादौ "एवं हठयोगलक्षणं विस्तरेण निशम्य प्राकृतस्सद्गुरुमेवमवादीत्" इत्येवमुपक्रमो दृश्यते. तेन च हठयोगभाष्यमनेन समानकर्तृकमस्यैव पूर्वभागरूपं स्यादित्युन्नीयते. परन्तु नाद्यापि तदुपालभ्यत.

अत्र वैयासकिदर्शनाद्विलक्षणा अपि केचिदर्था विज्ञायन्ते। यथा—अत्र पञ्चसु भूतेषु एकैकस्माद्भूतात् प्रत्येकं अन्तःकरणप्राणज्ञानेन्द्रियतद्विषयकर्मेन्द्रियाणामेकैकयुतं पञ्चकं जायते इत्यभिधाय ज्ञातारं पुरुषमन्तःकरणेष्वन्तर्भाव्य पञ्चान्तःकरणानीत्यभिहितम्। पञ्चदश्यादौ तु मिलितैः पञ्चभूतैरन्तःकरणानि जायन्ते तानि चान्तःकरणानि चत्वार्येवेति दृश्यते।

मनोन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा ।
मनो विमर्शरूपं स्याद्बुद्धिस्स्यान्निश्चयात्मिका ॥ इति ॥
मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वस्स्मरणं विषया अमी ॥ इति च ॥

अत्र भाष्ये आदौ राजयोगस्याष्टावङ्गानि निरूपितानि. तेषु चाङ्गेषु यमनियमप्रत्याहाराः शमदमादिरूपाः आसनप्राणायामौ हठवदेव. धारणाध्यानसमाधयोपि च हठवदेव. त्रयाणामेषां आत्मयाथात्म्यविषयकत्वमत्र विशेषः । अष्टस्वपि चाङ्गेषु आत्मयाथात्म्यज्ञानसाहित्यं हठयोगादत्र वैलक्षण्यमिति बोध्यम्.

अनन्तरं—शास्त्रान्तराभ्यासापेक्षया राजयोगाभ्यासस्य विशेषज्ञानाधायकतया अतिशयः प्रदर्शितः.

ततः—जडाजडविवेकविज्ञानाय आकाशादितत्त्वोत्पत्तिक्रमं प्रदर्श्य प्रकृत्यष्टकविकारषोडशकेन्द्रियदशकादिरूपाः संख्याविशेषविशिष्टतया प्रसिद्धाः केचन पदार्था अभिहिताः ।

ततः—प्रकृतितद्विकारेभ्योऽन्यत्वेनात्मनो ज्ञानं प्रकृतिपुरुषविवेकापरपर्यायं संपाद्य लयविधानक्रमेण आत्मनि विकाराणां मेलने अनुसंहिते ततो मनोलये च स्वरूपावस्थानमात्मनो मोक्षो भवितेति कापिलसांख्यानां मतमभ्यधायि.

अथ—प्रकृतिपुरुषेश्वराणां त्रयाणां विवेकेन ज्ञानं संपाद्य लयविधानक्रमेण भगवति सर्वेश्वरे तत्त्वलये भाविते आत्मनस्स्वस्वरूपावस्थानं मुक्तिर्भवितेति सांख्यैकदेशिनां सेश्वरसांख्याभिधानानां पातञ्जलानाम्मतं प्रादर्शि । तत्र लयगतिक्रमश्चेत्थं—अतिसूक्ष्मो जीवः सूक्ष्ममार्गालम्बनेन भूमेरुपरिस्थितान् सप्त वायुस्कन्धान् अतिक्रम्य शुद्धाकाशं प्राप्य तमोरजस्सत्त्वान्यतीत्य भगवन्तं नारायणं प्रविशेदिति. सप्तवायुस्कन्धाश्च आवहप्रवहोद्वहसंवहसुवहपरिवहपरावहसंज्ञकाः पुराणेषु सिद्धान्तशिरोमणौ च प्रदर्शिताः.

अत्र—मतद्वयेऽपि चिदद्वैतज्ञानाभाव एव तारकयोगमताद्विशेषः. इदमेव च प्रकृतिपुरुषभेदज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेकशब्देन श्रवणपूर्ववृत्तं मन्यन्ते तारकयोगिनः.

ततः—तारकयोगपदार्थः निरूपितः । खेचर्यादिमुद्रादिभिः भ्रूदहराद्यालम्बनस्य चित्तस्यैकाग्र्यं सच्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मावलोकनहेतुभूतं तारकयोगः इति वेदितव्यम्.

ततः—तारकयोगसिद्ध्युपायभूतं अन्तर्लक्ष्यबहिर्लक्ष्यमध्यलक्ष्यभेदभिन्नस्य लक्ष्यत्रयस्यावलोकनं निरूपितम्.

तत्र—अन्तर्लक्ष्यं नाम—देहमध्ये मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तस्थितसुषुम्नामध्यगता कुण्डलिनी. फालोर्ध्वभागे निरन्तरं तेजः, तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वयेन श्रूयमाणघूंकारशब्दे स्थापिते चित्ते चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः हृत्पङ्कजमध्ये विराजत्तेजश्शिखा चेति. तत्तदवलोकनं तारकावलोकनोपायः.

बहिर्लक्ष्यं तु—नासिकाया अग्रभागे चतुर्भिः षड्भिः अष्टभिः दशभिः द्वादशभिर्वा अङ्गुलैः परिमिते देशे क्रमेण तारकयोगस्फुरणेन दृश्यमनं नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीशुक्लपीतवर्णैर्युक्तं व्योमतत्त्वं, भ्रूदहरवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रभागस्थिता मयूखाः, शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलमानं तेजश्चेति तत्तद्दर्शनेन तारकयोगसिद्धिर्विज्ञेया.

मध्यलक्ष्यं तु—प्रातःकालीनचित्रादिवर्णसूर्यमण्डलवत् वह्निज्वालावलीवत् प्रकाशादिविहीनान्तरिक्षवत् तारकयोगकाले परिदृश्यमानं व्योम. तच्च व्योम पञ्चविधम्. अभ्यासवशेन दीप्त्यादिविकारहीनतया दृश्यमानमाकाशं गुणरहिताकाशं. विस्फुरत्तारकाभिर्युक्तं यद्गाढं तमः तद्वद्दृश्यमानं पराकाशं. कालानलवद्भिभासमानं महाकाशं. सर्वोत्कृष्टदीप्तियुक्ततया भासमानं तत्त्वाकाशं. कोटिसूर्यप्रकाशयुक्ततया भासमानमाकाशं सूर्याकाशमिति. तदेवं पञ्चानां व्योम्नां तारकयोगकाले दर्शनात् तारकयोगसिद्धिर्विज्ञेया.

एष्वेव पञ्चसु व्योमसु प्रथमं गुणरहिताकाशं परित्यज्य अन्ते निरतिशयानन्दपरब्रह्मलक्षणं परमाकाशं परिगणय्य व्योमपञ्चकं चतुर्थब्राह्मणे मूले प्रदर्शितम्.

तत्र—राजयोगो द्विविधः तारकममनस्कं चेति. पूर्वभागस्तारकं. उत्तरभागस्तु अमनस्कमिति. तारकमपि द्विविधं मूर्तितारकं अमूर्तितारकं चेति. तत्र नेत्राधःपर्यन्तभागस्थगणपत्यादिलक्ष्यालम्बना दृष्टिः मूर्तितारकं. अमूर्तितारकं नाम भ्रूयुगोर्ध्वदहरालम्बना अन्तर्दृष्टिः. अमनस्कंतु प्राणेन्द्रियलयकरणपूर्वकं ब्रह्मात्मैक्ये मनसो लयकरणम्, तदेव च समुन्मन्यवस्थाप्राप्तिः, जीवन्मुक्तिश्च तदनन्तरभाविनी. इति वेदितव्यम्.

ततः द्वितीयब्राह्मणे—लक्ष्यस्यात्मनस्स्वरूपं शाम्भवीमुद्रा षण्मुखीकरणं जाग्रदादिपञ्चावस्थाश्च दर्शिताः.

तत्र शाम्भव्येव खेचरीति केचित्. शिवसंहितायां तु खेचरीलक्षणमेवं निरूपितम्—

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं निधाय सुदृढां सुधीः ।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जिते ॥
लम्बिकोर्ध्वस्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ।
संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ॥
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः । इति ॥

षण्मुखीकरणप्रकारोपि तत्रैवोक्तः—

अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जिनीभ्यां द्विलोचने ।
नासारन्ध्रे च मध्याभ्यां अनामभ्यां मुखे दृढम् ॥
निरुद्ध्य मारुतं योगी यदैवं कुरुते भृशम् ।
तदा लक्षणमात्मानं ज्योतीरूपं प्रपश्यति ॥ इति ॥

ततः तृतीयब्राह्मणे अमनस्कयोगः विस्तरेण निरूपितः.

ततः चतुर्थब्राह्मणविवरणं भाष्ये न दृश्यते. तन्नूनं व्योमपञ्चकस्य प्रथमे निरूपितप्रायत्वादिति गम्यते । चतुर्थब्राह्मणान्ते च योगिभिः नवचक्रषडाधारलक्ष्यत्रयव्योमपञ्चकानि अवश्यंवेद्यानीत्युक्तम्. तत्र नवचक्राणि सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषदि विवृतानि आधारचक्रस्वाधिष्ठानचक्रनाभिचक्रहृदयचक्रकण्ठचक्रतालुचक्रभ्रूचक्रब्रह्मरन्ध्रचक्राकाशचक्राणीति । षडाधाराश्च मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धाज्ञारूपाः योगचूडामण्याद्युपनिषत्प्रसिद्धाः. लक्ष्यत्रयं व्योमपञ्चकं च प्रागेव विवृतमिति ज्ञेयम्.

ततः अन्तिमे ब्राह्मणे मनोलयस्य अमनस्कापराभिधस्य फलं विवृतामिति संक्षेपः.

शुक्लयजुर्वेदे मण्डलब्राह्मणोपनिषत्.

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः.

[1]ॐ ॥ याज्ञवल्क्यो ह वै महामुनिरादित्यलोकं जगाम । तमादित्यं नत्वा भो भगवन्! आदित्य! आत्मतत्त्वमनुब्रूहीति ॥

[2]स होवाच नारायणः । ज्ञानयुक्तयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते ॥

[3]शीतोष्णाहारनिद्राविजयः, सर्वदा शान्तिः, निश्चलत्वं, विषयेन्द्रियनिग्रहश्च, एते यमाः ॥

---

[1]एवं हठयोगलक्षणं विस्तरेण निशम्य प्राकृतस्सद्गुरुमेवमवादीत्—राजयोगं वद कृपयेति ॥

[2]स तु तं विनयसद्वचनं गुरुभक्ताग्रगण्यं शिष्यं 'शृणु सावधानेन' इत्यादरेणेदमाह—राजयोगः, राज्ञ उपयुक्तो योगस्तथोच्यते । योगानां राजेति वा राजयोगः । पूर्वोक्तयोगाः देहप्रयासकराः । अयं तु निरायासेन मोक्षरूपपुरुषार्थप्रदः । हठवदस्यापि अष्टाङ्गानि सन्ति । किन्तु तदङ्गं विस्तृतं हठे भवति । सूक्ष्माङ्गं संक्षेपादस्य वक्ष्ये ॥

[3]शीतोष्णाहारनिद्राविजयः, सर्वदा शान्तिः, निश्चलत्वं, विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः कथिताः ॥

[4]गुरुभक्तिः, तत्त्व*मार्गानुरक्तिः, सुखानुगतवस्त्वनुभवश्च, तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः, निस्सङ्गता, एकान्तवासेन मनोनिवृत्तिः, फलानभिलाषो,† वैराग्यभावश्च नियमाः ॥

[5]सुखासनवृत्तिः, चिरवासश्च, एवमासननियमो भवति ॥

[6]पूरककुम्भकरेचकैः षोडशचतुष्षष्टिद्वात्रिंशत्सङ्ख्यया यथाक्रमं प्राणायामः ॥

[7]विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः ॥

---

[4]नियमस्तु—गुरुभक्तिः, तत्त्वमार्गानुरक्तिः, सुखानुगतवस्त्वनुभवः, तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः, निस्सङ्गता, एकान्तवासेन मनोनिवृत्तिः,‡ फलाभिलाषे वैराग्यं च, एवं नियमः ॥

[5]आसनं तु—इष्टासने सुखासीनवृत्तिः, चिरवासश्च, एवमासननियमः ॥

[6]प्राणायामस्तु—रेचकपूरककुम्भकानप्रयत्नेन स्ववशगतवायुना स्वाधीनान् कृत्वा प्राणवायुस्थैर्यं संपादयेत्, जगन्मिथ्येति स्मरेत् ; अयं प्राणायाम इति साङ्ख्ययोगविद्भिर्निरुक्तः ॥

[7]प्रत्याहारस्तु—स्वान्तर्मुखचित्तेन चैतन्यं परमात्मनि लीनं विभाव्य नानाविधविकारग्रसनशीलता, तत्तथोच्यते ॥

---

* 'सत्य'   † फलाभिलाषे.   ‡ 'मनोनिर्वृतिः' इति तु सम्यक्

[8]विषयव्यावर्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतस्स्थापनं धारणा भवति ॥

[9]सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् ॥

[10]ध्यानविस्मृतिस्समाधिः ॥

[11]एवं सूक्ष्माङ्गानि । य एवं वेद स मुक्तिभाग्भवति ॥ १ ॥

---

[8]बाह्याभ्यन्तरगततत्त्वविलोकनं तद्गतचित्तवृत्तिर्धारणेत्युच्यते ॥

[9]सोहम्भावेन शुद्धाद्वैतस्वभावस्सर्वप्रकाशकः परमात्मेति ज्ञात्वा सर्वभूतदयारतिः, सद्दशात्मानुभावनात्सर्वसमदृष्टिः, नित्यतृप्तिः, ध्यानमिति मुनिमतम् ॥

[10]समाधिस्तु—परमयोगिभिस्तत्त्वदर्शनेन निश्चलस्थैर्यचित्तत्वं, निर्विकल्पकचित्तवृत्तिः, सततं मनोनैर्मल्यं, शमसहितत्वमिति च समाधिरित्युच्यते ॥

[11]एवं सूक्ष्माष्टाङ्गयोगनिरतः सद्गुरूपदेशेन राजयोगवेत्ता मुक्तिभाग्भवति ॥

ननु अन्यशास्त्राणि साङ्ख्यादीनि बहूनि विद्यन्ते, तानि च तत्त्वप्रधानान्येव, तद्द्वारा ब्रह्मप्राप्तिरस्तु, किमेतदुपदेशेन ? इति न वाच्यम् । शास्त्रप्रागल्भ्यपराणि तानि मुख्यवृत्त्या ब्रह्म न ह्युपदिशन्ति । इदं त्वज्ञानदृष्ट्या परिदृश्यमानं ब्रह्माण्डमुररीकृत्य शृणु शिष्य एवमेव पिण्डाण्डमिति हस्तविन्यासपुरस्सरमुदाहृत्य दर्शयति । विशेषज्ञानं तेनाशु जायते । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगाभ्यास एव ब्रह्मप्राप्तये कर्तव्यः ॥

तत्र तत्त्वज्ञानमेवं भवति—आत्मन आकाशस्सम्भूतः, तस्मात् ज्ञातृसमानश्रोत्रशब्दवाच उत्पन्नाः । आकाशाद्वायुः, तस्मान्मनोव्यानत्वक्स्पर्शपाणयश्च । वायोरग्निः, तस्माद्बुद्ध्युदानचक्षूरूपपादाश्च । अग्नेरापः, ताभ्यश्चित्तप्राणजिह्वारसपायवश्च । अद्भ्यः पृथिवी, तस्या अहङ्कारापानघ्राणगन्धोपस्थाश्च । सर्वत्राकाशादिपञ्चतत्त्वानि भवन्ति । श्रोत्रमध्यात्मम्, श्रोतव्यमधिभूतम्, दिशोधिदैवतम् । त्वगध्यात्मम्, स्पर्शमधिभूतम्, वायुरधिदैवतम् । चक्षुरध्यात्मम्, द्रष्टव्यमधिभूतम् , सूर्योधिदैवतम् । जिह्वाध्यात्मम्, रसोधिभूतम्, वरुणोधिदैवतम् । घ्राणमध्यात्मम्, घ्रातव्यमधिभूतम्, अश्विनावधिदैवतम् । वागध्यात्मम्, वक्तव्यमधिभूतम्, अग्निरधिदैवतम् । पाणिरध्यात्मम्, दातव्यमधिभूतम्, इन्द्रोधिदैवतम् । पादोध्यात्मम्, गन्तव्यमधिभूतम्, विष्णुरधिदैवतम् । पायुरध्यात्मम्, विसर्जनमधिभूतम्, मृत्युरधिदैवतम् । गुह्यमध्यात्मम्, आनन्दमधिभूतम्, विरिञ्चिरधिदैवतम् ॥

ज्ञातृमनोबुद्धिचित्ताहङ्काराः पञ्चान्तःकरणानि । ज्ञाता पुरुषः, संशयात्मकं मनः, निश्चयात्मिका बुद्धिः, सुविचारात्मकं चित्तं, अहमभिमानात्मकोऽहङ्कारः । मन अध्यात्मं, मन्तव्यमधिभूतं, चन्द्रोधिदैवतम् । बुद्धिरध्यात्मं, बोद्धव्यमधिभूतम्, बृहस्पतिरधिदैवतम् । चित्तमध्यात्मं, चेतव्यमधिभूतं, क्षेत्रज्ञ अधिदैवतम् । अहङ्कारोध्यात्मं, अहङ्कृतिरधिभूतं, रुद्रोधिदैवतम् ॥

एवं सर्वपरिज्ञानादेव तदतीतं ब्रह्मेति ज्ञानमुत्पद्यते । कथं? नाहमाकाशादिगुणोपेतः, तत्सम्भूतेन्द्रियं च, नाहमन्तःकरणं, नाहं प्राणादिवायवः, नाहं वर्णाश्रमाचारवान्, नाहं धर्मनिरतोऽधर्मनिरतश्च, नाहं प्रपञ्चोयम्; किं तु—अहं निरुपमसत्यज्ञानानन्दलक्षणलक्षितः

परमात्मैवेति चिन्तयन् परं ब्रह्म भूयात् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इति श्रुतेः । किं च—

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमिदं विचित्रम् ।
पुरातनोहं पुरुषोहमीशो हिरण्मयोहं शिवरूपमस्मि ॥
अपाणिपादोहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुस्स श्रृणोम्यकर्णः ।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम् ॥
वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ॥
न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेस्ति न चाम्बरं च ।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कळमद्वितीयम् ॥
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥

इति श्रुतेश्च, पुरा ब्रह्मभिन्नोहमिति प्रकृतिवासनाविदितः मिथ्याज्ञानवानहमेवेदानीं ब्रह्मास्मीति ज्ञानी मुक्तस्स्यात् । वक्ष्यमाणविकारादीन्नाहमिति त्यक्त्वा सत्यज्ञानी भव ॥

श्रोत्रादिपञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, वागादिपञ्च कर्मेन्द्रियाणि, शब्दादिपञ्च विषयाः, मनश्च षोडश विकारा इत्युच्यन्ते । पञ्चप्राणज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यात्मकं लिङ्गशरीरमित्युच्यते । पञ्चमहाभूतज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियबुद्ध्यात्मकं लिङ्गमिति केचिद्वदन्ति । कर्तृज्ञातृभोक्त्रादयो नव पदार्थाः । पञ्च महाभूतानि प्रकृतिरहङ्कारो महच्चेत्यष्टौ प्रकृतयः । ब्रह्मविष्णुरुद्रा इति मूर्तित्रयम् । इच्छाज्ञानक्रिया इति शक्तित्रयम् । विश्वतैजसप्राज्ञा इति जीवत्रयम् । प्रातर्मध्याह्नास्तभेदात्कालत्रयम् । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निभेदादग्नित्रयम् । स्वर्गमर्त्यपाताळभेदाल्लोकत्रयम् । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदादवस्थात्रयम् । स्थूलसूक्ष्मकारणभेदाद्देहत्रयम् । कार्मिकं

* तै. उ. २–१

मायिकं आणविकमिति मलत्रयम् । आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकमिति तापत्रयम् । धनदारपुत्रादयश्चेषणात्रयम् । सत्त्वरजस्तमोभेदाद्गुणत्रयम् । एतानि सर्वाण्यपि मायाकल्पितानीति ज्ञात्वा, तद्विलक्षणोऽहमिति निश्चयबुद्धिं कुरु । तत इममुपदेशं शृणु ॥

आकाशादिभूतगुणान् सम्यक् ज्ञात्वा स्थूलस्य सूक्ष्मेन्तर्धानविधिरुच्यते—

भूमौ घ्राणं जले जिह्वामग्नौ दृष्टिं तथैव च ।
वायौ त्वचं व्योम्नि श्रोत्रं क्रमाद्योगी तु मेळयेत् ॥

एवं सावधानेन भूतेन्द्रियैक्यं कुर्यात् । तत्कथं?

भूमिं जले जलं वह्नौ हुत्वाज्यमिव चिन्तयन् ।
वह्निं वायौ तथा वायुमाकाशे गगनं क्रमात् ॥

चित्ते चित्तमहङ्कारे ज्ञात्वा प्राप्तरतिः क्रमात् ।
अहङ्कृतिं बुद्धिमध्ये गूढां कृत्वा मतिं तथा ॥

मिथोदर्शनमध्ये तद्दर्शनं परमात्मनि ।
पूर्वोक्तरीत्या सद्योगी परमात्मनि मेळयेत् ॥

एवं चेत् पञ्चीकरणरूपं स्यादित्याहुः परमयोगिनः ॥

सेन्द्रियात्मा केवलात्मा चेति द्वैविध्यमङ्गीकर्तव्यम् । बुद्ध्या परमात्मस्वरूपं सच्चिदानन्दलक्षणं ज्ञातं भवति, तद्दर्शनेन बुद्धिसङ्कोचादात्मैक्यम् । इति समञ्जसमुक्तम् ॥

इति योगशास्त्रे प्रथमोध्यायः.

———

[1]देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधभय-नि*श्वासनिद्राः । तन्निरासस्तु निस्सङ्कल्पक्षमा-लघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम् ॥

[2]निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्तं दार-पङ्कं संसारवार्धिं तर्तुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वा-दिगुणानतिक्रम्य

---

[1]एवं प्रतिपादितं साङ्ख्यमोक्षलक्षणम् । इदानीं साङ्ख्यैकदेशि-मतं वक्ष्ये । देहस्य पञ्च दोषास्सन्ति—कामक्रोधनिश्वासभयनिद्रा-भेदात् । तत्परिहारमार्गस्तु, सङ्कल्पवर्जनं कामस्य, क्षमा क्रोधस्य, लघुभोजनं निश्वासस्य, अप्रमादता भयस्य, तत्त्वसेवनं निद्रायाः; इति क्रमेण भवति ॥

[2]दुःखोदकं व्याधिमृत्युग्राहं भयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णा-वर्तं दारपङ्कं नानाकल्पितसुखरत्नं सत्यातीतं संसारवार्धिं तर्तुमयमु-पायः । जीवस्स्वयमतिसूक्ष्मः सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सप्तपवनानु†त्तीर्य प्रत्य-ग्रूपस्थितो भूत्वा वर‡नभोगतिं प्राप्य तद्व्योम तमसि स्थापयेत् । तमो रजसि लीनं कृत्वा रजस्सत्त्वे प्रवेशयेत् । सत्त्वं नारायणे प्रवेशयेत् । श्रीमन्नारायणं परं पदं प्रापयेत् । तदा नित्यानन्दसुख-मश्नुते । ज्ञानादेव मोक्षस्स्यादिति बुद्ध्या सङ्ख्यायते ज्ञायते आत्मा यैस्ते साङ्ख्याः सम्यग्ज्ञाननिरताः । एवं मोक्षलक्षणमाहुः ॥

---

* निश्वासभय † पदानि वनान्यु. ‡ पर.

[3]तारकमवलोकयेत् । भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजः-कूटरूपं तारकं ब्रह्म । तदुपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम् ॥

[3]एवमुक्तसाङ्ख्यादुत्तमं तारकमिति तारकयोगिनो मन्यन्ते । तल्लक्षणमतिविचित्रं शृणु सावधानेन प्राकृत!। गोप्यतरमेतदपीदं त्वद्भक्तितुष्टोहं वक्ष्ये । स्वल्पबुद्धयः पुरुषाः मन्त्रलयहठयोगारण्ये चिरं चरन्ति। तान् सन्त्यज्य एवं गुरुमुखात्तारकाभ्यासी चेत्तदा सिद्धो भवति । तस्मात्तारकयोगस्त्वेवमभ्यसितव्यः ॥

सम्यङ्निमीलिताक्षो वा किञ्चिदुन्मीलिताक्षो वा अन्तर्नेत्रेण भ्रूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं परब्रह्मावलोकयेत् । तारकाप्रवृत्त्या लक्ष्यं गगने गुरोरेव लब्धं चेत्तदा तारकयोगसिद्धिः, तदभ्यासिनस्तारकयोगसिद्धा भवन्तीति । प्राणायामाद्यनुष्ठानप्रयासाभावेन तारकयोग एव उत्तम इत्याहुः परमयोगिनः । किञ्च— लक्ष्यत्रयं तारकयोगिना विदितं भवति । तस्मात्त्वमपि गुरुकथना*सक्तः तारकाभ्यासं कुरु । तारयति अभ्यासपरं पुरुषमिति तारं, तारमेव तारकं, स्वार्थे कप्रत्ययविधानात् । स चासौ योगश्च तारकयोग इत्यर्थः । ‘ युजिर्योगे ’ इत्यस्माद्धातोर्जीवेश्वरयोर्भेदकमज्ञानं परिहृत्य ऐक्यं करोतीति यत्तथोच्यते ॥

ब्रह्मणो जीवत्वं अविद्योपाधिकं, मुखद्वैविध्ये दर्पणमिव, आकाशभेदे घटादिकमिव, सूर्यभेदे जलपात्रमिव । सद्गुरूपदेशात् ज्ञानाग्निना अज्ञानोपाधिविरहे जाते ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं परं अवशिष्टं भवति ॥

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।

*गुरुकार्या

[4]मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा । तन्मध्ये तटित्कोटिसमा मृणाळतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी । तत्र तमोनिवृत्तिः । तद्दर्शनात्सर्वपापनिवृत्तिः । तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये फूत्कारशब्दो जायते । तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः पश्यति । एवं हृदयेपि ॥

तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥*

इति श्रुतेः, अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥†

इति श्रुतेश्च ।अतः परमात्मा तारकवेद्य इति फलितार्थः ॥

[4]किमिदं लक्ष्यत्रयमित्यत्रोच्यते—देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते । सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तगामिनी भवति । तन्मध्ये तटित्कोटिसमानकान्त्या मृणाळसूत्रवत्सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धास्ति । तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापबन्धविनाशनद्वारा मुक्तो भवति । फालोर्ध्वगललाटशशिमण्डले निरन्तरं तेजः तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति चेत्सिद्धो भवति । तर्जन्यग्रोन्मीलिते कर्णरन्ध्रद्वये फूत्कारशब्दो जायते । तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिस्स्थलं विलोक्य अन्तर्दृष्ट्या समानरहितं सुखं प्राप्नोति । एवं हृत्पङ्कजमध्ये विराजत्तेजश्शिखादर्शनेनापि । एवमन्तर्लक्ष्यलक्षणं परमयोगिकल्पितं वेदितव्यं सर्वं मुमुक्षुभिरुपास्यं च ॥

---

*श्वेता. ४-१८. † कठ. उ.—२—२२.

[5]बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुष्षडष्टदशद्वादशाङ्गुळीभिः क्रमात् नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरच्छुक्लपीतवर्णद्वयोपेतं व्योमतत्त्वं पश्यति । स तु योगी । चलदृ*ष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते । तद्दृष्टिः स्थिरा भवति । शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुळिमानज्योतिः पश्यति तदाऽमृतत्वमेति ॥

[6]मध्यलक्ष्यं तु स्वान्तश्चित्रादिवर्णसूर्यचन्द्रवह्नि-

---

[5]अथ बहिर्लक्ष्यं तु—नासिकाग्रे चतुर्भिष्षड्भिरष्टभिर्दशभिर्द्वादशभिरङ्गुलैर्वान्ते क्रमात् नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्त†भङ्गीस्फुरच्छुक्लपीतवर्णं व्योमतत्त्वं यः पश्यति स तु योगी भवति । चलदृष्ट्या* व्योमभागमीक्षितुः पुरुषस्य सामीप्ये वा दृष्ट्यग्रे वा ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते । तद्दर्शनेन योगी भवति । तप्तकाञ्चनसङ्काशान् ज्योतिर्मयूखान् अपाङ्गान्ते भूमौ वा पश्यति । तेन दृष्टिस्स्थिरा भवति । शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुळसमुन्नतभागे प्रादेशमात्रे वा ज्योतिःपुञ्जं यदि लक्ष्यते तदीक्षितुरमृतत्वं भवति । यत्र कुत्र स्थितेनापि शिरसि व्योम ज्योतिस्स्वरूपेण दृष्टं चेत् स तु योगी भवति । एवं बाह्यलक्ष्यलक्षणम् ॥

[6]इदानीं मध्यलक्ष्यलक्षणमुच्यते—स्वान्तः‡चित्रादिवर्णाखण्डसूर्यचन्द्रा-

---

*चलदृ †सद्रत्न. ‡प्रागुक्त, प्रातः.

ज्वालावळीवत् तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति तदा-
काराकारी भवति ॥

[7]अभ्यासान्निर्विकारं गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारगाढतमोपमं पराकाशं भवति। कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाशं सूर्याकाशं भवति। एवमभ्यासात्तन्मयो भवति। य एवं वेद ॥ २ ॥

[1]तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविभागतः।

दिवत्, वह्निज्वालावळीवत्, तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति। तदा आत्मा तदाकाराकारी अवतिष्ठते। तन्मध्यलक्ष्यलक्षणमिति ॥

[7]पुनःपुनः निर्विकारं चेत्तदादिकं गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारसन्दीप्यमानगाढतमोपमं पराकाशं भवति। कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाशवैभवसङ्काशं सूर्याकाशं भवति। एवं बाह्याभ्यन्तरस्थितं व्योमपञ्चकं तारकलक्ष्यं चेत्स तु योगी उक्तफलस्ताद्दग्व्योमसमानो भवति। तस्मात्तारकमेव लक्ष्यास्पदममनस्कफलप्रदं च ॥ २ ॥

इति योगशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः.

---

[1]किमिदममनस्कं नाम? तारकमेव उत्तरार्धेन अमनस्कं भवति,

पूर्वं तु तारकं विन्द्यादमनस्कं तदुत्तरमिति ।
तारकं द्विविधं मूर्तितारकममूर्तितारकमिति ॥
[2]यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तितारकम् । यद्भ्रूयुगातीतं

पूर्वार्धेन तारकमित्येव । अत उत्तरार्धेन अमनस्कराजयोग इत्युच्यते । तदुक्तं योगशास्त्रे—

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविभागतः ।
पूर्वं तु तारकं विन्द्यादमनस्कं तदुत्तरम् ॥ इति ।
अमनस्कं राजयोगमित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ॥ इति च ॥

अस्यायमर्थः—राजयोगो द्विविधः तारकामनस्कभेदात् । तारकं तावत्पूर्वभागः, उत्तरभागस्त्वमनस्कमिति । तारकशब्दस्वारस्यात् भ्रूयुगान्तःप्रदेशे लयगतिक्रमेण, वामदक्षिणनेत्ररूपचन्द्रसूर्यगतेः तारकाश्रयत्वात्, इदानीं अश्विनीनक्षत्रप्रथमपादेर्के इत्यादितारानवग्रहगतेर्ज्योतिश्शास्त्रप्रसिद्धेः । अत्राप्यक्ष्णोस्तारकयोश्चन्द्रसूर्यप्रतिफलनात्तानि तदेवेत्यूहनीयानि* । तस्मात्तारकाभ्यां सूर्यचन्द्रमण्डलदर्शनं कर्तव्यमिति प्राप्ते ब्रह्माण्डे गगनमध्ये रवीन्दुमण्डलद्वयमिव पिण्डाण्डे शिरोमध्यस्थाकाशे रवीन्दुमण्डलद्वितयमस्तीति निश्चयेन तारकाभ्यां तद्दर्शनमत्रापि कर्तव्यमुभयैक्यदृष्ट्या प्राप्तम् । तत्र मनोपि कारणमिति वक्तव्यम्, तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृत्तेरनवकाशात् । अतो मनस्तारकैक्यवृत्त्या द्रष्टव्यमिति च । लक्ष्यमान्तरमिति कृत्वा अन्तर्दृष्टिप्राधान्यात् तारकयैव तद्वेद्यता भवति । अत एव तत्तारकमित्युच्यते । तच्च द्विविधं, मूर्तितारकममूर्तितारकमिति ॥

[2]एतदुक्तं भवति यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तिमत्, यद्भ्रूयुगातीतं तदमूर्तिमत् ॥

---

*[फलितानि देवतानीत्यूहनीयानि]

तदमूर्तितारकमिति। उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत्॥
[3]मनोयुक्तान्तर्दृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति ।

ननु एवं वक्तव्यं—नेत्रादधस्तात् गणपत्यादीनां तदवेद्यत्वात् तदूर्ध्वं तु दहरमार्गेण नाळप्रदेशमवलम्ब्य सम्यगुपरिगमनेन तदुपरिस्थविशेषदर्शनमिति । तत्रोच्यते—सर्वत्रान्तःपदार्थविवेचने मन एव कारणं, मनोयुक्ताभ्यामेव तारकाभ्यां तदूर्ध्वस्थतत्त्वदर्शनात् मनोयुक्तेनान्तरीक्षणेनैव सच्चिदानन्दस्वरूपं परब्रह्मेत्यवगम्यते । ब्रह्मणः किं लक्षणमिति विशये 'यच्छुक्लं तद्ब्रह्म'* इत्युपनिषदा शुक्लतेजोमयं ब्रह्मेत्यनुप्राप्तम् । शुक्लादिवर्णानां मायिकत्वेन तदतीतं ब्रह्मेति वक्तव्यमिति चेत्; तन्न, शुक्लवर्णं ब्रह्मेत्यन्यत्र विशेषेणाङ्गीकारात् ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥†

इतिश्रुतेः । केवलशुक्लरूपमपां, रोहितरूपमग्नेः, कृष्णरूपमन्नस्येति नियमः । 'यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य'‡ इति श्रुतेः । अतः शुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति सिद्धान्तः । तद्ब्रह्म मनस्सहकारिणा चक्षुषा अन्तर्दृष्ट्या वेद्यमिति फलितार्थः । इत्यमूर्तितारकलक्षणम् ॥

[3]मूर्तितारकं तु मनोयुक्तेन चक्षुषैव वैद्यं भवति रूपग्रहणप्रयोजनस्य मनश्चक्षुरधीनत्वात्, बाह्यवदान्तरेप्यात्मनश्चक्षुस्संयोगेनैव रूपग्रहणकार्यस्योदयात्, प्रकृते मनोयुक्तान्तर्दृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति। तारकप्रकाशो नाम भ्रूयुगमध्यबिले दृष्टिः, तद्द्वारा ऊर्ध्वस्थले तेज आविर्भूतं भवति, तत्तथोच्यते । तेन सह मनोयुक्तं तारकं सुसंयोज्य

*अथर्वशिर. उ. †क. उ. ५–१५. ‡छा. उ. ६–४–१.

भ्रूयुगमध्यबिले तेजस आविर्भावः । एतत्पूर्वतारकम् ।

[4]उत्तरं त्वमनस्कम् । तालुमूलोर्ध्वभागे महाज्योतिर्विद्यते । तद्दर्शनादणिमादिसिद्धिः । लक्ष्येन्तस्स्थे बा*ह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रा भवति । सर्वतन्त्रेषु गोप्या महाविद्या भवति । तज्ज्ञानेन संसारनिवृत्तिः । तत्पूजनं मोक्षफलदम् ॥

प्रयत्नेन भ्रूयुग्मं सावधानमूर्ध्वं किञ्चिदुत्क्षिपेत् । ततः क्षणेन समुन्मनीहेतुकं भवतीति तावत्पूर्वतारकार्थः ॥

[4]उत्तरं तु अमूर्तममनस्कमिति । स एव राजयोग इति । तल्लक्षणमतिविचित्रमुच्यते । योगज्योतिःकुण्डे चित्ताध्वर्युणा बुद्धिहोत्रा अहङ्कारोद्गात्रा सह मनोयजमानः प्राणेन्द्रियाणि हवींषि हुनेत् । अनेन यागेन निर्मलात्मभूतो यजमानः सर्वदेवरूपो भवति, सर्वैरुपास्यो भवति ॥

अयमर्थः—'छागस्य वपाया मेदसोनुब्रूहि'† इति पशोर्मेदसस्सवन‡रूपलयार्थे प्राप्ते चित्तं बुद्ध्यहङ्कारोपसंहारमाश्रयति । तादृग्विधप्राणादिहविर्होमानन्तरं यजमाने लीनं भवति । स तु यजमानस्सिद्धयागफलः संस्कारातिशयेन समुन्मन्यवस्थां प्राप्य स्वर्गफलनिर्विषये परमात्मनि लीनं भवतीत्यतिशयो राजयोगस्य, मनोलयस्यान्यथासम्भवात् ॥

तालुमूलोर्ध्वभागे च महज्ज्योतिर्मण्डलं वर्तते । तद्योगिभिर्ध्येयं अणिमादिसिद्धिदं च भवेत् इति ॥

---

* लक्ष्येन्तर्बा. †आप. श्रौ. ७-२१-१. ‡ प्राणेन्द्रियहविर्हवन.

[5]अन्तर्लक्ष्यं जलज्यो*तिस्स्वरूपं भवति । महर्षिवेद्यमन्तर्बाह्येन्द्रियैरदृश्यम् । सहस्रारे जलज्यो*तिरन्तर्लक्ष्यम् । बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं पुरुषरूपमन्तर्लक्ष्यमित्यपरे । शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित् । अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोन्तर्लक्ष्यमित्येके । उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव । तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति । जीवः पञ्चविंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य षड्विंशः परमात्माहमिति निश्चयाज्जीवन्मुक्तो भवति । एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनेन जीवन्मुक्तिदशायां स्वयमन्तर्लक्ष्यो भूत्वा परमाकाशाखण्डमण्डलो भवति ॥ ३ ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

---

[5]लक्ष्येन्तस्स्थे बाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रिका भवति । सर्वतन्त्रेषु गोप्या महाविद्या च भवति। संसारनिवृत्तिफलं सैव जनयति । तन्मुद्रापरिज्ञानिनिवासाद्भूमिः पवित्रा भवति । तं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्तीति परमार्थः । तथाविधपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते तस्यापि मुक्तिरस्तीति तात्पर्यं, तस्य चान्तर्लक्ष्यगतदृढचित्तत्वात् ॥

---

*ज्वलज्ज्यो.

अन्तर्लक्ष्यं तु जलज्योतिस्स्वरूपं भवति, 'आपो ज्योती रसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवस्सुवरोम्'* इति गायत्रीशीर्षात् । तदेवान्तर्लक्ष्यं परब्रह्म गोप्याद्गोप्यतरं महर्षिवेद्यं च । अयमात्मा पूर्ण इत्यनेन बाह्येन्द्रियैर्न दृश्यते । अन्तस्स्थ इत्यनेन मनसापि सत्वरं नेष्यते† । किं तु परमगुरूपदेशेन सहस्रारे जलज्योतिः परममन्तर्लक्ष्यं भवतीति वदन्ति । केचित् बुद्धिगुहायां चक्षुश्श्रोत्रादिपरिपूर्णाङ्गः सृष्टिस्थितिलयशून्यः परमात्मा सर्वमनुजान्तर्लक्ष्यमिति गोप्यमेव तद्वदन्ति । पुनः केचिच्छीर्षान्तर्गतगगनार्कमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति वदन्ति । अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो हृद्दळान्तर्लक्ष्यमिति वदन्ति, 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः‡' 'तमेवं मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोमृतम्' §इति श्रुतेः ।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोङ्गुष्ठं च समाश्रितः ।
ईशस्सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणाति विश्वभुक् ॥ ¶इति श्रुतेश्च ॥

दशेन्द्रियपुरे परिवर्तमानं जीवात्मानं ब्रह्मणा सहैक्यभावनया साध्याद्वैतवृत्त्या शुद्धाद्वैतवृत्त्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति । पञ्चविंशको जीवः स्वकल्पितां चतुर्विंशतितत्त्वात्मिकां प्रकृतिं परित्यज्य, तत्सङ्गं विहायेत्यर्थः, षड्विंशकः परमात्माहमिति कृतनिश्चयः स तु जीवन्मुक्तो भवति ॥

एवमनेकधा प्रोक्तान्तर्लक्ष्यदर्शनेन स्वयमन्तर्लक्ष्यं व्योम भवति । तदेव नादबिन्दुकलानां मूलं स्यात्, यतो नादाद्युत्पत्तिरपि ब्रह्मण एव भवतीति निगमात् ॥ ३ ॥

इति योगशास्त्रे तृतीयोध्यायः

---

* तै. उ. ४–३५. † तत्परं नेक्ष्यते. ‡ कठ. उ–४-१३.
§ बृ-उ-६-४-१७. ¶ तै. उ. ४-७१.

[1]अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ। भगवन्नन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तं; मया तन्न ज्ञातं; तद्ब्रूहि मह्यम् ॥

[2]तदु होवाच । पञ्चमहाभूतकारणं तटित्कूटाभं तद्वच्चतुःपीठम् । तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशो भवति । सोतिगूढः, अव्यक्तश्च । तज्ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्बाह्याभ्यन्तरलक्ष्यम् । तन्मध्ये जगल्लीनम् । तन्नादबिन्दुकलातीतमखण्डमण्डलम् । तत्सगुणनिर्गुणस्वरूपम् । तद्वेत्ता विमुक्तः ॥

[3]आदावग्निमण्डलम्, तदुपरि सूर्यमण्डलम्,

---

[1]एवमुपदिष्टः प्राकृतः परमयोगिनमिदमाह—इति बहुप्रकारं भवद्भिरुक्ते आत्मस्थानं मुख्यतया मया न विदितमिव सामान्यार्थास्पदमभवत् । तद्वादरेण वक्तव्यमिति ॥

[2]उच्यते—पञ्चभूतादिवर्णयुक्तं तत्त्रिकूटस्थलं प्रसिद्धम् । तद्वच्चतुःपीठम् । तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशोस्ति । सोतिगूढोतिरम्यस्त्वव्यक्तश्च । तदेवात्मस्थानमिति गुरुणा ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्बाह्याभ्यन्तरमध्यान्तर्लक्ष्यं स्थितम् । तन्मध्ये सर्वजगल्लीनमिति ज्ञेयम् । किं च तदेव रम्यं नादबिन्दुकलान्वितं सगुणनिर्गुणं परमनयनोत्सवकारणं नित्यात्मस्थलं आपो ज्योतिरिति प्रसिद्धं श्रीमन्नारायणस्थलम् । तद्वेत्ता मुक्तिभागिति ॥

[3]आदावग्निबिम्बम् । तन्मध्ये हीरदीप्तिविराजितं सूर्यबिम्बम् ।

अन्तर्लक्ष्यं तु जलज्योतिस्स्वरूपं भवति, 'आपो ज्योती रसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवस्सुवरोम्'* इति गायत्रीशीर्षात् । तदेवान्तर्लक्ष्यं परब्रह्म गोप्याद्गोप्यतरं महर्षिवेद्यं च । अयमात्मा पूर्ण इत्यनेन बाह्येन्द्रियैर्न दृश्यते । अन्तस्स्थ इत्यनेन मनसापि सत्वरं नेष्यते† । किं तु परमगुरूपदेशेन सहस्रारे जलज्योतिः परममन्तर्लक्ष्यं भवतीति वदन्ति । केचित् बुद्धिगुहायां चक्षुश्श्रोत्रादिपरिपूर्णाङ्गः सृष्टिस्थितिलयशून्यः परमात्मा सर्वमनुज्ञान्तर्लक्ष्यमिति गोप्यमेव तद्वदन्ति । पुनः केचिच्छीर्षान्तर्गतगगनार्कमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति वदन्ति । अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो हृदन्तर्लक्ष्यमिति वदन्ति, 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः‡' 'तमेवं मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोमृतम्' §इति श्रुतेः ।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोङ्गुष्ठं च समाश्रितः ।

ईशस्सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणाति विश्वभुक् ॥ ¶इति श्रुतेश्च ॥

दशेन्द्रियपुरे परिवर्तमानं जीवात्मानं ब्रह्मणा सहैक्यभावनया साध्याद्वैतवृत्त्या शुद्धाद्वैतवृत्त्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति । पञ्चविंशको जीवः स्वकल्पितां चतुर्विंशतितत्त्वात्मिकां प्रकृतिं परित्यज्य, तत्सङ्गं विहायेत्यर्थः, षड्विंशकः परमात्माहमिति कृतनिश्चयः स तु जीवन्मुक्तो भवति ॥

एवमनेकधा प्रोक्तान्तर्लक्ष्यदर्शनेन स्वयमन्तर्लक्ष्यं व्योम भवति । तदेव नादबिन्दुकलानां मूलं स्यात्, यतो नादाद्युत्पत्तिरपि ब्रह्मण एव भवतीति निगमात् ॥ ३ ॥

इति योगशास्त्रे तृतीयोध्यायः

---

* तै. उ. ४–३५. † तत्परं नेक्ष्यते. ‡ कठ. उ–४-१३.

§ बृ-उ-६-४-१७. ¶ तै. उ. ४-७१.

[1]अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ। भगवन्नन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तं; मया तन्न ज्ञातं; तद्ब्रूहि मह्यम् ॥

[2]तदु होवाच । पञ्चमहाभूतकारणं तटित्कूटाभं तद्वच्चतुःपीठम् । तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशो भवति । सोतिगूढः, अव्यक्तश्च । तज्ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्बाह्याभ्यन्तरलक्ष्यम् । तन्मध्ये जगल्लीनम् । तन्नादबिन्दुकलातीतमखण्डमण्डलम् । तत्सगुणनिर्गुणस्वरूपम् । तद्वेत्ता विमुक्तः ॥

[3]आदावग्निमण्डलम्, तदुपरि सूर्यमण्डलम्,

---

[1]एवमुपदिष्टः प्राकृतः परमयोगिनमिदमाह—इति बहुप्रकारे भवद्भिरुक्ते आत्मस्थानं मुख्यतया मया न विदितमिव सामान्यार्थास्पदमभवत् । तदादरेण वक्तव्यमिति ॥

[2]उच्यते—पञ्चभूतादिवर्णयुक्तं तत्त्रिकूटस्थलं प्रसिद्धम् । तद्वच्चतुःपीठम् । तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशोस्ति । सोतिगूढोतिरम्यस्त्वव्यक्तश्च । तदेवात्मस्थानमिति गुरुणा ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्बाह्याभ्यन्तरमध्यान्तर्लक्ष्यं स्थितम् । तन्मध्ये सर्वजगल्लीनमिति ज्ञेयम् । किं च तदेव रम्यं नादबिन्दुकलान्वितं सगुणनिर्गुणं परमनयनोत्सवकारणं नित्यात्मस्थलं आपो ज्योतिरिति प्रसिद्धं श्रीमन्नारायणस्थलम् । तद्वेत्ता मुक्तिभागिति ॥

[३]आदावग्निबिम्बम् । तन्मध्ये हीरदीप्तिविराजितं सूर्यबिम्बम् ।

तन्मध्ये सुधाचन्द्रमण्डलम्, तन्मध्येऽखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम्, तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरं, तदेव शाम्भवीलक्षणम् ॥

[४]तद्दर्शने तिस्रो दृष्टयः, अमा प्रतिपत्पूर्णिमा चेति । निमीलितदर्शनममादृष्टिः । अर्धोन्मीलितं प्रतिपत् । सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति । तासु

तन्मध्ये अक्षयसुधाधारास्पदं चन्द्रबिम्बं वर्तते । तन्मध्ये अङ्कुररूपेण परब्रह्म वर्तत इति केचिद्वदन्ति । इदं सर्वजगद्बीजं सच्चिदानन्दरूपं परब्रह्मतत्त्वं शोभते । तच्च नीलज्योतिः किंचिच्छुक्लवर्णम् । तदन्तराळे विद्युल्लेखेव भास्वरं प्रकाशमानं मुख्यतेजः कूटस्वरूपस्वच्छच्छविः तच्छिखाया मध्ये परमात्मा अणुरूपेण व्यवस्थितः । स एव ब्रह्मा । स एव हरिः । स एवेश्वरः । स एवेन्द्रादयश्च । तथाह श्रुतिः—

नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा ।
नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा ॥
तस्याश्शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ।
स ब्रह्म स शिवस्स हरिस्सेन्द्रस्सोऽक्षरः परमस्स्वराट् ॥ *एतादृग्विधं ब्रह्माहमस्मीति शाम्भवीमुद्रिकया ज्ञातुं शक्यते ॥

[४]तन्मुद्रालक्षणमुक्तमपि विस्तार्योच्यते—प्रतिपदमापूर्णिमासंज्ञास्तिस्रो दृष्टयो ज्ञेयाः । किञ्चिदुन्मेषशीला प्रतिपद्दृष्टिः । सर्वास्तलोचनदृक् अमा । सर्वविदारितचक्षुर्द्वन्द्वेक्षणा पौर्णमासी भवति । दृङ्नियमे स्थिते च एवं पौर्णमासीदृष्ट्या अभ्यासः कर्तव्यः ।

---

* तै. उ. ४-१३.

पूर्णिमाभ्यासः कर्तव्यः । तल्लक्ष्यं नासाग्रम् । तदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते । तदभ्यासादखण्ड-मण्डलाकारज्योतिर्दृश्यते । तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति । एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शाम्भवी भवति । तामेव खेचरीमाहुः । त-दभ्यासान्मनस्स्थैर्यम् । ततो वायुस्थैर्यम् ॥

अथाभ्यस्तदृष्टिलक्ष्यं नासाग्रं भवति, नासाग्रन्यस्तपूर्णिमादृष्टेः सम्यग्राजयोगफलजनकत्वात् । अतः पूर्णिमादृङ्नासाग्रयोगाभ्यासस्सततं कर्तव्यः । तस्मिन् सिद्धे तस्यासाध्यं नास्तीति फलितार्थः । पूर्णिमादृष्टियोगेन प्रोक्ततारकमार्गेणावलम्बिते चित्ते तालुमूलद्वादशाङ्गुलाग्रभागे अन्तःपुरोर्ध्वभागे च गाढतमो दृश्यते । तत्तमोमध्यं निरन्तरं पश्येत् । तदानीमखण्डमण्डलाकारज्योतिर्दृश्यते । तदानीं सच्चिदानन्दब्रह्म भवति । एवं सहजलिङ्गे परमात्मनि मनो विलीनं कृत्वा अचलितचञ्चत्तारान्वितवान् यस्तु सोपि सद्गुरुस्स्यात् । इयं शाम्भवी मुद्रिका भवति—

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

तामेव खेचरीति केचिद्वदन्ति । सद्गुरोस्तामभ्यसेत् । यामद्वयमात्मेक्षणेभ्यस्ते मनोवायू साम्यभावेन प्रवर्तितौ भवतः । तस्मान्मनस्स्थैर्ये सिद्धे तद्वशाद्वायुस्स्थिरो भवति । वायुचाञ्चल्ये वा मनश्चाञ्चल्ये वा प्राप्ते तद्वशादितरत्सर्वं चञ्चलमेव भवति । अतो राजयोगाभ्यासेन मनोवायुस्थैर्यं भवतीति निश्चयः । शताब्दकृताभ्यासे हठेपि मनोवायुलयो न भवति । एवं खेचरीमुद्राभ्यासेन ब्रह्मणि मनोवायुलयः कर्तव्य इति फलितार्थः ॥

[5]तच्चिह्नानि—आदौ तारकवद्दृश्यते । ततो वज्र-दर्पणं, ततः परिपूर्णचन्द्रमण्डलं, ततो नवरत्न-प्रभामण्डलं, ततो मध्याह्नार्कमण्डलं, ततो वह्नि-शिखामण्डलं क्रमाद्दृश्यते ॥ १ ॥

तदा पश्चिमाभिमुखः प्रकाशः । स्फटिक-धूम्रबिन्दुनादकलानक्षत्रखद्योतदीपसुवर्णनवरत्ना-दिप्रभा दृश्यन्ते । तदेव प्रणवस्वरूपम् ॥

[1]प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा धृतकुम्भको नासाग्र-

---

[5]तद्ध्यानाभ्यासादौ ब्रह्मस्वरूपाण्येव बहुचिह्नानि जायन्ते; तार-कवत् वज्रदर्पणवत् परिपूर्णचन्द्रमण्डलवत् रत्नदीपवत् मध्याह्नार्क-बिम्बवत् वह्निशिखावच्च । इदमन्तर्लक्ष्यलक्षणम् । तेन परमयोगिना ध्यानानुभवः कर्तव्यः । पूर्वाभिमुखो योगी सम्पूर्णमण्डलाकारमात्मचिह्नं यदि पश्यति, तत्पाश्चिमाभिमुखः प्रकाशः स्वीकर्तव्यः, तारकमार्गात् किञ्च प्रत्यक्स्थानस्य ब्रह्मावगतिहेतुत्वात् । किञ्च—तेजस्तटि-द्धूम्रबिन्दुनादकळानक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसुवर्णकञ्जकिञ्जल्कदण्डनवरत्नान्या-त्मनः प्रत्ययानि भवन्ति । तत्प्रत्ययविदितं ब्रह्मैव परममृ-तमोङ्काररूपमापो ज्योतिस्स्थलं शिवं विष्णोः परं पदं चेति वदन्तीत्येवमुक्तं योगशास्त्रे । ओङ्कारममृतं ब्रह्म इत्यापो ज्योति-स्स्थलं शिवं विष्णोः परं पदं च प्राहुर्ब्रह्मविदो जनाः ॥ १ ॥

[1]प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा धृतकुम्भस्थिरभावनया श्रोत्रनेत्रनासागो-ळानि द्विकरषडङ्गुळीभिर्निरुध्य षण्मुखीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य तत्र केचिल्लयं कुर्वन्ति । केचिद्दीपचन्द्रसूर्येभ्यः प्रत्यङ्मुखासीनास्सदा

दर्शनदृढभावनया द्विकराङ्गुलीभिष्षण्मुखीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं भवति। [2]तस्य न कर्मलेपः । रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम् । एवंविदश्चिदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः । [3]शब्दकाललयेन दिवारात्र्य-

---

तत्तच्चिह्नमुक्तमण्डलप्रकारेणालोकयन्ति । गुरूपदिष्टखेचरीमुद्रया पूर्णचन्द्रदृष्ट्या बाह्याभ्यन्तरतेजःप्रकाशो भवतीति निश्चयः। तद्दृष्ट्यग्रभागे तेजःप्रतिफलनमावश्यकमित्युक्तं च । एवमन्तर्लक्ष्यस्यावश्यकत्वात् एवमात्मदृष्ट्यासक्तस्य सर्वाणि कर्माणि नश्यन्तीति फलितार्थः ॥

आत्मलिङ्गार्चनम् । अहिंसा, सर्वेन्द्रियनिग्रहः, अधिकदयालुत्वं, क्षमा, सदाखण्डज्ञानपूर्णत्वं, सत्यं, तपोनिष्ठा, सर्वज्ञता, इत्येतैरष्टपुष्पैरात्मलिङ्गार्चनपरो राजयोगी भवति ॥

[2]निमीलनोन्मीलनद्वितयं विना राकाकारदृष्टिस्संशयविवर्जितः परमपुरुषो राजयोगी भवति । जात्याद्यौपाधिकं कर्म न हि बाधते कर्म यावज्जीवं कार्यमपि राजयोगिनं न स्पृशति । तथा हि तावत्कर्मणः सूर्याश्रयत्वं प्रतिफलति । तदुदयास्तमयकालयोस्सन्ध्याक्रियाणां अत्यावश्यकत्वात् 'उद्यन्तमस्तंयन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान्सकलं भद्रमश्नुते'* इति श्रुतेः । अत अस्तोदयसमययोः कर्म कर्तव्यमिति प्राप्ते तदभावेन राजयोगिनो न घटते । कुतः? तस्य सदा भानुः खमध्यं गत एव भवति, तत्त्वदृष्टिसिद्धेः । तस्मादुदयास्तमयाभावात्कर्माभाव इति सिद्धान्तः ॥

[3]चतुष्पीठे मनो निधाय तदुपरि त्रिकूटस्थमग्नचर्केन्दुमण्डलैक्यमन्त-

---

* तै. आ. २—२.

तीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेनोन्मन्यवस्थावशेन ब्रह्मैक्यं भवति । उन्मन्या अमनस्कं भवति। तस्य निश्चिन्तता ध्यानं, सर्वकर्मनिराकरणमावाहनं, निश्चयज्ञानमासनं, उन्मनीभावः पाद्यं, सदामनस्कमर्घ्यं, सदा दीप्तिः अपारामृतवृत्तिस्स्नानं, सर्वात्मभावना गन्धः, दृक्स्वरूपावस्थानमक्षताः, चिदाप्तिः पुष्पं, चिदग्निस्वरूपं धूपः, चिदादित्यस्वरूपं दीपः, परिपूर्णचन्द्रामृतस्यैकीकरणं नैवेद्यं, निश्चलत्वं प्रदक्षिणं, सोहम्भावो नमस्का-

---

दृष्ट्या वेदितव्यम् । तदेव तदिति तदा भवतीति सामरस्यभावनया ब्रह्मैक्यानुभवी राजयोगी भवति । तज्ज्ञं दृश्यं तल्लयमिति दृग्दृश्याभावस्तदा भवति । एवं जीवन्मुक्तिकरं राजयोगमङ्गीकृत्य प्राकृत कृतार्थो भवसि । शब्दकाललयेन दिवारात्र्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेन मनसा प्राप्तोन्मन्यवस्थावशेन ब्रह्मैक्यं भवति । समुन्मनीभावेन मनसा तदैव तव अमनस्कं भवति । तस्य निश्चिन्तता ध्यानं, सर्वकर्मनिराकरणमावाहनं, निश्चयज्ञानमासनं, समुन्मनीभावः पाद्यं, सदामनस्कमर्घ्यं, सदादीप्तिराचमनं, परमामृतप्लुतिस्स्नानं, परान्वितस्मरणं वस्त्रं, सर्वपरिपूर्णज्ञानमुपवीतं, सर्वात्मकत्वदृश्यलयो गन्धः, दृगवशिष्टावस्थानमक्षताः, चिदाप्तिः पुष्पम्, चिदग्निमण्डलरूपत्वं धूपः, सूर्यात्मकत्वं दीपः, परिपूर्णचन्द्रामृतरसस्यैकीकरणं नैवेद्यम्, निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्, सोहम्भावो नमस्कारः, परमेश्वर-

रः, मौनं स्तुतिः, सर्वसन्तोषो विसर्जनमिति, य एवं वेद ॥ २ ॥

[1]एवं त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवन्निवातस्थितदीपवदचलसम्पूर्णभावाभावविहीनकैवल्यज्योतिर्भवति ॥

[2]जाग्रन्निद्रान्तपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्भवति ॥

स्तुतिर्मौनम्, सर्वसन्तोषो विसर्जनम्, एवं सर्वपूर्णराजयोगिनस्सर्वात्मकपूजा स्यात् ॥ २ ॥

[1]ध्यानादित्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवन्निवातस्थितदीपवदचलत्वेन सम्पूर्णभाव एव तन्मयत्वमित्याचक्षते । भावाभावविहीनवृत्त्या अमृतभावमापन्नस्सन्यस्तसर्वावस्थः कैवल्यसिद्धिफलभाग्भवति ॥

[2]जाग्रन्निद्रान्तपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्भवतीत्येतदुक्तम्—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति* ॥ इति श्रुतेः । मनआदिचतुर्दशकरणैरादित्यानुगृहीतैश्शब्दादीन् स्थूलान् विषयान् यदोपलभते तदा जाग्रदवस्था स्यात् । सर्वेन्द्रियोपरमकाले मनोमात्रेणैव स्वप्नावस्था स्यात् । तत्र साक्षिमात्रात्मनो गमकत्वेन तद्विद्ब्रह्मविदिति सुष्ठूक्तम् । जाग्रदन्ते इन्द्रियविरामे सुषुप्त्यवस्थैव स्यात्, ततस्स्वप्नावस्थेति व्यवस्था । तथाहि—सोपाधिकस्य नित्यं ब्रह्मैक्यानन्दाभिलाषस्थितिप्राप्त्यैव जाग्रदवस्थायां बहिर्मुखोपि समालम्बितनिद्रस्तूर्णं ब्रह्मलयगतो बहुलीकृतदेहप्रारब्धवशात्तमोभिभूतो भवति ।

---

*क. उ.—४-४.

[3]सुषुप्तिसमाध्योर्मनोलयाविशेषेपि महदस्त्युभयोर्भेदः, तमसि लीनत्वान्मुक्तिहेतुत्वाभावाच्च । समाधौ मृदिततमोविकारस्य तदाकाराकारिताऽखण्डाकारवृत्त्यात्मकसाक्षिचैतन्ये प्रपञ्चलयस्सम्पद्यते, प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात् ततो भेदाभावात्, कदाचिद्बहिर्गतेपि मिथ्यात्वभावनात् ॥

[4]सकृद्विभातसदानन्दानुभवैकगोचरो ब्रह्मवित्तदेव भवति ॥

अतस्सुषुप्तौ तमोरूपपरब्रह्मणि जीवैक्यं भवति । तेन किञ्चित्कालं सुखेन स्थित्वा स्वान्तर्लीनमनसा स्वप्नं पश्यतीति सिद्धान्तः । स्वप्नान्ते सोपाधिकस्य मनोगोचरत्वं सम्पद्यते । तस्मादुक्तं तत्त्वज्ञानान्मुक्तिरिति ॥

[3]एवमवस्थात्रयनियमे विचार्यमाणे सुषुप्तिसमाध्योर्नह्यस्ति भेदः उभयोर्मनोलयतौल्यात्, मनोलय एव मुक्तिरिति यद्युच्येत तथा न वक्तव्यम्; तत्र तु मनसस्सत्त्वान्मुक्तिहेतुत्वाभाव एव । तर्हि कोत्र मुक्तिहेतुर्वक्तव्यः? तत्र विशेषोयं परिग्राह्यः—परिच्छिन्नस्य मनसो लयस्सुषुप्तौ भवति, समाधौ तु मृदिततमसः अपरिच्छिन्नत्वं ईश्वरस्य भवति, तदाकाराकारितान्तःकरणस्य पूर्णत्वात् । उभयैक्ये प्रपञ्चलयस्सम्पद्यते; महाभूतादिप्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात् । ततः परं भेदगन्धाभावान्मुक्तिरिति दिक् ॥

[4]बाह्याभ्यन्तरयोरभिमानशून्यवृत्त्या सदानन्दानुभवेन यश्चरति सोपि मुक्त एव । अज्ञत्वहीनज्ञप्तिहीनज्ञभावं च यो वेद स तु नित्यानित्यार्थविवेकवान् भवति । तद्विवेकसम्पन्नोपि अज्ञ इव वर्तते चेत

यस्यसङ्कल्पनाशस्स्यात्तस्य मुक्तिः करे स्थिता॥ तस्माद्भावाभावौ परित्यज्य परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति। पुनःपुनः सर्वावस्थासु ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये चोहापोहादि परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत्। य एवं वेद ॥ ३ ॥

[1]पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुरीयातीताः ॥

[2]जाग्रति प्रवृत्तो जीवः प्रवृत्तिमार्गासक्तः। पापफलनरकादि मास्तु, शुभकर्मफलस्वर्गफलमस्त्विति काङ्क्षते ॥

स मुक्तिभागेव यस्य सङ्कल्पनाशस्स्यात् तस्य भावयोगसिद्धिरुन्मन्यवस्थापरिपक्वमनस्सिद्धिश्च भवति। यदि सङ्कल्पमात्रे स्थितिलेशस्स एव बन्धहेतुस्स्यात्। तस्माद्भावाभावौ परित्यज्य सर्वपरिपूर्णज्ञानेन मुक्तो भवति मुहुर्मुहुः सर्वावस्थासु अकृतप्रयत्नो भूत्वा ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये ऊहापोहादीनि सर्वाणि परित्यज्य निश्चलचित्तो भूत्वा यस्तु वर्तते स तु जीवन्मुक्तो भवति ॥३॥

[1]इतः परं पारिभाषिकावस्थाः पञ्च ज्ञेयाः, जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुरीयातीतभेदात्। तल्लक्षणं तु पापकर्माणि त्यक्त्वा शुभकर्माणि समाचरेत्; एवं वर्तमानस्तु प्रवृत्त इत्युच्यते। स एव जाग्रदवस्थाप्त इति नाम; जाग्रदवस्थायामाप्तः संयुक्त इत्यर्थः ॥

[2]प्रवृत्तिमार्गासक्तः प्रवृत्तः पापकर्मफलनरकाद्यनुभवो मास्तु शुभकर्मफलस्वर्गाद्यनुभवोऽस्त्विति ॥

[3]स एव स्वीकृतवैराग्यात्कर्मफलजन्मालं संसारबन्धनमलमिति विमुक्त्यभिमुखनिवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवति ॥

[4]स एव संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य कामादि त्यक्त्वा विहितकर्माचरन् साधनचतुष्टयसम्पन्नो हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रान्तर्लक्ष्यरूपमासाद्य सुषुप्त्यवस्थाया*मुक्तब्रह्मानन्दस्मृतिं लब्ध्वा एक एवाहमद्वितीयः कश्चित्कालमज्ञानवृत्त्या विस्मृतजाग्रद्वासनासु फलेन तैजसोस्मीति तदुभयनिवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्मीत्यहमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदस्य परं तु न हि मदन्यदिति जातविवेकः शुद्धाद्वैतब्रह्माहमिति भिदागन्धं निरस्य स्वान्तर्विजृम्भितभानु

[3]स एव स्वीकृतवैराग्यः कर्मालं जन्मालं संसारबन्धनमलमिति नित्यमनुचिन्तापरः सम्यङ्मुक्त्यभिमुखः सन्निवृत्ताख्यो भवति ॥

[4]स एव संसारवार्धिप्लवार्थी जननमरणप्रवाहतरणसाधनाभिलाषी भक्त्या सदा गुरुसेवानिरतः कामादीन्परित्यज्य विहितकर्माचारसमाश्रितः मौननिष्ठः शमदमयुतः शुचिर्भूत्वा महाधैर्यवान् योगाभ्यासपरः प्राप्तप्रयाणोपि स्वर्गसौख्यानुभवी पुनर्भूमिमासाद्य पूर्वाभ्यासात्स्वप्नावस्थाद्दतयोगफलः स्वप्नबाहुल्यशरत्कालप्राप्तस्वप्नवल्लो-

* यामपि.

नतदाकाराकारितपरब्रह्माकारमुक्तिमार्गमारूढः परिपक्वो भवति । सङ्कल्पादिकं मनोबन्धहेतुः । तद्विमुक्तं मनो मोक्षाय भवति । तद्वान् चक्षुरादिबाह्यप्रपञ्चोपरतः विगतप्रपञ्चगन्धस्सर्वं जगदात्मत्वेन पश्यन् त्यक्ताहङ्कारो ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयन्निदं सर्वं यदयमात्मेति भावयन् कृतकृत्यो भवति ॥ ४ ॥

'सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्मभूतो योगी भवति ।

कालनित्यान् सम्भाव्य हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रं उत्क्रान्तलक्ष्यरूपमवाप्य सुषुप्त्यवस्थायां मुक्तब्रह्मानन्दस्मृतिं लब्ध्वा एक एवाहं न द्वितीयः कश्चित्स्वल्पमज्ञानवृत्त्या विश्वोऽस्मि जाग्रद्वासनाबलेन तैजसोऽस्मि तदुभयनिवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्मि; अहमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदवान् स्यां न हि मत्तोऽन्यदिति ज्ञातविवेकः शुद्धाद्वैतब्रह्माहमिति भिदागन्धं निरस्य स्वान्तर्विजृम्भितभानुमण्डलध्यानस्तदाकाराकारितः परब्रह्माभूवमिति मुक्तिमार्गमेकमारूढोऽपि चक्षुर्द्वारा स्वीकृतबाह्यप्रपञ्चलक्षणः स्वहृत्प्रवृत्तिरतो भूत्वा चित्ररूप इव विगतप्रपञ्चगन्धः सर्वं जगदात्मत्वेन पश्यन् समाप्त्यशोच्यान्वितो वर्तते ॥ ४ ॥

'स एव त्यक्ताहङ्कारः प्रज्ञानातिमशेषभूतोत्पत्तिकारणं ब्रह्माहं इदं सर्वं मद्ध्यमेवेति विवेकेन यो वर्तते स एव समुद्रपरिपूरितनिमग्नघटवत् ध्वस्तघटनिष्ठाकाशवत् जीवपरैक्यं कृत्वा सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्मीभूतो योगी विराजते तं ब्रह्मेति गोविन्द इति परमशिव इति स्तुवन्ति । सर्वलोकस्तुतिपात्रं सर्वदेशसञ्चारशीलः कृता-

ति। तं ब्रह्मेति स्तुवन्ति । सर्वलोकस्तुतिपात्र-सर्वदेशसञ्चारशीलः ।

[2]परमात्मगगने बिन्दुं निक्षिप्य शुद्धाद्वैतजाड्य-सहजामनस्कयोगनिद्राखण्डानन्दपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति । तच्चानन्दसमुद्रमग्ना योगिनो भवन्ति। तदपेक्षया इन्द्रादयस्स्वल्पानन्दाः। एवं प्राप्तानन्दः परमयोगी भवतीत्युपनिषत् ॥ ५ ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम्.

ॐ॥[1]याज्ञवल्क्यो महामुनिर्मण्डलपुरुषं पप्रच्छ।

र्थफलेन दत्तात्रेयादिवद्विराजते । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगाभ्यासं कुरु ॥

[2]तुरीयातीतमानन्दं स्वीकृत्य सर्वावस्थाः परित्यज्य सन्यस्तसर्वकार्यः सम्यग्दृढयोगनिष्ठः परमात्मनि गगने बिन्दुं निक्षिप्य शुद्धाद्वैतसामरस्यं कुर्यादिति योगशास्त्रोपदिष्टममनस्कविधानं कुरु ॥

एवमुन्मनी मनोन्मनी सहजामनस्कमजाड्यनिद्रा योगनिद्रा अनन्ताखण्डानन्द इति पर्यायपदानुवृत्त्या राजयोगस्य विदितानि नामानि भवन्ति। एवं कृतामनस्कसौख्यमपरिमितमत्यन्तमक्षरं भवति । तदानन्दसमुद्रमग्ना महायोगिनस्सन्ति तदानन्दापेक्षया सर्वानन्दास्स्वल्पा इव भवन्ति, 'स एको ब्रह्मण आनन्दः'* इत्यादिश्रुतेः । एवं प्राप्तानन्दः परमयोगी भवति ॥ ५ ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम्.

[1]एवमुपदिष्टः प्राकृतः पुनरिदमवादीत्, स्वामिन् ! अमनस्कं

---

*तै. उ. २-८.

स्वामिन्नमनस्कलक्षणमुक्तमपि विस्मृतं पुनस्तल्ल-
क्षणं ब्रूहीति । तथेति मण्डलपुरुषोऽब्रवीत् ॥

इदममनस्कमतिरहस्यं यज्ज्ञानेन कृतार्थो भवति । तन्नित्यं शाम्भवीमुद्रान्वितं परमात्मदृष्ट्या तत्प्रत्ययलक्ष्याणि दृष्ट्वा तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं पराकाशं निरालम्बमद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परब्रह्मात्मन्येव पश्यमानो गुहाविहरणमेवं निश्चयेन ज्ञात्वा भावाभावादिद्वन्द्वातीतस्संविदितमनोन्मन्यनुभवस्तदनन्तरमखिलेन्द्रियक्षयवशादमनस्कसुखब्रह्मानन्दसमुद्रे मनःप्रवाहयोगरूपनिवातस्थ-

मिदानीं श्रुतमपि विस्मृतमिव भाति तद्व्याख्याय पुनर्वक्तव्यमिति प्रार्थितः परमयोगी शिष्यं प्रत्यब्रवीत् ॥

अद्यैतदत्यन्तरहस्यं शृणु, मद्यः कृतार्थो भवसि । नित्यं शाम्भवीमुद्रान्वितः पूर्वोक्तप्रकारेण परमात्मदृष्ट्या प्रत्ययानि लक्ष्याणि दृष्ट्वा दृश्यहीनः पूर्वपुण्यतपोदृष्टप्रत्ययानि शून्यान्यनुभाव्य सर्वत्रैकमप्रमेयमजं शिवं पराकाशं निरालम्बमद्वयं हरिमच्युतं नित्यमानन्दमयं सर्वकारणं परं ब्रह्मात्मत्वेनैव पश्यन्मनोगुहाविहरणशीलमेवं निश्चयेन ज्ञात्वा भावाभावौ स्वप्नास्वप्नौ निद्रानिद्रे इत्यादिद्वन्द्वातीतस्सन् विदितमनोन्मन्यनुभवानन्तरं अखिलेन्द्रियजयवशादमनस्कसुखं ब्रह्मानन्दसमुद्रं मनःप्रवाहयोगरूपं लब्ध्वा ततःपरं निवातस्थितदीपवदचलं ब्रह्म प्राप्स्यसि, ततस्त्वं शुष्ककाष्ठ-

तद्दीपवदचलं परं ब्रह्म प्राप्नोति। ततश्शुष्कवृक्षवत् मूर्छानिद्रामयनिश्वासोच्छ्वासाभावान्नष्टद्वन्द्वस्सदा- चञ्चलगात्रः परमशान्तिं स्वीकृत्य मनः प्रचार- शून्यं परमात्मनि लीनं भवति । पयस्स्रा- वानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशं भवति तदेवामनस्कम् ॥

[3]तदनु नित्यशुद्धः परमात्माहमेवेति तत्त्वम- सीत्युपदेशेन त्वमेवाहमहमेव त्वमिति तारकयो- गमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति ॥ १ ॥

परिपूर्णपरमाकाशमग्नमनाः प्राप्तोन्मन्यवस्थस्सं- न्यस्तसर्वेन्द्रियवर्गोनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपक्वकै -

---

वन्मूर्छानिद्रामयनिश्वासोच्छ्वासाभावान्नष्टद्वन्द्वः सदाचञ्चलगात्रः शान्तिं स्वीकृत्य स्थितो भवसि । तदा तव मनः प्रचारशून्यं परमात्मनि लीनं भवति । पयस्स्रावानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशमङ्गीकुरुष्व तदेवामनस्कमिति ॥

[3]तदनु नित्यानन्दस्सच्चिदानन्दरूपः परमात्माहमेव त्वं स्वीकृत- गुरुमार्गोसि तदाहमेव त्वं त्वमेवाहमिति निजकरं शिष्यशिरसि निक्षिप्य सम्यग्ज्ञात्वा तत्त्वमसीति त्रिवारमुपदिश्य पश्य तारकयोग- मार्गेण ब्रह्मेत्युपदिष्टः प्राकृतः परमयोगिनमिदमाह— 'अहं ब्रह्मास्मि'* 'अयमात्मा ब्रह्म'† ' नेह नानास्ति किञ्चन'‡ इति च एवमुच्चरन् अख- ण्डानन्दपरिपूर्णब्रह्म पश्यन् गुरुमभिवाद्य कृतार्थोस्मि भवत्कटाक्षा- दिति वदन् ततः पूर्णाकाशपरायत्तमानसः त्यक्तप्रापञ्चिकः प्राकृतः

---

*बृ. ३-४-१०, †बृ. ४-५-१९, ‡बृ. ६-४-१९,

वल्यफलोखण्डानन्दनिरस्तसर्वक्लेशकश्मलो ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ॥

[4]त्वमेवाहं न भेदोस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः ।
इत्युच्चरन् समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत्॥२॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

ॐ॥ अथ ह याज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पप्रच्छ। व्योमपञ्चकलक्षणं विस्तरेणानुब्रूहीति। स होवाचाकाशं पराकाशं महाकाशं सूर्याकाशं परमाकाशमिति पञ्च भवन्ति । बाह्याभ्यन्तरमन्धकारमयमाकाशं, बाह्याभ्यन्तरे कालानलसदृशं पराकाशं, सबाह्याभ्यन्तरे अपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वमहाकाशं,

---

प्राप्तोन्मनीफलः संन्यस्तसर्वेन्द्रियवर्गः परब्रह्मणि गुरूपदिष्टमनोलयमभिनीय मर्यादाशून्यानन्दसुखमनुभूय चिरादनेकजन्मान्तरतपःफलान्मोक्षभागभवत् ॥

[4]एवमखण्डानन्दानुभवनिरस्तसर्वक्लेशमाश्रितमिदमाह योगिराट् ॥

त्वमेवाहं न भेदोस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः ।
इत्युच्चरन् समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत् ॥
बाह्याभ्यन्तरतौल्येन शुक्लतेजोमयं-शिवम् ।
योगदृष्ट्या सदा पश्यन्ननाम गुणसत्तमः ॥ २ ॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम्* ॥

एवं विदितब्रह्मानन्दमपि शिष्यं उपाधिं कृत्वा लोकानुग्रहाय योगिराडिदमब्रवीत् ॥

---

*चतुर्थब्राह्मणस्य व्याख्या न दृश्यते.

सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशं, अनिर्वचनीयज्योतिस्सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम्, एवं तत्तल्लक्ष्यदर्शनात्तत्तद्रूपो भवति ।

नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ॥१॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

ॐ ॥ [1]सविषयं मनो बन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति । अतस्सर्वं जगच्चित्तगोचरं तदेव चित्तं

श्रृणु सावधानेन शिष्यवर तस्मात्तव कर्म किञ्चिदपि दुष्करं भवति नैष्कर्म्यं सुखावहमित्यर्थात्सिद्धं भवति । दृढतरयोगाभ्यासेन तत्कर्म नौवारिकपथिकवदष्टाङ्गं निवृत्तं स्यात् । अतो योगाभिलाषी धैर्येण सर्वातिगं ब्रह्म ध्यायेत् । अभ्यासेन सगुणं वा यदि निष्कळं वा भवति । तेन कर्मत्याग आवश्यकः आभ्यन्तरबाह्यैकीकरणप्रवृत्तेः तत्प्रयोजनाभावात् कर्माण्यनन्तानन्तजन्मप्रदानि । इदानीं तत्तज्जन्मसञ्चितादिभेदाददतिदृढानि परित्यक्तुमतिदृढास्पदगुणयोगादनुचितानीति ममातिकल्पनायां प्राप्तायां तन्निरासार्थमेवं भवति रात्रौ नष्टकळादिने अत्यन्तगाढान्धकारे जगद्व्याप्तेपि आदित्योदयात्सर्वं तत्कारणमप्यनवशिष्टं भवति ॥

एवं योगाभ्यासेनैव मार्ताण्डोदये पिण्डाण्डे विदिते सृष्ट्यादिजन्मान्तरसर्वकर्मध्वंसस्स्यादेव । तस्मान्निष्क्रियः परमयोगी प्रकृतिबन्धमुक्तः सुखी भवति ॥

[1]सविषयमेव चित्तं बन्धाय । निर्विषयं मुक्त्यै भवति । अत-

निराश्रयं मनोन्मन्यवस्थापरिपक्कं लययोग्यं भवति। तल्लयं परिपूर्णे मयि समभ्यसेत् ॥

[2]मनोलयकारणमहमेव।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत्।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

[3]तल्लयाच्छुद्धाद्वैतसिद्धिः भेदाभावात् । एतदेव

स्सर्वं जगच्चित्तगोचरं तदेव चित्तं निराश्रयं मनोन्मन्यवस्थापरिपक्कं मनोलययोगं सम्पाद्य तन्मनोलयं भगवति परिपूर्णे समभ्यसेत् ॥

[2]मनोलयकारणं विष्णुनोक्तमुत्तरगीतायाम्—

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत्।
तन्मनोविलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

[3]तन्मनोलयानन्तरं शुद्धाद्वैतसिद्धिर्भवति, तदानीं भेदगन्धाभावात् एतत्परमतत्त्वं गोप्यं कर्तुं परमयोगी बालोन्मत्तपिशाचवत् स्वरूपं जडवृत्त्या समाच्छाद्य वर्तते पूर्वयुगकालज्ञाः ऋभुनिदाघजडभरत-

परमतत्त्वं स तज्ज्ञो बालोन्मत्तपिशाचवज्जडवृत्त्या लोकमाचरेत् ॥

[4]एवममनस्काभ्यासेनैव नित्यतृप्तिरल्पमूत्रपुरीषमितभोजनदृढाङ्गाजाड्यनिद्राद्दग्वायुचलनाभावब्रह्मदर्शनज्ञातसुखस्वरूपसिद्धिर्भवति ॥

[5]एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणोऽसौ संन्यासी परमहंसोऽवधूतो भवति । तद्द-

---

दत्तात्रेयरैवतप्रभृतयः अव्यक्तलिङ्गाः अव्यक्ताचाराः उन्मत्तवदाचरन्तीति श्रुतेः । निश्रेयसफललाभभाक् योगी वैराग्यादिभ्यो निवृत्तप्रवृत्तिरपि बद्धनादिप्रकृतिबद्ध इव संलक्ष्यते तस्मात्सर्वयोगिश्रेष्ठोमनस्कयोगीति सिद्धान्तः ॥

[4]तादृशयोगिनः तैलाभ्यङ्गघृतपानादि स्वेदनिरासार्थं मर्दनं च न कर्तव्यं अमनस्काभ्यासेनैव सौकुमार्यादिदेहफलसिद्धिलाभात् अमनस्काभ्यासेनैव दिव्यौषधं भवति तेन सर्वसिद्धिः राजयोगसिद्धिः नित्यतृप्तिः अल्पमूत्रपुरीषनिस्सरणं मितभोजनं दृढाङ्गत्वमजाड्यं निर्निद्रत्वमित्यादिशुभफलानि सम्भवन्ति । दृग्वायुचलनाभावाच्च तेन निरन्तरं ब्रह्मदर्शनजातसुखमद्भुतं प्राप्य न कुतश्चन बिभेति ॥

तस्मात्सिद्धाद्यासनादिभ्यः स्वमूलादिबन्धेभ्यः प्राणवायुनिरोधाद्विषयेन्द्रियनिग्रहध्यानदृग्दृश्यविवेकाच्च एभ्यो नियमेभ्यः अतिक्रमितशुद्धाद्वैतमार्गावलम्बी परमयोगी सदानन्दः सर्वसिद्धिभागमनस्कविधानेन प्रतिदिनं क्षणमात्रं वा कालक्षेपाय अनुभवं प्राप्नोति ॥

[5]स एव चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणो भवति । 'तस्य

र्शनेन सकलं जगत्पवित्रं भवति । तत्सेवापरोऽज्ञोपि मुक्तो भवति । तत्कुलमेकोत्तरशतं तार-

तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्य'* इति श्रुतेः तादृक्परमयोगी स एव परमहंसः स एवावधूतः । तं दृष्ट्वा सकलमिदं जगत्पवित्रं भवति । तत्सेवापरः अज्ञोऽपि मुक्त एव भवति । तत्कुलमेकविंशतिसङ्ख्याकं पूर्वमपरञ्च मुक्तं भवति । तन्माता मुक्ता कृतार्था फलेन भावेन च पिता स्वपूर्वापरबहुपितृगणैस्सह मुक्तो भवति । इति योगिश्रेष्ठमहत्वमितीदं प्रपञ्चितम् ॥

नारदादयस्सर्वे राजयोगाभ्यासेन जरामरणविहीनाः नित्यानन्दवैभवास्सन्ति । तदेवेदानीमप्यूहनीयम् । अन्यत्र तापत्रयषट्कोशषडूर्मिपञ्चकोशषड्भावविकारषडरिषड्भ्रमसहिता भवन्ति ॥

तापत्रयन्तु आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकाभिधं कर्तृकर्मकार्यज्ञातृज्ञानज्ञेयभोक्तृभोग्यभोगा इति नवविधव्यवहारा ज्ञातव्याः । त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्जाः षट्कोशा भवन्ति । कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याण्यरिषट्कम् । अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया इति पञ्च कोशाः । प्रियत्वजननवर्धनपरिणामापक्षयविनाशनानि षड्भावविकाराः । क्षुत्पिपासाशोकमोहजरामरणानि षडूर्मयः । कुलगोत्रजातिनामवर्णाश्रमरूपाणि षड्भ्रमा भवन्ति ॥

एतत्सम्पन्नाः पुनःपुनः यमवशं गताः नित्यसंसारिण इति ख्याता भवन्ति । तस्मात्संसारान्निर्विण्णः परमयोगी ब्रह्ममार्गमवलम्ब्य मूलाधारस्थकुन्डलिन्या वायुमिडापिङ्गलसञ्चारविकलं व्युत्क्रमेण सुषु-

*छा. उ.—६-१४-२.

यति । तन्मातृपितृजायाऽपत्यवर्गं च मुक्तं भवती-
त्युपनिषत् ॥

पूर्णमद इति शान्तिः ॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम्.

मण्डलब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता ॥

म्नाबिलं प्रापय्य एतदुद्घाटितवैपुल्ये तन्मार्गे ब्रह्मविष्णुरुद्रग्रन्थिभेद-
पुरस्सरं आज्ञादहरं भित्वा तारकानुसन्धानेन तारके सार्धबिम्बमध्य-
मार्गेण अनर्गळपरिविजृम्भमाणं अग्नितेजःकूटपवनास्फोटनथळथळायमान-
तेजो भूत्वा तत्समीपविश्वव्योमव्याप्तिपरिपूर्णचन्द्रमण्डलनिष्ठसान्द्रामृतानि-
ष्यन्दबिन्दुसन्दोहपानपरितृप्तस्सदानन्दरूपं श्रेयः प्राप्य निस्संश-
यस्तत्वाकाशो भूत्वा सदानन्दावधूतकृपालेशान्मुक्तोस्मीति भावयेत् ॥

इति योगशास्त्रे मण्डलब्राह्मणोपनिषद्भाष्ये
पञ्चमं ब्राह्मणम्.

राजयोगभाष्यं
समाप्तम्.

शुद्धपाठ-पाठान्तर-सूचिनी.

मूले.

पु.	पं.	अशुद्धं.	शुद्धं.
२६	९	विस्मृतजाग्रद्वासनासु ५	[विश्वोस्मि जाग्रद्वासनाव]
,,	११	वस्थाभेदस्य	[वस्थाभेदस्स्यां]
२७	८	योगीव भ	योगी भव
२८	३	शुद्धाद्वैतजा	शुद्धाद्वैताजा
२९	११	योगरूपनि	[योगरूपं नि]

भाष्ये.

पुटे.	भाष्यपङ्क्तौ.	पाठ्यम्.
२	१	मुखागत
४	१	तत्त्वमेवं
,,	१८	पितामहोधिदे-
,,	२२	माकाशादिभूतगुणो
५	१२	प्रकृतिवासनाभिदुर-
,,	१८	कर्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यात्मकम्
,,	१९	कर्त्रादिज्ञात्रादिभोक्त्रादयो
,,	२४	देहत्रयम् । कर्मसंसा [स्का] रेन्द्रि- याणां कार्मिकं

पुटे.	भाष्यपङ्क्ती.	पाठ्यम्.
६	१२	प्रासरांतं तथा
”	१६	पञ्चीकरणरूपः
”	१७	अस्येन्द्रियात्मा केवलात्मा
७	४	सत्त्वसेवनं
”	७	सुखरत्नं आत्मैक्यतीरं
”	९	प्रत्यग्रस्थितो भूत्वा
८	१२	पुरुषमिति तारः
”	१३	तारकः
”	१५	करोतीति तथोच्यते
९	९	फालोर्ध्वगोलल्ललाट
”	११	घूङ्कारशब्दो
”	१५	सर्वमुमुक्षुभि
१०	३	स्थिरदृष्टया
”	११	सूर्यचक्रा
१०	३	चेत्तदिदं गुण
”	७	विमुक्तिफ
१२	११	ताराधीनग्रहगते
”	”	प्रसिद्धेः अत्राप्यक्ष्णो
”	२१	दैवतानीत्यूहनीयं
१३	१	नेत्रादधस्स्थगणप
”	८	शुक्लवर्णतेजो ब्रह्मे
”	१८	दान्तरेप्यात्मनो मनश्चक्षु
१४	८	पशोर्मनसो हवनरूपलयार्थे
”	१०	तादृक्चित्तं प्राणादिहवि
”	१२	परमात्मनि लीनो भव

पृष्टे.	भाष्यपङ्क्तौ.	पाठ्यम्.
१४	१३	स्यान्यथाऽसंभ
१७	१	ामदमाह—बहुप्रकारे
”	११	तन्मध्ये मितिहीनर्ज्ञाप्ति
१८	३	परब्रह्मान्तश्शरीरीव
१९	५	अन्तः पुरोभागे
”	७	एवं सञ्ज्ञलिङ्गे
२०	६	किंचित्प्रत्यकस्थानस्य
”	१०	वदन्ति तदुक्तं योगशास्त्रे— ओंकारममृतं ब्रह्मत्योपा ... वं । विष्णोः...पदं चेति प्रा...नाः ॥
”	१२	कुम्भकः स्थिरभावनः
२१	३	एवमनुलक्षणमात्मद
”	९	तं जा ... धते । क
२१	११	प्रतिफलति, त ... स्सन्ध्यादिक्रि
२२	३	श्याभेदस्त
२३	१०	रादित्याद्यनु
”	१५	प्रासंथे जा
२४	७	तत्र तु तमसस्स
”	१०	ईश्वरस्येव
”	१४	अज्ञत्वहीनज्ञप्तिं ज्ञप्तिहीनमज्ञत्वं च
२६	६	प्राप्तप्रायणोपि
२७	२	सुषुप्त्यवस्थया भुक्त
”	८	स्वहृत्प्रवृत्तिरतो भू
”	१४	स्तुवन्ति । स
२८	७	मितमत्यद्भुतमक्ष

पृष्ठे.	भाष्यपङ्क्तौ.	पाठ्यम्
२९	३	अद्यैतदत्यन्त
,,	७	पश्यन्मनोगुहा
,,	८	शीलमेवं निश्चयेनज्ञा
३०	१	च्छ्वासभावाभावादिनष्ट
,,	३	भवति । स्नावानन्तरं
३१	८	सत्तमम्
३२	३	[भ्यासे तत्कर्म नौस्तारिततीरस्थ पथिक]
,,	९	तन्निरायासत एव
३४	२	योगी राग्यादि
,,	३	गुप्तयै निवृत्तिप्रकृतिरापि
३५	२	तद्दृष्ट्या सक्त
,,	१९	पिङ्गलासञ्चा
३६	३	अग्निसूर्यतेजः

78

सुभगोदयस्तुतिः

SUBHAGODAYASTUTI OF ŚRĪGAUḌAPĀDĀCHĀRYA

with Bhāvabodhinī Commentary of Śrī Paripūrṇa-Prakāśānanda Bhāratī Mahāsvāmī

Edited By

PRITHVI K. AGRAWALA
M. A., Ph. D.

RAMA ADHAR PATHAK
M. A., Ph. D.

Department of Ancient Indian History, Culture & Archaeology
BANARAS HINDU UNIVERSITY

1984

P P

PRITHIVI PRAKASHAN
VARANASI-221005 (India)

Indian Civilisation Series

Founder-Editor : **The Late Prof. V. S. Agrawala**

No. XXVII

SUBHAGODAYA-STUTI OF ŚRĪGAUḌAPĀDĀCHĀRYA

with Bhāvabodhinī Commentary of Śrī Paripūrṇa-Prakāśānanda Bhāratī Mahāsvāmī

श्रीगौडपादाचार्य-विरचिता सुभगोदयस्तुतिः

श्रीपरिपूर्णप्रकाशानन्दभारतीकृत-भावबोधिनीटीकासहिता

The Indian Civilisation Series

Editor : Dr. P. K. AGRAWALA

I. Masterpieces of Mathura Sculpture By *V.S. Agrawala*
II. The Vyāla Figures on the Medieval Temples of India By *M. A. Dhaky*
III. Pūrṇa Kalaśa or the Vase of Plenty By *P.K. Agrawala*
IV. Bṛihatkathāślokasaṁgraha–A Study By *V.S. Agrawala*
V. Evolution of the Hindu Temple and other Essays By *V.S. Agrawala*
VI. Mathura Railing Pillars By *P.K. Agrawala*
VII. Ancient Indian Folk Cults By *V.S. Agrawala*
VIII. Gupta Temple Architecture By *P.K. Agrawala*
IX. The Astral Divinities of Nepal By *P. Pal & D.C. Bhattacharyya*
XI. Early Indian Bronzes By *P.K. Agrawala*
XII. Temples of Tripura By *Adris Banerji*
XIII. India As Told by the Muslims By *Ram Kumar Chaube*
XIV. India as Described by Manu By *V.S. Agrawala*
XV. Archaeological History of S. E. Rajasthan By *Adris Banerji*
XVI. Śrīvatsa—The Babe of Goddess Śrī By *P.K. Agrawala*
XVII. Burial Practices in Ancient India By *Purushottam Singh*
XVIII. Gangetic Valley Terracotta Art By *P. L. Gupta*
XIX. Museum Studies By *V.S. Agrawala*
XX. Goddess Vināyakī—the Female Gaṇeśa By *P.K. Agrawala*
XXI. Aesthetic Principles of Indian Art By *P.K. Agrawala*
XXII. On the Ṣaḍaṅga Canons of Painting By *P.K. Agrawala*
XXIII. Vedic Lectures By *V.S. Agrawala*
XXIV. India—A Nation By *V.S. Agrawala*
XXV. Vāmana Purāṇa—A Study By *V.S. Agrawala*
XXVI. Hymn of Creation By *V.S. Agrawala*
XXVII. Subhagodaya-Stuti of Gauḍapādāchārya
XXVIII. Varanasi Seals and Sealings By *V.S. Agrawala*

Forthcoming

X. Superstructural Forms of Indian Temple By *M.A. Dhaky*

SUBHAGODAYASTUTI OF
ŚRĪGAUḌAPĀDĀCHĀRYA

with Bhāvabodhinī Commentary of Śrī Paripūrṇa-
Prakāśānanda Bhāratī Mahāsvāmī

EDITED BY

PRITHVI K. AGRAWALA
M. A., Ph. D.

RAMA ADHAR PATHAK
M. A., Ph. D.

Department of Ancient Indian History, Culture & Archaeology
BANARAS HINDU UNIVERSITY

1984

PP

PRITHIVI PRAKASHAN
VARANASI - 221005 [INDIA]

सुभगोदयस्तुतिविषयसूचिका

२२ मन्त्रस्य ऋषि-सपर्या-निरूपणम् ।

२३. त्रिखण्ड-मन्त्र-सरघा-षडब्जानामन्योन्यसंबन्धनिरूपणम् ।

२४. खण्डत्रयस्य स्वान्तलयनिरूपणपूर्वकं षोडशदलादित्रि-चक्रेषु एव मातृकालयनिरूपणम् ।

२५. उक्तषोडशदलादिशिवचक्रत्रयपूरकमिभदलं शांभवमिति शिव-शक्ति-चक्र-चतुष्टययोरभेदमिति निरूप्य नित्यास्वरूप-कथनम् ।

२६. षोडशीशशिकलालयम् अयम्-अक्-प्रत्याहारविवरणं च ।

२७. क्षकारातिशयस्य मणिपूरे समयिपूजाविशेषस्य च निरूपणम् ।

२८. चक्रेषु मणिपूरं द्वितीयमिति केषांचित्पक्षं, तृतीयमिति समयिपक्षं च निरूप्य, अनाहते वायूत्पत्तिनिरूपणम् ।

२९. अनाहतस्य संवित्कलत्वकथनं तदुपर्याकाश-सदाशिव-निरूपणं च ।

३०. विशुद्धचक्रे देवीपूजायाः सहस्रारे नित्याकलायाश्च विवरणम् ।

३१. समयिनां शुक्लपक्षपूजाकारणं ब्रह्मग्रन्थ्यादित्रयविवरणं च ।

३२. समयिनाम् अमावस्यापूजाभावे हेतुनिरूपणम् ।

३३. अमायाः, आज्ञाचक्रस्थचन्द्रबिम्बस्य च, स्वरूपनिरूपणम् ।

३४. पूर्वश्लोकोक्तज्योतिःकारणनिरूपणं निरूप्य श्रीचक्र-सरघा-बैन्दवकथनम् ।

३५. कुण्डलिन्याः आज्ञाचक्रात् सहस्रारचक्रगमनवर्णनम् ।

३६. परमतनिरूपणम् ।

३७. चतुर्धैक्यकलनानन्तरं, त्रिखण्डभावनायां त्रिधैक्य-निरूपणम् । इति मन्त्रचक्रैक्यनिरूपणम् ।

३८. क्रियापञ्चकसमामिति तडिद्रूपामिति च श्रीदेवीनिरूपणम् ।

३९. कौलादिपक्षाणां मुनेश्च स्वरूपनिरूपणम् । इत्यैक्य-निरूपणम् ।

४०. प्रस्तारत्रयप्रकृतिनिरूपणम् ।

४१. उक्तप्रस्तारत्रयविवरणम् । इति प्रस्तारत्रयनिरूपणम् ।

४२. कौल-वाम-मतनिरूपणम् ।

अनुक्रमणिका

श्रीः

श्रीगौडपादाचार्यविरचिता सुभगोदयस्तुतिः

श्रीपरिपूर्णप्रकाशानन्दभारतीमहास्वामिविरचित-भावबोधिनी-
टीकासहिता

भवानि त्वां वन्दे भवमहिषि सच्चित्सुखवपुः-
पराकारां देवीममृतलहरीमैन्दवकलाम् ।
महाकालातीतां कलितसरणीकल्पिततनुं
सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमनिशं वासरमयीम् ॥१॥

पाठान्तरम्—(१) कलितसरणिं कल्पिततनुं ।

टीकाकरणप्रतिज्ञा—

या योगिमात्रप्रत्यक्षा यत्र संस्तूयते परा ।
तन्नुतेः क्रियतेऽस्माभिः[1] सनत्या भावबोधिनी ॥

भावबोधिनी-टीका—

श्रीशङ्करभगवत्पादपरमगुरवः श्रीगौडपादाचार्याः योगिहृदयंगम-कुण्डलिन्युपासनया श्रीदेवीतादात्म्याप्तिरूपमोक्षफलविधायिनीं सुभगोदयस्तुतिं चिकीर्षवः प्रथमं श्रीदेवीनमस्काररूपं कुर्वन्ति मङ्गलम् । "भवानि ! त्वां वन्दे" इति । हे भवानि = हे भवमहिषि ! त्वां वन्दे । कथंभूताम् ? सच्चित्सुखवपुःपराकाराम् = सच्चिदानन्दवपुष्ट्वेन परः उत्कृष्टः आकारः यस्याः तादृशीम् । देवीम् = स्वयंप्रकाशमानाम् । अमृतलहरीम् । ऐन्दवक-

---

1. अस्माभिः = श्रीपरिपूर्णप्रकाशानन्दभारतीमहास्वामिभिः ।

लाम् = श्रीचक्रान्तर्गतबिन्दुसम्बन्धि चन्द्रकला(नित्याकला)रूपाम् । महाकालातीताम् = "हरः कालकालो गुणी सर्वविद्यःसर्ववेद्यः" इति श्वेताश्वतरोपनिषन्निरूपितमहाकालः नाम परमात्मा एव, तमत्यन्तम् इता प्राप्ता, स्वरूपसम्बन्धेन इति भावः, तादृशीम्। कलितसरणीकल्पिततनुम् = कलितया "तदैक्षत बहु स्याम्" इत्यादिश्रुत्युदितया सरण्या कल्पिता तनुः शरीरं यस्याः ताम् । अनिशम् । सुधासिन्धोरन्तर्वसतिम् = सुधासिन्धुमध्यस्थानम् एव वसतिः (वासस्थानम्) यस्याः तादृशीम् । सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमित्यत्र अलुक्समासः "कण्ठेकालः" इतिवत् । वासरमयीम् = वासरपदेन व्यावहारिककालः लक्ष्यते, तद्रूपां च इति भावः । एतादृशीं त्वां वन्दे इति पूर्वेण अन्वयः ।।१।।

अथ योगिनः श्रीदेवीदर्शनप्रकारनिरूपणम्—

मनस्तत्त्वं जित्वा नयनमथ नासाग्रघटितं
[1]पुनर्व्यावृत्ताक्षः स्वयमपि यदा पश्यति पराम् ।
तदानीमेवास्य स्फुरति बहिरन्तर्भगवती
परानन्दाकारा परशिवपरा काचिदपरा ।।२।।

पाठा० - (१) पुनर्व्यावृत्ताक्षिद्वयमपि ।

मनस्तत्त्वं जित्वा = "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"[पातञ्जलयोगसूत्रम्] इत्याद्युक्तविधिना मनः जित्वा । अथ नयनं नासाग्रघटितं कृत्वा । व्यावृत्ताक्षः पुनः = प्रपञ्चदृष्टेः व्यावृत्तम् अक्षिद्वयं येन तादृशः सन् । स्वयम् । परां देवीम् अपि यदा पश्यति योगी तदानीम् एव । अस्य । भगवती । परशिवपरा = परमात्मैकाधारवती । काचित् = अनिर्वाच्या । अपरा = अद्वितीया । परानन्दाकारा = परानन्द-स्वरूपिणी । बहिः अन्तः च स्फुरति ।।२।।

अथ समयाचारवतः योगिनः कृत्यनिरूपणम्—

मनोमार्गं जित्वा मरुत इह नाडीगणजुषो
निरुध्यार्कं सेन्दुं दहनमपि संज्वाल्य शिखया ।
सुषुम्नां संयोज्य श्लथयति च षड्ग्रन्थिशशिनं
तवाज्ञाचक्रस्थं विलयति[1] महायोगिसमयी ॥३॥

पाठा०—(१) श्लथयति, विलसति ।

हे देवि ! महायोगिसमयी = समयाचारवान् योगी । मनोमार्गं नाडीगणजुषः मरुतः [= वायून् च] जित्वा । इह [नाडीगणान्तर्गते इडापिङ्गलयोः] । सेन्दुम् अर्कम्; निरुध्य = स्वस्वस्थाने निरुद्धं कृत्वा । दहनम् = मूलाधारस्थिताग्निम् । संज्वाल्य अपि । शिखया = तत्संज्वलिताग्नेः शिखया । सुषुम्नाम् = सुषुम्नानाडीम् । संयोज्य तत्संयोजनक्रियाविशेषेण । हे देवि ! तव = त्वत्संबन्धिनम् । आज्ञाचक्रस्थम् । षड्ग्रन्थिशशिनम् = मूलाधारादिषट्चक्रान्तस्थितचन्द्रमण्डलम् । श्लथयति । विलयति च = द्रावयति च ॥३॥

अथ योगिशरीरे अमृतस्नपननिरूपणम्—

यदा तौ चन्द्रार्कौ निजसदनसंरोधनवशा-
[1]दशक्तौ पीयूषस्रवणहरणे सा च भुजगी ।
प्रवृद्धा क्षुत्क्रुद्धा दशति शशिनं बैन्दवगतं
सुधाधारासारैः स्नपयसि तनुं बैन्दवकले ॥४॥

पाठा०—(१) दशक्ता ।

बैन्दवकले = बिन्दुस्थानगतनित्याकलारूपिणि ! हे भगवति ! तौ चन्द्रार्कौ । निजसदनसंरोधनवशात् । पीयूषस्रवणहरणे = स्रवत्पीयूषाहरणे । यदा । अशक्तौ = शक्तिहीनौ भवतः । [तदा] सा

भुजगी च = कुण्डलिनी । क्षुत्क्रुद्धा = क्षुधा पीयूषफलाभावात् संजातक्षुधा क्रुद्धा । प्रवृद्धा = वृद्धिं प्राप्ता । वैन्दवगतं शशिनं दशति । [तत्कारणेन प्रवृत्तेः] सुधाधाराऽऽसारैः = अमृतधाराणाम् आसारैः तनुम् = योगिशरीरम् । लक्षणया द्विसप्तति[७२]-सहस्र-नाडीनि । स्नपयसि, लक्षणया पूरयसि । हे देवि ! त्वं कुण्डलिनीरूपा सती पूरयसि इति भावः ॥४॥

अथ तत्त्वान्तर्गता वा न वा कुण्डलिनीति शङ्कोद्गमे समाधानम्—

पृथिव्यापस्तेजः पवनगगने तत्प्रकृतयः
स्थितास्तन्मात्रास्ता विषयदशकं मानसमिति ।
ततो माया विद्या तदनु च महेशः शिव इतः
परं तत्त्वातीतं मिलितवपुरिन्दोः परकला ॥५॥

पाठा०—(१) तन्मात्राऽऽप्ताः । (२) तथा ।

पृथिव्यापस्तेजः पवनगने = पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि । तत्प्रकृतयः = तत्पञ्चमहाभूतप्रकृतयः । तन्मात्रास्ताः [पाठान्तरम्—तन्मात्राप्ताः] = तन्मात्रसंज्ञया उपलब्धाः । स्थिताः = उपस्थिताः मिलित्वा दश इति संख्येयाः । विषयदशकम् । मानसम् इति । ततः माया । विद्या । तदनु च महेशः = जीवस्थानीयः । शिवः = "हिरण्यगर्भस्समवर्तताग्रे" इति श्रुत्युक्तहिरण्यगर्भः [एतानि आहत्य पञ्चविंशति तत्त्वानि] । इतः परं तत्त्वातीतम् [अस्ति वस्तु किञ्चित्, किं तद् इत्याकाङ्क्षायाम्] इन्दोः = बैन्दवेन्दुसम्बन्धिनी । परकला = नित्याकला । मिलितवपुः = इन्दुना मिलितवपुः अस्ति न पार्थक्येन इति भावः । सा एषा एव स्तुत्या देवी कुण्डलिनी ॥५॥

अथ कुण्डलिनीदशानिरूपणम्—

कुमारी यन्मन्द्रं ध्वनति च ततो योषिदपरा
कुलं त्यक्त्वा [१]रौति स्फुटति च [२]महाकालभुजगी ।
ततः पातिव्रत्यं भजति दहराकाशकमले
सुखासीना योषा भवसि भवसीत्काररसिका ॥६॥

पाठा०—(१) काचित् । (२) महानीलभुजगी; महाकालपतगी ।

योगी यदा कुण्डलिन्युत्थापनं कुरुते तदा सा कुण्डलिनी मन्द्रध्वनिं करोति, तदानीं सा कुमारीपदवाच्या भवति । ततः । कुलम् = कुलकुण्डम् । मूलाधारस्थानम् । त्यक्त्वा = हित्वा, स्वाधिष्ठानादिचक्रसंचारिणो यदा तदा । रौति = रोरवणं कुरुते, तदा सा योषिद् वाच्या । स्फुटति च = स्पष्टा च भवति । ततः परं महाकाशपद्मे यदा सुखासीना, स्फुटतरा । भवसीत्काररसिका सती = महाकामेश्वरसीत्कारेषु प्रीततरा भूत्वा, पातिव्रत्यं भजते । तदा, महाकालभुजगी = कुण्डलिनी इति प्रसिद्धा । तथा च श्रुतिः—"यत्कुमारी मन्द्रयते । यद्योषिद्यत्पतिव्रता" इति ॥६॥

अथ देवीविहारस्थाननिरूपणम्—

त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे
चतुष्कोणं प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति ।
[१]सुधासिन्धौ तस्मिन् सुरमणिगृहे सूर्यशशिनो-
रगम्ये रश्मीनां समयसहिते त्वं [२]विहरसे ॥७॥

पाठान्तराणि—(१) सुधासिन्धोस्तस्मिन् । (२) विहरसि ।

श्रीपदवाच्यसर्वसृष्टिचक्रप्रतीकभूतश्रीचक्रयन्त्रे यत्त्रिकोणं तत् कुलगृहम् इति, मूलस्थानप्रतीकम् इति कौलाः भावयन्ति ।

अपरे पुनः समयिनः । चतुष्कोणं = चतुरस्रं [= सुन्दरम्] । बैन्दवम् इति, चतुष्कोणबिन्द्वोः अंशसाम्यत्वात्; बैन्दवम्; बिन्दुस्थानम् एव मूलस्थान-प्रतीकम् इति च भावयन्ति । चतुरस्र-पदस्य सुन्दरार्थे प्रयोगः, "बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि, वपुर्विभक्तं नवयौवनेन" [कुमारसम्भवम् १।३७] इति । हे देवि ! त्वम् । तस्मिन् सुधासिन्धौ । सुरमणिगृहे = देवरत्नगृहे, चिन्तामणिगृहे इति भावः, चिन्तामणिः नाम देवीध्यानरूपम् अत्युत्तम-रत्नं तन्मयगृहे इति तात्पर्यम् । तस्य चिन्तामणिगृहस्य समयसहिते इति विशेषणम्; अत्र समयः नाम शिवशक्त्यैक्यस्य योगसमयः [कालः], तादृशसमयविशिष्टगृहे इति भावः । यतः इदं गृहं सगुणप्रपञ्चप्रवृत्तिहेतुकसूर्यशिशिरश्मीनाम् अगम्यत्वविशिष्टम् । तादृशरहस्यगृहे त्वं विहरसि इति देवीस्तुतिः ।।७।।

अथ देवीवासगृहनिरूपणम्—

त्रिखण्डं ते चक्रं शुचिरविशशाङ्कात्मकतया
मयूखैः [१]षट्त्रिंशद्दशयुततया खण्डकलितैः ।
पृथिव्यादौ तत्त्वे पृथगुदितवद्भिः परिवृतं
[२]भवेन्मूलाधारात्प्रभृति तव षट्चक्रसदनम् ।।८।।

पाठान्तराणि—(१) षट्त्रिंशत्त्रिशतयुतमाखण्ड०; षट्त्रिंशच्छतयुततया ।
(२) भवेन्मूलाधारप्रभृति ।

हे देवि ! तव सृष्टिरूपं चक्रम् अग्नि-सूर्य-चन्द्रात्मकत्वेन त्रिधा विभक्तम् । अतः तेषाम् अग्न्यादीनां मयूखाः सर्वे मिलिताः, ये षष्ट्यधिकत्रिशतसंख्याकाः ते पुनः, पृथिव्यादिमनोन्तषट्-तत्त्वेषु विभक्ताः सन्तः ब्रह्माण्डप्रतीकभूतपिण्डाण्डे मूलाधारादिषट्-चक्ररूपसदने प्रतिभान्ति । तादृशं तव वासगृहम् इति देवीवासगृह-

निरूपणम् । अत्र उक्तमयूखानां तत्त्वेषु विभजनं, श्रीमदाचार्यैः सौन्दर्यलहर्यां "क्षितौ षट् पञ्चाशद्" इत्यादिश्लोके निरूपितम् । किं च अत्र मयूखसंख्याबोधकस्य "षट्त्रिंशद्दश-"पदस्य षट्त्रिंशत्संख्याक-दशसंख्या इति अर्थः वक्तव्यः—तदा, दशगुणिता षट्त्रिंशद् [३६०] इति भवति ॥८॥

अथ उक्तमयूखानां खण्डविभजनं तेषां कालसम्बन्ध-सद्भावात्, तदतीतत्वं देव्याः निरूपणम्—

शतं चाष्टौ वह्नेः शतमपि कलाः षोडश रवेः
शतं षट्[1] च त्रिंशत् सितमयमयूखाश्चरणजाः ।
य एते षष्टिश्च त्रिशतमभवंस्त्वच्चरणजा[2]
[3]महाकौलैस्तस्मान्न हि तव शिवे कालकलना ॥९॥

पाठान्तराणि—(१) पट्त्रिंशद्वै; पट्त्रिंशद्वै सितमयि ।
(२) चरणगा । (३) महाकालस्तस्मात् ।

तेषां मयूखानां मध्ये अष्टोत्तरशतसंख्याकाः वह्निसम्बन्धिनः; तथा रविसम्बन्धिनः षोडशोत्तरशतसंख्याकाः; षट्त्रिंशदुत्तरशतसंख्याकाः तु सोमसम्बन्धिनः इति निरूप्य; ते सितमयाः = सितविकाराः, सितजन्याः इति भावः । सितं नाम निर्मलवस्तु-परमात्मेति यावत् । ते; कालात्मकाः तव चरणजाः इति निरूप्य देव्याः तावत् तादृशकालकलनाव्यापारासाध्यत्वेन [तदसाध्यत्वं यथा—तेषां मयूखानां कालत्वकलनात् । महाकालपदेन, तद्भिन्नः महाकालः अस्ति इति निरूप्य । तस्मात् = तस्मात् कारणाद् (यत्कारणेन महाकालरूपात्परमात्मनः तव अभेदत्वं वक्ष्यमाणरीत्या सिध्यति तस्मात्कारणाद् इत्यर्थः) देव्याः कालकलनाव्यापारासाध्य-

त्वम् उपपन्नम्; तेन] हे शिवे ! तादृशकालकलना तव न अस्ति इति; कालातीतत्वं देव्याः निरूपितम् । आचार्यैः अपि तथा—"मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम्" इति सौन्दर्यलहर्यां निरूपितम् । अत्र "महाकौलैः" इतिपदस्य "महाकालः" इति पाठान्तरम् । तदनुरुद्धा इयं टीका । किं च, "त्वच्चरणजाः" इति अत्र किञ्चिद् वक्तव्यम् । देव्याः चरणौ नाम-विन्दुरूपस्य[1] अस्तिपदवाच्यस्य परमात्मनः त्रिज्यास्थानीयमायाविर्भावेन समवृत्तत्वे सिद्धे तच्चरणभूत-नीचोच्चसंज्ञकपदयोः (केन्द्रच्युतिवशादुद्भूतयोः) संयोगात्समवृत्तस्य दीर्घवृत्तत्वसिद्धिः [त्रिनाभिचक्रत्वसिद्धिः] तत्स्मारकम् इदं "त्वच्चरणजाः" इति पदम् । श्रीमदाचार्यैः अपि उक्तं सौन्दर्यलहर्यां—"मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम्" इति । किं भोः ! खेटगतिमार्गभूतदीर्घवृत्तीयनीचोच्चयोः, श्रीदेवीचरणयोः च कः सम्बन्धः ? इति आक्षेपस्य समाधानं खेटानां कषकं परितः भ्रमणं यया शक्त्या सम्पद्यते सा एव श्रीदेवीरूपा इति वदामः । तथा च श्रूयते—"त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं येनेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः" इति । अस्य अयं भावः, श्रीदेवीरूपशक्तिं विना न उपपद्यते ग्रहाणां भ्रमणं, न तं विना त्रिनाभिचक्रप्रादुर्भावः, न विना तादृशचक्रं सर्वभुवनानां प्रस्थानं[2] सम्भवति । अतः भ्रमणहेतुभूता शक्तिः एव श्रीदेवी इति भाषणे न दोषः ॥९॥

---

1. विन्दु = Point, तस्य लक्षणम्—A point is a position, without magnitude. Position = अस्तित्वम् (अस्ति भाति प्रियं इत्युक्तब्रह्मलक्षणत्रयान्तर्गत-अस्तिपदार्थमेव अस्तित्वम्) ॥

2. तस्थुः = प्रतस्थुः; प्रयाणमकुर्वन्तेति भावः ।

अथ श्रीचक्रस्थविन्द्वादिसप्तकस्य मूलाधारादिसप्तकभावनानिरूपणम्—

त्रिकोणं चाधारं [१]त्रिपुरतनु तेऽष्टारमनघे
[२]भवेत्स्वाधिष्ठानं पुनरपि दशारं मणिपुरम् ।
दशारं ते संवित्कमलमथ मन्वस्रकमुमे
विशुद्धं स्यादाज्ञा शिव इति ततो बैन्दवगृहम् ।।१०।।

पाठान्तराणि—(१) त्रिभुवननुते; त्रिभुवननुतेष्वार० ।
(२) तव स्वाधिष्ठानं भगवति ।

हे त्रिपुरतनु ! "त्रिभुवननुते" इति पाठान्तरम् । तत्पक्षे, त्रिलोकस्तुते, हे अनघे ! हे देवि ! त्वत्प्रतीकश्रीचक्रस्थत्रिकोणं मूलाधारचक्रम् इति—अष्टारं स्वाधिष्ठानम् इति—द्वितीयदशारं मणिपुरम् इति—अन्तर्दशारं संविच्चक्रं नाम् हृदयम् इति—मन्वस्रं तु विशुद्धम् इति—आज्ञाचक्रं शिव[सदाशिव]कमलम् इति—ततः ऊर्ध्वं बैन्दवगृहम् इति [सहस्रारम् इति] योगिभिः उपास्यते ।।१०।।

अथ शिवशक्तिचक्रैक्यनिरूपणम्—

त्रिकोणे ते वृत्तत्रितयमिभकोणे वसुदलं
कलाश्रं मिश्रारे भवति भुवनाश्रे [१]च भुवनम् ।
चतुश्चक्रं शैवं निवसति भगे[२] शाक्तिकमुमे
प्रधानैक्यं षोढा भवति च तयोः शक्तिशिवयोः ।।११।।

पाठा०—(१) त्रिभुवनम् । (२) दशे शाक्तिकमुभे; भगे शाक्तकमुमे ।

शिवचक्राणि चत्वारि—वृत्तत्रयं, वसुदलं, षोडशदलं, भूपुरत्रयम् इति । एतेषां क्रमेण चतुर्विधशक्तिचक्रेषु, त्रिकोण-वसुकोण-दशारयुग्म [अन्तर्दशार-बहिर्दशार-रूपमिश्रार] - चतुर्दशारात्मकेषु

ऐक्यं कथितम् । हे उमे ! इति संबुद्धिः । भगे = श्रीविषये [श्रीचक्रविषये] । शाक्तिकं = शक्तिचक्रैक्यम् एवं निरूपितम् । एवम् उक्त्वा प्रधानैक्यं षोढा समयिनाम् इति सूचितं च ।।११।।

अथ पूर्वसूचितसमयिचक्रैक्यनिरूपणम्—

कलायां बिन्द्वैक्यं तदनु च तयोर्नादविभवे
तयोर्नादेनैक्यं तदनु च कलायामपि तयोः ।
तयोर्बिन्दावैक्यं त्रितयविभवैक्यं परशिवे
तदेवं[1] षोढैक्यं भवति हि सपर्या समयिनाम् ।।१२।।

पाठान्तरम्—(१) तथैवं ।

समयिनां पुनः "अग्रबिन्दुपरिकल्पिताननाम्" इत्यादिना सपर्या सम्पद्यते हि । अतः तेषां कला-नाद-बिन्द्वाख्यवस्तूनि प्रधानानि त्रीणि; एतत्त्रयस्य अन्योन्यकलनया षड्विधैक्यं निरूपितम् । यथा, कलायां बिन्दुयोगः । नादे तावत् कलाबिन्द्वोः योगः । बिन्दुकलयोः नादेन योगः । तथैव कलायां बिन्दुकलयोः योगः । एवमेव बिन्दौ नादकलयोः ऐक्यम् । षष्ठं पुनः परशिवे कला-नादबिन्दूनाम् ऐक्यम् । एवं षड्धा समयिसपर्या निरूपिता । एवम् अन्योन्यकलनायां फलविशेषजननविषये अस्ति दृष्टान्तः । यथा "आज्ये मधूप्तं पीयूषं, मधुन्याज्यं विषं तथा" [ब्रह्म-सिद्धान्ते] इति । एवम् एव अत्र अपि इति ज्ञेयम् ।।१२।।

अथ चरणषडब्जयोः मेलनम् उक्त्वा समयिनां चतुर्थैक्यकथनम्—

कला, नादो, बिन्दुः, क्रमश इह वर्णाश्च चरणं
षडब्जं चाधारप्रभृतिकममीषां च मिलनम् ।
[1]तदेवं षोढैक्यं भवति खलु येषां समयिनां
चतुर्थैक्यं तेषां भवति हि सपर्या समयिनाम् ।।१३।।

पाठान्तरम्—(१) तथैवं ।

इह तावत् कला-नाद-बिन्दवः ध्वन्यंशाः, वर्णाः चरण-संज्ञकाः, आधार[मूलाधार]प्रभृति-षट्चक्राणि, षडब्जसंज्ञ-कानि। एतेषां परस्परमेलनं येषां समयिनां षोढा भवति, तेषाम् एव चतुर्थैक्यरूपसपर्या हि भवति; तेषां मूलाधारस्वाधिष्ठानयोः सपर्याभावात् ॥१३॥

अथ समयिनां मणिपूरचक्रे देवीसाक्षात्कारकथनद्वारा चतुर्थैक्य-कथनम्—

तडिल्लेखामध्ये स्फुरति मणिपूरे भगवती
चतुर्थैक्यं तेषां भवति च चतुर्बाहुरुदिता।
धनुर्बाणानिक्षूद्भवकुसुमजानङ्कुशवरं
तथा पाशं बिभ्रत्युदितरविबिम्बाकृतिरुचिः[1] ॥१४॥

पाठान्तरम्—(१) रुचि।

मणिपूरचक्रे एव भगवती विद्युल्लेखा इव भासते समयिनां योगिनाम् इत्यर्थः। अतः [मूलाधारस्वाधिष्ठानयोः सपर्याभावात्] तेषां चतुर्थैक्यम्। स्फुरति हि; देवी तावद् उद्यद्रविनिभा चतुर्बा-हुभिः इक्षुधनुःपुष्पबाणपाशाङ्कुशवद्भिः भासमाना दृश्यते च ॥१४॥

अथ समयिनामत्रैव षड्धैक्यपरिणामभूतसगुणदेवीरूपवर्णनम्—

भवत्यैक्यं षोढा भवति भगवत्याः समयिनां
मरुत्वत्कोदण्डद्युतिनियुतभासा समरुचिः।
भवत्पाणिव्रातो दशविध इतीदं मणिपुरे
भवानि! प्रत्यक्षं तव वपुरुपास्ते न हि परम् ॥१५॥

इत्यैक्यनिरूपणम्।

हे भगवति! हे भवानि! यदा समयिनां षड्धैक्यं तदा त्वं दशभुजा एव दृश्यसे। दशसहस्रसुरधनुष्कान्तितुलितकान्त्या

शोभमाना मणिपुरे एव । यतः भवत्पाणिव्रातः शृङ्गारादिनव-रसरूपः । अत्र शृङ्गारादयः नव एव अपि शान्तस्य सगुणनिर्गुण-भेदेन द्विधा भिन्नत्वात् तेषां दशत्वसिद्धिः । किं च अत्र शान्तस्य ब्रह्मालम्बत्वेन । तस्य नादब्रह्मोपकरणत्वेन च । तन्नादजनकत्वाद् वीणायाः तद्ग्रहणं पाणिभ्याम् उक्त्वा । सम्पादिता दशसंख्या देवीभुजानाम् इति रहस्यम् । यः एवं तव वपुः प्रत्यक्षम् उपास्यते तस्य इतः परं श्रेयस्करं न अस्ति ॥१५॥ इत्यैक्यनिरूपणम् ॥

अथोक्तदशभुजस्थपदार्थनिरूपणम्——

भवानि ! श्रीहस्तैर्वहसि फणिपाशं सृणिमथो
धनुः पौण्ड्रं पौष्पं शरमथ जपस्रक्शुकवरौ ॥
अथ द्वाभ्यां मुद्रामभयवरदानैकरसिकां[1]
क्वणद्वीणां द्वाभ्यां [2]त्वमुरसि कराभ्यां च बिभृषे ॥१६॥

पाठा०-(१) रसिके । (२) उरसि च ।

हे भवानि ! त्वम् । त्वद्धस्तैः दशभिः नागपाशादीन् वहसि । तेषां विवृतिः पूर्वश्लोकानुबन्धेन द्रष्टव्या । यथा, "रागस्वरूपपाशाढ्या क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वला" इति उक्तेः करुणारसधर्मवद्रागस्य बन्धहेतुत्वात् पाशत्वं रौद्ररसधर्मवत्क्रोधस्य वशीकरणहेतुत्वाद् अङ्कुशत्वं यथा उपपद्यते तथा एव अवशिष्ट-धनुर्बाणादीनां रूपाणि उन्नेयानि शृङ्गारादिभिः इति सूचयामः ॥१६॥

अथ श्रीचक्रस्वरूपवर्णनम्——

त्रिकोणैरष्टारं त्रिभिरपि दशारं समुदभूद्
दशारं भूगेहादपि च भुवनाश्रं समभवत् ।

ततोऽभून्नागारं नृपतिदलमस्मात्त्रिवलयं
[1]चतुर्द्वाः प्राकारत्रितयमिदमेवाम्ब [2]शरणम् ।।१७।।

पाठा०—(१) चतुर्धा । (२) चरणम् ।

बिन्दोः त्रिकोणं—तैः त्रिकोणैः त्रिभिः अपि अन्तर्दशारं—तद्बहिः पुनः दशारं—तद्बहिः चतुर्दशारं—तदनन्तरम् अष्टदलपद्मं—तद्बहिः षोडशदलपद्मं—तद्बहिः वलयत्रयं—तद्बहिः भूपुरत्रयम् इति । हे अम्ब ! ते गृहरूपं श्रीचक्रम् एव निरूपितम् ।।१७।।

अथ एतद्वरिवस्याप्रतिपादकतन्त्रप्रशंसा—

चतुःषष्टिस्तन्त्राण्यपि [1]कुलमतं निन्दितमभूद्
यदेतन्मिश्राख्यं मतमपि भवेन्निन्दितमिह ।
शुभाख्याः पञ्चैताः श्रुतिसरणिसिद्धाः प्रकृतयो
महाविद्यास्तासां भवति [2]परमार्थो भगवती ।।१८।।

पाठा०—(१) कुलनुतं निन्दितमिदं तदेतत् । (२) परमार्था; परमार्थो भगवति ।

कुलमतप्रतिपादकचतुष्षष्टितन्त्रसमूहः निन्द्यः एव मिश्राचारः अपि । हे भगवति । श्रुतिसिद्धशुभागमपञ्चकस्य पुनः (सनक-सनन्दन-सनत्कुमार-वसिष्ठ-शुक-नामकं संहितापञ्चकं पुनः) वेदमार्गानुरुद्धत्वाद् विप्राचरणीयाः तदुदिताचाराः न अन्ये इति ।। चतुष्षष्टितन्त्रनामानि सौन्दर्यलहरीव्याख्यायां लोल्ललक्ष्मीधरपण्डितकृतायां द्रष्टव्यानि ।।१८।।

अथ पञ्चदशीमन्त्रोद्धारः—

स्मरो मारो मारः स्मर इति [1]परो मारमदन-
स्मरानङ्गाश्चे[2]ति स्मरमदनमाराः स्मर इति ।

त्रिखण्डः खण्डान्ते [3]कलितभुवनेश्यक्षरयुत-
श्चतुःपञ्चार्णास्ते त्रय इति च पञ्चाक्षरमनुः[4] ।।१९।।

पाठान्तराणि—(१) स्मरो । (२) ०श्चैते । (३) कलितभुवने ते क इति यः । (४) ०मनोः । [पञ्चा० = पक्षा०] ।

अत्र कूटत्रयस्य आन्त्यबीजत्रयं "त्रिखण्डः खण्डान्ते कलितभुवनेश्यक्षरयुतः" इति उक्त्वा क्रमेण, चतुः-पञ्च-त्रिवर्णाः उक्ताः । पञ्चदशाक्षराः इति, स्मर = विद्धि इति अर्थः । ते त्रयः खण्डाः पक्षाक्षरमनुः इति च स्मर इति पूर्वेण अन्वयः (उपासकं प्रति इयम् उक्तिः) । अत्र सर्वबीजानि स्मरपर्यायाणि एव अस्य स्वरोपासितत्वाद् इति ज्ञेयम् ।।१९।।

अथ मन्त्रखण्डत्रयं तेजस्त्रयमिति, तत्र मातृकालयं चेति निरूपणम्—

त्रिखण्डे त्वन्मन्त्रे शशिसवितृवह्न्यात्मकतया
स्वराश्चन्द्रे लीनाः सवितरि कलाः कादय इह ।
यकाराद्या वह्नावथ कषयुगं बैन्दवगृहे
निलीनं सादाख्ये शिवयुवति नित्यैन्दवकले ।।२०।।

हे शिवयुवति ! त्वन्मन्त्रे त्रिखण्डात्मके क्रमेण, शशि-सवितृ-वह्न्यात्मकतेजस्त्रयतया भाविते पश्चात्तेषु खण्डेषु मातृकाः निलीनाः इति भाविताः । यथा, शशिनि, अकारादि-षोडशस्वराः चन्द्रकलारूपेण; एवं सवितरि कादयः चतुर्विंशतिसंख्याकाः आद्यन्तद्विद्विरूपेण (कं भं, छं बं इत्यादि द्विद्विरूपेण) निलीनाः; वह्नौ पुनः यकारादि-दशकम् । सादाख्ये नित्यैन्दवकले बैन्दवगृहे तु कषयुगं क्षकाररूपं निलीनम् इति । एवं मन्त्रमातृकयोः ऐक्यं निरूपितम् ।।२०।।

अथ मातृकाप्रत्याहारकथनम्—

ककाराकाराभ्यां स्वरगणमवष्टभ्य निखिलं
कलाप्रत्याहारात् सकलमभवद् व्यञ्जनगणः ।
त्रिखण्डे स्यात्प्रत्याहरणमिदमन्वक्कषयुगं[१]
क्षकारश्चाकारोऽक्षरतनुतया चाक्षरमिति ॥२१॥

पाठान्तर—(१) ०मञ्चत्कषयुगं ।

ककार-अकारयोः विलोमेन संयोगात् "अक्" इति प्रत्याहारः भवति, तत् षोडशस्वरसूचकः [अत्र अकाराद्याः षोडश अपि स्वराः अक् शब्दबहुवचनरूपेण (अचः इति रूपेण अचः स्वराः इति) स्मारिताः] तथा ककाराद्यः लकारः "कला" इति प्रत्याहारेण सर्वः अपि व्यञ्जनगणः (३५-व्यञ्जनरूपः गणः) स्मारितः । एवं खण्डद्वयं दर्शितम् । अथ तृतीयखण्डे तृतीयखण्डविषये । अन्वक् = अनुपदम् एव कषयोः योगेन क्षकारः जातः (क्ष इति प्रत्याहारः जातः इति भावः)—अयं आद्यक्षरेण अकारेण युतः सन् "अक्ष" इति रूपसिद्धौ सत्यां मातृकायाः अक्षरत्वाद् "अक्षरः" इति व्यवहारः जातः ॥ अत्र व्यञ्जनेषु, क-ष-युगग्रहणस्य कः हेतु इति विचारिते व्यञ्जनान्त्यत्रिवर्णेषु "ळ-" कारस्य लकारप्रकृतिकत्वात्, स-ह-वर्णयोः जगदतीत-प्रकृति-पुरुष-प्रतीकत्वात् च, तान् विहाय क-ष-योः योगरूपः क्षकारः प्रत्याहारः कृतः इति गम्यते ॥२॥

अथ मन्त्रस्य ऋषि-सपर्यानिरूपणम्—

[१]विदेहेन्द्रापत्यं श्रुत इह ऋषिर्यस्य च मनो-
रयं चार्थः सम्यक् श्रुतिशिरसि तैत्तिर्यकऋचि ।

पाठान्तरम्—(१) विदेहो नैर्ऋत्याः सुत इह ऋषिर्यः स च ।

ऋषिं हित्वा चास्या हृदयकमले नैतमृषिमि-
त्यृचाभ्युक्तः पूजाविधिरिह भवत्याः समयिनाम् ।।२२।।

इह = मनु-चन्द्रादिद्वादशविद्यासु । यस्य मनोः = यद्विद्यायाः । विदेहेन्द्रापत्यं ऋषिः ("विदेहो नैर्ऋत्याः सुत इह ऋषिर्यः स च" इति पाठान्तरम्)एतत्पाठद्वये अपि मन्मथः ऋषिः इति विज्ञायते । (तादृशी कादिविद्या समयिनाम् उपास्या इति एतच्छ्लोकोत्तरार्धेन अवगम्यते) अयम् अर्थः च सम्यक् तैत्तिर्यकश्रुतिशिरसि "पुत्रो निर्ऋत्या वैदेहः" इत्यादिश्रुतिशिरसि (उपनिषदि अस्ति इति शेषः) किं च, ऋषिं हित्वा च = ऋषिन्यासादि-बाह्यक्रियाकलापं हित्वा अपि । हृदय-कमले = मनसि । अस्याः = कादिविद्यायाः (अनुसंधानं कार्यमिति) । "नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेद्" इत्यादिमन्त्रखण्डेन विदधाति श्रुतिः । इह भवत्याः पूजाविधिः । समयिनां = समयिभ्यः । अभ्युक्तः = उपासकं प्रति चोदनापूर्वकम् उक्तः इति भावः ।।२२।।

अथ त्रिखण्ड-मन्त्र-सरघा-षडब्जानामन्योन्यसंबन्धनिरूपणम्—

त्रिखण्डस्त्वन्मन्त्रस्तव च सरघायां निविशते
श्रियो देव्याः शेषो यत इह समस्ताः शशिकलाः ।
त्रिखण्डे त्रैखण्डचं निवसति समन्त्रे च सुभगे
षडब्जारण्यानि त्रितययुतखण्डे निवसति ।।२३।।

सुभगे हे देवि ! तव मन्त्रः त्रिखण्डः । स तु, तव सरघायां निविशते (ऐक्यं भवति इति भावः) यतः, समस्ताः = सादाख्य-कलासहिताः शशिकलाः । इह = सरघायां निवसन्ति । (ततः) श्रियः देव्याः, शेषश्च = शेषभूत-'श्रीं'-रूपचतुर्थखण्डः च निवसति इति अन्वयः । तद्यथा, त्रिखण्डे, त्रैखण्डचं = चन्द्रसूर्याग्न्यात्मक-

त्रिखण्डसंबन्धि, इदं "त्रिखण्डं ते चक्रम्" इत्याद्यष्टमश्लोकरीत्या; तथा तत्र मनुः अपि "त्रिखण्डे त्वन्मन्त्रे" इत्यादिविंशति-श्लोकरीत्या; षडब्जारण्यानि इति तावत् "त्रिकोणं चाधारम्" इत्यादि-दशमश्लोकरीत्या; त्रितययुतखण्डे निवसति ॥२३॥

अथ खण्डत्रयस्य स्वान्तलयनिरूपणपूर्वकं, षोडशदलादित्रिचक्रेषु एव मातृकालयनिरूपणम्—

त्रयं चैतत्स्वान्ते परमशिवपर्यङ्कनिलये
परे [१]सादाख्येऽस्मिन् निवसति चतुर्थैक्यकलनात् ।
स्वरास्ते लीनास्ते भगवति कलाश्रे च सकलाः
ककाराद्या वृत्ते तदनु चतुरश्रे च यमुखाः ॥२४॥

पाठान्तरम्—(१) सादाख्यास्मिन् ।

हे परमशिवपर्यङ्कनिलये ! इति देवीसम्बोधनम् । उक्तखण्डत्रयं, स्वान्ते = आज्ञाचक्रे, सादाख्ये निवसति लयम् आप्नोति इत्यर्थः । तल्लयः, चतुर्थैक्यकलनाद् इति ज्ञापयति । अथ, मातृका सर्वा अपि श्रीचक्रस्थषोडशदल-वृत्तत्रय-भूपुरत्रयरूपस्थानत्रये एव यथाक्रमम् । षोडश-स्वराः, पञ्चविंशति[२५]कादयः, यमुखाः दश च, चतुर्थैक्य-कलनाद् विलीनाः स्युः । भगवति इति देवीसम्बोधनम् ॥२४॥

अथ उक्तषोडशदलादिशिवचक्रत्रयपूरकमिभदलं शांभवमिति शिव-शक्तिचक्रचतुष्टययोः अभेदमिति च निरूप्य नित्यास्वरूपकथनम्—

हलो बिन्दुर्वर्गाष्टकमिभदलं शांभववपु-
श्चतुश्चक्रं [१]शक्रस्थितमनुभयं शक्तिशिवयोः ।
निशाद्या दर्शाद्याः श्रुतिनिगदिताः [२]पञ्चदशधा
[३]भवेयुर्नित्यास्तास्तव जननि मन्त्राक्षरगणाः ॥२५॥

पाठा०—(१) शक्रास्थित०; शक्रौ स्थित० । (२) पञ्चदश ता । (३) भवेयुर्नित्यामास्तव ।

हल्ः = कादिक्षान्ताः, विन्दुः [च]; वर्गाष्टकं = क-च-ट-त-प-य-श-ळ-वर्गादिवर्णैः युतः बिन्दुवर्गाष्टकं भवति, तल्लयस्थानम् [एतेन आराधितम्] इभदलं = अष्टदलचक्रं पूर्वश्लोकोक्त-षोडशदलादि-चक्रत्रयसहितं चतुश्चक्रं शांभवशरीरं स्यात्; तथा शक्रस्थितं = शक्रोपरिस्थितं, चतुर्दशारोर्ध्वस्थितम् इत्यर्थः। एतेन शक्तिचक्रचतुष्टयं स्मारितम्। शक्तिशिवयोः एतदुभयम्, अनुभयम् एव—अद्वैतम् एव—एकम् एव इति अर्थः। शक्तिचक्र-चतुष्टयं तु, "त्रिकोणे ते वृत्त०" इत्याद्येकादशश्लोकोक्तम् इति ज्ञेयम्। निशाद्याः = कृष्णपक्षप्रतिपदाद्याः, दर्शाद्याः = शुक्लपक्षप्रतिपदाद्याः च; पञ्चदशधा = पञ्चदश-पञ्चदशप्रकारेण तिथयः। श्रुतिग-दिताः सन्ति, ताः तावत्, हे जननि! तव मन्त्राक्षरगणाः भवन्ति। अत्र निशाद्याः नाम कृष्णपक्ष-प्रतिपदाद्याः इति अर्थः, यथा—"निशाद्याः" इत्यत्र निशापदेन लक्षणया तमः गृह्यते, तस्य तल्लक्षणत्वात् तादृशतमसः अस्मिन् पक्षे [रात्रिषु ज्योत्स्नाह्रास-भावेन] क्रमवृद्धिमत्त्वाद्, अस्य पक्षस्य तमःपक्षः इति कृष्णपक्षः इति निशापक्षः इति वा प्रसिद्धेः तत्तथोक्तम् ॥२५॥

अथ षोडशीशशिकलाविवृतिः अयम्-अक्-प्रत्याहारविवरणं च—

इमास्ताः षोडश्यास्तव च सरघायां शशिकला-
स्वरूपायां लीना निवसति तव श्रीशशिकला।
अयं प्रत्याहारः श्रुत इह कलाव्यञ्जनगणः
ककारेणाकारः स्वरगणमशेषं कथयति ॥२६॥

हे जननि! इमाः पूर्वोक्ताः नित्यास्थानीयाः; ताः = शशिकलाः। तव शशिकलास्वरूपायां सरघायां लीनाः। तव, षोडश्याः (चतुष्कूटासम्बन्धिन्यः) श्रीशशिकला (सादाख्या)

च; निवसति = सरघायां विलीना भवति इति भावः। इह 'अयम्' इति प्रत्याहारः (कृतः)। अनेन कळागणः व्यञ्जनगणः च सकलः अपि श्रुतः (श्रावितः = कथितः इति भावः)। यथा, 'यमुखाः' इति यादिदशकं, यकारेण, स्मारितं, "त्रयं चैतत्स्वान्ते" इत्यादिचतुर्विंशे श्लोके। तादृशः यकारः प्रत्याहाराङ्गतया अत्र स्वीकृतः। अतः तेन अकारदिना अयम् इति रूपसिद्धिः। एतेन सर्वा अपि मातृका कलाव्यञ्जनगणरूपा 'अयम्' इति प्रत्याहारेण स्वीकृता। ककारेणाकारः 'अक्' इति प्रत्याहारः तु स्वरगणम् अशेषं कथयति हि ।।२६।।

अथ क्षकारातिशयस्य मणिपूरे समयिपूजाविशेषस्य च निरूपणम्—

क्षकारः पञ्चाशत्कल इति [1]हलो बैन्दवगृहं
[2]ककारादूर्ध्वं स्याज्जननि तव नामाक्षरमिति।
भवेत्पूजाकाले मणिखचितभूषाभिरभितः
प्रभाभिर्व्यालीढं भवति मणिपूरं सरसिजम् ।।२७।।

पाठा०—(१) हरो। (२) क्षकारा०।

क्षकारः, पञ्चाशत्कलः = पञ्चाशद्वर्णरूपः। हरस्वरूपस्य हकारस्य बैन्दवगृहं च। हे जननि ! तादृशक्षकाराद् ऊर्ध्वम् (उपरि) तव नाम विद्यते 'अक्षरः' इति। अत्र 'ककाराद्' इत्यत्र 'क्षकाराद्' इति पाठान्तरम्। इदम् एव साधु इव भाति। (अथ) तव पूजाकाले मणिपूरचक्रं, मणिखचित-भूषासंजनित-प्रभाभिः व्यालीढं भवति समयिनाम् इति भावः ।।२७।।

अथ चक्रेषु मणिपूरं द्वितीयमिति केषांचित्पक्षं, तृतीयमिति समयिपक्षं च निरूप्य, अनाहते वायूत्पत्तिनिरूपणम्—

वदन्त्येके वृद्धा मणिरिति जलं तेन निबिडं
परे तु त्वद्रूपं मणिधनुरितीदं समयिनः ।
अनाहत्या नादः[२] प्रभवति सुषुम्णाध्वजनित-
स्तदा वायोस्तत्र प्रभव इदमाहुः समयिनः ।।२८।।

पाठा० – (१) लीननिविडं । (२) सादः ।

एके वृद्धाः मणिः नाम जलम् इति, तेन निविडं चक्रं [स्वाधिष्ठानं] द्वितीयम् एव भवति । एतदनुरुद्धम् एव सौन्दर्य-लहरीप्रोक्तं मणिपुरस्य द्वितीयचक्रत्वम् । हे जननि ! परे समयिनः तु इदं त्वद्रूपं मणिधनुरिति = मणिधनुः [इन्द्रधनुः] कान्तिकान्तम् इति भाषन्ते । सुषुम्णानाडीमार्गमध्यजनितनादः तु अनाहताद् आरभ्य अभिव्यज्यते । अतः तदभिव्यञ्जनहेतुभूत-वायोः उत्पत्तिः अनाहते कथिता समयिभिः ।।२८।।

अथ अनाहतस्य संवित्कमलत्वकथनं तदुपर्याकाश-सदाशिव-निरूपणं च–

तदेतत्ते संवित्कमलमिति संज्ञान्तरमुमे
भवेत्संवित्पूजा भवति कमलेऽस्मिन् समयिनाम् ।
विशुद्धाख्ये चक्रे वियदुदितमाहुः समयिनः
सदापूर्वो देवः शिव इति हिमानीसमतनुः ।।२९।।

हे उमे ! ते = त्वत्सम्बन्धि एतत्पूर्वश्लोकोक्तम् अनाहतचक्रं यत् तस्य संवित्कमलम् इति संज्ञान्तरम् अस्ति । तत्र समयिनः कुर्वन्ति संवित्पूजाम् । अथ एतदुपस्थितविशुद्धाख्ये चक्रे । वियद् = आकाशः अजनि इति समयिनः प्राहुः । तदुपर्याज्ञाचक्राधिष्ठाता देवः, हिमानीसमतनुः = हिमसंहतिकान्तितुलितकान्तिमान् सदा-शिवः इति च ।।२९।।

अथ विशुद्धचक्रे देवीपूजायाः, सहस्रारे नित्याकलायाः च विवरणम्—

त्वदीयैरुद्योतैर्भवति च विशुद्धाख्यसदनं
भवेत्पूजा देव्या हिमकरकलाभिः समयिनाम् ।
सहस्रारे चक्रे निवसति कलापञ्चदशकं
तदेतन्नित्याख्यं भ्रमति सितपक्षे समयिनाम् ॥३०॥

हे जननि ! त्वदीयैरुद्योतैः = त्वत्कान्तिभिः । विशुद्धचक्रं समयिनां पूजाकाले, भवति = उद्योतितं भवति इति भावः । तत्र चन्द्रकलाभिः तव पूजां कुर्वन्ति समयिनः । अतः ऊर्ध्वं सहस्रारे पञ्चदशचन्द्रकलाः सदा निवसन्ति । अतः तन्नित्याख्यं नित्यासंज्ञितं चन्द्रकलापञ्चदशकं समयिनां शुक्लपूजायां परिभ्रमन् आस्ते ॥३०॥

अथ समयिनां शुक्लपक्षपूजाकारणं, ब्रह्मग्रन्थ्यादित्रयविवरणं च—

अतः शुक्ले पक्षे [1]प्रतिदिनमिह त्वां भगवतीं
निशायां सेवन्ते निशि चरमभागे समयिनः ।
शुचिः स्वाधिष्ठाने रविरुपरि संवित्सरसिजे
शशी चाज्ञाचक्रे हरिहर(हरहरि)विधिग्रन्थय इमे ॥३१॥

पाठान्तरम्—(१) प्रतिदिनमहस्त्वां ।

हे देवि ! अतः = पूर्वश्लोकोक्तकारणेन, शुक्लपक्षे प्रतिदिनम् । इह [अस्य पाठान्तरम्] अहः = अहःकाले = ज्योत्स्नाविशिष्टरात्रिपूर्वभागे इत्यर्थः । तथा निशापक्षे तु [कृष्णपक्षे तु] निशि, चरमभागे, समयिनः तव पूजां कुर्वन्ति । अथ ग्रन्थिविवरणम्, अग्निः स्वाधिष्ठाने, तदुपरि अनाहते रविः, तदन्तरम् आज्ञाचक्रे [भ्रूमध्ये] चन्द्रः, एवं स्थितेषु चक्रेषु विलोमेन, हर-हरि-विधिग्रन्थयः वर्तन्ते इति शेषः । तथा च उक्तं ललितासहस्र-

नामसु तु "मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रन्थिविभेदिनी" इत्यादि । अत्र अहःपदार्थविमर्शः, "हलो बिन्दुः" इत्यादिपञ्चविंशतितमश्लोके, निशाद्याः दर्शाद्याः इतिक्रमेण कृष्णपक्षीयाणां तिथीनां सङ्केतः कृतः । अत्र निशा नाम कृष्णपक्षः चेत् तदितरः दर्शः, यथा शुक्लः तथैव अत्र निशेतरशुक्लः अपि अहःपदवाच्यः कालः भवेद् इति ज्ञेयः ॥

एवमप्यहःपदेन ज्योत्स्नाविशिष्टरात्रिभागः ज्ञेयः, यथा अहर्नामा सौरतेजोविशिष्टकालविशेषः । सः द्विविधः शुद्धः मूर्च्छितः[1] इति । तत्र आद्यः शुद्धसौरातपविशिष्टः द्वितीयः पुनः चन्द्रातप[ज्योत्स्ना]-विशिष्टः इति । अतः अत्र समयिनां पूजाविषये अहःपदेन द्वितीयः चन्द्रातपविशिष्टः । [शुक्लपक्षे तावद्] रात्रिपूर्वभागे एव ग्राह्यः । कृष्णपक्षे तु "निशायां [कृष्णपक्षे] सेवन्ते चरमभागे समयिनः" इति ज्योत्स्नाविशिष्टरात्रिचरमभागस्य एव ग्रहणात् । अयम् अर्थः तु "नवो-नवो भवति" इति मन्त्रार्थविचारे समवगम्यते हि । एतेन अपि उक्तपूर्वार्थः स्पष्टतरः भवति । एवमेव सर्वत्र क्लिष्टस्थलेषु विमर्शः कर्तव्यः ॥३१॥

---

१. मूर्च्छितः = चन्द्रजलादिषु प्रतिबिम्बितसौरतेजोविशिष्टकालविशेषः॥ अत्र चन्द्रमूर्च्छितं सौरतेजस्तु ज्योत्स्नेति भण्यते । जलमूर्च्छितं पुन इयत्कालावधिसौरतेजो मूर्च्छितं, रक्तपीतादिकाचपात्रान्तःस्थितं, जलं, भेषजं भवेदित्यादि; जलमूर्च्छितसौरतेजोविषयस्तु "कोमोपथि-" नामक-वैद्यविज्ञानादवगन्तव्यः । तथा वायुमण्डलमूर्च्छित "आल्ट्रा वायलेट्" "इन्फ्रा रेड" इत्यादि सौरतेजसां स्वरूपगुणादयश्च विज्ञेया आङ्ग्लवैद्यविज्ञानेन; श्रुतिषु चावगम्यते, अरुणप्रश्नादिषु ॥३३॥

अथ समयिनाम् अमावास्यापूजाभावे हेतुनिरूपणम्—

कलायाः षोडश्याः प्रतिफलितबिम्बेन सहितं
तदीयैः पीयूषैः पुनरधिकमाप्लावितननुः ।
सिते पक्षे सर्वास्तिथय इह कृष्णेऽपि च समा
यदा चामावास्या भवति न हि पूजा समयिनाम् ॥३२॥

अमायां षोडशीकलायाः सादाख्यायाः प्रतिबिम्बसहितं [चक्रमण्डलं] भवति । उत तदीयामृतेन आप्लावितननुः च उपासकः । तस्माद् अमापूजा न अस्ति समयिनाम् । इह समयिपूजाविधौ अमेतरशुक्लकृष्णपक्षतिथयः सर्वे अपि समाः एव ॥३२॥

अथ अमायाः, आज्ञाचक्रस्थचन्द्रबिम्बस्य च, स्वरूपनिरूपणम्—

इडायां पिङ्गल्यां चरत इह तौ सूर्यशशिनौ
तमस्याधारे तौ यदि तु [१]मिलितौ सा तिथिरमा ।
तदाज्ञाचक्रस्थं शिशिरकरबिम्बे(बं) रविनिभं
दृढव्यालीढं सद्विगलितसुधासारविसरम् ॥३३॥

पाठा०—(१) तुलितौ ।

इडा-पिङ्गला-नामनाड्योः क्रमेण रविशशिनौ चरतः । तादृशरविशशिनौ यदा तमोमय(भूत)मूलाधारचक्रे मिलितौ तदा तिथिः अमावास्या भवति । तादृशामातिथौ आज्ञाचक्रस्थितशशिबिम्बे (शशिबिम्बं) रविनिभं (ज्योतिःप्रादुर्भावे न इति शेषः) दृढव्यालीढं सत् (ज्योत्स्नया इति विज्ञेयम् । उत्तरश्लोकतात्पर्येण) विगलितसुधासारविसरं च । भवति इति शेषः ॥३३॥

अथ पूर्वश्लोकोक्तज्योतिःकारणनिरूपणम्—

महाव्योमस्थेन्दोरमृतलहरीप्लावितननुः
[१]प्रशुष्यद्वै नाडीप्रकरमनिशं प्लावयति तत् ।

यदाज्ञायां विद्युन्नियुतनियुताभाक्षरमयी
[२]स्थिता विद्युल्लेखा भगवति ! विधिग्रन्थिमभिनत् ।३४।

पाठा०—(१) प्रशुष्यद्वैशन्त० । (२) सिता ।

पूर्वोक्तज्योतिःकारणं महाव्योमस्थेन्दोः = सहस्रारगतचन्द्रबिम्बात्, प्रसृतामृतलहरी या विद्यते तया प्लाविततनुः यस्य तादृशः भवति इति शेषः । स तावत् (पूर्वश्लोकोक्ताज्ञाचक्रस्थितशशिविम्बे एव) तद्विम्वः, प्रशुष्यद्वैनाडीप्रकरम् । उत, प्रशुष्यद्वैशन्त(स्थितनाडी)प्रकरं = शुष्यत्पल्वलम् इव भासमाननाडीमण्डलसमूहं (७२-सहस्रनाडीसमूहम्) अनिशं (सुधया) प्लावयति । एवं कदा भवेत् ? इति आकाङ्क्षायाम् । हे अम्ब ! यदा आज्ञायाम् = आज्ञाचक्रे सहस्रविद्युत्पुञ्जवद्भासमाना अक्षरमयी (नाशशून्या) कुण्डलिनी स्थिता सती ब्रह्मग्रन्थिम् अभिनत्, तदा इति पूर्वेण अन्वयः ॥३४॥

अथ कुण्डलिन्याः आज्ञाचक्रात् सहस्रारगमनं निरूप्य श्रीचक्रसरघावैन्दवकथनम्——

ततो गत्वा ज्योत्स्नामयसमयलोकं समयिनां[१]
पराख्या सादाख्या जयति शिवतत्त्वेन मिलिता ।
सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसां बिम्बमपरं
तदेव श्रीचक्रं सरघमिति तद्वैन्दवमिति ॥३५॥

पाठान्तरम्—(१) ससमया ।

ततः = आज्ञाचक्रतः, गत्वा = ज्योत्स्नामयसमयलोकं (सहस्रारं) गत्वा इति यावत् । का ? समयिनाम् उपास्या पराख्या = परा-नाम्नी, सादाख्या या, तादृशी सा, शिवतत्त्वेन = सहस्रारस्थतत्त्वेन मिलिता सती, जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्तते । तदा तत्र

सहस्रारपद्मे, शिशिरमहसां = चन्द्रतेजसां, विम्वम्, अपरं = परं न विद्यते यस्मात् तादृशम् (अद्वितीयम् इति भावः) प्रत्यक्षीभवति इति शेषः। तदेव श्रीचक्रम् इति सरघम् इति, बैन्दवम् इति व्यवह्रियते ॥३५॥

अथ परमतनिरूपणम्—

वदन्त्येके सन्तः परशिवपदे तत्त्वमिलिते
ततस्त्वं [1]षड्विंशी भवसि शिवयोर्मेलनवपुः।
त्रिखण्डेऽस्मिन् स्वान्ते परमपदपर्यङ्कसदने
परे सादाख्येऽस्मिन् निवसति [2]चतुर्धैक्यकलनात् ॥३६॥

पाठा०—(१) षट्त्रिंशा। (२) चतुर्थैक्य०।

एके सन्तः एवं वदन्ति। कथमिव ? हे भगवति ! कुण्डलिनीशक्तिस्वरूपिणि ! तत्त्वमिलिते = सर्वतत्त्व (पञ्चविंशतितत्त्व)-मेलनरूप-परशिवपदे = सहस्रारे, (त्वं) यतः लीना असि ततः त्वं षड्विंशी भवसि। तथा भवितुं किं कारणम् इति चेत् शिवयोः मेलनवपुरूपा एव भवती। अतः शिवस्य पञ्चविंशति तत्त्वसंख्या, त्वाम् अनुसृता इति भावः। अतः त्वाम् एवं च कथयन्ति, सादाख्ये स्वान्तचक्रे (आज्ञाचक्रे)। त्रिखण्डे = तृतीयखण्डे, परे = उत्कृष्टे, परमपदपर्यङ्करूपसदाशिवस्थाने (चतुर्विंशश्लोकोक्तरीत्या) चतुर्धैक्य कलनात्, सा कुण्डलिनीरूपिणी देवी निवसति, इति एके सन्तः वदन्ति इति च पूर्वेण अन्वयः ॥३६॥

अथ (चतुर्धैक्यकलनानन्तरं) त्रिखण्डभावनायां त्रिधैक्यनिरूपणम्—

[1]क्षितौ वह्निर्वह्नौ वसुदलजले दिङ्मरुति दिक्-
[2]कलाश्वे मन्वश्वं दृशि [3]वसुरथो राजकमले[लं]।

[4]प्रतिद्वैतग्रन्थिस्तदुपरि चतुर्द्वारसहितं
[5]महीचक्रं चैकं भवति भगकोणैक्यकलनात् ॥३७॥

इति मन्त्रचक्रैक्यम् ॥

पाठान्तराणि—(१) महावह्नि०। (२) कलारे। (३) वसुरथो। (४) प्रतिद्व्यैतद्ग्रन्थि०। (५) महाचक्रं।

क्षितिः = मूलाधारम्। जलं = स्वाधिष्ठानम्। मरुत् = अनाहतम्। कलास्रं = विशुद्धम्। दृक् = आज्ञाचक्रम् इति शरीरचक्राणि। वह्निः = त्रिकोणम्। वसुदलं = अष्टास्रम्। दिक् = दशारम्। मन्वस्रं = चतुर्दशारम्। वसुः = वसुदलम्। राजकमलं = षोडशदलम् इति श्रीचक्रस्थचक्राणि। एवं प्रथमं ज्ञातव्यम्। अथ अन्वयः, क्षितौ वह्निः ऐक्यम् अभूद् इति भावयेत्। वह्नौ तु वसुदलजले (अष्टास्रस्वाधिष्ठानचक्रे भावयेत् नाम; तयोः ऐक्यं भावयेत्) एतावता प्राथमिकः अग्निखण्डः निरूपितः भवति। अथ दिङ्मरुति, दशदलात्मकमणिपुर-विशिष्ट-मरुति = अनाहते; दिक् = दशारद्वयं विलीनं भवति। अत्र मरुन्नाम वायुः, एतेन सूर्यः लक्ष्यते। यथा, 'नभांसि जुहोति' (तै० ब्रा० ३-८-१८) इत्यादिना, वायुः नाम रुद्रः इति। 'रुद्रो वा एष यदग्निः,' 'उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः' (नमकम्) इत्यादिश्रुतिभिः रुद्रः नाम सूर्यः इति च विज्ञायते। अतः एतेन द्वितीयः सूर्यखण्डः निरूपितः। अथ कलाश्रे (विशुद्धचक्रे) मन्वस्रं (चतुर्दशारम्)। दृशि आज्ञाचक्रे वसुः वसुदलं विलीनं स्यात्। राजकमलं षोडशदलपद्मं च, विलीनं स्याद् इति शेषः। अनेन सोमखण्डः निरूपितः। तदुपरि, प्रतिद्वैतग्रन्थिः = द्वैत-परिपन्थी [केवलाद्वैतप्रतिपादकः बिन्दुः] चतुर्द्वारसहित-महीचक्रं भूपुरं च एकं भूत्वा। उपरि = सर्वोपरि [सोम-

खण्डोपरि] भवेद् इति अन्वयः। एवं भगकोणैक्यकलनाद् अन्वयः इति ॥

अत्र भगपदेन सूर्यः स्मार्यते, अतः द्वादशसंख्या च। अत्र भूपुरे प्राकारत्रयसद्भावात् प्रत्येकप्राकारस्य चतुःकोण-सद्भावात् च आहत्य द्वादशकोणाः भवन्ति। अतः भगकोणैक्यकलनं बिन्दौ युज्यते एव। बिन्दोः त्रिवृत्तस्वरूपत्वाद् [दृश्यतां, सप्तदशः श्लोकः तद् एकत्र एव त्रिवृत्तास्तित्वं द्योतयति हि] बिन्दुचतुष्कोणयोः अस्ति खलु अर्थसाम्यम्। एतेन पूर्णरूपबिन्दोः एकस्मिन् एव महीचक्रे [भूपुरे] समन्वय[विलीन]प्रतिपादनेन एकस्मिन् परिमाणौ अपि बिन्दुसमन्वयः [लयः] भवेद् इति विज्ञायते—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुतेः ॥३७॥ इति मन्त्रचक्रैक्यम् ॥

अथ क्रियापञ्चकसमामिति तडिद्रूपामिति च श्रीदेवीनिरूपणम्—

[1]षडब्जारण्ये त्वां समयिन इमे पञ्चकसमां
यदा संविद्रूपां विदधति च षोढैक्य[2]कलिताम्।
मनो जित्वा चाज्ञा[3]सरसिज इह प्रादुरभवत्
तडिल्लेखा नित्या भगवति तवाधारसदनात् ॥३८॥

पाठा०—(१) षडब्जारण्यैस्त्वां। (२) ०कलितम्। (३) सरसिजमिह।

हे भगवति ! इमे समयिनः त्वां, षडब्जारण्ये = मूलाधारादिषट्चक्रदेशे, पञ्चकसमां = पञ्चकृत्यस्वरूपां [सृष्ट्यादि पञ्चकृत्यपरायणाम् इति भावः] अतः एव षोढैक्यकलितां, संविद्रूपां = ज्ञानस्वरूपिणीं च, यदा, विदधति = भावयन्ति; किं कृत्वा ? मनो जित्वा; तदा आज्ञासरसिजे, इह, तव [त्वत्सम्बन्धिनी] नित्या, तडिल्लेखा, आधारसदनात्, प्रादुरभवत् [तेषाम् इति शेषः] ॥३८॥

अथ कौलादिपक्षाणां, मुनेश्च, स्वरूपनिरूपणम्—

भवत्साम्यं केचित् त्रितयमिति [1]कौलप्रभृतयः
परं तत्त्वाख्यं [2]चेत्यपरमिदमाहुः समयिनः ।
क्रियावस्थारूपं प्रकृतिरभिधापञ्चकसमं
तदेषां साम्यं [3]स्यादवनिषु च यो वेत्ति स मुनिः ॥३९॥

इत्यैक्यनिरूपणम् ।

पाठा०—(१) कौम्भप्र० । (२) चेत्स पर इद०; परमिद० ।
(३) त्वामवनिषु ।

हे भगवति ! केचित्कौलप्रभृतयः = पूर्वकौलोत्तरकौलादयः केचन, त्रितयमिति = सृष्टि-स्थिति-लयरूप-त्रितयम् एवं, भवत्साम्यं = भवद्रूपम् इति मन्यन्ते । इह = एतत्संदर्भे, समयिनः तु परं तत्त्वं च आहुः । अपि च अपरम् इदं वक्ष्यमाणम् आहुः । किं तत् ? प्रकृतिः = मूलप्रकृतिः, क्रियावस्थारूपं यत् । अभिधा-पञ्चकसमं = सृष्टि-स्थिति-संहार-तिरोधानानुग्रह-इत्यभिधापञ्चकं यत् तत्समम्, एषां = समयिनां, साम्यं स्याद् इति शेषः । एतदुभयं यः वेत्ति सः मुनिः = मौनी अद्वैती इति यावत् ॥३९॥ इत्यैक्यनिरूपणम् ॥

अथ प्रस्तारत्रयप्रकृतिनिरूपणम्—

वशिन्याद्या अष्टावकचटतपाद्याः प्रकृतयः
स्ववर्गस्थाः स्वस्वायुधकलितहस्ताः स्वविषयाः ।
[1]यथावर्गं वर्णप्रचुरतनवो याभिरभवं-
स्तव प्रस्तारास्ते त्रय इति जगुस्ते समयिनः ॥४०॥

पाठा०—(१) यदा वर्गा वर्णप्रचुरतरवो ।

हे भगवति ! ते समयिनः तव त्रयः प्रस्ताराः याभिः प्रकृतिभिः अभवन् इति जगुः ताः तावद्, अ-क-च-ट-त-पादि-शब्देन य-श-वर्गाऽऽद्यक्षरस्वरूपाः वशिन्याद्याः अष्टौ प्रकृतयः। ताः कथंभूताः ? स्वस्ववर्गस्थाः, वर्णाः = अक्षराः, ये तत्स्व-रूपाः । स्वस्वायुधकलितहस्ताः स्वस्वविषयप्रवृत्तव्यापाराः। यथावर्गं = वर्गस्थवर्णानुगुणम् । प्रचुरतनवः = प्रकृष्टशरीराः [विस्तृतिवत्यः] । "तरवः" इति पाठान्तरे तु संसारातपाद् रक्षकाः । एवंप्रकारप्रकृत्यष्टकम् अत्र प्रस्तारत्रयविषये समयिनाम् उपकरणं भवति इति भावः। अत्र एतद्विवरणभूतः अस्मत्कृतः अस्ति प्रस्तारभास्करः नाम ग्रन्थः षड्विंशतिश्लोकात्मकः [स एव एतद्ग्रन्थान्ते द्रष्टव्यः] ॥४०॥

अथ उक्तप्रस्तारत्रयविवरणम्—

इमा नित्या वर्णास्तव चरणसंमेलनवशान्-
महामेरुस्थाः [1]स्युर्मनुमिलनकैलासवपुषः ।
वशिन्याद्या एता अपि तव[2] सबिन्द्वात्मकतया
महीप्रस्तारोऽयं क्रम इति रहस्यं समयिनाम् ॥४१॥

इति प्रस्तारत्रयनिरूपणम् ।

पाठ०—(१) स्थास्यन् मनु० । (२) च सहवि० ।

हे देवि ! नित्याः वर्णाः = अचः । तव चरणसंमेलनवशात् = ऐं श्रीं इत्यादि त्वच्चरणसंयोगवशात् । मेरुप्रस्तारः = त्वन्मन्त्रसंयोगवशात् कैलासप्रस्तारः च निष्पद्यते । एताः पूर्वश्लोकोक्ताः वशिन्याद्याः अपि [अ-क-च-टादयः अपि] बिन्दुसहिताः चेत् महीप्रस्तारः [भूप्रस्तारः] संपद्यते समयिनाम् इति रहस्यम् । एतद्ग्रन्थान्ते च एतद्विषयविशेषः द्रष्टव्यः ॥४१॥

इति प्रस्तारत्रयनिरूपणम् ॥

अथ कौल-वाम-मतनिरूपणम्—

भवेन्मूलाधारं तदुपरितनं चक्रमपि तद्
द्वयं तामिस्राख्यं शिखिकिरणसंमेलनवशात् ।
तदेतत्कौलानां प्रतिदिनमनुष्ठेयमुदितं
भवत्या वामाख्यं मतमपि परित्याज्यमुभयम् ॥४२॥

हे देवि ! भवत्याः वामाख्यं = मकारपञ्चकसहितोपासनारूपं, कौलानां मतं च एतद् उभयं न उपास्यं परित्याज्यम् एव । किं तत्कौलमतम् ? उच्यते, मूलाधारचक्रं, तदुपरिवर्तमानस्वाधिष्ठानं च एतद्द्वयं तामिस्रनामधेयम् [अन्धकारबन्धुरम्] । एतस्मिन् मणिपूरस्थाग्निकिरणसंमेलनवशात् कौलानां प्रतिदिनम् [अमायाम् अपि] उपास्यं भवति इति उदितम् । एतद् एव कौलमतम् ॥४२॥

अथ कौलपूजाविवरणम्—

अमीषां कौलानां भगवति ! भवेत्पूजनविधि-
स्तव स्वाधिष्ठाने तदनु च भवेन्मूलसदने ।
अतो बाह्या पूजा भवति भगरूपेण च ततो
निषिद्धाचारोऽयं निगमविरहोऽनिन्द्यचरिते ॥४३॥

हे अनिन्द्यचरिते ! भगवति ! पूर्वोक्तकौलानां [प्रथमं] पूजाविधिः स्वाधिष्ठाने, तदनु = पश्चात् । मूलसदने = मूलाधारे च बाह्या पूजा । अतः परं भगरूपेण [उपकरणेन] च पूजा भवति । अयं निषिद्धाचारः, निगमविरहः = वेदमार्गदूरः [स्याद् इतिशेषः] ॥४३॥

अथ कौलदेवतानिरूपणम्—

नवव्यूहं कौलप्र[1]भृतिकमतं तेन स विभु-
र्नवात्मा देवोऽयं [2]जगदुदयकृद्भैरववपुः ।

नवात्मा वामादिप्रभृतिभिरिदं भैरववपु[३]
र्महादेवी ताभ्यां जनकजननीमज्जगदिदम् ॥४४॥

पाठा०—(१) प्रभृतिकमिदं । (२) ०कृच्छैशववपुः । (३) वैन्दववपुः ।

कौलादिमते देवः नवव्यूहात्मकः । तथा च उक्तं सौन्दर्यलहर्यां "शरीरं त्वं शंभोः" [श्लो० ३४] इत्येतच्छ्लोकव्याख्याने काल-कुल-नाम-ज्ञान-चित्त-नाद-बिन्दु-कला-जीव-इति-नवव्यूहात्मकः देवः इत्युक्तम् । तत्कारणेन स विभुः [देवः] नवात्मा, भैरवनाम्ना (बैन्दवनाम्ना इति पाठान्तरं) प्रसिद्धः । सः एव जगत्स्रष्टा । अथ तेषाम् उपास्या देवी महादेवी [१]वामादिनवप्रकारप्रकृतिभिः भैरववपुः भयजनकवपुः तादृशदेहवती इति भावः । ताभ्याम् = उक्ताभ्यां, भैरव-भैरवीभ्याम् इदं जगत्, जनकजननीमद् भवति ॥४४॥

अथोक्तकौलमतगन्धोऽपि समयिनां नास्तीति निरूपणम्—

भवेदेतच्चक्रद्वितयमतिदूरं समयिनां
विसृज्यैतद्युग्मं तदनु मणिपूराख्यसदने ।
त्वया [१]सृष्टैर्वारिप्रतिफलितसूर्येन्दुकिरणै-
[२]र्द्विधा लोके पूजां विदधति भवत्याः समयिनः ॥४५॥

पाठा०—(१) सृष्टे वारि० । (२) ०विभालोके ।

हे देवि ! लोके, भवत्याः पूजां द्विधा समयिनः विदधति = कुर्वन्ति । कथम् ? तेषां समयिनां एतत्कौलपूजाचक्रद्वयम् अतिदूरं, अतः तद्युग्मं विसृज्य, तदनु, तदूर्ध्वस्थितमणिपूराख्ये चक्रे त्वया, वारि = जले, सृष्टैः, प्रतिफलितसूर्येन्दुकिरणैः = सूर्येन्दु-

१. वामादि = वामा-ज्येष्ठा-रौद्री-अम्बिका-पश्यन्ती-इच्छा-ज्ञानं-क्रिया-शान्ता-इति नवप्रकृतयः शक्तयः ।

भेदेन द्विधा विभिन्नैः किरणैः करणभूतैः पूजां कुर्वन्ति इति पूर्वेण अन्वयः । द्विधा सृष्टेः इति अत्र ''त्रिभालोके'' इति पाठान्तरम् । तदा प्रतिबिम्बितकान्तिमयलोके इत्यर्थः वक्तव्यः ॥४५॥

अथ चक्रोत्पत्तिकथनम्——

अधिष्ठानाधारद्वितयमिदमेवं[१] दशदलं
सहस्राराज्जातं [२]मणिपुरमतोऽभूद्दशदलम् ।
हृदम्भोजान्मूलान्नृपदलमभूत् स्वान्तकमलं
तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्तिकृदयम् ॥४६॥

पाठा०—(१) ०मेतद्दशदलं । (२) मणिपुरमितो० ।

अधिष्ठानाधारद्वितयं = स्वाधिष्ठानसहितमूलाधारम् । इदं = एतच्चक्रद्वयं, दशदलात्मकं, सहस्राराज्जातम् । तदुपरि मणिपुरम् अपि दशदलात्मकम् अभूत् । ततः ऊर्ध्वं हृदयकमलम् । तन्मूलात् = (तस्मात्) नृपदलं (षोडशदलं) विशुद्धचक्रं, ततः स्वान्तकमलम् (= आज्ञाचक्रम्) अभूत् । एवं बहुप्रकारं विजृम्भितः एकः बिन्दुः एव जगदुत्पत्तिकृत् = मूलाधारादिसर्वचक्रोत्पत्ति-(जगदुत्पत्ति)कृद् भवति ॥४६॥

अथ उक्तार्थस्य भङ्ग्यन्तरनिरूपणम्——

सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहं
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं [१]सकरणम् ।
ततो मूलाधाराद् द्वितयमभवत्तद्दशदलं
सहस्राराज्जातं तदिति दशधा बिन्दुरभवत् ॥४७॥

पाठान्तरम्—(१) न करणं ।

पूर्वश्लोकोक्तबिन्दुः नाम सहस्रारचक्रम् एव भवति । किं च तद् एव बैन्दवगृहम् । तस्माद् बिन्दोः एतत् जगत्, सकरणं =

करणसहितम् (इन्द्रियैः साकं) जातम् । ततः विन्दोः प्रथमं मूला-धाराद्द्वितयं = चतुर्दलात्मकमूलाधार-षड्दलात्मकस्वाधिष्ठान-रूप-चक्रद्वयम् । अभवत् । एतद्वितयं यतः दशदलात्मकमभवत् ततः बिन्दुरूपसहस्रारः अपि दशधा (दशप्रकारम्) अभवद् इति उक्तः ॥४७॥

अथ मूलाधारद्वितयानन्तरोत्पत्ति कथम्––

तदेतद्बिन्दोर्यद्दशकमभवत्तत्प्रकृतिकं
दशारं सूर्यारं नृपदलमभूत्स्वान्तकमलम्[१] ।
रहस्यं कौलानां द्वितयमभवन्मूलसदनं
[२]तथाधिष्ठानं च प्रकृतिमिह[३] सेवन्त इह ते ॥४८॥

पाठान्तराणि—०न्नेत्रकमलं । (२) तदा० । (३) ०मथ सेवन्त्विह च ते ।

उक्तप्रकारेण, विन्दोर्यद्दशकमभवत्, मूलाधार-स्वाधिष्ठानदलदशकम-भवत् तद्दशकमेव कारणं कृत्वा तदूर्ध्वं दशारं मणिपुरं तदुपरि स्वान्तकमलम् आज्ञाचक्रम् अभवत् । अत्र = एषु चक्रेषु । कौलानां मूलसदनं तथा अधिष्ठानं स्वाधिष्ठानम् एतद् द्वयं रहस्यमभवत् । एतद्द्वयस्य, इह (चक्रप्रस्तावे) सर्वचक्रप्रकृतित्वात्, तादृशप्रकृतिमेव, ते कौलाः सेवन्ते ॥४८॥

अथ कौल-समयिभेदनिरूपणम्—

अतस्ते कौलास्ते भगवति ! दृढप्राकृतजना
इति प्राहुः प्राज्ञाः कुलसमयमार्गद्वयविदः ।
महान्तः सेवन्ते सकलजननीं बैन्दवगृहे
शिवाकारां नित्याममृतझरिकामैन्दवकलाम् ॥४९॥

हे भगवति ! अतः एव (यतः कौलाः प्रकृत्युपासकाः अतः एव) दृढप्राकृतजनाः (अविवेकिनः) इति । कुल-समयोभय-

मार्ग-ज्ञानिनः । प्राज्ञाः । प्राहुः । महान्तः समयिनः तु, बैन्दव-गृहे, सकलजननीम्, अमृतझरिकां, शिवाकारां, नित्याम् ऐन्दव-कलारूपां त्वां सेवन्ते ॥४९॥

अथ षडब्जानीकस्य कालजनकत्वनिरूपणम्——

इद [1]कालोत्पत्तिस्थितिलयकरं पद्मनिकरं
त्रिखण्डं श्रीचक्रं मनुरपि च [2] तेषा च मिलनम् ।
तदैक्यं षोढा वा भवति च चतुर्धेति च तथा
तयोः साम्यं पञ्चप्रकृतिकमिदं शास्त्रमुदितम् ॥५०॥

पाठा०—(१) कौलोत्पत्ति० । (२) तु ।

इदं पद्मनिकरं षडब्जानीकं कालस्य उत्पत्तिस्थिति-लयात्मक-त्रितयकरं त्रिखण्डरूपं श्रीचक्रात्मकम् । एतद्विषयकः मनुरपि = पञ्चदशी अपि । एतेषां सर्वेषां मेलनम् ऐक्यानुसंधानम् । तदैक्य-प्रकारः तु षोढा चतुर्धा इति तयोः साम्यं पञ्चप्रकृतिकम् इति शास्त्रोदितम् एव । पञ्चप्रकृतिकं = सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यात्मकं भूम्यादिपञ्चभूतात्मकम् इति वा ॥५०॥

अथोपासनाफलनिरूपणम्——

उपास्तेरेतस्याः फलमपि च सर्वाधिकमभूत्
तदेतत्कौलानां फलमिह हि चैतत्समयिनाम् ।
सहस्रारे पद्मे सुभगसुभगोदेति [1] सुभगे
परं सौभाग्यं यत्तदिह तव सायुज्यपदवी ॥५१॥

पाठा०—(१) ०क्तेति सुभगं ।

एतदुपासनाफलं सर्वाधिक्यं स्यात् । एतत्कौलानां समयिनां च समम् एव । हे सुभगे ! देवि ! समयिनां सहस्रारपद्मे, सुभग-

सुभगा = अत्यन्तसुभगा सर्वोत्तमा तव सायुज्यपदवी उदेति। तद् एव परम् उत्कृष्टं सौभाग्यं भवति इति शेषः ॥५१॥

अथैतत्सिद्धौ गुरुकृपायाः करुणत्वनिरूपणम्—

[1]अतोऽस्याः संसिद्धौ सुभगसुभगाख्या गुरुकृपा-
कटाक्षव्यासङ्गात् स्रवदमृतनिष्यन्दसुलभा ।
तया विद्धो योगी विचरति निशायामपि दिवा
दिवा[2] भानू रात्रौ विधुरिव कृतार्थी कृतमतिः[3] ॥५२॥

पाठान्तराणि—(१) अतस्ते संसिद्धा। (२) दिवा वा रात्रौ वा। (३) कृतार्थीकृत इति।

॥ इति श्रीगौडपादाचार्यविरचिता सुभगोदयस्तुतिः समाप्ता ॥

अतः = उक्तप्रकरेण, अस्याः उपासनायाः, संसिद्धौ = सिद्धिविषये, सुभगसुभगाख्या = अत्यन्तसुभगा, कटाक्षव्यासङ्गात् स्रवदमृतनिःष्यन्दसुलभा गुरुकृपा [संपादनीया इति भावः]। तया गुरुकृपया। विद्धः = युक्तः। योगी = योगाभ्यासरतः। निशायामपि, दिवा = अह्नि इव, विचरति। दिवा भानुः तु रात्रौ चन्द्रः इव भासते [तस्य इति शेषः]। नित्यतृप्तमनस्कः कृतार्थः अस्मि इति भावनावान् च विचरति ॥५२॥

इति सुभगोदयस्तुतेर्भावबोधिनी नाम टीका श्रीपरिपूर्णप्रकाशानन्दभारतीमहास्वामिकृता समाप्ता ॥

अथ प्रस्तारभास्करः

उपोद्घातः

मूलप्रकृतिराद्येका जीवभावानुरोधतः ।
आदित्यश्चाम्बिका विष्णुर्गणनाथो महेश्वरः ॥ १ ॥
इत्यादिभेदभिन्नाऽभूत्सैषा श्रीपदशब्दिता ।
तदुपासनमुज्झित्वा परमात्मा न गोचरः ॥ २ ॥
यस्मात्स नामरूपांशभिन्नो ज्ञानैकगोचरः ।
तस्मादुपासना देव्यास्तन्त्रेषु प्रथिता पृथक् ॥ ३ ॥
वेदेऽपि सैषा श्रीदेवी गायत्रीपदलक्षिता ।
मुक्तये चित्तशुद्ध्यर्थमादौ श्रीदेव्युपासनम् ॥ ४ ॥
आत्मैव जीवस्तद्भिन्नो भाति प्रकृतिवैभवात् ।
[1]तदनाराध्यतां देवीं मुक्तो नैव भवेन्नरः ॥ ५ ॥
अतोऽवश्यमुपास्यैषा श्रीदेवी ज्ञानसिद्धये ।
क्रियाशक्तिस्वरूपेयमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥ ६ ॥
प्रकृतेः कर्तृता [2]तावदात्मसान्निध्यवैभवात् ।
तस्मादेवोपास्यतास्याः [3]जीवभूतेति सेरिता ॥ ७ ॥
उपासनोपकरणं नाम-रूपमिति द्विधा ।
[4]ते भूकैलासमेर्वाख्य-भेदभिन्ने पृथक्पृथक् ॥ ८ ॥
एवं बभूवुष्षड्धा ते[5] षडध्वानः प्रकीर्तिताः ।
[6]पक्षान्तरे षडध्वानः [7]सौरशाक्तादिभेदतः ॥ ९ ॥
एवं षडध्वविवृतिं विशदीकुरुते ह्ययम् ।
प्रस्तारभास्करान्वर्थनामाप्नोति च सन्मुदे ॥१०॥

इत्युपोद्घातः ॥

अथ ग्रन्थारम्भः—

अस्ति भाति प्रियं नाम रूपमित्यंशपञ्चकम् ।
अत्रान्त्ययोः प्राकृतत्वात् क्रियासम्बन्धिनौ हितौ ॥ १ ॥
[९]प्रकृतौ तदुपास्यत्वं ज्ञेयता ब्रह्मणि स्फुटा ।
[१०]तत्रादिमातपरादेव्यास्सपर्या शास्त्रचोदिता ॥ २ ॥
रूपनामात्मना तेन[११] पूजोपकरणं द्विधा ।
ते तावद्भवतः कौलसमयचारिणोः क्रमात् ॥ ३ ॥
रूपं पुनर्द्विधा जातं देहचक्रविभेदतः ।
[१२]तयोरपि द्विधाऽऽचारभेदोऽस्ति हि[१३]तयोस्तथा ॥ ४ ॥
कुण्डलिन्याख्यया देवी पिण्डाण्डे तु व्यवस्थिता ।
ब्रह्माण्डस्तत्प्रतीको[१४] हि श्रीचक्रमुभयोस्तथा ॥ ५ ॥
कुण्डलिन्यपि सा सेव्या नामरूपात्मना पथा ।
तस्या उपासनाध्वानष्षड्वर्णादिविभेदतः ॥ ६ ॥
तत्रादिमं नाम तावद् [१५]वर्णमन्त्रपदात्मकम् ।
रूपं पुनः कला-तत्त्व-भुवनाख्यानतस्त्रिधा ॥ ७ ॥
त्रिनाभिचक्रमित्ये[१६]तद्गतिमार्गः श्रुतीरितः ।
प्रस्ताराश्चैवमेव स्युः ते भू-कैलास-मेरवः ॥ ८ ॥
नामात्र मातृका ग्राह्या रूपं श्रीचक्रसंज्ञकम् ।
प्रस्तारनाम्नां सारूप्यं मातृका-चक्रयोरिह[१७] ॥ ९ ॥
प्रस्तारास्ते मातृकादेः[१८]नाम्नि रूपेऽपि[१९]तद्गतेः ।
स्याद् भूः मेरुश्च कैलासः वक्ष्यमाणविधानतः ॥१०॥

अथ उक्तार्थविवरणम्—

मातृकामय इत्येको नित्या तादात्म्यतोऽपरः ।
मन्त्रतादात्म्यतोऽन्यश्च त्रिधा शाब्दो निरूपितः ॥११॥

रूपतोऽपि च भूमेरुकैलासाख्यानतस्त्रिधा ।
तत्रादिर्भूतलाकारताम्रपत्रादिलेखनात् ॥१२॥
समवृत्तार्धरूपोऽन्यो दीर्घवृत्तार्धरूपवान् ।
उक्तार्थस्य समस्तस्य प्रमाणं श्रुतिरेव हि ॥१३॥
श्रीपदोद्दिष्टमखिलं ब्रह्माण्डं सचराचरम् ।
तस्मात्तदधिपो लोके ख्यातः श्रीपतिनामकः ॥१४॥
[२०]त्रिनाभिचक्रमित्यादिश्रुत्या तच्चक्रमीरितम् ।
[२१]श्रीचक्रराजनिलयेत्यादिस्मृत्या च तत्तथा ॥१५॥
तदेव तावच्छ्रीदेव्याः पूजायां तन्त्रचोदितम् ।
इत्येतदर्पितो देव्यै नाम्ना प्रस्तारभास्करः ॥१६॥

अथास्य विवृतिः–

सौन्दर्यलहर्यां "चतुष्षष्ट्या तन्त्रैः (३१ श्लो०) इत्यादिश्लोकस्य श्रीलोल्ललक्ष्मीधरपण्डितकृत-"लक्ष्मीधराख्य"-व्याख्यानुसारणी इयं विवृतिः । अत्राङ्गिभूताः षोडशनित्याः अष्टवर्गात्मकतया अष्टदल-पद्मदलेषु स्थिताः अष्टकोणचक्रे एकैकस्मिन् कोणे द्विकं द्विकं अन्तर्भूतम् । एताः एव नित्याः षोडशस्वरात्मकतया षोडशदलपद्मे स्थिताः । द्विदशारे अन्तर्भूताः । तासां मध्ये प्रथमं नित्याद्वयं त्रिकोणबिन्दुरूपेण स्थितम् । अवशिष्टाः तु चतुर्दशनित्याः मन्वस्रे अन्तर्भूताः । मेखलात्रयं वृत्तत्रयं भूपुरत्रयं बैन्दवत्रिकोणयोः अन्तर्भूते । एवं नित्यानां चक्रे अन्तर्भावः । इममेव अन्तर्भावं मेरुप्रस्तारमाहुः । अत्र नित्यानां मातृकासम्बन्धित्वात्, मातृकायाः अकारादिवर्णात्मकत्वेन वर्णानां शब्दसंबन्धित्वेन च अयं नामप्रस्तारः एव ॥

अथ ताः एव नित्याः चक्रविद्यायाः चन्द्रकलास्वरूपायाः अङ्गभूताः सत्यः षोडशस्वरात्मिकाः भूत्वा पञ्चदशाक्षरमन्त्रगताः

एकारादिभूतककार-विसर्गात्मकसकाराभ्यां संगृहीताः बैन्दवस्थानस्थाः। कादयः मावसानाः पाशाङ्कुशबीजयुक्ताः सन्तः अष्टारे दशकोणद्वये अन्तर्भूताः। शिष्टाः तु यकारादयः वर्णाः मन्वस्रे द्विरावृत्या अन्तर्भूताः। शिष्टवर्णचतुष्टयं शिवचक्रचतुष्टये अन्तर्भूतम्। इममेव कैलाशप्रस्तारमाहुः। एतस्य अपि मातृकामयत्वेन अयं च शाव्दापरनामधेयप्रस्तारः एव॥

अथ भूप्रस्तारः–

नित्यानां द्विकं द्विकं वशिन्याद्यष्टके मेलयित्वा अष्टकोणेषु अन्तर्भाव्याः। अष्टवर्गाः तु (चतुश्चत्वारिंशद्वर्णाः) = अष्टवर्गाः च। अथ अष्टवशिन्याद्याः + षोडशनित्याः + द्वादशयोगिन्यः + चतस्रः चतस्रः कामाकर्षिण्यादयः आहृत्य चतुश्चत्वारिंशद्देवताः। एतासु एकां सादाख्यां विहाय अवशिष्टत्रिचत्वारिंशद्देवताः त्रिचत्वारिंशत्कोणेषु (अष्टकोण + दशारद्वय + चतुर्दशार + त्रिकोणात्केषु) विभाव्य, सादाख्यां त्रिपुरसुन्दरीं बैन्दवाद् अधस्ताद् विभावयेत्। गन्धाकर्षिण्यादयः पुनः चतुर्द्वारेषु विभाव्याः। एवंविभावनां भूप्रस्तारमाहुः। एवमेव सुभगोदयादिषु नामप्रस्तारभेदानाहुः॥

अथ रूपप्रस्तारानुदाहरिष्यामः—

वाह्यपूजोपयोगित्वेन श्रीचक्रस्य आकृतिविशेष-तादात्म्यापन्नरूपप्रस्तारः विविच्यते। यथा, विन्द्वर्धचन्द्रादिनवनादान्तरालभूतदशाङ्गुलपरिमितचतुरश्रे ताम्रादिधातुमयपत्रे वा स्फाटिकादिशिलामयफलके वा अस्मदावासभूमेः तलसदृशे बिन्दुत्रिकोणादिनवयोन्यात्मकं श्रीचक्रं परिलेखयेत्। एतद् एव रूपप्रस्ताराङ्गभूतभूप्रस्तारः। अत्र नवनादान्तरालस्य दशाङ्गुलपरिमितत्वं पुनः "स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" इति श्रुत्युपदिष्टं वेदितव्यम्।

अथ मेरुप्रस्तारः—

अस्मदावासभूतभूमेः एव सर्वक्रियाकलापाऽऽधारत्वेन अखिल-ब्रह्माण्डसृष्टेः श्रीपदवाच्यत्वेन तादृशश्रीदेव्युपासनाङ्गभूत-श्रीचक्रस्य ब्रह्माण्डाकृतिः एव ग्राह्या प्रतीकतया । अतः तदङ्भूत-भूगोलस्य अस्मदावासत्वेन तदाकृतिः एव ग्राह्या खलु तत्प्रतीको-पासनायाम् । अतः भूव्यासार्धोच्छ्रयं श्रीचक्रं कर्तव्यम् । तद् एव **मेरुप्रस्तरवाच्यं** भवति । एतद् अपि रूपप्रस्तारान्तर्भूतः एव ।

अथ कैलासप्रस्तारः—

भूगोलः तु स्वाकर्षकं रविं परितः परिभ्रमति इति विज्ञायते । "आयं गौः पृश्निरक्रमीद्" इत्यादिश्रुत्या तादृश-परिभ्रमणं त्रिनाभिचक्रात्मकस्वकक्षायां एकवार्षिककालेन एकवारम् । तदा तस्य उच्च-नीचगतिसंभवः च । स यदा परमोच्चस्थानं गच्छति तदा तस्य तदाकर्षकस्य च अन्तरं बृहदक्षाधिकभागसंज्ञितं भवति । तादृशबृहदक्षभागसम्मितोच्चं श्रीचक्रं कैलासप्रस्तारवद् इति ज्ञेयम् । एवं त्रिधा भवति रूपप्रस्तारः । अथ अर्धमेर्वाकृतिः इति मेरुप्रस्तारः तु उक्तमेरुप्रस्तारे एव अन्तर्भावः। इति सर्वम् अनवद्यम् ।

इति श्रीपरिपूर्णप्रकाशनानन्द[नाथ]भारतीमहायतिकृतिषु श्रीदेव्युपायनीकृतः अयं प्रस्तारभास्करः ।

अथ प्रस्तारभास्करगतव्याख्या [फुटनोट्स]

१. तत् = तस्मात्कारणात् ।

२. आत्मसान्निध्यवैभवात्—"श्रीशिवाशिवशक्त्यैक्यरूपिणी । ललिताम्बिका" इति श्रीललितासहस्रनामोक्ते ललितापर-नाम्न्याः मूलप्रकृतेः आत्मसान्निध्यं नित्यं प्रतिभाति । अतः एव "कामेश्वरमुखालोककल्पितश्रीगणेश्वरा:" इति

च । जीवप्रतिनिधि-श्री-गणनाथसृष्टामात्मरूप-महाकामेश्वर-मुखाऽऽलोकनं निरूपितम् ।

३. जीवभूताः—"जीवभूतां महाबाहो प्रकृतिं विद्धि मे पराम्" (गीता ७.५) इति भगवद्गीतोक्तिः अपि इमां ललिताऽपर-नाम्नीं प्रकृतिमेव जीवप्रकृतिः इति कथयति इति भावः ।

४-५. ते = नाम-रूपं च ॥

६. पक्षान्तरे = सौरादिमतनिरूपणपक्षे ।

७. सौरशाक्तादिभेदतः = सौर-शाक्त-गाणपत्य-वैष्णव-शैव-ऐन्दवः (जैन) इति षड्विधभेदतः ।

८. प्रकृतौ = प्रकृतिविषये प्राकृतोपासनायाम् इति यावत् ।

९. तत् = तस्मात् कारणात् क्रियासंबन्धित्वाद् इति यावत् ।

१०. तत्र = उपास्यत्व-ज्ञेयत्वयोः ।

११. तेन = पूर्वोक्तकारणेन क्रियासम्बन्धित्वरूपेण इति यावत् ।

१२. तयोः = देहचक्रयोः अपि ।

१३. तयोः = कौलाचार-समयाचारवतोः ।

१४. तत्प्रतीकः = पिण्डाण्डप्रतीकः ।

१५. "वर्ण-मन्त्र-पदात्मकम्"—अयं क्रमः तु विरूपाक्षपञ्चाशिकापाठः । अन्यत्र "वर्णः पदं मन्त्रः" इति । किं च अस्मिन् विषये कुलार्णवतन्त्रे तावत् षडागमा निरूपिताः —"शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्येन्दुसंभवैः" इति (इन्दुसंभवः = जैनदर्शनम्) ।

१६. इत्येयतद्गतिमार्गः = रूपप्रतीकभूतः एतत्सकलभुवन-गमनमार्गः ।

१७. इह = प्रस्तारप्रकरणे "मातृका-श्रीचक्रयोरुभयोः" प्रस्तार-नामानि पुनः, भूकैलाशमेरवः इति सरूपाणि एव । न तथा

अध्वप्रकरणे "इत्यर्थं द्योतयत्यत्रेह" इति पदम् ।

१८. आदेः = अत्रादिपदेन श्रीदेवी-चरण-मन्त्र-नित्याः अपि गृह्यन्ते ।

१९. तद्गतेः = रूपगतिवशाद् इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः "त्रिनाभिचक्रम्" इत्यादि ।

२०. त्रिनाभिचक्रं—"त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं येनेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः" इति श्रुत्या ।

२१. श्रीचक्रराजनिलया—"श्रीचक्रराजनिलया श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी" (श्रीललितासहस्रनाम) इति स्मृत्या इति भावः ॥

इति प्रस्तारभास्करगतव्याख्याटिप्पणयः ।

भावबोधनीटीकाकर्त्तुः संक्षिप्तचरितम्

एते तावद् राज्ञी("राणी")त्युपनामक-नृसिंहाग्निचिद्यज्वनां पुत्ररत्नम्। एतन्नाम वेङ्कटाचलपति-महाग्निचिद् इति। जन्मभूमिस्तु आन्ध्रप्रदेशीय-पूर्वगोदावरीमण्डलस्थ-कोत्तपेट-तालूकान्तर्गत-वाडपालेम इति नाम्ना प्रसिद्धो ग्रामः। जन्मकालः क्रीस्तु-सं० १८९० सेप्टेम्बर-मासे ११ दिवसो गुरुवासरः [एतत्तुल्ये विकृतिवत्सरेऽधिकभाद्रपद-कृष्णपक्ष-द्वादशी]।

पाण्डित्यम्—वेदवेदाङ्ग-मन्त्रशास्त्र-ज्योतिःशास्त्र-आयुर्वेदशास्त्र-पारीणाः,मन्त्र-शास्त्रीय-पूर्णदीक्षा-दीक्षिताः, श्रौतकर्मसु सर्वपृष्ठ-चयन-बृहस्पतिसवान्त-क्रतुकर्त्तारश्च। अपि चैते ग्रन्थकर्त्तारश्च। एतत्कृतग्रन्थाः—विमर्शामृतम्, हंसकिरणावलिः, वेदान्तप्रासादीयभाष्यमुक्ताफलम्, आयुर्विज्ञानम्, पूर्णध्वजः। किं च, स्वपितृचरणकृतनृसिंहसांख्यदर्शनस्य वेदान्तग्रन्थस्य सभाष्यस्य चक्रवाकीति नाम्नीम् आन्ध्रटीकां चक्रुः।

एतदुपाधिः कृष्णामण्डलान्तर्गत-विजयवाडनगरे श्रीवेङ्कटेश्वरायुर्वेदकला-शालायां क्री० सं० १९६२ पर्यन्तम् आयुर्वेदाध्यापकाः। एतदनन्तरं क्री० सं० १९६२ वत्सरे अद्यतनकाले गुण्टूरुमण्डलस्थगुण्टूरुनगरस्थ-श्रीशृङ्गेरी-श्रीविरूपाक्ष - श्रीपीठाधीश्वर - श्रीसदाशिवानन्द - भारती - महास्वामिभ्यो यत्याश्रमं स्वीकृतवन्तः। [मोक्षकालः क्री० २।३।८२]।

पाठभेदाः

संपूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्थ-श्रीसरस्वतीभवनग्रन्थालये समुपलब्धस्य देवनागरीपाण्डुलिपिद्वयस्य मूलपाठव्यतिरिक्ताः कतिपयपाठभेदा अधोलिखिताः। पाण्डुलिपिद्वयस्य परिचयः—प्रथमा क. इति संज्ञिता, यस्याः क्रमसंख्या २१९२१। पत्राणि १–५३; पत्राकारश्च ५.७ × ३.८"। एषा सम्पूर्णा। आदौ "अथ श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगौडपादाचार्यविरचिता सुभगोदयस्तुतिः"। अन्ते पुष्पिकायां च "इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगौडपादाचार्यविरचिता सुभगोदयस्तुतिः ॥"

अपरा च ख. इति संज्ञिता, यस्याः क्रमसंख्या २१९१९। पत्राणि १–२९; पत्राकारश्च ५ × ३.४"। संपूर्णा। आदौ "अथ श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीगौडपादाचार्यविरचिता सुभगोदयस्तुतिप्रारम्भः ॥" अन्ते पुष्पिकायां च "इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीगौडपादाचार्यविरचिता सुभगोदयस्तुतिः ॥ समाप्ता ॥ नि. ल. घं. (? पं.) ता. २८।११।३७ रवौ ॥"

श्लोकः	पादः	मूलपाठः	पाठभेदः
१	२	°लहरीमैन्दव°	°लहरीं वैन्दव° [क. ख.]
	३	°सरणीकल्पित°	°सर्रणि कल्पित° [क. ख.]
२	२	°त्ताक्षः	°त्ताक्षी [क. ख.]
३	१	°जुषो	°जुषे [क. ख.]
६	२	महाकाल°	महानील° [क. ख.]
८	२	षट्त्रिंशद्दश°	षट्त्रिंशच्छत° [ख.]
९	४	महाकौले°	महाकाल° [क.]
१०	२		तव स्वाधिष्ठानं भगवति दशारं मणिपुरम् [क. ख.]
११	२	च भुवनम्	त्रिभुवनम् [क. ख.]
१२	१	तयोर्नादविभवे	च नादादिविभवे [क. ख.]
१४	४		लसत्पाशं हस्तैरुदित° [क. ख.]
१६	१	फणिपाशं	घृणिपाशं [ख.]
	२	जपस्रक्शुकवरौ	जपस्रक्क्षुरवरम् [क. ख.]
१७	२	भूगेहादपि	भूवेष्मादपि [क. ख.]
	४	°वाम्ब शरणम्	°वाम्भकरणम् [क. ख.]
१९	१	परो मारमदन-	मरो मारमदनः [क. ख.]
	२	°श्चेति	°श्चैते [क. ख.]
२१	३	°मन्वक्कषषुगं	°मञ्चत्कषयुगं [क. ख.]
२२	१		विदेहो निर्ऋत्यास्सुत इह ऋषिर्यस्स च [क. ख.]
	२	तैत्तिर्यकऋचि	तैत्तीरियऋचि [क. ख.]
२३	२	शेषो यत इह	शेषा इह खलु [क. ख.]
	३	च सुभगे	स च भगे [क. ख.]
२५	३	पञ्चदशधा	पञ्चदशतो [क. ख.]
२७	१	हलो	हरो [क. ख.]
२८	१	वदन्त्येके	भवन्त्येके [क. ख.]
२९	२	कमलेऽस्मिन्	कुमतेऽस्मिन् [क. ख.]
	४	हिमानी°	भवानी° [क. ख.]

श्लोकः	पादः	मूलपाठः	पाठभेदः
३१	३	रविरुपरि	रतिरुपरि [क. ख.]
	४	हरिहर°	हरहरि° [क. ख.]
३२	२	°माप्लावित°	°माह्लादित° [क. ख.)
३४	३	विद्युन्नियुत°	विद्वन् नियत° [क. ख.]
	४	विद्युल्लेखा	विद्वल्लेखा [क. ख.]
३६	२	षड्विंशी	षट्त्रिंशा [क. ख.]
३७	१	क्षितौ वह्नि°	महावह्नि° [क. ख.]
	२	कलाश्रे	कलारे [क. ख.]
३८	२	यदा	सदा [क. ख.]
४०	२	स्वविषयाः	सविषयाः [क. ख.]
	३		यदा वर्गा वर्णप्रचुरतरमाया-भिरभवन् [क. ख.]
४४	३	वामादिप्रभृति°	वामादिप्रकृति° [क. ख.]
४५	३	सृष्टेर्वारि°	सृष्टे वारि° [क. ख.]
	४	°र्द्विधा लोके	°र्विभालोके [क. ख.]
४८	२	°भूत्स्वान्त°	°भून्नेत्र° [क. ख.]
५१	२	चैतत्स°	चेतः स° [क. ख.]
५२	१	अतोऽस्याः संसिद्धौ	अतस्ते संसिद्धा [क. ख.]

our other publications

1. Chakradhvaja-The wheel Flag of India
   by V. S. Agrawala
2. Vision in Long Darkness
   by V. S. Agrawala
3. The Deeds of Harsha
   by V. S. Agrawala
4. Notes on the Amaravati Stupa
   by James Burgess
5. Record of the Buddhistic Kingdoms
   by H. A. Giles
6. Indian Serpent Lore or the Nagas in Hindu Legend and Art
   by J. Ph. Vogel
7. Report on the Antiquities in the District of Lalitpur, N. W. Provinces, India
   by P. C. Mukherji
8. Ancient Indian Weights
   by Edward Thomas
9. Coins of Southern India
   by Sir Walter Elliot
10. Chalukyan Architecture, Including Examples from the Bellari District, Madras Presidency
    by Alexander Rea
11. Antagada Dasao and Anuttarovavaiyyadasao translated into English
    by L. D. Barnett
12. Ancient Indian Textile Designs Part I
    by Jaishankar Mishra
13. Gupta Art
    by V. S. Agrawala
14. Pre-Kushana Art of Mathura
    by V. S. Agrawala
15. Mathura Terracottas
    by V. S. Agrawala

६७ वर्षों से प्रकाशित आध्यात्मिक पुस्तक-माला

'कौल-कल्पतरु' चण्डी

मन्त्र कल्पतरु पुष्प-२

कौल-कल्पतरु चण्डी

'नाम'-मन्त्र-साधना-सहित

श्रीमत्स्यावतार

श्रीकूर्मावतार

श्रीवराहावतार

श्रीनृसिंहावतार

श्रीवामनावतार

श्रीपरशुरामावतार

श्रीरामावतार

श्रीकृष्णावतार

श्रीबुद्धावतार

श्रीकल्कि अवतार

श्रीविष्णु-नाम-मन्त्र-साधना

प्रकाशक :
परा-वाणी आध्यात्मिक शोध-संस्थान
श्रीचण्डी-धाम, अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-२११००६

६७ वर्षों से प्रकाशित आध्यात्मिक पुस्तक-माला
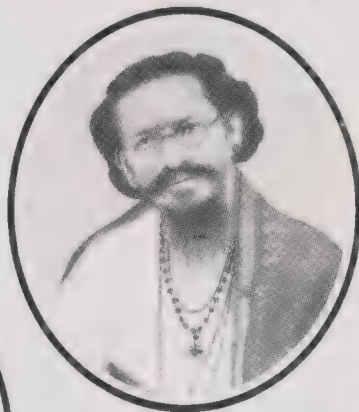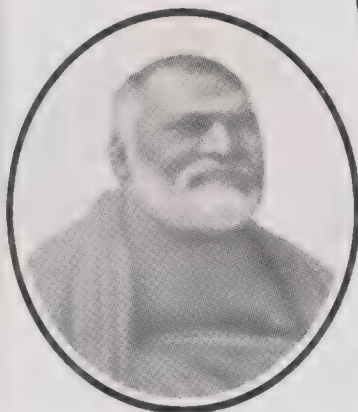
कौल-कल्पतरु चण्डी

मन्त्र-कल्पतरु (पुष्प-२)

'नाम'-मन्त्र-साधना-सहित

'कौल-कल्पतरु'
पं० देवीदत्त शुक्ल
जयन्ती : वैशाख कृष्णा तृतीया
१२ अप्रैल, २००९

वर्ष ६८ अङ्क २

श्रीविष्णु एवं उनके दशावतारों की 'नाम-मन्त्र-साधना'
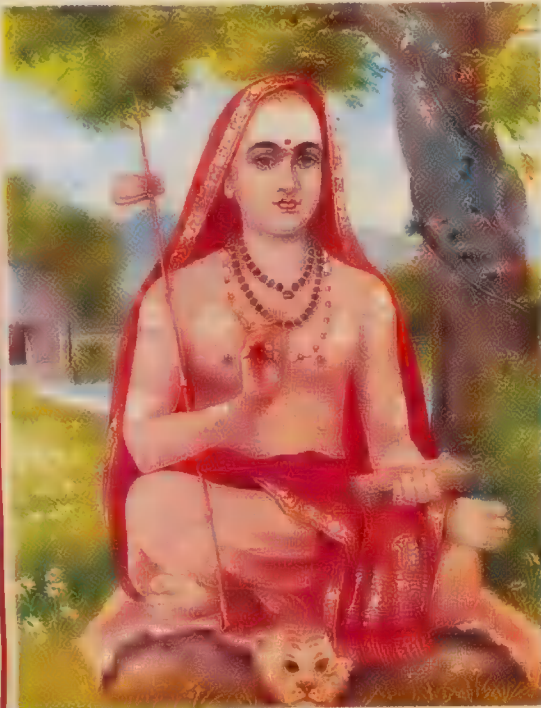
परम पूज्य प्रातः-स्मरणीय जगद्-गुरु आदि-शङ्कराचार्य जी की जयन्ती वैशाख शुक्ला पञ्चमी (२९ अप्रैल २००९) के पावन अवसर पर 'मन्त्र-कल्पतरु' पुष्प-२ के रूप में श्रीविष्णु एवं उनके दशावतारों की 'नाम-मन्त्र-साधना'–शारदा-तिलक तन्त्र, वृहत् तन्त्रसार, मेरु तन्त्र आदि ग्रन्थों के आधार पर प्रकाशित हो रही है।

श्रीविष्णु एवं उनके दशावतारों की 'नाम-मन्त्र-साधना' वैष्णव अर्थात् भगवान् विष्णु के उपासकों के लिए तो उपयोगी है ही, साथ ही शाक्तों अर्थात् भगवती के उपासकों के लिए भी महत्त्व-पूर्ण है।

'शाक्त'-सम्प्रदाय की उपासना में जहाँ निर्गुण, सूक्ष्म, परा उपासनाओं का विधान है, वहीं सगुण, स्थूल बाह्य, अवतार-उपासनाओं का भी विधान है। शाक्त-सम्प्रदाय की उपासनाएँ 'तन्त्रों' पर आधारित हैं और 'तन्त्रों' का स्पष्ट मत है कि 'पर-ब्रह्म'–एक है, अद्वैत है और निर्गुण है और उसकी प्राप्ति के लिए उसके पाँच गुणों के आधार पर 'पाँच सम्प्रदाय' हैं–१. शैव, २. शाक्त, ३. वैष्णव, ४. गाणपत्य एवं ५. सौर्य हैं। यही कारण है कि 'तन्त्रों' में पाँचों सम्प्रदायों से सम्बन्धित उपासना-प्रणालियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

तन्त्रों में जहाँ 'शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य एवं सौर्य' सम्प्रदायों के लिए अलग-अलग स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचनाएँ हुई हैं, वहीं पाँचों को समाहित करते हुए संग्रह-ग्रन्थों की भी रचनाएँ हुई हैं क्योंकि मूलतः पाँचों सम्प्रदाय एक हैं, उनका लक्ष्य एक है-'एक, अद्वैत एवं निर्गुण पर-ब्रह्म की प्राप्ति'।

प्रातः-स्मरणीय आदि-शङ्कराचार्य एवं उनके गुरु पूज्य श्री गौड़पादाचार्य दोनों ने 'तन्त्रों' के उक्त मत के अनुसार ही पाँचों सम्प्रदायों के उपासकों के लिए नाना प्रकार की स्तुतियाँ, भाष्य आदि लिखे हैं। आदि-शङ्कराचार्य जी का इस सम्बन्ध में कृतित्त्व इतना विशाल है कि उन्हें तो 'पञ्च-देवोपासना' हेतु साक्षात् भगवान् शिव के अवतार-स्वरूप 'जगद्-गुरु' माना जाता है।

जगद्-गुरु आदि-शङ्कराचार्य के मत से उपासना-मार्ग में सगुण साधना ही पहली सीढ़ी है। 'अद्वैत तत्त्व'-दुर्गम और दुःसाध्य है। जब तक देह का ज्ञान या 'अहङ्कार' रहेगा, तब तक 'अद्वैत तत्त्व'-एक महा-सत्य के रूप में ही प्राप्त हो सकता है, यथार्थ रूप से नहीं।

आदि-शङ्कराचार्य जी के अनुसार सर्व-प्रथम 'द्वैत-भाव' अर्थात् साधक और साध्य-इन दो रूपों में ही साधना प्रारम्भ होती है। दूसरे शब्दों में साधना के क्षेत्र में पहले 'द्वैत' अर्थात् 'मैं तुम्हारा हूँ' यह भावना जाग्रत होती है। फिर 'तुम मेरे हो'-यह भाव जाग्रत होता है और अन्त में 'अद्वैत भाव' अर्थात् 'तुम मैं हूँ' और 'मैं तुम हो' का भाव जाग्रत होता है।

'साधना' के सम्बन्ध में उक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन 'मन्त्र'-साधना में भी हुआ है। मन्त्र-शास्त्र के अनुसार जगत् पञ्च-भूतात्मकों द्वारा गठित है और इन्हीं पञ्च-भूतात्मकों की प्रधानता के कारण मनुष्यों के लिए पाँच प्रकार की मन्त्र-साधनाएँ हैं। 'विष्णु'-'आकाश'-तत्त्व, 'शक्ति'-'अग्नि'-तत्त्व, 'शिव'-'पृथ्वी'-तत्त्व, 'सूर्य'-'वायु'-तत्त्व एवं 'गणेश'-'जल'-तत्त्व के स्वामी हैं तथा साधक को समय-समय पर अपने लक्ष्य के अनुसार अभीष्ट 'तत्त्वों' के अधिपति दैवतों की आराधना करनी चाहिए।

'शक्ति' अर्थात् 'अग्नि'-तत्त्व के आराधकों के लिए जहाँ 'शिव' अर्थात् 'पृथ्वी'-तत्त्व एवं 'गणेश' अर्थात् 'जल'-तत्त्व की आराधना करना सामान्य रूप से महत्त्व-पूर्ण ही नहीं अपितु आवश्यक होता है, वहीं विशेष अनुभूतियों हेतु 'विष्णु' अर्थात् 'आकाश'-तत्त्व एवं 'सूर्य' अर्थात् 'वायु'-तत्त्व की आराधना करना भी बहुत महत्त्व-पूर्ण होता है।

'शक्ति'-आराधना के सन्दर्भ में 'आकाश'-तत्त्व-रूपी 'विष्णु-आराधना' का कितना अधिक महत्त्व है, यह निम्न-लिखित तन्त्रोक्ति से सहज ही स्पष्ट होता है-

तारा देवी नील-रूपा, बगला कूर्म-मूर्तिका। धूमावती वाराह स्यात्, छिन्न-मस्ता नृसिंहिका।।
भुवनेश्वरी वामन स्यात्, मातङ्गी राम-मूर्तिका। त्रिपुरा ज़मदग्न्यः स्यात्, बलभद्रस्तु भैरवी।।
महा-लक्ष्मी भवेत् बुद्धौ, दुर्गा स्यात् कल्कि-रूपिणी,
स्वयं भगवती काली, कृष्ण-मूर्ति-समुद्भवा।।

अर्थात् 'आकाश'-तत्त्व-रूपी भगवान् विष्णु के दश प्रधान अवतार 'अग्नि'-तत्त्व-रूपी दश महा-विद्याओं से उद्भूत हैं। दश महा-विद्याओं की आराधना करनेवालों को समय-समय पर दशावतारों की आराधना कर विशेष अनुभूतियाँ प्राप्त करनी चाहिए।

श्रीचण्डी-धाम, प्रयाग — ऋतशील शर्मा

सम्पादक की वाणी

'प्रयाग-राज' की 'अनुपम विभूति' श्री मञ्जुल जी नहीं रहे!

'प्रयाग-राज' की 'विभूतियों' के सम्बन्ध में जब कभी शोधात्मक रूप में लिखा जाएगा, तब यही अनुभव होगा कि 'श्री मञ्जुल जी' अर्थात् पं0 श्री गोविन्दशरण जी उपाध्याय इस तीर्थ-राज की विभूतियों में अपना कितना 'अनुपम स्थान' बनाए हुए थे। कहने को वे 'इलाहाबाद हाईकोर्ट' के 'एडवोकेट' थे, 'विश्व-विद्यालय' के प्रवक्ता थे और 'पेट्रोल पम्प', 'होटल' के स्वामी भी थे। इन विशेषताओं के साथ ही हिन्दी-जगत् के प्रख्यात 'प्रेमघन-परिवार' के प्रबुद्ध साहित्यकार एवं हाईकोर्ट के वरिष्ठ एडवोकेट पं0 श्री नर्मदेश्वर जी उपाध्याय के 'नाती' भी थे। साथ ही पटना (बिहार) के प्रसिद्ध डॉ0 एस0एन0 उपाध्याय के 'एकलौते सुपुत्र' भी थे और उनके बाबा बिहार के शिक्षा विभाग से सम्बद्ध थे। वे शिक्षा-विद् बाबा पटना-मेडिकल कालेज के पास निवास करनेवाली माईजी अर्थात् दरभङ्गा-नरेश महाराजाधिराज श्री रमेश्वरसिंह जी की सिद्ध रहस्य-मयी शिष्या के परम भक्त थे। उनके साथ डॉ0 उपाध्याय एवं शिष्य-रूप में श्री मञ्जुल जी भी स्नेह-मयी साक्षात् देवी-स्वरूपा माईजी के 'दर्शन' एवं 'आशीर्वाद' हेतु माईजी के साधना-पीठ में प्रायः पहुँचा करते थे।
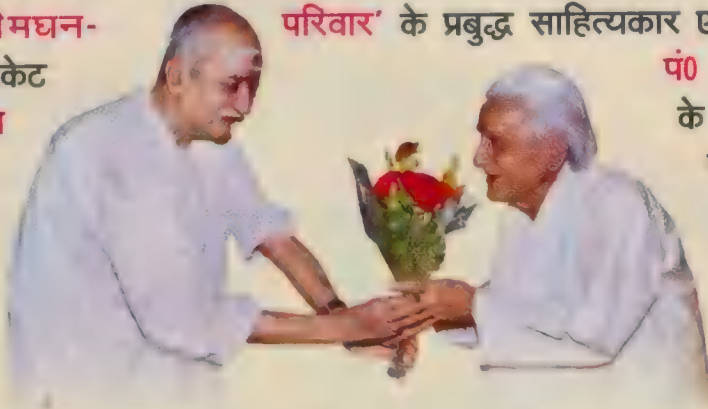
'शैशवावस्था' में श्री मञ्जुल जी का स्वरूप कितना मोहक था, यह आज के उनके वृद्धावस्था के 'भव्य स्वरूप' का दर्शन करनेवाले भी तत्काल अनुभव कर लेते थे। स्नेह-मयी माईजी का उनके प्रति आकृष्ट होना सर्वथा स्वाभाविक था। वे उन्हें अपने गुरु महाराजाधिराज रमेश्वर सिंह का ही अवतार मानती थीं और सबसे कहा करती थीं कि ये महाराजा ही हैं। उनका कहना यथार्थ था। श्री मञ्जुल जी ने अपने लेखन एवं कार्यों के द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित भी किया है। अखिल भारतीय शाक्त-सम्मेलन एवं बिहार शाक्त-सम्मेलन आदि का इतिहास जो लोग जानते हैं, वे भी माई जी के उक्त कथन की पुष्टि करते हैं। ऐसे अवतारी महा-पुरुष श्री मञ्जुल जी ठीक 'होली' के दिन दिवङ्गत हो गए, उन्हें कोटिशः श्रद्धाञ्जलि।

– रमादत्त शुक्ल, श्रीचण्डी-धाम, प्रयाग

श्रद्धेय श्रीपद्मज्ञानन्दनाथ (श्री मञ्जुल जी) द्वारा प्रदत्त नित्य पठनीय

अनुग्रह-नवक

ॐ विश्वेश्वरी जगद्धात्री, स्थिति-संहार-कारिणी।
करोतु सा नः शुभ-हेतुरीश्वरी, शुभानि भद्राण्यभिहन्तु चापदः।१
ॐ स्तुताऽमरैः पूर्वमभीष्ट-संश्रयात् तया सुरेन्द्रेण दिनेषु सेविता! करोतु सा०।।२
ॐ या साम्प्रतं चौद्धत-दैत्य-तापितै-रस्माभिरीशा च सुरैर्नमस्यते। करोतु सा०।।३
ॐ या च स्मृता तत्क्षणमेव हन्ति नः, सर्वापदो भक्ति-विनम्र-मूर्तिभिः। करोतु सा०।।४
ॐ सर्वा बाधा-प्रशमनं, त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि! करोतु सा०।।५
ॐ सर्व-मङ्गल-माङ्गल्ये!, शिवे! सर्वार्थ-साधिके! करोतु सा०।।६
ॐ सृष्टि-स्थिति-विनाशानां, शक्ति-भूते! सनातनि! करोतु सा०।।७
ॐ शरणागत-दीनार्त्त-परित्राण-परायणे! करोतु सा०।।८
ॐ सर्व-स्वरूपे सर्वेशे!, सर्व-शक्ति-समन्विते। करोतु सा०।।९

विधि एवं माहात्म्य

उक्त 'अनुग्रह-नवक'-प्रयोग मिला-जुला स्तोत्र है। इसके द्वारा भगवती का अनुग्रह शीघ्र प्राप्त होता है। अपने 'इष्ट-रूप' में 'दश-महा-विद्याओं' में से किन्हीं एक का ध्यान कर उक्त स्तोत्र का प्रति-दिन 'नौ-पाठ' करने से 'इष्ट-रूप' में अपनी महा-विद्या का अनुग्रह पाठ-कर्त्ता को प्राप्त होता है।

प्रथम अखिल भारतीय शाक्त-सम्मेलन, पटना का उद्घाटन एवं सम्बोधन करते हुए श्री मञ्जुल जी

अखिल भारतीय शाक्त-सम्मेलन के उपाध्यक्ष
पूज्य गुरुजी पं० गोविन्दशरण उपाध्याय जी के प्रति श्रद्धाञ्जलि!

सपनों में भी सोचा नहीं था! वज्रपात हो गया! श्यामा का पुत्र श्यामा में विलीन हो गया!... शब्द नहीं हृदय के पास, जो अपने भावों को लिपि-बद्ध करने में सहायक हों। श्रीगुरुदेव के आकस्मिक मणिपुर-वास से हम सभी मर्माहत हैं। विद्वान्, अधिवक्ता, सौम्य स्वभाव, मृदु-भाषी, ज्योतिष, सप्तशती एवं तन्त्रों का गहन अध्ययन उनकी विशेषताएँ थीं। एक ओर वे प्रचार से बचने के लिए अपने को गुप्त रखना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर 'कापालिक उद्बोधनानन्दनाथ' के नाम से 'चण्डी'-पत्रिका के माध्यम से 'तन्त्र'-प्रेमी बन्धुओं को सदा दिशा-निर्देश दिया करते थे। दिशा-निर्देश की भाषा भी ऐसी कि लगे आमने-सामने बैठे हों। आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर कुछ कदम आगे बढ़ सकूँ, यही उनके प्रति हम सबके लिए सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी। बिहार-शाक्त सम्मेलन द्वारा माई जी द्वारा स्थापित श्यामा मन्दिर के प्रांगण में श्री मञ्जुल जी को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि दी गई।

—श्रीतारानन्दनाथ (कृष्णमुरारी तिवारी) एवं समस्त पदाधिकारी, बिहार शाक्त-सम्मेलन,पटना दिल्ली, मुम्बई एवं छत्तीसगढ़ शाक्त-सम्मेलनों द्वारा श्री मञ्जुल जी को हार्दिक श्रद्धाञ्जलियाँ दी गईं।

६७ वर्षों से प्रकाशित आध्यात्मिक पुस्तक-माला

'कौल-कल्पतरु' चण्डी

कौल-कल्पतरु

चण्डी

पुष्प-२
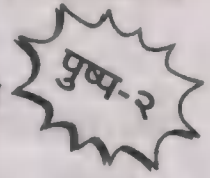
'नाम'-मन्त्र-साधना-सहित

मन्त्र-कल्पतरु

'कौल-कौस्तुभ' पं० कालीचरण जी पन्त

स्वामी श्रीशाश्वतानन्द जी सरस्वती

स्वामी श्री शिवानन्द जी

'कुल-भूषण' पं० रमादत्त शुक्ल

पं० श्रीकान्तबिहारी मिश्र

महन्त श्रीकिशोरदास जी

परम पूज्य ॐ महाराज

डॉ. श्री वी०वी० गोरे

'कौल-कल्पतरु' पं० देवीदत्त जी शुक्ल

'श्रीविष्णु'-नाम-साधना एवं

'दशावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

प्रकाशक ।

परा-वाणी आध्यात्मिक शोध-संस्थान

श्रीचण्डी-धाम, अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-२११००६

३५/-

मनन करने योग्य बातें

'मन्त्र-शास्त्र'–भुक्ति और मुक्ति अथवा भोग और मोक्ष–दोनों का साधन-शास्त्र है। इसी कारण कहा जाता है कि उसमें मन को अन्तर्मुख करने की विधि बताई गई है।

❀ ❀ ❀

मन्त्र-शास्त्र–'चित्त-शुद्धि' को अग्र स्थान देता है। 'मन्त्र-शास्त्र'–सदाचारियों के लिए है। सदाचारी मन्त्र-वेत्ता–अपना उत्कर्ष करता हुआ, जगत् का भी कल्याण कर सकता है।

❀ ❀ ❀

'मन्त्र-शास्त्र' के प्रत्येक बीज में एक विशेष अर्थ–विशेष रहस्य–भरा हुआ है। उस अर्थ या रहस्य की भावना करते हुए जब 'मन्त्र का जप' किया जाता है, तब साधक का 'मन'–उपास्य में एकाग्र हो जाता है और 'मन' के एकाग्र होने पर उसे 'अन्तर्मुख' करना सहज हो जाता है।

❀ ❀ ❀

'मन्त्र' का जप करते समय आधार-चक्र में, गुप्त स्थान के मध्य से तेज का प्रकाश बाहर फेंकते हुए–'इष्ट-वीज' को ऊपर उठता हुआ देखना चाहिए।

❀ ❀ ❀

मन्त्र-कल्पतरु

मन्त्र-जप विधि

कौल-कौस्तुभ
पं० कालीचरण जी पन्त

ध्वनि-तरङ्गों का रहस्य

स्वामी श्री शाश्वतानन्द जी सरस्वती

ॐ

मन्त्र-शास्त्र का वर्णन

स्वामी
श्रीशिवानन्द जी

मन्त्र-सिद्धि के लक्षण

कुल-भूषण
पं० रमादत्त शुक्ल

मन्त्र-जप-विधि

- सद्-गुरु कृपा-पूर्वक शब्द-ब्रह्म-रूप 'मन्त्र' का उपदेश देते हैं। 'मन्त्र' ही मन-रूपी मत्त गज-राज को वश में करने का सार्थक अंकुश-शास्त्र है।
- १. शब्द, २. अक्षर, ३. स्पन्दन और ४. अनुच्चार्या मात्रा-ये मन्त्र की क्रमशः चार अवस्थाएँ हैं।
- श्रीसद्-गुरु द्वारा प्राप्त वैखरी शब्द को अन्तिम परावस्था में प्राप्त कराना ही 'साधन-पथ' है। यह श्रीसद्-गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर 'मन्त्र-जप' से ही होता है।
- 'मन्त्र-जप' ही सर्व-सुगम साधना और सिद्धि का मूल है। 'यामल'-वचन है-'जिस प्रकार अन्धकार से व्याप्त घर में दीपक के द्वारा घर दिखाई देता है। उसी प्रकार 'मन्त्र' के द्वारा आत्मा का दर्शन होता है।'
- 'मन्त्र' की सर्वोत्तम 'जप'-विधि के लिए कबीर साहब कहते हैं-'साँसौ साँसा नाम जपु अरु उपाय कछु नाहिं।' इस वचन में साँस पर साँस का रहस्य यह है कि विकल अवस्था में 'मन्त्र'-जप न किया जाए। जब तक श्वास दृढ़ होकर स्थिर न हो जाए, तब तक एक-एक साँस के साथ जप करे। यह अवस्था तभी आ सकती है, जब मन में धैर्य और आनन्द हो। इसके लिए 'आगम'-वचन है-'श्वास के मार्ग में मन को लगावें।'
- श्वास-मार्ग में मन को लगाने से, प्राण की गति यथा-समय स्थिर होने लगती है और श्वास-मार्ग में नियोजित 'मन', सहज ही में 'प्राण' की गति स्थिर कर 'प्राण' को 'नासाभ्यन्तर-चारी' बना देता है। इस अवस्था में 'प्राण' के वृथा व्यय न होने से शरीर में ओज-बल की वृद्धि होती है और आनन्द की मात्रा में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार रुके हुए 'प्राण' को जहाँ पर भी स्थिर किया जाता है, वहीं पर 'स्फुरणा' उत्पन्न हो जाती है। यह 'स्फुरणा' ही देहस्थ षट्-चक्रों में धारा-प्रवाह-रूप से 'वैखरी-मन्त्र-जप' को अर्न्तमुखी करती है और 'मध्यमा' का उदय होता है। 'प्राण' और 'मन' परस्पर सम्बद्ध हैं। एक के स्थिर होते ही दूसरा स्थिर हो जाता है।
- 'प्राण' और 'अपान' के योग को 'वायवी-शक्ति' कहते हैं। इसका स्थान 'मूलाधार' है। 'योगिनी' और 'खेचरी' नामक श्वासोच्छ्वास वायु-रूप में 'मूलाधार-पद्म' पर बारह अंगुल ऊँचे स्थित हैं। श्वास-द्वारा 'प्राण' के विचलित होने से 'चित्त' विकल रहता है। अतः 'चित्त' को स्थिर करने के लिए 'प्राण' की गति रुद्ध करके 'मन्त्र-जप' करना चाहिए। इसके लिए अभ्यास जरूरी है। 'प्राण' ही विषय, वृत्ति आदि सबका मुख्य आहार है। इसी को खा-पी कर सब शत्रु शरीर में नित्य स्थिर रहते हैं। अगर इनका खाना बन्द हो जाए-तो ये स्वयं भाग जाएँ और अन्तःशक्ति अर्थात् 'कुण्डलिनी'-चैतन्य हो जाए।
- 'मन्त्र'-रूप 'शब्द-ब्रह्म'-अन्तर्मुखी होने पर स्पन्दन आदि रूप में प्रतीत होता है।
- 'पूरक-योग' से 'पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा'-अर्थात् प्राण का सञ्चय और कुम्भक से स्थिरता की प्राप्ति तथा अन्तर-रेचक से सुषुम्णा में प्रवेश-यही 'शक्ति' को चैतन्य करने का उपाय है।

पूरक द्वारा शरीर में 'प्राण' का सञ्चय और कुम्भकावस्था में अपान के सङ्घर्ष से अग्नि प्रदीप्त हो उठती है। इसी अग्नि से 'मन्त्र-शक्ति' जागृत होती है। कबीर साहब कहते हैं–

समुद्र लागी आगि नदियाँ जलि कोयला भईं। उठ कबीरा जाग मच्छी विरछा चढ़ गईं।

अर्थात् प्राण-अपान के सङ्घर्ष में प्रदीप्त अग्नि द्वारा आत्म-शक्ति चैतन्य हुई और इडा-पिङ्गला आदि को प्राण-रूपी आहार न मिला। इससे विषय, वृत्तियाँ आदि जल गईं और आत्म-शक्ति-कुल-वृक्ष सुषुम्णा-पथ से मेरु-दण्ड के शिखर 'सहस्रार' पर चढ़ गईं।

✦ 'मन्त्र-जप' के विषय में 'योग-तारावली' ग्रन्थ में भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है–

सदा-शिवोक्तानि स-पाद-लक्ष-लयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धान-समाधिमेकं, मन्यावहे मान्य-तमं लयानाम् ।।
नादानुसन्धान ! नमोऽस्तु तुभ्यं, त्वां मन्महे तत्त्व-पदं लयानाम् ।
भवत्-प्रसादात् पवनेन साकं, विलीयते विष्णु-पदे मनो मे ।।
सर्व-चिन्तां परित्यज्य, सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो, योग-साम्राज्यमिच्छता ।।

अर्थात् 'योग-शास्त्र' के प्रवर्तक भगवान् शिव जी ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बतलाए हैं। उन सबमें 'मन्त्र-जप' अर्थात् 'नादानुसन्धान' सबसे सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है, आप परम-पद में स्थित कराते हैं। आपके ही प्रसाद से प्राण-वायु और मन–ये दोनों विष्णु के परम-पद में लय हो जाएँगे। योग-साम्राज्य में स्थित होने की इच्छा हो, तो सब चिन्ताओं को त्याग कर सावधान होकर एकाग्र-मन से अनाहत-नादों को सुनो।

✦ प्रत्येक मनुष्य की देह में लगभग साढ़े तीन कोटि रोम हैं। 'वायु'-प्रकृतिवाला साधक जब साढ़े तीन कोटि मन्त्र-जप कर लेता है, तब उसे 'अनाहत नाद' की अनुभूति होती है, किन्तु 'पित्त'-प्रकृतिवालों की नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। अतः उन्हें केवल सवा कोटि मन्त्र-जप करने ही से 'अनाहत नाद' का ज्ञान हो जाता है।

मनन करने योग्य बातें

योग-युक्त अन्तः-करण में व्यवस्थित रूप से 'मन्त्र-जप' होने से 'मन्त्र-शक्ति' प्रगट होकर कार्य करने लगती है।

❁ ❁ ❁

वेदोक्त और तन्त्रोक्त अलौकिक मन्त्रों को सिद्ध करने में अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वे स्वतः-सिद्ध अनादि मन्त्र हैं।

❁ ❁ ❁

साधक यदि शक्ति-शाली हो और उसका अन्तः-करण–योग-युक्त हो, तो वह चतुर्दश भुवनों के सब स्थानों और पिण्डों में–'मन्त्र-बल' से बलवान् होकर कार्य कर सकता है।

❁ ❁ ❁

अपरिर्वतन-शील 'ध्वनि-तरङ्गों' का रहस्य

- इटली की विश्व-विख्यात गायिका द्वारा 'वीणा' पर ऋग्-वेद की ऋचा का गायन करते हुए, रेत पर 'हंस-वाहिनी' का चित्र 'ध्वनि-तरङ्गों' से ही उत्पन्न कर देना एक बहुत पुरानी घटना हो चुकी है।
- चित्र-पट के पर्दे की तरह, केवल एक वस्त्र के परदे पर, तीव्र विद्युत-प्रकाश में 'भैरव-राग' की विकराल मूर्ति अङ्कित कर देनेवाला **स्पेनिश गायक** विश्व-विख्यात हो चुका है।
- 'ध्वनि-तरङ्गों' से वनस्पति को अधिक पल्लवित और पुष्पित करने के प्रयोग भी यथेष्ट हो चुके हैं और इन सब बातों से **ध्वनि की प्रबल 'सृजक एवं पालक-शक्ति'** का अनुमान सरलता से ही लगाया जा सकता है। इसी प्रकार '**ध्वनि**' की जो **विकट 'संहारक शक्ति'** है, उसके सम्बन्ध में **आधुनिक विज्ञान** में इतना मतैक्य है कि उसे सिद्ध करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

सृजक, पालक एवं सहायक ध्वनि-तरङ्गों की विशेषता

- सृजक, पालक एवं संहारक-'ध्वनि-तरङ्गों' की एक सबसे बड़ी विशेषता जो है, वह है इनका '**अविनाशत्व**'। '**ध्वनि**'-**कभी नष्ट नहीं होती**। इसी आधार पर पचासों वर्ष पूर्व के गाए हुए किसी गायन या किसी वार्त्तालाप को आप रेकार्ड आदि द्वारा आज भी उसी प्रकार सुनने में समर्थ होते हैं।
- नाश का अभाव ही उत्पत्ति का अभाव है। जो उत्पन्न होता है, उसका नाश अवश्यम्भावी है और जिसका नाश होता है, उसकी पुनरुत्पत्ति भी अनिवार्य है। वस्तुतः '**नाश**' एक परिर्वतन मात्र है। '**नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः**' का सिद्धान्त **आधुनिक भौतिक विज्ञान** द्वारा सत्य सिद्ध हो चुका है। जो अवस्था '**नाश**' के नाम से अभिव्यक्त होती है, वह केवल रूप का '**परिवर्तन**' मात्र है। अतः **अपरिवर्तन-शीलत्व** को दूसरे शब्दों में **जन्म-मरण-राहित्य** कहा जा सकता है। जो **जन्म-मरण-रहित** है, वह **अनादि** एवं **अनन्त** है। यह सब केवल शब्दों का अन्तर है। इस प्रकार '**ध्वनि**'-**अनादि** एवं **अनन्त** है।
- सत्य की परिभाषा यही है कि-'**जो त्रि-काल में एक सा हो**' अर्थात् **अपरिवर्तन-शील पदार्थ**-सत्य होता है। '**ध्वनि**'-**त्रि-काल में अपरिवर्तन-शील है**। अतः '**ध्वनि**' **ही सत्य है**, यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है।
- '**ध्वनि**'-**सृजक है**, '**ध्वनि**'-**पालक है** और '**ध्वनि**'-**संहारक है**। '**ध्वनि**'-**सर्व-शक्ति-मान् है**, '**ध्वनि**'-**अनादि है, अनन्त है** एवं '**ध्वनि**'-**सत्य-स्वरूप है**।
- विश्व के सम्पूर्ण **ईश्वर-वादी धर्म**, **सम्प्रदाय** एवं **दर्शनों** में '**ईश्वर**'-शब्द की परिभाषा मात्र यही है कि वह **सृजक है**, **पालक है**, **संहारक है**, **अनादि-अनन्त है**, **सत्य-स्वरूप है** एवं **सर्व-व्यापी है**। '**ध्वनि**' के **सर्व-व्यापकत्व** के विषय में आज के युग में जब आप **आकाश-वाणी** एवं **बेतार के तार** का उपयोग कर रहे हैं, कुछ भी कहना व्यर्थ है। इस प्रकार स्पष्ट सिद्ध है कि विश्व का आस्तिक समाज जिस **परमात्मा** के गुण-गान करता नहीं थकता, वह '**ध्वनि**' को छोड़कर और कुछ नहीं है।

✦ दूर से आती हुई अनेक प्रकार की सम्मिलित '**ध्वनि**' केवल एक ही रूप में श्रुति-गोचर होती है। वह रूप है उसका- '**ओङ्**..... '**ओङ्**..... '**ओङ्**..... '**ओङ्**..... ।' किसी मेले-ठेले में, किसी समूह में उससे अलग होकर दूर जाकर सुनिए, केवल यही ध्वनि श्रुति-गत होगी। जङ्गल में चले जाइए, कान लगाकर सुनिए- '**ओम्**..... **ओम्**..... **ओम्**..... ही सुनाई देगा। प्रपात को दूर से सुनिए। निशीथ के एकान्त प्रहर में झींगुरों की कर्ण-कटु चीख को भेदकर कान लगाइए, केवल- **ओम्**..... **ओम्**..... **ओम्** का ही नाद कर्ण-गोचर होगा। सभी प्रकार की ध्वनियों का सम्मिलित स्वर है- **ओम्**..... **ओम्**..... **ओम्**।' इस सम्पूर्ण विनाश-शील अर्थात् परिवर्तन-शील विश्व में '**ध्वनि**' ही **अविनाशी** अथवा **अपरिवर्तन-शील** है।

✦ विश्व की जब उत्पत्ति हुई है, तो विनाश तो अमिट सत्य है ही एवं विनाश के उपरान्त उत्पत्ति-यही तो **विश्व-क्रम** है। उत्पत्ति एवं **विनाश** के मध्य-काल में हम निवास करते हैं, किन्तु **विनाश** एवं **उत्पत्ति** के मध्य में क्या था, इस प्रश्न का एक ही उत्तर सम्भव है-**वह पदार्थ जो त्रि-काल में अपरिर्वतन-शील, अविनाशी है और वह है** '**ध्वनि**' अर्थात् प्रलय के उपरान्त मात्र '**ध्वनि**' शेष थी। उस '**ध्वनि**' का उस समय श्रुति-गोचर रूप क्या था? जो पूर्व **विश्व** की **सम्पूर्ण सम्मिलित ध्वनियों का रूप** सम्भव हो, वही तो? और सम्मिलित ध्वनि का मात्र एक रूप है- **ओम्**..... **ओम्**..... **ओम्**।'

✦ सारांश यह है कि **प्रलय** के उपरान्त केवल एक '**ध्वनि**' व्याप्त थी-'**ओम्**'। इसीलिए **भारतीय दार्शनिकों** ने **प्रलय** के उपरान्त स्थित रहनेवाले तत्त्व को '**ओम्**' के नाम से पुकारा। यह '**ओम्**' ही **सम्पूर्ण ध्वनि का मूल रूप है-सम्मिलित रूप है।**

✦ सभी प्रकार की ध्वनियाँ पानी नहीं बरसा सकतीं। सभी प्रकार की ध्वनियाँ पौधों को बढ़वार नहीं दे सकतीं। कुछ **विशिष्ट ध्वनियाँ** ही **विशिष्ट कार्य-सम्पादन** में समर्थ होती हैं। इसी प्रकार **ध्वनियों का सम्मिलित रूप** किसी भी **सृजन, पालन** किंवा संहार-कार्य में समर्थ नहीं होता क्योंकि परस्पर-विरोधी तत्त्वों के सम्मिश्रण से मिश्रित तत्त्व स्वभावतः क्रिया-हीन हो जाता है। **सम्मिलित ध्वनि-मण्डल** से किसी भी कार्य के सम्पादन के निमित्त आवश्यक है कि उस सम्मिश्रण का पृथक्-करण हो।

मानवीय सृष्टि से सम्बद्ध 'ध्वनि-तरङ्गों' का अन्वेषण

✦ सम्पूर्ण विश्व के समग्र कार्य-कलापों को तीन भागों में ही विभक्त किया जा सकता है-**१. सृजन**, २. पालन और ३. संहार। अतः '**ध्वनि**' **के तीनों रूपों** को अलग-अलग पहचानने का प्रयास हुआ और उसे अलग-अलग रूपों में पहचाना गया।

✦ **सृष्टि के आदि में** '**ध्वनि**' अपने मूल रूप से क्रमशः तीन **रूपों** में विभक्त हुई। इस विभक्तीकरण की विशद व्याख्या से ही **हिन्दू-शास्त्र-पुराणादि** भरे पड़े हैं। '**सप्तशती**' के '**प्राधानिक रहस्य**' में वह

क्रम समझाया गया है, जिस क्रम से 'ध्वनि' की सृष्टि के आदि-रूप से तीन रूपों एवं उनसे पुनः छः रूपों का पृथक्-करण हुआ, किन्तु इतना जान लेने भर से भारतीय महा-वैज्ञानिकों को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने अपना अन्वेषण चलाए रक्खा। उन्होंने देखा कि विश्व में-ब्रह्माण्ड में-पाँच तत्त्व ही अपने सूक्ष्म, सूक्ष्म-तर एवं सूक्ष्म-तम रूप में क्रिया-शील हैं। इन तत्त्व-विशेषों को उन्होंने क्रमशः १. क्षिति, २. जल, ३. पावक, ४. समीर एवं ५. गगन नाम दिया (ध्यान रहे, स्थूल विश्व में दृष्टि-गत भू-जल-अनल-अनिल-व्योम उक्त तत्त्वों के परिणाम हैं, तत्त्व नहीं)। उन अन्वेषकों ने 'ध्वनि-तरङ्गों' का इन तत्त्व-विशेषों से सम्बन्ध देखा। वस्तुतः 'ध्वनि-तरङ्गें' ही पञ्च सूक्ष्म-तम तत्त्वों की जननी हैं। अतः उन्होंने प्रत्येक तत्त्व (सूक्ष्म-तम) की उत्पादक भिन्न-भिन्न 'ध्वनि-तरङ्गों' का अन्वेषण प्रारम्भ किया और उन्हें खोज निकाला।

- आदि-ध्वनि-'ओम्' अनेक ध्वनियों से एक बनी थी क्योंकि 'ओम्'-सम्पूर्ण 'ध्वनि' का सम्मिलित रूप ही है। सृष्टि के आदि में वही 'एक' पुनः 'अनेक' रूपों में परिवर्तित हुई। 'ध्वनि' के इन अनेक रूपों का गहन अध्ययन कर भारतीय महा-वैज्ञानिकों ने पाया कि इन असंख्य रूपों में केवल थोड़े रूप ही मानवीय सृष्टि से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। शेष अनन्त ब्रह्माण्ड के क्रिया-कलापों से सम्बद्ध हैं। सर्व-प्रथम उन्होंने मानवीय सृष्टि, पालन, संहार से सम्बद्ध 'ध्वनि' के रूपों की गणना की। वे 'तैंतीस करोड़' थे, किन्तु यह विस्तृत संख्या मनुष्य की धारणा-शक्ति में समाने योग्य नहीं थी। अतः इन तैंतीस करोड़ रूपों के मूल रूप खोजने में वे तन्मय हुए। उन्होंने 'इक्यावन' ऐसे ध्वनि-रूपों को खोज निकाला, जिनके सम्मिश्रित प्रयोग से इन तैंतीस करोड़ रूपों में से यथेच्छ ध्वनि-रूप उत्पन्न किया जा सके।
- ध्वनि के 'इक्यावन' रूपों में प्रारम्भ में अन्वेषित कुल 'पच्चीस' ध्वनि-रूप हैं। इन 'ध्वनि-रूपों' को भारतीय महा-वैज्ञानिकों ने 'व्यञ्जन' नाम दिया, किन्तु मानवीय किंवा अमानवीय प्रयत्नों से ये 'ध्वनि-रूप' प्रकट नहीं किए जा सकते। अतः इन्हें प्रगट करनेवाली शक्ति की खोज हुई। इन मूल 'ध्वनि-रूपों' का प्रगटीकरण करनेवाली 'सोलह शक्तियाँ' उन्होंने ढूढ़ँ निकालीं। ये 'सोलह' शक्तियाँ-'स्वर' के नाम से अभिव्यक्त की गईं। इसी अन्वेषण में इन स्वर-शक्तियों अर्थात् व्यक्त-कारक शक्तियों की छान-बीन में 'दस' अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण 'स्वर' या 'ध्वनि-रूप' उन्हें प्राप्त हुए, अन्त में प्राप्त इन 'ध्वनि-रूपों' को 'अन्तःस्थ' नाम दिया गया। इस प्रकार इनकी परिपूर्ण संख्या 'इक्यावन' हो गई।
- 'इक्यावन ध्वनि-रूपों' के पञ्च-महा-तत्त्वों पर प्रभाव का अध्ययन करते हुए भारतीय महा-वैज्ञानिकों ने कुछ परिणाम निकाले। उन्होंने देखा कि प्रत्येक व्यक्त-कारक शक्ति-'व्यञ्जन-ध्वनि' किंवा 'अन्तःस्थ-ध्वनि' एक विशिष्ट महा-भूत (महा-तत्त्व) में एक विशेष प्रकार का कम्पन करती है। अतः उन्होंने निम्न प्रकार से इनका विभागीकरण किया-

५१ 'ध्वनि-तरङ्गों' का विभागीकरण

१. स्वर-शक्तियाँ, २. व्यञ्जन-ध्वनि, ३. अन्तःस्थ ध्वनि-पाँचों महा-भूतों पर निम्न प्रकार से कार्य करती हैं :

स्वर	व्यञ्जन	अन्तःस्थ	महा-भूत
१. अ, आ	क, च, ट, त, प	य, स	वायु
२. इ, ई, ऋ, ॠ	ख, छ, ठ, थ, फ	र, श	अग्नि
३. उ, ऊ, ऌ, ॡ	ग, ज, ड, द, ब	ल, ळ	पृथ्वी
४. ए, ऐ	घ, झ, ढ, ध, भ	व, श	जल
५. ओ, औ, अं, अः	ङ, ञ, ण, न, म	ह, क्ष	आकाश

✦ उक्त **'इक्यावन'** ध्वनि-तरङ्गों का अन्वेषण कर भारतीय महा-वैज्ञानिकों ने इन्हीं **५१ रूपों** के विभिन्न **समासम-मिश्रणों** के द्वारा **'पञ्च-मूल-तत्त्वों'** में कम्पन उत्पन्न करनेवाली मानव-सृष्टि से सम्बद्ध **'मन्त्र'-स्वरूपा 'तैंतीस करोड़'** ध्वनि-शक्तियों का **प्रत्यक्षीकरण** ही नहीं किया, वरन् मानव मात्र को **अनन्त ब्रह्माण्डों के सृजन,** पालन एवं संहार करनेवाली महा-शक्तियों को प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने हेतु सक्षम भी बनाया।

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा ध्वनियों का रहस्य

✦ **आधुनिक पदार्थ-विज्ञान** ने आज **'ध्वनि'** के जिन रूपों को प्रत्यक्ष करने के प्रयास में सफलता प्राप्त की है, वे **'ध्वनि'** के **स्थूल-तम रूप** हैं। उनके द्वारा प्राप्त सफलता भी अत्यन्त ही **स्थूल क्रिया-कलाप** हैं। अपनी स्थूलता के कारण यह सफलता सर्वदा निश्चित न रहकर, सन्दिग्ध ही रहती है। फिर किसी कार्य-विशेष के निमित्त **'ध्वनि-तरङ्गों'** के उत्पादन की उनकी विधि भी इतनी जटिल, अगम्य और अव्यावहारिक है कि उपकरणों के अभाव में प्रत्येक क्षेत्र एवं अवस्था में उसका प्रयोग ही नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत **भारतीय तत्त्व-वेत्ता महा-वैज्ञानिकों** ने **'ध्वनि-तरङ्गों'** के उत्पादन एवं उन्हें किसी **सृजन, पालन** किंवा **संहार** के कार्य के निमित्त प्रेरित करने की इतनी सरल, सुबोध एवं व्यावहारिक विधियों का आविष्कार किया है कि केवल **'श्रद्धा'** और **'विश्वास'** का सम्बल ग्रहण कर निर्बल-से-निर्बल व्यक्ति भी अपने लक्ष्य को सरलता से प्राप्त कर सकता है।

✦ हमारी **कर्ण-गोचर 'ध्वनि'-स्थूल-तम 'ध्वनि-तरङ्गों'** का परिणाम है। हमारे कान जिन **'ध्वनि-तरङ्गों'** को ग्रहण कर सकते हैं, वे इतनी स्थूल हैं कि उनमें **सृजक, पालक** एवं **संहारक शक्ति** अत्यन्त ही हीन अवस्था में है। इसी **कर्ण-ग्राह्य स्थूल-तम 'ध्वनि'** को भारतीय महा-वैज्ञानिकों ने **'वैखरी'** नाम प्रदान किया है। इन **'ध्वनि-तरङ्गों'** से सहस्र गुणा अधिक सूक्ष्म जो **'ध्वनि-तरङ्गें'** हैं, उन्हें उन्होंने **'मध्यमा'** नाम दिया है। **'मध्यमा'** की लहरें आधुनिक भाषा में कथित **'ईथर'-तत्त्व** में रहती हैं।

- भारतीय महा-वैज्ञानिक इससे भी आगे बढ़े। उन्होंने देखा–इन '**मध्यमा**' '**ध्वनि-तरङ्गों**' से लक्ष-गुणा अधिक '**ध्वनि-तरङ्गें**'–सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करती हैं। इन '**तरङ्गों**' को उन्होंने '**पश्यन्ती**' नाम दिया। लगन-शील अन्वेषक अपने अन्वेषण को करते हुए आगे बढ़े एवं '**ध्वनि**' के उस परम सूक्ष्म मूल रूप को उन्होंने दृष्टि-गत किया, जो '**पश्यन्ती**' से अनन्त गुणा सूक्ष्म था एवं जिसके परे फिर कुछ नहीं था। '**ध्वनि**' के इस आदि कारण-रूप को उन्होंने '**परा**' नाम दिया।
- '**परा**'-ध्वनि ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में कल्पनातीत सूक्ष्मता में व्याप्त है और सम्पूर्ण अनन्त ब्रह्माण्डों की सृजक, पालक एवं संहारक शक्तियों की आदि-स्रोत है। सम्पूर्ण विश्व की सञ्चालिका शक्ति होने के नाते यह हमारे अपने शरीरों में भी उसी प्रकार विद्यमान है। थोड़ी तन्मयता, थोड़े अभ्यास एवं अटल निष्ठा के बल से हम उसे प्रत्यक्ष ही नहीं कर सकते, वरन तद्-रूप होकर चिदानन्द का उपभोग कर सकते हैं।

कुण्डलिनी-योग अर्थात् 'परा'-ध्वनि की अनुभूति

- '**परा**'-**वाणी** की अनुभूति से सम्बन्धित साधना–'**कुण्डलिनी-योग**' के नाम से पुकारी जाती है। वस्तुतः **कुण्डलिनी-जागरण** से ही विश्व के विभिन्न धर्मों में कथित लक्ष्य की प्राप्ति होती है। '**गीता**' का स्थित-प्रज्ञ, '**बौद्ध-धर्म**' का सम्बुद्ध या जीवन-मुक्त, '**पुराणों**' का परम-हंस, '**मुस्लिम-धर्म**' का औलिया, या '**ईसाई-धर्म**' का लिविङ्ग, ख्रीष्ट–कोई भी इस महा-शक्ति के जागरण के बिना नहीं बन सकता। ये सब अवस्थाएँ मात्र '**कुण्डलिनी-जागरण**' की अवस्था के ही भिन्न पर्याय मात्र हैं। '**परा**' महा-शक्ति से सम्बद्ध होकर प्राणी वस्तुतः कृत-कृत्य हो जाता है।
- अव्यक्त '**परा-ध्वनि**'-स्वरूपा महा-शक्ति का उद्बोधन साधन-क्रम की विभिन्नता से मुख्यतः दस रूपों में होता है। ये ही दश-रूप–'**शाक्त-धर्म**' में '**दश महा-विद्याओं**' के नाम से अभिव्यक्त हैं। ये '**दश महा-विद्याएँ**' उसी अव्यक्त परमात्म परम सूक्ष्म '**ध्वनि-रूपा परा-कुण्डलिनी**' के ही विशेष-रूप हैं।
- अव्यक्त '**परा-ध्वनि**' से सम्बद्ध होना तो चरम लक्ष्य है ही, किन्तु '**पश्यन्ती**' एवं '**मध्यमा**' ही नहीं, '**वैखरी**' में भी अनेक ऐसी '**ध्वनि-तरङ्गों**' का आविष्कार भारतीय ऋषि कर गए हैं, जिनका सम्यक् विधि-विधान से प्रयोग करने पर मनुष्य अत्यल्प-काल में अति-मानवीय शक्ति से सम्पन्न होकर आत्म-कल्याण एवं लोक-कल्याण कर सकता है। श्री दुर्गा-सप्तशती, रुद्राष्टाध्यायी, पुरुष-सूक्त, देवी-सूक्त एवं विभिन्न वैदिक सूक्त इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, जो आज भी '**वैखरी-ध्वनि**' में ही अपनी विशिष्ट विधियों के साथ उच्चारित होकर अति-मानवीय कार्य सम्पादन करते रहते हैं।

'मन्त्र-शास्त्र' का वर्णन

✦ **'मन्त्र-शास्त्र'**–समस्त शास्त्रों का सार है। मन्त्र-शास्त्र के अनुसार '**शक्ति**' के दो रूप हैं–१. **निराकार**, २. **साकार**। निराकार-रूप में '**शक्ति**'–**चित्-स्वामिनी** कही जाती है, जो चराचर में व्याप्त है। **देव**, **दानव**, **मानव** आदि सब उस '**शक्ति**' की ही कृतियाँ हैं। उसका पूर्ण स्वरूप **कोटि-कोटि सूर्य**, **चन्द्र** के तेज के समान ज्योतिर्मय एक '**विन्दु**' है। '**शक्ति**' का तेज–'**आत्मा**' के रूप में मानव शरीर में विद्यमान है। वास्तव में '**आत्मा**'–'**परमात्मा की चैतन्य शक्ति**' का सूक्ष्म निराकार **रूप है**, जिसे **वेदान्ती** प्रथमावस्था में '**द्रष्टा**' कहते हैं। '**निराकार**' अपनी स्वतन्त्रता के आनन्द में मग्न होकर स्वेच्छा से अपने को उत्तरोत्तर विकसित करता हुआ, **निज विलासानन्द की अनुभूति** के लिए सर्वथा '**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् समर्थः**' होने के कारण स्वयं ही '**साकार-स्वरूप**' धारण कर लेता है। यथार्थ में '**साकार**' एवं '**निराकार**'–सर्व-समर्थ परमात्मा की चैतन्य शक्ति का विलास-मात्र ही है।

✦ '**निराकार**' को '**सूक्ष्म**' एवं '**साकार**' को स्थूल, '**निराकार**' को '**बिन्दु**' तथा '**साकार**' को '**विमर्श**' '**निराकार**' को **नित्य** और '**साकार**' को **अनित्य** आदि विशेषण '**शब्द-ब्रह्म-शक्ति**' का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु जब कोई साधक '**परा-वाणी**' में प्रवेश कर देखता है, तो अपने को **अवाच्य**, **अचिन्त्य**, **अवाङ्-मनस्** -**गोचर** कह कर मौन हो जाता है। तब वह **शक्ति** मन्द मुसकराती हुई अपना कुछ-कुछ परिचय '**शब्द-ब्रह्म**' को देती है, जिसके एक विन्दु के केवल आभास-मात्र से '**शब्द-ब्रह्म**' अनन्त-अनन्त कहकर नाचता हुआ **महा-भाव** को प्राप्त होकर निस्तब्ध हो जाता है

✦ **मूल तत्त्व**–**अजा** '**आद्या-शक्ति**' है। वह **अनन्त** और **अव्यक्त** है। '**शाक्तागम**' से लेकर '**वैष्णवागम**' एवं '**वैखानस आगम**' तक सम्पूर्ण **आगम**-साहित्य में उसी **अव्यक्त** को प्रकट करने की चेष्टा की गई है। '**आगम**' का विशेष महत्त्व इसी में है। उस **अज्ञेय** एवं **अव्यक्त** '**शक्ति**' के प्रत्येक विकास में एक ही **परम तत्त्व** का **स्वतः आगम** होता रहता है। इसी हेतु इसे '**आगम**' भी कहते हैं। इस **परम-तत्त्व** को '**शिव-ईश्वर**' कहते हैं।

✦ उदाहरण-रूप में आदि-लीला में **ब्रह्मा जी**, तप के प्रभाव से जैसी सृष्टि चाहते थे, वैसी कर लेते थे, परन्तु उसकी अभिवृद्धि नहीं होती थी। अतः '**शक्ति**' ने **विमर्श** एवं **स्फूर्ति** का रूप धारण किया तथा **शिव** ने **प्रकाश**-रूप में उसमें प्रवेश किया। परिणाम-स्वरूप '**विन्दु**' का प्रादुर्भाव हुआ। इसी प्रकार '**स्त्री-शक्ति**' ने '**पुरुष-शिव**' में प्रवेश किया, जिससे वह '**विन्दु**' समुन्नत हुआ तथा इस संयोग से '**नाद**'-तत्त्व की उत्पत्ति हुई। ये दोनों '**नाद**' एवं '**विन्दु**'–दूध और पानी के समान ऐसे मिले कि एक रूप हो गए तथा '**संयुक्त विन्दु**'–'**अर्द्ध-नारीश्वर**' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह तत्त्व **पुरुषत्व** एवं **स्त्रीत्व**–उभय के बीच अत्यन्त आसक्ति को प्रकट करता है। इसी अभिप्राय से इसे '**काम**' कहते हैं।

पुनः दो '**विन्दु**' जिनमें से एक '**श्वेत**'-वर्ण का है, जो **पुरुषत्व** का बोधक है और दूसरा '**रक्त**'-वर्ण का है, जो **स्त्रीत्व** का परिचायक है। इन दोनों से '**कला**' की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तीनों विन्दु–१. संयुक्त

विन्दु '**काम**', २. श्वेत-विन्दु और ३. रक्त-विन्दु-'**कला**' मिलकर '**काम-कला**' में परिणत हुए। '**काम-कला**' को लेकर चार शक्तियों का एकत्री-करण हुआ। '**मूल-विन्दु**' वह विशेष तत्त्व है, जिससे जगत् की रचना हुई, दूसरा '**नाद**' है-जिसके ऊपर '**विन्दु**' की क्रमोन्नति के परिणाम से उत्पन्न द्रव्यों का नामकरण अवलम्बित है। इन दोनों में परस्पर अत्यन्त आसक्ति है, परन्तु वह आसक्ति सृष्टि-विस्तार-हीन है क्योंकि ये दोनों '**ऋत्**' एवं '**वाङ्**'-**मय** हैं। तीसरा **श्वेत**-वर्ण '**पुं**'-विन्दु स्वतः उत्पत्ति करने में असमर्थ है, वह चौथे रक्त-वर्ण '**स्त्री**'-विन्दु से संयोजित होता है। जब ये चारों तत्त्व मिलकर '**काम-कला**' में प्रवृत्त हुए, तब **सम्पूर्ण शाब्दिक एवं वास्तविक सृष्टि** उत्पन्न हुई।

किसी-किसी आगम में **सर्व-श्रेष्ठ देवी** '**काम-कला**' के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि '**सूर्य**'-संयुक्त '**विन्दु**' ही उसका वदन है, '**अग्नि**' एवं '**चन्द्रमा**'-'**रक्त**' और '**श्वेत**' विन्दु ही उसके वक्ष-स्थल हैं तथा '**अर्द्ध-कला**'-जननेन्द्रिय है। इस विचार-सरणि से '**गर्भ**' की स्थिति सु-स्पष्ट होती है, जिससे **सृष्टि का विकास** होता है।

- **सृष्टि-विधायिनी** एक-मात्र महा-महिमावती '**शक्ति**' ही है। संस्कृत का प्रथम अक्षर '**अ**'-**शिव का प्रतीक** है तथा अन्तिम अक्षर '**ह**'-**शक्ति** का। इसी '**ह**' को **अर्द्ध-भाग** कहते हैं। इसी से यह **स्त्री-तत्त्व** है, गर्भाशय है, अर्थात् '**ह**' और **शिव-स्वरूप** '**अ**' का सम्मिलन ही '**काम-कला**' का स्वतः विकास है। प्रथम अक्षर '**अ**' और अन्तिम अक्षर '**ह**', बीच के सम्पूर्ण अक्षरों को अपने में समावेशित किए हुए हैं तथा उनके द्वारा बने हुए सम्पूर्ण शब्दों को भी। इसी से '**वाङ्-मय**' को भी उस '**महा-शक्ति**' का स्वरूप कहा गया है। उसी का स्वरूप '**परा**' है अर्थात् **वाणी चार प्रकार की है-१. परा, २. पश्यन्ती, ३. मध्यमा और ४. वैखरी।**
- **परादि वाणी** से '**ईक्षणा**' होती है। '**ईक्षणा**' से '**अहं**' का '**प्रकाश**' होता है। उसके साथ ही '**अस्मिन्**' का '**विमर्श**' होता है, जो स्वतः ही हो जाता है। '**ईक्षण**' के द्वारा आविर्भूत होने के कारण उक्त '**प्रकाश**' तथा '**विमर्श**'-दोनों ही '**शक्ति**' के ही प्रसार हैं। '**शक्ति**' का यह स्वरूप निषेध-व्यवहार-रूप है क्योंकि इस अवस्था में **निष्कल ब्रह्म-सकल** बन जाता है। '**शक्ति**' और '**शिव**' की यह संश्लिष्ट अवस्था ही **सृष्टि-रचना का कारण-भूत** है।
- '**ईक्षण**' के पश्चात् **निष्क्रिय ब्रह्म के सक्रिय अवस्था** में आने के लिए '**शक्ति**' और '**शिव**' का संयोग होता है। उनका पारस्परिक सम्बन्ध ही '**नाद**' कहलाता है। '**शिव**' और '**शक्ति**' की उस अवस्था में इनका निर्वचन हो सकता है। जिसके परे कुछ भी नहीं है, वह अपनी इच्छा से **अखिल विश्व की सृष्टि** करने के लिए स्पन्दित होता है। उसका **प्रथम** '**स्पन्द**'-ज्ञानी पुरुषों के द्वारा '**शिव-तत्त्व**' कहा जाता है अर्थात् '**अ**' अक्षर कहलाता है। वह शुद्ध '**ईक्षा-रूपी**' शक्ति जो, शिव के साथ रहती है, अपने भीतर लीन चराचर विश्व का बीज-रूप है।

✦ '**शिव**' और '**शक्ति**' को **सांख्य-शास्त्र** की परिभाषा में '**पुरुष**' और '**प्रकृति**' कहते हैं और इनसे संयुक्त '**नाद**' को '**सदाख्य तत्त्व**'। '**ईक्षण**' में जब '**अहं**' का प्रकाश होता है, तब '**शिव**' निष्क्रिय रहता है तथा '**शक्ति**' सक्रिय। इनका जो '**मिथः-समवाय**' होता है, वही '**नाद**'-तत्त्व है। इस '**मिथः-समवाय**' को **तन्त्र** की भाषा में '**महा-काल**' और '**महा-काली**' की विपरीत '**रति**' कहा गया है। इसी को '**शिव-शक्ति-समागम**' भी कहते हैं।

✦ '**अहम्**'-प्रकाश में शिव का तथा '**अस्मिन्**'-विमर्श में **शक्ति** का तादात्म्य-सम्बन्ध होता है। सक्रिय शक्ति एवं क्रिया-शक्ति के साथ जो '**नाद**' उत्पन्न होता है, उसे '**अव्यक्त**' कहते हैं। उसी को '**अजपा**' कहते हैं। इसी के द्वारा सहज प्रापञ्चिक संसरण से **शक्ति** के प्रभाव को मोड़कर उससे अखण्ड उद्गम-स्थान **निष्कल ब्रह्म** की ओर ले जाना पड़ता है।

✦ '**हं**'-**शिव पुरुष-तत्त्व** है और '**स**'-**शक्ति-तत्त्व**। इन दोनों को उल्टा करने से '**सोऽहं**' बन जाता है, जो प्रपञ्च से **परा-वाक्य** तथा **पर-ब्रह्म** की ओर ले जाता है। यही '**सोहम्**'-साधना-'**अजपा**' है। प्रवाह को विपरीत दिशा में ले जाना ही '**सोऽहं**'-साधना के श्रम-साध्य होने का कारण है। इस क्रिया में जब द्रष्टा-दृश्य-'**शिव-शक्ति**' तथा '**अहं-इदम्**' का एकीकरण हो जाता है, तब साधक को '**नाद**' की अनुभूति होती है। **शक्ति** से जो अभिन्न रहती है, वह '**उन्मना-शक्ति**' कहलाती है तथा जो **शिव** के साथ रहती है, उसे '**समना-शक्ति**' कहते हैं।

✦ आकर्षणात्मक '**हं**' और विकर्षणात्मक '**स**'-इन दो अक्षरों के सहयोग से '**हंस**'-शब्द की उत्पत्ति होती है। उसे ही **हंस-मन्त्र, सोऽहं-मन्त्र, अजपा-मन्त्र, अजपा-गायत्री, आत्म-मन्त्र, अनाहद-मन्त्र, पुं-प्रकृति-मन्त्र, ब्रह्म-मन्त्र, जीव-मन्त्र, प्राण-मन्त्र, विद्या-मन्त्र, दिन-नित्या** आदि नामों से कहा गया है। समस्त भावों के मनन का द्वार और सम्पूर्ण संसार का प्राण होने के कारण यह मन्त्र **त्राण-रूपिणी शक्ति** का कार्य करता है।

मननात् सर्व-भावानां, त्राणात् संसार-सागरात् । मन्त्र-रूपा च तच्छक्तिः, मनन-त्राण-रूपिणी।।

✦ '**हं**' और '**स**' को उलट देंने से '**सोऽहं**' बन जाता है। '**सोऽहं**' से '**स**' और '**ह**' को अपहरित कर लेने पर केवल प्रणव '**ॐ**' बच जाता है। वर्तमान युग में **प्रणव** के **स्वरूप** को बहुत कम लोग जानते हैं। अधिकतर लोग तो **ॐ-कार** के उच्चारण को या मन-ही-मन में जप करने को '**प्रणव**' का साधन समझते हैं, परन्तु उपनिषदों के कथनानुसार '**ॐ-कार**' **का उच्चारण** नहीं किया जा सकता क्योंकि वह स्वर या व्यञ्जन नहीं है तथा वह कण्ठ, ओष्ठ, नासिका, जिह्वा, दन्त-मूर्द्धादि के योग से या उनके घात-परिघात से उच्चरित नहीं होता है।

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च, अकण्ठ-ताल्वोष्ठमनासिकञ्च।
अरेफ-जातो पयोष्ठ-वर्जितं, यदक्षरो न क्षरते कदाचित् ।।

- **प्रणव से सभी स्वर और व्यञ्जनों की उत्पत्ति** होती है। **नाद-मन्त्र-विद्या, साहित्य** तथा **सङ्गीत** की उत्पत्ति **नाद** से ही होती है। जब कोई वस्तु हिलती है, उससे तथा किसी अकृत-नाद, अव्यक्त कम्पन-समूह को '**नाद**' तथा '**शब्द**' कहते हैं। कान से सुनाई देनेवाले नाद को '**श्रव्य**' कहते हैं। जीव-तन्तु की अव्यक्त ध्वनियाँ कम्पन-शब्द से बनती हैं तथा जड़-जन्य में उत्पन्न होनेवाले अव्यक्त कम्पन को '**ध्वनि**' कहते हैं। अचूक रीति से श्रव्य कम्पन का आकलन करना '**श्रुति**' कहलाता है–'**श्रूयते इति श्रुतिः।**' कान जिन ध्वनियों को सुन सकें–स्पष्ट रूप से ग्रहण कर सकें, जिनके स्पष्ट उच्चारण पृथक् रूप से ज्ञात हो सकें, ऐसी अव्यक्त ध्वनियों को ही '**श्रुति**' कहते हैं।
- नाद के योग से **स्वर-व्यञ्जन अक्षरों का उच्चारण** होता है। **स्वर-व्यञ्जन** के सहयोग से **शब्द** बनता है। **शब्द-समूह** से '**वाच्**' अर्थात् **भाषा** बनती है। **भाषा** से ही **जगत् का व्यवहार** चलता है। इसलिए यह सम्पूर्ण जगत् ही **नाद-ध्वनि** है। **वाक्य** भाषा का भाग है। वाक्यों को नियमित रूप से अर्थ-सहित रखना '**वाङ्-मय**' है, चतुराई से बना हुआ भाव **भावना-मय** है। **वाङ्-मय** या '**साहित्य-सङ्गीत**'–**अव्यक्त** नाद के समूह से ही बनता है।
- '**नाद**' दो प्रकार के होते हैं–**१. आहत, २. अनाहत।** '**अनाहत नाद**'–**सङ्कट-मोचक** तथा **मुक्ति-दायक** होता है, परन्तु वह मनोरञ्जन नहीं करता। इसी नाद से '**मन्त्र-विद्या**' का निर्माण हुआ है। '**मन्त्र-विद्या**' को सिद्ध करने के लिए **सद्-गुरु** द्वारा बताए हुए '**अनाहत नाद**' के अनुसार ही चलना पड़ता है।
- **सच्चिदानन्द-घन-विभव** अर्थात् '**सकल परमेश्वर**' से '**शक्ति**' उत्पन्न हुई। '**शक्ति**' से '**नाद**', '**नाद**' से '**विन्दु**' की उत्पत्ति हुई, परन्तु यह **विन्दु** क्या वस्तु है? **गणित-शास्त्र** में '**विन्दु**' की परिभाषा है–जिसका कोई परिमाण न हो, परन्तु स्थान नियत हो। **तन्त्र-शास्त्र** का **विन्दु-तत्त्व** विलक्षण ही है। उसके अनुसार '**विन्दु**'–**शक्ति की एक विशेष अवस्था** है, जहाँ से इसका '**सृष्टि-क्रम**' प्रारम्भ होता है। **विन्दु** से क्रमशः **कार्य-विन्दु**, उससे नाद, नाद से **बीज**–ये तीन रूप होते हैं।
- **महा-विन्दु** ही **शव-रूपी सदा-शिव** है। उसके ऊपर **चित्-कला** अथवा **चिच्छक्ति स्वतन्त्र** होकर खेलती है। यह खेल **परा-वाक्य** अथवा **परा-मात्रा का विलास** है। **शुक्ल** तथा **रक्त-विन्दु**-रूपी **प्रकाश-विमर्शात्मक** '**काम-कला**' अक्षर के परस्पर सङ्घट्ट से '**चित् -कला**' की अभिव्यक्ति होती है, जो **पूर्णहन्ता** अथवा **परा-वाक्य-विभाव**-दशा में ही '**पश्यन्ती**' आदि तीन रूप धारण करती है। प्रत्येक रूप में **स्थूल, सूक्ष्म** तथा **पर**-भेद से तीन अवस्थाएँ हैं। **परम-तत्त्व**–**नीरस प्रकाश-स्वरूप** है। फिर भी तीन शक्तियों के भेद के कारण उसके तीन विभाग हैं–**१. परा** तथा **अनुत्तर-रूपा**, जिसका नाम है–'**चिच्छक्ति**'। **२. परा-अपरा**, जिसे '**इच्छा-शक्ति**' कहते हैं। **३. अपरा**, जो **उन्मेष-रूपा** '**ज्ञान-शक्ति**' है।

✦ निराकार तेज के 'विन्दु' से 'मातृका' की उत्पत्ति होती है। 'मातृका' में 'स्वर' और 'व्यञ्जन' सब मिलाकर ५१ हैं। ये **मातृकाएँ–सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि की रश्मियों** में व्याप्त हैं और आकाश के वातावरण को पार करती हुई पृथ्वी पर गिरकर अनेक कौतूहल उत्पन्न करती हैं। ये शरीर के प्रत्येक भाग में व्याप्त हैं।

✦ मानव के प्रत्येक अङ्ग का रोम-रोम एक-एक ब्रह्माण्ड माना गया है, जिसकी पृथक्-पृथक् **मातृकाएँ** हैं। इनके ही साक्षात्कार को **स्वयं का जानना** कहते हैं। ग्रन्थों में वर्णित देवता तथा उनके **लोक**–सभी मानव-शरीर में उपस्थित हैं। उन्हें जानना **अपनी आत्मा का साक्षात्कार** कर उसका सम्बन्ध बाह्य प्रकाश से कर देना–सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना ही **मनुष्य का ध्येय** है।

✦ **सृष्टि, स्थिति,** संहार आदि अनेक क्रम ही इस **विराट् विश्व** की रचना के मूल कारण हैं। इसी से **मातृकाओं** द्वारा **सृष्टि, स्थिति** और **संहार-न्यासों** का अनिवार्य विधान साधना में निर्दिष्ट है। **मातृका-स्फोट ही विश्व के स्फोट** हैं। **मातृका-विद्या** ही **परा-विद्या** है। **मातृका-ज्ञान** ही **महा-विज्ञान** है, जिसे **मन्त्र-शास्त्र** के द्वारा ही जाना जा सकता है। '**मातृका**' तीन प्रकार की होती है। यथा–

१. **साङ्केतिक मातृका :** पशु-पक्षी, वृक्षादि की भाषा तथा मनुष्यों की चेष्टा तथा इङ्गित (सङ्केत) की भाषाएँ। प्रत्येक प्राणी के द्वारा तथा विविध प्रकार के वृक्षों के सङ्घर्षण से पृथक्-पृथक् ध्वनि होती है। इन ध्वनियों के अलग-अलग नाम सङ्गीत के स्वरों में बताए गए हैं।

२. **लिपि मातृका :** प्रत्येक देश-देशान्तर की भाषाएँ एवं अन्य विविध भाषाएँ।

३. **मन्त्र-शास्त्र-सम्बन्धित मातृका :** प्रत्येक देवी-देवता को प्रतिभासित करनेवाली।

✦ **मन्त्र-शास्त्र की मातृकाएँ** अपने पूर्वोक्त उद्गम से निकलकर सूक्ष्म-स्वरूप में आकाश से ईथर में होकर भू-मण्डल एवं पाताल में व्याप्त हैं। यह पृथ्वी चार भागों में विभक्त है– **१. रत्न-गर्भा, २. अन्नौषधि-गर्भा, ३. जीव-गर्भा और ४. ऊसर।** अपने गुणों एवं प्रकृति के अनुसार ही ये भाग जो गर्भ धारण करते हैं, उनमें बहुत कुछ विविधता उत्पन्न होती है। यथा– **कदली सुक्ती साँप-मुख, एक बूँद गुण तीन।**

उदाहरण के लिए केवल **सूर्य** में से प्रकाशित **सूर्य की रश्मि**–पृथ्वी में **माणिक** का गर्भाधान करती है। **सूर्य** की वही **रश्मि**–चन्द्रमा के साथ होने से **मोती** का गर्भाधान करती है। कारण यह है कि **सूर्य-रक्त-वर्ण** है और **चन्द्रमा-श्वेत-वर्ण**। दोनों के सामञ्जस्य से **सूर्य-रश्मि** दो प्रभाववाली हो गई, जिससे दो विशेषताएँ **मोती** में हो गईं–एक **श्वेत रङ्ग**, दूसरा प्रकाश; एक **चन्द्र-गुण** दूसरा **सूर्य-गुण**। इसी प्रकार **मङ्गल** के साथ होने से **मूँगा**, **बुध** के साथ होने से **पन्ना**, **गुरु (बृहस्पति)** के साथ होने से **पुखराज**, **शुक्र** के साथ से **हीरा** और **शनि** के साथ से **नीलम** आदि।

उक्त रश्मियाँ **ग्रह, नक्षत्र, योग, करण, पञ्च-भूत, तन्मात्रा, त्रिगुण** एवं **स्वभाव** आदि के साथ नई-नई वस्तुओं का सृजन करती हुई तथा परस्पर सम्बन्ध स्थिर करती हुई **दस प्रकार की सृष्टि, चार प्रकार**

के जीव (अण्डज, स्वेदज, उद्भिज, जरायुज) तथा सर्व-सृष्टि के जड़-चैतन्य-विभाग आदि का निर्माण तथा सृजन स्वाभाविकता से करती रहती हैं। यह सब मातृका का नैसर्गिक विलास है, जो स्वेच्छा से ही हो रहा है। इस विलास के तारतम्य को '**विश्व-प्रकाश**' कहते हैं-

या सा तु मातृका देवी, पर-तेज-समन्विता। तया व्याप्तमिदं विश्वं, स-ब्रह्म-भुवनान्तकम् ।।

- जैसे एक वट-वृक्ष के छोटे-से बीज में बरगद का बहुत विशाल वृक्ष अन्तर्निहित रहता है, वैसे ही मातृकाएँ भी ब्रह्मा से कीट-पर्यन्त स्थावर, जङ्गम, अणु, परमाणु आदि सबमें ओत-प्रोत हैं। जिसने जितने अंश में उनका स्फोट कर लिया-साक्षात्कार कर लिया, उसने उतने ही अंशों में सफलता प्राप्त कर ली। **ब्रह्माण्ड-सृजन** के उद्गम का कारण यही है। इसे ही '**अहं**' और '**इदं**' कहा जाता है।
- '**मातृका-विज्ञान**'-समस्त शास्त्रों को अपने ज्ञान से प्रकाशित करता है। **शब्द-शास्त्र** (व्याकरण), ज्योतिष, योग आदि दर्शन की विविध प्रक्रियाएँ इसकी मुख्य मार्ग-प्रदर्शिका हैं। इन सबमें '**मन्त्र-शास्त्र**' विशेष उपादेय है, जिसका एक-मात्र प्रतिपाद्य विषय '**मातृका**' ही है। '**मातृका-स्फोट**' ही विज्ञान है, जिसका साधन '**मन्त्र-साधना**' द्वारा ही किया जा सकता है। '**मन्त्र-शास्त्र**' में वर्णित '**मातृका**' अनेक प्रकार की है- **१. भूत-लिपि, २. मालिनी, ३. पञ्च-भूत, ४. मधु-मति** और **५. अङ्ग-मातृका** आदि। 'भूत-लिपि' आदि मातृकाओं के भी अनेक भेद हैं, जिनकी संख्याएँ हैं- **भूत-लिपि ४२, मालिनी ४९, पञ्च-भूत ५०, मधु-मती २०४, अङ्ग-मातृका २५५** तथा **मुख्य मातृका ५१।**
- जिस प्रकार आयुर्वेद में **वात, पित्त** और **कफ**-ये तीन प्रधान विषय हैं, उसी प्रकार **मातृकाओं** में भी **सत्, रज** और **तम** तीनों गुण हैं। ये तीनों गुण **सूर्य, चन्द्र** और **अग्नि** के रूप में हैं, जो जगत् को प्रतिभासित करते हैं। इन तीनों का विस्फोट होते-होते इसके ६३ भेद हो जाते हैं। **आयुर्वेद** में **६ रस** हैं, जिनका स्फोट होते-होते ६२ भेद हो जाते हैं। केवल '**वात**', '**पित्त**', तथा '**कफ**' के वैचित्र्य या वैलक्षण्य का प्रतिपादन करते-करते एक शास्त्र तैयार हो गया, जिसे '**आयुर्वेद**' कहते हैं। **नौ ग्रह, द्वादश राशि, २७ नक्षत्रों** के प्रतिपादन एवं प्रसार में '**ज्योतिष-शास्त्र**' बन गया, जिसके ४ लाख ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार **५१ मातृकाओं** के विषय का स्फोट करते-करते एक बहुत बड़ा '**मन्त्र-शास्त्र**' निर्मित हो गया।
- '**मातृका-स्फोट**' से **दैवत्व** और **दैवत्व** से **पूज्यत्व** प्राप्त होता है। पूज्यत्व में अपनी **मातृकाओं** का स्फोट करके देवता के **अङ्ग-उपाङ्गों** में **अवस्थित देव-मातृकाओं** का **पूजन** किया जाता है। अपनी स्फोट की हुई **देव-मातृकाओं** में **मानवीय मातृकाओं** का समावेश किया जाता है। उनके **स्वरूप, नाम, आयुध** और **वाहन**-सब पृथक्-पृथक् होते हैं। उन सबकी पूजा की जाती है। एक ही देव अपनी शक्ति से अनेक हो जाता है। उस समय उसका **स्वरूप, नाम, मातृका, वाहन** आदि पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। साधक वाञ्छित स्वरूप से तादात्म्य करने के लिए तत्सम्बन्धी **नाम-रूप आयुध** का ही ध्यान करता है।

मन्त्र-सिद्धि के लक्षण

- '**मन्त्र-सिद्धि**' हुई या नहीं, इसके प्रति थोड़ा ध्यान देने से साधक स्वयं समझ सकता है। अकल्पित रूप से मन-चाहे कामों का होना, दुर्घटना से बाल-बाल बच जाना, जिसे देखना चाहे-वह अचानक आ पहुँचे अर्थात् आशातीत बातों का होना '**मन्त्र-सिद्धि**' के ही लक्षण हैं। इसी प्रकार विपरीत बातों के होने से यह समझना चाहिए कि '**मन्त्र-साधना**' में कोई त्रुटि है।
- बाह्य घटनाओं के अतिरिक्त साधक यदि ध्यान दे, तो वह अपनी बुद्धि एवं अन्य ज्ञानेन्द्रियों से भी सूक्ष्म लक्षणों द्वारा अपनी '**मन्त्र-सिद्धि**' को अनुभव कर सकता है। इसके लिए उसे तीव्र भावना से देखने और सुनने की चेष्टा करनी चाहिए। थोड़े ही दिनों में अपने शरीर के भीतर होनेवाली प्रतिक्रियाएँ अनुभव में आने लगेंगी। '**सुषुम्ना**' में एक प्रकार का **तेज प्रकाश** हो जाएगा, **षट्-चक्र** दिखाई देने लगेंगे। यदि लगन से सारे विचारों को मन से निकाल कर एक चित्त से देखने की चेष्टा की जाए, तो अधिक समय नहीं लगता। पहिले '**सुषुम्ना**' में तारे-से छिटके दिखाई देते हैं। शरीर के भीतर कई स्थानों में तारे (प्रकाश के छींटे-से) दृष्टि-गत होने लगते हैं। चित्त में अपने आप उत्साह और उल्लास भर जाता है।

उक्त लक्षण तो **जाग्रत अवस्था** के हैं। इसी प्रकार रात्रि में सोते हुए भी साधक को सिद्धि की ओर सङ्केत करनेवाले **स्वप्न** आते हैं। ध्यान रहे! इन **स्वप्नों** को या जगते हुए अनोखी बातें यदि हों या दिखाई दें या सुनाई पड़ें अथवा अनुभव में आएँ, तो उन्हें भूल कर भी **गुरुदेव** के सिवा अन्य किसी से न कहना चाहिए, अन्यथा सिद्धि में रोड़ा अटक जाता है और साधना वहीं-की-वहीं रह जाती है।

अन्त में यहाँ कुछ **स्वप्नों** का उल्लेख किया जाता है, जो सिद्धि प्राप्त होने से पहले प्रायः दिखाई देते हैं-

१. स्वप्न में **इष्ट-देव** के दर्शन होना। २. प्रसन्न मुद्रा में **श्री गुरु-देव** का दर्शन होना। ३. **गुरु-देव** को कुछ आदेश करते हुए देखना। ४. **गुरु-देव** या **इष्ट-देव** अथवा कोई **सौभाग्यवती स्त्री** या **कन्या** अपने को कोई फूल या फल दे। ५. साफ **पूर्णिमा का चन्द्रमा** दिखाई दे। ६. **गङ्गा जी, सूर्य** या **शिव-लिङ्ग** दिखाई दे। ७. कहीं से **पृथ्वी (जमीन, खेत)** मिले। ८. नाव में बैठ कर नदी, **तालाब** या **समुद्र** के एक किनारे से दूसरे किनारे जाए। ९. **आग** की पूजा करे।

१०. जलती हुई **आग** दीखे। ११. **हवन** होता हुआ दिखाई दे। १२. किसी लड़ाई में अपनी **विजय** होती हुई दिखाई दे। १३. **हंस, कोयल** या **मोर** दिखाई दे। १४. किसी वाहन पर बैठ कर कहीं जाए। १५. **कन्या, छत्र, रथ, दीपक, आलीशान महल, कमल, हाथी, बैल, फूलों की माला, रुद्राक्ष की माला, समुद्र, हरा पेड़, पर्वत, घोड़ा, शराब, कच्चा मांस** या **मल-मूत्र** दिखाई दे। १६. **सूर्य** उगता हुआ दिखाई दे। १७. **तारों से भरा हुआ आकाश** देखे। १८. किसी **बड़ी हवेली** में या **पर्वत** पर अथवा **पेड़** पर अपने आपको चढ़ता हुआ देखे। १९. **हाथी, घोड़े, बैल** पर सवारी करते हुए अपने आपको देखे। २०. **हवाई जहाज, मोटर, ताँगा, रिक्शा, साइकिल** आदि पर अपने आपको सवार देखे।

२१. स्वप्न में **मद्य** पिए या **कच्चा मांस** खाए। २२. अपने शरीर से मल-मूत्र चुपड़ते देखे। २३. **रक्त** से अपने आपको नहाते देखे। २४. दही और **चावल** खाए। २५. **सफेद कपड़े** पहिने या **सफेद चन्दन** अपने शरीर में लगाए। २६. स्वप्न में **सिंहासन, रथ, सवारी, ध्वजा, रत्न, गहने** देखे। २७. अपना या किसी दूसरे का **राज्याभिषेक** होता देखे। २८. स्वप्न में **गुरु, देवता, ब्राह्मण, कन्या, गाय, हाथी, घोड़ा, सिंह (शेर), दर्पण, शङ्ख, सारङ्गी, हारमोनियम, गाने-बजाने** के सामान में से कुछ देखे। २९. स्वप्न में **पक्वान्न, मिठाई** या **पान** खाए। ३०. **मोतियों की माला** या **तेज तपता हुआ सूर्य** देखे।

३१. अपने को **सफेद साँप** काट खाए। ३२. सपने में अपना **बन्धन** (बँधना) देखे। ३३. स्वप्न में रोए, दौड़े, अपने हाथ-पैर पीटे। ३४. अपने कोई पङ्खा झले या किसी के खुद पङ्खा करे। ३५. **पानी, दूध** या **शराब** से भरा **घड़ा** दीखे। ३६. **मछली, घी** या **गोरोचन** दीखे। ३७. बिना रोने-पीटने के मुर्दा दिखाई दे। ३८. किसी को **वेद-मन्त्रों** को बोलता हुआ देखे या **मङ्गल गाना-बजाना** देखे। ३९. **चाबुक** या **अंकुश** या **हथियार** दिखाई दे। ४०. **सफेद वस्त्र** पहिने, **सफेद माला** पहिने **स्त्री** अपने से मिले।

४१. स्वप्न में कोई **दही** या **घी** दे। ४२. तालाब के बीच में **नाव** पर बैठ कर या पानी में अपने आपको घी और **खीर** मिलाकर खाता देखे। ४३. **घोड़ी, गाय, हथिनी** को ब्याते हुए देखे। ४४. अपने को कोई **अग्नि** दे। ४५. **घोड़ी, भैंस, शेरनी, गाय** या **हथिनी** को दूध दुहाती देखे। ४६. **अपना सिर कटता** देखे। ४७. **अपनी मृत्यु** होते देखे। ४८. स्वप्न में **देवता** देखे। ४९. स्वप्न में **पितर, गाय, ब्राह्मण** या **राजा** देखे। ५०. अपने आपको **सोने-चाँदी के बर्तन** में भोजन करते देखे।

- '**स्वप्न**' में उक्त लक्षणों के सामने आते ही चुपचाप दूने उत्साह से साधना में लग जाना चाहिए। ऐसे अवसर पर लापरवाही करने से सब काता-कूता कपास हो जाता है। एक बात का सदा ध्यान रखे। भूलकर भी किसी '**सिद्धि**' का **अभिमान** न करे या किसी को **चमत्कार** दिखाने की बात भूलकर भी न सोचे-भले अपना कितना ही बड़ा अपमान क्यों न होता हो। '**वाक्-सिद्धि**'-**मन्त्र-साधना** में सफलता की पहिली सीढ़ी है। इसके चक्कर में पड़कर किसी को '**आशीर्वाद**' या '**शाप**' न देने लगे। नहीं तो हाथ मलकर पछताना पड़ेगा। सारांश यह है कि '**मन्त्र-सिद्धि**' के लक्षणों के अनुभव होते ही साधक को '**पूरी सावधानी**' और '**उत्साह**' के साथ लगन-पूर्वक अपनी '**साधना**' में तत्पर होना चाहिए। इसके लिए साधक को '**मौन व्रत**' या '**कम-से-कम बोलने का अभ्यास**' अति सहायक सिद्ध होता है।

मनन करने योग्य बातें

'जप' की अनेक प्रकार की विधियाँ पाई जाती हैं, जो **विश्वास, श्रद्धा, गुरु-सेवा, अन्तः-करण-शुद्धि, बहिः-शुद्धि** और **दैवी-जगत्** पर **पूर्ण निर्भर** रहने से सफल होती हैं।

❁ ❁ ❁

मन्त्र-कल्पतरु

मन्त्र-साधना के अङ्ग

पं० श्रीकान्तबिहारी मिश्र

प्रणव-जप ओंकार का जप

महन्त श्रीकिशोरदास जी

ॐ

ॐ-कार का अनुभूत जप

परम पूज्य
ॐ महाराज

मन्त्र-विद्या, सङ्गीत, साहित्य के भौतिक परिणाम

डॉ श्री वी०वी० गोरे

'मन्त्र-साधना' के अङ्ग

'मन्त्र-जप' में 'मन्त्र-साधन' के अङ्गों पर ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि अङ्गों के साथ जप करने से बहुत शीघ्र फल मिलता है। ये अङ्ग १६ हैं। यथा–

(१) भक्ति–(क) गौणी (साधन-काल की भक्ति)। (ख) परा (सिद्ध अवस्था की भक्ति)।

'गौणी' का भेद है–'वैधी', जो नवधा है। 'परा' का भेद है–'रागात्मिका'। 'नवधा' और 'रागात्मिका' का विस्तार इस प्रकार है–

वैधी (नवधा भक्ति)–१. श्रवण, २. कीर्तन, ३. स्मरण, ४. पाद-सेवन, ५. अर्चन, ६. वन्दन, ७. दास्य, ८. सख्य, ९. आत्म-निवेदन। क्रमाङ्क १ से ६ की भक्ति प्रथम अवस्था की भक्ति हैं। क्रमाङ्क ७-८-९ इन तीनों की परिसमाप्ति 'रागात्मिका' में होती है।

रागात्मिका (क) सात गौण रस–१. हास्य (गोपाल बालक), २. वीर (भीष्म पितामह) ३. करुण (दशरथ), ४. अद्‌भुत (बलि, अर्जुन, यशोदा), ५. भयानक (कंस), ६. वीभत्स (अघासुर), ७. रौद्र (इन्द्र)। (ख) सात मुख्य रस–१. दास्य (श्री हनुमान), २. सख्य (अर्जुन, उद्धव), ३. वात्सल्य (दशरथ, कौशल्या, नन्द-यशोदा), ४. कान्ता (व्रज-गोपी), ५. आत्म-निवेदन (श्रीनारद), ६. गुण-कीर्तन (श्रीव्यास), ७. तन्मया शक्ति (श्रीहरि, श्रीहर, श्रीराम-कृष्ण-देव)।

(२) शुद्धि–(क) शरीर-शुद्धि–१. मान्त्र, २. भौम, ३. आग्नेय, ४. वायव्य, ५. दिव्य, ६. वारुण्य, ७. मानस। (ख) मन-शुद्धि–दैवी सम्पत्ति के अभ्यास से। (ग) दिशा-शुद्धि–पूर्व-उत्तर-मुख बैठकर मन्त्र-जप-ध्यान करने से। (घ) स्थान-शुद्धि–गो-मय से अथवा १. पीपल, २. बरगद, ३. अशोक, ४. बिल्व, ५. आँवला के नीचे बैठकर 'मन्त्र-जप' आदि करने से।

(३) आसन–१. स्वास्तिक, २. परमासन।

(४) पञ्चाङ्ग-सेवन–१. चण्डी, गीता, २. सहस्र-नाम, ३. स्तव, ४. कवच, ५. हृदय का पाठ।

(५) आचार–१. दिव्य, २. वाम, ३. दक्षिण।

(६) धारणा–१. अन्तर्धारणा, २. बहिर्धारणा।

(७) दिव्य देश-सेवन–१. अग्नि, २. जल, ३. लिङ्ग, ४. स्थण्डिल, ५. कुण्ड, ६. पट, ७. मण्डल, ८. विशिख, ९. नित्य-यन्त्र, १०. भाव-यन्त्र, ११. पीठ, १२. विग्रह, १३. विभूति १४. नाभि, १५. हृदय, १६. मूर्धा।

(८) प्राण-क्रिया–१. प्राणायाम, २. कर-न्यास, ३. अङ्ग-न्यास, ४. मातृका-न्यास, ५. ऋष्यादि-न्यास।

(९) मुद्रा–अपने-अपने इष्ट-देव की पृथक्-पृथक् मुद्रा।

(१०) तर्पण–१. अपने इष्ट-देव का तर्पण, २. अन्य देव-देवियों का तर्पण, ३. ऋष्यादि-तर्पण, ४. पितृ-तर्पण। (११) हवन, (१२) बलि, (१३) याग-१ अन्तर्याग, २. बहिर्याग, ३. उप-याग। (१४) जप–१. वाचिक, २. उपांशु, ३. मानस। (१५) ध्यान–अपने-अपने इष्ट-देव के रूप का ध्यान। (१६) समाधि–महा-भाव।

'प्रणव-जप' अर्थात् 'ॐ-कार' का जप

✦ 'ईश्वर'-पदार्थ है। उसके शब्द-मय चिन्तन का सङ्केत 'ॐ-कार' है। ईश्वर-सम्बन्धी सभी शब्द-मय चिन्तन का सङ्केत 'ॐ' द्वारा ही शास्त्रों में किया गया है। 'ॐ' की इस मान्यता का मुख्य कारण यह है कि 'प्रणव' के जप से चित्त की स्थिरता जितनी सरलता से होती है, उतनी सहजता अन्य किसी शब्द के जप में अनुभव नहीं होती।

✦ 'ॐ' के सम्बन्ध में, 'श्रुति' का वचन है–'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेदालम्बनं परम्।'

अर्थात् परमार्थ-साधन के विविध आलम्बनों में 'प्रणव' ही श्रेष्ठ और परम आलम्बन है।

✦ 'भाष्य-कार' कहते हैं–प्रणवस्य जपः, प्रणवाभिधेयस्य च ईश्वरस्य भावना, तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः, प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तम् एकाग्रं सम्पद्यते। तथा चोक्तम्–स्वाध्यायाद् योगमासीत्, योगात् स्वाध्यायमनेत् (स्वाध्यायमासते)। स्वाध्याय-योग-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।

अर्थात् 'प्रणव' का जप और उसका अभिधेय ईश्वर की भावना है। इस प्रकार 'प्रणव' में जप-शील और प्रणवार्थ-भावना-शील योगी का चित्त एकाग्र होता है। कहा भी है–स्वाध्याय से योगारूढ़ हो, जब योग से स्वाध्याय का उत्कर्ष करोगे, तब 'स्वाध्याय' और 'योग'-रूपी सम्पत्ति द्वारा परामात्मा प्रकाशित होंगे।

✦ 'प्रणव' के स्मरण-मात्र से ही जिनके मन में सर्वज्ञता आदि गुणवाले ईश्वर की स्मृत्ति आ जाती है, वे ही वास्तविक योगी हैं। उनके द्वारा जो 'प्रणव का जप' एवं उसकी अर्थ-चिन्ता होती है, वही चित्त को स्थिर करनेवाला 'ईश्वर-प्रणिधान' नामक साधन है। 'स्वाध्याय' अर्थात् निरन्तर 'प्रणव-जप' से योग या चित्त की एकाग्रता होती है। 'योग' द्वारा अर्थात् चित्त की एकाग्रता से प्राप्त अन्तर्दृष्टि के द्वारा सूक्ष्म अर्थ का ज्ञान होकर 'स्वाध्याय का उत्कर्ष' होता है। सूक्ष्म-तर अर्थ के प्रति लक्ष्य रखकर पुनः-पुनः जपन-शील होना ही 'स्वाध्याय' है। इस प्रकार 'स्वाध्याय' के द्वारा 'योग' का एवं 'योग' के द्वारा 'स्वाध्याय' का अभ्यास होने से परमात्मा प्रकाशित होते हैं अर्थात् साधक को आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है। 'प्रणव' और 'गुरु -मन्त्र' में कोई भेद नहीं है। 'शास्त्र' कहते हैं--

यः सर्व-भूत-चित्तज्ञो, यश्च सर्व-हृदि स्थितः। यश्च सर्वान्तरे ज्ञेयः, सोऽहमस्मीति चिन्तयेत् ।।

अर्थात् जो सभी प्राणियों के चित्तों को जानता है, जो सभी के हृदय में वर्तमान है, जो सभी के अन्तर में जानने की वस्तु है, वही मैं हूँ–यह चिन्तन 'मन्त्र-जप' के समय सदा किया करे।

शम्भोः प्रणव-वाच्यस्य, भावना तज्जपादपि । आशु सिद्धिः परा प्राप्या, भवत्येव न संशयः।
एकं ब्रह्म-मयं ध्यायेत्, सर्वं विप्र! चराचरम् । चराचर-विभागं च, त्यजेदहमिति स्मरन् ।।

अर्थात् प्रणव का वाच्य जो ईश्वर है, उसकी भावना प्रणव के जप से मिलकर ही रहती है, इसमें सन्देह नहीं। हे विप्र! सभी चराचर विश्व को ब्रह्म-मय 'एक' के रूप में ध्यान करे और 'अहम्' का स्मरण करता हुआ चराचर-विभाग या द्वैत-बुद्धि को त्याग दे।

✦ '**प्रणव-जप-रूपी**'–'**ईश्वर-प्रणिधान**' का साधन '**हृदय**' में करना चाहिए। **प्रथमाधिकारी–साकार** ईश्वर का ही प्रणिधान सहज समझते हैं। उन्हें अपने हृदय में **ज्योतिर्मय ईश्वर के रूप की कल्पना** करनी चाहिए। मुक्त पुरुष जिस प्रकार **स्थिर-चित्त** और **परम-पद** में स्थित होने के कारण प्रसन्न-मुख रहते हैं, उसी प्रकार अपनी **ध्येय मूर्ति** की चिन्ता करते हुए, उसी में अपने को ओत-प्रोत भाव में स्थित रहने का ध्यान करना चाहिए। '**प्रणव-जप**' द्वारा अपने को ईश्वर के प्रतीक में स्थित, निश्चिन्त और प्रसन्न रखना चाहिए।

उक्त अभ्यास से जब चित्त कुछ स्थिर, निश्चिन्त और ईश्वर-भाव में स्थित रहने में समर्थ हो, तब हृदय में **शुभ्र, स्वच्छ, असीम आकाश की धारणा** करनी चाहिए। **आकाश के मध्य में सर्व-व्यापी ईश्वर की सत्ता** है, यह जानकर उसमें '**अहमत्व**' को ओत-प्रोत-भाव से स्थित करना चाहिए अर्थात् यह ध्यान करना चाहिए कि '**मैं ही उस हृदयाकाशस्थ ईश्वर में अवस्थित हूँ।**' इसके बाद **हृदयाकाश** में स्थित **ईश्वर के चित्त में अपने चित्त को मिलाकर** निश्चिन्त, **सङ्कल्प-शून्य तृप्त-भाव** से '**अवस्थान**' का अभ्यास करना चाहिए।

✦ '**मुण्डकोपनिषद्**' में उक्त प्रणाली का बहुत सुन्दर वर्णन है–

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्दव्यं, शर-वत् तन्मयो भवेत् ।।

अर्थात् **ब्रह्म** या **हृदयाकाश में स्थित ईश्वर ही लक्ष्य-स्वरूप** है। **प्रणव–धनुः–स्वरूप है और अहं-भाव–शर-स्वरूप** है। '**अप्रमत्त**' अर्थात् सदा स्मृत्ति-युक्त रहते हुए **ब्रह्म-लक्ष्य में अहङ्कार** को प्रविष्ट कराकर उसे तन्मय करना होता है अर्थात् '**ॐ**' द्वारा– **मैं ही हृदयाकाशस्थ ईश्वर में स्थित हूँ**'–इस प्रकार का भाव रखते हुए ध्यान करना होता है।

उक्त ध्यान में अभ्यस्त होने पर साधक '**ध्यान-काल**' में अपने **हृदय में आनन्द का अनुभव** करता है। आनन्द के उक्त बोध को ही '**मैं हूँ**'–इस प्रकार स्मरण कर '**ग्रहण-तत्त्व**' में जाना होता है। फिर **अति स्थिर** और **प्रसन्न-चित्त** से अपने चित्त को **निरुद्ध** और **ईश्वर-भाव** से भावित करना होता है। सावधानी के साथ **दीर्घ-काल तक निरन्तर श्रद्धा-सहित अभ्यास** करने पर '**ईश्वर-प्रणिधान**' का वास्तविक फल मिलता है।

✦ '**जप**' के समय '**ओ**' को शीघ्र और '**म्**' को दीर्घ तथा **एकतान-भाव से उच्चारण** करना चाहिए। मन-ही-मन में उच्चारण करना उत्तम है। जिस '**जप**' में जिह्वा कुछ भी न हिले, वही श्रेष्ठ है। एक प्रकार का और **उत्तम जप** है, जो '**अनाहत नाद**' के साथ होता है। मन में ऐसा होना चाहिए कि '**अनाहत-नाद**' ही '**मन्त्र-रूप**' में सुन रहे हैं। '**तन्त्र-शास्त्र**' में इसे '**मन्त्र-चैतन्य**' कहते हैं–

मन्त्रार्थं मन्त्र-चैतन्यं, योनि-मुद्रां न वेत्ति यः। शत-कोटि-जपेनापि, नैव सिद्धिः प्रजायते।।

अर्थात् **मन्त्र का अर्थ, मन्त्र-चैतन्य** और **योनि-मुद्रा** जो नहीं जानता, वह सौ करोड़ भी जप करे, तब भी उसे सिद्धि नहीं मिलती। '**सोऽहं**' भाव ही सर्वोत्तम '**योनि-मुद्रा**' है। वही योगियों द्वारा ग्राह्य है।

✦ '**मन्त्र-जप**'-रूपी **ईश्वर-प्रणिधान** का साधन **भक्ति**-पूर्वक करना चाहिए। **ईश्वर के स्मरण** से सुख-बोध होने पर **बोध-मय** और **महत्त्व-बोध-युक्त** जो '**अनुराग**' होता है, उसी को '**भक्ति**' कहते हैं। प्रिय-जन को स्मरण करने पर जैसा सुख-बोध हृदय में होता है और बार-बार स्मरण करने की इच्छा होती है, **ईश्वर-स्मरण** भी जब उसी तरह का होगा, तब समझना चाहिए कि '**भक्ति-भाव**' व्यक्त हो रहा है। एक साधना और है–प्रिय जन को स्मरण करने से हृदय में सुख-बोध उदित होने पर, उस सुख-बोध को स्थित रखे और प्रिय-जन को त्याग कर, उस स्थान में उसी सुख-बोध के साथ **ईश्वर की चिन्ता** करने पर '**भक्ति-भाव**'–**शीघ्र व्यक्त** और **वर्द्धित** होता है।

✦ '**प्रणव**'-**जप** का एक और सङ्केत है–'**ओ**' के उच्चारण-काल में **ध्येय-भाव** को स्मरण करे और **दीर्घ एकतान** '**म्**' के उच्चारण में उस **ध्येय-भाव को स्थित** करे। **श्वास-प्रश्वास** के साथ इस प्रकार '**प्रणव**' का जप करने से अभीष्ट फल प्राप्त होता है। **सहज भाव** से श्वास लेते हुए '**ॐ**' के उच्चारण-पूर्वक **ध्येय-भाव में मन** को स्थित करे। इस प्रकार के '**जप**' से चित्त एक ही ध्यान में न्यस्त रहता है।

उक्त प्रकार की भावना के साथ '**मन्त्र-जप**' होने से ही चित्त एकाग्र भूमिका को पा सकता है। भूमिका का लाभ होने से '**सम्प्रज्ञात योग**' और उसके बाद '**असम्प्रज्ञात योग**' सहज रूप से सिद्ध हो जाते है।

✦ शास्त्रोक्ति है कि '**यज्ञ**' से ही सबकी उत्पत्ति होती है। अतएव '**यज्ञ**' नित्य करना चाहिए। '**गीता**' में भगवान् कहते हैं–'**यज्ञानां जप-यज्ञोऽस्मि।**' अर्थात् यज्ञों में श्रेष्ठ '**जप-यज्ञ**' मैं हूँ। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को '**जप-यज्ञ**' अवश्य करना चाहिए। कहा भी है–

आरम्भ-यज्ञा क्षत्राश्च, हविर्यज्ञा विराः स्मृताः । परिचार-यज्ञा शूद्राश्च, जप-यज्ञा द्वि-जातयः ।।

अर्थात् जो क्षात्र-धर्म धारण करना चाहता है, वह उद्योग करे। जो वैश्य होना चाहता है, वह अग्नि-होत्र करे। जो शूद्र रहना चाहता है, वह सेवा करे और जो द्वि-जाति होना चाहता है, वह '**जप**' करे। इस सम्बन्ध में निम्न प्रख्यात उक्ति स्मरणीय है–

जन्मना जायते शूद्रः, संस्काराद् द्विज उच्यते। वेदाभ्यासी भवेद् विप्रः, ब्रह्म जानन्ति ब्राह्मणाः।।

अर्थात् जन्म से प्रत्येक व्यक्ति '**शूद्र**' होता है। संस्कार होने पर वह '**द्विज**' कहलाता है। '**वेद**' का अभ्यास करने पर वह '**विप्र**' बनता है और इस प्रकार '**ब्रह्म**' को जाननेवाले '**ब्राह्मण**' होते हैं।

✦ **यज्ञोपवीत-संस्कार** में ब्रह्मचारी को '**गायत्री-मन्त्र**' सिखाया जाता है, जिसके '**जप**' द्वारा '**शुक्ल संस्कार**' अर्थात् **शुद्ध भाव** उत्पन्न होता है और '**कृष्ण कर्म**' अर्थात् पूर्व-जन्म के पाप-कर्मों के संस्कार दूर हो जाते हैं। उससे '**शूद्रता**' दूर होकर '**द्विजत्व**' प्राप्त होता है। '**गायत्री मन्त्र**' के निरन्तर स्वाध्याय से '**ब्रह्म संस्कार**' दृढ़ हो जाता है और '**अविद्या**' नष्ट हो जाती है। इस प्रकार '**विद्या**'-सम्पन्न होने से '**विप्रत्व**' आता है और जब '**विद्या**' की सहायता से '**अविद्या**' पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है, तब '**समाधि**' की उपलब्धि होती है और '**ब्रह्म**' का साक्षात्कार हो जाता है। तब '**ब्राह्मणत्व**' की प्राप्ति होती है। यह है '**गायत्री-मन्त्र**' के जप का प्रभाव।

- 'गायत्री-मन्त्र' और 'प्रणव' में कोई भेद नहीं है। 'प्रणव' वास्तव में 'गायत्री मन्त्र' का ही सूक्ष्म रूप है। परमहंस रामकृष्ण देव कहते थे कि ''चारों वेदों का लय 'सन्ध्या-कर्म' में होता है और 'सन्ध्या' का लय 'गायत्री' में। फिर 'गायत्री' का लय–'प्रणव' में होता है।'' इससे सिद्ध है कि 'प्रणव' का जप सर्व-श्रेष्ठ है।
- 'प्रणव'–ईश्वर का नाम है और ईश्वर के अनेक नाम हैं। अतः जिस नाम में रुचि हो, उसी का 'जप' कर सकते हैं। तन्त्र-शास्त्र में शिव जी कहते हैं–

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः। सत्यं वच्मि, सत्यं वच्मि, सत्यं वच्मि च पार्वति!।।

यहाँ 'त्रिसत्य' करके अर्थात् तीन बार कहकर भगवान् शङ्कर ने 'जप' करने को कहा है। अतएव 'जप' अवश्य करना चाहिए, किन्तु पवित्रता, विश्वास, प्रेम और श्रद्धा के साथ। तभी 'जप' सिद्ध होता है।

'मन्त्र-जप' के आवश्यक विधान

- १. पवित्रता–इस सम्बन्ध में तुलसीदास जी कहते हैं कि 'अन्तर मलिन विषये मन अति, तन पावन करिए परवारे। मरइ न उरज अनेक जतन, वल्मीक विविध विधि मारे।' अर्थात् 'अन्तर' और 'बाहर' की पवित्रता। बाहर की पवित्रता तो 'शौच-क्रिया' से होती है और आन्तरिक पवित्रता के लिए परमहंस देव ने एक उत्तम विधि बताई है–''जप करने के पहले हृदय में कल्पना द्वारा शीशे का एक घेरा बनाए, जिसके भीतर से बाहर का दृश्य दिखाई पड़ता हो। अब मन में सङ्कल्प करे कि जब तक बैठा हूँ, बाहर न देखूँगा। भीतर जो इष्ट-देव हैं, केवल उन्हें ही देखूँगा। जब मन स्वभाव-वश बाहर जाने लगे, तब उसे रोककर भीतर ही लाए। साथ ही उस घेरे में कीड़े-मकोड़े, गर्द आदि जो हमारे मलिन विचार हैं, उन्हें साफ करता रहे। इसके लिए उस घेरे में एक नाली की भावना करे, जिससे होकर मलिन विचारों की मैल धोने पर बह जाए, किन्तु यह कभी न देखे कि वह मैल बहकर कहाँ गई। हाँ, मैल उस घेरे से बाहर अवश्य चली जाए। फिर उस नाली को बन्द कर दे। तब ऐसी कल्पना के साथ कि अब कोई मैल नहीं है, निश्चिन्त मन से जप करे।''
- २. विश्वास–अर्थात् नाम जपने से मङ्गल होगा ही ऐसा विश्वास रखना चाहिए। कितनी भी विपत्ति आए, कितना भी मन में तर्क उपस्थित हो, इस विश्वास से कदापि न डोले। यह उक्ति सदा ध्यान में रखे कि–भाव कुभाव अनख आलसहूँ, नाम जपत मङ्गल दिशि दसहूँ।

कोई कह सकता है कि यह तो अन्ध-विश्वास हुआ, परन्तु यह तो सभी मानते हैं कि 'विश्वास' होना ही चाहिए और 'विश्वास' के आँख होती नहीं, वह सदा ही अन्धा होता है। एक लौकिक उदाहरण है–किसी ने मजनूँ से कहा कि 'तुम्हारी लैला काली–कलूटी और कर्कशा है, तुम उसे क्यों प्यार करते हो?' इस पर उसने कहा था कि 'तुम यदि मेरी आँखों से उसे देखो, तब पता चलेगा कि वह कितनी सुन्दर और सुघड़ है।' भाव यह है कि संसार की दृष्टि में लैला असुन्दर थी, किन्तु मजनूँ की दृष्टि में सुन्दर! यही 'विश्वास' है।

३. **प्रेम**–अर्थात् जिसके बिना क्षण भर भी न रह सके, जिसके क्षण-मात्र के वियोग से प्राणों में छटपटाहट हो और छटपटाहट भी इतनी हो कि ऐसा प्रतीत हो कि मृत्यु हो जाएगी–ऐसे प्रगाढ़ '**प्रेम**' में विपत्ति और स्वार्थ की गन्ध भी नहीं रहती। प्रेमी अपनी प्रेमिका के लिए प्राण तक देने को तैयार रहता है, किन्तु बदले में कुछ लेना नहीं चाहता। रास्ते की भयङ्करता को भी वह नहीं देखता, मिलन हेतु दौड़ता ही जाता है, भले ही उसे कुछ भी सहना पड़े। कहा भी है--'**प्रेम का पन्थ कराल महा, तलवार की धार पै धावनो है!**'

'**प्रेम**' के लिए एक तो '**प्रेमी**' स्वयं है और दूसरा उसका '**प्रेम-पात्र**'। तीसरा कोई नहीं होता। ऐसे '**प्रेम**' का होना ही सबसे बड़ा '**वैराग्य**' है। '**पूर्ण प्रेम**' के उदय होने पर कोई कर्म शेष नहीं रहता। ऐसा '**प्रेम**' होता कैसे है, इस विषय में '**भक्ति-रसामृत-सिन्धु**' का कहना है–

आदौ श्रद्धा ततः साधु-सङ्गोऽथ भजन-क्रिया। ततोऽनर्थ-निवृत्तिः स्यात्, ततो निष्ठा रुचिस्ततः।।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति। साधकानामयं प्रेम्णः, प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः।।

अर्थात् पहले '**श्रद्धा**', तब '**साधु-सङ्ग**', फिर '**भजन-क्रिया**', तब अनर्थों की '**निवृत्ति**', उसके बाद '**निष्ठा**', फिर '**रुचि**', फिर '**आसक्ति**', तब '**भाव**' और सबसे अन्त में '**प्रेम**' होता है।

४. **श्रद्धा**–'**श्रद्धा**' की व्याख्या में **सन्त कबीर** ने कहा है–

कबिरा जाके मुखन ते, धोखेहूँ निकसे राम। ताके पग की पानही, मेरे तन का चाम।।

राम का नाम जो धोखे से भी ले ले, उसके प्रति ऐसी भावना रखना कितना कठिन है! इस प्रकार की भावना अपने '**इष्ट**' के प्रति रखना ही वास्तविक '**श्रद्धा**' है।

'**जप**' के लिए दो विधान आवश्यक हैं–**१. दृष्टि-परिवर्तन, २. नामापराध से बचना**। जो '**जप-साधन**' करता है, उसकी दृष्टि-बुरी नहीं होनी चाहिए। वह बुरे वातावरण की शिकायत नहीं करता है। निम्न बातों का अभ्यास नित्य करने से दृष्टि परिवर्तित होती है।

(क) **कोई भी पूर्णतः बुरा नहीं** है। सभी में कुछ-न-कुछ अच्छाई है ही। तब उसकी अच्छाई को ही देखने की चेष्टा करें। उसके बुरे स्वभाव से अपनी दृष्टि को हटा लें। अच्छी ही बात देखनेवाले इस स्वभाव की ही वृद्धि करें। यह उपाय बुरा देखने के स्वभाव को सहज ही नष्ट कर देता है।

(ख) बड़ा-सा-बड़ा दुष्ट भी सुधर कर सन्त बन सकता है, इस ऐतिहासिक तथ्य को अच्छी तरह स्मरण रखें। **आन्तरिक रूप से कोई दुष्ट नहीं है**। यदि दुष्ट को किसी सन्त के पास रख दिया जाए, तो उसकी दुष्टता निश्चय ही नष्ट हो जाएगी। अतः **दुष्टता से घृणा करें, किन्तु दुष्ट से नहीं**।

(ग) स्मरण रखें कि **ईश्वर ही स्वयं दुष्ट, चोर, लम्पट और वेश्या** का कार्य कर रहे हैं क्योंकि सभी की '**आत्मा**'–**परमात्मा** का ही तो अंश है। इस प्रकार **दुष्टता आदि ईश्वर-लीला है**–'**लोक-वत् तु लीला-कैवल्यम्**।' इस भावना से यदि किसी दुष्ट को देखा जाए, तो उससे भी भक्ति ही उमड़ेगी।

(घ) सभी बातों में '**आत्म-दृष्टि**' रखें। सभी में **नारायण** को देखने का अभ्यास करें–'**वासुदेवः सर्वमिति**'–**गीता**। **भगवान्** की उपस्थिति का अनुभव सर्वत्र करें। इस प्रकार '**श्रद्धा**' का भाव सहज ही अर्जित कर सकते हैं।

मनन करने योग्य बातें

'**मन्त्र**' एक प्रकार की **शक्ति** है, जिसका प्रयोग किसी भी दशा में, किसी भी रूप में सम्भव है। मानव जीवन की रक्षा और दूसरे चमत्कारी कर्म '**मन्त्र**' के प्रभाव से सम्पन्न हो सकते हैं।

❁ ❁ ❁

'**मन्त्र**'–**शब्द-ब्रह्म का प्रकट स्वरूप** है। इस प्रसङ्ग में यह जानना आवश्यक है कि **शब्द** है क्या? '**शब्द**'-**आकाश का गुण** है और **श्रवणेन्द्रिय** से वह अनुभव में आता है।

❁ ❁ ❁

वाक्-रूप में प्रकट होनेवाला '**वर्णात्मक शब्द**'–**नित्य सनातन** है।

❁ ❁ ❁

'**वर्णात्मक शब्द**'–**मानसिक क्रिया या भावना** के अनुरूप निर्मित '**ध्वनि**' के माध्यम से प्रकट होता है।

❁ ❁ ❁

'**वर्णात्मक शब्द**' के चार रूप हैं–**१. परा**, **२. पश्यन्ती**, **३. मध्यमा** और **४. वैखरी**।

❁ ❁ ❁

'**परा**'-शब्द–शरीर के '**मूलाधार-चक्र**' में **कुण्डलिनी** में अवस्थित है।

❁ ❁ ❁

'**पश्यन्ती**'-शब्द की स्थिति–'**मूलाधार-चक्र**' से '**मणिपुर-चक्र**' तक व्याप्त है।

❁ ❁ ❁

'**मणिपुर-चक्र**' से लेकर हृदय तक शब्द के '**मध्यमा**'-रूप की अनुभूति होती है।

❁ ❁ ❁

'**मध्यमा**' के बाद '**शब्द**' अपने अन्तिम रूप '**वैखरी**' में प्रकट होता है, जो उच्चारित वाक्-रूप है।

❁ ❁ ❁

'**शब्द**' का '**मध्यमा**'-रूप–**मानसिक क्रिया या भावना** है, जिससे प्रेरणा पाकर '**शब्द**' के '**वैखरी**'-**रूप** या '**वाणी**' की उत्पत्ति होती है।

❁ ❁ ❁
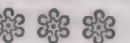
'**मध्यमा**' और '**वैखरी**'-रूपों को मूल प्रेरणा '**शब्द**' के '**पश्यन्ती**' रूप से मिलती है, जो और कुछ नहीं, '**परा-शब्द**' की सामान्य क्रिया-रूपी अवस्था है।

❁ ❁ ❁
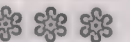
'**परा**'-शब्द यदि '**सुषुप्ति**' है, तो '**मध्यमा**'-शब्द–'**स्वप्न**' है और '**वैखरी**'-शब्द है–'**जाग्रदवस्था**'।

❁ ❁ ❁
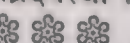
'**शब्द**' और '**अर्थ**' में अखण्ड सम्बन्ध है। **अर्थ-हीन** कोई '**शब्द**' नहीं होता और **शब्द-हीन** कोई '**अर्थ**' नहीं होता।

❁ ❁ ❁
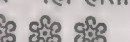
ॐकार का अनुभूत जप

('ॐकारोपासना' अथवा 'प्रणवोपासना' की एक अनुभूत योजना)

ॐकारं विन्दु-संयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः। कामदं मोक्षदं चैव, ओङ्काराय नमो नमः।।

- मनुष्य की **सुख-शान्ति** और **कल्याण** के लिए हमारे पूर्वजों ने सैकड़ों साधन और योजनाएँ तैयार करके शास्त्रों में सुरक्षित रूप से लिख दी हैं, जिनको मनुष्य ध्यान-पूर्वक सुन कर, पढ़ कर और मनन कर **आध्यात्मिक सुख-शान्ति** और **कल्याण** को प्राप्त कर सकता है। उनकी **उपासना** अर्थात् जप की विधि-**वेद, उपनिषद्, गीता, तन्त्र, पुराण** और **धर्म-शास्त्र** में कही गई है। इन विधि-विधानों के साथ ही इनके माहात्म्य का भी विशेष कथन किया गया है, जिसको पाठक यत्र-तत्र यदा-कदा पढ़ते, सुनते और देखते ही रहते हैं।
- **'ॐ'-जगत् की आध्यात्मिक और भौतिक शक्तियों का मौखिक वीज-तत्त्व** है। अतः यह मनुष्य की **आध्यात्मिक सुख-शान्ति** और **कल्याण** की ओर उन्नति का कारण है।
- जिस समय **'ब्रह्म'** का विकास हुआ था, उसके प्रथम विकास का नाम ही **'ॐ'** कहा गया है। इस विकास का अपने-पन में लय हो जाना ही उन्नति की परा-काष्ठा है।
- **'ब्रह्म'** के विकास का **'प्रणव'** (**ॐ**) के रूप में आकर, इन्द्रिय आदि के विकास में विकसित हो जाना ही भौतिक उन्नति की परा-काष्ठा है।
- **'प्राणों'** का **'पूर्ण-ब्रह्म'** में लय हो जाना **'ब्रह्माद्वैत'** की सिद्धि है और **'प्रणव'** (**ॐ**) का पूरे व्यवहार में विकसित हो जाना **'पूर्ण-ब्रह्माद्वैत'** की सिद्धि है। इन दोनों की पूर्णता में **जगदाभास का अभाव** हो जाता है।
- **'आध्यात्मिक लय'** में साधक जगत् को मन-ही-मन **'ब्रह्म'** में लय करता है और वह जगत् में **'ब्रह्म-मय'** होकर रहता है। इसी को **अध्यात्म** में **'ॐ एवेदं सर्वं वेद नास्ति किञ्चन्'** की सिद्धि कहते हैं और भौतिक जगत् में **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का दर्शन होने लगता है। यही **'ॐकारोपासना' का सार तत्त्व** है।

ओङ्कारोपासना—भ्रम-निवारण

- शास्त्रों में **'ॐकारोपासना'** के प्रकरण में लिखा है कि जो साधक **बारह मास तक साढ़े बारह हजार 'ॐ'** का जप करता है, उसको **बारह महीने** में **'आत्म-साक्षात्कार'** हो जाता है। कोई-कोई कहते हैं कि बारह महीने में नहीं, बारह साल में **'आत्म-साक्षात्कार'** होता है। कोई अन्य भी कई कल्पनाएँ किया करते हैं।
- जैसे **'काल'** के सम्बन्ध में मत-भेद है, वैसे ही **'जप'** के विषय में भी नाना मत-भेद हैं। कितनों ही का कहना है कि **कलि-युग** के प्रभाव से **'मन्त्र-शक्ति'** और **'जापक-शक्ति'** निर्बल पड़ गई है। इनको

सबल बनाने के लिए 'मन्त्रों' का तिगुना जप करना चाहिए। कोई कहता है कि कलि-युग में 'मन्त्र' और 'जप'-दोनों अशुद्ध-अपवित्र हो जाने से फल-रहित हो गए हैं, अतः उनसे साधक को फल नहीं मिलता। उपर्युक्त सभी बातें काल्पनिक, अन्ध-विश्वास और हताश-वृत्ति की गढ़ी हुई हैं। 'जप-परम्परा' के लोप हो जाने से ही इस प्रकार की भ्रान्तियाँ निर्मित हुई हैं और 'जप की परम्परा' मिल जाने से ये सभी भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं।

भ्रम-रहित 'जप' का पूर्ण अनुष्ठान

- शास्त्रोक्त 'विधि' के अनुसार 'प्रणव'(ॐ) के जप का एक अनुष्ठान साढ़े बारह हजार दैनिक होता है। इसके अनुसार सवा कोटि जप का पूर्ण प्रयोग दो वर्ष नौ मास में पूर्ण होता है। इस जप की साढ़े बारह हजार दैनिक संख्या को पूर्ण करने के लिए तीन घण्टे बीस मिनट लगते हैं। इसमें से तीन हजार एक सौ पचीस जप को 'जिह्वा' के दबाव से करना होता है, जिसमें पचास मिनट का समय लगता है। दूसरा भाग तीन हजार एक सौ पचीस जप को 'कण्ठ' के दबाव से करना होता है, जिसमें भी उतना ही समय लगना चाहिए। तीसरा भाग इसी संख्या का 'हृदय' के दबाव से और चौथा भाग 'नाभि'-गत प्राण-मात्र की स्फूर्ति से हुआ करता है। यही 'जप' की अनुभूत योजना है।

जप की विस्तृत अनुभूत योजना

- साढ़े बारह हजार 'ॐ' के जप की जो अनुभूत योजना यहाँ बताई जा रही है, उसे प्रस्तुत विधि के अनुसार पूर्ण करने से नियत समय पर 'आत्म-साक्षात्कार' होता है।

'वैखरी' का जप एवं उसकी विधि

- 'जप' में लगने के पहले 'ॐ' के साढ़े बारह हजार जप को चार भागों में बाँट लेना चाहिए। अर्थात् पूरे जप को तीन हजार एक सौ पचीस की संख्या में चार बार में करना चाहिए।
- पहले भाग को 'वैखरी'-वाणी से जपना चाहिए। 'वैखरी' का अर्थ बिखर जानेवाली वाणी है। जिस समय वक्ता 'वैखरी' से बोलता है, उस समय उसका शब्द मुख से बाहर आकर बिखर जाता है अर्थात् इसकी गति बहिर्मुख हो जाती है, जिसके कारण वाणी का अन्तः-प्रवाह बिल्कुल बन्द हो जाता है। वह अन्दर से निकल कर बाहर ही फिंकने लगती है। 'वैखरी' के जप का अर्थ है-वाणी के बाहरी प्रवाह को अन्तर्प्रवाह में परिवर्तित कर देना।
- 'वैखरी' के जप के समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि उच्चारित 'ॐ'-शब्द के प्रवाह-कम्पन मुख-द्वार से बाहर को नहीं बहें। उच्चारित 'ओम-ध्वनि' जब बाहर के प्रवाह को छोड़कर शब्द-तन्तुओं द्वारा कण्ठ-छिद्र में जाकर 'विशुद्ध-चक्र' के वाक्-कम्पनों को सञ्चालित करके प्रवाहित

होने लगती है, तब साधक को अपने होठों को बिल्कुल बन्द करके '**वैखरी**'-गत शब्द-तन्तुओं से '**ओम्**' की ध्वनि को **घण्टा-नाद**-वत् बड़े बल-पूर्वक उच्चारित करना चाहिए, जिससे वह शब्द-समूह ओठों से टकराकर **मध्यमा**-गत वाक्-तन्तुओं को झङ्कारित करने लगे। इन वाक्-तन्तुओं के ध्वनित होते ही '**वैखरी-जप**' पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् '**वैखरी**'–'**मध्यमा**' में लय हो जाती है। इसे पूर्ण करने में **पचास मिनट** लगते हैं। इस '**जप**' की स्थिति में **मन की चञ्चलता** का बिल्कुल ह्रास हो जाता है। जो लोग मन के रोकने में हताश हो गए हों, वे इस अनुभूत विधि से लाभ उठा सकते हैं।

'मध्यमा' की जप-विधि

- **सङ्गत-विज्ञान** के अनुसार वस्तु पर पड़े हुए आघात–प्रत्याघात के साथ ही आघातित वस्तु के कण-कण में पहुँच जाते हैं, तथापि कम्पनों का आरम्भ केन्द्रीय आघात-स्थान ही होता है। इस नियम के अनुसार बोली का आरम्भ–'**परा**' से और '**जप**' का आरम्भ–'**वैखरी**' से माना जाता है।

- '**परा**' के कम्पनों से–'**वैखरी**' का कार्य और '**वैखरी**' के कम्पनों से–'**परा**' का कार्य प्रारम्भ हुआ करता है। बिखरनेवाली जगह का नाम–'**वैखरी**' और लयवाली जगह का नाम–'**परा**' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, बहिर्गत कम्पनों का नाम–'**वैखरी**' बोली और लय-गत कम्पनों का नाम–'**परा-जप**' कहा जाता है। बोली की पूर्ति के लिए '**परा**' के कम्पनों को '**वैखरी**' में लाना पड़ता है और '**जप**' की पूर्ति के लिए '**वैखरी**' के कम्पनों को '**परा**' में लय करना पड़ता है।

- जब तक '**वैखरी**' के कम्पन विखरना बन्द करके **मध्यमा** में लय नहीं होते, तब तक जप नहीं–**जपाभास** ही हुआ करता है। **जप की सिद्धि–शुद्ध '**जप**'** से होती है, **जपाभास** से नहीं।

- **शुद्ध** जप के प्रारम्भ होते ही '**वैखरी**' के कम्पन '**मध्यमा**' में लय होने लगते हैं। जैसे-जैसे '**वैखरी**' के कम्पन–'**मध्यमा**' में लय होते है, वैसे-वैसे ही साधक के लिए **वैखरी-जन्य जप**-अरोचक, निस्सार, नीरस होकर साधक **मध्यमा-जन्य जप** की मधुरता का रसास्वादन करने लगता है और थोड़े ही समय में साधक की '**वैखरी**' के कम्पन–'**मध्यमा**' के स्वर-तन्तु की सुमधुर ध्वनि से '**ओम्**' के रूप में गुञ्जित होने लगते हैं।

- जिस समय साधक के **वैखरी** के कम्पन–**मध्यमा** में लय होकर '**ओम्**' के रूप में गुञ्जायमान होने लगते हैं, उस समय साधक को बड़ी सावधानी-पूर्वक **जालन्धर-बन्ध** लगा कर एकाग्रता से जप में मनोलय-पूर्वक लग जाना चाहिए, जिससे **मध्यमा-जन्य ध्वनि** कण्ठ से टकरा कर **हृत्-कमल** की ओर प्रवाहित होने लगे और स्वर-तन्तु '**अनहद**' की ओर प्रवाहित होने लगें। ऐसा होना ही '**मध्यमा**' के **जप की पूर्ति** कहलाता है।

'पश्यन्ती' की जप-विधि

- जब 'वैखरी' के कम्पनों का '**मध्यमा**' में पूर्णतया लय हो जाता है, तब **वाक्-शक्ति** के स्वर-तन्तु '**मध्यमा**' में स्वतः विकसित होने लगते हैं।
- जैसे **ध्वनि** से **अक्षर** और **अक्षर** से **बोली** बनती है, वैसे ही **बोली** का **अक्षर** में और **अक्षर** का **ध्वनि** में लय हुआ करता है। '**बोली**' से '**अक्षर**' अधिक महत्त्व का है और '**अक्षर**' से '**ध्वनि**' अधिक महत्त्व की है। जब साधक की बोली अक्षरात्मक होकर पूर्ण-तया '**ध्वनि**' के रूप में परिवर्तित हो जाती है, तब '**पश्यन्ती**' का **जप** पूर्णता को प्राप्त होता है। इस स्थिति में साधक का **अन्तर्लय** हो जाता है और उसका **हृत्-बन्ध** होने लगता है। वैसे भी **जालन्धर-बन्ध** के पूर्णतया लग जाने पर **हृत्-बन्ध** सुगम हो जाता है। इस बन्ध के पूर्ण होने पर '**पश्यन्ती**' **का जप** भी पूर्ण हो जाता है। इस जप के पूर्ण हो जाने पर वाणी का प्रवाह '**मध्यमा**' की ओर से बिल्कुल बन्द होकर '**परा**' की ओर प्रवाहित होने लगता है, जो किसी **भाग्यवान् साधक** को ही सुलभ होता है।

'परा' का जप

- '**पश्यन्ती**' के जप की पूर्णता से ही साधक को '**परा**' के जप का अधिकार प्राप्त होता है। जैसे '**वैखरी**' के जप का अर्थ बोली को अक्षर में लय करना है, '**मध्यमा**' के जप का अर्थ अक्षरों को कम्पनों में लय करना और '**पश्यन्ती**' का अर्थ कम्पनों को उनकी मूल-शक्ति में लय करना है, वैसे ही '**परा**' का जप–**वाक्-शक्ति** को **ब्रह्म-निर्देश-तत्त्व** में लय करना है।
- मूल-शक्ति में दो तत्त्व रहते हैं–१. **वाक्-तत्त्व**, २. **ब्रह्म-निर्देश-तत्त्व**। **वाक्-तत्त्व** को **ब्रह्म-निर्देश-तत्त्व** में लय कर देना ही **पश्यन्ती के जप की पूर्णता** होती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि **ब्रह्म-निर्देश-तत्त्व** को **वाक्-तत्त्व** से रहित कर देना ही **पश्यन्ती के जप की परा-काष्ठा** या **परा-गति** है। इस जप के सिद्ध हो जाने पर साधक की **वाक्-शक्ति** वाक्-तत्त्व को छोड़ कर **परमात्मा का निर्देश** मात्र रह जाती है।
- '**सकार**'–**प्राण-जीव** से '**हकार**'–**शिव** होना ही **ओङ्कार के जप की प्रति-ध्वनि** है। **प्राण से प्रणव** होना ही मनुष्य के मनुष्यत्व का लक्षण है। ये **वाक्-चतुष्टय** के **प्रणव** की बाह्य और अन्तर ध्वनि हैं। इसे **प्रति-ध्वनि** का रूप देना ही **जप का तात्त्विक स्वरूप** है। विज्ञान के सिद्धान्त में ध्वनीय प्रति-ध्वनीय होकर अपने मूल-तत्त्व में लय पाती है। ध्वनि को प्रति-ध्वनि (के कारण) में लय कर देना ही **जप का दिव्य तत्त्व** है। इसे योग में '**उलटी गति**' कहते है। कीजिए और **प्रकाश-मय** होइए। यह **अकार**, **उकार**, **मकार** और **नाद** का सार कहा गया है। इसके आगे **नाद**, **बिन्दु**, **कला** और **अतीत** का बोध साधक को स्वयं ही हो जाएगा और साधक के मुखारविन्द से स्वतः ही निकलने लगता है–'**स जीवः केवल शिवः।**'

'मन्त्र-विद्या', सङ्गीत, साहित्य के भौतिक परिणाम

- **रसायन-शास्त्र** का एक अध्यापक जब **सङ्गीत का प्रभाव** रासायनिक क्रियाओं पर और पौधों के बीजों पर, जड़-जन्य वस्तुओं पर देखता है और लोगों को बताता है, तो बहुतों को अचम्भा होता है। मेरे मित्र मुझसे प्रायः पूछते हैं कि– 'आपको रासायनिक क्रियाओं, पेड़-पौधों, जड़-जन्य वस्तुओं पर **मन्त्र-विद्या, सङ्गीत** के प्रभाव की कल्पना किस प्रकार सूझी तथा आपका शोध-कार्य कैसा चल रहा है?
- **महा-भारत** के काल से **कथाएँ** गूँजती हैं कि **कौरव-पाण्डव** के उस महा-युद्ध में '**नारायणास्त्र**', '**पाशुपतास्त्र**', '**पर्जन्यास्त्र**' आदि का उपयोग **मन्त्र-विद्या** के द्वारा किया गया था। **शङ्कर** जी का **डमरू, सरस्वती की वीणा, नारद की इकतारी** आदि की प्रशंसा पुराणों में हम पढ़ते ही हैं। **कृष्ण कन्हैया की मुरली** की धुन से वृन्दावन की **गोपियाँ** मोहित रहती थीं। **अकबर** के काल में सङ्गीत-सम्राट **तानसेन** ने **मल्हार-रागिनी** छेड़कर रिमझिम वर्षा करा दी और दीपक राग से दिए जगमगा दिए।
- हमारे **महर्षियों** ने **वेद, उप-वेद, षट्-शास्त्र, चौदह विद्याओं** और **चौंसठ कलाओं** का ज्ञान संग्रहीत किया है। यह ज्ञान चार प्रकार का है– **१. धर्म-शास्त्र, २. अर्थ-शास्त्र, ३. काम या कला-शास्त्र** और **४. मोक्ष-शास्त्र**। उनका दावा है कि ज्ञान, विज्ञान और विद्याओं तथा कलाओं का अन्तिम लक्ष्य '**मोक्ष**' प्राप्त करना ही है। '**मोक्ष**'-शब्द मुच् धातु से बना है। मुच् अर्थात् मुक्त होना, सङ्कट से मुक्त होना, प्रपञ्च के झंझटों से अलग होना, किसी भी विद्या के द्वारा ज्ञान, कला, विज्ञान से अपना हेतु सिद्ध करना, अपना सङ्कट दूर करना, सुखी रहना आदि–यही अर्थ है।
- **वात्स्यायन काम-सूत्र** में **चौंसठ कलाओं** के अन्तर्गत **सात ललित कलाएँ** प्रमुख मानी गई हैं– **१. स्थापत्य, २. शिल्प, ३. मूर्त्ति, ४. चित्र, ५. नाटक, ६. सङ्गीत** और **७. साहित्य**। इन ललित **कलाओं** से सत्य का आविष्कार चतुराई से, सुन्दरता से अभिव्यक्त होता है। '**ललित**' वह सौन्दर्य है, जिससे चित्त को मधुर गुदगुदी होती है। '**काम-शास्त्र**' का मूल '**साम-वेद**' है। **गान्धर्व वेद, धनुर्वेद** के अन्तर्गत सम्पूर्ण कला-साहित्य है।
- '**मन्त्र-विद्या**' और **सङ्गीत** की उत्पत्ति–'**नाद**' से होती है। जब कोई वस्तु हिलती है और किसी वस्तु या पदार्थ को हिलाती है, तब **स्पन्दन, कम्पन** और **आन्दोलन** उत्पन्न होते हैं। इसी **अव्यक्त कम्पन-समूह** को '**नाद**' कहते हैं। कानों से सुनाई देनेवाले '**नाद**' को '**श्रव्य**' कहते हैं। जीव-जन्तुओं के व्यक्त उच्चारण-कम्पनों से '**शब्द**' बनते हैं और जड़-जन्य में उत्पन्न होनेवाले व्यक्त कम्पनों को '**ध्वनि**' कहते हैं। अचूक रीति से इस '**श्रव्य**' कम्पन का आकलन करना '**श्रुति**' कहलाता है। '**श्रुति**' से '**स्वर-व्यञ्जन**' बनते हैं। '**सङ्गीत-दर्पण**' में बताया है कि–

दम् नादेन व्यजते वर्णः। पदं वर्णात्, पदात् वचः, वचसो व्यवहारोऽयं नादादर्थम् । अतो जगत्।

अर्थात् '**नाद**' के योग से **स्वर-व्यञ्जन** अक्षरों का उच्चारण होता है। '**स्वर-व्यञ्जन**' से '**पद**' अर्थात् शब्द बनता है। '**शब्द-समूह**' से '**वच्**' अर्थात् '**भाषा**' बनती है। '**भाषा**' होने से जगत् के व्यवहार

चलते हैं। इसलिए यह सम्पूर्ण जगत् 'नाद-ध्वनि' ही है। 'वाक्य'-भाषा का भाग है और वाक्यों को नियमित रूप से अर्थ-सहित रखना ही 'वाङ्मय' है। चतुराई से बना हुआ भावना-मय 'वाङ्मय'-'साहित्य' कहलाता है।

- व्यक्त 'नाद' से शब्द-समूह, उससे भाषा, वाङ्मय और साहित्य उत्पन्न होता है। पातञ्जलि ने 'भाषा' का लक्षण बहुत रोचक बताया है। अग्नि देव के उपासक जिस ऋचा के द्वारा अग्नि की स्तुति करते हैं, उसी ऋचा में पतञ्जलि को 'भाषा' के लक्षण दिखाई देते हैं! यथा-

चत्वारि शृङ्गा, त्रयो अस्य पादा। द्वे शीर्षे, सप्त-हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महा-देवो मर्त्या आविवेश।

अर्थात् १. नाम, २. नाम का विस्तार, ३. क्रिया-पद, ४. क्रिया का विस्तार-ये चार मुख्य 'शृङ्ग' (सींगें) हैं। १. भूत, २. वर्तमान, ३. भविष्य-ये तीन काल ही तीन पाद (पैर) हैं। १. ध्वनि और २. अर्थ-ये दो ऊँचे स्कन्ध हैं। सात विभक्तियाँ ही सात हाथ हैं। त्रिधा बद्धो = १. हृदय, २. कण्ठ, ३. मूर्ध्नि। इस प्रकार से बना हुआ 'शब्द-समूह-रूपी' वृषभ देव-वैखरी-रूप से शब्द करके बाहर आता है। इस व्याकरण के अनुसार शब्दानुशासन से अर्थात् 'शब्द' के नियमों से बने हुए 'वाक्य' मनो-रूपी छन्नी से छनकर कुशलता से जब सौन्दर्य-रूप धारण करते हैं, तब उस वाङ्मय को 'साहित्य' या 'काव्य-कला-कृति' कहते हैं।

- अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का सर्जन करने के लिए 'कला' का अवतार हुआ और 'कला' ने अपना ललित सहयोग देकर, जब वाचिक अभिव्यक्ति को आकर्षक, मोहक तथा प्रभावशाली बनाया, तब उस अभिव्यक्ति का नाम 'साहित्य' हुआ, जिसका भावना-मय परिणाम शरीर और मन पर होता है।
- 'साहित्य' की उत्पति 'वाङ्मय' से, वाक्य-समूह की 'शब्द' से और शब्द की जीव-जन्य से निकली श्रव्य-ध्वनि से होती है अर्थात् 'ध्वनि' का भौतिक परिणाम ही 'साहित्य' द्वारा अखिल जगत् पर प्रभावी होता है। इससे सिद्ध होता है कि 'ध्वनि-विज्ञान' के अन्तर्गत 'साहित्य' का समावेश 'ध्वनि' के भौतिक परिणाम के रूप में है।

गीतम् वादात्मकम्, वाद्यं दान-व्यक्त्या प्रशस्यसे, तत् अवयवानुगतम् नृत्यम् ।

अर्थात् 'गीत' या गेय साहित्य-'नाद' पर अवलम्बित है। 'वाद्य' या सङ्गीतात्मक ध्वनि उत्पन्न करनेवाला मन्त्र 'नाद-उत्पन्न-कर्त्ता' पर अवलम्बित है और 'नृत्य' इन दोनों के आधार पर होता है। इसलिए पूरा 'सङ्गीत'-नाद के द्वारा होनेवाले 'कम्प' या 'आन्दोलन' पर ही आधारित है। 'सङ्गीत-नाद' की विशेषता है-मन का रञ्जन या मधुरता। कहा भी है-'गीत-वादित्र- नृत्यानाम् रक्ति साधारणो गुणः।'

- 'नाद' के दो प्रकार होते हैं-१. आहत और २. अनाहत। 'अनाहत-नाद'-सङ्कट-मोचक और मुक्ति-दायक होता है, लेकिन वह मन-रञ्जक नहीं है। इसी नाद से 'मन्त्र-विद्या' बनी है। 'अनाहत नाद' तथा 'मन्त्र-विद्या' को सिद्ध करने के लिए गुरु द्वारा बताए गए मार्ग के अनुसार चलना पड़ता है।

✦ आहत-नाद–'**मन-रञ्जक**' और '**भव-भञ्जक**' दोनों ही हैं। **आहत-नाद** से ही व्यवहार में '**ध्वनि**' इत्यादि **स्वर-ग्राम, मूर्धना, घाटादिक** से राग-रागिनियाँ बनकर मनोरञ्जन होता है। **गीत की महिमा** अपार है। हृदय, कण्ठ और मूर्ध्नि से '**नाद**' निकलता है। मध्य तार-स्वर में '**मन्त्र**' खेलता है। श्रव्य '**नाद**' के एक सप्तक में **६६ श्रुतियाँ** होती हैं। **सङ्गीत में बाइस सूक्ष्म ध्वनियाँ** मानी गई हैं और वे सभी '**मन**' पर प्रभाव डालती हैं। इन बाइस **श्रुतियों** में ठप्पे होते हैं, जो '**स्वर**' कहलाते हैं। '**स्वर**', स्वयं मधुर होकर मनोरञ्जन करता है। झङ्कार-युक्त रञ्जनात्मक '**श्रुति**' ही '**स्वर**' बनती है। उदाहरणार्थ, '**मालन्धरा**' और '**भीम-पलासी**' दोनों में **कोमल-निषाद** '**स्वर**' होता है। '**मालकंस**' निषाद-क्षोभिणी-श्रुति पर उस '**श्रुति**' को **निषाद** बनाती है और '**भीम-पलासी**' में तीव्रा श्रुति-कोमल **निषाद स्वर** कहलाती है अर्थात् '**मालकंस**' में **क्षोभिणी श्रुति** और '**भीम-पलासी**' में तीव्रा श्रुति-'**स्वर**' होकर मधुर लगती है। इन श्रुतियों में बदल होने से वे राग बे-सुरे और क्लिष्ट प्रतीत होंगे।

✦ **मूलाधार चक्र** से दो अंगुल ऊपर '**अग्नि-शिखा**' नाम की नाड़ी है, जो '**ब्रह्म-ग्रन्थि**' कहलाती है। उससे बहनेवाले प्राण-वायु चलायमान होकर धीरे-धीरे ऊँचा होता है और कण्ठ से **षड्-वाक्य स्वरों** द्वारा बाहर आता है। स्वरों के इस समूह को '**ग्राम्य**' कहते हैं। इसके क्रमशः **आरोह, अवरोह, मूर्छना** या **थाट** होते हैं।

✦ '**याज्ञवल्क्य-संहिता**' और '**नारद-संहिता**' में प्राणियों की बोली में स्वरों का पृथक्-करण बताया गया है। मोर–'**षड्-स्वर**' में, गाय-चातक '**ऋषभ-स्वर**' में, बकरा–'**गन्धार-स्वर**' में, क्रौञ्च–'**मध्यम स्वर**' में, कोयल–'**पञ्चम स्वर**' में, मेढक या घोड़ा–'**धैवत-स्वर**' में और हाथी–'**निषाद-स्वर**' में बोलता है। इसमें भी और सूक्ष्म निरीक्षण यहाँ तक है कि वसन्त ऋतु में जब कलिका खिलती है, उस समय की **कोयल की कूक पञ्चम** होती है। अंकुश से आघात करने पर हाथी '**निषाद-स्वर**' से चिल्लाता है। इसके अतिरिक्त षड्-ऋतुओं के छः स्वर '**रे-ग-म-प-ध-नी**' माने गए हैं।

✦ **स्वरों का रस-विभाजन** भी दिया है। **षड्ज, ऋषभ-अद्भुत** और **वीर-रसात्मक। गन्धार** और **निषाद-करुण-रसात्मक, मध्यम-हास्य, पञ्चम-शृङ्गार** और **धैवत-भयानक** तथा **वीभत्स** रस होते हैं। इसका अनुभव बुद्धि को जँचता है। बकरे का बलिदान होते समय, उसकी चीख '**गन्धार-स्वर**' की कारुण्य-मय होती है। '**पञ्चम**' स्वर का लालित्य वसन्तागमन में कोयल की कूक से ज्ञात होता है। अंकुश द्वारा पीड़ित हाथी '**निषाद-स्वर**' में कारुण्य की अनुभूति कराता है।

✦ पण्डितों ने राग-रागिनियों की व्याख्या की है– '**योऽयं ध्वनि-विशेषस्तु, स्वर-वर्ण-विभूषितः। रञ्जको जन-चित्तानाम्, स रागः कथितो बुधैः**–अर्थात् वह ध्वनि-विशेष, जो स्वर तथा वर्ण से मण्डित है और जो सर्व-साधारण का मन-रञ्जन करती है, उसे '**राग**' कहते हैं।

✦ **शिव-मत, हनुमत्-मत, रागार्णव**-मत से **छः ऋतुओं के छः राग**, उनकी भार्याएँ, पुत्र, पुत्र-वधू–ऐसा **राग-रागिनियों का विस्तार** दिया है। इनका भी रसात्मक विभाग है। **करुण-रस-द्योतक**

जोगिया, मालकंस, केदार, गौड-सारङ्ग, पीलू अल्हैया; शृङ्गार-रसात्मक वसन्त, विहाग, काफी देशी, देस; शान्त और भक्ति-रस-द्योतक भीम-पलासी, भैरव, मल्हार, वसन्त, पूरिया, गौरी, जय-जयवन्ती, भैरवी आदि। राग-रागिनियों से रोग-निवारण होता है, ऐसा भी वर्णन मिलता है हिण्डोल-राग–सिर-दर्द, मोह तथा शोक-नाशक है, भैरव–से बुखार हटता है, श्रीराग–व्यग्र चित्त को शान्त करता है और लता-वनस्पति को नव-पल्लव देता है, मालकंस–से बेहोशी दूर होती है तथा डिस्टीरिया में लाभ होता है, पूरिया–रक्त-चाप में उपयुक्त है।

तात्पर्य यह कि **नाद-कम्प** मधुर मन-रञ्जन करते हुए भी जीवनीय उपयोग के हैं। **अनाहत-नाद** की ध्वनि, जिसमें अर्थ और मन-रञ्जन नहीं होता, मुक्ति-दायक होती है और सङ्कट का निवारण करती है। **ह्रीं, क्लीं, श्रीं, सौं** आदि बीजों की ध्वनि से **हृदय-पङ्कज-शक्तिमान्** तथा **क्रिया-शील** होते हैं। ऐसे बीज-स्वर '**बलातिबला विद्या, कादि-हादि-सादि-विद्या**', **बाला-षोडशी-राज-राजेश्वरी-त्रिपुर-सुन्दरी**' आदि हैं। इसका रहस्य शब्दों में खोलना सम्भव नहीं है, तथापि इतना कहा जा सकता है कि सृष्टि में जो-जो प्रचण्ड हल-चल, गुञ्जन व सुरों की झम-झमात्मक पिण्ड-गोलाई दिखाई देती है, उसका उद्‌गम है–**आहत, अनाहत नाद के श्रव्य स्वरूप में।**

- **भावनात्मक साहित्य, रञ्जनात्मक सङ्गीत और क्रिया-शील मन्त्रों** के अनुभव पाने की कल्पना बहुत वर्षों से मेरे मन में सञ्चारित रही है। कपिल रसायन पर ध्वनियों की क्रिया जब सही निकली, तब पौधों के बीजों पर प्रयोग करना आरम्भ किया, उसमें सफलता मिली। इस कार्य के लिए राग-रागिनियों का संग्रह मुझे अनेक लोगों से मिला। जबलपुर के **डाक्टर** और **श्रीमती हर्षे** ने अपने कुछ टेप रिकार्ड मुझे दिए। केन्द्रीय सूचना-मन्त्री **डा॰ केसकर** की कृपा से कुछ राग-रागिनियों के रिकार्ड प्राप्त हुए। '**पद्म-विभूषण**' **उस्ताद अलाउद्दीन खाँ मैहरवालों** ने, ग्वालियर के '**पद्म-श्री' कृष्णराव पण्डित** और **पूनावाले मास्टर कृष्णा** आदि सङ्गीतज्ञों ने मुझे अपने गीत दिए। इन सबका मैं हृदय से आभारी हूँ।
- इस लेख के वाचकों से मेरी यह प्रार्थना है कि **शब्द-ध्वनि, भाषा-गीतों की स्वर-श्रुतियों, मन्त्रों के बीज–इनमें हानि-लाभ** करने की प्रचुर शक्ति है। इसलिए अपनी बोली में, अपने भाषण में, अपने लेख में, अपने गाने में और जपनेवाले '**मन्त्र**' में बड़ी सावधानी, लगन, परिश्रम की आवश्यकता को समझें। मैंने जो कुछ खोज की है, उससे यही सिद्ध होता है कि **ध्वनियों का क्रिया-शीलत्व** लाभ-दायक भी होता है और हानि-कारक भी।

मनन करने योग्य बातें

'मन्त्र'-शब्द–'**मन्त्र गुप्त परि-भाषणे**' धातु पर '**न्**' प्रत्यय लगाने से सिद्ध होता है। इसका अर्थ गोप्य अथवा रहस्य-पूर्ण विचार है।

❀ ❀ ❀

मन्त्र-कल्पतरु

कौल-कल्पतरु पं० देवीदत्त शुक्ल

जिनकी प्रेरणा से 'मन्त्र-कल्पतरु' का संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

मन्त्रों की महत्ता

कौल-कल्पतरु
पं० देवीदत्त शुक्ल

मन्त्र-योग की महत्ता एवं कुछ विशेष बातें

कौल-कल्पतरु
पं० देवीदत्त शुक्ल

मन्त्रों की महत्ता

- जिन **मन्त्रों** को आज हम प्रायः काल्पनिक कहते हैं, वे किसी जमाने में **'जन-सेवा'** के साधन थे। **'रोग-निवारण'** से लेकर **'मोक्ष-प्राप्ति'** तक का कार्य **'मन्त्र'** ही करते थे। हम कह सकते हैं कि **भौतिक विज्ञान** का चमत्कार हम देख रहे हैं, देख सकते हैं, किन्तु इस **प्राचीन विज्ञान** से हमें कुछ भी लाभ नहीं हो रहा है। बात ठीक तो है, किन्तु इस **भौतिक विज्ञान** के विकास के लिए कितने व्यक्ति क्रिया-शील हैं, कितना पैसा खर्च किया जा रहा है, कितने परीक्षण किए जा रहे हैं और **'मन्त्र-शास्त्र'** जैसे विषय पर क्या प्रयत्न किए गए या किए जा रहे हैं?
- आज के विज्ञान के अनुसार **मन्त्रों** में **निहित ध्वनि** कोई महत्त्व नहीं रखती क्योंकि **श्रव्य ध्वनि** यदि डेढ़ सौ वर्षों तक निरन्तर उत्पन्न की जाए, तो उससे केवल एक प्याली पानी गरम करने योग्य ऊर्जा उत्पन्न हो सकती है; किन्तु **भारतीय मतानुसार** तो इस **श्रव्य ध्वनि** को **निम्न श्रेणी की ध्वनि** माना जाता है। सबसे अधिक **प्रभावशाली ध्वनि** तो केवल अनुभव की जाती है। **'मानसिक जप'** में होंठ नहीं हिलते। हमें श्वास में ही वह ध्वनि प्रस्फुटित होती अनुभव होती है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो हमें अनुभव होता है; उस शब्द के लिए **'स्फोट'** आवश्यक होता है।
- **भारतीय सिद्धान्त-'शब्द'** को **'ब्रह्म'** का स्वरूप मानकर उसकी प्रतिष्ठा करता है तथा **'शब्द'** में **एक ही तन्मात्रा** है। शेष तत्त्वों में तन्मात्राओं का भार बढ़ता जाता है। **'मन्त्र-शास्त्र'** में **'आकाश-तत्त्व'** की साधना की जाती है और **'योग'** में **'वायु'** की। **योगी-'प्राण-वायु'** के द्वारा जिस **'कुण्डलिनी'** का जागरण करता है, उसी का जागरण **'मन्त्र के स्फोट'** से हो सकता है।
- **'मन्त्र-शास्त्र'** केवल **ध्वनि-विज्ञान** ही नहीं है, **भावना-विज्ञान** भी है। ध्वनि तो गुणित करनेवाली शक्ति है। मुख्यतः **'मन्त्र की भावना'** क्रिया-शील रहती है। **ध्वनि की तरङ्गें** क्रम से गमन करती हैं और **विचारों की चुम्बकीय शक्ति** (···) रूप में गमन करती हैं। अभ्यास करने पर दोनों की एक ही गति हो सकती है। **वेदों की ऋचाओं** के स्वर इसी क्रम की पुष्टि करते हैं।
- **ध्वनि-विज्ञान** की विशेषता अगर देखनी है, तो **सङ्गीत-शास्त्र** है, जिसके परीक्षण स्थावर और जङ्गम जगत् पर किए जा रहे हैं। पहले दीपक जलते थे। आज **गाएँ-'राग'** से **मुग्ध** होकर अधिक दूध देती हैं, **पेड़-पौधे**-जल्दी बढ़ते हैं अर्थात् शक्ति के उपयोगों में ही परिवर्तन हुआ है, मूल शक्ति तो अक्षुण्ण है तथा इन प्रयोगों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस माध्यम में **'शक्ति'** है।
- भारतीय परम्परानुसार **'वैखरी-वृत्ति'** से जो स्फोट होता है, वह अधिक शक्ति-शाली और प्रयत्न साध्य होता है। अतः मन्त्र का फार्मूला **शब्द+भावना-शक्ति = मन्त्र** होता है।
- सन्ध्या के समय में मन्दिरों में गूँजती वाद्यों की ध्वनि एक **भक्ति-भावना** का सञ्चार करती है, तो युद्ध के समय बजनेवाली बाजे की धुन **वीर-रस** का उद्दीपन करती है। मृत्यु के समय का सङ्गीत श्रोता के मन

में **करुणा का भाव** उत्पन्न करता है। यह है **ध्वनि का प्रभाव**, जो **अन्तर्राष्ट्रीय साम्य** है। इससे प्राणी-मात्र प्रभावित होता है।

- '**शब्द**' की दूसरी विशेषता **संवहनीयता** होती है। '**शब्द**' ठोस वस्तु के माध्यम से भी गमन कर सकता है। एक ठोस वस्तु को एक तरफ यदि ठोका जाए, तो वह ध्वनि दूसरी तरफ सुनी जा सकती है। रेल-गाड़ी के बहुत दूर रहने पर भी पटरियों में खट्-खट् की आवाज होने लगती है। इस सबका यह अर्थ होता है कि '**शब्द**' की शक्ति अपरिमेय होती है।
- पृथ्वी पर जितने परिवर्तन होते हैं, उनमें से बहुत से '**शब्द**' के द्वारा ही किए जाते हैं। इसके साथ ही यह भी सर्व-विदित है कि शक्ति के स्रोतों में '**शब्द**' भी **शक्ति का एक स्रोत** है। **भीषण** '**शब्द**' से व्यक्ति भय-भीत हो जाता है, मकान धरा-शायी हो जाते हैं और **मधुर** '**शब्द**' से हर कोई प्रसन्न हो जाता है।
- कभी-कभी हमारे कानों में किसी परिचित गाने का अथवा शब्दावली की गूँज का भान होता है, जब कि प्रत्यक्ष में उसका कारण कहीं भी नहीं रहता। इसका अर्थ यही नहीं है कि वह हमारा पूर्व-श्रुत अनुभव है, वरन् वह ध्वनि गूँज रही होती है और हमारे कान उसे ग्रहण कर लेते हैं। इसी तरह कई बार हमें अपरिचित स्वरों का भी भान होता है, किन्तु हम उन पर ध्यान नहीं देते क्योंकि हमारा उनका कोई पूर्व-सम्बन्ध नहीं रहता।
- **भारतीय विज्ञान** कहता है-'**यत्-पिण्डे, तद् ब्रह्माण्डे**'। किसी भी इन्द्रिय को प्रबल और विशुद्ध कर लेने पर वह प्रत्यक्ष और परोक्ष का ज्ञान कर लेने में समर्थ हो जाती है। यह अनुभव हमें '**शब्द**' की **शक्ति** का ज्ञान करा देता है।
- **विचारों के चुम्बकीय प्रवाह का परीक्षण** हमें होता रहता है। जैसे किसी सिंह की गुफा के पास जाने पर हमें स्वतः भय का भान होता है, रोमाञ्च हो उठता है। रात्रि में डाकुओं द्वारा आतङ्कित क्षेत्र में प्रवेश कर लेने पर मन में एक अनजानी आशङ्का छा जाती है। इस कथन में भी कि पहले ऋषियों की कुटिया में '**सिंह**' और '**मृग**' एक ही स्थान पर एक साथ पानी पीते थे, यही विचारों की ही विद्युत्-शक्ति प्रभावशाली रहती थी। किसी भी कुत्ते को हम यदि प्रेम से देखते हैं, तो वह पूँछ हिलाने लग जाता है और क्रोध से देखने पर गुर्राता है। इसमें भी उसी **वैचारिक विद्युत-शक्ति** का प्रवाह प्रभावी होता है।
- इस सबसे यह जाना और माना जा सकता है कि '**शब्द**' और '**विचार**' दोनों में एक प्रबल शक्ति रहती है तथा **मन्त्रों** में इन दोनों शक्तियों का समावेश रहता है।
- **भारतीय** '**लिपि**' और '**अक्षर**'-पूर्णतः वैज्ञानिक हैं तथा उनकी ध्वनि में एक विशेष प्रकार का रहस्य छिपा हुआ है। मन्त्र में '**आस्था**' एक प्रबल और आवश्यक तत्त्व होता है, जिसके लिए लोग आना-कानी करते हैं। वैसे बिना '**आस्था**' के भी **मन्त्र-शक्ति** का अनुभव और प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु उसमें विलम्ब अधिक लगता है क्योंकि **मन्त्र** अपने आप में एक विशिष्ट वातावरण रखता है तथा उसकी निरन्तरता से व्यक्ति उस वातावरण से अवश्य प्रभावित होता है।

- **मन्त्रों** के साधन में किसी मन्त्र को दस हजार बार, किसी को एक लाख बार और किसी का पुरश्चरण किया जाना निर्दिष्ट होता है। यह सब उस **मन्त्र** की और उद्देश्य की विशेषता पर निर्भर करता है।
- जिस **पाण्डु** रोग की चिकित्सा '**ऐलोपैथी**' दो और तीन सप्ताह में करती है, '**आयुर्वेद**' एक सप्ताह में करता है, उसी की चिकित्सा '**मन्त्र**' के द्वारा तीन ही दिन में कर दी जाती है और विशेषता यह कि रोगी को न दवा दी जाती है, न परहेज बताया जाता है। झाड़ने पर जिस पानी में हाथ दिलाया जाता है, वह पानी ही पीला हो जाता है और तीसरे दिन तो पानी साफ हो जाता है।
- '**टाइफाइड**' एक भयानक बीमारी है। इसकी चिकित्सा में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। इसके साथ ही इसकी चिकित्सा मँहगी भी पड़ती है, किन्तु यह सुनकर सभी को आश्चर्य होगा कि मैंने एक व्यक्ति को देखा था, जो '**टाइफाइड**' के रोगी को '**मन्त्र**' द्वारा झाड़कर नीरोग कर देते थे। और वह भी मन्त्र तीन ही दिनों में। ऊपर से विशेषता यह कि रोगी न आ सके, तो उसकी कमीज-बनियान को ही झाड़ दिया जाता था!
- **साँप काटे की चिकित्सा** करनेवाले तो प्राय: प्रत्येक प्रान्त में मिल जाते हैं और उनकी विचित्र विधियाँ भी हम लोग सुनते ही रहते हैं, किन्तु हम उन पर विश्वास करने को तैयार नहीं हैं। यही एक कारण है कि ये सब विधियाँ लुप्त होती जा रही हैं। इन्हें हमने ही '**अन्ध-विश्वास**' कहकर हेय मान लिया है। दूसरा कारण यह भी है कि **मन्त्र-विज्ञान** के ज्ञाता कम रह गए हैं और ढोंग अधिक चल गया है। इसलिए भी इस पर से विश्वास उठता जा रहा है, परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि **मन्त्र-शास्त्र** ही झूठा है। आज इसे प्रचलित किया जाए और व्यवहार में लाया जाए तथा इसके परीक्षण किए जायँ, तो राष्ट्रीय श्रम और धन—दोनों की बचत हो सकती है।

मनन करने योग्य बातें

'**तन्त्र-शास्त्र**' के अनुसार—'**मन्त्र**' उन शब्द या वाक्यों को कहते हैं, जिनका '**जप**' भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रसन्नता अथवा भिन्न-भिन्न कामनाओं की सिद्धि के लिए करने का विधान है।

❀ ❀ ❀

सांसारिक आवागमनादि भयों का नाश करके '**मन्त्र**'—भक्त की रक्षा करता है, अतः वह '**मन्त्र**' कहलाता है।

❀ ❀ ❀

मन्त्रानुष्ठान से भगवती जगदम्बिका प्रसन्न होती हैं, उनकी प्रसन्नता से सकल देवता वशीभूत हो जाते हैं।

❀ ❀ ❀

मन्त्र-योग की महत्ता एवं कुछ विशेष बातें

- 'मन्त्र-योग'–एक यथार्थ व पूर्ण-शास्त्र है।
- 'मन्त्र'–दैवत है। 'मन्त्र' और उसका अध्यक्ष देवता एक है। 'मन्त्र'–दिव्य-शक्ति है। 'मन्त्र' के बार-बार रटने से काम-क्रोध-लोभादि 'पाश' (मल) दूर होते हैं।
- 'मन्त्र' को ताल-स्वर-सहित उच्चारण करने से मन की चञ्चल वृत्तियाँ दूर होकर साधक दिव्यत्व को प्राप्त करता है।
- 'मन्त्र' को शक्तिशाली बनाकर उसके द्वारा फल प्राप्त कर लेने की योग्यता ही 'मन्त्र-सिद्धि' कहलाती है। साधनाा के द्वारा जब 'मन्त्र-शक्ति' जागृत होती है, तब उसका अधिकारी देवता प्रकट होता है। जब पूर्ण 'मन्त्र-सिद्धि' प्राप्त हो जाती है, तब देवता का साक्षात्कार होता है।
- सभी 'मन्त्र' ऋषियों द्वारा प्राप्त हुए हैं। प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता, वीज, शक्ति और कीलक (आधार) होते हैं, जिनके द्वारा 'मन्त्र-शक्ति' विशेष रूप से सुदृढ़ होती है। पूर्ण श्रद्धा, प्रेम-भाव और पवित्रता के साथ 'मन्त्र' का निरन्तर जप करने से 'मन्त्र-शक्ति' जागृत होती है और वह साधक को सिद्धि प्रदान करती है, जिसके द्वारा वह सुख, शान्ति और अमरत्व प्राप्त करता है।
- 'मन्त्र'–तेज-पुञ्ज है। 'मन्त्र' –अलौकिक सिद्धियाँ व शक्तियाँ प्रदान करता है। 'मन्त्र'–दृढ़ता एवं शान्ति प्रदान करता है। 'मन्त्र' में लौकिक, पारलौकिक ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति होती है।
- 'मन्त्र' का जप कुछ समय के लिए जोर-जोर से, कुछ समय के लिए धीरे-धीरे और फिर कुछ समय के लिए मन में कीजिए। मन विभिन्नता या परिवर्त्तन चाहता है। एक ही प्रकार से कोई कार्य अधिक समय तक करते रहने से उसमें अरुचि हो जाती है।
- मन में किया जानेवाला 'मन्त्र-जप' अधिक शक्ति-शाली होता है। उसको 'मानसिक मन्त्र-जप' कहते हैं। जो जप जोर-जोर से उच्चारण किया जाता है, उसे 'वैखरी मन्त्र-जप' कहते हैं। जो जप धीरे-धीरे किया जाता है, उसे 'उपांशु मन्त्र-जप' कहते हैं।
- बुद्धि-रहित अर्थात् बिना भाव के किया गया 'मन्त्र-जप' भी साधक के हृदय व मन को पवित्र करने में समर्थ होता है। ज्यों-ज्यों मन शुद्ध होता जाएगा, त्यों-त्यों भाव भी अपने आप आता जाएगा।
- शब्द या ध्वनि–आकाश का गुण है। वह आकाश के द्वारा उत्पन्न नहीं होता, परन्तु आकाश में उसका प्रकाशन होता है।
- 'मन्त्र'–विशेष वर्णों के द्वारा बनता है। इन वर्णाक्षरों का क्रमिक जुटाव ही ध्वनि-विशेष को सङ्केतित करता है।
- 'मन्त्र' का वर्ण और स्वर-सहित शुद्ध उच्चारण करना चाहिए। 'शब्द'– चित्-शक्ति का स्पष्ट रूप हैं।

- '**वाचिक मन्त्र-जप**'–सांसारिक कोलाहल को बन्द कर देता है। इसमें जप खण्डित नहीं होता। वाचिक जप में यह लाभ है। साधारण मनुष्यों के लिए '**मानसिक मन्त्र-जप**' कठिन है तथा कुछ समय के बाद टूटन या अवरोध आ जाता है।
- रात्रि के समय '**मन्त्र-जप**' करते समय यदि आपको निद्रा आने लगे, तो हाथ में माला लेकर मन्त्रोच्चारण करते हुए मनिकाओं को घुमाइए। निद्रा भाग जाएगी। '**वाचिक मन्त्र-जप**' का यह दूसरा लाभ है। इस समय '**मानसिक जप**' का त्याग कीजिए। जब निद्रा आने लगे, तो खड़े हो जाइए और जप कीजिए।
- **शाण्डिल्य उपनिषद्** में कहा है–'**वैखरी मन्त्र-जप**' का प्रतिफल जैसा **वेदों** में कहा है, वैसा होता है, तो उससे हजार गुना अधिक फल '**उपांशु मन्त्र-जप**' से होता है तथा उससे करोड़ गुना अधिक फल '**मानसिक मन्त्र-जप**' से होता है।
- एक वर्ष तक **कण्ठ** में '**मन्त्र-जप**' कीजिए। यह '**वैखरी मन्त्र-जप**' है। दो वर्ष तक **हृदय** में कीजिए। यह '**मानसिक मन्त्र-जप**' है। एक वर्ष तक **नाभि** में कीजिए। यह '**श्वास मन्त्र-जप**' है। जब आपका अभ्यास बढ़ जाएगा, तब आपके अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा उरू में '**मन्त्र-जप**' होने लगेगा। आपके सारे शरीर में कँपकँपी होने लगेगी। आप **इष्ट-देवता के प्रेम** में गद्गद हो जाएँगे। आप अपने शरीर में ऐंठन तथा नेत्रों में आनन्दाश्रुओं का अनुभव करेंगे। आप **स्फूर्ति, ज्ञान** और **परमानन्द** को प्राप्त करेंगे। आपकी **वाक्-शक्ति** बढ़ेगी। आप अनेकानेक **सिद्धियाँ, ऐश्वर्य** तथा **पर-लोक के भोग** प्राप्त करेंगे।
- '**मन्त्र-जप**' करते समय यह भावना होनी चाहिए कि आपके हृदय में देदीप्यमान प्रकाश के भीतर आपके **इष्ट-देव** विराजमान हैं।
- किसी '**मन्त्र**' को सिद्ध करने के लिए उस '**मन्त्र**' का जब किसी निश्चित संख्या तक विशेष विधि-विधान के साथ भाव-सहित '**जप**' किया जाता है, तो उसे '**मन्त्र-पुरश्चरण**' कहते हैं। '**मन्त्र-पुरश्चरण**' में साधारणतया जिस मन्त्र के जितने अक्षर हों, उस मन्त्र के उतने ही लक्ष जप किए जाते हैं। '**मन्त्र-पुरश्चरण**' करनेवाले साधक को **फलाहार, शाकाहार** या **दुग्धाहार** करना चाहिए। वह कन्द, मूल, दही तथा हविष्यान्न (घी, दूध, शक्कर के साथ पके हुए चावल) भी ले सकता है। पवित्र नदी के '**तट**' पर, पहाड़ों के '**शिखर**' पर या '**गुफा**' में, पावन सघन '**वनों**' में, अश्वत्थ या बिल्वादि वृक्ष के नीचे किसी '**तीर्थ-स्थान**' में, अपने '**घर**' के '**पूजा-कक्ष**' या '**गो-शाला**' या '**चतुष्पथ**'–जैसे विशिष्ट स्थानों में '**पुरश्चरण**' हो सकता है।

मनन करने योग्य बातें

कर-चरणादि-विशिष्ट-स्वरूप–देवता का स्थूल शरीर है, 'मन्त्र'–सूक्ष्म शरीर और 'वासना-मय रूप'–पर-शरीर है, जो ब्रह्मात्मा, परमात्मादि शब्दों से व्यवहृत होता है।

❀ ❀ ❀

भगवान् श्रीविष्णु-नाम-साधना

शङ्खं सु-चक्रं सु-गदां सरोजं, दोर्भिर्दधानं गरुडाधिरूढम् ।
श्रीवत्स-चिह्नं जगदादि-मूलं, तमाल-नीलं हृदि विष्णुमीडे।।

अर्थात् जो अपने हाथों में शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किए हैं, जो गरुड़ पर सवार हैं, जिनके वक्षःस्थल में श्रीवत्स का चिह्न है, जो इस जगत् के आदि मूल कारण हैं, उन तमाल (नीली छालवाले वृक्ष) के समान नीले वर्णवाले भगवान् विष्णु की मैं स्तुति करता हूँ।

अष्टाक्षर-'श्रीविष्णु'-नाम-साधना

नाम-माहात्म्य-'ॐ नमो नारायणाय'-नाम-मन्त्र सब प्रकार की समृद्धि देनेवाला है। इसका जप करने से सभी प्रकार के कष्टों का निवारण होता है और सुख-समृद्धि की प्राप्ति होती है।

विनियोग-ॐ अस्य श्रीविष्णु-अष्टाक्षर-महा-मन्त्रस्य श्रीसाध्य-नारायण ऋषिः। गायत्री छन्दः। श्रीविष्णुः देवता। मम सर्व-कामना-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास-शिरसि श्रीसाध्य-नारायण-ऋषये नमः। मुखे गायत्री-छन्दसे नमः। हृदये श्रीविष्णवे देवतायै नमः। मम सर्व-कामना-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

कर-न्यास-ॐ क्रुद्धोल्काय स्वाहा अंगुष्ठाभ्यां नमः। ॐ महोल्काय स्वाहा तर्जनीभ्यां स्वाहा। ॐ वीरोल्काय स्वाहा मध्यमाभ्यां वषट्। ॐ द्युल्काय स्वाहा अनामिकाभ्यां हुम्। ॐ सहस्त्रोल्काय स्वाहा करतल-कर-पृष्ठाभ्यां फट्।

षडङ्ग-न्यास-ॐ क्रुद्धोल्काय स्वाहा हृदयाय नमः। ॐ महोल्काय स्वाहा शिरसे स्वाहा। ॐ वीरोल्काय स्वाहा शिखायै वषट्। ॐ द्युल्काय स्वाहा कवचाय हुम्। ॐ सहस्त्रोल्काय स्वाहा अस्त्राय फट्।

मन्त्र-न्यास-ॐ नमो हृदयाय नमः। नं नमो शिरसे स्वाहा। मों नमो शिखायै वषट्। नां नमो कवचाय हुम्। रां नमो नेत्र-त्रयाय वौषट्। यं नमो अस्त्राय फट्। णां नमो दक्ष-पार्श्वे। यं नमो वाम-पार्श्वे।

ध्यान-

उद्यत्-कोटि-दिवाकराभमनिशं शङ्खं गदां पङ्कजम्,
चक्रं विभ्रतमिन्दिरा-वसुमती-संशोभि-पार्श्व-द्वयम्।
कोटीराङ्गद-हार-कुण्डल-धरं पीताम्बरं कौस्तुभो-
द्दीप्तं विश्व-धरं स्व-वक्षसि लसत्-श्रीवत्स-चिह्नं भजे।।

अर्थात् उदीयमान करोड़ सूर्य के समान आभा, शङ्ख-गदा-कमल-चक्र-धारी, दोनों ओर लक्ष्मी एवं वसुमती से शोभायमान। इन्द्र-नील मणि, अङ्गद, हार-कुण्डल-धारी, पीत-वस्त्र, कौस्तुभ मणि से उज्ज्वल, वक्षः-स्थल पर 'श्री-वत्स'-चिह्न से विभूषित, विश्वम्भर विष्णु भगवान् का मैं भजन करता हूँ।

मानस-पूजा- लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीविष्णवे समर्पयामि नमः। हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीविष्णवे समर्पयामि नमः। यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीविष्णवे घ्रापयामि नमः। रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीविष्णवे दर्शयामि नमः। वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीविष्णवे निवेदयामि नमः। सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीविष्णवे समर्पयामि नमः।

मन्त्र- ॐ नमो नारायणाय (८ अक्षर)। 'वर्ण-माला' में इस मन्त्र का 'जप' निम्न प्रकार से करना चाहिए-

ॐ

१. अं ॐ नमो नारायणाय अं
२. आं ॐ नमो नारायणाय आं
३. इं ॐ नमो नारायणाय इं
४. ईं ॐ नमो नारायणाय ईं
५. उं ॐ नमो नारायणाय उं
६. ऊं ॐ नमो नारायणाय ऊं
७. ऋं ॐ नमो नारायणाय ऋं
८. ॠं ॐ नमो नारायणाय ॠं
९. ऌं ॐ नमो नारायणाय ऌं
१०. ॡं ॐ नमो नारायणाय ॡं
११. एं ॐ नमो नारायणाय एं
१२. ऐं ॐ नमो नारायणाय ऐं
१३. ओं ॐ नमो नारायणाय ओं
१४. औं ॐ नमो नारायणाय औं
१५. अं ॐ नमो नारायणाय अं
१६. अः ॐ नमो नारायणाय अः
१७. कं ॐ नमो नारायणाय कं
१८. खं ॐ नमो नारायणाय खं
१९. गं ॐ नमो नारायणाय गं
२०. घं ॐ नमो नारायणाय घं
२१. ङं ॐ नमो नारायणाय ङं
२२. चं ॐ नमो नारायणाय चं
२३. छं ॐ नमो नारायणाय छं
२४. जं ॐ नमो नारायणाय जं
२५. झं ॐ नमो नारायणाय झं
२६. ञं ॐ नमो नारायणाय ञं
२७. टं ॐ नमो नारायणाय टं
२८. ठं ॐ नमो नारायणाय ठं
२९. डं ॐ नमो नारायणाय डं
३०. ढं ॐ नमो नारायणाय ढं
३१. णं ॐ नमो नारायणाय णं
३२. तं ॐ नमो नारायणाय तं
३३. थं ॐ नमो नारायणाय थं
३४. दं ॐ नमो नारायणाय दं
३५. धं ॐ नमो नारायणाय धं
३६. नं ॐ नमो नारायणाय नं
३७. पं ॐ नमो नारायणाय पं
३८. फं ॐ नमो नारायणाय फं
३९. बं ॐ नमो नारायणाय बं
४०. भं ॐ नमो नारायणाय भं
४१. मं ॐ नमो नारायणाय मं
४२. यं ॐ नमो नारायणाय यं
४३. रं ॐ नमो नारायणाय रं
४४. लं ॐ नमो नारायणाय लं
४५. वं ॐ नमो नारायणाय वं
४६. शं ॐ नमो नारायणाय शं
४७. षं ॐ नमो नारायणाय षं
४८. सं ॐ नमो नारायणाय सं
४९. हं ॐ नमो नारायणाय हं
५०. ळं ॐ नमो नारायणाय ळं

क्षं

इसके बाद 'विलोम'-क्रम से 'ळं' से 'अं' तक (५१ से १०० तक) 'जप' करे। फिर 'अष्ट-मातृका-वर्णों' (अं-कं-चं-टं-तं-पं-यं-शं) से १०८ तक जप करे। यथा-

१०१. अं ॐ नमो नारायणाय अं
१०२. कं ॐ नमो नारायणाय कं
१०३. चं ॐ नमो नारायणाय चं
१०४. टं ॐ नमो नारायणाय टं
१०५. तं ॐ नमो नारायणाय तं
१०६. पं ॐ नमो नारायणाय पं
१०७. यं ॐ नमो नारायणाय यं
१०८. शं ॐ नमो नारायणाय शं

होम- यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद १. घी, शहद और शक्कर से युक्त पद्म-पुष्पों अर्थात् कमल के फूलों से होम करने से सभी कामनाओं की पूर्ति होती है। इह-लोक में सुख तथा पर-लोक में मोक्ष प्राप्त होता है। २. बिल्व से होम करने से धन की प्राप्ति होती है। ३. तिल से होम करने से आरोग्य की प्राप्ति होती है।

षडक्षर-'श्रीविष्णु'-नाम-साधना

नाम-माहात्म्य-'ॐ, ऐं, ह्रीं, श्रीं, क्लीं, हूँ'-छः बीज-युक्त भगवान् विष्णु के छः नाम-मन्त्र क्रमशः १. मोक्ष, २. ज्ञान, ३. भुक्ति-मुक्ति, ४. ऐश्वर्य, ५. वंश-वृद्धि-कारक एवं ६. शत्रु-नाशक हैं। यहाँ ऐश्वर्य-वृद्धि-कारक 'श्रीं'-बीज-युक्त भगवान् विष्णु के नाम-मन्त्र का विधान दिया जा रहा है।

विनियोग-ॐ अस्य श्रीविष्णु-षडक्षर-मन्त्रस्य श्रीनारद ऋषिः। गायत्री छन्दः। श्रीविष्णुः देवता। मम सकल-कष्ट-दारिद्र्य-परिहारार्थं जपे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास-शिरसि श्रीनारद-ऋषये नमः। मुखे गायत्री-छन्दसे नमः। हृदये श्रीविष्णवे देवतायै नमः। मम सकल-कष्ट-दारिद्र्य-परिहारार्थं जपे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

ध्यान-

मेघ-श्यामं सु-नयनं, काक-पक्ष-विराजितम् ।
राधिकादि-प्रिया-युक्तं, पर्यटन्तं वने वने।
विचित्र-परिधिं वंशी, दधतं वाम-दक्षयोः ।।

अर्थात् कनपटियों के ऊपर काले-लम्बे-घुँघराले बालों या अल्कों से देदीप्यमान, सुन्दर नयनवाले, वनों में राधिका आदि प्रियायों से युक्त भ्रमण करनेवाले और बाँएँ तथा दाँएँ हाथों से सूर्य-चन्द्र-जैसी प्रकाशमान सुन्दर वंशी को धारण करनेवाले भगवान् विष्णु का मैं ध्यान करता हूँ।

मानस-पूजा-

लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीविष्णवे समर्पयामि नमः।
हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीविष्णवे समर्पयामि नमः।
यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीविष्णवे घ्रापयामि नमः।
रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीविष्णवे दर्शयामि नमः।
वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीविष्णवे निवेदयामि नमः।
सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीविष्णवे समर्पयामि नमः।

मन्त्र- श्रीं हरये नमः (६ अक्षर)। 'वर्ण-माला' में इस मन्त्र का 'जप' पृष्ठ-संख्या ४३ पर प्रकाशित विधि के अनुसार 'ॐ नमो नारायणाय' के स्थान पर 'श्रीं हरये नमः' लगाकर करना चाहिए।

होम- यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद पञ्चामृत से होम करना चाहिए।

विशेष : नित्य कर्मों के बाद नियम-पूर्वक प्रति-दिन अपने शरीर के भीतर हृदयाकाश में, भगवान् विष्णु के उपर्युक्त स्वरूप का ध्यान करना चाहिए और 'श्रीं' आदि वीजों से युक्त भगवान् के नाम का जप करना चाहिए। ऐसा करने से दरिद्रता दूर होती है और बाधाएँ नष्ट होती हैं।

❀ ❀ ❀

१.'श्रीमत्स्यावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

द्वितीया महा-विद्या भगवती तारा से उद्भूत
विश्व के संरक्षक भगवान् विष्णु का
दूसरा अवतार 'श्रीमत्स्यावतार'

भगवतीतारा

जयन्ती :
चैत्र शुक्ला प्रतिप्रदा

ॐश्रीमत्स्यावतारायनमः

आदाय वेदाः सकलाः समुद्रान्, निहत्य शङ्खासुरमत्युदग्रम् ।
दत्ताः पुरा येन पितामहाय, विष्णुं तमाद्यं भज मत्स्य-रूपम् ।।

अर्थात् अत्यन्त भीषण शङ्खासुर का वध कर, समुद्र के गर्भ से समस्त वेदों को निकालकर प्रजापति ब्रह्माजी को प्रदान करनेवाले भगवान् विष्णु के आदि-स्वरूप मत्स्यावतार का मैं भजन करता हूँ।

द्वादशाक्षर-'श्रीमत्स्यावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

नाम-माहात्म्य–महा-विद्या तारा से उद्भूत श्रीमीन-विग्रह भगवान् विष्णु के नाम-मन्त्र-जप से दीर्घायु एवं लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। श्रीमीन-विग्रह भगवान् विष्णु के अनुग्रह से मनुष्यों को सांसारिक आनन्द के साथ-साथ 'परब्रह्म' का ज्ञान भी होता है।

विनियोग–ॐ अस्य श्रीमत्स्यावतार-द्वादशाक्षर-मन्त्रस्य श्रीब्रह्मा ऋषिः। गायत्री छन्दः। श्रीमीन-विग्रह भगवान् रमा-नाथ देवता। श्रीं वीजं। मं कीलकं। मम दीर्घायु-शरीरारोग्य-लक्ष्मी-फल-प्राप्त्यर्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास–शिरसि श्रीब्रह्मा-ऋषये नमः। मुखे गायत्री-छन्दसे नमः। हृदये मीन-विग्रह भगवान् रमा-नाथाय देवतायै नमः। श्रीं-वीजाय नमः गुह्ये। मं-कीलकाय नमः नाभौ। मम दीर्घायु-शरीरारोग्य-लक्ष्मी-फल-प्राप्त्यर्थे जपे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

कर-न्यास–श्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः। श्रीं तर्जनीभ्यां स्वाहा। श्रूं मध्यमाभ्यां वषट्। श्रैं अनामिकाभ्यां हुम्। श्रौं कनिष्ठाभ्यां वौषट्। श्रः करतल-कर-पृष्ठाभ्यां फट्।

षडङ्ग-न्यास–श्रां हृदयाय नमः। श्रीं शिरसे स्वाहा। श्रूं शिखायै वषट्। श्रैं कवचाय हुम्। श्रौं नेत्र-त्रयाय वौषट्। श्रः अस्त्राय फट्।

ध्यान–

नात्यघोरो हि न सम-आकण्ठं वा नराकृतिः। घन-श्यामश्चतुर्बाहुः, शङ्ख-चक्र-गदा-धरः।।
शृङ्गि-मत्स्य-निभो मूर्धा, लक्ष्मीर्वक्षसि राजते। पद्म-चिह्नित-सर्वाङ्गः, सुन्दरश्चारु-लोचनः।।

अर्थात् भगवान् मस्त्य के सारे शरीर के सभी अङ्ग 'कमल-पुष्प' से अंकित होने के कारण बहुत ही सुन्दर हैं और उनके नेत्र बड़े ही सुन्दर हैं। 'मत्स्य' के शिरो-भाग के समान उनकी मूर्धा है और उनके वक्षः-स्थल में भगवती लक्ष्मी जी शोभायमान हैं। न वे अत्यन्त अघोर हैं, न कण्ठ के समान मानव-आकृति है। काले मेघ के समान 'श्याम-वर्ण' एवं चार भुजाओंवाले शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-धारी साक्षात् भगवान् विष्णु ही हैं।

मानस-पूजा–

लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीमीन-विग्रह भगवान् रमा-नाथाय समर्पयामि नमः।
हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीमीन-विग्रह भगवान् रमा-नाथाय समर्पयामि नमः।
यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीमीन-विग्रह भगवान् रमा-नाथाय घ्रापयामि नमः।
रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीमीन-विग्रह भगवान् रमा-नाथाय दर्शयामि नमः।
वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीमीन-विग्रह भगवान् रमा-नाथाय निवेदयामि नमः।
सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीमीन-विग्रह भगवान् रमा-नाथाय समर्पयामि नमः।

मन्त्र– ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं (१२ अक्षर)। 'वर्ण-माला' में इस मन्त्र का 'जप' निम्न प्रकार से करना चाहिए–

ॐ

१. अं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं अं
२. आं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं आं
३. इं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं इं
४. ईं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ईं
५. उं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं उं
६. ऊं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ऊं
७. ऋं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ऋं
८. ॠं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ॠं
९. ऌं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ऌं
१०. ॡं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ॡं
११. एं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं एं
१२. ऐं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ऐं
१३. ओं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ओं
१४. औं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं औं
१५. अं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं अं
१६. अः ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं अः
१७. कं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं कं
१८. खं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं खं
१९. गं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं गं
२०. घं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं घं
२१. ङं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ङं
२२. चं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं चं
२३. छं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं छं
२४. जं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं जं
२५. झं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं झं
२६. ञं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ञं
२७. टं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं टं
२८. ठं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ठं
२९. डं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं डं
३०. ढं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ढं
३१. णं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं णं
३२. तं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं तं
३३. थं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं थं
३४. दं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं दं
३५. धं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं धं
३६. नं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं नं
३७. पं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं पं
३८. फं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं फं
३९. बं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं बं
४०. भं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं भं
४१. मं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं मं
४२. यं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं यं
४३. रं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं रं
४४. लं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं लं
४५. वं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं वं
४६. शं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं शं
४७. षं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं षं
४८. सं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं सं
४९. हं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं हं
५०. ळं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं ळं

क्षं

इसके बाद 'विलोम'-क्रम से 'ळं' से 'अं' तक (५१ से १०० तक) 'जप' करे। फिर 'अष्ट-मातृका-वर्णों' (अं-कं-चं-टं-तं-पं-यं-शं) से १०१ से १०८ तक 'जप' करे। यथा-

१०१. अं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं अं
१०२. कं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं कं
१०३. चं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं चं
१०४. टं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं टं
१०५. तं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं तं
१०६. पं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं पं
१०७. यं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं यं
१०८. शं ॐ नमो भगवते मं मत्स्याय श्रीं शं

होम- यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद घी, शहद, शक्कर से युक्त तिलों से होम करे, तो दीर्घायु, आरोग्य एवं लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

२. 'श्रीकूर्मावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

अष्टम महा-विद्या भगवती बगला से उद्भूत
विश्व के संरक्षक भगवान् विष्णु का
दूसरा अवतार 'श्रीकूर्मावतार'

भगवतीबगला

जयन्ती :
ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया

ॐश्रीकूर्मावतारायनमः

दिव्यामृतार्थं मथिते महाब्धौ, देवासुराभ्यां वासुकि-मन्दराभ्याम् ।
भूमेर्महा-वेग-विघूर्णितायास्तं कूर्ममाधार-गतं स्मरामि ।।

अर्थात् देवताओं एवं असुरों ने दिव्य अमृत की प्राप्ति के लिए जब वासुकि तथा मन्दराचल की सहायता से समुद्र का मन्थन किया था, तब वेग से डाँवाडोल हो रही विक्षुब्ध एवं विचलित पृथ्वी को कूर्म-रूप से धारण कर आधार प्रदान करनेवाले श्रीकूर्मावतार भगवान् विष्णु का मैं स्मरण करता हूँ।

द्वा-विंशत्यक्षर-'श्रीकूर्मावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

नाम-माहात्म्य–महा-विद्या बगला से उद्भूत श्रीकूर्म-विग्रह भगवान् विष्णु के नाम-मन्त्र-जप से सभी प्रकार की कठिनाइयाँ दूर होती हैं, शत्रु पराजित होते हैं और सर्वत्र विजय प्राप्त होती है।

विनियोग–ॐ अस्य श्रीकूर्मावतार-द्वा-विंशत्यक्षर-मन्त्रस्य श्रीकश्यप ऋषिः। प्रकृति छन्दः। श्रीकूर्म-विग्रह भगवान् विष्णुः देवता। कुं वीजं। मम सर्व-शत्रु-पराजयार्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास–शिरसि श्रीकश्यप-ऋषये नमः। मुखे प्रकृति-छन्दसे नमः। हृदये श्रीकूर्म-विग्रह भगवान् विष्णवे देवतायै नमः। 'कुं'-वीजाय नम गुह्ये। मम सर्व-शत्रु-पराजयार्थे जपे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

कर-न्यास–ॐ अंगुष्ठाभ्यां नमः। नमो तर्जनीभ्यां स्वाहा। भगवते मध्यमाभ्यां वषट्। कुं अनामिकाभ्यां हुम्। कूर्माय कनिष्ठाभ्यां वौषट्। धराधर-धुरन्धराय नमः करतल-कर-पृष्ठाभ्यां फट्।

षडङ्ग-न्यास–ॐ हृदयाय नमः। नमो शिरसे स्वाहा। भगवते शिखायै वषट्। कुं कवचाय हुम्। कूर्माय नेत्र-त्रयाय वौषट्। धराधर-धुरन्धराय नमः अस्त्राय फट्।

ध्यान–

शङ्ख-चक्र-गदा-धरं पीताम्बरं, कूर्म-पृष्ठं लसल्लांगूल-शोभितम् ।
दीर्घ-ग्रीवं महा-ग्राहं, गिरि-रतं रक्त-लोचनम् ।।

अर्थात् लम्बी गर्दन एवं मजबूत पकड़वाले, कछुए के समान अत्यन्त सुदृढ़ पीठवाले, सम्पूर्ण विघ्नों से मुक्त करनेवाले, तीनों लोकों की रक्षा के लिए मन्दराचल पर्वत को धारण करनेवाले सर्वोपरि मार्ग-दर्शक भगवान् कूर्म का मैं ध्यान करता हूँ।

मानस-पूजा–

लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीकूर्म-विग्रह भगवान् विष्णवे समर्पयामि नमः।

हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीकूर्म-विग्रह भगवान् विष्णवे समर्पयामि नमः।

यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीकूर्म-विग्रह भगवान् विष्णवे घ्रापयामि नमः।

रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीकूर्म-विग्रह भगवान् विष्णवे दर्शयामि नमः।

वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीकूर्म-विग्रह भगवान् विष्णवे निवेदयामि नमः।

सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीकूर्म-विग्रह भगवान् विष्णवे समर्पयामि नमः।

मन्त्र– ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः (२२ अक्षर)। 'वर्ण-माला' में इस मन्त्र का 'जप' निम्न प्रकार से करना चाहिए–

ॐ

१. अं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः अं
२. आं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः आं
३. इं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः इं
४. ईं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः ईं
५. उं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः उं
६. ऊं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः ऊं
७. ऋं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः ऋं
८. ॠं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः ॠं
९. लृं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः लृं
१०. लॄं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः लॄं
११. एं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः एं
१२. ऐं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः ऐं
१३. ओं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः ओं
१४. औं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः औं
१५. अं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः अं
१६. अः ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः अः
१७. कं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः कं
१८. खं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः खं
१९. गं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः गं
२०. घं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः घं
२१. ङं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः ङं
२२. चं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः चं
२३. छं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः छं
२४. जं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः जं
२५. झं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः झं
२६. ञं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः ञं
२७. टं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः टं
२८. ठं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः ठं
२९. डं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः डं
३०. ढं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः ढं
३१. णं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-धुरन्धराय नमः णं

३२. तं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः तं

३३. थं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः थं

३४. दं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः दं

३५. धं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः धं

३६. नं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः नं

३७. पं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः पं

३८. फं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः फं

३९. बं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः बं

४०. भं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः भं

४१. मं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः मं

४२. यं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः यं

४३. रं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः रं

४४. लं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः लं

४५. वं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः वं

४६. शं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः शं

४७. षं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः षं

४८. सं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः सं

४९. हं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः हं

५०. ळं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः ळं

क्षं

इसके बाद 'विलोम'-क्रम से 'ळं' से 'अं' तक (५१ से १०० तक) 'जप' करे। फिर 'अष्ट-मातृका-वर्णों' (अं-कं-चं-टं-तं-पं-यं-शं) से १०१ से १०८ तक 'जप' करे। यथा-

१०१. अं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः अं

१०२. कं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः कं

१०३. चं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः चं

१०४. टं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः टं

१०५. तं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः तं

१०६. पं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः पं

१०७. यं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः यं

१०८. शं ॐ नमो भगवते कुं कूर्माय धराधर-
धुरन्धराय नमः शं

होम- यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद घृत से होम करे, तो सभी शत्रु पराजित होते हैं और सर्वत्र विजय प्राप्त होती है।

३. 'श्रीवराहावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

सप्तम महा-विद्या भगवती धूमावती से उद्‌भूत विश्व के संरक्षक भगवान् विष्णु का तीसरा अवतार 'श्रीवराहावतार'

भगवती धूमावती

जयन्ती :
आश्विन शुक्ला सप्तमी

ॐश्रीवराहावतारायनमः

समुद्र-काञ्ची सरिदुत्तरीया, वसुन्धरा मेरु-किरीटभारा ।
दंष्ट्रागतो येन समुद्धृता भूस्तमादिकोलं शरणं प्रपद्ये ।।

अर्थात् समुद्रों को करधनी, सुमेरु को मुकुट एवं नदियों को उत्तरीय के रूप में धारण करनेवाली पृथ्वी को जिन्होंने अपने दन्ताग्र पर धारण किया था, मैं उन्हीं वराहावतार भगवान् विष्णु की शरण लेता हूँ।

त्रयो-त्रिंशत्यक्षर-'श्रीवराहावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

नाम-माहात्म्य–महा-विद्या धूमावती से उद्भूत श्रीवराह-विग्रह भगवान् विष्णु के नाम-मन्त्र-जप से सभी प्रकार की बाधाएँ दूर होती हैं तथा सुख-समृद्धि की प्राप्ति होती है।

विनियोग–ॐ अस्य श्रीवराहावतार-त्रयो-त्रिंशत्यक्षर-मन्त्रस्य श्रीभार्गव ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीआदि-वराह देवता। मम सर्व-कामना-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास–शिरसि श्रीभार्गव-ऋषये नमः। मुखे अनुष्टुप्-छन्दसे नमः। हृदये श्रीआदि-वराहाय देवतायै नमः। मम सर्व-कामना-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

कर-न्यास–एक-दंष्ट्राय अंगुष्ठाभ्यां नमः। व्योम-केशाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। तेजोऽधिपतये मध्यमाभ्यां वषट्। विश्व-रूपाय अनामिकाभ्यां हुम्। महा-दंष्ट्राय कनिष्ठाभ्यां फट्।

षडङ्ग-न्यास–एक-दंष्ट्राय हृदयाय नमः। व्योम-केशाय शिरसे स्वाहा। तेजोऽधिपतये शिखायै वषट्। विश्व-रूपाय कवचाय हुम्। महा-दंष्ट्राय नेत्र-त्रयाय फट्।

ध्यान–

आपादं जानु-देशाद् वर-कनक-निभं, नाभि-देशादधस्ता-
न्मुक्ताभं, कण्ठ-देशात् तरुण-रवि-निभं, मस्तकान्नील-भासम् ।।
ईड़े हस्तैर्दधानं रथ-चरण-दरौ खड्ग-खेटौ गदाख्यम् ।
शक्तिं दानोभये च क्षिति-धरण-लसद्-दंष्ट्रमाद्यं वराहम् ।।

अर्थात् भगवान् वराह के जानु-देश से लेकर पैरों तक का शरीर स्वर्ण-जैसा, नाभि-देश से नीचे जानु-देश तक का मोती-जैसा, कण्ठ-देश से नाभि-देश तक का युवा-सूर्य-जैसा और शिरो-देश से कण्ठ-देश तक नील-वर्ण है। वे हाथों में शङ्ख, चक्र, खड्ग, खेटक, गदा, शक्ति, वर-मुद्रा और अभय-मुद्रा धारण किए हैं। दाँतों पर धरती शोभायमान है। ऐसे आदि-वराह भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

मानस-पूजा–लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीआदि-वराहाय समर्पयामि नमः। हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीआदि-वराहाय समर्पयामि नमः। यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीआदि-वराहाय घ्रापयामि नमः। रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीआदि-वराहाय दर्शयामि नमः। वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीआदि-वराहाय निवेदयामि नमः। सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीआदि-वराहाय समर्पयामि नमः।

मन्त्र– ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा (३३ अक्षर)। 'वर्ण-माला' में इस मन्त्र का 'जप' आगे दी गई विधि के अनुसार करना चाहिए।

विशेष : भाद्रपद शुक्लाष्टमी को एक श्वेत शिला (पत्थर) लेकर पञ्च-गव्य (१. गो-दुग्ध, २. गो-दधि, ३. गो-घृत, ४. गो-मय, ५. गो-मूत्र) में उसे रक्खे। उस शिला को स्पर्श करते हुए उक्त मन्त्र का १० हजार बार जप करे। जप के बाद उत्तर-मुख होकर उक्त शिला को पृथ्वी में गाड़ दें। ऐसा करने से शत्रु-कृत, चौर-कृत या महा-भूत-कृत समस्त बाधाएँ दूर होती हैं।

ॐ

१. अं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा अं
२. आं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा आं
३. इं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा इं
४. ईं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा ईं
५. उं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा उं
६. ऊं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा ऊं
७. ऋं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा ऋं
८. ॠं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा ॠं
९. लृं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा लृं
१०. लॄं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा लॄं
११. एं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा एं
१२. ऐं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा ऐं
१३. ओं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा ओं
१४. औं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा औं
१५. अं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा अं
१६. अः ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा अः
१७. कं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा कं
१८. खं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा खं
१९. गं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा गं
२०. घं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा घं
२१. ङं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा ङं
२२. चं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा चं
२३. छं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा छं
२४. जं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा जं
२५. झं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा झं
२६. ञं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा ञं
२७. टं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा टं
२८. ठं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा ठं
२९. डं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा डं
३०. ढं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा ढं
३१. णं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा णं
३२. तं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा तं

३३. थं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा थं
३४. दं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा दं
३५. धं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा धं
३६. नं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा नं
३७. पं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा पं
३८. फं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा फं
३९. बं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा बं
४०. भं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा भं
४१. मं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा मं
४२. यं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा यं
४३. रं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा रं
४४. लं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा लं
४५. वं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा वं
४६. शं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा शं
४७. षं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा षं
४८. सं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा सं
४९. हं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा हं
५०. ळं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा ळं

क्षं

इसके बाद 'विलोम'-क्रम से 'ळं' से 'अं' तक (५१ से १०० तक) 'जप' करे। फिर 'अष्ट-मातृका-वर्णों' (अं-कं-चं-टं-तं-पं-यं-शं) से १०१ से १०८ तक 'जप' करे। यथा-

१०१.अं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा अं
१०२.कं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा कं
१०३.चं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा चं
१०४.टं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा टं
१०५.तं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा तं
१०६.पं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा पं
१०७.यं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा यं
१०८.शं ॐ नमो भगवते वराह-रूपाय भूर्भुवः स्वः-
पतये भू-पतित्वं मे देहि ददापय स्वाहा शं

होम- १. यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद घृत, शहद, शक्कर से युक्त पद्म-पुष्पों से होम करे, तो सभी कामनाओं की सिद्धि होती है। २. राज-वृक्ष (सोमालू) की समिधा से होम करे, तो सभी प्रकार की सम्पत्ति की प्राप्ति होती हैं। ३. शालि (चावल) से होम करे, तो स्मृद्धि-लाभ होता है। धान्य-भण्डार से घर भर जाता है। ४. केवल घृत से होम करने से एक मण्डल (४९ दिन) के भीतर स्वर्ण-लाभ होता है।

४. 'श्रीनृसिंहावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

षष्ठम महा-विद्या भगवती छिन्न-मस्ता से उद्‌भूत विश्व के संरक्षक भगवान् विष्णु का चौथा अवतार 'श्रीनृसिंहावतार'

भगवतीछिन्न-मस्ता

जयन्ती :
वैशाख शुक्ला चतुर्दशी

ॐश्रीनृसिंहावतारायनमः

भक्तार्त्ति-भङ्ग-क्षमया धिया यः, स्तम्भान्तरालादुदितो नृसिंहः।
रिपुं सुराणां निशितैर्नखाग्रैर्विदारयन्तं न च विस्मरामि ।।

अर्थात् भक्त प्रहलाद के सङ्कट के निवारण के लिए नृसिंह-रूप से स्तम्भ से प्रकट होकर, जिन्होंने देवताओं के शत्रु हिरण्य-कशिपु को अपने नखों से विदीर्ण कर दिया था, मैं उन्हीं नृसिंहावतार भगवान् विष्णु का स्मरण करता हूँ।

अष्टाक्षर-'श्रीनृसिंहावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

नाम-माहात्म्य-महा-विद्या छिन्नमस्ता से उद्भूत श्रीनृसिंह-विग्रह भगवान् विष्णु के नाम-मन्त्र-जप से सभी प्रकार की कामनाएँ पूर्ण होती हैं। आपका प्रस्तुत अष्टाक्षर-मन्त्र 'काम-प्रद मणि' के समान फल-दायक है।

विनियोग-ॐ अस्य श्रीनृसिंहावतार-अष्टाक्षर-मन्त्रस्य श्रीब्रह्मा ऋषिः। गायत्री छन्दः। श्रीनृसिंहः देवता। मम सर्व-कामना-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास-शिरसि ब्रह्मणे-ऋषये नमः। मुखे गायत्री-छन्दसे नमः। हृदये श्रीनृसिंहाय देवतायै नमः। मम सर्व-कामना-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

कर-न्यास-क्षां अंगुष्ठाभ्यां नमः। क्षीं तर्जनीभ्यां स्वाहा। क्षूं मध्यमाभ्यां वषट्। क्षैं अनामिकाभ्यां हुम्। क्षौं कनिष्ठाभ्यां वौषट्। क्षः करतल-कर-पृष्ठाभ्यां फट्।

षडङ्ग-न्यास-क्षां हृदयाय नमः। क्षीं शिरसे स्वाहा। क्षूं शिखायै वषट्। क्षैं कवचाय हुम्। क्षौं नेत्र-त्रयाय वौषट्। क्षः अस्त्राय फट्।

ध्यान-

माणिक्याद्रि-सम-प्रभं निज-रुचा सन्त्रस्त-रक्षो-गणम् ।
जानु-न्यस्त-कराम्बुजं त्रि-नयनं रत्नोल्लसद्-भूषणम् ।।
बाहुभ्यां धृत-शङ्ख-चक्रमनिशं दंष्ट्रोग्र-वक्त्रोल्लस-
ज्ज्वाला-जिह्वमुदग्र-केश-निचयं वन्दे नृसिंहं विभुम् ।।

अर्थात् भगवान् नृसिंह माणिक्य-पर्वत-जैसी प्रभावाले हैं और अपने तेज से राक्षसों को भयभीत कर रहे हैं। वे त्रि-नेत्र हैं और रत्न-जटित आभूषणों से शोभायमान हैं। दो कर-कमल घुटनों पर रखे हैं और अन्य दो भुजाओं में शङ्ख और चक्र धारण किए हैं। दाँतों द्वारा उग्र मुख से अग्नि-शिखा के समान जिह्वा बाहर निकली हुई है। दीर्घ केशों से युक्त भगवान् नृसिंह की मैं वन्दना करता हूँ।

मानस-पूजा-लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीनृसिंहाय समर्पयामि नमः। हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीनृसिंहाय समर्पयामि नमः। यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीनृसिंहाय घ्रापयामि नमः। रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीनृसिंहाय दर्शयामि नमः। वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीनृसिंहाय निवेदयामि नमः। सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीनृसिंहाय समर्पयामि नमः।

मन्त्र- जय जय श्रीनृसिंह (८ अक्षर)। 'वर्ण-माला' में इस मन्त्र का 'जप' आगे दी गई विधि के अनुसार करना चाहिए।

विशेष : 'नृसिंह'-मन्त्र का जप करने से सभी प्रकार के भयों से रक्षा होती है। इस मन्त्र से अभिमन्त्रित भस्म को शरीर में लगाने से विषादि का नाश हो जाता है। घोर अभिचार, उन्माद, महा-उत्पात एवं महान् भय होने पर 'नृसिंह भगवान्' का ध्यान करते हुए मन्त्र का जप करे, तो दुःखों से छुटकारा होता है।

१. अं जय जय श्रीनृसिंह अं
२. आं जय जय श्रीनृसिंह आं
३. इं जय जय श्रीनृसिंह इं
४. ईं जय जय श्रीनृसिंह ईं
५. उं जय जय श्रीनृसिंह उं
६. ऊं जय जय श्रीनृसिंह ऊं
७. ऋं जय जय श्रीनृसिंह ऋं
८. ॠं जय जय श्रीनृसिंह ॠं
९. ऌं जय जय श्रीनृसिंह ऌं
१०. ॡं जय जय श्रीनृसिंह ॡं
११. एं जय जय श्रीनृसिंह एं
१२. ऐं जय जय श्रीनृसिंह ऐं
१३. ओं जय जय श्रीनृसिंह ओं
१४. औं जय जय श्रीनृसिंह औं
१५. अं जय जय श्रीनृसिंह अं
१६. अः जय जय श्रीनृसिंह अः
१७. कं जय जय श्रीनृसिंह कं
१८. खं जय जय श्रीनृसिंह खं
१९. गं जय जय श्रीनृसिंह गं
२०. घं जय जय श्रीनृसिंह घं
२१. ङं जय जय श्रीनृसिंह ङं
२२. चं जय जय श्रीनृसिंह चं
२३. छं जय जय श्रीनृसिंह छं
२४. जं जय जय श्रीनृसिंह जं
२५. झं जय जय श्रीनृसिंह झं
२६. ञं जय जय श्रीनृसिंह ञं
२७. टं जय जय श्रीनृसिंह टं
२८. ठं जय जय श्रीनृसिंह ठं
२९. डं जय जय श्रीनृसिंह डं
३०. ढं जय जय श्रीनृसिंह ढं
३१. णं जय जय श्रीनृसिंह णं
३२. तं जय जय श्रीनृसिंह तं
३३. थं जय जय श्रीनृसिंह थं
३४. दं जय जय श्रीनृसिंह दं
३५. धं जय जय श्रीनृसिंह धं
३६. नं जय जय श्रीनृसिंह नं
३७. पं जय जय श्रीनृसिंह पं
३८. फं जय जय श्रीनृसिंह फं
३९. बं जय जय श्रीनृसिंह बं
४०. भं जय जय श्रीनृसिंह भं
४१. मं जय जय श्रीनृसिंह मं
४२. यं जय जय श्रीनृसिंह यं
४३. रं जय जय श्रीनृसिंह रं
४४. लं जय जय श्रीनृसिंह लं
४५. वं जय जय श्रीनृसिंह वं
४६. शं जय जय श्रीनृसिंह शं
४७. षं जय जय श्रीनृसिंह षं
४८. सं जय जय श्रीनृसिंह सं
४९. हं जय जय श्रीनृसिंह हं
५०. ळं जय जय श्रीनृसिंह ळं

क्षं

इसके बाद 'विलोम'-क्रम से 'ळं' से 'अं' तक (५१ से १०० तक) 'जप' करे। फिर 'अष्ट-मातृका-वर्णों' (अं-कं-चं-टं-तं-पं-यं-शं) से १०१ से १०८ तक 'जप' करे। यथा-

१०१. अं जय जय श्रीनृसिंह अं
१०२. कं जय जय श्रीनृसिंह कं
१०३. चं जय जय श्रीनृसिंह चं
१०४. टं जय जय श्रीनृसिंह टं
१०५. तं जय जय श्रीनृसिंह तं
१०६. पं जय जय श्रीनृसिंह पं
१०७. यं जय जय श्रीनृसिंह यं
१०८. शं जय जय श्रीनृसिंह शं

होम- यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद १. बिल्व-काष्ठ द्वारा प्रज्ज्वलित अग्नि में लवङ्ग-पुष्प अथवा बिल्व-पत्र और बिल्व-फल से होम करने से धन की प्राप्ति होती है। २. दूर्वा (दूब) से होम करने से आरोग्य-लाभ होता है।

५. 'श्रीवामनावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

चतुर्थ महा-विद्या भगवती भुवनेश्वरी से उद्‌भूत
विश्व के संरक्षक भगवान् विष्णु का
पाँचवाँ अवतार 'श्रीवामनावतार'

भगवतीभुवनेश्वरी

जयन्ती :
भाद्रपद शुक्ला द्वादशी

ॐश्रीवामनावतारायनमः

चतुः समुद्राभरणा धरित्री, न्यासाय नाऽलं चरणस्य यस्य।
एकस्य नाऽन्यस्य पदं सुराणां, त्रि-विक्रमं सर्व-गतं स्मरामि ।।

अर्थात् चारों समुद्र जिसके आभूषण हैं, उस पृथ्वी पर जिनके पैर रखने के लिए जगह नहीं बची थी और जिनके दूसरे पग के लिए देव-लोक में भी स्थान नहीं बचा था, मैं उन्हीं सर्व-व्यापी त्रि-विक्रम वामनावतार भगवान् विष्णु को प्रणाम करता हूँ।

त्रयो-विंशत्यक्षर-'श्रीबलि-वामनावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

नाम-माहात्म्य-महा-विद्या भुवनेश्वरी से उद्‌भूत श्रीवामन-विग्रह भगवान् विष्णु के नाम-मन्त्र-जप से सभी प्रकार के बन्धनों, दुर्गतियों, आपत्तियों से मुक्ति होती है।

विनियोग-ॐ अस्य श्रीवामनावतार-त्रयो-विंशत्यक्षर-मन्त्रस्य श्रीवाङ् ऋषिः। जगती छन्दः। श्रीबलि-वामन देवता। मम सर्व-आपत्ति-विनाशनाय जपे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास-शिरसि श्रीवाङ्वे-ऋषये नमः। मुखे जगती-छन्दसे नमः। हृदये श्रीबलि-वामनाय देवतायै नमः। मम सर्व-आपत्ति-विनाशनाय जपे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

कर-न्यास-ॐ अंगुष्ठाभ्यां नमः। नमो तर्जनीभ्यां स्वाहा। भगवते मध्यमाभ्यां वषट्। बलि-वामनाय अनामिकाभ्यां हुम्। सर्वापत्ति-विनाशनाय कनिष्ठाभ्यां वौषट्। ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं करतल-कर-पृष्ठाभ्यां फट्।

षडङ्ग-न्यास-ॐ हृदयाय नमः। नमो शिरसे स्वाहा। भगवते शिखायै वषट्। बलि-वामनाय कवचाय हुम्। सर्वापत्ति-विनाशनाय नेत्र-त्रयाय वौषट्। ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं अस्त्राय फट्।

ध्यान-

पीताम्बरोत्तरीयोऽसौ, मौञ्जी-कौपीन-धृग्धरिः। कमण्डलुं च दध्यन्नं, दण्डं छत्रं करैर्दधत् ।
यज्ञोपवीती नीलाभो, ध्यातव्यश्छद्म-वामनः।।

अर्थात् मैं वामन का रूप धारण करनेवाले उन भगवान् विष्णु का ध्यान करता हूँ, जो नीली आभा से शोभायमान हैं, जिन्होंने उत्तरीय के रूप में पीताम्बर धारण कर रक्खा है, जो मौञ्जी-कौपीन धारण किए हैं तथा जिनके हाथों में कमण्डल, दही-अन्न को ग्रहण करनेवाला पात्र, दण्ड एवं छत्र है।

मानस-पूजा-

लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीबलि-वामनाय समर्पयामि नमः।
हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीबलि-वामनाय समर्पयामि नमः।
यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीबलि-वामनाय घ्रापयामि नमः।
रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीबलि-वामनाय दर्शयामि नमः।
वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीबलि-वामनाय निवेदयामि नमः।
सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीबलि-वामनाय समर्पयामि नमः।

मन्त्र- ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं (२३ अक्षर)। 'वर्ण-माला' में इस मन्त्र का 'जप' आगे दी गई विधि के अनुसार करना चाहिए।

विशेष : अपने तीन पग से तीनों लोकों को नापनेवाले श्रीबलि-वामनावतार भगवान् विष्णु के त्रि-विक्रम स्वरूप का स्मरण करते हुए, एकाग्र मन से जब उक्त मन्त्र का जप किया जाता है, तब सभी प्रकार की आपदाओं, बाधाओं से मुक्ति प्राप्त होती है।

१. अं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं अं
२. आं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं आं
३. इं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं इं
४. ईं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं ईं
५. उं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं उं
६. ऊं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं ऊं
७. ऋं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं ऋं
८. ॠं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं ॠं
९. लृं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं लृं
१०. लॄं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं लॄं
११. एं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं एं
१२. ऐं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं ऐं
१३. ओं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं ओं
१४. औं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं औं
१५. अं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं अं
१६. अः ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं अः
१७. कं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं कं
१८. खं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं खं
१९. गं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं गं
२०. घं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं घं
२१. ङं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं ङं
२२. चं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं चं
२३. छं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं छं
२४. जं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं जं
२५. झं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं झं
२६. ञं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं ञं
२७. टं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं टं
२८. ठं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं ठं
२९. डं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं डं
३०. ढं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं ढं
३१. णं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं णं
३२. तं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं तं

३३. थं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं थं

३४. दं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं दं

३५. धं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं धं

३६. नं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं नं

३७. पं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं पं

३८. फं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं फं

३९. बं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं बं

४०. भं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं भं

४१. मं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं मं

४२. यं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं यं

४३. रं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं रं

४४. लं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं लं

४५. वं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं वं

४६. शं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं शं

४७. षं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं षं

४८. सं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं सं

४९. हं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं हं

५०. ळं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं ळं

क्षां

इसके बाद 'विलोम'-क्रम से 'ळं' से 'अं' तक (५१ से १०० तक) 'जप' करे। फिर 'अष्ट-मातृका-वर्णों' (अं-कं-चं-टं-तं-पं-यं-शं) से १०१ से १०८ तक 'जप' करे। यथा-

१०१. अं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं अं

१०२. कं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं कं

१०३. चं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं चं

१०४. टं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं टं

१०५. तं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं तं

१०६. पं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं पं

१०७. यं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं यं

१०८. शं ॐ नमो भगवते बलि-वामनाय सर्वापत्ति-विनाशनाय श्रीं शं

होम- यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद १. घृत-युक्त खीर से होम करने से धन-प्राप्ति होती है। २. दही-चावल से होम करे, तो सभी प्रकार की दुर्गतियों से मुक्ति प्राप्त होती है। ३. पद्म-पुष्पों से होम करने से भय का नाश होता है।

६. 'श्रीपरशुरामावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

तृतीया महा-विद्या भगवती षोडशी से उद्भूत
विश्व के संरक्षक भगवान् विष्णु का
छठवाँ अवतार 'श्रीपरशुरामावतार'

भगवतीषोडशी

जयन्ती :
वैशाख शुक्ला तृतीया

ॐश्रीपरशुरामावतारायनमः

त्रिः सप्त-वारं नृपतीन् निहत्य, यस्तर्पणं रक्त-मयं पितृभ्यः।
चकार दोर्दण्ड-बलेन सम्यक्, तमादि-शूरं प्रणमामि भक्त्या।।

अर्थात् जिन्होंने अपने भुज-बल से इक्कीस बार दुष्ट राजाओं का संहार करके रक्त-जल द्वारा पितरों का तर्पण किया था, उन्हीं आदि वीर परशुरामावतार भगवान् विष्णु की मैं वन्दना करता हूँ।

पञ्च-दशाक्षर-'श्रीपरशुरामावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

नाम-माहात्म्य-महा-विद्या षोडशी से उद्भूत श्रीपरशुराम-विग्रह भगवान् विष्णु के नाम-मन्त्र-जप से दरिद्रता एवं शत्रुओं का नाश होता है, भूमि-धन-ज्ञान की प्राप्ति होती है और राज-बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है।

कर-न्यास-ॐ अंगुष्ठाभ्यां नमः। रां रां तर्जनीभ्यां स्वाहा। ॐ रां रां मध्यमाभ्यां वषट्। ॐ परशु-हस्ताय अनामिकाभ्यां हुम्। नमः करतल-कर-पृष्ठाभ्यां फट्।

षडङ्ग-न्यास-ॐ हृदयाय नमः। रां रां शिरसे स्वाहा। ॐ रां रां शिखायै वषट्। ॐ परशु-हस्ताय कवचाय हुम्। नमः अस्त्राय फट्।

१. सात्विक ध्यान-

सात्विकं श्वेत-वर्णं च, भस्मोद्धूलित-विग्रहम् ।
अग्निहोत्र-स्थालासीनं, नाना-मुनि-गणावृतम् ।।
कम्बलासनमारूढं, स्वर्ण-तार-कुशांगुलिम् ।
श्वेत-वस्त्र-द्वयोपेतं, जुह्वन्तं शान्त-मानसम् ।।

२. राजस ध्यान-

ध्यायेच्च राजसं रामं, कुंकुमारुण-विग्रहम् ।
किरीटिनं कुण्डलिनं, परश्वब्ज-वराभयान् ।।
करैर्दधन्तं तरुणं, विप्र - क्षत्रौघ - सम्वृतम् ।
पीताम्बर-धरं काम-रूपं बाला-निरीक्षितम् ।।

३. तामस ध्यान-

ध्यायेच्च तामसं क्षत्र-रुधिराक्त-परश्वधम् ।
आरक्त-नेत्रं कर्णस्थ-ब्रह्म-सूत्रं यम-प्रभम् ।।
धनुष्टङ्कार - सङ्घोष - सन्त्रस्त - भुवन - त्रयम् ।
चतुर्बाहुं मुशलिनं, संक्रुद्ध - भ्रातृ-संयुतम् ।।

मानस-पूजा-लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीपरशु-रामाय समर्पयामि नमः। हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीपरशु-रामाय समर्पयामि नमः। यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीपरशु-रामाय घ्रापयामि नमः। रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीपरशु-रामाय दर्शयामि नमः। वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीपरशु-रामाय निवेदयामि नमः। सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीपरशु-रामाय समर्पयामि नमः।

मन्त्र- ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः (१५ अक्षर)। जैसी कामना हो, उसी प्रकार भगवान् परशुराम का ध्यान कर 'वर्ण-माला' में इस मन्त्र का 'जप' आगे दी गई विधि के अनुसार करना चाहिए।

ॐ

१. अं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः अं
२. आं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः आं
३. इं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः इं
४. ईं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ईं
५. उं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः उं
६. ऊं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ऊं
७. ऋं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ऋं
८. ॠं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ॠं
९. लृं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः लृं
१०. ॡं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ॡं
११. एं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः एं
१२. ऐं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ऐं
१३. ओं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ओं
१४. औं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः औं
१५. अं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः अं
१६. अः ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः अः
१७. कं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः कं
१८. खं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः खं
१९. गं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः गं
२०. घं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः घं
२१. ङं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ङं
२२. चं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः चं
२३. छं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः छं
२४. जं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः जं
२५. झं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः झं
२६. ञं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ञं
२७. टं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः टं
२८. ठं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ठं
२९. डं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः डं
३०. ढं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ढं
३१. णं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः णं
३२. तं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः तं

३३. थं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः थं
३४. दं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः दं
३५. धं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः धं
३६. नं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः नं
३७. पं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः पं
३८. फं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः फं
३९. बं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः बं
४०. भं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः भं
४१. मं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः मं
४२. यं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः यं
४३. रं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः रं
४४. लं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः लं
४५. वं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः वं
४६. शं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः शं
४७. षं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः षं
४८. सं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः सं
४९. हं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः हं
५०. ळं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः ळं

क्षं

इसके बाद 'विलोम'-क्रम से 'ळं' से 'अं' तक (५१ से १०० तक) 'जप' करे। फिर 'अष्ट-मातृका-वर्णों' (अं-कं-चं-टं-तं-पं-यं-शं) से १०१ से १०८ तक 'जप' करे। यथा-

१०१. अं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः अं
१०२. कं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः कं
१०३. चं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः चं
१०४. टं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः टं
१०५. तं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः तं
१०६. पं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः पं
१०७. यं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः यं
१०८. शं ॐ रां रां ॐ रां रां ॐ परशु-हस्ताय नमः शं

होम- यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद १. गो-दुग्ध, मधु, दधि और घृत-इन सभी वस्तुओं से अलग-अलग होम करे, तो आयु, बल, आरोग्य और समृद्धि प्राप्त होती है। २. खीर और शहद से होम करे, तो मृत्यु का निवारण होता है। ३. दधि-मिश्रित शहद से होम करे, तो सौभाग्य एवं धन की प्राप्ति होती है। ४. केवल शर्करा से होम करे, तो शत्रु का स्तम्भन होता है।

७. 'श्रीरामावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

नवम महा-विद्या भगवती मातङ्गी से उद्भूत
विश्व के संरक्षक भगवान् विष्णु का
सातवाँ अवतार 'श्रीरामावतार'

भगवतीमातङ्गी

जयन्ती :
चैत्र शुक्ला नवमी

ॐश्रीरामावतारायनमः

कुले रघूणां समवाप्य जन्म, विधाय सेतुं जलधेर्जलान्तः ।
लङ्केश्वरं यः शमयाञ्चकार, सीता-पतिं तं प्रणमामि भक्त्या ।।

अर्थात् जिन्होंने रघु-कुल में जन्म लेकर और समुद्र के जल में सेतु का निर्माण करके लङ्केश्वर रावण का वध किया, मैं उन सीता-पति रामावतार भगवान् विष्णु को भक्ति-पूर्वक प्रणाम करता हूँ।

षडक्षर-'श्रीरामावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

नाम-माहात्म्य–महा-विद्या मातङ्गी से उद्भूत श्रीराम-विग्रह भगवान् विष्णु के नाम-मन्त्र-जप से सभी प्रकार की कामनाएँ पूरी होती हैं और शीघ्र वाक्-सिद्धि होती है।

विनियोग–ॐ अस्य श्रीरामावतार-षडक्षर-मन्त्रस्य श्रीब्रह्मा ऋषिः। गायत्री छन्दः। श्रीरामः देवता। मम सर्व-कामना-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास–शिरसि श्रीब्रह्मणे-ऋषये नमः। मुखे गायत्री-छन्दसे नमः। हृदये श्रीरामाय देवतायै नमः। मम सर्व-कामना-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

कर-न्यास–रां अंगुष्ठाभ्यां नमः। रीं तर्जनीभ्यां स्वाहा। रूं मध्यमाभ्यां वषट्। रैं अनामिकाभ्यां हुम्। रौं कनिष्ठाभ्यां वौषट्। रः करतल-कर-पृष्ठाभ्यां फट्।

षडङ्ग-न्यास–रां हृदयाय नमः। रीं शिरसे स्वाहा। रूं शिखायै वषट्। रैं कवचाय हुम्। रौं नेत्र-त्रयाय वौषट्। रः अस्त्राय फट्।

मन्त्र-न्यास–ब्रह्म-रन्ध्रे रां नमः। भ्रुवोर्मध्ये रां नमः। हृदि मां नमः। नाभौ यं नमः। लिङ्गे नं नमः। पादयो मं नमः।

ध्यान–

कालाम्भोधर-कान्ति-कान्तमनिशं वीरासनाध्यासनीम्,
मुद्रां ज्ञान - मयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनी।
सीतां पार्श्व-गतां सरोरुह-करां विद्युन्निभां राघवम्,
पश्यन्तं मुकुटाङ्गदादि-विविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे।।

अर्थात् काले मेघ के समान कृष्ण-वर्ण, अत्यन्त कोमल अङ्ग, वीरासन में बैठे हुए, एक हाथ में 'ज्ञान-मुद्रा' और दूसरा कर-कमल घुटने पर। बगल में पद्म-हस्ता, विद्युत्-जैसी आभावाली सीता जी। मुकुट, अङ्गद आदि विविध प्रकार के रत्नाभूषणों से विभूषित और सीता जी को देखनेवाले राघव भगवान् श्रीराम का मैं भजन करता हूँ।

मानस-पूजा– लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीरामाय समर्पयामि नमः। हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीरामाय समर्पयामि नमः। यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीरामाय घ्रापयामि नमः। रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीरामाय दर्शयामि नमः। वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीराम-भद्राय निवेदयामि नमः। सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीरामाय समर्पयामि नमः।

मन्त्र– रां रामाय नमः (६ अक्षर)। 'वर्ण-माला' में इस मन्त्र का 'जप' आगे दी गई विधि के अनुसार करना चाहिए।

विशेष : भगवान् श्रीराम का उक्त षडक्षर मन्त्र छः प्रकार का है–१. रां रामाय नमः, २. क्लीं रामाय नमः, ३. ह्रीं रामाय नमः, ४. ऐं रामाय नमः, ५. श्रीं रामाय नमः, ६. ॐ रामाय नमः। इन सभी मन्त्रों के ऋषि भी अलग-अलग हैं। यथा क्रमशः १. ब्रह्मा, २. विश्वामित्र (सम्मोहन), ३. शक्ति, ४. दक्षिणामूर्ति, ५. अगस्त्य, ६. श्री शिव। ये सभी मन्त्र सर्व-कामना-पूरक हैं।

ॐ

१. अं रां रामाय नमः अं
२. आं रां रामाय नमः आं
३. इं रां रामाय नमः इं
४. ईं रां रामाय नमः ईं
५. उं रां रामाय नमः उं
६. ऊं रां रामाय नमः ऊं
७. ऋं रां रामाय नमः ऋं
८. ॠं रां रामाय नमः ॠं
९. लृं रां रामाय नमः लृं
१०. ॡं रां रामाय नमः ॡं
११. एं रां रामाय नमः एं
१२. ऐं रां रामाय नमः ऐं
१३. ओं रां रामाय नमः ओं
१४. औं रां रामाय नमः औं
१५. अं रां रामाय नमः अं
१६. अः रां रामाय नमः अः
१७. कं रां रामाय नमः कं
१८. खं रां रामाय नमः खं
१९. गं रां रामाय नमः गं
२०. घं रां रामाय नमः घं
२१. ङं रां रामाय नमः ङं
२२. चं रां रामाय नमः चं
२३. छं रां रामाय नमः छं
२४. जं रां रामाय नमः जं
२५. झं रां रामाय नमः झं
२६. ञं रां रामाय नमः ञं
२७. टं रां रामाय नमः टं
२८. ठं रां रामाय नमः ठं
२९. डं रां रामाय नमः डं
३०. ढं रां रामाय नमः ढं
३१. णं रां रामाय नमः णं
३२. तं रां रामाय नमः तं
३३. थं रां रामाय नमः थं
३४. दं रां रामाय नमः दं
३५. धं रां रामाय नमः धं
३६. नं रां रामाय नमः नं
३७. पं रां रामाय नमः पं
३८. फं रां रामाय नमः फं
३९. बं रां रामाय नमः बं
४०. भं रां रामाय नमः भं
४१. मं रां रामाय नमः मं
४२. यं रां रामाय नमः यं
४३. रं रां रामाय नमः रं
४४. लं रां रामाय नमः लं
४५. वं रां रामाय नमः वं
४६. शं रां रामाय नमः शं
४७. षं रां रामाय नमः षं
४८. सं रां रामाय नमः सं
४९. हं रां रामाय नमः हं
५०. ळं रां रामाय नमः ळं

क्षं

इसके बाद 'विलोम'-क्रम से 'ळं' से 'अं' तक (५१ से १०० तक) 'जप' करे। फिर 'अष्ट-मातृका-वर्णों' (अं-कं-चं-टं-तं-पं-यं-शं) से १०१ से १०८ तक 'जप' करे। यथा-

१०१.अं रां रामाय नमः अं
१०२.कं रां रामाय नमः कं
१०३.चं रां रामाय नमः चं
१०४.टं रां रामाय नमः टं
१०५.तं रां रामाय नमः तं
१०६.पं रां रामाय नमः पं
१०७.यं रां रामाय नमः यं
१०८.शं रां रामाय नमः शं

होम- यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद १. यश, कान्ति और लक्ष्मी-प्राप्ति के लिए जाती-पुष्प द्वारा होम करना चाहिए। २. धन-धान्यादि सम्पत्ति-लाभ के लिए पद्म द्वारा होम करना चाहिए। ३. लक्ष्मी-लाभ के लिए बिल्व-फल द्वारा होम करना चाहिए। ४. दीर्घायु के लिए दूर्वा (दूब) द्वारा होम करना चाहिए। ५. बुद्धि-वृद्धि के लिए नए खिले हुए पलाश पुष्पों के द्वारा होम करना चाहिए।

८. 'श्रीकृष्णावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

आद्या महा-विद्या भगवती काली से उद्भूत
विश्व के संरक्षक भगवान् विष्णु का
आठवाँ अवतार 'श्रीकृष्णावतार'

भगवतीकाली

जयन्ती :
भाद्रपद कृष्णा अष्टमी

ॐ श्रीकृष्णावताराय नमः

विष्णुं शारद-चन्द्र-कोटि-सदृशं शङ्खं रथाङ्गं गदामम्भोजम् ।
दधतं सिताब्ज-निलयं कान्त्या जगन्मोहनम् ।।
आबद्धाङ्गद-हार-कुण्डल-महा-मौलिं स्फुरत्-कङ्कणम् ।
श्रीवत्साङ्कमुदार-कौस्तुभ-धरं वन्दे मुनीन्द्रैः स्तुतम् ।।

अर्थात् शरत्-कालीन कोटि चन्द्रों के समान उज्ज्वल और मधुर कान्तिवाले, शङ्ख-चक्र- गदा-पद्म-धारी, चतुर्भुज एवं श्वेत-पद्म पर विराजमान, अपनी कान्ति से सारे संसार को मुग्ध करनेवाले वसुदेव-पुत्र कृष्णावतार भगवान् विष्णु की मैं वन्दना करता हूँ। वे अङ्गद, हार, कुण्डल, मुकुट और कङ्कणादि आभूषणों से विभूषित हैं। वक्षः-स्थल में श्री वत्स-चिह्न और गले में कौस्तुभ मणि धारण किए हैं। श्रेष्ठ मुनि लोग उनकी स्तुति करते रहते हैं।

अष्टाक्षर-'श्रीकृष्णावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

नाम-माहात्म्य–महा-विद्या काली से उद्भूत श्रीकृष्ण-विग्रह भगवान् विष्णु के नाम-मन्त्र-जप से साधक सर्वत्र पूजनीय होता है। उसकी बड़ी-से-बड़ी विपत्ति दूर हो जाती है। उसके शत्रु नष्ट हो जाते हैं और उसे किसी का भय नहीं रहता। इस प्रकार प्रस्तुत अष्टाक्षर-मन्त्र 'कल्प-वृक्ष' के समान है।

विनियोग–ॐ अस्य श्रीकृष्णावतार-अष्टाक्षर-मन्त्रस्य श्रीनारद ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीकृष्ण देवता। मम सर्व-कामना-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास–शिरसि श्रीनारद-ऋषये नमः। मुखे अनुष्टुप्-छन्दसे नमः। हृदये श्रीकृष्णाय देवतायै नमः। मम सर्व-कामना-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगाय नमः अञ्जलौ।

कर-न्यास–क्लां अंगुष्ठाभ्यां नमः। क्लीं तर्जनीभ्यां स्वाहा। क्लूं मध्यमाभ्यां वषट्। क्लैं अनामिकाभ्यां हुम्। क्लौं कनिष्ठाभ्यां वौषट्। क्लः करतल-कर-पृष्ठाभ्यां फट्।

षडङ्ग-न्यास–क्लां हृदयाय नमः। क्लीं शिरसे स्वाहा। क्लूं शिखायै वषट्। क्लैं कवचाय हुम्। क्लौं नेत्र-त्रयाय वौषट्। क्लः अस्त्राय फट्।

ध्यान–

कलाय-कुसुम-श्यामं, वृन्दावन-गतं हरिम् ।
गोप-गोपी-गवावीतं, पीत-वस्त्र-युगावृतम् ।।
नानालङ्कार-सुभगं, कौस्तुभोद्भासि-वक्षसम् ।
सनकादि-मुनि-श्रेष्ठः, संस्तुतं परया मुदा।
शङ्ख-चक्र-लसद्-बाहुं, वेणु-हस्त-द्वयेरितम् ।।

अर्थात् कलाय-पुष्प जैसे श्याम-वर्ण, वृन्दावन-वासी, गो-गोपी एवं बछड़ों से वेष्ठित, दो पीताम्बर-धारी, विविध आभूषणों से शोभायमान भगवान् का ध्यान करे। उनका वक्ष-स्थल कौस्तुभ-मणि से प्रकाशित है और सनकादि श्रेष्ठ मुनि अत्यानन्द के साथ उनकी स्तुति कर रहे हैं। भगवान् अपने एक हाथ में शङ्ख, दूसरे में चक्र लिए हैं और अन्य दो हाथों से वंशी बजा रहे हैं।

मानस-पूजा– लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीकृष्णाय समर्पयामि नमः। हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीकृष्णाय समर्पयामि नमः। यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीकृष्णाय घ्रापयामि नमः। रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीकृष्णाय दर्शयामि नमः। वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः। सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीकृष्णाय समर्पयामि नमः।

मन्त्र– ॐ ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा। (८ अक्षर)। 'वर्ण-माला' में इस मन्त्र का 'जप' आगे दी गई विधि के अनुसार करना चाहिए।

विशेष : वर्षा की कामना हेतु वृन्दावन में विराजमान भगवान् कृष्ण का ध्यान कर १००८ बार उक्त मन्त्र का जप करे, तो वृष्टि होती है।

ॐ

१. अं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा अं
२. आं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा आं
३. इं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा इं
४. ईं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ईं
५. उं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा उं
६. ऊं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ऊं
७. ऋं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ऋं
८. ॠं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ॠं
९. ऌं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ऌं
१०. ॡं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ॡं
११. एं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा एं
१२. ऐं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ऐं
१३. ओं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ओं
१४. औं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा औं
१५. अं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा अं
१६. अः श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा अः
१७. कं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा कं
१८. खं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा खं
१९. गं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा गं
२०. घं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा घं
२१. ङं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ङं
२२. चं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा चं
२३. छं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा छं
२४. जं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा जं
२५. झं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा झं
२६. ञं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ञं
२७. टं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा टं
२८. ठं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ठं
२९. डं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा डं
३०. ढं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ढं
३१. णं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा णं
३२. तं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा तं
३३. थं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा थं
३४. दं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा दं
३५. धं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा धं
३६. नं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा नं
३७. पं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा पं
३८. फं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा फं
३९. बं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा बं
४०. भं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा भं
४१. मं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा मं
४२. यं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा यं
४३. रं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा रं
४४. लं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा लं
४५. वं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा वं
४६. शं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा शं
४७. षं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा षं
४८. सं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा सं
४९. हं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा हं
५०. ळं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा ळं

क्षं

इसके बाद 'विलोम'-क्रम से 'ळं' से 'अं' तक (५१ से १०० तक) 'जप' करे। फिर 'अष्ट-मातृका-वर्णों' (अं-कं-चं-टं-तं-पं-यं-शं) से १०१ से १०८ तक 'जप' करे। यथा-

१०१. अं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा अं
१०२. कं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा कं
१०३. चं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा चं
१०४. टं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा टं
१०५. तं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा तं
१०६. पं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा पं
१०७. यं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा यं
१०८. शं श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा शं

होम- यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद पलाश-पुष्पों अथवा दुग्ध-युक्त बिल्व-समिधा से हवन करे, तो सभी कामनाओं की पूर्ति होती है।

९. 'श्रीबुद्धावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

दशम महा-विद्या भगवती कमला से उद्भूत विश्व के संरक्षक भगवान् विष्णु का नवाँ अवतार 'श्रीबुद्धावतार'

भगवतीकमला

जयन्ती :
आषाढ़ शुक्ला नवमी

ॐश्रीबुद्धावतारायनमः

पुरा पुराणामसुरान् विजेतुं, सम्भावयन् चीवर-चिह्न-वेशम् ।
चकार य; शास्त्रममोघ-कल्पं, तं मूल-भूतं प्रणतोऽस्मि बुद्धम् ।।

अर्थात् जिन्होंने असुरों पर देवताओं की विजय के लिए चीवर अर्थात् भिक्षुकों का वेश धारण करके शास्त्रों को अमोघ रूप प्रदान किया, मैं उन बुद्धावतार भगवान् विष्णु की वन्दना करता हूँ।

द्वा-त्रिंशदक्षर-'श्रीबुद्धावतार'-नाम-मन्त्र-साधना

नाम-माहात्म्य-महा-विद्या कमला से उद्भूत श्रीबुद्ध-विग्रह भगवान् विष्णु के नाम-मन्त्र-जप से सभी लोग वशीभूत होते हैं, सभी प्रकार के उपद्रव शान्त होते हैं और दुःख दूर होते हैं।

कर-न्यास-**नमो अंगुष्ठाभ्यां नमः। भगवते तर्जनीभ्यां स्वाहा। बुद्ध मध्यमाभ्यां वषट्। संसारार्णव-तारक अनामिकाभ्यां हुम्। कलि-कालादहं भीतः कनिष्ठाभ्यां वौषट्। शरण्यं शरणं गतः करतल-कर-पृष्ठाभ्यां फट्।**

षडङ्ग-न्यास-**नमो हृदयाय नमः। भगवते शिरसे स्वाहा। बुद्ध शिखायै वषट्। संसारार्णव-तारक कवचाय हुम्। कलि-कालादहं भीतः नेत्र-त्रयाय वौषट्। शरण्यं शरणं गतः अस्त्राय फट्।**

ध्यान-

पद्मे पद्मासनस्थं च, ऊर्वोर्न्यस्त-कर-द्वयं। गौरं मुण्डित-सर्वाङ्गं, ध्यान-स्तिमित-लोचनम् ।।
पुस्तकासक्त-हस्तैश्च, नाना-शिष्यैश्च शोभितं। इन्द्रादि-लोकपालैश्च, ताम्र-वर्णाम्बरावृतम् ।।

अर्थात् पद्मासन पर कमल-मुद्रा से विराजमान और घुटनों पर हाथ रखे हुए, गौर-वर्णवाले, **'मुण्डित'** शरीरवाले, ध्यान-मुद्रा में विराजमान मुस्काते हुए नेत्रोंवाले, हाथों में पुस्तकों को चाव से लिए हुए, विविध प्रकार के शिष्यों से शोभायमान और इन्द्रादि लोक-पालों द्वारा वन्दित, 'ताम्र-वर्ण' गेरुए वस्त्र से शोभायमान भगवान् श्रीबुद्ध को नमो नमः।

मानस-पूजा-

लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीबुद्धाय समर्पयामि नमः।
हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीबुद्धाय समर्पयामि नमः।
यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीबुद्धाय घ्रापयामि नमः।
रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीबुद्धाय दर्शयामि नमः।
वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीबुद्धाय निवेदयामि नमः।
सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीबुद्धाय समर्पयामि नमः।

मन्त्र- **नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः** (३२ अक्षर)। **'वर्ण-माला'** में इस मन्त्र का **'जप'** आगे दी गई विधि के अनुसार करना चाहिए।

विशेष : उक्त मन्त्र के अनुसार पहले मन-ही-मन यह भावना करनी चाहिए कि " **संसार-सागर से उद्धार करनेवाले हे भगवान् बुद्ध! मैं कलि-युग में अधर्मी काल से भयभीत हूँ। आप शरण देने में समर्थ हैं। मैं आपकी शरण में आया हूँ।**" फिर उक्त मन्त्र का जप कर अपने अभीष्ट कार्य को सम्पन्न करना चाहिए। इस प्रकार करने से सभी प्रकार की बाधाएँ दूर होंगी और पूर्ण सफलता के साथ-साथ सुख-शान्ति की प्राप्ति भी होगी।

ॐ

१. अं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः अं
२. आं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः आं
३. इं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः इं
४. ईं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ईं
५. उं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः उं
६. ऊं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ऊं
७. ऋं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ऋं
८. ॠं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ॠं
९. ऌं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ऌं
१०. ॡं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ॡं
११. एं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः एं
१२. ऐं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ऐं
१३. ओं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ओं
१४. औं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः औं
१५. अं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः अं
१६. अः नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः अः
१७. कं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः कं
१८. खं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः खं
१९. गं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः गं
२०. घं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः घं
२१. ङं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ङं
२२. चं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः चं
२३. छं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः छं
२४. जं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः जं
२५. झं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः झं
२६. ञं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ञं
२७. टं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः टं
२८. ठं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ठं
२९. डं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः डं
३०. ढं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ढं
३१. णं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः णं
३२. तं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः तं

३३. थं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः थं

३४. दं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः दं

३५. धं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः धं

३६. नं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः नं

३७. पं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः पं

३८. फं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः फं

३९. बं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः बं

४०. भं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः भं

४१. मं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः मं

४२. यं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः यं

४३. रं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः रं

४४. लं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः लं

४५. वं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः वं

४६. शं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः शं

४७. षं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः षं

४८. सं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः सं

४९. हं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः हं

५०. ळं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः ळं

क्षं

इसके बाद 'विलोम'-क्रम से 'ळं' से 'अं' तक (५१ से १०० तक) 'जप' करे। फिर 'अष्ट-मातृका-वर्णों' (अं-कं-चं-टं-तं-पं-यं-शं) से १०१ से १०८ तक 'जप' करे। यथा-

१०१. अं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः अं

१०२. कं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः कं

१०३. चं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः चं

१०४. टं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः टं

१०५. तं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः तं

१०६. पं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः पं

१०७. यं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः यं

१०८. शं नमो भगवते बुद्ध, संसारार्णव-तारक! कलि-कालादहं भीतः, शरण्यं शरणं गतः शं

होम- यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद घृत-युक्त चावल से हवन करे, तो सभी कामनाओं की पूर्ति होती है। वाक् आदि सिद्धियाँ प्राप्त होकर सभी वशीभूत होते हैं। भूत-प्रेतादि एवं अन्य सभी प्रकार के उपद्रव शान्त होते हैं। ध्यान रहे कि भगवान् बुद्ध की साधना में मन से भी दूसरों को दुःख न देने का भाव होना चाहिए।

१०. 'श्रीकल्कि-अवतार'-नाम-मन्त्र-साधना

भगवती श्रीदुर्गा से उद्भूत
विश्व के संरक्षक भगवान् विष्णु का
दसवाँ अवतार 'श्रीकल्कि-अवतार'

भगवतीदुर्गा

जयन्ती :
मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया

ॐश्रीकल्कि-अवताराायनमः

कल्पावसाने निखिलैः खुरैः स्वैः, सङ्कुट्टयामास निमेष-मात्रात्।
यस्तेजसा निर्दहतीति भीमो, विश्वात्मकं तं तुरगं भजामः।।

अर्थात् युगों की समाप्ति पर, जिन्होंने अपने खुरों के तीक्ष्ण प्रहार से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को विदीर्ण कर दिया और जिनके तेज से विश्व जल उठा, मैं उन तीव्र-गामी अश्वों अर्थात् तीक्ष्ण मन-विचारवाले कल्कि-अवतार भगवान् विष्णु को प्रणाम करता हूँ।

षडक्षर-'श्रीकल्कि'-नाम-मन्त्र-साधना

नाम-माहात्म्य-भगवती दुर्गा से उद्भूत श्रीकल्कि-विग्रह भगवान् विष्णु के नाम-मन्त्र-जप से कलि-युग में पापियों, दुष्टों के कपट-पूर्ण कार्यों एवं आतङ्क से रक्षा होती है।

कर-न्यास-कं अंगुष्ठाभ्यां नमः। कं तर्जनीभ्यां स्वाहा। ल्किं मध्यमाभ्यां वषट्। नं अनामिकाभ्यां हुम्। नं कनिष्ठाभ्यां वौषट्। मं करतल-कर-पृष्ठाभ्यां फट्।

षडङ्ग-न्यास-कं हृदयाय नमः। कं शिरसे स्वाहा। ल्किं शिखायै वषट्। नं कवचाय हुम्। नं नेत्र-त्रयाय वौषट्। मं अस्त्राय फट्।

ध्यान-

ध्याये नील-हयारूढं, श्वेतोष्णीष-विराजितम्।
महा-मुद्राढ्य-हस्तं च, कौस्तुभोद्दाम-कण्ठकम्।।
मर्दयन्तं म्लेच्छ-गणं, क्रोध-पूरित-लोचनम्।
अन्तर्हितैर्देव-मुनि-गन्धर्वै-संस्तुतं हरिम् ।।

अर्थात् नीले घोड़े पर सवार, श्वेत पगड़ी से देदीप्यमान, 'महा-मुद्रा' अर्थात् भ्रू-मध्य की ओर देखने की मुद्रा में मुट्ठी बाँधे हुए हाथों की विशेष मुद्रावाले और कौस्तुभ-मणि के समान विशाल एवं चमकीली गर्दनवाले कल्कि-अवतार भगवान् विष्णु का मैं ध्यान करता हूँ, जो क्रोध-पूर्ण आखों से दुष्ट लोगों पर प्रहार करने में तल्लीन हैं और सर्व-कल्याण हेतु जिनकी गुप्त-रूप से देव-मुनि-गन्धर्व स्तुति कर रहे हैं।

मानस-पूजा-

लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीकल्किने समर्पयामि नमः।
हं आकाशात्मकं पुष्पं श्रीकल्किने समर्पयामि नमः।
यं वाय्वात्मकं धूपं श्रीकल्किने घ्रापयामि नमः।
रं वह्न्यात्मकं दीपं श्रीकल्किने दर्शयामि नमः।
वं अमृतात्मकं नैवेद्यं श्रीकल्किने निवेदयामि नमः।
सं सर्वात्मकं ताम्बूलं श्रीकल्किने समर्पयामि नमः।

मन्त्र- कं कल्किने नमः (६ अक्षर)। 'वर्ण-माला' में इस मन्त्र का 'जप' आगे दी गई विधि के अनुसार करना चाहिए।

विशेष : 'ॐ ऐं स्त्रौं कलि-दर्पघ्न्यै नमः', 'ॐ ऐं वैं कलि-कल्मष-नाशिन्यै नमः' इस प्रकार भगवती दुर्गा का स्मरण करते हुए भगवान् कल्कि के नाम-मन्त्र का जप करने से विशेष सफलता प्राप्त होती है।

ॐ

१. अं कं कल्किने नमः अं
२. आं कं कल्किने नमः आं
३. इं कं कल्किने नमः इं
४. ईं कं कल्किने नमः ईं
५. उं कं कल्किने नमः उं
६. ऊं कं कल्किने नमः ऊं
७. ऋं कं कल्किने नमः ऋं
८. ॠं कं कल्किने नमः ॠं
९. ऌं कं कल्किने नमः ऌं
१०. ॡं कं कल्किने नमः ॡं
११. एं कं कल्किने नमः एं
१२. ऐं कं कल्किने नमः ऐं
१३. ओं कं कल्किने नमः ओं
१४. औं कं कल्किने नमः औं
१५. अं कं कल्किने नमः अं
१६. अः कं कल्किने नमः अः
१७. कं कं कल्किने नमः कं
१८. खं कं कल्किने नमः खं
१९. गं कं कल्किने नमः गं
२०. घं कं कल्किने नमः घं
२१. ङं कं कल्किने नमः ङं
२२. चं कं कल्किने नमः चं
२३. छं कं कल्किने नमः छं
२४. जं कं कल्किने नमः जं
२५. झं कं कल्किने नमः झं
२६. ञं कं कल्किने नमः ञं
२७. टं कं कल्किने नमः टं
२८. ठं कं कल्किने नमः ठं
२९. डं कं कल्किने नमः डं
३०. ढं कं कल्किने नमः ढं
३१. णं कं कल्किने नमः णं
३२. तं कं कल्किने नमः तं
३३. थं कं कल्किने नमः थं
३४. दं कं कल्किने नमः दं
३५. धं कं कल्किने नमः धं
३६. नं कं कल्किने नमः नं
३७. पं कं कल्किने नमः पं
३८. फं कं कल्किने नमः फं
३९. बं कं कल्किने नमः बं
४०. भं कं कल्किने नमः भं
४१. मं कं कल्किने नमः मं
४२. यं कं कल्किने नमः यं
४३. रं कं कल्किने नमः रं
४४. लं कं कल्किने नमः लं
४५. वं कं कल्किने नमः वं
४६. शं कं कल्किने नमः शं
४७. षं कं कल्किने नमः षं
४८. सं कं कल्किने नमः सं
४९. हं कं कल्किने नमः हं
५०. ळं कं कल्किने नमः ळं

क्षं

इसके बाद 'विलोम'-क्रम से 'ळं' से 'अं' तक (५१ से १०० तक) 'जप' करे। फिर 'अष्ट-मातृका-वर्णों' (अं-कं-चं-टं-तं-पं-यं-शं) से १०१ से १०८ तक 'जप' करे। यथा-

१०१. अं कं कल्किने नमः अं
१०२. कं कं कल्किने नमः कं
१०३. चं कं कल्किने नमः चं
१०४. टं कं कल्किने नमः टं
१०५. तं कं कल्किने नमः तं
१०६. पं कं कल्किने नमः पं
१०७. यं कं कल्किने नमः यं
१०८. शं कं कल्किने नमः शं

होम- यथा-शक्ति 'जप' करने के बाद सिता (शक्कर)-सहित पायस से होम करे, तो शत्रु-नाश, सर्वत्र विजय की प्राप्ति एवं दिन-प्रति-दिन ऐश्वर्य की वृद्धि होती है।

'शारदा-तिलक तन्त्र' से संग्रहीत

'दशावतार'-स्तोत्रम्

आदाय वेदाः सकलाः समुद्रान्, निहत्य शङ्खासुरमत्युदग्रम् ।
दत्ताः पुरा येन पितामहाय, विष्णुं तमाद्यं भज मत्स्य-रूपम् ।।१
दिव्यामृतार्थं मथिते महाब्धौ, देवासुराभ्यां वासुकि-मन्दराभ्याम् ।
भूमेर्महा-वेग-विघूर्णितायास्तं कूर्ममाधार-गतं स्मरामि ।।२
समुद्र-काञ्ची सरिदुत्तरीया, वसुन्धरा मेरु - किरीटभारा ।
दंष्ट्रागतो येन समुद्धृता भूस्तमादिकोलं शरणं प्रपद्ये ।।३
भक्तार्त्ति-भङ्ग-क्षमया धिया यः, स्तम्भान्तरालादुदितो नृसिंहः।
रिपुं सुराणां निशितैर्नखाग्रैर्विदारयन्तं न च विस्मरामि ।।४
चतुः समुद्राभरणा धरित्री, न्यासाय नाऽलं चरणस्य यस्य।
एकस्य नाऽन्यस्य पदं सुराणां, त्रि-विक्रमं सर्व-गतं स्मरामि ।।५
त्रिः सप्त-वारं नृपतीन् निहत्य, यस्तर्पणं रक्त-मयं पितृभ्यः।
चकार दोर्दण्ड-बलेन सम्यक्, तमादि-शूरं प्रणमामि भक्त्या।।६
कुले रघूणां समवाप्य जन्म, विधाय सेतुं जलधेर्जलान्तः ।
लङ्केश्वरं यः शमयाञ्चकार, सीता-पतिं तं प्रणमामि भक्त्या ।।७
हलेन सर्वानसुरान् विकृष्य, चकार चूर्णं मुशल - प्रहारैः।
यः कृष्णमासाद्य बलं बलीयान्, भक्त्या भजे तं बल-भद्र-रामम् ।।८
पुरा पुराणामसुरान् विजेतुं, सम्भावयन् चीवर-चिह्न-वेशम् ।
चकार य; शास्त्रममोघ-कल्पं, तं मूल-भूतं प्रणतोऽस्मि बुद्धम् ।।९
कल्पावसाने निखिलैः खुरैः स्वैः, सङ्घट्टयामास निमेष-मात्रात्।
यस्तेजसा निर्दहतीति भीमो, विश्वात्मकं तं तुरगं भजामः।।१०
शङ्खं सु-चक्रं सु-गदां सरोजं, दोर्भिर्दधानं गरुडाधिरूढम् ।
श्रीवत्स-चिह्नं जगदादि-मूलं, तमाल-नीलं हृदि विष्णुमीडे।।११

विशेषः 'शारदा-तिलक-तन्त्र' का उक्त 'दशावतार-स्तोत्र' पीछे भगवान् विष्णु एवं उनके दशावतारों के चित्रों के साथ क्रमशः प्रकाशित हुआ है। उपरोक्त 'दशावतार'-स्तोत्रम् में भगवान् श्रीकृष्ण का उल्लेख नहीं है, उनके स्थान पर महा-विद्या भैरवी से उद्भूत 'श्रीबलराम' का उल्लेख है। उनकी स्तुति में स्पष्टतः कहा गया है कि–'जिन्होंने श्रीकृष्ण का बल प्राप्त कर, समस्त असुरों को अपने हल से खींचकर, मुशल-प्रहार से चूर-चूर कर दिया…।' इस प्रकार उक्त स्तुति में भगवान् श्रीकृष्ण के स्मरण के साथ-साथ तीन रामों (१. परशुराम, २. राम, ३. बलराम) का उल्लेख है।

'चण्डी'-पुस्तक-माला के कुछ उपयोगी अङ्क

रजि० सं० ३२९८१/५७

शास्त्र कहते हैं-

'नाम'-स्मरण

"...जो मनुष्य पवित्रता अथवा अपवित्रता का विचार न कर सदा-सर्वदा 'नाम'-स्मरण में रत रहता है, वह संसार के कष्टों से शीघ्र मुक्त हो जाता है।..."

"...भगवान् श्रीविष्णु के 'नाम'-स्मरण में न 'देश' का नियम है, न 'काल' का– यह निश्चय समझो।..."

"...'यज्ञ' में, 'दान' में, 'स्नान' में तथा 'जप' में भी 'काल' का विचार है किन्तु 'विष्णु' के 'नाम'-स्मरण में 'काल का विधान' बिल्कुल नहीं है।..."

"...न तो 'देश-काल' का नियम है और न 'पवित्रता' अथवा 'अपवित्रता' का विचार है, मनुष्य केवल 'राम'-नाम के कीर्तन से सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है।..."

"...घूमता हुआ, बैठा हुआ, सोता हुआ, पीता हुआ, खाता हुआ तथा जपता हुआ 'कृष्ण-नाम'-स्मरण से मनुष्य दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है।..."

प्रकाशक : श्रीऋतशील शर्मा, श्रीचण्डी-धाम, प्रयाग-६ ☎ ०९२३५९१००७१

॥ श्रीगणाधिपतये नमः ॥

श्रीगोरक्षनाथकृता

सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः

॥ प्रथमोपदेशः ॥

[१]श्रीगणधिपतये नमः

आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
वक्ष्ये गोरक्षनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ॥

नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पत्तिश्चाण्डयोः ।
तथापि लोकवृध्यर्थं वक्ष्ये [२]सत्सम्प्रदायतः ॥

सा [३]पिण्डोत्पत्यादिः [४]सिद्धमते सम्यक् प्रसिद्धा । पिण्डोत्पत्तिः पिण्डविचारः पिण्डसंवित्तिः पिण्डाधारः पिण्डपदसमरसभावः [५]श्रीनित्यपिण्डावधूतः ॥

---

१. हरिः ओम् – ग, म
२. तत् – क
३. पिण्डोत्पत्यादि सिद्धम् – क
४. सिद्धमते इत्यनन्तरं अक्षर त्रयं 'ग' मातृकायां त्यक्तमस्ति । छन्दोभङ्गः दृश्यते ।
५. श्री – न दृश्यते – क, म

यदा नास्ति स्वयंकर्ता कारणं न कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं च परंब्रह्म अनामा विद्यते तदा ॥

अनामेति स्वयमनादिसिद्धम् । एकमेवानादिनिधनं सिद्धसिद्धान्तप्रसिद्धं तस्येच्छामात्रेण धर्मधर्मिणीनिजशक्तिः प्रसिद्धा ॥

तस्या उन्मुखमात्रेण पराशक्तिः[६]समुत्थिता ।
तस्याः स्पन्दनमात्रेण अपराशक्तिः[७]रुत्थिता ॥

ततोऽहन्तार्धमात्रेण सूक्ष्मशक्तिरुत्पन्ना । ततो वेदनशीला कुण्डलनी शक्तिः[८]रुद्गता ॥ नित्यता निरञ्जनता निस्स्पन्दता निराभासता [९]निरुत्थानता इति पञ्चगुणा निजशक्तिः ॥

अस्तता अप्रमेयता अभिन्नता [१०]अनन्तरता अव्यक्तता इति पञ्चगुणा पराशक्तिः ॥

स्फुरता स्फुटता [११]स्फारता स्फोटता स्फूर्तिता इति पञ्चगुणा अपराशक्तिः ॥

निरंशता [१२]निरञ्जनता निश्चलता निश्चयता निर्विकल्पता इति पञ्चगुणा सूक्ष्माशक्तिः ॥

---

६. रुद्भृता – ग
७. रुद्भृता – ग
८. रुद्भता – ग
९. निरुल्वणम् – क
१०. अनवरता – ग, म
११. स्फोरता – ग
१२. निरन्तरता – ग

पूर्णता प्रतिबिम्बता प्रबलता प्रोच्चलता प्रत्यङ्मुखता इति पञ्चगुणा कुण्डलिनीशक्तिः ॥

एवं शक्तितत्त्वे पञ्चपञ्चगुणयोगात् पिण्डोत्पत्तिः ॥

उक्तं च – निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा ।
[१३]शक्तितत्त्वे क्रमेणोत्था जातः पिण्डः परश्शिवः ॥

अपरम्परं [१४]परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मा इति । अपरम्परात् स्फुरता मात्रमुत्पन्नं, परमपदात् भावनामात्रमुत्पन्नम् । शून्यात् स्वसत्ता-मात्रमुत्पन्नं निरञ्जनात् स्वसाक्षात्कारमुत्पन्नं, परमात्मनः परमात्मा उत्पन्नः ॥

अकलङ्कत्वमनुपमत्वमपरात्वममूर्तत्वमनुदयत्वमिति पञ्चगुण-मपरम्परम् ॥

[१५]निष्कलत्वमणुत्तरत्वमचलत्वमसङ्ख्यत्वमपारत्वमिति पञ्चगुणं परमपदम् ॥

लीनता पूर्णता उन्मनी लोलता मूर्च्छता इति पञ्चगुणं शून्यम् ॥

सत्यत्वं सहजत्वं समरसत्वं सावधानत्वं [१६]सर्वगतत्वमिति पञ्चगुणं निरञ्जनम् ॥ अक्षयत्वमभेद्यत्वमच्छेद्यत्वमदाह्यत्वमविनाश्यत्वमिति पञ्चगुणः परमात्मा ॥

---

१३. शक्तिपक्षे क्रमेणैव जातः – ग

१४. परमपदम् – ग

१५. अनिष्कळत्वम् – ग

१६. समवधानत्वम् – ग, म

इति अनाद्यपिण्डस्य पञ्चत्वं पञ्चविंशतिगुणाः ॥

उक्तञ्च – अपरंपरं परमपदं [१७]शून्यमथ निरञ्जनं परमात्मा । पञ्चभिरेतैस्स[१८]गुणैरनादिपिण्डः समुत्पन्नः ॥

अनाद्यात्परमानन्दः परमानन्दात्प्रबोधः प्रबोधात् चिदुदयः चिदुदयात्प्रकाशः प्रकाशात्सोऽहंभावः ॥

स्पन्दः हर्षः उत्साहः निस्पन्दः नित्यसुखत्वमिति पञ्चगुणः परमानन्दः ॥

उदयः उल्लासः अवभासः विकासः प्रभा इति पञ्चगुणः प्रबोधः ॥

सद्भावः विचारः कर्तृत्वं ज्ञातृत्वं स्वतन्त्रत्वमिति पञ्चगुणः चिदुदयः ॥

निर्विकारत्वं [१९]निष्कळत्वं निर्विकल्पत्वं समता विश्रान्तिः इति पञ्चगुणः प्रकाशः ॥

अहन्ताऽखण्डैश्वर्यं स्वात्मता विश्वानुभवसामर्थ्यं सर्वज्ञत्वमिति पञ्चगुणः सोऽहंभावः ॥

इत्याद्यपिण्डस्य पञ्चतत्त्वं पञ्चविंशतिगुणाः ॥

---

१७. शून्यम् निरञ्जनम् – क ; 'अथ' न दृश्यते – क

१८. गुणैरनाद्य पिण्डम् समुत्पन्नम् – ग, म

१९. निष्फलत्वम् – ग

उक्तं च – परमानन्दः प्रबोधः [20]चिदुदयः चित्प्रकाशः सोऽहंभावः इत्यन्तः आद्यपिण्डो महत्तत्त्वगुणयुक्तः [21]समुत्थितः ॥

आद्यान्महाकाशः महाकाशान्महावायुः महावायोर्महातेजः ।
महातेजसो महासलिलं महासलिलान्महापृथ्वी ॥

अवकाशः [22]अच्छिद्रत्वम् अस्पृशत्वं नीलवर्णत्वं [23]शब्दत्वमिति पञ्चगुणः महाकाशः ॥

सञ्चारः [24]चलनं स्पर्शनं शोषणं धूम्रवर्णत्वम् इति पञ्चगुणः महावायुः ॥

दाहकत्वं पाचकत्वम् उष्णत्वं प्रकाशत्वं रक्तवर्णत्वमिति पञ्चगुणः महातेजः ॥

प्रवाहः [25]आप्यायनं द्रवः रसः श्वेतवर्णत्वम् इति पञ्चगुणं महासलिलम् ॥

स्थूलता नानाकारता काठिण्यं गन्धः पीतवर्णत्वम् इति पञ्चगुणा महापृथिवी ॥

---

२०. चित्प्रकाशः चिदुदयः – क
२१. समुद्भूतः – ग
२२. अवच्छेदः – ग
२३. शब्दमिति – क
२४. सञ्चालनम् – क
२५. आप्लायनम् – ग

इति महासाकारपिण्डस्य पञ्चतत्त्वं पञ्चविंशतिगुणाः ॥

स एव शिवः, शिवात् भैरवः, भैरवात् श्रीकण्ठः, श्रीकण्ठात् सदाशिवः सदाशिवादीश्वरः, ईश्वरात् रुद्रः, रुद्रात् विष्णुः, विष्णोर्ब्रह्मा इति साकारपिण्डस्य मूर्त्यष्टकम् ॥

[२६]तस्मात् ब्रह्मणः सकाशादवलोकनेन नरनारीरूपं प्रकृतिपिण्ड-मुत्पन्नम् । तच्च पञ्चपञ्चात्मकं शरीरमिति ॥

अस्थिमांसत्वक्नाडीरोमाणीति पञ्चगुणा भूमिः ॥

लाला मूत्रं शुक्लं शोणितं स्वेदनमिति पञ्चगुणा आपः ॥

क्षुधा तृष्णा निद्रा [२७]क्लान्तिः आलस्यमिति पञ्चगुणं तेजः ॥

धावनं [२८]प्लवनं प्रसरणम् आकुञ्चनं निरोधनम् इति पञ्चगुणो वायुः ॥

रागः द्वेषः भयं लज्जा मोहः इति पञ्चगुणः आकाशः ॥

इति पञ्चविंशतिगुणानां भूतानां प्रकृतिपिण्डः ॥

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तश्चैतन्यमित्यन्तःकरणपञ्चकम् ॥

सङ्कल्पविकल्पमूर्च्छाजडतामननमिति पञ्चगुणं मनः ॥

विवेकः वैराग्यं [२९]शान्तिः सन्तोषः क्षमा इति पञ्चगुणा बुद्धिः ॥

---

२६. ततो – क

२७. कान्तिः – ग

२८. 'प्लवनम्' इति पदम् न दृश्यते – ग, म

२९. कान्तिः – ग

अभिमानं मदीयं मम दुःखं मम सुखं [३०]ममेति च पञ्चगुणो अहङ्कारः ॥

मतिः धृतिः स्मृतिः त्यागः स्वीकारः इति पञ्चगुणं चित्तम् ॥

विमर्शः शीलनं धैर्यं चिन्तनं निःस्पृहत्वम् इति पञ्चगुणं चैतन्यम् ॥

एवम् अन्तःकरणगुणाः ॥

सत्त्वं रजस्तमः कालः जीव इति कुलपञ्चकम् ॥

दयाधर्म[३१]कृतज्ञताभक्तिश्रद्धा इति पञ्चगुणं सत्त्वम् ॥

[३२]दानं भोगः शृङ्गारः वस्तुग्रहणं स्वार्थमिति पञ्चगुणं रजः ॥

विवादः शोकः कलहः [३३]व्याजः वञ्चनमिति पञ्चगुणं तमः ॥

कलना कल्पना [३४]मोहः भ्रान्तिः अनर्थः इति पञ्चगुणः कालः ॥

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तिः तुर्यं तुर्यातीतम् इति पञ्चावस्थागुणः जीवः ॥

[३५]इच्छाक्रियामायाप्रकृतिः वागिति व्यक्तिशक्तिपञ्चकम् ॥

---

३०. ममेदमिति – क

३१. कृपा भक्तिः – क

३२. डम्भम् – ग

३३. वधः – क

३४. 'मोह' पदम् न दृश्यते । भ्रान्तिप्रमादोऽनर्थः – क

३५. इच्छाज्ञान – क

उन्मादो वासना वाञ्छा चिन्ता चेष्टा इति पञ्चगुणा इच्छा ॥

स्मरणम् उद्योगः कार्यः निश्चयः स्वकुलाचार इति पञ्चगुणा क्रिया ॥

मदः मात्सर्यः डम्भः कृत्रिमत्वं सत्यम् इति पञ्चगुणा माया ॥

आशा [३६]तृष्णा स्पृहाऽऽकाङ्क्षा मिथ्या इति पञ्चगुणा प्रकृतिः ॥

परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी मातृका इति पञ्चगुणा वाक् ॥

इति पञ्चगुणा व्यक्तिशक्तिः पञ्चविंशतिगुणाः ॥

कर्म कामः चन्द्रः सूर्यः अग्निरिति प्रत्यक्षकरणपञ्चकम् ॥

शुभमशुभं [३७]यशः अपकीर्तिः अदृष्टं फलसाधनम् इति पञ्चगुणं कर्म ॥

रतिः प्रीतिः क्रीडा कामना आतुरता इति पञ्चगुणः कामः ॥

[३८]उल्लोलिनी कल्लोलिनी उच्चलन्ती उन्मादिनी तरङ्गिणी शोषिणी [३९]अलम्पटा प्रवृत्तिः लहरी लोला लेलिहाना प्रसरन्ती [४०]प्रवाहा सौम्या प्रसन्ना [४१]प्लवन्ती एवं चन्द्रस्य षोडशकलाः सप्तदशीकला [४२]निजकला साऽमृतकला ॥

---

३६. तृष्णामया – क

३७. यशः कीर्तिः – क । 'यशः' न दृश्यते – ग

३८. उल्लोल – क

३९. लम्पटा – ग, म

४०. प्रवाहिनी – ग

४१. प्रहवन्ती – ग

४२. निवृत्तिः – क

तापनी ग्रासिका उग्रा आकुञ्चनी शोषणी प्रबोधिनी स्मरा आकर्षणी तुष्टिवर्द्धिनी [४३]उन्मुखा किरणावती प्रभावतीति [४४]सूर्यस्य द्वादश कला त्रयोदशीकला स्वप्रकाशता निजकला ॥

दीपिका राजिका ज्वलिनी विस्फुलिङ्गिनी प्रचण्डा पाचिका रौद्री [४५]दाहका रागिणी शिखावती इत्यग्नेः दश कलाः एकादशीकला ज्योतिः ॥

इति प्रत्यक्ष[४६]गुणकला समूहः ॥

॥ अथ नाडीनां दश द्वाराणि ॥

[४७]इडा पिङ्गला च नासद्वारयोर्वहतः सुषुम्ना तालुमार्गेण ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्तं वहति ॥

सरस्वती मुखद्वारेण वहति पूषाऽलम्बुषा च चक्षुद्वारयोर्वहतः गान्धारी हस्तिजिह्विका च कर्णद्वारयोर्वहतः ॥

कुहू गुदद्वारे वहति शङ्खिनी लिङ्गद्वारे वहति सा दण्डमार्गेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वहति ॥

एवं दशद्वारेषु वहन्ति अन्यास्सर्वा नाड्याः रोमकूपेषु वहन्ति ॥

---

४३. उर्मिरेखा – क
४४. द्वादशकलाः सूर्यस्य त्रयोदशी स्वप्रकाशता – क
४५. दाह्यका – ग
४६. करण गुण कला – ग
४७. सर्वत्र 'इडा' इत्यत्र 'इळा' इति पाठः 'ग' प्रतौ परिदृश्यते ।

॥ अथ दशवायवः ॥

हृदये प्राणवायुः उच्छ्वासनिःश्वासकारको हकारसकारात्मकश्च गुदे अपानवायुः रेचक[४८]पूरककुम्भकश्च ॥

नाभौ समानवायुः दीपकपावकश्च [४९]सर्वदेहे व्यानवायुः सर्वनाडी-शोषणाप्यायनकारकश्च ॥

[५०]कण्ठे उदानवायुः ग्रसनवमनजल्पनकारकश्च नागवायुः सर्वाङ्ग-व्यापकः [५१]मोचको लम्पटश्च ॥

कूर्मवायुश्चक्षुषोरुन्मेष[५२]निमेषकारकश्च [५३]कृकलवायुरुद्गारकः क्षुत्कारकश्च देवदत्तवायुर्मुखे जृम्भकः [५४]धनञ्जयवायुर्नादघोषकः ॥

इति दशवायोरवलोकनेन पिण्डोत्पतिः नरनारीरूपम् ॥

॥ अथ गर्भोळि पिण्डोत्पत्तिः ॥

नरनारीसंयोगे ऋतुकाले रजोबिन्दुसंयोगेऽण्डजीवः । सः जीवः प्रथमदिने [५५]कललं भवति सप्तरात्रे बुद्बुदाकारं भवति ॥

---

४८. 'पूरक' न दृश्यते – क
४९. कण्ठे व्यानवायुः – क
५०. तालौ उदानवायुः – क
५१. मोचकश्चालकश्च – क
५२. 'निमेष पदम्' न दृश्यते – क
५३. कृकल उद्गारकः – क
५४. धनञ्जयोर्नादघोषकः – क
५५. कलिलम् – ग

अर्धमासे [56]गोलाकारं भवति मासमात्रे कठिणं भवति । मासद्वयेन शिरो भवति तृतीये मासे हस्तपादादिकं भवति ॥

चतुर्थमासि चक्षुःकर्णनासिकमुखमेढ्र[57]गुदं भवति । पञ्चमे मासि पृष्ठोदरं भवति । षष्ठे मासि नखकेशादिकं भवति ॥

सप्तमे मासि सर्वचेतनयुक्तो भवति । अष्टमे मासि सर्वलक्षणसंयुक्तो भवति ॥ नवमे मासि [58]सत्यज्ञानगर्भसंयुक्तो भवति । दशमे मासि योनिसंस्पर्शादज्ञानबालको भवति ॥

शुक्राधिक्ये पुरुषः रक्ताधिक्ये [59]कन्या समशुक्ररक्ताभ्यां नपुंसकः । परस्परं स्त्रीपुरुषचिन्ताव्याकुलत्वादन्धः कुब्जः वामनः पङ्गुरङ्गहीनश्च भवति ॥

परस्पररतिकाले अङ्ग[60]पीडनकरणगुणैः शुक्रं द्विस्त्रि[61]वारं पतति तेन द्वितीयो बालको भवति ॥

सार्धपलत्रयं शुक्रम् विंशतिपलं रक्तं द्वादशपलं मेदः दशपलं मज्जा शतपलं मांसः [62]विंशतिपलं श्लेष्मं तद्वद्वातं स्यात् ॥

---

५६. गोळकाकारम् – ग

५७. 'गुदम्' इति पदम् न दृश्यते – क

५८. सर्वज्ञान – ग

५९. कन्यका – ग

६०. निबन्दनकरणपातगुणैः – ग

६१. वारं भवति – क

६२. दशपलं पित्तंश्लेष्म – क

[६३]षष्ठ्यधिकशतत्रयमस्थीनि अस्थिमात्रं सन्धयः सार्धत्रयं क्रोटि[६४]रोमकूपानि पितृमातृवीर्यं भवति ॥

वातपित्तश्लेष्मधातुत्रयसहितं [६५]दशधातुमयं शरीरमिति गर्भ-पिण्डोत्पत्तिः ॥

॥ इति गोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ
पिण्डोत्पत्तिर्नाम प्रथमोपदेशः ॥

---

६३. षष्ठ्यधिक पदम् न दृश्यते – ग ; शतत्रयपल अस्थीनि – ग

६४. रोमाणि – ग

६५. त्रयोदशपलम् – म, त्रयोदशधातुमय शरीरम् – क

॥ अथ द्वितीयोपदेशः ॥

॥ अथ पिण्डविचारः कथ्यते ॥

पिण्डे नवचक्राणि आधारे ब्रह्मरन्ध्रकम् । [1]त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारम् । तत्रमूलकन्दः तत्र शक्तिं [2]पावकाकारं ध्यायेत् । [3]तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति ॥

द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रम् । तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखम् । लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत् । तत्रैवोढ्याणपीठं जगदाकर्षणं भवति ॥

तृतीयं नाभिचक्रम् । [4]पञ्चावर्तं सर्पवत्कुण्डलाकारम् । तन्मध्ये कुण्डलिनी शक्तिं बालार्ककोटिसदृशीं ध्यायेत् । सा मध्यशक्तिः [5]सर्वसिद्धिदा भवति ॥

चतुर्थं हृदयाधारम् । अष्टदलकमलमधोमुखम् । तन्मध्ये कर्णिकायां लिङ्गाकारं ज्योतिर् ध्यायेत् । सा एव हंसकला सर्वेन्द्रियवश्या भवति ॥

---

१. त्रिधावर्तम् - [illegible]

२. विनायकाकारम् - [illegible]

३. [illegible] - [illegible]

४. पञ्चावृतम् - [illegible]

५. सर्वसिद्धिप्रदा - [illegible]

पञ्चमं कण्ठचक्रम् । चतुरङ्गुलम् । तत्र वामे इडाचन्द्रनाडी, दक्षिणे पिङ्गलासूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्नां ध्यायेत् । [६]सैवानाहतकला अनाहत-सिद्धिर्भवति ॥

षष्ठं तालुचक्रम् । तत्रामृतधाराप्रवाहः । घण्टिकालिङ्गं मूलरन्ध्रं राजदन्तं [७]सन्धिनीविवरं दशमद्वारम् । तत्र शून्यं ध्यायेत् । चित्तलयः भवति ॥

सप्तमं [८]भ्रूमध्यचक्रम् । मध्यमाङ्गुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं [९]दीपशिखाकारं ध्यायेत् । वाचां सिद्धिर्भवति ॥

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रम् । निर्वाणचक्रं [१०]सूचिकाग्रवेध्यं धूमशिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवति ॥

नवममाकाशचक्रम् । षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखम् । तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारां तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत् । तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धिर्भवति ॥

॥ अथ षोडशाधारं कथ्यते ॥

तत्र प्रथमं पादाङ्गुष्ठाधारम् । तत्राग्रतस्तेजोमयं ध्यायेत् । दृष्टिः स्थिरा भवति ॥

---

६. 'अनाहतकला' न दृश्यते – ग
७. शङ्खिनीविवरम् – ग, म
८. भ्रूचक्रम् अङ्गुष्ठमात्रं – क, म
९. दीपरेखाकारम् – क
१०. सूचिकाग्रभेद्यम् – क, सूचिकाग्रवेयं – ग

द्वितीयं मूलाधारसूत्रम् । वामपार्ष्णिना निपीड्य स्थातव्यम् । तत्राग्निदीपनं भवति ॥

तृतीयं गुदाधारम् । [११]विकाससङ्कोचं निराकुञ्चयेत् अपानवायुः स्थिरो भवति ॥

चतुर्थं मेढ्राधारम् । [१२]लिङ्गसङ्कोचनेन ब्रह्मग्रन्थित्रयं भित्वा भ्रमरगुहायां विश्रम्य ततः ऊर्ध्वमुखीबिन्दुस्तम्भनं भवति । एष वज्रोली प्रसिद्धा ॥

पञ्चमोड्याणाधारयोर्बन्धनान्मलमूत्रसङ्कोचनं भवति ॥

षष्ठं नाभ्याधारम् ओङ्कारमेकचित्तनोच्चारिते नादलयो भवति ॥

सप्तमे हृदयाधारे प्राणान्निरोधयेत् कमलविकसनो भवति ॥

अष्टमे कण्ठाधारे कण्ठमूला चिबुकेन निरोधयेत् । इडापिङ्गलयोर्वायुः स्थिरो भवति ॥

नवमे घण्टिकाधारे [१३]जिह्वाग्रं धारयेत् अमृतकला स्रवति ॥

दशमे ताल्वाधारे ताल्वन्तर्गर्भे लम्बिकांचालनदोहनाभ्यां दीर्घं कृत्वा विपरीतेन प्रवेशयेत् काष्ठी भवति ॥

एकादशमथ जिह्वाधारम् । तत्र जिह्वाग्रं [१४]धारयेत् । सर्वरोगनाशो भवति ॥

---

११. संकोचनावकुञ्चयेत् –क

१२. 'लिङ्गम्' पदम् न दृश्यते – क

१३. जिह्वायाम् – ग

१४. ध्यायेत – ग

द्वादशं भ्रूमध्याधारम् । तत्र चन्द्रमण्डलं ध्यायेत् । शीतलतां याति ॥

त्रयोदशं नासाधारम् । [15]तस्याग्रं लक्षयेत् मनः स्थिरं भवति ॥

चतुर्दशं नासामूलम् । कवाटाधारम् । तत्र दृष्टिं धारयेत् । षण्मासा- ज्ज्योतिःपुञ्जं पश्यति ॥

पञ्चदशं ललाटाधारम् । तत्र ज्योतिःपुञ्जं लक्षयेत् तेजस्वी भवति ॥

अवशिष्टे ब्रह्मरन्ध्रे आकाशचक्रम् । तत्र श्रीगुरुचरणाम्बुज[16]द्वन्द्वं सदावलोकयेत् । आकाशवत्पूर्णो भवति ॥ इति षोडशाधारम् ॥

॥ अथ लक्ष्यत्रयम् ॥

मूलकन्दाद्दण्डलग्नां ब्रह्मनाडीं श्वेतवर्णां ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं गतां संस्मरेत् । तन्मध्ये कमलतन्तुनिभां [17]संस्मरेत् । विद्युत्कोटिप्रभां ऊर्ध्वगामिनीं तां मूर्तिं मनसा लक्षयेत् । तत्र सर्वसिद्धिप्रदा भवति ॥

अथवा ललाटोर्ध्वे गोर्ल्लाटमण्डले स्फुरत्ताराकारं लक्षयेत् । अथवा भ्रमरगुहामध्ये आरक्तभ्रमराकारं लक्षयेत् । अथवा कर्णद्वयं [18]तर्जनीभ्यां

---

१५. तत्रस्थाग्रम् – ग, म

१६. युगम् – ग

१७. 'संस्मरेत' इति पदम् न दृश्यते – क

१८. तर्जन्याङ्गुलीभ्याम् – ग

निरोधयेत् । ततः शिरोमध्ये [19]घण्टाकारं श्रृणोति । अथवा [20]चक्षुर्मध्ये नीलज्योतिरूपं पुत्तल्याकारं लक्षयेत् [21]इति अन्तर्लक्ष्यम् ॥

बहिर्लक्ष्यं कथ्यते – नासाग्रात् बहिरङ्गुलचतुष्टये नीलज्योतिस्सङ्काशं लक्षयेत् । अथवा नासाग्रात् षडङ्गुले अधो वायुतत्त्वं धूम्रवर्णत्वं लक्षयेत् । अथवा अष्टाङ्गुले अरक्ततेजस्तत्त्वं लक्षयेत् । अथवा दशाङ्गुले कल्लोलवदापस्तत्त्वं लक्षयेत् । अथवा नासाग्रात् द्वादशाङ्गुले पीतवर्णं पार्थिवतत्त्वं लक्षयेत् । अथवा आकाशमुखं दृष्ट्वावलोकयेत् । किरणाकुलितं पश्यति । एवं [22]निर्मलीकरणम् । अथवा ऊर्ध्वदृष्ट्यान्तरालं लक्षयेत् । ज्योतिर्मुखानि पश्यन्ति । अथवा यत्र तत्राकाशं लक्षयेत् । आकाशसदृशं चित्तं मुक्तिप्रदं भवति । अथवा दृष्ट्यन्तस्तप्तकाञ्चनसन्निभां मूर्तिं लक्षयेत् । दृष्टिः स्थिरा भवति । इत्यनेकविधं बहिर्लक्ष्यम् ॥

अथ मध्यलक्ष्यम् – श्वेतवर्णं वा रक्तवर्णं वा कृष्णवर्णं वा अग्निशिखाकारं वा अर्धचन्द्राकारं वा यथेष्टं स्वपिण्डमात्रस्थानवर्जितं मनसा लक्षयेत् । इत्यनेकविधं मध्यलक्ष्यम् ॥

अथ व्योमपञ्चकं लक्षयेत् – आकाशं पराकाशं महाकाशं तत्त्वाकाशं सूर्याकाशम् इति व्योमपञ्चकम् । बाह्याभ्यन्तरे अत्यन्तनिर्मलं

---

१९. काहलकलाकारनादम् – ग

२०. चक्षुरत्यन्धकारनिभं पराकाशमवलोकयेत् – ग

२१. इत्यन्तर्लक्ष्यम् आरभ्य निराकारमाकाशं लक्षयेत् पर्यन्तं पाठद्वय 'ग' मातृकायां न दृश्यते ।

२२. निर्मनीकरणम् – म

निराकारं आकशं लक्षयेत् । अथवा बाह्याभ्यन्तरे कालानलसङ्काशं महाकाशमवलोकयेत् । बाह्याभ्यन्तरनिजतत्त्वस्वरूपं तत्त्वाकाशमवलोकयेत् । अथवा बाह्याभ्यन्तरे सूर्यकोटिनिभं सूर्याकाशमवलोकयेत् । एवं व्योमपञ्चकावलोकनेन व्योमसदृशो भवति ॥

उक्तं च – नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः ॥

॥ अथ अष्टाङ्गयोगः ॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि ॥

[२३]यम इति उपशमः सर्वेन्द्रियजयः । आहारनिद्राशीतवातातपजयश्च एवं शनैः शनैस्साधयेत् ॥

नियम इति मनोवृत्तीनां [२४]नियमनम् । एकान्तवासः निस्सङ्गता औदासीन्यं यथा प्राप्तिः सन्तुष्टिः वैराग्यं गुरुचरणावरूढत्वम् इति नियमलक्षणम् ॥

आसनमिति सदा स्वस्वरूपे [२५]समासन्नत्वम् । स्वस्तिकासनं पद्मासनं सिद्धासनम् एतेषां मध्ये यथेष्टमेकं विधाय सावधानेन स्थातव्यम् । इति आसनलक्षणम् ॥

---

२३. यम इत्युपदेशः – ग
२४. नियमनमिति – क
२५. समासान्तता – ग

प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता । रेचक–पूरक–कुम्भक–सङ्घट्टकरणानि चत्वारि प्राणायामलक्षणम् ॥

प्रत्याहारमिति चैतन्यं तरङ्गाणां प्रत्याहरणम् । यथा नानाविकारग्रसनम् उत्पन्नविकारस्यापि [२६]निवृत्तिः इति प्रत्याहारलक्षणम् ॥

धारणेति सबाह्याभ्यन्तरे एकमेव निजतत्त्वरूपमेवमन्तःकरणेन साधयेत् । यथा यद्यदुत्पद्यते [२७]तत्तन्निराकारो धारयेत् । स्वात्मानं निर्वातदीपमिव सन्धारयेत् इति धारणलक्षणम् ॥

अथ ध्यानम् । अस्ति कश्चन [२८]परमाद्वैतस्य भावः स एवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वरूपमेवेति भावयेत् । सर्वभूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यानलक्षणम् ॥

अथ समाधिः । सर्वतत्त्वानां समावस्था निरुद्यमत्वमनायासस्थिति-मत्वम् इति समाधिलक्षणम् ॥

॥ इत्यष्टाङ्गयोगलक्षणम् ॥

॥ इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ
पिण्डविचारो नाम द्वितीयोपदेशः ॥

---

२६. निवृत्तिः निर्भाति इति – क, म

२७. तत्त्वरूपमेव – क, म

२८. परमाद्वैतस्वभावः – ग

॥ अथ तृतीयोपदेशः ॥

॥ अथ पिण्डसंवित्तिः कथ्यते ॥

पिण्डमध्ये चराचरौ यो जानाति स योगी पिण्डसंवित्तिर्भवति ॥

कूर्मः पादतले वसति पातालं पादाङ्गुष्ठे तलातलमङ्गुष्ठाग्रे महातलं पृष्ठे रसातलं गुल्फे सुतलं जङ्घायां वितलं जान्वोः अतलमूर्वोः एवं सप्तपातालम् । रुद्रदेवताधिपत्ये तिष्ठति । [1]पिण्डमध्ये [2]क्रोधरूपी भावः स एव कालाग्निरुद्रः ॥

भूर्लोकः गुह्यस्थाने भुवर्लोकः लिङ्गस्थाने स्वर्लोकः नाभिस्थाने एवं लोकत्रये इन्द्रो देवता । पिण्डमध्ये सर्वेन्द्रियनियामकः स एवेन्द्रः ॥

[3]पिण्डाङ्कुरे महर्लोकः पिण्डकुहरे जनोलोकः पिण्डनाले तपोलोकः मूलकमले सत्यलोकः एवं लोकचतुष्टये ब्रह्मादिदेवताः । पिण्डमध्ये अनेकमानाभिमानस्वरूपी तिष्ठति ॥

विष्णुलोकः कुक्षौ तिष्ठति । तत्र विष्णुर्देवता पिण्डमध्ये अनेकव्यापारकारको भवति । हृदये रुद्रलोकः तत्र रुद्रो देवता पिण्डमध्ये उग्रस्वरूपी तिष्ठति ॥

---

१. पिण्डमध्ये गुह्यस्थाने – ग
२. क्रोधरूपिणीति भावः – ग, म
३. दण्डाङ्कुरे – म, ग

वक्षःस्थले ईस्वरलोकः । तत्र ईश्वरो देवता पिण्डमध्ये तृप्तिस्वरूपी तिष्ठति । [४]कण्ठमध्ये नीलकण्ठो लोकस्तत्र नीलकण्ठो देवता पिण्डमध्ये नित्यं तिष्ठति ॥

तालुद्वारे शिवलोकः । तत्र शिवो देवता पिण्डमध्येऽनुपमस्वरूपी तिष्ठति । लम्बिकामूले भैरवलोकः तत्र भैरवो देवता पिण्डमध्ये सर्वोत्तमस्वरूपी तिष्ठति ॥

ललाटमध्येऽनादिलोकस्तत्रानादिदेवता पिण्डमध्ये आनन्दपरहन्तास्वरूपी तिष्ठति । शङ्खमध्ये नलिनीस्थाने अकुलेशलोकः । तत्र अकुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये निरभिमानावस्था तिष्ठति । [५]श्रृङ्गाटके कुलेश्वरलोकः तत्र कुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये आनन्दस्वरूपी तिष्ठति ॥

ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्मलोकस्तत्र परब्रह्मदेवता पिण्डमध्ये परिपूर्णदशा तिष्ठति । ऊर्ध्वकमले परापरलोकस्तत्र परमेश्वरो देवता पिण्डमध्ये परापरभावः तिष्ठति ॥

त्रिकूटस्थाने पराशक्तिलोकस्तत्र पराशक्तिदेवता पिण्डमध्ये अस्ति स्वावस्थापरापरभावः तिष्ठति । सर्वासां सर्वकर्तृत्वावस्था तिष्ठति । एवं पिण्डमध्ये सप्तपातालसहितैकविंशतिब्रह्माण्डस्थानविचारः ॥

---

४. 'कण्ठमध्ये' इत्यारभ्य 'आनन्दपरहन्तास्वरूपी तिष्ठति' पर्यन्तम् 'ग' मातृकायां न दृश्यते ।

५. श्रृङ्गारे कुलोलोकः – क

[६]अथ तदविचारः सदाचारतत्त्वे ब्राह्मणाः वसन्ति शौर्ये क्षत्रियाः व्यवसाये वैश्याः सेवाभावे शूद्राः चतुःषष्ठिकलास्वरूपचतुःषष्ठिवर्णाः ॥

॥ अथ सप्तसमुद्राः सप्तद्वीपाः कथ्यन्ते ॥

मज्जायां जम्बूद्वीपः [७]अस्थिषु शक्तिद्वीपः [८]शिरासु सूक्ष्मद्वीपः त्वक्षु क्रौञ्चद्वीपः [९]रोमसु गोमयद्वीपः नखेषु [१०]श्वेतद्वीपः मांसे प्लक्षद्वीपः एवं सप्तद्वीपाः ॥

अथ सप्तसमुद्राः । मूत्रे क्षारसमुद्रः लालायां क्षीरसमुद्रः कफे दधिसमुद्रः मेदसि घृतसमुद्रः वासायां मधुसमुद्रः रक्ते इक्षुसमुद्रः शुक्रेऽमृतसमुद्रः एवं सप्त समुद्राः ॥

नव खण्डाः नवद्वारेषु वसन्ति । भारतखण्डः काश्मीरखण्डः खर्वखण्डः श्रीखण्डः शङ्खखण्डः एकपादखण्डः गान्धारखण्डः कैवर्तखण्डः महामेरुखण्डः एवं नव खण्डाः ॥

मेरुपर्वतो मेरुदण्डे वसति कैलासो [११]ब्रह्मकपाले वसति हिमालयः पृष्ठे मलयो वामकन्धरे मन्दरो दक्षिणकन्धरे विन्ध्यो दक्षिणकर्णे मैनाकः

---

६. 'अथ तदविचारः' – 'क' मातृकायां न दृश्यते ।
७. अस्थिनि लक्षद्वीपः – ग
८. शिरायां कूशद्वीपः – ग
९. रोमसु शाल्मलिद्वीपः – ग, म
१०. पुष्कर – ग, म
११. ब्रह्मकपाटे – क

वामकर्णे श्रीपर्वतो ललाटे [१२]एवमष्टकुलपर्वताः अन्ये उपपर्वताः सर्वाङ्गुलिषु वसन्ति ॥

[१३]पीतसा यमुना गङ्गा चन्द्रभागा सरस्वती [१४]पिपासा शतरुद्रा च [१५]श्रीरात्रिश्चैव नर्मदा । एवं नवनद्यो नवनाडिषु वसन्ति । अन्याः उपनद्याः कुल्योपकुल्याः द्विसप्ततिसहस्रनाडिषु वसन्ति ॥

सप्तविंशति नक्षत्राणि द्वादशराशयः नव ग्रहाः पञ्चदश तिथयः । एते [१६]अन्तर्वलये द्विसप्तति [१७]सहस्र स्वहस्त कोष्ठेशु वसन्ति ॥

[१८]अनेकतारामण्डलम् ऊर्मिषु वसन्ति । त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवताः बाहुरोमकूपेषु वसन्ति । अनेकपीठोपपीठकाः रोमकूपेषु वसन्ति । देव-दानव-यक्ष-राक्षस-पिशाच-भूत-प्रेताः अस्थिसन्धिषु वसन्ति [१९]कुलनागा वक्षसि वसन्ति ॥

अन्ये [२०]सनकादिमुनिसन्धाः कक्षरोमकूपेषु वसन्ति । अन्ये पर्वताः उदरलोमसु वसन्ति । गन्धर्वकिन्नरकिंपुरुषा अप्सरसोगणाः उदरे वसन्ति ।

---

१२. एवं अष्टपर्वताः, कुल इति पदम् न दृश्यते - क
१३. पीनस - क
१४. निनाशा - ग, वितस्ता - म
१५. श्रीरात्रिंचापि - क
१६. अन्तर्लग्नेषु - ग, म
१७. 'सहस्र' इति पदम् न दृश्यते - क
१८. तारामण्डलानि ऊर्मिपुञ्जे - ग, म
१९. कुलाङ्गनाः - ग
२०. मुनीश्वराः - ग

अन्यग्खेचरीलीलामातरः शक्तयः उग्रदेवताः वायुवेगे वसन्ति । अनेकमेघाः [२१]अश्रुपाते वसन्ति । अनेकतीर्थानि मर्मस्थानेषु वसन्ति ॥

अनन्तसिद्धाः मतिप्रकाशे वसन्ति । चन्द्रसूर्यौ नेत्रद्वये वसतः । अनेकवृक्षलतागुल्मतृणानि जङ्घरोमकूपस्थानेषु वसन्ति । अनेकक्रिमिकीटाः पतङ्गाः पुरीषे वसन्ति ॥

यत्सुखं तत्स्वर्गं यद्दुःखं तन्नरकं यत्कर्म तत्बन्धनं यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः स्वस्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः शान्तिर्भवति । एवं सर्वदेहेषु [२२]विश्वस्वरूपः परमेश्वरः परमात्मा अखण्डस्वभावे घटे घटे चित्स्वरूपी तिष्ठति । इति पिण्डसंवित्तिः ॥

॥ इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ
पिण्डसंवित्तिः नाम तृतीयोपदेशः ॥

---

२१ असक्पाते – ग

२२ चित्स्वरूपः – ग म

॥ अथ चतुर्थोपदेशः ॥

॥ अथ पिण्डाधारः कथ्यते ॥

अस्ति काचिदपरापरा संवित्स्वरूपा सर्वपिण्डाधारत्वेन नित्यप्रबुद्धा निजशक्तिः प्रसिद्धा । कार्यकारणकर्तॄणामुत्थानदशाङ्कुरोन्मीलनेन कर्तारं करोति । अत एव आधारशक्तिरिति कथ्यते । [1]अत्यन्तनिजप्रकाश स्वसंवेदानुभवैक्यगम्यमानशास्त्रलौकिकसाक्षात्कारसाक्षिणी सा पराचिद्रूपिणी शक्तिर्गीयते । सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन् उन्मीलिन्यां निरुत्थानदशायां वर्तते तदा शिवः सैव भवति ॥

अत एव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्यनिजभूमिका निगद्यते ।

कुलमिति ॥ [2]परासत्ताऽहन्तास्फुरत्तापरकलाकुलस्वरूपेण सैव परमात्मा [3]विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति ॥

अत एव [4]परापरनिराभासावभासकप्रकाशस्वरूपा या सा परा ।

अनादिसंसिद्धपरमाद्वैत [5]परमेवास्तीति या अङ्गीकारं करोति सा सत्ता ।

---

१ अत्यन्त – ग

२ पराभासत्वदहन्ता – क, सत्ता अहन्तानन्ता – ग

३. विश्वस्याधारो – ग

४ परात्पर – क

५ परमेकमेवास्तीति – क

अनादिनिधनोऽप्रमेयस्वभावः किरणानन्दोऽस्म्यहमिति अहं सूचनशीला या सा अहन्ता ॥

स्वानुभवचिच्चमत्कार निरुत्थानदशां प्रस्फुटं करोति या सा स्फुरत्ता ॥

नित्यशुद्ध उद्बुद्धस्वरूपस्य स्वयं प्रकाशत्वमाकलयतीति या सा परकला इत्युच्यते ॥

अकुलमिति ॥ जातिवर्णगोत्राद्यखिलनिमित्तत्त्वेनैकमेवास्तीति प्रसिद्धम् ॥

तथा चोक्तम् । उमामहेश्वरसंवादे –

निरुत्तरे अनन्यत्वाद[6]खण्डत्वादद्वयत्वादनाशयात् ।
निर्धामत्वादनामत्वादकुलं स्यान्निरुत्तरमिति ॥

एवं कुलाकुलसामरस्यप्रकाशभूमिकास्फुटीकरणे एकैव समर्था या सा [7]परम्पराशक्तिरेव [8]विशिष्यते ॥ अपरं परं निखिलविश्वप्रपञ्चजालं परं तत्त्वं सम्पादयत्येकीकरोत्यपरां [9]पराशक्तिराज्ञावती प्रसिद्धा ॥

उक्तं ललितस्वच्छन्दे –

अकुलं कुलमाधत्ते कुलं चाकुलमिच्छति ।
जल बुद्बुदवन्न्यायादेकाकारः परःशिवः ॥

---

६. अखण्ड्त्वादयतत्त्वादनन्याश्रयत्वात् – ग
७. परम् – क
८. अवशिष्यते – ग
९. पराशक्तिः प्रसिद्धा – ग, पराशक्तिराशावती प्रसिद्धा – ग

अत एवैकाकार [१०]एवानन्त शक्तिमान् निजानन्दतयावस्थितोऽपि नानाकारत्वेन विलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेव भजतीति व्यवहारः ॥

उक्तं प्रत्यभिज्ञायाम् –

अलुप्तशक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् ।
पुनः स्वेनैव रूपेण एक एवावशिष्यते ॥

अत एव परमकारणं परमेश्वरः परात्परः शिवः स्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोतीत्यतः शक्तिमान् ।

उक्तं वामकेश्वरतन्त्रे –

शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन ।
स्वशक्त्या सहितः सोऽपि [११]सर्वस्याभासको भवेत् ॥

अत एवानन्तशक्तिमान् परमेश्वरः स[१२]विश्वस्वरूपी विश्वमयो भवतीति प्रसिद्धं सिद्धानां च परापरस्वरूपा कुण्डलिनी वर्तते । अतस्ते पिण्डसिद्धाः प्रसिद्धाः । सा कुण्डलिनी प्रबुद्धाऽप्रबुद्धा चेति द्विधा । अप्रबुद्धेति तत्तत्पिण्डे चेतन–रूपा स्वभावेन नानाचिन्ताव्यापारोद्यमप्रपञ्चरूपा [१३]कुटिलस्वभावा कुण्डलिनीति ख्याता । सैव योगिनां तत्तद्विलसितविकाराणां निवारणोद्यम–स्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्वगामिनी [१४]सुप्रबुद्धा प्रसिद्धा भवति ॥

---

१०. अनन्त – म, ग ; 'एव' न दृश्यते – ग, म
११. सर्वमाभासको – क
१२. विश्वसंवित् स्वरूपी – क
१३. कुण्डलस्वभावा – ग
१४. 'प्रबुद्धा' इति पदम् न दृश्यते – क

ऊर्ध्वमिति ॥ सर्वतत्त्वान्यपि स्वस्वरूपमेवेत्यूर्ध्वे वर्तते अत एव सा विमर्शरूपिणी योगिनां स्वस्वरूपमवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा ॥

तथा [१५]चोक्तमेवरूलके –

मध्यशक्ति [१६]प्रबोधेन अधः शक्ति निकुञ्चनात् ।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥

एकैव सा मध्योर्ध्वाधः प्रभेदेन त्रिधा भिन्ना शक्तिरभिधीयते ॥

बाह्येन्द्रियव्यापारनानाचिन्तामया या सैवाधः शक्तिरुच्यते । अत एव [१७]ये योगिनः [१८]तस्या आकुञ्चनं मूलाधारबन्धनात् सिद्धं स्यात् । यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति । तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम् ॥

उक्तं शिवानन्दाचार्यैः – सर्वशक्तिप्रसरसङ्कोचनाभ्यां जगत्सृष्टिः संहृतिश्च भवत्येव न सन्देहः तस्मात्तां मूलमित्युच्यते । अतः प्रायेण सर्वसिद्धाः मूलाधाररता भवन्ति ॥

तरङ्गितस्वभावं जीवात्मानं वृथा भ्रमन्तमपि स्वप्रकाशमध्ये स्व-स्वरूपतया [१९]सर्वदा धारयितुं समर्था या सा मध्याशक्तिः कुण्डलिनी गीयते ॥

---

१५. चोक्तम् बारुडते – ग, चोक्तम् चरूलके – क
१६. प्रचोदेन – क
१७. यो योगिनः – क
१८. तस्या आकुञ्चनरता अस्याकुञ्चनमूला – ग
१९. सदा – क

स्थूलसूक्ष्मरूपेण [२०]महासिद्धान्तं प्रतीयते इति निश्चयः ॥

स्थूलेति । निखिलग्राह्याधार–ग्राह्यस्वरूपाणि पदार्थान्तरैर्भ्राम्यमाणा [२१]इव तद्रूपा वर्तते सा कुण्डलिनी साकारस्थूला पुनस्त्वियमेव स्वप्रसार–चातुर्यता वर्तमाना योगिनां परानन्दतया कुण्डलिनी या निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धा ॥

उक्तं तत्त्वसारे –

सृष्टिः कुण्डलिनी ख्याता द्विधा भावगता तु सा ।
एकधा स्थूलरूपा च लोकानां [२२]प्रत्यगात्मिगा ॥

अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता ।
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेन तु ॥

तस्मात्सूक्ष्मा परा संवित्स्वरूपा मध्याशक्तिः कुण्डलिनी योगिभिर्देह–सिद्ध्यर्थं सद्गुरुमुखात् [२३]ज्ञात्वा स्वस्वरूपदशायां प्रबोधनीया ॥

अथ ऊर्ध्व–शक्तिनिपातः कथ्यते ।

सर्वेषां तत्त्वानामुपरि वर्तमानत्वान्निर्नाम परमं पदमेव ऊर्ध्वं प्रसिद्धम् । तस्याः स्वसंवेदननानासाक्षात्कार[२४]सूचनशीला या सा

---

२०. महासिद्धानां प्रतीयते इतीर्यत इति – ग
२१. इव न दृश्यते, चिद्रूप वर्तते – ग
२२. प्रत्ययात्मिका – क
२३. त्वात्धृत्वा – ग
२४. सूचन इति पदम् न दृश्यते – ग

ऊर्ध्वशक्तिरभिधीयते । तस्याः निपातनमिति स्वस्वरूपात् [२५]द्विधाभास-निरासः किन्तु स्वस्वरूपाखण्डत्वेन भवति ॥

उक्तं च – शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरः शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

अत ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन महासिद्धयोगिभिः परमपदं प्राप्यत इति सिद्धम् ॥

उक्तं च – सत्त्वे सत्त्वे सकलरचना [२६]राजते संविदेका ।
तत्त्वे तत्त्वे परममहिमा संविदेवावभाति ॥

भावे भावे बहुलतरला लम्पटा संविदेषा ।
भासे भासे भजनचतुरा बृंहिता संविदेव ॥

किमुक्तं भवति परापरविमर्शरूपिणी [२७]संविन्नाना–शक्ति–रूपेण निखिलपिण्डाधारत्वेन वर्तते इति सिद्धान्तः ॥

॥ इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ
पिण्डाधारो नाम चतुर्थोपदेशः ॥

---

२५. अस्तिलाभास – ग
२६. रचने – ग
२७. संविदनन्तानन्त शक्ति – ग

॥ अथ पञ्चमोपदेशः ॥

अथ पिण्डपदयोः समरसकरणं कथ्यते –

महासिद्धयोगिभिः पूर्वोक्तक्रमेण परपिण्डादि[1]स्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परमपदे समरसं कुर्यात् ॥

परमपदमिति स्वसंवेद्यम् अत्यन्ताभासाभासकमयम् ॥

उक्तं तत्त्वसंहितायाम् –

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति तत्त्वविन्नापरा कला ।
ऊहापोहौ न कर्तव्यौ वाचा तत्र करोति किम् ॥

वाग्मिना गुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीयते ।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं [2]परंपदम् ॥

अत एव नानाविधविचारचातुर्यवचसा विस्मयं [3]गत्वा गुरुचरण-रतत्वात् निरुपाधिकत्वात् निर्णीतत्वात् स्वसंवेद्यमेव [4]परमपदं प्रसिद्धमिति सिद्धान्तः ॥

गुरुरत्र सम्यक् सन्मार्गदर्शनशीलो भवति । सन्मार्गो योगमार्गस्तदितरः पाषण्डमार्गः ॥

---

१. स्वपिण्डतो – ग.
२. परमंपदम्
३. गत्वा इति पदम् न दृश्यते – ग
४. परमपदमिति सिद्धान्तः – ग

तदुक्तमादिनाथेन –

योगमार्गेषु तन्त्रेषु दीक्षितान् तांश्च दूषकाः ।
ते हि पाषण्डिनः प्रोक्ताः तथा तैः सहवासिनः ॥

यस्मिन् दर्शिते सति तत्क्षणात् स्वसंवेद्य[५]साक्षात्कारः समुत्पद्यते । ततो गुरुरेवात्र कारणमुच्यते ॥

तस्माद्गुरुकटाक्षपातात् [६]स्वसंवेद्यतया च महासिद्धयोगिभिः स्वकीयं पिण्डं निरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियते इति सिद्धान्तः ॥

तद्यथा – निरुत्थानप्राप्त्युपायः कथ्यते ।

महासिद्धयोगिनः स्वस्वरूपतयानुसन्धानेन [७]निजाभिनिवेशो भवति निजावेशान्निपीडितनिरुत्थानदशामहोदयः कश्चिज्जायते । ततः सच्चिदानन्द–चमत्कारात् [८]अद्भुताकारप्रकाशप्रबोधो जायते । प्रबोधादखिल[९]मेतद् द्वयाद्वयप्रकटतया चैतन्यभासाभासकं परात्परं पदमेव प्रस्फुटं भवतीति सत्यम् ॥

अत एव महासिद्धियोगिभिः सम्यक् [१०]उक्तप्रकारेण गुरुप्रसादं लब्ध्वावधानबलेनैक्यं भजमानैस्तत्क्षणात् परमपदमेवानुभूयते ॥

---

५. 'साक्षात्कारतः' आरभ्य 'कटाक्षपतात्' पर्यन्तं पाठं 'क' प्रतौ न दृश्यते ।
६. स्वयं वेद्यतया – ग
७. निजाभिनिवेशो – म, निजावेशो – क
८. भूतकरणप्रकारात् – ग, म
९. एव – क
१०. 'उक्त प्रकारेण' इति पदं न दृश्यते – क

तदनुभवबलेन स्वकीयं सिद्धं सम्यक् [११]निजपिण्डं परिज्ञात्वा तमेव परमपदे एकीकृत्य तस्मिन् प्रत्यावृत्यारूढेवाभ्यन्तरे स्वपिण्डसिद्ध्यर्थं महत्त्वमनुभूयते ॥

निजपिण्डमिति स्वरूपकिरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव समरसकरणं भवति ॥

अत एव स्वकीयं पिण्डं महारश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेण प्रतीयमानं स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्नुररीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्ध्यर्थं तिष्ठन्तीति प्रसिद्धम् ।'

अथ पिण्डसिद्धौ [१२]वेषः कथ्यते –

शङ्खमुद्राधारणञ्च केशरोमप्रधारणम् ।
अमरीपानममलं तथा [१३]मर्दनमुत्कटम् ॥

एकान्तवासो दीक्षा च सन्ध्या जपमाश्रया ।
ध्यानभैरवमूर्तेषु तत्पूजा च [१४]सुरादिभिः ॥

शङ्खाध्मातं सिंहनादं कौपीनं पादुका तथा ।
अङ्गवस्त्रं बहिर्वस्त्रं कम्बलं छत्रमद्भुतम् ॥

---

११. निजपीठम् – ग
१२. एषः निवेशः – ग
१३. मेलनमुत्तमम् – क
१४. सुरामिषैः – ग

वेत्रं कमण्डलुञ्चैव भस्मना च त्रिपुण्ड्रकम् ।
[१५]कुर्यादेतान् प्रयत्नेन गुरुवन्दनपूर्वकम् ॥

तेषां पिण्डसिद्धौ सत्यां सर्वसिद्धयः सन्निधाना भवन्ति ॥

उक्तञ्च – यस्मिन् ज्ञाते जगत्सर्वं सिद्धं भवति लीलया ।
सिद्धयः [१६]स्वयमायान्ति तस्माद् ज्ञेयं परं पदम् ॥

परं पदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः ।
देहमूलं हि वेषं स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकम् ॥

[१७]लोके [१८]निकृष्टमुत्कृष्टं परिगृह्य पृथक् कृतम् ।
तत्स्वधर्म इति प्रोक्तो योगमार्गे विशेषतः ॥

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।

शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ।
योगः सन्नहनोपायो ज्ञान[१९]सङ्गतियुक्तिषु ॥

लोके निकृष्टं सततं [२०]यं वा यं वा प्रकुर्वतो ।
तं वा तं वा वर्जयन्ति लोक[२१]ज्ञानबलेन तु ॥

---

१५. कुर्यादेवादारभ्य पूर्वकम् पर्यन्तः पङ्क्तिः 'क' प्रतौ न दृश्यते ।
१६. स्वयंस्वयं स्वसंवेद्यं तस्मात् ज्ञेयं परंपदम् – क
स्वयंस्वयमतस्मात् – ग
१७. लोके इति पदम् न दृश्यते – क
१८. निकृष्टमयुत्कृष्टम् – क
१९. सङ्गविमुक्तिषु – क
२०. योऽपायोवा प्रकुर्वते – ग
२१. ज्ञान तु लेन तु – क

मनुष्याणां च सर्वेषां [22]प्राक्संस्कारवशादिह ।
शास्त्रयुक्ति[23]सदाचारः क्रमेण भवति स्फुटम् ॥

एवं पिण्डे संसिद्धे ज्ञानप्राप्त्यर्थं तच्च परमपदं महासिद्धानां मतं परिज्ञाय तस्मिन्नहंभावे जीवात्मा च [24]सहजसंयमसोपायाद्वैतक्रमेणोपलक्ष्यते ॥

तत्र सहजमिति । विश्वातीतं परमेश्वरं विश्वरूपेणावभासमानमिति ।

एकमेवास्तीति स्वस्वभावेन यद् ज्ञानं तत्सहजं प्रसिद्धम् ॥

[25]संयम इति । सावधानानां [26]प्रस्फुटद् व्यापाराणां निजवृत्तीनां संयमनं कृत्वा [27]आत्मनि धीयते इति संयमः ॥

सोपायमिति । स्वयमेव प्रकाशमयं स्वेनैव स्वान्तमेकीकृत्य सदा तत्त्वेन स्थातव्यमिति ॥

अद्वैतमिति । [28]अकर्तृकतयैव योगी नित्यतृप्तो निर्विकल्पः सदा निरुत्थानत्वेन तिष्ठति ॥

---

२२. पृथक् सारवशादिह – ग
२३. समाचारः – क
२४. सहजसंयमनोपाय – क
२५. संयमनमिति – ग
२६. प्रस्फुर – क
२७. आत्मानमवधारयति इति – म, आत्मनिरयते इति – ग
२८. अकर्तृत्वमत्तयैव – ग, अकृत्रिमत्तयैव – क

उक्तञ्च – सहजं [२९]स्वात्मसंवित्तिः संयमः स्वात्मनिग्रहः ।
सोपायः स्वस्य विश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ॥

तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वाक्यात् नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न [३०]तर्कशब्दविज्ञानान्नाचाराद्वेदपाठनात् ॥

वेदान्तश्रवणान्नैव तत्त्वमस्यादिबोधनात् ।
न हंसोच्चारणाज्जीवब्रह्मणोरैक्यभावनात् ॥

न ध्यानान्न लयाल्लीनः सर्वज्ञः सिद्धिपारगः ।
स्वेच्छो योगी स्वयंकर्ता लीलया चाजरोऽमरः ॥

अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडते भैरवो यथा ।
इत्येवं निश्चलो योऽसौ क्रमादाप्नोति लीलया ॥

असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सत्यमीश्वरभासितम् ।
प्रथमेऽरोगतासिद्धिः सर्वलोकप्रियो भवेत् ।
काङ्क्षते दर्शनं तस्य स्वात्मारूढस्य नित्यशः ॥

[३१]कृतार्थः स्याद्द्वितीये तु कुरुते सर्वभाषया ।
तृतीये दिव्यदेहस्तु व्यालैर्व्याघ्रैर्न बाध्यते ॥

चतुर्थे क्षुत्तृषानिद्राशीततापविवर्जितः ।
जायते दिव्ययोगीशो दूरश्रावी न संशयः ॥

---

२९. स्वात्मसंपत्तिः – ग

३०. तर्कशास्त्र – ग, म

३१. कविता – क

वाक्सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकायप्रवेशनम् ।
षष्ठे न छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातैर्न बाध्यते ॥

वायुवेगी क्षितित्यागी दूरदर्शी च सप्तमे ।
अणिमादिगुणोपेतस्त्वष्टमे वत्सरे भवेत् ॥

नवमे वज्रकायः स्यात् खेचरो दिक्चरो भवेत् ।
दशमे पवनाद्वेगी यत्रेच्छा तत्र धावति ॥

सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिभाग्भवेत् ।
द्वादशे शिवतुल्योऽसौ कर्ता हर्ता स्वयं भवेत् ॥

त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं श्रीभैरवो यथा ।
एवं द्वादशवर्षेषु सिद्धयोगी महाबलः ॥

जायते सद्गुरोः पादप्रभावान्नात्र संशयः ।
गुरुकुलसन्तानञ्चेति पञ्चधा प्रोक्तम् ॥

[३२]आई–सन्तानं विलेश्वर–सन्तानं विभूति–सन्तानं नाथ–सन्तानं योगीश्वर–सन्तानञ्चेति एषामपि सन्तानानां पृथक् पृथक् वैशिष्ट्यं वर्तते ॥

परमार्थतः सर्वं पाञ्चभौतिकम् । तज्जाताः पुरुषाः । (स्वबोध) सम्बोधमात्रैकरूपः सशिवः । तदितरत्सर्वमज्ञानमव्यक्तं भवति तत्र [३३]शिवस्तु ज्ञानम् ॥

---

३२. आ इ आरभ्य सर्वमज्ञानं पर्यन्तं पद्यं 'ग' प्रतौ न दृश्यते ।
३३. शिष्यस्तु – ग, म

एतेषामपि सन्तानानां केचित्स्वरूपपराङ्मुखाः वेषमात्रसम्पन्नाः क्रयविक्रयादिकं कुर्वन्ति सन्तानभेदं प्रत्यन्योऽन्यमधः कुर्वन्ति योगमार्गं द्वेषयन्ति ॥

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अतिमन्यवः ।
दाम्भिकाः मानिनः पापाधिकं कुर्वन्त्यीश्वरप्रियान् ॥

साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरमानन्दलक्षितान् ।
स्वेच्छाचारविहारैकज्ञानविज्ञानसंयुतान् ॥

यूयं [३४]दुष्टा वयं शिष्टा भ्रष्टा यूयं वयं तथा ।
इत्येवं परिवदन्ति सम्प्रमोहे निरन्तरम् ॥

पृथ्वी जलं तथा वह्निः वायुराकाशमेव च ।
एते सन्तानोदयास्तु सम्यगेव प्रकीर्तिताः ॥

काठिन्यञ्चार्द्रता तेजो धावनं स्थिरता खलु ।
गुणान्येतानि पञ्चैव सन्तानानां क्रमात् स्मृताः ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
एताश्च देवताः प्रोक्ताः सन्तानानां क्रमेण तु ॥

स्थूल सूक्ष्म कारणं तूर्यं तूर्यातीतमिति पञ्चावस्थाः क्रमेण लक्ष्यन्ते । एतेषामपि सर्वेषां विज्ञाता [३५]यः स योगी स सिद्धपुरुषः स योगीश्वरेश्वर इति परमरहस्यं प्रकाशितम् ॥

---

३४. शिष्टा वयं जुष्टा दुष्टा युयं चायं तथा – क

३५. यस्य योगी – ग

अत एव सम्यक् निजविश्रान्तिकारकं महायोगिनं सद्गुरुं [३६]सेवित्वा सम्यक् सावधानेन [३७]परमपदं सम्पाद्य तस्मिन् निजपिण्डे समरसभावं कृत्वाऽत्यन्तं निरुत्थानेन सर्वानन्दतत्त्वे निश्चलं स्थातव्यम् । ततः स्वयमेव महासिद्धो भवतीति सत्यम् ॥

न विधिर्नैव वर्णश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।
न भेदो निधनं किञ्चिन्नाशौचं नोदकक्रिया ॥

योगीश्वरेश्वरस्यैवं नित्यतृप्तस्य योगिनः ।
चित्स्वात्मसुखविश्रान्तिभावलब्धस्य पुण्यतः ॥

सम्यक् स्वभावविज्ञानात् क्रमाभ्यासान्न चासनात् ।
न वैराग्यान्न नैराश्यान्नाहारत् प्राणधारणात् ॥

न मुद्रा धारणाद्योगान्न [३८]मौनकर्म समाश्रयात् ।
न विरक्तां [३९]वृथायासान्न कायक्लेशधारणात् ॥

न जपान्न तपोध्यानान्न यज्ञात्तीर्थसेवनात् ।
न [४०]देवार्चनाश्रयाद्भक्त्या नाश्रमाणाञ्च पालनात् ॥

न षड्दर्शनकेशादिधारणान्न च मुण्डनात् ।
नानन्तोपाययत्नेभ्यः प्राप्यते परमं पदम् ॥

---

३६. विदित्वा – ग

३७. परमानन्दम् – ग, म

३८. मानकर्मा – क

३९. तथा – ग, म

४०. देवार्चनादारभ्य मुण्डनात् पर्यन्तं पद्यः 'ग' प्रतौ न दृश्यते ।

एतानि साधनानि सर्वाणि दैहिकानि परित्यज्य परमपदेऽदैहिके स्थीयते सिद्धपुरुषैरिति ॥

तत्कथम् । गुरुदृक्पातनात् प्रायो दृढानां सत्यवादिनां सा स्थितिर्जायते । पुंसां नान्यथा शास्त्रवार्तया ॥

कथनाच्छक्तिपाताद्वा [४१]पादावलोकनात् ।
प्रसादात् [४२]स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥

अतएव शिवेनोक्तम् –

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं
न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम् ।
शिवशासनतः शिवशासनतः
शिवशासनतः शिवशासनतः ॥

वाङ्मात्राद्वाथ[४३]दृक्पातात् यः करोति च तत्क्षणात् ।
प्रस्फुटं शाम्भवं [४४]वेद्यं स्वसंवेद्यं परं पदम् ॥

[४५]करुणाखड्गपातेन छित्वा पाशाष्टकं शि(प)शोः ।
सम्यगानन्दजनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥

---

४१. पादुकावलोकनात् – ग, ग

४२. सद्गुरोः – ग

४३. दुष्ट्या वा – ग, दृक्पाताद्यः वा – म

४४. वोद्यम् – क

४५. कञ्कणाखड्ग – ग

निमिषार्धार्धपाताद्वा यद्वा पादावलोकनात् ।
स्वात्मानं स्थिरमाधत्ते तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

नानाविकल्पविश्रान्तिं कथया कुरुते तु यः ।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्या विडम्बकाः ॥

अत एव परमपदप्राप्त्यर्थं स सद्गुरुः सदा वन्दनीयः गुरुरिति [४६]गुणातिशय सम्यक् चैतन्यविश्रान्तिमुपदिशति । विश्रान्त्या स्वयमेव परात्परं परमपदमेव प्रस्फुटं भवति तत्क्षणात्साक्षात्कारो भवति ॥

अत एव महासिद्धानां मते प्रोक्तम् । वाङ्मात्रेण वा दृक्पातमात्रेण वा सम्यगवलोकनेन वा तत्क्षणान्मुहुर्विश्रान्तिमत्तां नयतीति (विश्रान्तियुक्तं करोतीति, ह) यः स [४७]सद्गुरुर्भवति । [४८]नो चेन्निजविश्रान्तिं विना पिण्डपदयोः समरसकरणं न भवतीति सिद्धान्तः । तस्मान्निजविश्रान्तिकारकः सद्गुरुरभिधीयते नान्यः । पुनर्वागादि शास्त्रं दृष्ट्यानुमानतस्तर्कमुद्रया [४९]भ्रामिको गुरुस्त्याज्यः ॥

उक्तञ्च – ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यः मिथ्यावादी विडम्बकः ।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम् ॥

शिलया किं परं पारं शिलासङ्घः प्रतार्यते ।
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम् ॥

---

४६. गृणाति शं – क
४७. स्वयं गुरु – ग
४८. तेनार्चयेत् निज – ग
४९. भ्रमतो – ग, म

विकल्पसागरात्घोराच्चिन्ताकल्लोलदुस्तरात् ।
प्रपञ्चवासनादुष्टग्रहजालसमाकुलात् ॥

वासनालहरीवेगाद्यः स्वं तारियतुं क्षमः ।
[५०]स्वस्थेनैवोपदेशेन निरुत्थानेन तत्क्षणात् ॥

तारयत्यैव दृक्पातात् कथनाद्वा [५१]विलोकनात् ।
तारिते स्वपदं धत्ते स्वस्वमध्ये स्थिरो भवेत् ॥

ततः स मुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबन्धनात् ।
परानन्दमयो भूत्वा निष्कलः शिवतां व्रजेत् ॥

कुलानां कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात् ।
अतस्तं सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवन्दयेत् ॥

सर्वाङ्गप्रणिपातेन स्तुवन्नित्यं गुरुं भजेत् ।
[५२]भजनात्स्थैर्यमाप्नोति स्वस्वरूपमयो भवेत् ॥

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च ।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम् ॥

चित्तविश्रान्तिलब्धानां योगिनां दृढचेतसाम् ।
स्वस्वमध्ये निमग्नानां निरुत्थानं विशेषतः ॥

---

५०. स्वस्थैर्यनोपदेशेन – ग

५१. स्पर्शनाञ्चविलोकनात् – ग

५२. मज्जनात् – ग

निमिषात्प्रस्फुटं [५३]भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
यस्मिन् पिण्डो भवेल्लीनः सहसा नात्र संशयः ॥

सम्वित्क्रिया विकरणोदय [५४]चिद्विलोल
विश्रान्तिमेव भजतां स्वयमेव भाति ।
ग्रस्ते स्ववेगनिचये [५५]पदपिण्डमैक्यं
सत्यं भवेत्समरसं गुरुवत्सलानाम् ॥

॥ इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्डपदयोः समरसप्रकरणं नाम पञ्चमोपदेशः ॥

---

५३. भवति – ग, म
५४. चिद्विलास – ग
५५. परपिण्ड – ग

5

॥ अथ षष्ठोपदेशः ॥

अथ अवधूतयोगिलक्षणं कथ्यते –

अवधूतयोगी नाम क इत्यपेक्षायामाह ।

यः सर्वान् प्रकृतिविकारान् [1]अवधुनोतीत्यवधूतयोगी । योगोऽस्यास्तीति योगी । धूञ् कम्पने इति धातुः कम्पनार्थे वर्तते । कम्पनं चालनं देह दैहिक प्रपञ्चादिषु विषयेषु सङ्गतं मनः परिगृह्य तेभ्यः [2]प्रत्याहृत्य [3]स्वधाममहिम्नि परिलीनचेताः प्रपञ्चशून्य आदिमध्यान्तनिधनभेदवर्जितः ॥

यकारो वायुबीजं स्याद्रकारो वह्निबीजकम् ।
तयोरभेदमोंकारश्चिदीकारः प्रकीर्तितः ॥

तदेतद् व्यक्तमुच्यते –

क्लेशपाशतरङ्गाणां कृन्तनेन विमुण्डनम् ।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः [4]सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

निजस्मरविभूतिर्यो योगी स्वाङ्गे विभूषितः ।
आधारे यस्य वारूढिः(ढः) सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

---

१. अवधूनोतीत्यवधूतः – ग

२. प्रत्यानत्य – क

३. स्वधाममहिमानि – ग

४. प्रति श्लोकानन्तरं सोऽवधूतोभिधीयते इति पाठः 'क' प्रतौ न दृश्यते

लोकमध्ये स्थिरासीनः समस्त [५]कलनोज्झितः ।
कौपीनं [६]खर्परोऽदैन्यं सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

शं सुखं खं परब्रह्म शङ्खं सङ्घट्टनाद् भवत् ।
सिद्धान्तं धारितं येन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

पादुका पदसंवित्तिर्मृगत्व [७]महाहतम् ।
वेला यस्य परा संवित्सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

मेखलानिवृत्तिर्नित्यं स्वस्वरूपं [८]कटासनम् ।
निवृत्तिः [९]षड्विकारेभ्यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

चित्प्रकाश परानन्दौ यस्य वै कुण्डलद्वयम् ।
जपमालाक्षविश्रान्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

यस्य धैर्यमयो दण्डः पराकाशं च खर्परम् ।
योगपट्टं निजा [१०]शक्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

भेदाभेदौ स्वयं [११]भिक्षां षड्रसास्वादने रतः ।
[१२]जारणा(त) तन्मयीभावः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

---

५. करणोज्झितः – क
६. कर्परहीने – क
७. कस्यादनाहतम् – क
८. सुखासनम् – ग
९. षड्विकारे कारणात् – क
१०. शान्तिः – ग, ख
११. भिक्षां कृत्वा स्वस्वादने – ग
१२. जागरत – ग, ख

अचिन्त्ये निजदिग्देशे स्वान्तरङ्गं यस्तु गच्छति ।
एकदेशान्तरीयो यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

स्वपिण्डममरं [१३]कर्तुमनन्ताममरीं च यः ।
स्वयमेव पिबेदेतां सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

अचिन्त्यं वज्रवद्गाढा [१४]वासनामलसङ्कुला ।
सा वज्री [१५]भक्षिता येन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

[१६]आवर्तयति यः सम्यक् स्वस्वमध्ये स्वयं सदा ।
समत्वेन जगद्वेत्ति सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

स्वात्मानमवगच्छेद्यः स्वात्मन्येवाव[१७]तिष्ठते ।
[१८]अनुत्थानमयः सम्यक् सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

अनुत्थाधारसम्पन्नपरविश्रान्तिपारगः ।
धृतचिन्मय[१९]तत्त्वज्ञः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

---

१३. कर्तुममलं – ग
१४. वासनामलनं कुला – ग
१५. भूषिता – ग
१६. आवर्तपातं – ग
१७. सदारतिः – क
१८. अनुल्बणम् – ग
१९. सर्वज्ञः – ग

अव्यक्तं व्यक्तमाधत्ते व्यक्तं सर्वं [20]ग्रसत्यलम् ।
[21]स्वसत्यं स्वान्तरे सन् यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

अवभासात्मको भासः स्वप्रकाशे सुसंस्थितः ।
लीलया रमते लोके सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

क्वचिद्भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत् ।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

एवंविधनानासङ्केतसूचकनित्यप्रकाशेषु निजस्वरूपी सर्वेषां सिद्धान्तदर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने सम्यक् [22]सद्वेधकोऽवधूतयोगीत्यभिधीयते स सद्गुरुर्भवति । यतः सर्वदर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने समन्वयं करोति सोऽवधूतयोगी स्यात् ॥

अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानी सिद्धश्च सुव्रतः ।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्रीसाधुरेव च ॥

जितेन्द्रियश्च भगवान् [23]स सुधीः कोविदो बुधः ।
चार्वाकश्चार्हतश्चेति तथा बौद्धः प्रकाशवित् ॥

तार्किकश्चेति साङ्ख्यश्च तथा मीमांसको विदुः ।
देवतेत्यादिविद्वद्भिः कीर्तितः शास्त्रकोटिभिः ॥

---

२०. ग्रसत्पलम् – ग

२१. समत्वम् – क

२२. सद्बोदको – ग

२३. सत्सुधीः – क

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति पुनः स्वयम् ।
अस्तितत्त्वं परं साक्षाच्छिवरुद्रादिसंज्ञितम् ॥

शरीरपद्मकुहरे यत्सर्वेषामवस्थितम् ।
तदवश्यं महायासाद्वेदितव्यं मुमुक्षुभिः ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव इन्द्रः स प्राणः स कालाग्निः स चन्द्रमाः ॥

स एव [२४]सूर्यः स शिवः स एव परमः शिवः ।
स एव योगगम्यस्तु साङ्ख्यशास्त्रपरायणैः ॥

स एव कर्म इत्युक्तः कर्ममीमांसकैरपि ।
[२५]सर्वत्र सत्परानन्द इत्युक्तो वैदिकैरपि ॥

व्यवहारैरयं भेदः तस्मादेकस्य नान्यथा ।
[२६]मुदे मुदत्तुरानन्द जीवात्मपरमात्मनोः ॥

[२७]उभयोरैक्यं संवित्तिर्मुद्रेति परिकीर्तिताः ॥

मोदन्ते देवसङ्घाश्च द्रावन्तेऽसुरराशयः ।
मुद्रेति कथिता साक्षात्सदा [२८]भद्रार्थदायिनी ॥

---

२४. अर्कः – क

२५. सर्वसत्य – क

२६. मुदेमुदत्तुरादने – क

२७. उभयौरैक – क

२८. भद्राक्ष – ग

अस्मिन् मार्गेऽदीक्षिता ये सदा संसाररागिणः ।
ते हि पाषण्डिनः प्रोक्ताः [२९]संसारपरिपेलवाः ॥

अवधूततनुर्योगी निराकारपदे स्थितः ।
सर्वेषां दर्शनानां च स्वस्वरूपं प्रकाशते ॥

तत्र ब्राह्मणेषु ब्रह्मचर्याश्रममाहुः –

सर्वतो [३०]भरिताकारं निजबोधेन बृंहितम् ।
चरते ब्रह्मविद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते ॥

गृहिणी पूर्णता नित्या गेहं [३१]व्योम सदाचलम् ।
यस्तया निवसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते ॥

सदान्तःप्रस्थितो योऽसौ स्वप्रकाशमये वने ।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वने [३२]मृगवच्चरन् ॥

परमात्माथ जीवात्मा आत्मन्येव स्फुरत्यलम् ।
तस्मिन् न्यस्तः सदा येन संन्यासी सोऽभिधीयते ॥

मायाकर्म[३३]कलाजालमनिशं येन दण्डितम् ।
अचलो नगवद्भाति त्रिदण्डी सोऽभिधीयते ॥

---

२९. परिपालकाः – ग, ग
३०. वारिताकारं – ग, म
३१. गव्ये – ग
३२. मृगवदाचरन् – ग
३३. सदाजाल – ग

[३४]एकं नानाविधाकारमस्थिरं चञ्चलं सदा ।
तच्चित्तं दण्डितं येन एकदण्डी स कथ्यते ॥

[३५]शुद्धं शान्तं निराकारं परानन्दं सदोचितम् ।
तं शिवं यो विजानाति शुद्धशैवो भवेत्तु सः ॥

सन्तापयति दीप्तानि स्वेन्द्रियाणि च यः सदा ।
तापसः स तु विज्ञेयो न च गोभस्मधारकः ॥

क्रियाजालं पशुं हत्वा पतित्वं पूर्णतां गतम् ।
यस्तिष्ठेत्पशुभावेन स वै पाशुपतो भवेत् ॥

परानन्दमयं लिङ्गं निजपीठं सदाऽचले ।
तल्लिङ्गं पूजितं येन स वै कालमुखो भवेत् ॥

विलयं सर्वतत्त्वानां कृत्वा [३६]सन्धार्यते स्थिरम् ।
सर्वदा येन वीरेण लिङ्गधारी भवेत्तु सः ॥

अन्तकादीनि [३७]तत्त्वानि त्यक्त्वा नग्नो दिगम्बरः ।
यो निर्वाणपदे लीनः स [३८]निर्वाणपरो भवेत् ॥

---

३४. एतन्नानाविध – ग

३५. शुद्धं तः आरभ्य सदोचितम् पर्यन्तम् एक पङ्क्तिः 'क' प्रतौ न दृश्यते ।

३६. संधारयेत् – ग

३७. सर्वाणि – ग

३८. निर्वाणपदे – ग

स्वस्वरूपात्मकं ज्ञानं समन्त्रं तत्प्रपालितम् ।
अनन्यत्वं सदा येन स वै कापालिको भवेत् ॥

महाव्याप्तिपरं तत्त्वमाधाराधेयवर्जितम् ।
तद्व्रतं धारितं येन स भवेद्वै महाव्रतः ॥

कुलं सर्वात्मकं पिण्डमकुलं सर्वतोमुखम् ।
तयोरैक्यपदं शक्तिर्यस्तां वेद स शक्तिभाक् ॥

कौलं सर्वकलाग्रासः स कृतः सततं यथा ।
तां शक्तिं यो विजानाति शक्तिज्ञानी स कथ्यते ॥

ज्ञात्वा [३९]कुलाकुलं तत्त्वं स क्रमेण क्रमेण तु ।
स्वप्रकाशमहाशक्त्या ततः शक्तिपदं लभेत् ॥

मदो मद्यं मतिर्मुद्रा माया मीनं मनः पलम् ।
मूर्च्छनं मैथुनं यस्य तेनाऽसौ शाक्त उच्यते ॥

[४०]यया भासस्फुरद्रूपं कृतं चैव स्फुटं बलात् ।
तां शक्तिं यो विजानाति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥

[४१]यः करोति निरुत्थानं कर्तृचित्प्रसरेत्सदा ।
तद्विश्रान्तिस्तया शक्त्या शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ॥

---

३९. कुळाकुळत्वम् – ग

४०. यथा – ग

४१. यः करोति... इयं श्लोकः 'क' प्रतौ न दृश्यते ।

व्यापकत्वे परं सारं [४२]यद्विष्णोराद्यमव्ययम् ।
विश्रान्तिदायकं देहे तज्ज्ञात्वा वैष्णवो भवेत् ॥

भास्वत्स्वरूपो यो भेदाद् भेदाभेदभवोज्झितः ।
भाति देहे सदा यस्य स वै भागवतो भवेत् ॥

यो वेत्ति वैष्णवं भेदं [४३]सर्वासर्वमयं निजम् ।
प्रबुद्धं सर्वदेहस्थं भेदवादी भवेत्तु सः ॥

पञ्चानामक्षया हानिः(पञ्चानामक्षपातानां) पञ्चत्वं रात्रिरुच्यते ।
तां रात्रिं यो विजानाति स भवेत्पाञ्चरात्रिकः ॥

येन जीवन्ति जीवा वै मुक्तिं यान्ति च तत्क्षणात् ।
स जीवो विदितो येन सदाजीवी स कथ्यते ॥

यः करोति सदा प्रीतिं प्रसन्ने पुरुषे परे ।
शासितानीन्द्रियाण्येव सात्त्विकः सोऽभिधीयते ॥

सर्वाकारं निराकारं निर्निमित्तं निरञ्जनम् ।
सूक्ष्मं हंसञ्च यो वेत्ति स भवेत्सूक्ष्मसात्त्विकः ॥

सत्यमेकमजं नित्यमनन्तञ्चाक्षयं ध्रुवम् ।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्धीरः सत्यवादी स कथ्यते ॥

---

४२. यद्विष्णोरार्द्रम् – ग

४३. सर्वं मयम – क

ज्ञानज्ञेयमयाभ्यां तु योगिनः स्वस्वभावतः ।
कलङ्की स तु विज्ञेयो व्यापकः पुरुषोत्तमः ॥

[४४]मुक्तिचारे मतिर्या वै व्यापिका स्वप्रकाशिका ।
एषा ज्ञानवती यस्य ज्ञाताऽसौ सात्त्विको भवेत् ॥

[४५]क्षपणं चित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुञ्चनम् ।
कुरुते व्योमवन्नग्नो योऽसौ क्षपणको भवेत् ॥

प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥

विश्वातीतं यथा विश्वमेकमेव विराजते ।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्धयोगी भवेत्तु सः ॥

सर्वासां निजवृत्तीनां [४६]प्रसृतिर्भजते [४७]लयम् ।
स भवेत् सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगी महाबलः ॥

उदासीनः सदा शान्तः स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः ।
महानन्दमयो धीरः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥

परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वासर्वपदोदितः ।
विशुद्धो निर्भरानन्दः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥

---

४४. युक्ताचारे – ग
४५. क्षणम् – क
४६. प्रसूतिर्भजते – ग
४७. तु यः – क

परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वानन्दकरः सुधीः ।
सर्वानुग्रहधीः सम्यक् स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥

गते न शोकं विभवे न वाञ्छां
प्राप्ते च हर्षं न करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो [४८]निजबोधलीनो
न बाध्यते कालपथेन नित्यम् ॥

एवं सर्वसिद्धान्तदर्शनानां पृथक् पृथक् [४९]भूतानामपि ब्रह्मणि समन्वयसूचनशीलोपदेशकर्ताऽवधूत एव सद्गुरुः प्रशस्यते ।

उक्तं च – एषामुपदेशानानां पृथक् पृथक् सूचितानाम् ।
जायते यत्र विश्रान्तिः सा विश्रान्तिरभिधीयते ॥

लीनतां च स्वयं याति [५०]निरुत्थानचमत्कृतेः ।
यतो निरुत्थानमयात् सोऽयं स्यादवधूतराट् ॥

तस्मात्तं सद्गुरुं साक्षाद्वन्दयेत् पूजयेत्सदा ।
सम्यक् सिद्धपदं [५१]धत्ते तत्क्षणात्स्वात्मभाषितम् ॥

न वन्दनीयास्ते काष्ठाः दर्शनभ्रान्तिकारकाः ।
वर्जयेत् तान् गुरून् दूरे धीरः सिद्धमताश्रयः ॥

---

४८. पूर्णोर्चितबोध – क
४९. दर्शनानामपि – ग
५०. निरुल्बण – ग
५१. यत्ते – ग

परपक्षं निरासं करोति –

वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया ।
भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः ॥

अन्ये भेदरताः विवादविकलास्ते तत्त्वतो वञ्चिताः ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥

शैवाः पाशुपता महाव्रतधराः कालामुखा जङ्गमाः ।
शाक्ताः कौलकुलार्चनरताः कापालिकाः शाम्भवाः ॥

एते कृत्रिममन्त्रतन्त्रनिरताः सत्तत्त्वतो वञ्चिताः ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥

साङ्ख्या वैष्णवा वैदिका विधिपराः संन्यासिनस्तापसाः ।
सौरा वीरपराः प्रपञ्चनिरता बौद्धा जिनाः श्रावकाः ॥

एते कष्टरता वृथापथगतास्ते सत्तत्त्वतो वञ्चिताः ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥

आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसाः ।
नानातीर्थनिषेवका जपपरा मौनस्थिता नित्यशः ॥

एते ते खलु दुःखभारनिरतास्ते सत्तत्त्वतो वञ्चिताः ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥

आदौ रेचक–पूरक–कुम्भक–विधौ नाडीपथा शोधितम् ।
कृत्वा हृत्कमलोदरे तु सहसा चित्तं महामूर्च्छितम् ।

पश्चादव्ययमक्षरं [52]परकुलमोङ्कारदीपाङ्कुरे ।
ये पश्यन्ति समाहितेन मनसा तेषां न नित्यं पदम् ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥

चार्वाकाश्चतुराश्च तर्कनिपुणा देहात्मवादे रताः ।
ते सर्वे तरन्ति दुःसहतरं ये ते परं सात्त्विकाः ॥

ते सर्वे प्रभवन्ति ये च यवनाः पापे रता निर्दयाः ।
तेषामैहिकमल्पमेव फलदं तत्त्वं न मोक्षंपदम् ॥

श्रीहट्टे मस्तकान्ते [53]त्रिपुटपुटबिले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे ।
भ्रूनेत्रे नासिकाग्रे श्रवणपथरवे घण्टिका राजदन्ते ॥

कण्ठे हृन्नाभिमध्ये त्रिकमलकुहरे चोड्डियाणे च मूले ।
एवं ये स्थानलग्नाः परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥

[54]कोल्लाटे दीप्तिपुञ्जे प्रलय-
शिखिनिभे सिद्धजालन्धरे वा ।
शृङ्गाटे ज्योतिरेकं तटिदिव
तरलं ब्रह्मनाडान्तराले ॥

[55]भालान्ते विद्युदाभं तदुपरि शिखरे कोटिमार्तण्डचण्डं ।
ये नित्यं भावयन्ते परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥

---

५२. परकुले चोङ्कारदीपां – ग
५३. त्रिकुट – क
५४. गोल्लाटे – ग
५५. फलान्ते – ग

लिङ्गाद्दण्डाङ्कुरान्तर्मनःपवनगमात् [५६]ब्रह्मनाड्यादिभेदं ।
कृत्वा बिन्दुं नयन्तः [५७]परमपदगुहां शङ्खगर्भोदरोर्ध्वम् ॥

तत्रान्तर्नादघोषं गगनगुणमयं वज्रदण्डीचोलीक्रमेण ।
ये कुर्वन्तीह कष्टात् परमपदमहो नास्ति तेषां [५८]निरुत्थम् ॥

सम्यक् चालनदोहनेन सततं दीर्घी कृतां लम्बिकाम् ।
तां ताल्वभ्यन्तरवेशितां च दशमद्वारेऽपि चोल्लङ्घनीम् ॥

नीत्वा मध्यम सन्धि [५९]सङ्घट घटात्प्राप्तां शिरोदेशतः ।
पीत्वा षड्विधपानकाष्टितजनां मूर्च्छां चिरं मोहिताः ॥

गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुध्वानिलं मध्यमम् ।
नीत्वा ध्यानसमाधिलक्ष्यकरणैर्नानासनाभ्यासनैः ॥

प्राणापानसमागमेन सततं हंसोदरे सङ्घट्टनात् ।
एवं [६०]येऽपि भजन्ति ते भवजले मज्जन्त्यहो दुःखितः ॥

शक्त्याकुञ्चनमग्निदीप्तिकरणं त्वाधारसम्पीडनात् ।
स्थानात्कुण्डलिनीप्रबोधनमनः कृत्वा ततो मूर्धनि ॥

---

५६. ब्रह्मनाड्यादि – क
५७. पर्मपदमहो – ग, ग
५८. निरुत्थण –' ग
५९. सङ्घट्टनात्प्राप्तिं – ग
६०. ये विभजन्ति – ग

नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमधः कुर्वन्ति तस्याश्च ये ।
खण्डज्ञानरतास्तु ते निजपदं तेषां हि दूरं पदम् ॥

बन्धं भेदं च मुद्रां गलबिलचिबुका बद्धमार्गेषु वह्निं ।
चन्द्रार्कौ सामरस्यं शमदमनियमानादबिन्दुं कलान्ते ॥

ये नित्यं मेलयन्ते ह्यनुभवमनसाप्युन्मनीयोगयुक्ताः ।
ते लोकान् भ्रामयन्तो निजसुखविमुखाः कर्मदुःखाध्वभाजः ॥

अष्टाङ्गं योगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखीचक्रभेदम् ।
ऊर्ध्वाधो वायुमध्ये रविकिरणनिभं सर्वतो व्याप्तिसारम् ॥

दृष्ट्या ये वीक्षयन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं नभो वा ।
एवं ये भावयन्ते निगदितमतयस्तेऽपि हा कष्टभाजः ॥

आदौ शङ्ख धारणमतः कृत्वा महाधारणं ।
सम्पूर्णं प्रतिधारणं विधिबलात् दृष्टिं तथा निर्मलाम् ॥

अर्धोली बहुलीह [६१]दृष्टासनमथो घण्टी [६२]वसन्तोलिका ।
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च सदा भ्राम्यन्ति खिद्यन्ति ते ॥

शङ्खक्षालनमन्तरं रसनया ताल्वोष्ठनासारसं ।
वान्तेरुल्लटनं कवाटममरीपानं तथा खर्परी ॥

---

६१. दृढासनमथो – ग

६२. च संतोळिका, 'व' न दृश्यते – ग

वीर्यं द्रावितमात्मजं पुनरहो ग्रासं प्रलेपञ्च वा ।
ये कुर्वन्ति [६३]जडास्तु ते नहि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम् ॥

घण्टाकादलकालमद्दलमहाभेरीनिनादं यदा ।
सम्यङ् नादमनाहतध्वनिमयं शृण्वन्ति चैतादृशम् ॥

पिण्डे सर्वगतं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽपि वा ।
तेषां सिद्धपदं ततः समुचितं तत्त्वं परं लभ्यते ॥

वैराग्यात्तृणशाकपल्लवजलं कन्दं फलं मूलकं ।
भुक्त्वा ये वनवासमेव भजन्ते चान्ये च देशान्तरे ॥

बालोन्मत्तपिशाचमूकजडवत् चेष्टाश्च नानाविधा ।
ये कुर्वन्ति पदं विना मतिबलात् भ्रष्टा विमुह्यन्ति ते ॥

कथां दर्शनमद्भुतं बहुविधं भिक्षाटनं नाटकम् ।
भस्मोद्धूलनमङ्गकर्कशतरं कृत्वाथ वर्षं चरेत् ॥

क्षेत्रं क्षेत्रमटन्ति दुर्गमतरं छित्वाथ सर्वेन्द्रियम् ।
नो विन्दन्ति परं पदं गुरुमुखाद्गर्वेण कष्टाश्च ते ॥

[६४]वाणीं ये च चतुर्विधां स्वरचितां सिद्धैश्च वा निर्मिताम् ।
गायत्रीचतुराश्च पाठनिरता [६५]विद्याविवादे रताः ॥

---

६३. जडास्तुते इत्यत्र 'च कारयन्ति च सदा भ्राम्यन्ति खिद्यन्ति ते' इति पाठः 'ग' प्रतौ परिदृश्यते ।

६४. वाणी.. इदं पङ्क्तिः 'क' प्रतौ न दृश्यते ।

६५. वेदान्तवादे रताः – ग

नो विन्दन्ति तदर्थमात्मसदृशं खिद्यन्ति मोहाद्बलात् ।
दण्डैः कर्तरि शूलचक्रलगुडैर्भण्डाश्च दुष्टाश्च ये ॥

एवं शून्यादिशून्यं परमपरपदं पञ्चशून्यादिशून्यं ।
व्योमातीतं ह्यनाद्यं निजकुलमकुलं चाद्भुतं विश्वरूपम् ॥

अव्यक्तं चान्तरालं निरुदयमपरं भासनिर्नाममैक्यं ।
वाङ्मात्राद्भासयन्तो बहुविधमनसो व्याकुला भ्रामितास्ते ॥

आज्ञासिद्धिकरं सदा समुचितं सम्पूर्णमाभासकं ।
पिण्डे सर्वगतं विधानममलं सिद्धान्तसारं वरम् ॥

भ्रान्तेर्निर्हरणं सुखातिसुखदं कालान्तकं शाश्वतं ।
तन्नित्यं कलनोद्गतं गुरुमयं ज्ञेयं निरुत्थं पदम् ॥

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे ।
त्रयाणामैक्यसम्भूतिः आदेश इति कीर्तितः ॥

[६६]आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयापहां ।
यो योगिनं प्रतिवदेत् [६७]स यात्यात्मानमैश्वरम् ॥

आशादहनं भसितं कुण्डलयुगलं विचारसन्तोषः ।
कौपीनं स्थिरचित्तं खर्परमाकाशमात्मनो भजनम् ॥

---

६६. आदेशैरिति सिद्धानि – ग
६७. सायात् वात्मनमैश्वरम् – ग, सत्यात्मतात्मनैश्वरम् – क

एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरं ।
सिद्धान्तं सर्वसारस्वं नानासङ्केतनिर्णयम् ॥

सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यःप्रत्ययकारकं ।
आत्मानन्दकरं नित्यं सर्वसन्देहनाशनम् ॥

न देयं परशिष्येभ्यः नान्येषां सन्निधौ पठेत् ।
न स्नेहान्न बलाल्लोभान्न मोहान्नानृताच्छलात् ॥

न मैत्रीभावनाद्दानान्न सौन्दर्यान्न चासनात् ।
पुत्रस्यापि न दातव्यं गुरुशिष्यक्रमं विना ॥

सत्यवन्तो दयाचित्ताः दृढभक्ताः सदाचलाः ।
निस्तरङ्गाः महाशान्ताः सदाज्ञानप्रबोधकाः ॥

भयदैन्यघृणालज्जातृष्णाशाशोकवर्जिताः ।
आलस्यमदमात्सर्यदम्भमायाछलोज्झिताः ॥

अहङ्कारमहामोहरागद्वेषपराङ्मुखाः ।
क्रोधेच्छाकामुकासूयाभ्रान्तितालोभवर्जिताः ॥

निस्पृहा निर्मला धीराः सदाद्वैतपदे रताः ।
तेभ्यो देयं प्रयत्नेन धूर्तानां गोपयेत् सदा ॥

निन्दका ये दुराचाराश्चुम्बकाः गुरुतल्पगाः ।
नास्तिका ये शठाः क्रूराविद्यावादरतास्तथा ॥

योगाचारपरिभ्रष्टाः निद्राकलहयोः [६८]प्रियाः ।
स्वस्वकार्ये परानिष्ठाः गुरुकार्येषु निस्पृहाः ॥

[६९]एतान् विवर्जयेद् दूरे शिष्यत्वेन गतानपि ॥

सच्छास्त्रं सिद्धमार्गञ्च सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ।
न देयं सर्वदा तेभ्यो यदीच्छेच्चिरजीवनम् ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन तस्करेभ्यो धनं यथा ।
तेषां यो बोधयेत् मोहादपरीक्षितमन्दधीः ॥

न हि मुक्तिर्भवेत्तस्य सदा दुःखेन सीदतः ।
खेचरी भूचरी योगी शाकिनी च निशाचरी ॥

एतेषामद्भुतं शापः सिद्धानां भैरवस्य च ।
मस्तके तस्य पतति तस्माद्यत्नेन रक्षयेत् ॥

गुरुपादाम्बुजस्था या [७०]परीक्ष्य प्रवदेत्सदा ।
कुतो दुःखं च भीतिश्च तत्त्वज्ञस्य महात्मनः ॥

कृपयैव प्रदातव्यं सम्प्रदायप्रवृत्तये ।
सम्प्रदाय[७१]प्रवृत्तिर्हि सर्वेषां सम्मता यतः ॥

---

६८. जिताः – ग
६९. एतांश्च वर्जयेद् – ग
७०. आश्रित्य प्रपतेत्सदा – ग
७१. प्रवृत्तिभिः – ग.

मायाशङ्करनाथाय नत्वा सिद्धान्तपद्धतिम् ।
लिखित्वा यः [72]पठेद्भक्त्या स याति परमां गतिम् ॥

विदधात्यर्थनिच(ल)यं भक्तानुग्रहमूर्तिमत् ।
स्मरानन्दपरं चेतो गणपत्यभिधं महः ॥

॥ इति गोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ
अवधूतयोगिलक्षणं नाम षष्ठोपदेशः ॥

॥ हरिःओम् शुभमस्तु श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

---

७२. पठेन्नित्यम् – ग, म

ओम्

गोरक्ष-वचन-संग्रहः ।

द्वैताद्वैतविलक्षणम् परमतत्वम् ।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम् ॥१॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः ।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना ॥२॥
भावाभावविनिर्मुक्तं नाशोत्पत्तिविवर्जितम् ।
सर्वसंकल्पनातीतं परब्रह्म तदुच्यते ॥३॥
हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्ध्याद्यगोचरम् ।
व्योमविज्ञानमानन्दं तत्वं तत्वविदो विदुः ॥४॥

अभिन्न शिवशक्तितत्वम्

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥५॥
शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन ।
स्वशक्त्या सहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत् ॥६॥
अलुप्तशक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् ।
पुनः स्वेनैव रूपेण एक एवावशिष्यते ॥७॥
अकुलं कुलमाधत्ते कुलं चाकुलमिच्छति ।
जल बुद्बुद्वद् न्यायात् एकाकारः परः शिवः ॥८॥
प्रसरं भासयेत् शक्तिः संकोचं भासयेत् शिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥९॥
तथा तथा दृश्यमानानां शक्ति सहस्राणां एकसंघट्टः ।
निजहृदयोद्यमरूपो भवति शिवो नाम परम स्वच्छन्दः ॥१०॥
स एव विश्वमेषितुं ज्ञातुं कर्तुं चोन्मुखो भवन् ।
शक्ति स्वभावः कथितो हृदयत्रिकोण मधुमांसलोल्लासः ॥११॥

शक्तिपरिणामक्रमेण समष्टि-व्यष्टि-पिण्डोत्पत्तिः ।

नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पत्तिश्चाण्डपिण्डयोः ।

तथापि लोककृत्यर्थं वक्ष्ये सत्संप्रदायतः ॥१२॥
यदा नास्ति स्वयं कर्त्ता कारणं न कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं च परंब्रह्म अनामा विद्यते तदा ॥१३॥
निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डलिन्यासु पंचधा ।
शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः पिण्डः परः शिवः ॥१४॥
सृष्टिः कुण्डलिनी ख्याता द्विधा भागवती तु सा ।
एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यगात्मिका ॥१५॥
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक वर्जिता ।
तस्या भेदं न जानाति मोहिता प्रत्ययेन तु ॥१६॥

परा संवित्

सत्वे सत्वे सकलरचना राजते संविदेका,
तत्वे तत्वे परममहिमा संविदेवावभाति ।
भावे भावे बहुलतरला लम्पटा संविदेषा,
भासे भासे भजनचतुरा बृंहिता संविदेव ॥१७॥

सर्वात्मकम् आत्मतत्वम् ।

आत्मा खलु विश्वमूलं तत्र प्रमाणं न कोऽप्यर्थयते ।
कस्य वा भवति पिपासा गंगास्रोतसि निमग्नस्य ॥१८॥
अमेध्यमथवा मेध्यं यत् यत् पश्यति चक्षुषा ।
तत्तदात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥१९॥
यत् यत् शृणोति कर्णाभ्यामप्रियमथवा प्रियम् ।
तत्तदात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२०॥
अमिष्टमथवा मिष्टम् यत् यत् स्पृशति जिह्वया ।
तत्तदात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२१॥
सुगन्धमथ दुर्गन्धं यत् यत् जिघ्रति नासया ।
तत्तदात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२२॥
कर्कशं कोमलं वापि यत् यत् स्पृशति च त्वचा ।
तत्तदात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२३॥

जीवात्म परमात्मनोरभेदः ।

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे ।
त्रयाणामैक्य संभूतिः आदेश इति कीर्तितः ॥२४॥
आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयावहाम् ।
योगिनं प्रति वदेत् स वेत्यात्मानमीश्वरम् ॥२५॥

आत्मज्ञानान्मुक्तिः ।

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥२६॥
समस्तोपधिविध्वंसात् सदाभ्यासेन योगिनः ।
मुक्तिकृत् शक्तिभेदेन स्वयमात्मा प्रकाशते ॥२७॥
विरजाः परमाकाशात् आत्माकाशो महत्तरः ।
सर्वदेत्थं भावनया तत्वं योगिजना विदुः ॥२८॥
एतद् ब्रह्मात्मकं तेजः शिव ज्योतिरनुत्तमम् ।
ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम् ॥२९॥

ओंकार-रहस्यम् ।

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाश्चन्द्र सूर्याग्निदेवताः ।
प्रतिष्ठिताः सदा यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥३०॥
त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः ।
त्रयः स्वराः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥३१॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः ।
सर्वे देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥३२॥
कृतिरिच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥३३॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपे त्प्रणवं सदा ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥३४॥
पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥३५॥

देहरहस्यम् ।

बिन्दुमूलं शरीरस्य शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणि चापादतलमस्तकम् ॥३६॥
सपुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरं शुक्रमित्याहु र्लोहित ञ्च महारजः ॥३७॥
बिन्दुः शिवो रजः शक्ति र्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ।
उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥३८॥
शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥३९॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।

मरणं विन्दुपतेन जीवनं विन्दुधारणात् ॥४०॥
एक स्तम्भं नवद्वारं गृहं पंचाधिदैवतम् ।
स्वदेहं ये न जानन्ति नते सिध्यन्ति योगिनः ॥४१॥
षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पंचकम् ।
स्वदेहे चेन्न जानन्ति कथं सिध्यन्ति योगिनः ॥४२॥

व्यष्टिपिण्डे समष्टि पिण्डदर्शनम् ।

पिण्डमध्ये चराचरं यो जानाति, स योगी पिण्ड-संवित्तिर्भवति । यथा च शिवसंहितायाम्,—

देहेऽस्मिन्वर्तते मेरुः सप्तद्वीप समन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः ॥४३॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठ देवताः ॥४४॥
सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ॥४५॥
त्रैलोक्ये यानिभूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ॥४६॥
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ॥४७॥

श्वास-रहस्यम् (अजपा)

हं-कारेण वहिर्याति स-कारेण विशेत्पुनः ।
हंस-हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥४८॥
षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येक विंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥४८॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
तस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापै विमुच्यते ॥५०॥
अनया सदृशी विद्या त्वनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥५१॥

परमपदस्य स्वसंवेद्यता ।

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति तत्वविन्नापरा [illegible] ।
ऊहापोहौ न कर्तव्यौ वाचा तत्र करोति किम् ॥५२॥
वाग्मिना गुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्य्यते ।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परं पदम् ॥५३॥

समाधि स्वरूपम् ।

तत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
समस्त नष्ट संकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥५४॥
अम्बु-सैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥५५॥
यदा संलीयते जीवो मानसं च विलीयते ।
तदा समरसत्वं हि समाधिरभिधीयते ॥५६॥
इन्द्रियेषु मनोवृत्तिरपरा प्रक्रिया हि सा ।
ऊर्ध्वमेव गते जीवे न मनो नेन्द्रियाणि च ॥५७॥
नाभिजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ।
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥५८॥
अभेद्यः सर्वशस्त्राणामबध्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रसंधानां योगी युक्तः समाधिना ॥५९
निरालम्बे निराधारे निराकारे निरामये ।
योगी योगविधानेन परब्रह्मणि लीयते ॥६०॥
यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते ।
क्षीरे क्षीरं तथा योगी तत्वमेव हि जायते ॥६१॥

षडङ्ग-योगः ।

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वदन्ति षट् ॥६२॥
आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारंमानसं योगी प्रत्याहारेण मुंचति ॥६३॥
मनोधैर्यं धारणया ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधेर्मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥६४॥
आसनानि च तावन्ति यावत्यो जीवजातयः ।
एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥६५॥
आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेव प्रशस्यते ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥६६॥
बद्ध पद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥६६॥
ऊर्ध्वमाकृष्य चापानं वायुं प्राणे नियुज्य च ।
ऊर्ध्वमानीय तं शक्त्या सर्वं पापैः प्रमुज्यते ॥६८॥
प्राणायामे महान् धर्मो योगिनां मोक्षदायकः ।

प्राणायामे दिवारात्रौ दोषजालं परित्यजेत् ॥६९॥
प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य सम्भवः ॥७०॥
युक्तं-युक्तं त्यजेत वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत ।
युक्तं-युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥७१॥
चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥७२॥
अंगमध्ये यथांगानि कूर्मः संकोचयेद्ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवं स्वेन्द्रियाणि तथात्मनि ॥७३॥
आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणां च समभ्यसेत् ॥७४॥
हृदये पंचभूतानां धारणं च पृथक्-पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साऽभिधीयते ॥७५॥
सर्वं चिन्तासमावर्त्ति योगिनो हृदि वर्तते ।
या तत्वे निश्चला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ॥७६॥
द्विधा भवति तद्ध्यानं सगुणं निर्गुणं तथा ।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं विदुः ॥७७॥

दशविधयमास्तथा दशविधनियमाः ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥७८॥
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वर पूजनम् ।
सिद्धान्त श्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतिः ।
दशैते नियमाः प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ॥७९॥
अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पोऽनियमग्रहः ।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥८०॥
उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात् तत्वज्ञानार्थदर्शनात् ।
जनसंगपरित्यागात् षड्भिर्योगो प्रसिद्धयति ॥८१॥
सुस्निग्धं मधुराहारं चतुर्थांशविवर्जितम् ।
भुक्ते य ईश्वर प्रीत्यै मिताहारी स उच्यते ॥८२॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योग परायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥८३॥
सत्यमेकमजं नित्यमनन्तं चाक्षयं ध्रुवम् ।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्धीरः सत्यवादी स उच्यते ॥८४॥

शुद्धं शान्तं निराकारं परानन्दं सदोदितम् ।
तं शिवं यो विजानाति शुद्धशैवो भवेत्तु सः ॥८५॥

देहमध्यस्थचक्राणि ।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
तृतीयं मणिपूराख्यं चतुर्थं स्यादनाहतम् ॥८६॥
पंचमन्तु विशुद्धाख्यं आज्ञाचक्रन्तु षष्ठकम् ।
सप्तमन्तु महाचक्रं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥८७॥
चतुर्दलं स्यादाधारे स्वाधिष्ठाने तु षड्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ॥८८॥
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदल न्तथा ।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरध्रे महापथे ॥८९॥
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥९०॥
आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं यच्चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता ॥९१॥
योनिमध्ये महालिंगं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित् ॥९२॥

देहमध्ये आत्मध्यानस्थानानि ।

आधारे प्रथमे चक्रे स्वर्णाभे चतुरंगुले ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत् ॥९३॥
स्वाधिष्ठाने शुभे चक्रे सन्माणिक्य समप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्मसमो भवेत् ॥९४॥
तरुणादित्यसंकाशे चक्रे तु मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेत् जगत् ॥९५॥
अनाहते महाचक्रे द्वादशारे च पंकजे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ध्याताऽमरो भवेत् ॥९६॥
सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा दुःखं विमुञ्चति ॥९७॥
स्रवत्पीयूष सम्पूर्णे लम्बिका चन्द्रमण्डले ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा मृत्युं विमुञ्चति ॥९८॥
ध्यायेन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मवान् विजित प्राणो योगी योगमवाप्नुयात् ॥९९॥
ब्रह्मरन्ध्रे महाचक्रे सहस्रारे च पंकजे ।

नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा सिद्धो भवेत्स्वयम् ॥१००॥
गुदं मेढ्रश्च नाभिश्च हृदयं कण्ठ ऊर्ध्वगः ।
घण्टिका लम्बिका स्थानं भ्रूमध्यं च नभोविलम् ।
कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिनाम् ॥१०१॥
उपाधितत्वयुक्तानां कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ।
उपाधिश्च तथा तत्वं द्वयमेतदुदाहृतम् ।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णं स्तत्त्वमात्माऽभिधीयते ॥१०२॥
उपाधिरन्यथा ज्ञानं तत्त्वसंस्थितिरन्यथा ।
अन्यथा वर्णयोगेन दृश्यते स्फटिकोपमम् ॥१०३॥
समस्तोपाधिविध्वंसात् सदाभ्यासेन योगिनः ।
मुक्तिकृच्छक्तिभेदेन स्वयमात्मा प्रकाशते ॥१०४॥

कुण्डलिनी प्रबोधः ।

कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचका ॥१०५॥
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥१०६॥
कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन समुक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥
गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तच्छंभोः परमं पदम् ॥१०९॥
इड़ा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इड़ा-पिंगलयोर्मध्ये बाल रण्डा कुण्डली ॥११०॥
पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिः उर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११॥
सुप्ता गुरु प्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपिच ॥११२॥
प्राणस्य शून्यपदवीं तदा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वंचनम् ॥११३॥

दशविध-मुद्राः ।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्व खेचरी ।
उड्डानं मूलबन्धश्व बन्धो जालन्धराभिधः ॥११४॥

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशमं जरामरणनाशनम् ॥११५॥
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यं प्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥११६॥
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्री सूरतं यथा ॥११७॥
मुद्मोदे तु रा दाने जीवात्म परमात्मनोः ।
उभयोरेक संवित्तिमुद्रेति परिकीर्तिता ॥११८॥
मोदन्ते देवसंघाश्च द्रवन्तेऽसुरराशयः ।
मुद्रेति कथिता साक्षात्सदा भद्रार्थदायिनी ॥११९॥

शाम्भवी मुद्रा ।

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टि निर्मेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा वै शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥१२०॥
अन्तश्चेता बहिश्चक्षु रधिष्ठाय सुखासनम् ।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रा च कीर्तिता ॥१२१॥
अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते ।
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि॥१२२॥
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः ।
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरतितत् तत्त्वं
परं शाम्भवम् ॥१२३॥

प्राणायाम भेदाः ।

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेच-पूरक-कुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥१२४॥
यावत्केवल सिद्धिः स्यात् सहितं तावदभ्यसेत् ॥१२५॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यत्प्राणधारणम् ।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवल कुम्भकः ॥१२६॥
कुम्भके केवले सिद्धे रेच-पूरक-वर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥१२७॥
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ।
राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥१२८॥
कुम्भकात् कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ।
अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥१२९॥

हठं विना राजयोगो राज योगं विना हठः ।
न सिध्यति ततो युग्मम् आनिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥१३०॥
दृष्टिः स्थिरा यस्य विनापि दृश्याद्,
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात् ।
मनः स्थिरं यस्य विनावलम्बात्,
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥१३१॥

मनो लयः ।

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो विन्दुः स्थिरो भवेत् ।
विन्दु स्थैर्यात्सदा सत्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥१३२॥
इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथश्च मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥१३३॥
प्रणष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्त विषय ग्रहः ।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥१३४॥
उच्छिन्न सर्व संकल्पो निःशेषाशेष चेष्ठितः ।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥१३५॥
भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पदं तूर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥१३६॥
स्वमध्ये कुरु चात्मान मात्ममध्ये च स्वं कुरु ।
सर्वं च तन्मयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥१३७॥
वाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तर चिन्तनम् ।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥१३८॥
मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित् सचरा चरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावात् द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥१३९॥
ज्ञेयवस्तु परित्यागाद् विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये याते कैवल्यमव शिष्यते ॥१४०॥

नादानुसंधानम् ।

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय शाम्भवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तः स्थमेकधीः ॥१४१॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥१४२॥
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्र चित्तं स्थिरी कुर्यात् यावत् स्थिरपदं व्रजेत् ॥१४३॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्म सूक्ष्मकम् ॥१४४॥
आदौ जलधि जीमूत भेरी झर्झर सम्भवाः ।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घण्टा काहलजास्तथा ॥१४५॥
अन्ते तु किंकिणी-वंश-वीणा-भ्रमर-निःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥१४६॥
महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥१४७॥
अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्यं उपलभ्यते ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ।
मनस्तत्र लयं याति तच्छंभोः परमं पदम् ॥१४८॥
यत्किंचिन्नाद रुपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ।
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥१४९॥

अवधूत-योगि-लक्षणानि ।

क्लेश पाशतरंगाणां कृन्तनेन विमुण्डनम् ।
सर्वावस्था विनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५०॥
लोकमध्ये स्थिरासीनः समस्त कलनोज्झितः ।
कौपीनं खर्परोऽदैन्यं सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५१॥
पादुका पदसंवित्ति मृगत्वक् स्यादनाहता ।
शेली यस्य परा संवित् सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५१॥
मेखला निर्वृतिर्नित्यं स्वस्वरूपं कटासनम् ।
निवृत्तिः षट्विकारेभ्यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५२॥
चित्प्रकाश परानन्दौ यस्य वै कुण्डलद्वयम ।
जपमालाक्ष विश्रान्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५३॥
यस्य धैर्यमयो दण्डः पराकाशं च खर्परम् ।
योगपट्टो निजाशक्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५४॥
भेदाभेदौ स्वयं भिक्षां कृत्वा स्वास्वादने रतः ।
जारणी तन्मयीभावः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५५॥
आवर्तयति यः सम्यक् स्वस्वमध्ये स्वयं सदा ।
समत्वेन जगद् वेत्ति सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५६॥
स्वात्मानमव गच्छेद् यः स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
अनुत्थानमयः सम्यक् सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५७॥
अवभासात्मको भासः प्रकाशे [illegible] संस्थितः ।

लीलया रमते लोके सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५८॥
क्वचिद् भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत् ।
क्वचिद् राजा क्वचाचारी सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५९॥
विश्वातीतं यथाविश्वं एकमेव विराजते ।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्धयोगी भवेत्तु सः ॥१६०॥
उदासीनः सदा शान्तः स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः ।
महानन्दमयो 'धीरः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥१६१॥
परिपूर्णं प्रसन्नात्मा सर्वासर्वं पदोदितः ।
विशुद्धो निर्भरानन्दः स भवेत् सिद्ध योगिराट् ॥१६२॥
प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः ।
तयो र्योगस्य कर्ता यः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥१६३॥
गते न शोकं विभवेन वाञ्छा, प्राप्ते न हर्षं च करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो, न बाध्यते कालपथेन नित्यम् ॥१६४॥

सद्गुरु-महिमा

सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः स्वस्वनिग्रहः ।
स्वोपायं स्वस्वविश्रान्तिः अद्वैतं परमं पदम् ।
तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ॥१६५॥
असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सद्गुरोः करुणां विना ।
अतः सद्गुरुः संसेव्यः सत्यमीश्वर भाषितम् ॥१६६॥
अनुबुभूषति यो निजविश्रमम्,
स गुरुपाद सरोरुहमाश्रयेत् ।
तदनुसंसरणात् परमं पदम्,
समरसीकरणं च न दूरतः ॥१६७॥
कथनात् शक्ति पाताद्वा यद्वा पादावलोकनात् ।
प्रसादात्सद्गुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥१६८॥
वाङ्मात्राद्वाथ दृक् पातात् यः करोति च तत् क्षणात् ।
प्रस्फुटं शाम्भवं वेद्यं स्वसंवेद्यं परं पदम् ॥१६९॥
करुणाखण्ड पातेन छित्वा पाशाष्टकं शिशोः ।
सम्यगानन्द जनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥१७०॥
किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटि शतेन च ।
दुर्लभा चित्तविश्रान्ति विना गुरुकृपां पराम् ॥१७१॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥१७२॥

योगतन्त्रविमर्शिनी

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

योगतन्त्रविभागीय अनुसन्धान पत्रिका

सम्पादक

म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी० लिट्

अध्यक्ष, योगतन्त्र विभाग

वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

प्रथम अंक

संवत् २०२६

प्रकाशन तिथि

चैत्र शुक्ल प्रतिपद् २०२७

योगतन्त्रविमर्शिनी

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

योगतन्त्रविभागीय अनुसन्धान पत्रिका

सम्पादक

म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी० लिट्

अध्यक्ष, योगतन्त्र विभाग

वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

प्रथम अंक

संवत् २०२६

प्रकाशक
संचालक, अनुसन्धान संस्थान
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी—२

मूल्य ५ रुपया

मुद्रक—
अनिल कुमार गुप्त
संसार प्रेस, संसार लिमिटेड
काशीपुरा, वाराणसी ।

विषय-सूची

योग-तन्त्र-विमर्शिनी

अङ्क १, वाराणसी, श्रावण, सं० २०२६

जीव का आविर्भाव और क्रमिक विकास

म०म०पं०गोपीनाथ कविराज, अध्यक्ष—योगतन्त्रविभाग, वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

अन्यान्य धर्मों की तरह शाक्त धर्म का भी अन्तरंग एवं बहिरंग स्वरूप है और दोनों के अन्तराल में एक मध्य विभाग भी है। केवल इतना ही नहीं, जिसे जगत् में साधना कहा जाता है, वह प्रत्येक धर्म में है। अन्तरंग साधना में जिस प्रकार साध्यसाधक भाव है, उसी प्रकार बहिरंग साधना में भी है। स्वभाव मूलक अधिकार के अनुसार साधना का मार्ग निश्चित किया जाता है। अतः साधक मात्र ही पथिक है। परन्तु सब साधकों का पथ एक ही प्रकार का नहीं है। एक बात यह भी है कि प्रत्येक विभाग में प्राकृतिक नियम के अनुसार दृष्टिवैचित्र्य देखने में आता है अर्थात् जिस प्रकार अन्तरंग साधना में प्रकारगत भेद है, उसी प्रकार बहिरंग साधना में भी है, क्योंकि मनुष्य की रुचि विभिन्न प्रकार की है। स्वभाव के अनुसार जिस प्रकार लक्ष्य में अन्तर पड़ जाता है, उसी प्रकार स्वभाव के अनुसार मार्ग में भी फरक पड़ जाता है। किन्तु रुचि-निरपेक्ष अखण्ड दृष्टि में वास्तव लक्ष्य एक छोड़कर दो नहीं होता। सामर्थ्य के भेद से रुचि तथा अधिकार का भेद होने के कारण मार्ग विभिन्न प्रकार के हो जाते हैं। प्रस्तुत लेख में अन्तरंग शक्ति का एक प्रकार का विवरण देना चाहता हूँ।

लक्ष्य का स्वरूप-निर्णय करना चाहिए। परमाद्वैत शाक्तयोगी का कथन है कि पूर्ण सत्ता ही लक्ष्य है, जो वस्तुतः पराशक्ति अथवा प्रकाशस्वरूप आत्मा से अभिन्न है। इस प्रकाश में किसी प्रकार का अवच्छेद नहीं है। जिस प्रकार यह सत्य है, उसी प्रकार अवच्छेद है यह भी सत्य है। अनवच्छिन्न प्रकाश ही महा-

प्रकाश नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें शिव और शक्ति परस्पर अभिन्नतया स्फुरित होते हैं। एक ही सत्ता शिवरूपेण द्रष्टा है, एवं शक्तिरूपेण दृश्य है। इसको स्मरण में रखना चाहिए कि वह चिदात्मक भी है। द्रष्टारूप लेकर शिव है, दृश्यरूप लेकर शक्ति है। जो शरीर है वही शरीरी है। यह निरन्तर अपने आपको अविच्छिन्न रूप से देख रहे हैं। इस स्थिति में देश, काल तथा निमित्त की संभावना ही नहीं है। यह नित्य वर्तमान तथा नित्य संनिधान रूप में स्थित है। आत्मा की यह स्वातन्त्र्य रूप अवस्था है। यह जो शक्त्यात्मक शरीर है, लौकिक दृष्टि से यही समग्र विश्व है। विश्व की यह कारण अवस्था है। परन्तु इस बात को स्मरण में रखना चाहिए कि विश्व का यह शक्त्यात्मक रूप सामान्य रूप है। इस अवस्था में शिव को अस्पन्द एवं शक्ति को स्पन्द रूपा कहा जाता है। किन्तु दोनों अभिन्न होने के कारण इसमें स्पन्द एवं अस्पन्द इस प्रकार का विभाग नहीं है। प्रकाश का एक अनवच्छिन्न रूप एवं दूसरा अवच्छिन्न रूप भी है। इस दृष्टि से देखने पर समग्र विश्व इसी के अन्तर्गत है, यह मालूम पड़ेगा। जिस प्रकार अनवच्छिन्न आत्मा अथवा शिव की दृष्टि से उनकी शक्तिरूप शरीर सामान्य भावापन्न सत्ता है, उसी प्रकार अवच्छिन्न आत्मा अथवा जीव की दृष्टि से प्रतिनियत विशेष रूप को लेकर विश्व का भान होता है। अनवच्छिन्न आत्मा की दृष्टि से प्रतिनियत विशेप सम्पन्न कोई भी दृश्य स्फुरित नहीं होता। इसी कारण से उनकी दृष्टि अवच्छिन्न नहीं होती। परन्तु जिस दृष्टि से प्रतिनियत विशेपरूप का भान होता है, उसके लिए पूर्वोक्त प्रतिनियत रूप ही अवच्छेदक होता है। इस प्रकार से वह दृष्टि परिच्छिन्न होती है। यही जीवभाव का रहस्य है। अवच्छिन्न प्रकाश में ग्राहक, ग्रहण और ग्राह्य यह त्रिपुटी रहती है। ग्राहक जीवात्मा है। ग्राह्य विषय अथवा जगत् और ग्रहण करण सामग्री है। आत्मा चित् प्रधान अवस्था में द्रष्टा मात्र था। परन्तु माया के स्पर्श से त्रिपुटी भूमि में द्रष्टा ने इस समय भोक्ता का रूप धारण कर लिया। अत एव वस्तुतः जो ग्राह्य है, वह संसारावस्था में भोग्य से अभिन्न है। ग्रहण या करण भोग का साधन मात्र है। शिव शरीरी है और उनसे उनकी अभिन्न शक्ति ही उनका शरीर है। दोनों शुद्ध चिदात्मक है। जीव भी शरीरी है। परन्तु उसका शरीर उनके स्वरूप से भिन्न है। एक का शरीर चित् स्वरूप है, दूसरे का अचित् स्वरूप है। किन्तु इस अचित् रूपी शरीर में ही चित् स्वरूप जीवात्मा का अहँ अभिनिवेश लगा हुआ है। यदि इस प्रकार नहीं रहता तो जीव को भोग संभव नहीं रहता।

इसी विषय को और स्पष्ट करने के लिए विशेप विश्लेपण किया जा रहा है। महाशक्ति के स्वरूप को विचार की दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि यह परम प्रकाशमय निरपेक्ष आत्मस्वरूप मात्र है। अर्थात् अपरिच्छिन्न सत्तास्वरूप एवं अखण्ड अनन्त भाव मात्र है। परन्तु उनमें कुछ भी प्रतिभासमान नहीं हो रहा है। मानों चिदात्मा के अनन्त दर्पण पड़े हुये हैं, जिसमें किसी चित्र का भान नहीं हो रहा

है, मानो अपने में आप—यही दर्पण है अर्थात् यही निराभास चैतन्य अथवा विश्वातीत चित्सत्ता है। कोई-कोई आचार्य इसको अखण्ड अनन्त सत्ता-समुद्र में केवल चित्कला का प्रकाश कह कर वर्णन करते हैं। मानो यह कला कलातीत के साथ एकात्मक होकर विद्यमान है। यह परम साक्षी स्वरूप है, यह स्वप्रकाश द्रष्टा है। द्रष्टा बनकर यह अपने आपको ही देख रहा है। क्योंकि भिन्न दृश्य तो कुछ नहीं है। यह कला होने पर भी अस्पन्द है। शक्ति होने पर भी शिवस्वरूप है। कलातीत सत्ता चित्कला को कभी परिहार नहीं करती। यदि मान लिया जाय कि परिहार करती है, तब कहना पड़ेगा कि यह कलातीत भी अचित् होने के कारण असत् अथवा असत्कल्प है। यह चित्कला स्पन्दहीन होने पर भी अचिन्त्य रूप से स्पन्दनशील है। चित्कला की यह स्पन्दनशीलता ही महाशक्ति का दूसरा विभाग है। इस स्पन्द के प्रभाव से इसमें निरन्तर संकोच तथा विकास का व्यापार चल रहा है। जैसे कलातीत सत्य एवं चित्कला जो कि उसका नित्य साथी है; उसी प्रकार चित्कला भी सत्य है और संकोच-प्रसार उसके नित्य साथी हैं। पक्षान्तर में यह भी सत्य है कि संकोच-प्रसार सत्य है और चित्कला उसका नित्य साथी है। दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। एक को छोड़कर दूसरा नहीं रह सकता है। चित्कला अमृत कला है और संकोच-प्रसार रूप व्यापार उसका आश्रय करते हुए कलनात्मक काल के खेल रूप में प्रकाशित हो रहा है। परन्तु कलनात्मक काल को छोड़कर कलनहीन महाकाल भी एक परम रूप है, जो काल होकर भी काल नहीं है और काल न होकर भी कालरूप में गण्य है।

संकोच एवं प्रसार के मूल में चित्कला की स्वातंत्र्यमयी लीला है। यह उसका स्वभाव है। चित्कला का प्रसरण जब होता है, तब उसमें आभास का उदय होता है।

प्रसार की पूर्णता के अनुरूप समग्र विश्व का भान उसमें होता है। यह प्रसार क्रम से होता है और बिना क्रम से एक क्षण में भी होता है। जब बिना क्रम से यह प्रसार होता है, तब चिद्दर्पण में पूर्ण आभास विद्यमान रहता है। शक्ति की दृष्टि से यही महासृष्टि है। यह खण्डसृष्टि नहीं है। क्रमशक्ति सम्पन्न काल की क्रमिक सृष्टि भी नहीं है। यह महाकाल की महासृष्टि है। वस्तुतः यह सृष्टि होने पर भी सृष्टि नहीं है, क्योंकि यह वर्तमान स्थिति है। यह चित् से अलग कुछ नहीं है। चित् का जो आभास रूप भाग है, वह विश्वात्मक है और जो निराभास भाग है वह विश्वातीत है। वस्तुतः निराभास चित् में निराभास स्थिति में भी नित्य साभास दशा विद्यमान है। इसीलिए ब्रह्म उभयलिंग है, अर्थात् नित्य निर्गुण होते हुए भी नित्य सगुण है। नित्य निराकार होते हुए भी नित्य साकार है। चिद्रूप महाशक्ति में विश्व भास रहा है, यह भी सत्य है। नहीं भास रहा है, यह भी सत्य है। यह एक विचित्र प्रहेलिका है।

जिसे हम सृष्टि एवं संहार कहते हैं, उसमें क्रम है, परन्तु यह क्रमदर्शन परिच्छिन्न प्रमाता के लिए है। अपरिच्छिन्न प्रमाता की दृष्टि से क्रम नहीं है। चित् कलायुक्त शिव परप्रमाता है। उसे परिच्छिन्न अथवा खण्ड प्रमाता नहीं कहा जा सकता। परप्रमाता प्रकाश तथा विमर्श का विचित्र रूप होने के कारण पूर्णाहं है, अर्थात् परमेश्वर एवं परमेश्वरी पदवाच्य है। कलातीत और चित्कला एक ही साथ अभिन्न स्वरूप में अवस्थित हैं, उसमें चित्कला अस्पन्द होने पर भी निरन्तर स्पन्दन लीलाशील है। उसके अहं में अनन्त शक्तियों का समाहार है।

जब परप्रमाता अपरिच्छिन्न रहते हुए स्वेच्छा से अपने को परिच्छिन्नवत् दिखलाते हैं, उस समय परिच्छिन्न अहं के सम्मुख उसके प्रतियोगी के रूप में इदं का प्रतिभास होता है। इस प्रतिभास में क्रम रहता है, क्योंकि यह काल के अधीन है। उस समय आत्मा स्वयं ही अपने से स्वयं अलग हो जाता है। यही परप्रमाता का स्वरूप में पहले संकोचग्रहण है, जिसके प्रभाव से आत्मा विभु होते हुए भी अणुभाव प्राप्त होता है। इस चिदणु को परिच्छिन्न प्रमाता, मायाप्रमाता, खण्ड जीव, जीव इत्यादि नामों से वर्णित किया जाता है। इसके सामने इदंरूपेण जिसका प्रथमतः प्रकाश होता है, वही शून्य अथवा आकाश है। कोई कोई इसको चिदाकाश कहते हैं। यह ध्यान में रखना कि यह वस्तुतः चिदाकाश नहीं है। पहले जिस महासृष्टि के बारे में कहा गया, चित् सत्ता में दर्पण स्थित प्रतिबिम्बवत् प्रतिभासमान होती है। उसका नाश नहीं होता। निराभास चैतन्य की स्थिति में उसकी उपलब्धि नहीं होती। इस आभासरूपी विश्व का दर्शन जब अभेद में संघटित होता है, तब किसी किसी की दृष्टि में वही भगवद्दर्शन रूप में प्रतीत होता है।

यह अभेद-सर्वज्ञत्व की अवस्था है। परन्तु यह दर्शन अभेद में न होकर भेद में भी हो सकता है। अर्जुन का विश्वरूप दर्शन, योगवासिष्ठ में वर्णित लीला का दर्शन, डान्टे का Divine Comedy में वर्णित Sempiternal Rose का दर्शन; यह सब भेदसृष्टि का दर्शन मात्र है। यह महासृष्टि का दर्शन नहीं है।

आत्मा से भिन्नरूपेण जगत् का दर्शन परिमित प्रमाता का दर्शन है, यह पर-प्रमाता का दर्शन नहीं है। क्योंकि परप्रमाता समग्र विश्व का अपने स्वरूप से अभिन्नरूपेण आत्मस्थित प्रतिबिम्बवत् दर्शन करते हैं। अणुभाव प्राप्ति के साथ चित् महामाया से आच्छन्न हो जाते हैं। मानों उसमें निद्रित हो जाते हैं। इसी का नामान्तर काल-राज्य में प्रवेश है। काल की दृष्टि से यही अनादि सुषुप्ति है। यह अनादि होने पर भी वस्तुतः इसके मूल में है आत्मा का स्वातन्त्र्य मूलक संकोच-ग्रहण। इस सुषुप्ति के अनन्तर अवरोह क्रम से माया भेद के बाद जागरण होता है। उस समय चिदणु खेचर चक्र से नियन्त्रित होकर मितप्रमाता बन जाते हैं, अर्थात् अल्पज्ञ, अल्पकर्ता, देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न और सर्वदा अभाव बोध

द्वारा क्लिष्ट प्रतीत होते हैं। आत्मस्वरूप की यह अख्याति या अज्ञान ही तन्त्रशास्त्र में महामाया रूप में वर्णित है।

पशुभाव अथवा जीवभाव का उदय उसके बाद होता है। परा वाक् इस आदि जीव को महासृष्टिमूलक खण्ड खण्ड अर्थ प्रदर्शन करती है। यह सब विकल्प रूप हैं और क्षणस्थायी हैं। निरन्तर चित्क्षेत्र में इनका आगमन तथा निर्गमन होता है। वेदान्तशास्त्र में यह सब अविद्या की विक्षेप वृत्ति है। इसके बाद कर्म का आविर्भाव होता है। उस समय देह भी दृष्टिगोचर होता है। चिदणु उसमें प्रवेश करते हैं। देह कर्मसृष्ट है। श्रुति में लिखा है—"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"। पहले था आत्मा में अनात्मभाव या इदंभाव, उसके बाद था देह में अर्थात् इदं में अहंभाव, उसके बाद देह में अर्थात् इदं में अहंभाव अर्थात् अनात्मा में आत्मभाव रहा। इसके मूल में शब्द, वर्ग-शक्ति और वर्णमाला का खेल है। पश्यन्ती भूमि में अवरोह के समय में आत्मा में अनात्मभाव की सूचना होती है। मध्यमा में सूक्ष्म में प्रवेश होता है और वैखरी में स्थूलभाव का उदय होता है। उस समय भौतिक देह में अहंभाव का उदय होता है। इस अवसर में सबसे पहले बाह्य जगत् का दर्शन होता है। यह बाह्य जगत् पूर्वोक्त महासृष्टि का एक देशमात्र है। यह देहावच्छिन्न अहं की बहिर्मुख दृष्टि के सम्मुख भासमान होता है। इसी का नाम है पतन। यह आत्मा की पंचकृत्य-कारिणी पंचशक्तियों के अन्तर्गत तिरोधान शक्ति का अन्तिम फल है।

विषय अत्यन्त जटिल है, फिर भी इसे संक्षेप में परिस्फुटित किया जाता है। मूल में हैं परम शिव। उस समय विश्व उससे अभिन्न है। इसके बाद स्वातन्त्र्य के बल से आणवभाव की प्राप्ति होती है, परन्तु यह अणु की सुप्त अवस्था है। यही महामाया अथवा स्वरूपाख्याति नाम से प्रसिद्ध है। प्रचलित परिभाषा में इसी का नाम है कुण्डलिनी की निद्रा अथवा सुप्ति। इसके बाद माया के स्पर्श से सुप्ति का भेद होकर जाग्रत् भाव का उदय होता है। इस समय चित् का आविर्भाव होता है और स्वरूप से भिन्नरूपेण विश्व का बोध होने लगता है। मायिक कंचुकों का सम्बन्ध भी इसी समय होता है। महान् समग्र विश्व को देख पाता है। परन्तु अणु विश्व के किंचित् अंश को देख पाता है। वह भी भिन्नरूपेण है। इस समय विकल्पों का उदय होता है। प्रति क्षण में नवनवोन्मेष हो जाता है। इस नाटक के सूत्रधार रूप में परा वाक् सब कुछ प्रदर्शन करती हैं। मित प्रमाता अथवा जीव उसको देखकर मुग्ध हो जाता है। इसके बाद वही शब्द नादरूप में प्रकाशित होता है। उस समय सर्वत्र एकमात्र आकाश ही आकाश भासता है। उसके बाद वह नाद खण्डित होकर वर्णमाला के रूप में प्रतिभात होता है। यही देहरचना का समय है। माया के अनन्तर कर्म सूचना इसी स्थान से शुरू होती है। इसमें समस्त वर्ण रहते हैं। परन्तु अहं रूपेण नीचे यह सब वर्ग व्याप्ति रूपेण अर्थात् अलग होकर प्रतिचक्र में रहते हैं। इन चक्रों में अहं नहीं है, किन्तु अहंकार

है। सहस्रार अर्थात् सहस्र दल अनन्त दल हैं। उसमें अनन्त वर्ण हैं। केन्द्र में शिव शक्ति है। प्रत्येक वर्ण का अपना-अपना दल है। उसमें अपने विस्तार की सुविधा होती है। मध्यमा से वर्ण शुरू होते हैं, किन्तु अस्पष्ट रूपेण। मनुष्य देह वर्ण से भरा हुआ है। सभी रचना के मूल में वर्ण हैं। कलना, संकल्पवृत्ति, भावसंस्कार, वासना, स्वभाव—यह सब कुछ वर्णमूलक है। सर्वत्र वक्र वायु का खेल है। यह सब शुद्ध वर्ण नहीं हैं। सहस्रार का वर्ण शुद्ध है, क्योंकि वहां वायु की वक्रता नहीं है। जहाँ वर्ण है, वहीं राज्य है। उसमें प्रवेश करने पर अन्तर्नाद मिलता है। केन्द्र में है बिन्दु। बिन्दु-भेद होते ही महाप्रकाश मिलता है।

सहस्रार के चारों तरफ वर्ण ही वर्ण हैं। केन्द्र के मार्ग में महानाद या परनाद है और केन्द्र में बिन्दु है। इस बिन्दु का नाम ही महा बिन्दु है, जो भगवद्धाम का केन्द्र है। भगवद्धाम ही केन्द्र से अभिन्न रूपेण भासमान विश्व है। मातृ-गर्भ में वर्णों से देह की रचना होती है, अर्थात् प्रणव की रश्मियों से यह रचना कार्य होता है। जीव वास्तव में अपने देह की स्वयं ही रचना करता है। बाद में स्वयं उसमें अहं अभिमान से बद्ध हो जाता है। स्थूल दृष्टि से इस अहं अभिमान की सूचना प्रसव के बाद मायिक जगत् में प्रथम श्वास ग्रहण करने के समय होती है। यही देहात्मबोध का रहस्य है।

शाक्त दृष्टि से प्रतीत होगा कि अनात्मा में आत्मबोध के मूल में वर्ण अथवा अशुद्ध मातृकाओं की क्रिया है। दूसरी तरफ से यह पता चलता है कि आत्मा में आत्मबोध अथवा अहंबोध के मूल में है शुद्ध मातृका की क्रिया। शुद्ध मातृका के प्रभाव से ही आत्मा में आत्मबोध का उदय होता है। भगवान् की स्वातंत्र्य शक्ति का जो खेल कहा जाता है, यही उस लीला का स्वरूप है।

आत्मा के अवतरण में क्रम है, परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि बिना क्रम से भी अवतरण होता है। यहाँ उसका विचार नहीं किया जा रहा है। अव-तरण का जो क्रम है, यह बुद्धिगत क्रम है। कालगत अथवा देशगत क्रम नहीं है। अवतरण के अवसर में प्रायः इस क्रम का पता नहीं चलता। परन्तु आरोह के समय इस क्रम का स्पष्टतया पता चलता है।

पहले ज्ञातृभाव अथवा प्रमातृभाव का स्फुरण होता है। तदनन्तर ज्ञान अथवा प्रमाण का स्फुरण होता है। अन्त में ज्ञेय अथवा प्रमेय का स्फुरण होता है। इस प्रसंग में यह बात स्मरण रखना चाहिए कि परमेश्वर ही परम प्रमाता है, अर्थात् सर्व ज्ञाता हैं। उनका ज्ञान जिस प्रकार नित्यसिद्ध है, उसी प्रकार उस ज्ञान में भासमान ज्ञेय भी नित्यसिद्ध है। सच कहा जाय तो वहाँ पर तीनों अभिन्न अथवा एक ही हैं, यह परशिवावस्था है भगवान् की विश्वातीत

स्थिति निर्गुण ब्रह्म नाम से शास्त्र में प्रसिद्ध है। निर्गुण विश्वातीत स्थिति से समग्र सृष्टिप्रपंच अनिर्वचनीय माया के खेल के रूप में प्रतीत होता है। इसीलिए इसको मिथ्या अथवा विवर्तमात्र कहा जाता है। ब्रह्म कर्ता नहीं है, परन्तु मायिक प्रपंच का अधिष्ठान मात्र है। इस सृष्टि में ईश्वर है, जीव है, जगत् है, और काल, कर्म, अविद्यादि भी प्रवाह रूप में है। ब्रह्म में कुछ भी नहीं है। प्रकाशमात्र है। माया के प्रभाव से उसमें सभी का भान होता है। विश्वात्मक परम शिव में विश्व भी अभिन्नरूपेण सर्वदा रहता है। उनके स्वातन्त्र्य से पृथक् रूपेण विश्व का भान हो सकता है। जो कि भासित हो रहा है, वह सब अभिन्नरूपेण सर्वदा विद्यमान है। यदि उसकी इच्छा हो तो विश्व पृथक् रूपेण भी भासित हो सकता है। यही सृष्टि का रहस्य है। यह मिथ्या नहीं है। क्योंकि परमशिव स्वरूप में विश्व से अभिन्नतया नित्य विद्यमान है। अत एव यह कहा जाता है कि समग्र विश्व शक्तिरूपेण उनसे अभिन्न है और उनकी इच्छा से सृष्ट अथवा विसृष्ट मात्र है। जो उनमें भासित नहीं होता है, उसका स्फुरण पृथक् रूपेण भी नहीं हो सकता।

इसको अवतरण का क्रम कहा गया है। इससे यह पता चलता है कि स्वतन्त्र चिति ही विश्व सिद्धि का हेतु है। शक्ति सूत्र का भी यही कथन है। इससे प्रतीत होगा कि सबके आदि में अर्थात् त्रिपुटीरूप विश्व रचना के प्राक्काल में जो रहता है, वही प्रमिति या संवित् है। पहले इस पूर्ण संवित् या चित् शक्ति से खण्ड प्रमाता अथवा चिदणु का आविर्भाव होता है। यह ज्ञानहीन एवं ज्ञेयहीन ज्ञाता का मूल स्वरूप है। उसके बाद उस ज्ञाता से ज्ञान का उदय होता है। उस समय स्थिति में ज्ञाता और उसका ज्ञान यह दोनों है। यह ज्ञान अभेदात्मक है (वर्ण), उससे वह भेदाभेदात्मक (मन्त्र) होता है। अन्त में भेदात्मक (पद) है। यह तीन प्रकार का ज्ञान है। वर्ण रूप अभेद ज्ञान एवं पूर्व वर्णित संवित् स्वरूप सर्वथा एक नहीं है। मन्त्र रूप ज्ञान में ज्ञेय का भान रहता है। यह अभेद में भेद का उन्मेष मात्र है, यह समझना चाहिए। पदरूप ज्ञान में भेद का प्राधान्य रहता है, परन्तु स्मरण में रखना चाहिए कि यह भी ज्ञान ही है, यद्यपि इसका प्रतिभास ज्ञेयरूपेण होता है। इसके अनन्तर ज्ञान के बाद अज्ञान के बीच में क्रिया-शक्ति का खेल शुरू होता है। उस समय केवल ज्ञेय मात्र रहता है, ज्ञान नहीं रहता है। तन्त्र में इसी का नाम है वाचक अध्वा से वाच्य अध्वा में प्रवेश। क्रिया-शक्ति कलन रूप से ज्ञेय रूपी ज्ञान को निकाल देती है। इसी को अर्थसृष्टि अथवा Matter का आविर्भाव कहा जाता है। इसमें भी विकास का क्रम है। पहले कलन के प्रभाव से कला का आविर्भाव होता है। उसके बाद कला से तत्त्व का आविर्भाव होता है और अन्त में तत्त्व से भुवन का आविर्भाव होता है। इसी स्थान में अर्थ का अवसान होता है। भुवन से जो कार्यसृष्टि होती है, वह सृष्टि भुवन के अन्तर्गत ही समझनी चाहिए। संक्षेप में यही जगत्स्वरूप की आलोचना है।

आरोह-क्रम ठीक इससे विपरीत है। अवतरण के क्रम को जीव जान नहीं सकता, किन्तु उद्धार के क्रम को जान सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् की तिरोधान शक्ति उनका आत्मसंकोच संपादन करती है। प्रचलित भाषा में इसी को कुण्डलिनी की सुप्ति कहा जाता है। यह बात पहले भी कह चुके हैं। इसके दो प्रान्त हैं–ऊर्ध्व प्रान्त है अनुभव का उदय और आत्मा में अनात्मभाव का स्फुरण, इसके बाद अनात्मभाव में आत्मभाव का उन्मेष अधः प्रान्त है। मनुष्य मातृगर्भ से भूमिष्ठ होने के साथ ही साथ अस्फुट रूप होने पर भी अहंबोध का अनुभव करने लगता है। इसी का नाम अहंकार है। उस समय देह ही अहं है। दृष्टि है बहिर्मुखी और इन्द्रियों से अहंरूपी आत्मा बाह्य रूपी जगत् का अनुभव करता है। देहाभिमानी होने के कारण जगत् को अपने से भिन्न करके अनुभव करता है। यह अनुभवयोग्य रूप है। इसी का नाम है बाह्य जगत् की सृष्टि। एक दृष्टि से यदि देखा जाय तो यह बाह्य जगत् जीव की निजी सृष्टि है। जीव इस जगत् को अपने अन्तर्गत रूप में दर्पण में दृश्यमान नगरी जैसे दर्पण से पृथक् प्रतीत होने पर भी दर्पण के अन्तर्गत ही समझता है, ठीक उसी प्रकार बाह्य जगत् जब तक अपने आत्मा के अन्तर्गत रूप में देखा नहीं जायेगा तब तक जीव पतित ही है और पतित ही रहेगा। जितने ही दीर्घ काल की आवश्यकता हो और जितने ही लोक-लोकान्तर में जीव का संचार क्यों न हो, इस प्रकार का जीव वस्तुतः पतित ही है, इसमें सन्देह नहीं है। शुभकर्म के प्रभाव से लोक-लोकान्तर में जाकर भोगैश्वर्य प्राप्त होने पर भी वह पतित ही कहलायेगा। सद्गुरु के अनुग्रह के बिना इसका उद्धार नहीं हो सकता।

आत्मा जब जीव बन कर पतित हो जाता है, तब प्रत्येक स्तर में भगवत् शक्ति उसकी अपनी पतित अवस्था के अनुरूप सहायता देती है। वस्तुतः अपनी शक्ति ही आत्मा को मोहित करती है। यह सब शक्तिचक्र का रूप लेकर नियन्त्रित हैं। इनमें कुछ शक्तियाँ जो कि खेचरी शक्ति नाम से प्रसिद्ध हैं, खेचरी चक्र के रूप में आवर्तित होकर जीव को मित प्रमाता के रूप में परिणत करती है। दिक्चरी शक्तियाँ दिक्चरी चक्र के रूप में आवर्तित होकर जीव के अन्तःकरण के रूप में प्रस्फुरित होती है। इसी प्रकार गोचरी शक्तियाँ गोचरी नाम लेकर जीव को इन्द्रिय रूप में परिणत होती है। भूचरी शक्तियाँ भूचरी चक्र के नाम से जीव को देह में अहंभाव से बद्ध करती है। विशाल एवं अनन्त मुक्त सत्ता में अहंप्रतीति का उदय भूचरी चक्र द्वारा प्रतिरुद्ध होता है। इस प्रकार जीव जिस समय पाश-बद्ध रहता है, तब dumb driven cattle के सदृश रहता है, इसी लिए पशु शब्द से अभिहित होता है।

यह पशु रूपी जीव की उस समय की अनुभूति कैसी है? पूर्वोक्त प्रकार से बद्ध पशु जगत् को अपनी सत्ता से भिन्न समझता है और भिन्नतया देखता भी है। केवल इतना ही नहीं, सर्वत्र एक नियतभाव अर्थात् नियन्त्रण का भाव उसमें काम

करता है। शाक्त आचार्यगण इसी को विकल्प नाम से निर्देश करते हैं। जैसे एक पुष्प को देखकर जब उसको पुष्परूपेण ग्रहण किया जाता है, अर्थात् वह पुष्प है और कुछ नहीं है इस प्रकार जब उसको ग्रहण किया जाता है, उस समय समझना चाहिए कि यह जो देखना है यह विकल्प मात्र है। यह नियत रूप में अवधारण करना, अर्थात् यह पत्र नहीं, फल भी नहीं और दूसरा कुछ नहीं है, यही विकल्प है। सभी स्थलों में नाम, जाति प्रभृति की योजना होती है। वस्तुतः यह पुष्प मात्र नहीं है, परन्तु इसमें सब कुछ है, अर्थात् सब सर्वात्मक है, इस प्रकार ग्रहण करना ही निर्विकल्पक दर्शन है। बद्ध जीव नाम, जाति, आकार प्रभृति की योजना किए बिना कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकते। यदि कर सकते तो इस प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहता और किसी भी स्थान में किसी भी क्षण में किसी भी सत्ता का ग्रहण उनके लिए संभव होता है।

अवतरण के मार्ग में जीवरूपी आत्मा अनेक अधिकारियों का अधिकार भुक्त हो जाते हैं। पहले बिन्दु में स्थित शिव के अधिकार के भोक्ता हो जाते हैं। यह शिव अनाश्रित शिव है। इस अधिकार में आने के कारण क्रमशः आत्मा में अणुभाव का उदय, महामाया का आश्रय ग्रहण और आत्मस्वरूप की विस्मृति हो जाती है। इसके बाद वह संकुचित आत्मा या अणु मायाधिष्ठाता ईश्वर के अधिकार में आ जाते हैं। उस समय ईश्वर उस अणु को माया से युक्त करते हैं। अर्थात् षट्कंचुकों के आवरण से आच्छन्न करते है। यह कंचुकित आत्मा उसके बाद ब्रह्मा के अधिकार के भोक्ता होते हैं और वे ईश्वर द्वारा ब्रह्मा के देह से युक्त हो जाते हैं। उसके बाद कंचुकावरण से आवृत होकर आत्मा अनादि, अनन्त कर्म-संस्कार के भीतर से गुण-राज्य में प्रवेश करते हैं। गुण-राज्य में रजोगुण के अधिष्ठाता उसको संस्कारानुरूप प्राकृत देह दान करते हैं। इस स्थान का व्यापार अत्यन्त रहस्यमय है। कालातीत सत्ता से काल-राज्य में प्रविष्ट होकर साथ ही साथ स्वरूपतः साक्षी मात्र होते हुए भी कर्तृत्व अभिमान से युक्त होते हैं। कर्म प्रवाह अनादि है।

आत्मा माया सम्बन्ध के अनन्तर काल और कर्म से युक्त होकर अनादि कर्मसंस्कार युक्त होकर अवस्थित है। वस्तुतः प्रकृति के गुणों से कर्म सम्पादन होता है। तथापि अविवेक से अहंकार-मोह से मूढ़ होकर आत्मा अपने को कर्ता समझता है। यह कहना अनावश्यक है कि यह कर्तृत्व परिच्छिन्न है, जिसके मूल में कला एवं अशुद्ध विद्या का प्रभाव है। देह की प्राप्ति के बाद जब तक देह का अवसान नहीं होता, अर्थात् जब तक देह की स्थिति रहती है, वह आत्मा विष्णु के अधिकार में रहता है। विष्णु ही प्राकृत सत्त्वगुण का अधिष्ठाता है। इसके अनन्तर देह संहार-काल में अर्थात् मृत्यु के समय रुद्र के अधिकार में आ जाता है। इसी प्रकार से जब तक मल का परिपाक न हो, तब तक अणु रूपी जीवात्मा

या पशु मृत्यु से जन्म, एवं जन्म से मृत्यु इस क्रम के अनुसार ब्रह्मादि त्रिदेवता के अधीन होकर निरन्तर आवर्तन करता है। इस आवर्तन में आत्मा अपने कर्मानुसार ऊर्ध्व, मध्य और अधोगति प्राप्त करता है। जब तक मल पूर्णरूप से पक्व नहीं होता, तब तक पशु का भव-चक्र में आवर्तन होता रहता है। मलपाक होते ही श्रीभगवान् की शक्ति का संचार होता है। तब वह आत्मा जगद्गुरु सदाशिव के अधिकार में आ जाता है। दीक्षा के साथ ही वह शुद्धविद्या की प्राप्ति कर शुद्ध मार्ग में आरूढ़ होकर अनाश्रित शिव तत्त्व का भेद कर पूर्ण परमेश्वर या परमशिव अवस्था को प्राप्त करता है।

आत्मा पूर्वोक्त प्रणाली से जीवभाव धारण करके आत्म-विस्मृति प्राप्त करके अनादि काल से बह रहा है, यही उसका पतन है। आत्मा वस्तुतः देश एवं काल से अतीत है। अतः वह किस समय इस स्रोत में गिर गया, इसको मानवीय भाषा में व्यक्त करना संभव नहीं है। परन्तु गिरने के बाद जब वह दृष्टि के उन्मीलन में समर्थ होता है, तब उसे यह स्पष्टरूप से देखने में आता है कि यह एक अनन्त अनादि प्रवाह चल रहा है। अन्वेषण करने पर भी इसके आदि का पता नहीं चल सकता। सच बात यह है कि जीव का पतन काल एवं अकाल के सन्धि का व्यापार है। वस्तुतः काल के क्षेत्र से मुक्त होना भी इसी प्रकार का है।

जीव अपने को भूल कर अपनी शक्ति के अधीन हो जाता है। देह एवं इन्द्रिय युक्त अवस्था में कर्म के अनुसार समग्र मायिक जगत् में संचरण करता है। मायिक जगत् में अर्थात् मायाण्ड में असंख्य प्रकृत्यण्ड विद्यमान हैं और प्रत्येक प्रकृत्यण्ड में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, यह जीव के भ्रमण का क्षेत्र है। उत्थान एवं पतन निरन्तर होता रहता है, परन्तु इसका कोई मूल नहीं है। क्योंकि जीव ऊर्ध्व लोकों में जाने पर भी पहले जिस प्रकार पतित रहा, उसी प्रकार ही रहता है। ऊर्ध्व गति कर्मानुसार ही है एवं कर्म के अधीन भी। अतः इस ऊर्ध्व एवं अधोगति के फलस्वरूप जीव की पतित अवस्था में परिवर्तन नहीं होता। उत्थान की यथार्थ सूचना ठीक उसी समय माननी चाहिए, जब जीव अपने जीवभाव से मुक्त होकर अपने नित्य-शिव-स्वरूप की साधना पा सकता है। यह भगवदनुग्रह अथवा शुद्धविद्या के बिना नहीं हो सकता। शुद्धविद्या के उदय के प्रभाव से इस विराट् विकल्प-जाल के बन्धन से सर्वदा के लिए मुक्त होकर निर्विकल्पक परम पद में प्रतिष्ठित हो सकता है। जीव की परम पद में स्थिति तभी कही जा सकती है, जब वह जीव-सृष्टि एवं ईश्वर-सृष्टि से मुक्त होकर विशुद्ध विकल्पशून्य आत्मस्थिति में अवस्थान करे। जीव-सृष्टि में प्रत्येक जीव का जगत् भिन्न-भिन्न वासना और कल्पना से रचित है। नाम, जाति प्रभृति योजना के प्रभाव से जीव का ज्ञान विकल्पमय है और इस विकल्प के ऊपर जागतिक व्यवहार प्रतिष्ठित है।

श्रीगुरु-कृपा से शुद्धविद्या का संचार होते ही जीव की दृष्टि क्रमशः बदलने लगती है। शुद्धविद्या का तात्पर्य यही है कि सद्गुरु के अनुग्रह से शिष्य की तिमिराच्छन्न दृष्टि खुल जाती है। इसी का नामान्तर है ज्ञानाञ्जन शलाका से दृष्टि का उन्मीलन, अर्थात् ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन। कौल योगियों का कथन है कि समग्र सृष्टि के मूल में जो परम बोध स्वरूप समुद्र है, उसको अकुल कहते हैं। इस अकुल में तरंग अथवा ऊर्मि का उन्मेष ही अनुग्रह का स्वरूप है। इसी तरंग को स्पन्द कहा जाता है। अकुल समुद्र में जब प्रथम स्पन्द का उदय होता है, तब वह अनुग्रह के विषयभूत जीव को स्पर्श करता है। यह स्पन्द वस्तुतः चिच्छक्ति का ही विकास है। जीव की मूल विकल्प-दृष्टि के ऊपर जब इस चिदूर्मि का आघात लगता है, तब जीव की सत्ता में परिवर्तन होने लगता है। सबसे पहले यह उन्मेष प्राप्त चिच्छक्ति काल को ग्रास करने के लिए प्रवृत्त हो जाती है। काल-ग्रास के सम्पन्न हो जाने पर ही जीव की दृष्टि से विकल्पजाल क्रमशः हटने लगता है। इस प्रक्रिया के क्रमिक विवर्तन से प्रथमतः प्रमेय का शोधन होता है। प्रमेय की शुद्धि के प्रभाव से आत्मा के आध्यात्मिक जीवन में एक विराट् परिवर्तन लक्षित होता है। भगवान् शंकराचार्य ने कहा है कि "विश्वं दर्पण-दृश्यमान-नगरी-तुल्यं निजान्तर्गतम्" जिस प्रकार नगर दर्पण में दिखायी देता है, उसी प्रकार विश्व भी आत्मा में नगर प्रतिबिम्ब के सदृश प्रतिबिम्बित प्रतीत होता है। तथापि "मायया बहिरिव उद्भूतम्" अर्थात् माया के कारण बाह्यवत् प्रतीत होता है। यह प्रतीति सत्य नहीं है। क्योंकि माया कट जाने पर, अर्थात् माया का कटना शुरू होते ही आत्मा विश्व को अपने स्वरूप में अनुभव करने लगता है। यह बाह्यवत् आभास कहा जाता है। यह पूर्वोक्त प्रमेय-सिद्धि के प्रभाव से नहीं रहता। देहात्मबोध के रहने के कारण आत्मा भ्रम से समझने लगता है कि विश्व अपने बाहर है। परन्तु देहात्मबोध हट जाने पर वास्तव में बाह्य में कुछ नहीं रहता। विश्व तब भी रहता है, किन्तु अपने से बाहर नहीं, अपने में ही है। शुद्धविद्या अथवा जाग्रत् चिच्छक्ति बुभुक्षु है। यह पहले विश्वग्रास करने के लिए उन्मुख होती है। यह बहिर्मुख होकर विश्व को भीतर ले आती है। विसर्ग शक्ति से विश्व विसृष्ट है। अब अपनी बिन्दु शक्ति से अन्ततः खींच लेती है। संवित् विषय को ग्रहण करके जब तृप्त होती है, तब विषय-भोगक्रिया नहीं रहती। ज्ञान रागात्मक रूप धारण करता है और साक्षात्कार स्वात्मरूप से होने लगता है। इसकी स्थिति किस प्रकार की है, इसकी आलोचना हम संक्षेप में करेगें। जब ग्राह्य-ग्राहक भाव है, तब पराशक्ति विषयभोग अथवा राग को निर्विकल्प रूप से अनुभव करती है। यही विकासमयी चिद्देवी का द्वितीय विकास है। परम योगी इस अवस्था में वीरेन्द्र अथवा वीरेश्वर नाम से अभिहित होता है। यही वास्तव में भोग की अवस्था है। परन्तु यह भोग पशु का नहीं, किन्तु

वीर का है, क्योंकि पशु जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति की तीनों अवस्था में पृथक् पृथक् भोक्ता रहता है। उसकी तुरीय अवस्था है नहीं, परन्तु यह जो भोग की बात कही गई यह तुरीय अवस्था की है। इस दशा में जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति, तीनों अवस्था में तुर्यानन्द का उल्लास रहता है। अतः शिवसूत्र में "त्रितयभोक्ता वीरेशः" कह कर इसी अवस्था का वर्णन किया गया है। उत्पलाचार्य ने इस अवस्था के बारे में कहा है–"तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम्। सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः ॥" (१३।८) यह एक अत्यन्त अद्भुत अवस्था है। यह भोग ही श्रीभगवद् अर्चना है। प्रत्येक इन्द्रिय से ही श्रीभगवान् की पूजा का रसायनरूप आसव प्रत्येक भावरूप चपक या पात्र में सम्यक् रूप से भर देने पर एक नशे Intoxication के सदृश भाव का उदय होता है। यह वही भाव है। चक्षु से रूप को देखना यह क्या है? यह है चक्षु द्वारा रूपनामक भाव या भाव क्रम पूजा रस का पान करना एवं तन्मय हो जाना। कान से शब्द सुनना यह भी उसी प्रकार का है। यह इस भाव का ही नामान्तर है। उपासना जाग्रत् में होती है, स्वप्न एवं सुषुप्ति में होती है। आत्मा जब जिस भाव में रहती है, उसी भाव में उसी अवस्था में इस प्रकार की पूजा होती है। यह दुर्बल के लिए नहीं है, इसी का नाम है—वीरभाव। भगवान् शंकराचार्य ने कहा—"यद् यत् कर्म करोमि तत् तदखिलं शम्भो तवाराधनम्" यह इसी अवस्था का निर्देश है।

इसके बाद अर्थात् विषय के समाप्त होने के बाद अनन्त तृप्ति होती है। तृप्ति के बाद अन्तर्मुख अवस्था का उदय होता है। उस समय कौन तृप्त होता है? इसका उत्तर है, करणेश्वरी देवीगण। उनकी तृप्ति कब होती है? इसका उत्तर है, जब करणेश्वरीवर्ग चिदाकाशरूपी भैरवनाथ के साथ आलिंगित होकर पूर्णतया अन्तर्मुख होता है, अर्थात् उस समय करणेश्वरी देवी श्री भैरवनाथ से अभिन्न हो जाती है। यही उनके आलिंगित होकर शयनभाव का तात्पर्य है। जब तक इन्द्रियां आकांक्षायुक्त रहती हैं, तब तक करणेश्वरीगण चिदाकाशनाथ का आलिंगन नहीं कर सकतीं।

जब तक इन्द्रियों का विषय योग रहता है, तब तक श्वास प्रश्वास-क्रिया बहत्तर हजार नाड़ियों में चलती रहती है, उस समय आन्तर द्वादशान्त एवं बाह्य द्वादशान्त के बीच में एक जाने आने की क्रिया अर्थात् आकर्षण-विकर्षण की क्रिया चलती रहती है। अन्तर्मुखी गति से आन्तर द्वादशान्त में प्रवेश होता है और बहिर्मुखी गति से बाह्य द्वादशान्त का स्पर्श होता है। यह दोनों के संघट्ट का स्थान है। जब इन दो संघट्ट स्थानों में संविद् होती है, तभी परप्रमातृपद का उन्मीलन होता है। ठीक इसी प्रकार की अवस्था प्रमाण एवं प्रमेय की संधि में भी होती है। यह परप्रमातृ देवी परा संवित् की क्रिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। उस समय परा संवित् अपने तेज एवं प्रभा से मित

प्रमाता को अर्थात् जीवभाव को अपने स्वरूप में डुबा देती है, इसके प्रभाव से एक तरफ प्राण और अपान का संघर्ष निवृत्त होता है और दूसरी तरफ प्रमाण एवं प्रमेय का संघर्ष भी निवृत्त होता है। यही ज्ञाता की निर्विकल्प अवस्था है। उत्पलाचार्य प्रभृति योगियों के मतानुसार यही आध्यात्मिक शिवरात्रि है। उस समय चन्द्रादि के साथ सूर्य भी अस्तमित हो जाता है।

इस अवस्था के अतिक्रम करने पर योगी की एक विशिष्ट स्थिति होती है। इसमें दो अंश हैं—(१) बाह्य तथा (२) आन्तर। बाह्य स्थिति में स्वरूपाच्छादन होता है और आन्तर स्थिति में स्वरूप का उन्मीलन होता है। इस स्थिति में ही योगियों की परीक्षा होती है। इस स्थिति में जिस प्रकार प्रमेय भाव नहीं रहता, उसी प्रकार प्राण तथा अपान की क्रिया भी नहीं रहती। पहली ज्ञान अथवा मन की दिशा है, दूसरी प्राण की दिशा। दोनों ही परा समरूप से ज्ञात हो जाती है। शाक्त की परिभाषा में एक दिशा से सूर्य को दूसरी दिशा से चन्द्र को समझाने का प्रयत्न किया जाता है। चन्द्र एवं सूर्य दोनों का समरूप से अस्तमित होने का तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में जिस प्रकार ज्ञातृज्ञेयभाव का तरंग नहीं रहता है, उसी प्रकार प्राण का चलाचल भी शान्त हो जाता है। इस स्थल को योगियों के लिए परीक्षा का स्थान कहने का तात्पर्य यह है कि इस स्थिति में स्वरूपानुसंधान जाग्रत् न रखने से स्वरूप के ऊपर आवरण पड़ जाता है, क्योंकि इस समय महामाया में प्रवेश होने के कारण स्वरूप का आच्छादित हो जाना स्वाभाविक है। इसी कारण इस अवस्था में आने पर योगी का स्वरूपानुसंधान सर्वदा जाग्रत् रखना पड़ता है। शिवरात्रि में रात्रि जागरण का तात्पर्य यही है। शिवसूत्रकार की परिभाषा में इस जागरण को ही उद्यम कहते हैं। यह अनाख्या दशा नाम से शास्त्र में परिचित है। स्वरूपानुसंधान ठीक रखने पर इस अवस्था में पहुँचते ही स्वरूप का विकास हो जाता है। इस स्थिति का नाम महाव्योम है। इस व्योम में चन्द्र-सूर्य का संचार नहीं है, अर्थात् प्राणापान की क्रिया नहीं है और प्रमाण-प्रमेय की क्रिया भी नहीं। इसी का नामान्तर चिदाकाश है। क्योंकि इसी में चन्द्र तथा सूर्य का लय हो जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इस अवस्था के प्राप्त करने पर भी योगी कृतार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ आकर सुषुप्त होने पर यही मोहरूप में परिणत होती है। जाग्रत् रहने पर नित्य निरावरण प्रकाश के रूप में प्रकट होता है। जाग्रत् रहने का तात्पर्य यही है कि योगी को इस अवस्था में अपनी सत्ता के बोध के विषय में बहुत सतर्क रहना पड़ता है, अर्थात् अनाख्या दशा में आत्मा अपनी सत्ता के बोध को अक्षुण्ण रखने पर सर्वदा के लिए आवरणशून्य प्रकाश के राज्य में उन्नीत होता है, क्योंकि आत्मविमर्श न रहने पर इतना ऊपर उठने पर भी गिरना असंभव नहीं है।

इस महाव्योम के वर्णन के प्रसंग में उत्पलाचार्य ने कहा है—"तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे। सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः॥"

यहां तक ऊर्ध्व गति प्राप्त होने के बाद भी योगी के चित्त में शंका का उदय हो सकता है, परन्तु शंका उदित होने पर भी योगी स्वात्मानुसंधान रूप प्रयत्न के द्वारा उसका समाधान कर सकते हैं। यदि इस प्रकार का अनुसंधान कोई न कर सके, तब इतने उच्चकोटि से भी योगी का पतन असंभव नहीं है, परन्तु यदि ठीक ठीक आत्मानुसंधान संपन्न हो तब विकल्पात्मक समग्र जगत् अन्तर्मुख पद में लीन हो जाता है। अर्थात् उस समय में आत्मा चराचर विश्व को ग्रास करके उस ग्रास के उल्लास से एक प्रकार की रसमयी स्थिति को प्राप्त करता है। यह स्थिति परप्रमातृ दशा में ही स्थिति है, उससे भिन्न कुछ नहीं है। ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि "अत्ता चराचरग्रहणात्" अर्थात् आत्मा चराचर विश्व को ग्रास करता है। यह वही स्थिति है। स्वरूपानुसंधान न रहने पर इस स्थिति में ठीक विपरीत अवस्था का उदय होता है। यह प्रमोद विलास के रूप से मित प्रमातृभाव का विस्तार मात्र है।

इसको स्मरण रखना चाहिए कि स्वरूप-गोपन तथा स्वरूप-उन्मीलन दोनों ही पूर्ण दशा में रहते है। परन्तु गुरु की कृपा के प्रभाव से स्वरूप गोपन का समूल उपसंहार हो जाता है, अर्थात् महामाया की निवृत्ति हो जाती है और बहिर्मुखी वृत्ति अथवा संसारचक्र स्वात्मरूप अग्नि में अभेद ज्ञान रूप में परिणत हो जाता है। तब अन्तर्मुख बोध का आश्रय लेते हुए अद्वय स्वरूप में स्थिति होती है। यहां तक प्राप्ति होने पर इसकी आगे की अवस्था बिना प्रयत्न के आप ही आप संघटित हो जाती है। उस समय फिर स्वरूप-गोपन नहीं होता और बाह्य वृत्तियों का भी उदय नहीं होता। इस अवस्था का पारिभाषिक नाम है भावसंहार। उन्नत अवस्था में निर्विकल्पक आत्मसंवेदन का उदय होने पर भावसंहार होता है। इस स्थिति में आत्मस्वरूपभूत प्रदीप्त अग्निराशि में भावमय समग्र विश्व का उपसंहार हो जाता है। परा संविद्रूपा देवी की महिमा से उस समय सब प्रमेयों का समूल उच्छेद होता है। इस अवस्था में जिस प्रकार एक पक्ष में भेद ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार दूसरे पक्ष में हेय तथा उपादेय का बोध भी नहीं रहता। इसीलिए शंकाशून्य तथा कल्पनाशून्य निर्विकल्प स्थिति के रूप में इसका वर्णन मिलता है।

तथापि यह पूर्णाहन्ता स्वरूप नहीं है, क्योंकि इसमें संस्कार रहने के कारण इदन्ताभाव का लेश रह जाता है। जब तक संस्कार की निवृत्ति पूर्णतया न हो, तब तक यथार्थ पूर्णाहन्ता के स्वरूप का उदय नहीं होता। कौल आचार्यों का सिद्धान्त यह है कि पाँच संविद्देवियों से प्रमेय का समूल उच्छेद हो जाने पर भी प्रमेय का संस्कार किञ्चिन्मात्र रह ही जाता है। अतः इस अवस्था में योगी का इस प्रकार स्वात्म-

विमर्श होता है—मैंने ही यह सब अभेद में अवभासन किया है। अर्थात् संहार होने पर भी संस्कार के सत्ता के कारण संहार का परामर्श होता है। इसके अनन्तर यह संस्काररूप उपाधि भी निवृत्त हो जाती है। उस समय परा संवित् का स्वरूप पूर्वोक्त पाचों रूप को आत्मसात् करके प्रकाशमान होता है। जब तक संस्कारात्मक उपाधि विद्यमान रही, तब तक काल की कलना भी कुछ रही, परन्तु संस्कार के नाश के अनन्तर जिस अहंभाव का उदय होता है, वही स्वभावभूत यथार्थ अहं है। योगी की इस समय की अनुभूति में "वही मैं हूँ" इस प्रकार का परामर्श होता है, परन्तु यह भी योगी का आत्मरूपी शिव की पूजा की ही एक उच्च अवस्था है। इसी को लक्ष्य करते हुए उत्पलाचार्य ने कहा था—'त्वामगाधमविकल्पमद्वयं स्वं स्वरूपमखिलार्थघस्मरम्। आविशन्नहमुमेश सर्वदा पूजयेयमभिसंस्तुवीय च॥" (१३।२०) इसके आगे की स्थिति में परासंवित् जिस रूप में अपने को प्रकाश करती है, वह भिन्न भिन्न रूपों का विकास और उन विकासों का अपने स्वरूप में विलयन सम्पन्न करती है। यह अवस्था संहार से भी अधिक गंभीर है। पहले जो भावसंहार की बात कही गई है, उसमें प्रमेय पर्यन्त का संहार होता है। परन्तु इस समय में संहार का जो स्वरूप प्रकट हुआ है, उसमें प्रमाण पर्यन्त भी समाप्त हो गया है। महाकल्प के अनन्तर जिस प्रकार का संहार होता है, यह उसी के अनुरूप है। इस अवस्था में प्रमेय तथा प्रमाण चिद्रवि दीप्ति में सम्पूर्ण रूप से लीन हो जाते हैं। इस प्रसंग में प्राचीन आचार्यगण एक संभाव्यमान शंका का समाधान करने का प्रयत्न किए हैं। पहले संहार भूमि का जो विवरण दिया गया है, उसके साथ वर्तमान भूमि की तुलना करने पर यह पता चलेगा कि दोनों स्थल में ही शंका का उदय होना संभव है। परन्तु इन दो भूमियों की स्थितिगत विलक्षणता यह है कि निम्न भूमि में यह शंका मिटाने के लिए अपना व्यक्तिगत प्रयत्न या अनुसंधान आवश्यक है, अर्थात प्रयत्न करने पर यह शंका निवृत्त होती है, न करने पर शंका की निवृत्ति नहीं होती, और उससे पतन होता है। इधर ऊपर की भूमि में भी शंका का उदय हो सकता है, यह सत्य है, परंतु इसका समाधान भी अपने आप ही हो जाता है। उसके लिए अपने प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। शंकापद से यह समझना चाहिए कि कर्तव्याकर्तव्य विचार है। यह सदाशिव दशा के अनुरूप है। इस अवस्था में शंका और ग्लानि के उदय होने पर भी ये योगी को बाधक नहीं हो सकती। इस स्थिति में प्रमेय पूर्णरूप से विलीन हो गया, परन्तु प्रमाण स्थित प्रमेय की जीवन शक्ति अभी है। इस जीवनी शक्ति को दार्शनिक परिभाषा में द्वादश इन्द्रिय रूप से वर्णन किया जाता है। आगम के अनुसार यह भी सूर्य का ही एक रूप है। परन्तु इसकी जो परवर्ती अवस्था है, उसमें द्वादश इन्द्रियात्मक सूर्य अहंकाररूपी परम आदित्य में लीन हो जाता है। इस अहंकार को ही प्रमाता कहते हैं। जिसका नामान्तर किसी किसी आगम के अनुसार भर्गशिखा है। परा संवित् के पूर्वोक्त स्वरूपों

में शब्दादि विषय रसों का कैसा आत्मस्वरूप में लय होता है ? इसका विवरण दिया गया है। इस अवस्था में सब कलाओं का उपसंहार हो जाता है, किन्तु केवल परमा अथवा अमा कला रह जाती है। यही शिव-कला है और यही परप्रमातृस्वरूप है।

यह जो अहंकार रूपी परम आदित्य की बात कही गई है, यह परिच्छिन्न कला है। यह स्मरण रखना चाहिए। परम आदित्य के अनन्तर जिस अहं सत्ता का प्राकट्य होता है, वह परम आदित्य से उत्कृष्ट अवस्था है, किन्तु वह भी परिच्छिन्न प्रमाता ही है। उसका पारिभाषिक नाम इस दृष्टि के अनुसार कालाग्निरुद्र है। यह परम आदित्य के ऊर्ध्व में है, किन्तु यह अमित प्रमाता नहीं है। यह एक प्रज्वलित अग्नि सदृश है, जिसमें संसार दग्ध हो गया है। किन्तु पशुत्व का लेश अभी है। योगी जब इस स्थिति में रहता है तब विषय एवं इन्द्रियों का संस्कार का लेश भी नहीं रहता, एकमात्र इन्द्रियातीत निर्विकल्पक प्रमाता ही प्रकाश के रूप में रहता है। इसके बाद रुद्रावस्था के अवसान हो जाने पर भैरवावस्था का उदय होता है। आदित्य के बाद रुद्र और रुद्र के बाद भैरव, यही क्रम है। सबसे पहले भैरव का जो स्वरूप प्रकाश होता है, उसको महाकाल भैरव कहा जाता है। परा संवित् इस भूमि में महाकाली रूप में प्रकाशित होती है। महाकाल भैरव पंचकृत्य सम्पादन करते हैं। परन्तु निरपेक्ष भाव से नहीं, क्योंकि यह स्वतंत्र नहीं है। जिनकी इच्छा यह सृष्ट्यादि पंचकृत्य सम्पन्न करती है, वह स्वयं जगदम्बा है। इस अवस्था में इस परम तेज के गर्भ में सब प्रकार की परिच्छिन्न अहंता लीन हो जाती है। देहगत अहंता, प्राणगत अहंता, पुर्यष्टकगत अहंता, शून्यगत अहंता इस महा अग्नि में दग्ध होकर एकमात्र विश्व के साथ अभेदमय पूर्ण अहन्ता रहती है। योगी इस अवस्था में आने पर परमशिव सदृश पंचकृत्यकारी होता है। परन्तु परमशिव के पंचकृत्य इस अवस्था में व्यापिनी कला में प्रकाशित होता है। यह किसी किसी का मत है। इसके अनन्तर महाकाल भैरव भी नहीं रहते। इस अवस्था का नाम है महाभैरव दशा। यह महाकाल से अतीत है। इस अवस्था में सब कुछ शान्त होता है। किसी का संस्कार तक नहीं रहता। जिस स्वात्मसंवेदना का क्रमशः अधिक अधिक परिस्फुट होते हुए विकास हो रहा था, यहाँ उसकी पूर्ति होती है। उस समय महाकाली भगवती स्वधाम में अर्थात् अकुल में प्रविष्ट होने के लिए उन्मुख रहती है। इसी से समझ जाना चाहिए कि यह अवस्था काल से कलित नहीं है। व्यापिनी का भेद हो जाने पर समना भूमि में प्रविष्ट होने पर इस अवस्था का उदय होता है। उस समय सृष्टिसंहारात्मक काल नहीं रहता, परन्तु साम्यरूप काल रहता है। उस समय प्रतीत होता है कि मानों काल नहीं, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि काल है, किन्तु यह काल साम्यरूपी काल है। उस अवस्था में अनन्त काल एक क्षण के रूप में प्रतीत होता है। उत्पलाचार्य ने इस अवस्था का विवरण अपनी कारिका में दिया है—

न सदा न तदा न चैकदेत्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत्।
तदिदं भवदीयदर्शनं न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा ॥

इसके बाद जिस अवस्था का उदय होता है, वही क्रमविकास का स्वरूप है। यही परमशिव की अवस्था है। इसी स्थान में परासंविद्‌देवी का स्वरूप साक्षात्कार होता है। देवी पूर्णरूपा है, अपूर्णरूपा है। एक साथ दोनों है। यह अघटित घटना पटीयसी है। जब यह स्वाश्रित देवियों का उदय करती है प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति आदि समस्त पदों का और सृष्ट्यादि समस्त चक्रों का विकास करती है, तब यह पूर्ण कहलाती है। जब यह इन सब को आत्मलीन कर लेती है और केवलमात्र कालसंकर्षिणी नाम का चक्र अवशिष्ट रहता है, तब यही कृशा कहलाती है। इस परम स्थिति में क्रम नहीं है, न भोगपक्ष ही है, अर्थात् क्रमाक्रम का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। क्रम विज्ञान देवी का क्रमविकास होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस विकार के फलस्वरूप प्रमेयादि क्रमशः स्वयं संवित्तिरूप में भासमान होते हैं। यही जीव का पूर्णत्वलाभ है। अखण्ड संविद्‌रूपा मां, बोधरूपी सच्चिदानन्द परब्रह्म, अथवा परम शिव आगम में जीव की आत्मसाधना का परम लक्ष्य हुआ है, वह यही अवस्था है। महास्थिति में सभी रहते हैं, अथवा इससे रहना एवं न रहना में भी विरोध नहीं रहता। अत एव जीव, जगत् एवं ईश्वर सब का जो परम स्वरूप है, खण्ड या अखण्ड रूप में प्रकाश होने पर भी उनका अपना अपना वैशिष्ट्य यहां अक्षुण्ण रहता है। इस अवस्था में परम प्रकाश अखण्ड होने के कारण जितने अवान्तर भेद हैं, इसके साथ सब अभिन्न रूपेण प्रकाशित होते हैं। जीव की अनादि काल की त्रिताप ज्वाला इस पूर्णत्व में अवगाहन करने के बाद सर्वदा के लिए शान्त हो जाती है, वस्तुतः यही परम पद है।

निजानन्द प्रकाशानन्द मल्लिकार्जुन योगीन्द्र

म० म० पं० गोपीनाथजी कविराज, अध्यक्ष—योगतन्त्रविभाग, वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

प्रायः पच्चीस वर्ष पहले मेरे एक मित्र अपने एक मित्र के व्यक्तिगत ग्रन्थागार से एक प्राचीन तन्त्र की हस्तलिखित पोथी देखने के लिए लाए थे। कुछ दिन के लिए वह पोथी मेरे पास रही। यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा। उसका नाम था 'श्रीक्रमोत्तम' अथवा 'प्रासादपरापद्धति'। यह चार उल्लासों में विभक्त श्रीविद्या की प्रसिद्ध पद्धति थी। इसके रचयिता ने अपना निजानन्द प्रकाशानन्द मल्लिकार्जुन योगीन्द्र नाम से उल्लेख किया था। आदि से अन्त तक यह पुस्तक हम पढ़ चुके थे। इससे हमको यह प्रतीत हुआ कि यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। यह ग्रन्थ केवल साधकों को ही उपयोगी नहीं, अपितु तान्त्रिक सम्प्रदाय के इतिहास की दृष्टि से भी अधिक उपयोगी प्रतीत हुआ। ग्रन्थकार साक्षात् नारायण के अवतार श्रीनृसिंह के शिष्य माधवेन्द्र सरस्वती के शिष्य रहे। डा० राजेन्द्र लाल मित्र की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में (Notices, vol. VII No. 2261) इस पुस्तक का विवरण दिया है। जिससे यह पता चलता है कि इस पुस्तक का रचनाकाल शकाब्द, १४३५ या १५१३ ख्रिस्ताब्द था। मैंने जिस पुस्तक का अवलोकन किया था, उसमें उसका लिपिकाल सं० १७३७ अर्थात् १६८० ख्रि० दिया था।

एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल में भी इस पुस्तक की एक प्रति है। (No. 6322) इसमें भगवान् श्रीशंकराचार्य की गुरु परम्परा दी हुई है। वह इस प्रकार की है—

शिव, विष्णु, प्रजापति, ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुक, गौडपाद, गोविन्द, शंकराचार्य। इस ग्रन्थ में शंकर की शिष्य-परम्परा का नाम भी अपनी धारा के अनुसार दिया है—शंकराचार्य, विश्वरूपाचार्य बोधघनाचार्य, ज्ञानघन, ज्ञानोत्तम शिव, ज्ञानगिरि, सिंहगिरि, ईश्वरतीर्थ, नृसिंहतीर्थ, विद्यातीर्थ शिव, भारतीतीर्थ, विद्यारण्यगिरि, मलयानन्द, देवतीर्थ सरस्वती, यादवेन्द्र सरस्वती, कृष्ण सरस्वती, नृसिंह सरस्वती, माधवेन्द्र सरस्वती, निजप्रकाशानन्द।

इस पद्धति का नामान्तर है—गद्यवल्लरी (द्रष्टव्य—मित्र, भाग ७, २२६१)। इसका नामान्तर श्रीविद्यापद्धति भी है (द्रष्टव्य, बीकानेर काटलाग नं० १३५)। क्रमोत्तमपद्धति (विद्या १२६३), महात्रिपुरसुन्दरीपादुकार्चनक्रमोल्लास (इण्डिया आफिस, नं० २६००) यह सब इसी ग्रन्थ के नामान्तर प्रतीत होते हैं।

इस ग्रन्थ में सुन्दराचार्यपद्धति का उल्लेख है। यह सुन्दराचार्य ही जालन्धर वासी योगी सच्चिदानन्द हैं, जिनकी रचित ललिताचंनचन्द्रिका नाम की पुस्तक मध्य युग में अत्यन्त प्रसिद्ध रही। (द्रष्टव्य—मद्रास पी० आर० ३९६९ सीरियल नं० १८१८८)। लघुचन्द्रिकापद्धति नाम से एक संक्षिप्त पद्धति भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है। इन सुन्दराचार्य के शिष्य थे प्रसिद्ध विद्यानन्दनाथ, जिनका पूर्वाश्रम का नाम श्रीनिवास भट्ट था। विद्यानन्द अपने गुरु के आदेश से काशी में आकर वास करने लगे, यह भी ज्ञात है। श्रीविद्यानन्द के शिष्य थे श्रीनित्यानन्दनाथ जिन्होंने दुर्वासा कृत त्रिपुरमहिम्नस्तोत्र की या देवीमहिम्नस्तोत्र की एक टीका लिखी थी। उनकी बनाई हुई ताराकल्पलतापद्धति नाम की एक किताब रही॥

इच्छाशक्ति

म० म० पं० गोपीनाथजी कविराज, अध्यक्ष—योगतन्त्र विभाग, वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

योगी के आध्यात्मिक मार्ग में इच्छाशक्ति का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आत्मा का अथवा परमेश्वर का अनन्त शक्तिप्रपञ्च, प्रसिद्ध शक्तिपंचक के अन्तर्गत माना जाता है, यह विलकुल ठीक है कि यह शक्तियाँ सामरस्य भूमि में एकाकार होने पर भी आन्तर तथा बाह्य विभाग के अनुसार अन्तरंग तथा बहिरंग रूप से वर्णन करने के योग्य हैं। इनमें बहिरंग शक्ति इच्छा, ज्ञान, क्रिया का रूप लेकर त्रिकोण के आकार में प्रकाशित होती है और अन्तरंग शक्ति चित् तथा आनन्द का रूप लेकर स्वरूपशक्ति के नाम से वर्णित होती हैं। स्वरूप रूप है सत्, अत एव सत् अथवा सत्त्व (सत्ता) स्वरूप की अन्तरंग शक्ति है। चित् और आनन्द संवित् और ह्लादिनी शक्ति कहलाती है। बहिरंग शक्ति पूर्वोक्त इच्छा, ज्ञान, क्रिया है।

इधर से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि सत्त्व की स्वरूपशक्ति में भेद न रहने पर भी किंचित् वैलक्षण्य है। तदनुसार चित् है आन्तर और आनन्द है बाह्य। यह कहना नहीं होगा कि चित् का प्रसार ही आनन्द है, क्योंकि चित् शक्ति का स्फुरण न होने पर आनन्द का उन्मेष नहीं हो सकता। परन्तु आनन्द का स्फुरण न रहने पर भी चित् का स्फुरण रहता है।

दूसरी दृष्टि से आनन्द सुख वाचक नहीं है। आत्मा का अन्य निरपेक्ष पूर्णत्व ही आनन्द है।

स्थूल दृष्टि से विचार किया जाय तो पता चलता है कि आनन्द की सत्ता पूर्वसिद्ध न होने पर इच्छा का उदय हो नहीं सकता, क्योंकि आनन्द स्वरूपतः अक्षोभ्य होने पर भी जब तक उसमें स्वातन्त्र्य से क्षोभ उत्पन्न नहीं होता, तब तक इच्छा का उदय नहीं हो सकता। जिस स्थिति में आनन्द अक्षुब्ध तथा अक्षोभ्य रहता है, उसमें इच्छा के उदय की संभावना नहीं है। पक्षान्तर में यह अवश्य ध्यान रखने का विषय है कि इच्छा के न रहने पर भी आनन्द रह सकता है। परन्तु इच्छा निवृत्ति रूप आनन्द अथवा तृप्ति से इच्छा के अनुदय रूप आनन्द में अर्थात् शान्ति में वैलक्षण्य है।

इच्छा के उन्मेष से ही सृष्टि का उदय होता है। अर्थात् विश्व का आविर्भाव होता है, परन्तु स्थूल दृष्टि से यह प्रश्न हो सकता है कि यह इच्छा किसकी है? क्या यह योगी की इच्छा है? अथवा स्वरूप-प्रतिष्ठित आत्मा की इच्छा है। वस्तुतः यह इच्छा मूल में आत्मा की ही है। इच्छा के सामान्य तथा विशेष दो रूप हैं, यह स्मरण रखना नितान्त आवश्यक है। सामान्य इच्छा एक प्रकार से देखा जाय

तो निर्विषयक इच्छा है। यद्यपि यह इच्छा स्थूल दृष्टि से विषयहीन नहीं हो सकती, तथापि विशेषार्थ के अभाव से यह सामान्य कोटि में निविष्ट होने योग्य है। अर्थात् इच्छा है, किन्तु किस विषय की इच्छा है, यह अब तक स्फुरित नहीं है। इच्छा में ही प्रारम्भिक स्थिति में इच्छा का कर्म गुप्तरूपेण निहित है। सामान्य रूप से इच्छा का उदय होने से यह समझना चाहिये कि आत्मा की दृष्टि बहिर्मुख हुई। आनन्द दशा में दृष्टि अन्तर्मुख रहती है, अर्थात् आत्मा के स्वरूप में निविष्ट रहती है। जब दृष्टि बहिर्मुख रहती है, तब दृष्टि के सामने एक निर्विशेष सामान्य रूपी सत्ता प्रतिभासित होती है, जिसको कोई-कोई चिदाकाश या चिद्व्योम भी कहते हैं। वास्तव में यह चिदाकाश नहीं है, किन्तु यह आनन्द की ही पृष्ठभूमि की अवस्था है।

वस्तुतः चिदवस्था में आकाश है, आनन्द की अवस्था में भी है और इच्छा में भी है, परन्तु इन तीनों में परस्पर वैलक्षण्य है। यह बाह्यसत्तारूपी आकाश व्यापक सत्ता स्वरूप है, इसमें संदेह नहीं है और इच्छा का विशिष्ट विषयरूपी अर्थ उस व्यापक सत्ता में गूढरूप से विराजमान है, यह सत्य है। इच्छा का विशेष स्फुरण होने पर वह सत्ता बाह्य अर्थ रूप में प्रकट होती है। इसी को सृष्टि कहा जाता है। आचार्य गौड़पाद ने कहा है कि 'इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः' (माण्डूक्य-कारिका) यह सत्य बात है।

सृष्टि शब्द से क्या समझना चाहिये? तान्त्रिक विशिष्ट परिभाषा के अनुसार बिन्दु से विसर्गभाव का उदय ही सृष्टि है। पक्षान्तर में विसर्ग की बिन्दुरूप में परिणति ही प्रलय या संहार कहलाती है। क्षेत्रमिति की दृष्टि से जैसा Point (बिन्दु) और Line (रेखा) का संबंध है, बिन्दु तथा विसर्ग का परस्पर संबंध भी ठीक इसी प्रकार का है। विसर्ग का अन्ततः अनन्त वैचित्र्य है। इसकी समालोचना यहाँ अप्रासंगिक है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अर्थ के आविर्भाव में ही सृष्टि शब्द का मुख्य तात्पर्य है। अर्थ माने पदार्थ, अर्थ की समष्टि ही विश्व है, अर्थात् कार्य रूप जगत् है। चिदात्मस्वरूप में इस अर्थ अथवा विश्व चिदात्मा की सत्ता अभिन्न रूप से नित्य वर्तमान है। अर्थ अनन्त हैं और सभी चिदात्मा में अन्तः स्थित हैं, परन्तु जब आत्मा में इच्छा का उदय होता है, अथवा आत्मा इच्छा करती है, तब यह अर्थ बाहर प्रकाशित होता है। साधारणतया इसी को सृष्टि कहा जाता है।

अर्थ के बहिःप्रकाश शब्द से क्या समझना चाहिये? एक दृष्टि से बहिःप्रकाश के अनुरूप इसका अन्तःप्रकाश भी है और अन्तःप्रकाश के ऊर्ध्व में इसकी जो स्थिति है, वही अर्थ का चिदात्मरूप है। इसी को शक्ति कहा जाता है। शक्ति दृष्टि में यह नित्य सिद्ध है। यह अत्यन्त स्थूल विश्लेषण है। किन्तु वर्तमान लेख के लिये यही पर्याप्त है।

कहा गया है कि अर्थ का बहिःप्रकाश ही सृष्टि है। वस्तुतः अर्थ का अन्तः-प्रकाश भी सृष्टि के ही आदिपर्व के अन्तर्गत है। इसकी सूचना भी दी गई है। विश्लेषण-समर्थ योगी इन दोनों प्रकाशों को पृथक्रूप से ग्रहण करते हैं। इनमें अन्तःसृष्टि ज्ञान का खेल है, एवं बाह्यसृष्टि क्रिया का खेल है। दोनों के मूल में इच्छा का उदय माना जाता है। अर्थात् इच्छा ही वीज रूपी भाव-सत्ता का प्राकट्य माना जाता है। इच्छा की अतीत अथवा ऊर्ध्व की अवस्था, अर्थात् जब कि इच्छा का उदय भी नही हुआ है, कहीं आनन्द को अवस्था कही जाती है, जहाँ वीज भी नहीं रहता है। आनन्द के क्षुब्ध होने पर इच्छा का उदय होता है, अर्थात् वीज का उन्मेष होता है। अर्थात् इच्छा की निवृत्ति होने पर आनन्द-स्वरूप का प्रकाश होता है। अतः मूल में उपनिपदों में भी आनन्द को ही सृष्टि का मूल माना है। द्रष्टव्य—"आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते"।

इच्छा-भूमि में बीज सत्ता है, यह कहा गया है। यह एक अत्यन्त कठिन तत्त्व है, जिसका समाधान शुद्ध बुद्धि से हो सकता है। यह बीज ही आकार, आकृति (Form) (Idea) है। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह आकार निरवयव है। आनन्द अवस्था में यह निर्वीज है। इच्छा की दशा में यह बीजरूप होकर प्रकाशित होता है। एक प्रकार से किसी-किसी की दृष्टि के अनुसार यह भाव कहा जा सकता है। ज्ञान की भूमि में इसका अन्तःप्रकाश होता है। यह Idea का ही अर्थात् भावात्मक ज्ञान का ही वहिर्मुख भाव है। ज्ञान ही यहाँ पर साकार है। ज्ञान से पृथक् ज्ञेय कुछ नहीं है, ज्ञान ही एकाधार में ज्ञान होते हुए ज्ञेय भी है। अर्थात् ज्ञान साकार और स्वाकारविषय स्वयं है। दृष्टान्त के रूप में एक फूल लिया जाय, बीज अवस्था में यह फूल भावमात्र है। यह भाव अव्यक्त, किन्तु साकार एवं निरवयव है। परन्तु ज्ञान की भूमि में यह आकार व्यक्त है। अर्थात् ज्ञान में प्रकाश मात्र है, परन्तु अपने में ही अपना प्रकाश है। दूसरे के निकट इसका प्रकाश नहीं होता, अर्थात् इसमें बाह्य सत्ता नहीं है और यह इन्द्रिय गोचर नहीं है। यह विभिन्न प्रमाताओं के दर्शन का विषय भी नहीं है। ध्यानज दर्शन, स्वप्न-दर्शन इसी श्रेणी का है। यह व्यक्तिगत असाधारण दर्शन है। ज्ञानमय आकार का अन्तःप्राकट्य है। पूर्वोक्त अर्थ का अन्तःप्रकाश है। भौतिक इन्द्रिय ग्राह्यरूप में प्रकाश ही सृष्टि है। यह क्रिया-शक्ति का विषय है। अन्तःप्रकाश अथवा ज्ञानाकार प्रकाश जैसे इच्छा का फल है, उसी प्रकार भौतिक रूप में बाह्य प्रकाश भी इच्छा का ही अन्तिम फल है।

यह जो साकार रूप में अर्थ का प्रकाश (As an Idea) है, इसको योगी की सृष्टि नहीं कहा जाता। ज्ञान की सृष्टि प्रातिभासिक है। क्रिया-भूमि की सृष्टि व्याव-हारिक है। ज्ञानाकार सृष्टि ही अन्त में बाह्य अर्थ रूप में प्रकाशित होती है।

प्रश्न हो सकता है कि जागतिक सृष्टि-व्यापार में जैसे हम निमित्त एवं उपादान की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, क्या उसी प्रकार इच्छाशक्ति की सृष्टि की पूर्णावस्था में भी दोनों की आवश्यकता मानी जा सकती है ? क्योंकि बिना उपादान कारण बाह्य सृष्टि हो नहीं सकती। उत्तर में कहा जाता है कि—"योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्"। इसका तात्पर्य यह है कि शाक्त-दृष्टि में योगी परतत्त्व में विशाल एवं अद्वय भूमि में निविष्ट होने के कारण बाह्य सृष्टि के समय में अखण्ड निजसत्ता से ही कार्य का उपादान संग्रह कर लेता है, बाह्य प्रकृति से नहीं।

क्या बाह्य प्रकृति से उपादान संग्रह कर सृष्टि करना सम्भव है ? हाँ है। किन्तु किसी-किसी के मत में इस प्रकार की सृष्टि इच्छा-शक्ति अथवा योगी के सृष्टिरूप में वर्णित होने योग्य नहीं है। मेरे श्रीगुरुदेव इस प्रकार की सृष्टि को विज्ञान सृष्टि कहा करते थे। प्राकृतवर्षी योगी प्रकृति से उपादान लेकर अर्थ सृष्टि करते हैं। इसका नियामक है, उनकी अपनी इच्छा। यह भी ऐश्वर्य की सृष्टि है, किन्तु निमित्त एवं उपादान में अन्तर है। निमित्त में ऐसी इच्छा का उपादान है गुणमयी प्रकृति, परन्तु जिस योगी की स्थिति में अपने से प्रकृति की अलग सत्ता नहीं है, किन्तु एक अखण्ड सत्ता ही है, वहाँ पर निमित्त और उपादान के भेद का प्रश्न ही नहीं उठता। चिदात्मा के स्वरूप से इच्छारूपिणी शक्ति अभिन्न है। इसी प्रकार अपेक्षित उपादान भी अभिन्न है। पर-योगी की अवस्था इस प्रकार की होती है।

(२)

मेरे श्रीगुरुदेव इच्छा-शक्ति की सृष्टि और विज्ञान की सृष्टि नाम से दोनों प्रकार की सृष्टि का प्रत्यक्ष प्रदर्शन करते थे और उसका रहस्य समझाते थे। दोनों सृष्टि भौतिक इन्द्रिय ग्राह्य, व्यवहार योग्य, बाह्य स्थिर पदार्थ का आविर्भूत रूप है। इसका स्वरूप अस्थायी प्रतिभासरूप नहीं है, परन्तु दोनों की उत्पत्ति प्रणाली में भेद है। वस्तुतः व्यवहार-भूमि में योगी शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थानों पर होने पर भी शाक्त दृष्टि से यथार्थ योगी वहीं है, जो अद्वय-भूमि में स्थित है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति, माया, महामाया, यहाँ तक की चिच्छक्ति पर्यन्त समग्र सत्ता ही परम योगी के स्वरूप से अभिन्न है। यही स्वसत्ता योगी की इच्छा के अनुसार निमित्त तथा उपादान दोनों ही बन जाती है। इसी लिये इच्छाशक्ति की सृष्टि में बाहर से (कार्य का) उपादान का आकर्षण नहीं करना पड़ता। आत्मा ही अपने संकल्प के अनुसार तत्तत् पदार्थ के रूप में स्फुरित होता है। इस प्रकार की सृष्टि करने में योगी की आध्यात्मिक शक्ति की हानि होती है। अवश्य यह साधारण नियम है।

यदि योगी की इच्छा महाइच्छा का प्रतिफलन मात्र हो तो हानि का प्रश्न नहीं उठता। इसीलिये इच्छा करना, इच्छा होना इन दोनों में पार्थक्य माना जाता

है, किन्तु इस बात को मानना होगा कि दोनों प्रकार की इच्छा शक्ति-पदवाच्य है। श्री श्रीगुरुजी की परिभाषा में जिसका नाम विज्ञान-सृष्टि है।

विज्ञान-सृष्टि में भी इच्छा की आवश्यकता होती है, परन्तु उस इच्छा को इस दृष्टि में इच्छाशक्ति नहीं कहा जाता। उस इच्छा का कार्य त्रिगुणात्मिका प्रकृति से यथायोग्य उपादान का आकर्षण करके उसको स्थूल तक लाना है। पूर्व वर्णित विज्ञान-सृष्टि में उपादान विषय अपरोक्ष ज्ञान की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार की सृष्टि में जिस प्रकार ज्ञान का उपयोग है, उसी प्रकार क्रिया की भी आवश्यकता है। यह उपादान दृष्टि के भेद से कहीं किसी का नाम तथा रूप से परिचित है और कहीं दूसरे नाम से इसका निर्वचन किया गया है। रश्मि, मातृका, परमाणु, तन्मात्रा–विभिन्न प्रस्थानों में विभिन्न-विभिन्न नामों का उल्लेख मिलता है। भर्तृहरि का वचन—"अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः" भी इस उपादान को ही लक्ष्य में रखकर कहा गया है। इस मत के अनुसार कार्य के कारणभूत अवयवों का जो संस्थान है, उसका ज्ञान आवश्यक होता है। इन अवयवों में क्रम, मात्रा, पूर्वापर प्रभाव सब कुछ है। वैज्ञानिक सृष्टिकर्ता को इन सब का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। विज्ञान का यही ज्ञानांश है। इन उपादानों का मूल से आकर्षण करके क्रमशः विन्यास करना पड़ता है। विन्यास के माने हैं निक्षेप करना। अर्थात् रश्मियों को आकर्षण करके विशुद्ध सत्त्व अथवा शुभ्रसत्ता के ऊपर छोड़ना। ऐसा न करने से एक उपादान से दूसरे उपादान का परस्पर संयोग संघटित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक उपादान क्षणमात्रस्थायी या क्षणभंगुर है। यह विन्यास की रचना क्रिया-शक्ति का खेल है। दृष्टान्त स्वरूप—वर्ण और पद में अथवा पद और वाक्य में परस्पर सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है। जैसे नदी पद में न्-अ द्-ई यह चार अवयव हैं, जो कि निर्दिष्ट क्रम से रखे हुए हैं। यह जो क्रम है, इसको जानना ही वैज्ञानिक का अपेक्षित ज्ञान है। यही आकार का Formula है। इसके अनन्तर क्रिया का व्यापार होता है। जिसमें सबसे पहले, मूल से न् को आकर्षण करना पड़ता है। उसके अनन्तर अ का भी आकर्षण करना पड़ता है। साथ-ही-साथ दोनों की योजना भी करनी पड़ती है। यह योजन-क्रिया अत्यन्त कठिन है, क्योंकि प्रत्येक वर्ण ही आशुविनाशी है। न् उद्भूत होकर ही तिरोहित होने वाला है। अ भी ठीक इसी प्रकार का है। न् तथा अ का यौगपद्य है नहीं, तो योग किस प्रकार होगा? इसी प्रकार परवर्ती वर्णों में भी समझना चाहिये। इस कठिनाई को दूर करने के लिये अधिष्ठान के रूप में स्थायी शुद्धसत्त्व के रूप की आवश्यकता होती है। जिसके ऊपर प्रतिवर्ण को क्रम से निक्षेप करना पड़ता है। इस शुभ्र वर्ण का आधार के रूप में यदि ग्रहण न किया जा सके, तब किसी वर्ण के साथ किसी वर्ण का समाहार हो नहीं सकता। अतः क्रियाप्रयोग के समय एक-एक वर्ण का क्रम के अनुसार उसी आधार में आकर्षण करना आवश्यक है। अन्त तक

यही परिपाटी माननी पड़ती है। अर्थात् जब तक अन्तिम उपादान का उद्भव और स्थापन न हो, तब तक इस प्रक्रिया का अवलम्बन करना चाहिये। इसके प्रभाव से अर्थ का स्फुरण होगा। जब तक यह प्रक्रिया पूर्ण नहीं होगी, तब तक अर्थ का प्रकाश नहीं होता। मातृगर्भ में जैसे देह के अवयवों का संयोग होकर निर्माण होता रहता है, इसी के अनुसार यह भी है। अन्त में बाह्य स्फूर्ति होती है। मूल में यह उपादान अभिन्न होने पर भी शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम से परिचित हैं, किन्तु प्रक्रिया एक ही है।

अत एव विज्ञान-सृष्टि में ज्ञान और क्रिया का परस्पर सम्बन्ध है। इसमें इच्छा का प्राधान्य नहीं है। ज्ञानयुक्त क्रिया की ही प्रधानता है। परन्तु इच्छा-शक्ति की सृष्टि में इच्छा ही प्रधान है। ज्ञान तथा क्रिया-भूमि का क्रमिक व्यापार गौण है और इच्छामूलक है। इस विषय पर अधिक आलोचना करना अप्रासंगिक है।

(३)

यदि परयोगी पुष्प की सृष्टि करें तो वह उनके आत्मस्वरूप से अभिन्न प्रतीत होगा। परन्तु विज्ञानवित् सिद्ध पुरुष यदि किसी पुष्प की सृष्टि करेगा तो वह पुष्प अपने स्वरूप से भिन्न प्रतीत होगा। विज्ञानवित् की सृष्टि इच्छा के प्रभाव से ज्ञान तथा क्रिया के अवलम्बन द्वारा विक्षुब्ध प्रकृति से उद्भूत एक परिणाम मात्र है। यह इच्छा, इच्छा-शक्ति नहीं है। यह क्रिया भी, क्रिया-शक्ति नहीं है।

इस विषय में सूक्ष्म वैचारिक दृष्टि डालना आवश्यक है। ज्ञानभूमि में जो पुष्प का भान होता है, वह ज्ञानाकार स्वसंवेद्य है। बाह्य अर्थ रूप भौतिक-सत्ता उसमें नहीं है। मानों ज्ञान ही पुष्प के रूप में है। उसका आकार ज्ञानमय है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ज्ञान के बाहर अज्ञान है। जब वह पुष्प ज्ञान-भूमि से स्खलित होकर अज्ञान में गिरता है, तब वह क्रियात्मक होकर मायिक तथा भौतिक रूप धारण करता है। उसी समय वह बाह्य-सत्ता रूप में परिगणित होता है। इस भौतिक सत्ता का उपादान वह स्वयं ही आकर्षण कर लेता है और इस आकर्षण व्यापार के अंश में त्रुटि नहीं होती। यह स्वभाव का नियम है। बीज भूमि में निक्षिप्त होने पर मिट्टी से, जल से, वायु से, सूर्य की किरणों से अपने उपादान का आकर्षण करके अंकुरित होता है, तथा क्रमशः विकसित होता है। यहाँ भी इसी प्रकार का नियम लागू होता है। यही वस्तुतः योनि-तत्त्व का रहस्य है। ज्ञानरूप पुष्प मायारूप अर्थात् क्रियारूप योनि में निक्षिप्त होने पर स्थूल रूप में परिणत हो जाता है। इसमें बहुत गम्भीर रहस्य की बाते हैं। परन्तु विशेष विवरण यहाँ अनपेक्षित है। निरवयव निराकार लिंग-ज्योति से सावयव साकार रूप का उद्भव होता है, यही शरीरपदवाच्य है। ब्रह्मसूत्रकार ने कहा है "योनेः शरीरम्" योनि शब्द से माया समझना चाहिये।

इच्छा-शक्ति की सृष्टि अर्थात् योगी की सृष्टि तथा विज्ञान की सृष्टि में एक मूलगत भेद लक्षित होता है। विज्ञान-सृष्टि का तात्पर्य यह है कि ईशित्व अथवा प्रकृति-वशित्व-सम्पन्न सिद्ध पुरुष की इच्छा से प्रकृतिरूप उपादान को क्रिया-कौशल से इच्छानुरूप आकार में परिणत करना है। विज्ञानवित् पुरुष योगी नहीं भी हो सकता। उसी प्रकार योगी अथवा इच्छा-शक्ति-सम्पन्न पुरुष विज्ञानवित् नहीं भी हो सकता, परन्तु यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि इच्छा-शक्ति और विज्ञान-वेतृत्व दोनों गुण एक व्यक्ति में हो सकते हैं। योगी की सृष्टि में बाह्य उपादान की आवश्यकता नहीं है। चिदात्मा स्वयं ही अहं होकर भी इदंरूपेण प्रकट होता है।[1]

शाक्त योगी को प्रकृति से बाह्य उपादान नहीं लेना पड़ता। वह अपनी आत्म-सत्ता के स्वातन्त्र्य से ही संकुचित होकर बाह्य सत्ता के रूप में अपने को स्फुरित करता है और उपादान का काम करता है। अर्थात् योगी की सृष्टि में अहं रूपी आत्मा ही अहं रूप में रहते हुए भी इदं रूपी पुष्प का आकार धारण करते हैं। यह केवल ज्ञान की भूमि में नहीं, अर्थात् मनोग्राह्य अन्तराभास रूप में नहीं, अपितु क्रियाभूमि में इन्द्रिय गोचर बाह्य सृष्टि रूप में भी होती है। यह बाह्य सृष्टि सर्वसाधारण जीवों के दृष्टिगोचर है। दूसरे प्रकार से कहा जा सकता है कि यह प्रातिभासिक सत्ता मात्र न होकर इन्द्रिय-गोचर एवं व्यवहार-गोचर त्रिकाल स्थायी बाह्य अर्थ के रूप में सृष्ट होता है। इच्छा-शक्ति की सृष्टि में ज्ञान-भूमि में जिस पुष्प का प्रकाश होता है, वह वस्तुतः पुष्प का आकार लेकर ज्ञान का ही प्रकाश होता है और आभ्यन्तरीय है, परन्तु भौतिक तथा बाह्य नहीं है। यह ज्ञानाकार पुष्प वस्तुतः ज्ञाता योगी का ज्ञाना-श्रित निजसत्ता का ही पुष्प रूप में स्फुरण है। जो केवल उस ज्ञानी का ही मनोग्राह्य अथवा कभी-कभी वशीकृत अन्य व्यक्ति के भी मनोग्राह्य है। वह साकार ज्ञान-विशेष है।[2] परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यह सृष्टि अर्थात् ज्ञानात्मिका सृष्टि साकार होने पर भी निरवयव है। जैसा दर्पण स्थित प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है, यह भी प्रायः उसी प्रकार का है। दर्पण में प्रतिबिम्बित पुष्प पुष्पाकार होने पर भी वस्तुतः आलोकमात्र है, अथवा आलोकमात्र होने पर भी पुष्पाकार विशिष्ट आलोक

---

१. इस प्रसंग में सुरेश्वराचार्य की निम्नोक्त कारिका उल्लेखनीय है। श्रीशंकराचार्य कृत दक्षिणामूर्ति स्तोत्र के संदर्भ में लिखा है—"बीजाद् वृक्षस्तरोर्बीजं पारम्पर्येण जायते। इति शङ्कानिवृत्यर्थं योगिदृष्टान्तकीर्तनम् ॥ विश्वामित्रादयः पूर्वं परिपक्वसमाधयः। उपादानोपकरणप्रयोजनविवर्जिताः। स्वेच्छया ससृजुः स्वर्गं सर्वभोगोपबृंहितम् ॥ ईश्वरो-ऽनन्तशक्तित्वात् स्वतन्त्रोऽन्यानपेक्षया। स्वेच्छामात्रेण सकलं सृजत्यवति हन्ति च ॥" इसके अनन्तर एक कारिका में लिखा है कि ज्ञातृत्व और कर्तृत्व वस्तुतः उनका स्वातंत्र्य ही है। इच्छा-शक्ति का वैचित्र्य भी उनकी स्वच्छन्दकारितामात्र है।

२. योगाचारी साकार-विज्ञानवादी बौद्ध इसका रहस्य अच्छी तरह समझते हैं।

है, यह भी किसी-किसी अंश में उसी प्रकार का है। वस्तुतः यह अहं होने पर भी इदंरूपेण भासमान सत्ता विशेष है।

विशेष रूप से ध्यान रखने वाली बात यह है कि इस भूमि तक योगी में देहाभिमान नहीं है। परन्तु ज्ञान-भूमि से अवतीर्ण होकर जब योगी क्रिया-भूमि में अवतीर्ण होते हैं, तब वह आभासरूप वाह्य भौतिक इन्द्रिय-गोचर व्यवहार-जगत् के पुष्प रूप में परिणत होते हैं। सृष्टि इस परिणति का ही नामान्तर है। इच्छा में जो अहं रूप में रहा, ज्ञान में जो अहं होकर भी इदंरूपेण रहा, अब वह अहं से अर्थात् योगी को देह रूपी अहं से विभिन्न होकर उससे भिन्न पुष्प नामक पदार्थरूप में प्रकट होता है। यही मायिक सृष्टि का रूप है। इच्छा में अभेद, ज्ञान में भेदाभेद, क्रिया में भेद, यही क्रम है।

'मैं पुष्प चाहता हूँ' योगी की इस इच्छा में योगी की निज-सत्ता ही बीजभूत पुष्पात्मक है। इसके अनन्तर ज्ञान-भूमि में यह बीजात्मक पुष्प ज्ञान का आकार लेकर खिल जाता है। इस स्थिति में स्वयं ही ज्ञाता है और ज्ञान भी स्वयं है। इच्छा सम्पन्न योगी एक दृष्टि से ज्ञाता रूप में विद्यमान है और दूसरी दृष्टि से ज्ञानात्मक पुष्परूप से विद्यमान है। वह स्वयं ही अपने को पुष्परूपेण देख रहा है। इसके अनन्तर अपने से, अर्थात् ज्ञानांश से, अपने को अर्थात् पुष्पांश को पृथक् करता है। यही वाह्यार्थ-सृष्टि है।

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञानाकार आन्तरिक सत्ता ज्ञान के बाहर प्रक्षिप्त होती है, अर्थात् आन्तर पुष्प को Project किया जाता है, तब प्रयोजन के अनुसार वह भौतिक उपादानों को आकर्षण करके स्थूल भाव प्राप्त करता है। इसमें भी क्रम है। गर्भाधान के अवसर पर मातृगर्भ में पितृविन्दु का निषेक होता है। इस निषेक के समय से प्रसव के समय तक वही विन्दु गर्भोदक में रहकर देह के आकार में परिणत होता रहता है। जब प्रसव होता है तो समझना चाहिये कि वाह्यरूप का परिग्रह ठीक-ठीक हो गया। क्रिया-शक्ति के व्यापार में अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर, स्फुटतम चार अवस्थायें हैं। तदनुसार अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर अवस्था वाह्य होने पर भी प्रसव के तुल्य अन्तिम वाह्य अवस्था नहीं है। प्रसव अवस्था ही क्रिया की स्फुटतम अवस्था है। इससे यह सिद्ध होता है कि अस्फुट से स्फुट और स्फुटतर अवस्था पर्यन्त भी अर्थ वाह्य होने पर भी इन्द्रिय-गोचर नहीं है।

जिसे गर्भ विज्ञान कहा जाता है वह वस्तुतः अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर अवस्था का परिचायक है। यह योनिज सृष्टि का विवरण है। एक बात इस प्रसंग में कहना उचित प्रतीत होता है कि उसके अतिरिक्त अयोनिज सृष्टि भी है। इच्छा-शक्ति से ज्ञान-भूमि द्वारा क्रिया-शक्ति में अवतरण होता है, यह बात वस्तुतः योनिज तथा अयोनिज उभय क्षेत्र में सत्य है। ज्ञान-भूमि से झटका देकर साकार बीज को बाहर निक्षेप किया जाता है। अन्तराल की तीन भूमियों का अतिक्रमण करके बाहर आने

पर उस सृष्टि को योनिज सृष्टि कहा जाता है, किन्तु यदि ज्ञान-भूमि से ही तीव्र झटके (Jurck) के प्रभाव से साकार सत्ता स्फुटतम अवस्था में निक्षिप्त हो, तब उस स्थिति में जिस सृष्टि का आविर्भाव होता है, इसको किसी अंश में अयोनिज सृष्टि माना जाता है। यद्यपि इसमें भी ज्ञान-शक्ति का क्रिया-शक्ति में अवतरण है, तथापि इसमें योनि संसृष्ट मल का विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। अतः यह प्रायः विशुद्ध सृष्टि कहलाती है। किन्तु सम्यग् विशुद्ध सृष्टि यह भी नहीं है, क्योंकि इसमें भी माया का किंचित् सम्बन्ध है। जब परम योगी किसी को स्थूल रूप में दर्शन देते हैं, वह स्थूल रूप के अनुरूप होने पर भी वास्तव में विलक्षण है। वह पञ्चेन्द्रियों के गोचर होने पर भी अर्थात् दृश्यस्पृश्यादि रूप में प्रकट होने पर भी वस्तुतः उसमें दैहिक उपादान देह, मांस, अस्थि प्रभृति कुछ नहीं रहता। वह प्रयोजन होने पर क्षणमात्र में अप्रकट भी हो सकते हैं।

यहां प्रसंगतः एक और तत्त्व का प्रकाश करना उचित मालूम पड़ता है। परम योगी अंशतः माया का स्पर्श किये विना स्थूल रूप में प्रकट हो सकते हैं। वह रूप स्थूल इसीलिये कहा जाता है कि वह साधक के इन्द्रिय गोचर है, किन्तु अत्यन्त विशुद्ध होने के कारण साधक की माया-मलिन इन्द्रियां उसका ग्रहण नहीं कर सकतीं, वह अपनी कृपा से तत्काल दर्शन देने अथवा व्यवहार करने के समय साधक के इन्द्रियों का शोधन कर देते हैं। उस समय माया से युक्त शोध है। इन्द्रियां से उस मायायुक्त शुद्ध रूप को ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार के देह को भक्तिशास्त्र में अप्राकृत विशुद्ध देह कहा जाता है। क्रमविशिष्ट साधारण प्रक्रिया में सब कुछ रहता है, अर्थात् प्रकृति से उद्भूत सभी उपादान रहते हैं। किसी पुष्प का निर्माण होने पर उसमें पुष्प की सभी कारण सामग्री विद्यमान रहती हैं। पहले ही कहा गया है कि यह उपादान इच्छा-शक्ति से उत्पन्न सृष्टि में योगी की आत्मा से प्रकट होते हैं। विज्ञान-समुद्भूत सृष्टि में इसका आविर्भाव त्रिगुणात्मिका प्रकृति से होता है। पूर्व स्थान में प्रकृति भी इच्छा के प्रभाव से अद्वय आत्मस्वरूप से प्रकट होकर यथायोग्य निर्माण कार्य में उपादानस्वरूप बन जाती है। द्वितीय स्थल में यह प्रकृति द्वैत विज्ञान-वित् योगी की आत्मा से पहले से ही पृथक् रही। यही रहस्य की बात है।

प्राचीन काल में पुराणों द्वारा मानस-सृष्टि, संकल्पजन्य-सृष्टि आदि की बातें सुनी जाती हैं। इस प्रसंग में सभी तत्त्वों का विचार करना चाहिये। यह भी प्रसिद्ध है कि ईसा (Jesus), गौतम बुद्ध प्रभृति योगियों का देह भी इसी प्रकार निर्मल रहा। देवकी से उद्भूत श्रीवासुदेव का भी शरीर इसी प्रकार का था। इन सब विषयों की आलोचना यहां अप्रासंगिक है। Immaculate conception का रहस्य भी आलोच्य है। इसी प्रसंग में निर्माणकाय, निर्माणचित्त का रहस्य भी आलोच्य है। इच्छा-शक्ति की सृष्टि से परावाक् शक्ति की सृष्टि विलक्षण है। इच्छा काम का नामान्तर है। जिस देह का उद्भव काम से है, वह अशुद्ध है। जीव मात्र का प्राकृतिक

देह (Natural Body) इसी प्रकार का है। पिता तथा माता के संयोग से इस देह का उद्भव होता है। परन्तु जिस देह का आविर्भाव वाक् से अर्थात् वागीश्वरी शक्ति से होता है, वह शुद्ध देह है। ख्रीष्टीय धार्मिक भाषा में उसको Spiritual Body कहते हैं। Saint Paul और विभिन्न आचार्यों ने Spiritual Body की बात कही है। आचार्यरूपी गुरु और इष्टदेवतारूपी शक्ति इन दोनों के संयोग से जिस देह का आविर्भाव होता है, वही अप्राकृत शरीर (Spiritual Boby) है। इस देह की प्राप्ति ही द्वितीय जन्म है। इसी को लक्ष्य करके कौलकस्तव में "विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुपे" इत्यादि कहा गया है। सिद्धान्त शैवसम्प्रदाय का प्रसिद्ध बैन्दव देह इसी का नामान्तर है। यह मन्त्रमयी तनु है। श्रीमद्भागवत में "मन्त्रं मूर्तिममूर्तिकम्" कहकर इसी को इंगित किया है। तन्त्र साहित्य में इसका भेद भी दिखाई पड़ता है। बैन्दव देह बिन्दु अथवा महामाया से उद्भूत विशुद्ध देह है। परन्तु विशुद्ध होने पर भी यह अचित् है। अद्वैत तन्त्र में आत्मा के शाक्तदेह का भी पता चलता है। परन्तु वह अचित् नहीं पर शुद्ध चिन्मय है, एवं उसका चिदात्मा के साथ तादात्म्य रहता है। फिर भी वह देह है, क्योंकि साकार है।

एक बात यह है कि इच्छा अथवा काम से उत्पन्न देह का जैसा जन्म के अनन्तर क्रम-विकास है, उसी प्रकार वाग्जात अर्थात् वागीश्वरी के गर्भ से संभूत देह का भी क्रम-विकास है। काम-देह में विकार अथवा परिणाम होता है। जिसका अवसान मृत्यु में होता है। इसीलिए कविकुलगुरु कालिदास ने कहा है "मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्"। षड्भावविकार (जायते से नश्यति पर्यन्त) इसमें लगा हुआ है। यह देह काल के अधीन है। अतः कालाग्नि इसका ग्रास करती है। अग्नि एवं सोम के परस्पर संघर्ष पर ही समग्र विश्व का खेल निर्भर है। देह मात्र ही सोम की कला से उद्भूत होता है। काम-देह भी इसका अपवाद नहीं है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि चन्द्रमा की सोलह कलाओं में से पंचदश कला कालचक्र के अधीन और परिणाम की जनक हैं, परन्तु षोडशी कला जो अमृतकला नाम से प्रसिद्ध है, वह काल से ऊर्ध्व में है, एवं परिणाम-शून्य है। कालाग्नि के साथ संघर्ष के प्रभाव से पंचदशकलासंजात काम-देह क्रमशः शुष्क हो जाता है।

कालरूपी अग्नि के द्वारा देहोपादान भूत सोम कलाओं का निःशेष पान करने पर देह का पतन हो जाता है। इसी का नाम मृत्यु है। किन्तु वागीश्वरी-संजात देह पंचदश कला से उद्भूत न होने के कारण वह वस्तुतः काल के अधीन नहीं है। यह कालाग्नि के संघर्ष के प्रभाव से क्रमशः उज्ज्वल होकर अपने नित्य स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। जब काल की समाप्ति हो जाती है, तब भी सोमकला अमृत होने के कारण अटूट रहती है। इसका फल यह है कि अन्त में अमृतकलामय देह ही रह जाता है। काल का अवसान हो जाता है। यही कालातीत अमृतदेह है।

कालाधीन प्राकृत देह जैसा मातृगर्भ में विकास प्राप्त होता है, कालातीत अप्राकृत वाग्जात देह अर्थात् गुरुदत्त काय भी मातृगर्भ में विकास प्राप्त करता है। मातृगर्भ अर्थात् इष्ट देवता का गर्भ समझना चाहिये। विकास पूर्ण होने पर यह प्रकट होता है। यही योगी के लिये सिद्धि की अवस्था है। उस समय सभी लोग जिनमें चक्षु का विकास है, उसको देख सकते हैं। सिद्धदेह का आविर्भाव होने पर उपासक जैसे मां का साक्षात्कार करते हैं, उसी प्रकार माता सन्तान रूपी साधक को देखती है। यही आश्रय तथा विषय का परस्पर आभिमुख्य है। अर्थात् उस समय एक तरफ से अप्राकृत देह है आश्रय, मां होती हैं विषय, दूसरी तरफ से मां है आश्रय और सन्तान रूपी साधक हैं विषय। गुरु उस समय कहां है ? वस्तुतः पिता ही पुत्र बन जाता है। इस स्थल में गुरु को ही शिष्य रूप में प्रकट समझना चाहिये। क्रमशः माता सन्तान के अधीन हो जाती है। अन्त में सन्तान के साथ एक हो जाती है। उसके बाद सन्तान भी नहीं रहती। केवल अखण्ड स्वयंप्रकाशरूपी सत्ता रहती है। यही योगी अवस्था है। अर्थात् इस अवस्था में गुरु, इष्ट और आत्मा एक या अभिन्न है। इस योगावस्था का प्रतीक है अधोमुख त्रिकोण, मातारूप योनि और उसका बिन्दु मायाधीश ईश्वर ऊर्ध्व मुख त्रिकोण, ब्रह्म योनि और बिन्दु परमेश्वर है।

यहाँ दो त्रिकोण परस्पर मिलित हैं, एवं दो बिन्दु भी मिलित हैं। जो इस अवस्था का अधिष्ठाता है, वही योगी है।

योगभूमि प्राप्त योगी की अर्थात् जिस योगी ने परम शिवावस्था प्राप्त की है, उनकी इच्छा ही शक्ति है। शिवसूत्र में इसी को उमाकुमारी कहा गया है। स्वातंत्र्य ही इसका स्वरूप है। विश्व का सृष्टि-संहार ही इसका खेल है। इच्छा दो प्रकार की है। साधारण जीव की स्थूल इच्छा है। यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह शक्ति नहीं है। योगी की अप्रतिहत इच्छा ही शक्तिरूप है। भगवदिच्छा, योगीच्छा एवं पराशक्ति अभिन्न है। बाह्य तथा आन्तर दृश्य मात्र ही योगी का शरीर है। योगी के लिये दृश्य मात्र ही अहं इदंरूप से स्वांग रूप से प्रतीत होता है। अपने स्वरूप से पृथक् नहीं होता। इसी प्रकार योगी को अपना शरीर भी दृश्यरूपेण प्रतीत होता है। किन्तु पशु को अपना शरीर द्रष्टा रूप में प्रतीत होता है। अर्थात् योगी का अपने शरीर में अहं रूप नहीं रहता है। अत एव यह समझना चाहिये कि परा संवित् से इच्छा-शक्ति के प्रभाव से स्थूल प्रमेय-पर्यन्त समग्र विश्व का प्रसरण होता है।

यह जो इच्छाशक्ति की चर्चा की जा रही है, यह सत्य संकल्प पुरुष के सिद्ध संकल्प से भिन्न है। केवल इतना ही नहीं, संप्रज्ञात-समाधि से भी यह श्रेष्ठ अवस्था है। पातञ्जल सूत्र के व्यास भाष्य से यह पता चलता है कि इन्द्रलोक अथवा स्वर्ग में त्रिदशादि जितने देवता हैं, वे सब संकल्प सिद्ध हैं। यह लोग कामभोगी हैं और

अणिमादि सिद्धियों से सम्पन्न हैं। यह सत्य संकल्प हैं, किन्तु इनको ध्यान में भी अधिकार नहीं, समाधि तो दूर की रही। इसके बाद महर्लोक, जनलोक और तपोलोक में इनसे भी उच्चकोटि के देवता हैं। सर्वत्र ध्यान का अधिकार विद्यमान है। परन्तु समाधि-सिद्धि कहीं नहीं है। सत्यलोक में विभिन्न प्रकार के सिद्ध समाधि में रहते हैं। ध्यान से तत्त्वों का जय होता है। समाधि में पूर्ण शक्ति का विकास होता है, परन्तु पूर्ववर्णित इच्छा लोक-लोकान्तर-स्थित देव अथवा सिद्धों को नहीं रहती। पातञ्जल सम्प्रदाय सम्मत योगियों की स्थूल दृष्टि से चार श्रेणियां हैं—(१) प्रथम श्रेणी में जो योगी हैं, उनको प्रज्ञाज्योति कहा जाता है। इसके अनन्तर मधु अवस्था का उदय होता है। जिसमें परीक्षा होती है। जिस योगी में संग अथवा आसक्ति और संग अर्थात् गर्व नियन्त्रित हुए हैं, उनकी प्रज्ञाज्योति निर्मल हो जाती है। साथ ही साथ परीक्षा का अवसान हो जाता है। उस समय उस प्रज्ञारवि रूपी ज्योति से पंचभूत और इन्द्रिय दोनों को आयत्त किया जाता है। पंचभूत के नियन्त्रण से अष्ट-सिद्धि एवं काम-सम्पत् का उदय होता है। इन्द्रियों के नियंत्रण से मनोजवित्व आदि तथा मधुप्रतीक आदि सिद्धियों का उदय होता है। इसके बाद सिद्धियों का संहरण होता है और आत्मा शक्तियों के उपसंहार के अनन्तर अतिक्रान्तभावनीय स्थिति में आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के सन्निहित होते हैं, मानों शुक्ल पक्ष के अनन्तर कृष्ण पक्ष का भी अवसान हो गया। पातञ्जल साधन-क्रम यहीं समाप्त हो जाता है। परन्तु आत्मस्वरूप में आत्मा की अन्तरंग शक्ति विद्यमान रहती है। यह विभूतियों के अनुरूप हेय-शक्ति नहीं है। इच्छा-शक्ति इसी अवस्था का महान् स्फुरण है।

इस प्रसंग में एक व्यावहारिक प्रश्न का समाधान किया जा रहा है। साधारणतः किसी के मन में शंका होती है कि योगी अपने लौकिक व्यवहार में इच्छा-शक्ति अथवा विज्ञान-शक्ति से बनाई वस्तु का व्यवहार कर सकते हैं या नहीं ? इसका एकमात्र उत्तर है कि योगी इस प्रकार अलौकिक शक्ति से निर्मित वस्तु स्वयं व्यवहार नहीं करते, परन्तु दूसरे को व्यवहार के लिये दे सकते हैं। प्राचीनकाल में यह नियम प्रचलित रहा। मिलिन्दपन्हो नामक पालि ग्रन्थ में कहा गया है कि योगी शक्तिशाली होने पर लौकिक प्रयोजन के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करते। वहां लिखा गया है कि—सयं निम्मितं पञ्चमं न पठिसेवन्ति। इसका तात्पर्य है स्वयं-निर्मित वस्तु को अपने उपयोग में नहीं लाते। इसमें एक कारण बताया है कि "महतो जनकायस्य अनुकम्पाय" और दूसरा कारण यह है कि इसमें लोकापवाद होने की आशंका है। वर्तमान योगी सम्प्रदाय में भी यह नियम चालू है॥

अमरत्व साधना में तान्त्रिक और कौलिक दृष्टि

म० म० पं० गोपीनाथ जी कविराज, अध्यक्ष–योगतन्त्रविभाग, वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

तन्त्रशास्त्र की आलोचना करने पर यह प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में अमरत्व साधना के लिए दो प्रसिद्ध प्रक्रियाओं का उपयोग होता था। इनमें एक तान्त्रिक प्रक्रिया और दूसरी कौल प्रक्रिया है। यह कहना अनुचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि कौल प्रक्रिया की पृथक् रूपेण गणना की जा रही है। 'अमरत्व' शब्द से इस प्रसंग में दिव्य-देह की प्राप्ति समझना चाहिए। हमलोग जिस देह के साथ सर्वदा परिचित रहते हैं, वह जड़ देह है, जो पंच भूतात्मक पिण्डरूप है। यह देह काल के अधीन है, एवं परिणामशील है। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते एवं नश्यति यह छः प्रकार के भावविकार इसमें अनुस्यूत रहते हैं। अर्थात् जन्म के बाद ही इस देह में क्रमिक परिणाम होता रहता है और अन्त में इसका नाश होता है। इस देह की पृष्ठभूमि में लिंग-शरीर की सत्ता मानी जाती है और लिंग के अन्तराल में कारणदेह भी वेदान्तशास्त्र में माना गया है। यह सब देह प्रकृति से या माया से उद्भूत नश्वर देह हैं। यह सभी त्रिगुणात्मक हैं। इससे अतिरिक्त इनकी पृष्ठभूमि में वैन्दव देह अथवा महामायासंभूत देह विद्यमान है। जिसका विशेष विवरण सिद्धान्तशैव सम्प्रदाय के साहित्य में देखने में आता है। यह आगम साहित्य का ही एक विभाग है। वैष्णवों की दृष्टि से यह देह अप्राकृत विशुद्ध, सत्त्वमय देह है, जिसका वर्णन पांचरात्र आगम और तन्मूलक वैष्णव प्रस्थानों में मिलता है। इस देह को 'अप्राकृत' इसीलिए कहा जाता है कि इसमें प्राकृत गुणविशेष—रजोगुण तथा तमोगुण नहीं है, एकमात्र सत्त्वगुण है, परन्तु वह भी प्राकृत नहीं है। इसीलिए उसके साथ रज तथा तम का स्पर्श नहीं रहता। इसी कारण से इस देह को अप्राकृत कहा जाता है। प्राकृत देह त्रिगुणात्मक होता है। यह देह केवल सत्त्वगुण से रचित होने के कारण निर्मल और विशुद्ध माना जाता है। विशुद्ध सत्त्व सांख्य शास्त्र में नहीं है, परन्तु भगवान् पतंजलि ने प्रकृष्ट सत्त्व नाम से इसको ईश्वर की नित्य शुद्ध उपाधि के रूप में ग्रहण किया है। पातंजल योगियों का कथन है कि यह विशुद्ध सत्त्व शुद्ध होने पर भी अमित है, इसमें सन्देह नहीं है। शाक्त योगियों के अनुसार यह भी चिन्मय देह नहीं है। योगियों की दृष्टि से शाक्त देह ही चिन्मय देह है। वही यथार्थ अमर देह है, जिसको प्राप्त करने पर कालकृत परिणामों के ऊर्ध्व में स्थितिलाभ होता है। वही वास्तव में दिव्य देह है और नित्य है। उसकी प्राप्ति से ही अमरत्व की सिद्धि होती है। शाक्त योगियों का कथन है कि सूक्ष्म ध्यान से ही इस मार्ग में सत्ता का उन्मेष होता है।

परन्तु इसकी प्रक्रिया तान्त्रिक तथा कौलिक सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न है। उद्देश्य एक होने पर भी प्रक्रिया अंश में दोनों सम्प्रदायों में भेद है। सूक्ष्म ध्यान की एक प्रक्रिया तान्त्रिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है और इसी प्रक्रिया का दूसरा स्वरूप कौलिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है।

तान्त्रिक पद्धति

यह पद्धति स्थूल प्रक्रिया विशेष है। इस प्रक्रिया में सबसे पहले प्राणशक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। जन्मस्थान या कन्द में स्पन्द-शक्ति से आविष्ट प्राण का सहारा लेकर गुदस्थान के संकोच-विकास के द्वारा सूक्ष्म प्राणशक्ति को जगाना पड़ता है। इस प्रकार उसको जगाना चाहिये कि मानो मन उस समय में इस व्यापार को निविष्ट होकर देख सके। मानसिक दृष्टि से इस व्यापार को देखना पड़ता है, जिसके प्रभाव से आवेश उत्पन्न होता है। इतनी क्रिया सम्पन्न होने के बाद कालाग्नि शक्ति का अवलम्बन करना आवश्यक है। इसके लिए दोनों पैर के अंगुष्ठरूप आधार में जाना पड़ता है। इसके अनन्तर परवर्ती कार्य का सम्पादन होता है। यह कार्य और कुछ नहीं है, किन्तु शक्तिस्पन्दरूप वीर्य को कन्दभूमि से प्राप्त करके पूर्वोक्त स्थान में क्षेपण करना चाहिये। यह समग्र क्रिया भावना द्वारा ही सम्पूर्ण करना उचित है। उस कार्य को अर्थात् शक्तिस्पन्द का अवलम्बन करके प्राणस्पन्दरूप क्रियाशक्ति को उस वीर्य से अभिव्यक्त करने के बाद तीव्र रूप से उसको उत्तेजित करना पड़ता है। उसके अनन्तर देह के केन्द्र स्थल में अर्थात् नाभि में उसकी प्राप्ति होती है। इस प्राप्ति का व्यापार इच्छा द्वारा सम्पन्न करना पड़ता है। अर्थात् संकोच क्रम से उत्थित ऊर्ध्वारोहण प्रयत्न द्वारा इसको पूर्ण करना पड़ता है। इतना हो जाने पर विज्ञान से अर्थात् भावना के द्वारा स्थिति को प्रकट करना आवश्यक है। इतना हो जाने पर देहस्थ ग्रन्थियों में भेद हो जाता है। गुल्फ, जानु, पेट, कन्द, नाभि इन सब ग्रन्थियों का भेद करना आवश्यक होता है। इस भेदक्रिया का नामान्तर वेध है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए ऊर्ध्व स्थित ग्रन्थियों पर आक्रमण करना पड़ता है। पहले मूल स्पन्द को आश्रय कर के चलना चाहिये। गुदस्थान का निरन्तर क्रम से संकोच और विकास करते हुए उस स्थान का निरोध करने पर मूल स्पन्द का आश्रय मिलता है। तान्त्रिक लोग जिस दिव्यकरण की चर्चा करते हैं, यह उसी का उपलक्षण है। इसके बाद इडा और पिंगला दो स्रोतों का त्याग करते हुए इच्छाशक्ति के अधिष्ठान के प्रभाव से मध्यप्राणरूपा शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। यह शक्ति मध्य मार्ग में निरन्तर चलती रहती है। अन्त में सुषुम्ना नाड़ी का आश्रय करना आवश्यक है। इतना हो जाने पर इन्द्रिय-गोचर विषय-ग्राम से विरति का अभ्यास करना आवश्यक है। इस समय सब इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर के अवस्थान करना पड़ता है। इसके अनन्तर विज्ञान से आगे का कार्य करने का अवसर है। इस विज्ञान में

माया का स्पर्श नहीं है। वस्तुतः प्रकाशानन्दात्मक ज्ञान ही विज्ञान है। इस ज्ञान के द्वारा अख्याति या अज्ञान का निर्मूलन करना पड़ता है। इस अवस्था में प्राणादि का प्राधान्य रूप अख्याति नहीं रहती है। इस प्रक्रिया का उद्देश्य ब्रह्मादि कारणवर्ग का परिहार करना है। परन्तु यह व्यापार क्रम से होता है। यह सब कारण संवित्-स्वभाव है और सृष्टि, संरक्षण, संहारादि जागतिक व्यापारों से सम्पृक्त है। ब्रह्मादि का अधिष्ठान हृदय, कण्ठ प्रभृति स्थानों में माना जाता है। यह अधिकारिमण्डल है। परमेश्वर के पंच कृत्यों में एक-एक कृत्य को सम्पादन करने के लिए एक-एक पुरुष नियुक्त रहते हैं। इन अधिकारियों को क्रमशः त्याग कर मायादि ग्रन्थियों का भेद करना पड़ता है। इसी के साथ विभिन्न आकाशों का परित्याग करना पड़ता है। योग-मार्ग में पाँच आकाश प्रसिद्ध हैं। छः कारणों से एवं पाँचो व्योमों से ऊपर उठकर कुण्डल शक्ति को ग्रहण करना पड़ता है। इस कुण्डल शक्ति का पारिभाषिक नाम समना शक्ति है। यह कुण्डल शक्ति शून्यातिशून्य अर्थात् शिव तत्त्व से पृथिवी तत्त्व पर्यन्त समग्र विश्व को गर्भ में धारण करते हुए कुण्डल के रूप में अवस्थान करती है। यह बहुत उच्च अवस्था है। परन्तु इससे भी ऊपर उठना आवश्यक है। इस ऊर्ध्व गति में एक मात्र विज्ञान ही सहायक है। इतना हो जानेपर उन्मना अवस्था की प्राप्ति होती है, जिस अवस्था में अपना स्वरूप परमतत्त्वरूपेण प्रकाशित होने लगता है।

इस प्रक्रिया का सारांश यह है कि पहले प्राण-स्पन्द अथवा क्रियाशक्ति को जगाकर नाभि में प्रवेश करना पड़ता है। जिसमें नाना प्रकार की प्रक्रिया है। इसके बाद इड़ा और पिंगला नाड़ियों को छोड़ कर मध्य मार्ग में चलने वाली मुख्य प्राण-शक्ति अर्थात् ब्रह्म-शक्ति द्वारा सुषुम्ना नाड़ी का आश्रय करना पड़ता है। इसके प्रभाव से विषयों का उपरम हो जाता है और इन्द्रियवर्ग अन्तर्मुख हो जाते हैं। इन्द्रियों के अन्तर्मुख होने पर कारण वर्गों का त्याग हो जाता है और मायादि द्वादश ग्रन्थियों का भेद और पंच व्योम का अतिक्रम हो जाता है। इतना सिद्ध होने पर षट्कारणों के ऊपर जो समना अथवा कुण्डल-शक्ति है, उसी की प्राप्ति होती है। पहले ही कह चुके हैं कि इसी शक्ति में समग्र विश्व अन्तर्लीन अवस्था में रहता है। इतनी प्रक्रिया को समाप्त करने पर विज्ञान शक्ति द्वारा ऊर्ध्व में उठ कर उन्मना में प्रवेश होता है। इसी का नामान्तर है—परतत्त्वप्रवेश।

अब तक जो कुछ कहा गया, यह तान्त्रिक प्रक्रिया का विवरण है। परन्तु कौलिक प्रक्रिया इससे विलक्षण है। कौलिक प्रक्रिया शाक्तानन्द मार्ग में संचार का उपलक्षण है। दोनों प्रक्रियाओं में ही सूक्ष्म ध्यान की आवश्यकता होती है। कुल प्रक्रिया में परा चित्शक्ति को मध्यम प्राण में वहन करना पड़ता है। यह मध्यम प्राण ही सुषुम्ना स्थित प्राण-ब्रह्म है, जो आगम शास्त्र में उदान नाम से प्रसिद्ध है।

जिस समय प्राण तथा अपान इन दोनों वृत्तियों की निवृत्ति हो जाती है, तब उन्मना रूप से चिन्तन आवश्यक होता है। इस चिन्तन की प्रक्रिया प्राचीन शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इसमें सब से पहले 'अहं-भाव' को लेकर देहादिप्रमातृभाव को शान्त करना पड़ता है। पूर्णाहन्ता के आवेश से ही यह कार्य सिद्ध हो सकता है, इसके लिए दूसरा उपाय नहीं है। देहादिप्रमातृभाव निवृत्त हो जाने पर तीव्रवीर्यसम्पन्न मूल-मन्त्र की सामान्य स्पन्द के रूप में भावना करनी पड़ती है। यह सामान्य स्पन्द परा शक्ति के साथ सामरस्यात्मक है और इसी लिये यह स्पन्दनात्मक है। मूल मन्त्र द्वारा अपने स्पन्द से प्राणादि को निवृत्त करने पर ही पूर्वोक्त स्पन्दभाव की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से मन्त्र-वीर्य की भावना समाप्त करके अपने अभिमान की आनन्द-चक्र में स्थापना करनी पड़ती है। इस आनन्द-चक्र का नामान्तर ही मूलाधार है। यह जो अभिमान की बात कही गई है, यह अपना असामान्य चमत्कार रूप वीर्य है। इनके लिये पहले ही परिमित अथवा परिच्छिन्न अभिमान को, जो कि प्राणादि देह को अवलम्बन करके खेलता है, शान्त करना पड़ता है। अब तक जो कुछ कहा गया है, यह है प्रारम्भिक क्रिया। इसके बाद सूक्ष्म योग का अवलम्बन करना पड़ता है। यह है वेध-क्रिया, जिसमें नादरूपी सूची की आवश्यकता होती है। यह सूची वस्तुतः मन्त्राधिष्ठाता के प्राण गत स्फुरण अथवा उन्मेष का नामान्तर है। इस वेधक्रिया में क्रमशः ऊर्ध्व मार्ग में आरोहण चलता रहता है। यह सूक्ष्म-योग का ही रूप है। इस प्रकार के सूक्ष्मयोग के द्वारा उन्मेष प्राप्त स्फुरत्ता उत्तेजित हो जाती है। मध्य मार्ग में आरूढ़ होकर षोडश आधार एवं द्वादश ग्रन्थियों का भेदन करना पड़ता है। इसकी प्रक्रिया कुलशास्त्र में विभिन्न स्थानों में उपदिष्ट है। इतना भेद होने पर भी वेध-क्रिया समाप्त नहीं होती, क्योंकि परम शान्त जो द्वादशान्त स्थान है, वह बाकी रह जाता है। द्वादशान्त को विद्ध करने के लिए पहले उसमें प्रविष्ट हो कर महामायापर्यन्त सब प्रकार के बन्धन को त्याग करना चाहिये और उसी स्थिर पद में अवस्थित होकर व्यापक नित्योदित पराशक्ति से सामरस्य भावापन्न जो परम शिव है, उनके साथ तादात्म्य लाभ करना चाहिये। इसके अनन्तर द्वादशान्त से हृदय के बीच में आपूरण करते हुए आकुंचन क्रिया करना आवश्यक है। इसके लिये भीतर में प्रसृत होने वाले मध्यम मार्ग का ही आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक होता है। अब तक हृदय में प्रवेश का विवरण हुआ। इसके अनन्तर हृदय से उच्छलित अमृत को विभिन्न दिशाओं में फैला देना चाहिये। यह अमृत तब अनन्त नाड़ी प्रवाहों में प्रसरण करता है। इससे देह को पूर्ण कर लेना चाहिये।

समग्र देह जब अमृत से पूर्ण हो जाता है और अमृत में जब बहिर्मुख वेग तीव्र हो जाता है, तब रोमकूप का आश्रय करके उस अमृत को विषय की तरफ रेचन प्रक्रिया द्वारा फैलाना चाहिये। इसमें ध्यान रखने की बात यह है कि किसी दिशा में अमृत संचार में विच्छेद न हो। इसी का नाम है—सूक्ष्म शाक्तानन्द ध्यान।

इस ध्यान की स्थिति में यह भावना करनी चाहिये कि समग्र विश्व इस आनन्द से आपूरित हो गया है। इस अवस्था तक स्थिति हो जाने पर योगी जरा तथा मृत्यु से मुक्त हो जाते हैं। अमरत्व साधना की यही कौलिक प्रणाली है।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीन काल में किसी-किसी प्रस्थान में तान्त्रिक तथा कौल प्रक्रिया का भेद माना जाता था। इस लेख में दोनों सम्प्रदायों की प्रक्रिया में जो भेद दिखाई पड़ता है, यह साम्प्रदायिक भेद का निदर्शन है। प्रत्यभिज्ञाहृदय में क्षेमराज ने प्रसंगतः इस भेद का परिचय दिया है, क्योंकि उन्होंने कहा है कि आत्मा के स्वरूप के विषय में आगम का प्रामाण्य मानने वाले सम्प्रदायों में किसी के मत से यह आत्मा विश्वातीत माना जाता है, इसको तान्त्रिक मत कहा गया है। मतान्तर में आत्मा को विश्वात्मक कहा गया है, यही कौलिक मत है। तीसरे मत में आत्मा को विश्वात्मक एवं विश्वातीत दोनों माना है, यही त्रिक मत है।

कालीविद्या कालीशक्तिश्च

श्रीरघुनाथपाण्डेयः, वरिष्ठानुसन्धाता, वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

दश महाविद्याः

मन्त्रशास्त्रे पुंस्त्रीनपुंसकभेदेन त्रिविधं देवतास्वरूपं लभ्यते। मातृकावर्णेभ्य एव सर्वविधमन्त्राणामुत्पत्तिः। तदुक्तं शारदातिलके—

मातृकावर्णभेदेभ्यः सर्वे मन्त्राः प्रजज्ञिरे।
मन्त्रविद्याविभागेन त्रिविधा मन्त्रजातयः॥
पुंस्त्रीनपुंसकात्मानो मन्त्राः सर्वे समीरिताः।
मन्त्राः पुंदेवता ज्ञेया विद्याः स्त्रीदेवताः स्मृताः॥ (२।५७–५८)

विद्याश्चासंख्येयाः, तथापि तासु दशमहाविद्यानां प्राधान्यम्, तासामपि काली-ताराविद्ययोरत्यन्तं प्राशस्त्यं तत्र तत्र तन्त्रेषु वर्ण्यते। मुण्डमालातन्त्रे प्रथमपटले तासां नामानि—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा॥
बगला सिद्धिविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका।
एता दश महाविद्याः सिद्धिविद्याः प्रकीर्तिताः॥ इति।

[1]तोडलचामुण्डातन्त्रयोरपि नाम्नां साम्यमेव। शक्तिसंगमतन्त्रे तु पूर्वोक्त-षोडशीकमलयोः स्थाने रमासुन्दर्योः संनिवेशः। मुण्डमालायां सिद्धिविद्यास्थाने मातङ्ग्या उल्लेखः, शक्तिसंगमे तु भैरव्याः सिद्धिविद्यात्वेन ग्रहणमिति विशेषः।

भैरवाः

यतः स्त्रीदेवतात्मकत्वं विद्यानामतस्तासामधिष्ठातारः शिवा भैरवव्यपदेश-भाजस्तत्तन्नाम्ना निर्दिष्टास्तन्त्रेषु। तद्यथा तोडलतन्त्रे—

(१) महाकालः, (२) अक्षोभ्यः, (३) शिवः (त्र्यम्बकः पञ्चमुखश्च), (४) त्र्यम्बकः, (५) दक्षिणामूर्तिः (पञ्चमुखः), (६) कवन्धः (शिवः), (७) ······(८) एकवक्त्रः (महारुद्रः), (९) मतङ्गशिवः (दक्षिणामूर्तिः), (१०) विष्णुश्च (सदाशिवः)।

---

१. म० म० प० गो० ना० कविराजमहोदयानां लेखात्—सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ७।

शक्तिसंगमानुसारं २, ४, ५, ६, ७, ८, संख्यकभैरवाणां नामानि ललितेश्वरः, (त्रिपुरभैरवः), विकरालः (क्रोधभैरवः), महादेवः, कालभैरवः (घोरः), वटुकः, मृत्युञ्जय इति। तत्तद्भैरवनामभेददर्शनेन पर्यायसंभावनयैव समाधिर्न तु भैरवान्तर-कल्पनयेति न कोऽपि विरोधः। धूमावत्याः पतिहीनत्वान्न कोऽपि भैरवः। शक्ति-संगमे तु तस्या अपि कालभैरवो भैरवत्वेन स्वीकृतः। प्रथमभैरवो महाकालस्तु दक्षिण-कालिकया सम्बद्धस्तत्र।

आम्नायाः

उपासकानां रुचिभेदाद् मन्त्रशास्त्रे आम्नायाः षट् स्वीक्रियन्ते, पूर्वपश्चिम-दक्षिणोत्तरोर्ध्वानुत्तरभेदात्। सर्वा अप्येता विद्या आम्नायक्रमे विभक्ताः। तत्र काली-महाकाल्योस्तु उत्तराम्नाये समावेशो वाडवानलतन्त्रानुसारात्।

दशमहाविद्यासु प्रथमा काली

काल्या भैरवो महाकाल इति पूर्वमेवोक्तम्। महाकालस्याभिन्ना शक्तिः काली दशसु प्राथम्येन परिगण्यते।[१] उत्तराम्नाये—काली, तारा (कैश्चिद् भेदैः सह), भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, मातङ्गी, गुह्यकाली, धूम्रा, कामकलाकाली, महाकाली, महा-श्मशानकाली, कपालिनी, कालसंहारिणी, छिन्ना, महाभीमा, सरस्वती, महारात्रिः, तारायास्त्रयो भेदाः—योगेशी, सिद्धिलक्ष्मी, सिद्धिभैरवीत्येता विद्या वर्गीकृताः।

कालीप्रादुर्भावः

प्राणतोषिणीधृतस्वतन्त्रतन्त्रे—अवन्तिपुरे फाल्गुनकृष्णैकादश्यां महारात्रितिथौ काल्या आविर्भावः। सती (दक्षपुत्री) पार्वती (मेनकातनया) इमे अपि तस्या एव नामनी। कालीं समुपास्यैव विश्वामित्रो ब्राह्मण्यं प्रपेदे। मुण्डमालातन्त्रे कालीकृष्णयोः कालीषोडश्योश्चैक्यमुपवर्णितम्। प्राणतोषिण्यां १२४ तमे पृष्ठे काल्याः सुन्दरीरूपतया षोडशीरूपतया वा विवृतिमुद्दिश्यैका कथा वर्तते। तद्यथा—इन्द्रः कैलासवासिनं शिवं काश्चन अप्सरसः प्रेषितवान्। शिवस्ताः काल्याः सविधे कालीपुरं संप्रेष्य स्वय-मप्यनुजगाम। कृष्णवर्णां तामभिलक्ष्य शिवः कालीति तामाचचक्षे। एतच्छ्रुत्वाऽवमता सा सद्य एव गौरवर्णा समजायत। अत्रान्तरे देवर्षिर्नारदो दर्शनार्थमागतः शिवश्चो-त्तरमेरुं महाकालीं समुपसृतः। नारदः परिहासप्रसङ्गेन शिवस्योज्जिघृक्षां तस्यै संसू-चितवान्। तच्छ्रुत्वा साऽत्यन्तं सुन्दरं रूपं गृहीत्वा तत्सम्मुखमुपतस्थे। कापि मनोज्ञा आकृतिर्भवद्धृदि प्रतिबिम्बितेति सा शिवमुवाच। शक्तिं ध्यायतः शिवस्याविश्रब्धतां कलयन्ती सा भृशं चुकोप। शिवस्तामनुसन्धातुमुन्मुखीकृत्य तस्या ज्ञाननेत्रमुन्मी-लितवान्। मम प्रतिकृतिरेव शिवहृदयस्थेति ज्ञात्वा साऽत्यर्थमाश्चर्यहर्षाभ्यां चमत्कृता।

---

१. म० म० प० गो० ना० कविराजमहोदयानां लेखात्—सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ७।

शिवस्तां शक्तिसुन्दरीति सम्बोधयन् पुर आविर्भावयामास। सुन्दरी, श्रीः, पञ्चमी, त्रिपुरसुन्दरी, ललिता, सर्वेऽमी पर्याया एव।

तस्याः पूर्णयौवनोद्भेदात् शिवस्तां षोडशीत्यपि ख्यापयामास। अस्या देव्या भेदा नामानि च पुरश्चर्यार्णवे वर्णितानि। ततो नव नामानि निर्दिश्यन्ते—(१) दक्षिणा, (२) भद्रा, (३) श्मशाना, (४) काल-(काली), (५) गुह्य-(काली), (६) कामकला, (७) घना, (८) सिद्धि-(काली), (९) चण्डी इति।

जयद्रथयामले—डम्बरकाली, गहनेश्वरी, एकतारा, चण्डशाबरी, वज्रवती, रक्षाकाली, इन्दीवरीकाली, धनदा, रमण्या, ईशानकाली, मन्त्रमाता—इत्येताः काल्यो निर्दिष्टाः। सम्मोहनतन्त्रे दशभेदाः कथिताः, किन्तु सप्तैव प्राप्यन्ते—(१) स्पर्शमणिः, (२) चिन्तामणिः, (३) सिद्धकाली, (४) विद्याराज्ञी, (५) कामकला, (६) हंसकाली, (७) गुह्यकाली इति। तत्र दक्षिणा भद्रकाली च दक्षिणाम्नाये परिगणिते। गुह्यकाली, कामकला, महाकाली, महाश्मशानकालीति चतस्रस्तूत्तराम्नायविद्यात्वेन निर्दिष्टाः।

काल्या उपासकाः

अस्या उपासकाः कुमारीतन्त्रे—ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः, इन्द्रसूर्यवरुणकुबेराग्निप्रभृतयो देवाः, दुर्वासोवशिष्ठदत्तात्रेयबृहस्पतिविश्वामित्रप्रभृतय ऋषिप्रवराश्च। गुह्यकाली सामान्यतया नेपाले पूज्यते, अस्या उपासका ब्रह्म-वशिष्ठ-राम-कुबेर-यम-भरत-रावण-बलि-इन्द्र-प्रभृतयः। हारीतच्यवनयोरपि सप्तदशाक्षरी गुह्यकाली उपास्या आसीत्। हारीतः खलु गुह्यकालीमन्त्रं कीलितवान्। अत उत्कीलनं विना सा सामान्यतया न सर्वेभ्यः सिद्धिप्रदा सिद्धा वा भवति। च्यवनोपासिता तु लोकेऽद्यापि लब्धप्रसरा। साधकभेदेन गुह्यकाल्या मुखाकृतिर्विभिन्ना। भरतोपासिता सा दशमुखी। गुह्यकाली एवैतस्या विद्याया मूला प्रकृतिः स्वीकृता। अस्याः सप्तभेदाः। दक्षिणायास्तु पञ्चभेदाः सन्ति। कामकलाकाल्या उपासकानां नामानि यथा महाकालसंहितायाम्—इन्द्र-वरुण-कुबेर-ब्रह्म-महाकाल-राम-रावण-यम-विष्णु-प्रभृतयो देवा ऋषयश्च। अष्टादशाक्षरी कामकला विद्या सर्वोत्कृष्टा मन्यते। कालीतन्त्रे सिद्धकाली-भुवनेश्वर्यौ दक्षिणकालिकाया एव भेदौ।

दशमहाविद्योत्पत्तिः

विद्यासु कादि-हादि-कहादि-सादि-रूपभेदास्तन्त्रेषु श्रूयन्ते। शक्तिसंगमतन्त्रे कालीमतस्य कादिविद्यायां परिगणनम्। एवमेव हादिमतं श्रीत्रिपुरायाः, कहादिमतं श्रीतारिण्यास्तारापरपर्यायायाः। कालीविद्योपासनायां पूर्वं बटुकभैरवस्य पूजा

तन्मन्त्रजपश्चावश्यको, काम्यपूजायां बटुकभैरवपूजां विना सिद्धिविरहस्य तत्र स्पष्टमुल्लेखात्। तद्यथा—

बटुकस्य च संयोगात् सिद्ध्यत्येव न चान्यथा।
श्रीतारोपासको यस्तु कालिकोपासकस्तु यः॥
इमां विद्यां साधयित्वा सिद्धिमाप्नोति नान्यथा।

(शक्तिसंगमे कालीखण्डे ८। २३-२४)

शक्तिसंगमस्योनविंशे पटले विद्योत्पत्तिरित्थं वर्णिता—कृतयुगे तारात्रकमलाक्षविद्युन्मालीति नामानस्त्रयो भ्रातरो दितिगर्भोद्भवा अभूवन्। ते हि दिव्यं दशसहस्रवर्षं ब्रह्मणः प्रीतये तपोऽतप्यन्त। प्रीतो ब्रह्मा तैरभ्यर्थिते वरचतुष्टये वरद्वयं ददौ। सर्वप्राणिभ्योऽवध्यत्वरूपः प्रथमः, लक्षत्रययोजनान्तरस्थितं पुरत्रयं देवैरप्यलङ्घ्यरूपं द्वितीयः। वरदानानन्तरं ब्रह्मा तानुवाच—अयि भो दैत्यराजाः! जगत्त्रये कस्यापि सर्वथाऽवध्यत्वं नास्तीति भवन्तः केनापि प्रकारेण घटमानं स्वस्वमृत्युं स्वीकुर्वन्तु। क्षणं विचिन्त्य तैः प्रोक्तं त्रयाणामस्माकं त्रिपुरमेकेन शरेण क्षणाद् यो धक्ष्यति सोऽस्मान् हनिष्यतीति। तथेत्युक्त्वा धाता देवैस्तोष्टूयमानस्तैरावृतः स्वलोकं प्रतस्थे। तेषां पुराणि नभःसीमनि सौवर्ण-राजत-आयसरूपाणि क्रमेणावातिष्ठन्त। पुराणामुच्छ्रायायामौ दशसहस्रयोजनमितौ। प्रतिपुरं युद्धदुर्मदानां दानवानां संख्या त्रिंशन्निखर्वषट्वृन्दनवत्यर्बुदकोटयः। तेषां तादृशीमृद्धिं दृष्ट्वा सेन्द्राः सर्वे देवा भीतभीताः स्वस्वावासान् त्यक्त्वा पलायाञ्चक्रिरे। ब्रह्माणं पुरोधाय सर्वे देवा रुद्रमुपसंगम्य त्रिपुरासुरगणस्य देवान् प्रत्युपद्रवानब्रुवन्। देवाङ्गनापहरणम्, यज्ञयागादिनिरोधः, मह्या निर्मनुष्यत्वम्, अमरावत्या निर्देवत्वम्, नदीनां सलिलराहित्यम्, सागराणां रत्नाभाववत्त्वम्, वृक्षकोटरेषु पर्वतकन्दरासु स्वात्मानं प्रच्छाद्य देवमनुष्यादीनां कालयापनादिकमिति निखिलां कष्टपरम्परां देवाः शिवं निवेदयामासुः। एतच्छ्रुत्वा वृषभध्वजस्तैर्योद्धुं रथनिर्माणाय देवानादिशत्। ब्रह्मा स्मितपूर्वमभिभाषमाणः स्वस्य देवानां चासामर्थ्यं रथनिर्माणे तद्वहने च प्रकटयामास। भगवान् शिवो रथनिर्माणोपकरणान्यधिकृत्य वक्तुमुपक्रान्तः—तस्मिन् रथे चत्वारो वेदा एव वाजिनः स्युः। उपाकर्मानुष्ठानसंचितेन तपसा तारात्रस्य बलक्षयः, वर्षं यावत्कृतया शान्त्या निर्मितेन पवित्रेण कमलाक्षतपःक्षयः, पूर्वोक्तभ्रातृद्वयस्य बले क्षीणे विद्युन्मालिनोऽपि बलहानिः सम्पत्स्यते। वेदा वाजिनः, सम्पूर्णा मेदिन्येव रथः, सूर्याचन्द्रमसोश्चक्रस्थितिः, कूबरगन्धमादनविन्ध्यगिरयो नाभिः, कैलासोऽक्षः, मेरुर्ध्वजदण्डः, विधिः सारथिः, प्रणवः प्रतोदः, पुराणानि रश्मयः, मन्दराचलो धनुः, वासुकिः शिञ्जिनी, विष्णुः शरः, बाह्योर्वायुवेगः, वासुकेः फणासु यममृत्युकालानां निवासः, शरपृष्ठे वासवः, पुङ्खस्थाने कुबेरवरुणौ, मस्तके सर्वदेवताः, नासत्यौ वटिनीसंस्थौ, यज्ञाः पदातयः, अष्टाङ्गे दशविद्याः, शत-

स्थाने शतास्त्रकम्, षट्त्रिंशदङ्गुलो धनुर्वंशो मन्त्रबन्धनसंयुतः, आदित्यरूपा मन्वङ्गुल्यः, मैनाकसम्बन्धिनः शराः, पिनाकस्य लक्षगुणगुणितश्चापः। इत्थमन्यच्च यत्किञ्चिदपेक्षितं तत्सर्वं स्वेच्छया शिवेन प्रगुणीकृतम्। षोढान्यासकवचास्त्रादीनां सत्त्वेऽपि योग्यरक्षाया अभावमभिलक्ष्य भगवाञ्छिवो भृशं वैयाकुल्यमवाप, ध्यानावस्थितः सन् विश्वतारिणीं शक्तिं स्तुत्यादिभिः संतोष्य दश दिक्षु रक्षायै सम्प्रार्थयामास। सा विश्वतारिणी शक्तिरात्मानं दशविद्यामयीं विधाय त्रैलोक्यविजयाभिधां रक्षां स्वीचकार। स्वर्गे स्तम्भनाख्याभिधा, भुवि त्रैलोक्यविजया, पाताले आकर्षणाख्या इति त्रैधं रूपमास्थाय कालीताराछिन्नमस्ताख्यविद्यास्त्रिलोकीरक्षासु तया न्ययुज्यन्त। दशविद्यारूपा रक्षाः संप्राप्य तुष्टः शिवस्त्रिपुरविजयाय रथारोहणपूर्वकं प्रतस्थे। पूर्वोक्तदैत्यानां पुरत्रयमेकेन शरेणाभिनत्। क्षणेन भस्मसाद्भूता दैत्या यमातिथयोऽभवन्। ततः प्रभृत्येव विद्यानां रक्षारूपता जगति विश्रुता। रहस्यरूपोऽयं रथः। आणवमायीयकार्ममलास्त्रयो दैत्याः, परावाग्रूपा संविदेव मातृकामयो रथः, इच्छाज्ञानक्रियात्मकाः शाम्भवशाक्ताणवोपायाः, काली-तारा-छिन्नमस्तारूपास्तिस्रो विद्याः, त्रिभिरुपायैर्मातृकारथमधिष्ठाय मलत्रयपरिपाकक्रमेण शक्तिपातपवित्रितोऽणुः शिवरूपं स्वात्मानं प्राप्तुं क्षमः। अणूनां रिरक्षिषयैव विद्यानामाविर्भाव इति कथाया रहस्यार्थः।

कुण्डलिनी शक्तिः

शक्तिसङ्गमतन्त्रस्य प्रथमे पटले—साऽनादिविद्या षट्शाम्भवेश्वरी वाच्यातीता पराकला काली महाप्रलये शिवशक्तिमयमेकं रूपम् (देहम्) आसाद्य तिष्ठति। तत्र प्रेतरूपा ब्रह्मविष्णुरुद्रादयः काल्या हृदयरूपे श्मशाने (हृदयाकाशे रिक्तरूपे) चितिरक्षास्वरूपत्वं प्राप्य नृत्यन्तो गायन्तश्च तिष्ठन्ति। तस्यामनन्तानन्तब्रह्मविष्णुमहेश्वरा इन्द्राश्च प्रतिवसन्ति। तस्यां शक्तौ तदा कोटिकोटिब्रह्माण्डाः स्वरूपेणावतिष्ठमानाः समुल्लसन्ति। चत्वारो वेदा युगाश्च शवरूपेण स्थिताः। सा चानादिकाली चिद्घनरूपेण सर्वात्मकत्वं सामरस्यं चास्थाय भ्राजते। अत्रान्तरे सा शक्तिः स्वबिम्बं प्रेक्षाञ्चक्रे, येन सद्यस्तद्बिम्बं मायात्वेन परिणतमभवत्। तया च मायया सृष्टिकार्यनिर्वाहाय मानसिकः शिवो भर्तृरूपः सृष्टः। मायासृष्टमानसिकशिवस्य संज्ञा आदिनाथ इति विहिता। तमादिनाथं स्वभर्तारं प्रकल्प्य महाशून्यं च विधाय तेन साकं सा विपरीतरतासक्ता त्रिंशदर्बुदपद्मवृन्दपञ्चाशत्पद्मकोटियुगानरमत। तयोराश्लेषजन्यबिन्दुना महालावण्ययुतैका सुन्दरी समजनि, तस्याश्चैका मानसी शक्तिः परात्परोत्पन्ना, यस्या नाम महाकालीति सुन्दरीति वा लोके प्रसृतम्। तां विलोकयतो मानसशिवस्य महामोहः समजायत। कालीं प्रति गर्वान्वितां वाणीं कालः प्रोवाच। एतेन ध्वनेर्जन्म। मायादिनाथयोः प्रेम्णा बिन्दोर्जनिस्तु पूर्वमेवोक्ता। इत्थं बिन्दुध्वनिसकाशाद् वर्णाः संजज्ञिरे। अक्षरम्, वर्णः, मातृका, एते पर्यायाः।

६

अत एव मातृकाया अक्षर इति संज्ञाऽपि। काली कालं मोहयित्वा स्वयं सृष्टिव्यापार-निरताऽन्तर्हितेवाभूत्। कालो हि तया विरहितश्चकितो भ्रान्तचित्त इतस्ततः श्मशानाटनतत्परो विलपंस्तद्दर्शनार्थं पञ्चाशत्पद्मकोटियुगान् तपस्तेपे। तपसा प्रीता सा तस्मै ज्ञानं सर्वाकर्षणशक्तिं चादात्। भक्तप्रीत्या वरदा भवतीति वरदानचातुर्येण तां दक्षिणेति लोकाः स्मरन्ति। आकर्षणशक्तिं तस्मिन्नुत्पाद्य स्वयं तेनाकृष्टाऽऽगत्य च महाकालं तान्त्रिकयोगमार्गोपदेशं चकार। योगाभ्यासपरायणः कालः कुण्डलीध्यान-मग्नो बभूव। कुण्डलीशक्तिः स्वेच्छया किञ्चिदुच्छूना त्रिशक्तित्वमादधाना क्रमात्क्रमं स्वात्मानं स्फारयन्ती चतुरादिसंख्याक्रमवृद्ध्या पञ्चाशत्प्रकारतामिता तावत्संख्याक-वर्णमातृकात्वं लेभे। प्रतिवर्णमेका विद्या इत्येकपञ्चाशद्विद्यानामाविर्भावः। तासां नामानि—(१) काली (आद्या शक्तिः), (२) इच्छा, (३) ज्ञाना, (४) क्रिया, (५) चतुर्वेदेश्वरी, (६) महोग्रा, (७) सिद्धिकाली, (८) कालसुन्दरी, (९) भुवनाम्बिका, (१०) चण्डिकेश्वरी, (११) दशमहाविद्याः, (१२) श्मशान-कालिका, (१३) चण्डभैरवी, (१४) तारिणी, (१५) वशीकरणकालिका, (१६) महापञ्चदशी, (१७) महाषोडशी, (१८) छिन्नमस्ता, (१९) महा-मधुमती, (२०) महापद्मावती, (२१) रमा, (२२) श्रीकामसुन्दरी, (२३) दक्षिणकालिका, (२४) विद्येशी, (२५) गायत्री, (२६) पञ्चमी-सुन्दरी, (२७) षष्ठीविद्या, (२८) महारत्नेश्वरी, (२९) मृतसञ्जीवनी, (३०) महानीलसरस्वती, (३१) वसोर्धारा, (३२) त्रैलोक्यमोहिनी, (३३) त्रैलोक्यविजया, (३४) श्रीकामाख्यातारिणी, (३५) अघोरा, (३६) संगीतमोहिनी, (३७) बगला, (३८) अरुन्धती, (३९) अन्नपूर्णेश्वरी, (४०) नकुली (नाकुली), (४१) त्रिकण्टकीविद्या, (४२) राजेश्वरी, (४३) त्रैलोक्याकर्षिणी, (४४) राजराजेश्वरी, (४५) कुक्कुटी, (४६) सिद्धविद्या, (४७) मृत्युहारिणी, (४८) महाभोगवती, (४९) वासवी, (५०) फेत्कारी, (५१) महाश्रीमातृसुन्दरी (मातृकोत्पत्तिसुन्दरी) इति। यथा स्वेच्छया वलयत्रयं कृत्वा कुण्डलिनी स्थिता, तथैव सार्धत्रिवलयाकाराऽक्षोभ्यमुनिरूपिणी साऽनादि-विद्याऽपि। एतेन कुण्डलीत एव विद्योत्पत्तिरिति सूच्यते। प्राणतोषिण्यां तु कुण्डलीतः सर्ववर्णोत्पत्तिरुक्ता।

कालीविद्या गौडमार्गीया

केरल-कश्मीर-विलास-वैष्णव-चैतन्य-गौडादिभेदेनानेकानि मतानि तन्त्रेषु प्राप्यन्ते। आम्नायभेदेन मतानां सन्निवेशोऽपि कृतस्तत्र तत्र। शक्तिसङ्गमकालीखण्डे तृतीयपटले "उत्तरे गौड एव च" इति निर्देशात् कालीविद्या गौडमार्गस्येति निश्चि-तम्। एकैव शक्तिर्मार्गभेदेन विभिन्ननामभिराख्यायते—

केरले कालिका प्रोक्ता काश्मीरे त्रिपुरा मता ।
गौडे तारेति संप्रोक्ता सैव लोकोत्तरा भवेत् ॥ (शक्ति० ५।२४) इति ।

किन्त्वेतद् हादिमतानुसारेण । कादिमतानुसारं तु—

अथ कादौ केरले तु त्रिपुरा सा प्रकीर्तिता ।
काश्मीरे तारिणी बाला गौडे काली प्रकीर्तिता ॥ (शक्ति० ५।२५) इति ।

एतेनोत्तराम्नायस्य गौडमतस्य काली एव विद्या । गौडमतं चाष्टादशसु देशेषु प्रसरतीति शक्तिसङ्गमचतुर्थपटले प्रोक्तम् ।

काल्युपासकाः कौलाः

काल्युपासका एव कौला इत्युच्यन्ते । "श्रीकाल्युपासका ये च तत्कुलं परिकीर्तितम्" (शक्ति० ४।३२) । एतेन काल्युपासनापि कुलपदेन गृह्यत इति सिद्ध्यति । यद्यपि तन्त्रालोके एकोनत्रिंशाह्निके कुलशब्दस्यानेकेऽर्था दत्ताः । तद्यथा—

कुलं च परमेशस्य शक्तिः सामर्थ्यमूर्ध्वता ।
स्वातन्त्र्यमोजो वीर्यं च पिण्डः संविच्छरीरकम् ॥ इति ।

व्याख्यातं च जयरथेन—"कुलं हि परमा शक्तिः" इति, "लयोदयश्चित्स्वरूपस्तेन तत्कुलमुच्यते" इति, "स्वभावे बोधममलं कुलं सर्वत्र कारणम्" इति, "सर्वकर्तृ विभु सूक्ष्मं तत्कुलं वरवर्णिनि" इति, "सर्वेशं तु कुलं देवि सर्वं सर्वव्यवस्थितम्" इति, "तत्तेजः परमं घोरम्" इति, "शक्तिगोचरणं वीर्यं तत्कुलं विद्धि सर्वगम्" इति, "कुलं स परमानन्दः" इति, "कुलमात्मस्वरूपं तु" इति, "कुलं शरीरमित्युक्तम्" इति च ।

ललितासहस्रनामस्तोत्रव्याख्याने भास्कररायेणाऽन्येऽप्यर्थाः कुलशब्दस्य दत्ताः—"कुलं सजातीयसमूहः । स चैकज्ञानविषयत्वरूपसाजात्यापन्नज्ञातृज्ञेयज्ञानत्रयात्मकः, घटमहं जानामीत्येव ज्ञानाकारात्, ज्ञानभासनायानुव्यवसायापेक्षायां दीपभासनाय दीपान्तरापेक्षापत्तेः । उक्तं चाचार्यभगवत्पादैः—"जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जगत्" (द० स्तो०) इति । ततश्च सा त्रिपुटी कुलमित्युच्यते । तदुक्तं चिद्गगनचन्द्रिकायां द्वितीये विमर्शे—'मेयमानमितिलक्षणं कुलं प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्' इति । ऊर्ध्वाधरभावेन विद्यमानेषु स्वच्छन्दसंग्रहादौ प्रपञ्चितेषु द्वात्रिंशत्पद्मेषु सर्वाधस्तनं पद्मं त्रिपुटीसम्बन्धाभावादकुलमुच्यते, तदुपरिस्थानि कुलसम्बन्धीनि । यद्वा—कुः पृथ्वीतत्त्वं लीयते यत्र तत्कुलमाधारचक्रं तत्सम्बन्धाल्लक्षणया सुषुम्णामार्गोऽपि । उपास्योपासकवस्तुजातस्य चित्त्वेन साजात्यात्तत्समुदायप्रतिपादकं शास्त्रमपि कुलम् । तथा च कल्पसूत्रे प्रयोगः—'कुलपुस्तकानि च गोपायेत्' इति । 'दर्शनानि तु सर्वाणि कुलमेव विशन्ति हि' इत्यागमे च । 'न कुलं कुलमित्याहुराचारः कुलमुच्यते' इति भविष्योत्तरपुराणवचनादाचारोऽपि कुलम् । कुलं नाम पातिव्रत्यादि-

गुणराशिशीलो वंशः, 'कुलं जनपदे गृहे । सजातीयगणे गोत्रे देहेऽपि कथितं कुलम्' इति विश्वः । तदुक्तं भविष्योत्तरपुराणे—'पूजनीया जनैर्देवी स्थाने स्थाने पुरे पुरे । गृहे गृहे शक्तिपरैर्ग्रामे ग्रामे वने वने ।।' इति । अधःस्थितं रक्तं सहस्रदलकमलमपि कुलम् । तत्कर्णिकायां कुलदेवीदलेषु कुलशक्तयश्च सन्तीति स्वच्छन्दतन्त्रेऽस्य विस्तरः । ईदृगर्थस्य कुलपदस्य परतः सम्बन्धसामान्यार्थे तद्धिते कौलम् । 'कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते । कुलेऽकुलस्य संबन्धः कौलमित्यभिधीयते ।।' इति तत्रोक्तम् । वाह्याकाशावकाशे चक्रं विलिख्य तत्र पूजादिकं कौलमिति रूढ्योच्यत इति कश्चित् । दत्तात्रेयसंहितायां तु—'मूलाधारादिकं चक्रषट्कं कुलमिति स्मृतम्' इत्यादि" इति ।

एतेष्वर्थेषु सत्स्वपि काल्युपासकस्य कौल इति संज्ञा चिरप्ररूढा लोके दृश्यते । मूलाधारचक्रे सुषुम्णामार्गः कुलपदेनोच्यते, अत एव कौलाः कुलपूजका आधारसेवका इति कौलत्वं तेषाम् । कौलमार्गे शरीरस्यैव सर्वतीर्थभूमित्वमामन्यते । तेनाधारचक्रस्थितकुण्डलिनीशक्तिरूपकाल्युपासना कौलोपासनारूपेण प्रसिद्धिमितेति शक्तिसंगमस्य मतं शक्यसमर्थनमेव ।

द्वादशधा काली

एकैव संविद्रूपा काली स्वस्वातन्त्र्यान्मानमेयमातृषु द्वादशधा भासते, अत एव तस्याः समाख्या तत्तन्नाम्ना भिद्यते । मन्त्राणामुदयहेतुरसौ व्योमरूपा व्योम्नि स्थिताऽपि तद्वर्जिता सर्वरूपाऽपि सर्वरहिता विश्वात्मिकाऽपि विश्वोत्तीर्णा सृष्टिकाली । प्रत्येकं काल्या लक्षणं श्रीपञ्चशतिकश्रीक्रमस्तोत्राभ्यामत्र दीयते—

मन्त्रोदया व्योमरूपा व्योमस्था व्योमवर्जिता ।
सर्वा सर्वविनिर्मुक्ता विश्वस्मिन् सृष्टिनाशिनी ।।
या कला विश्वविभवा सृष्ट्यर्थकरणक्षमा ।
यदन्तः शान्तिमायाति सृष्टिकालीति सा स्मृता ।।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि—

कौलार्णवानन्दघनोर्मिरूपामुन्मेषमेषोभयभाजमन्तः ।
निलीयते नीलकुलालये वा तां सृष्टिकालीं सततं नमामि ।।

एतदनन्तरं स्थितिकाल्याः स्वरूपं लक्षणं च रक्तकालीपदेनोच्यते श्रीपञ्चशतिके—

न चैषा चक्षुषा ग्राह्या न च सर्वेन्द्रियस्थिता ।
निर्गुणा निरहङ्कारा रञ्जयेद् विश्वमण्डलम् ।
सा कला तु यदुत्पन्ना सा ज्ञेया रक्तकालिका ।।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि—

महाविनोदार्पितमातृचक्रवीरेन्द्रकासृग्रसपानरक्ताम् ।
रक्तीकृतां च प्रलयात्यये तां नमामि विश्वाकृतिरक्तकालीम् ।।

अतः परं संहारकालीस्वरूपमुभयत्र । तत्र श्रीक्रमस्तोत्रे—

वाजिद्वयस्वीकृतवातचक्रप्रक्रान्तसंघट्टगमागमस्थाम् ।
शुचिर्ययास्तंगमितोऽर्चिषा तां शान्तां नमामि स्थितिनाशकालीम् ॥

श्रीपञ्चशतिकेऽपि—

हासिनी पौद्गली येयं वालाग्रशतकल्पना ।
कल्पते सर्वदेहस्था स्थितिः सर्गस्य कारिणी ॥
यदुत्पन्ना तु सा देवी पुनस्तत्रैव लीयते ।
तां विद्धि देवदेवेश स्थितिकालीं महेश्वर ॥

अतः परं यमकाली पञ्चशतिके—

यमरूपस्वरूपस्था रूपातीतस्वरूपगा ।
सा काली लीयते यस्यां यमकाली तु सा स्मृता ॥

श्रीक्रमभट्टारकेऽपि—

सर्वार्थसंकर्षणसंयमस्य यमस्य यन्तुर्जगतो यमाय ।
वपुर्महाग्रासविलासरागात् संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम् ॥

एवं प्रमेयांशग्रासरसिकं सृष्टिसृष्टि-सृष्टिस्थिति-सृष्टिसंहार-सृष्टितुरीयेत्यादि-देवीचतुष्टयं निरूपितम् ।

इदानीं प्रमाणांशभक्षणप्रवणं स्थितिसृष्ट्यादिदेवीचतुष्कं प्रदर्श्यते । तत्र श्रीपञ्चशतिके—

चण्डकाली शुद्धवर्णा याऽमृतग्रसनोद्यता ।
भावाभावविनिर्मुक्ता विश्वसंहाररूपिणी ॥
यत्र सा याति विलयं सा च संहारकालिका ।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि—

उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा या भावसंहारनिमेषमेति ।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां संहारकालीं मुदितां नमामि ॥

स्थितिस्थितिः श्रीपञ्चशतिके—

ओमित्येषा कुलेशानी मृत्युकालान्तपातिनी ।
मृत्युकालकला यस्याः प्रविशेद्विग्रहं शिवः ॥
तदा सा मृत्युकालीति ज्ञेया गिरिसुताधव ।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि—

ममेत्यहङ्कारकलाकलापविस्फारहर्षोद्धतगर्वमृत्युः ।
ग्रस्तो यया घस्मरसंविदं तां नमाम्यकालोदितमृत्युकालीम् ॥ इति ।

स्थितिसंहारः श्रीपञ्चशतिके—

गमागमसुगम्यस्था महाबोधावलोकिनी ।
मायामलविनिर्मुक्ता विज्ञानामृतनन्दिनी ॥
सर्वलोकस्य कल्याणी रुद्रा रुद्रसुखप्रदा ।
यत्रैव शाम्यति कला रुद्रकालीति सा स्मृता ॥
भेदस्य द्रावणाद्रुद्रा भद्रसिद्धिकरीति या ।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि—

विश्वं महाकल्पविरामकल्पभवान्तभीमभ्रुकुटिभ्रमन्त्या ।
याश्नात्यनन्तप्रभवार्चिषा तां नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम् ॥

क्रमसद्भावभट्टारकेऽपि—

इदं सर्वमसर्वं यत्संहारान्तं तु नित्यशः ।
कुटिलेक्षणरेखान्तग्रस्तमस्तमितं च यत् ॥
ततो बोधरसाविष्टा स्पन्दमाना निराकुला ।
दीधितीनां सहस्रं यद्वमेच्च पिबते भृशम् ॥
सा कला लीयते यस्यां रुद्रकालीति सा स्मृता ।

स्थितितुरीयः श्रीक्रमस्तोत्रे—

मार्तण्डमापीतपतङ्गचक्रं पतङ्गवत्कालकलेन्धनाय ।
करोति या विश्वरसान्तकां तां मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि ॥

श्रीपञ्चशतिके च—

शब्दब्रह्मपदातीता षट्त्रिंशान्तनवान्तगा ।
ब्रह्माण्डखण्डादुत्तीर्णा मार्तण्डी मूर्तिरव्यया ॥
सा कला लीयते यस्यां मार्तण्डी कालिकोच्यते ।

एवं प्रमाणांशभक्षणप्रवणं देवीचतुष्टयं निरूप्येदानीं प्रमात्रंशचर्वणाचतुरं देवीचतुष्टयं निरूपयति तन्त्रालोकविवेककारः । संहारसृष्टिः श्रीक्रमस्तोत्रे—

अस्तोदितद्वादशभानुभाजि यस्यां गता भर्गशिखा शिखेव ।
प्रशान्तधाम्नि द्युतिनाशमेति तां नौम्यनन्तां परमार्ककालीम् ॥

श्रीपञ्चशतिकेऽपि—

एकाकिनी चैकवीरा सुसूक्ष्मा सूक्ष्मवर्जिता ।
परमात्मपदावस्था परापरस्वरूपिणी ॥
सा कला पररूपेण यत्र संलीयते शिव ।
सा कला परमार्केति ज्ञेया भस्माङ्गभूषण ॥

संहारस्थितिः श्रीपञ्चशतिके—

वरदा विश्वरूपा च गुणातीता परा कला ।
अघोषा सा स्वरारावा कालाग्निग्रसनोद्यता ॥
निरामया निराकारा यस्यां सा शाम्यति स्फुटम् ।
कालाग्निरुद्रकालीति सा ज्ञेयाऽमरवन्दित ॥ इति ।

श्रीक्रमस्तोत्रे—

कालक्रमाक्रान्तदिनेशचक्र क्रोडीकृतान्ताग्निकलाप उग्रः ।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां तां नौमि कालानलरुद्रकालीम् ॥

संहारसंहारः श्रीक्रमस्तोत्रे—

नक्तं महाभूतलये श्मशाने दिक्खेचरीचक्रगणेन साकम् ।
कालीं महाकालमलं ग्रसन्तीं वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम् ॥

स एव श्रीपञ्चशतिके—

ऋतोज्ज्वला महादीप्ता सूर्यकोटिसमप्रभा ।
कलाकलङ्करहिता कालस्य कलनोद्यता ॥
यत्र सा लयमाप्नोति कालकालीति सा स्मृता ।

संहारतुरीयः श्रीपञ्चशतिके—

दशसप्तविसर्गस्था महाभैरवभीषणा ।
संहरेद् भैरवान् सर्वान् विश्वं च सुरपूजित ॥
सान्तः शाम्यति यस्यां च सा स्याद् भरितभैरवी ।
महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली परा च सा ॥

स एव श्रीक्रमस्तोत्रे—

क्रमत्रयत्वाष्ट्रमरीचिचक्रसंचारचातुर्यतुरीयसत्ताम् ।
वन्दे महाभैरवघोरचण्डकालीं कलाकाशशशाङ्ककान्तिम् ॥

कालीध्यानानि

श्रीकाल्या विभिन्नानि ध्यानानि विभिन्नतन्त्रेषु । तत्र मन्त्रमहार्णवे—

ॐ सद्यश्छिन्नशिरःकृपाणमभयं हस्तैर्वरं बिभ्रतीं
घोरास्यां शिरसां स्रजा सुरुचिरामुन्मुक्तकेशावलिम् ।
सृक्कासृक्प्रवहां श्मशाननिलयां श्रुत्योः शवालङ्कृतिं
श्यामाङ्गीं कृतमेखलां शवकरैर्देवीं भजे कालिकाम् ॥

कालीतन्त्रे—

शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम् ।
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम् ॥
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम् ।
एवं संचिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम् ॥

अन्यत्र च—

करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम् ।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम् ॥
सद्यश्छिन्नशिरःखड्गवामोर्ध्वाधःकराम्बुजाम् ।
अभयं वरदं चैव दक्षिणाधोर्ध्वपाणिकाम् ॥
महामेघप्रभां श्यामां तथा चैव दिगम्बराम् ।
कण्ठावसक्तमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिताम् ॥
कर्णावतंसतानीतशवयुग्मभयानकाम् ।
घोरदंष्ट्राकरालास्यां पीनोन्नतपयोधराम् ॥
शवानां करसंघातैः कृतकाञ्चीं हसन्मुखीम् ।
सृक्कद्वयगलद्रक्तधाराविस्फुरिताननाम् ॥
घोररूपां महारौद्रीं श्मशानालयवासिनीम् ।
दन्तुरां दक्षिणव्यापिमुक्तलम्बकचोच्चयाम् ॥
शवरूपमहादेवहृदयोपरि संस्थिताम् ।
शिवाभिर्घोररूपाभिश्चतुर्दिक्षु समन्विताम् ॥
महाकालेन सार्ध्वोर्ध्वमुपविष्टां रतातुराम् ।
सुखप्रसन्नवदनां स्मेराननसरोरुहाम् ॥
एवं संचिन्तयेद् देवीं श्मशानालयवासिनीम् । इति ।

हंसतन्त्रे—

नमामि दक्षिणामूर्तिं कालिकां परभैरवीम् ।
भिन्नाञ्जनचयप्रख्यां प्रवीरशवसंस्थिताम् ॥
गलच्छोणितधाराभिः स्मेराननसरोरुहाम् ।
पीनोन्नतकुचद्वन्द्वां पीनवक्षोनितम्बिनीम् ॥
दक्षिणां मुक्तकेशालीं दिगम्बरविनोदिनीम् ।
महाकालशवाविष्टां स्मेरानन्दोपरि स्थिताम् ॥
मुखसान्द्रस्मितामोदमोदिनीं मदविह्वलाम् ।
आरक्तमुखसान्द्राभिर्नेत्रालीभिर्विराजिताम् ॥

शवद्वयकृतोत्तंसां सिन्दूरतिलकोज्ज्वलाम् ।
पञ्चाशन्मुण्डघटितमालाशोणितलोहिताम् ॥
नानामणिविशोभाढ्यनानालङ्कारशोभिताम् ।
शवास्थिकृतकेयूरशङ्खकङ्कणमण्डिताम् ॥
शववक्षस्समारूढां लेलिहानां शवं क्वचित् ।
शवमांसकृतग्रासां साट्टहासं मुहुर्मुहुः ॥
खड्गमुण्डधरां वामे सव्येऽभयवरप्रदाम् ।
दन्तुरां च महारौद्रीं चण्डनादातिभीषणाम् ॥
शिवाभिर्घोररूपाभिर्वेष्टितां भयनाशिनीम् ।
मा भैर्मा भैः स्वभक्तेषु जल्पन्तीं घोरनिःस्वनैः ॥
यूयं किमिच्छथ ब्रूत ददामीति प्रभाषिणीम् ।

सिद्धकाली हि ब्रह्मरूपा भुवनेश्वरी दक्षिणकालिकाया एव रूपभेदः । कालीतन्त्रे तस्या ध्यानम्—

खड्गोच्छिन्नेन्दुबिम्बस्रवदमृतरसाप्लाविताङ्गी त्रिनेत्रा
सव्ये पाणौ कपालाद् गलदमृतमथो मुक्तकेशी पिबन्ती ।
दिग्वस्त्रा बद्धकाञ्ची मणिमयमुकुटाद्यैर्युता दीप्तजिह्वा
पायान्नीलोत्पलाभा रविशशिविलसत्कुण्डलालीढपादा ॥ इति ।
(का० त० १०)

कालीनामनिर्वचनम्

कालीनामनिर्वचनं महानिर्वाणतन्त्रे—

कालसंकलनात् काली सर्वेषामादिरूपिणी ।
कालत्वादादिभूतत्वादाद्या कालीति गीयते ॥

कामधेनुतन्त्रेऽपि—

कालसंकलनात् काली कालग्रासं करोत्यतः । इति ।

तत्रैव महाकालकालिकयोरन्वर्थत्वसंज्ञायां हेतुरपि—

तव रूपं महाकाली जगत्संहारकारकः ।
महासंहारसमये कालः सर्वं ग्रसिष्यति ॥
कलनात् सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्तितः ।
महाकालस्य कलनात् त्वमाद्या कालिका परा ॥ इति ।

कालीतन्त्रे तु—

कालनियन्त्रणात् काली ज्ञानतत्त्वप्रदायिनी । इति ।

श्मशानवासित्वे हेतुः कालीतन्त्रे—

वह्निरूपा महामाया सत्यं सत्यं न संशयः।
अत एव महेशानि श्मशानालयवासिनी ॥ इति।

श्मशानशब्दस्यार्थः शब्दकल्पद्रुमे—शशब्देन शवः प्रोक्तः शानं शयनमुच्यते। निर्वचन्ति श्मशानार्थं मुने शब्दार्थकोविदाः ॥ महान्त्यपि च भूतानि प्रलये समुपस्थिते। शेरतेऽत्र शवो भूत्वा श्मशानस्तु ततो भवेत् ॥ एतेन पञ्चभूतानां पर्यन्ततश्चिद्रूपब्रह्मणि लयेन तद् ब्रह्म आद्यकाल्याः नामान्तरमेव। अथवा सांसारिकाः कामक्रोधादिका भावा यत्र लीयन्ते तदेव श्मशानं नाम। काली च श्मशानवासिनी सांसारिकवासनाशून्ये भक्तहृदये श्मशानकल्पे निवसतीति तस्या निवृत्तिपथैव प्राप्तिः सूचिता।

काल्याः कृष्णवर्णस्वीकारे हेतुर्महानिर्वाणतन्त्रे १३ तमे उल्लासे—

श्वेतपीतादिको वर्णो यथा कृष्णे विलीयते।
प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्वभूतानि शैलजे ॥
अतस्तस्याः कालशक्तेर्निर्गुणाया निराकृतेः।
हितायाः प्राप्तयोगानां वर्णः कृष्णो निरूपितः ॥ इति।

कर्पूरादिस्तोत्रटीकायां च शुद्धसत्त्वगुणात्मकघनीभूततेजोमयत्वात् तथा चिदाकाशत्वाच्च नीलवर्णा इत्युक्तम्। योगवाशिष्ठेऽपि—"शिवयोर्व्योमरूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः" इत्युक्त्या शिवाशिवयोश्चिदाकाशरूपत्वेन ब्रह्मरूपता। अत एवासितविग्रहवत्त्वं तयोरुच्यते। त्रिपुरासारसमुच्चये तु—"मोक्षे साक्षादपेताम्बुदगगननिभां भावयेद् भक्तिगम्याम्" इत्यत्र मेघरहितगगनतुल्यतया नीलवर्णतैव प्रतिपाद्यते। एतेन वर्णसाम्यमादायैव तन्त्रेषु कृष्णकालिकयोरैक्यवर्णनमपि सुसंगतमेव। लिङ्गभेदस्यानभिधानं तु पूर्वमेवोक्तम्।

काश्मीरप्रचलितदशविद्यानामानि

काश्मीरप्रचलितदशविद्यानामानि कृत्तिवासःप्रोक्तानि—

त्रिपुरा श्रीश्च वाग्देवी तारापि भुवनेश्वरी।
मातङ्गी शारिका राज्ञी मीडा ज्वालामुखी तथा ॥
दश विद्याः स्वयं चैता भाषिताः कृत्तिवाससा।
एता दशैव षडन्या योजिता षोडशाक्षरी।
दशविद्या भद्रकाली तुरी च छिन्नमस्तका।
दक्षिणा कालिका श्यामा कालरात्र्यपि सुन्दरि ॥
एतासां मूलमन्त्रेण योजितैकाक्षरेण च।
ब्रह्मादिदैवतैः पूज्या विद्या श्रीषोडशाक्षरी ॥

त्रिपुरेति नाम्नोऽनेकेऽर्थाः संभवन्ति। तद्यथा—

त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोक्या अपि पूरकत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम ॥
(नित्याषोडशिकार्णवटीकासेतुबन्धे, पृ० २०)

ब्रह्मविष्णुरुद्रेभ्यः प्राग्भाविनी ऋग्यजुःसाममयी त्रिलोक्याः प्रलयकालेऽपि लोकत्रयपूरयित्री विमर्शरूपा आद्याशक्तिरेव त्रिपुरेति प्रसिद्ध्यति। गुह्यहृद्भ्रूमध्य-लक्षणस्य पुरत्रयस्याधिष्ठात्री देवता त्रिपुरा। मूलविद्यासम्बन्धिनी वाग्भवकामराज-शक्त्याख्यबीजत्रयस्याधिष्ठात्री वा त्रिपुरा। अथवा—इच्छाज्ञानक्रियारूपाणां पुराणां सृष्टिकर्त्री त्रिपुरा। वस्तुगत्या तु स्पन्दस्फुरत्तासारोर्मिहृदयसद्भाव-कालसंकर्षिणी-त्रिपुराशब्दाः पर्याया एव। (वामकेश्वरीमतविवरणे पृ० १०३)

त्रिपुराविद्याया एव श्रीविद्या इत्यपि नाम। अस्या मन्त्रः पञ्चदशाक्षरः। अस्या व्याख्यानं वामकेश्वरतन्त्र-नित्याषोडशिकार्णव-योगिनीहृदय-वामकेश्वरीमत-श्रीविद्या-र्णव-श्रीतत्त्वचिन्तामणि-ऋजुविमर्शिनी-अर्थरत्नावली-परात्रीशिका-दक्षिणामूर्तिस्तोत्र-सौन्दर्यलहरीस्तोत्र-मातृकाचक्रविवेक-शिवसूत्रविमर्शिनी-स्पन्दकारिका-स्पन्दसन्दोह-स्पन्दनिर्णय-स्पन्दप्रदीपिकादिग्रन्थेषु भूरिश उपलभ्यते। वामकेश्वरीमते—गणेशग्रह-नक्षत्रयोगिनीराशिरूपिणीम्। देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकां पीठरूपिणीम् ॥ प्रणमामि महादेवीं मातृकां परमेश्वरीम्। कालहृल्लोहलोल्लोलकलनाशमकारिणीम् ॥ यदक्षरैक-मात्रेऽपि संसिद्धे स्पर्धते नरः। रवितार्क्ष्येन्दुकन्दर्पशंकरानलविष्णुभिः ॥ यदक्षरशशि-ज्योत्स्नामण्डितं भुवनत्रयम्। वन्दे सर्वेश्वरीं देवीं महाश्रीसिद्धमातृकाम् ॥ यदेका-दशमाधारबीजकोणत्रयोद्भवम्। ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते ॥ अकचा-दिटतोन्नद्धपयशाक्षरवर्गिणीम्। ज्येष्ठाङ्गबाहुहृत्पृष्ठकटिपादनिवासिनीम् ॥ तामीकारा-क्षरोद्धारसारात्सारां परापराम्। प्रणमामि महादेवीं परमानन्दरूपिणीम् ॥ अद्यापि यस्या जानन्ति न मनागपि देवताः। केयं कस्मात् क केनेति स्वरूपारूपभावनाम् ॥ वन्दे तामहमक्षय्यक्षकाराक्षररूपिणीम्। देवीं कुलकलोल्लोलप्रोल्लसन्तीं परौलिजाम् ॥ वर्णानुक्रमयोगेन यस्यां मात्रष्टकं स्थितम्। वन्दे तामष्टवर्गोत्थमहासिद्ध्यष्टके-श्वरीम् ॥ इति। एषु श्लोकेषु शब्दकारणभूतां मातृकामेवाधिकृत्य सर्वजगज्जनन-कारणत्वं प्रतानितम्। षोडशनित्या एव षोडशमातृकापदेन लोके पूज्यन्ते।

कालपदव्युत्पत्तिस्तदर्थश्च

कल शब्दसंख्यानयोः, कलते, भ्वादिः। कल बिल क्षेपे, कालयति कालयते, चुरादिः। कल गतौ संख्याने च, चुरादिरेवादन्तः, कलयति कलयते। कालयति काल-यते वा कालः पचादेशस्य आकृतिगणत्वात् कर्तरि अच्, कर्तृव्युत्पत्तावेव कालकाल्योः

साधुत्वस्य श्रीमदभिनवगुप्त-जयरथादीनामिष्टत्वात्[१]। कलयतीति तत्र तत्र प्रयोगस्तु अर्थानुरोधात्। कालो हि भावानां भासनाभासनात्मकानां क्रमोऽवच्छेदको भूतादिः, अज्ञासिषं जानामि ज्ञास्यामीति, अकार्षं करोमि करिष्यामीति ज्ञानक्रियास्वरूपेण भावानपि तेन तेन रूपेण कलयन् परिच्छिनत्ति। स हि जीवनिष्ठनित्यतां प्रतिबध्नातीति ज्ञानक्रिययोरवच्छेदकतया कञ्चुकः। "जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः", "कालो जगद्भक्षकः", "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः", "कालः पचति भूतानि", "न कालः कलयेन्न तम्", "कालाधीनमिदं विश्वम्", "कालः कलयतामहम्", "कालेन नीयते सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्" इत्यादिवचनशतैः कालस्य जगत्कवलयितृत्वं वेदशास्त्रपुराणस्मृतीतिहासादिग्रन्थेषु प्राचुर्येण वर्णितं सूपपद्यते। सर्वमपि चराचरं कस्मिंश्चित्काल एव "जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यति" इति षड्भावविकारान् लभते। अतः सृष्टिस्थितिसंहारेषु कालस्य सत्ताऽनिवार्यतया जागरूका विजृम्भते।

परमार्थतः शिव एव कालः

कालस्वरूपविवेचने नैकमत्यं वेदशास्त्रादिवाङ्मये प्राच्यपाश्चात्त्यविद्वत्सु वाऽवलोक्यते। आगमशास्त्रे षट्त्रिंशत्तत्त्वेषु कालोऽप्यन्यतमतत्त्वतया स्वीक्रियते। ज्ञानक्रिययोरेव जगदिदं विश्रान्तमिति वस्तूनां ज्ञानक्रियार्थकत्वं ज्ञानक्रियात्मकत्वं च प्रसिद्धम्। ज्ञानादृते वस्तुसत्ता न केनापि गोचरीकर्तुं पार्येत इति जगतो ज्ञानरूपत्वमेवागमराद्धान्तेऽपि। क्रमाक्रमाभ्यामुभयथैव भावा भासन्ते। क्रमेण कार्यकारणभावादौ, अक्रमेण चित्रज्ञानादौ। द्रष्टव्ये हि चित्रपटे प्रथमं सर्वस्यापि चित्रपटस्य दर्शनमक्रममेव जायते, तदनु तत्रैकैकस्य वस्तुनो निर्धारणपूर्वकं समीक्षणं क्रमश इति। भावेषु या नामैवंविधा कलना (परिच्छित्तिः), सैव क्रमाक्रमात्मा कालः। स च भैरवरूपी कालः[२] परमेश्वर एव प्रकाशात्मा। प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः। विमर्शो नाम परमेश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहारनिग्रहानुग्रहकारिणी स्वाभिन्ना स्वातन्त्र्यात्मिका इच्छापरपर्याया स्फुरत्तासारा शक्तिरेव।

---

१. "कालस्तुट्यादिभिश्चैतत् कर्तृत्वं कलयत्यतः।" (तन्त्रा० ९, पृ० २०१)
"कालोऽपि कलयत्येनं तुट्यादिभिरवस्थितः॥" (मालिनीविजयोत्तरे १।२९)
"कल शब्दे, कल विल क्षेपे, कल संख्याने, कल गतौ इति धात्वर्थानुगमात् क्रमेण कलयन्ति, परामृशन्ति, क्षिपन्ति, विसृजन्ति, संहरन्ति च, गायन्ति, जानते चेति काल्यः, ता एव कालिकाः। एता द्वादशशक्तयो योगिनीपदेनोच्यन्ते, कालिका एव योगिन्यः, नाममात्रे भेदो न वस्तुनि।" (तन्त्रा० ३ आ०, पृ० २३५)

२. "भैरवरूपी कालः सृजति जगत् कारणादिकीटान्तम्।"
(तन्त्रालोकविवेके, आ० ४, पृ० १९८)

शक्तिशक्तिमतोश्चाविनाभावसम्बन्धः। शक्तिशिवयोः कदाचिदपि पार्थक्याभावेऽपि शक्तिरेव जगत्कर्त्री, शिवस्तु प्रकाशात्मा जडकल्प एव। अथापि तयोर्नित्यसिद्धैक्येन शिवस्यापि पञ्चकृत्यकारित्वव्यपदेशो न विरोधमावहति।

कालीशक्तेः पञ्चधोल्लासः

स च परमेश्वरः कालः, कालकालः, महाकाल इत्यादिसमाख्यां भजते। कलनस्य ये पञ्चार्थास्तन्त्रालोके निर्दिष्टास्ते एव न पर्याप्ताः, तन्त्रसारे गणनं भोगीकरणं स्वात्मलयीकरणमित्याद्यर्थदर्शनेन प्रतीयते कलनाऽनाक्रान्तं न किमपि स्थानं वस्तु वा जगति। कलतिः कामधेनुः कवीनामित्यभियुक्तोक्त्या कलनस्य सर्वात्मकत्वमाश्रयेन वक्तुं युज्यते। तस्याभिन्ना पराशक्तिरेव कालीनाम्ना[1] व्यपदिश्यते। प्रकाशस्वरूपस्य महेश्वरस्य स्वेच्छावभासितस्य प्रमातृप्रमाणप्रमेयाद्यात्मकस्य जगतस्तत्तद्रूपतया कलनसामर्थ्यमेव शक्तिः, न तु स्वात्मनि क्रमाक्रमयोः कोऽप्यवकाशः। अग्नेर्दाहिका शक्तिः स्वेतरवस्तुनि प्रक्रमते, न तु स्वात्मनि। चन्द्रिका स्वेतरानाह्लादयति, न तु स्वात्मानमिति शक्तेरपि स्वेतरजगदाभासने एव क्रमाक्रमत्वोपयोगः। तदेवं पूर्वोक्तार्थककलधातुचतुष्टयस्य पञ्चधाऽयमर्थ उदेति[2]—क्षेपो ज्ञानं संख्यानं गतिर्नाद इति। गतेश्चत्वारोऽर्था गमनज्ञानप्राप्तिमोक्षाख्याः प्रसिद्धास्ततो ज्ञानप्राप्ती एवात्र गृह्येते। अकुलस्य शिवस्य कौलिकी शक्तिर्विश्वावभासनक्रमे स्वभित्तौ स्थितस्य विश्वस्य स्वातन्त्र्यरूपया स्वेच्छया बहिरुल्लासनं करोतीत्ययं क्षेपः। बहिरुल्लासितस्य तस्य स्वाभेदेन परामर्शो ज्ञानम्। भेदितस्यैव प्रमातृप्रमेयादेरर्थस्य परस्परापोहनात् 'इदमिदं नानिदम्' इति प्रतिनियततयाऽवस्थापनात् संख्यानं (गणनं) विकल्पः। गतिश्चात्र गत्युपसर्जना प्राप्तिः। तद्भेदितोऽर्थः संविल्लक्षणं स्वरूपमारोहति प्राप्नोतीति स्वरूपारोही, तस्य भावस्तत्त्वम्। न चैतत्कट इव देवदत्तस्य भेदप्रधानमपि तु भेदाभेदप्रधानं प्रतिबिम्बवत्। प्रतिबिम्बं हि बिम्बादभिन्नमपि भिन्नतयैवावभासते, यथाऽनात्मनि प्ररूढात्मभावस्य जनस्यात्मन्यात्माभिमानो न प्रथमतो दृढसत्ताकोऽपि तु भेदसहिष्णुरेवेति। प्रतिबिम्बलक्षणं यथा तन्त्रसारे—यद् भेदेन भासितुमशक्तमन्यव्यामिश्रत्वेनैव भाति तत्प्रतिबिम्बम्, मुखरूपमिव दर्पणे। दर्पणे मुखं प्रतिबिम्बितं मुखरूपं मुखे समवेतमिति मुखपार्थक्येन मुखरूपस्य न कदाप्यवस्थितिरिति न तन्मुख्यम्। रस इव दन्तोदके। यथा कश्चिदातुरो व्याधिशमनार्थं रसं गृह्णाति, किन्तु दन्तोदकलग्नरसेन न व्याधिशान्तिरपि तु भक्षितेनेति नासौ मुख्य इति। पूर्वोक्तानां चतुर्णामपहस्तनात् स्वात्मपरा-

---

१. कालीनाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते। (तन्त्रा० ६।७)

२. स्वात्मनो भेदनं क्षेपो भेदितस्याविकल्पनम्।
ज्ञानं विकल्पः संख्यानमन्यतो व्यतिभेदनात्॥
गतिः स्वरूपारोहित्वं प्रतिबिम्बवदेव यत्।
नादः स्वात्मपरामर्शशेषता तद्विलोपनात्॥ (तन्त्रा० ४।१७४–१७५)

मर्शशेषता नादः, नदनमात्ररूपत्वात् । यदाऽहमिति स्वात्मपरामर्श एव शिष्यते, तदा क्षेपज्ञानसंख्यानगतीनां परित्यागोऽनिवार्यतया जायते । नदनमात्ररूपां कलनां कुर्वन् साधकश्चिदानन्दघनपूर्णाहन्तासमाविष्टः शाक्तोपायप्रतिपन्नतया परशाक्तरूपो मुक्त एव । यथोक्तं तन्त्रालोकविवेके—"संविदेव हि आश्यानीभूता नीलादिरूपतामधिशयाना प्रमाणोपारोहद्वारेण तद्रूपतां विलाप्य प्रमातरि विश्रान्तिमभ्युपगच्छन्ती स्वेन प्रमात्रेकात्मना रूपेण प्रस्फुरति (आ० ४, पृ० १४१) इति ।

किञ्च, कालस्यापि कलयित्री काली । तदुक्तं महानिर्वाणतन्त्रे—

कालसंकलनात् काली सर्वेषामादिरूपिणी ।
कालत्वादादिभूतत्वादाद्या कालीति गीयते ।। इति ।

कालीशक्तेः पर्यायाः

पूर्वोक्तपञ्चविधां कलनां कुर्वती सा कालीशक्तिर्देवी काली कालकर्षणी च कथ्यते । आगमशास्त्रे—शिवः, मन्त्रमहेश्वरः, मन्त्रेश्वरः, मन्त्राः, विज्ञानाकलः, प्रलयाकलः, सकल इति सप्त प्रमातारः स्वीक्रियन्ते, सप्तस्वपि प्रमातृषु सा कालशख्या संवित्तिष्ठतीति मातृसद्भाव इत्यपि तस्याः संज्ञा । देवदेवात् परभैरवान्निर्गतत्वाद् विश्ववमनशीलत्वाच्च वामेश्वरीति सा निगद्यते । एवमन्याः शतसहस्रशः तस्या आख्याः कार्योपाधिवशाज्जायन्ते । कलधातोरेव [1]कलाशब्दोऽपि निष्पद्यते । तदुक्तमृजुविमर्शिन्याम्—"कुलं षट्त्रिंशत्तत्त्वात्म जगत्, कलयति बहिःक्षिपति पारमित्येन परिच्छिनत्तीति कला" इति । एतादृशार्थकरणेऽनिष्टप्रयोगाशङ्का अनभिधानाद्वारणीया । कला च स्थूलजगत उपादानकारणम् । सर्वकर्तृत्वशक्तिमत ईश्वरस्य किञ्चित्कर्तृत्वहेतुः कला, तस्याश्च विद्यारागकालनियतिरूपं तत्त्वचतुष्कं जन्यते । कलादिनियत्यन्ततत्त्वपञ्चकेन कञ्चुकितस्य पशोर्न सर्वत्राप्रतिहतं कर्तृत्वमपि तु क्वचिदेवेति कलाकलनवैभवम् । यथा कलया सर्वकर्तृत्वं संकोच्य नियन्त्र्यते, तथैव कालेनापि क्रमाक्रमाभ्यां जगदिदं नियम्यते । कर्तृत्वमात्रसंकोचिका कला, कालस्तु कार्यत्वकर्तृत्वयोरुभयोरिति विशेषः । कलनैव विजृम्भापदेनाप्युच्यते[2] । सेयं विजृम्भापरपर्यायां कलनां कुर्वती काली पूर्णसंवित्स्वभावा कुलम्, सामर्थ्यम्, ऊर्मिः, हृदयम्, सारः, स्पन्दः, विभूतिः, चित्, चितिः, चैतन्यम्, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातन्त्र्यम्, त्रीशिका, कर्षणी, चण्डी, वाणी, भोगः, दृक्, नित्या, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यम्, कर्तृत्वम्, स्फुरत्ता, विश्रान्तिः, हृत्प्रतिभा, प्राणनाशक्तिः, उद्यमः, स्फूर्तिः, ओजः, बलम्, कला, अहन्ता—इत्यादिभिरागमभाषाभिस्तत्तदन्वर्थप्रवृत्ताभिरभिधीयते ।

---

१. "गुरोश्च हलः" इत्यत्र चोऽप्यर्थः । तेनागुरुमतोऽपि हलन्तात् कर्तरि अचि टापि च कलाशब्दनिष्पत्तिः ।

२. इमाः प्रागुक्तकलनास्तद्विजृम्भोच्यते यतः । (तन्त्रा० ४ आ०, पृ० १५५)

कालीशक्तेर्भेदोपभेदाः

एवंभूता सा कालीशक्तिरेकाऽद्वयापि विश्वावभासन-संरक्षण-स्वात्मविमर्शादि-रूपया परा-परापरा-अपराख्यया त्रेधा विभिद्यते। तिसृभिः शक्तिभिर्विश्वकार्यनिर्वाहः सम्पद्यते। यद्यपि विश्वस्य नानात्वात् शक्तीनां नानात्वमर्थाल्लब्धं तथापि गौणमुख्य-न्यायेनोक्तसंकलना। यया[1] षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकमिदं विश्वं शिवादिधरण्यन्तं निर्विकल्प-संविन्मात्रतया भ्रियते, ज्ञायते, भास्यते च; सा पराशक्तिः। यया च पूर्वोक्तं जगत् प्रतिबिम्बितवस्तुवद् भेदाभेदाभ्यां सर्जनपालनविमर्शाद्यात्मना विषयीक्रियते सा परापरा। यया च प्रत्येकं वस्तु प्रमातृप्रमाणप्रमेयाद्यात्मना भेदेन भास्यते, सा अपराशक्तिः। आसां तिसृणामात्मन्येव क्रोडीकारेण अनुसन्धानात्मना वा यया ग्रासः, सा कालकर्षणी चतुर्थी। चतस्रोऽप्येताः सृष्टिस्थितिसंहारभेदात् प्रत्येकं त्रिधा भिद्यमाना द्वादशसंख्याका भवन्ति। तद्यथा[2]—सृष्टिसृष्टिः, सृष्टिस्थितिः, सृष्टिसंहारः, सृष्टितुरीयम्; स्थितिसृष्टिः, स्थितिस्थितिः, स्थितिसंहारः, स्थितितुरीयम्; संहारसृष्टिः, संहारस्थितिः, संहारसंहारः, संहारतुरीयमिति। प्रत्येकं काल्या लक्षणादिकं श्रीपञ्च-शतिकक्रमस्तोत्रावाश्रित्य प्रतिपादयिष्यते। स एष द्वादशविधकलनस्वरूपानुगमः कृतस्तन्त्रसारे चतुर्थाह्निके—

१—संवित् पूर्वमन्तरेव भावं कलयति।

२—ततो बहिरपि स्फुटतया कलयति।

३—तत्रैव रक्तिमयतां गृहीत्वा ततः तमेव भावमन्तरुपसंजिहीर्षया कलयति।

४—ततश्च तदुपसंहारविघ्नभूतां शङ्कां निर्मिणोति च ग्रसते च।

५—ग्रस्तशङ्कांशभावभागमात्मन्युपसंहारेण कलयति।

६—तत उपसंहर्तृत्वं ममेदं रूपमित्यपि स्वभावमेव कलयति।

७—तत उपसंहर्तृस्वभावकलने कस्यचिद् भावस्य वासनात्मनाऽवस्थितिं कस्यचित्तु संविन्मात्रावशेषतां कलयति।

८—ततः स्वरूपकलनानान्तरीयकत्वेनैव करणचक्रं (इन्द्रियाणि) कलयति।

९—ततः करणेश्वरमपि कलयति।

१०—ततः कल्पितं मायीयं प्रमातृरूपमपि कलयति।

११—संकोचत्यागोन्मुखविकासग्रहणरसिकमपि प्रमातारं कलयति।

१२—ततो विकसितमपि रूपं कलयति।

तदित्थं सृष्टिसृष्ट्यादि-संहारतुर्यान्ता द्वादशशक्तयः स्वरूपलक्षणतया संक-लिताः। एभिरेव शक्तीनां भेदद्वादशकैः समस्तव्यस्तभावेन सकलोऽपि लोकव्यवहारो नितरां समभिचाल्यते।

---

१. द्रष्टव्यं तन्त्रसारस्य ४ आह्निकम्।

२. द्रष्टव्यं महार्थमञ्जरीपरिमले, पृ० १०४।

महार्थमञ्जरीपरिमलेऽनाख्याभासात्मकं शक्तिद्वयं निग्रहानुग्रहस्थाने स्थापयित्वा सृष्ट्यादिपञ्चशक्तीनां भेदाः सलक्षणं षट्पञ्चाशद्वा वर्णिताः। तद्यथा—सृष्टिर्नाम उद्योगावभासचर्वणात्मविलापननिस्तरङ्गत्वलक्षणप्रथापञ्चकसमष्टिः, तस्याः कलाः क्रियाज्ञानेच्छोद्योगप्रतिभास्वभावसृष्टिस्थितिसंहारानाख्याभासास्वरूपाः। स्थितिर्हि नाम सृष्टानां पदार्थानां यावत्संजिहीर्षोदयमवैयाकुल्येनावस्थानम्। तदुक्तम्—स्थितिर्हि नाम स्वरूपस्य तत्तद्रूपतया धृतिः। तस्यां द्वाविंशतिः कलाः—शिरश्चक्रे युगनाथाश्चत्वारस्तद्देव्यश्चतस्र इत्यष्टौ। हृदयषट्कोणे साधिकारनिरधिकारविभागेन राजपुत्राणां द्विषट्कम्। तन्मध्ये कुलेश्वरः कुलेश्वरीति द्वाविंशतिः। संहारो नाम—बहिरुद्वान्तानां भावानां पारमेश्वरे प्रकाशे पुनः प्रसूत्यौचित्येन वटधानादिनीत्या वासनात्मतयाऽवस्थानम्। अत्र शक्तय एकादश, ताश्च सर्वान्तःकरणसमष्टिभूतमहङ्कारं बाह्येन्द्रियदशकं च भक्षयन्त्यः स्फुरन्तीति एकादश। अन्यत्रोक्तानुग्रहस्थानीया भासा तु पञ्चमी शक्तिः। सा चिन्मयी एकैव षोडशीरूपा सप्तदशीरूपा वा। चतुर्थ्या अनाख्यशक्तेस्त्रयोदशशक्तय इति षट्पञ्चाशत्। इत्थं संख्यातीतैर्भेदैर्भासमाना सा विभिन्नदर्शनानुयायिभिर्विभिन्नैः स्वरूपैर्भाव्यते—

येन येन स्वरूपेण भाव्यते तस्य तन्मयी।
माहेश्वराणां शक्तिः सा सांख्यानां प्रकृतिः परा।
महाराज्ञी च सौराणां तारा सुगतवादिनाम्।
लोकायतिकमुख्यानां तदात्वा सा प्रकीर्तिता।
शान्ता पाशुपतादीनामर्हतां श्रीश्च तद्विदाम्।
श्रद्धा हैरण्यगर्भाणां गायत्री वेदवादिनाम्।
अज्ञानतिमिरान्धानां सर्वेषां मोहिनी स्मृता।

(महार्थमञ्जरीपरिमले, पृ० १०७)

क्रमदर्शने तु सैव कालीशब्देनोच्यते। यथोक्तं महार्थमञ्जर्याम्—

सैव काली महादेवी गीयते लोकवेदयोः।
इतिहासेषु तन्त्रेषु सिद्धान्तेषु कुलेषु च॥ (पृ० १०७)

कार्योपाधिवशात्तस्या एव पराशक्तेर्माता, देवता, दूती, कालिकेत्याद्याः संज्ञा लोके।

जन्मकाले भवेन्माता पूजाकाले च देवता।
रतिकाले भवेद् दूती मृत्युकाले च कालिका॥

(म० म० प०, पृ० १०७)

इयमेव कालीशक्तिर्विश्वस्य योनिः। स्वतन्त्रा सा स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। तस्याः स्वातन्त्र्यस्यैष महिमा येनाऽसौ स्वात्मनापि भासते परात्मनापि;

अर्थाद् आत्मानं परीकरोति, परमप्यात्मीकुरुत इति। सर्वथाऽनर्गलमनन्योन्मुखं स्वाच्छन्द्यमस्याः। अत एव यदा सा स्वात्मानं परोपाधिकतया भासयितुं चेष्टते, तदा शिवस्य शक्तिरिति व्यपदेशं लभते; यदा तु स्वविश्रान्ततया तिष्ठति तदा चितिः, चित्, विमर्श इत्यादि। वस्तुतस्तु शिवशक्तीति यामलमेव तत्त्वम्। तयोः पार्थक्यचिन्तनमेव दुःशकम्।

परतत्त्वात्मकं कालीतत्त्वं लिङ्गातीतम्

कालीति स्त्रीलिङ्गशब्देन कालीतत्त्वस्य स्त्रीलिङ्गत्वं लोके व्यवह्रियते, किन्तु परतत्त्वात्मके पूर्णे वस्तुनि लिङ्गप्रयुक्तव्यवहारः साधकरुच्यनुसारं कल्पित एव, न तु वास्तविकः। ब्रह्मविष्णुरुद्रसूर्यगणपतिशक्तीत्यादिशब्देषु तत्तल्लिङ्गप्रयोगो भावनौपयिक एव। चिद्गगनचन्द्रिकोक्तश्लोके परतत्त्वात्मककालीतत्त्वस्य त्रिलिङ्गतां निषिध्य पुनस्तत्त्रयस्य स्फोरणसामर्थ्यमपि तस्या एवेति शक्तिसंबोधनपुरःसरं प्रतिपादितम्—

न त्वमम्ब पुरुषो न चाङ्गना चित्स्वरूपिणि न षण्ढतापि ते।
नापि भर्तुरपि ते त्रिलिङ्गता त्वां विना न तदपि स्फुरेत् त्रयम्॥ इति।
(२७३ श्लो०)

श्वेताश्वतरवचने तु भङ्गिभेदेन परतत्त्वस्य त्रिलिङ्गतां प्रतिपाद्य बाल्ययौवनवार्द्धक्याद्यवस्थामयत्वमपि तस्योत्प्रेक्षितम्—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चयसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥ (४। ३)

तन्त्रतत्त्वोद्धृतनवरत्नेश्वरतन्त्रवचने तु कालीतत्त्वस्य त्रिलिङ्गतानिषेधमुखेन जडत्वमसंभाव्यमपि निषिध्य कल्पवल्लीदृष्टान्तेन स्त्रीशब्दवाच्यत्वमेव निश्चितम्। यथा—

नेयं योषिन्न च पुमान् न षण्ढो न जडः स्मृतः।
तथापि कल्पवल्लीवत् स्त्रीशब्देन च युज्यते॥
(शिवचन्द्रविद्यार्णवे, भाव १, पृ० ३५४)

चिद्गगनचन्द्रिकोक्तं कालीशक्तिस्वरूपम्

साम्प्रतं चिद्गगनचन्द्रिकोक्तं कालीशक्तिस्वरूपं संक्षेपेणोच्यते। अस्य कर्ता कालिदासोऽत्र स्तुतिच्छलेन क्रमतत्त्वमनुरुद्ध्य सर्वतत्त्वात्मकतया कालीतत्त्वस्य वर्णनं प्रक्रान्तवान्। प्रथमश्लोके गणेशः स्तूयते। गणेशशब्दस्यानेकेऽर्था विभिन्नासु टीकासूपलभ्यन्ते। तन्त्रालोकविवेकेऽहङ्कारार्थे गणेशशब्दः प्रयुक्तः। "गणस्य करणचक्रस्य पतिः अहङ्काररूपः प्रभुः, स च देवीसुतः" (तन्त्रा० विवेके १ आ०, पृ० २२-२३)। अर्थरत्नावल्यां तु "गणा आदिक्षान्ता वर्णाः, तेषामीशाः श्रीकण्ठादयो रुद्राः पञ्चाशत्संख्याका वर्णा इति यावत्। अथवा गणा इन्द्रप्रमुखाः 'इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणाः'

इति श्रुत्युक्ता मरुद्गणाः पञ्चाशत्। तेऽपि वर्णात्मका इत्यर्थः" इत्येवं वर्णमातृकेशः शक्त्युद्भूतो गणेशो वर्ण्यते। 'अत्रापि गणेश आद्यस्पन्दस्वरूपः सकृदोङ्कारशुण्डः क्रियादृग्दन्त्यास्यो निस्तरङ्गचिद्व्योमरुचिविसरलसद्बिन्दुवक्रोर्मिमालं स्फारनादं प्रस्फोरयन् प्रथते। अहङ्काररूपार्थेऽप्यकारहकारयोः प्रत्याहारन्यायेनानुत्तराकुलस्वरूपादकारादारभ्य शक्तिस्फाररूपहकलापर्यन्तं यद् विश्वं प्रसृतं तत्पुनरन्तः स्वीकृतं सदविभागवेदनात्मकबिन्दुरूपतया स्फुरितमनुत्तरेऽकारे विश्राम्यति। यथोक्तम्—"अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः। हकारोऽन्त्यकलारूपो विमर्शः परिकीर्तितः॥" इति। तेन अकार एव शिवरूपो बिन्दुः, हकारश्चान्त्यकलारूपो नादः। अर्थादनुत्तरविसर्गात्मिके ये शिवशक्ती, तयोरद्वयं सामरस्यमेवाहमिति। तत्र शिव इति शक्तिरिति पृथक् पृथक् परामर्शो नास्ति। अत एवाजडप्रमातृसिद्धौ—"प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः" इत्युक्तम्। मातृकाशब्दो हि मात्यस्यां जन्तुरिति माता, अज्ञाता माता मातृका, अज्ञातार्थे कनि सिद्ध्यति। अत एव स्पन्दकारिकायाम्—"बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका" इत्युक्तम्। शिवसूत्रे—"ज्ञानाधिष्ठानं मातृका" इत्युक्त्वा "ज्ञानं बन्धः" इति सूत्रनीत्या अहं ममेदमिति भेदज्ञानात्मकं शब्दानुवेधजं मायीयमलमूलकं तद्बन्धनमावरणविक्षेपात्मकमित्युक्तम्। वर्गाधिष्ठात्र्यो ब्राह्म्याद्याः शक्तयो योनयः, ता एवाकारादिक्षकारान्ताः कलाः शब्दकारणम्। एता एव कला रश्मिरूपाः शब्दकारणतया पशोः प्रत्ययोद्भासिकाः। यतः शब्दानुविद्धज्ञानवन्त एव जीवाः, अतो बद्धा विलुप्तविभवाश्च। भैरवरूपश्चिदात्मा परिपूर्णस्वभावः शिवस्तु सर्वास्ववस्थासु जाग्रदादिषु स्वस्वरूपोपलब्धेति तस्यानावृतज्ञानत्वान्न बद्धत्वमपि तु नित्यसुप्रबुद्धत्वमेव। एता मातृका एव पीठरूपाः पीठेश्वर्यः।

शक्तिरेव सृष्टिक्रमप्रवर्तिका। चन्द्रिकाकृत् शिवशक्त्योः स्वरूपमयुतसिद्धं यामलभावापन्नं प्रकाशविमर्शात्मकमहन्तेदन्तारूपं ज्ञानक्रियात्मकं क्रमाक्रमरूपं स्वीकुरुते। क्रमतैव कालतत्त्वम्। कालाधीनं हि जगदिति सर्वोऽपि पदार्थः क्रमाक्रमतयैव भासते। स्वातन्त्र्यस्य महिम्ना कालीतत्त्वं विमर्शात्मकं क्रमाक्रमाभ्यां विश्वस्मिन् विजृम्भते। तद्धि स्वरूपेऽक्रममेव, विश्वापेक्षया तस्मिन् क्रमाक्रमत्वं समुल्लसति।[१] परनादरूपायाश्चिच्छक्तेः सकाशात् करणचक्रस्याधिष्ठाताऽहङ्काररूपो गणेशः सृष्टिकर्ता जन्यते। सामरस्यमापन्ना शक्तिश्चिदानन्दघना स्वरूपविश्रान्ता "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इति श्रुत्युक्तया सद्रूपतयाऽवतिष्ठते। "एकाकी न रमते स द्वितीयमैक्षत्" इति श्रुत्यनुसारं प्राण्यदृष्टवशात् स्वातन्त्र्यशक्तिविस्फारादन्तःस्थितं विश्वं बहिरुल्लिलासयितुं प्रवृत्ता स्वाभिन्नप्रथमस्पन्दरूपा इच्छाशक्तिः, तज्जन्याहङ्कारो जगत्सर्जकः। अहङ्कार एव

१. क्षीरोदं पौर्णमासीशशधर इव यः प्रस्फुरन्निस्तरङ्गं
चिद्व्योम स्फारनादं रुचिविसरलसद्बिन्दुवक्रोर्मिमालम्।
आद्यस्पन्दस्वरूपः प्रथयति सकृदोङ्कारशुण्डः क्रियादृग्
दन्त्यास्योऽयं हठाद् वः शमयतु दुरितं शक्तिजन्मा गणेशः॥ (चि० च० १। १)

पुराणादौ दर्शनेषु च मनो मतिर्महान् ब्रह्मेत्यादिना स्मर्यते। स च ज्ञानक्रियाशक्तिसम्पन्नः, एतच्छक्तिद्वयाभावे स्रष्टृत्वस्यैवासंभवात्। शक्तिजन्येन ॐकारेण शब्दार्थयोः सृष्टिः। ॐकारस्य सर्वकारणता श्रुत्युपनिषत्पुराणागमादिसम्मतैव। सोऽपि कार्यस्य कारणजातीयत्वाज्ज्ञानक्रियासम्पन्न एव। अहङ्काररूपस्य गणेशस्य चिद्व्योम्नि ॐकारसमुत्पादक्रमेण शब्दार्थोभयात्मजगत्सर्जनमेव चिद्व्योम्नो निस्तरङ्गस्य समुच्छलयितृत्वं विविधशब्दोत्पादनेन च स्फारनादत्वसंपादकत्वमिति।

अत्रापि शिवशक्त्योरविनाभावः सम्बन्धः। शिवः प्रकाशस्वरूपः, शक्तिश्च विमर्शरूपा, शक्तिरहितस्य शिवस्य जडप्रायत्वात्। अत एव शक्तेरैश्वर्यमत्र वर्ण्यते। यद्यपि शिवोऽपि शक्तेः साहचर्येण वर्णितः, किन्तु शिवस्य शक्तिहीनत्वेऽकिञ्चित्करत्वात् शक्तेरेव प्राधान्यम्।

[1]स्थूलसूक्ष्मपररूपतया त्रिधा भिन्ना सा। जगतः स्फुरणं शक्त्यभिन्नशिवप्रकाशसम्बन्धेनैव। लोकेऽपि सर्वो व्यवहारो ज्ञानपूर्वकोऽहमित्यनुसन्धानपूर्वक एव लक्ष्यते। श्रुतिरपि—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति। शास्त्रानुमानादिप्रमाणेन स्वप्रकाशस्वरूपा विश्वोत्तीर्णा शिवसत्ता स्फुरतीति स्फुटमभिलक्ष्यते। "शिव एव गृहीतपशुभावः" इति परमार्थसारोक्त्या शिवः स्वेच्छयात्मानं संकोच्य जीवरूपेण भासते। यावत्कालं शिवः स्वानुग्रहशक्त्या जीवं न पश्येत्, तावत्कालं संकोचरूपं तमोऽपसृतं न भवेत्। अतः क्रममार्गोक्तकल्याणपथस्य आलोकनाय ईश आराधनीयतया निर्दिष्टः।

[2]प्रकाशविच्छुरितात्मशरीरः शिवः, अहमिति स्वरसोदिता विमर्शात्मिका परावाग्रूपा शक्तिः। एतौ मिथः समुदितौ षडध्वरूपं वाच्यवाचकरूपं जगन्निर्मिमाते। षडध्वानश्च कलातत्त्वभुवनानि वाच्यरूपाणि, वर्णपदमन्त्राश्च वाचकरूपाः। तत्र विमर्शांशेन वाच्याध्वनः समुत्पत्तिः, प्रकाशांशेन तु वाचकाध्वनो वर्णादित्रयस्य। षडध्वसु शिवशक्त्योरुभयोरपि जनकत्वोक्त्या द्वयोः कर्तृत्वं स्फुटम्। कर्ता च "स्वतन्त्रः कर्ता" इति पाणिनिपरिभाषित एवेह गृह्यते। स्वातन्त्र्ययोगेन कर्ता स्वं वपुः षोढा विभज्य कर्तृकर्मकरणादिव्यपदेशं भजन् करणतया स्वशक्तिमेव कलारूपां नियोज्य विश्वरूपतया भासते। कला च निवृत्तिप्रतिष्ठाविद्याशान्तिशान्त्यतीतभेदात् पञ्चधा। यथा भुवनेष्वनुगामि किञ्चिद्रूपं तत्त्वम्, तथा तत्त्वेषु वर्गशोऽनुगामि रूपं यत् तत् कला,

---

१. स्थूलं सूक्ष्मं परं च त्रिविधमिह जगद् यत्प्रथावेशसिद्ध्या
युक्तं सत्ता यदीया स्फुरति च परतः स्वप्रथैकस्वभावा।
भामूर्तिर्यं विमर्शक्रियमनुपतिता लक्ष्यते लोकवृत्तिः
सन्मार्गालोकनाथ व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥ (चि० च० १। २)

२. याऽहमित्युदितवाक् परा च सा यः प्रकाशलुलितात्मविग्रहः।
यौ मिथः समुदिताविहोन्मुखौ तौ षडध्वपितरौ श्रये शिवौ॥ (चि० च० १। ६)

एकरूपकलनायाः सहिष्णुत्वात्। षट्त्रिंशत्तत्त्वानि पञ्चकलासु विभक्तानि, तद्यथा—यतस्तत्त्वसर्गो निवर्तते सा निवृत्तिः कला पृथिव्याम्। जलादिप्रकृत्यन्ते वर्गे त्रयोविंशतौ तत्त्वेषु प्रतिष्ठा पुरुषादिमायान्तेषु सप्तसु तत्त्वेषु विद्या। शुद्धविद्यादिशक्त्यन्तेषु चतुर्षु तत्त्वेषु शान्ता शान्तिर्वा। शिवतत्त्वे शान्तातीता शान्त्यतीता वा कला। परमशिवरूपं तु कलातीतं निष्कलम्। यतः षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मके विश्वस्मिन् सर्वत्रापि कलाऽनुस्यूता, अत एव कला शक्तिपर्याया, शक्तिदशायां सर्वत्र कलनस्य व्याप्तत्वात्। तदुक्तं मार्कण्डेयपुराणे—

"कलाकाष्ठादिरूपेण परिणामप्रदायिनी" इति।

कालीतत्त्वं श्रुत्युक्तब्रह्मतुल्यम्, अतः 'कल्पनातिगमतीन्द्रियं बाह्यप्रपञ्चसम्बन्धशून्यं भावाभावयोर्मध्यवर्ति सद्रूपं निराकृति च। स्वस्वातन्त्र्यमजहदेव तत्तदात्मना स्फुरतीति हेतोस्तद्धामापि ॐ तत्सदिति श्रुत्या सत्यत्वेन प्रसिद्धं ब्रह्मवदेव। स्वस्वरूपे स्थिता कालीशक्तिः सर्वथाऽपरिच्छिन्ना क्रमरहिता, तथापि लोकानां जन्मस्थितिहेतुतया जगद्रूपतया स्फुरितं तस्या रूपं सक्रममेव। प्रकाशस्वरूपाद् बहिर्विजृम्भणमेव तस्याः कलना। अन्तःस्थितस्य विश्वस्येच्छामात्रेण बहिरुल्लासनमेव च विजृम्भणम्। अत्रार्थे प्रत्यभिज्ञासूत्रशक्तिसूत्रे संवदतः—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥ इति,
"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" इति च।

कालिकारूपाया जगज्जनन्या वपू रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं विशुद्धसत्त्वात्मकम्। ततो गुणत्रयमभिव्यज्यते। अतो भूतभौतिककारणीभूतं तत्त्रयं शक्तिजमपि ततो भिन्नमेव। भगवतो विष्णोर्विग्रहवत्त्वं तथैवेत्युक्तं भागवते—

"सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः" इति,
(४ । ३२ । ३३)

"सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः॥" इति च।
(१० पू० । २ । ३४)

ईश्वरनिष्ठं यदक्षयमैश्वर्यं यच्च तस्य विशुद्धं विज्ञानं पञ्चकृत्यकारित्वं च तत्सर्वं विरागप्रचुरायाः पूर्णात्मिकायाः शक्तेरेव बलम्, चिद्रूपस्य शिवस्य शक्तिसम्बन्धं विना तथात्वानुपपत्तेः।

---

१. कल्पनातिगमतीन्द्रियं च यल्लक्ष्यमुज्झति बहिर्मुखं च यत्।
अन्तरालगमभावभावयोस्तन्नतोऽस्मि सदहं निराकृति॥ १३॥
अम्ब यद् भवति तत्तदात्मना स्वैरितामजहदद्वयोदयम्।
तावकं पदमपाकृतक्रमं ब्रह्म तत्सदिति वा श्रुतं भजे॥ १४॥

सृष्टौ तमसो बाहुल्यमपेक्षितम्। पूर्वं विशुद्धसत्त्वात्मकमेव तस्या रूपमुक्तमधुना सत्त्वतमसोः शक्तिवपुष्ट्वमाह—भक्तानां हृदि भगवत्याः स्वरूपे ध्याते शुद्धविद्यया दृष्टं यल्लघु विसृत्वरं ज्योतिस्तादृशं सत्त्वम्, तस्माज्ज्योतिषो निर्गतं धूमाकारं गौरवयुक्तं च तमः, ते पूर्वोक्ते सत्त्वतमसी तस्या वपुः स्तः। सिसृक्षोः संजिहीर्षोश्च शिवस्य संकल्पमनुसृत्य सृष्टिसंहारयोर्व्याप्रियमाणा शक्तिर्जायमानं जगदवलोक्य सप्रकाशं तत् स्वात्मनि मज्जयन्ती प्रकाशपूर्णतया पूर्णिमा भवति। स्वात्मनि पूर्णं च तद्रूपं बहिः कुर्वती सप्रकाशजगद्रहितत्वेन सादृश्येन सा कुहूरुच्यते। तथा च कोषः—"सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा नष्टेन्दुकला कुहूः" इति। यथा सांख्ययोगपथयोः परस्परं भिन्नयोरपि आचार्यद्वयं समाधावेकमतं लक्ष्यते। उभयत्रापि समाधौ योगी सप्रकाशं जगत्स्वात्मनि प्रविलापयन् पूर्णः, व्युत्थाने च तद् बहिः कुर्वन् रिक्तो भवति, तथा सृष्टिसंहारयोः पूर्णतारिक्तते कुर्वती शक्तिरपीति साम्यम्।

[1]कालीशक्तिः स्वरूपस्थितौ कालमपि भक्षयित्वाऽक्रमतयाऽवतिष्ठते। सर्गे तु क्रमावच्छेदकः कालो विजृम्भत एव। पूर्णत्वकृशत्वापरपर्यायसर्गप्रलययोर्यदन्तरं स सन्धिकालः। तत्र स्रक्ष्यमाणप्रलेष्यमाणवस्तुषु कालकलना न भवति। तादृशवस्तुषु तदा कालक्रमं दिदर्शयिषन्तं ब्रह्मणो दिवसस्याद्यतनं कालं कालीशक्तिरत्तुमीहते। एत-

---

देशकालकलना विशेषतो यद् भवानि! विहितं निगद्यते।
व्यक्तिजातितनु संश्रितक्रमं तद्धितं तव बहिर्विजृम्भणम्॥ १५॥

सत्त्वमस्य विहितस्य वस्तुनस्तत्प्रसादितदयोदयं वपुः।
स्यात्तमश्च यदिदं निषिध्यते द्वे रजो सदसदन्यरूपतः॥ १६॥

यत्तमोऽन्यदिह तत्क्षितेर्वपुः सत्त्वमन्यदिह तेजसः शिवे।
मिश्रणोत्थमितरद्रजस्तयोस्त्वत्कसत्त्वजमतो गुणत्रयम्॥ १७॥

ईश्वरस्य तव भर्तुरक्षयैश्वर्यरूपमसि तत्त्वमम्बिके।
ज्ञानमस्य शुचिकर्म वा फलं ते विरागमयपूर्णता फले॥ १८॥

ज्योतिरम्ब हृदि विद्ययेक्षितं यल्लघु प्रसृतमर्धमण्डपे।
धूमलक्ष्म गुरु यच्च तच्च्युतं ते तु सत्त्वतमसी वपुस्तव॥ १९॥

त्वं हि रुद्रजकटाक्षवर्तिनी जायमानमवलोक्य चण्डिके।
सांख्ययोगपथदेशिकद्वयं जातसंमतिसमाधिकं यथा॥ २०॥

सप्रकाशकृतमज्जनं जगत्कुर्वती भवसि पूर्णिमा शिवे।
पूर्णमेव तव रूपमन्यथाकुर्वती किल कुहूः प्रतीयसे॥ २१॥

१. पूर्णताकृशतयोर्यदन्तरं तत्र कालि विजहत्क्रमे स्थिता।
दर्शितक्रमविभागसंभ्रमं कालमद्यतनमत्तुमीहसे॥ २२॥

देव शक्तिगतमत्तृत्वं ब्रह्मण्यारोप्य "अत्ता चराचरग्रहणात्" इति व्याससूत्रं प्रवर्तते। अभिनवगुप्तेनापि तन्त्रालोकषष्ठाह्निके—

क्रमाक्रमात्मा कालश्च परः संविदि वर्तते।
कालीनाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते ॥

इति शक्तेरेव कालाधिष्ठातृत्वं प्रविभावितम्। ब्रह्म अपि स्वां संविद्रूपां शक्तिमधिष्ठाय सर्वमदनीयं भोग्यं जगत्स्वात्मसात्करोतीति हेतोस्तदत्तृत्वं सुसंगच्छत एव।

[1]मातृमेयमितिमानात्मिका सर्वाऽपि विकल्पबुद्धिश्चितिशक्तिकृतैव। तां धियं शक्तिर्मातृमेयादिसमारोपेण कलुषयन्ती उन्मिषति। चितिशक्तिस्वरूपं तु विकल्पातीतं निर्विकल्पात्मकम्। "सर्वो विकल्पः संसारः" इत्यभियुक्तोक्त्या "मातृमेयमितिलक्षणं कुलम्" इति रीत्या कुलस्य विश्वात्मकतया विश्वोत्तीर्णस्वरूपायाः शक्तेर्महत्त्वं द्योत्यते। तया विकल्पधियाऽकलङ्कितं चितिशक्तिस्वरूपं स्वात्मत्वेन ज्ञातवतः पुरुषस्य मोक्षः, तद्विपरीतस्य तु बन्ध इति। यद्यपि सर्वत्रापि ज्ञाने मातृमेयमितीति त्रिपुटयेव भासते, न तु प्रमाणम्, तथापि विकल्पधियि चतुष्ट्यावस्थितिं द्योतयितुं तथात्वोक्तिः।

[2]इदानीं शक्तेः क्रमाक्रमरूपतामधिकृत्य वर्णयति। क्रमवत्त्वात् क्रमः सर्गः। क्रमसंहारवत्त्वाच्चाक्रमः प्रलयः। तौ च दृष्टिसृष्टिवादानुसारं विमर्शात्मकौ। तयोश्चाधिष्ठानत्वात् पराप्रकृतिः शक्तिः क्रमाक्रममयी। तस्याश्च शिवोपाधिकतया तन्मध्यगः शिवः, यथा घटादिमध्यगमाकाशम्। तं च निमित्तकारणत्वेनावेक्ष्य (आश्रित्य) स्वयमुपादानकारणरूपा शक्तिः कालभेदेन क्रममक्रमं च सृजति (तत्तद्रूपतया भासते), तां च शक्तिं निमित्तत्वेनावेक्ष्य तस्या आननं स्वानुरूपकार्यकरणायेतरगुणानभिभूय प्राधान्येनोद्रिक्तं गुणरूपं कर्तृ इदं मातृमेयमितिमानरूपैः सदवस्थितं कुलं विश्वं सृजति। अत्राननशब्दस्योद्रिक्ते गुणे प्राधान्येन आननत्वोपचारात् प्रयोगः।

[3]शिवतत्त्वमेव संविद्रूपमेकं वेदकम्। तस्यैव तु अनादिभावरूपया मायया (शक्त्या) विवर्तभूतानि कल्पितानि वेद्यानि। एवं वेद्यवेदकयोर्वस्तुगत्या ऐक्यमिति वेद्यवेदकविभेदकल्पनादक्षया मायया देशकालगतक्रमभेदेन क्रमवत्कार्यकरणसंघातोपहितत्वेन सर्वगस्यापि शिवस्य याऽणुता जीवे स्थिता, या चान्यानपेक्षसर्वावभासकस्यापि शिवस्याणुभावे बहिरर्थप्रकाशने चक्षुरादीन्द्रियसापेक्षाणुता तत्र स्थिता,

---

१. मातृमेयमितिसाधनात्मिका त्वत्कृतोन्मिषति या विकल्पधीः।
त्वत्स्वरूपमकलङ्कितं तया कस्य देवि विदुषो न मुक्तता ॥ २३ ॥

२. अक्रमक्रमविमर्शलक्षणं या क्रमाक्रममयी क्रमाक्रमम्।
अक्रमं शिवमवेक्ष्य मध्यगं त्वां च सत्कुलमिदं तवाननम् ॥ २४ ॥

३. वेद्यवेदकविभेददक्षया मायया क्रमवदङ्गगामिनी।
या स्थिताम्ब बहिरक्षकाङ्क्षिणी तां जहि त्वमणुतां मयि स्थिताम् ॥ २५ ॥

तामुभयविधामप्यणुतां सर्वगचितिशक्तिरूपाभेदाविर्भावनया शक्तिरेव हन्तुं समर्था। अतः शक्तिं द्वारीकृत्यैवात्मस्वरूपलाभस्यानिवार्यतया शक्तिसपर्यावश्यकी। तदुक्तं प्रत्यभिज्ञाकारिकायाम्—

> किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
> शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते॥ (१।३) इति।

यश्चायं मोहस्तदपसारणं च यत्, तदुभयमपि शक्तिमतः शिवस्य विजृम्भामात्रम्, न तु अधिकं किञ्चित्। विजृम्भा तु कालीशक्तेराख्येति पूर्वमेवोक्तम्।

[1]मायाशक्त्या सर्वगोऽप्यात्माऽणुत्वं नीयते। स चाणुर्विविधवासनाभिः प्राक्तनाभिर्धर्माधर्मादिकार्याणि कुरुते। तद्धि वासनात्मकं कर्म। माया च व्योमवामेश्वरी-खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीरूपाभिर्वृत्तिभिः शाक्ताभिर्विलाप्यते, यथा भानुरश्मिभिस्तमो नाश्यते।

[2]मायिकस्य कर्मणो विलापकत्वं शक्तेरेव, अतो वाममार्गपदव्यपदेश्यया कुलप्रक्रियोक्ताराधनया सर्वमपि कर्म चिन्मयतामापाद्यते। शिवशक्त्योः सामरस्यैकात्म्यतया सर्वोऽपि द्वैतव्यवहारः शक्त्या स्वस्मिन् प्रविलाप्य तया जगद्भक्षणात्मकेन चिन्मयेन वपुषा स्थीयते।

[3]स्थूलसूक्ष्मपररूपभेदत्रैविध्यमास्थाय शक्तिरेकाऽपि त्रिरूपतयाऽवभासमाना स्थूलविग्रहरूपेण दशमहाविद्यादिवपुषा सूक्ष्मविग्रहात्मना चिदाकाशाक्रमताशीलतया अतीन्द्रियवाङ्मनसमात्रगोचरतया परामृश्यते। परात्मना च वाङ्मनसयोरप्यगोचरतया परमोर्ध्वगेऽण्डचतुष्टयादप्यूर्ध्वगे पथि कार्यकारणभावातीते सामरस्यात्मकेऽनुभूयते योगिभिः।

[4]"अकचटतपयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गैर्विरचितमुखबाहापादमध्याख्यहृत्का" इति प्रपञ्चसारोक्तरीत्या अकारादियकारान्तवर्गसप्तकविरचितविग्रहा वाणीशक्तिः समस्तं वाङ्मयं सप्तधा वमन्ती वान्तया तया शब्दार्थोभयरूपया वाचा स्वाश्रितान् स्वभक्तान् परं व्योमात्मकं शिवं शान्तमुखं प्रापयति, न त्वपरं शिवम्। स्वयं तु साऽद्वयपदातिलङ्घिनी द्वैताद्वैतविवर्जिता।

---

१. कर्म यद् विविधवासनात्मकं मायया सह कृताणुभावया।
वृत्तिभिस्तव विलाप्यते हि तद् देवि भानुरुचिभिर्यथा तमः॥ २६॥

२. चिन्मयीकृतमतोऽश्रद्दश्यया गुह्ययाऽम्ब विपरीतचर्यया।
लभ्यते समरसीकृताखिलद्वैतवृत्ति तव घस्मरं वपुः॥ २७॥

३. याश्चरन्ति तव खे चिदात्मके शक्तयः करणलक्षणाः शिवे।
मुक्तवाह्यपदजृम्भणोद्यमाः त्वं हि तिष्ठसि तदूर्ध्वगे पथि॥ २८॥

४. सप्तधा वमसि या त्वमीश्वरि व्योमशान्तमुखचिद्गुणास्पदम्।
आश्रितान्नयसि नापरं शिवं द्वन्द्वयाद्वयपदातिलङ्घिनी॥ २९॥

प्रत्यगात्मनि परप्रमातरि स्थिता परावाग्रूपा कालीशक्तिः परापश्यन्तीमध्यमारूपैस्त्रिभिर्भावैरभिधीयते, तर्हि चतुर्थ्या वैखर्यास्तदभिधेयत्वे किमुत वक्तव्यम्। एतेन परशक्तिरूपायाः कालिकायाः सर्वकारणत्वात् सर्वात्मकत्वाच्च सर्वशब्दाभिधेयत्वं सुस्थिरम्।

ज्योतीरूपपरशिवसन्निधानाच्चिन्मात्रा शक्तिरूपा प्रकृतिर्विकृता घनीभूता विन्दुः। विन्दोश्च बिन्दुनादबीजभेदेन कालभेदेन अवस्थाभेदेन च रूपत्रयम्। तत्र विन्दुरीश्वरः, नादश्चिन्मात्रशक्तेश्चिन्मिश्रं रूपं पुरुषाख्यम्, बीजमचिदंशो भूतवर्गः। एते नादबिन्दुबीजाश्चिद्रूपविमर्शशक्तेरुद्भूता इति विमर्शशक्तिसागरशीकरतुल्याः क्रमेण स्थितिसंहृतिसृष्टिधामसु स्थिताः। नादस्य जीवरूपस्य ज्ञानात्मकस्य शब्दरूपतायां न संदेहः, "वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते" इति वाक्यपदीयोक्तेः। मातृकाभ्यो वर्णरूपाभ्यो भूतानामुत्पत्त्या प्रत्येकं भूतेषु विभिन्नप्रकारकशब्दानां सत्तानुभूतिस्तु सर्वसंमतैव। शारदातिलकतन्त्रानुसारं यद्यपि सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् शक्तिस्ततो नादो नादाद् विन्दुः परशक्तिमयस्तस्माद् बिन्दुनादबीजा इति क्रमः, तथापि कार्यरूपनादबिन्दुबीजेषूभयग्रन्थयोर्मतैक्यदर्शनेन कारणरूपे नात्र ग्रन्थे विचार इति न कापि विप्रतिपत्तिः। (३१)

यथा बाह्याकाशे शशिमण्डलभानुमण्डलयोर्मध्यगोऽनलश्चरति, तथाऽध्यात्ममपि चिदाकाशे दृक्शक्तिरूपशशिमण्डलव्याप्ताया इडायाः क्रियाशक्तिरूपभानुमण्डलव्याप्तायाः पिङ्गलायाश्च मध्ये सुषुम्णान्तर्यदनलवत् सुधाम चरति तदेव शिवतत्त्वम्, तदूर्ध्वशिखरे यत्परं नभस्तत्र परमशिवः। इत्थमन्तरपि अध्यात्मं चिदाकाशे ऊर्ध्वाधरभावेन भागद्वयमस्तीत्युपलभ्यते। शरीरे नाडीत्रयस्य सत्तोपवर्णनं तन्त्रचूडामणौ—

मेरोर्वामे स्थिता नाडी इडा चन्द्रामृता शिवे।
दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः॥
तद्बाह्ये तु तयोर्मध्ये सुषुम्णा वह्निसंयुता। इति।

प्रथमचिदाकाशस्योर्ध्वभागे वह्निसंयुक्तसुषुम्णानाड्याः शिरोभागे द्वितीयस्मिन् परनभसि परमशिववसतौ परमशिवेन योगोऽपि कालीसंज्ञकपरशक्तिसहकारसाध्य एव, नान्यथा। (३२)

कालीशक्तेः परापरभेदेन रूपद्वैविध्यं कालिदासेन चिद्गगनचन्द्रिकायामुद्भावितम्। तत्र पररूपं परमशिवसामरस्यापन्नमविकारि अव्यवहार्यं वाङ्मनसागोचरमतद्व्यावृत्त्या श्रुतिप्रतिपाद्यमिदं तदिति व्यपदेशशून्यम्। अपरं तु शब्दार्थोभयात्मके जगति वैखरीमध्यमापश्यन्तीरूपशब्दात्मकं मेयमानमितिमातृरूपमर्थलक्षणं सृष्टिस्थितिलयात्मकतयाऽर्थानामवस्थारूपं नानाभेदपरिपूर्णम्। (३३)

शक्तेरुदयप्रशमाभ्यामीश्वरस्यापि वपुर्द्वयम्। शक्तेरुदयेन विश्वमूर्तिं सविशेषमित्येकम्। शक्तेः प्रशान्त्या चाज्ञातस्वरूपं निर्विशेषं द्वितीयम्। तत्राद्यविग्रहमुदयात्मकं निमित्तीकृत्य पञ्चवाह्यापरपर्याया पञ्चप्राणरूपा आद्या सृष्टिः प्रक्रमते। (३४)

पराशक्तावेव सर्वं जगत् पयोधौ वीचिवद् वर्तते। कालीरूपा पराशक्तिरेवापरशक्तेरुपादानकारणम्। परस्या विकृतिरूपाऽपराशक्तिर्यया वर्णमातृकाभिरवयवभूतैरारब्धं भूतसूक्ष्ममर्थपञ्चकं तन्मात्रव्यपदेश्यम्। ततश्च महाभूतोत्पादक्रमेण विविधसूक्ष्मस्थूलभूतभौतिकसृष्टयः प्रसरन्ति। शरीरेऽद्वयतत्त्वोपलब्ध्याधाराद् मूलाधारचक्राद् विश्वमूलोऽर्थावभासकश्च स्वर उदयते। स एवाकाररूपः स्वरो दुर्भेदमनाहतचक्रं प्राप्य विषयरूपेण बोधरूपेण शब्दार्थोभयरूपेणोपलभ्यते। अनाहतचक्रादेव हकाररूपायाः शक्तेरपि विमर्शो भवति। यथा देहे सबाह्याभ्यन्तरं सर्वत्रैवौतप्रोतरूपः प्राणः, तथाप्यसौ हृदयादेव स्फुटतया संवेद्यः, तथैवाकारोऽपि—"अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः" इत्युक्त्या सर्ववर्णाग्रजन्मा सर्वलयस्थानं हृदयादेव स्फुटीभवति, संवेद्यश्च। (३५)

सा कालीशक्तिः सकलशब्दमयी, शब्दोऽप्याहताऽनाहतभेदेन द्विधा। स्थानकरणप्रयत्नजन्योऽत एवाहताख्यो वैखरः श्रोत्रेण स्फुटं गृह्यमाणः शब्दोऽपि शक्तिकारणक एव। द्वितीयोऽपि प्राक्तनशब्दानुभवजन्यवासनावासितो मानसः शक्तिकारणक एव। (३८)

अनुस्वारविसर्गौ षण्ढस्वरांश्च हित्वा सूर्यकलारूपांश्च ह्रस्ववर्णान् विहाय सर्वेऽवशिष्टा वर्णाः स्वरव्यञ्जनरूपाः शशिनः कलाः सन्ति। एते वर्णाः क्रियाशक्तिनिर्माणकारणानि। क्रियाशक्तिश्च पारमेश्वरी शक्तिरेव, न ततो न्यूना भिन्ना वा। बिन्दोः प्रकाशमात्रसारत्वेन विसर्गस्य विमर्शरूपत्वेन षण्ढस्वराणामानन्दरूपतया स्वविश्रान्तत्वेन नैषां क्रियाशक्तिनिर्मितावुपयोगः। (४०, ४१)

शक्तिर्बीजरूपा परावाग्रूपा चेति पूर्वं सुबहुश उक्तम्। अस्याः शक्तेर्नाद एवेष्टतनुः। स च बुद्ध्या लक्ष्यते न तु श्रोत्रेण। बिन्दुश्च अक्षरात्मकोऽर्थात्मकश्च। अतः स कारणत्वेन शब्दार्थरूपं जगन्नियमयति। तौ संकलय्य पराशक्तिर्नादबिन्दुपरारूपत्वेन त्रिधा भासते। बिन्दुनादबीजानां पूर्वपूर्वं प्रति उत्तरोत्तरस्य कारणत्वम्, पूर्वपूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरस्य सूक्ष्मत्वं चेति ध्येयम्। (४२)

निस्तरङ्गशिवचित्पयोनिधेराद्यः स्पन्द इच्छाशक्तिरूपः प्रथम ऊर्मिः, द्वितीयस्तु ज्ञानशक्तिरूपः क्रियाशक्तेः प्राग् जायमानः, क्रियाशक्तिरूपस्तु तृतीयोऽचिद्विश्वस्य कारणम्। एतदूर्मित्रयं शिवसमवायिन्याः पराशक्तेरेव वपुः, न तु शिवस्य निस्पन्दस्य निर्विकारस्य। इच्छाज्ञानक्रियाशक्तीनां विस्ताररूप एव सर्वोऽपि वाग्विलासः। तदुक्तं महार्थमञ्जर्याम्—

वैखरी नाम क्रिया ज्ञानमयी भवति मध्यमा वाक्।
इच्छा पुनः पश्यन्ती सूक्ष्मा सर्वासां समरसा वृत्तिः ॥ ५० ॥ इति।

सा इच्छाशक्तिरेव प्रवृद्धा सती खेचरत्वंसमुपाश्रिता खेचरी, दिशि स्फारिता दिक्चरी, अन्तःकरणरूपा गोषु इन्द्रियेषु संप्राप्ता गोचरी, भावेषु प्राप्ता भूचरी,

नानात्मानमाविर्भाव्य स्वं पारमार्थिकं रूपमाभासयति। सैवेच्छाशक्तिः पशुभूमिकायां स्वं पारमार्थिकं रूपं संगोप्य तत्तच्चक्रनाम्ना पशून् व्यामोहयति। पतिभूमिकायां सेच्छाशक्तिः सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञातृत्व-नित्यत्व-पूर्णत्व-व्यापकत्वरूपाभिः शक्तिभिः संपन्ना खे बोधगगने चरतीत्यन्वर्थनाम बिभ्रती खेचरीत्वेन, अभेदालोचनाद्यात्मना दिक्चरीत्वेन, अभेदनिश्चयाद्यात्मना गोचरीत्वेन, स्वाङ्गकल्पतया भावजातं पश्यन्ती भूचरीत्वेन स्फुरति। इदं खेचर्यादिशक्तिचतुष्टयं सांशं शिवतत्त्वाद् बहिर्भूतम्, निरंशं शक्तितत्त्वं तु द्वैताद्वैतविभागशून्यं शिवसामरस्यापन्नं चितिरूपम्। शिवादबहिर्भूतं तन्न वाग्व्यवहारविषयीभूतम्। (४३–४५)

चिद्रूपं शिवतत्त्वमकुलम्, ततो निर्गता चिद्रूपा शक्तिस्तु वामेश्वर्यादिभूचर्यन्तपञ्चशक्तितनुत्वेन संपूर्णं विश्वं (देहं) प्रकर्षेण भासयति। विश्वावभासनकार्याद् विरता सा पुनः शिवेऽकुले विलीना भवति।

तस्याः शक्तेर्वामेश्वर्यादिवृत्तिपञ्चकं युक्तितः पञ्चभूतगुणवृत्तिः प्रतीयते। तदेव वृत्तिपञ्चकं धर्मिगतं सिद्धपञ्चकस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवरूपस्य सिद्धिरूपतया भासते। धर्मगतं च वृत्तिपञ्चकं शक्तिपञ्चकनाम्नाऽभिधीयते। सिद्धपञ्चकस्य शक्तिपञ्चकं भारती-विश्वम्भरा-रौद्री-ईश्वरी-सदाशिवारूपं योगिनीहृदयदीपिकायां प्रसिद्धम्। (४७)

उन्मनीमवस्थां सिद्धपञ्चकं शक्तिपञ्चकमित्येकादशविधशक्त्याकृतिं भजमानः साधकः सिद्धमार्गो श्रेष्ठो गण्यते।

चिदचिद्रूपेण विश्वं द्विविधम्। सोऽयं द्विविधोऽप्यर्थो धर्मिधर्मपदेन व्यपदिश्यते। धर्मिरूपं तत् सिद्धपञ्चकप्रकाश्यमानं चिद्रूपम्। धर्मरूपं तदचिद्रूपं शक्तिपञ्चकप्रकाश्यम्। वस्तुगत्या पराशक्तिरेवोभयरूपिणी, तया प्रकाश्यमानोऽर्थस्तत्तदाकृतीरुपगच्छन् चिद्रूपेश्वरे दर्पणप्रख्ये सृज्यते। एतेन प्रकाशातिरिक्तं वस्तुरूपं नात्र स्वीक्रियते। (४९)

इदं जगद् बुद्धिदर्पणे वासनारूपेण स्थितं सार्वकालिकमेव। तद्धि परादिवाग्रूपया शक्त्या भास्यते, शब्दस्य परोक्षापरोक्षसार्वकालिकवस्तुनो वासनारूपेण बुद्धौ स्थितस्य परोक्षरूपेणैव बोधकत्वात्। अतीतानागतमपि वस्तु वासनात्मना बुद्धिस्थं शब्देनैव चतुर्विधेन बोध्यते, नान्यथा। बाह्यं वर्तमानतयाऽवगतं तु इन्द्रियरूपया शक्त्याऽवभास्यते।

विमर्शात्मिका सा कालीशक्तिः स्वप्रकाशचिद्रूपा। अतो विषयरूपतायास्तत्राभावात् चित्तता न। ननु प्रलये चित्तताऽभावेऽपि सर्गे कुतो नेति चेत्? स्वरूपतस्तस्याश्चित्त्वेन विषयसम्बन्धकृता चित्तगोचरता विषयाणां सम्बन्धादेव, न तु स्वतः। (५०)

जगदिदं स्वभावतो जडमेव, यत इदं परापश्यन्तीमध्यमावैखरीभेदेन भाति। शक्तिस्तु सदा प्रकाशरूपत्वाद् जाड्यपरिपन्थिनी। जगति नामरूपे भासेते, किन्तु

नामरूपयोर्जडतया तयोर्भासकत्वं शक्तेरेव। अतस्तौ भास्यौ, भासिका तु चिद्रूपा कालिकैव। प्रकाशात्मनः शिवस्याभिन्ना शक्तिरपि भात्मिकैव प्रकाशत्वेन रूपेण प्रकाशत इति जाड्यपरिपन्थित्वं तस्या युक्तमेव। किञ्च, जगतः स्वरूपेण निर्निरुक्तिकत्वेऽपि कारणात्मना सत्त्वेन निर्वाच्यता जडता भारूपताऽपि प्रतिष्ठितैव, प्रलयकाले सर्वस्यापि जगतः शक्तौ लयेन शक्त्यात्मना जगदवस्थितेः। (५७-५८)

शिवस्य प्रमातृत्वं द्रष्टृत्वं ग्राहकत्वं च शक्तिकृतमेव

प्रमातृसप्तके शिवोऽपि प्रथमप्रमातृत्वेन स्मर्यते। किन्तु वस्तुगत्या विचारणायां शिवे यत्पञ्चकृत्यकारित्वं सर्वकर्तृत्वादिपञ्चशक्तिसमवेतत्वम् इच्छादिशक्तित्रितयावियुक्तत्वं च तत्सर्वं शक्तिकृतमेव। शक्तिरेव जगतः कर्त्री। तत्कर्तृत्वं शिवे समारोप्य शिवस्य प्रमातृतादिव्यवहारः संगच्छते। शक्त्यनुग्रहं विना शिवस्य ब्रह्मविष्ण्वादीनां केषाञ्चिदपि शक्तिमतां तत्तत्कार्यकर्तृत्वं कथमपि क्षणमपि न घटेतेति सर्वस्यापि बाह्याभ्यन्तरप्रमातृतादिव्यवहारस्य निभालयित्री शक्तिर्विमर्शात्मिका कालीपदव्यपदेश्या सर्वतः श्रेयसी गरीयसी च। शक्तिशक्तिमतोः श्रेयस्त्वनिर्णयप्रविचारे शक्तेरेव श्रेयस्त्वगरीयस्त्वकथनं प्रामाण्यमर्हति। अत एव कालमहाकालादिपदव्यपदेशस्य शिवस्यापि स्वस्मिन् प्रविलापनरूपकलनकरणादेवेयमन्वर्था कालीमहाकालीसृष्टिस्थितिसंहारकालीपदैरभिधीयतेऽन्तर्विद्भिस्तान्त्रिकदार्शनिकैः। यद्यपि शिवशक्त्योरविनाभावसम्बन्धः सुबहुश उक्तः—"न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः। तादात्म्यमनयोर्नित्यं चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥", "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्" इत्यादिप्रवचनैर्द्वयोः सदा संयुक्तत्वं सदा परस्पराश्रयित्वं सर्वस्यापि विश्वस्य शिवशक्तिमयत्वं च स्वीक्रियत एव। तथापि तयोरन्यतरप्राशस्त्यविचारे शक्तितुलैवाभ्यर्हितत्वमाटीकते। अत एव मार्कण्डेयपुराणे सप्तशतीस्तोत्रस्याष्टमाध्याये देवशक्तिभिः परिवृतेनेशानेन 'असुराः शीघ्रं हन्तव्याः' इत्याज्ञप्ताऽपराजिता चण्डिका "अतस्त्वं गच्छ भगवन् पार्श्वं शुम्भनिशुम्भयोः" इत्यनुपदमेव तं दौत्याय शशास। तया देव्या स्वयं शिवो दौत्येन नियुक्तः, अत एव शिवो दूतो यस्याः सा शिवदूतीत्यन्वर्थसंज्ञया साऽभिधीयत इत्युक्तम्।

अग्रे च चिद्गगनचन्द्रिकायां सूर्यचन्द्रवह्निकुण्डलीबिन्दुरूपैश्चक्रैर्ग्रथितामुत्तराधरभावे स्थितां कालकर्षिणीं रुद्रशक्तिमपि कालीशक्तित्वेनोपवर्ण्य प्रणवस्य शक्त्यभिधायकत्वं तत्प्राप्तिस्थानत्वं च स्थिरीकृतम्। (९५) कुण्डलिन्यां चक्रपञ्चकं तिष्ठतीति पूर्वमेवोक्तम्। प्रणवाकारेऽपि मात्रापञ्चकं स्वीकृत्य कुण्डलिन्या सादृश्यं प्रतिपादितम्। शितिकण्ठप्रणीतमहानयप्रकाशस्य दशमोदयस्य चतुर्थपद्यव्याख्यानदर्शनेन कुण्डलीप्रणवयोः सारूप्यप्रतीतिः स्फुटैव, तद्यथा—"कुण्डलिन्यामावर्तपञ्चकरूपप्रणवाकारोल्लास एव पञ्चात्मकविश्वव्याप्त्या स्थितः" इति। अत्र विश्वस्य पञ्चात्मकत्वं भूतपञ्चकात्मकत्वेन। तत्र कुण्डलिन्यामधःस्थितं चक्रं घोष इति, तत ऊर्ध्वं वाडव इति वह्निचक्रम्, तत ऊर्ध्वं कुण्डलिन्याः शिखा (अग्रभागः), तदुपरिस्थितं बिन्दुचक्रं

तत्पार्श्वे नादचक्रमिति । रामोत्तरतापिन्युपनिषदि प्रणवस्य षडक्षरत्वम्– "अकारः प्रथमाक्षरो भवति, उकारो द्वितीयाक्षरो भवति, मकारस्तृतीयाक्षरः, अर्धमात्रा चतुर्थाक्षरः, बिन्दुः पञ्चमाक्षरो भवति, नादश्च षष्ठाक्षरः" इति । (९६) अग्रे च प्रणवः शक्तिविग्रह एवेत्युक्तम् । स च चिन्मयः । योगसूत्रेऽपि—"तस्य वाचकः प्रणवः" (१।२७), "तज्जपस्तदर्थभावनम्" (१।२८) इति तत्सम्बद्धो विधिरुक्तः । 'अहं स इत्यस्य जञ्जप्यमानस्य स्वरससमुद्भूते विपर्यये सोऽहमित्यकारस्य लोपोत्तरं सकारहकारयोर्लोपभावनयाऽविशिष्टे पूर्वरूपसन्धिभावनया च ओमिति रूपं स्वत एव जञ्जप्यत इति । विज्ञानभैरवटीकायाम्—"एवं शरीरं षट्चक्राधारम्, तद्रूपो यो मन्त्रः प्रणवाख्यः सोहंरूपो वा, सोऽहमित्यत्र सकारहकाररूपहलो लोपे ओमित्यवशिष्यते । यतोऽयं नाभ्यादिद्वादशान्तं यावत् पिण्डे विभक्तोऽतः पिण्डमन्त्र ओङ्कारः, सोऽहमित्यजपागर्भितो हृदयप्रदेशेऽन्वर्थं ध्वनति । यदुक्तम्–"ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् । दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः ॥" (विज्ञानभैरवटी० पृ० ३७) इति ।

अत्रैव ९९ श्लोकेन जगत्सर्गहेतुः पञ्चमहाभूताकारोऽपि कालीशक्तेर्विग्रह एव । १०० श्लोकेन दण्डमुण्डक्रमौ प्रक्षिप्य ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपताऽपि कालीशक्तेः प्रसाधिता । दण्डमुण्डक्रमौ महानयप्रकाशे—"मुण्डनं ज्ञानरूपेण दण्डनं च क्रियात्मना । मुण्डदण्डक्रमौ तेन मतौ ज्ञानक्रियात्मकौ ॥" इति । एतेन चिद्गगनचन्द्रिकाकारस्य खेचर्यादिशक्तिचतुष्टयी द्विविधाऽभिप्रेता लक्ष्यते । एका च प्रत्यभिज्ञाहृदयवर्णितस्वरूपा प्रागुक्तप्रकारा, अपरा च अपरशक्तिचतुष्टयीति । उभयी च वामेश्वर्या एव आविर्भूय प्रकाशतां गच्छति । तत्र चैका चतुष्टयी ज्ञानरूपेण मुण्डक्रमेणापरा च क्रियारूपेण दण्डक्रमेण विश्वकार्याणि यथायथं वहतः । प्रथमो ज्ञानशक्तिप्रसरोऽपरक्रियाशक्तिगर्भो बुद्धीन्द्रियविपरिणामेन मुण्डक्रमेण, द्वितीयश्च क्रियाशक्तिप्रसरो ज्ञानशक्तिगर्भो कर्मेन्द्रियविपरिणामेन स्वस्वविषयानात्मसात्कृत्य विलसतीति । यदा भोक्तृभोग्यकलनासंहारे सामरस्यावलम्बिनी चितिशक्तिर्भवति, तदा खेचर्यादिशक्तिचतुष्टयेन दण्डतः क्रमं वहति । यदा च भोक्तृभोग्यादिकलनायाः सृष्टिर्जायते, तदा परचतुष्टय्यां मुण्डतः क्रमं वहति । एतेन सर्गप्रलययोरुभयोरपि क्रमयोस्तस्याः पञ्चकृत्यकारित्वं सततं निरवच्छिन्नं स्फुटं व्यज्यते । मृगेन्द्रतन्त्रे प्रलये कथं कृत्यपञ्चकं किमर्थं च प्रचलतीत्याशङ्क्य—

स्वापेऽप्यास्ते बोधयन् बोधयोग्यान् रोध्यान् रुन्धन् पाचयन् कर्मिकर्म ।
मायाशक्तीर्व्यक्तियोग्याः प्रकुर्वन् पश्यन् सर्वं यद्यथा वस्तुजातम् ॥

इत्युत्तरितम् । शिवशक्त्योरभेदात् शिवपरकोऽयं श्लोकः शक्तिपरतयोन्नीय संघटनीयः । सा कालीशक्तिः स्थितौ वर्णविग्रहत्वं संधार्याष्टवर्गात्मिका नववर्गात्मिका वा सती क्रमं संसारचक्रं निर्वहति । प्रलये तु मन्त्रपञ्चकतनुः सती निष्क्रमतया तिष्ठति । सर्गकाले तु चक्षुरादीन्द्रियवृत्त्या शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानामुपभोगं कुर्वती वृत्तिसामरस्य-

१. महार्थमञ्जरीपरिमले, पृ० १४४

मवाप्य विलसति। विषयाभिलाषरूपं सामरस्यमुक्तं षट्चक्रनिरूपणे—"स्त्रीपुंयोगे तु यत्सौख्यं सामरस्यं प्रकीर्तितम्" (पृ० ६७) इति (१०२)। या चिन्मयी कालीशक्तिः प्रलयसुषुप्तिसमाधिषु ज्योतीरूपतयाऽनुभूयते, सैवात्र शरीरान्तर्हृद्देशरूपे चिद्गगने ज्योतीरूपतया सदोदिता दिव्यमोघमुद्गिरन्ती चक्षुरादीन्द्रियाणां सम्बन्धं त्यजति। एतेन तस्या अलौकिकसामर्थ्यवत्तया वामविग्रहत्वं लोके स्मर्यते। दिव्यौघसिद्धौघमानवौघभेदेन ज्ञानप्राप्तिमार्गस्य त्रैविध्यं तन्त्रेषु वर्ण्यते। तत्रेश्वरसदाशिवश्रीकण्ठादीनां दिव्यौघक्रमेण शैवशाक्तज्ञानं लभ्यते, दुर्वासोदत्तात्रेयपरशुरामादीनां सिद्धौघक्रमः, मानवगुरुक्रमेणान्येषामिति त्रिविधस्यापि मार्गस्य महती गुरुपरम्परा तन्त्रेषु वर्णितोपलभ्यते (१०३)। चिद्गगनादप्यूर्ध्वं महाम्बरगता तु सा शक्तिः स्वभावतो नद्या विषयसम्बन्धजनितपरिच्छेदानित्यत्वादिदोषशून्या चित्स्वरूपा भवति। तदा शिवेन सहैक्यं प्राप्य तत्त्वातीतदशामधिशेते। एकैव शक्तिः क्रमलक्षणायां स्पन्दसृष्टौ खेचरीरूपत्वं गृह्णाति, अक्रमसृष्टौ तु सा भूचरीरूपेण जृम्भते। अक्रमेण विजृम्भिता सा भूस्वर्गरूपं भुवनद्वयं विसृज्योर्ध्वाधरलोकरूपेण तत्र संचरन्ती भूचरीपदव्यपदिष्टा भवति। अक्रमसृष्टिश्च तत्र तत्रोपनिषदादिषु दर्शिता। तद्यथा—यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति" इत्यादि (१०५)। सैव भूचरीशक्तिः स्फुरणात्मकं तत्तदर्थमयं स्वं वपुर्यदा क्षणात्परिवर्त्य संहारोन्मुखी भवति, तदा दिक्चरीपदव्यपदेशार्हा (१०६)। यदा तु प्रत्यगात्मनि शिवे स्वात्मानमर्पयित्वा भेदविगलनपूर्वकमैकरस्यं स्थापयति, तदा सैव दिक्चरी संहारक्रमं ग्रसित्वा महाम्बरस्यापि पारे स्थिता गोचरीनाम्ना प्रसिद्ध्यति (१०६–१०७)।

शक्तिरूपासु तद्विकारभूतासु ज्ञानेन्द्रियवृत्तिषु पञ्चसु यदि काचन वृत्तिः शश्वत् स्वतः स्फुरति, तदा अपरा अवशिष्टा वृत्तयः शीघ्रं सामरस्यं प्राप्य प्रकाशन्ते। तेन तदा स्फुरद्वृत्तिविषयातिरिक्तविषयाणामपि तयैव वृत्त्या भानात् संहारो न भवति, तेन सुरभि रक्तं चन्दनमित्यादिकं प्रत्यक्षमुपपद्यते। न तु चक्षुषा रक्तचन्दनप्रत्यक्षकाले सौरभग्रहणायालौकिकसंनिकर्षापेक्षास्ति (१०८)। खेचरीवृत्तिरेव गगनादिभूतभौतिकविश्वसर्गं करोति। दिक्चरी तु संहारवृत्तिः। सा च खेचरी सूक्ष्मा निर्निकेता सर्गकामया परया शक्त्या स्फारिता सती प्रथमतो गगनं सृजति। तदेव च स्वं निकेतनमधिष्ठाय पूर्वं नादं ततो विश्वं सृजति। सर्गकाले च संहारशक्तिं दिक्चरीमाक्रम्य तिष्ठति, येन सर्गकाले संहारस्य नावसरः समुदेति (१०९)। खेचरीशक्तिः शिवात् स्वयं क्षोभं प्राप्य बिन्दुभूमिमधिष्ठाय तिष्ठन्ती षोडशस्वरवर्णशरीरा नादविग्रहा [1]आनन्दचक्रविभवा भवति। आनन्दचक्रे प्राप्ते तस्यां धामवर्णसंवित्क्रमसर्जनसामर्थ्यं समायाति। धामवर्णसंवित्क्रमविभवा सा भूचरीति संज्ञां बिभर्ति (११०)।

---

१. आनन्द चक्रे·········संवित्क्रम इत्यानन्दचक्रव्याप्तिः।

सैव खेचरी पिण्डे ब्रह्माण्डे वा चिद्गगनाद् बहिर्निष्क्रान्ता जृम्भिता वृद्धिं प्राप्ता-ऽर्थपञ्चकं शब्दस्पर्शादिविषयपञ्चकं ग्रसन्ती बिन्दुं भासयन्ती दिक्चरी भवति। किञ्च दिक्चरीरूपमयी सा बिन्दुं प्रकृतित्वेन भूचरीमपि स्वाभेदेन निर्विभागतया रक्षन्ती समुल्लसति (१११)। सा दिक्चरी यदा पूर्वोक्तबिन्दुभासकत्वावस्थामप्यति-क्राम्यति, तदा सप्तदशप्रकारकं मूर्तिचक्रमधिरुह्य सर्वसंहारकं मूर्तिचक्रमधिरुह्य परां वाचं प्रविशति (११२)। यदा सा दिक्चरी परां प्रविशति तदा सा मङ्गलेत्युच्यते, यतस्तत्र सर्वेषाममङ्गलानां जागतिकानां बाह्याभ्यन्तराणामुपशमो जायते। सा च दशा निरालम्बाऽधिष्ठानत्वेन चिद्रूपैव। अस्यां दशायां विषयग्रहणं निरस्तं सत् स्वरूपाभेदेन भासत इति स्वकलने शक्त्या क्रियया वा चित्तस्य व्यामोहनं कृत्वा चित्पदं श्रयतीति सर्वमङ्गलप्रदा मङ्गलाभिधाना संपद्यते। सप्तशत्यां सर्वमङ्गलमाङ्गल्यस्वरूपेण तस्याः स्मरणं विशिष्टावस्थाद्योतकमेव (११३)।

तदेवं मन्त्रविद्यादिभेदप्रदर्शनपूर्वकं दशमहाविद्यास्तासां भैरवा आम्नायाः कालीप्रादुर्भावः काल्या उपासकाश्च समासेन वर्णिताः। विद्यानामाविर्भावो भक्ताना-मणूनां रक्षार्थं समभवदिति शक्तिसङ्गमोक्तकथानिर्देशेन स्पष्टीकृतः। कुण्डलिनी-शक्तिरेव काली विद्या, सैव स्वबिम्बं प्रेक्षमाणा मायात्वेन परिणता मानसिकशिवं भर्तृरूपं सृष्ट्वा तेन साकं चिरमरमत। तयोराश्लेषजन्यबिन्दुनोत्पन्ना काऽपि मानसी शक्तिः परात्पररूपा महाकालीसंज्ञया लोके प्रथिता। कालीं प्रत्यहङ्कारवचसालापेन ध्वनिरुत्पन्नः। इत्थं बिन्दुध्वनियोगेन वर्णोद्गमः।

शक्तिसङ्गमतन्त्रानुसारं काल्युपासनैव कुलपदेन प्रोच्यते, अतः काल्युपासकाः कौला इत्युच्यन्ते। कुलपदस्यानेकेऽर्थाः प्रसङ्गादुट्टङ्किता अत्र। सृष्टिस्थितिसंहारतुर्य-भेदेन त्रिपुट्या गुणनेन द्वादशभेदाः काल्याः संभाव्य तेषां वर्णनमपि ध्याननामनिर्व-चनाभ्यां सह सन्निवेशितम्। कलधातोर्निष्पन्नः कालशब्दः शिवपर्याय एव, तस्य शक्तिः काली असंख्यभेदभिन्नापि परादिभेदेन मुख्यतया चतुर्धा विजृम्भते। सा सततपञ्चकृत्यविधायिनी चिद्रूपा स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वोन्मीलननिमीलनाभ्यां विश्वात्मिका विश्वोत्तीर्णा चेति सर्वथा निरर्गलं तस्याः स्वातन्त्र्यं माहात्म्यं च। शक्तेरपि द्वादशधैव पार्यन्तिकश्चमत्कारो व्यवहारनिर्वाहाय भवितुमर्हतीति द्वादश-विधकलनस्वरूपानुगमोऽयमित्यभिनवगुप्तसमर्थितः पन्थाः।

चिद्गगनचन्द्रिकोक्तरीत्या कालीशक्तेश्चमत्काराधायकोऽतिशयः संक्षेपेण कैश्चिच्छ्लोकार्थैरुपन्यस्तः कालीविद्यातच्छक्त्योर्निःशेषेण वर्णनं महता कालेन महता च श्रमेणापि मादृशैरशक्यमेव। विशाले तन्त्रवाङ्मये प्रसृतं कालीविद्यातच्छक्त्यो-र्निगूढं तत्त्वं भगवदनुग्रहैकलभ्यं नैष्ठिकैरुपासकैराकलयितव्यमिति किमपि दिङ्निर्देश-दिशा कथयित्वा विरम्यते॥

तारातत्त्वम्

ब्रह्मचारी श्रीशङ्करानन्दः, नव्यन्यायवेदान्तसांख्ययोगाचार्यः, एम० ए०, वरिष्ठानुसन्धाता
(सीनियर फैलो) योगतन्त्रविभागः, वा० सं० वि० वि० वाराणसी ।

आराध्या तारिणी देवी यया सर्वमिदं ततम् ।
यत्कृपालेशमात्रेण मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥

प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रये विविधकर्तृभोक्तृसंयुते मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपे नामरूपाभ्यां व्याकृते चतुर्दशभुवनात्मकेऽस्मिन् जगति ब्रह्मादिस्थावरान्ताः समेऽपि प्राणवन्तः प्राक्तनकर्मफलजन्मजरामरणादिविविधदुःखमनुभवन्तस्तापत्रयाक्रान्तचेतस्तया दंदह्यमानाः पीड्यन्त इति न तिरोहितं दर्शनगगनविहरणपाटवानां प्रेक्षावतां विदुषाम् । अत एव दुःखत्रयोच्छित्तये परमानन्दावाप्तये च खलु सततं प्रयतन्ते सचेतसश्चेतनाः । वेदान्तादीनि विविधदर्शनान्यपि तदर्थमेव लोके विविधान् मार्गानुपदिशन्ति नानासम्प्रदायाश्रयत्वमावहन्ति । शक्तितत्त्वसमुपासकपुरुषधौरेया अपि स्वात्मानुरूपामिष्टविद्यामवलम्ब्य तदर्थमेव प्रवर्तन्ते ।

शक्तिश्च जगन्माता ब्रह्मादिदेवानामपि प्रकृतिभूता सच्चिदानन्दविग्रहा ब्रह्मस्वरूपा परतत्त्वरूपा चेति तान्त्रिकाणां डिण्डिमघोषः । तथा च वाडवानलीयतन्त्रे—

"एकैवाद्या जगत्सूतिः सच्चिदानन्दविग्रहा" इति ।

ऋग्वेदीयमन्त्रोऽप्यमुमर्थं द्रढयति—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि
अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि
अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ (ऋ० १०-१२५-१)

अत्र 'अहं' इतिपदस्य शक्तिरेवार्थः । सैव रुद्राद्यात्मकरूपेण तत्तत्कार्यं करोति । अत एवाग्रिमतृतीयमन्त्रेऽप्यहंपदेन शक्तिरेव बोध्यते—

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मां देवा व्यदधुः पुरुत्राः
भूरिस्थात्रां भूयावेशयन्तीम् ॥ (ऋ० १०-१२५-३)

'संगमनी चिकितुषी' इत्यादिपदैः पूर्वप्रकृतस्य 'अहं' इतिपदस्य सामानाधिकरण्येन शक्तितत्त्वार्थकत्वं स्पष्टतया विज्ञायते। अत्र हि भगवती चितिरेव वसूनां राष्ट्री = स्वातन्त्र्यशक्तिः, संगमनी = कार्यशक्तिः, चिकितुषी = ज्ञानात्मिका शक्तिः—इत्यादिरूपेणात्मानमुद्घोषयति। किं बहुनात्रत्यं समस्तं सूक्तं शक्तिमेव प्रतिपादयति। ऋग्वेदे च श्रीसूक्तादेरपि शक्तितत्त्वस्य प्रतिपादकत्वं सार्वजनीनम्। मार्कण्डेयपुराणे—

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्।
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥

अस्मिन् श्लोके भगवत्या जगज्जन्मस्थितिभङ्गहेतुत्वेन वर्ण्यमानतया तस्याः सच्छब्दवाच्यसच्चिदानन्दात्मकब्रह्मरूपत्वमनिच्छद्भिरप्यङ्गीकार्यम्। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिवेदान्तवाक्यैः, "जन्माद्यस्य यतः" इति सूत्रेण च प्रतिपाद्यमानस्य ब्रह्मलक्षणस्य शक्तौ सत्त्वात्तस्या ब्रह्मरूपत्वं सुतरामायातम्। औपनिषदा अपि 'सदेव सोम्य' इत्यादिश्रुतिसहस्रबोधितविश्वकारणत्वादिकं शक्त्यभिन्नस्यैव ब्रह्मणः स्वीकुर्वन्ति, नाशक्तस्य कस्यचन। लोकेऽपि शक्तस्यैव यावत्कार्यसम्पादकत्वं नेतरस्येति। महानिर्वाणतन्त्रे शिवः शक्तेरेव सर्वकारणत्वमङ्गीकुर्वन् कथयति—

'त्वमाद्या सर्वविद्यानामस्माकमपि जन्मभूः।'

तस्माद् भारतीयनिगमागमवाङ्मये देव्याः सच्चिदानन्दरूपत्वं सर्वात्मकत्वं सर्वभावातीतत्वादिकं च तत्र तत्र श्रुतिस्मृतिवचनसहस्रैः प्रतिपादितमिति तस्या ब्रह्मात्मकता वज्रलेपायिता।

सेयं महामहिमशालिनी ब्रह्मादिसमुद्भवा प्रकृतिभूता भुक्तिमुक्तिसमस्तपुरुषार्थप्रसवित्री भगवती चिच्छक्तिरेव समुपास्यतया तत्तच्छास्त्रेषु विभिन्नरूपैर्गीयते, अनादिकालान्निगमागमशास्त्रेण प्रवर्तिता प्रतिष्ठिता चैकरूपापि जगन्मातुरुपासना नामरूपाभ्यां वैविध्यमासाद्य साधकरुचिभेदादनेकरूपतां दशमहाविद्यारूपेण सरहस्यां प्रशस्यतां च भजते। तथा च चामुण्डातन्त्रे—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा॥
बगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका।
एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्तिताः॥

अत्र कालीताराषोडशीतिनामभिः प्रसिद्धं तद्रूपत्रयं प्राधान्येन शक्तितत्त्वपरिचायकम्। अवशिष्टानि खल्वितराणि सप्तरूपाण्यासामेव रूपाणीत्यामनन्त्या-

गमशास्त्रपारदृश्वानो मनीषिणः। "तासु तिस्रो विशिष्यन्ते काली तारा च सुन्दरी" इति मेरुतन्त्रे। ब्रह्मादिसिद्धैरप्युपास्यत्वेनासां सिद्धविद्यात्वम्, महाशक्तिरूपत्वेन च महाविद्यात्वम्।

दशमहाविद्यानां प्रादुर्भावः

आसां दशमहाविद्यानामुपास्यत्वेन प्रसिद्धानामाविर्भावविषये श्रीमहाभागवताख्यमहापुराणेऽष्टमेऽध्याये शिवनारदसंवादात्मिकैका कथा वर्तते। अस्यां कथायां शिवो नारदं प्रति जगाद—दक्षयज्ञसमये पौनःपुन्येन वार्यमाणाऽपि सती बलवत्तया जिगमिषयाऽऽन्दोलितहृदयाऽऽरक्तलोचना क्रुद्धा सा मामाह—

सम्प्रार्थ्य मामनुप्राप्य पत्नीभावेन शङ्करः।
अधिक्षिपत्यद्य तस्मात् प्रभावं दर्शयाम्यहम्॥

"मां सतीं पत्नीरूपेण समुपस्थितां ज्ञात्वा शङ्करोऽधिक्षिपति, अत इदानीं स्वकीयं प्रभावं प्रदर्शयामि" इत्थं ब्रुवती सा कालाग्नितुल्यनयना क्रोधविस्फुरिताऽधरा जाता। तामित्थं विलोक्य शङ्करो भीतभीतो निमीलिताक्षः सन् पलायितुमारभते स्म। पलायमानं तं वारयितुं पुनः पुनः 'मा भैः' इति सुभयानकं साट्टाट्टहासं शब्दं चकार। तं शब्दं श्रुत्वा भयविह्वलः शङ्करोऽतिवेगतः पलायाञ्चक्रे। एवं भयाभिभूतं पलायमानं तं वीक्ष्य भगवती सर्वासु दिक्षु दशमूर्त्तीर्विधाय तमवरोधयामास—

एवं पतिं वीक्ष्य भयाभिभूतं
दयान्विता सा पतिवारणेच्छया।
सर्वासु दिक्षु क्षणमग्रतः स्थिता
तदा च भूत्वा दशमूर्तयः पराः॥ (८। ५७)

एवं तां विलोक्य शङ्करः 'मम प्राणवल्लभा कुत्र गता त्वं च का?' इत्यपृच्छत्। पृष्टा साऽऽत्मनः काल्यादिदशरूपतां स्पष्टमुररीचकार—

न पश्यसि महादेव सतीं मां पुरतः स्थिताम्।
काली तारा च लोकेशी कमला भुवनेश्वरी॥
छिन्नमस्ता षोडशी च सुन्दरी बगलामुखी।
धूमावती च मातङ्गी नामान्यासामिमानि वै॥ (८। ६२-६३)

इत्थं दशसंख्याकानां देवीनां स्वरूपमवलोक्य 'कस्याः किन्नाम' इत्यादिना तासां पार्थक्येन वैशिष्ट्यं नामादिकं च शिवेन पृष्टम्। पृष्टा सा पुरो वर्तमानां 'काली', ऊर्ध्वं व्यवस्थितां श्यामवर्णां 'तारा', वामपार्श्वस्थितां 'भुवनेश्वरी', दक्षिणभागस्थां 'छिन्नमस्ता', पृष्ठभागस्थां 'बगला', वह्निकोणस्थां 'धूमावती', 'नैर्ऋत्यां दिशि वर्तमानां 'त्रिपुरसुन्दरी', वायव्यकोणस्थां 'मातङ्गी', ऐशान्यां दिशि विद्यमानां 'षोडशी', अधोभागस्थां 'कमला' इत्यवर्णयत्।

श्रीशिवमहापुराणे उमाखण्डान्तर्गतपञ्चाशत्तमेऽध्याये वर्ण्यमानकथायां दुर्गमाख्यासुरेण पीडिता देवा भगवतीमुमां प्रार्थयामासुः । तत्र परमकरुणास्वरूपाया भगवत्याः शरीरादसुराणां विनाशाय सुराणां च रक्षणाय सायुधा रम्या दश मूर्तयः प्रादुर्बभूवुः । इमा मूर्तयो दशमहाविद्यापदेन व्यपदिश्यन्ते—

एतस्मिन्नन्तरे तस्याः शरीराद्रम्यमूर्तयः ।
काली तारा छिन्नमस्ता श्रीविद्या भुवनेश्वरी ॥
भैरवी बगला धूम्रा श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी ।
मातङ्गी च महाविद्या निर्गता दश सायुधाः ॥

(शि० पु०, उ० ख० ५० । २८-२९)

तत्र द्वितीयमहाविद्यां तारामवलम्ब्यास्मिन्निबन्धे तदीयस्वरूपभेदादिविविधविषयेषु विविधविचारान् निवेदयिष्ये ।

भगवत्यास्ताराया उपासनं भारतवर्षे भोटादिप्रदेशेषु चानेकसम्प्रदायेषु बहुकालतः परमश्रद्धेयतया प्रचलद् आगच्छति । बौद्धजैनमतावलम्बिनां हिन्दूनां च विविधभाषासु ताराविषयका अनल्पा ग्रन्था इदानीमपि समुपलभ्यन्ते । तेषु प्रायः सर्वेषु ताराया मुख्यतया त्रयो भेदा उपलभ्यन्ते । तारायाश्च मूलरूपेण सर्वात्मकत्वं ब्रह्मविष्ण्वादिभ्योऽपि परत्वमखिलदेवादिनियामकत्वं बौद्धेषु हिन्दुष्वपि च स्वीक्रियते । ब्रह्मयामले ब्रह्मा वशिष्ठं प्रत्यकथयद् यन्महाप्रलये स्थावरजङ्गमात्मकस्य विश्वस्य लये सति स्वीयां तनुमुपसंहरन्ती महाशूलत्रयं विधाय तत्र चैकाकिनी स्थिता आसीत् । पुनः कालान्तरे जगत्सिसृक्षयाऽखिलब्रह्माण्डनिर्माणमकरोत् । तत्र च तस्याः प्रभावप्रसादाभ्यां वयं ब्रह्मविष्णुरुद्राख्यास्त्रयो देवा ब्रह्माण्डनायकत्वं समवाप्य सृष्टिपालनसंहाराख्ये स्वे स्वे कर्मणि प्रवृत्ताः—

तयोपदिष्टाः कृपया भवामः सृष्टिकारकाः ।
तस्याः प्रसादाद् विप्रेन्द्र वयं ब्रह्माण्डनायकाः ॥
अन्ये सुरगणाः सर्वे तस्याः पादप्रसेवकाः ।

एवं ब्रह्मादिसमस्तदेवशक्तिभूताऽखिलब्रह्माण्डमातृरूपा समाराधिता सती चतुरः पुरुषार्थान् प्रयच्छन्ती भगवती ताराऽनन्तरूपविभिन्नाऽपि समुपासकानां भक्तानां रुचिमनुसरन्ती प्राधान्येन रूपत्रयमादधाना तन्त्रादिशास्त्रेषु तत्र तत्र वर्णिताऽस्ति—

एतासां सर्वमन्त्राणां देवतास्त्रितयाः स्मृताः ।
आद्या चैकजटा प्रोक्ता द्वितीया चोग्रतारका ॥
तृतीया नीलवाणी स्याद् भोगमोक्षप्रदा मता ।

तारारहस्यस्य प्रथमपटले ताराया इमे त्रयो भेदाः स्पष्टतयोल्लिख्यन्ते । तारोपनिषदि च तारायाः "ॐ तत्सद् ब्रह्म । तद्रूपं प्रकृतिपराङ्गनाभं तत्परमं महत्" इत्यादिना

तस्या विश्वात्मकतामुपवर्ण्य ब्रह्मरूपत्ववर्णनपुरःसरं त्रयः प्रधानभेदा वर्ण्यन्ते—"उग्रतारां महोग्रां नीलां घनामेकजटां महामायां प्रकृतिं मां विदित्वा यो जपति" इति । यद्यपि मायातन्त्रे—

तारा चोग्रा महोग्रा च वज्रा नीलसरस्वती ।
कामेश्वरी भद्रकाली इत्यष्टौ तारिणी स्मृता ॥

इत्यष्टौ भेदा वर्णिताः सन्ति । ताराभक्तिसुधार्णवे एकादशतरङ्गे—'एकजटा-प्रसादेन' इत्यादिग्रन्थेन ताराया बहवो भेदा उक्ताः । शङ्कराचार्यस्य तारारहस्यवृत्तौ—तारा, उग्रा, महोग्रा, वज्रकाली, सरस्वती, कामेश्वरी, भद्रकाली इत्यादिभेदा दृश्यन्ते, तथापि पूर्वोक्ता एकजटादित्रयो भेदा एव प्रधानतया तान्त्रिकसम्प्रदायाभ्युपगताः सन्ति ।

तारायाः प्रादुर्भावविषये माहात्म्ये च प्राणतोषिण्यां पञ्चरात्रीयमुपाख्यान-मुपलभ्यते । तथाहि—एकदा भगवान् विष्णुः परमतेजःसम्पन्नैः सिद्धमहात्मभिः सेव्यमानं नीलाचलं सम्प्राप्य तस्योल्लिलङ्घयिषया सिद्धैर्वार्यमाणोऽपि गरुडमादि-देश । देव्याः प्रभावेण स्तम्भीभावमवाप्य भूमिमागत्य हरिस्तं गिरिमुत्थापयितुं प्रारभत । परन्तु स न शशाक । पश्चात् सहस्रद्वयसंवत्सरपर्यन्तं भ्रान्तमत्र तत्र परि-भ्राम्यन्तं हरिं क्रुद्धा जगन्माता वामहस्तेन सिद्धसूत्रेण संवेष्ट्य लवणाम्भसि चिक्षेप । तत्र गत्वा ब्रह्मा लवणाम्भोनिधौ निमज्जन्तं तं वीक्ष्य 'किमिदं कथ्यतां शीघ्रं विस्मयं मम नाशय' इति प्रावोचत् । ततः 'मामुद्धारं कुरु सत्वरम्' इति हरिणा प्रोक्तो विष्णुमुद्धर्तुमुद्युक्तोऽपि स न शशाक । प्रत्युत सोऽपि बद्धः । एवं विष्णोरुद्धारार्थ-मागतानामिन्द्रादीनामपि सैव गतिरभूत् ।

अथ काले व्यतीते जीवोऽखिलाँल्लोकान् परिभ्रमन् देवांश्चानवलोकयन् भगवतः शिवस्यान्तिकमवाप । तं च प्रणम्य कृताञ्जलिः सन् ब्रह्मविष्ण्वादिविषये पप्रच्छ । शङ्करेण समस्तो वृत्तान्तोऽभाणि—

अवमन्य च कामाख्यां विष्णुब्रह्मादयः सुराः ।
दुःखमापुः सदोद्विग्ना लवणाम्भसि पीडिताः ॥

अथ तेषां समुद्धाराय सुरगुरुणा जीवेन प्रार्थ्यमानः शिवो लवणाम्भोनिधि-तटं सम्प्राप्य देवांश्च समुत्थाप्य वेपमानान् तान् समाश्वास्य जगन्मातुः कामा-ख्यायाः स्तोत्रविषये प्रबोधयामास । तैश्च स्तुता सा प्रसन्नीभूय तत्रैव चाविर्भूय तेभ्यो वरं ददौ । सा एव तारा कामाख्यारूपेणेदानीमपि स्तूयते ।

एवं च सा ताराऽस्ति यस्माद् भक्तान् दुःखक्लेशसमुद्रात् तारयति (तॄ प्लवन-तरणयोः+णिच्+अच्) । लीलया वाक्प्रदातृत्वेन नीलसरस्वती, कैवल्यदायिनी-

त्वेन एकजटा, उग्रापत्तिरक्षिकात्वेन उग्रतारा, इत्येवं तस्या नामानि व्युत्पत्त्यर्थ-लभ्यत्वेन प्रसिद्धानि। अत एव नारदपञ्चरात्रे—

दक्षगेहे च योत्पन्ना सतीनाम्नेति कीर्तिता।
कैवल्यदायिनी यस्मात्तस्मादेकजटा स्मृता॥
तारकत्वात् सदा तारा लीलया वाक्प्रदा यतः।
नीलसरस्वती प्रोक्ता उग्रत्वादुग्रतारिणी॥
उग्रापत्तारिणी यस्मादुग्रतारा प्रकीर्तिता॥

भगवत्या एकजटात्वं च एकजटाख्यरुद्रेण सह सम्बन्धाद् इति केचित्। तारारहस्ये प्रथमपटले—

आद्या कल्पे मुक्तकेशी रुद्रस्त्वेकजटः स्वयम्।
अस्माच्चैकजटा प्रोक्ता.............॥
उग्रापत्तारिणी यस्मादुग्रतारा प्रकीर्तिता।
दत्ता वाग् नीलया यस्मात्तस्मान्नीलसरस्वती॥

न चैवं नारदपञ्चरात्रवचनविरोध इति वाच्यम्, 'नीलया वाक्प्रदा' इति पाठस्यैवौचित्यात्। अत एव तारारहस्यप्रथमपटले ब्रह्मानन्देनोक्तम्—'नीलयेत्यत्र लकारपाठस्तु न, तदा नीलसरस्वतीति भवति। एतत्तु भ्रान्ता वदन्ति'।

स्रग्धरास्तोत्रीयप्रथमश्लोकटीकायां भिक्षुजिनरक्षितेन—'त्रिभवगताशेषदुःखार्णवान् महकरुणया सत्त्वांस्तारयतीति तारिणी तारा वा' इति व्युत्पत्तिः कृता।

ताराभेदविषयको विचारः

पाश्चात्त्यभाषाविशारदैर्विनयतोषभट्टाचार्यप्रभृतिभिस्तन्त्राणां तदीयोपास्यदेव्यादीनां विषये मूर्तिकलादिपद्धतिमाश्रित्यैतिहासिकत्वादिविचारोऽतिविस्तरेण कृतः। साधनमालायाः सप्तत्रिंशत्यधिकैकशततमसाधनस्यैतिहासिकं महत्त्वं बहु प्रदीयते। यतो हि तत्रान्ते एका पङ्क्तिरस्ति 'एकजटा साधनं समाप्तम्। आर्यनागार्जुनपादैर्भोटेषूद्धृतमिति'। एतच्चार्यनागार्जुनप्रोक्तमेकं साधनम्। यस्य चानयनं तैर्भोटदेशात् कृतम्। वस्तुतस्त्वत्रैकजटायाः षट्साधनानि वर्णितानि सन्ति (S. N. 123-127)। एषु चैकजटाया यद् वर्णनमुपलभ्यते, तस्य च महाचीनक्रमतारासाधन (100, 101)-वर्णनेन सह साम्यमस्ति। उभयोस्तुलनात्मकाध्ययनेनेत्थं ज्ञायते यद् बीजमन्त्रमन्तरोभयोरन्यत् समानमस्ति। महाचीनक्रमताराया मन्त्रे त्रीण्यक्षराणि सन्ति (त्र्यक्षरी विद्या ॐ ह्रीं हुम् No. 101)। एकजटामन्त्रो वै चतुरक्षरः (ॐ ह्रीं त्रीं हुम् S. N. 125, 126, 127, 128,), ह्रीं त्रीं हुं फट् (S. N. 124)। यदा कदा च पञ्चाक्षराणि भवन्ति ॐ ह्रीं त्रीं हुं फट् (S.N. 124)।

परन्तु हिन्दुतन्त्रानुसारेण केवलतारा नह्यस्ति, अपि तूग्रतारा, एकजटा, महानीलसरस्वतीत्याख्या देव्यः सन्ति। ध्यानविषयेऽपि साम्यमस्तीति सर्वं तन्त्रसारे 514 पृष्ठे द्रष्टव्यमस्ति। अत्रेदमवधातव्यं यदेकाधिकैकशततमे साधनमालायाः साधने चीनतारानुष्ठानसाधनाय स्थाननिर्देश उपलभ्यते—

एकलिङ्गे श्मशाने वा शून्यागारे च सर्वदा।
तत्रस्थः साधयेद् योगी विद्यां त्रिभवमोक्षणीम्॥

एकलिङ्गे, श्मशानस्थले, अत्येकान्तस्थले वा एकजटासाधको योगी भगवतीं त्रिभव-मोक्षदामेकजटां साधयेत्।

क्षेपकसहितोऽयमेव श्लोकस्तन्त्रसारे 507 पृष्ठे फेत्कारिणीतन्त्रीयनीलसरस्वती-विषयकानुष्ठानभूमिमुल्लिखति—

एकलिङ्गे श्मशाने वा शून्यागारे चतुष्पथे।
(शवस्योपरि मुण्डे वा जले वा कण्ठपूरिते।
संग्रामभूमौ योनौ वा स्थाने वा विजने वने॥)
तत्रस्थः साधयेद् योगी विद्यां त्रिभुवनेश्वरीम्॥

तन्त्रसारे बहुप्रमाणोद्धरणपुरस्सरं पूर्वोक्तदेवीनां परस्परभेदस्य वर्णनं कृतम्। तत्र नीलसरस्वती सा, या पञ्चाक्षरीविद्याऽस्ति, अथ च 'सर्वभाषामयी शुद्धा सर्वाम्नायैर्नमस्कृता' (नीलतन्त्रे) यदा सा ताराविलक्षणा, अर्थात् प्रणवरहिताऽस्ति, तदा 'एकजटा' इत्युच्यते (She is Ekajata while she is separated from Tara i. e. the Pranave)। यदा तारया सह मेलनं तदा नीलसरस्वतीत्युच्यते। यदा सा त्र्यक्षरी विद्या, तदा सा उग्रतारा अस्ति। परन्तु सर्वासामासां मूलभूता प्रधानस्वरूपा एकजटैव देवी, प्रकृतित्वात्—

पञ्चाक्षरी एकजटा ताराभावे महेश्वरी।
ताराद्या तु भवेद् देवि श्रीमन्नीलसरस्वती॥
उग्रतारा त्र्यक्षरी च महानीलसरस्वती।

सर्वासां विद्यानामेकजटैव देवता, प्रकृतित्वात् (तन्त्रसारे पृ० ५०७)। एवं चेदं स्पष्टमस्ति यद् हिन्दुतन्त्रेषु एकजटा–नीलसरस्वती–उग्रताराख्यानां देवीनामुपासनादृष्ट्या मन्त्राक्षरन्यूनाधिकभेदाद् यद्यपि स्वरूपाणि भिद्यन्ते, तथापि मूलत ऐक्यमेव। बौद्धतन्त्रेषु नीलसरस्वत्या नामतो वर्णनाभावेऽपि महाचीनक्रमताराररूपेण तस्या एव वर्णनमस्ति। इदं तु निश्चप्रचं यदेकजटा–महाचीनक्रमतारयोरुपासनविधिर्बहिर्देशादागतः। इयं च प्रणाली हिन्दुतन्त्रेषु प्रायः स्वीक्रियते। अत्र च या नील-सरस्वती सर्वविद्यामयी सर्वाम्नायैर्नमस्कृता, तस्या उपासनापद्धतिर्वशिष्ठेनानीतेति

कथा खलु प्रमाणम्। तारातन्त्रे ब्रह्मयामलादितन्त्रस्थाया अस्याः कथाया वर्णनमुपलभ्यते। तत्र हि—ब्रह्मणा प्रेरितो वशिष्ठो महाचीनदेशं समवाप्य बुद्धाद् महाचीनक्रमताराया उपासनापद्धतिमगवत्य भारते आनीतवान्। यदीयं कथा प्रमाणपथं न त्यजति, तदानिच्छद्भिरपीदं स्वीकार्यं यद् महाचीनतारोपासनविधिर्मूलतो नैतद्देशीयोऽपि तु चीनदेशात् (तिब्बतप्रदेशात्) नेपालद्वारा भारतवर्षे समागतः। अत एव नेपालदेशे बौद्धेषु हिन्दुषु च सर्वत्रैव नीलताराया उग्रतारायाश्च पूजनं भवति।

तथा चोभयधर्मावलम्बिषु तारादेव्या मूलतो वैदेशिकत्वं स्वीकृतम्। तत्र महाचीनताराया एकजटायाश्चार्चनादिकं बौद्धेषु, महाचीनतारा-एकजटा-उग्रतारा-नीलसरस्वतीत्यादिरूपेण तस्या एवार्चनादिकं हिन्दुतन्त्रेषु प्रसिद्धम्। नागार्जुनेन भोटदेशादियं विद्या आनीता। हिन्दुषु तस्य बौद्धधर्मावलम्बित्वेनोपेक्षणीयतया तत्स्थाने वशिष्ठमुनेर्नामकल्पनम्, येन च सा विद्या महाचीनदेशादानीता। इत्थं केचिद् (P. C. Bagchi) वर्णयन्ति The name of Siddha Nagarjuna seems to have repugnant to the Hindus as being a typically Buddhist one and this is why it was probably replaced by that of Vasistha. (Studies in Tantras, H 3)

बी० भट्टाचार्यमतानुसारेण ताराऽथवा नीलसरस्वती या चाक्षोभ्यं स्वशिरसि वहति, सा बौद्धदेवीति सुनिश्चितम्। तोडलतन्त्रे वर्णितमक्षोभ्यमहेशयोरैक्यं न प्राचीनमपि तु नवीनतरमाधुनिकमिति ते कल्पयन्ति। अक्षोभ्यतारासंवादात्मकसम्मोहतन्त्रस्य पञ्चमपटले (दरबार लाइब्रेरी नेपाल see H. P. Sastri, Catalogue of the Darbar Library, II, P. 183) भ्रष्टसंस्कृतभाषायामुट्टङ्किता अधोलिखिताः श्लोका अपि नीलसरस्वत्या मूलस्थानस्य वैदेशिकत्वमुपस्थापयन्ति—

ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा प्रजहास महेश्वरः।
श्रृणुष्वावहितो विप्र महानीलसरस्वती॥ २॥
यस्याः प्रसादमालभ्य चतुर्वेदान् वदिष्यति।
मेरोः पश्चिमकूले तु चोलनामा महाह्रदः॥ ३॥
तत्र जज्ञे स्वयं देवी माता नीलोग्रतारा।
एतस्मिन्नेव काले तु मेरोः श्रृङ्गपरायणः॥ ५॥
जपं जाप्यं समासाद्य त्रियुगं च ततः स्थितः।
ममोर्ध्ववक्त्रान्निःसृत्य तेजोराशिर्विनिर्गतः॥ ६॥
ह्रदे चोले निपत्यैव नीलवर्णाऽभवत् पुरा।
ह्रदस्य चोत्तरभागे ऋषिरेको महोत्तरः॥ ७॥
अक्षोभ्यनाम चाश्रित्य मुनिवेशधरः शिवः।
येनादौ जप्यते या तु सत्त्वस्य ऋषिरीरिता॥ ८॥

विश्वव्यापकतोये तु चीनदेशे स्वयं शिवे ।
आकारोपरि टाकारस्तस्योपरि च हुंकृतिः ॥ ९ ॥
कूर्चबीजस्वरूपा सा प्रत्यालीढपदाऽभवत् ।
महोग्रतारा सञ्जाता चीनप्रभा महाकला ॥ १० ॥

महेश्वरो ब्रह्माणं जगाद—भो (ब्रह्मन्) सावधानतया मत्तो नीलसरस्वतीविषये शृणु। यस्याः प्रसादेन त्वं चतुरो वेदान् वदिष्यसि। मेरोः पश्चिमकूले चोलसंज्ञको महाह्रदोऽस्ति। तत्र माता नीलसरस्वती प्रादुर्बभूव। एतस्मिन् समये तपःपरायणस्य ममोर्ध्ववक्त्रात् तेजोराशिर्बहिर्भूय चोलनाम्नि ह्रदेऽपतत् तथा नीलवर्णत्वमवाप। मेरोरुत्तरस्यां दिशि तत्राक्षोभ्यनामा कश्चनर्षिरासीत्, यश्च मुनिवेषेण साक्षात् स्वयं शिव एवासीत्। सोऽयं यः पूर्वं मातृध्यानपरायण आसीत्। देवी स्वयं पार्वती आसीत्, या च महाप्रलयसमयान्ते चीनदेशे स्वावतारं जग्राह।

अनया कथया इदं ज्ञायते यन्नीलसरस्वती महोग्रताराया एव रूपान्तरम्। या च चोलाक्यमहाह्रदे प्रादुर्बभूव, तस्या त्र्यक्षरी विद्या—'ॐ त्रीं हुम्।' अत्र च तकारस्य स्थाने टकारपाठः प्रामादिक इति ज्ञायते।

तन्त्रं खल्वद्यावधि रहस्यपूर्णमेवास्ति। तन्त्रसाहित्यस्य विशालता च प्रसिद्धतमा। तन्त्रं द्विधा, उदारपरमास्तिकभेदात्। परमास्तिकानां (Orthodox) सम्बन्ध आगमेन। तत्र यामलप्रभृतीनां प्रवेशः। उदाराशयानां (Heterodox) सम्बन्धो बौद्धब्राह्मणग्रन्थयोरुभयोरस्ति, यत्र च कुलाचारवामाचारवज्रयानप्रभृतिसम्प्रदायानां बाहुल्यं समुल्लसति। अतिप्राचीनकालादेव वैदेशिकतत्त्वानि शनैः शनैर्भारतीयतन्त्रेषु तत्तत्संप्रदायेषु वा प्रविष्टानि। हरिप्रसादशास्त्रिमहोदयस्तालपत्रीयपाण्डुलिपे-(Catalogue of the Palmleaf MSS of the Darbar Library, Nepal 1906, P., LXXIX. रेकं महत्त्वपूर्णमुद्धरणं कुब्जिकातन्त्रीयमुल्लिखति—

"Go to India to establish yourself in the whole country and make manifold creations in the secred places of primary and secondary importance"—From Studies in Tantras, P. 45 भारतवर्षं गच्छत, तत्र च तीर्थादिपवित्रस्थानेषु प्रारम्भिकं द्वितीयं च महत्त्वपूर्णकार्यं कुर्वन्त आत्मानं (स्वमतं) समस्तदेशे प्रतिष्ठापयत।"

एतेन कुब्जिकातन्त्रीयसम्प्रदायस्य तदीयोपासनाप्रकारस्य च बहिर्देशीयत्वं स्पष्टं विज्ञायते। तारातन्त्रानुसारेण 'चीनतारा' महाचीनदेशाद् आगता। वशिष्ठाख्यो महान् ऋषिश्चीनदेशं गत्वा बुद्धस्य सविधे चीनाचारस्य रहस्यमयीमुपासनापद्धतिं शिक्षाद्वारा भारतवर्षे आनीतवान्, तत्रत्यं सिद्धान्तजातं स्वायत्तीकृत्य भारतवर्षे प्राचारयत्।

ताराविषये हीरानन्दशास्त्रिणो मतम्

हीरालालशास्त्रिमहोदयस्ताराविषये "The origin and cult of Tara" इत्येतन्नाम्नि ग्रन्थे महता समारोहेण न्यभान्त्सीत् यत् तारादेव्या भारतवर्षे भोटदेशादागमनं सञ्जातम्। इयं च देवी खिस्तीयपञ्चमशताब्द्याः प्राग् भारतवर्षे पूज्यतमा नासीत्। ताराया विशिष्टनामत्वे तैर्हेतुः प्रदर्शितः—एकजटा सा, यतो हि तस्या एका जटाऽस्ति (Because of her one Chignon)। सा नीला नीलसरस्वती वा उच्यते, यतो हि सा नीलवर्णा तथा बुद्धेर्ज्ञानस्य प्रतिमूर्तिरस्ति। भयानकस्वरूपत्वाद् उग्रापद्रक्षणाद्वा 'उग्रा' उच्यते (उग्रापत्तारिणी यस्माद्)। तारारहस्य-तारातन्त्र-मन्त्रमहोदध्यादिग्रन्थानुसारेण मुख्यरूपेण सा रक्षिका त्रात्री वा कमलपुष्पस्थशवारूढा प्रत्यालीढपदा तथा नीलवर्णा चास्ति। अक्षोभ्यश्च तस्याः शिरसि राजते। तस्याः करेषु विशिष्टानि भूषणानि सर्पप्रभृतीनि चिह्नानि सन्ति।

ताराप्राचीनताविचारः

महाभारते धर्मराजयुधिष्ठिरेण या स्तुतिः कृता तत्र 'तारिणी' इति नाम वर्तते। ताराऽथवा तारिणी नामद्वयं समानार्थकम्, तरत्यनयेति व्युत्पत्तेः। या देवी विपत्तिसागराद् उद्धर्तुं समर्था सा तारा (The Goddess who enables one to swim a cross the waters of triblation) एतन्नामातिरिक्तान्यपि विशिष्टनामानि तत्र सन्ति। यथा काली, चण्डी, सरस्वती। अत इदं स्पष्टं ज्ञायते यत् तारिणी एका विशिष्टा देवी, यस्या विशिष्टं देवीत्वम्, परन्तु यदा खल्वेतत्स्तोत्रस्थानि महत्त्वव्यापकानि अस्या लक्षणानि स्मर्यन्ते, तदा विचारो जागर्ति यदियं द्वितीयमहाविद्यारूपेण तन्त्रेषु या स्वीकृता सैवातिरिक्ता वा स्तोतुर्लक्ष्यभूता। अस्याः स्तुतेर्दुर्गा देवताऽस्ति। सा च शाक्तसम्प्रदायस्य महत्त्वपूर्णग्रन्थे मार्कण्डेयपुराणे बहु वर्णितोपलभ्यते। अथ च या देवानां सर्वेषां तेजसां प्रतिकृतिर्यस्याश्चान्याः शक्तयोऽङ्गभूता रूपान्तराणि वा।

ततः समस्तदेवानां शक्रादीनां शरीरतः।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत ॥ (श०प्र० २। ११)।

अत्रैतत् सम्भाव्यते यदयं प्रयत्नो विश्वात्मवादं (Monotheism) लक्ष्यीकृत्य प्रवर्तते। परन्तु तत्र संशयो यद् दशमहाविद्यायास्तन्त्रेषु वर्णितायाः परिचयो महाभारतलेखकस्यासीन्न वा। तन्त्रेषु महाविद्या दश वर्णिताः सन्ति। मार्कण्डेयपुराणे तु—

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः।
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी ॥
महारात्रि महाविद्ये नारायणि नमोऽस्तु ते।

अत्र हि नारायणीरूपा खल्वेका महाविद्योपलभ्यते। अत एतज्ज्ञायते यद् मार्कण्डेयपुराणकृतो दशमहाविद्या अपरिचिता एवासन्।

यद्यपि मातृकापूजकसम्प्रदायः प्राचीनतमः, यतो हि 'मातरः' महाभारते मार्कण्डेयादिपुराणेषु च वर्णिताः समुपलभ्यन्ते। मातृणामुल्लेखः कोशेषु प्राचीन-हिन्दुशास्त्रेष्वपि दृश्यते। तासां प्राचीनताविषये शिलालेखादयोऽपि प्रमाणता-मावहन्ति। कदम्बदिनस्ती (Kadamb Dynasty, Indian antiquary. Vo. I, VI, P. 27.) चालुक्यराजानश्च सप्तमातृकाः पूजयामासुः। अपि च, तासां बहवो देवालया मालवाधिपविश्ववर्मराज्यकाले (423–424 A. D. 480 A. D. Fleet, Cupta Inscriptions, P. 76) निरमायिषत।

कुमारगुप्तस्कन्दगुप्तप्रभृतिराजानो मातृकापूजार्थं तासां मूर्तीः स्थापयामासुः। अतो महाभारतीया तारिणी, तान्त्रिकी च तारा एकैवास्तीति संशयास्पदम्।

तन्त्रेषु महानयं प्रयत्नो यत्र 'तारा' अपि पार्वत्याः दिव्यशक्तेर्वा रूपान्तरमिति वर्ण्यमानं दृश्यते। स च प्रयत्नो वेदान्तसिद्धान्तस्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्याकारक-स्यानुकरणमात्रम्। यथा महानिर्वाणतन्त्रे—

इति देव्या वचः श्रुत्वा देवदेवो महेश्वरः।
उवाच परया प्रीत्या पार्वतीं पार्वतीपतिः॥
त्वमाद्या सर्वविद्यानामस्माकमपि जन्मभूः।
त्वं जानासि जगत्सर्वं न त्वां जानाति कश्चन॥
त्वं काली तारिणी दुर्गा षोडशी भुवनेश्वरी।
धूमावती त्वं बगला भैरवी छिन्नमस्तका॥
त्वमन्नपूर्णा वाग्देवी त्वं देवी कमलालया।
सर्वशक्तिस्वरूपा त्वं सर्वदेवमयीतनुः॥

अत्र हि देवाधिदेवः शङ्करः पार्वतीं प्रत्याह—त्वं समस्तविद्यानां देवादीनां च प्रसवित्री, त्वं सर्वं जानासि, त्वां कश्चनापि न जानाति, त्वं काल्यादिसमस्तविद्यारूपा, सर्वशक्तिरूपा, त्वदीयं शरीरं सर्वदेवमयम्। अत्र यद्यपि महाविद्यासम्प्रदायस्य पूर्णतया विकासः सञ्जातः, परन्तु इदं तन्त्रं महाभारतमार्कण्डेयपुराणापेक्षया नवीन-तरम्। या च युधिष्ठिरकृता स्तुतिः, सा विराट्पर्वणि वर्तते। प्रोफेसरविन्टरनित्ज-(Pro. M. Winternitz)मतानुसारेणोत्तमप्राचीनपाण्डुलिपिष्वियं स्तुतिर्नोप-लभ्यते।

इदं तु निश्चितं यच्छक्तेराराधनं यद्यपि प्रागासीत्, तथापि दशमहाविद्या-रूपेण विकसितायाः शक्तेरुपासनं ख्रिस्तीयतृतीयचतुर्थशताब्द्याः प्राङ् नासीत्।

यदि चेमा विद्यास्ततः प्राचीनतमाः स्युः, कथं न विराड्वेदादिशास्त्रेषु वर्ण्यमाना उपलभ्येरन्। तस्मादर्वाचीनत्वमासाम्। (See Page 4 and 5 of The origin and cult of Tara, by H. Shastri).

तान्त्रिकसम्प्रदायोऽपि नातिप्राचीनः, अत एवाष्टादशपुराणेषु दशमहाविद्यानामासां वर्णनं नोपलभ्यते (The Tantrika cult of the Mahavidyas does not appear to be very old. I am not aware that it is known to the eighteen principal puranas. (P. 5. The origin and cult of Tara) । ब्रह्माण्डपुराणे ललितोपाख्याने तारायाः महाशक्तिरूपेण वर्णनमुपलभ्यते । परन्तु सा महाविद्या नास्ति, अपि तु ताराम्बारूपेण वर्णिताऽस्ति । मंगोलेषु 'डारा-एका' (Dara-eka) इति कथ्यते । अस्मिन् पुराणे सा नौकावाहिकानां शक्तीनां प्रधानरूपेति वर्ण्यते—

तासां नौकावाहिकानां शक्तीनां श्यामलत्विषाम् ।
प्रधानभूता ताराम्बा जलौघशमनक्षमा ॥
(ब्र० ल० उपा० ३५ । १७)

ताराम्बा कृष्णत्वचां नौकावाहिकानां देवीनां प्रधानीभूता, या च जलौघशमने समर्थाऽस्ति । इत्थं चास्यास्तारायाः न दशमहाविद्यान्तर्भूतत्वमपि तु द्वितीयविद्यायास्तारायाः मूलरूपेति कथञ्चित् सम्भाव्यते । हयग्रीवागस्त्यसंवादे श्रीब्रह्माण्डपुराणोत्तरभागे ललितोपाख्याने पञ्चत्रिंशत्तमेऽध्याये द्वादशश्लोकादारभ्य चतुर्विंशतिश्लोकपर्यन्ता इमे श्लोकाः सन्ति—

.... मनो नाम महाशालः ।
तन्मध्यकक्षभागस्तु सर्वाऽप्यमृतवापिका ।
न तत्र गन्तुं मार्गोऽस्ति नौकावाहनमन्तरा ॥
तारानाम महाशक्तिर्वर्तते तोरणेश्वरी ।
बह्व्यस्तत्रोत्पलश्यामास्तारायाः परिचारिकाः ॥
रत्ननौकासहस्रेण खेलन्त्यः सरसीजले ।
अपरं पारमायान्ति पुनर्यान्ति परं तटम् ॥
कोटिशस्तत्र तारायाः नाविक्यो नवयौवनाः ।
मुहुर्गायन्ति नृत्यन्ति देव्याः पुण्यतमं यशः ॥
अरित्रपाणयः काश्चित् काश्चिच्छृङ्गाम्बुपाणयः ।
पिबन्त्यस्तत्सुधातोयं संचरन्त्यस्तरीशतैः ॥
तासां नौकावाहिकानां शक्तीनां श्यामलत्विषाम् ।
प्रधानभूता ताराम्बा जलौघशमनक्षमा ॥

आज्ञां विना तयोस्तारा मन्त्रिणीदण्डनाथयोः ।
त्रिनेत्रस्यापि नो दत्ते वापिकाम्भसि सान्तरम् ॥
तारा तरुणिशक्तीनां समवायोऽतिसुन्दरः ।
इत्थं विचित्ररूपाभिर्नौकाभिः परिवेष्टिता ॥
ताराम्बा महतीं नौकामधिगम्य विराजते ।

'मानस'संज्ञकः कश्चन महाशालोऽस्ति । तस्य मध्यकक्षभागे बह्वयोऽमृतमय्यो वापिकाः सन्ति । तत्र गमनाय नौकामन्तरा कश्चन मार्गो नास्ति । तत्र ताराख्या एका महती शक्तिरस्ति, या च द्वारं स्वायत्तीकृत्य वर्तते । तत्र कृष्णोत्पलवच्छयामवर्णास्ताराया बह्वयः परिचारिकाः सन्ति । इमाश्च रत्ननौकासहस्रेण सरसीजले खेलन्ति । ता उभयतटे आगच्छन्ति गच्छन्ति च । तत्र ताराया अधीनतामवलम्ब्य नवयौवनाः कोटिपरिमिता नाविक्यो नृत्यन्ति देव्याः पुण्यदं यशश्च गायन्ति । काश्चन अरित्रपाणयः, काश्चन शङ्खपाणयः सन्ति । ता अमृताम्बु पिबन्ति, तथाऽत्र तत्र शतनौकाभिः प्रचरन्ति । तासां कृष्णवर्णानां नौकावाहिकशक्तीनां प्रधाना ताराम्बाऽस्ति, या च जलीयमहातरङ्गान् शमयति । मन्त्रिणीदण्डनाथयोराज्ञां विना शिवस्यापि प्रवेशं वापिकाम्भसि निरुणद्धि । तारायास्तथा नौकावाहिकशक्तीनाञ्च समुदायोऽतिसुन्दरोऽस्ति । इत्थं विचित्रवर्णयुताभिर्नौकाभिः परिवेष्टिता ताराम्बा महतीं नौकामधिष्ठाय विराजते ।

तान्त्रिकतारा (Second Mahavidya) प्राचीनब्राह्मणग्रन्थेषु क्वचिद् वर्णिता नोपलभ्यते, अत एवाग्निपुराणे देवीप्रतिमावर्णनावसरे ताराया वर्णनं योगिनीरूपेणैव कृतं न तु द्वितीयमहाविद्यारूपेण ।

सर्वज्ञा तरला तारा ऋग्वेदा च हयानना । (१४६।१६)
सर्वज्ञा तरला तारा ऋग्वेदा तु हयानना ।
अक्षोभ्या रूक्षकर्णी च राक्षसी कृपणाक्षया ॥ (५२।४)

अत्र हि योगिनीनां वर्णनावसरे 'सर्वज्ञा' 'अक्षोभ्या' इति नामद्वयस्योल्लेखो बुद्धं स्मारयति । अक्षोभ्य इति ध्यानिबुद्धानामन्यतमः, सर्वज्ञ इति बुद्धस्यैव नामान्तरम् । इयं तारा अमरकोषवर्णिता मायदीपिकातारा एकैव नान्या, परन्तु द्वितीयमहाविद्यारूपा तारा तद्विलक्षणाऽस्ति । योगिन्यो यद्यपि मङ्गलकृत्यावसरे पूज्यन्ते, तथाप्यासां प्रतिष्ठा महाशक्तिरूपाणां महाविद्यानामपेक्षया न्यूनाऽस्ति । हीरानन्दशास्त्री अग्रे कथयति—ललितोपाख्यानवर्णिता तारा तन्त्रेषु सर्वथैवापरिचिताऽस्ति (Whether the Tara of the Lalitopakhyana of the Brahmanda Purana is known to the Tantras. I am not certain. Possibly she is not. The origin and colt of Tara. Page 7) । बुहर (Buhler)

महोदयानुसारेण ब्रह्माण्डपुराणस्यान्यपुराणापेक्षया प्राचीनत्वम् । अत एवास्मिन् पुराणे गुप्तवंशीयशासकानां तदुत्तरवर्तिशासकानां च वर्णनं नोपलभ्यते ।

ब्राह्मणतन्त्रेषु तारा सुप्रसिद्धा महत्त्वपूर्णा च देवीति वर्ण्यते । कचिच्च ताराया अद्वितीयत्वमप्युपलभ्यते ।

नैव तारासमा काचिद् देवता सिद्धिदायिनी ।

सम्भवतो ब्राह्मणतन्त्राणां ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्याः पूर्वमस्तित्वं नासीत्, अत एव तान्त्रिकग्रन्थेषु वर्ण्यमानायास्तारायाः स्वरूपं प्राचीनब्राह्मणग्रन्थेषु नोपलभ्यते । शिलालेखादिषु यवादिद्वीपेपूपलभ्यमानेषु यस्यास्तारायाः समुल्लेखः, सा च न ब्राह्मणतन्त्रोक्ता, अपि तु बौद्धतन्त्रोक्ता । एकः शिलालेखो देवनागराक्षरैः समुल्लिखितो य उपलब्धस्तस्य समयः सप्तशतशकाब्दमवलम्बते (शक ७०० , ७७८ ए० डी०) । चालुक्यवंशीयत्रिभुवनमल्लविक्रमादित्यस्य (VI) शिलालेखोऽपि पूर्वोक्ते विषये प्रमाणम् । अस्य च राज्ञः शासनकालसमयः सप्तदशाधिकैकसहस्राब्दमासीत् (1017 I. E. 1095–6. A. D.) ।

तारा परमप्रसिद्धा, एवं महत्त्वपूर्णस्थानमलंकुर्वाणा उत्तरभारतीयसमुपलभ्यमानवर्तमानतन्त्रेषु दृश्यते । समयाचारतन्त्रानुसारेण तस्या उत्तराम्नायेन सह सम्बन्धोऽस्ति । दक्षिणभारते तारासमुपासकसम्प्रदायस्य प्रचारः प्रायः प्राङ्नासीत् । अत एवं गोपीनाथरावमहोदयेन स्वकीये 'आइक्नोग्राफी' (Hindu Iconography) इत्याख्यागमानुसारिग्रन्थे ताराया विषयो दक्षिणदेशसम्बन्धित्वेन सर्वथैव परित्यक्तः । ताराया उदीच्येषु प्रमुखतन्त्रेषु सर्वेषु वर्णनमुपलभ्यते । तत्र च "प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवभृद्घोराट्टहासापरा" इत्यादिश्लोकैस्ताराया यद् ध्यानं प्रोक्तं तत्सर्वथैव बौद्धतान्त्रिकमित्यत्र न संदेहलेशावकाशः, अतो ब्राह्मणतन्त्रेषु तदीयसम्प्रदायेषु वा ताराया वर्ण्यमानं यद् ध्येयस्वरूपं तद् बौद्धतान्त्रिकमेव । वशिष्ठबौद्धकथापि पूर्वोक्तमेव कथनं द्रढयति । बौद्धतारायास्तथा तान्त्रिकताराया ध्यानविषयस्वरूपयोस्तुलनात्मकाध्ययनेनापि पूर्वोक्तमेव मतं दृढीभवति । जैनसम्प्रदायेऽपि ताराया उपास्यत्वेन स्थानं यद्यप्यस्ति, तथापि तत्र सा प्रमुखस्थानं नालङ्करोति । हेमचन्द्रः स्वकीये 'अभिधानचिन्तामणि' इत्याख्यग्रन्थे नवमजिनस्य सुविधिनाथाख्यस्य शासनदेवतारूपेण 'सुतारका सुतारा वा' इति नाम्ना ताराया वर्णनं करोति । श्वेताम्बरजैनमतानुसारेण 'सुतारा सुतारका' इमौ द्वौ शब्दौ समानार्थकतया पर्यायत्वं न जहतः । 'सुतारका' इत्यत्र कः प्रत्ययः स्वार्थे, अतः तारा, सुतारा, सुतारका इतीमे शब्दा एकस्या देव्या नामानि भवन्ति । (Please see page 9, 10 of The origin and cult of Tara) ।

अस्यां विचारधारायां प्रमाणम्—

श्वेताम्बरजैनमतानुसारेण भृकुटी, या च बौद्धताराऽवान्तररूपविशेषा, सैवाष्टमजिनस्य चन्द्रप्रभस्य सेविका शासनादेवीत्युच्यते । बौद्धब्राह्मणतारायाः

कस्यचन जिनस्य सेविकारूपेण कथनं नाश्चर्यकरम्, यतो हि जैनानामयं प्रयत्नः स्वसम्प्रदायस्य पूर्वोक्तसम्प्रदायापेक्षया श्रेष्ठत्वख्यापनायैव। इयं च प्रणाली महायान-बौद्धेष्वप्युपलभ्यते। अस्याः शासनादेव्या अपि सम्प्रदायस्तारासम्प्रदायप्रचारानन्तरं समुद्भूत्। जैनाः स्वीयदेवतापेक्षया हिन्दुदेवानां महत्त्वं न्यूनतया ख्यापयन्तीति सुप्रसिद्धमेव। पूर्वोक्तं नामद्वयं श्वेताम्बरमतेऽस्ति, दिगम्बरेषु भृकुटी, ज्वालामालिनी तथा सुतारका महाकालीत्युच्यते।

बुरगिस(Burgess)महोदयेन "दिगम्बर जैन आइक्नोग्राफी" (Digamdara Jaina Iconography in Indian Antiquary.) विषयमवलम्ब्यैक-स्मिन्निबन्धे द्वयोरुल्लिखितशासनादेव्योर्ध्येयस्वरूपस्य वर्णनं कृतम्। तच्चेत्थम्—भृकुटी, ज्वालामालिनीत्यपरनाम्नी या च चन्द्रप्रभस्य यक्षिणी अस्ति, तस्या अष्टौ भुजाः सन्ति, तेषु च विभिन्नान्यस्त्राणि तथा द्वौ सर्पौ स्तः। मुकुटात्तेजो निःसरति। अस्या लाञ्छनं (वाहनं) वृषभोऽस्ति (Jvalamalini or Bhrikuti, the yakshini of Chandraprabha, has eight arms, bearing various weapons and two snakes. Flames issue from her Mukuta. Her Lanchhana is the Bull.)

(Page 10, The origin and cult of Tara, by Hiranand Shastri.)

'सुतारकाऽथवा महाकाली चतुर्भुजा सुविधिनाथस्य यक्षिणी या, सा करद्वये दण्डं किमपि फलं च धत्ते, अवशिष्टकरद्वयं मुद्रान्वितम्।

'तारी' नाम्नी काचन खोण्डाख्या(Knonds)दिवासिनामाराध्या देवी हिन्दुबौद्धजैनाभिमततारविलक्षणाऽस्ति। प्राध्यापकावरीमहोदयेन (Prof. Avery), "Indian Antiquary" इत्यत्र तस्या वर्णनमुर्वराभूम्यधिष्ठातृदेवीरूपेण (Presided over fertility) कृतम्। बीजवपनसमये तस्याः प्रसन्नतार्थं मानवबलिरपि तस्यै प्रदीयते स्म। खोडाः कथयन्ति यत् सा पिनुनाम्ना (Pennu) स्वभर्त्रा सह दिवि निवसति। परन्तु इयं न तारा, यतो हि तारा त्रात्री, इयं च रक्तं पिबति। यद्यप्यस्याः पत्युः स्थितिरवलोकितेश्वरं स्मारयति, तथापीयं तारा कथमपि भवितुं नार्हति, स्वभाव-वैलक्षण्यात्। नामसाम्येनोभयोरैक्यं नोचितम् (The resemblance of the nam°s can hardly be taken as a froof of identity especially when we remember the maxim that sound etymology does not depend on the similarity of sound. Page 11 of the origin and cult of Tara.)।

---

१. Mrs. Sinclair stevenson, The heart of Jainism.
P. 312 (chart)

यद्यपि ताराया इयमेव प्राचीनतमा मूर्तिरिति कथनं दुःशकम्, तथापि ख्रिस्तीय-षष्ठशताब्द्याः प्राचीना काचनापि प्रतिमा नास्ति। इदं तु निश्चप्रचं यद् ब्राह्मणतन्त्रोक्त-ताराया इमाः प्रतिमा न सन्ति। मध्ययुगीयतारामूर्तयोऽपि बौद्धतन्त्रसम्बन्धिन्य एव। (Yuan Chuang) यौचंगलेखानुसारेण मध्ययुगेऽपि द्वितीयमहाविद्यारूपा तारा नासीत्, अपि तु तस्य समये बौद्धताराया एव प्रचारः सर्वत्रासीत्। ताराया उपासना-विधिरष्टमशताब्द्यां यवद्वीपे गतः। यवद्वीपस्य तत्कालीनप्रसिद्धतमे कलसनचण्डी-नाम्नि (Kalasan chandi) देवालये समुपलब्धनागराक्षरलेखानुसारेणोपर्युक्त-मन्दिरनिर्मातुः स्तुतिरुपलभ्यते। तत्र हि शैलेन्द्राख्यः[1] कश्चन राजकुमारो भगवतीं तारामुद्दिश्य श्रद्धाञ्जलिं प्रयच्छति, स्तुतिं च करोति। तारा मानवलोकरक्षिका, परमोदारा, यस्या विहसनेन सूर्यः प्रकाशते, यस्या भ्रूकुटीभङ्गमात्रेणान्धकारो यावद्वस्तु-मात्रमाच्छादयतीत्येवं तस्या वर्णनमस्ति। शनैः शनैः द्वादशशताब्द्यां सा प्रसिद्ध-तमा सञ्जाता। फलत उत्तरभारते तदानीं तादृशं गृहं कदाचिदेवासीद् यत्र ताराया: प्रतिमा नाभूत्।

बौद्धधर्मे तारा

ताराया बौद्धधर्मे तादृशमेव स्थानं ब्राह्मणधर्मे यादृशं स्थानं दुर्गायाः। यथा दुर्गा शिवस्य शक्तिरूपतामभिनयति, तथैव तारा अवलोकितेश्वरस्य सहायिका शक्ति-रस्ति। यथा दुर्गा अखिलदेवमातृरूपतया पौराणिकगाथासु सर्वोच्चस्थानमलङ्करोति, एवं तारा बौद्धमहायानेषु परमोच्चस्थानं प्राप्नोति। तारा सर्वबुद्धानां बोधिसत्त्वानां च मातृस्वरूपेति वर्ण्यते। एवं च सा बोधिसत्त्वादेः कस्यचनाधीनतायां नास्ति, प्रत्युत सर्वथा सर्वदा परमस्वतन्त्रा सती कस्यचन साहाय्यमन्तरा सर्वत्रैव गन्तुं समर्था, गच्छति च। इयं व्यवस्था नह्यन्यस्य कस्यचन प्रथमस्थानीयदेवस्य, अत एव सर्वा-पेक्षया प्राधान्यमस्याः सुतरामेव। अत एव सर्वत्रास्या जनप्रियतेति न तिरोहितं बुद्धशास्त्रविचरणशीलानाम्। तथा च ताराचरणरेणुधूसरैः सर्वज्ञमित्रपादैर्विरचितेषु स्रग्धरास्तोत्रेषु—

चूडारत्नावतंसासनगतसुगतव्योमलक्ष्मीवितानं
प्रोद्यद्बालार्ककोटीपटुतरकिरणापूर्यमाणत्रिलोकम्।
प्रौढालीढैकपादक्रमभरविनमद्ब्रह्मरुद्रेन्द्रविष्णु
त्वद्रूपं भाव्यमानं भवति भवभयोच्छित्तये जन्मभाजाम्॥ (३०)

चूडारत्नानां शिखास्थितमाणिक्यानाम्, अवतंसाः शेखरास्त एवासनानि विष्ट-रास्तेषु गता अवस्थिता ये सुगता अक्षोभ्यादयस्तेषां व्योम्नि नभस्तले या लक्ष्मीः

१. See J. F. Scheltema; Monumental Java, P. 181.

शोभा सैव वितानं यत्र तत्। प्रोद्यन्त उद्गच्छन्तो ये वालार्का उदयगिरिशिरःस्थिता दिनमणयस्तेषां कोटयो लक्षशतानि तेषां पटुतरा अत्युष्णतराः किरणास्तेजांसि, तैरापूर्यमाणं आसमन्ताद् व्याप्यमानं त्रिलोकं भुवनत्रयं येन तत्। प्रौढः साटोपो य आलीढेन वामसंकोचेनैकपादक्रमः पदन्यासः पदशक्तिर्वा तस्य भरेण आक्रमणेन निष्पीडनेन विनमन्त आनम्रीभवन्तो ब्रह्मरुद्रेन्द्रविष्णवो यत्र तत्। इत्थंभूतं यत् त्वद्रूपं तद्भाव्यमानं सद् अर्थात् तव मूर्तिर्विचिन्त्यमाना सती जन्मिनां लोकानां भवभयानि संसारसंत्रासास्तेषामुच्छित्तये समुन्मूलनाय भवति सम्पद्यते। अत्र हि तारायाा विपत्तिसागरात् संसारार्णवाद् उद्धारकत्वं ब्रह्मादिसमस्तदेवातिशायिनीत्वं त्रिलोकव्यापिनीत्वादिकं स्पष्टतया वर्ण्यमानमुपलभ्यते।

स्रग्धरास्तोत्रस्य चतुर्षु श्लोकेषु (31 to 34) ताराया विविधध्येयरूपवर्णनावसरे सर्वज्ञमित्रपादैस्तारायाः स्वरूपस्य दिव्यलोकस्थितसुगतानन्तनिर्माणकर्तृत्वम्, अद्वयरूपत्वम्, हरिहरहिरण्यगर्भश्रावकप्रत्येकबुद्धदशभूमीश्वरान्यतमबोधिसत्त्वागम्यत्वादिकं वर्णितम्। अतस्ताराया बौद्धधर्मे सर्वोच्चं स्थानम्, नात्र संदेहलेशावकाशः।

एवं च ताराया ब्राह्मणतन्त्रसम्बन्धापेक्षया बौद्धतन्त्रेणैवाधिकः सम्बन्धोऽभ्युपगन्तव्यः। तन्त्रग्रन्था अपि तारोपासनविधिर्बुद्धाद् वशिष्टेनानीत इति स्वीकुर्वन्त्येव। अत एव तारापूजकेषु चीनाचारस्यातीव महत्त्वम्। चीनचारेण तारा आशु प्रसन्ना भवति। चीनाचारश्च महायानसम्प्रदायप्रचलितोपासनाप्रकारः। अयं चीनाचारो बृहन्नीलतन्त्रे, कमलाकरसूनुशङ्कराचार्यकृततारारहस्यवृत्तौ, रुद्रयामले, ब्रह्मयामलादिषु ग्रन्थेषु च समुपलभ्यते। ब्रह्मयामले देवीश्वरसंवादे प्रथमपटले वशिष्टेन यदा देव्यै शापः प्रदत्तस्तदा तारा वशिष्टं प्रत्याह—

> चीनाचारं विना नैव प्रसीदामि कदाचन।
> उवाच साधकश्रेष्ठं वशिष्ठमनुनीय सा॥
> रोषेण दारुणमनाः कथं मामनुशप्तवान्।
> मयि आराधनाचारं बुद्धरूपो जनार्दनः॥
> एक एव विजानाति नान्यः कश्चन तत्त्वतः।

अर्थात्—त्वं रोषेण मां कथमनुशप्तवान्। अहं चीनाचारं विना न प्रसीदामि। स चाचारः केवलेन बुद्धेनैव ज्ञायते। वशिष्ठस्तस्या देव्या वचः श्रुत्वा चीनाचारविज्ञानवाञ्छया महाचीनदेशे गत्वा बुद्धसकाशात् तमाचारं प्राप्तवान्।

एवं च बौद्धतन्त्रेषु ब्राह्मणतन्त्रेषु च ताराया अक्षोभ्येण सह सम्बन्धो वर्ण्यते। यावत्यः प्रतिमा उपलभ्यन्ते, तत्र तारायाः शिरसि अक्षोभ्यस्य सूक्ष्मा मूर्तिर्दृश्यते। अक्षोभ्यश्च ध्यानिबुद्धानामन्यतमोऽस्ति। ब्राह्मणग्रन्थेषु प्राचीनतमेषु पुराणादिषु अक्षोभ्यस्य कस्याश्चन कथायां कस्मिंश्चिद्वा प्रकरणे सम्बन्धो न दृश्यते। महाशिव-

पुराणादिषु शैवपुराणेष्वपि 'अक्षोभ्य' इति संज्ञकः कश्चन देवो वर्ण्यमानो नोपलभ्यते। परन्तु तन्त्रग्रन्थेषु तारासम्बन्धितयाऽक्षोभ्यस्य वर्णनमुपलभ्यते। यथा तोडलतन्त्रे प्रथमपटले—

तारायां दक्षिणे भागे अक्षोभ्यं परिपूजयेत्।
समुद्रमथने देवि कालकूटं समुत्थितम्॥
सर्वे देवाः सदाराश्च महाक्षोभमवाप्नुयुः।
क्षोभादिरहितं यस्मात् पीतं हालाहलं विषम्॥
अत एव महेशानि अक्षोभ्यः परिकीर्तितः।
तेन सार्द्धं महामाया तारिणी रमते सदा॥

समुद्रमथनावसरे कालकूटाख्यं विषं यदा निर्गतं तदा सर्वे देवा देव्यश्च क्षोभमवाप्नुवन्। परन्तु तद्भयंकरं विषं क्षोभरहितः शङ्करोऽपिबत्। अत एवासौ 'अक्षोभ्यः' इति सर्वत्र परिकीर्त्यते। तेन सह तारिणी तारा वा सदैव रमते।

एवं शक्तिसंगमतन्त्रेऽपि 'अक्षोभ्य' इति शिवस्यैवापरनामेति दृश्यते। 'शिवशक्तिसंवादे' इत्यस्य स्थाने 'अक्षोभ्यतारासंवादे' इत्यपि पठ्यते। (इति शक्तिसंगममहातन्त्रराजे-उत्तरभागे द्वितीयखण्डे श्रीमदक्षोभ्यमहोग्रतारासंवादे महाचीनक्रमो नामैकविंशतितमः पटलः)।

चीनाचारक्रमस्तारायाः पूजनार्थं ब्राह्मणैः स्वीकृतः। यतो हि महाचीनक्रमेणैव तारा शीघ्रफलप्रदा भवति।

महाचीनक्रमो देवि द्विविधः परिकीर्तितः।
सकलो निष्कलश्चेति सकलो बौद्धगोचरः॥
निष्कलो ब्राह्मणानां च द्वितीयं शृणु पार्वति।
(श० सं० २१।४)

तथा च महाचीनक्रमः सकलनिष्कलभेदेन द्विविधः। तत्राद्यो बौद्धैर्गृहीतो द्वितीयस्तु ब्राह्मणैः। सकलपद्धतौ शौचादेरपेक्षा नास्ति। तथा च चीनाचारविषये बुद्धवशिष्ठसंवादे बुद्धो वशिष्ठमाह—

अथाचारविधिं वक्ष्ये तारादेव्याः समृद्धिदम्।
यस्यानुष्ठानमात्रेण भवाब्धौ न निमज्जसि॥
स्नानादिर्मानसः शौचो मानसः प्रवरो जपः।
पूजनं मानसं दिव्यं मानसं तर्पणादिकम्॥
सर्व एव शुभः कालो नाशुभो विद्यते क्वचित्।
न विशेषो दिवारात्रौ न संध्यायां महानिशि॥

वस्त्रासन - स्थान - गेह - देहस्पर्शादिवारिणः ।
शुद्धिं नाचरेत्तत्र निर्विकल्पं मनश्चरेत् ॥
नात्र शुद्ध्याद्यपेक्षाऽस्ति न च मेध्यादिदूषणम् ।
सर्वदा पूजयेद् देवीमस्नातः कृतभोजनः ॥
महानिश्यशुचौ देशे बलिं मन्त्रेण दापयेत् ।
स्त्रीविद्वेषो न कर्तव्यो विशेषात् पूजनं स्त्रियः ॥

अर्थात् सकलाख्यचीनाचारे सर्वं स्नानादिककृत्यजातं मानसं भवति । तत्र सर्वस्य कालस्य शुभत्वात् समयादिविषयकनियमो नास्ति । अतः शुद्ध्यादेरपेक्षाया अभावः । कृतभोजनोऽपि देवीपूजनमधिकरोति । परन्तु ब्राह्मणैर्गृह्यमाणे निष्कलाख्ये महाचीनक्रमे शौचादेरपेक्षाऽस्ति । अतस्तन्त्रेषु प्रसिद्धस्य शिवस्यैव अक्षोभ्य इति नामान्तरम् । तथा शिव एव महायानेषु अवलोकितेश्वरः, तारा च तस्य शक्तिः । सा एव तारा शिवस्यापि शक्तिः । एवं चोभयोः सम्प्रदाययोरेवंरीत्या समानतायां न कमपि प्रतिबन्धकं पश्यामः । तथा चानया प्रणाल्या अक्षोभ्यस्य बुद्धत्वं सुतरां सिद्ध्यति । अक्षोभ्यस्य मन्त्रद्रष्टृत्वेन 'ऋषित्वं' क्षोभरहितत्वेन 'अक्षोभ्यत्वं' बुद्धस्य ज्ञानप्राप्तत्वेन बुद्धत्वं (ऋषित्वम्), अविचलासनमुद्रास्थितत्वेनाऽक्षोभ्यत्वम्, अत एव कामविकारशून्यत्वं बुद्धस्य, शिवस्यापि स्पष्टतया तत्र तत्र गीयते । एवं चाक्षोभ्यो बुद्ध इति, तारा प्रज्ञापारमिता सर्वोच्चबुद्धिरिति वा (The higest knowledge revealed to him) अस्ति ।

ताराया उत्पत्तिस्थानविषयकविचारः

"बुद्धिष्ट आइक्नोग्राफी" (Buddhist Iconograpy) लेखकेन श्री-गोपीनाथरावमहोदयेन ताराया दक्षिणदेशीयहिन्दुदेवीषु कथमप्युल्लेखो न कृतः, अतो दक्षिणदेशेन सह ताराया असम्बन्धात्, तत् तदीयमूलदेशत्वस्य कल्पयितुमप्यशक्यत्वात्, तन्त्रानुसारेण ताराया उत्तराम्नायसम्बन्धात्, सा निश्चयरूपेणोत्तरस्यां दिशि प्रादुर्भूता । एवं सति सा कुत्र प्रादुर्बभूवेतीदानीं विचार्यते । साधनमालायां यथापूर्वमुक्तमेक-जटास्तवनिर्मातुर्नागार्जुनस्य विषये–'एकजटासाधनं समाप्तम्, आर्यनागार्जुनपादैर्भोटेषू-द्धृतम्' इति दृश्यते । अत्र हि एकजटानुष्ठानप्रकारस्यार्यनागार्जुनपादैरुद्धारः कृत इति कथ्यते । उद्धृतशब्दस्य–'उद्–हृ हरणे' इत्यस्माद्धातोः क्तप्रत्ययान्तत्वेन निष्पन्नत्वात्, पूर्वप्रचलितस्यैव कालक्रमेण क्षीयमाणस्य पुनः स्थापनस्यैवोद्धारपदेनो-च्यमानत्वाज्ज्ञायते यदयमुद्धारो भोटेषु भोटमूलप्रदेशेषु कृत इति । तथा च एकजटा-देवीपूजकसम्प्रदाये कालक्रमेण क्षीयमाणे सति पुनरुद्धारः कृत इति कथनेनेत्थं ज्ञायते यत् तारोपासकसम्प्रदाय उत्तरस्यां दिशि भोटदेशे प्रागेवासीत्, तस्यैव नष्टप्रायस्य नागार्जुनेनोद्धारः कृतः । उपर्युक्तप्रमाणानुसारेण तारासम्प्रदायस्य भोटदेशीयत्वं सुस्पष्टम् । तत एव भारतवर्षे ब्रह्मणा प्रेषितो वशिष्ठश्चानयत् । स च देशो महाचीनो

वा भवतु चीनो वेत्यन्यदेतत्। वशिष्ठोऽपि वशिष्ठाख्यः सुप्रसिद्धो महर्षिस्तद्गोत्रो वा कश्चन ब्राह्मण इत्यन्यदेतत्। वशिष्ठविषये तारातन्त्रे रुद्रयामलादुद्धृता खल्वेका कथास्ति, यत्र ब्रह्मणोपदिष्टो वशिष्ठो वारत्रयं तारामाराधयत्। परन्तु सा न तुतोष। पश्चाच्छापं दातुमुद्युक्तं मुनिं तारा स्वयमेवाविर्भूय प्रावोचत्—'अहं चीनाचारेणैव प्रसन्ना भवामि' इति। एवं श्रुत्वा वशिष्ठश्चीनदेशं गतवान्—

ततो गत्वा महाचीनदेशे ज्ञानमयो मुनिः।
ददर्श हिमवत्पार्श्वे साधकेश्वरसेविते ॥

(तारातन्त्रोद्धृते ब्रह्मयामले, 2 पटले 2 श्लोकः)

जगाम चीनभूमौ च यत्र बुद्धः प्रतिष्ठितः।

(ता० तन्त्रोद्धृते रु० या० 17 पटले)

'साधकेश्वरसेविते हिमवत्पार्श्वे' इत्येतेन महाचीनदेशस्य हिमालयपार्श्ववर्तित्वं स्पष्टं प्रतिभाति। अपि च ब्रह्मयामलानुसारेण वशिष्ठः प्रथमं कामाख्यनामानं पर्वतं गतवान्, तत्र सफलतामप्राप्य ततश्चीनदेशमगमत्। एवं च चीनदेशो वर्तमान-चीनदेशस्यैकभागे 'तिब्बत'इत्याख्यप्रदेशो भोटदेशापरनामा भवितुमर्हति, यत्र च ताराऽधुनापि पूज्या लोकप्रिया चास्ति। नह्यत्र चीनपदेन वर्तमानस्यैव चीनदेशस्य ग्रहणं कर्तुं युक्तम्, तत्र तारासमुपासकसम्प्रदायस्य कदाप्यवर्तमानत्वात्। इत्थं च ताराया मूलस्थानं तिब्बतप्रदेश इति सुनिश्चितम्।

तिब्बतप्रदेशस्य तारामूलस्थानत्वेन निश्चीयमानत्वेऽपि कुत्र प्रदेशविशेषे सा प्रादुर्बभूवेति चेदानीं चिन्त्यते। स च प्रदेशविशेषो भारततिब्बतसमीप एव कश्चन भवितुमर्हति। स्वतन्त्रतन्त्रानुसारेण सा चोलनाख्ये महाह्रदे प्रादुर्भूता—

मेरोः पश्चिमकूले तु चोलनाख्यो ह्रदो महान्।
तत्र जज्ञे स्वयं तारा देवी नीलसरस्वती ॥

(Quoted in the Archaeological Survey Report of Mayurabhanja. by N. N. Basu, Vol. I, P. XXXIV.

[मेरोः पश्चिमकूलस्थचोलनाख्ये महाह्रदे भगवती नीलसरस्वती तारा प्रादुर्बभूव]

जम्बूद्वीपमध्यस्थः कश्चन पौराणिकः सुमेरुर्मेरुर्वा पर्वतोऽस्ति। डाक्टर ए० एच० फ्रान्के (Dr. A. H. Francke) महोदयमतानुसारेण (see Vol. XXXVIII of the Archaeological Survey of India, P. 61) मेरु-स्तिब्बततुर्किस्तानयोर्मध्ये स्थितोऽस्ति, यत्र च कतिपये बृहज्जलाशयाः (lakes) शोमोरिरिप्रभृतयः (Thsomo Riri and M. Thsod-kar) सन्ति। तेषां तटेषु प्राचीनमठा वर्तन्ते। इदं नाश्चर्यकरं यत् तत्रस्था धार्मिकजनास्तादृशजलाशयो-त्तीर्णताप्राप्त्यर्थं सहायकत्वेन काञ्चन देवीं प्रकल्प्य पूज्यत्वेनाङ्गीकृतवन्तः। डा० ए० एच० फ्रान्केमहोदयोऽग्रे लिखति यत्—खालत्से (Khalatse) सविधे सिन्धु-

दक्षिणतटे काचन पर्वतोपत्यका (Rock) अस्ति। तस्या अधोभागे 'तार'संज्ञकः कश्चन ग्रामोऽस्ति। तत्रत्यानां जनानामयं विश्वासो यद् भगवत्यास्ताराया (Sgrolma) एकविंशतिरूपाणि द्रष्टुं शक्यन्ते। तानि च रूपाणि स्वयंभूस्वरूपाणि सन्ति। ताराभिव्यक्तिस्थानत्वेन ग्रामस्याऽपि मूलतः 'तारा' इति नामासीत्। कालक्रमेण तस्यैव ग्रामस्य 'तार' इति संज्ञा सञ्जाता। इदं चातीव मोदावहं यदा वयं तत्र मेरुस्थानं प्राप्नुमः, यच्चेदानीं 'मिरुः' (Miru) इत्युच्यते। तत्र च लघुपर्वतशिखरोपरि कश्चन प्राचीनतमो मठोऽस्ति। तत्र चैको व्यापारमार्गोऽपि विद्यते। एतत् सर्वं 'मेरोः पश्चिमकूले तु' इति स्वतन्त्रतन्त्रोद्धरणमस्मान् हठात् स्मारयति।

उपर्युक्तप्रकारेणैतन्निश्चितं भवति यत् तारोपासनापद्धतिर्लद्दाखस्य पार्श्वस्थे प्रदेश एव कुत्रचिदादावारब्धा। एतद्विषये इतिहासोऽपि संवादयति। सर औरेलस्टेन (Sir Aurelstena) इत्यादयो वह्व ऐतिहासिकविद्वांसो महद्भिः प्रयत्नैर्वहुभिः प्रमाणैर्बौद्धधर्मप्रचारभूमिं तिब्बततुर्किस्तानप्रदेशे प्रतिपादयन्ति। फाहेन (Fahien, 399–415) सांग-यून-ह्वे-सेंगप्रभृतीनां (Song-yun, and Hwei-Seng A. D. 518–521) चीनयात्रिणां यात्रावृत्तान्तलेखा अप्यमुमर्थं द्रढयन्ति। ख्रिस्तीयसप्तमशताब्द्यां बौद्धधर्मोऽत्र सर्वोच्चस्थानं प्राप्नुवन् आसीत्। एकस्मिन् खोताने (in khotana) एव शतसंख्याका बौद्धमठा आसन्। तत्र च पञ्चशतपरिमिता बौद्धभिक्षवो भारतीयपवित्रधर्मग्रन्थाश्च प्रचुरमात्रायामासन्। अत एतज्ज्ञायते यद् बौद्धधर्मस्य मध्याह्नसूर्यः ख्रिष्टीयपञ्चमशताब्द्यामेव स्वीयं प्रकाशं तत्र विस्तारयामास। अस्मिन्नेव समये (युगे) ताराया उपासनाप्रकारस्तत्र प्रारब्धः। तारा लद्दाखप्रदेशात् शनैः शनैस्तिब्बतप्रदेशमागत्यातिप्रसिद्धिमाजगाम[1]। वेडेलमहोदय(Waddell)कथनानुसारेण विशुद्धमौलिकतारायाः स्तुत्यात्मकं 'धारणी'-रूपात्मकं वा परमप्रसिद्धं जनप्रियं च तिब्बतीयजनतायां प्रचलितं प्रारम्भिकपूजापुस्तकमस्ति। तस्य च 'स ग्रॉल-मैडकर स्नान-ग्यिब्स टॉड-पग्ज़ुन्स' (Sgrol-Madkar Snon-gyibs tod-pa gzuns) इति नामास्ति। परन्तु मूलतः सा आर्याणां मंगोलानां (of Mongolians) वासीदिति निश्चयेन वक्तुमशक्यं यद्यपि, तथापीदं तु निष्प्रपञ्चं यत्तदानीं तत्प्रदेशे आर्या निवसन्ति स्म। पश्चात्–उरल-अल्टेनजनैः (Ural-Altains) सह मिश्रणं सञ्जातम्। मूलतः सा न भारतीयेति तु निश्चितम्। (That she is not exactly Indian by birth seems to fairlly certain. see page 16 of origin end cult of Tara) नैपालदेशे तस्या जनतायां परमादराश्रयत्वाज्जनतामातृरूपत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात् तद्द्वारैव सा भारतवर्षं समागता।

---

१. See, Buddhism of Tibet (Lamaism), P. 339.

ताराया मौलिकं रूपम्

ताराशब्दव्युत्पत्त्या 'तॄ प्लवनतरणयोः' धातोरस्य शब्दस्य निष्पन्नत्वेनायमर्थो लभ्यते—या स्वभक्तान् जलाद् आपत्तेर्वा तारयति सा 'तारा' इत्युच्यते। यैर्नामभिः सा तिब्बतचीनकोरियाजापानदेशेषु प्रसिद्धा, तेषामयमेवार्थः प्रायस्तत्तद्देशीयैरङ्गीकृतः। इदमपि सत्यम्—यः कश्चनापि पौराणिको धर्मग्रन्थप्रतिपादितो वा देवः स स्वकीयभक्तान् आपद्भ्यो रक्षत्येवेति सार्वजनीनम्, तथापि प्रत्येकदेवताया विशिष्टं कार्यं भवति यदर्थं साऽऽहूता स्यात्। तद् यथा हिन्दुपौराणिककथासु दृश्यते—मृत्युञ्जयोपासनया शिवस्तन्मन्त्रोपासकाय दीर्घायुर्ददाति, अतो हि स आयुःप्राप्त्यर्थमुपास्यते। मङ्गलग्रहश्च ऋणापनयाय, शीतला महामारीनिवृत्तये समुपास्यते (for getting rid of small pox)। मोहम्मदीयसम्प्रदाये (Khwaja Khijir) ख्वाजाखिजिरस्यावाहनं स्तवनं वा जलीयापत्तिनिवारणार्थम्, अलीमुरतजा (Ali Murtaza) महोदयस्यावाहनं भयंकरापद्रक्षणार्थम्। तत्रासौ स्वभक्तान् स्वप्रभावेण रक्षति। तथा च 'तारा' अपि स्वभक्तान् समुपासकान् जलीयविपत्तेस्तारयति, तदुपासका वा तादृशदुःखेभ्यस्तीर्यन्तेऽनयेति 'तारा'। सर्वज्ञमित्रकथावर्णनावसरे भिक्षुश्रीजिनरक्षितो लिखति स्रग्धरास्तोत्रटीकायाम्—'सरसि निमग्ना भगवतीप्रभावात् स्वं स्वं देशमुपजग्मुः'। या च देवता जलात्तारयति तस्या जलेन सहातीव सम्बन्ध इति तु स्पष्टम्। अत एव तारा ब्रह्माण्डपुराणे ललितोपाख्यानावसरे—'नौकेश्वरी' नौकानां स्वामिनीत्युच्यते। यतो हि सा रत्नमयीं नौकामध्यास्ते। सा जलौघशमनक्षमाऽस्ति। जले निमज्जतो जनान् रक्षितुं प्रवृत्तानामसंख्ययोषितामधिष्ठात्री तारास्ति। तारापरिचारिकाणां रूपस्य सामुद्ररूपतुल्यवर्णनेन तत्र (ब्रह्माण्डपुराणे) इत्थं ज्ञायते यत् समुद्रतरङ्गिण्य एव तद्रूपत्वेन कल्पिता यासां च तारा नियन्त्री। (Their colour is the colour of the Ocean and apparently they are the personification of Oceanic Waves whom Tara controls. (on 17 Page of The origin and cult of Tara. Verily she is the goddess whose aid an adventurer will seek for when he goes out in search of wealth to distant lands plunging his boats in to the wide and deep sea)। यदा कश्चन साहसिकजनो नौकया दूरदेशं धनाद्यर्थं गच्छति, तदा यस्याः कृपया साहाय्येन वा स जलधिपारं प्राप्नोति सा 'तारा' इत्युच्यते।

यद्यपि तन्त्रेषु नौकाधिष्ठातृदेवतारूपेण सा वर्ण्यमाना प्रायो नोपलभ्यते, तथापि विशालविस्तृतजलराशिस्थकमलोपरिस्थितिसम्पन्नतया वर्ण्यमाना साऽमुमर्थं सूचयत्येव। तस्या आवाहनं तन्त्रानुसारेण शास्त्रार्थादिप्रातिभकार्यावसरे विलक्षणबुद्धिवैभवादिप्रदर्शनार्थं भवति। तस्याः कृपया विलक्षणा गद्यपद्यमयी वाणी निस्सरति। अत्रेदं तथ्यं यत् साधकाः शीघ्रकृपासमुपलब्ध्यर्थं तां पूजयन्ति, अतो नालन्दायामुपलभ्यमानमूर्तौ यो मन्त्र उपलभ्यते, सोऽपीममेवार्थं द्रढयति—

"ॐ तारे तु तारे तुरे स्वाहा"

त्वरा शीघ्रार्थकः शब्दः, तस्यैव 'तुरे' इति रूपान्तरम्। चालुक्यसम्राट् त्रिभुवनमल्लषष्ठविक्रमादित्यकालिक(A. D. 1096)समुपलभ्यमानशिलालेखस्था इमे श्लोका अपि प्रकृतमर्थमुपोद्वलयन्ति—

(क) हरिकरिशिखिफणितस्करनिगलजलार्णवपिशाचभयशमनि ।
शशिकिरणकान्तिधारिणि भगवति तारे नमस्तुभ्यम् ॥

(ख) पाथः पार्थिववह्निपूगपवनप्रख्यातभीत्याकुल-
प्राणत्राणविधानलब्धकरुणाव्यापारचिन्तातुरा ।
प्रोद्यत्तस्करसिन्धुसिन्धुरहरिव्यालादिशङ्कापहा
तारा तूर्णवितीर्णवाञ्छितफला पायात् सदा संगमम् ॥

(क) सिंहहस्तिवह्निसर्पचौरनिगडजलसमुद्रपिशाचजन्यभयविनाशिके
चन्द्रकिरणकान्तिधारिणि अयि भगवति तारे तुभ्यं नमः ॥

(ख) या नृपाग्निज्वालावायुजन्यभयग्रस्तप्राणिरक्षणपरायणा,
सिंहचौरजलगजादिभयविनाशिका च, अथ च या तूर्णमेवाभिलषितफलं वितरति सा सदा संगमत्राणं करोतु ॥

अत्र हि भगवत्यास्ताराया बौद्धमतप्रसिद्धाष्टभयेभ्यो रक्षिकात्वेन तूर्णफलप्रदातृत्वेन च प्रदर्शनं मन्त्रार्थं संवादयत्येव। अतस्तारा समुद्रादिजलजभयत्रातृरूपतया प्रधानदेवतेत्यत्र नास्ति संदेहलेशावकाशः। (I think it stands to reason that the composer of the prasasti thought Tara to be the chief deity concerned with the safe crossing of waters. The origin and cult of Tara, P. 18) बौद्धपौराणिकगाथानुसारेण मूर्त्तिकलायां प्रदर्श्यमानानि पोतविनाशभयसूचकचिह्नानि यावद्विपत्तिप्रतिनिधिभूतानि ताराया: पादतले दृश्यन्ते, एतावता भवसागरात् चतुरशीतियोनिरूपजन्ममरणचक्राद्वा तारा स्वभक्तान् रक्षतीति गम्यते, अत एव सा शाश्वतमोक्षप्रदा, अत एव तस्या अर्चनादिकं नहि केवलप्रेयःप्राप्त्यर्थमपि तु श्रेयःप्राप्त्यर्थमपि साधनमस्ति। इत्थं सा भवविमोचिनी सञ्जाता, जन्ममरणभवभयहारिणीत्वेन 'तारिणी' इति नाम्नोऽपि सार्थक्यम्। सा ज्ञानसमुद्रात् प्रादुर्भवति, ज्ञानार्णवमन्थनात् समुदिता, भवतापदुःखशमनी, सा वास्तविकज्ञानरूपा प्रज्ञापरपर्याया वा सैव खलु परनिर्वाणं ददाति, 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

इत्थं वयं ज्ञातुं शक्नुमो यत् सा चोलनामकमहाह्रदादाविर्भवति, जलाद् बहिर्भवत्कमलोपरि स्थिता चास्ति। सा अम्भसां वृद्धिं नियच्छति स्वभक्तांश्च जलार्द्रपूर्णतया रक्षति। सा तारिणी शक्तिर्या चाद्भ्यः पारं करोति। वस्तुतो यस्याः कृपया समुद्रयात्रा निर्विघ्ना भवति, अनया प्रणाल्या पूर्वोक्तस्वभाववशात् सा नौकेश्वरीत्वं

प्राप्नोति। मूलतस्तस्या आवाहनमनायासेन जलोत्तरणाय नौकानां महाह्रदात्तरणाय वा, यत्र तस्याः पूजापद्धतिः समुद्भूता। शनैः शनैः कालक्रमेण समयाऽतिक्रमे सा समुद्रपोतादियात्रावसरेऽपि वन्दनीयत्वादिकमाप्नोत्। ये पुनः संसारमुमुक्षवो भक्तास्तेषां कृते सा भवमोचनी संजाता। ते च संसारस्य रूपकतयाऽब्धित्वं विपदां चोत्तालतरङ्गत्वं मानवशरीरस्य नौकात्वं प्रकल्पयन्तस्तां भवार्णवोद्धारकर्त्रीत्वेनोपासन्ते। अस्मिन् विषये बौद्धगाथासु हिन्दुतन्त्रेषु च न कश्चन विरोधावसरः प्रत्युत समानतयाऽनुकूलतैव।

तारोपासनायाः प्रारम्भः

अथेदानीमैतिहासिकरीत्या ताराया उपासनापद्धतेः प्राथमिकप्रारम्भविषये किञ्चिद्विचार्यते। तारा मूलतो महायानबौद्धानां देवीत्यत्र नहि कश्चन विवादावसरोऽस्ति। सा बोधिसत्त्वावलोकितेश्वरस्य शक्तिरित्यपि सुप्रसिद्धम्। अस्य बोधिसत्त्वस्य सम्प्रदायः कदा प्रारब्ध इतीदानीं वक्तुं न शक्यते, तथाप्यद्यावधि समुपलब्धप्रमाणैरिदं तु निश्चितं यदस्य सम्प्रदायस्य ख्रिष्टीयशताब्द्याः प्रागस्तित्वं नासीत् (In all probability, it does not go back beyond the early centuries of christion era, page 19. The origin and cult of Tara.)।

इदं तु निश्चितं यन्मूलत आदाववलोकितेश्वरस्य काचन शक्तिर्नासीत्, यतो हि लक्ष्मणपुरविचित्रालये (In the Lucknow museum) प्रदर्श्यमानायामवलोकितेश्वरप्रतिमायां (Forth A. D.) तारायाः सम्बन्धलेशगन्धोऽपि नोपलभ्यते। (see memoir No. XI.)। अतो ज्ञायते यदीशवीयचतुर्थशताब्द्याः प्राक्तारा जनतायामज्ञाताऽऽसीत्। गान्धारदेशीये ग्रएकोसम्प्रदाये (Grarco-Buddhist school) अपि साऽपरिचिता आसीत्। तारास्तित्वज्ञापकानि सम्भवतः प्राचीनतमाकृत्यात्मकचिह्नानि नासिक–एलोरा–कान्हेरी(Nasik, Eilora, kanheri etc.)प्रभृतिबौद्धगुहासु यानि समुपलभ्यन्ते, तानि षष्ठशताब्दीमेवावरुन्धन्ति। इदं सर्वं पूर्वमुक्तम्। यदि च "आर्यनागार्जुनपादैर्भोटपूद्धृतम्" इत्यस्य साधनमालोक्तस्य प्रामाण्यम्, तदा तारापूजापद्धतेः ख्रिष्टीयशताब्द्याः प्रागस्तित्वमवश्यमङ्गीकर्तव्यं भवति। यतो हि नागार्जुनैस्तारासम्प्रदायस्य भोटपूद्धार एव कृतो न तस्य प्रारम्भः।

अपि च बुद्धसमये 'सङ्घे' योषितां प्रवेशप्रश्नविषये बुद्धो विरुद्ध एवासीत्। अत एवानन्दप्रार्थनया तदीयविमातृप्रवेशस्य यद्यपि बुद्धेनैवाज्ञा प्रादायि, तथाप्युद्घोषितं यद् धर्मः सङ्घो वा शीघ्रमेव नङ्क्ष्यति। सा घोषणा च सत्यैवाभूत्। यदि च बौद्धधर्मसंस्थापकस्य बुद्धस्य योषितां विषये ईदृशी कठोरतमा दृष्टिः, कथं नाम तस्मिन् धर्मे तदीयसमय एव तारादिशक्तीनां पूजापद्धतिरादरणीया स्यात्। गान्धार-

देशीय'ग्र-एको'संज्ञकबौद्धसम्प्रदाये यद्यपि कासाञ्चिद् देवीनामुपासनाविषयो वर्ण्यमानः समुपलभ्यते, तथापि तत्र तारायाः सर्वथैव स्थानं नास्ति, अतो ज्ञायते यत्ताराया उपासनापद्धतेस्तदीयोपासकसम्प्रदायस्य वा प्रादुर्भावः खिष्टीयपञ्चम-शताब्द्या अनन्तरमेवाभूत् । यदि चैवं तदा माध्यमिकसम्प्रदायप्रवर्तकनागार्जुन-सम्बन्धोल्लेख एकजटाख्यतारासम्प्रदायोद्धारकर्तृत्वेन तत्सम्प्रदायस्य प्रतिष्ठावर्धनार्थ-मेव कृत इति कल्प्यते ।

अतो बौद्धसम्प्रदायेषु शक्तिपूजा सम्भवतः षष्ठशताब्द्यां प्रारब्धा । अस्या विचारधारायाः प्रादुर्भावस्तिब्बतमंगोलप्रभृतिदेशेषु सञ्जातः, यतो हि तत्रत्या जना विचारयन्ति स्म यदि देवाः शक्तिविशिष्टाः पूजिताः स्युस्तर्हि प्रसन्ना भवेयुः । परि-णामतः प्रतिदेवमेका शक्तिर्निश्चिताऽभूत् । इयं च प्रणाली याब्यूमपदेन व्यपदिश्यते (Yabyum), इत्थं च पूर्वोक्तप्रकारेण 'यो चुंग' (Yuan Chuan) प्रभृतियात्रा-वृत्तान्तलेखानुसारेण च ज्ञायते यद् भोटदेशात् ताराया नेपालदेशे आगमनम्, ततो भारतवर्षे मगधादिदेशेषु तस्याः प्रचारः । तत्रापि नालन्दायां प्रधानशक्तिरूपेण पूज्या सा समभवत् । ततश्च कलिङ्गदेशे गता, ततो यवद्वीपादावपि तस्याः प्रचारः संजातः । खिष्टीयसप्तमशताब्द्यां यदा तन्त्राणां प्रचारसूर्यो मध्याह्नं स्पृशति स्म, तदा ब्राह्मणैरपि स्वधर्मे तां समानीय द्वितीयमहाविद्यारूपता तस्यै प्रदत्तेति ।

एवं हिन्दुतन्त्राणां बौद्धादितन्त्राणामाधुनिकानामैतिहासिकानां च दृष्ट्या ताराविषयका विभिन्ना विचारा अत्र प्रदर्शिताः । प्रथमं शक्तितत्त्वस्य श्रुतितन्त्र-पुराणादिप्रदर्शितं स्वरूपमुपवर्ण्य दशमहाविद्यानां प्रादुर्भावक्रमं समुन्मील्य तारायाः स्वरूपम्, उपासनाविधिम्, तस्या भेदोपभेदान्, महाचीनक्रमादिकं च विस्तरेण प्रतिपाद्य अक्षोभ्यतारासंबन्धो मतभेदेन युक्तिपुरस्सरं साधितः । अनया वाङ्मय्या पूजया दशमहाविद्यासु प्रथिततमा भगवती तारा प्रसीदतुतरामित्यलमनल्पजल्पनेन ॥
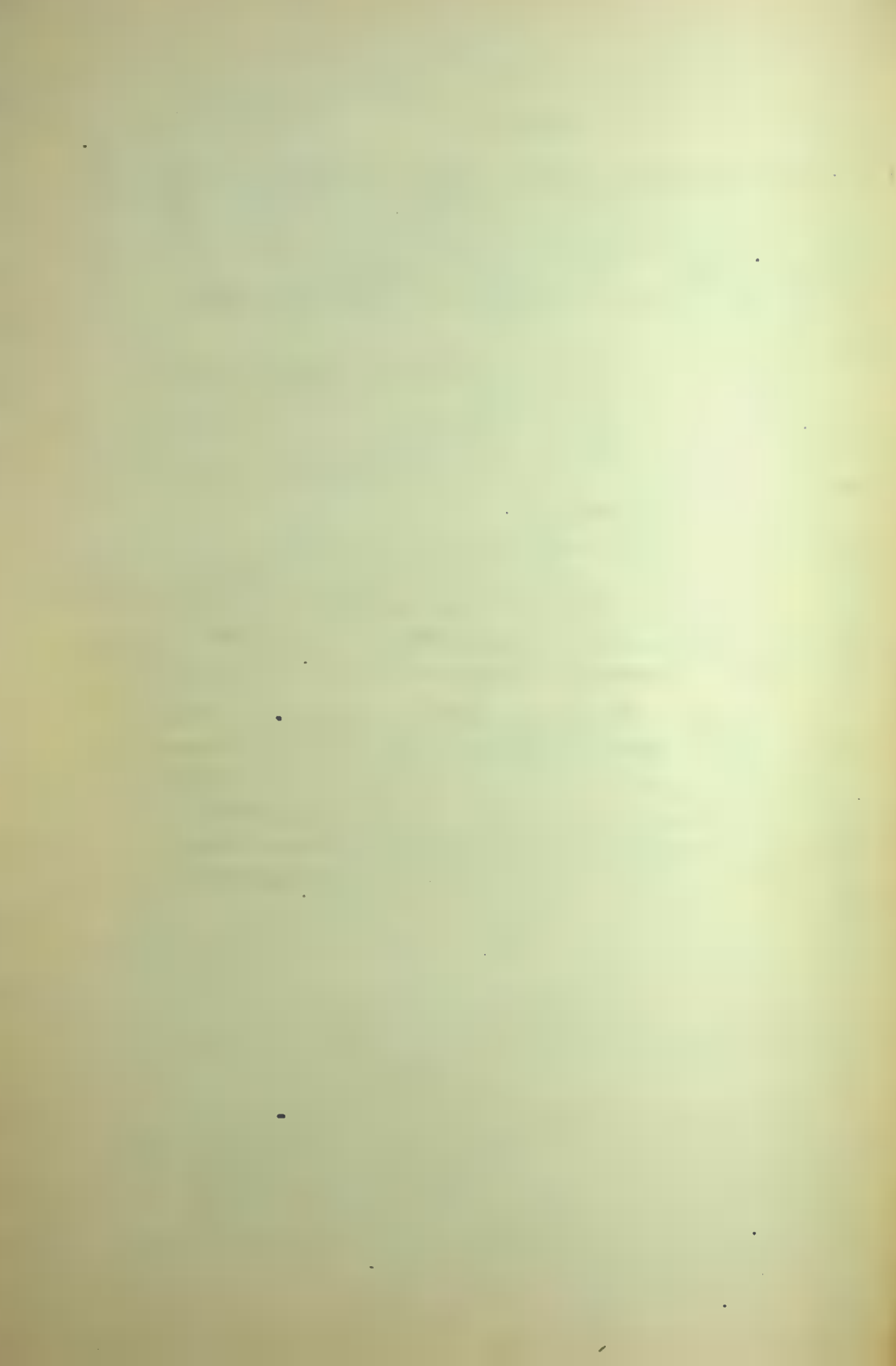
शिव-योग और षट्स्थल-सिद्धान्त

एन. एच. श्रीचन्द्रशेखर स्वामी, कनिष्ठानुसन्धाता, योगतन्त्रविभाग, वा० सं० वि० वि०, वाराणसी।

प्रस्तावना

शैव-शाक्त तन्त्रों की साधन-धारा को प्रामाणिक मान कर अनन्त प्रकार की साधन धारायें अपनी एक विशिष्ट प्रणाली का आश्रय करके विकसित हुई हैं, जिनका उपागम धारा के नाम से कहीं कहीं उल्लेख किया जाता है। वीरशैव सम्प्रदाय विशेषतया साधन-प्रधान है। इस साधन का लक्ष्य है—शिव-योग की प्राप्ति। शिव-योग की आलोचना के प्रसंग में संक्षेप में परमात्म-स्वरूप एवं सृष्टि-धारा की आलोचना करना अप्रासंगिक न होगा।

परमात्मा का स्वरूप

मूल स्वरूप को स्थल, महालिंग, परमशिव, शून्यलिंग इत्यादि नामों से कहा जाता है। वह एक अखण्ड वस्तु है, जिसके विषय में इदमित्थं रूप से कुछ नहीं कह सकते। किन्तु अनुभूति-दशा में जिस परम वस्तु का बोध होता है, उसको व्यक्त करना आवश्यक है। अतः जिसका आदि अन्त नहीं है, जिसे शून्य एवं निःशून्य भी नहीं कह सकते, ऐसी एक अवस्था मूल में माननी पड़ती है। जिसके केन्द्र में चेतनाचेतनात्मक समग्र विश्व उत्पन्न होकर लीन होता है, उसी को स्थल कहा जाता है। यह तत्त्व एक व्यापक, सच्चिदात्मक, निरन्तर नदनशील है। इसी को सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से सकल[1] एवं निष्कल कहते हैं। इसी को विश्वतश्चक्षु, विश्वतोबाहु कहा जाता है। विश्वतश्चक्षु और विश्वतोबाहुत्व ही विश्वात्मभाव है। योगीजन अप्रमाण, अगम्य आदि शब्दों से विश्वोत्तीर्ण अवस्था का संकेत करते हैं। अत एव सर्वशून्य निरालम्बलिंग, जो पहले संकल्प अथवा स्वातंत्र्ययुक्त भी नहीं था, वही स्वात्मलीला से अपने में उपास्य-उपासकभाव प्राप्त कर सृष्टिस्वरूप बन जाता है।

सृष्टि का सामान्य स्वरूप

मूल वस्तु जो पूर्ण है, जिसे सच्चिदानन्द स्वरूप कहते हैं, जिसमें मूल वस्तु स्वयं सृष्टि स्वरूप बन जाती है, तथापि यह परम वस्तु अखण्ड ही है। प्रपंच से

---

१. सकल निष्कल से युक्त होकर सकल भी तुम हो निष्कल भी तुम हो। विश्वतश्चक्षु विश्वतोबाहु तुम हो, कुण्डल संगमदेव (बसवेश्वर बचन)।

अतीत एवं जो विभाग रहित है, वह स्वयं विभागों को स्वीकार करके अपने आनन्द के लिये अर्थात् विनोदार्थ, लीला से, शिव-शक्ति के रूप को धारण कर लेता है। अनन्त वैचित्र्य या नानात्व इसका स्वभाव है। एक परम वस्तु दो हुये विना नाना कैसे बनेगी ? अत एव जिस प्रकार बीज पहले द्विधा विभक्त होकर पश्चात् विविध काण्ड, शाखा, पत्रादि से समन्वित महावृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार एक अखण्ड महालिंग से क्रमशः शिव-शक्तिमिथुन एवं उनसे अनन्त विश्व वैचित्र्य का निर्माण होता है। वही बाहर आकर अनन्त लिंग स्वरूपों में प्रकट होता है।

सृष्टि-क्रम

शिव-शक्ति के अनन्तर उनमें नाना बनने की इच्छा हुई, तभी अनन्त पिण्डों का सृजन हुआ। वस्तुतः परमशिव स्वयं जीवरूपी अभिनेता बनकर संसाररूपी आवरण पहनता है। स्थल, शून्य, निःशून्य, निरालम्ब एवं लिंगपदवाच्य पूर्ण वस्तु जीवावस्था को किस प्रकार प्राप्त करता है, इस विषय में वीरशैव मत साधारणतया शैवागमों की विचारधारा को स्वीकार करता है। जब यह निकले, तब उन्हें अपना स्वरूप विस्मृत हुआ। निद्रितावस्था से जग गये तो स्वप्नावस्था में अपने को परिच्छिन्न अवस्था में 'मैं अणु हूँ' यह बोध उत्पन्न हुआ। मैं अणुरूपी आत्मस्वरूप हूँ, एवं मैं परम सत्ता का अंशस्वरूप हूँ, इस प्रकार के बोध के पश्चात् मैं परम सत्ता से अलग हूँ, यहीं शुद्ध पिण्डाण्डस्वरूप का बोध है। जब काल एवं माया में अहंभान आया, अर्थात् काल एवं माया ही अपना स्वरूप हैं, इस बोध का उदय जब हुआ, अर्थात् अपने शुद्धस्वरूप को भी भुलाकर देहोऽहं कह कर मिथ्या पिण्ड में पिण्ड हूँ यह भ्रान्ति होने लगी, तभी माया-सृष्टि का आविर्भाव हुआ है। यही माया अपने संकल्प से प्राणादिकों की सृष्टि करती है।

पिण्ड अथवा पशुभाव

इस माया के प्रभाव में आने के कारण अब पशु कहलाने लगा। अर्थात् मिथ्यापिण्ड में क्रमशः ब्रह्मा (सत्त्व), विष्णु (रजस्), रुद्र (तमस्) रूपी त्रिगुणात्मक इस मायिक शरीर में 'मैं हूँ' इस प्रकार के बोध के कारण साधारण संसारी जीव बनकर भोगासक्त होकर कालचक्र में घूमने लगा। वस्तुतः यह जो जीवावस्था है, वह मूलस्वरूप के दृष्टि की लीला है। वस्तुतः मलसम्बन्ध ही जीवत्व है। जीव नाना किस प्रकार बन गये, इसके उत्तर में वीरशैवाचार्यों का कथन है कि एक ही तत्त्व जो शिव एवं शक्तियुक्त है, वह नाना बन जाता है और तब वह अनन्त अणु कहा जाता है। यही आत्माओं का स्वरूप है। यह अणु शुद्ध है। इन अणुओं

की इस सम्प्रदाय में 'पिण्ड' आख्या है। यह शुद्ध पिण्ड आगे चलकर माया और काल के अधीन बद्ध होकर जीव बन जाता है। अशुद्ध जीव की अवस्था गुरूपदेश के पश्चात् शुद्धि को प्राप्त होती है और तभी जीव निवृत्ति मार्ग पर चलने के लिये योग्य बनता है।

इस लेख में हम केवल शिवयोग साधना एवं उसका विशेष विवरण दे रहें हैं। इस प्रसंग में मूल वस्तु किस प्रकार जीव अवस्था तक आई, इसका विवरण देना उचित समझते हैं। परम वस्तु अपने आनन्द से जीव बन गया है।

अब प्रश्न इस बात का उठता है कि जीवावस्था प्राप्त कर अब जीवदृष्टि से अर्थात् अज्ञानता के कारण अपने स्वरूप को खोकर परिच्छिन्न बोध में है, इस बहिर्मुख भाव के कारण जो दुःख हो रहा है और जो पशुभाव उत्पन्न हुआ है, इस बन्धन से मुक्त होने का क्या रास्ता है?

एतत् सम्प्रदायगत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कुछ विमर्श करना अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुतः अनन्तकोटि जीवराशि में इतने दुःख में पड़ने पर भी, अन्तर्मुखात्मक प्रवृत्ति क्यों नहीं होती? अन्तर्मुख प्रवृत्ति के लिये क्या कारण है? अन्तर्मुख प्रवृत्ति के कारण ही जीव में अपने भोग की परिसमाप्ति के बाद अन्तर्मुख प्रवृत्ति जाग्रत् होती है और तदनन्तर ज्ञानोदय होता है। विषयाभिमुख चित्त कब विषयों से विमुख होगा? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर निम्नलिखित है—[1]आचार्य प्रभुदेव जी कहते हैं कि अन्तर्मुख होने के लिये विषयों से किसी प्रकार पराङ्मुख होने से अथवा संसार-ताप से दुःखी होकर अपने आप सजग हो जाना संभव है। वस्तुतः तीव्र संवेग ही इसमें कारण बनता है।

कर्मसाम्य एवं मलपाक

[2]प्राचीन आचार्य कर्मसाम्य एवं मलपरिपाक सिद्धान्त को मानते हैं। कर्म-साम्य का मतलब है कर्म का फल अवश्यंभावी है। अत एव जब तक कर्म में विषमता रहेगी, तब तक कृपा अर्थात् अन्तर्मुख गति सम्भव नहीं है। अत एव सत्कर्म और असत्कर्म दोनों कर्म जब सम हो जायँगे, तो पुनः नूतन कर्मों की उत्पत्ति न हो सकेगी। मलपरिपाक होने पर भी कृपा का अवतरण होता है। यद्यपि मलपाक काल-सापेक्ष है, अर्थात् मल के परिपक्व होने के लिये समय की आवश्यकता है; तथापि यह सामान्य नियम होने पर भी विशेष कृपा में मलपरिपाक का प्रश्न नहीं उठता।

---

१. प्रभुदेव वचन, गुरु का रूपस्थल, पृष्ठ ३८, व स० ५२

२. स्वकर्मपरिपाकेन प्रक्षीणमलवासनः।
शिवप्रसादाज्जीवोऽयं जायते शुद्धमानसः॥ (सि० शि० वी० शा० ५।५२)

कर्मसाम्य में पौरुष सहायक बनता है, क्योंकि भोग से विषय की निवृत्ति सम्भव है। अत एव प्रथमतः यह पिण्ड क्या है इस प्रकार की आशंका उदित होनी चाहिये। तभी गुरु का अन्वेषण प्रारम्भ होगा।

गुरुतत्त्व एवं गुरुकृपा

यथार्थ गुरु की प्राप्ति होते ही अर्थात् गुरुकरुणा होते ही साधना का द्वार खुलता है। अन्यथा साधना का अधिकारी ही नहीं बन सकता। श्रद्धा एवं विश्वास के साथ शिवयोगी गुरु का अन्वेषण करना पड़ता है। मनुष्य गुरुकृपा अथवा परम-शिव की कृपा के बिना इस पथ में आने की इच्छा नहीं कर सकता। यह बात मूल में ग्रहण कर लेना चाहिये।

मोक्षेच्छा का उदय और दीक्षा

गुरु जब यथार्थ दीक्षा देता है, तो कुण्डलिनी का जगरण प्रारम्भ हो जाता है। मायिक देहधारी गुरु जो सदैव सामरस्य स्थिति का अनुभव करके शिवयोग-लीला में लीन है, शिष्य को अष्टावरण मुक्त करके क्रिया-मार्ग की साधना प्रारम्भ कराता है।

उपास्य-उपासकभाव अथवा लिंगांग

दीक्षा से जिस शुद्ध स्वरूप को प्राप्त किया, वही शुद्ध स्वरूप अंग के नाम से प्रसिद्ध है। अत एव अंग एवं लिंग इन दोनों को उपास्यउपासकभाव के लिये जो भेद हो गया है, उसी अंग एवं लिंग के विधान में सामरस्य की प्राप्ति इस षट्स्थल का परम रहस्य है। जब लिंगांग सामरस्य अवस्था में रह कर अपना व्यवहार करता है, तब इसके व्यवहार को लिंग[१] 'लीलाविलास' कहा जाता है। इसकी दृष्टि में विश्व अपना स्वरूप है। यह सदैव विश्व को लिंगस्वरूप में देखता है, यही लिंगदृष्टि अथवा शिवदृष्टि कहलाती है। आरोहण एवं अवरोहण क्रम से प्रथमतः ऐक्य-स्थल तक जाकर अनुभव करने पर ही इसका विश्लेषण किया जा सकता है। अत एव षट्स्थल के अवतरण को समझना चाहिये।

लिंग एवं अंगगत शक्तियाँ

मूलतत्त्व जो स्थलपदवाच्य है, यह अपने लीलाविनोद से उपास्य एवं उपासक रूप धारण कर लेता है। उपास्य लिंग एवं उपासक अंग बन जाता है। यह द्वैविध्य युगपत् अभिव्यक्त होता है। यह ध्यान देने की बात है कि दोनों

---

१. अनुभवसूत्र, द्वि० अ० श्लो० १२, १९

शक्ति में रहते हैं। यह उच्चतम दशा है। वस्तुतः शक्ति पूर्णरूपेण शुद्ध स्वरूप वाली नहीं है, क्योंकि वह विकास क्रम को आश्रय करके विश्व स्वरूप बन रही है।

लिंग गत शक्ति एक दृष्टि से बहिर्मुख होने वाली शक्ति है, किन्तु अंगगत शक्ति जो भक्ति शक्ति कहलाती है, अंग के साथ है और शुद्ध स्वरूप वाली है। शुद्ध शक्ति ही ऐक्यावस्था तक भेजी जाती है। अत एव लिंगगत कलाशक्ति से अंगगत भक्तिशक्ति का अधिक महत्त्व है। यथार्थ दृष्टि से इस भक्ति एवं शक्ति में कुछ भेद नहीं है। जिस प्रकार महाज्वाला से अलग-अलग दीप जलाने पर अनन्त प्रकार के अलग अलग दीप दिखाई देते हैं, उसी प्रकार भक्ति एवं शुद्धदीप लिंग (ज्वाला में) है। भक्तिरूपी शुद्धदीप है और लिंगरूपी दीपक। जिस प्रकार ज्वाला में धूम्र रहता है, उसी प्रकार वासना रहने के कारण सृष्टि आदि का कारण बन जाती है। अत एव शक्ति को प्रवृत्तिपरक एवं भक्ति को निवृत्तिपरक कहा जाता है।

ऊपर चर्चित विषय का सरलता से बोध कराने के लिये यहाँ पर एक तालिका दी जा रही है—

- स्थल
  - लिंगस्थल
    - भावलिंग
      - (५) प्रसादलिंग
      - (६) महालिंग
    - प्राणलिंग
      - (३) शिवलिंग
      - (४) चरलिंग
    - इष्टलिंग
      - (१) आचारलिंग
      - (२) गुरुलिंग
  - अंगस्थल
    - योगांग
      - (५) शरण
      - (६) ऐक्य
    - भोगांग
      - (३) प्रसादि
      - (४) प्राणलिंग
    - त्यागांग
      - (१) भक्तस्थल
      - (२) महेशस्थल

- शक्ति
  - कलाशक्ति
    - चिच्छक्ति — शान्त्यतीतोत्तरकला
    - पराशक्ति — शान्त्यतीत-कला
    - आदिशक्ति — शान्तिकला
    - इच्छाशक्ति — विद्याकला
    - ज्ञानशक्ति — प्रतिष्ठाकला
    - क्रियाशक्ति — निवृत्तिकला
  - भक्तिशक्ति
    - समरसभक्ति
    - आनन्दभक्ति
    - अनुभवभक्ति
    - अवधानभक्ति
    - नैष्ठिकभक्ति
    - श्रद्धाभक्ति
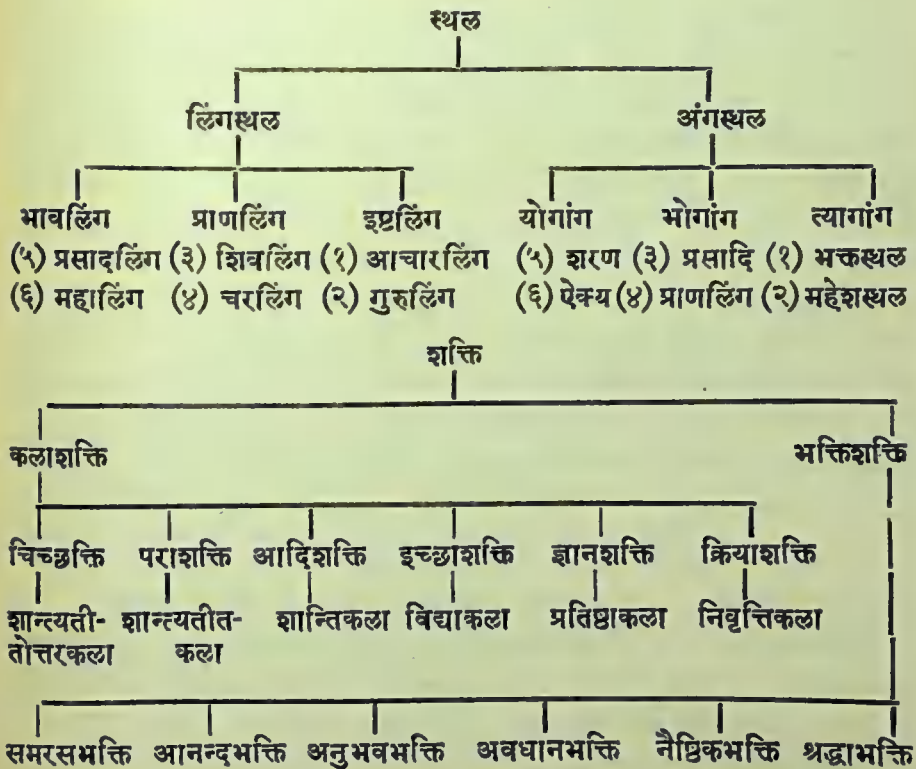
भक्ति और भक्त

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति को ही क्रमशः अवरोह एवं आरोह कहा जाता है। अवरोह क्रम में लिंग एवं अंग प्रथमतः तीन प्रकार से विभाजित होकर छः बन जाते हैं। इस आरोहण एवं अवरोहण क्रम से इनका क्रम की दृष्टि में कुछ फरक अवश्य पड़ता है। सिद्धान्त की दृष्टि से अवरोहण क्रम ही दिया जाता है। साधक आरोहण क्रम से अपने अनुभव को क्रमशः व्यापक बनाते हुये ऐक्य स्थल तक जब पहुँच जाता है, तो उसको शिवयोगी कहा जाता है। इसी अन्तिम प्राप्ति को अंग दृष्टि से ऐक्य एवं लिंग दृष्टि से महालिंग की प्राप्ति कहते हैं। वस्तुतः भक्ति द्वारा अंग भाव से ऐक्यस्थल तक,[१] अर्थात् अंगभाव में युक्त होकर भक्ति को पकड़ कर लिंग के साथ सामरस्य करते चलना ही लिंगांग सामरस्य कहलाता है। अंग अथवा साधक का कर्तव्य लिंगानुसंधान करना है। इस लिंगानुसंधान का प्राथमिक स्वरूप अन्तर्मुख प्रवृत्ति है और सद्भावों का उदय होना आवश्यक है। अत एव इनको सिद्धान्त शिखामणिकार[१] प्रथम स्थल के (भक्ति-स्थल के) अवान्तरस्थल मानते हैं। कुछ भी हो, भक्ति-स्थल के पूर्वभावी इस अनुभूति अथवा भाव के विकास के बिना साधक भक्ति-स्थल का अधिकारी नहीं बन सकता है। अत एव इन भावों पर जोर दिया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल क्रियात्मक दीक्षा प्राप्त करने पर ही वह यथार्थ रूप में भक्त स्थल का अधिकारी होगा यह बात नहीं, इसको आधुनिक[२] आचार्यगण अवान्तर स्थल न मानकर भक्त बनने के पूर्वभावी गुण ही समझते है, प्रथमतः जिसको इस सिद्धान्त में पिण्ड कह आयें है। पिण्ड का मतलब यह है कि प्रथमतः साधक को 'शरीर से आत्मा अलग है' यह बोध होना चाहिये। यह बोध वस्तुतः ज्ञानात्मक ही है। इतना ही नहीं, इस प्रकार का बोध उत्पन्न होते ही देह में जो आत्मबोध रहा, वह हट कर उसमें स्वाभाविकतया आत्मस्वरूप जिज्ञासा का उदय होने लगा। इसके फलस्वरूप इस संसार एवं विषयादि को गुरु प्राप्त होने पर असार एवं दुःखपूर्ण समझ कर इस परम तत्त्व का क्या स्वरूप है इस जिज्ञासा को लेकर अन्वेषण करने लगा। उस दशा में गुरु की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है, तब जाकर गुरु का आश्रय लेना पड़ता है। जिससे गुरु की करुणा जग जाती है। यह करुणा अन्तर्मुख भाव के बिना उदित नहीं होती है। अत एव आत्मविवेक ही

---

१. (१) पिण्डस्थल, (२) पिण्डविज्ञानस्थल, (३) संसारहेयकदीक्षास्थल, (४) लिंगधारणस्थल, (५) विभूतिधारणस्थल, (६) रुद्राक्षधारणस्थल, (पंचाक्षरी जप, भक्तमार्ग, गुरुवचन, लिंगार्चन, जंगमार्चन, गुरुप्रसाद, लिंगप्रसाद, जंगमप्रसाद), सिद्धान्तशिखामणि, परि० ५। २७

२. प्रभुदेव बसवेश्वर बचन इत्यादि।

कारण है, अर्थात् तीव्रसंवेग अथवा मलपरिपाक ही कारण है। वस्तुतः आत्मविवेक और देह से आत्मस्वरूप अलग है, यह बोध गुरुकरुणाजन्य है।

गुरुदेव कृपा करके [1]अष्ट आवरण एवं पंच आचार का उपदेश देकर अष्ट आवरण रूपी कंचुक पहनाते हैं। साधक के लिए आवरण रहस्य को समझना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इन आवरणों में कुछ अन्तरंग और कुछ बहिरंग साधन हैं। बहिरंग साधन अन्तरंग साधन की तरफ ले जाते हैं और शिष्यभाव को जाग्रत् कर देते हैं। धारणा से अन्तरंग साधना प्रारम्भ होती है। अत एव सिद्धान्त-शिखामणि में अन्तरंग लिंगधारण के ऊपर जोर दिया गया है। अन्तरंग ज्योति-स्वरूप लिंगानुसन्धान करना चाहिये। [2]आधारादि स्थानों में विभिन्न वर्णों की धारणा एवं भ्रूमध्य में स्फटिक वर्ण के लिंगस्वरूप की भावना करने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार धारणा के साथ जपप्रक्रिया का आश्रय कर बोध का विकास करना पड़ता है। शुद्ध बोध, गुरु मे श्रद्धा एवं इष्ट में भक्ति सब मिलकर साधक को भक्ति-स्थल का अधिकारी बनाते हैं। भक्तिस्थल में प्रवेश करते ही शुद्धविद्या का उदय होता है। इसके उदय के फलस्वरूप भाव में परिवर्तन प्रारम्भ होता है। अत एव शुद्ध भाव का आश्रय कर साधक प्रथमतः पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रियों की लिंगमुखार्पण भाव से साधना करता है। अत एव इसके ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय वस्तुतः चैतन्य से अतिरिक्त कुछ भी ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार जब अभेदात्मक भाव का उदय होता है, तब उसी अभेदात्मक भाव से परिपूर्ण स्वरूप की प्राप्ति होती है। यहाँ पर भक्ति भाव से सामरस्य तक का क्रमिक विकास का विचार किया जा रहा है।

षट्स्थल

भक्त, महेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंग, शरण और ऐक्य यही षट्स्थल कहलाते हैं। भक्त स्थल से ऐक्यस्थल तक पहुँचना ही पूर्णत्व की प्राप्ति कहलाती है। इन छै स्थलों में पुनः अवान्तर विभाग शास्त्रों में दिखाये गये हैं। षट्स्थल के विवरण में 'सर्वं सर्वात्मकं' न्याय को ग्रहण किया जाता है। अर्थात् भक्तस्थल में ऐक्यस्थल और ऐक्यस्थल में भक्तस्थल विद्यमान रहता है। इस स्थल का दो दृष्टि से

---

१. (१) गुरु, (२) लिंग, (३) जंगम, (४) पादोदक, (५) प्रसाद, (६) विभूति, (७) रुद्राक्ष, (८) मन्त्र।

२. आधारे हृदये वापि भ्रूमध्ये वा निरन्तरम्।
ज्योतिर्लिङ्गानुसन्धानामान्तरं लिङ्गधारणम्॥
आधारे कनकप्रख्यं हृदये विद्रुमप्रभम्।
भ्रूमध्ये स्फटिकच्छायं लिङ्गं योगी विभावयेत्॥

(शि० सि० ६।१८–१९)

विचार किया जाता है। लिंगदृष्टि से अथवा उपास्यदृष्टि से। दूसरा अंग अथवा उपास्य दृष्टि से अवरोहण एवं आरोहण क्रम बनता है। इसका चरम काम है सामरस्य। अत एव सामरस्य से तात्पर्य है महालिंग स्वरूप की प्राप्ति। अपने अंगगत अस्तित्व को साधक एकाकार करके भी रखता है। यदि इस प्रकार स्वात्मस्वरूप को खोकर साधक एक हो जायगा तो रसास्वादन कौन करेगा ? अतएव वह सामरस्य अवस्था को प्राप्त करने पर भी अपने स्वरूप को नहीं भूलता। साधक को अपने स्वात्मस्वरूप में लिंगरूप से विश्व का भान होने लगता है। यही भक्त-स्थल के प्रवेश की अनुभूति है। वस्तुतः शुद्ध अनुभूति भक्त-स्थल से प्रारम्भ होती है। भक्त-स्थलका मतलब है जो जगत् को अपने से अलग देख रहा था, जो जीवावस्था में रहा, अब इसकी दृष्टि परिवर्तित हो गयी है, अत एव नाम, जाति इत्यादि एवं पूर्वजन्म का प्रश्न भी नहीं है, क्योंकि गुरुकृपा से शुद्धबोध का उदय हुआ। इसके फलस्वरूप साधक अपने शुद्धलिंगस्वरूप भक्ति-शक्ति द्वारा (श्रद्धा भक्ति से) अपने स्वरूप का विस्तार करके उपास्य स्वरूप लिंग से संयुक्त हो जाता है। यह जो संयोग है, वह एकात्मक संयोग है। इसमें क्रम रहता है। भक्त-स्थल में जो पूर्ण तत्त्व है, वह अपने भाव और योग्यता के अनुसार बोधित होता है, क्योंकि यह क्रममार्ग है। इसमें भक्तियुक्त साधक ने स्वात्मस्वरूप परम वस्तु, अर्थात् लिंग का जो संयोग अथवा सामरस्य प्रारम्भ किया था, अब वह प्रत्येक अवस्था में अर्थात् प्रत्येक स्थल में सामरस्य प्राप्त करते-करते अग्रसर होगा। अत्यन्त महत्त्व की बात यह है कि अंगभाव हटकर लिंगभाव होना आवश्यक है। शुद्ध भक्ति-शक्ति का स्पर्श करते ही साधक का भाव बिलकुल लिंग से एकाकार होकर अपने स्वरूपगत भक्तिसंयोग अवस्था प्राप्त कर और उन्नत स्तर पर पहुँच जाता है। इस प्रकार का अभ्यास करते ही बाह्य इन्द्रियभाव हट जाता है, एवं लिंगभाव अर्थात् चेतनभाव जग जाता है। इस स्थलगत साधना का चरम लक्ष्य है—ऐक्यस्थल प्राप्त करना। यह पहले ही कहा जा चुका है कि लीला के लिये ही एक तत्त्व दो बन कर अनन्त बन जाते हैं। सभी स्तरों में अपने शुद्ध आत्मा से अंगगत भक्ति के साथ लिंगानुभव किया जाता है। इसमें रहस्य की बात यह है कि आरोहण क्रम में लिंग ही लक्ष्य बनता है, एवं अवरोहण क्रम में लिंगगत शक्ति के आधीन रहने के कारण उसका लक्ष्य अंग तक विकास करना है। इसका मतलब यह है कि लिंगगत शक्ति के साथ शिव उपासक बन जाता है। अब अंगगत शक्ति पुनः अपनी भक्ति के बल से लिंग बन जाती है, एवं ऐक्यावस्था में यह लीलाभाव रहता है, अत एव इसको रसानुभूति मानने के कारण सामरस्य अथवा मिलित अवस्था कहते हैं। यह सामरस्य अथवा मिलन है। इसमें मिलित साधारण भाव को देखा जाता है, इसी प्रकार शुद्ध जीव अपनी व्यक्ति सत्ता से लिंग के साथ जब योग कर लेता है, तब लिंग में आलिंगन करने का कुतूहलभाव होता है। इस परस्पर आलिंगन को ही लिंगांगयोग

कहा जाता है। प्रारम्भ में दोनों अलग हैं, अर्थात् प्रत्येक स्थल में यहाँ अभेद अवस्था में कल्पित भेद रहता है। यह कल्पित भेद ही साधक अवस्था कहलाती है, एवं उस स्थल में जो संयोग है, वही सिद्धावस्था कहलाती है। इस प्रकार सामरस्य का अन्तिम लक्ष्य है महालिंग प्राप्ति, अथवा अपने को एक कर देना। अब प्रसंगतः प्रत्येक स्थल में यह विचार किया जायगा कि अंगभाव में लिंगभाव का किस प्रकार क्रमशः विकास हुआ। यह मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म एवं अनुभूतिगम्य है।

दीक्षा की पूर्व दशा

पहले ही कह चुके हैं कि गुरुकृपा के बिना यह साधक भक्त नहीं बन सकता। जिसको गुरुकृपा प्राप्त नहीं हुई है, उसको इस सम्प्रदाय की परिभाषा में 'भवि' कहा जाता है। दीक्षा के पूर्व जो मायिक बन्धन में रहा, अर्थात् जो देह में कर्तृत्व अभिमान रहा, "मैं इस प्रकार का व्यक्ति हूँ" यह अब नहीं रहा, क्योंकि गुरु की कृपा एवं इष्टयोजन के फलस्वरूप भवि का गुणसम्बन्ध नष्ट हुआ, एवं काल का नाश हुआ। भक्त होते ही यह जो परिच्छिन्न अवस्था थी, अब अवस्था में आने के कारण विवेक ज्ञान के साथ ही माया से शुद्ध स्वात्मबोध का उदय हुआ। यह शुद्ध स्वात्मबोध अब शुद्ध स्वात्मस्वरूप नहीं है।

दीक्षा के पश्चात् स्वात्मबोध और भावजागरण

गुरुकृपा के द्वारा इसको अपने लिंगस्वरूप इष्ट के साथ जोड़ा जाता है। केवल शुद्ध आत्मस्वरूप बोध करने पर भी भक्त नहीं कहलाता, क्योंकि उसका आत्मस्वरूप में माया का सम्बन्ध हटाना ही पर्याप्त नहीं है। अपितु स्वात्मस्वरूप में भावशरीर की जागृति आवश्यक है। बिना भाव की जागृति के भक्त नहीं कहलाता। भाव जगाने वाली गुप्त शक्ति ही भक्ति-शक्ति कहलाती है। एक बात ध्यान देने की यह है कि इस मायिक शरीर में रहते हुये ज्ञानशक्ति द्वारा मायिक बोध का नाश करके स्वात्मस्वरूप में प्रवेश करना चाहिये। इस प्रकार शुद्ध अवस्था को प्राप्त करते ही उपासक बनने के लिये देह की आवश्यकता है और बिना देह उपासना संभव नहीं है। तब इस शक्तिस्थल अवस्था में यदि भावकाय का निर्माण नहीं हुआ तो भक्त नहीं कहलाता है।

प्रसादकाय या भावतनु

प्रभुदेव जी ने अपने अनुभूति में स्पष्ट रूप से कहा है कि बिना 'प्रसादकाय' भक्त नहीं बन सकता। यह प्रसादकाय ही शरीर या भावतनु कहलाता है। इसी को प्रसादकाय कहते हैं। इस भक्त के प्रसादकाय में ही लिंग, आत्मस्वरूप बन जाता है। अर्थात् आत्मा ही अंगरूपेण होकर शरीर बनता है। अत एव इस उपास्यउपासकभाव में दोनों का सम्बन्ध आत्मसंबन्ध कहलाता है, एवं यह आत्मलिंग की आत्मरूपेण

उपासना करता है। वस्तुतः गुरु शिष्य के कर्तृत्वाभिमान का नाश करके उसको शुद्ध अहंस्वरूप का बोध स्वयं कृपा करके कराते हैं।

[1]श्रीप्रभुदेव जी कहते हैं कि जिस प्रकार "पारस ताम्र को भी सुवर्ण बना देता है, उसी प्रकार अंगगत भोग अथवा सुख को लिंगभाव प्राप्त कर लेता है। अर्थात् अंग प्रसादकाय बनकर लिंगभाव प्राप्त कर लेता है। प्रसादकाय का भक्त-स्थल अवस्था में उदय होता है। यहीं काय में अब अहंबोध शुरू हो गया। यह प्रसादकाय अप्राकृत एवं भावमय चैतन्ययुक्त दिव्यदेह है। इसको काल और कर्म स्पर्श नहीं कर सकेगा, अर्थात् यह विकारी नहीं है। शुद्ध चैतन्यात्मक दिव्य देह है।"

अत एव सूक्ष्मागम में कहा गया है कि—'त्यक्त्वाऽभिमानं देहादौ भक्त इत्युच्यते बुधैः"। इस आगम वचन से यह स्पष्ट होता है कि भक्तस्थल का अधिकारी बिना मायिक देह में अभिमान हटाये नहीं हो सकता। यह मायिक देह का अभिमान हटाना ही भक्तस्थल का अधिकारी कहलाता है। उसमें गुरुकृपा से प्राप्त प्रसादकाय से भगवदाराधना शुरू होती है।

मायिक देह में जो अभिमान है, अर्थात् मैं इसी शरीर में हूँ, एवं यही देह मेरा स्वरूप है, यह बोध वस्तुतः स्वप्रयास से भी हट सकता है। केवल मायिक शरीर का बोध हटना ही पर्याप्त नहीं होता, क्योंकि मायिक शरीर से बोध हट जाने पर यह बोध और कहीं रहना चाहिये। अत एव गुरुप्रदत्त काया का बोध यहाँ आवश्यक है। यह भावतनु का बोध कहलाता है। गुरुकृपा से देहलाभ प्रथमतः हो जाता है। भक्ति-स्थल में धीरे धीरे स्वात्मबोध का विकास होते ही यथार्थ अहं बोध अपने भावतनु में होता है। [2]भक्तरूपी अंग के सामने जो अपना उपास्य है, उसको आचारलिंग कहा जाता है। भक्ति स्थल में साधना करने वाले साधक को मन्त्र, निरीक्षण, भजन, इलन, वेध इनका आश्रय लेना पड़ता है। इसके अभ्यास से साधक अपने में श्रद्धा भक्ति का विकास कर लेता है, तब वह महेश्वरस्थल का अधिकारी बन जाता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जब साधक अंगस्वरूप में रहकर लिङ्ग का स्पर्श करता है, तो वह पुनः वियोग के समय लिंगस्वरूप बन कर अंगस्वरूप रहता है। अत एव प्रत्येक स्थल में साधक लिंगसंयोग के साथ

---

१. देखो लिंग का भोग हो सके और प्रसादकाय बन सके तो कभी भी भवकर्म का स्पर्श नहीं होगा। आदिप्रसाद के लिये बाधा नहीं है। न तो चन्द्रमा से पिघलेगा, न आतप से उत्तप्त। गुहेश्वर तुम्हारा शरण रसयुक्त पारस है। (प्रभुदेववचन, पृष्ठ ९३)

२. त्यक्त्वाऽभिमानं देहादौ मल इत्युच्यते बुधैः। (सूक्ष्मागमे ८। ३५)

लिंगभक्ति स्वात्मस्वरूप शक्ति बन कर पुनः ऊपर उठता है। जो साधक है, वह जिस माध्यम द्वारा लिंग स्पर्श करता है, उसको इस सम्प्रदाय में 'हस्त'[1] कहते हैं। यह एक पारिभाषिक शब्द है। अत एव अंग जब अपने हस्त से भक्ति के साथ अग्रसर होता है, तब लिंग मुख द्वारा संयोग कर लेता है। इस प्रकार महेश्वर स्थल में आ जाता है। इस स्थल में भी [2]अवान्तर स्थल हैं। इस अवस्था में साधक आचारलिंग स्वरूप बन कर अब भावदेह सम्पन्न हुआ है। किन्तु अभी भाव का उदय नहीं हुआ है। साधक ने अपनी निष्ठाभक्ति का विकास करके जिस भाव-तनु को पाया है, उसी से साधना करनी है। इस समय केवल जगत् का व्यापक भाव का अनुभव ही पर्याप्त नहीं है। यदि इस अवस्था में विश्व अष्टतनुमय है, एवं यह मेरा ही स्वरूप है, यह बोध यदि आ जायेगा, तो आगे प्रगति नहीं हो सकती। अत एव इन अनुभूतियों को छोड़ कर यह विश्व आत्मस्वरूप अथवा शिव-स्वरूप है, एवं चैतन्यमय शिवस्वरूप में सब कुछ भासित हो रहा है, इस प्रकार का अनुभव होना चाहिये। इस अवस्था में भावदेह का आश्रय करके कर्म प्रारंभ करता है, अत एव इसको महेश्वर अवस्था प्राप्त हो जाती है। अत एव इस अनु-सन्धान को सिद्धान्तशिखामणिकार कहते हैं कि—

भ्रमद्भ्रमरचिन्तायां कीटोऽपि भ्रमरायते।
शिवचिन्तासमाक्रान्तः शिवरूपी भवेद् ध्रुवम्॥

इस प्रकार भ्रमरकीटन्यायानुसार यह सम्मुखचिन्तन प्रारम्भ होता है। इस भाव कर्म के लिये गुरुप्रदत्त काया अत्यन्त आवश्यक है। जिस भाव में बैठ कर उपासना की जाती है, इसको 'अकाय'[3] भी कहा जाता है, क्योंकि यह मायिक काय से विलक्षण है। यह मायिक तनु की तरह विकारयुक्त नहीं है, यह सच्चिदा-नन्दस्वरूप है। इसको "परकाय'[4] भी कहा जाता है, क्योंकि यह मायिक काया के बोध से विलक्षण एवं सच्चिदानन्दस्वरूप शरीर है। इसमें रहकर जो आचार अथवा क्रिया की जाती है, उसी को धर्माचार भी कहा जाता है। इस अवस्था में पूर्ण जगत्

---

१. सुचित्त हस्त, बुद्धि हस्त, अहंकार हस्त, मनो हस्त, ज्ञान हस्त, भाव हस्त।

२. (१) महेश्वरप्रशंसास्थल, (२) लिंगशिष्टस्थल, (३) पूर्वाश्रयनिरसनस्थल, (४) अद्वैतनिरसनस्थल, (५) आह्वाननिरसनस्थल, (६) अष्टमूर्तिनिरसनस्थल, (७) सर्वगतिनिरसनस्थल, (८) शिवजगन्मयस्थल, (९) भक्तदेहिकलिंगस्थल।
(सिद्धान्तशिखामणि, परि० १० पृ० १६८)

३. भवागम स्थल, परि० १६–७०

४. सकाय स्थल, परि० १६–७०

स्वात्मस्वरूप में भासित होने लगता है। इसी अवस्था में महाज्ञान का उदय होता है। क्योंकि यहाँ साधक अपने भावतनु से अपने उपास्य को सम्मुख रखकर कार्य प्रारम्भ करता है। यह इस अवस्था में दिव्य योगी बन जाता है, किन्तु यह अवस्था गुरुलिंग युक्त अवस्था होने पर भी पूर्णतायुक्त नहीं है। इसमें एक ही शिवचिन्तनभाव रहता है। अत एव गुरु लिंगस्वरूप बनता है। साधक इस गुरुलिंगस्वरूप के साथ पुनः अपने अंगस्वरूप बोध में आया, किन्तु अब अंग क्रमशः लिंग शक्ति को अपने भक्ति द्वारा स्वायत्त करते चल रहा है। वह अपने शिवत्व स्वरूप को प्राप्त करके शिव दृष्टि से देखने लगता है। इसमें 'अवधान' भक्ति का उदय होकर प्रसादिस्थल का अधिकारी बनकर वह अपने गुरुदत्त तनु में विश्व को शिवदृष्टि से देखने लगता है। अपनी भावमय दृष्टियों से इन्द्रिय व्यापार चलता है। अपने आत्मा में ही अपने स्वात्मस्वरूप से भावतनु के आश्रित होकर व्यवहार करने लगता है। अत एव जो शुद्ध प्रमेय अपने में भासित हो रहा है, अर्थात् अपने निर्मल स्वरूप इन्द्रियों में जो भासित हो रहा है, वह सब शिवमय है। इस प्रकार का भाव रखकर लिंगार्पण करके अनुभव करता है, अर्थात् इस स्थल में प्रथमतः चैतन्यात्मक लिंगबोध स्वरूप होकर उसको चैतन्यस्वरूप से ग्रहण करता है। अत एव इसको विषयादि में विकार अथवा पुनः भोगलोलुपता करने की इच्छा नहीं रहती। इसके फलस्वरूप तृप्ति आ जाती है। स्वाभाविकतया जो भावतनु युक्त महेश की बहिर्मुख प्रवृत्ति स्वात्मस्वरूप में रही, अब वह अर्पण करते ही अन्तर्मुखी हो गई।

प्रसादि स्थल

इस [1]प्रसादि स्थल में साधक में पुनः शिवलिंग संयोग करने का प्रभाव उत्पन्न हुआ। इस प्रसादि स्थल में भी अवान्तर भेद हैं। इस अवस्था में साधक अपने गुरुलिंग युक्त अंग से प्रसादि स्थल में जो इन्द्रियों से अनुभूत विषय को शिव को अर्पित करता है। इसमें विकृत मन नहीं है। अत एव इस प्रकार के प्रसाद के फल-स्वरूप मनःशुद्धि हो जाती है। अत एव इसको निर्माल्य कहा जाता है। निर्मल ज्ञान युक्त होकर मन को प्रसन्न रखता है। यह मन अब शिवार्पित भावना से व्याप्त है। इसी अवस्था में स्वात्मस्वरूप गुरुतत्त्व का उदय होता है, एवं विश्व को लिंगमय

---

१. प्रसादिस्थलमाहात्म्यं गुरुमाहात्म्यकं ततः।
ततो लिङ्गप्रशंसा च ततो जङ्गमगौरवम्॥
ततो भक्तस्य माहात्म्यं ततः शरणकीर्तनम्।
शिवप्रसादमाहात्म्यमिति सप्त प्रकारकम्॥
(सि० शि० प्र० स्थ०, परि० ११ श्लो० १)

भाव से देखता है। तब साधक को पूर्ण विश्व प्रकाशात्मक दिखलाई देने लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह अपने आत्मस्वरूप में [1]शिवशक्त्यात्मक सारे विश्व को देखने लगता है।

इसी प्रसादि स्थल में साधक का भावकाय सम्पन्न होकर अन्तर्मुख होने के कारण आत्मा में विश्व लिंगस्वरूप से भासित होता है। जो यह अपने में भासित हो रहा है, अर्थात् अंगभाव युक्त होकर अनुभव कर रहा है, उसको यह प्रतीत होता है कि इस अंगभाव को रख कर लिंगार्पित किया जाता है। वह इन्द्रिय और मन का स्पर्श होने से पहले ही अर्पण किया जाता है। इसके फलस्वरूप स्वात्मा में ही जब लौटता है, तब यह प्रसाद कहलाता है। आत्मस्वरूप में लिंग भी है। भावकाय से युक्त होकर समर्पण क्रिया का आश्रय लेना पड़ता है। यह समर्पण-क्रिया गुरुगम्य है, क्योंकि इस समर्पण भाव के फलस्वरूप पूर्णस्वरूप के साथ एक हो जाता है। प्रथमतः जो वहिर्मुख चैतन्य अब अन्तर्मुख होकर चलने लगता है। अपने स्वरूप को अर्पण करना [2]लिंग प्रसाद कहा जाता है। साधक इस अर्पण के फलस्वरूप प्रसादी कहलाता है। जब लिंग प्रसादी बन जाता है, तो आधि-व्याधि लौकिक भाव छूट जाते हैं। अन्ततोगत्वा इस अवस्था में अपने भावकाय का भी अर्पण करना पड़ता है। इसी को शुद्धप्रसादी कहा जाता है। अत एव जिस काय की उत्पत्ति होकर भाव-सम्पत्ति हो गयी थी, उसके अर्पण से जाग्रत् भाव आ गया। यही सावधान भक्ति कही जाती है। अर्पण करने पर काय का नाश नहीं होता, किन्तु पुनः लिंग युक्त अंग बनकर प्राणलिंग अवस्था में आ जाता है। इस अवस्था में लिंग ही अपना प्राण स्वरूप बना लिया है। अंग प्रसादिस्थल में जिस लिंग का सामरस्य प्राप्त किया, उससे अंगभाव क्रमशः लिंगभाव में परिणत हो रहा है। भावतनु में ही अर्थात् आत्मा में ही एक होकर अब उपास्य और उपासक की भेदाभेद अवस्था आगे चल कर अभेद अवस्था में परिणत हो जाती है। साधक सामरस्य अवस्था के फलस्वरूप अपना स्वरूप प्राणलिंग स्थल[3] में रखकर पुनः अनुसन्धान प्रारम्भ करता है। लिंगांगयोग कर्तृत्व अभिमान युक्त साधना नहीं है, अपितु कृपाप्रधान साधना है। यहाँ कृपा का ही प्राधान्य है। किसी हठयोगादिप्रक्रिया का आश्रय करके प्राणादि का अभ्यास

---

१. पीठिका परमा शक्तिर्लिङ्गः साक्षात् परः शिवः।
शिवशक्तिसमायोगो विश्वलिङ्गं तदुच्यते॥

२. प्रभुदेव वचन, प्रसादि स्थल।

३. (१) प्राणलिंग, (२) प्राणलिंगार्चन, (३) शिवयोगसमाधिस्थल, (४) लिंग-निजस्थल (५) अंगलिंगस्थल। (सिद्धान्तशिखामणि, परिच्छेद ४—५)

करने की आवश्यकता नहीं है। स्वाभाविकतया भावतनु से युक्त होकर कमल मार्ग से पूर्ण सहस्रार कमल तक सरल गति द्वारा कर्णिका में पहुँच जाता है। अत एव यह सरल गति का क्रम है। भक्त, महेश्वर, प्रसादी यह कर्म प्रधान रहने के कारण कर्म-योग कहलाता है। प्राणलिंग स्थल को ज्ञानयोग कह सकते हैं। सिद्धान्तशिखामणि-कार का कथन है कि 'सर्वतत्त्वमयः प्राणः सर्वज्ञानमयः शिवः।"

शिवयोगीगण प्राणापान के मध्य में जो सरल गतिस्वरूप ज्योति है, उसी को प्राणलिंग कहते हैं। यहाँ प्राणलिंग शब्द का पारिभाषिक अर्थ में उपयोग किया गया है। प्राण एवं अपान के मध्य में ज्योतिस्वरूप सरल गति वाले वायु को प्राणलिंग कहते हैं। इसी को अहंतावोध कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्य में तुहिनकण लीन हो जाता है, उसी प्रकार यह प्राणवायु शिवलिंग में लीन हो जाता है। यह हृदय-कमल में दीप की तरह स्फुरित होने लगता है। इस प्रकार के अनुभव को संविल्लिंगपरामर्श कहा जाता है। यहाँ पर प्राणलिंग की अन्तरंग एवं अत्यन्त गुप्त अर्चना की जाती है। यहाँ पर अभेद रूपी भाव से पूजा की जाती है। यहाँ पर लिंग साकार स्वरूप है। हृदय मन्दिर में[1] द्वादश कमल कर्णिका में जो शिवविग्रह है, उसकी वोधरूपी पूजा करनी चाहिये, अर्थात् उसी वोध में भावित होकर रहना पड़ता है।

प्राणलिंगानुसंधान युत साधक

साधक मध्यप्राण को पकड़ कर वहीं अपने भावशरीर में अभिमान रखकर भावानुकूल चिदाकार बनाकर, अपने भाव की शुद्धि करने के लिये अपने क्षमा, विवेक इत्यादि गुणों का विकास कर लेता है। यही यथार्थ प्राणलिंगार्चन है।

इसमें भाव की शुद्धि रहने के कारण अपने भावतनु का लिंग के साथ योग होते ही शिवशक्तियुक्त साकार मूर्ति के साक्षात्कार के योग्य बन जाता है, तो वही अर्थात् मेरे भाव में जो भावित हो रहा है, वह स्वात्मस्वरूप है, इस प्रकार का बोध होने लगता है। भ्रूमध्य के ऊर्ध्वभाग में अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल कमल है, इस कमल के मध्य में शुभ्र सोममण्डल है। उसमें अति सूक्ष्म रन्ध्र है। उसका भेद करने पर कैलाश है। यह सब आत्मा में ही विद्यमान है। यह भाव चिदात्मक रहने पर भी आनन्दात्मक है। जिस प्रकार बहिर्वासना के कारण बहिर्विकल्प विश्वात्मना प्रकाशित होता है, उसी प्रकार इस भाव के कारण अन्तःस्थित चिदात्मा अन्तर्वासना के

---

१. क्षमा, विवेक, सत्य, वैराग्य, समाधि, संपत्ति, निरहंकृति, श्रद्धा, महाशून्य इत्यादि भावना द्वारा प्राणलिंग की पूजा होती है।

(सिद्धान्तशिखामणि, परिच्छेद १२ श्लोक ४-२)

लिये शुद्ध विकल्पात्मक होकर इस प्रकार भासित होता है। इस प्रकार के भाव के विकास को ही ज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार स्वात्मस्वरूप बोध होना ही प्राणलिंग का अनुभव कहलाता है।

इस प्रसंग में प्रभुदेव के प्राणलिंग स्थल में वर्णित जो अनुभव है, उसको प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं समझता। इस स्थल में अंगकला लिंगकला बन जाती है। अत एव करणाद्वैत भी नष्ट हो गया। श्रीप्रभुदेव के अनुभव से स्पष्ट होता है कि इस स्थल में सोम एवं सूर्य दोनों का भेद करके अंगभाव बना लेना चाहिये। इसी स्थल में[1] विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होती है। प्रभुदेव जी कहते हैं कि षट्चक्र स्थित षट्कमल कर्णिका से सरल गति द्वारा सहस्रार को लाँघ कर शतदल पद में गुरु हैं, उसके साथ योग कर लेना चाहिये। यह कहकर अपने अनुभव (वचन) वाणी में फिर कहते हैं—इससे यह स्पष्ट होता है कि षट्स्थल मार्ग कृपामार्ग है, एवं कृपा के आकर्षण से षट्कमलगत मार्ग द्वारा ही ऊर्ध्व गति से जाना पड़ता है। उनका कथन है कि आधार से हृदय तक ब्रह्महृदय कमल नाड़ी में विष्णु, इसके अग्र भाग में रुद्र, उसके ऊपर भ्रूमध्य में ब्रह्मा, उसके ऊपर भ्रूमध्य में ईश्वर-सदाशिव, इन सबके ऊपर जाने पर अंग-सुख जाकर लिंगसुख बनता है। प्रभुदेव ने षट्चक्र एवं कमल इत्यादि का अपने वचनानुभव में वर्णन किया है।

च०	तत्व	दल	दलगत वर्ण	वर्ण	कोण	देवता
आ०	पृथ्वी	४	व, श, ष, स	सुवर्ण	चतुष्कोण	दाक्षायण
स्वा०	जल	६	ब भ म य, र, ल	नभ	धनुर्गति	ब्रह्मा
म०	तेज	१०	ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ	कृष्ण	त्रिकोण	विष्णु
अ०	वायु	१२	क, ख, ग, घ, ङ, च छ, ज, झ, ञ, ट, ठ	कुं	षट्कोण	महेश्वर
वि०	आकाश	१६	अ—अः	श्वेत	वर्तुलाकार	सदाशिव
आ०	मन	२	हं क्षं	माणिक्य	तदीयाकार	गुरु

उन्मनी ज्योति ब्रह्मकमल को भेद करके जाती है। ओंकार स्वरूप सदा रहता है।

वस्तुतः यदि साधारण दृष्टि से देखा जाय तो प्राण लिंगानुसंधान, दस वायु कर्मवासना नष्ट हो जाने पर होता है। इसको नष्ट करने के लिये प्रक्रियाविशेष का

1. विशेष विवरण—प्रभुदेववचन, प्राणलिंग स्थल व० न० ९४, पृष्ठ २५८।

अवलम्बन करने की आवश्यकता नहीं है। प्रभुदेव कहते हैं—"खेलते खेलते त्रिकोण रूपी पर्वत पार कर शृङ्ग पर ज्ञान एवं ज्ञेय दोनों का निरीक्षण कर लिया एवं शिवोऽहंभाव का उदय हुआ"[१]। आगे कहते हैं कि मैंने अनायास ही कुण्डलाग्नि के प्रकाश को पश्चिम द्वार में शिवोऽहं शब्द से युक्त कर लिया, ज्ञान एवं ज्ञेय को रोक कर समरस कर लिया और उसी का निरीक्षण कर लिया। फलस्वरूप वह मुझमें ही लीन हो गया और अद्वैत रह गया। इस प्रकार द्वैत नष्ट होने पर शिवोऽहंभाव का उदय प्राणलिंग स्थल में होता है। साधक प्राणलिङ्ग स्थल में जब सामरस्य प्राप्त करता है, तब की यह बात हुई; किन्तु इतना होने पर भी अभी अंग भाव का अंश है। अत एव प्राणलिंगी अवस्था में शिव शक्ति बनकर जिस भाव से उमा एवं शिव स्वरूप आकार निर्माण करके, स्वात्मस्वरूप आकार निर्माण करके उसको स्वात्मस्वरूप समझकर उपासना प्रारम्भ करता है और साधक अपने में अंगस्थल के अनुभव के कारण स्वयं अपने को शक्ति बनाकर लिंगरूप शिव को आलिंगन कर लेता है, इसके फलस्वरूप साधक अंगशक्तियुक्त शरणावस्था को प्राप्त कर लेता है। [२]यही शरणस्थल कहलाता है। इस स्थल में साधक अथवा अंग प्रौढ़ शक्ति एवं भाव सम्पन्न हो गया है। साधक शक्तिभाव युक्त होकर लिंग को पति बना लेता है। अत एव साधक अपने को सतीभाव युक्त बनकर शिव को पति मान कर भाव लीला में प्रवेश करता है। सती-पति-भाव शरणस्थल में आकर भावलीला प्रारम्भ होती है। स्थायी भावापन्न होकर अपने रसास्वाद के लिये लिंग-स्वरूप परमात्मा को पति बनाकर स्वयं सती बनकर भावसाधना प्रारम्भ करता है। साधक स्वयं शक्तिस्वरूप बन गया है। एवं लिंग शिवस्वरूप है। परस्पर आकर्षण प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार के स्थायी भाव का उदय होने के बाद व्यभिचारी भाव का उदय नहीं होना चाहिये, क्योंकि किसी स्थायी भाव के लिये व्यभिचारी भाव हानिकारक है। वस्तुतः प्राणलिंग स्थल भावतनु में रहने पर भी स्थायी भाव नहीं हो पाया था। अर्थात् भक्त, महेश, प्रसादी इत्यादि अवस्था में अनन्त भाव रहे, किन्तु शरणस्थल में जाकर स्थायी भाव दृढ़ हो गया। साधक अपने में सभी संचारी भावों को लेकर, लिंग के केन्द्र में रखकर, अपने भाव कमल दलों से युक्त होकर के अपने पति (लिंग) से मिलने का प्रयत्न प्रारम्भ करता है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भाव स्वात्मस्वरूप, अद्वैतस्वरूप है। अत एव इस स्थल में इस सम्प्रदाय में सभी शिवयोगी गण अपने अनुभव की तुलना वैष्णव साधकों की राधाभाव से कर सकते

---

१. प्रभुदेववचन, प्राणलिंगस्थल, पृष्ठ १९६, व० १११।

२. (१) शरण स्थल, (२) तामसवर्जन स्थल, (३) निर्देश स्थल, (४) शीलसम्पादन स्थल (सि० शि० शरण स्थल, परि० १२–३–४ पृ०, १९

हैं। यहाँ पर भी सब भावों को लेकर केवल परमात्मस्वरूप लिंगस्वरूप का एवं उसकी प्राप्ति के लिये कातर भाव इत्यादि का विशेष विवरण मिलता है। इसके फलस्वरूप स्वाभाविकतया साधक में शान्ति, दया, करुणा इत्यादि सात्त्विक भावों का विकास हो जाता है। 'मैं शक्ति स्वरूप हूँ', 'मैं शिव में आश्रित हूँ', 'इस प्रकार के भाव में रहता हूँ' यह भाव सर्वार्पणभाव कहलाता है। अत एव इसको 'शरण' कहा जाता है। साधक में अपनी इच्छा अथवा किसी प्रकार का अपनापन नहीं है। सब कुछ शिव को अर्पण करके केवल संमुख होकर शरण साधन करता है। यही शिवयोग भूमि की सामरस्य अवस्था का पूर्वाभास है। जब तक अंग अपने अहं को लिंगस्वरूप बनाकर अपने को आश्रित नहीं समझता, तब तक वह परम सामरस्य का अनुभव नहीं कर सकता है। जब इस प्रकार के भावसूर्य का उदय होता है, तब पूर्ण अन्धकार एवं अज्ञानता की निवृत्ति हो जाती है। भाव के केन्द्र अवस्था में रहने के कारण यहाँ गुरुशिष्यभाव से स्वात्मस्वरूपभूत अनन्त भावों का विकास होता है। इस स्थल में जब भावस्थिरता हो जाती है, तो उसको 'शील' कहा जाता है। इस प्रकार शील द्वारा पूर्णभाव प्राप्त हो जाता है। अब भावदार्ढ्य ही इस स्थल का पूर्ण लक्ष्य है। इस प्रकार भावना से युक्त साधक ऐक्य स्थल में प्रवेश करता है। अर्थात् इस प्रकार भावदार्ढ्य से प्रसादलिंग एवं शरण इन दोनों का मिलन होता है। अब भाव भी इसमें परिणत हुआ। अब सामरस्य अवस्था में केवल रस ही रह जाता है। यह भावयोग के दृष्टिकोण से विचार किया गया है। इस प्रसंग में प्रभुदेव की अनुभववाणी के आधार पर कुछ प्रकाश डालना उचित समझते हैं। ग्राहकभाव ही शरणस्थल का अनुभव कहलाता है। अर्थात् ग्राह्य एवं ग्रहण सब लीन हो जाता है। प्रमेय, प्रमाण, प्रमाता इस त्रिपुटी में प्रमाता ही सब कुछ है। अर्थात् वस्तुतः प्रमाता ही ग्राहक, ग्राह्य और ग्रहण भाव प्राप्त करता है। वही पुनः बन जाता है। यह शरण-स्थल का अनुभव शिवोऽहं भाव से ऊपर की बात है। इसमें ग्राहक भाव का मतलब है स्वरूपसाक्षात्कार की प्राप्ति एवं उसका बोध। इस बोध के प्रभुदेव जी ने तीन विभाग किये हैं :—

(१) अल्प ज्ञानी, (२) मध्यम ज्ञानी, (३) अतीत ज्ञानी। इन सब ज्ञानियों को[1] प्रभुदेव जी खण्डित ज्ञानी कहते हैं। ज्ञान एवं अज्ञान दोनों को जो प्राकृत स्वभाव समझता है, उसको अल्पज्ञानी कहते हैं। जो ज्ञानभाव को लेकर व्यवहार करता है, उसको मध्यम ज्ञानी कहते हैं। ज्ञान प्राप्त करके अज्ञानी की तरह जो चलते हैं, उनको अतीत ज्ञानी कहते हैं। वस्तुतः यह सब खण्डित ज्ञान ही हैं। प्राणलिंग स्थल की अवस्था में सुज्ञान का उदय एवं प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार ज्ञानोदय होते ही माया एवं देह में जो जीवकला है, उनका तुरन्त नाश हो

---

१. प्रभु शरण स्थल व० ३३, पृष्ठ १९८।

जाता है। इस ज्ञानोदय से नित्य जाग्रद्‌भाव का उदय होता है। कहते हैं कि '[1]ऊर्ध्व पवन के संयोग से त्रिभुवन नामक पर्वत पर आरोहण कर कायरूपी कदली में प्रवेश किया। यह ऊर्ध्व पवन वस्तुतः सरल गति ही है। यही सुज्ञानोदय है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि [2]प्रभुदेव कहते हैं कि यदि सरल गति पकड़ करके केवल सहस्रदल में रुक कर शतपत्र के पादोदक को जो अनुभव करता है, वह रुद्रलोक तक जाता है। यह द्वैत योगी की स्थिति है। इसको प्रभुदेव जी निषेध करते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में अर्थात् प्रभुदेव के पहले रुद्रलोक तक का ही अनुभव रहा। किन्तु प्रभुदेव जी इससे आगे का विवरण देते हैं, अर्थात् कहते हैं कि शतदल का भेद करके सामरस्य अवस्था को प्राप्त करना और आगे जाना चाहिये। शरण में कर्तृत्व अभिमान न रहने के कारण यह 'आरूढ ज्ञानी' कहलाता है, क्योंकि इसका सम्पूर्ण व्यवहार शिव से चलता है। वस्तुतः शरणस्थल की अवस्था चिदात्मक है, एवं शरण का स्वरूप बिन्द्वात्मक है। यह न ऊर्ध्व गति है, न अधोगति है; किन्तु वह सामरस्य अवस्था में जाकर एकाकार हो जाता है। यही शरण का लक्ष्य है। अपने भाव को निर्माणस्वरूप बनाकर शिव को चैतन्यात्मक स्वरूप में आलिंगन कर लेता है। इस प्रकार ऐक्यस्थल में पूर्ण सामरस्य का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार शिवयोगी ऊर्ध्व पवन द्वारा शतदल पद्म की कर्णिका में जाकर अमृतपान कर सामरस्य सुख का अनुभव करता है।[3]

ऐक्य स्थल ही पूर्ण लिंगांग सामरस्य का स्थल है। लिंगांग सामरस्य स्थल स्वरूप ऐक्य स्थल[4] को समझना अत्यन्त आवश्यक है। सिद्धान्तशिखामणि में कहा है :—

विषयानन्दकर्णिकानिस्पृहो निर्मलाश्रयः।
शिवानन्दमहासिन्धौ मज्जनादेव मुच्यते॥

१. श्री प्रभुदेव वचन, शरण स्थल, व० ६३, पृष्ठ २१५।
,, ,, ,, व० १०१, पृष्ठ २४१।
२. श्री प्रभुदेव वचन, शरण स्थल, व० १४६, पृष्ठ २८८।
३. शिवयोगी अपनी साधना के बल से आधार स्थित कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्ना नाडी में प्रविष्ट होकर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर वहाँ पर व्योमचक्र प्राप्त करता है। उस कुण्डलिनी के सिर के ऊर्ध्व भाग में सुज्ञान रूपी रत्न है। उस रत्न में परम शान्तिबिन्दु है। उसने अग्नि एवं वायु संमिश्रण से बने हुये समस्त गुणों का ग्रसन किया। उस परम शान्तिबिन्दु के रूप में ही निरवयव ज्ञान रहता है। उसने तनुत्रय में प्रवेश किया। वही रह गया। उसमें परिपूर्ण अमृत भरा है। उस अमृत को सेवन करने वाले शिष्यरूपी शरण के लिये महाज्ञान हस्तामलकवत् हो गया, अर्थात् वह निराकार हो गया। (प्रभु० शरण व० अर्थ २०७)
४. सि० शि० परि० १४ पृष्ठ ३२ श्लोक ३

अंग अपने का शिवानन्द महासागर में निमज्जित कर लेता है। शिवभाव रहता है, किन्तु मायाकल्पित विश्वभावना नहीं रहती। स्वात्मस्वरूप मायाशक्ति के तिरोधान करने के कारण स्वात्मस्वरूप में सब कुछ होता है। इस प्रकार की ऐक्य स्थिति 'अद्वैत स्थिति' कहलाती है। शिवयोगी इसी अद्वैत-भाव में रहता है।

इस संसार को लांघने के लिये अद्वैतभाव रूपी नाव एकमेव साधन है। मायिक देह में रहने पर शिवयोगी को किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। उसके लिये कर्माकर्म का प्रश्न नहीं उठता। वह विश्व को शिवमय समझता है। उसका प्रत्येक कार्य शिव-पूजा है। इस प्रकार के बोध को साम्प्रदायिक भाषा में 'एकभाजन'[1] कहा जाता है। उसके बाद शिव में विश्व भासित हो रहा है, इस प्रकार शिवस्वरूप एवं जगत् इन दोनों का सामरस्यभाव स्वात्मरूपेण होने लगता है। इसके फलस्वरूप केवल चित्प्रकाश ही रह जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण विश्व चित्स्वरूप में प्रकाशित होता है। यह सामरस्य अवस्था का अनुभव विमर्शहीन अवस्था नहीं है, क्योंकि इसमें सदैव रसात्मना चिदुल्लास है। जब इसको स्वात्मा में ग्रसन कर लेता है, शिवयोगी कहलाता है। इसमें सब कुछ लीन है। भाव भी भावातीत में बदल गया। इसकी अनुभूति भी हो गई। शरण स्थल में जिस भाव का आलिंगन हुआ, जो अंग एवं लिंगभाव में रहा, यहाँ आकर अंग एवं लिंग एक हो गये। इसको केवल महालिंग कहा जाता है। इस महालिंग में सब कुछ व्याप्त होकर, अन्तर्लीन होकर अब पूर्णलिंग स्वरूप ऐक्य स्थल सभी अंगों से युक्त है। इतना सामरस्य होने पर भी इस सामरस्य अवस्था में रस का अनुभव करने के लिये बोधरूप से अंगभाव रहता है। यह पूर्णस्वरूप होने पर भी, सब कुछ स्वात्मस्वरूप लिंग से पृथक् अस्तित्व न रखने पर भी, सब कुछ स्वात्मस्वरूप में उपास्य-उपास्यकभावभूत लीला के कारण हुआ है। अत एव नित्य इसी प्रकार चलता ही रहता है। यही शिवयोग कहलाता है। यहाँ नित्य सामरस्य स्वरूप का अनुभव चलता रहता है। शिखामणिकार का कथन है—

अहं शिवो गुरुश्चाहमहं विश्वं चराचरम्।
यथा विज्ञापने सम्यक् पूर्णाहन्तेति सा स्मृता॥

शिवयोगी इस पूर्णाहन्ता के बोध में रहता है। शिवयोगी नित्यस्वरूप महालिंगात्मक बोधविश्व के स्फुरण के समय अर्थात् विश्वात्मक अवस्था में शिवयोग महालिंग अवस्था से युक्त होकर नित्य स्वात्मस्वरूप लीला में अपने को शक्त्यात्मक बनाकर अपने स्वरूप में ही विश्व को देखता है। यही भावपक्ष का सामरस्य कहलाता है। ऐक्यस्थल में ऊपर की अनुभूति विश्वोत्तीर्ण अनुभूति कहलाती है। अत

---

१. (१) ऐक्य स्थल, (२) आचार सम्पत्ति स्थल, (३) एकभाजन स्थल, (४) सहयोजन स्थल। (सि० शि० परि० १४, श्लो०)

एव यहाँ लिंग की दो अवस्था है। एक विश्वात्मक अवस्था है, जहाँ साधक योगी बनकर इसमें रहता है। दूसरी तरफ विश्वोत्तीर्ण अर्थात् इस विश्व की उत्पत्ति के तत्त्व स्वरूप प्राप्त जो महालिंग है, वह तत्त्वात्मक शिवस्थानीय है। इस क्रम से ऐक्य-स्थल तक साधन क्रम से महालिंग तक पहुँचने के क्रम का विवरण हुआ। महालिंग नाद-बिन्दु-कलात्मक है। सामरस्य अवस्था से ऊपर उठकर नाद-बिन्दु-कलात्मक स्वरूप से ऊर्ध्व में जाकर, सर्वशून्य निरालम्ब तक जाकर शिवयोगी पुनः अपने आरोहण-अवरोहण क्रम से स्वात्मानन्द रूप शिवयोग में लीन रहता है। अत एव शिव की स्वात्मस्वरूप अवस्था परिमित देश-काल से अतीत है। अपने शिवस्वरूप भावतनु द्वारा नित्य लीला में रहता है, एवं उसकी दृष्टि से बहिर्जगत् नहीं है। जिसको हम मायिक कहते हैं। यहाँ तक कि जिसको हम मायिक कहते हैं, वह सब लिंगमय हैं। यह नित्य शिवस्वरूप स्थिति है। इतना होने पर भी स्वात्मस्वरूप में रह कर, अपने शिवतत्त्व भाव में भी सदैव जाग्रत् रहता है। अत एव शिवयोगी अपने पवित्र भाव द्वारा सदैव विश्व को लिंगस्वरूप अर्थात् चिन्मय देखता है। शिवयोगी का शरीर वस्तुतः मायिक दृष्टि से दिखाई देने पर भी वह पूर्णरूपेण लिंग-स्वरूप है, क्योंकि मायिक देह का जो कार्य है, वह उस शरीर से नहीं होता। अपनी भावना के द्वारा अर्थात् शिवयोग एवं इस स्थलगत साधना के द्वारा सम्पूर्ण रूपेण सिद्ध करके स्वात्मा में चैतन्यातिरिक्त उसको और किसी प्रकार का बोध नहीं है।

इस प्रकार इस षट्स्थल योगरहस्य की कई दृष्टिकोणों से विवेचना की जा सकती है। इस लेख में केवल भावपक्ष को लेकर अंगभाव क्रम का विकास दिखाया गया है। इस प्रकार अंग महालिंग स्वरूप बनकर पूर्ण शिवयोगी बनता है। इस योग को षट्स्थल-योग कहा जाता है। वीरशैव सम्प्रदाय में स्थलगत भेद द्वारा अनुभव का विभाग किया गया है। इसी षट्स्थल में २०६ और १०१ विभाग भी गिनाये गये हैं। यह सब नियम विस्तार की दृष्टि से समझना चाहिये। वस्तुतः भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिंग, शरण और ऐक्य के क्रम को मुख्य आधार मानकर इस प्रकार का विभाजन किया गया है॥

वज्रयोग का एक दृष्टिकोण

श्रीराधेश्यामधर द्विवेदी, भू० पू० कनिष्ठानुसन्धाता—योगतन्त्र, वा० सं० वि० वि० वाराणसी ।

मन्त्रे तीर्थे द्विजे दैवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

जैसे एक स्त्रीपिण्ड में रागी की रागबुद्धि, पुत्र की श्रद्धाबुद्धि एवं साधक की देवीबुद्धि दिखलायी पड़ती है, वैसे ही जगत्पिण्ड को कोई रागबुद्धि से अपने अधीन बनाना चाहता है, तो कोई श्रद्धाबुद्धि से अपने रहते हुये दूसरे को भी रहने देना चाहता है और कोई उस समस्त जगत् की कल्पना एक पिण्ड में ही देवभाव से स्वीकार करता है ।

ये ही अध्याशय हैं और इन्हीं अध्याशयों के कारण मनुष्य अनन्त काल से दुःखार्णव में निमग्न है । इन तीनों प्रकार की दृष्टियों का मूल कारण चित्त है और इसी चित्त से संसार की उत्पत्ति भी मानी गयी है । अत एव चित्त को ही सभी दुःखों का मूल कारण माना जाता है । इसी के कारण अहंकार और ममकार, ग्राह्यभाव और ग्राहकभाव, कुशलकर्म तथा अकुशल कर्म आदि प्रादुर्भूत होते हैं । बौद्धधर्म इन चित्तों को शुद्ध कर विशुद्ध, शान्त, निर्मल, निर्वाण के लिये साधन का मार्ग प्रदान करता है । इसी हेतु बौद्ध दर्शन में अन्यान्य पथ मिलते हैं । चूंकि पुद्गल में सबसे अधिक रागबुद्धि की ही प्रबलता दिखलाई पड़ती है, अत एव उस राग के नाम के हेतु कुशल कर्मों का सम्पादन और अकुशल कर्मों का परित्याग अपेक्षित है । श्रावकयान में इसका ही सम्पूर्णतः उपदेश है । श्रावक पुद्गल शमथ और विपश्यना के आधार पर कुशल कर्मों का सम्पादन करते हुये कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर की भूमियों को पार करता हुआ ध्यानसमापत्तियों के बल से अर्हत्व को प्राप्त करता है ।

श्रद्धानुसारी पुद्गल अपने ही निर्वाण से दुःख की परिसमाप्ति नहीं मानता । उसे तो अनन्त जीवों के दुःख की परिसमाप्ति चाहिये । अत एव वह दुःख के नाश के हेतु अपने अन्दर बोधिचित्त का उत्पाद करता है ।

वह कहता है कि मनुष्य भाव दुर्लभ है, क्योंकि इसी में पुरुषार्थ के अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की प्राप्ति के साधन उपलब्ध होते हैं । अत एव यदि वह इस सुअवसर में परापरहित का चिन्तन नहीं करता तो फिर उसे इस मनुष्य देह का पुनः समागम कहाँ होगा ?

क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी ।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ॥
(बोधिचर्यावतार, प्रथमपरि०, श्लो० ४)

मनुष्य प्रायः अकुशल भाव मे अभ्यस्त होने के कारण कुशल भाव की ओर प्रवृत्त नहीं होता। इस अकुशल भाव पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रवल कुशल भावों को उदित करना होगा। वह बोधिचित्त से ही होता है—जैसे रात्रि में बादलों से घिरे हुये आकाश में बिजली के क्षणिक प्रकाश से वस्तु का ज्ञान होता है, उसी प्रकार अन्धकारमय जगत् में बुद्ध (बोधिचित्त) के अनुभव से ही क्षण-मात्र के लिये मानव वुद्धि शुभ कर्मों में प्रवृत्त होती है—

रात्रौ यथा मेघघनान्धकारे विद्युत् क्षणं दर्शयति प्रकाशम् ।
बुद्धानुभावेन तथा कदाचिल्लोकस्य पुण्येषु मतिः क्षणं स्यात् ॥
(बोधिचर्यावतार, प्रथमपरि०, श्लो० ४)

इस प्रकार बोधिसत्व, जीव को भवसागर के पार लगाने के लिये, सभी सत्वों को दुःखों से दूर करने के लिये, तथा उन सत्वों के लिये भी जो केवल दुःख का अपनयन मात्र ही नहीं, अपितु संसार के सुख की भी अभिलाषा रखने वालों के सुख सम्पादन के लिये भी बोधिचित्त का ग्रहण करता है—

भवदुःखशतानितर्तुकामैरपि सत्वव्यसनानि हर्तुकामैः ।
वहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम् ॥
(वहीं, श्लो० ८)

बोधिचित्त के अनन्तर दानादि पारमिताओं का निरन्तर अभ्यास करता हुआ दश भूमियों को शमथ तथा विपश्यना के आधार पर पार करता हुआ जीव बुद्धत्व को प्राप्त करता है। इसमें उसकी करुणा ही उपाय है।

सामान्य रूप से विचार करने पर लगता है कि श्रावकयानी पुद्गल का उद्देश्य एक अपनी आत्मा मात्र को शम की उपलब्धि कराना है और उसी से निवृत्ति प्राप्त करना है। इसके विपरीत बोधिसत्व अपने को तथता (परम तत्त्व) में स्थापित करना चाहता है। सभी सत्वों को भी उसी रूप में स्थापित करना चाहता है। वह सम्पूर्ण ग्राह्यग्राहकभेद मिटा कर शाश्वत शान्ति की प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करता है। इसके आधार पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है, किन्तु इस बुद्धत्व की प्राप्ति में कई कल्प लग जाते हैं।

देवबुद्धवाला पुद्गल किसी भी पिण्ड को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समझता है। अत एव उसमें वह देवभावना रखता है और उसी में अपने इष्टदेव की भावना

करता है। वह पिण्ड ही उसके लिये परमार्थ है। इस पिण्ड में ही उसे गंगा, यमुना, तथा त्रिवेणी का संगम मिलता है। काशी तथा अन्य तीर्थों का क्षेत्र मिलता है। वह धातु और स्कन्धों से युक्त भौतिक शरीर को पुरुष तथा स्त्री के रूप में रख कर कर्ममुद्रा का स्वरूप मान कर पूजता है। मानसिक भूमि में ध्यानी बुद्धों एवं उनकी शक्तियों के आधार पर ज्ञानमुद्रा रूप में भावना करता है। उसे जगत् की क्षणिक किन्तु मूल्यवान् स्थिति ज्ञात रहती है। वह इस क्षणिक जगत् में ही सम्पूर्ण लोगों को इस विपत्ति-सागर से पार कराने के हेतु देव-देवीभाव के आधार पर महाकरुणा का उत्पाद करता है। उस करुणा के आधार पर प्रज्ञा प्राप्त करता है तथा प्रज्ञा और उपाय के सम्मिलन से बुद्धत्व को प्राप्त करता है। यही तन्त्रयान की दृष्टि है। इस दृष्टि में बोधिसत्व बोधिचित्तोत्पाद कर एक जन्म में ही बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है, तथा अनल्पासंख्येय जनों को संसार सागर से पार जाने की राह बतला सकता है।

यहाँ तक एक पिण्ड के प्रति व्यक्त होने वाले अन्यान्य भावों का सामान्य विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। अब उस पिण्ड के सत्ता की परीक्षा करनी चाहिये, जिस पर ये विचार आधृत हैं। सामान्य रूप से पिण्ड के ऊपर विचार करते समय हम उसके तीन स्वरूप देखते हैं। एक तो उसकी सत्ता है, अर्थात् पिण्ड के स्वरूप की सत्ता है। इसी प्रकार उसके हेतु की सत्ता तथा उसके फल की सत्ता है। प्रायः कहा जाता है कि साधनाओं में तीन बातें आवश्यक होती हैं। वे हैं दृष्टि, चर्या तथा भावना। अब तक प्रस्तुत निबन्ध में मानव के ऊपर थोड़ा सा दृष्टिपात किया गया है। उसको ही ध्यान में रख कर दृष्टि पर विचार करना चाहिये। दृष्टि पर विचार करते समय सदा उस सम्प्रदाय के दार्शनिक विचारों की तरफ ध्यान रहना आवश्यक है।

प्रायः कहा जाता है कि बौद्ध दर्शन वस्तु की सत्ता को नहीं स्वीकार करता, उसका कारण उसकी वस्तुनैरात्म्य या शून्यता की दार्शनिक दृष्टि ही है। वह जगत् में सांवृतिक तथा परमार्थ नाम से दो प्रकार की सत्ता मानता है। जगत् की वर्तमान सत्ता सांवृतिक है, तथा परमार्थ सत्ता शून्य रूप है। इसका ही वह दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि संसार सत् नहीं है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसकी खपुष्प जैसी असत्ता है, क्योंकि बिना सत् के असत् कैसे संभव हो सकता है। अत एव सापेक्ष और सविकल्प बुद्धि की समस्त कोटियों और धारणाओं की पहुँच के बाहर जो तत्त्व है, वही शून्यता है (इह सर्वेषामेव दृष्टिकृतानां सर्वग्रहाभिनिवेशानां यन् निःसरणमप्रवृत्तिः सा शून्यता—त्रयोदश प्रकरण, पृ० २४७ माध्यमिकवृत्ति)। वे कहते हैं कि हम सत् तथा असत् दोनों को निरावरण करके निर्वाणपुरगामी अद्वयपथ को प्रकाशित करते हैं। अत एव कर्मकर्तृफलादिरूप संसार

को अभावात्मक न मानकर उसे निःस्वभाव या स्वभावशून्य या प्रतीत्यसमुत्पन्न मानते हैं।

(न वयं नास्तिकाः। अस्तित्वनास्तित्वद्वयवादनिरासेन तु वयं निर्वाणपुरगामिनमद्वयपथं विद्योतयामः। न च कर्मकर्तृफलादिकं नास्तीति ब्रूमः। किं तर्हि निःस्वभावमेतदिति व्यवस्थापयामः—पृ० ३२९, सप्तदश प्रकरण)

इस प्रकार जब प्रत्येक वस्तु हेतुप्रत्ययों के आधार पर ही खड़ी है, तथा जब वस्तु की अपनी सत्ता नहीं है, तो जो हेतु और प्रत्यय हैं, वे भी किन्हीं हेतु-प्रत्ययों के कार्य होने के कारण निःस्वभाव एवं सापेक्ष हैं। अत एव वे अनवस्थित हैं और उनकी भी शून्यता है। यही हेतुशून्यता की दृष्टि है। इसी प्रकार फलशून्यता भी सिद्ध होती है। क्योंकि जब सभी वस्तुएँ प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, तो उनकी भी अपनी स्वरूप सत्ता नहीं है और जब उनकी अपनी स्वरूप सत्ता नहीं तो उससे उत्पन्न फल की स्वरूप सत्ता कैसे हो सकती है ? अत एव फल की भी शून्यता है। सामान्य रूप से यही बौद्ध दार्शनिक दृष्टि है।

अब विचारणीय बात यह उठती है कि मनुष्य इन सब दृष्टियों को समझ लेता है, किन्तु वह संसार से निवृत्त क्यों नहीं हो जाता। इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप साधना में बतलाये गये मार्गों का अनुसरण करना उचित होगा, क्योंकि प्रायः यह देखा जाता है कि लोग विषय को तो समझ लेते हैं किन्तु उस समझे हुए विषय के अनुसार काम करने में हिचकते हैं। उसमें कई कारण होते हैं। बौद्ध साधना में प्रवृत्त होने के इच्छुक पुद्गल इस स्थिति में दो प्रकार के पाये जाते हैं। जिनमें एक को श्रद्धानुसारी पुद्गल कहते हैं तथा दूसरे को धर्मानुसारी पुद्गल कहते हैं।

प्रयोग के भेद से दो ही पुद्गल हैं—जिन्हें श्रद्धानुसारी तथा धर्मानुसारी पुद्गल कहते हैं। (प्रयोगप्रभेदतः कतमः ? श्रद्धानुसारी धर्मानुसारी च पुद्गलप्रभेदः—अभिधर्मसमुच्चय, पृ० ४६)

वैसे पुद्गल अनेक प्रकार के हैं, तथापि ये ही प्रधान हैं। इन दोनों पुद्गलों की आवश्यकता साधन-सम्पत्ति में बतलाई गई है। वे पुद्गल जो श्रद्धानुसारी हैं, सिद्धि की अधिगति जल्दी करते हैं। अत एव श्रद्धानुसारी पुद्गल की 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' में प्रशंसा की गयी है—

औत्सुकाः सर्वमन्त्रेषु नित्यं ग्रहणधारणे।
सिद्धिकाया महात्मानो महोत्साहा महौजसः॥
तेषां सिद्ध्यन्त्ययत्नेन मन्त्रा ये जिनभाषिताः।
अश्रद्धानां तु जन्तूनां शुक्लो धर्मेण रोहते॥

बीजमूषरे क्षिप्तं अङ्कुरो अफलो यथा।
श्रद्धामूलं सदा धर्मे उक्तं सर्वार्थदर्शिभिः॥
मन्त्रसिद्धिः सदा प्रोक्ता तेषां धर्मार्थशीलिनाम्।

(मञ्जुश्रीमूलकल्प, पट० ४ पृ० ६१)

धर्मानुसारी को भी श्रद्धायुक्त होने का पाठ पढ़ाया गया है, क्योंकि धर्मानुसारी जो मात्र तार्किक है, उसको सिद्धि प्राप्त नहीं होती। यह 'कालकृष्णयमारी तन्त्र' में लिखा है—

"तार्किक को सिद्धि नहीं प्राप्त होती। गुरु के द्वारा उपदेश करने पर उसमें क्षोदक्षेम करने वाले शिष्य को भी सिद्धि नहीं प्राप्त होती। केवल शंका रहित तथा श्रद्धायुक्त होने पर गुरु के गुह्य उपदेश पूर्ण रूप से न देने पर भी उतने मात्र से सन्तुष्ट रहने वाले शिष्य को सिद्धि तुरन्त ही प्राप्त होती है। इसलिये गुरु-महिमा वहुत बड़ी है।"

अत एव बौद्ध साधना में गुरुवाद का वहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह बात न केवल बौद्ध साधना में ही, अपितु हिन्दू साधना में भी पाई जाती है, क्योंकि साधक के सभी कार्य गुरु-वाक्यों पर ही आधारित होते हैं और उसको सद्गुरु की प्राप्ति भी बड़ी कठिनाई से होती है। सद्गुरु ही साधक को परम तत्त्व का साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है। गुरु को शून्य और करुणा की युगलमूर्ति कहा जाता है। वज्रयान में शून्यता तथा करुणा को ही प्रज्ञा तथा उपाय कहा गया है। इन दोनों का सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है। इन दोनों का मिलित रूप होने से गुरु को मिथुनाकार वतलाया गया है। अत एव गुरु में पूर्ण श्रद्धा की आवश्यकता होती है। जैसे सारनाथ पहुँचने वाले व्यक्ति के लिये वाराणसी के किसी रहने वाले विश्वस्त व्यक्तिविशेष के द्वारा बताये मार्ग का अनुसरण श्रद्धा एवं निष्ठा से करने पर ही वह प्राप्त होता है। तार्किक को मात्र तर्क के आधार पर वहां का ज्ञान मात्र ही प्राप्त होता है, साक्षात् दर्शन एवं अपूर्व आनन्द नहीं; वैसे ही गुरु में श्रद्धा एवं निष्ठा रखने वाले व्यक्ति को ही वह मौन सम्भाषण मात्र से महासुख का विस्तार कराता है और उसके हृदय से अन्धकार को दूर कराता है।

अत एव साधक, गुरु, त्रिरत्न तथा बोधिचित्त में भक्तिमान् होकर उसी प्रकार संसार सागर को पार कर सकता है जैसे कि एक मतिमान् नाविक नौका लेकर समुद्र पार करता है। वज्रसत्व ने संसार पार करने वालों के लिये गुरु को कर्णधार तथा धर्म को नौका बतलाया है। अत एव गुह्य वज्रयान में गुरु की भांति ही शिष्य की पात्रता पर भी बहुत ध्यान दिया जाता है। शिष्य को वन्दन क्रिया, अक्रोधी, अवि-

संवादी, त्यागादि गुण से युक्त उत्साही तथा गुरु की आज्ञा को शिर से स्वीकार करने वाला होना चाहिये।

इस प्रकार के शिष्य को वज्राचार्य गुरु सकल प्रपंचों से दूर हटाकर उसे सम्यक्सम्बोधि की प्राप्ति के लिये मण्डल में प्रवेश कराता है। अब शिष्य को श्रद्धा-बुद्धि से तान्त्रिक साधना में प्रवृत्त होने के लिये एक नवयौवनसम्पन्ना युवती को अपनी संगिनी बनाना पड़ता है। इसी को तान्त्रिक भाषा में मुद्रा कहते हैं। इसके बाद वज्राचार्य गुरु शिष्य को बोधिचित्त की प्राप्ति के हेतु अभिषिक्त करता है। यह चार प्रकार का होता है—

प्रथमं कलशाभिषेको द्वितीयं गुह्यमुत्तमम्।
प्रज्ञाज्ञानं तृतीयं स्याच्चतुर्थं तत् पुनस्तथा॥

(अद्वयवज्रसंग्रह)

पहला अभिषेक छः प्रकार का होता है, जो बुद्धस्वरूप है। इसके द्वारा अविद्या-मल को दूर करने के लिये वज्राचार्य (गुरु) वैरोचन रूप को अवलम्बन करने वाले शिष्य को सलिलादि अभिषेकों से पवित्र करता है। इसके बाद गुह्य अभिषेक के द्वारा शिष्य को पवित्र धर्म में श्रद्धा उत्पन्न कराता है। गुरु सभी गुह्य साधनाओं का शिष्य को उपदेश देता है और उस उपदेश से प्रज्ञोपायस्वभावात्मक बोधिचित्तोत्पाद होता है। इसमें किस प्रकार से बोधिचित्त का अधोगमन अवरुद्ध किया जाय और कैसे ऊर्ध्वगमन हो सके तथा महासुख प्राप्ति सम्भव हो, उसका उपदेश देता है। इसी के बाद प्रज्ञाभिषेक होता है, जिसमें योगी शिष्य को यह बतलाता है कि सभी धर्म शून्य-रूप हैं, पुद्गल भी शून्यरूप है। प्रज्ञा की यौगिक नियमों से ज्ञप्ति करायी जाती है। अन्तिम अभिषेक को वज्राभिषेक कहते हैं। यही विशुद्ध अभिषेक है। इसी में सभी पूर्वाभिषेक पर्यवसित होते हैं। इसी वज्रात्मक तत्त्व को जानने के लिये शिष्य को वज्रज्ञानाभिषेक किया जाता है।

किन्तु वज्रज्ञानाभिषेक एवं वज्रयोग साधन के पूर्व इस प्रक्रिया में सम्पन्न होने वाले पिण्ड के प्रति रागबुद्धि वाले पुद्गलों की साधना का सामान्य परिचय प्रदर्शित करते हुये वज्रयोग पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे। सामान्य रूप से वज्रयोग के विकास की यही पूर्वपीठिका भी मानी जाती है। अत एव इसका वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रायः पुद्गल जीव रूपादि के सदा उपभोग करने के कारण मोक्ष से विमुख रह कर वेदनाओं का अभिनन्दन करते हैं, जिसके कारण उनका कुशलचित्त ही दमित हो जाता है, किन्तु इस चित्त के दमन का कारण रागादि क्लेश ही है। अत एव इसको नष्ट करने के हेतु श्रद्धादि का उत्पाद करना चाहिये।

प्रायः अज्ञानी पुद्गल चार प्रकार के विपर्याय उत्पन्न करते हैं। कुछ पुद्गल अशुचि काय में शुचिबुद्धि के द्वारा रागबुद्धि रखते हैं, कुछ दुःखसत्य में ही कदाचित् सुखाभिव्यक्ति से सुख की ही अभिव्यंजना करते हैं, कुछ अज्ञानी अनित्य में ही नित्य की भावना एवं कुछ अनात्म में आत्मबुद्धि रखते हैं।

अत एव इन रागादिजन्य क्लेशों को दूर करने के लिये शमथ तथा विपश्यना भावना करनी पड़ती है। इनके आधार पर लौकिक तथा अलौकिक समाधियां उपलब्ध होती हैं। शमथ सिद्ध करने में कुछ अन्तराय होते हैं[1]। उनको दूर करना होता है। धर्मस्वरूप को जानने के लिये इन दोनों भावनाओं की नितान्त आवश्यकता पड़ती है। शमथ की इसमें प्राथमिकता है। आचार्य शान्तिदेव कहते हैं :—

शमथेन विपश्यनासु युक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या॥

(बोधिचर्यावतार, पृ० १३७)

इस शमथ भावना के सिद्ध हो जाने पर श्रावक को उपर्युक्त चार प्रकार के विपर्यासों को दूर करने के लिये स्मृत्युपस्थान भावना करनी चाहिये। इसीलिये अभिधर्मकोशकार कहते हैं—

निष्पन्नशमथस्यैव स्मृत्युपस्थानभावना।
कायवाक्चित्तधर्माणां विलक्षणपरिक्षणात्॥ (अभि०को० ६-१४)

इस प्रकार उपर्युक्त विपर्यासों को नष्ट करने के लिये चार प्रकार के स्मृत्युपस्थान भी करने पड़ते हैं। इन चारों स्मृत्युपस्थानों में धर्मस्मृत्युपस्थान से ही सभी बाह्य वस्तुओं में अनित्य दुःख एवं शून्य भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। अभिधर्म बतलाता है—

स धर्मस्मृत्युपस्थाने समस्तालम्बने स्थितः।
अनित्यदुःखतः शून्यानात्मतस्तान् विपश्यति॥ (अभि०को०६-१८)

धर्मस्मृत्युपस्थान को ही सम्भिन्नालम्बन भी कहते हैं। यह सम्पूर्ण पंच स्कन्धों को सामान्यालम्बन के रूप में निर्देश करता हुआ अन्य सभी स्मृत्युपस्थानों को अपने में ही एकात्मीभूत कर के सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों को अनित्य रूप से, शून्य रूप से, तथा दुःख रूप से समझता है। वह योगी शरीर को परमाणु का संघात मानकर क्षणसन्तान के अन्दर परमाणुओं को एक-एक तथा अलग-अलग क्षण के रूप में देखता है। मनुष्योत्पत्ति के निमित्त कललादि बीजों को अशुचि अंगों से

---

१. कौसीद्यमवसादस्य सम्भाषा लय उद्धवः।
संस्कारानामसंस्कारैश्चैते पञ्चात्यया मताः॥

(आर्यमैत्रेयनाथ कृत मध्यान्तविभाग, सं० छा० ४६)

युक्त एवं मिश्रित मानकर योगी सम्पूर्ण लोक को देखता है और उसमें अनित्यत्वादि की भावना से वह तज्जन्य अहंकार ममकार का नाश करता है। उसके प्रहाण हो जाने पर रागादि दोष भी श्रुतचिन्तामयी प्रज्ञा से नष्ट हो जाते हैं। यह अभिधर्मदीपकार का मत है—

समस्तालम्बिनान्त्येन तान्वेत्य ध्रुवतादिभिः।
क्लेशात्यन्तक्षयोऽन्त्येन संभिन्नालम्बनेन वा ॥
(श्लो० ३८४, पृ० ३१६-१७, अ० ६ पा० १)

इस प्रकार सम्पूर्ण राग क्लेशों का अत्यन्त क्षय किया जाता है। सामान्य रूप से पुनः इन विषयों का दो विभाग किया जाता है—सास्रव तथा अनास्रव। इनमें सास्रव स्कन्धों के उदय-व्यय का साक्षात् दर्शन होता है। अत एव दीपकार कहते हैं—

असंभिन्नार्थविषयं त्रयमेतद् द्विधेष्यते।
तस्यैव पश्यतः साक्षादुदयव्ययदर्शनम् ॥ (श्लो० ३८५, पृ० ३१८)

इस प्रकार इस स्मृत्युपस्थान के रूप में अनित्यकार भावना करने पर संस्कारों में प्रतिक्षण उदय-व्यय का दर्शन होता है। यह दर्शन चक्र की भाँति होता है। फलतः स्कन्धों में अपने संस्कारों को सन्तान के रूप में पाते हैं। फिर भी उनका क्षय नहीं ज्ञात होता। यही प्रतीत्यसमुत्पाद का रूप हो जाता है और तीनों कालों के संस्कारों में हेतुफल के सम्बन्ध के रूप में अवस्थित देखते हैं और इसी से प्रतीत्यसमुत्पाद का रूप बन जाता है।

स्कन्धेषु जायते चक्रभ्रमरिकादिवत्।
सप्रतीत्यसमुत्पादं स्कन्धानां प्रत्यवेश्यते ॥
(वही श्लो० ३३६, पृ० ३१८-३१९)

प्रतीत्यसमुत्पन्न रूप से इन संस्कारों को जानकर इनकी चतुरार्यसत्यों में से कौन है इस प्रकार की भावना करता है, तथा अनित्यता तथा दुःखतारूप में देखता है। इस प्रकार वह इन सभी रागादिजन्य क्लेशों को स्वतन्त्र कर्ता से रहित शून्य रूप में देखता है। फिर भी अपने वश अब उनके रहने पर भी सहकारी प्रत्ययों से वे अपनी क्रिया करते रहते हैं और इनके अधीन जन्म आदि के होने से अपने को अनात्मा रूप में देखता है। अभ्यासवश इस प्रकार से अपने को अधिष्ठाता तथा परतन्त्र रूप में सदा देखता हुआ किसी भी ईश्वर या परमेष्ठी को नहीं मानता। अत एव सामान्य लक्षणों से युक्त परतंत्र ही संस्कार है। इस प्रकार की परीक्षा के बाद वह सभी धर्मों में नैरात्म्य बुद्धि स्थापित करता है। इस रूप से समाधि-भावना करता हुआ जब प्रज्ञा-बल से वह सभी धर्मों को अनात्म रूप में देखता है तो वह दुःखों से दूर हटकर विशुद्धिमार्ग को प्राप्त करता है। कहा भी है—

सर्वे धर्मा अनात्मानः पश्यति प्रज्ञया यदा ।
तदा निर्विद्यते दुःखादेष मार्गो विशुद्धये ।
(अभिधर्मदीप में उद्धृत, पृ० ३१९)

सत्येपुपातयित्वातं तदा कश्चित्यदीक्षते ।
तदनित्यत्वदुःखत्वे समवेत्य ततः पुनः ॥
अकर्तृकान्निरीहांश्च प्रत्ययाधीनसंभवान् ।
दृष्ट्वा सर्वेष्वनात्मेति तवत्तकारं नि)षेवते ॥
सर्वधर्मे(षु नै)रात्म्ये स्थिरा बुद्धिः प्रवर्तते । (वही, पृ० ३१९)

अब यहां विचार करने की यह एक बात है कि अभिधर्मदीपकार एवं व्याख्याकार यह कहते हैं कि सभी धर्मों को अनात्मा रूप में जब योगी प्रत्यक्ष करता है, तो उनको शून्यरूप में भी क्यों नहीं प्रत्यक्ष करता ?

इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही सुन्दर रीति से निबन्ध की पूर्व कल्पना में ही प्रस्तुत किया गया है, तथापि उसे स्पष्ट करना उचित समझ कर अभिधर्मदीपकार से उसकी सम्मति प्रदर्शित की जा रही है ।

प्रायः यह सुस्पष्ट है कि श्रावकयानी पुद्गल पिण्ड में अकुशल चित्तों से आत्म-ग्राह रूप से उसमें जकड़ा हुआ है । अत एव पिण्ड की अपनी स्वरूपसत्ता उन ग्राहों से व्यतिरिक्त भी है, ऐसा मालूम होता है । अत एव दीपकार कहते हैं—

स्वभावेनाविशून्यत्वा(द्) धर्ममुद्रा नु (उ) दाहृते (ता) ।
तदुक्त्या च तदुक्तत्वाच्छून्याकारो ण (न) देशितः ॥
(वही, पृ० ३९०)

सम्पूर्ण संस्कार मात्र स्वभावशून्य ही नहीं है, क्योंकि पृथिवी, जल, तेज, वायु प्रभृति के काठिन्यादि गुणों और उनके आधारों का भी प्रत्यक्ष होता है । रागादि के दोष से समुत्पन्न क्लेशों का श्रद्धा आदि गुणों से चित्त के मल की शुद्धि कर दी जाती है, तथापि हरीतकी, चित्रक, दन्ती जैसे के रस, वीर्य एवं विपाक के प्रभाव का दर्शन होने से उन सभी धर्मों की अपनी स्वभावता के कारण सभी की धर्ममुद्रा की भाँति सत्ता होने से शून्यरूप नहीं कहा जाता । यद्यपि सभी धर्म अनात्मरूप से कहे जाते हैं और उसी से उनकी शून्यता भी उक्त मालूम होती है, किन्तु इस कथन से नैरात्म्यवाद की ही मात्र स्थिरता द्योतित होती है ।

किन्तु पारमितायान में तो सभी धर्मों की प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर स्थिति होने के कारण उनकी अपने में शून्यता ही प्राप्त की जाती है । अत एव बोधिसत्व पुद्गल ज्ञानसंभारी के बल से शमथ एवं विपश्यना द्वारा वस्तु की शून्यता मात्र का

ज्ञान करता है। यहाँ तक श्रुतचिन्तामयी प्रज्ञा के द्वारा एकाग्रता की बात कही गई है। अब आगे भावनामयी प्रज्ञा का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

ज्यों ज्यों कुशल चित्तों का उत्पाद एवं अकुशल चित्तों का निरोध करके चित्त की एकाग्रता साधी जायगी, त्यों त्यों चित्त में कुछ अजीव सा हल्कापन प्रतीत होता है और साधक आगे समाधि के लिए उद्यत होता जाता है। अतः भावनामयी प्रज्ञा के बल से पुनः चार निर्वेधभागीय कुशलमूलों का उत्पाद किया जाता है। ये हैं—ऊष्मधर्म, मूर्धा, सत्यानुकूल क्षान्ति तथा लौकिकाग्रधर्म।

प्रायः सभी इन ध्यानविधियों में पहले चित्त को एकाग्र किया जाता है। फिर क्रमशः काम, वेदना, चित्त आदि धर्मों को अनित्य, दुःख, शून्य एवं अनात्म रूप से भावना करते हुये प्रत्येक संस्कारों में अनित्यदुःखशून्य एवं अनात्म की पारमार्थिक भावना को उत्पन्न किया जाता है। काष्ठ के बार-बार रगड़ने से उत्पन्न अग्नि की भाँति चित्त को भी बुद्धबिम्ब में बार-बार एकाग्र करने से परिशुद्ध कुशलमूल श्रद्धा का उत्पाद होता है। फिर इन चारों प्रत्ययों से वह षोडश आकारों वाले चार अभिसत्यों को देखता है। इस प्रकार जब साधन का चित्त वीर्यशाली होकर षोडशाकार कुशल धर्मों में हमेशा आतापी होकर विहार करता है तो उसे ऊष्मधर्म कहते हैं। इसमें भी जब कुशलमूल बढ़ जाता है, तो वह मूर्धा कुशलमूल कहलाता है। सत्यक्षान्ति से अनुगत मूर्धा का नाम ही क्षान्ति कुशलमूल है। यह तीन प्रकार का होता है। उसे अधिमात्र, मध्य तथा मृदु कहते हैं। पुनः विपश्यना के द्वारा जब चारों आर्यसत्यों की चारों दृष्टियों से षोडश आकारों को देखता हुआ योगी कुशलमूलों को बढ़ाता है तो उसे ही लौकिकाग्रधर्म कहते हैं। इस अवस्था में श्रद्धादि पंचेन्द्रियों का उत्पाद कोई-कोई मानते हैं। वस्तुतः चित्त के एकाग्र हो जाने पर ही चित्त और चैतसिकों के धर्म ही लौकिकाग्रकुशलमूल कहे जाते हैं। अभिधर्मसमुच्चय में इन चारों अवस्थाओं को क्रमशः चार समाधियों के रूप में कहा गया है। वे हैं—आलोकलब्ध समाधि, आलोकवृद्ध समाधि, एकदेशप्रविष्टानुसृत समाधि, एवं आनन्तर्यचित्त समाधि। इन प्रत्येक समाधियों में प्रज्ञा का संयोग सदा बना रहता है। पारमितायान में इन चारों समाधियों का निम्नलिखित रूप बतलाया गया है।

धर्मप्रविचय के द्वारा जब समाहित चित्त वाला साधक सभी धर्मों में नैरात्म्य की भावना करने से अर्थों की पृथक् अभिनिविष्ट सत्ता को न पाकर किञ्चित् ज्ञानालोक रूप सत्ता के कारण चित्तमात्र की ही सत्ता को देखता है, तो उसी को आलोकलब्ध समाधि नामक ऊष्मगत अवस्था कहते हैं और जब उसी धर्मालोक की अभिवृद्धि के लिए पुनः उसमें नैरात्म्य भावना की जाती है तो वीर्य का आरम्भ होता है। उस समय उसकी कुछ मध्य आलोक वाली सत्ता होती है। वही वृद्धालोक समाधि नामक मूर्धावस्था

कहलाती है और जब चित्तमात्र की अवस्था बिलकुल स्पष्ट हो जाती है तथा बाह्यार्थाभिनिवेश का अभाव हो जाता है तो मात्र ज्ञानालोक उत्पन्न होता है। वही सत्त्वार्थैकदेशप्रविष्ट समाधि नामक क्षान्त्यवस्था कहलाती है। इस प्रकार जब अर्थों को ग्रहण करने वाले विक्षेपों को ज्ञानालोक ही निष्पन्न करने लगता है, तो उनको आनन्तर्यसमाधि नामक लौकिकाग्रधर्मावस्था कहते हैं। महायानसूत्रालंकार में भी इन निर्वेध भागियों के विषय में लिखा है—

ततश्चासौ तथाभूतो बोधिसत्त्वः समाहितः।
मनोजल्पाद् विनिर्मुक्तान् सर्वार्थान् प्रपश्यति॥
धर्मलोकस्य वृद्ध्यर्थं वीर्यमारभते दृढम्।
धर्मालोकविवृद्ध्या च चित्तमात्रेऽवतिष्ठते॥
सर्वार्थप्रतिभासत्वं ततश्चित्ते प्रपश्यति।
प्रहीणो ग्राह्यविक्षेपस्तदा तस्य भवत्यसौ।
ततो ग्राहकविक्षेपः केवलोऽस्यावशिष्यते।
आनन्तर्यसमाधिश्च स्पृशत्याशु तदा पुनः॥

ये उपर्युक्त कुशलमूल ही निर्वेधभागीय कुशलमूल की संज्ञा पाते हैं। यहाँ से आर्यमार्ग प्रारम्भ होता है। इन कुशलमूलों में दुःखसत्यों का वेध किया जाता है। अत एव वे निर्वेधभागीय कहे जाते हैं। अभिधर्म-कोश-भाष्यकार निर्वेधभागियों की व्याख्या निम्न प्रकार से करते हैं—"निर्वेधभागीयानिति कोऽर्थः? विध विभागे निश्चितो वेधो निर्वेधः आर्यमार्गः, विचिकित्साप्रहाणात् सत्यानां च विभजनादिदं दुःखमयं यावद् मार्ग इति। तस्य भागो दर्शनमार्गैकदेशः। तस्यावाहकत्वेन हितत्वान्निर्वेधभागीयान्" इति (अभिधर्मदीप, पृ० ३९० में उद्धृत)।

पश्चात्तु खलु निर्वेध आर्यमार्गाह्वयस्ततः।
स यस्मान्निश्चितो वेधस्तस्मान्निर्वेध उच्यते॥
(वही, पृ० ४२२, श्लो० ४२२)

इस प्रकार लौकिकाग्रधर्म से अनास्रवलोकोत्तरधर्ममात्र का अवलोकन करने वाली दृष्टि उत्पन्न होती है। सूत्र में कहा भी गया है—

"लौकिकाग्रधि(ष्ठ)र्मानन्तरं समं नियममवक्रामति, यदवक्रान्तौ पृथग्जनभूमिं समतिक्रामति" इति। (अभिधर्मदीप पृ० ४३२-३३ में उद्धृत)

अभिधर्मकोश में भी कहा है—

लौकिकेभ्योऽग्रधर्मेभ्यो धर्मक्षान्तिरनास्रवा।
कामदुःखे ततोऽत्रैव धर्मज्ञानं तथा पुनः॥

ऊष्मगतादि चतुर्निर्वेदभागीय कुशलमूलों के आधार पर दुःखादि में धर्मज्ञान-क्षान्ति आदि पंचदश क्षणों वाले दर्शनमार्ग की उत्पत्ति होती है। फिर भावनामार्ग के अधिगम से त्रैधातुकों के क्लेशोपक्लेश राशि के नाश होने से आर्यसत्यों के क्षय के अनुत्पाद का ज्ञान होता है। इसमें ही आर्य पुद्गल क्लेशों का क्रमशः प्रहाण करता हुआ विमुक्तिमार्ग का आश्रयण करने वाली वज्रोपम समाधि का लाभ करता है। तदनन्तर क्रमशः अध्याशयानुसार अर्हत् तथा बुद्धत्व का लाभ होता है। किन्तु इस अर्हत्व और बुद्धत्व की अवस्था तक पहुँचने में अनेक जन्म लग जाते हैं। अत एव पुद्गल मन्त्रयानी साधन-पथ में प्रवृत्त होता है।

प्रायः यह देखा जाता है कि जैसा कार्य होता है, उसकी प्राप्ति के लिये उसी प्रकार का उपादान कारण भी आवश्यक होता है, क्योंकि अन्य सहायक कारण चाहें कितने भी हों, तथापि कार्य की निष्पत्ति तब तक नहीं होती जब तक कि उपादान कारण वर्तमान न रहे। ठीक इसी प्रकार पारमिता यान में बुद्धत्व प्राप्ति के लिये दो प्रकार के संभारों का अर्जन किया जाता है। वे है—पुण्यसंभार तथा ज्ञानसंभार। पुण्यसंभार के पूर्ण होने पर रूपीकाय तथा ज्ञानसंभार के पूर्ण होने पर धर्मकाय की प्राप्ति होती है। रूपीकाय के द्वात्रिंशत् लक्षणों के प्रसाधक हेतुओं की चर्चा करते हुये आचार्य हरिभद्र ने अभिसमयालंकारालोक में लिखा है—

यस्य यस्यात्र यो हेतुर्लक्षणस्य प्रसाधकः।
तस्य तस्य प्रपूर्यायं समुदागमलक्षणः॥
गुरूणामनुयानादिर्दृढता संवरं प्रति।
संग्रहासेवनं दानं प्रणीतस्य च वस्तुनः॥
वध्यमोक्षसमादानं विवृद्धिः कुशलस्य च।
इत्यादिको यथासूत्रं हेतुर्लक्षणसाधकः॥

(अभि० २६ परिवर्त)

अर्थात् उपर्युक्त रूपीकाय (संभोगकाय) के जो लक्षण हैं, उनके प्रसाधक हेतुओं को पूर्ण करने पर आर्य पुद्गल उनका अधिगम करता है। साधक को गुरु की विदाई, स्वागत एवं सेवा आदि अपने प्रतिज्ञात शील का दृढतापूर्वक पालन, चार संग्रह वस्तुओं का सेवन, अपनी प्रियतम वस्तु का भी दान, वध्य होने वाले पशुओं आदि की भक्ति, कुशल कर्मों का ग्रहण एवं उसका प्रचार आदि उपर्युक्त लक्षणों के साधक हैं। इन कर्मों से पुण्यसंभार की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार जगत् की परिकल्पित सत्ता के ज्ञान होने से ज्ञानसंभार की प्राप्ति होती है। क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के प्रहाण से वस्तु की तथता का साक्षात्कार हो जाता है। ज्ञानसंभार के बल से ज्ञानधर्मकाय की प्राप्ति होती है। अत एव बोधिसत्व को सम्पूर्ण पारमिताओं का सम्पादन करना पड़ता है। पारमिताओं में दान और शील के पूर्ण करने पर पुण्यप्रज्ञा के पूर्ण करने

पर ज्ञान तथा अन्य तीन ध्यान, क्षान्ति और वीर्य से दोनों संभारों की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार भूमियों की भी पूर्णता आवश्यक है।

यह ठीक है कि साधक इन संभारों का अर्जन करता हुआ क्रमशः संभोगकाय तथा धर्मकाय को प्राप्त करता है, तथापि यह कार्य कहने मात्र से पूर्ण होने योग्य नहीं है, क्योंकि पारमितायानी साधक गुरु के गुणों का क्रमशः अनुकरण करता हुआ बुद्धरूप गुरु की पूर्णता को बहुत दिनों में ही प्राप्त कर सकता है। वज्रयानी साधना की इसमें कुछ अपनी ही विशेषता है, क्योंकि वह कहता है कि मनुष्य सदा अपने श्वासों एवं प्रश्वासों के साथ ही रहता है। चाहे वह जीवित हो या परिनिर्वृत, उसकी चित्तसन्ततियों के साथ श्वास-प्रश्वासों का भी गमन तथा आगमन होता है। अत एव वज्रयानी साधक इन श्वास-प्रश्वासों को ही रूपीकाय (संभोगकाय) का उपादान कारण मानता है और धर्म के स्वरूप को जानने वाली प्रज्ञा का शून्यता दृष्टि से बोध करता हुआ क्रमशः धर्मकाय को प्राप्त करता है।

वज्रयानी साधक अब उपर्युक्त विधि के द्वारा सम्पूर्ण शरीर का विश्लेषण शुरू करता है। वह कहता है कि जिस प्रकार समस्त भू-मण्डल मेरु पर्वत पर आधारित है, उसी प्रकार मनुष्य शरीर भी मेरुदण्ड अथवा रीढ़ पर आधारित है। यह कटिभाग से लेकर शिर तक जाती है। शिर में ही सहजरूपात्मक तथतास्वरूप बुद्ध का निकेतन है, जिसका ज्ञान योग-साधना के द्वारा होता है। अब साधक इस मेरुदण्ड के शीर्ष पर विराजमान बुद्ध तत्त्व का साक्षात्कार करने के लिये इन श्वास-प्रश्वासों का सहारा लेता है। उस सहजतत्त्व तक पहुँचाने वाली नाड़ी को अवधूती कहते हैं। यह शरीर में ही विद्यमान है। किन्तु अवधूती का जागरण करना पड़ता है। इसे ही हिन्दू तान्त्रिक कुण्डलिनी जागरण कहते हैं। इस अवधूती के दाँयें और बाँयें दो नाड़ियाँ होती हैं, जिन्हें रसना तथा ललना कहते हैं। इन्हीं को दर्शन की भाषा में उपाय तथा प्रज्ञा भी कहा जाता है। इन रसना और ललना का समन्वय अवधूती में होता है। इन्हीं नाड़ियों के ऊपर तथा नीचे की ओर श्वास-प्रश्वास आया जाया करते हैं। वे प्राण स्वरूप हैं। इन दोनों को नियन्त्रित करके अवधूती का जागरण करना पड़ता है। किन्तु यह काम बहुत आसान नहीं है। क्योंकि जब तक मनुष्य के विचार नियन्त्रित नहीं हो जाते हैं, तब तक यह श्वास-प्रश्वास यों ही आया जाया करते हैं। अत एव अपने विचार या मन को संयमित करने के लिये हमें वाम नाड़ी ललना में आलि अर्थात् षोडश स्वरों का, तथा दक्षिण नाड़ी रसना में कालि अर्थात् व्यंजनों का गमनागमन कल्पित करना पड़ता है। ये दोनों नाड़ियाँ जहाँ जाकर मिलती हैं, उसे अवधूती कहते हैं। वही प्रज्ञोपाय का मिलन-स्थल है। ये स्थल देह के नाभिप्रदेश, हृदयप्रदेश तथा शिरःप्रदेश में होते हैं। इन स्थलों पर विभिन्न नाड़ियों की संधिस्थली के कारण उनकी चक्ररूप में

कल्पना की गई है। वे चक्र विभिन्न कमल दलों वाले हैं। नाभिप्रदेश को निर्माणचक्र कहते हैं, यह चौसठ दलों वाला होता है। हृदयप्रदेश को धर्मचक्र कहते हैं, यह आठ दलों वाला होता है। कण्ठप्रदेश को संभोगचक्र कहते हैं, यह सोलह दलों वाला होता है, और शिरःप्रदेश को महासुखचक्र कहते हैं। वह वत्तीस दलों वाला होता है। इनमें से नाभिचक्र में ललना, रसना और अवधूती नाड़ियों का संगम होता है। ललना वाम भाग से तथा रसना दक्षिण भाग से आकर अवधूती से मिलती है। वह अवधूती ऊपर की तरफ जाती है। जब ललना तथा रसना मन को केन्द्रित करते हुए अवधूती में मिलती हैं, तो वह बोधिचित्त रूप अवधूती को जागृत करती है। वह बोधिचित्त शुक्र-स्वभावात्मक होता है। वह उद्‌बुद्ध बोधिचित्त महासुख-रूप ब्रह्मरन्ध्र में स्थित बोधिचित्त से मिलने के लिये ऊपर चलता है। वहाँ वह चन्द्र कहलाता है। जब ललना तथा रसना पूर्णरूप से संयमित कर दी जाती हैं, तो श्वास-प्रश्वास बिलकुल शांत हो जाते हैं, तथा नाड़ियाँ नियन्त्रित हो जाती हैं। यह प्रज्ञा तथा उपाय स्वरूप होने के कारण शान्त होकर नाभि में बोधिचित्त के रूप में मिलते हैं। इस प्रज्ञा और उपाय के मिलन को चण्डाली कहते हैं। वह अग्निस्वरूप होती है। वही 'अ' वर्ण के रूप में नैरात्म्या, डोम्बी एवं अवधूती के रूप में भी कही जाती है। अग्निस्वभाव की होने के कारण चण्डाली ऊर्ध्वगमन करती हुई क्रमशः नाभि, हृदय, कण्ठ तथा शिरो देश को चली जाती है। वहाँ उष्णीषकमल जो महा-सुखरूप, बोधिचित्त या चन्द्ररूप होता है, उसमें अग्निरूप चाण्डाली मिलती है। फलतः चन्द्रमा का स्रवण होता है। वहाँ शान्त होकर वह 'हँ' स्वरूप को धारण करती है। पुनः वह नीचे की तरफ अन्य चक्रों से होती हुई पूरे शरीर का चक्कर लगाती है और वह निर्माणचक्र में पहुँच कर 'अ' तथा 'हँ' रूप को एक में मिलाकर अहंरूप वाली होती है। इस स्वरूप को प्राप्त करने में गुरु-कृपा की महती आवश्यकता है। अत एव उनके अनुसार मण्डल, मुद्रा, ध्यान, जप आदि सम्पन्न करना होता है तथा पूर्णावस्था का लाभ होता है। इसीलिये सरहपाद कहते हैं—

एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थु गंगासाअरु।
एत्थु प्रयाग वाराणसी, एत्थु ते चन्ददिवाअरु॥
वरवेत्थु पीठ उपपीठ, एत्थु महममह परिटढओ।
देह सरिसऊ तित्थ, महं सुह अण्ण (सुणेहु) ण दिट्ठजो॥ (दोहा कोश)

जब मन शान्त हो गया तो शरीर के सभी बन्धन नष्ट हो जाते हैं और जब साधक को सहज चतुर्थ अवस्था का स्वाद मिल जाता है तो उसके लिये न कोई ब्राह्मण होता है और न अब्राह्मण ही। उसके शरीर में ही गंगा, यमुना नदियों का वास है, वहीं प्रयाग तथा वाराणसी हैं, उसी में सूर्य तथा चन्द्र हैं। हमने सभी तीर्थ स्थानों का भ्रमण कर लिया। हमारे भ्रमण करने के लिये कोई तीर्थ स्थान नहीं छूटा। मैंने अपने शरीर की भाँति एक और भी आनन्दस्थली देखी है।

ठीक इसी प्रकार देह में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का वास है। इसकी यथार्थता शिवसंहिता के द्वितीय पटल के प्रारम्भ में देखने को मिलती है—

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥
सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते॥
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः।
ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः॥

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (स्कन्ध २ अध्याय ५) में ब्रह्माण्डरूपी विराट् शरीर का यह वर्णन है। वहाँ कहा गया है कि कटिदेश से ऊपर सात लोक हैं, तथा कटिदेश से नीचे भी सात लोक हैं—

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भीय निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥
ग्रीवायां च जनर्लोको तपोलोको स्तनद्वयात्।
मूर्धभिः सत्यलोकश्च ब्रह्मलोकः सनातनः॥
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमुरुभ्यां वितलं प्रभो।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां च तलातलम्॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्॥

इसी प्रकार हिन्दु तन्त्रों में भी छः चक्रों का वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु बौद्धों में छः चक्रों के बजाय चार चक्रों का वर्णन ही प्रचुरतया मिलता है और केवल चार ही नहीं, अपितु चार की संख्या में अन्य अन्यान्य यौगिक विधान 'हेवज्र-तन्त्र' में प्रस्तुत किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

"सम्बरभेदश्च कथ्यते। आलि-कालि-चन्द्र-सूर्य-प्रज्ञोपाय-धर्म-संभोग-निर्माण महासुखकायवाक्चित्तम्। एवं मया—

एकारेण लोचना देवी वंकारेण मामकी स्मृता।
मकारेण पाण्डुरा देवी च याकारेण तारणी स्मृता॥

निर्माणचक्रं पद्मं चतुष्षष्टिदलम्। धर्मचक्रे अष्टदलम्। संभोगचक्रे षोडशदलम्। महासुखचक्रे द्वात्रिंशद्दलम्। चक्रसंख्याक्रमेण व्यवस्थापनम्। चत्वारः क्षणाः—विचित्रः, विपाकः, विमर्दः, विलक्षणश्चेति। चत्वारि अङ्गानि—सेवा, उपसेवा, साधना, महासाधना चेति। चतुरार्यसत्यानि—दुःख-समुदय-निरोधमार्गाश्चेति। चत्वारि तत्त्वानि—आत्मतत्त्वं मन्त्रतत्त्वं देवतातत्त्वं ज्ञानतत्त्वं चेति। चत्वारः आनन्दाः—आनन्दः परमानन्दो विरमानन्दः सहजानन्दश्चेति। चत्वारो निकायाः—स्थावरी, सर्वास्तिवादः, संविदी, महासंघी चेति। चन्द्रसूर्य आलि कालि षोडश संक्रान्तिश्चतुःषष्टिदण्डो द्वात्रिंशन्नाडी चत्वारः प्रहाराः एवं सर्वे चत्वारः।

चण्डाली ज्वलिता नाभौ दहति पञ्चतथागतान्।
दहति च लोचना नाडी दग्धेऽहं स्रवते शशी॥

(हेवज्र, भाग १ पटल १)

इस प्रकार उपर्युक्त चार कायों एवं चार चक्रों आदि चार चार के समुदायों के अनुसार जो जो उपदेश दिये गये हैं, उन सभी का अधिगम द्वारा चण्डाली का जागरण होता है। वह चण्डाली 'अ' मातृक के रूप में नाभिदेश में अवधूति के रूप में विख्यात है। जो पुंप्रकृति के रूप में बोधिचित्त तथा स्त्रीप्रकृति के रूप में 'नैरात्म्या देवी' के रूप में कल्पित है। वह सुखरूप बोधिचित्त से उष्णीष-कमल में मिलती है। इसके सहज रूप में आपन्न होने से सम्पूर्ण कायवाक्चित्तरूप पिण्ड की शाश्वत रक्षा होती है। यह अकार मातृका ही मन्त्र है, क्योंकि अरूप बोधिचित्तोत्पाद से ही पुद्गल का त्राण होता है और सहजतत्त्व तक जाने का मार्ग खुल जाता है। अत एव पुद्गल के मन का रक्षक होने के कारण वह अकार ही मन्त्र है, क्योंकि वह परमाक्षर है। मूलतन्त्र में कहा है—

कायवाक्चित्तधातूनां त्राणभूतो यतस्ततः।
मन्त्रार्थी मन्त्रशब्देन शून्यताज्ञानमक्षरम्॥
पुण्यज्ञानमयो मन्त्रः शून्यताकरुणात्मकः।

(सेकोद्देशटीका, पृ० ६९)

अकारमन्त्र ही धर्मधातु आदि विभिन्न रूपों वाला है। इसे 'मूलतन्त्र' में ही निम्न प्रकार का बतलाया गया है—

अकारसंज्ञकः प्रोक्तो धर्मधातुर्महाक्षरः।
वज्रयोनिर्जिनेन्द्राणां कायवाक्चित्तकारणम् ॥

तथता भगवान् बुद्धः सम्बुद्धोऽकारसम्भवः।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यो महार्थः परमाक्षरः ॥

महाप्राणो ह्यनुत्पादो वाक्यताहारवर्जितः।
सर्वाभिलापहेत्वग्रः सर्ववाक् सुप्रभास्वरः ॥

कायवाक्चित्तनिष्पत्तिस्त्रिवज्राभेद्यधर्मिणी।
यस्याः सा जिनकायानां वज्रयोनिः प्रगीयते ॥

सर्वैश्वर्यादिधर्माणां बुद्धानामुदयो यतः।
स धर्मोदय आख्यातः पुण्यज्ञानमयः परः ॥

(सेको० टीका, पृ० ६९–७०)

इस 'अ' स्वरूपात्मक बोधिचित्त की सिद्धि रहस्यात्मक होने के कारण गुरुमुखैकवेद्य है। मन्त्रयान में गुरु की बड़ी विशेषता बतलायी गयी है। इसकी अन्य यानों से भी विशेषता बतलायी गयी है। अद्वयवज्रसंग्रह में लिखा है—मन्त्रनय अत्यन्त गंभीर है। अत एव गंभीर नय को ग्रहण करने वाले पुरुषों का विषय है। इसमें चतुर्मुद्रादि का प्रकाशन अत्यन्त विस्तार पूर्वक होने से सभी के उपदेश योग्य नहीं है। अत एव तीक्ष्णेन्द्रिय पुद्गलों के द्वारा वेदनीय है। कहा भी है—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहात् बहूपायाददुष्करात्।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ॥

(अद्वयवज्र, पृ० २१)

पहले हम कह चुके हैं कि पारमितायान तथा वज्रयान के उद्देश्य (फल) में भेद नहीं है। इन दोनों यानों का उद्देश्य बुद्धत्व को प्राप्त करना है। किन्तु उस बुद्धत्वरूपी उद्देश्य को प्राप्त करने के उपाय में महान् अन्तर है। गुह्य वज्रयान में रूप का असाधारण हेतु गंभीर उपाय होता है। पारमिता यान में रूप का आसाधारण हेतु गंभीर उपाय न होकर बोधिचित्त एवं षट्पारमिता मात्र है। गुह्य वज्रयान का वह गंभीर उपाय अपने इष्ट देव से योग की भावना है। इसके द्वारा फल अवस्था में प्राप्त होने वाले रूपकाय की आकृति एवं स्थान आदि की अपनी आकृति एवं स्थान आदि से समानता है। यह ठीक ही है, क्योंकि 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' यह साधन का प्रधान उद्घोष है। अत एव अपने स्वरूप को देव के समान बनाकर पुनः उसकी (देव की) पूजा करनी चाहिये। इसी लिये पंच ध्यानी बुद्धों की भावना आदि का प्रदर्शन किया जाता है।

अब इस पृष्ठभूमि पर 'गुह्य वज्रयान के योग' का तात्पर्य क्या है ? इस पर थोड़ा सा विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। गुह्य[1] शब्द की व्याख्या करते हुये बतलाया गया है कि काय, वाक् तथा चित्त ये तीन प्रकार के गुह्य हैं। ये बोधिचित्त से भेद्याभेद्य स्वभाव वाले हैं। वज्र[2] की व्याख्या में भी बतलाया जाता है कि वज्र शून्यरूप हीरा है, जो अच्छेद्य, अभेद्य, अप्रवेश्य, अदाह्य, अविनाश्य तथा दृढ़ है और [3]वज्रयान का अर्थ सभी तथागतों का ज्ञान बतलाया गया है। इसी प्रकार योग[4] को प्रज्ञा तथा उपाय की समापत्ति (पूर्णतायोग) माना गया है।

अब वज्रयोग क्या है ? इसके स्पष्टीकरण के लिये विमोक्षों की पूर्णता किस रूप से होती है, इसका विभिन्न यानों के आधार पर वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। जैसा कि श्रावकयान एवं पारमितायान की चर्चा में कहा गया था कि दर्शन मार्ग के सोलह क्षणों में से १५ क्षणों के अनन्तर भावना मार्ग प्राप्त होता है और उसके अन्तिम क्लेश का अधिमात्र। अधिमात्र भावना मार्ग के द्वारा क्रमिक श्रावक 'वज्रोपम समाधि' का अधिगम एवं पारमिता यान के बोधिसत्त्व को भावनामार्ग के द्वारा नौ भूमियों की पूर्णता के पश्चात् १०वीं भूमि में 'चरमभविक आनन्तर्य मार्ग' की उपलब्धि होती है, जो 'वज्रोपम समाधि' के समान है। जिसके द्वारा अतिसूक्ष्म क्लेशों का नाश कर दिया जाता है, वही बुद्धत्व का अधिकारी होता है। ऐसी ही प्रक्रिया वज्रयान की भी है, किन्तु इस वज्रोपम समाधि के प्राप्त होने के पूर्व ही विमोक्षों का लाभ करना पड़ता है और तब वज्रोपम की अवस्था प्राप्त होती है।

अब तीनों विमोक्षों का तीनों यानों के अनुसार वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। आर्य असंगपाद कृत महायानसंग्रह में लिखा है —

"यत्र शून्यता अनिमित्तता अप्रणिहितता निर्विशेषेण रूपेण कथिता, तत्र तु श्रुतचिन्तनभावनामयी प्रज्ञा एव वेदितव्या। यत्र ताभिः सह समाधिशब्द उक्तस्तत्र तु भावनामयी लौकिकालौकिका एव प्रज्ञा वेदितव्या। यत्र च ताभिः सह विमोक्षद्वारः कथितः, तेन तु केवलमलौकिकेव प्रज्ञा वेदितव्या" (संस्कृत छाया)।

इन तीनों सूत्रों को समझने के पूर्व विमोक्षों को समझ लेना आवश्यक है। विमोक्ष मुक्ति के द्वार हैं। विमुक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—चेतोविमुक्ति तथा

---

१. त्रिविधं कायवाक्चित्तं गुह्यमित्यभिधीयते। (गुह्यसमाज, पृ० १५२)

२. दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥ (अद्वयवज्रसंग्रह)

३. सर्वताथागतं ज्ञानं वज्रयानमिति स्मृतम्। (ज्ञानसिद्धि, १३७)

४. प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते। (गुह्यसमाज, पृ० १५३)

प्रज्ञाविमुक्ति। चूंकि चित्त की निर्मलता प्राप्त कर लेने पर ये विमुक्तियां सम्पन्न होती हैं, अत एव ये विमोक्ष कहे जाते हैं—

> विमुक्तेर्द्विप्रकारायाः प्राप्तये निर्मला पुनः।
> विमोक्षसु(मु ?)खशब्देन त एवाविष्कृतास्त्रयः॥
> (अभि० दीप, पृ० ४२४ श्लो० ५८३ अ० ८ पा० ३)

इन समाधियों के आधार पर शून्यता का साक्षात्कार किया जाता है। जैसे घट की निष्पत्ति में घट का स्वरूप, घट का कारण, एवं घट का फल आदि का ज्ञान व्यक्ति आवश्यक रूप से कल्पित करके रखता है, उसी प्रकार इन तीनों के आवश्यक शून्यता के ज्ञान को विमोक्ष कहते हैं। वास्तव में ये तीनों शून्य रूप ही हैं और शून्यता ही परमार्थ है, तथापि घटादि धर्मों की स्वरूपशून्यता का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान शून्यता, विमोक्षसमाधि हेतु की शून्यता का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान अनिमित्त विमोक्षसमाधि, एवं फल की शून्यता का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान अप्रणिहित विमोक्षसमाधि कहा जाता है। इनके नामान्तर भी पाये जाते हैं। राष्ट्रपालपरिपृच्छासूत्र में लिखा है कि शून्यता के शान्त, अनुत्पन्न स्वरूप को न जानने से पुद्गल संसार में भ्रमण कर रहा है—

> शून्यतायाश्च शान्तमनुत्पादनयमविजानदेव जगदुद्भ्रमति।
> तेषामुपायनययुक्तिशतैरवतारयन्त्यपि कृपालुतमाः॥
> (राष्ट्रपालपरिपृच्छा, द्वितीय परिवर्त, श्लोक संख्या ३०, महायानसूत्रसंग्रह)

महायान सूत्रालंकार में चतुर्विध धर्मसंवर को त्रिविध विमोक्ष समाधियों का आलम्बन माना गया है। चतुर्विध धर्मसंवर निम्न हैं—

(१) सर्वसंस्कृत अनित्य (२) सर्वसास्रव दुःखस्वरूप (३) सर्वधर्म शून्यता और अनात्मस्वरूप (४) निर्वाण शान्तरूप।

इनमें से संस्कृत अनित्य और सर्वसास्रव दुःख इन दोनों को अप्रणिधान विमोक्ष समाधि का आश्रय कहा गया है। सर्वधर्मशून्यता और अनात्मस्वरूप को शून्यताविमोक्ष समाधि का आलम्बन निर्देशित किया गया है और निर्वाणं शान्तं को अनिमित्त विमोक्ष समाधि का आश्रय कहा गया है।[१] इसका सुस्पष्ट वर्णन

---

१. समाध्युपनिषत्त्वेन धर्मोदानचतुष्टयम्।
देशितं बोधिसत्त्वेभ्यः सत्त्वानां हितकाम्यया॥
तत्र सर्वसंस्कारा अनित्याः सर्वसंस्कारा दुःखा इत्यप्रणिहितस्य समाधेरुपनिषद्भावेन देशितम्।
सर्वधर्मा अनात्मान इति शून्यतायाः शान्तं निर्वाणमिति अनिमित्तस्य समाधेः।
(महायान सूत्रालंकार)

भोटमहापण्डित पुण्यकीर्तिकृत प्रज्ञापारमिता अभिसमयालंकार व्याख्या में मिलता है। (शेस्-ख्-क्यी-फ-रोल्-तु-वियन्-पा-मन्-डग्-गी-व-स्तन्-वचोस् मड-गेन-पर-सोगस्-पजी-एयन्-ग्यी-रनम् वशद् । पन्-छेन्-वरसोद्-नमस्-गरगस-पस-मजद-पा)।

इन महायान शास्त्रों में आर्य सत्यों के सोलह विशेषणों या आकारों को आलम्बन करने वाली विमोक्ष समाधि को साधारण विमोक्ष समाधि और पूर्वोक्त तीन भेदों को आलम्बन करने वाली समाधि को असाधारण विमोक्ष समाधि कहते हैं। इस विषय पर स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर दृष्टियों के विभेद से आलम्बन के कारण श्रावकयान, पारमितायान तथा तन्त्रयान तक का क्रमिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

वैभाषिकों ने चार आर्य सत्यों को चार चार विशेषणों से युक्त करके १६ विभाग में विभाजित कर दिया है। उनका तीन विमोक्ष समाधियों के रूप में वे ध्यानलाभ करते हैं। 'अभिधर्मदीप' में सुस्पष्ट कहा है—

दशाप्रनि(णि)हिताकाराः शून्यताया द्वयं मतम् ।
अनिमित्तो मृताकारैश्चतुर्भिः संप्रवर्तते ॥
(अभिधर्मदीप, पृ० ४२४, श्लो० ५८२)

इनमें अप्रणिहित समाधि दुःख आर्य सत्य के अनित्यदुःख-समुदय आर्यसत्य के चारों एवं मार्ग के भी चारों विशेषणों अर्थात् १० विशेषणों से युक्त होती है। शून्यता समाधि, शून्य और अनात्म मात्र का आश्रयण करने वाली होती है। इसी प्रकार अनिमित्त समाधि निरोध के चार विशेषणों से युक्त होती है। ये महायान में भी होते हैं, किन्तु इनके साथ-साथ पूर्वोक्त तीन विमोक्षों, अर्थात् वस्तुओं की स्वभावशून्यता, कारणशून्यता और कार्यनिःस्वभावता के ज्ञान से सभी धर्मों की तथता का ज्ञान हो जाता है। क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण का समूल नाश हो जाता है और विशुद्ध, शान्त, चित्त निःस्वभाव रूप से शून्य में प्रतिभासित होता है। फलतः सम्पूर्ण वस्तुओं के निःस्वभावता के ज्ञान के कारण सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है। फलतः वह बुद्धत्व को भी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वैभाषिकों के द्वारा मात्र क्लेशावरण का नाश होने पर निर्वाण के अधिगम का मार्ग खुल जाता है। वस्तुतः इन तीनों समाधियों के प्रत्यक्ष लाभ होने पर श्रावकयान एवं पारमितायानों में वज्रोपम-नामक अवस्था का लाभ होता है। यह आनन्तर्य मार्ग के अनित्य क्षण की अवस्था है। यह समाधि वज्र की भाँति सभी अनुशयों का नाश कर देती है। इसलिये वज्र की समानता होने के कारण इसे वज्रोपम समाधि कहते हैं।

इसी के बाद अर्हत्पद की प्राप्ति होती है। अभिधर्मकोशभाष्य में लिखा भी है—"वज्रोपमसमाधेरनन्तरं पश्चिमो विमुक्तिमार्गः। अत एव तत् क्षयज्ञानम्। (A· K· V· Vi 45a पर उद्धृत)

चूँकि पारमिता यान में सभी विकल्पों का पूर्ण रूप से नाश करके इस अवस्था की प्राप्ति होती है, अत एव यह विकल्पानुशयों से अभेद्य होने के कारण 'वज्रोपम समाधि' कहलाती है। इसके अनन्तर सर्वाकारज्ञता स्वरूप अनुत्तर पद का लाभ होता है, जहाँ से सम्पूर्ण विश्व का कल्याण सम्पन्न होता है।

वज्रोपमं समाधानं विकल्पाभेद्यमेत्य च।
निष्ठाश्रयपरावृत्तिं सर्वावरणनिर्मलाम्॥
सर्वाकारज्ञतां चैव लभतेऽनुत्तरं पदम्।
यत्रस्थः सर्वसत्त्वानां हिताय प्रतिपद्यते॥

(महायानसूत्रालंकार, पृ० ९६)

इस प्रकार दोनों अर्थात् श्रावकयान एवं पारमितायानों में वज्रोपम की मात्र चर्चा चर्चित है। लगता है कि यही वज्रोपम की परम अवस्था को वज्रयान ने पूर्णरूप से अवतरित कर दिया है। वज्रयान में इस वज्रोपम समाधि की अवस्था का जो ज्ञान है, वह वज्रयोग के स्वरूप की अवस्था है, क्योंकि वज्रयोग प्राप्ति के पूर्व वज्रयान में विमोक्षों की प्राप्ति आवश्यक है और चूँकि वज्रयानी साधक गुरु-कृपा से एक पिण्ड में समग्र ब्रह्माण्ड की अवस्थिति को देखता है, अत एव उस पिण्ड को भी वज्रवत् मानकर क्रमशः उसके चार विभाग कर देता है। वह अपनी सत्ता का ही काय-वाक्-चित्त और ज्ञानरूप से विभाजन करके क्रमशः कायवज्रयोग, वाग्वज्रयोग, चित्तवज्रयोग एवं ज्ञानवज्रयोगों का लाभ करता है। इनके नामान्तर भी क्रमशः संस्थानयोग, धर्मयोग, मन्त्रयोग एवं विशुद्धयोग रूप से हैं। इन वज्रयोगों में दिव्य भावों का आविर्भाव होता है और वह सहजानन्द से युक्त रहता है। इस प्रकार बुद्ध के चार कायों का भी क्रमशः अपनी सत्ता के स्वरूप में अनुभूति करता है। निर्माण, संभोग, धर्म और सहजकाय उसके वज्र शरीर में ही विराजमान हो जाते हैं। वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय का प्रतिक्षण प्रत्यक्ष करता रहता है। उपेक्षा-मुदिता-मैत्री-करुणा नामक ब्रह्मविहारों से समन्वित हो जाता है। इन अवस्थाओं के प्राप्त हो जाने पर योगी का आध्यात्मिक स्तर ऊँचा हो जाता है। अत एव इन चारों का प्रतिव्यक्ति के रूप में पूर्णता की दृष्टि से विवेचन किया जाता है।

प्रथम वज्रयोग को विशुद्ध योग कहते हैं। इसमें शून्यता-विमोक्ष की प्राप्ति के अनन्तर ही समाधि-लाभ होता है। शून्यता का तात्पर्य निःस्वभावता है। यह शून्यता समाधि के तरह की होती है। इसकी प्राप्ति के अनन्तर तुरीय अवस्था का

क्षय, अक्षर महासुख का उदय, प्रज्ञोपायरूप सहजकायात्मक ज्ञान वज्रयोग का लाभ होता है। यही विशुद्ध योग है।

द्वितीय वज्रयोग को धर्मयोग कहते हैं। इसमें अनिमित्त विमोक्ष का लाभ किया जाता है। यह पारमितायान अनिमित्त समाधि की अवस्था है। इसकी अवाप्ति के अनन्तर सुषुप्तिका क्षय, नित्यानित्य द्वय ग्राहों से रहित मैत्री चित्त का उद्भव, जगत् के कल्याण की सहज भावना आदि का उद्भव हो जाता है। यह चित्त-वज्रयोग भी प्रज्ञोपायात्मक ज्ञानकायरूप है।

तृतीय वज्रयोग को मन्त्रयोग कहते हैं। इसमें अप्रणिहित विमोक्ष का लाभ करना पड़ता है। अप्रणिधान शब्द से 'सम्बुद्धो भवामीति' भावना का प्रतिषेध किया जाता है। इसके सम्पन्न होने पर स्वप्न का क्षय एवं अनाहत ध्वनि उत्पन्न होती है, जो सभी सत्त्वों में मुदिता का संचार करने की भावना उत्पन्न करती है। इस प्रकार यह अवस्था संभोगकायस्वरूप, प्रज्ञोपायस्वरूप एवं मन्त्रयोगस्वरूपात्मक होती है।

चतुर्थ वज्रयोग का नाम संस्थान योग है। इसमें अनभिसंस्कार नामक विमोक्ष का लाभ करना पड़ता है। इससे एक प्रकार का दिव्य ज्ञान उद्धृत होता है, जो जाग्रत् अवस्था का क्षय करता है। यह निर्माणकायरूप है। यह भी प्रज्ञोपाय-स्वरूप ही है। इसी को उपेक्षा रूप कायवज्र भी कहते हैं। सामान्य रूप से यही वज्रयोग है। जिसकी प्राप्ति का एक संक्षिप्त दृष्टिकोण यहाँ प्रस्तुत किया गया है॥

मृगेन्द्रागम का योग

श्री एन. एच. चन्द्रशेखर स्वामी, कनिष्ठानुसन्धाता योगतन्त्रविभाग, वा. सं. वि. वि. वाराणसी।

आगम साधना में दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। मृगेन्द्र आगम में पुत्रक, आचार्य आदि दीक्षा के पश्चात् योग का आश्रय लेकर जिस परम वस्तु को दीक्षा के समय प्राप्त किया जाता है, उसका बोध प्राप्त करने के लिये योग की आवश्यकता है। अतः विभिन्न प्रकार की साधनाओं का आश्रय लेना पड़ता है। आगम सिद्धान्त केवल वस्तुप्राप्ति को ही महत्त्व नहीं देता, अपितु उसके बोध को ज्यादा महत्त्व देता है। विभिन्न आगमों के योगपाद में विभिन्न प्रकार की धारायें वर्णित हैं। बोध प्राप्त करने के लिये योग सहायक है।

स्वरूप विस्मृति में अनन्त विकल्प युक्त विषयादि से बंधी हुई इन्द्रियाँ, अर्थात् बहिर्मुख वृत्तियां ही कारण हैं। इन्हीं को संसार कहा जाता है। इस बहिर्मुख संसार से अन्तर्मुख भाव लाने के लिये योग की आवश्यकता पड़ती है। युक्तता अथवा लक्ष्य तक पहुँचने का क्या साधन है? योग मार्ग लक्ष्य को प्राप्त करने का माध्यम है, अर्थात् अनन्त प्रकार के माध्यमों में योग भी एक माध्यम है।

साधारणतया आगम में दो मार्ग हैं। एक क्रममार्ग और दूसरा अक्रम। अक्रम-मार्ग में क्रमिक विकास का प्रश्न नहीं उठता। उसमें योगांग से युक्त होने का प्रश्न नहीं उठता। वह अकस्मात् होने वाला योग अथवा प्राप्ति कहलाती है। वह परमात्मा के अनुग्रह से होने वाली प्राप्ति अकस्मात् एवं किसी भी अपेक्षा अथवा हेतु को लक्ष्य करके नहीं होती। अतः इसको अक्रम-मार्ग कहा जाता है। मृगेन्द्र आगम में योग पाद में क्रम से साधना करने की प्रणाली को अष्टांगयोग मार्ग कहते हैं। यह पातञ्जल योग से विलक्षण है। परम शिव से युक्त होने के लिये अष्टाङ्ग मार्ग है। मृगेन्द्र आगम में अष्टाङ्ग योग[1] प्राणायाम से प्रारंभ होता है। (१) प्राणायाम, (२) प्रत्याहार, (३) धारणा, (४) ध्यान, (५) समाधि, (६) जप (७) ऊह, और (८) योग।

इसमें प्राणायाम शब्द से प्रारम्भिक क्रिया को बताया गया है। वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य बहिर्मुख किस कारण से होता है? इसका उत्तर है प्राणापान के असंयम से। (उच्छ्वास एवं निश्वास) संकोच एवं विकास ही संसार है। प्राण का बहिःप्रसरण

---

१. प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानमीक्षणम्।
जपः समाधिरित्यङ्गा अङ्गी योगोऽष्टमः स्वयम्॥ मृगे० यो० २

एवं अन्तःप्रसरण जो हो रहा है, अपने मूल स्थान से च्युत होकर अपने को भूल कर पुनः अपना बोध करने के लिये बाहर ढूंढता है। जब बाहर अपने स्वरूप को नहीं पाता, तो पुनः भीतर की गति पाता है। भीतर एवं बाहर दोनों गति सापेक्ष रहने के कारण वहां भी स्वरूप-बोध संभव नहीं है। इस प्रकार अज्ञान के कारण निरन्तर स्वरूप को ढूढ़ने के अनुरूप यह गति चल रही है। अतः जीवन द्वन्द्वमय बन गया है। इस संघर्षमय अवस्था को किस प्रकार बन्द करके अन्तर्मुख होना चाहिये ? यह प्राण ही मन से युक्त होकर अनन्त प्रकार के विकल्प उठाता है। विकल्पमय प्राण के कारण ही अनन्त प्रकार के विकल्प उठते हैं। वस्तुतः विकल्प ही तो संसार है। इस विकल्प का शमन करने के लिये प्राणायाम ही प्रारंभिक उपाय है। देह में जो अहं-बोध है, उसे क्रमशः प्राण, मन इत्यादि के द्वारा पूर्ण वस्तु तक ले जाने के लिये प्रयत्न किया जाता है। प्रथमतः जो प्राण अन्तः एवं बहिः बह रहा है, इस वहन को विषय-गति कहा जाता है। इसमें जो प्रत्यावर्तन चल रहा है, यही जीव-भाव है। जो प्राण की विषमता को हटाने के लिये नाना प्रकार के उपाय हैं, प्राण एवं अपान को समान रूप से करने के लिए उनकी गति के प्रति द्रष्टाभाव रखकर समता की प्राप्ति करना ही प्राणायाम कहलाता है। यह आगम की ही देन है। तन्त्रोक्त योग-साधना में अभ्यासी को पूरकान्त कुम्भक, अथवा कुम्भकान्त पूरक, अथवा शुद्ध कुम्भक इत्यादि प्राण वायु को आश्रय करके किये जाने वाले अभ्यास किसी विशिष्ट व्यक्ति के निर्देशन में करने पड़ते हैं। इनमें यदि ठीक ठीक क्रिया का परिवहन न किया जाय तो रोगादि भी हो सकते हैं, अतः इनकी अपेक्षा सहज प्राणायाम का आश्रय लेना अधिक निरापद है। आगमों में पूर्ण प्राणयोग का रहस्य छिपा हुआ है। यदि श्वास के उदय को एक बिन्दु मान लें तो दूसरा बिन्दु प्रश्वास है। अर्थात् जिस जगह से पुनः श्वास लौट कर आता है, वह प्रश्वास-बिन्दु है। इस प्रकार की सहज प्रक्रिया के साथ मन को जोड़ना चाहिये। प्रारम्भिक अवस्था में मन भाग जाता है। पुनः मन को लाकर जोड़ना चाहिये। इस में सफल हो जाने पर विकल्प नष्ट हो जाते हैं। इसी लिये सगर्भक कुम्भक पर ज्यादा जोर दिया गया है।

इन्द्रियों से जो सुख की अनुभूति हो रही है और इन्द्रियों में जो अभावात्मक सुख की अनुभूति हो रही है, इसका कारण है मन। यह सभी इन्द्रियों में जाकर उनको क्षुब्ध करता है। इस मन का आहरण करना ही प्रत्याहार है। यदि इन्द्रियों को बहिर्मुख रखकर मन को हटाया जाय तो शुद्ध व्यापक सत्ता का अनुभव होता है। इस प्रकार का अनुभव महासृष्टि स्वरूप प्रतिबिम्ब का अनुभव है।

प्राणायाम के पश्चात् स्वभावतः प्रत्याहार की कला अवगत हो जाती है और इन्द्रियों के द्वारा विषय में जो मन वृत्तियुक्त होकर जा रहा है, उसको हटाने की कला प्राप्त हो जाती है। फलस्वरूप अब मन शुद्ध हो जाता

है। विषय-कलुषित मन को शुद्ध एवं निर्मल बना लेना प्रत्याहार का काम है। इसको यद्यपि मन कहते हैं, तथापि यह शुद्ध मनोभूमि है। यही आगे चल कर ध्यान की भूमि बन जाती है।

प्रत्याहार द्वारा शुद्ध चित्त धारणा के योग्य बन जाता है। अनन्तर धारणा में अवरुद्ध चित्त में किसी एक आकार को उस मन के साथ योजन करना चाहिये। धारणा में अनन्त प्रकार की धारणाओं का उल्लेख है। धारणा से ही चित्त-स्थैर्य प्राप्त होता है और हिमादि वर्णों का आविर्भाव होता है। इन वर्णों का भी रहस्य है। इस वर्णानुसंधान अथवा धारणा में नाना प्रकार का विज्ञान-रहस्य छिपा हुआ है। वस्तुतः जिसको हम अर्थ अथवा जगत् कहते हैं, वह मूल में इन्हीं वर्णों के उपादान से बनता है। सारा संसार वर्णमय है। यहाँ तक कि मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय, विषय, सब कुछ इन वर्णों से बनते हैं। अतः सांख्य दर्शन में सत्त्व, रज और तम को श्वेत, रक्त और श्याम वर्णमय माना गया है। इन वर्णों की परस्पर मिलित अवस्था ही प्रकृति है। जो प्रकृति की धारणा करता है, वह प्रकृति को अधीन करके सृष्टि आदि भी कर सकता है। केवल वर्णाभिव्यक्ति ही पर्याप्त नहीं है। इन वर्णों में अनन्त प्रकार के वर्णों के अभिव्यक्त आकारों की धारणाओं का स्थिरीकरण भी आवश्यक है। किस प्रकार आकृतियों की अभिव्यक्ति होती है, यह अतिरहस्य की बात है, यही धारणा का रहस्य है।

प्राण और मन को शुद्ध करने के पश्चात् ध्यान किया जाता है। ध्यान एक प्रकार का होने पर भी उपास्य के भेद से ध्यान के आकार प्रत्येक साधक के अलग-अलग होते हैं। बार-बार एक आकार को चित्त में निक्षेप करना ही ध्यान कहलाता है।

जब साकार भूमि में एकतानता प्राप्त हो कर देवतात्मक बोध हो जाता है, तो उसको समाधि कहते हैं। आकार में एकतानता का भाव प्राप्त करके जब देवता का स्वरूप ही अपना स्वरूप है, इस बोध में अनुस्यूत रहता है, तो इस प्रकार की एकता-नता को समाधि कहते हैं।

इस प्रकार के किसी निर्दिष्ट ध्यानज आकार को सामने रख कर गुरु-प्रदत्त बीज-मन्त्र का जप करना चाहिये। जप में नाना प्रकार के जप हैं। ध्यान-गत मूर्ति को संमुख रख कर द्रष्टाभाव में रहकर जप करना चाहिये। वस्तुतः जो ध्यानज आकार है, यह मनोभूमि का ही आकार है। अर्थात् शुद्ध मन ही ध्यान के कारण देवताकार बन गया है। यह अद्वैत भूमि है। इस प्रकार देवता के आकार को सम्मुख रखकर गुरु-प्रदत्त मन्त्र के बल से देवता का सम्मुखीकरण करके उससे बोधात्मक सम्बन्ध स्थापित करना ही जप कहलाता है। मृगेन्द्रागम में देवता का सम्मुखीकरण करके उसे बोधात्मक भूमि में रखकर सम्बन्ध (Spiritual commu-

nication) स्थापित करना ही जप कहलाता है। यह सम्मुखीकरण ही आगे चलकर पूर्णतत्त्व, अर्थात् योग तक ले जाता है।

गुप्त आत्मस्वरूप में सम्मुखीकृत ध्यान से आकार एवं स्वात्मस्वरूप में रहकर इस जप भूमि में सत्तर्क किया जाता है। यह सत्तर्क अर्थात् बोधात्मक जिज्ञासा ही अन्तरंग जिज्ञासा है। यही शुद्ध विकल्प की भूमि है। इस ऊह का बड़ा महत्त्व है। यही अनन्त प्रकार के शास्त्र एवं विज्ञान की उपदेश भूमि है। अनन्त आगम एवं वेदोत्पत्ति की भूमि यही है। साधक अपने आधारानुसार इस भूमि में बोध का ग्रहण कर सकता है। यहाँ पर गुरुकृपा अर्थात् दीक्षा के समय प्रदत्त कृपा का अनुभव होने लगता है। परम वस्तु के योग में यह सब सहायक हैं। अतः इस ऊह अवस्था में साधक को कौन सा पथ ग्रहण करना चाहिये, किस प्रकार से आगे के पथ में अग्रसर होना चाहिये, यह सब इसी भूमि में स्वाभाविकतया आ जाता है। अतः इस अवस्था को ऊह कहा जाता है। इस सत्तर्क अथवा अभिवीक्षण के फलस्वरूप योगी का बोध विश्वव्यापक हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य का तेज विश्व को व्याप्त किये है, उसी प्रकार योगी की शक्ति व्यापक है। इस प्रकार के सत्तर्क से व्यापकभाव जग जाता है।

ऊह अथवा सत्तर्क का आश्रय करके शिवस्वरूप को प्राप्त करने के लिए सब पदार्थों का त्याग करके शिवत्व का अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार के अभ्यास से स्वाभाविकतया आकार का उन्मीलन होता है। इस स्वरूप का साक्षात्कार ही योग अवस्था कहलाती है। इस योग तक आते आते सत्तर्क के कारण चित्त का संस्कार नहीं रहता। अत एव निस्तरंगित प्रशान्त समुद्र की तरह स्वात्मस्वरूप में ही स्वस्वरूप का उन्मीलन होता है। योग अवस्था में स्वात्मस्वरूप को प्राप्त किया जाता है। यही निरावरण नित्यज्ञानक्रियायुक्त अवस्था की पूर्णता है। ज्ञान का तात्पर्य है प्रकाशस्वरूप शिव, क्रिया का तात्पर्य है शक्ति। योग अवस्था में ज्ञान-क्रिया की स्वात्मावस्था की प्राप्ति होती है। ज्ञानक्रियास्वरूप यही शिवत्व है। इस शिवत्व की प्राप्ति ही योग कहलाती है। ऊह के पश्चात् क्रमशः योग-भूमि में प्रवेश करना पड़ता है। इसमें प्रथमतः स्वात्मस्वरूप में आत्मा के आकार का उन्मीलन होता है। पश्चात् वह आकार भी आत्मस्वरूप बन जाता है। ज्ञान एवं क्रिया का योग होना ही पूर्णत्व अथवा योग कहा जाता है। इस पूर्णत्व में ज्ञान एवं क्रिया का योग हो जाता है। यह ज्ञान एवं क्रिया का जो योग है, यही यथार्थ आत्मस्वरूप के साथ योग कहा जाता है। क्रिया एवं ज्ञान ही शिव अथवा पूर्ण स्वरूप है। शुष्क ज्ञान भी अपूर्ण है। केवल क्रिया बिना आधार नहीं रह सकता, अत एव ज्ञान एवं क्रिया से पूर्णता का निर्वचन हो सकता है। अत एव इस आगम में ज्ञान एवं क्रिया युक्त अवस्था ही पूर्णत्व की अवस्था कही जाती है। अत एव ज्ञानक्रिया सम्पन्न योगी को विश्वात्मक एवं विश्वोत्तीर्ण अवस्था प्राप्त पूर्ण योगी कहा जाता है। यही पूर्ण योग है।

क्रिया ही विश्वात्मक स्वरूप है। ज्ञान ही विश्वोत्तीर्ण अवस्था है। यही ज्ञान-क्रिया का रहस्य है। इस ज्ञान क्रिया को ही योग कहा जाता है। यही अखण्ड स्वरूप है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस आगम में प्रतिपादित अष्टांग योग पातंजल योग से कुछ भिन्न प्रकार का है। इसमें सब से महत्त्वपूर्ण भिन्नता है चित्त को प्रत्याहार क्रम से निर्मल कर उस चित्त की धारणा द्वारा इष्ट के साथ एकतानता। एकतानता के फलस्वरूप सम्मुखीभाव प्राप्त हो जाता है। यह सम्मुखीभाव ही आगे चल कर सत्तर्क में बदल जाता है। पश्चात् अपने स्वात्मस्वरूप का पूर्ण बोध होता है। यह स्वात्मस्वरूप ही ज्ञान एवं क्रियायुक्त शिवावस्था है। इनमें क्रमशः चलना चाहिये, यह बात नहीं है। किसी भी एक अवस्था का उदय होने पर योग तक पहुँच सकते हैं। यही शिवत्व प्राप्ति है। इनमें सम्मुखीकरण का उदय हुआ तो उसमें सभी अंग सम्पूर्णरूपेण उदित हो जाते हैं। इसमें एक के प्रति दूसरा सहायक है। एवं सब मिलकर पूर्ण योग के पूरक हैं॥

सन्त ज्ञानेश्वर का तत्त्वज्ञान और शैवदर्शन

श्री एन. एच. चन्द्रशेखर स्वामी, कनिष्ठानुसंधाता योगतन्त्रविभाग, वा. सं. वि. वि., वाराणसी।

महाराष्ट्र के सन्त साहित्य में सन्त ज्ञानेश्वर का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। आज भी ज्ञानेश्वर व तुकाराम महाराज की गुणगाथा गाई जाती है। ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने ज्येष्ठ बन्धु निवृत्तिनाथ से कृपा पाई थी। वे अपने सब ग्रन्थों में इनकी कृपा का वर्णन करते हैं। गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ नाथ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसके फलस्वरूप इन पर भी नाथपन्थ का प्रभाव रहा। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ और निवृत्तिनाथ इस परम्परा से इनको ज्ञान प्राप्त हुआ था। उसी समय महाराष्ट्र में दूसरी एक नाथ-परम्परा थी—आदिनाथ, हरिनाथ, रघुनाथ, मुकुन्दराज। इस परम्परा के मुकुन्दराज ने विवेकसिन्धु व परमामृत दो ग्रन्थ लिखे हैं। हरिनाथ को साक्षात् श्री शंकर भगवान् का अनुग्रह हुआ था। प्रस्तुत लेख का प्रयोजन इस नाथ-परम्परा के तत्त्व-ज्ञान का आलोचन करना है।

ज्ञानेश्वर का प्रभाव अपने जीवनकाल में वैष्णव सम्प्रदाय के पंढरपुर निवासी सन्त नामदेव पर पड़ा। बारकरी सम्प्रदाय सन्त ज्ञानेश्वर को अपनी गुरु-परम्परा में उच्च स्थान देता है। परवर्ती महाराष्ट्र सन्तों पर भी ज्ञानेश्वर का गहरा प्रभाव है। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी इक्कीस साल की अल्पायु में ही शिवशक्तिसामरस्य प्राप्त कर लीलामय जीवन में रहते हुये कई अमर [1]ग्रन्थों का निर्माण किया है। इनका जन्म शक ११९७ में श्रावण वदि अष्टमी के दिन हुआ। शक १२१८ कार्तिक वदि त्रयोदशी के दिन रुद्रायणी नदी के किनारे इन्होंने समाधि ली। ज्ञानेश्वर ने अनेक ग्रन्थों का अवलोकन किया था, इसमें शंका नहीं है। इनके ग्रन्थों पर परम्परागत

---

१. ग्रन्थों के नाम—(१) भावार्थदीपिका, (२) अमृतानुभव, (३) चांगदेव पासट्ठि, (४) योगवाशिष्ठ, (५) आत्मानुभव, (६) उत्तरपत्रिका, (७) पञ्चमुद्रा, (८) अन्वयव्यतिरेक, (९) द्वैतनिरूपण, (१०) गीतारत्नम्, (११) उत्तरपंचविंशी, (१२) योगिनी, (१३) शुकाष्टकम्, (१४) विष्णुसहस्रम्, (१५) गीतासार, (१६) उत्तरपंचविंशी, (१७) उत्तरगीता, (१८) महावाक्य, (१९) गायत्री-रहस्य, (२०) कल्याणपत्रिका, (२१) अभंग, (२२) स्वार्थपत्र, (२३) गुह्य-सप्तक, (२४) मुद्राप्रकाश (श्रीज्ञानेश्वराचें तत्त्वज्ञान, डा० शं० वा० पेंडसे, द्रष्टव्य–पृ. २९५)।

बारकरि सम्प्रदाय के लोग केवल भावार्थदीपिका (भगवद्गीता की टीका), अमृतानुभव, चांगदेव पासट्ठि और अभंग को ही ज्ञानेश्वर के ग्रन्थ मानते हैं।

नाथपन्थ के तत्त्वज्ञान और शैवागमों का प्रभाव पड़ा था। इन पर उपनिषद्, गीता, योगवाशिष्ठ, गौडपादकारिका इत्यादि का भी प्रभाव रहा। ज्ञानेश्वर केवल ग्रन्थों का अध्ययन करके समालोचना करने वाले दार्शनिक व्यक्ति नहीं थे, किन्तु बाल्य-काल में ही गुरुकृपा प्राप्त कर अनुभूति के मार्ग में चल कर परावाग् की अनुभूतियों के प्रभाव से अपने ग्रन्थों को लिखा है। इनके तत्त्वज्ञान को शंकर, रामानुज आदि आचार्यों के सिद्धान्तों के साथ तुलना करके साम्य-वैषम्य से ज्ञानेश्वर की मौलिकता को समझना सम्भव नहीं है।

इनके अमृतानुभव ग्रन्थ से इनके जीवन-दर्शन एवं अनुभूति का विवरण मिलता है। यह शिव-शक्ति के सामरस्य के ऊपर गुरुतत्त्व को मानते थे और इस गुरुतत्त्व को निवृत्तिनाथ के नाम से सम्बोधित करते हैं। इनकी अनुभूतियों की उच्चकोटि के शैवागमों के दर्शन व योग के साथ तुलना की जा सकती है।

इस लेख का मूल उद्देश्य ज्ञानेश्वर के ग्रन्थ अमृतानुभव के आधार पर उनके स्वानुभूत दार्शनिक तत्त्वों की शैवागमों के साथ तुलना करना है। योगी की स्वानुभूति पर एक विलक्षण दर्शन की भित्ति खड़ी है। ज्ञानेश्वर ने अपने अनुभव को और शैवागमों को ही नींव मानकर अपने जीवन दर्शन को उपस्थित किया है। शैवा-गमों को उन्होंने अवश्य प्रमाण मान लिया है, किन्तु वह केवल भाषानुवाद नहीं है। अपने वैशिष्ट्य को उन्होंने स्वात्मानुभूति से अभिव्यक्त किया है। इस प्रसंग में कुछ बातें स्पष्टतया समझनी चाहिये। प्रत्येक योगी या साधक जब गुरुकृपा प्राप्त कर लेता है, और जब उसकी अनुभूति का द्वार खुल जाता है, तब वह अपने परम्परा के तत्त्व के साथ अपने आधारानुकूल वैशिष्ट्यके अनुसार कुछ नवीनता अवश्य प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनुभूति में मौलिकता व माधुर्य अवश्य रहता है। सन्त ज्ञानेश्वर की रचना में परम्परागत शैवागमों के तत्त्वों की झलक दिखाई पड़ती है, साथ ही साथ मौलिकता भी दृष्टिगोचर होती है।

अद्वैत शब्द का भारतीय दर्शन में विभिन्न विचारकों ने अपने ही पारिभा-षिक अर्थ में उपयोग किया है। अत एव अद्वैत कहते ही किसी एक निर्दिष्ट प्रकार का बोध होना चाहिये यह बात नहीं है। अपने मन में निर्दिष्ट प्रकार के अद्वैत संस्कार को रखकर किसी शास्त्र की वासना से दूषित बोध से किसी सन्त के अद्वैत को पहचान नहीं सकते, क्योंकि सन्त सब कुछ भूल कर अपनी वाणी के द्वारा जिस तत्त्वज्ञान को कहता है, उसको उसी प्रणाली से समझने का प्रयास करना चाहिये। अनुभूति-प्रवण योगी का अनुभव किसी सिद्धान्त का अनुसरण करने की परवाह नहीं करता, क्योंकि उसके अन्तःस्थित महाशक्तिस्वरूप गुरु के आदेशानुसार वह अन्तःस्थित शक्ति की प्रेरणा का अनुसरण कर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। अत एव ज्ञानेश्वर ने किसी आचार्य के तत्त्वज्ञान का अनुसरण किया है, यह भ्रममात्र है।

ज्ञानेश्वर अखण्ड महासत्ता को संवित् स्वरूप मानते हैं। वह समरस अवस्था है। शिवशक्ति एकाकार रूप से है। इसमें जो विश्व-वैचित्र्य चल रहा है, वह शक्ति का ही खेल है अथवा शिव का ही खेल है, कहना कठिन है।[१]

शिव और शक्ति का इतना घनिष्ट सम्वन्ध है कि शक्ति के विना शिव का शिवत्व भी नहीं टिक सकता। शिव को वोधस्वरूप भी शक्ति से ही प्राप्त होता है। उदाहरण स्वरूप एक स्त्री सोये हुए पुरुष को विना उठाये पकवान् वना लेने के वाद उसे खिलाने के लिये जगाती है, वह पुरुष को जिस प्रकार आश्चर्य चकित कर देती है उसी प्रकार शक्ति शिव को आश्चर्य चकित कर देती है। शिव शक्ति का आश्रय लेकर स्वयं सर्व भोक्ता वन जाता है। एक दृष्टि से शिव और शक्ति एक ही हैं। जिस प्रकार वायु के साथ गति, सुवर्ण के साथ उसकी कान्ति हैं, उसी प्रकार दोनों अभिन्न रूप से भास्य और भासक वनकर जगत् रूप से खेल रहे हैं। इस प्रसङ्ग में ज्ञानेश्वर कहते हैं—[२]"अपने शरीर के अहं को हटाकर शिव-शक्ति के साथ एक हो गया हूँ।" जिस प्रकार लवण समुद्र में गिर जाने पर समुद्र स्वरूप वन जाता है, उसी प्रकार देहात्मबोधयुक्त अहं को छोड़कर पूर्ण शिवशक्ति-स्वरूप वन जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि शिवशक्ति-समावेश युक्त स्वरूप ही पूर्णता है। शिव[३] शक्ति के विना जगत् के अनेक वैचित्र्य का भान नहीं कर सकता है, क्योंकि विना शक्ति जगत् रूपी दृश्य नहीं हो सकता है। अर्थात् दृश्य रूप शक्ति के विना द्रष्टारूप शिव कुछ भी नहीं कर सकता है। एक अखण्ड अद्वैत स्वरूप, जिसको शिवशक्तिस्वरूप कहा जाता है, उसमें स्वयं अपनी लीला से भोक्ता और भोग्य वन गया है। दोनों समरस हैं, अर्थात् एकरस हैं। इसको समझाने के लिये पति-पत्नी का दृष्टान्त दिया गया है। सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व युक्त शिव अपनी शक्ति के साथ एकरस है। दो दण्डों के टकराने से एक आवाज होती है, अथवा दो फूलों से एक सुगन्ध, दो दीप होने पर भी एक प्रकाश, दो ओंठ होने पर भी एक ही उच्चारण, दो आँखे होने पर भी एक ही दृष्टि है, उसी प्रकार शिवशक्ति दोनों के योग से एक जगत् है।" (अमृतानुभव, प्र० १ श्लोक १८, १९)। इससे यह स्पष्ट होता है कि दोनों मिलकर जगत् की सृष्टि करते हैं। दोनों का अस्तित्व परस्पर निर्भर करता है। दूसरी वात यह है कि जगत् का कर्तृत्व शिव में है,

---

१. सार्धं केन च कस्यार्धं शिवयोः समरूपिणोः।
ज्ञातुं न शक्यते लग्नमिति द्वैतच्छलान्मुहुः॥ (अमृतानुभव, १–२)

२. अमृतानुभव, प्र० १—६२।

३. यही सिद्धान्त शङ्कराचार्य कृत सौन्दर्यलहरी के प्रथम श्लोक में देखने को मिलता है—"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितु-मपि" इत्यादि।

यदि शक्ति अपने अनंत वैचित्र्य को स्फुरण नहीं कर सकती, तो शिव में कर्तृत्व कहां से आयेगा। शिव ही शक्ति रूप से भासित हो रहा है। यदि शक्ति ही न रहे तो सर्वकर्तृत्व[1] शिव में किस प्रकार आयेगा। इससे स्पष्ट है कि दोनों के समावेश को अलग करके कहना कठिन है। जिस प्रकार सूर्य और प्रभा दोनों एक ही है, उसी प्रकार शिव और शक्ति[2] एक ही है। ज्ञानेश्वर ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में जिन श्लोकों को उद्धृत किया है, उससे स्पष्ट होता है कि इनकी दृष्टि में शिव शक्ति से युक्त अथ च द्वैत से परे परा संवित् स्वरूप है—

[3]मूलायाग्राय मध्याय मूलमध्याग्रमूर्तये।
क्षीणाग्रमूलमध्याय नमः पूर्णाय शम्भवे॥

मूलस्वरूप प्रमाण-प्रमेय को प्रकाशित करके भी उससे अपने स्वरूप को उसी तरह अलग रखता है, जिस प्रकार चन्द्र अपनी ज्योत्स्ना को प्रकाशित करते हुए भी अपने स्वरूप को अलग रखता है। चैतन्य की दृष्टि से बन्ध और मोक्ष सापेक्ष हैं। आत्मस्वरूप इनसे अतीत है। चारों प्रकार की वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, आविद्यक है, क्योंकि चित् शक्ति ही संकोच लाभ कर चार प्रकार की वाणी के रूप में बहिः स्फुरित होती है। वस्तुतः पूर्ण चैतन्य स्वरूप को हम इससे पा नहीं सकते। चैतन्य सामान्य एवं विशेष स्वरूप प्राप्त करके भी उससे लिप्त नहीं होता है। शुद्ध चैतन्य शक्ति ही अनुभव, अनुभाव्य, अनुभावक होने पर भी उससे अलग है। अन्तिम अनुभव के स्वरूप को परा वाणी भी अभिव्यक्त नहीं कर सकती है।

इस प्रकार परम वस्तु का स्वरूप जीव को विस्मृत हो गया है। इस स्वरूप-विस्मृति को दूर करने की शक्ति शब्द में है। सद्गुरु के उपदेश के श्रवण से इस स्मृति का बोध होता है। सच्चिदानन्दस्वरूप स्मरण व अस्मरण दोनों के परे है, वस्तुतः आत्मा स्वसंवेद्य है।

स्वरूपगोपन के कारण ज्ञान ही अज्ञान स्वरूप हो गया है। मूल में अविद्या भावरूपी कोई पदार्थ नहीं है। इसको समझाने के लिये शब्द की आवश्यकता नहीं है। आत्मा अपने ज्ञानरूप से ज्ञान नहीं कर लेता। आत्मा स्वतःसिद्ध है। उसको शब्द प्रकाशित नहीं कर सकता।

---

१. इस प्रसंग में नित्याषोडशिकार्णव के चतुर्थ पटल के प्रारंभ के ६-७ श्लोक तुलनीय हैं।

२. अभिनवगुप्त ने बोधपञ्चदशिका में यही अर्थ प्रतिपादित किया है—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद्व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव॥ (श्लो. ३)

३. यह श्लोक उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली में (२।९) उपलब्ध होता है। मायिदेव ने अपने अनुभवसूत्र में भी इसको उद्धृत किया है।

[1]ज्ञान अज्ञान दो जुड़वे के समान हैं, क्योंकि ज्ञान अपने को छुपाकर अज्ञान को व्यक्त करता है। अत एव इससे स्पष्ट है कि ज्ञान और अज्ञान परस्पर विरुद्ध नहीं है। शैवागम की परिभाषा में संकुचित बोध ही अज्ञान कहलाता है। यहाँ ज्ञान अज्ञान का विरोधी नहीं है। इस प्रसंग में सन्त ज्ञानेश्वर महाराज अज्ञान खंडन प्रकरण में विशेष विवरण देते हैं। जिस प्रकार प्रमाण प्रमेय को सिद्ध करता है, किन्तु अपनी सिद्धि नहीं कर सकता, उसी प्रकार अज्ञान अपने को समझ नहीं सकता, क्योंकि वह जड़ है। यदि अज्ञान ज्ञान से प्रतीत होता है, तो उसे अज्ञान किस प्रकार कहा जायगा। यदि अज्ञान ज्ञानरूप आत्मा का आवरण नहीं करता, तो उसे अज्ञान नहीं कहा जा सकता। आत्मा में सब प्रकार के अज्ञान को रखते हुये आत्मस्वरूप ज्ञान यदि रहता है, तो उसको अज्ञान कहना व्यर्थ है। अत एव आत्मा में ही ज्ञान व अज्ञान दोनों भासित होते है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान अज्ञान का विरोधी नही है। कार्य और कारण अभिन्न हैं। अत एव अज्ञान एवं उसके कार्य सब अज्ञान रूप हैं। अज्ञान यदि अलग रहता तो आत्मा से अतिरिक्त दिखाई देता। आत्मज्ञानस्वरूप चैतन्य है। स्वयं जगदाकार होकर विस्तृत होकर दिखाई देता है और जगत् को देखनेवाला द्रष्टा भी वही है।

ज्ञानरूप आत्मा के अतिरिक्त एक अज्ञान है, इस प्रकार विचार करनेवाले को अज्ञानवादी कहा जाता है। इसके उत्तर में ज्ञानेश्वर कहते हैं कि यह दृश्य नामरूपात्मक जगत् अज्ञान का कार्य नहीं हैं, अपितु अखंड ज्ञान प्रकाश का ही विकास है।

अनन्त वैचित्र्य रूपी जगदाभास चैतन्य स्वरूप स्वातन्त्र्य का खेल है। यह सृष्टि चिद्विलास है, अत एव इसको अज्ञान कहना ठीक नहीं है। चैतन्य ही ज्ञान एवं ज्ञाता रूप से भासित होता है। अनन्त दृश्य एक ही चैतन्य में स्फुरित हो रहे हैं। चैतन्यातिरिक्त कुछ भी नहीं है। अनंत तरंगे एक ही जलाशय में होती हैं। चैतन्य की शक्ति नित्य नवनवोन्मेषशालिनी है। निरन्तर भिन्न में अभिन्नोदय होता रहता है। सर्वज्ञता और स्वातन्त्र्य चैतन्य में है। इस चिदात्मा से विकसित जगत् अनंत वैचित्र्य युक्त होने पर भी एक ही है। उदाहरण स्वरूप कमल में अनेक दल होने पर भी कमल एक ही कहलाता है, उसी प्रकार जगत् अनंत वैचित्र्यमय होने पर भी एक ही चैतन्य स्वरूप है। समस्त विश्ववैचित्र्य और जगत् जो दिखाई दे रहा है, यह चैतन्य में ही दिखाई दे रहा है। चैतन्य यदि इसे समेटना चाहेगा तो कूर्मभंगीन्याय से अपने में समेट लेगा[2]। दृश्य और द्रष्टा अनादि है और

---

१. अमृतानुभव, प्र० ७, श्लो० ६

२. अमृतानुभव, प्र० ७, श्लो० १९७।

अखंड चैतन्य में विश्वरूप से भासित होते हैं। [1]सम्पूर्ण जगत् चिद्विलास है, अपने में अपने को देख रहा है। अपने में नित्य स्फुरद्रूप से रहना ही चैतन्य का स्वभाव है।[2] एक ही चैतन्य द्रष्टा-दृश्य बनकर परस्पर अनुप्रवेश करते हैं। ज्ञानेश्वर चैतन्य को अनुभूति से पकड़ने के लिये कहते हैं। द्रष्टा और दृश्य के संधिस्थान में चैतन्य है, अर्थात् प्रत्येक संधिस्थान में चैतन्य खेल रहा है। सामान्य जीव अवस्था में भी अर्थात् संकुचित जीवबोध में भी निरन्तर शिवत्व का बोध हो रहा है। इसको अनुभूति में लाने के लिये, अर्थात् शिवस्वरूप-अनुभव द्वारा पहचानने के लिये, ज्ञानेश्वर महाराज ने कई प्रक्रियाओं का वर्णन दिया है। सामान्य और विशेष के संधिस्थान में, श्वास और प्रश्वास के संधिस्थान में, हमारी दृष्टि जब एक पदार्थ को देखकर दूसरे पदार्थ को देखने जाती है, तो इसी बीच में यदि लक्ष्य करें तो चैतन्य का बोध होता है। यह शुद्ध चैतन्य ही आत्मस्वरूप है। इसको शैवागमों में प्रथमावभास कहा जाता है। इस प्रसंग में यह कहना उचित होगा कि इस प्रकार का विवरण स्पन्दकारिका, विज्ञानभैरव इत्यादि ग्रन्थों में मिलता है। इससे यह ज्ञात होता कि ज्ञानेश्वर महाराज शैवागमों के तत्त्व, ज्ञान और यौगिक प्रक्रिया से परिचित थे।

[3]शिव से लेकर पृथ्वी तक सब तत्त्व उसी चैतन्य शक्ति की रश्मि है। अत एव जगत् नित्य स्फुरद्रूप आत्मा की ही स्थिति है। [4]सापेक्ष ज्ञान और अज्ञान की पृष्ठभूमि में चिदात्मक आत्मस्वरूप है। शुद्ध ज्ञानस्वरूप में ज्ञान और अज्ञान की कल्पना नहीं हो सकती। चित्स्वरूप सूर्य के सामने ज्ञान और अज्ञान दोनों नहीं है। अष्टांग योग से प्राप्त होनेवाली जीवन्मुक्ति अवस्था ज्ञानेश्वर के ज्ञानोत्तर भक्तियोग के सामने उसी तरह है, जैसे कि सूर्य के सामने चन्द्रमा का प्रकाश। क्योंकि ज्ञानोत्तर भक्तियोग सहज योग है। इसमें [5]व्युत्थित अवस्था का प्रश्न नहीं है। अखण्ड, पूर्ण, अद्वैत अवस्था का अनुभव ही जीवन्मुक्ति कहलाती है। इस मायिक देह में रहते हुए परम तत्त्व का अनुभव प्राप्त करना ही जीवन्मुक्ति दशा कहलाती है। जीवन्मुक्ति अवस्था एक होने पर भी जीवन्मुक्ति अवस्था प्राप्त ज्ञानी के बोध में तारतम्य से विलक्षणता पाई जाती है। शैवागमों के कथनानुसार पूर्णाहंबोध को प्राप्तकर अनंत वैचित्र्य को अपना ही अद्वैत स्वरूप समझ लेना और नानात्व को एक में देखना, नानात्व की शक्ति को अपना ही स्वरूप, शक्तिस्वरूप समझकर सम्पूर्ण विश्व को शिव दृष्टि से देखना जीवन्मुक्ति कहलाती है। अत एव इस दशा में समाधि अथवा व्युत्थान का प्रश्न नहीं

---

१. अमृतानुभव, प्र० ७, श्लोक १६५।
२. अमृतानुभव, प्र० ७, श्लोक १७०।
३. अमृतानुभव, प्र० ४, श्लोक २७८।
४. अमृतानुभव, प्र० ७, श्लोक १९।
५. अमृतानुभव, प्र. ९, श्लोक २६।

उठता। इस प्रकार की पूर्णाद्वैत अवस्था में पुनः अपने स्वात्मस्वरूप वैशिष्ट्य को रख कर अद्वैत अवस्था में भी "मैं और तुम" करके खेलने वाली लीला ही ज्ञानोत्तर भक्तिलीला कहलाती है। इस प्रकार की लीला में ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों हैं। ज्ञानोत्तर भक्ति सामरस्य अवस्था में उदित होती है। ज्ञानेश्वर स्वयं एकत्व में, अर्थात् अद्वैत अवस्था में भक्ति किस प्रकार हो सकती है ? इस प्रकार शंका उठाकर स्वयं उसका समाधान देते हैं। अनन्तवैचित्र्य रूप से होने पर भी अद्वैत की हानि नहीं होती।[१] उदाहरण स्वरूप जैसे पत्थर की चट्टान में उत्कीर्ण की गई देवी देवताओं की मूर्तियाँ भाँति भाँति की होने पर एक ही अखंड चट्टान में दिखाई देती हैं, उसी प्रकार अखंड आत्मस्वरूप में सब कुछ अद्वैत रूप में ही भासित होता है। ज्ञानी भक्त सदैव अद्वैत बोध में अपने को शिवस्वरूप समझता है। अहं एव इदं दोनों एक होकर केवल सामरस्य की अवस्था का अनुभव करता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि ज्ञानेश्वर परासंवित् को अखंड स्वरूप मानते हैं और यही शैवागमों का भी कथन है। सामरस्य अवस्था के ऊपर एक परिपूर्ण गुरु-तत्त्व है। अज्ञान अवस्था में रहने वाली आत्मा को आत्मस्वरूप तक ले जाना वाला शिव ही गुरु है। गुरु चिद्विलास युक्त है और उसकी एकाकार शक्ति हैं। चित् शक्ति शिव में शान्त अवस्था में है और उदित अवस्था में भी है। स्वयं ज्ञानाज्ञान-रूप में संकुचित स्वरूप प्राप्त करके भासित होती हैं। मूल में रहने वाली चिच्छक्ति स्वात्मस्वरूप में लीला के लिये दो बन जाती है और यह दो बनकर प्रथमतः अपने में शून्य बना लेती है। इसी शून्य में जगत् अनंत वैचित्र्य युक्त होकर अनादि सृष्टि-धारा रूप में भासित होती है। स्वरूप गोपन के कारण शक्ति ज्ञानाज्ञानस्वरूप, प्रमाण-प्रमेयस्वरूप प्राप्त करके खेल रही हैं। इस शक्ति का अधिष्ठाता परमगुरुस्वरूप शिव है। मूलतः अखंड द्रष्टा वही है। वह खंड भाव प्राप्त करके स्वरूप गोपन के कारण अनन्त वैचित्र्य युक्त होकर लीला स्वरूप में खेलता है।

अखंड शिव स्वरूप केवल शिवत्व स्वरूप की प्राप्ति से ही नहीं होता है और न शक्ति स्वरूप की प्राप्ति से, किन्तु स्वरूप युक्त हो जाना आवश्यक है। जीव अपने स्वरूप को समझ कर गुरुकृपा प्राप्त करके सामरस्य अवस्था को प्राप्त करना है। ज्ञानेश्वर महाराज का कथन है कि केवल शुष्क ज्ञान से कुछ नहीं होता। इस स्वरूप-गोपन के हटाने की शक्ति अर्थात् इस अज्ञान के हटाने की शक्ति साक्षात् शिवस्वरूप गुरु के अतिरिक्त किसी में नहीं हैं। इसी को शैवागम की भाषा में 'पौरुषेय ज्ञान' कहा जाता है। स्वरूप-गोपन को पौरुषेय अज्ञान कहा जाता है। यह साधना द्वारा नहीं हटता, किन्तु गुरु-कृपा से ही हटता है। इस प्रकार की गुरु-कृपा ही शक्तिपात

---

१. अमृतानुभव, श्लोक २१।

कहलाती है। ज्ञानेश्वर महाराज इसी का समर्थन करते हैं और कहते हैं कि बिना गुरुतत्त्व के परमतत्त्व का लाभ नहीं हो सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ज्ञानेश्वर महाराज शैवागम धारा के सिद्धान्तों को मानते हैं। ज्ञानेश्वर जिस अद्वैत की ओर इंगित करते हैं, वह शिवाद्वैत ही है। सम्पूर्ण जगत् चिद्विलास है। प्रकाश में जड़ जगत् भासित हो रहा है इस विचार का वे खंडन करते हैं। अज्ञान अथवा इसका कार्य जगत् में नहीं है, चित् ही अनन्तवैचित्र्य को लेकर भासित हो रही है। इससे यह प्रतीत होता है कि एक ही चिच्छक्ति है और उसमें नाना नामरूपस्वरूप वैचित्र्य को लेकर जगत् अभिन्नरूप में भासित होता है। केवल सन्मात्र बोध अखंड बोध नहीं है। सत् को ही चित् स्वरूप में समझना भी आवश्यक है।

अब अमृतानुभव के कुछ मूल श्लोकों को लेकर हम विचार करते हैं। शिव-शक्तिसमावेश शब्द शैवागम का ही है। माया और ब्रह्म का समावेश नहीं होता है। शाक्तसमावेश, शांभवसमावेश इत्यादि समावेशों का शैवागम के ग्रन्थों में विशेष विस्तृत रूप से वर्णन मिलता है। स्वयं ग्रंथकार अज्ञान का खंडन करते समय [1]शिवसूत्र को उद्धृत करते हैं। शिवादि पृथिव्यन्त तत्त्व ग्राम को ही जगत् कहा है। जगत् की संहार अवस्था का वर्णन करते समय कूर्मभंगिन्याय दृष्टान्त रूप में देते हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी का विवरण देते हुये, परम वस्तु उसके ऊपर है, ऐसा कहते हुये वे वाक्चतुष्टय का खंडन करते हैं। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानेश्वर महाराज का जीवनदर्शन शैवागमों से अवश्य प्रभावित था और वे अनुभूति-पूर्ण सिद्ध शिवयोगी थे॥

---

१. अमृतानुभव, प्र. ३. श्लोक १६. आणि ज्ञानबंधु ऐसे। शिवसूत्राचिने भिसें॥
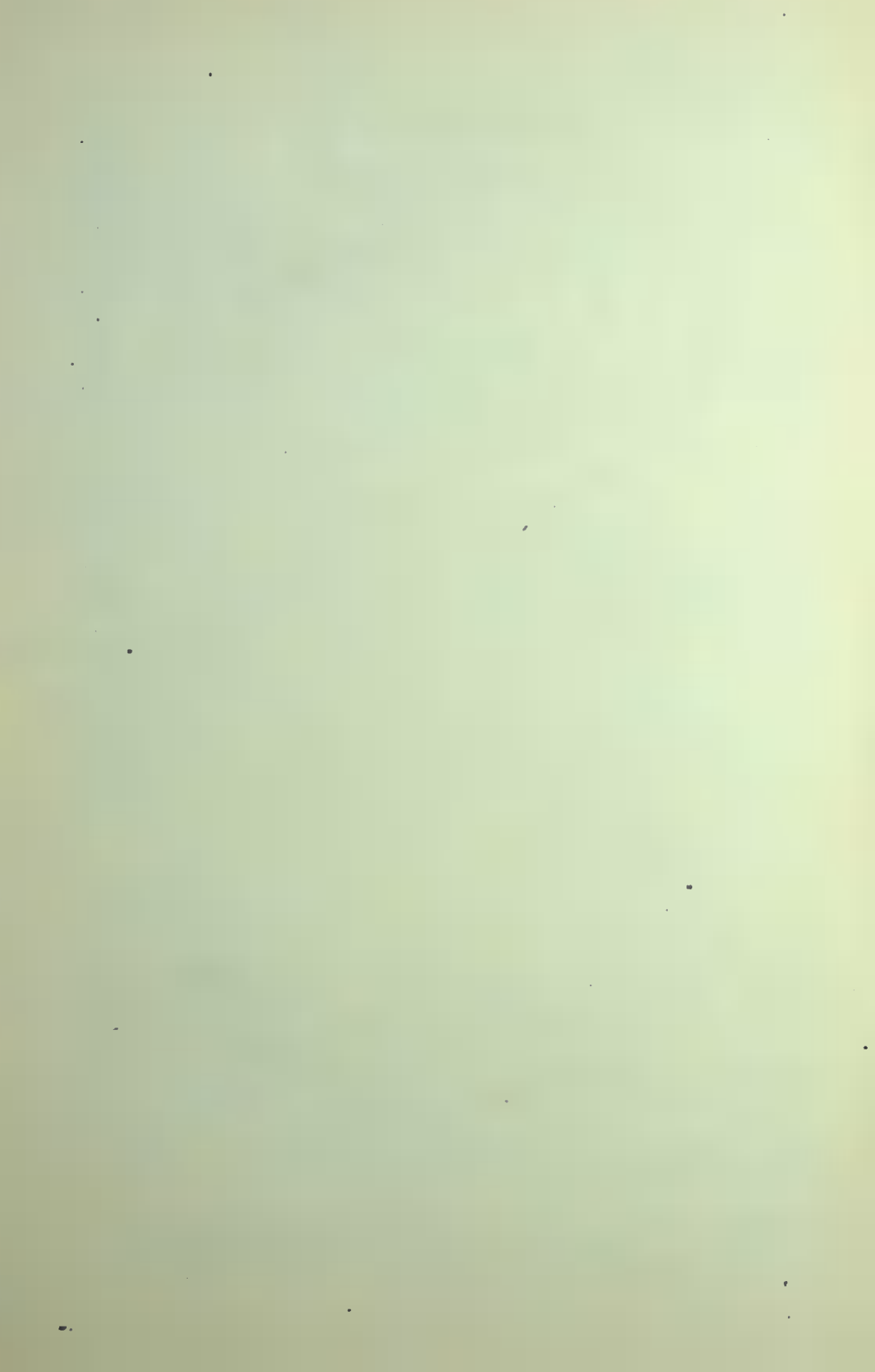
अलंकारसंग्रहकार अमृतानन्द योगी की योगिनीहृदय-दीपिकाकार से अभिन्नता

श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, व्याख्याता—योगतन्त्र, वा. सं. वि. वि. वाराणसी।

अलंकारसंग्रह, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अलंकार शास्त्र का एक ग्रन्थ है। पूरा ग्रन्थ ११ परिच्छेदों में विभक्त है। इसका पहला संस्करण अंग्रेजी अनुवाद के साथ सन् १८८७ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ, ऐसा एम्० [1]कृष्णमाचार्य के इतिहास से, तथा म० म० पी० वी०[2] काणे के ग्रन्थ से मालूम होता है। कलकत्ता संस्करण में प्रारंभ के केवल पाँच परिच्छेद ही प्रकाशित हुए थे। बाद में यह पूरा ग्रन्थ सन् १९४७ में अड्यार पुस्तकालय, मद्रास से तथा सन् १९५० में तिरुपति[3] के वेंकटेश्वर शोध संस्थान से प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ के सम्बन्ध में कुछ न कह, हमको यहाँ पर केवल ग्रन्थकार के विषय में ही विचार करना है।

तन्त्रशास्त्र में अमृतानन्द योगी योगिनीहृदय की दीपिका नाम की टीका के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये कामकलाविलासकार पुण्यानन्द के शिष्य थे। अलंकारसंग्रह के तिरुपति संस्करण के संपादक पण्डित बालकृष्ण मूर्ति के मत से अलंकारसंग्रह के कर्ता से ये भिन्न हैं। इस संस्करण की भूमिका (पृ० ६) में बताया गया है कि इसी नाम के दो अन्य लेखक हैं, एक योगिनीहृदयदीपिकाकार और दूसरे [4]षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहकार। इन दोनों में से किसी ने अलंकारसंग्रह को उद्धृत नहीं किया है और न मन्व भूप को ही, जो कि अलंकारसंग्रहकार अमृतानन्द के आश्रयदाता थे। इसलिये ये दोनों अलंकारसंग्रहकार से भिन्न ही हैं।

---

१. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ७६७ फुट नोट।

२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, तृतीय संस्करण, सन् १९६१, पृ० ३९९

३. मद्रास और तिरुपति जैसे अति समीप के स्थानों में भी एक ही ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये एक ही समय में अलग अलग प्रयास हो रहे थे। इस प्रकार के दोहरे प्रयासों को रोकने के लिये एक केन्द्रीय संघटन की अत्यन्त आवश्यकता है। भारत सरकार, भारतीय विश्वविद्यालय और अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् जैसे संघटनों को इस ओर अब तो अविलम्ब ध्यान देना चाहिये।

४. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह के सभी श्लोक सौभाग्यसुधोदय के प्रथम प्रपंच से लिये गये हैं। नित्याषोडशिकार्णव के वाराणसी संस्करण के परिशिष्ट में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। वहाँ पर ये श्लोक आनुपूर्वी से उपलब्ध हैं। योगिनीहृदयदीपिका में स्वयं ग्रन्थकार ने इसको अपनी ही कृति माना है। इस विषय में हम योगिनीहृदयदीपिका के द्वितीय संस्करण के अनुप्रास्ताविक में तथा नित्याषोडशिकार्णव (वाराणसी संस्करण) की भूमिका में लिख चुके हैं। इस प्रकार षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहकार और योगिनीहृदयदीपिका-कार एक ही व्यक्ति हैं, भिन्न नहीं।

इसके विपरीत अड्यार संस्करण के संपादक श्री वे० कृष्णमाचार्य के मत से (संस्कृत भूमिका, पृ० १५–१६) योगिनीहृदयदीपिकाकार और अलंकारसंग्रहकार अभिन्न व्यक्ति हैं। उनका कहना है कि इन दोनों ग्रन्थों में यद्यपि परस्पर एक दूसरे के वचनों को उद्धृत नहीं किया गया है, तो भी इनकी अभिन्नता के प्रतिपादक कुछ प्रमाण मिलते हैं। ये दोनों ही शैव और शाक्त हैं। अलंकारसंग्रह के प्रारंभ में—

जगद्वैचित्र्यजननजागरूकपदद्वयम् ।
अवियोगरसाभिज्ञमाद्यं मिथुनमाश्रये ॥

यह मंगल श्लोक है। इसमें अर्धनारीश्वर को नमस्कार किया गया है। अलंकार-संग्रह के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में—"अमृतानन्दयोगिप्रवरविरचितेऽलङ्कारसंग्रहे" इस प्रकार का पुष्पिका–वाक्य दिया गया है। योगिनीहृदयदीपिका में—"अमृता-नन्दयोगिप्रवरविरचितायां योगिनीहृदयदीपिकायाम्" यह पुष्पिका–वाक्य मिलता है। इन वाक्यों से इन दोनों ग्रन्थों का कर्ता एक ही व्यक्ति है, यह स्पष्ट होता है।

हमारी दृष्टि में यही मत उचित है। उक्त मंगल श्लोक के "आद्यं मिथुनम्" ये दो शब्द सारी गुत्थी को सुलझा देते हैं। त्रिपुरा-संप्रदाय के इस पारिभाषिक शब्द से पौराणिक अर्धनारीश्वर शिव का ग्रहण न होकर दिव्यौघ परम्परा के चार गुरु-युगलों में से प्रथम—कामेश्वर कामेश्वरी युगल—का बोध होता है। 'आद्यं मिथुनम्' शब्द से अलंकारसंग्रहकार को यही अभीष्ट है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार त्रिपुरा-संप्रदाय का अनुवर्ती है और वह निश्चय ही योगिनी-हृदयदीपिकाकार से अभिन्न है। अलंकारसंग्रहकार ने—

अवोचदमृतानन्दमादरेण कवीश्वरम् (१।५)।
मया तत्प्रार्थितेनेत्थममृतानन्दयोगिना (१।८)।

इन वाक्यों में अपने को कवीश्वर और योगी बताया है। यह तन्त्रशास्त्र की परम्परा के अनुकूल है। महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त इस परम्परा के मुकुट-मणि हैं, जिन्होंने साहित्य और तन्त्रशास्त्र पर समान रूप से उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थों की रचना की है। इसी प्रकार हस्तिमल्ल, जिनका कि वर्णन आगे किया जायगा, कवीश्वर और योगी दोनों थे। उसी परम्परा में अमृतानन्द भी आते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों ग्रन्थों के कर्ता की अभिन्नता के विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता।

योगिनीहृदयदीपिकाकार 'अमृतानन्द योगी का समय अभी तक ठीक से निश्चित नहीं किया जा सका है। अलंकारसंग्रह की सहायता से न केवल अमृतानन्द की, अपि तु ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द और अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द की, नित्याषोडशिकार्णव की भूमिका में हमारे द्वारा पूर्व निर्धारित, समय की सीमा में भी हम कुछ संकोच कर सकेंगे। इसके साथ ही ऋजुविमर्शिनी में उद्धृत त्रिपुरासार-समुच्चयकार नागभट्ट के समय पर भी नये सिरे से विचार हो सकेगा। नागभट्ट के त्रिपुरासारसमुच्चय को पञ्चस्तवी के अन्तर्गत विद्यमान धर्माचार्य विरचित

लघुस्तव के जैन टीकाकार सोमतिलक[1] सूरि ने कवि हस्तिमल्ल की कृति के रूप में उद्धृत किया है। कवि हस्तिमल्ल एक जैन लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। अतः प्रसंगवश यहां पर कवि हस्तिमल्ल और धर्माचार्य के विषय में भी कुछ कहा जायगा।

अलंकारसंग्रह की रचना कवीश्वर अमृतानंद योगी ने भक्ति भूपति के पुत्र मन्न, मन्व, या मन्म भूपति के कहने से की थी। इस ग्रन्थ के तिरुपति संस्करण की भूमिका (पृ० ४-६) में मन्म भूपति के समय के संबन्ध में निम्न विचार प्रकट किये गये हैं —

(क) श्री एम०[2] कृष्णमाचार्य ने मन्व भूप का समय १२५० ई० के आस पास माना है। यही समय अमृतानन्द योगी का भी माना जाना चाहिये।

(ख) १४०० ई० के पहले ये अवश्य हो चुके थे। अलंकारशास्त्र के ग्रंथ प्रबन्धदीपिका अथवा लक्षणदीपिका के कर्ता गौरणार्य ने अपने ग्रन्थ में अलंकार-संग्रह को उद्धृत किया है। ये सिंग भूपाल के मन्त्री थे। सिंग भूपाल का समय १४०० ई० के आसपास माना जाता है। इस प्रकार अमृतानन्द अवश्य ही १४०० ई० के पूर्व हो चुके थे।

(ग) आन्ध्रप्रदेश के कृष्णा जिले में मन्व भूप का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। इसका समय ई० १३ वीं शताब्दी के आस पास माना गया है। शिलालेख में निर्दिष्ट मन्व भूप अमृतानन्द के द्वारा निर्दिष्ट भूपति से अभिन्न है या भिन्न? इसको जानने का कोई उपाय नहीं है, किन्तु यदि इनको एक मान लिया जाय तो कहना होगा कि अमृतानन्द ई० १३ वीं शताब्दी में अवश्य हो चुके थे।

इस सम्बन्ध में अड्यार संस्करण की संस्कृत और अंग्रेजी भूमिका में दो प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। संस्कृत भूमिका (पृ० ११-१४) में बताया गया है कि—

(क) ऐतिहासिकों के मत से यह मन्म भूपाल, जो कि मन्व नाम से प्रसिद्ध था, त्रैलिंग के राजाओं में प्रसिद्ध मन्म गण्डगोपाल है। जम्बुकेश्वर[3] क्षेत्र के देवालय में उपलब्ध प्रतापरुद्रदेव के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि यह मन्म गण्ड-

---

१. इस ग्रंथ की सरस्वती भवन में वर्तमान २३६१६ संख्यक मातृका के तीसरे पत्र में—"कविहस्तिमल्लोक्तत्रिपुरासारसमुच्चये" इस प्रकार अवतरणिका-वाक्य देकर—"कान्तान्त-वान्ताकुलवामनेत्रान्वितं" इत्यादिक श्लोक उद्धृत है। यह श्लोक कलकत्ता से प्रकाशित नागभट्ट रचित त्रिपुरासारसमुच्चय (२।२५) में उपलब्ध होता है। अतः यह मानना उचित ही होगा कि नागभट्ट और कवि हस्तिमल्ल एक ही व्यक्ति हैं। सोमतिलक सूरि की यह टीका अब राजस्थान पुरातत्व ग्रंथमाला में मुनि जिनविजय जी के द्वारा संपादित होकर त्रिपुराभारतीलघुस्तव के नाम से जोधपुर से प्रकाशित हो चुकी है। इस टीका का रचना-काल १३९७ वि० संवत् है। इसमें अन्यत्र भी त्रिपुरासारसमुच्चय के श्लोक उद्धृत हैं।

२. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ७६७

३. दक्षिण भारत में शिव के पांच भूत-लिंग प्रसिद्ध हैं—
"मृल्लिङ्गरूपमभजत् शिव आम्रनाथः, अब्लिङ्गरूपमभजत् स तु जम्बुकेशः।
लिङ्गं च तैजसमभूत् त्वरुणाचलेशः, श्रीकालहस्त्यधिपतिः खलु वायुलिङ्गम्॥

गोपालदेव प्रतापरुद्र का कृपापात्र था। १२९७ ई० के लिखे गये आन्ध्रप्रदेश के नरसरावपेट्ट शासन से यह ज्ञात होता है कि नल्लसिद्धि का ज्येष्ठ पुत्र मन्म गण्ड-गोपालदेव प्रतापरुद्र के अधीन था और कांची पर शासन करता था। इस शिलालेख से मन्म गण्डगोपालदेव का समय १२९७ ई० तक आता है। इसी प्रकार प्रतापरुद्रदेव का समय भी १२९६ ई० से १२६६ ई० के बीच माना जाता है।

(ख) विशिष्टाद्वैत के प्रसिद्ध आचार्य वेंकटनाथ का समय १२९६ ई० से १३६९ ई० माना गया है। इन्होंने संकल्पसूर्योदय [1]की प्रस्तावना में —

न तच्छास्त्रं न सा विद्या न तच्छिल्पं न ताः कलाः।
नासौ योगो न तज्ज्ञानं नाटके यन्न दृश्यते॥

इस श्लोक को उद्धृत किया है। संकल्पसूर्योदय के टीकाकार [1]अहोबल ने इसको अमृतानन्द का श्लोक माना है। वेंकटनाथ कांची के ही निवासी थे। इनके समय तक राजा गण्डगोपाल की बहुत ख्याति थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रायः १२३० ई० के आसपास गण्डगोपाल की राजसभा में अमृतानन्द विद्यमान थे और यहीं पर इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की।

(ग) यहां पर एक बात विचारणीय है—अलंकारसंग्रह में मन्म भूपाल का नाम बीसियों बार आया है, कहीं पर भी उसको गण्डगोपालदेव के नाम से संबोधित नहीं किया गया। इससे यह मानना पड़ेगा कि केवल मन्म नाम का राजा ही अमृतानन्द का प्रेरक था, न कि गण्डगोपालदेव। वटाटवी शिलालेख में केवल मन्म नाम के राजा का भी उल्लेख मिलता है, जो कि गण्डगोपालदेव का ही वंशज था। इस शिलालेख की तिथि १२०७ ई० है। इससे भी मन्म भूपति का समय १२०७ ई० से १२५० ई० के बीच में सिद्ध होता है।

अड्यार संस्करण की अंग्रेजी भूमिका के लेखक डा० कुन्हन् राज का (पृ० ३९-४३) कहना है कि संकल्पसूर्योदय में उद्धृत उक्त श्लोक भरत के नाट्यशास्त्र में भी उपलब्ध है। इसलिये इससे अमृतानन्द के समय के निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिल सकती। केवल भक्ति भूपाल शब्द से ही ग्रंथकार के समय-निर्धारण में सहायता मिल सकती हैं। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर अब तक दक्षिण भारत में केवल एक भक्ति भूपाल का पता चल सका है। इस नृपति से संबद्ध कुछ शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। एक ताम्रपत्र में भक्तिराज को चोल वंश का बताया गया है, जो कि आन्ध्र में आ बसे थे। इस ताम्रलेख की तिथि १३५५-५६ ई० है। १३८८ ई० और

आकाशलिङ्गमभवत् स चिदम्बरेशः।" (कालहस्तीश्वरसुप्रभातम्, १८-१९ श्लोक) यह जम्बुकेश्वर क्षेत्र आजकल त्रिचनापल्ली के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीरंगम् का प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिर भी यहीं है।

१. अड्यार लाइब्रेरी संस्करण, पृ० ५१

१४१६ ई० के अन्नदेव के ताम्रलेखों में भी भक्तिराज का उल्लेख मिलता है। अन्नदेव भक्तिराज का द्वितीय पुत्र था और १३६६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ था। इतिहास में केवल यही एक भक्तिराज अब तक उपलब्ध हुआ है। इसके साथ कठिनाई यह है कि यहां पर कहीं भी मन्म का उल्लेख नहीं मिलता। भक्तिराज के एक और पुत्र था, जिसकी कि मृत्यु भक्तिराज के सामने ही हो गई थी। प्रथम पुत्र की मृत्यु हो जाने से ही इसका द्वितीय पुत्र अन्नदेव राजा हुआ। हो सकता है कि जब भक्तिराज जीवित था, तभी राजकुमार मन्म के कहने से अमृतानन्द ने इस ग्रन्थ की रचना की। इस परिस्थिति में यह मानना पड़ेगा कि भक्तिराज की मृत्यु तिथि (१३६६ ई०) के पूर्व इस ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी।

इस प्रकार हम यहाँ देखते हैं कि अलंकारसंग्रह के तिरुपति संस्करण की संस्कृत भूमिका में अमृतानन्द का समय ई० १३ वीं शताब्दी के मध्य में माना गया है, जब कि अड्यार संस्करण की अंग्रेजी भूमिका में इसका स्थितिकाल ई० १४ वीं शताब्दी माना है। इस संबंध में किसी निश्चय तक पहुचने के लिये हम यहां पर पहले नागभट्ट, धर्माचार्य और शिवानन्द के समय के विषय में विचार करना चाहेंगे।

अमृतानन्द ने योगिनीहृदयदीपिका (पृ० ६८) में शिवानन्द की सुभगोदयवासना को उद्धृत किया है और शिवानन्द[1] ने नागभट्ट के त्रिपुरासारसमुच्चय को। लघुस्तव के व्याख्याता जैनाचार्य सोमतिलक सूरि ने त्रिपुरासारसमुच्चय को कवि हस्तिमल्ल की कृति माना है। इस प्रकार नागभट्ट और कवि हस्तिमल्ल अभिन्न व्यक्ति हैं। जैन इतिहासकार श्री नाथूराम प्रेमी[2] ने कवि हस्तिमल्ल के लिये लिखा है—

"रूपक या नाटक उनके सिवाय और किसी दिगम्बर जैन कवि ने नहीं लिखे हैं। वह गोविन्द भट्ट के पुत्र तथा वत्सगोत्रीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। स्वामी समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र को सुनकर गोविन्द भट्ट जैन-धर्म में दीक्षित हो गये थे। हस्तिमल्ल कर्णाटक प्रदेश के शासक पांड्यराज (१२९० ई०) के आश्रित कवि थे। कवि ने कहीं भी इस पांड्य महीश्वर का नामोल्लेख नहीं किया है। हस्तिमल्ल का असली नाम क्या था, इसका भी पता नहीं चलता। यह नाम तो उन्हें एक मत्त हाथी को बस में करने के उपलक्ष्य में पांड्य राजा के द्वारा प्राप्त हुआ था। इस हस्तियुद्ध का उल्लेख कवि ने अपने विक्रान्तकौरव के अतिरिक्त सुभद्राहरण[3] नाटक में भी किया है और साथ ही यह भी बतलाया है कि कोई धूर्त जैन मुनि का रूप धारण करके आया था और उसको भी हस्तिमल्ल ने परास्त कर दिया था। कवि

१. ऋजुविमर्शिनी, पृ० ११७
२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २६०-२६६
३. सम्यक्त्वं सुपरीक्षितं मदगजे मुक्ते सरण्यापुरे
चास्मिन् पाण्ड्यमहीश्वरेण कपटाद्धन्तुं स्वमभ्यागतम्।
शैलूषं जिनमुद्रधारिणमपास्यासौ मदध्वंसिना
श्लोकेनापि मदेभमल्ल इति यः प्रख्यातवान् सूरिभिः॥

हस्तिमल्ल के चार नाटक उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं—१. विक्रान्तकौरव, २. मैथिली-कल्याण, ३. अंजनापवनंजय और ४. सुभद्राहरण। ये सभी नाटक माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त उदयराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर नामक अन्य चार नाटकों के रचयिता भी हस्तिमल्ल को ही बताया[1] गया है"।

श्रीनाथूराम प्रेमी जी ने कवि हस्तिमल्ल का उपर्युक्त परिचय उनके ग्रन्थों के आधार पर लिखा है। हस्तिमल्ल ने स्वयं अपने को वत्सगोत्रीय[2] ब्राह्मण माना है। विक्रान्तकौरव के अन्त में कवि लिखता है—

संवित्प्रकाशकौटस्थ्यमयीं मायातिलङ्घिनीम्।
अपवर्गस्य पदवीं त्रयीमाराधयामहे॥ (६।५८, पृ० १६२)

शाक्त तन्त्रों में परा संवित् को ही परब्रह्म माना गया है। कवि ने यहां पर त्रयी को घनीभूत संवित्प्रकाश मानकर उसके आराधक के रूप में स्वयं को उपस्थित किया है। कवि अंजनापवनंजय में भरत मुनि और मैथिलीकल्याण में दशरथतनय राम को प्रणाम करता है, साथ ही विक्रान्तकौरव तथा सुभद्रानाटिका के प्रारम्भ में आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव को। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय त्रिपुरासम्प्रदाय का जैन-धर्म के साथ निकट[3] का संपर्क रहा है। हस्तिमल्ल का उदाहरण तो प्रस्तुत ही है। लघुस्तव के जैन व्याख्याता सोमतिलक सूरि का ऊपर उल्लेख किया गया है। अमृतानन्द योगी के आश्रयदाता राजा मन्म के लिये भी अलंकारसंग्रह (१।३) में 'शिवपादाब्जषट्पदः' के स्थान पर 'जिनपादाब्जषट्पदः' इस पाठान्तर का उल्लेख तिरुपति संस्करण में मिलता है। इसी प्रकार जैन धर्मावलम्बी प्रभाचन्द्राचार्य की कृति प्रभावकचरित में धर्म पण्डित की चर्चा मिलती है। ये लघुस्तुति के कर्ता धर्माचार्य से अभिन्न प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ के पृ० १४६-१५० में धर्म पण्डित के लिये लिखा गया है कि ये लाट देश के नर्मदा तटवर्ती भृगुकच्छ प्रदेश के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम सूरिदेव था, जो कि वेद और वेदांग में पारंगत ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम सावित्री था। धर्म और शर्म नाम के दो भाई थे और इनके गोमती नाम की एक बहिन थी। इनकी क्षेत्रपाल की उपासना और योगिनी-दर्शन आदि का भी यहां वर्णन मिलता है। यहां इनके धारापुरी जाने तथा वहां

यह श्लोक सुभद्रा नाटिका अथवा हस्तिमल्ल के प्रकाशित किसी भी नाटक में उपलब्ध नहीं है। विक्रान्तकौरव तथा मैथिलीकल्याण की संस्कृत भूमिका में यह श्लोक अय्यपार्य के जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय का बताया गया है।

१. आफ्रेक्ट का कैटलागस कैटलागरम्, पृ० ७६५ द्रष्टव्य।

२. विक्रान्तकौरव, १।४०, पृ० २०

३. त्रिपुराभारतीलघुस्तव की भूमिका में जैन मुनि जिनविजय जी लिखते हैं—"इस लघुस्तुति का प्रचार जैन संप्रदाय में भी प्राचीन काल से बहुत अधिक रूप में प्रचलित रहा है" (पृ० २)।

पर राजा भोज के दरबार में काव्य-निर्माण करने और विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने की भी चर्चा है। यहां धर्म का सिद्ध सारस्वत कवि के रूप में बार-बार उल्लेख किया गया है। राजस्थान पुरातत्त्व ग्रन्थमाला में प्रकाशित त्रिपुराभारती-लघुस्तव के अन्त में सिद्ध सारस्वत की कृति मातंगी स्तोत्र भी प्रकाशित है। क्या सिद्ध सारस्वत धर्माचार्य का ही उपनाम है ?

हमने अन्यत्र[1] सिद्ध किया है कि पंचस्तवी के रचयिता धर्माचार्य ही हैं। सकलजननीस्तव के टीकाकार पण्डित हरभट्ट[2] शास्त्री भी इसी मत के हैं। पंचस्तवी के अन्तर्गत विद्यमान अम्बास्तव का अठारहवाँ श्लोक (लक्ष्मीवशीकरण) भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण[3] में उद्धृत है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभावकचरित में वर्णित धर्म पण्डित ही भृगुकच्छ से आकर यहां बस गये थे और सम्भवतः यहां पर इन्होंने पंचस्तवी की रचना की। लघुस्तुति के कर्ता धर्माचार्य को त्रिपुरासम्प्रदाय के हादिमत की सिद्धौघ परम्परा में द्वितीय स्थान प्राप्त है। सरस्वतीकंठाभरण का रचनाकाल म. म. पी. वी.[4] काणे ने १०३०-१०५० ई० माना है। इसी के आसपास पंचस्तवी का रचनाकाल भी माना जा सकता है।

धर्माचार्य के बाद हादिमत में सिद्धौघ परम्परा के दो गुरु तथा मानवौघ परम्परा के सात गुरुओं के बाद ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द की स्थिति है। वंश परम्परा के समान गुरुपरम्परा में भी प्रत्येक पीढ़ी के लिये यदि २५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाय तो धर्माचार्य और भोजदेव के लगभग २२५ वर्ष बाद ई० तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में शिवानन्द की स्थिति निश्चित होती है। ऊपर १२९० ई० के आसपास कवि हस्तिमल्ल[5] का समय बताया गया है। इस प्रकार कवि हस्तिमल्ल अथवा नागभट्ट को शिवानन्द का वृद्ध समसामयिक माना जाय तो कोई विरोध प्रतीत नहीं होता।

अमृतानन्द ने सौभाग्यसुधोदय के अन्त में हादिमत की मानवौघ गुरुपरम्परा की समाप्ति के बाद पाँचवीं पीढ़ी में अपनी स्थिति बतलायी है। इस क्रम में उपर्युक्त नियम के अनुसार ई० १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अमृतानन्द की स्थिति आती है, जो कि डा० कुन्हन[6] राज के द्वारा निर्धारित तिथि के आसपास ही पड़ती है। डा० कुन्हन राज ने संभावना प्रकट की है कि १३६६ ई० के पहले अलंकारसंग्रह का

---

१. सारस्वती सुषमा, वर्ष २०, अंक २, पृ० १३-२६

२. "पञ्चस्तव्यां व्यधात् श्रीमद्धर्माचार्यकृताविमम्" (पृ० १७२)।

३. निर्णयसागर प्रेस, द्वितीय संस्करण, पृ० ७१३-७१४

४. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, तृतीय संस्करण, पृ० २६१

५. अंजनापवनंजय और सुभद्रा नाटिका के संपादक प्रो० माधव वासुदेव पटवर्धन ने इनका समय ९ से १३ वीं शताब्दी के बीच माना है (पृ० १२-१४)।

६. अलंकारसंग्रह, अंग्रेजी भूमिका, पृ० ४३

रचनाकाल होना चाहिये। इस अवस्था में संकल्पसूर्योदय में उद्धृत पद्य को टीकाकार के प्रमाण पर अलंकारसंग्रह का मानने में भी कोई विरोध प्रतीत नहीं होता और इससे भी अमृतानन्द के समय के निर्धारण में सहायता ही मिलती है। अमृतानन्द और वेंकटनाथ देशिक को समसामयिक और एक दूसरे से परिचित माना जा सकता है। संभवतः ये एक ही स्थान के अथवा बहुत समीप के निवासी रहे होंगे। संकल्पसूर्योदय के टीकाकार अहोबल स्वयं दाक्षिणात्य थे। वेंकटनाथ और इनके बीच का समय कोई बहुत लम्बा नहीं है। इसलिये टीकाकार से वचन को असंगत मानने में कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार ई० १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही अमृतानन्द की स्थिति मानना युक्तिसंगत होगा। ई० १३वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अमृतानन्द योगी की स्थिति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जैसा कि ऊपर बताया गया है, अमृतानन्द ने शिवानन्द की सुभगोदयवासना आदि ग्रन्थों के उद्धरण योगिनीहृदयदीपिका में दिये हैं और शिवानन्द ने नागभट्ट के त्रिपुरासारसमुच्चय के पद्यों को उद्धृत किया है। यह नागभट्ट ही कवि हस्तिमल्ल के नाम से जैन साहित्य में प्रसिद्ध हैं और उनका समय ई० १३ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में माना जाता है।

शिवानन्द के प्रशिष्य महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द की स्थिति शिवानन्द मुनि और अमृतानन्द योगी के बीच में किसी समय माननी होगी। ये चोलदेश के निवासी थे। धाराधीश भोज के लाटदेशीय राजकवि धर्माचार्य की कृति पंचस्तवी, महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी तथा अमृतानन्द योगी के षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, योगिनीहृदयदीपिका आदि ग्रन्थों का काश्मीरी साहित्य में आदर के साथ उल्लेख मिलता है और बड़ी संख्या में इनकी मातृकाएँ वहाँ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार इन ग्रन्थों पर काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। आवागमन की असुविधा के उस युग में ज्ञान के आदान-प्रदान की इस प्रणाली की जानकारी प्राप्त कर सकना एक कठिन कार्य होते हुये भी अनुसन्धान प्रेमियों के लिए एक मनोरंजन का विषय बन सकती है। भारतीय इतिहास में विद्वान् और विद्यानुरागी राजवंशों की राजधानियों के अतिरिक्त काशी और कश्मीर के समान ही विहार, पंजाब, उड़ीसा, गुजरात, आन्ध्रप्रदेश और तमिलनाडु आदि प्रदेशों में अनेक विद्यापीठ ज्ञान की उपासना में निरत थे। उनका आधुनिक विश्वविद्यालयों के समान ही सम्मान था। इनमें से कुछ विद्यापीठों में अनेक शताब्दियों तक भारतीय वाङ्मय की कुछ विशेष शाखाओं का अध्ययन निरन्तर आगे बढता रहा है। आज कल राजनीति-प्रधान इतिहास लेखन का ही बोलबाला है। यदि भारत के साहित्यिक इतिहास के लेखन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो तो विभिन्न शास्त्रों के विकास की परम्परा का सही मूल्यांकन किया जा सकता है। इस दृष्टि से लिखा गया इतिहास भारतीय धर्म, दर्शन और साहित्य के क्रमिक विकास के इतिहास के कुछ अज्ञात पृष्ठों को खोल सकेगा॥

सम्पादकीय

योगतन्त्र विभाग की गतिविधि

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय का योगतन्त्र विभाग केन्द्रीय सरकार, उत्तरप्रदेशीय सरकार तथा संस्कृत विश्वविद्यालय के अधिकारी वर्ग के विशेष प्रयत्न से सन् १९६५-६६ में स्थापित हुआ। इस विभाग की स्थापना का मुख्य उद्देश्य लुप्तप्राय योगतन्त्रशास्त्र तथा वाङ्मय का पुनरुद्धार प्रयत्न है। संस्कृत विश्वविद्यालय में और अन्यत्र विभिन्न शिक्षा संस्थानों में योगशास्त्र का पठनपाठन अनुवृत्त है, परन्तु वह एकमात्र पातञ्जल योग में ही निबद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य विभिन्न योग सम्प्रदाय भी भारत में प्रकट हुए हैं और अपनी परम्पराओं के अनुसार ग्रन्थादि रचना कर गये हैं। इन सम्प्रदायों की स्मृति आज करीब-करीब लुप्त होती जा रही है। अति प्राचीन समय से भारत वर्ष में नाना प्रकार के योगों का अनुशीलन होता था। देह-शुद्धि, चित्त-शुद्धि तथा आत्मज्ञानलाभ के लिये योग की उपयोगिता है। नाथ सम्प्रदाय में मत्स्येन्द्रनाथ की धारा, विशेष कर गोरखनाथ की धारा, प्रसिद्ध है। विभिन्न शैव सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार के शिवयोग प्रचलित थे। वैदिक परम्परा में भी उपनिषदों के समय में विभिन्न प्रकार की योग-धाराओं का पता चलता है। इनके अतिरिक्त तान्त्रिक योग की भी भिन्न-भिन्न धाराएँ हैं, इनके ग्रन्थादि भी हैं। प्राचीन बौद्ध सम्प्रदाय में त्रिपिटक के अन्तर्गत पालिसाहित्य में विभिन्न योगविषयक विवरण मिलते हैं। परवर्ती समय में विशुद्धिमार्ग और अभिधर्मार्थसंग्रह प्रभृति ग्रन्थों में योग-रहस्यों के विलक्षण व्याख्यान मिलते हैं। महायान के अन्तर्गत पारमितायान तथा मन्त्रयान दोनों में योग का विवरण है। तिब्बतीय बौद्ध साहित्य वस्तुतः योग-रहस्यों की व्याख्या से ओतप्रोत है। जैन सम्प्रदाय में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर उभयत्र योगतत्त्व का विवरण है। सहज मार्ग, अवधूत मार्ग, बाउल सम्प्रदाय, उड़ीसा का पञ्चसखा सम्प्रदाय, सन्त सम्प्रदाय, सिक्ख सम्प्रदाय, दरवेश सम्प्रदाय में सर्वत्र ही अपनी-अपनी योग प्रणाली है। महाराष्ट्र साहित्य में महायोगी ज्ञानदेव का योगोपदेश है। तमिल, तेलगु, कर्नाटक, वंगीय, उड़िया, असमी साहित्य में भी योगविषयक विभिन्न वर्णन देखा जाता है। पुराण-साहित्य में सर्वत्र योग का विवरण देखा जाता है। भारतीय तथा विदेशीय सूफी सम्प्रदाय में भी योग का विवरण देखा जाता है। इन सभी का उद्धार आवश्यक है। प्राचीन चीन, जापान प्रभृति देशों की बात यहाँ छोड़ दी गयी है।

योगशास्त्र के अनुरूप तन्त्रशास्त्र भी वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में कुछ वर्षों से आगमशास्त्र के नाम से पठन-पाठन में आया, किन्तु यह एकदेशमात्र है।

आगम तथा तन्त्रशास्त्र अति विशाल है। इसकी उपेक्षा बहुत दिनों से होती आ रही है। व्यक्तिगत रूप से कुछ लोग इसकी चर्चा अवश्य करते हैं, परन्तु इसके सविशेष परिशीलन की व्यवस्था नहीं है। कुछ दिन पहले कलकत्ता हाईकोर्ट के विचारपति मनीषी सर जान वुडरफ ने 'आर्थर एवेलेन' इस कल्पित नाम से तन्त्रशास्त्र की आलोचना का सूत्रपात किया था। वे स्वयं महातान्त्रिक शिवचन्द्र विद्यार्णव के शिष्य थे और बहुसंख्यक मूल्यवान् तन्त्र ग्रन्थों का सम्पादन कार्य स्वयं तथा दूसरों से कराया था। इसके अतिरिक्त तान्त्रिक तत्त्वों की समालोचना करते हुए बहुसंख्यक ग्रन्थ भी उनके प्रणीत थे। पाण्डिचेरी में फ्रेंच विद्वन्मण्डली के उत्साह से आगमशास्त्र का कुछ प्रकाशन कार्य हुआ है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भारतीय ग्रन्थमालाओं में अल्प संख्यक तन्त्र ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। आक्सफोर्ड में बौद्धतन्त्र विषयक कुछ कार्य हुए और हो रहे हैं। इटली में टुची, फ्रांस में सिलवनलेवी, इंगलैण्ड में बर्नेट प्रभृति मनीषिगण ने तन्त्रविषयक कार्य किया तथा कर रहे हैं। किन्तु इतने पर भी विशाल तन्त्र साहित्य के व्यापक प्रकाशन का कोई प्रबन्ध नहीं है। प्रायः शतवर्ष पूर्व रसिकचन्द्र चट्टोपाध्याय नामक एक महाशय ने व्यापक रूप से तन्त्र प्रकाशन का व्रत लिया था, किन्तु वे भी पूरा कार्य न कर सके और उनके प्रकाशित ग्रन्थ भी आजकल लुप्त हो चुके हैं। अत एव तन्त्रशास्त्र का उद्धार वर्तमान समय में आवश्यक कर्तव्य है। इस पर ध्यान न देने से बहुसंख्यक अच्छे तन्त्रग्रन्थ लुप्त हो जायेंगे।

श्रीशंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में चौसठ तन्त्रों की बात कही थी, परन्तु उनके नामों का उल्लेख नहीं किया था। लक्ष्मीधर, भास्करराय प्रभृति विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार इन ग्रन्थों का नाम निर्देश किया है। तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने प्राचीन परम्परा के आधार पर ६४ तन्त्रों का नामोद्धार किया है, जो पहली तन्त्र नामावली से भिन्न है। तोडल तन्त्र में भी ६४ तन्त्रों के नाम हैं, किन्तु यह भी पूर्व से भिन्न है, जिसका उल्लेख सर्वोल्लास तन्त्र में है। इन विवरणों को छोड़ कर क्रान्ताभेद से भी मूलतन्त्र भेद का वर्णन मिलता है। असली बात यह है कि तन्त्र संकलन कार्य के पूर्ण होने पर ही यह ज्ञात हो सकता है कि कौन-कौन ग्रन्थ भविष्य से प्रकाशनार्ह हो सकेंगे। इसके लिये योगतन्त्र विभाग ने निम्न कार्य-क्रम स्थिर किये हैं—

(क) तन्त्रयोग का आलोचन तथा विशिष्ट तन्त्र ग्रन्थों का प्रकाशन इस विभाग का एक प्रधान कार्य है। इस महान् कार्य में विश्वविद्यालय के पुस्तकालय सरस्वती भवन के हस्तलिखित ग्रन्थ ही उपजीव्य हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ का पाठ कर लेने के पश्चात् हस्तलिखित तथा मुद्रित ग्रन्थों में से पाठ मिला कर पाठशुद्धि तथा पाठ स्थापन करना पड़ता है। यही योगतन्त्र विभाग का प्रथम तथा प्रधान कार्य है।

(ख) इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से तथा अध्यात्म साधना की दृष्टि से भी व्यापक रूप से तन्त्रयोग का आलोचन आवश्यक है।

(ग) जिन तान्त्रिक ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रति भी किसी ग्रन्थालय में नहीं मिलती, किन्तु इनके वचनादि प्राचीन ग्रन्थादि में उद्धृत उपलब्ध होते हैं। उनका संग्रह करके प्रकाशन करना भी एक आवश्यक कार्य है।

(घ) इस विभाग का एक और मुख्य कार्य तन्त्रशास्त्रीय कोष-संकलन है। यह अति विशाल कार्य है और एतदर्थ विशाल कर्मचारी गण का सुदीर्घकाल तक समवेत परिश्रम अपेक्षित है। फिर भी इस महान् कार्य के दिग्दर्शनार्थ यथा-सम्भव इसका प्रारम्भ किया गया है। पूना में वैदिककोष-संकलन के हेतु व्यापक प्रयत्न हो रहा है। दक्षिण भारत में धर्मशास्त्र के कोष का आंशिक संकलन हो चुका है। न्यायशास्त्र का कोष तो बहुत पहले ही बन चुका है और पारिभाषिक कोषों का निर्माण भी विभिन्न स्थानों में हो रहा है। इस समय तान्त्रिक कोष की रचना के विषय में उपेक्षा उचित न होगी।

(ङ) एक और महान् कार्य इस विभाग का आवश्यक कार्य समझा जाता है। वह है तान्त्रिक साहित्य में उपलब्ध सकामकर्मविषयक प्रयोगादि का संकलन। अध्यात्म दृष्टि से इसका मूल्य अधिक न होने पर भी लौकिक कल्याण की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है। विशाल तन्त्र साहित्य में इतस्ततः विक्षिप्त रूप से यह प्रयोग विद्यमान हैं। इनका संग्रह करके विषय के अनुसार सन्निवेश करना कर्तव्य है।

(च) इसके अतिरिक्त विभिन्न देव-देवियों के उपासना विषयक बहुसंख्यक तथ्य तन्त्रसाहित्य में निहित है। देव-देवियों का प्रकार भेद, ध्यान भेद, साधना रहस्य आदि तन्त्रों में विभिन्न स्थानों में मिलते हैं। विषयानुसार इनका संकलन कर लेने पर यह एक महान् लोकोपकारक कार्य सिद्ध होगा। देवताओं के ध्यानों का प्रकाशन एकनोग्राफी की दृष्टि से भी परमावश्यक है। तन्त्र तथा पुराणादि के आधार पर यह कार्य सम्पन्न होना चाहिये।

उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अब तक योगतन्त्र विभाग की ओर से निम्न कार्य किये गये हैं—

(क) अद्यावधि अप्रकाशित अथवा अन्यप्रान्तीय लिपियों में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण तन्त्र ग्रन्थों तथा उन विशिष्ट ग्रन्थों के भी, जो कि आज अनुपलब्ध हैं, प्रकाशनार्थ योगतन्त्र ग्रन्थमाला का शुभारम्भ किया गया है। इसके प्रथम पुष्प के रूप में तन्त्रशास्त्र के दो प्राचीन आचार्यों, शिवानन्द और विद्यानन्द, की टीकाओं के साथ नित्याषोडशिकार्णव का प्रकाशन हो चुका है। इसके परिशिष्ट में दीपकनाथ सिद्ध के त्रिपुरसुन्दरीदण्डक का, शिवानन्द मुनि के सुभगोदय, सुभगोदयवासना

तथा सौभाग्यहृदयस्तोत्र का और अमृतानन्द योगी के सौभाग्यसुधोदय और चिद्विलासस्तव का भी प्रकाशन हुआ है। तन्त्रसंग्रह के नाम से प्रकाशित होने वाले छोटे बड़े लगभग ४० ग्रन्थों का सरस्वतीभवन की मातृकाओं के आधार पर संशोधन और पाठसंकलन किया जा चुका है। इसके प्रथम दो भागों का प्रकाशन योगतन्त्र-विमर्शिनी के प्रथम अंक के साथ ही हो रहा है। प्रथम भाग में सटीक विरूपाक्ष-पञ्चाशिका, साम्बपञ्चाशिका, त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र और स्पन्दप्रदीपिका का तथा अनुभवसूत्र और वातुलशुद्धाख्यतन्त्र का समावेश किया गया है। द्वितीय भाग में निर्वाणतन्त्र, तोडलतन्त्र, कामधेनुतन्त्र, फेत्कारिणीतन्त्र, ज्ञानसंकलिनी और सटीक देवीकालोत्तरागम प्रकाशित हो रहे हैं।

(ख) ऐतिहासिक दृष्टि से तथा अध्यात्मसाधना की दृष्टि से भी व्यापक रूप से योगतन्त्र का आलोचन प्रस्तुत करने के लिये योगतन्त्रविमर्शिनी को समय-समय पर निरन्तर प्रकाशित करते रहने की योजना है। पर कोई नियमित पत्रिका नहीं होगी, किन्तु विभागीय तथा अन्य विद्वानों के द्वारा लिखे गये निबन्धों का जब भी एक अंक के लायक संग्रह पूर्ण हो जायगा तथा आर्थिक सुविधा को भी देखते हुये प्रकाशन किया जायगा। सन् १९६५ में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में संपन्न हुए तन्त्रसम्मेलन के अवसर पर प्राप्त हुए कुछ विशिष्ट निबन्ध सारस्वती सुषमा में प्रकाशित हो चुके हैं। अब भी अनेक विशिष्ट निबन्ध प्रकाशन के लिये अवशिष्ट हैं। तन्त्रसम्मेलन के अवसर पर आयोजित प्रदर्शनी में प्रदर्शित विशिष्ट सामग्री के चित्रों से सुसज्जित योगतन्त्रविमर्शिनी के इस विशेषांक के प्रकाशन के लिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से आर्थिक सहायता की अपेक्षा की जा रही है। उचित सहायता प्राप्त होते ही इसको प्रकाशित किया जायगा।

(ग) इस प्रकार के वचनों का संकलन लुप्तागमसंग्रह के नाम से प्रकाशित करने की योजना है। इसका प्रथम भाग प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें २२१ तन्त्रों के वचनों को संगृहीत किया गया है। दूसरा भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित किया जायगा। द्वितीय भाग के प्रकाशन के समय ही इनके ऐतिहासिक और दार्श-निक स्वरूप पर प्रकाश डाला जायगा।

(घ) तान्त्रिक कोश के प्रथम भाग के लिये पर्याप्त सामग्री संकलित कर ली गई है। शीघ्र ही इसका प्रकाशन किया जायगा।

(ङ-च) अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये भी इन्हीं गतिविधियों के साथ सामग्री संकलन का कार्य हो रहा है।

देश और विदेश के हस्तलिखित ग्रन्थागारों में उपलब्ध तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में से अभी कुछ ही ग्रन्थों का प्रकाशन हो सका है। इस वाङ्मय का विशाल साहित्य अभी अप्रकाशित ही पड़ा है। इस विशाल साहित्य में से कुछ चुने हुए

ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ नेपाल के वीर पुस्तकालय में संगृहीत प्राचीनतम मातृकाओं को प्राप्त करने के लिये तथा हाल में काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय तथा लखनऊ की संस्कृत परिषद् में संगृहीत शारदा लिपि की पाण्डुलिपियों को प्राप्त करने के लिये पत्र व्यवहार चल रहा है। इस विभाग के व्याख्याता श्रीव्रजवल्लभ द्विवेदी प्रकाशन के उपयुक्त विशिष्ट पाण्डुलिपियों का तथा इन स्थानों में हो रहे कार्यों का अवलोकन करने के लिये, साथ ही इस विषय के विद्वानों और संस्थाओं से विशेष सम्पर्क स्थापित करने के लिये कलकत्ता, तिरुपति, मद्रास, तंजोर, त्रिवेन्द्रम्, त्रिपुरुंतुरा, मैसूर, उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, होशियारपुर आदि स्थानों की यात्रा कर चुके हैं। इस यात्रा में देखी गयी विशिष्ट पाण्डुलिपियों में से प्रकाशनार्ह ग्रन्थों की उपलब्धि के लिये पत्राचार किया जा रहा है।

अब तक उत्तर भारत में अध्ययन अध्यापन के क्षेत्र में इस शास्त्र की उपेक्षा ही की जाती रही हैं, जब कि दक्षिण भारत में इस शास्त्र के पांचरात्र, शैव, वीरशैव, वैखानस, तन्त्र आदि विभिन्न उपविभागों के भी अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था चिरकाल से है। संस्कृत विश्वविद्यालय में इन सभी उपविभागों के मुख्य-मुख्य ग्रन्थों तथा बौद्ध आदि तन्त्रों को भी लेकर एक नया पाठ्यक्रम चालू किया गया है, जिससे कि यहाँ पर भी तन्त्रशास्त्र की शिक्षा प्रारम्भ की जा सके और नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्यों के द्वारा तिब्बती भाषा में अनूदित विशाल तान्त्रिक वाङ्मय का भी पुनरुद्धार किया जा सके। विशिष्ट विद्वानों तथा संस्थाओं के अथक परिश्रम से संस्कृत विश्वविद्यालय में सन् १९६५ में हुए तन्त्रसम्मेलन और प्रदर्शनी के आयोजन से तथा यू० जी० सी० की सहायता से यहाँ पर योगतन्त्र विभाग के चालू किये जाने से शिक्षित वर्ग इस उपेक्षित विषय के अध्ययन अध्यापन की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो रहा है। केवल भारत ही नहीं, पाश्चात्त्य देशों में भी आज योग और तन्त्रशास्त्र के प्रति विशेष अभिरुचि जाग्रत् हो रही है। अनेकों विदेशी जिज्ञासु इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये भारत में आते हैं। उनकी जिज्ञासा की तृप्ति के लिये एक केन्द्रीय संस्थान की अत्यन्त आवश्यकता है। संस्कृत विश्वविद्यालय का योगतंत्र विभाग इस कार्य के लिये उपयुक्ततम सिद्ध होगा।

हम पहले ही कह चुके हैं कि आजकल योगशास्त्र के अध्ययन अध्यापन का कार्य प्रायः पातंजल योग-दर्शन तक ही सीमित है, जब कि यह शास्त्र बड़ा व्यापक है। मुख्य-मुख्य आगम ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से योगपाद ग्रथित हैं, जिसमें पातंजल योग से सर्वथा भिन्न योगशास्त्र के निगूढ तत्त्वों का सांगोपांग वर्णन निहित है। इसके अतिरिक्त विभिन्न सन्त सम्प्रदायों में नाथयोग, हठयोग, कुण्डलिनीयोग, अवधूतयोग (दत्तात्रेय प्रभृति आचार्यों का) आदि योगशास्त्र की विभिन्न धारायें परिलक्षित होती हैं। इस विभाग में योगशास्त्र के इस अपरिचित अंग पर भी विशेष

अनुशीलन, अनुसन्धान, सति संभवे प्रयोगात्मक ज्ञान आदि पर प्रभूत बल देने का विचार किया गया है।

वाराणसेय राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में केवल वेद, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, वेदान्त, दर्शन, न्याय आदि विषयों के ही अध्यापन की व्यवस्था थी। महाविद्यालय के विश्वविद्यालय बन जाने पर यहाँ पर मीमांसा, सांख्ययोग, धर्मशास्त्र, बौद्धदर्शन, जैनदर्शन, पालि, प्राकृत आदि विषयों के साथ-साथ चारों वेदों तथा वेदान्त के रामानुज, वल्लभ आदि अवान्तर विभागों के भी अध्यापन की स्थायी व्यवस्था की जा चुकी है। प्रशिक्षण, आयुर्वेद और विज्ञान आदि के स्वतंत्र विभाग भी खोले जा चुके हैं। यहाँ पर आवश्यकता के अनुसार अन्य नये-नये विषयों का भी समावेश होता रहा है, यह ठीक ही है। विश्वविद्यालय को अपने ठीक अर्थ में परिपूर्ण होने के लिये बाह्य तथा आधुनिक विषयों के समावेश के साथ-साथ धार्मिक संस्कृति के अन्तरंग विषयों से सर्वथा सुसज्जित तथा स्थायी प्रवन्ध से संयुक्त रहना अत्यन्त आवश्यक है। आज के भारतीय जन-जीवन तथा साहित्य पर योग और तन्त्रशास्त्र का व्यापक प्रभाव है। अतः वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में योगतन्त्र विभाग की स्थापना इस उद्देश्य शृंखला की एक कड़ी ही मानी जायगी।

हमारा विश्वास है कि अध्ययनाध्यापन की परम्परा के पुनरुद्धार, ग्रन्थ-प्रकाशन, कोश निर्माण और विशेष कर योगतन्त्रविमर्शिनी के माध्यम से यह विभाग इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकेगा। इसी आशा के साथ हम योग-तन्त्रविमर्शिनी के प्रथम अंक को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।
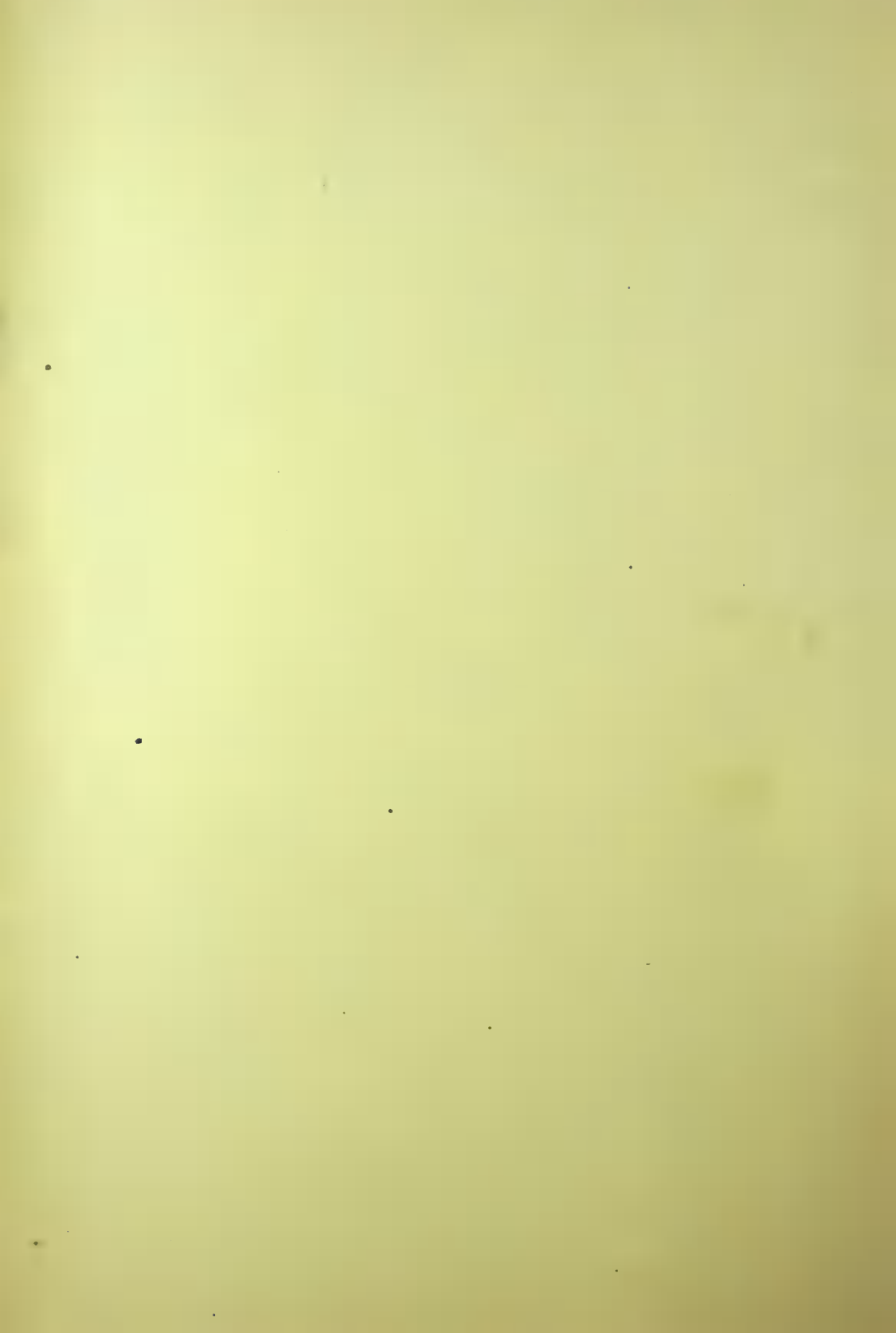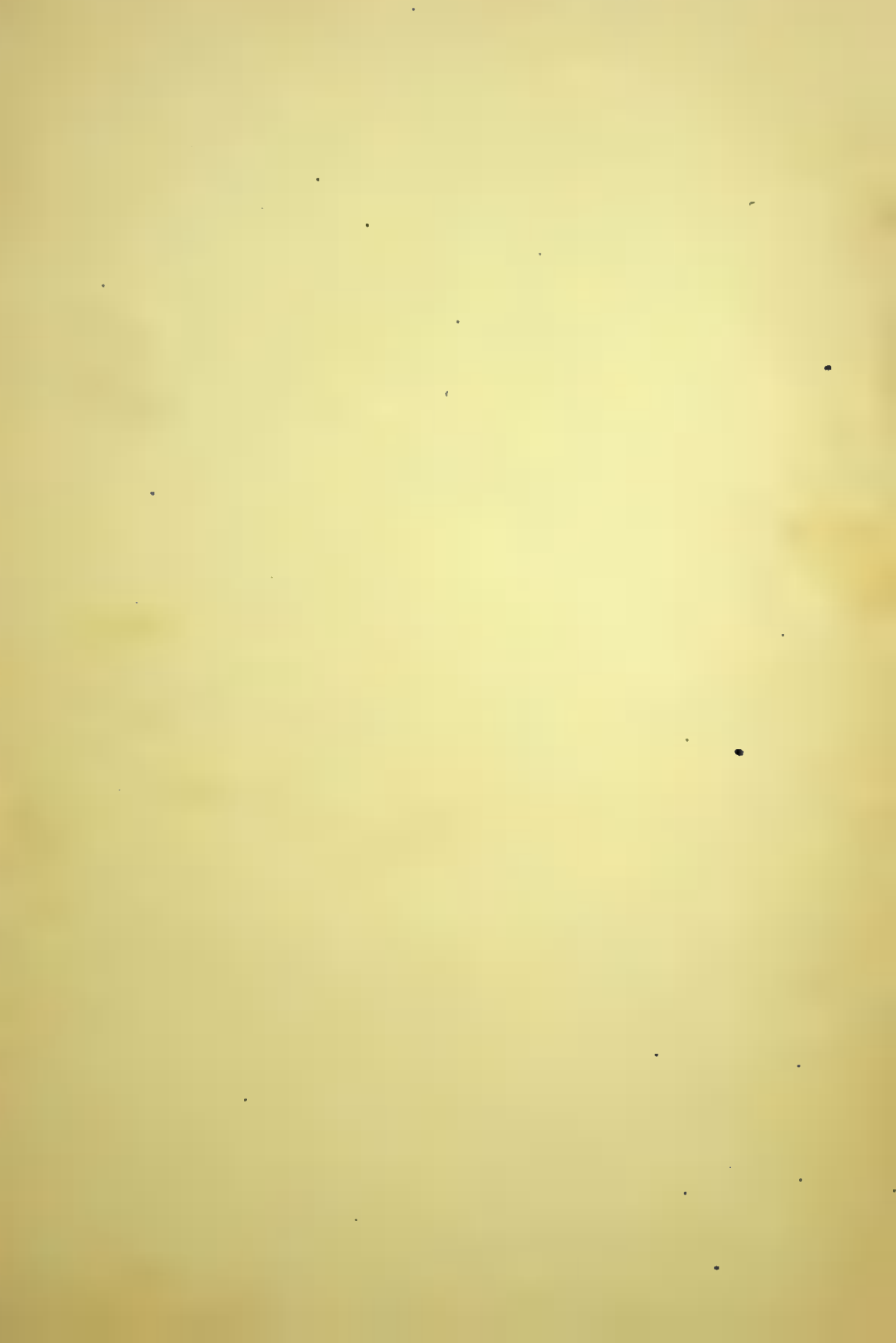
सन्मार्ग

योग विशेषांक

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः
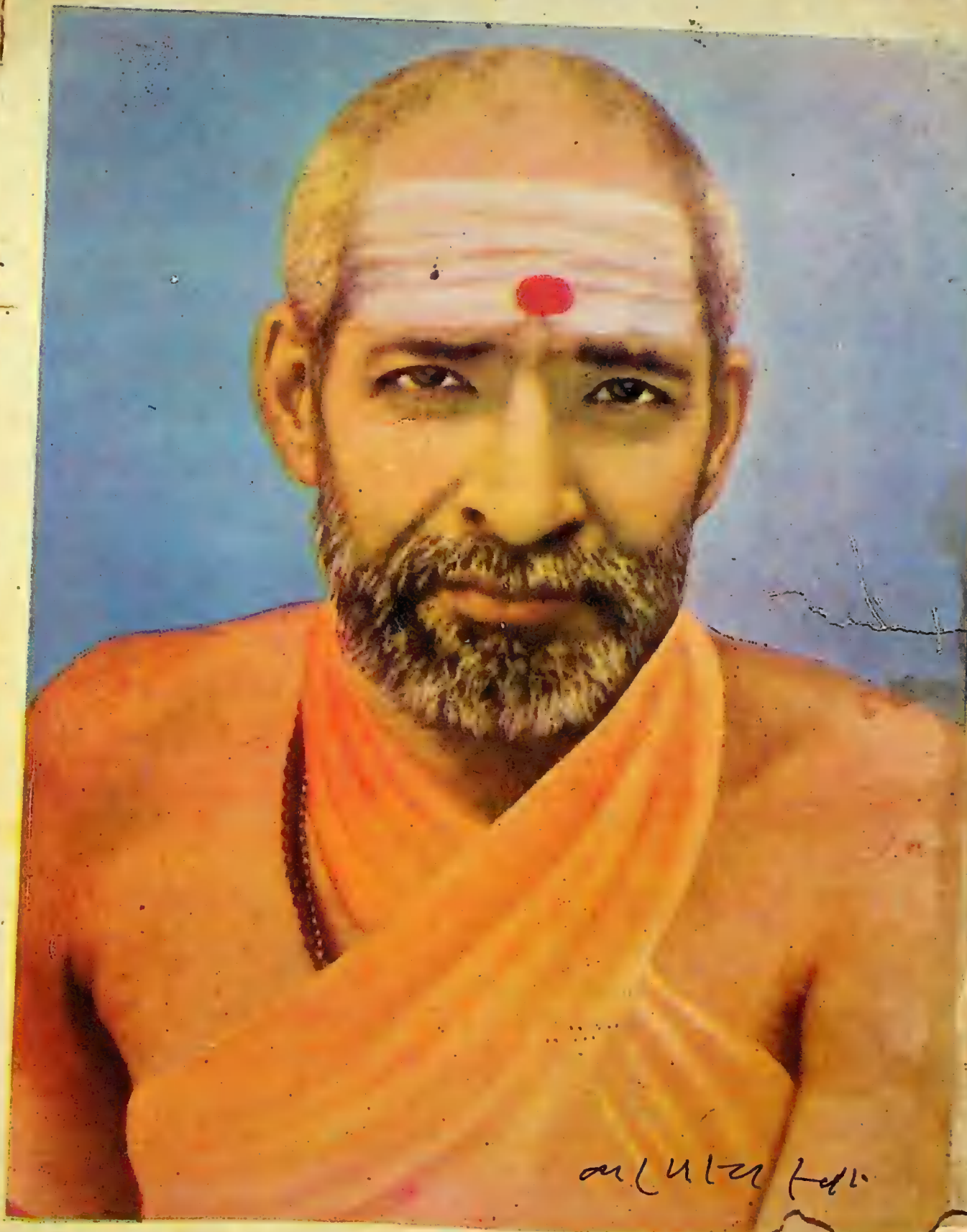
श्री हरिः

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज की ७१वीं वर्षग्रन्थि पर प्रस्तुत

सन्मार्ग

योग विशेषांक

वाराणसी, मंगलवार, श्रावण शुक्ल द्वितीया, संवत् २०३४ वि०, १५-१६ अगस्त १९७७

स्वामी श्री नन्दनन्दनानन्द सरस्वती

प्रधान सम्पादक

शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

सम्पादक,

योग विशेषांक

गोपाल पाण्डेय

सह सम्पादक,

योग विशेषांक

मूल्य : ५.००

श्री हरिः

धर्म की जय हो

अधर्म का नाश हो

卐

प्राणियों में सद्भावना हो

विश्व का कल्याण हो

हर हर महादेव

— प्रकाशक —

महंत वीरभद्र मिश्र

सन्मार्ग

योग विशेषांक

वर्ष : ३२] [अंक : २०५

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः

अनुक्रम

[आवरण : श्री वासुदेव स्मार्त ● छायाचित्र : एस० अतिबल]

प्रकाशकीय

पूज्य चरण स्वामी करपात्री जी महराज की ७१वीं जयन्ती के पावन अवसर पर दैनिक "सन्मार्ग" ने इस वार 'योग विशेपांक" प्रकाशित करके अपने कर्तव्य का निर्वाह किया है। पूज्य स्वामी जी से सम्वद्ध सभी संस्थाओं के कार्यकर्ता तथा विद्वानों ने अपना सहयोग दिया जिसके लिए हम कृतज्ञ हैं। माननीय श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी जी ने इस "योग विशेषांक" का गुरुतरभार हमारे आग्रह पर स्वीकार किया और इस कार्य का सुचारु सम्पादन वड़े परिश्रम और उत्साह से किया। इस प्रयत्न से उन्होंने दैनिक सन्मार्ग की विशेषांक शृंखला में एक सुन्दर कड़ी जोड़ी है। इसके लिए व्यक्तिगत रूप से हम उनके आभारी हैं। श्री गोपाल पाण्डेय ने पूर्ण रूप से सहयोग किया एवं अत्यन्त परिश्रम एवं निष्ठा के साथ इस विशेपांक के सव कार्य किये। उन्हें हमारे अनेक साधुवाद।

श्री वासुदेवजी स्मार्त, श्री दुर्गाप्रसाद जी श्रेष्ठ, श्री एस. अतिवल प्रभृति महानुभावों तथा दैनिक सन्मार्ग के सभी सदस्यों एवं धर्मसंघ के सभी सहयोगियों के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

हमारे विज्ञापन दाताओं के उदार सहयोग के विना योग विशेपांक भव्य प्रकाशन अत्यन्त कठिन हो जाता। उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए हम विश्वास करते हैं कि हमें भविष्य में भी उनका सहयोग और अधिक मात्रा में मिलता रहेगा।

परम पूज्य स्वामी जी की आगामी जयन्तियों पर भी हमें इसी प्रकार के आयोजन की शक्ति मिलती रहे यह श्री मारुतिनन्दन के चरणों में हमारी विनीत प्रार्थना है।

निवेदक

महन्त वीरभद्र मिश्र

— यतो वाचो निवर्तन्ते —

प्रातः स्मरणीय परमपूज्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी करपात्रीजी महाराज के ७०वें जन्म दिवस पर 'सन्मार्ग' ने गत वर्ष अपना विशेषांक प्रकाशित किया था, जिसमें पूज्य चरणों पर अनेक विद्वानों ने अपने विद्वत्तापूर्ण संस्मरण प्रस्तुत किये थे। इस वर्ष 'सन्मार्ग' के संचालक श्रीमान् माननीय महन्त श्री वीरभद्र मिश्रजी ने एक दिन मुझे बुलाकर पूज्य चरणों के ७१ वें जन्म दिवस पर 'सन्मार्ग' का 'योग विशेषांक' प्रकाशित करने का विचार प्रकट किया और मुझे उसका सम्पादन कार्य करने का आदेश दिया। इस प्रकार का अत्यन्त महत्व का कार्य करने योग्य उन्होंने मुझे समझा यह मेरा सौभाग्य ही था। मैंने विशेषांक में लेख कविता आदि प्रेषित करने के लिए एक पत्र तैयार किया और एक विषय सूची संलग्न की, जो विद्वान् लेखकों की सुविधा के लिए थी। वह विषय सूची इस प्रकार है—

—योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः, योगिभिर्ध्यानगम्यम्, योगः कर्मसु कौशलम्, वेदों में योग, उपनिषदों में योग, पुराणों में योग, जनक का योग, याज्ञवल्क्य और योग, योग और हनुमच्चरित्र, योग और श्रीकृष्ण, पतंजलिका योग दर्शन, वेदव्यास का योग विवेचन, योग और सांख्य, योगस्थः कुरु कर्माणि, योग और गीता, योगावसिष्ठ में योगदर्शन, 'योग' शब्द का व्यापक अर्थ, "योग" के पारिभाषिक अर्थ, योग और शांकर दर्शन, योग और रामानुज दर्शन, योग और वाल्लभ सिद्धान्त, निम्बार्क मत में योग, भक्ति योग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, यम और नियम, प्राणायाम और प्रत्याहार, धारणा और ध्यान, समाधि और जीवन की सफलता, योग और प्रदर्शन, योग की लोकोपयोगिता, योग के विकृत रूप, जैन सम्प्रदाय में योग, बौद्धदर्शन में योग, काव्य साहित्य में योग, समाधि और रसानुभूति, चैतन्य सम्प्रदाय में योग, तान्त्रिक योग पद्धति, वर्तमान में योग 'एक व्यवसाय', मानस में योग, कबीर साहित्य में योग, विवेकानन्द और योग, श्री अरविन्द के योगानुभव, योग के अधिकारी, योग का प्रयोजन, योग की प्रशिक्षण संस्थाएँ, क्या योग एक नारा है?, योग से विभिन्न चिकित्साएँ, विदेशों में भारतीय योग के प्रति आकर्षण के कारण, मनोविज्ञान और योग, योग और भवरोग, योग साधना के पुरातन पीठ।—

समय कम था। परन्तु बड़ा आनन्द तब प्राप्त हुआ जब हमारे भेजे गए शताधिक पत्रों में से अधिकांश विद्वानों ने अपनी रचनाएँ भेजी, जिन्होंने नहीं भेजी उन्होंने समयाभाव आदि के कारण अपनी असमर्थता के लिए खेद व्यक्त करने के साथ पूज्य स्वामीजी के चरणों में अनन्त प्रणाम अर्पित किये। इस प्रकार विषय-सूची के प्रायः सभी विषयों पर प्रस्तुत अंक में रचनाएँ उपलब्ध हो गई हैं।

पूज्य चरणों के विषय में बड़े-बड़े विद्वानों की वाणी भी लौट पड़ती है, थाह नहीं पाती उनके गुणों का। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" वाली उक्ति उन पर पूरी उतरती है। वे स्वयं 'योगीश्वर' हैं। संभवतः इसीलिए श्रीमान् महन्तजी के मानस में 'योग विशेषांक' प्रकाशित करने की बात आयी। श्री महन्तजी का कहना है कि परम श्रद्धेय श्रीचरण समस्त भारतीय विद्याओं की प्रतिमूर्ति हैं। हम आगे प्रतिवर्ष उन सभी विद्याओं के विशेषांक प्रकाशित कर आगामी जयन्तियों पर श्री चरणों में समर्पित करते रहें, यही श्री मारुतिनन्दन तथा बाबा विश्वनाथ से विनीत प्रार्थना है।

लेखक महानुभावों ने अपना विलक्षण सहयोग इस कम समय में हमें अपनी रचनाओं को भेज कर दिया। अनेक विद्वानों की रचनाएँ बहुत विस्तृत थीं, अतः उन्हें अंशतः प्रकाशित किया जा रहा है। पृष्ठ संख्या पहिले ही निर्धारित हो जाने के कारण अनेक रचनाएँ इसमें स्थान नहीं पा सकी हैं, पूज्य प्रवर सन्मार्ग प्रधान सम्पादक स्वामी श्रीनन्दनन्दनानन्द सरस्वती जी महाराज ने इन अवशिष्ट रचनाओं को मासिक "सिद्धान्त" में प्रकाशित करने का विचार व्यक्त किया है।

विशेषांक के स्वरूप निर्धारण के लिए आवरण पर

पूज्य स्वामीजी की समाराध्या भगवती-त्रिपुरसुन्दरी का चित्र देने का निश्चय हुआ। तदनुसार काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के कला प्राध्यापक श्री वासुदेव स्मार्तजी से निवेदन किया गया और उन्होंने आवरण पृष्ठ तैयार किया तथा योग से सम्बद्ध-लेखों के अन्त में देने के निमित्त रेखाचित्र दिये। पूज्य स्वामीजी महाराज का श्रीमान् सन्तशरणजी वेदान्ती के पास बड़ा सुन्दर चित्र श्री महन्तजी ने देखा था, उसीका रंगीन चित्र देने का निर्णय हुआ। श्री एस. अतिवलजी के सहयोग से यह कार्य कलकत्ता भेजकर संभव हो सका। मंगलाचरण के रूप में 'पातञ्जलयोगसूत्र' मूल मात्र देने का विचार था, परन्तु पूज्य शास्त्री स्वामीजी (श्री नन्दनन्दनानन्द सरस्वतीजी) के आदेश से मैंने उसका अतिसंक्षिप्त अनुवाद भी शीघ्रता में कर दिया। वह प्रस्तुत है। इसी सन्दर्भ में पूज्य स्वामीजी महाराज के योग सम्बन्धी प्राचीन लेखों का अन्वेषण करने के लिए 'सिद्धान्त' की पुरानी फाइल देखी। उनमें से दो लेख प्रारंभ में दिये जा रहे हैं। यही लेख इस पूरे विशेषांक के आधार हैं। श्री पं० रामाधीन शास्त्रीजी ने मेरे स्वर्गीय पिताजी का योग विषयक लेख उनकी गीता व्याख्यान माला से तैयार कर दिया। श्रद्धेय श्रीगंगाशंकर मिश्रजी का "तिब्बत का ज्ञान" शीर्षक लेख भी सिद्धान्त में प्राप्त हुआ। स्वर्गीय श्री मिश्रजी के सिद्धान्त तथा अन्य पत्रों में प्रकाशित समस्त लेखों का संकलन प्रकाशित होने की आवश्यकता है। पूज्य स्वामीजी महाराज के सिद्धान्त में अत्यधिक लेख हैं, और उनका संग्रह भी उनकी अनेक पुस्तकों में हुआ है। ऐसा प्रयत्न स्वर्गीय श्री गंगाशंकर मिश्रजी की रचनाओं के लिए भी होनी चाहिए। अन्यथा इस महत्त्वपूर्ण सामग्री के कालकवलित हो जाने की आशंका है। हमारे निवेदन पर लेख देने वाले सभी आदरणीय विद्वान् महानुभावों के हम निरतिशय कृतज्ञ हैं। शास्त्रार्थमहारथी श्री माधवाचार्यजी सनातनी जगत् के महान् स्तम्भ हैं। अपनी व्यस्तता में भी उन्होंने इस अंक के लिए लेख भेजकर अनुगृहीत किया। पूज्य श्री शास्त्री स्वामीजी महाराज ने बड़े गहन विषय पर लेख दिया है, उसी विषय पर श्री श्रीप्रकाशजी ने भी लिखा, अन्य लेखों में भी तन्त्रशास्त्रीय विषय आ गये हैं।

इस अंक में कविगण के स्नेहिल सहयोग से हमें बड़ा ही सन्तोष है। कवि महानुभावों के प्रति हमें अत्यन्त कृतज्ञता है। संस्कृत कवियों ने 'कवि भारती' के माध्यम से पूज्य अनन्तश्री स्वामिचरणों में अपनी काव्यमयी प्रणतियाँ समर्पित की हैं, जिससे प्रस्तुत अंक शृंगारित हो गया है।

जब मुझे यह काम दिया गया तभी मैंने श्री महन्तजी से कहा कि यह कार्य तभी सुचारु सम्पन्न हो सकेगा जब मुझे एक अच्छा सह सम्पादक मिलेगा। श्रीगोपाल पाण्डेय को श्री महन्तजी ने अनुमति दी, उन्होंने सभी कार्यों में अथक परिश्रम किया। विज्ञापनादि की व्यवस्था के लिए कलकत्ता, जमशेदपुर बोकारो आदि की यात्रा की। दौड़ने के काम पूरे किये, वे मेरे प्रियशिष्य हैं, उनके लिए मैं उत्तरोत्तर उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ।

इस ज्ञान यज्ञ में सन्मार्ग परिवार तथा धर्मसंघ शिक्षा मण्डल की मनीषि-मण्डली का सर्वविधि सहयोग रहा। तदर्थ अनेकानेक धन्यवाद तथा कृतज्ञताएँ।

श्री महन्तजी का विचार था कि वाराणसी में उपलब्ध कतिपय विश्वविख्यात महानुभावों का साक्षात्कार विवरण दिया जाय। वह कार्य भी हुआ। सभी महनीय विद्वानों के प्रति हम श्रद्धानत हैं।

विज्ञापनों के प्रकाशनार्थ अपनी स्वीकृति प्रदान करने वाले महानुभावों के प्रति भी हमारी कृतज्ञताएँ समर्पित हैं। उनके सहयोग से प्रस्तुत अंक की साज-सज्जा में बड़ी सहायता मिली। वाराणसी के सर्वप्रमुख मुद्रण संस्थान भार्गव भूषण प्रेस के व्यवस्थापक गण भी अनेकों धन्यवादों के पात्र हैं।

इस अंक में "जोग जोग हम नाहीं" शीर्षक लेख के लेखक श्री भानुशंकर मेहताजी ने अपने लेख में दो बार हमें सम्बोधित किया है। श्री मेहता जी अनेक कलाओं के ज्ञाता, निपुण साधक, विपुल समाज सेवी तथा अद्भुत संगठनकर्ता और अतिशय प्रभावशाली व्यक्तित्व के अनुपम धनी हैं। उनकी शैली हमें पं० पद्मसिंह शर्मा जैसी शैली का स्मरण कराती है। उनको अपना लेख लिखते समय गोपियों की याद आ गयी और उसी बहाव में वे हमें भी योग वोग से अलग रहने की सलाह दे रहे हैं। परन्तु ये तो शायद द्वापर की बातें रही होंगी, अब तो वे भानुलली का रूप बदल कर भानुशंकर हो चुके हैं, और ऊधो पाण्डे के उपदेश के बाद से

उन्होंने लगता है योग के क्षेत्र में अपने आपको इम्प्रूव किया है, कितना अच्छा वर्णन उन्होंने योग की शब्दावली में योग का दिया है। परन्तु लगता है कभी कभी नागरी मण्डली के असर से उन्हें द्वापर की सुधि लौट आती है और "जोग जोग हम नाहीं" कह बैठते हैं। परन्तु जैसा उन्होंने लिखा भी है और यहाँ वाराणसी में विदित भी है कि वे योग जिज्ञासुओं की मण्डली में ऊधो का स्थान लेते हैं और 'योगा' सिखाते हैं। उन्हें अनेक धन्यवाद हैं—'रस परिवर्तन' के लिए।

आचार्य श्री रजनीश जी की ओर से भेजा गया पत्र हमें मिला कि "महागीता" पुस्तक भाग एक का प्रथम प्रवचन हम इस अंक में छाप सकते हैं। साथ ही लेखक के नाम पर "भगवान रजनीश" प्रकाशित किया जाय। यह हमें हैरानी में डालने वाली बात थी। हम रजनीश साहित्य के अध्येता हैं और उक्त बात उनके द्वारा प्रतिपादित मतों से बिलकुल भी मेल नहीं खाती, जिसके लिए कई प्रमाण दिये जा सकते हैं। जहाँ तक हमारा सवाल है—हम तो ऐसा सैद्धान्तिक दृष्टि से कर ही नहीं सकते। यदि उनके नाम में 'भगवान्' शब्द सम्मिलित होता तब तो कोई बात नहीं थी, परन्तु उपाधि के रूप में किसी के नाम के पहिले भगवान् जोड़ना तो उस व्यक्ति के ईश्वर स्थानीय मानने वाले श्रद्धावान् के लिए ही संभव हो सकता है। हमारी दृष्टि में श्री रजनीश अपने विचार प्रचार के कारण निसन्देह आदरणीय हैं, कई मतभेद हैं, तो भी उनके गुणों को हमें स्वीकार करना ही है, परन्तु सार्वजनिक रूप से उन्हें भगवान् कहने योग्य श्रद्धा तो अभी हम संचित नहीं कर सके हैं। इसी अड़चन से यहाँ उनके प्रवचन का प्रकाशन न कर पाने का हमें अपने लिए बहुत ही खेद है।

परमवन्दनीय श्रीचरणों में कोटिशः प्रणामों को समर्पित करते हुए, इस अंक में दृष्टि में आने वाली सभी त्रुटियों के लिए क्षमा याचना के साथ हम अपने समादारणीय पाठकों से प्रस्तुत 'सन्मार्ग' के 'योग विशेषांक' को पढ़कर उस पर अपनी संमति प्रदान करने का विनम्र निवेदन करते हैं—

विनीत—
शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी
संपादक
सन्मार्ग-योग विशेषांक

भारतीय धर्म संस्कृति के श्रद्धापुंज

स्वामी श्री करपात्री जी महाराज के

७१ वें शुभ जन्मदिवस पर

श्रद्धावनत

नेलीमरला जूट मिल्स कं० लि०

पातञ्जलयोगदर्शनम्

समाधिपादः —१

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

शब्दाज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः ॥१७॥

पतञ्जलि विरचित योगसूत्र

समाधि पाद—१

योग विषयक शास्त्र प्रारंभ किया जाता है ॥ १ ॥

चित्त वृत्तियों का अवरोध योग है ॥ २ ॥

तब द्रष्टा की अपने रूप में स्थिति हो जाती है ॥ ३ ॥

योगातिरिक्तकाल में द्रष्टा का स्वरूप वृत्ति के समान होता है ॥ ४ ॥

क्लिष्ट और आक्लिष्ट भेद से वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं ॥ ५ ॥

वे हैं प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ॥ ६ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं ॥ ७ ॥

वस्तु स्वरूप में अप्रविष्ट मिथ्या ज्ञान का नाम विपर्य्यय है ॥ ८ ॥

शब्द ज्ञान से समुत्पन्न होने वाले ज्ञान के साथ होने वाला अवास्तव विकल्प कहलाता है ॥ ९ ॥

अभाव ज्ञान का अवलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा है ॥ १० ॥

अनुभूत विषय का प्रकट हो जाना स्मृति है ॥ ११ ॥

चित्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है ॥ १२ ॥

चित्त की स्थिरता के प्रयत्न की अभ्यास संज्ञा है ॥ १३ ॥

वह बहुत समय तक निरन्तर सादर साङ्गोपाङ्ग सेवित होकर दृढ़ता प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

देखे-सुने विषयों में तृष्णा रहित चित्त वशीकार अवस्था वैराग्य है ॥ १५ ॥

पुरुष के ज्ञान से प्रकृति के गुणों में तृष्णा का अभाव परम वैराग्य है ॥ १६ ॥

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के सम्बन्ध से सम्प्रज्ञात योग होता है ॥ १७ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वःसंस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥	विराम प्रत्यय के अभ्यास से युक्त पूर्वावस्था वाला, संस्कार मात्र शेप जिसमें रहता हो वह दूसरा योग है ॥ १८ ॥
भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥	विदेह और प्रकृतिलय योगियों का योग भव प्रत्यय कहलाता है ॥ १९ ॥
श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक-इतरेषाम् ॥ २० ॥	अन्य योगियों का योग श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा पूर्वक सिद्ध होता है ॥ २० ॥
तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥	तीव्र साधन संपत्ति वालों का योग शीघ्रता से होता है ॥ २१ ॥
मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥२२॥	मृदु, मध्यम और उच्च साधनावस्था में तीव्र संवेग वालों में भी भिन्नता रहती है ॥ २२ ॥
ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥	ईश्वर के आश्रय से भी उच्च योग की प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥
क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥	क्लेश, कर्म, विपाक, आशयों से अस्पृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर है ॥ २४ ॥
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥	उसमें सर्वज्ञता का निरतिशय बीज है ॥ २५ ॥
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥	वह काल से नियन्त्रित न होने से पूर्वजों का भी गुरु है ॥ २६ ॥
तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥	ओंकार उसका वाचक है ॥ २७ ॥
तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥	प्रणव, (ओंकार) का जप ईश्वर का चिन्तन है ॥ २८॥
ततःप्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥	जप से विघ्नों का अभाव और आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है ॥ २९ ॥
व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥	व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व, अनवस्थितत्व, ये चित्त के विक्षेप योग के विघ्न हैं ॥ ३० ॥
दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा-विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥	दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गकम्प, श्वास, प्रश्वास, ये विक्षेप के साथी हैं ॥ ३१ ॥
तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥	उनके दूरीकरण के लिए एक तत्त्व का अभ्यास आवश्यक है ॥ ३२ ॥
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥३३॥	क्रमशः सुःख, दुःख, पुण्य, अपुण्य विषय वाली मैत्री, करुणा, मुदिता उपेक्षा की भावना से चित्त प्रसन्न हो जाता है ॥ ३३ ॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥	अथवा वायु के बाहर निकालने व रोकने से चित्त निर्मल होता है ॥ ३४ ॥
विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३५ ॥	विषयवती प्रवृत्ति भी उत्पन्न होकर मन की स्थिति को बाँधती है ॥ ३५ ॥
विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ॥ ३६ ॥	शोकरहित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी मन को स्थित करती है ॥ ३६ ॥
वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥	वीतराग को विषय बनाने वाला चित्त भी स्थिर हो जाता है ॥ ३७ ॥
स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥	स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का अवलम्ब करने वाला चित्त भी स्थिर हो जाता है ॥ ३८ ॥
यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥	अपने अभीष्ट के ध्यान से भी चित्त स्थिर होता है ॥ ३९ ॥
परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः॥४०॥	चित्त का वशीकार परमाणु से लेकर परम महत् तक में हो सकता है ॥ ४० ॥
क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥	क्षीणवृत्ति वाले उच्चकोटि के मणि के समान निर्मल चित्त का ग्रहीता, ग्रहण तथा ग्राह्य में स्थित होकर तदाकार हो जाना समापत्ति है ॥ ४१ ॥
तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥४२ ॥	उनमें शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों से मिश्रित समाधि सवितर्क या सविकल्पक है ॥ ४२ ॥
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥	स्मृति के लोप से स्वरूप से शून्य के सदृश ध्येय मात्र को प्रत्यक्ष कराने वाली (चित्त स्थिति) निर्विकल्पक है ॥ ४३ ॥
एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥	इससे सूक्ष्म पदार्थों से सम्बद्ध सविचार और निर्विचार समाधि का भी निरूपण हो गया ॥ ४४ ॥
सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥	सूक्ष्म विषयता की सीमा प्रकृति तक है ॥ ४५ ॥
ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥	वह सभी सबीज समाधि है ॥ ४६ ॥
निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥	निर्विचार समाधि के निर्मल होने पर अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है । ४७ ॥
ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥	उस अवस्था की बुद्धि ऋतम्भरा है ॥ ४८ ॥
श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥	श्रवण और अनुमान से होने वाली बुद्धि की अपेक्षा इस बुद्धि का विषय भिन्न है ॥ ४९ ॥
तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥	उससे उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य संस्कारों का प्रतिबन्धक होता है ॥ ५० ॥
तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥	उसके भी विरुद्ध हो जाने पर सब का निरोध हो जाने से समाधि निर्विकल्प हो जाती है ॥ ५१ ॥

साधनपादः—२	साधन पाद–२
तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः॥१॥	तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रपत्ति ये क्रिया योग हैं ॥१॥
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥	ये समाधि की भावना और क्लेशों के दूरी करणार्थ उपादेय हैं ॥ २ ॥
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः॥३॥	अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये क्लेश हैं ॥३॥
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥	प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार अवस्थाओं में रहने वाले तथा अविद्या आदि का कारण अविद्या है ॥ ४ ॥
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥	अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में नित्य, शुचि और आत्मा की अनुभूति अविद्या है ॥ ५ ॥
दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥	दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति का एकरूप-सा हो जाना अस्मिता है ॥ ६ ॥
सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥	सुखानुभव की पृष्ठभूमि में विद्यमान क्लेश राग है ॥७॥
दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥	दुःखानुभव की पृष्ठ भूमि में रहने वाला क्लेश द्वेष है ॥ ८ ॥
स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥	प्रकृति क्रम के प्रवाह से समागत विद्वानों में भी आरूढ़ रहने वाला (भयादि) अभिनिवेश कहलाता है ॥ ९ ॥
ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १०॥	ये सूक्ष्म क्लेश प्रतिप्रसव [कारण में विलीनीकरण] के द्वारा नष्ट करने योग्य हैं ॥ १० ॥
ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥११ ॥	उनकी वृत्तियाँ ध्यान के द्वारा नष्ट कर देने योग्य हैं ॥ ११ ॥
क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट-जन्म-वेदनीयः ॥ १२ ॥	क्लेशों से समुत्पन्न कर्मों का आशय वर्तमान तथा आगामी जीवन में अनुभव में आता है ॥ १२ ॥
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥ १३ ॥	जब तक मूल रहेगा कर्माशयों का परिणाम जन्म, आयु और भोगों के रूपों में मिलता रहेगा ॥ १३ ॥
ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्॥१४॥	जन्म, आयु और भोगों के कारण पुण्य और पाप हैं अतः उनके फल आनन्ददायी और परितापदायी होते हैं ॥ १४ ॥
परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥	विवेकवान् के लिए सभी दुःखमय है क्योंकि परिणाम, ताप और संस्कारों के दुःख सर्वत्र हैं और सत्त्वादि गुणत्रय की प्रकृति भी परस्पर विरुद्ध है ॥ १५ ॥
हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥	अनागत दुःख नष्ट करने योग्य है ॥ १६ ॥

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥	द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेयता का कारण है ॥१७॥
प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥	प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव वाला, भूत और इन्द्रियों को स्वरूप बनाने वाला, भोग और मोक्ष के सम्पादन को प्रयोजन बनाने वाला दृश्य है ॥१८॥
विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥	गुणों के भेद हैं—विशेष, अविशेष, लिङ्ग मात्र और अलिङ्ग ॥ १६ ॥
द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥	चेतन मात्र द्रष्टा यद्यपि स्वभाव से शुद्ध है तो भी बुद्धि-वृत्ति के अनुरूप देखने वाला है ॥ २० ॥
तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥	दृश्य का स्वरूप उस द्रष्टा के लिए ही है ॥ २१ ॥
कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥	जिस पुरुष का भोग और मोक्ष हो चुके, उसके लिए प्रकृति नहीं रही, परन्तु वह नष्ट नहीं हुई। अन्य अमुक्त पुरुषों के प्रयोजन के लिए वह विद्यमान रहती है ॥ २२ ॥
स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥	अपनी और स्वामी की, दोनों की शक्तियों के स्वरूप ग्रहण करने का कारण उनका संयोग है ॥२३॥
तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥	उस संयोग का हेतु अविद्या है ॥ २४ ॥
तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥	अविद्या के अभाव से प्रकृति पुरुष के संयोग का अभाव हो जाता है, यही दुःख हानि है और यही मोक्ष है ॥ २५ ॥
विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥	अविचल विवेक दुःख हानि का उपाय है ॥२६॥
तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥	मुक्त पुरुष की सात प्रकार की अन्तिम स्थिति प्रज्ञा होती है ॥ २७ ॥
योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥	योगानुष्ठान से अशुद्धि के नष्ट होने पर ज्ञान का, मोक्ष तक के लिए, प्रकाश प्राप्त हो जाता है ॥ २८ ॥
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥	योग आठ प्रकार का है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ॥ २६ ॥
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥	अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम कहलाते हैं ॥ ३० ॥
जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥	ये यम क्यों कि जाति, देश, काल और निमित्त आदि से सीमा बद्ध नहीं हैं अतः सार्वभौम महाव्रत हैं ॥ ३१ ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥	शुचिता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति ये नियम हैं ॥ ३२ ॥
वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥	वितर्कों के बाधा पहुँचाने पर बाधक तत्वों से विपरीत भावना करनी चाहिए ॥ ३३ ॥
वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥	हिंसा आदि वितर्क स्वयं कृत, कारित या समर्थित हैं, ये लोभ, क्रोध, मोह पूर्वक होते हैं, ये छोटे, मध्य और अधिक मात्रा वाले हैं, दुःख और अज्ञानरूपी अनन्त फलों के दाता हैं, इस प्रकार प्रतिपक्ष की भावना होती है ॥ ३४ ॥
अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥३५॥	अहिंसा की दृढ़ता प्राप्त होने पर योगी की उपस्थिति में प्राणी अपने वैरका त्याग कर देते हैं ॥ ३५ ॥
सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥३६॥	सत्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर योगी में क्रिया के फल के आश्रय का भाव आ जाता है ॥ ३६ ॥
अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३७॥	अस्तेय (अचौर्य) की प्रतिष्ठा हो जाने पर सभी प्रकार के धन प्रकट हो जाते हैं ॥ ३७ ॥
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥	ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर समर्थता आ जाती है॥ ३८ ॥
अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥ ३९ ॥	अपरिग्रह की स्थिति हो जाने पर पूर्व जन्म के वृत्तान्तों का ज्ञान हो जाता है ॥ ३९ ॥
शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥	शौच के पालन से अपने अंगों में वैराग्य और दूसरों से असंसर्ग की इच्छा होती है ॥ ४० ॥
सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥	इसके अतिरिक्त अन्तःकरण शुद्धि, मन में प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रिय वशित्व और आत्म-साक्षात्कार योग्यता ये भी प्राप्त होते हैं ॥ ४१ ॥
संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥	संतोष से परम सुख की प्राप्ति होती है ॥ ४२ ॥
कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥	तपःप्रभाव से अशुचिता की निवृत्ति हो जाने पर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है ॥ ४३ ॥
स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥	स्वाध्याय से इष्टदेव की प्राप्ति हो जाती है ॥ ४४ ॥
समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥	ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि हो जाती है ॥ ४५ ॥
स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥	निश्चल बैठना ही आसन है ॥ ४६ ॥
प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥	वह प्रयत्न की शिथिलता और ईश्वरार्पण से प्राप्त होता है ॥४७॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

आसन सिद्धि होने पर शीतोष्णादि कष्ट नहीं होते ॥ ४८ ॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसन सिद्धि होने पर श्वास-प्रश्वास की गति के अवरोध से प्राणायाम होता है ॥ ४९ ॥

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

प्राणायाम वाह्य वृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भ वृत्ति भेद से तीन प्रकार का होता है और वह देश, काल और संख्या के द्वारा देखा जाता हुआ लंबा और हल्का होता जाता है ॥ ५० ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

चौथे प्रकार का प्राणायाम वह है जो वाहर और भीतर के विषयों का परित्याग कर देने के कारण स्वतः सम्पन्न होता रहता है ॥ ५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

इसकी प्राप्ति हो जाने पर अन्तःप्रकाश पर पड़ने वाला आवरण क्षीण हो जाता है ॥ ५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

तब धारणाओं के लिए मन में शक्ति आ जाती है ॥ ५३ ॥

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

इन्द्रियाँ जब अपने विषयों से पृथक् होकर चित्त के स्वरूप का अनुकरण करने में प्रवृत्त हो जाती हैं तब वह प्रत्याहार कहलाता है ॥ ५४ ॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

इससे इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से वश में आ जाती हैं ॥५५॥

विभूतिपादः—३

विभूति पाद—३

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

किसी एक स्थान पर चित्त को ठहराना 'धारणा' है ॥ १ ॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

उसमें चित्तवृत्ति का एकरूप से चलते रहना 'ध्यान' है ॥ २ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

जब ध्यानावस्था में ध्येय मात्र ही रह जाय, चित्त का स्वरूप जब शून्य के समान हो जाय, तब उसे 'समाधि' समझना चाहिए ॥ ३ ॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एक स्थान पर धारणा, ध्यान और समाधि तीनों का होना 'संयम' है ॥ ४ ॥

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

उसकी विजय पर बुद्धि प्रकाशित होती है ॥ ५ ॥

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

उस संयम का भूमियों में विनियोग करना चाहिए ॥ ६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥	प्रथमोक्त की अपेक्षा ये तीनों साधन अन्तरङ्ग हैं ॥ ७ ॥
तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥	निर्बीज समाधि की स्थिति में ये तीनों भी वहिरङ्ग बन जाते हैं ॥ ८ ॥
व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥	व्युत्थान अवस्था के संस्कारों का अभिभव (तिरस्कार) और निरोधावस्था के संस्कारों का प्रकट होना निरोध काल में चित्त का निरोध संस्कारानुगत होना निरोध का परिणाम है ॥ ९ ॥
तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥	संस्कारों की शक्ति से चित्त की प्रशान्त स्थिति होती है ॥ १० ॥
सर्वार्थतैकाग्रतायाः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥	सव प्रकार के विषयों का चिन्तन करने की वृत्ति का क्षय हो जाना, किसी एक ध्येय के चिन्तन की एकाग्रतावस्था का उदय चित्त का समाधि परिणाम है ॥ ११ ॥
ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥	अनन्तर जव शान्त और उदित होने वाली वृत्तियाँ एकावस्थागत होती हैं तव वह चित्त का एकाग्रता परिणाम है ॥ १२ ॥
एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥	इस विवरण से पाँचों भूतों और इन्द्रियों में घटित होने वाले धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम व्याख्यात हुए ॥ १३ ॥
शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥	भूत, वर्तमान और भविष्यत् के धर्मों में जो अनुगत है वह धर्मी कहा जाता है ॥ १४ ॥
क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥	परिणाम की भिन्नता का कारण क्रम की भिन्नता होती है ॥ १५ ॥
परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥	उक्त तीनों परिणामों में संयम करने से भूत और भविष्य का ज्ञान हो जाता है ॥ १६ ॥
शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥	शब्द, अर्थ और ज्ञान के परस्पर अध्यास के कारण संपन्न मिश्रण के विभागों में संयम स्थापित करने से संपूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान हो जाता है ॥ १७ ॥
संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥	संस्कारों का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाने पर पूर्व जन्म का ज्ञान हो जाता है ॥ १८ ॥
प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥	अन्य चित्त का साक्षात्कार संयम के द्वारा संपन्न कर लेने पर अन्य के चित्त का ज्ञान हो जाता है ॥ १९ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥२०॥ — वह ज्ञान आलम्बन सहित नहीं होता क्योंकि वह योगी के चित्त का विषय नहीं है ॥ २० ॥

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः-प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥ — शरीर के रूप संयम से उसकी ग्राह्य शक्ति के रोके जाने पर, चाक्षुष प्रकाश के उससे असम्वद्ध हो जाने के कारण अन्तर्धान हो जाने की स्थिति प्राप्त होती है ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त-ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥ — उपक्रम सहित और उपक्रम रहित कर्मों में संयम प्राप्त होने पर तथा अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान हो जाता है ॥ २२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥ — मैत्री आदि में वल प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिवलादीनि ॥ २४ ॥ — वलों में हाथी आदि के समान वल की प्राप्ति हो जाती है ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्ट-ज्ञानम् ॥ २५ ॥ — ज्योतिर्मयी प्रवृत्ति का प्रकाश फैलाने से सूक्ष्म, व्यवधान युक्त तथा दूर स्थित का ज्ञान होता है ॥२५॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥ — सूर्य में संयम करने से समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥ — चन्द्रमा में संयम प्राप्त करने से तारा-मण्डल का ज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥ — ध्रुव में संयम से तारागण की गति का ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥ — नाभिचक्र में संयम से शरीरावयवों का ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥ — कण्ठकूप में संयम से भूख प्यास मिट जाती है ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥ — कूर्मनाडी में संयम से काय स्थैर्य प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥ — व्रह्मरन्ध्र ज्योति में संयम से सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥ — प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने से समस्त ज्ञातव्यों का ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥ — हृदय में संयम से चित्त के स्वरूप का ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो-भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३५॥ — अत्यन्त भिन्न वुद्धि और पुरुष के अभेद प्रत्यय रूप भोग में संयम से पुरुष का ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥ — उससे प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।। ३७ ।।

ये समाधि काल में विघ्न होती हैं और व्युत्थान में सिद्धियाँ होती हैं ।। ३७ ।।

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ।। ३८ ।।

बन्धन कारण की शिथिलता और चित्त की गति का ज्ञान होने से चित्त का अन्य शरीर में प्रवेश होता है ।। ।। ३८ ।।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ।। ३९ ।।

उदान वायु पर विजय प्राप्त कर लेने से जल, कण्टक, कीचड़ आदि से शरीर का संयोग नहीं होता और ऊर्ध्व गति होती है ।। ३९ ।।

समानजयाज्ज्वलनम् ।। ४० ।।

समान वायु के विजय से दीप्ति लाभ होता है ।। ४० ।।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ।। ४१ ।।

कर्णेन्द्रिय और आकाश के सम्वन्ध पर संयम से कर्णेन्द्रिय में दिव्यता आ जाती है ।। ४१ ।।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ।। ४२ ।।

शरीर और आकाश के सम्वन्ध में संयम से तथा रुई के समान हल्की वस्तु में संयम से आकाश विचरण शक्ति प्राप्त हो जाती है ।। ४२ ।।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा, ततः प्रकाशावरणक्षयः ।। ४३ ।।

शरीर के वाहर अकल्पित स्थिति महाविदेह कहलाती है, उससे बुद्धि की ज्ञान शक्ति के आवरण का क्षय हो जाता है ।। ४३ ।।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ।। ४४ ।।

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व इन अवस्थाओं में संयम से योगी भूतों पर विजय प्राप्त करता है ।। ४४ ।।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावा कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।। ४५ ।।

इससे आणिमादि सिद्धियों का प्रादुर्भाव, काय सम्पत्ति की प्राप्ति तथा भूत धर्मों की बाधाओं से निवृत्ति हो जाती है ।। ४५ ।।

रूपलावण्यवलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ।। ४६ ।।

रूप, लावण्य, शक्ति और वज्र के समान संगठन काय सम्पत्तियाँ हैं ।। ४६ ।।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ।। ४७ ।।

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व में संमय से इन्द्रिय विजय की उपलब्धि होती है ।। ४७ ।।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।। ४८ ।।

इससे मन के समान वेग, शरीर के अभाव में भी विषय सेवन शक्ति तथा प्रकृति पर अधिकार प्राप्त होता है ।। ४८ ।।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ।। ४९ ।।

सवीज समाधि, जिसमें वुद्धि और पुरुष के पार्थक्य मात्र का ज्ञान हो, उसकी प्राप्ति पर योगी को समस्त वस्तु जगत् स्वामित्व तथा सर्वज्ञत्व की प्राप्ति हो जाती है ।। ४९ ।।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५०॥ उसमें भी वैराग्य हो जाने पर दोष के बीज के नष्ट हो जाने से कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है ॥ ५० ॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥ देवों का आमन्त्रण प्राप्त होने पर उनके संग तथा अभिमान से बचना चाहिए, अन्यथा अनिष्ट हो जाता है ॥ ५१ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५२॥ क्षण और उसके क्रम में संयम से विवेकजनित ज्ञान होता है ॥ ५२ ॥

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥ जाति, लक्षण और देश भेद से, भेद के संभव न होने के कारण तुल्य प्रतीत होने वाली वस्तुओं की भेद प्रतीति विवेक से हो जाती है ॥ ५३ ॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥ संसार से तार देने वाला, सबको जानने वाला, क्रम शून्य विवेक सम्भूत ज्ञान होता है ॥ ५४ ॥

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५५ ॥ बुद्धि और पुरुष की समान भाव से शुद्धि हो जाने पर कैवल्योपलब्धि हो जाती है ॥ ५५ ॥

कैवल्यपादः —४

कैवल्य पाद—४

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥१॥ जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥ प्रकृति के पूर्ण होने पर एक जाति से दूसरी जाति में गमन रूप परिणाम होता है ॥ २ ॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततःक्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥ निमित्त प्रकृति का संचालक नहीं है, उससे तो कृषक की भाँति बाधा का उपशम होता है ॥३॥

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥ अस्मिता मात्र से चित्त निर्मित होती है ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥ अनेकों को विभिन्न प्रवृत्तियों में प्रयुक्त करने वाला केवल चित्त होता है ॥ ५ ॥

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥ ध्यानोत्थित चित्त कर्म संस्कार रहित होता है ॥ ६ ॥

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥ योगियों के कर्म अशुल्क और अकृष्ण होते हैं तथा अन्य लोगों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं ॥ ७ ॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥ उन कर्मों से उनके फल भोगानुकूल वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है ॥ ८ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥ जाति देश और काल का व्यवधान रहने पर भी कर्म संकारों में व्यवधान नहीं होता, कारण कि स्मृति और संस्कारों का स्वरूप एक ही होता है ॥ ९ ॥

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

प्राणी में अपनी सत्ता बनाये रखने की नित्य अभिलाषा के कारण वासनाएँ अनादि होती हैं ॥ १० ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से वासनाओं का संग्रह होता है अतः इनके अभाव में वासनाओं का भी अभाव हो जाता है ॥ ११ ॥

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

अतीत और अनागत धर्म भी विद्यमान हैं क्योंकि धर्मों में काल भेद होता है ॥ १२ ॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

वे धर्म व्यक्त और सूक्ष्म स्थितियों में गुण रूप ही हैं ॥ १३ ॥

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणाम की एकता के कारण वस्तु वैसी ही हो जाती है ॥ १४ ॥

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

वस्तु की एकता में भी चित्त भेद के कारण इन दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं ॥ १५ ॥

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

वस्तु किसी एक चित्त के अधीन नहीं हैं क्योंकि वस्तु जब चित्त का विषय नहीं रहेगी तब उसकी स्थिति क्या रहेगी ? ॥ १६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

चित्त वस्तु के प्रतिविम्वित होने की अपेक्षा रखता है, अतः वस्तु कभी ज्ञात और कभी अज्ञात रहती है ॥ १७ ॥

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

चित्त का अधिपति पुरुष परिणामी नहीं है इसलिए चित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं ॥ १८ ॥

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

दृश्य होने के कारण वह स्वप्रकाश नहीं है ॥ १९ ॥

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

चित्त और उसके विषय का ज्ञान एक ही काल में नहीं होता ॥ २० ॥

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

किसी चित्त को अन्य चित्त का दृश्य मानने पर अनवस्था दोष होगा तथा स्मृति में भी सांकर्य दोष होगा ॥ २१ ॥

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

चेतन-पुरुष के असंग रहने पर भी तदाकार हो जाने से अपनी बुद्धि का ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा और दृश्य से रँगा हुआ चित्त समस्त अर्थों से युक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

अनन्त वासनाओं से चित्रित होने पर भी चित्त दूसरे के लिए ही है कारण कि वह सम्मिलित होकर ही क्रियाशील है ॥ २४ ॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

विशेष का दर्शन करने वाले योगी की आत्मभाव विषयक भावना निवृत्त हो जाती है ॥ २५ ॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

उस अवस्था में योगी का चित्त विवेकोन्मुख होता हुआ मोक्षाभिमुख हो जाता है ॥ २६ ॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२७॥

उस समाधि के मध्यकालों में अन्य पदार्थों का ज्ञान संस्कारों से होता है ॥२७॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

जिस प्रकार क्लेशों का विनाश होता है, उसी प्रकार संस्कारों का भी विनाश होता है ॥ २८ ॥

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

विवेक ज्ञान में भी वैराग्य हो जाने पर उसके पूर्ण प्रकाशित रहने के कारण योगी को धर्ममेघ समाधि की उपलब्धि हो जाती है ॥ २९ ॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

तदनन्तर क्लेशों और कर्मों की निवृत्ति हो जाती है ॥ ३० ॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

उस अवस्था में समस्त आवरणों और मलों से अलग ज्ञान अनन्तता को प्राप्त हो जाता है अतः ज्ञेय अल्प रह जाता है ॥ ३१ ॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

तदनन्तर कार्य समाप्त करने वाले गुणों का परिणाम रुक जाता है ॥ ३२ ॥

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

क्रम क्षणों का प्रतियोगी होता है और उसका स्वरूप परिणाम के अन्त में गृहीत होता है ॥ ३३ ॥

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति॥३४॥

पुरुष के लिए शून्य बन जाने वाले गुणों का अपने कारण में लय हो जाना अथवा चेतना शक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है ॥ ३४ ॥
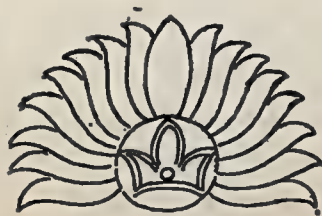
योगसाधन-सरलसाधन

[अनन्त श्री विभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज]

[यह लेख साप्ताहिक 'सिद्धान्त' के वैशाख कृष्ण १४ सं० १९९९ मंगलवार ता० १४ अप्रैल, १९४२ अंक से संगृहीत हुआ है—संपादक।]

योगशास्त्रों की सम्मति है कि साधक को किसी भी योग की भूमिका का अभ्यास होने से ऊपर की भूमिका का मार्ग अपने आप विदित हो जाता है। अतएव योग ही योगी का गुरु होता है। यम, नियम, आसन का अभ्यास होने से प्राण की गति में सूक्ष्मता अपने आप होती है। साधारण रीति से भी प्राणायाम करने से चित्त के चांचल्य का अभाव और धारणा की योग्यता हो जाती है। इस तरह अच्छे पुरुषों और ग्रन्थों के संग एवं अभ्यास से तथा सात्विक वातावरण में रहने से, देह-इन्द्रियों की सभी चेष्टाएँ सात्विकी ही होती हैं। फिर सद्विचारों एवं सत्संकल्पों का भी होना स्वाभाविक है। सद्विचार और सत्संकल्पों से सद्भावना और सत्कर्मों की वृद्धि होती है और फिर उससे प्राणी का जीवन ही मंगलमय हो जाता है। वस्तुतः दुराचार, दुर्विचार एवं दुर्भावना ही सर्वानर्थ का मूल है। यदि सत्संग, सच्छास्त्राभ्यास एवं समीचीन वातावरण-सेवन द्वारा सदाचार-सद्विचार की सद्भावना से उनका बाध किया जा सका, तब तो निर्विकल्प समाधि भी दूर नहीं है। उसके बिना तो सब कुछ दुर्लभ ही है। यद्यपि ऊँचे ऊँचे साधनों के लिए सभी लोग लालायित होते हैं, परन्तु इस सुगम किन्तु अतिदिव्य साधन की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है। यह स्पष्ट है कि एक संकल्प या विचार से दूसरे संकल्प या विचार का बाध होता है। मन में जब ही कुत्सित संकल्प उठें, शीघ्र ही उन्हें सद्विचार या सत्-संकल्प से दूर किया जा सकता है। भगवद्ध्यान, भगवन्नामस्मरण या भगवच्चिन्तन से दुर्विचार, दुर्भावना या निरर्थक प्रपंच-चिन्तन का बाध सरलता से हो सकता है। भगवान् की लीलाओं एवं चरित्रों के रसास्वादन में आसक्त होते ही मन से असत्य भावनाओं का निकलना स्वाभाविक है। नहीं तो सत्समागम में, सत्संग में तो अवश्य ही अन्य भावनाएँ मिटती हैं। ऐसा न हो सके तो भी मनोरंजक अन्य कथानकों या पुस्तकों से अवश्य ही मन को असद्विचारों एवं असद्भावनाओं से रोका जा सकता है।

विचार, संकल्प या भावनाएँ मनुष्य के पास ऐसे दुर्लभ पदार्थ हैं, जिनसे प्राणी अपना कल्याण और सर्वनाश दोनों ही कर सकता है। कुत्सित एवं असद्विषयों के विचार या भावना से प्राणियों की मन की शक्ति क्षीण हो जाती है। भगवान् की मायाशक्ति का अंश ही जीव की मनःशक्ति है। जैसे भगवान् के संकल्प में विचित्र प्रपंच के निर्माण करने की शक्ति होती है, वैसे ही उनके अंशभूत जीव के भी संकल्प में विचित्र शक्ति होती है। परन्तु जब असद्वस्तु के चिन्तन से विमुख करके वह सात्विक पदार्थों एवं भगवान् में ही नियत की जाय, तभी उसका प्रभाव फलित होता है। सद्भावों से अन्तरात्मा का आप्यायन होता है, असद्भावना से ह्रास होता है। अतएव पहले-पहल सात्विकी भावनाओं का आश्रयण करके, राजसी-तामसी भावनाओं के निरोध पर ही अधिक जोर दिया जाता है। जैसे गंगा का प्रवाह सुखाने में अधिक कठिनाई होने पर भी

प्रवाह का मुख स्वाभिमत दिशा की ओर फेर लेना दुष्कर नहीं है, वैसे ही मनोभावना को रोक देने की अपेक्षा उसे अपने अनुकूल बना लेना सरल है। जैसे बन्दर की चंचलता दूर करने के लिये पहले उसे एक उद्यान में भटकने की स्वतंत्रता देनी चाहिए, फिर एक वृक्ष में, फिर एक शाखा में, एवं क्रमेण उसको निश्चल बनाया जा सकता है, वैसे ही मन की भी पहले अनेक सात्विक पदार्थों के चिन्तन में स्वतन्त्रता होनी चाहिए, फिर शनैः शनैः सूक्ष्म सूक्ष्म विषयों में स्थिति का प्रयत्न भी सार्थक हो सकता है। इसीलिए निर्गुणोपासकों को प्रथम स्थूलप्रपंचाभिमानी अव्याकृत की पूर्ण उपासना कर लेने के पश्चात् कार्यकारणातीत परमसूक्ष्म तुरीय ब्रह्म के चिन्तन में योग्यता और अधिकार प्राप्त होता है। सगुण ब्रह्मोपासकों के लिए भी सर्वकामत्व, सत्य-संकल्पत्व, सर्वगन्धत्व, सर्वरसत्वादि अनन्त गुणगणों का चिन्तन विहित है। सगुण एवं साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म के उपासकों के लिए भी इसी तरह अनन्त चरित्रों, गुणों एवं नामों का अनुसन्धान विधित्सित है।

मन का स्वभाव है कि वह विषयों के चिन्तन से विषयों में फँसता है और भगवान् का चिन्तन करते करते उन्हीं में आसक्त हो जाता है—

"विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषये तु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥"

रूक्ष से रूक्ष विषय का भी चिन्तन करने से उसमें संग, आसक्ति एवं राग हो जाता है—

"ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।"

मन को पहले विस्तृत वृहत् विषय में स्थिर करके फिर शनैः शनैः सूक्ष्म विषय में स्थिर किया जाता है, स्वरूप, गुण, नाम, चरित्र का चिन्तन करते करते मन की चंचलता शान्त हो जाती है, फिर सच्चिदानन्दघन भगवान् के मधुर, मनोहर स्वरूप में चित्त स्थिर किया जा सकता है। उसमें भी स्वरूपचिन्तन से चंचल होने पर मन्त्र-चिन्तन, उसमें भी उपरत होने पर गुण या चरित्र का चिन्तन करना चाहिए एवं पुनः शान्त होने पर स्वरूपानुसन्धान करना होता है—

"स्वाध्यायाद्योगमाप्नोति योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते॥"

जैसे गज युक्ति से एवं अंकुश से ही वश होता है, वैसे ही मन भी युक्ति से ही वश में होता है। चरित्र, नाम और स्वरूपानुसन्धान की महिमा से मन में भगवान् की मधुर मूर्ति प्रकट होती है। बस, उसके प्रकट होते ही मन की उसमें आसक्ति और एकाग्रता हो जाती है। अत्यन्त प्रेमासक्ति से जब शिथिल मन ध्येयस्वरूप को भी नहीं ग्रहण कर सकता, तब ध्येय के बिना ध्यान और ध्याता का भी अभाव हो जाता है। उस समय अनिर्देश्य, शुद्ध, अखण्ड सच्चिदानन्द का प्रकाश होता है। जो ध्याता, ध्यान एवं ध्येय का प्रकाशक था, वही इस अवसर में ध्याता, ध्यान, ध्येय के अभाव का भासक होकर व्यक्त होता है। बस, यही मनोनिरोध की चरम सीमा और चरम फल है।

पंच 'म' कार

[अनन्त श्री विभूषित स्वामी श्री करपात्री जी महाराज]

[यह लेख साप्ताहिक 'सिद्धान्त' के पौष कृष्ण ७ सं० १९९९, २९ दिसम्बर, १९४२ अंक से संगृहीत हुआ है—संपादक।]

किसी जिज्ञासु सज्जन के निम्नलिखित प्रश्न हैं—"तन्त्रोक्त उपासना में पञ्च मकार (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन) के विषय का वर्णन कई स्थानों में कई एक प्रकार से विहित है एवं इसी के अनुयायी 'वाममार्गी' और विलोमानुयायी 'दक्षिणमार्गी' कहलाते हैं। तन्त्र में पञ्च मकार के विषय को छोड़कर और अन्य सभी विषयों में कोई इतना अधिक वाद-विवाद एवं आपत्ति भी नहीं प्रतीत होती है। सबसे अधिक विस्मय की बात तो यह है कि स्वयं भगवान् चन्द्रशेखर त्रिलोचन अनगांगहर हर इस मार्ग के प्रवर्त्तक हैं। एक ओर शंकर का उपदिष्ट मार्ग, दूसरी ओर मद्य, मांस, मैथुनादि अत्यन्त वीभत्स उपहारों द्वारा देवार्चन दुःसम्भव ही नहीं, असम्भव सा प्रतीत होता है, क्योंकि मनुष्यता के नाते अगर इन्द्रियगम्य मद्य, मांस, मैथुनादि जघन्य लीलाओं के द्वारा विश्व-व्यवस्था को विश्रृङ्खलित कर तमोगुण के ताण्डव नृत्यादि द्वारा यदि स्वर्ग या स्वर्गादपि परे सुखों की प्राप्ति होती हो, तो मैं नहीं समझ सकता कि नरकादि दुःखों की प्राप्ति के भी कोई साधन अवशिष्ट रह जाते हैं। वाममार्ग के अधिकारी के लक्षण 'मेरुतन्त्र' में निम्नप्रकार मिलते हैं।

'परद्रव्येषु योऽन्यत्र परस्त्रीषु नपुंसकः।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता।"

इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि मद्य, मांस, मैथुनादि तन्त्र-विहित है, तथापि इन्द्रयातीत पद्धति द्वारा, न कि इन्द्रियलोलुपता द्वारा। मांसभक्षण के विषय में और भी अनेकों खण्डन-मण्डन के प्रमाण उपलब्ध होते हैं' जैसे—

'अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी'

इत्यादि मनूक्त वचनों से आठव्यक्तियों को घातक वतलाया गया है। पुनः उक्त ग्रन्थ में ही यह प्रमाण पाया जाता है—

'न मांसभक्षणे दोषः·········महाफला,

इत्यादि से प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति श्रेष्ठ हुई, पर निषेध नहीं। मांसाहारी की अपेक्षा निरामिषाशी श्रेष्ठ हुए, पर मांसाहारी पतित नहीं। वेद के याज्ञिक विषयों में भी अनेकों प्रमाण हैं, जैसे—'क्रव्यादाः पितरः' इत्यादि। एवं 'मार्कण्डेय पुराण' के ३१वें अध्याय में पितरों को अमुक अमुक पशुविशेष का मांस अर्पण करना अतिप्रशस्त उल्लिखित है। इन श्लोकों के अर्थ-सम्बन्ध में, शब्द तो कामधेनु हैं तथा हर एक व्यक्ति अपने-अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण एवं मतानुसार अर्थ लगा ही लेते हैं और अर्थभेद के कारण झगड़ा पड़ जाता है। शब्द जड़ होने के कारण स्वतः कोई आपत्ति उपस्थित नहीं कर सकते। यहाँ उदाहरणार्थ पूज्यपाद तारानन्दजी तीर्थ संगृहीत भैरवया-मलादि तन्त्रप्रमुख-ग्रन्थ-प्रमाण संकलित 'तन्त्रतत्वप्रकाश' नाम के निबन्ध में पंचमकार का जो अर्थ है, वह ध्यान देने योग्य है। पञ्च मकार का तथ्य क्या है ? उसकी भित्ति क्या है ? एवं आधुनिक समय में जो उसका उपयोग हो रहा है वह कैसा है ? इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालने की बड़ी आवश्यकता है।

उपर्युक्त प्रश्न बड़े जटिल हैं। इस विषय में अनेक लोगों के भिन्न-भिन्न वक्तव्य हैं। स्वयं तन्त्रों में भी 'पञ्चमकार' के आध्यात्मिक अर्थ किये जाते हैं और अत्यन्त जितेन्द्रिय को ही उक्त मार्ग का अधिकार बतलाया जाता है। जेल में राजा भी जा सकता है, परन्तु उसका जाना निरीक्षण और सुधार के लिए ही हो सकता है। इसी तरह किसी विशिष्ट साधना के लिए ही उच्च कोटि के अधिकारियों की प्रवृत्ति उक्त विषयों में हो सकती है। 'दक्षिणमार्ग' के वैदिक लोगों को तो पञ्चमकारादिका अत्यन्त त्याग है। अपौरूषेय वेद ही धर्म में प्रमाण हैं। तदनुकूल तन्त्र आदरणीय हैं, विपरीत नहीं। उसमें भी अन्त में जितेन्द्रिय का योगाभ्यास तत्वनिष्ठा का ही उपदेश है।

वैदिक लोगों की दृष्टि में रागप्राप्त वस्तु का विधान नहीं हो सकता, किन्तु रागप्राप्त वस्तु का अनुवाद करके अप्राप्त उपासनादि का उपदेश किया जाता है। जैसे-वचनान्तर से प्राप्त होम का अनुवाद करके "दध्नाजुहोति" से केवल अप्राप्त दधि का ही विधान किया जाता है किंवा रागप्राप्त व ह्वन्नकरण का अनुवाद करके अतिथिसत्कार के अंगरूप से उसी का विधान होता है, वैसे ही रागप्राप्त प्रवृत्तियों का अनुवाद करके प्रथम की उपासना के अंगरूप से अनुमोदन किया जाता है, उसके विधान में शास्त्र का मुख्य तात्पर्य नहीं है। किसी भी कर्म को राग और अभि-निवेश से किये जाने पर और फल होता है, अन्याभिनिवेश से किये जाने पर और फल होता है। कायिक, मानस दोनों कर्मों की अपेक्षा केवल कायिक कर्म कमजोर होता है। राग और दृढ़ अभिनिवेशपूर्वक प्रवृत्तियों का सेवन करने की अपेक्षा भगवच्चिन्तनादि उपासनाओं की ओर मन रहने से केवल कायिकी कुप्रवृत्ति कम अनिष्टकर होती है, फिर उसकी भी निवृत्ति हो सकती है। व्यसन-निवृत्ति का असाधारण कारण तद्विषयक चिन्तन का त्याग ही है।

मांस के विषय में जिन विधि-निषेधों की चर्चा की गयी है, कुल्लूकभट्ट आदि टीकाकारों ने उनकी व्यवस्था की है। देवता, पितर आदि के उद्देश्य से संस्कृत मांस का अनुमोदन है, उदर पोषणार्थ मांस का निन्दन है। धर्म अधर्म के विषय में अपौरुषेय वेद एवं तन्मूलक, तदविरुद्ध शास्त्र ही प्रमाण हैं। अपौरुषेय होने से भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादि दोषों से असंस्पृष्ट होने के कारण वेद मुख्य प्रमाण हैं, दूसरे आर्ष ग्रन्थ भी यदि वेदों से विरुद्ध हों और उस विरोध का परिहार न हो सकता हो, तो उनके विरुद्ध अंश का अप्रामाण्य होता है। वैदिक लोगों की दृष्टि में वेद से विरुद्ध ईश्वरवचन भी अप्रमाण माना जाता है। अतएव बुद्धवचन को वैदिक लोग प्रमाण नहीं मानते। इसीलिए वैदिक लोग वेदों का ईश्वरवचनत्वेन प्रामाण्य नहीं मानते, किन्तु अपौरुषेयत्वेन प्रामाण्य मानते हैं, अन्यथा जिन युक्तियों से वेदकार को वैदिक सिद्ध करेंगे, उन्हीं युक्तियों से अन्यान्य मतानुयायी भी अपने-अपने ग्रन्थकार को परमेश्वर सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे। फिर कौन ईश्वरोक्ति है, कौन ईश्वरोक्ति नहीं, इसका निर्णय कठिन हो जायेगा। अनुमान से ईश्वर सामान्य का ही निर्णय होता है, ईश्वरविशेष का नहीं। जैसे अनुमान से

वह्निसामान्य का ही निर्णय होता है, वह्निविशेष का नहीं, ठीक वैसे ही ईश्वरविशेष के निर्णय में आपत्तियाँ हैं, इसीलिए वैदिक अपौरुषेयत्वेन वेदों को प्रमाण मानते हैं और फिर वेदोक्त होने से परमेश्वर को स्वीकार करते हैं। तथाच मीमांसा निर्धारित वेदोक्त अर्थ ही धर्म है, वेदनिषिद्ध अर्थ ही अधर्म है, यही वैदिकों का निर्णय है। पितरों के लिए मांस कलि में निषिद्ध है—

"अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥"

ज्योतिष्टोमादि में आज भी शास्त्रविधि का पालन उचित ही है। किन्हीं लोगों के लिए 'पञ्च मकार' भले ही उपयोगी हो, परन्तु सर्वसाधारण की उस ओर कदापि प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, उनके लिए वह मार्ग बहुत खतरे का है। श्रौत-स्मार्त्त कर्म एवं अपनी उपासनाओं से ही सम्पूर्ण अभीष्ट और मुक्ति सिद्ध होती है।

योगाभ्यास का परमफल

[स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी]

['गीताव्याख्यानमाला' प्रथम भाग के ८० वें पुष्प का पं० रामाधीन चतुर्वेदी के द्वारा प्रस्तुत सारांश—
—संपादक]

योगाभ्यास से अन्तःकरण को वश में करने में बहुत सहायता मिलती है। वह योग अनेक प्रकार का भिन्न-भिन्न शास्त्रों में वर्णित है। मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, लययोग आदि कई भेद योग के शास्त्रों में निरूपित हैं और उन योगों के प्रतिपादक ग्रन्थ भी संस्कृत साहित्य में बहुत हैं। किन्तु गीता में सब योगों में उपयुक्त सामान्य प्रक्रियाओं का ही संक्षेप से निदर्शन करते हुए भगवान् कहते हैं कि—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ (६।१०)

अर्थात् योगाभ्यास में प्रवृत्त होने वाला पुरुष एकान्त स्थान में अर्थात् जहाँ व्यावहारिक पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त न हो सके, ऐसे नदी तीर, पर्वत कन्दरा आदि स्थानों में स्थित हो, वहाँ भी अकेला ही बैठे अर्थात् अपने इस्ट-वान्धव, पुत्र, कलत्र आदि का सम्पर्क न करे। इस प्रकार के जनसम्पर्क से परस्पर वार्तालाप का प्रसङ्ग होकर चित्त की एकाग्रता में वाधा उपस्थित होना सम्भव है। इसलिये ऐसी वाधा के मूल को ही हटा देना चाहिये। चित्त और आत्मा अर्थात् इन्द्रिय, शरीर आदि को संयत रखकर योगाभ्यास करना चाहिये। श्लोक में आत्मा पद शरीर, इन्द्रिय आदि के समूह का ही वाचक है। मन को एकाग्र करना विशेष आवश्यक है इसलिए चित्त पद का पृथक् उपादान किया गया है। अपने योगाभ्यास की सिद्धि के अतिरिक्त और कोई इच्छा चित्त में नहीं रखनी चाहिये। जो लोग दूसरों के मारण, मोहन आदि के उद्देश्य से योगाभ्यास करते हैं वे शास्त्र सम्मत कार्य नहीं करते, यह इस विशेषण से सूचित किया गया है। एकाकी रहने पर भी लेखनी, पुस्तक आदि का संग्रह बहुत सा साथ रख लिया जाय, ऐसा परिग्रह भी न होना चाहिये। इस प्रकार के अपने आत्मा अन्तःकरण को 'युञ्जीत' एकाग्र करना चाहिये अथवा आत्मा अर्थात् चिदात्मा को अपने ही से मिलाना चाहिये। अपने ही दर्शन में निरत करना चाहिये। "सततम्" पद का अभिप्राय है कि योगाभ्यास निरन्तर करना चाहिये। कुछ काल किया और कुछ काल छोड़कर फिर आरम्भ किया, ऐसा नहीं होना चाहिये। योग दर्शन में भी कहा गया है कि "**स तु दीर्घकालनैरन्तय-सत्काराऽऽसेवितो दृढ़भूमिः** [यो० सू० १।१४] अर्थात् बहुत काल तक निरन्तर—विच्छेद न कर आदर पूर्वक सेवन करने से योगाभ्यास दृढ़ होता है। सत्कार का तात्पर्य है कि मैं बहुत अच्छा कार्य कर रहा हूँ–ऐसा भाव अभ्यासी के हृदय में रहना चाहिये।

पातञ्जल योग सूत्र में योग के आठ अङ्ग बताये गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें यम और नियम तो सर्व साधारण के लिये, जो योगाभ्यास नहीं भी करते हैं, उनके लिये भी आवश्यक होते हैं। योगाभ्यास करने वाले को यम-नियमों की विशेष आवश्यकता है, इस लिये उनकी योगाङ्गो में गणना की गई है, किन्तु योगाभ्यास तो आसन से ही आरम्भ होता है। इसलिये प्रथमतः आसन का ही निरूपण भगवान् यहाँ करते हैं कि—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ (६।११)

अर्थात् पवित्र देश में अपना ऐसा सुस्थिर आसन प्रतिष्ठित करना चाहिये जो भूमि से न बहुत ऊँचा हो न भूमि से अत्यन्त सम्मिलित ही हो, और उस आसन में चैल अर्थात्

रेशम आदि का मृदु वस्त्र, पवित्र मृगचर्म तथा कुशा, ये क्रम से उत्तरोत्तर हों। यहाँ इन तीनों का क्रम से उत्तरोत्तर होना अपने शरीर की अपेक्षा से लेना चाहिये, अर्थात् शरीर के नीचे पहले रेशमी वस्त्र हो, उसके अनन्तर मृगचर्म और उसके अनन्तर कुशायें। कुशाओं का सम्बन्ध भूमि से रहना चाहिये। यही उत्तरोत्तर का क्रम शिष्ट सम्प्रदाय में प्रचलित है। आसन लगाने के पहले भूप्रदेश की पवित्रता का ज्ञान आवश्यक है, इसका संकेत "शुचौ देशे" इन पदों से किया गया है। भूप्रदेश की पवित्रता का निरूपण धर्मशास्त्र ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है कि—

सर्वत्र वसुधा पूता यत्र लेपो न विद्यते।
यत्र लेपः कृतस्तत्र पुनर्लेपेन शुद्ध्यति॥

इसका अर्थ है कि जहाँ लेप अर्थात् वाह्य पदार्थों का सम्बन्ध न हुआ हो, ऐसी भूमि का प्रदेश पवित्र ही रहता है, जैसे पर्वत, कन्दरा आदि का प्रदेश। और जहाँ एक वार लेप कर दिया गया हो, वहाँ तो फिर गोमय आदि का लेप करने पर ही शुद्धि होती है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आधुनिक विज्ञान के वेत्ता डाक्टरों ने भी यह स्वीकार किया है कि गोमय में रोग के कीटाणुओं का संक्रमण नहीं होता, और जिन वस्तुओं का आसन में उपयोग करना वताया गया है, ये सव वस्तुएँ भी आधुनिक भाषा में "नानकन्डेक्टिग" मानी गई हैं। अर्थात् इनमें विद्युत् शक्ति नहीं चलती। इससे भारतीय धर्म, विज्ञान से कितना सम्बन्ध रखता है यह वात स्पष्ट हो जाती है। अस्तु! "शुचौ देशे" इन पदों से यह भी सूचित किया गया कि भूमि पर ही योगाभ्यासी को आसन लगाना चाहिये किसी काष्ठ-पीठ (चौकी-तखत) आदि पर अभ्यास के लिए आसन न लगावें। और "आत्मनः" पद से यह सूचित किया कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना आसन पृथक् ही हो। किसी दूसरे पुरुष के काम में लिये हुए आसन पर अभ्यास नहीं हो सकता, क्योंकि जिस आसन पर कोई व्यक्ति बैठ गया, उसमें उस व्यक्ति की विद्युत् शक्ति का सम्वन्ध हो जाता है। दूसरा पुरुष यदि उस पर बैठेगा तो इन दोनों की विद्युत् शक्ति का संमिश्रण होने से अभ्यास में वड़ी वाधा उपस्थित हो जायेगी। इसी प्रकार वहुत ऊँचा आसन होने से भूमि की व्यापक विद्युत् शक्ति से सम्वन्ध ही छूट जायेगा, जोकि भूप्रदेश के प्राणियों के लिये अहितकर होगा और अत्यन्त नीचा आसन रहने पर भूमि ही योगाभ्यास से उत्पन्न शक्ति का आकर्षण न कर ले यह भय वना रहेगा। इसलिये योगाभ्यास में अत्यन्त ऊँचे और अत्यन्त नीचे आसन का निषेध किया गया है। साथ ही आसन स्थिर हो अर्थात् इधर-उधर चल-प्रचल होने का भय न रहे, इस प्रकार के समतल में आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की चञ्चलता को हटाकर, मन को एकाग्र करके चित् शक्ति की विशुद्धि अर्थात् वन्धन निवृत्ति के उद्देश्य से चित्त वृत्ति प्रवाह को रोकने का अनुष्ठान करना चाहिये। **"उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये"** के **"उपविश्य"** पद से भगवान् यह सूचित करते हैं कि योगाभ्यास बैठकर ही हो सकता है, खड़े रहकर वा लेट कर नहीं। "आत्म विशुद्धि" का अर्थ अन्तःकरण की शुद्धि भी व्याख्याओं में किया गया है। उनका अभिप्राय है कि चित् शक्ति तो सदा ही शुद्ध है, उस पर मलिनता तो चित्त के सम्वन्ध से ही आती है। इसलिए चित्त की शुद्धि ही योगाभ्यास का मुख्य फल है। वेदान्त दर्शन में अन्तःकरण के चार भेद माने गये हैं—मन, वुद्धि, अहङ्कार और चित्त। आगम शास्त्र में चित्त को ही चिति का प्रथम संक्रमण कह कर मुख्य माना गया है। उस चित्त की चञ्चलता हटा देने पर मन आदि सव अन्तःकरणों की चञ्चलता हट जाती है। इसलिए चित्त की क्रिया को संयत करना यहाँ कहा गया, और अन्तःकरणों में मन का स्थान प्रथम आता है, मन में ही विशेषरूप से चञ्चलता प्रसिद्ध है, उसको एकाग्र करने से अर्थात् उसकी चञ्चलता हटाकर एक तरफ लगा देने से वुद्धि आदि की भी स्थिरता हो जाती है। इसी अभिप्राय से **"तत्रैकाग्रं मनःकृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः"** में पहले मन की एकाग्रता और आगे चित्त पद से उपलक्षित शेष सभी अन्तःकरणों की संयतता दिखाई गई। इसलिये पुनरुक्ति नहीं है। आगे योगाभ्यास के समय शरीर की आवश्यक स्थिति का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

(६।१३-१४)

अर्थात् धड़, ग्रीवा और शिर को एक सीध में रखना चाहिये और ये सव निश्चल रहें; इधर-उधर परिवर्तन की क्रिया वन्द रखनी चाहिये। इधर-उधर दिशाओं को न देखकर अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखनी चाहिये। दोनों नेत्रों की रश्मियाँ जो भिन्न-भिन्न रूप से चलती हैं, उन्हें एक जगह मिलाकर पुनः एक जगह लगा देना ही नासाग्र

दृष्टि कहलाती है। दोनों नेत्रों से जो पृथक्-पृथक् रश्मियाँ निकलती हैं उन्हें तिरछा करके नासिका के अग्रभाग की ओर झुका कर सीधे में कर देने से यह दृष्टि बनती है, उससे केवल अपनी नासिका का अग्रभाग ही दिखाई देता है। इधर-उधर की दिशाएँ नहीं दिखाई देतीं। इससे चित्त की एकाग्रता में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। यह हठयोग की प्रक्रिया है। क्योंकि इन्द्रियों को बलपूर्वक एक ओर लगाना ही "हठयोग" कहलाता है। इस प्रकार योगाभ्यास में शरीर-स्थिति के साथ ही अन्तःकरण को भी सब प्रकार से शान्त रखना चाहिये। अन्तःकरण में भिन्न-भिन्न प्रकार के सांसारिक भावों का उदय न हो, ऐसा यत्न करना चाहिये और अन्तःकरण में विकार उत्पन्न करने वाले भय के संचार को मन में से सर्वथा हटा देना चाहिये। इस लोक में या परलोक में मेरी दुर्गति होगी, इस प्रकार का भय चित्त में नहीं लाना चाहिये तथा योगाभ्यास करने के काल में ब्रह्मचर्य का नियम आवश्यक है। शास्त्रों में जो आठ प्रकार का मैथुन बताया गया है, उन सबका परित्याग करना ही ब्रह्मचर्य है। आठ प्रकार का मैथुन इस प्रकार कहा गया है—

> स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
> संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निवृत्तिरेव च॥
> एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
> विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेव प्रकीर्तितम्॥

अर्थात् स्त्रियों का स्मरण करना, उनकी बात मुख से कहना, उनके साथ क्रीड़ा, उनको सकाम देखना, उनके साथ गुप्त बात करना, स्त्रीप्रसङ्ग करूँगा—इस प्रकार का चित्त में संकल्प, और उस संकल्प की सिद्धि के लिए कई प्रकार के प्रयत्न और अन्ततः "क्रिया निर्वृत्ति" अर्थात् स्त्री संपर्क; ये आठ प्रकार के मैथुन कहे जाते हैं, और इनके विपरीत इन सबको छोड़ना ही ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार के ब्रह्मचर्य में स्थित होना आवश्यक है तथा मन को पूर्ण रूप से एकाग्र करके अपने चित्त को मुझ परमेश्वर में ही लगाकर मुझको ही सर्वानन्दमय मानता हुआ बहुत काल पर्यन्त ऐसी स्थिति में रहे। यहाँ "मच्चित्तः" और "मत्परः" पदों से ध्यानयोग को प्रधान बताया गया है। तथा "युक्तः" पद से समाधि का कथन माना गया है, क्योंकि मूल का "आसीत" पद भी उसे ही स्पष्ट कर रहा है कि ऐसी स्थिति में चिरकाल तक रहना। ऐसी सम्प्रज्ञात समाधि से ही असम्प्रज्ञात समाधि भी सिद्ध हो जाती है। इनमें केवल इतना ही भेद है कि सम्प्रज्ञात समाधि में "मैं इस वस्तु का ध्यान कर रहा हूँ" इस प्रकार की ध्याता, ध्यान की वस्तु ध्येय, और ध्यान, यह "त्रिपुटी" बनी रहती है, और असम्प्रज्ञात समाधि में यह "त्रिपुटी" नहीं रहती, अर्थात् मैं ध्यान करता हूँ—यह भी ध्यान में से हट जाता है, केवल ईश्वर के जिस रूप का ध्यान किया जाय वही चित्त में रह जाता है।

इस प्रकार मन को सदा योगयुक्त करने वाले योगी का मन सर्वथा स्थिर हो जाता है, उसकी वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा सर्वथा निवृत्त हो जाती हैं। धन आदि बाह्य वस्तुओं की इच्छा को "वित्तैषणा" कहा जाता है, पुत्र आदि कुटुम्ब रखने की इच्छा को "पुत्रैषणा" बताया गया है और लोक में मेरा नाम प्रतिष्ठा से लिया जाय—ऐसी प्रसिद्धि की इच्छा "लोकैषणा" कहलाती है। ये तीनों प्रकार की इच्छाएँ ही संसार में बन्धन रूप हैं। योगाभ्यास करने से मन में इन तीनों ही इच्छाओं का अभाव हो जाता है और अन्त में उसको वह शान्ति प्राप्त होती है जिसका परम फल निर्वाण अर्थात् मोक्ष है। मोक्ष किसे कहते हैं यह भी—

> युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
> शान्तिं निर्वाणपरमां मत्स्थानमधिगच्छति (६।१५)

इस श्लोक के अन्तिम चरण "मत्स्थानमधिगच्छति" से स्पष्ट किया जाता है कि मुझमें ही आकर स्थित हो जाना, यही मोक्ष है, जीव भाव हट कर ब्रह्मरूप हो जाना ही मोक्ष कहा जाता है। उस समय जीव में किसी प्रकार की हलचल नहीं रहती। ब्रह्मरूप होकर वह भी क्षोभ रहित हो जाता है। अतः इस निर्वाण पद को प्राप्त कर लेना ही योगाभ्यास का परम फल सिद्ध होता है।

तिब्बत का विज्ञान

[स्वर्गीय पंडित गंगाशंकरजी मिश्र]

[यह लेख साप्ताहिक "सिद्धान्त" के पौष शुक्ल ६, सं० १९९९, १२ जनवरी, १९४३ अंक से संगृहीत हुआ है।—सम्पादक]

तिब्बत इस वर्तमान वैज्ञानिक युग में भी एक रहस्यमय प्रदेश है। भारत की योग, तन्त्र आदि विद्याएँ आज भी यहाँ बहुत कुछ सुरक्षित हैं। अतिप्राचीन काल से दोनों देशों का सम्बन्ध रहा है। सातवीं शताब्दी के आरम्भ में वहाँ के राजा का विवाह नेपाल और चीन की राजकुमारियों से हुआ, जिनके प्रभाव से वह बौद्ध हो गया। उसने सम्भोत नाम के एक पण्डित को भारत भेजा, जो यहाँ से बहुत सी पुस्तकें ले गया। सन् ७४७ में राजा का निमंत्रण पाकर नालन्दा विश्वविद्यालय से आचार्य पद्म-सम्भव तिब्बत गये और उन्होंने वहाँ योग तथा तन्त्र का बहुत प्रचार किया। सन् १०३८ में विक्रमशिला से आचार्य अतीश भी गये। उन्हीं दिनों तिब्बत से मरप नाम का लामा भारत आया और योग तथा तन्त्र की शिक्षा प्राप्त करके कई संस्कृत ग्रन्थ ले गया, जिनका उसने अपनी भाषा में अनुवाद किया। योगी मिलेप इसी का शिष्य था, जिसकी गद्दी अबतक चल रही है। तिब्बत बड़ा दुर्गम देश है, फिर वहाँ के शासकों ने विदेशियों, विशेषकर पाश्चात्यों के विरुद्ध सदा उस पर ताला लगाये रखा, जिसके फलस्वरूप वहाँ की प्राचीन संस्कृति सर्वथा नष्टभ्रष्ट नहीं होने पायी। तन्त्र-मन्त्र, टोना-डामर वहाँ आज भी खूब चलता है, वहाँ का वायु-मण्डल भूत-प्रेतों से ओतप्रोत है। उसके रहस्यों को प्रकट करने का इधर कई विदेशियों ने प्रयत्न किया है। श्रीमती अलेक्जेण्ड्रा डेविडनील, जो एक फ्रांसीसी महिला हैं, भिखारिन का रूप धर कर वहाँ घुस गयीं। अपना गोरा रंग छिपाने के लिए उन्हें हर समय अपना शरीर कालिख से पोते रहना पड़ता था। उन्हें कैसे-कैसे कष्ट सहने पड़े, किन-किन कठिनाइयों का सामना पड़ा, इसका रोचक वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक 'माई जर्नी टु लासा' (मेरी लासा यात्रा) में किया है। पाँच बार उन्होंने वहाँ की यात्रा की और १५ वर्ष रहकर बौद्धधर्म की दीक्षा ली तथा लामाओं से योग सीखा। साल भर तक काशी में भी रहकर उन्होंने वेदान्त का अध्ययन किया था। वे अब भी जीवित हैं और उनके लेख प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में निकला करते हैं। 'विद दि मिस्टिक्स ऐण्ड मर्जीशियन्स आफ टिबेट' (तिब्बत के योगियों और मायावियों के साथ) नामक पुस्तक में उन्होंने वहाँ के लामाओं की सिद्धियों का बड़ा आश्चर्यजनक वर्णन किया है। 'आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय' में 'डाक्टर आफ सायन्स' (विज्ञानाचार्य) की उपाधि प्राप्त श्री इवान्स वेट्ज ने भी वहाँ के योग का अच्छा अध्ययन किया है। स्वर्गीय लामा काजी दवासन्दूप की सहायता से, जो कुछ काल तक कलकत्ता विश्वविद्यालय में तिब्बती भाषा के अध्यापक थे, उन्होंने योग तथा तन्त्र की कई तिब्बती पुस्तकों का अंगरेजी में अनुवाद किया है। इन पुस्तकों की भूमिका और टिप्पणियों में उन्होंने बड़ी विद्वत्ता के साथ इन जटिल विषयों की समीक्षा की हैं। पहिली पुस्तक 'टिबेटन बुक आफ दि डेड' (तिब्बतीमृतकशास्त्र) है, जिससे मृत्यु के बाद जीव किस लोक में रहता है और किस तरह दूसरे शरीर में उसका जन्म होता है, यह बतलाया गया है। दूसरी पुस्तक में वहाँ के प्रसिद्ध योगी 'मिलेप' का, जिसका जन्म सन् १०५२ में हुआ था,

(लेखक)

जीवनचरित है। तीसरी पुस्तक 'तिब्बती योग' है, जिसमें वहाँ के योग तथा तन्त्र की सात पुस्तकों का संग्रह है।

योग, तन्त्र आदि की सिद्धियों के अतिरिक्त वहाँ भौतिक विज्ञान के भी ऐसे चमत्कार देखने में आते हैं, जिससे आजकल के वैज्ञानिकों की बुद्धि चक्कर में पड़ सकती है। इन पर श्री बी० द० अवर्ने ने कुछ प्रकाश डाला है। तिब्बत जाकर बड़े परिश्रम से उन्होंने खोज की है और अपने अनुभवों का संक्षिप्त वर्णन एक लेख में दिया है, जो सन् १९४० के 'विहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जर्नल' में प्रकाशित हुआ है। इसमें आपने वतलाया है कि उनको यहाँ कितनी ही ऐसी घटनाएँ देखने में आयीं, जिनका प्रत्यक्ष कारण वैज्ञानिकों की समझ में नहीं आ सकता, पर उनमें भी 'कार्य-कारण' का नियम लागू हो सकता है। आवश्यकता है उचित अनुसन्धान की। बड़े-बड़े भारी पत्थरों को, जिनका विना यन्त्र की सहायता के उठाना मुश्किल है, वहाँ के लोग सहज में उठा लेते हैं। एक २० सेर का पत्थर पड़ा हुआ था, एक लामा ने अपनी कटोरी से कुछ गाढ़ा तेल उस पर ताँबे के तार की एक कूँची से छिड़का। पाँच ही मिनट वाद जव श्री अवर्ने ने पत्थर उठाया, तव उसका वजन लगभग एक सेर के रह गया। उन्हें आश्चर्यचकित देखकर लामा ने हँसते हुए कहा कि 'अव तुम्हें हमारी वातों में विश्वास होगा। दो घंटे वाद उस पत्थर का वजन फिर उतना ही हो जायगा'। हुआ भी वैसा ही। कारण पूछने पर उसने कहा— 'कुछ काल के लिए इसमें पृथ्वी को सुला दिया गया था' अर्थात् पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति को निश्चेष्ट वना दिया गया था। ऐसा करने में किसी मन्त्रशक्ति से काम नहीं लिया गया था। यह कुछ द्रव्यों का रासायनिक प्रभाव मात्र था। जिस तरह पानी से आग बुझ जाती है, गरमी से पानी हवा वन जाता है, उसी तरह रासायनिक तेल के प्रभाव से पत्थर भी हलका हो गया। यदि आधुनिक विज्ञान इन द्रव्यों का पता लगा ले, तो कितना काम वन सकता है।

ऐसे ही एक वार उन्होंने देखा कि एक वृद्ध लामा ८ इंच लम्बी और २ इंच गोल किसी धातु की एक नली को एक तरफ की ढकनी खोलकर अपने कान में लगा रहा है। क्षण भर वाद उसने दूसरे ओर की ढकनी खोली और उसे अपने मुँह में लगाकर दो-चार वाक्य धीरे से कह दिये। श्री अवर्ने को आश्चर्य में देखकर उसने कहा कि "इसके द्वारा मैं दो सौ मील की दूरी पर स्थित अपने मित्र एक युवक लामा, जिसकी आयु अभी कुल १२० वर्ष की है, वातचीत कर रहा हूँ।" पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि यह यन्त्र वहाँ 'गुप्तदूत' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके जोड़े होते हैं। किन्हीं दो व्यक्तियों के पास एक-एक होने से वे उनके द्वारा सैकड़ों मील की दूरी से परस्पर वातचीत कर सकते हैं। विना जोड़ के अकेला यन्त्र वेकार है। कुछ धातुओं तथा वनस्पतियों से इसकी नली वनती है, जिसमें शब्द पड़ने से वायु में स्पन्दन होता है, जिसका प्रभाव उसके जोड़ पर पड़ता है। कुछ दिन वाद यह यन्त्र खराव हो जाता है, पर कुछ रसायनों से उसकी मरम्मत हो सकती है। प्राचीन काल में 'ग्यालजोम' नामक सम्प्रदायवालों में इसका बड़ा प्रचार था। वे इसके वनाने की विधि को गुप्त रखते थे, पर कुछ लोगों को इसका ज्ञान हो ही गया और आज भी वहाँ इसके वनानेवाले कुछ लामा मिलते हैं। यदि इस विधि का पता लगाया जाय, तो यह यन्त्र रेडियो से कहीं सस्ता पड़ सकता है।

वहाँ पुल वाँधने का एक विचित्र प्रकार देखने में आया। किसी वृक्ष की जड़ का गेंद के वरावर एक गोला कुछ रासायनिक पदार्थों में २४ घंटे तक भिगो दिया गया। फिर वह गोला एक नाले के किनारे, जिसका पाट लगभग ३० फिट था, दो फुट की गहराई में गाड़ दिया गया। दो दिन वाद उसमें से कई लताएँ फूट निकलीं, जो आसपास की चट्टानों में बड़ी दृढ़ता के साथ लपट गई। ये सर्पाकार लताएँ रेंगती और वढ़ती हुई प्रत्यक्ष देख पड़ती थीं। जहाँ कहीं इनको जमीन मिलती थी, उसमें धँस जाती थीं और पत्थरों, चट्टानों को जकड़ लेती थीं। नाले के एक किनारे पर से पुल की चौड़ाई भर के ६, ६ इंच की दूरी पर सन के रस्से दूसरे किनारे पर वाँध दिये गये और उन पर लताएँ चढ़ा दी गयीं। दो तीन दिन में

लताएँ उन रस्सों के सहारे नाले के उस पार पहुँच गयीं और खूब मोटी-मोटी हो गयीं। एक सप्ताह के भीतर ४ फुट चौड़ा झूले का एक मजबूत पुल तैयार हो गया। यह भी मालूम हुआ कि थोड़े दिनों में ये लताएँ रस्सों को खाकर केवल अपने ही सहारे स्थित रहती हैं और तब तक नष्ट नहीं होती हैं, जब तक उनका मूल सुरक्षित है। यदि पुल को शीघ्र नष्ट करना हो तो एक तीर को 'अकोनाइट' में भिगोकर जड़ में कोच देने से २० मिनट के भीतर सारी लताएँ सूखकर गिर पड़ेंगी। यह लता वहाँ 'सा-वा' कहलाती हैं। इसका पता लगाकर दूसरी जगह लगाने से नदी-नाले में छोटे-छोटे पुल बनाने में कितनी सुविधा हो सकती है।

एक बार श्री अवर्न 'खोखुन' पर्वत पर, जो १८,००० फुट ऊँचा है, गन्धक के चश्मों को देखने गये। वहाँ बड़ी गहराई में एक झील थी, जहाँ लम्बी-लम्बी अन्धेरी गुफाओं में होकर जाना पड़ता था। इन गुफाओं के बीच सौ-सौ फुट के हाल थे, जिनकी छतें काफी ऊँची थीं, पर प्रकाश का कहीं नाम नहीं। गुफा में घुसने पर उनके साथी ने एक घड़ियाल उठायी, जो करीब ९ इंच की गोलाई में थी और उसके साथ लकड़ी की एक छोटी मुँगरी बँधी हुई थी। घड़ियाल ताँबे की बनी हुई जान पड़ती थी, जो खूब चमक रही थी और उसके चारों ओर चाँदी के तार की एक बड़ी सुन्दर झालर लगी हुई थी। घड़ियाल पर मुँगरी गिरते ही शब्द के साथ ६ स्थानों पर हलके हरे रंग की रोशनी हो गयी। मिनट भर तक वह धीमी रही, फिर तो एक-एक स्थान पर ५०० मोमबत्तियों के बराबर का प्रकाश हो गया। बीस-बीस फुट की दूरी पर जमीन से ६ फुट की ऊँचाई पर दीवारों में लकड़ी की खूटियों के सहारे टँगी हुई किसी चीज से यह प्रकाश हो रहा था। अन्तिम रोशनी से आगे बढ़ने पर घड़ियाल पर फिर एक आवाज की गयी और आगे भी वैसा ही प्रकाश हो गया। अन्ततः जब वे झील के पास पहुँचे, जो १०० फुट लम्बी और ६० फुट चौड़ी थी, घड़ियाल पर दो बार आवाज की गयी और शब्द के साथ ही पचास स्थानों पर प्रकाश जगमगा उठा। देखने से पता लगा कि यह प्रकाश ४ इंच के एक चमकीले पत्थर के टुकड़े से हो रहा था, जो ताँबे की सी किसी भूरी रंग की धातु की आध इंच मोटी और एक फुट गोल थाली में जड़ा हुआ था। यह ताँबे के तार से लकड़ी के खम्भे पर टँगा हुआ था। पूछने पर उन्हें यह बतलाया गया कि घड़ियाल का शब्द थाली में प्रवेश करता है, जिससे वायु में स्पन्दनशक्ति उत्पन्न होती है और उससे चमकीले पत्थर में प्रकाश प्रकट होता है। स्पन्दनशक्ति के बलानुसार प्रकाश घटता बढ़ता रहता है। यदि घड़ियाल किसी धातु की मुँगरी से बजाया जाय तो प्रकाश इतना तीव्र होगा कि आँख बिना किसी मोटे पर्दे के उसे सहन न कर सकेगी। इतने पर भी न तो पत्थर में और न थाली में गर्मी का लेशमात्र जान पड़ता था।

लामा लोग प्रायः दीर्घजीवी होते हैं। दूर ही से घटनाओं को जान लेने, रोगों को मनःशक्ति के प्रभाव से अच्छा कर देने, अत्यन्त शीत में भी रह सकने आदि के रहस्यों का इन्हें ज्ञान है। श्री अवर्न ने अपने निजी अनुभव से जिन्हें ठीक पाया है, उन्हीं का अपने लेख में वर्णन किया है। आपका कहना है कि विज्ञान इनके अनुसन्धान से बहुत कुछ लाभ उठा सकता है। इन रहस्यों को जान लेने से वैज्ञानिक साधनों पर जितना खर्च हो रहा है, वह घटाया जा सकता है और वे सर्वसुलभ भी बनाये जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भौतिक विज्ञान भी आधुनिक विज्ञान से कुछ कम आश्चर्यजनक न था। परन्तु आजकल के वैज्ञानिकों ने उसे टोना-टामर ही समझ कर रद्दी की टोकरी में फेंक रखा है। यह बात अवश्य है कि भौतिक विज्ञान के साथ-साथ उन दिनों योग तथा तन्त्रसिद्धि भी चलती थी, परन्तु अब इसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। धीरे धीरे वैज्ञानिकों को भी इसकी सत्यता समझ में आ रही है। यदि थोड़ी देर के लिए इसको न भी माना जाय, तो भी भौतिक दृष्टि से भी प्राचीन विद्याओं के अध्ययन से आज भी बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है। दो-तीन वर्ष हुए लंका के 'मेडिकल कालेज' के अध्यापक डाक्टर फर्नेण्डने वहाँ की पत्रिका में लिखा था कि कुछ दिन पहले तक यूरोपीय विद्वान् प्राचीन भारत के विज्ञान तथा

चिकित्साशास्त्र की हँसी उड़ाया करते थे, पर अब अध्ययन से पता चलता है कि वह इनमें कितना आगे बढ़ा हुआ था। बौद्ध साहित्य में जीवक नाम के एक वैद्य का उल्लेख मिलता है, जिसने स्वयं बुद्ध भगवान् की चिकित्सा की थी। उसे एक ऐसी लकड़ी का पता था, जिसका शरीर से स्पर्श होते ही उसके भीतर के सब अंग बाहर से दिखलायी पड़ने लगते थे। इसके द्वारा वह शरीर की भीतरी दशा जानकर चिकित्सा या चीरफाड़ किया करता था। ईसा के ६०० वर्ष पूर्व क्या वह एक प्रकार के 'ऐक्सेरे' का प्रमाण नहीं है। कहा जा सकता है कि इन विद्याओं को गुप्त रखकर इनके जानकारों ने स्वयं ही इन्हें नष्ट कर दिया। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने योग्य है। केवल अधिकारी को ही किसी विद्या का ज्ञान देना, यह सर्वत्र प्राचीन नियम था, जिससे उसका दुरुपयोग न हो। दूसरी बात यह थी कि इन विद्याओं का उपयोग लोकसेवा में ही किया जाता था, उनसे निजी स्वार्थ की सिद्धि करना पाप समझा जाता था। आज भी साधु महात्मा लोगों को औषधों के चुटकुले बतला देते हैं, पर यह शर्त कर लेते हैं कि उनसे धन न कमाया जाय। यदि ऐसा किया जायगा तो वे निष्फल हो जायँगे। बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार भी गुप्त ही रखे जाते हैं, उनके 'पेटेण्ट' लिये जाते हैं, पर उससे कमाया जाता है अतुल धन, और किया जाता है नरसंहार। इसको देखते हुए तो यह मानना पड़ेगा कि ऐसे साधनों को गुप्त रखने में प्राचीनों ने अपनी बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता का ही परिचय दिया था। यदि लोकहित की दृष्टि से अपना गर्व छोड़कर नम्रता के साथ आधुनिक विज्ञान इस ओर अनुसन्धान में लगे, तो वह बहुत कुछ सीख सकता है।

विदेशों में भारतीय योग के प्रति आकर्षण के कारण

[शास्त्रार्थ महारथी श्री पं० माधवाचार्य शास्त्री]

भारतीय आर्षवाङ्मय के अनुसार सृष्टि का आदिस्थल भारतवर्षान्तर्वर्ती 'ब्रह्मावर्त' नामक क्षेत्र है। आदि सम्राट् स्वायम्भुव मनु के पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र आदि क्षत्रिय वीर ही सप्तद्वीपा वसुमती के राजा हुए, यह सर्ववादिसम्मत तथ्य है। समय चक्र की वक्रगति से वहुकालानन्तर भारतवर्ष से उनका सम्पर्क उत्तरोत्तर क्षीण होता गया, तव मनु की 'शनकैस्तु क्रियालोपात्' आदि प्रसिद्ध घोषणा के अनुसार उनमें वृषलता व्याप्त हो गई। दुर्दैव वश भारत में जव चक्रवर्ती शासन के अभाव में विघटित खण्ड-खण्ड रजवाड़ों का युग आया तो द्वीपान्तर का यातायात उन वृषलों के अधिकार में आ जाने से खान-पान की असुविधा के कारण वर्णाश्रमियों का आवागमन सर्वथा निरुद्ध हो गया। इस प्रकार भारत मूल के ही निवासी वे वृषल अपनी समस्त सांस्कृतिक परम्पराओं को भूल कर कुछ के कुछ वन गए।

दो शती पूर्व भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो जाने पर विदेशियों का सम्पर्क पुनः प्रारम्भ हुआ। भारतीय भी आधुनिक कला-कौशल सीखने के लिये, व्यापार के सम्वन्ध से तथा प्रीवी-काउन्सिल तक पहुँचने वाले मुकद्दमों के सिलसिले में विलायत आने जाने लगे। वहुत से वहाँ वस ही गए। लाखों भारतीयों को अंग्रेज शासक कुली वना कर वहाँ ले गए। इस प्रकार सौ-सवा सौ वर्षों के अन्दर ही विदेशों में इन नवागत भारतीयों की अन्यून आठ अंकों में लिखी जा सकने वाली संख्या हो गई। उपनिवेश समाप्ति के इस युग में वहुमत के कारण कई स्थानों में भारतीयों की सरकारें वन गईं। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी-रामतीर्थ का संयोगवश एक धार्मिक प्रचारक के रूप में वहाँ जाना वना, यद्यपि ये दोनों ही महानुभाव योग के साधिकार वक्ता और ज्ञाता तो न थे, तथापि 'खग जाने खग ही की भाषा' के अनुसार अंग्रेजी भाषा के माध्यम से उक्त विषयों की चर्चा करने में समर्थ थे।

विदेशी लोग इनकी वक्तृता और मस्तमौला वृत्ति से वहुत प्रभावित हुए। जो अमेरिकन आदि धनी मानी वड़े-वड़े लैण्ड-लार्ड होते हुए भी वेचैन थे, वे इन अपरिग्रही, अकिञ्चन सन्तों की फाकामस्ती पर लट्टू हो गए। फिर तो वे लोग भारत में अरविन्द आश्रम, शिवानन्द आश्रम और रामकृष्णमिशन आदि के सम्पर्क में आने लगे। आधुनिक पद्धति के अनुसार कुछ साधना भी करने लगे। मनोनिग्रह की दिशा में ज्यों-ज्यों वे कुछ आगे वढ़ने लगे, त्यों-त्यों आनन्दानुभूति भी होनी स्वाभाविक थी। इस प्रकार सहस्राब्दियों से प्रसुप्त उनकी हिन्दू-आत्माएँ पुनः जागृत होने लगीं। यद्यपि ये सव विदेशी शिष्य और उनके प्रशिक्षक भारतीय गुरुजन अभी तक वास्तविक योग विद्या की छाया तक भी प्राप्त नहीं कर सके हैं, तथापि 'भूखे को गूलर पकवान' कहावत के अनुसार उनके लिये तो इतना ही वहुत था। इस समय दशा वड़ी ही विचित्र सी चल रही है। कुछ अनधिकारी लोग विदेशों में पहुँच कर योग के नाम पर भोले भाले भावुकों को ठग रहे हैं। योग को वदनाम कर रहे हैं। इसलिये आवश्यक है कि कुछ सधे हुए वास्तविक योगी विदेशों में पहुँच कर इस विद्या को वदनाम होने से वचाएँ।

सही अर्थों में सर्व प्रथम भारतीय स्वामी श्री भारतीकृष्णतीर्थ (पुरी पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य) महाराज ही ऐसे व्यक्ति विलायत पहुँचे जो योग और वेदान्त के अधिकारी विद्वान् होने के साथ-साथ अंग्रेजी के भी प्रौढ़ वक्ता थे। उन्होंने विदेशियों को भारतीय योग के प्रति वहुत आकृष्ट किया। सम्प्रति शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ महाराज की प्रेरणा से उनकी विदुषी शिष्या श्रीमती दया माता विदेशों में अनेक सत्संग चला रही हैं। जिनमें साधक सहज योग का अभ्यास करके कृतार्थ हो रहे हैं।

श्री स्वामी भक्तिवेदान्त महाराज के प्रयत्नों से भी अनेक विदेशी इस ओर उन्मुख हुए हैं। अष्टाङ्गयोग और हठयोग की दुरूह क्रियाओं के तो न वे अधिकारी हैं और न ही उनकी इसमें अभिरुचि है, किन्तु सरस सरल अनन्य भक्तियोग ही प्रायः वहाँ अधिक सफल हो रहा है। श्री प्रेमाचार्य शास्त्री द्वारा की गई श्रीमद्भागवत की कथा से वे इतने प्रभावित हुये हैं कि उनके अत्याग्रह पर अव तीसरी वार उन्हें वहाँ जाना पड़ा है। टेलीविजन द्वारा कथा प्रसारित करने का प्रवन्ध किया गया है। अनेक श्रोता पयोव्रती रहकर सप्ताह श्रवण करते हैं।

योग और तन्त्र

[स्वामी श्री नन्दनन्दनानन्द सरस्वती]

योगतन्त्राब्धिहंसाय षोडशीसंविदात्मने
षोडषानन्दनाथाय श्रीमत्करपात्रिणे नमः
मही मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे

संस्कृत भाषा में 'युज्' धातु से 'योग' शब्द की निष्पत्ति है। जीवात्म-परमात्म-मेलन इसका सार है।

योग दर्शन के प्रवर्तक भगवान् पतञ्जलि के अनुसार चित्त वृत्तियों का निरोध ही योग है। योग, हठयोग, राजयोग इसी अर्थ में प्रसिद्ध हैं। स्वर्गीय डाक्टर एनीबेसेन्ट, मैडम ब्लैवेत्सकी, जान वुडरफ आदि के द्वारा भारत और पाश्चात्य जगत् में क्लेयर वायन्स, टेलीपैथी आदि मानस शक्तियों के नियन्त्रण के द्वारा मानस सन्देश प्रेषण, हिप्नोटिज्म द्वारा मनो नियन्त्रण आदि के रूप में विख्यात हुआ। 'योगी' के नाम से विदेशों में भ्रमण करने वाले कुछ महानुभावों ने हठयोग की कतिपय आसन, मुद्रा आदि क्रियाओं का प्रदर्शन, योग संस्थाओं द्वारा प्रशिक्षण और चिकित्सा आदि का भी प्रसार किया है। किन्तु यह सब योग का वाह्य रूप होने पर भी इतना मात्र ही योग नहीं है। हठयोग स्वयं सूर्यचन्द्राख्य प्राण और अपान का नियमन है——

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ,
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते ।

हकार ठकार रूप सूर्य चन्द्र अर्थात पिंगला तथा इडा से प्रवाहित श्वास प्रश्वासों के नियन्त्रण अर्थात् प्राणायाम द्वारा प्राण नियन्त्रण से प्राप्त योग ही हठयोग कहा जाता है। यह स्वयं अन्तिम उद्देश्य न होकर योगों में राजा के समान देदीप्यमान, सर्वचित्तवृत्तिनिरोधलक्षण, असंप्रज्ञात योग में परिणत राजयोग प्राप्ति की उत्तम सीढ़ी है। अतः हठ विद्या का मुख्य फल राजयोग ही है। यह राजयोग कैवल्य प्राप्ति का अन्तिम उपाय है। इस कैवल्यापादक योग की गोपनीयता पर योगाचार्यों ने पूरा वल दिया है——
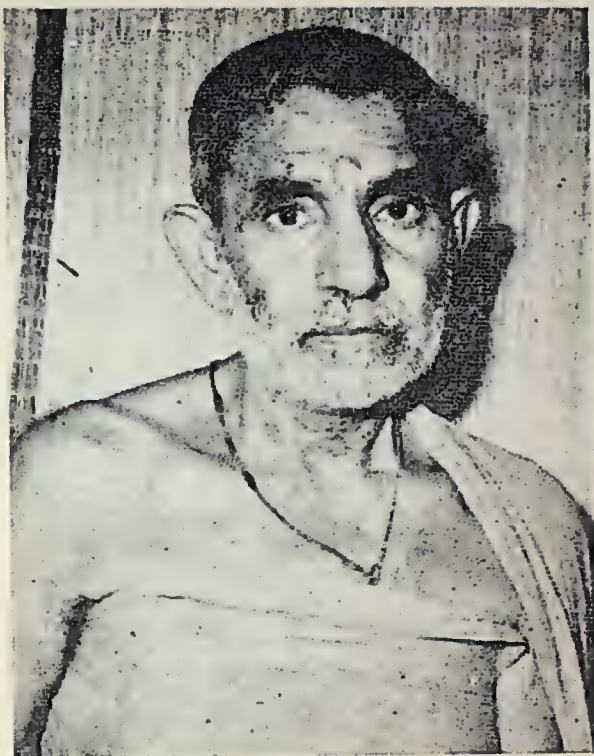
"हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्यातु प्रकाशिता

विज्ञापनों के प्रचार एवं डिण्डिम घोषों से ख्याति तो अवश्य प्राप्त हो सकती है किन्तु योग सिद्धि कदापि नहीं मिल सकती।

योग के आठ अङ्गों में यम और नियम तो योग विद्या के अधिकारी के आधारभूत अङ्ग हैं।

"आसनेन रजो हन्ति" इस उक्ति के अनुसार शरीर के वात, पित्त, कफ आदि दोषों की निवृत्ति, स्थौल्य मज्जादि दोष निवृत्ति तथा मुद्रादि द्वारा प्राणजय में सहायता प्राप्त

होती है। प्राण जय के विना मनो जय संभव नहीं, अतः प्राणायाम के विविध प्रकार प्राणजय के उद्देश्य से ही विहित हैं।

आसन, प्राण, जप, मुद्रा आदि से यद्यपि शरीर के गुरुत्व रूप तमोगुण की निवृत्तिपूर्वक लघुत्वापादन द्वारा रोग निवृत्ति भी योग का एक विशिष्ट फल है और इसीसे प्रलुब्ध होकर आजकल प्रायः लोग इसमें प्रवृत्त होते हैं, परन्तु यह योग का मुख्य उद्देश्य न होकर केवल प्रथम सीढ़ी है। इसके अनन्तर आने वाले अङ्ग भी यद्यपि अणिमा, महिमा, ईशित्व, वशित्व आदि सिद्धियों से युक्त होने के कारण रोग निवृत्ति आदि से भी अधिक आकर्षण के विषय हैं, परन्तु वे भी योग सिद्धि के उद्देश्य न होकर केवल अन्तराय मात्र हैं।

इनसे भी अधिक चमत्कारपूर्ण अङ्ग विन्दुनादानुसन्धान और कुण्डलिनी प्रवोध है। प्राणायाम ही निरन्तर अभ्यास से धारणा, ध्यान आदि में परिणत होता है, इसी से कुण्डलिनी प्रवोध मनोजय आदि दुर्लभ सिद्धियों की उपलब्धि सम्भव होती है। प्राण का चन्द्र सूर्य मार्गों में विचरना ही काल के उदर में जीव का निवास है। अतः इडा पिंगला से हटकर सुषुम्नवाही होने पर प्राण का कुण्डलिनी वोध संभव है और तभी योगी विन्दुरोधिनी, नाद नादान्त शक्ति व्यापिका आदि स्तर पार कर समना. तदनन्तर उन्मनी अवस्था को प्राप्त होता है। इसी के समनन्तर महाविन्दु है जहाँ समस्त परिच्छेद शून्य हो 'महाविन्दु' प्रवेश के साथ अनन्त में विलीन हो जाता है। यही खेचरी मुद्रा है, जहाँ साधक "खं ब्रह्म" का दहराकाश में ही अनुभव करता है। वह कालगति के नियन्त्रण से वाहर हो जाता है। समस्त संसार मनोदृश्य है, मन के विलय के साथ ही समस्त द्वैत प्रपंच का विलय है, और तब—

"कैवल्यमवशिष्यते"।

इसलिए योगी सषुम्ना मध्यवर्तिनी कुण्डलिनी को ही महाशक्ति मानता है और उसीके द्वारा सम्पादित अमृत-वर्षण से कृतकृत्य हो जाता है।

कुण्डलिनी और नादानुसन्धान से सुसिद्ध योगी समस्त अवस्थाओं से विनिर्मुक्त निरञ्जन तत्त्व में विलीन होकर मुक्त कहा जाता है—

खाद्यते न च कालेन
वाध्यते न च कर्मणा
साध्यते न स केनापि
योगी युक्तः समाधिना

"ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः"—इस योग सूत्र के अनुसार शुभाशुभ कर्मों के बन्धन से विनिर्मुक्त योगी मृत्यु का भक्ष्य नही रहता और न ही मन्त्र तन्त्र आदि का ही उस पर कोई प्रभाव होता है। वह कालवञ्चक योगी ब्रह्माण्ड में यथेच्छ विचरण कर अशेष जगत् का कल्याण सम्पादन करता है।

तन्त्रशास्त्र अथाह सागर है—

चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धं प्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलमतिसन्धाय भुवनं
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्

चौसठ तन्त्रों के अनन्तर निखिल पुरुषार्थ सम्पादन में स्वतन्त्र त्रैपुरतन्त्र (किन्हीं के अनुसार "**नित्याषोडशिकार्णव,**" दूसरों के अनुसार "**वामकेश्वरयोगिनी हृदय**") का प्रादुर्भाव हुआ। इस तन्त्र महासिन्धु में अखिल पुरुपार्थ प्राप्ति का मार्ग मुख्यतया "कुण्डलिनी प्रवोध" तथा "सुविन्दु नादानु-सन्धान" ही है। वह्वृचोपनिषत्, भावनोपनिषत्, सुन्दरी तापिनी आदि उपनिषदों में इसी परम तत्त्व प्राप्ति का सार वर्णित है। ब्रह्माण्डादि पुराणों में भी यत्र तत्र इस तत्त्व का वर्णन है।

दार्शनिक आधार भूमि के रूप में मानव जीवन के चार पुरुषार्थों में प्रथम तीन मुक्ति के साधन गौण पुरुषार्थ हैं। मुख्य पुरुषार्थ अनन्त आनन्द रूप मोक्ष ही है। किन्तु तन्त्र के उपासकों, विशेषकर त्रिपुरा उपासकों के लिए चारों पुरुषार्थ हस्तगतामलकवत् सुलभ हैं। एक मस्ताना उपासक जागदीश्वरी भक्ति के आनन्द में विभोर, उन्माद में गान करता है—

याचे न कञ्चन न कञ्चन वञ्चयामि
सेवे न कञ्चन निरस्तसमस्तदैन्यः
श्लक्ष्णं वसे मधुरमद्मि भजे वरस्त्रीः
देवी हृदि स्फुरति मे कुलकामधेनुः

आशय है—किसी से न माँगूं भीख, ना किसी को धोखा दूं
न करूँ मैं चाकरी, नहीं दीनता का स्वांग भरूँ

आनन्द से रहना, मधुर स्वादिष्ट खाना और सुन्दरी सुखोपभोग का जीवन, केवल हृत्कमल में प्रदीप्तिमती जगदीश्वरी कुलकामधेनु का स्मरण, यही इस अद्वितीय अलौकिक आनन्द का कारण है।

चराचरात्मक समस्त विश्व प्रपंच शिव शक्ति समायोग का ही परिणाम है। अनन्त अनन्त ब्रह्माण्डात्मक प्रपञ्च का एकमात्र आधार कूटस्थ आनन्द अथवा ब्रह्म है। वही शिवपद वाच्य है, उसी में इदन्तायुक्त अहन्ता का स्फुरण प्रथम विमर्श है। इसी प्रकाशात्मा शिवतत्त्व के आनन्द तत्त्व की अभिव्यक्ति रूपा पराहन्ता, विमर्श शक्ति, परा, ललिता, त्रिपुर सुन्दरी, भट्टारिका आदि नामों से व्यवहृत है। कूटस्थ चित् तत्त्व का—'इच्छामि', 'जानामि', 'करोमि', रूप में अहन्तत्त्व का प्रादुर्भाव ही शिवप्रकाश तत्त्व कहा गया है—

"अस्फुटस्य स्फुटीकारः प्रकाशः"।

यही शुक्ल श्वेत विन्दु है। इस अहन्ता के साथ 'इदंजानामि, इच्छामि, करोमि' आदि रूपों में स्फुटीभाव विमर्श है—

"विमृश्यते परामृश्यत इदमिति विमर्शः प्रपञ्चः।
इदमित्येव हि परनात्मना सृष्टस्य जगतःप्रसिद्धःपरामर्शः"

इस प्रकार प्रकाशात्मा श्वेत विन्दु रूप शिवतत्त्व का विमर्शात्मा रक्त विन्दु शक्ति तत्त्व के साथ सम्भेद रूप सामरस्य प्राप्ति ही कामकला विश्वाकार प्रपञ्च अथवा विश्व की सृष्टि, स्थिति, संहृति तथा तीनों में सम्पुटित तीनों के रूप में स्फुरण विमर्श शक्ति का प्रसार है। शाक्त सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म रूप परमशिवतत्त्व की वास्तविक अर्थवत्ता इसी विमर्श शक्ति के प्रस्पन्द से है। भगवान् शंकराचार्य के अनुसार भगवान् शिव शक्ति से युक्त होकर ही प्रस्पन्दन में समर्थ होते हैं और तभी विश्वाकार में उनका प्रभव संभव होता है। प्रत्यभिज्ञाकार 'विमर्श' को प्रकाशात्मा शिव का स्वभाव ही मानते हैं।

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः

प्रकाश रूप शिव भी शक्ति विमर्श के विना स्फटिकादि जड़ के समान होगा।

शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः
शक्तिहीनो हि यः कश्चिदसमर्थः स्मृतो बुधैः

यहाँ शिवशक्ति समायोग में कुण्डलिनी को ही शक्ति माना है। स्पन्द का अर्थ यहाँ छत्तीस तत्त्वों में व्याप्त प्रपञ्च रूप में प्राकट्य ही है। वस्तुतः यही स्पन्द शक्ति आभास रूप से सम्पूर्ण विश्व में क्रीडा करती है, शिव तत्त्व में किसी प्रकार का विकार नहीं आता। वास्तव में न कहीं उदय और न कहीं अस्त है, न उत्पत्ति और न विनाश, केवल परमात्मा सच्चिदानन्द, परब्रह्म, सदाशिव की स्पन्द शक्ति ही उदय और अस्त होती-सी दीखती है। इसी को 'वृहदारण्यक' ने—'ध्यायतीव, लेलायतीव', कहा है। उपासक इसी स्पन्दशक्तिरूप कुण्डलिनी की आराधना करते हैं।

कमलनालान्तर्गत तन्तु से भी सूक्ष्मतर विद्युत्पुञ्ज के समान प्रकाशमयी, दशसहस्र सूर्यों के समान तेजोमयी, तथापि शताधिकसुधाकरशीतलामृत निष्यन्दिनी परासंविद्रूपिणी, प्रसुप्ता भुजंगी के समान कुण्डलिनी का ध्यान करना होता है मूलाधारस्थ भूतत्त्व में। पुनः ध्यान निर्मन्थनाभ्यास और प्राणायाम के द्वारा स्वाधिष्ठानवर्ती अग्नि शिखा के द्वारा उद्भूत धूम से व्याकुलित भुजगीभयङ्कर-फूत्कार पुरस्सर जीव शिव को मुख में लेकर ब्रह्म ग्रन्थि भेदानन्तर मणिपूर चक्र में व्याप्त शीतल जल ह्रद में अवगाहन करती, मणियों से क्रीडा करती, पुनः विष्णु ग्रन्थि का भेदन कर अनाहत चक्र में मरुत्तत्त्व का सेवन करती है। पुनः विशुद्धि चक्र में अनाहत के द्वादशार तथा मूलाधारादि चतुश्चक्र समष्टि रूप षोडशार में आकाश तत्त्व का अनुभव कर, भ्रूमध्य आज्ञा चक्र में समना होकर परतत्त्व रूप पूर्णचन्द्र का ईषत् ज्ञान प्राप्त करती है। यहीं आज्ञाचक्र पर्यन्त मन की गति है। उपासक की अर्चा भी यहीं तक है। इसके आगे महत् अन्तःपुर है जहाँ प्रिया प्रियतम का सामरस्य है। वहाँ द्रष्टा भिन्न हो नहीं सकता, अतः पूजा का निषेध है। इसी तत्त्व को उपनिषत् ने "अतिच्छन्द' 'अपहत पाप्मा' शब्दों से कहा है।

जहाँ—**तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्।** यहाँ उपासक और उपास्य दो रहे ही नहीं। परस्परानुश्लिष्ट भी नहीं, केवल समरसी भाव में ओतप्रोत। अनाहत से आज्ञापर्यन्त ही आचार्य नादानुसन्धान की महिमा—

"दृश्यते तव मुखाम्बुजं शिवे
श्रूयते स्फुटमनाहतध्वनिः"

में मुखकमल दर्शन और अनाहत नाद का श्रवण करते हैं। परन्तु आज्ञाचक्र में उपयोगी रसिक बन गया। यहाँ–

"यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगा
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति"

और "यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः।"

नदी और पतङ्ग के समान साधक भी वेग को रोकने में असमर्थ हो स्वयं रससारसर्वस्वमहासिन्धु में आमूल-चूल सान्तरबाह्य सर्वात्मना तल्लीन हो जाता है। यह विलय समस्त मृत्युचक्रों से अतीत अनाद्यनन्त परमानन्द कैवल्य ही है, जिसे श्रुति ने––

"तद्विष्णोः परमं पदं
सदा पश्यन्ति सूरयः"

और जिसे आचार्य ने––

"चिरञ्जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः
परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान्"

कहा है। पशु और पाश का बन्धन कट जाने से पशु रहा ही नहीं, प्रत्युत पशुपति हो गया। कल तक का रसिक अब परानन्दाभिख्य रससिन्धु में "पिवत भागवतं रसमालयम्", अब लय, महालय, प्रलय, महाप्रलय आदि की सारी अवस्थाओं से अतीत––"रसो वै सः" हो गया। अब योग और तन्त्र का विस्तार चरम लक्ष्य में लीन हो गया। महाशक्ति अब––

"सह रहसि पत्या विहरसे" के अनुसार परब्रह्म महिषी अपने प्राण सर्वस्व परिपूर्ण रसमहासिन्धु में पूर्णतया विलीन हुई तो कोई चिल्लाया––"जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते–– ।

—o—

साक्षात्कार

[द्वारा–शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी]

[देश में हो रहे योग सम्बन्धी क्रियाकलापों पर चोटी के दार्शनिक, वैज्ञानिक, प्रशासक प्रभृति महानुभावों के विचारों से 'योगांक' के पाठकों को लाभान्वित करने के उद्देश्य उनके समक्ष प्रस्तुत करने के लिए एक प्रश्नावली हमने तैयार की थी। हर्ष है कि हमारा यह विचार भी सुचारु रीति से सम्पन्न हुआ। स्वयं परमपूज्य स्वामीजी महाराज ने इस प्रश्नावली के उत्तर दिये। श्रीमान् पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदीजी, प्रोफेसर श्री अनन्तरामन्, डाक्टर श्री के. एन. उडुप्पा, श्रीमान् कालीशंकरजी त्रिपाठी श्री रघुनाथ सिंहजी श्री रमेशअग्रवाल तथा श्री प्रियानाथ पाण्डेय, इन महानुभावों का इन प्रश्नों पर साक्षात्कार प्राप्त करने से और उनका उत्तर प्राप्त होने से इस 'योगांक' का महत्व बहुत बढ़ गया है। साक्षात्कारों का विवरण प्रश्नों के साथ इस प्रकार है।]

पूज्यपाद स्वामी करपात्री जी महाराज

प्रश्न––योग शिक्षा के प्रत्यक्ष लाभ क्या है ?

पूज्य स्वामीजी––सुख शान्ति की उपलब्धि। योग चित्त वृत्तियों का निरोध है। चित्त वृत्तियों का बाहुल्य अशान्ति, कष्ट, दुःख, क्लेश का जनक है, चित्त वृत्तियों का निरोध सुख शान्ति की कुंजी है। वही योग है। चित्त के निरोध से चित्त की एकाग्रता होती है, उससे तत्काल स्वास्थ्य लाभ भी होता है। चित्त की एकाग्रता के बिगड़ जाने से बड़े-बड़े उत्पात होते हैं, मन निरर्गल हो जाता है शरीर विश्रृंखलित हो जाता है। आयुर्वेद के पास भी ऐसी बीमारियों के इलाज नहीं होते। 'हवल दिल' जैसी बीमारियों में छोटी छोटी वस्तुएँ पहाड़ जैसी दिखाई देने लगती हैं। ऐसे भीषण मानसिक रोगों के सामने आने पर केवल दवा देने वाले चिकित्सक भाग खड़े होते हैं। परन्तु आध्यात्मिक चिकित्सकों के पास इसकी भी चिकित्सा है, वह योग के द्वारा होती है। ऐसे हजारों दृष्टान्त हैं जो योग चिकित्सा से रोग ठीक करने की बात समझने में उपयोगी होते हैं।

प्रश्न––क्या योग में रुचि रखने वालों को ईश्वर पर विश्वास लाना आवश्यक है ?

पूज्य स्वामीजी––यद्यपि ईश्वर को न मानने वाले बौद्ध और जैन समुदाय में भी योग मान्य है, उसका फल भी उन्हें मिला है, परन्तु योग का प्रमुख फल जो शुद्ध समाधि है वह ईश्वर प्रणिधान के बिना संभव नहीं। अतः ईश्वर योग का प्राण है।

प्रश्न––क्या योग से जीवन दृष्टि में परिवर्तन आता है ?

पूज्य स्वामीजी––सर्वथा परिवर्तन आता है। सांगयोगानुष्ठान के पहिले दिन से ही परिवर्तन आता है। योग से केवल अपने में ही परिवर्तन आता तो कोई बहुत बड़ी बात न होती, परन्तु योग से योगी सारे संसार की जीवन दृष्टि ही नहीं जीवन व्यवहारों को सात्विकता में पिरो देने की शक्ति अर्जित करता है। पुराणों, रामायण, महाभारत, तथा काव्य नाटक आदि सारे वांङ्मय में ऐसे अहिंसा सिद्ध ऋषियों के आश्रमों के वर्णनों की भरमार है जहाँ न केवल मनुष्यों की जीवन दृष्टि या व्यवहारों में ही परिवर्तन हुआ, अपितु, परस्पर नित्य वैर रखने वाले उग्र जन्तुओं की प्रकृति भी सौम्यता में बदल गई। यह केवल अहिंसा नामक योगांग से जीवन दृष्टि के परिवर्तन की बात है। इसी प्रकार सत्य से परिवर्तन की बात समझ लो। सत्य का

अभ्यास करने पर जो बोलोगे वही होता चला जायगा। अस्तेय के अभ्यास से 'सर्वरत्नोपस्थान' होगा। समस्त रत्न उपस्थित हो जायंगे। ब्रह्मचर्याभ्यास से अखण्ड बल लाभ होगा, आसन से रजो हनन होगा, रजोगुण के विकार दूर रहेंगे। प्राणायाम से पातकों का शमन होगा। इस प्रकार सभी योगांग और उपांगों के अभ्यास से जीवन दृष्टि में प्रथम दिन से पूर्ण परिवर्तन का प्रारंभ होने लगता है।

प्रश्न—योग को आप भारत की ही देन मानते हैं। या आपकी दृष्टि में योग पर भी विदेशी प्रभाव है।

पूज्य स्वामीजी—योग शुद्ध भारतीय है, सारा विश्व-इससे प्रभावित हुआ है।

प्रश्न—दैनिक जीवन में योग को अपनाना क्या पुरातन सन्ध्यावन्दनादि से गतार्थ नहीं है।

पूज्य स्वामीजी—वह बहुत थोड़ा योगाभ्यास है जो सन्ध्या में आता है। परन्तु सन्ध्या की उपासना यदि बढ़ा दी जाय तो फिर पृथक् योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं रह जाती। **"ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात्-दीर्घमायुरवाप्नुयुः"**—यह उक्ति सुप्रसिद्ध है। सन्ध्या शब्द का अर्थ ही है 'सम्यक् ध्यान'। उससे एकाग्रता बढ़ती जाती है।

प्रश्न—क्या योग प्रशिक्षण में यन्त्रों का प्रयोग होता है?

पूज्य स्वामीजी—योग की उच्च भूमिकाओं में तथा शुद्धीकरण में, हठयोग के अनुष्ठान, नेती धोती, वज्रोली, आदि में यन्त्रों का प्रयोग होता है। ब्रह्मदातुन का प्रयोग विख्यात ही है।

प्रश्न—योग पर बढ़ती हुई प्राच्य पाश्चात्य चर्चाओं से क्या योग का प्रयोजन पूरा हो रहा है. क्या उसका रूप व्यावसायिक हो रहा है।

पूज्य स्वामीजी—योग का रूप इन चर्चाओं के द्वारा दिन प्रतिदिन व्यावसायिक तो बनाया ही जा रहा है। अपने बनावटी प्रभाव को बढ़ाने तथा धन संग्रह करने में योग का उपयोग योग की प्रतिष्ठा को गिराता है। गोस्वामी-जी ने जैसे कहा है—तथा अन्य ग्रन्थों में कलियुग के प्रभावों के चित्रण में जैसा चित्रित हुआ है, वैसा ही देखा जा रहा है। इस समय अनेक विचित्र विचित्र योगी, महायोगी प्रकट हो रहे हैं। अनधिकारियों के हाथ में जो भी कोई विद्या जाती है, उसका रूप तो व्यावसायिक हो ही जाता है। एकान्त में अनुष्ठान करने की विधियों का सार्वजनिक दिखावटी प्रदर्शन योग के महत्त्व को तो उतना नहीं प्रकाशित करता जितना अपने महत्त्व को प्रकाशित करता है। इससे योग का शतांश फल भी प्राप्त नहीं होता, जो अखण्ड सुख और शान्ति के रूप में शास्त्रों में वर्णित है।

आचार्य पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी

[आचार्य पंडित श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी विगत दिनों में अस्वस्थ चल रहे थे। परन्तु हमें उन्होंने उत्तर दिये, उनका उत्तर अलग अलग प्रश्नों पर नहो कर पूरे योग पर ही है।]

शरीर में चार चंचल तत्त्व हैं और एक अचंचल तत्त्व है। मन, प्राण, शुक्र और वाक् चंचल तत्त्व हैं हमारे शरीरों में। इस स्वीकृति में मतमतान्तरों में कोई विरोध नहीं आता। अचंचल तत्त्व की बात आगे आयेगी। इन चार चंचल तत्त्वों को रोकना, इनका निरोध ही योग कहलाता है। इनमें वाक् तत्त्व का निरोध तो प्रथम सोपान होने के कारण तथा सरल होने के कारण सभी के लिए समान है। मौनी हो जाना पहिला योग है। अपने सामान्य दैनिक कृत्यों में भी कुछ काल के लिए हमें वाक् संयम करना होता है।

मन का निरोध या संयम राजयोग कहलाता है। हमारे आन्तरिक तत्त्वों में राजा अर्थात् प्रधान होने के कारण मन के निरोध की राजयोग संज्ञा समझ में आती है। प्राण तत्त्व का निरोध हठ योग के नाम से अभिहित हुआ है तथा शुक्र तत्त्व के निरोध को वज्र योग, वज्रोल, आदि शब्द दिये गये। वज्र का अर्थ है हीरा। शरीर में यह तत्त्व भी हीरे के समान भास्वरता प्रदान करता है इसीलिए इसे भी वज्र शब्द से अभिहित किया गया और इसके योग को वज्रयोग संज्ञा मिली। इस योग के द्वारा शुक्र का संचालन शरीर में ऊर्ध्व भाग की ओर करने का प्रयत्न होता है, इसीलिए इस योग के सिद्ध पुरुषों को ऊर्ध्वरेता कहा जाता है। वज्रोलिका नामक क्रिया में शुक्र और रज के मिश्रण को नाड़ी द्वारा ऊर्ध्व भाग में ले जाया जाता है। यह युगनद्ध भाव बौद्ध शैव आदि सम्प्रदायों में शब्द भेद से निरूपित है। शैवमत में इसकी 'सोम साधन' संज्ञा है। यही चार चंचल तत्त्व हैं जिनके निरोध की विभिन्न प्रक्रियाएं विभिन्न संप्रदायों में सहस्रों रूपों में विकसित हुई हैं। इनकी प्रक्रियाओं में अनेकानेक विभिन्नताएं मिलेंगी, परन्तु मूल बात एक है। इन चंचल चार तत्त्वों की निरोधात्मक योग प्रक्रिया की विशेषता यह है कि एक तत्त्व की स्थिरता सिद्ध कर लिए जाने पर बाकी के तत्त्व अपने आप स्थिरता को प्राप्त हो जाते हैं।

इन चार तत्त्वों के अनन्तर पाँचवाँ तत्त्व हमारे शरीर में कुण्डलिनी नामक शक्ति है, यह शक्ति पुंज (Total Energy) है। यह मानव मात्र के शरीर में मेरुदण्ड के नीचे अवस्थित है। परन्तु सभी शरीरों में इसकी अवस्था एक-सी नहीं है, कहीं यह पूर्ण जाग्रत अवस्था में है, कहीं अर्ध जाग्रत अवस्था में है, कहीं सुप्त तथा पूर्ण सुप्त अवस्थाओं में विद्यमान है। इस शक्तिपुंज रूप कुण्डलिनी का आकार सर्प के समान माना जाता है और पूर्ण जाग्रत अवस्था में इसकी गति भी सर्प गति के समान मानी गई है। इस शक्ति के अन्य भी अनेकों प्रतीक संकेतित हुए हैं। यह स्वयं ज्ञान शक्ति इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति का समग्र प्रतीक है। योगी की सफलता इस महाकुंडलिनी का पूर्ण जाग्रत अवस्था में अनुभव कर लेना ही होता है, उसके दर्शनोपरान्त मोक्ष की उपलब्धि असन्दिग्ध मानी गई है। अपने ही शरीर में नित्य संस्थित उस महाशक्ति का पता योग के द्वारा चलता है। इस योग मार्ग के उपदेष्टा पतञ्जलि स्वयं प्रतीक पुरुष हैं। जितनी भी क्रियात्मक विद्याएँ हैं वे सभी पतञ्जलि से अवश्य सम्बद्ध हैं। योग, व्याकरण, वैद्यक का प्रादुर्भाव व दृढ़ीकरण पतञ्जलि द्वारा हुआ। इसी प्रकार नन्दिकेश्वर दूसरे प्रतीक पुरुष रहे हैं। नारद का भी वही स्थान है।

चेतना या चित् तत्त्व के साथ पूर्ण योग होना जीवन की सफलता के लिए अनिवार्य है। चित् तत्त्व को 'रुचीनां वैचित्र्यात्" अनन्त नाम रूपों में स्वीकार किया गया है।

योग पर वैदेशिक प्रभाव भले ही थोड़ा बहुत रहा हो परन्तु योग पद्धति की साज-सज्जा भारत ने ही की है। उसे दैनिक जीवन में अनिवार्य स्थान दिया गया था।

बस, अब इतना ही।

महन्त स्वर्गीय श्री बांकेरामजी मिश्र का योगमय जीवन

(श्रीरमेश अग्रवाल)

प्रश्न—कृपया आप अपने गुरुदेव स्वर्गीय महन्त श्री बांकेराम मिश्र जी की योगाभ्यास की प्रक्रिया पर कुछ प्रकाश डालने का कष्ट करें।

उत्तर—मेरे पूज्य प्रातः स्मरणीय गुरुदेव स्वर्गीय अखाड़ा गोस्वामी तुलसीदासजी के महन्त श्री बांकेराम मिश्रजी योग विद्या के बड़े अच्छे जानकार थे। मैं बचपन से ही उनके पास जाता था। प्रायः १० वर्ष मैंने उनका सान्निध्य प्राप्त किया, ३ वर्ष विशेष शिक्षा मैंने उनसे ग्रहण की योग की। यौगिक क्रियाओं के चलाते रहने के साथ ही उनपर कार्य भार बहुत अधिक बढ़ गया, जिससे अन्त के दिनों में उनके मन पर आघात हुआ। यह उन्हीं का कहना था कि योगाभ्यास के समय आने वाले चित्त विक्षेपों से बड़ा विपरीत प्रभाव पड़ता है। उनके ही एक साथी कई घण्टे तक श्वास रोक रखने में समर्थ हो चुके थे। एक बार इसी अवस्था में उन्हें किसी ने झकझोर दिया और हड़बड़ी में वायु के प्रचण्ड आघात से उनकी सुनने की शक्ति जाती रही। वे अभी भी विद्यमान हैं। उन्होंने अनेक गुरुओं से शिक्षा ली थी, जिनमें स्व० श्री विजयानन्दजी त्रिपाठी, ब्रह्मलीन श्री स्वामी वीतरागानन्द जी आदि प्रमुख थे।

वे बातचीत बहुत कम करते थे और घर से भी बहुत कम संपर्क रखते थे। अधिक बोलने वाले क्रिया वाले नहीं होते। स्वर्गीय महन्तजी ४-५ घण्टे तक समाधि में रहने लगे थे। उनका कहना था कि समाधि का पूर्ण आनन्द तो सब कामों से छुट्टी पाने के बाद ही आ सकता है। उनके सान्निध्य में मैंने जाना कि वायुदेव की अराधना ही योग है। योगमार्ग के पथिक का इष्ट, गुरु, प्रभु सब कुछ वायु ही है। यही गुरुदेव के द्वारा बताया जाता था। वे बतलाते थे कि वायु सबके पास है, परन्तु उसका उद्भव कहाँ है और उसकी गति किस प्रकार है यह देखने पर बड़ा-बड़ा तमाशा दिखाई देता है।

वे मल्ल विद्या का बड़ा आदर करते थे, पहलवानों से उनका स्नेह था, वे उन पर पर्याप्त व्यय करते थे। उनके अनुज श्रीमान् अमरनाथजी भी उनके साथ ही मल्ल विद्या का अभ्यास करते थे। उनमें भी अनेक कलाओं का चरम विकास हुआ है। वे बड़े ही उदारचेता थे।

उनका कहना था कि अपने को जब देखोगे तभी योग साधना होगी, अपने को देखना बाहरी देखना बन्द करने पर ही संभव है। कान, आँख, मुंह बन्द करना आवश्यक होता है, इन सबकी खास प्रणालियाँ वे बतलाते थे।

गोस्वामीजी का विनय पत्रिका वाला "सकल विश्वनिज उदर में" वाला पद वे व्याख्या सहित अनेक बार सुनाया करते थे। वे प्रातः ४ बजे उठकर श्वास स्नान करते थे।

वे नेती धोती के पूर्ण अभ्यासी थे। इन क्रियाओं को देखने वाले लोग कभी-कभी उनका मजाक भी करते थे, परन्तु वे उस ओर ध्यान नहीं देते थे। यह सब उन्होंने वहुतों से सीखा था। वे प्रातः काल ब्राह्मी मुद्रा में रहते थे।

खेचरी क्रिया में योगाभ्यासी सोते रहने पर भी जागरण का सा ज्ञान रखता है। ऐसा उनके जीवन में खूब देखा गया। जीभ को उलट कर ऊपर ले जाने की क्रिया में अनेक वार उनका चेहरा वहुत वड़ा लगने लगता था। वे कहते थे कि योगी को हमेशा यह भरोसा रहता है कि हमारे ऊपर मालिक है। वह अन्त में शरीर से भले ही शिथिल हो जाय पर उसकी चेतना अत्यन्त जाग्रत अवस्था में रहती है।

श्री अग्रवालजी ने श्री वीतरागानन्दजी के भी अनेक संस्मरण सुनाए।

श्री प्रियानाथ पाण्डेय

श्री प्रियानाथ पाण्डेयजी ने स्वर्गीय श्री महन्त वांकेराम जी का संस्मरण सुनाते समय अपने को कठिनता से रोका। उन्हें उनके स्मरण से आंसुओं का रोकना कठिन लग रहा था। उनके अनुसार वे योगाभ्यास के माध्यम से इतने उदार वन चुके थे कि उनके लिए अदेय कुछ भी नहीं था। अन्तिम अवस्था में वे विक्षिप्त की स्थिति में पहुँच गए जो क्रियाओं में उलट फेर की विकृत परिणति थी। उन्होंने अपनी आहुति देकर 'संकट मोचन' को जगा दिया। उनके वाद से ही संकट मोचन का प्रभाव वहुत अधिक वढ़ गया। पहिले आज के से दृश्य की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। यह उन्हीं के आत्मदान का प्रभाव हमारी समझ में आता है।

प्रोफेसर श्री अनन्त रमण

योग प्रशिक्षण को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में वैज्ञानिक पद्धति से संचालित करने में रुचि रखने वाले विश्वविख्यात विद्वान् काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के रैक्टर प्रो० अनन्तरमण महोदय ने प्रश्नों के इस प्रकार उत्तर दिये—

प्रश्न—योग शिक्षा के प्रत्यक्ष लाभ क्या हैं ?

इस समय संसार में सर्वत्र योग के प्रति एक विलक्षण दिलचस्पी दिखाई दे रही है। यह क्रम विगत २०-२५ वर्षों से देखने में आ रहा है। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि योग से किसी विश्वव्यापी समस्या का समाधान मिल रहा है। भौतिक अथवा वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ ही साथ शारीरिक और मानसिक तनाव भी अपनी सीमा पर पहुँच गया है। यहाँ तक देखा जा रहा है कि अनेक देशों में इस तनाव से मुक्ति पाने के लिए लोग आत्महत्या का सहारा लेते हैं और अपने अमूल्य जीवन को ही अपने ही हाथों समाप्त कर देते हैं। योग का प्रत्यक्ष लाभ है, इस शारीरिक और मानसिक तनाव को समाप्त करना। देखा जा रहा है कि भौतिकता के द्वारा प्रदत्त इस तनाव से योग के द्वारा बड़ा परित्राण मिलता है, १५,२० दिन के अभ्यास के बाद ही विलक्षण लाभ मिलने लगता है। मन्त्र जप करने से मानसिक तनाव में कमी आती है। अपने कार्यों तथा व्यवहारों में योगाभ्यास के फलस्वरूप सामान्यता की सहज ही उपलब्धि होने लगती है। वर्तमान जगत् के साधकों की स्थिति ऐसी है कि वे अपनी ज्वलन्त समस्याओं का तत्काल समाधान चाहते हैं। यह उन्हें योगाभ्यास से मिल रहा है। सभी बड़े यान्त्रिक समृद्धि वाले देशों ने अपने प्रशिक्षण कार्यक्रमों में योग शिक्षा का निवेश किया है। रशिया वालों ने जब अन्तरिक्ष अन्वेषण की ओर प्रयास प्रारंभ किया तो उसके प्रशिक्षण के लिए आसन प्राणायाम आदि पर पूरा ध्यान दिया जाता था, वह प्रक्रिया उनके यहाँ आज भी चल रही है। योग के प्रत्यक्ष लाभों का अनुभव करने के अनन्तर अब तो प्रमुख तथाकथित विकसित देशों के प्रमुखों का ध्यान योग के विभिन्न पहलुओं पर गम्भीर अन्वेषण की ओर भी गया है तथा उन्होंने यन्त्रों की भी इस सन्दर्भ में सहायता प्राप्त करने का कार्यक्रम आगे बढ़ाया है।

क्या योग पर रुचि रखनेवालों को ईश्वर पर विश्वास लाना आवश्यक है ?

संसार में योग को परिपूर्ण विद्या के रूप में प्रकाशित करने वाले पतंजलि ने मनकी या अन्तःकरण की पूर्ण जागृति हो जाने पर उसके आधार के या प्राणिधान के लिए ईश्वर को उपस्थित करते हुए उसे काल से अनवच्छिन्न और 'पूर्वेपामपि गुरुः' कहा है। परन्तु 'वा' शब्द जोड़कर इस विषय में साधक को स्वतन्त्रता प्रदान की है। सांख्य में ईश्वर अनिवार्य नहीं रहा, वह प्रकृति का दर्शक भर है वहाँ। चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शनों ने, जो भारत भूमि से ही समुद्भूत हैं, ईश्वर को अनिवार्य नहीं माना, लेकिन योग को पूर्ण महत्त्व दिया। अतः ईश्वर योग के अन्तरंग विभाग धारणा, ध्यान, समाधि के लिए एक विलक्षण आश्रय है, परन्तु अनिवार्य नहीं। ईश्वर की सत्ता को सर्वथा अस्वीकार करने वाले वर्तमान पाश्चात्य वैज्ञानिकों को योग की कितनी आवश्यकता प्रतीत हो रही है यह अभी हमने कहा ही है। मेरा यह अवश्य विश्वास है कि योग अपने संरक्षण में आनेवालों को स्वयं ही धीरे-धीरे ईश्वर का पता देता चलता

हैं। परन्तु सिद्धान्त यही है कि अपनी वर्तमान स्थिति में ईश्वर पर बिलकुल विश्वास न रखने वाले व्यक्तियों को भी योग कभी निराश नहीं करता।

क्या योग से जीवन दृष्टि में परिवर्तन आता है ?

श्री अरविन्द प्रभृति मनीषियों ने योगाभ्यास की भूमिकाओं में जीवन दृष्टि में आंशिक परिणाम तथा पूर्ण परिवर्तन की बातें कही हैं। स्पष्ट है कि यह भौतिकता से आध्यात्मिक समृद्धि की ओर अग्रसर होने वाली यात्रा है।

योग को आप भारत की ही देन मानते हैं या आप की दृष्टि में योग पर भी विदेशी प्रभाव है ?

प्रारंभ में दो हजार वर्षों तक केवल भारतीय महामनीषियों द्वारा ही योग का विस्तृत विवरण दिया जाता रहा और इसी से भारत के जगद्गुरुत्व की जैसी बातें प्रकट और स्वीकृत हुई। इस काल के उपरान्त बाहर भी योग पर आंशिक उपलब्धियां हुई। क्रिश्चियन धर्म, तथा इस्लाम के सूफी मतावलम्बी साधक इस ओर अग्रसर हुए। इस समय तो योग विविध दृष्टियों से अन्तार्राष्ट्रीय स्तर का विषय बन चुका है। इस विषय का विचार क्षेत्र अब रूढ़ियों अथवा क्षेत्रीय विचारों में संकुचित न रहकर वैज्ञानिकता ग्रहण करता हुआ व्यापक बन चुका है।

दैनिक जीवन में योग को अपनाना क्या पुरातन सन्ध्या वन्दनादि से गतार्थ नहीं है ?

द्विजन्मा गण का सन्ध्या वन्दन समिदाधान आदि नित्य क्रिया कलाप निश्चित ही योग से सम्बद्ध था। प्राणायाम और जप शारीरिक और मानसिक निरोधात्मक शक्तिवर्धन के प्रयास के प्राथमिक चरण हैं। उन्हीं में कुछ अधिक समय देने तथा अधिक अभ्यास से योग की आग की भूमिकाओं की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है।

क्या योग प्रशिक्षण के लिए कुछ वैज्ञानिक यन्त्रों का उपयोग होता है ?

अवश्य ही ऐसे यन्त्र उपलब्ध हो चुके हैं जिनसे यौगिक अभ्यास का प्रतिफल शरीर और मन पर देखा जाता है। हमारे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के योग प्रशिक्षण केन्द्र में भी ऐसे यन्त्र हैं जिनसे इस प्रकार के परीक्षण चलते हैं। इन यन्त्रों की सहायता से सूक्ष्म बातों की जानकारी में अद्भुत सहायता प्राप्त हो रही है। मुझे विश्वास है योगाभ्यास के लिए नए यन्त्रों का प्रयोग बढ़ेगा क्योंकि यन्त्र वैभव से सम्पन्न देशों में योग की चर्चाओं में रुचि संचार हो रहा है।

सामान्य जन जीवन को प्रभावित करने तथा उन्नत बनाने में योग की क्या भूमिका हो सकती है ?

योग की लोकप्रियता से उसे अधिकाधिक समझने की प्रवृत्ति बलवती होगी, उससे सामान्य जीवन समुन्नत होगा, व्याप्त तनाव घटेगा और स्वस्थता में सुधार आयेगा। परन्तु भविष्य में योग के लिए बराबर दार्शनिक सुदृढ़ आधार की आवश्यकता होती रहेगी।

योग पर बढ़ रही प्राच्य पाश्चात्य चर्चाओं से क्या योग का प्रयोजन पूरा हो रहा है, क्या इनसे उसका स्वरूप व्यावसायिक हो रहा है ?

अनेक चर्चाओं ने योग को वैज्ञानिक भूमिका प्रदान की है। व्यवसायिक रूप इसका तभी सामने आता है जब एक ही गुरु को सब कुछ समझ लिया जाता है, तब वह निम्नकोटि की वस्तु और विकृतियाँ उपस्थित करने वाली चीज बन जाती है। इसके अनेक गुरुओं से ज्ञान ग्रहण करना उचित है। "ज्ञानिनः" बहुवचनान्त शब्द प्रयोग का प्राचीन आशय भी ऐसा ही लगता है।

अनेकानेक—धन्यवाद

डा० श्री के० एन० उडुप्पा

[अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् तथा चिकित्सा और योग के विशेषज्ञ डाक्टर श्री के० एन० उडुप्पा महोदय ने प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार दिये ।]

योग शिक्षा के प्रत्यक्ष लाभ क्या हैं ?

मानसिक और शारीरिक दुःख या असन्तुलन को ठीक करने में योग से बहुत मदद मिलती है।

क्या योग पर रुचि रखने वालों को ईश्वर पर विश्वास लाना आवश्यक है ?

हां, पतंजलि ने योग सूत्र में नियम की व्याख्या में नियम का अन्तिम भेद ईश्वर-प्रणिधान कहा है। सिद्ध है कि योग के दूसरे अंग में ही उसकी अनिवार्यता घोषित हो गई है। ईश्वर विश्वास के बिना योग की कोई कल्पना नहीं हो सकती। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है—ईश्वर से प्रार्थना करना।

क्या योग से जीवन दृष्टि में परिवर्तन आता है ?

बिलकुल, बहुत बड़ा परिवर्तन होता है। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि शुरू-शुरु में मन में तरह-तरह का तनाव आता था, चिन्ताएँ होती थीं, क्रोध आता था। परन्तु जब से मैंने दैनिक योगाभ्यास प्रारंभ किया तब से ये सब बातें बहुत कम हो गई। इससे समस्याओं के समाधान का तरीका मिलने लगा और जटिलताओं में आसानी होती गई। खासकर मानसिक शक्ति में आनन्ददायक सन्तुलन बना।

योग को आप भारत की ही देन मानते हैं या आपकी दृष्टि में योग पर भी विदेशी प्रभाव है ?

सारी दुनियां योग को भारत की ही देन मानती है। यह यहाँ २५००, ३०००, वर्ष पहिले से प्रचारित हुआ, जब दुनियां के दूसरे लोग जंगली जीवन जी रहे थे।

दैनिक जीवन में योग को अपनाना क्या पुरातन सन्ध्या-वन्दनादि से गतार्थ नहीं है ?

सन्ध्या वन्दनादि जप योग मात्र है, परन्तु योग तो अष्टांग है, वह एक अंग मात्र कहा जा सकता है और उससे योग के अन्य अंगों की ओर रुचि जागृत होती है।

क्या योग प्रशिक्षण के लिए कुछ वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग होता है ?

योग के लाभालाभ को जानने के लिए यन्त्र हैं। अमेरिका में एक यन्त्र है बायोफीड बैक आपरेटस, इससे कितना लाभ हुआ यह दिखाई दे जाता है। हम उसे शीघ्र ही यहाँ भी लायेंगे।

सामान्य जन जीवन को प्रभावित करने तथा उन्नत बनाने में योग की क्या भूमिका हो सकती है ?

इसके लिए योग बहुत जरूरी है। भारत विकासोन्मुख देश है, सामान्य जनों की आर्थिक दुर्बलता विख्यात है। ऐसे साधनों का अन्वेषण आवश्यक है जो बिना व्यय के सुलभ हों। प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि—"रोग की चिकित्सा से रोग की उत्पत्ति को ही रोकना कहीं अच्छा है।" वह उपाय हो जिससे इलाज की आवश्यकता न रह जाय। योग बिना खर्च के कोई भी कर सकता है और स्वास्थ्य ठीक रख सकता है। सभी लोग योग के द्वारा मानसिक और शारीरिक क्षमता बढ़ा सकते हैं। इसकी प्रैक्टिस बचपन से आवश्यक है। आहारादि का इससे स्वतः नियन्त्रण होता है। यह सरकार और जनता दोनों के द्वारा होना चाहिए, केवल चर्चाओं में नहीं, अभ्यास में।

योग पर बढ़ रही प्राच्य पाश्चात्य चर्चाओं से क्या योग का प्रयोजन पूरा हो रहा है, क्या उसका रूप व्यावसायिक हो रहा है ?

केवल प्रीचिंग् या भाषण, चर्चाएँ योग में कोई महत्त्व नहीं रखतीं। अनेक प्रकार से इस पर प्रैक्टिस होनी चाहिए। स्कूलों, कॉलिजों, अस्पतालों, व्यायामशालाओं, जेलों आदि सार्वजनिक स्थलों पर योगाभ्यास के तरीके बताये जाने चाहिए, जिससे सभी सीख कर लाभान्वित हो सकें।

अनेक धन्यवाद

श्रीमान् रघुनाथसिंह जी

योग शिक्षा के प्रत्यक्ष लाभ क्या हैं ?

योग शिक्षा पुस्तकों से नहीं होती, उसका व्यावहारिक ज्ञान आवश्यक है। सद्गुरु या योग्य प्रशिक्षक के बिना शरीर पर उलटा असर पड़ता देखा गया है। यदि भस्त्रा प्राणायाम का गुरुनिर्देश पुरस्सर व्यावहारिक ज्ञान नहीं और उस ओर कोई लगा तो कहीं जरा भी गड़बड़ उसे बहरा बना देगी। ऐसी ही बात उज्जाई, सूर्यभेदी आदि योग साधनों के विषय में भी है।

क्या योग में रुचि रखने वालों को ईश्वर पर विश्वास लाना आवश्यक है ?

कोई आवश्यक नहीं। इस संसार की जनगणना में चालीस प्रतिशत मनुष्य ईश्वर विश्वासी नहीं हैं, परन्तु उनमें से बहुत से योग पर विश्वास रखते हैं। ऐसा भी नहीं है कि ईश्वर विश्वासी अमर हो जाता हो और बाकी सब मरने वाले हों। मरते दोनों हैं। इसी प्रकार योग से भी दोनों लाभान्वित होंगे।

क्या योग से जीवन दृष्टि में परिवर्तन आता है ?

हाँ, योग से जीवन दृष्टि में यह होता है कि स्थिरता, शान्ति, आत्म विश्वास, विकट से विकट परिस्थिति में धैर्य-भाव में अवस्थिति आदि अद्भुत बातें जीवन को धन्य बनाती हुई भीतर से प्रकट होती लगने लगती हैं। वे भीतर ही हैं, उनके विरोधी भावों ने उन्हें ढँक कर जीवन को अस्थिर, अशान्त अनात्मविश्वासी और अधीर बनाकर कष्टमय कर दिया है। योगाभ्यास इन परतों को हटा देता है और भीतरी अलौकिक तत्त्वों की प्रभा जगमगा उठती है। वही वास्तविक जीवन दृष्टि है।

योग को आप केवल भारत की ही देन मानते हैं या आप की दृष्टि में योग पर भी विदेशी प्रभाव है ?

योग किसी देश विशेष की वस्तु नहीं है। जैसे ज्योतिष किसी देश विशेष की वस्तु नहीं है। ईजिप्ट तथा चीन में अति प्राचीन योग मुद्राओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। पतञ्जलि ने कोई योग का प्रारंभ नहीं किया अपितु उनसे भी प्राचीन योग-विचारों को लिपिबद्ध किया। यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है और इसके लिए दैनिक अभ्यास पहिली शर्त है। इसमें पढ़ने लिखने का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। यह किसी धर्म विशेष की भी थाती नहीं है। मुसलिम सम्प्रदाय में अनेक सिद्ध योगी हुए हैं जिन्हें 'फकीर' कहा गया है। सूफी सम्प्रदाय योग को प्रधान आधार बनाता है। कबीर ने हिन्दू तथा मुस्लिम योग पद्धतियों का मिश्रण किया था अपनी पद्धति में। यह बात संसार के अन्य प्राचीन धर्मानुगामियों के लिए भी है।

क्या योग प्रशिक्षण के लिए कुछ वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग होता है ?

कोई आवश्यक नहीं, शरीर ही योग प्रशिक्षण की सबसे विशाल यन्त्रशाला है जिसमें अनन्त उपकरण विद्यमान हैं, उन्हीं से उपयोग लेने की प्रक्रिया योग है। कुण्डलिनी योग का प्रधान उपकरण है। उसके जागरण का महान् प्रयत्न योग द्वारा होता है।

सामान्य जन जीवन को प्रभावित करने तथा उन्नत बनाने में भविष्य में योग की क्या भूमिका हो सकती है ?

योग मनुष्य शरीर को स्वस्थ रखता है, यदि शरीर स्वस्थ नहीं तो कोई भी क्रिया, पठन पाठन आदि का सुचारु रूप से संपादन संभव नहीं रहेगा। उदाहरणार्थ आसन का फल शरीर में लचीलापन बढ़ाना है, प्राणायाम से शरीर में हल्कापन आता है, ठीक से वायु संचार होता है। इसलिए प्रत्येक पुरुष को स्वस्थ रहते हुए जीवन साफल्य की ओर बढ़ाने के लिए योग की भूमिका सार्वदेशिक और सार्वकालिक है।

योग पर बढ़ती हुई प्राच्य पाश्चात्य चर्चाओं के क्या योग का प्रयोजन पूरा हो रहा है ? क्या इससे योग का स्वरूप व्यावसायिक नहीं हो रहा है ?

चर्चाओं के द्वारा योग के प्रथम चार अंगों पर ध्यान जा रहा है, यम नियम, आसन और प्राणायाम। इन्हीं की अनेकानेक विधियाँ प्रचारित हो रही हैं। परन्तु प्रत्याहार

ध्यान, धारणा, समाधि जो योग का उत्तरार्ध या वास्तविक योग है उस ओर कोई पादन्यास इस प्रकार की चर्चाओं से न कभी संभव हुआ है न होगा।

इस समय भारत में बहुत से व्यावसायिक योगी प्रकट हो गए हैं, कुछ प्रकट होकर तिरोहित भी हुए हैं। यह सारा योग का नाटक या व्यवसाय है। यह भी चलेगा ही। परन्तु योगी की असली पहिचान यह है कि वह भीड़ से भागता है। वह अधिक से अधिक एकान्त सेवी है। वह अपनी बाह्य वृत्तियों को कछुए की गर्दन की तरह भीतर सिकोड़े रहता है और अपने भीतर ही भीतर अधिकाधिक विचरण करता हुआ रहस्यों के नजदीक पहुँचता रहता है। समाज में आने की इच्छा नहीं करता, प्रतिष्ठा को शूकरी विष्ठा के समान समझता है। आजकल तो ज्योतिष के चमत्कारों की तरह योग के चमत्कारों के विज्ञापनों से पत्रिकाएँ भरी रहती हैं। परन्तु इतना अवश्य है, लम्बी दासता के बाद अपनी पुरानी लुप्त बातों के मार्गों को प्रायोगिक रूप में पुनः प्राप्त करने के लिए चर्चाएँ महत्त्वपूर्ण माध्यम बनती हैं, उनसे उस ओर ध्यान खिंचता है। परन्तु व्यवसाय के कारण योग का रूप विकृत भी हो रहा है। शासन और जनता दोनों ओर से सत्प्रयास आवश्यक है।

श्री कालीशंकर त्रिपाठी

(डी. आई. जी. पी. ए. सी. वाराणसी)

योग शिक्षा के प्रत्यक्ष लाभ क्या हैं ?

वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की शरीर संरचनाओं में संतुलन और क्रियाशीलता प्रदान करना योग का प्रत्यक्ष लाभ है। शरीर और स्थूल इन्द्रियाँ वाह्य अंश हैं शरीर के, उन्हें प्राणायाम आदि के द्वारा अपरिमित वल प्राप्त होता है तथा भीतर की चार वस्तुएँ हैं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, उन्हें आगे के योगों से शक्ति और स्फूर्ति मिलती रहती है। योग का सहारा पाकर ये सभी अधिक क्रियाशील हो जाते हैं। मानव के आभ्यन्तर और वाह्य पूर्ण विकास के लिए योग प्रशिक्षण आवश्यक हो जाता है। कसरत आदि से योगाभ्यास कहीं अधिक लाभ दायक है।

आजकल वाहरी आसन आदि को ही संपूर्ण योग समझने की भ्रान्ति फैलती देखी जा रही है। यदि यही योग होता तो पतले से तार पर जमीन से काफी ऊपर चलने का प्रदर्शन दिखाने वाले तथा ऐसे कितने ही आश्चर्यजनक दृश्य दिखाने वाले लोग परमयोगी माने जाते। इससे स्पष्ट है कि योग उसे ही कहा जायगा जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को भी साथ रक्खे और इन्हें असीम की ओर आगे ले चले।

क्या योग में रुचि रखने वालों को ईश्वर पर विश्वास लाना आवश्यक है ?

इसकी कोई आवश्यकता नहीं है यदि योग में रुचि हो। ईश्वर की चर्चा तो वैष्णव युग से अधिक बढ़ी है। विशाल वैदिक साहित्य में 'तत्त्वमसि' 'रसो वैसः' ऐसे छोटे-छोटे वाक्यों में ईश्वर का संकेत भर है। वह अनुभवों में रमने रमाने की वस्तु है, चर्चाओं की नहीं। परन्तु वैष्णवों ने ईश्वर की इस कमी को पूरा किया। पतंजलि ने भी योग सूत्र में २,३ छोटे-छोटे वाक्यों में उसकी चर्चा भर की है। ईश्वर का आश्रय इस माने में अच्छा है कि यदि वह न हो तो अहंकार ही आश्रय वन जायगा और यह कदम रावणत्व की ओर उन्मुख हो उठेगा।

क्या योग से जीवन दृष्टि में परिवर्तन आता है ?

चार घंटे नित्य योगाभ्यास से जीवन दृष्टि वदलती हैं। रामकृष्ण परमहंस ३ घंटा नित्य योगाभ्यास करते थे। सामान्य रूप से बुद्धि (Brain) का ८ या १० प्रतिशत ही काम में लाया जाता है तथा वाकी का बुद्धि अंश निष्क्रिय पड़ा रहता है। १५ प्रतिशत से २५ प्रतिशत तक जिसका Brain power क्रियाशील हो उसे हम जीनियस कहने लगते हैं और प्रतिशत जव इससे अधिक चला जाता है तो वह महापुरुष कोटि है। योग कहता है कि बुद्धि का शत-प्रतिशत उपयोग किया जा सकता है। विवेक वृद्धि, सूक्ष्म दृष्टि, सत्य के नजदीक पहुँचने की क्षमता में वृद्धि, शरीर प्रधानता की कमी और अन्ततः अभाव, अन्ततः यूनिवर्सल से एकाकार होकर अपने सही स्वरूप की उपलब्धि करा देना, आसुरी दुर्गुणों की कमी हो जाना, ये सब जीवन की दृष्टि को बदलना योग के द्वारा ही संभव होता है।

योग को आप केवल भारत की ही देन मानते हैं, या आपकी दृष्टि में योग पर भी विदेशी प्रभाव है।

योग विद्या विशुद्ध रूप से भारत का ही आविष्कार है। यहीं से यह सर्वत्र फैली है। यह वैदिक काल से ही व्याख्यात होती आ रही है, ज्ञात इतिहास वहीं तक जाता

हैं। विश्व के बड़े धर्म क्रिश्चियैनिटी में समर्पण, प्रार्थना, सेवा आदि पर तो बहुत अधिक बल दिया जाता है, परन्तु योग जैसी कोई पद्धति वहाँ नहीं है। कुरान योग की दृष्टि से बाइबिल से आगे है, वहाँ अनेक योग से मिलते-जुलते नियम भी हैं और नमाज आदि विशिष्ट क्रियाएँ भी हैं। परन्तु योग का सिलसिलेवार रूप वहाँ भी नहीं है। योग की पद्धति कहीं अन्यत्र नहीं बन पाई।

दैनिक जीवन में योग को अपनाना क्या पुरातन संध्या वन्दन आदि के द्वारा गतार्थ नहीं है ?

ये ऐसे नियम थे जिनसे हमें योग की ओर अग्रसर होने में सहायता मिलती थी। परन्तु नियम जब जड़ हो जाते हैं, लक्ष्य से हट जाते हैं तो हानिकारक हो जाते हैं। सन्ध्या के समय अक्सर एक क्षण के लिए नाक पकड़ लेने तक प्राणायाम सीमित होता देखा जा रहा है। बीस प्राणायाम विधि पूर्वक होने पर उसका प्रभाव प्रारंभ होता है। शिवसंहिता में १०८ प्राणायाम तक प्रतिदिन करने को कहा गया है। जैसे-जैसे आयु बढ़े वैसे-वैसे प्राणायाम बढ़ाते जाना चाहिए। प्राणायाम में मेरुदण्ड सीधा होना आवश्यक है, शौकिया प्राणायाम करने वाले तो लेटे-लेटे प्राणायाम करने लगे हैं। पद्मासन प्राणायाम के लिए सर्वश्रेष्ठ आसन है। प्राणायाम के साथ उड्यान होना बहुत आवश्यक है, जिसमें मूलबन्ध आदि को ऊपर की ओर खींचा जाता है। इसके बिना पूरा दबाव पीठ पर पड़ता है और छाती में चुभन का अनुभव होने लगता है। इसका अनुभव मैंने किया है। प्राणायाम की मात्रा बढ़ाने से आत्मा में स्थिरता, समर्पण तथा भक्ति का प्रादुर्भाव स्वतः होता है।

क्या योग प्रशिक्षण के लिए कुछ वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग होता है ?

योग के प्रभावों को नापने के लिए यन्त्रों का प्रयोग होता है और ऐसे भी कुछ यन्त्रों पर काम हो रहा है जिनके प्रयोग से तापमान नार्मल होकर उनके प्रभाव से कुण्डलिनी सहस्रार की ओर चल पड़े। परन्तु अभी वह सामने नहीं आया। परन्तु शरीर के तापमान को योग के अनुरूप उचित मात्रा में रखने के लिए तो वे ही यन्त्र हैं जो अन्य कार्य के लिए उपलब्ध हैं। तिब्बत क्षेत्र में ऐसे अनेक धातुओं के प्रयोगों का पता था जिनसे आध्यात्मिक क्षेत्र में पर्याप्त सहायता मिलती थी, परन्तु सार्वजनिक प्रयोग उनका नहीं था। तिब्बत ने भौतिक जीवन की उपेक्षा की। केवल आत्मा की बातें जहाँ की जायँगी और भौतिक जीवन को नकारा जायगा वहाँ राक्षस पैदा हो जायँगे।

सामान्य जन-जीवन को प्रभावित करने तथा उन्नत बनाने में योग की क्या भूमिका हो सकती है ?

योगाभ्यास से अपनी शक्तियों का पूर्ण उपयोग होगा, ब्रेनसेल्स एक्टिव होंगे, समस्त चराचर की सञ्चालक शक्ति, पावर हाउस से सम्बन्ध होने पर जीवन की पूर्ण सफलता होगी। यही कामना रहती है सबकी, यही इससे होता है। युक्त आहार होना चाहिए। एक ही बार जमकर भोजन करने से पेट में भारीपन आता है, अतः चिड़िया की तरह अनेक बार थोड़ा-थोड़ा आहार लेते रहना उचित है, जिससे पेट पर कभी दबाव न हो। इस प्रक्रिया से क्षमताओं में वृद्धि होगी।

योग पर बढ़ती हुई चर्चाओं से क्या योग का प्रयोजन पूरा हो रहा है, क्या इससे योग का रूप व्यावसायिक हो रहा है।

चर्चाओं से विषय पर ध्यान आकृष्ट होता ही है। परन्तु 'अतिसर्वत्र वर्जयेत्' वाली बात तो है ही। उससे विकृति आती है। परन्तु यह तो हमेशा से ही हुआ है। अच्छे परिणामों के साथ बुरे परिणामों से सर्वथा बचा नहीं जा सकता। केवल चर्चा लाभदायक सिद्ध नही हो सकती, क्योंकि यह तो क्रिया गत विषय है।

—अनेक धन्यवाद

आंजनेय का शैशव

[श्री लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी']

पंछी बाँटने लगे प्रमोद-वसना वाणी,
खोलने लगीं निज द्वार दिशाएँ कल्याणी।
कुंकुम बरसाने लगा नील नभ, उल्का-सी
प्राची में उठने लगी प्रभा की आभा-सी॥

अँगड़ाई लेने लगा पुष्प-दल पर सोया,
प्रातः समीर अब भी है कुछ खोया-खोया।
है अंकमाल दे रही शीतिमा धरती को,
उट्ठा पुकार इस बार पपीहा फिर पी को॥

कलकंठ-कंठ में मचली मतवाली भाषा,
नभ में प्रसन्नता तिरी, मनस्सर में आशा।
तम के बाहर झाँकती खड़ी ऊषा रानी,
नीलम पर चढ़ता जाता सोने का पानी॥

नस-नस में नशा उतरता जाता अंबर के,
लगती है शोभा भली बिना आडंबर के।
आधे सरवर का जल मदिराभा में डूबा,
नभ की समता का बाँध रहा सर मनसूबा॥

रजनी के प्रहरी घर को अपने लौट चले,
बिछड़े चकवे के जोड़े मिलने चले गले।
डुबकियाँ लगा मानों जल से ऊपर आते,
गिरियों के सिर दीखने लगे कुछ-कुछ राते॥

ले लिया प्रभा का भार पर्वतों ने सिर पर,
वन्या-प्रवाह अब सूख चला तम का दुर्धर।
नभगंगा में कर स्नान चल पड़ा यात्री-दल,
अपने भवनों की ओर त्वरितगति, दृष्टि-चपल॥

धरती के मुँह पर मूठ मारकर कुंकुम की—
खिलखिला उठा आकाश और धरती चमकी।

निर्झर के स्वर को छीन लिया विहगाली ने,
वन को सज्जित कर दिया किसी वनमाली ने॥

तरु-तरु को है शृंगारा मिलकर फूलों ने,
ले ली कानन से विदा शिशिर के शूलों ने।
जिनके मन जाते नहीं अतीत, अनागत में—
वे फूल सजे सब ओर दृष्टि के स्वागत में॥

धरती करती शृंगार, दिशाएँ सजती थीं,
अनवरत वेणु-वन में बाँसुरियाँ बजती थीं।
सरिताएँ गातीं गीत तरंगित हो-होकर,
पर्वत-सी बाधा दूर हटातीं दे ठोकर॥

धरती ने ऐसा हर्ष न अब तक पाया था,
इस वर्ष जिसे ऋतुराज साथ ले आया था।
निर्भरानन्द गत्वर, तस्थुष दिखलाते थे,
पवमान धरा पर आज अमृत बरसाते थे॥

कर तमोवाहिनी छिन्न शान पर चढ़ा हुआ,
उदयाचल पर बालरवि प्रहर्षित खड़ा हुआ।
करते सूर्योपस्थान चकित विस्मृत-विवेक,
देखा उपर्बुधों ने अनदेखा दृश्य एक॥

कोई नव-तरणि प्रतीची से भर क्षिप्रवेग,
जाता पुराण रवि से मिलने संभृतोद्वेग।
कर पार मेघ-पथ, गरुड़-मार्ग की उड़ा धूल,
वह बढ़ा उर्ध्वगति करता निष्प्रभ पंथ-शूल॥

वह पवनदेश कर पार चरिता ग्रह-प्रदेश,
ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर पहुँच हो गया व्योमकेश।
अब दिवारात्र-शासन से थी मिल गई मुक्ति,
हो गए पृष्ठगत जाग्रत, स्वप्न, ततः सुषुप्ति॥

हो गया दिव्य आलोक-लोक में जब प्रवेश,
करने प्रकाश को ग्रास आ गया राहु शेष।
उसको ही करने ग्रास चले जब प्लवगनंद,
वह वायुवेग से हुआ पलायित मुक्तबंध॥

कर लिया मुखस्थ दिवाकर को शिशु ने सलील,
हो गया सौरमंडल तमसावृत कृष्णनील।
संवाद राहु से पाकर पहुँचे विकल इंद्र,
शिशु पर कर दिया प्रहार उन्होंने मुक्ततंद्र॥

बालक गिरि पर गिरि-सदृश गिर पड़ा गतश्वास,
नर-लीला-नायक गिरिश दिगंबर विश्ववास।
हो गए अचल चल, हुआ सदागति गतिविहीन,
निस्तेज हो गया अनल, अंशुमाली मलीन॥

निर्गंध धरा, आकाश हुआ निश्शब्द शांत,
था तेज रूपहत, सलिल शीत-विरहित नितांत।
निर्मर्यादित हो चले सिंधु-दिग्देश-काल,
विस्फोट हेतु सन्नद्ध शेष का मुखज्वाल॥

विध्वस्त काल का बध, चंद्रमा तमोलीन,
ग्रह-तारों का अस्तित्व हुआ संशयाधीन।
संहार फूँकने को प्रस्तुत घन-प्रलय शंख,
खुल चले अचानक महारात्रि के कृष्ण पंख॥

कोलाहल मचा अजस्र देवगण में अपार,
कर गया इंद्र को पंगु स्वयं वज्रप्रहार।
हो अस्त-व्यस्त चतुर्मुख, इंद्र, उपेंद्र साथ,
आ पहुँचे बैठा जहाँ पवन था अश्रु-स्नात॥

निश्चेतन शिशु को लिए अंक में स्तब्ध, शांत,
गिरिवर कंदरा बसाए चिंता-समुद्भ्रांत।
हो सकी न उसको ज्ञात समागत देव-सृष्टि,
नयनों से शिशु-मुख पर करती-सी स्नेह-वृष्टि॥

शिशु के मुख पर अब भी था हँसता-सा प्रकाश,
थे पवन उसे देखते हिचकियों में उदास।
कौशांबु छिड़क कर ब्रह्मा ने ला दिए प्राण,—
शिशु के शरीर में, मिला काल से परित्राण॥

हो गए भूमि पर खड़े पवन का अंक त्याग,
संचरण धरा पर हुआ पवन का गत-विराग।
अंबर हो गया प्रसन्न, धरित्री हुई धन्य,
हो गए कलरवित नगर, सरित, सागर, अरण्य॥

[यह पद्यावली लेखक की अप्रकाशित एवं बहुचर्चित रचना "आंजनेय चरित" महाकाव्य का अंश है——संपादक]

श्री अनंत "श्री" मंडित महामहिमामहिम

स्वामी करपात्री जी महाराज

के

७१वें जन्मदिवस के मंगलमय पुनीत

अवसर पर समर्पित है।

आदरसहित,

सरस्वती मेटल प्रोडक्टस्

कल्याणनगर, जगाधरी।

योगः कर्मसु कौशलम्

[डा० रमाकान्त त्रिपाठी]

भगवद्गीता में योग की परिभाषा के रूप में कहा गया है–'**योगः कर्मसु कौशलम्**' एवम् 'समत्वम् योग उच्यते'। इन दोनों परिभाषाओं में वास्तव में समानता है और वह समानता 'योगः कर्मसु कौशलम्' पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगी।

प्रश्न यह है कि कर्म कौशल पूर्वक करने की क्या आवश्यकता है और वह कौशल क्या है जिसे योग कहा गया है ? सर्वविदित है कि कर्मों का परिणाम पाप-पुण्य होता है और उस पाप-पुण्य को दुःख या सुख रूप में भोगने के लिये जन्म लेना या शरीर धारण करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि '**अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतम् कर्म शुभाशुभम्**'। इसी से कहा गया है कि कर्म से बंधन होता है। यदि कर्मों से बंधन होता है तो बंधन से बचने के लिये क्या अकर्म या कर्मों का बिल्कुल न करना अपेक्षित नहीं है ? यदि कर्म न किया जाय तो वह है तो बहुत अच्छा, मगर शरीरधारी के लिए एक एक क्षण भी बिना कर्म के रहना संभव नहीं है। शरीरधारी का अर्थ यहाँ पर उस जीव से है जिसमें कर्तृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान पाया जाता है। ऐसे जीवों का कर्म से वंचित रहना असंभव है। अतः जीवन्मुक्त पुरुषों को वास्तव में शरीरधारी नहीं कहा जा सकता—उनमें किसी प्रकार का अभिमान नहीं होता। वे कर्म करते हुए भी कोई कर्म नहीं करते। ऐसे ही वे भक्त भी जिन्होंने सर्वथा अपने को भगवान् के प्रति निवेदित या समर्पित कर दिया है शरीरधारी नहीं हैं क्योंकि वे अहंकार शून्य होते हैं। अतः इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के विषय में कोई प्रश्न नहीं उठता। प्रश्न तो उन अहंकारी शरीरधारी जीवों के लिए है जो बंधन से बचना चाहते हैं किंतु कर्महीन नहीं हो पाते। क्या ऐसे जीवों के कल्याण का कोई उपाय है ?

इसी प्रसंग में भगवान् कृष्ण का कहना है कि कर्मों को यदि कौशल पूर्वक किया तो वे बंधन कारक नहीं होते। वह कौशल क्या है ? यहाँ पर पहले हम यह विचार करें कि हम कर्म करते क्यों हैं ? साधारणतया प्रत्येक कर्म के पीछे दो भाव बने रहते हैं—एक तो यह कि मैं कर्त्ता हूँ और दूसरे यह कि मैं भोक्ता हूँ। उदाहरणार्थ अर्जुन के मन में था कि वह राज्य सुख लोभ से स्वजनों को मारने के लिए उद्यत है। अतः जब तक मनुष्य कर्त्तृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान से युक्त होकर कर्म करेगा उसे बंधन अवश्य होगा। किंतु कर्म के लिए तो कर्त्तृत्वाभिमान आवश्यक जान पड़ता है। जब तक हम अपने को कर्त्ता नहीं समझेंगे तब तक कर्म मार्ग पर अग्रसर कैसे होंगे ? किंतु क्या कर्म के लिए भोक्तृत्वाभिमान भी उतना ही आवश्यक है ? ज्ञानमार्गी तो यह कहकर कि आत्मा न कर्त्ता है न भोक्ता है छुट्टी ले लेते हैं, किंतु यह तो उच्चकोटि के अधिकारी का मार्ग है, साधारण व्यक्ति के लिए नहीं। साधारण व्यक्ति तो क्रमशः मार्ग पर अग्रसर होता है। ऐसे व्यक्ति के लिए भगवान् ने कहा है कि यदि कर्त्तृत्वाभिमान नहीं छूटता है तो उसे रहने दो परंतु भोक्तृत्वाभिमान छोड़ कर कर्म करो तो कर्म बंधन कारक नहीं होंगे। यहाँ कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि जैसे कर्त्तृत्वाभिमान बिना कर्म नहीं हो सकते वैसे ही भोगेच्छा बिना भी कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यहाँ लोग दो बातें भूल जाते हैं। एक तो यह कि यदि भोगेच्छा से मुक्ति नहीं है तब तो बंधन से बचने की प्रवृत्ति भी नहीं होगी। बंधन से बचने की इच्छा का अर्थ ही यही है कि मनुष्य संसार में नहीं आना चाहता या संसार सुख भोगना नहीं चाहता। अतः यदि किसी को बंधन से बचने की इच्छा है तो उसका अर्थ यही होगा कि भोगेच्छा से वह कम-से-कम कुछ अंश तक मुक्त है। अतः ऐसा व्यक्ति भोगेच्छा बिना कर्म में प्रवृत्त हो सकता है। दूसरी बात जो लोग भूल जाते हैं वह यह है कि भोगेच्छा के अतिरिक्त भी कर्म में प्रेरित करने वाली अन्य प्रेरणायें भी हैं जैसे कर्म को केवल कर्त्तव्य भावना से करना एक प्रेरणा है, कर्म को भगवद् प्रसन्नता के लिए करना दूसरी प्रेरणा है। अर्थात्

निष्काम कर्म का अर्थ यह नहीं है कि कर्म करने की कोई प्रेरणा ही नहीं होती, बलिक यह है कि भोगेच्छा के अतिरिक्त कर्त्तव्य भावना या ईश्वर-प्रसन्नता कर्म का प्रेरक हो सकती है। बिना प्रेरणा के कर्म नहीं हो सकता यह सही है परंतु यह सही नहीं है कि बिना भोगेच्छा रूपी प्रेरणा के कर्म नहीं हो सकता है। भगवान् ने एक प्रेरणा की जगह दूसरी प्रेरणा का आश्रय लेने को कौशल कहा है क्योंकि इससे कर्म भी होता रहता है और बंधन भी नहीं होता। जहर को इस प्रकार पीना कि मृत्यु न हो, कौशल नहीं तो क्या है ?

अतः कर्म में कौशल जो योग है वह निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म की ओर तब तक प्रवृत्ति नहीं हो सकती जब तक मानव हृदय में यह बात न बैठ जाय कि उसे बंधन से छुटकारा पाना है और बंधन सकाम कर्म करने से होता है। इस प्रकार निष्काम कर्म करने का भी अधिकारी होना पड़ता है। यह मार्ग भी सर्व साधारण के लिए नहीं है, निष्काम कर्म संत का सौदा नहीं है। मुमुक्षु होना नितांत आवश्यक है। बिना मुमुक्षु हुए कोई भी आध्यात्मिक साधन अपनाया नहीं जा सकता।

एक प्रश्न और विचारणीय है। कहा जा सकता है कि निष्काम कर्म करने से भोक्तृत्वाभिमान भले क्षीण हो जाय कर्तृत्वाभिमान तो बना ही रहेगा। बिना कर्त्तृत्वाभिमान के गये मुक्ति कैसे मिलेगी ? बात यह है कि भोगेच्छा या फलासक्ति के क्षीण होने से बुद्धि शुद्ध हो जाती है क्योंकि बुद्धि को भोगेच्छा या काम ही आच्छादित कर उसका ज्ञान हर लेता है (कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः) और बुद्धि ज्ञान के योग्य नहीं रह जाती है। अतः जब काम या फलासक्ति का नाश हो जाता है तब बुद्धि में क्रमशः इस ज्ञान का उदय होता है कि मैं कर्त्ता भी नहीं हूँ। वास्तविक कर्त्ता या तो प्रकृति के गुणों को कहना चाहिये या प्रकृति के प्रेरक जगन्नियंता ईश्वर को। ऐसा ज्ञान होने पर कर्तृत्वाभिमान भी चला जाता है और मुक्ति मिल जाती है। भक्ति मार्ग में प्रारम्भ से ही ईश्वर को ही कर्त्ता मान कर चलना आवश्यक होता है। अतः भक्ति मार्ग में पहले कर्तृत्वाभिमान जाता है और तब भोक्तृत्वाभिमान। इसी से आर्त और अर्थार्थी को भी भक्त कहा गया है। परंतु ज्ञान मार्ग में पहले भोक्तृत्वाभिमान का नाश या वैराग्य आवश्यक होता है और उसके बाद कर्त्तृत्वाभिमान जाता है।

एक बात और। फलासक्ति या भोगेच्छा जाय कैसे ? आदमी सुख की इच्छा से विमुख कैसे हो ? इसके लिए एक ही उपाय है—वह यह है कि सुख को भी दुःख समझा जाय। दुःख सबको त्याज्य है। परंतु सुख को हम त्यागना नहीं चाहते। परंतु यदि सुख भी दुःख रूप दीखेगा तो वह भी त्याज्य होगा। परंतु सुख को दुःख रूप से कैसे देखा जाय ? यह तभी संभव होता है जब हम सुख को दुःख योनि या दुःख का कारण समझें अर्थात् सुख और दुःख को समान समझा जाय—दोनों हेय हैं। (सर्वं दुःखं विवेकिनः) दुःख-सुख की समानता को भी समत्व कहा जा सकता है। लेकिन गीता में समत्व का अर्थ है द्वन्द्वों में समान रूप से स्थिर रहना—न दुःख से क्षोभ न सुख से प्रसन्नता। इस प्रकार का समत्व तभी आता है जब मन में भोगेच्छा का अभाव होता है, तभी निष्काम कर्म हो पाता है। इसी से दोनों परिभाषाओं का परस्पर संबंध है। बल्कि इस प्रकार कहा जा सकता है कि समत्व बुद्धि के साथ कर्म करना ही कर्मों को कौशल पूर्वक करना कहा जाता है। वही योग है, उसी से मुक्ति मिलती है।

गीता का समन्वय-योग

[श्री कलानाथ शास्त्री]

भारतीय वाङ्मय में दार्शनिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट प्रतीक के रूप में उपनिषदों का जो महत्व है उसका पूरा प्रतिबिम्ब गीता में मिलता है। इसीलिए, यद्यपि गीता को पूरी तरह उपनिषदों की संख्या में शामिल नहीं किया जाता किन्तु, उसका दार्शनिक पक्ष समस्त उपनिषदों के निष्कर्ष और सार के रूप में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। उपनिषदों की शृंखला में अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ के रूप में गीता के अवदान "योग" के बारे में यहाँ चर्चा करना युक्तिसंगत होगा।

जिस समय वेदों के तार्किक और वैज्ञानिक चिन्तन तथा कर्मकाण्ड के प्रभुत्व के बाद आध्यात्मिक चिन्तन का युग शुरू हुआ तो उपनिषदों ने सारे सृष्टि प्रपंच के पीछे एक आध्यात्मिक रहस्यमय सत्ता का चिन्तन शुरू किया। सारे दृश्य जगत् के मूल में जो परम सत्ता है उसका विवेचन कर उसे 'ब्रह्म' का नाम दिया गया। वेदों के 'कर्मवाद' के बाद उपनिषदों का यह 'ज्ञानवाद' विश्व में इतना विख्यात हुआ कि सारे चिन्तक जगत् में ब्रह्म की धूम मच गई। वेदों से भी अधिक वेदान्त के अध्यात्म का प्रभाव विश्व पर पड़ा। वेदों और वेदान्तों के समस्त चिन्तन और जीवनदर्शन की अनेक धाराएँ थीं, अनेक स्थापनाएँ और दार्शनिक शाखाएँ चल रही थीं। इन सबका सारोद्धार और समन्वय आवश्यक लग रहा था। उसी समय घोर आंगिरस ने सबका समन्वय करके एक ऐसे जीवनदर्शन की अवतारणा करना चाहा जो व्यावहारिक रूप से सबके लिए सुबोध और अनुसरणीय हो। इस जीवनदर्शन को द्वैपायन कृष्ण ने महाभारत के युद्ध में कृष्ण के मुख से अर्जुन को कहलवाया। उन दिनों उपनिषदों का जो महत्व था उसे देखते हुए इस गीता को इसीलिए 'भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाम् योगशास्त्रे' (प्रत्येक अध्याय में) कहा गया है। अर्थात्—कृष्ण ने सारी उपनिषदों और ब्रह्म विद्या का सार 'योगशास्त्र' के रूप में कह दिया। यह योगशास्त्र क्या है? समस्त चिन्तन पद्धतियों जिनमें कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और भक्तिमार्ग तीनों आ जाते हैं, का समन्वय ही कृष्ण का योगशास्त्र है।

इस प्रकार सारी उपनिषदों का चिन्तन गीता में समाहित है। इस प्रतीक को बहुत छोटे रूप में इस एक श्लोक में बताया गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

सारी उपनिषदें गायें हैं। उनका सार कृष्ण ने दुह लिया। जो बहुत अर्से तक गाय चराता रहा उससे अच्छा दुहनेवाला भला कौन हो सकता है? एक अच्छे ग्वाले की तरह उन्होंने पहले का दूध अर्जुन को पिलाया और बाद के दूध से सारे ज्ञानी लाभान्वित हो रहे हैं। कृष्ण इसीलिए जगद्गुरु हैं। उन्होंने कोई नया पंथ नहीं चलाया, सारे पंथों का समन्वय करके रख दिया। इसीलिए यह गीता एक ऐसा समुद्र है जिसमें जो कोई, जो चाहता है, पा लेता है। इसमें से भक्ति के आचार्यों ने भक्तिमार्ग पाया, तिलक ने कर्मयोग पाया, अरविन्द ने ज्ञान-योग पाया और गांधीजी ने अनासक्ति और अहिंसा का संदेश। इसमें भक्ति भी है, शरणागति भी है, कर्मयोग भी है और सच्चे अर्थों में जीने की कला भी सिखायी गई है। दर्शन की व्यावहारिक जीवन में अवतारणा ही गीता का योग है।

कर्मयोग : —यही कारण है कि गीता के उपदेश आज ही नहीं प्रत्येक देश और प्रत्येक समय में खरे उतरते हैं। गीता का सबसे बड़ा संदेश कर्मयोग माना जाता है। ऐसा लगता है कि उस समय सांख्य योग अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग अर्थात् निरन्तर जीवन संघर्ष में प्रवृत्त रहना, इन दोनों में जो द्वैत था उसका समन्वय गीता ने करना चाहा।

कुछ लोग संसार से विमुख होकर एकान्त में ज्ञान की उपासना करने लगे थे। तभी गीता को कहना पड़ा—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

संन्यास मात्र से सिद्धि हो जायेगी, यह बात गलत है। कर्मों से मनुष्य बन्धन में लिप्त होता है, इसलिए कर्म ही नहीं करना चाहिये, यह सिद्धान्त भी गलत है। वेदोक्त सांख्य योग और वेदान्त के कर्म-बन्धन के सिद्धान्त ने समाज में निष्क्रियता ला दी थी। उसके विपरीत कर्मठता का यह संदेश गीता की सबसे बड़ी देन है।

संन्यासः कर्मयोगश्च निश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं किन्तु इनमें से कर्मयोग श्रेष्ठतर है। इस कर्मयोग का विवेचन गीता में बहुत विशद रूप से किया गया है जिसका यह वाक्य तो विश्वप्रसिद्ध हो गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

जो लोग किसी फल की इच्छा से कर्म करते रहते हैं वे जीने की कला नहीं जानते क्योंकि यदि उन्हें वह फल नहीं मिलता है तो वे कुंठित हो जाते हैं और जीवन संग्राम से विरत हो जाते हैं। सही दृष्टिकोण यह है कि बिना फल की इच्छा के काम में लगे रहना चाहिये। किन्तु कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसका विवेक बहुत आवश्यक है। इस प्रकार एक सामान्य नागरिक को गीता जहाँ कर्मठता की शिक्षा देती है वहाँ बुद्धिजीवियों को वह संपूर्ण भारतीय दार्शनिक चिन्तन का सार बतलाते हुए तत्व चिन्तन और ज्ञान समुद्र के अवगाहन का संदेश भी देती है।

'नहि ज्ञानेन सदृशम् पवित्रमिह विद्यते'

भक्तियोग : —यह गीता का घण्टाघोष है। विद्वानों का मानना है कि गीता के १८ अध्यायों में से पहले ६ कर्मयोग के, दूसरे ६ भक्तियोग के और तीसरे ६ ज्ञानयोग के प्रतिपादक हैं। जिन नागरिकों को कर्म और ज्ञान दोनों भारी पड़ते हैं उनके लिए सीधा-सा मार्ग भक्ति बतलाया गया है। जीवन के संघर्ष में 'किंकर्तव्य विमूढ़' हो जाने पर एक निःसहाय व्यक्ति को जब और कोई सहारा नहीं मिलता तो किसी आराध्य के प्रति समर्पित होकर उसकी प्रसन्नता के लिए कर्म करने का सिद्धान्त उसे जीवनशक्ति दे सकता है। भक्ति और शरणागति के सिद्धान्त इसी कारण मध्यकाल में इस देश में बहुत लोकप्रिय हुए। आज भी इस देश के लाखों लोग किसी न किसी आराध्य को सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर अपने आप को धन्य मानते हैं। भक्ति की यह धारा अपेक्षाकृत अर्वाचीन मानी जाती है। इसीलिए कुछ विद्वान् गीता को भी अर्वाचीन मानते हैं। भक्ति मार्ग के प्रवर्तक सभी आचार्यों ने गीता को भक्ति का प्रतिपादक शास्त्र मानकर उस पर अपने-अपने भाष्य लिखे हैं। इसके दो श्लोक भक्तों के लिए वेदवाक्य के समान हैं :—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

यदि तुम्हें धर्म के विविध पंथों से किंकर्तव्यविमूढ़ता हो रही हो तो सभी को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ। उससे तुम्हें कोई पाप नहीं लगेगा। भक्ति का मूल सिद्धान्त यह है कि तुम्हारा आराध्य अत्यंत दयालु और पिता की तरह स्नेह करने वाला है। जीवन में जो कुछ भी होता है, सब उसका किया हुआ है। तुम्हारा भला वही सोचता है, वह कभी बुरा नहीं करेगा। इस धारणा से न जाने कितने लाखों व्यक्तियों को सम्बल मिला है। 'जो मेरा अनन्य भक्त है उनका योगक्षेम मैं ही चलाता हूँ—' यह वाक्य भक्तों का कण्ठहार बन गया है :—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

कट्टर धार्मिकों ने अनेक बार ऐसी धाराएँ भी चलाई थीं जिनके अनुसार तथाकथित धर्म के विपरीत आचरण करने वाले लोगों को पतित, बहिष्कृत और पापी करार दिया जाता था। स्त्रियों, शूद्रों और नीचे तबके के अनेक व्यक्तियों को नीची दृष्टि से भी देखा जाने लगा था। इस प्रकार की सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध गीता ने आवाज उठाई। कृष्ण ने कहा है कि एक बार पाप करके पतित कहलाने वाला व्यक्ति भी यदि सच्चे मन से पश्चात्ताप करे और मेरी शरण में आ जाय तो मैं उसे शान्ति देता हूँ और अच्छी गति देता हूँ।

धर्म और आचार के मार्गों ने समाज में जो वर्गभेद की धारा बहायी उसे भक्ति मार्ग ने फिर एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के चिन्ह भी गीता में स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

व्यावहारिक जीवनदर्शन :—भारतीय दर्शन की एक उपलब्धि है आत्मा के अविनाशी, शाश्वत और नित्य होने का सिद्धान्त तथा शरीर के नश्वर और क्षण-भंगुर होने पर भी एक अविनाशी परम सत्ता की धारणा। गीता ने इस सिद्धान्त को बहुत सरल शब्दों में समझाया है। शरीर में व्याधि भी होती है, बुढ़ापा भी आता है और मृत्यु भी। यह सांसारिक शाश्वत चक्र है। शरीर बदलता रहता है, आत्मा अमर रहती है। जैसे हम पुराना कपड़ा छोड़कर नया कपड़ा बदलते हैं वैसे ही एक शरीर छोड़कर आदमी दूसरा शरीर धारण करता है :—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि
संयाति नवानि देही।

इस प्रकार के उपदेशों से सैकड़ों वर्षों से विपत्ति में मनुष्य को धीरज बंधाया जाता रहा है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गीता में केवल परमार्थ की बातें ही समझाई गई हैं। इसमें दैनिक जीवन के व्यवहार के भी ऐसे अनेक अमूल्य उपदेश हैं जो सम्यक् जीवन के लिए शाश्वत प्रेरणा दे सकते हैं। यहाँ तक कि किस प्रकार का अन्न खाना चाहिये, किस प्रकार के भोजन से कैसी बुद्धि उपजती है, लोगों से व्यवहार करते समय कैसी भाषा बोलनी चाहिये, यह सब भी सरल शब्दों में बतलाया गया है। केवल पहाड़ की गुफा में बैठकर ही तपस्या नहीं की जाती बल्कि जीवन में तन-मन और वाणी से भी तपस्या की जाती है। किसी को पीड़ा न पहुँचे, इसका ध्यान रखते हुए सत्य और प्रिय वाणी बोलना और ज्ञानियों के वाक्य का आधार लेकर बोलना, वाणी का तप बतलाया गया है। मन में सदा शांति और सफाई रखना, कम बोलना और किसी के प्रति दुर्भाव न रखना मानस-तप बतलाया गया है। इस प्रकार के अनेक तप, जीवन में व्यावहारिक मार्गदर्शन करते हैं। यही व्यावहारिक मध्यम मार्ग गीता का योगशास्त्र है। सार्वजनिक कार्यों में लगे नेताओं के लिए भी गीता में बहुमूल्य संदेश हैं। सार्वजनिक नेताओं के आचरण में स्वच्छता की आवश्यकता गीता ने स्पष्ट बतलाई है और ऐसे आचरण को ही सार्वजनिक क्षेत्र में सफल माना है जिसकी ओर लोग उँगली न उठा सकें। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस समय गीता का प्रणयन हुआ था उस समय तक जो भी चिन्तन धाराएँ और ज्ञान-सामग्री इस देश में विद्यमान थी उन सबका सार गीता में इस ढंग से उतार कर रख दिया गया है कि वह जीवन के व्यवहार में उपयोगी हो सके और जिज्ञासु को सभी दार्शनिक धाराओं का परिचय सरलता से प्राप्त हो सके। यही कारण है कि गीता को सारे उपनिषदों और ब्रह्म सूत्र के समकक्ष रखकर विद्वानों ने इसे बहुत बड़ा आदर दिया है। यद्यपि यह एक पुराने (महाभारत) का एक हिस्सा है फिर भी इसका नाम प्रस्थानत्रयी में आता है, अर्थात् भारतीय दर्शन के तीन आधार स्तम्भ माने गये हैं—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता। इसका कारण यही है कि वेदों के कर्मवाद, उपनिषदों के ज्ञानवाद और परवर्ती भक्तिवाद तीनों को समाज के व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार उतारा जाय इसका समन्वय कर गीताने इस अनुवचन (अनुवाक) को योगशास्त्र का नाम दिया। ब्रह्म विद्या और सांख्ययोग का अनुशीलन करके भी योगी निष्काम कर्म द्वारा ही सच्ची सिद्धि प्राप्त कर सकता है, यह समन्वय योग गीता की एक अनूठी देन है। विभिन्न चिन्तन-धाराओं का यह 'योजन' (युजिर् योगे) गीता के महत्त्व की प्रमुख आधार भित्ति है।

सांख्य और योग

[श्री सन्तशरण वेदान्ती]

महाभारत में सांख्य और योग का उपयोग एक ही पूर्ण इकाई के दो पूरक अंशों के रूप में किया गया है और ये क्रमशः दर्शन तथा धर्म के प्रतीक हैं। प्रारम्भिक ग्रन्थों में योग के सिद्धान्त सांख्य के विचारों के साथ ही मिलते हैं। योग दर्शन भगवान् पतंजलि मुनि कृत है और सांख्य भगवान् कपिल मुनि कृत है। योग दर्शन में प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्र, एकादश इन्द्रिय, पंचमहाभूत, पुरुष ईश्वर के भेद से छब्बीस पदार्थ माने जाते हैं। सांख्य में ईश्वर स्वीकृत नहीं, अतः उनके मत में पच्चीस ही पदार्थ हैं। दोनों के मत में पुरुष अर्थात् जीवात्मा भोक्ता है; कर्ता नही और प्रकृति कर्त्री है भोक्त्री नहीं। यद्यपि सुख दुःख साक्षात्कार रूप भोग महत्तत्व बुद्धि में है, अपरिणामी पुरुष में नहीं, तथापि पुरुष अविवेक से बुद्धि को अपना स्वरूप मानता है। जैसे जवा कुसुमगत रक्तिमा स्फटिक में भासती है, वैसे ही बुद्धिगत क्लेशादि तथा सुख दुःख भोग पुरुष में कल्पना से प्रतीत होते हैं, वास्तविक नहीं। अतएव पुरुष भोक्ता माना जाता है, स्वरूप से नहीं।

योग दर्शन के अनुसार शुद्ध चेतन भाया संज्ञक विशुद्ध सत्व स्वरूप चित्त रूप उपाधि को धारण करने से ईश्वर कहा जाता है और वही संसार तथा वेद का निर्माण करता है। अतः सर्वज्ञ तथा यथार्थ वक्ता ईश्वर निर्मित वेद होने से सत्य अर्थ का बोधक वेद सर्वथा प्रमाण है। सांख्य मताव-लम्वी ईश्वर को नहीं मानते हैं और कहते हैं कि **'स सर्वज्ञः सर्वज्ञवित् स हि सर्ववित् सर्वस्य कर्ता'** इत्यादि श्रुतियों में जो सर्वज्ञ तथा सर्वकर्ता प्रतिपादित है वह युक्त पुरुष की प्रशंसा मात्र है अथवा योगाभ्यास रूप उपासनादि सिद्ध योगियों की स्तुति मात्र है। उनके मत में उक्त श्रुतियाँ अर्थवाद होने से ईश्वर के सद्भाव में प्रमाण नहीं। अतएव सांख्य मत में पच्चीस ही पदार्थ माने जाते हैं, योगमतानुसार छब्बीस पदार्थ नहीं। यहाँ पर ईश्वर के सद्भाव में वेद प्रमाण और वेद के प्रामाण्य में ईश्वर हेतु होने को एक दूसरे की पूरकता को भाष्यकार ने इस तरह सिद्ध किया है जैसे आयु-र्वेद ईश्वर रचित है, उसमें रोग, उसका निदान उसकी निवृत्ति के उपाय और औषधि आदि का निरूपण है। उन औषधियों के सेवन से रोग की निवृत्ति प्रत्यक्ष दृष्ट होने से उसके प्रामाण्य में किसी को सन्देह नहीं। केवल अलौकिक दिव्य पदार्थ बोधक वेद भाग में ही प्रामाण्य सन्देह हो सकता है और यह सन्देह तभी तक रह सकता है जब तक उसके वक्ता में भ्रम, प्रमाद आदि पुरुष दोष रहितत्व तथा सर्वज्ञत्व आदि का निश्चय न हो। जब आयुर्वेद भाग को देखने से यह निश्चय हो चुका कि इसका निर्माता यथार्थ वक्ता एवं सर्वज्ञ है, अतएव आयुर्वेद प्रमाण है, तो उसके निर्मित अन्य भाग में भी स्थालीपुलाकन्याय से प्रामाण्य निश्चय होने से उससे सम्बन्धित सन्देह की निवृत्ति हो जाती है। अतः ईश्वर के सद्भाव में वेद प्रमाण हो सकता है।

सूक्ष्म विवेचन से पता चलता है कि ईश्वर के खण्डन में सांख्य का तात्पर्य नहीं है, जैसे मीमांसक लोग यदि ईश्वर मानें तो बुद्ध को ईश्वर का अवतार मानना पड़े और उनके द्वारा की हुई वेद तथा यज्ञादि की निन्दा को भी प्रमाण भूत मानना पड़े। अतः ईश्वर को अस्वीकार करने से यह सब मानना नहीं पड़ता है, वैसे ही यदि सांख्य मत में भी ईश्वर माना जाय तो तत्प्रदत्त भोग में राग होने से वैराग्य की सिद्धि नहीं होगी। समाधि सिद्ध न होने से सत्वपुरुषान्यथा-ख्याति रूप विवेक ज्ञान न होगा और विवेक ज्ञान न होने से योगी को कैवल्य प्राप्ति मोक्ष नहीं होगा। इसी अभिप्राय से सांख्य मत में ईश्वर का स्वीकार नहीं। वस्तुतः न्याय

वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त ये षड्दर्शन ईश्वर को मानने से ही आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं। नहीं तो जैन, बौद्ध दर्शन के समान सांख्य दर्शन को भी वेद वाह्य ही मानना पड़ेगा।

प्रकृति के विकास के विषय में योग का मत है कि विकास की दो समानान्तर पद्धतियाँ हैं जो महत् से आरम्भ करती हैं और एक पक्ष में अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के रूप में विकसित होती हैं तथा दूसरे पक्ष में पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं द्वारा पांच महाभूतों में विकसित होती हैं। सांख्य में, अहंकार सात्विक रूप में इन्द्रियों को जन्म देता है और तमो रूप में तन्मात्राओं को जन्म देता है और ये दोनों ही महत् में अवरुद्ध रहते हैं। इस प्रकार सांख्य और योग का विकास विषयक यह भेद कुछ अधिक गंभीर नहीं है। हम देखते हैं कि योग सांख्य प्रतिपादित तीन आभ्यन्तर इन्द्रियों को 'चित्' का नाम देता है। यह अहंकार और मन को बुद्धि से पृथक् नहीं समझता। इन्द्रियों को भी यह स्वरूप में भौतिक ही मानता है और इसलिये सूक्ष्म शरीर मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। योग दर्शन के अनुसार मनुष्य प्रकृति के इतना अधीन नहीं है जितना कि सांख्य के अनुसार है। उसे अधिक स्वातंत्र्य प्राप्त है और ईश्वर की सहायता से वह अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। सांख्य और योग दोनों में ही एक समान जन्म का चक्र अपने नाना दुःखों के साथ एक ऐसा विषय है जिससे छुटकारा पाना है। जहाँ सांख्य के मत में ज्ञान ही मोक्ष का साधन है वहाँ योग दर्शन चित्त की एकाग्रता तथा क्रियात्मक प्रयत्न पर बल देता है। इस प्रकार जहाँ सांख्य तार्किक अन्वेषण में व्यग्र है वहाँ योग भक्ति परक साधनाओं के स्वरूप तथा मानसिक निग्रह का विवेचन करता है।

आज के युग में पूज्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज योग और सांख्य के मूर्तिमान रूप हैं। पूज्य की ७१वीं जयन्ती के पावन उपलक्ष्य में हम उनको शतशः प्रणाम करते हैं और आशुतोष भगवान् शंकर से प्रार्थना करते हैं कि पूज्य श्री चरण को चिरायु प्रदान करें।

योग--एक विवेचन

[ब्रह्मचारी श्री आत्मचैतन्य]

योग शब्द का प्रयोग नाना अर्थों में होता है। योग ईश्वर के सान्निध्य में पहुँचने, एक ऐसी शक्ति के साथ जो सम्पूर्ण जगत् का शासन करती है, सम्बन्ध जोड़ने और परम सत्ता को स्पर्श करने का नाम है। यह न केवल आत्मा की किसी विशेष शक्ति को अपितु हृदय, मन एवं इच्छा की समस्त शक्तियों को ईश्वर के अधीन कर देता है। यह मनुष्य का अपने को गम्भीरतम तत्व के साथ संयुक्त कर देने का प्रयत्न है। हमें आत्मा के सम्पूर्ण सन्तुलन को परिवर्तित करने, एक निरपेक्ष तथा दृढ़ भाव में लाने एवं शक्ति और सुख की प्रतिरोध शक्ति को विकसित करने की आवश्यकता है। इस प्रकार योग से तात्पर्य उस आत्म नियंत्रण से है जिसके द्वारा हम संसार के आघातों को सहन करने के लिए अपने को अभ्यस्त बना सकें और हमारी आत्मा के मुख्य अस्तित्व पर भी कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ सके। भारत में साधारणतः यह स्वीकार किया जाता है कि मानसिक अवस्थाओं का नियन्त्रण होने पर जब इन्द्रियों के अनुभव विरत हो जाते हैं तो अनुभवात्मक आत्मा निम्न श्रेणी में पहुँच जाती है और विश्वात्मा की आभा प्रकट होती है। उपनिषदों में इसे ब्रह्म के साथ योग अथवा ब्रह्म साक्षात्कार के रूप में प्रतिपादित किया है। बौद्ध धर्म में इसका नाम बोधि-सत्व की प्राप्ति है।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने **'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः'** वाक्य से जीवात्मा और सर्वोपरि आत्मा के समानरूपत्वात्मक संयोग को योग कहा है और महर्षि पंतजलि 'चित्तवृत्तिनिरोध' को योग कहते हैं। यहाँ पर दोनों महर्षियों के कथन में विरोध होता है। लेकिन उत्तर सरल है कि जब तक 'चित्तवृत्ति का निरोध' न हो,,तब तक जीवात्मा का परमात्मासमानरूपत्व होना असम्भव है। प्रकृत योग शब्द का अर्थ संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा के संयोग में कोई कारण नहीं है। प्रकृत में जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों व्यापक हैं। व्यापक में चलनादि क्रिया नहीं रहती और बिना क्रिया के संयोग हो ही नहीं सकता। यदि जीवात्मा और परमात्मा का नित्य संयोग ही मान लें, इसमें कारणान्तर की अपेक्षा नहीं, तो इस पर यही कहा जाता है कि व्यापक द्रव्यों के साथ संयोग किसी प्रकार का होता ही नहीं। नैयायिक और वैशेषिक भी दो व्यापक पदार्थों के संयोग का खण्डन करते हैं। घट या पट का आकाश के साथ जो संयोग है उसको नित्य मानना सब शास्त्र और युक्ति के विरुद्ध है। यदि संयोगी नित्य भी हो, परन्तु परिच्छिन्न हो तो भी उसका संयोग अनित्य देखा जाता है। जैसे दो परमाणुओं का जो संयोग है वह अनित्य ही है। यदि दोनों संयोगी में एक विभु भी है, तो संयोग अनित्य ही होता है। तत् प्रदेश में नवीन-नवीन संयोग उत्पन्न होने से वह कार्य अनित्य रहता है। जैसे आत्मा और मन का संयोग। यह तत् आत्म प्रदेश में नवीन-नवीन उत्पन्न होता रहता है। यदि संयोगी को नित्य और व्यापक मानें तो उन दोनों विभु पदार्थों का भी संयोग नित्य हो सकता है। परन्तु वह संयोग भी सदातन नित्य ही होगा। इस स्थिति में प्रकृत अर्थ जो जीवात्मा और परमात्मा है वह सदातन नित्य है, इसलिए इनका संयोग भी सदातन नित्य ही होगा। इस परिस्थिति में जीवात्मा और परमात्मा के संयोग के उद्देश्य से जो योग शास्त्र का अनुशासन किया जाता है, वह व्यर्थ हो जायेगा। अतः जीवात्मा परमात्मा का संयोग योग का लक्षण नहीं है, किन्तु फल है। लक्षण तो चित्तवृत्तिनिरोध है, इसलिए विरोध नहीं। योग वैशारदीकार श्री वाचस्पति मिश्र के मत में **'निरोध क्लेशादि नाश का हेतु'** योग है। उन्होंने क्षिप्तादि अवस्था के निरोध में अति-व्याप्ति और एकाग्र अवस्था के निरोध अर्थात् सम्प्रज्ञात में अव्याप्ति का उद्धार किया है। योग वार्तिककार श्री विज्ञान भिक्षु ने **'योगश्च चित्तिवृत्तिनिरोधः'** सूत्र के आगे वाले सूत्र **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** इस सूत्र के साथ एक वाक्यता करके अर्थ किया है कि जो निरोध द्रष्टा पुरुष की स्वरूपावस्थिति का हेतु हो वह योग है। क्षिप्तादि अवस्था के जो निरोध हैं वे द्रष्टा पुरुष की स्वरूपावस्थिति

नहीं, अतः उनमें अतिव्याप्ति नहीं और एकाग्र अवस्था का निरोध जो सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है वह यद्यपि साक्षात् चिति शक्ति रूप पुरुष की स्वरूपावस्थिति का हेतु नहीं, क्योंकि उस अवस्था में ध्येयाकार वृत्ति विद्यमान है, तथापि तज्जन्य निरुद्ध अवस्था के असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा स्वरूपावस्थिति का हेतु है। अतः उसमें भी लक्षण का समन्वय होने से अव्याप्ति नहीं है। इस प्रकार विज्ञान भिक्षु ने अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति का परिहार किया है। यह भी सार ग्राही दृष्टि से ठीक ही है। क्योंकि योग के दो फल हैं पहला क्लेशादि का नाश और दूसरा चिति शक्ति की स्वरूपावस्थिति। उनमें श्री वाचस्पति मिश्र ने भाष्य के आधार पर प्रथम फल का सम्बन्ध और श्री विज्ञानभिक्षु ने आगे वाले सूत्र के आधार पर दूसरे फल का सम्बन्ध योग को मानकर उक्त दोषों का परिहार किया है। विज्ञानभिक्षु के एकवाक्यता का प्रयोजन परस्पर अन्वय की योग्यता का अभाव होने से आगे वाले सूत्र के साथ एक वाक्यता असंभव है। ऐसा यत्न करने पर भी सम्प्रज्ञात योग में अव्याप्ति दुर्वार है, क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि स्वरूपावस्थिति का हेतु नहीं है। यदि कहें कि असम्प्रज्ञात योग द्वारा सम्प्रज्ञात योग की स्वरूपावस्थिति का हेतु है, अतः अव्याप्ति नहीं तो यह कथन भी **'पिण्डमुत्सृज्य करं लेढि'** न्याय के समान उपहास जनक है। विज्ञान भिक्षु ने भाष्यानुसारी वाचस्पति के सरल मार्ग को छोड़कर इस तरह युक्ति विरहित क्लिष्ट कल्पना की है। भिक्षु जी अपने ग्रन्थ में योग दर्शन को उपनिषदों के दर्शन के समीप लाने का प्रयत्न करते दिखलाई पड़ते हैं।

प्रकृत शास्त्र में योग का लक्षण लिखा है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** चित्तवृत्ति निरोध योग है। लेकिन सन्देह उत्पन्न होता है कि पहिले वाले सूत्र में चित्त वृत्ति के निरोध को योग बताया गया है, लेकिन आगे समाधि का भी योग नाम से उल्लेख है। यदि समाधि को चित्तवृत्ति निरोध से भिन्न माना जाय तो स्पष्ट ही पूर्वापर विरोध हो जाता है। यदि चित्त वृत्ति निरोध को ही समाधि मानें तो **'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टांगानि'** इस पातंजल सूत्र से विरोध हो जाता है। किन्तु समाधान अत्यन्त सरल है कि यद्यपि योग का अंग होने से समाधि योग से वस्तुतः भिन्न है तथापि अंग और अंगी में अभेद का आरोप कर योग और समाधि को भाष्यकार ने एक माना है। वस्तुतः समाधि आठ योगांगों में अन्तिम अवयव है, पतंजलि ने इसी का निरूपण **'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'** इस सूत्र से किया है। मतलब जब ध्यान ही ध्येय के आवेश में हो जाता है, उस समय ध्यातृ–ध्यानभाव अत्यन्त शून्य होकर वह केवल ध्येय मात्र का ग्राही हो जाता है। उस समय ध्यान वर्तमान रहता हुआ भी ध्यातृ ध्यान ध्येय विभाग के ग्रहण न करने से स्वरूप शून्य के सदृश हो जाता है। इसी का नाम समाधि है। यही सूत्र लक्षित अन्तिम योगांग है। **'ता एव सबीजः समाधिः'** (यो० सू० १।४६) **'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'** इन दोनों सूत्रों में अंगीभूत योग अर्थ में ही समाधि शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यास भाष्य में भी दोनों अर्थ में समाधि शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है। इसलिए **'योगः समाधिः'** यह भाष्य भी संगत हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हुआ कि योग की परिभाषा है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** चित्त वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प आदि हैं। इनका निरोध अथवा निवर्तन 'योग' शब्द का अर्थ है। दूसरे शब्दों में भौतिक तथा आत्मिक के भिन्न-भिन्न तत्वों के नियंत्रण द्वारा पूर्णता प्राप्ति के लिए किया गया विधिपूर्वक प्रयत्न ही योग है। महर्षि पतंजलि ने कुछ ऐसे अभ्यासों पर भी जोर दिया है जिनसे शारीरिक चंचलता दूर होकर दीर्घ और स्वस्थ जीवन की प्राप्ति के अनन्तर मनुष्य संयमी जीवन द्वारा मोक्ष का अधिकारी होता है।

आज के युग में मेरे पूज्य गुरुदेव हिरण्यगर्भ, याज्ञवल्क्य, पतंजलि, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य की गौरवमयी परम्परा की एक अभूतपूर्व कड़ी हैं। योग साधना, यौगिक क्रियाओं द्वारा शरीर इतना निर्मल और पवित्र हो गया है कि पूज्य के प्रत्येक आचरण में स्वाभाविक आकर्षण है। आप न केवल ब्रह्मनिष्ठ महात्मा और अद्वैत वेदान्त के निरुपम विद्वान् हैं वरन् निगूढ़ सिद्धपुरुष भी हैं। पूज्य श्री चरण के जीवन में सभी आस्तिक दर्शनों के सैद्धान्तिक तत्व उनके व्यावहारिक क्षेत्र में उतरे हुए हैं। बालक के सदृश सरल, सूर्य के समान अप्रमादी, सर्वभूतों में करुणापूर्ण, योगाभ्यासियों के लिए महर्षि पतंजलि, तांत्रिकों और जिज्ञासुओं के लिए शंकर आप विश्व की एक दिव्य विभूति हैं। पूज्य श्रीचरण की ७१वीं जयन्ती पर हम उनको शतशः प्रमाण करते हैं एवं भूतभावन बाबा विश्वनाथ से अहर्निश प्रार्थना करते हैं कि पूज्य को चिरायु रखें जिससे हमलोगों को दिशा निर्देश मिलता रहे। ▪

विदेशों में योग—एक अध्ययन

[मनुदेव भट्टाचार्य]

'सन्मार्ग' संस्थापक पूज्यपाद श्रीस्वामी जी के जन्मोत्सव के अवसर पर विशेषांक के रूप में प्रकाशित हो रहे पत्रिका के लिए सम्पादकजी के आदेशानुसार शीर्षकांकित विषय पर दो शब्द प्रस्तुत करते हुए अपार आनन्द हो रहा है।

मैंने सन् १९७४ में यूरोप के १०,११ देशों की यात्रा की थी। एक वर्ष पर्यन्त मैं विदेश में घूमता रहा। कहना न होगा योग, आसन, प्राणायाम, नेती धोती आदि पाश्चात्य देशों में अत्यधिक प्रचारित हो चुका है। यद्यपि प्रारम्भ में किसी न किसी भारतीय उद्योगशील मनीषी द्वारा ही उपर्युक्त देशों में योग का प्रचार हुआ, परन्तु सम्प्रति तो स्वयं यूरोपीय ही प्रवीण होकर विभिन्न योग केन्द्रों के संस्थापक, संचालक, शिक्षक, व्यवस्थापक उपदेशक आदि बन गए हैं।

जिस प्रकार डा० रौथ और मैक्समूलर वेद में तथा डॉ० जौन उडरफ तन्त्र में प्रथम विदेशी विशेषज्ञ हुए, उसी प्रकार स्वामी योगानन्द जी ने विदेशों में योग का सर्वप्रथम प्रचार किया। कहना न होगा कि स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने पाश्चात्य देशवासियों को सर्वप्रथम भारतीय अध्यात्मवाद की ओर आकृष्ट किया था।

इस समय यूरोपीय देशों में कई सामाजिक समस्यायें अंगड़ाई ले रही हैं। जैसे—न्यूडिज्म (नंगापन), इसके शिकार युवक-युवतियाँ सर्वथा वस्त्रहीन होकर खुलेआम सड़कों तक उतर आये हैं। दूसरी—'हिप्पिज्म'। यथेच्छाचारवाद का इससे बढ़कर कोई अन्य दृष्टान्त नहीं हो सकता। तीसरी—पारिवारिक विश्रृंखला। भारतीयों जैसा संघटनात्मक परिवार परिपाटी यूरोपीय देशों में दृगोचर कम ही होता है। इसके अतिरिक्त भांग, चरस, गांजा, अफीम आदि मादक वस्तुओं का यथेच्छ प्रयोग, अत्यधिक मद्यपान, उन्मुक्त यौनस्वातन्त्र्य आदि कई बातें यूरोपीय देशों में घर कर गई हैं। हो सकता है, इन सवों का कोई उपकारक पक्ष भी हो, परन्तु हानि पक्ष तो अधिक एवं सर्वविदित है। ऐसी स्थिति में त्रस्त पाश्चात्त्य समाज 'शान्ति' के लिए बेचैन है। पर मानसिक शान्ति न तो जुओं के अड्डों में, मद्य-मांस सेवन से उन्मुत्त रात्रिक्लबों में या यथेच्छ लूट मार आदि में ही है। अतः पाश्चात्य समाज एक शाश्वत समाधान की खोज में अपने को लगाने के लिए सचेष्ट है। वह समाधान परिपाटी यदि उनकी संस्कृति के अन्तर्गत न भी हो, तो भी उन्हें कोई क्षति नहीं।

इसके दो कारण हो सकते हैं—पहला, उनकी अपनी संस्कृति इतनी पुष्ट न हो या उसमें इस रोग की कोई दवा न हो। दूसरा—मरता क्या न करता। आखिर हमें शान्ति तो चाहिए ही। भले ही भारत की शरण क्यों न लेना पड़े।

सभी समस्याओं के समाधान के लिए समझदार विदेशियों ने भारत की शरण ली। कितनों ने मांसाहार छोड़ दिया। कितनों ने प्याज-लहसुन-गाजर छोड़ दिया। कितनों ने मद्य छोड़ दिया और क्लबों में उन्मत्त होकर नाचना छोड़कर 'हरेराम हरेकृष्ण' में उन्मत्त हो गए। कितनों ने प्राणायाम, योगासन, आरती शुरू कर दी। कुछ लोगों ने एकादशी, गुरुपूर्णिमा, कृष्ण जन्माष्टमी तथा महाशिवरात्रि को स्वीकार कर लिया। यह सब विदेशों में रहने वाले भारतीयों की नहीं, अपितु विदेशियों की मैं बात कर रहा हूँ। केवल सुनी-सुनाई नहीं, अपितु आँखों देखी, स्वयं देखी।

इन सवों के बावजूद मुझे यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं है कि पाश्चात्य देशों में उपर्युक्त विषयों का अध्ययन अत्यन्त स्थूल दृष्टि से हो रहा है। कहना न होगा कि योग का रोगनिवृत्ति, ठीक समय पर निद्रा आना, भोजन का उचित मात्रा तथा समय पर परिपाक होना, मानसिक शान्ति प्राप्त करना आदि प्रयोजन आज सर्वत्र और सर्व विदित है।

इनमें अन्तिम प्रयोजन (मानसिक शान्ति) को छोड़कर सभी प्रयोजन अत्यन्त स्थूल होने के साथ-साथ आर्ष दृष्टिकोण से अत्यन्त हास्यास्पद हैं। क्या हमारे त्रिकालज्ञ, सर्ववेत्ता, तत्त्वसाक्षात्कारी महर्षिगण ने निद्राप्राप्ति एवं भोजन हाजमे के लिए ही योग का उपदेश किया है। अवश्य ही ये भी योगाभ्यास के महान् लाभ हैं, परन्तु अन्तिम फल नहीं है।

पाश्चात्य विज्ञान की दृष्टि में गंगा का इतना ही माहात्म्य है कि उसमें कीड़े नही लगते, रुद्राक्ष की यही महिमा है कि 'ब्लडप्रेशर' को ठीक करता है। प्रश्न है कि भगवान् शंकर रुद्राक्ष धारण करते हैं, तो क्या उनको भी ब्लड········? गंगाजी के दर्शन मात्र के लिए वीतराग तपस्वियों ने 'माँ-माँ' कहकर करुण क्रन्दन किया था। फिर आर्ष दृष्टि से 'गंगा' क्या है ?, रुद्राक्ष की क्या महिमा है ?

अवश्य ही उपर्युक्त लाभ भी अनेक आश्चर्यमय हैं, परन्तु इतने मात्र में सन्तोष करना तो 'वृक्ष की उपयोगिता काक महोदयों का बैठना मात्र' से अधिक और कुछ भी नहीं।

'योग' की शास्त्रीय विधाओं का आधुनिक वैज्ञानिक यान्त्रिक परीक्षण भी पाश्चात्य देशों में पर्याप्त हुआ है। श्वास की गति, अधिक कार्यों में भी कम थकावट, मस्तिष्क के तनावों में कमी, दिल की बीमारियों पर प्रभाव आदि महत्त्वपूर्ण अध्यायों पर भी पर्याप्त वैज्ञानिक प्रयोगपरीक्षामूलक प्रौढ़ शोध हो रहा है।

कहना न होगा, उपर्युक्त सभी समस्याओं पर योगाभ्यास का अनुकूल फल ही मिला है।

इतना तो अवश्य ही है कि आज यदि इन शान्तिपूर्ण उपायों का आश्रय नहीं लिया गया होता, तो लक्ष्यहीन यान्त्रिक संस्कृति का भयंकर दुष्परिणाम मानवता को कदाचित् खत्म कर देता।

प्रश्न यह है कि इस प्रकार स्थूल दृष्टि से 'योग' जब सार्वभौम स्तर पर सर्वथा लाभदायी सिद्ध हो रहा है, तब गुरु कृपा को अवलम्बन कर भक्ति, श्रद्धा, विनय के साथ सद्गुरु से दीक्षित होकर यदि योगमार्ग को प्राप्त किया जाय, तो श्रीवामदेव, श्रीशुकदेव, श्रीतैलंग स्वामी, श्री-श्यामाचरण लाहिड़ी, श्रीलोकनाथ ब्रह्मचारी, श्रीविशुद्धानन्द परमहंस, श्रीगोपीनाथ कविराज जैसे योगिराजों की जन्मभूमि भारतवर्ष की उपलब्धियों को कौन गिन सकता है ?

———

रामचरितमानस में योग

[देवकीनन्दन शास्त्री, व्यास]

समाधि को योग कहते हैं। चित्त की विकृतावस्था जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति है और स्वस्थावस्था समाधि है, यथा—

मानस रोग कछुक मैं गाये।
है सबके लखि विरले पाये॥

एक व्याधि बस नर मरहीं, एक साध्य बहु व्याधि।
पीडहिं संतत जीव कह, सो किमि लहहिं समाधि॥

चित्त की वृत्ति दिन-रात इधर-उधर दौड़ा करती है। उन्हें रोकना अर्थात् मन को स्थिर करना समाधि है, यथा—

मनथिरकरि तब शंभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥

ध्यान की घनीभूतावस्था ही समाधि है। ऐसी समाधि को सवितर्क समाधि कहते हैं, यथा—

जोगिन्ह परम तत्व मय भाषा। शान्तशुद्ध रस परम प्रकाशा॥

परमात्मा के प्रकाश से जीव को सहज सरूप का साक्षात्कार होता है। यथा—

मम दर्शन फल परम अनूपा जीवपाव निज सहज सरूपा॥

प्राण के जय से मन का जय होता है और मन के जय से प्राण का जय होता है अतः दोनों प्रकार के योगी होते हैं।

जो मन के जय से प्राण का जय करते हैं वे राजयोगी कहलाते हैं, यथा—

जितहु मनहिं सुनिय अस रामचन्द्र के राज।

और प्राण को जय करके मन का जय चाहनेवाले हठयोगी कहलाते हैं। प्राणायाम से प्राण जय होता है, यथा—

जिति पवनमन गोनिरसकरि मुनि ध्यान कबहुंकपावहीं।

अब योग के आठों अंगों का वर्णन किया जाता है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। धारणा के घनीभूत होने को ध्यान और ध्यान के घनीभूत होने को समाधि कहते हैं। यथा—

मुनिहिं राम बहु भांति जगावा। जागत ध्यान जनित सुखपावा।

इन आठों अंगों में धारणा, ध्यान, समाधि ये तीन यमादि पाँचों की अपेक्षा संप्रज्ञात संप्रतीत समाधि के अन्तरंग है पर निर्वीज समाधि का संप्रज्ञात भी वहिरंग है। निर्वीज समाधि का वर्णन गोस्वामी जी करते हैं—

सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि योगी।
सो हरि पद अनुभवै परमसुख अतिशय द्वैत वियोगी॥

यम, नियम नाना प्रकार के बाण हैं। बाण लक्ष्य वेध करता है, भीतर प्रवेश करता है और तीस बाण एक तरकस में रहते हैं जैसा कि पहेली में कहा गया है—

तीस तीर मिलि बिल में बसैं।
पंख नहीं अरु उड़के डसैं॥

धारणा, ध्यान, समाधि—तीनों को इकट्ठा करने को संयम कहते हैं। समाधि जय करने से प्रज्ञालोक होता है। यथा—

तब शंकर देखउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना।

यहाँ समाधि के नियमों को बाण कहा और उनकी तीस संख्या कही। विभूति पाद में भी ठीक तीस संख्यक विभूतियाँ हैं, जो संयम से प्राप्त होती हैं और प्रत्येक की प्राप्ति के लिए पृथक् नियम हैं एवं संयम नियम भी तीस ही हैं।

१—सर्वर्थता के क्षय और एकाग्रता के उदय से चित्त का समाधि प्राणायाम होता है। इसी भाँति भूत और इन्द्रियों में धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम होता है। इन तीनों परिणामों में संयम करने से भूत, भविष्य का ज्ञान होता है—

तुम त्रिकालदर्शी मुनि नाथ। विश्व बदर जिमि तुमरे हाथ॥

२—शब्द, अर्थ के परस्पर अध्यास में संयम करने से सब प्राणियों की बोली का ज्ञान होता है, यथा—

असकहि गरुड़ गीध जब गयऊ।
तिन्हके मन अति विसमय भयऊ॥

३—संस्कारों का साक्षात् करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है, यथा—

वाल्मीकि नारदघट योनी । निज-निज मुख कहि निज होनी ॥

४—चित्तवृत्ति के संयम से दूसरे चित्त का ज्ञान होता है, यथा—

नाथ भरत कछु पूछन चहही। प्रश्न करत मनसकुचत अहही॥

५—काय रूप के संयम से उसकी ग्राह्य शक्ति के रुकने पर चक्षु के प्रकाश का संयोग न होने से योगी अन्तर्ध्यान होता है, यथा—**अन्तरधान भये अस भाखी—**

६—कर्म दो प्रकार का होता है—एक शीघ्र फल देनेवाला दूसरा देर से फल देनेवाला। उन पर संयम करने से अरिष्टों द्वारा मरने का ज्ञान होता है, यथा—

निकटकाल जेहि आवत साई। तेहि भ्रम होई तुम्हारे नाई॥

७—मैत्री करुणा मुदिता में संयम करने से योगी को मित्रता आदि का बल होता है, यथा—

परदुख द्रवहि सुसंत पुनीता।

८—बलों में संयम करने से हाथी का बल होता है, यथा—

अमित नाग बल विपुल बिसाला॥

९—संयम द्वारा ज्योतिष्मती प्रवृत्ति को जीतकर उसका प्रकाश डालने से सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट का ज्ञान होता है, यथा—

तब शंकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबजाना।

१०—सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है, यथा—

विश्वबदर जिमि तुम्हरे हाथा।

११—चन्द्रमा में संयम करने से ताराव्यूह का ज्ञान होता है, यथा—

अगणित उठेगन रविरजनीसा।

१२—ध्रुव में संयम करने से उनकी गति का ज्ञान होता है, यथा—

ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुयोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तुजग लखहि सुलच्छन लोग॥

१३—नाभिचक्र में संयम करने से शरीर रचना का ज्ञान होता है, यथा—**नर तन समनहिं कौनउ देही।**

१४—कण्ठकूप में संयम करने से भूख-प्यास की निवृत्ति होती है, यथा—

संवतसप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार

१५—कूर्म नाडी में संयम करने से स्थिरता होती है, यथा—

भूमि न छाडत कपिचरन देखत रिपु मद भाग।

१६—मूर्द्ध ज्योति में संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है, यथा—**नारदादि सनकादि मुनीसा।**

१७—प्रतिभा से सब ज्ञान होता है, यथा—**गुरु विवेक सागर जग जाना।**

१८—हृदय में संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है, यथा—

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।

१९—बुद्धि और आत्मा अत्यन्त भिन्न हैं, उनके भेद रहित बोध से भोग सिद्ध होता है पर यह भोग बुद्धि के लिए है, अपने लिए न जानकर अपने को बुद्धि से पृथक् जानकर संयम करने से आत्मज्ञान होता है, यथा—

मैं तैं भट्क्यो मोह तम ऊगो आतम ज्ञानु।

२०—बंधकारण शिथिल होने से और प्रचार संवेदन से चित्त का परशरीर में प्रवेश होता है, यथा—**तीय अधर बुधिरानि।**

२१—उदान के जीतने से जल, कीच, काँटा आदि से असंग और इच्छा मरन होता है, यथा—**तजौं न तनु निज इच्छा मरना।**

२२—समान के जय से तेज होता है, यथा—**कनक बरन तन तेज बिराजा।**

२३—श्रोत्र और आकाश दोनों के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र होता है। यथा—

सुनत गिरा बिधि गगन बखानी।

२४—शरीर और आकाश के संबंध में संयम से आकाश गमन होता है, यथा—**गगनोपरि हरि गुनगन गाये।**

२५—अकल्पिता महाविदेहा, जो बाहर की वृत्ति है, उससे प्रकाश के आवरण का क्षय होता है, यथा—

प्रबल अविद्या तम मिटि जाई।

२६—स्थूल स्वरूप सूक्ष्म अन्वय अर्थवत्व में संयम करने से भूत जय होता है, इससे अणिमादिकों की उत्पत्ति और काय संपत होती है, यथा—

सुनतहि भएऊ पर्वताकारा।

२७—ग्रहण स्वरूप अस्मिता अन्वय अर्थवत्व में संयम करने से इन्द्रियों का जय होता है, यथा—

मनोजवं मारुततुल्यवेगं—जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।

२८—सत्व (बुद्धि) और पुरुष भिन्न होने का जिसे ज्ञान है, केवल उसी का सब भावों का अधिष्ठाता होना और सर्वज्ञाता होना सिद्ध होता है—

जो निर्विघ्न पंथ निरवहई। सो कैवल्य परमपद लहई॥

२९—क्षण और उनके क्रमों में संयम करने से विवेकज ज्ञान होता है, यथा—**होई विवेक मोह भ्रम भागा।**

३०—सत्व और बुद्धि दोनों के सम होने से मुक्ति होती है, यथा—**अति दुर्लभ कैवल्य परमपद।**

इस भाँति विषय भेद से संयम नियम भेद भी तीस प्रकार के हैं।

छिपा है योग में–

[अभयनाथ तिवारी]

कल्पना की शक्ति का साधन छिपा है योग में।
अर्चना की शक्ति का साधन छिपा है योग में।

शून्य क्यों बनते हैं हम, आदेश पर आदर्श के,
चेतना की शक्ति का साधन छिपा है योग में।

शोर में गुम हो गए उपदेश के अक्षर मगर—
भावना की शक्ति का साधन छिपा है योग में।

दिग्भ्रमित करने चले हैं पश्चिमी साये हमें—
सान्त्वना की शक्ति का साधन छिपा है योग में।

साधना की शक्तियों को पूजने वालो सुनो—
साधना की शक्ति का साधन छिपा है योग में।

'जोग जोग हम नाहीं'

[भानुशंकर मेहता]

आजकल 'योग' की वड़ी चर्चा है। भारत ही नहीं संसार के अनेक विकसित देशों में भी आजकल **'योगा'** चल रहा है। पिछली सरकार भी **'योगा'** कर रही थी और नयी जनता सरकार भी 'योगा' की ओर उन्मुख है। विशेष रूप से भूतपूर्व और वर्तमान स्वास्थ्य मंत्री भी योग में रुचि ले रहे हैं।

जब श्री कर्ण सिंह केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री हुए और यह खवर आम हुई कि मंत्रीजी की योग में वड़ी रुचि है तो सभी तत्काल यम, नियम, आसन, प्राणायाम करने लगे, अपनी आत्मा के उत्थान के लिए नहीं, मंत्रीजी के कृपा कटाक्ष के लिये। अनेक मेडिकल कालेजों में योग के अनुसंधान विभाग खुल गये। खुले ही नहीं, 'योग' पर अनुसंधान होने भी लगा।

अनुसंधान की अलग-अलग विधियाँ हैं। प्राचीन युग में जव शोध करनी होती तो लोग तप करते थे, आत्म चिंतन करते थे और वहुधा उत्तर पा जाते थे। आजकल अनुसंधान के लिए 'प्रयोग' करते हैं, रासायनिक-भौतिक प्रयोग, पशुओं पर प्रयोग, क्लिनिकल प्रयोग इत्यादि। अतः योग पर भी प्रयोग हुए हैं। आसन-प्राणायाम साधने पर शरीर में रक्त-चाप, हृदय की गति, अन्तःस्रावी रसों की मात्रा आदि देखे जाने लगे। जव कोई जोगी योग प्रदर्शन करता—सांस वन्द, नाड़ी वंद, हृदय वंद करता तो क्लिनिकल जाँच होती। जव कोई योगी समाधि लेकर जमीन में गाड़ा जाता तो उस समय जाँच होती है, फिर समाधि टूटने पर जाँच होती है। यह सव **'डाटा कलेक्ट'** करके उसकी **'अनालिसिस'** करते हैं, रिसर्च होती है और तव वताते हैं कि 'योगा' है क्या? फिर रिसर्च जानवरों की ओर मुड़ती है। चूहों को शीर्षासन कराते हैं, गिनिपिग की कुंडलिनी जगाते हैं (विद्युत का झटका देकर), मेंढक की शीत निद्रा में परीक्षा करते हैं और योग का रहस्य खोलने की चेष्टा करते हैं। वड़े पेपर छपते, वड़ा शोर होता, **'योगा'** पर वहुत 'काम' हो रहा है। फिर हेल्थ मिनिस्टर खुश होते और लंबी ग्रान्ट मिलती और योगासनानुसंधान चलता रहता है।

फिर **'प्रैक्टिकल क्लिनिकल ऐप्लिकेशन'** भी होता है। योगा-वार्ड, योगाश्रम खुलते हैं। स्मार्ट यंग मेन और विमेन स्पोर्ट की कास्ट्यूम में साँस खींचने लगे, पद्मासन साधने लगे या कुक्कुट आसन में वैठकर प्रभात को जगाने लगे। अन्यत्र योगा क्लिनिक, योगा सेन्टर खुले जहाँ योगा से डाय-विटीज, कैंसर-हार्ट डिजीज वगैरह 'क्योर' होने लगे। इस प्रकार वर्तमान युग में संसार में योगा खूव उपयोगी सिद्ध हो गया। 'संभोग से समाधि की ओर' की यात्रा का टिकट मिलने लगा।

मगर संपादक जी, हम मूढ़ मानव यह सव हतप्रभ अवाक् देखते रहे कि देखो भाई इस वार ऊधोजी ने वृंदावन में 'योग' फैला ही दिया। किसी ने भी नहीं कहा कि 'पांड, जोग सिखावन आये'! और ठीक भी है अव हम गोपी की तरह गाँव गँवारिन तो रह नहीं गये हैं कि व्यर्थ का भ्रमर गीत गाते। अरे, अव तो हम लोग कैमरा, टेप रेकार्डर, कैसेट और जाने क्या-क्या से लैस होकर तैयार वैठे हैं और वह ऊधो भी पुराने दकियानूसी संदेशवाहक नहीं हैं, वे भी माडर्न हैं। अगर हमलोग योगा के विरुद्ध कुछ टिर्र-पिर्र करते तो उनके पास तगड़े जवाव थे, प्रमाणपत्र और चित्र थे, मूवी थी और सवसे वड़ी चीज थी **'फाइनेंशियल एड'**, क्योंकि हर काम की सवसे वड़ी वाधा यही होती है। उस युग में भी यदि ऊधो व्यर्थ की फिलासफी छाँटने की जगह यह कहते कि जो भी गोपी मेरा योगा इंस्टीट्यूट ज्वायन करेगी उसे एक हजार द्वारका कालर्स का इन्सेंटिव दिया जायगा तो उन्हें निराश होकर लौटना न पड़ता।

एक वात और है, जो मिस्टर ऊधो पांडे भी 'कन्फर्म' करेंगे कि अव उस जमाने जैसा विरह फिरह नहीं होता, वह

सब तो सिनेमा में दिखाया जाता है, आज तो 'हैव ए गुड टाइम' का युग है। इसलिये राधा के आँसुओं में बृज के वह-जाने का कोई खतरा नहीं है। आज तो ऐसी सिचुएशन में मिस्टर पांडे को पहले गोपी 'ग्रुप्स' को लालीपाप्स, मिल्क बार, च्यूइंग गम्स और बबल गम्स, कोक और स्पाट्स से ट्रीट करना चाहिये। कुछ टूटी फूटी सर्व करके डिस्कम यूजिक प्ले करना चाहिये और जब नृत्य पूरे रंग पर आ जाय तो धीरे से कहना चाहिये—'माई डियर गोपी, कृष्णा इज नाट कमिंग' (प्रिय गोपी जी, कृष्णा नहीं आवेंगे)। और आलमे मस्ती में झूमती गोपी यही कहेगी—'लेट हिम गो टू हेल' (भाड़ में जाय वह)! तब अवसर मिलेगा पांडे को योगा 'द लेटेस्ट क्रेज' का और वह ग्रुप डिस्कशन करवा के बृज में योगा शुरु करा सकते हैं।

लेकिन चतुर्वेदी जी, (संपादक योग विशेषांक), आप भी नवयुग की बाढ़ में बह गये! आपने लिखा कि योग पर एक लेख लिखूं। आपने तो जमालों की तरह आग लगा दी, पर यहाँ 'मन-वृन्दावन' में भारी हलचल मच गयी। सर्वत्र शोर मच गया 'पांडे, फिर आ रहे हैं।' सोयी गोपी जाग उठीं, विरह व्यथा का क्रन्दन आकुल करने लगा, घनीभूत पीड़ा आँसू बनकर बरसने लगी। पांडे के भाई, आप नहीं जानते, घनश्याम मौसम में घनश्याम की याद दिलाकर आपने क्या किया है? यह जो नदियों में बाढ़ आ रही है वह इन्हीं विरहाश्रुओं से तो निकली है।

एक बार अनन्तश्री विभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज ने विरह और संयोग शृंगार के समानांतर सागरों का अद्भुत वर्णन किया था। साँवरिया के दोनों नैनों में ये सागर छलकते हैं, काश कि एक बूंद भी हम पा सकते। उस मधुमास सिंधु की एक बूंद युग-युग की विरहाग्नि बुझा जाती पर गोपी की नियति तो प्रेम यज्ञ में समिधा की भाँति जलते रहना है और उसमें भी आप ऊधो जी की भाँति पधारकर उपदेश की आहुति डाल रहे हैं। धन्य, धन्य!

आप बतायें, हम क्या करें? योगा में रिसर्च करें? वह भगवान् पातंजलि क्या कर गये थे? पहले जाकर उनसे अधिक ज्ञान साधना लावें, तब शीर्षासन आरंभ करें। यहाँ सूत मिलता नहीं 'सूत्र' की तो बात ही क्या। लीजिये, अब बहस का मूड आ गया है और आप चारों वेद पढ़े हो, सो हमें बताओ कि 'योग' है क्या? हमने शब्दकोष, अमरकोष देखा, तीस चालीस अर्थ के पचड़े में पड़े। युज् से संयोग, संयमन, समाधि अर्थ निकले। अमरकोष के **'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु'** वचन से, **'सन्नहन'** अर्थात् कवच जिरह बख्तर से लैस हथियार उठाये, योगोयोगः वाले फौजी मिल गये, बाकी उपाय, संगति, युक्ति के योग पर ध्यान तो खैर सभी लगाते हैं। फिर पोथी देखने लगे तो मिला **'समत्वं योग उच्यते'**, **'योगः कर्मसु कौशलम'**, **निःस्पृहः युक्त उच्यते'** और **'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः'**, मतलब समझने लगे तो समझ में आया कि माडर्न लोगों के लिए योग का अर्थ हरिजन कल्याण या साम्यवाद, टेक्नोलाजी, हर्रे लगे न फिटकिरी वाली तरकीब, और साइकोथिरैपी अथवा 'आपात स्थिति' हो सकता है। वैसे बच्चे भी जानते हैं कि दो संख्याओं के जोड़ को 'योग' कहते हैं, केमिस्ट्री (रसायन) में दो तत्वों का योग होता है जैसे आद्रजन और ऑक्सीजन नामक गैसें योग करके जल बन जाती हैं (काश कि योगा वाली गैसें भी योग करके जल बन जातीं)। व्याकरण में भी योग होता है। इस नाम की किताबें हैं जो बाजार में मिलती हैं। बाकी कुछ अर्थ यह भी मिले कि जीव और परमात्मा का योग करके कैवल्य प्राप्ति का यह दर्शन है, चंचल चित्त की वृत्तियों का निरोध, पुरुष प्रकृति को पृथक् कर वियोग करना और पुरुष में स्थित होना, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शत्रु-मित्र, शीतोष्ण आदि द्वंद्वों से अतीत होकर समत्व प्राप्त करना योग है। 'कर्म' का कौशल है, संसार सागर से पार होने की 'युक्ति' है। लेकिन ये अर्थ कुछ महत्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि इनसे कुछ प्राप्त होने का नहीं। हाँ योग का एक अर्थ है, **इन्द्रजाल, अलौकिक चिकित्सा, सिद्धि, मारण, मोहन, उच्चाटन** और इस अर्थ में योग में बड़ा माल है। कहते हैं, **योग मोक्ष का साधन है,** पर उससे कहीं अधिक उपयोगी अर्थ है **'मालपुआ'**। (और मोक्ष तो अंततोगत्वा होगा ही, उसकी हाय-हाय क्यों करें?)

चौबे जी, इंस्टीट्यूट में योगा का अर्थ है रोज सवेरे **'ब्रीदिंग एक्सरसाईज'** करना और फिर आसन करना! यह कौन पूछता है कि योग-भूमि में प्रवेश करने से पूर्व **अष्टांग-योग** सम्पन्न करना होता है। अष्टांग माने **पाँच बाहरी अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार**

और तीन भीतरी अंग–धारणा, ध्यान और समाधि। अब बताइये, 'यम' के अंतर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दया, क्षमा, धृति, आर्जव, मिताहार इत्यादि का पालन कौन करता है। फिर आया 'नियम' यह उससे भी भयंकर अर्थात् पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान। यम–नियम साधो तब करो 'आसन', एक आसन करो, ८४ करो या १६०—क्या अन्तर पड़ता है, पहले आसन पर बैठने के अधिकारी तो बनो। लीजिये अब यह 'अधिकार' की क्या बात हुई ? क्यों भाई, आपके यहाँ मैट्रिक पास किये बिना कोई कालेज में घुसने देता है ? उसी प्रकार यह भी एक कालेज है। पहले निर्वेद की भावना हो तब मुमुक्षु होंगे और बिना मुमुक्षु हुए योग हो नहीं सकता। प्रवेश पत्र में लिखा है 'आपके पास साधन-चतुष्टय है ? अर्थात् आप में नित्यानित्य वस्तु विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व है ? नहीं तो प्राप्त करें और तब पधारें ! खैर, आसन तक पहुँचे हैं तो प्राणायाम करें। वह ब्रेथ कन्ट्रोल नहीं। पूरक-कुम्भक–रेचक प्राणायाम, अभ्यन्तर बाह्य और केवल प्राणायाम, सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लावनी प्राणायाम, अनुलोमविलोम प्राणायाम। फिर प्राण हों तो न आयाम दीखेगा ? अंत में प्रत्याहार करें—इन्द्रियों को वश में करें, १८ मर्म स्थानों पर नियंत्रण करें। इसी राह में मुद्रा और षट्कर्म भी आते हैं, एकाध दिन धौति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति और कपाल भाति करके शरीर को शुद्ध करें। तब योग यात्रा आरंभ होगी। मधुमती, मधुप्रतीक भूमि से होकर अस्मिता प्राप्ति होगी, विशोकासिद्धि मिलेगी और परमपद प्राप्त होगा। और यह सब 'ट्यूशन फी' देकर कहाँ मिलेगा ?

एक साहब मिले, बोले 'हम भी योगा करेगा', हमने कहा, 'जरूर करें सर ! पर यह तो बतलाएँ कौन-सा योग करेंगे ?' वे बोले—'क्या मतलब ? योगा मेनी वेरायटी ?, हमने कहा—'जी हाँ। बहुत वेरायटी हैं, जैसे मन्त्र योग, हठ योग, लय योग, राज योग, जप योग, अस्पर्श योग, शब्द योग, वाग्योग, ऋजु योग, भृगु योग, तारक योग, कर्मयोग, भक्ति योग, ज्ञान योग, ध्यान योग वगैरह सकड़ों योग हैं और फिर महा योग है, सम्पूर्ण योग है ! आपको कौन-सा योग चाहिये ?' अब उन्हें प्रत्येक योग की बारीकी कौन समझाये ? बस समझा दिया कि 'बच्चा 'कूर्मासन' साधो, सांस रोके रहो, हो जायगा योगा।'

अरे, योग से पहले तो उसके विघ्न ताण्डव करने लगते हैं। व्याधि, संशय, प्रमाद, आलस्य, भ्रान्ति, मनका कलुष, देह की चंचलता, अनियमित श्वास प्रश्वास, अनियमित उत्तेजक आहार, अनियमित निद्रा, ब्रह्मचर्य हीनता, भगवान में अविश्वास और सिद्धि की चाह जैसे विघ्न योग आरंभ भी नहीं करने देते, तिसपर कहीं नकली (और आजकल तो जमाना ही नकली का है) गुरू मिल गये तो हो गया कल्याण ! कौन समझाये कि सिद्धि से पारमार्थिक हानि होती है ! कौन बताये कि पूजा करवाना, गुरू बनना और दंभ करना योग से परे ले जाता है।

गुरु, योग करना है तो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश के पंचक्लेश से मुक्त हो। शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता के साधन जुटाओ। शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा सी ज्ञान की सप्त भूमिकाएँ तैयार करो, काम, क्रोध, लोभ के नरक से बचो, शांत, सख्य, वात्सल्य, दास्य, मधुर जो भी भाव रुचे उसमें स्थापित हो, तब हे क्षर तुम अक्षर बनोगे, योग साधकर पुरुषोत्तम बनोगे ! इस योग मार्ग में वियोग की प्रबल पीड़ा है, चिंता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि और मोह ही नहीं मृत्यु का वरण भी करना पड़ सकता है, बारंबार स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रुपात और प्रलय की सात्विक स्थिति आती है। यह सब स्वीकार हो तो 'योग' करे। रिसर्च जरूर हो पर यह निश्चित है कि इसमें कुंडलिनी जागने से रही, न अनहद बाजा ही बजेगा और अयोध्या के अष्टचक्र नवद्वार डाँक कर सहस्रार में पहुँच कर रस अथोर में नहाने की कल्पना कभी पूरी नहीं होगी।

माननीय सम्पादक जी ! आपका पत्र क्या आया कि लगा श्याम सलोने स्वयं आ गये। आपने लिखा विश्ववंद्य अनन्त श्री विभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज का ७१वाँ जन्म दिन है, सो परमश्रद्धेय गुरुचरण को साष्टांग प्रणाम

करता हूँ और अपने को धन्य मानता हूँ। पर काल से परे वर्ष-ग्रंथि का अर्थ ही क्या है ? ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रग्रंथि की जहाँ चर्चा हो वहाँ मायालोक के कैलेंडरी वर्ष कितने तुच्छ हैं। फिर भी हम क्षुद्र मानव इन्हीं दिन-रात के झमेले में पड़े ज्ञानसूर्य की एक-एक किरण को तरसते रहते हैं। आपने अवसर दिया कि अनन्त श्री की एक कृपा कटाक्ष मोहाविष्ट संसारियों को मिले यह बहुत ही उत्तम, पुण्य कार्य किया।

बाकी हम गाँव गँवारिन पाती कहाँ पढ़ें, नैन में कजरा टिकता ही नहीं, आखर कहाँ टिकैंगे। एक बात कहते हैं जोग-वोग बड़ी चीज है, वह हम क्या करेंगे ? हाँ स्याम हमारे प्रान पियारे हैं वाको आन मिलाओ तो फिर तुम्हारी वाली सब करेंगे। तुम्हारी लंबी योगलिस्ट पढ़कर हँसी आई, रोना आया। पांडे महाराज, 'कैसेट' में कन्हैया की आवाज भरकर भेज दी होती तो हम उसी को सुनते, कोई बकवास नहीं करते। बाकी एक छवि ही खैंच कर पठाई होती ! पर तुम तो हमें जोग बताते हो, वह शुभ जोग हमारे भाग में नहीं है। अब बस करते हैं। दैयारी, कित्ती बार समझावें ऊधोजी कि—'जोग, जोग हम नाहीं।'

शब्द-तत्त्व-चिन्तन में योगियों का योगदान

[श्रीमती विमला मुसलगांवकर]

सत्व, रज और तम रूपा प्रकृति पिण्ड में वात, पित्त तथा कफ रूप में अवस्थित है। शरीर से उत्पन्न होने वाले शब्द की तारता (Pitch) तीव्रता (Loudness) घनता (Volume) का सम्बन्ध इन्हीं तीनों गुणों (रस्सियों) से है जो समस्त विश्व को अपने में बाँधे हैं। प्राप्त देह में अवस्थित त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण ही तारता, तीव्रता और घनता तीनों धर्म घुले मिले शब्द के साथ चले आते हैं। किन्तु शब्द (ध्वनि) के साथ एक विशिष्ट गुण (Timber) जो गुणों से भिन्न है, उसका सीधा सम्बन्ध प्राप्त हुए स्थूल देह से नहीं वरन् प्राप्त सूक्ष्म देह से है या पूर्व संस्कारों से है, जो इस शरीर से उत्पन्न शब्द में लावण्य, विलास और ध्वनि-भंगिमाएं प्रदान करते हैं। संस्कार ही गूंज झंकार आदि विशिष्ट गुण दे देते हैं। इसीलिए नादोपनिषद् में कहा है कि जितने जीव हैं, उतने नाद हैं। गुण और तत्त्वों की समानता सम्भव भी है, संस्कार समानता असम्भव है। मन्त्र योग में मन्त्र के जप या अभ्यास से पूर्व संस्कार सहज ही जगाये जा सकते हैं। भावी नवीन संस्कारों का बीजारोपण किया जा सकता है। जो गायक या साधक शब्द के सूक्ष्म रूप के साथ विश्वव्यापी महाशक्ति के रूप की चेतना ले आता है वही अपनी मौलिकता और नूतनता से जन मानस को विमुग्ध करता है।

दूर या पास से, ऊंचे या नीचे से, गहरे स्थान से या खुली जगह से अथवा इन विभिन्न मिश्रित स्तरों से उठने वाला या आने वाला एक ही कण्ठका शब्द अवश्य ही भिन्न होगा, यह वैज्ञानिक सत्य है। कमल की पंखुड़ियों के प्रतीक के माध्यम से विभिन्न दिशाओं तथा भूमियों के कारण जो अन्तर पड़ता है उसी को इंगित किया है। चक्रों के माध्यम से विभिन्न लोक के स्तरों से पड़ने वाले प्रभाव की ओर संकेत किया है। प्रत्येक चक्र पर पञ्चीकरण होने पर भी एक-एक तत्त्व की प्रमुखता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर तक स्वर्ग लोक की संज्ञा दी है। अनाहत चक्र पर महर्लोक, विशुद्धि चक्र पर जनलोक और आज्ञा पर तपोलोक कहा है। लोक या देश का प्रभाव शब्द की आकृति से विशेष सम्बन्ध रखता है यथा संस्कृत भाषा 'सत्' और अरबी भाषा के 'हक' में 'स' और 'ह' दो भिन्न ध्वनियां लगती हैं किन्तु वस्तुतः यह एक ही ध्वनि के दो रूप हैं। देशज प्रभावों के कारण भी वर्ण या शब्द बदलता है किन्तु शब्द के धर्म या गुण सम आकृति से भिन्न भी रह सकते हैं। लावण्य शरीरावयव नहीं है किन्तु शरीर के आश्रय से रहता है। शब्द का लावण्य शब्द के भीतर निहित संस्कारों का परिणाम होता है। निष्कर्ष यह कि शब्द का वैखरी रूप पञ्चमहाभूतों से प्रभावित होता है—शब्द गुण, त्रयात्मक गुणों से और शब्द का आकर्षण पूर्व जन्मों के कर्मानुसार अर्जित संस्कारों का प्रतिफल है।

योगदर्शन में विभूतिपाद ने चक्षु और मन का, प्राण-वायु और वाणी का, श्रोत्र तथा आत्मा का मेल बताया है। आत्मा का सम्बन्ध हृदय से है अतः श्रोत्र का सम्बन्ध हृदय से होता है। इसीलिए सूक्ष्मवाणी ज्ञान अथवा बुद्धि रूप में प्रकट होती है। बुद्धि से इच्छा शक्ति जागृत होती है और चित्त प्रोत्साहित होता है। शान्त चित्त इच्छा के कारण डोलने लगता है, उसकी गति से कायाग्नि उत्पन्न होती है। अग्नि ऊर्ध्व शिख होने से उसका धारा प्रवाह उन्मुख होती है। इस धारा से प्राणों की गति भी तदनुरूप होती है। प्रोत्साहित चेतना से प्राण नाभि स्थान से उठकर मस्तिष्क में एक झटका लगाता है और नीचे उतर आता है। इसी बीच मस्तिष्क पिण्ड स्थान से उत्पन्न चेतना शक्ति से दूसरे वैद्युतिक प्रवाह से टकरा कर झंकृत हो उठता है। इस झंकार को हमारी स्वर तन्त्री सहेज लेती है और उसे भव्य ध्वनि का रूप दे देती है। ध्वनि के गुणों से प्राण परिपूर्ण हो उठता है। मुखसे निकलने वाला श्वास झंकारमय हो जाता है। अग्नि से प्रभावान्वित होकर यह स्वयं फैलने लगता है। तब वर्णों की उत्पत्ति होती है। अन्तः वाक् अग्नि के परिणामों के साथ मिल जाती है। इसका रूप या आकार भौतिक अभिव्यक्त वाणी (Physical sound) में प्रतिबिम्बित होता है। इसी वैद्युतिक धारा प्रवाह से योगी आन्तरिक शिराओं का परिशोधन करता है। सार

यह कि व्यक्त भाषा की अव्यक्त प्रक्रिया में पृथ्वी से लेकर आकाश तक के समस्त तत्त्व सक्रिय होते हैं। शब्द उच्चारण प्रक्रिया की विधि इतनी होकर भी तीव्र होती है कि इससे शरीर की कार्य क्षमता और शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। अद्‌भुत बात यही है कि जो भावना तथा अभ्यास शब्द को भौतिक प्रतीक बनाता है वही उसे शुद्ध परिमार्जित करके आत्मोपलब्धि का माध्यम बनाता है। किन्तु वह शब्द धातुओं या तत्त्वों से निकली ध्वनि से निर्मित होना चाहिए। कृत्रिम शब्द आत्मज्ञान में सहायक नहीं होते।

योग इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि वैखरी शब्द प्रकट होने से पूर्व तीन अवस्थाओं से गुजरता है। योग में शब्द शक्ति की मूल सुप्तावस्था का नाम 'परा' है। वही बिन्दु रूपिणी 'परा' शक्ति जब अंतः चक्षु ग्राह्य बनती है तो 'पश्यन्ती' कहलाती है। इसी को योगियों ने 'नाद' संज्ञा भी दी है। 'बिन्दु' का विस्तार को प्राप्त होना या धारा अथवा रेखा (क्योंकि सबसे छोटी रेखा दो बिन्दुओं के मिलन से बनती है) होना ही 'नाद' है। यह शब्द-भण्डार-बिन्दु के समस्त गुणों से युक्त गतिमान् धारा का ही दृश्य रूप चित्र है। इसी कारण इसे पश्यन्ती कहा है। पुनः प्रकाश रूप नाद जब वर्ण रूप में प्रकट होता है उससे पूर्व की अवस्था मध्यमा नाम से कही गई है, यह प्रकाश रूप ध्वनि के वर्ण रूप में ढलने की प्रक्रिया है। आज विज्ञान के प्रताप से ध्वनि धारा के प्रकाश तार में और पुनः ध्वनि में रूपान्तरित होने का प्रत्यक्ष प्रमाण रेडियो है।

शक्ति की शान्तावस्था में भी स्पन्दन होता ही रहता है। एक ही स्थान पर ऊँचे नीचे होते रहना ही स्पन्दन है—इसके कारण ही गति का भान होता है। जल, वायु आदि की तरह शब्द की या ध्वनि की भी तरंगे हैं। इन तरंगों की गति के पीछे शक्ति (Force) भी प्रेरक होती है।

आत्मसाक्षात्कार का सगुण सूक्ष्म उपाय शब्द तत्त्व ही है। अन्य बाहरी उपाय कठिन साध्य रहते हैं तथा बहुत साधना के बाद थोड़ा-सा लाभ होता है। पर आत्मज्ञान के लिए जिस अवधान की आवश्यकता है वह शब्द से सहज ही हो जाता है। देवता से पशु वर्ग तक, ज्ञानी से अज्ञानी तक, नाद का प्रभाव आज वनस्पति वर्ग पर भी प्रयोग करके देखा गया है। उसके परिणाम अनुकूल ही दृष्टिगत हुए हैं। सोते से जगा देनेवाला शब्द ही है। नाद की आसक्ति सम भाव से देखी जाती है। शब्द आकाश का गुण है। गुणको आधार चाहिए,ही क्योंकि गुण निराश्रित नहीं रहता। मूलाधार से अनाहत चक्र तक यानी पृथ्वी तत्त्व प्रधान से वायु तत्त्व प्रधान तक के चक्रों पर वर्णमाला के सभी व्यञ्जन न्यस्त किये गये हैं, किन्तु समस्त स्वरों की सत्ता विशुद्धि चक्र पर कही है। पिण्ड देश का वह आकाश ही है। जाति रूप से गुण सामान्य का ज्ञान कराते हैं,व्यक्ति रूपसे सजातियों से विविक्त करता है। स्वर शब्द का एक सामान्य गुण है। मन्त्रयोगी मन्त्र पर अधिकार कर आकाश तत्त्व को वशंगत करता है और योगी प्राण के माध्यम से वायु तत्त्व को अपने वश में कर लेता है। क्योंकि गुणों को वश में करने से गुणी वस में आ जाता है।

चक्रों पर निहित वर्ण व्यवस्था निश्चित रूप से इंगित कर रही है कि सृष्टि काल में शक्ति का अवतरण क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर है किन्तु मुक्ति काल में ठीक विपरीत क्रम में हमें चलना या चढ़ना होगा। यही योग स्पष्ट रूप से बता रहा है कि जिस धारा का बहाव समुद्र की ओर है, उसके उद्‌गम स्थान की खोज में हमें धारा के प्रतिलोम चढ़ना पड़ेगा। योगियों का दिया अनुभूत पक्ष अधिक विश्वास के योग्य है, अपेक्षाकृत पाश्चात्यों के इस कथन से कि बन्दर हमारे पूर्वज थे, उनसे विकसित होकर मनुष्य हुआ। सिर केवल कोई चलता नहीं देखा गया, अनुचर और शासक का अन्तर दिखाया नहीं जाता वह स्वयं सम्मुख आता है।

निष्कर्ष यह कि योग ने शब्द, ध्वनि, स्वर, व्यञ्जन, स्फोट आदि शब्द सम्बन्धी विभिन्न संज्ञाओं का यथातथ्य ज्ञान दिया है। सृष्टि के मूल में चित् शक्ति है, उसी का विस्तार जगत् है, वह ऊर्ध्वगामी है। शान्त अवस्था में भी उसमें स्पन्दन होता ही रहता है, वह व्यक्त रूप में प्रकट होने से पूर्व तीन भिन्न अवस्थाओं में से होकर निकलती है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ही उसकी चार अवस्थाएँ या चार चरण हैं। संकोच या प्रसार, श्वास या निःश्वास, अनुस्वार या विसर्ग यह चित् शक्ति की दो दिशाओं के सूचक हैं। पदार्थ सृष्टि का मूल कारण शब्द-सृष्टि है। उसका बोध पदार्थ बोध की जड़ें जमाता है। क्योंकि तत्त्व और उसके प्रतीकात्मक शब्द (व्यवहार हेतु) के स्वरूप का ज्ञान दो भिन्न नहीं हैं। अतः आत्मबोध का सरलतम, सगुण, सूक्ष्म उपाय शब्द है। क्योंकि वही आत्म रूप है। आनन्दमय, प्रकाशमय, ज्ञानमय है। अदृश्य होते हुए भी स्वयं अपने को प्रकाशित करती है। इस तरह नश्वर ही शाश्वत का, शून्य ही मुक्ति का और शब्द ही शब्दातीत का साधन योग ने बताया है। ●

क्रिया-योग

[डॉ. जनार्दन उपाध्याय]

योग चैत्तिक वृत्तियों का निरोध—महर्षि 'पतंजलि ने कहा है कि तप से शरीर, स्वाध्याय से अन्तःकरण, ईश्वर प्रणिधान से प्राणों के विकार दूर हो जाते हैं। इस प्रकार कर्दमों के विनाश से योगी स्वरूपस्थ होता है। सामान्य जन दृश्य या दृश्यमान जगत् के जड़ात्मक स्वरूपों में अनुरक्त रहता है। योगी तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान से समस्त कर्दमों का नाश कर के अपने स्वरूप में सहजही स्थित हो जाता है। इसी से पातंजलि योग का सूत्र है :" **तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रिया योगः**" चैत्तिक वृत्तियों का निरोध ही यौगिक पुरुषार्थ का लक्ष्य है। कर्त्ता, कर्म एवं कर्म संस्कार की अभाव सिद्धता ही योग की उत्कृष्टावस्था है। योग प्रक्रिया का मात्र लक्ष्य है चैत्तिक वृत्तियों का निरोध, योगी की स्वरूप स्थिति तो उसका सहज परिणाम है। इसीलिए योग-सूत्र में "चित्तवृत्तिनिरोधः" के बाद ही सूत्र आता है : "**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**" आशय स्पष्ट है—जैसे ही चित्त वृत्तियाँ निबद्ध होती हैं, योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चित्त वृत्तियों का निरोध स्वरूप स्थिति, सम्प्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि स्थिति का हेतु है।

द्रष्टा के अस्तित्व की तीन स्थितियाँ हैं :—

स्थूल, सूक्ष्म, कारण।

स्थूल शरीर का विकार मल है। इसे साफ करने के लिए "तपः" की आवश्यकता है। सूक्ष्म शरीर का कर्दम विक्षेप है। इसको नष्ट करने का एकमात्र साधन "स्वाध्याय" है। 'स्व' का अर्थ स्व-स्वयं, अधि ऊपर या गमनशीलता है। अतः गमनशील इन्द्रियों के ऊपर अपना अधिकार रखना "स्वाध्याय" है। कारण शरीर का दोष अज्ञान है। यह ईश्वर प्रणिधान द्वारा प्रणष्ट होता है। द्रष्टा निज बोध की स्थिति में ईश्वर की सम्भावना-संभूति का अधिकारी बन जाता है। पतंजलि ने ईश्वर के सम्बन्ध में कहा है— "**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः**" क्लेश कर्म के विपाकाशय से जो सर्वथा अपरामृष्ट रह जाता है, वही 'ईश्वर' है। क्लेश कर्म विपाकाशय की अपरामृष्ट दशा संस्कारातीत की दशा है। अतः ईश्वर संस्कारातीत की निष्काम सिद्धि हुआ। इसी से वह निरतिशय और सर्वबीज है : "**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्**"।

क्रिया-योग का साधन विज्ञान—क्रिया-योग स्थूल, सूक्ष्म, कारण दशा में ही सम्पन्न होता है। शरीर की उक्त तीन स्थितियाँ—स्थूल, सूक्ष्म, कारण दशाओं को ही व्यक्त करती हैं। यह सिद्ध है कि क्रिया-योग की साधना उक्त तीनों दशाओं में होती है। अतः क्रिया-योग को तीन दशाओं की सप्तकायिक यात्रा कहा जा सकता है। एक प्रकार से योग चिन्तना में मानवीय अस्तित्व ही सप्तकायिक है। ये सप्तकायायें इस प्रकार हैं—

भौतिककाया, भावकाया, सूक्ष्मकाया, मनस काया, आत्म काया, ब्रह्मकाया, निर्वाणकाया।

इन्हीं सप्तकायिक अस्तित्व की तीन दशाओं में स्थूल, सूक्ष्म, कारण की प्रत्यभिज्ञा है। इस प्रकार क्रिया योग को तीन दशाओं की सप्तकायिक प्रत्यभिज्ञा भी कह सकते हैं। ऊपर जिन सप्तकायिक की चर्चा की गयी है, उन्हीं से सप्त चक्रों की अवस्था को भी परिकल्पित किया गया है। इन्हें इस प्रकार क्रमशः देखा जा सकता है—

(१) भौतिककाया मूलाधारचक्र में स्थित है। (२) भावकाया स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित है। (३) सूक्ष्मकाया मणिपूरचक्र में स्थित है। (४) मनमें काया अनाहतचक्र में स्थित है। (५) आत्म काया विशुद्धचक्र में स्थित है। (६) ब्रह्मकाया आज्ञाचक्र में स्थित है। (७) निर्वाणकाया सहस्रारचक्र में स्थित है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सप्त चक्रों में सप्त कायिक प्रत्य-

भिज्ञा तो होती है, साथ ही साथ वृत्तियों, वर्णों, तन्मात्राओं, कोषों एवं लोकों की प्रत्यभिज्ञा होती है।

क्रिया-योग का साधनात्मक-विमर्श—प्रस्तुत प्रसंग में विभिन्न चक्रों में विभिन्न कायाओं की प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप एवं परिणाम का उल्लेख आवश्यक है। क्रम से सर्व प्रथम भौतिककाया के प्रत्यक्षीकरण की स्थिति आती है।

(१) मूलाधार और भौतिक काया की प्रत्यभिज्ञा—भौतिककाया की प्रत्यभिज्ञा मूलाधार चक्र में होती है। मूलाधार चक्र का भौतिककाया से केन्द्रीय सम्बन्ध है। इस चक्र की स्थिति भू.लोक में है। साधना द्वारा भौतिककाया में क्षिति तत्त्व की प्रत्यभिज्ञा गन्धेषणा समाप्त हो जाती है। यहीं पर अन्नमय कोष की साधना होती है। सामान्यतया चित्त, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की वासना से भौतिककाया में साधनागत सम्भावनाओं को उपलब्ध नहीं कर सकेगा। यौगिक साधना से प्राकृतिक सम्भावनाओं का रूपान्तरण होता है। साधना प्राकृतिक सम्भावनाओं का दमन नहीं जागरण है। क्योंकि दमन से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की वासनाएँ रूपान्तरित नहीं हो पायेंगी। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके प्रति जागरूक होने पर रूपान्तरण उसके भीतर ही होने लगता है। मूलाधारस्थ भौतिककाया की प्राकृतिक सम्भावनाओं का रूपान्तरण जागरण से ही सम्भव है। इस जागरण से ही साधक धर्म और अर्थ की वासना से अतीत हो जाता है तथा काम, ब्रह्मचर्य और मोक्ष निर्वाण में परिवर्तित हो जाता है। मूलाधार चक्र में स्थिति भौतिककाया में क्षिति तत्त्व की साधना होती है।

(२) स्वाधिष्ठान और भाव काया की प्रत्यभिज्ञा :—स्वाधिष्ठान चक्र शरीरस्थ भुवःलोक में स्थिर है। भवकाया में जल तत्त्व है। इस चक्र में भवकाया के प्रत्यक्षीकरण से रसैषणा से निवृत्ति हो जाती है। भवकाया की साधना से काममय कोषकी सम्भावना-ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण होता है। इस काया की वृत्तिगत प्राकृतिक सम्भावनाएँ-अवज्ञा, प्रश्रय, मूर्च्छा, अविश्वास आदि हैं। इन्हीं सबों में बद्ध रहने पर साधक में रूपान्तरणधर्मी सम्भावनाओं के उत्कर्ष की स्थिति नहीं आ पाती। इसीलिए इन प्राकृतिक सम्भावनाओं के प्रति जागरण द्वारा ही रूपान्तरण होगा और क्रमशः चित्त से आदर, अप्रश्रय, अमूर्च्छा, विश्वास, सर्व मंगल और अक्रूरता की मंगलमयी तरंगे उठती हैं। उससे ही विश्व जीवन के अस्तित्व को शान्ति और समरसता मिलती है। भवकाया की साधना साक्षी जागरण एवं प्राणः निस्पन्दता की साधना है। इस काया में ही जागरण से वृत्तियों के प्रतीक रूप वर्णों का प्रत्यक्षीकरण होता है और साधक वर्णों का अनाहत संगीत सुनकर आनन्दित होता है।

(३) मणिपूर और सूक्ष्म काया प्रत्यभिज्ञा :—यह काया मणिपुर चक्र के भुवःलोक में स्थित है। इसका उपजीव्य अग्नि तत्त्व है। इसमें जब अग्नि तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण होता है तो रूप की आसक्ति अरूप की प्यास में बदल जाती है। यह रूपान्तरण अपूर्व है। इसमें प्राणमय कोष की साधना करनी पड़ती है। प्राणाग्नि प्रज्वलन साधना परम्परा का एक महत्वपूर्ण प्रतीक रूप है। अग्नि तत्त्व जल तत्त्व से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि जल की गति अधोमुखी होती है, अग्नि की शिखा ऊपर की ओर जाती है, यह प्रसिद्ध है। इसी आधार पर चेतना की दो प्रकार की प्रवाह गतियाँ हैं:—जल की प्रवाह गति अग्नि की प्रवाह गति। व्यक्ति की वृत्तिगत प्राकृतिक सम्भावनाएँ पानी की तरह अधोमुखी प्रवाहित होती हैं जबकि साधनात्मक सम्भावना अग्नि की तरह प्रवाहित होती है। इस प्रकार अग्नि ऊर्ध्व गमन का प्रतीक बन गया है। इसके साथ ही वह अन्य सम्भावनाओं का भी प्रतीक है। अग्नि शुद्ध को रखता है, अशुद्ध को भस्म कर देता है। इस प्रकार यह तप एवं परीक्षा का निकष बन गया। तपः यह स्पष्टतया इंगित करता है कि जो कुछ भी शरीर में मल है, वह उसकी अग्नि से भस्म हो जायेगा और शुद्ध कंचन ही बचा रह जायेगा। अग्नि का एक गुण है कि वह ऊपर उठती और कुछ दूर जाकर आकाश में विलीन हो जाती है। अतः उसका ऊर्ध्व गमन विलीनीकरण को प्रतीकित करता है। अग्नि दूसरे को जलाकर स्वयं भी जल जाती है। वह स्वयं बच जाती तो हिंसा का भाव रह जाता। इस प्रकार उसकी प्रकृति हिंसा की न होकर प्रेम की बन जाती है। अद्वय तत्त्व में प्रेम-साधना ही चरम है। अग्नि इस प्रकार

प्रेम एवं शून्य की सम्भावनाओं को समेटे है। अग्नि स्वयं तो दिव्य है ही, दूसरों को भी दिव्य बना देता है। सूक्ष्मकाया अग्नि तत्त्व की प्रत्यभिज्ञा से योगी ऊर्ध्वगमन, शुद्धता, विलीनीकरण, प्रेम एवं शून्यता की महिमा में प्रतिष्ठित हो जाता है। सूक्ष्मकाया की वृत्तिगत प्राकृतिक सम्भावनाओं में आवद्ध रहने पर साधक लज्जा, पिशुनता, सुषुप्ति, विषाद, काषाय, तृष्णा, मोह, घृणा, भय आदि से ऊपर नहीं उठ पाता। परन्तु साधक जब जागरण की अवस्था में रहता है तो वह उनसे ऊपर उठकर, उन्हें रूपान्तरित कर देता है। साक्षी चेतना के अभ्युदय से ही वृत्तियाँ रूपान्तरित हो जातीं है। लज्जा लज्जातीतता, पिशुनता स्पष्टवादिता, ईर्ष्या ईर्ष्यातीतता, सुषुप्ति जागरण, विषाद आह्लाद, काषाय काषायातीतता तृष्णा, विगत तृष्णा, मोह अमोह, घृणा प्रेम, भय अभय की मंगलमयी दशा में रूपान्तरित हो जाता है। जब साधक इनका दर्शन कर लेता है तो उसमें साक्षी चेतना का प्राकट्य होता है। यह उसकी भोक्तृत्व चेतना को नष्ट कर देता है। साक्षी चेतना तो स्थितप्रज्ञता की है। इसमें जो स्थितप्रज्ञता आती है, उसमें वर्ण वैभव की प्रभा दिखायी देती है और साधक का शब्दों की निःशब्दात्मक अनुभूति में लय होता है। इस शब्दमय अनाहत संगीत का अनिर्वचनीय आनन्द है।

(४) अनाहत और मनसकाया की प्रत्यभिज्ञा—अनाहत चक्र के महःलोक में मनसकाया है। इसमें वायु तत्त्व का वास है। अनाहत चक्र में वायु तत्त्व की प्रत्यभिज्ञा से स्पर्श की समस्त एषणाएँ प्रणष्ट हो जाती हैं। साधक वायु की तरह सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। वायु का महत्वपूर्ण गुण है अदृश्य रूप में सबमें समाविष्ट रहना। वायु तत्त्व की प्रत्यभिज्ञा से साधक को यह ज्ञान होता है कि दृश्य असत्य है, अदृश्य ही सत्य है। चेतना सत्य है, वह अदृश्य है। यही अदृश्य जीवन का लक्ष्य है। इस वायु तत्त्व की साधना से साधक अतीन्द्रिय सम्भावनाओं से युक्त हो जाता है। वह समय और स्थान की बाधा के बिना दूसरों से सम्बन्धित हो जाता है। वह बिना बोले दूसरों की भाषा पढ़ सकता है। अपने विचार को दूसरों तक भेज सकता है। आकाश में पक्षियों की भाँति घूम सकता है। इस काया में मनोमय कोष के दर्शन से साधक विचार-सम्प्रेषण, दूर-दर्शन, विचार पाठन की अतीन्द्रिय शक्ति को प्राप्त कर लेता है। मनसकाया के ज्ञान पर अनाहत चक्र की सभी प्राकृतिक सम्भावनाएँ रूपान्तरित हो जाती हैं। इसकी संभावनाएँ हैं—आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता, दंभ, विवेक, विकलता, अहंकार, लोलता, कपटता, वितर्क और अनुताप। इसका साक्षी चेतना में आशातीतता, अचित्यत्त्व, अचेष्टा, ममत्व की समग्रानुभूति अदंभ, प्रज्ञा, अवैकल्य, अहंकारातीतता, अचांचल्य, निष्कपटता निर्वितर्क, अनुतापातीतता रूपान्तरित में हो जाता है। इस साधना में अनाहत संगीत निनादित होता है।

<——०——>

(लेखक के विस्तृत लेख का स्थानाल्पता के कारण अंश ही प्रस्तुत हो सका है—संपादक)

व्यंग्य

स्वातंत्र्योत्तर योग

[जगदीशचन्द्र मिश्र]

हे युग के योगी
मन के रोगी—
सकल सुख भोगी
योगिराज बन पूजा पाने वाले
शत-शत
पंथ सुपंथ कुपंथ
विपथगामी जगनामी
भव-भय हारक
सुख-दुःख टारक
जन उद्धारक
मारक-उच्चाटक
हाटक-त्राटक
उन्नत फाटक
बन्द कपाटक
बाहर याचक भीतर नाचक
निशि दिन नाटक
जलचर थलचर नभचर नाना
चढ़े जहाज कार नभयाना—
तुम ने सिद्ध कर दिया
योग-भोग का नाता
जो कुछ भी मन आये
उसको जोड़ो-भोगो
यही योग है।
'यम' से तेरे सेवक चाकर,
'नियम' तुम्हारी इच्छा केवल,
'आसन' चित्रों में वन्दी हैं
'प्रणायाम' तुम्हारा धोखा
'प्रत्याहार' गटागट गट गट
देशवन्ध वित्तस्य 'धारणा'
'ध्यान' लगा है उच्चासन पर
और 'समाधि' बनी जीते जी
यह तेरा अष्टांग योग है।

'जाग्रत' में सुख लोढ़ रहे हो—
'स्वप्न' सितारे तोड़ रहे हो—
बन 'सुषुप्त' सब जाल रच रहे,
हो 'तुरीय' हय छोड़ रहे हो।
बार बार तेरा अभिनन्दन,
बार बार है तुझको वन्दन,
दीपक चन्दन—
'परा' तुम्हारा नहीं पराया,
'पश्यन्ती' में वेदम काया,
और 'मध्यमा' मोहक माया,
है 'वैखरी' मशहरी छाया,
तुम सोते तो युग सोता है—
आगे देखो क्या होता है।
हे योगी के बाप—
आप बस बैठे बैठे—
अहा वायु गोपा बन बैठे।
उड़ा रहे हो—
भक्त जनों को—
उनके तन को—
उनके धन को—
उनके मन को।
पतंजलि को तिलांजलि दे,
उन्हें ही दोहराना,
दत्तात्रेय, याज्ञवल्क्य, शुकदेव को पचाना,
नामदेव, गोरखनाथ, व्यास को न जाना,
और भर्तृहरि को लाँघकर तुम्हारा आना,
छेड़ दिया भोगवादी योग का तराना,
ठगी का अच्छा तुम्हारा है बहाना,
इतने विशाल हो गये हैं तुम्हारे हाथ,
पुस्तकें, आश्रम, उपदेश और दीक्षा—
संसार को दे रहे खुल्लम खुल्ला शिक्षा,
हे स्वातंत्र्योत्तर युग के उन्नायक,
अकेला मैं ही नहीं हूँ तुम्हारा यश गायक,
तुम्हारी कीर्ति हवा के साथ फैली है—
छोड़ दो यह चादर हो चुकी मैली है,
खड़े खड़े मत करो परकाय प्रवेश,
तुम्हारी एकएक हरकत देखता है सारा देश।

—०—

गीता का दर्शन : कर्मयोग

[डॉ० अमरनाथ पाण्डेय]

भगवान् ने गीता में ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा की है या कर्मयोग की—यह प्रश्न आचार्यों के मन में उठता रहा है। भगवान् शङ्कराचार्य ने अपनी व्याख्या में ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा की है। इसी प्रकार अनेक आचार्यों ने गीता की व्याख्या करके अपने-अपने मतों की प्रतिष्ठा की है। ज्ञानयोग तथा कर्मयोग—ये दो निष्ठाएँ बतायी गयी हैं, अतः विमर्श का विषय यह है कि गीता में ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा की गयी है या कर्मयोग की।

यदि गीता के उपदेश की परिस्थिति पर विचार किया जाय और प्रकरणों के स्वाभाविक रूप का परीक्षण किया जाय, तो गीता में कर्मयोग की प्रतिष्ठा स्पष्ट रूप से भासित होगी। अर्जुन युद्ध करने के लिए युद्धस्थल में जाते हैं, किन्तु अपने कुटुम्बियों और सम्बन्धियों को देखकर युद्ध से विरत होने की बात कहते हैं—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ (१.४७)

अब योगेश्वर कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं और युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा अमर है, अतः न कोई किसी को मारता है और न कोई मारा जाता है। दूसरी बात यह है कि क्षत्रिय का कर्त्तव्य युद्ध करना है। यदि वह युद्ध नहीं करता, तो अपने मार्ग से च्युत हो जाता है। इस प्रकार भगवान् कृष्ण का उपदेश यही है कि अर्जुन युद्ध करे। यह बात निश्चित है कि भगवान् ने जिस कर्म का उपदेश दिया है, वह उदात्त धरातल पर अधिष्ठित है और उसके अनुष्ठान से चरम लक्ष्य की प्राप्ति का निर्देश किया गया है। यह कर्म सामान्य कर्म नहीं है, यह जीवन की निष्ठा है, रहस्य है तथा समाज और विश्व का पोषक है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भगवान् कृष्ण अर्जुन को कर्म के लिए प्रेरित करते हैं। वे अनेक स्थलों पर कर्म के माहात्म्य का निरूपण करते हैं और कर्म के रहस्य का सविस्तार प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि यदि मैं कर्म न करूँ, तो सारे लोक नष्ट हो जायँ—

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ (३.२३-२४

यहाँ भगवान् कर्म के वैशिष्ट्य और रहस्य का प्रतिपादन करते हैं। यह बात मान्य है कि गीता में ज्ञान की महिमा का वर्णन हुआ है, पर पूरी गीता का प्रोज्ज्वल रहस्य कर्मयोग है। यह ज्ञानयोग की अपेक्षा अधिक प्रकाशित है।

कृष्ण अर्जुन के मोह के निरास के लिए ज्ञान के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हैं। तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन पूछते हैं कि यदि कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तो हे केशव मुझे घोर कर्म में क्यों नियोजित कर रहे हैं—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ (३.१)

अर्जुन के प्रश्न से ऐसा प्रतीत होता है कि वे कर्म को सामान्य कर्म समझ रहे हैं। भगवान् ने द्वितीय अध्याय में जो बात कही थी, उसका रहस्य है कि मनुष्य आत्मा के अजरत्व-अमरत्व को समझे और निष्काम होकर कर्म का सम्पादन करे। कृष्ण कहते हैं कि निष्काम कर्म से सकाम कर्म अवर है तथा फल की इच्छा करने वाले कृपण हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ (२.४९)

भगवान् के उक्त वचन का तात्पर्य है कि आसक्ति का परित्याग करके कर्म करना चाहिए। इसी बात की पुष्टि वे तीसरे अध्याय में भी करते हैं, जब वे कहते हैं कि लोक में दो निष्ठाएँ हैं—ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोग और योगियों के लिए कर्मयोग—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। (३.३)

इससे स्पष्ट है कि ज्ञानयोग की भांति कर्मयोग भी श्रेयस्कर है।

इसके बाद भगवान् कृष्ण—

'नियतं कुरु कर्मत्वं लर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रारि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।। [३. ८],
'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।' [३.३०]

आदि के द्वारा कर्मयोग की ही स्थापना करते हैं। इसी प्रसङ्ग में भगवान् ने कहा है—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।। (३.४)

यह वचन नितान्त रहस्यमय है। भगवान् का उपदेश है कि यदि व्यक्ति कर्म का आरम्भ ही न करे, तो वह निष्कर्म भाव को नहीं प्राप्त हो सकता, अर्थात् कर्म या कर्मफल से मुक्ति की स्थिति नहीं प्राप्त हो सकती, तथा केवल कर्म का परित्याग कर देने से सिद्धि नहीं मिलती। यह सिद्धि नैष्कर्म्य ही है। तात्पर्य यह है कि नैष्कर्म्य न तो कर्म के के अनारम्भ से मिलता है और न तो केवल कर्म के परित्याग से ही। रहस्य यह है कि अनासक्त होकर कर्म करने से नैष्कर्म्य की प्राप्ति होगी, अथवा बुद्धिपूर्वक कर्म के परित्याग से (केवल कर्म के परित्याग से नहीं)।

नैष्कर्म्य सिद्धि का प्रयोग अट्ठारहवें अध्याय (श्लो० ४९) में किया गया है—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।

यहाँ कहा गया है कि आसक्ति रहित बुद्धि वाला, जितात्मा और स्पृहारहित व्यक्ति कर्मसंन्यास से नैष्कर्म्यरूप सिद्धि प्राप्त करता है। यहाँ नैष्कर्म्य की प्राप्ति के लिए बुद्धिनैर्मल्यपूर्वक कर्मसंन्यास की बातक ही गयी है और 'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति, में कहा गया है कि केवल कर्मसंन्यास से (अर्थात् बुद्धिनैर्मल्यपूर्वक न किये गये कर्मसंन्यास से) नैष्कर्म्य नहीं मिलता।

गीता के ३।४ श्लोक में संन्यसन पद का प्रयोग किया गया है और १८।४९ में सन्यास पद का प्रयोग। गीता में सन्यसन पद का प्रयोग केवल एक स्थल (३।४) पर मिलता है। सन्यसन पद का प्रयोग केवल कर्म के परित्याग के अर्थ में किया गया है और संन्यास पद का प्रयोग बुद्धिनैर्मल्य-पूर्वक कर्म के परित्याग के अर्थ में। संन्यास पद का प्रयोग ५।१, ५।२, ५।६, ६।२ आदि स्थलों पर भी मिलता है। इन स्थलों पर भी संन्यास पद का प्रयोग बुद्धिनैर्मल्यपूर्वक कर्म के परित्याग के अर्थ में हुआ है।

भगवान् के वचनों से यह स्पष्ट होता है कि नैष्कर्म्य कर्म तथा कर्मसंन्यास—इन दोनों के द्वारा प्राप्त हो सकता है। चूँकि लोक की व्यवस्था तथा सञ्चालन में कर्म का महत्वपूर्ण योग है, अतः अर्जुन—जैसे व्यक्ति के लिए कर्म-योग का मार्ग अत्यधिक श्रेयस्कर बताया गया है।

चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् ने कहा है कि मैंने अव्यययोग अर्थात् कर्मयोग का रहस्य विवस्वान् (सूर्य) को बताया था। विवस्वान् ने मनु को तथा मनु ने इक्ष्वाकु को बताया था। फिर परम्परा प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना। यह योग बहुत काल से लोक में नष्ट हो गया है। अब उसी योग का उपदेश कर रहा हूँ—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स योगो महता कालेनेह नष्टः परन्तप ।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।। (४. १-३)

यहाँ कृष्ण ने राजर्षियों की परम्परा का उल्लेख किया है। जिस कर्मयोग का साक्षात्कार राजर्षियों ने किया था, उसी कर्मयोग का निरूपण अर्जुन के प्रति किया गया है। राजर्षियों ने कर्मयोग से प्रजा की रक्षा की है और परम तत्त्व का साक्षात्कार किया है। भगवान् कृष्ण अर्जुन को उसी कर्मयोग के अनुष्ठान के लिए प्रेरित करते हैं। राजर्षियों के लिए कर्मयोग का विधान किया गया है क्योंकि यदि वे कर्मयोग का अनुष्ठान न करें, तो व्यवस्था का परि-पालन नहीं हो सकेगा।

पाँचवें अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन का जो प्रश्न है, उससे भी गीता के प्रतिपाद्य का स्वरूप प्रकट होता है। अर्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण, आप कर्मसंन्यास और फिर कर्म-

योग की प्रशंसा करते हैं। इनमें से जो अधिक श्रेयस्कर हो, उसका उपदेश करें—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।। (५. १)

इसके उत्तर में कृष्ण कहते हैं—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।। (५. २)

कर्मसंन्यास (ज्ञानयोग) और कर्मयोग में कर्मयोग विशिष्ट बताया गया है। यह विशिष्ट इसलिए कहा गया है कि कर्मयोग कर्मसंन्यास की अपेक्षा अधिक व्यक्तियों का हित करता है।

गीता में कई स्थलों पर साङ्ख्य योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि पदों के प्रयोग मिलते हैं। साङ्ख्य और योग में बहुत अधिक साम्य है, इसीलिए भगवान् कृष्ण ने कहा है कि जो स्थान (परम तत्त्व, मोक्ष) साङ्ख्ययोगियों द्वारा प्राप्त किया जाता है, वही योगियों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपिगम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।। (५.५)

यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि गीता का साङ्ख्य या योग कपिलके साङ्ख्य या पतञ्जलि के योग से भिन्न है। गीता में साङ्ख्ययोग नाम से भी दर्शन का उल्लेख हुआ है—

अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।। (१३. २४)

साङ्ख्यदर्शन और योगदर्शन की अलग-अलग परम्पराएँ थीं। साङ्ख्य में ज्ञान और योग में साधना का प्राधान्य था। साङ्ख्ययोग रूप में जिस चिन्तन-प्रक्रिया का उदय हुआ, उसमें साङ्ख्य के ज्ञानपक्ष और योग के साधनापक्ष का समन्वय किया गया था।

गीता का कर्मयोग एक विशिष्ट प्रकार का योग है। यह न तो पतञ्जलि का योग है और न तो कपिलका साङ्ख्य ही। यह कर्मयोग ज्ञान से संवलित कर्म का विशुद्ध अनुष्ठान है। अनेक स्थलों पर ऐसे वचन मिलते हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञानयोग से परम तत्त्व की प्राप्ति होती है, किन्तु गीता का स्वारस्य कर्म में ही प्रतीत होता है। गीता का कर्मयोग विशेष दर्शन है। इस योग का विश्व के सुन्दर सञ्चालन में—व्यवस्थापन में विनियोग है। यह योग समुज्ज्वल और परिपुष्ट होता है—ज्ञान से। गीता में साधना और भक्ति की भी महिमा वर्णित है। ये भी कर्म के उपकारक हैं। इस कर्मयोग से विश्व का परम कल्याण होता है और मानव निःश्रेयस की प्राप्ति करता है, जबकि ज्ञान से व्यक्ति की मुक्ति तो होती है, किन्तु व्यक्ति का समाज की व्यवस्था में बहुत कम योग होता है।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।। (२. १८)
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।।(२.३८)
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।। (२.३८)
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।। (४. ४२)
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।(१६.२४)

आदि वचनों के द्वारा भगवान् कृष्ण अर्जुन को कर्मके लिए उद्बोधित करते हैं। अन्त में अर्जुन भगवान् से कहते हैं कि हे भगवन्, मेरा मोह नष्ट हो गया और आपकी कृपा से आत्मविषयक स्मृति मिल गयी। मैं संशयरहित होकर आपकी आज्ञा के अधीन खड़ा हूँ। अब आपके कथन के अनुसार आचरण करूँगा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। (१८. ७३)

भगवान् ने गीता में कर्मयोग के द्वारा कर्म के निर्मल स्वरूप की उपस्थापना की है। यह सृष्टि का रहस्य है, विश्व के इतिहास में मानवता के कल्याण की प्रेरणा देनेवाली अद्भुत घटना है।

कृष्ण का जीवन कर्मयोगी का जीवन है। एक ओर योगेश्वर (कर्म के अधिष्ठाता और उपदेशक) कृष्ण हैं और दूसरी ओर धनुर्धर (कर्म के लिए उद्यत) अर्जुन—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। (१८. ७८)

गीता की भूमिका तथा गीता के निर्देशों के रहस्य, भगवान् कृष्ण की अभिनव लीला तथा अर्जुनके जीवन से प्रकाशित होता है कि भगवान् ने गीता के माध्यम से कर्मयोग—एक अपूर्व दर्शन का प्रणयन किया है।

कबीर साहित्य—योग में सुरति

[डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी]

[श्री त्रिपाठीजी का हमें प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख बहुत विस्तृत है। स्थानाल्पता के कारण उसका अंश ही प्रस्तुत है—सम्पादक]

'सुरति' है—"तीव्र दर्शन की प्रगति," जिससे क्रमशः एकाग्रभाव की वृद्धि होती है और निरति है—निर्विकल्प ध्यान। इन दो प्रक्रियाओं के परस्पर सहयोग से अष्टदल कमल का भेद भी होना चाहिए तभी परमतत्व की प्राप्ति होती है। उन्मनी मुद्रा द्वारा सुरति की प्रक्रिया (एकाग्रता) सिद्ध हो जाने पर प्रत्येक नेत्र के अंतिम अवयव अग्र दृष्टि में, अग्रगति प्राप्त की जा सकती है। अग्रगति प्राप्त होने पर अष्टदल का भेद हो जाता है। फलतः साकार तथा निराकार का, सविकल्पक तथा निर्विकल्पक का भेद तिरोहित हो जाता है। इसी प्रकार महाशून्य तथा भ्रमरगुहा का भेद करके सत्यराज्य में प्रवेश हो जाता है। यह सत्यराज्य परब्रह्म के केन्द्र में स्थित है। वंकनाल का यहाँ विशेष उपयोग है। यह नाड़ी यों तो मूलाधार से चलती है और घूमती हुई आज्ञाचक्रस्थ विन्दु का स्पर्श करती हुई ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करती है और वहाँ से नीचे आकर फिर ऊर्ध्वमुखी होती है। जहाँ वंकनाल समाप्त होती है वहाँ परम शुद्ध विंदु की स्थिति दीखती है। इस साधना में भी शब्द के धुनि-रूप का साक्षात्कार होता है। यही धुनि सद्गुरु है। सत्य लोक के भी ऊपर 'अनामी' है जहाँ किसी के अनुसार धुनि है और किसी के मत से होने पर भी अननुसंधेय है।

सहस्रदल कमल रूप आसमान में सुरति निरति रूप दो तारों का साक्षात्कार हुआ करता है। सुरति का प्रकाश उजला होता है, निरति का श्याम। इसीलिए सहस्रदल कमल को कहीं-कहीं श्यामश्वेत (श्यामसेत) भी कहा जाता है। इसी की छाया आँख में है, आँख की ज्योति उजली है परन्तु घीरी श्याम स्वरूप है। इसीलिए सुरति निरति-दोनों का वास आँख में माना गया है।

सन्तों ने कहीं-कहीं सहस्रदल को अष्टदल भी कहा है। राधास्वामी मत के ग्रन्थों में प्रायः ऐसा मिलता है। उसका कारण आठ धारों का एकत्र होना तो है ही, और भी है।

स्थायीभाव वस्तुतः भावदेह का रूपान्तर है। भाव के विकास के साथ हृदय में प्रवेश प्राप्त होता है। यह अन्तरंग हृदय कमल अष्टदलों से विभूषित है। इसीलिए स्थायी भाव भी मूल अष्टभाव में विवर्तित होकर प्रकाशित होता है। इस अष्टदल कमल का एक-एक दल एक-एक भाव का स्वरूप है। भाव में प्रवृष्ट होकर उसे महाभाव में परिणत होना पड़ता है। यही भावसाधना का रहस्य है।

यह गुप्त कमल है। षट्चक्र के अन्तर्गत जो द्वादशदल रूपी हृदय कमल है, उससे यह पृथक् है। क्योंकि द्वादश दल का भेदन करने के बहुत पीछे, आज्ञाचक्र का भेदन करने पर अन्तर्लक्ष्य की प्राप्ति होती है। परन्तु जब तक लक्ष्योन्मेष नहीं होता अष्टदल में प्रवेश प्राप्त नहीं होता। इसी कारण मध्य युग के बहुतेरे संत अष्टदल को सहस्रदल कमल कहते हैं, अर्थात् कोई-कोई इसको सहस्रदल के अन्तर्गत मानते हैं। यदि यह अष्टदल भाव राज्य है तो हृदय का द्वादशदल भावाभास हो, इससे एक समस्या और सुलझ जाती है, वह यह कि ज्ञान के वाद भक्ति होती है या भक्ति के वाद ज्ञान। द्वादशदल के वाद लक्ष्य का उन्मेष होता है, इस मत से भक्ति के वाद ज्ञान होता है, परन्तु वस्तुतः लक्ष्योन्मेष के वाद जिस भाग्यवान् भक्त को अष्टदल की प्राप्ति होती है, उसकी दृष्टि में ज्ञान के बाद भक्ति होती है। भक्ति दो है ही—परा-अपरा, साधन-साध्या, इसमें इस विरोध का भी निराकरण हो जायगा।

किसी के मत से चित्तगत नाद अथवा नादोन्मुख चित्त ही सुरति और नादलीन चित्त निरति है। डा०

संपूर्णानन्द नादोन्मुख चित्त प्रवाह को सुरति और उसकी पार्यन्तिक चरम उल्लासमयी परिणति (नृत्य) को निरति, डा० बड़थ्वाल बंधमोचनकारिणी स्मृति को सुरति, पर्यवसित आत्मसाक्षात्कार को निरति, पं० परशुराम चतुर्वेदी परमार्थ सत्यप्रतिबिंवग्राही जीव को निर्मल रूप सुरति और निरवलंब आत्मलीन स्थिति को निरति, डा० त्रिगुणायत पिण्डस्थ शब्दात्मिका आत्मशक्ति को सुरति तथा ब्रह्मस्थ शब्द ब्रह्म को निरति, डा० केशरीप्रसाद चौरसिया प्राप्त आत्मा को सुरति तथा प्राप्तव्य को निरति तथा डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी और म० म० गोपीनाथजी कविराज आध्यात्मिक दृश्य दर्शन रत असाधारण दृष्टि को सुरति तथा निर्विकल्पक ध्यान को निरति मानते हैं। इन सबसे भिन्न डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी सुरति को साधन-साध्यरूपा रति और निरति को निरति मानते हैं। डा० चौहान सुरति को चित्त या मन का पर्याय मानते हैं और उसकी शब्दलीन स्थिति को निरति।

सुरत चैतन्य से शब्द गुरु की धारणापूर्वक आरती करने की आवश्यकता है। सुरत में जो रस लेने वाला अंग है—वह प्रत्येक स्थान पर रत होने लगता है और जो अंग रत नहीं होता वह निरत है। निरत सुरति की आस्वाद दशा में दीपक के प्रकाश का काम करती है। सुरत इसी प्रकाश में आगे बढ़ती है। इस निरत रूपी ढाल के ले लेने पर सुरत अपने इन अंगों के बल से चढ़ाई करती है। इसी प्रकार कबीर पंथी छत्तीसगढ़ी शाखा की धारणा यह है कि श्वास की गति सहस्रदल कमल तक ही है। आगे जाने के लिए सुरति की डोर पकड़नी पड़ती है। अतः मन के आगे चलने वाली चेतन धारा ही इस पंथ में 'सुरति' है और स्वरुप की ओर ले जाने वाली धारा 'निरति' है।

वेदान्त जिसे आत्मा कहता है, शब्दयोग के आचार्य उसे ही सुरति कहते हैं। कारण, व्यापार मात्र (क्रिया प्रतिक्रियात्मक) की अनुभवाकार मति या सूझ इसी चिन्मयी शक्ति से हुआ करती है। सूझ के भी प्रकाशक होने के कारण इसे 'सुरति' कहा गया है। सुरति, संवित्, संवेदन, चित्कला, चेतन तथा जीवकला आदि परस्पर पर्याय हैं। भेद है तो उपाधिगत तारतम्य के कारण, शब्दमार्गियों का सिद्धान्त है कि जो धारा प्रकट होकर भूमि पर आई है उसे उलटकर फिर वहीं ले जाना है।

सुरत ज्ञानवाह धार है, चेतन प्रवाह है, परतत्वात्मक सूर्य की किरण है—वह जितना ही अपने केन्द्र की ओर उन्मुख और संपृक्त तथा घनीभूत होती जाती है, उस पर पड़े हुए जितने आवरणों से वह मुक्त होती जायेगी, उसकी आंतरिक क्षमता उतनी ही बढ़ती जायगी। प्रायः चेतना की क्षमता में लोकोत्तर वृद्धि करने के निमित्त प्रयोक्ता गण उसे बेहोश हालत में ले जाते हैं अथवा स्वयं समागत बेहोशी में भी किसी-किसी को लोकोत्तर अनुभूतियाँ होती हैं। निष्कर्ष यह कि सुरत चैतन्य को विकसित करने के लिए उसकी शक्ति में वृद्धि करने के निमित्त व्यायाम की आवश्यकता है। यही व्यायाम सुरत शब्द योग है।

समाधि और रसानुभूति

[डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी]

१०वीं शती के बाद संस्कृत-काव्य-समीक्षा का अन्य दर्शनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन होता रहा, विशेषतः तब से जब अनुभूति क्षेत्र को भी काव्य समीक्षकों ने अपना क्षेत्र बना लिया। सहृदय को होने वाली रसानुभूति भी ऐसा ही एक क्षेत्र है। इसमें बौद्ध, शैव, न्याय, वेदान्त और वैशेषिक दर्शनों के ही समान योगदर्शन का भी समावेश होता है।

सहृदय के चित्त में मंचन या शब्दों द्वारा शृङ्गारादि से संबन्धित नायक, नायिका एकान्त आदि स्थान और उनकी चेष्टाएं प्रतिफलित होती हैं तो उसके स्वयं के चित्त में वासना रूप से विद्यमान रति आदि भाव जाग उठते हैं। यह जागरण अभिव्यक्ति कहलाता है। सहृदय का अर्थ है जीवात्मा। नायक नायिका आदि को कहा जाता है विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव। रति आदि को स्थायी भाव माना जाता है। जब 'विभाव' अनुभाव, संचारी और स्थायी' इन सभी के समुदाय का साक्षात्कार जीवात्मा करता है तब उसकी आनन्दकला जाग उठती है और उस स्थिति में उसी जीवात्मा को या उसके द्वारा देखे जा रहे विभावादि से संवलित रति आदि स्थायी भावों को शृंगार आदि रस कह दिया जाता है।

इस अनुभूति की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। एक तो यह कि इसमें घट पट आदि के ज्ञान में जिस प्रकार नेत्रादि की आवश्यकता होती है उस प्रकार किसी इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं रहती। इन्द्रियां केवल नायक-नायिका आदि को चित्त तक पहुंचाने तक सीमित रहती हैं। अनुमान और शब्द भी यहीं तक सीमित रहते हैं। इस कारण रसानुभूति न तो प्रत्यक्ष है, न अनुमान और न शाब्द।

दूसरी विशेषता यह है कि इसमें न केवल अद्वैत रहता और न द्वैत। अद्वैत इसलिए नहीं कि रसानुभूति के समय नायक-नायिका आदि का भी ज्ञान होता रहता है और रति आदि भावों का भी, किन्तु द्वैत इसलिए नहीं कि इस अनुभूति के समय बाह्य विश्व छूट जाता है और जीवात्मा आत्माराम बन जाता है।

तीसरी विशेषता यह कि यह अनुभूति एकमात्र आनन्दात्मिका होती है, दुःख और मोह का इसमें बोध नहीं होता।

चौथी विशेषता यह है कि यह अनुभूति न तो उत्पन्न कही जा सकती और अनुत्पन्न। उत्पन्न तो इसलिए नहीं कि इसमें जिन आत्मा और रत्यादिभावों का बोध होता है वे पहले से विद्यमान रहते हैं, अंधकार में घट पटादि के समान। अनुत्पन्न इसलिए नहीं कहा जा सकता कि पहले इस अनुभूति का अभाव रहता है, अतः यह प्रागभावप्रतियोगी है। किन्तु सांख्य की दृष्टि से प्रागभावप्रतियोगित्व और सत्त्व परस्पर विरुद्ध पदार्थ हैं अतः इसे पहले अविद्यमान न कहकर अनभिव्यक्त कहना चाहिए।

पाँचवीं विशेषता यह है कि जब जीवात्मा रूपी सहृदय इस अनुभूति में आता है तब उसे रस-सामग्री के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का बोध नहीं होता और वह वेद्यान्तर संस्पर्श-शून्य हो जाता है।

यहीं योगदर्शन का स्मरण हो आता है। समाधि की स्थिति में योगी जब तक आता जाता रहता है तब तक उसमें आत्मचैतन्यविषयक चित्तवृत्ति बनी रहती है। अतः वह अपरिपक्व योग माना जाता है और उसे युक्त स्थिति का राही माना जाता है, इसलिए युंजान कहा जाता है। चित्त-वृत्ति खंडित होते ही यह योगी संसार को भी देखने लगता है। इसके अतिरिक्त दूसरा योगी जिसे परिपक्व और युक्त योगी कहा जाता है उसमें चित्तवृत्ति भी नहीं रहती और उसे एकमात्र 'आत्मा' का ही बोध होता है। इस प्रकार के योगी को संसार का बोध कभी नहीं होता। यह आत्मा के द्वारा आत्मा का दर्शन करता है और इसके दृश्य, दर्शन तथा द्रष्टा तीनों एक हो जाते हैं।

योगियों के उक्त अनुभवों और रसानुभव में समानता है। रसानुभव में वाह्य वस्तुओं का वोध नहीं होता और समाधि की स्थिति में भी। योग की समाधि में जो ज्ञान होता है उसमें इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रहती, रसानुभूति में भी। समाधि में एकमात्र आनन्द का अनुभव होता है और रस में भी। समाधि में अनुभविता अपने आप में डूवा रहता है और उसके अनुभव में एकतानता रहती है, रसानुभूति की स्थिति में भी। समाधिस्थ योगी लौकिक ईर्ष्या, द्वेप आदि से मुक्त रहता है तो रसानुभूति के समय सहृदय का जीवात्मा भी। उसकी परिमितता छूट जाती है और वह साधारणीकृत स्थिति में यदि सव उपाधियों से नहीं तो अनेक उपाधियों से मुक्त हो जाता है। जव कभी समाधि शक्तिपात के कारण होता है या पूर्वजन्मार्जित अभ्यास होता है। योगी को योग के आठों अंगों की अपेक्षा नहीं रहती और वह विना किसी यत्न या तज्जनित क्लेश के समाधितक पहुँच जाता है। रस में पहुँचने के लिए तो क्लेश कभी करना ही नहीं पड़ता, हाँ सहृदयता अर्जित करने के लिए कुछ अनुमान और कुछ लोकानुभव अवश्य अपेक्षित होता है। लौकिक रसों में यह क्लेश रहता ही है। इस कारण उनके साथ तो रसानुभूति की तुलना संभव ही नहीं।

योग की इस अनुभूति से रसानुभूति का साम्य रहते हुए भी भेद रहता है। योगज समाधि में चित्तवृत्ति आत्मा को पकड़ती है—आत्माकाराकारित रहती है, जवकि रसानुभूति में वह कदाचित् रहती ही नहीं क्योंकि यहाँ द्रष्टा जीवात्मा रहता है, किन्तु यदि रत्यादि समुदाय को वनाए रखने के लिए उस स्थिति में भी काव्य विपयिणी चित्तवृत्ति माननी पड़ जाय तो भी योगी की समाधि की चित्तवृत्ति के विपय से रस स्थिति के विपय में भेद रहता है। एक का विपय एकमात्र आत्मा होता है और दूसरे का एकमात्र काव्य या काव्यार्थ अथवा नाट्य और नाट्यार्थ।

भिन्नता क्षणिकता को भी लेकर है। युक्तयोगी का अनुभव स्थायी होता है और उसे सार्वदिक कहा जाता है। जवकि रस तभी तक प्रतीत होता है जव तक विभावादि की प्रतीति होती रहती है। अपरिपक्व योगी की समाधि भी इतनी अधिक भंगुर नहीं होती। रस तो एक धारा है, जिसका प्रत्येक क्षण प्रत्येक स्वतन्त्र एकल लिए रहता है किन्तु उन सभी एकलों में समय का अन्तराल इतना कम रहता है कि वह जैसे प्रतीत ही नहीं होता। इसीलिए 'रस' को असंलक्ष्य-क्रम कहा जाता है।

अन्य आचार्यों ने युंजान और युक्त योगी के अनुभव से रसानुभूति को अन्य मुद्दों पर भिन्न किया है और कहा है कि प्रथम योगी को आत्मानुभव के ही साथ संसार का भी वोध रहता है। जवकि द्वितीय योगी को नहीं। किन्तु प्रथम योगी को भी इतने नीचे नहीं उतारा जा सकता। प्रत्याहार के वाद होने वाली समाधि में प्रत्याहार के पहले के वोध का स्पर्श संभव नहीं, किन्तु अधिक विचारकों (काव्यप्रकाश आदि के टीकाकारों) का यही मत है। उक्त चित्तवृत्ति की वात पंडितराज जगन्नाथ ने उठाई है और गोकुलनाथ ने अपने काव्यप्रकाश विवरण में।

यह हुई रस के उस पक्ष की योगज समाधि से तुलना जिसे अग्निपुराण, मधुसूदन सरस्वती और स्वामी करपात्री जी ने लौकिक काव्यरस कहा है। इनके अनुसार जो एक अलौकिक काव्यरस है वह केवल भक्तिरूप है। इस रस में रसिक या जीवात्मा सदा युक्त योगी ही रहता है क्योंकि यहाँ 'विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, स्थायी भाव, आत्मा और वृत्ति'—ये सव केवल 'आत्म' रूप होते हैं और यहीं आत्मा होता है संप्रदाय भेद से श्रीकृष्ण, राम, शिव, शक्ति आदि। राधा, सीता, पार्वती आदि इससे भिन्न नहीं और यह एकमात्र शुद्ध आत्मरमण की स्थिति रहती है। इस स्थिति का रसिक रस रूप ही रहता है और रस रसिक रूप। फलतः यहाँ योगी सदा युक्त ही रहता है। हाँ, भक्ति की अपरिपक्वता में उसमें कथंचिद् द्वैध और लौकिकता आ सकती है।

हमारे अनुसार लौकिक, काव्यादि योगजन्य और आध्यात्मिक सभी रस रसावस्था में आनन्दात्मक होते और वे उस समय द्वैतविवर्जित ही रहते हैं। सिता शर्करा आदि के अनुभव से जो रस लोक में मिलता है उसमें भी व्यक्ति-चेतना समाहित होती है और सर्वविध अन्य वेद्यों के संस्पर्श से रहित समाधिस्थ ही होती है। उसकी प्राप्ति में प्रपञ्च की अधिकता को लेकर उसे तुच्छ कहा जा सकता है, किन्तु रस रस ही है चाहे वह लोक-लभ्य हो या योग-लभ्य, काव्यलभ्य हो या अध्यात्मलभ्य।

श्रीकरपात्रस्वामी विशे शतकेऽत्रकाव्यशास्त्रेनः।
साक्षाद् रसस्वरूपो पर आचार्यो रसस्य विश्लेषे॥
तत्पदपङ्केरुहयोः समर्प्यतेऽसौ सनातनेनात्मा।
यत्रात्मा वा परात्परं वा न भिन्नमेकस्मिन्॥

योग और शाङ्करदर्शन

[श्रीकेदारनाथ त्रिपाठी]

शाङ्करदर्शन अद्वैतब्रह्मदर्शन के रूप में सुप्रसिद्ध है। इसके अनुसार सभी आत्मा के ब्रह्माभिन्न होने से परस्पर में भी इनका प्रतीयमान भेद अपारमार्थिक है एवं प्रतीयमान जड़ जगत् की भी अधिष्ठान ब्रह्मातिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वस्तुतः प्रतीयमान जीवभेद या प्रपञ्च भेद का अपलाप प्रतीतिकाल में अद्वैत दर्शन भी वैसे ही नहीं करता है, जैसे भ्रमदशा में या स्वप्नावस्था में प्रतीयमान पदार्थ का अपलाप प्रतीति काल तक कोई नहीं करता। यदि ऐसा कर सकता तो एतदर्थ श्रुतियों का उपदेश व्यर्थ ही होता। मानव जीवन का लक्ष्य यदि स्थूल अनुभव में ही पर्यवसित होता तो न कोई सूक्ष्म वैज्ञानिक अन्वेषण हो पाते और न सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व का परिचय ही हमें श्रुतियों से हो पाता।

हम स्थूल प्रपञ्चभेद का अनुभव भले ही स्वसामर्थ्य से कर लें, तथापि श्रुतिमात्रैकगम्य ब्रह्म के साथ जीव और जड़ प्रपञ्च का क्या सम्बन्ध है, यह जान सकना हमारी शक्ति के बाहर की वस्तु है। यक्ष के साथ वृक्ष का सम्बन्ध कोई नहीं जान सकता, जैसे पक्षी के साथ जानता है। यही बता देना श्रुतियों का कार्य है और महावाक्यों द्वारा ब्रह्मा-भिन्न रूप में अपने को और विश्व मात्र को अनुभव करना ही मुक्ति साधन है या यही मुक्ति है। यही शाङ्करदर्शन का सारभूत सिद्धान्त है।

इस दर्शन के साथ योग का क्या सम्बन्ध है या सामञ्जस्य है, यही यहाँ हमारा विचारणीय विषय है। योग दर्शन एक ऐसा दर्शन है, जो सभी दर्शनों के लिये सर्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में मान्य है। वस्तुतः अन्य दर्शन यदि सिद्धान्त हैं तो योगदर्शन उन सभी का प्रयोग है या प्रक्रिया है। इसीलिये वैदिक ही नहीं, किन्तु अवैदिक सम्प्रदाय ने भी अपने दार्शनिक तत्त्व के साक्षात्कार हेतु योग प्रक्रियाओं का आश्रय लिया। ध्याननिष्ठ बुद्ध या समाधि सम्पन्न महावीर योगी थे। इनका ध्येय तत्त्व भले ही कुछ अन्य हो पर ये दोनों ही यम-नियमादि सम्पन्न थे। चित्त वृत्तियों का निरोध ही तो योग है—**"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"**। योगदर्शन भी इनके ध्यान का समर्थन करता है—**"यथाभिमतध्यानाद्वा"** इसी-लिये बौद्ध सम्प्रदाय के अभिधर्मकोश प्रभृति ग्रन्थों में ध्यान, समाधि और उसके फल का सविस्तार वर्णन किया गया तथा जैन सम्प्रदाय में 'योगसारप्राभृत' प्रभृति ग्रन्थों की रचना हुई।

वैदिक दर्शनों की तो भित्ति ही योग की नींव पर आधृत है। न्याय दर्शन में कहा है "अपवर्ग के लिये आत्मसंस्कार अपेक्षित है और आत्म संस्कार के लिये यम नियम आवश्यक हैं।" आत्म संस्कार का अर्थ है—अपवर्ग प्राप्ति की क्षमता। योगशास्त्रोक्त आत्मतत्त्व साक्षात्कार के साधनों से भी आत्म संस्कार करना सर्वदर्शन मान्य है।

वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि अभ्युदय के लिये यम नियम भी आवश्यक है। प्रशस्तपाद भाष्य में भी कहा गया है कि—योग के प्रभाव से धर्म की उत्पत्ति होती है और उस योगज धर्म से अनुगृहीत हुआ मन सूक्ष्म तत्त्व का भी साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है।

सांख्य दर्शन में भी अनेक सूत्रों में योग की अपेक्षा प्रद-शित की गयी है।

किन्तु योग के साथ सामञ्जस्य के सम्बन्ध में वेदान्त दर्शन की स्थिति भिन्न है। वहाँ द्वितीयाध्याय के प्रारम्भ में सांख्यस्मृति का प्रत्याख्यान करने के बाद योग का भी शब्दोल्लेख पूर्वक खण्डन किया गया है कि—"एतेन योगः प्रत्युक्तः"। इस सूत्र के भाष्य के प्रसङ्ग में श्री शङ्करा-चार्य के सामने भी यह समस्या थी। वे स्वयं एक योगिराट् थे और योगाभ्यास-सम्पन्न थे। आचार्यमण्डन मिश्र की पत्नी भारती के साथ शास्त्रार्थ विचार के अवसर पर उन्होंने अपना यौगिक चमत्कार दिखाया भी था। ऐसी स्थिति

में वेदान्त सूत्रोक्त योग प्रत्याख्यान उन्हें कैसे अभिप्रेत हो सकता था। फिर भी वहाँ के सांख्य प्रसङ्ग में योग का प्रत्याख्यान होने से तथा वहाँ का शारीरक भाष्य देखने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि उस सूत्र एवं वहाँ के भाष्य में योग का आंशिक प्रत्याख्यान ही किया गया है न कि योगानुशासन मात्र का निराकरण किया गया है।

योग प्रत्याख्यान का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार ने कहा है **"तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते"** अर्थात् जगत् के प्रति प्रकृति की स्वतन्त्र कारणता का तथा महदादि क्रम से सांख्य के समान योग में भी की गयी सृष्टि कल्पना का ही निराकरण किया गया है। इसी प्रकार सांख्य और योग में स्वीकृत आत्मनानात्व कल्पना का भी शाङ्करदर्शन में प्रतिषेध किया गया है एवं सांख्यवत् योग में भी इन्द्रियों को आहङ्कारिक अर्थात् अहङ्कार तत्त्व से उत्पन्न माना गया, जिसका शाङ्करदर्शन से सामञ्जस्य नहीं है। जहाँ योगमत में महदाद्यात्मक जगत् प्रकृति का सत्तात्मक परिणाम है, वहाँ शाङ्करदर्शन में आकाशाद्यात्मक संसार ब्रह्म का प्रतीयमान विवर्त मात्र है।

इन दृष्टियों से योगमत का आंशिक प्रत्याख्यान किये जाने पर भी भगवान् शङ्कराचार्य ने बड़े सम्मान के साथ योग की मान्यता का समुल्लेख अपने शारीरक भाष्य में किया है। जिससे योग के प्रति उनका श्रद्धातिरेक सूचित होता है। सूत्र में योग का निराकरण तो उसी अंश में किया गया माना है, जिस अंश में वेदविरुद्धत्व प्रसक्त है, जैसे पूर्वोक्त आत्मनानात्व।

स्पष्ट है कि शाङ्करदर्शन में सैद्धान्तिक दृष्टि से ऊपर दिखाये कुछ अंशों में योग के साथ महान् अन्तर है। आत्मा की आनन्दरूपता भी शाङ्कर- दर्शनाभ्युपगत, सांख्य-योग में अस्वीकृत है। फिर भी आत्मा की निर्गुण स्वभावता एवं सच्चिद्रूपता के अंश में दोनों का सर्वथा सामञ्जस्य है। योग के प्रक्रियांश के प्रति तो योग और शाङ्करदर्शन में सर्वथा सामञ्जस्य है। क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कार के लिये चित्तशुद्ध्यर्थ यौगिक प्रक्रिया नितान्त आवश्यक है। इसके अभाव में विक्षिप्तचित्त की दशायें "श्रोतव्यो मन्तव्यः" इस श्रुति में विहित निदिध्यासन साधक के लिये सर्वथा असंभव है। वेदान्त के उक्त सूत्र के अन्य भाष्यकारों ने भी योग के सम्बन्ध में ऐसा ही अभिप्राय व्यक्त किया है।
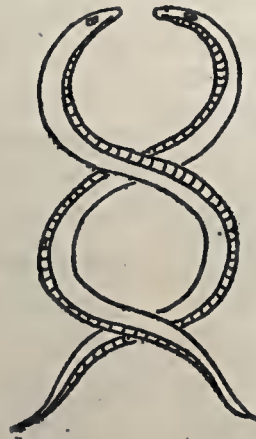
अपार करुणा सागर

ज्ञान विज्ञान के महासमुद्र

श्री शंकराचार्य नवावतार

परम पूज्य स्वामी अनन्तश्री करपात्री जी

महाराज के ७१ वें प्राकट्य दिवस पर

अनन्त प्रणाम

डा० रमागोविन्द त्रिपाठी चक्रवर्ती

पुराणेतिहास विभागाध्यक्ष

जो० म० गोयनका महाविद्यालय—वाराणसी

'कामायनी' में भक्तियोग

[डॉ० युगेश्वर]

[आदरणीय लेखक के विस्तृत लेख का स्थानाल्पतावश संक्षिप्त रूप प्रस्तुत हो सका है ।—सम्पादक ।]

कामायनी का प्रथम सर्ग चिंता सर्ग है। प्रसाद की दृष्टि में चिंता आध्यात्मिक उन्नति का प्रथम सोपान है। मनुष्य जब आध्यात्मिक उन्नति करने लगता है, तब उसके चित्त में नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं, और उन्हीं भावों के पर्यालोचन में उसके हृदय में एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है, उसे लोग चिंता कहते हैं। इस चिंता के द्वारा मनुष्य शक्तिमान की खोज करता है। प्रसाद की दृष्टि में मानव सृष्टिधारा महासागर की ओर जा रही है। श्रद्धा जल है। भक्ति वेग है, गमन ज्ञान है, योग हो जाना ही महा सम्मेलन है। श्रद्धा और भक्ति में केवल नामान्तर है। श्रद्धा का पूर्ण स्वरूप भक्ति है। भक्ति मुक्ति से बड़ी है। प्रसाद कहते हैं—'मुक्ति से मनुष्य ईश्वर में मिल सकता है और भक्ति से मनुष्य ईश्वर को अपने पास बुला सकता है।'

भक्ति निराशा में, अशांति में, सुख में शांति देती है, आनन्द देती है। देव सृष्टि के नाश से उत्पन्न निराशा के बाद भक्ति मनु में आनन्द का संचार करती है। कामायनी भक्ति का परंपरित काव्य नहीं है। यह उसकी शक्ति है। भक्ति ग्रंथ होकर भी भक्ति के नवधा रूपों का अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं। प्रसाद ने भक्तितत्त्व को स्वीकार किया है न कि उसके सोपानों और भेदों को। मनु अमर पुत्र हैं। नयी सृष्टि का संकट है मृत्यु। अमृत पुत्र को मृत्यु घेरे है। सभी मृत्यु सागर में डूब रहे हैं। मृत्यु न केवल मानव की होती है वल्कि पूरी सृष्टि मरती है। प्रलय के रूप में मरती है। कोई भी मृत्यु से बच नहीं सकता। मृत्यु को जीतने में सभी विफल हो रहे हैं। महामृत्यु की ओर संकेत करते हुए कवीर कहते हैं—

चंदो जैहै सुरजो जैहै जैहै पवनो पानी ।
कह कबीर हम भगत न जैहें जाकी मति ठहरानी ॥

किसमें ठहरानी। ईश्वर में ठहरानी। प्रभु में अर्पित मन। कामायनी में मृत्यु का काला शासन चला—

काला शासन चक्र मृत्यु का कब तक चला न स्मरण रहा। मृत्यु का काला शासन चक्र था। सभी उस चक्र में पिस गये। ग्रह तारा बुद्बुद से लगने लगे। सूर्य की आभा मलिन हो गयी। प्रकाश के सारे उपकरण (सूर्य चन्द्र), रात-दिन के पहर बताने के साधन (सूर्य, चन्द्र, तारे आदि) सभी डूब गये। पवन, पानी एक हो गये। पंच महाभूतों में उद्वेलन मच गया है। केवल एक बचा भक्त। कैसे बचा ? गीता कहती है—जो मेरे परायण हुए भक्त जन संपूर्ण कामोंको मुझमें अर्पित कर मुझे अनन्य ध्यान और योग से निरंतर चिंतन करते हुए भजते हैं, मुझमें चित्त लगाने वाले उन प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु-रूपी संसार समुद्र से उद्धार करता हूँ। कबीर की दृष्टि में भक्त नहीं मरता है। सारा संसार मरता है फिर भी भक्त जीता है। क्यों जीता है ? कैसे जीता है ? किसके द्वारा जीता है ? कबीर के शब्दों में—मैं न मरों मरिहैं संसारा, मुझको मिला जिवाव निहारा।

मनु प्रलय—समुद्र में डूब रहे थे। मत्स्य के रूप में स्वयम् भगवान ने उद्धार किया। विवेकानन्द भक्ति योग का रहस्य बताते हुए कहते हैं—'भक्ति योग का रहस्य यह है कि मनुष्य के हृदय में जितने प्रकार की वासनायें और भाव हैं, उनमें से कोई स्वरूपतः अधम नहीं है, उनको धीरे-धीरे अपने वश में लाकर उनको उत्तरोत्तर उच्च दिशा में उन्मुख करना होगा, जिससे वे अनंत परमोच्च दशा को प्राप्त हो जायँ।' देह के प्रति मोह आसुरी प्रवृत्ति है। आसुरी प्रवृत्ति के लोग देह को ही सब कुछ समझते हैं। यह देहात्म बुद्धि है। किन्तु भक्त इस देह से ऊपर की वस्तु, प्राप्त करता

चाहता है। यज्ञ, बलि, हिंसा आदि देह पूजक असुरों के धर्म हैं। यज्ञ, बलि आदि इसलिए भी बुरे हैं कि ये भयोपासना है। जहाँ भय है वहाँ भक्ति नहीं हो सकती। भगवान् तो भक्ति परिवार के सर्वोच्च पुरुष हैं। परिवार में भय कैसा। प्रेम और भय साथ नहीं चल सकते। मनु असुरों के चक्कर में फँस जाते हैं। इसीलिए तर्क और शास्त्र की शरण में जाते हैं। जब तक तर्क और शास्त्र हैं भक्ति नहीं आ सकती। भक्ति का आधार विश्वास है, शरणागति। इसमें आसक्ति मूलक वैराग्य है। भगवान के प्रति आसक्ति जैसे-जैसे बढ़ती है संसार के प्रति वैराग्य बढ़ता है। प्रेम विशेषोन्मुख होता जाता है। सामान्य दुनिया छूटती जाती है। जब राजराजेश्वर से प्रेम हो गया तो और सब तो उसके कटाक्ष पर नृत्य करते हैं। परा को पाकर भी मनुष्य अपरा को बिलकुल छोड़ नहीं देता। अब उसकी रुचि मात्र बदल जाती है। वह उर्ध्वगामी हो जाता है। इसलिए भक्त संसार की वस्तुओं के प्रति तटस्थ हो जाता है। उपेक्षा और आसक्ति रहित हो जाता है। जल-कमलवत रहकर भी ऊपर रहता है। अलिप्त रहता है। मनु परिवार की निन्दा नहीं करते। दुनिया को बुरा नहीं बताते। किंतु आनन्द सर्ग में जाकर वे उससे अलिप्त हैं। श्रेष्ठ भक्त मानव प्रेमी होता है। जाति पाँति, देश दुनिया के भेदों से मुक्त रहता है। मातृमूर्ति श्रद्धा विश्वमूर्ति दिखाई पड़ती है। राष्ट्रीयता से अंतर्राष्ट्रीयता।

मनु ने देखा कितना विचित्र।
वह मातृ मूर्ति थी विश्व मित्र॥

यज्ञ-याग से परमतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। यज्ञ उद्देश्यपूर्ण कामना पूर्ति के लिए होते हैं। अतः वे राजसी हैं। असुर पुरोहित द्वारा यज्ञ उससे भी हीन तामसिक है। इस यज्ञ में हिंसा है। हिंसा तमस है। गिराने वाला है। दूसरी स्थिति योग और ज्ञान की है। ये साधन भी अपूर्ण हैं। यहाँ भी पूर्ण समर्पण नहीं हो पाता। इसीलिए भक्तों ने स्वयं को ईश्वर रूप में देखा। प्रेमी भक्त समर्पण को ईश्वर सेवा का मूल मानता है। कामायनी का विश्वास संपूर्ण समर्पण में है। समर्पण के द्वारा ही संसार-समुद्र को पार किया जा सकता है।

कामायनी में भक्त कौन है, भगवान् किसे कहेंगे? भक्त और भगवान् दो नहीं होते। उनमें और उनके जन में भेद नहीं है। (तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्-नारद भक्ति) भगति, भगत, भगवत, गुरु रूप वपु एक। अर्जुन और कृष्ण एक हैं जय-विजय जैसे। 'पांडवानां धनंजयः' (मैं कृष्ण, पांडवों में अर्जुन हूँ)। भक्ति एक भाव है। एक स्थिति और चेतना है। इस भाव, स्थिति और चेतना का प्रतिनिधित्व कहीं मनु और कहीं श्रद्धा द्वारा होता है। उपास्य-उपासक के रूप में मन के ही दो भेद हैं। शिव-पार्वती की तरह विच्छिन्न और युगनद्ध। कबीर की दृष्टि में शक्ति, शिव, जीव में अभेद है।

यह मन ही सब कुछ है—

यह मन सक्ती यह मन सीव।
यह मन पंच तंत्र का जीव॥ (कबीर)

शिव शक्ति (मनु-श्रद्धा) का समयोग ही परमात्मा है (शिव शक्ति समायोगः परमात्मेति निश्चतम्—शिवपुराण)। द्वैत-नाशवान् है। अद्वैत अविनाशी। श्रद्धा कहाँ है? मन (मनु) में। सच्चा, शुद्ध और पवित्र मन श्रद्धा युक्त होता है। श्रद्धा युक्त मन भगवान को प्रिय है। भक्ति के लिए मन का समर्पण, जरूरी है। श्रद्धा पूरित मन ही समर्पित होता है। यह समर्पित व्यक्ति शांति और आनन्द पाता है। नारी श्रद्धा आनंदित करती है। उसने आरंभ में ही अपने को समर्पित कर दिया। मनु अपनी साधनाहीनता के कारण श्रद्धा को स्वीकार नहीं कर सके। श्रद्धामय नहीं बने। अज्ञश्च, अश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति—अश्रद्धालु का नाश होता है।

मनु तुम श्रद्धा को गये भूल।

उस पूर्ण आत्म विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल।

श्रद्धा इस जीवन का रहस्य है। यह सृष्टि कल्याण भूमि है। यहाँ व्यक्ति (जीव) अपने कल्याण के लिए आता है—

कल्याण भूमि यह लोक यही श्रद्धा रहस्य जाने न प्रजा।

इस सत्य को न जानने के कारण लोग दुखी होते हैं। कामायनी की यह बात उनके विरुद्ध जाती है जो जगत् को मिथ्या और माया मानते हैं। जिनके लिए यह संसार दुख है। पाप का आगार है। इससे मुक्त होना ही पुरुषार्थ है। कामायनी

वैराग्य मूलक ग्रंथ नहीं है। दुनिया बुरी है। इसलिए दुनिया को छोड़ो ठीक नहीं है। भक्ति का वैराग्य राग मूलक है। प्रसाद की यह विचारणा कृष्ण भक्तों के नजदीक है। कृष्ण भक्त संसार को रम्य मानते है। वल्लभाचार्य ने अपने तत्वदीप निबंध में ब्रह्म को आनन्दमूर्ति कहा है। सारा जगत् इसी आनंद मूर्ति का प्रतिविंव है—

जो हरि करै सो होई कर्त्ता नाम हरी।
ज्यों दर्पण प्रतिबंध त्यों सब सृष्टि करी।।
शुद्ध प्रेममय रूप पंच भूतन ते न्यारी।
तिन्हें कहा कोउ कहै जोति सी जग उजियारी।।

—रास पंचाध्यायी, नंददास

ब्रह्म आनन्दमय है। जगत् प्रेममय है। क्योंकि ब्रह्म ही जगत् का आधार है। राधा के पूर्ण मुख चन्द्र को देखकर कृष्ण तन में आनन्द सिंधु उछलने लगता है—

आनन्द सिंधु बढ्यो हरितन में।
श्री राधा पूरनससि निरखत उमगिचल्यौ व्रज वृंदावन में।।

मनु और श्रद्धा का संवंध भी कुछ ऐसा ही है। श्रद्धा और मनु एक ही तत्व के दो पहलू हैं। मनु और श्रद्धा का संवंध जल और जलधर का है। अग्नि और दीपक जैसा है। श्रद्धा को गुरु कहा गया है। भागवत में कृष्ण ने अपने को गुरु कहा है—आचार्य मा विजानीयात् ११।१७।२६। कामायनी के मनु श्रद्धा अनादि निधन हैं। सृष्टि काल आने पर ब्रह्म परमात्मा जगन्मय सर्वगामी सर्व भूतेश्वर, सर्वात्मा परमेश्वर ने स्वयं ही इच्छानुसार परिणामी प्रकृति और अपरिणामी पुरुष में प्रविष्ट होकर उनको सृष्टि कार्य के लिए क्षोभित और प्रेरित किया। भक्ति मानव प्रेम की प्रक्रिया है। सच्चा भक्त मानव प्रेमी होता है। वह पूरी सृष्टि के प्रति अहिंसा भाव रखता है। यह विश्व प्रेम का ही एक रूप है। सभी देशों, जातियों और वर्गों में हमारा अराध्य व्याप्त है। फिर विरोध और घृणा कैसी ? सच्चा भक्त संपूर्ण जीवों में भगवान् को देखता है। जहाँ भगवान् हैं वहाँ उसकी भक्ति है। सभी में सर्वत्र भगवान् के दर्शन से भक्त की दृष्टि में खास चमक आ जाती है। उसका व्यवहार वदल जाता है। उससे कोई गलती न हो जाय कि उसके वगल का भगवान् दुखी हो। अव वह स्वयं पवित्र रहकर समाज को पवित्र रखने की कोशिश करेगा। ठगना, लूटना, अनाचार करना, छूट जायगा। सच्चा भक्त निर्वाध होता है। उसमें उदारता, परदुखकातरता, प्रेम, अहिंसा आदि गुणों का विकास होता है। त्याग तो उसका स्वाभाविक गुण है। वह स्वार्थी नहीं वन सकता। भक्ति तो नर जीवन की पशुता को दूर करने का साधन मात्र है। सहिष्णुता उसका गुण वन जाती है। वह किसी को दुखी नहीं देख सकता है। वह शोषक नहीं हो सकता। पराई पीर की अनुभति वैष्णवता की पहली शर्त है। कामायनी के कर्म सर्ग में श्रद्धा द्वारा उपदेश में ये ही बातें कही गई हैं—

औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत करलो।
सबको सुखी बनाओ।

भक्ति के क्षेत्र में जिसे आत्मत्याग कहा गया है, वह स्वार्थ त्याग है। सुख विस्तृत कव होता है ? जव अहंकार मिट जाता है। अहम् इदम् में ढल जाता है। 'तू' 'तू' करते करते मैं का लोप हो गया। फिर तो जो कुछ भी वन पाता है वह सव स्वार्थ रहित परार्थ के लिये होता है। भक्ति परार्थ या परमार्थ की साधना है।

भक्ति और भी ठोस आधारों पर अभिव्यक्त होती है। भक्ति का प्रथम आधार 'शांत' माना गया है। मनुष्य वाहरी हलचल से अलग हटकर अपने भीतर शांत हो जाता है। यह शांत स्थिति भोग से योग की ओर मुड़ने का क्षणिक विराम है। शांत क्षणों में ईश्वर की महत्ता के अनुभव के द्वारा दास्य भावना आती है। श्रद्धा आरंभ से और अंत में मनु एक दूसरे के प्रति दास्य भाव रखते हैं। विश्वासी सेवक जैसी भक्ति होती है। मनु कहते हैं—

कितना है उपकार तुम्हारा,
आश्रित मेरा प्रणय हुआ।
कितना आभारी हूँ, इतना,
संवेदनमय हृदय हुआ।।

दास्य के वाद सख्य भाव आता है। सख्य का अर्थ है प्रेम। श्रद्धा मनु एक दूसरे के प्रति सखा भाव रखते हैं—

कहा अतिथि कहाँ रहे तुम किधर थे अज्ञात।
और यह सहचर तुम्हारा कर रहा ज्यों बात।।

श्रद्धा कहती है—

यह अतृप्ति अधीर मन की क्षोभ युत उन्माद ।
सखे तुमुल तरंग-सा उच्छ्वासमय संवाद ॥

यह सखा भाव इतना पुष्ट है कि मनु कहते हैं—

जन्म संगिनि एक थी जो काम वाला, नाम ।
मधुर श्रद्धा था, हमारे प्राण को विश्राम ॥
प्रलय में भी बच रहे हम फिर मिलन का मोद

सूरदास की राधा कृष्ण की बाल संगिनी थीं । लरिकाई की प्रीति थी । किंतु श्रद्धा मनु का सख्यभाव जन्म का है । श्रद्धा मनु की जन्म संगिनी है । इसके बाद वात्सल्य प्रेम का विकास होता है । समर्पण के समान ही इसका प्रथम विकास श्रद्धा में होता है । अंत में मनु में । मनु कहते हैं—

यह कुमार मेरे जीवन का
उच्च अंश, कल्याण-कला
कितना बड़ा प्रलोभन मेरा
हृदय स्नेह बन जहाँ ढला

भक्ति के क्षेत्र के सबसे अंतिम और उच्च संबंध का नाम है मधुर प्रेम । यह स्त्री-पुरुष संबंध जैसा पुष्ट और प्रगाढ़ होता है । इसकी सारी स्थितियाँ मनु श्रद्धा में मौजूद हैं । और अंत में यह कि मनु को वहाँ जाना है जिसके आगे राह नहीं है । शिवस्थान, कैलास । यह है भक्ति योग की चरम उपलब्धि का स्थान । यहीं आकाश है, शून्य है । यहाँ बड़े-बड़े मुनि नहीं जा सकते किंतु भक्त सहज रूप में पहुँच जाता है । अपनी 'भक्ति योग' नामक कविता में प्रसाद अपने को 'प्रेम मतवाला' कहते हैं । भक्त और भगवान् की एकता को भक्ति की पूर्णता मानते हैं—

फिर वह हमारा हम उसी के, वह हमीं, हम वह हुए
तब तुम न मुझ भिन्न, सब एक ही फिर हो गये ॥ काननकु०

कामायनी में—हम केवल एक हमीं हैं ।

अथवा योगी हूँ

[डा० श्याम तिवारी]

डिम् डिम् डिम् डिम्
डमरू डिम् डिम्
बंगाले का
कामरूप का
पच्छिम के गिरनार का नहीं
मेरुतंत्र डाकिनी-शाकिनी तंत्र
अघोरीतंत्र आदि
सारे तंत्रों में महातंत्र
मैं प्रजातंत्र के सिद्धपीठ दिल्ली का तांत्रिक हूँ।
अथवा योगी हूँ।
डिम् डिम् डिम् डिम् डमरू डिम् डिम्।

पंचशील आदेश हमारा
बीजमंत्र सहकारी खेती
कवच अहिंसा
जिससे मैं पुरुषत्व-प्रेत को मार भगाता हूँ
कूटनीतिधारी आचारी कदाचार का
डिम् डिम् डिम् डिम् डमरू डिम् डिम्।

जब मैं अपने अभिमंत्रित
भाषण-जल के छींटे देता हूँ
तो श्रोता-जन मौन
चतुर जाहिल बन जाते हैं
जाग्रत-जन सो जाते हैं
चेतन जड़वत् हो जाते हैं
डिम् डिम् डिम् डिम् डमरू डिम् डिम्।

कुछ दिन तक तो मेरा भाषण
रामराज्य का कोलाहल लेकर उतरा था
तब उसने उस हरिश्चंद्र के सत्य
बुद्ध की दया, अहिंसा, पंचशील के स्वर तैराये
फिर उसने वाकई हवाई तूमारों से
आसमान-धरती तक फैले
सभी कुलावे एक कर दिये
अब अवसर से मेरा भाषण
बम गोला बारूद टैंक बन्दूक तोप बनकर
दुश्मन पर भड़क उठा है
यह भाषण का मंत्र
रोज चालीस कोटि मोहित जनता का
भाग्य बनाता औ बिगाड़ता है दन्नाका
डिम् डिम् डिम् डिम् डमरू डिम् डिम्।

रूस और अमरीका जैसे
रिद्धि-सिद्धि हैं दायें-बायें
हाथ हमारे डालर-रूबल के ज्यों भिक्षा पात्र
गले तक कर्ज डकारे
पेट कि जैसे हिन्द महासागर
आशाएँ धौलागिरि
हूँ संपाती कलयुग का
डिम् डिम् डिम् डिम् डमरू डिम् डिम्।

कहो, कहाँ तक करें सिद्धियों की चर्चायें
खोल बड़ी है
जनमत की जाग्रत कुंडलिनी
मेरे सभी कुचक्रों का भेदन करके
ज्यों सहस्रार पर पहुँच गई है
आसन-शासन डोल रहा है
श्वास और प्रश्वास कभी के रुद्ध पड़े हैं
कानों में विरोध अनहद की ध्वनियाँ
मानो चीख रही हैं
मैं कलयुग में योगेश्वर का अवतारी
तंत्रों-मंत्रों का अधिकारी
काका मैं जादूगर का
डिम् डिम् डिम् डिम् डमरू डिम् डिम्।

"सम्बुद्धियोग"

[चक्रवर्ती श्री रामाधीन चतुर्वेदी]

महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए कहा है—"महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्" अर्थात् महान् देव=परब्रह्म के साथ मेरी एकता हो जाय, इसके लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए। अतः व्याकरण के अध्ययन से न केवल साधुत्व प्रक्रिया का ही ज्ञान होता है, अपितु साधु शब्द के तात्त्विक ज्ञान और प्रयोग से अज्ञान नष्ट होने पर ब्रह्मसायुज्य भी सिद्ध होता है। तभी तो शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य पाणिनि के लिये प्रयुक्त—

"येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ।।"

इस नमस्कारात्मक श्लोक में शब्द रूप निर्मल जल से वाणी की शुद्धता के साथ अज्ञानजन्य अन्धकार के छेदन रूप उनके कार्य का भी स्मरण किया गया है। वस्तुतः पाणिनीय व्याकरण के ज्ञान से अज्ञान नष्ट होने पर ब्रह्म की भी प्राप्ति होती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, क्योंकि इस व्याकरण शास्त्र की आधारभूमि ही दिव्य तथा अपौरुषेय है, जो सनक, सनन्दन, सनत् कुमारादि सिद्धों के उद्धार की कामना से नटराज भगवान् शिव के डमरू से चौदह सूत्रों के रूप में प्रादुर्भूत हुई हैं। इस बात को नन्दिकेश्वर ने अपनी काशिका के प्रारम्भ में स्पष्ट कहा है—

"नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ।।"

इसलिए पाणिनि के सूत्रों के द्वारा शब्दसाधुत्व की प्रक्रिया के साथ यदि दार्शनिक तत्त्व का बोध भी हो तो भूषण ही है दूषण नहीं। जैसा कि—

"एकवचनं सम्बुद्धिः" (२।३।४९)
"एकः पूर्वपरयोः" (६।१।८४)
"एकं बहुव्रीहिवत्" (८।१।९)

इत्यादि कतिपय योगों से स्पष्ट होता है। अस्तु !

यहाँ केवल "सम्बुद्धि योग" के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत है। महर्षि पाणिनि ने अपने व्याकरण में "सम्बोधन" और "सम्बुद्धि" इन दो पदों का प्रयोग किया है। "सम्बोधन" पद का शाब्दिक अर्थ है सम्यग्बोधन, अर्थात् जिस शब्द के प्रयोग से व्यक्ति, वक्ता, वक्ता के अभिमुख हो, वह सम्बोधन पद है। उसके अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये प्रथमा विभक्ति का उपयोग होता है। जिसका निर्देश "सम्बोधने-च" (२।३।४७) इस सूत्र से हुआ है। और प्रथमा विभक्ति में भी जहाँ एक व्यक्ति का ही सम्यग् बोधन हो उसे "सम्बुद्धि" कहा जाता है। इसके लिये पाणिनि का पूर्वोक्त संज्ञा सूत्र है "एक वचनंसम्बुद्धिः"। जैसे—"आगच्छ कृष्ण। अत्र गौश्चरति"। इस वाक्य में कृष्ण पद "सम्बोधन" होते हुए सम्बुद्धि भी है। तात्पर्य यह है कि सम्बोधन में सामान्यतः प्रथमा विभक्ति के तीनों वचनों की उपस्थिति होती है, किन्तु "सम्बुद्धि" से केवल एक का ही कथन होता है, अन्य वचनों का नहीं। वस्तुतः यही सम्बुद्धि का सम्बुद्धित्व है, जिसमें अन्य बातें छूट जायँ, केवल कृष्ण एक तत्त्व का ही भान होता रहे, क्योंकि 'सम्बुद्धि' यह संज्ञा है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने "एकश्रुतिदूरात् सम्बुद्धौ" इस सूत्र के भाष्य में सम्बुद्धि पद पर प्रश्न उठाया है कि क्या यहाँ का सम्बुद्धि पद पारिभाषिक है, या अन्वर्थक ? यदि पारिभाषिक एक वचन का ही बोधक सम्बुद्धि पद माना जाय तो "देवा ब्रह्माणः" इस बहुवचनान्त पद से युक्त वाक्य में एक श्रुति की प्राप्ति नहीं होगी। अतः यहाँ "सम्बोधनं सम्बुद्धिः" इस अन्वर्थ का ही ग्रहण मानना इष्ट है। किन्तु इसके अतरिक्त सर्वत्र "एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः" "सम्बुद्धौ च" इत्यादि सूत्रों का सम्बुद्धि पारिभाषिक रूढ़ अर्थ का बोधक होते हुए भी अपने योगज अर्थ का परित्याग नहीं करता, क्योंकि सम्बुद्धि यह बड़ी संज्ञा है। संज्ञा तो सबसे छोटी होनी चाहिए। जैसे टि, घु, भ, आदि संज्ञाएँ

हैं। यदि बड़ी संज्ञा है तो उसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ भी उस संज्ञा से आचार्य को अभीष्ट होता है। इसके उदाहरण में "सर्वनाम", 'संख्या" आदि संज्ञाएँ अपने अन्वर्थबोधन में प्रसिद्ध हैं। यहाँ यदि व्युत्पत्तिजन्य अर्थ अभिप्रेत न होता तो "एकवचनं सम्" यहीं पढ़ देते। किन्तु ऐसा नहीं कहा। इससे ज्ञात होता है कि एक वचन के लिए सम्बुद्धि यह संज्ञा ही सार्थक है, क्योंकि साधारण बुद्धि तो लौकिक नाना विषयों से सम्बद्ध है, किन्तु एक तत्त्व को धारण करने वाली सम्बुद्धि ही है। जिस एक तत्त्व के लिए श्रुति का उद्घोष है कि "स्वर्ग, पृथिवी और अन्तरिक्ष तथा सब प्राणों के साथ मन जिस तत्त्व में प्रविष्ट है, तुम लोग उसी एक तत्त्व को जानो, अन्य बातों को छोड़ो, क्योंकि वही एक भवसागर से पार उतारने वाला अमृत का पुल है"। किन्तु उस सजातीय विजातीय स्वागत भेद शून्य एक तत्त्व रूप आत्मा का बोध असम्भव न होते हुए भी सर्व सुलभ नहीं है। करोड़ों मनुष्यों में किसी एक को वास्तविक बोध होता है। जिसे आत्म-बोध होता है, उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण संसार आत्मस्वरूप एक ही हो जाता है। अतः शोक-मोह के लिये उनके चित्त में कोई स्थान ही नहीं, वहाँ तो सदा "एकमेवाद्वितीयम्" का ही भान होता रहता है। जिसके लिए श्रुति स्पष्ट कहती है—

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोह कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

महर्षि पतञ्जलि ने भी "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः" सूत्र से स्पष्ट कह दिया है कि चित्त वृत्तियों के निरोध रूप योग में जो आधि-व्याधि दुःख-दौर्मनस्य आदि विघ्न उपस्थित हो जाते हैं, उनको दूर करने के लिए एक तत्त्व का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। एक तत्त्व का बार-बार चिन्तन करने से ही द्रष्टा की अपने स्वरूप में दृढ़ स्थिति होती है, जिसे कैवल्य अर्थात् पुरुष का अकेलापन कहा जाता है। उस अकेलपन का भान जिस बुद्धि में हो वही सम्बुद्धि है।

श्रीमद् भगवद्गीता में "बुद्धि योग" का विशेष महत्त्व बताया गया है। भगवान् कहते हैं कि जो निरन्तर प्रीति-पूर्वक मेरा भाजन करते हैं, उन्हें मैं उस 'बुद्धि योग' को देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

"एवं सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

भाव यह है कि जिस बुद्धि से मेरे पूर्ण तत्त्व एकत्त्व का परिज्ञान होता है, उस बुद्धि के साथ मैं भक्तों का योग करा देता हूँ। "बुद्धि योग" में एक की ही प्रतीति होती है, इस बात को "व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन" के द्वारा भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है। अतः एक तत्त्व को पकड़ने वाली निश्चयात्मक बुद्धि ही "बुद्धियोग" है।

आगे भी उन्होंने कहा है—

अर्थात् लौकिक और पारलौकिक फल देने वाले सभी कर्मों को मन से मुझे समर्पण कर तथा मेरे परायण हो निश्चयात्मक बुद्धियोग को प्राप्त कर सदा मेरा ही चिन्तन करो। तात्पर्य यह है कि बुद्धि योग से एक तत्त्व का ही चिन्तन होता है। इसीलिए भगवान् ने अर्जुन को अपना प्रिय समझ कर गीता के उपसंहार में अत्यन्त रहस्य भूत "मामेकं शरणं व्रज" का उपदेश दिया। जो भगवत्कृपा से बुद्धियोग प्राप्त होने पर ही सम्भव है। वही "बुद्धि योग" यहाँ **"एक वचनं सम्बुद्धिः"** के "सम्बुद्धि" शब्द से अभिव्यक्त होता है।

कुछ लाघवप्रिय व्याख्याकारों ने **"एक-वचनं सम्बुद्धिः"** के स्थान पर **"सुः सम्बुद्धिः"** को ही उचित माना है, क्योंकि लौकिक पदों की सिद्धि 'सुः सम्बुद्धिः' से भी संभव है। अतः सूत्र में एकवचन पद की आवश्यकता वे केवल वेदाङ्ग के पारायण से पुण्य ही मानते हैं। किन्तु जिस समरसता की प्रतीति 'एक वचन के साथ सम्बुद्धि' से होती है, वह "सुः सम्बुद्धिः" से कभी भी सम्भव नहीं। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि का यह घण्टाघोष है कि——

"प्रमाणभूत आचार्यो दर्भ पवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयतिस्म। तत्राऽशक्यं वर्णेनाऽप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनः इयता सूत्रेण।" (महा० भा० १।१।१)

अतः महर्षि पाणिनि के सूत्रों का पर्यालोचन तात्त्विक दृष्टि से भी होना चाहिए। तभी उनके सूत्रों के प्रत्येक पद और वर्णों का वास्तविक रहस्य भी अवगत होगा।

अन्त में निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार योगियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा में केवल सत्य पदार्थ ही भासित होता है, उसी प्रकार "पाणिनीय सम्बुद्धि" में भी केवल एक की ही अनुभूति होती है।

भारतीय संस्कृति के अप्रतिम रक्षक

शंकरावतार स्वामी श्री करपात्री जी महाराज के

•

७१ वें वर्षग्रन्थि पर

सद्भक्ति के पुष्प समर्पित

•

छेदीलाल मालाकार

संकटमोचन, वाराणसी

योगः–वैदिक युग से आधुनिक युग तक

[सुश्री डॉ० विमला कर्णाटक]

सिद्धान्त है कि प्रत्येक शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय भिन्न-भिन्न होता है लेकिन 'योग' प्रत्येक शास्त्र में अपने विशिष्ट कोण एवं परिमाण से परिव्याप्त है। निखिल शास्त्र 'योग' से अनुप्राणित हैं। प्रत्येक शास्त्र ने अपने साध्य की सिद्धि के लिए 'योग' को अपनाया है। 'योग' उस साधना पद्धति का नाम है जो साध्य की सम्पूर्ति के लिए आवश्यक रहता है। 'योग' प्रत्येक प्रकार की लौकिक तथा पारलौकिक उपलब्धि के लिए उपादेय है। अतः वैदिक युग से आधुनिक युग तक के शास्त्रों में योग का व्याख्यान एवं परिवर्धन होता रहा है। यहाँ तक कि मध्य युग में आकर 'योग' ने 'दर्शनशास्त्र' का स्वतन्त्र रूप भी धारण किया।

ऋग्वेद के वचन के अनुसार "योग के बिना विद्वान् का भी कोई यज्ञकर्म सिद्ध नहीं होता है।" अतः ऋग्वेद में योगसिद्धि के लिए प्रार्थना की गई है। वेदों में बीज रूप में परिव्याप्त 'योग' ने वेद के अन्तिम भाग उपनिषदों में आकर विस्तृत स्वरूप धारण किया।

उपनिषदों में योग की साधन-प्रणाली, उसके भेद-प्रभेद की चर्चा एवं व्याख्या होने लगी। अभी तक संप्राप्त एक सौ आठ उपनिषदों में से कोई भी ऐसी उपनिषद् नहीं है जिसमें संक्षेप या विस्तर पद्धति से 'योग' का उपस्थापन न हुआ हो। 'योग' की आधार-शिला पर ही उपनिषदों की अध्यात्म विद्या प्रतिष्ठित है। 'योग' की स्पष्ट व्याख्या की दृष्टि से–योगकुण्डल्युपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, योगराजोपनिषद्, आदि प्रसिद्ध हैं। उपनिषद्काल में योग-साधन-समूह के दो रूप प्राप्त होते हैं। प्रथम है षडङ्गयोग और द्वितीय है अष्टाङ्गयोग। इनमें से षडङ्ग-योग के विषय में उपनिषदों में दो विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं। अमृतनादोपनिषद् के अनुसार—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि—योग के अङ्ग हैं। क्षुरिकोपनिषद् तथा योगचूडामण्युपनिषद् के अनुसार—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि–योग के अङ्ग हैं। इस प्रकार तर्क और आसन अङ्ग को लेकर इन उपनिषदों में मतभेद है। आगे चलकर योग प्रधान योगतत्त्वोपनिषद् में—यम और नियम का समावेश कर योग की अष्टाङ्गता समर्थित हुई है। उपनिषदों में योग–मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग के रूप में भी मिलता है। अष्टाङ्गयोग को मन्त्रयोग आदि का विकसित, पल्लवित एवं समृद्ध रूप कहा जा सकता है। समाधि का स्वरूप श्वेताश्वतरोपनिषद् के द्वितीय अध्याय के १४वें तथा १५वें श्लोक में उपलब्ध है। प्रणवोपासना, प्राणोपासना जैसे महनीय विषय भी उपनिषदों में विवेचित हैं। उपनिषदों में योग को अध्यात्मयोग कहा गया है।

वैदिक युग से गतिशीला योग की अखण्ड धारा ने पुराणकालीन अष्टादश पुराणों में भी अपना स्थान बनाया। पुराणकाल की सृष्टि-सम्बन्धी गवेषणा महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि दर्शनयुग में पातञ्जलयोगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव एवं भाष्य के व्याख्याकारों ने पुराणसम्मत सृष्टि-प्रक्रिया को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। पुराणों में केवल भूलोक का ही नहीं अपितु तेरह और लोकों का प्रतिपादन कर चतुर्दशभुवनात्मक सृष्टि का सिद्धान्त स्थापित किया है। स्पष्ट है कि पुराणयुग के महर्षि सिद्धयोगी थे। अन्य पुराणों की अपेक्षा ब्रह्मपुराण, वायुपुराण तथा स्कन्द-पुराण में योग के विषयों का बहुलता से प्रतिपादन हो सका है। पुराणों में प्राणायाम दो प्रकार का बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत महापुराण में भक्तियोग पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ है। इसमें दो विधाओं द्वारा योग का प्रस्तुतीकरण हुआ है—महापुरुषों के तपश्चरण तथा शरीरत्याग की मार्मिक घटनाओं का आलम्बन लेकर योग-साधन

की क्रियाओं का अप्रत्यक्ष संकेत मात्र तथा योग का प्रत्यक्ष निर्वचन। श्रीमद्भागवत में योग की इन दो विधाओं में से अप्रत्यक्षीय संकेतों की बहुलता है। भागवत में योग का प्रत्यक्ष वर्णन मुख्यतया द्वितीय स्कन्ध के प्रथम एवं द्वितीय अध्यायों में, तृतीय स्कन्ध के पञ्चविंशत् तथा अष्टविंशत् अध्यायों में तथा एकादश स्कन्ध के त्रयोदश अध्याय में हुआ है। योग के ये वर्णन उपदेश प्रधान हैं। द्वितीय तथा तृतीय स्कन्ध में महर्षि कपिल ने स्वकीया जननी देवहूति के प्रति योग का उपदेश किया है। तथा ११वें स्कन्ध में हंसधारी भगवान् के द्वारा सनकादियों को योग की महत्ता बतलाई गई है। उपनिषद् काल के षडङ्ग तथा अष्टाङ्ग-योग में से अष्टाङ्गयोग भागवत में स्वीकार किया गया है। भागवत में वर्णित अष्टाङ्गयोग की एक महती विशेषता यह है कि उसका स्वतन्त्र साधन रूप से उप-स्थापन किया गया है तथा वह अन्य साधन मार्गों का आश्रयभूत भी है। योग, भक्ति का सबसे अधिक सहायक है लेकिन ज्ञान, कर्म और भक्ति के समान एक स्वतन्त्र साधन पथ भी है। योग का अवलम्बन कर साधक परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। भागवत में यम और नियम प्रत्येक के द्वादश भेदों की स्थापना हुई है। यम के द्वादश भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असङ्ग, ह्री, असञ्चय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा तथा अभय। नियम के बारह भेद हैं—बाह्यशौच, आभ्यन्तर-शौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, आतिथ्य, भगवदर्चन, तीर्थाटन, परार्थ चेष्टा, सन्तोष तथा आचार्य सेवन। भागवत में अष्टाङ्गयोग का नामसंकीर्तन मात्र नहीं हुआ है अपितु प्रत्येक अङ्ग का स्वरूप प्रतिष्ठापित करने के लिये योगाङ्गों की व्याख्या की गई है।

महाभारत में योग की अक्षय्य निधि सञ्चित है। ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र प्रधान गीता महाभारत का एक अंश है। गीता योग का विस्तार है। गीता में महायोगेश्वर कृष्ण का विषादापन्न अर्जुन के प्रति योग का उपदेश है। गीता का प्रत्येक अध्याय एक एक योग है। इसकी सूचना गीता के प्रत्येक अध्याय की समापन पंक्तियों से मिलती है। श्रीकृष्ण ने "समत्वं योग उच्यते" तथा "योगः कर्मसु कौश-लम्" द्वारा योग की प्रसङ्गतः व्याख्या की है। योगकी ये दो परिभाषाएँ परस्पर भिन्न नहीं हैं। एक में 'समत्व' को योग कहा गया है और दूसरे में 'कर्मकौशल' को। उक्त दो लक्षणों के अनुसार 'योग' बुद्धि की साम्यावस्था का नाम है, क्योंकि साम्यबुद्धि ही वह कौशल है जिससे कर्मों में व्यावृत रहकर भी योगी कर्मों से अलिप्त रहता है। यह योग परा-गति अथवा ब्रह्मात्मैक्य स्थिति को व्यक्त करता है। ऐसी स्थिति की प्राप्ति के उपाय, साधन, युक्ति या कर्म भी योग शब्द से निर्दिष्ट हैं।

योगवासिष्ठ महारामायण में महर्षि वसिष्ठ द्वारा श्री रामचन्द्र के प्रति दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रस्फुरण हुआ है। योगवासिष्ठ के अनुसार 'योग' का अर्थ है—संसार सागर से पार कराने की युक्ति। इसमें 'योग' की तीन विधियाँ विवेचित हैं—किसी एक ध्येय तत्त्व की दृढ़ भावना, मन की शान्ति तथा प्राणों के स्पन्दन का निरोध। इन तीन विधियों की उपविधियाँ भी इसमें वर्णित हैं। योगवासिष्ठ में शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभाविनी तथा तुर्यगा—इन सात भूमिकाओं का अव-तरण भी हुआ है। योगसाधना के इन क्रमिक स्तरों की परिणति मोक्षोपलब्धि में है। आगे चलकर दर्शन युग में कुछ प्रकारान्तर के साथ ज्ञान की सप्त प्रान्तभूमि प्रज्ञाओं की चर्चा प्राप्त होती है।

मनुस्मृतिकार ने योग के अङ्ग यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द 'प्रकृति' तथा 'गुण' यहाँ 'राजप्रकृति' तथा 'सन्धि' आदि के लिए प्रयुक्त हुए हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि मनुस्मृति में उपनिषद् काल से चले आ रहे सत्त्वादिगुणों के प्रति उपेक्षावृत्ति अपनाई गई हो। इसमें सत्त्व, रजस् तथा तमस्—तीनों गुणों को पूर्ववत् मान्यता प्राप्त है। तथा इन्द्रियजय, व्रतनियम, सृष्टिक्रम तथा ध्यानयोग से आत्मसाक्षात्कार जैसे महनीय दार्शनिक विषयों का विवेचन भी हुआ है। मनुस्मृति में प्रतिपादित सृष्टि-क्रम पातञ्जल योगशास्त्र के सृष्टिक्रम के निकट ही है, केवल थोड़ा सा अन्तर है।

दर्शनयुग को योग के पूर्ण विकास का स्वर्णकाल कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। दर्शनकाल में ही इस साधन-प्रधानविधा ने स्वतन्त्र शास्त्र का रूप धारण किया। योग

को 'दर्शन' पदावली में विभूषित कराने का महनीय कार्य महर्षि पतञ्जलि ने किया है। पतञ्जलि ने योग को सूत्रात्मक शैली में निबन्धित कर उसे चार पादों में विभक्त किया है। पतञ्जलि का योग चित्तवृत्तिनिरोध की भूमि पर प्रतिष्ठित है। अतः इन्होंने चित्त, चित्त की वृत्ति तथा निरोध आदि प्रत्येक पक्ष पर गवेषणापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। उपनिषद् काल से समर्थित अष्टाङ्गयोग पर बल देते हुए पतञ्जलि ने तत्साध्य सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात तथा पुरुष की स्वस्वरूपावस्थिति अर्थात् कैवल्य सम्बन्धी निजी चिन्तन को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है। प्रारम्भिक योग में इसकी कमी बनी हुई थी। आगे चलकर व्यासभाष्य (योगसूत्र की टीका) के व्याख्याकारों ने पतञ्जलिसम्मत कैवल्य को अंशांशिरूप जीवात्मा-परमात्मा के अभेदात्मक संयोग के साथ जोड़ा है। पातञ्जल योगदर्शन को परिपुष्ट, समृद्ध एवं व्यापक दृष्टि प्रदान करने वालों में व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, नारायणतीर्थ तथा नागेश भट्ट प्रमुख हैं। समय-समय पर पातञ्जल योग सूत्र पर विशेष रूप से मणिप्रभा, योगसुधाकर, योगप्रदीपिका आदि वृत्यात्मक ग्रन्थ में भी लिखे गये।

अन्य भारतीय आस्तिक-नास्तिक दर्शनों पर भी 'योग' का प्रभाव परिलक्षित होता है। षड्दर्शनों में **सांख्यदर्शन** योग के अधिक समीप है। दोनों एक दूसरे के पूरक तथा 'समानतन्त्र' कहे जाते हैं। इसीलिए गीता में सांख्ययोग को पृथक्-पृथक् कहने वालों की निन्दा की गई है। योग की प्रयोगशाला में ही सांख्यीय तत्त्वों का परीक्षण एवं साक्षात्कार किया जा सकता है। योग के उद्भावक पतञ्जलि तथा सांख्य के प्रणेता कपिल दोनों आचार्यों का यह सिद्धान्त है कि कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि आत्मा के धर्म नहीं हैं। शुद्ध स्वरूप आत्मा प्रतिबिम्बविधया बुद्धिवृत्ति का अनुकरण कर सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि योगनिधि सांख्य में उसी रूप में सञ्चित रही। **वैशेषिक दर्शन** का मूलभूत विषय द्रव्य, गुण, कर्म आदि सप्त पदार्थों की व्याख्या करना है, लेकिन वैशेषिक दर्शन के उद्भावक कणाद मोक्षमार्ग के सिद्धान्त में पतञ्जलि के साथ हैं। यह तथ्य दोनों आचार्यों के मोक्षप्रतिपादक सूत्रों से उद्घाटित होता है। कणाद को अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजन्य मोक्ष सम्मत है। अतएव कणाद ने मोक्षमार्ग की पद्धति "आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः" लिखी है। **न्यायदर्शन** की स्थिति भी योग चर्चा में वैशेषिक दर्शन की भाँति है। महर्षि गौतम के न्याय में अष्टाङ्गयोग को मान्यता मिली है। समाधि सिद्ध किये बिना ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति कथमपि नहीं हो सकती—इस सर्वमान्य सिद्धान्त की पुष्टि गौतम के "समाधिविशेषाभ्यासात्" सूत्र से सुस्पष्ट है। **मीमांसा दर्शन** के प्रवर्तक जैमिनि ने अपने सूत्रों से यह सिद्ध कर दिया है कि याज्ञिक क्रियाकलाप ही अष्टाङ्गयोग का साधन है। **वेदान्तदर्शन** की तो योग के बिना गति ही नहीं है। वेदान्तियों को ऋतम्भरा प्रज्ञा की उपादेयता एवं विलक्षणता बतलाते हुए नारायणतीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में योग की सार्वभौम व्यापकता पर प्रकाश डाला है।

वेद समर्थित आस्तिक दर्शनों में ही 'योग' की उपादेयता वर्णित हो ऐसी बात नहीं, अपितु नास्तिक दर्शन बौद्ध और जैन में भी 'योग' की आवश्यकता बतलाई गई है। योग-साहित्य के क्षेत्र में जैन और बौद्ध की निजी देन है। बौद्ध दर्शन में तत्त्वज्ञान के लिए योग को उपयोगी बतलाया गया है। बौद्ध ईश्वर तथा आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करते, तथापि उनकी भी योग-परम्परा दुःखनिवृत्ति पूर्वक महानिर्वाण साधिका है। बुद्ध ने घर का परित्याग कर निर्जन वन में समाधि का अभ्यास किया। बौद्धों की राजयोग एवं हठयोग सम्बन्धी साधनाओं एवं क्रियाओं का स्पष्ट दिग्दर्शन प्रथमतः गुह्यसमाज तथा कालचक्रोत्तर नामक तन्त्र में पाया जाता है। तथा परवर्ती साहित्य में सेकोद्देश टीका तथा मर्मकालिका तन्त्र में प्रमुखतः इसका प्रतिपादन मिलता है। समाजोत्तर तन्त्र के अनुसार षडङ्गयोग से ही बुद्धत्व या सम्यक् संबोधि प्राप्त किया जाता है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति तथा समाधि—यह षडङ्गयोग है। पातञ्जल योगदर्शन में 'चित्तपरिकर्म' के वर्णित चार उपाय—मैत्री, करुणा, मुदता तथा उपेक्षा—पालि साहित्य में 'ब्रह्मविहार' नाम से निर्दिष्ट हैं। बौद्धों के अनुसार जो योगी इन चार ब्रह्म विहारों की भावना करता है, उसे सम्यक्प्रतीति होती है। योगदर्शन में भूतजय की जो कायसम्पत् सिद्धि बतलाई गई है उसे यहाँ सिद्धपुरुष के कायरूप को स्वाभाविक सम्पत् कहकर माना गया है।

जैनदर्शन में 'युजिर् योगे' धातु से 'योग' को निष्पन्न माना है। अर्थात् जिन-जिन साधनों से आत्मा की शुद्धि तथा मोक्ष का योग होता है, वे समस्त साधन 'योग' कहे जाते हैं। हरिभद्र सूरि की योग पर तीन स्वतन्त्र रचनाएँ हैं—योगशतक, योगविन्दु तथा योगदृष्टिसमुच्चय। जैन दार्शनिकों का योग ध्यानप्रधान है। जैन में ध्यान मूलतः चार प्रकार का है—आर्त्त, रौद्र, धर्म्य तथा शुक्ल। पतञ्जलि का सम्प्रज्ञात योग जैन के शुक्ल ध्यान का पूर्वचरण है तथा असम्प्रज्ञात योग शुक्लध्यान का उत्तर चरण है। वैदिक युग से चली आ रही प्राणायाम की मान्यता को जैन साहित्य में समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। जैन आचार्य ध्यान के लिए प्राणायाम को आवश्यक नहीं मानते हैं। जैनों का वक्तव्य है कि तीव्र प्राणायाम से मन व्याकुल रहता है। मानसिक व्याकुलता से समाधि भंग होती है और समाधि भंग से ध्यान अवरुद्ध हो जाता है। अतः हेमचन्द्र प्रभृति जैन दार्शनिकों ने प्राणायाम का निषेध किया है। पातञ्जल योग सूत्र की वृत्ति में 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री यशोविजय लिखते हैं कि—'अनैकान्तिकमेतत्। प्रसह्य ताभ्यां मनोव्याकुलीभावात्"।

कालक्रम से योगसाहित्य की सेवा करने वालों में रामकृष्णपरमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द का नाम आधुनिक युग के सर्वोत्कृष्ट महायोगियों में रखने योग्य है। योगसाधना की सुरभि, जगत् में विकीर्ण कर तथा दैनिक जीवन में योग का साक्षात् सम्बन्ध स्थापित कर उक्त योगी कैवल्प धाम के पथिक बन गये। महर्षि अरविन्द के दर्शन पर वेद, उपनिषद्, गीता, शैव सिद्धान्त, तन्त्र तथा यूनानी दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। अरविन्द ने योग की प्रचलित दो धाराओं–वैदिक तथा तान्त्रिक–में से तन्त्र की योगपद्धति को मान्यता प्रदान की है और उसे विशिष्ट योग पद्धति कहा है। यह तथ्य उन्हीं के शब्दों से स्पष्ट है—"भारतवर्ष में अब भी एक विशेष प्रकार की ऐसी योग पद्धति प्रचलित है जो स्वभाव से ही समन्वयात्मक है और जिसका प्रवर्तन प्रकृति के एक महान् केन्द्रस्थ तत्त्व से–प्रकृति की एक प्रचण्ड-वेगवती शक्ति से–होता है। पर यह है एक पृथक् योग ही, अन्य योग प्रणालियों का समन्वय नहीं। यह योग पद्धति तन्त्र की योग पद्धति है। दक्षिण और उत्तर भारत में भी बहुत से योगी हुए हैं। इन्हीं योगियों की योग चेतना के फलस्वरूप संसार ने करवट बदली और योग का अभ्यास प्रारम्भ हुआ है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि योग न केवल शारीरिक है, न केवल नैतिक है और न केवल ध्यान रूप है। किसी एक को योग कहना योग का उपहास करना है। 'योग' योगियों के चिन्तन की वह परिणति है—जिससे साधक की शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक हरेक शक्तियों का विकास होता है और अन्त में साधक कैवल्य प्राप्त करता है।

यज्ञ और योग के पारिभाषिक अर्थ

[डा० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर]

योगविद्या भारतवर्ष की अमूल्य निधि है। समस्त ज्ञान-विज्ञान ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही मधुर फल है। अतएव समस्त विश्व योग विद्या की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता आ रहा है। आज के युग को विज्ञान युग की तरह 'योगयुग' कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। आज देश-विदेश सभी योगसाधना के लिए लालायित हो रहे हैं। आज के एलोपैथिक डाक्टर भी 'योग' में श्रद्धा रखने लगे हैं।

अभीप्सितलाभ के लिए वेद ने धर्मानुष्ठान की आज्ञा दी है। इस अनुष्ठेय धर्म को तीन अंगों में विभक्त किया है—यज्ञ, तप और दान। इन तीनों में प्रधानता यज्ञ की बताई गई है—श्रीमद्भगवद्गीता ने बताया है कि मानव को पावन करनेवाले यज्ञ, दान और तप ही हैं। यह कहते हुए प्रथम स्थान 'यज्ञ' को ही भगवान् ने दिया है।

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"—(गी. १८।५)

कर्म, उपासना और ज्ञान के भेद से यज्ञ के तीन प्रकार हैं। उक्त तीनों प्रकार के यज्ञों की निष्पत्ति योग पर निर्भर है। कर्मयज्ञ में सभी अनुष्ठान पौर्वापर्य को ध्यान में रखकर किया जाता है। अनुष्ठेय कर्तव्य का स्मरण तत्तद् वेदमन्त्रों के द्वारा करना होता है। यदि अनुष्ठान में शास्त्रविहित् पौर्वापर्य का पालन न किया जाय या मन्त्रोच्चारण में या स्वर में कोई त्रुटि हो जाय तो यज्ञ को विकलांग माना जाता है, उससे फल प्राप्ति तो दूर रही और प्रत्यवाय का कारण बन जाता है। अतः कर्मयज्ञ के अनुष्ठान में ऋत्विजों को अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है। यह सावधानी चित्त की एकाग्रता के विना नहीं हो सकती। यह तो हुई कर्मयज्ञ की कहानी।

उपासनायज्ञ का विचार करने पर समझ में आ जाता है कि उसका जीवन 'प्रेम या भक्ति' है और 'योग' उसका शरीर है। जैसे शरीरी (आत्मा) का कोई भी भोग 'शरीर' के विना नहीं हो पाता वैसे ही उपासना का कोई भी अंग योग की सहायता लिए विना सम्पन्न नहीं हो सकता। सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी परमेश्वर विविध-वृत्तितरङ्गों से अन्तःकरण-जलाशय के चञ्चल होने के कारण मनुष्य के हृदय से छिप जाते हैं, यही उनका मनुष्य से दूर होना है। उक्त प्रकार से दूर हटे हुए परमात्मा का वृत्ति तरङ्गों के शान्त हो जाने पर जीव के हृदय में प्रकट हो जाना ही उनका जीव के समीप होना है। अर्थात् जलाशय में सूर्य के समान परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप का दर्शन होने लगता है। सर्वव्यापक परमात्मा में अन्य किसी प्रकार की समीपता-विप्रकृष्टता बन ही नहीं सकती। निष्कर्ष यह है कि शान्त-चित्त में परमेश्वर के प्रादुर्भाव रूप समीपस्थिति के सम्पादक क्रिया-कलाप का नाम ही उपासना है। वह उपासना, चित्त शान्ति के साधन रूप योग के विना असंभव है। यह उपासना-यज्ञ की कहानी हुई।

ज्ञानयज्ञ भी योग की सहायता के विना निष्पन्न नहीं हो सकता। बृहदारण्यक में मैत्रेयी ब्राह्मण में—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"—(२।४।५)। इस कथन से 'निदिध्यासन' को भी श्रवण-मनन के तुल्य आत्म-साक्षात्कार का साधन बताया गया है। यह निदिध्यासन 'ध्यान' का ही—दूसरा नाम है। यह 'ध्यान' योगमन्दिर में पहुँचने की सप्तम सीढ़ी है। अतः स्पष्ट है कि योग की सहायता के विना कोई भी यज्ञ विशेषकर ज्ञानयज्ञ निष्पन्न नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से योगीश्वर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयन्तु परमोधर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥"

निष्कर्ष यह हुआ कि उक्त यागरूप परमधर्म का साधन 'योग' है।

वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति, पुराण आदि भारतीय समस्त वाङ्मय में योग की महिमा और यज्ञों की निष्पत्ति के लिए उसकी परम आवश्यकता बताई गई है। उक्त सिद्धान्त ऋग्वेद में भी उपलब्ध होता है—

"यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥" (ऋ. सं.मं. १ सू. १८ मंत्र ७)

ऊपर बता चुके हैं कि कर्म-उपासना—ज्ञान के भेद से यज्ञ तीन प्रकार का है और उसकी निष्पत्ति योग की सहायता के बिना नहीं हो सकती। ज्ञानी-अज्ञानी सभी योग की सहायता से ही उसे सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं। क्योंकि चित्तवृत्ति-निरोधरूप योग या चित्तैकाग्रता सम्पूर्ण कर्तव्यों में व्याप्त है। तात्पर्य यह है कि समस्त कर्मों की निष्पत्ति का एकमात्र उपाय 'योग' ही है।

'योग' शब्द की निष्पत्ति समाध्यर्थक 'युज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर होती है। अतः 'योग' शब्द का अर्थ इस प्रसंग में संयोग न होकर 'समाधि' ही है। चित्त-वृत्तिनिरोध की क्रियापद्धति का नाम 'समाधि' है। उस क्रिया पद्धति को महर्षियों ने—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग के नाम देकर चार भागों में बाटा है।

मन्त्रयोग—यह दृश्यमान समस्त प्रपञ्च नाम-रूप से व्याप्त है। यह जीव नाम-रूप में ही फँसकर बद्ध होता है और जिस भूमि पर गिरता है, उसी भूमि को पकड़कर वह उठ सकता है। इस नियम के अनुसार जीव को नाम—रूप के अवलम्बन से ही मुक्तिपथ की ओर अग्रसर होना होता है। अतः दिव्य नाम—रूप के अवलम्बन से चित्तवृत्ति-निरोध की जितनी क्रियाएँ हैं, उन्हें **'मन्त्रयोग'** कहते हैं।

हठयोग—दृश्यमान स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली षट्कर्मादि योग क्रियाओं के अभ्यास द्वारा स्थूल शरीर पर आधिपत्य कायम करते हुए सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालकर चित्त वृत्ति निरोध की जितनी क्रियाएँ हैं, उन्हें **'हठयोग'** कहते हैं।

लययोग—समष्टि-व्यष्टि के सिद्धान्तानुसार पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों एक हैं। जीव शरीर 'पिण्ड' है और समष्टिसृष्टि 'ब्रह्माण्ड' है। अतः ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुएँ ठीक उसी तरह पिण्ड में भी हैं। पिण्ड में ब्रह्माण्ड व्यापिनी प्रकृति शक्ति का केन्द्र मूलाधारपद्म में स्थित सार्धत्रिवलयाकार सर्पवत् कुण्डलाकृति **'कुण्डलिनी'** है। ब्रह्माण्डव्यापी पुरुष का केन्द्र सहस्रदल पद्म है। निद्रित कुल-कुण्डलिनी को गुरूपदिष्ट यौगिक प्रक्रिया से प्रबुद्ध करते हुए कुल-कुण्डलिनीस्थ प्रकृति शक्ति को सुषुम्नानाड़ीगुम्फित षट्चक्रों के भेदन द्वारा ले जाकर सहस्रदल वाले कमल पर विहार करनेवाले परमेश्वर में लय करने की क्रियापद्धति और उसके साधनों को **लय-योग** कहते हैं।

राजयोग—मनुष्य के बन्धन का कारण मन की क्रिया है और मनुष्य को मुक्त कराने का साधन बुद्धि की क्रिया है। बुद्धि की क्रिया 'विचार' है। उस विचार के द्वारा चित्तवृत्ति के निरोध की क्रियापद्धति को 'राजयोग' कहते हैं, इस **'राजयोग'** का अधिकार सबसे अधिक है।

योग में उपस्थित होनेवाले अन्तराय और उपान्तराय—योगसाधना के समय नौ प्रकार के अन्तराय और पाँच प्रकार के उपान्तरायों की संभावना रहती है। अन्तराय का अर्थ विघ्न और उपान्तराय का अर्थ उपविघ्न है। महर्षि पतञ्जलि ने उनके नाम बताये हैं—

"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।"
(यो० सू० १।३०)।

१. व्याधि (रोग), २. स्त्यान (शिथिलता), ३. संशय, ४. प्रमाद (जान-बूझकर योगांगोंका अनुष्ठान न करना), ५. आलस्य, ६. अविरति (विषयों में ग्लानि का न होना अर्थात् विषयभोगाभिरुचि), ७. भ्रान्तिदर्शन (विपरीतनिश्चय), ८. अलब्धभूमिकत्व (योगांगों का अनुष्ठान करने पर भी मधुमती, मधुप्रतीका आदि समाधिभूमिविशेष का लाभ न होना), ९. अनवस्थितत्व (भूमि विशेष का लाभ होने पर भी चित्त का स्थिर न हो पाना), ये नौ चित्त विक्षेपकारी होने से योग या समाधि के अन्तराय (विघातक) कहलाते हैं। इन्हीं को योगमल, योगप्रतिपक्ष, योगविघ्न भी कहते हैं।

इन विघ्नों के सहायक पाँच उपविघ्न भी हैं—१. दुःख, २. दौर्मनस्य (इच्छा के सफल न होने पर मन का क्षुब्ध हो जाना), ३. अंगमेंजयत्व (अंगों का कंपन), ४. श्वास (बाह्य वायु को भीतर लेना,), ५. प्रश्वास (भीतर की वायु को बाहर निकालना) इन सब विघ्नों को दूर करने के लिए तथा उनसे अपनी सुरक्षा के लिए परमेश्वर की कृपा ही एकमात्र अवलम्ब है। उसकी कृपा से ही चतुर्विध योग में—मनुष्य सफलता को प्राप्त कर पाता है। उसकी कृपा के लिए प्रार्थना की आवयश्कता होती है। चारों वेदों ने कृपा

प्राप्त करने के लिए मंत्र बताये हैं। योगानुष्ठान की सिद्धि की तरह विवेक ख्यातिरूप फलनिष्पत्ति के लिए भी ईश्वर की कृपा आवश्यक है। वेदमंत्र के द्वारा भी उक्त कथन का समर्थन किया गया है—

"स घा नो योग आभुवत् स राये स पुरं ध्याम् ।
गमद् वाजेभिरा स नः ॥" (ऋ० १।५।३)।

इस चतुर्विध योग की क्रिया पद्धति का निर्णय यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ अंगों की सहायता से किया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि किसी में किसी अंग का संकोच और किसी में किसी अंग का विस्तार होने से अंगों की संख्या में न्यूनाधिक्य दिखाई पड़ता है। जैसे हठयोग के सात अंग, राजयोग के सोलह अंग, और लययोग के नौ अंग माने गये हैं।

हठयोग के सप्त अंग—

**"षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः ।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य ॥"**

षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान, और समाधि—ये हठयोग के सात अंग हैं। इन सात अंगों के सात फल भी क्रमशः बताये गये हैं—शरीरसंशोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धीरता, लघुता, आत्मप्रत्यक्ष, निर्लिप्तता और मुक्ति लाभ।

प्रथम अंग षट्कर्म साधन ये हैं—

**"धौतिर्बस्तिस्तथा नेति र्लौलिकी त्राटकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥"**

द्वितीय अंग आसन के अभ्यास से शरीर सुदृढ़ एवं मन में स्थिरता प्राप्त होती है। विश्व में जितनी जीवयोनियाँ हैं, उतने ही प्रकार के आसन हैं। भगवान् शिवजी ने चौरासी लाख आसनों का वर्णन किया है। तथापि चौरासी आसन मुख्य हैं, उनमें भी तैंतीस आसन इस लोक के लिए मङ्गल-जनक हैं। हठयोग प्रदीपिका में सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र इन चार आसनों को मुख्य बताया है।

**"सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत् सिद्धासने सदा ॥"**

उक्त चारों में भी सुखरूप सिद्धासन से बैठना श्रेष्ठ कहा गया है।

मुद्रा—प्राणायाम, प्रत्याहारादि अंगों की सिद्धि में जिन क्रियाओं से सहायता मिलती है, उन क्रियाओं को 'मुद्रा' कहते हैं। मुख्य मुद्राओं के नाम इस प्रकार हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धरबन्ध मूलबन्ध महाबन्ध, महावेधा, खेचरी, विपरीतकरणी, योनिमुद्रा, वज्रोली, शक्तिचालनी, तडागी, माण्डकी, शाम्भवी, पञ्च धारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी और भुजङ्गिनी।

प्राणायाम—रेचक, पूरक तथा कुम्भक भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का है। उनसे भी कुम्भक के दो प्रकार हैं—सहित और केवल।

राजयोग के सोलह अंग—भक्ति तथा षड्दर्शनों के अनुसार सात अंग राजयोग के हैं। उनमें विचार की प्रधानता रहती है। धारणा के दो अंग हैं—प्रकृति धारण और ब्रह्म धारणा। ध्यान के तीन अंग हैं—विराड्ध्यान, ईश-ध्यान तथा ब्रह्म ध्यान। समाधिके चार अंग हैं—वितर्का नुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अपस्मतानुगत। इनके यथाक्रम ध्यातव्य विषय ये हैं—स्थूलभूत, सूक्ष्मभूत, इन्द्रिय, अहंकारतादात्म्यापन्न पुरुष।

लययोग के नौ अंग—यम, नियम, स्थूलक्रिया, सूक्ष्म-क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि। स्वरोदयसाधना का सूक्ष्म क्रिया के साथ, नादानुसन्धान-क्रिया का प्रत्याहार के साथ, षट्चक्रभेदन क्रिया का धारणा के साथ सम्बन्ध है। समस्त नाडियों का मूलभूत पक्षी के अण्ड की तरह एक कन्द स्थित रहता है, जिसमें से बहत्तर हजार नाडियाँ निकलकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हुई हैं। उनमें से तीन इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाम की नाड़ियाँ मुख्य हैं। मेरुदण्ड के वाम भाग में चन्द्ररूपिणी इडानाडी, मेरुदण्ड के दक्षिण भाग में सूर्यरूपिणी पिङ्गला-नाडी, और मध्य भाग में चन्द्र—सूर्याग्निरूपिणी त्रिगुणमयी सुषुम्ना नाडी स्थित रहती है। मूल से उत्थित इडा और पिङ्गला मेरुदण्ड के वाम और दक्षिण भाग में समस्त चक्रों को वेष्टन करके आज्ञाचक्रतक धनुषाकार से जाकर भ्रूमध्य के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र मुख में संगत होती हुई नासारन्ध्र में प्रवेश करती है। भ्रूमध्य के ऊपर जहाँ इडा और पिङ्गला मिलती हैं वहीं पर मेरुमध्य में स्थित सुषुम्ना भी जा मिलती है।

अतएव इस स्थान को त्रिवेणी कहा गया है। क्योंकि इन तीनों नाडियों को गंगा, यमुना और सरस्वती कहते हैं—

"इडा भोगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी। इडा-पिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ॥" योगसाधना के बल से जो योगी अपनी आत्मा को इस त्रिवेणी में स्नान कराता है उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है—"त्रिवेणीयोगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम् ॥"

प्रणव के आकारवाली सुषुम्ना, धनुषाकार इडा और पिङ्गला के बीच में से मेरुदण्ड के अन्त तक जाकर और उससे अलग होकर वक्राकार को धारण करके भ्रूयुगल के ऊपर इडा और पिङ्गला के साथ ब्रह्मरन्ध्रमुख में संगत होकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जाती है। इडा-पिंगला के समान ही मूलकन्द से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त फैली हुई सुषुम्ना नाडी की छह ग्रन्थियाँ हैं, जिन्हें षट्चक्र कहते हैं। यौगिक प्रक्रिया के द्वारा मूलाधार में सुप्तावस्था स्थित कुण्डलिनी को जागरित कर इन छह चक्रों के द्वारा सुषुम्ना मार्ग में प्रवाहित कर ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सहस्रदल कमल पर स्थित परमशिव में लीन कर देना ही लययोग का लक्ष्य है। यही शिव-शक्ति संयोग रूप मुक्ति क्रिया है। इस अवस्था में योगी, निरञ्जन-ज्ञानरूप परमात्मभाव को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है।

योग-साधना में सतत सावधानी

[ले०—आचार्य सूर्य्यदत्त शास्त्री]

भारतीय आध्यात्मिक साधनाओं में योग साधना का महत्व बहुत अधिक रहा है। भारतीय वाङ्मय में इसकी प्रशंसा अत्यधिक की गई है। योग द्वारा जीवन में जो महान् उपलब्धियाँ हुई हैं, वह विश्व विश्रुत और बहुचर्चित है। इस अनित्य संसार में और नाशवान् इस शरीर में अलभ्य और दुर्लभ आत्मतत्व की अनन्त शक्तियों का प्रत्यक्षीकरण और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की अमोघ शक्ति प्राप्त करना—यह योग साधना से ही सम्भव है। आश्चर्यजनक इहलौकिक एवं पारलौकिक चमत्कारों को तो योग मार्ग की हेय उपलब्धियाँ मानी जाती हैं। इस साधना में तो साधक आत्मोपलब्धि कर लेने के बाद "यथा ब्रह्माण्डे तथैव पिण्डे" अर्थात् ब्रह्माण्ड की सारी स्थितियाँ योगी के एकमात्र पिण्ड में मनमस्तिष्क में प्रत्यक्ष होता है, उपलब्ध होता है। "कर्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुम्" समर्थ हो जाता है। वर्तमान जगत् की सारी भौतिक वैज्ञानिक उपलब्धियाँ उसके सामने अकिञ्चनवत् हो जाती हैं। आज विज्ञान ने भौतिक जगत् पर भले ही अधिकार कर लिया है पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म जगत् आधिभौतिक और आध्यात्मिक जगत् उससे बहुत ऊपर और दूर है। उसके पकड़ से परे की बात है। भले ही विज्ञान का चमत्कार भी आज दुनियाँ को आश्चर्य चकित किये है। उसकी मान्यता को, उसकी विशेषता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर जब हम इसका तुलनात्मक अध्ययन कर उन शक्तियों का संतुलन करते हैं तो योग द्वारा प्राप्त अमोघ शक्तियों के मुकाबले अन्यान्य सारी शक्तियाँ फीकी पड़ जाती हैं। प्राणात्मा पर अधिकार कर मन चाहा उपयोग करना, मृत्यु पर कब्जा करना, स्वेच्छया भौतिक शरीर में परिवर्तन करना आदि बातें इस योग साधना से ही सम्भव हैं।

भारतवर्ष में इस साधना का पूर्णविकास एवं प्रचार रहा बल्कि इस मार्ग पर चलने वाले बड़े २ योगी, यति एवं सिद्धगण यहाँ हुए और अपने अनुभवों से इस मार्ग को सदा राजमार्ग की तरह सुलभ एवं प्रशस्त बनाने का पुर जोर परिश्रम किया। यही कारण है कि आज 'योग विद्या' अपने में पूर्ण काम है और उसके मार्ग सारे मानव जाति के कल्याण के लिए खुले हैं।

इस विलासी युग में देश-विदेशों में आज हर जगह योग की चर्चा सुनी जाती है। बड़े २ वैज्ञानिक, डाक्टर, इञ्जिनियर इस ओर आकर्षित हैं और इसकी उपलब्धियों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। इस सूक्ष्म साधना में स्थूल भौतिकता से सूक्ष्मतम आत्मिक तत्वों की उच्चतर कोटि में पहुँचाना साधारण बात नहीं है। कहनी और करनी में बहुत अन्तर है। हर व्यक्ति इस मार्ग पर चल भी नहीं सकता। पर भारतवर्ष में इन दिनों इसकी बाढ़-सी आई है। बहुतेरे तथा कथित सन्त महात्मा एवं कई सम्पन्न और सुप्रतिष्ठित संस्थाएँ तो योग को भी व्यवसायिक रूप देकर लाखों लाख व्यय कर आश्रम बनाकर प्रचार प्रसार करते हुए प्रशिक्षण दे रहे हैं। देश देशान्तरों में भी खूब प्रचार प्रसार है। बहुचर्चित और प्रचारित तथा कथित योग प्रचारक संस्थाओं द्वारा योग प्रसार से किन-किन व्यक्तियों को आत्मोपलब्धि हुई है या चमत्कार प्राप्त किये हैं, प्रभु का साक्षात्कार किये हुए हैं—यह तो आज तक देखने को नहीं मिला। वाग्विलास और मनको आकर्षित करने के लिए सिद्धान्त की सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातें सुनने और जानने को बहुत मिलती हैं। पर पहले की तरह ख्यातनाम योगियों की कोटि में, आज के युग के योगी सफलता प्राप्त कर रहे हैं या नहीं—यह संशयापन्न विषय है। मैं इस विषय पर प्रकाश नहीं डालूंगा। मेरा तो विषय है कि इस मार्ग में साधक को शुरू से ही सतत सावधानता रखनी चाहिए। सतत सावधान न रहने के कारण लोग भटक जाते हैं, पथभ्रष्ट हो जाते हैं और जीवन में कहीं के कहीं जा गिरते हैं। यों

तो जीवन में ही सदा सावधान रहने की सीख दी जाती है पर योग साधना में तो सावधानता अनिवार्य है। इस छोटे लेख में सावधान-स्थलों का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करूँगा, शायद साधकों के लिए लाभप्रद हो।

योग मार्ग के साधकों को पहले ही सावधान होकर अपने गुरू का चुनाव करना चाहिए। यों तो आजकल तो योग के बहुत से मास्टर उस्ताद एवं गुरू मिलते हैं, पर जानकर, समझकर गुरु बनाना चाहिए जो योगमार्ग के मौलिक सिद्धान्तों को, प्रक्रियायों को पूर्ण रूप से जानते समझते और जनाने समझाने की बौद्धिक और रचनात्मक शक्ति रखते हैं। हर तरह से सफलता प्राप्त किये हुए पूर्णकाम हैं। कहावत है कि पानी पीये छानकर गुरु करें जान कर। अतएव सदा सावधान होकर योग्य गुरु का चुनाव करना चाहिए। आजकल के पाखण्डपूर्ण कार्यकलापों और बड़े-बड़े आश्रमों के ठाट-बाट में नहीं फँसना चाहिए।

इस तरह योग की प्रारम्भिक (शिक्षा-सिद्धान्त) एवं क्रियात्मक दोनों में पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए। किसी कार्य या भवन की आधार शिला सुदृढ़ और सुस्थिर होती है तब ही उसके ऊपर बननेवाला भवन चिरस्थायी और सुन्दर होता है। अतएव योग मार्ग में तो पग-पग पर सावधान रहने की जरूरत है। जब आप साधना करना चाहते हैं तो आप की नैतिकता भी उच्चकोटि की होनी चाहिए। आपका आचार-विचार तथा व्यवहार अर्थात् सन्तों की वाणी में आप की 'रहनी' साफ-सुथरी, सात्विक और साधु होनी चाहिए। जरा भी आप असावधान रहे, तो आपका सारा परिश्रम बेकार चला जायेगा। साधना में प्रत्येक पल, प्रत्येक क्षण, प्रतिदिन चौकस, सजग और उत्साह-वर्द्धित स्थिति में रहना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्यादि विकारों की लहरें सदा थपेड़ा मारती रहती हैं। इससे सदा सावधान रहना। मनोविकारों की चंचल उर्मियों से दूर रहना होगा, इसकी दौड़ के पीछे कतई नहीं भागना-फिरना चाहिए। इन्द्रियों की तीव्र पिपासा, इनकी लोलुपता मनुष्य को पशु बना देती है। अतः खूब सावधान होकर जगत् का व्यवहार निभाते हुए इस मार्ग पर चलने में मुख्यतः आहार-विहार में विशेष सावधानता का प्रयत्न करना चाहिए। गुरु के आदेश तथा योग के नियमों के अनुसार खट्टा, चटपटा, मीठा, कसैलादि रसों का सावधानी से प्रयोग एवं सेवन करना होगा उसी प्रकार सोने-जागने में भी सावधान रहने की आवश्यकता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

योगमार्ग में अनेकानेक विघ्न आते हैं जिसकी चर्चा महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग-दर्शन में की है—

"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यविरतिभ्रान्तिदर्शन-लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥३॥

अर्थात्—व्याधि (रोग) स्त्यान (अकर्मण्यता) संशय प्रमाद, आलस्य अविरति भ्रान्ति दर्शन अलब्ध भूमिकत्व, (फल में सन्देह) और अनवस्थितत्व (चित की अस्थिरता)

यह नव प्रकार के चित के विक्षेप (विघ्न) कहे जाते हैं। अतः उपर्युक्त दोषों से सदा पराङ्मुख और सावधान रहना ही श्रेयस्कर होगा। उक्त दोषों से ही मानव विचलित हो जाता है। साधना में अवरोध पैदा हो जाता है। व्यासजी ने कहा है—

एते चित्तविक्षेपनवयोगमलाः योगप्रतिपक्षः
योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते।

इतना ही नहीं और भी आगे बतलाते हैं कि—

"दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासविक्षपसहयुजः"

अर्थात्—दुःख दौर्मनस्य (इच्छापूर्ति पर निराशा) अंगमेजयत्व (अंगकम्पन) श्वास प्रश्वास यह पाँचों भी विक्षेप के साथ रहने वाले हैं।

इसलिए इन सभी स्थितियों में साधक पूर्णरूप से सावधान रहे। इसीलिए इस मार्ग में सतत सावधानता का विशेष निर्देश किया गया है। बस, इतना ही इस लघुलेख में पर्याप्त होगा, नहीं तो साधना में तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोवैज्ञानिक स्थिति और मानव की सूक्ष्म कमजोरियाँ इतनी हैं, भावनाओं को विचलित करने वाली कितनी ही हरकतें हैं जिसके सम्बन्ध में सूक्ष्मता से विचार उपस्थित किया जाए तो एक ग्रन्थ ही बन जाने की सम्भावना है। अतः इस सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण भी सतत सावधानता बरतने का आदेश देते हुये लिखते हैं—

यत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

अर्थात्—जो प्रयत्न पूर्वक सावधानता के साथ उपाय करनेवाला साधक अपनी योग साधना से पापरहित हो जाता है। अनेक जन्मों में संस्कारागत साधना से सिद्धि की प्राप्ति होती है और साधक सर्वोत्तम गति प्राप्त करता है।

इस मार्ग की सिद्धावस्था में भी अनेक चमत्कार और उपलब्धियाँ प्रस्फुटित होती हैं जो इस योगमार्ग के सफल परिणाम माने जाते हैं। पर इससे भी विरक्त और उदासीन रहनेवाला साधक अपने महान लक्ष्य की प्राप्ति में अग्रसर होता है और उसी को अनन्त शक्तियाँ वरण करती हैं, वही सिद्ध, सफल तथा पूर्णकाम होता है।

अग्निपुराण में-प्राणायाम विवरण

[डा. ज्योतिर्मित्र आचार्य]

[विद्वान् लेखक का अग्निपुराण पर समस्त योगाङ्गों का विवेचन करते हुए बड़ा लेख हमें मिला है— स्थानाभाव के कारण यहाँ प्रस्तुत अंश ही दिया जा सका है। —संपादक]

अग्निपुराण ने प्राणायाम शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या की है। उनके अनुसार स्व-शरीर में रहने वाली वायु ही प्राण है और उसके निरोध का नाम आयाम है। इस प्रकार प्राणायाम का सामान्य अर्थ प्राणवायु का रोकना होता है। पतञ्जलि ने आसन के होते हुए श्वास-प्रश्वास की गति के रोकने को प्राणायाम कहा। व्यास ने श्वास और प्रश्वास पद की शरीर क्रियापरक व्याख्या की है। उनके अनुसार बाह्य वायु का आभ्यन्तर खींचना 'श्वास' तथा कोष्ठगत वायु का बाहर निकालना 'प्रश्वास' है तथा उन दोनों की गतियों को रोक देना ही प्राणायाम है।

अ०पु० ने प्राणायाम की विधि का भी उल्लेख किया है। इसके सम्पादन में रेचक, पूरक एवं कुम्भक इन तीन क्रियाओं का सन्निवेश है। इसी को अ० पु० ने अन्यत्र (१६१।२२, २३) प्राणायाम के त्रिविध भेद के रूप में प्रस्तुत किया है। योगसूत्र में रेचक आदि नाम दृष्टिगत नहीं होते और उनके स्थान में क्रमशः बाह्य (प्रश्वास), आभ्यन्तर (श्वास) एवं स्तम्भ वृत्ति का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त एक चतुर्थ प्रक्रिया का भी संकेत पतञ्जलि ने दिया है। प्राणायाम की विधि के सम्पादन के प्रसंग में अ०पु०का कथन है कि साधक को अपनी अंगुलि से नासिका के एक छिद्र (नासापुट) को दबाकर दूसरे छिद्र (नासापुट) द्वारा उदरस्थित वायु को बाहर निकालना चाहिए। इस उदरस्थित वायु का बाहर निकालना ही रेचन है। इस कारण इस क्रिया को 'रेचक' कहा गया है तदनन्तर चमड़े की धौंकनी (चर्महृति) के समान शरीर को बाह्य वायु से पूरण करना चाहिये। जब शरीर वायु से परिपूर्ण हो जाय तो कुछ समय तक साधक को स्थिर भाव से बैठे रहना चाहिये। बाह्य वायु को आभ्यन्तर शरीर में पूरण करने के कारण इस क्रिया का नाम 'पूरक' है। इस प्रकार शरीर में जब वायु भर जाय या शरीर वायुसे परिपूर्ण हो जाय तब साधक न तो आभ्यन्तर वायु को ही छोड़ता है और न ही आभ्यन्तर वायु को ग्रहण करता है अपितु पूर्ण घट की भाँति अविचल भाव से स्थिर रहता है। उस समय कुम्भवत् स्थिर रहने के कारण उसकी चेष्टा 'कुम्भक' कहलाती है। जहाँ तक रेचक आदि तीन क्रियाओं के उल्लेख का प्रश्न है उस प्रसंग में यह निर्देश करना अनुपयुक्त न होगा कि ये तीनों नाम भोजवृत्ति में उपन्यस्त हैं। अ०पु० ने इसी सन्दर्भ में प्राणायाम की श्रेणी का भी निरूपण कर दिया है जो कि पातञ्जल दर्शन के किसी भी सम्प्रदाय-ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं। प्राणायाम-श्रेणी का परिसंख्यान करते हुए अ० पु० का कथन है कि बारह मात्रा (पल) का एक उद्घात होता है और इतनी अवधि तक वायु का रोकना कनिष्ठ-श्रेणी का प्राणायाम कहा जाता है। दो उद्घात अर्थात् २४मात्रा तक किया जाने वाला कुम्भक मध्यम श्रेणी का एवं तीन उद्घात (३६ मात्रा) का उत्तम श्रेणी का प्राणायाम माना गया है। ताल या ह्रस्व अक्षर के उच्चारण-काल का नाम मात्रा है—'तालो लघ्वक्षरो मात्रा (अ० पु० १६१।२४)'। प्राणायाम में प्रणत आदि का जप शनैः शनैः करना आवश्यक है (अ० पु० १६१।२४)। वस्तुतः उत्तम प्राणायाम वह है जिसके करने पर शरीर से स्वेद-निर्गत हो तथा कम्पन आरम्भ हो जाय।

प्राणायाम की भूमिकाओं में से जिस पर सम्यक् अधिकार न हो जाय उस पर सहसा आरोहण नहीं करना चाहिये। प्राणायाम के लाभ के वैशिष्ट्य के परिचय में पुराण का कथन है कि प्राण के जप कर लेने पर हिक्का एवं श्वासादि, रोग दूर हो जाते हैं। इतना ही नहीं अपितु इनसे मल-

मूत्रादि के दोष भी शनैः शनैः समाप्त होने लग जाते हैं। आरोग्य, शीघ्रगामिता, उत्साह, स्वरमाधुर्य, बल-वर्ण का प्रसाद तथा सर्वविध दोषों का दूर हो जाना प्राणायाम के अद्भुत लाभ हैं। सगर्भ एवं अगर्भ भेद से प्राणायाम के दो विभाग अग्निपुराण ने अन्यत्र (१६।२१) किये हैं। जो प्राणायाम जप एवं ध्यान के बिना किया जाता है उसका नाम अगर्भ है तथा इसके विपरीत इन दोनों के साथ किये जाने वाले प्राणायाम का नाम सगर्भ है। इन्द्रियों पर विजय पाने के लिए सगर्भ प्राणायाम ही उत्तम माना गया है तथा उसी का अभ्यास करना विहित है। ज्ञान एवं वैराग्य से युक्त होकर प्राणायाम के अभ्यास से इन्द्रियों पर विजय कर लेने पर सर्वविध विजय प्राप्त हो जाती है। यही स्वर्ग और नरक है। यही इन्द्रियां जब वश में हो जाती हैं तब व्यक्ति को स्वर्ग पहुँचा देती हैं और जब स्वतन्त्र हो जाती हैं तो नरक में पहुँचा देती हैं। इस विषय में अ० पु० ने इस प्रसंग में कठोपनिषद के तत्सम्बद्ध भाव को एक उदाहरण के माध्यम से पुष्ट किया है। कथानक के अनुसार शरीर को रथ से, इन्द्रियों को घोड़ों से, मन को सारथि से एवं प्राणायाम को कशा से तुलना की गई है। ज्ञान एवं वैराग्य की रश्मि से आबद्ध मन रूपी अश्व को प्राणायाम से आबद्ध करके जब सम्यक् प्रकार से नियन्त्रण में कर लिया जाता है तब मन शनैः शनैः स्थिर हो जाता है। जो मनुष्य १०० वर्षों से कुछ अधिक काल तक कुश के अग्रभाग से जल की एक बूंद लेकर उसका पान करता रहता है उसकी वह तपस्या और प्राणायाम समान माने गये हैं।

प्रत्याहार—प्रत्याहार की व्याख्या योग-दर्शन के समान ही अ० पु० में प्रतिपादित है। उसके अनुसार विषय रूपी समुद्र में प्रसक्त इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर अपने आधीन करना प्रत्याहार कहलाता है।

सरल परिभाषा

[डा० ईश्वरप्रसाद चतुर्वेदी]

सुविशाल भारतीय संस्कृत साहित्य के इतिहास में योगप्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदकाल से आरम्भ कर लौकिक संस्कृत काल पर्यन्त योग की विचारधारा की उत्कृष्टता की सराहना अनेक विद्वानों, ऋषियों एवं साधकों ने मुक्तकंठ से की है। इन सभी विचारकों ने भक्ति मार्ग की उपासना से भगवत्व प्राप्ति में योग को परमोपयोगी कारण माना है। अन्वेषण करने से जैसे अन्य प्रसिद्ध शास्त्रों के मूलतत्व प्रायः वेद में मिल जाते हैं, वैसे ही योग की विचारधारा के प्रमुख मूलतत्त्व भी वैदिक संहिताओं, उपनिषदों आदि में सर्वप्रथम प्राप्त हो जाते हैं। वैदिक काल में योग की विचारधारा के प्रमुख तत्व अत्यन्त आवश्यक होने पर भी विभिन्न वैदिक ग्रन्थों में प्रकीर्ण रूप से सुरक्षित रहे। इसके अतिरिक्त वैदिक काल में योग के प्रमुख मूल तत्त्व अधिकांश में गुरु, शिष्य की परम्परा के रूप में मौखिक रूप में भी सुरक्षित रहे थे। तात्पर्य यह है कि योग की उपासना पद्धति की सर्वोत्कृष्टता का अनुभव करने वाले महान् गुरुजन शिष्य की ज्ञान शक्ति के वैभव का अनुमान कर उसे योग्य समझ कर ही इस सद्विद्या का उपदेश देते थे। अयोग्य शिष्य को महान् पातक के भय के कारण गुरु जन योग की महनीय उपासना पद्धति का उपदेश प्रायः नहीं करते थे। यद्यपि योग की विचारधारा अनेक महान् विचारकों के गहन चिन्तन का विषय वन सकी, जन सामान्य की विचारधारा से प्रायः दूर रही। तो भी यह तथ्य है कि अनेक विद्वानों एवं साधकों ने योग-मार्ग की पद्धति से उपासना कर ज्ञान विज्ञानमय विशाल साहित्य का निर्माण किया है, वह सर्वथा सराहनीय है। इन विद्वान् साधकों ने योग की विचारधारा के जिन प्रमुख सत्य सिद्धान्तों का उद्घाटन संसार के समक्ष प्रस्तुत किया है, वे भौतिक विज्ञान की कसौटी पर भी सत्य स्वीकार किये गये हैं। इस प्रकार अनेक वैज्ञानिक विद्वान् भी योग की विचारधारा से प्रभावित होकर योग के अन्य मूल तत्वों का विस्तृत परिचय प्राप्त करने के लिए पर्याप्त प्रयत्नशील हैं। योग मार्ग की उपासना को अनेक वैज्ञानिकों, विद्वानों ने जन-सामान्य के लिए पर्याप्त उपयोगी मानते हुए उसके विस्तृत प्रचार के लिए वल दिया है।

योग का अर्थ

अव इस महत्वपूर्ण योग शव्द के अर्थ का विचार करना उचित होगा। व्याकरण के अनुसार योग शव्द समाध्यर्थक "युज्" (युज्-समाधौ) धातु से बनता है। जिसका अर्थ समाधि है। लौकिक संस्कृत के दार्शनिक काल में योग प्रक्रिया को सभी दार्शनिकों ने अत्यन्त उपयोगी समझकर इसका कमवद्ध तात्विक विवेचन प्रस्तुत किया। वस्तुतः दार्शनिक काल में योग की विचारधारा एक महत्वपूर्ण दर्शन-शास्त्र के रूप में विकसित हुई। योग दर्शन को व्यवस्थित शास्त्र के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय महर्षि श्री पतंजलि को दिया जा सकता है। भारतीय परम्परा ने योग सूत्र के निर्माता तथा व्याकरण महाभाष्य के रचयिता पतंजलि को एक ही व्यक्ति माना है, जैसा कि निम्नांकित श्लोक से स्पष्ट है—

इस प्रकार योग दर्शन की समस्त विचारधारा को सूत्र रूप में पतंजलि ने क्रमवद्ध किया, वे ही योग सूत्रों के नाम से प्रसिद्ध हैं। आगे की पीढ़ी के अनेक दार्शनिकों ने इन्हीं योग सूत्रों पर विभिन्न प्रकार से टीका-टिप्पणी एवं भाष्य आदि का निर्माण कर योगदर्शन की परम्परा को पूर्ण विकसित किया। इन दार्शनिकों की इस साधना का परिणाम यह हुआ कि भारतीय प्रमुख षड्दर्शनों की गणना में योगदर्शन को भी सम्मिलित कर लिया गया। कुछ लोग योग दर्शन एवं सांख्य दर्शन को अलग-अलग मानते हैं, किन्तु ऐसा विचार करना उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि वस्तुतः

ये दोनों ही दर्शन शास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं। इसी आधार पर निम्नांकित सूक्ति प्रसिद्ध है—

'सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'
अर्थात् सांख्य और योग को अलग-अलग बालक कहते हैं, विद्वान् नहीं।

कवि कुल गुरु कालिदास ने भी रघुवंश में भारतीयों की जीवन पद्धति के प्रसंग में योगशास्त्र का विवेचन निम्नांकित श्लोक में सरल ढंग से प्रस्तुत किया है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्"।।

अर्थात् बाल्यावस्था में अनेक विद्याओं का अध्ययन कर, युवावस्था में अनेक प्रकार के सुखभोगों का अनुभव कर, वृद्धावस्था में मुनियों के समान आचरण कर अन्त में योग-शास्त्र में निरूपित पद्धति से भारतीय लोग अपने शरीर को त्याग देते थे।

योग की परिभाषा के सम्बन्ध में अनेक दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से विचार प्रस्तुत किये हैं। महर्षि पतंजलि ने "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः", अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकने को योग संज्ञा बताई है। चित्त का अभिप्राय अन्तःकरण से है।

सांसारिक जनों को योग मार्ग का रहस्य समझाने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में सरल ढंग से योग की व्याख्या निम्नांकित प्रकार से प्रस्तुत की है। "योगः कर्मसु-कौशलम्" अर्थात् संसार के समस्त कार्यों को पूर्ण कुशलता से प्रतिपादित करने की क्षमता को योग कहते हैं। वस्तुतः योग की यही परिभाषा सर्वोत्तम कही जा सकती है।

कहती दुनिया मुझे वियोगी

[योगेन्द्र सिंह]

क्षण भर योगी, क्षण भर भोगी
कहती दुनिया मुझे वियोगी।

मानवता की एक मड़ैया
अपने हैं सब भैया मैया
रास रचायें ठुमुक कन्हैया
ताल ताल पर साज सजेगी,
कहती दुनिया मुझे वियोगी।

एक मात्र अपना है जीवन
ईश्वर चिंतन शत शत वंदन
द्रवित वेदना दुख औ क्रंदन
पीड़ा भी कुछ बोल उठेगी
कहती दुनिया मुझे वियोगी।

नैतिकता अपना ही पन है
युग का अंधा ही दर्पण है
क्षण भोगी अंतर दंशन है
मुरझाई क्या साध जगेगी
कहती दुनिया मुझे वियोगी।

बाहर मुखर कहानी सजनी
झुलसा अंतर बची निशानी
गाओ मिल सब शेष जवानी
क्षुधा विश्व की क्षुब्ध लगेगी
कहती दुनिया मुझे वियोगी।

गरुड़ पुराणोक्त योग की समीक्षा

[डा० (सुश्री) जयन्ती भट्टाचार्य]

गरुड़ पुराण के प्रथम खण्ड के ४४वें, २१८वें, २२७वें तथा २२८वें एवं २२९वें अध्यायों में पातंजल योगदर्शन की सूक्ष्म चर्चा की है। ग० पु० का कथन है कि 'आत्मा' का ज्ञान ध्यान चक्षु द्वारा किया जा सकता है अथवा सांख्य के बुद्धि के द्वारा, पर कुछ लोगों का विचार है कि ये योग के द्वारा ही प्राप्त किए जा सकते हैं। इस प्रकार मुक्तिपद एक चित्ततावाले योग की चर्चा की पातंजल योगसूत्र के समान 'योगश्चित्तवृति निरोधः' इस प्रकार की योग की परिभाषा न कर 'योगसूत्रैक चित्तता' की परिभाषा की है।

योग को आत्मोन्नति के साधन के रूप में सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है। यहां तक कि वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण सभी में योगाभ्यास की चर्चा आयी है। जब तक मनुष्य का चित्त अंतःकरण स्थिर निर्मल नहीं होता तब तक उसे तत्वज्ञान की सम्यक् उपलब्धि नहीं होती है। मान्तमन एवं शुद्ध हृदय से ही हम इन गूढ़ तत्व को पा सकते हैं। आत्मोन्नति के लिए योग ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। इससे शरीर एवं मन की शुद्धि होती है। गरुड़ पुराणकार ने इसी दृष्टि से अष्टांग योग की चर्चा की है। ग० पुराण के अनेक स्थलों में योग प्रस्थान की चर्चा की है।

अष्टांग योग : अष्टांग योग के अन्तर्गत पातंजल योग-दर्शन के समान गु० पु० ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि का वर्णन किया है। यम और नियम को छोड़कर शेष छः को योग प्रसाधक माना माना गया है।

यम के पांच अंग हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

(१) अहिंसा : कर्म, मन एवं वाणी के द्वारा समस्त प्राणियों के प्रति हिंसा से विरत रहने वाला धर्म ही अहिंसा है। यही सर्वोत्तम सुख है। किन्तु विधि या नियम के द्वारा जो हिंसा होती है वही अहिंसा कहलाती है। पातंजल योग दर्शन में यह कहा गया है कि अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर वैर त्याग होता है।

(२) सत्य : व्यक्ति को सदा सत्य एवं प्रिय भाषण करना चाहिए। सत्य और अप्रिय बोलना ठीक नहीं है। इसके साथ-साथ प्रिय असत्य बोलना ठीक नहीं है यही सनातन धर्म है।

पतंजलि का कथन है कि सत्य की प्रतिष्ठा होने पर क्रियाफल के भाव का आश्रय का भाव आ जाता है।

(३) अस्तेय : चौर्य कर्म द्वारा अथवा बलपूर्वक किसी के द्रव्य का अपहरण करना स्तेय है। स्तेय कर्म का परित्याग अस्तेय कहलाता है।

पतंजलि का कथन है कि अस्तेय की प्रतिष्ठा होने पर सब प्रकार के रत्नों की प्रतिष्ठा हो जाती है।

(४) ब्रह्मचर्य : मन एवं वाणी से सभी अवस्थाओं में सर्वथा मैथुन का त्याग करना ही ब्रह्मचर्य है।

योग सूत्र के अनुसार ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर वीर्य लाभ होता है।

(५) अपरिग्रह : आपत्काल में अपनी इच्छा से किसी भी द्रव्य का ग्रहण न करना ही अपरिग्रह है। इस प्रकार परिग्रह को यत्नपूर्वक त्याग देना चाहिए।

पतंजलि का कथन है कि अपरिग्रह की स्थिति हो जाने पर पूर्व जन्म का ज्ञान हो जाता है।

(६) नियम : नियम के अन्तर्गत शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान की गणना है।

(१) शौच : शौच का साधारण अर्थ पवित्रता से है। ये दो प्रकार का माना जाता है :—

(अ) वाह्य शौच (३) आभ्यन्तर शौच !

(अ) वाह्य शौच :—मृत्तिका जलादि से होता है।

(ब) आभ्यन्तर शौच—आभ्यन्तर शौच भावना द्वारा होती है।

योग सूत्र की यह विचारधारा है कि शौच के पालन से दूसरे से संसर्ग न करने की इच्छा होती है।

(२) संतोष :—जो वस्तु स्वतः मिल जाय उसी को सन्तोष कहते हैं और संतोष ही सुख है।

पतंजलि भी इसी प्रकार संतोष से सुख की प्राप्ति का निर्देश करते हैं।

(३) तप :—मन तथा समस्त इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप है। शरीर को शोषण करने वाले कृच्छ कठिन चान्द्रायण व्रत भी इसके अन्तर्गत आते हैं।

योगसूत्र के अनुसार तप के प्रभाव से अशुद्धि का नाश हो जाता है तथा शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

(४) स्वाध्याय : वेदान्त, शतरुद्री, प्रणव आदि के जाप तथा पठन को स्वाध्याय कहा गया है। स्वाध्याय पुरुषों के मन को शुद्ध करने वाला होता है।

पतंजलि का यह निर्देश है कि स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार हो जाता है।

(५) ईश्वर प्राणिधान : वाणी, मन और शरीर के कर्म से ईश्वर की स्तुति, स्मरण, मनन पूजा एवं हरि में अनिश्चला भक्ति को ईश्वर प्राणिधान कहा गया है।

योग सूत्र का कथन है कि ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि हो जाती है।

आसन :—इसमें आसन, स्वस्तिकासन, पद्मासन, अर्द्धासन आदि की गणना है।

पतंजलि का कथन है कि आसन की सिद्धि से छन्दों का आघात नहीं लगता है।

(४) प्राणायाम : स्वदेहज प्राणवायु के निरोध करने को प्राणायाम कहा जाता है।

यह प्राणायाम तीन प्रकार का होता है—(१) पूरक (२) कुम्भक (३) रेचक।

(१) पूरक : वायु को शरीर में पूरण करने से पूरक होता है।

(२) कुम्भक : निश्चल होने से कुम्भक कहा गया है।

(३) रेचक : रेचक से रेचक कहा गया है। द्वादश मात्राओं से युक्त प्राणायाम लघु होता है। और चौबीस मात्रा से युक्त पर एवं छत्तीस मात्राओं से युक्त परमश्रेष्ठ माना गया है।

योग सूत्र का कथन है कि प्राणायाम की प्रतिष्ठा होने पर प्राणायाम के अभ्यास से मन की योग्यता होती है।

(५) प्रत्याहार : मन को विषय आदि से पृथक् करने को प्रत्याहार कहा गया है। पतंजलि का कथन है कि प्रत्याहार सिद्ध होने पर इन्द्रियाँ वश में आ जाती हैं।

(६) धारणा : मन की धृति को धारणा कहा जाता है।

(७) ध्यान : ब्रह्म के मूर्त एवं अमूर्त स्वरूप का चिन्तन करना ही ध्यान है।

(८) समाधि : मैं ही ब्रह्म हूँ—इस प्रकार की प्रतीति समाधि है। मैं ब्रह्म हूँ। मैं बिना शरीर का हूँ—इन्द्रियों से रहित हूँ। मैं मन, बुद्धि, अहंकार आदि से वर्जित हूँ। मैं जागृत, सुषुप्ति, आदि से मुक्त उसी की ज्योति स्वरूप हूँ। मैं नित्य शुद्ध, बुद्धियुक्त सत्य एवं एवं आनन्द स्वरूप अद्वितीय हूँ।

इस प्रकार गरुड़पुराण के विभिन्न अध्यायों में योग-दर्शन की चर्चा अति संक्षेप में हुई है।

"पुनर्वसु आत्रेय के योग का व्यावहारिक स्वरूप"

[डा० भागवत राम शास्त्री]

वर्तमान युग में शास्त्रानुसार वर्णित परम सिद्ध योगी पुरुष के स्वरूप का दिग्दर्शन आज प्राप्त होना दुर्लभ-सा प्रतीत होता है। एक युग था जबकि हमारे यहाँ वैसे योगी पुरुषों की कमी न थी एवं उन योगी पुरुषों को "आप्त पुरुष" शब्द से भी व्यवहार में सम्बोधित किया जाता था। परम सिद्ध योगी के शास्त्र वर्णित पूर्ण लक्षणों से युक्त पुरुष को आज हम व्यावहारिक रूप में प्राप्त करें तो उन्हें हम अपने से परे ईश्वर स्वरूप मानने में संकोच नहीं करेंगे।

योग व्यावहारिक स्वरूप में प्रधानतः तीन स्थितियों में प्राप्त है—प्रथम To Know, जानने की स्थिति, द्वितीय To Do करने की स्थिति अर्थात् सतत् योगाभ्यास करना एवं तृतीय To Be स्वयं वैसा ही हो जाना (परम सिद्धि प्राप्त कर लेना)।

व्यवहारतः देखा जाय तो प्रथम To Know जानने की स्थिति में कमी की प्रतीति नहीं होती। आज के युग में विश्व के अधिकांश बुद्धिजीवी प्राणी योग ज्ञान की उत्कृष्टता का वर्णन करते पाये जाते हैं। उनकी योग चर्चा से यह पूर्ण आभास भी होता है कि अमुक व्यक्ति वास्तव में परम सिद्ध या ज्ञानी योगी है, पर उनके अन्तराल में जाने पर शून्यता प्रतीत होती है। परन्तु इस स्थिति की निन्दा नहीं की जा सकती। ये पुरुष भी व्यवहारतः प्रशंसनीय हैं क्योंकि शास्त्र वर्णित योग विषयक ज्ञान का परिज्ञान कर समाज में जो उपदेश देते हैं, उसके फलस्वरूप समाज के आनेवाले नवयुवकों के पथप्रदर्शक एवं योग के प्रति प्रबलरुचि का प्रवर्तन होता है। उनके इस उपदेश का यह भी प्रभाव हो सकता है कि कोई नवागन्तुक अभ्यास कर स्वयं परम सिद्ध योगत्व को प्राप्त कर ले। दूसरे शब्दों में इसे हम यों भी कह सकते हैं कि योग क्या है? इसकी क्या परिभाषा है? इसे प्राप्त करने के क्या साधन हैं? तथा प्राप्त होने पर अपने में कौन से विशेष गुण या लक्षण होंगे? इसका परिज्ञान मात्र ही प्रथम " Tokrowh " जानने की स्थिति का बोधक है।

पुनर्वसु आत्रेय के अनुसार आत्मा, इन्द्रिय, मन एवं विषय या अर्थों के सन्निकर्ष से सुख तथा दुख होता है। परन्तु जब आत्मा में मन स्थिर हो जाता है तब किसी कार्य के होने न होने से सुख दुख ये दोनों निवृत्त हो जाते हैं तब शरीर के साथ आत्मा वशी हो जाती है। इस स्थिति को जानने वाले ऋषि लोग योगी कहलाते हैं। दूसरे सरल शब्दों में चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।

द्वितीय To Do करने की स्थिति है अर्थात् योग शक्ति प्राप्त करने हेतु शास्त्र में जिन साधनों का वर्णन किया गया है, उन सभी साधनों का व्यावहारिक रूप में सतत अभ्यास करना। अपने मन में योग शक्ति प्राप्तिहेतु प्रबल इच्छा शक्ति का इस प्रकार का प्रादुर्भाव होना कि मैं इसे प्राप्त किये बिना जीवित रह ही नहीं सकता हूँ। (I con not live without her) ऐसी व्यग्रता की स्थिति अपने में आ जाने पर योग प्राप्ति हेतु गुरु की खोज, गुरु उपदेश तथा शास्त्र सम्मत सम्पूर्ण नियमों का व्यावहारिक रूप में सतत अभ्यास करते रहना आवश्यक है।

पुनर्वसु आत्रेय द्वारा योग प्राप्ति हेतु अभ्यास करने के कुछ विशेष नियमों का वर्णन किया गया है। रज तथा तम का अभाव हो जाने पर, शुद्ध सत्व की प्राप्ति हो जाने पर बलवान् कर्मों का क्षय हो जाता है। उस स्थिति में कर्म का संयोग अर्थात् कर्मजन्य बन्धनों का वियोग हो जाता है। ऐसी स्थिति को मोक्ष कहते हैं। अतः रजस् एवं तमस् का अभाव हो जाना ही योग है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति हेतु निम्नलिखित कार्यों का सतत अभ्यास करना चाहिये। यह संसार दुखमय है। ऐसी इच्छा रखने वाले पुरुष को सर्वप्रथम आचार्य (गुरु) के पास जाना चाहिए और गुरु जो उपदेश करे उस मार्ग का विधिवत् उसी रूप में पालन करे।

सज्जनों की भली प्रकार सेवा करे, दुष्ट पुरुषों के साथ का परित्याग करे, चान्द्रायण व्रतों को करे, आत्मशुद्धि हेतु उपवास करे, शास्त्र वर्णित विभिन्न नियमों एवं व्रतों का पालन करे, धर्मशास्त्र का अध्ययन करे, विज्ञान अर्थात् प्रमाणों के द्वारा प्रमा का ज्ञान करे, काम क्रोधादि का परित्याग करने का अभ्यास करे, मोक्ष कर्मों में प्रवृत्ति रखे, उत्तम धर्म का पालन करे, धर्म एवं अधर्म के साधनभूत कर्मों का प्रारम्भ करे, पूर्व जन्म या इस जन्म में किये हुए कर्मों का क्षय होना, घर से या आश्रय से दूर होकर कर्मफल भोगने के लिए कर्म न करे, अहंकार न करे, आत्मा और शरीर के संयोग होने पर अपने को भयभीत बनाना अर्थात् उसे चारों तरफ से भय ही भय दिखाई देना, मन और बुद्धि को समाधिस्थ करे, इसके अतिरिक्त भी पुनर्वसु आत्रेय द्वारा कुछ और भी मोक्ष प्राप्ति हेतु साधन बताये गये हैं जिनका संग्रह चरक संहिता में प्राप्त है। इस प्रकार से शास्त्र या गुरु द्वारा बताये गये योग प्राप्ति हेतु साधनों का सतत अभ्यास करने का प्रयास करना ही To Do करने की स्थिति है।

तृतीयावस्था "To Be" वैसा ही हो जाने की स्थिति है—उपर्युक्त बताये हुए साधनों का सतत अभ्यास करते-करते वैसा ही हो जाना। अर्थात् परम सिद्ध योगी पुरुष के शास्त्र में बताये गये सभी लक्षणों का व्यवहारतः अपने में प्राप्त हो जाना। वैसा ही होने की स्थिति का वर्णन पुनर्वसु आत्रेय द्वारा इस प्रकार से किया गया है कि जब योग की सिद्धि हो जाती है तो इन लक्षणों द्वारा उसको जाना जा सकता है। आवेश—दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाने की शक्ति प्राप्त हो जाना, चेतसोज्ञानम्—दूसरे के मन की बात जानने की शक्ति प्राप्त होना, अर्थानां छन्दतः क्रिया—शब्द, स्पर्श, रूप रस गन्ध अर्थों का अपनी इच्छा से प्रवृत्त करना। इसको इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि जिस विषय का ज्ञान चाहें उसका ज्ञान अपने मनोनुकूल शीघ्र ही प्राप्त हो जाना। दृष्टि–अतीन्द्रिय वस्तु भी दिखाई दे। श्रोत्र–कर्णेन्द्रिय—अपनी इच्छानुसार प्रिय अप्रिय शब्दों को दूर एवं नजदीक से सुनने लगे। स्मरण शक्ति ठीक रहे, अतः सभी भावों के तत्वों को समझने लगे। शरीर में देवताओं की तरह कान्ति प्राप्ति हो जाय। इच्छानुसार अपने को प्रकट एवं अप्रकट कर सके। इस प्रकार यह आठ प्रकार का योगियों का योग सिद्ध करने पर ईश्वर से प्राप्त होता है। इस तरह का योग शुद्ध सत्त्व अर्थात् रज एवं तम से रहित मन का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है, तभी यह सब संभव होता है।

पुनः दूसरे शब्दों में यह कहा जाता है कि अपनी तपस्या के बल से जो रजस् एवं तमस् से मुक्त हो गये हैं, जिनको सदा भूत भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान निर्बाध रूप से प्राप्त होता रहता है और जिनकी शक्ति कभी भी नहीं रुकती है, ऐसे व्यक्तियों को आप्त शिष्ट तथा विबुद्ध कहा जाता है। ये आप्त पुरुष परम सिद्ध योगी ही हैं।

अन्त में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि मैं तीनों में किस स्थिति में हूँ तो यह स्पष्ट है कि मुझमें योग जानने की अभिलाषा होने के कारण प्रथम स्थिति To Know जानने की स्थिति की ही प्रारम्भ मात्र जानकारी है।

समाधिस्थ शिव

[कविकुल गुरु कालिदास] अनुवादक [डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी]

(१)

पर्यङ्कवन्धस्थिरपूर्वकाय-
मृज्वायतं संनमितोभयांसम्
उत्तानपणिद्वयसंनिवेशा-
त्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये

(१)

पूर्वकाय वीरासन-निश्चल
ऋजु, आयत, संनमित-अंसद्वय,
खिले कमल से दोनों करतल अंक मध्य में

(२)

भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं
कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम्
कण्ठप्रभासंगविशेषनीलां
कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम्

(२)

जटाजूट ऊँचा भुजंग से बँधा,
अक्षमाल दुहरे दोनों कर्णों में,
बद्धकृष्ण मृगचर्म—
कण्ठ की नील प्रभा से
अनुरंजित हो, दिखा कृष्णतर

(३)

किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारै-
र्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः
र्नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालै-
र्लक्ष्यीकृतघ्राणमधो मयूखैः

(३)

कुछ कुछ दिखते,
शान्त, उग्र तारक लोचन के,
नासिकाग्र पर टिके नेत्र
नीचे को किरण छोड़ते,
भ्रू विकार भी विरत हो रहा,
नहीं कहीं कोई संस्पन्दन पक्ष्मपंक्ति में !

(४)

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाह-
मपामिवाधारमनुत्तरंगम्
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधा-
न्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्

(४)

निस्तरंग गम्भीर सरोवर,
घिरे, किन्तु वर्षण से रहित मेघ से,
अन्तश्चारी प्राणों के निरोध से जैसे
स्थित निवात में निश्चल दीपक !

(५)

कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गै-
र्ज्योतिः प्ररोहैरुदितैः शिरस्तः
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां
बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः

(५)

भाल नेत्र से निकले,
उठते ब्रह्मरन्ध्र से,
ये प्रकाश के अंकुर सचमुच मलिन कर रहे—
बालचन्द्र की मृदुल प्रभा को,
[illegible] शोभित जो मृणाल को लज्जित करती

(६)

मनोनवद्वारनिषिद्धवृत्ति

हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्

यमक्षरं क्षेत्रविदोविदुस्त-

मात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्

(६)

सन्निरुद्ध संचार नवों द्वारों से जिसका,
जो समाधि से वश्य-वशंगत,
उस मन को हृदयाधिदेश में
संस्थापित कर,
क्षेत्रज्ञानी जन अविनाशी जिसको कहते,
उस आत्मा को अपने में अवलोकन करते।

(७)

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं

पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम्

नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः

स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्

(७)

ऐसे शिव—अयुग्म लोचन को
स्मर ने देखा,
जिनका धर्षण
मनः कल्पना से भी बाहर,
कांपे कर मन्मथ के,
भय से जान न पाया
कब छूटे कर से बाण,
और दुर्जय धनु !

धर्म ध्वजा फहराता चला चल

[श्री चन्द्रशेखर मिश्र]

(१)

कोटि चलें शत कोटि चलें गति को गतिमान बनाता चलाचल
शंकर की छवि मद्धिम हो तो नया दिनमान उगाता चलाचल
वेद के चारण ! भाषित वेद स्वरूप, स्वरूप दिखाता चलाचल
थापित धर्म तुम्हीं से धरा पर, धर्म ध्वजा फहराता चलाचल।

(२)

दीपित तेज प्रताप निहार के अलमष कल्मष भाग रहा है।
धर्म धुरी को संभाले रहे, धरमातमा का यही भाग रहा है'।
देख तुम्हें कहते सब लोग हैं 'भारत भूमिका भाग रहा है।
संस्कृति का पहरू करपात्री सदा सब मोड़ में जाग रहा है।

अग्निपुराण में प्रतिपादित यम एवं नियम

[कु० सरिता हांडा]

योग की परिभाषा—

अग्निपुराण ने अष्टाङ्ग योग का विशद वर्णन पांच अध्यायों (३७२ से ३७६ तक) में किया है। यह अष्टाङ्ग योग संसार के (त्रिविध) तापों से मुक्त कराने का एक साधन है। ब्रह्म को प्रकाशित करने वाला यह ज्ञान भी 'योग' से ही सुलभ है। चित्त की एकाग्रता को योग कहते हैं। दूसरे शब्दों में योग चित्त की वृत्ति का निरोध है। जीवात्मा एवं परम (ब्रह्म) आत्मा में अन्तः करण की वृत्तियों का स्थापन 'उत्तम योग' है। अग्निपुराण की योग विषयिणी द्वितीय परिभाषा पतञ्जलि के योगसूत्र की अविकल अनुकृति है।

अष्टांग योग का परिगणन—योगसूत्र के समान ही अग्निपुराण ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा एवं समाधि इस प्रकार योग के आठ अंगों का नाम लिया है।

१—यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। इस प्रसंग में यह सर्वथा ध्यातव्य है कि अग्नि पुराण के समान योग में यम के पाँचों घटकों का परिसंख्यान तो है पर प्रत्येक की व्याख्या योग सूत्र में नहीं है। अग्नि पुराण-कार ने इन पाँचों का अतिविस्तार से प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार यह भोग एवं मोक्ष का सतत प्रदाता है। अहिंसा आदि इन पाँचों का निरूपण इस प्रकार है—

(क) अहिंसा—किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है। योग सूत्र के व्यासभाष्य में अहिंसा की परि-भाषा बतलाई गई है। उनके अनुसार सब प्रकार से सर्वदा समस्त प्राणियों के प्रति चित्त में द्रोह न करना अहिंसा है। अग्निपुराण के अनुसार अहिंसा उत्तम धर्म है। इसके महत्त्व का प्रतिपादन एक उदाहरण के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। जिस प्रकार पथ पर चलने वाले प्राणियों के पद चिन्ह हाथी के पदचिन्हों में समाविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार धर्म के सभी साधन अहिंसा में गतार्थ माने जाते हैं। अहिंसा को सम्यक् समझने के लिए हिंसा का ज्ञान करना अत्यावश्यक है। यही कारण है कि अग्निपुराणकार ने हिंसा के दस भेद किये हैं और वे हैं—किसी को उद्वेग में डालना, किसी को संताप देना, रोगी बनाना, शरीर से रक्त निकालना, चुगली खाना, किसी के हित में अत्यन्त बाधा डालना, किसी के मर्म का उद्घाटन कर देना, किसी को सुख से वंचित कर देना, अकारण किसी को रोक रखना, तथा किसी का वध कर देना।

(ख) सत्य—प्राणियों के लिए अत्यन्त हितकारी वाणी का प्रयोग करना ही सत्य का लक्षण है। व्यासभाष्य के अनुसार अर्थानुकूल वाणी एवं मन का व्यवहार होना ही सत्य है, इतना ही नहीं उन्होंने इसकी परिधि में अनेक तथ्यों का समावेश कर लिया है। हितकर वाणी के प्रयोग का महत्त्व उन्होंने स्वीकार किया है—

(ग) ब्रह्मचर्य—अग्निपुराण ने मैथुन के परित्याग को ब्रह्मचर्य कहा है। व्यासभाष्य के अनुसार गुप्त इन्द्रिय उपस्थ का संयम करना ब्रह्मचर्य है। अग्निपुराण ने मैथुन को आठ विभागों में विभक्त कर दिया है और वे इस प्रकार हैं—स्त्री का स्मरण, उसकी चर्चा, उसके साथ क्रीड़ा करना, उसकी ओर देखना, उससे लुक-छिप कर बातें करना, उसे पाने का संकल्प, उसके लिए उद्योग तथा क्रिया निर्वृत्ति (स्त्री से साक्षात् समागम)। यही ब्रह्मचर्य समस्त शुभ कर्मों की सिद्धि का मूल है और इसके अभाव में समस्त क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं। जहाँ तक स्त्री से मोहित होने का प्रश्न है उस विषय में अग्नि पुराण ने वशिष्ठ, चन्द्रमा, शुक्र, बृहस्पति और ब्रह्मा जैसे तपोवृद्ध एवं वयोवृद्ध व्यक्तियों के स्त्रियों के मोहपाश में निबद्ध हो जाने के उदाहरण को प्रस्तुत किया है। स्त्रियों की मादकता की तुलना उन्होंने सुरा से की है और इसी प्रसंग में गौड़ी, पैष्टी और माध्वी इस

प्रकार त्रिविध सुरा के अतिरिक्त एक चौथी सुरास्त्री को माना है जिससे यह समस्त संसार मोहित है। मदिरा एवं स्त्री के मद का पार्थक्य प्रदर्शित करते हुए उन्होंने यह पर्यवेक्षण किया है कि जहाँ मदिरा के पान करने पर मनुष्य मतवाला हो जाता है वहाँ केवल मात्र स्त्री को देखते ही उन्मत्त हो जाता है। नारी देखने मात्र से ही, मन में उन्माद उत्पन्न करती है इसलिए उसका अवलोकन नहीं करना चाहिये।

अग्नि पुराणकार ने क्रम से प्राप्त अस्तेय का उल्लेख न कर ब्रह्मचर्य का उससे पूर्व सहेतुक उल्लेख किया है। यतः इस प्रकरण में विवेच्य सामग्री अधिक थी अतएव उसका प्रथम निर्देश करना आवश्यक समझा गया।

(घ) अस्तेय—अग्निपुराणकार ने अस्तेय की परिभाषा का कहीं भी निर्देश नहीं किया है। इस विषय में व्यासभाष्य ने अवश्य प्रकाश डाला है। उनके अनुसार शास्त्र-आज्ञा के विरुद्ध दूसरों से धनादि द्रव्यों का स्वीकार करना 'स्तेय' है। इतना ही नहीं किसी वस्तु के प्रति स्पृहा को व्यक्त करना भी 'स्तेय' है। स्तेय से विपरीत ही अस्तेय है, जिसका सामान्य अर्थ है चोरी न करना।

स्तेय करने के परिणामों पर भी अग्नि पुराण ने प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि यदि मनुष्य बलपूर्वक किसी भी वस्तु का अपरहण करता है तो उसे तिर्यग्योनि में जन्म लेना पड़ता है, यही स्थिति उसकी भी होती है जो हनन किये बिना ही (बलिवैश्व देव के द्वारा आदि का भाग अर्पण किये बिना ही) हविष्य (भोज्य पदार्थ) का भोजन कर लेता है।

(ङ) अपरिग्रह—अस्तेय के समान ही अग्निपुराण ने अपरिग्रह की भी परिभाषा नहीं की है। व्यासभाष्य के अनुसार विषयों का प्राप्त करना, पुनः उनकी रक्षा करने की चिन्ता, तदनन्तर उनके नाश से चित्त में क्षोभ, पुनः उनका संग और अन्ततोगत्वा हिंसा के विचार से उनका स्वीकार न करना अपरिग्रह है। भोज ने भोग के साधनों के स्वीकार न करने को अपरिग्रह कहा है। इसी अपरिग्रह के विषय में उदाहरण देते हुए अग्निपुराणकार ने अपने साथ सीमित वस्तुओं के रखने की इयत्ता को प्रदर्शित किया है उनके अनुसार कौपीन, शरीर ढँकने वाला वस्त्र, शीत निवारण करने वाली कथरी (कन्थाव) और चरणपादुका ही संग्रहणीय होती है। इन उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त किसी अन्य सामग्री का संग्रह नहीं करना चाहिए। केवल शरीर की रक्षा के साधन भूत वस्त्र आदि का संग्रह किया जा सकता है। वस्तुतः धर्म के अनुष्ठान में व्यापृत शरीर की यत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिए।

२—नियम

अग्निपुराण ने यम के साथ ही नियम की भी चर्चा एक ही अध्याय में कर दी है। जिस प्रकार यम को भोग एवं मोक्ष का सद्यः प्रदाता कहा गया था उसी प्रकार यह नियम भी है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम हैं। यम के समान नियम के पाँचों घटकों का परिसंख्यान तो योगसूत्र में है, पर उनकी व्याख्या न तो योगसूत्र में है और नहीं अग्निपुराण में। इसकी विषय-सामग्री उपर्युक्त पुराण में योग सूत्र की अपेक्षा कहीं अधिक है। शौचादि इन पाँचों नियमों का निरूपण क्रमशः इस प्रकार है—

(क) शौच—शौच शब्द का सामान्य अर्थ शुद्धि है। यह बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। इनमें से मृत्तिका और जल से होने वाली शुद्धि बाह्य तथा भावों से होने वाली शुद्धि को आभ्यन्तर शुद्धि कहा जाता है। दोनों ही प्रकार से जो शुद्ध है वही शुद्ध कहलाता है। इनमें से किसी एक की भी न्यूनता होने पर शुद्धि नहीं मानी जा सकती है। व्यास और भोज ने अग्निपुराण के समान ही शौच का इन्हीं दो भेदों के अन्तर्गत प्रतिपादन किया है।

(ख) संतोष—प्रारब्ध के अनुसार जैसे-तैसे जो कुछ भी प्राप्त हो जाये उसी में हर्ष मानना संतोष है, इसी का दूसरा नाम तुष्टि भी है। व्यास के अनुसार समीपस्थ साधनों के होते हुए भी अधिक प्राप्ति की इच्छा न करना संतोष है। भोज अग्निपुराण के समान ही संतोष पद से तुष्टि का ग्रहण करते हैं।

(ग) तप—मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को अग्निपुराण ने तप कहा है। और इन्हीं पर विजय पाना सब धर्मों से श्रेष्ठ धर्म माना जाता है। व्यास के अनुसार शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा जैसे द्वन्द्वों का सहन करना ही तप है।

यह तप वाचिक मानस एवं शारीरिक भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से मन्त्र, जप, आदि वाचिक, राग या आसक्ति का त्याग मानसिक तथा देव पूजन आदि शारीरिक

तप कहलाते हैं। ये त्रिविध तप सब कुछ प्रदान करने वाले कहे गये हैं।

(घ) **स्वाध्याय**—अग्नि पुराण ने स्वाध्याय पद की व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है, किन्तु उसका निरूपण अति सूक्ष्मता से किया है। व्यास भाष्य के अनुसार मोक्ष विषयक शास्त्रों का अध्ययन करना या ओंकार (प्रणव) का जप करना स्वाध्याय है। यतः वेद प्रणव से आरम्भ होते हैं अतः प्रणव में सम्पूर्ण वेदों की स्थिति मानी जाती है। वाणी का जितना भी विषय है वह सब प्रणव ही है, अतएव प्रणव का अभ्यास विहित है।

(ङ) ईश्वर प्रणिधान—स्वाध्याय के समान ही अग्निपुराण ने ईश्वर-प्रणिधान की कोई परिभाषा नही की है, पर उसका विशद विवेचन किया है। व्यास के अनुसार उस परम गुरु परमात्मा में सभी कर्मों का अर्पण करना 'ईश्वर प्रणिधान' है। प्रणव की विशद व्याख्या करते हुए पुनः अग्निपुराण कहता है कि अकार, उकार तथा अर्ध मात्रा युक्त मकार ही ओम् या प्रणव है। तीन मात्राएँ, तीनों वेद, भूः आदि लोक, तीन गुण, जागृत् स्वप्न एवं सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ तथा ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ये सभी प्रणव रूप हैं। इसी प्रणव के अन्तर्गत प्रद्युम्न, श्री और वासुदेव भी आते हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें ओंकार कहा जाता है। यह ओंकार मात्रा से रहित या द्वैत की निवृत्ति कराने वाला तथा शिव स्वरूप है। वस्तुतः मुनि उसी को कहना चाहिए जिसने ओंकार को सम्यक् रीति से समझ लिया है। इसी प्रणव की चतुर्थ मात्रा (अर्ध मात्रा) के नाम से भी प्रसिद्ध गान्धारी कहलाती है जो प्रयुक्त होने पर मूर्धा 'म' लक्षित होती है। वस्तुतः यही तुरीय नाम से प्रसिद्ध परम ब्रह्म है। यह एक ज्योतिर्मय है। यह घट-स्थित दीपक के समान मूर्धा में स्थित होकर अपनी ज्ञानमयी ज्योति प्रदीप्त किये रहता है। मनुष्य को चाहिए कि हृद्कमल में स्थित ब्रह्म का ध्यान करे और उसका नित्य जप करता रहे। कठोपनिषद् के निम्न मन्त्र को उद्धृत करते हुए अग्नि पुराण ने प्रणव की सार्थकता का उत्तम उदाहरण देते हुए कहा है—प्रणव धनुष, जीवात्मा बाण तथा ब्रह्म उसका लक्ष्य है, अतएव साधक को चाहिए कि सावधान होकर उस लक्ष्य का वेधन करे तथा बाण के समान उसमें तन्मय हो जाये। एकाक्षर प्रणव ही ब्रह्म है और यही एक मात्र परम तत्व है। इसी एकाक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर जो व्यक्ति किसी अन्य वस्तु की इच्छा करता है उसको वह वस्तु उपलब्ध हो जाती है। इस प्रणव का देवी गायत्री छन्द है। अन्तर्यामी ऋषि है। परमात्मा देवता है तथा भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिए इनका विनियोग किया जाता है।

प्रणव जप के महत्त्व को और भी विशद करते हुए अग्निपुराण ने यह भी कहा है कि प्रतिदिन १२ हजार प्रणव के जप से १२ मास में परम ब्रह्म का ज्ञान, एक करोड़ जप करने से अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति तथा एक लाख जप से सरस्वती आदि की कृपा प्राप्त हो जाती है।

पूजा का एक माध्यम यज्ञ (मख) भी है और यह वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र भेद से तीन प्रकार का माना गया है। इन तीनों में से जो अभीष्ट हो उसी एक विधि का आश्रय लेकर श्री हरि का अर्चन करना चाहिये।

यज्ञ से भी अधिक महत्त्वपूर्ण भक्ति नमस्कार के द्वारा अग्निपुराण ने मानी है और उसके अनुसार जो मनुष्य दण्ड की भाँति पृथ्वी पर लेट कर भगवान् को साष्टाङ्ग प्रणाम करता है उसको उत्तम गति प्राप्त होती है जो कि सैकड़ों यज्ञ द्वारा दुर्लभ है। इसी की पुष्टि करते हुए अग्निपुराण ने कहा है कि जिसकी अराध्य देव में पराभक्ति है और उसकी भक्ति देवतावत् गुरु में भी है ऐसे महात्माओं को इन कहे गये विषयों का यथार्थ ज्ञान होता है।

अग्निपुराण ईश्वर प्रणिधान के विषय में सर्वाधिक सामग्री प्रस्तुत करता है और इस प्रसंग में वह निर्गुण योग से सगुण योग में प्रविष्ट हुआ प्रतीत होता है।

योग का व्यावहारिक पक्ष

[श्री रामनिवास तिवारी]

योग आज का बहुचर्चित विषय है। भारतीयों द्वारा प्रणीत दर्शन की प्रक्रिया अमेरिका तथा यूरोप आदि के सुदूर देशों में ले जाई गयी है। अनेक देशों में योग-साधना तथा योगाभ्यास के केन्द्र खोले गये हैं। इनमें अनेक उत्सुक लोग योग की शिक्षा प्राप्त करते हैं। भारत में भी ऐसे अनेक केन्द्र हैं। महर्षि पतंजलि की यौगिक प्रक्रिया चित्त की वृत्तियों के निरोध करने का साधन मात्र थी जिसके द्वारा मनुष्य सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सके किन्तु भौतिकवादी पाश्चात्य विचारकों के सम्पर्क में आकर यह प्रक्रिया रोग-निवारण तथा शारीरिक गठन के लिए मात्र एक व्यवसाय बनकर रह गई है।

भारतीय दर्शन का अभिप्राय केवल ईश्वर-विचार सम्बन्धी चिन्तन ही नहीं है बल्कि आत्मसाक्षात्कार तथा जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति भी है। इसके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही पक्ष हैं। सांख्य, मीमांसा न्याय तथा वेदान्त आदि दार्शनिक परम्पराएँ भारतीय दर्शन के विभिन्न सैद्धान्तिक पक्षों का विशद निरूपण करती हैं किन्तु इतने मात्र से ही भारतीय दर्शन का लक्ष्य पूरा नहीं होता क्योंकि मनुष्य के समक्ष 'यह लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जाय ?' यह प्रश्न जैसे का तैसे बना ही रहता है। अतः साधक को मन की वृत्तियों के नियंत्रण के लिए तथा 'अहम् ब्रह्मास्मि' के उद्‌बोधन के लिए महर्षि पतंजलि ने एक योग रूपी व्यावहारिक या प्रायोगिक पक्ष प्रस्तुत किया जिससे दर्शन का वास्तविक लक्ष्य पूर्ण हो सके।

'योग' शब्द का अर्थ है 'जोड़ना' या 'मिलाना' या कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग जोड़ने या मिलाने के निपुण साधन के अर्थ में भी किया गया है। महर्षि पतंजलि ने इसकी परिभाषा "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' कहकर दी है। इसका अभिप्राय यह लिया जाता है कि सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात दोनों ही अवस्थाओं में चित्त की वृत्तियों का निरोध होना 'योग' है। इस प्रकार साधना के क्षेत्र में योग का अर्थ है सांसारिक विषयों से चित्त की वृत्तियों को हटाना (निवृत्ति) तथा परब्रह्म में लगाना (प्रवृत्ति)। इसके निरन्तर अभ्यास से आत्म-ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

शास्त्रों में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चार पुरुषार्थों का प्रतिपादन किया गया है जिसमें मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ माना गया है किन्तु शेष सभी की चरम परिणति भी इसी में है। अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम का शास्त्रानुकूल सम्यक् पालन करने पर भी मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि धर्म से 'आचरण', अर्थ से 'त्याग' तथा काम से 'लय' (रसानुभूति की अवस्था) की प्राप्ति होगी और सभी वृत्तियों का रसस्वरूप परब्रह्म में लय ही मोक्ष है। शास्त्रों में आत्म-ज्ञान प्राप्ति के तीन मार्ग अभिहित हैं—कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। भगवद्‌गीता सभी शास्त्रों का सार है और उसमें इन तीनों मार्गों का सम्यक् विवेचन है। भगवान् को तीनों प्रकार के प्रयास कर्ता प्रिय हैं। इतने पर भी जिस प्रसंग में गीता का उपदेश दिया गया है उसके सन्दर्भ में देखने पर यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि भगवान् ने कर्म-मार्ग को अधिक प्रश्रय दिया है। अपने कर्तव्य कर्म 'युद्ध करना' से विरत अर्जुन को भगवान् ने युद्ध करने के लिए प्रेरित किया है तथा उसकी अकर्मण्यता की सर्वतोभावेन निन्दा की है। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि कर्म करने के ही कारण मनुष्य बन्धन में पड़ता है, फिर भगवान् ने अर्जुन को सांसारिक कर्मों की ओर ही क्यों प्रवृत्त किया? मीमांसा के विहित यज्ञादि कर्म को भी इसीलिए त्याज्य माना जाता है कि उनसे प्राप्त फल-भोग स्थायी नहीं होते। ऐसी स्थिति में कर्म के लिए प्रेरणा कहाँ तक युक्तिसंगत है? इसका उत्तर स्वयं भगवान् ने ही दिया है कि कोई मनुष्य भी बिना कार्य किए क्षण-मात्र भी नहीं रह सकता।

यह उसका स्वभाव है। बिना कर्म किए शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती। समाज की स्थिति भी नहीं रह सकती। इसलिए सभी कर्म त्याज्य नहीं हैं। 'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।' इनसे मनीषीगण भी पवित्र हो जाते हैं और इन कर्मों को भी आसक्ति रहित होकर तथा ईश्वरार्पित करके करने पर दोष नहीं लगता और न तो ये बन्धन के कारण ही होते हैं।

फलाशा ही बन्धन का कारण है और फल कर्ता के अतिरिक्त और दूसरे के हाथ में रहती है। इसलिए फल की इच्छा छोड़कर कर्म करना ही कल्याण का मार्ग है। जनकादि राजर्षियों को कर्म-मार्ग से ही सिद्धि प्राप्त हो गई। भगवान् ने कर्तव्य कर्म की व्यवस्था के विषय में शास्त्र को ही प्रमाण माना। जो पुरुष शास्त्र-विहित कर्मों को छोड़कर अन्यत्र श्रम करता है उसे सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। इतने पर भी प्रश्न की दुरूहता कि कर्मों के शुभाशुभ परिणाम अवश्य होंगे और कर्ता को उसका फल भी भोगना ही पड़ेगा। ज्यों की त्यों बनी रही। भगवान् ने पुनः समाधान किया कि जो कर्म-फल की अभिलाषा छोड़कर कर्तव्य कर्म करता है, वही 'योगी' या 'संन्यासी' है और अर्जुन से कहा 'तस्मात् योगी भवार्जुन।' योगी वही होता है जो योग का अभ्यास करे। अतः इस प्रसंग में 'योग' का अभिप्राय क्या है? यह भी विचारणीय विषय है। भगवान ने कहा कि सुख-दुख, हानि-लाभ, शुभ-अशुभ तथा रागद्वेषादि द्वन्द्वात्मक अवस्थाओं में समभाव रखना ही योग है। किन्तु ऐसी स्थिति में तो मनुष्य अन्य मनस्क भाव से कर्म करने लगेंगे और तब लोक-रक्षण तथा लोक-प्रतिष्ठा की स्थिति असम्भव हो जायेगी। इसलिए योग शब्द को और स्पष्ट किया गया कि योग वास्तव में अपने कर्म में दक्षता या निपुणता प्राप्त करना है। जो भी करणीय कर्म हैं, उनमें निपुणता प्राप्त करना ही योग है।

इस परिभाषा से महर्षि पतंजलि के परिभाषा की संगति भी बैठ जाती है। जब तक चित्त में चंचलता रहेगी, अनवधानता बनी रहेगी और जब तक ध्यान अन्य कार्यों से हटकर प्रारम्भ किये गये कर्म की ओर पूर्णरूपेण नहीं लगेगा तब तक उस कर्म में कुशलता नहीं प्राप्त हो सकती। अतः चित्त की वृत्तियों को अन्य विषयों की ओर जाने से रोककर कर्तव्य कर्म में लगाना तथा अनासक्त भाव से कार्य-सम्पादन करते हुए उसमें प्रवीणता प्राप्त करना ही 'योग' है। इस बात की पुष्टि भी भगवान् के शब्दों में ही हो जाती है। उनका कथन है कि कार्य में कौशल प्राप्त करने के लिए व्यवसायात्मिका बुद्धि एक होनी चाहिए। व्यवसायात्मिका बुद्धि का अभिप्राय है 'कार्य सम्पादन के लिए प्रेरक विचारों की निश्चित दिशा।' जो व्यक्ति कर्तव्यशील हैं, उसके विचारों का केन्द्र-बिन्दु एक ही होगा किन्तु जो कई कार्यों की ओर बुद्धि दौड़ाता है तथा अनेक कार्यों में दक्षता या सफलता प्राप्त करना चाहता है, वह वास्तव में अव्यवसायी है। उसे दक्षता प्राप्त नहीं हो सकती और परिणामस्वरूप पुरुष अपनी चित्तवृत्तियों का नियमन कर, कर्तव्य कर्म करता हुआ, अनासक्त भाव धारण कर सिद्धि प्राप्त करता है और आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

श्रीविद्यातन्त्र एवं योग

[श्रीप्रकाश मिश्र]

तान्त्रिक परम्परा में लगभग ६४ तन्त्रों की गणना की जाती है। ये तन्त्र मात्र भोग प्रधान ही रहे हैं। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि तान्त्रिक प्रक्रियाओं द्वारा लौकिक कामनाओं की पूर्ति तक ही ये तन्त्र सीमित रहे हैं। फलतः ये वैदिक मार्ग से न होकर आराधना की निम्न श्रेणी में गिने जाने लगे। महामाया-शम्बर, योगिनी-जालशम्बर, तत्वशम्बर, भैरवाष्टक, बहुरूपाष्टक यामलाष्टक, चन्द्रज्ञान एवं मालिनी विद्या इत्यादि कुछ मुख्य तन्त्रों के नाम हैं। अतः इस वैदिक मार्ग विहीन तान्त्रिक प्रक्रिया से दूर हटकर एक ऐसी तान्त्रिक उपासना की आवश्यकता प्रतीत होने लगी जहाँ भोग एवं मोक्ष दोनों के साधन उपलब्ध हों। भगवान् शिव की प्रार्थना पर स्वयं भगवती राजराजेश्वरी ने ही सबके कल्याण के लिए पृथ्वी पर श्रीविद्यातन्त्र को अवतरित किया, जिसके अवलम्बन से भोग-मोक्ष दोनों की प्राप्ति सम्भव है। सौन्दर्य लहरी में भी श्रीविद्या के अवतरण प्रसङ्ग में यही बात कही गई है--

"चतुः षष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं
स्वतंत्रं ते तंत्रं क्षितितलमवातीतरदिदम् ।

इस प्रकार सम्पूर्ण तंत्र शास्त्र में मात्र श्रीविद्या तन्त्र ही ऐसा तन्त्र है जिसका अवलम्बन जीव एवं परमात्मा के संयोग में परिणत होता है। इस तन्त्र का योग मार्ग से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। श्रीविद्या में भगवती के श्री-यंत्र का पूजन होता है। इस यन्त्र में ९ कोण होते हैं। इसमें ४ कोण भगवान् शंकर तथा ५ कोण पराम्बा के होते हैं।

"चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि"

इस श्लोक में श्री यंत्र की विशद व्याख्या की गई है। श्री यंत्र की रचना भी शरीर के आधार स्वाधिष्ठान, मणि-पुर, अनाहत, विशुद्धि तथा आज्ञा चक्रों के अनुसार ही हुई है। अतः उसके नवों आवरणों के देवताओं को शरीर के विविध चक्रों में अवस्थित कराकर अन्तर्जाग द्वारा उनकी पूजा होती है। वस्तुतः यही अन्तर्जाग ही जीव-ब्रह्म के एकी-करण का चरम साधन है। श्रीविद्यातंत्र में मूलाधार के नीचे अवस्थित अधः सहस्रार तथा उसके ऊपर विद्यमान विपुव नामक चक्रों में दो आवरणों तथा विशुद्धि एवं आज्ञा चक्रों के बीच लम्बिकाग्र में अष्टम आवरण के देवताओं को अवस्थित कराया जाता है। इस प्रकार यद्यपि योग शास्त्र में मात्र षट् चक्रों का ही उल्लेख होता है तथापि श्रीविद्यातन्त्र में नव चक्रों का विधान पाया जाता है।

विविध चक्र स्वरूप श्रीयंत्र के तीन खण्ड होते हैं। मूलाधारस्वाधिष्ठानचक्रों का एक खण्ड होता है। इसे अग्निखण्ड कहा जाता है। योग एवं तंत्र की भाषा में इसकी ग्रन्थि भी होती है। उसे रुद्रग्रन्थि कहा जाता है। मणिपुर एवं अनाहत चक्रों का दूसरा खण्ड सूर्यखण्ड कहलाता है और इसकी ग्रन्थि को विष्णुग्रन्थि कहते हैं। विशुद्धि एवं आज्ञाचक्रों को मिलाकर एक तीसरा खण्ड भी होता है, जिसे चन्द्रखण्ड कहते हैं। इस खण्ड की ग्रन्थि ब्रह्म-ग्रन्थि कही जाती है। प्रत्येक खण्ड क्रमशः अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र की ज्वाला, किरण तथा कलाओं से आवृत होता है।

योगशास्त्र की परम्परा का श्रीचक्र में निम्न प्रकार से निर्वाह किया जाता है। सूर्य एवं चन्द्र देवयान एवं पितृ-यानात्मक इडा तथा पिंगला नाड़ियों के मार्ग से बराबर संचरित होते रहते हैं। चन्द्रमा वामनाड़ी मार्ग से संचरित होता हुआ ७२ हजार नाड़ी मार्गों को अमृत में सींचता है। सूर्य दक्षिणनाड़ी मार्ग से संचरित होता हुआ उक्त अमृत को सोखता है। जब इस प्रकार संचरित होते हुए दोनों मूलाधार चक्र में प्रविष्ट होते हैं तब अमावस्या तिथि का प्रादुर्भाव होता है। कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार चक्र में सूर्य की किरणों के सम्पर्क से पिघल कर चन्द्रमा से निकलने वाली अमृत धारा का पान करती है। लोक में इसी पान

अवस्था का नाम कृष्ण पक्ष है। अतः स्पष्ट है कि मूलाधार चक्र में सूर्य एवं चन्द्र के संयोग से ही चन्द्र की अमृतमयी धारा निकल कर कुण्डलिनी शक्ति का आहार बनती है। योगी जब समाहित चित्त होकर वायु बल से चन्द्रमा को अपने स्थान पर तथा सूर्य को अपने स्थान पर रोक देता है, तब दोनों का संसर्ग नहीं हो पाता। फलतः न तो अमृत सेचन का कार्य सम्पादित हो पाता है और न तो सूर्य द्वारा उसका शोषण ही हो पाता है। ऐसी अवस्था में स्वाधिष्ठान की अग्नि भी शुष्क हो जाती है। फलतः अमृत कुण्ड में बैठी हुई कुण्डलिनी निराहार हो जाती है। अमृत आहार की खोज में वह सर्प की तरह फुत्कार करती हुई सोम, सूर्य एवं अग्नि मण्डलों की तीनों ग्रन्थियों को भेदकर सहस्रदल कमल के मध्य विराजमान चन्द्र मण्डल में जाकर अमृत का पान करती है। इस प्रक्रिया से आज्ञा चक्र स्थित समस्त चन्द्र मण्डल आप्लावित हो जाता है। वहाँ से जो अमृतमयी धारा बहती है, वह साधक के सम्पूर्ण शरीर को आप्लावित करती है। आज्ञाचक्र में ही चन्द्रमा की कलाओं के रूप में श्री विद्या की प्रसिद्ध १५ नित्यायें होती हैं। सहस्र दल कमल के बीच स्थित चन्द्रमण्डल ही श्रीयंत्र का विन्दु स्थान है। वहाँ की कला चिन्मयी आनन्द रूपा है। वही श्रीविद्या की अधिष्ठात्री देवी भगवती त्रिपुरसुन्दरी है।

सहस्रकमल सदैव ज्योत्स्नामय रहता है। वहीं पर चन्द्रमा की कलाओं का कभी भी क्षय नहीं होता। सहस्र कमलस्थित चन्द्रविम्ब ही श्रीविद्या के उपासकों का आराध्य श्रीयन्त्र है। उसी में योगियों के सभी चक्रों का अन्तर्भाव रहता है। श्री यन्त्र का त्रिकोण ही मूलाधार है, अष्टकोण स्वाधिष्ठान, दशार मणिपुर, द्वितीया दशार अनाहत, चतुर्दशार विशुद्धि, शिवचक्रचतुष्टय आज्ञा तथा विन्दु सहस्रकमल है। आज्ञा चक्र स्थित चन्द्र में १५ कलायें होती हैं। श्रीचक्र रूप चन्द्रविम्ब की एक अलग कला होती है। इस प्रकार इस परमा कला को मिलाकर १६ कलाएँ होती हैं जिन्हें नित्या कहा जाता है।

अतः स्पष्ट है कि श्रीयंत्र से पूर्ण योग चक्र अपने में अन्तर्भावित है तथा साधक अन्तर्जाग द्वारा योग के प्रतिपाद्य "संयोगं योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः" को प्राप्त कर लेता है।

श्री विद्या का मूल मन्त्र पंचदशाक्षरी की व्याख्या भी योगीय सन्दर्भ में अपना विशेष महत्व रखती है। इस मन्त्र का प्रथम कूट अग्नि स्वरूप मूलाधार से प्रारम्भ होकर अनाहत तक, द्वितीय कूट सूर्य स्वरूप अनाहत से प्रारम्भ होकर आज्ञाचक्र तक तथा तीसरा कूट चन्द्र स्वरूप आज्ञा से प्रारम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त व्याप्त होता रहता है। पंचदशाक्षरी मंत्र का प्रत्येक वर्ण मूलाधार से लेकर सहस्रार पर्यन्त तथा आज्ञाचक्र से थोड़ा ऊपर हटकर विन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मनी से होते हुए महाविन्दु तक व्याप्त हो जाता है।

इस प्रकार श्रीविद्यातंत्र का प्रत्येक वर्ण प्रत्येक चक्र में अपनी विशिष्ट भूमिका निभाकर महाविन्दु तक साधक को पहुँचाने में सहायक बन जाता है। सभी चक्रों में चक्र विशेष के वर्ण, देवता, रंग, शक्ति का ध्यान करते हुए कामना स्मरण पूर्वक मंत्र का जप करना ही श्रेष्ठ साधन का क्रम बताया गया है।

श्रीविद्यातंत्र और योग की उपासना प्रक्रियाओं की समरूपता दिखाकर यह सिद्ध किया गया है कि योग एवं तंत्र एक दूसरे के विरोधी न होकर सहायक हैं। सम्प्रदाय भेद के कारण जहाँ योगियों ने तंत्र को अधम उपासना की पद्धति कहना प्रारम्भ किया, वहीं तान्त्रिकों ने योग को हेय माना। वास्तविकता यह है कि विशुद्ध तान्त्रिक उपासना योग की प्रक्रिया द्वारा ही सम्पादित होती है। श्री चक्र का निर्माण तो योग द्वारा कल्पित चक्रों के आधार पर ही किया गया है।

आधुनिक जीवन में योग एवं तंत्र की समन्वित साधना, उस मानवता को सही दिशा प्रदान करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, जो पतन के कगार पर खड़ी एक और धक्के की राह देख रही है। मशीनी सभ्यता के फैलाव के साथ मानव-मानव की दूरी भी बढ़ गयी है। क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य तथा ऐसी ही अन्य पाशविक प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। अहिंसा का नाम लिया जा रहा है पर विश्व में संहारक अस्त्रों के निर्माण की होड़ लगी हुई है। इस विषम परिस्थिति में योग-तंत्र समन्वित श्रीविद्या के प्रसार प्रचार की अत्यधिक आवश्यकता है। ●

योग और भवरोग

[ले०—श्री रमाकान्त पाण्डेय]

योग भव रोगों से प्राणियों को मुक्ति दिलाने में तभी समर्थ हो सकता है जब वह भक्ति से सम्वलित हो। क्योंकि ज्ञान और कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते हैं।

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने गरुड़ और कागभुशुण्डि सम्वाद में भव रोगों का वर्णन इस प्रकार किया है—

"मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला ,
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ।
काम वात कफ लोभ अपारा ,
क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥
प्रीति करहिं जो तीनिउ भाई ,
उपजइ सन्यपात दुखदाई ।
विषय मनोरथ दुर्गम नाना ,
ते सब सूल नाम को जाना ॥
ममता दादु कंडु इरषाई ,
हरष विषाद गरह बहुताई ।
दर सुख देखि जरनि सोइ छई ,
कुष्ठ दुष्टता मन कुटलई ।
अहंकार अति दुखद डमरुआ ,
दंभ कपट मद मान नेहरुआ ॥
तृस्ना उदरवृद्धि अति भारी ,
त्रिविध ईषना तरुन तिजारी ।
जुग विधि ज्वर मत्सर अविवेका ,
कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ॥
एक व्याधि वस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि ।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि ॥
नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य अरु दान ।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान ॥

उपर्युक्त इन असाध्य भव रोगों को दूर करने के लिये नियम, धर्म, आचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप और दानादि करोड़ों औषधियां हैं, किन्तु ये समूल नष्ट नहीं होते। जप तपादि से भले ही कुछ समय के लिये दव जांय, किन्तु शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषय रूपी कुपथ्य से ये रोग मुनियों के भी हृदय में पुनः अंकुरित हो उठते हैं तो वेचारे प्राकृत जनों के लिये कहना ही क्या।

अव प्रश्न यह उठता है कि आखिर ये रोग समूल नष्ट कव होते हैं? इसका उत्तर कागभुशुण्डि जी ने संक्षेप में कहा है—"राम कृपा नासहिं सब रोगा" रामकृपा तभी सम्भव है जब हृदय में निर्मल भक्ति का प्रादुर्भाव हो। कहा भी गया है कि—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का ?
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम् ।
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं ,
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ॥

भगवान् की प्रसन्नता के लिये आचरण, अवस्था, विद्या, जाति, वल, रूप तथा धनादि की आवश्यकता नहीं, किन्तु भक्ति प्रिय होने के कारण मात्र भक्ति से परम सन्तुष्ट होते हैं।

भक्ताग्रगण्य श्री प्रह्लाद जी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन वड़े सुन्दर शब्दों में किया है कि भगवान् चरित्र, वहुज्ञता, दान, तप आदि से प्रसन्न नहीं रहते, वे तो निर्मल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधन मात्र विडम्बना हैं—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न कृतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥

ज्ञान और कर्म प्राणियों को मुक्ति दिलाने में परम्परया साधक माने गये हैं साक्षाद्रूपेण नहीं। क्योंकि कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम-विहित आचारों का पालन नितान्त आवश्यक है। कर्म फलों को भी भगवान् को समर्पण कर देना ही उनके विषदन्त को नष्ट करना है।

श्रेय की मूल श्रोत रूपिणी भक्ति को छोड़ कर केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये उद्योगशील मानवों का प्रयत्न वैसे ही व्यर्थ तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटने वालों का प्रयास—

श्रेयः श्रुतिभक्तिमुदस्यते विभो
क्लिश्यन्ति ते केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूल तुषावघातिनाम् ।।

भक्ति की ही महिमा वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने भी कहा है कि—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव वा ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ।।

एक–प्रणामाञ्जलि

श्री आद्या प्रसाद मिश्र

(व्यवस्थापक सन्मार्ग दैनिक)

जसे सागर सीपी से नहीं उलीचा जा सकता उसी प्रकार अनन्त श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज के अनन्त गुणों का वर्णन करने में मेरी वाणी अपने को असमर्थ पा रही है। धार्मिक क्षेत्र में ऐसा कौन-सा भाग्यहीन होगा जिसने पूज्य स्वामीजी की यशोगाथा न सुनी होगी। बीसवीं शताब्दी में भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ विद्यमानता विश्व में आप ही के कारण संभव हुई। धार्मिक जीवन के व्यक्तिगत रूप के ऊपर बल देकर उन्होंने आध्यात्मिक रूप लिये हुए हिन्दू धर्म को अत्यन्त उदारता का रूप दिया है। आज के युग में शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, गाणपत्य और कापालिक मतों में यदि कोई समन्वय करने वाला दिखाई देता है तो निश्चित रूप से यही कहा जायगा कि वे पूज्य स्वामीजी ही हैं। धार्मिक विषयों में ऊँची उड़ान वाली आदर्श परक विचार पद्धति को अपनाना आसान है जिसमें इस भू-लोक के सब तथ्यों को दृष्टि से ओझल कर दिया गया हो, जिस प्रकार ऐसी असंस्कृत अयथार्थवादी पद्धति को अपनाना भी उसी के समान आसान है जो अन्य सब आदर्शो का खण्डन करती हो, किन्तु एक विशद दृष्टि वाले यथार्थ-वाद को आदर्श के प्रति एक दृढ़ भक्ति के साथ संयुक्त कर देने का कार्य कठिन है और यही कार्य था जिसे बीसवीं सदी में पूज्य स्वामीजी हमलोगों के बीच करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

पूज्य स्वामीजी का उद्‌घोष है कि यदि आर्ष परम्परा के समुत्थान का समुचित शास्त्रीय मार्ग नहीं अपनाया गया तो भारतीय जन न केवल आत्म कल्याण से वंचित रहेंगे अपितु उन्होंने ऐहिक सुख साधनों से भी घोर अशान्ति की ही उपलब्धि सम्भव होगी। एकता बनाये रखने का नारा सामूहिक एकता से अपना सम्पर्क स्थापित नहीं कर पाता। इस तरह पूज्य का सनातन धर्म के प्रति बड़ा ममत्व है। धर्म के संगठन को सुदृढ़ और व्यापक बनाने के लिये आपने सम्पूर्ण भारत में पैदल यात्रायें की और प्रत्येक प्रान्तों में धर्म-संघ की शाखायें खुलवायी। आज इस संस्था की लोकप्रियता किसी से छिपी हुई नहीं है। अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये काशी से पहिले मासिक पत्र 'सन्मार्ग' का प्रकाशन कराया और फिर 'सिद्धान्त' का। बाद में काशी के सन्मार्ग ने 'दैनिक' का रूप ले लिया। इस बीच इस पत्र ने अपने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखे किन्तु इसका अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहा। इसलिये कि पूज्य का इस दैनिक को पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त है। आज श्रीचरण की मान्यताओं को सर्वसाधारण के बीच प्रचारित प्रसारित करने में यह लोकप्रिय 'दैनिक' निरन्तर प्रयत्नशील है। आप धार्मिक जगत् के एक देदीप्यमान नक्षत्र हैं। आपकी संस्था ने हजारों विद्वानों एवं धार्मिक आचार्यों को प्रकट किया है जो आपकी कीर्ति को चिरकाल तक समग्र विश्वव्यापी बनाये हुए रहेंगे।

आज पूज्य महाराज श्री की ७१वीं पावन जयन्ती पर हम उनको कोटिशः प्रणाम करते हैं एवं माँ अन्नपूर्णा सहित बाबा विश्वनाथ से प्रार्थना करते हैं कि पूज्य को चिरकाल तक देशवासियों के बीच रखें जिससे हमलोग धार्मिक अक्षुण्णता बनाये रखने में समर्थ हो सकें।

जयन्तीपद्यपुष्पाञ्जलिः

[शास्त्रार्थमहारथ पं० माधवाचार्य शास्त्री]

(१)

स्वामिश्रीकरपात्रजन्मदिवसः सौभाग्यसम्पन्निधि-
र्यस्मिन् भारतवर्षहर्षदमहोत्कर्षोऽभवद्भूतले।
धन्यः श्रावणमास उज्ज्वलतिथिर्धन्या सिता पञ्चमी
धन्यौ तौ पितरौ कुलं प्रसवभूर्धन्यातिधन्या वयम्

(२)

अस्मिन् महापर्वणि संस्थिता वयम्,
याचामहे देवमनन्तपूरुषम् ।
स धर्म्मसम्राट् करपात्रसुव्रतो-
जीव्याच्चिरं योगसमृद्धिसंयुतः

(३)

यः साम्प्रतं भुवि सनातनधर्म्मनेता,
जीवाम आश्रयमवाप्य वयञ्च यस्य।
श्रुत्युक्तधर्म्मपरिरक्षणबद्धकक्षो-
भूयान्नवः स नवमश्चिरजीविमुख्यः

(४)

त्यक्तं जन्मगृहं कुलञ्च विशदं क्रीडास्थलं शैशवम्,
तौ मातापितरौ कुटुम्बसुहृदस्त्यक्ता वधूश्चात्मजा।
संज्ञागोत्रशिखोपवीतसहिता दीक्षातथामश्करी,
राजानः सहगामिनोह्यनुचरा जीव्यात्ससर्वस्वमुक्

योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

[श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारी]

(१)

'आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्
नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम् ।
श्लोकार्थ एव न यदा हृदि प्रादुरासीत्
व्यासस्य पुत्रसहितस्य महामहर्षः

(२)

सन्तप्यते वहुगुणः सुजनः कदाचित्
देहेन साधुपरिशीलनतत्परेण ।
स्वान्तं न चेन्द्रियगणेन वशीकृतेन
तच्च प्रमादरहितं वहुसत्कृतं स्यात्

(३)

देदीप्यते वहुतिथेन महाघनाशात्
एवं किलाह भगवान् स धनञ्जयाय ।
यत्सम्भृतं ननु निरन्तरजश्रमेण
सम्प्रापकं भवति दुर्लभवस्तुनश्च

(४)

एवं विधं परमसाधुजनैः सुचीर्णम्
लोकोपकारि शुभदृष्टफलं प्रतीतम् ।
आराधिते भगवति प्राथितप्रभावे
वैयर्थ्यमाशु भजते फलभावनायाम्

(५)

किन्तु प्रतीपमवभाति यदत्र लोके
सर्वांशपूरकमशेषमनोरथस्य ।
प्राप्तस्य रक्षणसमर्थमनन्तपारम्
नाराधिते विफलतामतुलं भजेत

(६)

शङ्काकलङ्कपरिधावनतत्परौ तौ
पप्रच्छतुः सकलकश्मलजालमेतत् ।
श्री नारदं सपितरं सुतरामपृच्छत्
एवं स्थिते कमलभूः शरणं शरण्यम्

(७)

अन्तर्वहिः समवदातमुदारमग्र्यम्
आदीनवादिपरिवर्जितमप्रमेयम् ।
श्रद्धान्वितो हि स ययौ वहु निर्णिनीषुः
शम्भुं नु वोधयति नारदपञ्चरात्रम्

(८)

रागादिभिर्विरहितं प्रभवेद्धि चेतुम्
स्वान्तं नितान्तममलं यदि जायते चेत् ।
येषामिहास्ति जगतीतलपावनानाम्
ते वैजयन्तिगुरवः करपात्रिपादाः

(९)

सर्वस्य शास्त्रनिकरस्य रहस्यमन्त-
र्विद्योतते तु कलुषं शनकैरपैति ।
यत्पादपद्ममकरन्दजुषां जनानाम्
तेषामियं परमधन्यतमा जयन्ती

(१०)

एकाधिकाह्युदयते खलु सप्ततिर्यत्
आराधनाय वयमत्र मुदा समेताः ।
शब्दैः कियद्भिरधुना रचितं रसज्ञैः
सम्भावनीयकुसुमाञ्जलिमर्पयित्वा

(११)

मोदामहे चरणयोः प्रथितस्य लोके
यस्याशुधार्मिकगणैरभिवन्दितस्य ।
धन्यः प्रशस्यतम इत्थमनन्तकीर्तिः
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

संस्कृत-पद्य-पुष्पाञ्जलि

काशी के संस्कृत कवियों की सुप्रसिद्ध संस्था 'कवि भारती' ने अनन्त श्री विभूषित पूज्यचरण स्वामी करपात्री जी महाराज के प्रति अपनी प्रणामाञ्जलियां समर्पित करने के हेतु एक विशिष्ट गोष्ठी समायोजित की। इसमें पूज्य स्वामी जी को लक्ष्य करते हुए तीन पूर्ति प्रतीक निश्चित किये गए थे—

'योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः'

"महामनीषी"

"ज्ञानविज्ञानसागरः"

उक्त अवसर पर पढ़ी गई रचनाओं को 'योग विशेषांक' के पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए हमें हर्ष का अनुभव हो रहा है—संपादक

योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(१)

वेदार्थकण्टकनिराकरणैकदीक्षो
राधाख्यतत्त्वपरिशोधनलब्धकीर्तिः
श्रीचक्रपूजनविधौ परमप्रतिष्ठो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

श्री पं० पट्टाभिराम शास्त्री

(२)

यो गीयते प्रथमसूक्तिषु, यत्प्रसादात्
योगीयते जडधियां प्रथमो नरोऽपि
योगीश्वरैः शुकमुखैः समुपासितोऽसौ
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(३)

नो गीयते कतमयाऽस्य गिराऽभिधानं
रोगी यदीयकृपया विपदं धुनोति
भोगिप्रियः स सततं प्रमदानुयोगी
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(४)

अन्योन्यदत्तकरतालनटज्जटाल—
योगीन्द्रवृन्दपरिवन्दितपादपद्मः
नृत्यन् प्रदोषसमये पुरतोऽम्बिकाया
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(५)

चीर्णं तपः किमपि येन परैरसाध्यं
बाध्यं न विघ्ननिवहैर्द्युनदीतटेषु
सर्वोपकारकरणप्रवणः स मान्यो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(६)

वक्त्रारविन्दविगलद्वचनप्रवाह—
माधुर्यमस्य भजते मधुसूदनोऽपि
तस्मादयं हरिहरः परमार्थभावाद्
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(७)

श्रीरामराज्यरचनानवसूत्रधारः
सारस्वतालयविनिर्मितिशिल्पकारः
नव्यार्थयुक्तिललनामदनावतारो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

श्री बटुकनाथशास्त्री खिस्ते

(८)

शुष्यत्स्वधर्मसुरकाननमूलभूत—
वेदोद्दिधीर्षु परिपुष्टसुधाम्बुवाहः
अद्वैतधामरुचिरः करपात्रनामा
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेता

(९)

यो दर्शनेषु विविधेषु महाद्रिकल्पे—
ष्विन्द्रायतेऽनुपमनैपुणशेमुषीकः
सोऽयं स्वमात्रपरमः करपात्रसंज्ञो
योगीश्वरो विजयते करुणारसार्द्रः

(१०)

यं राजनीतिरपि सर्वगुणा प्रकामं
संसेवते प्रकृतिवत् पुरुषं तटस्थम्
साक्षाच्छिवः स समभावतया समृद्धो
योगीश्वरो विजयते करपात्रपादः

(११)

यस्मै वयोऽधिपतये स्वयमेत्य ते ते
शास्त्रार्थसौभगजुषः पदवाक्यसंघाः
प्रादुष्कृतिं दधति वाग्मिवरः स पूज्यो
योगीश्वरो विजयते करपात्रशब्दः

डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी

(१२)

वाग्देवतापदसरोरुहचञ्चरीक—
स्तुच्छीकृताखिलजगद्विषयाभिलाषः
भक्तिप्रसादितनिजेष्टमहाधिदेवो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(१३)

अङ्गप्रभाविजिततप्तसुवर्णकान्ति—
र्वाग्वैभवापहृतदेवगुरुप्रभावः
सारस्वतद्युतिविकासितबुद्धिसारो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(१४)

भूमीश्वरोऽनुभवति द्विषतां प्रहारं
भोगीश्वरो भ्रमति भोगवनावनीषु
एको जगत्यनुपमो विजितारिवर्गो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(१५)

सन्त्यज्य सर्वविषयान् विषमप्रभावान्
जित्वाऽऽत्मनः सततसेवितषट्सपत्नान्
मग्नं विपत्तिजलधौ जनमुद्दिधीर्षु—
र्योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(१६)

छायां सुमान्यमृतगर्भफलानि शश्वत्
संवर्धयन् सुकृतशाखिनि जीवनेन
आनन्दयन् जगति दुस्सहतापतप्तान्
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

श्री रतिनाथ झा

(१७)

वेदार्थबृंहणधुरीणपरम्पराया—
मुत्कर्षवर्षिनवमञ्जुलमार्गदाता
प्रत्यार्थियुक्तिततिमर्मणि नर्मवक्ता
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(१८)

पुण्यप्रमाणपरिरम्भणपूर्णवाचा
शास्त्रीयतथ्यपरिबोधनकर्मदक्षः
जिज्ञासुवृन्दमृदुमानसतर्पणात्मा
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(१९)

कल्याणमस्तु सकलस्य सुभावनाऽस्तु,
धर्मस्य चास्तु विजयः क्षयमेत्वधर्मः
घोषः स एष परिपूततमो यदीयो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

डा० कैलासपति त्रिपाठी

(२०)

काषायरम्यवसनो नवनीतगौरो
गौरीपतेः पदसरोजयुगे निविष्टः
अद्वैतवाग्विवरणैकरतो महात्मा
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(२१)

वाचामगोचरतपप्रणवस्वरूपं
वाग्गोचरं विरचयन्ननिशं स्ववाचा
सम्पाययन् सकलशिष्यजनांश्च नित्यं
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(२२)

श्री रामराज्यपरिषच्चपलाम्वितन्वन्
सद्धर्मसङ्घनवनिःस्वनवर्षणेन

लोकात्मकेकिकुलमामदयन् पयोदो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

श्री जनार्दन गंगाधर रटाटे

(२३)

सच्चित्सुखात्मरतिरप्यरतिः प्रपञ्चे,
मञ्चे स्थितोऽपि जगतोऽञ्चति कं विरिञ्चेः
नेता स धर्मभुवि कोऽपि महामनीषी,
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

श्री केदारनाथ त्रिपाठी

(२४)

वैराजराडपि विभावितरामराज्यः
शारीरकाञ्चितधिया हतदेहमोहः
शास्त्रप्रवृत्तिसहितोऽपि निरुद्धवृत्ति—
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

डा० कपिलदेव पाण्डेय

(२५)

कृष्णांघ्रिपद्मकरन्दरसस्य योऽसौ
रत्नाकरस्तरलितो ललितानुरागी
वैश्वात्म्यशेवधिसुखस्य च पारदृश्वा
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(२६)

सत्यं कृतं च तपसा तरसा वितत्य
प्रज्ञाम् ऋतेन भरितामवगाह्य सम्यक्
ब्रह्मामृतं पिबति पाययते प्रकामं,
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

डा० परमहंस मिश्र

२७

योगाङ्गमम्भइव दम्भविनिर्जितोऽपि
योगाङ्गसाधनसमुद्धसिताङ्गयष्टिः
योगेश्वरे प्रहितसर्वमनात्मदृष्टि—
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

श्री विनय मिश्र

(२८)

अद्यापि सन्ति सुकृतानि मनुष्यलोके
पूर्वार्जितानि विविधाभिरहो विधाभिः
तेषां समस्तसुकृतामिह पुञ्जभूतो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(२९)

अद्यापि लोचनपथे विततो महेशो
श्रीकृष्ण एव यदिवा त्रिदिवैः प्रणम्यः
व्यासोऽथवा सकलशास्त्ररहस्यवेत्ता
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(३०)

यद्दर्शनस्मरणपूजनसंस्तावानां
सद्यः फलं स्वहृदये परमात्मलाभः
वेद्यान्तरे विगलिते विततप्रकाशो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(३१)

यत्रामृताख्यमकरन्दमवाप्तुकामा
गुञ्जन्ति योगिजनषट्चरणाश्चरन्तः
राजाधिराजपरिपूजितपादपद्मो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

(३२)

त्रैलोक्यमेतदखिलं परितः प्रसर्पत्
कालानलप्रतिममुद्गतमत्तुमुत्कम्
हालाहलं स खलु यश्चुलुकीचकार
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(३३)

योगीश्वरो विषममुद्वमति प्रगल्भं
यच्चाविलं विषमशेषजगन्निहन्तुम्
यज्ज्ञात् पिबत्यखिलमम्बुसमं स कोऽपि
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(३४)

अन्यार्थमेव मनुजस्य तनुं दधानो
ध्यानोपपन्नपरमात्ममयो मदोनः
मानोन्नतश्च करपात्रमुनेस्समानो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(३५)

वाचामगोचरमहामहिमावभासो
हासोल्लसत्समुदयत्तपनान्तकान्तिः

शान्तिप्रतीककरपात्रयतिः प्रचेता
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

(३६)

नेताऽपि नीति निपुणो विनयप्रणेताऽ-
ध्येता श्रुतिस्मृतिपुराणगिरां सचेता
श्रीमान् स कोऽपि करपात्र इहोर्ध्वरेता
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः

श्री शिवजी उपाध्याय

महामनीषी

(३७)

कश्चित् करम्वयति संसृतिमात्मदानैः
स्वार्थैः कदर्थयति कश्चन किं च लोकः
एतद्द्वयोत्तरपदः स्मितिलेखयैव
यस्तां समेधयति सोऽत्र महामनीषी

(३८)

नाहंकृतिं भजति नाश्रयते च दैन्यं
नो मत्सरं स्पृशति, नापि च यो निमीलाम्
जागर्त्ति पश्यति च किन्तु जगत्प्रपञ्चं
नास्थैर्यथा, रसमयः स महामनीषी

(३९)

भागीरथीविशदसैकतधूसराङ्गै-
स्तत्काव्यमङ्गलसुधारसवीततर्पैः
प्राकाशि यः स खलु कश्चन वोधकोपो
रन्तुं क्षमोथ इह सोऽत्र महामनीषी

डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी

(४०)

दिगन्तरोद्भिन्नदुरन्ततर्क-
तमिस्रविद्रावणचण्डरश्मिः
न कस्य विश्वस्यवचःप्रपञ्चो
नमस्यतामेति महामनीषी

(४१)

वधूर्विधातुर्वदनाम्वुजानि
जराविशीर्णानि विधूय यस्य
मुखाम्वुजे सज्जति वीतलज्जा
स कोऽपि धन्योऽस्ति महामनीषी

(४२)

कलिप्रभावान्मलिनायमान-
यशोविताने जगदीश्वरस्य
कथांशुनिर्धौतदिगन्तरोऽयं
शशीव मे भाति महामनीषी

(४३)

अशेषतः शेषगिरामभूमौ
विशेषवैदुष्यपदे निषण्णः
न शेमुषी संशयिता यदीया
स काशते कोऽपि महामनीषी

(४४)

निरस्य तृष्णां तरुणीं हठेन
नितान्तकृष्णार्पितमानसेन
कृताऽन्तिके शान्तिरियं महिम्ना
स भाति विज्ञानमहामनीषी

श्री बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

(४५)

आपातरम्यविषयाद् विमुखः स्वकीय-
धर्मस्य मूलमभिषिञ्चति जीवनेन
भूमानमेव वृणुते, रमते न चाल्पे
कल्याणमेधयति कोऽपि महामनीषी

(४६)

साध्नोति तत् यदपरैर्नितरामसाध्यं
धर्मे स्थितिं स्थिरयति प्रसभं नराणाम्
निःश्रेयसं समुदयेन समं समन्तात्
प्रस्तौति सर्वसुखहेतु महामनीषी

(४७)

नास्तिक्यमाक्षिपति, निन्दति दुर्विचारं
शर्माभिनन्दति, हितं प्रकटीकरोति
मोहं निहन्ति, विशदीकुरुते स्वधर्मं
श्रुत्यर्थमुन्नमयतीह महामनीषी

(४८)

सख्यं श्रियः सुरगिरश्च दृढीकरोति
षड्वैरिवर्गगुरुगर्वमपाकरोति

संख्यावतां सदसि तत्त्वमुपस्करोति
क्षेमं सतामिह तनोति महामनीषी

श्री रतिनाथ झा

(४९)

अन्तस्तमस्तुदति शास्त्रवचोमयूखैः
सन्मार्गसञ्चरणकौतुकमातनोति
व्याख्यान-लेखक-पुराणकथाप्रपञ्चै-
र्धर्मानुरागान्मदयतीह महामनीषी

(५०)

उत्सार्य हानिकरदुस्तृणसङ्कुलानि
चित्तावनिं शिशुवरस्य विधाय सम्यक्
कल्याणवीजमभितोऽङ्कुरयन्नजस्रं
मतिं तनोति गुरुरत्र महामनीषी

(५१)

नेत्रेषु मुद्रितचरेष्वपि कौशिकानां
म्लानिं श्रितास्वपि समस्तकुमुद्वतीषु
भास्वानुदेति विनिहन्ति तमो, वृणोति
किं कश्मलं समुचितेषु महामनीषी--?

शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी

(५२)

ईशोदितद्वितयमार्गप्रवर्तनेन
देशस्य सर्वविधशं तनुते समन्तात्
यश्चाकरोन्निजकरेऽखिलविद्यकानां
सत्पात्रमन्विततराख्यमहामनीषी

श्री केदारनाथ त्रिपाठी

(५३)

पारार्थ्य-पीयूष-रसाब्धि-पूरे
प्रद्योतनः कोऽपि हृदन्तराले
विद्योतते यस्य परप्रभाभिः
स्वयं विवस्वान्नु महामनीषी

(५४)

आस्वादयत्यनिशमेव महारहस्यं
माहार्थ्यमागमिकमंत्रसुधासवीयम्
तृप्त्या यया परमया परमार्थपूतो
विश्वं पुनाति सवितास्ति-महामनीषी

डॉ० परमहंस मिश्र

(५५)

वातानुकूलनधिया जगतः समस्य
रन्ध्रावलिं कलिमलीमसरेणुदिग्धाम्
पाखण्डखण्डनपरैः श्रुतिसारयत्नै
रोधं विधित्सति स तत्र महामनीषी

(५६)

विन्ध्याद्रिशृङ्गमिव सत्वरमेधमानां
धर्मारुणोदयविधिं परिलोपयन्तीम्—
पापप्रवृत्तिमभिहन्तुमनाः सयत्नः
कालेन युध्यति जयीव महामनीषी

(५७)

सन्न्यस्य सर्वमपि लोकहितानुवन्धी
चिन्मात्रभूमिमधिगत्य च मार्क्सपाठी
अध्यात्मशास्त्ररससागररालिकोऽपि
प्रत्यग्रलोकघटनासु महामनीषी

(५८)

शुद्धप्रतीपजन-बुद्धिमहोदधीना—
माम्रेडनं वहुतरं हि विधाय सम्यक्
सन्मार्गदर्शि युगचिन्तनरत्नराशिं
वर्षन् महर्षिमुदमेति महामनीषी

डा० कैलाशपति त्रिपाठी

(५९)

स्वानन्दसन्दोहमयेन तेजसा
परिस्फुरन् स्वात्मनिवद्धदीक्षः
आवर्जयन् लोकमनांसि नित्यं
विराजते कोऽपि महामनीषी

(६०)

शक्यं न वक्तुं परमाद्भुतत्वात्
तत्वप्रवोधं नितरामवाप्य
तेनैव चित्तं विमलं विधाय
विराजते कोऽपि महामनीषी

(६१)

रागादिनक्रपरिपूर्णभवाब्धिमध्ये
जायासुतादिविभवैरतिदुर्गमेऽस्मिन्
कामादिदोषपरिपूरितमानसानां
श्रेयः पथं दिशति यः स महामनीषी

श्री रमाकान्त पाण्डे

(६२)
मंगल्यमेव तनुते शुभदर्शनेन
सत्कर्मणापि वचसापि मनोहरेण
लोकस्य शोकजलधेः परिरक्षणाय
वाभाति पोत इव कोऽपि महामनीषी

(६३)
संजायते भुविजनो निरतो यथा श्वा.
स्वार्थैककर्मणि निजोदरपूरणाय
अन्यः स्ववंशभरणाय च तेषु कश्चि-
ल्लोकोपकारकरणाय महामनीषी

(६४)
वैदुष्य पेशलवचः प्रसरो महात्म-
श्रीमण्डितो वपुषि भागवतो विशिष्टः
काशीनिवासि करपात्रयतीन्द्रवर्यः
कोऽप्येष एव जगतीह महामनीषी

श्री शिवजी उपाध्याय

(६५)
स्वधिष्ण्यधाराधवलीकृताङ्गो
सच्छास्त्रचिन्ताव्यसनेऽनुरक्तः
गोविन्दपादैकनिमग्नचित्तः
संराजते ह्यत्र महामनीषी

श्री विनयमिश्र

ज्ञान-विज्ञान सागरः

(६६)
आस्तिक्योद्भावने दक्षो नास्तिक्योन्मूलने प्रभुः
करपात्रयतिर्योगी ज्ञान-विज्ञानसागरः

डा. गजानन शास्त्री

(६७)
संसारसागराल्लोकान् शास्त्रपोतार्पिताश्रयः
उद्धर्तुमीहते कोऽयं ज्ञान-विज्ञानसागरः

श्री केदारनाथ त्रिपाठी

(६८)
समुच्छलन्नवप्रज्ञारत्नरश्मिकरम्वितः
लक्ष्मीमभिनवां दद्याद् ज्ञान-विज्ञानसागरः

बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

(६९)
न नक्रचक्रसंसर्गो नौर्वज्वालाकुलान्तरः
नान्तःक्षारस्तथाप्यास्ते ज्ञानविज्ञानसागरः

(७०)
अमायां पूर्णिमायां वा समानो वीचिवैभवः
भाति कोऽपि सुखस्यन्दी ज्ञानविज्ञानसागरः

(७१)
अभ्यर्चितो द्विजाधीशैः सेवितो विवुधव्रजैः
भासते गुरुनिर्घोषो ज्ञानविज्ञानसागरः

(७२)
अगस्त्येनापि नो पीतो मन्दरेणापि नार्दितः
सञ्चरन् दिक्षु कोऽपीष्टे ज्ञानविज्ञानसागरः

(७३)
शेरते सरितो यस्मिल्लुप्तदुर्दान्तविक्रमाः
गम्भीरः स चकास्त्यत्र ज्ञानविज्ञानसागरः

(७४)
तलं स्प्रष्टुं कृतायासैर्विफलैर्धीरधीवरैः
अर्चितः कोऽपि जयते ज्ञानविज्ञानसागरः

(७५)
यस्य सीकरमादायाम्वुदस्तर्पयति क्षितिम्
स अगाधरसो जीयाज् ज्ञानविज्ञानसागरः

(७६)
तपोलक्ष्मीकुलावासः सारस्वतरसाप्लुतः
धर्मरत्नधरो वन्द्यो ज्ञानविज्ञानसागरः

श्री रतिनाथ झा

(७७)
अतिशेतेऽत्र जलधिं शास्त्ररत्नाकरोऽपरः
गुणानां नागरः श्रीमान् ज्ञान-विज्ञान-सागरः

(७८)
लवणाम्वुनिधिर्दूरात् त्यज्यते तु तृषाकुलैः
भवानापीयते सद्भिर्ज्ञानविज्ञानसागरः

(७९)
महीयं सागरैः कीर्णा चतुर्भिर्न महीयते

त्वमेकोऽवतरेच्चेन्नो ज्ञानविज्ञानसागरः

शिवजी उपाध्याय

(८०)

महाह्लदानुसंधानात्, सिद्धमंत्रार्थशक्तिमान्
जीयात् विज्ञातसिद्धान्तः, ज्ञानविज्ञानसागरः

(८१)

प्रत्यभिज्ञापरामर्शात्, पारमार्थ्यपुरोहितः
महामाहेश्वरः सोऽयं, ज्ञानविज्ञानसागरः

(८२)

विभाति भास्करो भव्यः, परिव्राजकराडसौ
विन्दुः पूर्णेन्दुपीयूषः, ज्ञानविज्ञानसागरः

(८३)

स्वप्रकाशप्रसारेण, सूर्यो वियति राजते
भ्राजते भुवि भावेशः, ज्ञानविज्ञानसागरः

(८४)

अभ्यानर्पणपात्रत्वं, ब्रह्मणः परमार्थतः
यत्रास्ते करपात्रः स ज्ञानविज्ञानसागरः

डॉ परमहंस मिश्र

(८५)

मग्नानां त्रिविधैस्तापैः, मोहकूपे निमज्जताम्
उद्धारे कोऽपि लग्नोऽस्ति, ज्ञानविज्ञानसागरः

(८६)

करपात्रोऽर्चापात्रं वितीर्णबोधः समस्तपात्रेषु
सप्ततिवर्षवयस्को महामनीषी शतं जीव्यात्

(८७)

डा० कपिलदेव पाण्डेय

राजते योगिराजोऽयमात्मानन्दैकविग्रहः
'करपात्र' इतिख्यातो ज्ञानविज्ञानसागरः

श्री विनय मिश्र

(८८)

सर्वे यत्रेङ्गितं कृत्वा प्रवदन्ति मनीषिणः
दृश्यतां दृश्यतां सोऽयं ज्ञानविज्ञानसागरः

(८९)

"ज्ञानस्य नास्ति प्रत्यक्षं" मुधैवाहुर्मनीषिणः
प्रत्यक्षं दृश्यतेऽद्यापि ज्ञानविज्ञानसागरः

शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

नया दिनमान

कौशल किशोर मिश्र

रावणी शिकंजों से जकड़े वातावरण में
'राम राज्य' का
आवाहन करने वाले
महामनीषी तुम,
महाकाल के योग्य पुत्र हो
जमाने की दस्तावेज पर तुमने
बिना हाशिया दिये,
एक सही दर्द उरेहा है,
सनातन धर्म की
बिखरी कड़ियों को
गूँथ कर,
धर्म हित का सुमेरु बाँधा,
एक नया दिनमान दिया
तुमने,
धर्म क्षितिज को ।
घट्ठे, बिवाई, काँटों—
भरे तलवों को—
एक निगाह दी।
एक दिशा दी
भारत में बिखर रहे
हिन्दुत्व को।
संस्कृति के सजग प्रहरी,
करपात्री, तुम्हारे द्वारा
फहराया गया धर्म-ध्वज,
निरन्तर लहराता रहेगा ।
तुम्हारे वेदभाषित स्वरूप ने,
जन मानस में
आस्था की नयी ज्योति जगायी है
धर्म के लिए अर्पित,
तुम्हारा यह जीवन
आने वाली पीढ़ी को,
देश की महान संस्कृति को
आफतों से जूझने के लिए,
प्रेरणा स्वरूप पुश्तैनी औजार
देता रहेगा—
और जब तक,
इस धरती पर,
जिजीविषा मानव में रहेगी,
तब तक संघर्षजयी करपात्री' ही
उसके जीवन का पथ
प्रदर्शन करेगें।

॥ श्री हरिः ॥

शुभ सूचना

अखिल भारतवर्षीय धर्मसंघ की अमृतसर शाखा ने भारतहृदय सम्राट विश्ववन्द्य यतिचक्र चूडामणि परम वितराग अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज की ७१ वीं पुण्य वर्षगांठ के उपलक्ष्य में महाराजश्री द्वारा लिखित वैदिक तथा अन्य धार्मिक आध्यात्मिक साहित्य के मुद्रण प्रकाशनार्थ वाराणसी सन्मार्ग प्रेस के लिये एक २४-३६ सिलेण्डर प्रेस मशीन देने की घोषणा की है। श्री धर्मसंघ शिक्षामण्डल वाराणसी इस पुण्य कार्य के लिये अमृतसर धर्म-संघ शाखा का हार्दिक अभिनन्दन करता है।

प्रधानमन्त्री

श्रीधर्मसंघ शिक्षामण्डल

वाराणसी

विजयानगरम् परिवार की ओर से

पूज्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

के

७१ वें वर्ष गाँठ पर

हार्दिक अभिनन्दन

चरण कमल चञ्चरीक

राजमाता भागीरथी देवी
[महाराजकुमार रानी, विजयानगरम्]

कुँवर मृत्युञ्जय सिंह
[ज्येष्ठ पुत्र स्व० महाराज कुमार विजयानगरम्]

राजगुरु चल्ला लक्ष्मण शास्त्री

विश्व वन्दनीय यति चक्र चूड़ामणि

श्री स्वामी करपात्री जी महाराज की

७१ वीं वर्षगाँठ पर विनम्र प्रणाम करते हुए

भगवान विश्वनाथ जी के चरणों में प्रार्थना है कि

देश और धर्म की रक्षा के लिये

पूज्यश्री चरण को दीर्घायु प्रदान करें।

चमनलाल अग्रवाल

कोषाध्यक्ष

अखिल भारतीय धर्मसंघ

॥ श्री हरिः ॥

श्री धर्मसंघ शिक्षामण्डल--भारतीय वेद शास्त्र परम्परा पर धार्मिक विश्वविद्यालय

भारत हृदय सम्राट परम वीतराग यतिचक्रचूड़ामणि अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी की ओर से परमपुण्य भारतभूमि के लिये लोकोत्तर दातव्यों में श्री धर्मसंघ शिक्षामण्डल एक अनुपम देन है।

यह प्राचीन भारतीय शिक्षा परम्परा पर स्थापित राजकीय सहायता निरपेक्ष एक धार्मिक विश्वविद्यालय है जिसके प्रमुख श्री धर्मसङ्घ महाविद्यालय वाराणसी, श्री धर्मसङ्घ महाविद्यालय निगमबोधघाट दिल्ली तथा श्री धर्मसङ्घ महाविद्यालय वृन्दावन हैं। इनके अतिरिक्त लखनऊ, चित्रकूट, वागपत, लुधियाना आदि स्थानों में अनेक शाखायें हैं। जो परम्परा अनुसार वेद, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, कर्मकाण्ड आदि विषयों का अध्ययन कराते हैं।

ब्रह्मचर्याश्रमकक्ष

गतवर्ष रामनवमी महापर्व पर श्री धर्मसङ्घ महाविद्यालय में ब्रह्मचर्याश्रम कक्ष की स्थापना की गयी है। जहाँ छोटी अवस्था से ब्रह्मचारियों का उपनयन संस्कार कराकर उन्हें वेदशास्त्र की शिक्षा के साथ विधिवत् सन्ध्या, समिदाधान कराया जाता है। यहाँ दण्ड मेखला ब्रह्मचर्य की वेशभूषा का ध्यान रखा जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम के ब्रह्मचारियों के लिये दोनों समय शुद्ध घृत से वने भोजन, प्रातः जलपान कलेवा और रात्री में गोदुग्धपान की व्यवस्था है।

आप धन, वस्त्र, अन्न और उत्तम कुलीन ब्रह्मचारी देकर सहायता कर अद्‌भुतपुण्य के भागी वनें।

निवेदक :—प्रधान मंत्री

धर्म सम्राट् अनन्तश्री विभूषित कुल गुरु कमल दिवाकर

स्वामी श्री करपात्री जी महाराज के

७१ वें जन्मोत्सव पर

अ० भा० श्री धर्म संघ शिक्षा मण्डल से सम्बद्ध

समस्त धर्म संघ विद्यालय एवं महाविद्यालय

धर्म संघ पञ्चाङ्ग एवं धर्म संघ प्रकाशन

की

ओर से पावन चरणों

में

सादर नमन

प्रचारित--मंत्री, धर्म संघ शिक्षा मंडल, दुर्गाकुंड, वाराणसी।

सन्मार्ग

के संस्थापक

पूज्यपाद अनन्तश्री

स्वामी करपात्री जी महाराज

के चरणों में

शतशत नमन

संपादक गण,
प्रबन्धक तथा
कर्मचारीगण

दैनिक 'सन्मार्ग'
पो. बा. १२८
गोलघर, वाराणसी—२२१००१
फोन : ६३५२०

अखिल भारतवर्षीय धर्मसंघ की ओर से महंत वीरभद्र मिश्र द्वारा मुद्रित तथा प्रकाशित
मुद्रक : भार्गव भूषण प्रेस, त्रिलोचन, वाराणसी—२२१००१

4.1

उत्तरगीता

UTTARA GITA

SRI VANI VILAS PRESS,
SRIRANGAM

॥ ॐ ॥

॥ उत्तरगीता ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य

श्रीमद्गौडपादाचार्यैः

विरचितया व्याख्यया

संभूषिता ॥

श्रीरङ्गस्थ

श्रीवाणीविलासमुद्रायन्त्रालये

संमुद्रिता ॥

१९२६.

PREFACE.

THE text of the Uttara Gita is already published in different places and some of the editions contain an English translation also. Thus several of the readers may be familiar with the Text, though it is not to be found anywhere in the extant editions of the Mahabharata. This latter fact has led several scholars to even doubt its genuineness. They consider that it is a modern composition grafted on the ever expanding Epic. But some months ago I learnt that the great Sri Gaudapadacharya, the author of the world-renowned Mandukya Karikas and the grand-preceptor of the illustrious Sri Sankara-Bhagavatpada-charya had written a commentary on this Poem. Immediately I began a search for manuscript copies of this commentary, for if this was a fact, it would go a great way towards establishing the genuineness of the Poem And I am glad to say that my labours in this direction were soon crowned with success. I got an old palm. leaf Ms. copy from the library of the Mutt at Sringeri, another palm-leaf Ms. from Mr. Krishnaswamy Aiyar, B.A. B.L. of the Tanjore bar—the grandson of Brahmasri Mahalinga Sastrigal of Tiruvasanallore and copies of two other manuscripts from the Madras Government Oriental Manuscripts Library. And all these manuscripts which

तत्क्षणादेव मुच्येत यज्ज्ञानाद्ब्रूहि केशव ।

हे केशव यज्ज्ञानात् यस्य ब्रह्मणः सम्यग्ज्ञानात् तत्क्षणादेव ज्ञानोत्तरक्षणादेव मुच्येत अविद्यानिवृत्तिद्वारा आनन्दावाप्तिर्भवेत्, तत् ब्रह्म ब्रूहि स्वरूपतटस्थलक्षणाभ्यां प्रतिपादय इत्यर्थः । एतदेव लक्षणैर्दर्शयति—यदित्यादिना । एकं सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहितम्, निष्कलम् अवयवरहितम्, व्योमातीतम्, आकाशादिचतुर्विंशतितत्त्वातीतम्, निरञ्जनं स्वयंप्रकाशम्, अप्रतर्क्यम्, अमनोगोचरम्—'यन्मनसा न मनुते' इति श्रुतेः, अविज्ञेयम् प्रमाणाविषयम्—'यद्वाचानिरुक्तम्' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः, विनाशोत्पत्तिवर्जितं त्रैकालिकरूपम्, कारणम् सर्वोत्पत्तिनिमित्तोपादानरूपम्, योगनिर्मुक्तं वस्त्वन्तरसंबन्धराहितम्, हेतुसाधनवर्जितं निमित्तत्वोपादनत्वधर्मादिवर्जितम् इत्यर्थः, स्वस्य सनातनत्वेन ताभ्यामेव वर्जितमिति वा, हृदयाम्बुजमध्यस्थं सर्वलोकान्तर्नियामकतया सर्वलोकहृदयकमलमध्यस्थम्, ज्ञानज्ञेयस्वरूपकं ज्ञानं स्वविषयप्रकाशः ज्ञेयं विषयः तदुभयस्वरूपं तदुभयसत्तात्मकम्, यत् ब्रह्म, तत् कीदृशमिति प्रश्नार्थः ॥

एवमर्जुनेन पृष्टो भगवान् प्रश्नार्थमभिनन्दन् उत्तरमाह—

श्रीभगवानुवाच—

साधु पृष्टं महाबाहो बुद्धिमानसि पाण्डव ॥
यन्मां पृच्छसि तत्त्वार्थमशेषं प्रवदाम्यहम् ।

हे महाबाहो इति संबोधयन् सर्वशत्रुनिबर्हणसामर्थ्यं द्योतयति । शत्रवो रागादयश्च । हे पाण्डवेति सत्कुलप्रसूतिं द्योतयति । बुद्धिमानसीति स्तुवन् स्वोक्तार्थग्रहणावधारणसामर्थ्यं द्योतयति । त्वं मां प्रति यदात्मतत्त्वं पृच्छसि, तदशेषं यथा भवति तथा तुभ्यमहं प्रवदामि ॥

तदेवात्मतत्त्वं सोपायमाह—

आत्ममन्त्रस्य हंसस्य परस्परसमन्वयात् ॥ ४ ॥
योगेन गतकामानां भावना ब्रह्म चक्षते ।

आत्मनि तात्पर्येण पर्यवसन्नस्य प्रणवात्मकस्य मन्त्रस्य तात्पर्यविषयस्य, हंसस्य हन्ति स्वतत्त्वज्ञानेन ज्ञातृसंसारमिति हंसः तस्य परमात्मनः, परस्परसमन्वयात् अन्योन्यप्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसंसर्गात्, अनेन सर्ववेदान्ततात्पर्यगोचरत्वम् 'तत्तु समन्वयात्' इति समन्वयाधिकरणोक्तं दर्शितम्; योगेन आत्मतत्त्वविचाराख्येन, गतकामानां नष्टारिषड्वर्गाणाम्— अनेन ज्ञानप्रतिबन्धककल्मषनिवृत्तिः दर्शि-

ता; तेषां या भावना 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यजन्या चरमवृत्तिः, तन्निवृत्तिर्वा, तज्जन्याविद्यानिवृत्तिर्वा, तन्निवृत्त्यधिष्ठानं वा, सा ब्रह्मेति चक्षते प्राहुः तत्त्वज्ञाः इति शेषः ॥

तदेव तत्त्वज्ञानं तन्निवर्त्याविद्यानिवृत्तिं च आह—

शरीरिणामजस्यान्तं हंसत्वं पारदर्शनम् ॥ ५ ॥
हंसो हंसाक्षरं चैतत्कूटस्थं यत्तदक्षरम् ।
तद्विद्वानक्षरं प्राप्य जह्यान्मरणजन्मनी ॥ ६ ॥

अजस्य जीवस्य अन्तम् अवधिभूतं हंसत्वं परब्रह्मस्वरूपत्वं शरीरिणां जीवानां पारदर्शनं परमज्ञानं हंसः ब्रह्म हंसाक्षरं च प्रणवं च एतत्कूटस्थं यत्, एतदुभयसाक्षिभूतं यत्, तदक्षरमित्युच्यते । अनेन त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वं दर्शितम् । तत्स्वरूपं विद्वान् विवेकी सन् तदक्षरं वस्तु प्राप्य मरणजन्मनी जननमरणप्रवाहरूपं संसारं जह्यात् त्यजेदिति यावत् ॥

सा च मुक्तिः जीवपरमात्मनोरैक्यमिति प्रतिपादयति—अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते—

काकीमुखं ककारान्तमुकारश्चेतनाकृतिः ।
मकारस्य तु लुप्तस्य कोऽर्थः संप्रतिपद्यते ॥ ७ ॥

कं च अकं च काके सुखदुःखे, ते अस्य स्त इति काकी जीवः अविद्याप्रतिबिम्बः, तस्य मुखं मुखस्थानीयं बिम्बभूतं यद्ब्रह्म, तत्प्रतिपादकं यत् ककारान्तम्, मुखमित्येतत् काकाक्षिन्यायेन अत्रापि संबध्यते । तथा च शब्दश्लेषः मुखभूतककारस्य काकीत्यत्र प्राथमिकककारस्य अन्तम् अन्तिमं यदक्षरम् अकारात्मकं पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्याणि सर्वं विराडित्युच्यते । एतत् स्थूलशरीरमात्मनः । इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम् । तदुभयाभिमान्यात्मा विश्वः । एतत्त्रयम् अकारस्यार्थः । उकारश्चेतनाकृतिः । काकीमुखेत्यत्र मकारात् परो य उकारः अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं सप्तदशकं लिङ्गं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते । एतत् सूक्ष्मशरीरमात्मनः । करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजन्यप्रत्ययः सविषयः स्वप्नः, तदुभयाभिमानी आत्मा तैजसः । एतत्त्रयमुकारस्यार्थः । अत एव उकारश्चेतनाकृतिरित्युक्तम् । चेतनाकृतिः चेतनस्य हिरण्यगर्भात्मकतैजसस्य आकृतिः वाचकः । मकारस्य—काकीमुखेत्यत्र उकारात्पूर्वमभिहितो यो मकारः शरीरद्वयकारणमात्माज्ञानं साभासं अव्याकृतमित्युच्यते । तच्च न सत्, नासत्, नापि सदसत्; न भिन्नम्, नाभिन्नम्, नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित्; न निरवयवम्, न

सावयवम् , नोभयम् ; केवलब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम् । सर्व-प्रकारकज्ञानोपसंहारो बुद्धेः कारणात्मनावस्थानं सुषुप्तिः । त-दुभयीभिमान्यात्मा प्राज्ञः । एतत्त्रयं तस्य मकारस्यार्थः । लुप्तस्य—अकार उकारे, उकारो मकारे, मकार ओंकारे, एवं लुप्तस्य कोऽर्थः ककारात्परो यः अकारः तस्य योऽर्थः लक्ष्यस्वरूपं मकारात्परस्योंकारस्य अर्थः लक्ष्यस्वरूपम् , उप-लक्षणमेतद्द्वयम् उकारात्पूर्वमकारस्यार्थः लक्ष्यस्वरूपम् ओं-कारात्मा साक्षी केवलचिन्मात्रस्वरूपः नाज्ञानं तत्कार्यं च, किं तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वितीयं ब्रह्मैव संप्र-तिपद्यते तदैक्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । 'अयमात्मा ब्रह्म' 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिश्रुतिभ्य इति भावः ।।

यद्वा पाठान्तरे—

काकीमुखककारान्तमुकारश्चेतनाकृतिः ।
अकारस्य तु लुप्तस्य कोऽर्थः संप्रतिपद्यते ॥

कं च अकं च काके सुखदुःखे, ते अस्य स्त इति काकी जीवः तत्प्रतिपादकशब्दस्य मुखे अग्रे यः ककारः तस्यान्तः अकारः ब्रह्म चेतनाकृतिः जीवाकारवदित्यर्थः । ब्रह्मैव स्वा-

विद्यया संसरति इति न्यायात् । मकारस्य जीवत्वाकारस्य लुप्तस्यापगतस्य कोऽर्थः अखण्डाद्वितीयसच्चिदानन्दस्वरूपोऽर्थः । तं काकीमुखेत्याद्युक्तप्रकारेणैक्यानुसंधानवान् संप्रतिपद्यते प्राप्नोति इत्यर्थः । यद्वा, हे काकीमुख ब्रह्म त्वं ककारान्तः ककारस्यान्तिमो वर्णो य अकारः तत्प्रतिपाद्यब्रह्मैवेत्यर्थः । इकारः मूलप्रकृतिः तस्य ब्रह्मणः चेतना चेतयमाना आकृतिः शक्तिः । मकारस्य च लुप्तस्य परिणममानाविद्यालोपवतो ब्रह्मणः कोऽर्थः ककारात्परो य अकारः तस्य योऽर्थः लक्ष्यस्वरूपं तत्संप्रतिपद्यते तदैक्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । एवमुपास्स्वेति शेषः । तथा च श्रुतिः 'आप्लवस्व प्रप्लवस्व, आण्डी भव ज मा मुहुः, सुखादीं दुःखनिधनाम्, प्रतिमुञ्चस्व स्वां पुरम्' इति । अस्यार्थः—हे ज जननमरणयुक्तजीव त्वमाप्लवस्व जीवन्मुक्तो भव प्रप्लवस्व साक्षान्मुक्तो भव, आण्डी ब्रह्माण्डान्तर्वर्ती संसारी मुहुर्मा भव मा भूः । संसारी चेत् किमपराध इत्याशङ्क्याह—सुखादीम् वैषयिकसुखहेतुं दुःखनिधनां दुःखमेव निधने अन्ते, यस्यास्तां स्वां पुरं स्थूलसूक्ष्मरूपदेहद्वयं प्रतिमुञ्चस्व त्यज ॥

एवं योगधारणयोपासकस्य प्राणायामपरायणस्य नान्तरीयकफलमप्याह—

गच्छंस्तिष्ठन्सदा कालं वायुस्वीकरणं परम्।
सर्वकालप्रयोगेन सहस्रायुर्भवेन्नरः॥ ८॥

नरः 'शतायुः पुरुषः शतेन्द्रियः' इति परिमितायुरपि गच्छन् गमनकाले तिष्ठन् अवस्थानकाले सदा कालं सर्वस्मिन्काले शयनादिकालान्तरे परं विशेषेण वायुस्वीकरणं प्राणायामं कुर्वन् तेन सार्वकालप्रयोगेन सार्वकालिकवायुधारणया सहस्रायुः सहस्रवर्षजीवी भवेत् भूयादित्यर्थः॥

ननु परमफलं कदा भवतीत्यत आह—

यावत्पश्येत्खगाकारं तदाकारं विचिन्तयेत्।

खगाकारं हंसस्वरूपं यावत्पश्येत् यावत्पर्यन्तं साक्षात्कुर्यात्, तावत्पर्यन्तं तदाकारं परब्रह्मस्वरूपं पूर्वोक्तधारणया प्रवृद्धायुः पुरुषः विचिन्तयेत् ध्यायेदित्यर्थः॥

तादृशात्मसाक्षात्कारार्थं नैरन्तर्येण आत्मजगतोरभेदध्यानमाह—

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

खमध्ये दहराकाशमध्ये आत्मानं परमात्मानं कुरु एतद-

भिन्नसत्तात्मकमिति भावयेदित्यर्थः । आत्ममध्ये च परमात्मनि खं कुरु आकाशं कुरु तदुपादानकं भावयेत् । आत्मानं परमात्मानं खमयम् आकाशात्मकं कृत्वा किंचिदपि ब्रह्मव्यतिरिक्तमन्यदपि न चिन्तयेत् न ध्यायेदित्यर्थः । यद्वा, ख-शब्देन जीवोऽभिधीयते, 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेः । आत्मशब्देन परमात्मा अभिधीयते । तयोरैक्यं बुद्ध्वा न किंचिदपि चिन्तयेदिति ॥

एवमुक्तप्रकारेण योगी भूत्वा ब्रह्मज्ञाननिष्ठ एव स्यात् इत्याह—

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ।
बहिर्व्योमस्थितं नित्यं नासाग्रे च व्यवस्थितम् ।
निष्कलं तं विजानीयाच्छ्वासो यत्र लयं गतः ॥

ब्रह्मवित् उक्तप्रकारेण ब्रह्मज्ञानी सन् स्थिरबुद्धिः निश्चलज्ञानी भूत्वा असंमूढः अज्ञानरहितः सन् ब्रह्मणि स्थितः ब्रह्मनिष्ठ एव नित्यं यत्र श्वासः श्वासवायुः लयं गतः नाशं प्राप्तः, तत्र नासाग्रे व्यवस्थितं बहिर्व्योमस्थितं बहिराकाशस्थितं च निष्कलं कलातीतं कं ब्रह्म विजानीयात् बुध्यात् ॥

ब्रह्मज्ञाननिष्ठस्य मनोनैश्चल्यार्थं धारणाविशेषमाह—

पुटद्वयविनिर्मुक्तो वायुर्यत्र विलीयते ॥
तत्र संस्थं मनः कृत्वा तं ध्यायेत्पार्थ ईश्वरम् ॥

हे पार्थ पुटद्वयविनिर्मुक्तः नासारन्ध्रद्वयविनिर्गतः वायुः यत्र विलीयते लयं गच्छति, तस्मिन्मार्गे सम्यक् स्थितं मनः कृत्वा तम् ईश्वरं ध्यायेत् वक्ष्यमाणप्रकारेण ध्यायेत् ॥

तमेव प्रकारमाह—

निर्मलं तं विजानीयात्षडूर्मिरहितं शिवम् ।

निर्मलं निष्कृष्टाहंकारचैतन्यात्मकम्, अत एव षडूर्मि-रहितं क्षुत्पिपासादिहीनं शिवं मङ्गलस्वरूपमिति विजानी-यात् ध्यायेदित्यर्थः

किं च,

प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं निरामयम् ॥
सर्वशून्यं निराभासं समाधिस्तस्य लक्षणम् ।
त्रिशून्यं यो विजानीयात्स तु मुच्येत बन्धनात् ॥

प्रभाशून्यं वृत्त्यात्मकप्रकाशरहितम्, तत्र हेतुः मनःशून्यं मनोरहितम्, अत एव बुद्धिशून्यम् आसक्तिरहितं निरा-मयं निर्व्याजम्, अत एव निराभासं भ्रमरहितम्, अत

एव सर्वशून्यम् स्वव्यतिरिक्तवस्तुमात्रस्य मिथ्यात्वेन आनन्दैकरसं यत् ब्रह्म, तद्ध्यानं समाधिः । तस्य तस्मिन् स्थितस्य किं लक्षणमित्याशङ्क्याह—त्रिशून्यं पूर्वोक्तप्रभादिशून्यं यो विजानीयात् बुध्येत् । एतेन जाग्रदाद्यवस्थात्रयशून्यत्वं दर्शितम् । प्रभामनोबुद्धिशब्दैः क्रमेण तासामभिधानात् । तादृशं ब्रह्म यो विजानीयात्, स समाधिस्थः बन्धनात् संसारबन्धनात् मुच्येत मुक्तो भवति ॥

एवं जीवन्मुक्तस्य देहादिष्वभिनिवेशो नास्तीत्याह—

स्वयमुच्चलिते देहे देही न्यस्तसमाधिना ।
निश्चलं तद्विजानीयात्समाधिस्थस्य लक्षणम् ॥

देहे स्वयम् अनादिप्रारब्धकर्मवासनावशात् उच्चलिते गमनादिकं कुर्वत्यपि देही जीवः न्यस्तसमाधिना निश्चलसमाधियोगेन निश्चलं यथा भवति तथा तं परमात्मानं विजानीयात् । तदेव समाधिस्थितस्य आत्मयोगस्थितस्य लक्षणमित्युच्यते ॥

इतोऽप्यात्मज्ञस्य लक्षणमुच्यते—

अमात्रं शब्दरहितं स्वरव्यञ्जनवर्जितम् ।
बिन्दुनादकलातीतं यस्तं वेद स वेदवित् ॥

अमात्रं ह्रस्वदीर्घप्लुतादिरहितं शब्दरहितं शब्दातीतम्, स्वरव्यञ्जनवर्जितम् अक्षरसमूहात्मकपदानभिधेयम् बिन्दु-नादकलातीतम्—अनुस्वारो बिन्दुः संवृते गलविवरे यद्दीर्घघण्टानिर्ह्रादवदनुरणनं स नादः, कला नादैकदेशः तैरतीतम्, न यथाकथंचिच्छब्दवाच्यमित्यर्थः। एतादृशं ब्रह्म यो वेद, स वेदवित् सकलवेदान्ततात्पर्यज्ञः नान्य इत्यर्थः॥

एवं प्राप्तात्मतत्त्वज्ञानस्य असंभावनाविपरीतभावनादि-निवृत्तौ सत्यां न किंचित्कृत्यमस्तीत्याह—

प्राप्ते ज्ञानेन विज्ञाने ज्ञेये च हृदि संस्थिते।
लब्धशान्तिपदे देहे न योगो नैव धारणा॥

ज्ञानेन परोक्षात्मकेन विज्ञाने अपरोक्षानुभवात्मके, यद्वा, ज्ञानेन शास्त्राचार्योपदेशजन्येन विज्ञाने अनुभवात्मके प्राप्ते सति, ज्ञेये सर्ववेदान्ततात्पर्यगोचरे परमात्मनि हृदि संस्थिते हृद्यपरोक्षतया भासमाने सति, देहे देहोपाधिमति जीवे लब्धशान्तिपदे संप्राप्तब्रह्मभावे सति, तदा, योगोऽपि नास्ति धारणा च नास्ति; सिद्धे फले साधनेन प्रयोजनाभावादिति भावः॥

एवमात्मतत्त्वापरोक्षज्ञानेन मुक्तः सन् ईश्वर एव जायते इति तस्य स्वरूपमाह—

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥१८॥

वेदादौ सर्ववेदानामादौ वेदस्याधःस्रवणपरिहाराय विधीयमानः वेदान्ते च सर्ववेदानामन्ते च उपर्युत्क्रमणपरिहाराय प्रतिष्ठितः संस्थापितः, चकारात् सर्ववेदरक्षणाय वेदमध्ये च निपातितः यः स्वरः प्रणवात्मकः, तस्य प्रणवस्य प्रकृतौ परावस्थायां लीनस्य यः परः परादिवाक्चतुष्टयोद्बोधकः, उपलक्षणं चैतत् सर्वप्राणेन्द्रियकरणवर्गप्रबोधकः सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी यो महेश्वर इति प्रसिद्धः स एव आत्मतत्त्वज्ञानी, नान्य इत्यर्थः ॥

आत्मतत्त्वापरोक्षानुभवात्पूर्वं यावान् तत्साधनप्रयासः कृतः, जाते च तस्मिन् अनुभवे स न कर्तव्य इति सदृष्टान्तमाह—

नावार्थी च भवेत्तावद्यावत्पारं न गच्छति ।
उत्तीर्णे च सरित्पारे नावया किं प्रयोजनम् ॥

यावत् यावत्पर्यन्तं पारं नदीतीरं न गच्छति न संप्राप्नोति, तावत् तावत्पर्यन्तं नावार्थी नदीतरणसाधनप्लवनार्थी भवेत् भूयात्, सरित्पारे नदीतीरे उत्तीर्णे सति नावया

नदीतरणसाधनेन किं प्रयोजनं किमपि नास्तीत्यर्थः । तद्व-द्त्रापि आत्मापरोक्षे जाते शास्त्रादिभारैः किं प्रयोजनमिति भावः ॥

तदेव भङ्ग्यन्तरेण सदृष्टान्तमाह—

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥ २० ॥

मेधावी बुद्धिमान् ग्रन्थमभ्यस्य वेदान्तादिश्रवणं कृत्वा, ज्ञाने सामान्यज्ञाने विज्ञाने विशेषानुभवे तत्परः सन् ग्रन्थं सर्वशास्त्रं त्यजेत् । अत्र दृष्टान्तः— धान्यार्थी धान्यसहितं तृणमादाय तद्गतधान्यस्वीकारानन्तरं पलालं गतकणिशं तृणं यथा त्यजेत् तद्वदित्यर्थः ॥

किंच—

उल्काहस्तो यथा कश्चिद्द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत् ।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत् ॥

कश्चित् लोके अन्धकारस्थितद्रव्यदर्शनार्थी सन्, यथा उल्काहस्तो भवति, पश्चाद्द्रव्यमालोक्य तदनन्तरं तामु-ल्कां यथा त्यजेत्, तथा ज्ञानेन ज्ञानसाधनेन ज्ञेयं ब्रह्म आलोक्य अपरोक्षीकृत्य पश्चात् ज्ञानं ज्ञानसाधनं परि-त्यजेत् इत्यर्थः ॥

जाते चापरोक्षज्ञाने, तेन प्रयोजनाभावात् साधनं परित्याज्यमित्येतद्दृष्टान्तान्तरेणाप्याह—

यथामृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् ।
एवं तं परमं ज्ञात्वा वेदैर्नास्ति प्रयोजनम् ॥

यथा अमृतेन सागरमथनोद्भूतेन अमृतेन तृप्तस्य संतुष्टस्य पयसा क्षीरेण प्रयोजनं नास्ति, एवं परमं तं ज्ञात्वा परमात्मानमपरोक्षीकृत्य वेदैः वेदान्तशास्त्रादिभिः किं प्रयोजनम्, न किमपीत्यर्थः ॥

किंच, तत्त्वज्ञानिनः विधिनिषेधादिकर्तव्यमपि नास्तीत्याह—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य आनन्दैकरसं प्राप्तस्य कृतकृत्यस्य कृतार्थस्य योगिनः मुक्तस्य किंचिदपि विधिनिषेधादि कर्तव्यं नास्ति, तत्त्वेन उत्तीर्णत्वादिति भावः । कर्तव्यमपि लोकसंग्रहार्थमेव, यद्यभिनिवेशेन कर्मासक्तिरस्ति, तर्हि स तत्त्ववित्न भवति, आरूढो न भवतीत्यर्थः ॥

अर्थज्ञानं विना केवलं वेदपाठमात्रेण वेदवित्त्वं नास्ति, किं तु वेदतात्पर्यगोचरब्रह्मज्ञानेनैव वेदवित्त्वमित्याह—

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं संततधारावत् विच्छेदरहितं दीर्घघण्टानिनादवत् अतिदीर्घघण्टाध्वन्यप्रवच्च विच्छेदरहितम् अवाच्यम् अवाङ्मनसगोचरं प्रणवस्य अकारोकारमकारबिन्दुनादात्मकस्य सकलवेदसारस्य अग्रं लक्ष्यं ब्रह्म यो वेद, स वेदवित् वेदान्तार्थज्ञानी ; नान्य इत्यर्थः ॥

तत्त्वज्ञानिनः समाधिसाधनस्वरूपमाह—

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥२५॥

आत्मानं आत्मनि कर्तृत्वाद्यध्यासवन्तं जीवम् अरणिं कृत्वा अधरारणिं भावयित्वा, प्रणवं परमात्मप्रतिपादकं शब्दम् उत्तरारणिं कृत्वा भावयित्वा, ध्याननिर्मथनाभ्यासात् ध्यानरूपमथनेन पौनःपुन्येन पूर्वोक्तप्रकारेण निगूढवत् पाण्डित्याप्रकटनेन यो वर्तते, स एवं परमात्मानं पश्येत् ; नान्य इत्यर्थः ॥

यावदपरोक्षानुभवपर्यन्तं स्वयंप्रकाशब्रह्मधारणामाह—

ताहशं परमं रूपं
स्मरेत्पार्थ ह्यनन्यधीः ।
विधूमाग्निनिभं देवं
पश्येदत्यन्तनिर्मलम् ॥ २६ ॥

हे पार्थ, विधूमाग्निनिभं विगतधूमाग्निरिव द्योतमानम् अत्यन्तनिर्मलम् अतिस्वच्छं देवं स्वयंप्रकाशं परमात्मानं यावत्पश्येत् अपरोक्षीकुर्यात्, तावत् ताहशं परमं सर्वोत्कृष्टं रूपं ब्रह्मस्वरूपम्, अनन्यधीरिति अनन्यचित्तः सन् संस्मरेत् ब्रह्मधारणं कुर्यादित्यर्थः ॥

भावनाप्रकारमेव ब्रह्मस्वरूपप्रकटनव्याजेन विशदयति—

दूरस्थोऽपि न दूरस्थः
पिण्डस्थः पिण्डवर्जितः ।
विमलः सर्वदा देही
सर्वव्यापी निरञ्जनः ॥ २७ ॥

देही जीवः सर्वदा सर्वस्मिन् काले दूरस्थोऽपि अज्ञस्य परोक्षवत् स्थितोऽपि न दूरस्थः परोक्षस्थितो न भवति ;

किं तु सर्वदापि अपरोक्ष एवेत्यर्थः । पिण्डस्थोऽपि अज्ञस्य शरीरसंबन्धाध्यासात् परिच्छिन्नवत् भासमानोऽपि, पिण्ड-वर्जितः शरीरसंबन्धाध्यासरहितः; तत्र हेतुः— विमलः निर्मलः सर्वव्यापी सर्वतः परिपूर्णः निरञ्जनः स्वयंप्रकाशश्च । एवं ध्यायेदिति पूर्वेण संबन्धः ॥

किंच, देहाध्यासात् प्रतीयमानं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिक-मात्मनो नास्ति इत्याह—

कायस्थोऽपि न कायस्थः
कायस्थोऽपि न जायते ।
कायस्थोऽपि न भुञ्जानः
कायस्थोऽपि न बध्यते ॥ २८ ॥

देही जीवः कायस्थोऽपि शरीराध्यासवानपि न कायस्थः शरीरनिमित्तबन्धरहितः । कायस्थोऽपि जन्मादिवच्छरीर-स्थोऽपि न जायते शरीरनिमित्तजन्मरहित इत्यर्थः । काय-स्थोऽपि भोगसाधनीभूतशरीरस्थोऽपि न भुञ्जानः भोग-रहितः । कायस्थोऽपि बन्धहेतुभूतदेहस्थोऽपि न बध्यते बन्धनं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

किंच—

कायस्थोऽपि न लिप्तः स्या-
त्कायस्थोऽपि न बाध्यते ।

कायस्थोऽपि सुखदुःखादिहेतुभूतदेहसंबन्धोऽपि न लिप्तः स्यात् सुखदुःखादिसंबन्धरहित इत्यर्थः । कायस्थोऽपि मरणधर्मवद्देहस्थोऽपि न बाध्यते न म्रियत इत्यर्थः । अनेन जन्मादिषड्भावविकारशून्यत्वं दर्शितम् ॥

यदध्यासेन आत्ममोहात्संसृतिः, तदपवादेन तत्रैव देहान्तःकरणादावात्मा विचारणीय इत्याह—

तिलमध्ये यथा तैलं
क्षीरमध्ये यथा घृतम् ॥ २९ ॥
पुष्पमध्ये यथा गन्धः
फलमध्ये यथा रसः ।
काष्ठाग्निवत्प्रकाशेत
आकाशे वायुवच्चरेत् ॥ ३० ॥

आत्मा तिलमध्ये तैलाच्छादकतिलेषु यथा तैलम् , यन्त्रादिना तिले निष्पिष्टे यथा तिलात्पृथक् तैलं शुद्धं भासते, क्षीरमध्ये घृताच्छादकक्षीराणां मध्ये क्षीरत्वापनोदको-

पायद्वारा दधिपरिणामे मथनेनापनीते नवनीतादिपरिणामद्वारा अग्निसंयोगात् यथा घृतं प्रतीयते, तथा पुष्पाणां मध्ये यथा गन्धः प्रतीयते, फलमध्ये त्वगस्थ्यादिहेयांशपरित्यागेन यथा रसो भासते, आकाशे यथा वायुः सर्वगतः सन् वाति संचरति, तथा काष्ठाग्निवत् अरण्यादिस्थिताग्निः मथनादिना मथिते यथा काष्ठभावं विहाय स्वयंप्रकाशतया भासते, तद्वदात्मापि अन्नमयादिपञ्चकोशेषु मध्ये हेयांशपरित्यागेन आनन्दात्मकतया स्वयंप्रकाशः सन् भासत इत्यर्थः ॥

एतदेव दार्ष्टान्तिके सर्वं स्पष्टमुपपादयति—

तथा सर्वगतो देही
　देहमध्ये व्यवस्थितः ।
मनस्थो देहिनां देवो
　मनोमध्ये व्यवस्थितः ॥ ३१ ॥

तथा पूर्वोक्ततैलादिवत् सर्वगतः सर्वव्यापी देही जीवः देहमध्ये नानाभिन्नातिर्यग्देहादिदेहमध्ये व्यवस्थितः नानाभिन्नतिलेषु तैलवत् एकत्वेन स्थित इत्यर्थः । देहिनां तत्तद्देहभेदेन भिन्नानां जीवानां मनस्थः तत्तदन्तःकरणस्थः देवः ईश्वरः

मनोमध्ये तत्तद्दुष्टादुष्टान्तःकरणेषु व्यवस्थितः साक्षितया भासत इत्यर्थः ॥

तादृशब्रह्मापरोक्ष्येण मुच्यन्त इत्याह—

मनस्थं मनमध्यस्थं
मध्यस्थं मनवर्जितम् ।
मनसा मन आलोक्य
स्वयं सिध्यन्ति योगिनः ॥ ३२ ॥

मनस्थं मनोऽवच्छिन्नं मनमध्यस्थं मनःसाक्षिभूतं मध्यस्थं सर्वसाक्षिभूतम् मनवर्जितं संकल्पविकल्पादिरहितं मनः अवबोधात्मकं देवं मनसा परिशुद्धान्तःकरणेन आलोक्य तद्गोचरापरोक्षचरमवृत्तिं लब्ध्वा योगिनः स्वयमेव सिध्यन्ति निवृत्ताविद्यका मुक्ता भवन्तीत्यर्थः ॥

तेषां लक्षणमाह—

आकाशं मानसं कृत्वा
मनः कृत्वा निरास्पदम् ।
निश्चलं तद्विजानीया-
त्समाधिस्थस्य लक्षणम् ॥ ३३ ॥

आकाशवन्मानसं मनो निर्मलं कृत्वा मनः संकल्पविकल्पात्मकं निरास्पदम् निर्विषयं कृत्वा निश्चलं निष्क्रियमीश्वरं यो विजानीयात्, स एव समाधिस्थः। तादृशज्ञानमेव समाधिस्थस्यापि लक्षणमित्यर्थः॥

आरूढस्य लक्षणमुक्तम्; आरुरुक्षोरुपायमाह—

योगामृतरसं पीत्वा
वायुभक्षः सदा सुखी।
यममभ्यस्यते नित्यं
समाधिर्मृत्युनाशकृत्॥ ३४॥

योगामृतरसं पीत्वा यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगामृतपानं कृत्वा तत्तत्प्रतिपादकशास्त्रमभ्यस्येत्यर्थः, वायुभक्षः वायुमात्राहारः, उपलक्षणमेतत, हितमितमेध्याशी, सदा सुखी सर्वदा संतुष्टः सन्, यं यमं मनोनिग्रहं नित्यमभ्यस्यते, स समाधिरित्युच्यते। स समाधिः मृत्युनाशकृत् जननमरणसंसारनाशकृदित्यर्थः॥

तादृशसमाधौ स्थितस्य लक्षणमाह—

ऊर्ध्वशून्यमधःशून्यं
मध्यशून्यं यदात्मकम्।

सर्वशून्यं स आत्मेति
समाधिस्थस्य लक्षणम् । ३५ ॥

ऊर्ध्वशून्यम् ऊर्ध्वदेशपरिच्छेदरहितम् अधःशून्यं मध्यशून्यम् अधोमध्यदेशपरिच्छेदरहितं सर्वशून्यं देशकालादिपरिच्छेदरहितं यदात्मकं यत्स्वरूपम्, स आत्मेति भावना समाधिस्थस्य लक्षणमित्यर्थः ॥

एतस्यैकान्तिकदृष्टेः विधिनिषेधातीतत्वमाह—

शून्यभावितभावात्मा
पुण्यपापैः प्रमुच्यते ।

शून्यमिति सर्वपरिच्छेदरहितमिति भावितः वासितः भावः अभिप्रायो यस्यात्मनः तादृशः सन् शून्यभावितभावात्मा योगी पुण्यपापैः विधिनिषेधप्रयुक्तैः प्रमुच्यते मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥

एवं भगवदुपदिष्टसमाधौ विरोधमसंभवं च आह—

अर्जुन उवाच—

अदृश्ये भावना नास्ति
दृश्यमेतद्विनश्यति ॥ ३६ ॥

अवर्णमस्वरं ब्रह्म
कथं ध्यायन्ति योगिनः ।

अदृश्ये ज्ञानागोचरे वस्तुनि भावना ध्यानं नास्ति ; ननु तर्हि दृश्यं भवत्विति चेत्, दृश्यमेतत्सर्वं विनश्यति नाशं प्राप्नोति शुक्तिकारूप्यवत् । तथा च अवर्णं रूपरहितम् अस्वरं शब्दागोचरं ब्रह्म योगिनः कथं ध्यायन्ति, ध्यानस्य स्मृत्यात्मकत्वेनाननुभूते तदयोगात् इति भावः ॥

न हि सावयवमूर्त्यादिमत्त्वेन वयं ध्यानं ब्रूमः येन त्वयोक्तं घटेत, किं तु निर्विशेषपरब्रह्मण एव निर्मलं निष्कलमित्यादिना, वेदान्तजन्यवृत्तिगोचरत्वेन तत्संभवतीत्यभिप्रायेणाह—

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वपूर्णमधःपूर्णं
मध्यपूर्णं यदात्मकम् ॥ ३७ ॥
सर्वपूर्णं स आत्मेति
समाधिस्थस्य लक्षणम् ।

ऊर्ध्वाधोमध्यपूर्णशब्दैः सर्वदेशतः सर्वकालतः परिच्छेदं व्यावर्तयति । यदात्मकं यत् एतादृशं वस्तु सर्वत्र परिपूर्णं स

आत्मेति यो ध्यायति, स समाधिस्थः । तस्य लक्षणमपि तदेवेत्यर्थः ॥

नन्वयं सालम्बनयोगो निरालम्बनयोगो वेति द्वेधा विकल्प्य तत्र दोषमाशङ्कयाह—

अर्जुन उवाच—

सालम्बस्याप्यनित्यत्वं
निरालम्बस्य शून्यता ॥ ३८ ॥
उभयोरपि दुष्टत्वा-
त्कथं ध्यायन्ति योगिनः ।

सालम्बस्य मूर्त्याधारादिसहितस्य अनित्यत्वं विनाशित्वम्, निरालम्बस्य मूर्त्याधारादिरहितस्य शून्यता शशविषाणायितत्वम्, एवमुभयोरपि दुष्टत्वात् दोषघटितत्वात् योगिनः कथं ध्यायन्तीति प्रश्नार्थः ॥

यज्ञदानादिना शुद्धान्तःकरणस्य वेदान्तजन्यनिर्विशेषब्रह्मगोचरवृत्तिसंभवात् न शून्यतेत्यभिप्रायेणाह—

श्रीभगवानुवाच—

हृदयं निर्मलं कृत्वा
चिन्तयित्वाप्यनामयम् ॥ ३९ ॥

अहमेव इदं सर्व-
मिति पश्येत्परं सुखम् ।

हृदयं चित्तं निर्मलं ज्ञानविरोधिरागादिदोषरहितं कृत्वा अनामयं चिन्तयित्वा ईश्वरं ध्यात्वा परं सुखी सन् परमानन्दात्मकः सन् एक एवाहमिदं सर्वं जगज्जालमहमेव न मत्तो व्यतिरिक्तमन्यत् इति पश्येत् अपरोक्षानुभवं प्राप्नुयात् इत्यर्थः ॥

अर्थात्मकस्य जगतः शब्दनिरूप्यत्वेन शब्दस्य वर्णात्मकत्वेन वर्णानां प्रणवात्मकत्वेन प्रणवस्य बिन्द्वात्मकत्वेन बिन्दोः नादात्मकत्वेन नादस्य ब्रह्मध्यानस्थानात्मककलात्मकत्वेन ब्रह्मणि समन्वयेन बिन्दुनादकलातीतं ब्रह्म ध्यायेदिति भगवतोक्तम् , तद्विविच्य ज्ञातुं पृच्छति—

अर्जुन उवाच—

अक्षराणि समात्राणि
सर्वे बिन्दुसमाश्रिताः ॥ ४० ॥
बिन्दुभिर्भिद्यते नादः
स नादः केन भिद्यते ।

हे भगवन् समात्राणि अक्षराणि अकारादीनि सर्वे स-

र्वाणि, लिङ्गव्यत्ययः आर्षः, बिन्दुसमाश्रिताः बिन्दुतन्मात्रा-णीत्यर्थः । बिन्दुस्तु नादेन भिद्यते नादतन्मात्रः सन् तत्र समन्वेतीत्यर्थः । स नादः कलायां समन्वेति । सा कला कुत्र समन्वेति इति प्रश्नार्थः । यद्यपि श्लोके स नादः केन भिद्यत इति नादस्यैव समन्वयः पृष्ट इति भाति, तथापि नादस्य कलासमन्वय इति प्रसिद्धत्वात् नादपदं कलोप-लक्षणम् ॥

एवं पृष्टो भगवान् ब्रह्मणि समन्वेति इति उत्तरमाह—

श्रीभगवानुवाच—

अनाहतस्य शब्दस्य
तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ॥ ४१ ॥

ध्वनेरन्तर्गतं ज्योति-
र्ज्योतिरन्तर्गतं मनः ।
तन्मनो विलयं याति
तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ४२ ॥

अनाहतस्य शब्दस्य परावस्थापन्नप्रणवस्य यः ध्वनिः नादः तस्य नादस्य ज्योतिः अन्तर्गतम् । तेन तेजोरूप-कलायां नादस्यान्तर्भाव इति तात्पर्यम् । कलान्तर्भावमाह—

ज्योतिरन्तर्गतं मन इति । मनसः ज्योतिष्यन्तर्भावो नाम तन्मात्रया तत्र व्याप्तिः । तथा च मनसि ज्योतिषः कलायाः समन्वय इति भावः । तत् मनः शब्दादिप्रपञ्चकारणभूतं मनः यत्र विलयं याति, यत्र ब्रह्मणि वेदान्तजन्यनिर्विकल्पकब्रह्मगोचरमनोवृत्तिः लयं याति, तत् वृत्तिलयस्थानं वृत्तिलयात्मकं वा विष्णोः परमम् उत्कृष्टं पदं स्वरूपमिति । तदुक्तम्—मनः कायाग्निना हन्तीत्यादिना ॥

पुनस्तदेव विशिनष्टि—

> **ओंकारध्वनिनादेन**
> **वायोः संहरणान्तिकम् ।**
> **निरालम्बं समुद्दिश्य**
> **यत्र नादो लयं गतः ॥ ४३ ॥**

ओंकारध्वनिनादेन ओंकारध्वन्यात्मकनादेन सह वायोः संहरणान्तिकं रेचकपूरकादिक्रमेण नियमितवायोरुपसंहारपर्यन्तं निरालम्बं निर्विशेषं ब्रह्म समुद्दिश्य लक्ष्यं कृत्वा ध्यायेत् । यत्र स नादो लयं गतः नाशं प्राप्नुयात्, तत् नादनाशाधिकरणात्मकं नादनाशात्मकं वा विष्णोः परमं पदमित्यर्थः ॥

एवं ध्यानप्रकारेण शुद्धान्तःकरणस्य आरूढस्य पुण्य-पापे विधूय ब्रह्मसायुज्येऽभिहिते, आरुरुक्षोरपरिशुद्धान्तःक-रणित्वेन ब्रह्मसायुज्यासंभवे धर्माधर्मविधूननाऽसंभवेन तद्द्वारा जननमरणादिकमवश्यं भाव्यमिति मनसि निश्चित्य पुनरा-वृत्तिप्रकारं पृच्छति—

अर्जुन उवाच—

भिन्ने पञ्चात्मके देहे
गते पञ्चसु पञ्चधा ।
प्राणैर्विमुक्ते देहे तु
धर्माधर्मौ क्व गच्छतः ॥ ४४ ॥

पञ्चात्मके पञ्चभूतात्मके देहे स्थूलशरीरे भिन्ने गते सति, पञ्चसु पञ्चभूतेषु पञ्चधा तत्तत्पृथिव्याद्याकारेण स्थि-तेषु सत्सु, देहे प्राणैः प्राणादिपञ्चवायुभिः वियुक्ते सति, धर्माधर्मौ पुण्यपापे क्व गच्छतः कुत्र यास्यतः ॥

एवं पृष्टो भगवान् लिङ्गशरीराधारतया तिष्ठत इत्युत्तर-माह—

श्रीभगवानुवाच—

धर्माधर्मौ मनश्चैव
पञ्चभूतानि यानि च ।

इन्द्रियाणि च पञ्चैव
याश्चान्याः पञ्च देवताः ॥ ४५ ॥
ताश्चैव मनसा सर्वे
नित्यमेवाभिमानतः ।
जीवेन सह गच्छन्ति
यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ ४६ ॥

धर्माधर्मौ पुण्यपापे मनश्च अन्तःकरणं यानि च पञ्चभूतानि पृथिव्यादीनि यानि च पञ्चेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि वागादीनि ज्ञानकर्मात्मकानि च याश्चान्याः पञ्चदेवताः पञ्चेन्द्रियाभिमानिन्यः दिग्वातादयः, तदुक्तम्—दिग्वातार्कप्रचेताश्विवह्निप्राप्यप्रलीयकाः इति, ता देवताः, एते सर्वभूतादयः मनसा अन्तरिन्द्रियेण नित्यमेव सर्वदा अभिमानतः ममताहंकारविषयत्वेन यावत्तत्त्वं न विन्दति अपरोक्षब्रह्मानुभवं न प्राप्नोति, तावज्जीवेन सह जीवोपाधिना लिङ्गेन सह गच्छन्ति गतागतं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥

एवं स्थूलदेहलयेऽपि धर्माधर्मौ लिङ्गशरीरमाश्रित्य तिष्ठत इत्युक्ते, लिङ्गशरीरभङ्गः कदेति पृच्छति—

अर्जुन उवाच—

स्थावरं जङ्गमं चैव
यत्किंचित्सचराचरम् ।
जीवा जीवेन सिध्यन्ति
स जीवः केन सिध्यति ॥ ४७ ॥

स्थावरजङ्गमात्मकं सचराचरं चराचरसहितं जगज्जालं सर्वस्मिन् ये जीवाः अभिमानवन्तः स्थूलदेहाभिमानिनो विश्वात्मका जीवाः जीवेन लिङ्गशरीराभिमानिना तैजसेन सिध्यन्ति विश्वाभिमानं त्यजन्ति । स जीवः तैजसाभिमानी केन हेतुना सिध्यति स्वाभिमानं त्यजतीति प्रश्नार्थः ॥

एवं पृष्टे सति प्राज्ञेन तैजसः सिध्यति, प्राज्ञस्तुर्यायेणेत्येवं क्रमेण सिध्यतीत्युत्तरमाह—

श्रीभगवानुवाच—

मुखनासिकयोर्मध्ये
प्राणः संचरते सदा ।
आकाशः पिबते प्राणं
स जीवः केन जीवति ॥ ४८ ॥

मुखनासिकयोर्मध्ये मुखनासिकामध्यत: सदा सर्वदा यावददृष्टं प्राणवायु: संचरते अजपामन्त्रात्मकत्वेन एकैकस्य दिनस्य षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्यया संचरति, तावत्पर्यन्तमदृष्टमहिम्ना लिङ्गमपि वर्तते। यदा तु योगमहिम्ना ब्रह्मज्ञानानन्तरं जीवस्यादृष्टनिवृत्ति:, तदा आकाश: जीवत्वनिमित्तं प्राणं पिबते, तदा जीव: केन जीवति जीवत्वापादकाविद्यानिवृत्त्या निरञ्जनब्रह्मभावे जाते जीवत्वमेव नास्तीत्यर्थ: ॥

ननु ब्रह्माण्डाद्युपाधिविशिष्टस्य सर्वगतस्य ब्रह्मण: कथं निरञ्जनत्वमिति पृच्छति—

अर्जुन उवाच—

ब्रह्माण्डव्यापितं व्योम
व्योम्ना चावेष्टितं जगत् ।
अन्तर्बहिश्च तद्व्योम
कथं देवो निरञ्जनः ॥ ४९ ॥

हे भगवन् व्योम आकाशं ब्रह्माण्डव्यापितं ब्रह्माण्डावच्छिन्नमित्यर्थ: । व्योम्ना च आकाशेन जगत् आवेष्टितं व्याप्तम् , तस्मात्कारणात् अन्तर्बहिश्च व्योमैव वर्तते, एवं

सति देवः ईश्वरः कथं निरञ्जनः अन्यप्रकाशनिरपेक्षः कथ-मित्यर्थः । निःसङ्गो वा कथमिति प्रश्नार्थः ॥

आकाशादिसर्वप्रपञ्चस्य कल्पितत्वेन सर्वं सेत्स्यतीत्यभि-प्रायेणाह—

श्रीभगवानुवाच—

आकाशो ह्यवकाशश्च
आकाशव्यापितं च यत् ।
आकाशस्य गुणः शब्दो
निःशब्दो ब्रह्म उच्यते ॥ ५० ॥

आकाशः महाकाशः अवकाशः परिच्छिन्नाकाशः उभ-यमप्याकाशेन आकाशतन्मात्रभूतेन शब्देन व्यापितं व्याप्तं तदुपादानकतया तदतिरिक्तं न भवतीत्यर्थः । तर्हि उपादा-नस्य शब्दस्य अतिरिक्तत्वमस्त्वित्यत आह— आकाशस्य गुणः शब्द इति, शब्दः तन्मात्रभूतः आकाशस्य मिथ्याभू-ताकाशस्य गुणः परिणाम्युपादानं यतः, अत एव स्वयमपि मिथ्याभूत इत्यर्थः । ब्रह्म तु निःशब्दः निष्प्रपञ्चः इत्युच्यते । तथा च सत्यस्याक्षरस्य ब्रह्मणः असत्येन सह संबन्धासंभ-वात् निरञ्जनत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ॥

एवं भगवतोक्ते, अक्षरशब्दस्य भगवदभिमतार्थं अजानानः सन् लोकप्रसिद्धवर्णात्मकाक्षरबुद्ध्या वर्णानामक्षरत्वं न संभवतीत्यभिप्रायेण पृच्छति—

अर्जुन उवाच—

दन्तोष्ठतालुजिह्वाना-
मास्पदं यत्र दृश्यते।
अक्षरत्वं कुतस्तेषां
क्षरत्वं वर्तते सदा ॥ ५१ ॥

हे भगवन् यत्र वर्णात्मकाक्षरेषु दन्तोष्ठतालुजिह्वानाम्, उपलक्षणमेतत् कण्ठादीनामष्टानां स्थानानाम्, आस्पदम् आस्पदत्वं दृश्यते प्रत्यक्षमनुभूयते। 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' इत्यादिना श्रूयते च। तथा च तेषां वर्णानाम् अक्षरत्वं नाशरहितत्वं कुतः, उत्पत्तिमतो नाशावश्यंभावात्? सदा सर्वकालं क्षरत्वं नाशवत्त्वमेव वर्तते तेषाम्, नाशरहितत्वं कुत इति प्रश्नार्थः॥

एवमभिप्रायमजानानेन अर्जुनेन पृष्टे स्वाभिप्रेतमक्षरशब्दार्थं स्फुटयन् भगवानुवाच—

श्रीभगवानुवाच—

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं चा-
प्यतालुकण्ठोष्ठमनासिकं च ।
अरेखजातं परमूष्मवर्जितं
तदक्षरं न क्षरते कथंचित् ॥ ५२ ॥

अघोषं घोषाख्यवर्णगुणरहितम् अव्यञ्जनं ककारादिव्यञ्जनातीतम् अस्वरम् अजतीतम्, अतालुकण्ठोष्ठमपि अव्यञ्जनाद्युत्पत्तिस्थानताल्वोष्ठादिरहितम् अनासिकम् अनुस्वारोत्पत्तिस्थाननासिकातीतम् अरेखजातं वर्णव्यञ्जकरेखासमूहातीतम् ऊष्मवर्जितं शषसहातीतम्, यद्वा, ऊष्मशब्देन श्वासाख्यो गुणोऽभिधीयते तद्रहितम्, परं लोकप्रसिद्धवर्णलक्षणातीतं यत् ब्रह्म कथंचित् सर्वप्रकारेण सर्वकालेऽपि न क्षरते, तदेवाक्षरशब्देनोच्यते । न लौकिकान्यक्षराणीत्यर्थः ॥

एतादृशं ब्रह्मज्ञानोपायम् अनुभवदार्ढ्याय पुनरपि पृच्छति—

अर्जुन उवाच—

ज्ञात्वा सर्वगतं ब्रह्म
सर्वभूताधिवासितम् ।

इन्द्रियाणां निरोधेन
कथं सिध्यन्ति योगिनः ॥ ५३ ॥

सर्वभूताधिवासितं सर्वभूतेष्वप्यन्तर्यामितया स्थितं सर्वगतम् अन्तर्बहिश्च परिपूर्णम्, ब्रह्म ज्ञात्वा सम्यग्विबुध्य योगिनः इन्द्रियाणां निरोधेन इन्द्रियनियमनेन कथं सिध्यन्ति केनोपायेन मुक्ता भवन्तीत्यर्थः ॥

एवं पृष्टो भगवान् तमेव ज्ञानोपायं पुनरप्याह—

श्रीभगवानुवाच—

इन्द्रियाणां निरोधेन
देहे पश्यन्ति मानवाः ।
देहे नष्टे कुतो बुद्धि-
र्बुद्धिनाशे कुतो ज्ञता ॥ ५४ ॥

मानवाः मनुष्याः इन्द्रियाणां निरोधेन इन्द्रियनियमनेन देहे देहे एव पश्यन्ति ज्ञास्यन्ति, तस्मात् देहदार्ढ्यम् इन्द्रियदार्ढ्यं च ज्ञानोपायं इति भावः। तदभावे ज्ञानमेव नास्ति इत्याह— देहे नष्टे अदृष्टे सति बुद्धिः कुतः तत्त्वज्ञानं कुतः ? बुद्धिनाशे तत्त्वज्ञानाभावे ज्ञता अपरोक्षज्ञानिता च कुतः ? तस्माद्देहे-

न्द्रियादिभिः यज्ञदानादिश्रवणादिकमेव तत्त्वज्ञाने कारण-मिति भावः ॥

तादृशं च कारणं यावत्पर्यन्तमनुष्ठेयमित्याशङ्क्य अव-धिमाह—

तावदेव निरोधः स्या-
　　द्यावत्तत्त्वं न विन्दति ।
विदिते तु परे तत्त्वे
　　एकमेवानुपश्यति ॥ ५५ ॥

यावत्तत्त्वज्ञानं नास्ति, तावत्पर्यन्तमिन्द्रियनिरोधः स्यात् ; परे तत्त्वे अखण्डानन्दब्रह्मणि विदिते अपरोक्षभूते सति, एकमेवानुपश्यति एकमेव देहेन्द्रियसाधनानुष्ठानादिसाधन-रहितं ब्रह्मैवानुपश्यति, नान्यत् ; तदनन्तरं साधनानुष्ठानप्रथा सोऽपि मा भूदिति भावः ॥

तस्माद्यावत्तत्त्वज्ञानं तावत्साधनमनुष्ठेयम्, तदभावे तन्न सिध्यतीत्याह—

नवच्छिद्रकृता देहाः
　　स्रवन्ति गलिका इव ।

नैव ब्रह्म न शुद्धं स्या-
त्पुमान्ब्रह्म न विन्दति ॥ ५६ ॥

देहाः ज्ञानकारणीभूतशरीराणि नवच्छिद्रकृताः विषय-
स्नाविवृत्तिमन्नवेन्द्रियघटितानि; तत्र दृष्टान्तः गलिका इव
च्छिद्रघटा इव सर्वदा ज्ञानं स्रवन्तीत्यर्थः। तादृशविषयप्रव-
णचित्तस्य ब्रह्म न शुद्धं स्यात् इति नैव ईश्वरत्वकर्तृत्वाबिम्बत्वा-
दिघटितं न भवति। तथा च ब्रह्माणि बिम्बत्वादिघटिते
पुमान् सुखदुःखाभिमानी प्रतिबिम्बो जीवः ब्रह्म न विन्दति
आनन्दानुभवं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

तस्मात् यावत्तत्त्वापरोक्षपर्यन्तं साधने यत्नः कर्तव्यः,
जाते च तत्त्वावबोधे विधिनिषेधातीतत्वेन न कोऽपि यत्नः
कर्तव्य इत्यभिप्रायवानाह—

अत्यन्तमलिनो देहो
देही चात्यन्तनिर्मलः।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा
कस्य शौचं विधीयते ॥ ५७ ॥

देहः पाञ्चभौतिकः अत्यन्तमलिनः जडत्वादिति भावः।

देही आत्मा निष्कृष्टाहंकारः सन् अत्यन्तनिर्मलः अहंकारोपाधिकसंसाररहितः इत्येवमुभयोर्देहात्मनोः अन्तरं कल्पितत्वसत्यत्वे ज्ञात्वा यो वर्तते, तं प्रति कस्य शौचं विधीयते देहस्य वा आत्मनो वा ? देहस्य चेत्, जडस्य जडेन जलादिना न शुद्धिः; आत्मनश्चेत् पूर्वमेव शुद्धस्य न शौचादिना प्रयोजनमिति भावः ॥

इति श्रीगौडपादाचार्यविरचितायां

उत्तरगीताव्याख्यायां

प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

आरूढस्यारुरुक्षोश्च स्वरूपे परिकीर्तिते ।
तत्रारूढस्य बिम्बैक्यं कथं स्यादिति पृच्छति ॥

अर्जुन उवाच—

ज्ञात्वा सर्वगतं ब्रह्म
सर्वज्ञं परमेश्वरम् ।
अहं ब्रह्मेति निर्देष्टुं
प्रमाणं तत्र किं भवेत् ॥ १ ॥

हे भगवन् ब्रह्म बिम्बभूतं चैतन्यं सर्वगतं सर्वत्र परिपूर्णं सर्वज्ञं सर्वसाक्षिभूतं परमेश्वरं सर्वनियामकमिति ज्ञात्वा तत्त्वमसीत्यादिवाक्यतो विबुध्य अहं ब्रह्मेति, प्रतिबिम्बात्मा जीवः ब्रह्मेति निर्देष्टुं वक्तुं तत्र तस्मिन्नैक्ये किं प्रमाणं किमुपपादकमित्यर्थः ॥

एवं पृष्टो भगवान् क्षीरजलादिदृष्टान्तेन उपाधिनिवृत्तावात्मैक्यं संभवतीत्याह—

श्रीभगवानुवाच—

यथा जलं जले क्षिप्तं
क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविशेषो भवेत्तद्व-
ज्जीवात्मपरमात्मनोः ॥ २ ॥

जले नद्यादौ जलं तदेव पात्रादुद्धृतं पात्रोपाधितः पृथक्भूतं तत्रैव क्षिप्ते पात्रोपाधिनिवृत्तौ महाजलैक्यं प्राप्नोति, एवं क्षीरे क्षीरं घृते घृतं क्षिप्तं सत् तत्तदैक्यं प्राप्नोति, तद्वत् जीवात्मपरमात्मनोः अविद्याद्युपाधितो भेदेऽपि तन्निवृत्तावविशेषः संभवतीति भावः ॥

एवमैक्यज्ञानं गुरुमुखादेव संभावितमविद्यानिवर्तकम्, न तु स्वतन्त्रविचारसंभावितमिति वदन् तत्त्वज्ञानार्थं गुरुमेव अभिगच्छेदिति गुरूपासनामाह—

जीवे परेण तादात्म्यं
सर्वगं ज्योतिरीश्वरम् ।
प्रमाणलक्षणैर्ज्ञेयं
स्वयमेकाग्रवेदिना ॥ ३ ॥

स्वयमधिकारी एकाग्रवेदिना ब्रह्मनिष्ठेन गुरुणा प्रमाणलक्षणैः 'तत्त्वमसि' 'यतो वा इमानि भूतानि' 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादिभिः जीवे परेण परमात्मना तादात्म्यम् ऐक्यं बोधिते सति, तदनन्तरं स्वयमेव सर्वगं सर्वव्यापिनमीश्वरं सर्वनियन्तारं ज्योतिः स्वयंप्रकाशात्मा इति विज्ञेयं ज्ञातुं योग्यमित्यर्थः ॥

एवं गुरूपदेशानन्तरभाविज्ञानेनैवोपपत्तौ किं कर्मयोगेनेति पृच्छति—

अर्जुन उवाच—

ज्ञानादेव भवेज्ज्ञेयं
विदित्वा तत्क्षणेन तु ।
ज्ञानमात्रेण मुच्येत
किं पुनर्योगधारणा ॥ ४ ॥

हे भगवन् ज्ञेयं विचार्यं ब्रह्मैक्यं ज्ञानादेव गुरूपदिष्टादेव भवेत्; तथा च विदित्वा गुरूपदेशानन्तरं तत्त्वं ज्ञात्वा तत्क्षणेन तु वेदान्तवाक्यजन्यचरमवृत्त्युत्तरक्षणमेव मुच्येत मुक्तो भवेत्; एवं ज्ञानमात्रेण मुक्त्युपपत्तौ योगधारणा कर्मयोगाभ्यासः किं पुनः किंप्रयोजनम् व्यर्थत्वादित्यभिप्रायः ॥

एवं कर्मयोगवैयर्थ्ये शङ्किते यावत्तत्त्वज्ञानं न संभवति, तावदन्तःकरणशुध्यर्थमनुष्ठेयं कर्म; सिद्धे च तस्मिन् ज्ञाने, पुनः कर्मानुष्ठानं मा भूत् इत्याह—

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञानेन दीपिते देहे
　बुद्धिर्ब्रह्मसमन्विता ।
ब्रह्मज्ञानाग्निना विद्वा-
　न्निर्दहेत्कर्मबन्धनम् ॥ ५ ॥

हे अर्जुन विद्वान् विवेकी ज्ञानेन देहे लिङ्गशरीरे दीपिते शुद्धे, ततः बुद्धिः निश्चयात्मिका ब्रह्मसमन्विता चेत् ब्रह्मणि स्थिता असंभावनारहिता चेत्, तदनन्तरं ब्रह्मज्ञा-नाग्निना ब्रह्मज्ञानानलेन कर्मबन्धनं कर्मपाशं निर्दहेत् त्यजे-दित्यर्थः । तदुक्तम्— 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरु-तेऽर्जुन' इति ॥

एवं प्राप्ततत्त्वैक्यस्य ततः परं किमपि न कार्यमित्याह—

ततः पवित्रं परमेश्वराख्य-
　मद्वैतरूपं विमलाम्बराभम् ।

यथोदके तोयमनुप्रविष्टं
तथात्मरूपो निरुपाधिसंस्थः ॥ ६ ॥

ततः तत्त्वज्ञानानन्तरम् उदके महोदके अनुप्रविष्टम् ऐक्यं गतं तोयं परिच्छिन्नोदकम् , तद्वत् पवित्रं शुद्धम् परमेश्वराख्यं परमेश्वरसंज्ञं तथापि विमलाम्बराभं निर्मलाकाशवदसंगम् अद्वैतरूपं सजातीयविजातीयस्वगतभेदराहितं ब्रह्म परं ब्रह्म अनुप्रविष्टः तदैक्यं गतः अत एव परमात्मरूपः सन् निरुपाधिसंस्थो भवेत् औपाधिककर्तृत्वादिभेदरहितो भवेत् , स्वयं निष्क्रिय आसीतेत्यर्थः ; गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति न्यायादिति भावः ॥

एवं यथोक्तकर्मानुष्ठानद्वारा तत्त्वज्ञाने जात एव परमात्मतत्त्वं ज्ञातुं शक्यम् , न ततः पूर्वमित्याह—

आकाशवत्सूक्ष्मशरीर आत्मा
न दृश्यते वायुवदन्तरात्मा ।
स बाह्यमभ्यन्तरनिश्चलात्मा
ज्ञानोल्कया पश्यति चान्तरात्मा ॥

आकाशवत् सूक्ष्मशरीरः आकाशं यथातीन्द्रियम् , तद्वत् परमात्मा सूक्ष्मशरीरः; सूक्ष्मत्वमत्र अतीन्द्रियत्वमाभिप्रेतम् ,

तादृशः परमात्मा वायुवत् वायुर्यथा चक्षुरादिविषयो न, तद्वत् अन्तरात्मा जीवोऽपि न दृश्यते, तत्स्वरूपमपीन्द्रिय-विषयं न भवतीत्यर्थः, मनसोऽप्रमाणत्वसाधनादिति भावः । तर्हि तयोः अपरोक्षतत्त्वज्ञानं केनेत्यत आह— स बाह्यम-भ्यन्तरनिश्चलात्मा यः बाह्यविषयेषु अभ्यन्तरविषयेषु च निश्चलात्मा विषयविक्षिप्तचित्तो न भवति, सः ज्ञानोल्कया वेदान्तजन्यतत्त्वापरोक्षवृत्तिरूपज्ञानदीपेन अन्तरात्मा अन्त-र्मुखचित्तः पश्यति तदुभयैक्यं जानातीत्यर्थः ॥

इह केषांचिद्दर्शनं अर्चिरादिमार्गेण लोकान्तरप्राप्तिः मुक्तिः इति, तन्निराकर्तुम् 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्यादि-श्रुत्या पूर्वोक्तज्ञानिनो मुक्तिस्वरूपमाह—

> यत्र यत्र मृतो ज्ञानी
> येन केनापि मृत्युना ।
> यथा सर्वगतं व्योम
> तत्र तत्र लयं गतः ॥ ८ ॥

सर्वगतं सर्ववस्त्ववच्छिन्नं व्योम आकाशं यथा अव-च्छेदकवस्तुनाशे तत्रैव महाव्योम्नि लयम् ऐक्यं प्राप्नोति, तथा सर्वगतः ज्ञानी सर्वत्र परिपूर्णब्रह्माभिन्नः शरीराद्युपा-

धिना भिन्नत्वेन व्यवह्रियमाणः ब्रह्मापरोक्षज्ञानी येन केन मृत्युना यत्र कुत्रापि वा मृतः अज्ञानोपादानकदेहं ज्ञानेन नाशयति, तत्र तत्रैव ब्रह्मणि लयम् ऐक्यं गतः प्राप्त एवेत्यर्थः। अनेन तत्त्वज्ञानिनो देशकालाद्यपेक्षा मरणे मा भूदिति सूचितम्। भृग्वग्न्याद्यपमृत्युनिमित्तकप्रायश्चित्तान्यपि आरुरुक्ष्वधिकृतानि इति वेदितव्यम्॥

एकस्यापि जीवस्य देहाद्यवच्छेदकभेदेन नानात्वं जीवस्याणुत्वपक्षे न संभवतीत्याशङ्क्य जीवस्य व्यापित्वं साधयति—

शरीरव्यापितं व्योम
भुवनानि चतुर्दश।
निश्चलो निर्मलो देही
सर्वव्यापी निरञ्जनः॥ ९॥

शरीरव्यापितं शरीरादिसर्वद्रव्यव्यापितं व्योम आकाशं यथा भुवनानि चतुर्दश भूर्भुवरादीनि व्यापितं सत् वर्तते, एवं निश्चलः क्रियारहितः निर्मलः परिशुद्धः निरञ्जनः स्वयंप्रकाशो देही जीवः सर्वव्यापी जगद्व्यापीत्यर्थः। जगन्मात्रस्य अविद्यापरिणामत्वेन जगदुपादानाविद्याप्रतिबिम्बस्यैव जीवत्वेन तस्य व्यापित्वमेव, नाणुत्वमिति भावः॥

एवं तत्त्वज्ञानिनो मुक्तिस्वरूपमभिधाय ततः परं तत्त्वज्ञानसाधनानुष्ठातुः तदेव सर्वपापप्रायश्चित्तमित्याह——

मुहूर्तमपि यो गच्छे-
न्नासाग्रे मनसा सह ।
सर्वं तरति पाप्मानं
तस्य जन्म शतार्जितम् ॥ १० ॥

यः ज्ञानसाधनानुष्ठाता मनसा सह साधनेन सह मुहूर्तमात्रमपि नासाग्रे गच्छेत् नासाग्रे तत्त्वज्ञानार्थं निश्चलं चक्षुः कुर्यात्, तस्य तादृशहंसमुद्रानिष्ठस्य जन्मशतार्जितं अनेकजन्मसंचितं सर्वं यत्पापमस्ति तत्सर्वं पाप्मानं पापं योगी तरति नाशयतीत्यर्थः । तदुक्तम् 'यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्यं मनः' 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वंभरा पुण्यवती च तेन' इत्यादि——

मुक्तिः द्विविधा —सद्यो मुक्तिः क्रममुक्तिरिति, तत्र सद्यो मुक्तिः 'यत्र यत्र मृतो योगी' इत्यादिना, 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्यादिश्रुत्या च, प्रतिपादिता । 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इत्यादिभिः प्रतिपादितां क्रममुक्तिं निरूपयितुम्,

अर्चिरादिमार्गं गन्तुः पुनरावृत्तिराहित्यम्, धूमादिमार्गं गन्तुः पुनरावृत्तिं च, निरूपयितुं योगधारणया तदुभयमार्गस्वरूपमाह––

दक्षिणे पिङ्गला नाडी
वह्निमण्डलगोचरा ।
देवयानमिति ज्ञेया
पुण्यकर्मानुसारिणी ॥ ११ ॥

दक्षिणे देहस्य दक्षिणे भागे वह्निमण्डलगोचरा वह्निमण्डलं संप्राप्ता पुण्यकर्मानुसारिणी पुण्यकर्मभिः प्राप्तुं योग्या पिङ्गलानाम नाडी मूलाधारादारभ्य दक्षिणभागतः सहस्रारपर्यन्तं व्याप्ता या नाडी सा देवयानमिति ज्ञेया पुनरावृत्तिरहितार्चिरादिमार्ग इति ज्ञेयेत्यर्थः ॥

धूमादिमार्गप्रापकेडानाडीस्वरूपमाह––

इडा च वामनिश्वास-
सोममण्डलगोचरा ।
पितृयानमिति ज्ञेयं
वाममाश्रित्य तिष्ठति ॥ १२ ॥

इलानाडी वामनिश्वाससोममण्डलगोचरा वामनासापुटमार्गेण चन्द्रमण्डलं प्राप्ता वाममाश्रित्य तिष्ठति, मूलाधारादारभ्य वामभागतः सहस्रारपर्यन्तं गता या नाडी सा पितृयानमिति ज्ञेया पुनरावृत्त्यनुकूलधूममार्ग इति ज्ञेयेत्यर्थः ॥

एवमिलापिङ्गलानाड्योः स्थानं स्वरूपं च अभिधाय सुषुम्नानाडीस्वरूपं निरूपयितुं तत्संबन्धिन्याः ब्रह्मदण्ड्याः स्वरूपमाह—

गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मि-
न्वीणादण्डस्य देहभृत् ।
दीर्घास्थि मूर्ध्निपर्यन्तं
ब्रह्मदण्डीति कथ्यते ॥ १३ ॥

अस्मिन् देहे गुदस्य मूलाधारस्य पृष्ठभागे पश्चिमभागे वीणादण्डस्य देहभृत् वीणायास्तन्त्र्याधारभूतो यो दण्डः तदाकारभृत् तद्वत्स्थितं मूर्ध्निपर्यन्तं सहस्रारपर्यन्तव्याप्तं यद्दीर्घास्थि दीर्घं पृष्ठभागस्थितम् , तत् ब्रह्मनाडीति कथ्यते ब्रह्मैक्यप्रतिपादकसुषुम्नाधारत्वादिति भावः ॥

इतः परं सुषुम्नानाडीस्वरूपमाह—

तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं
ब्रह्मनाडीति सूरिभिः ।

तस्य ब्रह्मदण्ड्याख्यास्थ्नः अन्ते अग्रे सूक्ष्मं सुषिरं रन्ध्रं वर्तत इति शेषः, तद्गता नाडी सूरिभिः विवेकिभिः ब्रह्म-नाडीति ब्रह्मैक्यप्रतिपादिका नाडीति कथ्यत इति शेषः ॥

तामेव नाडीं निरूपयति—

इलापिङ्गलयोर्मध्ये
सुषुम्ना सूक्ष्मरूपिणी ।
सर्वं प्रतिष्ठितं यस्मि-
न्सर्वगं सर्वतोमुखम् ॥ १४ ॥

इलापिङ्गलनाड्योर्मध्ये सूक्ष्मरूपिणी अतिसूक्ष्मबिस-तन्तुरूपिणी मूलाधारादारभ्य स्वाधिष्ठानादिचक्रद्वारा सहस्रारपर्यन्तं गता कुण्डलिनी शक्तिरिति प्रसिद्धा या सुषुम्ना नाडी, तस्याः अग्रे उपरि सर्वं सर्वात्मकं विश्वतोमुखं सर्वद्रष्टृ सर्वगं सर्वव्याप्तं यत्तेजः ब्रह्मज्योतिः, तत् प्रतिष्ठितं विद्यत इत्यर्थः, 'तस्याः शिखाया मध्ये' इति श्रुतेः। 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमाय-न्नमृतत्वमेति—' इत्यादिश्रुतेः ॥

सुषुम्नामार्गगतस्य ब्रह्मप्राप्तिं निरूपयितुं तस्याः कुण्डलिन्याः सकलजगदात्मकत्वं सकलजगदाधारत्वं सर्वदेवात्मत्वं सर्ववेदाधारकत्वं च आह—

तस्य मध्यगताः सूर्य-
सोमाग्निपरमेश्वराः ।
भूतलोका दिशः क्षेत्र-
समुद्राः पर्वताः शिलाः ॥ १५ ॥

द्वीपाश्च निम्नगा वेदाः
शास्त्रविद्याकलाक्षराः ।
स्वरमन्त्रपुराणानि
गुणाश्चैते च सर्वशः ॥ १६ ॥

बीजं बीजात्मकास्तेषां
क्षेत्रज्ञाः प्राणवायवः ।
सुषुम्नान्तर्गतं विश्वं
तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥

सूर्यसोमाग्निपरमेश्वराः सूर्यमण्डलसोममण्डलवह्निमण्डलानि तन्मध्यस्थितेश्वरश्च, भूतलोकाः पञ्चमहाभूतानि व्यो-

मादीनि, चतुर्दश भुवनानि भूर्भुवःसुवरादीनि, दिशः पूर्वादयः, क्षेत्राणि वाराणस्यादीनि, समुद्राः लवणेक्ष्वादयः, पर्वताश्च मेर्वादयः, शिलाः यज्ञशिलाः चित्तशिलादयः, द्वीपाः जम्ब्वादयः, निम्नगाः जाह्नव्यादयः, वेदाः ऋग्वेदादयः, शास्त्राणि मीमांसादीनि, कलाः चतुःषष्टिकलाः, अक्षराः ककारादीनि, स्वराः अकारादयः, मन्त्राः गायत्र्यादयः, पुराणानि ब्रह्माण्डादीनि, गुणाः सत्त्वादयः, बीजं प्रधानम्, बीजात्मकाः महदादयः, क्षेत्रं जानन्तीति क्षेत्रज्ञाः जीवाः, प्राणवायवः—प्राणादयः पञ्च नागादयः पञ्च आहत्य दशवायवः, सर्वे एते तस्य सुषुम्नानाडीविशेषस्य मध्यगताः यस्मात्, तस्मात्कारणात् सर्वं जगज्जातं सुषुम्नान्तर्गतं कुण्डलिनीशक्त्यन्तर्भूतमित्यर्थः। अत एव तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् इति, 'तस्यान्ते सुषिरः सूक्ष्मं तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्' इति श्रुतेः॥

तस्मात्सर्वजगदुत्पत्तिकारणमाह—

नानानाडीप्रसवकं
सर्वभूतान्तरात्मनि।
ऊर्ध्वमूलमधः शाखं
वायुमार्गेण सर्वगम्॥ १८॥

सर्वभूतानां सर्वप्राणिनाम् अन्तरात्मनि देहे नानानाडीप्रसवकं नानानड्युत्पत्तिस्थानभूतम्, ऊर्ध्वमूलं ऊर्ध्वं ब्रह्म तदेव मूलं उत्पत्तिस्थानं यस्य तत्, अधःशाखं हिरण्यगर्भादिसृष्टिपरंपराख्यादधःप्रसृततिर्यगादिशाखम्, वायुमार्गेण प्राणापानादिवायुमार्गेण, सर्वगं सर्वव्याप्तं सत् जगदुपादानतया तिष्ठतीत्यर्थः ॥

ब्रह्मोपासनस्थानतया इतरनाड्याधिक्यमाह—

द्विसप्ततिसहस्राणि
नाड्यः स्युर्वायुगोचराः ।
कर्ममार्गेण सुषिरा-
स्तिर्यञ्चः सुषिरात्मकाः ॥ १९ ॥
अधश्चोर्ध्वगतास्तासु
नव द्वाराणि शोधयन् ।
वायुना सह जीवोर्ध्व-
ज्ञानी मोक्षमवाप्नुयात् ॥ २० ॥

वायुगोचराः वायुसंचारानुकूलाः नाड्यः सिराः द्विसप्ततिसहस्राणि द्व्यधिकसप्ततिसहस्राणि कर्ममार्गेण सुषिराः

पुनरावृत्तिप्रापकसुषिरवत्यः; अत एव तिर्यञ्चः तिर्यग्भूताः सुषिरात्मकाः रन्ध्रप्रधानाः अधश्चोर्ध्वगताः अधोभागमूर्ध्वभागं च गताः सर्वत्र व्याप्ताः; तासु नाडीषु मध्ये सुषुम्नानाड्या नव द्वाराणि शोधयन् प्राणायामेन मुखादिसर्वद्वाराणि शोधयन्; जीवः वायुना सह सुषुम्नामार्गगतवायुना सह ऊर्ध्वज्ञानी ब्रह्मापरोक्षज्ञानी सन् मोक्षमवाप्नुयात् ब्रह्मैक्यं प्राप्नुयादित्यर्थः। 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इत्यादिश्रुतेरिति भावः॥

तस्याः कुण्डलिन्याः सकलजगदाधारकत्वेन च उपासनां कर्तुमस्यामेव सर्वाणीन्द्रादिपुराणि कल्पयति—

> अमरावतीन्द्रलोको-
> ऽस्मिन्नासाग्रे पूर्वतो दिशि।
> अग्निलोको हृदि ज्ञेय-
> श्चक्षुस्तेजोवती पुरी॥ २१॥

अस्मिन्नाडीविशेषे पूर्वतो दिशि पूर्वस्यां दिशि नासाग्रे नासिकाग्रभागे अमरावती अमरावत्याख्यः इन्द्रलोकः इन्द्रादिदेवावासभूतो लोकः वर्तत इति शेषः। तथा अनन्तरं चक्षुः दक्षिणं नेत्रं तेजोवती तेजोवती नाम पुरीति प्रसिद्ध;

हृदि हृदये अग्निलोकः अग्न्यादिदेवतावासभूतो लोकः ज्ञेयः वर्तत इति शेषः ॥

याम्या संयमनी श्रोत्रे
यमलोकः प्रतिष्ठितः ।
नैर्ऋतो ह्यथ तत्पार्श्वे
नैर्ऋतो लोक आश्रितः ॥ २२ ॥

श्रोत्रे दक्षिणे कर्णे याम्या यमसंबन्धिनी संयमिन्याख्यो यमलोकः यमादिदेवतावासभूतो लोकः प्रतिष्ठितः अस्तीत्यर्थः । अथ तत्पार्श्वे दक्षिणकर्णभागे नैर्ऋतः निर्ऋतिसंबन्धो नैर्ऋत्याख्यो लोकः आश्रितः अस्तीत्यर्थः ॥

किंच—

विभावरी प्रतीच्यां तु
पृष्ठे वारुणिका पुरी ।
वायोर्गन्धवती कर्ण-
पार्श्वे लोकः प्रतिष्ठितः ॥ २३ ॥

प्रतीच्यां पश्चिमदिशि पृष्ठे पश्चिमभागे विभावरीसंज्ञका वारुणिका पुरी वरुणसंबन्धिनी पुरी वर्तत इति शेषः ।

कर्णपार्श्वे वामकर्णसमीपे गन्धवती गन्धवतीपुर्याख्या वायो-र्लोकः प्रतिष्ठितः अस्तीत्यर्थः ॥

किंच—

सौम्या पुष्पवती सौम्ये
सोमलोकस्तु कण्ठतः ।
वामकर्णे तु विज्ञेयो
देहमाश्रित्य तिष्ठति ॥ २४ ॥

सौम्ये उत्तरदिशि कण्ठतः कण्ठदेशादारभ्य वामकर्णे वामश्रोत्रे सौम्या कुबेरसंबन्धिनी पुष्पवती पुष्पवत्याख्या सोमलोकः एवं देहमाश्रित्य तिष्ठतीति विज्ञेयः ॥

किंच—

वामे चक्षुषि चैशानी
शिवलोको मनोन्मनी ।
मूर्ध्नि ब्रह्मपुरी ज्ञेया
ब्रह्माण्डं देहमाश्रितम् ॥ २५ ॥

वामे चक्षुषि वामनेत्रे ऐशानी ईशानसंबन्धिनी मनो-न्मनी मनोन्मनीपुर्याख्यः शिवलोकः शिवावासभूतो लोकः

ज्ञेयः; मूर्ध्नि शिरसि ब्रह्मपुरी ब्रह्मलोकः ज्ञेयः; एवं ब्रह्माण्डं सर्वजगज्जातं देहमाश्रितं देह एव वर्तत इत्यर्थः ॥

देहे एव लोकादिकल्पनामाह––

पादादधः शिवोऽनन्तः
कालाग्निप्रलयात्मकः ।
अनामयमधश्चोर्ध्वं
मध्यमं तु बहिः शिवम् ॥ २६ ॥

पादादधः पादाधःप्रदेशे अनन्तः महाशेषः वर्तते, स तु कीदृशः? शिवः रुद्रात्मकः; पुनः कीदृशः? कालाग्निप्रलयात्मकः प्रलयकालाग्न्यात्मक इत्यर्थः; 'त्रिलोक्यां दह्यमानायां संकर्षणमुखाग्निना' इति स्मृतेरिति भावः। तदधः किमित्याशङ्क्याह––अधश्चोर्ध्वमिति अधोदेशे ऊर्ध्वदेशे मध्यदेशे बहिर्देशे च सर्वत्र अनामयं निरञ्जनं शिवं मङ्गलात्मकं ब्रह्मैव वर्तत इत्यर्थः ॥

शेषोपरि अतलादिलोककल्पनामाह––

अधः पदोऽतलं विद्या-
त्पादं च वितलं विदुः ।

नितलं पादसंधिश्च
सुतलं जङ्घमुच्यते ॥ २७ ॥

महातलं तु जानु स्या-
दूरुदेशो रसातलम् ।
कटिस्तालतलं प्रोक्तं
सप्त पातालसंज्ञया ॥ २८ ॥

पद: पादस्याधोदेशे अतललोकं विद्यात्; पादं तु वितलं लोकमिति विदुः योगिन इति शेषः; पादसंधिं तु गुल्फ-स्थानं नितलं विद्यात्; जङ्घं सुतलमित्युच्यते; जानुदेशः महातलं स्यात्; ऊरुदेशः रसातलं विद्यात्; कटिदेशः तला-तलं प्रोक्तम्; एवं देहावयवाः सप्त पातालादिलोकसंज्ञया कल्पनीया इत्यर्थः ॥

किंच--

कालाग्निनरकं घोरं
महापातालसंज्ञया ।
पातालं नाभ्यधोभागो
भोगीन्द्रफणिमण्डलम् ॥ २९ ॥

वेष्टितः सर्वतोऽनन्तः
स विभ्रज्जीवसंज्ञकः ।

घोरं भयंकरं कालाग्निनरकं कालाग्निदेशवत् कालाग्न्याकाराख्यनरकदेशवत् भोगीन्द्रफणिमण्डलं भोगीन्द्राः सर्पराजानः फणयः इतरे सर्पाः तेषां मण्डलं समूहवत् यत् पातालम्, तत् नाभ्यधोभागे नाभ्यधःप्रदेशे महापातालसंज्ञया अभिहितमिति विद्यात्; स जीवसंज्ञकः जीवसंज्ञावान् शेषः सर्वतः सर्वं वेष्टितः सन् विभ्रन्सन् स्थितः कुण्डलाकारेणावृत्य वर्तत इत्यर्थः ॥

भूलोकं नाभिदेशं तु
भुवर्लोकं तु कुक्षितः ॥ ३० ॥
हृदयं स्वर्गलोकं तु
सूर्यादिग्रहतारकाः ।

हृदयं स्वर्गलोकं विद्यात्, तत्र सूर्यादिग्रहाः नक्षत्राणि च तिष्ठन्तीत्यर्थः । शेषं स्पष्टम् ॥

किंच—

सूर्यसोमसुनक्षत्रं
बुधशुक्रकुजाङ्गिराः ॥ ३१ ॥

मन्दश्च सप्तमो ह्येष
ध्रुवोऽन्तः स्वर्गलोकतः ।

सूर्यसोमेत्यादि सूर्यादिग्रहनक्षत्रमित्यस्य व्याख्यानम् । ध्रुवोऽन्तः स्वर्गलोकतः स्वर्गलोकस्यान्ते ध्रुवो वर्तत इत्यर्थः ॥

एवं कल्पनाफलमाह—

हृदये कल्पयन्योगी-
तस्मिन्सर्वसुखं लभेत् ॥ ३२ ॥

योगी हृदये एव सूर्यादिग्रहनक्षत्रादीनि कल्पयन् तस्मिन् हृदि कल्पनाविशेषेण सर्वसुखं लभेत्; तत्तल्लोकगतसुखानि प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

किंच—

हृदयस्य महर्लोकं
जनोलोकं तु कण्ठतः ।
तपोलोकं भ्रुवोर्मध्ये
मूर्ध्नि सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ३३ ॥

हृदयस्योपरीति शेषः । स्पष्टमन्यत् ॥

एवं देहे एव सर्वलोककल्पनामुक्त्वा तल्लयप्रकारमाह—

ब्रह्माण्डरूपिणी पृथ्वी
तोयमध्ये विलीयते ।
अग्निना पच्यते तोयं
वायुना ग्रस्यतेऽनलः ॥ ३४ ॥

आकाशं तु पिबेद्वायुं
मनश्चाकाशमेव च ।
बुद्ध्यहंकारचित्तं च
क्षेत्रज्ञः परमात्मनि ॥ ३५ ॥

अत्र तामसाहंकारकार्याणां पृथिव्यादीनां सात्त्विकाहंकारकार्ये मनसि क्रमेण लयकथनं मनोवृत्तिविषयत्वाधीनव्यवहारगोचरत्वादुपचारात् इति मन्तव्यम् । तत्र मनो बुद्धौ बुद्धिरहंकारे अहंकारं चित्ते चित्तं क्षेत्रज्ञे क्षेत्रज्ञः परमात्मनि एवं सर्वात्मनि प्रविलापयेदित्यर्थः ॥

एवं योगाभ्यासेन ब्रह्मैक्यानुसंधानवतः सकलदुरितनिवृत्तिरित्याह—

अहं ब्रह्मेति मां ध्याये-
देकाग्रमनसा सकृत् ।
सर्वं तरति पाप्मानं
कल्पकोटिशतैः कृतम् ॥ ३६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥

जीवस्य मुक्तिस्वरूपमाह--

घटसंवृतमाकाशं
नीयमाने घटे यथा ।
घटो नश्यति नाकाशं
तद्वज्जीव इहात्मनि ॥ ३७ ॥

घटे नीयमाने पूर्वदेशादन्यदेशं प्राप्यमाने घटे नष्टे च यथा घटाकाशं महाकाशे ऐक्यं प्राप्नोति, तद्वज्जीवः परमात्मनीत्यर्थः ॥

किंच--

घटाकाशमिवात्मानं
विलयं वेत्ति तत्त्वतः ।
स गच्छति निरालम्बं
ज्ञानालोक्यं न संशयः ॥ ३८ ॥

यः आत्मानं जीवं घटाकाशमिव परमात्मनि लयं गतं तत्त्वतः यथार्थतया वेत्ति, सः ज्ञानी निरालम्बं निःसंगं ज्ञानालोक्यं ब्रह्मप्रकाशात्मतत्त्वं गच्छति प्राप्नोति, न संशयः संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥

एतस्य ज्ञानयोगस्य किमपि न तुल्यमित्याह—

तपेद्वर्षसहस्राणि
एकपादस्थितो नरः ।
एकस्य ध्यानयोगस्य
कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ३९ ॥

आलोड्य चतुरो वेदा-
न्धर्मशास्त्राणि सर्वदा ।
यो वै ब्रह्म न जानाति
दर्वी पाकरसं यथा ॥ ४० ॥

यथा खरश्चन्दनभारवाही
सारस्य वाही न तु चन्दनस्य ।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य
सारं त्वजानन्खरवद्वहेत्सः ॥ ४१ ॥

चन्दनभारवाही श्रीचन्दनकाष्ठभारवाही खर: चन्दन-सारवाही न भवति तद्गन्धानुभववान्न भवति, एवं बहूनि शास्त्राण्यधीत्यापि सारं तु अजानन् ब्रह्म न जानन् खरवत् शोच्य: आक्रोश्य इत्यर्थ: ॥

ब्रह्मज्ञानपर्यन्तं सर्वमनुष्ठेयम् , ज्ञाते तु सर्वं व्यर्थमित्याह—

अनन्तकर्म शौचं च
जपो यज्ञस्तथैव च
तीर्थयात्रादिगमनं
यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ ४२ ॥

देहे भिन्नेऽप्यात्मैक्यं दृष्टान्तेनाह——

गवामनेकवर्णानां
क्षीरं स्यादेकवर्णकम् ।
क्षीरवद्दृश्यते ज्ञानं
देहिनां च गवां यथा ॥ ४३ ॥

अनेकवर्णानां शुक्लादिभिन्नभिन्नवर्णानां गवां क्षीरं यथा एकवर्णम् , मीमांसकमते गुणव्यक्तेरेकत्वादिति भाव: ; तथा भिन्नभिन्नानां देहिनां ज्ञानं ब्रह्म एकं दृश्यत इत्यर्थ: ॥

अहं ब्रह्मेति नियतं
मोक्षहेतुर्महात्मनाम् ।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय
न ममेति ममेति च ॥ ४४ ॥

ममेति बध्यते जन्तु-
र्न ममेति विमुच्यते ॥

ममेति ममताविषयत्वेन स्वीकृतं सर्वं बन्धाय भवति; न ममेति ममत्वं विहाय त्यक्तं मोक्षायैवेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥

अहंकारत्यागकार्यमाह —

मनसो ह्युन्मनीभावा-
द्द्वैतं नैवोपलभ्यते ।
यदा यात्युन्मनीभावं
तदा तत्परमं पदम् ॥ ४५ ॥

मनसः चित्तस्य उन्मनीभावात् अहंकारत्यागात् द्वैतं नैवोपलभ्यते, अहंकारोपाधिकत्वाद्भेदस्येति भावः । तथा च यदा उन्मनीभावं मनो याति निष्कृष्टाहंकारचैतन्यं भवति, तदा तदेव परमं पदं मोक्ष इत्यभिधीयते ॥

ब्रह्मविचारमकुर्वतः सर्वं व्यर्थमित्याह—

हन्यान्मुष्टिभिराकाशं
क्षुधार्तः खण्डयेत्तुषम् ।
नाहं ब्रह्मेति जानाति
तस्य मुक्तिर्न जायते ॥ ४६ ॥

यो वेदशास्त्राण्यधीत्य श्रुत्वापि नाहं ब्रह्मेति जानाति, तस्य सर्वाणि शास्त्राणि प्रयासफलान्येव ; तद्यथा क्षुधार्तः मुष्टिभिराकाशं हन्याच्चेत्, करभङ्ग एव जायते न किमपि फलम्, यथा वा तुषं खण्डयेत् अवहन्यात् अवहननश्रम एव फलं न तु तण्डुललाभः— 'तद्वत्, मुक्तिर्न जायते इत्यर्थः । तदुक्तं भागवते— 'तेषामसुक्लेश एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्' इति ॥

इति श्रीगौडपादाचार्यविरचितायां
उत्तरगीताव्याख्यायां
द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

योगी व्यर्थक्रियालापपरित्यागेन शान्तधीः ।
तृतीये शरणं यायाद्धरिमेवेति कीर्त्यते ॥

श्रीभगवानुवाच—

अनन्तशास्त्रं बहु वेदितव्य-
मल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः ।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यं
हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम् ॥ १ ॥

विवेकिना योगिना सारभूतम् अध्यात्मशास्त्रमेव उपासितव्यम्, न त्वन्यत्, अशक्यत्वात् । अनन्तशास्त्रं पर्यवसानरहितानि शास्त्राणीत्यर्थः; यथाकथंचित् पर्यवसानेऽपि बहु वेदितव्यं तात्पर्याणि बहूनि वेदितव्यानि ज्ञातव्यानीत्यर्थः; ज्ञातुं शक्यत्वेऽपि तदनुकूलः कालः स्वल्प एव, 'पुंसो वर्षशतं ह्यायुः' इति न्यायात् इति भावः; कालाल्पत्वेऽपि बहवो विघ्नाः, 'मन्दाः स्युर्मन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः' इति न्यायात्; तस्मात् यत्सारभूतं सर्वशास्त्राण्यालोड्य यन्निश्चितम् अखण्डैकरसं ब्रह्म, तदेवोपासितव्यम् ।

तदुक्तम् 'आलोड्य सर्वशास्त्राणि' इत्यादि। उक्तं च हरिवंशे— 'असत्कीर्तनकान्तारपरिवर्तनपांसुभिः। वाचं हरिकथालापगङ्गयैव पुनीमहे' इति। तत्र दृष्टान्तमाह—हंसो यथा अम्बुमिश्रत्वेऽपि अम्ब्वंशं विहाय क्षीरमेवोपादत्ते तद्वदिति भावः॥

तस्मात्पाण्डित्यं निर्विद्येत्यादिश्रुत्या पाण्डित्यप्रकटनस्य ब्रह्मोपासनाप्रतिबन्धकत्वेन सर्वमपि पाण्डित्यं हेयमित्याह—

पुराणं भारतं वेद-
शास्त्राणि विविधानि च।
पुत्रदारादिसंसारो
योगाभ्यासस्य विघ्नकृत्॥ २॥

योगाभ्यासस्य आत्मैक्ययोगाभ्यासस्य। शेषं स्पष्टम्॥

किं च आत्मविचारमन्तरेण इतरशास्त्राणि न विचारयितव्यानीत्याह--

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं
यः सर्वं ज्ञातुमिच्छति।
अपि वर्षसहस्रायुः
शास्त्रान्तं नाधिगच्छति॥ ३॥

सहस्रवर्षपरिमितायुष्मानपि एकैकस्य शास्त्रस्य अन्तं पारं भावनिश्चयं वा नाधिगच्छति; किमुत वक्तव्यम् सर्वाणि शास्त्राणि नाधिगच्छतीति भावः ॥ ३ ॥

तर्हि सर्वमपि विहाय अधिगन्तव्यं वा किमित्याशङ्कयाह—

विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रं
जीवितं चापि चञ्चलम् ।
विहाय शास्त्रजालानि
यत्सत्यं तदुपास्यताम् ॥ ४ ॥

अक्षरतन्मात्रं नाशरहितसत्तामात्रात्मक आत्मा विज्ञेयः । तत्र च वैराग्यार्थं जीवितमपि चञ्चलमिति विज्ञेयम् , 'चरमश्वासवेलायां यत्कृत्यं तत्सदा कुरु' इति न्यायात् । तस्माच्छास्त्रजालानि विहाय यत्सत्यं तदेवोपास्यतामिति ॥

इन्द्रियजये वैराग्यं स्वत एव जायत इत्याह—

पृथिव्यां यानि भूतानि
जिह्वोपस्थनिमित्तकम् ।
जिह्वोपस्थपरित्यागे
पृथिव्यां किं प्रयोजनम् ॥ ५ ॥

जिह्वोपस्थनिमित्तकम् आहारव्यवायनिमित्तं सत् पृथिव्यां यानि भूतानि सन्ति, प्रायशः तत्परित्यागी चेत्, पृथिव्यां किं प्रयोजनम्, किमपि प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः, 'जितं सर्वं जिते रसे' इति न्यायात् ॥

एवमात्मसमाधिनिष्ठस्य सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमेव, नान्यदर्शनमित्याह--

तीर्थानि तोयपूर्णानि
देवान्पाषाणमृन्मयान् ।
योगिनो न प्रपद्यन्ते
आत्मध्यानपरायणाः ॥ ६ ॥

तीर्थस्नानादिना देवतापूजादिना च अध्यात्मसमाधौ सिद्धे पुनस्तेन किं प्रयोजनमिति भावः । स्पष्टमन्यत् ॥

योगिनः सर्वत्र ब्रह्मदर्शनमेवेत्येतत् अधिकारिभेदेनोपपादयति—

अग्निर्देवो द्विजातीनां
मुनीनां हृदि दैवतम् ।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां
सर्वत्र समदर्शिनाम् ॥ ७ ॥

द्विजातीनां कर्मकाण्डरतानाम् अग्निर्दैवतम्, मुनीनां मननशीलानां योगिनां हृदि हृत्कमलमध्यस्थिता परिच्छिन्न-मूर्तिर्दैवतम्, स्वल्पबुद्धीनां प्राकृतानां तु मृत्पाषाणादिप्रतिमैव दैवतम्, समदर्शिनां तु आरूढानां सर्वत्र 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुत्या सर्वमपि दैवतमेवेत्यर्थः ॥

तस्मात् ज्ञानेनैव ज्ञातव्यम्, ज्ञानाभावे ब्रह्म न पश्यतीत्याह—

सर्वत्रावस्थितं शान्तं
न प्रपश्येज्जनार्दनम् ।
ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वा-
दन्धः सूर्यमिवोदितम् ॥ ८ ॥

सर्वत्रावस्थितं सर्वत्र परिपूर्णमपि अज्ञः न पश्यति ; तत्र हेतुः ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वात् ज्ञानाख्यचक्षूरहितत्वात्; तत्र दृष्टान्तमाह— अन्ध इति । स्पष्टमन्यत् ॥

सर्वं ब्रह्मेत्येतदुपपादयति—

यत्र यत्र मनो याति
तत्र तत्र परं पदम् ।

तत्र तत्र परं ब्रह्म
सर्वत्र समवस्थितम् ॥ ९ ॥

यत्र यत्र याति मनो यद्यद्विषयीकरोति, तत्र तत्र परं सर्वोत्कृष्टं पदं प्राप्यस्थानं परं ब्रह्मैव समवस्थितम्, घटः स्फुरति-- इत्यादिस्फुरणानुभवादिति भावः ॥

एतादृशस्य योगिनः सर्वमपि प्रत्यक्षतया भासत इत्याह—

दृश्यन्ते दृशि रूपाणि
गगनं भाति निर्मलम् ।
अहमित्यक्षरं ब्रह्म
परमं विष्णुमव्ययम् ॥ १० ॥

परमं सर्वोत्कृष्टम् अक्षरम् क्षयरहितम् अव्ययं विनाश-रहितं विष्णुं परमात्मानम् अहमिति अभेदेनैव यो भाव-यति, तस्य भावयितुः दृशि ज्ञाने रूपाणि दृश्यन्ते नामरूपा-त्मकानि जगन्ति भासन्त इत्यर्थः । गगनमपि निर्मलं भा-सते; तथा च सर्वमपि प्रत्यक्षेणानुभवतीत्यर्थः । इयं च आरुरुक्षावस्थायामन्तरा पतिता योगसिद्धिरिति तत्त्वज्ञा वर्णयन्ति, आरूढस्य ब्रह्मनिष्ठत्वेनैतद्दर्शनायोगात्-- 'या निशा सर्वभूतानाम्' इति स्मृतेः ॥

अन्तरापतितामप्यणिमादियोगसिद्धिमनपेक्ष्य ब्रह्मनिष्ठ एव भूयादित्याह—

दृश्यते चेत्खगाकारं
खगाकारं विचिन्तयेत्।
सकलं निष्कलं सूक्ष्मं
मोक्षद्वारेण निर्गतम्॥ ११॥

अपवर्गस्य निर्वाणं
परमं विष्णुमव्ययम्।
सर्वतो ज्योतिराकाशं
सर्वभूताधिवासिनम्॥ १२॥

सर्वत्र परमात्मानं
ब्रह्मात्मा परमव्ययम्।

खगाकारं हंसात्मकं परब्रह्म, 'हंसो विधिः शंकर एव हंसो हंसश्च विष्णुर्गुरुरेव हंसः' इत्यादिस्मृतेः, दृश्यते चेत् यदि प्रकाशेत, तर्हि स्वयं ब्रह्मात्मा परब्रह्मात्मकः सन् सकलं तेजोमयं निष्कलं कलातीतं सूक्ष्मम् इतरप्रमाणागम्यं मोक्षद्वारेण निर्गतं मोक्षमार्गैकगम्यम् अपवर्गस्य नि-

र्वाणं मोक्षसुखात्मकं परमम् उत्कृष्टं विष्णुं व्यापकम् अव्ययम् नाशरहितम् सर्वतोज्योतिराकाशं सर्वतः स्वयंप्रकाशं सर्वभूताधिवासिनं सर्वान्तर्नियामकं परमात्मानं खगाकारं हंसात्मकं विचिन्तयेत् ध्यायेदित्यर्थः ॥

एवं चिन्तयतः पापलेशोऽपि नास्तीत्याह——

अहं ब्रह्मेति यः सर्वं
विजानाति नरः सदा ।
हन्यात्स्वयमिमान्कामा-
न्सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ १३ ॥

सर्वं निषिद्धं कृत्वापि कर्मभिर्न स बध्यते इति, यः सदा सर्वं ब्रह्मेति विजानाति, सर्वाश्यपि सर्वनिषिद्धभक्ष्यपि सर्वविक्रयी सर्वनिषिद्धविक्रय्यपि इमान् कामान् अरिषड्वर्गान् हन्यात् जयेत्, सर्वनिषिद्धकर्म कृत्वापि तैर्निषिद्धकर्मभिर्न बध्यते ।।

क्षणमात्रं वा ब्रह्मध्यानरतस्य नान्यसुखचिन्तेत्याह——

निमिषं निमिषार्धं वा
शीताशीतनिवारणम् ।

अचला केशवे भक्ति-
विभवैः किं प्रयोजनम् ॥ १४ ॥

शीताशीतनिवारणं यथा तथा शीतोष्णसुखदुःखादि-द्वन्द्वसहिष्णुतया निमिषं निमिषार्धं वा केशवे भक्तिर-चला चेत्, विभवैः भक्त्यतिरिक्तविषयसुखैः किं प्रयोजन-मिति ॥

एतादृशो योगी यदि मोक्षमपेक्षेत, तर्हि नान्यविषयचि-न्तां कुर्यादित्याह—

भिक्षान्नं देहरक्षार्थं
वस्त्रं शीतनिवारणम् ।
अश्मानं च हिरण्यं च
शाकं शाल्योदनं तथा ॥ १५ ॥

समानं चिन्तयेद्योगी
यदि चिन्त्यमपेक्षते ।

योगी चिन्त्यं मोक्षं यदि अपेक्षेत, तर्हि देहरक्षणार्थमेव भिक्षान्नं चिन्तयेत्, न त्विन्द्रियप्रीत्यर्थमित्यर्थः; वस्त्रं च शीतनिवारणार्थं चिन्तयेत्, न अलंकाराय; अश्मानं पाषाणं

हिरण्यं सुवर्णं च शाकं शाल्योदनं च हेयोपादेयवैषम्यराहित्येन चिन्तयेदित्यर्थः ॥

किं च—

भूतवस्तुन्यशोचित्वे
पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १९ ॥

भूतवस्तुनि गतवस्तुनि अशोचित्वे गतमिति दुःखराहित्ये सिद्धे, उपलक्षणमेतत्, आगामिवस्तुनिरपेक्षत्वे सिद्धे, वर्तमानवस्तुनि लब्धे हर्षराहित्ये सिद्धे च पुनर्जन्म न विद्यते ॥

आत्मयोगमवोचद्यो भक्तियोगशिरोमणिम् ।
तं वन्दे परमानन्दं नन्दनन्दनमीश्वरम् ॥

इति श्रीगौडपादाचार्यविरचितायाम्
उत्तरगीताव्याख्यायाम्
तृतीयोऽध्यायः ॥

ॐ तत्सत् ।

श्रीविष्णुगीता ।

भाषानुवादसहिता ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के शास्त्र-
प्रकाश विभाग द्वारा श्रीविश्व-
नाथअन्नपूर्णादानभण्डार
से प्रकाशित ।

काशी ।

प्रथमावृत्ति ।

बी. एल्. पावगी द्वारा हितचिन्तक प्रेस,
रामघाट, बनारस सिटी में मुद्रित ।

सन् १९१९ ईस्वी

(मूल्य ॥।) बारह आना ।

श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद् ।

कार्यसम्पादिकाः—भारतधर्मलक्ष्मी खैरीगढ़ राज्येश्वरी महाराणी सुरथ कुमारी देवी. O. B. E. एवं हर हाइनेस धर्म्म-सावित्री महाराणी शिवाकुमारी देवी, नरसिंह गढ़ ।

भारतवर्षकी प्रतिष्ठित रानी-महारानियों तथा विदुषी भद्रमहिला-ओंके द्वारा श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी निरीक्षकतामें, आर्यमाता-ओंकी उन्नतिकी सदिच्छासे यह महापरिषद् श्रीकाशीपुरीमें स्थापित की गयी है । इसके निम्नलिखित उद्देश्य हैः–

(क) आर्यमहिलाओंकी उन्नतिके लिये नियमित कार्यव्य-वस्थाका स्थापन (ख) श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित पवित्र नारी धर्मका प्रचार (ग) स्वधर्मानुकूल स्त्रीशिक्षाका प्रचार (घ) पारस्परिक प्रेम स्थापित कर हिन्दूसतियोंमें एकताकी उत्पत्ति (ङ) सामाजिक कुरीतियोंका संशोधन और (च) हिन्दीकी उन्नति करना तथा (छ) इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये अन्यान्य आवश्यकीय कार्य करना ।

परिषद्के विशेष नियम :–१ म–इसकी सब प्रकारकी सभ्या-ओंको इसकी मुखपत्रिका आर्यमहिला मुफ्त मिलेगी । २य–स्त्रियाँ ही इसकी सभ्याएँ हो सकेंगी । ३य–यदि पुरुष भी परिषद्की किसी तरहकी सहायता करें तो वे पृष्ठपोषक समझे जायँगे और उनको भी पत्रिका मुफ्त मिला करेगी । ४र्थ–परिषद्की चार प्रकारकी सभ्याओंके ये नियम हैं:–

(क) कमसे कम १५०) एकबार देने पर " आजीवन–सभ्या " (ख) १०००) एक ही वार वा प्रतिमास १०) देने पर "संरक्षक-सभ्या " (ग) १२) वार्षिक देने पर "सहायक–सभ्या" और (घ) ५) वार्षिक देने पर वा असमर्थ (महिलाएं) ३) ही वार्षिक देने पर 'सहयोगि-सभ्या" आर्यमहिला मात्र बन सकती हैं ।

पत्रिका-सम्बन्धी तथा महापरिषत्सम्बन्धी सब तरहके पत्रव्य-वहार करनेका यह पता है:–

महोपदेशक पण्डितरामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री

कार्याध्यक्ष आर्यमहिला तथा महापरिषत्कार्यालय

श्रीमहामण्डल-भवन जगत्गंज, बनारस ।

ॐ तत्सत् ।

श्रीविष्णुगीता ।

भाषानुवादसहिता ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के शास्त्र-
प्रकाश विभाग द्वारा श्रीविश्व-
नाथअन्नपूर्णादानभण्डार
से प्रकाशित ।

काशी ।

प्रथमावृत्ति ।

बी. एल्. पावगी द्वारा हितचिन्तक प्रेस.
रामघाट, बनारस सिटी में मुद्रित ।

सन् १९१९ ईस्वी

(मूल्य ।॥) बारह आना ।

सूचना ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल से सम्बन्धयुक्त श्रीआर्य्यमहिलाहित-कारिणी महापरिषद्, आर्य्यमहिला पत्रिका, समाजहितकारी कोष, महामण्डल मैगेज़ीन (अङ्गरेजी), निगमागमचन्द्रिका, निगमागम बुकडिपो, एरियन बोरो, अन्नपूर्णास्त्रीशिक्षालय, श्रीविश्वनाथअन्न-पूर्णादानभण्डार, शास्त्रप्रकाश विभाग, उपदेशकमहाविद्यालय आदि विभागों से तथा श्रीभारतधर्म्म महामण्डल से पत्र-व्यवहार करने का पताः--

श्रीभारतधर्म्म महामण्डल, प्रधानकार्य्यालय,

महामण्डलभवन,

जगत्गंज, बनारस ।

ओं तत्सत्।

श्रीविष्णुगीता।

विज्ञापन।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशीधाम के शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा अब तक अप्रकाशित चार गीताओं का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन होकर हिन्दीसाहित्यभण्डार और साथ ही साथ सनातनधर्म्मग्रन्थभण्डार की श्रीवृद्धि हुई है। इससे पहले श्रीगुरुगीता सब प्रकार के गुरुभक्तों के लिये,श्रीसन्न्यासगीता सब प्रकार के सन्न्यासी और साधुसम्प्रदायों के लिये सौर्य्यसम्प्रदायके लिये सूर्यगीता और शाक्तसम्प्रदायक लिये शक्तिगीता हिन्दी अनुवादसहित प्रकाशित हो चुकी है। अब यह श्रीविष्णुगीता जो अब तक अप्रकाशित थी, हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित की गई है।

सर्व्वव्यापक, सर्व्वजीवहितकारी और पृथिवी के सब धर्म्मों के पितारूप सनातनधर्म्म में निर्गुण और सगुण उपासनारूपसे प्रधान दो भेद हैं। यद्यपि लीलाविग्रह अर्थात् अवतार उपासना, ऋषिदेवतापितृउपासना और क्षुद्र तामसिक शक्तियों की उपासनारूप से सनातन धर्म्म में सब अधिकार के उपासकवृन्द के लिये और भी कई उपासनाशैलियों का विस्तारित वर्णन पाया जाता है;परन्तु लीलाविग्रह उपासना अर्थात् अवतार-उपासना तो पञ्चसगुणउपासना के अन्तर्गत ही है। श्रीविष्णुभगवान्, श्रीसूर्य्यभगवान्, श्रीभगवती देवी, श्रीगणेशभगवान् और श्रीसदाशिव भगवान् इन पंच सगुणउपास्य देवताओं में से सब के ही अवतारों का वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है;क्योंकि सगुणउपासना की पूर्णता का लीलामय स्वरूप के विना उपासक अनुभव नहीं कर सकता। अस्तु लीलाविग्रह की उपासना सगुण उपासना की पूर्णता के लिये ही होती है तथा ऋषिदेवपितृउपासना और अन्य क्षुद्र उपासना का अधिकार सकाम राज्य से ही सम्बन्ध रखता है।

निर्गुण उपासना में सर्व्वसाधारण का अधिकार हो ही नहीं सकता। निर्गुण उपासना अरूप, भावातीत, वाक्,मन और बुद्धि से अगोचर आत्मस्वरूप की उपासना है। निर्गुण उपासना केवल आत्मज्ञान-प्राप्त तत्त्वज्ञानी महापुरुषों तथा जीवन्मुक्त संन्यासियों के लिये ही उपयोगी समझी जा सकती है और केवल सगुण उपासना ही सब श्रेणी के उत्तम उपासकवृन्द के लिये हितकारी समझकर पूज्यपाद महर्षियों ने उसके सिद्धान्तों का अधिक प्रचार शास्त्रों में किया है। सृष्टि के स्वाभाविक पञ्चतत्त्वों के अनुसार पञ्चविभागों पर संगम करके पञ्चउपासक सम्प्रदाय के भेद कल्पना करते हुए पूर्व्वाचार्यों ने पञ्चसगुणउपासनाप्रणाली प्रचलित की है। विष्णुउपासक के लिये वैष्णवसम्प्रदायप्रणाली, सूर्य्यउपासक के लिये सौर्य्यसम्प्रदायप्रणाली, शक्तिउपासक के लिये शाक्तसम्प्रदायप्रणाली, गणपतिउपासक के लिये गाणपत्यसम्प्रदायप्रणाली और शिवउपासक के लिये शैवसम्प्रदायप्रणाली उन्होंने विस्तारित रूप से नाना शास्त्रों में वर्णन की है। प्रत्येक उपासक सम्प्रदाय के उपयोगी अनेक आर्यसंहिताएँ और

अनेक तन्त्रग्रन्थ आदि पाये जाते हैं, यहां तक कि प्रत्येक सम्प्रदाय के उपयोगी उपनिषद् भी प्राप्त होते हैं। उसी शैली के अनुसार प्रत्येक सम्प्रदाय के उपासक के लिये अपने अपने सम्प्रदाय के पंचाङ्ग ग्रन्थ हैं। अपने अपने सम्प्रदाय के पंचाङ्ग ग्रन्थों में से अपने अपने सम्प्रदाय का गीताग्रन्थ सबसे प्रधान माना गया है।

विष्णुसम्प्रदाय की श्रीविष्णुगीता, सूर्य्यसम्प्रदाय की श्रीसूर्य्यगीता, देवीसम्प्रदाय की श्रीशक्तिगीता, गणपति-सम्प्रदाय की श्रीधीशगीता और शिवसम्प्रदाय की श्रीशम्भुगीता—ये पाचों ग्रन्थ अति अपूर्व्व उपनिषद्रूपी हैं। इन पांचों ग्रन्थरत्नों का प्रकाशन अब तक ठीक ठीक नहीं था। यदिच देवीगीता, शिवगीता और गणेशगीता नामसे कुछ ग्रन्थ प्रकाशित भी हुए हैं तो वे असम्पूर्ण दशा में प्रकाशित हुए हैं। श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के शास्त्रप्रकाश विभाग तथा अनुसन्धान विभाग द्वारा ये पांचों ग्रन्थरत्न अपने सम्पूर्ण आकार में प्राप्त हुए हैं। उन्हीं पांचों में से यह तीसरी गीता अब प्रकाशित हो रही है। और गीताएँ इसी प्रकार से क्रमशःप्रकाशित होंगी। ये पांचों गीताएँ वेद-विज्ञान, सनातन धर्म्म के अपूर्व्व रहस्य, गभीर अध्यात्म-तत्त्व और पूज्यपाद महर्षियों के ज्ञानगरिमा के सिद्धान्तों से परिपूर्ण हैं, इन पांचों के पाठ करने से पाठक बहुत कुछ ज्ञान लाभ कर सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म तथा उसकी उपासना का रहस्य, सगुण उपासना का महत्त्व और विज्ञान, वेद के कर्म-काण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का मर्म्म, सनातनधर्म्म के सब गभीर सिद्धान्तों का निर्णय, अध्यात्मतत्त्व, अधिदैव तत्त्व, अधिभूत तत्त्व यहां तक कि वेद का सार सब कुछ इन पञ्चगीताओं में प्राप्त होता है। ज्ञानकाण्ड का विघ्न जिस प्रकार अहंकार है, उपासनाकाण्ड का विघ्न जिस प्रकार साम्प्रदायिक विरोध है, उसी प्रकार कर्म्मकांड का विघ्न दम्भ है। कर्मकांडी इनको पाठ करने से अपने दम्भको भूलकर भक्त बन जाएँगे, उपासकगण अपने क्षुद्राशय और साम्प्रदायिक विरोध को भूलकर उदार और पराभक्ति के अधिकारी बन सकेंगे और तत्त्वज्ञानी के लिये तो ये पांचों ग्रन्थ उपनिषदों को साररूप हैं। गृहस्थों के लिये ये पञ्चगीताएँ परममङ्गलकर और सन्न्यासियों के लिये अध्यात्मपथप्रदर्शक हैं।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल के शास्त्र प्रकाश विभाग के अन्य ग्रन्थों के अनुसार इस ग्रन्थरत्नका स्वत्वाधिकार दीन-दरिद्रों के भरण-पोषणार्थ श्रीविश्वनाथअन्नपूर्णादानभंडार को दिया गया है। इस ग्रन्थ के इस संस्करण के छापने का व्यय खैरीगढ़राज्येश्वरी श्रीमती भारतधर्म्मलक्ष्मी महारानी सुरथकुमारी देवी के. एच. ओ. बी. ई. महोदया ने प्रदान किया है। श्रीविष्णुभगवान् उनको नीरोग और दीर्घायु करें। विज्ञापनमिति।

श्रीकाशीधाम, गुरुपूर्णिमा
सम्वत् १९७६ विक्रमीय।

विवेकानन्द।

श्रीविष्णवे नमः।

श्रीविष्णुगीता

की

विषयानुक्रमणिका।

प्रथम अध्याय।

द्वितीय अध्याय ।

पञ्चम अध्याय ।

देवताओंकी जिज्ञासा ।

महाविष्णुकी आज्ञा ।

विशेष विज्ञापन ।

(१) श्रीसूर्य्यगीता ।
(२) श्रीशक्तिगीता ।
(३) श्रीविष्णुगीता ।
(४) श्रीधीशगीता ।
(५) श्रीशम्भुगीता ।

ये पांचों गीताएँ जो आजतक अप्रकाशित थीं विशुद्ध हिन्दी अनुवाद सहित प्रस्तुत हुई हैं। इनमेंसे प्रथम तीन गीताएँ छप चुकी हैं और शेष दो छप रही हैं। यद्यपि इन पांचों गीताओंमें से प्रत्येक गीता अपने अपने उपासक सम्प्रदायों (सौर्य्य शाक्त वैष्णव गाणपत्य और शैव सम्प्रदायों) केलिये परमआवश्यकीय हैं परन्तु उपनिषदोंका सार होनेके कारण और प्रत्येक में वेदके गंभीर रहस्य अलग अलग रहने के कारण प्रत्येक सम्प्रदायके उपासकों को इन पांचों गीताओंको तथा श्रीगुरुगीताको अवश्य पढ़ना उचित है। सनातन धर्म्मके सब प्रधान रहस्य इन पांचों गीताओंमें पाये जाते हैं। धर्म्मजिज्ञासुओंको अवश्य इन गीताओंका पाठ करना उचित है। श्रीगुरुगीताभी भाषानुवाद सहित छप चुकी है। सब प्रकारके साधुसम्प्रदायोंको तो उक्त गुरुगीता और सन्न्यासगीता अवश्यही पढ़नी चाहिये। सन्न्यासगीता भी भाषानुवाद सहित छप चुकी है।

पञ्च उपासकसम्प्रदाय ।

वैष्णव सम्प्रदाय, सौर्य्यसम्प्रदाय, शाक्तसम्प्रदाय, गाणपत्य सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय, श्री सनातन धर्म के ये प्रसिद्ध पांच उपासक सम्प्रदाय हैं। भारतवर्ष में कहीं किसी सम्प्रदाय और कहीं किसी सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका प्रचार पाया जाता है। पांचोंही सगुण ब्रह्मोपासनामूलक सम्प्रदाय हैं। केवल साधक की प्रकृति प्रवृत्ति और अधिकारके तारतम्यके अनुसार इन पांचों उपासक सम्प्रदाय की भेदकल्पना शास्त्रोंमें की गई हैं। ये पांचों उपास्य सबही सगुण ब्रह्म हैं इसका विस्तारित विवरण श्री विष्णुगीता श्री सूर्य्यगीता, श्री शक्तिगीता, श्री धीशगीता और श्री शम्भुगीता के पाठ करनेसे भलीभांति प्रकट होता है। बहुत दिनों से इन पांचों सम्प्रदायों की साधनप्रणाली के ग्रन्थसमूह लुप्तप्राय हो रहे थे। यहां तक कि इनके सहस्रनामों में से सबके पूरे सहस्र नाम यथावत् नहीं पाये जाते। अब बहुत ही अनुसन्धान के साथ इन सब सम्प्रदायों के अलग अलग पञ्चाङ्गग्रन्थ और साधनसम्बधीय अन्यान्य ग्रन्थ प्राप्त किये गये हैं। इसके अतिरिक्त इन पांचों सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखने वाले सब प्रकार के प्रसिद्ध प्रसिद्ध यज्ञ, यथा–विष्णुयाग, विश्वम्भरयाग, सूर्य्ययाग, शक्तियाग, अम्बायाग, देवीयाग, गणपतियाग, शिवयाग, रुद्रयाग और विश्वधारकयाग आदि यज्ञोंकी पद्धतियाँ ढूंढकर निकाली गयी हैं। कलियुगमें शुद्ध वैदिक यज्ञोंका प्रायः लोप हो गया है, बहुत से वैदिक यज्ञोंके पद्धतिग्रन्थ कहीं कहीं मिलने पर भी उनके क्रियासिद्धांशके जाननेवाले ऋत्विक अब प्रायः नहीं मिलते अतः उनकी क्रियापद्धतिकी कठिनताके कारणसे भी वैदिक यज्ञोंका प्रायः लोप होने लगा है। अतः इस समय इन वेदसम्मत स्मार्त्त यज्ञों का जितना अधिक प्रचार होगा उतनी ही दैवी जगत्की प्रसन्नता और जगत्का कल्याण होगा। ऊपर लिखित ग्रन्थसमूह के अतिरिक्त उपासक सम्प्रदायोंकी गुरुदीक्षा पद्धति के अनेक रहस्य ग्रन्थ भी अनुसन्धान करके प्राप्त किये गये हैं। ये सब मूल्यवान् धर्म्मग्रन्थसमूह योग्य टिप्पणी सहित श्री भारतधर्म्म महामण्डल के शास्त्र प्रकाश विभागद्वारा क्रमशः प्रकाशित होंगे।

सेक्रेटरी

शास्त्र प्रकाशविभाग

श्री भारतधर्म्ममहामण्डल

प्रधान कार्य्यालय

जगत्गंज बनारस।

श्रीविष्णवे नमः ।

श्रीविष्णुगीता ।

भाषानुवादसहिता ।

वैराग्ययोगवर्णनम् ।

सूत उवाच ॥ १ ॥

यदुक्तं भवता देव ! भगवान् विश्वपालकः ।
अपूर्व्वचिन्मयज्योतीरूपः पूर्ण प्रकाशितः ॥ २ ॥
देवलोके हि देवानां भयं सत्यमनाशयत् ।
इच्छामस्तत्समाकर्ण्य वयमाप्तुं कृतार्थताम् ॥ ३ ॥

सूतजी बोले ॥ १ ॥

हे देव ! आपने जो कहा कि विश्वपालक, अपूर्व चिन्मय ज्योतिस्वरूप, पूर्ण प्रकाशमान श्रीभगवान् ने देवलोक में देवताओं को भय से मुक्त किया, यह सत्य है परन्तु हम उस वृत्तान्त को सुनकर कृतार्थता

मनोबुद्धिवचोऽतीतश्चिन्मयज्योतिरुज्ज्वलः ।
परमः पुरुषः कोऽसावाविरासीत्कृपानिधिः ॥ ४ ॥
देवानामुपदेशैः कैः स निराकृतवान्भयम् ।
कृपया श्रावयित्वा तद्धन्यानस्मान् कुरु प्रभो ! ॥ ५ ॥

व्यास उवाच ॥ ६ ॥

द्वन्द्वात्मकोऽस्ति सर्गोऽयं दिवा राज्या च सन्ततम् ।
प्रभया तमसा चाऽपि ज्ञानतोऽज्ञानतो यथा ॥ ७ ॥
सुखदुःखादिभिः सम्यक् स्थूलसूक्ष्मात्मकं खलु ।
ब्रह्माण्डञ्च सदा व्याप्तमनुभूतञ्च भावुकैः ॥ ८ ॥
सामञ्जस्यं तथा सृष्टेर्गत्या द्वन्द्वस्वरूपया ।
समन्तात्सर्व्वथा पातुं सुरा अप्यसुरा अपि ॥ ९ ॥
दैवे जगति लिप्सन्ते प्रभुत्वमतियत्नतः ।
सुरासुरविरोधस्तत्सूक्ष्मे जगति सर्व्वदा ॥ १० ॥

को प्राप्त करना चाहते हैं ॥ २-३ ॥ मन बुद्धि और वचन से अतीत, चिन्मय ज्योति, प्रकाशमान, कृपालु, परमपुरुष जो आविर्भूत हुए थे वे कौन थे और किन उपदेशों के द्वारा उन्होंने देवताओं का भय निराकरण किया था सो कृपया सुनाकर हे प्रभो ! हमलोगों को धन्य करिये ॥ ४-५ ॥

श्री व्यासदेव बोले ॥ ६ ॥

जैसे दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार, ज्ञान और अज्ञान-आदि से यह संसार निरन्तर द्वन्द्वात्मक है वैसेही स्थूलसूक्ष्मात्मक और अनुभव करनेवालोंके द्वारा अनुभूत यह ब्रह्माण्ड सदा सुख-दुःखादिसे सम्यक् परिव्याप्त है ॥ ७-८ ॥ इस संसारका स्वरूप द्वन्द्वमय होनेके कारण सृष्टिकी समताको सब ओर और सब तरहसे रक्षा करनेके लिये देवता और असुर अति यत्नसे दैवजगत्में अपने अपने प्रभुत्वको चाहते हैं इसी कारण सूक्ष्म जगत्में देवता

देवराज्ये यदा देवाः प्राधान्यं यान्ति सर्व्वथा ।
धर्म्मपूर्णत्वतः सृष्टेः सामञ्जस्यं तदाऽनघं ॥ ११ ॥

कालप्रभावाज्जीवानां प्रारब्धाच्च समष्टितः ।
शैथिल्यं देवसाम्राज्यं यदा प्राप्नोति सर्व्वथा ॥ १२ ॥

प्राधान्यमसुराणान्तु वृद्धिमेति तदा ध्रुवम् ।
देवक्रियासु वैषम्यात्सृष्टौ नाना विपर्य्ययः ॥ १३ ॥

क्षीणे तपसि देवानामसुरा यान्ति मुख्यताम् ।
तेषां तपःक्षये देवा लभन्ते प्रभुतां पुनः ॥ १४ ॥

आधिदैवे सदा राज्य इत्थं यान्ति सुरासुराः ।
प्रभुत्वं नित्यसंग्रामरहस्यं हि तयोरिदम् ॥ १५ ॥

सुराणामसुराणाञ्च सर्व्वदैवेत्थमुत्कटः ।
ब्रह्माण्डेऽपि च पिण्डेऽपि संग्रामो जायते महान् ॥ १६ ॥

और असुरोंका सर्वदा विरोध रहता है ॥ ९-१० ॥ दैवराज्यमें जब देवताओंका सर्वथा प्राधान्य होजाता है तब धर्मकी पूर्णता होजानेसे सृष्टिमें निर्दोष सामञ्जस्य होता है ॥ ११ ॥ कालके प्रभावसे अथवा जीवोंके समष्टि प्रारब्धके कारण देवताओंका आधिपत्य जब पूर्णतः शिथिल होजाता है तब असुरोंका प्राधान्य बढजाता है यह निश्चित है और दैवक्रियामें वैषम्य होजानेसे सृष्टिमें नाना विपर्य्यय होते हैं ॥ १२-१३ ॥ देवताओंके तपका क्षय होजानेपर असुर मुख्यताको प्राप्त होते हैं और असुरोंके तपका क्षय होजानेपर देवता पुनः प्रभुताको प्राप्त होजाते हैं ॥ १४ ॥ सदा ही इस प्रकार अधिदैवराज्यमें देवता और असुर समय समय पर प्रभुताको प्राप्त होते रहते हैं यही देवता और असुरोंके परस्परके नित्य संग्रामका रहस्य है ॥ १५ ॥ सर्वदाही देवता और असुरोंका इस प्रकार ब्रह्माण्डमें भी और पिण्डमें भी उत्कट महान् संग्राम

बहून्येव निमित्तानि समाश्रित्य प्रवर्त्तते ।
सुरासुरेषु संग्रामो नैमित्तिक इहाऽमितः ॥ १७ ॥
पुरा यदा सुराः सर्व्वे भोगवृद्ध्या तपःक्षयम् ।
कुर्वन्तो बहुधा ह्यासन् भीतभीताः प्रमादिनः ॥ १८ ॥
प्राप्याऽवसरमुत्कृष्टमसुरा बलशालिनः ।
राज्यविस्तृतये तीव्रं यतमानाः सदाऽभवन् ॥ १९ ॥
सिद्धानां दैवराज्यानामंशास्तु बहवोऽभवन् ।
क्रमशोऽधिकृताः सम्यगसुरैर्बलशालिभिः ॥ २० ॥
नारदस्यैव देवर्षेस्तदा सदुपदेशतः ।
भयदुःखे निराकृत्य चक्रुस्तीव्रं तपः सुराः ॥ २१ ॥
प्रसन्नस्तपसा तेषां तत्त्वातीतः परात्परः ।
चिन्मयस्सन् महाविष्णुराविरासीत्पुरः स्वतः ॥ २२ ॥
चिन्मयोऽपि बभौ ज्योतिर्जितकोटिरविप्रभः ।

होता है ॥ १६ ॥ और बहुतसे निमित्त कारणों का आश्रय लेकर इस संसार में देवता और असुरोंका असाधारण नैमित्तिक संग्राम भी प्रवृत्त होता है ॥ १७ ॥ पूर्वकालमें जबही देवता भोगके द्वारा तपःक्षय करते हुए अनेक प्रकारसे अत्यन्त भयभीत और प्रमादी हो गये तब अपनेलिये इस उत्तम अवसरको प्राप्त होकर बलशाली असुर सदा राज्यविस्तारकेलिये तीव्र यत्न करने लगे ॥ १८–१९ ॥ और बलशाली असुरोंने देवताओंकी स्वाभाविक वासभूमि स्वर्गराज्यके बहुतसे अंश सम्यक् प्रकारसे क्रमशः अधिकारमें करलिये ॥ २० ॥ उस समय देवर्षि नारदके सदुपदेश देनेपर भय और दुःखका परित्याग करके देवताओंने तीव्र तपस्या की ॥ २१ ॥ उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर तत्त्वातीत परात्पर श्री महाविष्णु भगवान् स्वयं चिन्मयरूप से उनके सम्मुख आविर्भूत हुए ॥ २२ ॥ वे यद्यपि चिन्मय हैं

तेनाऽऽहतानि नेत्राणि तेषां सङ्कोचमाप्नुवन् ॥ २३ ॥
तज्ज्योतिः सूक्ष्मतां भेजे द्रुतमत्यन्तमद्भुतम् ।
चिद्व्याप्तं देवहृद्व्योम स्वत आकृष्टतां गतम् ॥ २४ ॥
बाह्यबोधैस्तदा देवाः शून्या आनन्दसागरे ।
सुखं निमज्जनं प्राप्ता मूर्च्छिता इव चाऽभवन् ॥ २५ ॥
तदा सुराणां मुग्धानां विद्यारूपा शुभप्रदा ॥
विष्णुप्रिया महामाया हृद्याविर्भावमाप ह ॥ २६ ॥
निवृत्तायामविद्यायां मूर्च्छायां तत्समागमात् ।
देवैरधिगता सर्व्वैः सम्पूर्णा प्रकृतिस्थता ॥ २७ ॥
ततः स्वच्छहृदो देवा ददृशुः सम्मुखस्थितम् ।
कमप्यदृष्टपूर्वं हि पुरुषं परमाद्भुतम् ॥ २८ ॥
सर्व्वसौन्दर्य्यशोभाढ्यं शान्तज्योतिःसमुज्ज्वलम् ।
विस्मयानन्दसन्दोहप्रदं दृष्टिमनोहरम् ॥ २९ ॥

परन्तु करोड़ों सूर्यों की प्रभाको जीतने वाली ज्योतिसे शोभायमान होनेलगे और उस ज्योतिसे देवताओंके नेत्र अभिभूत होकर सङ्कुचित होगये ॥ २३ ॥ और वह अत्यन्त अद्भुत ज्योति तत्काल सूक्ष्मत्वको प्राप्त हुई और चिन्मयत्वसे व्याप्त देवताओंके हृदयाकाशका स्वतः आकर्षण हुआ ॥ २४ ॥ उस समय देवता बहिर्ज्ञानशून्य होकर आनन्दसागरमें सुखपूर्वक डूबगये और मूर्च्छितोंके समान हो गये ॥ २५ ॥ तब मुग्ध देवताओंके हृदयोंमें विद्यारूपा शुभदायिनी विष्णुप्रिया महामाया आविर्भूत हुईं ॥ २६ ॥ बहिर्ज्ञानशून्य अवस्थामें विद्याके समागम द्वारा अविद्याके निवृत्त होने पर सब देवता पूर्ण प्रकृतिस्थ हुए ॥ २७ ॥ तदनन्तर स्वच्छहृदय देवताओंने सम्मुखस्थित अदृष्टपूर्व परम अद्भुत किसी पुरुषको देखा ॥ २८ ॥ वे पुरुष सर्वसौन्दर्य्यकी शोभासे पूर्ण हैं, शान्त ज्योतिसे प्रकाशमान हैं, अनेक विस्मय और अनेक आनन्दको देनेवाले और देखनेमें मनो-

शङ्खचक्रगदापद्मसुशोभितचतुर्भुजम् ।
भक्तेभ्यस्तु चतुर्वर्गं प्रेम्णा दातुमिवाऽऽगतम् ॥ ३० ॥
दिव्यश्यामाकृतिं कान्तं कौस्तुभेन विभूषितम् ।
अनन्तरूपेऽनन्ताख्ये पर्य्यङ्के शायिनं विभुम् ॥ ३१ ॥
कोटिसूर्य्यग्रहज्योतिःसेवितोज्ज्वलविग्रहम् ।
वनमालालसद्गात्रं बिभ्रत्केयूरकुण्डलम् ॥ ३२ ॥
नखात्मकनिरङ्केन्दुकौमुदीद्योतितं श्रिया ।
सेवितं पुण्डरीकाक्षं स्मितशोभिमुखाम्बुजम् ॥ ३३ ॥
स्थानं निःशेषशोभानां सौन्दर्य्यनिकराकरम् ।
भगवन्तं रमानाथं प्रसन्नं पुण्यदर्शनम् ॥ ३४ ॥
दिव्यदृष्ट्याऽथ ते देवा दृष्ट्वा विस्मितचेतसः ।
अपूर्व्वदर्शनं देवमाविर्भूतं प्रतुष्टुवुः ॥ ३५ ॥

हर हैं ॥ २९ ॥ चारों हाथ जिनके शङ्ख चक्र गदा और पद्मसे सुशोभित हैं, मानों भक्तोंको प्रेमपूर्वक चतुर्वर्ग (धर्म्म अर्थ काम मोक्ष) देनेको आये हैं ॥ ३० ॥ दिव्य श्याम जिनका वर्ण है, अनन्त रूप धारी अनन्त जिनका पर्य्यङ्क है, कौस्तुभमणिसे विभूषित हैं ॥ ३१ ॥ कोटि सूर्य्य-ग्रहोंकी ज्योतिसे सेवित प्रकाशमान शरीरवाले हैं, केयूर और कुण्डलको धारण करनेवाले हैं, वनमालासे विभूषित हैं ॥ ३२ ॥ उनके नख मानों निष्कलङ्क चन्द्र हैं उनकी कौमुदीसे वे शोभायमान हैं, लक्ष्मीके द्वारा सुसेवित हैं, कमलनेत्र हैं, मन्दहास्यसे मुखकमल जिनका शोभायमान है ॥ ३३ ॥ अखिल शोभाके स्थान हैं, सब प्रकार के सौन्दर्य्य के आकर भगवान् रमानाथ प्रसन्न और पुण्य दर्शन हैं ॥ ३४ ॥ अनन्तर देवगण अपूर्व जिनका दर्शन है ऐसे आविर्भूत देवादिदेवके दिव्य दृष्टिके द्वारा दर्शन करके विस्मित चित्त होकर स्तुति करनेलगे ॥ ३५ ॥

देवा ऊचुः ॥ ३६ ॥

देवादिदेव ! हे नाथ ! विश्वेश्वर ! जगत्पते ! ।
सच्चिदानन्दरूपस्त्वमपरिच्छेदतो विभुः ॥ ३७ ॥
एक एवाऽद्वितीयोऽसि विश्वात्मा विश्वपालकः ।
अनादिश्चाऽप्यनन्तोऽसि विश्वसेव्य ! नमोऽस्तु ते ॥ ३८ ॥
त्वमेवासि प्रभो ! कार्य्यं त्वमेव कारणं सदा ।
कार्य्यकारणरूपस्त्वं सर्व्वात्मक ! नमोऽस्तु ते ॥ ३९ ॥
भवानेव जगन्नूनं जगदेव भवान् विभो ! ।
भवत्येव जगद् भाति जगद्रूप ! नमोऽस्तु ते ॥ ४० ॥
जगद्भूयो भवत्येव वर्त्तते किन्तु तत्त्वतः ।
न वर्त्तते भवाँस्तत्र विश्वाधार ! नमोऽस्तु ते ॥ ४१ ॥
तवैव प्रकृतिस्त्वत्तोऽव्यक्ताऽपि व्यक्तिमागता ।
बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्राभूतेन्द्रियतया सदा ॥ ४२ ॥

देवगण बोले ॥ ३६ ॥

हे देवादिदेव ! हे नाथ ! हे विश्वेश्वर ! हे जगत्पते ! आप सच्चिदानन्दरूप, व्यवधानरहित, विभु अर्थात् व्यापक, अद्वितीय, एक, विश्वात्मा,विश्वपालक, अनादि और अनन्त हैं,हे विश्वसेव्य ! आपको प्रणाम है ॥ ३७-३८ ॥ हे प्रभो ! सदा आप ही कार्य्य और आप ही कारण हैं, आप कार्य्यकारणरूप हैं, हे सर्वात्मक ! आपको प्रणाम है ॥ ३९ ॥ हे विभो ! आप अवश्य ही जगत् हैं और जगत् ही आप हैं एवं आपमें ही जगत् भासमान होता है, हे जगद्रूप! आपको प्रणाम है ॥ ४० ॥ पुनः आपमें ही जगत् स्थित है परन्तु तत्त्वतः आप उसमें नहीं हैं, हे विश्वाधार ! आपको प्रणाम है ॥ ४१ ॥ आपहीकी अव्यक्ता प्रकृतिभी व्यक्ता होकर बुद्धि अहङ्कार तन्मात्रा पञ्चभूत और इन्द्रियरूपसे सदा स्थूलसूक्ष्मात्मक विश्वको सर्वथा उत्पन्नकरती है, हे प्रभो ! आप जगत्की मूल जो प्रकृति उसके भी मूल हो और स्वयं मूलशून्यहो, आप-

स्थूलसूक्ष्मात्मकं विश्वमुत्पादयति सर्व्वथा ।
मूलशून्य ! जगन्मूलमूलभूत ! नमोऽस्तु ते ॥ ४३ ॥
कोषेणाऽन्नमयेन त्वं स्थूलविश्वमयो भवन्।
जीवान् विमोहयस्येव मोहहेतो ! नमोऽस्तु ते ॥ ४४ ॥
स्थूलो वै मृत्युलोकोऽस्ति सूक्ष्मो लोकोऽस्ति वैबुधः ।
भवान् प्राणमयः कोषो भूत्वा स्थापयति स्वतः ॥ ४५ ॥
परस्परं सुसम्बन्धमनयोर्लोकयोः सतोः ।
सम्बन्धस्थापनाकर्म्मदक्षताभाक् ! नमोऽस्तु ते ॥ ४६ ॥
मनोमयेन कोषेणाऽविद्यायाः परमाद्भुतम् ।
विज्ञानमयकोषेण विद्यायाश्च निकेतनम् ॥ ४७ ॥
सृष्ट्वाऽऽनन्दमये कोषे नित्यानन्दो विराजसे ।
सृष्टिशोभादिनैपुण्यकुलगेह ! नमोऽस्तु ते ॥ ४८ ॥
वैचित्र्यं भवतोऽपूर्व्वं भवान् सन् हि भवानसन् ।
सदसद्भ्यामतीतोऽपि भवान् भाति नमोऽस्तु ते ॥ ४९ ॥

को प्रणाम है ॥ ४२–४३ ॥ अन्नमयकोषसे आप स्थूल विश्वमय होते हुए जीवों को मोहित करते हैं, हे मोहहेतो ! आपको प्रणाम है॥४४॥ स्थूल मृत्युलोक और सूक्ष्म दैवलोक इनदोनों लोकोंका परस्पर सम्बन्ध आप प्राणमयकोष होकर स्वतः स्थापन करते हैं, हे सम्बन्ध स्थापनके कर्म्ममें परम दक्ष ! आपको प्रणाम है ॥ ४५–४६ ॥ मनो-मय कोष से परम अद्भुत अविद्याके निकेतनको बना कर और विज्ञानमय कोषसे विद्याके निकेतनको बनाकर आनन्दमयकोषमें आप नित्यानन्दरूपसे विराजमान रहते हैं, आप सृष्टिकी शोभादिके नैपुण्यमें मुख्याधिष्ठाता हैं, आपको प्रणाम है ॥ ४७–४८ ॥ आपका अपूर्व्व वैचित्र्य है, आप सत् भी हैं और असत् भी हैं एवं आप सत् असत् से अतीत भी प्रतीत होते हैं, आपको प्रणाम है ॥ ४९ ॥ आपकी ही अर्द्धाङ्गिनी

तवैवार्द्धाङ्गिनी शक्तिस्तुरीया विश्वमोहिनी।
कारणस्थूलसूक्ष्मत्वमधिगत्य निरन्तरम् ॥ ५० ॥
ब्रह्माण्डं बहुधाऽनन्तं प्रसूते पाति च स्वतः।
विचित्रशक्ते ! शक्तीश ! नित्यशक्त ! नमोऽस्तु ते ॥ ५१ ॥
भवानेव महाविष्णुस्त्वत्तोऽसंख्या निरन्तरम्।
ब्रह्माणो विष्णवो रुद्रा आविर्भावं परं गताः ॥ ५२ ॥
स्वस्वब्रह्माण्डसङ्घानां सृष्टिस्थितिलयानलम्।
सम्पादयन्ति नियतं सर्व्वधातर्नमोऽस्तु ते ॥ ५३ ॥
जड़े सत्त्वेन चित्त्वेन चेतने तु द्वयोस्तयोः।
आनन्दत्वेन भासि त्वं सच्चिदानन्द ! ते नमः ॥ ५४ ॥
विष्णोः सूर्य्यस्य शक्तेश्च गणेशस्य शिवस्य च।
रूपेण सगुणं रम्यं गृहीत्वा मूर्त्तिपञ्चकम् ॥ ५५ ॥
भवानेकोऽद्वितीयः सन्नुपास्तिपदवीं हिताम्।
करोति सुगमां देव ! भक्तिहेतो ! नमोऽस्तु ते ॥ ५६ ॥

विश्वमोहिनी तुरीया शक्ति कारण सूक्ष्म और स्थूलरूपको प्राप्त होकर अनेक प्रकारसे अनन्त ब्रह्माण्डोंको निरन्तर उत्पन्न करती हैं और रक्षा करती हैं, हे विचित्रशक्ति ! हे शक्तीश ! हे नित्यशक्त ! आपको प्रणाम है ॥ ५०-५१ ॥ आप ही महाविष्णु हैं आपसे असंख्य ब्रह्मा विष्णु और रुद्र निरन्तर आविर्भावको प्राप्त होकर अपने अपने ब्रह्माण्डसंघोंके सृष्टि स्थिति और प्रलयोंको नियतरूपसे सम्पादन करते हैं, हे सर्वधातः ! आपको प्रणाम है ॥ ५२-५३ ॥ जड़में सत्सत्तारूपसे और चेतनमें चित्सत्तारूपसे और सत् चित् इन दोनोंमें आनन्दसत्तारूपसे आप भासमान होते हैं, हे सच्चिदानन्द ! आपको प्रणाम है ॥ ५४ ॥ हे देव ! विष्णु सूर्य्य शक्ति गणेश और शिवके स्वरूपसे मङ्गलकर सगुण पञ्चमूर्त्तिको ग्रहण करके आप एक और अद्वितीय होनेपर भी हितकारक उपासनाकी शैलीको सुगम करते हैं, हे भक्तिहेतो ! आपको प्रणाम है ॥ ५५-५६ ॥

सर्व्वेश्वर ! भवानेव स्वयं यज्ञेशरूपतः।
मोक्षदां कर्म्मकाण्डीयां गतिं पासि नमोऽस्तु ते ॥ ५७ ॥
त्वं चिद्भावमयो विष्णुः सद्भावात्ममयः शिवः।
तेजोभावमयः सूर्यो गणेशो ज्ञानितामयः ॥ ५८ ॥
शक्तिभावमयी देवी भूत्वाऽन्याऽन्याऽधिकारिणः।
बोधयत्यात्मबोधं सगुणोपास्तौ नमोऽस्तु ते ॥ ५९ ॥
हे सर्व्वशक्तिमन् ! शक्त ! हे सर्व्वात्मन् ! कृपानिधे !।
तवैव शक्तितो नूनं भवामश्चालिता वयम् ॥ ६० ॥
तवैव सत्तया देव ! सत्तावन्तो वयं तव।
आश्रिता अपि मूढास्त्वां विस्मरामो हि मायया ॥ ६१ ॥
त्वद्विस्मृतिमतां मोहमस्माकं हरसि प्रभो !।
विपच्छासनतो नूनमहो ते महती दया ॥ ६२ ॥
वयं शरणमापन्नाः शरणागतवत्सल !।
भयं नो मोहजं येन विनश्यति तथा कुरु ॥ ६३ ॥

हे सर्व्वेश्वर ! आप स्वयं ही यज्ञेश्वररूपसे मोक्षदायिनी कर्म्मकाण्डीय गतिकी रक्षा करते हैं आपको प्रणाम है ॥ ५७ ॥ आप चिद्भावमय विष्णु सद्भावमय शिव, तेजोभावमय सूर्य्य, ज्ञानभावमय गणेश और शक्तिभावमयी देवी होकर अन्यान्य अधिकारियोंको सगुणोपासनामें आत्मज्ञानका उपदेश देते हैं, आपको प्रणाम है ॥ ५८–५९ ॥ हे सर्व्वशक्तिमन् ! हे शक्त ! हे सर्व्वात्मन् ! हे कृपानिधे ! आपकी ही शक्तिसे हम सब देवतागण चालित होते हैं यह निश्चय है ॥ ६० ॥ आपको ही सत्तासे हे देव ! हम सत्तावान् हैं, आपके आश्रित होनेपर भी हम मूढ़ मायाके द्वारा आपको भूल जाते हैं ॥६१॥ हे प्रभो ! आपको भूलनेवाले हमलोगोंके मोहको आप विपत्तिरूप शासनके द्वारा अवश्य हरण करते हैं, अहो ! आपकी महती दया है ॥ ६२ ॥ हे शरणागतवत्सल ! हम आपके

तथोपदेशं याचामो ज्ञातुं स्मर्त्तुञ्च तत्त्वतः ।
त्वां शक्ताः स्मो यथा मोहे न पतामः पुनः क्वचित् ॥ ६४ ॥
विश्वासो नो ध्रुवो जातो यत्त्वां संस्मरतां सदा ।
अस्माकं निखिला भीतिस्तापोऽभावश्च नँक्ष्यति ॥ ६५ ॥
त्वां सदा स्मरतां नूनमुद्यमो नः फलिष्यति ।
सर्व्वे मनोरथाः सिद्धा भविष्यन्ति नमोऽस्तु ते ॥ ६६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ६७ ॥

युष्माकं स्तुतिभिर्देवाः ! प्रसन्नोऽस्मि ततस्त्वहम् ।
श्रेयसे वो यथायोग्यं ब्रवीमि वचनं शुभम् ॥ ६८ ॥
सदाचारच्युता यूयं भवथ स्म दिवौकसः ।
स्वकर्त्तव्यं स्वधर्म्मञ्च भवन्तो व्यस्मरञ्छुभम् ॥ ६९ ॥
अत एव समाक्रामच्चित्तं वो मोहजं भयम् ।
तापोऽयोग्यप्रवृत्त्युत्थोऽभावो मत्स्मृतिनाशतः ॥ ७० ॥

शरण आये हैं जिससे हमारा मोहजनित भय नाश हो जाय ऐसा आप करें ॥ ६३ ॥ ऐसे उपदेशकी हम आपसे याचना करते हैं जिससे हम आपको तत्त्वरूपसे जाननेको और स्मरण करनेको समर्थ होसकें और पुनः कभी मोहमें न पड़ें ॥ ६४ ॥ हम लोगोंको ठीक विश्वास होगया है कि आपको सदा स्मरण करनेसे हमारे सब भय, त्रिविध ताप और अभाव नाश होजायेंगे ॥ ६५ ॥ आपको सदा स्मरण करनेसे निश्चय ही हमारा पुरुषार्थ सफल होगा और हमारे सब मनोरथ सिद्ध होंगे, आपको प्रणाम है ॥ ६६ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ६७ ॥

हे देवतागण ! मैं तुम्हारी स्तुतिसे प्रसन्न हुआ इस कारण तुम्हारे कल्याणके लिये मैं यथायोग्य शुभ वचन कहता हूँ ॥६८॥ तुम लोग सदाचारभ्रष्ट होगये हो इस कारण तुम मंगलमय निज कर्त्तव्य और स्वधर्म्मको भूल गये हो ॥ ६९ ॥ इसीसे तुम्हारे चित्तपर मोह-

यूयमाचारभाजश्चेत्स्वकर्त्तव्यपरायणाः ।
स्वधर्मनिरताश्चाऽपि भवितुं खलु शक्ष्यथ ॥ ७१ ॥
मच्चित्ताश्चेत्तदा यूयं भयात्तापादभावतः ।
विमुक्ताः सर्व्वकल्याणं लप्स्यध्वे मत्प्रसादतः ॥ ७२ ॥
आचारः सर्वकल्याणमूलं नूनं दिवौकसः ! ॥
शक्ष्यन्त्याचारवन्तो हि प्राप्तुं कल्याणसम्पदः ॥ ७३ ॥
आचारमूला जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः ।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं वेदः साधकमूलकः ॥ ७४ ॥
साधकश्च क्रियामूलः क्रियाऽपि फलमूलिका ।
फलमूलं सुखं देवाः ! सुखमानन्दमूलकम् ॥ ७५ ॥
आनन्दो ज्ञानमूलस्तु ज्ञानं वै ज्ञेयमूलकम् ।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं हि ब्रह्ममूलकम् ॥ ७६ ॥
ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलमैक्यं स्यात्सर्व्वमूलकम् ।
ऐक्यं तद्धि सुपर्वाणः ! भावातीतं सुनिश्चितम् ॥ ७७ ॥

जनित भय, अयोग्य-प्रवृत्तिजनित ताप और मेरे विस्मरणजनित अभाव, इन सबोंने अधिकार कर लिया है ॥ ७० ॥ यदि तुम आचारवान् होनेसे कर्त्तव्य परायण, स्वधर्मनिरत और मद्गतचित्त होसकोगे तब भय और तापमुक्त होकर सब प्रकारके अभावको दूर करते हुए मेरी कृपासे यावत् मङ्गल लाभ करोगे ॥ ७१-७२ ॥ हे देवगण ! आचार ही सब कल्याणोंका मूल है आचारवान् ही सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं ॥ ७३ ॥ जाति आचारमूलक होती है, आचार शास्त्रमूलक होता है, शास्त्रका मूल वेदवाक्य है, वेदका मूल साधक है, साधककी मूल क्रिया है, क्रियाका मूल फल है, हे देवगण ! फलका मूल सुख है, सुखका मूल आनन्द है, आनन्दका मूल ज्ञान है, ज्ञानका मूल ज्ञेय है, सकल ज्ञेयोंका मूल तत्त्व है, तत्त्वका मूल ब्रह्म है, ब्रह्मज्ञानका मूल ऐक्य है

भावातीतमिदं सर्व्वं प्राकाश्ये भावमात्रकम्।
नास्त्यत्र संशयः कोऽपि सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ ७८ ॥

अज्ञानादेव भीतीनामुत्पत्तिर्जायते सुराः !।
अज्ञानमेव जन्तूनां हेतुस्तापत्रयस्य वै ॥ ७९ ॥

ज्ञानेन रहिता जीवाः साधुसौभाग्यवंचिताः।
द्रष्टुं स्मर्त्तुञ्च मां नित्यं कदाचिदपि नेशते ॥ ८० ॥

नूनं कर्त्तव्यनिष्ठो यो निजधर्मपरायणः।
ज्ञानवान्स भयान्मुक्तः सत्यमेव ब्रवीमि वः ॥ ८१ ॥

तापत्रयं न शक्नोति कदाचित् स्प्रष्टुमेव तम्।
अचिरेणैव कालेन स मुक्तिमधिगच्छति ॥ ८२ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ ८३ ॥

और ऐक्य सबका मूल है, हे देवगण! वही ऐक्य भावातीत है यह निश्चित है ॥ ७४–७७ ॥ यह सकल संसार प्रकाशरूपसे केवल भावमय है परन्तु वस्तुतः भावातीत है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है मैं सत्य २ कहता हूं ॥ ७८ ॥ हे देवगण! अज्ञानसे ही भयकी उत्पत्ति होती है, अज्ञान ही त्रितापका कारण है ॥ ७९ ॥ ज्ञानरहित जीव सौभाग्यसे वञ्चित हैं और वे मेरे दर्शन लाभ करनेमें और यहांतक कि मेरे स्मरण करने तकमें असमर्थ होते हैं ॥ ८० ॥ परन्तु मैं तुम्हें सत्य कहता हूँ कि जो कर्त्तव्यनिष्ठ और स्वधर्म्मपरायण होते हैं वे अतिसुगमतासे ही आत्मज्ञान लाभ करके भयमुक्त हो जाते हैं ॥ ८१ ॥ पुनः त्रिताप उनको स्पर्श नहीं करसक्ता और वे शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त करते हैं ॥ ८२ ॥ अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान विशेष माना गया है, ध्यानसे कर्मफलोंका त्याग श्रेष्ठ है और त्यागके अनन्तर ही शान्ति होती है ॥ ८३ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति ।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ८४ ॥

देवा ऊचुः ॥ ८५ ॥

देवादिदेव ! सर्वज्ञ ! सृष्टिस्थितिलयप्रभो !
त्वद्विस्मरणतो नूनं दुर्गतिर्नोऽभवत्स्वयम् ॥ ८६ ॥
आज्ञाऽस्ति भवतः सत्या जीवा अभ्यासयोगतः ।
निर्भयायां पदव्यान्तु भवन्त्यग्रेसरा ध्रुवम् ॥ ८७ ॥
क्रमशो निर्भयाः सन्तस्ते जीवा भाग्यशालिनः ।
अतुलां परमां शान्तिमधिगच्छन्ति सत्वरम् ॥ ८८ ॥
तदुक्तक्रमतो देव ! दीनाश्रय ! यथा वयम् ।
प्रशान्ता निर्भयाः स्याम कृपयैव तथाऽऽदिश ॥ ८९ ॥

जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है उसके लिये मैं कभी अन्तर्धान नहीं होता हूँ और वह भी मुझसे अदृश्य नहीं होता है ॥ ८४ ॥

देवतागण बोले ॥ ८५ ॥

हे देवादिदेव ! हे सृष्टिस्थितिप्रलयकर्त्ता ! हे सर्व्वज्ञ ! अब हमलोगोंको यह विदित हुआ कि आपको विस्मृत होनेसे ही हमलोगोंकी यह दुर्गति हुई है ॥ ८६ ॥ आपकी आज्ञा सत्य है कि अभ्यासके द्वारा ही जीव निर्भयपदकी ओर अग्रसर होते हैं और क्रमशः भयरहित होकर परमभाग्यशाली हो परमशान्तिको शीघ्र प्राप्त करते हैं ॥ ८७-८८ ॥ अतः हे दीनजनोंके आश्रयदाता ! आपके कहे हुए क्रमके अनुसार हम शान्तिको प्राप्त करके कैसे भयरहित होसक्ते हैं सो कृपया आज्ञा कीजिये ॥ ८९ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ९० ॥

हे देवाः ! इन्द्रियैर्जीवा विषयेषु निरन्तम् ।
सक्ताः सन्तस्तदाकारवृत्तिभिः स्युः सुदुःखिताः ॥ ९१ ॥
दशेयमेव भीहेतुः स्वर्गादिप्राप्तिकारणम् ।
एषैव विषमा नूनं आवागमनकारणम् ॥ ९२ ॥
ततो विषयवैराग्यैर्यदा शिथिलबन्धनः ।
प्रारब्धवान् साधकः स्यात्तदा सफलतालयः ॥ ९३ ॥
तदैव विमलं ज्ञानमासाद्य निर्म्मलाशयः ।
समुन्नताधिकराप्तेरधिकार भवस्यलम् ॥ ९४ ॥
नश्वरस्य शरीरस्य सम्बन्धाद्भवतां भयम् ।
भ्रान्तिमूलं यदेतत्तद्देवाः ! तत्त्वबुभुत्सवः ! ॥ ९५ ॥
इह दृश्यानि सर्वाणि नश्वराणि भवन्त्यहो ।
अविवेकमयोऽयं यत्संसारोऽतो भयाप्लुतः ॥ ९६ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ९० ॥

हे देवगण ! जीव इन्द्रियोंकी सहायतासे विषयोंमें फँसकर विषयाकार वृत्तिको प्राप्त करता हुआ नाना दुःख प्राप्त करता है ॥ ९१ ॥ यही दशा सब भयोंकी कारण है, यही दशा स्वर्ग नरक प्रेत पितृ आदि नाना लोकप्राप्ति और आवागमनका मूलकारण है ॥ ९२ ॥ अतः विषयवैराग्य द्वारा इस बन्धनको शिथिल करता हुआ अभ्यासकी सहायतासे प्रारब्धवान् साधक जब सफलता लाभ करता है तब ही वह ज्ञानवान् होकर उन्नत अधिकार प्राप्त करनेका अधिकारी बनता है ॥ ९३-९४ ॥ हे तत्त्वजिज्ञासु देवतागण ! नश्वर शरीरके सम्बन्धसे आपलोगोंका जो भय है सो भ्रममूलक है ॥ ९५ ॥ इस संसारकी सब वस्तु नश्वर है विशेषतः यह संसार अज्ञानमय होनेके कारण भयसे पूर्ण है ॥ ९६ ॥

अविवेकसमुद्भूतविषयासक्तितः क्वचित् ।
लब्धुं न कोऽपि शक्नोति निर्भयत्वमिह स्वतः ॥ ९७ ॥
पुत्रमित्रकलत्रादिस्वजनाः स्वस्वकर्म्मणा ।
भोगार्थं युगपन्नूनमेकत्रोत्पत्तिमाश्रिताः ॥ ९८ ॥
आत्मीयत्वेन राजन्ते ध्रुवं स्वस्वार्थसिद्धये ।
संस्थाप्यानृतसम्बन्धमेषु यान्ति महद्भयम् ॥ ९९ ॥
एतदात्मीयजं दुःखं भयं चाऽज्ञानमूलकम् ।
न जायते सुखं सत्यं नश्वरात्काञ्चनादितः ॥ १०० ॥
ईदृशे नश्वरेऽर्थे हि सक्तो देही निरन्तरम् ।
विविधं दुःखमाप्नोति भयञ्चैवाऽधिगच्छति ॥ १०१ ॥
जरामृत्युभयं देहे पुत्रादौ कालजादिकम् ।
राजतस्करजं द्रव्ये जराजं यौवने भयम् ॥ १०२ ॥
जरारोगभयं रूपे बले शत्रुभवं भयम् ।
भोगे रोगभयं नूनं कुले पतनजं भयम् ॥ १०३ ॥

अज्ञानसम्भूत विषयमें आसक्त रहनेसे कोई भी भयरहित नहीं हो सक्ता ॥ ९७ ॥ पुत्र मित्र कलत्रादि स्वजन केवल अपने अपने कर्म्म भोगनेके लिये एक देशकालमें उत्पन्न होकर अपने अपने स्वार्थ-सिद्धिके लिये आत्मीयरूपसे प्रतीत होते हैं उनमें मिथ्या सम्बन्ध स्थापन करके देही अनेक भयको प्राप्त होता है ॥ ९८-९९ ॥ यह सब आत्मीयजनित भय और दुःख अज्ञानमूलक है। नश्वर कामिनी काञ्चन आदि भोगपदार्थ अपनी नश्वरताके कारण कदापि सत्य सुखको उत्पन्न नहीं करसक्ते ॥ १०० ॥ इस प्रकारके नश्वर विषयोंमें फंसकर देही निरन्तर अनेक प्रकारके दुःख और भय प्राप्त करता है ॥ १०१ ॥ शरीरमें जरा और मृत्युका:भय है, पुत्रकलत्रादिमें काल और वियोगका भय है, धनमें राजा और चोरका भय है, यौवनमें वार्द्धक्यका भय है ॥ १०२ ॥ रूपमें जरा और रोगका भय है, बलमें शत्रुका भय है, भोगमें रोगका भय है, कुलमें पतित होनेका भय है ॥१०३॥

दीनताजं भयं माने गुणे खलभयं खलु ।
भयं निन्दकजं शक्तौ विद्यायां वादिजं भयम् ॥ १०४ ॥
स्वर्गेऽपि प्रार्थ्यमानेऽस्मिन्नीर्ष्यापतनजं भयम् ।
वैराग्यपदमेवाऽत्र तिष्ठत्यभयमुत्तमम् ॥ १०५ ॥
येनैव हि विचारेण तत्तु लभ्येत निर्जराः ! ।
जगतां श्रेयसे नूनं तं ब्रवीमि निबोधत ॥ १०६ ॥
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १०७ ॥
मात्रास्पर्शास्तु गीर्वाणाः ! शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्ताँस्तितिक्षध्वमुत्तमाः ! ॥ १०८ ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं विबुधर्षभाः ! ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १०९ ॥
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।

मानमें दीनताका भय है, गुणमें खलोंका ही भय है, शक्तिमें निन्दकका भय है, विद्यामें वादीका भय है ॥ १०४ ॥ सब लोगोंके अभीप्सित स्वर्गमें भी ईर्ष्या और पतनका भय है, केवल उत्तम वैराग्यपद ही भयरहित है ॥ १०५ ॥ हे देवतागण ! जिस विचारके द्वारा इसकी प्राप्ति निश्चय ही होती है उसको जगत्कल्याणके लिये ही कहता हूँ सो जानो ॥ १०६ ॥ देहाभिमानी जीवका जिस प्रकार इस देहमें कौमार यौवन और वार्द्धक्य है देहान्तरप्राप्ति अर्थात् मृत्यु भी उसी प्रकार है (अवस्थाभेदमात्र है) अतएव ज्ञानी उसमें मोहित नहीं होते हैं ॥ १०७ ॥ हे श्रेष्ठ देवगण ! इन्द्रियोंकी वृत्ति और उनके साथ इन्द्रियोंके विषयोंका संयोग ये ही शीतोष्णादि सुख दुःखको देनेवाले हैं। ये सब आगमापायी (उत्पत्तिनाशविशिष्ट) हैं अतएव अनित्य हैं उनको सहन करो अर्थात् हर्षविषाद आदिके वशीभूत मत हो ॥ १०८ ॥ हे देवश्रेष्ठो ! ये सब (मात्रास्पर्श) सुख दुःखमें समभावयुक्त जिस धीर व्यक्तिको व्यथा नहीं देते हैं वह अमरत्व प्राप्त करता है ॥ १०९ ॥ अनित्य वस्तु स्थायी नहीं है और नित्य

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ११० ॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्व्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्याऽस्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति ॥ १११ ॥
यदा वो मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तास्थ निर्व्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ११२ ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना वो यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यथ ॥ ११३ ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ ११४ ॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तो विबुधाः! न तेषु रमते बुधः ॥ ११५ ॥

वस्तुका विनाश नहीं होता, अर्थात् अनित्य शरीर और जगत्का अवश्य नाश होगा और नित्य वस्तु आत्माका त्रिकालमें विनाश नहीं है। तत्त्वदर्शी लोगोंने इन दोनोंका ही तत्त्व देखा है ॥ ११० ॥ जो (उत्पत्तिनाशशील) इन सब (देहादि) में व्याप्त है उस (आत्मस्वरूप) को अविनाशी जानो। कोई भी उस अव्यय (उत्पत्तिनाशशून्य आत्मा) का विनाश नहीं कर सका ॥ १११ ॥ जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप गहन दुर्ग (देहादिमें आत्मबुद्धि) को परित्याग करेगी तब तुम श्रोतव्य और श्रुत अर्थोंसे वैराग्य-प्राप्त होगे ॥ ११२ ॥ जब तत्त्वज्ञानसम्बन्धी उपदेशोंके सुननेसे और उनके मनन द्वारा तुम्हारी बुद्धि अविचलित होकर समाधिमें उत्तमरूपसे स्थिर रहेगी तब तुम योग प्राप्त होगे ॥ ११३ ॥ बाह्येन्द्रियोंके सब विषयोंमें अनासक्तचित्त व्यक्ति, आत्मामें जो शान्ति सुख है उसकी प्राप्ति करता है, वह ब्रह्ममें योगके द्वारा युक्तात्मा होकर अक्षय सुख प्राप्त करता है ॥ ११४ ॥ विषयजनित जो सब सुख हैं वे निश्चय ही दुःखके हेतु हैं एवं आदि और अन्त विशिष्ट अर्थात् अनित्य हैं इसी कारण हे देवगण! विवेकी

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ ११६ ॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि निर्ज्जराः ! ।
अव्यक्तनिधनान्येव ह्येतदेवावधार्य्यताम् ॥ ११७ ॥
आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्य्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ ११८ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे देवमहाविष्णुसम्वादे वैराग्ययोगवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः ।

पुरुष इन सबमें रत नहीं होते हैं ॥ ११५ ॥ जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र परित्याग करके दूसरे नवीन वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर परित्याग करके अन्य नूतन देह धारण करता है ॥ ११६ ॥ हे देवगण ! सकल भूत प्रारम्भमें अव्यक्त (चक्षु आदिके अगोचर) हैं, (केवल) बीचमें व्यक्त (प्रकाशित) हैं एवं मरणकालमें भी अव्यक्त हैं, ये सब ही आप विचार करें ॥ ११७ ॥ कोई इस (आत्मा) को आश्चर्यवत् देखता है, इसी प्रकार कोई इसको आश्चर्य्यवत् कहता है और कोई इस को आश्चर्य्यवत् सुनता है और कोई सुनकर भी इसको नहीं जानता है ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्‌के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी देवमहाविष्णुसम्वादात्मक योगशास्त्रका वैराग्ययोगवर्णन नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

सृष्टिसृष्टिधारकयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

देवाधिदेव ! हे नाथ ! भवतः कृपयाऽधुना ।
ज्ञात्वा वैराग्यमाहात्म्यं तत्स्वरूपञ्च सुस्फुटम् ॥ २ ॥
निर्भयाः स्मो वयं जाता देवास्त्वत्पदसेविनः ।
इदानीं वर्णयन्सम्यक् सृष्टिप्रकरणं तथा ॥ ३ ॥
तद्रहस्यं महाविष्णो ! ज्ञापयन्यच्छ नोऽधुना ।
विवेकं तादृशं येन जानीमो विस्तराद्वयम् ॥ ४ ॥
का सृष्टिः कश्च सम्बन्धस्तया नस्सह सम्मतः ॥ ५ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ६ ॥

निर्गुणावस्थितावस्मि खल्वव्यक्तोऽद्वितीयकः ।
आविर्भवति मे शक्तिर्मत्त एव यदा सुराः ! ॥ ७ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे देवादिदेव ! हे नाथ ! इस समय वैराग्यकी महिमा और उसका स्वरूप आपकी कृपासे भलीभांति जानकर हम सब आपके चरणसेवक देवगण भयसे रहित हुए हैं । अब हे महाविष्णो ! सृष्टिप्रकरण और उसका रहस्य अच्छीतरह वर्णन करके हमको ऐसा विवेक इस समय प्रदान कीजिये जिससे हम अच्छीतरह समझसकें कि सृष्टि क्या है और सृष्टिके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है ॥२-५॥

महाविष्णु बोले ॥ ६ ॥

मैं निर्गुण अवस्थामें अव्यक्त और अद्वितीय ही रहता हूँ । हे देवतागण ! जब मेरी शक्ति मुझसे ही उत्पन्न होती है तब मैं महाविष्णु होकर सगुणरूपको धारण करता हूँ । मेरी शक्ति महामाया अपने-

महाविष्णुस्तदा भूत्वा सगुणं धारये वपुः ।
शक्तिर्मम महामाया द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो वपुः ॥ ८ ॥
विद्यारूपेण सततं सेवायां रमते मम ।
करोति ज्ञानिनो जीवान्मां प्रत्यग्रेसरांश्च सा ॥ ९ ॥
तथाऽविद्यास्वरूपेण सैव जीवानहर्निशम् ।
अज्ञानबन्धने बद्ध्वा तेषां बन्धनकारणम् ॥ १० ॥
सृष्टिस्थित्योश्च जगतः कारणं भवति ध्रुवम् ।
वस्तुतोऽहं निजानन्दप्रकाशाय हि केवलम् ॥ ११ ॥
धरामि द्वैतरूपं तज्जानीत विबुधर्षभाः ! ।
ममानन्दस्य तस्याऽस्ति महामायैव कारणम् ॥ १२ ॥
मच्छक्तिरूपां यां प्राहुर्मूलप्रकृतिरित्यपि ।
विदन्ति प्रकृतिं तां मे त्रिगुणां तत्त्वदर्शिनः ॥ १३ ॥
नाना तत्त्वविभक्तां तां केचन ज्ञानिनो विदुः ।
तामेव प्रकृतिं केचिच्चतुर्विंशतिधा जगुः ॥ १४ ॥

मैंसे दो रूप प्रकट करके वे विद्यारूपसे सदा मेरी सेवामें रत रहती हैं और वे ज्ञानी जीवोंको मेरी ओर अग्रसर करती रहती हैं ॥ ७-९ ॥ वे ही पुनः अविद्यारूपसे जीवोंको अज्ञानबन्धनमें अहर्निश फंसाकर उनके बन्धन तथा जगत्की सृष्टि स्थितिका निश्चित कारण बनती हैं। हे श्रेष्ठ देवगण ! वास्तवमें केवल अपने आनन्दके प्रकाशके लिये ही मैं द्वैतरूपको धारण करता हूँ, इस बातको जानो। मेरे उस आनन्दका कारण महामाया ही है ॥ १०-१२ ॥ जिसको मेरी शक्तिरूपिणी और मूलप्रकृति भी कहते हैं । उस मेरी प्रकृतिको त्रिगुणमय करके तत्त्वदर्शिगण जानते हैं ॥ १३ ॥ कोई तत्त्वज्ञानी उसको नानातत्त्वोंमें विभक्त जानते हैं । कोई तत्त्वज्ञानी उसी प्रकृतिको चतुर्विंशतिभागमें

वस्तुतो मेऽष्टधा भिन्ना प्राधान्यात्प्रकृतिर्मता ।
जगत्प्रसविनी शक्तिर्युष्माभिरवधार्य्यताम् ॥ १५ ॥
अन्या चेतनमय्यस्ति प्रकृतिर्जीवमुक्तिदा ।
उक्ताष्टप्रकृतेर्भिन्ना यां हि पश्यन्ति योगिनः ॥ १६ ॥
मम प्रकृतिसम्भूतसंसारस्य सुरर्षभाः ! ।
सृष्टिः प्रवाहरूपेण ह्यनाद्यन्ता प्रकीर्तिता ॥ १७ ॥
अपि ब्रह्माण्डसङ्घस्यानन्तत्वे प्रकृतिर्मम ।
प्रतिब्रह्माण्डमेवासौ सृष्टिस्थितिलयान्खलु ॥ १८ ॥
स्वयं करोति दुर्ज्ञेया जीवैर्मद्वशवर्त्तिनी ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां रूपेणाऽहं सहायवान ॥ १९ ॥
सृष्टिस्थितिलये वर्त्ते प्रतिब्रह्माण्डमेव हि ।
स्वस्वशक्त्याश्रयान्नूनं त्रय एते हि हेतवः ॥ २० ॥
सृष्टिस्थितिलयानां वै भवन्ति सुरसत्तमाः ! ।
ब्रह्मा मच्छक्तिमाश्रित्य जीवकर्म्मानुसारतः ॥ २१ ॥

विभक्त कहते हैं ॥ १४ ॥ वास्तवमें प्रधानतः मेरी शक्तिरूपिणी जगत्प्रसविनी प्रकृति अष्टधा विभक्त है, सो आप जानें ॥ १५ ॥ और चेतनमयी प्रकृति जो जीवको मुक्त करती है, वह इससे अलग है जिसको योगी लोग उक्त आठ प्रकारकी प्रकृतिसे भिन्न देखते हैं ॥ १६ ॥ हे देवगण ! मेरी प्रकृतिसे उत्पन्न इस संसारकी सृष्टि प्रवाहरूपसे ही अनादि अनन्त कही गई है ॥ १७ ॥ ब्रह्माण्डसमूहके अनन्त होने पर भी प्रत्येक ब्रह्माण्डकी ही उत्पत्ति स्थिति और लय, जीवों के द्वारा दुर्ज्ञेया यह मेरी प्रकृति मेरे वशमें रहकर स्वयं ही करती है । प्रत्येक ब्रह्माण्डमें मैं ही ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे सृष्टि स्थिति और लयमें सहायक रहता हूँ । हे श्रेष्ठ देवगण ! वे ही तीनों अपनी अपनी शक्तिको आश्रय करके ही उत्पत्ति स्थिति और लयके कारण होते हैं । हे देवगण ! ब्रह्मा मेरी शक्तिका आश्रय लेकर जीवोंके पूर्वकर्म्मके अनुसार तथा

तथा स्वाभाविकं कर्म्मप्रवाहं प्रकृतेः सुराः ! ।
आश्रित्य तनुते नित्यं स्थावरं जङ्गमं जगत् ॥ २२ ॥
उद्भिदः स्वेदजस्याथ ह्यण्डजस्य तथा सुराः ! ।
जरायुजस्य मर्त्त्यानां पितॄणां भवतां तथा ॥ २३ ॥
तत्त्वज्ञानोपदेष्टॄणामृषीणां चैव सर्व्वशः ।
ब्रह्मैव कुरुते सृष्टिं महामायाप्रभावतः ॥ २४ ॥
इमे मन्मायया भ्रान्ताः सृष्टिचक्रे भ्रमन्त्यहो ।
यूयं सर्व्वेऽपि मन्मायामोहिताः स्थ विशेषतः ॥ २५ ॥
सृष्टिचक्रविवेकन्तु निबोधत समाहिताः ।
यमत्र सन्निधौ देवाः ! भवतां प्रब्रवीम्यहम् ॥ २६ ॥
सहस्रयुगपर्य्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ २७ ॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्व्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ २८ ॥

प्रकृतिके स्वाभाविक कर्म्म-प्रवाहका अवलम्बन करके स्थावर-जङ्गमात्मक संसारको सदा विस्तार करते हैं ॥ १८-२२ ॥ हे देवगण ! उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, मनुष्य, पितृ, देवता और तत्त्वज्ञानोपदेशक ऋषियोंकी, इन सब प्रकारकी सृष्टिको ब्रह्माजी ही महामायाके प्रभावसे करते हैं ॥ २३-२४ ॥ अहो ! मेरी मायासे भूले हुए ये सब सृष्टिचक्रमें घूमते रहते हैं। आप सब भी मेरी मायासे विशेष विमोहित हैं ॥ २५ ॥ हे देवतागण ! आपलोगोंके समीप जिस सृष्टिचक्रके विवेकको मैं यहाँ कहता हूँ उसको सावधान होकर समझो ॥ २६ ॥ सहस्रयुग पर्य्यन्त ब्रह्माका जो एक दिन उसको जो जानते हैं एवं सहस्रयुगान्ता जो रात्रि उसको जो जानते हैं वे लोग अहोरात्रवेत्ता हैं ॥ २७ ॥ ब्रह्माके दिनारम्भमें अव्यक्तसे सब व्यक्त (चराचर प्राणिमात्र) प्रादुर्भूत होते हैं एवं ब्रह्माकी रात्रिके

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशो देवाः ! प्रभवत्यहरागमे ॥ २९ ॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्व्वेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि न नश्यति ॥ ३० ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ३१ ॥
पुरुषः स परो देवो भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्व्वमिदं ततम् ॥ ३२ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि दृश्यतां योग ऐश्वरः ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ३३ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्व्वत्रगो महान् ।

प्रारम्भमें उसी अव्यक्तस्वरूपमें ही लीन होजाते हैं ॥ २८ ॥ हे देवगण ! वेही व्यक्त सचराचर सब प्राणिवर्ग वारंवार जन्म ग्रहण करके रात्रिके समागम होने पर लीन होते हैं एवं दिनके प्रारम्भमें (अपने अपने कर्म्मादिके) वश होकर उत्पन्न होते हैं ॥ २९ ॥ किन्तु उस व्यक्तभावसे भी श्रेष्ठ (उसका भी कारण) अतीन्द्रिय अनादि जो एक भाव है वह सकल प्राणियोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता है ॥ ३० ॥ जो अव्यक्त अर्थात् अतीन्द्रियभाव अक्षर कहा गया है उसको परम गति अर्थात् परमपुरुषार्थ कहते हैं, जिसको प्राप्त होकर पुनः प्रत्यावर्त्तित होना नहीं होता है वह मेराही परमधाम है ॥ ३१ ॥ हे देवगण ! जिसमें भूतगण (प्राणिमात्र) स्थित हैं एवं जो इस सकल जगत्में व्याप्त है वह परमपुरुष एकान्तभक्ति द्वारा ही प्राप्य है॥३२॥ मेरे ऐश्वरीय योगको देखो, सकलप्राणी मुझ में अवस्थित होकर भी अवस्थित नहीं हैं अर्थात् मैं उनसे निर्लिप्त हूँ, मैं भूतधारक और भूतपालक हूँ तथापि भूतगणमें मैं अवस्थित नहीं हूँ ॥ ३३ ॥ सर्व्वव्यापी और महान् वायु जिस प्रकार आकाशमें नित्य स्थित है सकल

तथा सर्व्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधार्य्यताम् ॥ ३४ ॥
सर्वभूतानि गीर्व्वाणाः ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ३५ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ३६ ॥
न च मां तानि कर्म्माणि निबध्नन्ति दिवौकसः ! ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु ॥ ३७ ॥
मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन वै देवाः ! जगद्विपरिवर्त्तते ॥ ३८ ॥
न मे विदुर्भवन्तो हि प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि वो देवाः ! महर्षीणाञ्च सर्वशः ॥ ३९ ॥
यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स सर्व्वत्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४० ॥

भूत भी वैसेही मुझमें अवस्थित हैं ऐसा समझो ॥ ३४ ॥ हे देवगण ! प्रलयकालमें सब भूतगण मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं एवं पुनः सृष्टिके प्रारम्भमें मैं उनको उत्पन्न करता हूँ ॥ ३५ ॥ मैं अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठान करके स्वभाववश होकर कर्म्मादि परवश इन समस्त भूतगणकी पुनः पुनः सृष्टि करता रहता हूँ ॥ ३६ ॥ हे देवगण ! उन सब कर्म्मोंमें अनासक्त और उदासीनवत् अवस्थित मुझको वे सब कर्म्म बन्धन नहीं करसक्ते हैं ॥ ३७ ॥ मेरे अधिष्ठानसे प्रकृति चराचर सहित विश्वको उत्पन्न करती है हे देवगण ! इस कारण जगत् बारंबार उत्पन्न होता है ॥ ३८ ॥ मेरा प्रभव (आविर्भाव) तुमको अवगत नहीं है, महर्षिगणको भी अवगत नहीं है क्योंकि मैं हे देवगण ! तुमलोगोंका और महर्षिगणका सर्व्व प्रकारसे आदि हूँ ॥ ३९ ॥ जो मुझको अनादि, जन्मरहित, और सकल लोकोंका महान् ईश्वर जानता है वह सब जगह मोहरहित होकर सकल

महर्षयः सप्त पूर्व्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ४१ ॥
एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ४२ ॥
बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च ॥ ४३ ॥
अहिंसा समता तुष्टिः स्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ४४ ॥
अहं सर्व्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ४५ ॥

देवा ऊचुः ॥ ४६ ॥

अनादिदेव ! सृष्टीनां कर्त्तः ! पालक ! हारक ! ।
प्रभो ! विश्वनियन्तर्नः कृपया कथयाऽधुना ॥ ४७ ॥

पापोंसे मुक्त होजाता है ॥ ४० ॥ भृगु आदि सात महर्षि और उनके पूर्व्ववर्त्ती सनकादि चार महर्षि तथा स्वायंभुवादि चौदह मनु ये सभी मेरे प्रभावसे युक्त हैं एवं मेरे हिरण्यगर्भरूपके सङ्कल्पमात्रसे ही उत्पन्न हैं, सब संसारके सब जीव उन्हींकी सृष्टि की हुई प्रजा है ॥ ४१ ॥ जो तत्त्वज्ञानके द्वारा मेरी उक्त विभूति एवं योगको जानता है वह अचल समाधिमें युक्त होता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ४२ ॥ बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (उद्भव), अभव (नाश) भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अयश, प्राणियोंके ये सब नाना प्रकारके भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ४३-४४ ॥ मैं सकल जगत्की उत्पत्तिका हेतु हूँ और मुझसे ही सब जगत् प्रवृत्तिको प्राप्त करता है यह जानकर विवेकिगण मेरे भावको प्राप्त होकर मेरा भजन करते हैं ॥ ४५ ॥

देवतागण बोले ॥ ४६ ॥

हे विश्वनियन्ता ! हे सृष्टिके कर्त्ता पालक और संहारक प्रभो !

इयं सृष्टिः किमाधारा तथाऽस्याः को नियामकः ।
आलम्ब्य कामिमे जीवाः परिणाममयीमिमाम् ॥ ४८ ॥
सृष्टिं जयन्तो ह्यर्हन्ति प्राप्तुं त्वां मोक्षदायिनं ।
ज्ञानानन्दप्रदं नित्यं भक्ताभीष्टफलप्रदम् ॥ ४९ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ५० ॥

धर्म्माधारा स्थिता सृष्टिः स एवास्या नियामकः ।
केवलं धर्म्ममेवैकमाश्रित्य जीवजातयः ॥ ५१ ॥
अग्रेसरा भवन्तीमा मां प्रत्येव न संशयः ।
ममानुशासनं धर्म्म इति तत्त्वविदो विदुः ॥ ५२ ॥
जगन्नियामिका शक्तिर्धर्म्मरूपाऽस्ति या मम ।
तया ह्यनन्तब्रह्माण्डान्यनन्ता लोकराशयः ॥ ५३ ॥
ऋषयः पितरो यूयं स्वस्वस्थाने स्थिताः सदा ।
रक्षन्ति सृष्टिमखिलामिति जानीत सत्तमाः ! ॥ ५४ ॥

अब कृपा करके यह बताइये कि यह सृष्टि किस आधारपर स्थित है और सृष्टिका नियामक कौन है और किसको अवलम्बन करके इस परिणाममय सृष्टिको जय करते हुए जीव, ज्ञानानन्दप्रद नित्य भक्ताभीष्टफलप्रद और मोक्षदायी आपको प्राप्त कर सकते हैं ॥ ४७-४९ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ५० ॥

सृष्टि धर्म्मके आधारपर स्थित है, सृष्टिका नियामक धर्म्म ही है और एकमात्र धर्म्मको ही अवलम्बन करके ये जीवगण मेरी ओर ही अग्रसर होते हैं इसमें सन्देह नहीं। मेरा अनुशासन धर्म्म है ऐसा तत्त्वज्ञ समझते हैं ॥ ५१-५२ ॥ मेरी जगन्नियामिका शक्तिरूप धर्म्मसे अनन्त ब्रह्माण्डसमूह, अनन्त लोकसमूह और ऋषि देवता पितृगण अपने २ स्थान पर सदा स्थित रहकर सम्पूर्ण सृष्टिकी रक्षा करते हैं, हे श्रेष्ठ देवगण! इसको जानो ॥ ५३-५४ ॥ हे देवगण !

धर्म्मे धारणरूपा या शक्तिरस्ति दिवौकसः ! ।
तयैव स्वस्वकक्षायामिमे सर्व्वे स्थिताः सदा ॥ ५५ ॥
ग्रहनक्षत्रप्रमुखा लोका ब्रह्माण्डकानि च ।
तयैव पितरो यूयमृषयश्च तथाऽसुराः ॥ ५६ ॥
रक्षन्तः पदमर्य्यादां स्वीयां लोकानवन्त्यलम् ।
यदा स्वधर्म्माच्च्यवथ विप्लवो जायते तदा ॥ ५७ ॥
अत्यन्तं येन लोकेषु नित्यं सीदन्ति प्राणिनः ।
अनन्तकोटिब्रह्माण्डयुक्तसृष्टिप्रवाहकः ॥ ५८ ॥
मत्स्थितः केवलं धर्म्ममेवैकमवलम्ब्य हि ।
वर्त्तते धर्म्म एवातो विश्वधारक ईरितः ॥ ५९ ॥
अनन्ता ये ग्रहाः सर्व्वे तथोपग्रहराशयः ।
ब्रह्माण्डशब्दनिर्व्वाच्यास्तथैवामरपुङ्गवाः ! ॥ ६० ॥
नानावैचित्र्यसंयुक्ता उद्भिज्जस्वेदजाण्डजाः ।
जरायुजा इमे नूनं भूतसङ्घाः समीरिताः ॥ ६१ ॥

मेरी धर्म्मकी धारिकाशक्तिद्वारा ही सब ब्रह्माण्ड और सब ग्रह नक्षत्र आदि लोकसमूह अपनी अपनी कक्षामें सदा स्थित रहते हैं और उसीके द्वारा ऋषि, पितृ, आपलोग और असुरगण भी अपनी अपनी पदमर्यादाकी रक्षा करते हुए संसारकी रक्षामें भलीभांति प्रवृत्त रहते हैं। आपलोग जब स्वधर्म्मसे च्युत होते हो तभी जगत्में विप्लव उपस्थित होता है ॥ ५५–५७ ॥ जिससे लोकोंमें प्राणिमात्र नित्य अत्यन्त क्लेश पाते हैं, मुझमें स्थित अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डयुक्त सृष्टिप्रवाह एकमात्र धर्म्मको अवलम्बन करके ही स्थित है इसी कारण धर्म्म विश्वधारक कहागया है ॥ ५८–५९ ॥ हे देवश्रेष्ठगण ! अनन्त ग्रहउपग्रहमय ब्रह्माण्ड और अनन्त विचित्र-तापूर्ण उद्भिज्ज स्वेदज अण्डज और जरायुजरूपी चतुर्विध भूतसंघ,

सर्वानेतान्विनिर्दिष्टे नियमे परिचालयन्।
एक एवाऽस्ति धर्म्मोऽतो जगतां स नियामकः॥ ६२॥
प्रकृतेर्मे वशं याता मूढा जीवगणा हि ये।
क्रमशो मां समायान्ति निश्चितं विबुधोत्तमाः!॥ ६३॥
विशिष्टचेतना जीवास्तद्वन्मामेव चाऽऽश्रिताः।
मां प्रत्यग्रेसराः सन्तो मामेवायान्ति वै क्रमात्॥ ६४॥
अतः कर्म्म द्विधा मुख्यं सहजं जैवमेव च।
तस्मात् कर्म्मविदो धीरा धर्म्मं कर्म्मेति संजगुः॥ ६५॥
एवं यज्ञस्तथा धर्म्म उभौ पर्य्यायवाचकौ।
कथितौ वेदनिष्णातैः शास्त्रज्ञैः शास्त्रविस्तरे॥ ६६॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन जीवा राध्यन्तामसावस्त्विष्टकामधुक्॥ ६७॥
भावयन्तु हि वोऽनेन भवन्तो भावयन्तु तान्।

इनसबको निर्दिष्ट नियम पर चलानेवाला एकमात्र धर्म्म है इस कारण धर्म्मको जगन्नियन्ता कहते हैं॥ ६०-६२॥ हे देवश्रेष्ठगण! मेरी प्रकृतिके अधीन रहकर मूढ़ जीवगण क्रमशः मुझको निश्चित ही प्राप्त होते हैं॥ ६३॥ और उसी प्रकारसे मुझे ही आश्रय करके विशिष्टचेतन जीवगण क्रमशः मेरी ओर अग्रसर होते हुए मुझको ही प्राप्त करते हैं॥ ६४॥ इसी कारण कर्म्म सहज और जैव रूपसे प्रधानतः दो प्रकारका कहाता है। कर्म्मके जाननेवाले महापुरुषगण इसीसे धर्म्मको कर्म्म नामसे अभिहित करते हैं॥ ६५॥ इसी प्रकार यज्ञ और धर्म्म दोनों पर्य्यायवाचक शब्द हैं इस बातको वेदनिष्णात शास्त्रज्ञोंने शास्त्रविस्तारमें कहा है॥ ६६॥ सृष्टिके प्रारम्भमें यज्ञके साथ ही साथ प्रजाओंको उत्पन्न करके प्रजापतिने कहा, "इससे जीवगण आराधना करें, यह उनलोगोंका अभीष्टप्रदानकारी हो" ॥ ६७॥ हे देवगण! जीवगण इसके द्वारा आपलोगोंको सम्वर्द्धित

परस्परं भावयन्तः श्रेयो देवाः ! अवाप्स्यथ ॥ ६८ ॥
इष्टान् भोगान् भवन्तो हि दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
अदत्त्वा वो भवद्दत्तान् यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ ६९ ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ ७० ॥
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥ ७१ ॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्ध ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्व्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ७२ ॥
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं देवाः ! स जीवति ॥ ७३ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्य्युपासते ।

करें और आपलोग उनको सम्वर्द्धित करें इसी प्रकार परस्पर सम्वर्द्धित होकर सब कल्याण प्राप्त करेंगे ॥ ६८ ॥ आपलोग यज्ञसे सम्वर्द्धित होकर उनको अभिलषित भोग प्रदान करेंगे इसलिये आपके दिये भोगोंको आपलोगोंको अर्पण किये विना ही जो भोगता है वह चोर ही है ॥ ६९ ॥ यज्ञका अवशिष्ट भोजन करनेवाले सज्जनगण सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो अपने ही लिये भोजन बनाते हैं वे पापिगण पापको ही भोजन करते हैं ॥ ७० ॥ जीवसमूह अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि होनेसे उत्पन्न होता है और यज्ञसे वृष्टि होती है एवं यज्ञ कर्म्म द्वारा सम्पन्न होता है ॥ ७१ ॥ कर्म्मको ब्रह्म (वेद) द्वारा उत्पन्न समझो और ब्रह्म (वेद) अक्षर (ब्रह्म) से उत्पन्न है इसलिये सर्व्वव्यापी ब्रह्म यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित है ॥ ७२ ॥ इस लोकमें जो इस प्रकार प्रवर्त्तित चक्रका अनुसरण नहीं करता है,हे देवगण!इन्द्रियासक्त पापजीवन वह व्यक्ति व्यर्थ जीता है ॥ ७३ ॥ कितने योगिगण दैवयज्ञकी ही उपासना करते हैं, कोई

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ ७४ ॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन् विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ ७५ ॥
सर्व्वाणीन्द्रियकर्म्माणि प्राणकर्म्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ७६ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ ७७ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ ७८ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥
सर्व्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ७९ ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

कोई यज्ञरूप उपाय द्वारा ब्रह्मरूपी अग्निमें यज्ञको सम्पन्न करते हैं ॥ ७४ ॥ और कोई २ योगी संयमरूपी अग्निमें अपनी श्रवण आदि इन्द्रियोंका हवन करते हैं और कितने योगिगण इन्द्रियरूपी अग्निमें शब्द आदि विषयोंको हवन करते हैं ॥ ७५ ॥ कितने योगिगण ज्ञानके द्वारा प्रज्वालित आत्मसंयमरूप योगाग्निमें सम्पूर्ण इन्द्रियकर्म्म और प्राणकर्म्मोंका हवन करते हैं ॥ ७६ ॥ कोई कोई द्रव्यदानरूपी यज्ञ, कोई तपोयज्ञ और कोई योगयज्ञके अनुष्ठाता हैं तथा नियममें दृढ़ रहनेवाले यतिगण स्वाध्याय और ब्रह्मज्ञानरूपी यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥ ७७ ॥ अन्य कोई कोई अपानमें प्राण और प्राणमें अपानका हवन करते हैं और इस प्रकारसे प्राण अपानकी गतिको जय करके प्राणायामपरायण होजाते हैं ॥ ७८ ॥ अन्य कोई कोई नियताहारी होकर प्राणमें प्राणको हवन करते हैं। यज्ञके द्वारा निष्पाप, यज्ञका अवशिष्ट अमृत भोजन करनेवाले सब यज्ञवेत्ता सनातन ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं। हे देवतागण ! जो लोग

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यस्त्रिदिवौकसः ! ॥ ८० ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्म्मजान् विद्धि तान् सर्व्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यते॥ ८१ ॥
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज् ज्ञानयज्ञोऽमृतान्धसः ! ।
सर्वं कर्म्माखिलं देवाः ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ८२ ॥
अश्रद्दधाना जीवा वै धर्म्मस्यास्य सुधाशनाः ! ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ८३ ॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ ८४ ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

यज्ञानुष्ठानसे रहित हैं न उनका इहलोक है और न उनका परलोक ही है॥७९-८०॥ ब्रह्मके जाननेवालोंके मुखसे इसप्रकारसे बहुप्रकारके यज्ञोंका विस्तार हुआ है उन सबको कर्म्मसे उत्पन्न जानो, ऐसा जानकर तुम मुक्तिको प्राप्त होगे॥ ८१ ॥ हे अमृतभोजी देवतागण ! द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञानमें ही सब कर्म्मोंकी पूर्ण-रूपसे परि समाप्ति हुआ करती है ॥८२॥ हे सुधाके पान करनेवाले देवतागण ! इस धर्म्ममें अश्रद्धा करनेवाले जीवगण मुझको न प्राप्त करके मृत्युमय संसारमार्गमें लौट आते हैं ॥८३॥ वेदत्रयके अनुसार कर्म्मकाण्डपरायण अर्थात् सकामकर्मीगण यज्ञद्वारा मेरा यजन करके (यज्ञशेषरूपी) सोमपान करते हुए और निष्पाप होते हुए स्वर्गगतिकी प्रार्थना करते हैं, वे लोग पुण्यस्वरूप इन्द्रलोकमें पहुंच कर वहां दिव्य देवभोगसमूह भोग करते हैं॥ ८४ ॥ वे उन विपुल स्वर्गसुखसमूहको भोग करनेके अनन्तर पुण्य क्षीण होने-

एवं त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना-
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ ८५ ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ ८६ ॥
सम्पत्तिमासुरीं प्राहुरधर्म्मस्य विवर्द्धिनीम् ।
धर्म्मप्रवर्द्धिनीं दैवीं सम्पत्तिं तद्वदेव हि ॥ ८७ ॥
तस्मात्सर्व्वैर्हि युष्माभिर्देवैः श्रेयोऽभिकाङ्क्षिभिः ।
कर्त्तव्य आश्रयो दैव्याः सम्पत्तेरेव सर्वदा ॥ ८८ ॥
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ ८९ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ ९० ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

पर मृत्युलोकमें लौट आते हैं और वेदत्रयविहित धर्म्मोंको अवलम्बन करके भोगकी इच्छा करते हुए (आवागमनचक्रमें) आया जाया करते हैं ॥ ८५ ॥ मैंही सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूँ परन्तु वे लोग मेरे यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते हैं इस कारण उनकी पुनरावृत्ति होती है ॥ ८६ ॥ आसुरी सम्पत्तिको अधर्म्म वर्द्धिनी कहते हैं और उसी प्रकार दैवी सम्पत्तिको धर्म्मवर्द्धिका कहते हैं इस कारण सर्वदा कल्याण चाहनेवाले आप सबको दैवी सम्पत्तिका ही आश्रय लेना उचित है ॥ ८७-८८ ॥ हे देवतागण ! भयशून्यता, चित्तकी प्रसन्नता, आत्मज्ञानके उपायोंमें निष्ठा, दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोधका न होना, त्याग, शान्ति, खलताका त्याग, सब भूतोंपर दया, लोभका त्याग, अहङ्कारका त्याग, ह्री अर्थात् पापकर्म्मसे लज्जा, चपलताका त्याग, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य्य, शौच, द्रोहका त्याग और अपने

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य निर्ज्जराः ! ॥ ९१ ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानश्चाभिजातस्य देवाः ! सम्पदमासुरीम् ॥ ९२ ॥
दैवी सम्पाद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
नैव शोचत भो देवाः ! दैवीं सम्पदमास्थिताः ॥ ९३ ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं शृणुतामराः ! ॥ ९४ ॥
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ९५ ॥
असत्यमप्रतिष्ठञ्च जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ ९६ ॥

पूज्य होनेके अभिमानका अभाव, ये सब धर्म्मवृत्तियां दैवी सम्पत्ति-वाले व्यक्तियोंमें हुआ करती हैं॥ ८६-९१ ॥ हे देवगण ! दम्भ, दर्प, अहङ्कार, क्रोध, निष्ठुरता, अविवेक, ये सब पाप सम्बन्धीय वृत्तियां आसुरी सम्पत्तिवाले व्यक्तियोंमें हुआ करती हैं ॥ ९२ ॥ दैवी सम्पत्तियां मोक्षका कारण होती हैं और आसुरी सम्पत्तियां बन्धनका कारण हुआ करती हैं। इस कारण हे देवतागण ! आपलोग चिन्ता ही न करो क्योंकि आपलोग दैवी सम्पत्तिमें स्थित हो ॥ ९३ ॥ हे अमरगण ! इस संसारके प्राणियोंमें दैवीभाव और आसुरीभाव रूपसे दोप्रकारकी सृष्टि है। इनमेंसे दैवी भावका विस्तारित विवरण कहागया है अब आसुरी भावका विवरण मुझसे सुनो॥९४॥ आसुरी प्रकृत्ति वाले व्यक्तिगण प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंको नहीं जानते हैं इस कारण उनमें न शौच है न आचार है और न सत्यहै॥९५॥ वे असुरभावापन्न लोग कहते हैं कि यह जगत् असत्य है, धर्म्माधर्म्म व्यवस्थाशून्य अप्रतिष्ठ है, ईश्वर शून्य है, विनापरम्परा सम्बन्धके यूंही अचानक उत्पन्न हुआ है, इसका और कुछभी कारण नहीं है केवल

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्म्माणः क्षयायं जगतोऽहिताः ॥ ९७ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वा सद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ ९८ ॥
चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ९९ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १०० ॥
इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १०१ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥ १०२ ॥

स्त्री पुरुषके कामसे उत्पन्न है ॥ ९६ ॥ ये सब अल्पबुद्धि असुरगण ऐसे विचारोंको आश्रय करके मलिनचित्त उग्रकर्मा और अहितकारी होकर जगत्के नाशके लिये उत्पन्न होते हैं ॥ ९७ ॥ वे लोग पूर्ण नहीं होनेवाली कामनाओंको आश्रय करके, दम्भ अभिमान और गर्वसे युक्त होकर, मोहसे दुराग्रहोंको धारण करके अपवित्र व्रतोंको धारण करते हुए (अकार्य्योंमें) प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥ ९८ ॥ मरणकाल-पर्य्यन्त व्यापिनी अपरिमित चिन्ताको आश्रय करते हुए कामभोग-परायण होकर "यह कामभोगही परमपुरुषार्थ है" ऐसा निश्चय करते हुए सैकड़ों आशारूपी पाशोंमें बंधकर और कामक्रोधपरायण होते हुए वेलोग कामभोगके लिये अन्यायपूर्व्वक अर्थसञ्चयकी इच्छा करते हैं ॥९९-१००॥ आज मुझको यह लाभ हुआ, यह मनोरथ प्राप्त होगा, मेरा यह धनहै और यह धन भी मेरा होगा, मेरे द्वारा इस शत्रुका नाश हुआ है, और शत्रुओंका भी नाश करूंगा, मैं ईश्वर हूं, मैं भोगी हूं, मैं सिद्ध हूं, मैं बलवान् हूं, मैं सुखी हूँ, मैं धनवान् हूं, मैं कुलीन हूं, मेरे समान

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १०३ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १०४ ॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १०५ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १०६ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारे प्राणिनोऽधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १०७ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव गीर्वाणास्ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ १०८ ॥

और कौन है, मैं यज्ञ करूंगा, मैं दान करूँगा, मैं हर्षको प्राप्त होऊंगा इस प्रकारसे वे अज्ञानसे विमोहित व्यक्तिगण अनेक विषयोंमें अपने चित्तको फसाये हुए विक्षिप्त रहते हैं और मोहमय जालसे आवृत होकर और कामभोगमें आसक्त होकर अपवित्र नरकमें पड़ते हैं ॥ १०१–१०४ ॥ अपने आपकोही बड़े और पूज्य मानते हुए, अविनयी, धनादिकके अभिमानसे अभिमानित और गर्वित होकर वे दम्भके साथ नाममात्रके यज्ञोंद्वारा अविधिपूर्व्वक यजन किया करते हैं ॥ १०५ ॥ अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधको अवलम्बन करते हुए अपने देहमें और औरोंके देहमें रहनेवाला जो मैं हूँ उससे द्वेष करते हुए सच्चे पथके चलनेवाले साधुलोगोंके गुणोंकी निन्दा किया करते हैं ॥ १०६ ॥ मैं संसारमें मेरी हिंसा करनेवाले इन सब क्रूर अधम अशुभ व्यक्तियोंको आसुरीयोनियोंमें ही निरन्तर गिराया करता हूँ ॥१०७॥ हे देवतागण! वे मूढ़गण जन्म जन्ममें आसुरीयोनि प्राप्त करके मुझे प्राप्त न करकेही और भी अधमगतिको प्राप्त होते हैं ॥१०८॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ १०९ ॥
एतैर्विमुक्तो जीवस्तु तमोद्वारैस्त्रिभिः खलु।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ ११० ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ १११ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं वः कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हथ॥ ११२ ॥
दैवीभावस्य रक्षायै आसुरीभावतो भयात्।
मयैव वर्णधर्म्मस्य कृता सृष्टिर्दिवौकसः!॥ ११३ ॥
प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्म्मः सत्त्वविवर्द्धकः।
स्वधर्म्मरक्षकस्तद्वद्दैवीसम्पत्प्रवर्त्तकः॥ ११४ ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च सुधाभुजः!।

काम, क्रोध और लोभ, नरकके ये तीन प्रकारके द्वार हैं, ये तीनों आत्मज्ञानके नाशक हैं इस कारण इन तीनोंको त्याग कर देना चाहिये ॥ १०९ ॥ नरकके द्वाररूपी इन तीनोंसे ही विमुक्त जीव अपना मङ्गल करनेवाला आचरण करता है और तदन्तर परमगतिरूपी मोक्षको प्राप्त करता है ॥ ११० ॥ जो व्यक्ति शास्त्रविधिको त्याग करके स्वेच्छानुकूल कार्य्य में प्रवृत्त होता है वह सिद्धि शान्ति और मोक्षको प्राप्त नहीं हो सक्ता ॥ १११ ॥ इस कारण इस विश्वमें यह कार्य्य है और यह अकार्य्य है इसकी व्यवस्था करनेमें शास्त्रही आपके लिये प्रमाण है। शास्त्र-विधानोक्त कर्म्मको जानकर उसको कर सक्ते हो ॥ ११२ ॥ हे देव-गण! आसुरी भावके भयसे दैवी भावकी रक्षा करनेके लिये मैंने ही वर्णधर्म्मकी सृष्टि की है ॥ ११३ ॥ वर्णधर्म्म प्रवृत्तिरोधक सत्त्वगुण-वर्द्धक स्वधर्म्मरक्षक और दैवीसम्पत्तिप्रवर्त्तक है ॥ ११४ ॥ हे देवगण! ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रगणके कर्म्मसमूह पूर्व

कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ११५ ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म्म स्वभावजम् ॥ ११६ ॥
शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म्म स्वभावजम् ॥ ११७ ॥
कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म्म स्वभावजम् ।
परिचर्य्यात्मकं कर्म्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ११८ ॥
स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभतेऽखिलाः ।
स्वकर्म्मनिरतः सिद्धिं श्रूयतां विन्दते यथा ॥ ११९ ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति साधकः ॥ १२० ॥
श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥१२१ ॥

जन्म के संस्कार से उत्पन्न गुण द्वारा विशेषरूपसे विभक्त हैं ॥११५॥ शम, दम, तपस्या, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य, ये सब ब्राह्मणगण के स्वाभाविक कर्म्म हैं ॥ ११६ ॥ शौर्य्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धसे नहीं भागना, दान और प्रभुताकी शक्ति, ये सब क्षत्रियजातिके स्वाभाविक कर्म्म हैं ॥ ११७ ॥ कृषि, पशुपालन और वाणिज्य, ये वैश्यजातिके स्वाभाविक कर्म्म हैं और परिचर्य्यात्मक कर्म्म शूद्रजातिका भी स्वाभाविक कर्म्म है ॥ ११८ ॥ अपने अपने कर्म्ममें निष्ठावान् सब व्यक्ति सिद्धिको प्राप्त करते हैं। स्वकर्ममें निरत व्यक्ति जिस प्रकार से सिद्धिको प्राप्त करता है सो सुनो ॥११९॥ जिनसे जीवोंकी प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टाका उदय होता है और जो इस सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हैं, स्वकर्म्मके द्वारा साधक उनकी अर्चना करके सिद्धि प्राप्त करता है॥ १२० ॥ अपना धर्म्म यदि सदोष भी हो तो वह पूर्णरूपसे अनुष्ठित परधर्म्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि स्वभावसे निश्चित कर्म्मको करताहुआ जीव पापको प्राप्त नहीं होता है ॥ १२१ ॥

सहजं कर्म्म विबुधाः ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥१२२॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति ॥ १२३ ॥
विशिष्टचेतना जीवाः सुराः ! त्रिगुणभेदतः ।
चतुर्ष्वेवाऽधिकारेषु विभक्ताः सन्ति सर्व्वदा ॥ १२४ ॥
राक्षसा असुरा देवाः कृतविद्याश्च ते मताः ।
केवलं तम आश्रित्य विपरीतं प्रकुर्व्वते ॥ १२५ ॥
कर्म्म तान्राक्षसानाहुर्गुणभेदविदो बुधाः ।
रजोद्वारेण ये जीवा इन्द्रियासक्तचेतसः ॥ १२६ ॥
तमःप्रधानं विषयबहुलं कर्म्म कुर्व्वते ।
असुरास्ते समाख्याता देवाञ्छृणुत देवताः ! ॥ १२७ ॥
रजःसाहाय्यमाश्रित्य कर्म्म सत्त्वप्रधानकम् ।

हे देवतागण ! सदोष होनेपर भी सहज अर्थात् स्वभावसे उत्पन्न कर्म्मको त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि जिसप्रकार अग्निको धूम ढककर रहता है उसी प्रकार सब कर्म्मही दोषसे आवृत हैं ॥१२२॥ सब विषयोंमें अनासक्तबुद्धि, जितात्मा और इच्छारहित व्यक्ति सन्न्यास अर्थात् आसक्ति और कर्म्मफलके त्याग द्वारा परमोन्नत नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त करता है ॥१२३॥ हे देवतागण ! त्रिगुणके भेदसे विशिष्टचेतन जीव सर्वदा चारही अधिकारोंमें विभक्त हैं॥ १२४ ॥ उन्हींको राक्षस असुर देवता और कृतविद्य कहते हैं। केवल तमोगुणके आश्रित होकर जो विपरीत कर्म्म करते हैं उनको गुणभेदके जाननेवाले विद्वान्लोग राक्षस कहते हैं। जो जीव इन्द्रियासक्त चित्त होकर रजोगुणके द्वारा तमोन्मुख विषयबहुल कर्म्म करते हैं वे असुर हैं। देवाधिकारके जीवोंका लक्षण सुनो, जो विषयवासना रखते हुए रजकी सहायता लेकर सत्त्वो-

विषयाच्छन्नमतयः कुर्व्वते ते विचक्षणाः ॥ १२८ ॥
शुद्धसत्वे स्थिता ये स्युः कृतविद्या मतास्तु ते।
अहं तु कृतविद्येषु ह्यादर्शोऽस्मि सुरर्षभाः ! ॥ १२९ ॥
यतो विद्या ममाधीना वर्त्तते सन्ततं ध्रुवम्।
दृष्टिश्चेद् युष्मदीया मां प्रत्येव सततं भवेत् ॥ १३० ॥
तदा वश्च्यवनं नैव भयं वा न भविष्यति।
उन्नतिः क्रमशो नूनं युष्माकं च भविष्यति ॥ १३१ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
देवविष्णुसम्वादे सृष्टिसृष्टिधारकयोगवर्णनं
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

न्मुख कर्म्ममें प्रवृत्त होते हैं वे विचक्षण व्यक्ति देवता कहलाते हैं ॥१२५-१२८॥ और जो शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित हैं वे कृतविद्य कहाते हैं। हे देवतागण ! मैं ही कृतविद्योंका आदर्श हूँ क्योंकि विद्या सदा मेरे अधीन ही रहती है। हे देवतागण ! यदि आपलोगोंकी दृष्टि सदा मेरी ही ओर रहे तो आपलोगोंका न पतन होगा और न आपको भय होगा और आपलोगोंकी क्रमशः उन्नति अवश्य होगी ॥ १२९-१३१ ॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग शास्त्रमें
देव महाविष्णु सम्वादात्मक सृष्टिसृष्टिधारकयोगवर्णन
नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

गुणभावविज्ञानयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

देवादिदेव ! धर्म्माभिप्रवर्त्तक ! महाप्रभो ! ।
लोकोत्तरगतिं तद्वद्रहस्यं परमाद्भुतम् ॥ २ ॥
ज्ञात्वा धर्म्मस्य जाताः स्मः कृतकृत्या वयं विभो ! ॥
जगद्गुरो ! चतुर्भेदा भेदतस्त्रिगुणस्य ये ॥ ३ ॥
विशिष्टचेतनापन्नजीवानां कथितास्त्वया ।
त्रिगुणानां हि तेषां वै स्वरूपं गुणभेदतः ॥ ४ ॥
धर्म्माङ्गानाञ्च सर्वेषामाचाराणां तथा प्रभो ! ।
वर्णयन्नः प्रधानानां भेदानुपदिशाखिलान् ॥ ५ ॥
येन द्रष्टुं वयं सर्वे भवन्तं शक्नुमः सदा ।
भावातीतं गुणातीतमवाङ्मनसगोचरम् ॥ ६ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे देवादिदेव ! हे धर्म्मके प्रवर्त्तक ! हे महाप्रभो ! हे विभो ! धर्म्म-की लोकोत्तर गति और परम अद्भुत रहस्य समझकर हमलोग कृत्यकृत्य हुए। हे जगद्गुरो ! त्रिगुणके भेदसे आपने विशिष्टचेतन जीवोंके जो चार भेद वर्णन किये हैं, हे प्रभो ! उन्हीं त्रिगुणोंका स्वरूप और त्रिगुणोंके विचारसे धर्म्मके सब अङ्गों और प्रधान आचारोंके सम्पूर्ण भेदोंका वर्णन करते हुए हमको ऐसा उपदेश देवें कि जिससे हम सब भावोंसे अतीत, गुणोंसे अतीत और मन वाणीसे अगोचर आपको हरसमय देखनेका सामर्थ्य प्राप्त कर सकें ॥ २-६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ७ ॥

लीनाऽव्यक्तदशायां मे प्रकृतिर्मयि सर्वदा ।
तथा व्यक्तदशायां सा प्रकटीभूय सर्वतः ॥ ८ ॥
त्रिगुणानां तरङ्गेषु स्वभावाद्धि तरङ्गति ।
नैवात्र संशयः कोऽपि वर्त्तते विबुधर्षभाः ! ॥ ९ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति सुपर्व्वाणो देहे देहिनमव्ययम् ॥ १० ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघाः ! ॥ ११ ॥
रजो रागात्मकं वित्त तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति भो देवाः ! कर्म्मसङ्गेन देहिनम् ॥ १२ ॥
तमस्त्वज्ञानजं वित्त मोहनं सर्व्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति निर्ज्जराः ! ॥ १३ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ७ ॥

मेरी प्रकृति अव्यक्त दशामें मुझमें सर्व्वदा लीन रहती है और व्यक्त दशामें वह प्रकट होकर स्वभावसेही त्रिगुण तरङ्गसे सब ओर तरङ्गित होने लगती है। हे देवतागण! इसमें कुछ सन्देह नहीं है॥८-९॥ हे देवतागण! सत्त्व रज और तम ये तीन गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होकर देहोंमें स्थित निर्विकार देहीको आबद्ध किया करते हैं॥१०॥ हे पापरहितो! इन तीनों गुणोंमेंसे निर्मल होनेके कारण, प्रकाशक और दोषरहित सत्त्वगुण सुखासक्तिके द्वारा और ज्ञानसंगके द्वारा बद्ध करता है ॥ ११ ॥ हे देवतागण ! रजोगुणको रागात्मक, और तृष्णासक्तिसे उत्पन्न जानना, वह देहीको कर्म्मासक्तिके द्वारा आबद्ध किया करता है ॥ १२ ॥ हे देवतागण ! तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न और सब प्राणियोंमें भ्रम उत्पन्न करनेवाला जानो, वह प्रमाद अनुद्यम और चित्तकी अवसन्नताके द्वारा देहीको आबद्ध करता है।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्म्मणि चामराः ! ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ १४ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं प्रभु भवत्यलम् ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १५ ॥
सर्व्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ १६ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्म्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे विबुधर्षभाः ! ॥ १७ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे सुरसत्तमाः ! ॥ १८ ॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १९ ॥

॥ १३ ॥ हे देवतागण ! सत्त्वगुण जीवको सुखमें आबद्ध करता है, रजोगुण कर्म्ममें आवद्ध करता है और तमोगुण ज्ञानको आवरण करके प्रमादमें आबद्ध करता है ॥ १४ ॥ रज एवं तमोगुणको दबा करके सत्त्वगुण बलवान् होता है, सत्त्व एवं तमोगुणको परास्त करके रजोगुण प्रबल होता है और सत्त्व एवं रजोगुणको दबाकरके तमोगुण प्रबल होता है ॥ १५ ॥ जब इस देहमें श्रोत्रादि सब द्वारोंमें ज्ञानमय प्रकाश होता है तब सत्त्वगुणकी विशेष वृद्धि हुई है ऐसा जानना चाहिये ॥ १६ ॥ हे देवतागण ! लोभ, प्रवृत्ति अर्थात् सर्व्वदा सकाम कर्म्म करनेकी इच्छा, कर्म्मोंका आरम्भ अर्थात् उद्यम, अशम अर्थात् अशान्ति एवं स्पृहा अर्थात् विषयतृष्णा, ये सब रजोगुण बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥ हे देवश्रेष्ठो ! विवेकभ्रंश, उद्यमहीनता, कर्त्तव्यके अनुसन्धानका न रहना और मिथ्या अभिमान ये सब तमोगुणके बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥ यदि सत्त्वगुणके विशेषरूपसे बढ़नेपर जीव मृत्युको प्राप्त हो तब वह ब्रह्मवेत्ताओंके प्रकाशमय लोकोंको प्राप्त होता है अर्थात् उसकी उत्तम गति होती है ॥ १९ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्म्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते ॥ २० ॥
कर्म्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ २१ ॥
सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ २२ ॥
ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ २३ ॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २५ ॥

रजोगुणकी वृद्धिके समय मृत्यु होनेपर कर्म्मासक्त मनुष्यलोकमें जन्म होता है एवं तमोगुण बढ़नेपर मृतव्यक्ति (पशु प्रेत आदि) मूढ़ योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २० ॥ सुकृत अर्थात् सात्त्विक कर्म्मका सात्त्विक और निर्मल फल है, राजसकर्म्मका फल दुःख और तामस कर्म्मका फल अज्ञान अर्थात् मूढ़ता है, ऐसा ज्ञानीलोग कहते हैं ॥ २१ ॥ सत्त्वसे ज्ञानोत्पत्ति होती है,रजसे लोभ उत्पन्न होता है और तमोगुणसे प्रमाद अविवेक और अज्ञान उत्पन्न होता है ॥ २२ ॥ सत्त्वप्रधान व्यक्ति उर्द्ध्वलोकको जाते हैं, रजोगुण प्रधान व्यक्ति मध्यलोकमें रहते हैं और निकृष्टगुणावलम्बी तामसिक व्यक्ति अधोलोकमें जाते हैं ॥ २३ ॥ जब ज्ञानी व्यक्ति गुणके अतिरिक्त और किसीको कर्त्ता करके नहीं देखता है और गुणसे परे जो गुणका दर्शक आत्मा है उसको जानता है वह मुझको प्राप्त होजाता है ॥ २४ ॥ देहसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंको अतिक्रमण करके जन्ममृत्युजरारूप दुःखोंसे

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च निर्जराः !
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २६ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २७ ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २८ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्व्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २९ ॥
माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३० ॥

मुक्त होकर देही परमानन्दको प्राप्त हो जाता है॥२५॥ हे देवतागण ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (तीनों गुणोंके यथाक्रम कार्य्य) से सब गुणकार्य्य प्रारम्भ होनेपर जो व्यक्ति द्वेष नहीं करता है और इनके निवृत्त होनेपर जो इनमें इच्छा नहीं रखता है वह गुणातीत कहाता है ॥ २६ ॥ जो उदासीन अर्थात् केवल साक्षीरूपसे स्थित है और गुणोंसे जो विचलित नहीं होता है और गुणसमूह अपना अपना कार्य्य करते हैं ऐसा समझकर जो स्थिर रहता है और स्वयं चेष्टा नहीं करता है वह गुणातीत कहाता है ॥ २७ ॥ जिसको सुखदुःख समान हैं, जो आत्मामें अवस्थित है, जिसके लिये मिट्टीका ढेला पत्थर और सुवर्ण सब समान हैं, जिसके निकट प्रिय और अप्रिय दोनों समान हैं, जिसने अपनी इन्द्रियोंको जय करलिया है और जिसके निकट निन्दा और स्तुति दोनों समान हैं वह गुणातीत कहाता है ॥ २८ ॥ जो मान अपमान में समभाव रखता है, जो मित्र और शत्रुके विषयमें समभाव रखता है और सब कर्म्मोंके आरम्भका त्याग करनेवाला है अर्थात् जो नवीन कर्म्म नहीं करता वह गुणातीत कहाता है ॥ २९ ॥ और जो एकान्त भक्तियोगके द्वारा मेरी सेवा करता है वह इन गुणोंको विशेषरूपसे अतिक्रमण करके

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ ३१ ॥
धर्म्मस्य साम्प्रतं देवाः ! विशेषाणां ब्रवीम्यहम्।
अङ्गानां त्रिविधं रूपं युष्माभिरवधार्य्यताम् ॥ ३२ ॥
यज्ञो दानं तपस्त्रीणि धर्म्माङ्गानि प्रधानतः।
तेषु यज्ञः प्रधानं स्यात्तस्य भेदास्त्रिधा मताः ॥ ३३ ॥
ज्ञानोपासनकर्म्माणि यदुक्तानि मनीषिभिः।
सर्वशास्त्रेषु निष्णातैस्तत्त्वज्ञानाब्धिपारगैः ॥ ३४ ॥
विशिष्टचेतनायुक्ता नराद्या जीवजातयः।
स्वस्वाभाविकयोः सौख्यैश्वर्य्ययोस्त्यागतो ध्रुवम् ॥ ३५ ॥
अदृष्टशक्तिं परमां यां लभन्ते सुरर्षभाः !।
तमेव यज्ञं संप्राहुः सर्व्वे तत्त्वविवेचकाः ॥ ३६ ॥
एतेषामेव सर्वेषामङ्गानां क्रमशः सुराः !।
शृणुध्वं त्रिविधान् भेदान् वच्म्यहं गुणभेदतः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥ क्योंकि मैं नित्यस्थित और मोक्ष-स्वरूप ब्रह्मके प्रतिष्ठा (स्थिति) का स्थान हूं, मैंही सनातनधर्म्म और ऐकान्तिक सुखका स्थान हूं ॥ ३१ ॥ हे देवतागण ! अब मैं धर्म्मके विशेष विशेष अङ्गोंका त्रिविध स्वरूप वर्णन करता हूं आपलोग ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ ३२ ॥ धर्म्मके प्रधान तीन अंग हैं, यज्ञ तप और दान। उनमें मुख्य अङ्ग जो यज्ञ है उसके तीन भेद हैं ॥३३॥ ज्ञान कर्म्म और उपासना, इस बातको सर्वशास्त्रनिष्णात तत्त्वज्ञानी पण्डितोंने कहा है ॥ ३४ ॥ हे देवतागण ! विशिष्टचेतन मनुष्य आदि जीवगण अपने स्वाभाविक सुख और ऐश्वर्य्यके त्याग द्वारा जो परम अदृष्ट शक्ति अवश्य प्राप्त करते हैं उसीको तत्त्वविवेचक लोग 'यज्ञ कहते हैं ॥ ३५-३६ ॥ हे देवतागण ! इन्हीं सब अङ्गोंके त्रिविध भेदोंको क्रमशः बतलाता हूं, आपलोग समाहितचित्त होकर सुनिये ॥ ३७ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ४० ॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं सुराः ! ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ ४१ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ ४२ ॥
मूढ़ग्राहेणात्मनो यत् पीड़या क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थम्वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ४३ ॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।

"दान करना उचित है" इस विचारसे देश काल और पात्रकी विवेचना करके प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ व्यक्तिको जो दान किया जाता है वह सात्त्विदान कहा गया है ॥ ३८ ॥ किन्तु जो दान प्रत्युपकारके लिये अथवा फलकी चाहना करके कष्टपूर्वक दिया जाता है उस दानको राजस दान कहते हैं ॥ ३९ ॥ देश और कालकी विवेचना न करके, सत्कारशून्य और तिरस्कारपूर्वक अपात्रोंको जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहाता है ॥ ४० ॥ हे देवगण ! आत्मामें अवस्थित व्यक्तियोंके द्वारा परम श्रद्धापूर्वक और फल-कामना रहित होकर अनुष्ठित शारीरिक वाचनिक और मानसिक तपको सात्त्विक कहते हैं ॥ ४१ ॥ सत्कार मान और पूजाके लिये एवं दम्भपूर्वक जो तपस्याकी जाती है इस लोकमें अनित्य और क्षणिक वह तपस्या राजस कही जाती है ॥ ४२ ॥ अविवेकके वश होकर दूसरोंके नाशके अर्थ वा आत्मपीड़ाके द्वारा जो तपस्या की जाती है उसको तामस कहते हैं ॥ ४३ ॥ निष्काम व्यक्तियोंके

अफलप्रेप्सुना कर्म्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ ४४ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म्म साहङ्कारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ ४५ ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ ४६ ॥
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥ ४७ ॥
रागी कर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥ ४८ ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥ ४९ ॥
उपास्तेः प्राणरूपा या भक्तिः प्रोक्ता दिवौकसः ! ।
गुणत्रयानुसारेण सा त्रिधा वर्त्तते ननु ॥ ५० ॥

द्वारा नियमितरूपसे विहित, आसक्तिशून्य और रागद्वेषरहित होकर जो कर्म्म किया जाता है उसे सात्त्विक कर्म कहते हैं ॥ ४४ ॥ फलाकाङ्क्षी या अहङ्कारयुक्त व्यक्तियोंके द्वारा बहुत आयाससे जो कर्म्म कियाजाता है उसको राजस कहते हैं ॥ ४५ ॥ परिणाममें बन्धन, नाश, हिंसा और सामर्थ्य इन सबकी उपेक्षा करके मोहवश जो कर्म प्रारम्भ किया जाता है उसको तामस कहते हैं ॥ ४६ ॥ आसक्तिशून्य, "अहं" इस अभिमानसे शून्य, धैर्य्य और उत्साहयुक्त, सिद्धि और असिद्धिमें विकारशून्य कर्त्ता सात्त्विक कहाजाता है ॥ ४७ ॥ विषयानुरागी, कर्मफलाकाङ्क्षी, लोभी, हिंसाशील, अशुचि, (लाभालाभमें) आनन्द और विषादयुक्त कर्ता राजस कहा जाता है ॥ ४८ ॥ इन्द्रियासक्त, विवेकहीन, उद्धत, शठ, निष्कृतिशून्य, आलस्य युक्त, विषाद युक्त और दीर्घसूत्री कर्त्ता तामस कहा जाता है ॥४९॥ हे देवगण! उपासना की जो प्राणरूपा भक्ति कही गई है वह भक्ति तीन गुणोंके अनुसार निश्चय तीन प्रकारकी है ॥ ५० ॥

अर्त्तानां तामसी सा स्याज्जिज्ञासूनाञ्च राजसी।
सात्त्विक्यर्थार्थिनां ज्ञेया उत्तमा सोत्तरोत्तरा ॥ ५१ ॥
भूतप्रेतपिशाचादीनासुरं भावमाश्रितान्।
अर्चन्ति तामसा भक्ता नित्यं तद्भावभाविताः ॥ ५२ ॥
सकामा राजसा ये स्युः ऋषीन् पितॄंश्च देवताः।
बह्वीर्दैवीश्च मे शक्तीः पूजयन्तीह ते सदा ॥ ५३ ॥
केवलं सात्त्विका ये स्युर्मद्भक्ताः साधका इह।
त एव ज्ञात्वा मद्रूपं मम भक्तौ सदा रताः ॥ ५४ ॥
पञ्चानां सगुणानां ते मद्रूपाणां समाश्रयात्।
मद्ध्यानमग्नास्तिष्ठन्ति निर्गुणं ह्यथवा मम ॥ ५५ ॥
सच्चिदानन्दभावं तं भावं परममाश्रिताः।
मम ध्यानाम्बुधौ मग्ना नन्दन्ति नितरां सुराः ! ॥ ५६ ॥
ज्ञानी भक्तस्तु भगवद्रूप एव मतो यतः।
गुणातीतस्य तस्यात्र न निवेशो विधीयते ॥ ५७ ॥

आर्त्तभक्तोंकी भक्ति तामसी, जिज्ञासु भक्तोंकी भक्ति राजसी और अर्थार्थी भक्तोंकी भक्ति सात्त्विकी जानना चाहिये। इन तीन प्रकारकी भक्तियोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है ॥ ५१ ॥ तामसिक भक्त आसुरीसम्पत्तियुक्त भूत प्रेत पिशाचादिकी उपासना तत्तद्भावोंमें भावित होकर नित्य करते हैं ॥५२॥ सकाम राजसिक भक्त ऋषि देवता और पितर एवं मेरी बहुतसी दैवीशक्तियोंकी उपासना सदा करते हैं ॥५३॥ इस संसारमें केवल जो साधक मेरे सात्त्विक भक्त हैं वेही मेरे रूपको जानकर सदा मेरी भक्तिमें तत्पर रहते हैं ॥ ५४ ॥ वे मेरे पांच सगुण रूपोंके आश्रयसे मेरे ध्यानमें मग्न रहते हैं अथवा मेरे निर्गुण परमभावरूप उस सच्चिदानन्द भावका आश्रय करके मेरे ध्यानरूप समुद्रमें मग्न होकर हे देवगण ! अत्यन्त आनन्द उपभोग करते हैं ॥ ५५-५६ ॥ और चतुर्थ ज्ञानी भक्त तो भगवद्रूपही है क्योंकि वह गुणातीत है अतः उसका यहां विचार नहीं किया गया है ॥ ५७ ॥

श्रद्धावान् साधको यश्च भोगमैहिकमेव हि ।
विशेषतः समीहेत दम्भाहङ्कारसंयुतः ॥ ५८ ॥
इष्टं वेदविधिं हित्वा मदुपासनतत्परः ।
विज्ञेयो लक्षणादस्मात् तामसः स उपासकः ॥ ५९ ॥
यः श्रद्धालुर्विशेषेण पारलौकिकमेव हि ।
सुखमिच्छँस्तथा शीलगुणराशियुतो यदि ॥ ६० ॥
वेदानुसारतः सक्तो मदुपास्तौ हि साधकः ।
राजसः स हि विज्ञेय उपासक इति स्मृतिः ॥ ६१ ॥
सात्त्विक्या श्रद्धया युक्तो भाग्यवान् विबुधर्षभाः !।
वितृष्णो लौकिकाद्भोगात्तद्वद्वै पारलौकिकात् ॥ ६२ ॥
साधकोऽनन्यया वृत्त्या ज्ञानतो निरतः सदा ।
मदुपास्तौ स विज्ञेयः सात्त्विकोपासको वरः ॥ ६३ ॥
सर्व्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं वित्त सात्त्विकम् ॥ ६४ ॥

जो श्रद्धावान् साधक ऐहलौकिक भोगकी ही विशेषरूपसे इच्छा करे, दम्भ और अहङ्कारसे युक्त हो और उपयुक्त वेदविधिका त्याग करके मेरी उपासनामें तत्पर हो, इन लक्षणोंसे उस उपासकको तामसिक उपासक जानना चाहिये ॥ ५८-५९ ॥ जो श्रद्धालु साधक पारलौकिक सुखको ही विशेषरूपसे चाहता हुआ यदि शीलगुणोंसे युक्त होकर वेदविधिके अनुसार मेरी उपासनामें आसक्त रहता है तो उसको राजसिक उपासक जानना चाहिये, ऐसा स्मृतिकारोंका मत है ॥ ६०-६१ ॥ हे देवश्रेष्ठो ! जो भाग्यवान् साधक सात्त्विकी श्रद्धासे युक्त होकर ऐहलौकिक और पारलौकिक भोगोंकी तृष्णासे रहित होता हुआ ज्ञानपूर्व्वक अनन्यवृत्तिसे मेरी उपासनामें सदा तत्पर रहता है उसको श्रेष्ठ सात्त्विक उपासक जानना चाहिये ॥ ६२-६३ ॥ जिस ज्ञानके द्वारा विभक्त रूप सब भूतोंमें अविभक्त, एक और विकारहीन भाव ज्ञानी देखता है उस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान जानो ॥ ६४ ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्व्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं वित्त राजसम् ॥ ६५ ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्य्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ६६ ॥
सुराः ! शृणुध्वमधुना सम्बन्धात्त्रिगुणस्य ह ।
अन्यान्यपि रहस्यानि कानिचिद्वर्णयाम्यहम् ॥ ६७ ॥
सत्त्वावलम्बिनो यूयं शृण्वन्तो भवतादरात् ।
सत्त्वं क्रमाद्वर्द्धयद्भिर्नैस्त्रैगुण्ये च यत्यताम् ॥ ६८ ॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ६९ ॥
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते विबुधश्रेष्ठाः ! तं यज्ञं वित्त राजसम् ॥ ७० ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।

जो ज्ञान पृथक् रूपसे सब भूतोंमें पृथक् पृथक् प्रकारके नाना भाव जानता है उस ज्ञानको राजसिक ज्ञान जानो ॥ ६५ ॥ किन्तु जो एक कार्य्यमें परिपूर्णवत् आसक्त, हेतुशून्य, परमार्थरहित और अल्प अर्थात् तुच्छ ज्ञान है उसको तामस ज्ञान कहते हैं ॥ ६६ ॥ हे देवगण ! अब मैं त्रिगुणसम्बन्धसे अन्यान्य रहस्य कुछ वर्णन करता हूं सो सुनिये ॥ ६७ ॥ और आप उनको आदरपूर्व्वक सुनते हुए सत्त्वगुणावलम्बी होइये और क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि करते हुए गुणातीत पदके लिये प्रयत्न करिये ॥ ६८ ॥ फलाकाङ्क्षारहित व्यक्ति "यज्ञानुष्ठान अवश्य कर्तव्य कर्म है" ऐसा विचार कर और मनको समाहित करके जिस विधिविहित यज्ञको करते हैं उसको सात्त्विक कहते हैं ॥६९॥ किन्तु हे देवश्रेष्ठो ! फल मिलनेके उद्देश्यसे अथवा केवल अपने महत्त्वके प्रकट करनेके अर्थ जो यज्ञ किया जाता है उस यज्ञ को राजस जानो ॥ ७० ॥ शास्त्रोक्त विधिसे रहित,

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ ७१ ॥
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च कार्य्याकार्य्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा सात्त्विकी सुराः ! ॥ ७२ ॥
यया धर्म्ममधर्म्मञ्च कार्य्यञ्चाकार्य्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा राजसी मता ॥ ७३ ॥
अधर्म्मं धर्म्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्व्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा तामसी मता ॥ ७४ ॥
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या देवाः ! सा सात्त्विकी धृतिः ॥ ७५ ॥
यया तु धर्म्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽमराः ! ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा राजसी मता ॥ ७६ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी सुराः ! ॥ ७७ ॥

(सत्पात्रमें) अन्नदानशून्य, मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धा-रहित यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥ ७१ ॥ हे देवतागण ! प्रवृत्ति निवृत्ति, कार्य्य अकार्य्य, भय अभय और बन्ध मोक्ष जो जानती है वह सात्त्विकी बुद्धि है ॥ ७२ ॥ जिसके द्वारा धर्म्म अधर्म्म और कार्य्य अकार्य्य यथावत् परिज्ञात न हो उसको राजसी बुद्धि कहते हैं ॥ ७३ ॥ जो बुद्धि अधर्म्म को धर्म्म मानती है और सब विषयोंको विपरीत मानती है उस तमोगुणाच्छन्न बुद्धिको तामसी बुद्धि कहते हैं ॥७४॥ हे देवतागण ! योगके द्वारा विषयान्तर धारणा न करनेवाली जिस धृतिसे मन प्राण और इन्द्रियोंकी क्रिया धारण की जाती है अर्थात् नियमन होती है वह धृति सात्त्विकी धृति है ॥ ७५ ॥ हे देवतागण ! जिस धृतिके द्वारा (जीव) धर्म अर्थ और कामको धारण करता है एवं प्रसङ्गवश फलाकाङ्क्षी होता है उस धृतिको राजसी कहते हैं ॥ ७६ ॥ हे देवतागण ! विवेकहीन व्यक्ति जिसके द्वारा निद्रा, भय, शोक, विषाद और अहङ्कारका त्याग

स्मृतिं व्यतीतविषयां मतिमागामिगोचराम् ।
प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ॥ ७८ ॥

द्रष्टुर्दृश्यस्योपलब्धौ क्षमा चेत् प्रतिभा तदा ।
सात्त्विकी सा समाख्याता सर्व्वलोकहिते रता ॥ ७९ ॥

यदा शिल्पकलायां सा पदार्थालोचने तथा ।
प्रसरेद्राजसी ज्ञेया तदा सा प्रतिभा बुधैः ॥ ८० ॥

साधारणं लौकिकञ्चैव सदसद्विमृशेत्तदा ।
तामसी सा समाख्याता प्रत्युत्पन्नमतिश्च सा ॥ ८१ ॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी च बुभुत्सवः ! ॥ ८२ ॥

तासान्तु लक्षणं देवाः ! शृणुध्वं भक्तिभावतः ।
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका ॥ ८३ ॥

नहीं करता है वही तामसी धृति है ॥७७॥ अतीत विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रज्ञाको स्मृति, आगामि विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रज्ञा को बुद्धि और नवीन नवीन (ज्ञान विज्ञानोंको) उद्भव करनेवाली प्रज्ञाको प्रतिभा कहते हैं ॥ ७८ ॥ जब द्रष्टा और दृश्यकी उपलब्धिमें प्रतिभा समर्थ होती है तब सब लोकोंके हितमें तत्पर वह प्रतिभा सात्त्विकी कही जाती है ॥ ७९ ॥ जब वह शिल्पकला और पदार्थोंकी आलोचनामें प्रसारको प्राप्त होती है तब उस प्रतिभाको बुधगण राजसी प्रतिभा जानते हैं ॥ ८० ॥ जब वह साधारण लौकिक सत् असत्का विचार करे तो उसको तामसी प्रतिभा कहते हैं और उसको प्रत्युत्पन्नमति भी कहते हैं ॥ ८१ ॥ हे जिज्ञासुओ ! प्राणियोंकी प्रकृतिके अनुसार श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है, सात्त्विकी राजसी और तामसी ॥ ८२ ॥ हे देवतागण ! अब उनके लक्षण भक्ति भावसे सुनो । जो विशुद्धज्ञानमूलक श्रद्धा है उसको सात्त्विकी जानो ॥८३॥

प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिका परा ।
विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता ॥ ८४ ॥
वेदेष्वथ पुराणेषु तन्त्रेऽपि श्रुतिसम्मते ।
भयानकं रोचकं हि यथार्थमिति भेदतः ॥ ८५ ॥
वाक्यानि त्रिविधान्याहुस्तद्विदो मद्विभावकाः ।
श्रूयतां दत्तचित्तैर्हि तत्राऽस्त्येवं व्यवस्थितिः ॥ ८६ ॥
पापाच्चाऽज्ञानसम्भूताद्विषयाद्भीतिकृद्वचः ।
भयानकमिति प्राहुर्ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ८७ ॥
सुकृतेऽध्यात्मलक्ष्ये च रुचिकृद्वचनं सुराः ! ।
रोचकं तद्धि विज्ञेयं श्रुतौ तन्त्रपुराणयोः ॥ ८८ ॥
अध्यात्मतत्त्वसंश्लिष्टं तत्त्वज्ञानोपदेशकम् ।
वचो यथार्थं सम्प्रोक्तं यूयं जानीत निर्ज्जराः ! ॥ ८९ ॥
भयानकं वचो नित्यं तामसायाधिकारिणे ।

प्रवृत्ति और जिज्ञासामूलक श्रद्धा राजसी है और विचारहीन-संस्कारमूलक श्रद्धा तामसी कहीगई है ॥ ८४ ॥ वेद, पुराण और श्रुतिसम्मत तन्त्रोंमें भयानक रोचक और यथार्थ इन भेदोंसे तीन प्रकारके वाक्य मेरे भावोंसे भावित तत्त्ववेत्ताओंने कहे हैं। इस विषयमें निम्नलिखित प्रकारसेही व्यवस्था है सो चित्त लगाकर सुनिये ॥८५-८६॥ पापसे और अज्ञानसम्भूत विषयसे डर दिखानेवाले जो वचन हैं तत्त्वदर्शी ज्ञानिगण उनको भयानक कहते हैं ॥ ८७ ॥ हे देवगण ! पुण्यमें और अध्यात्म लक्ष्यमें रुचि उत्पन्न करनेवाले जो वचन वेद तन्त्र और पुराणोंमें हैं उनको रोचक जानना चाहिये ॥ ८८ ॥ अध्यात्मतत्त्वसे युक्त और तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेवाले वचनको हे देवगण ! यथार्थ वचन कहते हैं ऐसा आप जानिये ॥ ८९ ॥ हे विबुधोत्तमो ! भयानक वचन सदाही तामसिक अधिकारीके लिये,

रोचकं राजसायैव यथार्थं सात्त्विकाय वै ॥ ९० ॥
विशेषतो हितकरं विज्ञेयं विबुधोत्तमाः ! ।
अतोऽधिकारभेदेन वचनं व्याहृतं सुराः ! ॥ ९१ ॥
श्रुतौ पुराणे तन्त्रे च त्रिधा वर्णनरीतयः ।
दृश्यन्ते क्रमशः सर्वास्ता वच्मि भवतां पुरः ॥ ९२ ॥
समाधिभाषा प्रथमा लौकिकी च तथाऽपरा ।
तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा स्मृता ॥ ९३ ॥
इतिहासमयी शश्वत्कर्णयोर्मधुराऽमला ।
मनोमुग्धकरी तद्वच्चित्ताह्लादविवर्द्धिनी ॥ ९४ ॥
धर्म्मसिद्धान्तसंयुक्ता समासबहुला न हि ।
ज्ञेया सा परकीयेति शास्त्रवर्णनपद्धतिः ॥ ९५ ॥
इमामज्ञानिने तद्वत्तामसायाऽधिकारिणे ।
विशेषतो हितकरीं प्राहुस्तत्तत्त्वदर्शिनः ॥ ९६ ॥

रोचक वचन राजसिक अधिकारीके ही लिये और यथार्थ वचन सात्त्विक अधिकारी के लिये ही विशेषरूपसे हितकर हैं ऐसा जानना चाहिये, इसलिये हे देवतागण ! शास्त्रोंमें अधिकारभेद से वचन कहेगये हैं ॥ ९०-९१ ॥ वेद पुराण और तंत्रों में तीन प्रकारकी वर्णन शैलियां देखी जाती हैं उन सबोंको आपलोगोंके सामने मैं क्रमशः कहता हूँ ॥ ९२ ॥ पहली समाधिभाषा, दूसरी लौकिकभाषा और तीसरी परकीयभाषा, इस प्रकारसे शास्त्रकी भाषा तीन प्रकारकी कहीगई है ॥ ९३ ॥ जिसमें निरन्तर इतिहास आवे, जो निर्मल और श्रुतिमधुर हो, जो मनको लुभानेवाली और इसी तरह चित्तके आह्लादको बढ़ानेवाली हो, जो धर्मसिद्धान्तोंसे युक्त हो और जिसमें जटिलता न हो उस शास्त्रवर्णनकी पद्धतिको परकीया जानना चाहियें ॥ ९४-९५ ॥ इस पद्धतिके तत्त्वदर्शीगण इसको अज्ञानीके लिये और इसी तरह तामसिक अधिकारीके लिये विशेष हितकरी

अतीन्द्रियाध्यात्मराज्यस्थितं विषयगह्वरम् ।
लौकिकीं रीतिमाश्रित्य वर्णयेद् याऽतिसंस्फुटम् ॥ ९७ ॥
तथा समाधिगम्यानां भावानां प्रतिपादिका ।
सा पूर्णा लौकिकैस्तद्वद्रसैर्भाषाऽस्ति लौकिकी ॥ ९८ ॥
इयं राजसिकायैव साधकायाधिकारिणे ।
सूतेऽधिकं सदा भव्यं सत्यं सत्यं दिवौकसः ! ॥ ९९ ॥
प्रकाशयति या ज्ञानं कार्य्यकारणब्रह्मणोः ।
समाधिसिद्धभावैर्या सम्पूर्णा सर्व्वतस्तथा ॥ १०० ॥
तत्त्वज्ञानमयी तद्वद्या हि वर्णनपद्धतिः ।
ज्ञेया समाधिभाषा सा सात्त्विकायोपकारिका ॥ १०१ ॥
श्रवणं मननं तद्वन्निदिध्यासनमेव च ।
एतत्त्रितयरूपो यः पुरुषार्थ इहोच्यते ॥ १०२ ॥
निवृत्तिमूलकं भूत्वा सक्तं ब्रह्मनिरूपणे ।

कहते हैं ॥ ९६ ॥ अतीन्द्रिय अध्यात्म राज्यमें स्थित गूढ़ विषयको लौकिकरीतिका आश्रय लेकर जो अच्छीतरह वर्णन करे तथा समाधिगम्य भावोंकी प्रतिपादिका हो और इसी तरह लौकिक रसोंसे भी पूर्ण हो वह भाषा लौकिकी भाषा है ॥ ९७-९८ ॥ हे देवतागण ! यह भाषा राजसिक अधिकार वाले ही साधकके लिये सदा अधिक कल्याण पैदा करती है, यह सत्य है सत्य है ॥ ९९ ॥ जो भाषा कार्य्य ब्रह्म और कारण ब्रह्मके ज्ञानको प्रकाशित करदेती है तथा जो भाषा सर्व्वत्र समाधिसिद्ध भावोंसे पूर्ण हो और इसी तरह जो वर्णनपद्धति तत्त्वज्ञानमयी हो उसको समाधिभाषा जानना चाहिये । वह सात्त्विक अधिकारीके लिये हितकरी है ॥१००-१०१॥ श्रवण मनन और निदिध्यासन, यह जो त्रितयरूप पुरुषार्थ जगत्में कहा जाता है वह सब त्रितयरूप पुरुषार्थ जब निवृत्ति

यदा चेत् त्रितयं सर्व्वं तदा तत् सात्त्विकं मतम् ॥ १०३ ॥
यदा तत्त्रयमुत्पत्तिस्थित्यत्ययस्वरूपिणि ।
भावे भावं समासाद्य द्वैतरूपं निषेवते ॥ १०४ ॥
तदा तं राजसं देवाः ! पुरुषार्थं प्रचक्षते ।
यो हि नास्तिकतामूलः स तामस उदाहृतः ॥ १०५ ॥
आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ १०६ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ १०७ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्य्युषितञ्च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १०८ ॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणुतामृतभोजिनः ! ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति ॥ १०९ ॥

मूलक होकर ब्रह्मके निरूपणमें लगता है तब वह सात्त्विक माना जाता है ॥ १०२-१०३ ॥ हे देवतागण ! जब वह उत्पत्ति स्थिति लय-स्वरूप भावमें भावित होकर द्वैतरूपको प्राप्त होता है तब उस त्रितयरूप पुरुषार्थको राजसिक कहते हैं और जो नास्तिकता-मूलक त्रितयरूप पुरुषार्थ है वह तामसिक कहागया है ॥ १०४-१०५ ॥ आयु, सात्त्विकभाव, शक्ति, आरोग्य, चित्तप्रसाद और रुचिके बढ़ानेवाले, रसयुक्त एवं स्नेहयुक्त, जिनका सारांश देहमें स्थायीरूपसे रहे और चित्तको परितोष करनेवाले आहार सात्त्विक पुरुषोंके प्रिय होते हैं ॥ १०६ ॥ कटु, अम्ल, लवण (क्षार) अत्युष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, विदाही ये सब दुःख सन्ताप और रोगप्रद आहार राजसिक व्यक्तियोंके प्रिय हैं॥१०७॥ एक पहर पहले बना हुआ (ठंडा) विरस, दुर्गन्धयुक्त, बासी, झूंठा और अपवित्र जो आहार है वह तामसिक व्यक्तियोंको प्रिय होता है ॥ १०८ ॥ हे देवतागण ! अब सुनो सुख भी तीन प्रकारका है । जिस सुखमें अभ्याससे अर्थात् स्वतः ही

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ११० ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ १११ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ११२ ॥

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ ११३ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ११४ ॥

कार्य्यमित्येव यत्कर्म्म नियतं क्रियतेऽमराः ! ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥११५॥

परमानन्द लाभ करता है और दुःखका अन्त प्राप्त करता है, वह आदिमें विषवत् किन्तु परिणाममें अमृततुल्य और आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न सुख सात्त्विक कहाजाता है॥१०६–११०॥ विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे आदिमें अमृततुल्य किन्तु परिणाममें विषतुल्य सुख राजस कहाजाता है ॥१११॥ निद्रा आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न एवं आदि और अन्तमें चित्तमें मोह उत्पन्न करनेवाला जो सुख है उसे तामस कहते हैं ॥ ११२ ॥ नित्यकर्मका त्याग नहीं हो सक्ता, मोहवश जो नित्यकर्मका त्याग होता है उसे तामस त्याग कहते हैं ॥ ११३ ॥ जो व्यक्ति "दुःख होता है" ऐसा जानकर दैहिक क्लेशके भयसे कर्म त्याग करता है वह राजस त्याग करके त्यागका फल नहीं प्राप्त करता है ॥ ११४ ॥ हे देवतागण ! इन्द्रियसङ्ग और फलका त्याग करके " कर्त्तव्य " जानकर जो नियमपूर्वक कर्म किया जाता है वह त्याग सात्त्विक त्याग मानागया है ॥ ११५ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि युष्मासु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ ११६॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्याः स्त निर्ज्जराः!।
निर्द्वन्द्वा नित्यसत्त्वस्था निर्योगक्षेमकात्मकाः॥ ११७॥
यावानर्थ उदपाने सर्व्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्व्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ११८॥
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां वित्ताकर्त्तारमव्ययम्॥ ११९॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् वित्त न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२०॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्व्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १२१॥

पृथिवीमें स्वर्गमें वा आप लोगोंमें ऐसा जीव नहीं है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीन गुणोंसे छुटा हुआ हो॥११६॥हे देवतागण! सब वेदोंमें तीनों गुणोंका ही विषय है, तुम तीनों गुणोंसे रहित होजाओ, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित हो जाओ, नित्य सत्त्वगुणमें रहो, अलब्ध वस्तुके लाभमें और लब्धवस्तुकी रक्षामें यत्नशून्य होजाओ एवं आत्मवान् अर्थात् अप्रमत्त होजाओ॥ ११७॥ सब स्थान जलमें डूब जानेपर क्षुद्र जलाशयसे जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञको सब वेदोंसे उतनाही प्रयोजन रहता है॥ ११८॥ मैंने गुण और कर्म्मोंके विभाग द्वारा चारों वर्णोंकी सृष्टि की है, उनका कर्त्ता होने पर भी अव्यय होनेके कारण मुझको अकर्त्ता जानो॥ ११९॥ जो सब सात्त्विकभाव, राजसिकभाव एवं तामसिकभाव हैं वे सब मुझसेही उत्पन्न हुए हैं ऐसा उनको जानो। मैं उन सबमें नहीं हूँ परन्तु वे मुझमें हैं॥ १२०॥ इन तीन गुणमय भावोंसे मोहित यह सब जगत् इन सब भावोंसे अतीत एवं निर्विकारस्वरूप मुझको नहीं जानता

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १२२ ॥

देवा ऊचुः ॥ १२३ ॥

गुणत्रयस्य विज्ञानं गुरो ! तव मुखाम्बुजात् ।
कृतकृत्या वयं जाताः श्रुत्वा तन्महदद्भुतम् ॥ १२४॥
इदानीञ्च वयं सर्व्वे भवतः कृपया विभो ! ।
रजस्तमोऽभिसंसक्ता नाऽधःपातं व्रजेम हि ॥ १२५ ॥
कृपासिन्धो ! वयं येन ज्ञानेन त्रिगुणस्य वै ।
रहस्यं द्रष्टुमर्हाः स्मः प्रत्यक्षं सर्वदैव हि ॥ १२६ ॥
तथैव सर्व्वदाऽस्मासु शक्तिस्त्रिगुणदर्शिनी ।
विशेषतोऽनिशं तिष्ठेत्तज्ज्ञानं नः समादिश ॥ १२७ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ १२८ ॥

त्रिदशाः ! त्रिगुणैर्नित्यं सृष्टिस्थितिलया इमे ।

है ॥ १२१ ॥ यह मेरी सत्त्वादिगुणमयी अलौकिक माया निश्चयही दुस्तरा है, जो मुझको प्राप्त होते हैं वेही इस मायाको अतिक्रमण कर सक्ते हैं ॥ १२२ ॥

देवतागण बोले ॥ १२३ ॥

हे गुरो ! हमलोग उस अत्यन्त अद्भुत गुणत्रयके विज्ञानको आपके मुखकमलसे सुनकर कृतकृत्य हुए ॥ १२४ ॥ हे विभो ! अब हम सब आपकी कृपासे रजोगुण तमोगुणमें फंसकर अपनी अवनति नहीं करेंगे ॥ १२५ ॥ हे कृपानिधे ! हमें वह ज्ञान बताइये कि जिस ज्ञानसे हम त्रिगुणके रहस्यको प्रत्यक्ष करनेमें सदाही समर्थ हों और त्रिगुणको विशेषरूपसे निरन्तर देखनेकी शक्ति हमलोगोंमें सदा बनी रहे ॥ १२६-१२७ ॥

महाविष्णु बोले ॥ १२८ ॥

हे देवतागण ! त्रिगुणके द्वारा दृश्य प्रपञ्चके ये सृष्टि स्थिति लय

प्रपञ्चात्मकदृश्यस्य भवन्तीत्यवधार्य्यताम् ॥ १२९ ॥
त्रिभावैनैव ते सर्व्वे ज्ञायन्ते च विशेषतः।
त्रिभावव्यञ्जिका चाऽस्ति तत्त्वज्ञानोन्नतिः किल ॥ १३० ॥
मयि यत् सच्चिदानन्दरूपेणाऽस्ति दिवौकसः!।
मूलमध्यात्मभावस्याधिदैवस्य तथैव च ॥ १३१ ॥
अधिभूतस्य भावस्य ज्ञापकन्तु तदेव हि।
तटस्थज्ञानसाहाय्यात्त्रिगुणस्य मतं बुधाः! ॥ १३२ ।
अविद्याऽऽवरिका ज्ञेया मत्स्वरूपस्य निश्चितम्।
पुष्टिस्तस्याश्च रजसा तमसैव विजायते ॥ १३३ ॥
सत्त्वात्प्रकाशो विद्याया भवतीति विभाव्यताम्।
अविद्याऽऽव्रियते लोके यथा तच्छ्रूयतां सुराः! ॥ १३४ ॥
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा वित्तैनमिह वैरिणम् ॥ १३५ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।

नित्य होते हैं सो जानो ॥ १२९ ॥ और त्रिभावके द्वाराही वे सब विशेषरूपसे जानेजाते हैं और तत्त्वज्ञानकी उन्नतिही त्रिभावव्यञ्जिका है ॥१३०॥ हे देवतागण! मुझमें जो सत् चित् और आनन्दरूपसे अध्यात्मभाव अधिदैवभाव और अधिभूतभावका मूल विद्यमान है, वही हे विज्ञो! तटस्थज्ञानकी सहायतासे त्रिगुणका ज्ञापक मानागया है ॥ १३१-१३२ ॥ मेरे स्वरूपज्ञानको आवरण करनेवाली अविद्याको ही जानो। रज और तमोगुणके द्वाराही अविद्याकी पुष्टि होती है ॥१३३॥ सत्त्वगुणके द्वारा विद्याका प्रकाश होता है सो जानो। हे देवतागण! संसारमें अविद्या जिस प्रकारसे आवरण करती है सो सुनो ॥ १३४ ॥ रजोगुणसम्भूत अत्युग्र और दुष्पूरणीय काम और क्रोध को इस संसारमें शत्रु समझो ॥ १३५ ॥ जिस प्रकार अग्नि धूम्रके द्वारा, शीशा मलके द्वारा और गर्भ जरायुके द्वारा आवृत रहता है

यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ १३६ ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण भो देवाः ! दुष्पूरेणानलेन च ॥ १३७ ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ १३८ ॥
यूयं तदिन्द्रियाण्यादौ नियम्य विबुधर्षभाः !।
पाप्मानं प्रहतैनं हि ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ १३९ ॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ १४० ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
हत शत्रुं सुरश्रेष्ठाः ! कामरूपं दुरासदम् ॥ १४१ ॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ १४२ ॥

उसी प्रकार आत्मज्ञान कामके द्वारा आवृत रहता है ॥ १३६ ॥ हे देवतागण ! ज्ञानीके नित्यवैरी इस दुष्पूरणीय कामरूप अग्निके द्वारा ज्ञान आच्छन्न है ॥ १३७ ॥ इन्द्रियां, मन और बुद्धि, इस कामके अधिष्ठान कहे जाते हैं, इन्हींके द्वारा यह ज्ञानको आच्छन्न करके देही-को मोहित किया करता है ॥ १३८ ॥ इस कारण हे देवश्रेष्ठो ! तुम पहिले इन्द्रियोंका संयम करके इस ज्ञानविज्ञाननाशक पापी काम-का नाश करो ॥ १३९ ॥ (देहकी अपेक्षा) इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, मनकी अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है और जो बुद्धिसे श्रेष्ठ है वही आत्मा है ॥१४०॥ हे देवश्रेष्ठो ! इस प्रकार बुद्धि की अपेक्षा श्रेष्ठ (आत्मा) को जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको संयत करके काम-रूप दुर्निवार शत्रुका नाश करो ॥ १४१ ॥ महामायाके द्वारा आवृत होनेके कारण मुझे सब नहीं देख सकते हैं । यह मूढ़ संसार मुझे

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चामराः ! ।
भविष्याणि च भूतानि मान्तु वेद न कश्चन ॥ १४३ ॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन निर्ज्जराः ! ।
सर्व्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्त्यसुरारयः ! ॥ १४४ ॥
येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः ॥ १४५ ॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्म चाखिलम् ॥ १४६ ॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ १४७ ॥
देवा ऊचुः ॥ १४८ ॥
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म्म परमेश्वर ! ।
अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १४९ ॥

अजन्मा और अविनाशी नहीं जानता है ॥ १४२ ॥ हे देवतागण ! मैं भूत भविष्यत् और वर्त्तमानकालमें स्थित (सकल स्थावर जङ्गमात्मक) भूतोंको जानता हूँ परन्तु मुझको कोई नहीं जानता है॥१४३॥ हे असुरशत्रु देवतागण ! इच्छा और द्वेषसे सम्भूत द्वन्द्वके मोहसे सृष्टिकालमें सब जीव सम्मोहको प्राप्त होते हैं ॥ १४४ ॥ किन्तु जिन पुण्यात्मा व्यक्तियोंका पाप नष्ट होगया है वे द्वन्द्वजनित मोहसे रहित होकर दृढ़व्रत होते हुए मेरी भक्तिमें रत होते हैं ॥ १४५ ॥ जरा और मरणसे बचनेके लिये मेरा आश्रय करके जो प्रयत्न करते हैं वे उस ब्रह्मको, समस्त अध्यात्मको और समस्त कर्म्मको जानते हैं ॥१४६॥ जो मुझको अधिदैव अधिभूत और अधियज्ञके सहित जानते हैं मुझमें आसक्तचित्त वे मरणकालमें भी मुझको जानते हैं ॥ १४७॥

देवतागण बोले ॥ १४८ ॥

हे परमेश्वर ! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म्म क्या है, अधिभूत किसको कहा गया है, अधिदैव किसको कहते हैं, इस देहमें

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् दैत्यसूदन !।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ १५० ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ १५१ ॥

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः ॥ १५२ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृताम्वराः ! ॥ १५३ ॥
ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ १५४ ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ १५५ ॥

अधियज्ञ कौन है और कैसे वह इस देहमें स्थित है और हे दैत्य-सूदन ! आप मरणकालमें संयतात्मा व्यक्तियोंके द्वारा कैसे जानेजाते हैं ॥ १४६–१५० ॥

महाविष्णु बोले ॥ १५१ ॥

परम जो अक्षर (जिसका क्षय नहीं है अर्थात् जगत्का मूल कारण) वही ब्रह्म है, स्वभाव ही (आत्मभावही) अध्यात्म कहा जाता है, भूतभावोद्भवकर अर्थात् सकल प्राणिमात्रकी उत्पत्ति और स्थिति करनेवाला जो विसर्ग अर्थात् त्याग है वही कर्म्म है ॥ १५२ ॥ हे देहधारियोंमें श्रेष्ठो ! नाशवान् भाव (देहादि) अधिभूत हैं पुरुष (स्वांशभूत सब दैवीशक्तियोंका अधिपति) अधिदैव है और इन शरीरोंमें मैं ही अधियज्ञ (कूटस्थ चैतन्य) हूँ ॥ १५३ ॥ ओंतत्सत्, ये तीन ब्रह्मके नाम हैं, इन तीनोंके द्वारा पूर्व्वकालमें ब्राह्मण वेद और यज्ञोंकी सृष्टि हुई थी ॥ १५४ ॥ इसी कारण ओम्, यह शब्द उच्चारण करके ब्रह्मवादियोंके विधानोक्त (शास्त्रोक्त) यज्ञ दान और तपरूप कर्म्म निरन्तर सम्पन्न हुआ करते हैं ॥ १५५ ॥

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ १५६ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्म्मणि तथा सच्छब्दो युज्यतेऽमराः ! ॥ १५७ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ १५८ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत् ।
असदित्युच्यते देवाः ! न च तत् प्रेत्य नो इह ॥ १५९ ॥

तत्त्वज्ञानस्य यन्मूलं संक्षेपाच्छृणुतामराः ! ।
अवश्यमेव विज्ञेयमित्येतावत् सुरर्षभाः ! ॥ १६० ॥

प्रपञ्चमयदृश्येऽस्मिन् नास्ति किञ्चित्रिभावतः ।
रहितं वस्तु भावो हि कारणं गुणदर्शने ॥ १६१ ॥

मुमुक्षुगण फलाकांक्षा त्याग करके और तत् इस शब्दको उच्चारण करके विविध प्रकारके यज्ञ तप और दान कर्म्म करते हैं ॥१५६॥ हे देवतागण ! सद्भावमें (अस्तित्वमें) और साधुभावमें (साधुत्वमें) सत् इस शब्दका प्रयोग होता है एवं श्रेष्ठ कर्म्ममें भी सत् शब्द प्रयुक्त होता है ॥१५७॥ यज्ञ, तपस्या और दानकर्म्मोंमें लगे रहनेको भी सत् कहा जाता है और तदर्थीय कर्म्मको भी सत्‌ही कहते हैं ॥ १५८ ॥ हे देवतागण ! अश्रद्धापूर्वक होम करना, दान करना, तपस्या करना, एवं जो कुछ भी करना, असत् कहाजाता है, वह न परलोकमें और न इहलोकमें फलदायक होता है ॥ १५९ ॥ हे देवगण ! मैं संक्षेपसे तत्त्वज्ञानका मूल कहता हूं सुनो। इतना अवश्यही आपलोगोंको जानना उचित है कि इस प्रपञ्चमय दृश्यमें कोई पदार्थ भी त्रिभावसे रहित नहीं है; क्योंकि भाव ही गुणदर्शनका कारण है

प्रकृतिस्त्रिगुणा या मे प्रथमं त्रीन् गुणान् स्वकान्।
स्वस्मिन् सम्यक् विलय्यैव तदा सा मयि लीयते॥ १६२॥
आदौ देवाः! त्रयो भावाः स्थिताः स्वस्वस्वरूपतः।
पश्चादद्वैतरूपत्वमाश्रयन्तीति सम्मतम्॥ १६३॥
गुणदर्शनहेतुर्हि तस्माद्भावः प्रकीर्त्तितः।
साधकानां सुराः! भावो ह्यवलम्बनमन्तिमम्॥ १६४॥
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ १६५॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ १६६॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ १६७॥

॥ १६०-१६१ ॥ त्रिगुणमयी मेरी प्रकृति पहिले तीनों अपने गुणोंको अपनेमें सम्यक् लय करके ही तब वह मुझमें विलीन होती है ॥ १६२ ॥ हे देवगण ! प्रथम तीनों भाव अपने अपने स्वरूपसे प्रकट रहकर पीछे अद्वैत रूपको आश्रय करते हैं, यह निश्चय है ॥ १६३ ॥ इस कारणसे भाव गुणदर्शनका हेतु कहागया है। हे देवतागण ! साधकोंका अन्तिम अवलम्बन भाव है ॥ १६४ ॥ मेरा ही अंश सनातन अर्थात् मायाके कारण सदा संसारीरूपसे प्रसिद्ध जीव, प्रकृतिमें स्थित मन और पञ्चेन्द्रियोंको जीवलोकमें आकर्षण करता है ॥ १६५ ॥ ईश्वर अर्थात् देही जिस शरीरको प्राप्त होता है और जिस शरीरको परित्याग करता है, जिस प्रकार वायु आशय अर्थात् कुसुमादिसे गन्धयुक्त सूक्ष्मांश ग्रहण करके जाता है उसी प्रकार (प्राप्त शरीरमें पूर्वपरित्यक्त शरीरसे) इन सब इन्द्रियादिकोंको लेकर जाता है ॥१६६॥ यह देही श्रोत्र चक्षु त्वक् रसना और घ्राण इन बाह्येन्द्रियोंपर और अन्तःकरणपर अधिष्ठान करके विषयोंका उपभोग

उत्क्रामन्तं स्थितम्वाऽपि भुञ्जानम्वा गुणान्वितम् ।
विमूढ़ा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १६८ ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ १६९ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १७० ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७१ ॥

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १७२ ॥

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्व्वविद्भजति मां सर्वभावेन निर्ज्जराः ! ॥१७३॥

करता है ॥ १६७ ॥ एक देहसे देहान्तरमें जानेवाले देहमें स्थित विषयोपभोगकारी और इन्द्रियादिसे युक्त देहीको विमूढ़ व्यक्ति नहीं देखते हैं किन्तु आत्मज्ञानी देखते हैं ॥ १६८ ॥ संयतचित्त योगिगण इस देहीको देहमें अवस्थित देखते हैं और (शास्त्रादि पाठ द्वारा) यत्नशील होनेपर भी आत्मतत्त्वानभिज्ञ मन्दमति इसको देख नहीं सक्ते ॥ १६९ ॥ क्षर और अक्षर नामक ये दो पुरुष लोकमें प्रसिद्ध हैं उनमेंसे सब भूतगण क्षर पुरुष और कूटस्थ चैतन्य अक्षर पुरुष कहाजाता है ॥१७०॥ इन क्षर और अक्षरसे अन्य उत्तम पुरुष परमात्मा कहे गये हैं जो ईश्वर और निर्विकार हैं एवं लोकत्रयमें प्रविष्ट होकर पालन करते हैं ॥ १७१ ॥ क्योंकि मैं क्षरसे अतीत हूँ, और अक्षरकी अपेक्षा भी उत्तम हूँ इसी कारण लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम (कहाजाकर) प्रसिद्ध हूँ ॥१७२॥ हे देवतागण ! इस प्रकार निश्चित बुद्धि होकर जो मुझको पुरुषोत्तम समझता है वह सर्व्वज्ञ

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघाः ! ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च देवताः ! ॥१७४॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
देवमहाविष्णुसम्वादे गुणभावविज्ञानयोगवर्णनं
नाम तृतीयोऽध्यायः ।

व्यक्ति मुझकोही सर्वभावसे भजता है ॥ १७३ ॥ हे निर्दोष देवता-गण ! यह परमगुह्य शास्त्र मैंने कहा है इसको समझकर साधक सम्यक् ज्ञानी और कृतकृत्य होता है ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्र-
में देवमहाविष्णुसम्वादात्मक गुणभावविज्ञानयोगवर्णन-
नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।

कर्म्मयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

जगद्गुरो ! देवदेव ! करुणावरुणालय ! ।
निर्भयाः स्मो वयं जाता उपदेशेन ते विभो ! ॥ २ ॥
रहस्यं जगतः सृष्टेस्त्रिगुणैर्जनितं तथा ।
सृष्टेर्विभागमेतस्याः यथावज्ज्ञानलब्धये ॥ ३ ॥
ज्ञात्वा भावरहस्यं च कृतकृत्यत्वमागताः ।
अतस्ते कृपया काऽपि पतिष्यामो भये न हि ॥ ४ ॥
स्वासीमकृपयेदानीमस्मानुपदिश प्रभो ! ।
सृष्टेर्निदानं किं देव ! तदुत्पत्तिः किमर्थिका ॥ ५ ॥
तस्याः प्रवर्त्तकः कोऽस्ति मूलनिर्मूलने स्फुटः ।
उपायः कश्च तद्ब्रूहि भवव्याधिनिवृत्तये ॥ ६ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे देवादिदेव ! हे जगद्गुरो ! हे करुणावरुणालय ! हे विभो ! आपके उपदेश द्वारा हम निर्भय हुए हैं ॥ २ ॥ संसारकी सृष्टिका रहस्य, त्रिगुणजनित सृष्टिका विभाग और उसके यथावत् ज्ञानके प्राप्त करनेके लिये भावका रहस्य समझकर हम कृतकृत्य हुए । अतः आपकी कृपासे हम किसी भी भयमें पतित नहीं होंगे ॥ ३-४ ॥ हे देव ! हे प्रभो ! आप अपनी असीम कृपा द्वारा हमको उपदेश दीजिये कि सृष्टिका मूल कारण क्या है ? क्यों सृष्टि उत्पन्न हुई है ? उस सृष्टिका प्रवर्त्तक कौन है ? और इसके मूलको निर्मूल करनेका स्पष्ट उपाय क्या है ? भवरोगकी निवृत्तिके लिये ये सब कहें ॥ ५-६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ७ ॥

सृष्टिप्रवाहो विबुधाः ! मदिच्छातः प्रवर्त्तते ।
आद्यन्तरहितस्तद्वद्विस्तारावधिवर्जितः ॥ ८ ॥
निजानन्दप्रकाशाय साहाय्यात् सच्चितोः स्वयोः ।
स्वीयां शक्तिं महामायां स्वतः प्रकटयाम्यहम् ॥ ९ ॥
सैव शक्तिश्च मे देवाः ! जगतो जननी मता ।
किन्तु सर्व्वस्य जगतः स्थित्युत्पत्तिलयेष्वपि ॥ १० ॥
केवलं कारणं कर्म्म विज्ञेयं सुरसत्तमाः ! ।
जड़चेतनभेदेन मदीया प्रकृतिर्द्विधा ॥ ११ ॥
विद्या तु चेतना ज्ञेया जडाऽविद्या प्रकीर्त्तिता ।
त्रिगुणा सा समाख्याता तत एव च हेतुतः ॥ १२ ॥
कर्म्मोत्पत्तेर्हि सा हेतुर्भवतीत्यवधार्य्यताम् ।
परिणामात्तदुत्पत्तिस्त्रिगुणस्य मता सुराः ! ॥ १३ ॥
जैवैशसहजा भेदाः कर्म्मणस्तस्य कीर्त्तिताः ।

महाविष्णु बोले ॥ ७ ॥

हे देवगण ! अनादि अनन्त और जिसके विस्तारकी अवधि नहीं है ऐसा सृष्टि प्रवाह मेरी इच्छासे प्रवाहित रहता है॥८॥ मैं अपने आनन्दको प्रकाशित करनेकेलिये अपने सत् और चिद्भावकी सहायतासे अपनेमेंसे अपनी शक्ति महामायाको प्रकट करता हूं॥९॥ और हे देवगण ! वही मेरी शक्ति जगत्को प्रसव करती है ; परन्तु सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति स्थिति और लयोंमें भी एकमात्र कारण कर्म्मही है ऐसा जानना चाहिये । जड़ और चेतन भेदसे मेरी प्रकृति दो प्रकारकी है ॥ १०-११॥ चेतनमयी विद्या कहाती है और जड़ा अविद्या कहाती है । वह त्रिगुणमयी है और त्रिगुणमयी होनेसे कर्म्मकी उत्पत्तिका कारण बनजाती है, सो जानो । हे देवगण ! त्रिगुणपरिणामसे ही कर्म्मोंकी उत्पत्ति मानी गई है ॥ १२-१३ ॥ कर्म्मके तीन भेद हैं,

कर्म्मणा सहजेन स्युर्ब्रह्माण्डानां त्रयः सदा ॥ १४ ॥
सृष्टिस्थितिलया एते क्रमशो ह्यमितौजसः ! ।
विशिष्टचेतना जीवाः सम्बद्धा जैवकर्म्मणा ॥ १५ ॥
कर्म्मणैशेन सम्बन्धः पितॄणां भवतां तथा ।
ऋषीणां चावताराणां सर्व्वेषां मे दिवौकसः ! ॥ १६ ॥
कर्म्मणी ऐशसहजे शुद्धे एव सदा मते ।
शुद्धाशुद्धविभेदस्तु जैवकर्म्मसु विद्यते ॥ १७ ॥
उभे एते समाख्याते कारणं पुण्यपापयोः ।
कामनाजनितावेतौ भेदौ हि परिकीर्त्तितौ ॥ १८ ॥
अनाद्यन्तो वासनायाः प्रवाहो ह्येव कारणम् ।
सृष्टेरनाद्यनन्तायाः प्रवाहस्य सुरर्षभाः ! ॥ १९ ॥
वासनानाशमात्रेण कर्म्मणोः सहजैशयोः ।
जैवस्य परिणामः स्याद्दशेयं कर्म्मयोगिनी ॥ २० ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

उनको जैव, सहज और ऐश कहते हैं। हे विपुलबलशाली देवगण! सहज कर्म्म द्वारा ब्रह्माण्डोंके उत्पत्ति स्थिति और लय क्रमसे हुआ करते हैं, जैव कर्म्मके साथ विशिष्टचेतन जीवोंका सम्बन्ध है, और मेरे सब अवतारोंके साथ तथा पितृ ऋषि और आपलोगोंके साथ ऐश कर्म्मका सम्बन्ध है ॥ १४-१६ ॥ ऐश कर्म्म और सहज कर्म्म सदा शुद्धही होते हैं। जैव कर्म्मके दो भेद हैं, एक शुद्ध और एक अशुद्ध ॥ १७ ॥ ये दोनों कर्म्म पुण्य और पापके कारण होते हैं। ये दोनों भेद कामनाजनित कहे गये हैं ॥ १८ ॥ हे देवगण! अनादि अनन्त वासनाप्रवाह ही अनादि अनन्त सृष्टिप्रवाहका कारण है ॥ १९ ॥ वासनाके नाश होतेही जैवकर्म्म भी सहज कर्म्म और ऐश कर्म्मोंमें परिणत होजाता है। इस दशाको कर्म्मयोग कहते हैं ॥ २० ॥ इस निष्काम कर्म्मयोगमें प्रारम्भकी विफलता

स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २१ ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह यज्ञभुग्वराः ! ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ २२ ॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरता देवाः ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥ २३ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ २४ ॥
भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ २५ ॥
यत्र काले ह्यनावृत्तिमावृत्तिश्चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि विबुधर्षभाः ! ॥ २६ ॥

नहीं है, प्रत्यवाय अर्थात् विघ्न भी नहीं है, इस धर्म्मका अल्प आचरण भी महाभयसे रक्षा करता है ॥ २१ ॥ हे यज्ञभाग-भोग करनेवालोंमें श्रेष्ठ देवगण ! इस कर्म्मयोगमें व्यवसायात्मिका अर्थात् निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है किन्तु अव्यवसायी अर्थात् सकाम कर्म्म करनेवालोंकी बुद्धियाँ बहुशाखाओंसे युक्त और अनन्त होती हैं ॥ २२ ॥ हे देवतागण ! वेदके अर्थवादमें तत्पर, "जगत्के अतिरिक्त ईश्वरतत्त्व और कोई नहीं है" इस प्रकार कहनेवाले, कामात्मा और स्वर्गसुखकी इच्छा करनेवाले जो अज्ञानी जीव हैं वे जन्मकर्म्मफलप्रद, भोगैश्वर्यप्राप्तिके साधनभूत और यज्ञादिक्रियाविशेषप्राय पुष्पित वाक्य कहते रहते हैं, उन पुष्पित वाक्योंसे विचलितचित्त और भोगैश्वर्य्यमें आसक्त व्यक्तियोंकी व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधिके योग्य नहीं है ॥ २३-२५ ॥ हे देवतागण ! जिस कालमें अर्थात् कालरूप मार्गमें (मरणके पश्चात् जाकर) योगिगण अनावृत्ति (मोक्ष) और आवृत्ति (संसारमें पुनः आगमन) प्राप्त होते हैं उस कालरूप मार्गका वर्णन करता हूं ॥ २६ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २७ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥ २८ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥ २९ ॥

कर्म्मैव कारणं शुक्लकृष्णगत्योर्न संशयः ।
स्वर्लोकं निरयम्वाऽपि पितृलोकमथापि वा ॥ ३० ॥

आसाद्य प्रेतलोकम्वा जीवा यान्ति पुनः पुनः ।
मर्त्यलोके जनिं देवाः ! कृष्णगत्या न संशयः ॥ ३१ ॥

अग्निज्योंति अर्थात् अर्चि (तेज) की सकल अधिष्ठातृदेवताएँ, अहः अर्थात् दिवसाधिष्ठातृदेवता, शुक्लः अर्थात् शुक्लपक्षाधिष्ठातृदेवता, उत्तरायणरूप छः मास अर्थात् उत्तरायणाधिष्ठातृदेवता, इन देवतागणका जो मार्ग है उसमें मृत्युके बाद जानेवाले ब्रह्मवेत्तागण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥२७॥ कर्म्मयोगी (मरणके पश्चात्) धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन छः मास इन सबके अधिष्ठातृदेवताओंके पास उत्तरोत्तर जाकर क्रमसे चन्द्रलोकको प्राप्त करके भोगावसानमें पुनः वहांसे संसारमें आता है ॥ २८ ॥ प्रकाशमय अर्चिरादि शुक्ला गति एवं तमोमय धूमादि कृष्णा गति, जगत्‌के ये दो मार्ग अनादिरूपसे प्रसिद्ध हैं, इन दोनोंमेंसे एकके द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा पुनः संसारमें प्रत्यावृत्ति होती है ॥ २९ ॥ कर्म्मही शुक्ल और कृष्ण दोनों गतिका निःसन्देह कारण है। हे देवगण ! जीवोंको स्वर्गलोकप्राप्ति, नरकलोकप्राप्ति, पितृलोकप्राप्ति वा प्रेतलोकप्राप्ति कराके वारंवार मृत्युलोकमें जन्मप्राप्ति कराना कृष्णगतिका कार्य्य है इसमें सन्देह नहीं ॥ ३०-३१ ॥

सत्यलोकन्तु सम्प्राप्य शुक्लगत्या समुन्नतम् ।
तत्र कर्म्मबलेनैव कैवल्यं लभ्यते ध्रुवम् ॥ ३२ ॥
कृष्णगत्यां प्रधानाऽस्ति प्रवृत्तिर्विबुधर्षभाः ! ।
शुक्लगत्यां निवृत्तेस्तु प्राधान्यं परिकीर्त्तितम् ॥ ३३ ॥
आभ्यां भिन्ना गतिश्चान्या गतिभ्यां समुदाहृता ।
सहजाख्या च वो देवाः ! याऽधिकाराद्बहिर्गता ॥ ३४ ॥
मद्भक्ता धर्म्मतत्त्वज्ञा आत्मज्ञानरताश्च ये ।
त एवैतां महात्मानो लभन्ते सहजां गतिम् ॥ ३५ ॥
तत्त्वज्ञानस्य लाभे ये वासनायाः क्षये तथा ।
कर्म्मयोगे रता यन्ति जीवन्मुक्तास्तु तां गतिम् ॥ ३६ ॥
अतीवास्ति सुदुर्ज्ञेया गतिर्देवाः ! हि कर्म्मणः ।
तत्रोदाहरणं ह्येकं विशदं शृणुतामराः ! ॥ ३७ ॥
ग्रन्थीनां बन्धनं कर्म्म ग्रन्थिमोचनमित्यपि ।

शुक्लगतिके द्वारा समुन्नत सत्यलोकमें पहुंचकर कर्म्मके बलसे ही वहां निश्चय मुक्ति प्राप्त कीजाती है ॥ ३२ ॥ हे देवगण ! कृष्ण-गतिमें प्रवृत्ति प्रधान है और शुक्लगतिमें निवृत्ति प्रधान कहीगई है ॥ ३३ ॥ इन दोनों गतियोंके अतिरिक्त एक तीसरी गति और कहीगई है जिसको सहजगति कहते हैं जो सहजगति हे देवतागण ! आपलोगोंके अधिकारसे बाहर है ॥३४॥ जो धर्म्मतत्त्वके जाननेवाले, आत्मज्ञानमें तत्पर, मेरे भक्त महापुरुषगण हैं, वे ही इस तीसरी गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३५ ॥ जो वासनाका नाश, तत्त्वज्ञानलाभ और कर्म्मयोगमें रत हैं, वे जीवन्मुक्तगण इस गतिको प्राप्त करते हैं ॥ ३६ ॥ हे देवतागण ! कर्म्मकी गति अत्यन्तही दुर्ज्ञेय है । हे देवगण ! इसमें एक स्पष्ट उदाहरण सुनो ॥ ३७ ॥ गांठका बांधना भी कर्म्म है और गांठका खोलना भी कर्म्म

तुल्यं कर्म्मद्वयं देवा उदर्के त्वन्तरं महत् ॥ ३८ ॥
मोचनान्मुच्यते वस्तु वन्धनात्तन्नियम्यते ।
तथा सकामनिष्कामौ देवा जानीत कर्म्मणी ॥ ३९ ॥
हैमी लौहमयी वापि शृङ्खला किम्विधापि चेत् ।
प्राणिनां वन्धनायैव कल्पते नात्र संशयः ॥ ४० ॥
तथा सकामकर्माऽपि शुभं वाप्यशुभं भवेत् ।
वध्नाति सुदृढं जीवानिति जानीत निर्ज्जराः ! ॥ ४१ ॥
वासनायाः क्षये जाते तत्त्वज्ञानेन सर्वथा ।
कर्त्तव्यबुद्ध्या यत्कर्म्म निष्कामं क्रियतेऽमराः ! ॥ ४२ ॥
कैवल्यकारणं भूत्वा जीवेभ्यस्तद्धि निश्चितम् ।
यस्या न पुनरावृत्तिस्तां दत्ते सहजां गतिम् ॥ ४३ ॥
जीवन्मुक्तोऽथ सम्प्राप्तः सहजां गतिमुत्तमाम् ।
मरुस्थलेऽथवा जह्याच्छरीरं जाह्नवीतटे ॥ ४४ ॥

है, हे देवगण ! दोनों कर्म्म तुल्य हैं किन्तु अन्तिम परिणाममें बड़ा भेद है ॥ ३८ ॥ गांठके बांधनेरूपी कर्म्म द्वारा जैसे पदार्थ बांधा जाता है वैसे गांठके खोलनेरूपी कर्म्म द्वारा पदार्थ खुल जाता है । इसी उदाहरणके अनुसार हे देवगण ! सकाम और निष्काम कर्म्मको जानो ॥ ३९ ॥ लौहनिर्मित अथवा सुवर्णनिर्मित किसी प्रकारकी भी शृंखला हो वह जीवोंको बांधतीही है इसमें सन्देह नहीं ॥ ४० ॥ उसी प्रकार सकाम कर्म्म चाहे शुभ या अशुभ हो वह जीवोंको अच्छी तरह बाँधता ही है, हे देवगण ! सो जानो ॥ ४१ ॥ तत्त्वज्ञानके द्वारा वासनाके सर्वथा नाश होनेपर कर्त्तव्य-बुद्धिके अनुसार जो कर्म्म निष्कामभावसे किया जाता है हे देवगण ! वही निश्चय मुक्तिका कारण होकर जिससे पुनरावृत्ति नहीं होती उस सहजगतिको जीवोंको देता है ॥ ४२-४३ ॥ हे देवगण ! उत्तम सहजगतिको प्राप्त जीवन्मुक्त, चाहे मरुस्थलमें शरीरत्याग करें,

अथवा कृतकृत्योऽसौ मुक्तात्मा स्वात्मवित्सुराः ! ।
अन्तिमश्वासपर्य्यन्तं वसेच्चाण्डालवेश्मनि ॥ ४५ ॥
प्राणायामं प्रकुर्व्वन् वा देहं देवालये त्यजेत् ।
सर्वत्र सर्वदा तस्य मुक्तावस्थाऽवतिष्ठते ॥ ४६ ॥
जलबिन्दुर्यथाऽऽकाशपतितो याति वारिधिम् ।
तथैव स हि मुक्तात्मा लभते मामसंशयम् ॥ ४७ ॥
युष्माभिरपि भो देवाः ! कर्म्मयोगरतात्मभिः ।
कर्त्तव्यबुद्ध्या सततं कार्य्यं कर्म्म विधीयताम् ॥ ४८ ॥
देवाः ! कुरुत कर्म्माणि योगस्थाः सङ्गवर्जिताः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समा भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४९ ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यध्वं योगः कर्म्म सुकौशलम् ॥ ५० ॥
कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

चाहे गंगातीरमें शरीरत्याग करे, चाहे वह कृतकृत्य आत्मज्ञानी मुक्तात्मा चांडालके गृहमें अपने अन्तिम श्वासतक वास करे, चाहे देवमन्दिरमें प्राणायाम करता हुआ देहत्याग करे, उसकी मुक्तदशा सब स्थानोंमें हरसमय बनी रहती है ॥ ४४–४६ ॥ वह मुक्तात्मा आकाशपतित वारिबिन्दुके समुद्रमें पतित होनेके समान मुझको निस्सन्देह प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ हे देवतागण ! आप कर्म्मयोगमें रत होकर कर्त्तव्य बुद्धिसे सर्वदा कर्त्तव्य कर्म्मको करें ॥ ४८ ॥ हे देवतागण ! इन्द्रियसङ्गको त्याग करके, सिद्धि और असिद्धिमें समभावापन्न होकर और योगमें अवस्थित होकर कर्म करो, समत्वही योग कहाजाता है ॥ ४९ ॥ बुद्धिद्वारा ब्रह्ममें युक्त व्यक्ति इस लोकमें सुकृत दुष्कृत (पुण्य पाप) दोनोंहीको त्याग करता है इस कारण आपलोग कर्म्मयोगमें नियुक्त होवें, सुकौशलपूर्ण कर्म्मही योगपदवाच्य हैं ॥५०॥ बुद्धियुक्त पण्डितगण निश्चयही कर्म्मजनित

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥
आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्व्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ५२ ॥
विहाय कामान् यः सर्वान् प्राणी चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ५३ ॥
लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघाः!।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥ ५४ ॥
न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं साधकोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ५५ ॥
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

फलका त्याग करके जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर सर्व्वोपद्रवशून्य मोक्षपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥ जिस प्रकार (नाना नदियोंके द्वारा) आपूर्य्यमाण और अचञ्चल समुद्रमें (अन्य) जलप्रवेश करते हैं अर्थात् उसमें मिलजाते हैं; उसी प्रकार जिसमें सकल कामनाएँ प्रवेश करती हैं अर्थात् लीन होती हैं वह शान्तिको प्राप्त होता है किन्तु भोगकामनाशील व्यक्ति शान्तिको नहीं प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥ जो प्राणी सकल काम्यवस्तुओंकी उपेक्षा करके निःस्पृह निरहङ्कार और विषयोंमें ममताशून्य होकर यत्र तत्र भ्रमण करता है वह शान्तिको प्राप्त होता है ॥५३॥ हे निष्पापो ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मैंने पहले कही है, यथाः- ज्ञानयोग द्वारा सांख्योंकी और कर्म्मयोग द्वारा योगियोंकी ॥ ५४ ॥ कोई साधक कर्म्मका अनुष्ठान न करके नैष्कर्म्य अवस्थाको नहीं पासक्ता है एवं (आसक्तित्यागके विना) केवल सन्न्यास (कर्म्मत्याग) सेही सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है ॥ ५५ ॥ किसी भी अवस्था में क्षणमात्र भी कोई कर्म्म न

कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्व्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५६ ॥
कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ५७ ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽमराः ! ।
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ५८ ॥
नियतं क्रियतां कर्म्म कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः ।
शरीरयात्राऽपि च वो न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणाम् ॥ ५९ ॥
यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म्म देवौघाः ! मुक्तसङ्गा विधत्त भोः ! ॥ ६० ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च साधकः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते ॥ ६१ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।

करके नहीं ही रह सक्ता है, प्रकृतिजनित (सत्त्वादि) सब गुण ही अवश करके कर्म्म कराते हैं ॥ ५६ ॥ जो व्यक्ति कर्म्मेन्द्रियोंको संयत करके मनमें इन्द्रियोंके सकल विषयोंको स्मरण करता रहता है उस विमूढात्माको कपटाचारी कहते हैं ॥ ५७ ॥ किन्तु हे देवतागण ! जो मन द्वारा इन्द्रियोंको संयत करके कर्म्मेन्द्रियोंसे कर्म्मयोगका अनुष्ठान करता है फलकामनाहीन वह व्यक्ति विशिष्ट है अर्थात् प्रशंसायोग्य है ॥ ५८ ॥ आपलोग अवश्यकर्तव्य कर्म्म करो क्योंकि कर्म्म न करनेसे कर्म्म करना श्रेष्ठ है। कर्म्मोंका त्याग करनेसे आपलोगोंका शरीरयात्रानिर्व्वाह भी नहीं होगा ॥ ५९ ॥ हे देवतागण ! यज्ञार्थ कर्म्मोंके अतिरिक्त कर्म्म करनेपर इस लोकमें कर्म्म बन्धन होता है अतएव यज्ञके लक्ष्यसे निष्काम होकर कर्म्मोंको करो ॥ ६० ॥ किन्तु जो साधक आत्मामें ही रत है, आत्मामें ही तृप्त है एवं आत्मामें ही सन्तुष्ट रहता है उसके लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है ॥ ६१ ॥ इस लोकमें किये हुए कर्म्मद्वारा उसको पुण्य भी नहीं होता है और न करनेसे कोई पाप भी नहीं होता है एवं सकल

नचास्य सर्व्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ६२ ॥
तस्मादसक्तैः सततं कार्य्यं कर्म्म विधीयताम् ।
असक्ताः कर्म्म कुर्वन्तो लभन्ते पूरुषं परम् ॥ ६३ ॥
कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता साधकाः सुराः ! ।
लोकसंग्रहमेवापि पश्यन्तः कर्त्तुमर्हथ ॥ ६४ ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरः खलु ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ ६५ ॥
देवाः ! मेऽस्ति न कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि ॥ ६६ ॥
यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्म्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते प्राणिनः सर्व्वशोऽमराः ! ॥ ६७ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम् ।

भूतोंमें स्थित ऐहिक या पारत्रिक कोई भी विषय उसके लिये आश्रयणीय नहीं है ॥ ६२ ॥ अतः आपलोग फलासक्तिशून्य होकर सर्व्वदा अवश्यकर्त्तव्य कर्म्मोंका अनुष्ठान करो क्योंकि अनासक्त होकर कर्म्म करनेसे साधक मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ६३ ॥ हे देवतागण ! साधकगण कर्म्मके द्वारा ही संसिद्धि अर्थात् ज्ञान प्राप्त हुए हैं। सब लोगोंको अपने अपने धर्म्ममें प्रवर्त्तित करनेके विषयका लक्ष्य रखकर भी कर्म्म करना उचित है ॥६४॥ क्योंकि श्रेष्ठ व्यक्ति जो जो करते हैं अन्यान्य लोग भी वही वही करते हैं, वे जिसको कर्तव्य समझते हैं उसीका अनुवर्तन लोग करते हैं ॥ ६५ ॥ हे देवतागण ! मेरा कर्त्तव्य कुछ नहीं है क्योंकि त्रिलोकीमें मेरे लिये अप्राप्त वा प्राप्तव्य कुछ नहीं है तथापि मैं कर्म्ममें प्रवृत्तही रहता हूँ ॥ ६६ ॥ हे देवतागण ! कभी यदि मैं आलस्यरहित होकर कर्म्मानुष्ठान न करूँ तो निश्चयही जीवधारी मेरे मार्गको सर्व्वतोभावसे अनुसरण करेंगे ॥ ६७ ॥ यदि मैं कर्म्म न करूँ तो ये सब लोग (धर्म्मलोप होनेसे)

सङ्करस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ ६८ ॥
सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति निर्ज्जराः !।
कुर्य्याद्विद्वाँस्तथाऽसक्ताश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ ६९ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म्मसङ्गिनाम्।
योजयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ ७० ॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्व्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥ ७१ ॥
तत्त्ववित्तु सुपर्वाणः ! गुणकर्म्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ ७२ ॥
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्म्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ ७३ ॥

विनष्ट होजायँगे और मैं वर्णसंकरका कर्त्ता हो जाऊँगा, इस प्रकारसे मैं ही इन प्रजाओंके नाश का कारण बनूँगा ॥ ६८ ॥ हे देवतागण ! कर्म्ममें आसक्त अज्ञानीलोग जिस प्रकार कर्म्म करते हैं उसी प्रकार कर्म्ममें अनासक्त ज्ञानीलोग भी लोगोंको स्वधर्म्ममें प्रवर्त्तित करनेके लिये इच्छुक होकर कर्म्म करते हैं॥ ६९ ॥ कर्म्मासक्त अज्ञलोगोंका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिये, प्रत्युतन्तु ब्रह्मज्ञ परिडत व्यक्तिको स्वयं सब कर्म्मोंका अनुष्ठान करके अज्ञलोगोंको कर्म्ममें नियुक्त करना चाहिये ॥ ७० ॥ सब कर्म्म प्रकृतिके गुणों द्वारा सर्व्वतोभावेन निष्पादित होते हैं किन्तु अहङ्कारसे विमूढ-चित्त व्यक्ति "मैं कर्ता हूं" ऐसा समझता है ॥ ७१ ॥ परन्तु हे देवतागण ! गुण और कर्म्मोंके विभागके तत्त्वको जाननेवाला व्यक्ति "इन्द्रियाँ विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं" ऐसा समझकर कर्त्तृत्वा-भिमान नहीं करता है ॥ ७२ ॥ प्रकृतिके सत्त्वादि त्रिगुणोंसे मोहित होकर जो इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंके कार्य्योंमें आसक्त होते हैं, सर्व्वज्ञ व्यक्ति उन मन्दमति अज्ञलोगोंको विचलित न करे ॥ ७३ ॥

मयि सर्व्वाणि कर्म्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशिषो निर्ममाश्च यतध्वं विगतज्वराः ॥ ७४ ॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति साधकाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः ॥ ७५ ॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्व्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ७६ ॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ७७ ॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ७८ ॥
श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः ॥ ७९ ॥

मुझमें सब कर्म्म अर्पण करके आत्मामें चित्तको रखते हुए निष्काम और ममताशून्य होकर शोक त्यागपूर्वक कर्म्म करो ॥ ७४ ॥ जो साधक मेरे इस सिद्धान्तके अनुसार श्रद्धावान् और दोषदृष्टि-विहीन होते हुए कर्म्मोंको नित्य करते रहते हैं वे कर्म्म करनेवाले होनेपर भी कर्म्मोंसे मुक्त रहते हैं ॥ ७५ ॥ किन्तु जो केवल दोष-दर्शन करते हुए मेरे इस सिद्धान्तके अनुसार कर्म्मानुष्ठान नहीं करते हैं उन विवेकहीनोंको सर्व्वज्ञानविमूढ़ और नष्ट जानो ॥ ७६ ॥ ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म्म करता है और प्राणि-मात्रही अपनी प्रकृतिका अनुसरण करते हैं अतः इन्द्रियोंका निग्रह क्या करेगा ? ॥ ७७ ॥ प्रत्येक इन्द्रियका अपने अपने अनुकूल विषयमें अनुराग और प्रतिकूल विषयमें द्वेष अवश्य होता है अत एव इन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये क्योंकि ये दोनों मुमुक्षुके प्रतिपक्षी हैं ॥७८॥ सुचारुरूपसे अनुष्ठित परधर्म्मकी अपेक्षा दोषसहित स्वधर्म्म श्रेष्ठ है, अपने धर्म्ममें स्थित रहते हुए मरना भी अच्छा है किन्तु

न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभिर्न स बध्यते ॥ ८० ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म्म पूर्व्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
तस्माद्विधत्त कर्म्मैव पूर्व्वैः पूर्व्वतरं कृतम् ॥ ८१ ॥
किं कर्म्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तद्वः कर्म्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यथाशुभात् ॥ ८२ ॥
कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्म्मणः ।
अकर्म्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्म्मणो गतिः ॥ ८३ ॥
कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः ।
स बुद्धिमान् साधकेषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥ ८४ ॥
यस्य सर्व्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्ज्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ८५ ॥

परधर्म्म भयोत्पादक है ॥ ७९ ॥ "मुझको सकल कर्म्म आसक्त नहीं करसके एवं कर्म्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है" इस प्रकार जो मुझको जानता है वह कर्म्ममें बद्ध नहीं होता है ॥ ८० ॥ इस प्रकार जानकर पूर्व्वकालीन मुमुक्षुओंने भी कर्म्म किया है अतः आपलोग भी पुराकालके मुमुक्षुओं द्वारा पूर्व्वकालमें कृत कर्म्मको ही करो ॥ ८१ ॥ कर्म्म क्या है और अकर्म्म क्या है इस विषयमें विवेकी लोग भी मोहित होते हैं अतएव जिसके जाननेसे आपलोग अशुभ अर्थात् कर्म्मासक्तिसे मुक्त होगे उस कर्म्मको मैं कहता हूँ ॥ ८२ ॥ कर्म्म अर्थात् निष्काम कर्म्मका रहस्य भी जानने योग्य है, विकर्म अर्थात् सकाम कर्म्मका रहस्य भी जानने योग्य है और अकर्म अर्थात् कर्म्माभावका भी रहस्य जानने योग्य है क्योंकि कर्म्मकी गति अतिगहन है ॥ ८३ ॥ जो निष्काम कर्ममें कर्म्माभाव देखता है और कर्म्मरहित अवस्थामें जो कर्म्मका होना देखता है वह साधकोंमें बुद्धिमान् है और वह सब कर्म्म करते रहनेपर भी मुझमें युक्त है ॥ ८४ ॥ जिसके सब कर्म्म कामना और सङ्कल्पसे रहित हैं ज्ञानीलोग

त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ८६ ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्व्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म्म कुर्व्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ८७ ॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबद्ध्यते ॥ ८८ ॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म्म समग्रं प्रविलीयते ॥ ८९ ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म्म कुर्व्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ९० ॥
युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

उस ज्ञानाग्निके द्वारा दग्धकर्म्मा व्यक्तिको पण्डित कहते हैं ॥ ८५ ॥ वह कर्म और कर्म्मफल पर आसक्तिरहित होकर नित्यानन्दमें तृप्त और निरवलम्बन होकर कर्म्ममें प्रवृत्त रहनेपर भी कुछ भी नहीं करता है ॥ ८६ ॥ जो शरीरके द्वारा केवल नाममात्रके लिये कर्म्म करता है वह निष्काम, यतचित्तात्मा और त्यक्तसर्व्वपरिग्रह होनेके कारण पापको प्राप्त नहीं होता है ॥ ८७ ॥ एवं वह यदृच्छालाभमें सन्तुष्ट, द्वन्द्वातीत, शत्रुताशून्य और सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष-विषादशून्य होनेके कारण कर्म्म करनेपर भी बद्ध नहीं होता है ॥ ८८ ॥ निष्काम, सर्व्वबन्धनमुक्त, ज्ञानमें अवस्थितचित्त और यज्ञके लक्ष्यसे कर्म्म करनेवाले व्यक्तिके सब कर्म्म विलयको प्राप्त होजाते हैं ॥ ८९ ॥ शरीरद्वारा, मनद्वारा, बुद्धिद्वारा और कर्म्माभिनिवेशशून्य इन्द्रियगणद्वारा योगिगण कर्म्मफलासक्तिको परित्याग करके आत्मशुद्धिके लिये कर्म्म किया करते हैं ॥ ९० ॥ ब्रह्ममें युक्त व्यक्ति कर्म्मफलका त्याग करके कर्म्म करनेपर भी ब्रह्म-निष्ठासे उत्पन्न शान्तिको प्राप्त होता है और अयुक्त व्यक्ति कामना-

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ ९१ ॥
यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं जानीत तं सुराः ! ।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ ९२ ॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ९३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्म्मस्वनुषज्जते ।
सर्व्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ९४ ॥
देवाः ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत् कश्चित् क्वापि दुर्गतिमृच्छति ॥ ९५ ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ९६ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ९७ ॥

में प्रवृत्त होनेके कारण कर्म्मफलमें आसक्त होकर बद्ध होता है ॥९१॥ हे देवगण ! जिसको सन्न्यास कहते हैं उसीको योग जानो क्योंकि फलकामनाका त्याग किये विना कोई योगी नहीं हो सक्ता है ॥९२॥ कर्म्मयोगमार्गपर चलनेकी इच्छा करनेवाले योगीके लिये कर्म्म ही कारणरूप (साधनरूप) कहाजाता है ; परन्तु कर्मयोगपदपर आरूढ़ व्यक्तिके लिये समाधि ही कारणरूप (साधनरूप) कहीगई है ॥ ९३ ॥ साधक जब इन्द्रियोंके भोग्य विषयोंपर और उनके साधनभूत कर्म्मोंपर आसक्ति नहीं रखता है तब वह सर्व्व-संकल्पत्यागी व्यक्ति योगारूढ़ कहाजाता है ॥ ९४ ॥ हे देवगण ! इस लोकमें वा परलोकमें उसका विनाश नहीं है क्योंकि कोई भी शुभकर्म्मकारी कहीं भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता है ॥९५॥ योगभ्रष्ट व्यक्ति पुण्यात्माओंके लोकोंको प्राप्त होकर और वहां बहुत वर्षों तक सुखभोग करके पवित्रात्मा श्रीमानोंके घरमें जन्म ग्रहण करता है ॥ ९६ ॥ अथवा ज्ञानी योगियोंके वंशमें वह जन्म ग्रहण करता है,

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ विबुधर्षभाः ! ॥ ९८ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ९९ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ १०० ॥
अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ १०१ ॥
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति भो देवाः ! सदा तद्भावभावितः ॥ १०२ ॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

ऐसा जन्म होना जगत्में निश्चय ही दुर्लभतर है ॥ ९७ ॥ हे देवगण ! वह उक्त दोनों प्रकारके जन्मोंमें ही पूर्व्वजन्ममें उत्पन्न ब्रह्मविषयक बुद्धि–संयोगको प्राप्त करता है और मोक्षके विषयमें अधिक प्रयत्न करता है ॥ ९८ ॥ पूर्व्वजन्मका अभ्यास ही उसको अवश करके ब्रह्मनिष्ठ बनादेता है क्योंकि योगके स्वरूपको जाननेकी इच्छा करनेवाला व्यक्ति भी वेदके शब्दसम्बन्धी स्वरूपको अतिक्रमण करजाता है ॥ ९९ ॥ और प्रयत्नपूर्व्वक साधन करनेवाला योगी पापरहित होकर अनेक जन्मोंमें योगसिद्ध होकर तत्पश्चात् परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १०० ॥ शरीरान्तके समय मुझको स्मरण करते करते जो देह त्याग करता है वह मेरे भावको प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं ॥ १०१ ॥ देहान्तके समय जिस जिस भावका स्मरण करते करते वह योगी देहत्याग करता है, हे देवतागण ! सर्व्वदा उसी उसी भावनामें चित्तके स्थित रहनेके कारण उसी उसी भावको ही प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥ मेरी सम्मतिमें योगी तपस्वियोंसे भी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ है और कर्म्म-

कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्भवत योगिनः ॥ १०३ ॥
कर्म्मण्येवाधिकारो वो मा फलेषु कदाचन ।
न कर्म्मफलहेतुत्वं न वः सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ १०४ ॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्व्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ १०५ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे देवमहाविष्णु-
सम्वादे कर्म्मयोगवर्णनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

निष्ठ व्यक्तियोंसे भी श्रेष्ठ है अत एव आपलोग योगी होवें ॥ १०३ ॥
कर्म करनेमें ही आपलोगोंका अधिकार है, फलेच्छा आपलोगों-
को कभी न हो, न आपलोग कर्मफलकी प्राप्तिके कारण बनना
और न सकाम कर्म्मोंमें आपलोगोंकी प्रवृत्ति होनी चाहिये ॥ १०४ ॥
वेदपाठ करनेसे, यज्ञ करनेसे, तपस्या करनेसे और दान करनेसे जो
पुण्य कहागया है, इस कर्म्मयोगके रहस्यको जानलेनेसे योगी उन
सब पुण्यफलोंको अतिक्रमण करता है और जगत्के मूलभूत
परमपदको प्राप्त करता है ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग-
शास्त्रका देवमहाविष्णुसंवादात्मक कर्म्मयोगवर्णन
नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ।

भक्तियोगवर्णनम्

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

हृन्मन्दिरविहारिन् ! भो भक्तानां भक्तवत्सल ! ।
भवतः प्राप्तये देवा ऋषयो मानवास्तथा ॥ २ ॥
पितरश्चैव हे नाथ ! सर्व्वे साधनमार्गगाः ।
कीदृशं मार्गमालम्ब्य भवेयुः सफलाशयाः ॥ ३ ॥
कथं विभुर्गुणातीतो भवन्नपि सदा भवान् ।
जीवोपकारकरणे प्रवृत्तो भवति स्वयं ॥ ४ ॥
कस्मात्साधनतो लभ्यं भवत्सान्निध्यमीप्सितम् ।
तत्सर्व्वं कृपया नूनमुपदिश्येमहि प्रभो ! ॥ ५ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ६ ॥

देवाः ! मम यदा भक्ता मत्स्वरूपस्य तत्त्वतः ।

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे भक्तवत्सल ! हे भक्तमनोमन्दिरविहारी ! हे नाथ ! आपको प्राप्त करनेके लिये साधनमार्गगामी सब ऋषि, देवता, मनुष्य और पितृगण किस प्रकारके पथको अवलम्बन करके सफलकाम होंगे ॥ २-३ ॥ आप विभु और गुणातीत होनेपर भी किस प्रकार जीवोंके उपकारमें सदा स्वयं प्रवृत्त होते हैं ॥ ४ ॥ किस साधनसे अभिलषित आपका सान्निध्य प्राप्त हो सकता है, हे प्रभो ! कृपया अवश्य आप हमलोगोंको इन सब बातोंका उपदेश करें ॥ ५ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ६ ॥

हे देवतागण ! मेरे भक्तगण जब मेरे स्वरूपको ठीक ठीक जानलेते हैं, तब वे सब ज्ञानी भक्त पराभक्तिके अधिकारी होते

ज्ञातारः स्युस्तदा सर्व्वे ज्ञानिनस्तेऽधिकारिणः ॥ ७ ॥
पराभक्तेर्भवेयुर्हि मां तदैव समीशते ।
देशे काले च सर्व्वस्मिन् पात्रे द्रष्टुं न संशयः ॥ ८ ॥
पराभक्तेः किन्तु यावन्न ते स्युरधिकारिणः ।
तावन्मे सगुणस्यैव रूपस्योपासनां सदा ॥ ९ ॥
कुर्व्वन्तः कृतकृत्यत्वं विन्दन्ति गतकल्मषाः ।
रागात्मिकाया भक्तेर्मे ये भक्ता अधिकारिणः ॥ १० ॥
लीलामयाऽवतारस्य मम ते प्रायशः सुराः ! ।
विविधायां हि लीलायामासक्ता विग्रहस्य मे ॥ ११ ॥
लीलामयस्य चोपास्त्या लभन्ते मां सुनिश्चितम् ।
मम यन्निर्गुणं रूपं सगुणं तद्वदेव हि ॥ १२ ॥
लीलामयं विग्रहश्च सर्व्वमेकमुदीरितम् ।
अधिकारस्य भेदेन भक्ता एव हि केवलं ॥ १३ ॥
तारतम्यं निरीक्षन्त एषु रूपेषु मेऽमराः ! ।
पूर्णांशाऽऽवेशरूपादिरूपैर्हि विविधैः खलु ॥ १४ ॥

हैं और तबही मुझको सब देश काल और पात्रमें देखनेमें समर्थ होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७-८ ॥ परन्तु जबतक भक्त, पराभक्तिके अधिकारी न हों तब तक मेरे सगुण रूपकी ही उपासना करते हुए निष्पाप होकर सदा कृतकृत्यता लाभ करते हैं । हे देवतागण ! मेरी रागात्मिका भक्तिके अधिकारी भक्त प्रायः मेरे लीलामय अवतारोंकी विविध लीलाओंमें आसक्त होकर मेरे लीलामय विग्रहकी उपासना करके मुझको निश्चय प्राप्त करते हैं । मेरे निर्गुण रूप, मेरे सगुण रूप और मेरे लीलामय विग्रह सब एकही हैं । हे देवगण ! केवल अधिकारभेदसे भक्तोंकोही इन मेरे रूपोंमें तारतम्य दिखाईपड़ता है । हे देवतागण ! मैंही पूर्ण, अंश और

अहं हि लोके मायातोऽवतीर्य समये सुराः ! ।
भक्तिं ददामि भक्तेभ्यो येन नन्दन्ति ते सदा ॥ १५ ॥
नैवात्र विस्मयः कार्यः सन्देहो वा कथञ्चन ।
धर्मसंरक्षणं देवाः ! रोचते मे निरन्तरम् ॥ १६ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ १७ ॥
यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति निर्ज्जराः ! ।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ १८ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ १९ ॥
जन्म कर्म्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽमराः ! ॥ २० ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।

आवेश आदि विविध रूपोंसे समयपर जगत्में मायावलम्बनसे अवतीर्ण होकर भक्तोंको भक्ति प्रदान करता हूं जिससे वे सदा आनन्दित रहते हैं ॥ ९–१५ ॥ हे देवतागण ! धर्मकी निरन्तर रक्षा करना मुझको अत्यन्त प्रिय है, इसमें किसी प्रकार कुछ भी सन्देह वा विस्मय नहीं करना ॥ १६ ॥ जन्मरहित अविनश्वर और प्राणिमात्रका ईश्वर होकर भी मैं अपनी प्रकृतिपर अधिष्ठान करके अपनी मायाके द्वारा उत्पन्न होता हूं ॥ १७ ॥ हे देवगण ! जब जब धर्म्मपर ग्लानि और अधर्म्मका आधिक्य होता है उसी समय मैं आविर्भूत होता हूँ ॥ १८ ॥ साधुओंकी रक्षाके लिये, दुष्कर्म्मकारियोंके नाशके लिये और धर्म्मके संस्थापनके लिये मैं युग युगमें अवतार धारण करता हूँ ॥ १९ ॥ हे देवगण ! जो मेरे इस प्रकारके अलौकिक जन्म और कर्म्मको यथार्थरूपसे जानता है वह देहत्याग करके फिर जन्म ग्रहण नहीं करता है और मुझको प्राप्त

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ २१ ॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते साधकाः सर्वशः सुराः ! ॥ २२ ॥
काङ्क्षन्तः कर्म्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं लोके साधकानां सिद्धिर्भवति कर्म्मजा ॥ २३ ॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ २४॥
मम प्राप्त्यै सदा भक्ता आश्रयन्ति दिवौकसः ! ।
भक्तिं भावमयीं योगं क्रियात्मकमपि ध्रुवम् ॥ २५ ॥
वैध्या रागात्मिकाया वै भक्तेराधिगमो मतः ।
वैधी सा साधनाल्लभ्या श्रीगुरोरुपदेशतः ॥ २६ ॥
यदा चित्तलयं कर्त्तुमभ्यासो मयि जायते ।

होता है ॥ २० ॥ अनुराग, भय और क्रोधशून्य एवं मुझमें एकाग्रचित्त, मेरे आश्रित और ज्ञानरूपी तपसे पवित्र अनेक साधक मेरे भावको प्राप्त हुए हैं अर्थात् मुक्त होगये हैं ॥ २१ ॥ जो मुझको जिस भावसे आश्रय करते हैं उनको मैं उसी भावसे आश्रयमें रखता हूं अर्थात् फल प्रदान करता हूँ । हे देवगण ! साधकलोग सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ २२ ॥ कर्म्मकी सिद्धि चाहनेवाले साधक देवताओंकी उपासना करते हैं । इस संसारमें साधकोंको कर्म्मसम्बन्धीय सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है ॥ २३ ॥ परमात्मामें जिनके बुद्धि और चित्त लगे हुए हैं, उन्हींमें जिनकी निष्ठा है और उन्हीमें जो परायण हैं एवं ज्ञानसे जिनके पाप नष्ट होगये हैं वे मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ हे देवतागण ! मुझको प्राप्त करनेके लिये उपासक सदा भावमयी भक्ति और क्रियामय योगका भी आश्रय अवश्य लेते हैं ॥ २५ ॥ वैधी भक्तिसे ही रागात्मिका भक्तिकी प्राप्ति मानीगई है, वह वैधी भक्ति श्रीगुरूपदेशके अनुसार साधन करनेसे प्राप्त होती है ॥ २६ ॥ जब मुझमें चित्त लीन करने-

रागात्मिकायां भक्तौ हि तदा मज्जति सत्वरम् ॥ २७ ॥
उन्मज्जति मुहुस्तद्वत् भाग्यवान् साधकोत्तमः ।
भक्तिरेषा पराभक्तेर्जननी वर्त्तते सुराः ! ॥ २८ ॥
उपास्तेः प्राणरूपास्ति भक्तिर्हि मामकी सुराः ! ।
क्रियायोगः शरीरं स्याच्चतुर्धा स प्रकीर्तितः ॥ २९ ॥
नाम्ना मन्त्रहठावेतौ लयराजौ तथैव च ।
अधिकारस्य भेदेन विज्ञेयास्ते सुरोत्तमाः ! ॥ ३० ॥
गुरोर्वै कृपयेमानि लभ्यंते साधकैर्ध्रुवम् ।
मत्प्राप्तिसाधनानीति प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ३१ ॥
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान् चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ ३२ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ ३३ ॥

का अभ्यास होजाता है तब मेरी रागात्मिका भक्तिमें वह भाग्यवान् श्रेष्ठ साधक शीघ्र उन्मज्जन और निमज्जन वारवार करने लगता है । हे देवतागण ! यह भक्ति पराभक्तिको उत्पन्न करनेवाली है ॥ २७-॥ २८ ॥ हे देवगण ! मेरी भक्ति उपासनाकी प्राणरूपा और क्रिया-योग शरीररूप है । हे देवश्रेष्ठो ! क्रियायोगके भी अधिकारभेदसे चार भेद हैं, वे मन्त्र हठ लय और राज नामसे जानेजाते हैं । ॥ २९-३० ॥ गुरुकृपासे ही मेरी प्राप्तिके इन साधनोंको साधक निश्चय लाभ करते हैं, इस बातको पण्डितगण कहते हैं ॥ ३१ ॥ रूप रसादि बाह्य विषयोंको बाहर ही रखकर दृष्टिको दोनों भ्रुओंके बीच-में रखकर नासिकाके भीतर विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायुको समान करके अर्थात् समभावसे चलनेवाला बना करके इन्द्रिय मन और बुद्धिका संयम करनेवाला, मोक्षपरायण और इच्छा भय एवं क्रोधशून्य जो मुनि है वही सदा मुक्त है ॥ ३२-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्व्वभूतमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्व्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ ३४ ॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ३५ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ३६ ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ ३७ ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।

---

३३ ॥ मुझको यज्ञों और तपस्याओंका भोक्ता, सकल लोकोंका महान् ईश्वर और सकल प्राणिमात्रका सुहृद् समझकर साधक मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥ आत्माके द्वारा अर्थात् बुद्धिके द्वारा आत्माका अर्थात् मनका उद्धार करना चाहिये, आत्माको अर्थात् मनको नीचे न गिरने दिया जाय क्योंकि मेरी ओर खिंचा हुआ आत्मा अर्थात् मनही अपना अर्थात् साधकका बन्धु है और नीचे-की ओर अर्थात् इन्द्रियादिकमें खिंचा हुआ आतमा अर्थात् मनही अपना अर्थात् साधकका शत्रु है ॥ ३५ ॥ जिस उपासकने अपनी आत्मा अर्थात् बुद्धिके द्वारा मनको वशीभूत कर लिया है उसीकी आत्मा अर्थात् मन अपना अर्थात् उपासकका बन्धु है; परन्तु अजि-तेन्द्रिय व्यक्तिकी आत्मा अर्थात् बुद्धि ही शत्रुतामें शत्रुवत् प्रवृत्त हुआ करती है ॥ ३६ ॥ योगीको उचित है कि सब समय एकान्तमें अव-स्थित रहकर एकाकी, संयतचित्त, संयतात्मा, इच्छाशून्य और परिग्रह-शून्य होकर मनको समाहित करे ॥ ३७ ॥ पवित्र स्थानमें कुशासनके ऊपर मृगचर्म्म और उसके ऊपर रेशमका वस्त्र रखकर न बहुत ऊँचा न बहुत नीचा अपना स्थिर आसन स्थापन करके और उस आसनपर बैठकर मनको एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियोंकी

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ३८ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ ३९ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ ४० ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ४१ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ ४२ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चामराः ! ॥ ४३ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्म्मसु ।

क्रियाको वशीभूत करते हुए उपासकको चित्तशुद्धिके निमित्त योगाभ्यास करना उचित है ॥३८-३९॥ देहका मध्यभाग मस्तक और ग्रीवादेश सरल और निश्चलभावसे रखकर स्थिर होकर अपनी नासिकाके अग्रभागको अवलोकन करते हुए एवं अन्य ओरका देखना छोड़कर प्रशान्तचित्त भयरहित और ब्रह्मचर्य्यमें अवस्थित होकर मनको दमन करते हुए मुझमें ही चित्त समर्पण करके मत्परायण होते हुए युक्त होकर अवस्थान करना उचित है ॥ ४०-४१ ॥ उक्त रूपसे सदा मनको दमन करनेवाला संयतचित्त योगी निर्वाणमुक्ति देनेवाली एवं मुझमें रहनेवाली शान्तिको प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥ परन्तु हे देवतागण ! अधिक भोजन करनेवालेको योगकी प्राप्ति नहीं होती और न निरन्तर उपवास करनेवालेको ही योगकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार बहुत सोनेवालेको भी योगकी प्राप्ति नहीं होती है और न बहुत जागनेवालेको ही योगकी प्राप्ति होती है ॥४३॥ जो साधक नियमित आहार और विहार करते हैं और कर्म्मोंको भी

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ४४ ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ ४५ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ ४६ ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ ४७ ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ४८ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ४९ ॥

नियमाधीन होकर करते हैं, नियमके साथ निद्रित होते हैं और नियमके साथ जागते हैं उनका योगाभ्यास दुःखका नाश करनेवाला होता है॥४४॥ जब चित्त विशेषरूपसे संयत होकर आत्मामेंही अवस्थान करता है तब सब प्रकारकी कामनाओंसे निःस्पृह व्यक्ति युक्त कहाता है ॥ ४५ ॥ जैसे वायुरहित स्थानमें दीप विचलित नहीं हुआ करता है, आत्माके उद्देश्यसे योगके अभ्यास करनेवाले संयतात्मा योगीके अचञ्चल चित्तको ऐसाही समझना चाहिये ॥ ४६ ॥ जिस अवस्थामें योगाभ्यास द्वारा संयतचित्त उपरतिको प्राप्त होता है और जिस अवस्थामें आत्मज्ञान द्वारा आत्माको देखते हुए आत्मामेंही उपासक संतुष्ट होजाता है वही योगावस्था है ॥ ४७ ॥ जिस अवस्थाविशेषमें युक्त व्यक्ति उस अनिर्वचनीय अतीन्द्रिय और केवल बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य परम सुखका अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित होनेपर ही यथार्थरूपसे वह अविचलित रहता है उसी अवस्थाको योग कहते हैं ॥ ४८ ॥ जिस अवस्थामें अन्य सब अवस्थाओंके लाभको उस अवस्थासे अधिक न समझा जाय और

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥ ५० ॥
संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्व्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ ५१ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ५२ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ५३ ॥
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ ५४ ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ ५५ ॥

जिस अवस्थामें रहनेसे महादुःख भी विचलित न करसके उस अवस्थाको योग कहते हैं ॥ ४९ ॥ जिस अवस्थाविशेषमें दुःखका सम्पर्क नहीं रहता है वही अवस्था योगशब्दवाच्य है और निर्विण्ण चित्तसे उसीही योगका अभ्यास करना उचित है ॥ ५० ॥ सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली सब इच्छाओंको निःशेषरूपसे त्याग करके मनके ही द्वारा इन्द्रियगणको सब विषयसमूहसे विशेषरूपसे रोक करके धारणासे वशीभूत की हुई बुद्धि द्वारा मनको आत्मामें निश्चलरूपसे स्थापन करके क्रमशः उपरामको प्राप्त हो और कोई चिन्ता न रक्खे ॥५१-५२॥ स्वभावसे चञ्चल और संयम करनेपर भी चलायमान होनेवाला मन जिस जिस विषयमें जावे उस उस विषयसे उसको खींचकर आत्मामेंही स्थिर करना चाहिये ॥ ५३ ॥ क्योंकि उक्त प्रकारसे रजोगुण से रहित प्रशान्तचित्त, निष्पाप और ब्रह्मभावको प्राप्त योगीको परमसुख प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥ इस प्रकारसे सदा मनको ब्रह्ममें युक्त करता हुआ निष्पाप योगी अनायास ब्रह्मसंस्पर्शरूपी

सर्व्वभूतस्थमात्मानं सर्व्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्व्वत्र समदर्शनः॥ ५६॥
सर्व्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्व्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते॥ ५७॥
आत्मौपम्येन सर्व्वत्र समं पश्यति योऽमराः!।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ५८॥
असंशयं सुपर्वाणः! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु भो देवाः! वैराग्येण च गृह्यते॥ ५९॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ६०॥
योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ६१॥

सर्व्वोत्कृष्ट सुखको प्राप्त कर लेता है॥ ५५॥ योगके द्वारा समाहित-चित्त और सर्वत्र समदर्शन करनेवाला वह योगी आत्माको सर्व्व भूतोंमें अवस्थित देखता है और सर्व्वभूतोंको आत्मामें देखता है॥५६॥ जो सर्व्वभूतमें अवस्थित मुझको अद्वितीयरूपसे आश्रय करके मेरी उपासना करता है, संसारमें वर्त्तमान रहनेपर भी वह योगी सर्वथा मुझमेंही अवस्थान करता है॥ ५७॥ हे देवगण! जो अपनी उपमासे सब भूतोंको समान देखता है और सुखदुःखको समान देखता है वह योगी श्रेष्ठ है, यही मेरी सम्मति है॥ ५८॥ हे देवगण! मन दुर्निग्रह और चञ्चल है इसमें सन्देह नहीं; किन्तु हे देवगण! अभ्यास और वैराग्य द्वारा मनका निग्रह कियाजाता है॥ ५९॥ जिसका चित्त संयत नहीं है मेरा मत है कि उसके लिये योग दुष्प्राप्य है; किन्तु गुरूपदिष्ट उपाय द्वारा संयतचित्त व्यक्ति यदि प्रयत्नशील हो तो योगको प्राप्त करसक्ता है॥ ६०॥ सब योगियोंमेंसे भी जो श्रद्धावान् व्यक्ति मद्गतचित्तसे मेरी उपासना करता है वह अतिश्रेष्ठ योगी है,

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ ६२ ॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो ननु ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च विबुधर्षभाः ! ॥ ६३ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ ६४ ॥
उदाराः सर्व्वे एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ ६५ ॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
परमात्मा सर्व्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ ६६ ॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्ते किलेतरान् ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ ६७ ॥

यह मेरा मत है ॥ ६१ ॥ पापशील विवेकहीन नराधम व्यक्ति मायाके द्वारा हतज्ञान होकर आसुरीभावको प्राप्त होते हुए मुझको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ६२ ॥ हे देवगण ! आर्त्त जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी, ये चार प्रकारके पुण्यात्मा व्यक्ति मेरी उपासना करते हैं ॥६३॥ इनमेंसे ज्ञानी सर्व्वदा मुझमें निष्ठावान् और एकमात्र मुझमें ही भक्ति रखनेवाला होनेसे श्रेष्ठ है; क्योंकि मैं ज्ञानी भक्तका अतिप्रिय हूं और वह भी मेरा प्रिय है ॥ ६४ ॥ ये सब ही महान् हैं परन्तु ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है, यह मेरा मत है; क्योंकि वह ज्ञानी भक्त मुझमें एकचित्त होकर सर्व्वोत्तम गतिस्वरूप मुझकोही आश्रय करता है ॥६५॥ बहुत जन्म ग्रहण करनेके बाद ज्ञानवान् व्यक्ति "यह चराचर विश्व ही परमात्मस्वरूप है" ऐसा अनुभव करके मुझको प्राप्त होता है, ऐसा महात्मा जगत्में दुर्लभ है ॥ ६६ ॥ सांसारिक अनेक प्रकारकी कामनाओंसे हतज्ञान व्यक्ति अनेक प्रकारके नियमोंका अवलम्बन करके अपनी प्रकृतिको नियमित करते हुए ही औरोंकी (देवतादिकी)

योयो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ ६८ ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ॥ ६९ ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
अन्यानन्ययजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ ७० ॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ ७१ ॥
तस्मात् सर्व्वेषु कालेषु मामनुस्मरतामराः ! ।
मय्यर्पितमतिस्वान्ता मामसंशयमेष्यथ ॥ ७२ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पूरुषं दिव्यं भक्तो यात्यनुचिन्तयन् ॥ ७३ ॥

उपासना करते रहते हैं ॥ ६७ ॥ जो जो भक्त जिस जिस मूर्तिकी श्रद्धापूर्व्वक उपासना करनेकी इच्छा करता है, मैं उस उस भक्तकी उस उस मूर्त्तिमें वैसीही दृढ़श्रद्धा विधान करता हूँ ॥ ६८ ॥ वह भक्त उस श्रद्धासे युक्त होकर उस मूर्त्तिकी आराधना करता है और तदनन्तर मेरेही द्वारा सम्पादित हितकारी उन सकल कामनाओंको लाभ करता है ॥ ६९ ॥ परन्तु उन क्षुद्रबुद्धि व्यक्तियोंका वह फल विनाशशील है क्योंकि औरोंकी उपासना करनेवाले अन्य लोकोंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं ॥ ७० ॥ अल्पबुद्धि व्यक्ति मेरे नित्य सर्व्वोत्तम और परमस्वरूपको न जानकर, मैं अव्यक्त अर्थात् मायातीत हूं तौभी मुझको व्यक्तिभावको प्राप्त समझते हैं॥७१॥ इस कारण हे देवतागण ! सर्व्वदा मुझको स्मरण करो, मुझमें मन और बुद्धिको अर्पण करनेपर निःसन्देह आपलोग मुझको प्राप्त होगे ॥ ७२ ॥ अभ्यासयोग द्वारा एकाग्र और अनन्यगामी चित्तसे चिन्ता करते करते साधक दिव्य परमपुरुषको प्राप्त होता है

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्व्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ७४॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ ७५॥
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति
तद्वः पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ७६॥
सर्व्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्द्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम्॥ ७७॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।

॥ ७३॥ कवि (सर्व्वज्ञ) पुराण (अनादि) अनुशासिता (नियन्ता) सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतम, सबका पालन करनेवाला, अचिन्त्यरूप, प्रकृतिसे परे स्थित, सूर्य्यके समान वर्णवाले पुरुषका, शरीरत्यागके समय भक्तियुक्त होकर स्थिर चित्तसे योगबलद्वारा भ्रूयुगलके मध्यमें प्राणवायुको भलीभांति स्थिर करके जो ध्यान करता है वह उस दिव्य परमात्मस्वरूप पुरुषको प्राप्त होता है॥ ७४-७५॥ ब्रह्मज्ञगण जिसको अक्षर कहते हैं, वीतराग यतिगण जिसमें प्रवेश करते हैं और जिसको जाननेकी इच्छा करके साधक ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करते हैं मैं आपलोगोंको वह पद संक्षेपसे कहता हूँ॥ ७६॥ सब इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे प्रत्याहरण करके मनको हृदयमें स्थिर करके और मूर्द्धा अर्थात् सहस्रारमें अपने प्राणको रखकर योगधारणामें स्थिर होता हुआ और ॐ इस एकाक्षर ब्रह्मस्वरूप मन्त्रको उच्चारण

यः प्रयाति स्मरन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ ७८ ॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभो देवाः ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ ७९ ॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ ८० ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽमराः !।
मामुपेत्य तु गीर्वाणाः ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ८१ ॥
अवजानन्ति मां मूढाः सगुणां तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ८२ ॥
मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ ८३ ॥
महात्मानस्तु मां देवाः ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।

करता हुआ मुझको स्मरण करके स्थूल देहको त्याग करके जाता है वह परमगतिरूपी मुक्तिपदको प्राप्त करता है ॥ ७७-७८ ॥ अनन्य-चित्त होकर जो मेरा सब समय नियमितरूपसे चिन्तन करता है हे देवतागण ! नित्ययुक्त उस योगीके लिये मैं सुलभ हूँ ॥ ७९ ॥ महात्मागण मुझको प्राप्त करके पुनः त्रितापके आलयरूप अनित्य जन्मको प्राप्त नहीं होते क्योंकि वे परासिद्धिरूपी मोक्षको प्राप्त हुए हैं ॥ ८० ॥ हे अमरगण ! ब्रह्मलोकसे भी आकर सबलोग पुनः पुनः जन्म ग्रहण करते हैं परन्तु हे देवतागण ! मुझको प्राप्त करके पुनर्जन्मकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ ८१ ॥ बुद्धिभ्रंशकारी आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले, विफलाशाकारी, विफल-कर्म्मा, अध्यात्मज्ञानरहित, विषयसे चञ्चलचित्त मूर्ख व्यक्तिगण सर्व्वभूतोंके महेश्वररूपी मेरे परमभावको न जानकर मुझको सगुण देहधारी देखकर अवज्ञा करते हैं ॥ ८२-८३ ॥ परन्तु हे देवतागण ! दैवीप्रकृतियुक्त महात्मागण अनन्यचित्त होकर मुझको

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ ८४ ॥
सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ ८५ ॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ ८६ ॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ८७ ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ ८८ ॥
समोऽहं सर्व्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ ८९ ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

जगत्कारण और नित्यस्वरूप जानकर मेरी उपासना किया करते हैं ॥ ८४ ॥ उनमेंसे कोई कोई सर्व्वदा मेरा कीर्त्तन करते हैं, कोई कोई दृढ़नियमसे युक्त होकर प्रयत्नशील होते हैं, कोई कोई भक्तिके साथ प्रणाम करते हैं और कोई कोई नित्ययुक्त होकर मेरी उपासना करते हैं ॥ ८५ ॥ अन्य कोई कोई ज्ञानयज्ञ द्वारा भी पूजा करके मेरी उपासना करते हैं, उनमेंसे कोई कोई अभेदभावसे, कोई कोई दासभावसे और कोई कोई मुझे सर्व्वात्मक जानकर नाना प्रकारसे उपासना करते हैं ॥ ८६ ॥ अन्य देवताओंकी उपासना न करके मुझे ही स्मरण करते हुए जो उपासना करते हैं, उन नित्य मत्परायण भक्तोंका योगक्षेम (समाधिविघ्नोंकी निवृत्ति अर्थात् सब आवश्यकीय विषयोंको) को मैं वहन करता हूँ ॥ ८७ ॥ जो मुझको भक्तिपूर्व्वक पत्र पुष्प फल और जल अर्पण करता है मैं उस संयतात्मा द्वारा भक्ति पूर्व्वक अर्पित वे पत्र पुष्पादि ग्रहण करता हूँ ॥ ८८ ॥ मैं सकल भूतोंमें समानरूपसे अवस्थित हूं अतः मेरा प्रिय और द्वेष्य कोई नहीं है किन्तु जो मेरी भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं वे मुझमें स्थित हैं

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ९० ॥
क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
हे देवाः ! खलु जानीत न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ९१ ॥
मां हि देवाः ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ९२ ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकं भजध्वमिममेत्य माम् ॥ ९३ ॥
मन्मनस्काः स्त मे भक्ता याजिनो नमताऽमराः ! ।
मामेवैष्यथ युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणाः ॥ ९४ ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९५ ॥

और मैं भी उनमें स्थित हूं ॥ ८९ ॥ यदि अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य-भक्तियुक्त होकर मेरी उपासना करे तो उसको भी साधुही मानना चाहिये क्योंकि वह उत्तम यत्न कर रहा है ॥ ९० ॥ अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी मेरी उपासना करनेपर शीघ्र धर्म्मात्मा होजाता है और निरन्तर शान्तिको प्राप्त करता है हे देवगण ! मेरा भक्त नाशको नहीं प्राप्त होता है, यह तुम निश्चय जानो ॥ ९१ ॥ क्योंकि हे देवगण ! पापयोनिसम्भूत स्त्रियां वैश्य और शूद्र ये कोई भी हों मेरा आश्रय लेकर परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ ९२ ॥ सुकृतिशाली ब्राह्मण और भक्तिमान् राजर्षिगणकी तो बातही क्या है अतः तुम इस कष्टप्रद और अनित्य लोकको प्राप्त होकर मेरी उपासना करो ॥ ९३ ॥ हे देवगण ! आपलोग मद्गतचित्त, मेरे भक्त और मेरे उपासक हों और मुझे नमस्कार करो, इस प्रकार मत्परायण होकर मनको मुझमें ही युक्त करनेसे मुझहीको प्राप्त होगे ॥ ९४ ॥ जिनका चित्त केवल मुझहीमें रत है और जिनका प्राण केवल मेरेमेंही अर्पित है, ऐसे व्यक्ति परस्पर मेरे स्वरूपका ज्ञान कराते हुए एवं सदा मेरा कीर्त्तन करते हुए सन्तोष और शान्तिको प्राप्त होते

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ ९६॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ९७॥
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ ९८॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते।
सर्व्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ९९॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्व्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व्वभूतहिते रताः॥ १००॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं प्राणभृद्भिरवाप्यते॥ १०१॥
ये तु सर्व्वाणि कर्म्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।

हैं॥ ९५॥ सदा मुझमें अर्पित चित्त एवं प्रीतिपूर्वक मेरी उपासना करनेवाले उन भक्तोंको मैं उस बुद्धियोग (ज्ञान) को प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं॥ ९६॥ उनके हितके अर्थही मैं उनकी बुद्धिवृत्तिमें अवस्थित होकर प्रकाशमान तत्त्वज्ञानरूप दीप द्वारा उनके अज्ञानान्धकारको नाश करता हूँ॥ ९७॥ मुझमें मनको एकाग्र करके, सर्व्वदा मुझमें युक्त रहकर एवं परमश्रद्धान्वित होकर जो मेरी उपासना करते हैं वे मेरी सम्मतिमें युक्ततम अर्थात् प्रधान योगी हैं॥९८॥ किन्तु सर्व्वत्र समबुद्धियुक्त जो व्यक्ति इन्द्रियोंको अच्छी तरहसे संयत करके अनिर्वचनीय, रूपादिविहीन, सर्व्वव्यापी, अचिन्त्य, स्थिर, नित्य, अविनाशी कूटस्थकी उपासना करते हैं, सकलभूतोंके हितकारी वे व्यक्ति मुझेही प्राप्त होते हैं॥९९–१००॥ अव्यक्तमें जिनका चित्त आसक्त हुआ है उनको अधिकतर परिश्रम होता है क्योंकि मेरे अव्यक्तरूपमें निष्ठा प्राणियोंको कठिनतासे प्राप्त

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ १०२ ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिराद्देवाः ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ १०३ ॥
मय्येव मन आधद्ध्वं मयि बुद्धिर्निवेश्यताम् ।
निवसिष्यथ मय्येव अत ऊर्द्ध्वं न संशयः ॥ १०४ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नुथ मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन तत इच्छताप्तुं सुराः ! हि माम् ॥ १०५ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थैर्मे भूयतां कर्म्मतत्परैः ।
मदर्थमपि कर्म्माणि कुर्वाद्भिः सिद्धिरेष्यते ॥ १०६ ॥
अथैतदप्यशक्ताः स्थ कर्त्तुं मद्योगमाश्रिताः ।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं यतात्मानो विधत्त वै ॥ १०७ ॥
अद्वेष्टा सर्व्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १०८ ॥

होती है॥१०१॥ किन्तु जो एकान्तभक्तियोग द्वारा सब कर्म्म मुझमें अर्पण करके मत्परायण होकर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं हे देवगण ! मैं मृत्युयुक्त संसारसमुद्रसे मुझमें निवेशित चित्त उन भक्तों का शीघ्र उद्धार करता हूँ ॥१०२+१०३॥ मुझमेंही मन स्थिर करो और मुझमेंही बुद्धिसंनिवेश करो तो इससे आगे मुझमेंही निवास करोगे इसमें सन्देह नहीं॥१०४॥हे देवगण ! यदि मुझमें चित्तको स्थिर न रख सको तो अभ्यासयोग द्वारा मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा करो ॥ १०५ ॥ यदि अभ्यास करनेमें भी असमर्थ हो तो मेरे कर्म्मोंमें निरत हो, केवल मेरे लिये ही सब कर्म्मोंको करते हुए भी सिद्धिको प्राप्त होगे॥१०६॥ यदि इसके करनेमें भी असमर्थ हो तो एकमात्र मेरे शरणागत और संयतचित्त होकर सब कर्म्मोंके फलोंका त्याग करो ॥ १०७ ॥ सर्व्व भूतोंका अद्वेष्टा, मित्र और कृपालु, ममताहीन, निरहङ्कार, सुखदुःखमें समता समझनेवाला, क्षमावान्, सदा सन्तुष्ट, संयतचित्त योगी मेरी

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धियों मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १०९ ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ ११० ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्व्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १११ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥ ११२ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्ज्जितः ॥ ११३ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो हि सः ॥ ११४ ॥

ओर स्थिर लक्ष्य रखनेवाला, और मुझमें मन और बुद्धिको समर्पण करनेवाला जो मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है ॥ १०८–१०९ ॥ जिसके द्वारा संसार उद्विग्न नहीं होता है, जो संसारसे उद्विग्न नहीं होता है और जो हर्ष अमर्ष (अन्यको लाभ होनेसे कातर होना) भय और चित्तक्षोभसे रहित है वह मेरा प्रिय है ॥ ११० ॥ सकल विषयोंमें निःस्पृह, शुचि, चतुर, उदासीन, जिसको व्यथा नहीं होती, और सब सङ्कल्पोंका त्याग करनेवाला जो मेरा भक्त है वह मेरा प्रिय है ॥१११॥ जो प्रसन्न नहीं होता है, द्वेष नहीं करता है, शोक नहीं करता है, आकाङ्क्षा नहीं करता है, पाप पुण्योंका परित्याग करनेवाला है और मुझमें भक्तिमान् है वह मेरा प्रिय है ॥ ११२ ॥ जो शत्रु और मित्रमें एवं मान और अपमानमें एकरूप रहता है, शीत उष्ण और सुखदुःखोंमें विकारहीन है, निःसंग है, निन्दा और प्रशंसामें समभावापन्न है, मौनी (मनको दमन करनेवाला) है, जो कुछ मिलजाय उससे सन्तुष्ट है, वासस्थानहीन है, स्थिरचित्त है और भक्तिमान् है वह मेरा प्रिय

ये तु धर्म्मामृतमिदं यथोक्तं पर्य्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ ११६॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे देव-महाविष्णुसम्वादे भक्तियोगवर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः।

है॥११३-११४॥ जो लोग इस उक्त अमृतरूप धर्म्मका अनुष्ठान करते हैं वे श्रद्धाशील मत्परायण भक्तगण मेरे अतिप्रिय हैं॥ ११६॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी देव-महाविष्णुसम्वादात्मक योगशास्त्रका भक्तियोगवर्णन-नामक पंचम अध्याय समाप्त हुआ।

ज्ञानयोगवर्णनम् ।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

निशम्य नितरां नाथ ! पराराध्य ! जगद्गुरो ! ।
रहस्यं भक्तियोगस्योपासनायास्तथाद्भुतम् ॥ २ ॥
कृतार्थाः स्मो वयं सम्यक् करुणावरुणालय ! ।
भूयोऽपि श्रोतुमिच्छामस्त्वत्तो ज्ञानमयीं गिरम् ॥ ३ ॥
श्रूयते हि जगन्नाथ ! ज्ञानमेवास्ति कारणम् ।
मुक्तेरतो दयासिन्धो ! सादरं प्रार्थयामहे ॥ ४ ॥
गूढं ज्ञानस्वरूपं यद्रहस्यञ्चापि दुर्गमम् ।
वैदिकज्ञानकाण्डस्य ज्ञानाज्ञानविनिर्णयम् ॥ ५ ॥
ज्ञानिनां लक्षणञ्चैव प्रतिपाद्य प्रभोऽधुना ।
आत्मज्ञानोपदेशेन चित्ते शान्तिं विधत्स्व नः ॥ ६ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे पराराध्य जगद्गुरो ! हे करुणावरुणालय नाथ ! भक्तियोग और उपासनाका अद्भुत रहस्य अविच्छिन्नरूपसे सुनकर हमलोग अच्छीतरह कृतकृत्य हुए। हम फिरभी ज्ञानवार्त्ताको आपसे सुनना चाहते हैं ॥ २-३ ॥ हेजगन्नाथ ! हमने सुना है कि ज्ञानही मुक्तिका कारण है, इस कारण हे दयासिन्धो ! हम सविनय प्रार्थना करते हैं कि ज्ञानका गूढ़ स्वरूप, वेदके ज्ञानकाण्डका दुर्गम रहस्य, ज्ञान और अज्ञानका लक्षण और ज्ञानीका लक्षण भी कहकर तथा हे प्रभो ! आत्मज्ञानका उपदेश देकर हमारे चित्तमें अब शान्तिप्रदान करिये ॥ ४-६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ७ ॥

तटस्थश्च स्वरूश्च द्विविधं ज्ञानमीरितम् ।
ज्ञानं यद्धि स्वरूपाख्यं स्वरूपं तन्ममैव वै ॥ ८ ॥
पराभक्तिप्रवीणेन समाधौ निर्विकल्पके ।
ज्ञानिना शान्तचित्तेन यद्भक्तेनानुभूयते ॥ ९ ॥
ज्ञानं तद्धि स्वरूपाख्यं सच्चिदानन्दरूपकम् ।
देवाः ! जानीत तन्नूनमवाङ्मनसगोचरम् ॥ १० ॥
द्वारीकृत्य तटस्थाख्यं ज्ञानमेव तु केवलम् ।
जिज्ञासुर्लभते नूनं योगयुञ्जानमानसः ॥ ११ ॥
आत्मानात्मविवेकं हि कुर्वाणो मामसंशयम् ।
तटस्थाख्यं हि यज्ज्ञानं तत्र यद्यपि वर्त्तते ॥ १२ ॥
ज्ञातुर्ज्ञानस्य सम्बन्धो ज्ञेयस्यापि दिवौकसः ! ।
तत्तथापि समाख्यातं स्वरूपज्ञानकारणम् ॥ १३ ॥
ज्ञानस्यास्य तटस्थस्य तिस्रो भूम्यः प्रकीर्त्तिताः ।
आद्यायां भूमिकायान्तु तत्त्वज्ञानी दिवौकसः ! ॥ १४ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ७ ॥

ज्ञान दो प्रकारका कहागया है, स्वरूपज्ञान और तटस्थज्ञान। स्वरूपज्ञान मेराही स्वरूप है ॥ ८ ॥ जो निर्विकल्पसमाधिमें पराभक्तिमें प्रवीण, शान्तचित्त ज्ञानी भक्तके अनुभवमें आता है ॥९॥ वह स्वरूपज्ञान सच्चिदानन्दमय है। हे देवगण! उसको अवश्य मन वचनसे अतीत जानो ॥ १० ॥ केवल तटस्थज्ञानके द्वाराही योगाभ्यासनिरत जिज्ञासु आत्मा और अनात्माका विचार करता हुआ ही निःसन्देह मुझको प्राप्त होता है। हे देवगण ! तटस्थज्ञान, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूपी त्रिपुटिसे युक्त होनेपरभी स्वरूपज्ञान-प्राप्तिका कारण कहागया है ॥ ११-१३ ॥ इस तटस्थज्ञानकी तीन भूमिकाएँ कहीगई हैं। हे देवगण ! प्रथम भूमिकामें तत्त्वज्ञानी जगत् और जगत्कर्त्ताका आनु-

जगतश्च जगत्कर्तुर्ज्ञानं लब्ध्वानुमानिकम्।
ज्ञानभूम्यां विशालायां सरत्यग्रे न संशयः॥ १५॥
अत्रैव ज्ञानभूमौ हि योगी भोगपराङ्मुखः।
वैराग्यं विषयान्नूनं लभते च विषोपमात्॥ १६॥
योगी भूमौ द्वितीयायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोस्तथा।
सम्यग्ज्ञानमवाप्नोति नास्त्यत्र प्रच्युतेर्भयम्॥ १७॥
भूमिकायां तृतीयायां योगी योगसमुन्नतः।
मदीयाद्वैतसत्तां हि ज्ञानेनानुभवन् किल॥ १८॥
मत्स्वरूपाग्रगो देवाः! भवन् विगतकिल्विषः।
भूत्वा योगपदारूढो लभते कृतकृत्यताम्॥ १९॥
एतदेव फलं भूमेस्तृतीयाया दिवौकसः!।
अन्तिमं हि विनिर्दिष्टं तत्त्वज्ञानविशारदैः॥ २०॥
द्विधा मत्प्रकृतिर्भिन्ना विद्ययाऽविद्यया तथा।
अविद्या कारणं सृष्टेर्बन्धनस्यापि जायते॥ २१॥

मानिक ज्ञान प्राप्त करके विशाल ज्ञानभूमिमें निःसन्देह अग्रसर होताहै॥ १४–१५॥ इसी ज्ञानभूमिमें योगी भोगपराङ्मुख होकर विषतुल्य विषयोंसे वैराग्यको भी निःसन्देह ही प्राप्त होता है॥१६॥ दूसरी भूमिमें योगी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है, और इस भूमिमें योगीकेलिये पतनका भय नहीं है॥ १७॥ हे देवगण! तीसरी भूमिमें योगसमुन्नत योगी मेरी अद्वैतसत्ताका ज्ञानके द्वारा ही अनुभव करता हुआ निष्पाप होकर मेरे स्वरूपकी ओर अग्रसर होता हुआ योगारूढ़ होकर कृतकृत्यताको प्राप्त करता है॥ १८–१९॥ हे देवगण! इस तीसरी भूमि का यही अन्तिम फल तत्त्वज्ञानविशारदोंने कहा है॥ २०॥ मेरी प्रकृतिके दो भेद हैं, विद्या और अविद्या। अविद्या सृष्टि और बन्धनका कारण

साहाय्येन तु विद्याया योगी मुक्तोऽथ बन्धनात् ।
देवाः ! सृष्टेर्लयं कुर्वन् क्षिप्रं मामेति निश्चितम् ॥ २२ ॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥ २३ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ २४ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ २५ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ २६ ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ २७ ॥
निश्चितं वच्मि वो देवाः ! श्रीगुरोर्दयया विना ।

होती है॥२१॥और विद्याकी सहायतासे योगी बन्धनसे मुक्त होकर हे देवगण ! सृष्टिका विलय करता हुआ शीघ्र मुझको ही प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ आत्मश्लाघाराहित्य, दम्भहीनता, परपीड़ात्याग, सहिष्णुता, सरलता, गुरुसेवा, अन्तःशुचिता और बहिःशुचिता, स्थिरता, मनः-संयम, विषयोंमें वैराग्य, अहङ्कारराहित्य, जन्म मृत्यु जरा और व्याधिमें दुःख और दोषका अनुदर्शन अर्थात् स्पष्ट उपलब्धि, पुत्र स्त्री गृह आदिमें अनासक्ति और उनके सुख दुःखमें सुखी दुःखी न होना, इष्ट और अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर सर्व्वदा चित्तकी समानता, मुझमें अनन्य योग (सर्व्वत्र समदृष्टि) द्वारा अव्यभिचारिणी (अनन्य) भक्ति, निर्जन स्थानमें रहना, लोकसमाजमें वैराग्य, आत्मज्ञानपरायणता और तत्त्वज्ञानके फल (मोक्ष) का दर्शन, ये ज्ञानके लक्षण कहे जाते हैं इनसे विपरीत जो लक्षण हैं वेही अज्ञानके लक्षण हैं ॥ २३-२७ ॥ हे देवतागण ! मैं आपलोगोंको निश्चय करके

किञ्चित् कदापि कुत्रापि कथञ्चिन्नैव लभ्यते ॥ २८ ॥
आत्मज्ञानोपलब्धौ हि हेतुरस्ति गुरोः कृपा ।
आत्मज्ञानन्तु मत्प्राप्तौ कारणं नात्र संशयः ॥ २९ ॥
तद्विद्ध प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति वो ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३० ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यथ निर्ज्जराः ! ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यथात्मन्यथो मयि ॥ ३१ ॥
अपि स्थ यदि पापेभ्यः सर्व्वेभ्यः पापकृत्तमाः ।
सर्व्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यथ ॥ ३२ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽमराः !
ज्ञानाग्निः सर्व्वकर्म्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३३ ॥
नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धाः कालेनाऽऽत्मनि विन्दथ ॥ ३४ ॥

कहता हूँ कि बिना श्रीगुरुकृपाके कभी भी कहीं भी किसी प्रकारसे भी कुछ भी प्राप्त नहीं होता है॥ २८ ॥ आत्मज्ञान प्राप्तिका कारण गुरुकृपा ही है और मुझे प्राप्त करनेका कारण आत्मज्ञान है, इसमें सन्देह नहीं॥२९॥प्रणिपात, जिज्ञासा और गुरुसेवाके द्वारा उस ज्ञानका लाभ करो तत्त्वदर्शी ज्ञानिगण तुमको ज्ञानका उपदेश देंगे॥३०॥ हे देवगण ! जिस ज्ञानके जानलेनेसे पुनः इस प्रकारके मोहको नहीं प्राप्त होगे। और जिसके द्वारा भूतगणको आत्मामें और अनन्तर मुझमें सब कुछ देख सकोगे ॥ ३१ ॥ यदि सकल पापियोंसे भी तुम अधिक पापी हो तौभी सम्पूर्ण पापरूप समुद्रको ज्ञानरूपी जहाज द्वारा सम्यक्‌रूपसे तरजाओगे ॥ ३२ ॥ हे देवगण ! जिसप्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठ-समूहको भस्मसात् करती है उसीप्रकार ज्ञानरूप अग्नि सकल कर्म्मोंको भस्मसात् करदेती है ॥ ३३ ॥ क्योंकि इस लोकमें ज्ञानके समान पवित्र और कोई नहीं है, योगद्वारा सिद्धि प्राप्त होनेपर उस आत्मज्ञानको यथासमय अपनेमें स्वयं प्राप्त करोगे ॥ ३४ ॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाऽधिगच्छति ॥ ३५ ॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नाऽयं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ३६ ॥
योगसन्न्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति दिवौकसः ! ॥ ३७ ॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठत बुभुत्सवः ! ॥ ३८ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
आज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ ३९ ॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

श्रद्धावान् तत्परायण और जितेन्द्रिय व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है और ज्ञानको प्राप्त करके अतिशीघ्र परमशान्ति (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ अश्रद्धालु संशयात्मा और मूढ़ व्यक्ति नाशको प्राप्त होता है। संशयात्मा व्यक्तिकेलिये इहलोक और परलोक दोनों कष्टप्रद होते हैं और उसको सुख नहीं होता है ॥ ३६ ॥ हे देवगण ! जिस व्यक्तिने योगद्वारा सकल कर्म्मोंको आत्मामें अर्पण किया है और जिसने आत्मज्ञानद्वारा सकल संशय छिन्न कर दिये हैं ऐसे आत्मज्ञानसम्पन्न व्यक्तिको कर्म्म बन्धन नहीं कर सकते हैं ॥ ३७ ॥ अतः हे जिज्ञासु देवगण ! अपने अज्ञानसे उत्पन्न हृदयस्थ संशयको ज्ञानरूप खड्ग द्वारा छेदन करके इस योगका अवलम्बन करो ॥ ३८ ॥ ईश्वर किसीका भी पाप ग्रहण नहीं करते हैं और पुण्य भी ग्रहण नहीं करते हैं। अज्ञानके द्वारा ज्ञान आच्छन्न है इसी कारण जीवधारी मोहित होते हैं अर्थात् इन्द्रियासक्त होते हैं ॥ ३९ ॥ किन्तु आत्मज्ञानके द्वारा जिनका वह अज्ञान नष्ट होजाता है, सूर्य्य जिसप्रकार अन्धकारको नाश करके सकल वस्तुओंको प्रकाशित कर देता है

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ ४० ॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ ४१ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ ४२ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाऽप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ ४३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तराराम स्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्व्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ ४४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्व्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्व्वभूतहिते रताः ॥ ४५ ॥

उसी प्रकार उनका वह ज्ञान परमात्माको प्रकाशित करदेता है ॥४०॥ विद्या और विनयसम्पन्न ब्राह्मणपर और चाण्डालपर एवं गौ हाथी और कुत्तेपर ज्ञानीगण समदर्शी हुआ करते हैं ॥ ४१ ॥ जिनका मन समभावमें स्थित है, संसारमें रहकर ही उन्होंने संसारको जीत लिया है क्योंकि समान और निर्दोषरूपसे ब्रह्म व्यापक हैं अतः वे ब्रह्मभावमें स्थित रहते हैं ॥ ४२ ॥ ब्रह्मभावमें अवस्थित, स्थिरबुद्धि और मोहहीन ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति प्रियवस्तु पाकर हर्षित नहीं होता है और अप्रिय वस्तु पाकर विषादयुक्त नहीं होता है ॥ ४३ ॥ आत्मभावमेंही जिसको सुखबोध होता है आत्मभावमें ही जिसको आमोद होता है और आत्मभावकी ओरही जिसकी दृष्टि है वह योगी ब्रह्मभावमें स्थित होकर ब्रह्मनिर्व्वाण अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है॥४४॥ पाप जिनके क्षीण होगये हैं, संशय जिनके छिन्न होगये हैं, जिनका अन्तःकरण संयमशील है और सकल प्राणिमात्रके हित करनेमें जो तत्पर हैं ऐसे ऋषिगण ब्रह्मनिर्व्वाण अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्व्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥ ४६ ॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ४७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ४८ ॥
सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ४९ ॥
मय्यासक्तमनस्का हि युञ्जाना योगमाश्रिताः ।
यथा ज्ञास्यथ पूर्णं मां तथा शृणुत निश्चितम् ॥ ५० ॥

॥ ४५ ॥ कामक्रोधरहित, संयमी और आत्मतत्त्वज्ञ यतिगणके लिये सर्व्वत्रही मोक्ष है ; अर्थात् वे देहान्त होनेपर ही मुक्त होते हैं ऐसा नहीं है, देह रहते हुए भी वे मुक्त ही हैं ॥ ४६ ॥ केवल जितेन्द्रिय और प्रशान्त अर्थात् रागादिशून्य व्यक्तिका आत्मा अर्थात् अन्तःकरण शीत उष्ण, सुख दुःख, और मान अपमानमें अचल रह सक्ता है ॥४७॥ जिसका चित्त ज्ञान और विज्ञान द्वारा आकाङ्क्षाहीन है जो कूटस्थ अर्थात् निर्विकार है, जो जितेन्द्रिय है और जो मृत्तिकाके ढेलेमें पत्थरमें और सुवर्णमें समदृष्टि है ऐसा योगी युक्त कहाजाता है॥४८॥ सुहृत् (स्वभावतः हितैषी) मित्र (स्नेहवशतः हितैषी) अरि (घातुक) उदासीन (विवाद करनेवाले दोनों पक्षोंकी उपेक्षा करनेवाला) मध्यस्थ (विवाद करनेवाले दोनों पक्षोंका हितैषी) द्वेष्य (द्वेष करने योग्य व्यक्ति) बन्धु (सम्बन्धयुक्त व्यक्ति) साधु और यहांतक कि पापियोंपर भी जो समबुद्धि रखनेवाला है वही योगियोंमें प्रधान है ॥ ४९ ॥ मुझमें आसक्तचित्त होकर योगके आश्रयसे अभ्यास करते हुए जिस प्रकारसे मुझे पूर्णरूपसे निश्चयपूर्वक जान सकोगे उस प्रकारको सुनो ॥ ५० ॥ मैं आपलोगोंको विज्ञानसहित इस ज्ञानको सम्पूर्णरूपसे कहूंगा जिसके

ज्ञानं वोऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ ५१॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ५२॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ५३॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं वित्त मे पराम्।
जीवभूतां सुपर्वाणो ययेदं धार्य्यते जगत्॥ ५४॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्व्वाणीत्युपधार्य्यताम्।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ५५॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति दिवौकसः!।
मयि सर्व्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ५६॥
इदं गुह्यतमं वक्ष्याऽनुसूयुभ्यो ब्रुवेऽधुना।

जानलेनेसे जगत्में फिर कुछ जाननेका विषय अवशेष नहीं रहता है॥ ५१॥ हजारों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धिके लिये यत्न करता है और अनेक यत्न करनेवाले सिद्धोंमेंसे भी कोई एक वास्तवतः मेरे स्वरूपको जानता है॥ ५२॥ पृथिवी जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि और अहङ्कार इन आठ प्रकारके भेदोंसे युक्त मेरी प्रकृति है॥५३॥ यह अपरानाम्नी है। हे देवगण! इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न मेरी परानाम्नी जीवस्वरूपा एक प्रकृति है ऐसा जानो, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है अर्थात् जो जगद्धारिका है॥५४॥ इन्हीं दो प्रकारकी मेरी प्रकृतियोंसे पंचभूतमय सकल जगत्की उत्पत्ति हुई है ऐसा जानो, मैं सकल जगत्का परमकारणस्वरूप और प्रलय-स्थान हूँ॥ ५५॥ हे देवगण! मुझसे परे और कुछ नहीं है। सूत्रमें मणियोंके समान मुझमें यह सब जगत् ग्रथित है॥ ५६॥ अब मैं यह (वक्ष्यमाण) परमगुप्त विज्ञानसहित [illegible] भी तुम दोषदृष्टिही-

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यथाशुभात् ॥ ५७ ॥
इदं शरीरं भो देवाः! क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ ५८ ॥
क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां वित्त सर्व्वक्षेत्रेषु निर्ज्जराः!।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ ५९ ॥
तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तच्छृणुध्वं समासतः ॥ ६० ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ६१ ॥
महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ६२ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६३ ॥

नोंको कहता हूं जिसको जानकर तुमलोग सकल पापोंसे मुक्त होजाओगे ॥ ५७ ॥ हे देवगण! यह शरीर क्षेत्र नामसे अभिहित होता है और इस क्षेत्रको जो जानता है उसको तत्त्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं॥५८॥ और हे देवगण! सब क्षेत्रोंमें भी मुझको क्षेत्रज्ञ जानो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वह ज्ञान मेरा अभिमत है॥५९॥ जो क्षेत्र है वह जो है जैसा है जिन जिन विकारोंसे युक्त है और जिससे उत्पन्न है एवं वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभावका है सो संक्षेपसे सुनो ॥ ६० ॥ (जो) ऋषियोंसे ब्रह्मसूत्रके पदोंसे और युक्तियुक्त तथा विनिश्चित पृथक् २ विविध वैदिक मन्त्रोंसे अनेक प्रकारसे निरूपित है (उसको संक्षेपसे कहता हूँ) ॥ ६१ ॥ पंच पृथिव्यादि महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दश इन्द्रियां एक मन और इन्द्रियोंके विषय (शब्दस्पर्शादि) पंच तन्मात्रा, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, सङ्घात (शरीर) चेतना (मनोवृत्ति) और धैर्य्य यह विकारयुक्त क्षेत्र संक्षेपसे कहागया है॥ ६२-६३ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ ६४ ॥
सर्व्वतः पाणिपादं तत् सर्व्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्व्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ६५ ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्व्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्व्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ ६६ ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च यत्॥ ६७ ॥
अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ ६८ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्व्वस्य धिष्ठितम् ॥ ६९ ॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

जो ज्ञेय है उसको कहूंगा जिसको जानकर (साधक) मोक्ष प्राप्त करता है । वे अनादि परब्रह्म सत् भी नहीं कहेगये हैं और असत् भी नहीं कहगये हैं ॥ ६४ ॥ वे (ब्रह्म) सर्वत्र पाणि, पाद, नेत्र, मस्तक, मुख और कर्णविशिष्ट होकर संसारमें सबको आवृत करके ठहरे हुए हैं ॥ ६५ ॥ (वे) सब इन्द्रियोंके गुणोंके आभाससे विशिष्ट, सब इन्द्रियोंसे रहित, सङ्गशून्य, सबोंके आधारभूत, गुणोंसे रहित और गुणोंके भोक्ता हैं ॥ ६६ ॥ जो जीवोंके बाहर और भीतर हैं, चर भी हैं और अचर भी हैं, सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय हैं तथा जो दूर भी हैं और समीप भी हैं॥६७॥ जो भूतोंमें अविभक्त होनेपर भी विभक्तकी न्याईं अवस्थित हैं और वे भूतोंके पालक, संहारक तथा उत्पादक भी हैं ऐसा जानो॥६८॥वे ज्योतियोंकी भी ज्योति हैं और अज्ञानसे परे स्थित कहेजाते हैं तथा वे ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानसे प्राप्त करने योग्य और सबके हृदयमें अवस्थित हैं ॥ ६९ ॥ इस प्रकारसे क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ ७० ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धानादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्ध प्रकृतिसम्भवान् ॥ ७१ ॥
कार्य्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ ७२ ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ ७३ ॥
उपद्रष्टानुऽमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ ७४ ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह ।
सर्व्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ ७५ ॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्म्मयोगेन चापरे ॥ ७६ ॥

संक्षेपसे कहेगये। मेरा भक्त इनको जानकर ब्रह्मत्वप्राप्तिके योग्य होता है॥ ७० ॥ प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको ही अनादि जानो और (देह इन्द्रिय आदि) विकार एवं (सत्त्व आदि) गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न समझो ॥ ७१ ॥ कार्य्य और कारणके कर्तृत्वमें प्रकृति हेतु कही गई है और पुरुष सुख दुःखोंके भोक्तृत्वमें हेतु कहा गया है ॥ ७२ ॥ क्योंकि पुरुष प्रकृतिस्थ होकर प्रकृतिसे उत्पन्न सब गुणोंको भोगता है किन्तु इस पुरुषके सत् एवं असत् योनियोंमें जन्म होनेका कारण गुणों (सत्त्व आदि) का सङ्ग है ॥ ७३ ॥ इस देहमें (वर्त्तमान भी) पुरुष (इससे) पर अर्थात् पृथक् हैं क्योंकि वे साक्षिमात्र, अनुग्रहकर्त्ता, पोषणकर्त्ता, प्रतिपालक और महेश्वर हैं ॥ ७४ ॥ जो इस प्रकारसे पुरुषको और गुणोंके साथ प्रकृतिको जानता है वह किसी प्रकारसे अथवा किसी अवस्थामें वर्त्तमान रहनेपर भी पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता है ॥ ७५ ॥ कोई कोई ध्यानयोगसे आत्माको बुद्धिके द्वारा देहमें देखते हैं, अन्य कोई ज्ञानयोगके द्वारा और कोई (निष्काम)

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ ७७॥
यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्त्त विबुधर्षभाः!॥ ७८॥
समं सर्व्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ ७९॥
समं पश्यन् हि सर्व्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ ८०॥
प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्व्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ ८१॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ८२॥

कर्म्मयोगके द्वारा आत्माको देखते हैं॥ ७६॥ किन्तु अन्य कोई कोई इस प्रकारसे अर्थात् साङ्ख्ययोगादिके द्वारा आत्माको नहीं जानते हुए अन्य अर्थात् गुरु आचार्य्य आदिसे सुनकर उपासना करते हैं वे भी श्रुतिपरायण होकर मृत्युको अतिक्रमण करते ही हैं॥ ७७॥ हे देवश्रेष्ठो! जो कुछ स्थावर या जङ्गम जीव उत्पन्न होते हैं वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं सो जानो॥ ७८॥ सब जीवोंमें समभावसे अवस्थित और सब जीवोंके विनाश होते रहनेपर भी अविनाशी जो परमात्मा हैं उनको जो देखता है वही देखता है॥ ७९॥ क्योंकि सब भूतोंमें समभावसे अवस्थित परमात्माको देखता हुआ साधक अपनेसे अपनेको हनन नहीं करता है इसलिये वह परागति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त होता है॥ ८०॥ प्रकृति ही सब प्रकारके कार्य्योंको करती है और आत्मा अकर्त्ता है, इस प्रकार जो देखता है वही देखता है॥ ८१॥ जब भूतोंके पृथग्भावको एकस्थ अर्थात् एकही ब्रह्ममें अवस्थित देखता है और उसी एकसे भूतोंका

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि भो देवाः! न करोति न लिप्यते ॥ ८३ ॥
यथा सर्व्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्व्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ८४ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति निर्ज्जराः! ॥ ८५ ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ८६ ॥
परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्व्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ ८७ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ ८८ ॥

विस्तार देखता है तब वह ब्रह्म होजाता है ॥ ८२ ॥ हे देवगण! ये परमात्मा अनादि और निर्गुण होनेके कारण अविकारी हैं (इसलिये) शरीरमें रहनेपर भी न करते हैं और न (फलोंसे) लिप्त होते हैं ॥८३॥ जिस प्रकार सबमें रहनेवाला आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार देहमें सर्वत्र अवस्थित परमात्मा (देहधर्म्मसे) लिप्त नहीं होते हैं ॥ ८४ ॥ हे देवगण! जिस प्रकार एक सूर्य्य इस सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्री अर्थात् क्षेत्रज्ञ आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र अर्थात् महाभूतादिविशिष्ट शरीरोंको प्रकाशित करता है ॥ ८५ ॥ इस प्रकारसे जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका प्रभेद एवं जीवोंकी प्रकृतिसे मुक्ति ज्ञाननेत्रसे जानते हैं वे परमपदको प्राप्त होते हैं ॥८६॥ मैं पुनः सब ज्ञानोंमें उत्तम परम ज्ञान अर्थात् परमात्मसम्बन्धी ज्ञान कहूंगा जिसको जानकर सब मुनिगण इस देहबन्धनसे (मुक्त होकर) परा सिद्धि अर्थात् मोक्षको प्राप्त हुए हैं ॥८७॥ इस ज्ञानको पाकर मेरे स्वरूपत्वको प्राप्त होते हुए (वे मुनिगण) सृष्टिकालमें भी उत्पन्न नहीं होते और न प्रलयकालमें प्रलयका

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहं ।
सम्भवः सर्व्वभूतानां ततो भवति निर्ज्जराः ! ॥ ८९ ॥
सर्व्वयोनिषु भो देवाः ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ९० ॥
पञ्चैतानि सुरश्रेष्ठाः ! कारणानि निबोधत ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्व्वकर्म्मणाम् ॥ ९१ ॥
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ ९२ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म्म प्रारभ्यते खलु ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ ९३ ॥
तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ ९४ ॥

दुःख अनुभव करते हैं ॥ ८८ ॥ हे देवगण ! महद्ब्रह्म अर्थात् मूलप्रकृति मेरी योनि (गर्भाधानका स्थान) है, उसीमें मैं गर्भाधान करता हूं उससे सब भूतोंकी अर्थात् ब्रह्मा आदिकी उत्पत्ति होती है ॥ ८९ ॥ हे देवगण ! सब योनियोंमें जो (स्थावर जङ्गम रूपी) मूर्त्तियां उत्पन्न होती हैं महद्ब्रह्म अर्थात् मूलप्रकृति उनकी योनि अर्थात् मातृस्थानीय है और मैं बीजप्रद (गर्भाधानकर्त्ता) पिता हूं ॥ ९० ॥ हे सुरश्रेष्ठो ! सब कर्म्मोंकी सिद्धिके लिये ज्ञानप्रतिपादक शास्त्रमें कहे हुए वक्ष्यमाण पांच कारणोंको जानो ॥९१॥ इस संसारमें अधिष्ठान (शरीर) कर्त्ता (अहङ्कार) अनेक प्रकारके करण (चक्षुरादि इन्द्रियां) नानाविध चेष्टा अर्थात् प्राण अपान आदिकी क्रियाएँ और दैव पाचवां है ॥ ९२ ॥ शरीर, वाक् और मन द्वारा जो धर्म्म अथवा अधर्म्म कर्म्म कियाजाता है, पूर्वोक्त ये ही पांच उसके हेतु हैं ॥ ९३ ॥ ऐसा होनेपर उक्त विषयमें जो व्यक्ति केवल (निःसङ्ग) आत्माको कर्त्ता समझता है, अनिर्मल बुद्धि होनेके कारण वह दुर्मति (अविवेकी) देख नहीं सकता है अर्थात्

यस्य नाऽहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥ ९५ ॥
दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्दिवौकसः ! ।
अन्विच्छताश्रयं बुद्धौ कृपणाः फलहेतवः ॥ ९६ ॥
या निशा सर्व्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ९७ ॥
प्रजहाति यदा कामान् देवाः ! सर्व्वान् मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ९८ ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ९९ ॥

यथार्थदर्शी नहीं है ॥ ९४ ॥ जिसको " मैं कर्त्ता हूं " यह भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि (इष्टानिष्ट कर्म्ममें) लिप्त नहीं होती है वह इन सब लोकोंको नाश करके भी नहीं नाश करता है और बन्धनको प्राप्त नहीं होता है॥९५॥हे देवगण! ज्ञानयोगकी अपेक्षा काम्यकर्म्म अत्यन्त ही निकृष्ट है इसलिये आपलोग ज्ञानयोगके आश्रयकी इच्छा करें, फलके चाहनेवाले व्यक्ति कृपण अर्थात् निकृष्ट होते हैं ॥९६॥ (अज्ञानाच्छन्न) सब भूतोंकेलिये जो रात्रि है अर्थात् वे आत्माको नहीं देखसक्ते हैं उस रात्रिमें जितेन्द्रिय व्यक्ति जागता है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार करता है और जिस (विषयबुद्धि) में जीवगण जागते हैं अर्थात् जगत्को सत्य अनुभव करते हैं वह आत्मतत्त्वदर्शी मुनिकेलिये रात्रिके समान है अर्थात् उसकी विषयोंकी ओर दृष्टि नहीं रहती है ॥ ९७ ॥ हे देवगण ! (परमानन्दरूप) आत्मामेंही स्वयं तुष्ट होकर जब (योगी) मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहाजाता है ॥ ९८ ॥ जिसका मन दुःखोंमें उद्विग्न नहीं होता है, सुखोंमें जिसकी स्पृहा नहीं है और जिसके राग, भय एवं क्रोध दूर होगये हैं वह मुनि ' स्थितधी ' कहाजाता है ॥ ९९ ॥

यः सर्व्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ १००॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्व्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ १०१॥
विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥ १०२॥
यततो ह्यपि हे देवाः! साधकस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ १०३॥
तानि सर्व्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ १०४॥
ध्यायतो विषयानस्य सङ्गस्तेषूपजायते।

जो सब विषयोंमें ममताशून्य होकर उस उस शुभ और अशुभको प्राप्त करके न आनन्दित होता है और न विषादयुक्त होता है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है अर्थात् प्रकृष्टरूपसे ब्रह्ममें स्थित रहती है॥ १००॥ जब यह (योगी) इन्द्रियोंके सब विषयोंसे इन्द्रियोंको, कछुआ जैसे अङ्गोंको खींच लेता है उसी प्रकार सर्वथा खींच लेता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है॥ १०१॥ जो इन्द्रियद्वारा विषय ग्रहण नहीं करता है ऐसे देहधारी व्यक्तिके विषय निवृत्त होजाते हैं किन्तु भोगाभिलाषा निवृत्त नहीं होती है; परन्तु परमात्माके साक्षात्कार होनेपर उसकी वह विषयभोगकी अभिलाषा भी निवृत्त होजाती है॥ १०२॥ क्योंकि हे देवगण! यत्न करते हुए विद्वान् साधकके भी मनको प्रमाथी अर्थात् क्षोभ उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियगण हठात् खींच लेते हैं॥ १०३॥ योगी उन सब इन्द्रियोंको संयत करके आत्मपरायण होकर रहें क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वशमें हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है॥ १०४॥ विषयोंकी चिन्ता करनेवाले

सङ्गात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥ १०५ ॥
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ १०६ ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ १०७ ॥
प्रसादे सर्व्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥ १०८ ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥१०९॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।

योगीकी आसक्ति विषयोंमें होजाती है और आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है एवं कामसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ १०५ ॥ क्रोधसे सम्मोह होता है,सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिके भ्रष्ट होनेसे बुद्धि-का नाश और बुद्धिनाशसे (जीव) नष्ट होजाता है अर्थात् घोररूपसे पतित होजाता है ॥ १०६ ॥ किन्तु रागद्वेषसे रहित आत्मवशीभूत इन्द्रियोंके द्वारा विषयभोग करनेपर जिसका मन वशीभूत है ऐसा व्यक्ति प्रसाद (आत्मप्रसाद-परमप्रसन्नता) अर्थात् शान्तिलाभ करता है ॥ १०७ ॥ आत्मप्रसाद प्राप्त करनेपर योगीके सब दुःख नष्ट होजाते हैं क्योंकि प्रसन्नचित्त व्यक्तिकी बुद्धि शीघ्र प्रतिष्ठित अर्थात् आत्मनिष्ठ होजाती है ॥ १०८ ॥ (ब्रह्ममें) अयुक्त व्यक्तिकी (आत्मविषयिणी)बुद्धि नहीं होती है, अयुक्त व्यक्तिको भावना अर्थात् आत्मविषयक ध्यान भी नहीं होता है, आत्मध्यानविहीन व्यक्तिको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिहीन व्यक्तिकेलिये (मोक्षानन्द-रूप) सुख कहां ? ॥ १०९ ॥ क्योंकि जिस प्रकार वायु (असाव-धान कर्णधारवाली) नौकाको जलमें डुबा देता है उसी प्रकार इन्द्रियां जिधरको जाती हैं उसी ओर जो मन लगायाजाता है तो

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ११० ॥
तस्माद्यस्य सुरश्रेष्ठाः ! निगृहीतानि सर्व्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ १११ ॥

देवा ऊचुः ॥ ११२ ॥

ज्ञानाधार ! दयागार ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन ! ।
रहस्यं ज्ञानकाण्डस्य वैदिकस्य तदद्भुतम् ॥ ११३ ॥
श्रुत्वा साम्प्रतमज्ञानान्मुक्ता जाता वयं विभो ! ।
किन्तु संश्रूयते नाथ ! कश्चिज्जीवो न चार्हति ॥ ११४ ॥
सन्न्यासेन विना मुक्तिमधिगन्तुं कदाचन ।
सन्न्यासलक्षणञ्चातस्तद्रहस्यञ्च हे प्रभो ! ॥ ११५ ॥
ब्रूहि येन कृतार्था हि भवामस्त्वरितं वयम् ।
प्राप्नुमः परमात्मानं भवन्तं चैव मुक्तिदम् ॥ ११६ ॥

वह मन योगीकी प्रज्ञाको (विषयमें) खींच लेता है ॥ ११० ॥ इसलिये हे सुरश्रेष्ठो ! जिसकी इन्द्रियां इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकारसे निगृहीत हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ॥ १११ ॥

देवतागण बोले ॥ ११२ ॥

हे ज्ञानाधार ! हे दयासिन्धो ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वभावन ! वैदिक ज्ञानकाण्डके उस अद्भुत रहस्यको सुनकर हे विभो ! हम इस समय अज्ञानमुक्त हुए हैं परन्तु हे नाथ ! सुना है कि विना सन्न्यासके कोई जीव कभी मुक्त नहीं हो सक्ता इस कारण हे प्रभो ! सन्न्यास क्या है और इसका रहस्य क्या है सो कहें जिससे हम शीघ्र कृतकृत्य होवें और परमात्मा और मुक्तिदाता आपको प्राप्त हों ॥ ११३-११६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ११७ ॥

सन्न्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्म्मसन्न्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते ॥ ११८॥
ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि सुपर्वाणः ! सुखं बन्धाद्विमुच्यते ॥ ११९ ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ १२० ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति ॥ १२१ ॥
सन्न्यासस्तु सुरश्रेष्ठाः ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाऽधिगच्छति ॥ १२२ ॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

महाविष्णु बोले ॥ ११७ ॥

कर्म्मत्याग और कर्म्मयोग दोनों मोक्षदायक हैं किन्तु उनमें कर्म्मसन्न्याससे कर्म्मयोग श्रेष्ठ है ॥११८॥ जो न द्वेष करता है और न आकाङ्क्षा करता है उसको नित्य सन्न्यासी अर्थात् कर्म्मके अनुष्ठानकालमें भी सन्न्यासी जानना उचित है क्योंकि हे देवगण ! (रागद्वेषादि) द्वन्द्वसे रहित व्यक्ति अनायास बन्धनसे छूटजाता है॥११९॥साङ्ख्य और योग अर्थात् ज्ञानयोग और कर्म्मयोग पृथक् हैं इस बातको अज्ञलोग कहते हैं पण्डितलोग नहीं कहते हैं क्योंकि एकका सम्यक् आश्रय करनेवाला भी दोनोंका फल पाता है ॥१२०॥ जो स्थान साङ्ख्य से प्राप्त होता है वह योगसे भी प्राप्त होता है, जो साङ्ख्य और योगको एक देखता है वह देखता है अर्थात् वह यथार्थदर्शी है ॥ १२१ ॥ हे सुरश्रेष्ठो ! कर्म्मयोगके विना सन्न्यास का प्राप्त करना दुःसाध्य है किन्तु योगयुक्त मुनि शीघ्रही ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥ १२२ ॥ विशुद्धचित्त, विजितमन, जितेन्द्रिय और

सर्व्वभूतात्मभूतात्मा कुर्व्वन्नपि न लिप्यते ॥ १२३ ॥
नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन् शृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपन् श्वसन् ॥१२४॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥ १२५ ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १२६ ॥
सर्व्वकर्म्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्व्वन् न कारयन् ॥ १२७ ॥
अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः ।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाऽक्रियः ॥१२८॥
यत्कुरुध्वे यदश्नीथ यज्जुहुध्वे च दत्थ यत् ।

सब भूतोंकी आत्माही जिसकी आत्मा है ऐसा योगयुक्त व्यक्ति कर्म्म करता हुआ भी कर्म्ममें बद्ध नहीं होता है ॥ १२३ ॥ (ब्रह्ममें) युक्त तत्त्ववित् व्यक्ति दर्शन, श्रवण, स्पर्श, घ्राण, भोजन, गमन, निद्रा, श्वास, भाषण, त्याग, ग्रहण, उन्मेष और निमेष करता हुआ भी, इन्द्रियगण इन्द्रियके विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं ऐसी धारणा करता हुआ मैं कुछ भी नहीं करता हूं ऐसा समझता है ॥ १२४–१२५ ॥ जिस प्रकार पद्मपत्र जलमें लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार कर्म्मोंको ब्रह्ममें समर्पित और फलासक्ति त्याग करके जो कर्म्म करता है वह पाप अर्थात् बन्धन करनेवाले कर्म्मोंसे लिप्त नहीं होता है ॥१२६॥ जितेन्द्रिय देही (विवेकयुक्त) मनके द्वारा सब कर्म्मोंका त्याग करके नव द्वारोंसे युक्त पुरमें अर्थात् स्थूल शरीरमें नहीं कुछ करता हुआ और नहीं कुछ कराता हुआ सुखपूर्वक रहता है ॥ १२७ ॥ जो कर्म्मफलका आश्रय नहीं करके कर्त्तव्य कर्म्म करता है वही सन्न्यासी है और वही योगी है। निरग्नि अर्थात् अग्निसाध्य इष्टादि कर्म्म-

यत्तपस्यथ भो देवाः! तत्कुरुध्वं मदर्पणम् ॥ १२९ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यध्वे कर्म्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्ता हि विमुक्ता मामुपैष्यथ ॥ १३० ॥
काम्यानां कर्म्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ १३१ ॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ १३२ ॥
श्रूयतां निश्चयस्तत्र त्यागे मेऽमृतभोजिनः!।
त्यागो हि विबुधश्रेष्ठाः! त्रिविधः परिकीर्त्तितः ॥ १३३ ॥
यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ १३४ ॥

त्यागी और अक्रिय (पूर्त्तादिकर्म्म रहित) व्यक्ति सन्न्यासी नहीं होता है ॥१२८॥ हे देवगण! आपलोग जो कर्म करते हैं, जो भोजन करते हैं, जो होम करते हैं, जो देते हैं और जो तपस्या करते हैं उसको मुझमें अर्पण करें ॥ १२९ ॥ ऐसा करनेसे शुभ और अशुभ फल देनेवाले कर्म्मबन्धनोंसे छूटजाओगे क्योंकि आपलोग (मुझमें फलसमर्पण-रूपी) सन्न्यासयोगमें युक्त होनेसे विमुक्त होकर मुझको प्राप्त करेंगे ॥ १३० ॥ दूरदर्शी पण्डितलोग काम्यकर्म्मोंके त्यागको सन्न्यास कहते हैं और सब कर्म्मोंके फलोंके त्यागको त्याग कहते हैं ॥ १३१ ॥ कोई कोई पण्डितलोग दोषयुक्त कर्म्मको त्याज्य कहते हैं और कोई यज्ञ, तप और दान त्याज्य नहीं है ऐसा कहते हैं ॥ १३२ ॥ हे अमृतभोजी देवश्रेष्ठो! उस त्यागके विषयमें मेरा निश्चय सुनें। त्याग तीन प्रकारका कहागया है ॥१३३॥ यज्ञ, तप और दान ये तीन कर्म्म त्याग करनेके योग्य नहीं हैं ये निश्चयही कर्तव्य हैं, यज्ञ तप और दान विवेकियोंको भी पवित्र करनेवाले हैं ॥ १३४ ॥

एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे देवाः! निश्चितं मतमुत्तमम्॥ १३५॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १३६॥
नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ १३७॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्म्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥ १३८॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोधत।
समासेनैव भो देवाः! निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ १३९॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयाँस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ १४०॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।

किन्तु हे देवगण! ये कर्म्म भी आसक्ति और फलका त्याग करके करने योग्य हैं यह मेरा निश्चित उत्तम मत है॥ १३५॥ सत्त्वगुणशाली मेधावी संशयरहित त्यागी व्यक्ति अकुशल (दुःखजनक) कर्म्ममें द्वेष नहीं करता है और न कुशल (सुखकर) कर्म्ममें आसक्त होता है॥ १३६॥ क्योंकि देहधारी निःशेषरूपसे कर्म्मोंका त्याग नहीं कर सकता है किन्तु जो कर्म्मके फलको त्याग करता है वह त्यागी कहाजाता है॥ १३७॥ इष्ट (प्रिय) अनिष्ट (अप्रिय) और मिश्र अर्थात् इष्टानिष्ट, यह कर्म्मका त्रिविध फल सकाम व्यक्तियोंको परकालमें होता है किन्तु सन्न्यासियोंको कहीं भी नहीं होता है॥ १३८॥ हे देवगण! नैष्कर्म्यसिद्धि-प्राप्त व्यक्ति जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होता है और जो चरम ज्ञान है उसको संक्षेपसे ही सुनो॥ १३९॥ विशुद्ध-बुद्धियुक्त होकर धैर्य्यके द्वारा बुद्धिको संयत करके शब्दादि विषयोंका त्याग करके और राग द्वेषको दूर करके निर्जनस्थानवासी एवं मितभोजी होकर शरीर वाणी और मनको संयत करके सदा ज्ञानयोगमें तत्पर होता हुआ वैराग्यको

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ १४१ ॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्म्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १४२ ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्व्वेषु भूतेषु सन्न्यासं लभते परम् ॥ १४३ ॥
मां सन्न्यासेन जानाति यावान् यश्चाऽस्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ १४४ ॥
सर्व्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्व्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ १४५ ॥
चेतसा सर्व्वकर्म्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्ताः स्यात सर्व्वथा ॥ १४६ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे देवमहाविष्णुसम्वादे ज्ञानयोगवर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

भलीभांति आश्रय करके अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके ममताशून्य होकर शान्त व्यक्ति ब्रह्म ही होजाता है ॥ १४०-१४२ ॥ ब्रह्मभूत और प्रसन्नचित्त व्यक्ति (नष्ट वस्तुकेलिये) शोक नहीं करता है और (अप्राप्त वस्तुकेलिये) आकाङ्क्षा नहीं करता है, सब भूतोंमें समभावापन्न होकर श्रेष्ठ सन्न्यासको प्राप्त होता है ॥ १४३ ॥ मैं जिस प्रकारका और जो हूं सो यथार्थरूपसे सन्न्यासके द्वारा वह जानता है और मुझको यथार्थरूपसे जानकर अनन्तर मुझमें प्रवेश कर जाता है॥१४४॥सर्वदा सब प्रकारका कर्म्म करता हुआ भी मत्परायण व्यक्ति मेरे अनुग्रहसे सनातन नित्यपदको प्राप्त होता है ॥ १४५ ॥ (आपलोग) चित्तसे सब कर्म्मोंको मुझमें अर्पण करके मत्परायण होकर बुद्धियोगका आश्रय करके सर्वथा मच्चित्त होवें॥१४६॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्रका देवमहाविष्णुसम्वादात्मक ज्ञानयोगवर्णन-नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ ।

विश्वरूपदर्शनयोगवर्णनम्।

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

सर्व्वलोकाश्रयश्रेष्ठ ! परमात्मन् ! जगद्गुरो ! ।
त्वत्प्राप्तिमुख्यहेतोर्हि ज्ञानकाण्डस्य हे प्रभो ! ॥ २ ॥
रहस्यं मुक्तिदं जाता शृण्वतां नः कृतार्थता ।
भूयोऽपि श्रोतुमिच्छामो मधुरां ते गिरं हिताम् ॥ ३ ॥
कस्मिन् रूपे भवन्तं हि चिन्तयन्तो वयं विभो ! ।
शक्नुमोऽनुपलं लब्धुं भवन्तं ज्ञानदायिनम् ॥ ४ ॥
अशेषं वर्णयित्वेदमस्मानाश्वासय प्रभो ! ।
भवता साम्प्रतं नाथ ! कृपयाऽसीमया यतः ॥ ५ ॥
नानाज्ञानमयैर्वाक्यैः कृतकृत्या वयं कृताः ।
अतो न विरहं सोढुं शक्ष्यामः क्षणमप्युत ॥ ६ ॥

देवतागण बोले ॥ १ ॥

हे सर्व्वलोकाश्रयश्रेष्ठ ! हे प्रभो ! हे परमात्मन् ! हे जगद्गुरो ! आपकी प्राप्तिके प्रधान कारणरूप ज्ञानकाण्डका मुक्तिप्रद रहस्य सुनकर हमलोग कृतार्थ हुए। हम फिर भी आपकी मधुर और हितकरी वाणीको सुनना चाहते हैं ॥ २-३ ॥ हे विभो ! किस रूपमें आप ज्ञानदाताको चिन्तन करनेसे हमलोग हर समय आपको प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे ॥ ४ ॥ हे प्रभो ! इस विषयको पूर्णतया वर्णन करके हमें आश्वासन दीजिये क्योंकि हे नाथ ! इस समय आपने जो असीम कृपा करके अनेक ज्ञानमय उपदेशोंसे हमलोगोंको कृतकृत्य किया है इसलिये हमलोग आपके विरहको क्षणभर भी सहन नहीं कर सकेंगे ॥ ५-६ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ७ ॥

अपि वः श्रद्धया भक्त्या प्रसन्नोऽस्मि दिवौकसः ! ।
भवद्भ्यः साम्प्रतं दिव्यं ज्ञाननेत्रं ददाम्यहम् ॥ ८ ॥
यूयं यज्ज्ञाननेत्रेण स्थातुं शक्ताः सुरर्षभाः ! ।
चेद्विज्ञानमये कोषे तदा भवितुमर्हथ ॥ ९ ॥
कृतकृत्या अनाद्यन्तं दृष्ट्वा नित्यास्थितं विभुम् ।
रूपं स्थूलादपि स्थूलं ममैतद्धि प्रतिक्षणम् ॥ १० ॥

व्यास उवाच ॥ ११ ॥

ततो ज्ञाननिधिर्मान्यो महाविष्णुर्दयार्णवः ।
दिव्यं ज्ञानमयं चक्षुर्देवेभ्यो दत्तवान् प्रभुः ॥ १२ ॥
सर्व्वे देवास्तदानीम्वै स्थिराङ्गाः स्थिरलोचनाः ।
समाधिस्था भवन्तो हि विस्मिताश्च विशेषतः ॥ १३ ॥
बुद्धेरतीतं जीवानामवाङ्मनसगोचरम् ।
विराड्रूपञ्च पश्यन्तस्तुष्टुवुस्ते तदद्भुतम् ॥ १४ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ७ ॥

हे देवगण ! आपलोगोंकी श्रद्धा और भक्तिसे मैं प्रसन्न हूँ, अब मैं आपलोगोंको दिव्य ज्ञाननेत्र प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा हे सुर-श्रेष्ठो ! आप यदि विज्ञानमय कोषमें स्थित रहसकोगे तो मेरे इस अनादि अनन्त नित्यस्थित विभु स्थूलातिस्थूल रूपको हर समय दर्शन करके कृतकृत्य हो सकोगे ॥ ८–१० ॥

व्यासदेव बोले ॥ ११ ॥

तब करुणासागर ज्ञाननिधि और मान्य प्रभु महाविष्णुने देवताओंको ज्ञानमय दिव्य चक्षु प्रदान किया ॥१२॥ तब वे सब देवगण स्थिर-गात्र और स्थिरनेत्र होकर समाधिस्थ और विशेष विस्मित होते हुए जीवोंके मन वचन और बुद्धिसे अतीत उस अद्भुत विराट्रूपका दर्शन करते हुए स्तुति करनेलगे ॥ १३–१४ ॥

देवा ऊचुः ॥ १५ ॥

देवादिदेव ! त्वदचिन्त्यदेहे
आद्यन्तशून्ये प्रसमीक्ष्य नूनम् ।
देवानृषीन् पितृगणाननन्तान्
पृथक् स्थितान् विस्मयमावहामः ॥ १६ ॥
तवैव देहाद्भुवनानि देव !
चतुर्दशैतेषु निवासिनो हि ।
देवाश्च दैत्याश्च मनुष्यसङ्घा-
श्चतुर्विधा भूतगणाश्च सर्वे ॥ १७ ॥
जाताः पृथक् सन्ति चतुर्दशस्वहो
यान्त्यत्र नाशं भुवनैर्निजैः समम् ।
संपश्यतामीदृशमद्भुतं प्रभो !
बुद्धिर्भ्रमे मज्जति नः समाकुला ॥ १८ ॥
देवाश्च ये स्थूलशरीरमानिनो
विशन्ति ते सूक्ष्मशरीरमानिषु ।

देवतागण बोले ॥ १५ ॥

हे देवादिदेव ! हमलोग आपके अनादि अनन्त और अचिन्त्य देहमें अनन्त देवसमूह, ऋषिसमूह और पितृसमूहको पृथक् पृथक् स्थित देखकर अवश्य ही विस्मित हो रहे हैं ॥ १६ ॥ हे देव ! आपके ही देहसे चतुर्दश भुवन और इनके निवासी देव, दैत्य, मनुष्यसमूह और सब चतुर्विध भूतसङ्घ उत्पन्न हुए हैं, चतुर्दश भुवनोंमें पृथक् पृथक् हैं और अहो ! अपने लोकोंके साथ इसी (आपके देहमें) नाशको प्राप्त होते हैं। हे प्रभो ! इस प्रकार आश्चर्य्यको देखते हुए हमलोगोंकी बुद्धि व्याकुल होकर भ्रममें मग्न होती है ॥ १७-१८ ॥ अहो ! जो स्थूलदेहाभिमानी देवतागण हैं वे सूक्ष्मदेहाभिमानी

देवास्तु ये सूक्ष्मशरीरमानिनो
विशन्त्यहो कारणकायमानिषु ॥ १९ ॥
इमे तु सर्वे प्रविशन्त्यचिन्त्ये
महाप्रभावे क्व च तन्न विद्मः ।
दृष्ट्वेदृशं तेऽद्भुतकार्यमीश !
वयं विमुग्धाः खलु ते प्रभावात् ॥ २० ॥
साचिन्त्यशक्तिर्भवतो ध्रुवा किम् ?
या वाङ्मनोबुद्धिभिरप्रमेया ।
त्वत्तो जनित्वा निजगर्भमध्ये
लोकान् धरत्येव चतुर्दशालम् ॥ २१ ॥
ब्रह्माण्डमप्येवमनन्तपिण्ड-
मयञ्च सर्गं धरते सदा सा ।
सर्वं प्रसूते पुनरन्तकाले
लीनं तु तत् सा कुरुते स्वगर्भे ॥ २२ ॥
दृष्ट्वा चमत्कारमिमं न विद्मः

देवताओंमें प्रवेश करते हैं और जो सूक्ष्मदेहाभिमानी देवतागण हैं वे कारणदेहाभिमानी देवताओंमें प्रवेश करते हैं ॥ १९ ॥ किन्तु ये सब किस अचिन्त्य महाप्रभाववान्में प्रवेश करते हैं सो हमलोग नहीं समझ रहे हैं । हे ईश ! इस प्रकार आपका अद्भुत कार्य्य देखकर आपके प्रभावसे हमलोग विमुग्ध हो रहे हैं ॥ २० ॥ क्या वह नित्या अचिन्त्य शक्ति आपकी है ? वाणी मन और बुद्धिसे अगोचर जो शक्ति आपसेही उत्पन्न होकर चतुर्दश लोकोंको अपने गर्भमें भलीभांति धारण करती है ॥ २१ ॥ इसी प्रकार वह शक्ति अनन्त ब्रह्माण्ड और पिण्डमय सृष्टिको भी सदा स्थित रखती है, सबको उत्पन्न करती है और पुनः अन्तकालमें वह उन सबोंको अपने गर्भमें लीन करलेती है ॥ २२ ॥ हे ईश ! इस चमत्कारको देखकर हम नहीं समझ रहे हैं

कथं भवत्यद्भुतमेतदीश ! ।
किं कारणञ्चास्य पुनः क आदि-
रस्य प्रवाहस्य तथाऽस्ति कोऽन्तः ॥ २३ ॥
अनन्त ! सर्वेऽनुभवाम आदरात्
त्वामीश ! जन्मस्थितिनाशवर्ज्जितम् ।
अनन्तवक्त्रं बहुधा स्तुतं सुरै-
र्गन्धर्वयक्षैर्विविधैश्च सूरिभिः ॥ २४ ॥
अमितशक्तियुतोऽपि भवन् भवा-
नमितबाहुरसि त्वमनन्तपात् ।
अमितसूर्य्य मृगाङ्क-शिखिग्रहा-
दमितनेत्रधरस्त्वमिहेक्ष्यसे ॥ २५ ॥
त्वं तेजसां तेज इहासि चेतने
चैतन्यरूपोऽसि ददासि शक्तये ।
शक्तिं प्रभो ! प्रेरयसे मतिं तथा ।
त्वत्सत्तया सर्वमिदं हि सत्त्ववत् ॥ २६ ॥

कि यह चमत्कार कैसे हो रहा है, इसका कारण क्या है और इस प्रवाहका आदि क्या है तथा अन्त क्या है ॥ २३ ॥ हे अनन्त ! हे ईश ! हम सब भलीभांति अनुभव करते हैं कि आप उत्पत्ति, स्थिति और विनाशसे रहित हो, अनन्तमुख हो और अनेक देवता गन्धर्व यक्ष और विद्वानोंके द्वारा अनेक प्रकारसे स्तुत हो ॥ २४ ॥ आप हमलोगोंको यहां अमितशक्तियुक्त होते हुए भी अनन्त बाहु एवं अनन्त पादविशिष्ट और अनन्त सूर्य्य चन्द्र तथा अग्निको ग्रहण करनेवाले होनेके कारण अनन्तनेत्रधारी दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ २५ ॥ आप तेजोंके भी तेज हैं, चेतनमें चैतन्यरूप हैं, हे प्रभो ! आप शक्तिको शक्ति देते हैं और बुद्धिको (सत्कर्म्मोंमें) प्रेरित करते हैं क्योंकि आपकी सत्तासे यह समस्त विश्व यहां सत्तावान् होरहा है ॥ २६ ॥

विभो ! त्वयैकेन हि मध्यलोक
ऊर्ध्वं तथाऽधश्च दिशां समूहः।
अनाद्यनन्तः समयस्तथासौ
व्याप्तोऽस्ति धीर्येन विमोहिता नः॥ २७॥
गुरो ! जगत्कारण ! ते शरीरा-
दद्वैतरूपात्तव शक्तिराद्या।
याऽचिन्तनीया प्रकटत्वमेति
ब्रह्माण्डमेषा तनुते ह्यनन्तम्॥ २८॥
पूर्वं महत्तत्त्ववराभिमानी
जातस्ततोऽहङ्कृतितत्त्वमानी।
देवस्ततो मानसतत्त्वमानी
निर्माति चोत्पाद्य विचित्रदृश्यम्॥ २९॥
ततः क्रमेणैव सुरा इमे सदा
तन्मात्रतत्त्वस्य किलाभिमानिनः।

हे विभो ! एक आपसे ही ऊर्द्ध्वलोक,अधोलोक, मध्यलोक, अनादि अनन्त यह दिक्‌समूह और अनादि अनन्त यह काल व्याप्त हैं जिससे हमारी बुद्धि विमुग्ध हो रही है॥ २७॥ हे जगत्कारण ! हे गुरो ! अद्वैतरूप आपके शरीरसे जो आपकी अचिन्तनीया आद्या शक्ति प्रकट होती है वही अनन्त ब्रह्माण्डोंका विस्तार करती है॥ २८॥ पहले श्रेष्ठ महत्तत्त्वका अभिमानी देवता प्रकट होता है, अनन्तर अहङ्कारतत्त्वका अभिमानी देवता और उसके पश्चात् मानसतत्त्वका अभिमानी देवता प्रकट होकर विचित्र दृश्यकी रचना करते हैं॥२९॥ उसी क्रमसेही पञ्चतन्मात्राके अभिमानी देवता, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्म्मेन्द्रियके अभिमानी देवता और पञ्चमहाभूतोंके परम अभिमानी देवता ये सब सदा आपके शरीरसे प्रकट होते हुए

ज्ञानेन्द्रियाणामथ येऽभिमानिनः
कर्म्मेन्द्रियाणामपि येऽभिमानिनः ॥ ३० ॥
ये पञ्चभूतैकपराभिमानिन-
स्ते त्वच्छरीरादभिजायमानाः।
नास्तिस्वरूपाज्जगतोऽस्तिभावं
प्रकुर्वते ते गहनप्रभावः ॥ ३१ ॥
शक्तिस्तवाचिन्त्यविभावशालिनी
स्वस्यां तनौ सर्वलयं प्रकुर्वती।
त्वय्येव नैजं विलयं वितन्वती
प्रपातयत्यत्र विचित्रतासु नः ॥ ३२ ॥
त्वत्तो ह्यनन्ता विधि-विष्णु-शम्भवः
कुर्वन्ति सम्भूय जनिं स्थितिं लयम्।
ब्रह्माण्डकस्याप्यमितस्य सर्वथा
चराचरस्याद्भुतचित्रताजुषः ॥ ३३ ॥
केचिद्यथा बालगणा रजोगृहं
निर्म्मान्त्यवन्त्यन्य इदं तथाऽपरे।

जगत्को नास्तिरूपसे अस्तिरूपमें करदेते हैं; आपका प्रभाव गहन अर्थात् महान् है ॥ ३०-३१ ॥ आपकी अचिन्त्यप्रभावशालिनी शक्ति अपने शरीरमें सबोंको लय करती हुई और अपना विलय आपमें ही करती हुई हमको यहां विचित्रतामें गिरा रही है अर्थात् हमको आश्चर्य्यमें डुबा रही है ॥ ३२ ॥ आपसे ही अनन्त ब्रह्मा विष्णु और महेश प्रकट होकर आश्चर्य्ययुक्त विचित्रतापूर्ण चराचरमय अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति स्थिति और लयका भी सर्वथा विधान करते हैं ॥ ३३ ॥ हे प्रभो! जैसे कोई बालक धूलिका घर बनाते हैं, कोई उसकी रक्षा करते हैं और अन्य कोई उसको नष्ट कर देते हैं; उसी

विनाशयन्तीति वयं तवाधुना
पश्याम इत्थं वपुषि ध्रुवं प्रभो ! ॥ ३४ ॥
रुद्राश्च सर्वे वसवश्च निर्जरा
आदित्यसंघा मघवा प्रजापतिः ।
विश्वेसुरा वायुरसंख्यकामरा
दैत्या ह्यनन्ताः पितरस्तथर्षयः ॥ ३५ ॥
त्वत्कायजास्त्वां बहुधा यतन्ते
ज्ञातुं परन्ते न हि पारयन्ते ।
अतो विमुग्धास्तव मायया ते
पुनर्विशन्त्येत्य तवैव काये ॥ ३६ ॥
कारणं कारणानां त्वमेवाक्षरं
ब्रह्म विज्ञेयमेकं त्वमेवास्यहो ।
आश्रयस्थानमेकं निधानं परं
विश्वसङ्घस्य जानन्ति ते कोविदाः ॥ ३७ ॥
त्वमव्ययः शाश्वतधर्म्मगोप्ता

प्रकार हम निश्चय इस समय आपके शरीरमें ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति स्थिति और लयके विषयको देख रहे हैं॥३४॥ एकादश रुद्रगण, द्वादश आदित्यगण, अष्ट वसुदेवतागण, इन्द्र, प्रजापति, विश्वेदेवा, वायु, ये सब असङ्ख्य देवगण, अनन्त ऋषि एवं पितृगण और अनन्त असुरगण सबही आपके शरीरसे प्रकट होकर आपको जाननेकेलिये अनेक प्रकारसे यत्न करते हैं परन्तु वे पार नहीं पाते हैं इसलिये आपकी मायासे विमुग्ध होकर वे फिर भी जाकर आपहीके शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३५-३६ ॥ अहो ! आपही कारणोंके कारण हैं, आपही अक्षर (अविनाशी) परब्रह्म हैं और एक आपही जाननेके योग्य हैं, एक आपही विश्वसमूहके आश्रयस्थान और परमरक्षास्थान हैं इस बातको प्रसिद्ध पण्डितगण जानते हैं ॥ ३७ ॥ आप विकार-

सनातनस्त्वं पुरुषो मतो नः।
प्रभोऽतितेजोमयमादिहीन–
मनन्तमप्येकमनेकवर्णम् ॥ ३८ ॥
अचिन्तनीयं ह्यवितर्कणीयं
किलामितैरङ्गभरैः सुपूर्णम्।
पश्यन्त आश्चर्य्यकरं प्रदीप्तं
विराट्शरीरं तव विस्मिताः स्मः ॥ ३९ ॥
धृतिन्न विन्दाम इह त्वदीये
कायेऽमिताँस्तान्प्रसमीक्ष्य लोकान्।
प्रसीद देवेश ! जगन्निवास !
त्वमेव नः सम्मत आदिदेवः ॥ ४० ॥
अहो किमाश्चर्य्यमिदं विभाति
क्षुद्रात् समारभ्य तृणादसीम्नः।
ब्रह्माण्ड-पर्य्यन्तविशालसृष्टेः

रहित हैं, सनातनधर्म्मके रक्षक हैं और आप सनातन पुरुष हैं, यह हमारा मत है। हे प्रभो ! आपके अतितेजोमय, आदिहीन, अनन्त होनेपर भी एक, अनेकवर्ण, अचिन्त्य,अवितर्क्य, अगणित अवयवोंसे पूर्ण,विस्मयकर और देदीप्यमान विराट् शरीरको देखते हुए हम विस्मित हो रहे हैं ॥३८-३९॥ हे जगन्निवास ! हे देवेश ! इस आपके (विराट्) शरीरमें उन अगणित लोकोंको देखकर हम धृतिको लाभ नहीं कर रहे हैं (इसलिये) आप प्रसन्न हों, हमारा मत है कि आप ही आदिदेव हैं ॥ ४० ॥ अहो ! यह क्या चमत्कार शोभायमान हो रहा है। एक क्षुद्र तृणसे लेकर ब्रह्माण्डपर्य्यन्त जो असीम विशाल सृष्टि है उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लयकेलिये अनेक

सृष्टिस्थितिप्रत्यवहारहेतोः ॥ ४१ ॥
यथार्भकाः क्रीडनसक्तचित्ता
विमोहितास्तन्मयतामुपेताः।
अनेकधाऽनेकविधस्वरूपा-
स्तथा पृथक् देवगणा नियुक्ताः ॥ ४२ ॥
स्थूलात्स्थूलतरं नित्यं ज्ञानलोचनगोचरम्।
अनाद्यन्तं विराड्रूपं दृष्ट्वा ते विभुमद्भुतम् ॥ ४३ ॥
अपिचेत् परमानन्दो जातो नश्चेतसि प्रभो !।
न तथापि वयं द्रष्टुं शक्नुयाम बहुक्षणम् ॥ ४४ ॥
जीवानां मनसो बुद्धेर्वाचोऽगोचरमित्यहो।
अपूर्वं भवतो रूपमालोक्याश्चर्य्यसङ्कुलम् ॥ ४५ ॥
मनो नो मूर्च्छितं बुद्धिः स्थगिता भवति प्रभो !।
शैथिल्यं यान्ति हे स्वामिन्निन्द्रियाण्यखिलानि नः ॥ ४६ ॥
अतो वयं हि विश्वात्मन् ! विनीतं प्रार्थयामहे।

प्रकारसे अनेक प्रकारके रूपवाले देवतागण ऐसे मोहित और तन्मय होकर पृथक् पृथक् नियुक्त हैं जैसे खेलमें आसक्तचित्त बालकगण तन्मय और विमोहित रहते हैं ॥ ४१-४२ ॥ ज्ञानदृष्टिसे देखनेयोग्य, स्थूलातिस्थूल, अनादि, अनन्त, नित्य, अद्भुत और व्यापक आपके विराट्रूपका दर्शन करके हे प्रभो ! यदिच हमलोगोंके चित्तमें परमानन्दकी प्राप्ति हुई है परन्तु हमलोग बहुत देरतक इस रूपका दर्शन नहीं कर सकते हैं ॥४३-४४॥ अहो ! जीवोंके वाणी, मन और बुद्धिसे अगोचर इस अपूर्व आपके आश्चर्य्यमय रूपको देखकर हे स्वामिन् ! हे प्रभो ! हमारी सब इन्द्रियां शिथिल, मन मूर्च्छित और बुद्धि थकित होती है ॥ ४५-४६ ॥ इस कारण हे विश्वात्मन् ! हमलोगोंकी यह विनीत प्रार्थना है कि हे विभो ! हे नाथ !

त्वद्विभूतिस्वरूपेषु यद्भवन्तं वयं विभो ! ॥ ४७ ॥
देशे काले च सर्वत्र पात्रे द्रष्टुं यथेश्महे ।
उपदिश्यामहे नाथ ! तथोपायं वयं स्वयम् ॥ ४८ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ ४९ ॥

आनन्दः सर्वजीवेषु प्रभाऽस्मि शशिसूर्य्ययोः ।
प्रणवः सर्व्ववेदेषु शब्दः खे चास्मि निर्ज्जराः ! ॥ ५० ॥
वायौ स्पर्शोऽस्मि भो देवाः ! रूपं हुतवहे तथा ।
अप्सु चाहं रसो नूनं सत्यमेतन्न संशयः ॥ ५१ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्याश्च तेजश्चाऽस्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्व्वभूतेषु तपश्चाऽस्मि तपस्विषु ॥ ५२ ॥
वर्णेषु ब्राह्मणो वर्ण आश्रमेष्वन्तिमाश्रमः ।
सतीत्वमार्य्यनारीषु तथास्मि पौरुषं नृषु ॥ ५३ ॥
यावद्देवगणाः सर्व्वे सात्त्विक्यो मे विभूतयः ।

आप ऐसे उपायका स्वयं उपदेश दीजिये कि जिससे हम आपको आपकी विभूतियोंके रूपमें प्रत्येक देश काल पात्रमें दर्शन करनेमें समर्थ होसकें ॥ ४७-४८ ॥

महाविष्णु बोले ॥ ४९ ॥

सब जीवोंमें मैं आनन्द हूं, चन्द्रमा और सूर्य्यमें प्रभा हूं, हे देवगण ! मैं सब वेदोंमें प्रणव और आकाशमें शब्द हूं ॥ ५० ॥ हे देवगण ! मैं वायुमें स्पर्श, अग्निमें रूप और जलमें रस हूं, यह सत्यही है इसमें सन्देह नहीं ॥ ५१ ॥ पृथिवीमें पवित्र गन्ध, अग्निमें तेज, सब भूतोंमें जीवन और तपस्वियोंमें तपोरूप हूं ॥ ५२ ॥ वर्णोंमें ब्राह्मण वर्ण, आश्रमोंमें अन्तिम आश्रम अर्थात् सन्न्यास, आर्य्य-नारियोंमें सतीत्व और पुरुषोंमें पौरुष अर्थात् पुरुषार्थ हूं ॥ ५३ ॥ जितने देवता हैं वे मेरी सात्त्विक विभूतियां हैं और जितने ही असुर

यावन्तस्तेऽसुराश्चैव तामस्यो मे विभूतयः ॥ ५४ ॥
बीजं मां सर्व्वभूतानां वित्त देवाः ! सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ ५५ ॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्म्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि विबुधर्षभाः ! ॥ ५६ ॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ ५७ ॥
पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ ५८ ॥
ज्योतिषामंशुमान् सूर्य्यो वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ ५९ ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चाऽस्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ ६० ॥

हैं वे मेरी तामसिक विभूतियां हैं ॥ ५४ ॥ हे देवगण ! सब भूतोंका सनातन बीज मुझको जानो मैं बुद्धिमानोंमें बुद्धि और तेजस्वियोंमें तेज हूं ॥ ५५ ॥ हे देवश्रेष्ठो ! बलवानोंमें मैं काम और रागसे रहित बल हूं और भूतोंमें धर्म्माविरुद्ध अर्थात् धर्म्मके अनुकूल काम हूं ॥५६॥ मैं क्रतु (श्रौत अग्निष्टोमादि यज्ञ) हूं, मैं यज्ञ (पञ्च महायज्ञादि) हूं, मैं स्वधा हूं, मैं औषध हूँ, मैं मन्त्र हूं, मैं आज्य (घृत) हूँ, मैं अग्नि हूं और मैं आहुति हूं ॥५७॥ इस विश्वका मैं पिता, माता, धाता (धारण और पोषण करने वाला) और पितामह हूं । जाननेके योग्य मैं हूं, पवित्र ओंकार मैं हूँ तथा ऋक् यजुः और साम मैं हूं ॥५८॥ ज्योतियोंमें मैं किरणमाली सूर्य्य हूं, यक्ष रक्षोगणमें वित्तेश (कुबेर) हूं, मरुतोंमें मरीचि हूं और नक्षत्रोंमें मैं शशी (चन्द्रमा) हूँ ॥ ५९ ॥ वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओंमें इन्द्र हूं, इन्द्रियोंमें मन हूं और प्राणि-

आदित्यानामहं विष्णुः वसूनामस्मि पावकः।
रुद्राणां शङ्करश्चाऽस्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ ६१ ॥
पुरोधसाञ्च मुख्यं मां वित्त देवाः! बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ ६२ ॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ ६३ ॥
अश्वत्थः सर्व्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः।
गन्धर्व्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ ६४ ॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां वित्त माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम् ॥ ६५ ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ ६६ ॥

योंमें चेतना हूं, ॥ ६० ॥ (द्वादश) आदित्योंमें मैं विष्णु हूं, (अष्ट) वसुओंमें पावक हूँ, (एकादश) रुद्रोंमें शङ्कर हूं और पर्वतोंमें मैं मेरु हूं ॥६१॥ हे देवगण! मुझको पुरोहितोंमें श्रेष्ठ पुरोहित बृहस्पति जानो, सेनानायकोंमें मैं स्कन्द (कार्त्तिकेय) हूँ और जलाशयोंमें (मैं) सागर हूँ ॥ ६२ ॥ महर्षियोंमें मैं भृगु और वाणियोंमें मैं एक अक्षर अर्थात् ॐकार हूँ, यज्ञोंमें जपयज्ञ हूं और स्थावरोंमें हिमालय हूँ ॥ ६३ ॥ सब वृक्षोंमें अश्वत्थ अर्थात् पीपलका वृक्ष हूं, देवर्षियोंमें नारद हूं, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूं ॥ ६४ ॥ अश्वोंमें मुझको अमृत अर्थात् अमृत जिससे उत्पन्न हुआ है ऐसे समुद्र-से उत्पन्न उच्चैःश्रवा जानो, गजेन्द्रोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें नराधिप अर्थात् प्रजाओंको प्रसन्न रखनेवाला नृप जानो ॥ ६५ ॥ मैं वैश्वानरनामक अग्नि होकर प्राणियोंके देहको आश्रय करके प्राण और अपान वायुओंसे युक्त होता हुआ चतुर्विध (लेह्य चूष्य पेय आदि)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाऽग्नौ तत्तेजो वित्त मामकम् ॥ ६७ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्व्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ ६८ ॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चाऽस्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ ६९ ॥
अनन्तश्चाऽस्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
प्रह्लादश्चाऽस्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ॥ ७० ॥
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।
पवनः पवतामस्मि दानेष्वभयदानकम् ॥ ७१ ॥
झषाणां मकरश्चाऽस्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।
पितॄणामर्य्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ ७२ ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यश्चैवाहमुत्तमाः ! ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ७३ ॥

अन्नोंको पचाता हूं॥६६॥ जो सूर्य्यगत तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्र और अग्निमें है, उस तेजको मेरा तेज समझो ॥ ६७ ॥ मैं पृथ्वीमें प्रवेश करके (अपने) बलसे भूतोंको धारण करता हूं और रसात्मक सोम होकर सब ओषधियोंको पुष्ट करता हूं ॥ ६८ ॥ मैं आयुधोंमें वज्र और धेनुओंमें कामधेनु हूं, (प्रजाओंकी) उत्पत्तिका हेतु काम हूं और सर्पोंमें वासुकि हूं ॥ ६९ ॥ नागोंमें अनन्त हूं, जलचरोंमें मैं (उनका अधिपति) वरुण हूं, दैत्योंमें प्रह्लाद हूं और वशीभूत करनेवालोंमें मैं काल हूं ॥ ७० ॥ पशुओंमें मैं मृगेन्द्र हूं, पक्षियोंमें गरुड़, वेगशालियोंमें पवन और दानोंमें अभयदान हूं ॥ ७१ ॥ मत्स्योंमें मकर, नदियोंमें गङ्गा, पितरोंमें अर्य्यमा और शासकोंमें यम हूं ॥ ७२ ॥ हे श्रेष्ठ देवगण ! सृष्टिका आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूं, विद्याओंमें अध्यात्मविद्या और

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ७४ ॥
मृत्युः सर्व्वहरश्चाऽहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥७५॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ७६ ॥
द्यूतं छलयतामस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ७७ ॥
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवाऽस्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ७८ ॥
यच्चाऽपि सर्व्वभूतानां बीजं तदहमस्मि वै ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ७९ ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां सुरर्षभाः ! ।

वादियोंमें वाद हूं ॥ ७३ ॥ अक्षरोंमें अकार हूं, समासोंमें द्वन्द्व
समास हूं, मैं ही अविनाशी काल हूं और विश्वतोमुख धाता अर्थात्
सर्वकर्म्मफलप्रदाता हूं ॥ ७४ ॥ मैं सर्वहारी मृत्यु हूं, (उत्पन्न) होने-
वालोंका उत्पत्तिस्थान हूं और नारियोंमें कीर्त्ति, श्री और वाक् मैं हूं
एवं स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमारूप हूं ॥७५॥ मैं सामवेदकी शाखा-
ओंमें बृहत्साम, छन्दोंमें गायत्री छन्द, मासोंमें मार्गशीर्ष मास और
ऋतुओंमें वसन्त ऋतु हूं ॥७६॥ छलियोंमें द्यूत (जुआ) हूं, पराक्रमियोंमें
सत्त्व अर्थात् पराक्रम हूं, मुनियोंमें मैं व्यास हूं और कवियोंमें मैं
उशना कवि अर्थात् शुक्र हूं ॥ ७७ ॥ दमनकारियोंमें मैं दण्ड हूं, जय-
की इच्छा करनेवालोंमें नीति हूं, गुह्योंमें मौन हूं और मैं ज्ञानियोंमें
ज्ञान हूं ॥ ७८ ॥ सब भूतोंका जो बीज है वह मैं ही हूं, ऐसा चराचर
भूत कोई नहीं है जो मेरे विना हो अर्थात् मैं सर्व्वत्र व्यापक हूं
॥ ७९ ॥ हे देवश्रेष्ठो ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, यह

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ८० ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेव तु जानीत मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ८१ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन हि वोऽमराः ! ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ८२ ॥
अहमात्मा सुपर्वाणः ! सर्व्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यश्च भूतानामन्त एव च ॥ ८३ ॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ ८४ ॥
सर्व्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्व्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ ८५ ॥
मनोयोगेन मां देवाः ! मद्विभूतिषु पश्यत ।

विभूतिविस्तार तो मैंने संक्षेपसे कहा है ॥ ८० ॥ जो जो विभूतियुक्त, श्रीमान् अथवा समुन्नत सत्त्व (प्राणी) है उस उसकोही मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न जानो ॥ ८१ ॥ अथवा हे अमरगण ! आपलोगोंको इसके बहुत जाननेसे क्या, मैं एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्को धारण करके बैठा हूं ॥ ८२ ॥ हे देवगण ! मैं सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित आत्मा हूं और मैं ही प्राणियोंका आदि अन्त तथा मध्य भी हूं ॥ ८३ ॥ गति, भर्त्ता (पालक) प्रभु (नियन्ता) साक्षी (द्रष्टा) निवास (भोग स्थान) शरण (रक्षक) सुहृत् (हितकर्ता) प्रभव (स्रष्टा) प्रलय(संहर्त्ता) स्थान (आधार) और निधान (लयस्थान) तथा अविकारी बीजरूप हूं ॥ ८४ ॥ मैं सबके हृदयमें सन्निविष्ट हूं, मुझसे स्मृति, ज्ञान और इन दोनोंका विलय होता है, सब वेदोंसे जानने योग्य मैंही हूं, वेदान्तकृत् अर्थात् ज्ञानदेनेवाला गुरु और वेदोंको जाननेवाला मैंही हूं ॥ ८५ ॥ हे विज्ञ देवतागण ! मनोयोगसे मेरी विभूतियोंमें मेरा दर्शन करो वा

धीयोगेन निरीक्षध्वं विराड्रूपेऽथवा बुधाः ! ॥ ८६ ॥
ममैवात्मस्वरूपं हि समाधिद्वारतोऽथवा ।
ब्रह्मानन्दप्रपूर्णं तल्लभध्वं सुरसत्तमाः ! ॥ ८७ ॥
येन केन च योगेन पश्यद्भ्यो मां निरन्तरम् ।
दातुं वः परमां शान्तिं सर्वथैवोद्यतोऽस्म्यहम् ॥ ८८ ॥
सर्व्वधर्म्मान् परित्यज्य शरणं यात मां ध्रुवम् ।
अहं वः सर्व्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि नो भयम् ॥ ८९ ॥
अहं हि सर्व्वभूतानां तिष्ठामि हृदयेऽमराः ! ।
भ्रामयन् सर्व्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ९० ॥
मामेव शरणं यात सर्वभावेन निर्ज्जराः ! ।
मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यथ शाश्वतम् ॥ ९१ ॥

दवा ऊचुः ॥ ९२ ॥

देवादिदेव ! सर्व्वात्मन् ! महाविष्णो ! दयानिधे ! ।

बुद्धियोगसे विराट्रूपमें मेरा दर्शन करो अथवा हे सुरश्रेष्ठो ! समाधिके द्वारा मेरे ब्रह्मानन्दपूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त हो । ॥ ८६-८७ ॥ जिस किसी प्रकारसे निरन्तर मेरा दर्शन करनेवाले तुम लोगोंको मैं सर्वथाही परम शान्ति देनेको प्रस्तुत हूँ ॥ ८८ ॥ सब धर्म्मोंको छोड़कर निश्चय एकमात्र मेरी शरणागत हो जाओ, कुछ भय नहीं है, मैं आपलोगोंको सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा ॥८९॥ हे देवगण ! मैं ही यन्त्रारूढ़ सब प्राणियोंको मायासे नचाता हुआ उनके हृदयमें स्थित रहता हूँ ॥ ९० ॥ हे देवगण ! आपलोग सब भावोंसे मेरीही शरणको प्राप्त हो, मेरी कृपासे परम शान्तिको और सनातन स्थानको प्राप्त करोगे ॥ ९१ ॥

देवतागण बोले ॥ ९२ ॥

हे देवादिदेव ! हे जगन्निवास ! हे सर्व्वात्मन् ! हे महाविष्णो !

जगन्निवास ! ते स्वामिन्नपारकृपयाऽधुना ॥ ९३ ॥
मोहतापविनिर्मुक्ताः सन्तश्च निर्भया वयम् ।
वीतसन्देहसन्दोहाः कृतकृत्या अभूम ह ॥ ९४ ॥
सर्व्वं हि साम्प्रतं विश्वं भाति नः स्वकुटुम्बवत् ।
राक्षसासुरमर्त्याश्च सन्त्यात्मीया हि नोऽधुना ॥ ९५ ॥
साम्यबुद्धौ प्रजातायामेवं नाथ ! प्रतीयते ।
अत एवम्विधेदानीमिच्छा नो जायते स्वतः ॥ ९६ ॥
यज्ज्ञानमुपदिष्टं नस्त्वयापारदयावशात् ।
तस्य सर्वेषु लोकेषु प्रचारोऽस्तु निरन्तरम् ॥ ९७ ॥
कर्म्मभूमौ भवेन्नूनं मर्त्यलोके विशेषतः ।
प्रचारः सर्वथा नाथ ! ज्ञानस्यास्य दयाम्बुधे ! ॥ ९८ ॥
यतो मनुष्यलोको नः सम्वृद्धेर्मुख्यकारणम् ।
इदानीं करुणासिन्धो ! बुद्धिर्नः समतां गता ॥ ९९ ॥

हे दयानिधे ! हे स्वामिन् ! अब आपकी अपार कृपासे हमलोग मोहरहित तापरहित और भयरहित तथा सर्व्वसंशयरहित होकर कृतकृत्य हुए हैं ॥ ९३-९४ ॥ अब समस्त विश्वही कुटुम्बवत् हम लोगोंको प्रतीत होता है, इस समय असुर राक्षस और मनुष्य हमारे आत्मीय हैं ॥ ९५ ॥ हे नाथ ! साम्यबुद्धि उत्पन्न होनेसे हमलोगोंको ऐसा प्रतीत होने लगा है इस कारणही अब हमलोगोंकी स्वतः ऐसी इच्छा हो रही है कि आपने अपार कृपावश जो हमलोगोंको ज्ञानोपदेश दिया है उसका निरन्तर प्रचार सब लोकोंमें होजाय ॥ ९६-९७ ॥ हे नाथ ! हे दयाम्बुधे ! विशेषतः कर्म्मभूमि मनुष्यलोकमें इस ज्ञानका प्रचार सब प्रकारसे अवश्य हो क्योंकि मनुष्यलोकही हमलोगोंके संवर्द्धनका प्रधान कारण है । हे करुणासिन्धो ! अब हमलोगोंकी बुद्धि समतामें पहुंच गई है ॥ ९८-९९ ॥

इच्छामो हि वयश्चातो भूतसङ्घं चतुर्विधम् ।
आरभ्य निखिला जीवा देवतासुरमानवाः ॥ १०० ॥
वर्त्तन्तेऽन्ये च ये जीवास्ते सर्व्वे ते समानतः ।
लब्ध्वाऽसीमदयाराशिं कृतकृत्या भवन्त्वलम् ॥ १०१ ॥
ज्ञानमस्याश्च गीतायाः प्राप्य मोदं वहन्तु ते ।
एषैव प्रार्थनाऽस्माकमेतदेवाभिवाञ्छितम् ॥ १०२ ॥

महाविष्णुरुवाच ॥ १०३ ॥

तथाऽस्तु भवतां देवाः ! यथाभिलषितं वरम् ।
प्रार्थितं सर्व्वलोकानां यतो मंगलहेतवे ॥ १०४ ॥
मत्परायणया धृत्या सात्त्विक्या भवतां सुराः ! ।
ज्ञानगर्भितया चैव सात्त्विक्या धर्म्मयुक्तया ॥ १०५ ॥
सर्व्वलोकहितैषिण्या विनीतोदारया तथा ।
प्रार्थनया प्रसन्नोऽस्मि तथेत्यस्तु पुनर्ब्रुवे ॥ १०६ ॥
गीतेयं विष्णुगीतेति नाम्ना ख्याता भविष्यति ।

इस कारण हम इच्छा करते हैं कि चतुर्विध भूतसङ्घसे लेकर मनुष्य, देवता और असुर तथा अन्यान्य जो जीव हैं वे सब आपको अपार कृपापुञ्जको समानरूपसे प्राप्त करके सम्यक् कृतकृत्य होवें ॥ १००-१०१ ॥ और वे इस गीताका ज्ञान पाकर आनन्दित हों, यही हम लोगोंकी प्रार्थना और यही अभिलाषा है ॥ १०२ ॥

महाविष्णु बोले ॥ १०३ ॥

हे देवगण ! आपका अभिलषित वर जैसा है वैसा हो क्योंकि आपने सबलोकोंके मङ्गलार्थ प्रार्थना की है॥१०४॥हे देवगण! आपलोगोंकी मत्परायण सात्त्विक धृतिसे और सात्त्विकी, ज्ञानसम्पन्ना, धर्म्मयुक्ता,सर्वलोकहितकरी, विनीत और उदार प्रार्थनासे मैं प्रसन्न हुआ हूँ। मैं पुनः कहता हूँ कि ऐसाही हो॥१०५-१०६॥हे देवगण ! यह गीता

मर्त्यलोके पुनश्चास्याः कृष्णरूपेण वै सुराः ! ॥ १०७ ॥
द्वापरान्तेऽवतीर्य्याहं गीताया ज्ञानमुत्तमम् ।
प्रचार्य्य पूरयिष्यामि भवतां शुभकामनाः ॥ १०८ ॥
सर्व्वोपनिषदां सारो वेदनिष्कर्ष एव च ।
योगयुञ्जानचित्तानां गीतेयं ज्ञानवर्त्तिका ॥ १०९ ॥
त्रितापतापितानाञ्च जीवानां परमामृतम् ।
संसारापारपाथोधौ मज्जतां तरणिः परा ॥ ११० ॥
क्षिप्रमाध्यात्मिकस्तापो पठनात्पाठनादपि ।
नश्यत्यस्या न सन्देहस्तथैतद्द्वारतोऽमराः ! ॥ १११ ॥
विश्वम्भराख्ययागस्य विधानेनाधिदैविकः ।
आधिभौतिकतापश्च पाठादस्याः प्रणश्यति ॥ ११२ ॥
अस्याश्च विष्णुगीताया माहात्म्यं महदद्भुतम् ।
गीतेयञ्च मुमुक्षूणामात्मज्ञानमभीप्सताम् ॥ ११३ ॥

विष्णुगीता नामसे प्रख्यात होगी और इस गीताके उत्तम ज्ञानको मैं पुनः द्वापर के अन्तमें मनुष्यलोकमें कृष्णरूपसे अवतीर्ण होकर प्रचारित करके आपकी शुभ कामनाओंको पूर्ण करूंगा ॥१०७-१०८॥ यह गीता सब वेदोंका निष्कर्ष, उपनिषदोंका सार और योगाभ्यास-निरत व्यक्तियोंके लिये ज्ञानप्रदीप है ॥ १०९ ॥ त्रितापतापित जीवों-के लिये यह परम अमृतरूपा है। संसार महासागरमें डूबनेवालोंके लिये उत्तम नौका है ॥ ११० ॥ इसके अध्ययन अध्यापन द्वारा अवश्य आध्यात्मिक ताप शीघ्र नष्ट होता है और इसके द्वारा हे देवगण ! विश्वम्भरयाग करनेसे आधिदैविक ताप और इसके पाठ करने और करानेसे आधिभौतिक ताप नष्ट होता है ॥१११-११२॥ इस विष्णुगीताका माहात्म्य महान् अद्भुत है, यह गीता संसारसे वैराग्यवान् आत्मज्ञानेच्छु मुमुक्षु सन्न्यासियोंके लिये गुरुरूप और मुक्तिप्रद है, ब्रह्मचारी और गृहस्थोंके लिये यह गीता धर्म्म अर्थ

सन्न्यस्तानां विरक्तानां गुरुरूपा च मुक्तिदा।
गीतेयं ब्रह्मचारिभ्यो गृहस्थेभ्यस्तथैव च ॥ ११४ ॥
धर्म्मार्थकामरूपो यस्त्रिवर्गस्तं हि यच्छति।
गीतामेताञ्च यः प्राणी स्वाध्यायविधिना पठेत् ॥ ११५ ॥
विदध्याद्विष्णुयज्ञम्वा चैतया विष्णुगीतया।
सर्व्वव्याधिविनिर्मुक्तः स सुखी सत्वरं भवेत् ॥ ११६ ॥
यश्चाक्षरमयीमेतां विष्णुगीतां प्रयच्छति।
सत्पात्रेभ्यः कुलीनेभ्यो विद्वद्भ्यो हि यथाविधि ॥ ११७ ॥
स्वर्गप्राप्तिस्सदा तस्य स्वहस्तामलकायते।
एषा यस्य गृहे तिष्ठेद्विष्णुगीता सुरर्षभाः! ॥ ११८ ॥
आसुरी भौतिकी तस्य कापि बाधा न जायते।
यत्रासौ भक्तिभावेन भवने रक्षिता भवेत् ॥ ११९ ॥
नित्यमायतनं तद्धि लक्ष्मीर्नैव विमुञ्चति।
जानीत निश्चयं देवाः! सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ १२० ॥
आस्तिको गुरुभक्तश्च देवश्रद्धापरायणः।

और कामरूपी त्रिवर्ग प्रदान करनेवाली है, जो प्राणी इसका पाठ स्वाध्यायविधिसे करे और इसकेद्वारा विष्णुयज्ञका अनुष्ठान करे तो वह सब प्रकारकी व्याधियोंसे मुक्त होकर शीघ्र सुखी होता है॥११२-११६॥ जो अक्षरमयी (पुस्तकरूप) इस विष्णुगीताको सत्पात्र कुलीन तथा विद्वानोंको यथाविधि दान करता है उसके लिये स्वर्ग-प्राप्ति सदा स्वाधीन है, हे देवश्रेष्ठो! यह विष्णुगीता जिसके घरमें रहती है कोई भी आसुरी और भौतिकी बाधा उसको नहीं होती है, जिस घरमें यह विष्णुगीता भक्तिभावसे सदा सुरक्षित रहती है उस घरको लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती है, हे देवगण! यह तुम निश्चय जानो, मैं यह सत्य सत्य कहता हूं ॥ ११७-१२० ॥ जो

शास्त्रेषु दृढविश्वासः पवित्रात्मा महामनाः ॥ १२१ ॥
न धर्म्मसम्प्रदायांश्च योऽन्यान् द्वेष्टि कदाचन ।
महोदारः स एवात्र लब्धुं केवलमर्हति ॥ १२२ ॥
विष्णोरुपनिषन्मय्यां गीतायामधिकारिताम् ।
ध्रुवमस्याः तात्प्रचारेण लोके शान्तिर्भविष्यति ॥ १२३ ॥

इति श्रीविष्णुगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे देवमहाविष्णुसम्वादे विश्वरूपदर्शनयोगवर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ।

समाप्तयं श्रीविष्णुगीता ।

आस्तिक गुरुभक्त और देवताओंमें श्रद्धालु हैं, जिसका शास्त्रोंमें दृढ़ विश्वास है, जो पवित्रात्मा महामना है और जो अन्य धर्म्म-सम्प्रदायोंसे कभी द्वेष नहीं करता है एवं जो परमोदार है केवल वही इस उपनिषन्मयी विष्णुगीताका अधिकारी हो सकता है। इस विष्णुगीताके प्रचारसे संसारमें अवश्य शान्ति होगी॥१२१-१२३॥

इस प्रकार श्रीविष्णुगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योगशास्त्रका देवमहाविष्णुसम्वादात्मक विश्वरूपदर्शनयोगवर्णन नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

यह श्रीविष्णुगीता समाप्त हुई।

श्रीविश्वानाथो जयति ।

धर्मप्रचारका सुलभ साधन ।

समाजकी भलाई ! मातृभाषाकी उन्नति !!
देशसेवाका विराट् आयोजन !!!

इस समय देशका उपकार किन उपायोंसे हो सकता है ? संसारके इस छोरसे उस छोरतक चाहे किसी चिन्ताशील पुरुषसे यह प्रश्न कीजिये, उत्तर यही मिलेगा कि धर्मभावके प्रचारसे; क्योंकि धर्मने ही संसारको धारण कर रक्खा है । भारतवर्ष किसी समय संसारका गुरु था, आज वह अधः पतित और दीन हीन दशामें क्यों पच रहा है ? इसका भी उत्तर यही है कि वह धर्मभावको खो बैठा है । यदि हम भारतसे ही पूछें कि तू अपनी उन्नतिके लिये हमसे क्या चाहता है ? तो वह यही उत्तर देगा कि मेरे प्यारे पुत्रो ! धर्मभाव की वृद्धि करो । संसारमें उत्पन्न होकर जो व्यक्ति कुछ भी सत्कार्य करनेके लिये उद्यत हुए हैं, उन्हें इस बातका पूर्ण अनुभव होगा कि ऐसे कार्यों में कैसे विघ्न और कैसी बाधाएँ उपस्थित हुआ करती हैं । यद्यपि धीर पुरुष उनकी पर्वाह नहीं करते और यथासम्भव उनसे लाभ ही उठाते हैं, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उनके कार्योंमें उन विघ्न बाधाओंसे कुछ रुकावट अवश्य ही हो जाती है । श्रीभारतधर्म महामण्डलके धर्मकार्यमें इस प्रकार अनेक बाधाएँ होनेपर भी अब उसे जनसाधारणका हित साधन करनेका सर्वशक्तिमान् भगवान्ने सुअवसर प्रदान कर दिया है । भारत अधार्मिक नहीं है । हिन्दुजाति धर्म्मप्राण जाति है, उसके रोमरोम में धर्म्मसंस्कार ओतप्रोत हैं । केवल वह अपने रूपको-धर्मभावको-भूल रही है । उसे अपने स्वरूपकी पहिचान करा देना-धर्मभावको स्थिर रखना-ही श्रीभारतधर्ममहामण्डलका एक पवित्र और प्रधान उद्देश्य है । यह कार्य १८ वर्षों से महामण्डल कर रहा है और ज्यों ज्यों उसको अधिक

सुअवसर मिलेगा, त्यों त्यों वह जोर शोर से यह काम करेगा। उसका विश्वास है कि इसी उपायसे देशका सच्चा उपकार होगा और अन्तमें भारत पुनः अपने गुरुत्वको प्राप्त कर सकेगा।

इस उद्देश्य साधनके लिये सुलभ दो ही मार्ग हैं। (१) उपदेशकों द्वारा धर्मप्रचार करना, और (२) धर्मरहस्य सम्बन्धी मौलिक पुस्तकोंका उद्धार व प्रकाश करना। महामण्डल ने प्रथम मार्गका अवलम्बन आरम्भसे ही किया है और अब तो उपदेशक महाविद्यालय स्थापित कर महामण्डलने वह मार्ग स्थिर और परिष्कृत करलिया है। दूसरे मार्गके सम्बन्धमें भी यथायोग्य उद्योग आरम्भसे ही किया जा रहा है। विविध ग्रन्थोंका संग्रह और निर्माण करना, मासिक पत्रिकाओंका सञ्चालन करना, शास्त्रीय ग्रन्थोंका आविष्कार करना, इस प्रकारके उद्योग महामण्डलने किये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है; परन्तु अभीतक यह कार्य सन्तोषजनक नहीं हुआ है। महामण्डलने अब इस विभाग को उन्नत करने का विचार किया है। उपदेशकों द्वारा जो धर्मप्रचार होता है उसका प्रभाव चिरस्थायी होनेके लिये उसी विषयकी पुस्तकोंका प्रचार होना परम आवश्यक है; क्योंकि वक्ता एक दो वार जो कुछ सुना देगा, उसका मनन विना पुस्तकोंका सहारा लिये नहीं हो सकता। इसके सिवा सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये एक वक्ता कार्यकारी नहीं हो सकता। पुस्तकप्रचार द्वारा यह काम सहल हो जाता है। जिसे जितना अधिकार होगा, वह उतने ही अधिकारकी पुस्तकें पढ़ेगा और महामण्डल भी सब प्रकारके अधिकारियों के योग्य पुस्तकें निर्माण करेगा। सारांश, देशकी उन्नतिके लिये, भारतगौरवकी रक्षाके लिये और मनुष्योंमें मनुष्यत्व उत्पन्न करनेके लिये महामण्डलने अब पुस्तक प्रकाशन विभागको अधिक उन्नत करनेका विचार किया है और उसकी सर्वसाधारणसे प्रार्थना है कि वे ऐसे सत्कार्यमें इसका हाथ बटावें एवं इसकी सहायता कर अपनी ही उन्नति कर लेनेको प्रस्तुत हो जावें।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल के व्यवस्थापक पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकी सहायतासे काशीके प्रसिद्ध विद्वानोंके द्वारा सम्पादित होकर प्रामाणिक, सुबोध और सुदृश्यरूपसे यह ग्रन्थमाला निकलेगी। ग्रन्थमालाके जो ग्रन्थ छपकर प्रकाशित हो चुके हैं उनकी सूची नीचे प्रकाशित की जाती है।

स्थिर ग्राहकोंके नियम ।

(१) इस समय हमारी ग्रन्थमालामें निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं:—

मंत्रयोगसंहिता (भाषानुवाद सहित)	१)
भक्तिदर्शन (भाषाभाष्य सहित)	१)
योगदर्शन (भाषाभाष्य सहित)	२)
नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत	१)
दैवीमीमांसादर्शन प्रथमभाग (भाषाभाष्य सहित)	१॥)
कल्किपुराण (भाषानुवाद सहित)	१)
उपदेश पारिजात (संस्कृत)	॥)
गीतावली	॥)
भारतधर्ममहामण्डल रहस्य	१)
सन्यासगीता (भाषानुवाद सहित)	॥।)
गुरुगीता (भाषानुवाद सहित)	=)
धर्मकल्पद्रुम प्रथम खण्ड	२)
,, द्वितीय खण्ड	१॥)
,, तृतीय खण्ड	२)
,, चतुर्थ खण्ड	२)
,, पञ्चम खण्ड	२)
श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम खण्ड (भाषाभाष्य सहित)	१)
सूर्य्यगीता (भाषानुवाद सहित)	॥)
शक्तिगीता (भाषानुवाद सहित)	॥।)

(२) इनमें से जो कमसे कम ४) मूल्यकी पुस्तकें पूरे मूल्यमें खरीदेंगे अथवा स्थिर ग्राहक होने का चन्दा १) भेज देंगे उन्हें शेष और आगे प्रकाशित होनेवाली सब पुस्तकें ¾ मूल्यमें दी जायंगी।

(३) स्थिर ग्राहकोंको मालामें ग्रथित होनेवाली हर एक पुस्तक खरीदनी होगी। जो पुस्तक इस विभाग द्वारा छापी जायगी वह एक विद्वानोंकी कमेटी द्वारा पसन्द करा ली जायगी।

(४) हर एक ग्राहक अपना नम्बर लिखकर या दिखाकर हमारे कार्यालयसे अथवा जहाँ वह रहता हो वहां हमारी शाखा हो तो वहांसे, स्वल्प मूल्य पर पुस्तकें खरीद सकेगा।

(५) जो धर्मसभा इस धर्म्मकार्य्यमें सहायता करना चाहे और जो सज्जन इस ग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहक होना चाहें वे मेरे नाम पत्र भेजनेकी कृपा करें।

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर,
अध्यक्ष शास्त्रप्रकाश विभाग।
श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधान कार्य्यालय,
जगत्गंज, बनारस।

इस विभाग द्वारा प्रकाशित समस्त धर्मपुस्तकोंका विवरण।

सदाचारसोपान। यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंकी धर्म्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। उर्दू और बंगला भाषामें इसका अनुवाद होकर छपचुका है और सारे भारतवर्षमें इसकी बहुत कुछ उपयोगिता मानी गई है। इसकी पांच आवृत्तियां छपचुकी हैं। अपने बच्चोंकी धर्म्मशिक्षाके लिये इस पुस्तकको हर एक हिन्दूको मँगवाना चाहिये।

मूल्य -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान। कोमलमति कन्याओंकी धर्म्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। इस पुस्तककी बहुत कुछ प्रशंसा हुई है। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। हिन्दूमात्रको अपनी अपनी कन्याओंको धर्म्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक मँगवानी चाहिए।

मूल्य -)

धर्म्मसोपान। यह धर्म्मशिक्षाविषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्म्मका साधारण ज्ञान भली भांति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। धर्म्मशिक्षा पानेकी इच्छा करनेवाले सज्जन अवश्य इस पुस्तकको मँगावें।

मूल्य ।) चार आना।

ब्रह्मचर्य्यसोपान। ब्रह्मचर्य्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुतही उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रन्थकी पढ़ाई होनी चाहिये।

मूल्य ≡)

राजशिक्षासोपान । राजा महाराजा और उनके कुमारों-को धर्म्मशिक्षा देनेके लिये यह ग्रन्थ बनाया गया है। परन्तु सर्व-साधारणकी धर्म्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रन्थ बहुतही उपयोगी है। इसमें सनातनधर्म्मके अङ्ग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≡) तीन आना।

साधनसोपान । यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुतही उपयोगी है । इसका बंगला अनुवाद भी छपचुका है । बालक बालिकाओंको पहलेहीसे इस पुस्तकको पढ़ाना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि बालक और वृद्ध समानरूप से इससे साधनविषयक शिक्षा लाभ कर सक्ते हैं ।

मूल्य =) दो आना।

शास्त्रसोपान । सनातनधर्म्मके शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रन्थमें वर्णित है । सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेके लिये प्रत्येक सनाननधर्म्मावलम्बीके लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। मूल्य ।) चार आना।

धर्म्मप्रचारसोपान। यह ग्रन्थ धर्म्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितोंके लिये बहुतही हितकारी है।

मूल्य ≡) तीन आना।

उपरि लिखित सब ग्रन्थ धर्म्मशिक्षाविषयक हैं। इस कारण स्कूल, कालेज व पाठशालाओंको इकट्ठे लेने पर कुछ सुविधा से मिल सकेंगे और पुस्तकविक्रेताओंको इनपर योग्य कमीशन दिया जायगा।

उपदेशपारिजात । यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्मके सब शास्त्रों में क्या विषय हैं, धर्म्मवक्ता होनेके लिये किन २ योग्यताओं के होने की आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थ में संस्कृत विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है और धर्म्मवक्ता, धर्म्मोपदेशक, पौराणिक, पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ॥) आठ आना।

इस संस्कृत ग्रन्थ के अतिरिक्त संस्कृत भाषामें योगदर्शन, सांख्यदर्शन, दैवीमीमांसादर्शन आदि दर्शन सभाष्य, मन्त्रयोग-संहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता, हरिहर-संहिता,

ब्रह्मसामरस्य, योगप्रवेशिका, धर्म्मसुधार, श्रीमधुसूदनसंहिता आदि ग्रन्थ छप रहे हैं और शीघ्रही प्रकाशित होनेवाले हैं।

कल्किपुराण । कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है। वर्तमान समयके लिये यह बहुतही हितकारी ग्रन्थ है। विशुद्ध हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। धर्म्मजिज्ञासुमात्रको इस ग्रन्थको पढ़ना उचित है।

मूल्य १) एक रुपया।

योगदर्शन । हिन्दीभाष्य सहित। इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है। इसका बहुत सुन्दर और परिवर्द्धित नवीन संस्करण भी छपरहा है। मूल्य २) दो रुपया।

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत । भारत के प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है।

मूल्य १) एक रुपया।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलरहस्य । इस ग्रन्थरत्न में सात अध्याय हैं। यथा-आर्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिन्ताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञ-साधन। यह ग्रन्थरत्न हिन्दूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है। प्रत्येक सनातनधर्म्मावलम्बीको इसग्रन्थ को पढ़ना चाहिये। द्वितीयावृत्ति छप चुकी है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है। इस ग्रन्थका आदर सारे भारतवर्षमें समान रूपसे हुआ है। धर्म्म के गूढ़ तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरह से बताये गये हैं। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। मूल्य १) एक रुपया।

निगमागमचन्द्रिका । प्रथम और द्वितीय भागकी दो पुस्तकें धर्म्मानुरागी सज्जनोंको मिलसकती हैं।

प्रत्येक का मूल्य १) एक रुपया।

पहले के पाँच सालके पांच भागोंमें सनातन धर्म के अनेक गूढ़ रहस्यसम्बन्धीय ऐसे २ प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं कि आजतक वैसे धर्म्मसम्बन्धीय प्रबन्ध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं जो धर्म के अनेक रहस्य जानकर तृप्त होना चाहें वे इन पुस्तकों को मगावें। मूल्य पांचों भागों का २॥) रुपया।

भक्तिदर्शन । श्रीशाण्डिल्यसूत्रों पर बहुत विस्तृत हिन्दी भाष्यसहित और एक अति विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रणीत हुआ है। हिन्दीका यह एक असाधारण ग्रन्थ है। ऐसा भक्तिसम्बन्धीय ग्रन्थ हिन्दीमें पहले प्रकाशित नहीं हुआ था। भगवद्भक्तिके विस्तारित रहस्योंका ज्ञान इस ग्रन्थके पाठ करनेसे होता है। भक्तिशास्त्रके समझने की इच्छा रखनेवाले और श्रीभगवान् में भक्ति करने वाले धार्मिकमात्रको इस ग्रन्थ का पढ़ना उचित है। मूल्य १)

गीतावली । इसको पढ़नेसे सङ्गीतशास्त्रका मर्म्म थोड़ेमें ही समझमें आसकेगा । इसमें अनेक अच्छे अच्छे भजनोंका भी संग्रह है। सङ्गीतानुरागी और भजनानुरागियोंको अवश्य इसको लेना चाहिये। मूल्य ॥) आठ आना।

गुरुगीता । इस प्रकारको गुरुगीता आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें गुरुशिष्यलक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र हठ लय और राजयोगोंका लक्षण और अङ्ग एवं गुरुमाहात्म्य, शिष्यकर्त्तव्य, परमतत्त्वका स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे हैं। मूल और स्पष्ट सरल व सुमधुर भाषानुवाद सहित यह ग्रन्थ छपा है। गुरु और शिष्य दोनोंका उपकारी यह ग्रन्थ है। इसका बंगानुवाद भी छप चुका है।

मूल्य =) दो आनामात्र।

मन्त्रसंयोगसंहिता । योगविषयक ऐसा अपूर्व्व ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मन्त्रयोग के १६ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छीतरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे परम लाभ उठा सके हैं। इसमें मन्त्रों का स्वरूप और उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है। घोर अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधके दूर करनेके लिये यह एकमात्र ग्रन्थ है। इसमें नास्तिकोंके मूर्तिपूजा, मन्त्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं उनका अच्छा समाधान है।

मूल्य १) एक रुपयामात्र।

तत्त्वबोध । भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल ग्रन्थ श्रीशङ्कराचार्य कृत है। इसका बंगानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। मूल्य =) दो आना।

संन्यासगीता। श्रीभारतधर्म्म महामण्डलके द्वारा सन्न्यासियोंके लिये सन्न्यासगीता, साधकों के लिये गुरुगीता और पञ्च उपासकों के लिये पञ्चगीताएँ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो रही हैं। इनमें से गुरुगीता, सन्न्यासगीता, सूर्य्यगीता और शक्तिगीता प्रकाशित हो चुकी है, विष्णुगीता, धीशगीता और शम्भुगीता छप रही है। सन्न्यासगीता में सब सम्प्रदायोंके साधु और सन्न्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। सन्न्यासिगण इसके पाठ करने से विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे और अपना कर्त्तव्य जान सकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रन्थ धर्म्मज्ञानका भण्डार है।

मूल्य ।॥) बारह आना।

दैवीमीमांसा दर्शन प्रथम भाग। वेदके तीन काण्ड हैं। यथाः—कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्डका वेदान्त दर्शन, कर्म्मकाण्ड का जैमिनी दर्शन और भरद्वाज दर्शन और उपासनाकाण्ड का यह अङ्गिरा दर्शन है। इसका नाम दैवीमीमांसा दर्शन है। यह ग्रन्थ आज तक प्रकाशित नहीं हुआ था। इसके चार पाद हैं, यथाः—प्रथम रसपाद इस पाद में भक्तिका विस्तारित विज्ञान वर्णित है। दूसरा सृष्टि पाद, तीसरा स्थिति पाद और चौथा लयपाद, इन तीनों पादोंमें दैवीमाया, देवताओंके भेद, उपसनाका विस्तारित वर्णन और भक्ति और उपासनासे मुक्तिकी प्राप्तिका सब कुछ विज्ञान वर्णित है इस प्रथम भाग में इस दर्शन शास्त्रके प्रथम दो पाद हिन्दी अनुवाद और हिन्दी भाष्यसहित प्रकाशित हुए हैं।

मूल्य १॥) डेढ़ रुपया।

श्रीभगवद्गीता प्रथमखण्ड। श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है। जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय का कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आज तक श्रीगीताजी पर अनेक संस्कृत और हिन्दी भाष्य प्रकाशित हुए हैं परन्तु इस प्रकार का भाष्य आज तक किसी भाषा में प्रकाशित नहीं हुआ है। गीता का अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोक का त्रिविधअर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता-विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्य में मौजूद है।

मूल्य १) एक रुपया।

मैनेजर, निगमागम बुकडिपो, महामण्डलभवन, जगतगंज, बनारस।

पाँच गीताएँ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पांच गीताएं--श्रीविष्णुगीता, श्री-सूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशम्भुगीता-भाषानुवाद-सहित छपनेको तैयार हैं। इनमें से सूर्य्यगीता और शक्तिगीता छप चुकी है और बाकी गीताएँ छप रही हैं। श्रीभारतधर्म महामण्डल इन पांच गीताओंका प्रकाशन निम्न लिखित उद्देश्योंसे कर रहा है:-१म, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको धर्मके नामसे ही अधर्म्म सञ्चित करनेकी अवस्थामें पहुंचा दिया है, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको अहंकार-त्यागी होनेके स्थानमें घोर साम्प्रदयिक अहंकारसम्पन्न बना दिया है, भारतकी वर्तमान दुर्दशा जिस साम्प्रदायिक विरोधका प्रत्यक्ष फल है और जिस साम्प्रदायिक विरोधने साकार-उपासकोंमें घोर द्वेषदावानल प्रज्वलित कर दिया है उस साम्प्रदायिक विरोधका समूल उन्मूलन करना और २य, उपासनाके नामसे जो अनेक इन्द्रियासक्तिकी चरितार्थताके घोर अनर्थकारी कार्य होते हैं उनका समाज में अस्तित्व न रहने देना तथा ३य, समाज में यथार्थ भगवद्भक्तिके प्रचार द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस-प्राप्तिमें अनेक सुविधाओंका प्रचार करना। इन पांचों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्य देवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं। ये पांचों गीताएं उपनिषद्रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी गीतासे तो लाभ उठावेगाही, किन्तु, अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासनातत्त्वोंको तथा अनेक वैज्ञानिक रहस्योंको अवगत हो सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है वैसा नहीं होगा और वह परम शान्तिका अधिकारी हो सकेगा। पाठक सूर्य्यगीता और शक्तिगीताको मंगाकर देख सकते हैं। ये छप चुकी हैं और इनका मूल्य क्रमशः ॥) और ।॥) है। इनमें एक एक तीन रंगा सूर्य्यदेव और भगवतीका चित्र भी दिया गया है। अन्य गीताओं में भी इसी प्रकारके चित्र रहेंगे और शीघ्र ही वे सब प्रकाशित

होगी । उनका मूल्यः–श्रीशम्भुगीता का ।||) विष्णु गीताका ।||) और श्रीशगीताका ||) रक्खा गया है ।

मैनेजर,
निगमागम बुकडीपो,
महामण्डलभवन,
जगत्‌गंज, बनारस ।

धार्म्मिक विश्वकोष ।

(श्रीधर्म्मकल्पद्रुम)

यह हिन्दू धर्म्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है । हिन्दू जाति की पुनरुन्नति के लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयों की ज़रूरत है उनमें सब से बड़ी भारी ज़रूरत एक ऐसे धर्म्म ग्रन्थकी थी कि, जिसके अध्ययन-अध्यापन के द्वारा सनातन धर्म का रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्ग उपाङ्गों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेदों और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानों का यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भलीभाँति विदित हो सके । इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्म्म महामण्डलस्थ उपदेशक-महाविद्याल के दर्शन शास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजीने इस ग्रन्थका प्रणयन करना प्रारम्भ किया है । इसमें वर्त्तमान समय के आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये जायंगे । अबतक इसके पांच खण्डों में जो अध्याय प्रकाशित हुए हैं, वे ये हैं:—धर्म्म, दानधर्म्म, तपोधर्म्म, कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ, महायज्ञ, वेद, वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र(वेदोपाङ्ग), स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, तन्त्र शास्त्र, उपवेद, ऋषि और पुस्तक, साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म, वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म्म, नारीधर्म (पुरुषधर्म्मसे नारीधर्मकी विशेषता), आर्य-जाति, समाज और नेता, राजा और प्रजाधर्म्म, प्रवृत्तिधर्म्म और निवृत्तिधर्म, आपद्धर्म, भक्ति और योग, मन्त्रयोग, हठयोग, लय-योग, राजयोग, गुरु और दीक्षा, वैराग्य और साधन, आत्म

तत्त्व, जीवतत्त्व, प्राण और पीठतत्त्व, सृष्टि स्थिति प्रलयतत्त्व, ऋषि देवता और पितृतत्त्व, एवं अवतारतत्त्व। आगेके खण्डोंमें प्रकाशित होने वाले अध्यायोंके नाम ये हैं:—त्रिभावतत्त्व, मायातत्त्व, मुक्तितत्त्व, दर्शन-समीक्षा, साधनसमीक्षा, सम्प्रदाय और उपधर्म-समीक्षा, चतुर्दशलोकसमीक्षा, काल-समीक्षा, जीवन्मुक्ति-समीक्षा, सदाचार, पञ्च महायज्ञ, आह्निककृत्य, षोडश संस्कार, श्राद्ध, प्रेतत्व और परलोक, सन्ध्या-तर्पण, ओंकार-महिमा और गायत्री, भगवन्नाम माहात्म्य, वैदिक मन्त्रों और शास्त्रोंका अपलाप, तीर्थ-महिमा, सूर्य्यादिग्रह-पूजा, गोसेवा, संगीत-शास्त्र, देश और धर्म सेवा इत्यादि इत्यादि। इस ग्रन्थसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञान-रहित धर्म्मग्रन्थों और धर्म्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है वह सब दूरहोकर यथार्थ रूपसे सनातन वैदिक धर्म्मका प्रचार होगा। इस ग्रन्थरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपात का लेश-मात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि हिन्दूशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियों के सिवाय, आजकलकी पदार्थ विद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। इसकी भाषा सरल, मधुर और गम्भीर है। यह ग्रन्थ चौसठ अध्यायों और आठ समुल्लासोंमें पूर्ण होगा और यह वृहत् ग्रन्थ रायल साइज के चार हजार पृष्ठोंसे अधिक होगा तथा दस या बारह खण्डों में प्रकाशित होगा। इसी के साथ अन्तिम खण्डमें आध्यात्मिक शब्दकोष भी प्रकाशित करनेका विचार है।

इसके पाँच खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीय का १॥), तृतीयका २), चतुर्थ का २) और पंचमका २) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागज पर भी छापे गये हैं और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं। मूल्य ५) है। छठा खण्ड यन्त्रस्थ है।

मैनेजर,
निगमागम बुकडीपो,
महामण्डलभवन,
जगत्गंज, बनारस।

अंग्रेजीभाषा के धर्म्मग्रन्थ ।

श्री भारतधर्म्म महामण्डल शास्त्र प्रकाश विभाग द्वारा प्रकाशित सब संहिताओं, गीताओं और दार्शनिक ग्रन्थोंका अंग्रेजी अनुवाद तयार हो रहा है जो क्रमशः प्रकाशित होगा । सम्प्रति अंग्रेजी भाषा में एक ऐसा ग्रन्थ छप रहा है कि जिसके द्वारा सब अंग्रेजीपढ़े व्यक्तियोंको सनातन धर्म्मका महत्त्व, उसका सर्वजीवहितकारी स्वरूप, उसके सब अङ्गोंका रहस्य, उपासनातत्त्व, योगतत्त्व, काल और सृष्टितत्त्व, कर्म्मतत्त्व, वर्णाश्रमधर्म्मतत्त्व इत्यादि सब बड़े बड़े विषय अच्छी तरह समझमें आजावें । यह ग्रन्थ बहुत शीघ्रही प्रकाशित होजायगा ।

मैनेजर
निगमागम बुकडीपो
महामण्डलभवन
जगत्गंज, बनारस

विविध विषयोंकी पुस्तकें ।

पारिवारिक प्रबन्ध १) आचारप्रबन्ध १) असभ्यरमणी =) धनुर्वेद-संहिता ।) ग्वीसेफ मेजिनी ।) परशुराम संवाद)। शस्त्रीजीके दो व्याख्यान ॥=) अनार्य्यसमाज रहस्य ≡) प्रयाग महात्म्य ॥=) अर्जुनगीता –) दानलीला)। हनुमान चलीसा)। भर्तृहरिचरित्र)। रामगीता ≡) भजन गोरक्षाप्रकाश मञ्जरी)॥ बारहमासी –) मानस मञ्जरी ।) मूर्तिपूजा ।=) वारेन्हेस्टिङ्गकी जीवनी १) इङ्गलिश ग्रामर ।) पहिली किताब)॥ उपन्यास कुसुम ≡) बालिका प्रबोधिनी –)॥ वैष्णवरहस्य)॥ दुर्गेशनन्दिनी प्रथम भाग ।=) दुर्गेशनन्दिनी द्वितीय भाग ।=) नवीन रत्नाकर भजनावली)। आदर्शहिन्दू रमणी ।) कार्तिकप्रसादकी जीवनी =) किसान विद्या ।) प्रवासी =) वसन्त-शृङ्गार ≡) बालहित –)॥ मेगास्थनीजका भारतवर्षीय वर्णन ॥=) सदाचार =) होलीका रहस्य –) क्षत्रियहितैषिणी –) गोवंशचिकित्सा ।) गोगीतावली –) वीरबाला ॥।) हमारा सनातनधर्म्म)। वैयाकरण भूषण ॥) त्रैमासिक व्याकरण ।) राजशिक्षा १) मङ्गलदेवप-

राजय =) भाषावाल्मीकीय रामायण १।) झांसीकी रानी।) कल्कि पुराण उर्दू ॥) सिद्धान्त कौमुदी २) राशिमाला)॥ सिद्धान्तपटल -) सारमञ्जरी ।) सिकन्दरकी जीवनी ॥।) योगामृततरङ्गिणी)॥ यजुर्वेदीय संध्या)॥

नोट—पचीस रुपयोंसे अधिककी पुस्तकें खरीदनेवालेको योग्य कमीशन भी दिया जायगा।

शीघ्र छपने योग्य ग्रन्थ। हिन्दी साहित्यकी पुष्टिके अभिप्रायसे तथा धर्म्मप्रचारकी शुभ वासना से निम्नलिखित ग्रन्थ क्रमशः हिन्दी अनुवाद सहित छपनेको तयार हैं। यथाः-भाषाअनुवाद सहित विष्णुगीता शम्भुगीता धीशगीता और हठयोग संहिता, योग दर्शनके भाषाभाष्यका नवीन संस्करण, भरद्वाजकृत कर्म्ममीमांसा-दर्शनके भाषाभाष्यका प्रथम खण्ड और सांख्यदर्शनका भाषाभाष्य।

मैनेजर, निगमागम बुकडीपो,
महामण्डलभवन, जगत्गंज, बनारस।

श्रीमहामण्डलके प्रधान पदधारीगण।

प्रधान सभापतिः—
श्रीमान् महाराजा बहादुर दरभंगा।

सभापति प्रतिनिधिसभाः—
श्रीमान् महाराजा बहादुर कश्मीर।

उपसभापति प्रतिनिधिसभाः—
श्रीमान् महाराजा बहादुर टीकमगढ़।

सभापति मन्त्रीसभाः-
श्रीमान् महाराजा बहादुर गिद्धौड़।

प्रधानाध्यक्षः—
पण्डित रामचन्द्र नायक कालिया
जमीन्दार व आनरेरी मेजिष्ट्रेट बनारस।

अन्यान्य समाचार जाननेका पता-
जनरल सैक्रेटरी
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, महामण्डलभवन,
जगत्गंज, बनारस।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके
सभ्यगण और मुखपत्र ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशी से एक हिन्दी भाषाका और दूसरा अंग्रेजी-भाषाका, इस प्रकार दो मासिक पत्र प्रकाशित होते हैं एवं श्रीमहामण्डलके अन्यान्य भाषाओंके मुखपत्र श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय कार्य्यालयोंसे प्रकाशित होते हैं। यथाः-कलकत्तेके कार्य्यालयसे बङ्गला भाषाका मुखपत्र, फीरोजपुर (पञ्जाब) के कार्य्यालयसे उर्दू-भाषाका मुखपत्र, मेरठके कार्य्यालयसे हिन्दीभाषाका मुखपत्र और दिल्लीके कार्य्यालयसे हिन्दी-भाषाका मुखपत्र इत्यादि।

श्रीमहामण्डलके पांच श्रेणीके सभ्य होते हैं। यथाः-स्वाधीन नरपति और प्रधान-प्रधान धर्म्माचार्य्यगण संरक्षक होते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंके बड़े बड़े ज़मींदार, सेठ, साहुकार आदि सामाजिक नेतागण उस उस प्रान्तके चुनावके द्वारा प्रतिनिधि-सभ्य चुने जाते हैं। प्रत्येक प्रान्तके अध्यापक ब्राह्मणगणमें से उस उस प्रान्तीय मण्डलके द्वारा चुने जाकर धर्मव्यवस्थापक सभ्य बनाये जाते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंसे पांच प्रकारके सहायक सभ्य लिये जाते हैं; विद्यासम्बन्धी कार्य्य करनेवाले सहायक सभ्य, धर्म्म कार्य्य करनेवाले सहायक सभ्य, महामण्डल प्रान्तीय मण्डल और शाखासभाओंको धनदान करनेवाले सहायक सभ्य, विद्यादान करनेवाले विद्वान् ब्राह्मण सहायक सभ्य और धर्म्मप्रचार करनेवाले साधु संन्यासी सहायक सभ्य। पांचवीं श्रेणीके सभ्य साधारण सभ्य होते हैं जो हिन्दूमात्र हो सकते हैं। हिन्दू-कुलकामिनीगण केवल प्रथम तीन श्रेणीकी सहायक-सभ्या और साधारण-सभ्या हो सकती हैं। इन सब प्रकारके सभ्यों और श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय मण्डल, शाखासभा और संयुक्त-सभाओंको श्रीमहामण्डलका हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी भाषाका मासिक पत्र विना मूल्य दिया जाता है। नियमितरूपसे नियत वार्षिक चन्दा २) दो रुपये देनेपर हिन्दू-नरनारी साधारण सभ्य हो सकते हैं। साधारण सभ्योंको विना मूल्य मासिक पत्रिकाके अतिरिक्त उनके उत्तराधिकारियोंको समाजहितकारी कोषके द्वारा विशेष लाभ मिलता है।

प्रधानाध्यक्ष, श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, प्रधानकार्य्यालय,
जगतगंज, बनारस।

श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभण्डार ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय काशी में दीनदुखियोंके क्लेश निवारणार्थ यह सभा स्थापित की गई है। इस सभाके द्वारा अतिविस्तृत रीति पर शास्त्रप्रकाशनका कार्य्य प्रारम्भ किया गया है। इस सभाके द्वारा धर्म्मपुस्तिका पुस्तकादिका यथासम्भव विना मूल्य वितरण करनेका भी विचार रक्खा गया है। इस दानभाण्डारके द्वारा महामण्डल द्वारा प्रकाशित तत्त्वबोध, साधुओंका कर्त्तव्य, धर्म्म और धर्म्माङ्ग, दानधर्म्म, नारीधर्म्म, महामण्डलकी आवश्यकता आदि कई एक हिन्दीभाषाके धर्म्मग्रन्थ और अंग्रेजीभाषाके कई एक ट्रैक्स विना मूल्य योग्य पात्रोंको बांटे जाते हैं। पत्राचार करनेपर विदित हो सकेगा। शास्त्रप्रकाशनकी आमदनी इसी दानभाण्डारमें दीन दुःखियोंके दुःखमोचनार्थ व्यय की जाती है। इस सभामें जो दान करना चाहें या किसी प्रकारका पत्राचार करना चाहें वे निम्नलिखित पते पर पत्र भेजें।

सेक्रेटरी, श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभाण्डार,
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, प्रधान कार्य्यालय,
जगत्गंज, बनारस (छावनी)।

श्रीमहामण्डलस्थ उपदेशक-महाविद्यालय ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधानकार्यालय काशी में साधु और गृहस्थ धर्म्मवक्ता प्रस्तुत करनेके अर्थ श्रीमहामण्डल-उपदेशक महाविद्यालय नामक विद्यालय स्थापित हुआ है। जो साधुगण दार्शनिक और धर्म्मसम्बन्धी ज्ञानलाभ करके अपने साधु-जीवनको कृतकृत्य करना चाहें और जो विद्वान् गृहस्थ धार्मिक शिक्षा लाभ करके धर्म्मप्रचार द्वारा देशकी सेवा करते हुए अपना जीवन निर्व्वाह करना चाहें वे निम्नलिखित पते पर पत्र भेजें।

प्रधानाध्यक्ष, श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय,
जगत्गंज, बनारस (छावनी)।

श्रीअन्नपूर्णा-स्त्री-शिक्षालय ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल तथा श्रीआर्य्य-महिलाहितकारिणी महापरिषद्की पृष्ठपोषकतामें यह शिक्षालय स्थापित हुआ है। इसमें ब्राह्मणी स्त्रियोंको धर्म-शिक्षा और धर्मवक्तृता देनेकी उपयोगिनी शिक्षा दी जाती है। योग्य पात्रियोंको इस संस्थासे नियमित मासिक वृत्ति भी दी जाती है। उनके रहनेका स्थान स्वतन्त्र है। श्रीमहामण्डलस्थ उपदेशक-महाविद्यालयके योग्य अध्यापकोंके द्वारा उनको शिक्षा दिलायी जाती है। पत्र-व्यवहारका पताः-

अध्यक्ष, श्रीअन्नपूर्णा-स्त्री-शिक्षालय,
मार्फत श्रीमहामण्डल कार्यालय जगतगञ्ज बनारस।

श्रीमहामण्डलके सभ्योंको विशेष सुविधा।

हिन्दू समाज की एकता और सहायताके लिये विराट् आयोजन।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल हिन्दू जातिकी अद्वितीय धर्म्ममहासभा और हिन्दू समाजकी उन्नति करनेवाली भारतवर्षके सकल प्रान्तव्यापी संस्था है। श्रीमहामण्डलके सभ्य महोदयोंको केवल धर्म्मशिक्षा देना ही इसका लक्ष्य नहीं है; किन्तु हिन्दू समाजकी उन्नति, हिन्दूसमाजकी दृढ़ता और हिन्दू समाज में पारस्परिक प्रेम व सहायताकी वृद्धि करना भी इसका प्रधान लक्ष्य है इस कारण निम्नलिखित नियम श्रीमहामण्डलकी प्रबन्ध-कारिणी सभाने बनाये हैं। इन नियमोंके अनुसार जितने अधिक संख्यक सभ्य महामण्डलमें सम्मिलित होंगे उतनी ही अधिक सहायता महामण्डलके सभ्य महोदयोंको मिल सकेगी। ये नियम ऐसे सुगम और लोकहितकर बनाये गये हैं कि श्रीमहामण्डलके जो सभ्य होंगे उनके परिवारको बड़ी भारी एककालिक दानकी सहायता प्राप्त हो सकेगी। वर्त्तमान हिन्दूसमाज जिस प्रकार दरिद्र होगया है उसके अनुसार श्रीमहामण्डलके ये नियम हिन्दू समाजके लिये बहुत ही हितकारी हैं इसमें सन्देह नहीं।

श्रीमहामण्डलके मुखपत्रसम्बन्धी उपनियम ।

(१) धर्म्मशिक्षाप्रचार, सनातनधर्मचर्चा, सामाजिकउन्नति, सद्विद्याविस्तार, श्रीमहामण्डलके कार्य्योंके समाचारोंकी प्रसिद्धि और सभ्योंको यथासम्भव सहायता पहुँचाना आदि लक्ष्य रख कर श्रीमहामण्डलके प्रधान कार्य्यालय द्वारा भारत के विभिन्न प्रान्तोंमें प्रचलित देशभाषाओंमें मासिक पत्र नियमितरूपसे प्रचार किये जायँगे ।

(२) अभी केवल हिन्दी और अँग्रेजी–इन दो भाषाओंके दो मासिक पत्र प्रधान कार्य्यालयसे प्रकाशित हो रहे हैं। यदि इन नियमोंके अनुसार कार्य्य करने पर विशेष सफलता और सभ्योंकी विशेष इच्छा पाई जायगी तो भारत के विभिन्न प्रान्तोंकी देशभाषाओंमें भी क्रमशः मासिक पत्र प्रकाशित करनेका विचार रक्खा गया है । इन मासिक पत्रोंमेंसे प्रत्येक मेम्बरको एक एक मासिक पत्र, जो वे चाहेंगे, विना मूल्य दिया जायगा । कमसे कम दो हजार सभ्य महोदयगण जिस भाषाका मासिक पत्र चाहेंगे, उसी भाषामें मासिक पत्र प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया जायगा; परन्तु जबतक उस भाषाका मासिक पत्र प्रकाशित न हो तब तक श्रीमहामण्डलका हिन्दी अथवा अंगरेजीका मासिक पत्र विना मूल्य दिया जायगा ।

(३) श्रीमहामण्डलके साधारण सभ्योंको वार्षिक दो रुपये चन्दा देने पर इन नियमोंके अनुसार सब सुबिधाएँ प्राप्त होंगी । श्रीमहामण्डलके अन्य प्रकारके सभ्य जो धर्म्मोन्नति और हिन्दूसमाजकी सहायताके विचारसे अथवा अपनी सुबिधाके विचारसे इस विभागमें स्वतन्त्र रीतिसे कमसे कम २) दो रुपये वार्षिक नियमित चन्दा देंगे वे भी इस कार्य्यविभागकी सब सुबिधाएँ प्राप्त कर सकेंगे ।

(४) इस विभागके रजिस्टर दर्ज सभ्योंको श्रीमहामण्डलके अन्य प्रकारके सभ्योंकी रीतिपर श्रीमहामण्डलसे सम्बन्धयुक्त सब पुस्तकादि अपेक्षाकृत स्वल्प मूल्यपर मिला करेंगी ।

समाजहितकारी कोष।

(यह कोष श्रीमहामण्डलके सब प्रकारके सभ्योंके—जो इसमें सम्मिलित होंगे--निर्वाचित व्यक्तियोंको आर्थिक सहायताके लिये खोला गया है)

(५) जो सभ्य नियमित प्रतिवर्ष चन्दा देते रहेंगे उनके देहान्त होने पर जिनका नाम वे दर्ज करा जायँगे, श्रीमहामण्डलके इस कोष द्वारा उनको आर्थिक सहायता पहुँचेगी।

(६) जो मेम्बर कमसे कम तीन वर्ष तक मेम्बर रहकर लोकान्तरित हुए हों, केवल उन्हींके निर्वाचित व्यक्तियोंको इस समाज हितकारी कोषकी सहायता प्राप्त होगी, अन्यथा नहीं दी जायगी।

(७) यदि कोई सभ्य महोदय अपने निर्वाचित व्यक्तिके नामको श्रीमहामण्डलप्रधानकार्यालयके रजिस्टरमें परिवर्त्तन कराना चाहेंगे तो ऐसा परिवर्त्तन एक बार विना किसी व्ययके किया जायगा। उसके बाद वैसा परिवर्तन पुनः कराना चाहें तो।) भेजकर परिवर्त्तन करा सकेंगे।

(८) इस विभागमें साधारण सभ्य और इस कोषके सहायक अन्यान्य सभ्योंकी ओरसे प्रतिवर्ष जो आमदनी होगी उसका आधा अंश श्रीमहामण्डलके छपाई-विभागको मासिक पत्रोंकी छपाई और प्रकाश आदि कार्य्यके लिये दिया जायगा। बाकी आधा रुपया एक स्वतन्त्र कोषमें रक्खा जायगा जिस कोषका नाम "समाजहितकारी कोष" होगा।

(९) "समाजहितकारी कोष" का रुपया बैंक ऑफ बंगाल अथवा ऐसे ही विश्वस्त बैंकमें रक्खा जायगा।

(१०) इस कोषके प्रबन्धके लिये एक ख़ास कमेटी रहेगी।

(११) इस कोषकी आमदनीका आधा रुपया, प्रतिवर्ष इस कोषके सहायक जिन मेम्बरोंकी मृत्यु होगी, उनके निर्वाचित व्यक्तियोंमें समानरूपसे बाँट दिया जायगा।

(१२) इस कोषमें बाकी आधे रुपयोंके जमा रखनेसे जो लाभ होगा, उससे श्रीमहामण्डलके कार्यकर्ताओं तथा मेम्बरोंके क्लेशका विशेष कारण उपस्थित होनेपर उन क्लेशोंको दूर करनेके लिये कमेटी व्यय कर सकेगी।

(१३) किसी मेम्बरकी मृत्यु होनेपर वह मेम्बर यदि किसी महामण्डलकी शाखासभाका सभ्य हो अथवा किसी शाखासभाके निकटवर्ती स्थानमें रहनेवाला हो तो उसके निर्वाचित व्यक्तिका फर्ज होगा कि वह उक्त शाखासभाकी कमेटीके मन्तव्यकी नकल श्रीमहामण्डल प्रधान कार्य्यालयमें भिजवावे। इस प्रकारसे शाखा-सभाके मन्तव्यकी नकल आने पर कमेटी समाजहितकारी कोषसे सहायता देनेके विषयमें निश्चय करेगी।

(१४) जहाँ कहीं के सभ्योंको इस प्रकारकी शाखासभाकी सहायता नहीं मिल सकती है या जहाँ कहीं निकट शाखासभा नहीं है ऐसी दशामें उस प्रान्तके श्रीमहामण्डलके प्रतिनिधियोंमेंसे किसीके अथवा किसी देशी रजवाड़ोंमें हों तो उक्त दर्बारके प्रधान कर्म्मचारीके सार्टिफिकिट मिलनेपर सहायता देनेका प्रबन्ध किया जायगा।

(१५) यदि कमेटी उचित समझेगी तो आलाबाला खबर मंगाकर सहायताका प्रबन्ध करेगी जिससे कार्य्यमें शीघ्रता हो।

अन्यान्य नियम।

(१६) महामण्डलके अन्य प्रकारके सभ्योंमेंसे जो महाशय हिन्दू समाजकी उन्नति और दरिद्रोंकी सहायताके विचारसे इस कोषमें कमसे कम २) दो रुपया सालाना सहायता करने पर भी इस फण्डसे फायदा उठाना नहीं चाहेंगे वे इस कोषके परिपोषक समझे जायेंगे और उनकी नामावली धन्यवाद सहित प्रकाशित की जायगी।

(१७) हरएक साधारण मेम्बरको-चाहे स्त्री हो या पुरुष-प्रधान कार्यालयसे एक प्रमाणपत्र जिसपर पञ्चदेवताओंकी मूर्ति और कार्यालयकी मुहर होगी—साधारण मेम्बरके प्रमाणरूपसे दिया जायगा।

(१८) इस विभागमें जो चन्दा देंगे उनका नाम नम्बर सहित हर वर्ष रसीदके तौर पर वे जिस भाषाका मासिक पत्र लेंगे उसमें छापा जायगा। यदि गल्तीसे किसीका नाम न छपे तो उनका फ़र्ज होगा कि प्रधान कार्य्यालयमें पत्र भेजकर अपना नाम छपवावें; क्योंकि यह नाम छपना ही रसीद समझी जायगी।

(१६) प्रतिवर्ष का चन्दा २) मेम्बर महाशयोंको जनवरी महीनेमें आगामी भेज देना होगा। यदि किसी कारण विशेषसे जनवरीके अन्ततक रुपया न आवे तो और एक मास अर्थात् फरवरी मास तक अवकाश दिया जायगा और इसके बाद अर्थात् मार्च महीनेमें रुपया न आनेसे मेम्बर महाशयका नाम काट दिया जायगा और फिर वे इस समाजहितकारी कोष से लाभ नहीं उठा सकेंगे।

(२०) मेम्बर महाशयका पूर्व नियमके अनुसार नाम कट जानेपर यदि कोई असाधारण कारण दिखाकर वे अपना हक़ साबित रखना चाहेंगे तो कमेटीको इस विषयमें विचार करने-का अधिकार मई मासतक रहेगा और यदि उनका नाम रजि-स्टरमें पुनः दर्ज किया जायगा तो उन्हें ।) हर्जाना समेत चन्दा अर्थात् २।) देकर नाम दर्ज़ करालेना होगा।

(२१) वर्ष के अन्दर जब कभी कोई नये मेम्बर होंगे तो उन-को उस सालका पूरा चन्दा देना होगा । वर्षारम्भ जनवरीसे समझा जायगा।

(२२) हरसाल के मार्च मास में परलोकगत मेम्बरोंके नि-र्वाचित व्यक्तियोंको 'समाजहितकारी कोष' की गतवर्ष की सहायता बाँटी जायगी; परन्तु नं० १२ के नियमके अनुसार सहा-यताके बाँटनेका अधिकार कमेटीको सालभर तक रहेगा।

(२३) इन नियमोंके घटाने-बढ़ानेका अधिकार 'महामण्डल' को रहेगा।

(२४) इस कोष की सहायता 'श्रीभारतधर्म महामण्डल, प्रधान कार्यालय, काशी' से ही दी जायगी।

सेक्रेटरी,
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल,
जगत्गंज, बनारस।

श्रीमहामण्डलका शास्त्रप्रकाशविभाग।

यह विभाग बहुत विस्तृत है। अपूर्व संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी पुस्तकें काशी प्रधानकार्य्यालय (जगत्गंज) में मिलती हैं। बंगला सीरीज कलकत्ता दफ्तर (१२बहूबाजारस्ट्रीट में) व उर्दू सिरीज फीरोजपुर [पञ्जाब] दफ्तरमें मिलती है और इसी प्रकार अन्यान्य प्रान्तीय कार्य्यालयोंमें प्रान्तीय भाषाओंके ग्रन्थोंका प्रबन्ध हो रहा है।

आर्य्यमहिलाके नियम।

१--श्रीआर्य्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्की मुखपत्रिकाके रूपमें आर्य्यमहिला प्रकाशित होती है।

२--महापरिषद्की सब प्रकारकी सभ्या महोदयाओं और सभ्य महोदयोंको यह पत्रिका विना मूल्य दीजाती है। अन्य ग्राहकोंको ६) वार्षिक अग्रिम देने पर प्राप्त होती है। प्रतिसंख्याका मूल्य १॥) है। पुस्तकालयों तथा वाचनालयों को ३) वार्षिकमें हीदी जाती है।

३--किसी लेखको घटाने बढ़ाने वा प्रकाशित करने न करनेका सम्पूर्ण अधिकार सम्पादिकाको है। योग्य लेखकों तथालेखिकाओं को नियत पारितोषिक दिया जाता है और विशेष योग्य लेखकों तथा लेखिकाओंको अन्यान्य प्रकार से भी सम्मानित किया जाता है।

४--हिन्दी लिखने में असमर्थ मौलिक लेखक-लेखिकाओंके लेखोंका अनुवाद कार्यालयसे कराकर छापा जाता है।

५--समालोचनार्थ पुस्तकें, लेख, परिवर्त्तनकी पत्र-पत्रिकाएँ, कार्य्यालय-सम्बन्धी पत्र, छपने योग्य विज्ञापन और रुपया आदि सब निम्नलिखित पते पर आना चाहिये।

पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री

मैनेजर आर्य्यमहिला

श्रीमहामण्डलभवन जगत्गंज बनारस।

एजन्टोंकी आवश्यकता।

श्रीभारतधर्म्म महामण्डल और आर्य्य महिला हितकारिणी महापरिषद्के मेम्बरसंग्रह और पुस्तकविक्रय आदिके लिये भारतवर्षके प्रत्येक नगरमें एजण्टोंकी जरूरत है। एजन्टोंको अच्छा पारितोषिक दिया जायगा। इस विषयके नियम श्रीमहामण्डल प्रधान कार्यालयमें पत्र भेजनेसे मिलेंगे।

सैक्रेटरी

श्रीभारतधर्म्म महामण्डल

जगत्गंज बनारस।

THE ARYAN BUREAU OF SEERS & SAVANTS.

ESTABLISHED UNDER THE DISTINGUISHED PATRONAGE OF THE LEADERS OF SRI BHARAT DHARMA MAHAMANDAL.

IT is in contemplation to form a Committee (Bureau) with the object, amongst others, of establishing a connecting link, through the vehicle of correspondence, with those Scholars and Literary Societies that take an interest in questions of Theology, Hindu Philosophy and Sanskrit literature all over the civilised world.

To fulfil the above objects the Bureau intends to take up the following :—

1. To receive and answer questions through *bona fide* correspondence regarding Hindu Religion and Science, Codes, Practical Yoga, Vaidic Philosophy and General Sanskrit Literature.

2. To exhibit to the enlightened world the catholicity of the Vaidic doctrines, and its fostering agency as universal helper towards moral and spiritual amelioration of nations.

3. To render mutual help as regards comparative researches in Science, Philosophy and Literatures both Oriental and Occidental.

4. To welcome such suggestions as may emanate from learned sources all over the world conducive to the improvement and benefit of humanity.

5.- And to do such other things as may lead to the fulfilment of the above objects or any of them.

RULES OF THE SOCIETY.

1. There are to be 2 classes of Members, General & Special.
2. The Memberships are to be all honorary.
3. Those who will sympathise with our object, and enlist their names and addresses in the Register of the Bureau as Co-operators will be considered as General Members.
4. Special members are to be those who shall be qualified to answer points of their respective religions.
5. The Membership of the Bureau will be irrespective of caste, creed and nationality.
6. The spiritual questions will be responded to through correspondence as well as in Debate Meetings held in the office of the Bureau on dates fixed for the purpose.
7. There is to be a Secretary and an Assistant Secretary to be appointed by the Founder of the Bureau (both posts honorary.)
8. All the books, tracts and leaflets that will be published concerning the Bureau will be forwarded free to all the Members of the Bureau.

All correspondence to be addressed to—

SWAMI DAYANAND, SECRETARY,

Aryan Bureau of Seers & Savants.

C/o Sri Mahamandal Office, BENARES CITY, (India.)

N.B.—Oriental scholars, all over the world, are invited to send their name and addresses to facilitate mutual communication and despatch of necessary Papers.

महर्षिप्रवरपतञ्जलिप्रणीतं

योगसूत्रम्

(षट्टीकोपेतम्)

पातञ्जलाभिधं रक्तं सर्पवक्त्रं सुतेजसम् ।
अक्षसूत्रं [illegible] दधतं कुण्डलान्वितम् ॥

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

पोस्ट बाक्स नं० १३९

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

८३

महर्षिप्रवरपतञ्जलिप्रणीतं

योगसूत्रम्
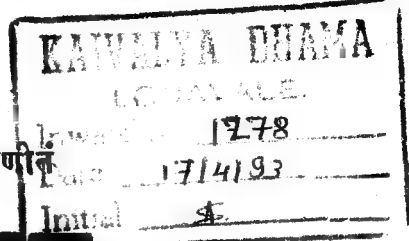
पण्डितप्रवरधाराधिपतिभोजराजकृतेन **राजमार्तण्डेन** दार्शनिकशिरोमणिभावागणेशविरचितेन **प्रदीपेन** पं० नागोजीभट्टनिर्मितया **वृत्त्या** यतिप्रवर-रामानन्दविहितया **मणिप्रभया** विद्वद्वरानन्तदेवसम्पादितया **चन्द्रिकया** योगिराज पं० सदाशिवेन्द्रसरस्वतीकृतेन **योगसुधाकरेण** च समन्वितम्

वाराणसीस्थनित्यानन्दवेदविद्यालये मुख्याध्यापकेन न्यायाचार्य–काव्यतीर्थ-

पं० ढुण्ढिराजशास्त्रिणा

पाठान्तरेण टिप्पण्या च समलङ्कृत्य संशोधितम्

डा० महाप्रभुलालगोस्वामिकृतया

विस्तृतहिन्दीभूमिकया समेतम्
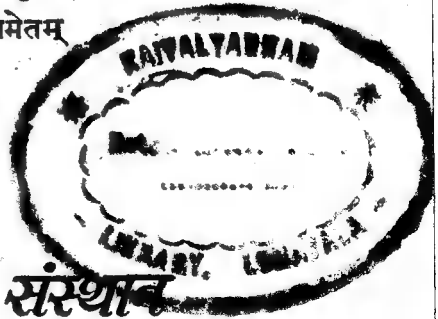
चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

THE

KAŚHI SANSKRIT SERIES

83

*****

YOGASŪTRAM

By

MAHARṢIPATAÑJALI

With Six Commentaries

(1) RĀJAMĀRTAṆḌA *by* Bhojarāja, (2) PRADĪPIKĀ *by* Bhāvā-Gaṇeśa, (3) VṚTTI *by* Nāgoji Bhaṭṭa, (4) MAṆIPRABHĀ *by* Rāmānandayati. (5) CHANDRIKĀ *by* Anantadeva and (6) YOGASUDHĀKARA *by* Sadāśivendra Sarasvatī.

Edited with Notes by

Nyāyāchārya Kāvyatīrtha

PAṆḌIT ḌHUNḌHIRĀJ ŚĀSTRĪ

Principal, Nityanand Veda Vidyalaya, Benares.

A critical and comparative introduction in Hindi by

Dr. MAHĀPRABHU LĀL GOSWĀMĪ

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publisher and Distributor of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

प्राक्कथन

योग का उद्भव:—

वैदिक साहित्य सुसम्बद्ध आदिमानव की समग्र भावना के विदग्ध मनन की सृष्टि है। इसका रचयिता अलक्ष्य है, किन्तु सिद्धान्त ध्रुव पद के रूप में आर्य भावना का वहन [illegible] रहा है। इसमें दीर्घकालव्यापिनी सुनियन्त्रित साधना का परिनिष्ठित रूप है, जो विश्व के मानवों के संवित्प्रकर्ष का अनतिवर्तनीय संकेत है। सनातन मानव का सनातन ज्ञान योग ही वेद है।

असंख्य धारा में प्रवाहित भारतीय दर्शन का सारतम उपदेश बृहदारण्यकोपनिषत् का 'याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी' संवाद ही है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' इस उपदेश में भारतीय जीवन प्रवाह की समग्र आशा आकांक्षा का पर्यवसान होता है। आत्मतत्व का श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही दर्शन है। आत्मतत्त्व के विश्लेषण एवं उसके साक्षात्कार के साधन और स्वरूप के निरूपण में ही योगदर्शन का भी तात्पर्य है।

योग [illegible] प्रथम आचार्य हिरण्यगर्भ को माना गया है। आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने 'अथ योगानुशासनम्' (यो. सू. १।१) में लिखा है कि "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" अर्थात् योग का प्रथम प्रवक्ता हिरण्यगर्भ ही है। पतञ्जलि मुनिने भी इसी की अभिव्यक्ति के लिए 'अनुशासन' शब्द का प्रयोग किया है। अप् ने प्रथम सृष्टि के रूप में भ्रूण को धारण किया। यह अज की नाभि में अर्पित था, जिसके मध्य में विश्वभुवन था। यह प्रथम भ्रूण या गर्भ ही हिरण्यगर्भ था। एक सूक्त का द्रष्टा भी हिरण्यगर्भ[1] है।

---

१. भास्वती के अनुसार कपिल ही हिरण्यगर्भ है। "हिरण्यगर्भोऽत्र परमर्षेः कपिलस्य संज्ञाभेदः।......हिरण्यगर्भाख्यया पूजितः। (भा० १।१)

हठयोगदीपिका के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ ने स्वाध्यायशील ऋषियों को योग का उपदेश दिया। "स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः" २।४४ इसकी सार्थकता यह मानने पर ही होती है। वस्तुतः, ज्ञानात्मक अज की [illegible] रूप में होने की इच्छा और संकल्प प्रबुद्ध हुआ, विषय की आवश्यकता हुई, नार निर्मल चित्त जल के समान था। अतृप्त हिरण्यगर्भ क्षुब्ध हो

Phone : 65889

Second Edition 1982

Price : Rs. 60-00

Also can be had of—

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 65

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 65444

परम्परा क्रम में उपलब्ध है। [illegible] यह विचारणीय है कि विवस्वान् कौन है? व्योममण्डल के आदित्य का इससे क्या सम्बन्ध है? सूर्य के पुत्र मनु और मनु के पुत्र इक्ष्वाकु, इक्ष्वाकु सूर्यवंश के आदि राजा हुए। सूर्य का अधिष्ठातृ देव अज है और पौराणिक एवं स्मृतियों की भूमिका में हिरण्यगर्भ के द्वारा सृष्ट सूर्य है।

शास्त्रैकगम्य अनन्त आनन्द, चैतन्य, एकरस, कूटस्थ ने अपने को योग शक्ति के प्रभाव से संस्कृत मन से सृष्टि की। जिस सृष्टि में किसी उपादान की आवश्यकता न हुई। अतः कूटस्थ ही योग का प्रथम प्रवर्तक है और इसका परिज्ञान हिरण्यगर्भ की सृष्टि से होता है अथवा आदित्य जो अखण्ड चैतन्य या ज्योति का प्रतीक है जिसे आर्य भावना का वहनकर्ता दीप्ति माना गया है, वही इसका व्यक्त प्रवर्तक है। आविर्भाव योग के विना सम्भव नहीं है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के सप्तम पद्य के द्वारा सूक्ष्म अव्यक्त सनातन चराचरात्मक निखिल प्रपञ्च के कारण को अचिन्त्य माना और योग के द्वारा जिसने उद्भूत जल अर्थात् (अप्) शरीर को धारण किया। प्रकृत में 'उद्बभौ' शब्द दिया गया है, साथ ही स्वयम् शब्द का प्रयोग अतिशय मार्मिक है, स्वयमुद्बभौ अर्थात् स्वयं प्रकाशित हुए, यह प्रकाश अन्य दीप्ति सापेक्ष नहीं था। दीप्ति अर्थ को कहने वाला 'भा' धातु का यही अर्थ विवक्षित है। प्रथम जल की सृष्टि कर उसमें बीज का निक्षेप किया। जिसकी संज्ञा हिरण्यगर्भ थी। यह सृष्टि सङ्कल्पात्मक थी। इस अण्ड को सहस्र सूर्य के समान ज्योतिर्मय कहा गया है। अप् का अर्थ नर, नर ही नार होता है और यह अयन अर्थात् आश्रय है, अतः इनकी संज्ञा नारायण है। इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने योग्य है कि नारायण अज को गीता के आधार पर योग का आदि प्रवर्तक कहा गया है और [illegible] हिरण्यगर्भ को। किन्तु, यह कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है, क्योंकि योग का प्रयोग सङ्कल्पात्मिका सृष्टि के रूप में अज से चलता है और पुनः योगज हिरण्यगर्भ को, जो योगज [illegible] है, अतः इसीको प्रथम सृष्ट क्रम का प्रवर्तक मानना ठीक ही है, क्योंकि [illegible] से यही योग का प्रवर्तक है।

वैदिक दृष्टि में आदित्य :—

वैदिक साहित्य का प्रधान उपजीव्य देववाद को कहना अनुचित नहीं है। किन्तु यह देववाद ज्योतिस्वरूप है। क्योंकि देव शब्द की निष्पत्ति दीप्ति या द्योतन अर्थ कहने वाली दिव् से होती है। यह दिव शब्द प्रकाश का बोधक है दिव, दिवा, [illegible] इन तीनों शब्दों में एक ही भावना अनुस्यूत है। इस आलोक में बोध, जागरण, चिति, विवेक, प्रज्ञान, संवित् सन्निहित है। बोध

तम् इदं गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे,
अजस्य नाभावध्येकम् अर्पितम् यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।
(ऋ०१०।८२।६)

हिरण्यगर्भ सूक्त के प्रथम श्लोक में कहा—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋ० १०।१२१।१)

इस मन्त्र से यह सिद्ध है कि हिरण्यगर्भ का जन्म हुआ; ब्रह्माण्ड शरीर प्रजापति, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज इन चारों भूत समूहों अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति में प्रथम स्थान इसी का है। भूत का यह एकमात्र ईश्वर था। उसके बाद ईशान आता है जो चैतन्य का स्वधर्म है। इसी प्रकार शिव को भी योग का आचार्य माना जा सकता है, क्योंकि परवर्ती सभी योग सम्प्रदाय या योगियों का समूह शिव का ही उपासक रहता है, और शिव का योग मुद्रा में, या समाधि की स्थिति में वर्णन पौराणिक युग से आधुनिक युग तक उपलब्ध है। ईशान शिव का अपरपर्याय है।

इस प्रसङ्ग में निष्पक्ष दृष्टि से विवेचन किया जाय तो यह आर्यों के द्योतनात्मक देव से ही इसकी भी उत्पत्ति है। हिरण्यगर्भ भी तेज का ही प्रतीक है।

योग के आचार्यों की योगेश्वर ने जो परम्परा निर्दिष्ट की है उसके साथ समन्वय करने पर आदित्य को ही योग का प्रथम आचार्य मानना होगा। अज, विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, यह क्रम निर्दिष्ट किया है। योग चतुष्पाद के रूप में विश्व की विभूति है। इसके द्वारा अक्षर स्वरूप ब्रह्म का निर्देश हो रहा है।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ (गी. ४।१)

कूटस्थ अज के द्वारा प्रथम योग का उपदेश आदित्य को प्राप्त होता है। आदित्य से मनु को, मनु से इक्ष्वाकु को, इक्ष्वाकु के द्वारा यह आज तक

उठा एकाकी तपस्या में लीन का संक्षोभ, संक्षोभ का विषय भूतवर्ग हुआ। यह योग क्रियात्मक शक्ति के आधार पर बढ़ने लगा। लयावस्था में विक्षोभ की शान्ति के साथ हिरण्यगर्भ की सङ्कल्प, इच्छा के उपरम से स्वरूपावस्थान होता है। अतः अज, हिरण्यगर्भ यह सृष्टि क्रम और हिरण्यगर्भ, अज यहाँ लय-क्रम है।

शक्तियाँ गतिहीन एवं अव्यवहार्य हो जाती है। सविता की उत्पत्ति इसीसे होती है, जो जगत् का प्राण है। गुणों की ज्योतिर्मय स्थिति में यह वरणीय भर्ग है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति।
हृद्याकाशे च यो जीवः साधकैरुपवर्ण्यते
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति।

अर्थात् आदित्य के अन्तर्गत प्रकाश की उत्तम ज्योति है, वह सभी प्राणियों के हृदय देश में जीव रूप से अवस्थित है। परम व्योम में अवस्थित ज्योति ही हृद् व्योम में भी अवस्थित है। अतः आदि प्रवर्तक योग का हृद् ज्योतिः स्वरूप पुरुषोत्तम को मानना भी उचित है।

अद्वैतवेदान्त और हिरण्यगर्भ:—

चेतन का उपाधि जडसमुदाय है। जडव्यष्टि का उपाधि युक्त चेतन जीव कहा जाता है। जडसमष्टि उपाधि से युक्त चेतन ईश्वर है। चेतन की उपाधि स्वरूप जडवर्ग तत् तत् काल में सम्पादित [illegible] के भेद से स्थूल, सूक्ष्म और अव्याकृत के भेद से तीन प्रकार का है। पञ्चीकृत[1] अर्थात् पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश संवलित दृश्यमान भूतात्मक स्थूल जगत् है। इस स्थूल का कारणी भूत पञ्चीकरण प्रक्रिया से रहित भूत समुदाय सूक्ष्म है। इन सूक्ष्मभूतों का कारणमूल अज्ञान अव्याकृत है। उपाधियों के प्रदर्शित तीन भेदों के आधार पर जीव भी तीन प्रकार का है; जैसे–स्थूल व्यष्टि उपाधि युक्त जीव विश्व, सूक्ष्म व्यष्टि उपाधि युक्त जीव तैजस, अव्याकृत व्यष्टि उपाधि संवलित जीव प्राज्ञ।

---

१. पञ्चीकरण प्रक्रिया :—

पाँच तत्त्वों में एक एक को द्विधा विभाग कर आधे को बराबर चार भागों में बाँट कर प्रत्येक आधे भाग में शेष चार भूत पदार्थों का एक भाग सन्निहित करें। जैसे पृथिवी तत्त्व का दो भाग हुआ, इसमें आधे भाग को चार भाग में विभाग कर चार भागों को जल आदि के आधे भागों में पृथक् पृथक् रूप से मिलाना होगा। इसी प्रकार सभी भूत पदार्थों के भाग को मिलाकर पञ्चीकरण होता है। आधा भाग जिस भूत पदार्थ का रहता है, वह उस नाम से अभिहित होता है—पृथिवी का आधा भाग रहने पर तथा चार भाग अन्य भूत पदार्थों का रहने पर पृथिवी द्रव्य कहा जाता है।

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च उच्यते॥ (वेदान्तसा० पृ० २२)

का यास्क ने प्राण अर्थ किया है। बुध्न यह प्रकाश एवं जागने अर्थ को लेकर ऋग्वेद से आजतक प्रयुक्त होता आया है। इसका मूल बुध् धातु ही है। यह बोध अव्यक्त से व्यक्त का ज्ञान और अन्धकार से ज्योति में आगमन है। गीता में 'विवस्वते योगं' यह शब्द प्रयुक्त है। वसु का अर्थ आलोक होता है और इसी वस् से विवस्वते, वासर, उषस्, उस्रा निष्पन्न होता है। ये सभी ज्योतिर्मय हैं। ऋग्वेद में अनेक मन्त्रों के द्वारा आदित्यगण के लिए वसु शब्द का प्रयोग मिलता है[1]। यह परम्परा वहीं समाप्त नहीं हो जाती वरन् आगे भी चलती है इसी लिए निरुक्त में वसवो यद् विवसते सर्वं··· वसवो आदित्य रसमयः विवासनात्[2]।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के ऋषि वसिष्ठ माने गये हैं जिसका अर्थ ज्योतिष्मत्तम होता है। फारसी में वहिश्त, अवेस्ता में वहिश्त = स्वर्ग वहिश्ता = परम पुरुष का बोधक है। इस तरह परम देवता की प्राचीन संज्ञा विवस्वान् है जिसका प्रतीक सूर्य है[3] विवस्वान् की उपासना से मनुष्य भी विवस्वान् हो जाता है। सभी देव ज्योति के मूल में विवस्वान् को परम ज्योति माना गया है। अग्नि का विवस्वान् के दूत के रूप में निर्देश मिलता है। अतः अप् भी तेज का प्रतीक है। इस तरह आर्य हृदय की ज्योति के प्रति जो प्रेरणा है वही प्रेरणा हिरण्यगर्भ था, इसी दृष्टि में विवस्वान् को योग का प्रवर्तक मान कर यही सिद्ध किया है। अतः किसी भी स्थिति में चलें तो योग के प्रथम प्रवर्तक ब्रह्म या नारायण को ही मानना पड़ेगा। जैसा कि गीता में कहा गया है। यही कारण है कि याज्ञवल्क्य ज्ञान योग की शिक्षा सूर्य के द्वारा ग्रहण करते हैं। वसुदेव, वासुदेव का ज्ञान जब तक नहीं होता है तब तक योग विभूति का परिचय सर्वथा असम्भव है। इस प्रकार वासुदेव विवस्वान् के द्वारा योग का प्रवर्तन सर्वथा समुचित है। 'इदं तु विश्वं भगवानिवेतरो' यह भागवत का कथन भी विश्व और विवस्वान् वासुदेव की एकता का परिचायक है। अतः वासुदेव ही सभी दृष्टियों से योगे के प्रवर्तक है। यही कारण है कि इनको योगेश्वर कहा जाता है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि विवस्वान् के आदि राजा होने पर भी मेरे अन्तराल में एक संविद् रूप शक्ति है, जो विश्व का मूल उत्स एवं ज्योतिर्मय है। इसकी अन्य संज्ञा पुरुषोत्तम है। उसके अभाव में मेरी सभी

---

१. (ऋग्वेद ८।४०।५ ७।५२।१) ८।१८।१५
२. विवस्वान् १२।४१
३. ऋग्वेद १०।३९।१३

अदिति को सबके रूप में इस मन्त्र से कहा गया है। अदिति को पञ्चजन अर्थात् देव, पितर, असुर, गन्धर्व और राक्षस तथा उत्पन्न वर्तमान एवं उत्पद्यमान सभी अदिति है। 'अदितिः सर्वम्' इस कथन से भी अदिति का सार्वभौम स्वरूप वर्णित किया गया है। इसी अखण्ड ज्योतिः स्वरूप अदिति से आदित्यादि देवगण उत्पन्न हुए हैं। अतः प्रकाशात्मिका देदीप्यमाना अदिति से आदित्य है, जो स्वपरप्रकाश का सामर्थ्य रखता है। देवता की किसी भी विभूति को अपनायें, सभी अदिति के पुत्र होने से ज्योतिः स्वरूप है। अखण्ड अदिति जो सार्वभौम है उसी का पुत्र आदित्य है, अतः विवस्वान् की अज, अखण्ड के बाद स्थिति स्वाभाविक ही है। पूर्व विश्लेषण से स्पष्ट है विवस्वान् वासुदेव की ज्योतिः ही सर्वत्र अनुस्यूत है। हृदयाकाश में सहस्र सूर्यकोटि प्रतीकाश ज्योतिर्मय मण्डल है, जिसका अनुभव साधक योगी योगक्रिया के द्वारा करते हैं—वही विवस्वान् या सविता है। उनके प्रकाश से भूर्भुवः आदि लोक प्रकाशित होते हैं। इस सवितृमण्डल के मध्य में 'ज्योतिषां ज्योतिः' श्रीनारायण है। गोलोकपति पुरुषोत्तम वासुदेव साक्षात् ज्ञान स्वरूप निर्विकार कूटस्थ स्वरूप हैं, उनके द्वारा प्रकाशित शक्तिच्छटा विश्व को उद्भासित करती है। इसी की प्राण या सूर्य संज्ञा है प्रथमोत्पन्न प्रकाश होने से अखण्ड अदिति के बाद वह आदित्य या विवस्वान् [illegible] है। विराट् विश्वभुवन की उत्पत्ति इसीसे होती है। ज्ञानधारा के सञ्चरण क्रम में आदित्य पुनः मन जो 'मनुते' के कारण मनु कहा जाता है, वह प्राण से उत्पन्न होता है। 'मनोनाथः मारुतः' मनका अधिपति प्राण हुआ।

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते॥

दृश्यमान सभी जागतिक पदार्थ ब्रह्म सत्तारूप प्राणशक्ति में स्पन्दित हो रहे हैं, यह ब्रह्माण्ड उसी से निःसृत है।

यह कहा जा सकता है कि मन ही सङ्कल्प रूप में सभी कार्यों का कर्ता है:—

मनः करोति पापानि मनो लिप्येत पातकैः।
मनश्च तन्मनो भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः॥

आध्यात्मिक दृष्टि से वासुदेव अर्थात् अखण्ड ज्योति का सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया जा [illegible] है। सर्वव्यापी अखण्ड ज्योति वासुदेव मन्त्रमूर्ति अमूर्तिक योगैकगम्य मन्त्र चैतन्यात्मक रूप में वह अन्तः श्वास-प्रश्वास के रूप में सदा अनुभूत होता है—"निःश्वासश्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते

इसीप्रकार स्थूल समष्टि उपाधियुक्त ईश्वर विराट्, सूक्ष्म समष्टि उपाधियुक्त ईश्वर हिरण्यगर्भ, अव्याकृत समष्टि उपाधियुक्त ईश्वर ईश है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ सूक्ष्म भूत उपाधियुक्त होने के कारण स्थूल का ही कारण हो सकता है, अव्याकृत का कारण वह नहीं हो सकता है। अतः हिरण्यगर्भ की पूर्व भूमि योग की प्रथम भूमि है।[1]

आँख, कान, नासिका, जिह्वा, त्वक् इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का क्रमशः ज्ञानशक्ति प्रधान देवता आदित्य, दिशा अश्विन्, वरुण, वायु है, वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों के क्रियाशक्ति प्रधान अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र, प्रजापति देवता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द ये पाँच विषय है, ज्ञानशक्ति प्रधान अन्तः करण और क्रियाशक्ति प्रधान प्राण है। इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय लिङ्ग शरीर है, ज्ञान शक्ति की प्रधानता से हिरण्यगर्भ और क्रियाशक्ति की प्रधानता से सूत्र कहा जाता है। हिरण्य के समान प्रकाशजनक होने के कारण वह हिरण्यगर्भ है। इन समष्टियों का अभिमानी जीव भी हिरण्यगर्भ कहा जाता है। अतः इस वेदान्त दृष्टि से योग का द्वितीय हिरण्यगर्भ रूपसे प्रवर्तक जीव ही है, और प्रथम नारायण है हिरण्यगर्भ और सूत्र, संकल्प और क्रिया से युक्त जीव है।[2]

इस पूर्वोक्त विश्लेषण के आधार वासुदेव और हिरण्यगर्भ नारायण और जीवपरक होने से प्रवर्तक के विषय का मतभेद समन्वित हो जाता है।

कठोपनिषद् में भी इस विषय का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख मिलता है:— "प्राणो ह्येषः सर्वभूतैर्विभाति" (कठोप०) आगे यह भी लिखा है कि "या प्राणेन सम्भवति अदितिर्देवानाम्" (कठोप०) अदिति अखण्डना अबन्धवा आद्या शक्ति है। यह विश्व में सर्वत्र एकरूप से अनुस्यूत है। दो अवखण्डने अर्थात् खण्डनार्थक दो धातु से दिति शब्द सिद्ध होता है, निषेधार्थक नञ् से दिति का समास होने से अदिति शब्द निष्पन्न होता है। अतः अखण्ड स्वरूप होने से वह सार्वभौम रूप होगी, इसी की अभिव्यक्ति इस मन्त्र से होती है:—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता सपुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

(ऋ० वे० १।८९।१०)

---

१. द्रष्टव्य—सिद्धान्त वि० श्लोक—८

२. अयममूर्तः पदार्थः कार्यत्वाद्व्यष्टौ समष्टौ च जीवोपाधिरेव (सि० वि० पृ० ६६)

गृहीत्वा क्रोधमविद्यात्मानं शत्रुं जहीति शिवम्[1]"। अर्थात् परिपूर्ण अखण्ड है इसका खण्डन न होने से क्रोध आदि उत्पन्न नहीं होते हैं, परम अहङ्कार, परम उत्साह संविद् (अन्तः प्रकाशरूप) को ग्रहण कर अविद्यात्मक क्रोध पर विजय प्राप्त करे।

योग प्रक्रिया :—

यह ज्ञातव्य है कि शरीर ब्रह्माण्ड का शुद्ध आयतन है—

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः।
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि मे मतः॥

इस शरीर का मूल सहस्रार है जो विष्णु का परम पद है।

जिसका चित्त प्राण ब्रह्मरन्ध्र सहस्रदल कमल में लीन हो जाता है, वह अपनी इच्छा के अनुसार अणिमादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति में समर्थ होता है :—

अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः॥

इस परम पद से इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा प्रवाहित होती है। उस परम व्योम में संविद् रूप ज्योतिः पुञ्ज का स्वयं प्रकाश प्राप्त होता है।

इस योग की क्रिया का संक्षेप में संकेत इस प्रकार किया जा सकता है—

संसार के समत्व की भावना से लोककल्याण की एषणा योग का परम प्रयोजन है।

आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्वों का विश्लेषण करने के लिए योग की अवतारणा की जाती है बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मतत्त्व का साक्षात्कार ही नित्य शान्ति है। इसीलिए, योग और समत्व अपर पर्याय है, जब तक सकल प्राणियों के साथ समत्वभाव प्राप्त कर तदनुरूप आचरण में प्रवृत्ति नहीं हो जाती है तब तक यह निष्फल है, क्योंकि समष्टि के साथ समत्व ही योग है। स्वार्थ और कारुण्य इन दो मूल आचारों को ग्रहण कर ही प्रवृत्ति होती है। प्राणिमात्र में चेतन की अनुस्यूतता मानने पर किसी की भी हानि स्वार्थ की हानि होगी। मानव एक अङ्गी है, अतः किसी भी अङ्ग भूत की क्षति विराट् की हानि होने से सतत सकल प्राणियों के प्रति कारुण्यमूलक प्रवृत्ति होती है। 'चेतनश्चेतनानाम्' इत्यादि श्रुतियाँ समत्व के मनन की श्रुति है।

---

१. गीता० टी० पृ० १८१

प्रिये"। यदि सम्पूर्ण शरीर योग के द्वारा सभी प्राणशक्ति अर्थात् प्राण वायु का सञ्चरण हो सके तो शारीरिक भूत शुद्धि हो जाती है। भूतशुद्धि मन्त्र का चैतन्य और कूटस्थ इच्छा मात्र से बिन्दु रूप में अन्तः प्रविष्ट होता है, यह योगज गर्भाधान क्रिया है। पुनः वही वायु महत्तेजो रूप होकर आविर्भूत होता है, ऊँकार ध्वनि रूप नाद होता रहता है, जो आहत के विना ही होता है, इसीसे परे बिन्दु है। यह बिन्दु भी भ्रू के मध्य में दृष्टि को स्थिर कर आँखों से ही देखा जाता है। बिन्दु की स्थिरता सामरस्य है। भ्रूमध्य में देदीप्यमान कूटस्थ ज्योति ही प्रज्वलित है और वह कूटस्थ रूप में हृदयस्थ है।

तेजोबिन्दुः परं ध्यानं विश्यातीतं हृदि स्थितम् ॥

इस तरह प्राण जागतिक पदार्थ को स्पन्दित करता है और उस प्राण का स्पन्दन अखण्ड वासुदेव से होता है। "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्" वस्तु का ध्वंस अणु मात्र में परिणत होना है और वही अदिति या बिन्दु है। मनकी एकाग्रस्थिति में षडैश्वर्य सम्पत्ति प्राप्त होती है। फलस्वरूप जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, क्षुधा, तृषा आदि छः विकारों का लोप होता है। यह वही योग की स्थिति है जहाँ अनेक दीप्तियाँ आती है। मन इनको देखता है और मन के अभिप्राय की अभिव्यक्ति इन्द्रियादि निरपेक्ष होकर होती है— अतः यही मन मनु है जो धर्म संस्थापन के लिए पुनः पुनः आता है। इस अवस्था में दीप्ति के प्रकर्ष से ज्योतिः पुञ्ज ही राजा के द्वारा अभिहित होता है, राजृ दीप्तौ से राजा निष्पन्न है अतः मनु विवस्वान् के अनन्तर तृतीय योग क्रिया के द्वारा धर्म संस्थापक है।

मन जबतक बाह्य दृष्टि से युक्त रहता है तक तक वह विषय के उपभोग में लगा रहता है, और साधनशील होकर हृदय में प्रवेश कर उसकी अन्तर्दीप्ति का प्रकाशक होता है, मन की अन्तर्दृष्टि का प्रकाश ही इक्ष्वाकु है, इक्ष्वाकु की उत्पत्ति मन से होती है। यह मन की प्रज्ञाचक्षु की अवस्था है। इष्-धातु से इषेः क्सुः (उ० ३।१५७) सूत्र में इक्षुमाकरोति या इक्षुभवति गच्छति बाहुलकादुण् प्रत्यय करके इक्ष्वाकु शब्द निष्पन्न है। अतः, भूतपति हिरण्यगर्भ के बाद गतिशील सूर्यवंश की परम्परा में इक्ष्वाकुवंश ज्ञान, इच्छा और क्रिया की अवस्था है।

इस प्रकार हिरण्वगर्भ की स्थिति समष्टिकारण शरीर और महत्तत्त्व की स्थिति में है। इससे पूर्व योग की अनेक सोपान परम्परायें है। इसी अर्थ को रहस्यात्मक रूप में अभिव्यक्त करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है :—"परिपूर्णस्य आकाङ्क्षाभावात् क्रोधादय उत्पद्यन्ते, अतः परमहङ्कारं परमोत्साहं संविदात्मकं

बाह्य अवरोध के समान दुःखावह नहीं होता है। क्योंकि यह उसकी सहज आयास शून्य अवरोध की स्थिति है, स्वरूप स्थिति या आत्माराम की अवस्था होने से वह भूमा सुख अर्थात् परमानन्द सन्दोह से सन्तृप्त रहता है। यह सत्य है कि स्वतः प्रकाश स्वरूप आज्ञाचक्र में ही आविर्भूत हो जाता है, इस चित् की ज्योति के स्फुरण होने से प्राण के सहज रूप की स्थिरता आ जाती है। प्राण की स्थिरता के साथ ही मन विक्षेप शून्य हो जाता है—यह मन की निर्मलावस्था है। इसमें रजो गुण की प्रशान्ति और सत्त्वगुण का उद्रेक रहता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥

मधुसूदन की अद्वैत भावनात्मक रस स्वरूपता जो मन की भगवदाकारता सम्पत्ति कही गई है, योग की दृष्टि में वह चिदाकारता है, मन की स्थिरता है। अनन्तर योगी प्रत्याहार के द्वारा मन को वशीभूत करने की दिशा में प्रयत्नशील होता है और रजोगुण से अभिभूत हो जाने से ब्रह्मसायुज्य-सुख का अनुभव करता है। यही योग का परम फल है। योगी की उत्तम समाधि सुख स्थिरता या शब्दान्त ब्रह्मभाव की प्राप्ति है। भागवत वर्णित योगेश्वर भगवान् का यही अवरुद्धरूप है। यह वही अवस्था है जिसमें देह के कालकृत परिणाम के अवरोध होने से जन्म मृत्यु का खेल प्रशान्त हो जाता है। ईश्वर सायुज्य अर्थात् अणिमा आदि अष्टसिद्धियों के साथ ऐश्वर्य सम्पत्ति है।

शरीरस्थ चन्द्र और उनका स्थानः—

परवैराग्य पद की प्राप्ति से मानव निर्विकल्प समाधि सम्पत्ति से अचल हो जाता है, यह अन्य शब्दों में कैवल्यावस्था है। शरीर में ६ विशिष्ट केन्द्र के रूप में पद्माकार अवस्थित है। सुषुम्णा नाड़ी इन केन्द्र भूत स्थानों का भेदन कर आगे बढ़ती है। यही चक्र या पद्म है। सम्पूर्ण शरीर बाह्यवस्तु के अन्तःस्थ तत्त्व से परिपूर्ण है। अन्तःस्थ वस्तु का ही बाह्य संघटन है। जैसा प्राणशक्ति का अन्तःस्थ में सञ्चरण होगा वैसा ही इस ब्रह्माण्डकोश में वृत्ति का सञ्चरण होता है। अतः शरीरस्थ तत्त्वों के द्वारा प्राण और मन को एकाग्र करने से समस्त फल को देनेवाले योग की सफलता होती है। गुह्य द्वार के ऊपर चार दलों से युक्त पद्म है—वही मूलाधार है, यहीं से प्राण वायु का सञ्चरण करना है। लिङ्ग मूल के पीछे मेरुदण्ड में षड्दल युक्त एक पद्म है—यही स्वाधिष्ठान चक्र या पद्म है। नाभि के पीछे मेरुदण्ड में ही दशदलों से विशिष्ट चक्र या पद्म है—यह मणिपूर है। मेरुदण्ड में स्थित हृदय के पीछे द्वादशदल चक्र या पद्म है—यह अनाहत चक्र है। कण्ठमूल के पीछे मेरुदण्ड में षोडश

योगी उस विराट् को अवगत करने के लिए मनको आत्मस्थ करते हैं। दूसरे शब्दों में यह आत्मरमण है, कबीर ने भी इसी आशय से कहा है—"सबके घट में हरी विराजे ज्यो गिरिसुत में ज्योति" प्रत्येक कण-कण में ज्योति और प्रकाश के समान ही प्रत्येक प्राणी में हरि विराजमान हैं। अब प्रश्न है उनके अन्वेषण का ? कैसे कहाँ खोजा जाय ? शरीर के किस स्थान में उसकी उपलब्धि किस साधना विशेष में होती है, मस्तिष्क के ब्रह्मरन्ध्र में चैतन्य का विशिष्ट प्रकाश विद्यमान रहता है। इससे अनुरञ्जित प्राणशक्ति अपने प्रवाह से सहस्रों नाड़ियों के साथ-साथ सम्पूर्ण शरीर को सचेतन कर देता है। विद्युत् शक्ति-प्रवाह की प्रधान धारा (Main current) के समान प्राण शक्ति का प्रधान प्रवाह मेरुदण्ड के मध्य में अवस्थित है। प्राणशक्ति का मूल आधार सुषुम्णा है, सुषुम्णा से ही इडा और पिङ्गला में वह प्रवाहित होती है। प्राण का इन दो नाड़ियों से प्रवाह होने पर सुषुम्णा का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। सुषुम्णा नाडी मेरुदण्ड के मध्य गुह्यदेश से मस्तिष्क तक विद्यमान है। इडा मूलाधार में स्थित सुषुम्णा के मुख के वामभाग में और पिङ्गला दक्षिण भाग में कुछ उठकर दोनों भ्रुवों के मध्य आज्ञाचक्र में सुषुम्णा से मिल जाती है। इन्हीं दो नाडियों के माध्यम से ज्ञान का प्राण प्रवाह के साथ सम्पूर्ण शरीर में प्रवाह होता है। अहं के साथ शरीर का तादात्म्य मन की वृत्ति का बाह्य प्रवाह एवं संसार लीला के अभिनव की प्रवहमान अवस्था में ही होता है, प्राण-प्रवाह के सुषुम्णा की ओर अग्रसर होने पर दिव्य ज्ञान लौट आता है। प्राण को मेरुदण्ड के मध्य सुषुम्णा में प्रवेश के लिए योगिगण सचेष्ट रहते हैं, यही योगाभ्यास है। इडा और पिङ्गला में गर्भस्थ शिशु का प्राण-प्रवाहित नहीं होता सुषुम्णा उन्मुक्त रहती है। किन्तु भूमि के साथ सम्बन्ध होते ही प्राण धारा इडा और पिङ्गला नाड़ियों में पड़ती है, इन दो नाड़ियों में प्राण वायु का सञ्चरण होते ही सुषुम्णा अवरुद्ध हो जाती है। योगी रामप्रसाद ने इसी की सूचना इन शब्दों में दी है:—

गर्भे जखन जोगी तखन, भूमे पड़े खेलाम माटी।

गर्भ में योगी था किन्तु पृथ्वी पर आते ही दुःखी हो गया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और मुद्रा आदि में अभ्यास के द्वारा योगज शक्ति से मनुष्य सुषुम्णा में प्राणशक्ति के सञ्चार की चेष्टा करता है, प्राण के साथ मन योग के द्वारा सुषुम्णा का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। प्राण की चञ्चलता का क्रमिक विनाश होकर स्थिरता की प्राप्ति सुषुम्णा में प्रवेश करने से ही होने लगती है और जब वह सुषुम्णा का भेदनकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है तब वह अवरुद्ध हो जाता है किन्तु यह अवरोध श्वास-प्रश्वास के

है "नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्" (ऋ० १०।१२९।१) जो भी सत् है उसकी रज में स्थिति है, उससे परे व्योम या असत् है किन्तु आदि अव्याकृत को सत् या असत् [illegible] भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि स्थिर तत्त्व में रज का प्रवेश नहीं है, अन्यथा स्वरूप में अवस्थिति नहीं रहेगी। इसी लिए कहा गया है—'ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि' (ऋ० ५।८७।९) सप्त चक्र [illegible] प्रसङ्ग में 'त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुहे सत्यम् आशिरः पूर्व्य व्योमनि' (९।८।१) सात धेनु ऊर्ध्वस्रोता प्राण का सात स्थान है। 'भगो न मेने परमे व्योमन् अधारयद् रोदसी सुदंसाः' (ऋ० ६।८।७) रोदसी का द्यौ एवं पृथिवी (ऋ० १।१८४।४१) है, भग आदित्य है, पुरुषमेध योग यज्ञ में यह अजन्मा नारायण है (१३।६।१)। इनकी दो पत्नियाँ हैं पौराणिक दृष्टि से श्री और लक्ष्मी और अध्यात्मदृष्टि से चित् और आनन्द तथा तन्त्र की दृष्टि से नील सरस्वती और तारा, नारायण का नाभि अप् में वास, इसकी तुलना करे—सप्तशती के मध्यम चरित्र में देवी के आविर्भाव से। 'अप्सरा जारम् उपसिष्मिया योषा विभर्ति परमे व्योमन्' (१०।१२३।५)। सूर्य या सोमचित् आनन्द योषा या उषा वाक् या अप् यही सृष्टि का नाभि स्थान है वाक् सहस्राक्षरा अर्थात् सहस्रदल कमल योग की भाषा में है। 'असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन अदितेरुपस्थे' (ऋ० १०।५।६)। अदिति अनन्त चेतना, दक्ष प्रज्ञावीर्य है। अनुलोम और विलोम क्रम में एक [illegible] दूसरे का जन्म है। इस प्रकार अध्यात्म दृष्टि से परम व्योम चेतना की उत्तुङ्गतम भूमि है जिसे योग क्रिया में सहस्रार कहा गया है वेद [illegible] परम व्योम चेतना [illegible] स्फुरण ॐ के साथ सायुज्य वर्णित है। इस प्रकार उस विष्णु के व्यापक परम व्योम पद को प्राप्तकर जीवन कृतकृत्य होता है। योग में स्पष्ट लिखा है कि अविद्या संस्कार द्वारा प्रकाशशक्ति आवृत है प्राणायाम के द्वारा प्रकाशावरण दूर होता है। आवरण क्षीण होने से सर्वथा समता की भावना परिव्याप्त हो जाती है। प्राण स्थिर हो जाता है। प्राण की अन्तःशक्ति का विकास जगदाकार व परिणति है। इसी को तन्त्र की दृष्टि से शिव शक्ति सामरस्य योग दृष्टि से समत्व भावना कहा है। चराचर विश्व के विकास की भूमि 'लोकोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता' की स्थिति या आत्मानुग्रह के अभाव में लोकानुग्रह मूलक प्रवृत्ति का आरम्भ है। जिसे दूसरे शब्दों में निवृत्तिमार्ग कहा गया है।

पूर्व विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि दीप्ति [illegible] अन्तः [illegible] ही संवित् है। शैव-दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में योगविशारद के सिद्धान्तानुसार जीव और आत्मा का ऐक्य संवित् का साधन ही योग है। जीव और आत्मा के अभेद से उत्पन्न ज्ञान ही योग है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए शिवसूत्रवृत्ति में कहा गया है कि आत्मा के विमर्श से सात्त्विक ज्ञान उत्पन्न होता है शिवस्वरूप को प्राप्त कर इन्द्रियों के साथ अन्तःकरण का लय होता है। आनन्द भैरव मे भी कहा है कि प्राणादि-

दलों से युक्त चक्र या पद्म है—यह विशुद्ध पद्म है। दोनों भौओं के मध्य में दो दलों वाला पद्म है—यह आज्ञाचक्र या पद्म है। इसके ऊपर मस्तिष्क देश में हजार दलों से युक्त कमल है—यह परब्रह्म या सद्गुरु अर्थात् जिसे योग-शास्त्र में काल से परिच्छिन्न न होने के कारण सभी का गुरु माना गया है। "पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्" (यो. सू. १।२६)। सुषुम्णा नाड़ी को इन छः पद्मों का भेदन कर सहस्रार पद्म में जाना है।

सूक्ष्मतम नाड़ी जो सुषुम्णा में ही स्थित है—वह ब्रह्म नाड़ी है, इसी ब्रह्म नाड़ी में प्राण की स्थिति जीव के अज्ञान की नाशिका है। इसी स्थिति को गुरु स्थानीय प्राण की स्थिति अर्थात् गुरु स्थान में प्राण के सञ्चरण का प्रतीक है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

इसी को परम्परा प्राप्त पद्य से कहा गया है। सुषुम्णा के अन्तः स्थित इस ब्रह्म नाडी को भी योग में सुषुम्णा ही कहा जाता है। इस पूर्वोक्त ब्रह्म नाडी के अन्तर्गत चित्रा और बज्रा नाडियाँ है। स्वाधिष्ठान से बज्रा और मणिपूर से चित्रा उठती है। योगजशक्ति से इनका स्पन्दन सम्भव है। यह कहा गया है कि सप्त लोक की जो बाह्य स्थित वर्णित है, वे अन्तः सप्त पद्म ही है। और गायत्री की सप्त व्याहृतियाँ जो शब्दात्मिका हैं, वे भी उच्चारण क्रम में जप के द्वारा नाद के द्वारा प्राण वायु में स्पन्दन करती हैं। अतः अन्तःस्थ सप्त चक्रों के समान बाह्य सप्त लोकों में इनका प्रसार है। योग क्रियाओं के द्वारा प्रदर्शित सप्त स्थानों में प्राण को आहरण कर ऊर्ध्व दिशा में अवस्थित करने पर योग की दृष्टि से असम्प्रज्ञात या ब्राह्मी स्थिति होती है। यही वह अन्तःस्थ स्थान है जो विष्णु का परम पद है, 'तद्विष्णो परमं पदम्' के द्वारा इसी [illegible] का निर्देश किया गया है।

वेद में इस स्थान के लिए व्योमन् शब्द का प्रयोग किया गया है। आकाश की दो संज्ञा है दिव् और व्योमन्। प्रथम में द्योतना या दीप्ति का सङ्केत है और द्वितीय शब्द में शुद्धता अण्डता और उच्चता का सङ्केत है। अखण्डनार्थक अदिति का आध्यात्मिक स्थान आकाश द्यौ ही है। वि + ओमन् अव् धातु का उन्नीस अर्थ कहा गया है, इनमें प्रसाद, परिचरण अर्थात् आनन्द, स्पन्दन एवं संवरण इन तीन अर्थों को लेकर इस धातु से सिद्ध व्योमन् शब्द का प्रयोग मिलता है। व्योमन् निपातन से सिद्ध है। व्येञ् संवरणे से निष्पन्न ॐ के साथ इसका सम्पर्क सुस्पष्ट है। यही कारण है महामहोपाध्याय डॉ०बागची महोदय ने व्योम और ॐ दोनों की निष्पत्ति अव से मानी है। ॐ को गौरी या एकपदी वाक् माना है जो परम व्योमन् में सहस्राक्षर है। इसी प्रकार आधिदैवत अध्यात्म दोनों दृष्टि से वाक् या ॐ उसका अनवरत परिस्पन्द है "यावद् ब्रह्म तिष्ठेत् तावती वाक्" (ऋ. १०।१।४।८) यही कारण है कि उस अव्यक्त अव्याकृत अवस्था को न सत्, न असत् कुछ भी नहीं कहा जाता

दूसरे की तृणादि के समान तुच्छ वस्तुओं का भी ग्रहण न करना अस्तेय है। कर्म, मन और वाणी से सभी अवस्थाओं में स्त्री की सङ्गति का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। किसी के दुःख को देखकर अपना समझ कर उसको हटाने की चिन्ता करना ही दया है। मन, वाणी और क्रिया से सभी व्यवहारों में सभी के साथ कुटिलता रहित होना ही आर्जव है। सभी रूपसे सदा सभी के साथ अर्थात् अपने साथ अपकार करने वालों के प्रति बन्धु के समान सम्यक् आचरण करना ही क्षमा है। ज्ञात विषयों में इच्छा प्रयत्न राहित्य लाभवान् रहना धृति है। भोज्य पदार्थ का स्वच्छ चित्त पूर्वक चतुर्थांश हित मेध्य भोजन ही मिताहार है। रोमकूप नवरन्ध्रों के द्वारा निर्गत मल का क्षालन ही शौच है।[1] मिट्टी और जल से बाह्य शुद्धि होती है, अन्दर भूत की शुद्धि के लिए पूर्वोक्त शौच की आवश्यकता है।

योग और दश नियमः—

इसी प्रकार शुद्धि के लिए तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजन, सिद्धान्त श्रवण, ह्री, मनन, जप और हवन इन दश नियमों की आवश्यकता है।

शास्त्र के द्वारा विहित कठोरव्रत का आचरण तपस्या है। अनेक विषयों में उत्तर की इच्छा न रखना सन्तोष है। परलोक है यह मानने वाला आस्तिक है और परलोक की प्राप्ति के अनुकूल धर्म आदि का आचरण आस्तिक्य है। अपनी शक्ति के अनुसार देवता, पितर और मनुष्यों के उद्देश्य से देना दान है। यथाशक्ति सन्तोषपूर्वक मोक्ष के साधन में प्रवृत्त व्यक्ति के द्वारा विघ्न को हटाने के लिए आराधना देव पूजन है। वेद में प्रदर्शित उपायों की दृष्टि से उपदेश प्रद शास्त्रों का श्रवण सिद्धान्त है। कुत्सित आचार से स्वयं उद्वेग होना ह्री है क्योंकि चित्त की मलिनता से ज्ञान का उदय नहीं होता है। वेदादि के द्वारा सुने गये विषयों का पुनः पुनः युक्तियों से अनुशीलन मनन है। चित्त की शुद्धि से ईश्वर की पुनःपुनः भावना या अनुचिन्तन जप है। अग्निहोत्र आदि शास्त्र विहित हवन होम है। मन्त्र आदि के जप करने पर दशांश हवन होम है। हवन के न करने पर प्रत्यवाय से चित्त की मलिनता के कारण चित्त की शुद्धि न होने से ज्ञान का उदय नहीं होगा।[2] ये नियम हैं, अतः इनका आचरण न करने पर प्रत्यवाय होता है, अवश्य कर्तव्य होने के कारण इनका आचरण आवश्यक है।

---

१. शा. ति. प० पृ० ५३९।

२. तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम्॥
नाजपात्सिद्धयते मन्त्रो नाहुतश्च फलप्रदः।
अनर्चितो 'हरेत्' कामान् तस्मात्त्रितयमाचरेत्॥

भावना एवं उनके द्रव्य सम्पत्तियों का परित्याग कर चित्तका अपने आत्मभाव अर्थात् स्वरूप से शिवरूप में सायुज्य ही योग है।

योग भूमि में छ शत्रुओं का नाशः—

स्वच्छन्द भैरव में भी इसी का समर्थन मिलता है प्राण, मन और अन्तःकरण के विनाश से समूल माया की निवृत्ति होने से शिवानन्द स्फुरण ही योग है। उत्तराम्नाय के अनुसार शिव और शक्ति का अभेदात्मक ज्ञान ही योग है। शक्ति को संवित्स्वरूप तथा परमानन्द रूपिणी माना है। सभी विश्लेषणों से आत्म-स्वरूप ज्ञान से सर्वत्र ज्ञान की भूमि पर समता का सञ्चरण ही योग है।[1]

अन्य दार्शनिक दृष्टि में भी आत्मस्वरूप के चिन्तन एवं संवित्प्रकाश से सर्व-संविद्रूपता के स्फुरण से स्त्री भोगाभिलाषा स्वरूप काम, प्राणियों के मारने की इच्छास्वरूप हिंसा, धनादि की तृष्णा रूप लाभ, तत्वाज्ञान रूप मोह, मैं सुखी हूँ, मैं धनिक हूँ इत्यादि गर्व स्वरूप मद, अन्य व्यक्तियों के कल्याण के प्रति द्वेष रूप मत्सर—ये दुःखप्रद होने से इन छ शत्रुओं का नाश हो जाता है। क्योंकि योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, इन आठ योग के साधनों से क्रमशः मैं किसी की हत्या न करूँ इस अभ्यास की प्रवणतारूप अहिंसा, असत्य नहीं कहूँ इस अभ्यास की प्रवणता चित्तता रूप सत्य, चोरी के व्यवहार से निवृत्ति रूप अस्तेय, स्त्री संभोगरूप इच्छा की निवृत्ति स्वरूप ब्रह्मचर्य, प्राणियों के प्रति क्रूर बुद्धि की निवृत्ति स्वरूप कृपा, चित्त की कुटिलता निवृत्तिरूप ऋजुता, अभिभावक के प्रति अक्रोध चित्तता रूप क्षमा, अभीष्ट वस्तु के अप्राप्ति से जो चिन्ता उसका अभावरूप धृति, क्रमशः भोजन को कम करने से शरीर धारण के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित भोजनस्वरूप-मिताहार, चित्त की निर्मलता के लिए पूर्व कथित शौचशीलता रूप शौचरूप यम है इनमें धृति से सर्वत्र अनुषङ्ग का अभाव, अहिंसा और ब्रह्मचर्य से काम जय, कृपा और क्षमा से क्रोधजय, अस्तेय सत्य और ऋजुता से लोभ जय, मिताहार और शौच से मोह जय,[1] क्षमा और ऋजुता से मदजय, अहिंसा, कृपा, ऋजुता और क्षमा से मत्सर का जय होता है।

इस विश्लेषण से यह सिद्ध है कि सभी प्राणियों को वाणी, मन और शरीर से क्लेश न देना ही अहिंसा है। जिस रूप में देखा, अनुमित, सुना है उसको उसी रूप में कथन एवं चिन्तन, किन्तु वह वाक्य बाधक, भ्रान्त, अर्थ शून्य न हो। किन्तु 'इदं वाक्य' को सभी प्राणियों के लिए उपघातक न हो पर उपकार के लिए प्रयुक्त होने पर ही सत्य होगा अर्थात् विचार पूर्वक सर्वभूतहित के लिए कहना सत्य वाक्य बोलना अर्थात् सत्य है।[2]

---

१. शारदाति० पदार्थादर्श—पृ० ५३८।

२. व्यासभाष्य—पृ० २।३०

पूर्वोक्त प्राणायाम दो प्रकार का है। १ सगर्भ, २ अगर्भ। जप और ध्यान के साथ किया गया प्राणायाम सगर्भ है। यह सगर्भ प्राणायाम अतिशय फल देने वाला है एवं अगर्भ प्राणायाम सभी पापों का नाशक है। प्राणायाम उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार का है। प्राणायाम का अभ्यास करने पर पसीना होना अधम प्राणायाम है। कम्पन से युक्त प्राणायाम मध्यम है। और भूमित्याग गुण की प्राप्ति उत्तम प्राणायाम है।

प्राणायामः—मन की स्थिति के लिए अभ्यन्तर वायु को नासिका रन्ध्रों से प्रयत्न-विशेषपूर्वक यमन रूप प्रच्छर्दन एवं प्राण का संयम रूप विधारण से मन में स्थिरता आती है। हठयोग आदि में निर्दिष्ट प्राणायाम से योगसूत्र में निर्दिष्ट प्राणायाम में अन्तर है। आसन जप से स्थिरता लाभ के बाद बाह्य वायु का आरम्भ में रेचन अन्दर की वायु का निःसारण इन दोनों गतियों का विच्छेद प्राणायाम है। आसन जय से शारीरिक स्थिरता आती है एवं मानसिक वृत्ति-शून्य के समान भावना का अनुभव होने पर प्राणायाम का अभ्यास विहित है। अस्थिर चित्त का प्राणायाम योगाङ्ग नहीं है।

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। (यो॰ सू॰ २।४९)

प्राणायाम के लिए उपयुक्त स्थान, काल, मिताहार एवं नाडी-शुद्धि आवश्यक है[1]।

स्थानः—निरुपद्रव एवं प्राचीर वेष्टित कुटी प्राणायाम का स्थान है।

कालः—घेरण्ड संहिता के अनुसार वसन्त और शरत् प्राणायाम के आरम्भ का उचित काल है। इस मास में प्राणायाम का आरम्भ करना श्रेयस्कर है[2]।

अस्सी मात्रा पर्यन्त कुम्भक करना चाहिए या अस्सीवार बीजमन्त्र का जाप करता हुआ कुम्भक का अभ्यास करे।

अस्सीवार कुम्भक करने पर बीसवार पूरक एवं चालीसवार रेचक करना चाहिए, प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल एवं आधी रातमें प्राणायाम का विधान है। मिताहार, नाडीशुद्धि प्राणायाम के लिए आवश्यक है। मलयुक्त समस्त नाडी-चक्र की शुद्धि होने पर ही योगी प्राण का संयम करे।

समनु और निर्मनु के भेद से नाडीशुद्धि दो प्रकार की है। धौति आदि षट्कर्म से नाडीशुद्धि निर्मनु है, बीजमन्त्रजप के साथ प्राण संयम के द्वारा नाडीशुद्धि को समनु कहते हैं।

---

१. घे॰ सं॰ ५।२

२. वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।
तथा रोगी भवेत् सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्॥ (घे॰ सं॰ ५।९)

योग और प्राणायाम आदि—

इसी प्रकार योगी के लिए आसन भी आवश्यक है। आसन के द्वारा रोग का विनाश होता है, प्राणायाम के द्वारा पातक का नाश होता है, प्रत्याहार के द्वारा मानस विकार का विनाश होता है, धारणाओं से मन में धैर्य्य आता है, ज्ञान से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और सभी शुभाशुभ कर्मों का परित्यागपूर्वक समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] अनेक आसनों का शास्त्र में रोगों की निवृत्ति के लिए शास्त्र में निर्दिष्ट किया है, किन्तु योग में जप एवं समाधि के लिए प्रसिद्ध पाँच आसनों का अनुष्ठान आवश्यक है। वे प्रसिद्ध पाँच आसन निम्नलिखित है—पद्मासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन, भद्रासन और वीरासन।

प्राणायाम :—बाहर सोलह मात्रा से वायु का इडा के द्वारा अन्दर आकर्षण है, अथवा बारह या सोलह बार प्राणायाम का आचरण करें। चौसठ मात्रा से पूरित वायु को धारण करे, बत्तीस मात्रा से सुषुम्णा नाडी के मध्य में धीरे-धीरे अवस्थित करे—यह कुम्भक है। पिङ्गला नाडी से पूरित वायु को छोड़ दे—यह रेचक है।

मात्रा :—जितने समय से अपना हाथ जांघ के नीचे आता है वह एक श्वास के समान एक मात्रा है। कतिपय आचार्यों ने जानु (जङ्घा के मध्य भाग) को तीन बार हाँथ से स्पर्श कर स्फोटन छोटी मात्रा है। अन्य लोगों की दृष्टि मे अङ्गुलि के आठ बार स्फोट बजाना के समान मात्रा है। वायवीय संहिता के अनुसार दोनों जानु भाग की न जल्दी और न देरी से परिक्रमा कर अङ्गुलि का स्फोटन मात्रा है।[2]

---

१. आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा॥
धारणाभिर्मनो धैर्य्यं ज्ञानादैश्वर्य्यमुत्तमम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्तकर्मशुभाशुभः॥
(व० सं०, शा० ति० पृ० ५४०)

२. कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वं जानुमण्डलम्।
पर्येति मात्रा सा तुल्या स्वयैकश्वाससमात्रया॥
अथवा
स्वजानुमण्डलं पूर्वं त्रिःपरामृश्य पाणिना।
प्रपद्य छोटिकामेकां मात्रा सा स्याल्लघीयसी॥
अथवा
जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्तिता॥
(शा० ति० पदा० पृ० ४४१)

(३) वैश्वानरी धारणाः—तत्वस्थित इन्द्रगोप के समान शिव के अनेक तेजोमय प्रवाल के समान सुन्दर त्रिकोण अनल रुद्र से समन्वित है वहाँ प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर चित्तान्वित धारण करे वह्नि के समान शरीर को धारण करती हुई यह वैश्वानरी धारणा कही जाती है।[1]

(४) वायु धारणाः—जगत्प्रपञ्च सहित जो मूल देखा गया है, भौंओं के मध्य में उसके समान सत्वमय यकार सहित जहाँ ईश्वर देवता है, पाँच घड़ी तक वहाँ चित्तसमन्वित प्राण को धारण करे, यह वायु की धारणा है, यह सदा नियत रूप से आकाश में गमन करती है[2]।

(५) नभोधारणाः—सुविशुद्ध जल सदृश आकाश जो ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है जो उसके नाथ सदा शिव से सहित हकार अक्षर से युक्त है, वहाँ प्राण को लाकर चित्त के साथ समन्वित धारण करे यह मोक्ष कपाट को भेदन में पटु नभोधारणा कही जाती है।[3]

कर्मों की साधिकायें ये सभी पाँच धारणायें दुर्लभ हैं उनके जानने से योगी सभी पापों से मुक्त होता है।[4]

योगः—

पातञ्जल दर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। यह योग सर्व श्रेष्ठ मानस बल है। चित्त का परिणाम वृत्ति है। और इस वृत्ति का निरोध समाधि या योग है, यह कहा गया है कि सांख्य के समान ज्ञान नहीं है और योग के समान बल नहीं है, वृत्ति का निरोध एक अभीष्ट विषय में चित्त को स्थिर करना है। अर्थात

१. तत्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेऽनलं
तेजोऽनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत्संगतम्।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वनरी धारणा ॥

२. यन्मूलं च जगत्प्रपञ्चसहितं दृष्टम्भ्रुवोरन्तरे
तद्वत्सत्त्वमयं यकारसहित यन्त्रेश्वरो देवता।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति नियतं वायोः सदा धारणा ॥

३. आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तन्नाथेन सदा शिवेन सहितं युक्तं हकाराक्षरैः।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥

४. कर्मणां साधकाः सर्वा धारणाः पञ्च दुर्लभाः।
तासां विज्ञानतो योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते।

मूलाधार में भुजङ्गाकार कुण्डलिनी अधिष्ठित है; इस शिखा को तेजोमय ब्रह्मरूप में ध्यान करे यही तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान है। मन से ऊपर भ्रू के मध्य में प्रणवात्मक तेज है, उस ज्वालावली प्रयुक्त तेज का ध्यान तेजो ध्यान है[१]।

प्रत्याहारः—विषयों के प्रति विना रोक टोक इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का बल-पूर्वक रोकना प्रत्याहार है।

अर्थात्—अपने अपने विषय में इन्द्रियों का असंयोग होने से चित्त की द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थिति प्रत्याहार है अर्थात् प्रत्याहार शब्द का अर्थ घूमाना है, चञ्चल अस्थिर मन आदि जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ से लौटाकर आत्माविष्ट करना प्रत्याहार है। वेदान्तसार में, इन्द्रियों को अपने विषय से प्रत्याहरण प्रत्याहार है।

धारणाः—अंगूठा, पैर की गाँठ, जानु, उरः, सीवनीलिङ्ग, [गुदा लिङ्ग के मध्य में उन्नत रेखा सीवनी है] नाभि, हृदय, कण्ठ, लम्बिका, नासिका, भौओं के मध्य, मस्तक, मूर्धा इन बारह स्थानों में प्राण वायु का धारण धारणा है। वसिष्ठ संहिता में धारणा का पाँच भेद कहा गया है। मन की निश्चलता के लिए धारणा का विधान है।

(१) क्षमा धारणा—हरिताल सुवर्ण के समान सुन्दर श्री सम्पन्न लक्ष्मी कमलासन से समन्वित चतुष्कोण हृदय में स्थित है और [illegible] युक्त है वहाँ पाँच घड़ी तक चित्त समन्वित प्राण को धारण करे सदा स्तम्भ करने वाली यह क्षितिपरक क्षमा नामक धारण कही जाती है।[२]

(२) वारुणी धारणाः—अर्द्ध चन्द्र के समान कुन्द पुष्प के सदृशधवल कण्ठ अर्थात् ग्रीवा में तत्त्व समन्वित अमृत वकार बीजयुक्त सदा विष्णु के साथ युक्त स्थित है वहाँ चित्तयुक्त प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर धारण करे दुःसह काल कूट के समान तरल यह वारुणी धारणा कही जाती है।[3]

---

१. भ्रुवोर्मध्ये मन ऊर्ध्वं यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेत् ज्वालाबलीयुक्तं तेजोध्यानं तदुच्यते ॥ (घे० सं० ६।१७)

२. प्राप्तश्रीहरितालहेमरुचिरा तत्त्वकलालान्वितं
संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिपरा ख्याता क्षमा धारणा ॥

३. अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे च तत्त्वान्वितं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटतरला स्याद्वारुणी धारणा ॥
(शा० ति० अ० पृ० ४१)

अभ्यास के द्वारा यथेच्छ अभीष्ट ध्येय में चित्त की निश्चल स्थिति करना योग है। स्थैर्य और ध्येय इन दो विषयों के अनुसार योग का अनेक भेद है। चित्त में स्थैर्य्य की उत्पत्ति से मनोवृत्ति चित्त में स्थिर रहती है। वृत्ति की स्थिरता की वृद्धि मानसिक बल वृद्धि सम्पत्ति है। स्थिरता की चरम सीमा समाधि है। और यह शाश्वती शान्ति का साधन है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए श्रवण मनन और निदिध्यासन अर्थात् समाधि को चरम कारण माना है। योगी अपने कर्म समूह को दग्ध कर समाधि सिद्ध होने पर इसी जन्म में मुक्त होता है।[1] आत्मदर्शन समाधि [illegible] परम धर्म है। ईश्वर के प्रणिधान से भी चित्त की स्थिरता होती है। दान, संयम आदि के द्वारा परम्परा क्रम में चित्त स्थिर होता है। चित्त के रूप में परिणत सत्त्व गुण ही विशुद्ध ज्ञान वृत्ति है, जिसे चित्त सत्त्व भी कहा जाता है। तमो गुण और रजो गुण से चित्त के अनुविद्ध होने पर चाञ्चल्य और आवरण के कारण ध्यान की प्रवणता नहीं होती है।

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण नहीं होता है। गौतमीयतन्त्र में—संसार से उद्धार होने के साधन को योग कहा गया है, इस दृष्टि से जीव और आत्मा का ऐक्य ही योग है।[2] शारदातिलक टीका में राघवभट्ट ने भी वेदान्तानुसार जीव और आत्मा के ऐक्य को ही योग माना है। (ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः[3]) कुलार्णवतन्त्र के अनुसार भी पूर्वोक्त ही योग माना है।

न पद्मासनतो योगो न नासाग्रनिरीक्षणम्।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥ (कु० त० ३०।९)

महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार भी योग की यही परिभाषा स्वीकृत है। योगो जीवात्मनोरैक्यं पूजनं सेवकेशयोः। (म० त० १४।१२३) महातन्त्र के अनुसार शिवशक्ति का सामरस्य योग है।

प्रपञ्चसार के अनुसार अपने में हाथ पैर मुख आदि से रहित अनन्य आत्म स्वरूप का अनवरत दर्शन ही तात्त्विक दृष्टि से योग है।[4] पातञ्जल योगदर्शन की दृष्टि से प्रदर्शित चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग के [illegible] तन्त्र एवं गीतोक्त योग का

---

१. विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयो चिरात्। (वि० पु० ७ अंश)

२. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते। (गो० त० २२।८)
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥ (गो० त० २२।९)

३. शा० ति० २५

४. करपादमुखादिविहीनं मनोरदृश्यमनन्यगमात्मपदम्।
यमिहात्मनि पश्यति तत्त्वविदस्तमिमं किल योगमिति ब्रुवते॥
(आ० पृ० ५४३)

कोई विरोध नहीं है। क्योंकि आत्मस्वरूप में चित्तवृत्ति की स्थिरता ही योग है, यह अर्थ "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (यो. सू. १।३) इस सूत्र में सुस्पष्ट है। गीता के द्वितीय अध्याय के पद्य के द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि समाधि में स्थिर बुद्धि का अवस्थान ही योग है। "समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यति।"

योग का भेदः—सभी साधनायें साधारण रूप से योग के नाम से परिचित है। ज्ञान हो या कर्म हो या भक्ति सभी के साथ योग शब्द का संयोग कर ज्ञान-योग, कर्मयोग, भक्तियोग, हठयोग, नादयोग, लययोग, जपयोग आदि। इसी प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से भी योग का दो भेद माना गया है। बहिरङ्ग योग-साधना के बल से ज्ञान का उदय होता है। किन्तु इस ज्ञान के होने पर भी ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट नहीं होता है। अन्तरङ्गयोगनिर्विकल्पक की साधना करने पर जिसे महाज्ञान कहा जाता है, इस अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय का पृथक् रूप से ज्ञान नहीं होता है। सत्य वस्तु का ज्ञान जो बहिरङ्ग योग है, उसके फलस्वरूप सत्य का भान अवश्य होता है, किन्तु अन्तरङ्ग योग के बिना द्रष्टा के सत्यस्वरूप में अवस्थिति की प्राप्ति नहीं होती है[1]। दत्तात्रेय संहिता के अनुसार राजयोग सर्वश्रेष्ठ माना है।

> "योगो हि बहुधा ब्रह्मन् तत्सर्वं कथयामि ते।
> मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च॥
> राजयोगश्च सर्वेषां योगानामुत्तमः स्मृतः[2]।

योगशिखोपनिषद् के अनुसार महायोग के रूप में भिन्न-भिन्न रूप में उपलब्ध सभी योग एक ही है। मन्त्रयोग लययोग, हठयोग एवं राजयोग ये [illegible] भेद मात्र हैं।

> मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
> एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते[3]॥

लययोग—योगशिखोपनिषद् के अनुसार हठयोग से सभी दोषों से उत्पन्न जडता का नाश हो जाता है, क्योंकि क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य = अभेद होता है, फलतः चित्त की विलीनता भी सम्पन्न होती है, यही लययोग है।

लययोग होने पर प्राणवायु स्थिर होता है। योगी को लययोग से परम पद की उपलब्धि के साथ स्वरूपानन्द का लाभ होता है[4]। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार वासना का पुनः उत्थान न होने के लिए विषय विस्मृति लय है। सभी

---

१. कल्याण योगाङ्क पृ० ३२५

२. प्रा० तो० का० ५। प० उ० पृ० ४३९

३. यो० शि० १।१२९

४. यो० शि० उ० पृ० ३६

सम्मेलन मन्त्रयोग है। शब्दात्मक मन्त्र चेतन हो जाता है और ऊर्ध्वगति क्रम में शब्दातीत परमधाम पर्यन्त गमन करता है। वैखरी से मध्यमा होते हुए पश्यन्ती अवस्था तक प्रवेश कराना मन्त्रयोग का उद्देश्य है। पश्यन्ती स्वप्रकाश चिदानन्दमय चिदात्मक-पुरुष की अमर षोडशी कला है। शब्द चैतन्य का फल आत्मा की स्वरूप स्थिति है। मूलाधार से शब्द ऊपर को उठता रहता है। मन्त्रयोग से बाह्य विषय से इन्द्रिय अवरुद्ध रहती है, और चेतन शब्द सुनने का अधिकारी होता है। अभिधान जनित शब्द अनाहत नाद में लीन हो जाता है। अक्षर समष्टि मात्र रह जाती है, इसमें भी ईडा और पिङ्गला की गति अवरुद्ध हो प्राण सुषुम्णा में प्रविष्ट होता है और सारस्वतस्रोत का अनुभव करता है और क्रमशः आज्ञाचक्र में जाता है, वहाँ बिन्दु स्थान का भेदन कर सहस्रार महाबिन्दु में अवस्थित है—यही तज्जपस्तदर्थ भावन रूप मन्त्र योग है।

हठयोग :—

योगशिखोपनिषद् के अनुसार हकार सूर्य है और ठकार चन्द्र है, सूर्य और चन्द्र का ऐक्य ही हठ योग है। शरीर में आपानवायु चन्द्र है और प्राणवायु सूर्य है। अतः प्राण और आपानवायु का संयोग हठ योग है। किसी किसी के मत में हठात् ज्योतिर्मय होकर अन्तर में शिव स्वरूपता की प्राप्ति करता है, अतः सिद्धि प्रद सिद्ध सेवित यह हठ योग है।

साधन में प्रधान साधन शरीर है, शरीर की स्वस्थता के विना साधना नहीं चल सकती है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः स्थूल शरीर की साधना का प्रभाव सूक्ष्म शरीर और मन पर होता है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार सभी तापतप्त मानवों के लिए यह आश्रयगृह स्वरूप है, एवं कूर्म जैसे पृथिवी का आधार है वैसे ही यह सभी योगों का आधार है। इस योग के करने से साधक के शरीर में दुर्बलता, मुख में प्रसन्नता, अनाहत नाद की व्यक्तता, नेत्र की निर्मलता एवं शरीर की स्वस्थता होती है, बिन्दु-जय से अग्नि उद्दीप्त तथा नाड़ी विशुद्ध होती है। इससे सुप्त कुण्डलिनी का जागरण एवं ब्रह्मद्वार मुक्त होता है।

"वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता विन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्" ॥[1]

हठयोग का उपदेश गोरक्षनाथ एवं इनके पूर्ववर्ती मृकण्ड पुत्र मार्कण्डेयादि ने किया है। हठयोग अष्टाङ्ग है, जिसका निर्देश पातञ्जलयोग दर्शन के यम आदि से किया है। गोरक्षनाथ के अनुसार यह षडङ्ग है। इन्हों ने यम और नियम का परित्याग कर अन्य सभी अङ्गों को माना है। घेरण्ड संहिता के अनुसार इसके

१. ह० प्र० २।७८

सङ्कल्प के विनष्ट होने पर जब अशेष चेष्टायें निःशेष हो जाती है तब लययोग उत्पन्न होता है। वाणी की अविषय अपने अनुभव मात्र से गम्य यह अवस्था है।

"उच्छिन्न-सर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः॥" ह० प्र० ४।३२

दूसरे शब्द से श्वास-प्रश्वास निरुद्ध हो जाता है, इन्द्रिय का विषय ग्रहण विध्वस्त हो जाता है एवं मन निश्चेष्ट हो जाता है; तब लययोग के उत्कर्ष की अवस्था आती है। यह लययोग अनेक प्रकार के हैं। वस्तुतः चित्तलय ही लययोग है। चलते, उठते, बैठते, निद्रा, आहार सभी अवस्थाओं में निष्कल ईश्वर का ध्यान करना—यही लययोग है। बाह्य एवं आभ्यन्तर जितने भी कर्म सभी की लय साधना लययोग है। आदिनाथ ने सवा करोड लययोग के भेद को कहते हुए नादानुसन्धान को मुख्यतम माना है। शिव संहिता में तो स्पष्ट कहा कि खेचरी के समान मुद्रा नहीं है और नाद के समान कोई लय नहीं है। अतः नादानुसन्धान = आत्मज्योति का दर्शन जिसे पातञ्जल दर्शन के अनुसार स्वरूपावस्थान अर्थात् अन्य दृष्टि से कुण्डलिनी-उत्थापन कहा है श्रेष्ठ लययोग है।

मन्त्र योग :—

हकार के द्वारा श्वास बाहर आता है और सकार के द्वारा भीतर प्रवेश करता है, इस प्रकार सभी लोग हंसः मन्त्र का जप करते है गुरु की कृपा से सुषुम्णा में विपरीत जप होता है अर्थात् सोऽहं हो जाता है—यही मन्त्रयोग है।

मन्त्र जप के लिए जो मनोलय है—वही मन्त्रयोग है, पातञ्जल के अनुसार तज्जपस्तदर्थभावनम् (पा० सू० १।२८) के द्वारा इसी का निर्देश किया है। इसकी दूसरी संज्ञा महाभाव मानी गई है, इसमें बाह्यव्यवहार विहित है, बाह्यानुष्ठान भी चलता है, वर्णाश्रम धर्म आदि भी चलता है, देव देवी की मूर्ति का प्रतीकात्मक ध्यान भी चलता है, उनके रूपका ध्यान और नाम के जप के द्वारा मन्त्रयोग समाधि होती है।

दत्तात्रेय संहिता में इसको अधम योग कहा है, किन्तु शक्तिसङ्गमतन्त्र में और पातञ्जल दर्शन में इसकी प्रशंसा की गई है। मन्त्र योग के अभ्यास से सुखदुःख रहित केवल परब्रह्म परिस्फुट होता है। इसके द्वारा चित्त शुद्ध होता है। कामक्रोध से युक्त परमात्मा का ऐक्य चिन्तन दुःख का कारण होता है, मन कहीं, ध्येय कहीं, तब सुख कहाँ? मानस भावना के द्वारा जीव ध्येय स्वरूप रहता है और भावना के त्याग के साथ ही जीव हो जाता है[1]। कविराजजी की व्याख्या के अनुसार मन्त्र का आश्रयण कर जीवात्मा और परमात्मा का

१. श० सं० त० १।२६–३०

जिस अवस्था में केवल ध्येय विषय मात्र का ज्ञान रहता है—वही ध्यान समाधि है। चित्त ध्येय के चित्र के स्वरूप को आधान करता है। योग समाधि है और यह चित्त का सार्वभौम धर्म है। योगः समाधिः, सच सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। (व्या० भा० ३।२)

घेरण्डसंहिता के अनुसार मन को देह से पृथक् कर परमात्मा के साथ युक्त करे। इसी अवस्था को समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में दश इन्द्रियों से सर्वथा असंयुक्त मन रहता है[1]। समाधि का यह स्वरूप शब्द भेद के साथ सभी दार्शनिकों एवं तान्त्रिकों ने स्वीकार किया है। द्रष्टा की स्वरूप स्थिति कहे या हठयोग प्रदीपिका के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य कहा जाय किन्तु इस अवस्था में सभी सङ्कल्पादि विनष्ट हो जाते हैं। इसका विश्लेषण करते हुए लिखा गया है कि मन की स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती है—जैसे लवण जल के साथ युक्त होने पर एक हो जाता है; वैसे ही मन आत्मा के साथ संयुक्त होकर एक हो जाता है—मन और आत्मा का ऐक्य ही समाधि है। समाधि के विषय में कहीं जीवात्मा परमात्मा के ऐक्य को ही मन की लयावस्था कही गई है। समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः[3]। किसी भी स्थिति में नित्यसमत्व भावनात्मक ध्येयाकारता समाधि है। इसी लिए तन्त्र में सर्वत्र ब्रह्मभावना के साथ अपने को भेद मूलक संसारी न मानकर संसार में आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं है—यह समत्व, ऐक्य, अभेद की स्थिति समाधि है। इस अवस्था की प्राप्ति से मनुष्य चराचर के कल्याण की दृष्टि से ही जीवन का उपयोग करता है, अतः राष्ट्र भावना एवं समाजिक तथा राजनीतिक स्थिति ऊर्ध्वतम भूमि पर अवस्थित रहती है।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार—एकादश इन्द्रियों की अपने कार्य से विरति प्रदर्शन करते हुए अचल एकत्व भावना को समाधि कहा गया है। "न सुनता है, न सूंघता है, न स्पर्श करता है, न देखता है, सुख दुःख कुछ भी अनुभव नहीं करता है, सङ्कल्पहीन मन रहता है काठ के समान वह कुछ भी नहीं जानता है, ध्येय में विलीन आत्मावस्था समाधि है[4]"।

आचार्य अभिनवगुप्त ने समाधि का वर्णन करते हुए लिखा है—"जो काम की (कामना) अभिलाषा से सम्पन्न हैं वे देहात्मक इस वेदवाणी को स्वर्गफल

---

१. घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्यं स्यात् परमात्मनोः ।
समाधि तं विजानीयात् मुक्तसंज्ञो दशादिभिः ॥ (ह० प्र० ६।२)

२. तत्समं च द्वयोरैक्यं को वात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ (ह० प्र० ४।६)

३. ह० प्र० ४।५ । यो० उ० १०६

४. कु० व० ९।१०–१४

सात अङ्ग है। उसमे प्रत्येक का विभिन्न फल है, षट् कर्मों से शरीर शोधन, आसन से शरीर दृढ़, मुद्रा से शरीर स्थिर, प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम से प्रणिधान होता है और ध्यान से आत्म प्रत्यक्ष और समाधि से निर्लिप्तता और मुक्ति होती है।[1]

राजयोग :—

योगेश्वरोदय में कहा गया है कि आकाश में घूमती हुई वायु जैसे स्वयं आकाश स्वरूप को प्राप्त करती है अर्थात् आकाश में लीन होती है, वैसे ही आकाश में अर्थात् ब्रह्म में मन का लय ही राजयोग है।

यथाकाशे भ्रमन् वायुराकाशं भ्रजते स्वयम्।
तथाकाशे मनो लीनं राजयोगक्रियामतम्॥ (योगेश्वरोदय)

योगशिखोपनिषत् के अनुसार शक्ति और शिव का योग ही राजयोग है।

रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः। (योग० उप० १।१३७)

राजयोग द्वैत-भाव-रहित है। 'राजयोगः स्यात् द्विधाभावविवर्जितः' (शि० सं० ५।१७) इस योग में दीप्तिका साक्षात्कार होता है। दीप्ति अर्थ को कहने वाले राज् (राज्) से यह निष्पन्न है। इसके फल की श्रेष्ठता को ध्यान में रखकर कतिपय आचार्यों ने योगों का राजा यह अर्थ किया है। किन्तु इस अर्थ में "योगराज' प्रयोग होगा। सर्वथा शिवप्रद होने के कारण ही यह राजयोग है। योगेश्वरोदय के मत में यह पन्द्रह प्रकार का है।

"पञ्चदश प्रकारोऽयं राजयोगः शिवप्रदः।
क्रियायोगः ज्ञानयोगः कर्मयोगो हठस्तथा॥
ध्यानयोगो मन्त्रयोग उपयोगश्च वासना।
राजन्त्येतद् ब्रह्मविष्णुशिव एभिश्च पञ्चधा॥

योगी स्वात्माराम ने श्रीशुकनाथ को प्रणाम करके केवल राजयोग की सिद्धि के लिए हठयोग का उपदेश दिया है।

"प्रणम्य श्रीशुकं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते॥" ह० प्र० १।२

समाधिः—ध्यान की चरम परिणति समाधि है। पातञ्जल योग सूत्र के अनुसार समाधि ही योग है। योग की चरमावस्था समाधि है। घेरण्डसंहिता में भी श्रेष्ठ योग को समाधि कहा गया है। ईश्वरात्मक गुरु कृपा से ही इसका लाभ होता है[2]। ध्येय विषय मात्र का ज्ञान सम्प्रज्ञात समाधि है।

---

१. घे० सं० १।१०–११

२. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो० सू० ३।३)

जलवस्तिं जले कुर्याच्छुकवस्तिं सदा क्षितौ ॥ (घे. सं. ११४६)

लौलिकी या नौलीः—पेट को एक तरफ से दूसरी ओर आन्दोलित करना है, इससे सभी रोग दूर होते है और देहाग्नि वर्द्धित होती है।

नेतिः—एक विता परिमित सूक्ष्म तागा लेकर नासिका के छिद्र में प्रवेश करे और इसको मुख से बाहर करे—यही नेति कर्म है। इसमें खेचरी सिद्धि होती है; तथा कफ दोष का नाश एवं दिव्यदृष्टि का लाभ होता है।

त्राटकः—नेत्र से जब तक पानी नहीं आता है, तब तक एक सूक्ष्म लक्ष्य की ओर पलक गिराये विना देखना त्राटक है। इससे शाम्भवी की सिद्धि होती है। सभी नेत्र रोगों का विनाश और दिव्यदृष्टि का लाभ होता है। कपालभातिः—वामक्रम व्युत्क्रम, शीत्कर्म के भेद से कपालभाति तीन प्रकार की है, इसके द्वारा दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है।

वामक्रमः—बाँई नाक में ईडासे वायु भरकर दक्षिण नाक से रेचन करे अर्थात् पिङ्गला से रेचन करे। इस प्रकार पर्यायक्रम में पिङ्गला से धीरे-धीरे पूरक और ईडासे रेचन करे। इस योगाभ्यास से कफ दोष हटता है।[1]

व्युत्क्रमः—नाक से जल खींचकर धीरे-धीरे मुख से बाहर करे। इससे श्लेष्मा दोष नष्ट होता है।[2]

शीत्क्रमः—शीत्कार पूर्वक मुख से श्वास खींच कर नाक से बाहर करे। इस क्रिया से कामदेव के समान होता है, इस योगाभ्यास से वार्द्धक्य ज्वराधिक्य नहीं रहता है, शरीर स्वच्छन्द एवं कफ दोष नष्ट होता है।[3]

हठयोग-प्रदीपिका एवं दत्तत्रेयसंहिता के अनुसार मेद और श्लेष्मा के आधिक्य रहने पर ही षट्कर्म का आचरण करे, अन्य व्यक्ति नहीं करे।

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत् तानि दोषाणां समभावतः[4] ॥

कतिपय आचार्यों के अनुसार प्राणायाम के द्वारा ही सभी मलों का शोषण करे—यह माना है, आचार्य पतञ्जलि ने भी प्राणायाम से अतिरिक्त किसी अन्य कर्मों की आवश्यकता नहीं है—यही स्वीकार किया है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम्[5] ॥

---

१. घे० सं० ६।५   २. घे० सं० १।५६

३. शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरचयेत् एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत्। न जायते वार्द्धक्यं च ज्वरो नैव प्रजायते। भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत् ॥ (घे. सं. १।५०—५१)

४. ह० प्र० २।२६   ५. ह० प्र० २।३१

से परिव्याप्त मानते हैं, जन्म और कर्म फल मानते हुए भेद भावना संश्लिष्ट समत्व से दूर ही रहते हैं, अतः वे विवेकी नहीं हैं। वेद को अपनी कल्पित वाणी के अनुरूप अभिप्रेत फल की प्राप्ति के लिए मानकर अपहृतचित्त हो व्यवसाय बुद्धि से युक्त जीवन व्यतीत करते हैं, वे समाधि की स्वरूप योग्यता भी नहीं रखते हैं, क्योंकि, नियतफल के अधीन ही वे रहते हैं अतः सुख-दुःख-मोहात्मक बुद्धि से वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में वे बन्धन में ही अपना जीवन प्रवाह चलाते रहते हैं, किन्तु फलाभिलाषा से शून्य होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सम्पन्न होने पर वेद उनके लिए बन्धन का कारण नही होता है। जीवन युद्ध में वे आत्मानुग्रहशून्य होते हुए भी प्राणियों के प्रति अनुग्रह सम्पन्न हो लोक जीवन-यात्रा में तत्पर छ दोषों से मुक्त सुख-दुःख-मोह-शून्य निष्काम कर्म रत हो समत्व भावना सम्पन्न होने से वास्तविक समाधि में रहते हैं। फल की कामना के कालुष्य से परिव्याप्त रहने पर ही, कर्म फल के प्रति साधन होता है। योग = समाधि में स्थित हो कर्म करे, क्योंकि साम्य ही योग है[1]। रागद्वेष रहित मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसको शुभ से प्रसन्नता और अशुभ से ताप नहीं होता है। इन्द्रियों को विषयों से खींच कर आत्मा में स्थिर करना ही योग या स्थिरप्रज्ञता है। उपसंहार में कहा है—योगी का लोकोत्तर व्यवहार रहता है, अन्धकार-रूपिणी माया के विषय में वह उद्‌बुद्ध रहता है कि कैसे इसका त्याग करे, क्योकि वहाँ प्राणी अनेक कामनानुरूप चेष्टाओं में सुख दुःख मोह से अभिभूत होकर उनमें ही सतत रत रहता है, किन्तु नाम रूप एवं सुख सन्ततियों का अनादर कर योगी ज्ञान से सम्बुद्ध स्थिरप्रज्ञ प्रबुद्ध स्थिति में रहता है। वह कामनावश बाह्य विषयों की ओर गतिशील नहीं रहता है अतः, निर्मम, निरहंकार निःस्पृह होकर लोकयात्रा निर्वाह करता हुआ शान्तिपूर्ण सन्तुष्ट ज़ीवन यापन करता है। अविद्या हेय या कामना का अवसान होने से इसको मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है। उपसंहार में असम्प्रज्ञात निर्विकल्पक समाधि एवं माध्यमिकों के अनुसार शून्यता की यही स्थिति हैं।

षट्कर्मः—धौति, वस्ति, नेति, नौली, त्राटक, कपालभाति ये छ कर्म हैं।

धौति चार प्रकार की है। अन्तःधौति, दन्तधौति हृद्‌धौति, मूलशोधनधौति से शरीर निर्मल होता है।

अन्तःधौति भी चार प्रकार की है—वातसार, वारिसार, अग्निसार, एवं बहिष्कृत।

वस्ति—जिस प्रक्रिया से वस्ति प्रदेश का शोधन होता है, उसे वस्ति कहा जाता है, जलवस्ति और शुष्कवस्ति के भेद से यह दो प्रकार की है।

जलवस्तिः शुष्कवस्तिः वस्तिः स्याद्द्विधा स्मृता।

---

१. गी० अभिनव व्या० पृ० ११९–१३२

आशय यह है कि चित्त की वृत्ति के निरोध का नाम योग या समाधि है। योग दो प्रकार का है, निर्विकल्पक योग और सविकल्पक योग। निर्विकल्पक योग की अवस्था में चित्त का ध्वंस होता है और असम्प्रज्ञात में पुरुष की स्वभाव में अवस्थिति होती है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिति रहती है, योगशास्त्र की दृष्टि में यही कैवल्य या मुक्ति है। स्तर स्तर पर प्रज्ञा के विकास के फलस्वरूप चित्त का विनाश होने पर मुक्तावस्था आती है। निम्नलिखित प्रज्ञाओं के फलस्वरूप क्रमशः चित्त का विनाश होता है—

१. दुःख के कारण भूत संसार का ज्ञान होना तथा उसको जानने के लिए कुछ शेष नहीं रहता है।

२. संसार के मूल कारण का उत्पाटन हो गया है, अब उसका उत्पाटन शेष नहीं है।

३. निरोध समाधि के द्वारा यह उत्पाटन कार्य हुआ है।

४. पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञात हो गया है, इस प्रज्ञा की उपलब्धि होने पर कतिपय तात्त्विक घटनायें होती हैं।

(क) बुद्धि की पुरुषार्थता सम्पन्न होती है।

(ख) चित्त नष्ट होकर प्रकृति के रूप में अवस्थित होता है।

(ग) बुद्धि अपने गुणों के स्वभाव में परिणत होती है।

बुद्धि आदि एवं गुण पुरुष के प्रति योग और मुक्ति उत्पन्न करता है। पुरुषार्थ विरहित कार्य-बुद्धि आदि और कारण-गुणत्रय का (मूल प्रकृतिस्वरूप गुणत्रय का) प्रतिलोम प्रश्रय या प्रतिपुरुष अर्थात् प्रकृति के रूप में अवस्थान को केवल का धर्म कैवल्य या मुक्ति कहा जाता है। स्वरूप प्रतिष्ठा अर्थात् बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुष में प्रतिबिम्बित न होकर पुरुष का अपने शुद्ध निर्लिप्त चिद् भाव में अवस्थान करना है। चिति शक्ति ही स्वरूप है। ("पुरुषार्थ-शून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति"[1]) प्रकृत में कैवल्य शब्द से पुनः उत्थान रहित विदेह कैवल्यावस्था है। कैवल्य अर्थात् चित् शक्ति की स्वरूपस्थिति अर्थात् द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान—यही असम्प्रज्ञात योग है। यह कैवल्यरूपा चिति-शक्ति असंहत है। संहतशक्ति ही पुनः पुनः कार्य का उत्पादन करती है। चैतन्य मात्र स्वरूपिणी असंहता चिति शक्ति से उस प्रकार का कार्य कभी भी उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिए वह केवला है (चितिशक्तिरेव केवला[2])। इसका किसी भी समय बन्धन नहीं था समाधि की स्थिति में इसका मोक्ष भी किसी समय आविर्भूत नहीं होता है। बन्धन और मुक्ति इन दोनों से यह अतीत है। असम्प्रज्ञात योगावस्था ही मुक्ति है। असम्प्रज्ञात योग के लाभ होने पर पुरुष चितिशक्ति में

१. योग सू० कै० पा० ३४

२. व्यास भाष्य ३४

आसनः—हाथ पैर आदि संस्थान विशेष को विशिष्ट रूप में रखना आसन है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार आसन हठयोग का प्रथम अङ्ग है। इनके अभ्यास से देह की स्थिरता आरोग्य और लघुत्व होता है। आसनों की चौरासी लक्ष संख्या कही गई है। इनमें चौरासी विशिष्ट हैं और इनमें भी बत्तीस का मुख्यतम स्थान है। यथा—सिद्ध, पद्म, भद्र, मुक्त, वज्र, स्वस्तिक, सिंह, गोमुख, वीर, धनु, शव, गुप्त, मत्स्य, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, पश्चिमोत्तान, उत्कट, सङ्कट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, उत्तानकूर्मक, उत्तानमण्डुक, वृक्ष मण्डुक, गरुड, वृष, शलभ, वृषमकर, उष्ट्र, भुजङ्ग एवं योग। घेरण्डसंहिता में आसन के फलों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।

मुद्राः—मुद्रा भी आसन के समान ही शारीरिक अवस्था विशेष है। प्रधान रूप से इन मुद्राओं का निर्देश मिलता हैं। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महाबोध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, ताडागी, माण्डुकी, शाम्भवी, पञ्चधारणी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी भुजङ्गिनी। इनके अतिरिक्त भी सुरभि, ज्ञान आदि मुद्रायें वर्णित हैं। इनके अभ्यास से योगियों को सिद्धि लाभ में सहयोग मिलता है।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरिणी, बज्रोली, शक्तिचालनी ये दश मुद्रायें वृद्धत्व और मृत्यु की नाशक है। "इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशकम्" मुद्रा का अभ्यास कुण्डलिनी के जागरण का प्रसारण हेतु है।

"तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।"
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥ (ह. प्र. ३।१२८)

मोक्षः—योगसूत्र के द्वितीय पाद के बाइसवें सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है कि—अनादिकाल से प्रवृत्त दृश्य-समुदाय कृतार्थ=ज्ञानी पुरुष के प्रति अर्थात् मुक्त पुरुष की दृष्टि से नष्ट अर्थात् लीन रहता है, किन्तु अकृतार्थ पुरुष के लिए दृश्य वर्ग भासमान रहता है। "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य-साधारणत्वात्" (२२ सू.) कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमपि अनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्" (व्या. भा. २२) अतः प्राकृतजगत् से परे आत्मस्वरूप में अवस्थिति योगी की रहती है। यही कारण है कि पातञ्जल योग सूत्र के प्रथम पाद के तृतीय सूत्र में बुद्धि से ज्ञात आत्मा का स्वरूप अविवेक-प्रयुक्त होने से स्वाभाविक रूप नहीं है, बुद्धि का स्वभाव सिद्ध रूप स्वरूप प्रतिष्ठत होना है। पुरुष की स्वरूप प्रतिष्ठता स्वभाव होने से अस्वरूप प्रतिष्ठता बुद्धिबोधात्मता या दृश्य वर्गों का दर्शन मिथ्याज्ञान प्रयुक्त ही मानना होगा। योग के द्वारा स्वरूप अवस्थिति होने पर तत्त्वज्ञान प्रयुक्त मिथ्याज्ञान का उच्छेद होने से बुद्धि बोधात्मता न रहने से पुरुष स्वरूपस्थ स्वस्थ हो जाता है।

"न वेति विभाषा" (पा० सू० १।२।४४) इस सूत्र के अनुरूप ही विकल्पार्थक मानकर आगे का व्याख्यान प्रदर्शित किया है। इसी विकल्प को सिद्ध करने के लिए कहा गया है—"ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इसका पूर्व सूत्र में वर्तमान विशेष के साथ अन्वय विवक्षित है। अतः मृदु आदि तीव्रसंवेग से जो कार्य होता है, उससे भी विशेष ईश्वर-प्रणिधान से होता है। इनके सिद्धान्त में प्रणिधान शब्द का अर्थ, साधन पाद में कथित समाधि की सिद्धि ईश्वर के प्रणिधान से होती है[1]—यह विवक्षित नहीं है वरन् असम्प्रज्ञात की कारणीभूत जो समाधि है वह भावना विशेष ही है, क्योंकि प्रणिधान की व्याख्या "तज्जपस्तदर्थभावनम्" (यो. सू. १।२८) इस आगे के सूत्र के द्वारा ही कर दिया गया है। जीवात्मविषयक प्रज्ञान्त एवं ईश्वर-विषयक-प्रज्ञान्त को ही योग का उपाय कहा गया है। असम्प्रज्ञात समाधि के साधनवर्णन प्रसङ्ग में श्रद्धावीर्य्य-स्मृति-समाधिप्रज्ञा[2] को साधन रूप में कहा गया है। इस सूत्र की व्याख्या में वार्त्तिककार ने कहा है कि देव मनुष्य को जन्म के ग्रहण मात्र से असम्प्रज्ञात समाधि नहीं होती है, किन्तु श्रद्धा से आरम्भ कर प्रज्ञापर्यन्त योगोपाय के अनुष्ठान से ही असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इस स्थल में प्रज्ञा का विश्लेषण करते हुए वार्त्तिककार ने कहा है कि प्रज्ञा, समाधि योग का अन्तिम अङ्ग है। समाहित चित्त वाले व्यक्ति को प्रज्ञा—जीवतत्त्वसाक्षात्काररूपविवेक या आत्मतत्त्वसाक्षात्कार रूप विवेक उत्पन्न होता है और इस विवेक से वह यथार्थ वस्तु को समझता है।[3]

जीवात्मविषयक एवं परमात्मविषयक प्रज्ञापर्यन्त योग के उपाय कहे गये हैं, इनमें जीवात्मविषयक प्रज्ञापर्यन्त उपाय अधिमात्र तीव्रसंवेग रूप साधन के समवधान में ही असम्प्रज्ञात समाधि उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु परमात्मविषयक प्रज्ञापर्यन्त उपाय से अधिमात्र तीव्रसंवेग के अभाव में भी असम्प्रज्ञात आसन्नतम रहता है। ईश्वरविषयक एवं जीवविषयक ये दोनों प्रज्ञायें असम्प्रज्ञात योग अर्थात् मोक्ष हेतु हैं, दोनों प्रज्ञायें देहादि अभिमान की निवर्तिका हैं, अतः परवैराग्य रूप द्वारत्व उभयत्र समान है; फिर भी परमात्मप्रज्ञा से अधिमात्र तीव्रसंवेग के अभ्यास के विना भी असम्प्रज्ञात योग की हेतुता होने से यह प्रज्ञा श्रेष्ठ है। इससे प्रत्यग् चैतन्य की अधिगति है और दोनों में सर्वथा व्यवधान का अभाव भी है; इसीलिए श्रुतिस्मृति इतिहास आदि ने सर्वत्र ब्रह्म ज्ञान को ही मोक्ष का साधन कहा है; जीव तत्त्वज्ञान की मोक्ष हेतुता विरल ही है। यदि दोनों की प्रज्ञा का समान ही विकल्प रहे तो इन श्रुतियों का अर्थ सर्वथा विरुद्ध हो जायेगा।

श्रुति में कहा गया है—उसी को जानकर अमरत्व को प्राप्त करता है अन्य मार्ग मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं है "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था

१. यो० सू० साधनपाद दृ० २६५। २. यो० सू० पृ० ५९

३. तदेवं...दिषयीकरोति। पृ० ६०

द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित होता है। प्रथम पाद के तृतीय सूत्र का यही अभिप्राय है। यह अवस्था पुरुष की सर्वथा गुण के वियोग की अवस्था है, पुनः कभी भी गुणों के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। गुण के साथ एकान्त अत्यन्त वियोग ही कैवल्य या द्रष्टा का स्वरूप योग है। ("पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यं तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति"[१])। सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेक ज्ञान में भी विरक्ति आने पर अविद्या आदि क्लेशबीज समस्त मन के साथ विनष्ट हो जाते हैं तभी स्वरूप प्रतिष्ठारूप मुक्ति होती है। (तद्वैराग्यादपि दोष-बीजक्षये कैवल्यम्।[२]) कैवल्यावस्था में अविद्या का अभाव होने पर प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का अभाव होता है, यह आत्यन्तिक बन्ध्यत्व ही कैवल्य या स्वरूप प्रतिष्ठा है।[३] किसी-किसी ज्ञानी की जीवन दशा में ही आत्मख्याति की स्थिरता और मिथ्याज्ञान शून्यता आती है। वे सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का अनुभव कर कुशल होते हैं; चित्त का अत्यन्त लय होने पर पुरुष कुशल या मुक्त होता है। क्योंकि वह गुणातीत हो जाता है। (सा. पा. व्या. भा. २७) प्रथम अवस्था जीवन्मुक्त है, द्वितीय कुशल विदेह मुक्त है, चित्त के लय से पूर्व जीवन्मुक्त अवस्था एवं शरीर के पात के साथ-साथ जब चित्त का भी लय हो जाता है तो इसको विदेह मुक्तावस्था कहा जाता है। कतिपय आचार्यों के मत में आनन्द या सुख प्रकृति का धर्म होने से कैवल्य में आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं रहती है। पुरुष का स्व-स्वरूप अवस्थान चैतन्य स्वरूप है, अतः चैतन्यमय अवस्था की स्थिति ही कैवल्य या मुक्ति है।

योगदर्शन और ईश्वर

योगशास्त्र में चित्तवृत्ति निरोध के उपाय निरूपण प्रसङ्ग में अधिमात्र तीव्र संवेग के द्वारा समाधि आसन्नतम होती है—इसका निरूपण कर व्यासभाष्य में यह आकांक्षा की गई है कि क्या यही एकमात्र आसन्नतम समाधिलाभ का साधन है या इससे अन्य भी उपाय है—जिस उपाय के द्वारा आसन्नतम समाधि हो सकती है। इसी प्रसङ्ग में विकल्प रूप से अन्य उपाय का प्रदर्शन करते हुए सूत्रकार ने कहा है—ईश्वर के प्रणिधान से भी समाधि आसन्नतम होती है। "ईश्वरप्रणि-धानाद्वा"। (यो. सू. १।२३)

तत्त्ववैशारदीकार ने पूर्वोक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए 'नवा' शब्द को निश्चयार्थक अव्यय स्वीकार कर इसी रूप में सूत्र की व्याख्या की है और इसी अर्थ में इसका समन्वय किया है। वार्तिककार ने "न वा" शब्द को पाणिनि व्याकरणस्थ

---

१. विभूतिपाद ५० व्या० सा०

२. वि० पा० ५०

३. सा० पाद २५

उपाधि के द्वारा ईश्वर स्वरूप की कल्पना की गई है, उसी प्रकार इस दर्शन में भी ईश्वर की भी सिद्धि हो सकती है, किन्तु यह भी कथन ठीक नहीं है। कारण, अतिरिक्त ईश्वर तत्त्व के स्वीकार करने की अपेक्षा उपाधि रहित अवस्था में चेतन पुरुष रूप जीव में ही ऐश्वर्य मानना चाहिए और इसी जीव का ऐश्वर्य मानकर तदनुसार श्रुति और स्मृति के कथन की उपपत्ति हो सकती है, अतः जीव से अतिरिक्त ईश्वर को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार प्रधान और जीव से अतिरिक्त ईश्वर नहीं है—इस मत का समर्थन करने वाले सांख्यदर्शन का मत खण्डन करते हुए वार्त्तिककार ने कहा है—पूर्वोक्त सांख्य के आक्षेप का खण्डन करने के लिए ईश्वर स्वरूप का विश्लेषण करने के लिए इस "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (पा० सू० १।२४) सूत्र की अवतारणा की है। भाष्य में इसका उत्थापन इन शब्दों के द्वारा किया गया है—"कोऽयमीश्वरो नामेति" शाङ्करभाष्य में अध्यास की स्थापना प्रसङ्ग में भी इन्हीं शब्दों से अध्यास का उत्थापन किया गया था—"कोऽयमध्यासो नामेति"। "किम्" शब्द का प्रयोग, जिज्ञासा आक्षेप आदि अनेक अर्थों में होता है। प्रकृत में वार्त्तिककार ने "किम्" शब्द का प्रयोग आक्षेप अर्थ में स्वीकार किया है। आक्षेप से अभिप्राय यह है कि ईश्वर क्या है? अर्थात् ईश्वर कुछ भी नहीं है, यह निरूपण योग्य ही नहीं है। अर्थात् पूर्वपक्षियों के मत में ईश्वर कुछ भी नहीं है, इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए आगे का सूत्र दिया है, अथवा किम् शब्द के द्वारा ईश्वर के लक्षण की जिज्ञासा की है, अर्थात् ईश्वर का क्या लक्षण है—यह जिज्ञासा की है; अतः ईश्वर का लक्षण सूत्रकार ने कहा है[1]।

क्लेश कर्म विपाक एवं आशय से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ही ईश्वर है। अतः ईश्वर का पुरुष में अन्तर्भाव और इसकी उपाधि का प्रधान में अन्तर्भाव होता है। सांख्यमत के अनुसार सिद्ध जीव को लेकर ईश्वर की प्रतिपादिका जो श्रुति एवं स्मृति है उसकी उपपत्ति भी हो जायेगी, पूर्वोक्त आपत्तियों के निराकरण के लिए "अपरामृष्टः" एतत्पर्यन्त विशेषण दिया गया है, जीव के साथ क्लेशादि का सर्वथा असम्बन्ध नहीं रहता है, किन्तु ईश्वर के साथ क्लेशादि का कभी भी सम्बन्ध नहीं रहता है, अतः इतर मत सिद्ध जीव ईश्वर नहीं हो सकता है। कारण, योग में जो ईश्वर का स्वरूप प्रतिपादित किया है वह जीव में नहीं घटता है[2]।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश कहे गये है। धर्म=कुशल सुख के साधन है और अधर्म=अकुशल दुख के साधन है, अतः कुशल और अकुशल कर्म, धर्म और अधर्म है। कर्म का ▮▮▮ विपाक है और विपाक

१. क इत्याक्षेपे, अथ वा प्रकृतिपुरुषातिरिक्तस्येश्वरस्य किं लक्षणमिति प्रश्नेन लक्षणसूत्रमुत्थापयति। (वा० पृ० ६४)

२. क्लेश''''''अपरिमृष्टान्तं विशेषणम्। (वा० पृ० ६५)

विद्यतेऽयनाय (श्वे० ६।१५, ३।८) उसी एक आत्मा को जानो, अन्य वाणी को छोड़ दो। यह अमरत्व का सेतु है "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः" (मु० २।२।५)

स्मृति में भी कहा गया है कि—वह ईश्वर समष्टि रूप है, व्यक्त स्वरूप एवं अव्यक्त स्वरूप है। सभी का प्रभु है, सभी विशेष का वेत्ता है एवं समस्तशक्ति परमेश्वर स्वरूप है, जो दोषरहित शुद्ध, परात्मक, निर्मल, एक रूप है, उस परमात्मा का जो दर्शन करता है या अवगति करता है—वह ज्ञानी है; इससे अतिरिक्त अज्ञानी है। इस स्मृति के द्वारा ईश्वर विषयक ज्ञान ही मोक्ष का साधक कहा गया है।

जीव विषयक प्रज्ञा आसन्नतम योग के उत्पादन के लिए अभ्यास के अतितीव्रत्व की अपेक्षा रखती है किन्तु ईश्वर विषयक प्रज्ञा साक्षात् आसन्नतम योग का हेतु होने के कारण अभ्यास की अतितीव्रता की अपेक्षा नहीं करती है, इसमें किसी कारण विशेष की उपलब्धि या अपेक्षा नहीं होती है। पूर्वोक्त विषय के समर्थन के लिए ही भाष्यकार ने कहा है कि "प्रणिधानसे"। इसकी व्याख्या करते हुए वार्त्तिककार ने कहा है कि प्रणिधान ब्रह्मरूप से चिन्तन स्वरूप ही है। यह ईश्वर विषयक चिन्तन प्रेमात्मिका भक्ति है, उस भक्तिरूप प्रणिधान से ईश्वर को अभिमुख किया जाता है। ईश्वर के अभिमुख हो जाने पर ईश्वर की इस इच्छा मात्र से कि इस ध्यान करने वाले व्यक्तियों के लिए समाधि और मोक्ष आसन्नतम हो जाए, अर्थात् इस अनुग्रहात्मिका इच्छा मात्र से ही रोग और अशक्ति के कारण उपाय के अनुष्ठान की कमी होने पर भी एवं अधिमात्रतीव्र संवेग के कारणों के न रहने पर भी ध्याता का आनुकूल्य हो जाता है। इस तरह ईश्वर की इच्छा मात्र से प्रणिधान अर्थात् प्रेमात्मिका भक्ति की निष्पत्ति आदि के द्वारा योगियों के लिए समाधि आसन्नतम हो जाती है।[1]

विचारणीय है कि योग सिद्धान्त में प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त अन्य तत्त्व को स्वीकार ही नहीं किया है, ऐसी स्थिति में प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त वह कौन सा तत्त्व ईश्वर तत्त्व है ? ईश्वर को प्रधान नहीं माना जा सकता है। कारण, ईश्वर को चेतन माना है और प्रधान अचेतन है। पुरुष चेतन है अतः ईश्वर को पुरुष माना जाय तो यह भी समीचीन नहीं है। कारण, सभी पुरुष चिन्मात्र स्वरूप होने के कारण चिन्मात्र स्वरूप में स्वतः ईश्वरत्व और अनीश्वरत्व का होना सम्भव नहीं है। वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों ने नित्य इच्छा ज्ञानादिविशिष्ट को ही ईश्वर स्वीकार किया है, यदि उसी प्रकार यहाँ भी स्वीकार किया जाय तो इसके उत्तर में यही कहना होगा कि प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त स्वतन्त्र ईश्वर को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। वेदान्तादि सिद्धान्तों में अविद्यारूप

---

१. ब्रह्मात्मना……भवत इत्यर्थः। पृ० ६४

है। अतः समवाय सम्बन्ध से पुरुष सुख दुःख आदि का आश्रय कैसे होता है ! इस विषय के उत्तर में वार्त्तिककार नें कहा कि समवाय सम्बन्ध से पुरुष में सुख आदि का अवस्थान अविद्या के कारण हो जाता है। अविद्या के द्वारा दोनों में विवेक बुद्धि नहीं रहती है और फलस्वरूप पुरुष में समवाय सम्बन्ध से सुख दुःख आदि के न रहने पर भी "पुरुषः सुखी" "पुरुषः दुःखी" आदि व्यवहार उपपन्न होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि क्लेशसम्पर्क से शून्यता अन्य पुरुष में नहीं है, यह मात्र ईश्वर में है। यदि वह कहा जाय कि "भर्ता भोक्ता महेश्वरः" इस गीता के वचन से ईश्वर में ही भोग की सिद्धि होती है। ऋतं पिबन्तौ आदि श्रुतियों के अनुसार भी अभिमान पूर्वक मुख्यभोग रूप सुखादि अनुभव का ही प्रतिषेध होता है, लोक में भोग के द्वारा इसी का व्यवहार प्रतिपादित होता है। अथवा जीव-भोग्य दुःखादि के भोक्तृत्व का प्रतिषेध ही श्रुतिसे अभिमत है, दुःख-भोग ईश्वर से विलक्षण है–इसी को अपरामृष्ट शब्द से कहा गया है, सुखसाक्षिता-मात्र ही प्रकृत में ईश्वर का भोग है। जीवन्मुक्त का भी ईश्वर के समान ही भोग नहीं है, क्योंकि दुःख-भोगमात्र ही ईश्वर से विलक्षण है। इसी की अभिव्यक्ति क्लेश से अपरामृष्ट इसके द्वारा की गई है। यदि क्लेशादि से शून्य ईश्वरकी श्रुति और स्मृति के द्वारा इच्छा करनी चाहिए, यह विवक्षित है, तब कैवल्य ज्ञानप्राप्त किये हुए अनेक हिरण्यगर्भ आदि केवली जीवन्मुक्तों के अध्यक्ष क्लेशादि शून्य वर्तमान हैं, अतः वे ही ईश्वर मान लिए जाय तो क्या आपत्ति है ? हिरण्यगर्भ आदि केवली तीन प्राकृतिक पूर्व स्थित बन्धनों का उच्छेद कर ही मुक्त होते हैं। अतः वे क्लेशादि परामर्शों से सदा शून्य नहीं हैं, किन्तु ईश्वर को सदैव क्लेशादि तीन बन्धनों से मुक्त श्रुति में कहा गया है। श्रुति में कहा गया है कि जो परमात्मा है वह नित्य निर्गुण है और जो कर्म पुरुष है वह मोक्ष या बन्ध से युक्त है। प्रकृत में निर्गुण शब्द से गुणाभिमानशून्य अर्थ कहा गया है। इसी विषय की अभिव्यक्ति नारद के वचनों से भी होती है—परमात्मा निर्गुण है और जीव अहङ्कार से युक्त है। ईश्वर और इच्छा का साम्य होने पर भी उसमें अनभिमान और अभिमान के द्वारा ही[1] निर्गुणत्व और सगुणत्व की सिद्धि होती है। अतः मुक्त जीव ईश्वर नहीं हो सकता है।

ईश्वर को अनेक मानने पर भी कोई दोष नहीं है, कारण ईश्वर में राग न होने के कारण परस्पर विरुद्ध इच्छा से सम्पन्न ये नहीं हो सकते हैं। यदि सभी ईश्वरों में एक समान इच्छा होती है, कभी भी विरुद्ध इच्छा नहीं होगी, तब एक ईश्वर की इच्छा के द्वारा ही कार्य हो सकता है, अतः अनेक ईश्वर को स्वीकार करना व्यर्थ ही होगा। किन्तु इस प्रसङ्ग में अनेक ईश्वर को मानने पर भी वे सब मिलकर एक प्रकार की इच्छा से कार्य करते हैं, अतः कोई दोष नहीं है। किन्तु, ऐसा मानने पर

---

१. पा० सू० भा० १।२५

महोपनिषद् के अनुसार विचारणा और शुभेच्छा से इन्द्रियों की विषयों के प्रति राग की तनुता = कमी आती है, अतः यह तनुमानसी है।[1]

योगकारिका के अनुसार निरोध समाधि में हान के साक्षात्कार की उपलब्धि हो गई है, अतः यह साक्षात्कृत नाम की तृतीय भूमि है।[2] अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा सम्प्रज्ञात अवस्था में ही निरोध समाधिसाध्य हान का निश्चय कर लिया है।

चतुर्थी सत्त्वतापत्तिः—वासना विलयात्मक फल के निष्पन्न हो जाने से विवेक ख्याति रूप हान का उपाय सम्पन्न हो जाता है। क्योंकि अन्य कार्य सम्पादन के लिए कुछ शेष नहीं है—यह प्रयत्न निष्पाद्या विमुक्ति है। अर्थात् समाप्ति अर्थात् कर्तव्य समाप्ति होने से जीवमुक्ति भी यही है। यह पर-वैराग्य रूप चित्त नाश की आद्य भूमिका रूपा है। प्रान्तभूमि प्रज्ञा का विषय तीन भूमि होती है, चतुर्थी भूमि स्वयं ही होती है; उसके लिए किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती है।

पञ्चमी असंसक्तिः—आनन्दरूपा मेरी बुद्धि निष्पन्न अर्थ हो गई है यह ज्ञान होता है, अर्थात् चरिताधिकारा है—बुद्धि का भोग और अपवर्ग दोनों समाप्त हो जाते हैं। यह परवैराग्य रूप चित्तनाश की प्रथम भूमिका है। अर्थात् चार अवस्थाओं के अभ्यास से असंसर्ग कलात्मिका रूढसत्त्व चमत्कार स्वरूपा=ईश्वरसत्त्व को प्राप्तकर उससे संसृष्ट हो चिन्मय साक्षी में स्थिति लाभ करती है, अतः यह असंसक्ति नामिका या बुद्धि चरिताधिकारा है।[3]

षष्ठी पदार्थ भावना = चित्तविमुक्ति प्रज्ञा—असंवेदनरूपा है।

बुद्धि सुख आदि गुण बुद्धि में प्रलयाभिमुख हो चित्त के साथ वे लीन हो जाते हैं। बुद्धि से मुझे प्रयोजन नहीं है, अतः संसार सुख, दुःख आदि सत्त्वादि-त्रिगुणात्मक प्रकृति में लीन होते हुए चित्त के साथ ही सर्वथा लय प्राप्त करते हैं। जैसे पर्वत शिखर समूह से गिरी हुई शिला रुकने में असमर्थ हो लय प्राप्त करती है। लिंग शरीर की विनश्यदवस्था यह षष्ठी भूमिका है। महोपनिषद् में कहा गया है कि पाँच भूमिकाओं के अभ्यास से अपने से अतिरिक्त में रति को विस्मृत होकर केवल स्वात्माराम के रूप में दृढ होती है, आन्तर और बाह्य पदार्थों से अतिरिक्त साक्षी के स्वरूप की प्राप्ति से स्वस्वरूप की अवगति = ज्ञान होना पदार्थ भावनात्मिका प्रज्ञा भूमि है।

सप्तमी भूमि तुर्यगा = तुर्यातीत पदावस्थाः—इस भूमि में चित्त गुण सम्बन्धों से रहित स्वभाव वाला होता है, इस भूमि में संस्कार सुख आदि की पुनः उत्पत्ति

---

१. विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता ।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ।। पृ० २९५

२. साक्षात्कृतं परं हानम् पृ० २५ ।

३. दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या ।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्तासंसृतिनामिका ।। (म० उप० पृ० २९५-९६)

"तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा । २।२७ । प्रज्ञाकी सात भूमि निम्न लिखित हैं। इन सात भूमियों का द्विधा विभाग किया है। प्रथम वर्ग में चार भूमियाँ और द्वितीय वर्ग में तीन भूमियाँ हैं।

१ ज्ञातभूमि—शास्त्र और सज्जन के सम्पर्क से वैराग्य और अभ्यास स्वरूपा मुमुक्षुत्व स्थिति को प्रदान करने वाली प्रथम ज्ञानभूमि है—जिसको शुभेच्छा नाम से कहा जाता है।[१]

योग कारिका के अनुसार प्रथमा प्रान्त भूमिको प्राप्तकर सभी हेयपदार्थों का मैंने ज्ञान कर लिया है अब ज्ञेय शेष नहीं है—यह प्रथमा प्रान्तभूमि है। इससे ज्ञातव्यता की निवृत्ति होती है।

तद्विषयायाः प्रज्ञाया निवृत्तिरित्येतद्रूपाख्या। (भास्वती पृ. २३८)

द्वितीया विचारणा भूमिः—त्याग के योग्य अविद्या, काम, कर्म आदि प्रज्ञा के साक्षात्कार के द्वारा क्षीण हो गये हैं—यह द्वितीय है। अर्थात् त्याग योग्य विषय की की निवृत्ति प्रज्ञा की उपलब्धि वैराग्य के अभ्यास से करने की इच्छा होने से यह शुभेच्छा भी कही जाती है। शास्त्र, सज्जन के सम्पर्क से वैराग्य के अभ्यास की स्थिति पूर्वक सदाचार प्रवृत्ति को विचारणा कहते है।[२]

तृतीया तनुमानसीः—साङ्गभावना अविद्यादि के क्षय से उत्पन्न निरोधसमाधि रूप साधन के विशेष उत्थानके समय दुःखहान रूप भाविमोक्ष का मैंने साक्षात्कार कर लिया है, देहनाश के बाद ऐसा मुझे [illegible] ही प्राप्त होगा, इस रूपमें सजातीय साक्षात्कार एवं सजातीय समान्य साक्षात्कार के विनाश से परिचित असम्प्रज्ञात योग के दृष्टान्त से कैवल्य भी दृष्टप्राय रहता है। किन्तु निरोध समाधि में हान के साक्षात्कार की अनुपपत्ति है, क्योंकि वृत्ति का अभाव रहता है, अतः असम्प्रज्ञात कालीन दुखाभाव योग्य की अनुपलब्धि के अभाव से व्युत्थान में साक्षात्कार रहता है, यदि असम्प्रज्ञान में भी दुःख रहता तो उसकी अनुभूति होती, सोकर उठने के समान व्युत्थान में भी अनुभूत का स्मरण होता है। या निरोध समाधि से निष्पादन योग्य हान रूप मोक्ष त्यागगोचर का सम्प्रज्ञात से साक्षात्कार होता है। अर्थात् निरोध के ज्ञान से परगति विषय प्रज्ञा की समाप्ति हो जाती है।[३]

---

१. ज्ञानभूमिः शुभेच्छा या प्रथमा समुदाहृता। (म० उप० पृ० २९५)
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासरूपिणी।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता मुमुक्षुत्वप्रदायिनी॥ (अ० उप० पृ० २)

२. (क) शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥ (म० उप० २९५)
(ख) क्षेतव्यताविषयायाः प्रज्ञाया या निवृत्तिस्तस्या उपलब्धिः।
(भा० पृ० २३८)

३. वा० पृ० ५३९, भा० ५३८–३९।

होने से सत्त्व का आधिक्य रहता है, अतः, ह्लादात्मक-सुख-विशेषात्मक साक्षात्कार होने से, यह आनन्द विषयक है, अतः आनन्द है, इससे अनुगत निरोध आनन्द सम्प्रज्ञात समाधि है। इस में अहं सुखी यह चित्तवृत्ति होती है।

अस्मिता समाधिः—बुद्धि के साथ पुरुष की अभिन्नताभ्रान्तिरूप अस्मिता को अवलम्बन कर इस विषय में चित्त की एकाग्रता अस्मितासम्प्रज्ञात समाधि है।

योगी की चित्तगत अवस्था का तारतम्य एवं उसके आलम्बन से विषय के उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार पूर्वोक्त निरोध समाधि दो प्रकार की है। १. भवप्रत्यय, २. उपायप्रत्यय। प्रकृति, महत्, अहङ्कार आदि अनात्म वस्तु में आत्मा का ज्ञान कर उन विषयों में ही निरोध समाधि की साधना करते हैं, उनकी समाधि में अविद्या और भ्रान्तिज्ञान विद्यमान रहने से इस समाधि से कभी भी कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती है, वरन् देवभाव की प्राप्ति होती है या प्रकृति आदि में प्रवेश पूर्वक बहुत दिनों तक विरतव्यापार होने से कैवल्य पद का ही अनुभव करते हैं। नियत समय की समाप्ति होने के बाद अपने प्राक्तन कर्मों के अनुसार पुनः संसार में प्रवेश करते हैं यह समाधि अविद्या पूर्वक होने से 'भवप्रत्यय' नाम से कही जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि लाभ के प्रकृष्ट उपायभूत श्रद्धा, उत्साह, स्मृति और योगाङ्ग समाधि की सहायता से चित्तवृत्ति का निरोध सम्पादन करते हैं— इस समाधि को उपाय-प्रत्यय समाधि कहते हैं। क्योंकि, उनके द्वारा अवलम्बित साधन योगसिद्धि के प्रकृष्ट उपाय हैं।

भवप्रत्यय या उपायप्रत्य दोनों में ही चित्तवृत्ति का निरोध आवश्यक है। बहुत दिनों तक दृढ़तर अभ्यास से वृत्ति-निरोध की पूर्णता होने पर चित्तभूमि में किसी प्रकार की वृत्ति की उत्पत्ति नहीं होती है और पूर्ण असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है।

इस असम्प्रज्ञात समाधि की पूर्णता दशा में द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थान रहता है, स्वरूप विद्यमान रहने से प्रकाश की प्राप्ति न होकर वृत्ति का सारूप्य प्राप्त होता है। चित्त में उस समय जिस प्रकार की वृत्ति होती है वह निर्विकार पुरुष की वृत्ति सभी के लिए प्रार्थनीय अति रमणीय अवस्था है। इस समय उन विषयों के समान आकार में वृत्तियों प्रतिष्ठित रहती है, गृहीत विषय का आकार ही प्रधान रूप से प्रतिभात होता है। प्रकाश स्वभाव पुरुष द्रष्टा होकर भी चित्तवृत्ति से अतिरिक्त किसी भी वस्तु का साक्षात्कार नहीं करता है। चित्तवृत्ति ही उसका एकमात्र दृश्य है। बाह्य या आन्तर विषय समुदाय जब तक चित्तवृत्ति का विषय नहीं होता है, तब तक किसी भी तरह पुरुष उन विषयों के ग्रहण में समर्थ नहीं होता है। चित्तवृत्ति का विषयीभूत वस्तु वृत्ति के साथ-साथ सन्निहित पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है। फलतः स्वरूप मुग्ध पुरुष उत्पन्न वृत्ति से अलग अपने को न समझने के कारण तद्रूप ही समझता है। चित्तवृत्ति के साथ पुरुष के भेद की प्रतीति

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥ द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिप्रज्ञा ॥ २७ ॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२९॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्या-
धिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ ३९ ॥

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

संतोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥४२॥ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥४३॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥
तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनात-श्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥
प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥
विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥
विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥
वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥
स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥ यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥
परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥
क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥
तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥
एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥
सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥
ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥
निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥
ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥
श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां सामान्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥
तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥
तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

अथ द्वितीयस्साधनपादः

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥
दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतै(ते)वास्मिता ॥ ६ ॥
सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥
स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥
ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥ ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥११॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२२॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥ बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्यसंयमात् ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥ हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थ-संयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

समानजयात्प्रज्वलनम् ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम् ॥४२॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४९॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यात् ॥ ५५ ॥

टीकाषट्कसमेतं

पातञ्जलदर्शनम्

तत्र

भोजदेवकृता

पातञ्जलयोगसूत्रवृत्तिः

भोजवृत्तिः ।

देहार्द्धयोगः शिवयोः स श्रेयांसि तनोतु [illegible] ।
दुष्प्रापमपि यत्स्मृत्या [illegible] कैवल्यमश्नुते ॥ १ ॥
त्रिविधान्यपि दुःखानि यदनुस्मरणान्नृणाम् ।
प्रयान्ति सद्यो विलयं तं स्तुमः शिवमव्ययम् ॥ २ ॥
पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ ।
पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यथा (१) ॥ [illegible] ॥
जयन्ति वाचः फणिभर्तुरान्तरस्फुरत्तमस्तोमनिशाकरत्विषः ।
विभाव्यमानाः सततं मनांसि याः सतां सदाऽऽनन्दमयानि कुर्वते ॥ ४ ॥
शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके ।
वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतस्तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः ॥ ५ ॥
दुर्बोधं यदतीव तद्धि जहति(२) स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः स्पष्टार्थेष्वतिविस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिकैः ।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते श्रोतॄणामिति वस्तुविप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः ॥ ६ ॥
उत्सृज्य विस्तरमुदस्य विकल्पजालं फल्गुप्रकाशमवधार्य्य च सम्यगर्थान् ।
सन्तः पतञ्जलिमते विवृतिर्मयेयमातन्यते बुधजनप्रतिबोधहेतुः ॥ [illegible] ॥

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अनेन सूत्रेण शास्त्रस्य सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनान्याख्यायन्ते । अथशब्दोऽधिकारद्योतको मङ्गलार्थकश्च । योगो युक्तिः समाधानम् । 'युज समाधौ' । अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलैर्येन तदनुशासनम् । योगस्यानुशासनम् योगानुशासनम् । तत् आ शास्त्रपरिसमाप्तेराधिकृतं बोद्धव्यमित्यर्थः । तत्र शास्त्रस्य व्युत्पाद्यतया योगः ससाधनः सफलोऽभिधेयः । तद्व्युत्पादनञ्च फलम् । व्युत्पादितस्य योगस्य कैवल्यं फलम् । शास्त्राभिधेययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावलक्षणः सम्बन्धः । अभिधेयस्य योगस्य तत्फलस्य च कैवल्येन साध्यसाधनभावः । एतदुक्तं भवति । व्युत्पाद्यस्य योगस्य साधनानि शास्त्रेण प्रदर्श्यन्ते तत्साधनसिद्धो योगः कैवल्याख्यं फलमुत्पादयति ॥ १ ॥

भावागणेशविरचिता योगसूत्रवृत्तिः ।

नानोपाधिषु योऽशकाननलवत्संयोज्य मायाबलाद्भात्येको बहुलात्मतामत इयं स्वाभाविकी यस्य नो ।
तांश्चान्ते निजमायया विरचितान्स्वांशानुपाधीनहो संदृश्याद्वय एव तिष्ठति पुनस्तस्मै परस्मै नमः १॥॥

---

(१) येयमिति पाठान्तरम् ।   (२) तद्धिजहतीति पाठान्तरम् ।

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥
जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥
निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥
निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥
प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥
तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥
कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥
ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥
जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥
तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥
हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥
अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥
ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥१३॥ परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥१४॥
वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥
तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १६ ॥
सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १७ ॥
न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥१८॥ एकसमये चोभयानवधारणम् ॥१९॥
चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २० ॥
चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २१ ॥
द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २२ ॥
तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २३ ॥
विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २४ ॥
तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २५ ॥
तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २६ ॥
हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २७ ॥
प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥२८॥
ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ २९ ॥
तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३० ॥
ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३१ ॥
क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३२ ॥
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति-
शक्तेरिति ॥ ३३ ॥

इति पातञ्जलयोगसूत्रपाठः ।

योगसुधाकराख्या योगसूत्रवृत्तिः।

यद्भावनादवापीयं प्रत्यक्चितिरनामया।
क्लेशकर्माशयास्पृष्टं तमीशं कंचनामजे ॥ १ ॥
श्रीमत्पतञ्जलेस्तस्य पदद्वन्द्वमनिन्दितम्।
वन्दे येन मनःकायवाचां शुद्धिरकार्यसौ ॥ २ ॥
विचारकं मया लब्धं यत्कृपापारवारिधेः।
वन्दे तान्विबुधैर्वन्द्यान्वन्दकानन्ददान्गुरून् ॥ ३ ॥
श्रीमद्देशिकवक्त्राब्जान्निशम्याथ विलोड्य ताम्।
फणीन्द्रभणितेः काचिद्वृत्तिरारभ्यते मया ॥ ४ ॥

इह खलु भगवानन्पतञ्जलिः प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यौपयिकं शास्त्रप्रतिपाद्यं दर्शयति—अथ०।

अत्र अथशब्दः आरम्भार्थः, अर्थान्मङ्गलार्थश्च। 'युज समाधौ' इति धातोर्योगः समाधिः। तस्यानुशासनं हैरण्यगर्भं शास्त्रमनुसृत्य शिष्यते व्याख्यायते ससाधनः सकलः समाधिरनेनेत्यनुशासनं शास्त्रम्। तथा च कस्मैचित्कैवल्यकामाय प्रतिपाद्ययोगप्रतिपादकं शास्त्रमारभ्यत इत्यक्षरार्थः। तत्र समाधिर्द्विविधः संप्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्चेति। स च चित्तस्य धर्मः। चित्तं हि त्रिगुणात्मकत्वात्पञ्चभूम्युपेतम्। भूमयश्च—क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति। तत्र रजसा विषयेषु क्षिप्यमाणं क्षिप्तम्; तमसा निद्रालस्यादिवृत्तिमन्मूढम्; ईषद्रजस्तमःसंस्पृष्टेन सत्त्वेन कादाचित्कध्यानयुक्ततया क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तम्; विधूतरजस्तमोमलेन शुद्धसत्त्वेनैकाग्रमेकतानम्; प्रशान्तसकलवृत्तिकं संस्कारशेषं निरुद्धम्। एवं च आद्यभूमित्रयपरित्यागेनावशिष्टभूमिद्वयोपेतस्य चित्तस्य समाधिद्वयं धर्म इति विवेकः ॥१॥

भोजवृत्तिः।

तत्र को योगः? इत्याह—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्तस्य निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य या वृत्तयोऽङ्गाङ्गिभावपरिणामरूपास्तासां निरोधो बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते। स च निरोधः सर्वासां चित्तभूमीनां सर्वप्राणिनां धर्मः कदाचित् कस्यांश्चित् बुद्धिभूमावाविर्भवति। ताश्च क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयश्चित्तस्यावस्थाविशेषाः। तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया सुखदुःखादिविषयेषु विकल्पितेषु व्यवहितेषु संनिहितेषु वा रजसा प्रेरितं, तच्च सदैव दैत्यदानवादीनाम्। मूढं तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविभागमन्तरेण क्रोधादिभिः विरुद्धकृत्येष्वेव नियमितं, तच्च सदैव रक्षःपिशाचादीनाम्। विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकात् वैशिष्ट्येन परिहृत्य दुःखसाधनं सुखसाधनेष्वेव शब्दादिषु प्रवृत्तं, तच्च सदैव देवानाम्। एतदुक्तं भवति। रजसा प्रवृत्तिरूपं तमसा परापकारनियतं सत्त्वेन सुखमयं चित्तं भवति। एतास्तिस्रश्चित्तावस्थाः समाधावनुपयोगिन्यः। एकाग्रनिरुद्धरूपे द्वे च सत्त्वोत्कर्षाद्यथोत्तरमवस्थितत्वात् समाधावुपयोगं भजेते। सत्त्वादिक्रमव्युत्क्रमे तु अयमभिप्रायः। द्वयोरपि रजस्तमसोरत्यन्तहेयत्वेऽप्येतदर्थं रजसः प्रथममुपादानम्; यावन्न प्रवृत्तिर्दर्शिता तावन्निवृत्तिर्न शक्यते दर्शयितुमिति द्वयोर्व्यत्ययेन प्रदर्शनम्। सत्त्वस्य त्वेतदर्थं पश्चात् प्रदर्शनं यत्तस्योत्कर्षेणोत्तरे द्वे भूमी योगोपयोगिन्याविति। अनयोर्द्वयोरेकाग्रनिरुद्धयोर्भूम्योर्यश्चित्तस्यैकाग्रतारूपः परिणामः स योग इत्युक्तं भवति। एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः। निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः ॥ २ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

उपदिष्टं योगं लक्षयति सूत्राभ्याम्—योगश्चि०तदा०।

चित्तस्यान्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा या वृत्तयः तासां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः। इदं च चित्ते

मन्दधीसुखबोधाय सारार्थस्पष्टभाषिणीम् । भावागणेशः कुरुते योगसूत्रेषु दीपिकाम् ॥ २ ॥
भाष्ये परीक्षितो योऽर्थो वार्तिके गुरुभिः स्वयम् । संक्षिप्तः सिद्धवत्सोऽस्यां युक्तिषूक्ताधिका क्वचित् ॥३॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥

इत्यादिश्रुतिषु मुमुक्षूणां योगविधिरनुष्ठानार्थं ज्ञेयतयावगम्यते । अतो योगविधिमुपदिदिक्षुर्भगवा-न्पतञ्जलिः शिष्यावधानाय तच्छास्त्रारम्भं प्रतिजानीते अथ० ।

अथशब्दोऽत्र उच्चारणमात्रेण मङ्गलरूपोऽधिकारवाचकः न प्रश्नानन्तर्याद्यर्थकः, 'शाब्दी ह्या-काङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यत' इति न्यायेन शब्दानुपस्थितार्थानन्तर्यार्थकत्वानौचित्यात् । शिष्यप्रश्नगुर्वा-लोकानुकम्पादीनामविशेषेण शास्त्ररचनाप्रयोजकतया कस्यानन्तर्ये तात्पर्यमित्यवधारयितुम-शक्यत्वात् । हिरण्यगर्भादिना शिष्टस्य शासनमनुशासनं शास्त्रम्, शास्यते अनेन इति व्युत्पत्तेः । तथाच हिरण्यगर्भादिगुरूपदिष्टस्य योगस्य शास्त्रमधिकृतम्, आरब्धमित्यर्थः ॥ १ ॥

नागोजीभट्टनिर्मिता योगसूत्रवृत्तिः ।

अथ योगानुशासनम् । अथशब्दः स्वरूपेण मङ्गलं दध्यादिवत्, अधिकारद्योतकश्च । योगो-ऽनुशिष्यते विविच्य बोध्यतेऽनेनेति योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं बोद्धव्यमित्यर्थः । हिरण्यगर्भाद्युप-दिष्टस्यैव योगस्य विविच्य बोधनमत्रेति बोध्यम् ॥ १ ॥

मणिप्रभाख्या योगसूत्रवृत्तिः ।

वन्दे क्लेशाद्यसंसृष्टं पुराणपुरुषं हरिम् ।
प्रकृत्या सीतया जुष्टं योगेशं योगदायिनम् ॥ १ ॥
पतञ्जलिं सूत्रकृतं प्रणम्य व्यासं मुनिं भाष्यकृतं च भक्त्या ।
भाष्यानुगां योगमणिप्रभाऽऽख्यां वृत्तिं विधास्यामि यथामतीद्धाम् ॥ २ ॥

[illegible] खलु भगवान्पतञ्जलिः प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गं शास्त्रप्रतिपाद्यं दर्शयति अथ० । अत्र अथ शब्द आरम्भार्थः योगशास्त्रमारभ्यत इत्यर्थः । यद्यपि हिरण्यगर्भेण शास्त्रं कृतं तथाऽपि तद्विस्तृतमिति [illegible] तदनुसृतं शास्त्रमारभ्यत इति द्योतयति अनुशासनमिति । अत्र सूत्रे योगः शास्त्रप्रतिपाद्य उक्तः, अर्थात्तज्जिज्ञासुरधिकारी, फलं तु योगस्य कैवल्यं, यथायोगं तेषां सम्बन्ध, इत्य-नुबन्धचतुष्टयं द्रष्टव्यम् । तत्र योगो द्विविधः संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्चेति । स च चित्तस्य धर्मः वृत्तीनां चित्तधर्मत्वेन तन्निरोधरूपयोगस्यापि तद्धर्मत्वात् । तस्य चित्तस्य [illegible] भूमयः-क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमे-काग्रं निरुद्धमिति । रजसाऽत्यन्तं चलं क्षिप्तं दैत्यानां; तमसा निद्रादिमन्मूढं रक्षसां; क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तं देवादीनाम्; अत्यन्तचलचित्तस्य कादाचित्कं स्थिरत्वं विशेषः । तत्र क्षिप्तमूढयोर्योगगन्धोऽपि नास्ति। विक्षिप्ते तु चित्ते कादाचित्को योगः प्रचुरविक्षेपवह्निदग्धोऽप्रतिष्ठितो निष्फलो न योगपक्षे वर्तते । एकाग्रे तु सत्त्वप्रधाने एकविषयस्थिते चित्ते रजस्तमोवृत्तिनिरोधः सात्त्विकवृत्तिविशेषः संप्रज्ञातयोगो भवति । तेन शब्दानुमानाभ्यां परोक्षत्वेन ज्ञातार्थः साक्षात्क्रियते, साक्षात्कारादविद्यादिक्लेशक्षयः, ततः पुण्यपापकर्मणां दाहः, ततोऽसंप्रज्ञातो योगः, सात्त्विकवृत्तेरपि निरोधः संस्कारमात्रशेषे निरुद्धे चित्ते भवति । तदाह भाष्यकारः—"यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मब-न्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायत" इति ॥ १ ॥

अनन्तपण्डितकृता योगचन्द्रिका ।

गुरुं प्रणम्य सूत्रार्थचन्द्रिका क्रियते मया ।
अनन्तेनेश्वरप्रीत्यै सच्चिदानन्दरूपिणम् ॥

अथशब्दोऽधिकारवाची योगो नाम समाधानम् । अनुशिष्यते व्याख्यायते येन तत् ॥ १ ॥

गुणकार्यापि परिणामिनी दीपशिखावद्विषयेषु सञ्चरणात्प्रतिसंक्रमवती जडा सुखदुःखाद्यशुद्धिमती परिच्छिन्नत्वादन्तवती, सुखमपि विवेकिनो दुःखवद्धेयमेवेति तस्यामपि विरज्यते चित्तं, तदा सर्ववृत्तिनिरोध इति बोध्यम् । इदं निरुद्धम् ॥ २ ॥

मणिप्रभा ।

अधुना द्विविधस्य योगस्य साधारणं लक्षणमाह योगश्चि० ।

चित्तस्य रजस्तमोवृत्तीनां निरोधो योग इत्यर्थः । अतः संप्रज्ञाते सात्त्विकवृत्तिसत्त्वेऽपि नाव्याप्तिः । नन्वेकस्य चित्तस्य क्षिप्ताद्यनेकभूमयः [illegible] इति चेन्न, चित्तस्य त्रिगुणात्मकत्वादिति [illegible] । चित्तं हि ज्ञानसुखादिशीलत्वात्प्रवृत्तिगुणादिमत्त्वादालस्यदैन्यादिमत्त्वाच्च सत्त्वरजस्तमोगुणकं भवति । तत्र सत्त्वात्किञ्चिदूने रजस्तमसी मिथः समे यदा भवतः तदा सत्त्वात् तद्ध्यानाभिमुखं भूत्वा तमसा तत्पिधाने सति रजसैश्वर्यं कामयमानं विषयप्रियं भवति विक्षिप्तम् । यदा तु तमःप्रधानं चित्तं मूढं तदाऽश्रेयोऽधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यमुपगच्छति । अज्ञानमत्र भ्रमो निद्रा च । रजःप्रधानं तु क्षिप्तम् । इमे क्षिप्तमूढे सर्वसाधारणे भवतः । विक्षिप्तं तु प्रथमयोगिनः । सन्ति हि चत्वारो योगिनः—प्रथमकल्पिका, मधुभूमिकः, प्रज्ञाज्योतिः, अतिक्रान्तभावनीयश्चेति । तेषां लक्षणं तु वक्ष्यते । यदि पुनः सत्त्वप्रधानं वितमस्कं सरजस्कं भवति तदैकाग्र्यं संप्रज्ञातयोगसिद्धयोर्मध्यमयोगिनोश्चित्तं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैवद्भवति । यदा तु विधूतरजस्तमोमलं शुद्धसत्त्वं चित्तं तदानीं विवेकख्यातिं कृत्वा पुरुषमात्रध्यानं धर्ममेघाख्यं करोति तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः । "चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता चेति" निश्चित्य सत्त्वगुणविकृतौ विवेकख्यातावपि विरक्तं सच्चित्तं तां निरुध्य संस्कारमात्रशेषं भवति चतुर्थस्य योगिनः । सोऽयमसंप्रज्ञातसमाधिः । अत्र हि न हि किञ्चित्प्रज्ञायत इत्यलम् । चितिशक्तिरित्याद्यनन्ता चेत्यन्तं भाष्यम् । तत्राप्रतिसंक्रमेत्यस्य बिले सर्पवद्बुद्ध्यादौ प्रविश्य न सञ्चरतीत्यर्थः । बुद्ध्या दर्शिता विषया यस्याः सा दर्शितविषया सुखदुःखमोहशून्या शुद्धेत्यर्थः ॥ २ ॥

चन्द्रिका ।

सत्त्वपरिणामरूपस्य चित्तस्य या वृत्तयस्तासां निरोधो बहिर्मुखताविच्छेदादन्तर्मुखतया स्वकारणे लयः ॥ २ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुना द्विविधस्य समाधेः साधारणं [illegible] लक्ष्यते—योगश्चि० ।

रजस्तमोवृत्त्योर्निरोधो योग इत्यर्थः । अतः सात्त्विकवृत्तिसत्त्वेऽपि सम्प्रज्ञाते नाव्याप्तिः ॥ २ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीं सूत्रकारश्चित्तवृत्तिनिरोधपदानि व्याख्यातुकामः प्रथमं चित्तपदं व्याचष्टे—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

द्रष्टुः पुरुषस्य तस्मिन् काले स्वरूपे चिन्मात्रतायामवस्थानं स्थितिर्भवति । अयमर्थः—उत्पन्नविवेकख्यातेश्चित्संक्रमाभावात् कर्तृत्वाभिमाननिवृत्तौ प्रोच्छन्नपरिणामायां (१)बुद्धौचाऽऽत्मनः स्वरूपेणावस्थानं स्थितिर्भवति ॥ ३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

नन्वेवं व्युत्थानकालीने यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोधेऽतिव्याप्तिः । किञ्च वृत्तिविषयकबोधस्वरूप एव पुरुषः काष्ठाग्निवदिति योगसांख्ययोः सिद्धान्तः, अतो वृत्तिविलये तदनुभवरूपः पुरुषोऽपि नश्येत् काष्ठापायेऽग्निवत्, ततश्च योगकाले कः पुरुषार्थ इत्यपेक्षायामिदं सूत्रं प्रवर्तते—तदा० ।

तदेत्यनेन निरोधविशेष एवासंप्रज्ञाताख्यः परामृश्यते, योग्यताबलात् । संप्रज्ञाते स्वरूपावस्थानाभावस्योत्तरसूत्रे वक्ष्यमाणत्वात् । तदा सर्ववृत्तिनिरोधकाले द्रष्टुः दृष्टिस्वरूपस्य पुरुषस्य स्वरूपे निर्वि-

(१) बुद्धावात्मन इति पाठान्तरम् ।

निवर्तनं जीवनयोनियत्नवदतीन्द्रियः प्रयत्नविशेषश्चित्तनिग्रहरूपो वृत्तिविलयहेतुर्न तु वृत्त्यभाव एव, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वस्यानुपपत्तेः, अभावस्य संस्कारजनकत्वेऽतिप्रसङ्गादिति । अत्र सर्ववृत्तिनिरोधावचनेन सम्प्रज्ञातयोगोऽपि संगृहीतः । योगो हि द्विविधः—सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च । अत्राद्यो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः । अन्त्यस्तु सर्ववृत्तिनिरोधः । वृत्तिनिरोधस्तूभयसाधारण इति ॥ २ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

योगलक्षणमाह—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । चित्तस्यान्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा या वृत्तयस्तासां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः । वृत्तिनिवर्तनं च जीवनयोनियत्नवदतीन्द्रियो यत्नविशेषश्चित्तनिग्रहरूपो वृत्तिविलयहेतुः, चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था वा अभावस्याधिकरणावस्थाविशेषरूपत्वात् । सा चावस्था तारतम्यविशिष्टसंस्कारपरिणामधारा न तु वृत्त्यभाव एव, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेः, अभावस्य संस्कारजनकत्वेऽतिप्रसङ्गात्, संस्कारवृद्धिं विनानुदिनं योगस्य कालवृद्धौ नियामकान्तरासम्भवात् । अत्र सर्ववृत्तिनिरोधावचनात्संप्रज्ञातयोगोऽपि संगृहीतः । द्विविधो योगः सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च । तत्र यो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः स च विषयान्तरसञ्चाराख्यप्रतिबन्धकनिवृत्तिरूपतया विषयान्तरवासनाभिभवद्वारा धर्मविशेषद्वारा च ध्येयसाक्षात्कारहेतुः । चित्तं हि स्वत एव सर्वार्थग्रहणक्षमं विभु च । तमसावरणादेव [illegible] न सर्वदा सर्वं गृह्णाति । अतस्तमोवर्धकानां विषयान्तरवासनापापादीनां क्षये [योगतो वृत्तेः] स्वयमेव ध्येयं वस्तु साक्षात्क्रियते चित्तेनेति सिद्धान्तः । अन्त्यः सर्ववृत्तिनिरोधः । अत्रेदं बोध्यम् । क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति पञ्च चित्तस्यावस्थाविशेषाः । तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादत्यन्तमस्थिरं शब्दाद्यनुरागि च, यथा दैत्यदानवादीनाम् । मूढं तमःसमुद्रेकात्कृत्याकृत्यविचारशून्यं क्रोधादियुतं निद्रादिमदधर्माद्यनुरागि च । यथा रक्षःपिशाचादीनाम् । विक्षिप्तं सत्त्वोद्रेकाद्दुःखसाधनपरिहारेण सुखसाधनेष्वेव प्रवृत्तम्, यथा देवानाम् । चित्तं हि रजसा प्रवृत्तिशीलं, तमसा परापकारनिरतं, सत्त्वेन सुखमयं भवति । आसु तिसृषु विद्यमानोऽपि यत्किञ्चिच्चित्तवृत्तिनिरोधो न योगपक्षे तत्प्रतिद्वन्द्विविक्षेपोपसर्जनत्वात् । एकाग्रत्वं ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः । तत्र हि सति कूटस्थनित्यचित्स्वरूपस्य हृदयदेशेऽन्तःकरणावच्छेदेनाभिव्यक्तस्य साक्षात्कारो भवति । साक्षात्कारे चाविद्योच्छेदात्सम्मूलक्लेशक्षयो भवति । अस्यामवस्थायां संप्रज्ञातयोगः । [illegible] रजस्तमोमयवृत्तेः सर्वथा निरोधः । सात्त्विकी त्वात्मविषयास्त्येव । अस्य च ध्येयवस्तुपुरुषतत्त्वसाक्षात्कारद्वारा क्लेशायुच्छेदकत्वेन मोक्षहेतुता । निरुद्धं निरुद्धसकलवृत्तिसंस्कारमात्रशेषम् । अत्र सर्ववृत्तिनिरोधेऽसम्प्रज्ञातः । [illegible] चाखिलवृत्तिसंस्कारदाहद्वारा प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेण मोक्षहेतुतेति वक्ष्यामः । तदुक्तं—

एकाग्रता चेद्ध्यादौ निरोधश्चेच्चिदात्मनि ।
क्षिप्तादित्रिभुवस्त्यागात्कस्य मोक्षोऽत्र दूरतः ॥ इति ॥

यदा हि तमो रजोगुणमपि विजित्य त्रिगुणात्मकेऽपि चित्ते प्रधानं सत्त्वमावृणोति तदा रजस्तमःसमुत्सारणेऽशक्तत्वात्तमसा स्थगितं चित्तमधर्माऽवैराग्याद्युपगच्छति । एवं सर्वत्रेच्छाप्रतिघातरूपमनैश्वर्यं चोपगच्छति, विपर्ययज्ञानात्मकमज्ञानं निद्रारूपं चोपगच्छति । इदं मूढम् । यदा हि स्वन्यूनाभ्यां परस्परसमाभ्यां रजस्तमोभ्यां संसृष्टं सत्त्वं तदाऽणिमाद्यैश्वर्यशब्दादिविषयप्रियं भवति । इदं चितमाद्यम् । यदा हि क्षीणतमस्कं रजसानुविद्धसत्त्वकं तदा धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति । इदं विक्षिप्तम् । यदा तु लेशतोऽपि रजस्तमोमलरहितसत्त्वकं चित्तं तयोरपगमे संसारहेतुत्वादिदोषदर्शनान्निरुद्धबाह्यवृत्तिकं स्वरूपप्रतिष्ठं स्वाभाविकप्रसादादियुतं तदा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपविवेकोपगं तन्मात्रवृत्तिकं भवति । एतदेवैकाग्रमित्युच्यते । अस्यैव परा काष्ठा धर्ममेघसमाधिः, यत्र चित्तस्य ध्यानमात्रप्रियता भवति । यदा तु चिच्छक्त्यपेक्षया विवेकख्यातौ सत्त्वगुणात्मकत्वेनाधमत्वं गृह्णाति चिच्छक्तिः पुरुषाख्याऽपरिणामित्वात् बुद्धिवत्क्रियाराहित्येन विषयदेशे गमनरूपप्रतिसंक्रमरहिता विषयसङ्गरहिता च बुद्ध्या स्ववृत्तिद्वारा दर्शितविषया सुखदुःखमोहात्मकत्वरूपाशुद्धिरहिता अनन्ता च, विवेकख्यातिस्तु सत्त्व-

विषयाकारेण परिणते पुरुषस्तद्रूपाकार एव परिभाव्यते, यथा जलतरङ्गेषु चलत्सु चन्द्रमण्डलमिव प्रतिभासते तच्चित्तम् ॥ [illegible] ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

योगकालेऽनर्थनिवृत्तिं प्रदर्श्य कूटस्थनित्यस्याप्ययोगकाले तद्विपर्ययं दर्शयति—वृत्ति० ।

इतरत्र वृत्तिकाले वृत्तिसादृश्यं द्रष्टुर्भवतीत्यर्थः । वृत्तीनां सुखदुःखमोहात्मकघटाद्याकारतया चैतन्यमपि तत्प्रतिबिम्बवशात्तद्रूपमिव भवति । यथा जपालौहित्येन स्फटिकोऽपि लोहित इव भवति तद्वत् । इदमेव द्रष्टुर्वृत्तिसारूप्यं विषयोपरक्तवृत्तिग्रहणम् । तदा सुखदुःखभोगरूपोऽनर्थोऽपीति भावः । 'आदानस्य ग्रहणत्वादभ्यवहरणस्य च भोगत्वात्' इति वार्तिके चैतद्गुरुचरणैः प्रसाधितं प्रपञ्चितं च, अत्र सूत्राभ्यामेतत्सिद्धम् । वृत्तिकाल एव पुरुषस्य दुःखभोगरूपः संसारो वृत्तिवियोगे च तन्निवृत्तिरूपं कैवल्यमतो वृत्तयो निरोद्धव्या इति । इदं च योगस्यापातफलमुक्तम् । मुख्यफलं तु संप्रज्ञातयोगस्य ध्येयसाक्षात्कारः । असंप्रज्ञातयोगस्य च तत्त्वज्ञानसाधारणाखिलज्ञानवासनाक्षयेण प्रारब्धमप्यतिक्रम्याशु मोचनमिति वार्तिककृद्भिः प्रपञ्चितम् ॥ ४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

इदानीमसंप्रज्ञातव्यतिरिक्ते व्युत्थानकाले चिच्छक्तेस्तादृशस्वरूपाया अपि औपाधिकमनर्थयोगं दर्शयति योगे लोकानां प्रवृत्तये—वृत्तिसारूप्यमितरत्र । इतरत्र योगाभावकाले समानमेकं रूपं यस्य स सरूपस्तस्य भावः सारूप्यं वृत्तिभिः सारूप्यमित्यर्थः । व्युत्थाने हि बिम्बप्रतिबिम्बरूपयोर्बुद्धिवृत्तिपुरुषवृत्त्योः सारूप्यम् । वृत्तयोऽपि दीपशिखा इव द्रव्यरूपा भङ्गुराश्चित्तस्य परिणामाः । न चापरिणामिनः पुरुषस्य वृत्तिः, दर्शितविषयत्वात् । [illegible] निवेदितविषयत्वं हि तत्त्वं, निवेदनं च स्ववृत्त्यारूढविषयस्य प्रतिबिम्बरूपेण चिताबाधानम् । एवं च ते प्रतिबिम्बा एव [illegible] वृत्तयः । तदुक्तं भाष्ये—'व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयः तदविशिष्टवृत्तिः पुरुष' इति । प्रतिबिम्बोऽपि न स्फटिकवत् किंत्वभिमान एव । एतदेव वृत्तिसारूप्यमेव वृत्त्याकारतारूपं तदेवास्यार्थोपरक्तवृत्तिभानं [illegible] चाकारोऽयं घट इत्यादिरूप एव न तु वृत्तिबोधस्य पृथगाकारोऽस्ति । घटमहं जानामीत्यादि तु बुद्धेरेवाकारान्तरमिति कश्चित् । ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वादेवमभिलाप इत्यन्ये । वृत्त्यभिन्नैकरूपता चित्तेन सह द्रष्टुरिति भावः । बुद्धिपुरुषयोः सन्निधानादभेदग्रहेण ताभिरेव वृत्तिभिः पुरुषोऽपि वृत्तिमानिवाकर्तापि कर्तेवाभोक्तापि भोक्तेव तु खादिमानिव विवेकख्यातिरहितोऽपि तत्सहित इव विवेकाख्यात्या प्रकाश्यते । भोक्तृत्वभोग्यतालक्षणसम्बन्धश्चानाद्यविद्यानिमित्तकः प्रतिनियतयोरेव बुद्धिपुरुषयोः स्वस्वामिभावोऽनादिरेव । यथा अयस्कान्तः स्वस्मिन्नेवायःसन्निधीकरणात् शल्यनिष्कर्षकतयोपकारी स्वामिनः स्वं भवति भोगसाधनत्वादेव चित्तमयःसदृशं विषयजातस्य स्वस्मिन्सन्निधीकरणात् दृश्यत्वमुपकारं जनयन् पुरुषस्य स्वं, भोगसाधनत्वात् । यद्यपि भोग्यभोक्तृभावो न प्रलये तथापि स्वभुक्तवृत्तिवासनावत्त्वादिकमेव बुद्धौ पुरुषस्य स्वत्वं, चित्तस्य कार्यत्वेऽपि बीजावस्थया नित्यत्वादनादित्वाक्षतिः । तत्सारूप्यमेव चितेर्दुःखभोगः । प्रतिबिम्बरूपदुःखहानमेव मोक्षः । ये त्वात्मनि मनःसंयोगात्सुखाद्युत्पत्तिरिति वदन्ति, तेषां कारणद्वयकल्पनागौरवम् । आत्मनि विषयनिष्ठसुखाद्याकारवृत्तिस्वीकारे परिणामित्वापत्तिश्च । बुद्धावर्थविषयकत्वमर्थाकारतैव बुद्धिपरिणामविशेषरूपा न तु तत्प्रतिबिम्बः, स्वप्नादौ विषयाभावेन तत्प्रतिबिम्बासम्भवात् । पुरुषे [illegible] सा परिणामरूपा न सम्भवतीति प्रतिबिम्बरूपैव । वृत्तीनामेव च प्रतिबिम्बार्पणसामर्थ्यमिति न संस्कारशेषाया बुद्धेरसम्प्रज्ञाते प्रतिबिम्बनम्, उक्तस्वस्वामिभावस्यैव प्रतिबिम्बे नियामकत्वान्न परबुद्धिवृत्तेः परस्य भानम् ।

> यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलस्फटिको जनैः ।
> रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः ॥

इति स्मृतेश्च प्रतिबिम्बस्वीकार इति दिक् । एवं बुद्धावपि चित्प्रतिबिम्ब आवश्यकः । अन्यथा

यचिन्मात्ररूपे अवस्थानं भवति । स्वतो धर्मतो वा न नाशस्तस्यास्तीत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठे—

असम्भवति सर्वत्र दिग्भूमाकाशरूपिणा ।
प्रकाश्ये यादृशं रूपं प्रकाशस्यामलं भवेत् ॥
त्वमहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।
स्यात्तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टर्यवीक्षणे ॥ इति ।

इदानीं च वृत्त्यभावात्तदनुगतदुःखभोगानिवृत्तिः पुरुषार्थः । तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थितिहेतुचित्तवृत्तिनिरोधो योगलक्षणम् । तच न व्युत्थानकालीनस्यास्तीति नातिव्याप्तिरिति भावः । संप्रज्ञातस्यासम्प्रज्ञात द्वारा स्वरूपावस्थितिहेतुत्वमुपपादनीयम् ॥ ३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नन्वेवं व्युत्थानकालीने यत्किंचिद्वृत्तिनिरोधेऽतिव्याप्तिः । किञ्च वृत्तिविषयकबोधस्वरूप एव पुरुष इति वृत्तिविलये तदनुभवरूपः पुरुषोऽपि नश्येत्, काष्ठापायेऽग्निवदित्यत आह—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । तदेत्यनेन योग्यताबलात् सर्ववृत्तिनिरोधरूपोऽसंप्रज्ञातः परामृश्यते । सम्प्रज्ञाते तदभावस्योत्तरसूत्रारूढत्वात् । तदा सर्ववृत्तिनिरोधे द्रष्टुः ज्ञानस्वरूपस्य स्वस्वरूपे निर्विषयचिन्मात्ररूपत्वे अवस्थानं भवतीत्यर्थः । जपापाये स्फटिकस्येव वृत्त्यपाये पुरुषस्य वृत्तिप्रतिबिम्बशून्यस्य स्वरूपेऽवस्थानमिति भावः । एवञ्च तदा वृत्त्यभावात्तदनुगतदुःखादिभोगनिवृत्तिः पुरुषार्थः । पुरुषस्यैतदेव स्वरूपं न बुद्धिवृत्तिविषयबोधः, तस्यौपाधिकत्वात् । तत्रोपाधिनिवृत्तावप्युपाहितनिवृत्तिरिति न तन्नाशप्रसङ्गः । एवञ्च द्रष्टुरात्यन्तिकस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योगलक्षणम् । क्लेशकर्मादिपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो वा । तच्च न व्युत्थानकालिकनिरोधे इति न तत्रातिव्याप्तिः । संप्रज्ञातस्य चासंप्रज्ञातद्वारा स्वरूपावस्थितिहेतुत्वम् । प्रलयकालीनस्य समाप्तसुषुप्तिकालीनस्य च निरोधस्य व्यावृत्तये आत्यन्तिकेति । स्वरूपावस्थानं चौपाधिकरूपनिवृत्तिपूर्वकः स्वरूपाप्रच्यवः । तन्निवृत्तिश्चोपाधिनिवृत्त्यैवेति दिक् ॥ ३ ॥

मणिप्रभा ।

ननु बुद्धिवृत्तिस्वभावस्य पुरुषस्य वृत्तिनिरोधे कथं स्थितिरित्यत आह तदा० ।

यदा चित्तस्य शान्तघोरमूढानां सर्वासां वृत्तीनां निरोधस्तदा द्रष्टुश्चिदात्मनः स्वाभाविके रूपे स्थितिः कुसुमापाये यथा स्फटिकस्य तथेत्यर्थः । पुरुषस्य चैतन्यमात्रं स्वभावो न वृत्तय इति भावः ॥ ३ ॥

चन्द्रिका ।

तस्मिन् समाधिनिरोधकाले द्रष्टुः पुरुषस्य स्वरूपे चिन्मात्रे अवस्थानं स्थितिर्भवति ॥ ३ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु बुद्धिवृत्तिस्वभावायाश्चितिशक्तेर्वृत्तिनिरोधे कथं स्थितिरित्याशङ्क्याह—तदा० ।

यदा सर्वासां वृत्तीनां निरोधः तदा द्रष्टुश्चितिशक्तेः स्वाभाविके स्वरूपे स्थितिः कुसुमापगमे स्फटिकमणेरिवेत्यर्थः। चितिशक्तेश्चैतन्यमात्रं स्वभावो न वृत्तय इति भावः ॥ ३ ॥

भोजवृत्तिः ।

व्युत्थानदशायान्तु तस्य किं रूपम् ? इत्याह—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

इतरत्र योगादन्यस्मिन् काले वृत्तयो या वक्ष्यमाणलक्षणास्ताभिः सारूप्यं तद्रूपत्वम् । अयमर्थः—यादृश्यो वृत्तयो दुःखमोहसुखात्मिकाः(१) प्रादुर्भवन्ति तादृग्रूप एव संवेद्यते व्यवहर्तृभिः पुरुषः । तदेवं यस्मिन्नेकाग्रतया परिणते चित्तिशक्तेः स्वस्मिन् स्वरूपे प्रतिष्ठानं भवति, यस्मिंश्चेन्द्रियवृत्तिद्वारेण

---

(१) सुखदुःखमोहात्मिका इति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा।

इदानीं निरोद्धव्यानां वृत्तीनामियत्तामाह वृत्तयः०।

राजवार्त्तिके 'चित्तवृत्तिनिरोधान्व्याख्यातुकामेन सूत्रकारेण सूत्रद्वयेन यस्य निरोधव्युत्थानयोर्मुक्तिबन्धौ तच्चित्तम्' इति व्याख्याय, वृत्तय इत्यादिना वृत्तीर्व्याख्याय, अभ्यासवैराग्याभ्यामित्यादिना पादशेषेण निरोधो व्याख्यात इति विशेष उक्तः। अवयवार्थस्तयप्। वृत्तिशब्दो वृत्तिसामान्यपरः। चैत्रमैत्रादिचित्तभेदेन वृत्तिसामान्यानां बहुत्वाद्वृत्तय इति बहुवचनम्। अग्रिमसूत्रोक्ताः प्रमाणादयः पञ्च विशेषा वृत्तिसामान्यस्यावयवा इत्यर्थः। पञ्च अवयवा यासां ताः पञ्चतय्यः तासां हानोपादानसिद्धये भेदमाह क्लिष्टा अक्लिष्टा इति। रागद्वेषादिक्लेशानां हेतवः क्लिष्टाः बन्धफलाः। सर्वो हि जन्तुः प्रमाणादिवृत्तिभिर्ज्ञातेष्वर्थेषु रागादिना कर्म कृत्वा सुखादिना बध्यते। अक्लिष्टाः क्लेशनाशिन्यो मुक्तिफलाः सत्त्वपुरुषान्यतागोचराः। ताः खल्वभ्यासवैराग्याभ्यां क्लिष्टवृत्तिप्रवाहमध्ये जायमानाः स्वजन्याक्लिष्टसंस्कारैः पुनः पुनरभ्यासेन प्रवृद्धैः क्लिष्टसंस्कारनिरोधेन क्लिष्टवृत्तिप्रवाहं निरुध्य परवैराग्येण स्वयं निरुध्यन्ते। ततः संस्कारशेषस्य चित्तस्य प्रलयो मुक्तिर्भवतीति भावः ॥ ५ ॥

चन्द्रिका।

वृत्तय इति। चित्तस्य परिणामविशेषाः पञ्चामताः क्लेशैराक्रान्ताः तद्भिन्नाः ॥ ५ ॥

योगसुधाकरः।

अधुना निरोद्धव्यानां वृत्तीनामियत्तामाह **वृत्तयः०**।

पञ्च तयबर्था अवयवा वक्ष्यमाणाः प्रमाणादयो यासां सामान्यवृत्तीनां ताः पञ्चतय्यो वृत्तयश्चित्तस्य परिणामाः। बहुवचनं [illegible] मैत्रादिपुरुषबहुत्वाभिप्रायेण। ताः कीदृश्यः? क्लिष्टा अक्लिष्टाः; वक्ष्यमाणैः क्लेशैः [illegible] स्वरूपाप्रतिष्ठाप्रत्ययाः क्लिष्टाः, तैरसंश्लिष्टाः स्वरूपप्रतिष्ठाप्रत्यया अक्लिष्टाः। यद्यपि पञ्चस्वेव क्लिष्टानामक्लिष्टानां चान्तर्भावः, तथापि क्लिष्टा एव निरोद्धव्या इति मन्दबुद्धिं वारयितुं ताभिः सहाक्लिष्टा अप्युदाहृताः ॥ ५ ॥

भोजवृत्तिः।

एता एव [illegible] वृत्तयः संक्षिप्योद्दिश्यन्ते—

प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

कास्ताः पञ्चप्रकारा वृत्तय इत्यपेक्षायामाह—**प्रमाण०**। सुगमम् ॥ ६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तान्पञ्चप्रकारान्दर्शयति—**प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः**। स्पष्टम् ॥ ६ ॥

मणिप्रभा।

पञ्चवृत्तीरुद्दिशति—**प्रमाण०**। इतोऽन्यावृत्तिर्नास्तीत्युद्देशसूत्रस्य फलम् ॥ ६ ॥

चन्द्रिका।

प्रमाणेति। एताः पञ्च वृत्तयः तासां व्याख्यासूत्राणि ॥ ६ ॥

योगसुधाकरः।

अथ नामधेयलक्षणाभ्यां वृत्तीर्विशदयितुं सूत्रषट्कमाचष्टे—**प्रमाण०**।

अतोऽपरा वृत्तिर्न समस्तीत्युद्देशसूत्रस्य फलम् ॥ ६ ॥

भोजवृत्तिः।

आसां क्रमेण लक्षणमाह—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

अत्रातिप्रसिद्धत्वात् प्रमाणानां शास्त्रकारेण भेदलक्षणेनैव गतत्वात् लक्षणस्य पृथक्लक्षणं न कृतम्।

कर्तृ कर्मविरोधेन चैतन्यभानानुपपत्तिरिति ध्येयम् । उभयत्रोभयाकारबुद्धिपरिणाम एव प्रतिबिम्ब इति दिक् ॥ ४ ॥

मणिप्रभा ।

ननु तर्हि व्युत्थाने पुरुषस्य स्वभावात्प्रच्युतिः स्यादित्याशङ्क्याह वृत्ति० ।

इतरत्र निरोधाद् व्युत्थाने सति याश्चित्तस्य वृत्तयः शान्ताऽऽद्यास्तत्सारूप्यं वृत्तिमद्बुद्ध्यविवेकात्पुरुषस्य शान्तो दुःखी मूढोऽस्मीति वृत्तितादात्म्यभ्रम इत्यर्थः । अतो न स्वभावात्प्रच्युतिः । न हि लौहित्यभ्रमकाले स्फटिकस्य श्वेतस्वभावात् च्युतिरस्तीति भावः । निरोधे मुक्तिर्व्युत्थाने बन्ध इति सूत्रद्वयतात्पर्यम् ॥ ४ ॥

चन्द्रिका ।

इतरत्र योगादन्यस्मिन् काले वक्ष्यमाणलक्षणवृत्तिभिः सारूप्यं तद्रूपत्वम् ॥ ४ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु तर्हि व्युत्थाने चितिशक्तेः स्वरूपात्प्रच्युतिः स्यादित्यत आह वृत्ति० ।

यद्यपि निर्विकारा चितिशक्तिः सदा स्वरूप एवावतिष्ठते, तथापि निरोधादन्यत्र वृत्तिषूत्पद्यमानासु तत्र चित्तिच्छायायां प्रतिबिम्बितायां तदविवेकात्तत्तादात्म्यमापन्नेव चितिशक्तिर्भवति जपारक्त इव स्फटिकः । अतो न स्वरूपात्प्रच्युतिः । न हि लौहित्यभ्रमसमये समस्ति स्फटिकमणेरवदातस्वभावात्प्रच्युतिरिति भावः । एतेन सूत्रद्वयेनार्थाच्चिन्निरोधे चितिशक्तिः स्वरूपप्रतिष्ठा यद्व्युत्थाने स्वरूपाप्रतिष्ठेव भवति तच्चित्तमिति द्वितीयसूत्रगतचित्तपदं व्याख्यातं भवति ॥ ४ ॥

भोजवृत्तिः ।

वृत्तिपदं व्याख्यातुमाह—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः (१) ॥ ५ ॥

वृत्तयश्चित्तपरिणामविशेषाः वृत्तिसमुदायलक्षणस्यावयविनो या अवयवभूता वृत्तयस्तदपेक्षया तयप्प्रत्ययः । एतदुक्तं भवति । पञ्च वृत्तयः कीदृश्यः ? क्लिष्टा अक्लिष्टाः, क्लेशैर्वक्ष्यमाणलक्षणैराक्रान्ताः क्लिष्टाः । तद्विपरीता अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु कियत्प्रकाराः कीदृश्यो वा वृत्तयो निरोद्धव्या इत्याकाङ्क्षायामाह वृत्तयः० ।

वक्ष्यमाणाः पञ्चप्रकारा एव वृत्तयो निरोद्धव्याः । तासां निरोधेनैव रागद्वेषादिवृत्तीनां स्वयमनुदयात् । ताश्च वृत्तयः क्लिष्टरूपा वा भवन्तु, अक्लिष्टरूपा वा भवन्तु, सर्वा एव निरोद्धव्या इत्यर्थः । क्लिष्टास्तामस्योऽक्लिष्टाः सात्त्विक्यो राजस्यश्च । क्लिष्टाक्लिष्टमिश्रवृत्तेरंशाभ्यां तामसीसात्त्विक्योरेवान्तर्भावः । 'रजोमिश्रमि'ति स्मृतेः ॥ ५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

वृत्तीनामियत्तामाह—वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः । वृत्तिसमुदायरूपोऽवयवी पञ्चप्रकारावयवक इत्यर्थः । ते च वृत्तिसमुदायाः चैत्रमैत्रादिचित्तभेदाद्बहव इति बहुवचनम् । धर्माधर्मवृद्धिरूपक्लेशफलिकाः क्लिष्टाः । सत्त्वपुरुषान्यतारूपविवेकज्ञानसाधनविषयाः ख्यातिसंज्ञा अक्लिष्टाः । तत्र क्लिष्टानामक्लिष्टाभिर्निरोधोऽक्लिष्टानां च परवैराग्येणेति बोध्यम् । तत्र क्लिष्टान्तर्वर्तिन्योऽप्यक्लिष्टाः क्लिष्टाभिरनभिभूताः स्वसंस्कारपरिपाकक्रमेण क्लिष्टा अभिभवन्तीति अक्लिष्टा एव भवन्तीति मिश्राणां नाधिक्यम् । वृत्तिभिः संस्काराः संस्कारैश्च वृत्तय इत्येवं वृत्तिसंस्कारचक्रमावर्तते आ निरोधयोगात् । निरोधावस्थं च चित्तं दग्धाखिलसंस्कारं प्रलयं याति । कृत्यादिलक्षणवृत्तीनां चैतन्निरोधेनैव निरोध इत्याशयेन पञ्चेत्युक्तम् । आसां वृत्तित्वं चैतैरेव व्यापारैश्चित्तस्य जीवनात् इति दिक् ॥ ५ ॥

---

(१) क्लिष्टाक्लिष्टा इति पाठान्तरम् ।

द्बुद्धौ प्रतिबिम्ब एव पुरुषस्य वृत्तिस्तदेव वृत्त्याकारतामापन्नं बोधफलमिति । तन्न । प्रतिबिम्बस्य बुद्धिपरिणामरूपतया तुच्छत्वेनार्थभानरूपत्वानुपपत्तेः । किंच परस्परप्रतिबिम्बः स्मृतिसिद्धः । किंच जानामीत्येवं बुद्धिवृत्तौ भासमानं प्रतिबिम्बचैतन्यं न स्वज्ञेयं संभवति कर्तृकर्मविरोधात् । अतस्तस्या बिम्बचैतन्ये भानमावश्यकमिति दिक् ॥

लिङ्गजन्या वृत्तिः सामान्यविषयाऽनुमानम् । आप्तेन तत्त्वदर्शनकारुण्यकरणपाटवरूपाप्तिमता स्वयं दृष्टस्य श्रुतस्यानुमितस्य वार्थस्य स्वचित्तवृत्तिज्ञानसदृशज्ञानविषयतया परचित्ते समर्पयितुमुपदिश्यते यः शब्दस्तज्जन्या तदर्थविषया वृत्तिरागमः । [illegible] वक्ताऽदृष्टश्रुतानुमितार्थत्वेनाश्रद्धेयः स आगमोऽप्रमाणम् । अन्यस्तु प्रमाणम् । मन्वाद्युक्तार्थानामपि तन्मूलवेदवक्ता ईश्वरो दृष्टानुमितार्थ एवेति तेऽपि प्रमाणमेव । वृत्तयस्तु साक्षिभास्याः करणानपेक्षणात् । साक्षाद्दर्शनरूपमेव पुरुषस्य साक्षित्वम् । तदुक्तम्—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च ।
प्रमाऽर्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम् ॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते ॥
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात् ॥
साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूचितम् । इति ॥

रूपादिमत्यो हि वृत्तयः सुखादिस्यो भार्या इव पुरुषस्य भोग्या इत्युच्यन्ते ॥ [illegible] ॥

मणिप्रभा ।

तत्र प्रमाणवृत्तिं विभजते—प्रत्यक्ष० ।

त्रीण्येव प्रमाणानीति भावः । अत्र प्रमाकरणत्वं सामान्यलक्षणम् । प्रमा चाज्ञातार्थावगाही पौरुषेयो बोधो वृत्तौ प्रतिबिम्बः, तत्करणं वृत्तिः । तत्रेन्द्रियसम्बन्धद्वारा चित्तस्य घटादिसम्बन्धे सति सामान्यविशेषात्मकेऽर्थे व्यक्तिरूपविशेषनिर्द्धारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । तत्रार्थाकारायां वृत्तौ चिदात्मनो यः प्रतिबिम्बः सोऽपि वृत्तिद्वारा अर्थाकारः सन्फलं भवति । [illegible] सामान्यतो ज्ञाते परोक्षार्थे समाधिना विद्यमानविशेषवृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणमिति ज्ञेयम् । अनुमानागमयोर्व्याप्तिसङ्केतग्रहापेक्षत्वाद्वह्नित्वादिसामान्ये तद्ग्रहात्सामान्यविषयत्वमेव । तत्र व्याप्तिग्रहे सति पक्षवृत्तिलिङ्गज्ञानात्साध्यतावच्छेदकसामान्यनिर्द्धारणवृत्तिरनुमानम् । आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थो येन शब्देनोपदिश्यते तस्माच्छब्दाच्छ्रोतुस्तदर्थविषया वृत्तिरागमः । वेदस्याप्तेश्वरप्रणीतत्वं वक्ष्यते ॥ ७ ॥

चन्द्रिका ।

प्रत्यक्ष० । बाह्यवस्तुनि इन्द्रियद्वारेण चित्तस्योपरागादर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम् । अनुमानं नाम गृहीतसम्बन्धाद्धेतोः पक्षे साध्यस्य सामान्यात्मना निश्चयः । आप्तस्य ईश्वरस्य वाक्यं वेदः ॥ [illegible] ॥

योगसुधाकरः ।

प्रत्यक्षेति । त्रीण्येव प्रमाणानीति भावः । वृत्तावज्ञातार्थावगाही चितिशक्तेः प्रतिबिम्बः प्रमा । तत्करणं वृत्तिः प्रमाणम् । तत्त्वं प्रमाणसामान्यलक्षणम् । तत्र चक्षुरादिद्वारा व्यक्तिविशेषनिर्धारणी चित्तवृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम् । तदाकारवृत्तौ चितिशक्तेः प्रतिबिम्बः प्रत्यक्षप्रमा । एवं ध्यानसमाधिद्वारा चितिशक्तिविशेषावद्योतिका संप्रज्ञाताख्या चित्तवृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम् । ज्ञाता चितिशक्तिः फलम् । लिङ्गज्ञानद्वारा लिङ्गिसामान्यनिर्धारणी वृत्तिरनुमानम् । तत्र प्रतिबिम्बोऽनुमितिः । पदार्थज्ञानद्वारा वाक्यार्थावगाहिनी वृत्तिरागमः । तत्र प्रतिबिम्बः शाब्दः । अनुमानागमावुभयत्र समानाविति पृथङ् नोदाहृतौ ॥ ७ ॥

प्रमाणलक्षणन्तु अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति। इन्द्रियद्वारेण बाह्यवस्तूपरागाच्चित्तस्य तद्विषयसामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्। गृहीतसम्बन्धाल्लिङ्गात् लिङ्गिनि सामान्यात्मनाऽध्यवसायोऽनुमानम्। आप्तवचनं आगमः॥ ७॥

भावागणेशवृत्तिः।

प्रमाणाद्याः पञ्चवृत्तीः क्रमेण पञ्चभिः सूत्रैर्लक्षयति—प्रत्यक्ष०।

अनधिगततत्त्वबोधः प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रसिद्धत्वादुपेक्ष्यैव विभागः कृतः। तत्रेन्द्रियद्वारा स्वतो वा मनःसंनिकर्षाज्जायते याऽनधिगतार्थनिश्चयरूपा वृत्तिः सा प्रत्यक्षं प्रमाणम्। निश्चयत्वं च संशयभिन्नज्ञानत्वम्। अतो नेच्छाकृत्यादिष्वतिव्याप्तिः। इच्छादिषु संनिकर्षस्य हेतुत्वे प्रमाणाभावात्। अस्य च प्रमाणस्य फलं प्रमा पौरुषेयो बोधः। वृत्तिद्वारैव हि तदारूढोऽर्थश्चितौ प्रतिबिम्बते। यद्यपि पुरुषस्वरूपो बोधो नित्यस्तथापि तत्तद्विषयावच्छिन्नत्वेन तस्य फलत्वं पुरुषाश्रितत्वं च घटते। विषयता च प्रतिबिम्बस्वरूपेति। एवमेवानुमानाद्यखिलवृत्तीनां पौरुषेयो बोध एव प्रयोजनं पुरुषार्थमेव करणव्यापारात्, राजार्थे भृत्यव्यापारवत्। व्याप्त्यादिवृत्तिजन्या वृत्तिरनुमानं प्रमाणम्। योग्यशब्दजन्या वृत्तिश्च शब्दप्रमाणमिति। एतेष्वेव प्रमाणेषु परोक्तानामुपमानैतिह्यादीनां प्रवेशः। अत्र प्रमात्रादिविभागे वार्तिककारिकाः—

> प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
> प्रमाऽर्थाकारवृत्तीनां चेतनप्रतिबिम्बनम्॥
> प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।
> वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात्॥
> साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूत्रितम्।
> अविकारेण द्रष्टृत्वं साक्षित्वं चापरे जगुः॥ ७॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तासां क्रमेण लक्षणान्याह—प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। अनधिगततत्त्वबोधः प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्। अविसंवादि ज्ञानं वा प्रमा। तत्रेन्द्रियद्वारा स्वतो वा मनःसंनिकर्षात् जायते यो विशेषतः पदार्थनिश्चयः तत्करणं वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। तत्रेन्द्रियद्वारा निर्गतस्य चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामश्चित्तस्य शङ्खपैत्याद्याकारतायां नयनादिगतपित्ताद्यन्वयदर्शनात्। अत एव रूपादिवृत्तिषु चक्षुरादीनां करणत्वमुच्यते। वृत्तिश्च—'अनन्ता रश्मयस्तस्य प्रभावद्यः स्थिता हृदि' इति स्मृतेः प्रभावत् द्रव्यमेव। निश्चयत्वं च संशयभिन्नज्ञानत्वं, तेन नेच्छाकृत्यादिष्वतिव्याप्तिः। स्वतो वेत्यनेन विवेकख्यातिरपि लक्षिता। 'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तवृत्त्याकारस्य बाह्यवस्त्वाकारोपरागात् बाह्यार्थगोचरं सामान्यधर्मविशेषधर्मतादात्म्यापन्नस्याप्यर्थस्य सामान्यधर्मोपसर्जनकविशेषरूपेण भानम्' इति भाष्यकृतः। तत्रापीन्द्रियप्रणालिकयेत्युपलक्षणम्। अनेनानुमित्यादिषु चित्तवृत्त्याकारेणैव साकारता वृत्तेः सामान्यविषयकत्वं च दर्शितम्, तदवच्छिन्न एव व्याप्तिग्रहात्। [illegible]प्रध्यानादौ चित्तवृत्तिघटाकारस्यैवानुभूयमानत्वात् तथापि चित्तवृत्तेर्घटाद्याकारतयानुभवात् चित्ते वासनारूपेण सर्वद्रव्यसत्त्वास्ति। ते हि वृत्तिसामग्र्या स्थूलाकारास्तस्यां भासन्त इति दिक्। 'प्रमाणफलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोध' इति भाष्यम्। वृत्तिरूपकरणस्य चित्तवृत्तिसमानाकारः पुरुषरूपो बोधः। तत्र हेतुगर्भविशेषणमविशिष्ट इति। चित्तवृत्तिसारूप्यापन्न इत्यर्थः। यद्यपि स नित्यस्तथापि तत्तदाकारवैशिष्ट्येन फलत्वं पुरुषाश्रितत्वं चेति बोध्यम्। राजार्थे भृत्यव्यापारवत् पुरुषार्थमेव करणव्यापारात्तद्बोधस्यैव फलत्वं युक्तम्। वृत्तिश्च प्रदीपशिखावद्बुद्धेरग्रभागः। येन चित्तस्यैकाग्रताव्यवहारः। एकमग्रे विषयतया यस्य तद्भावो ह्येकाग्रता। अयं घट इत्याकार एव वृत्तेर्बोधः। घटमहं जानामीति बुद्धेर्वृत्त्यन्तरं चैतन्यस्य स्वप्रकाशतयाऽस्यैवाभिलापो वा किंचि-

यद्रूपं पारमार्थिकं स्वरूपं तत्रापातिष्ठितं तदनवगाहि । तत्त्वं लक्षणम् । अतो न विकल्पेऽतिव्याप्तिः, तस्य बाधितत्वेऽपि केषांचित्पण्डितानां व्यवहारजनकत्वात् । नापि संशये, तस्यापि लक्ष्यत्वात् ॥ ८ ॥

भोजवृत्तिः ।

विकल्पवृत्तिं व्याख्यातुमाह—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं तदनु पतितुं शीलं यस्य स शब्दज्ञानानुपाती । वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसायः स विकल्प इत्युच्यते । यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति । अत्र देवदत्तस्य कम्बल इति शब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्या योऽध्यवसितो भेदस्तामिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यवसायः । वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

शब्देति । शब्दश्च ज्ञानं च अनुपातिनी यस्य स तथा । तथाच बाधाबाधकालाविशेषेण तदुभयजनकोऽर्थशून्यप्रत्ययो विकल्प इत्यर्थः । विपर्ययश्च बाधोत्तरं न स्वविषयेषु शब्दज्ञाने जनयति । प्रमाणवृत्तिश्चार्थवतीति तयोर्व्यावृत्तिः । अस्योदाहरणानि—राहोः शिरः पुरुषस्य चैतन्यम् । एवं

एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः ।
मृगतृष्णाम्भसि स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः ॥ इत्यादीनि ।

बाधोत्तरमपि हि तादृशज्ञानैः शब्दज्ञानरूपो व्यवहारः क्रियत इति । वैशेषिकैश्चैतान्याहार्यज्ञानान्युच्यन्ते ॥ ९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

विकल्पं लक्षयति- **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः** । शब्दविषयकज्ञानमनुपतति तज्जन्यो वृत्तिविशेष इत्यर्थः । अनेन विशेषदर्शनकालेऽपि व्यवहारानिवृत्तेर्विपर्ययाद्भेद उक्तः । वस्तुशून्योऽर्थशून्यः । तेन प्रमाणवृत्तेर्भेद उक्तः । यथा चैतन्यपुरुषयोरभेदेन भेदस्य वस्तुतस्तत्राभावाच्चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति शब्दज्ञानोत्तरं चैत्रस्य गौरित्यादाविव भेदमूलसंसर्गविषया वृत्तिः । यद्वा विवेकिनामपि शब्दप्रयोगज्ञानयोर्जनकस्तदारोपो विकल्पः । भेद एव च व्यपदेशशब्देनोच्यते विशिष्टोऽपदेशो व्यवहारो यस्मादिति व्युत्पत्तेः । राहोः शिरो वन्ध्यासुत इत्यादि चोदाहरणम् । यथा बाणस्तिष्ठतीति । अत्र हि गतिनिवृत्तिः प्रतीयते । तत्राभावो नाम कश्चिदर्थस्तस्माद्गतिनिवृत्तिः कल्पिता । तस्या अपि भावरूपत्वं तत्रापि पूर्वापरीभाव इति कल्पनापरम्परा । पूर्वापरीभूतकर्मक्षणप्रचयस्यैवैककालावच्छिन्नस्य भावार्थत्वादिति दिक् । अन्यैरेतान्याहार्यज्ञानानीत्युच्यन्ते ॥ ९ ॥

मणिप्रभा ।

विकल्पं लक्षयति—शब्देति ।

नरशृङ्गादिश्रवणानन्तरमवश्यं भवत्येव निर्विषया वृत्तिर्या सा विकल्प इत्यर्थः । अयं विकल्पो वस्तुशून्यत्वान्न प्रमाणं, बाधेऽप्यवश्यभावित्वाद् व्यवहारहेतुत्वाच्च न विपर्ययः । यथा चैतन्यमेव पुरुष इत्यभेदनिश्चयेऽपि पुरुषस्य चैतन्यमेदविकल्पः, भावातिरिक्ताभावो नास्तीति निश्चयेऽपि सर्वधर्माभाववान्पुरुष इति विशेषणविशेष्यभावविकल्पः । एवं राहोः शिर इत्यादिविकल्पा उदाहार्याः ॥ ९ ॥

चन्द्रिका ।

शब्देति । शब्दजज्ञानानुपतनशीलः वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो निश्चयो विकल्पः ॥ ९ ॥

योगसुधाकरः ।

शब्देति । 'राहोः शिरः' इति शब्दश्रवणानन्तरं जायमाना वस्तुशून्या वृत्तिर्विकल्पः । अतो वाक्यार्थगोचरवृत्तौ नातिव्याप्तिः, तस्या वस्तुशून्यत्वात् । नापि विपर्यये, तस्य शब्दज्ञानानुपातित्वात् ॥ ९ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवं प्रमाणरूपां वृत्तिं व्याख्याय विपर्ययरूपामाह—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

अतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्ययः, यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानम् । अतद्रूपप्रतिष्ठमिति । तस्यार्थस्य यद्रूपं तस्मिन् रूपे न प्रतितिष्ठति तस्यार्थस्य यत् पारमार्थिकं रूपं न तत् प्रतिभासयतीति यावत् । संशयोऽप्यतद्रूपप्रतिष्ठत्वान्मिथ्याज्ञानं यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वा ? इति ॥ ८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

विपर्यय इति लक्ष्यनिर्देशः । मिथ्याज्ञानमिति लक्षणम् । मिथ्येत्यस्य विवरणमतद्रूपप्रतिष्ठमिति । न तद्रूपो न स्वसमानाकारो यो विषयस्तद्विशेष्यकमित्यर्थः । भ्रमस्थले च ज्ञानाकारस्यैव विषये समारोपः।

विप्र ! पृथ्व्यादि चित्तस्थं न बहिष्ठं कदाचन ।
स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वैरेवानुभूयते ॥ इति स्मृतेः ॥

स्वप्नादिषु चित्तमेव प्रतीयते न बहिष्ठमित्यर्थः । संशयस्यापि विपर्ययेऽन्तर्भावः । अतद्रूपप्रतिष्ठत्ववचनादन्यथाख्यातिरत्र दर्शने सिद्धा न तु सांख्यानामिवाविवेकमात्रम् ॥ ८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

विपर्ययं लक्षयति—**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्** । विपर्यय इति लक्ष्यम् । मिथ्याज्ञानमिति लक्षणम् । मिथ्येत्यस्य विवरणमतद्रूपप्रतिष्ठमिति, भासमानरूपाभाववद्विशेष्यकमित्यर्थः । यद्वाऽतद्रूपप्रतिष्ठमित्यस्य बुद्धिविषयाकारसमानाकारविषयप्रतिष्ठं नेत्यर्थः । भ्रमस्थले बुद्धिवृत्त्याकारस्यैव विषये आरोप इति सिद्धान्तात् । अतः संशयोऽपि मिथ्याज्ञानमेव । मिथ्यात्वेन तज्ज्ञाने बाध्यत्वमप्यभिप्रेतम् । अत एव वक्ष्यमाणविकल्पस्य न विपर्ययत्वम् । नेदं रजतमिति ज्ञानोत्तरमिदं रजतमिति ज्ञानव्यवहारयोरभावः, शशशृङ्गमिति ज्ञानव्यवहारौ बाधज्ञानकालोत्तरमपीति विशेषात् । वस्तुतत्त्वविषयत्वेन प्रमाणेनाप्रमाणबाधनं दृष्टम्, एकचन्द्रज्ञानेनेव द्विचन्द्रज्ञानस्य । मिथ्याज्ञाने च दोषः कारणम् । स चाविद्येति वक्ष्यते । भ्रमस्थले बुद्धिरूपचित्तवृत्त्याकारस्यैव विषये आरोपः ।

विप्र ! पृथ्व्यादि चित्तस्थं न बहिष्ठं कदाचन ।
स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वैरेवानुभूयते ॥ इति स्मृतेः ॥

अतद्रूपप्रतिष्ठमितिवचनादन्यथाख्यातिरत्र दर्शने इति । वैशेषिकमतादयं विशेषः । तेषां बाह्यरजतारोपः, अस्माकं त्वान्तरस्येति । अत एव प्राग्दृष्टमिदानीं नास्तीति स्वरूपतो बाधानुभवः । केचित्तु वस्तुतस्तु अतद्रूपप्रतिष्ठत्वं तद्रूपप्रकारकत्वाभाव इति असंसर्गाविशिष्टं ज्ञानं भ्रम इति मतेऽपि सूत्रं सुयोजमिति । विपर्यय एवाविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशरूपपञ्चपर्वाऽविद्या । रागादीनामविद्यानुगतत्वादविद्यापर्यायत्वं विपर्ययत्वं च । एषामेव तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रेति संज्ञा इति दिक् ॥ ८ ॥

मणिप्रभा ।

विपर्ययं लक्षयति—**विपर्ययो०** ।

तत्तद्रूपे स्वविषय प्रतिष्ठाशून्यं बाधविरोधीति यावत् । विकल्पोऽपि बाधविरोधी तद्रूपाप्रतिष्ठ इत्यतिव्याप्तिनिरासाय मिथ्याज्ञानपदम्, तेन स्वविषये स्वजन्यव्यवहारलोपिसर्वसंमतबाधवत्त्वमुच्यते । न च विकल्पे तादृशबाधोऽस्ति,केषांचित्पण्डितानां तत्र बाधबुद्धावपि यथापूर्वं व्यवहारालोपात् । संशयस्तु लक्ष्य एवेति नातिव्याप्तिरिति भावः । अस्यैव विपर्ययस्य भेदाः पञ्च क्लेशा इति वक्ष्यते ॥ ८ ॥

चन्द्रिका ।

विपर्यय इति । अतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्ययः संशयोऽपि अतद्रूपप्रतिष्ठत्वान्मिथ्याज्ञानम् ॥ ८ ॥

योगसुधाकरः ।

विपर्यय इति लक्ष्यनिर्देशः । मिथ्याज्ञानं बाधानन्तरं व्यवहाराजनकं यत् अतद्रूपप्रतिष्ठं तस्यार्थस्य

भोजवृत्तिः ।

निद्रां व्याख्यातुमाह—

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

अभावप्रत्यय आलम्बनं यस्याः वृत्तेः सा तथोक्ता । एतदुक्तं भवति । या सन्ततं उद्रिक्तत्वात्तमसः समस्तविषयपरित्यागेन प्रवर्तते वृत्तिः सा निद्रा । तस्याश्च सुखमहमस्वाप्समिति स्मृतिदर्शनात् स्मृतेश्चानुभवव्यतिरेकेणानुपपत्तेर्वृत्तित्वम् ॥ १० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अभावेति । प्रकृतत्वादुक्तवृत्तीनां योऽभावोऽनुत्पादः तस्य प्रत्ययः कारणं तमः तदालम्बना तद्विषयिणी तमःप्रचुरचित्तविषयिणीति यावत्, एवंभूता वृत्तिर्निद्रेत्यर्थः । जाग्रत्स्वप्नस्य (स्थ) वृत्त्युपरमे चित्तस्य स्वगतसुखादिविषयिणी निद्राख्या वृत्तिरनुभूयते । सुखमहमस्वाप्सं दुःखमहमस्वाप्सं गाढं मूढोऽहमस्वाप्समित्येवं सात्त्विकादिनिद्रोत्थितानां त्रिविधस्मरणादतोऽपि निद्रा वृत्तिरिति । शुष्कतार्किकास्तु इमामपि वृत्तिं स्वप्नमध्ये प्रवेशयन्ति । सुषुप्त्यवस्थां तु ज्ञानशून्यत्वरूपां ज्ञानकारणाभावादेवेच्छन्ति । अस्माभिरपि सर्ववृत्तिशून्याप्यवस्था स्वीक्रियत एव । तस्यां च गाढं तमो दोष इष्यते ।

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वापमादिशेत् ।

प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषु संततम् ॥ इति स्मृतेः ।

इन्द्रियाद्युत्पत्तेः प्रागेव हिरण्यगर्भस्य ज्ञानोत्पत्त्या ज्ञानसामान्ये त्वङ्मनोयोगादीनां हेतुत्वकल्पनासम्भवात् । येन ज्ञानकारणाभावादेव सावस्थोपपाद्येतेति ॥ १० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

निद्रां लक्षयति—अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा । प्रकृतत्वादुक्तानां वृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः कारणं बुद्ध्यावरकं तमः तदालम्बना स्वपिमीत्याकारा आवरकतमोविषया च तदाच्छादितचित्तगतसुखादिविषया वृत्तिः सा निद्रेत्यर्थः । पुनर्वृत्तिपदं निद्राया वृत्तित्वे बहूनां विप्रतिपत्तेस्तद्दार्ढ्याय । 'जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः' इति स्मृतेश्च । तदुद्भूततमआच्छादितबुद्धिसत्त्वस्य बाह्यवृत्त्यभावात् तद्गुणसुखादीन्यवबुध्यमानः पुरुषोऽन्तःसंज्ञ उच्यते । न च वृत्त्यभाव एवास्तु, सुखमहमस्वाप्सं अकर्मण्यं मे मनो यतो भ्रमत्यनवस्थितम्, मूढोऽहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि अलसमिव मे चित्तमिति सुप्तोत्थितस्य स्मरणानुभवात् । अनुभवाभावे हि कथं स्मृतिः स्यात् । तदन्यतमग्रहणे नियामकं तु अदृष्टाद्येवेति बोध्यम् । अतएव 'त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्' इति श्रुत्या तत्रापि भोग्यमुक्तम् । यत्तु 'न तद्विभक्तमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' इति श्रुत्या यत्सुषुप्ते ज्ञानसामान्याभाव उक्तस्तत्समग्रसुषुप्तिपरम् । यत्रायमनुभवः सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति, 'मुग्धेऽर्धसंपत्ति'रिति वेदान्तसूत्राच्च । तत्र सुखमित्यस्य वृत्त्युत्थदुःखरहितमित्यर्थः । यत्तु सुषुप्तौ तमः साक्षिभास्यमेवेति । तन्न । साक्षिणोऽपरिणामित्वेन संस्कारस्मृत्योरसम्भवात् । एषा चैकाग्रतुल्यापि तामसत्वाद्योगपरिपन्थिनीति । यत्तु त्वङ्मनोयोगरूपकारणाभावात्सुषुप्तौ ज्ञानसामान्याभाव इति । तन्न । इन्द्रियाद्युत्पत्तेः प्रागेव हिरण्यगर्भस्य ज्ञानोत्पत्त्या ज्ञानसामान्ये तस्य हेतुत्वाभावात् । गाढतमोरूपदोषेण सर्ववृत्त्यभावस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात् ॥ १० ॥

मणिप्रभा ।

निद्रां लक्षयति—अभावेति ।

कार्यं प्रत्ययते गच्छतीति प्रत्ययो हेतुः । जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावे हेतुस्तमः आलम्बनं विषया यस्याः सा वृत्तिर्निद्रा । वृत्तिपदस्यानुवर्तमानस्योच्चारणं ज्ञानाभावो निद्रेति मतनिरासार्थम् । तथा हि उत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति स्मरणं बुद्धिसत्त्वप्राचितमोविषयं तदनुभवं कल्पयति । दुःखमहमस्वाप्समिति स्मरणं रजस्तमोविषयं तदनुभवं कल्पयति । गाढमूढमहमस्वाप्समिति केवलतमो-

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तस्यैव व्युत्थानसंस्कारेण अनादिनाऽप्रतिबन्धाय विशेषमाह—स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः । स अभ्यासो दीर्घकालीन सेवितो नैरन्तर्येण सेवितो ब्रह्मचर्येण श्रद्धातपआदिभिः सत्कारैश्च सेवितो दृढभूमिर्व्युत्थानसंस्कारानभिभूतो भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

मणिप्रभा ।

नन्वनादिप्रबलराजसतामसवृत्तिसंस्कारैर्विरोधिभिः कुण्ठितोऽभ्यासो न स्थित्यै कल्पत इत्यत आह सत्विति ।

"तु" शब्दः शङ्कानिरासार्थः । सोऽभ्यासो दीर्घकालं तपोब्रह्मचर्यविद्याश्रद्धारूपसत्कारेण नैरन्तर्येण चासेवितो दृढसंस्कारः स व्युत्थानसंस्कारैर्नाभिभूयते किन्तु स्थितिसमर्थो भवतीत्यर्थः । "अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्येति" श्रुतिः सत्कारं दर्शयति ॥ १४ ॥

चन्द्रिका ।

सत्विति । बहुकालं नैरन्तर्येणादरातिशयेन च सेव्यमानो दृढभूमिः स्थिरो भवति ॥ १४ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वयत्ननाभ्यासः स्वयमदृढः सन्ननादिसंचितव्युत्थानसंस्कारान्कथमभिभवेदित्याशङ्क्याह—सत्विति ।

यदि दिवसैर्मासैर्वा समाधिसिद्धिं वाञ्छेत, तदा 'विद्यमानाश्चत्वार एव वेदाः तानध्येतुं गतस्य माणवकस्य पञ्च दिवसा अतीताः, नाद्याप्यसौ समागतः' इति मूढवचनानुसारेणायं योगी स्यात् । अतः संवत्सरैर्जन्मभिर्वा दीर्घकालं योग आसेवितव्यः । तथा च स्मर्यते—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इति । यदि चिरमासेव्यमानोऽपि विच्छिद्य विच्छिद्यासेव्येत, तर्ह्युत्पद्यमाना योगसंस्काराः समनन्तरभाविविच्छेदकालीनैर्व्युत्थानसंस्कारैरभिभूयेरन् । अतो निरन्तरमासेवितव्यः । सत्कार आदरः । अनादरे लयविक्षेपकषायादयः प्रसज्जेरन् । तस्मादादरेणासेवितव्यः । दीर्घकालादि त्रैविध्येनासेवितस्य समाधेर्दृढभूमित्वं नाम प्रबलतरदुःखेनापि चालयितुमशक्यत्वम् । तत्र स्मर्यते—'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते' इति ॥ १४ ॥

भोजवृत्तिः ।

वैराग्यस्य लक्षणमाह—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

द्विविधो हि विषयो दृष्ट आनुश्रविकश्च । दृष्ट इहैवोपलभ्यमानः शब्दादिः । देवलोकादावानुश्रविकः । अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवो वेदस्तत्समधिगत आनुश्रविकः तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणामविरसत्वदर्शनाद्विगतगर्द्धस्य या वशीकारसंज्ञा ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽयं विमर्शस्तद्वैराग्यमुच्यते ॥ १५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

योगहेतुवैराग्ययोर्मध्ये प्रथममपरवैराग्यं लक्षयति—दृष्टेति ।

अपरवैराग्यं तावच्चतुर्विधम्—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति । तत्र दृष्टेष्वैहिकेषु विषयेषु, आनुश्रविकेषु अनुश्रवाख्यवेदोक्तेषु विषयेषु स्वर्गादिषु, वितृष्णस्य आद्यवैराग्यत्रययुक्तस्य चित्तस्य जायमाना या वशीकारसंज्ञा सा योगहेतुवैराग्यमपरमित्यर्थः । वैराग्यान्तरस्य परतया वक्ष्यमाणत्वात् । अयं भावः । यतमानादिवैराग्ये सत्यपि वशीकारं विना विषयसान्निध्ये योगभ्रंशो भवति । अत आद्यवैराग्यत्रयाभ्यासादुत्पद्यमाना वशीकारसंज्ञैव योगहेतुरिति । वैराग्यचतुष्टयं तन्त्रान्तरे प्रोक्तं तद्यथा—"ज्ञानपूर्वकवैराग्यसाधनानां दोषदर्शनादीनामनुष्ठानं यतमानसंज्ञात्वेन परिभाषिता वितृष्णा प्रथमा भूमिका । जितान्येतानीन्द्रियाणि एतानि च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधा-

चत्वारोऽप्येते सालम्बनाः सबीजा इति [illegible] ध्येयरूपालम्बनयोगाद्बाधबीजसंस्कारोऽन्यत(?)-श्चेति ध्येयम् ॥ १७ ॥

मणिप्रभा ।

एवमभ्यासवैराग्ये निरूप्य तत्साध्यं निरूपयन्नादौ सम्प्रज्ञातं चतुर्विधं दर्शयति— वितर्केति ।

यथा लोके प्राथमिकधानुष्कः स्थूलमेव लक्ष्यं विध्यति पश्चात्सूक्ष्मं तथा प्राथमिको योगी स्थूलमेव शालिग्रामादिकं ध्यानेन साक्षात्करोति स स्थूलसाक्षात्कारो 'वितर्कः' । तस्य स्थूलस्य कारणं पञ्च-तन्मात्रादिकं सूक्ष्मं तस्य ध्यानेन साक्षात्कारो 'विचारः'। इन्द्रियाणि स्थूलानि प्रकाशकत्वात्सत्त्वरू-पाणि तेषां ध्यानेन साक्षात्कार 'आनन्दः'। तेषां कारणं बुद्धिः पुरुषेण ग्रहीत्रैकीभूता सती अस्मिता तस्या ध्यानेन साक्षात्कारोऽप्यस्मितोच्यते । तत्र स्थूलं च ग्राह्यमिन्द्रियाणि ग्रहणानि अस्मिताऽऽ-ख्यो ग्रहीता तेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु ध्यानपरिपाकः सम्प्रज्ञातो योगः । स च वितर्कविचारानन्दास्मि-तास्वरूपैश्चतुर्भिरनुगमाच्चतुर्विधः सवितर्कः, सविचारः, सानन्दः, सास्मित, इति । अत्र यथा घट-ज्ञानं मृद्विषयं तादात्म्यात्तथा स्थूलयोगः स्थूलसूक्ष्मेन्द्रियास्मिताविषयकः, सूक्ष्मयोगस्त्रयविषयकः, अन्यौ द्व्येकविषयाविति विशेषो भाष्यकृद्भाषितः । तत्र मृज्ज्ञानं घटाविषयं यथा तद्वत्सूक्ष्मादियोगाः स्थूलाद्यविषया इति मन्तव्यम् । भोजवृत्तौ तु इन्द्रियेषु सवितर्कमुक्त्वा, तन्मात्रेषु सविचारमुक्त्वा, ऽहङ्कारे सानन्दो, महतत्त्वे सास्मित इत्युक्तम् । तत्राहमितिविषयग्राहकान्तःकरणमहङ्कारः । अन्तर्मुखे सत्तामात्रे महतत्त्वे लीनं सत्तामात्रावभासकमस्मितेति तयोर्भेदः । ग्रहीता पुरुषः ॥ १७ ॥

चन्द्रिका ।

वितर्केति । वितर्कादिचतुष्टयभेदेन सम्यक् प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य [illegible] येन सः ॥ १७ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थमभ्यासवैराग्ये निरूप्य तत्साध्यं समाधिमाह वितर्केति ।

सम्यक्प्रज्ञायते येन भाव्यं वस्तु स सम्प्रज्ञातः समाधिर्भावनाविशेषः । स च वितर्कादिरूपैश्चतुर्भि-रनुगमाच्चतुर्विधः—सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मित इति । तत्र भावनया भाव्यभूतेन्द्रियगोचर-साक्षात्कारः सवितर्कः । पञ्चतन्मात्रान्तःकरणगोचरसाक्षात्कारः सविचारः । रजस्तमोलेशानुविद्धसत्त्व-प्रधानबुद्धिगोचरसाक्षात्कारः सानन्दः । शुद्धसत्त्वप्रधानमहत्तत्त्वगोचरसाक्षात्कारः सास्मितः । तत्र वि-तर्कविचारद्वयं ग्राह्यम् । आनन्दो ग्रहणम् । अस्मितारूयो ग्रहीता । तेषु ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु भावनोत्कर्षः सम्प्रज्ञातो योग इत्यर्थः ॥ १७ ॥

भोजवृत्तिः ।

असम्प्रज्ञातमाह—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

विरम्यतेऽनेनेति विरामो वितर्कादिचिन्तात्यागः विरामश्चासौ प्रत्ययश्चेति विरामप्रत्ययस्तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनम् । तत्र या काचित् वृत्तिरुल्लसति तस्या नेति नेतीतिनैरन्तर्येण पर्य्यु-दसनं तत्पूर्वः सम्प्रज्ञातसमाधेः संस्कारशेषोऽन्यस्तद्विलक्षणोऽयमसम्प्रज्ञात इत्यर्थः । न तत्र किञ्चिद्वे-द्यम् सम्प्रज्ञायते इति असम्प्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः । [illegible] चतुर्विधश्चित्तस्य परिणामः । व्युत्थानं समा-धिप्रारम्भो एकाग्रता निरोधश्च । तत्र क्षिप्तमूढे चित्तभूमी व्युत्थानम् । विक्षिप्ता भूमिः सत्त्वोद्रेकात् समाधि-प्रारम्भः । निरुद्धैकाग्रते च पर्य्यन्तभूमी । प्रतिपरिणामञ्च संस्काराः । तत्र व्युत्थानजनिताः संस्काराः समाधिप्रारम्भजैः संस्कारैः प्रत्याहन्यन्ते । तज्जाश्चैकाग्रताजैः, निरोधजनितैरेकाग्रताजाः संस्काराः स्वरूपञ्च हन्यन्ते—यथा सुवर्णसम्वलितं ध्मायमानं सीसकमात्मानं सुवर्णमलञ्च निर्दहति । एवमेकाग्रता-जनितान् संस्कारान् निरोधजाः स्वात्मानञ्च निर्दहन्ति ॥ १८ ॥

शनैर्नयेत्' इति स्मृतेः। किञ्च स्थूलादिविषये रागे उत्तरोत्तरभूमौ चित्तसमाधानासम्भवः। अतः स्थूलादिसाक्षात्कारेण तत्र तत्र दोषदृष्ट्योत्तरोत्तरभूम्यारोहः। यदि तु कस्यचिदीश्वरप्रसादादादावेवोत्तरभूम्यारोहो भवति तेन पूर्वभूमिकाभ्यासस्तत्सिद्धिकामवा विना न कार्यः। एतच्च भूमिकाचतुष्टयमेकस्मिन्नेवालम्बने कर्तव्यम्, अन्यथा पूर्वपूर्वोपासनात्यागदोषापत्तेः, चित्तचाञ्चल्यदोषापत्तेश्च। तथाहि—यद्विराट्शरीरं चतुर्भुजादिकं वा स्वशरीरं [illegible] पुरुषेश्वरसहितं जडचतुर्विंशतितत्त्वैः प्रकृत्या पुरुषेण च षड्विंशतितत्त्वसङ्घातं समष्टिव्यष्ट्यात्मकमालम्बनमधिकृत्य प्रथमं भावना प्रवर्तते तदालम्बनं, तत्रालम्बने स्थूलयोर्महाभूतेन्द्रिययोर्विद्यमानानामशेषविशेषाणामतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टानां गुणदोषाणामदृष्टाश्रुतामतानामपि पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखेन च भावनया [illegible]ः साक्षात्कारः स वितर्क इत्युच्यते। तेन फलेनोपहितश्चित्तवृत्तिनिरोधो वितर्कानुगत इत्युच्यते। तत्रादृष्टाश्रुतामतानां पूर्वं चिन्तनासम्भवेऽपि योगबलेनैवोत्तरोत्तरं [illegible] साक्षात्कारो भवति। तस्यैव पुनः सवितर्कानिर्वितर्काख्यौ भेदौ वक्ष्यति। वितर्को विपरीततर्कणं शब्दार्थज्ञानविकल्परूपमित्यग्रे स्फुटम्। अत्र स्थूलसाक्षात्कारे तप्तायःपिण्डवदेकीभावेन पुरुषपर्यन्तानां भानमुत्तरे च पूर्वपूर्वभानमिति भाष्ये स्पष्टम्। जपादिजन्यात् ध्रुवादीनां चतुर्भुजादिसाक्षात्काराच्चायं विलक्षणः। तेषां हि तपोध्यानादितुष्टः परमेश्वरः [illegible] शरीरं निर्माय पुरः प्रकटीभूय वागादिव्यवहारं चक्रे। योगिनस्तु योगबलेन वैकुण्ठश्वेतद्वीपादिस्थमेव तच्छरीरमन्यत्र स्थिताः पश्यन्ति, तद्गतं बाह्याभ्यन्तरगुणदोषादिकमतीतादिरूपं पश्यन्तीति विशेषः। ततस्तत्रैवालम्बने दोषज्ञानेन स्थूलाकारदृष्टिं त्यक्त्वा कारणत्वेनानुगता ये तन्मात्राहंकारप्रकृतिरूपा भूतेन्द्रिययोः सूक्ष्मा अर्थास्तेषु क्रमेण धारणादित्रयेण यस्तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कारः स विचारः, विशेषेण चरणं सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तं यत्रेत्यर्थात्तदुपहितो विचारानुगतः। अस्य सविचारनिर्विचाररूपौ भेदौ वक्ष्यति। नच स्थूलालम्बने कथं सूक्ष्मदृष्टिर्यथार्था। सर्वेषां षड्विंशतितत्त्वकार्यतया कार्यकारणयोश्चाभेदेन षड्विंशतितत्त्वरूपत्वात्। [illegible] कार्यरूपताऽस्थिरा कारणरूपतैव च सत्या। नचैवमप्यदृष्टस्य कथं भावना, श्रुतमतप्रकारतयैव सामान्यतो भावनासम्भवात्। अश्रुतामतविषयस्य [illegible] योगजधर्मबलेनैव साक्षात्कार एवं सर्वत्र बोध्यम्। ततस्तत्रैवालम्बने तामपि दृष्टिं दोषदर्शनेन त्य[illegible] चतुर्विंशतितत्त्वानुगतसुखरूपपुरुषार्थे धारणादित्रयेण पूर्ववदशेषविशेषतः सुखाकारः स आनन्दः ज्ञानज्ञेययोरभेदोपचारात् तदुपहितः सानन्दः। यद्यपि सुखवद्दुःखमोहावपि सर्वत्र तथापि सुखरागेणैव संसारादात्मदर्शनप्रतिबन्धाच्च तदेव मुख्यतोऽशेषविशेषतो योगेन द्रष्टव्यम्। यथा तत्र दोषदर्शनेन दुःखदृष्ट्या योगजसिद्धिष्वपि वैराग्यं स्यादित्याशयेनानन्दभावे योगोपदेश इति बोध्यम्। तत आनन्दपर्यन्तं दोषदर्शनेन विरज्य तत्रैवालम्बने जीवेश्वररूपं यत्पुरुषद्वयमस्ति तदन्यतरस्य कूटस्थचिन्मात्ररूपस्य जडेभ्यो विवेकेन यः आत्माकारः साक्षात्कारः सोऽस्मिता। देहादिभिन्नोऽस्तीत्येतावन्मात्राकारत्वादस्मि इत्येतावन्मात्राकारत्वाद्वा इतः परं ज्ञातव्याभावादेषा चरमभूमिका। अत्रास्मिताशब्देन विविक्तचेतनाकारमात्रतोपलक्ष्यते। तेनादीनभावेन [illegible] ऐश्वरश्चेतनतत्त्वसाक्षात्कारस्तस्यापि सङ्ग्रहः। तदनुगतोऽस्मितानुगतः। अस्यैव परा [illegible] धर्ममेघसमाधिरित्युच्यते। यस्योदये ज्ञानेऽप्यलंप्रत्ययरूपपरवैराग्यं जायते। तत्र पूर्वं जीवात्मविषयास्मिता। ततस्ततोऽपि सूक्ष्मा परमात्मविषया। जीवस्वरूपज्ञानं हि प्रत्यक्षं तत्रैव परिच्छिन्नकूटस्थत्वादिज्ञानस्यैव तत्साक्षात्कारत्वात्। अयमेव सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिशब्देनोच्यते पारमेश्वरयोगस्तु कौर्मे उक्तः—

यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्।
मामेकं स महायोगो भाषितः पारमेश्वरः॥
यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम्॥ इति।

कारणरूपेण विभुत्वेन च सर्वत्रानुगमादस्मितायाः अचेतनघटाद्यालम्बनेऽपि सम्भव इति दिक्।

भावागणेशवृत्तिः ।

असंप्रज्ञातं द्विधा विभजते सूत्राभ्याम्—भवेति ।

विदेहानां प्रकृतिलयानां च असंप्रज्ञातो भवप्रत्ययसंज्ञको भवति । भवो जन्मैव प्रत्ययः कारणं यस्येति व्युत्पत्तेरित्यर्थः । 'देहनैरपेक्ष्येणैव बुद्धिवृत्तिमन्तः सिद्धा विदेहाः' इति विभूतिपादे भाष्यकारैरुक्तम् । ते च महदादयो देवाः तेषां न साधनानुष्ठानम् ॥ १९ ॥ २० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

स च द्विधा भवप्रत्यय उपायप्रत्ययश्च । तत्राद्यं लक्षयति—भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् । विदेहाश्च प्रकृतिलयाश्चेति द्वन्द्वः । तत्र विदेहाः स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिङ्गदेहेनाखिलव्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भादयः । ते हि भूतेन्द्रियतन्मात्राहंकारमहतामन्यतमदात्मत्वेन प्रतिपद्य तदुपासनया तद्वासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरं तदन्यतमे लीनाः संस्कारमात्रशेषमनसः स्थूलदेहरहिता अवृत्तिकत्वात्कैवल्यमिवानुभवन्ति, प्राप्तावधयस्तु पुनः संसारे विशन्ति । यथा वर्षाऽतिपाते मृद्रूपा मण्डूकाः पुनर्वर्षासेकेन मण्डूकदेहमनुभवन्ति तद्वत् । ते हि दैनंदिनप्रलये कदाचिच्च सर्गकालेऽपि स्वसंस्कारमात्रोपगतेन चित्तेन संस्कारशेषेण निरोधावस्थेन कैवल्यपदमिव प्राप्नुवन्तः प्राप्तेऽवधौ व्युत्थानकाले देवभावप्रापकसंस्कारेण तद्भावं प्राप्य तत्फलमैश्वर्यादिकं ततो भुक्त्वा मुच्यन्ते

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकाश्च शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ॥ इत्युक्तेः ।

तेषां च एतद्देहपातानन्तरं स्वस्वाधिकारावसरे प्रादुर्भावरूपजन्ममात्रकारणकत्वाद्भवप्रत्ययः । भवो जन्म प्रत्ययः कारणं यस्येत्यर्थात् । प्रकृतिलयाश्च प्रकृत्युपासनया तच्छबलेश्वरोपासनया वा ब्रह्माण्डं भित्त्वा महत्तत्त्वपर्यन्तावरणान्यतीत्य प्रकृत्यावरणं गताः तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरं तत्र लीनास्तेऽपि साधनानुष्ठानं विनैव तत्राविर्भावरूपाज्जन्मत एव तथाविधा भवन्ति । 'पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः' इत्यवधिसमाप्तौ पुनः देवादिसंसारे विशन्ति । ततो मुच्यन्ते प्राग्वत् । तत्स्थास्तु विवेकख्यातेरभावात्साधिकारचेतसः कैवल्यपदमिवानुभवन्ति स्थूलदेहवृत्तिसजातीयवृत्त्यभावात् । अत एवेन्द्रियाद्युपासकानामिन्द्रियाद्यभिमानिसूर्यादिप्राप्तेः फलत्वेन भवणम् । अयं चैषां विदेहेभ्यो विशेषः—तेषामल्पमैश्वर्यं मलिनश्च विषयः । एते च तेषामपीशाः स्वसंकल्पमात्रेण निर्मलसत्त्वविषयभागा ईश्वरकोटय इत्युच्यन्ते । प्रलये प्रकृतिलीनत्वात्स्वतन्त्रा न गृह्यन्ते तस्य(१) पुरुषार्थत्वात् । एवं च ते संसारप्राप्तिहेतुतया हेया इति भावः । भवप्रत्यय इति पदं तन्त्रेण षष्ठीतत्पुरुषार्थकमपीति बोध्यम् ॥ १९ ॥

मणिप्रभा ।

अयमसम्प्रज्ञातो द्विविधः भवप्रत्यय, उपायप्रत्ययश्च, तत्राद्यो मुमुक्षुभिर्हेयस्तमाह—भवेति ।

भूतेन्द्रियाणामन्यतमस्मिन्विकारेऽनात्मन्यात्मत्वभावनया देहपातानन्तरं भूतेन्द्रियेषु लीनाः षाट्कौशिकदेहशून्या विदेहाः । अव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेषु प्रकृतिष्वात्मत्वभावनया लीनाः प्रकृतिलयाः । तेषां चित्तं संस्कारमात्रशेषमित्यसंप्रज्ञातः । स च भवप्रत्ययः । भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इत्यविद्या भवः अनात्मन्यात्मबुद्धिः स प्रत्ययो हेतुरस्य स तथा । अविद्यामूलोऽयं योगोऽन्तवत्फलः । यदाह वायुः—

शतमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।

---

(१) प्रकृतिलयस्य ।

भावागणेशवृत्तिः।

असंप्रज्ञातस्वरूपमुच्यते—विरामेति।

तत्त्वज्ञानलक्षणयापि वृत्त्या विरम्यतामिति प्रत्ययः, ज्ञानेऽप्यलम्बुद्धिः परवैराग्यम्। तदभ्यासात्पौनःपुन्याज्जायते यः संस्कारमात्रावशेषो वृत्तिनिरोधः स सम्प्रज्ञातादन्योऽसम्प्रज्ञात इत्यर्थः। संस्कारमात्रशेष इत्यनेन मोक्षकालीननिरोधव्यावृत्तिः। असम्प्रज्ञाते व्युत्थानार्थं वृत्तिसंस्कारमात्रं तिष्ठति न तु वृत्तिः। मोक्षे तु चित्तस्यात्यन्तविलयात्संस्कारोऽपि न तिष्ठतीति विशेषः॥ १८॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

असंप्रज्ञातमाह—विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। तत्त्वज्ञानलक्षणवृत्तेरपि विरामोऽस्तु इति 'नेति नेति' इत्युदीरितो यः प्रत्ययो ज्ञानेऽप्यलंबुद्ध्यात्मा परवैराग्यरूपस्तस्याभ्यासात्पौनःपुन्याज्जायते यः संस्कारमात्रावशेषो वृत्तिनिरोधः स संप्रज्ञातादन्योऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः। संस्कारमात्रशेष इत्यनेन मोक्षकालिकनिरोधव्यावृत्तिः। असंप्रज्ञाते हि संस्कारमात्रं चित्तं तिष्ठति नतु वृत्तिः। मोक्षे तु चित्तस्यात्यन्तं विलयात्संस्कारोऽपि न तिष्ठतीति विशेषः। विरामप्रत्ययाभ्यासेन पूर्वसंस्कारनाशेऽपि तज्जन्यसंस्कारस्य शेषः। तज्जन्या वृत्तिस्तु नाग्रे। तत्र चित्तस्य संस्कारमात्रयुक्तस्य योगयन्त्रितस्यावस्थानम्। सुषुप्तौ तु लय इति विशेषः। सर्वसंगविवर्जितत्वेन निःशेषक्लेशराहित्येन च त्वमर्थशोधनं योगसिद्धान्तः। ततस्तत्पदार्थशोधनपूर्वकं वाक्यार्थनिष्ठता वेदान्तशास्त्रगम्या। तच्छोधनोपयुक्तत्वमात्रेणानेकत्ववादो जीवानामानन्दरूपत्वाभावश्चोक्तो नतु वास्तव इत्यविरोधः। असम्प्रज्ञातयोगवतः प्रारब्धवशाद्व्युत्थानेऽपि वृत्त्यभाव एव वृत्तिजनकसंस्काराणां नाशादिति दिक्॥ १८॥

मणिप्रभा।

अधुना सोपायमसंप्रज्ञातमाह—विरामेति।

वृत्तीनामभावो विरामः तस्य प्रत्ययः कारणं परवैराग्यं तदभ्यासः पूर्वं उपायो यस्य स तथा। अनेन पदेनोपाय उक्तः। अन्यो ऽसंप्रज्ञातः संस्कारशेषः। परं हि वैराग्यं सम्प्रज्ञातसंस्कारानप्यभिभूय स्वसंस्कारं शेषयति। स निर्बीजः समाधिः। निरालम्बनत्वात्कर्मबीजाभावाच्चेत्यर्थः॥ १८॥

चन्द्रिका।

विरामेति। विरम्यतेऽनेन स चासौ [illegible] तस्याभ्यासः पुनपुनश्चेतसि निवेशनं तत् पूर्वं [illegible] तादृशः संस्कारशेषः असम्प्रज्ञात इत्यर्थः। तत्र या काचिद्वृत्तिरुल्लसति तस्या नेतिनेतीतिश्रुत्या निरासः कार्यः। [illegible] व्युत्थानायाः संस्काराः समाधिप्रारम्भायैः संस्कारैर्हन्यन्ते॥ १८॥

योगसुधाकरः।

इत्थमपरवैराग्यसाध्यं संप्रज्ञातं निरूप्य परवैराग्यसाध्यमसंप्रज्ञातमाह—विरामेति।

विरामो वृत्त्युपरमः, [illegible] प्रत्ययः कारणं वृत्त्युपरमार्थः प्रयत्नः, तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन सम्पादनम्, तत्पूर्वस्तज्जन्यः संप्रज्ञातादन्यः संस्कारशेषः प्रशान्तसकलवृत्तिकस्य चित्तस्वरूपस्य दुर्लक्षत्वात्संस्काररूपेण योऽवशिष्यते सोऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः॥ १८॥

भोजवृत्तिः।

तदेवं योगस्य स्वरूपं भेदं संक्षेपेणोपायञ्च अभिधाय विस्तररूपेणोपायं योगाभ्यासप्रदर्शनपूर्वकं वक्तुमुपक्रमते—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्॥ १९॥

विदेहाः प्रकृतिलयाश्च वितर्कादिभूमिकासूत्रे व्याख्याताः, तेषां समाधिर्भवप्रत्ययः, भवः संसारः स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स भवप्रत्ययः। अयमर्थः—अधिमात्रान्तर्भूता एव ते [illegible] तथाविधसमाधिभाजो भवन्ति। तेषां परतत्त्वादर्शनाद्योगाभासोऽयम्। अतः परतत्त्वज्ञाने तद्भावनायाञ्च मुक्तिकामेन महान् यत्नो विधेय इत्येतदर्थमुपदिष्टम्॥ १९॥

योगसुधाकरः ।

अथ मुमुक्षुभिरुपादेयमुपायप्रत्ययमाह—श्रद्धेति ।

ममायं योग एव परपुरुषार्थसाधनमिति प्रत्ययः श्रद्धा । सा चोत्कर्षश्रवणेनोपजायते । उत्कर्षश्च स्मर्यते—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥ इति ॥

तस्यां च श्रद्धायामवासितायां वीर्यमुत्साहो भवति 'सर्वथा योगं संपादयिष्यामि' इति । एतादृशोत्साहेन तदा तदानुष्ठेयानि योगाङ्गानि स्मर्यन्ते । तया च स्मृत्या सम्यगनुष्ठितसमाधेरध्यात्मप्रसादे सति, ऋतम्भरा प्रज्ञोदेति । तत्पूर्वकस्तत्प्रज्ञापूर्वकोऽसंप्रज्ञातसमाधिः इतरेषां विदेहप्रकृतिलयेभ्योऽर्वाचीनानां योगिनां सिध्यतीत्यर्थः ॥ २० ॥

भोजवृत्तिः ।

उक्तोपायवतां योगिनां उपायभेदाद्भेदानाह—

(१)तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

समाधिलाभ इति शेषः । संवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः । ■ तान्ना येषामधिमात्रोपायानां तेषामासन्नः समाधिलाभः समाधिफलञ्चाऽऽसन्नं भवति शीघ्रमेव सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अधिमात्रेति । अधिमात्रत्वं अतिप्रमाणत्वम् । अतिशयितत्वमिति यावत् । संवेगश्चानुष्ठाने शैघ्र्य(शैघ्र्य)मविच्छेदश्च । तीव्रसंवेगेन अधिमात्रसाधनवतामासन्नः विलम्बरहितः, योगो भवतीत्यर्थः २१

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ते योगिनस्त्रयः । मृदूपायाः मध्योपायाः अधिमात्रोपायाश्च । उपायाः श्रद्धादयः । तेषां मृदुत्वादि प्राग्भवीयादृष्टवशात् । अधिमात्रत्वमातिशयितत्वम् । तेऽत्र प्रत्येकं त्रिधा मृदुसंवेगमध्यसंवेगतीव्रसंवेगाः । संवेग उपायानुष्ठाने शैघ्र्यम् । तस्यापि मृदुत्वादि प्राग्भवीयादृष्टादेव । तत्राधिमात्रोपायाः क्षिप्रसिद्धिभाजः । तेषां क्षिप्रतरत्वे हेतुं दर्शयति—तीव्रसंवेगानामासन्नः । अधिमात्रोपायानामित्यादिः, समाधिलाभस्तत्फललाभश्चेति शेषः । 'विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि' इति स्मृतेः ॥ २१ ॥

मणिप्रभा ।

श्रद्धाऽऽदयः प्रक्रान्ता उपायास्तत्पूर्वकोऽयमुपायप्रत्ययः । ते चोपायाः प्राणिनां प्राक्संस्कारबलान्मृदुमध्याधिमात्रभेदात्त्रिविधास्तथा च योगिनस्त्रयो भवन्ति मृदूपायो मध्योपायो ऽधिमात्रोपाय इति । तत्र मृदूपायस्त्रिविधः मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेग इति । एवमितरावपि त्रिविधौ भवतः । एवं च नव योगिनो भवन्ति । तेषां चिरं चिरतरं क्षिप्रं क्षिप्रतरं सिद्धयो भवन्ति उपायतारतम्यात् । तत्र केषां क्षिप्रतरं सिद्धिरित्यत आह—तीव्रेति ।

संवेगो वैराग्यं येषां तीव्रम्, उपायाश्चाधिमात्रास्तेषां योगिनामासन्नः समाधिरसंप्रज्ञातस्ततो मोक्ष इत्यर्थः ॥ २१ ॥

चन्द्रिका ।

तीव्रेति । संस्कारस्तीव्रो येषां तेषां समाधिलाभः शीघ्रं भवति ॥ २१ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं परवैराग्यसाध्यं समाधिं विधाय तस्य तारतम्येन समाधेः शैघ्र्यतारतम्यमाह—तीव्रेति ।

संवेगो वैराग्यम् । तद्भेदाद्योगिनस्त्रिविधा मृदुसंवेगा मध्यसंवेगीस्तीव्रसंवेगाश्चेति । तत्र तीव्रसंवेगानामासन्नः समाधिलाभः । अल्पेनैव कालेन समाधिर्लभ्यत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

---

(१) अत्र सूत्रे 'अधिमात्रोपायानां' इत्याद्यधिकस्य पाठस्य भावागणेशमतेन संमतत्वेपि अन्यमतेनासंमततया सर्वत्रैतादृश एव मुद्रितत्वाच्चायमेव पाठो मुद्रितः । सं० ।

पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते । इति

येषां विवेकख्यातिर्नास्ति तेषां चित्तं लीनमप्युत्थाय संसारे पतति सुप्तवित्तवदिति भावः ॥ १९ ॥

चन्द्रिका ।

भवेति । विदेहप्रकृतिलयानां वितर्कादीनां समाधिः भवप्रत्ययः संसार एव कारणं यस्य ॥ १९ ॥

योगसुधाकरः ।

सोऽयमसंप्रज्ञातो द्विविधो भवप्रत्यय उपायप्रत्ययश्चेति । तत्राद्यो मोक्षमाणैर्हेयः, तमाह—भवेति ।

भवन्त्यस्मिञ्जन्तव इति भवः संसारोऽविद्याख्यः, स प्रत्ययो हेतुर्यस्य स संसारमूलोऽसंप्रज्ञातः । स च भूतेन्द्रियेष्वात्मत्वभावनया विधूतदेहानां विदेहानाम्, अव्यक्तमहदहंकारपञ्चतन्मात्रेषु प्रकृतिष्वात्मत्वभावनया लीनानां प्रकृतिलयानां भवत्यन्तवत्फलः । तदीयं चित्तं विवेकख्यात्यभावात्सुप्तवित्तवल्लीनमप्युत्थाय संसारे पततीति भावः ॥ १९ ॥

भोजवृत्तिः ।

तदन्येषान्तु—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

विदेहप्रकृतिलयव्यतिरिक्तानां योगिनां श्रद्धादिपूर्वकः श्रद्धादयः पूर्वे उपाया यस्य स श्रद्धादिपूर्वकः । ते च श्रद्धादयः क्रमादुपायोपेयभावेन प्रवर्त्तमानाः संप्रज्ञातसमाधेरुपायतां प्रतिपद्यन्ते । तत्र श्रद्धा योगविषये चेतसः प्रसादः । वीर्य्यमुत्साहः । स्मृतिरनुभूतासम्प्रमोषः । समाधिरेकाग्रता । प्रज्ञा प्रज्ञातव्यविवेकः । तत्र श्रद्धावतो वीर्य्यं जायते योगविषये उत्साहवान् भवति । सोत्साहस्य च पाश्चात्यानुभूतिषु भूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते तत्स्मरणाच्च चेतः समाधीयते । समाहितचित्तश्च भाव्यं सम्यग्विवेकेन जानाति । त एते संप्रज्ञातस्य समाधेरुपायाः । तस्याभ्यासात् पराच्च वैराग्यात् भवत्यसंप्रज्ञातः ॥ २० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

इदानीं मुख्यमुपायप्रत्ययमाह—श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् । इतरेषां प्रकृतिलयान्तातिरिक्तानां श्रद्धाद्युपायजन्य एवासंप्रज्ञातो न जन्ममात्रादित्यर्थः । श्रद्धा आस्तिक्यबुद्ध्या विवेकख्यातियोगोत्कण्ठा । सा प्रतिबन्धसहस्राण्यपि तिरस्कृत्य भोगसंगाद्योगिनं रक्षति समर्था मातेव । तन्मूलकं विवेकार्थिनो वीर्यं तद्विषया धारणा । वीर्याच्च स्मृतिर्ध्यानम् । ध्यानाच्च समाधिर्ध्येयसाक्षात्कारफलकः । ततो ध्येयसाक्षात्काररूपः संप्रज्ञातो भवति । स एव तत्त्वसाक्षात्कारो धर्ममेघसमाध्यवस्थां परां काष्ठामागतो रजस्तमसोरुन्मूलनेन प्रवर्धमानो विषयावद्यदर्शी समस्तविषयपरित्यागरूपपरवैराग्यद्वारा असंप्रज्ञातस्योपायः । स हि स्वरूपप्रतिष्ठो निरालम्बन इति दिक् । संप्रज्ञातस्य तु भवप्रत्ययविशेषो न संभवतीति धारणाध्यानसमाधीनां संप्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गत्वेन तेषां निष्पत्तौ तत्रैव जन्मनि संप्रज्ञातावश्यंभावादिति बोध्यम् ॥ २० ॥

मणिप्रभा ।

अधुना द्वितीयमुपादेयमाह—श्रद्धेति ।

पुरुषगोचरा सात्त्विकी श्रद्धा तया वीर्यं प्रयत्नो जायते तेन यमनियमादिपरम्परया स्मृतिर्ध्यानं तेन समाधिः तेन प्रज्ञा पुरुषगोचरख्यात्यभ्यासः संप्रज्ञातस्ततः परवैराग्यादसंप्रज्ञातः इतरेषां मुमुक्षूणां योगिनां भवति ॥ २० ॥

चन्द्रिका ।

श्रद्धेति । अन्येषां श्रद्धादिपूर्वको चेतसः प्रसाद उत्साहः स्मृतिरेकाग्रताप्रविवेकः एतत्पूर्वको भवति । सविकल्पसमाधेरभ्यासाद्गुणवैतृष्ण्यरूपाद्वैराग्यादसम्प्रज्ञातः ॥ २० ॥

भोजवृत्तिः ।

के ते तीव्रसंवेगा ? इत्यत आह—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

तेभ्य उपायेभ्यो मृद्वादिभेदाभिन्नेभ्य उपायवतां विशेषो भवति । मृदुर्मध्योऽधिमात्र इत्युपायभेदाः । ते प्रत्येकं मृदुसंवेग-मध्यसंवेग-तीव्रसंवेगभेदात् त्रिधा । तद्भेदेन च नवयोगिनो भवन्ति । मृदूपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । मध्योपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । अधिमात्रोपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । अधिमात्रोपाये तीव्रसंवेगे च महान् यत्नः कर्तव्य इति भेदोपदेशः ॥२२॥

भावागणेशवृत्तिः ।

आसन्नतायामपि तरतमत्वरूपविशेषहेतुमाह—मृद्विति ।

मृदुत्वमल्पता । मध्यत्वं प्रसिद्धम् । आधिमात्रत्वं च व्याख्यातम् । तानि तानि विशेषणतया भाष्ये व्याख्यातानि । तथा च संवेगविशेषणस्य तीव्रत्वस्य मृदुत्वादित्रैविध्येन ततोऽप्यासन्नादपि विशेष आसन्नतरासन्नतमरूपो योगी भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्रापि विशेषमाह—मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः । मृदुतीव्रो मध्यतीव्रः अधिमात्रतीव्र इति तैव्रयं त्रिधा । एवं च मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नस्ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरः ततोप्यधिमात्रसंवेगस्यासन्नतम इत्यर्थः । ततोऽपीत्यपिशब्द आगामिसूत्रस्थसाधनापेक्षया आसन्नतमसमाध्यादिलाभे२२

मणिप्रभा ।

मृद्विति । तीव्रस्य संवेगस्यापि मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततो मृदुतीव्रसंवेगस्य योगिन आसन्नात्समाधेर्मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरादधिमात्रतीव्रसंवेगस्यासन्नतमः समाधिलाभ इति विशेष इत्यर्थः ॥ २२ ॥

चन्द्रिका ।

मृद्विति।मृद्वादिसंवेगभेदाद्योगिनोऽपि भिन्नाः तेषां समाधिलाभो दीर्घकालादिभेदेन भवतीत्यर्थः ॥२२॥

योगसुधाकरः ।

तीव्रसंवेगेष्वेव तारतम्यमाह—मृद्विति ।

मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्रश्च । तेष्वप्युत्तरोत्तरस्य त्वरयां सिद्धिर्द्रष्टव्या । तदेवमधिमात्रतीव्रस्य दृढभूमावसम्प्रज्ञातसमाधौ लब्धे सति, पुनर्व्युत्थातुमशक्तं सन्मनो नश्यति । ततः प्रत्यक्चितिः स्वे महिम्नि निर्विघ्नं निरन्तरमवतिष्ठत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीमेतदुपायविलक्षणं सुगममुपायान्तरं दर्शयितुमाह—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

ईश्वरो वक्ष्यमाणलक्षणः, तत्र प्रणिधानं भक्तिविशेषो विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणां तत्रार्पणं, विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन्परमगुरावर्पयति, तत् प्रणिधानं समाधेस्तत्फललाभस्य च प्रकृष्ट उपायः ॥ २३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

योगस्यासन्नतमत्वे किमिदमेव साधनं, ततोऽन्यदप्यस्तीत्याकाङ्क्षायामाह—ईश्वरेति ।

वक्ष्यमाणलक्षणो य ईश्वरः परमात्मा परब्रह्मादिशब्दवाच्यो निरुपाधिकैश्वर्योपलक्षिताद्वितीयभावः पुरुषविशेषस्तत्प्रणिधानात् 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इति वक्ष्यमाणात्तद्विषयकधारणाध्यानसमाधित्रयतुल्याद्प्यासन्नतमो योगस्तत्फलं च भवतीश्वरानुग्रहादित्यर्थः । तथा च पूर्वसूत्रोक्तमासन्नतमयोगसाधनं जीवात्मयोगिपरमिति ॥ २३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

मुख्यं सुखदोपायान्तरमाह—ईश्वरप्रणिधानाद्वा । पूर्वसूत्रस्थं विशेष इत्यनुवर्तते । वक्ष्यमाणलक्षणेश्वरस्य परब्रह्मादिशब्दवाच्यस्यौपाधिकैश्वर्योपलक्षितस्य चिन्मात्रपुरुषविशेषस्य प्रणिधानं 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इति वक्ष्यमाणं तद्विषयकधारणाध्यान समाधित्रयादल्पादपि आसन्नतमो योगस्तत्फलं च भवति । पूर्वं हि संप्रज्ञातो जीवात्मसाधारण ॥॥ । तत्र जीवात्मविषयसंप्रज्ञातादुक्तोपायेनैवासंप्रज्ञातस्यासन्नतमता परमात्मसंप्रज्ञातात् तं विनापि स आसन्नतम इति भावः । अत एव श्रुत्यादिषु प्रायेण परब्रह्मज्ञानमेव मोक्षहेतुत्वेनोपादिश्यते । तस्मादयं मुख्यो मार्ग इति तत्त्वम् । किंच ब्रह्मात्मना चिन्तनरूपप्रेमलक्षणया भक्त्याभिमुख ईश्वरोऽस्य मोक्षो भवत्वित्याभिध्यायति । एवं च तस्याव्याहतेच्छत्वात्तद्रूपादभिध्यानादस्य मोक्ष आसन्नतम इति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

मणिप्रभा ।

ईश्वरेति । ईश्वरे कायिकवाचिकमानसात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादासन्नतमः समाधिलाभः । वाशब्दः पूर्वोक्तोपायेनास्य भक्त्युपायस्य विकल्पार्थः । भक्तेरन्यानपेक्षत्वादीश्वरो हि भक्त्याऽभिमुखः सन्निदमिष्टमस्यास्त्वित्यनुगृह्णातीति ॥॥ ॥ २३ ॥

चन्द्रिका ।

ईश्वरेति । सुगमोपायोऽयं भक्तिविशेष ईश्वरे सर्वक्रियाणामर्पणं वा ॥ २३ ॥

योगसुधाकरः ।

अथासन्नतमसमाधिलाभे उपायान्तरमुपदर्शयति—ईश्वरेति ।

ईश्वरो वक्ष्यमाणलक्षणः तस्मिन्परमगुरौ प्रणिधानं भावनाविशेषः । तस्मादासन्नतमः समाधिलाभः । ईश्वरो हि समाराधनादिना साधनेन आराधितः 'इदमस्येष्टमस्तु' इति संसाराङ्गारे तप्यमानं पुरुषमनुगृह्णातीति भावः । ननु पुष्करपलाशवन्निर्लेपस्य पुरुषस्य तप्यभावः कथमुपपद्यते येन परमेश्वरोऽनुग्राहकतया कक्षीक्रियेतेति चेत् । उच्यते—तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम् । बुद्ध्यात्मना परिणते सत्त्वे तप्यमाने तदारोपवशेन तदभेदावगाही पुरुषोऽपि तप्यत इत्युपचर्यते । तदुक्तम्—

तप्यं सत्त्वं बुद्धिभावेन वृत्तं ॥॥ ये वा राजसास्तापकास्ते ।
तस्याभेदग्राहिणी तामसी या च बुद्धिस्तस्यां तप्य इत्युक्त आत्मा ॥ इति ।

॥॥ तप्यमानं पुरुषं परमेश्वरः स्वेच्छया निर्माणकायमधिष्ठाय लौकिकवैदिकसंप्रदायप्रद्योतकोऽनुगृह्णातीत्यनवद्यम् ॥ २३ ॥

भोजवृत्तिः ।

ईश्वरस्य प्रणिधानात् समाधिलाभ इत्युक्तं, तत्रेश्वरस्य स्वरूपं प्रमाणं प्रभावं वाचकं उपासनाक्रमं तत्फलञ्च क्रमेण वक्तुमाह—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लिश्नन्तीति क्लेशा अविद्यादयो वक्ष्यमाणाः । विहितप्रतिषिद्धव्यामिश्ररूपाणि कर्माणि । विपच्यन्त इति विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः । आ फलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनाख्याः संस्कारास्तैरपरामृष्टस्त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृष्टः । पुरुषविशेषः—अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः । ईश्वर ईशनशीलं इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः । यद्यपि सर्वेषामात्मनां क्लेशादिस्पर्शो नास्ति तथापि चित्तगतस्तेषामपदिश्यते—यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ स्वामिनः । अस्य तु त्रिष्वपि कालेषु तथाविधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्ति । अतः स विलक्षण एव भगवानीश्वरः । तस्य च तथाविधमैश्वर्यमनादेः सत्त्वोत्कर्षात् । ॥॥ सत्त्वोत्कर्षश्च प्रकृष्टाज्ज्ञानादेव । अत्र अनयोर्ज्ञानैश्वर्ययोरितरेतराश्रयत्वं, परस्परानपेक्षत्वात् । ते हि ज्ञानैश्वर्ये ईश्वरसत्त्वे वर्तमाने

अनादिभूते, तेन च तथाविधेन सत्त्वेन तस्यानादिरेव सम्बन्धः प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरेकेणानुपपत्तेः यथेतरेषां प्राणिनां सुखदुःखमोहात्मकतया परिणतं चित्तं निर्मले सात्त्विके धर्मात्मप्रख्ये योगिशरीरे प्रतिसंक्रान्ते चिच्छायासंक्रान्ते संवेद्यं भवति नैवमीश्वरस्य, तस्य केवल एव सात्त्विकः परिणाम उत्कर्षवाननादिसम्बन्धेन भोग्यतया व्यवस्थितः, अतः पुरुषान्तरविलक्षणतया स एवेश्वरः। मुक्तात्मनां तु पुनः क्लेशादियोगस्तैस्तैः शास्त्रोक्तैरुपायैर्निवर्तितः, अस्य पुनः सर्वदैव तथाविधत्वान्न मुक्तात्मतुल्यत्वम्। न चेश्वराणामनेकत्वं, तेषां तुल्यत्वे भिन्नाभिप्रायत्वात्कार्यस्यैवानुपपत्तेः। उत्कर्षापकर्षयुक्तत्वे य एवोत्कृष्टः स एवेश्वरस्तत्रैव काष्ठाप्राप्तत्वादैश्वर्यस्य ॥ २४ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

ईश्वरं लक्षयति—क्लेशेति।

क्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा द्वितीयपादे व्याख्येयाः। कर्म धर्माधर्मौ। विपाकाः कर्मफलानि जन्मायुर्भोगाः। आशयो ज्ञानादिवासनाः। एतैः कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इत्यर्थः। यद्यपि जीवा अपि क्लेशादिशून्या एव क्लेशादेरन्तःकरणधर्मत्वात्। तथापि स्वामित्वसम्बन्धेनैव क्लेशाद्यभावस्य विवक्षितत्वाज्जीवव्यावृत्तिः। जीवा हि क्लेशादिफलयोः सुखदुःखयोर्भोक्तृत्वात्क्लेशादिस्वामिन इति ॥ २४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ जीवव्यावृत्तमीश्वरस्वरूपमाह—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। कर्म धर्माधर्मौ। विपाकाः कर्मफलानि जन्मायुर्भोगाः। आशयस्तदनुगुणं संस्कारसामान्यम्। एतैः कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इत्यर्थः। जीवन्मुक्तप्रकृतिलीनादिव्यावृत्तये कालत्रयेऽपीति परामर्शशून्यत्वार्थकापरामृष्टपदलब्धम्। यद्यपि जीवा अपि क्लेशादिशून्या एव तेषामन्तःकरणधर्मत्वात्, तथापि स्वाश्रयस्वामित्वसम्बन्धेनैव क्लेशाद्यभावस्य विवक्षणान्न दोषः। जीवा हि तत्फलदुःखादिभोक्तृत्वात् क्लेशाद्याश्रयचित्तस्वामिनः। तदुक्तम्—स हि तत्फलभोक्तेति। 'यथा योद्धृषु वर्तमानौ जयपराजयौ स्वामिनि व्यपदिश्येते' इति च भाष्ये। ईश्वरत्वं चास्येच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमत्वम्। तच्च ज्ञानक्रियासामर्थ्यातिशयसंपत्तिं विना न, सा चापहतरजस्तमोमलविशुद्धसत्त्वोपादानं विना नेत्यालोच्य स्वयमेव सत्त्वमयं प्रधानमुपादत्ते। एतावतैव प्रधानप्रेरकतास्य यत् लोकोद्धरणेच्छया तदङ्गीकारः। उपाददानोऽपि नास्मदादिवत्तत्स्वमविद्वान् भवति। नहि नटो रामत्वमारोप्य तास्ताश्चेष्टा दर्शयन् भ्रान्तो भवति। एवं चेदमाहार्यमस्य रूपम्। बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम्। न चेच्छया सत्त्वोपादानं तेन चेच्छेत्यन्योन्याश्रयः, अनादित्वात्। पूर्वकल्पसंहारकाले पूर्णे मया सत्त्वप्रकर्ष उपादेय इति प्रणिधानपूर्वकं तत्संहारे, ईश्वरसत्त्वं प्रधानसामान्यमुपागतेऽपि तदवधौ पूर्णे प्रणिधानवशात्पुनस्तदुपादत्ते इत्यनादित्वेन शाश्वतिकत्वान्न दोषः। एवं संहारकाले तम उपादत्ते इति बोध्यम्। तत्र प्रकृतेर्द्वे शक्ती साहजिके सृष्टिशक्तिर्लयशक्तिश्चेति। तत्रेश्वरेण सत्त्वपरिग्रहे सृष्टिशक्तेरुद्बोधः। तमःपरिग्रहे च योगनिद्रेत्युच्यते। तत्तच्छक्त्युद्बोधे त्वनादिवासनासहकारेण तत्तत्पुरुषभोगार्थं तथा तथा प्रधानं परिणमते इति न वैषम्यनैर्घृण्ये ईश्वरस्य प्रसज्येते इति बोध्यम्। नन्वीदृशे तस्मिन् किं मानमिति चेच्छ्रुतिस्मृत्यादिशास्त्रमिति गृहाण। तत्कर्तृकमन्वादिषु वेदादौ अर्थाव्यभिचारनिश्चयात् प्रामाण्यस्य दृष्टत्वेनान्यत्रापि तत्कर्तृके तत्स्वरूपबोधकेऽपि तन्निश्चयात्। न च तस्यान्यकर्तृकत्वं सम्भवति। औषधीनां तत्संयोगानां चान्वयव्यतिरेकयोरन्यस्य सहस्रेणापि पुरुषायुषैरशक्यत्वात्। न चागमादन्वयव्यतिरेकौ ताभ्यां चागम इति तत्सन्तानयोरनादित्वान्न दोषः, महाप्रलये नयोर्विच्छेदात्। विसदृशपरिणामक्षीरेक्षुरसादेर्दधिगुडादिरूपादिपरिणामात्पूर्वं सदृशपरिणामतया दर्शनेन महदादिरूपविसदृशपरिणामवतः प्रधानस्य कदाचित्सदृशपरिणामावश्यकत्वेन साम्यावस्थारूपसदृशपरिणामस्यैव महाप्रलयत्वात्। तस्मादीश्वरबुद्धिसत्त्वप्रकर्षादेव वेद इति सिद्धम्। तस्य तत्त्वं वेदकारणात्।

वेदेन तथा बोधनाच्च शास्त्रं तमेव बोधयति । सदैवेश्वरः सदैव मुक्त एकश्चेति । अतस्तदैश्वर्यं तज्ज्ञानं च साम्यातिशयनिर्मुक्तम् । अन्येषां त्वौपचारिकमैश्वर्यमिति दिक् ॥ २४ ॥

मणिप्रभा ।

ईश्वरस्वरूपन्निरूपयति । क्लेशेति । क्लेशा अविद्यादयः पञ्च । कर्म धर्माधर्मौ । तयोः फलं विपाकः । फलानुकूलाः संस्कारा आशयाः । चित्ते शेरत इति व्युत्पत्तेः । यथा नरस्य करिजन्मनि काष्ठभोगसंस्कारा उद्भवन्ति अन्यथा जीवनासंभवात् । क्लेशादिभिश्चित्तस्थैः परामृष्टः सांसारिकः पुरुषश्चित्ताविवेकेन भोक्तृत्वात् तैः कालत्रयेऽप्यसम्बद्धः पुरुष ईश्वरः । विशेषपदेन कालत्रयासंम्बन्धवाचिना मुक्तजीवेभ्यो व्यावृत्तिः कृता । तेषां पूर्वकाले बन्धत्रयसम्बन्धात्प्रकृतौ लीनानां प्राकृतो बन्धः भूतेन्द्रियेषु विकारेषु लीनानां विदेहानां वैकारिकः, अन्येषां देवनरादीनां दाक्षिणाबन्धः, चित्ताधीनकर्मफलत्वादिति भेदः । ननु ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वं परमैश्वर्यं पुरुषस्यापरिणामिनः कथमिति । उच्यते । अस्ति ईश्वरस्यानादिसिद्धं शुद्धसत्त्वात्मकं चित्तं प्रधानजं निरतिशयज्ञानक्रियाशक्तिमत्तत् हि भगवान्संसारार्णवाज्जन्तूनामुद्धरणेच्छया तच्चित्तमुपादत्ते तद्विना ज्ञानधर्मोपदेशभक्तानुग्रहायोगात् । न च कथं चित्तोपादानात्प्रागिच्छा-युदेतीति वाच्यम् । बीजाङ्कुरवदनादित्वात्सर्गप्रलयप्रवाहस्य यदा सर्वकार्यस्य प्रलयस्तदा भविष्यत्कल्पे लोकानुग्रहार्थमिदं चित्तमुपादेयमिति भगवता सङ्कल्प्यते तत्सङ्कल्पवासितं प्रधाने लीनं सन्सर्गादौ चित्त-मुद्भवति तेन चेश्वरोऽनुगृह्णातीत्यनवद्यम् । ननु तादृशचित्तसत्त्वे किं मानमिति चेत् । 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, एष सर्वेश्वर' इत्यादिवेदवाक्यमिति ब्रूमः । वेदो निरतिशयज्ञानशक्तिविशिष्टेश्वर-प्रणीतोऽतः प्रमाणमिति संक्षेपः ॥ २४ ॥

चन्द्रिका ।

क्लेशेति । अविद्यादयः क्लेशाः कर्माणि जात्यायुर्भोगाः आफलविपाकात् चित्ते शेरत इत्याशया वासनास्ताभिर्न संस्पृष्टः अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्टः ईशनशीलः ॥ २४ ॥

योगसुधाकरः ।

कः पुनः स ईश्वर इत्यत्राह—क्लेशेति ।

क्लिश्नन्तीति क्लेशा वक्ष्यमाणलक्षणा अविद्यादयः । कर्म मिश्रामिश्ररूपं वक्ष्यमाणम् । विपच्यत इति विपाकः फलं जात्यायुर्भोगादिः । आशेरत इत्याशयाः संस्काराः । तैरपरामृष्टोऽसंश्लिष्टः । संश्लिष्टस्तु संसारी जीवः । मुक्तस्त्वसंश्लिष्टोऽपि पूर्वकाले तत्संश्लेषादृद्ध इव । अतः पुरुषविशेषो नित्यमुक्त ईश्वरः । तस्य सार्वज्ञ्यमैश्वर्यं च अनादिसिद्धप्राकृतशुद्धसत्त्वात्मकचित्तसम्बन्धादिति द्रष्टव्यम् ॥ २४ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवमीश्वरस्य स्वरूपमभिधाय प्रमाणमाह—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्(१) ॥ २५ ॥

तस्मिन्भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्बीजमतीतानागतादिग्रहणस्याल्पत्वं महत्त्वं च मूलत्वाद्बीजमिति बीजं तत्तत्र निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम् । दृष्टा ह्यल्पत्वमहत्त्वादीनां धर्माणां सातिशयानां काष्ठाप्राप्तिः, यथा परमाणावल्पत्वस्याऽऽकाशे परममहत्त्वस्य, एवं ज्ञानादयोऽपि चित्तधर्मास्तारतम्येन परिदृश्यमानाः क्वचिन्निरतिशयतामासादयन्ति, यत्र चैते निरतिशयाः स ईश्वरः । यद्यपि सामान्यमात्रेऽनुमानमात्रस्य(२) पर्यवसितत्वान्न विशेषावगतिः सम्भवति, तथाऽपि शास्त्रादस्य सर्वज्ञत्वादयो विशेषा अवगन्तव्याः । तस्य स्वप्रयोजनाभावे कथं प्रकृतिपुरुषयोः संयोगवियोगावापादयतीति नाऽऽशङ्कनीयं, तस्य कारुणिक-त्वाद्भूतानुग्रह एव प्रयोजनम् । कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु निःशेषान्संसारिण उद्धरिष्यामीति तस्याध्यव-सायः, यद्यस्येष्टं तत्तस्य प्रयोजनम् ॥ २५ ॥

---

(१) सार्वज्ञ्यबीजमिति पाठान्तरम् । (२) ऽनुमानस्येति पाठान्तरम् ।

भोजवृत्तिः ।

एवमीश्वरस्य प्रमाणमभिधाय प्रभावमाह—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

आद्यानां स्रष्टृणां ब्रह्मादीनामपि स गुरुरुपदेष्टा, यतः स कालेन नावच्छिद्यते अनादित्वात् । तेषां पुनरादिमत्त्वादस्ति कालेनावच्छेदः ॥ २६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

तस्यैश्वर्यं नित्यमिति प्रतिपादयति—**स इति** ।

स एव ईश्वरः पूर्वेषां हिरण्यगर्भादीनामपि गुरुरन्तर्यामिविधया ज्ञानचक्षुःप्रदः । कालानवच्छिन्नत्वान्नित्यत्वाद् भवतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः "जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्य" मिति । जन्मनिरोधं जन्माभावम्, ईश्वरस्य च जीववदेव...सत(?)स्मिन्मात्रस्यैश्वर्यवानुपाधिरस्ति । 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति स्मृतेः । ईश्वरस्याशेषविशेषास्तु वेदान्तशास्त्रे परीक्षिताः ॥ २६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्र ब्रह्मादिभ्यो विशेषमाह—**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** । स एष ईश्वरः पूर्वेषां पूर्वसर्गोत्पन्नानामपि ब्रह्मविष्णुहरादीनामपि गुरुः स्रष्टाऽन्तर्यामिविधया वेदादिद्वारा ज्ञानचक्षुः-[illegible] कालानवच्छिन्नत्वात्तेषां कालेन शतवर्षादिनावच्छेदादिति भावः । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुतेरिति भावः । अस्य च निमित्तकारणत्वात्र प्रकृतिस्वातन्त्र्यक्षतिः । घटे कुलालवत् दण्डादीनां कारणत्वेपि तद्वदेवास्य स्वतन्त्रत्वमपि । अत्रेश्वरस्य सर्वपितृत्ववचनात्सर्वान्तर्यामित्वेन रूपेण गुरुत्वेन जीवानामपि आत्मेश्वर इति वेदान्तवाक्यार्थोऽपि सूचितः । यो हि यस्याधिष्ठाता स तस्यात्मेति दृष्टम् । यथा सूर्यश्चक्षुषः यथा च जीवो देहस्य, तेनाविभागलक्षणोऽभेद एव 'अविभागो वचनात्' इति सूत्रेण वेदान्तेऽप्युक्तः । एतन्मूलक एव जीवब्रह्मणोरंशांशिभावव्यवहार इति दिक् । एतत्सर्गादौ स सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादावप्यागमात्स सिद्ध इति ॥ २६ ॥

मणिप्रभा ।

तस्य भगवतो ब्रह्मादिभ्यो विशेषमाह-**पूर्वेषामिति** ।

पूर्वेषां सर्गादावुत्पन्नानां कालपरिच्छिन्नानां गुरुरीश्वरः । कुतः ? कालेनानवच्छेदात् अनाद्यन्तत्वादित्यर्थः । तथा च श्रुतिः- -"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इत्याद्या॥२६॥

चन्द्रिका ।

स इति । स ब्रह्मादीनामपि गुरुरुपदेष्टा यतः स कालेन नावच्छिद्यते अनादित्वात् , तेषां पुनरादिमत्त्वादस्ति कालेनावच्छेदः ॥ २६ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वयमेक एवेश्वरः किमन्ये ऽपि सन्ति ? नेत्याह—**पूर्वेषामिति** ।

ये सर्गादावुत्पन्नाः पूर्वे ब्रह्मादयः, ते मासर्त्वयनहायनादिरूपेण कालेन परिच्छिद्यन्ते । तदुक्तम्—

ये रम्या ये शुभाचाराः सुमेरुगुरवोऽपि ये ।
कालेन विनिगीर्णास्ते गरुडेनेव पन्नगाः ॥ इति ।

अतस्तेषामपि भगवानेक एव गुरुरीश्वरः; कालेनानवच्छेदात् , 'ज्ञः कालकालः' इति श्रुतेः । अनेनेश्वरस्य महाप्रभावत्वमुक्तं भवति ॥ २६ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवं प्रभावमुक्त्वोपासनोपयोगाय वाचकमाह—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

निषेधमुखेन लक्षणमुक्त्वा विधिमुखेनापि तदाह—तत्रेति ।

सर्वज्ञत्वानुमापकं यज्ज्ञानस्य सातिशयत्वं तत्तत्रेश्वरे निरतिशयं विश्रान्तमित्यर्थः । तथा च निरतिशयज्ञान ईश्वर इति लक्षणम् । अत्रेदमनुमानम् । ज्ञानं क्वचित्प्राप्तकाष्ठं सातिशयत्वात्-परिमाणवदिति ॥ २९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्र मानान्तरमाह—तत्र निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजम् । सर्वज्ञत्वस्यानुमापकं यज्ज्ञानस्य सातिशयत्वमयमितो बहुज्ञानवानित्येवं तत्तत्रेश्वरे निरतिशयं विश्रान्तमित्यर्थः । ज्ञानं च क्वचित्प्राप्तकाष्ठं सातिशयत्वात् परिमाणवदित्यनुमानम् । अत्र श्रुतिरनुकूलस्तर्कः । तस्य शिवेश्वरविष्ण्वादिविशेषसंज्ञावत्त्वं सर्वज्ञत्वतृप्तिचैतन्यस्वातन्त्र्यालुप्तशक्तित्वानन्तशक्तित्वरूपषडङ्गवत्त्वं ज्ञानवैराग्यैश्वर्यतपःसत्यक्षमाधृतिस्रष्टृत्वात्मबोधाधिष्ठातृत्वरूपदशाव्ययत्वं च श्रुत्यादितोऽवसेयम् । नन्वेवं नित्यतृप्तस्य स्वार्थतृष्णासम्भवात् अप्रयोजना कथं प्रवृत्तिः । प्राणिकरुणया तत्प्रवृत्त्या नित्यत्वाद्वा न दोष इति चेत् दुःखबहुललोकसर्जनानुपपत्तिरेवेति चेत्र । ज्ञानधर्मोपदेशेन पुरुषकैवल्याय करुणया प्राण्यनुग्रहाय तदुपपत्तेः । भोगविवेकख्यातिरूपकार्यकरणेन चरितार्थचित्तनिवृत्तौ हि कैवल्यं भवति । अतस्तदुपयोगिवैराग्यनिष्पत्तये दुःखबहुललोकसर्जनोपपत्तिरपि, उपपादितरीत्या शङ्कानुदयाच्चेति दिक् ॥ २९ ॥

मणिप्रभा ।

एवं वेदप्रामाण्यात्सिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः तस्य सर्वज्ञत्वेऽनुमानमप्याह—तत्रेति ।

अस्मदादीनां ज्ञानं निरतिशयेन ज्ञानेनाविनाभूतं भवितुमर्हति सातिशयत्वात् , यत्सातिशयं तत्समानजातीयेन निरतिशयेन युक्तं, यथा कुम्भपरिमाणं विभुपरिमाणेन । तत्सिद्धं निरतिशयं ज्ञानं सर्वज्ञस्य बीजं ज्ञापकं यत्र निरतिशयं ज्ञानं तत्र सर्वज्ञत्वं ज्ञायत इत्यर्थः । [illegible] सामान्येन सिद्धस्य सर्वज्ञस्य श्रुत्यादिसिद्धाः शिवविष्णुनारायणमहेश्वरादिसंज्ञाः । तथा च वायुपुराणे-

> सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
> अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥
> ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
> स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ॥
> अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे । इति ।

तथा महाभारते—

> अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
> लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् । इत्यादि ॥ २९ ॥

चन्द्रिका ।

तत्रेति । तस्मिन् भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्बीजं सर्वस्य मूलत्वाद्बीजमिव बीजं तत्र निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम् ॥ २९ ॥

योगसुधाकरः ।

अथ [illegible] प्रमाणमाह—तत्रेति ।

तत्रेश्वरे निरतिशयं सर्वज्ञत्वस्य बीजं मूलम् । एतदुक्तं भवति—अस्मदादिज्ञानं निरतिशयेन ज्ञानेनाविनाभूतं सातिशयत्वात् । यत्सातिशयं तत्समानजातीयेन निरतिशयेन युक्तम् , यथा विभुपरिमाणेन कुम्भपरिमाणम् । अतः परिशेषादनुमानसिद्धनिरतिशयज्ञानवानीश्वर इति ॥ २९ ॥

भोजवृत्तिः ।

उपासनमाह—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

तस्य सार्धत्रिमात्रस्य प्रणवस्य जपो यथावदुच्चारणं तद्वाच्यस्य चेश्वरस्य भावनं पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशनमेकाग्रताया उपायः । अतः समाधिसिद्धये योगिना प्रणवो जप्यस्तदर्थश्च भावनीय इत्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्रणिधानं लक्षयति—**तज्जप इति** ।

प्रणवस्य जपः प्रणवार्थस्य ब्रह्मणश्चिन्तनं धारणाध्यानसमाधिरूपं प्रणिधानमिति शेषः ।

जपेच्च प्रणवं नित्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
कोटिसूर्यसमं तेजो ध्यायेदात्मनि निर्मलम् ॥

इत्यादिस्मृतिभ्यः प्रणवजपस्य प्राथमिकध्यानाङ्गत्वमिति ब्रह्मविष्णुशिवात्मकं ब्रह्मादीनामप्यन्तर्यामि तेजश्चैतन्यम् ॥ २८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ तत्प्रणिधानमाह—**तज्जपस्तदर्थभावनम्** । तस्य प्रणवस्य जपस्तेन सहाचिन्त्यैश्वर्ययुक्तस्य तदर्थस्य परमात्मनः श्रद्धयैभावनं ध्यानम् । वाच्यवाचकभावं ज्ञात्वा क्रियमाणं सर्वार्थदमुपासनम् । सर्वाश्रितैकाग्र्यार्थम् । प्रणवे ब्रह्मविष्ण्वादिध्यानमपि तदन्तर्यामिचैतन्याभिप्रायेण ॥ २८ ॥

मणिप्रभा ।

एवं वाचकमुक्त्वा प्रणिधानमाह—**तज्जप इति** ।

अस्य भाष्यमेव लिख्यते—"प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतः चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम्—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते" ॥ इति ॥ २८ ॥

चन्द्रिका ।

तज्जप इति । तस्य प्रणवस्य जपः प्रणववाच्यस्य ईश्वरस्य भावनं पुनःपुनश्चेतसि निवेशनमेकाग्रताया उपायः ॥ २८ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं नामधेयमभिधाय पूर्वम् 'ईश्वरप्रणिधानाद्' इत्युक्तं तत्प्रणिधानं सकलमुपदर्शयति द्वाभ्याम्—**तज्जप इति** ।

एतदुक्तं भवति—तस्य प्रणवस्य यो जपः, तस्मिन्दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारैस्तदर्थासङ्कुचिद्रूपेश्वरभावनापुरःसरं प्राधान्येन दृढमासेविते सति, पश्चात्स्वत एव वाग्व्यापाररूपे तस्मिन्प्रलीने, वाचकस्य न्यग्भावात्तदर्थासङ्कुचिद्रूपगोचरवृत्तिसन्तानरूपभावनायां दीर्घकालादिभिर्दृढमासेवितायाम्, ततस्तत्प्रसादेन चित्तं निरोधाभिमुखं प्रत्यासन्नभावेन ईश्वरं विश्रान्तिभूमितया लभमानं सत् तत्सादृश्यात्स्वस्वामिनमसङ्कुचिद्रूपमात्मानं स्मारयित्वा अविषयतया तमप्यलभमानं निरिन्धनाग्निवत्स्वयं संस्कारावशेषं भवति । ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमः । प्रत्यक्चासौ चेतना, तस्याः प्राप्तिरधिगमः । सर्वान्तरतया भासमाना चितिशक्तिः स्वे महिम्नि निरन्तरं निर्विघ्नमवतिष्ठते । अतः सर्वासां वृत्तीनां प्रविलयादन्तरायाभावश्च भवति । अयमेक ईश्वरप्रणिधानस्य विशेष इति ॥ २८ ॥ २९ ॥

भोजवृत्तिः ।

उपासनायाः फलमाह—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

इत्थमुक्तस्वरूपस्येश्वरस्य वाचकोऽभिधायकः, प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति स्तौतीति वा प्रणव ओंकारः, तयोश्च वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धो नित्यः संकेतेन प्रकाश्यते न तु केनचित्क्रियते, यथा पितापुत्रयोर्विद्यमान एव सम्बन्धोऽस्यायं पिताऽस्यायं पुत्र इति केनचित्प्रकाश्यते ॥ २७ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

तस्येति। तस्य ईश्वरस्य प्रणवो मुख्यं नामेत्यर्थः।

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः॥
तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति। इति स्मृतेः ॥ २७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तत्प्रणिधानाय तन्मन्त्रमाह—तस्य वाचकः प्रणवः। तस्येश्वरस्य। एवञ्चेश्वरः प्रणववाच्यः। वाच्यवाचकभावश्च स्वाभाविकः ईश्वरस्यैतत्सूत्ररूपसङ्केतात्। ननु यदि स्वाभाविकः सम्बन्धः शब्दार्थयोः सङ्केतेन व्यज्यते ततो यत्र नास्ति न तत्र व्यज्येत। नह्यविद्यमानो घटो दीपेन व्यज्यते। तस्मात्सङ्केत एव वाचकत्वं, सङ्केतकृतमिति ▯ राहोः शिर इतिवदिति चेन्न। जनकत्वादेरपीश्वरसङ्केतरूपत्वापत्तेः। सर्वेषु च शब्देषु सर्वार्थसम्बन्धोऽस्त्येवेति नोक्तदोषः। सङ्केतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेव सम्बन्धं बोधयति। पितापुत्रसंबन्धस्यायमस्य पितेति सङ्केतेन बोधवत्। एवं चेदं सूत्रं ईश्वरसङ्केतरूपम्। अन्यथा▯ तत्त्वमपि भज्येत। एवञ्च यत्रार्थे ईश्वरसङ्केतः स तस्य वाच्यः। अन्यस्तु लक्ष्यादिरिति विवेकः। सङ्केतश्चाध्यासरूप इति तृतीये भाष्यकृद्वक्ष्यति। अध्यासश्चेश्वरो योऽयं शब्दः सोऽयमर्थ इत्याकार एव। अस्यायमर्थ इति ▯ विकल्पः। एवं ▯ तद्विषयस्तन्मूलं चाविभागरूपतादात्म्यमेव शक्तिरिति बोध्यम्। प्रलये शब्दानां प्रधानसाम्ये जातेऽपि संस्कारवशात्सर्गान्तरे पूर्ववच्छक्तियुक्तानामेवाविर्भावः। पूर्वसङ्केतानुसारेण च भगवता सङ्केतः क्रियते। व्यवहारपरम्परया नित्यतया च नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इति आगमिनो योगिनः प्रतिजानते इति भाष्यकृतः ॥ २७ ॥

मणिप्रभा।

एवमीश्वरं निरूप्य तत्प्रणिधानं वक्तुं ▯स्य रहस्यसंज्ञामाह—तस्येति।

सुगमं सूत्रम्। ननु शब्दस्य वाचकत्वम् अभिधाऽख्या शक्तिः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इत्युच्यते। सा ▯ सङ्केतेन क्रियते व्यज्यते वा? नाद्यः, प्रतिकल्पं स्वतन्त्रेश्वरस्य सङ्केतभेदेन शब्दार्थाव्यवस्थाप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, सूर्य्यादिशब्दानां पुत्रेषु पित्रा सङ्केतवैकल्यात्। न हि तत्र सङ्केतव्यङ्ग्या शक्तिरस्ति। न चासति व्यङ्ग्ये व्यञ्जकमर्थवत्, तस्मादिदं सङ्केतसूत्रं व्यर्थमिति चेत्। उच्यते। स्थितैव शक्तिः सङ्केतेन व्यज्यते, यथा स्थित एव पितृपुत्रभावो ममायं पुत्र इति वाक्येन व्यज्यते तद्वत्सर्वादिशब्देषु प्रलये प्रधानसाम्यं गतेषु सर्गादौ पुनः शक्त्या सहोद्भूतेषु स्थितामेव तत्तच्छब्दस्य तत्तदर्थे शक्तिमीश्वरः सङ्केतेन ज्ञापयति जीवानां लुप्तसंस्कारत्वात्। अधुनातनपित्रादिसङ्केतस्तु शक्तेरुत्पादकः। केचित्तु सर्वशब्दानां सर्वार्थेषु शक्तिरस्त्यतोऽस्ति पित्रादिसङ्केतोऽपि व्यञ्जकः, गवादिशब्दानां तु वेदार्थव्यवस्थाऽर्थमीश्वरसङ्केतेनार्थविशेषे शक्तिर्नियम्यत इत्याहुः। सर्वथाऽपि वैदिकशब्दार्थसम्बन्धो व्यवस्थितव्यवहारतया नित्य इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

चन्द्रिका।

सुगमोपायमाह—तस्येति। ईश्वराभिधायक ओंकारः ॥ २७ ॥

योगसुधाकरः।

अथ तस्य नामधेयमाह—तस्येति।

तस्य परमेश्वरस्य प्रणवः प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति प्रणव ओंकारः वाचकोऽभिधायक इत्यर्थः ॥ २७ ॥

धातवो वातपित्तकफाः, रसा आहारपरिणामाः, करणानि त्वक्चक्षुरादीनि एषां वैषम्यं स्वभावप्रच्यवः। स्त्यानमकर्मण्यता, योगानुष्ठानाक्षमत्वमिति यावत्। संशयो गुरुशास्त्रोक्तसाधनेषूभयकोटिकं ज्ञानम्। प्रमादोऽनवधानम्। आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिर्विषयाभिलाषः। भ्रान्तिदर्शनं गुर्वादिप्रमितार्थविपरीतनिश्चयः। अलब्धभूमिकत्वं वक्ष्यमाणानां योगभूमीनां साधनानुष्ठानेऽप्यलाभः। अनवस्थितत्वं योगभूमिलाभेऽपि योगभ्रंश इति ॥ ३० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तानन्तरायानाह—व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। रजस्तमोजन्या एते नव चित्तविक्षेपकत्वाद्योगान्तरायाः। चित्तस्य विक्षेपोऽनेकवृत्तित्वम्। व्याधिर्वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यजन्यः। स्त्यानं योगानुष्ठानाक्षमत्वम्। संशयः शास्त्रोक्तसाधनेषूभयकोटिस्पृग्ज्ञानम्। प्रमादः शमादिभावनाभावः। आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिर्विषयाभिलाषः। भ्रान्तिदर्शनं शास्त्रोक्तार्थविपरीतनिश्चयः। अलब्धभूमिकत्वं वक्ष्यमाणयोगभूमीनां साधनानुष्ठानेऽप्यलाभः। अनवस्थितत्वं योगभूमिलाभेऽपि योगभ्रंशः ॥ ३० ॥

मणिप्रभा ।

अन्तरायानाह—व्याधीति।

ये चित्तं योगाद्विक्षिपन्ति भ्रंशयन्ति ते चित्तविक्षेपाः योगस्यान्तरायाः विघ्ना नव। तत्र व्याधिर्वातपित्तश्लेष्मणामन्नरसस्येन्द्रियाणां च वैषम्यम्। स्त्यानं चित्तस्य लुब्धत्वेऽपि कर्मानर्हता। संशयः प्रसिद्धः। योगाङ्गाननुष्ठानं प्रमादः। आलस्यं चित्तस्य गुरुत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिर्विषयतृष्णा। भ्रान्तिदर्शनमेककोटिको विपर्ययः। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूम्यलाभः। मधुमत्यादयः समाधिभूमयो वक्ष्यन्ते। अनवस्थितत्वं नाम लब्धायां भूमौ चित्तस्यास्थिरत्वम्। पूर्वभूमौ हि स्थितं चित्तम् उत्तरभूमिं जयेत् तस्मादस्थिरत्वं [illegible] इत्यर्थः ॥ ३० ॥

चन्द्रिका ।

व्याधीति। व्याधिर्ज्वरादिः, स्त्यानमकर्मण्यता, उभयकोट्यालम्बनं विज्ञानं संशयः, प्रमादोऽनवधानता, आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वम्, अविरतिर्विषयासक्तिः, भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्, अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः, अनवस्थितत्वं चित्तस्य समाधावप्रतिष्ठा। एते नव विघ्नानीत्युच्यन्ते ॥ ३० ॥

योगसुधाकरः ।

के तेऽन्तराया इत्यपेक्षायामाह—व्याधीति।

ये चित्तं योगाद्विक्षिपन्ति भ्रंशयन्ति ते नव विक्षेपा योगस्यान्तराया विघ्नाः। तत्र दोषत्रयवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिर्व्याधिः। चित्तस्याकर्मण्यत्वं स्त्यानम्। विरुद्धकोटिद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः। अहिंसासत्यादिसाधनानामभावनं प्रमादः। कायवाक्चित्तगुरुत्वादप्रवृत्तिरालस्यम्। विषयाभिलाषोऽविरतिः। अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिदर्शनम्। कुतश्चिन्निमित्तात्समाधिभूमेरलाभोऽलब्धभूमिकत्वम्। लब्धायामपि तस्यां चित्तस्याप्रतिष्ठानवस्थितत्वमित्यर्थः ॥ ३० ॥

भोजवृत्तिः ।

चित्तविक्षेपकारकानन्यानप्यन्तरायान्प्रतिपादयितुमाह—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

कुतश्चिन्निमित्तादुत्पन्नेषु विक्षेपेषु एते दुःखादयः प्रवर्तन्ते। तत्र दुःखं चित्तस्य राजसः परिणामो बाधनालक्षणः; यद्बाधात्प्राणिनस्तदपघाताय प्रवर्तन्ते। दौर्मनस्यं बाह्याभ्यन्तरैः कारणैर्मनसो दौःस्थ्यम्। अङ्गमेजयत्वं सर्वाङ्गीणो वेपथुरासनमनःस्थैर्यस्य [illegible]। प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं निःश्वसिति [illegible] प्रश्वासः। [illegible] विक्षेपैः [illegible] प्रवर्तमाना यथोदिताभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्या इत्येषामुपदेशः ॥ ३१ ॥

तस्माज्जपात्तदर्थभावनाच्च योगिनः प्रत्यक्चेतनाधिगमो भवति, विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणाभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना तस्या अधिगमो ज्ञानं भवति। अन्तराया वक्ष्यमाणास्तेषामभावः शक्तिप्रतिबन्धोऽपि भवति ॥ २९ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

ईश्वरयोगस्य साङ्गयागोपेक्षयातिश्रेष्ठत्वप्रतिपादनार्थमुत्कर्षयन्नाह—तत इति।

तत ईश्वरप्रणिधानात् प्रत्यक्चैतन्यस्य जीवस्य साक्षात्कारोऽपि भवति। चशब्द आसन्नतमयोगसमुच्चये। तथा योगान्तरायाणां योगविघ्नानां निवृत्तिश्च भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अस्योत्कर्षमाह—ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। तत ईश्वरप्रणिधानात्प्रतीपं विपरीतमञ्चति विजानाति स चासौ चेतनश्चेति प्रत्यक्चेतनो जीवस्तदधिगमस्तत्साक्षात्कारः। न चेश्वरविषयात्प्रणिधानात्कथं जीवसाक्षात्कारः? सादृश्यात्। यथैकशास्त्राभ्यासः सदृशार्थशास्त्रान्तरज्ञानजनकः। यथेश्वरः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथा बुद्धेः प्रतिसंवेद्यपि जीव इति। अन्तरायाणां योगविघ्नानां निवृत्तिश्च भवतीत्येवमुत्कर्षोऽस्येति भावः ॥ २९ ॥

मणिप्रभा।

तस्येश्वरप्रणिधानस्यासन्नतमः समाधिलाभः फलमिति पूर्वमुक्तम्। अधुना फलान्तरमपि तदनुगुणमाह—तत इति।

प्रतीपं विपरीतमञ्चति जानातीति प्रत्यग् आत्मा इत्यर्थः। अनेनेश्वराद्भेद उक्तः बुद्धेरप्यन्तरं वा। प्रत्यक् चासौ चेतनश्च तस्याधिगमः साक्षात्कारः ततः प्रणिधानाद्भवति। अपि चान्तरायाणामभावश्च भवति। ननु स्वभिन्नेश्वरप्रणिधानात्स्वसाक्षात्कारः कथं स्यात् अभ्यासतज्जन्यज्ञानयोः षड्जादावेकविषयत्वदर्शनादिति चेद्। उच्यते। यथैवेश्वरोऽसङ्गश्चिद्रूपः कूटस्थः क्लेशादिशून्यस्तथैव जीव इति सादृश्यादीश्वरध्यानं तदनुग्रहद्वारा जीवस्वरूपसाक्षात्कारहेतुरित्यनवद्यम् ॥ २९ ॥

चन्द्रिका।

तत इति। तस्माज्जपात्तदर्थभावनाच्च विषयप्रातिकूल्येन अञ्चति या दृक्शक्तिस्तस्या अधिगमो ज्ञानं भवति वक्ष्यमाणान्तरायशक्तिप्रतिबन्धश्च भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

भोजवृत्तिः।

अथ केऽन्तराया इत्याशङ्क्यामाह—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

नवैते रजस्तमोबलात्प्रवर्तमानाश्चित्तस्य विक्षेपा भवन्ति। तैरेकाग्रताविरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यत इत्यर्थः। तत्र व्याधिर्धातुवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिः। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। उभयकोट्यालम्बनं ज्ञानं संशयः—योगः साध्यो न वेति। प्रमादोऽनुष्ठानशीलता समाधिसाधनेष्वौदासीन्यम्। आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वं योगविषये प्रवृत्त्यभावहेतुः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः। भ्रान्तिदर्शनं शुक्तिकायां रजतवद्विपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं कुतश्चिन्निमित्तात्समाधिभूमेरलाभोऽसंप्राप्तिः। अनवस्थितत्वं लब्धायामपि समाधिभूमौ चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठा। त एते समाधेरेकाग्रताया यथायोगं प्रतिपक्षत्वादन्तराया इत्युच्यन्ते ॥ ३० ॥

भावागणेशवृत्तिः।

अन्तरायानाह—व्याधीति।

यतो व्याध्यादयश्चित्तविक्षेपका अतो योगान्तराया इत्यर्थः। तत्र व्याधिः धातुरसकरणानां वैषम्यम्।

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ईश्वरप्रणिधानवतस्त्वेते स्वत एव न भवन्तीत्युक्तम् । तदभाववतस्तु बलवदभ्यासनिरसनीया एत इत्याह—तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः । तेषामन्तरायाणां प्रतिषेधार्थमन्यतो यत्र कुत्रचिदव्यें कार्थेऽभ्यासः कार्यः । तेन चोदितायामेकाग्रतायां विक्षेपाः प्रशममुपयान्ति । एकाग्रतोपदेशादेव चित्तमेकमक्षणिकं स्थिरम् । अनुभूतस्मृतिदर्शनाच्च । स्वकृतकर्मोपभोगाच्च यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीति प्रत्यभिज्ञानाच्च अहंप्रत्ययगोचरश्चित्तमेव । एकाग्रतोपदेशादेव नाणु किन्तु विभु; योगिनां सर्वावच्छेदेनैकदाखिलसाक्षात्काराच्च, अयोगिनामपि दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ अनेकेन्द्रियवृत्त्यनुभवाच्च । न च तेषां योगजधर्म एव प्रत्यासत्तिः । संयोगादिलौकिकप्रत्यासत्त्यैवोपपत्तौ तत्कल्पने गौरवात्, अन्योन्यव्यभिचाराच्च । तद्वारणाय साक्षात्कारेष्ववान्तरजातिकल्पने गौरवम् । अतएव न मध्यमपरिमाणम्, प्रलये विनाशेनादृष्टाधारतानुपपत्तेः । अतो विभु । तस्य च सर्वार्थग्रहणसमर्थस्य तमआख्यावरणभङ्ग एव योगेन क्रियते, सुषुप्तौ तमसो वृत्तिप्रतिबन्धकत्वसिद्धेः । विभोरपि गतिश्रुतिरात्मन इव प्राणेन्द्रियाद्युपाधिनोपपन्ना । कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैविध्येन कार्यान्तःकरणस्य स्वतोऽपि गतिसम्भवाच्च । विभोरपि प्रधानस्य कार्यरूपत्वदर्शनात् । तदुक्तं भाष्ये—एकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम्-इति । विशोका वेति सूत्रे बुद्धिसत्त्वं भास्वरकल्पमिति चोक्तम् ॥ ३२ ॥

मणिप्रभा ।

ईश्वरप्रणिधानादेतेषामभाव इत्युक्तमुपसंहरति—तत्प्रतिषेधार्थमिति ।

विक्षेपानां नाशार्थमेकतत्त्वस्येश्वरस्याभ्यासो ध्यानं कार्यमित्यर्थः । अत्र भाष्यकारैः स्थायि चित्तं स्यात्तस्यैकाग्रता सम्पादनीयेति क्षणिकमतमाशङ्क्य सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानादिना चित्तमेकमनेकार्थावगाहि स्थायि विभु इति साधितम् ॥ ३२ ॥

चन्द्रिका ।

तत्प्रतिषेधार्थमिति । तेषां विक्षेपाणां निषेधार्थं कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वे अभ्यासः ॥ ३२ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थमन्तरायानुक्त्वा ते कस्मान्नाशनीया इत्यपेक्षायां पूर्वोक्तमीश्वरप्रणिधानमेवाहिमंशो [illegible] यति—तदिति ।

तेषां सोपद्रवाणां विक्षेपाणां विनाशार्थमेकतत्त्वस्येश्वरस्याभ्यासः कर्तव्यः । एतदुक्तं भवति—एकतत्त्वगोचरमनोवृत्तिप्रवाहानुकूलो यत्नोऽभ्यासः । स च दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारैर्दृढमासेवितव्यः । आसेविते च तस्मिन्व्याध्यादयो वासनाः क्षणेनैव विशारुतां यान्ति । तदुक्तम्—

वासनासम्परित्यागे यदि यत्नं करोष्यलम् ।
तत्ते शिथिलतां यान्ति सर्वाधिव्याधयः क्षणात् ॥ इति ॥ ३२ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीं चित्तसंस्कारापादकपरिकर्मकथनमुपायान्तरमाह—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

मैत्री सौहार्दम् । करुणा कृपा । मुदिता हर्षः । उपेक्षौदासीन्यम् । एता यथाक्रमं सुखितेषु दुःखितेषु पुण्यवत्सु अपुण्यवत्सु च विभावयेत् । तथा हि—सुखितेषु साधु एषां सुखित्वमिति मैत्रीं कुर्यान्न तु ईर्ष्याम् । दुःखितेषु कथं नु नामैषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव कुर्यान्न ताटस्थ्यम् । पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षमेव कुर्यान्न तु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम् । अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेन्नानुमोदनं न वा द्वेषम् । सूत्रे सुखदुःखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपादिताः । तदेवं मैत्र्यादिपरिकर्मणा चित्ते प्रसीदति [illegible] समाधेराविर्भावो भवति । परिकर्म चैतद्बाह्यं कर्म, यथा गणिते मिश्रका-

भावागणेशवृत्तिः ।

व्याध्यादिभ्योऽन्येऽप्यन्तराया भवन्तीत्याह—दुःखेति ।

दुःखं स्वतो द्वेष्यम् । दौर्मनस्यं चित्तचाञ्चल्यम् । अङ्गमेजयत्वमङ्गकम्पः । श्वासो देहान्तर्वायोरधिकप्रवेशः । प्रश्वासो देहाद्वायोरधिकनिर्गमः । एते विक्षेपसहभुवो व्याध्यादिव्यवधानेनैव जायन्त इत्यर्थः । अथवा दुःखादयो वृत्तिचाञ्चल्यरूपविक्षेपोद्भवा इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अन्यानप्यन्तरायानाह—दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः । दुःखं स्वतो द्वेष्यम् । दौर्मनस्यं चित्तचाञ्चल्यम् । अङ्गमेजयत्वमङ्गकम्पः । श्वासो बाह्यवायोरन्तःप्रवेशः । प्रश्वासः आन्तरवायोर्बहिर्निर्गमः । एते चित्तचाञ्चल्यरूपविक्षेपसहभुवः तज्जन्या इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

मणिप्रभा ।

न केवलमेते विक्षेपा योगनाशकाः किंतु दुःखादीनपि कुर्वन्तीत्याह दुःखेति ।

दुःखं व्याधिजं शारीरं, कामादिजं मानसं, तद्द्वयमाध्यात्मिकम् । व्याघ्रादिजमाधिभौतिकम् । ग्रहपीडादिजम् आधिदैविकम् । दौर्मनस्यमिच्छाविघातात् क्षोभो मनसि । अङ्गमेजयतो भावोऽङ्गमेजयत्वमङ्गानां कम्पनमित्यर्थः । अनिच्छतः प्राणो यं बाह्यवायुमन्तः प्रवेशयति स [illegible] समाध्यङ्गरेचकविरोधीत्यर्थः । एवमनिच्छतः कौष्ठ्यस्य वायोर्बहिर्गमनं प्रश्वासः पूरकविरोधी । एते विक्षेपैः सह भवन्ति, विक्षिप्तचित्तस्य भवन्तीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

चन्द्रिका ।

दुःखेति । तत्र दुःखं चित्तस्य राजसः परिणामो बाधनलक्षणः, दौर्मनस्यं करणैः सह मनसो दौ[illegible], अङ्गमेजयत्वं सर्वाङ्गवेपथुः, प्राणो यत् बाह्यवायुमाचामति स श्वासः,यत्कौष्ठ्यं वायुं निःश्वसिति स प्रश्वासः, एते विक्षेपैः सह भवन्तीति अभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः ॥ ३१ ॥

योगसुधाकरः ।

न केवलमेते विक्षेपा योगनाशकाः, अपि तु [illegible] इत्याह दुःखेति ।

यथोक्तव्याधिजं दुःखम् । तच्चाध्यात्मिकादिभेदात्त्रिविधम् । विषयाभिलाषविघातान्मनसि क्षोभो दौर्मनस्यम् । सर्वाङ्गचलनमङ्गमेजयत्वम् । तच्च योगाङ्गासनविरोधि । अपानः श्वासः । स च रेचकविरोधी । प्राणः प्रश्वासः । स तु पूरकविरोधी । अथ वा श्वासो बाह्यकुम्भकविरोधी, प्रश्वासः आन्तरकुम्भकविरोधी, अङ्गमेजयत्वं कुम्भकद्वयविरोधीत्यर्थः,

नोच्छ्वसेन्नैव निश्वस्यान्नैव गात्राणि चालयेत् ।

इति कुम्भके तन्निषेधश्रवणात् । अत एते दुःखादयो विक्षेपैः सह भवन्ति, विक्षिप्तचित्तस्य भवन्तीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

भोजवृत्तिः ।

सोपद्रवविक्षेपप्रतिषेधार्थमुपायान्तरमाह—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

तेषां विक्षेपाणां प्रतिषेधार्थमेकस्मिन्कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्यः; यद्बलात् प्रत्युदितायामेकाग्रतायां विक्षेपाः प्रशम (१)मुपयान्ति ॥ ३२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सूत्रद्वयोक्ता अन्तराया ईश्वरप्रणिधाननिरस्या इति मुख्यकल्पाभिप्रायेणैवोक्तम् । तदसम्भवे तु यत्र कुत्रचिदेकाग्र्येणाप्येते बलवदभ्यासतो निरसनीया भवन्तीत्याह—तत्प्रतिषेधार्थमिति ।

तेषामन्तरायाणां प्रतिषेधार्थमन्ततो यत्र कुत्रचिदप्येकस्मिन्नर्थे अभ्यासः कार्य इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

---

(१) प्रणाशमिति पाठान्तरम् ।

तत्तु निवारयितुमशक्यत्वात्सदा हृदयं दहति । यदा 'स्वस्येव परेषां प्रतिकूलं दुःखं मा भूत्' इत्यनेन प्रकारेण करुणां दुःखिप्राणिषु भावयेत्, तदा वैर्यादिषु द्वेषो निवर्तते । न केवलं द्वेषः, किन्तु दुःखित्वप्रतियोगिकस्वसुखित्वप्रयुक्तो दर्पोऽपि निवर्तते । स च दर्पो भगवता दर्शितः—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ॥ इति ।

अत उभयनिवृत्तौ चित्तं प्रसीदति । तथा प्राणिनः स्वभावत एव पुण्यं नानुतिष्ठन्ति, पापं त्वनुतिष्ठन्ति । अतस्ते पुण्यपापे पश्चात्तापं जनयतः । यदि पुण्यपुरुषेषु मुदितां भावयेत्, तदा तद्वासनया स्वयमप्यप्रमत्तः पुण्ये प्रवर्तते । तथा पापिषूपेक्षां भावयन्स्वयमपि पापान्निवर्तते । अतः पश्चात्तापाभावेन चित्तं प्रसीदति । ननु पुण्यात्मसु मुदितां भावयतः पुण्ये प्रवृत्तिः फलत्वेनोक्ता; सा च योगिनो न युक्ता, तस्य पुनर्जन्मकरत्वात् । मैवम् । काम्यस्येष्टापूर्तादेर्जन्महेतुत्वादिह तु योगाभ्यासजन्यस्य जन्मानापादकस्याशुक्लकृष्णस्य पुण्यस्य विवक्षितत्वात् । वक्ष्यति च भगवान्सूत्रकारः—'कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' इति । अतो मैत्र्यादिभावनया रागादिवासनानिवृत्तौ प्रसादं स्थैर्यमापन्नं सच्चित्तमेकाग्रतापदं लभत इत्यर्थः । तदुक्तम्

पौरुषेण प्रयत्नेन बलात्संत्यज्य वासनाम् ।

स्थितिं बध्नासि चेत्तर्हि पदमासादयस्यलम् ॥ इति ॥ ३३ ॥

भोजवृत्तिः ।

उपायान्तरमाह—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

प्रच्छर्दनं कौष्ठ्यस्य वायोः प्रयत्नविशेषान्मात्राप्रमाणेन बहिर्निःसारणम् । विधारणं मात्राप्रमाणेनैव प्राणस्य वायोर्बहिर्गतिविच्छेदः । स च द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां बाह्यस्याभ्यन्तरा(१)पूरणेन पूरितस्य वा तत्रैव निरोधेन । तदेवं रेचकपूरककुम्भकभेदेन त्रिविधः प्राणायामश्चित्तस्य स्थितिमेकाग्रतया निबध्नाति, सर्वासामिन्द्रियवृत्तीनां प्राणवृत्तिपूर्वकत्वात् । मनःप्राणयोश्च स्वस्वव्यापारे परस्परमेकयोगक्षेमत्वात्क्षीयमाणः(२) प्राणः समस्तेन्द्रियवृत्तिनिरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति । समस्तदोषक्षयकारित्वं चास्याऽऽगमे श्रूयते । दोषकृताश्च सर्वा विक्षेपवृत्तयः; अतो दोषनिर्हरणद्वारेणाप्यस्यैकाग्रतायां सामर्थ्यम् ॥ ३४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्रच्छर्दनेति । प्राणस्य प्रच्छर्दनं वमनं, रेचनमिति यावत् । विधारणं कुम्भकम् । तच्चार्थात्पूरकानन्तरं, रेचकोत्तरं पूरकं विना विधारणासम्भवात्, प्राणायामतयास्य भाष्ये प्रोक्तत्वाच्च । तथा च एतद्द्वयात्पूरणगर्भादपि चित्तप्रसादनं कुर्यादित्यर्थः । अथवा प्रच्छर्दनं रेचकं विधारणं तु पूरकम् । वसिष्ठसंहितायां नाडीशुद्ध्यर्थं रेचकपूरकमात्रस्यापि प्राणायामस्योक्तत्वादिति ॥ ३४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

प्रसादस्य साधनान्तरमाह—प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य । प्राणस्य प्रच्छर्दनं वमनं रेचनम् । विधारणं कुम्भकम् । एतच्च पूरकोपलक्षणम् । एतद्वा चित्तप्रसादस्य कारणम् । वाशब्दो वक्ष्यमाणापेक्षया विकल्पे । मैत्र्यादिभावनायाः सर्वैः [illegible] समुच्चयादिति मिश्राः ।

इन्द्रियाणां बलं प्राणास्तेषां यत्नेन निग्रहात् ।

विक्षेपहेतवोऽक्षाणां दह्यन्ते दोषराशयः ॥ इति स्मृतिः ।

यद्वा प्रच्छर्दनविधारणे रेचकपूरकौ तावन्मात्रप्राणायामस्यापि नाडीशुद्ध्यर्थं वसिष्ठसंहितादौ उक्तत्वात् ॥ ३४ ॥

---

(१) बाह्यस्यान्तरेति पाठान्तरम् ।

(२) क्षीयमाण इति पाठान्तरम् ।

दिव्यवहारो गणितनिष्पत्तये संकलितादिकर्मोपपादकत्वेन प्रधानकर्मनिष्पत्तये भवति, एवं द्वेषरागादिप्रतिपक्षभूतमैत्र्यादिभावनया समुत्पादितप्रसादं चित्तं सत्त्वाभिधं संप्रज्ञातादिसमाधियोग्यं संपद्यते। रागद्वेषावेव मुख्यतया विक्षेपमुत्पादयतः तौ चेत्समूलमुन्मूलितौ स्यातां तदा प्रसन्नत्वान्मनसो भवत्येकाग्रता॥३३॥

भावागणशवृत्तिः।

योगसाधनगतो विशेष उक्तः। इदानीं स्थितिसाधने श्रद्धावीर्याद्युपायाभ्यासे वशीकारद्वारेणाप्रतिबन्धहेतूनाह सूत्रैः—मैत्रीति।

प्रसादनं स्थितिनिबन्धनमिति तृतीयसूत्रस्थेनान्वयः। अन्यथा तत्र सूत्रे वाशब्दवैयर्थ्यात्। निबन्धनत्वं च स्थितिहेतुश्रद्धाद्यप्रतिबन्धद्वारा स्थित्यभ्रंशहेतुत्वं भाष्ये व्याख्यातत्वात्। सुखादिशब्दाश्च धर्मधर्म्यभेदात्सुखितादिवाचिनः। तथा सुखितदुःखितधार्मिकपापशीलेषु यथोक्तक्रमं मैत्र्यादीनामुत्पादाच्चित्तस्य प्रसादनं स्थितिनिबन्धनं भवति। रागद्वेषपापादिमलापसारणेन चित्तवशीकारात् सूत्रे वक्ष्यमाणादित्यर्थः। मैत्री सौहार्दम्। करुणा निरुपाधिः परदुःखप्रहाणेच्छा। मुदिता प्रीतिः। उपेक्षा औदासीन्यमिति॥३३॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

इदानीं श्रद्धावीर्यादिरूपाभ्यासे स्थितिसाधने वशीकारद्वारेणाप्रतिबन्धहेतूनाह—**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्**। प्रसादनं स्थितिनिबन्धनम्। निबन्धनत्वं च स्थितिहेतुश्रद्धाद्यप्रतिबन्धद्वारा स्थित्यभ्रंशहेतुत्वम्। सुखादिशब्दाश्च सुखितादिवाचिनः। तेषु क्रमेण मैत्र्यादीनामुत्पादनाभ्यासात्प्रसन्नं चित्तमेकाग्रं स्थितिपदं लभते इत्यर्थः। मैत्री सौहार्दम्। करुणा निरुपाधिः परदुःखप्रहाणेच्छा। मुदिता प्रीतिः। उपेक्षा औदासीन्यम्। एषां च परिकर्मेति संज्ञा। एकाग्रताहेतुश्चित्तसंस्कारः परिकर्म। स च विषयकालुष्यराहित्यरूपश्चित्तप्रसादः। रागद्वेषेर्ष्यासूयामर्षपापादिमलापसारणद्वारा एते तद्धेतवः॥३३॥

मणिप्रभा।

तस्य चित्तस्यासूयादिमलवतो योगायोग्यात्तन्मलनिरासोपायानाह मैत्रीति।

सुखिषु प्राणिषु मैत्रीं मित्रतां, दुःखितेषु करुणां दयां, पुण्यवर्तिषु मुदिताम् हर्षम्, अपुण्यशब्दितपापवृत्तिषु उपेक्षां मध्यस्थवृत्तिं भावयेत्। तया भावनया चित्तस्य प्रसादनं भवति। सुखादिषु यथाक्रममुक्तया भावनया [illegible] धर्मो जायते। तेनेर्ष्यापकारेच्छासूयाद्वेषाणां चित्तमलानां विनाशात्तेन च शुक्लेन धर्मेण चित्तं [illegible] भवति। प्रसन्नं च वक्ष्यमाणेभ्य उपायेभ्य एकाग्रं स्थितिपदं लभते इति तात्पर्यम्॥३३॥

चन्द्रिका।

मैत्रीति। मैत्री सौहार्दं सुखितेषु, करुणा कृपा दुःखितेषु, मुदिता हर्षं पुण्यवत्सु, उपेक्षामौदासीन्यमपुण्यवत्सु भावयेत्। एवं मैत्र्यादिपरिकर्मणा चित्तं प्रसीदति रागद्वेषनिरासे सुखेन समाधेः प्रादुर्भावो भवत्येकाग्रता च॥३३॥

योगसुधाकरः।

अधुना सम्प्रज्ञातभूमिरूपैकाग्रतोपायान् 'मैत्री—' इत्यादि 'यथाभिमत—' इत्यन्तेन सूत्रसप्तकेनाह—मैत्रीति।

चित्तं [illegible] रागद्वेषपुण्यपापैः कलुषीक्रियते। [illegible] स्वप्नादौ स्वेनानुभूयमानं सुखमनुशेते 'सर्वं सुखजातं मे भूयात्' इति कश्चिद्धीवृत्तिविशेषो रागः। स च सुखजातस्य दृष्टादृष्टसामग्र्यभावेन सम्पादयितुमशक्यत्वाच्चित्तं कलुषीकरोति। यदा तु सुखिप्राणिषु मैत्रीं भावयेत् 'सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीयाः' [illegible], तदा तत्सुखं स्वकीयमेव [illegible] तत्र रागो निवर्तते। न केवलं रागः, किं [illegible] परगुणासहनदोषाविष्करणरूपासूयेर्ष्यादिकमपि निवर्तते। निवृत्ते च रागासूयेर्ष्यादौ वर्षास्वतीतासु शरत्सरिदिव चित्तं प्रसीदति। तथा दुःखमनुशेते '[illegible] दुःखं सर्वथा मे मा भूत्' इति कश्चित्प्रत्ययो द्वेषः। स च वैर्यादिषु

भोजवृत्तिः ।

एवंविधमुपायान्तरमाह—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

प्रत्यस्तमितबाह्येन्द्रियवृत्तेर्मनोमात्रेणैव यत्र भोक्तृत्वमात्मनः स स्वप्नः । निद्रा पूर्वोक्तलक्षणा । तदालम्बनं स्वप्नालम्बनं निद्रालम्बनं वा ज्ञानमालम्ब्यमानं चेतसः स्थितिं करोति ॥ ३८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्थितिनिबन्धपान्तरमाह—स्वप्नेति । स्वप्नरूपं ज्ञानं स्वप्नज्ञानं पूर्वोक्तनिद्रारूपं च ज्ञानमेतयोरन्यतरस्य चिन्तकं वा चित्तं स्थितिनिबन्धनं भवति प्रपञ्चजाते स्वप्नदृष्ट्या, संसारिषु सुषुप्तदृष्ट्या च चित्तस्य दृढस्थितिर्भवतीत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

> दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ।
> दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन ! ॥ इत्यादि—
> ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च [illegible] यस्य मायया ।
> तस्य विष्णोः प्रसादेन यदि कश्चित्प्रमुच्यते ॥
> चराचरं लय इव प्रसुप्तमिह पश्यताम् ।
> किं मृषाव्यवहारेषु न विरक्तं भवेन्मनः ॥ इत्यादि चेति ॥ ३८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

उपायान्तरमाह—स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा । यदा जाग्रज्ज्ञाने स्वप्नज्ञानदृष्टिः क्रियते भङ्गुरविषयकत्वात्तदा ततो विरक्तं चित्तं स्थिरं भवति । तथा जाग्रत्पुरुषज्ञानेषु सुषुप्तिज्ञानदृष्टिः क्रियते स्वरूपावरणसाम्यात्तदा तद्विरक्तं चित्तं स्थिरं भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

मणिप्रभा ।

स्वप्नेति । ज्ञानशब्दो ज्ञेयपरः । स्वप्ने भगवतो मूर्तिमत्यन्तमनोहरामाराधयन्नेव प्रबुद्धस्तत्रैव चित्तं धारयेत् । निद्रायां सुषुप्तौ यत्सुखं जायते तत्र धारयेत् । एवं स्वप्ननिद्राज्ञेयालम्बनं चित्तं स्थितिं लभते ॥ ३८ ॥

चन्द्रिका ।

स्वप्नेति । प्रत्यस्तमितबाह्यवृत्तेर्मनोमात्रेणैव यत्र भोक्तृत्वमात्मनः स स्वप्नः । निद्रा तदालम्बनं ज्ञानं चेतसः स्थितिहेतुः ॥ ३८ ॥

योगसुधाकरः ।

स्वप्नेति । स्वप्ने शास्त्रीयं यन्मनोहरं वस्तु दृष्टं सुषुप्तौ यत्सुखं जायते, तत्र ध्यानात्तज्ज्ञेयालम्बनं चित्तं निश्चलं सदेकाग्रतां लभते इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

भोजवृत्तिः ।

नानारुचित्वात्प्राणिनां यस्मिन् कस्मिंश्चिद्वस्तुनि योगिनः श्रद्धा भवति तस्य ध्यानेनापीष्टसिद्धिरिति प्रतिपादयितुमाह—

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

यथाभिमतवस्तुनि बाह्ये चन्द्रादावाभ्यन्तरे नाडीचक्रादौ वा भाव्यमाने चेतः स्थिरीभवति ॥ ३९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

यथाभिमतेति । किं बहुना यदेवाभिमतं हृदि हरिहरसूर्यादिकं तदेवादौ ध्यायेत् । तस्मादपि ध्यानाभ्यसनात्स्थितिर्भवतीत्यर्थः । प्रसादमार्गस्थितानि स्थितिनिबन्धनानि चित्तसंस्काररूपत्वाच्छास्त्रे पारिकर्मशब्देन परिभाषितानि 'परिकर्म प्रसाधनम्' इति कोशादिति ॥ ३९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

उपायान्तरमाह—**विशोका वा ज्योतिष्मती** । विगतशोका प्रकाशरूपा च प्रवृत्तिर्मनसः स्थैर्यहेतुरित्यर्थः । सा चान्तःकरणस्य पुरुषस्य वा योगजसाक्षात्काररूपा वृत्तिः तयोश्च विधूतरजस्तमोमलतया सत्त्वमयत्वेन सुखमयत्वाद्विशोकत्वम् । प्रकाशमयत्वाज्ज्योतिष्मतीत्वम् । सा च चाञ्चल्यहेतुशोकनाशकत्वात्तत्स्थैर्यकरी । नन्वात्मसाक्षात्कारे पुनश्चित्तस्थितेः का उपयोग इति चेत् । असम्प्रज्ञातहेतुपरवैराग्यायेति गृहाण । तथा साक्षात्काराभ्यासं विना मिथ्याज्ञानवासनानुन्मूलनेन तदुन्मूलनार्थं परमात्मनि चित्तसमाधानार्थं च ॥ ३६ ॥

मणिप्रभा ।

विशोकेति । अष्टदलं हृत्पद्मं रेचकेनोर्ध्वमुखं ध्यात्वा तत्कर्णिकास्थायाम् ऊर्ध्वमुख्यां सुषुम्नाऽऽख्यनाड्यां संयमनान्मनसः संविद्भवति । तन्मनः सूर्येन्दुग्रहमणीनां या या प्रभा तद्रूपेणानेकधा भवति तत्सात्त्विकं ज्योतिर्मनः । तस्य कारणं सात्त्विकोऽहङ्कारो निस्तरङ्गमहोदधिकल्पो व्यापी । तस्यापि ज्योतिःस्वरूपस्य संयमात्संविद्भवति । सेयं द्विविधा संविद् । ज्योतिष्मती मनोऽहङ्काराख्या ज्योतिर्विषया, विशोका दुःखशून्या, प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिहेतुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

चन्द्रिका ।

विशोकेति । ज्योतिःशब्देन सात्त्विकः प्रकाश उच्यते, सोऽतिशयवान् यस्यां सा ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुत्पन्ना विशोका विगतशोका सुखमयसत्त्वाभ्यासबलाच्चेतःस्थितिकर्त्री ॥ ३६ ॥

योगसुधाकरः ।

विशोका वेति । अष्टदलहृदम्बुजं रेचकेनोर्ध्वमुखं नीत्वा तत्कर्णिकास्थायां सुषुम्नाख्यायां नाड्यां सौरचान्द्रमसवैद्युतादिप्रभाभिभस्य चित्तसत्त्वस्य ध्यानात्तज्ज्योतिर्गोचरा संविज्ज्योतिष्मती विशोका शोकशून्या प्रवृत्तिरुत्पन्ना सती मनसः स्थितिं सम्पादय ततस्तन्मनं एकाग्रतां लभत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

भोजवृत्तिः ।

उपायान्तरप्रदर्शनद्वारेण संप्रज्ञातसमाधेर्विषयं दर्शयति—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

मनसः स्थितिनिबन्धनं भवतीति शेषः । वीतरागः परित्यक्तविषयाभिलाषस्तस्य यच्चित्तं परिहृतक्लेशं तदालम्बनीकृतं चेतसः स्थितिहेतुर्भवति ॥ ३७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्थितिनिबन्धनान्तरमाह—**वीतरागेति** । वीतरागं यत्सनकादिचित्तं तद्विषयकं वा योगिचित्तं दृढस्थितये भवतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

उपायान्तरमाह—**वीतरागविषयं वा चित्तम्** । वीतरागं सनकादिचित्तं तद्विषयध्यानाद् ध्यातृचित्तमपि तद्वत् स्थिरस्वभावं भवति । यथा कामुकचिन्तया चित्तं कामुकं भवतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

मणिप्रभा

वीतेति । व्यासशुकादीनां वीतरागं यच्चित्तं तद्विषयं सत् भाव्यमानं योगिनश्चित्तं स्थितपदं लभत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

चन्द्रिका ।

वीतेति । परित्यक्तविषयाभिलाषं चित्तं मनसः स्थितिनिबन्धनं भवतीति ॥ ३७ ॥

योगसुधाकरः ।

वीतेति । शुकादीनां यद्वीतरागं चित्तम्, तस्य ध्यानाद्योगिनश्चित्तं नीरागं सदेकाग्रतां लभत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वेतैरुपायैरेकाग्रतालाभे किं ज्ञापकमित्यत आह—परमाण्विति । अस्यैकाग्रतामापन्नस्य चित्तस्य सूक्ष्मे स्थूले वा वस्तुनि निविशमानस्य परमाण्वन्तः परममहत्त्वान्तो वशीकारोऽप्रतिघातो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

भोजवृत्तिः ।

एवमेभिरुपायैः संस्कृतस्य(१) चेतसः कीदृग्रूपं भवतीति (अत:) आह—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

क्षीणा वृत्तयो यस्य तत्क्षीणवृत्ति तस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु आत्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिर्भवति । तत्स्थत्वं तत्रैकाग्रता, तदञ्जनता तन्मयत्वं, क्षीणभूते(२) चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैवोत्कर्षः, तथाविधा समापत्तिः, तद्रूपः परिणामो भवतीत्यर्थः । दृष्टान्तमाह—अभिजातस्येव मणेरिति । यथाऽभिजातस्य निर्मलस्य स्फटिकमणेस्तत्तदुपाधिवशात्तत्तद्रूपापत्तिरेवं निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तद्रूपापत्तिः । यद्यपि ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु इत्युक्तं तथाऽपि भूमिकाक्रमवशाद्ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु इति बोध्यम् । यतः प्रथमं ग्राह्यनिष्ठ एव समाधिस्ततो ग्रहणनिष्ठस्ततोऽस्मितामात्ररूपो ग्रहीतृनिष्ठः, केवलस्य पुरुषस्य ग्रहीतुर्भाव्यत्वासम्भवात् । तत्र स्थूलसूक्ष्मग्राह्योपरक्तं चित्तं तत्र समापन्नं भवति । एवं ग्रहणे ग्रहीतरि च समापन्नं तद्रूपपरिणामत्वं(३) बोद्धव्यम् ॥ ४१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

इतः परं योगयोर्मुख्यफलं पादसमाप्तिपर्यन्तं वक्तव्यम् । तत्रादौ सम्प्रज्ञातस्य फलमुच्यते सूत्रैः—

क्षीणवृत्तेरिति । क्षीणवृत्तेर्निरुद्धध्येयातिरिक्तवृत्तेर्निष्पन्नसम्प्रज्ञातयोगस्येति यावत् । एतच्च हेतुगर्भविशेषणम् । समापत्तिरिति च साक्षात्कारपरिभाषा । तथा च यतश्चित्तं स्वत एव सर्वार्थग्रहणसमर्थं विषयान्तरव्यासङ्गदोषादेव तत्प्रतिबद्धमतो वृत्त्यन्तरनिरोधरूपे प्रतिबन्धापगमे सति ग्रहीत्रादिषु ध्येयेषु समापत्तिः साक्षात्काररूपवृत्तिः चित्तस्य स्वत एव भवति । सा च तत्स्थतदञ्जनतारूपा तेषु ग्रहीत्रादिषु स्थितस्य चित्तस्याशेषविशेषैः सम्यक्तदाकारतारूपेत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तः—अभिजातस्येव मणेरिति । यथाऽभिजातस्य स्वभावतो निर्मलस्य मणेर्बाह्यमलापगमे सन्निकृष्टवस्त्वाकारता तद्वदित्यर्थः । अत्र ग्रहीता पुरुषसामान्यम् । ग्रहणं च गृह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या करणसामान्यं त्रयोदशविधम् । ग्राह्यं च स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतररूपेण त्रिविधम् । पञ्चभूतपञ्चतन्मात्रप्रकृतिरूपम् । अतो ग्रहीत्रादित्रैविध्येन योगस्य विषयः सर्ववस्तु संगृहीतमिति सामान्यतः समापत्तिरुक्ता । तत्र ग्रहीतृसमापत्तौ स्थूलसूक्ष्मविषयकत्वरूपविशेषाभावात् सा एकविधैव । ग्राह्यग्रहणसमापत्त्योस्तु विशेषसत्त्वात्तयोर्विशेषौ त्रिभिः सूत्रैर्वक्तव्यौ । स्थूलं कार्यं सूक्ष्मं च तत्कारणम् । अतः स्थूले तन्मात्रकार्याणि भूतानि अहङ्कारकार्याणीन्द्रियाणि । प्रकृतिपर्यन्तं चान्यत्सर्वं सूक्ष्मम् । तद्विषये च स्थूलसूक्ष्मसमापत्ती प्रत्येकं वक्ष्यमाणरीत्या हि द्विविधे भवतः ॥ ४१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ सम्प्रज्ञातफलमाह—क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः । क्षीणवृत्तेर्निरुद्धध्येयातिरिक्तवृत्तेः निष्पन्नसम्प्रज्ञातयोगस्येति यावत् । हेतुगर्भं चैतत् । समापत्तिरिति साक्षात्कारसञ्ज्ञा । स्वत एव सर्वार्थग्रहणसमर्थस्य चित्तस्य विषयान्तरव्यासङ्गदोषरूपतत्तद्ग्रहणे प्रतिबन्धकवृत्त्यन्तरनिरोधेन तदपगमे सति ग्रहीत्रादिषु ध्येयेषु समापत्तिः साक्षात्काररूपा वृत्तिः स्वत एव भवति । सा च तत्स्थतदञ्जनतारूपा तेषु ग्रहीत्रादिषु स्थितस्य चित्तस्याशेषविशेषैः

---

(१) संस्कृतस्येति पाठान्तरम् । (२) व्याप्नुते इतिपाठः ।

(३) [illegible] पाठान्तरम् ।

नागोजीभट्टवृत्तिः।

उपायान्तरमाह—यथाभिमतध्यानाद्वा। यदेवाभिमतं हरिहरमूर्त्यादि तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिपदमन्यत्रापि स्थिरं भवतीत्यर्थः। प्रभावमारभ्यैतदन्तानां परिकर्मसंज्ञा शास्त्रे। एषामनुष्ठाने ऐच्छिको विकल्पः॥ ३९॥

मणिप्रभा।

यथेति। किं बहुना यदेवेष्टं शिवरामकृष्णादिरूपं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिं लभते। अभिमतमनतिक्रम्य यथाऽभिमतं तस्य ध्यानादिति विग्रहः॥ ३९॥

चन्द्रिका।

यथेति। यथाभिमते वस्तुनि बाह्ये आभ्यन्तरे नाडीचक्रादौ वा भाव्यमाने चेतसः स्थितिहेतुर्भवति॥ ३९॥

योगसुधाकरः।

यथेति—किं बहुना? यथेष्टं यथेच्छाकार्थं देवं रूपम्, तद्ध्यानाच्चित्तमचञ्चलं तदेकाग्रतां लभत इत्यर्थः॥३९॥

भोजवृत्तिः।

एवमुपायान्मदर्श्य फलदर्शनायाऽऽह—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः॥ ४०॥

एभिरुपायैश्चित्तस्य स्थैर्यं भावयतो योगिनः सूक्ष्मविषयभावनाद्वारेण परमाण्वन्तो वशीकारोऽप्रतिघातरूपो जायते, न क्वचित्परमाणुपर्यन्ते सूक्ष्मे विषयेऽस्य मनः प्रतिहन्यत इत्यर्थः। एवं स्थूलमाकाशादिपरममहत्पर्यन्तं भावयतो न क्वचिच्चेतसः प्रतिघात उत्पद्यते—,सर्वत्र स्वातन्त्र्यं भवतीत्यर्थः॥ ४०॥

भावागणेशवृत्तिः।

परिकर्मनिष्पत्तेः फलरूपं लक्षणमाह—परमाण्विति।

अस्य परिकर्मितस्य चेतसः परमाणुमारभ्य परममहत्पर्यन्तेष्वर्थेषु वशीकारो धारणायामप्रतिघातः केनाप्यप्रतिबन्धो (स्त्रियते इति यावत्।) भवतीति शेषः। परमं महत्त्वमेषामिति परममहत्त्वाः पुरुषाः। तदेवमभ्यासवैराग्यादिकं परिकर्मान्तं योगस्यान्तरङ्गसाधनमुक्तम्। योगद्वितयं चावान्तरभेदैरुक्तम्॥४०॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

चित्तस्थैर्यसमकपरिकर्मनिष्पत्तेः फलमाह—परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः। तस्यज्ञकमस्य वैराग्यमित्यर्थः। तदुक्तं न पुनः परिकर्माभ्यासमपेक्षते। तदेवमभ्यासवैराग्यादिकं परिकर्मान्तयोगस्यान्तरङ्गसाधनमुक्तम्। योगद्वयं चावान्तरभेदैरुक्तम्॥ ४०॥

मणिप्रभा।

ननु चित्तस्थितिर्जायत इत्यत्र किं ज्ञापकमित्यत्राह—परमाण्विति। अस्य चित्तस्य सूक्ष्मे निविशमानस्य यः परमाण्वन्तो वशीकारः अप्रतिघातः। तथा स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वाकाशान्तोऽप्रतिघातः। तेन परेण वशीकारेण चित्तं लब्धस्थितिकमिति ज्ञात्वा स्थित्युपायानुष्ठानादुपरमतीत्यर्थः॥ ४०॥

चन्द्रिका।

परमाण्विति। एभिश्चित्तस्थैर्यं भावयतो योगिनः सूक्ष्मभावनद्वारेण परमाण्वन्तो वशीकारः परमाणुपर्यन्ते सूक्ष्मे आकाशादिस्थूले चेतसोऽप्रतिघातो भवति॥ ४०॥

चन्द्रिका ।

एतयैवेति । एतयैव सवितर्कया निर्वितर्कया [illegible] निर्विचारा च व्याख्याता । सूक्ष्मस्तन्मात्रेन्द्रियादिर्विषयो यस्याः सा । पूर्वा स्थूलविषया ॥ ४४ ॥

योगसुधाकरः ।

वक्तन्यायमन्यत्रातिदिशति—एतयैवेति । एतयैव विकल्पितस्थूलाकारया सवितर्कया अविकल्पितस्थूलाकारया निर्वितर्कया च सूक्ष्मविषया स्वशब्दज्ञानाभ्यामभेदेन विकल्पितसूक्ष्मतन्मात्रेन्द्रियगोचरा सविचारा अविकल्पितसूक्ष्मतन्मात्रेन्द्रियगोचरा निर्विचारा च व्याख्याता भवतीत्यर्थः ॥ [illegible] ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्या एव सूक्ष्मविषयायाः किंपर्यन्तः सूक्ष्मविषय इत्याह—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सविचारनिर्विचारयोः समापत्त्योर्यत्सूक्ष्मविषयत्वमुक्तं तदलिङ्गपर्यवसानं—न क्वचिल्लीयते न वा किंचिल्लिङ्गति गमयतीत्यलिङ्गं प्रधानं—तत्पर्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वम् । तथा हि—गुणानां परिणामे चत्वारि पर्वाणि विशिष्टलिङ्गमविशिष्टलिङ्गं लिङ्गमात्रमलिङ्गं चेति । विशिष्टलिङ्गं भूतेन्द्रियाणि(१) अविशिष्टलिङ्गं तन्मात्रेन्द्रियाणि, लिङ्गमात्रं बुद्धिः, अलिङ्गं प्रधानमिति । नातः परं सूक्ष्ममस्तीत्युक्तं भवति ॥४५॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु सूक्ष्मो विषयः कियत्पर्यन्त इत्यपेक्षायामाह—सूक्ष्मेति ।

सूक्ष्मश्चासौ विषयश्चेति सूक्ष्मविषयः । अलिङ्गाख्यप्रकृतिपर्यन्तम् । न तु पुरुषः सूक्ष्म इत्यर्थः । अतोऽत्र सूक्ष्मत्वं तत्त्वान्तरप्रकृतित्वम् । न च जलादिचतुष्टयेऽतिव्याप्तिः, भूतानामुत्तरोत्तरभूतेष्वाधारकारणमात्रत्वात्, तन्मात्राणामेव भूतोपादानत्वात्, अन्यथाष्टप्रकृतिसिद्धान्तविरोधादिति ॥ ४५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

सूक्ष्मो विषयः कियत्पर्यन्त इत्याकाङ्क्षायामाह—सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् । न क्वापि गच्छतीत्यलिङ्गं प्रधानं तत्पर्यन्तं सूक्ष्मो विषय इत्यर्थः । तत्त्वान्तरप्रकृतित्वमत्र सूक्ष्मत्वं विवक्षितमित्यर्थः । न च जलादिभूतचतुष्टयेऽतिव्याप्तिः, भूतानामुत्तरोत्तरभूतेषु आधारकारणमात्रत्वात्तन्मात्राणामेव भूतोपादानत्वात्, अन्यथाष्टप्रकृतित्वसिद्धान्तविरोधः स्यात् । पुरुषस्तु न परिणामिकारणं किन्त्वधिष्ठानकारणं तेषां संसर्गे निमित्तकारणं चेति न तस्येदृशसौक्ष्म्यमिति भावः ॥ ४५ ॥

मणिप्रभा ।

ननु किमस्याः ग्राह्यसमापत्तेः परमाणुष्वेवावसानं, नेत्याह—सूक्ष्मेति ।

अस्याः समापत्तेः सूक्ष्मविषयत्वमलिङ्गे प्रधाने पर्यवस्यति । तथा हि—पार्थिवः परमाणुर्गन्धतन्मात्रादितरतन्मात्राङ्ककाज्जायते । आप्यस्तु गन्धतन्मात्रवर्जितात्रसतन्मात्रादितरतन्मात्राङ्ककात् । तैजसस्तु गन्धरसद्वयवर्जितात्रूपतन्मात्रादितरद्वयाङ्ककात् । वायव्यस्तु पूर्वहीनात्स्पर्शतन्मात्राच्छब्दतन्मात्राङ्ककात् । नाभसः परमाणुस्त्वेकस्मादेव शब्दतन्मात्राज्जायत इति प्रक्रिया । अतो विकारेभ्यः परमाणुभ्य उपादानानि पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्माणि, तेभ्योऽप्यहङ्कारः सूक्ष्मः, तस्मादपि महान्महतोऽपि प्रधानं, तद्धि लयं न गच्छतीत्यलिङ्गमुच्यते । ततः परं सूक्ष्ममुपादानं नास्ति पुरुषस्य सत्त्वेऽप्यनुपादानत्वात् । पुरुषो हि भोगापवर्गार्थी सन् पुरुषार्थनिमित्तके सर्गे निमित्तमात्रं भवति । तस्मात्सूक्ष्मग्राह्यसमापत्तिः प्रधानपर्यन्तेति सिद्धम् ॥ ४५ ॥

चन्द्रिका ।

सूक्ष्मेति । सविचारनिर्विचारयोः समापत्त्योर्यत्सूक्ष्मविषयत्वं तदलिङ्गपर्यवसानं न क्वचिल्लीयते न वा किंचिल्लिङ्गति गमयतीत्यलिङ्गं प्रधानं तत्पर्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वम् ॥ ४५ ॥

(१) भूतानीति पाठान्तरम् ।

न व्यक्तिविशेषेषु तेषामानन्त्येनाशक्यग्रहत्वात् । एवं व्याप्तेरपि वन्हित्वादिसामान्यं गृह्यते । अतः श्रुतानुमानप्रज्ञयोः सामान्यं वस्तु विषयः । तथाहि लोके शब्दलिङ्गज्ञानानन्तर गोवन्ह्यादिवस्तुमात्रं ज्ञायते न व्यक्तिविशेष इति स्वसाक्षिकमेतत् । ऐन्द्रियिकप्रत्यक्षं यद्यपि गोघटादिविशेषविषयं तथाऽपि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टवस्तुविशेषः समाधिप्रज्ञाया असाधारणो विषयः । न च सूक्ष्मादिषु श्रुतानुमानप्रकाशितेषु प्रवरन्ती समाधिप्रज्ञा कथं स्वमूलश्रुतानुमानागोचरविशेषगोचरा स्यादिति वाच्यम् । बुद्धेः स्वतः सर्वग्रहणशक्तत्वात् । बुद्धिसत्त्वं हि प्रकाशस्वभावं सर्वार्थग्रहणसमर्थमपि तमसाऽऽवृतं सद् मानमपेक्ष्याल्पविषयं भवति । यदा तु समाधिना विगततमःपटलं सर्वतः प्रकाशमानमतिक्रान्तमानमर्य्यादं भवति तदा प्रकाशनान्त्यात् किं नामागोचरः स्यात् । तस्मात् समाधिप्रज्ञा विशेषार्थगोचरत्वाद् मानान्तरविषयादन्याविषयेत्यर्थः । तदुक्तम्—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य ह्यशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुशोचति ॥ इति ।
जनान् समाधिशून्यान् मानभृत्यानित्यर्थः ॥ ४९ ॥

चन्द्रिका ।

श्रुतेति । श्रौतमागमज्ञानम् । अनुमानमुक्तलक्षणम् । ताभ्यां या जायते प्रज्ञा सा सामान्यविषया, इयं निर्विचारवैशारद्यसमुपेता ताभ्यां विलक्षणा विशेषविषयत्वात्, अस्यां हि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टा विषयाः स्फुटं भासन्ते अतस्तस्यां यत्नो विधेयः ॥ ४९ ॥

योगसुधाकरः ।

ऋतंभरत्वोपपत्तिमाह—श्रुतेति । सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टवस्तुषु योगिप्रत्यक्षं निर्वर्तते । आगमानुमानाभ्यां तानि वस्तूनि ज्ञायन्ते । ते च श्रुतानुमानजन्ये प्रज्ञे सामान्यमेव गोचरयतः । इदं तु योगिप्रत्यक्षं विशेषगोचरत्वादृतम्भरामित्यर्थः ॥ ४९ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्याः प्रज्ञायाः फलमाह—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

तया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः सोऽन्यान्व्युत्थानजान्समाधिजांश्च संस्कारान्प्रतिबध्नाति स्वकार्यकरणाक्षमान्करोतीत्यर्थः । यतस्तत्त्वरूपतयाऽनया जनिताः संस्कारा निरालंबनत्वात् अतत्त्वरूपप्रज्ञाजनितान्संस्कारान्बाधितुं शक्नुवन्ति । अतस्तामेव प्रज्ञामभ्यसेदित्युक्तं भवति ॥ ५० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु तथापि प्रज्ञोत्पत्तिपर्यन्तं सम्प्रज्ञातयोगापेक्षा प्रज्ञोत्पत्त्यनन्तरं सम्प्रज्ञातपरम्परया किं फलमित्याकाङ्क्षायामाह—तज्ज इति ।

तज्जः एकाग्रसाक्षात्कारधारारूपया समाधिप्रज्ञया जनितः संस्कारोऽन्येषां व्युत्थानसंस्काराणां प्रतिबन्धी स्मृत्याख्यकार्यविरोधीत्यर्थः । तथा च समाधिपरम्परया समाधिप्रज्ञासंस्कारदार्ढ्येन व्युत्थानसंस्कारस्याभिभवः क्रमेण भवति । ततश्च दुःखहेतुव्युत्थानसंस्काराभिभवरूपे प्रज्ञाकृत्ये समाप्ते प्रज्ञायामप्यलम्बुद्ध्या सर्ववृत्तिनिरोधरूपोऽसम्प्रज्ञातः स भविष्यतीति सम्प्रज्ञातपरम्परायाः फलमिति भावः । मोक्षान्यथानुपपत्त्यैवाविद्यासंस्कारस्य विद्यासंस्कारदार्ढ्येन नाशः सिध्यति । अविद्यासंस्कारातिरिक्तानां च संस्काराणां चित्तनाशेनैव नाशो न तु संस्कारान्तरस्य तन्नाशकत्वं कल्प्यते, गौरवात् । संस्काराणां विरोधिसंस्काराभिभावकत्वं [illegible] लोके बहुधा सिद्धमतः संस्कारप्रतिबन्धीत्येव सूचितं न तु तन्नाशक इति ॥ ५० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ सम्प्रज्ञातपरम्परायाः फलमाह—तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी । तज्जः एका-

भ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदय' इति । ननु ज्ञानेनैव प्रारब्धभोगोत्तरमोक्षसिद्धौ किमनेन योगेनेति चेन्न। प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेण झटिति मोक्षार्थत्वात्। अत्र वदन्ति–विवेकसाक्षात्काररूपं ज्ञानं सांख्यपदवाच्यं सर्वासर्वचित्तवृत्तिनिरोधरूपो द्विविधो योगश्चोभयमपि व्यापारभेदात्स्वातन्त्र्येण मोक्षकारणमत्र शास्त्रे विवक्षितम्। तत्र केवलज्ञानेन मोक्षे जनयितव्येऽभिमाननिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्त एव संप्रज्ञातोऽपेक्ष्यते नतु वृत्त्यन्तरवासनाक्षयार्थं संप्रज्ञानपरंपरापि । प्रारब्धसमाप्तौ तु तस्यां सर्ववासनानां चित्तेन सह नाशात्। अन्ये तु तमेव विदित्वेति श्रुतेः कस्यचित्स्वल्पयानेनापि ज्ञानं, एतदन्तरंगेण तु भवत्येव ज्ञानमित्याशयः । 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' इति गीतावाक्ये सम्यक्ख्यातं संख्या तत्त्वसाक्षात्कारस्तदुपायैर्गोबलीवर्दन्यायेन श्रवणमनननिदिध्यासनरूपैर्ज्ञानं प्राप्यते तद्योगैरपि प्राप्यते इति न तद्विरोध इत्याहुः ॥ ५१ ॥

॥ इति श्रीनागोजीभट्टीयायां पातञ्जलवृत्तौ समाधिपादः प्रथमः ॥

मणिप्रभा ।

ननु संप्रज्ञातसमाधिप्रज्ञासंस्कारप्रचुरं चित्तं तत्प्रज्ञापरम्परामेव कुर्वत् कथं निर्बीजसमाधिं कुर्यादित्यत आह तस्यापीति ।

पुरुषख्यात्यनन्तरं परवैराग्यसंस्कारप्रचयेन तस्य संप्रज्ञातसमाधिप्रज्ञासंस्कारस्य "अपि"शब्दात्प्रज्ञायाश्च निरोधे सति सर्वस्य प्रज्ञातज्जसंस्कारप्रवाहस्य निरोधादवसिताधिकारत्वेन चित्तस्य कृत्याभावात् "निमित्तापाये नैमित्तिकापाय" इति न्यायेन निर्बीजः समाधिर्भवति । तदुक्तम्—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति ।

श्रवणेन मननेन पुरुषमात्रध्यानाभ्यासो धर्ममेघाख्यः तद्रसेन परवैराग्येण प्रज्ञाप्रसादात्मना, पुरुषं साक्षात्कुर्वन्निर्बीजं योगं लभत इत्यर्थः । कालक्रमेण निर्बीजनिरोधसंस्कारप्रचये सति स्वप्रकृतौ चित्तं लीयते हेत्वभावात् । कृत्यशेषलक्षणाधिकारो हि चित्तस्य स्थितिहेतुः । न हि कृतभोगविवेकख्यातिनश्चित्तस्य कृत्यशेषोऽस्ति । तस्माच्चित्तस्य प्रलये पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठः केवलो मुक्त इति सिद्धम् ॥ ५१ ॥

इति मणिप्रभायां समाधिपादः ॥ १ ॥

चन्द्रिका ।

तस्यापीति । तस्यापि निरोधे तस्य सम्प्रज्ञातस्य निरोधे प्रविलये सति सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयात् या संस्कारमात्रात् वृत्तिरुदेति तस्या नेति नेतीति पर्युदसनान्निर्बीजः समाधिराविर्भवति यस्मिन् सति पुरुषः शुद्धो भवति ॥ ५१ ॥

इति योगचन्द्रिकायां प्रथमः [illegible] ।

योगसुधाकरः ।

इत्थमसंप्रज्ञातसमाधेर्बहिरङ्गसाधनमभिधाय निरोधप्रयत्नस्यान्तरङ्गसाधनतां सूचयन्निर्बीजमुपसंहरति—तस्यापीति ।

परवैराग्यसहकृतविरामप्रत्ययेन प्रज्ञासंस्कारस्यापि निरोधे सत्युत्पत्स्यमानप्रज्ञासंस्कारस्य सर्वस्यापि निरोधादशेषबन्धनिवृत्तेर्निर्बीजः समाधिर्लभ्यते । तस्मिन्समाधौ लब्धे सति पुनर्व्युत्थानुमशक्त्या चित्तं नश्यति । ततः कूटस्थनित्यानन्ता [illegible] चितिशक्तिः स्वे महिम्नि निरन्तरं निर्विघ्नमवतिष्ठत इत्यतिशोभनम् ॥ ५१ ॥

इति श्रीमत्पतञ्जलिप्रणीते योगशास्त्रे योगसुधाकराभिधायां वृत्तौ समाधिपादः समाप्तः ॥

र्वकं विस्तरेणोपायान्प्रदर्श्य सुगमोपायप्रदर्शनपरतयेश्वरस्य स्वरूपप्रमाणप्रभाववाचकोपासनाक्रमं(१) तत्फलानि [च] निर्णीय चित्तविक्षेपांस्तत्सहभुवश्च दुःखादीन्विस्तरेण च तत्प्रतिषेधोपायानेकतत्त्वाभ्यासमैत्र्यादीन्प्राणायामादीन्संप्रज्ञातासम्प्रज्ञातपूर्वाङ्गभूतविषयवती प्रवृत्तिरित्यादीन् (च) आख्यायोपसंहारद्वारेण च समापत्तिं लक्षणफलसहितां(२) स्वरूपविषयसहितां चोक्त्वा(३) संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोरुपसंहारमभिधाय सबीजपूर्वको निर्बीजः समाधिरभिहित इति व्याकृतो योगपादः ॥ ५१ ॥

इति श्रीधारेश्वरभोजराजविरचितायां राजमार्तण्डाभिधानायां पातञ्जलयोगशास्त्रसूत्रवृत्तौ

योगाख्यः प्रथमपादः ॥ १ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येत्यादिसूत्रैः संप्रज्ञातस्य फलं प्रपञ्चितम् । असंप्रज्ञातस्य फलमुच्यते–तस्यापीति ।

पूर्वपूर्वासंप्रज्ञाते तावत्प्रज्ञैव निरुध्यते । प्रज्ञासंस्कारस्य तावदभावम् । एवं क्रमेण तस्यापि प्रज्ञाकृतसंस्कारस्याप्यसंप्रज्ञातपरम्परया निरोधे अत्यन्ताभिभवे जायमाने चरमासंप्रज्ञातव्यक्तिर्निर्बीजयोगस्य परा [illegible] भवति । अपुनरुत्थानेत्यर्थः । सैव च महा[illegible]द्रा परमो मोक्ष इति गीयते । अयं च योगेन स्वेच्छया मोक्षः श्रुतिसूक्तो बहूनाम् । तदानीं च पुरुषार्थसमाप्त्या चित्तस्यात्यन्तलयात्तदाश्रितानां दग्धसंस्कारभावानां नाश इति । सर्वनिरोधादिति निर्बीजत्वे हेतुरुक्तः । यतः प्रज्ञा तत्संस्कारश्चात्यन्तं विलापितौ, अतो दुःखबीजैः संस्कारादिभिः शून्यत्वान्निर्बीज इति । पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातेषु [illegible] निर्बीजजातीयतया निर्बीजत्वव्यवहारः । अत्र सर्ववृत्तिनिरोधस्य संप्रज्ञातकृताखिलसंस्कारोन्मूलकत्ववचनात्तस्य संस्कारजनकत्वं सिध्यति । क्रमेणैव ह्यसंप्रज्ञातपरम्परया चरमासंप्रज्ञाते निःशेषतः संप्रज्ञातसंस्कारदाहो वक्तव्यः । तत्र पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातानां विनष्टतया संस्कारातिरिक्तं द्वारं न सम्भवति । तथा उत्तरोत्तरासंप्रज्ञातेषु कालवृद्ध्यापि पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातानां संस्कारजनकत्वं सिध्यति । संस्कारवृद्ध्यैव कालवृद्ध्यौचित्यादिति । ननु ज्ञानेन प्रारब्धातिरिक्ताखिलकर्मक्षये प्रारब्धस्य भोगेन समाप्त्या कर्माभावादेवापुनर्जन्मरूपो मोक्षो भविष्यति किमर्थमसंप्रज्ञातेनाखिलसंस्कारोन्मूलनमपेक्ष्यत इति चेत् । प्रारब्धस्यातिक्रमणाज्झटिति नश्यति मोक्षार्थमित्यवेहि । भोगवासनारूपस्य हि सहकारिण उच्छेदे सति प्रारब्धमपि कर्म फलाक्षमं भवतीति दिक् ॥ ५१ ॥

इति श्रीभावागणेशभट्टकृतायां योगदीपिकायां पातञ्जलवृत्तौ

समाधिपादः प्रथमः ॥ १ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु व्युत्थानसंस्काराभिभवेऽपि प्रज्ञासंस्काराभिभवाभावात्तत्प्रवाहानिवृत्तौ तत्रैव जन्मनि शीघ्रं मोक्षो न स्यादत आह—**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः** । परवैराग्येण स्वसंस्कारद्वारा प्रज्ञाकृतसंस्काराणां प्रज्ञायाश्च निरोधे कारणाभावेन कार्यानुत्पादान्निर्बीजः समाधिर्भवतीत्यर्थः । तत्र पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातसंस्कारस्याप्युत्तरोत्तरासंप्रज्ञातेनात्यन्ताभिभवे जायमाने चरमासंप्रज्ञातो निर्बीजकाष्ठा भवति । उत्तरोत्तरासंप्रज्ञातेषु कालवृद्ध्या पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातानां संस्कारजनकत्वं सिध्यति संस्कारवृद्ध्यैव कालवृद्ध्यौचित्यात् । स च यथायथातिशीयते तथातथा तत्त्वज्ञानपर्यन्ताखिलसंस्कारान् संप्रज्ञातयोगजांस्तनूकरोति । एवं पूर्वपूर्वसंस्कारसहकृतचरमासंप्रज्ञातेन निःशेषतः प्रज्ञातत्संस्कारदाहः । ततः प्रारब्धमपि कर्म न स्वविपाकसमर्थम् , सहकारिणां दग्धत्वात् । प्राग्भवीयभोगसंस्कारा [illegible] तत्सहकारिणः ततः पुरुषार्थसमाप्त्या चरिताधिकारं चित्तमसमाप्तभोगकेनैव प्रारब्धकर्मणा निरोधसंस्कारैश्च सह स्वकारणेऽत्यन्तं लीयते । इयमेव चित्तस्य महानिद्रा पुरुषस्य कैवल्यमात्यन्तिको दुःखात्मकाखिलदृश्यावियोगः, तदुक्तं—'मनसो-

---

(१) पासनानीति पाठा० ।

(२) समापत्तीः सलक्षणाः [illegible] इति पाठा० । (३) सहिताश्चोक्त्वेति पाठान्तरम् ।

रमेश्वरः प्रीणाति स एवेश्वरस्य तत्फलभोगः। यथार्थिभ्यो धनानि यच्छन् दाता तद्धनभोक्ता। यद्यप्यस्य नित्यानन्दभोगो नित्य एव तथापि जीवानां कर्मफलप्रदानाभिव्यक्तत्वेनेश्वर्यानुगतानन्दोत्पत्तिरौपचारिकी। यद्वा—

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥

इत्यर्पणम्। फलन्यासश्च फलमनभिसंधाय कर्मकरणम्। एते क्रियारूपा योगा योगसाधनत्वादिति भावः। यद्यपि वक्ष्यमाणा यमादयोऽपि क्रियायोगा एव, तथापि तेभ्यः समुद्धृत्य प्रकृष्टं साधनत्रयं मध्यमाधिकारिणं युञ्जानं प्रति उपदिष्टमेतैरपि तीव्रतरैर्योगो भवतीति सूचयितुम्। मध्यमाधिकारिणा अभ्यासवैराग्यादिकं यथाशक्त्यनुष्ठेयम्॥ १॥

मणिप्रभा।

पूर्वस्मिन्पादे योगमुद्दिश्य लक्षणमुक्त्वा वृत्तीर्निरूप्य तन्निरोधोपायाभ्यासवैराग्ये प्रतिपाद्य चित्तस्थित्युपायान् कांश्चिदुक्त्वा द्विविधो योगः सावान्तरभेदः प्रतिपादितः। तत्राभ्यासवैराग्ये चित्तशुद्धिसाध्ये इति मत्वा तस्य शुद्धिहेतुमादौ क्रियायोगमाह—तप इति।

पूर्वपादोक्तस्य योगस्यास्मिन्पादे साधनान्युच्यन्त इत्यनयोः पादयोः सङ्गतिः। ब्रह्मचर्यगुरुसेवासत्यवचनकौष्ठमौनाकारमौनस्वाश्रमधर्मद्वन्द्वसहनमिताशनादिकं तपः, न कायशोषः। धातुवैषम्ये योगविघातात्। स्वाध्यायः प्रणवश्रीरुद्रपुरुषसूक्तादीनां पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं च। फलाभिसन्धिं विना कृतानां कर्मणां परमगुरावीश्वरे समर्पणमीश्वरप्रणिधानम्, तानि क्रियारूपो योगो योगसाधनत्वादित्यर्थः॥ १॥

चन्द्रिका।

समाहितचित्तस्य योगमभिधाय व्युत्थितचित्तस्य योगः कथं सिध्यतीति तत्साधनप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह—तप इति।

तपः कृच्छ्रादि, स्वाध्याय ओंकारपूर्वकमन्त्राणां जपः, सर्वक्रियाणां समर्पणमेतानि क्रियायोगः॥१॥

योगसुधाकरः।

परापश्यन्त्यादिभेदभिन्नामेकां निसर्गतः।
चिदानन्दमयीं नित्यां वाचं कांचिदुपास्महे॥

पूर्वं सावान्तरभेदं सान्तरङ्गसाधनं सफलं समाधिमभिधायाधुना पूर्वाभिहितसाधनेऽप्रवर्तमानमानसमपक्वकषायकर्तारं प्रति बहिरङ्गसाधनं क्रियायोगमाह—तप इति।

हितमितमेध्याशनं तपः। परमपवित्रप्रणवादिमन्त्रजपः स्वाध्यायः। ईश्वरे लीलया स्वीकृतातिमनोहराङ्गे परमगुरौ कायवाङ्मनोभिर्निर्वर्तितो भक्तिविशेषः प्रणिधानम्। तानि क्रियारूपत्वाद्योगसाधनत्वाच्च क्रियायोग इति शुद्धसारूप्यलक्षणाश्रयणेन निरूप्यन्ते 'आयुर्घृतम्' इतिवदित्यर्थः॥ १॥

भोजवृत्तिः।

स किमर्थ इत्यत आह—

(१)समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥ २॥

क्लेशा वक्ष्यमाणास्तेषां तनूकरणं स्वकार्यकरणप्रतिबन्धः। समाधिरुक्तलक्षणस्तस्य भावना चेतसि पुनः पुनर्निवेशनं सोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः। एतदुक्तं भवति—एते तपःप्रभृतयोऽभ्यस्यमानाश्चित्तगतानविद्यादीन्क्लेशाञ्छिथिलीकुर्वन्तः समाधेरुपकारकतां भजन्ते। तस्मात्प्रथमतः(२) क्रियायोगावधानपरेण योगिना भवितव्यमित्युपदिष्टम्॥ २॥

---

(१) क्रियायोगस्य किं फलमित्यत [illegible] समाधीत्यादि।

(२) प्रथममिति पाठान्तरम्।

भावागणेशवृत्तिः ।

अथ परं क्लेशाः कियन्तो वा तत्तूकरणस्य वा किं फलमित्यादिकं महाप्रघट्टकेन प्रदर्शयितुमुपक्रमते—अविद्येति ।

अविद्यादयः पञ्च क्लेशत्वेन परिभाषिताः क्लेशास्तथा दुःखनिदानत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ क्लेशानाह—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः । एते पञ्च क्लेशा इत्यर्थः । ते हि चेतसि वर्तमानाः संसारधर्माधर्मकर्ममयं गुणपरिणामं द्रढयन्ति । कर्मभिः क्लेशाः क्लेशैश्च कर्माणीत्यनवस्था च बीजाङ्कुरवदनादित्वान्न दोषाय ॥ ३ ॥

मणिप्रभा ।

अथ क्लेशाः कीदृशाः कियन्तो वेत्यत आह—अविद्येति ।

क्लिश्यन्ति कर्मतत्फलप्रवर्तकाः सन्तः पुरुषं दुःखाकुर्वन्तीति क्लेशाः ते च पञ्चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

चन्द्रिका ।

अविद्येति । वक्ष्यमाणलक्षणा अविद्यादयस्तापं जनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति ॥ ३ ॥

योगसुधाकरः ।

के ते क्लेशाः कियन्त इत्यपेक्षायामाह—अविद्येति ।

पुरुषं क्लेशयन्ति दुःखाकुर्वन्तीति क्लेशाः । ते पञ्चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

भोजवृत्तिः ।

सत्यपि सर्वेषां तुल्ये क्लेशत्वे मूलभूतत्वादविद्यायाः प्राधान्यं प्रतिपादयितुमाह—

(१) अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

अविद्या मोहः, अनात्मन्यात्माभिमान इति यावत् । सा क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां प्रत्येकं प्रसुप्ततन्वादिभेदेन चतुर्विधानाम् । अतो यत्राविद्या विपर्ययज्ञानरूपा शिथिलीभवति तत्र क्लेशानामस्मितादीनां नोद्भवो दृश्यते । विपर्ययज्ञानसद्भावे च तेषामुद्भवदर्शनात्स्थितमेव मूलत्वमविद्यायाः । **प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणामिति** । तत्र ये क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्यं नाऽऽरभन्ते ते प्रसुप्ता इत्युच्यन्ते–यथा बालावस्थायां, बालस्य हि वासनारूपेण स्थिता अपि क्लेशाः प्रबोधकसहकार्यभावे नाभिव्यज्यन्ते । ते तनवो ये स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्यसंपादनशक्तयो वासनावशेषतया चेतस्यवस्थिताः प्रभूतां सामग्रीमन्तरेण स्वकार्यमारब्धुमक्षमाः–यथाऽभ्यासवतो योगिनः । ते विच्छिन्ना ये केनचिद्बलवता क्लेशेनाभिभूतशक्तयस्तिष्ठन्ति—यथा द्वेषावस्थायां रागः, रागावस्थायां वा द्वेषः, न ह्यनयोः परस्परविरुद्धयोर्युगपत्संभवोऽस्ति । त उदारा ये प्राप्तसहकारिसंनिधयः स्वं स्वं कार्यमभिनिर्वर्तयन्ति–यथा सदैव योगपरिपन्थिनो व्युत्थानदशायाम् । एषां प्रत्येकं चतुर्विधानामपि मूलभूतत्वेन स्थिताऽप्यविद्याऽन्वयित्वेन प्रतीयते । न हि क्वचिदपि क्लेशानां विपर्ययान्वयनिरपेक्षाणां स्वरूपमुपलभ्यते । तस्यां च मिथ्यारूपायामविद्यायां(२) सम्यग्ज्ञानेन निवर्तितायां दग्धबीजकल्पानामेषां न क्वचित्प्ररोहोऽस्ति । अतोऽविद्यानिमित्तत्वमविद्यान्वयश्चैनेषां निश्चीयते; अतः सर्वेऽपि अविद्याव्यपदेशभाजः । सर्वेषां च क्लेशानां चित्तविक्षेपकारित्वाद्योगिना प्रथममेव तदुच्छेदे यत्नः कार्य इति ॥ ४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अविद्यादयोऽग्रे लक्षणीयाः । आदौ तु स्थूलसूक्ष्माणां सर्वेषामेव क्लेशानां ज्ञाननाश्यत्वं वक्ष्यमाणमुपपादयितुमविद्यामूलकत्वमन्यक्लेशानामाह—अविद्येति ।

उत्तरेषामस्मितादीनां प्रसुप्तादिचतुर्विधानामप्यविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरित्यन्वयः । यद्यप्यविद्यापञ्चक-

---

(१) हेयानां क्लेशानामविद्यामूलत्वं दर्शयति अविद्येत्यादि ।

(२) मिथ्याज्ञानरूपायामिति पाठान्तरम् ।

भावागणेशवृत्तिः ।

तपआदीनां योगोत्पादने द्वारमाह—समाधीति ।

■ क्रियायोगः योगहेतुसमाधिं चित्तैकाग्र्यमुत्पादयति, वक्ष्यमाणांश्च क्लेशान्योगप्रतिबन्धकान्प्रकर्षेण तनूकरोति सत्त्वशुद्ध्यादिद्वारेणेत्यर्थः । तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धकतावच्छेदकस्योत्कटत्वस्याभाव.२॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

एषां योगोत्पादने द्वारमाह—समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च । स क्रियायोगः समाधेर्योगहेतुचित्तैकाग्र्यस्योत्पादकः, वक्ष्यमाणक्लेशानां योगप्रतिबन्धकानां सत्त्वशुद्धिद्वारेण तनूकरणार्थश्चेत्यर्थः । तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धकतावच्छेदकोत्कटत्वस्याभावः । एवञ्च प्रतिबन्धकाभावाद्विवेकख्यात्यात्मकप्रसंख्यानोदये ते क्लेशा दग्धबीजवद्वन्ध्या भवन्ति । वन्ध्येषु च तेषु समाप्ताधिकारं चित्तं विलीयते इति दिक् । तत्र क्रियायोगस्य क्लेशतानवं दृष्टादृष्टद्वारा फलमभिमानरागद्वेषादिप्राबल्ये क्रियायोगासंभव एव, संभवे वाङ्गविकल इति स्वनिष्पत्तये स क्लेशतानवं करोति । एवं क्रियायोगेन चित्तशुद्धौ अधर्माख्यकारणतानवादविद्यादेरपि तानवं भवति । एवं योगोऽपि क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टद्वारा फलम् । तत्र सत्त्वशुद्धिरदृष्टद्वारम् । दृष्टं तु चित्तनियमनम् । एवं क्रियायोगेन क्लेशतानवे सति अन्तरा क्लेशैरप्रतिबद्धो विवेकख्यातिप्रवाहः साक्षात्कारपर्यवसायी भवति । ततस्तेन साक्षात्कारेणाग्निना दग्धबीजकल्पाः क्लेशाः प्ररोहसमर्था न भवन्ति । एषा जीवन्मुक्तिः । ततः प्रारब्धसमाप्तौ चित्तेन ■■ दग्धबीजकल्पा अनागतावस्थाः सूक्ष्मक्लेशाः तत्कारणे लीयन्ते । ततः कारणाभावात्पुनर्जन्माभाव इति परममुक्तिः । न च ज्ञानाच्चित्ते विद्यमान एव क्लेशानां नाशोऽस्तु किं दाहकल्पनयेति वाच्यम् । कार्यानागतावस्थाया एव कारणशक्तित्वेन ■■■ यावद्द्रव्यभावितया अग्न्यादिनिष्ठदाहादिशक्तेर्दृष्टत्वात् चित्ते विद्यमाने तन्नाशासंभवेन दाहकल्पनात् । ■■ एवार्थोऽग्रिमसूत्रेषु स्फुटः ॥ २ ॥

मणिप्रभा ।

क्रियायोगस्य फलमाह—समाधीति ।

निबिडेषु क्लेशेषु सत्सु समाधिर्न सिध्यति । तस्मात्क्रियायोगः क्लेशान् तनूकृत्य समाधिं भावयति । तनुकरणं क्लेशानां सदोद्भवता कादाचित्क उद्भवः । भावनं समाधेरुत्पादनम्, तदर्थः फलं यस्य स तथोक्तः । क्रियायोगेन क्लेशच्छिद्रेषु लब्धावसरः समाधिः विवेकख्यातिमुत्पाद्य सवासनक्लेशान्दहतीति भावः ॥ २ ॥

चन्द्रिका ।

समाधीति । उक्तलक्षणसमाधिभावनार्थो वक्ष्यमाणक्लेशशिथिलीकरणार्थश्च ॥ २ ॥

योगसुधाकरः ।

स किमर्थं इत्यत आह—समाधीति ।

समाधेर्भावनं निष्पादनमर्थः प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः, क्लेशानां तनूकरणं शिथिलीकरणमर्थः प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति—दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारानुबन्धितपआदिक्रियायोगानुष्ठानेन क्लेशा विशरारुतामिताः सन्तः पुरुषान्यताख्यातावनुपप्लवायां जातायां समूलकाषं कषिता भवन्तीति ॥ २ ॥

भोजवृत्तिः ।

क्लेशतनूकरणार्थं इत्युक्तं, ■■ के क्लेशा इत्यत आह—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः(१) ॥ ■ ॥

अविद्यादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः पञ्च, ते च बाधनालक्षणं परितापमुपजनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति । ते हि चेतसि प्रवर्तमानाः संस्कारलक्षणं(२) गुणपरिणामं दृढयन्ति ॥ ३ ॥

---

(१) पञ्च क्लेशाः—इति पाठान्तरम् । (२) संसारलक्षणमिति पाठा० ।

स्यान्तःकरणमेव प्रसवभूमिस्तथाप्यविनाभावरूपेणोपादानसाधर्म्येणात्र निमित्तकारणस्यापि प्रसवभूमित्वं गौणम्, यदेव हि वस्तु अहं ममेत्यविद्याविषयो भवति तत्रैव रागादिकं भवतीति। अत्र प्रसुप्तिर्ज्ञानाग्न्यदग्धया अव्यक्तावस्थयाऽवस्थानम्। ज्ञानाग्निदग्धानां हि कदाप्यनुत्पादात्प्रसवभूम्यसंभवः। तनुत्वं ▪ पूर्वसूत्रे व्याख्यातम्। विच्छिन्नत्वं च अल्पप्रतिबन्धवशाद्व्यञ्जकसत्त्वेऽप्यन्तरान्तरानभिव्यक्तिरतः सुषुप्तितोऽस्य भेदः, व्यञ्जकविलम्बेन द्वित्रिजन्मादिबहुकालव्याप्त्यानभिव्यक्तेरेव प्रसुप्तित्वात्, प्रशब्देन प्रकर्षलाभात्। तदारब्धं चाभिव्यक्तत्वमुदारत्वमिति ॥ ▪ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ सर्वेषां क्लेशानां ज्ञाननाश्यत्वमुपपादयितुमविद्यामूलकत्वमन्यक्लेशानामाह—**अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।** उत्तरेषामस्मितादीनां प्रसुप्तादिभेदेन चतुर्विधानामप्यविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरित्यर्थः॥ यद्यप्यन्तःकरणमेव सर्वेषां प्रसवभूमिः, तथाप्यविनाभावरूपेण तत्संश्लिष्टत्वरूपेण चोपादानसाधर्म्येणात्र निमित्तकारणस्यापि प्रसवभूमित्वं गौणम्। यदेव हि अहं ममेत्यविद्याविषयो भवति तत्रैव रागादिकं भवति। तत्र प्रसुप्तिर्ज्ञानाग्न्यदग्धया अव्यक्तावस्थया कार्योन्मुखतारूपयाऽवस्थानम्। यथा विदेहप्रकृतिलयानाम्। विवेकख्यातिरूपज्ञानाग्निदग्धानां न कदापि कार्योन्मुखतेति सा पञ्चमी अवस्था। तनुत्वं द्वितीयसूत्रे व्याख्यातम्॥ विच्छिन्नत्वमल्पप्रतिबन्धवशाद्व्यञ्जकसत्त्वेऽप्यन्तरान्तरानभिव्यक्तिरतः प्रसुप्तितोऽस्य भेदः। व्यञ्जकविलम्बेन तज्जन्मपर्यन्तबहुकालव्याप्त्यनभिव्यक्तेरेव प्रसुप्तित्वात्, प्रशब्देन प्रकर्षलाभात्। विच्छिन्नत्वं यथा रागकाले द्वेषस्य द्वेषकाले रागस्य क्रोधसमाविष्टेन मिष्टान्नस्यापि त्यागात्। यथा वा विषयान्तररागेण विषयान्तररागः। स हि तदा प्रसुप्तस्तनुर्विच्छिन्नश्च। प्रतिपक्षभावनाऽप्रतिबन्धकत्वं च तनुत्वम्। उदारत्वं विषये लब्धवृत्तित्वाख्यमभिव्यक्तत्वम्।

प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥ इति संग्रहः॥ ▪ ॥

मणिप्रभा।

तत्र चतुर्णामविद्याकार्यत्वेनाविद्यात्मत्वमाह—**अविद्येति।**

उत्तरेषामस्मितादीनामविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिः। तेषामवान्तरभेदमाह प्रसुप्ताः तनवो विच्छिन्ना उदाराश्च तेषाम्। तत्र विदेहप्रकृतिलयानां योगिनां क्लेशाः प्रसुप्ताः विवेकख्यात्यभावेनादग्धतया शक्तिरूपेणावस्थानाद् अत एवान्ते पुनरुद्भवन्ति। क्रियायोगिनां तनवः। विषयसङ्गिनां विच्छिन्ना उदाराश्च भवन्ति। यथा चैत्रस्य यस्यां रागस्तत्र क्रोधो विच्छिन्नो रागः उदारः। एवं यत्र क्रोध उदारस्तत्र रागो विच्छिन्नः, कालेनोदारो भूत्वा पुरुषपशुं क्लेशयति। एते क्लेशा अविद्यामूलाः। तस्याः पुरुषापरोक्षख्यात्या निवृत्तौ निवर्तन्ते। यथा जीवन्मुक्तस्य क्लेशाः। क्षीणा इति पञ्चमी क्लेशानामवस्था द्रष्टव्या ४॥

चन्द्रिका।

अविद्येति। अविद्या अनात्मन्यात्माभिमानः सा क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां प्रत्यकं सुप्तादिभेदेन चतुर्विधानाम्। तत्र ये क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्यं नारभन्ते ते प्रसुप्ताः(१)। तनवः सूक्ष्माः(२)। विच्छिन्नाः परस्परमितरोत्कर्षे उच्छिन्नाः(३)। ये स्वं स्वं कार्यमभिनिर्वर्त्तयन्ति ते उदारास्तेषाम्॥ ▪ ॥

---

(१) यथा बालानां वासनारूपेणावस्थिताः क्लेशाः प्रबोधकाभावेन न व्यज्यन्ते।

(२) ये स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्यसम्पादनशक्तयः वासनारूपेणावस्थिताः न स्वकार्यमारब्धुं क्षमाः।

(३) ये केनचिद्बलवता क्लेशेन अभिभूतशक्तयः न स्वकार्यक्षमाः यथा उत्कटरागावस्थायां द्वेषः द्वेषावस्थायां वा रागः।

यातश्चास्मितायाः अयं भेदो यद्बुद्ध्यादौ सामान्यतोऽहंबुद्धिर्भेदाभेदसहिष्णुरुदेत्यत्यन्ताभेदाग्रहणात् सैवा-विद्या । अस्मिता तु स्वतो धर्मतश्च तयोरखण्डत्वभ्रमरूपेति ॥ ६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अस्मितामाह—दृक्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता । दृक् [illegible] पुरुषः, दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं बुद्धिः मलयादौ फलोपधानाभावाच्छक्तिपदम् । अनयोरेकात्मतेव धर्मतः स्वरूपतश्चात्यन्तमेकाकारा बुद्धिरस्मिता अहंकार इत्यर्थः । अविद्या तु बुद्ध्यादौ सामान्यतो भेदाभेदसहिष्णुः, अत्यन्ताभेदाग्रहणात् । तिरस्कृतभेदा सैवास्मितेति बोध्यम् । वस्तुतः परिणामित्वादिधर्मैस्तयोर्भेद एव । अस्मितायां सत्यामेव भोगो भवति । तत्र भोग्यशक्तिर्बुद्धिरशुद्धाऽनुदासीना जडा च, भोक्तृशक्तिः पुरुषः सदा शुद्धः उदासीनश्चैतन्यरूपश्चेति ॥ ६ ॥

मणिप्रभा ।

दृगिति । दृक्शक्तिः पुरुषः, दृश्यते इति दर्शनं तच्छक्तिः बुद्धिः, शक्तिशब्दो योग्यतार्थकः भोक्तृभोग्यत्वयोग्ययोरत्यन्तविविक्तयोर्दृग्दृश्ययोरविद्याकृतैकात्मता तादात्म्यम्, "इव" शब्देनाहमस्मीतिभ्रान्तिकृतत्वं तादात्म्यस्य द्योतयति । साऽस्मितेत्यर्थः । अयं हृदयग्रन्थिरित्युच्यते ब्रह्मवादिभिः ॥ ६ ॥

चन्द्रिका ।

दृगिति । दृक्शक्तिः पुरुषो दर्शनशक्तिरन्तःकरणस्य सात्त्विकः परिणामस्तयोर्भोक्तृभोग्यत्वेन भिन्नत्वेऽपि एकताभिमानोऽस्मिता ॥ ६ ॥

योगसुधाकरः ।

अविद्यामूलास्मितामाह—दृगिति ।

सत्त्वपुरुषयोरहमस्मीत्येकताभिमानोऽस्मितेत्यर्थः ॥ ६ ॥

भोजवृत्तिः ।

रागस्य लक्षणमाह—

सुखानुशयी रागः(१) ॥ ७ ॥

सुखमनुशेत इति सुखानुशयी, सुखज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकं सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागसञ्ज्ञकः क्लेशः ॥ ७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सुखेति । सुखतत्साधनमात्रविषयकः क्लेशो राग इत्यर्थः । मात्रपदादविद्यादिव्यावृत्तिः । क्लेशपदाज्जीवन्मुक्तादीच्छाव्यावृत्तिः ॥ ७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्रास्मितापूर्वकत्वाद्रागादीनां तदनन्तरं तांल्लक्षयति सुखानुशयी रागः । सुखे तत्साधने वा तत्त्वेन गृहीते तृष्णारूपः क्लेशो राग इत्यर्थः । क्लेशपदाच्च जीवन्मुक्तादीच्छाव्यावृत्तिः ॥ ७ ॥

मणिप्रभा ।

अस्मितायाः कार्यं रागं निरूपयति—सुखेति ।

सुखानुभवे सति स्मृत्या तज्जातीयसुखान्तरे तत्साधने वा या तृष्णा स रागः सुखमनुशेते विषयीकरोतीति सुखानुशयीत्यर्थः ॥ ७ ॥

---

(१) सुखाभिज्ञस्य सुखस्मृतिपूर्वकः सुखतत्साधनविषयको यो गर्द्धः स राग इत्युच्यते । स्मर्य्यमाणे सुखे सुखस्मृतिपूर्वकः रागः अनुभूयमाने तु सुखे नानुस्मृतिमपेक्षते । तत्साधने [illegible] सुखस्मृतिपूर्व एव रागः दृश्यमानमपि सुखसाधनं तज्जातीयस्य सुखहेतुतां स्मृत्वा सुखसाधनजातीयतया अस्य सुखसाधनत्वमनुमाय इच्छतीति भावः ।

चन्द्रिका ।

सुखेति । सुखमनुशेत इति सुखानुशयी रागः सुखसाधने गर्द्धः सोऽयं रागलक्षणः क्लेशः ॥७॥

योगसुधाकरः ।

रागं निरूपयति—**सुखेति** ।

सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकं सुखसाधनेषु तृष्णारूपो राग इत्यर्थः ॥ ७ ॥

भोजवृत्तिः ।

द्वेषस्य लक्षणमाह—

दुःखानुशयी द्वेषः(१) ॥ ८ ॥

दुःखमुक्तलक्षणं, तदभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपूर्वकं तत्साधनेषु अनभिलषतो योऽयं निन्दात्मकः क्रोधः स द्वेषलक्षणः क्लेशः ॥ ८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

दुःखेति । सर्वं पूर्ववत् ॥ ८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

दुःखानुशयी द्वेषः । दुःखे तत्साधने तत्त्वेन गृहीते यः क्रोधः स द्वेषः इत्यर्थः ॥ ८ ॥

मणिप्रभा ।

दुःखेति । दुःखानुभवितुः स्मृत्या दुःखतत्साधनयोर्यः क्रोधः स द्वेष इत्यर्थः ॥ ८ ॥

चन्द्रिका ।

दुःखेति । उक्तलक्षणदुःखाभिज्ञस्यानुस्मृतिपूर्वकं तत्साधनेष्वनभिलाषिता निन्दात्मको द्वेषलक्षणः क्लेशः ॥ ८ ॥

योगसुधाकरः ।

दुःखेति । दुःखाभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपुरःसरं तत्साधनेषु निन्दा द्वेष इत्यर्थः ॥ ८ ॥

भोजवृत्तिः ।

अभिनिवेशस्य लक्षणमाह—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढो(२)ऽभिनिवेशः(३) ॥ ९ ॥

पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनाबलाद्भयरूपः समुपजायमानः शरीरविषयादिभिः(४) मम वियोगो मा भूदिति अन्वहमनुबन्धरूपः सर्वस्यैवाऽऽकृमेर्ब्रह्मपर्यन्तं निमित्तमन्तरेण प्रवर्तमानोऽभिनिवेशाख्यः क्लेशः ॥ ९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्वरसेति । स्वस्य रसेन संस्कारेणैव वहतीति स्वरसवाही । अपिशब्दसमुच्चितमविद्वांसं तथेति तच्छब्दः परामृशति । रूढः प्रसिद्धः । तथाच यथाऽविदुषः तथा विदुषोऽपि स्वरसवाहित्वहेतुना यज्जातीयो यत्क्लेशो भयाख्यः प्रसिद्धोऽस्ति सोऽभिनिवेश इत्यर्थः । विदुषामपि मरणत्रासकृतं भयमस्तीति भाष्यकृतोक्तम् । पूर्वपूर्वजन्मसु मरणकाले यस्त्रासो जातो 'मा न भूवं भूयासम्' इत्युत्कण्ठारूपो

---

(१) दुःखज्ञानवतः दुःखस्मृतिपूर्वकः दुःखतत्साधनविषयको यो निन्दात्मको मन्युः स द्वेषः इति पूर्ववदेवार्थः ।

(२) तन्वनुबन्धोऽभिनिवेश इति पाठान्तरम् ।

(३) तथारूढो ऽभिनिवेश इति भाष्यादिसम्मतः [illegible] । तथारूढोऽन्वनुबन्धो ऽभिनिवेश इति पाठान्तरम् ।

(४) शरीरविषयादेरिति पाठान्तरम् ।

क्लेशवासनानुत्पत्त्या प्राचीनवासनानां च क्षयात्ता एवानागतावस्थाः [illegible] दग्धबीजतुल्या भवन्तीत्यर्थः। क्लेशानां बीजशक्तिदाहश्च वासनाख्यसहकार्युच्छेदनं [illegible] धान्यादौ बीजशक्तिदाहो रसाख्यसहकार्युच्छेदनमिति । तथा च क्रियायोगात्क्लेशानां तनूकरणं विवेकाभ्यासप्रतिबन्धाक्षमत्वं भवति । [illegible] निर्विघ्नविवेकख्यातिप्रवाहनिष्पत्त्या निःशेषतोऽविद्यावासनोच्छेदो भवति । [illegible] दग्धबीजकल्पा अनागतावस्थाः क्लेशाश्चित्तेन सह लीयन्ते इति सिद्धम् ॥ ११ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तनूकृतानां हानोपायमाह सूत्रकृत्—ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः । तेषां क्लेशानां या वृत्तयः स्थूला अभिव्यक्तावस्थास्ताः प्रथमं क्रियायोगेन तनूकृतास्ता ध्यानेनात्मसाक्षात्कारप्रवाहेण हातव्याः प्रतिबद्धोत्पत्तिकाः दग्धबीजकल्पाः कार्याः । अभिव्यक्तिरूपोत्पत्तिप्रतिबन्धाभावे न वासनोत्पत्तिः । क्लेशानां बीजशक्तिदाहश्च वासनाख्यसहकार्युच्छेदनम् यथा धान्यादौ बीजशक्तिदाहो रसाख्यसहकार्युच्छेदनम् । एवं च क्रियायोगात् क्लेशानां तनूकरणं विवेकाभ्यासप्रतिबन्धाक्षमत्वम् । ततो निर्विघ्नविवेकख्यातिप्रवाहनिष्पत्त्या निःशेषतोऽविद्यावासनोच्छेदे दग्धबीजकल्पा अनागतावस्थाः क्लेशाश्चित्तेन सह लीयन्त इति सिद्धम् ॥ ११ ॥

मणिप्रभा।

स्थूलानां हानोपायमाह—ध्यानेति।

याः क्रियायोगेन विरलाः क्लेशवृत्तयः स्थूलाः सुखदुःखमोहात्मिकाः, ताः पुरुषध्यानेनैव हातव्या इत्यर्थः। यथा लोके वस्त्रस्यातिस्थूलो मलः प्रक्षालनेनैवादौ शोध्यते, पश्चाद्विरलः क्षारसंयोगादिना, मलवासना तु वस्त्रनाशेनैव नश्यति । तथा क्रियायोगेनातिनिबिडाः क्लेशा विरला भवन्ति, विरलास्तु ध्यानेन तनूकृताः, सूक्ष्मास्तु चित्तनाशेन नश्यन्तीति भावः ॥ ११ ॥

चन्द्रिका।

ध्यानेति । तेषां वृत्तयः सुखाद्यास्ता ध्यानेन विवेकाग्र्येण हेयाः ॥ ११ ॥

योगसुधाकरः।

अथ स्थूलानां समूलं कषणोपायमाह—ध्यानेति ।

क्रियायोगेन शिथिलाः स्थूलास्ताः क्लेशवृत्तयः पुरुषध्यानेनैव हातव्याः । हीनाश्च स्वमूलचित्तोन्मूलनेनोन्मूलिता भवन्तीत्युक्तम् ॥ ११ ॥

भोजवृत्तिः।

एवं क्लेशानां तत्त्वमभिधाय कर्माशयस्य तदभिधातुम्(१)आह—

(२)क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

कर्माशय इत्यनेन तस्य स्वरूपमभिहितम् । यतो वासनारूपाण्येव कर्माणि । क्लेशमूल इत्यनेन कारणमभिहितम् । यतः कर्मणां शुभाशुभानां क्लेशा एव निमित्तम् । दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय इत्यनेन फलमुक्तम् । अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयः दृष्टजन्मवेदनीयः। जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयः। तथा

---

(१) कर्माशयस्याभिधातुमिति पाठान्तरम् ।

(२) ननु जात्यायुर्भोगहेतवः क्लिश्यन्तः क्लेशाः कर्माशय एव तथा भवितुमर्हति न त्वविद्यादयस्तथा तत्कथमुक्तमविद्यादयः क्लेशा इतीमां शङ्कां कर्माशयस्वरूपकारणफलप्रतिपादनपूर्वकं परिहरति क्लेशमूल इति । कर्माशय इत्यनेन स्वरूपमुक्तं कर्मणां वासनात्मकत्वात् । क्लेशमूल इत्यनेन कारणमुक्तं क्लेशो मूलं यस्य स तथा । दृष्ट दृष्टेत्यनेन फलमुक्तम् । तथा च अविद्यामूलः कर्माशयः जात्यादिहेतुः अतः अविद्यादयोऽपि तद्धेतवस्तस्मात्ते क्लेशा इति भावः । एवं च क्रियायोगेन क्लेशतनूकरणे कर्माशयो न जन्यते ततश्च जात्यायुर्भोगानामभावः कारणाभावादिति तात्पर्यम् ।

भिन्नानां तेषां प्रहाणोपायविभागमाह—

(१) ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

ते सूक्ष्माः क्लेशा ये वासनारूपेणैव स्थिता न वृत्तिरूपं परिणाममारभन्ते, ते प्रतिप्रसवेन प्रतिलोमपरिणामेन हेयास्त्यक्तव्याः । स्वकारणास्मितायां कृतार्थं सवासनं चित्तं यदा प्रविष्टं भवति तदा कुतस्तेषां निर्मूलानां सम्भवः ॥ १० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

क्रियायोगः क्लेशतनूकरणार्थ इत्युक्तम् । तत्र क्लेशा व्याख्याताः । इदानीं तनूकरणस्य फलमाह—त इति ।

क्लेशानामेव संसारनिदानत्वं प्रपञ्चयिष्यते । अतस्ते क्लेशा अनागतावस्था वक्ष्यमाणज्ञानाग्निना दग्धबीजवत्कार्याक्षमीकृताः प्रतिप्रसवेन चित्तस्य प्रलयेनात्यन्तिकेन हेया धर्मिनाशेनोच्छेद्या इत्यर्थः । ननु दग्धबीजकल्पस्यानर्थहेतुत्वासम्भवात्तन्नाशो न पुरुषार्थ इति चेत् । तथाप्यस्य सूत्रस्य [न]स्वरूपाख्यानमात्रत्वं सम्भवति । वस्तुतस्तु क्लेशत्वावच्छेदेनैव दुःखनिदानतया क्लेशसामान्याभावत्वेनैव पुरुषार्थतेति॥१०॥

मणिप्रभा ।

ते च पञ्च क्लेशा द्विविधाः । पुरुषख्यात्या दग्धाः संस्काररूपाः सूक्ष्माः, क्रियायोगेन मैत्र्यादिभावनारूपपरिकर्मणा च तनूकृताः स्थूला इति । तत्र सूक्ष्माणां हानोपायमाह—ते इति ।

चित्तस्य कृतकृत्यस्यास्मितायां स्वप्रकृतौ प्रलयः प्रतिप्रसवः तेन हेयाः सूक्ष्माः ते क्लेशाः । धर्मिनाशादेव तद्धर्माणां संस्काराणां नाश इत्यर्थः ॥ १० ॥

चन्द्रिका ।

त इति । ते सूक्ष्माः क्लेशाः प्रतिलोमपरिणामेन हेयास्त्यक्तव्याः ॥ १० ॥

योगसुधाकरः ।

पूर्वं कर्मयोगमभिधाय तेन विरलाः क्लेशास्तत्समनन्तरभाविपुरुषख्यात्या दग्धा भवन्तीत्यर्थादभिहितम् । तत्र सूक्ष्माणां दग्धानामधुना समूलोन्मूलनोपायमाह—त इति ।

चित्तस्य निवृत्ताधिकारस्य प्रकृतौ प्रलयः प्रतिप्रसवः । तेन हेयाः सूक्ष्माः क्लेशाः । स्वमूलभूतचित्तहानौ तत्संस्काररूपाः सूक्ष्माः समूलघातं हता भवन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

भोजवृत्तिः ।

स्थूलानां हानोपायमाह—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

तेषां क्लेशानामारब्धकार्याणां याः सुखदुःखमोहात्मिका वृत्तयस्ता ध्यानेनैव चित्तैकाग्रतालक्षणेन हेया हातव्या इत्यर्थः । चित्तपरिकर्माभ्यासमात्रेणैव स्थूलत्वात्तासां निवृत्तिर्भवति- यथा वस्त्रादौ स्थूलो मलः प्रक्षालनमात्रेणैव निवर्तते, यस्तु तत्र सूक्ष्मः स तैस्तैरुपायैरुत्तापनप्रभृतिभिरेव निवर्तयितुं शक्यते ११

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु भवत्वेवं, तनूकरणस्य [illegible] किं फलमित्याकाङ्क्षायामाह—ध्यानेति ।

तेषां क्लेशानां या वृत्तयः स्थूला अभिव्यक्तावस्थास्ताः प्रथमं क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः ध्यानेनात्मसाक्षात्काररूपप्रवाहरूपेण हातव्याः प्रतिबद्धोत्पत्तिकाः कर्तव्या इति यावत् । अभिव्यक्तिप्रतिबन्धतः

---

(१) अज्ञातानां क्लेशानां प्रहाणासम्भवात् तज्ज्ञानाय तेषामुद्देशं क्षेत्रं विभागं लक्षणं चाभिधाय स्थूलसूक्ष्मभेदभिन्नानां तेषां हानोपायमाह ते इति द्वाभ्याम् । सूक्ष्मा इति । वासनारूपेण स्थिताः न वृत्तिरूपं परिणाममारभन्त इत्यर्थः । तथा च स्वकारणे चित्तं यदा प्रविशति तदा कुतस्तेषां निर्म्मूलानां सम्भव इति प्रथमस्य द्वितीयस्य तु तेषां आरब्धकार्य्याणां क्लेशानां याः सुखदुःखमोहात्मिकाः वृत्तयस्ते ध्यानेन हेयाः । चित्तपरिकर्म्माभ्यासमात्रेण स्थूलत्वात्तासां निवृत्तिरिति तात्पर्यार्थः ।

शरणीकरोति । गुणवृत्त्यविरोधाच्चेति । गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि बुद्धिरूपेण परिणताः परस्परानुग्राहकस्वभावतयाऽविरुद्धास्त्रिगुणामेव सर्वां वृत्तिं जनयन्ति । उपादानकारणस्य त्रितयात्मकत्वात् कारणाभेदाच्च कार्यस्य । तेन सुखवृत्तिकालेऽपि सूक्ष्मं दुःखमनुसंधेयम्, क्षिप्रपरिणामितया चित्तस्यात्यन्तास्थिरत्वाच्च तद्वृत्तेरपि दुःखमयत्वं च । स्थूलसुखा सूक्ष्मदुःखा सुखवृत्तिरित्युच्यते । स्थूलदुःखा सूक्ष्मसुखा च दुःखवृत्तिः । न सङ्करः । स्थूलानां स्थूलैः सह विरोधेऽपि सूक्ष्मैः सहाविरोध एव । उपादानकारणेनाप्यत्यन्ताभेदाभावाद्बुद्धेः सुखमित्यादिव्यपदेशस्यापि न हानिः । सामान्यरूपेणाभेदः स्थूलात्मना च भेद इत्यवगन्तव्यम् । अस्य च महतो दुःखस्य मूलमविद्या । विवेकसाक्षात्काराच्च तन्निवृत्तौ तन्मूलक्लेशान्तराणां निवृत्तिः । ततः कारणाभावाद्धर्माद्यनुत्पत्तिः । अनारब्धफलैश्च संचितकर्मभिः क्लेशक्षयसहकार्युच्छेदात्फलानुत्पादः । आरब्धफलकर्मणां च भोगादेव नाशे सति देहपाते कारणाभावादपुनर्जन्म । तदेव च दुःखनिवृत्तिरूपो मोक्ष इति दिक् । तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहं—हेयं, हेयहेतुः, हानं, हानोपाय–इति । दुःखं हेयम् । दुःखहेतुरविद्या । दुःखात्यन्तनिवृत्तिः हानम् । विवेकसाक्षात्कारो हानोपायः । उपकरणसङ्ग्रहाय सर्वत्र व्यूहपदं राज्यर्थकम् ॥ १५ ॥

मणिप्रभा ।

ननु ते दुःखफला हेया भवन्तु सुखफलास्तु कथं हेया इत्यत आह—परिणामेति ।

परिणामोऽन्यथाभावः । तापो वर्तमानः । संस्कारो भूतः । एतान्येव दुःखानि तैरिति विग्रहः । तथा हि विषयसुखभोगात्कामानलो वर्धते । वृद्धौ सत्यां काम्यालाभे दुःखमवश्यंभावि । लाभेऽपि कुतश्चिद्योगसङ्कोचे दुःखम् । सङ्कोचके द्वेषः । ततः कामद्वेषाभ्यां पापोपचयाद् दुःखम् । असङ्कोचे व्याधिः पापश्च ततो दुःखमेवं भोगस्य परिणामदुःखता । तथा सुखभोगकाले विषयनाशभीत्या दुःखं वर्तते । नाशके द्वेषाच्च तापोऽस्तीति तापदुःखता भोगस्य । तथा सुखभोगनाशे संस्कारो भवति तेन स्मृत्या रागे सति पुण्यापुण्योपचयात्सुखदुःखभोगः पुनः संस्कार इत्यनन्ता दुःखसन्ततिः । यदि भोगनाशे संस्कारो न स्यात् तदा न दुःखसन्ततिः । भवत्येव तु संस्कार इति संस्कारदुःखता । इमानि दुःखानि विवेकिनोऽक्षिपात्रकल्पस्य योगिन उद्वेजकानि । न तु कठिनचित्तानां कर्मिणाम् । यथाऽक्षिपात्रे पतन्नूर्णातन्तुरपि उद्वेजयति नान्यमवयवम् । तस्माद्विवेकिनः सर्वमेव भोगसाधनं विषमिश्रान्नवद्दुःखमेव परिणामतापसंस्कारदुःखैर्योगाद् गुणवृत्तिविरोधाच्च । गुणाश्चित्तात्मना परिणतानि सत्त्वरजस्तमांसि तेषां वृत्तयः सुखदुःखमोहास्तासां विरोधः परस्परमभिभाव्याभिभावकत्वं तस्मादित्यर्थः । चलं हि गुणवृत्तं तत्र चित्ते या गुणवृत्तिराविर्भवति धर्मोद्भवात्सा पुनरधर्मोद्भवाद्धर्माभिभवे सति तिरोभवति । दुःखत्वं स्वाभाविकं स्वतः स्फुटयति स्वभावतो दुःखरूपैव सुखवृत्तिः दुःखात्मकरजोमिश्रसत्त्वपरिणामत्वात्किन्तु स्वकाले सत्त्वप्राधान्यात्तस्याः दुःखत्वमस्फुटं कालान्तरे सत्त्वतिरोभावे सति स्फुटेयमिति सुखदुःखयोर्भेदव्यपदेशः । एतेन सुखस्य मोहत्वं व्याख्यातम् । अतो गुणपरिणामात्मकं सर्वमेव जगद् दुःखमोहात्मकं हेयमिति सिद्धम् ॥ १५ ॥

चन्द्रिका ।

परिणामेति । योगिनस्तु ज्ञातक्लेशादिविवेकस्य सकलमेव भोगसाधनं परिणामतापसंस्कारदुःखैः सविषान्नवदाद्यन्ते मध्ये भोगकालेऽपि प्रतिकूलवेदनीयमेव ॥ १५ ॥

योगसुधाकरः ।

विवेकिना तु ते सर्वे दुःखफला एवेत्याह—परिणामेति ।

परिणामदुःखं तापदुःखं संस्कारदुःखम्, तैरित्यर्थः । तत्र सुखे सत्यागामिनस्तादृशस्य सुखस्य कारणं पुण्यमननुष्ठाय वृथैव तदपेक्षा तामसी वृत्तिर्जायमाना चित्तं दुःखाकरोतीति परिणामदुःखम् । सुखभोगकाले रोगादिनिमित्तेन रजोगुणविकाररूपा संतापात्मिका प्रातिकूल्या वृत्तिर्जायते; सा च 'अहं

जायमाना तथाविधमेव स्वचेत्ते संस्कारमारभते, संस्काराच्च पुनस्तथाविधसंविदनुभव इत्यपरिमितसंस्कारोत्पत्तिद्वारेण संसारानुच्छेदात्सर्वस्यैव दुःखत्वम् । गुणवृत्तिविरोधाच्चेति । गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहरूपाः परस्परमभिभाव्याभिभावकत्वेन विरुद्धा जायन्ते तासां सर्वत्रैव दुःखानुबन्धाद्दुःखत्वम् । एतदुक्तं भवति—ऐकान्तिकीमात्यन्तिकीं च दुःखनिवृत्तिमिच्छतो विवेकिन उक्तरूपकारणचतुष्टयं यावत्सर्वे(१) विषया दुःखरूपतया प्रतिभान्ति तावत्(२) सर्वकर्मविपाको दुःखरूप एवेत्युक्तं भवति ॥ १५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

नन्वेवं यथा दुःखनिदानत्वेन क्लेशा हेयास्तथा सुखनिदानत्वेनोपादेया अपि स्युस्तत्राह—परिणामेति ।

परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तज्जन्यानि दुःखानि । तैः सम्बन्धात्तत्कारणत्वादिति यावत् । तथा गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहास्तासामेककालानवस्थानरूपविरोधाभावाच्च सर्वं प्रकृतितत्कार्यसुखादिकं विवेकिनः सुखदुःखतत्त्वसाक्षात्कारिणो दुःखमेव मतम्, दुःखकारणत्वदुःखसंभिन्नत्वाभ्यामित्यर्थः । तथाच सुखरागापेक्षया दुःखद्वेषस्य बलवत्त्वात्सुखापेक्षया दुःखप्राचुर्याच्च सुखमपि दुःखयोगाद्धेयमिति भावः । तत्र परिणामदुःखं यथा सुखभोगकाले सुखं रागो हिंसादिकं च तन्नान्तरीयकं भवति । ताभ्यां चादृष्टादिद्वारोत्तरकाले दुःखमिति । तापदुःखं च दुःखकालेऽप्यनुतापादिभिर्दुःखान्तरम् । संस्कारदुःखं तु सुखदुःखसंस्कारतत्साधनेषु प्रवृत्तिनिवृत्त्याद्युत्थं दुःखमिति गुणवृत्त्यविरोधात्सुखकालेऽपि सूक्ष्मं दुःखमनुमेयं, सर्वकार्याणां त्रिगुणात्मकत्वादिति ॥ १५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

[illegible] दुःखनिदानत्वेन हेयत्ववत्सुखनिदानत्वेनोपादेयत्वमपि स्यादत आह—परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च सर्वमेव दुःखं विवेकिनः । परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तज्जन्यानि दुःखानि तैः [illegible] तत्कारणत्वात्, तथा गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहास्तासामेककालानवस्थानरूपाविरोधाभावाच्च सर्वं प्रकृतिस्तत्कार्यसुखादिकं च विवेकिनः सुखदुःखतत्त्वसाक्षात्कारवतो दुःखमेव मतम् । दुःखकारणत्वदुःखसंभिन्नत्वाभ्यामित्यर्थः । तथाच सुखरागापेक्षया दुःखद्वेषस्य बलवत्त्वात्सुखापेक्षया दुःखस्य प्राचुर्याच्च सुखमपि दुःखयोगाद्धेयमिति भावः । तत्र परिणामदुःखं यथा सुखभोगकाले सुखे रागस्तत्प्रतिघातके द्वेषः । विना प्राणिवधमुपभोगाभावेन हिंसादिकं च तन्नान्तरीयकं भवति । ताभ्यां चादृष्टादिद्वारोत्तरकाले दुःखमिति । अतएव विषयसुखमविद्या विपर्यासलक्षणेति वृद्धाः । [illegible] विषयतृष्णैव दुःखं भोगेन तृप्तौ तन्निवृत्तिरेव सुखमिति तस्या रागानुविद्धत्वाभावेन न परिणामदुःखतेति वाच्यम् । तृष्णाक्षयस्य सुखत्वेऽपि भोगाभ्यासस्य तदनुपायत्वात् । तेन तृष्णावृद्धेरेव दर्शनात् । तस्याश्च दुःखरूपत्वात् । किंच तृष्णाक्षयसुखस्यापि बुद्धिधर्मत्वेन त्रिगुणत्वाद्दुःखरूपतया हेयमेवेति जैगीषव्यावट्यसंवादेन भाष्ये दर्शितं तृतीयपादे । तापदुःखं च सुखकालेऽन्यदीयाधिकसुखं दृष्ट्वा तापजं दुःखम् । तस्य द्वेषानुविद्धत्वाद्द्वेषजः कर्माशयः । तथा सुखसाधनप्रार्थनया कंचिदनुगृह्णाति कंचित्पीडयति । तत्र परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मोपचयो भवतीत्येषा तापदुःखता । संस्कारदुःखं [illegible] सुखानुभवात्संस्कारातिशयेन तत्स्मरणं ततस्तदुपपादके रागस्तदुपघातके द्वेषः, ताभ्यां कर्माणि तेभ्यो विपाकास्ततस्तदनुभवस्ततो वासनेति । तदिदमनादिदुःखस्रोतो योगिनमेव क्लिश्नाति, तन्निर्मूलत्वात् । यथोर्णातन्तुरक्षिणि न्यस्तो दुःखयति नान्यगात्रेषु । इतरं पृथग्जनं स्वकर्मोपहृतमुपात्तं दुःखं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्तिरूपयाऽविद्यया हातव्येऽहंकारममकारौ कुर्वाणं सर्वे तापा उपतिष्ठन्ते । योगी त्वनादिदुःखोपहतः सर्वदुःखनाशकसम्यग्दर्शनमेव

---

(१) चतुष्टयात्सर्वे [illegible] पाठान्तरम् ।

(२) तस्मादिति पाठान्तरम् ।

अन्ये गुणा अन्यः पुरुष इत्येवंविधस्य विवेकस्य या ख्यातिः प्रख्या साऽस्य हानस्य दृश्यदुःख-(१) परित्यागस्योपायः कारणम् ॥ कीदृशी ? अविप्लवा न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तराव्युत्थानरूपो यस्याः साऽविप्लवा। इदमत्र तात्पर्यम्—प्रतिपक्षभावनाबलादविद्याप्रविलये विनिवृत्तज्ञातृत्वकर्तृत्वाभिमानायाः(२) रजस्तमोमलानभिभूताया बुद्धेरन्तर्मुखा या(३) चिच्छायासंक्रान्तिः सा विवेकख्यातिरुच्यते। तस्यां च संततत्वेन प्रवृत्तायां सत्यां दृश्यस्याधिकारनिवृत्तेर्भवत्येव कैवल्यम् ॥ २६ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

इतः परं हानोपायव्यूहं चतुर्थस्यापि कियत्पर्यन्तं प्रपञ्च्यते—विवेकेति।

मिथ्याज्ञानवासनयाऽन्तराभिभवो विप्लवस्तद्रहितो विवेकतः पुरुषसाक्षात्कारो मोक्षोपायः सवासनाविद्योन्मूलनद्वारेत्यर्थः। नन्वेवं ज्ञानादेव मोक्ष इति वचनादसंप्रज्ञातयोगवैफल्यमिति चेन्न। ज्ञानद्वारतया ज्ञानमध्य एवासंप्रज्ञातान्तर्भाव इत्याशयादिति ॥ २६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ हानोपायमाह—विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। मिथ्याज्ञानवासनयान्तराभिभवो विप्लवस्तद्रहिता विवेकख्यातिः प्रकृतिविवेकतः पुरुषसाक्षात्कारो मोक्षोपायः सवासनाविद्योन्मूलनद्वारेत्यर्थः। नन्वेवं ज्ञानादेव मोक्षश्रुतेरसंप्रज्ञातो निष्फल इति चेन्न, ज्ञानद्वारतया ज्ञानमध्ये तदन्तर्भाव इत्याशयात्॥२६॥

मणिप्रभा।

मोक्षमुक्त्वा तद्धेतुमाह—विवेकेति।

दृग्दृश्ययोर्भेदो विवेकस्तस्य ज्ञानं ख्यातिः। विप्लवो मिथ्याज्ञानम्। आदौ खल्वागमात्सामान्यतो विवेकख्यातिरुदेति साऽनाद्यविद्यां न हन्ति परोक्षत्वात्। यदा सा मननेन स्थापिता सती सर्वतो विरक्तेन पुरुषाभिमुखेन चित्तेन निरन्तरमभ्यस्यते तदा ध्यानप्रकर्षपर्यन्तजा चित्प्रतिबिम्बवती साक्षात्काररूपा सवासनमिथ्याज्ञानं निहन्त्यविप्लवा सती परवैराग्यपूर्वकनिरोधेन संस्कारशेषस्य कृतकृत्यस्य प्रारब्धावसाने आत्यन्तिकनिवृत्तिद्वारा मायिदुःखहानस्य मोक्षस्योपाय इत्यर्थः ॥ २६ ॥

चन्द्रिका।

विवेकेति। पुरुषगुणभेदाविवेकस्य या ख्यातिः प्रख्या अविप्लवा विगतोऽन्तरा व्युत्थानरूपो विप्लवो यस्याः सा [illegible] दृश्यपरित्यागस्योपायः ॥ २६ ॥

योगसुधाकरः।

विवेकेति। अविप्लवा अविद्याविरोधिनी सत्त्वपुरुषयोरन्यताख्यातिर्हानस्य कैवल्यस्य हेतुरित्यर्थः।

अयं सूत्रद्वयस्याभिसंध्यर्थः—आदरनैरन्तर्यदीर्घकालानुबन्धियमनियमाद्यष्टाङ्गानुष्ठानेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातावविप्लवायां जातायामविद्यादयः पञ्च क्लेशास्तत्कृतसंयोगश्च समूलकाषं कषिता भवन्ति। कुशलाकुशलकर्माशयास्तद्विपाकाश्च समूलघातं हता भवन्ति ततश्च परवैराग्येणान्यताख्यातिनिवृत्तौ निरोधसमाध्यभ्यासेन चित्ते निवर्तिते सति पुरुषस्य निर्लेपस्य स्वरूपप्रतिष्ठारूपं कैवल्यं भवतीति ॥२६॥

भोजवृत्तिः।

उत्पन्नविवेकख्यातेः पुरुषस्य यादृशी प्रज्ञा भवति तां कथयन्विवेकख्यातेरेव स्वरूपमाह—

तस्य(४)सप्तधा प्रान्तभूमिप्रज्ञा(५) ॥ २७ ॥

---

(१) दृश्यपरित्यागस्येति पाठान्तरम्। (२) कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानाया इति पाठान्तरम्।

(३) या वा इति पाठान्तरम्।

(४) परिज्ञातं ज्ञेयं नास्ति किञ्चित् परिज्ञेयं १ क्षीणा हेयहेतवः न क्षेतव्यं किञ्चिदस्ति २ साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानं ३ प्राप्तो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः ४ । इति चतुष्टयी कार्यविमुक्तिः। चरितार्था बुद्धिः १ गुणा गिरिशिखरतटच्युता इव ग्रावाणः निरवस्थानाः स्वाकारेण प्रलयाभिमुखाः अस्तं गच्छन्ति न पुनरेषामस्त्युत्पादः २ स्वात्मीभूतः समाधिः तस्मिन् सति स्वरूपमात्रज्योतिरमलः पुरुषोऽस्ति ३ मिति त्रयी चित्तविमुक्तिः। (५) प्रान्तभूमौ प्रज्ञेति पाठान्तरम्।

भोजवृत्तिः ।

तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य ज्ञातव्यविवेकरूपा प्रज्ञा प्रान्तभूमौ सकलसालम्बनसमाधिभूमिपर्यन्ते सप्तप्रकारा भवति, तत्र कार्यविमुक्तिरूपा चतुष्प्रकारा—ज्ञातं मया ज्ञेयं न ज्ञातव्यं किञ्चिदस्ति, क्षीणा मे क्लेशा न किञ्चित्क्षेतव्यमस्ति, अधिगतं मया ज्ञानं, प्राप्ता मया विवेकख्यातिरिति प्रत्ययान्तरपरिहारेण तस्यामवस्थायामीदृश्येव प्रज्ञा जायते । ईदृशी प्रज्ञा कार्यविषयं निर्मलं ज्ञानं कार्यविमुक्तिरित्युच्यते । चित्तविमुक्तिस्त्रिधा—चरितार्था मे बुद्धिर्गुणा हृताधिकारा गिरिशिखरनिपतिता इव ग्रावाणो न पुनः स्थितिं यास्यन्ति, स्वकारणे प्रविलयाभिमुखानां गुणानां मोहाभिधानमूलकारणाभावान्निष्प्रयोजनत्वाच्चामीषां कुतः प्ररोहो भवेत्, सात्मीभूतश्च मे समाधिस्तस्मिन्सति स्वरूपप्रतिष्ठोऽहमिति । ईदृशी त्रिप्रकारा चित्तविमुक्तिः । तदेवमीदृश्यां सप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञायामुपजातायां पुरुषः कुशलः(१) इत्युच्यते २७

भावागणेशवृत्तिः ।

विवेकख्यातेरविप्लवाख्यानिष्ठाया लक्षणमाह—तस्येति

तस्य विवेकख्यातिरूपस्य हानोपायस्य प्रान्तभूमिकारूपिणी प्रज्ञा योगजसाक्षात्काररूपिणी सप्तप्रकारा भवति । तद्यथा हेयं दुःखं मया परिज्ञातमतः न मेऽन्यं किमपि ज्ञातव्यमवशिष्यते इत्येका प्रज्ञा जायते । तथा विवेकख्यातिरूपो हानोपायो मया निष्पादितो नास्य निष्पाद्यमवशिष्यते, तत्फलानुभवादिति द्वितीया । तथा हेयहेतवोऽविद्याकामकर्मादयो ममाशेषतः क्षीणाः, न तेषां क्षेतव्यमवशिष्यत इति तृतीया । तथा दुःखहानरूपं मोक्षाख्यफलं तदुपायासंप्रज्ञातयोगेन साक्षात्कृतं न पुरुषार्थस्यापि ज्ञातव्यमवशिष्यत इति चतुर्थी प्रज्ञा । तदेतत्स्वस्य कृत्यसमाप्त्यनुभवरूपं प्रज्ञाचतुष्टयमुक्तम् । भावि विदेहकैवल्यकालीनावस्थानुभवरूपं चान्यत्प्रज्ञात्रयं यथा—समाप्तभोगापवर्गा मे बुद्धिर्भविष्यतीत्येवमाकारा प्रथमा । तथा बुद्धिरूपेण परिणताः सत्त्वादयो गुणाः स्वकारणे लयमेष्यन्तीत्येवमाकारा द्वितीया । तथा प्रलीनानां तेषां न पुनर्बुद्धिरूपेण परिणामो भविष्यतीत्येवमाकारा तृतीयेत्येवं सप्तप्रकारोऽनुभवो यस्य विदुषो जायते तस्य ज्ञाननिष्ठा सद्योमुक्तिदा ज्ञातव्येत्यर्थः ॥ २७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

विवेकख्यातेरविप्लवाख्यनिष्ठायाः फलमाह—तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा । तस्य विवेकख्यातिरूपहानोपायस्य प्रान्तभूमिकारूपिणी प्रज्ञा योगजसाक्षात्काररूपिणी सप्तप्रकारा भवति । तद्यथा हेयं दुःखं मया परिज्ञातं न मे ज्ञातव्यमवशिष्यत इत्येका प्रज्ञा । विवेकख्यातिरूपो हानोपायो निष्पादितो न निष्पाद्यमवशिष्यते तत्फलानुभवादिति द्वितीया । हेयहेतवोऽविद्याकामकर्मादयोऽशेषतः क्षीणा न किंचित्क्षेतव्यमवशिष्यत इति तृतीया । तथा दुःखहानरूपमोक्षाख्यफलं तदुपायासंप्रज्ञातयोगेन साक्षात्कृतं न पुरुषार्थस्यापि ज्ञातव्यमवशिष्यत इति चतुर्थी । तदेतत्स्वस्य कृत्यसमाप्त्यनुभवरूपं प्रज्ञाचतुष्टयं प्रयत्नसाध्यतया कार्या विमुक्तिरित्युच्यते । विदेहकैवल्यकालिकावस्थानुभवरूपं चान्यत्प्रज्ञात्रयं यथा—समाप्तभोगापवर्गा मे बुद्धिर्भविष्यतीति प्रथमा, बुद्धिरूपेण परिणताः सत्त्वादयः स्वकारणे लयमेष्यन्तीति द्वितीया, लयं गच्छन्तीति वा द्वितीयाः, प्रलीनानां च तेषां बुद्धिरूपः परिणामो न भविष्यतीति तृतीया । एवं सप्तप्रकारानुभववतो ज्ञाननिष्ठा सद्योमुक्तिदेत्यवगन्तव्यम् । एवमुत्तमस्य केवलं ज्ञानमेव साधनं यथा सनकादीनां, मध्यमस्य ज्ञानकर्मणी समुच्चिते यथा हिरण्यगर्भादीनामिति विष्णुपुराणादौ स्पष्टम् ॥ २७ ॥

मणिप्रभा ।

स्थिरविवेकख्यातेर्जीवन्मुक्तस्य ज्ञानवैभवमाह—तस्येति ।

प्रकृष्टोऽन्तोऽवसानं फलत्वेन यासां ताः प्रान्ताश्चरमा इति यावत् । प्रान्ता भूमयोऽवस्था यस्याः

(१) केवल इति पाठान्तरम् ।

इत्युपदिशन् आदौ यमाद्यनुष्ठानमिति दर्शयन् विवेकख्यात्युपायं दर्शयन्नाह—**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः** । योगाङ्गान्यष्टौ वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानात्पापक्षये सति ज्ञानस्य पृथिव्यादितत्त्वविषयकस्य दीप्तिः वृद्धिः प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारपर्यन्ता भवतीत्यर्थः ॥२८॥

मणिप्रभा ।

सम्प्रति प्रज्ञासाधनान्याह—**योगाङ्गेति** ।

योगाङ्गानां योगस्य चानुष्ठानादशुद्धेः क्लेशकर्मरूपायाः क्रमेण क्षये जायमाने ज्ञानस्य दीप्तिर्विशुद्धिः आ निर्विकल्पविवेकख्यातेर्भवतीत्यर्थः । साङ्गयोगानुष्ठानमशुद्धिद्वारा प्रज्ञासाधनमिति भावः ॥ २८ ॥

चन्द्रिका ।

योगाङ्गेति । वक्ष्यमाणयोगाङ्गानुष्ठानादाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्त्वावरणरूपाशुद्धिक्षये या ज्ञानदीप्तिः सात्त्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्यन्तः स तस्याः ख्यातेर्हेतुः ॥ २८ ॥

योगसुधाकरः ।

पूर्वस्मिन्पादे समाहितचित्तस्यान्तरङ्गसाधने अभ्यासवैराग्ये अभिधाय आदावस्मिन्पादे व्युत्थितचित्तस्य क्रियायोगोऽभिहितः । अधुना तस्याऽपि व्युत्थितचित्तस्य सम्प्रज्ञातसाधनान्यष्टाङ्गान्यभिधातुमाह—**योगाङ्गेति** ।

वक्ष्यमाणयोगाङ्गानामनुष्ठानादशुद्धेः क्लेशरूपायाः क्रमेण क्षये जायमाने, ज्ञानस्य दीप्तिर्वृद्धिराविवेकख्यातेर्भवतीत्यर्थः । योगाङ्गानुष्ठानं शुद्धिद्वारा प्रज्ञासाधनमिति भावः ॥ २८ ॥

भोजवृत्तिः ।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षय इत्युक्तं, कानि योगाङ्गानीति तेषामुद्देशमाह—

(१)यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

इह कानिचित्समाधेः साक्षादुपकारकत्वेनान्तरङ्गाणि, यथा धारणादीनि । कानिचित्प्रतिपक्षभूतहिंसादिवितर्कोन्मूलनद्वारेण समाधिमुपकुर्वन्ति—यथा यमनियमादीनि । तत्राऽऽसनादीनामुत्तरोत्तरमुपकारकत्वम् । तद्यथा—सत्यासनजये प्राणायामस्थैर्यम् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ २९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कानि तानि योगाङ्गानीत्यपेक्षायामाह —**यमेति** । सुगमम् ॥ २९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्र योगाङ्गान्याह—**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टौ योगाङ्गानि** । एतानि ज्ञानस्येव योगस्यापि साधनतया योगाङ्गानि ॥ २९ ॥

मणिप्रभा ।

कानि योगाङ्गानीत्यत आह—**यमेति** ॥ २९ ॥

चन्द्रिका ।

कानि तानि योगाङ्गानीत्यपेक्षायां तान्याह—**यमनियमेति** सूत्रेण । तेषां व्याख्या अग्रिमसूत्राणि ॥२९॥

योगसुधाकरः ।

कानि पुनस्तानि योगाङ्गानीत्यपेक्षायामाह—**यमेति** ॥ २९ ॥

भोजवृत्तिः ।

क्रमेणैषां स्वरूपमाह—

(तत्र) अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

---

(१) सम्प्रति योगाङ्गानि अवधारयति यमेत्यादिभिः । अत्र धारणादीनि समाधेः साक्षादुपकारकानि यमादीनि [illegible] प्रतिपक्षहिंसाद्युन्मूलनद्वारा परम्परयेति विशेषः ।

सप्तधा प्रान्तभूमिः स्थिराविप्लवात्मख्यातोर्वहेतुः प्रत्ययान्तरतिरस्कारेण सप्तप्रकाराः प्रज्ञाऽवस्थाश्चरमा भवन्ति । ज्ञातव्यमखिलं ज्ञातमतः परं न किञ्चिज्ज्ञातव्यमस्तीत्येका । सर्वजिज्ञासानिवर्त्तकत्वादियं प्रान्ता, न हीयमनात्मज्ञस्य सम्भवति तत्रस्तदालम्बनसमाधिना प्रधानान्तप्रज्ञायां स्थिरायामपि आत्मजिज्ञासायाः सत्त्वेन तत्प्रज्ञाया अचरमत्वात् । एवमग्रिमावस्थानां प्रान्तत्वं मन्तव्यम् । हातव्याः सर्वे बन्धहेतवो हताः न किञ्चिन्मम हेयमस्तीति द्वितीया । कैवल्यप्राप्त्या प्राप्तव्यमखिलं प्राप्तमतोऽन्यन्न किञ्चिदपि मम प्राप्तव्यमस्तीति तृतीया । विवेकख्यातिसम्पादनेन कर्त्तव्यमखिलं कृतं न किंचित्कार्यमस्तीति चतुर्थी । एताश्चतस्रः कार्यविमुक्तिसंज्ञाः । चित्तविमुक्तिसंज्ञाः तिस्रः । यथा कृतार्थं मे बुद्धिसत्त्वमित्येका । बुद्ध्यादिरूपा गुणा अपि गिरिशिखरच्युता इव पाषाणा निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः संस्कारैरस्तमात्यन्तिकं गच्छन्ति तेषां नास्ति पुनः प्ररोहः प्रयोजनाभावादिति द्वितीया । तथा गुणातीतः स्वरूपमात्रावस्थितश्चिदेकरस इति तृतीया । प्रज्ञाऽवस्थेत्यर्थः । जिज्ञासाजिहासाप्रेप्साचिकीर्षाशोकभयविकल्पान्तफलाः सप्त प्रज्ञाभूमयः प्रान्ता मन्तव्या इत्यर्थः ॥ २७ ॥

चन्द्रिका ।

विवेकख्यातेः स्वरूपमाह—तस्येति ।

तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य ज्ञातव्यविवेकरूपा या प्रज्ञा सा प्रान्तभूमौ सालम्बनसमाधिभूमिपर्यन्ते सप्तप्रकारा भवति ते प्रकारा ज्ञातं मया ज्ञेयमित्यादयः ॥ २७ ॥

योगसुधाकरः

अथ जीवन्मुक्तस्य पुरुषस्य ज्ञानवैभवमाह—तस्येति ।

तस्य संजातविवेकख्यातेः पुरुषस्य सप्तधा सप्तप्रकारा प्रान्तभूमिः प्रकर्षेणान्तो निवृत्तिः फलत्वेन यासां ता भूमयोऽवस्था यस्याः सा प्रज्ञा प्रान्तभूमिः सप्तप्रकारा । अयमर्थः—संजातविवेकख्यातेः पुरुषस्य सप्त प्रज्ञाभूमयः । तत्र चतस्रः कार्यविमुक्तिसंज्ञाः, तिस्रश्चित्तविमुक्तिसंज्ञाः । तद्यथा—ज्ञातव्यमखिलं ज्ञातं मम न किञ्चिज्ज्ञातव्यमस्तीति जिज्ञासानिवृत्तिरेका । हातव्यं सर्वं बन्धजातं हीनं मम न किञ्चिद्धेयमस्तीति जिहासानिवृत्तिर्द्वितीया । कैवल्यप्राप्त्या प्राप्तव्यमखिलं प्राप्तं ततो न किञ्चित्प्राप्तव्यमस्तीति प्रेप्सानिवृत्तिस्तृतीया । विवेकख्यातिलाभेन कर्तव्यमखिलं कृतं न किंचिन्मम कार्यमस्तीति चिकीर्षानिवृत्तिश्चतुर्थी । कृतार्थं मे बुद्धिसत्त्वमिति शोकनिवृत्तिरेका । मम बुद्ध्यादयो गुणाः प्रलीनाः प्रयोजनाभावात्पुनर्न प्ररोहन्तीति भयनिवृत्तिर्द्वितीया । तदाहं गुणातीतस्स्वरूपमात्रेणावस्थितश्चिदेकरस इति सकलविकल्पनिवृत्तिस्तृतीया । इति सप्तधा प्रान्तभूमिर्द्रष्टव्येति ॥ २७ ॥

भोजवृत्तिः ।

विवेकख्यातिः संयोगाभावहेतुरित्युक्तं, तस्यास्तूत्पत्तौ किं निमित्तमित्यत आह—

(१)योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगाङ्गानि वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानाज्ज्ञानपूर्वकादभ्यासादा विवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्त्वस्य प्रकाशावरणलक्षणक्लेशरूपाशुद्धिक्षये या ज्ञानदीप्तिस्तारतम्येन सात्त्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्यन्तः स तस्याः ख्यातेर्हेतुरित्यर्थः ॥ २८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अतः परं विवेकख्यात्युपायप्रतिपादकं सूत्रजातं प्रवर्तते—योगेति ।

योगाङ्गान्यष्टौ वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानात्पापक्षये सति ज्ञानस्य पृथिव्यादितत्त्वविषयकस्य दीप्तिर्वृद्धिर्भवति, प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारं यावदित्यर्थः ॥ २८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथारुरुक्षोर्मन्दाधिकारिणो धारणादिरूपोऽभ्यासो यमनियमादिरूपक्रियायोगश्च यथाक्रममनुष्ठेय-

---

(१) विवेकख्यातिः संयोगाभावे हेतुरित्युक्तं, विवेकख्यात्युत्पत्तौ निमित्तमाह योगाङ्गेति ।

भोजवृत्तिः।

एषां विशेषमाह—

एते(१)जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सर्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जातिर्ब्राह्मणत्वादिः। देशस्तीर्थादिः। कालश्चतुर्दश्यादिः। समयो ब्राह्मणप्रयोजनादिः। एतैश्चतुर्भिरनवच्छिन्नाः पूर्वोक्ता अहिंसादयो यमाः सर्वासु क्षिप्तादिषु चित्तभूमिषु भवा महाव्रतमित्युच्यन्ते(२)। तद्यथा—ब्राह्मणं न हनिष्यामि तीर्थे न कंचन हनिष्यामि चतुर्दश्यां न हनिष्यामि देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण कमपि न हनिष्यामीति। एवं चतुर्विधावच्छेदव्यतिरेकेण किंचित्क्वचित्कदाचित्कस्मिंश्चिदर्थे न हनिष्यामीत्यनवच्छिन्नाः। एवं सत्यादिषु यथायोगं योज्यम्। इत्थमनियतीकृताः सामान्येनैव प्रवृत्ता महाव्रतमित्युच्यते न पुनः परिच्छिन्नावधारणम् ॥ ३१ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

यमेष्ववान्तरविशेषनिमित्तमुत्कर्षमाह—जातीति।

जातिः मनुष्यब्राह्मणादिः। देशस्तीर्थादिः। कालश्चतुर्दश्यादिः। समयो युद्धादिः। एतैरनवच्छिन्नाः मनुष्यान्न हनिष्ये, तीर्थे न हनिष्ये, चतुर्दश्यां न हनिष्ये, युद्धातिरिक्ते न हनिष्ये इत्यादिविशेषैरनियमिता अत एव सार्वभौमाः सर्वजात्यादिसाधारणास्तेऽहिंसादयो यमा महाव्रता इत्युच्यन्ते। अन्वर्था चेयं संज्ञा ॥ ३१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

यमानामुत्कर्षमाह—जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। जातिर्मनुष्यत्वादिः, देशस्तीर्थादिः, कालश्चतुर्दश्यादिः, समयो युद्धादिः. एतैरनवच्छिन्नाः मनुष्यान् न हनिष्ये तीर्थे न हनिष्ये चतुर्दश्यां न हनिष्ये युद्धातिरिक्ते न हनिष्ये इत्येवंविशेषैरनियमिता अत एव सार्वभौमाः सर्वविषयेषु विदिताः सर्वजातिदेशकालादिसाधारणास्तेऽहिंसादयो महाव्रतमित्युच्यन्ते। अन्वर्था चेयं संज्ञा ॥ ३१ ॥

मणिप्रभा।

एतेषां योगिभिरुपादेयविशेषमाह—जातीति।

जातिर्गोत्वब्राह्मणत्वादिः। देशस्तीर्थादिः। कालो नियतश्चतुर्दश्यादिः। अनियतो ब्राह्मणभोजनावसरः समयः। तत्र सदा गोब्राह्मणं न हनिष्यामीत्यहिंसा जात्या परिच्छिन्ना। कमपि तीर्थे वा चतुर्दश्यां वा न हनिष्यामीति देशकालाभ्यामवच्छिन्ना। देवब्राह्मणाद्यर्थभोजनादिसमयातिरेकेण न हनिष्यामीति समयावच्छिन्ना। प्राणिमात्रं क्वचिदपि कस्यापि कृतेऽहं न हनिष्यामीति जात्यादिभिश्चतुर्भिरनवच्छिन्ना भवत्यहिंसा पुष्कला। एवं सत्यादयोऽपि अनवच्छिन्ना ऊहनीयाः। एवं सर्वासु जात्यादिषु भूमिषु क्षिप्ताद्यवस्थासु विदिताः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्त इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

चन्द्रिका।

तेषां विशेषमाह—एत इति। जातिर्ब्राह्मणत्वादिः देशस्तीर्थादिः कालश्चतुर्दश्यादिः समयो ब्राह्मणप्रयोजनादिरेतैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते सर्वासु चित्तभूमिषु भवाः ॥ ३१ ॥

योगसुधाकरः।

एतेषां योगिभिरुपादेयं विशेषमाह—जातीति।

---

(१) एत इति नास्ति भाष्यवाचस्पतिटीकापुस्तकयोः। सामान्यतः अहिंसादीनुक्त्वा यादृशाः पुनर्योगिनामुपादेयास्तादृशानाह एत इत्यादिना। जातीत्यादिचतुष्टयानवच्छिन्ना ब्राह्मणं न हनिष्यामि १ तीर्थे न हनिष्यामि २ चतुर्दश्यां न हनिष्यामि ३ ब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण न हनिष्यामि ४ इत्येतैरनवच्छिन्ना इत्यर्थः।

(२) मित्युच्यते इति पाठान्तरम्।

तत्र प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा, सा च सर्वानर्थहेतुः, तदभावोऽहिंसा। हिंसायाः सर्वकालं(१) परिहार्यत्वात्प्रथमं तदभावरूपाया अहिंसाया निर्देशः। सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थत्वम्। स्तेयं परस्वापहरणं तदभावोऽस्तेयम्। ब्रह्मचर्यमुपस्थसंयमः। अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः। त एतेऽहिंसादयः पञ्च यमशब्दवाच्या योगाङ्गत्वेन निर्दिष्टाः ॥ ३० ॥

भावागणेशवृत्तिः।

एतानि च ज्ञानस्येव योगस्यापि [illegible] योगाङ्गानीति यमादीन्सूत्रैः क्रमेण लक्षयति—तत्रेति।

तत्र तेषु यमादिषु मध्येऽहिंसादयः पञ्च यमा इत्यर्थः। तत्र अहिंसा प्राणिनामद्रोहः। सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थता। अस्तेयं परस्वानादानम्। ब्रह्मचर्यमष्टविधमैथुननिवृत्तिः।

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

इत्यष्टविधमैथुनस्य लक्षणमुक्तम्। अपरिग्रहश्च हिंसाद्यसंख्यदोषदर्शनतः पदार्थानामस्वीकार इति ३०

नागोजीभट्टवृत्तिः।

[illegible] यमं लक्षयति—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। तत्राहिंसा प्राणिनामद्रोहः। शौचाचमनादावपरिहार्यहिंसायां तु न दोषः। सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थता। अस्तेयं परस्वानादानम्। ब्रह्मचर्यमष्टविधमैथुनत्यागः।

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ इत्यष्टविधम्।

अपरिग्रहश्च हिंसाद्यसंख्यदोषदर्शनात्पदार्थानामस्वीकरणम् ॥ ३० ॥

मणिप्रभा।

अभ्यासानपेक्षत्वेन सफलत्वाद् यमा आदावुच्यन्ते। पश्चाद्यमसापेक्षा नियमाः। एतदुभयाधीनशुद्ध्यपेक्षा आसनादय उत्तरोत्तरहेतवः पश्चादुच्यन्ते—अहिंसेति।

तत्राहिंसा नाम मनोवाक्कायैः सर्वदा सर्वभूतानामपीडनं परः शुक्ल एव धर्मः। अन्ये यमादयः एतस्या एव शुद्ध्यर्थाः। तथा चोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सति तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति—इति। सत्यं परहितार्थं यथार्थकथनम्। बलाद्रहसि वा परवित्तहरणं स्तेयं तदभावोऽस्तेयं परद्रव्यास्पृहेत्यर्थः। ब्रह्मचर्यम् उपस्थसंयमः। स्त्रियाः प्रेक्षणालापस्पर्शश्रवणध्यानत्यागः तदङ्गम्। अपरिग्रहो नाम देहयात्रातिरिक्तभोगसाधनास्वीकारः। एते पञ्च यमाः योगस्य विरोधिहिंसाऽनृतस्तेयस्त्रीसङ्गपरिग्रहनिरासकत्वेनाङ्गत्वं भजन्ते ॥ ३० ॥

चन्द्रिका।

तानि क्रमेण दर्शयति—अहिंसेत्यादिना। तत्र प्राणवियोगहेतुर्व्यापारो हिंसा तदभावोऽहिंसा। सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थत्वम्। अस्तेयं परस्वापहरणाभावः। ब्रह्मचर्यमुपस्थसंयमः। अपरिग्रहो भोगसाधनानामस्वीकरणमेते पञ्च यमाः ॥ ३० ॥

योगसुधाकरः।

तत्र के यमा इत्यपेक्षायामाह—अहिंसेति।

अहिंसादिभ्यो निषिद्धकर्मभ्यो योगिनं यमयन्ति निवर्तयन्तीति यमाः। तत्राहिंसा कायवाङ्मनोभिः सर्वदा सर्वभूतानामहिंसनम्। सत्यं सर्वदानृतानभिभाषणम्। अस्तेयं परस्वस्यानपहारः। ब्रह्मचर्यमष्टविधमैथुनत्यागः। अपरिग्रहः शरीरस्थितिमात्रव्यतिरिक्तभोगसाधनास्वीकारः। एते पञ्च यमा इत्यर्थः ३०॥

---

(१) सर्वप्रकारेणैवेति पाठान्तरम्।

योगसुधाकरः ।

अथ नियमानाह— शौचेति ।

जन्महेतुकाम्यधर्मान्निवर्त्य मोक्षहेतौ निष्कामे धर्मे नियमयन्ति प्रेरयन्तीति नियमाः । शौचं मृज्जलाभ्यां बाह्यमलानिवृत्तिः, मैत्र्यादिभावनयान्तरसूयादिमलानिवृत्तिः । संतोषो यथालाभपरितुष्टिः । तपः कायशोषणम्, तदुक्तं योगयाज्ञवल्क्ये—

विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्' ॥ इति ।

स्वाध्यायो गायत्रीप्रभृतीनां मन्त्राणामध्ययनम् ते च मन्त्रा द्विविधा वैदिकास्तान्त्रिकाश्च । वैदिकाः प्रगीताप्रगीतभेदेन द्विविधाः । तान्त्रिकाः स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन त्रिविधाः । तदलं मन्त्ररहस्योद्घोषेण । ईश्वरप्रणिधानं नाम अभिहितानामनभिहितानां च सर्वासां क्रियाणां परमेश्वरे फलानपेक्षतया समर्पणम् । तदुक्तम्—

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि विन्यस्य त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥ इति ।

फलाभिसंधेरुपघातकत्वमभिहितं महद्भिः—

अपि प्रयत्नसंपन्नं कामेनोपहतं तपः ।
न तुष्टये महेशस्य श्वलीढमिव पायसम् ॥ इति ।

एतानि शौचादीनि पञ्च नियमा इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

भोजवृत्तिः ।

कथमेषां योगाङ्गत्वमित्यत आह—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्(१) ॥ ३३ ॥

वितर्क्यन्त इति वितर्का योगपरिपन्थिनो हिंसादयस्तेषां प्रतिपक्षभावने सति यदा बाधा भवति तदा योगः सुकरो भवतीति भवत्येव यमनियमानां योगाङ्गत्वम् ॥ ३३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

उक्तेषु यमनियमेषु विघ्ननिवृत्त्युपायमाह—वितर्केति ।

वक्ष्यमाणवितर्कैर्यमादिबाधने क्रियमाणे वक्ष्यमाणं प्रतिपक्षभावनं कार्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

एतेषु यमनियमेष्वभ्यस्यमानेषु प्रतिविघ्नानां निवृत्त्युपायमाह—वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् । वक्ष्यमाणैर्वितर्कैर्यमादीनां बाधने क्रियमाणे वक्ष्यमाणप्रतिपक्षभावनं कार्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

मणिप्रभा ।

वितर्केति । एतेषां यमनियमानां वितर्का हिंसाऽऽदिमङ्कल्पैर्हनिष्याम्यहमपकारिणं, अनृतं वक्ष्यामि, परस्वमादास्य, इत्यादिभिर्बाधने प्राप्ते सति यमादिपरो ब्राह्मणः प्रतिपक्षभावनं कुर्यात् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपगताः सर्वभूताभयप्रदानेन यमादिधर्माः स खल्वहं त्यक्त्वा हिंसाऽऽदीन् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति । [illegible] वान्ताशी तथा त्यक्तस्य पुनरादातेति वितर्कप्रतिपक्षान् भावयेदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

चन्द्रिका ।

कथमेषां योगाङ्गत्वमित्याह वितर्केति । वक्ष्यमाणवितर्कादिप्रतिपक्षभावने सति योगः सुकरो भवति एते वितर्कादयो बाधकाः ॥३३॥

---

(१) यदायं पुरुषः हिंसादिवितर्कैर्बाध्यमानो भवेत् तदा तत्प्रतिपक्षान् भावयेदिति सूत्रार्थः ।

जातिर्ब्राह्मणत्वादिकम् , तत्सदाहं न हनिष्यामीत्यहिंसा जात्या परिच्छिन्ना । देशे तीर्थादौ काले नियतचतुर्दश्यादौ वा कमपि न हनिष्यामीति देशकालाभ्यामवच्छिन्ना । देवब्राह्मणार्थातिरेकेण न हनिष्यामीति समयावच्छिन्ना । समयो नियतोऽवसर इत्यर्थः । प्राणिमात्रं क्वचिदपि कदाचिदपि कथमपि कृतेऽहं न हनिष्यामीति जात्यादिभिश्चतुर्भिरनवच्छिन्ना भवत्यहिंसा पुष्कला । एवं सत्यादयोऽप्यनवच्छिन्ना ऊहनीयाः । इत्थमेते सर्वासु जात्यादिषु भूमिषु विदिताः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्त इत्यर्थः ३१

भोजवृत्तिः ।

नियमानाह—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौचं द्विविधं—बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यं मृज्जलादिभिः कायादिप्रक्षालनम् । आभ्यन्तरं मैत्र्यादिभिश्चित्तमलानां प्रक्षालनम् । सन्तोषस्तुष्टिः । शेषाः प्रागेव कृतव्याख्यानाः । एते शौचादयो नियमशब्दवाच्याः ॥ ३२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

यमान्व्याख्याय नियमान्व्याचष्टे—शौचेति ।

शौचं मृज्जलादिना बाह्यं, पञ्चगव्यादिभोजनेन चाभ्यन्तरम् । एतदुभयं शारीरम् । मानसं तु रागद्वेषादिमलक्षालनम् । संतोषः संनिहितोपकरणादाधिकानुपादित्सा । तपश्चान्द्रायणादि । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राध्ययनं प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं परमगुरौ परमेश्वरे सर्वकर्मार्पणम् । एतानि नियमा इत्यर्थः । अर्पणं चोक्तं कौर्मे—

नाहं कर्ता सर्वमेतद्ब्रह्मैव कुरुते तथा ।
एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ इत्यादि ॥ ३२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नियमानाह—शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । शौचं मृज्जलादिना बाह्यं पञ्चगव्यादिभोजनेन च, आभ्यन्तरं रागद्वेषादिमलक्षालनम् । संतोषः संनिहितोपकरणादाधिकस्यानुपादित्सा । तपश्चान्द्रायणादि, क्षुत्तृषे शीतोष्णे स्थानासनरूपद्वन्द्वसहनं, इङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनरूपकाष्ठमौनमवचनरूपाकारमौनादि । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राध्ययनम् । ईश्वरप्रणिधानं परमेश्वरे सर्वकर्मार्पणं तत्पूजनादि च ॥ ३२ ॥

मणिप्रभा ।

नियमानाह—शौचेति ।

शौचं मृज्जलादिकृतं गोमूत्रयावकादिमेध्याहारकृतं च बाह्यम् । आन्तरं मैत्र्यादिभावनया चित्तस्यासूयाऽऽदिमलराहित्यम् । सन्तोषः सन्निहितप्राणधारणमात्रहेतुना तुष्टिः । तपो द्वन्द्वसहनं यथायोगं कृच्छ्रादिकं च । स्वाध्यायः प्रणवाद्यभ्यासः ।

ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥
कर्मणा मनसा वाचा या चेष्टा मम नित्यशः ।
केशवाराधने सा स्याज्जन्मजन्मान्तरेष्वपि ॥

इति परमगुरौ सर्वपुण्यकर्मार्पणमीश्वरप्रणिधानमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

चन्द्रिका ।

शौचेति । शौचं द्विधा मृज्जलादिभिर्बाह्यमान्तरं मैत्र्यादिभिश्चित्तप्रसादनं, सन्तोषस्तुष्टिः, शेषाः प्राग्व्याख्याता एते नियमाः ॥ ३२ ॥

धुसाध्वित्यनुमोदित वा स्युः । तथा लोभोत्थाः क्रोधोत्था मोहोत्था वा स्युः । तथा मृदवो मध्या अतिप्रमाणा वा स्युः सर्व एव दुःखाज्ञानानन्तफला इत्येवं वितर्कप्रतिपक्षरूपदुःखज्ञानानन्तफलत्वस्य चिन्तनं कुर्यादित्यर्थः । दुःखं चाज्ञानं च ते एवानन्ते फले येषामिति विग्रहः ॥ ३४ ॥

23212

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तदेवाह—**वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।** अहिंसादिविपरीता हिंसादयो दश वितर्का इति परिभाषितास्ते स्वयं कृता अन्येन कारिता साधुसाध्वित्यनुमोदिता इति त्रिविधास्ते पुनर्लोभक्रोधमोहपूर्वकत्वेन त्रिविधाः । लोभादयः पुनस्त्रिविधा मृदवो मध्या अतिप्रमाणा इति । सर्व एते दुःखं विपर्ययज्ञानरूपमज्ञानं च संसारमूलकारणं फलं येषां ते इति प्रतिपक्षभावनया तेषां परिहारः कार्य इत्यर्थः ॥३४॥

मणिप्रभा ।

सम्प्रति वितर्काणां स्वरूपप्रकारकारणावान्तरभेदफलानि पञ्चभिः पदैः क्रमेण वदन् प्रतिपक्षभावनं स्फुटयति—**वितर्का इति ।**

वितर्क्यन्त इति वितर्का हिंसाऽऽदय इति स्वरूपोक्तिः । तत्र हिंसा त्रिप्रकारा । स्वयंकृता, कुरु इति कारिता, साधु साध्वित्यनुमोदिता, चेति । तत्रैकैका पुनस्त्रिविधा भवति कारणभेदात् । मांसचर्मादिलोभेन, अपकृतमनेनेति क्रोधेन, धर्मो मे भविष्यतीति मोहेन । एवं नवविधा जाता हिंसा । पुनः लोभक्रोधमोहाः प्रत्येकं त्रिविधा भवन्ति मृदुमध्याधिमात्रत्वेन तत्पूर्वका हिंसादयोऽपि मृदवो, मध्या, आधिमात्राश्च भवन्ति, तथा कृता, कारिता, अनुमोदिता, च प्रत्येकं नवधा भवतीति हिंसायाः सप्तविंशतिभेदा भवन्ति । मृदुमध्याधिमात्रा अपि प्रत्येकं त्रिधा भवन्ति । मृदुमृदुः, मध्यमृदुः तीव्रमृदुः, मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्यः, मृदुतीव्रो, मध्यतीव्रस्तीव्रतीव्र, इति । एवं लोभो नवविधः । एवं क्रोधमोहाविति । तत्पूर्वा कृता हिंसा सप्तविंशतिभेदा भवति । तथा कारितानुमोदिता चेत्येकाशीतिभेदा हिंसा भवति । एवमनृतादिष्वपि योज्यम । एवंभूता वितर्काः ।

दुःखं नरकादिकं, अज्ञानं स्थावरादिभावं भ्रान्तिसंशयरूपं, चानन्तं फलयतीति प्रतिपक्षाणां वितर्कशत्रूणां भावनमित्यर्थः । तेन दोषचिन्तनेन वितर्का हेया इत्युपदिष्टं भवति । तद्धाने सति निर्विघ्ना यमनियमा दश सिध्यन्ति । तत्सिद्धौ चित्तशुद्धिद्वारा कैवल्यम् । अतो योगः सिध्यतीति तात्पर्यम् ॥३४॥

चन्द्रिका ।

के वितर्कादयस्तानाह—**वितर्का इति ।**

पूर्वोक्तहिंसाद्या वितर्कादयः कृतकारितानुमोदितभेदेन त्रिधा । कारणमाह—लोभक्रोधमोहपूर्वका इति । पुनस्त्रैविध्यं मृदुमध्याधिमात्राः । तेषां फलमाह—दुःखाज्ञानानन्तफलाः ॥ ३४ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुना वितर्काणां स्वरूपप्रकारकारणावान्तरभेदफलानि पञ्चभिः पदैः क्रमेण कथयन् प्रतिपक्षभावनं स्फुटयति—**वितर्का इति ।**

वितर्का हिंसादय इति स्वरूपनिर्देशः । तत्र हिंसा त्रिप्रकारा—स्वयं कृता, कुर्विति कारिता, साधु साध्वित्यनुमोदिता चेति । तत्रैकैका कारणभेदात्पुनस्त्रिविधा भवति—धनादिलोभेन, अपकृतमनेनेति क्रोधेन, धर्मो भविष्यतीति मोहेन । एवं नवविधा जाता हिंसा । लोभक्रोधमोहाः प्रत्येकं त्रिविधा भवन्ति मृदुमध्याधिमात्रत्वेन । तत्पूर्वका हिंसादयोऽपि मृदुत्वादिना त्रिविधा भवन्ति । तथा कृता कारितानुमोदिता च प्रत्येकं नवधा भवतीति हिंसायाः सप्तविंशतिभेदा भवन्ति । मृदुमध्याधिमात्रा अपि प्रत्येकं त्रिविधा भवन्ति—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुः, मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्यः, मृदुतीव्रो मध्यतीव्रस्तीव्रतीव्र इति । एवं लोभो नवविधस्तथा क्रोधमोहाविति तत्पूर्वा कृता हिंसा सप्तविंशतिभेदा भवति । तथा कारितानुमोदिता चेत्येकाशीतिभेदा हिंसा भवति । एवमनृतादिष्वपि योज्यम् । इत्थंभूता वितर्का दुःखं

योगसुधाकरः ।

ननु सति पारिपन्थिनि जाग्रति कथं यमादिसिद्धिरित्यत आह—वितर्केति ।

एतेषां यमनियमादीनां वितर्कैर्हिंसादिसंकल्पैः 'हनिष्याम्येनम्' 'अनृतं वदिष्यामि' 'परस्वमादास्ये' इत्यादिभिर्बाधने प्राप्ते सति, यमादिपरो योगी 'संसाराङ्गारेष्वहं तप्यमानो यमादिकं शरणमुपगतोऽहिंसादिकमत्यजन्; पुनस्तदाददानः कौलेयकेन वान्ताशिना समः' इत्यनेन प्रकारेण वितर्कप्रतिपक्षान्भावयेदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीं वितर्काणां स्वरूपं भेदप्रकारं फलं च क्रमेणाऽऽह—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्(१) ॥ ३४ ॥

एते पूर्वोक्ताः (वितर्काः) हिंसादयः प्रथमं त्रिधा भिद्यन्ते कृतकारितानुमोदिता(त)भेदेन । तत्र स्वयं निष्पादिताः कृताः । कुरु कुर्विति प्रयोजकव्यापारेण समुत्पादिताः कारिताः । अन्येन क्रियमाणाः साध्वित्यङ्गीकृता अनुमोदिताः । एतच्च त्रैविध्यं परस्परव्यामोहनिवारणायोच्यते, अन्यथा मन्दमतिरेवं मन्येत—न मया स्वयं हिंसा कृतेति नास्ति मे दोष—इति । एतेषां कारणप्रतिपादनाय लोभक्रोधमोहपूर्वका इति । यद्यपि लोभक्रोधौ(२) प्रथमं निर्दिष्टौ(३) तथाऽपि सर्वक्लेशानां मोहस्यानात्मनि आत्माभिमानलक्षणस्य निदानत्वात्तस्मिन्सति स्वपरविभागपूर्वकत्वेन लोभक्रोधादीनामुद्भवान्मूलत्वमवसेयम् । मोहपूर्विका सर्वा दोषजातिरित्यर्थः । लोभस्तृष्णा । क्रोधः कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः । प्रत्येकं कृतादिभेदेन त्रिप्रकारा अपि हिंसादयो मोहादिकारणत्वेन त्रिधा भिद्यन्ते । एषामेव पुनरवस्थाभेदेन त्रैविध्यमाह—मृदुमध्याधिमात्राः । मृदवो मन्दा न तीव्रा नापि मध्याः । मध्या नापि मन्दा नापि तीव्राः । अधिमात्रास्तीव्राः । पाश्चात्या नव भेदाः । इत्थं त्रैविध्ये सति सप्तविंशतिर्भवति । मृदुमध्याधिमात्रभेदात्त्रैविध्यं सम्भवति । तद्यथायोगं योज्यम् । तद्यथा—मृदुमृदुर्मृदुमध्यो मृदुतीव्र इति । एषां फलमाह—दुःखाज्ञानानन्तफलाः । दुःखं प्रतिकूलतयाऽवभासमानो राजसश्चित्तधर्मः, अज्ञानं मिथ्याज्ञानं संशयविपर्ययरूपं, ते दुःखाज्ञाने अनन्तमपरिच्छिन्नं फलं येषां ते तथोक्ताः । इत्थं तेषां स्वरूपकारणादिभेदेन ज्ञातानां प्रतिपक्षभावनया योगिना परिहारः कर्तव्य इत्युपदिष्टं भवति ॥ ३[illegible] ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ये ते वितर्का यच्च तेषां प्रतिपक्षचिन्तनं तद्द्वयमाह—वितर्का इति ।

यमनियमविपरीता हिंसादयो दश वितर्कशब्देन तन्त्रे परिभाषिताः । ते च कृता वा कारिता वा सा-

---

(१) वितर्काणां स्वरूपप्रकारकारणधर्मफलभेदान् प्रतिपक्षभावनाविषयान् दर्शयति वितर्का इत्यादिना । हिंसादय इति स्वरूपकथनं कृतेत्यादिना प्रकारकथनं लोभेत्यादिना कारणमुक्तं मृद्वित्यादिना धर्माभिधानं दुःखेत्यादिना फलमुक्तं वेदितव्यम् । [illegible] प्रथमतः हिंसादयः कृतादिभेदेन त्रिधा भिद्यन्ते । ततो लोभादिकारणकत्वेन त्रिधा इति नवभेदाः ततः पुनर्मृद्वादिभेदेन त्रिधेति सप्तविंशतिभेदा भवन्ति । लोभस्तृष्णा क्रोधः कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः मोहोऽनात्मन्यात्माभिमानः । दुःखाज्ञानानन्तफला इति दुःखं प्रतिकूलतया अवभासमानो राजसश्चित्तधर्मः अज्ञानं मिथ्याज्ञानं अनन्तमपरिच्छिन्नं फलं येषां ते तथोक्ता इत्यर्थः ।

(२) लोभ इति पाठान्तरम् । (३) निर्दिष्टस्तथेति पाठान्तरम् ।

नागोजीभट्टवृत्तिः

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

मणिप्रभा ।

सत्येति । सत्यप्रतिष्ठायां सत्यां क्रिया धर्माधर्मरूपा, तत्फलं स्वर्गादिकं, तयोराश्रयो वाङ्मात्रेण दाता तस्य भावः तत्त्वं भवति । यथा धार्मिको भूया इत्युक्ते भवति धार्मिकः स्वर्गमाप्नुहीत्युक्तिमात्रादधार्मिकोऽपि तथैव भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

चन्द्रिका ।

सत्याभ्यासोत्कर्षस्य फलमाह—सत्येति ।

सत्यप्रतिष्ठायां यागादिक्रियाफलाश्रयत्वं नाम अकुर्वत्यपि यागादिक्रियास्तद्वचनादन्यस्यापि स्वर्गादिफलदानसामर्थ्यमायाति । किं पुनः स्वस्य वक्तव्यम् ॥३६॥

योगसुधाकरः ।

सत्येति । क्रिया धर्माधर्मरूपा, तस्याः फलं स्वर्गादिकम्, तयोराश्रयो वाङ्मात्रेण दाता, तस्य भावस्तत्त्वम् । योगिनः स्वर्गादिफलदातृत्वं वाङ्मात्रेण सिध्यतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्तेयाभ्यासवतः फलमाह—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेयं यदाऽभ्यस्यति तदाऽस्य तत्प्रकर्षान्निरभिलाषस्यापि सर्वतो दिव्यानि रत्नानि उपतिष्ठन्ते।३७

भावागणेशवृत्तिः ।

अस्तेयेति । अस्तेयस्थैर्ये तस्मै स्वयमेव सर्वरत्नान्युपतिष्ठन्ते ॥ ३७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अस्तेयेति । अस्तेयस्थैर्ये तद्वचनमात्रेण सर्वदिग्भ्यः सर्वरत्नान्युपतिष्ठन्ते ॥ ३७ ॥

मणिप्रभा ।

अस्तेयेति । अचौर्यदार्ढ्ये सति सर्वेषां दिव्यरत्नानामस्य सङ्कल्पमात्रेण प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥३७॥

चन्द्रिका ।

अस्तेयेति । अस्तेयं यदाभ्यस्यति योगी तदा तस्य प्रकर्षान्निरभिलाषस्यापि तस्य सर्वतो रत्नान्युपतिष्ठन्ति ॥ ३७ ॥

योगसुधाकरः ।

अस्तेयेति । दिव्यानि रत्नानि योगिनः पुरत उपस्थितानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

भोजवृत्तिः ।

ब्रह्मचर्याभ्यासस्य फलमाह—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

यः किल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्यं सामर्थ्यमाविर्भवति वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यं तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसु वीर्यं प्रकर्षमागच्छति ॥ ३८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ब्रह्मचर्येति । ब्रह्मचर्यस्थैर्ये सति वीर्यलाभः सामर्थ्यविशेषो भवति । येन स्वयं ज्ञानक्रियाशक्तिमान्भूत्वा परेषु पुरुषः क्षमत इत्यर्थः॥ ३८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । स्वयंज्ञानक्रियाशक्तिरूपसामर्थ्यवान् भूत्वाऽन्येषामपि तदादधाति ॥ ३८ ॥

नरकादिकम्, अज्ञानं स्थावरादिभावम्, भ्रान्तिसंशयरूपं च अनन्तं फलं प्रयच्छन्तीति प्रतिपक्षाणां वितर्कशत्रूणां भावनामित्यर्थः। अनेन भावतेन तद्धाने सति निर्विघ्ना यमादयः सिध्यन्ति। तत्सिद्धौ चित्तपरिकर्मद्वारा कैवल्यं सिध्यतीत्यभिसंधिः ॥ ३४ ॥

भोजवृत्तिः।

एषामभ्यासवशात्प्रकर्षमागच्छतामनुनिष्पादिन्यः सिद्धयो यथा भवन्ति तथा क्रमेण प्रतिपादयितुमाह—

(१)अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

तस्याहिंसां भावयतः संनिधौ सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनां वैरत्यागो निर्मत्सरतयाऽवस्थानं भवति। हिंस्रा अपि हिंस्रत्वं परित्यजन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

यमनियमनिष्पत्तिसूचकानां सिद्धीनां सूत्राण्यतः परं प्रवर्तन्ते—अहिंसेति।

अहिंसास्थैर्ये सति तत्संनिधिस्थानां मार्जारमूषकादीनामन्योन्यवैरत्यागो भवति ॥ ३५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ यमादिनिष्पत्तिसूचिकाः सिद्धीराह—अहिंसाप्रतिष्ठायां वैरत्यागः। अहिंसास्थैर्ये सति तत्संनिधिस्थानां मार्जारमूषकादीनामप्यन्योन्यं वैरत्याग इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

मणिप्रभा।

सम्प्रति दशानां सिद्धिसूचकमवान्तरफलं क्रमेण दर्शयति -अहिंसेति।

अहिंसासिद्धौ सत्यां तस्याहिंसकस्य मुनिवर्यस्य सन्निधौ स्वभावविरुद्धानामहिनकुलादीनामपि वैरत्यागो भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

चन्द्रिका।

तेषां यमनियमादीनामभ्यासोत्कर्षात् याः सिद्धयो भवन्ति ता आह—तत्सन्निधाविति।

तस्याहिंसां भावयतः सन्निधौ सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनां वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

योगसुधाकरः।

अधुना यमादीनां सिद्धिसूचकमवान्तरफलं क्रमेण दर्शयति—अहिंसेति।

सत्यहिंसास्थैर्ये, तस्याहिंसकस्य योगिधौरेयस्य संनिधौ स्वभावविरुद्धानां गोव्याघ्रादीनामपि वैरत्यागो भवतीत्यर्थः। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं वासिष्ठे—

मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि ॥ इति ॥ ३५ ॥

भोजवृत्तिः।

सत्याभ्यासवतः किं भवतीत्याह—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

क्रियमाणा हि क्रिया यागादिका(२) फलं स्वर्गादिकं प्रयच्छति(३)। [illegible] तु सत्याभ्यासवतो योगिनस्तथा सत्यं प्रकृष्यते यथा क्रियायामकृतायामपि योगी फलमाप्नोति, तद्वचनाद्यस्य कस्यचित्क्रियामकुर्वतोऽपि क्रियाफलं भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

सत्येति। सत्यस्थैर्ये सति तद्वचनमात्रेणान्येषां धर्मादिक्रियावत्त्वम्। तत्फलस्वर्गादिमत्त्वं च भवति ॥ ३६ ॥

---

(१) यमनियमाभ्यासात् यानि तत्तत्सिद्धिपरिज्ञानसूचकानि चिह्नानि तत्परिज्ञानाद् योगी तत्र तत्र कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानः कर्त्तव्येषु [illegible] तान्याह अहिंसेत्यादिभिः सूत्रैः।

(२) यागादिकाः इति पाठान्तरम्। (३) प्रयच्छन्तीति पाठान्तरम्।

मणिप्रभा ।

ब्रह्मचर्येति । वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यं तत्सिद्धौ निरतिशयं सामर्थ्यं भवति । येनाणिमाद्युपस्थितिर्भवति । शिष्येषूपदेशः सद्यः फलतीति भावः ॥ ३८ ॥

चन्द्रिका ।

ब्रह्मचर्येति । यः किल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्यं सामर्थ्यमाविर्भवति । वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यं तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसु वीर्यं प्रकर्षमागच्छति ॥ ३८ ॥

योगसुधाकरः ।

ब्रह्मचर्येति । वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यम् । तत्सिद्धौ निरतिशयं सामर्थ्यं भवति । निरतिशयसामर्थ्यशालिना योगिना कृतः शिष्येषूपदेशः सद्यः फलतीति भावः ॥ ३८ ॥

भोजवृत्तिः ।

अपरिग्रहाभ्यासस्य फलमाह—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥३९॥

कथमो(१) भावः कथंता जन्मनः कथंता जन्मकथंता तस्याः सम्बोधः सम्यग्ज्ञानं जन्मान्तरे कोऽहमासं कीदृशः किंकार्यकारीति जिज्ञासायां सर्वमेव सम्यग्जानातीत्यर्थः । न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एव परिग्रहो यावदात्मनः शरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः, भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य । तस्मिन्सति रागानुबन्धाद्बहिर्मुखायामेव प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भावः । यदा पुनः शरीरादिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण माध्यस्थ्यमवलम्बते तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागात्सम्यग्ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वापरजन्मसम्बोधः ॥ ३९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अपरिग्रहेति । अपूर्वेण देहेन्द्रियादिसंघातेन ज्ञातहेतुः संयोगो जन्म, तस्य कथन्ता च किंप्रकारता तयोः संबोधः साक्षात्कारो जातिस्मरणं भवति ॥ ३९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः । पूर्वापरजातिस्मरणं भवतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

मणिप्रभा ।

अपरिग्रहेति । अपरिग्रहशीलस्य तत्स्थैर्ये सति अतीतवर्तमानभाविजन्मनां या कथन्ता किंप्रकारता तस्याः सम्यग्बोधो जिज्ञासापूर्वको भवतीत्यर्थः । किंरूपं, जन्म किंप्रकारकं, किंहेतुकं, किंफलकं, किमवसानमिति शरीरपरिग्रहविरोधिनी जिज्ञासा भवति । ततः कार्यकारणसम्बन्धः पुरुषस्याजस्य जन्म नरदेवतिर्यक्त्वप्रकारं क्लेशकर्महेतुकं दुःखैकफलकं पुरुषतत्त्वसम्बोधान्तमवसानमित्याचार्यागमतो निश्चित्याशरीरः सन्नपरिग्रहकाष्ठामनुभवतीति भावः ॥ ३९ ॥

चन्द्रिका ।

अपरिग्रहेति । साधनपरिग्रह एव परिग्रहो न किं तु शरीरपरिग्रह एव परिग्रहस्तस्मिन् सति बहिर्मुखवृत्तौ न प्रज्ञोद्भवः, अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता कथमित्यस्य भावः कथन्ता जन्मनः कथन्ता तस्याः सम्बोधः सम्यग्ज्ञानं जन्मान्तरे कोऽहमासमित्यादि सर्वं जानातीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

योगसुधाकरः ।

अपरिग्रहेति । कथमित्यस्य भावः कथंता जन्मनि कथंता तस्याः संबोधः साक्षात्कारः, पूर्वजन्मनि कोऽहं कीदृशोऽतिष्ठं किं कार्यमकरवमिति जिज्ञासायां सर्वमनेन योगिना सम्यग्ज्ञायत इत्यर्थः ३९

भोजवृत्तिः ।

उक्ता यमानां सिद्धयः, अथ नियमानामाह—

---

(१) कथमित्यस्येति पाठान्तरम् ।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

यः शौचं भावयति तस्य स्वाङ्गेष्वपि कारणस्वरूपपर्यालोचनद्वारेण जुगुप्सा घृणा समुपजायतेऽशुचिरयं कायो नात्राऽऽग्रहः कार्य इति। अमुनैव हेतुना परैरन्यैश्च कायवद्भिरसंसर्गः संसर्गाभावः संसर्गपरिवर्जनमित्यर्थः। यः किल स्वमेव कायं जुगुप्सते तत्तदवद्यदर्शनात्स कथं परकीयैस्तथाभूतैः कायैः संसर्गमनुभवति ॥ ४० ॥

भावागणेशवृत्तिः।

यमसिद्धय उक्ताः। नियमसिद्धय उच्यन्ते—शौचादिति।

शौचस्थैर्यात्स्वाङ्गे जुगुप्सा कुत्साऽशुचिदोषदर्शनरूपा भवति। अत एव परैरसंसर्गोऽपि भवति ४०

नागोजीभट्टवृत्तिः

नियमसिद्धीराह—शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। स्वाङ्गे जुगुप्सा मृज्जलादिभिः शोधयतोऽपि कायशुद्ध्यदर्शनात्। अत एव परकायेष्वपि तादृशत्वदर्शी तैरसंसृष्टो भवति ॥ ४० ॥

मणिप्रभा।

उक्ता यमसिद्धयः। अधुना नियमसिद्धय उच्यन्ते—शौचादिति।

यो बाह्यशौचसिद्धः तस्य स्वाङ्गे काये शुद्धिमपश्यतो जुगुप्सा भवति। अशुचिस्वभावोऽयं कायः नात्राहङ्कारः कार्य इति। शौचपरस्य मम कायो न शुद्ध्यति किमु प्रमत्तपरकाय इति दोषदर्शिनः परकायैरसंसर्गो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

चन्द्रिका।

शौचादिति। यः किल शौचं भावयति तस्य कारणपर्यालोचनात् स्वाङ्गेष्वपि जुगुप्सा घृणा जायते नात्राग्रहः कार्यो ऽशुचित्वात् ततश्च परैः कायवद्भिः सह संसर्गाभाव उपजायते ॥ ४० ॥

योगसुधाकरः।

इत्थं यमसिद्धीरभिधाय अधुना नियमसिद्धीः क्रमेणाभिदधाति—शौचादिति।

शौचमाचरतो योगिनः स्वाङ्गे शुद्धिमपश्यतो जुगुप्सा भवति। अशुचिस्वभावोऽयं कायः। अतस्तास्मिन्नवभिश्छिद्रैर्निरन्तरं स्रवत्सु मलेषु रोमकूपैरसंख्यातैः स्विन्ने गात्रे को नामाखेदेन प्रक्षालयितुं शक्नुयात्? तदुक्तम्—

> नवच्छिद्रकृता देहाः स्रवन्ति घटिका इव।
> बाह्यशौचैर्न शुध्यन्ति नान्तःशौचं तु विद्यते ॥ इति।

एवं स्वकाये जुगुप्सावतः परकाया एतादृशा इति दोषदर्शिनस्तैः संसर्गो न कदाचिदपि भवति। यदि स्वकायदुर्गन्धेन जुगुप्सा न स्यात्किं नाभितस्य निर्वेदकारणं भवेत्? तदुक्तम्—

> स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान्।
> विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते ॥ इति ॥ ४० ॥

भोजवृत्तिः।

शौचस्यैव फलान्तरमाह—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्ये(१)न्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

भवन्तीति वाक्यशेषः। सत्त्वं प्रकाशसुखाद्यात्मकं तस्य शुद्धी रजस्तमोभ्यामनभिभवः। सौमनस्यं खेदाननुभवेन मानसी प्रीतिः। एकाग्रता नियतेन्द्रियविषये चेतसः स्थैर्यम्। इन्द्रियजयो विषयपराङ्मुखाणामिन्द्रियाणामात्मनि अवस्थानम्। आत्मदर्शने विवेकख्यातिरूपे चित्तस्य योग्यत्वं समर्थत्वम्। शौचाभ्यासवत एते सत्त्वशुद्ध्यादयः क्रमेण प्रादुर्भवन्ति। तथा हि-सत्त्वशुद्धेः सौमनस्यं सौमनस्यादेका-

(१) काग्र्यान्द्रयेति पाठान्तरम्।

यच्च काममुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ इति ॥ ४२ ॥

चन्द्रिका ।

सन्तोषफलमाह— सन्तोषादिति ।

सन्तोषप्रकर्षे योगिनस्तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भवति यस्य बाह्यसुखं शतांशेनापि न समम् ॥४२॥

योगसुधाकरः ।

संतोषादिति । संतुष्टस्य योगिनः सत्त्वोत्कर्षादन्तर्निरतिशयं सुखमाविर्भवति । न केवलमेवम्; प्रत्युत वैषयिकं सुखं विषमिव प्रतिकूलं भवतीत्यर्थः । तदुक्तम्—

संतोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः ।
भोगश्रीरतुला तेषामेषा प्रतिविधीयते ॥ इति ॥ ४२ ॥

भोजवृत्तिः ।

तपसः फलमाह—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तपः समभ्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धिक्षयद्वारेण कायेन्द्रियाणां सिद्धिमुत्कर्षमादधाति । अयमर्थः-चान्द्रायणादिना चित्तक्लेशक्षयस्तत्क्षयादिन्द्रियाणां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनादिसामर्थ्यमाविर्भवति । कायस्य यथेच्छमणुत्वमहत्त्वादीनि ॥ ४३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कायेति । तपःस्थैर्यात्कायेन्द्रिययोः सिद्धिरशुद्धिक्षयद्वारा भवति । अशुद्धिः पापं तमोगुणश्च । कायसिद्धिरणिमाद्या; इन्द्रियसिद्धिः दूराच्छ्रवणाद्या । एतानि भूतिपादे व्याख्यास्यन्ते ॥ ४३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । तपःस्थैर्ये पापतमोगुणरूपाशुद्धिक्षयात्कायसिद्धिरणिमादिरूपा इन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणाद्या भवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मणिप्रभा ।

कायेति । स्वधर्मकृच्छ्रचान्द्रायणादिना क्लेशपापक्षयात् कायस्याणिमादिसिद्धिरिन्द्रियाणां दूरसूक्ष्मार्थग्राह्यत्वसिद्धिर्भवति ॥ ४३ ॥

चन्द्रिका ।

तपसः फलमाह- कायेति ।

तपः समभ्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धिक्षयद्वारेण कायेन्द्रियाणां सिद्धिमुत्कर्षमादधाति इन्द्रियाणां सूक्ष्मव्यवहितादिदर्शनसामर्थ्यं कायस्याणुत्वमहत्त्वादि यथेच्छं सम्पद्यते ॥ ४३ ॥

योगसुधाकरः ।

कायेति । स्वधर्मकृच्छ्रादिना क्लेशपापक्षयात्कायस्याणिमादिसिद्धिः, इन्द्रियाणां च सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थग्राहित्वसिद्धिर्भवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

भोजवृत्तिः ।

स्वाध्यायस्य फलमाह—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

अभिप्रेतमन्त्रजपादिलक्षणे स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे योगिन इष्टयाऽभिप्रेतया देवतया सम्प्रयोगो भवति सा देवता प्रत्यक्षीभवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्वाध्यायादिति । स्वाध्यायस्थैर्यादिष्टदेवतानां संप्रयोगो दर्शनं भवति ॥ ४४ ॥

ग्र्यमैकाग्र्यादिन्द्रियजय इन्द्रियजयादात्मदर्शनयोग्यतेति ॥ ४१ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

बहिःशौचस्थैर्यसिद्धिमुक्त्वाऽन्तःशौचसिद्धिमाह—सत्त्वेति ।

चित्तमलक्षालनरूपाच्छौचात्सत्त्वशुद्धिः सत्त्वोद्रेकः । ततः सौमनस्यं स्वाभाविकी प्रीतिः । ततः प्रीतचित्तस्याविक्षेपादैकाग्र्यम् । तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मसाक्षात्कारयोग्यत्वमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अन्तःशौचसिद्धिमाह—सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च । भवन्तीति शेषः । चित्तमलक्षालनरूपाच्छौचात्सत्त्वशुद्धिः सत्त्वगुणोद्रेकस्ततः सौमनस्यं सर्वत्र प्रीतिः, तत प्रीतचित्तस्याविक्षेपादैकाग्र्यं, तत इन्द्रियजयस्तत आत्मसाक्षात्कारयोग्यता ॥ ४१ ॥

मणिप्रभा ।

एवं बाह्यशौचसिद्धिमुक्त्वाऽन्तःशौचसिद्धिमाह—सत्त्वेति ।

शौचादित्यनुवर्तते । भवन्तीति वाक्यशेषः । बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोमलेर्ष्यादिमलध्वंसः शुद्धिः । ततः सत्त्वोत्कर्षः । ततः स्थैर्यम् । ततो बाह्येन्द्रियजयः । ततः पुरुषख्यात्यर्हत्वमिति विभागः ॥४१॥

चन्द्रिका ।

शौचफलमाह—सत्त्वेति । सत्त्वं प्रकाशात्मकं तस्य शुद्धी रजस्तमोभ्यामनभिभवः, सौमनस्यं, मानसी प्रीतिः, ऐकाग्र्यं चेतसः स्थैर्यम् , इन्द्रियजयो विषयपराङ्मुखत्वेनात्मन्यवस्थापनमात्मदर्शने चित्तस्य समर्थत्वमेते क्रमेण प्रादुर्भवन्ति ॥ ४१ ॥

योगसुधाकरः ।

संप्रत्यन्तःशौचसिद्धिमाह—सत्त्वेति ।

सत्त्वस्य बुद्धेरसूयेर्ष्यादिमलनिवृत्तिः शुद्धिः, ततः सौमनस्यं सत्त्वोत्कर्षः, तत ऐकाग्र्यं नैश्चल्यम्, ततो बाह्येन्द्रियजयः, तत आत्मदर्शनयोग्यत्वं पुरुषसाक्षात्कारार्हत्वम् तान्येतानि परस्परहेतुहेतुमद्भावेन शौचाद्भवन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

भोजवृत्तिः ।

सन्तोषाभ्यासवतः(१) फलमाह—

सन्तोषादनुत्तमः (२)सुखलाभः ॥ ४२ ॥

सन्तोषप्रकर्षेण योगिनस्तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भवति । यस्य बाह्यं सुखं लेशेनापि(३) न समम् ॥ ४२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सन्तोषादिति । सन्तोषस्य तृष्णाक्षयस्य स्थैर्यादनुत्तमस्य विषयसुखापेक्षया प्रकृष्टस्य सुखस्य लाभो भवति ॥ ४२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः । सुषुप्तावित्यर्थः ॥ ४२ ॥

मणिप्रभा ।

सन्तोषादिति । तृष्णाक्षयसिद्धा अवश्यं निष्कामस्य निरतिशयसुखानुभवो भवति शुद्धसत्त्वोत्कर्षात् । तथा च महाभारते ययातिगीता—

---

(१) संतोषाभ्यासस्येति पाठान्तरम् ।

(२) अनुत्तमसुखेति पाठान्तरम् ।

(३) बाह्यविषयसुखं शतांशेनापीति पाठान्तरम् ।

भावागणेशवृत्तिः ।

यमनियमाः सिद्धिभिः सहोक्ताः, आसनमुच्यते—स्थिरेति ।

आस्यतेऽनेन प्रकारेणेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः । आसनगतविशेषाश्च हठयोगग्रन्थेभ्यो ज्ञेयाः । गुरुभिश्च वार्तिकेऽपि कियन्तः प्रदर्शिताः ॥ ४६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

आसनमाह—स्थिरसुखमासनम् । यदेव स्थिरं सुखकरं च तदेवासनं कार्यमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

मणिप्रभा ।

एवं यमनियमान् सह सिद्धिभिर्निरूप्यासनस्वरूपमाह—स्थिरेति ।

निश्चलं सुखावहं च यदासनं तद्योगाङ्गमित्यर्थः । आस्यतेऽनेनेत्यासनम् । तद् द्विविधं बाह्यं शारीरं च । तत्र चैलाजिनकुशोत्तरं बाह्यं, शारीरं पद्मस्वस्तिकादीति विशेषः । तत्र पद्मासनं प्रसिद्धम् । सव्यमाकुञ्चितचरणं दक्षिणजङ्घोर्वन्तरे, दक्षिणं च सव्यजङ्घोर्वन्तरे निक्षिपेदिति स्वस्तिकासनम् । पादतले वृषणसमीपे सम्पुटीकृत्य संपुटोपरिपाणिसंपुटिकां न्यसेदिति भद्रासनं द्रष्टव्यम् ॥ ४६ ॥

चन्द्रिका ।

आसनमाह—स्थिरेति ।

आस्यतेऽनेनेत्यासनं पद्मस्वस्तिकादि । यदा स्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयं तदा योगाङ्गम् ४६।

योगसुधाकरः ।

इत्थं साक्षान्तरफलान्यमनियमान्निरूप्य [illegible] तत्साधनं [illegible] च तावदाह—स्थिरेति ।

पद्मस्वस्तिकादिना यादृशेन देहस्थापनेन [illegible] पुरुषस्यावयवव्यथानुत्पत्तिलक्षणं सुखं देहचलनराहित्यलक्षणं स्थैर्यं च संपद्यते, तदेव मुख्यमासनम् । पद्मासनादिस्वरूपं तु याज्ञवल्क्येन निरूपितम्-

ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र ! कृत्वा पादतले शुभे ।
अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामभिपूजितम् ॥

इत्यादिना ॥ ४६ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्यैव स्थिरसुखत्वप्राप्त्यर्थमुपायमाह—

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्य(न्त)समापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

तदासनं प्रयत्नशैथिल्येनाऽऽनन्त्यसमापत्त्या च स्थिरं सुखं भवतीति सम्बन्धः । यदा यदाऽऽसनं बध्नामीतीच्छां करोति प्रयत्नशैथिल्येऽपि अक्लेशेनैव तदा तदाऽऽसनं सम्पद्यते । यदा चाऽऽकाशादिगत आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽव्यवधानेन(१) तादात्म्यमापद्यते तदा देहाहंकाराभावान्नाऽऽसनं दुःखजनकं भवति । अस्मिंश्चाऽऽसनजये सति तत्रान्तरायभूता न प्रभवन्ति अङ्गमेजयत्वादयः ॥४७॥

भावागणेशवृत्तिः ।

आसनस्थैर्यस्योपायमाह—प्रयत्नेति ।

प्रयत्नशैथिल्यं बहुलायासनिवृत्तिः । अनन्तसमापत्तिश्च पृथिवीधारिणि [illegible] शेषनागे चित्तस्य धारणं ताभ्यामासनं निष्पद्यते इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्स्थैर्योपायमाह—प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् । प्रयत्नशैथिल्यं बहुलायासनिवृत्तिः अनन्ते पृथ्वीधारिणि शेषे समापत्तिश्चित्तस्य [illegible] ताभ्यामासनं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

---

(१) अवधानेनेति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

स्वाध्यायेति । इष्टमन्त्रादिजपात् स्वेष्टदेवतायाः सम्भाषणादि सिध्यति ॥ ४४ ॥

चन्द्रिका ।

स्वाध्यायफलमाह--**स्वाध्यायादिति** ।

मन्त्रजपादिलक्षणे स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे [illegible] देवतया सम्प्रयोगः सा देवता प्रत्यक्षीभवतीत्यर्थः॥४४॥

योगसुधाकरः ।

स्वाध्यायादिति । अभिमतमन्त्रजपादभिमतदेवतायाः संभाषणादिकं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

भोजवृत्तिः ।

ईश्वरप्राणिधानस्य फलमाह—

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरे यत्प्रणिधानं भक्तिविशेषस्तस्मात्समाधेरुक्तलक्षणस्याऽऽविर्भावो भवति । यस्मात्स भगवानीश्वरः प्रसन्नः सन्नन्तरायरूपान्क्लेशान्परिहृत्य समाधिं संबोधयति ॥ ४५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

समाधीति । ईश्वरप्रणिधानस्थैर्यात्समाधिसिद्धिर्योगनिष्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । समाधिसिद्धिर्योगसिद्धिः इतरकारणेभ्योऽस्यान्तरङ्गत्वं सूचयति ॥ ४५ ॥

मणिप्रभा ।

समाधीति । ईश्वरार्पितसर्वभावस्य भक्तस्यैव योगसिद्धिर्भवति । न चैवं सति यमादिसप्ताङ्गवैयर्थ्यं स्यादिति वाच्यम् । अङ्गैर्भक्त्या वा योगसिद्धिरिति विकल्पाभ्युपगमात् । तदुक्तम्–"ईश्वरप्रणिधानाद्वे"ति । न वा भक्तिपक्षेऽङ्गवैकल्यं, यमादीनां भक्तावप्यङ्गत्वसम्भवात् । तेषां भक्तियोगोभयार्थत्वं दध्न इन्द्रियक्रतूभयार्थत्ववदविरुद्धम । न चाङ्गानामावश्यकत्वे तैरेव सिद्धेः किं भक्त्येति वाच्यम् । भक्तिहीनोपायैर्दूरे योगसिद्धिः भक्त्यमृतवर्षिभिरासन्नतमा योगसिद्धिरिति चिराचिरयोगरूपफलप्राप्तिसाधनत्वेन विकल्पोपपत्तेः । सा चेश्वरे भक्तिः प्रत्यगात्मयोगविषयाभिन्नविषयेति बहिरङ्गत्ववाचोयुक्तिरित्यनवद्यम् ॥ ४५ ॥

चन्द्रिका ।

ईश्वरप्रणिधानफलमाह --**समाधीति** ।

ईश्वरे योऽयं भक्तिविशेषस्तस्मात् समाधेराविर्भावो भवति अस्मात् स ईश्वरः प्रसन्नः सन्नन्तरायक्लेशानपहृत्य समाधिमुद्बोधयति ॥ ४५ ॥

योगसुधाकरः ।

समाधीति । ईश्वरे अकामनया सकलकर्मसमर्पणात्समाधिसिद्धिः । समाधिश्चित्तस्य समाधानं प्रसाद इति यावत् ॥ ४५ ॥

भोजवृत्तिः ।

यमनियमानुक्त्वाऽऽसनमाह—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

आस्यतेऽनेनेत्यासनं पद्मासनदण्डासनस्वस्तिकासनादि । तद्यदा स्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयं च भवति तदा योगाङ्गतां(१) भजते ॥ ४६ ॥

---

(१) तद्योगाङ्गतामिति पाठान्तरम् ।

तस्मिन्नासने सति श्वासप्रश्वासयोः शास्त्रोक्तरीत्या स्वाभाविकगतिविच्छेदः प्राणायाम इति वक्ष्यमाणचतुर्विधप्राणायामस्य सामान्यलक्षणम् । तत्रासनस्याङ्गत्वलाभाय सत्यन्तम् । श्वासप्रश्वासौ नासापुटेन वायोः प्रवेशनिर्गमौ लोकप्रसिद्धौ तत्काले या स्वाभाविकी गतिस्तत्प्रतिषेध इत्यर्थः । अतो न श्वासप्रश्वासयोर्गत्यनुपपत्तिदोषः ॥ ४९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ प्राणायाममाह—तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । तस्मिन्नासने सति नासापुटेन स्वाभाविकौ यौ वायोः प्रवेशनिर्गमौ तत्काले या गतिस्तद्विच्छेद इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

मणिप्रभा ।

सम्प्रत्य सनसाध्यं प्राणायाममाह—तस्मिन्निति ।

आसनस्थैर्ये सति बाह्यकोष्ठयवायो रन्तर्बहिर्गतिविच्छेदः प्राणायाम इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

चन्द्रिका ।

तस्मिन्निति । आसनस्थैर्ये सति प्राणायामोऽनुष्ठेयः श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः, विच्छेदो धारणम् ॥ ४९ ॥

योगसुधाकरः ।

अथासनानन्तरभाविनं प्राणायाममाह—तस्मिन्निति ।

तस्मिन्नासनस्थैर्ये सति प्राणायामः प्रतिष्ठितो भवति । स च श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदरूपः । तत्र श्वासो नाम बाह्यस्य वायोरन्तरानयनम् । प्रश्वासः पुनः कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणम् । तयोरुभयोरपि संचरणाभावः प्राणायामः । ननु नेदं प्राणायामसामान्यलक्षणम्, तद्विशेषेषु रेचकपूरककुम्भकप्रकारेषु तदनुगतेरयोगादिति चेत् । नैष दोषः । सर्वत्रापि श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदसम्भवात् । तथा हि—कौष्ठ्यस्य वायोर्निर्गमनं रेचकः, यः प्रश्वासरूपः । बाह्यस्य वायोरन्तर्धारणं पूरकः, यः श्वासरूपः । अन्तः स्तम्भवृत्तिः कुम्भकः, यस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणाख्यो वायुरवस्थाप्यते तत्र सर्वत्र श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदोऽस्त्येवेति नास्ति शङ्कावकाशः । ननु कुम्भके गत्यभावेऽपि रेचकपूरकयोरुच्छ्वासनिश्वासगती विद्येते इति चेत् । नैष दोषः । अधिकमात्राभ्यासेन स्वभावसिद्धायाः समप्राणगतेर्विच्छेदसम्भवात् ॥ ४९ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्यैव सुखावगमाय विभज्य स्वरूपं कथयति—

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः । अन्तर्वृत्तिः प्रश्वासः पूरकः । आन्तरस्तम्भकवृत्तिः(१) कुम्भकः । तस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्त इति कुम्भकः । त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन कालेन संख्यया चोपलक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति । देशेनोपलक्षितो यथा—नासाद्वादशान्तादौ । कालेनोपलक्षितो यथा—षट्त्रिंशन्मात्रादिप्रमाणः । संख्ययोपलक्षितो यथा—इयतो वारान्कृत एतावद्भिः श्वसप्रश्वासैः प्रथम उद्घातो भवतीति । एतज्ज्ञानाय संख्याग्रहणमुपात्तम् । उद्घातो नाम नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायोः शिरसि अभिहननम् ॥ ५० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्राणायामस्यावान्तरभेदानाह—बाह्येति ।

स च प्राणायामो बाह्यवृत्तिराभ्यन्तरवृत्तिस्तम्भवृत्तिरिति त्रिविधः । रेचकपूरककुम्भकभेदात् सो[illegible]

---

(१) अन्तस्तम्भवृत्तिरिति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा।

सम्प्रत्यासनस्थैर्योपायमाह—प्रयत्नेति।

स्वाभाविकः प्रयत्नश्चलत्वादासनविघातकः तस्योपरमेणासनं सिध्यति। येन नाङ्गमेजयो भवति। अनन्ते नागनायके स्थिरतरफणासहस्रविधृतविश्वमण्डले चित्तस्य समापत्त्या देहाभिमानाभावे नासनदुःखास्फूर्तेरासनं सिध्यति ॥ ४७ ॥

चन्द्रिका।

उपायमाह—प्रयत्नेति।

तदासनं प्रयत्नशैथिल्येनाक्लेशेनाकाशगतानन्त्यसमापत्त्या च स्थिरम्। अनन्तआनन्त्येति पाठद्वये अर्थद्वयम्। प्रथमपाठे शेषसमापत्तिः, द्वितीये आकाशसमापत्तिः ॥ ४७ ॥

योगसुधाकरः।

प्रयत्नेति। तस्य च प्रयत्नशैथिल्यं लौकिक उपायः। गमनगृहकृत्यतीर्थस्नानादिविषयो यः प्रयत्नो मानस उत्साहस्तस्य शैथिल्यम्। अन्यथा उत्साहो बलादेहमुत्थाप्य यत्र क्वापि प्रेरयति। फणसहस्रेण धरणीं धारयित्वा स्थैर्येणावस्थितो योऽयमनन्तः स एवाहमस्मीति ध्यानं चित्तस्यानन्ते समापत्तिः। तया यथोक्तासनसंपादकमदृष्टं निष्पद्यते। अतस्ताभ्यामासनं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

भोजवृत्तिः।

तस्यैवानुनिष्पादितं(१) फलमाह—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

तस्मिन्नासनजये सति द्वन्द्वैः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादिभिर्योगी नाभिहन्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

आसनादपि सिद्धिमाह—तत इति।

तत आसनस्थैर्याद्द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिरनभिघातश्चित्तालम्बनं भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

आसनसिद्धेः फलमाह—ततो द्वन्द्वानभिघातः। ततः आसनस्थैर्यात्। द्वन्द्वं शीतोष्णादि ॥४८॥

मणिप्रभा।

तस्मिन्सिद्धिलिङ्गमाह—तत इति। आसनजयात् शीतोष्णादिभिरताडनं भवति ॥ ४८ ॥

चन्द्रिका।

फलमाह—तत इति। तस्मिन्नासनजये सति योगी द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिर्नाभिहन्यत इति ॥ ४८ ॥

योगसुधाकरः।

तत इति। सिद्धे चासने शीतोष्णसुखदुःखमानावमानादिद्वन्द्वैर्यथापूर्वं नाभिहन्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भोजवृत्तिः।

आसनजयानन्तरं प्राणायाममाह—

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसनस्थैर्ये सति तन्निमित्तकः प्राणायामलक्षणो योगाङ्गविशेषोऽनुष्ठेयो भवति। कीदृशः? श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः। श्वासप्रश्वासौ निरुक्तौ। तयोस्त्रिधा रेचनाक्षेपण(२)पूरणद्वारेण बाह्याभ्यन्तरेषु स्थानेषु गतेः प्रवाहस्य विच्छेदो धारणं प्राणायाम उच्यते ॥ ४९ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

क्रमप्राप्तं प्राणायामं लक्षयति—तस्मिन्निति।

---

(१) ऽनुनिष्पादि फलमिति पाठान्तरम्। (२) रेचनस्तम्भनेति पाठान्तरम्।

योगसुधाकरः ।

ध्यानप्रकर्षात्तस्मिन्नेकविषयप्रवाहः [illegible], तं लक्षयति—तदेवेति ।

तदेव ध्यानमेव ध्येयैकगोचरतया निर्भासमानं ध्यानस्वरूपशून्यमिव स्थितं समाधिर्भवति । तदुक्तम्—

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना ।
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥ इति ।

नानयोरङ्गाङ्गिनोरत्यन्ताभेदः शङ्कनीयः,ईषद्भेदस्य विद्यमानत्वात् । तथाहि-कर्तृकरणानुसन्धानपुरःसरं जायमानः प्रत्ययो ध्यानम् । तदुत्कर्षात्कर्तृकरणानुसंधानमन्तरेणैव ध्येयमात्रगोचरतया निर्भासमानः समाधिः । स एवापरवैराग्यपुरःसरमादरनैरन्तर्यदीर्घकालासेवितो निरस्तरजस्तमोलेशसुखप्रकाशमयसत्त्वोद्रेकादनवद्यवैशारद्यप्रद्योतरूपश्चिरतरमनुवर्तमानः संप्रज्ञातसमाधिर्भवति । परवैराग्यपूर्वकनिरोधप्रयत्नेन तस्यापि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधिर्भवति । तदुक्तम्—

मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः ।
याऽसंप्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते ॥

इत्येष विभागो द्रष्टव्यः ॥ [illegible] ॥

भोजवृत्तिः ।

उक्तलक्षणस्य योगाङ्गत्रयस्य व्यवहाराय स्वशास्त्रे तान्त्रिकीं संज्ञां कर्तुमाह—

(१)त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एकस्मिन्विषये धारणाध्यानसमाधित्रयं प्रवर्तमानं संयमसंज्ञया शास्त्रे व्यवह्रियते ॥ [illegible] ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

धारणादित्रयस्य परिभाषासूत्रम्—त्रयमिति

तद्धारणादित्रयम् , एकैकविषये क्रियमाणं संयम इत्युच्यत इत्यर्थः । संयमसिद्धयोऽग्रे वक्ष्यन्ते ॥ ४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

एतत्त्रयस्य तान्त्रिकीं संज्ञामाह—त्रयमेकत्र संयमः । एकत्र विषये क्रियमाणमेतत्त्रयं संयम इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

मणिप्रभा ।

धारणाध्यानसमाधित्रयस्य व्यवहारलाघवफलां संयमसंज्ञामाह— त्रयमिति ।

एकविषयं त्रयं संयमसंज्ञं भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

चन्द्रिका ।

योगाङ्गत्रयस्य तान्त्रिकीं सञ्ज्ञामाह—त्रयमिति ।

एकस्मिन् विषये ध्यानधारणासमाधिलक्षणं त्रयं प्रवर्तमानं संयमसञ्ज्ञया शास्त्रे व्यवह्रियते ॥४॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं पूर्वपादोद्दिष्टं धारणादित्रयं व्याख्याय तस्य व्यवहारलाघवाय संयमसंज्ञामाह—त्रयमिति ।

एकविषयं धारणादित्रयं संयमसंज्ञं भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्य फलमाह—

---

(१) तत्त्रयमिति पाठान्तरम् । [illegible] ध्यानं समाधिरित्येतत्त्रयस्य [illegible] प्रयुज्यमानस्य [illegible] त्रिकर्तव्योच्चारणे ग्रन्थगौरवं स्यादतः लाघवार्थं परिभाषासूत्रमाह त्रयमिति ।

भोजवृत्तिः

तस्यैव फलमाह—

(१)तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

तस्य चेतसो निरुक्ता(२)न्निरोधसंस्कारात्प्रशान्तवाहिता भवति । परिहृतविक्षेपतया सदृशप्रवाहपरिणामि चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु वृत्तीनामेव स्मृतिहेतुतया संस्कारजनकत्वं सिद्धं निरोधस्य तु संस्कारजनकत्वे किं प्रमाणं तत्राह—तस्येति ।

तस्य निरोधस्य प्रशान्तवाहिता निश्चलप्रवाहः स्वसंस्कारादेव भवतीत्यर्थः । निरोधसंस्कारवृद्धेरेवोत्तरोत्तरासंप्रज्ञातस्य क्षीणामाधिकाधिककालं प्रशान्तवाहित्वं युक्तमिति भावः ॥ १० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु वृत्तीनां स्मृत्यन्यथानुपपत्त्या संस्कारजनकत्वेऽपि निरोधस्य संस्कारजनकत्वे न मानमत आह—तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् । तस्य निरोधस्य प्रशान्तवाहिता व्युत्थानसंस्काररहितचिरकालवाहिता स्वसंस्कारपाटवादेव भवतीत्यर्थः । संस्कारवृद्ध्यैवोत्तरोत्तरसंप्रज्ञातस्य क्षीणामाधिककालतेति भावः ॥ १० ॥

मणिप्रभा ।

सर्वात्मना व्युत्थानसंस्काराभिभवे सति निरोधस्थैर्यमाह—तस्येति ।

निरोधसंस्कारप्रचयान्निरस्तसमस्तव्युत्थानसंस्कारमलस्य चित्तस्य निरोधसंस्कारपरम्परामात्रवाहिता भवति । ननु तर्हि चलमेव तदाऽपि चित्तम्, सत्यं तदाऽपि तादृशी परिणाममाला स्थैर्यमित्युच्यत इति भावः ॥ १० ॥

चन्द्रिका ।

तस्येति । तस्य चेतस उक्तान्निरोधसंस्कारात् प्रशान्तवाहिता भवति सदृशप्रवाहपरिणामि चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

योगसुधाकरः ।

ननु 'प्रतिक्षणं परिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' इति न्यायेन चित्तस्य सर्वदा परिणामप्रवाहो वक्तव्यः; तत्र व्युत्थितचित्तस्य वृत्तिप्रवाहः स्फुटः, निरुद्धचित्तस्य तु कथमित्याशङ्क्योत्तरमाह—तस्येति ।

यथा समिदाज्याहुतिप्रक्षेपे वह्निरुत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्वलति, समिदादिप्रक्षये प्रथमक्षणे किंचिच्छाम्यति, उत्तरोत्तरक्षणे शान्तिर्वर्धते, तथा निरुद्धचित्तस्योत्तरोत्तराधिकं प्रशमः प्रवहति । पूर्वपूर्वप्रशमजनितसंस्कार एवोत्तरोत्तरप्रशमस्य कारणमित्यतः प्रशमप्रवाहसंभवान्न कोऽपि दोष इति भावः ॥ १० ॥

भोजवृत्तिः ।

निरोधपरिणाममभिधाय समाधिपरिणाममाह—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सर्वार्थता चलत्वान्नानाविधार्थग्रहणं चित्तस्य विक्षेपो धर्मः । एकस्मिन्नेवाऽऽलम्बने सदृशपरिणा-

---

(१) व्युत्थानसंस्काराभिभवे निरोधसंस्कारप्रादुर्भावे च चित्तस्य कीदृशः परिणाम इत्याह तस्येति । व्युत्थानसंस्काररूपमलरहितनिरोधसंस्कारपरम्परामात्रवाहिता प्रशान्तवाहिता ।

(२) चेतस उक्तादिति पाठान्तरम् ।

याऽवस्थानम्(१), तदा निरोधक्षणे चित्तस्योभयवृत्तित्वादन्वयो यः स निरोधपरिणाम उच्यते। अयमर्थः—यदा व्युत्थानसंस्काररूपो धर्मस्तिरोभूतो भवति निरोधसंस्काररूपश्चाऽऽविर्भवति, धर्मिरूपतया च चित्तमुभयधर्मान्वयित्वेनाऽवस्थितं(२)प्रतीयते, तदा स निरोधपरिणामशब्देन व्यवह्रियते। चलत्वाद्गुणवृत्तस्य यद्यपि चेतसो निश्चलत्वं नास्ति तथाऽपि एवंभूतः परिणामः स्थैर्यमुच्यते ॥ ९ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

ज्ञानोपायप्रसंगेन योगाङ्गानि विस्तरतः प्रोक्तानि। इदानीमङ्गभूतस्य समाधेरङ्गिनोश्च योगयोः स्वरूपभेदावधारणाय तदवस्थासु विशेषा वक्तव्याः। तावतैव तयोरङ्गाङ्गिनोः प्रयोजनमपि प्रतिपादितं भविष्यति। तत्रादावङ्गसमाध्यवस्थातोऽङ्गियोगयोरवस्थायां विशेषमाह—व्युत्थानेति।

व्युत्थानं निरोधश्च योगद्वयसाधारणमेवात्र ग्राह्यम्। केवलस्यासंप्रज्ञातस्य ग्रहणे संप्रज्ञातकालीनपरिणामाकथनान्न्यूनतापत्तेरिति। अभिभवप्रादुर्भावौ च ह्रासवृद्धी। तथाच व्युत्थानसंस्कारस्य ह्रासो वृत्तिनिरोधसंस्कारस्य वृद्धिर्निरोधकालीनः परिणामः। स च निरोधक्षणेष्वेकस्मिन्नेव स्थिरे चित्ते इत्यतश्चित्तस्थैर्यप्रतिपादनाय चित्तपदम्। निरोधस्य प्रतिक्षणमेतादृशपरिणामलाभाय निरोधक्षणेत्युक्तम् ॥ ९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथासंप्रज्ञातस्य किं कार्यं तत्र च तस्य कीदृशः परिणामस्तमाह—व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः। संप्रज्ञातोऽप्यत्र व्युत्थानम्। तत्र व्युत्थानकालिकसंस्काररूपेण चित्तस्य परिणामः। सर्वक्षणेषु च निरोध(ल)क्षणस्य तत्स्वरूपस्यैव चित्तस्य तत्रान्वय इत्यर्थः ॥ ९ ॥

मणिप्रभा।

सम्प्रति संयमाङ्गभूतविवक्षुकामः संयमस्य लक्ष्यान् परिणामान् दर्शयति—व्युत्थानेति।

व्युत्थानं संप्रज्ञातः। स निरुध्यते येन तत्परवैराग्यं निरोधः। तत्र यदा व्युत्थानसंस्कारस्याभिभवो निरोधसंस्कारस्य प्रादुर्भावश्च भवतस्तदा निरोधसंस्कारस्यासंप्रज्ञातस्य क्षणेनावसरेण युक्तं चित्तं भवति। तस्य निरोधक्षणस्य चित्तस्य धर्मिणस्त्रिगुणत्वेन चलस्य सदा परिणामशीलस्याभिभूतप्रादुर्भूतयोः संस्कारयोर्धर्मित्वेन योऽन्वयः स निरोधाख्यः परिणाम इत्यर्थः। परवैराग्यरूपवृत्त्या संप्रज्ञातवृत्तेस्तत्संस्कारस्य चाभिभवे सति परवैराग्यसंस्कार एवाभिव्यक्तः सन्निर्बीजनिरोधपरिणाम इति भावः ॥९॥

चन्द्रिका।

व्युत्थानेति। व्युत्थानं क्षिप्तादिभूमित्रयं निरोधः प्रकृष्टसत्त्वचेतसः परिणामः ताभ्यां जातौ यौ संस्कारौ तयोर्यथाक्रममभिभवप्रादुर्भावौ यदा भवतस्तदा निरोधक्षणे चित्तस्योभयवृत्तित्वादन्वयो यः स निरोधपरिणाम इत्युच्यते ॥ ९ ॥

योगसुधाकरः।

ननु 'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' इत्युक्तम्। कोऽसौ निर्बीजः समाधिरित्यपेक्षायामाह—व्युत्थानेति।

व्युत्थानसंस्काराः समाधिविरोधिनः। ते च निरोधहेतुना योगिप्रयत्नेन प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च अभिभूयन्ते, तद्विरोधिनश्च निरोधसंस्काराः प्रादुर्भवन्ति। तथासति निरोध एकैकस्मिन्क्षणे चित्तमनुगच्छति। सोऽयमीदृशश्चित्तस्य निरोधपरिणामो निर्बीजः समाधिर्भवति ॥ ९ ॥

---

(१) ऽऽविर्भाव इति पाठान्तरम्।
(२) उभयान्वयित्वेऽपि निरोधतयाऽवस्थितमिति पाठान्तरम्।

व्यावृत्तिः। नह्यत्यन्ताभेदे धर्मधर्मिभाव एव घटव्यक्त्योरिव। नाप्यत्यन्तभेदः अश्वपुरुषयोरिव। वर्तमानादिलक्षणानां चाविर्भावतिरोभावरूपाविरुद्धधर्मसंसर्गाद्संकरः परस्परम्। आविर्भावतिरोभावस्तु तत्स्वरूप एव नातिरिक्त इति नानवस्था। अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति दिक्॥ १३॥

मणिप्रभा।

मनःपरिणामेषु निरोधसमाध्येकाग्रतासूक्तन्यायमन्यत्रातिदिशति एतेनेति।

भूतेषु पृथिव्यादिषु धर्मिषु चक्षुरादीन्द्रियेषु च। परिणामस्त्रिविधः धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चेति। एतेन मनःपरिणामव्याख्यानेन व्याख्याता भवन्ति। तथा हि मृदःपिण्डरूपधर्माभिभवे सति घटरूपो धर्मः प्रादुर्भवति यथा तथा चित्तस्य व्युत्थानात्यये निरोधोद्भवः सोऽयं धर्मपरिणामः। लक्षयति कार्यरूपं धर्मं व्यावर्तयतीति लक्षणं कालत्रयम् अनागतोऽध्वा वर्तमानोऽध्वाऽतीतोऽध्वेति कालत्रयमेवाध्वत्रयमित्युच्यते। तत्र तद्धर्मस्य घटस्यानागतत्वं प्रथमोऽध्वा, वर्तमानत्वं द्वितीयोऽध्वा,ऽतीतत्वं तृतीयोऽध्वा, सोऽयं लक्षणपरिणामः। अनागतत्वं हि धर्मो वर्तमानातीतधर्माभ्यां व्यावर्तयति। एवं वर्तमानत्वादिकमपि लक्षणं मन्तव्यम्। एवं लक्षणपरिणामस्य तदवच्छिन्नस्य धर्मस्य वाऽवस्थापरिणामो द्रष्टव्यः। स यथा आगामिकल्पभावी अनागततमः, एतत्कल्पभाव्यनागततरः, श्वोभावी अनागतः, सद्यो जातो वर्तमानतम, इत्याद्यूह्यम्। तथा वर्तमानस्य नवत्वपुराणत्वादयोऽवस्थापरिणामाः। एवं "प्रतिक्षणपरिणामिनः सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेरि"ति संक्षेपः॥ १३॥

चन्द्रिका।

एतेनेति। एतेन त्रिविधोक्तचित्तपरिणामेन भूतेषु स्थूलसूक्ष्मेषु इन्द्रियेषु बुद्धिकर्मभेदेन स्थितेषु धर्मलक्षणावस्थाभेदेन त्रिविधः परिणामो व्याख्यातोऽवगन्तव्यः। [illegible] धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तराविर्भावो धर्मपरिणामः। भविष्यत्त्वं विहाय वर्तमानत्वस्य वर्तमानत्वं विहायातीतत्वस्य स्वीकारो लक्षणपरिणामः। कोमलत्वादिकं विहाय काठिनत्वादेः स्वीकारोऽवस्थापरिणामः। यतश्चलगुणवृत्तिर्नापरिणममाना क्षणमप्यास्ति॥ १३॥

योगसुधाकरः।

इत्थमभिहितं परिणामत्रयं संयमाद्विभूतीर्वक्तुकामः संयमलक्ष्यत्वेनान्यत्रातिदिशति—एतेनेति।

एतेन त्रिधाभिहितेन चित्तधर्मादिपरिणामेन भूतेषु पृथिव्यादिषु चक्षुरादीन्द्रियेषु च धर्मिषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याता [illegible]। तत्र मृद्रूपस्य धर्मिणो घटाकारपरिणामो धर्मपरिणामः। तस्यैव घटस्य धर्मस्यानागताध्वपरित्यागेन वर्तमानाध्वस्वीकारः तत्परित्यागेनातीताध्वपरिग्रहो लक्षणपरिणामः। तस्यैव घटस्य क्षणे क्षणे परिणामोऽवस्थापरिणामः। [illegible] प्रतिक्षणं परिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेरिति संक्षेपः॥ १३॥

भोजवृत्तिः।

ननु कोऽयं धर्मीत्याशङ्क्य धर्मिणो लक्षणमाह—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी॥ १४॥

शान्ता ये कृतस्वस्वव्यापारा अतीतेऽध्वनि अनुप्रविष्टाः, उदिता येऽनागतमध्वानं परित्यज्य वर्तमाने(१) अध्वनि स्वव्यापारं कुर्वन्ति, अव्यपदेश्या ये शक्तिरूपेण स्थिता व्यपदेष्टुं न शक्यन्ते तेषां यथास्वं सर्वात्मकत्वमित्येवमादयो नियतकार्यकारणरूपयोग्यतयावच्छिन्ना शक्तिरेवेह धर्मशब्देनाभिधीयते। तं त्रिविधमपि धर्मं योऽनुपतति अनुवर्ततेऽन्वयित्वेन स्वीकरोति स शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मीत्युच्यते। यथा-सुवर्णं रुचकरूपधर्मपरित्यागेन स्वस्तिकरूपधर्मान्तरपरिग्रहे सुवर्णरूपत-

---

(१) व्यावर्तमाने इति पाठान्तरम्।

घटरूपधर्मान्तरस्वीकारो धर्मपरिणाम इत्युच्यते । लक्षणपरिणामो यथा—तस्यैव घटस्यानागताध्वपरित्यागेन वर्तमानाध्वस्वीकारः । तत्परित्यागेन चातीताध्वपरिग्रहः । अवस्थापरिणामो यथा—तस्यैव घटस्य प्रथमद्वितीययोः सदृशयोः क्षणयोरन्वयित्वेन(१)यतश्च गुणवृत्तिर्नापरिणममाना क्षणमप्यास्ते ११॥

भावागणेशवृत्तिः ।

इदानीं परिणामत्रयसंयमादित्यागामिसूत्रोपोद्घातसंगत्या सर्ववस्तुषु वैराग्याग्निप्रज्वलनाय चित्तवदेवाखिलप्रपञ्चेऽप्यतिदेशेनैव परिणामान्व्याचष्टे—एतेनेति ।

एतेन चित्तस्य परिणामेन भूतेष्विन्द्रियेषु च धर्मलक्षणैरवस्थाभिश्च परिणामा व्याख्याताः । एतदन्यतमैः परिणामैः शून्यं क्षणमपि न किञ्चिज्जडवस्त्ववतिष्ठत इत्यर्थः । परिणामश्चान्यथात्वम् । तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो यथा मृद्धर्मिणः पिण्डरूपधर्मापाये घटधर्मोत्पत्तिः । धर्माणां च लक्षणपरिणामो यथा पिण्डस्य वर्तमानलक्षणापायेऽतीतलक्षणोत्पत्तिः, घटस्य चानागतलक्षणापाये वर्तमानलक्षणोत्पत्तिः । अनागतवर्तमानातीतावस्थासु च तान्त्रिकी लक्षणपरिभाषा । लक्षणानां चावस्थापरिणामो यथा—वर्तमानलक्षण एव घटः प्रतिक्षणं नवपुराणावस्थाभिरन्यथात्वमेति । यद्यपि सर्व एव परिणामः परमार्थतो धर्मिण एव धर्मादीनां तत्त्वतो धर्मिस्वरूपत्वात्तथापि व्यावहारिकावान्तररूपैरीदृशोऽपि विभाग उच्यत इति ॥ १३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

सर्वत्र वैराग्यातिशयाय चित्तवदेव प्रतिक्षणपरिणामित्वं वस्तुमात्रेऽतिदिशति—एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः । अनागतवर्तमानातीतावस्थासु लक्षणेति तान्त्रिकी संज्ञा । तत्र चित्तस्य व्युत्थाननिरोधाभ्यां धर्माभ्यां परिणामः तद्धर्माभिभवापरधर्मप्रादुर्भावरूपः, धर्मयोश्चानागतं लक्षणं त्यक्त्वा वर्तमानलक्षणः यत्र स्वरूपाभिव्यक्तिः, ततो वर्तमानलक्षणं त्यक्त्वातीतलक्षणः स्वरूपाभिभवरूपः । एकैकावस्थायामपि इतरे द्वे स्त एव सत्कार्यवादाभ्युपगमात् । धर्मत्वं त्रिष्वप्यनुस्यूतमेव । एवं पुनःपुनर्निरोधजातीयः पुनःपुनर्व्युत्थानजातीयः अतीतव्यक्तेः पुनरनुद्भवात् । धर्माणां वर्तमानलक्षणानां बलवत्त्वाबलवत्त्वे अवस्था, तस्याः प्रतिक्षणं तारतम्यं परिणामः । यथा निरोधसंस्कारेषु बलवत्सु दुर्बला व्युत्थानसंस्काराः । क्षणमपि परिणामशून्यं न चित्तं गुणानां स्वभावतः प्रवृत्तिशीलत्वात् । एतयैव रीत्या पदार्थमात्रे परिणामा वेदितव्या इत्यतिदेशः । तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो यथा—मृदो धर्मिणः पिण्डरूपधर्मापाये घटरूपधर्माभिव्यक्तिः । तेषां लक्षणैः परिणामो यथा—घटस्यानागतलक्षणापाये वर्तमानलक्षणाविर्भावः । एषैवोत्पत्तिः । वर्तमानलक्षणापायेऽतीतलक्षणाविर्भावः एष एव नाशः । लक्षणानां चावस्थाभिः परिणामो यथा—वर्तमानलक्षण एव घटः प्रतिक्षणं नवपुराणपरिणामं वृद्धिह्रासाद्यवस्थाभिरन्यथात्वं याति । एवमिन्द्रियाणामपि तत्तद्रूपाद्यालोचनं धर्मपरिणामः । तेषां च वर्तमानत्वादिः लक्षणपरिणामः । वर्तमानलक्षणस्य रूपाद्यालोचनस्य स्फुटत्वास्फुटत्वादिरवस्थापरिणामः । इदं च धर्मिणो धर्मलक्षणावस्थानां च काल्पनिकं भेदमाश्रित्योक्तम् । परमार्थस्तु सर्व एव परिणामो धर्मिण एव । धर्मलक्षणावस्थानां धर्मिमात्रस्वरूपत्वात् । धर्मादिपरिणामद्वारा च धर्मिपरिणामस्यैव प्रपञ्चनात् । तत्र धर्मिणास्त्रिविधेऽपि परिणामे संस्थानान्यथात्वमेव न द्रव्यान्यथात्वं स्वर्णकटकादिवत् धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदोऽत्यन्ताभेदश्च नेति तात्पर्यम् । स चायं धर्मो न पुरुषवत्कूटस्थोऽर्थक्रियाकारिणो रूपस्य नाशात् । नाप्यत्यन्तं तुच्छः कदाचिदर्थक्रियादर्शनात् । एवं च परिणामित्वेन पुरुषाद्भिद्यते । मृत्पिण्डाद्यवस्थासु चातीतानागतानां घटादीनां सत्त्वमेव, सर्वदा धर्मत्वानपायस्य भाष्योक्तेः । स्वकारणे लयेन सौक्ष्म्यादतीतानागतलक्षणयोरनुपलब्धिः । असत उत्पत्त्यसंभवे सतश्च सर्वथा नाशासंभवेनैष एव मार्गो ज्यायान् । अनुभवादपि धर्मधर्मिणोरभेदो धर्माणां च परस्परं

---

(१) काललक्षणयोरन्वयित्वेनेति पाठान्तरम् ।

याऽनुवर्तमाने तेषु धर्मेषु कथंचिद्भिन्नेषु धर्मिरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषात्मना स्थितम-न्वयित्वेन(१) अवभासते ॥ १४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु धर्मातिरिक्तो धर्मी अप्रामाणिको यस्य धर्मादिः परिणामः स्यादिति यौद्धाशङ्कायां धर्मेभ्यो विवेकतो धर्मिणं साधयति—शान्तेति ।

अतीतवर्तमानानागतधर्मेष्वनुपाती वर्तमानरूपेणानुगतो यः स धर्मीत्यर्थः । वर्तमानत्वावर्तमान-त्ववैधर्म्येण धर्मी धर्मेभ्योऽन्य इति भावः । सर्वेऽपि ■ धर्मा धर्मिणो वर्तमानावस्थायामेवाव्यक्ता अपि भवन्ति ॥ १४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

ननु धर्मातिरिक्तो धर्मी न प्रामाणिकः यस्य धर्मादिः परिणामः स्यादिति बौद्धनिरासाय धर्मातिरिक्तं धर्मिणं साधयति—शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी । अतीतवर्तमानानागतेषु धर्मेष्वनुपाती वर्तमानरूपेणानुगतो यः सः धर्मीत्यर्थः । धर्माश्च धर्मिणो द्रव्यस्य मृदादेस्तत्कार्ययोग्यतावच्छिन्ना चूर्णपिण्डघटादिजननशक्तिरेव । तेषां तथाव्यक्तत्वेन भाव इति यावत् । कदाकाहरणादीनामाकस्मिकत्व-वारणाय योग्यतावच्छिन्नेति । ततश्च तान्यपि स्वाकारणादेव भासानीति तद्वांश्च धर्मी, कार्यभेददर्शनं च तत्सद्भावे तद्भेदे च प्रमाणम् । वर्तमानश्च पिण्डादिधर्मः शान्तोदितमृच्चूर्णमृद्घटाभ्यां भिन्नः, अन्यथा तयोरपि स्वकार्यकारित्वप्रसङ्गः । अव्यक्तावस्थायां कारणरूपधर्मिमात्ररूपत्वान्न भेदप्रतीतिः । अनागता-वस्थायां तु वर्तमानावस्थैव प्रमाणं, असत उत्पादाभावात् । तत्रानागतावस्थाऽनन्तरा वर्तमानावस्था, ततोऽनन्तरातीतावस्थां, ततोऽनन्तरावस्था तु न अनुपलब्धेः । उपादानकारणेषु सर्वकार्याणां सत्त्वेऽपि देशकालाकारनिमित्तकत्वाच्च सर्वदा सर्वमाविर्भवति । देशः केशरस्य काश्मीरमेव । कालः शालीनां वर्षैव । आकारो मनुष्यस्य मानुष्येवेति । अन्यथा जलभूमिरूपोपादानकारणस्य सर्वशक्तिरूपत्वात्सर्वं सर्वदा सर्वस्मिन्नपि आविर्भवेत । एवमपुण्यवान् सुखं न भुङ्क्ते तस्मिन् पुण्यनिमित्ताभावात् । यः सर्वेष्वनुगतः सामान्यविशेषात्मा स धर्मी सामान्यं धर्मिरूपं विशेषा धर्मास्तदुभयात्मकः । यदि च धर्मी न स्यात् अन्यविज्ञानकृतस्यान्यो भोक्ता न स्यात्स्मरणोच्छेदश्च । प्रत्यभिज्ञा च न स्यात्, धर्माणामनव-रतपरिणामित्वेन स्थैर्याभावात् । एष काल्पनिको धर्मधर्मिभावः । पारमार्थतस्तु अलिङ्गप्रधानमेव सर्वत्र धर्मीति भाष्ये ध्वनितम् ॥ १४ ॥

मणिप्रभा ।

यस्यायं त्रिविधः परिणामः तं धर्मिणं दर्शयति शान्तेति ।

शान्ताः कृतव्यापारा अतीताः । उदिता जलाहरणादिव्यापाराविष्टा वर्तमानाः । अव्यपदेश्याः शक्तिरूपेण मृदादिषु धर्मिषु स्थिता अनागताः । ते ■ सूक्ष्मतया धर्मिणो धर्मान्तराच्च भेदेन व्यप-देष्टुं न शक्यन्त अत एव सर्वं कार्यं शक्तिरूपेणाव्यपदेश्यं कारणमात्रसम्भावितमिति सर्वं कारणं सर्व-कार्यात्मकं भवति । दृश्यते हि दावदग्धवेत्रबीजात्कदलीकाण्डोद्भवः । ■ हि तथासत उद्भवः सम्भवति अभिव्यञ्जकानां देशकालकर्मादीनां वैचित्र्यात्कार्त्कचित्कश्चिदेवोद्भवतीति लोके कार्यकारणव्यवस्था । योगसिद्धानां देशादिप्रतिबन्धाभावात्सर्वस्मात्सर्वमुत्पाते तानेतान् शान्तोदिताव्यपदेश्यान् घटीयन्त्र-वदनिशमावर्तमानान्योऽनुपतत्यन्वेति सोऽनुपाती धर्मी । यथा मृत्सुवर्णादिश्चूर्णपिण्डघटरुचका-द्यन्वयी धर्मीत्युच्यते ॥ १४ ॥

चन्द्रिका ।

धर्मिलक्षणमाह शान्तेति ।

शान्ताः कृतस्वस्वव्यापारा उदिताः स्वं ■ व्यापारं कुर्वन्ति अव्यपदेश्याः शक्तिस्वरूपेण स्थिता-

---

(१) अनुपातित्वेन, अनुयायित्वेनेति च पाठान्तरम् ।

तत्प्रत्ययान्मृद एकत्वं सहकारिभेदाच्च तेषां नाकस्मिकत्वमिति [illegible] । एवमनागतवर्तमानातीतत्वलक्षणानामपि क्रमोऽनुभूयेत । एवमवस्थापरिणामक्रमोऽनुभूयते बाल्ययौवनवार्धकानाम् । एवं चित्तस्य द्वये धर्माः प्रत्यक्षा अनुमानशब्दगम्याश्च । तत्र [illegible] पञ्च प्रत्यक्षाः । अप्रत्यक्षास्तु सप्त यथा निरोधसंस्काराः कालवृद्ध्यानुमेयाः आगमज्ञेयाश्च । पुण्यापुण्ये आगमज्ञेये सुखदुःखाभ्यामनुमानेन । संस्काराः स्मृत्यानुमीयन्ते । एवं त्रिगुणत्वाच्चित्तस्य गुणानां चलवृत्तित्वाच्च प्रतिक्षणं परिणामोऽनुमीयते । जीवनं प्राणधारणं प्रयत्नभेदः श्वासप्रश्वासाभ्यामनुमीयते । तत्तदिन्द्रियैः संयोगास्तस्य चेष्टानुमीयते । चेष्टा च तत्र वृत्तिद्वारिका । शक्तिः कार्याणां सूक्ष्मावस्था स्थूलकार्यानुभवादनुमीयते इति दिक् ॥ १५ ॥

मणिप्रभा ।

नन्वेकस्य धर्मिणः परिणामबहुत्वे को हेतुरित्यत आह क्रमेति ।

मृदि चूर्णपिण्डयोः पिण्डघटयोर्घटकपालयोः पौर्वापर्यरूपक्रमस्यान्यत्वं दृश्यमानमेकस्या एव मृदः परिणामानां चूर्णादीनां धर्माणामन्यत्वे हेतुर्ज्ञापकः । एवमनागतवर्तमानातीताध्वनां क्रमाल्लक्षणपरिणामान्यत्वे धर्माणां ज्ञेयम् । तथा क्षणपरम्परया घटव्रीह्यादीनां दुर्लक्ष्यसूक्ष्मपरिणामक्रमेण नवत्वपुराणत्वाद्यवस्थापरिणामान्यत्वे बोध्यम् । दृश्यते हि कुसूलरक्षितव्रीहीणां कालेन पाणिस्पर्शमात्रेण चूर्णावस्था । न हीयं क्षणिकपरिणामक्रमं विना नवानां वा दृष्टा । नाप्येकस्यान्नवति । तस्माद्धर्मिणः परिणामिनित्यस्य धर्मा भिन्नाः, धर्माणां लक्षणानि, तेषामवस्था, इति स्थितम् । धर्म्यन्यत्वाच्च क्षणिकत्ववाद इत्यनवद्यम् । तत्र के चित्तपरिणामाश्चित्तस्य प्रत्यक्षाः कामसुखादयः । केचित्त्वागमानुमानगम्याः सप्त । तदुक्तं भाष्ये—

> निरोधकर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।
> चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥

इति । परोक्षा इत्यर्थः । कर्म पुण्यापुण्यापूर्वम् । त्रिगुणत्वाच्चित्तस्य प्रतिक्षणपरिणामोऽनुमेयः । जीवनं श्वासादिलिङ्गगम्यं प्राणधारणम् । चेष्टा क्रिया चित्तस्था गात्रचेष्टागम्या । कार्याणां सूक्ष्मावस्था शक्तिः ॥ १५ ॥

चन्द्रिका ।

क्रमेति । धर्माणामुक्तानां यः क्रमस्तस्य यत्प्रतिक्षणमन्यत्वं परिणामस्यान्यत्वे नानाविधत्वे हेतुर्ज्ञापकं भवति यथा मृदो घटादिः ॥ १५ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वेकस्य धर्मिणः परिणामबहुत्वे को हेतुरित्यत आह –क्रमेति ।

मृदि चूर्णपिण्डयोः पिण्डघटयोर्घटकपालयोः पौर्वापर्यरूपक्रमस्यान्यत्वं दृश्यमानमेकस्या एव मृदः परिणामानां चूर्णादीनां धर्माणामन्यत्वे हेतुर्ज्ञापकः । एवमनागतवर्तमानातीताध्वनां क्रमाल्लक्षणपरिणामान्यत्वं धर्माणां ज्ञेयम् । तथा क्षणपरम्परया घटादीनां दुर्लक्ष्यसूक्ष्मपरिणामक्रमेणावस्थापरिणामान्यत्वं बोध्यम् ॥ १५ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीमुक्तस्य संयमस्य विषयप्रदर्शनद्वारेण सिद्धीः प्रतिपादयितुमाह—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

धर्मलक्षणावस्थाभेदेन यत्परिणामत्रयमुक्तं तत्र संयमात्तस्मिन्विषये पूर्वोक्तसंयमस्य करणादतीतानागतज्ञानं योगिनः समाधेराविर्भवति । इदमत्र तात्पर्यम्–अस्मिन्धर्मिणि अयं धर्म इदं लक्षणमियमवस्था चानागतादध्वनः समेत्य वर्तमानेऽध्वनि स्वं व्यापारं विधायातीतमध्वानं प्रविशतीत्येवं परिहृतविक्षेपतया यदा संयमं करोति तदा यत्किंचिदनुत्पन्नमतिक्रान्तं वा तत्सर्वं योगी जानाति । यतश्चित्तस्य शुद्ध-

अर्थबोधका इति लौकिकानां भ्रमात् । प्रत्येकं गकारादिषु तत्तादात्म्येन वाचकत्वभ्रमात् । तत्त्वतस्तु गौरित्याद्येकं पदमिति एकबुद्धिविषयत्वादेकं पदम् औपाधिकभागवत्त्वेऽपि परमार्थतोऽभागमत एव भागक्रमरहितमत एव वर्णविलक्षणं विलक्षणप्रयत्नजन्यतत्तद्ध्वनिसमूहव्यङ्ग्यं बुद्धितत्त्वाश्रयं पूर्वपूर्ववर्णज्ञानजन्यसंस्कारसहकृतान्त्यवर्णज्ञानजन्यसंस्कारसंस्कृतचित्तग्राह्यं वाचकम् । नन्वेवमीदृशं चेत् तादृशं कुतो नोपलभ्यते कदाचित् स्फटिकस्य स्वच्छस्येवोपलम्भवदिति चेन्न । परप्रतिपिपादयिषयोच्चार्यमाणवर्णैरुच्चारयितृभिः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिः क्रियमाणो योऽयमनादिव्यवहारस्तत्तद्वर्णनिबन्धनस्तज्जन्ययाऽनादिवासितलोकबुद्ध्या वर्णरूषितपदावगाहिन्यैव सफलवृद्धसम्वादेन तस्य समन्वयात् । उपाधिं विना तस्य कथमपि अनभिव्यक्तेर्न तस्य वर्णानालिङ्गितः प्रत्यय इति तत्त्वम् । तादृशे एव प्रतीते सङ्केतग्रहात्; एतावता वर्णानामेवंजातीयक्रमवान् एकबुद्धिविषयोऽस्यार्थस्य वाचक इति सङ्केतग्रहभ्रमो लौकिकानाम् । तैर्गकारादीनामपि तद्भागतया तत्तादात्म्येन तेष्वपि वाचकत्वारोपात् । इदमेवाभिप्रेत्य एषामर्थसङ्केतेनावच्छिन्नानामङ्गीकृतक्रमाणां बुद्धिनिर्ग्राह्यमेकं पदं वाचकमिति भाष्ये उक्तम् । वस्तुतः सङ्केतग्रहस्तथाप्रतीतेः आन्तर एव स्फोटे । ननु यदि अस्यार्थस्यायं वाचक इति सङ्केतस्तदा परस्पराध्यासः कथमिति चेन्न । पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपो योऽर्थः शब्दः सोऽयमर्थो योऽयमर्थः स शब्द इत्येव सङ्केतग्रहात् । एवमाकारसङ्केते कदाचिद्भेदमारोप्य राहोः शिर इतिवत्षष्ठीप्रयोगात् । एतेन तेषां गृहीतसङ्केतानां तद्व्यञ्जकत्वमगृहीतसङ्केतानां वेत्यादिविकल्पनमपास्तम् । अगृहीतसङ्केतैरपि तस्य व्यञ्जनात् । व्यक्तादपि बोधो न सङ्केतग्रहाभावादित्यन्यत् । अत एवागृहीतार्थकेऽपि इदं पदमित्यनुभवो जायत एव । अर्थस्तत्रान्तरे निरूपित एव । अत एवैते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात्सङ्कीर्णाः गौरितिप्रत्ययो गौरित्यर्थो गौरितिशब्द इति य एषां प्रविभागज्ञः स सर्वभूतरुतज्ञः । एतेनास्माकं शब्दार्थज्ञानभेदसाक्षात्कारेऽपि तस्य संयमजन्यत्वाभावान्न सर्वभूतरुतज्ञानमित्यपास्तम्, सूत्रभाष्यविरोधात् । वस्तुतस्तु कल्पितपदविभागमेकमखण्डवाक्यमेव वाचकम् । यथा वाक्यप्रत्यक्षकल्पनाकालेऽन्तरतादात्म्येन वर्णानां पदार्थवाचकत्वमेवं पदानामप्यस्ति वाक्यार्थवाचकत्वम् । अत एव वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते । लोको हि पदार्थमस्त्यर्थेन मेलयित्वा वाक्यार्थं करोतीति । तेन पदार्थमात्रस्याव्यभिचारात् । [illegible] एव हि पदानामर्थावधारणम् । यथा पचतीत्युक्ते तदन्वययोग्यसर्वकारकाक्षेपः । चैत्रोऽग्निना स्थाल्यां तण्डुलानिति प्रयोगस्तु नियमार्थः । न च पदस्य वाक्यार्थशक्तिमत्त्वे तन्मात्रात्तदर्थावसायः स्यादिति वाच्यम् । वाक्यादेव प्रतीतेः लौकिकानां वर्णेभ्य इति भ्रमः । इमानि पदानि अस्य वाक्यार्थस्य बोधकानीत्युक्तप्रायत्वात् । नन्वेवं पदैकदेशप्रत्ययप्रकृत्यादीनां तत्तदर्थे व्याकरणं कृतं विरुध्येतेति चेन्न । वाक्यात्पदान्यपोद्धृत्य वाक्यार्थाच्च तत्तदर्थमपोद्धृत्य तत्तदंशे च तत्तदर्थवत्त्वं प्रकल्प्यान्वाख्यानलाघवाय प्रकृतिप्रत्ययादिविभागकल्पनया व्याकरणारम्भात् । अन्वाख्यानाभावे घटो भवति तिष्ठति । अश्व-स्त्वं अश्वो याति, अजापयः पिबाजापयः शत्रूनिति नामाख्यातसारूप्यान्नामत्वेन वा ज्ञातं क्रियार्थकं कारकार्थकं नेति कथं वा ज्ञायेत कथं वान्यान्प्रति तत्तदर्थकत्वेन व्याक्रियेत चेति दिक् । एवमनादिसङ्केतापादितः सङ्करोऽध्यासजन्यः । [illegible] च सङ्केतोपाधिकः सङ्करः वास्तवस्तु विभाग एव । यथा श्वेत इति पूर्वापरीभूतावयवसाध्यरूपक्रियार्थः शब्दः श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः । अभिहितत्वाच्च कारकविभक्तेरभावः क्रियाकारकात्मा च तदर्थः । तदर्थविषयश्च प्रत्यय इत्यस्ति विभागो निरुपाधिकः तत्प्रविभागसंयमाद्योगी सर्वभूतानां पशुपक्षिमृगादीनां यानि रुतानि तत्रापीदं पदं अयमर्थोऽयं प्रत्यय इति ज्ञानवान् भवति । तदिह मनुष्यवचनवाच्यप्रत्ययेषु कृतः संयमस्तत्समानजातीयेषु तेष्वपि कृत इति तेषां शब्दभेदमर्थभेदं प्रत्ययं च योगी जानातीति सिद्धमिति दिक् ॥ १७ ॥

मणिप्रभा ।

शब्दार्थेति । वर्णातिरिक्तो वर्णैर्व्यङ्ग्यो नित्यो निर्भागः शब्दः स्फोटः । स द्विविधः । गौरित्येकं पदमिति श्रोत्रग्राह्यः पदस्फोटः, गामानयेत्येकं वाक्यमिति ग्राह्यो वाक्यस्फोटः । न च क्षणिकानेकव

जविपाकहेतवः, यथा—धर्माधर्माख्याः । तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति एवं मया सोऽर्थोऽनुभूत एवं मया सा क्रिया निष्पादितेति पूर्ववृत्तमनुसंदधानो भावयन्नेव(१) प्रबोधकमन्तरेणोद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं स्मरति । क्रमेण साक्षात्कृतेषूद्बुद्धेषु संस्कारेषु पूर्वजन्मानुभूतानपि जात्यादीन्प्रत्यक्षेण पश्यति ॥ १८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

संस्कारेति । संस्कारसंयमेनेति सूत्रस्यादौ पूरणीयम् । संस्कारश्च द्विविधः । ज्ञानरागादिवासना धर्माधर्मौ च । तेषु पूर्वजन्मसंस्कारेषु संयमात्साक्षात्कृतेषु पूर्वजन्मज्ञानं जातिस्मरता भवतीत्यर्थः ॥१८॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् । संस्कारसंयमेनेत्यादि । संस्कारो द्विविधः—ज्ञानरागादिवासनारूपो धर्माधर्मरूपश्च । पूर्वजन्मभवे ह्येतस्मिन् द्विविधेऽप्रत्यक्षेऽपि श्रुतानुमानाभ्यां ज्ञात्वा संयमेन साक्षात्कृते पूर्वजातिज्ञानं जातिस्मरता भवतीत्यर्थः । एवं परकीयसंस्कारसाक्षात्करणात्परजातिज्ञानमपि भवतीति बोध्यम् ॥ १८ ॥

मणिप्रभा ।

संस्कारेति । अनुभवक्लेशजाः स्मृतिक्लेशहेतवः, कर्मजाः सुखदुःखहेतव, इतीमे संस्काराः सन्ति चित्तस्य धर्माः पूर्वजन्मपरम्परासञ्चितास्तेषु श्रुतेष्वनुमितेषु च संयमेन साक्षात्कृतेषु तद्धेतुत्वेन स्वीयपरकीयपूर्वजन्मपरम्परायाः साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । अत्र भगवान् जैगीषव्य उदाहरणम् । तस्य किल योगिवर्यस्य प्रकृतिवशिनः संस्कारसाक्षात्काराद्दशसु महाकल्पेषु देवतिर्यङ्नरादियोनिषु जन्मपरम्परा साक्षात्कृतवतो दिव्यविवेकख्यातिश्च प्रादुरभवत् । तं भगवान् आवट्यः पप्रच्छ—भगवन् ! त्वया दृष्टेषु दशकल्पेषु सुखदुःखयोः किमधिकमनुभूतम् । जैगीषव्य आह—हन्त भो आयुष्मन् ! देवनरादिषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं मया तत्सर्वं दुःखमेवेति । आवट्य आह—किंप्रकृतिवशित्वमपि दुःखमेव येन दिव्या भोगा अक्षयाः सङ्कल्पमात्रेणोपतिष्ठन्त इति । स उवाच—सत्यं, लौकिकसुखापेक्षया प्रधानवशित्वमनुत्तमं, परं कैवल्यापेक्षया दुःखमेव यतस्तृष्णातन्तुरनुच्छिन्नः सर्वदुःखाकरः, तादृक्तृष्णाक्षयरूपं कैवल्यसुखं प्रसन्नमनुत्तममिति भाष्यस्थाऽऽख्यायिका । ननु यत्र संयमस्तस्य साक्षात्कार इति नियमात्कथं संस्कारसंयमात्पूर्वजन्मसाक्षात्कार इति चेत् । सत्यं, सानुबन्धसंस्कारसंयमादनुबन्धत्वेन पूर्वजन्मनो ज्ञानमुपपन्नमिति मन्तव्यम् ॥ १८ ॥

चन्द्रिका ।

संस्कारेति । द्विविधा वासनासंस्काराः केचित् स्मृत्युत्पादनफलाः केचिज्जात्यायुर्भोगहेतवो धर्माधर्माख्यास्तेषु संयमं यदा करोति भावनयैव पूर्ववृत्तानुसन्धानादुद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं पूर्वजन्मानुभूतजात्यादिकं प्रत्यक्षेण पश्यति ॥ १८ ॥

योगसुधाकरः ।

संस्कारेति । अनुभवक्लेशजाः स्मृतिक्लेशहेतवः, कर्मजाः सुखदुःखहेतवः, इति द्वये संस्काराश्चित्तधर्माः पूर्वजन्मपरम्परासंचिताः सन्ति । तेषु श्रुतेष्वनुमितेषु च संयमेन साक्षात्कृतेषु तद्धेतुत्वेन स्वीयपरकीयपूर्वजन्मपरम्परायाः साक्षात्कारो भवति । न च संस्कारसंयमात्कथं पूर्वजन्मसाक्षात्कार इति शङ्कनीयम्; सानुबन्धसंस्कारसंयमादनुबन्धत्वेन पूर्वजन्मसाक्षात्कारोत्पत्तेः सम्भवादिति समञ्जसम् ॥ १८ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

---

(१) भावनयैवेति पाठान्तरम् ।

र्णेष्वेकत्वप्रत्ययबुद्धिः, तथा हि—गौरिति त्रयो वर्णा गणशौरिपयःपदेषु श्रियमाणैर्गकारौकारविसर्जनीयैर्विजातीयस्फोटत्रयव्यञ्जकैः सदृशा भवन्ति तुल्यस्थानत्वात् । तदुक्तम्—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च [illegible] नासिकौष्ठौ च तालु च ॥

इति । एवं स्पर्शानां स्पृष्टप्रयत्नः, स्वराणामूष्मणां च विवृतमित्यादि प्रयत्नसादृश्यं द्रष्टव्यम् । तथा च प्रयत्नविशेषनुन्नस्योदानवायोरष्टस्थानैः संयोगे सत्यष्टस्थानस्थेन वागिन्द्रियेणोत्पद्यमाना गकारादयो वर्णा ध्वन्यभेदेन श्रोत्रप्रत्यक्षानुभववेद्याः प्रत्येकं गोपदस्फोटं व्यञ्जयन्तो गणादिस्फोटैः सदृशमव्यक्तं व्यञ्जयन्ति स्वनिष्ठसादृश्यानां स्वव्यक्त्ये समारोपात् । पुनर्गकारादयस्त्रयः क्रमवन्तः स्वानुभवजनितसंस्कारसहितश्रोत्रलब्धजन्मन्येकस्यां बुद्धौ भासमानत्वेन मिलिताः स्वस्फोटान्तराद्व्यावृत्तं व्यक्त्यन्तरं गोपदस्फोटं निर्भागमपि स्वतादात्म्येनारोपितसादृश्यात्मकभागवन्तमक्रमं नित्यमपि सक्रममनित्यमिव व्यञ्जयन्ति । मलिनवक्त्रादर्शो निर्मलमृजु मुखं स्वसादृश्यमारोप्य मलिनं वक्रमिव यथा व्यञ्जयति तद्वत् । एवं वर्णैरभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थबोधकः । न च वर्णैरर्थस्यैव प्रत्येकमव्यक्ता मेलनेन व्यक्ततराऽभिव्यक्तिरस्तु किं स्फोटेनेति वाच्यम् । व्यक्ताव्यक्तत्वस्य प्रत्यक्षज्ञानधर्मस्य परोक्षार्थज्ञानस्थत्वायोगात् । एकं पदमेकं वाक्यमिति स्फोटज्ञानं श्रोत्रजप्रत्यक्षमिति तस्यैव व्यक्ताव्यक्ततेत्यलं विस्तरेण । [illegible] शब्दस्य शब्दप्रत्ययाभ्यामभेदेन विकल्पिते सङ्कीर्णेऽर्थे सङ्केतग्रहो लोकस्येति पूर्वं प्रतिपादितम् । तथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति प्रत्यय इत्याबालपण्डितं शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराभेदाध्यासात्सङ्करः प्रसिद्धः । तेषां शास्त्रयुक्तिभ्यां यः प्रविभागः प्रसिद्धः, वर्णव्यङ्ग्यं वाक्यं शक्त्यादिवृत्त्या बोधकमिति शब्दतत्त्वम्, अर्थो द्रव्यगुणकर्मजात्यादिर्वाच्यो लक्ष्यश्चेत्यर्थतत्त्वं, शब्दजन्योऽर्थविषयो बुद्धिस्थप्रत्यय इति ज्ञानतत्त्वमिति गोशब्दवत् सर्वत्र विभागो ज्ञेयः । तस्मिन्विभागे संयमात्सर्वशब्दादिवशीकारसूचकं सर्वभूतानां पशुपक्ष्यादीनां रुतज्ञानं भवति । इममर्थमेते वदन्तीति संयमी जानातीत्यर्थः ॥ १७ ॥

चन्द्रिका ।

शब्दार्थेति । शब्दो वर्णध्वनिरूपः अर्थो जातिगुणक्रियादिः प्रत्ययो ज्ञानमेषामितरेतराध्यासाद्बुद्ध्येकरूपतासम्पादनात् संकीर्णत्वं(१) तेषां प्रविभागं विधाय तस्मिन् प्रविभागे यः संयमं करोति तस्य सर्वेषां मृगपश्वादीनां यद्रुतं शब्दस्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते ॥ १७ ॥

योगसुधाकरः ।

शब्देति । गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति प्रत्यय इत्याबालपण्डितं शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराभेदाध्यासात्संकरः प्रसिद्धः । तेषां वर्णव्यङ्ग्यं पदं पदव्यङ्ग्यं वाक्यं शक्त्यादिवृत्त्या बोधकमिति शब्दतत्त्वम्; अर्थो द्रव्यादिर्वाच्यो लक्ष्यश्चेत्यर्थतत्त्वम्; शब्दजन्योऽर्थविषयः प्रत्यय इति ज्ञानतत्त्वम्; इति यः प्रविभागः शास्त्रयुक्तिभ्यां सिद्धस्तस्मिन्संयमात्सर्वशब्दादिवशीकारसूचकं सर्वभूतानां पक्ष्यादीनां रुतज्ञानं भवति, इममर्थमेते संगिरन्त इति संयमी जानातीत्यर्थः ॥ १७ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

द्विविधाश्चित्तस्य वासनारूपाः संस्काराः । केचित्स्मृतिमात्रोत्पादनफलाः, केचिज्जात्यायुर्भोगलक्ष-

---

(१) तथा हि कैश्चित् गामानयेत्युक्ते कश्चित् गोरूपमर्थं पिण्डरूपं शब्दं च तद्वाचकं तद्ग्राहकं ज्ञानं चाभेदेनैवाध्यवस्यति न तु अयं गोशब्दो वाचकः अयं च तद्वाच्य इदं च ग्राहकं ज्ञानमिति भेदेनाध्यवस्यतीति ।

साक्षात्कृत्यास्येदानीं किमालम्बनमिति स्वचित्तं प्रणिधत्ते तदा तत्कालीनमालम्बनं जानाति रागादिवृत्तयस्तु चित्ताभेदात्साक्षात्क्रियन्ते इति विशेषः ॥ २० ॥

चन्द्रिका ।

अस्यैव विशेषमाह नेति । तस्य परस्य यच्चित्तं तत् सालम्बनं स्वकीयालम्बनेन सहितं न शक्यत ज्ञातुमालम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकृतत्वात्, यच्च न गृहीतं तत्र संयमं कर्तुमशक्यत्वान्न भवति चित्तधर्मज्ञानं, यदि तु सालम्बनं गृहीतं तदा धर्मज्ञानं भवत्येव तत्संयमस्य कर्तुं शक्यत्वात् ॥ २० ॥

योगसुधाकरः ।

ननु संस्कारसाक्षात्कारात्तदनुबन्धसाक्षात्कारवत्किं परचित्तसाक्षात्कारादालम्बनज्ञानं भवति ? नेत्याह—न चेति ।

परचित्तमात्रं साक्षात्क्रियते; सालम्बनं सविषयं तु न साक्षात्क्रियते, तस्यालम्बनस्याज्ञातत्वात् । न हि लिङ्गादिनाऽज्ञाते संयमप्रवृत्तिः समस्ति । यदि परचित्तं ज्ञात्वा संयमेन साक्षात्कृत्यास्येदानीं किमालम्बनमिति स्वचित्तं प्रणिधत्ते, तदा तत्कालीनमालम्बनं जानाति । रागादिवृत्तयस्तु चित्ताभेदात्सदा साक्षात्क्रियन्त इति विशेषः २० ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्य(१)शक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासंयोगे(२)ऽन्तर्धानम् (३) ॥ २१ ॥

कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्ग्राह्यो गुणस्तस्मिन्नस्त्यस्मिन्काये रूपमिति संयमात्तस्य रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपा या शक्तिस्तस्याः स्तम्भे भावनावशात्प्रतिबन्धे चक्षुष्प्रकाशासंयोगे चक्षुषः प्रकाशः सत्त्वधर्मस्तस्यासंयोगे तद्ग्रहणव्यापाराभावे योगिनोऽन्तर्धानं भवति-न केनचिदसौ दृश्यत इत्यर्थः ।

एतेनैव रूपाद्यन्तर्धानोपायप्रदर्शनेन शब्दादीनां श्रोत्रादिग्राह्याणामन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कायेति । स्वशरीरस्य रूपे संयमात्कारणाद्यशेषविशेषैः साक्षात्कृते सति संकल्पमात्रेण स्वकीयरूपस्य दृश्यताशक्तिं परचक्षुःसंयोगयोग्यतां स्तम्नाति प्रतिबध्नाति । ततश्चक्षुःकिरणैरसंयोगेऽन्तर्धानं योगिन उत्पद्यते । दिवान्धेनेव केनाप्यसौ न दृश्यते इत्यर्थः । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम् ॥ २१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् । स्वशरीरस्य रूपे संयमात् कारणाद्यशेषविशेषैः साक्षात्कृते सति संकल्पमात्रेण स्वीयरूपस्य दृश्यताशक्तिं परचक्षुर्योग्यतां स्तम्भाति प्रतिबध्नाति तस्मिंश्च सति चक्षुःकिरणैरसंयोगेऽन्तर्धानं भवतीत्यर्थः । केनाप्यसौ न दृश्यत इति भावः ॥ २१ ॥

मणिप्रभा ।

सिद्ध्यन्तरमाह—कायेति ।

कायस्य यद्रूपं चाक्षुषत्वप्रयोजकमस्ति तस्मिन्संयमात्तस्य रूपस्य परचक्षुर्ग्राह्यत्वानुकूलायाः शक्तेः स्तम्भे प्रतिबन्धे सति परचाक्षुषज्ञानाविषयत्वे जातेऽन्तर्द्धानं योगिदेहस्याचाक्षुषत्वं यथाकामं सिध्यतीत्यर्थः । एतेन स्वीयशब्दस्पर्शरसगन्धानां संयमाच्छ्रोत्राद्यग्राह्यत्वसिद्धिरुक्ता भवति ॥ २१ ॥

---

(१) संयमात् ग्राह्येति पाठान्तरम् । (२) सम्प्रयोग इति पाठान्तरम् ।

(३) अयमभिप्रायः । कायो हि रूपवत्त्वेन चाक्षुषो भवति तत्र यदा रूपे संयमः क्रियते तदा रूपस्य ग्राह्यशक्तिः रूपवत्कायस्य प्रत्यक्षतायां हेतुः स्तभ्यते, तत्स्तम्भे सति योगिनोऽन्तर्धानं भवति ततः परकीयचक्षुर्जनितप्रकाशेन असम्प्रयोगः चक्षुर्जन्यज्ञानाविषयत्वं योगिकायस्येति ।

प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचिन्मुखरागादिना लिङ्गेन गृहीतस्य यदा संयमं करोति तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते सरागमस्य चित्तं विरागं वेति । परचित्तगतानपि धर्माञ्जानातीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्रत्ययस्येति । प्रत्ययस्य रागादिमत्याः स्वीयचित्तवृत्तेः संयमेनाभयादिरूपैरशेषविशेषैः साक्षात्करणात्परस्य चित्तमपि संकल्पमात्रेणैव ज्ञायत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् । प्रत्ययस्य रागादिमत्याः स्वीयचित्तवृत्तेः संयमेनाभयादिरूपैरशेषविशेषैः साक्षात्करणात् परस्य चित्तमपि संकल्पमात्रेणैव ज्ञायत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

मणिप्रभा ।

सिद्ध्यन्तरमाह—**प्रत्ययस्येति** ।

परचित्तस्य संयमात्तत्साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

चन्द्रिका ।

प्रत्ययस्येति । प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचिन्मुखरागादिलिङ्गेन गृहीतस्य यदा संयमं करोति तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते सरागं विरागं वेति ॥ १९ ॥

योगसुधाकरः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—**प्रत्ययस्येति** ।

प्रत्ययस्य परचित्तस्य संयमात्तत्साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्यैव परचित्तज्ञानस्य विशेषमाह—

न(च) तत्सालम्बनं(१) तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

तस्य परस्य यच्चित्तं तत्सालम्बनं स्वकीयेनाऽऽलम्बनेन सहितं न शक्यते ज्ञातुमालम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकृतत्वात् । लिङ्गाच्चित्तमात्रं(२) परस्यावगतं न तु नीलविषयमस्य चित्तं पीतविषयमिति वा । यच्च न गृहीतं तत्र संयमस्य कर्तुमशक्यत्वान्न भवति परचित्तस्य यो विषयस्तत्र ज्ञानम् । तस्मात्परकीयचित्तं नाऽऽलम्बनसहितं गृह्यते, तस्याऽऽलम्बनस्यागृहीतत्वात् । चित्तधर्माः पुनर्गृह्यन्त एव । यदा तु किमनेनाऽऽलम्बितमिति प्रणिधानं करोति तदा तत्संयमात्तद्विषयमपि ज्ञानमुत्पद्यत एव ॥ २० ॥

मणिप्रभा ।

न चेति । किं संस्कारसाक्षात्कारात्तदनुबन्धज्ञानवत्परचित्तसाक्षात्कारात्तदालम्बनं ज्ञानं भवति, नेत्याह, परचित्तमात्रं साक्षात्क्रियते । चस्त्वर्थः । सालम्बनं सविषयं [illegible] न साक्षात्क्रियते तस्य सालम्बनस्याज्ञातत्वात् । लिङ्गादिना ज्ञाते हि संयमवृत्तिर्नाज्ञाते । तथा च यथा संस्काराणां संस्कारत्वलिङ्गेन,

> जन्मान्तरे यदभ्यस्तं तदद्याप्युपपद्यते ।
> हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे तस्मात्तस्य रोचते ॥

इत्याद्यागमेन च जन्मान्तरानुबन्धित्वं ज्ञातुं शक्यं तथा परस्य चित्तममुकविषयमिति ज्ञातुमशक्यं लिङ्गाद्यभावात् । चित्तमात्रं तु परस्य हर्षादिलिङ्गेन सुज्ञानम् । यदि परचित्तं ज्ञात्वा संयमेन

---

(१) न च तत् सालम्बनमिति वङ्गाक्षरपुस्तके पाठः । एतत्सूत्रं भावागणेशनागोजीभट्टाभ्यां न व्याख्यातम् ।

(२) लिङ्गाद्धि चित्तमात्रमिति पाठान्तरम् ।

र्थः । तत्र तीव्रवेगत्वेऽल्पकालता । मन्दवेगत्वे विलम्बः । अरिष्टेभ्यो वा । अरिष्टानि मार्कण्डेयपुराणोक्तानि यथा पिहितकर्णस्यान्तर्घोषाश्रवणं नेत्रेऽवष्टब्धे ज्योतिरदर्शनमित्यादि ।

दिनमाससंवत्सराः(१) ॥

दिनमाससंवत्सरादिभेदैर्मृत्युचिह्नानि । तेभ्यो वा लिङ्गेभ्यो मरणज्ञानं भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

मणिप्रभा ।

विभूत्यन्तरमाह **सोपक्रममिति** ।

पूर्वजन्मकृतमिदानीं स्थितं कर्म द्विविधम्-सोपक्रमं निरुपक्रमं च । फलदानव्यापारयुक्तं शीघ्रविपाकं च सोपक्रमं, सातपदेशे प्रसारितेनार्द्रवस्त्रेण शीघ्रं शुष्यता तुल्यं, कालान्तरे फलप्रदमिदानीं निर्व्यापारं चिरविपाकं निरुपक्रमं; निरातपदेशे पिण्डीकृतार्द्रवस्त्रतुल्यम् । तत्र संयमेऽस्य साक्षात्कारात्तद्विपाकस्यायुषोऽवसानमपरान्तशब्दितं ज्ञायते । परस्य प्रजापतेरन्तो महाप्रलयः । नरादीनां मरणमपरान्तः । तस्य ज्ञानममुष्मिन्देशेऽमुककाले मम देहवियोग इति साक्षात्कारः । तत्र सोपक्रमकर्मसाक्षात्कारे तद्विपाकस्य झटिति भोगार्थं बहुशरीराणि गृहीत्वा योगी स्वच्छया म्रियते । एकेन तत्र तद्भोगे मरणविलम्बः । प्रसङ्गादाह—**अरिष्टेभ्यो वेति** । तत्राध्यात्मिकारिष्टानि करपिहितकर्णपुटस्य प्राणघोषाश्रवणादीनि, आधिभौतिकानि यमभटदर्शनादीनि, आधिदैविकान्यकस्मात्स्वर्गदर्शनादीनि, एतान्यरिवन्नासयन्त्यरिष्टानि त्रिविधानि मरणलिङ्गानि तेभ्यो वा मरणज्ञानं भवत्ययोगिनोऽपीत्यर्थः ॥ २२ ॥

चन्द्रिका ।

(२)एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम् ।

एतेनेति । एतेन रूपाद्यन्तर्द्धानोपायप्रदर्शनेन शब्दादीनां श्रोत्रादिग्राह्याणामन्तर्द्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥

सिद्ध्यन्तराण्याह—**सोपक्रममिति** ।

यत् पूर्वकृतं कर्म तद्द्विविधमेकं फलजननायोपक्रमेण कार्यकरणाभिमुख्येन सह वर्त्तते इति सोपक्रममपरमुक्तरूपविपरीतं निरुपक्रमं तस्मिन् द्विविधे कर्मणि यः संयमं करोति किं शीघ्रविपाकं किं चिरविपाकमिति, एवं ध्यानदार्ढ्यादपरान्तज्ञानमुत्पद्यते । अपरान्तः शरीरवियोगस्तज्ज्ञानममुष्मिन् देशे काले वा शरीरवियोगो भविष्यतीति । अरिष्टेभ्यो वा । आध्यात्मिकादीनि त्रिविधान्यरिष्टानि पिहितकर्णकालिककौष्ठ्यवायुघोषाश्रवणविकृतपुरुषदर्शनस्वर्गादिपदार्थदर्शानि तेभ्यः शरीरवियोगकालं जानाति । अयोगी संशयेन योगी निश्चयेन जानातीति उभयोर्भेदः ॥ २२ ॥

योगसुधाकरः ।

उक्तमन्यत्रातिदिशति—**एतेनेति** ।

एतेन स्वीयशब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां संयमाच्छ्रोत्राद्यग्राह्यत्वसिद्धिरुक्ता भवतीति वेदितव्यम् ।

सोपक्रममिति । सोपक्रमं शीघ्रविपाकं कर्म, निरुपक्रमं च चिरविपाकं कर्म यत्, तत्रोभयत्र संयमेन साक्षात्कारात्तद्विपाकस्यायुषोऽपरान्तोऽवसानम्, [illegible] ज्ञानममुष्मिन्देशेऽमुककाले मम कायवियोग इति साक्षात्कारो भवति । प्रसङ्गात्साधारणं मरणसूचकमाह—**अरिष्टेभ्यो वा** । अरिवत्त्रासयन्तीत्यरिष्टानि त्रिविधान्याध्यात्मिकादीनि मरणलिङ्गानि, तेभ्यो वा मरणज्ञानं भवत्ययोगिनोऽपीत्यर्थः ॥ २२ ॥

भोजवृत्तिः ।

परिकर्मनिष्पादिताः सिद्धीः(३)प्रतिपादयितुमाह—

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

---

(१) इदं सूत्रमधिकमत्रैवं दृश्यते ।

(२) भोजराजभावागणेशाभ्यां कायरूपेति सूत्रव्याख्यान्ते एतत्सूत्रस्य व्याख्यातत्वेपि नागोजीभट्टमणिप्रभाकाराभ्यामव्याख्यातत्वाद्विज्ञानभिक्षुणा सूत्रकारस्य न्यूनताम्परिहरति एतेनेतीत्युक्तत्वाच्च नेदं सूत्रम् ।

(३) निष्पन्दभूतां सिद्धिमिति पाठान्तरम् ।

चन्द्रिका ।

कायेति । कायस्य यद्रूपं तस्य संयमाद्रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपशक्त्याः स्तम्भे प्रतिबन्धे चक्षुःप्रकाशः सत्त्वधर्मस्तस्यासंयोगे तद्ग्रहणाभावे योगिनोऽन्तर्द्धानं भवति न केनचिद्दृश्यते ॥ २१ ॥

योगसुधाकरः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—**कायेति** ।

कायस्य चाक्षुषताप्रयोजकं यद्रूपमस्ति तस्मिन्संयमात्तस्य रूपस्य परचक्षुर्ग्राह्यतानुकूलायाः शक्तेः स्तम्भे प्रतिबन्धे सति परचाक्षुषज्ञानाविषयत्वे जाते, अन्तर्धानं योगिदेहस्याचाक्षुषत्वं यथाकामं सिध्यतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

सोपक्रमं निरुपक्रमं(१)च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा॥२२॥

आयुर्विपाकं यत्पूर्वकृतं कर्म तद्द्विप्रकारं सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तत्र सोपक्रमं यत्फलजननायोपक्रमेण कार्यकरणा(२)भिमुख्येन सह वर्तते । यथा—उष्णप्रदेशे प्रसारितमार्द्रवासः शीघ्रमेव शुष्यति । उक्तरूपविपरीतं निरुपक्रमं यथा—तदेवाऽऽर्द्रवासः संवर्तितमनुष्णदेशे चिरेण शुष्यति । तस्मिंस्त्रिविधे कर्मणि यः संयमं करोति किं कर्म(३)शीघ्रविपाकं चिरविपाकं वा, एवं ध्यानदार्ढ्यादपरान्तज्ञानमस्योत्पद्यते । अपरान्तः शरीरवियोगस्तस्मिञ्ज्ञानममुष्मिन्कालेऽमुष्मिन्देशे मम शरीरवियोगो भविष्यतीति निःसंशयं जानाति । अरिष्टेभ्यो वा । अरिष्टानि त्रिविधानि आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन । तत्राऽऽध्यात्मिकानि—पिहितकर्णः कौष्ठ्यस्य वायोर्घोषं न शृणोतीत्येवमादीनि । आधिभौतिकानि अकस्माद्विकृतपुरुषदर्शनादीनि । आधिदैविकानि—अकाण्ड एव द्रष्टुमशक्यस्वर्गादिपदार्थदर्शनादीनि । तेभ्यः शरीरवियोगकालं जानाति । यद्यपि अयोगिनामप्यरिष्टेभ्यः प्रायेण तज्ज्ञानमुत्पद्यते तथाऽपि तेषां सामान्याकारेण तत्संशयरूपं, योगिनां पुनर्नियतदेशकालतया प्रत्यक्षवदव्यभिचारि ॥ २२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सोपक्रममिति । सोपक्रमं तीव्रवेगेन फलदातृ । निरुपक्रमं मन्दवेगेन फलदातृ । एवंभूतं यत्कर्मार्थात्प्रारब्धफलकमायुष्करं तत्साक्षात्कारेणैवायुर्निर्णयौचित्यात् , तत्र संयमात्तदन्यतररूपेण तत्साक्षात्कारे सति अपरान्तस्य पश्चिमस्य मरणस्य ज्ञानं भवति । शीघ्रविलम्बान्यतरविशेषेणेति शेषः। आरब्धफलकस्यायुष्करकर्मणो हि तीव्रवेगतः फलदातृतया साक्षात्कारे सति आयुर्ह्रासो ज्ञायते, इतरथा वैपरीत्यं [illegible] इति योगिभिरवधानार्थं मरणकालो ज्ञातव्य इत्याशयेन । प्रसङ्गान्मरणज्ञानस्योपायान्तरमाह—अरिष्टेभ्यो वेति । अरिष्टानि वसिष्ठसंहितामार्कण्डेयपुराणादिषूक्तानि ॥ २२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा । सोपक्रमं तीव्रवेगेन फलदातृ, निरुपक्रमं मन्दवेगेन फलदातृ, एवंभूतं यत्प्रवृत्तफलकमायुष्करं कर्म तत्साक्षात्कारेणैवायुर्निर्णयौचित्यात् , तत्र संयमात्तदन्यतररूपेण साक्षात्कारे सति अपरान्तस्य मरणस्य कालज्ञानं भवतीत्य·

---

(१) यत् आयुर्विपाकं कर्म्म किञ्चित्कालानपेक्षमेव भोगाय प्रवृत्तं दत्तबहुभोगमल्पावशिष्टफलं प्रवृत्तव्यापारं तत्फलस्य सहसा एकेन शरीरेण भोक्तुमशक्यत्वात् विलम्बते तत् सोपक्रमम् । उपक्रमेण व्यापारेण सहितमित्यर्थः । यच्च दत्ताल्पफलं तत्कालमपेक्ष्य दानाय व्याप्रियमाणं कादाचित्कमन्दव्यापारं तन्निरुपक्रमम् ।

(२) कार्यकारणेति पाठान्तरम् । (३) किं मम कर्मेति पाठान्तरम् ।

योगसुधाकरः।

बलेष्विति। हस्तिहनुमदादीनां बलेषु तद्भावेन संयमात्तानि बलानि योगिनः प्रादुर्भवन्ति, चित्तस्य स्वतः सर्वसामर्थ्यादित्यर्थः॥ २४॥

भोजवृत्तिः।

सिद्ध्यन्तरमाह--

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्॥ २५॥

प्रवृत्तिर्विषयवती ज्योतिष्मती च प्रागुक्ता तस्या योऽसावालोकः सात्त्विकप्रकाशप्रसरस्तस्य निखिलेषु विषयेषु न्यासात्तद्वासितानां विषयाणां भावनात्सान्तःकरणेषु इन्द्रियेषु प्रकृष्टशक्तिमापन्नेषु सूक्ष्मस्य परमाण्वादेर्व्यवहितस्य भूम्यन्तर्गतस्य निधानादेर्विप्रकृष्टस्य मेर्वपरपार्श्ववर्तिनो रसायनादेर्ज्ञानमुत्पद्यते॥ २५॥

भावागणेशवृत्तिः।

प्रवृत्तीति। ज्योतिष्मती नाम बुद्धिपुरुषान्यतरसाक्षात्काररूपिणी मनसः प्रवृत्तिः प्रथमपादे प्रोक्ता, तस्या य आलोकस्तत्कालीनो यः सत्त्वप्रकाशस्तं योगी सूक्ष्माद्यर्थेषु विन्यस्य तत्रोत्तरक्षणप्रणिधानमात्रं कृत्वा तं तमर्थं साक्षात्करोतीत्यर्थः। व्यवहितमावृतं विप्रकृष्टं दूरदेशस्थम्। अत्र चक्षुर्न्यासवदालोकन्यासमात्रवचनात्तेषु संयमपेक्षा नास्ति। परम्परया बुद्ध्यादिविषयकसंयमसाध्यत्वेनैव त्वस्या विभूतेः संयमासिद्धिमध्ये पठनमिति॥ २५॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्। ज्योतिष्मती नाम बुद्धिपुरुषान्यतरसाक्षात्काररूपा मनसः प्रवृत्तिराद्यपादे उक्ता। तस्या य आलोकस्तत्कालिको यः सत्त्वप्रकाशस्तं योगी सूक्ष्माद्यर्थेषु सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु विन्यस्य तत्रोत्तरक्षणप्रणिधानेनापि तमर्थं साक्षात्करोतीत्यर्थः। चक्षुर्न्यासवदालोकन्यासमात्रवचनात्तेषु संयमापेक्षाभावः। परम्परया बुद्ध्यादिविषयकसंयमसाध्यत्वेन चास्या विभूतेस्तत्सिद्धिमध्ये पठनमिति बोध्यम्॥ २५॥

मणिप्रभा।

प्रवृत्तीति। ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः प्रागुक्ता। तस्याः ज्योतिःसाक्षात्काररूपप्रवृत्तेर्य आलोक आस्पदं सर्वतो विप्रसृतं निर्मलबुद्धिसत्त्वं, तस्य सूक्ष्मे परमाण्वादौ, भूतव्यवहिते निध्यादौ, विप्रकृष्टे मेर्वन्तरवर्तिरसायनादौ, न्यासात्प्रक्षेपात्तेषां ज्ञानं साक्षात्कारो भवति। सौरालोकसंयोगाद् घटादिज्ञानवदित्यर्थः॥ २५॥

चन्द्रिका।

प्रवृत्तीति। विषयवतीज्योतिष्मतीरूपप्रवृत्तौ य आलोकः प्रकाशस्तस्य सर्वविषयेषु न्यासात्तेषां भावनादन्तःकरणेन्द्रियेषु सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टनिधिरसायनादेर्ज्ञानमुत्पद्यते॥ २५॥

योगसुधाकरः।

प्रवृत्तीति। ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरधस्तादभिहिता। तस्या योऽयमालोको ज्योतिरालम्बनं निर्मलबुद्धिसत्त्वं तस्य सूक्ष्मे परमाण्वादौ भूमिव्यवहिते निध्यादौ विप्रकृष्टे मेर्वन्तर्वर्तिरसायनादौ च न्यासात्प्रक्षेपात्तेषां ज्ञानं साक्षात्कारो भवति; सौरालोकसंप्रयोगात्कूटादिसाक्षात्कारवदित्यर्थः॥ २५॥

भोजवृत्तिः।

एतत्समानवृत्तान्तं सिद्ध्यन्तरमाह--

भुवनज्ञानं सूर्यसंयमात्॥ २६॥

सूर्ये प्रकाशमये(१) यः संयमं करोति तस्य सप्तसु भूर्भुवःस्वःप्रभृतिषु लोकेषु यानि भुवनानि

(१) सूर्यप्रकाशमये इति पाठान्तरम्।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षासु यो विहितसंयमस्तस्य बलानि मैत्र्यादीनां सम्बन्धीनि प्रादुर्भवन्ति । मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षास्तथाऽस्य प्रकर्षं गच्छन्ति यथा सर्वस्य मित्रत्वादिकमयं प्रतिपद्यते(१) ॥ २३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

मैत्र्यादिष्विति। मैत्र्यादिषु संयमान्मैत्र्यादितत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्ताद्बलानि अवन्ध्यानि वीर्याणि भवन्ति । परेषु मैत्र्याद्यर्थं प्रयत्नो निष्फलो न भवतीति यावत् । आदिशब्देन करुणामुदितयोः प्रथमपादोक्तयोर्ग्रहणम् ॥ २३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

मैत्र्यादिषु बलानि । सुखितेषु मैत्री दुःखितेषु करुणा पुण्यशीलेषु मुदिता आसु तत्तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तसंयमात् बलानि अवन्ध्यानि वीर्याणि भवन्ति परेषु मैत्र्याद्यर्थं प्रयत्नो विफलो न भवतीत्यर्थः २३॥

मणिप्रभा ।

मैत्र्यादिष्विति । पूर्वं मैत्रीकरुणामुदितासु संयमो विहितस्तेन तासां बलानि वीर्याणि भवन्ति । मैत्र्यां योगी प्राणिमात्रस्य सुखकरः सुहृद्भवति, दुःखादुद्धर्ता भवति, अपक्षपाती भवति । उपेक्षा त्वौदासीन्यमात्रं न तस्या बलं किञ्चिदस्ति संयमाभावादित्यर्थः ॥ २३ ॥

चन्द्रिका ।

मैत्र्यादिष्विति । मैत्र्यादिषु विहितो यः संयमस्तस्य बलानि मैत्र्यादीनां सम्बन्धीनि प्रादुर्भवन्ति । मैत्र्याद्युत्कर्षे सर्वस्य मित्रत्वादिकं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

योगसुधाकरः ।

मैत्र्यादिष्विति । मैत्र्यादिषु संयमेन तेषां बलानि वीर्याणि भवन्ति, मैत्र्यां योगी प्राणिमात्रस्य सुखकरः सुहृद्भवति, दुःखादुद्धर्ता भवति । उपेक्षा त्वौदासीन्यमात्रम् । न तस्य बलं किंचित्समस्ति, संयमाभावादित्यर्थः ॥ २३ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह--

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

हस्त्यादिसम्बन्धिषु बलेषु कृतसंयमस्य तद्बलानि हस्त्यादिबलानि आविर्भवन्ति । तदयमर्थः--यस्मिन्हस्तिबले वायुवेगे सिंहवीर्ये वा तन्मयीभावेनायं संयमं करोति तत्तत्सामर्थ्ययुक्तं सत्त्वमस्य(२) प्रादुर्भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

बलेष्विति । हस्त्यादिबलेषु संयमात्तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्ताद्धस्त्यादिबलानि भवन्ति । आदिशब्देन गरुडवाय्वादिग्रहणम् ॥ २४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

बलेषु हस्तिबलादीनि । हस्त्यादिबलेषु तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तात्संयमाद्धस्त्यादिबलं भवति । आदिना गरुडवाय्वादिग्रहणम् ॥ २४ ॥

मणिप्रभा ।

बलेष्विति । हस्तिहनुमद्गरुडादिबलेषु तद्भावने संयमात्तानि बलानि योगिनः प्रादुर्भवन्ति । चित्तस्य स्वतः सर्वसामर्थ्यादित्यर्थः ॥ २४ ॥

चन्द्रिका ।

बलेष्विति । हस्त्यादिसम्बन्धिषु बलेषु कृतसंयमस्य तद्बलानि हस्त्यादिबलानि आविर्भवन्तीत्यर्थः २४

---

(१) मित्रत्वादिकं संपद्यते इति पाठान्तरम् ।

(२) तत्सर्वं सामर्थ्ययुक्तत्वात्सर्वमस्येति पाठान्तरम् ।

ध्रुवे निश्चले ज्योतिषां प्रधाने कृतसंयमस्य तासां ताराणां या गतिः प्रत्येकं नियतकाला नियतदेशा च तस्या ज्ञानमुत्पद्यते । इयं ताराऽयं [illegible] कालेनामुं राशिमिदं नक्षत्रं यास्यतीति सर्वं जानाति(१) । [illegible] कालज्ञानमस्य फलमित्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ध्रुव इति । ध्रुवे तथा संयमात्ताराणां गतिमशेषविशेषतो जानाति ॥ २८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् । ध्रुवे संयमात्ताराणां गतिमशेषविशेषतो जानाति ॥ २८ ॥

मणिप्रभा ।

ध्रुव इति । ध्रुवे संयमात्तासान्ताराणां गतिं जानाति । इयं ताराऽनेन ग्रहेण सहानेन पथा एतावन्तं कालं गच्छतीति ॥ २८ ॥

चन्द्रिका ।

ध्रुवे इति । ध्रुवे ज्योतिष्प्रधाने निश्चले कृतसंयमस्य तारादीनां गत्यादिज्ञानमुत्पद्यते—इयं तारा अयं ग्रहः इयत्कालेन गच्छतीति ॥ २८ ॥

योगसुधाकरः ।

[illegible] इति । ध्रुवे संयमात्तासां तारकाणां गतिं जानाति—असौ तारकाऽमुना [illegible] साकमनया सृत्यैतावन्तमनेहसं गच्छतीति ॥ २८ ॥

भोजवृत्तिः ।

बाह्याः सिद्धीः प्रतिपाद्याऽऽन्तराः सिद्धीः प्रतिपादयितुमुपक्रमते—

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

शरीरमध्यवर्ति नाभिसंज्ञकं यत्षोडशारं [illegible] तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः कायगतो योऽसौ व्यूहो विशिष्टरसमलधातुनाड्यादीनामवस्थानं तत्र ज्ञानमुत्पद्यते । इदमुक्तं भवति—नाभिचक्रं शरीरमध्यवर्ति सर्वतः प्रसृतानां नाड्यादीनां मूलभूतमतस्तत्र कृतावधानस्य समग्रसंनिवेशो यथावदाभाति॥२९॥

भावागणेशवृत्तिः ।

नाभीति । कदलीकन्दवदादावुत्पन्नं नाभिकन्दरूपं चक्रं शरीरमध्यवर्ति यतः शाखापल्लवादिवच्छिरःपादादिकमवयवजातमूर्ध्वाधःपार्श्वेष्वाविर्भवति । तस्मिन्नाभिचक्रे संयमात्साक्षात्कृते कायस्थं पदार्थव्यूहं वातपित्तत्वगसृगादिरूपं साक्षात्क्रियते ॥ २९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् । कदलीकन्दवदादावुत्पन्नं नाभिकन्दरूपं नाभिचक्रं शरीरमध्यवर्ति यतः शाखापल्लवादिवत् शिरःपादादिकमवयवजातमूर्ध्वाधःपार्श्वेष्वाविर्भवति, तस्मिन्नाभिचक्रे संयमात्साक्षात्कृते सति कायस्थं [illegible] पदार्थजातं वातपित्तत्वगसृगादिरूपं साक्षात्करोतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

मणिप्रभा ।

एवं बाह्यसिद्धीरुक्त्वाऽऽध्यात्मिकसिद्धीराह नाभीति । कायस्य मध्यभागे यन्नाभिचक्रमाधारालङ्कचक्राभ्यां चतुःषट्पत्राभ्यामुपरिस्थितं दशपत्रम् तस्मिन् संयमाद्देहस्य संनिवेशं जानाति । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः । त्वगुधिरमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि सप्त धातवः । तेषां पूर्वं पूर्वं बाह्यमित्येष कायविन्यासः ॥ २९ ॥

चन्द्रिका ।

नाभीति । षोडशारे नाभिचक्रे कृतसंयमस्य काये यो व्यूहो विशिष्टरसनाड्याद्यवस्थानं तस्य ज्ञान-

(१) जानातीति सूत्रार्थः इति पाठान्तरम् ।

तत्तत्संनिवेशभाञ्जि पुराणि (स्थानानि) तेषु यथावदस्य ज्ञानमुत्पद्यते । पूर्वस्मिन्सूत्रे सात्त्विकप्रकाश आलम्बनतयोक्त इह तु भौतिक इति विशेषः ॥ २६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

भुवनेति । सूर्यमण्डले संयमात्तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कारे सत्यशेषविशेषतश्चतुर्दशभुवनज्ञानम् ॥२६॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । सूर्यमण्डले संयमात् तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कारेऽशेषविशेषतश्चतुर्दशविशेषभुवनज्ञानं भवतीत्यर्थः । एतत्संयमोपयोगो नानाविधलोकगतीर्दृष्ट्वात्यन्तवैराग्यायेति बोध्यम् ॥२५॥

मणिप्रभा ।

[illegible] संयमेन साक्षात्कृतबुद्ध्यालोकद्वारा ज्ञानमुक्त्वा भौतिके तद्द्वारा तदाह भुवनेति । दिवि देदीप्यमानमार्तण्डमण्डले सुषुम्नाऽऽदिद्वारके सहस्ररश्मिमालिनि संयमाद् दृश्याभिन्नं चित्तं चतुर्दशभुवनानि साक्षात्करोतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

चन्द्रिका ।

भुवनेति । सूर्ये यः संयमं करोति तस्य भूर्भुवादिसप्तभुवनज्ञानमुत्पद्यते ॥ २६ ॥

योगसुधाकरः ।

भुवनेति । सुषुम्नादिसहस्रमयूखमालिनि दिवि द्योतमाने मार्तण्डमण्डले संयमाद्दृश्याभिन्नं चित्तं चतुर्दश भुवनानि साक्षात्करोतीत्यर्थः । अयमेव सकलभुवनसाक्षात्कारोऽस्मिञ्शास्त्रे मधुमती सिद्धिरित्युच्यते ॥ २६ ॥

भोजवृत्तिः ।

भौतिकप्रकाशालम्बनद्वारेणैव सिद्ध्यन्तरमाह—

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

ताराणां ज्योतिषां यो व्यूहो विशिष्टः संनिवेशस्तस्य चन्द्रे(१) कृतसंयमस्य ज्ञानमुत्पद्यते । सूर्यप्रकाशेन हततेजस्कत्वात्ताराणां सूर्यसंयमात्तज्ज्ञानं न शक्नोति भवितुमिति पृथगुपायोऽभिहितः ॥२७॥

भावागणेशवृत्तिः ।

चन्द्रे इति । चन्द्रमण्डले संयमादशेषविशेषसाक्षात्कारपर्यन्तात्ताराव्यूहस्य नक्षत्रमण्डलस्य तथा ज्ञानं भवति ॥ २७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

[illegible] ताराव्यूहज्ञानम् । चन्द्रमण्डले संयमेन तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कारे ताराव्यूहस्य नक्षत्रमण्डलस्य तथा ज्ञानं भवति ॥ २७ ॥

मणिप्रभा ।

चन्द्र इति । चन्द्रे संयमान्नक्षत्राणां सन्निवेशविशेषं साक्षात्करोति । सूर्यस्य नक्षत्राभिभावकत्वात्तत्संयमात्तज्ज्ञानं न भवतीति [illegible] ॥ २७ ॥

चन्द्रिका ।

चन्द्रे इति । [illegible] संयमात्ताराणां व्यूहः सन्निवेशस्तज्ज्ञानमुत्पद्यत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

योगसुधाकरः ।

चन्द्रे इति । नक्षत्रपतौ तुषारकरबिम्बे संयमान्नक्षत्राणां संनिवेशविशेषं साक्षात्करोति । सूर्यस्य नक्षत्राभिभावकत्वात्तत्संयमात्तत्साक्षात्कारो न भवतीति भावः ॥ २७ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

---

(१) तस्मिंश्चन्द्रे [illegible]ति पाठान्तरम् ।

मुत्पद्यते ॥ २९ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं बाह्यसिद्धीरभिधाय अधुनाऽऽध्यात्मिकसिद्धीरभिधातुमाह—नाभिचक्रे इति ।

कायस्य मध्यभागे यन्नाभिचक्रं मणिपूरकाख्यं दशदलम्, तस्मिन्संयमाद्देहस्य वातपित्तादिसं-निवेशविशेषं जानातीत्यर्थः ॥ २९ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठे गले कूपः कण्ठकूपः, जिह्वामूले जिह्वातन्तोरधस्तात्(१) कूप इव कूपो गर्ताकारः प्रदेशः प्राणादेर्यत्संस्पर्शात्क्षुत्पिपासादयः प्रादुर्भवन्ति तस्मिन्कृतसंयमस्य योगिनः क्षुत्पिपासादयो निवर्तन्ते । घण्टिकाधस्तात्स्रोतसा धार्यमाणे तस्मिन्भाविते भवत्येवंविधा सिद्धिः ॥ ३० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कण्ठेति । कूपाकारं कण्ठच्छिद्रं हृदयपर्यन्तं तिष्ठति । तस्मिन् संयमादशेषविशेषतः साक्षात्कृते सति क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥ ३० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः । कूपाकारं कण्ठच्छिद्रं हृदयपर्यन्तं तिष्ठति तत्र संयमात्क्षुत्पि-पासे न बाधेते ॥ ३० ॥

मणिप्रभा ।

कण्ठेति । जिह्वातन्तोरधस्तात्कण्ठस्य कूपाकारः प्रदेशोऽस्ति । यत्र प्राणादेः संघर्षात्क्षुत्पिपासे भवतः । तत्र संयमात्तन्निवृत्तिरित्यर्थः ॥ ३० ॥

चन्द्रिका ।

कण्ठे गले कूपो जिह्वामूले जिह्वामूले गर्ताकारप्रदेशस्तत्स्पर्शात् प्राणादीनां क्षुधाद्या भवन्ति तस्मिन् कृतसंयमस्य क्षुत्पिपासादयो निवर्तन्ते ॥ ३० ॥

योगसुधाकरः ।

कण्ठकूप इति । जिह्वातन्तोरधस्तात्कण्ठस्य कूपाकारः प्रदेशोऽस्ति, यत्र प्राणादेः संघर्षणात्क्षु-त्पिपासे भवतः । तत्र संयमात्तन्निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कण्ठकूपस्याधस्ताद्या कूर्माख्या(२) नाडी तस्यां कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते । तत्स्थान-मनुप्रविष्टस्य चञ्चलता न भवतीत्यर्थः । यदि वा कायस्य स्थैर्यम्(३) उत्पद्यते न केनचित्स्पन्दयितुं शक्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कूर्मेति । कुण्डलीसर्पवदवस्थिततया कूर्माकारं हृदयपुण्डरीकाख्यं नाडीचक्रम् । तत्र संयमा-द्यथोक्तचित्तस्थैर्यं भवति ॥ ३१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् । सर्पकुण्डलिवदवस्थितत या कूर्माकारा हृदयपुण्डरीके नाडी तत्र संयमाच्चि-त्तस्य स्थैर्यं भवति ॥ ३१ ॥

---

(१) जिह्वातोऽधस्तादिति पाठान्तरम् ।

(२) अधस्तादूढा कूर्माख्या इति पाठान्तरम् । (३) काये स्थैर्यमिति पाठान्तरम् ।

भाषया घ्राणेन्द्रियमुच्यते,—वर्तते गन्धविषय इति कृत्वा, वृत्तेर्घ्राणेन्द्रियाज्जाता वार्त्ता गन्धसंवित् । तस्यां प्रकृष्यमाणायां दिव्यगन्धोऽनुभूयते ॥ ३६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्वार्थप्रत्ययसंयमेनात्मसाक्षात्कारे जाते तच्चिह्नानि वक्ष्यमाणलक्षणस्य विवेकजज्ञानस्य पूर्वरूपाणि प्रतिभाद्याः सिद्धयो भवन्ति । ताश्च पौरुषैकाग्रपरिपन्थित्वेनासंप्रज्ञातयोगे विघ्नभूता इति प्रतिपादयितुमादौ ताः प्रदर्शयति—तत इति ।

ततः पुरुषसाक्षात्कारान्मनआदीनां प्रातिभादिसंज्ञाः षट्सिद्धयः सामर्थ्यविशेषरूपा भवन्तीत्यर्थः । तत्रोपदेशादिकं विनापि सूक्ष्मव्यवहितादिषु मनसो यथार्थज्ञानसामर्थ्यं प्रातिभमित्युच्यते । श्रोत्रस्य तादृशं सामर्थ्यं श्रावणम् । त्वचस्तादृशं सामर्थ्यं वेदनम् । चक्षुष आदर्शः । रसनाया आस्वादनम् । घ्राणस्य वार्तेति ॥ ३६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

फलं तावद्दर्शयति—ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते । तत्र उक्तसंयमात् प्रातिभादिसंज्ञाः षट् सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः । दृष्टकारणं विनैवाकस्माद्व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतसूक्ष्मार्थेषु यथार्थज्ञानसामर्थ्यं प्रतिभा तज्जन्यं ज्ञानं प्रातिभं मनसः सिद्धिः । तथा व्यवहितादिश्रवणसामर्थ्यं श्रोत्रस्य सिद्धिः । त्वचस्तादृशं सामर्थ्यं वेदनं, चक्षुष आदर्शः, रसनाया आस्वादः, घ्राणस्य वार्तेति ३६॥

मणिप्रभा ।

संप्रत्यस्य संयमस्य पुरुषसाक्षात्कारात्प्राग्भवाः सिद्धीर्दर्शयति—तत इति ।

ततः स्वार्थसंयमात्प्रातिभं पूर्वोक्तं सर्वगोचरं ज्ञानं मनोमात्रेण योगजशुक्लधर्मानुगृहीतेन जायते । दिव्यानां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां ग्राहकाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि क्रमेण श्रावणवेदनादर्शास्वादवार्तासंज्ञानि जायन्ते । दिव्यशब्दग्राहकं श्रोत्रं यदा योगिनो भवति तदा तस्य श्रोत्रस्य श्रावणमिति तान्त्रिकी संज्ञा भवति, तथा घ्राणस्य वार्ता, संज्ञेत्यायूहनीयम् ॥ ३६ ॥

चन्द्रिका ।

अस्य फलमाह—तत इति ।

ततः पुरुषसंयमात् व्युत्थितस्यापि ज्ञानानि जायन्ते । तत्र प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञानं, श्रावणं श्रोत्रेन्द्रियजं, वेदना स्पर्शनेन्द्रियजमादर्शश्चक्षुरिन्द्रियजं ज्ञानमास्वादो रसनेन्द्रियजं ज्ञानं, वार्ता गन्धसंवित् । सर्वत्र दिव्यत्वं विवक्षितमेतानि भवन्ति ॥ ३६ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुनाऽस्यैव संयमस्य पुरुषसाक्षात्कारात्प्राग्भवाः सिद्धीरुपदर्शयति—तत इति ।

दिव्यशब्दग्राहकं श्रोत्रं यदाऽस्य योगिनो भवति तदा तस्य श्रोत्रस्य श्रावणमिति तान्त्रिकी संज्ञा भवति । एवं घ्राणस्य वार्त्तेति संज्ञेत्यायूह्यम् ॥ ३६ ॥

भोजवृत्तिः ।

एतेषां फलविशेषाणां विषय(१)विभागमाह—

(२)ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

ते प्राक्प्रतिपादिताः फलविशेषाः समाधेः प्रकर्षं गच्छत उपसर्गा उपद्रवा विघ्नकारिणः । तत्र हर्षविस्मयादिकरणेन समाधिः शिथिलीभवति । व्युत्थाने तु पुनर्व्यवहारदशायां विशिष्टफलदायकत्वात्सिद्धयो भवन्ति ॥ ३७ ॥

---

(१) विशेष इति पाठान्तरम् ।

(२) आत्मसंयमप्रवृत्तः पुरुषः अमूः सिद्धीः प्राप्य आत्मानं कृतार्थम्मन्यः संयमाद्विरमेदतस्तद्विरामपरिहारायाह त इति ।

स्वरूपप्रत्यये यः साक्षात्कारपर्यन्तः संयमस्तस्माद्धेतोः स्वयमेव पूर्णत्वकूटस्थत्वाद्यशेषविशेषैः साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । अत्र परार्थत्वं परस्य भोगापवर्गसाधनत्वं, स्वार्थत्वं तु परार्थत्वाभाव एव स्वस्य भोगापवर्गसाधनत्वम् । [illegible] भोगः स्वात्मकविषयानुभव एवेति केचित् । ननु पुरुषविषयः साक्षात्कार-[illegible] तस्य विषय इति साक्षात्कारान्तरमायातं, बुद्धिसत्त्वात्मना तु प्रत्ययेन जडत्वान्न स्वविवेकेन पुरुषज्ञानं भवतीत्यनवस्था, स्वस्वरूपत्वे कथं [illegible] संयमफलत्वं प्रागेव सिद्धत्वादिति चेन्न । घटाकाशवच्छब्दादिवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यभागस्य वृत्तिविवेकेन साक्षात्कारस्य परिपूर्णत्वादिरूपैरखिलप्रपञ्चविवेकेन तत्साक्षात्कारस्य तत्फलत्वात्, बुद्धिसत्त्वगतपुरुषप्रतिबिम्बालम्बनोऽयं पुरुषात्मकः प्रत्यय इत्यदोषाच्च । निष्ठत्वस्य स्वरूपस्थित्यैव । तथाच श्रुतिः—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति । बुद्धेः प्रत्ययः शब्दादिसुखाद्याकारा वृत्तिः, पुरुषप्रत्ययश्च स्वरूपः बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्यमिति केचित् । तत्त्वज्ञानार्थिना चायमेव संयमो मुख्यः । तत्रास्य संयमस्य पुरुषज्ञानात्यरूपविभूतयः ॥ ३५ ॥

मणिप्रभा ।

सत्त्वेति । बुद्ध्यात्मनोर्भोग्यभोक्तृत्वेनात्यन्तभिन्नयोर्यः प्रत्ययाविशेषो बुद्धिपरिणामः सुखदुःखमोहप्रत्ययः पुरुषस्य प्रतिबिम्बग्राहिभिरविशेषः [illegible] प्रतिबिम्बद्वारा सुखाद्यारोपः स भोगो बुद्धिस्थो दृश्यत्वात्परार्थः पुरुषस्य भोक्तुः शेषभूतस्तस्मात्परार्थाद्भोगाद्विलक्षणः प्रतिबिम्बोपसर्जनकप्रत्ययरूपाज्जडाद्न्यश्चित्स्वभावः प्रतिबिम्बः स्वार्थो नान्यशेषः । तत्र संयमात्पुरुषस्य साक्षात्कारो भवति । सोऽपि [illegible]प्रकाशेन पुरुषेण दृश्यो बुद्धिस्थो न [illegible] विषयीकर्तुमीष्टे । किन्त्वनात्माकारत्वशून्यत्वेनात्ममात्रप्रतिबिम्बग्राहित्वात्पुरुषज्ञानमित्युच्यते । तथा च श्रुतिः—'विज्ञातारमरे केन विजानीयादि'ति ॥ ३५ ॥

चन्द्रिका ।

सत्त्वेति । सत्त्वं प्रकाशसुखात्मकः प्राधानिकः परिणामः पुरुषो भोक्ता तयोश्चेतनाचेतनत्वादत्यन्तासङ्कीर्णत्वं तयोः प्रत्ययस्याविशेषात् भेदेनानभिभासनात् या सुखसंवित् सा भोगः स पुरुषनिमित्तत्वात् परार्थः तदन्यः स्वार्थः पुरुषस्वरूपमात्रालम्बनः परित्यक्ताहङ्कारे सत्त्वे चिच्छायासङ्क्रमस्तत्र कृतसंयमस्य पुरुषज्ञानमुत्पद्यते ॥ ३५ ॥

योगसुधाकरः ।

सत्त्वेति । बुद्ध्यात्मनोर्भोग्यभोक्तृत्वेनात्यन्तभिन्नयोः प्रत्ययाविशेषो बुद्धिपरिणामैः सुखदुःखमोहप्रत्ययैः पुरुषस्य प्रतिबिम्बग्राहिभिरविशेषः [illegible] प्रतिबिम्बद्वारा यः सुखाद्यारोपः, स भोगो बुद्धिस्थो दृश्यत्वात्परार्थः पुरुषस्य भोक्तुः [illegible] । तस्मात्परार्थाद्भोगाज्जडादन्यश्चित्स्वभावः स्वार्थोऽनन्यशेषः पुरुषः । [illegible] संयमात्पुरुषस्य साक्षात्कारो भवति । तं साक्षात्कारमपि पुरुषो जानाति । [illegible] पुनर्ज्ञाता ज्ञेयः, ज्ञातृज्ञेयत्वयोरत्यन्तविरोधादिति भावः ॥ ३५ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्यैव संयमस्य [illegible] —

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

ततः पुरुषसंयमादभ्यस्यमानाद्व्युत्थितस्यापि ज्ञानानि जायन्ते । [illegible] प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञानं तस्याऽऽविर्भावात्सूक्ष्मादिकमर्थं पश्यति । श्रावणं श्रोत्रेन्द्रियजं ज्ञानं, तस्माच्च प्रकृष्टाद्दिव्यं-दिवि भवं-शब्दं जानाति । वेदना स्पर्शेन्द्रियजं ज्ञानं, वेद्यतेऽनयेति कृत्वा, तान्त्रिक्या संज्ञया व्यवह्रियते, तस्माद्दिव्यस्पर्शविषयं ज्ञानं समुपजायते । आदर्शश्चक्षुरिन्द्रियजं ज्ञानम्, आ समन्ताद्दृश्यतेऽनुभूयते रूप[illegible] कृत्वा, तस्य प्रकर्षाद्दिव्यं रूपज्ञानमुत्पद्यते । आस्वादो रसनेन्द्रियजं ज्ञानम्, आस्वाद्यतेऽनेनेति कृत्वा. तस्मिन्प्रकृष्टे दिव्ये रसे संविदुपजायते(१) । वार्ता गन्धसंवित्(२), वृत्तिशब्देन तान्त्रिक्या परि-

---

(१) दिव्यरससंविदुपजायत इति पाठान्तरम् ! (२) संवित्तिरिति पाठान्तरम् ।

भावागणेशवृत्तिः ।

एतासूपेक्षा कृत्वा समाधिरेवासंप्रज्ञातार्थं कार्य इति प्रतिपादयितुमाह—त इति ।

ते प्रातिभाद्याः समाधौ विघ्नरूपा व्युत्थाने व्युत्थितचित्तानामेव सिद्धयः पुरुषार्थाः ॥ ३७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

एतास्तूपेक्षणीया योगिन इत्याह—ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः । स्पष्टम् ॥ ३७ ॥

मणिप्रभा ।

ननु तर्ह्ययं योगी कृतकृत्य इत्यत आह—त इति ।

ते प्रातिभाऽऽदयः समाधौ निःश्रेयसफले रतस्योपसर्गा विघ्ना भवन्ति । अतो मुक्त्यर्थी तानुपेक्षेत । न ह्यात्मसम्बोधनं विना सिद्धिकोट्याऽपि कृतकृत्यता भवति । तदुक्तम् । परमगुरुणा श्रीकृष्णेन—

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत । इति ॥

व्युत्थाने त्वन्ते तु ताः सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

चन्द्रिका ।

त इति । ते प्राक् प्रतिपादिताः फलविशेषाः समाधावुपद्रवा विघ्ना व्युत्थाने विशिष्टफलदायकत्वात् सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

योगसुधाकरः ।

तर्ह्ययं योगी कृतकृत्यः, किं तस्य कार्यमस्तीत्याशङ्कमानं प्रत्याह—त इति ।

ते प्रातिभादयः समाधावपवर्गफले उपसर्गा विघ्ना भवन्ति । अतो मोक्षमाकाङ्क्षता ते तावदुपेक्षणीयाः । यदि तत्रापेक्षा स्यात्तदा मोक्षाद्भ्रष्टः कथं कृतकृत्यतामियात् ? न ह्यात्मप्रत्ययमन्तरेण कृतकृत्यता समस्ति । न चैते स्वात्मज्ञाने उपकुर्वन्ति । अपि तु व्युत्थाने सिद्धयो भवन्ति । एतदेवाभिप्रेत्योक्तम्—

द्रव्यमन्त्रक्रियाकालशक्तयः साधु सिद्धिदाः ।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ।
सर्वेच्छालाभसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः ॥
स कथं सिद्धिवाञ्छायां मग्नचित्तेन लभ्यते । इति ॥ ३७ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

(१) बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

व्यापकत्वादात्मचित्तयोर्नियतकर्मवशादेव शरीरान्तर्गतयोर्भोक्तृभोग्यभावेन यत्संवेदनमुपजायते स एव शरीरे बन्ध इत्युच्यते । तद्यदा समाधिवशाद्बन्धकारणं धर्माधर्माख्यं शिथिलं भवति तानवमापद्यते, चित्तस्य च योऽसौ प्रचारो हृदयप्रदेशादिन्द्रियद्वारेण विषयाभिमुख्येन प्रसरस्तस्य संवेदनं ज्ञानमियं चित्तवहा नाडी अनया चित्तं वहति, इयं च रसप्राणादिवहाभ्यो(२) नाडीभ्यो विलक्षणेति, स्वपरशरीरयोर्यदा सञ्चारं जानाति तदा परकीयं शरीरं मृतं(३) जीवच्छरीरं वा चित्तसञ्चारद्वारेण प्रविशति । चित्तं परशरीरे प्रविशदिन्द्रियाण्यपि अनुवर्तन्ते मधुकरराजमिव मधुमक्षिकाः । अथ परशरीरप्रविष्टो योगी स्वशरीरवत्तेन व्यवहरति(४) । यतो व्यापकयोश्चित्तपुरुषयोर्भोगसङ्कोचे कारणं कर्म तच्चेत्समाधिना क्षिप्तं तदा स्वातन्त्र्यात्सर्वत्रैव भोगनिष्पत्तिः ॥ ३८ ॥

---

(१) ज्ञानरूपं फलं गतेन प्रबन्धेन दर्शयित्वा क्रियारूपमाह बन्धेत्यादि । प्रचारेत्यत्र प्रसरेति पाठान्तरम् ।

(२) इयं च प्राणादीति पाठान्तरम् । (३) परकीयं मृतमिति पाठान्तरम् ।

(४) तेन सर्वं व्यवहरतीति पाठान्तरम् ।

अग्निमावेष्ट्य व्यवस्थितस्य समानाख्यस्य वायोर्जयात्संयमेन वशीकारान्निरावरणस्याग्नेरुद्भूतत्वात्तेजसा प्रज्वलन्निव योगी प्रतिभाति ॥ ४० ॥

भावागणेशवृत्तिः।

समानेति। समं सर्वनाडीषु रसानां संचारणात्समानः प्राणभेदस्तस्य संयमविशेषेण स्वायत्ततायां सत्यां तत्प्रज्वलितेन शरीराग्निना शरीरस्य प्रज्वलनं दाहो भवति सतीदेहस्येवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

समानजयात्प्रज्वलनम्। प्रज्वलनं शारीरतेजस उत्तेजनेन शरीरस्य दहनं सतीदेहस्येव ॥४०॥

मणिप्रभा।

समानेति। नाभिनिकटस्थाग्निव्यापिनः समानस्य वशीकारादग्नेर्ज्वलनं भवति, येन ज्वलन्निव दृश्यत इत्यर्थः। एवं प्राणादिजयात्स्वेच्छया तत्क्रियासिद्धिर्बोध्या ॥ ४० ॥

चन्द्रिका।

समानेति। अग्निमावेष्ट्य स्थितस्य वायोः समानाख्यस्य जयाद्वशीकारादग्नेस्तेजसा प्रज्वलन्निव योगी भातीत्यर्थः ॥ ४० ॥

योगसुधाकरः।

समानेति। आ हृदयादानाभि स्थितः समानः। तस्य वशीकारान्नाभिनिकटस्थाग्नेर्ज्वलनं भवति। येनासौ योगी ज्वलन्निव दृश्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

भोजवृत्तिः।

सिद्ध्यन्तरमाह—

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्रं शब्दग्राहकमाहंकारिकमिन्द्रियम्। आकाशं व्योम शब्दतन्मात्रकार्यम्। तयोः संबन्धो देशदेशिभाव(१)लक्षणस्तस्मिन्कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते, युगपत्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

श्रोत्रेति। श्रोत्रस्याहङ्कारिकत्वेऽप्याकाशसंसृष्टाहङ्कारकार्यतया श्रोत्राकाशयोराधाराधेयभावः संबन्धोऽस्ति। तस्य संयमात्साक्षात्कारे सति दिव्यं श्रोत्रं जायते। येन व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मशब्दा ग्राह्या भवन्तीत्यर्थः। उपलक्षणं चैतत्। त्वग्वातयोश्चक्षुस्तेजसो रसनोदकयोर्घ्राणपृथिव्योः संबन्धसंयमाद्दिव्यत्वगादीत्यपि बोध्यम् ॥ ४१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्। आहंकारिकस्यापि श्रोत्रेन्द्रियस्य कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभ आधारः। तदुपकारापकाराभ्यां श्रोत्रस्य तद्दर्शनात्। एवमाहंकारिकाणामेव घ्राणरसनत्वक्चक्षुषां पृथ्वीजलवायुतेजांसि भूतान्यधिष्ठानानि। एवं तत्तद्ग्राह्यगुणाधिष्ठानानि च तानि द्रव्याणि। यथा शब्दानामाकाशं गन्धस्य पृथ्वी रसस्य जलं स्पर्शस्य वायुः रूपस्य तेज इति। स्वाश्रयवृत्तितद्गुणसामानाधिकरण्यादेव तत्तद्गुणसहकारेण वायुपृथिव्यादिशब्दग्रहणरूपकार्यं कुर्वन्ति। तत्राहंकारिकं श्रोत्रमयस्तुल्यमयस्कान्तमणितुल्येन वक्तृवक्त्रसमुत्पत्तिमता वक्तृस्थेन शब्देनाकृष्टं स्ववृत्तिपरंपरया वक्तृवक्त्रमागतं शब्दं गृह्णाति। अतएव तत्तद्दिग्देशवर्तित्वेन शब्दप्रतीतिः सर्वानुभवसिद्धोपपन्ना। एवं श्रोत्राधिष्ठानत्वं शब्दगुणत्वं चाकाशलक्षणम्। एवमनावरणमपि तल्लक्षणम्। अन्यथा मूर्तैरन्योन्यसंपीडितैः सर्वं सर्वमावृतं स्यात्। नच मूर्तद्रव्याभावादेवानावरणं, अभावस्यानङ्गीकारात् तस्यापि

(१) देशादिभागेति पाठान्तरम्।

समस्तानामीन्द्रियाणां तुषज्वालावद्या युगपदुत्थिता वृत्तिः सा जीवनशब्दवाच्या । तस्याः क्रियाभेदात्प्राणापानादिसंज्ञाभिर्व्यपदेशः । तत्र हृदयान्मुखनासिकाद्वारेण वायोः प्रणयनात्प्राण इत्युच्यते । नाभिदेशात्पादाङ्गुष्ठपर्यन्तमपनयनादपानः । नाभिदेशं परिवेष्ट्य समन्तान्नयनात्समानः । कृकाटिकादेशादा शिरोवृत्तेरुन्नयनादुदानः । व्याप्य नयनात्सर्वशरीरव्यापी व्यानः । तत्रोदानस्य संयमद्वारेण जयादितरेषां वायूनां निरोधादूर्ध्वगतित्वेन जले महानद्यादौ महति वा कर्दमे तीक्ष्णेषु कण्टकेषु वा न सज्जतेऽतिलघुत्वात् । तूलपिण्डवज्जलादौ मज्जितोऽप्युद्गच्छतीत्यर्थः(१) ॥ ३९ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

योगशास्त्रोक्तसंयमविशेषजस्योदानजयस्य सिद्धिमाह—उदानेति ।

रसादूर्ध्वनयनादूर्ध्वगतिप्रदत्वाच्चोर्ध्वसंचारी प्राणस्यावान्तरभेद उदान उच्यते । संयमविशेषेण तस्य जयात्स्वायत्ततायां सत्यां जलादिषु संचरतोऽपि तेष्वसंगो विकारहेतुसंयोगशून्यता भवति । तथा अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनाय ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा लिङ्गशरीरस्य बहिर्निःसरणं च स्वेच्छया भवतीत्यर्थः ३९

नागोजीभट्टवृत्तिः।

सिद्ध्यन्तरमाह—उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च । रसादूर्ध्वनयनादूर्ध्वगतिप्रदत्वाच्चोर्ध्वसंचारी प्राणावान्तरभेद उदानः संयमविशेषेण तस्य जये स्वायत्ततायां जलादिषु संचरतोऽपि तेष्वसङ्गो विकारहेतुसंयोगशून्यता भवति । तथार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनाय ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा लिङ्गदेहस्य बहिर्निःसरणं स्वेच्छया भवतीत्यर्थः । तत्र प्राणो मुखनासिकागतिरा नासिकाग्रादाहृदयमवस्थितः । मूत्रपुरीषगर्भादीनामपसरणहेतुरपान आ नाभेरापादतलवृत्तिः । उदानस्तूक्तलक्षण आ नासिकाग्रादाशिरोवृत्तिः । व्यापी व्यान इति ॥ ३९ ॥

मणिप्रभा।

उदानेति । द्वयी खल्विन्द्रियाणां प्रवृत्तिः । बाह्याऽऽद्याऽऽलोचनरूपा, आन्तरा जीवनयोनिप्रयत्नरूपा सर्वकरणसाधारणी, तस्याः कार्याः पञ्च प्राणादयः । तत्र नासिकाऽग्राद्धृदयं स्थितः प्राणः, आहृदयादानाभि स्थितः समानो भुक्तं समं नयतीति, आनाभेरापादतलं स्थितोऽपानो मलमपनयतीति, आनासाग्रादाशिरोवृत्तिरुदान उत्क्रान्तिहेतुः, सर्वदेहव्यापी व्यानः, तेषु प्राणः श्रेष्ठः । तत्रोदानस्य संयमेन जयादम्भःपङ्ककण्टकादिष्वसक्तो योगी लघुत्वादुपरि गच्छति, स्वेच्छया मरणं च लभत इत्यर्थः ॥३९॥

चन्द्रिका ।

उदानेति । हृदयान्मुखनासिकाद्वारेण वायोः प्रणयनात् प्राण इत्युच्यते । नाभिप्रदेशात् पादाङ्गुष्ठपर्यन्तमपनयनादपानो नाभिप्रदेशं परिवेष्ट्य समन्तान्नयनात् समानः, कृकाटिकादेशादाशिरोवृत्तेरुन्नयनादुदानः, व्याप्य नयनात् सर्वशरीरव्यापी व्यानः । उदानस्य संयमद्वारेण जयादितरेषां वायूनां निरोधादूर्ध्वगामित्वेन जले नद्यादौ कर्दमे कण्टकादिषु वा न सजते अतिलघुत्वात्तूलपिण्डवज्जलादौ मज्जितोऽपि उद्गच्छतीत्यर्थः । अयमुत्क्रान्तिशब्दार्थः ॥ ३९ ॥

योगसुधाकरः ।

उदानेति । समस्तेन्द्रियाणां युगपत्तुलज्वालावदुत्पन्ना या वृत्तिर्जीवशब्दवाच्या, सा क्रियाभेदेन प्राणापानादिसंज्ञाभिर्व्यपदिश्यते । तत्रोदानस्य आ नासाग्राद् शिरोवृत्तेः संयमेन जयाज्जलादिष्वसक्तो योगी लघुत्वादुपरि गच्छति, स्वेच्छया मरणं च लभत इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

समानजयात्प्रज्वलनम् (२)॥ ४० ॥

---

(१) तूलपिण्डवज्जलादावनिमज्जंस्तदुपरि तरन्नेव गच्छतीति पाठान्तरम् ।

(२) जयाज्ज्व—इति भाष्यभवदेवसम्मतः पाठः । क्वचिद्भोजवृत्तावप्येतादृश एव पाठः ॥

योगसुधाकरः ।

कायेति । तयोः संयोगं जित्वा लघुतूलादौ वा तद्भावेन समाधिना लघुकायो भूत्वा आकाशे विहरति, तत ऊर्णातन्तुषु पश्चान्मार्तण्डमयूखेषु, ततो यथेच्छं गगने गच्छतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शरीराद्बहिर्या मनसः शरीरनैरपेक्ष्येण वृत्तिः सा महाविदेहा नाम विगतशरीराहंकारदार्ढ्यद्वारेणो-च्यते(१) ततस्तस्यां कृतात्संयमात्प्रकाशावरणक्षयः सात्त्विकस्य चित्तस्य यः प्रकाशस्तस्य यदावरणं क्लेशकर्मादि तस्य क्षयः प्रविलयो भवति । अयमर्थः—शरीराहंकारे सति या मनसो बहिर्वृत्तिः सा कल्पितेत्युच्यते । यदा पुनः शरीराहंकारभावं परित्यज्य स्वातन्त्र्येण मनसो वृत्तिः साऽकल्पिता, तस्यां संयमाद्योगिनः सर्वे चित्तमलाः क्षीयन्ते ॥ ४३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

बहिरिति । योगशास्त्रोक्तसंयमविशेषाद्वक्ष्यमाणाद्बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहाख्या सिद्धिर्भवति । ततश्च प्रकाशावरणस्य बुद्धिसत्त्वावरकस्य रजस्तमआदेः क्षयो भवति । तेषां क्षये च निरावरणं योगि-नश्चित्तं स्वेच्छया विहरति जानाति चेत्यर्थः । शरीरप्रतिष्ठस्यैव मनसो बहिर्व्यवहितेषु वृत्तिः कल्पिते-त्युच्यते । या तु शरीरनैरपेक्ष्येण तत्त्यागेन बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता महाविदेहोच्यते इति ॥ ४३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः । योगशास्त्रोक्तसंयमविशेषाद्वक्ष्य-माणाद्बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहाख्या सिद्धिस्तस्यां सत्यां प्रकाशावरणस्य बुद्धिसत्त्वावरकस्य रजस्त-मआदेः क्षयो भवति तत्क्षये च निरावरणं योगिचित्तं स्वेच्छया विहरति जानाति चेत्यर्थः । शरीर-प्रतिष्ठस्यैव मनसो बहिर्व्यवहितादिषु वृत्तिः कल्पिता । या शरीरनैरपेक्ष्येण बहिर्व्यवहितादिषु वृत्तिः साऽकल्पिता महाविदेहेत्युच्यते । पूर्वया चोत्तरा साधनीया । तया च रजस्तमोमूलकसर्वक्लेशकर्मविपा-कक्षयः परशरीरावेशश्च सिध्यति ॥ ४३ ॥

चन्द्रिका ।

बहिरिति । शरीराद्बहिर्या मनोवृत्तिः सा महाविदेहा नाम विगतशरीराहङ्कारदार्ढ्यद्वारेणोच्यते ततस्तस्यां कृतसंयमात्प्रकाशावरणक्षयः सात्त्विकचित्तस्य यः प्रकाशस्तस्य यदावरणं क्लेशादि तत्-क्षयः प्रविलयो भवति ॥ ४३ ॥

योगसुधाकरः ।

बहिरिति । शरीरेऽहंभावे सति मनसो या बहिर्वृत्तिः सा कल्पिता विदेहाख्या । यदा देहेऽहं-भावपरित्यागे सति स्वत एव या मनसो बहिर्वृत्तिः सेयमकल्पिता महाविदेहाख्या । तत्र संयमात्प्रकाश-शीलस्य चित्तस्य क्लेशादिमलाः सर्वे क्षीयन्त इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

भोजवृत्तिः ।

तदेवं पूर्वान्तविषयाः परान्तविषया मध्यभवाश्च सिद्धीः प्रतिपाद्यानन्तरं भुवनज्ञानादिरूपा बाह्याः कायव्यूहादिरूपा आभ्यन्तराः परिकर्मनिष्पन्नभूताश्च(२) मैत्र्यादिषु बलानीत्येवमाद्याः समाध्यु-पयोगिनीश्चान्तःकरणबहिःकरणलक्षणेन्द्रियभवाः प्राणादिवायुभवाश्च सिद्धीश्चित्तदार्ढ्याय समाधौ समाश्वा-

---

(१) विगताहंकारकार्यवेगेनोच्यत इति पाठान्तरम् ।

(२) निष्पन्दभूताः, निष्पन्दरूपा इति च पाठान्तरम् ।

भावाश्रितत्वाच्च । नापि पुरुषकृतं तत् । तस्यापारंणामितयाऽवच्छेदकत्वाभावात् । तस्माच्छब्दतन्मात्रस्य परिणामविशेषो नभ अनावरणकृत् । दिगपि तत्तदुपाधिविशिष्टं नभ एव । अनावरणस्य सर्वत्र दर्शनान्नभसो विभुत्वम् । तादृशस्य श्रोत्राकाशयोः संबन्धस्य संयमात्साक्षात्कारे सति तस्य व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मशब्दग्रहणयोग्यतारूपं दिव्यत्वं भवतीत्यर्थः । उपलक्षणं चैतत् त्वग्वातयोश्चक्षुस्तेजसो रसनजलयोर्घ्राणपृथिव्योः संबन्धसंयमाद्दिव्यं त्वगादीत्यपि बोध्यम् ॥ ४१ ॥

मणिप्रभा ।

श्रोत्रेति । आहङ्कारिकस्यापि श्रोत्रस्याकाशेनाधाराधेयभावोऽस्ति । उपलक्षणमेतत् । त्वग्वाय्वोः चक्षुस्तेजसोरप्रसनयोः घ्राणभूम्योः सम्बन्धेषु संयमाद्दिव्यानीन्द्रियाणि श्रावणवेदनाऽऽयुक्तसंज्ञानि सम्भवन्ति, यैर्दिव्यशब्दादीन्युगपज्जानातीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

चन्द्रिका ।

श्रोत्रेति । श्रोत्रेन्द्रियाकाशयोः सम्बन्धो देशदेशिभावस्तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते युगपत् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

योगसुधाकरः ।

श्रोत्रेति । आहंकारिकस्यापि श्रोत्रस्याकाशेनाधाराधेयभावः संबन्धोऽस्ति । तत्र संयमाद्दिव्यं श्रोत्रेन्द्रियं भवति । तेन हि दिव्यशब्दान्युगपज्जानातीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम् ॥४२॥

कायः पाञ्चभौतिकं शरीरं तस्याऽऽकाशेनावकाशदायकेन यः संबन्धस्तत्र संयमं विधाय लघुनि तूलादौ समापत्तिं तन्मयीभावलक्षणां(१) च विधाय प्राप्तातिलघुभावो योगी प्रथमं यथारुचि जले संचरन्क्रमेणोर्णनाभतन्तुजालेन संचरमाण आदित्यरश्मिभिश्च विहरन्यथेष्टमाकाशेन गच्छति ॥ ४२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कायेति यत्र कायस्तत्राकाशमिति व्याप्तिरूपसंबन्धोऽस्ति । अवकाशं विना शरीरावस्थानासंभवात् । तस्मिन् संबन्धे संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तादाकाशगमनं संभवति । लघुतूलादिषु समापत्तेः संयमजलघुत्वसाक्षात्कारादपि भवतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् । यत्र कायस्तत्राकाशमिति व्याप्तिरूपः संबन्धोऽस्ति अवकाशं विना शरीरावस्थानासंभवात् । तत्र संबन्धे पूर्णसंयमस्याकाशगमनं भवति । किंच लघुतूलादिषु परमाणुपर्यन्तेषु संयमजयाल्लघुत्वसाक्षात्कारे वा तत् । जलादौ पद्भ्यां विहरणमूर्णनाभितन्तुमात्रे विहारादिकं त्वार्थम् ॥ ४२ ॥

मणिप्रभा ।

कायेति । तयोः संयोगं जित्वा लघुनि तूलादौ वा तद्भावेन समाधिना लघुकायो भूत्वाऽऽदौ जले विहरति । [illegible] ऊर्णनाभितन्तुषु विहरति । पश्चात्सूर्यरश्मिषु । ततो यथेष्टमाकाशे गच्छतीत्यर्थः ॥४२॥

चन्द्रिका ।

कायेति । कायः शरीरं तस्याकाशेनावकाशदानात् यः सम्बन्धस्तत्र संयमं विधाय लघुनि तूलादौ समापत्तिस्तन्मयीभावलक्षणा तां च विधाय प्राप्तात्यन्तलघुभावो योगी प्रथमं यथारुचि सञ्चरन् क्रमेणोर्णनाभितन्तुजालेन सञ्चरमाणः आदित्यरश्मिभिश्च विहरन् यथेष्टमाकाशेन गच्छति ॥४२॥

(१) समापत्तिस्तन्मयीभावलक्षणा तांश्चेति पाठान्तरम् ।

सोत्पत्तये प्रतिपाद्येदानीं स्वदर्शनोपयोगिसबीजनिर्बीजसमाधिसिद्धये विविधोपायप्रदर्शनायाऽऽह—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥

पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां ये पञ्चावस्थाविशेषरूपा धर्माः स्थूलत्वादयस्तत्र कृतसंयमस्य भूतजयो भवति,—भूतानि अस्य वश्यानि भवन्तीत्यर्थः। तथाहि—भूतानां परिदृश्यमानं विशिष्टाकारवत् स्थूलरूपं, स्वरूपं चैषां(१) यथाक्रमं कार्यं गन्धस्नेहोष्णताप्रेरणावकाशदानलक्षणं, सूक्ष्मं च यथाक्रमं भूतानां कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादितन्मात्राणि। अन्वयिनो गुणाः प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वत्रैवान्वयित्वेन समुपलभ्यन्ते। अर्थवत्त्वं तेष्वेव गुणेषु भोगापवर्गसंपादनाख्या शक्तिः। तदेवं भूतेषु पञ्चसूक्तलक्षणावस्थाभिन्नेषु(२) प्रत्यवस्थं संयमं कुर्वन्योगी भूतजयी भवति। तद्यथा—प्रथमं स्थूलरूपे संयमं विधाय तदनु स्वरूपे(३) इत्येवं क्रमेण तस्य कृतसंयमस्य संकल्पानुविधायिन्यो वत्सानुसारिण्य [illegible] गावो भूतप्रकृतयो भवन्ति ॥ ४४ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

तदेवं परिणामत्रयसंयमादित्यारभ्योच्चावचविषयसंयमानां ज्ञानकर्मरूपाः सिद्धयस्तत्तत्कामेभ्य उपदिष्टाः। इदानीं वितर्कविचारेत्यादिसूत्रैश्च शास्त्रे मुख्यतः प्रकृतेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु ये संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः। तत्र ग्रहीतृग्रहणयोर्ग्राह्यनिरूप्यत्वादादौ ग्राह्यसंयमस्य सिद्धिमाह—**स्थूलेति**।

स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं च स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वानि पञ्च भूतानुगतत्वाद्भूतानां रूपाणीत्युच्यन्ते। तेषु संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्तत्तद्रूपैर्भूतानां जयो वशीकारः स्वेच्छानुविधायित्वं योगिनो भवतीत्यर्थः। तत्रत्यक्षेऽपि शब्दादिभिराकारादिभिश्च विशिष्टोऽवयवी स्थूलशब्देनोच्यते। आकारादयश्च धर्माः पृथिव्यादिक्रमेण शास्त्रे [illegible] पठिताः। यथा—

आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च।
वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्ष्ण्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता॥
स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत्।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं संधानं चौदका गुणाः॥
ऊर्ध्वभाक्पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम्।
प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम्॥
तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम्।
चलमच्छायता (रौक्ष्यं) वायोर्धर्माः पृथग्विधाः॥
सर्वतोगतिरव्यूहो विष्टम्भश्चेति ते [illegible]ः।
आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वपूर्वविलक्षणाः॥ इति।

आकारोऽवयवसंस्थानं। वृत्तिः सर्वभूताधारता। भेदो विदारणम्। क्षमा सहिष्णुता। धारणसामर्थ्यमिति यावत्। रक्षा आवरणादिना रक्षकत्वम्। आक्षेपः पातनम्। अच्छायता छायाशून्यत्वम्। सर्वतोगतिः व्यापकत्वम्। अव्यूहः सर्वपदार्थानां प्रविरलीकरणम्। अविष्टम्भोऽवकाश इति भूतानां स्थूलरूपं व्याख्यातम्। स्वरूपाख्यं रूपं तु पृथिवीत्वजलत्वादिसामान्यपञ्चकम्। तन्मात्राणि सूक्ष्मरूपम्। प्रकृत्याख्यं गुणत्रयं चान्वयाख्यं रूपं सर्वकार्येष्वनुगतत्वात्। अर्थवत्त्वं च भूतगतं सुखदुःखादिपुरुषार्थजातमिति ॥ ४४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ ग्राह्यसंयमजां सिद्धिमाह—स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः। स्थूलं च

---

(१) विशिष्टाकारं स्थूलरूपं चैषामिति पाठान्तरम्।
(२) उक्तधर्मलक्षणावस्थाभिन्नेष्विति पाठान्तरम्। (३) सूक्ष्मरूप इति पाठान्तरम्।

स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयार्थवत्त्वं चेति पञ्च भूतानुगतत्वात् भूतानां रूपाणीत्युच्यन्ते तेषु संयमा-त्साक्षात्कारपर्यन्तात् तत्तद्रूपैर्भूतानां जयो वशीकारः स्वेच्छानुविधायित्वं योगिनो भवतीत्यर्थः। तत्र शब्दादिभिराकारादिभिश्च धर्मैर्विशिष्टोऽवयवी स्थूलशब्देनोच्यते। षड्जगान्धारादयः शब्दाः शीतो-ष्णादयः स्पर्शाः नीलपीतादयो रूपाणि कषायमधुरादयो रसाः सुरभ्यादयो गन्धाः। एते [illegible] नामरूप-कार्यैः परस्परस्माद्भिद्यन्त इति विशेषाः। ते पञ्चापि पृथिव्यां गन्धवर्जं च चत्वारो जले गन्धरसवर्जं त्रयस्तेजसि गन्धरसरूपवर्जं द्वौ वायौ शब्द एक आकाशे। आकारादयश्च भूम्यादिकमेण पठिताः शास्त्रे-

आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च।
वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्ष्ण्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता॥

आकारोऽवयवसंस्थानविशेषः, वृत्तिः सर्वभूताधारता, भेदो विदारणम्, क्षमा धारणसामर्थ्यम्।

स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत्।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं संधानं चौदका गुणाः॥

रक्षा आवरणादिना रक्षकत्वम्।

ऊर्ध्वभाक् पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम्।
प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम्॥
तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम्।
चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः॥

आक्षेपः पातनं, छायाशून्यत्वमच्छायता।

सर्वतोगतिरव्यूहो विष्टम्भश्चेति ते त्रयः।
आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वपूर्वविलक्षणाः॥

सर्वतोगतिः व्यापकत्वम्, अव्यूहः सर्वपदार्थानां प्रविरलीकरणम्। अवष्टम्भोऽवकाशः। एतत्स्थूलरूपं भूतानाम्। स्वरूपाख्यं रूपं तु सांसिद्धिककाठिन्यसमानाधिकरणं भूमित्वम् स्नेहसमानाधिकरणं जलत्वम्। उष्णतासमाधिकरणं तेजस्त्वम्। वहनक्रियासमानाधिकरणं वायुत्वम्। व्यापकत्वसमानाधिकरणं शब्दवत्त्वमेवंरूपम्। समानाधिकरणधर्मा एव भूमि-त्वादय इत्यन्ये। धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षायां तु स्नेहो जलमिति भाष्यं प्रयुक्तम्। नन्वेतेऽपि भूतधर्मा एवेति कथमेते स्वरूपमिति चेत्। एतत्समुदायरूपं द्रव्यं स्वरूपमिति गृहाण। तथाहि—सामान्यवि-शेषसमुदायो द्रव्यम्। तच्च तदाश्रयो द्रव्यं ननु त एव समुदिता इति वाच्यम्। तदाश्रयद्रव्यवादिनापि तत्समुदायस्यावश्यमङ्गीकार्यत्वात्। अन्यथा तदाधारतैव तत्र न स्यात्। एवं चावश्यकत्वात्स एव द्रव्य-मस्तु। न चैवं वनादेरपि द्रव्यत्वापत्तिः। अयुतसिद्धावयवविशेषानुगतसमुदायस्यैव द्रव्यत्वात्, स च वृक्षः शरीरं परमाणुरित्यादि। अयुतसिद्धा अपृथक्सिद्धा निरन्तरा इत्यर्थः। वनादिरूपसमूहस्तु युत-सिद्धावयवः पृथक्सिद्धाः सान्तरा अवयवा यस्य तादृशः। स द्विविधः भेदेन विवक्षितोऽभेदेन विवक्षि-तश्च। यथा आम्राणां वनं ब्राह्मणानां संघः पटस्य [illegible] इति च, चैत्रस्य हस्त इति च। अभेदानुगतो यथा। आम्रा वनं ब्राह्मणाः संघः पटः शुक्ल इति च तन्तवः पटा इति च। स पुनर्द्विविधः। प्रत्यस्त-मितभेदावयवानुगतो यथा—शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति। काश्चिच्छब्दोपात्तभेदावयवानुगतः। यथा—उभये देवमनुष्याः। समूहस्यैको भागो देवा द्वितीयो भागो मनुष्यास्ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः। गुरु-त्वमपि प्रत्येकावयवगतगुरुत्वानां [illegible] प्रतीयत इति न तदाश्रयतयापि अतिरिक्तद्रव्यसिद्धिः। दशसु पाषाणेषु प्रत्येकापेक्षयाधिकगुरुत्वप्रतीतिवत्। तदुक्तम् 'अयुतसिद्धावयवविशेषानुगतः समूहो द्रव्यमिति' पतञ्जलिः। एतत्स्वरूपमुच्यते' इति भाष्ये। सूक्ष्मं रूपं तन्मात्राणि। एषामेकः परमाणुरूप एव परिणामः। परमाणुरपि शब्दादिविशेषात्मायुतसिद्धावयवविशेषानुगतः। परमाणुवदेव ततोऽपि वा सूक्ष्माणि तन्मात्राणि। प्रकृतेराख्ययुगमयं चान्वयाख्यं रूपं सर्वकार्यानुगतत्वात्। अर्थवत्त्वं [illegible] भूत-

गतं सुखदुःखादि पुरुषार्थजातं सर्वत्र गुणान्वयात् गुणानां चैवंस्वभावात् । तज्जये सति वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्तीति दिक् ॥ ४४ ॥

मणिप्रभा।

बहिरिति । देहेऽहंभावे सत्येव मे मनो बहिरास्त्विति कल्पनया मनसो देहाद्बहिर्वृत्तिलाभो भवति, सा कल्पिता विदेहाऽऽख्या धारणा । तया देहेऽहंभावत्यागे सति स्वत एव बहिर्वृत्तिलाभो भवति सेयमकल्पिता महाविदेहाऽऽख्या धारणा । ततः प्रकाशस्वभावस्य चित्तस्य क्लेशकर्माद्यावरणक्षयो भवति । ततः सर्वज्ञत्वलाभ इत्यर्थः ।

पञ्चभूतानां स्थूलं दृश्यमानमवयवसंस्थानं पृथिवीत्वादिजातिमत् क्रमेणैकैकन्यूनैः शब्दादिभिः पञ्चगुणैः स्थूलैर्युक्तमित्येकं रूपम् । अथ द्वितीयं तेषां स्वरूपं क्रमेण काठिन्यस्नेहौष्ण्यप्रेरणसर्वगतत्वलक्षणं, प्रेरणा वायोस्तृणादिवाहकत्वम् । अथ तृतीयं तेषां रूपं सूक्ष्मं कारणं परमाणवः, तेषां सूक्ष्माणि पञ्चतन्मात्राणि । अथ चतुर्थं तेषां रूपं गुणत्रयं तद्धि स्वकारणत्वेनान्वेतीत्यन्वयः सामान्यम् । अथ पञ्चमं तेषां भूतानां रूपमर्थवत्त्वं भोगापवर्गसामर्थ्यं गुणनिष्ठं स्वेषु गुणान्वयादागतम् । एवं भूतानां पञ्चरूपेषु कार्यस्वरूपहेतुषु स्थूलादिक्रमेण संयमाद्भूतानि योगिसङ्कल्पानुसारीणि भवन्ति, वत्सानुसारिण्य इव गाव इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

चन्द्रिका ।

एवं बहिरान्तरीः सिद्धीः प्रतिपाद्य समाध्युपयोगिनीराह—स्थूलेति ।

पञ्चानां भूतानां [illegible] स्थूलत्वादयो धर्मास्तत्र कृतसंयमस्य भूतजयो भवति । भूतानां दृश्यमानं विशिष्टं रूपं स्थूलं स्वरूपं कार्यं गन्धस्नेहौष्ण्यताप्रेरणावकाशदानलक्षणम् । सूक्ष्मं तन्मात्राणि । अन्वयिनो गुणाः सर्वत्रोपलभ्यन्ते अर्थवत्त्वं नाम गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनाख्या शक्तिरेवं पञ्चसु उक्तलक्षणावस्थाभिन्नेषु प्रत्यवस्थं संयमं कुर्वन् योगी भूतजयी भवति ॥ ४४ ॥

योगसुधाकरः ।

स्थूलेति । स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं च पञ्चैतानि पञ्चभूतानां रूपाणि । तत्र क्रमेणैकैकन्यूनैः शब्दादिगुणैर्युक्तं परिदृश्यमानं स्थूलम् । क्रमेण काठिन्यस्नेहौष्ण्यप्रेरणासर्वगतत्वलक्षणं स्वरूपम् । पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मम् । स्वकार्ये कारणत्वेनान्वेतीत्यन्वयो गुणत्रयम् । भोगापवर्गदान-सामर्थ्यं गुणनिष्ठमर्थवत्त्वम् । तेषु पञ्चरूपेषु स्थूलादिक्रमेण संयमाद्भूतानि योगिसंकल्पानुसारीणि भवन्ति धेनवो वत्सानुसारिण्य इवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्यैव भूतजयस्य फलमाह—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मा(१)नभिघातश्च ॥ ४५ ॥

अणिमा परमाणुरूपतापत्तिः । महिमा महत्त्वम् । लघिमा तूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्तिः । गरिमा गुरुत्वम् । प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनशक्तिः । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । शरीरान्तःकरणेश्वरत्वमीशित्वम् । सर्वत्र प्रभविष्णुता वशित्वं, सर्वाण्येव भूतानि अनुगामित्वात्तदुक्तं नातिक्रामन्ति । यत्र कामावसायो यस्मिन्विषयेऽस्य काम इच्छा भवति त(य)स्मिन्विषये योगिनो व्यवसायो(२) भवति तं विषयं स्वीकारद्वारेणाभिलाषसमाप्तिपर्यन्तं नयन्तीत्यर्थः । त एतेऽणिमाद्याः समाध्युपयोगिनो भूतजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्ति । यथा—परमाणुत्वं प्राप्तो वज्रादीनामप्यन्तः प्रविशति । एवं सर्वत्र योज्यम् । ते एतेऽणिमादयोऽष्टौ गुणा महासिद्धय उच्यन्ते । कायसंपत् वक्ष्यमाणा तां प्राप्नोति । तद्धर्मानभिघातश्च तस्य कायस्य ये धर्मा रूपादयस्तेषामनभिघातो नाशो न कुतश्चिद्भवति नास्य रूपमग्निर्दहति न वायुः शोषयतीत्यादि योज्यम् ॥ ४५ ॥

---

(१) सम्पद्धर्मा—इति पाठान्तरम् । (२) ऽव्यवसाय इति पाठान्तरम् ।

भावागणेशवृत्तिः ।

भूतजयस्य फलमाह- तत इति ।

ततो भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावादिरूपं सिद्धित्रयं भवतीत्यर्थः। तत्राणिमाद्यष्टसिद्धयः स्मर्यन्ते।

अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिः प्रेरणमीशिता।
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यतीति।

मूर्तेः शरीरस्य अणिमा अणुत्वम् । महिमा योजनादिव्यापित्वम् । लघिमा तूलादिवल्लघुत्वम्। भूमिष्ठ एवाङ्गुल्यग्रेण चन्द्रमसं स्पृशतीत्यादि सामर्थ्यमिन्द्रियैः प्राप्तिरित्युच्यते। श्रुतदृष्टेषु प्राकाम्यमिच्छानभिघातः, यथा भूमौ जलेष्विव निमज्जतीत्यादि । ईशिता तु भूतभौतिकानां सर्वेषां शरीरवत्संकल्पमात्रेण प्रेरणम् । वशिता च गुणानां भूतभौतिकानां वश्यत्वम्। सत्यसंकल्पत्वं तु यत्कामस्तदवस्यतीत्यनेनोक्तम्। अवस्यति प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्र च सूत्रे प्राकाम्यं विहाय सप्तैव सिद्धयोऽणिमादीत्यनेन गृहीताः। प्राकाम्यं तु तद्धर्मानभिघातशब्देन गृहीतमिति विशेषः ॥४५॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

भूतानां संकल्पानुविधायकत्वे सति या सिद्धयस्ता आह—ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च। ततो भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावादिरूपं सिद्धित्रयं भवतीत्यर्थः। अणिमा शरीरस्याणुत्वम्। महिमा योजनादिव्यापित्वम्। गरिमा गुरुत्वम्। लघिमा तूलादिवल्लघुत्वम्। प्राप्तिः भूमिष्ठ एवाङ्गुष्ठाग्रेण चन्द्रं स्पृशतीत्यादिरूपमिन्द्रियाणां सामर्थ्यम्। प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेष्विच्छानभिघातः यथा भूमौ जलेष्विव निमज्जतीत्यादि। ईशित्वं सर्वेषां भूतभौतिकानां शरीरवत्संकल्पमात्रेण प्रेरणम्। वशित्वं भूतभौतिकानां गुणानां वश्यत्वम्। सत्यसंकल्पता च। यथा विषमप्यमृतत्वेन संकल्प्य भोजयञ्जीवयतीत्यष्टावणिमादयः।सत्यसङ्कल्पोऽपि चन्द्रमसमादित्यं न करोति ईश्वरेच्छानुविधानात् ईश्वरसंकल्पविरुद्धसंकल्पाकरणात्। तथासति तत्प्रत्ययेन सिद्धितत्त्वचवेरन्। सूत्रेऽणिमादिपदेन प्राकाम्यातिरिक्तानां ग्रहणम्। तस्य तद्धर्मानभिघातपदेन ग्रहणात्। यथा विरोधकृताभिघाताभावः। यथा शिलामप्यनुप्रविशति जलं न क्लेदयति तं नाग्निर्दहति न वायुश्चालयति, अनावरणेऽप्याकाशे आवृतशरीरो भवति, सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ॥ ४५ ॥

मणिप्रभा ।

तत इति। ततो भूतजयाद्योगिनोऽणिमाद्यष्टसिद्धयः प्रादुर्भवन्ति। परमाणुतुल्यत्वमणिमा, विभुत्वं महिमा, तूलपिण्डवल्लघुत्वं लघिमा, मेरुवद् गुरुत्वं गरिमा, अङ्गुल्या चन्द्रसंस्पर्शनं प्राप्तिः, सत्यसङ्कल्पत्वं प्राकाम्यम्, भूतनियन्तृत्वं वशित्वं, भूतस्रष्टृत्वमीशित्वमित्यष्टैश्वर्याणि। अत्र प्राप्यन्तानि स्थूलसंयमात्सिद्ध्यन्ति। स्वरूपसंयमात्प्राकाम्यम्। अवशिष्टं हेतुसंयमादिति विभागः। कायसम्पद्वक्ष्यते, तस्य कायस्य भूतधर्मैः काठिन्यादिभिरनभिघातश्च भूतजयात्सिध्यति। येन शिलाऽन्तः प्रविशति, शीतोष्णादयो न बाधन्त इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

चन्द्रिका ।

तस्य फलमाह—तत इति ।

अणिमा अणुत्वापत्तिः महिमा महत्त्वं लघिमा लघुत्वप्राप्तिर्गरिमा गुरुत्वप्राप्तिः प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनशक्तिः प्राकाम्यमिच्छानभिघातः शरीरान्तःकरणेश्वरत्वमीशित्वं सर्वतः प्रभविष्णुत्वं वशित्वं सर्वभूतानि तदुक्तं नातिक्रामन्ति। त एते अणिमाद्याः समाध्युपयोगिभूतजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्ति एता महासिद्धय इत्युच्यन्ते। कायसम्पत् वक्ष्यमाणा तां प्राप्नोति तद्धर्मानभिघातश्च तस्य कायस्य ये धर्माः रूपादयस्तेषामनभिघातो नाशो नास्ति अस्य रूपस्याग्निवाय्वादिना दाहशोषादिकं न भवतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वस्तु भूतजयः; किं तत इत्यत्राह—तत इति ।

ततो भूतजयाद्योगिनोऽणिमाद्यष्टमहासिद्धयः प्रादुर्भवन्ति । परमाणुतुल्यत्वमणिमा । विभुत्वं महिमा । तूलपिण्डवल्लघुत्वं लघिमा । मेरुवद्गुरुत्वं गरिमा । अङ्गुल्या चन्द्रस्पर्शनं प्राप्तिः । सत्यसंकल्पत्वं प्राकाम्यम् । भूतनियन्तृत्वं वशित्वम् । भूतस्रष्टृत्वमीशित्वम् । इत्यष्टैश्वर्याणि । अत्र प्राप्त्यन्तानि स्थूलसंयमात्सिध्यन्ति । स्वरूपसंयमात्प्राकाम्यम् । अवशिष्टमवशिष्टत्रयसंयमादिति विभागः । कायसंपद्वक्ष्यमाणलक्षणा, तद्धर्मैस्तस्य काठिन्यादिभूतधर्मैरनभिघातश्च योगिनो भूतजयात्सिध्यतीत्यर्थः ॥४५॥

भोजवृत्तिः ।

कायसंपदमाह—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि(१) कायसंपत् ॥ ४६ ॥

रूपलावण्यबलानि प्रसिद्धानि । वज्रसंहननत्वं वज्रवत्काठिना संहतिरस्य शरीरे भवतीत्यर्थः । इति कायस्याऽऽविर्भूतगुणसम्पत् ॥ ४६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्रसिद्धत्वात्सिद्धिद्वयं व्याख्याय संपदं स्वयं विवृणोति—**रूपेति** ।

वज्रवद्दृढः संघातो यस्येति वज्रसंहननः । शेषं स्पष्टम् ॥ ४६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कायसंपदमाह—**रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्** । वज्रवद्दृढावयवसंघातः ४६

मणिप्रभा ।

रूपेति । चक्षुःप्रियं रूपं,लावण्यं सर्वाङ्गसौन्दर्यं, बलं वीर्यं, वज्रस्येव संहननमवयवव्यूहो यस्य तद्भावो वज्रसंहननत्वं, हनुमति प्रसिद्धम् ॥ ४६ ॥

चन्द्रिका ।

कायसम्पदमाह—**रूपेति** ।

रूपलावण्यबलानि प्रसिद्धानि, वज्रसंहननं वज्रवत् काठिना संहतिरस्य शरीरे भवतीत्यर्थ इति कायस्याविर्भूतगुणसम्पत् ॥ ४६ ॥

योगसुधाकरः ।

कायसम्पदं व्याख्यातुमाह—**रूपेति** ।

चक्षुःप्रियं रूपम् । सर्वाङ्गसौन्दर्यं लावण्यम् । वीर्यं बलम् । वज्रस्येव संहननमवयवव्यूहो यस्य तद्भावो वज्रसंहननत्वम्, [illegible] हनुमति प्रसिद्धम् ॥ ४६ ॥

भोजवृत्तिः ।

[illegible] भूतजयमभिधाय प्राप्तभूमिकाविशेषस्य(२)इन्द्रियजयमाह —

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखी वृत्तिः । स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकत्वम्(३) । अस्मिताऽहंकारानुगमः । अन्वयार्थवत्त्वे पूर्ववत् । एतेषामिन्द्रियाणामवस्थापञ्चके पूर्ववत्संयमं कृत्वेन्द्रियजयी भवति४७

भावागणेशवृत्तिः ।

ग्राह्यसंयमस्य सिद्धय उक्ताः । ग्रहणसंयमस्य सिद्धीराह द्वाभ्याम्—**ग्रहणेति** ।

ग्रहणादिपञ्चसु इन्द्रियरूपेषु संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तादूर्ध्वमिन्द्रियाणि जितानि भवन्तीत्यर्थः । ग्रहणं

---

(१) संहननत्वादीनि, संहननानीति च पाठान्तरम् ।

(२) प्राप्तभूमिकस्येति पाठान्तरम् । (३) प्रकाशकमिति पाठान्तरम् ।

निश्चयाभिमानसंकल्पदर्शनश्रवणाद्या वृत्तयः । स्वरूपं तु एकादशेन्द्रियाणि । अस्मिता च तदुपलक्षितौ बुद्ध्यहङ्कारौ । अन्वयार्थवत्त्वे च भूतजयसूत्रे व्याख्याते । अस्मितादीनां चेन्द्रियरूपवत्त्वमिन्द्रियकारणतया तदनुगमादिति ॥ ४७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ग्रहणसंयमसिद्धिमाह —ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः । ग्रहणं निश्चयाभिमानसंकल्पदर्शनश्रवणाद्या वृत्तयः । स्वरूपमेकादशेन्द्रियाणि । अस्मितापदेनाश्च तदुपलक्षितौ बुद्ध्यहंकारौ । अन्वयार्थवत्त्वे च भूतजयसूत्रे व्याख्याते । एषु पञ्चसु संयमदार्ढ्यात्तत्तद्रूपेन्द्रियजय इत्यर्थः । अस्मितादीनामिन्द्रियत्वं चेन्द्रियकारणतया तत्कार्यतया च तदनुगमात् ॥ ४७ ॥

मणिप्रभा ।

भूतजयानन्तरमिन्द्रियजयोपायमाह—ग्रहणेति ।

शब्दः षड्जादिः, स्पर्शः शीतादिः, रूपं पीतादिः, रसो मधुरादिः, गन्धः सुरभ्यादिरिति, सामान्यविशेषात्मकशब्दादिगोचराः पञ्च वृत्तयः कार्याः श्रोत्रादीन्द्रियाणां ग्रहणानि प्रथमं रूपं, प्रकाशकत्वं स्वरूपं तेषां द्वितीयं, अस्मितालक्षणसात्विकाहङ्कारः कारणं तेषां तृतीयम्, अन्वयार्थवत्त्वे चतुर्थपञ्चमे व्याख्याते । तेषु पञ्चस्विन्द्रियरूपेषु संयमादिन्द्रियजयो भवति ॥ ४७ ॥

चन्द्रिका ।

इन्द्रियजयमाह—ग्रहणेति ।

ग्रहणं विषयाभिमुखी वृत्तिः । स्वरूपं सामान्येन प्रकाशत्वम् । अस्मिता अहङ्कारानुगमः । अन्वयार्थवत्त्वे पूर्ववत् । एतेषामिन्द्रियाणामवस्थापञ्चके संयमं कृत्वेन्द्रियजयी भवति ॥ ४७ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं ससाधनफलं भूतजयमभिधाय सोपायफलमिन्द्रियजयमभिधातुमाह—ग्रहणेति ।

ग्रहणं स्वरूपमस्मितान्वयोऽर्थवत्त्वं च पञ्चैतानि श्रोत्रादिपञ्चेन्द्रियाणां रूपाणि । तत्र शब्दादिगोचरा वृत्तयो ग्रहणम् । स्वरूपं प्रकाशकत्वम् । अस्मिता सत्त्विकाहंकारः । अन्वयार्थवत्त्वे व्याख्याते । तेषु पञ्चस्विन्द्रियरूपेषु संयमादिन्द्रियजयो भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्य फलमाह—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

शरीरस्य मनोवदनुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वम् । कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभो विकरणभावः । सर्ववशित्वं प्रधानजयः । एताः सिद्धयो जितेन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्ति । ताश्चास्मिञ्छास्त्रे मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते । यथा–मधुन एकदेशोऽपि स्वदत एवं प्रत्येकमेताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः ॥४८॥

भावागणेशवृत्तिः ।

इन्द्रियजयसिद्धीराह—तत इति ।

मनोजवित्वं मनोवच्छीघ्रतरा देहगतिः । विकरणभाव इन्द्रियाणां विकीर्णता । स्थूलदेहनैरपेक्ष्येण सर्वत्र वृत्तिलाभ इति यावत् । प्रधानजयश्च प्रकृतेः स्वेच्छया परिणमनम् । एतास्तिस्र इन्द्रियजयाद्भवन्तीत्यर्थः । एताश्च सिद्धयो मधुप्रतीका इति मधुमत्य इति चोच्यन्ते ॥ ४८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

इन्द्रियजयात्सिद्धीराह—मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च । मनोजवित्वं मनोवच्छीघ्रतरा देहगतिः, विकरणभावः विकीर्णतेन्द्रियाणां स्थूलदेहनैरपेक्ष्येण सर्वत्र वृत्तिलाभ इति यावत्, प्रधानजयः प्रकृतेः स्वेच्छया परिणामनमेतास्तिस्रः सिद्धय इन्द्रियजयाद्भवन्तीत्यर्थः । एता एव मधुप्रतीका इति मधुमत्य इति चोच्यन्ते ॥ ४८ ॥

मणिप्रभा ।

ततः किं तत्राह—तत इति ।

मनोवत्कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वं, देहानपेक्षाणामिन्द्रियाणां दूरवाह्यार्थज्ञाने विकरणभावः, प्रधानस्याव्ययस्य चतुर्थरूपस्य जयः सर्वजगद्वशित्वमिति सिद्धय इन्द्रियजयाद्भवन्तीत्यर्थः । एता अणिमाद्याः प्रधानजयान्ताः सिद्धयोऽस्मिन् शास्त्रे मधुप्रतीका उच्यन्ते, मधुन एकदेशवदास्वाद्यन्त इति मधुप्रतीका मधुतुल्या इत्यर्थः । यद्वा स्थूलादिप्रधानान्तवस्तुविषया योगजन्यतम्भरप्रज्ञा मधु तत्प्रतीकं कारणं साक्षात्कृतं भूतेन्द्रियजयद्वारा यासां ता मधुप्रतीकाः ॥ ४८ ॥

चन्द्रिका ।

तत इति । शरीरस्य मनोवद्गतिलाभो मनोजवित्वं, कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभो विकरणभावः सर्ववशित्वं, प्रधानजयः एताः सिद्धयो जितेन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्ति ॥ ४८ ॥

योगसुधाकरः ।

ततः किम् ? अत आह—तत इति ।

मनोजवित्वं कायस्य मनोवदनुत्तमो गतिलाभः । विकरणभावः कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणामभिमतदेशकालविशेषापेक्षो वृत्तिलाभः । प्रधानजयः प्रकृतिविकारेषु वशित्वम् । एताः सिद्धयः करणपञ्चकस्वरूपजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः । एता अणिमाद्याः प्रधानजयान्ताः सिद्धयोऽस्मिञ्शास्त्रे मधुप्रतीकाः संगीयन्ते । यथा मधुन एकदेशोऽपि स्वदते तथा प्रत्येकमेताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः, मधुतुल्या इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भोजवृत्तिः ।

इन्द्रियजयमभिधायान्तःकरणजयमाह—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४९॥

तस्मिन्शुद्धे(१) सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य या सत्त्वपुरुषयोरुत्पद्यते विवेकख्यातिर्गुणानां कर्तृत्वाभिमानशिथिलीभावरूपा तन्माहात्म्यात्(२)तत्रैव स्थितस्य योगिनः सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च समाधेर्भवति । सर्वेषां गुणपरिणामानां भावानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वभावाधिष्ठातृत्वं, तेषामेव शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेनावस्थितानां यथावद्विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वम् । एषा चास्मिञ्शास्त्रे परस्यां वशीकारसंज्ञायां प्राप्तायां विशोका नाम सिद्धिरित्युच्यते ॥ ४९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ग्राह्यग्रहणयोः सिद्धिरुक्ता । ग्रहीतृग्रहणसंयमस्य सिद्धिमाह द्वाभ्याम्—सत्त्वेति ।

मात्रशब्देन संयमरूपता ख्यातेर्लभ्यते । तथाच सत्त्वपुरुषान्यतासंयमस्य साक्षात्कारपर्यन्तस्य सर्वत्यादिसिद्धिद्वयं फलमिति शेषः । सत्त्वपुरुषान्यता च बुद्धिपुरुषयोर्विवेकः । सर्वभावाधिष्ठातृत्वं प्रकृतिपुरुषविकाराणां स्वेच्छया प्रेरयितृत्वं, सर्वज्ञातृत्वं च विशिष्य सर्वार्थसाक्षात्कररणम् । इदं च सिद्धिद्वयं विशोकेत्युच्यते ॥ ४९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ ग्रहीतृसंयमसिद्धिमाह—सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च । तन्मात्रस्य तन्मात्रप्रतिष्ठस्य संयमस्य तत्साक्षात्कारपर्यन्तस्य फलद्वयमित्यर्थः । सर्वभावाधिष्ठातृत्वमीश्वरवत् प्रकृतिपुरुषविकाराणां स्वेच्छया प्रेरयितृत्वं च विशिष्य सर्वार्थसाक्षात्करणं च । इदं सिद्धिद्वयं विशोकेत्युच्यते ॥ ४९ ॥

---

(१) तस्मिन्शुद्धेरिति पाठान्तरम् । (२) रूपात्तन्माहात्म्यादिति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

एवं संयमाज्ज्ञानक्रियासिद्धयः साक्षाच्छुद्धाद्वारा आविवेकख्यात्यर्था उपन्यस्ताः संप्रति विवेकख्यातेरवान्तरसिद्धिमाह—सत्त्वेति ।

पूर्वोक्तस्वार्थसंयमेन निर्धूतरजस्तमोमलस्यान्तःकरणस्य जये वशीकारसंज्ञायामपरस्यां विरक्तौ स्थितस्य बुद्धिसत्त्वात्मनोर्भेदख्यातिर्जायते तन्मात्रस्य तदावृत्तिपरस्य योगिनः सर्वेषां भावानां प्रधानतत्परिणामानामधिष्ठातृत्वं नियन्तृत्वं, सर्वेषां भूतभवद्भाविनां ज्ञातृत्वं, च सिध्यति । एषा विशोका नाम सिद्धिः ॥ ४९ ॥

चन्द्रिका ।

अन्तःकरणजयमाह—सत्त्वेति ।

सत्त्वान्तःकरणे कृतसंयमस्य या उत्पद्यते सत्त्वपुरुषयोः ख्यातिर्गुणानां शिथिलीभावस्तन्माहात्म्यात् [illegible] स्थितस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च समाधिर्भवति । इयं विशोकानाम सिद्धिः ॥४९॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं संयमाच्छुद्धाद्वारा विवेकख्यात्यर्था ज्ञानक्रियासिद्धीरभिधाय अधुना विवेकख्यातेरवान्तरसिद्धीरभिधातुमाह—सत्त्वेति ।

पूर्वोदीरितस्वार्थसंयमेन निरस्तरजस्तमोमलस्य चित्तस्य जये वशीकारसंज्ञारूपापरवैराग्ये स्थितस्य सत्त्वपुरुषयोर्विवेकख्यातिः समुत्पद्यते । तन्मात्रस्य तन्निष्ठस्य योगिनः सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वेषां व्यवसायव्यवसेयात्मकानां गुणपरिणामरूपाणां स्वामिवदाक्रमणम् । सर्वज्ञातृत्वं तेषामेव शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थितानां विवेकज्ञानं च सिध्यति । एषा विशोका नाम सिद्धिः ॥ ४९ ॥

भोजवृत्तिः ।

क्रमेण भूमिकान्तरमाह—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

एतस्यामपि विशोकायां सिद्धौ [illegible] वैराग्यमुत्पद्यते योगिनस्तदा तस्माद्दोषाणां रागादीनां यद्बीजमविद्यादयस्तस्य [illegible] निर्मूलने कैवल्यमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य गुणानामधिकारपरिसमाप्तौ स्वरूपप्रतिष्ठत्वम्(१) ॥ ५० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सर्वसिद्धिमूर्धन्यं विवेकसंयमस्य परवैराग्यद्वारकं मोक्षाख्यं सिद्ध्यन्तरमाह— तद्वैराग्यादिति ।

अपिशब्दः कैवल्यमित्यन्तेनान्वेति । तथाच विवेकख्यातिनिष्ठात [illegible] विवेकख्यातौ तत्सिद्धौ च वैराग्ये सति असंप्रज्ञातयोगनिष्पत्त्या दुःखदोषस्थबीजानामखिलवासनाकर्मणामुच्छेदे पुरुषस्य (कैवल्यम्) आत्यन्तिकः प्रकृतिवियोगो भवतीत्यर्थः । यस्य चासंप्रज्ञातनिष्पत्त्या प्रारब्धं [illegible] नोच्छिद्यते तस्यापि प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरमुत्पद्यमानमोक्ष एव यथोक्तसंयमसिद्धिरिति ॥ ५० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

विवेकसाक्षात्कारस्यैव परवैराग्यद्वारा मोक्षाख्यां मुख्यसिद्धिमाह—तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् । अपिशब्दः कैवल्यमित्यनेनान्वेति । एवं विवेकख्यातितः क्लेशकर्मरूपाणां संसारबीजानामखिलवासनानामात्मज्ञानेन निःशेषतः क्षये दग्धबीजकल्पत्वे [illegible] तथापि वैराग्यात् पुरुषस्य कैवल्यमात्यन्तिकः प्रकृतिवियोग इत्यर्थः । यस्याप्यसंप्रज्ञातनिष्पत्त्या प्रारब्धकर्म नोच्छिद्यते तस्यापि प्रारब्धभोगानन्तरमुत्पद्यमानमोक्ष [illegible] संयमसिद्धिरिति बोध्यम् ॥ ५० ॥

---

(१) स्वरूपनिष्ठत्वमिति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

अधुना विवेकख्यातेर्मुख्यां सिद्धिमाह—तद्वैराग्यादिति ।

तस्यां विशोकायां सिद्धौ वैराग्यात्तद्धेतौ विवेकख्यातावपि वैराग्यं परं भवति । ततो दोषाणां क्लेशानां बीजं भ्रान्तिसंस्कारस्तस्य चये सर्वात्मना तिरोभावे सति चित्तस्य परवैराग्यसंस्कारशेषतायां पुरुषस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वं कैवल्यं सिध्यति । इयं संस्कारशेषाऽऽख्या सिद्धिः ॥ ५० ॥

चन्द्रिका ।

तद्वैराग्यादिति । एतस्यां विशोकायां सिद्धौ यदा वैराग्यमुत्पद्यते तदा दोषाणां रागादीनां यद्बीजमविद्यादयस्तस्य क्षये निर्मूलत्वे कैवल्यमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः ॥ ५० ॥

योगसुधाकरः ।

अधुना विवेकख्यातेर्मुख्यां सिद्धिमभिधातुमाह—तदिति ।

तस्यां विशोकायां सिद्धौ वैराग्यात्तद्धेतुभूतविवेकख्यातावपि परं वैराग्यं भवति । ततः सर्वप्रतिपक्षस्तत्त्वये परं वैराग्यमाश्रितस्य पुरुषधौरेयस्य क्लेशबीजानि दग्धशालिकल्पानि मनसा सार्धं प्रत्यस्तं गच्छन्ति । प्रक्षीणेषु तेषु दृढभूमावसंप्रज्ञातपदवेदनीये संस्कारशेषताव्यपदेश्ये निर्बीजसमाधौ लब्धे, शुद्धायाश्चितिशक्तेः स्वरूपप्रतिष्ठारूपं कैवल्यं सिध्यतीत्यर्थः । इयं संस्कारशेषाख्या सिद्धिः ॥ ५० ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्मिन्नेव समाधौ स्थित्युपायमाह—

(१)स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

चत्वारो योगिनो भवन्ति । तत्राभ्यासवान्प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः । ऋतंभरप्रज्ञः(२) द्वितीयः । भूतेन्द्रियजयी तृतीयः । अतिक्रान्तभावनीयश्चतुर्थः । तत्र चतुर्थस्य समाधेः प्राप्तसप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञो भवति । ऋतंभरप्रज्ञस्य द्वितीयां मधुमतीसंज्ञां भूमिकां साक्षात्कुर्वतः स्थामिनो देवा उपनिमन्त्रयितारो भवन्ति । दिव्यस्त्रीरसायनादिकं(३) ढौकयन्ति । तस्मिन्नुपनिमन्त्रणे नानेन सङ्गः कर्तव्यः, नापि स्मयः, सङ्गकरणे पुनर्विषयभोगे पतति, स्मयकरणे कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानो न समाधावुत्सहते । अतः सङ्गस्मययोस्तेन वर्जनं कर्तव्यम् ॥ ५१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

उक्तस्यात्मसंयमिनः कैवल्याख्यसिद्ध्यर्थं न केवलं सर्वज्ञादिसिद्धिषु वैराग्यमेवापेक्ष्यते, अपि त्वन्यदपीत्याह—स्थानीति ।

स्थानिनः स्वर्गादिलोकाधिकारिणो देवा इन्द्रादयस्तेषां स्वर्गादिलोकानयनाय योगिनो निमन्त्रणे सति तत्र सङ्गस्मययोरकरणं कैवल्योपायः । अन्यथा संगस्मयाभ्यां पुनः संसारहेतुत्वामिति ॥ ५१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

एवं च सार्वज्ञ्यादिरागोऽपि कैवल्यसिध्यन्तराय इति दर्शितं तदेवाह—स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् । स्थानिनः स्वर्गादिलोकाधिकारिण इन्द्रादयः तेषां स्वर्गादिलोकनयनाय तत्रत्यभोगाय च निमन्त्रणे सति तत्र सङ्गस्मययोरकरणं कैवल्योपायः । अन्यथा सङ्गेन तथैव स्मयेन पुनः संसाररूपानिष्टप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

---

(१) सम्प्रति कैवल्यसाधनाय प्रवृत्तस्य योगिनः प्रत्यूहसम्भवे तन्निराकरणमुपदिशति स्थान्युपेति । स्थान्युपनिमन्त्रण इति पाठः चन्द्रिकारं भोजं च विना सर्वेषां टीकाकृतामभिमतः इति द्रष्टव्यम् ।
(२) कृतान्तरप्रज्ञ इति पाठान्तरम् । (३) स्त्रीरसनादिकमिति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

अथ विघ्नोत्पत्तौ निरासोपायमाह—स्थानीति ।

चत्वारः खल्वमी योगिनः । प्रथमकल्पिको, मधुभूमिकः, प्रज्ञाज्योतिः, अतिक्रान्तभावनीयश्च । तत्राद्यः संयमे प्रवृत्तमात्रो न किंचित्परचित्तादिकं जानाति । द्वितीयः संप्रज्ञातयोगेन मधुमतीं चित्तभूमिमृतम्भराप्रज्ञाऽवस्थां लब्ध्वा भूतेन्द्रियाणि साक्षात्कृतानि विजिगीषते तज्जयद्वारा पूर्वोक्ताः क्रमेण मधुप्रतीका विशोका संस्कारशेषा चेति तिस्रो भूमीर्लब्धुकामः । तृतीयस्तु जितभूतेन्द्रियत्वान्महेन्द्रादिभिरक्षोभ्यो लब्धभूमिद्वयो विशोकाऽऽदिभूमिद्वयासिसाधयिषया स्वार्थसंयमयत्नवान् । चतुर्थस्तु भगवान्महाऽनुभावो लब्धविवेकान्तभूमिश्चयो विरक्तो विघ्नशङ्काशून्यो जीवन्मुक्तश्चतुर्थभूमौ वर्तते । यस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा व्याख्याता । [illegible] योगिनो देवनिमन्त्रणयोग्यता नास्ति । अतः पारिशेष्यान्मधुभूमिको योगी द्वितीयो यस्तस्य स्थानिभिः तत्तत्स्थानस्वामिभिर्महेन्द्रादिभिरुपनिमन्त्रणं प्रार्थनं क्रियते, भोः ! इहास्यतां स्वर्गादिस्थाने, रम्यतां कमनीयेयं कन्या, दिव्योऽयं भोगो, रसायनमिदं जरामृत्युनिवारकमिदं कामगं यानमित्येवंप्रार्थने सङ्गः कामः, अहो ममायं योगप्रभाव इति [illegible] कर्तव्यः । किं त्वित्थं तत्र दोषं भावयेद् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पापच्यमानेन मया जन्ममृतिप्रबन्धचक्रारूढेन कथंचिदासादितः क्लेशकर्मान्धकारविध्वंसियोगप्रदीपः, [illegible] चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः, स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया मृगतृष्णया वञ्चितः; तस्यैव पुनः पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः, समाधिं भावयेत् । सङ्गे पातित्यं, स्मये कृतकृत्यम्मन्यस्य योगासिद्धिः, ततो योगभ्रष्टस्य पुनः संसारस्यानिष्टस्य प्रसङ्गात् सङ्गस्मययोरकरणं कैवल्यविघ्ननिरासोपाय इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

चन्द्रिका ।

तत्र समाधौ विघ्नमुपायमाह—स्थानीति ।

प्रथमकल्पस्य मधुमतीति संज्ञा तस्यां कृतसंयमस्य स्वामिनो देवा उपनिमन्त्रयितारो भवन्ति दिव्यकन्यादिना तस्मिन्नुपनिमन्त्रणे नानेन सङ्गः कर्तव्यो नापि स्मयः सङ्गस्मयकरणे समाध्यनुत्साहोऽनिष्ट[illegible] स्यात् ॥ ५१ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुनान्तरायोत्पत्तौ तन्निराकरणकारणमाह—स्थानीति ।

चत्वारः खल्वमी योगिनः प्रथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति । तत्राद्यः संयमे प्रवृत्तिमात्रो न किञ्चिज्जानाति । संयमेन भूतेन्द्रियाणि साक्षात्कृत्य तज्जिगीषुर्द्वितीयः । भूतेन्द्रियजयी पुरुषख्यातिविख्यासुस्तृतीयः । संप्राप्तपुरुषख्यातौ परवैराग्यसंपन्नश्चतुर्थः । सोऽसौ भगवान्महानुभावो जीवन्मुक्तो विघ्नशङ्काकलङ्कशून्यः । तृतीयो जितभूतेन्द्रियत्वान्महेन्द्रादिभिरक्षोभ्यः । आद्यस्तु देवनिमन्त्रणायोग्यः अतः परिशेषाद्द्वितीयः स्थानिभिः शक्रादिभिः शक्यते प्रार्थयितुम्—'भो योगिन् ! इहास्यताम् । स्वर्गादिस्थानं रम्यताम् । कमनीयेयं कन्या । दिव्योऽयं भोगः । रसायनमिदं जरामृत्युनिवारणम् । इदं कामगं यानम्' इति । एवं प्रार्थने सङ्ग आसक्तिः '[illegible] मम योगप्रभावः' इति स्मयश्च न कर्तव्यः; किं त्वित्थं तत्र दोषं भावयेत्—'घोरेषु संसाराङ्गारेष्वहं पापच्यमानः कथंचित्क्लेशादिध्वान्तध्वंसकं योगप्रदीपमलभे । तस्यैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः । स खल्वहं लब्धालोकः कथमेतैर्वञ्चितः पुनः पुनः प्रदीप्तस्य संसारहुतभुजः स्वात्मानमिन्धनीकुर्याम् ? अतः स्वस्ति वः स्वप्नसमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्यः' इति । एवं निश्चितमतिः पुरुषधौरेयः समाधिं भावयेत् । यदि तत्र सङ्गस्मयौ भवेताम्, तदास्य योगभ्रष्टस्य पुनरनिष्टं प्रसज्जेत । तस्मात्सङ्गस्मययोरकरणं कैवल्यान्तरायनिवारणकारणमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

चन्द्रिका ।

क्षणेति । क्षणानां यः क्रमः पौर्वापर्य्येण परिणामस्तत्र संयमात् प्रागुक्तं विवेकजं ज्ञानमुत्पद्यते सूक्ष्मक्षणादिज्ञानात् सूक्ष्ममहदादीनां ज्ञानं भवति ॥ ५२ ॥

योगसुधाकरः ।

अधस्तात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानं भवतीत्यभिहितम् । अधुना तदेवान्यसंयमाज्जायते इत्याह—क्षणेति।

अभेद्यः कालविभागः सत्यः क्षणः । अन्ये तु मुहूर्तादयः कालविभागाः क्षणसमूहरूपा असत्याः । न हि क्षणानां समूहो वस्तुसन् । तत्रायमस्मात्पूर्वः क्षणः अयमुत्तरः क्षण इति क्षणानां तेषां क्रमस्य पौर्वापर्यस्य च संयमादतिसूक्ष्माणां भेदसाक्षात्कारो विवेको भवति । तेन युगपद्वियदादिपुरुषान्तसाक्षात्कारो जायत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्यैव संयमस्य विषयविवेकोपक्षेपणायाऽऽह(१)—

(२)जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवन्ति । क्वचिद्भेदहेतुर्जातिः, यथा—गौरियं महिषोऽयमिति । जात्या तुल्ययोर्लक्षणं भेदहेतुः,—इयं कर्बुरेयमरुणेति । जात्या लक्षणेन चाभिन्नयोर्भेदहेतुर्देशो दृष्टः, यथा—तुल्यपरिमाणयोरामलकयोर्भिन्नदेशस्थितयोः । यत्र पुनर्भेदोऽवधारयितुं न शक्यते यथैकदेशस्थितयोः शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोस्तथाविधे विषये भेदाय कृतसंयमस्य भेदेन ज्ञानमुत्पद्यते तदा तदभ्यासात्सूक्ष्माण्यपि तत्त्वानि भेदेन प्रतिपद्यते । एतदुक्तं भवति—यत्र केनाचिदुपायेन भेदो नावधारयितुं शक्यस्तत्र संयमाद्भवत्येव भेदप्रतिपत्तिः(३) ॥ ५३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

विवेकजज्ञानस्यैकमुदाहरणमाह—जातीति ।

तुल्ययोस्तुल्यजातिलक्षणदेशयोर्वस्तुनोर्जात्यादिभिरन्यतानवच्छेदाद्भेदावधारणासम्भवात् ततः क्षणतत्क्रमसंयमादेव प्रतिपत्तिभेदसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । भेदो हि क्वचिज्जात्या गृह्यते । यथा गोमहिषयोः । क्वचिच्च लक्षणैरवस्थादिभिर्यथा बालवृद्धयोः । क्वचिद्देशेन यथा पूर्वोत्तरस्थितवस्तुनोः । यदा तु पूर्वदेशस्थितमामलकं विषयान्तरासक्तस्य योगिन उत्तरदेशे केनाप्यानीयते, उत्तरदेशस्थं च समानमामलकान्तरं पूर्वदेशे नीयते तदा तयोरामलकयोः सजातीयत्वात्सलक्षणत्वात्कालभेदेन समानदेशत्वाच्च जात्यादित्रयेण भेदग्रहो न सम्भवति । पूर्वमिदं मत्पूर्वदेशस्थमामलकमिदं चोत्तरस्थमित्येवंरू-

---

(१) विवेकोपयोगमाहेति पाठान्तरम् ।

(२) लौकिकानां विप्रमाणीनिपुनानां हि जातिलक्षणदेशभेदा अन्यताज्ञापकाः । यत्र तु जात्यादिभिरन्यतानुभावं न सम्भवति यथा पूर्वदेशस्थिते समानाकारकमामलकं विषयान्तरव्यग्रस्य ज्ञातुर्विवेकं करिष्यतः उत्तरस्मिन् देशे सम्बध्यते उत्तरदेशस्थितं चामलकान्तरस्माच्छाद्यते दैवात्तदा द्वयोरामलकयोरेकदेशत्वे सति पूर्वदेशोपलक्षितमिदमुत्तरदेशोपलक्षितं चेदमिति विवेको न स्यात् आमलकयोर्जात्यादिसाम्यात् । तत्र योगिनः क्षणतत्क्रमसम्बन्धसंयमवतः यथोक्तात् विवेकजज्ञानात् प्रतिपत्तिर्भवत्येव । कथमिति चेदुच्यते । आमलकस्य क्षणेन सह सम्बद्धः पूर्वो देश आमलकान्तरस्य क्षणेन सह सम्बद्धादुत्तरदेशाद्भिन्नः तत्र स्वदेशलक्षणप्राप्त्या आमलके भिन्ने एकस्य एकदा विरुद्धदेशसम्बन्धासम्भवात् । एवं च पूर्वोत्तरदेशसम्बन्धक्षणयोः साक्षात्कारः यथोक्तविवेकग्रहे कारणमिति । इदं तु क्षणसंयमात् विवेकज्ञानम् । तत्क्रमसंयमेऽपि यथा द्विविक्षणमात्रेण ज्येष्ठकनिष्ठयोर्ज्येष्ठकनिष्ठताविवेकज्ञानं क्षणक्रमसाक्षात्कारं विना न सम्भवतीति । एवं स्थूलदृष्टान्तेन सूक्ष्मपरमाण्वादावपि विवेकज्ञानं बोध्यम् ॥ (३) भेदप्रतीतिरिति पाठान्तरम् ।

भोजवृत्तिः ।

अस्यामेव फलभूतायां विवेकख्यातौ पूर्वोक्तसंयमव्यतिरिक्तमुपायान्तरमाह —

(१)क्षणतत्क्रमयोः(२) संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्(३) ॥ ५२ ॥

क्षणः सर्वान्त्यः कालावयवो यस्य कलाः प्रभावितुं न शक्यन्ते । तथाविधानां कालक्षणानां यः क्रमः पौर्वापर्येण परिणामस्तत्र संयमात्प्रागुक्तं विवेकजज्ञानमुत्पद्यते । अयमर्थः—अयं कालक्षणोऽमुष्मात्कालक्षणादुत्तरोऽयमस्मात्पूर्व इत्येवंविधे क्रमे कृतसंयमस्यात्यन्तसूक्ष्मेऽपि क्षणक्रमे यदा भवति साक्षात्कारस्तदाऽन्यदपि सूक्ष्मं महदादि साक्षात्करोतीति विवेकज्ञानोत्पत्तिः ॥ ५२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सर्वज्ञेऽपि वैराग्यान्मोक्ष इत्युक्तम् । यदि च तत्र रागो न गच्छति वासनाप्राबल्याद्दिदोषात्तद्रागनिवृत्तये पूर्ववत्सर्वज्ञतासाधकं संयमान्तरमप्याह—क्षणेति ।

पूर्वोक्तात्सत्त्वपुरुषान्यतात्ययरूपाद्विवेकाज्जायमानं सर्वज्ञं विवेकजं ज्ञानं सर्ववस्तूनामशेषविशेषैर्विविच्य साक्षात्करणमिति यावत् । क्षणतत्क्रमयोः संयमादपि साक्षात्कारपर्यन्ताद्भवतीत्यर्थः । प्रतिक्षणं सर्वं वस्तु परिणमते । अतः क्षणेषु तत्तत्क्रमेषु संयमेन साक्षात्कृतेषु सत्सु सर्ववस्तूनां परिणामतत्क्रमयोरपि ज्ञानात्सर्ववस्तूनां विवेकजज्ञानं भवतीत्याशयः ॥ ५२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

विवेकजज्ञाने उपायान्तरमाह—क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् । सर्वतोऽपकृष्टः कालक्षणः । पूर्वापरभागविकलकालकलेति यावत् । परमाणुश्चलितो यावता समयेन स्वपरिमितं देशमतिक्रामति स समयः । तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः । यत्तु पूर्वस्मादुत्तरस्य भाविनो यदानन्तर्यं स क्रम इति । तत्रानन्तर्यमनन्तर इति बुद्धिविषयत्वमेव । नत्वानन्तर्यमेव वाह्यं किंचिद्वस्तु तत्रास्ति । अतोऽयं विकल्पात्मा व्यवहारः । एवं क्षणसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादय इत्यप्येवमेव । अयुगपद्भावित्वात् क्षणानां समाहारस्य वास्तवस्यासम्भवात् । किन्तु बुद्धिमात्रविषयः समाहारः । तदुक्तं भाष्ये 'बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः। स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शाब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां वस्तुभूत इवावभासते । क्षणस्तु वस्तुपतितः' इति । नच क्षणोऽप्युत्तरसंयोगावच्छिन्ना क्रियास्तु नयानामपि स्थिरत्वेन क्षणव्यवहारानालम्बनत्वात् । यदि विशिष्टमतिरिक्तमित्युच्यते तर्हि सिद्धं क्षणेनातिरिक्तेन । तयोः क्षणतत्क्रमयोः साक्षात्कारपर्यन्तात्संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् । सर्ववस्तूनामशेषविशेषैर्विविच्य साक्षात्करणरूपं सार्वज्ञ्यं भवतीत्यर्थः । प्रतिक्षणं हि सर्वं वस्तु परिणमतेऽतः क्षणतत्क्रमयोः साक्षात्कारः सर्ववस्तूनां सर्वपरिणामतत्क्रमयोरपि ज्ञानात्सर्वतो विवेकेन पुरुषप्रत्ययो भवतीत्याशयः ॥ ५२ ॥

मणिप्रभा ।

पूर्वं बुद्धिप्रतिबिम्बितपुरुषस्य स्वार्थसंयमात्तारकं विवेकज्ञानमुक्तं, तत्रोपायान्तरमाह—क्षणेति ।

अभेद्यः कालभागः सत्यः क्षणः । अन्ये मुहूर्तादयः कालभागाः क्षणसमूहरूपा असत्याः । न हि क्षणानां समूहो वस्तुसन् तत्रायमस्मात्पूर्वक्षणोऽयमुत्तरक्षण इति क्षणानां, तेषां क्रमस्य, पौर्वापर्यस्य संयमादतिसूक्ष्माणां भेदसाक्षात्कारो विवेको भवति । तेन च युगपद्विप्रहादीनां पुरुषान्तानां ज्ञानं साक्षात्कारात्मकं जायत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

---

(१) प्रागुक्तविवेकज्ञानं प्रति यथोक्तसंयमव्यतिरिक्तमुपायान्तरं दर्शयति क्षणेति । विवेकात् पूर्वोक्तसत्त्वपुरुषान्यताख्यात् जायमानं विवेकजं ज्ञानं सर्ववस्तूनामशेषरूपैः साक्षात्करणमिति यावत् । तत् क्षणतत्क्रमयोः संयमादपि भवतीत्यर्थः । सर्वं हि वस्तु प्रतिक्षणं परिणमते अतः क्षणेषु तत्क्रमेषु च संयमेन साक्षात्कारे सर्वेषां वस्तूनां सर्वपरिणामतत्क्रमयोर्ज्ञानात् सर्ववस्तूनो विवेकेन ज्ञानं भवतीत्याशयः । (२) क्षणक्रमयोरिति पाठान्तरम् । (३) विवेकज्ञानमिति पाठान्तरम् ।

देशजातिभ्यां तुल्ययोर्गवोः कृष्णश्वेतादिलक्षणेन भेदधीः । जातिलक्षणाभ्यां तुल्ययोरामलकयोः पूर्वोत्तरादिदेशभेदाद्भेदनिश्चयः । यदा पुनर्योगिनो ज्ञानपरीक्षार्थं केनचित्पूर्वदेशस्थमामलकमुत्तरामलकदेशे विन्यस्योत्तरामलकमन्यव्यासक्ते योगिन्यपहृतम्, तयोरामलकयोरामलकत्वजात्या रूपपरिमाणादिलक्षणेन देशेन च तुल्ययोर्जात्यादिभिरन्यताया अनवच्छेदादनिश्चयात्ततस्तत्क्षमात्क्षणसंयमजविवेकज्ञानादेवान्यत्वप्रतीतिर्योगिनो भवतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

भोजवृत्तिः ।

सूक्ष्माणां तत्त्वानामुक्तस्य विवेकजन्यज्ञानस्य संज्ञाविषयस्वाभाव्यं(१) व्याख्यातुमाह—

(२)तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥५४॥

उक्तसंयमबलादन्त्यायां भूमिकायामुत्पन्नं ज्ञानं तारयत्यगाधात्संसारसागराद्योगिनमित्यान्वर्थिकया संज्ञया तारकमित्युच्यते । अस्य विषयमाह—सर्वविषयमिति । सर्वाणि तत्त्वानि महदादीनि विषयो यस्येति सर्वविषयम् । स्वभावश्चास्य सर्वथाविषयत्वम् । सर्वाभिरवस्थाभिः स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन तैस्तैः परिणामैः सर्वेण प्रकारेणावस्थितानि तत्त्वानि विषयो यस्येति सर्वथाविषयम् । स्वभावान्तरमाह—अक्रमं चेति । निःशेषनानावस्थापरिणतद्व्यात्मक(३)भावग्रहणे नास्य क्रमो विद्यत इति अक्रमम् । सर्वं करतलामलकवद्युगपत्पश्यतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

विवेकजज्ञानस्यैकमुदाहरणं प्रदर्शितम् । इदानीं सहेतुकं विवेकजज्ञानस्य मोक्षोपयोगमाह—तारकमिति ।

इति शब्दो हेत्वर्थे । यतो विवेकजं ज्ञानं सर्वविषयादिरूपम्, अतः सर्वत्र वैराग्येण दोषदर्शनादिना च द्वारेण संसारतारकं भवतीत्यर्थः । सर्वेत्यादिविशेषणत्रयस्य सर्ववस्तूनामशेषविशेषत एकदा विषयत्वमित्यर्थः । विवेकजज्ञानस्येदं लक्षणमभिप्रेतम् । तेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिजन्यसर्वज्ञताया अपि संग्रहात्तत्संयमसूत्रे सापि विवेकजज्ञानशब्देन भाष्यकारेणोक्तेति ॥ ५४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

इदानीं सहेतुकविवेकजज्ञानस्य मोक्षोपयोगमाह—तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् । इतिर्हेतौ । यतो विवेकजं ज्ञानं सर्वविषयादिरूपमतः [illegible] दोषदर्शनमूलकवैराग्यद्वारा संसारतारकं भवतीत्यर्थः । सर्वेत्यादिविशेषणत्रयस्य सर्ववस्तूनां सर्वथाशेषविशेषतः अक्रममेकक्षणोपारूढं सर्वमेकदा विषय इत्यर्थः । विवेकजज्ञानस्येदं लक्षणमप्यभिप्रेतम् ॥ ५४ ॥

मणिप्रभा ।

तारकमिति । तत्तत्संयमात्सर्वज्ञतोक्ता, सा प्रकारमात्रविषया यथा रसवत्यां निष्पन्नैः सर्वैर्व्यञ्जनैर्भुक्तमिति सर्वैर्व्यञ्जनप्रकारैर्भुक्तमिति गम्यते । तद्यथा पुनः पात्रस्थैः सर्वैर्व्यञ्जनैरुपनीतं सर्वमन्नं भुक्तमित्युक्ते स्वरूपतः प्रकारतश्च निःशेषं भुक्तमिति गम्यते, तद्वदिदं क्षणसंयमजं विवेकज्ञानं सर्ववस्तुस्वरूपविषयं, सर्वथाविषयं सर्वप्रकारविषयं, पुरुषतत्त्वावगाहित्वात्संसारसागरात्तारयतीति तारकसंज्ञमक्रमं युगपदेव करतलामलकवत्सर्वसमूहावलम्बनमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

चन्द्रिका ।

तारकमिति । उक्तसंयमबलादन्त्यभूमिकोत्पन्नं ज्ञानं संसारोत्तारणात्तारकमित्युच्यते । सर्वाणि मह-

---

(१) संज्ञां विषयस्वाभाव्यमिति पाठान्तरम् ।

(२) इदानीं सहेतुकां विवेकज्ञानस्य मोक्षोपयोगितामाह तारकमिति । यस्माद् विवेकजं ज्ञानं सर्वविषयमतः सर्वत्र दोषसाक्षात्कारेण वैराग्यद्वारा संसारतारकं भवतीत्यर्थः ।

(३) द्वित्र्येकेति पाठान्तरम् ।

पम् । अत आमलकयोस्तत्तद्देशसम्बन्धक्षणानां संयमेन साक्षात्करणात्तेद्भेदनैवामलकयोर्भेदसिद्धिरिति । एतच्च क्षणसंयमाद्विवेकप्रतिपत्तेरुदाहरणम् । क्षणक्रमसंयमाद्विवेकप्रतिपत्तेस्तु यथा द्विक्षिणमात्रेण ज्येष्ठकनिष्ठयोर्ज्यैष्ठकनिष्ठताविवेकज्ञानं क्षणक्रमसाक्षात्कारं विना न भवतीत्यतः क्षणक्रमसंयमस्तत्र कारणमिति ॥ ५३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

तादृशज्ञानस्यैकमुदाहरणमाह—**जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ।** तुल्ययोः तुल्यजातिलक्षणदेशयोः वस्तुनोर्जात्यादिभिरन्यताया भेदस्यानवच्छेदादवधारणासम्भवात् क्षणतत्क्रमसंयमादेव प्रतिपत्तिर्भेदसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । भेदो हि क्वचिज्जात्या गृह्यते, यथा गोमहिषयोः । क्वचिच्च लक्षणैरवस्थादिभिः यथा बालवृद्धयोः यथा वा कालाक्षरक्ताक्षयोः । क्वचिद्देशेन, यथा पूर्वोत्तरस्थितामलकयोः । यदा तु पूर्वमामलकं विषयान्तरासक्तस्य योगिन उत्तरदेशे केनचिन्नीयते उत्तरदेशस्थं च पूर्वदेशे तदा तयोः साजात्यात्सलक्षणत्वात्कालभेदेन समानदेशत्वाच्च जात्यादित्रयेण भेदग्रहो न सम्भवति । पूर्वं मत्पूर्वदेशस्थमामलकमिदमिदं चोत्तरदेशस्थमित्येवंरूपः । अत आमलकयोस्तद्देशसम्बन्धक्षणानां संयमेन साक्षात्करणात् तद्भेदेनैवोक्तभेदग्रहसिद्धिरामलकयोः, एवं परमाणूनामपि तत्तद्देशसम्बन्धक्षणसाक्षात्कारेणैव परस्परं भेदज्ञानम् । इदमुपलक्षणम् । क्वचिद्व्यवधिरपि भेदकारणम्, यथा कुशपुष्करद्वीपयोः । क्वचित्संस्थानं, यथा विशुद्धावयवकुत्सितावयवयोः । मुक्तात्मनामपि भूतचरमदेहसम्बन्धेन योगिनो भेदं पश्यन्ति । एतेन नित्यद्रव्यवृत्तयोऽनन्ता विशेषास्तेषां परस्परं भेदका इत्यपास्तम् । तेषां परस्परं भेदकस्यान्वेषणेऽनवस्थापत्तेः । [illegible] एव भेदे नित्यद्रव्याणामेव स्वतः सोऽस्तु किं तेन । भेदकस्योपपादितत्वाच्च । प्रधानस्योक्तभेदकाभावान्न पृथक्त्वमिति वार्षगण्यः । एतत्क्षणसंयमाद्विवेकप्रतिपत्तेरुदाहरणम् । तत्क्रमसंयमाद्विवेकप्रतिपत्तेस्तु यथा, द्विक्षिणमात्रेण ज्येष्ठकनिष्ठयोर्ज्यैष्ठ्यकानिष्ठताविवेकज्ञानं क्षणक्रमसाक्षात्कारं विना नेति क्षणक्रमसंयमस्तत्र कारणमिति दिक् ॥५३॥

मणिप्रभा ।

इदं क्षणसंयमजं ज्ञानं सर्वविषयमित्यग्रे वक्ष्यते । संप्रति सूक्ष्मं तस्य विषयविशेषमाह—**जातीति ।**

अवच्छेदो निश्चयः । लोके हि भावानां त्रयो भेदनिश्चयहेतवः । तत्र देशेन लक्षणेन च तुल्ययोर्गोगवययोर्जात्या भेदधीः । देशजातिभ्यां तुल्ययोर्गवोः कृष्णश्वेतादिलक्षणेन भेदधीः । जातिलक्षणाभ्यां तुल्ययोरामलकयोः पूर्वोत्तरादिदेशभेदाद्भेदनिश्चयः । यदा पुनर्योगिनो ज्ञानपरीक्षाऽर्थं केनचित्पूर्वदेशस्थमामलकमुत्तरामलकदेशे विन्यस्योत्तरामलकमन्यव्यासक्ते योगिन्यपहृतं, तदा तयोरामलकत्वजातिरूपपरिणामादिलक्षणेन देशेन च तुल्ययोर्जात्यादिभिरन्यत्वानिश्चयासंभवात् ततः क्षणसंयमजविवेकज्ञानादेवान्यत्वप्रतिपत्तिर्योगिनो भवति । यस्मिन् क्षणे पूर्वामलकमुत्तरत्र विन्यस्तं, तस्मात्प्राचीनक्षणेषु तस्मिन्पूर्वदेशस्थरूपपूर्वपरिणाममाला जाता नोत्तरामलके, तस्य तेषु क्षणेषूत्तरत्वपरिणाममालात्त्वात्, तथा च क्षणक्रमज्ञो योगी तयोः पूर्वोत्तरत्वपरिणाममालाक्षणेभ्योऽस्य क्षणस्यानन्तर्यं जानन्नधुनेदमुत्तरमिमः प्राक् पूर्वं नोत्तरमिति भेदं निश्चिनोतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

चन्द्रिका ।

जातीति । पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवन्ति । तत्र जात्या भेदो यथायं गौरयं महिष इति । जात्या तुल्ययोर्लक्षणेन भेदो यथायं गोः शुक्लोऽयमरुण इति । देशात् यथा तुल्यपरिमाणयोरामलकयोर्भिन्नदेशावस्थितयोः । यत्र भेदो न ज्ञायते तत्रापि कृतसंयमस्य ज्ञानमुपजायते उभयोर्भेदप्रतिपत्तिर्भवत्येव ॥ ५३ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुनास्य साक्षात्कारस्य सूक्ष्मं विषयविशेषमभिधातुमाह—**जातीति ।**

लोके हि भावानां त्रयो भेदनिश्चयहेतवः । तत्र देशेन लक्षणेन च तुल्ययोर्गोगवययोर्जात्या भेदधीः ।

द्धिसाम्यात्विपन्नं भवति तदा प्राप्तसिद्धेरप्राप्तसिद्धेर्वा अवश्यं मोक्षो भवतीत्यर्थः । ननु योगमभ्यस्यतः सिद्धिरवश्यं भविष्यत्येवेति चेन्न । सिद्धिं प्रति वैराग्यस्य प्रतिबन्धकत्वेन तदनुत्पादात् । तत्प्रतिबन्धकपापाच्चदनुत्पत्तिरित्यपि कश्चित् ॥ ५५ ॥

इति श्रीपातञ्जलवृत्तौ तृतीयः पादः ।

मणिप्रभा ।

एवं विवेकख्यातिकाष्ठाऽवधिकान् तत्तद्विभूतिफलान् संयमानुपन्यस्य तादृशविवेकख्यातिकाष्ठाऽस्तु वा मा वा, सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारमात्रं मुक्तये कल्पत इत्यभिप्रेत्याह सत्त्वेति ।

निरस्तसमस्तरजोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य विवेकख्यात्या संस्कारशेषस्य सर्ववृत्तिशून्यत्वं शुद्धिः, पुरुषस्यापि नित्यशुद्धस्य तदा कल्पितभोगशून्यत्वं शुद्धिः, एवं तयोः शुद्धिसाम्ये सति कैवल्यम् । तत्तद्विभूतयस्तु श्रद्धोत्पादनार्थमुपन्यस्ताः । कैवल्यं तु बुद्धिविलक्षणपुरुषसाक्षात्कारमात्रादविद्यानिवृत्तावनागतदुःखानुत्पादरूपं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति विभूतिपादः ॥ ३ ॥

चन्द्रिका ।

सत्त्वेति । उक्तलक्षणयोः सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्येऽपि कर्तृत्वनिवृत्त्या स्वकारणे लयः पुरुषस्योपचरितभोगनिवृत्त्या कैवल्यं मोक्षो भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति योगचन्द्रिकायां तृतीयो विभूतिपादः ॥ ३ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुना तस्य विवेकज्ञानस्य फलं दर्शयितुमाह—सत्त्वेति ।

निरस्तसमस्तरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य विवेकख्यात्या संस्कारशेषस्य सर्ववृत्तिशून्यत्वं शुद्धिः । पुरुषस्यापि नित्यशुद्धस्य तदा कल्पितभोगशून्यत्वं शुद्धिः । एवं च तयोः शुद्धिसाम्ये सति कैवल्यं पुरुषख्यात्युत्पन्नपरवैराग्येण सकलवृत्तिनिवृत्तौ तत्कृतभोगनिवृत्तेः कूटस्थनित्यशुद्धानन्दमायाचितिशक्तेः स्वरूपप्रतिष्ठालक्षणं कैवल्यं सिध्यतीत्यर्थः । येन केन प्रकारेणोत्पन्नया पुरुषख्यात्या परवैराग्यद्वारा परमपदं कैवल्यं [illegible] इति परमतात्पर्यम् ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्पतञ्जलिप्रणीते योगशास्त्रे योगसुधाकराभिधायां वृत्तौ विभूतिपादः समाप्तः ।

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः ।

भोजवृत्तिः ।

यदाज्ञयैव कैवल्यं विनोपायैः प्रजायते ।
तमेकमजमीशानं चिदानन्दमयं स्तुमः ॥ १ ॥

इदानीं विप्रतिपत्तिसमुत्थभ्रान्तिनिराकरणेन युक्त्या कैवल्यस्वरूपप्रज्ञानाय(१) कैवल्यपादोऽयमारभ्यते । तत्र याः पूर्वमुक्ताः सिद्धयस्तासां नानाविधजन्मादि(२)कारणप्रतिपादनद्वारेणैवं बोधयति । यदि वा या एताः सिद्धयस्ताः सर्वाः पूर्वजन्माभ्यस्तसमाधिबलाज्जन्मादिनिमित्तमात्रत्वेनाऽऽश्रित्य प्रवर्तन्ते । ततश्चानेकभवसाध्यस्य समाधेर्न चातिरस्तीत्याश्वासोत्पादनाय(३) समाधिसिद्धेश्च प्राधान्यख्यापनाय

(१) स्वरूपज्ञापनायेति पाठान्तरम् । (२) जात्यादीति पाठान्तरम् ।
(३) विश्वासोत्पादनायेति पाठान्तरम् ।

दादीनि विषया यस्येति सर्वविषयं तत्त्वानां स्थूलाद्यवस्थाविषयत्वात्, सर्वथाविषयमतीतादिविषयत्वात्, अक्रमं नाम भाव्यपि विद्यमानत्वेन पश्यति ॥ ५४ ॥

योगसुधाकरः ।

[illegible] विवेकज्ञानस्य विषयाविशेषमभिधाय अधुना तस्य सप्रकारं विषयसामान्यमभिधातुमाह—तारकमिति ।

क्षणसंयमजं ज्ञानं सर्ववस्तुस्वरूपविषयं सर्वथा सर्वप्रकारविषयं पुरुषतत्त्वावगाहित्वात्संसारसागरं तारयतीति तारकसंज्ञम्, अक्रमं युगपदेव करतलामलकवत्सर्वसमूहालम्बनमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्माच्च विवेकजात्तारकाख्याज्ज्ञानात्किं भवतीत्याह—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्(१) ॥ ५५ ॥

सत्त्वपुरुषावुक्तलक्षणौ तयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यं सत्त्वस्य सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप्रवेशः शुद्धिः, पुरुषस्य शुद्धिरुपचारितभोगाभाव इति द्वयोः समानायां शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यमुत्पद्यते मोक्षो भवतीत्यर्थः

तदेवमन्तरङ्गं योगाङ्गत्रयमभिधाय तस्य च संयमसंज्ञां कृत्वा संयमस्य च विषयप्रदर्शनार्थं परिणामत्रयमुपपाद्य संयमबलोत्पद्यमानाः पूर्वान्तपरान्तमध्यभवाः सिद्धीरुपदर्श्य समाध्याश्वासोत्पत्तये(२) बाह्या भुवनज्ञानादिरूपा आभ्यन्तराश्च कायव्यूहज्ञानादिरूपाः प्रदर्श्य समाध्युपयोगायेन्द्रियप्राणजयादिपूर्विकाः(३) परमपुरुषार्थसिद्धये यथाक्रममवस्थासहितभूतजयेन्द्रियजयसत्त्वजयोद्भवाश्च व्याख्याय विवेकज्ञानोत्पत्तये तांस्तानुपायान्(४) उपन्यस्य तारकस्य सर्वसमाध्यवस्थापर्यन्तभवस्य स्वरूपमभिधाय तत्समापत्तेः कृताधिकारस्य चित्तसत्त्वस्य स्वकारणेऽनुप्रवेशात्कैवल्यमुत्पद्यत इत्यभिहितमिति निर्णीतो विभूतिपादस्तृतीयः ॥ ५५ ॥

इति श्रीभोजदेवविरचितायां राजमार्तण्डाभिधानायां पातञ्जलयोगसूत्रवृत्तौ विभूत्याख्यस्तृतीयपादः ॥३॥

भावागणेशवृत्तिः ।

तदेवमतिविस्तरेण संयमसिद्धयोऽतीतानागतज्ञानाद्या विवेकजज्ञानान्ता ज्ञानक्रियैश्वर्यरूपाः प्रदर्शिताः । तत्र किमेतासां सिद्धीनामुत्तरमेव मोक्ष आहोस्विदेतद्व्यतिरेकेणापीति जिज्ञासायामाह—सत्त्वेति ।

बुद्धिसत्त्वस्य पुरुषेण सह समाना वक्ष्यमाणरूपा शुद्धिर्यदा भवति तदैव मोक्षो भवति । न तत्र सिद्ध्याद्यपेक्षेत्यर्थः । निरभिमानत्वं पुरुषस्यापि शुद्धिर्भाष्यकृतोक्ता । तथाच यथा साक्षी निरभिमान एवं चेच्चित्तं निरभिमानं भवति विवेकनिष्ठया तदा प्राप्तसिद्धेर्वाऽप्राप्तसिद्धेर्वाऽवश्यमेव मोक्षो भवति । निश्चयार्थापेक्षेति (?) । नन्वष्टाङ्गयोगेऽभ्यस्यमाने सिद्धिरवश्यं भविष्यत्येवेति चेन्न । सिद्धिवैराग्ये सिद्धिप्रतिबन्धकपापे च सति सिद्ध्यनुत्पादसंभवादिति ॥ ५५ ॥

इति श्रीभावागणेशभट्टकृतायां पातञ्जलवृत्तौ योगदीपिकायां विभूतिपादस्तृतीयः ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु किमुक्तसर्वसिद्ध्युत्तरमेव मोक्ष उत तद्व्यतिरेकेणापीति शङ्कायामाह—**सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्** । बुद्धिसत्त्वस्य पुरुषेण सह शुद्धिसाम्यामेव भवति तदा कैवल्यमित्यर्थः । पुरुषस्योपचरिताभिमानत्यागेनोपचरितभोगाभावः शुद्धिः । एवं चित्तमपि यदा निरभिमानं भवति तदा तत्सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्राधिकारं ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्या दग्धक्लेशबीजं भवति तदा तत्पुरुषेण शु-

---

(१) कैवल्यमितीति पाठान्तरम् । (२) समाध्यभ्यासोपपत्तये इति पाठान्तरम् ।
(३) पूर्विकाः प्रदर्श्य परमेति पाठान्तरम् । (४) तांश्चोपायानिति पाठान्तरम् ।

यथा कपिलादीनाम् । ओषधिसिद्धयः पारदादयः । मन्त्रसिद्धिराकाशगमनादि । तपःसिद्धिर्विश्वामित्रादीनां, समाधिजाः प्राक् प्रतिपादिताः ॥ १ ॥

योगसुधाकरः ।

वीरासने समासीनं संविन्मुद्रालसत्करम् ।
कैवल्यानन्ददं काञ्चिज्ज्योतिर्धातुमुपास्महे ॥

इत्थं पूर्वस्मिन्पादे समाधेरन्तरङ्गं संयमसंज्ञं धारणादित्रयं संयमस्य लक्ष्यभूतान्परिणामभेदान्श्रद्धा-द्वारा कैवल्यफलकपुरुषख्यात्यर्थां ज्ञानक्रियारूपाः सिद्धीश्चाभिधाय अधुना कैवल्यस्वरूपं प्राधान्येन प्रतिपादयितुकामः प्रथमं तावत्सिद्धिपञ्चकं प्रपञ्चयति—

जन्मना पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिसिद्धिः, ओषधी रसायनादिः, तत्सेवया माण्डव्यादीनां कायादि-सिद्धिः । मन्त्रस्तैपुरादिः; तज्जयेन केषाचिदणिमादिसिद्धिः । शरीरशोषणादिकं तपः; तेन विश्वा-मित्रादीनां सिद्धिः, समाधिजास्त्वधस्तादभिहिताः ॥ १ ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु नन्दीश्वरादिकानां जात्यादिपरिणामोऽस्मिन्नेव जन्मनि दृश्यते तत्कथं जन्मान्तराभ्यस्तस्य(१) समाधेः कारणत्वमुच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—

(२)जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

योऽयमिहैव जन्मनि नन्दीश्वरादीनां जात्यादिपरिणामः स प्रकृत्यापूरात्, पाश्चात्त्या एव हि प्रकृत-योऽमुष्मिञ्जन्मनि विकारानापूरयन्ति जात्यन्तराकारेण परिणमयन्ति(३) ॥ २ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

जातीति । देहेन्द्रियकारणस्यास्विकावयवोपचयाद्भवति । यथा नन्दीश्वरस्य ब्राह्मणदेहेन्द्रिययोर्दे-वसंबन्धिदेहेन्द्रियरूपता देवप्रकृत्यनुप्रवेशादित्यर्थः । जात्यन्तरपदं च महिमाद्यखिलसिद्ध्युपलक्षणं प्र-कृत्यापूरश्चापगमस्याप्युपलक्षकः । तेनाणिमादिसिद्धिप्रकारोऽप्युक्त इति ॥ २ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु यदा मनुष्यादिशरीरेणैव देवभावं प्राप्नोति सिध्या यदा वाणिमादिसिद्धयः प्रादुर्भवन्ति तदा किं संकल्पयोगजधर्माभ्यामतिरिक्तं कारणमपेक्षते न वेति संशये सत्याह—**जात्यन्तरपरिणामः प्र-कृत्यापूरात्** । मनुष्यादिशरीरस्य देवादिजात्यन्तररूपः परिणामः सत्त्वादिविशेषरूपाणां देवादिशरीरा-रम्भयोग्यानामापूरणादेव भवति । तत्र च पूरणेऽधर्मादिप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारा योगिसंकल्पयोगजधर्मा-दिकं निमित्तमात्रम् । जात्यन्तरपदं च महिमाद्युपलक्षकमपि । प्रकृत्यापूरोऽपगमस्याप्युपलक्षकः । तेनाणिमादिसिद्धिप्रकारोऽप्युक्तः । अत एव वामदेवादेस्तदापूर एव शरीरवृद्धिरगस्त्यपीयमानसमुद्रस्य च तदपसरणादेवाल्पत्वमुपपन्नम् । कायव्यूहादिकं तु देहान्तरादिप्रकृतीनां पृथगेवारम्भकसंयोगादिति बोध्यम् । एवं हिरण्यगर्भादीनां जगत्सृष्ट्याद्यपि प्रकृत्यापूरादिति बोध्यम् । प्रकृत्यापूरणमत्र जीवान्त-राणां स्वस्वोपाधिसंयोगस्याप्युपलक्षणं येन योगी जीवान्तरसंयोगेन गजतुरगादीनि निर्मायैश्वर्यं भु-

---

(१) कथं जन्मनि जन्मान्तराभ्यस्तस्येति पाठान्तरम् ।

(२) ननु नन्दीश्वरादीनामिहैव जन्मनि जात्यन्तरादिपरिणामः दृश्यते तत् कथं जन्मान्तराभ्य-स्तसमाधेः कारणत्वमत आह जात्येति । प्रकृत्या पूरणादिति पाठान्तरम् । केचित्तु योगिनो निर्मा-णकायनिर्माणेन्द्रिययोरुत्पत्तिप्रकारं प्रतिपादयति जात्येति । जात्यन्तरशब्देन योगिनः कायव्यूहादिकं बोध्यं योगिनां देहेन्द्रिययोः परिणामकाले योगजधर्मसापेक्षाः कायेन्द्रियप्रकृतयः स्वं स्वं विकारं आपूर-णेनानुगृह्णन्ति कायप्रकृतयः पञ्चभूतानि इन्द्रियप्रकृतिश्च अस्मितेत्याहुः ।

(३) नामरूपजात्यादिद्वारेण परिणयन्तीति पाठान्तरम् ।

घनार्थं कैवल्यप्रयोगार्थं चाऽऽह—

(१)जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

काश्चन जन्मनिमित्ता एव सिद्धयः। यथा—पक्ष्यादीनामाकाशगमनादयः। यथा वा कपिलमहर्षिप्रभृतीनां जन्मसमनन्तरमेवोपजायमाना ज्ञानादयः सांसिद्धिका गुणाः। ओषधिसिद्धयो यथा—पारदादिरसायनाद्युपयोगात्। मन्त्रसिद्धिर्यथा—मन्त्रजपात्केषांचिदाकाशगमनादि। तपःसिद्धिर्यथा—विश्वामित्रादीनाम्। समाधिसिद्धिः प्राक्प्रतिपादिता। एताः सिद्धयः पूर्वजन्मक्षपितक्लेशानामेवोपजायन्ते। तस्मात्समाधिसिद्धाविवान्यासां सिद्धीनां समाधिरेव जन्मान्तराभ्यस्तः कारणं, मन्त्रादीनि निमित्तमात्राणि ॥१॥

भावागणेशवृत्तिः।

हानोपायं तद्व्यूहत्रयं चातिविस्तरतः पादत्रयेणोक्तम्। हानं तु स्वरूपतः संक्षेपेणोक्तम्। इदानीं हानव्यूहस्याशेषविशेषप्रतिपादनाय चतुर्थः पाद आरभ्यते। तत्रादौ कैवल्यार्हं चित्तं निर्धारयितुमितरसिध्यपेक्षया यथोक्तसमाधिसिद्धेरुत्कर्षं च प्रतिपादयितुं पञ्चप्रकारां सिद्धिमाह—जन्मेति।

देवादीनामणिमादिसिद्धयो जन्ममात्रजा इत्येवं पञ्चप्रकाराः सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः। पञ्चप्रकारासिद्धिसाधारण्यलाभार्थं पूर्वपादप्रतिपादिता अस्मिन्नेव प्रसंगे कियद्भिः सिद्धिप्रकारसूत्रैः प्रतिपाद्यन्ते ॥ १ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

इतरसिध्यपेक्षया समाधिसिद्धेरुत्कर्षं प्रतिपादयितुं पञ्चप्रकारां सिद्धिमाह—जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः। देवादीनामणिमादिसिद्धयो जन्ममात्रजाः। असुरभवनेषु रसायनजास्ता औषधिजाः। यथा मनुष्यः कुतश्चिन्निमित्तादसुरभवनं प्राप्तस्तत्कन्यादत्तरसायनाद्युपयुज्याजरामरत्वं प्राप्नोति इहैव वा कश्चित्तदुपयोगेन। मन्त्रजा आकाशगमनाणिमादिलब्धिः। तपसा संकल्पसिद्धिः। समाधिजास्तु पूर्वं व्याख्याताः ॥ १ ॥

मणिप्रभा।

सर्वसाधनसिद्धीनां [illegible] स्यात्सिद्धिरनुत्तमा।
कैवल्यरूपा तन्मात्रं सीतारामं नमाम्यहम् ॥

प्रथमद्वितीयपादयोर्योगतत्साधने प्रतिपादिते। तृतीये संयमसंज्ञमन्तरङ्गत्रयं संयमस्य लक्ष्याः परिणामभेदाः सिद्धयश्चोक्ताः। [illegible] काश्चिदतीतानागतज्ञानादिसिद्धयः श्रद्धाद्वारा कैवल्ययोगस्याङ्गम्। काश्चिदिन्द्रियजयादयः साक्षादङ्गम्। तारकसंज्ञिविवेकज्ञानसिद्धिर्योगस्य फलमिति निरूपितम्। इदानीं कैवल्यस्वरूपं प्राधान्येन प्रतिपादनीयं, तदर्थं कैवल्यभागीयं चित्तं परलोकः क्षणिकविज्ञानातिरिक्तात्मा चित्तविकारसुखादिभोक्ता धर्ममेघश्च वक्तव्यः प्रासङ्गिकं चान्यदुक्तव्यमिति चतुर्थः पाद आरभ्यते। तत्र प्रथमसिद्धिचिह्नेषु कैवल्ययोग्यं चित्तं वक्तुकामः पूर्वोक्तसिद्धीनां हेतुभेदात्पञ्चविधत्वमाह जन्मेति।

जन्मना पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिसिद्धिः कपिलादीनां च सांसिद्धिकीत्युच्यते। ओषधिविशेषसेवया माण्डव्यादीनाम्। मन्त्रजपेन केषांचिदणिमादिसिद्धिः। तपसा विश्वामित्रादीनां सिद्धिः। एताश्च [illegible] सिद्धयः पूर्वजन्माभ्यस्तयोगजा एव जन्मादिनिमित्तेन व्यज्यन्ते। अत एव योगाभ्यासे विश्वासेन प्रवृत्तिरिह सिद्ध्यदर्शनेऽपि जन्मान्तरे साफल्यात्। समाधिजास्तु पूर्वपादे व्याख्याताः ॥ १ ॥

चन्द्रिका।

कैवल्याख्यं चतुर्थपादमाह—जन्मेति। तत्र सिद्धीनामनेकजत्वं सूचयति काश्चन जन्मन एव

---

(१) कैवल्ययोग्यं चित्तं निर्द्धारयितुं पञ्चप्रकारां सिद्धिमाह जन्मेति। प्रसङ्गेन चानेन जन्मादिसिद्ध्यपेक्षया समाधिसिद्धेरुत्कर्षं सेत्स्यति। समाधिसिद्धाविव अन्यासां सिद्धीनां समाधिरेव जन्मान्तराभ्यस्तः कारणं मन्त्रादीनि [illegible] निमित्तमात्राणि।

कुर्के। तत्र समाधिसिद्धावयं विशेषः, यत्तत्संस्कृतमेव चित्तमात्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुर्नान्यासिद्धिसंस्कृतमिति। प्रह्लादादीनां भक्तिजा सिद्धिस्तपःसिद्धिमध्य एव प्रविष्टा 'अक्षयः परमो धर्मो भक्तिलेशेन जायते' इति स्मृतेस्तपोन्तराद्भक्तिराधिकेति बोध्यम् ॥ २ ॥

मणिप्रभा।

ननु तपःप्रभावादिहैव नन्दीश्वरस्य श्रीगौरीवल्लभकटाक्षवीक्षणेन देवशरीरपरिणामः श्रूयते। तत्र न तावदयं नरदेहो देवादिदेहस्योपादानं तस्मिन् स्थिते परिणामान्तरायोगाददृष्टस्याहेतुत्वात्। नापि तदवयवा एवोपादानं नरदेहमात्रहेतोर्विलक्षणकार्यकारित्वायोगादित्याशङ्क्याह—जात्येति।

प्रधानादयः पृथिव्यन्ताः प्रकृतयस्तासां सर्वत्र सत्त्वान्नरादिदेहावयवेषु तासामापूराद्धर्मादिनिमित्तानुरोधेनावयवानुप्रवेशाज्जात्यन्तरपरिणामो युज्यते, यथाऽग्निकणस्य प्रकृत्यानुप्रवेशाद्वनादौ बहुतृणादिमण्डलव्यापित्वं तद्वादित्यर्थः ॥ २ ॥

चन्द्रिका।

जात्यन्तरेति। योऽस्मिन् जन्मनि जात्यन्तरपरिणामः स प्रकृत्यापूरणात् पाश्चात्यजन्मप्रकृतयोऽस्मिन् जन्मनि विकारानापूरयन्ति ॥ २ ॥

योगसुधाकरः।

ननु परमेश्वरसमाराधनादितपःप्रभावेणैव नन्दीश्वरो मनुष्यदेहेन देवत्वमगमदित्युपाख्यायते; तत्कथम्, मनुष्यदेहस्य देवशरीराकारेण परिणामायोगादित्याशङ्क्याह—जातीति।

प्रधानादयः पृथिव्यन्ताः प्रकृतयः। तासां सर्वत्र विद्यमानतया नरादिदेहावयवेष्वापूराद्धर्मादिनिमित्तानुरोधेनावयवानुप्रवेशाज्जात्यन्तरपरिणामो युज्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

भोजवृत्तिः।

ननु धर्माधर्मादयस्तत्र क्रियमाणा उपलभ्यन्ते तत्कथं प्रकृतीनामापूरकत्व(१)मित्याह —

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥३॥

निमित्तं धर्मादि तत्प्रकृतीनामर्थान्तरपरिणामे न प्रयोजकम्। न हि कार्येण कारणं प्रवर्तते। कुत्र तर्हि तस्य धर्मादेर्व्यापार इत्याह—वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। ततस्तस्मादनुष्ठीयमानाद्धर्माद्वरणमावरकमधर्मादि तस्यैव विरोधित्वाद्भेदः क्षयः क्रियते। तस्मिन्प्रतिबन्धके क्षीणे प्रकृतयः स्वयमभिमतकार्याय प्रभवन्ति। दृष्टान्तमाह—क्षेत्रिकवत्। यथा—क्षेत्रिकः कृषीवलः केदारात्केदारान्तरं जलं निनीषुर्जलप्रतिबन्धकवरणभेदमात्रं करोति, तस्मिन्भिन्ने जलं स्वयमेव प्रसरद्रूपं परिणामं गृह्णाति न तु जलप्रसरणे तस्य कश्चित्प्रयत्न एवं धर्मादेर्बोद्धव्यम् ॥ ३ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

ननु योगजादिधर्मैर्योगिसंकल्पैश्च बलात्प्रकृतय आकृष्यन्त इति प्रकृतिस्वातन्त्र्यसिद्धान्तक्षतिः। ततश्चेश्वरसंकल्पकृती विना सर्गादौ प्रकृतिप्रवृत्त्यनुपपत्त्या ईश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यायापत्तिस्तत्राह—निमित्तमिति।

धर्मादिरूपं निमित्तकारणं प्रकृतीनां महदादिकारणानां प्रयोजकं प्रवर्तकं न भवति स्वत एव प्रकृतिस्वाभाव्यात्। किंतु ततो निमित्तकारणाद्वरणभङ्गः प्रवृत्तिविशेषप्रतिबन्धकाधर्मादिनिवृत्तिमात्रं भवति। क्षेत्रिकवत्। यथा कृषीवलो जलपूर्णात्क्षेत्राज्जलं क्षेत्रान्तरे निनीषुरालवालभङ्गमात्रं करोति जलं तु गतिस्वाभाव्यात्स्वयमेव गच्छति तद्वदित्यर्थः। अचेतनं चेतनाधिष्ठितमेव प्रवर्तते इति नियमस्त्वस्माभिर्नेष्यते, परमेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यापत्तेरिति [illegible] ॥ ३ ॥

---

(१) पूरकारणत्वामिति पाठान्तरम्।

युगपदनेकशरीरनिर्मित्सा जायते तदा कुतस्तानि(१) चित्तानि प्रभवन्तीत्याह—

(२)निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि तानि मूलकारणादस्मितामात्रादेव तदिच्छया प्रसरन्ति अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव युगपत्परिणमन्ति ॥ ४ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

कायव्यूहदशायां किमेकमेव चित्तमुतानेकमपि भवतीति संशये निर्णयसूत्रं—निर्माणेति।

सिद्धेः संकल्पेन निर्मितानि चित्तानि निर्माणचित्तान्युच्यन्ते। तानि बहूनि निर्माणदेहसमसंख्यान्यपि भवन्ति। तेषां कारणमाह अस्मितामात्रादिति। मनःकारणादहङ्कारादित्यर्थः॥ ४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

यदा योगी कायव्यूहं करोति तदा तावच्छरीरसंबद्धानि चित्तानि किं नाना उतैकमिति संशये आह—निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्। अस्मितामात्रमहंकारस्तस्मात्सिद्धेन सकल्पेन निर्मित्तानि चित्तानि निर्माणचित्तानि तानि देहसमसंख्यानि भवन्ति। अहंकारकारणकानीत्यर्थः। अन्यथैकचित्तेन विरुद्धानां भोगसमाध्यादीनां नानादेहेष्वेकदा संभवो न स्यात् ॥ ४ ॥

मणिप्रभा।

ननु यदा योगी युगपद्भोगार्थं बहून्कायान् निर्मिमीते तदा तेषु चित्तानि कुतो भवन्त्यत आह—निर्माणेति।

योगप्रभावान्निर्मीयन्ते इति निर्माणानि चित्तानि योगसङ्कल्पाधीनप्रकृत्यापूरात्कामवदहङ्कारादास्मकृतेर्जायन्ते इत्यर्थः॥ ४ ॥

चन्द्रिका।

योगी अनेकशरीराणि युगपत्सृजतीत्याह निर्माणेति। योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि तानि मूलकारणादस्मितामात्रात् प्रसरन्ति अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव ॥ ४ ॥

योगसुधाकरः।

यदा योगी युगपद्भोगार्थं बहून्कायान्निर्मिमीते तदा तेषु कस्माच्चित्तानि भवन्तीत्यत आह—निर्माणेति।

योगप्रभावान्निर्मीयन्त इति निर्माणानि चित्तानि योगिसंकल्पाधानप्रकृत्यापूरात्कायवदहंकारात्स्वप्रकृतेर्जायन्ते इत्यर्थः॥ ४ ॥

भोजवृत्तिः।

ननु बहूनां चित्तानां भिन्नाभिप्रायत्वान्नैककार्यकर्तृत्वं स्यादित्यत आह—

(३)प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

तेषामनेकेषां चेतसां प्रवृत्तिभेदे व्यापारनानात्वे एकं योगिनश्चित्तं प्रयोजकं प्रेरकमधिष्ठातृत्वेन,

---

(१) कुतस्त्यानीति पाठान्तरम्।

(२) साक्षात्कृततत्त्वस्य योगिनो यदा युगपत्कर्मफलोपभोगाय युगपदनेकशरीरनिर्माणेच्छा जायते तदा कुतस्तेषु चित्तानि भवन्तीत्यत आह निर्माणेति। निर्माणचित्तानि स्वसङ्कल्पेन निर्मितचित्तानि। अस्मितामात्रात् अहङ्कारादित्यर्थः। ननु निर्मातृचित्तस्य एकस्यैव प्रदीपवद्विसारितया कायव्यूहेषु वृत्तिसम्भवात् किमर्थं देहभेदेनान्तःकरणभेदोऽभ्युपगम्यते। अत्रोच्यते। समाधिभोगयोर्ज्ञानाज्ञानयोश्च एकदा एकस्मिन्बीजे विरोधेन चित्तभेदः सिद्ध्यतीति।

(३) ननु कथं बहूनां चित्तानामेकचित्तानुसारिणी प्रवृत्तिरिति। उच्यते। योगी पूर्वसिद्धं यच्चित्तं तदेव सर्वचित्तानां प्रयोजकं करोति ततस्तु तच्चित्ताभिप्रायात् तेषामवान्तरचित्तानां प्रवृत्तिरिति।

योरेकरूपत्वात् । तथा हि—अनुष्ठीयमानात्कर्मणश्चित्तसत्त्वे वासनारूपः(१) संस्कारः समुत्पद्यते । स च स्वर्गनरकादीनां फलानामङ्कुरीभावः कर्मणां वा यागादीनां शक्तिरूपतयाऽवस्थानम् । कर्तुर्वा तथाविधभोग्य(२)भोक्तृत्वरूपं सामर्थ्यम् । संस्कारात्स्मृतिः स्मृतेश्च सुखदुःखोपभोगस्तदनुभवाच्च पुनरपि संस्कारस्मृत्यादयः । एवं च यस्य स्मृतिसंस्कारादयो भिन्नास्तस्याऽनन्तर्याभावे दुर्लभः कार्यकारणभावः । अस्माकं तु यदाऽनुभव एव संस्कारीभवति संस्कारश्च स्मृतिरूपतया परिणमते तदैकस्यैव चित्तस्यानुसंधातृत्वेन स्थितत्वात्कार्यकारणभावो न दुर्घटः ॥ ९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु यस्य कर्मणो विपाकानुगुणा वासना बहुजन्मादिव्यवहिता तस्य तदभिव्यञ्जकत्वं न घटते, संनिहितवासनां परित्यज्य व्यवहितवासनाभिव्यक्त्यनौचित्यात्तत्राह—जातीति ।

जात्यादिभिर्जन्मादिभिर्व्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्यमव्यवहितवत्कार्यकारित्वं कल्प्यते, स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् । न हि जातमात्रस्य स्तनपानादीष्टसाधनतादिस्मृतिस्तत्समानाकारवासनां विनोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु यस्य कर्मणो विपाकानुगुणवासना बहुजन्मादिव्यवहितास्तस्य तदभिव्यञ्जकत्वं घटते संनिहितवासनां परित्यज्य व्यवहितवासनाया अभिव्यक्त्यनौचित्यात् तत्राह—**जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्** । जातिर्जन्म । जन्मशतेन दूरदेशतया कल्पशतेन वा व्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्यमव्यवहितवत्कार्यकारित्वं कल्प्यते, तदभिव्यक्तिनिमित्तकर्मणस्ता उपादायैव स्वफलारम्भाभिमुखत्वात् । किंच स्मृतिसंस्कारयोरेकत्वात् । नहि जातमात्रस्य स्तनपानादीष्टसाधनतादिस्मृतिस्तत्समानाकारवासनां विनोत्पद्यत इत्यर्थः । देशव्यवधानमवच्छेदकतया बोध्यम् ॥ ९ ॥

मणिप्रभा ।

ननु स्वर्गदेशे देवजन्मनि जाताभ्यो भोगेभ्यो वासनाः कथं नरव्याघ्रादिजन्मसहस्रव्यवधानानन्तरं पुनर्देवजन्मन्यभिव्यज्यन्ते, अनन्तरजन्मपूर्ववासना एव पूर्वदिनवासनावत्कुतो न व्यज्यन्त इत्यत आह—जातीति ।

यद्यपि सुप्तोत्थितस्यानन्तरपूर्वदिनानुभवजवासनाः प्रायेणाभिव्यज्यन्तेऽव्यवधानात् तथाऽप्यनादिसंसारे येन कर्मणा यज्जन्मनि भोगैर्वासनाः संचिताः तासां जन्मकोट्या देशेन कल्पशतेन च व्यवहितानामपि तज्जातीयेन कर्मणा तज्जन्मनि पुनः प्राप्ते सति तेनैव कर्मणा जन्मना वाऽभिव्यक्तानामानन्तर्यमव्यवहितत्वं स्मृतिद्वारा भोगादिहेतुत्वमिति [illegible] । विजातीयकर्मारब्धानन्तरपूर्वजन्मवासनानां [illegible]काभावात् प्रसुप्तिरेव व्यवहितानामपि कर्मजन्मनोरभिव्यञ्जकयोः सत्त्वादभिव्यक्तिर्युक्ता । न च विजातीयत्वेऽप्यव्यवधानादनन्तरपूर्ववासना एव ताभ्यां स्मृत्याद्यर्थमभिव्यज्यन्तामिति वाच्यम् । स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वादयमर्थः क्रिया ज्ञानमन्यद्वा रागादिकं शक्त्यात्मना स्थितः संस्कारः । स च स्वसमानविषयकक्रियास्मृत्यादिहेतुः । क्रियासंस्कारः क्रियात्मना, ज्ञानसंस्कारः स्मृत्यात्मना, अन्यसंस्कारोऽन्यात्मना, परिणमत इति यावत् । एवं स्मृतिसंस्कारयोरभेदेनैकविषयत्वेन चैकरूपत्वात् आनन्तर्यशब्दितः कार्यकारणभावो न विजातीययोः । न हि व्यवधानं संस्कारस्य विरूपकार्यकारित्वमापादयति घटानुभवजसंस्कारादनन्तरमननुभूतस्मृत्यापत्तेरिति ॥ ९ ॥

चन्द्रिका ।

आसां कार्यकारणभावानुपपत्तिं निराकरोति—जातीति ।

[illegible] काञ्चियोनिमनुभूय यदा योन्यन्तरसहस्रव्यवधानेन तामेव पुनर्योनिं प्रतिपद्यते तत्र या वा-

---

(१) वासनानुरूप इति पाठान्तरम् । (२) तथाविधभोगेति पाठान्तरम् ।

[illegible] प्रकटीभूताः आसंस्तास्तथाविधव्यञ्जकाभावात्तिरोभूताः पुनस्तादृक्शरीरलाभे प्रकटीभवन्ति। अतिदेशकालव्यवधानेऽपि तासां स्वानुरूपस्मृत्यादिफलसाधने आनन्तर्यं नैरन्तर्यं, कुतः? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

योगसुधाकरः।

नन्वेता नरभोगवासना देवत्वादिजन्मसहस्रव्यवधानानन्तरं कथं तर्हि पुनर्नरजन्मन्यभिव्यज्यन्त इत्याशङ्क्याह—जातीति।

अनादौ संसारे येन कर्मणा यस्मिञ्जन्मनि भोगैः सञ्चिता या वासनास्तासां जन्मकोट्या स्वर्गादिदेशेन कल्पशतेन च व्यवहितानामपि तज्जातीयेन कर्मणा तस्मिञ्जन्मनि पुनः प्राप्ते सति तेनैव कर्मणा जन्मनामभिव्यक्तानामानन्तर्यं स्मृतिद्वारा भोगादिहेतुत्वं भवति। कुतः? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। क्रिया ज्ञानमन्यद्वा रागादिकं यच्चकरयात्मना स्थितं स संस्कारः। तत्र क्रियासंस्कारः क्रियात्मना परिणतः, ज्ञानसंस्कारः स्मृत्यात्मना, अन्यसंस्कारोऽन्यात्मना परिणत इत्येवं स्मृतिसंस्कारयोरभेदेनैकविषयत्वेन चैकरूपत्वादानन्तर्यशब्दितः कार्यकारणभावः सजातीययोः सम्भवति, न विजातीययोः। न हि व्यवधानं संस्कारस्य विरूपकार्यकारित्वमापादयति; तथात्वे घटानुभवजसंस्कारादनन्तरमननुभूतस्मृत्यापत्तेरित्यर्थः ॥ ९ ॥

भोजवृत्तिः।

भवत्वानन्तर्यं कार्यकारणभावश्च वासनानां यदा तु प्रथममेवानुभवः प्रवर्तते तदा किं वासनानिमित्त उत निर्निमित्त इति शङ्कां व्यपनेतुमाह—

(१)तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

तासां वासनानामनादित्वं—न विद्यत आदिर्यस्य तस्य भावस्तत्त्वं, तासामादिर्नास्तीत्यर्थः। कुत इत्यत आह—आशिषो नित्यत्वात्। येयमाशीर्महामोहरूपा सदैव सुखसाधनानि मे भूयासुर्मा कदाचन तैर्मे वियोगो भूदिति यः संकल्पविशेषो वासनानां कारणं तस्य नित्यत्वादनादित्वादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—कारणस्य संनिहितत्वादनुभवसंस्कारादीनां कार्याणां प्रवृत्तिः केन वार्यते, अनुभवसंस्काराद्यनुविद्धं संकोचविकासधर्मि चित्तं तत्तदभिव्यञ्जकविपाकलाभा(२)त् तत्तत्फलरूपतया परिणमत इत्यर्थः ॥ १० ॥

भावागणेशवृत्तिः।

नन्वेवं सकलजन्मार्थमेव वासनाङ्गीकारेऽनवस्थापत्तिरित्याशङ्क्य प्रामाणिकत्वेनापाकरोति—तासामिति।

तासां वासनानां प्रवाहरूपेणानादित्वम्। कुतः? आशिषो नित्यत्वात्। मा न भूवं भूयासमिति स्वविषयकप्रार्थनायाः जातमात्रस्यापि सर्वप्राणिनो नियतत्वादित्यर्थः। इयं हि भवनात्मा प्रार्थना मरणदुःखस्मृत्यैव युक्ता। न चेह जन्मनि मरणदुःखमनुभूतम्। नापि जातमात्रेणानुमितं श्रुतं वा। तस्मात्पूर्वजन्मानुभवोत्था मरणदुःखवासनाऽनुमीयत इति ॥ १० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

ननु सकलजन्मार्थं वासनाङ्गीकारेऽनवस्थापत्तिरत आह—तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्। तासां वासनानां प्रवाहरूपेणानादित्वं, कुत? आशिषो नित्यत्वात्। मा न भूवं भूयासमिति स्वविष-

---

(१) नन्वेवं सकलजन्मसु वासनास्वीकारे अनवस्थाप्रसङ्ग इत्यत आह तासामिति। तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वादिति पाठः भाष्यादिसम्मतः। अनादित्वं प्रवाहरूपेणेति बोध्यम्। नित्यत्वात् प्रतिजन्मनियतत्वात्। तथा च प्रामाणिकीयमनवस्था न दोषायेत्यभिप्रायः।

(२) व्यञ्जकलाभादिति पाठान्तरम्।

दिकमालम्बनम् , एतैः 'संगृहीतत्वादेषा' क्रियायोगाद्योगजाविप्लवविवेकख्यात्या उच्छेदे सति कारणानामभावादुच्छेदो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

चन्द्रिका ।

आसां हानोपायमाह—हेत्विति ।

वासनानामनन्तरानुभवो हेतुस्तस्याप्यनुभवस्य रागादयस्तेषामविद्येति साक्षात्पारम्पर्येण च हेतुः फलं शरीरादि आश्रयो बुद्धिसत्त्वमालम्बनं यदेवानुभवस्य तदेव तैरनन्तानां वासनानां संगृहीतत्वात्तेषामभावे वासनाभावः ॥ ११ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु वासनानामनादितया कथं तदुच्छेदः ? तत्राह—हेत्विति ।

नैताः पुरुषवदनादयः, किं तु कार्या एव प्रवाहानादयः । अतः कारणोच्छेदादुच्छेदः सम्भवति । तथा हि—पूर्वपूर्वसंस्कारलक्षणाविद्या अस्मिताहेतुः । सा च मनुष्योऽहं ममेदमिष्टमनिष्टमिति भ्रमहेतुः । सोऽपि रागद्वेषयोः । तौ च परनिग्रहानुग्रहादिद्वारा धर्माधर्मयोः । तौ च भोगे । सोऽपि वासनासु । ताः पुनर्भ्रमादिषु । इत्यनादि संसारचक्रमनिशमावर्तते । तत्र वासनानां क्लेशकर्माणि हेतवः, जात्यायुर्भोगाः फलम् , चित्तमाश्रयः, शब्दादिकमालम्बनम् ; तैः संगृहीतत्वात् आदरनैरन्तर्यसत्कारानुबन्धयष्टाङ्गयोगजाविप्लवविवेकख्यात्या उच्छेदे सति कारणानामभावादुच्छेदो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु प्रतिक्षणं चित्तस्य नश्वरत्वात्तरतमत्वोपलब्धेः(१)वासनानां तत्फलानां च कार्यकारणभावेन युगपदभावित्वाद्भेदे कथमेकत्वमित्याशङ्क्यैकत्वसमर्थनायाऽऽह—

(२)अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्व(३)भेदाद्धर्माणाम्(४) ॥ १२ ॥

अत्यन्तमसतां भावानामुत्पत्तिर्न युक्तिमती तेषां सत्त्वसम्बन्धायोगात् । न हि शशविषाणादीनां क्वचिदपि सत्त्वसम्बन्धो दृष्टः । निरुपाख्ये च कार्ये किमुद्दिश्य कारणानि प्रवर्तेरन् । न हि विषयमनालोच्य कश्चित्प्रवर्तते । सतामपि विरोधान्नाभावसम्बन्धोऽस्ति । यत्स्वरूपेण लब्धसत्ताकं तत्कथं निरुपाख्यतामभावरूपतां वा भजते न विरुद्धं रूपं स्वीकरोतीत्यर्थः,—तस्मात्सतामभावासम्भवादसतां चोत्पत्त्यसम्भवात्तैस्तैर्धर्मैर्विपरिणममानो धर्मी सदैवैकरूपतयाऽवतिष्ठते । धर्मास्तु त्र्यध्विकत्वेन(५)त्रैकालिकत्वेन व्यवस्थिताः स्वस्मिन्स्वस्मिन्नध्वनि व्यवस्थिता न स्वरूपं त्यजन्ति । वर्तमानेऽध्वनि व्यवस्थिताः केवलं भोग्यतां भजन्ते,—तस्माद्धर्माणामेवातीतानागताद्यध्वभेदस्तेनैव रूपेण कार्यकारणभावोऽस्मिन्दर्शने प्रतिपाद्यते । तस्मादपवर्गपर्यन्तमेकमेव चित्तं धर्मितयाऽनुवर्तमानं न निह्नोतुं पार्यते ॥१२॥

भावागणेशवृत्तिः ।

तदेवं चित्तं मोक्षयोग्यं चित्तं तदितरचित्तस्य बन्धप्रकारो वासनोच्छेदासम्भवश्चोक्तः । इतः परं मोक्षकारणविवेकज्ञानाख्यस्य सम्यग्ज्ञानस्य विषयो लक्षणादिकं चातिविस्तरेण प्रतिपादनीयम् । विशेषदर्शन आत्मभावनाविनिवृत्तिरित्यन्तैः सूत्रैः । ननु द्वितीयपाद एव तत्सर्वमुक्तमिति चेत्सत्यम् । तथापि तेषामेवार्थानां तर्केणात्र परीक्षार्थमनुक्तपूरणार्थं च पुनरारम्भः । तत्रादौ विकाराणां स्वरूपं परीक्ष्यते—अतीतेति ।

---

(१) भेदोपलब्धेरिति पाठान्तरम् ।

(२) ननु सत्कार्यवादिनां मते वासनानामत्यन्तोच्छेदः कथं भवेदत आह अतीतेति । स्यादेष दोषो यदि वयं स्वरूपापायं वासनानां ब्रूमः । नत्वेवम् किन्तु नासतामुत्पादः सतां वा विनाश इति अतः सतामेव धर्माणामध्वभेदमुदयव्ययात्मकं ब्रूम इति भावः ।

(३) स्वरूपं नास्त्यध्वेति पाठान्तरम् । (४) तद्धर्माणामिति पाठान्तरम् ।

(५) तत्रैव त्र्यधिकत्वेनेति पाठान्तरम् ।

य एते धर्मधर्मिणः प्रोक्तास्ते व्यक्तसूक्ष्मभेदेन व्यवस्थिता गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपास्तदात्मान-स्तत्स्वभावास्तत्परिणामरूपा इत्यर्थः । यतः सत्त्वरजस्तमोभिः सुखदुःखमोहरूपैः सर्वासां बाह्याभ्यन्त-रभेदभिन्नानां भावव्यक्तीनामन्वयानुगमो दृश्यते । यद्यदन्वयि तत्तत्परिणामरूपं(२) दृष्टं, यथा–घटादयो मृदन्विता मृत्परिणामरूपाः ॥ १३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कार्यस्वरूपं परीक्ष्य सदसत्त्ववैधर्म्येण तद्विवेकतः कारणं परीक्ष्यते––त इति ।

ते कार्यरूपा धर्मा अभिव्यक्ता अनभिव्यक्ता वा भवन्तु सर्व एव सर्वदैव गुणात्मानस्तत्त्वतः सत्त्वादिगुणत्रयस्वरूपा भवन्ति । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥' इति श्रुतेः ।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥

इति भाष्यकारावधृतवाक्याद्भ्यश्चेत्यर्थः । अयं भावः । रूप्यते अवगम्यते अनेन रूपेणेति रूपमुच्यते। अतः कार्यं कारणं चेति कार्यस्यैव रूपद्वयम् । तत्र कार्यरूपताऽऽद्यन्तयोर्न तिष्ठति कार्य-रूपेणानवगमात् । कारणरूपता तु कालत्रयेऽप्यव्यभिचारिणी । सर्वदैव कारणरूपेणावगमात् । अतः कार्यरूपापेक्षया कारणरूपमेव पारमार्थिकं रूपं कार्याणामिति । अत्र कार्यस्यात्यन्तमसत्त्वं न विवक्षि-तम् । पूर्वसूत्रे कार्यनित्यतावचनादिति । एतेन 'मायामात्रं जगदि'ति श्रुतिस्मृतिप्रवादोऽपि व्या-ख्यातः । मिथ्यारचनाहेतौ व्यामोहकशक्तावेव मायाशब्दप्रयोगादिति ॥ १३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ कार्याणां मूलकारणमाह—ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः । ते कार्यरूपा धर्मा व्यक्ताः अभिव्यक्ताः सूक्ष्माः अनभिव्यक्ता वा भवन्तु सर्वे सर्वदा गुणात्मानः सत्त्वादिगुणत्रयरूपा भवन्ति । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतेः ।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥

इति वाक्याच्च । मायेव ननु माया साहि झटिति नश्यति तद्वदिमे विकाराः, प्रकृतिस्तु सदै-धर्म्यात्परमार्थरूपेति तदर्थः ॥ नन्वेकस्मात्प्रधानात्कथं कार्यवैचित्र्यमिति चेत्तदाहितानादिक्लेशवशा-नुगताद्वैचित्र्यादिति गृहाण । सर्वोऽपि दृश्यपदार्थो गुणानां संस्थानभेदवान् परिणामः वस्तुतो गुणरूप एव । एवञ्च कार्यकारणात्मकं कार्यस्य रूपद्वयं कार्यरूपताद्यन्तयोर्नास्ति कारणरूपता तु सर्वदा । अत-स्तत्कार्याणां परमार्थिकं रूपम् । एतेन मायामात्रं जगदिति प्रवादोऽपि व्याख्यातः । आद्यन्तयो-रनुपलभ्यमानत्वेन मिथ्यारचनाहेतौ व्यामोहकशक्तावेव मायापदप्रयोगादिति दिक् ॥ १३ ॥

मणिप्रभा ।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीत्युक्तं तत्र किं स्वरूपमित्यत आह––त इति ।

व्यक्ता वर्तमानाध्वानः, सूक्ष्मा अतीतानागताध्वानः, ते महदादयो घटादिविशेषान्ताः गुणात्मानः सत्त्वरजस्तमःस्वरूपा इत्यर्थः । सर्वे भावाः सुखदुःखमोहात्मकगुणान्वितत्वेन तत्प्रकृतित्वात्तत्स्वरूपा एव यथा घटादयो मृदान्विताः मृत्स्वरूपाः प्रकृतिविकारयोर्भेदाभेदरूपतादात्म्यात् । तत्र गुणाः परिणामि-नित्याः । अन्ये सर्वे भावाः प्रतिक्षणपरिणामाः क्षणविध्वंसिनः । पुरुषस्तु कूटस्थः । तदुक्तं भाष्ये—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥ इति ।

ऐन्द्रजालिकवत्क्षणविध्वंसीत्यर्थः ॥ १३ ॥

---

(२) पारिणामिकरूपमिति पाठान्तरम् ।

प्रकाशव्यवहारक्षमम् । कुतः ? दृश्यत्वात्, परिणामितया नीलादिवत् । अनुभवव्याप्यं हि दृश्यं, यत्त्वा-नुभवव्याप्यं न तत्स्वाभासं, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । नहि तदेव क्रियाकर्म कर्ता च । पुरुषस्तु नानु-भवकर्म । अतो न तस्य स्वयंप्रकाशताविरोधः । अपराधीनप्रकाशता ह्यस्य स्वयं प्रकाशता नानुभव-कर्मतेति मिथः । यस्त्वहं जानमीत्यादौ पुरुषस्यानुभवव्याप्यतानुभूयते सा त्वनाद्यविद्यावासनावशाच्चि-त्तप्रतिबिम्बितस्यैवेति बोध्यम् । चित्ताविभक्तत्वेन गृहीतस्य वृत्त्यविभागेन गृहीतावियतेति तत्त्वम् । या सत्त्वगतो चिच्छक्तिस्तदभिव्यक्तिरेव प्रतिबिम्बनम् । चिच्छक्तिरियं चात्र मते । एका नित्योदिता अपरा-भिव्यङ्ग्या । इयमेवान्तरङ्गत्वात् पुरुषस्य भोग्येति भोगराजः । एवं शब्दादिवज्जानामीत्यादिरूपैर्दृश्यत्वेना-नुभवान्न स्वाभासत्वमिति भावः । अग्निरपि ज्ञानादेव प्रकाशते इति दृष्टान्तासिद्धिः । किंचाग्नेः प्रकाशोऽपि क्रियारूप इति तस्यापरेणैव कर्मा करणेन च भाव्यम् । किंच यथा स्वात्मप्रतिष्ठमाकाश-मित्यस्याप्रतिष्ठमित्येवार्थः एवं स्वाभासमित्यस्याभासमित्येवार्थः स्यात् । न चायुक्तः, स्वविषयस्याग्रह-णेऽमुकाय क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमित्याद्यभिलापानापत्तेः । ते च स्वाश्रयेण चित्तेन स्वाश्रयेण च सह-प्रत्यात्ममनुभूयमानाः चित्तस्याग्राह्यतां विघटयन्तीति बोध्यम् ॥ १९ ॥

मणिप्रभा ।

ननु चित्तमेव क्षणिकं स्वप्रकाशं स्वस्वार्थयोर्भासकमस्तु किं साक्षिणेत्यत आह—नेति ।

रूपी घट इतिवत् सुख्यहं, क्रुद्धोऽहं, शान्तं मे मन, इति दृश्यत्वाच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशं न भवतीत्यर्थः । अयं भावः । किमिदं स्वप्रकाशत्वम् ? न तावत्स्वाभिन्नप्रकाशक्रियाकर्मत्वं क्रियाकर्मणोरै-क्यायोगान्न हि गतिर्गम्यते; किं तु ग्रामः, नापि पुरुषवच्चित्तस्य स्वाभिन्नप्रकाशाविषयत्वं क्रुद्धं हि मम इत्यनुभवविषयत्वादतो दृश्यत्वात्स्वातिरिक्तद्रष्टृकं चित्तं सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानान्न क्षणिकमिति ॥१९॥

चन्द्रिका ।

ननु चित्तं स्वप्रकाशमस्तु किं ग्रहीत्रन्तरकल्पनेनेत्याशङ्कां परिहरति नेति । तच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशकं न भवति किन्तु पुरुषवेद्यं कुतो दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु क्षणिकं चित्तमेव स्वपरावभासकमस्तु, किं पुरुषेणेत्यत आह—नेति ।

'घटोऽयं रूपवान्' इतिवत् 'सुख्यहम्' 'क्रुद्धोऽहम्' 'शान्तं मे मनः' इति दृश्यत्वाच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशं न भवति; किं तु स्वातिरिक्तद्रष्टृकं न क्षणिकम् , 'सोऽहम्' इति प्रत्यभिज्ञानादित्युक्तम् ॥१९॥

भोजवृत्तिः ।

ननु साध्याविशिष्टोऽयं हेतुः, दृश्यत्वमेव चित्तस्यासिद्धम् । किंच स्वबुद्धिसंवेदनद्वारेण पुरुषाणां हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपा वृत्तयो दृश्यन्ते । तथाहि—क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमत्र मे राग इत्येवमाद्या संवि-द्बुद्धेरसंवेदने नोपपद्येतेत्याशङ्कामपनेतुमाह—

(१)एकसमये चोभयानवधारणम्(२) ॥ २० ॥

---

(१) ननु स्वबुद्धिसंवेदनद्वारेण पुरुषाणां हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपाः प्रवृत्तयो दृश्यन्ते । तथा-हि क्रुद्धोहमत्र मे राग इत्येवमाद्याः संविदः बुद्धेरसंवेदने नोपपद्यन्त इत्यतः स्वाभासं विषयाभासं च चित्तमिति वाच्यमित्याशङ्कां निरसितुं चित्तस्य स्वाभासवादिवैनाशिकमते दोषान्तरं दर्शयितुमाह एकेति । अयमाशयः । विषयाभासं स्वाभासं च चित्तं ब्रुवाणो वैनाशिकः येनैव व्यापारेण स्वमवधार-यति तेनैव विषयमपीति न वक्तुमर्हति अविलक्षणव्यापारात् कार्यभेदानुपपत्तेः अतो व्यापारभेदो वाच्यः न च तेषां मते उत्पत्त्यतिरिक्तो व्यापारोऽस्ति न चैकस्या उत्पत्तेः कार्यवैलक्षण्यसम्भवः आकस्मिक-त्वप्रसङ्गात् न वा एकस्य उत्पत्तिद्वयसम्भवः अतो ऽर्थस्य चित्तस्य च अवधारणमेकदा न सम्भवतीति ।

(२) नवधारणादिति पाठान्तरम् ।

म् । तस्मादपरिणामित्वाद्धेतोः सदा ज्ञातविषयत्वम् । अविभागलक्षणप्रतिबिम्बरूप सम्बन्धो न परिणामो नापि वृत्तौ सत्यां तत्प्रतिबिम्बे विलम्ब इत्यर्थः । यदि च वृत्तीनामज्ञातत्वं स्यात्तर्हि जानामि न वेत्यादिसंशयापत्तिरिति ॥ १८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

चित्तार्थयोर्भेदं परीक्ष्य चित्तपुरुषयोरपि भेदमाह—सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् । चित्तस्यार्थो [illegible] इत्युक्तम् । ये तु पुरुषस्यार्थाश्चित्तवृत्तयस्ते सदा ज्ञाता [illegible] भवन्ति । अनेन वैधर्म्येण चित्तपुरुषयोर्भेदः । यतस्तत्प्रभोर्वृत्तिभोक्तुः पुरुषस्य पूर्वसूत्रोक्तोपरागादिलक्षणाशेषपरिणामशून्यत्वात् । यदि सत्यपि विषये पुरुषः कदाचिदेवार्थाकारः स्यात्तदा चित्तवत्परिणामी स्यात् । एवं सोऽपि ज्ञाताज्ञातविषयः स्यात्, नत्वेवम्, तस्मादपरिणामित्वाद्धेतोः सदा ज्ञातविषयत्वम् । अविभागलक्षणप्रतिबिम्बरूप सम्बन्धो न परिणामः । नापि वृत्तौ सत्यां तत्र विलम्बः अनादिवासनामूलत्वात् । अतएव जानामि नवा इच्छामि नवेति न संशयः ॥ १८ ॥

मणिप्रभा ।

तर्ह्यात्मनः परिणामित्वमित्यत आह—सदेति ।

पुरुषस्य हि क्षिप्तमूढादिसर्ववृत्तिकं चित्तं विषयः, स यदि चित्तेन स्वविषयशब्दादिवत् पुरुषेण स्वसत्ताकाले न ज्ञायेत तर्हि चित्तवत्परिणामी स्यात्पुरुषः, वृत्तिपरिणामं तत्तदाकारमपेक्ष्य तज्ज्ञातृत्वापातात् तदा किं परिणामित्वेनेति चित्तादन्यः पुरुषो न स्यात् । सदैव [illegible] स्वसत्ताकाले ज्ञायमानाश्चित्तवृत्तयो भोग्याः शब्दाद्याकाराः यस्य भोक्तुस्तस्य प्रभोर्भोक्तुरपरिणामित्वं ज्ञापयन्ति साक्षिणोऽपरिणामित्वादेव [illegible] स्वयं सदा ज्ञाता भवन्ति नान्यथेत्यर्थः ॥ १८ ॥

चन्द्रिका ।

पुरुषस्य परिणामित्वमाशङ्क्य परिहरति सदेति । याश्चित्तवृत्तयस्तास्तत्प्रभोस्तस्य चित्तस्य भर्तुः पुरुषस्य सदा सर्वकालमेव ज्ञेयाः तस्य चिद्रूपतयाऽपरिणामात् ॥ १८ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वित्थमात्मनोऽपि परिणामित्वं किं न स्यादित्यत आह – सदेति ।

पुरुषोऽपरिणामी सदा ज्ञातृत्वात् य [illegible] न तदेवं यथा चित्तम् । तथा यद्यसौ पुरुषः परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कत्वात्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं न स्यात् । अतः सदा ज्ञातृत्वादपरिणामी पुरुष इत्यर्थः ॥ १८ ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु चित्तमेव यदि सत्त्वोत्कर्षात्प्रकाशकं तदा स्वपरप्रकाशकत्वादात्मानमर्थं च प्रकाशयतीति तावतैव व्यवहारसमाप्तेः किं ग्रहीत्रन्तरेणेत्याशङ्कामपनेतुमाह—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

तच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशकं न भवति पुरुषवेद्यं भवतीति यावत्, कुतः? दृश्यत्वात्; यत्किल दृश्यं तद्द्रष्टृवेद्यं दृष्टं यथा—घटादि, दृश्यं च(१)चित्तं तस्मान्न स्वाभासम् ॥ १९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु वृत्तय एव स्वप्रकाशाः कल्प्यन्ते कृतं पुरुषेणेत्याशङ्क्य निराकरोति—नेति ।

तच्चित्तवृत्तिरूपं न स्वाभासं न स्वप्रकाशं भवति । आकाशं स्वप्रतिष्ठमिति वत् । स्वगोचरप्रकाशं विनैव प्रकाशव्यवहाराज्जानामीच्छामीत्यादिरूपैर्दृश्यतयानुभवादित्यर्थः ॥ १९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु वृत्तय एव सन्तु स्वप्रकाशाः अग्निवत् किं वृत्तिज्ञात्रा पुरुषेणेति वैनाशिकाशङ्कायामाह—न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् । तच्चित्तवृत्तिरूपं न स्वाभासं न स्वप्रकाशं स्वगोचरप्रकाशं विना [illegible]

(१) वेद्यं चेति पाठान्तरम् ।

यदि हि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण वेद्यते तदा साऽपि बुद्धिः स्वयमबुद्धा बुद्ध्यन्तरं(१) प्रकाशयितुमसमर्थेति तस्या ग्राहकं(२) बुद्ध्यन्तरं कल्पनीयं तस्याप्यन्यादित्यनवस्थानात्पुरुषायुषेणाप्यर्थप्रतीतिर्न स्यात् । न हि प्रतीतावप्रतीतायामर्थः प्रतीतो भवति । स्मृतिसंकरश्च प्राप्नोति—रूपे रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्ग्राहिकाणामनन्तानां बुद्धीनां समुत्पत्तेर्बुद्धिजनितैः संस्कारैर्यदा युगपद्बहुधः स्मृतयः क्रियन्ते तदा बुद्धेरपर्यवसानाद्बुद्धिस्मृतीनां च बह्वीनां युगपदुत्पत्तेः कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति ज्ञातुमशक्यत्वात्स्मृतीनां संकरः स्यात्, इयं रूपस्मृतिरियं रसस्मृतिरिति न ज्ञायेत(३) ॥ २१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु तथापि वृत्त्यन्तरैर्वृत्तयो ग्राह्यास्तत्राह—चित्तान्तरेति ।

यदि वृत्तिश्चित्तान्तरेण वृत्त्यन्तरेण ग्राह्या स्यात्तदा बुद्धिबुद्धेर्वृत्तिर्वृत्तीनामतिप्रसंगोऽनवस्था । तथा स्मृतिसंकरः । अयं घट इति वृत्तिदशायां घटतज्ज्ञानज्ञानाद्यनन्तवृत्त्य(नुभवे) ज्ञानधारापि स्मर्येत । तस्माद्वृत्त्यन्तरेण वृत्तिर्गृह्यते इति स्वीकर्तुमशक्यमित्यर्थः । अनन्तवृत्तिकल्पनापेक्षया सकलवृत्तिगोचरनित्यविवेकचैतन्यकल्पने लाघवमिति भावः ॥ २१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु वृत्त्यन्तरैर्वृत्तयो ग्राह्यास्तत्राह—चित्तान्तरग्राह्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च । यदि वृत्तिश्चित्तान्तरेण गृह्यते तदा बुद्धिबुद्धेश्चित्तवृत्तीनामतिप्रसङ्गोऽनवस्था । अगृहीताया बुद्धेः बुद्धिग्रहणासामर्थ्यात् । तथात्वे त्वाद्याया अपि तादृश्या एवं विषयग्राहकत्वं स्यादिति व्यर्था तत्कल्पना स्यात् । स्वयमप्रकाशमानाया इतरप्रकाशासामर्थ्यमिति चेत्तुल्यम् । स्मृतिसंकरश्च । यावतीनां बुद्धिवृत्तीनामनुभवास्तावतीनां धारापि घटज्ञानात्स्मर्येत । नत्वेवं स्मर्यते । तस्माद्वृत्त्यन्तरैर्वृत्तिग्रहो न युक्तः । किंचानन्तवृत्तिकल्पनापेक्षया नित्यविवेकचैतन्यकल्पने लाघवमिति बोध्यम् । 'येऽपि सांख्ययोगादयः स्वप्रकाशं ज्ञानमिति वदन्ति ते स्वशब्देन तत्स्वामिनं पुरुषं भोक्तारं गृह्णन्ति' इति भाष्यम् ॥ २१ ॥

मणिप्रभा ।

ननु माऽस्तु चित्तं स्वदृश्यं चित्तान्तरेण दृश्यतां किं साक्षिणेत्यत आह—चित्तेति ।

यदि नीलाकारं चित्तं चित्तान्तरेण दृश्यं तदा तदपि बुद्धिरूपं चित्तमन्यया [illegible] साऽप्यन्ययेत्यनवस्थापातात् । न च द्वित्राश्चित्तुराः [illegible] वा चित्तात्मानो ग्राह्या इति नानवस्थेति वाच्यम् । ग्राहकचित्तस्यानिश्चये ग्राह्यचित्तानिश्चयात् गेहे घटो दृष्टो न वेति संशये, न दृष्ट इति व्यतिरेकनिश्चये, चार्थनिश्चयादर्शनेन ज्ञानचित्तनिश्चयस्यार्थानिश्चयाहेतुत्वात् तत्तदनन्तचित्तानामनुभवे चानन्तचित्तस्मृतीनां सङ्करश्च प्राप्नोति स्मृत्यानन्त्यादशक्यग्रहत्वात् ग्राहकाभावाच्चेयं नीलचित्तस्मृतिरिति विभागो न स्यादित्यर्थः । चित्तानां समत्वाद् दीपानामिव ग्राहकत्वासम्भवश्च । अतः साक्षिवेद्यं चित्तमिति सिद्धम् ॥ २१ ॥

चन्द्रिका ।

तर्हि बुद्ध्यन्तरेणास्तु ग्रहणमित्याशङ्क्याह । चित्तान्तरेति । यदि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण वेद्येत तस्या

न्तरेति । नागृहीता चरमा बुद्धिः पूर्वबुद्धिग्रहणसमर्था न हि बुद्ध्या असम्बद्धान्यस्य बोधनसमर्था भवितुमर्हतीति तस्या [illegible] बुद्ध्यन्तरमेवं तस्यास्तस्या इत्यनवस्था। स्मृतिसङ्करश्चेति। विषयानुभवकाले [illegible] नधारा जातेति स्मृतिकालेऽपि अनन्तानां तज्ज्ञानानां स्मृतिरेकदैव भविष्यति घटो [illegible] पुरा ज्ञातः घटज्ञानं तज्ज्ञानं चेत्येवमनन्ताकारा । एवं च घटो मया ज्ञात इत्येकमात्राकारस्मृत्यनुभवस्तन्मते न स्यादिति [illegible] ।

(१) स्वयमेव स्वीयभावरूपमज्ञात्वा बुद्ध्या बुद्ध्येति पाठा० ।

(२) बोधकमिति पाठान्तरम् ।   (३) ज्ञायते इति पाठान्तरम् ।

[illegible] संवित्तिरिदंतया व्यवहारयोग्यतापादनमयमर्थः सुखहेतुर्दुःखहेतुर्वेति । बुद्धेश्च संविदहमि-त्येवमाकारेण सुखदुःखरूपतया व्यवहारक्षमतापादनम् । एवंविधं च व्यापारद्वयमर्थप्रत्यक्षताकाले(१) न युगपत्कर्तुं शक्यं विरोधात्, न हि विरुद्धयोर्व्यापारयोर्युगपत्संभवोऽस्ति । अत एकस्मिन्काले उभ[illegible] स्वरूपस्यार्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वान्न चित्तं स्वप्रकाशमित्युक्तं भवति । किं चैवंविधव्यापा-रद्वयनिष्पाद्यस्य(२) फलद्वयस्यासंवेदनाद्बहिर्मुखतयैवार्थनिष्ठत्वेन चित्तस्य संवेदनादर्थनिष्ठमेव फलं न स्वनिष्ठमित्यर्थः ॥ २० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

नन्वेवं सति स्वज्ञेयत्वमेव स्वाभासत्वं वक्तव्यं तत्राह—एकेति ।

यदा वृत्तिरुत्पद्यते न तदात्मानं ग्रहीतुं शक्नोति साक्षात्कारे विषयस्य हेतुत्वादित्यर्थः । नचो-त्पद्य द्वितीयक्षणे तं गृह्णीयादिति वाच्यम् । शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावेन द्विरर्थग्राहकत्वा-संभवात् ॥ २० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नन्वेवं स्वज्ञेयत्वमेव स्वाभासत्वमत आह—एकसमये चोभयानवधारणम् । यदा वृत्तिरुत्पद्यते न तदात्मानं ग्रहीतुं शक्नोति साक्षात्कारे विषयस्य हेतुत्वादित्यर्थः । नचोत्पद्य द्वितीयक्षणे स्वं गृह्णाति । शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावेन द्विरर्थग्राहकत्वासंभवात् । कर्तृकर्मविरोधश्चोक्त एव ॥ २० ॥

मणिप्रभा ।

किञ्च—एकेति ।

क्षणिकवादिन एकस्मिन्नेव क्षणे चित्तचैतन्ययोरुभयोरवधारणं न सम्भवतीत्यर्थः । तथा हि—घ-टमहमद्राक्षमिति चित्तार्थयोः स्मरणं तयोरनुभवजन्यं तत्र चित्तक्षणे तयोः कथमनुभवः । न च चि-त्तमेवोभयानुभव इति वाच्यम् । अर्थस्य चित्तजन्यत्वेऽर्थक्षणे चित्तासत्त्वादजन्य-[illegible] त्वसमकालत्वेऽपि तदुत्पत्तितादात्म्ययोरभावेन तद्ग्राह्यत्वायोगाद् असम्बद्धग्राहित्वे चित्तस्य सर्व-ज्ञताऽऽपत्तिः । उक्तं हि—सौगतैः—'अतदुत्पत्तिरतदात्मा च तेन न गृह्यत' इति । न वा चित्तं स्वानु-भवं द्वयत्वादित्युक्तं, नापि चित्तं स्वस्वार्थयोरनुभवद्वयम् । अतिक्षणिकस्योत्पत्तिव्यतिरिक्तव्यापारा-भावात् । उक्तं हि—'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते' इति । न चैकस्माद्व्यापारभेदं विना कार्यभेदो [illegible] । न [illegible] स्वप्ने ज्ञानं ज्ञेयं च युगपत्कर्तुं शक्यं तस्मात्साक्षिणैव चित्तचैतन्ययोरनुभव इति [illegible] ॥ २० ॥

चन्द्रिका ।

बुद्धेः संवेदने रागादयो नोपपन्ना इत्याशङ्कां निरसितुमाह एकेति । एकस्मिन् काले उभयस्य स्व-रूपस्य अर्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वाच्चित्तं न स्वप्रकाशम् ॥ २० ॥

योगसुधाकरः ।

किञ्च—एकेति ।

यदि चित्तं स्वपरावभासकं स्यात्तदा तयोश्चित्तार्थयोर्जन्यजनकभावेन चित्तक्षणेऽर्थस्य अर्थक्षणे चित्तस्य चासत्त्वादेकस्मिन्नेव क्षणे तयोरुभयोरवधारणमनुभवो न स्यात् । तस्मात्पुरुष एव चित्तार्थ-योरवभासको न चित्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु मा भूद्बुद्धेः स्वयं ग्रहणं बुद्ध्यन्तरेण भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

(३)चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

---

(१) प्रत्यक्षकाले इति पाठान्तरम् । (२) द्वयायत्तस्येति पाठान्तरम् ।

(३) ननु [illegible] स्वांशेनैतं चित्तं तथापि ग्रहीता न सिद्ध्यति [illegible] पूर्वक्षणोत्पन्नं चित्तं उत्तरक्षणे नष्टमपि उत्तरक्षणोत्पन्नेन चित्तान्तरेण ग्राह्यमिति [illegible] आह चित्ता-

ख्यातेरेव सन्ततिरूपो धर्ममेघसंज्ञः समाधिर्भवति। स च खल्वशुक्लकृष्णं धर्मं कैवल्यफलं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघ इत्युच्यते। प्रसंख्याने वैराग्याद्धर्ममेघे सति परवैराग्योदयात्प्रसंख्यानस्य निरोधो भवतीति भावः॥ २९॥

चन्द्रिका।

एवं प्रत्ययान्तरानुदयेन स्थिरीभूते समाधौ यादृशस्य योगिनः समाधिप्रकर्षप्राप्तिर्भवति तथाविधमुपायमाह—**प्रसंख्यान इति।**

प्रसंख्यानं यावतां तत्त्वानां यथाक्रमं व्यवस्थितानां परस्परविलक्षणस्वरूपपरिभावनं तस्मिन् सत्यकुसीदस्य फलमलिप्सोः प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकारविवेकख्यातेः परिशेषाद्धर्ममेघः समाधिर्भवति प्रकृष्टमशुक्लकृष्णं धर्मं परपुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः। अनेन प्रकृष्टस्य धर्मस्यैव ज्ञानहेतुत्वमित्युपपादितं भवति॥ २९॥

योगसुधाकरः।

अथ विवेकख्यातेरपि व्युत्थानरूपतया तन्निरोधोपायमुपदर्शयितुमाह—**प्रसंख्यान इति।**

विवेकख्यातिरेव क्लेशाकरूपावान्तरफलोन्मुखी सती प्रसंख्यानमित्युच्यते। तत्रापि अकुसीदस्य, कुत्सितेषु विषयेषु सीदतीति कुसीदो रागः, तद्रहितस्य विरक्तस्य, अत एव सर्वथा सर्वात्मना विवेकख्यातेः योगिनः अशुक्लकृष्णं धर्मं कैवल्यफलं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघाख्यः समाधिर्भवतीत्यर्थः॥ २९॥

भोजवृत्तिः।

तस्माद्धर्ममेघात्किं भवतीत्यत आह—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥ ३०॥

क्लेशानामविद्यादीनामभिनिवेशान्तानां कर्मणां च शुक्लादिभेदेन त्रिविधानां ज्ञानोदयात्पूर्वपूर्वकारणनिवृत्त्या निवृत्तिर्भवति॥ ३०॥

भावागणेशवृत्तिः।

ततः किमित्यत आह—तत इति।

ततो धर्ममेघसमाधेर्हेतोर्द्रष्टुद्वारा क्लेशकर्मणो निवृत्तिर्दाहो भवति। क्लेशकर्मणी कदापि नोत्पद्येते इत्यर्थः। क्लेशा अविद्यादयः पञ्च कर्म अदृष्टम्। एतत्सूत्रोक्तो ज्ञाननिष्पत्तिकार्यो द्वितीयो मोक्षः पञ्चशिखाचार्यैरप्युक्तः—'द्वितीयो रागसंक्षयादि'ति। रागः क्लेशसामान्योपलक्षकः॥ ३०॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तत्फलमाह—ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। ततो धर्ममेघात्समाधेर्हेतोः क्लेशानामविद्यादीनां पञ्चानां कर्मणः अदृष्टस्य निवृत्तिर्दाहो भवति। क्लेशकर्मणी कदापि नोत्पद्येते इत्यर्थः। अस्यामवस्थायां जीवन्मुक्त उच्यते। कारणाभावेन पुनर्जन्मादर्शनादिति बोध्यम्॥ ३०॥

मणिप्रभा।

इमं क्रमं स्फुटयति तत इति।

ततो धर्ममेघात् क्लेशानां पञ्चानां सवासनानां तन्मूलानां कर्मणां च निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः॥ ३०॥

चन्द्रिका।

तस्माद्धर्ममेघात् किं भवतीत्यत आह—तत इति।

क्लेशानामविद्यादीनामभिनिवेशान्तानां कर्मणां च शुक्लादिभेदेन त्रिविधानां ज्ञानोदयात् पूर्वपूर्वकारणनिवृत्त्या निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः॥ ३०॥

योगसुधाकरः।

ततः किमित्यत आह—तत इति।

ततो धर्ममेघात्सवासनक्लेशमूलकर्मणो निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः॥ ३०॥

च तासामानन्त्येऽपि हेतुफलादिद्वारेण हानमुपदर्श्यातीतादिष्वध्वसु धर्माणां सद्भावमुपपाद्य विज्ञानवादं निराकृत्य साकारवादं च प्रतिष्ठाप्य पुरुषस्य ज्ञातृत्वमुक्त्वा चित्तद्वारेण सकलव्यवहारनिष्पत्तिमुपपाद्य पुरुषसत्त्वे(१) प्रमाणमुपदर्श्य कैवल्यनिर्णयाय(२) दशभिः सूत्रैः क्रमेणोपयोगिनोऽर्थानभिधाय शास्त्रान्तरेऽप्येतदेव कैवल्यमित्युपपाद्य । कैवल्यस्वरूपं निर्णीतमिति व्याकृतः कैवल्यपादः ॥ ३४ ॥

सर्वे यस्य वशाः प्रतापवसतेः पादान्तसेवानतिप्रभ्रश्यन्मुकुटेषु मूर्धसु दधत्याज्ञां धरित्रीभृतः ।
यद्वक्त्राम्बुजमाप्य गर्वमसमं वाग्देवताऽपि श्रिता(३) स श्रीभोजपतिः फणाधिपतिकृत्सूत्रेषु वृत्तिं व्यधात् ॥

इति श्रीधारेश्वरभोजदेवविरचितायां राजमार्तण्डाभिधानायां
पातञ्जलयोगसूत्रवृत्तौ कैवल्याख्यश्चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

कैवल्यस्वरूपमाह—पुरुषार्थेति ।

कृतकर्तव्यतया पुरुषार्थशून्यानां गुणानां पुरुषोपकरणानां लिङ्गशरीरात्मकानां यः प्रतिप्रसवः स्वकारणेऽत्यन्तविलयः स प्रकृतेः कैवल्यम् । सा तु धर्मिभेदाच्चितिशक्तिस्वरूपिणी स्वरूपप्रतिष्ठा बुद्धिसत्त्वोपाधिकरूपशून्यस्वरूपा जपापाये स्फटिकस्वरूपप्रतिष्ठावत्, सा पुरुषस्य कैवल्यमित्यर्थः । परस्परवियोगे हि प्रकृतिपुरुषयोरपि केवलता एकाकिता भवति । इतिशब्दः शास्त्रसमाप्तौ ॥ ३४ ॥

वृत्तिदीपोऽयमुद्धास्यवृत्त्यन्तरतमोपहः ।
यथार्थयोगसूत्रार्थदृष्टयेऽस्तु सदा सताम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकविज्ञानाचार्यशिष्याग्र्यभावागणेशभट्टकृतायां
पातञ्जलवृत्तौ कैवल्यपादश्चतुर्थः समाप्तः ।

कैवल्यस्वरूपमाह—पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति । अत्र गुणशब्देन बुद्धिरूपतया परिणताः सत्त्वादय उक्ताः । कैवल्यमेकाकिता । स चान्योन्यमविभक्तानामन्योन्यवियोगरूपतया गुणपुरुषयोरेव भवति । तत्र विवेकख्यात्या परवैराग्येण पुरुषार्थशून्यानां गुणानां पुरुषोपकरणवासनासहितानामात्यन्तिकः प्रतिप्रसवः प्रधाने लयस्तस्मात्पुरुषादत्यन्तवियोगस्तदेतदात्यन्तिकात्पुरुषं प्रति प्रधानस्य कैवल्यम् । पुरुषस्य तु स्वरूपप्रतिष्ठा, सदा प्रतिबिम्बरूपेणोपाधिना वियुक्ता चितिशक्तिरूपा तत्कैवल्यमित्यर्थः । वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पे । एवं हि पुरुषस्यात्यन्तिकदुःखभोगनिवृत्तिरूपपरमपुरुषार्थपर्यवसानं भवति । ये तु 'परमात्मनि जीवात्मलयो मोक्ष' इति वदन्ति, तन्मतेऽपि समुद्रे नदीनामिव ब्रह्मणि जीवानामुपाधिलयेनाविभाग एव लयशब्दार्थ इति न विरोधः । येऽप्यात्मनि अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इति वदन्ति वैशेषिकाः, तदपि नास्माकं विरुद्धम्, उपाधिविशेषगुणानामेवोपाधिमत्युपचारेण तदुच्छेदस्याप्युपचारात् । आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्मोक्ष इति नैयायिकाः । तत्र भोग्यभोक्तृभावसम्बन्धेन दुःखनिवृत्तिः पुरुषार्थो न समवायेनेत्यतावान्विशेषः । वस्तुतो वैशेषिकमतवदेव तेनाविरोधः । यदपि नित्यानन्दावाप्तिर्मोक्ष इति, तदपि निर्दुःखतारूपानन्दावाप्तिपरत्वे न किंचिद्विरुद्धम् । 'विद्वान्हर्षशोकौ जहाती'त्यादि तु वैषयिकहर्षपरम् । यत्तु वास्तवमात्मनः कर्तृत्वं भोक्तृत्वमनुसन्धातृत्वं मन्यन्ते तेषां तद्रूपेण परिणामित्वापत्त्याऽनित्यत्व-

---

(१) पुरुषसिद्धाविति पाठान्तरम् । (२) निर्वाणायेति पाठान्तरम् ।
(३) वाग्देवता संश्रिता इति पाठान्तरम् ।

क्वाहं प्रमादनिरतः क्व वात्सल्यं गुरोरिदम् ।
नूनं महात्मनां दीने स्वतश्चित्तं कृपाऽन्वितम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीरामानन्दसरस्वतीकृतौ सांख्यप्रवचने योगमणिप्रभायां
कैवल्यपादश्चतुर्थः समाप्तः ॥

चन्द्रिका ।

इदानीं फलभूतस्य कैवल्यस्यासाधारणं स्वरूपमाह पुरुषार्थेति । समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरु-षार्थानां गुणानां यः प्रतिप्रसवः प्रतिलोमपरिणामस्य समाप्तौ विकारानुद्भवो यदि वा चितिशक्तेर्वृत्ति-सारूप्यनिवृत्तौ स्वरूपमात्रेणावस्थानं तत् कैवल्यमुच्यते । न केवलमस्मद्दर्शने क्षेत्रज्ञः कैवल्यावस्था-यामेवंभूतो दर्शनान्तरेष्वपि विमृश्यमाण एवंरूप एवावतिष्ठते यस्माच्छास्त्रान्तरेऽप्येवमेव निश्चयस्तस्मा-दिदमेव युक्तं वृत्तिसारूप्यपरिहारेण स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तेः कैवल्यमिति । तदेवं सिद्ध्यन्तरेभ्यो वि-लक्षणा सर्वसिद्धिमूलभूता समाधिसिद्धिः सैव साधनीयेति ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थवृत्तिमालोच्य कृतेयं पदचन्द्रिका ।
अनन्तेनेश्वरप्रीत्यै चार्पिता शिवपादयोः ॥

इति योगचन्द्रिकायां चतुर्थः कैवल्यपादः ॥ ४ ॥

कल्याणमस्तु ॥

गुणानां परिणामक्रमसमाप्तौ किं कालिष्यतीत्यत्राह—पुरुषार्थेति ।

कृतभोगापवर्गाणां कार्यकारणात्मनां गुणानां प्रधाने प्रतिप्रसवः प्रलयः कैवल्यम् , चितिशक्तिः कूटस्थनित्या शुद्धासङ्गचित्स्वभावा शक्तिः स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्ध्यादिसम्बन्धविधुरा वा कैवल्यं भवती-त्यतिशोभनम् । इतिशब्दः शास्त्रपरिसमाप्तिद्योतनार्थः ॥ ६४ ॥

यत्कृपापोतमासाद्य समुत्तीर्णो भवार्णवात् ।
नमोऽस्तु तस्मै गुरवे स्वाविद्याध्वान्तभानवे ॥ १ ॥
क्वाहं क्व योगसरणिर्गहनार्था तथाप्यहम् ।
श्रीगुरोः कृपयाकार्षं वृत्तिं योगसुधाकरम् ॥ २ ॥
फणीन्द्रसूत्रग्रथिता महार्घमौक्तिकमालिका ।
समर्प्यते मया श्रीमद्गुरोश्चरणपङ्कजे ॥ ३ ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीपरमशिवेन्द्रसरस्वतीपादाब्जसेवापरायणेन
श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वत्या विरचितायां श्रीमत्पातञ्जलिप्रणीते यो-
गशास्त्रे सांख्यप्रवचनापरनामधेये योगसुधाकराभिधायां वृत्तौ

कैवल्यपादः समाप्तः ॥

समाप्तश्चेदं योगशास्त्रम् ॥

BED IV- PE 7

योग शिक्षा

Yoga Education

शिक्षक शिक्षा विभाग, शिक्षाशास्त्र विद्याशाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

राअशिप

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद की स्थापना संसद के अधिनियम (1993 का 73वां) के तहत हुई थी, जिसे देश भर में अध्यापक शिक्षा प्रणाली में मानकों और मानदंडों के नियमन और समुचित रखरखाव हेतु अध्यापक शिक्षा के नियोजित और समन्वित विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने का जनादेश प्राप्त है। राअशिप 17 अगस्त 1995 को अस्तित्व में आई थी।

राअशिप द्वारा मान्य कार्यक्रम

राअशिप ने निम्नलिखित अध्यापक शिक्षा कार्यक्रमों के लिए 28 नवम्बर, 2014 को संशोधित विनियमों और मानकों व मापदंडों को अधिसूचित किया था।

- पूर्व बाल शिक्षा कार्यक्रम में 2 वर्षीय डिप्लोमा, जिससे *विद्यालय पूर्व शिक्षा में डिप्लोमा* (डीपीएसई) प्राप्त किया जा सकता है।
- 2 वर्षीय प्रारंभिक अध्यापक शिक्षा कार्यक्रम, जिससे *प्रारंभिक शिक्षा में डिप्लोमा* (डी.एल.एड) प्राप्त किया जा सकता है।
- 4 वर्षीय प्रारंभिक अध्यापक शिक्षा स्नातक कार्यक्रम, जिसमें *प्रारंभिक शिक्षा में स्नातक* (बी.एल.एड) की उपाधि प्राप्त की जा सकती है।
- 2 वर्षीय स्नातक शिक्षा कार्यक्रम, जिसमें *शिक्षा स्नातक* की उपाधि प्राप्त की जा सकती है।
- 2 वर्षीय स्नातकोत्तर शिक्षा कार्यक्रम, जिसमें *शिक्षा में स्नातकोत्तर* की उपाधि प्राप्त की जा सकती है।
- 2 वर्षीय शारीरिक शिक्षा डिप्लोमा कार्यक्रम, जिसमें *शारीरिक शिक्षा में डिप्लोमा* (डी.पी.एड.) प्राप्त किया जा सकता है।
- 2 वर्षीय शारीरिक शिक्षा स्नातक कार्यक्रम, जिसमें *शारीरिक शिक्षा में स्नातक* (बी.पी.एड.) की उपाधि प्राप्त की जा सकती है।
- 2 वर्षीय शारीरिक शिक्षा स्नातकोत्तर कार्यक्रम, जिसमें *शारीरिक शिक्षा में स्नातकोत्तर* की उपाधि प्राप्त की जा सकती है।
- मुक्त व दूरस्थ शिक्षण प्रणाली के माध्यम से 2 वर्षीय प्रारंभिक शिक्षा डिप्लोमा कार्यक्रम, जिसमें *प्रारंभिक शिक्षा में डिप्लोमा* (डी.एल.एड.) की उपाधि प्राप्त की जा सकती है।
- मुक्त तथा दूरस्थ शिक्षण प्रणाली के माध्यम से 2 वर्षीय शिक्षा स्नातक कार्यक्रम, जिसमें *शिक्षा स्नातक* (बी.एड.) की उपाधि प्राप्त की जा सकती है।
- 2 वर्षीय कला–शिक्षा *डिप्लोमा* (दृश्य कला) कार्यक्रम, जिसमें *कला–शिक्षा* (दृश्य कला) में डिप्लोमा प्राप्त किया जा सकता है।
- 2 वर्षीय कला–शिक्षा *डिप्लोमा* (निष्पादन कला) कार्यक्रम, जिसमें *कला–शिक्षा* (निष्पादन कला) में डिप्लोमा प्राप्त किया जा सकता है।
- 4 वर्षीय एकीकृत कार्यक्रम जिसके फलस्वरूप *बीएड/बीएससी बीएड (एकीकृत) डिग्री* दी जाती है।
- 3 वर्षीय (अंशकालीन) शिक्षा स्नातक कार्यक्रम, जिसमें *शिक्षा स्नातक* (बी.एड.) की उपाधि प्राप्त की जा सकती है।
- 3 वर्षीय एकीकृत कार्यक्रम जिसके फलस्वरूप *बी.एड. एम.एड. (एकीकृत) डिग्री* दी जाती है।

गुरुर्गुरुतमो धाम
NCTE

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद
(भारत सरकार का एक विधिक निकाय)

योग शिक्षा
(शिक्षा स्नातक)

योग शिक्षा

(शिक्षा स्नातक–बी.एड.)

(आईएसबीएनः 978–81–931534–4–4)

विशेषज्ञ सलाहकार समिति

प्रो. एच.आर.नागेन्द्र, कुलाधिपति, एनवीवाईएएसए विश्वविद्यालय, बंगलौर *(अध्यक्ष)*

स्वामी आत्मप्रियानन्द, कुलपति, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूर, पश्चिम बंगाल

प्रो. जी.डी. शर्मा, विभागाध्यक्ष, योगविज्ञान विभाग, पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार

डॉ. स्वामी मंगलतीर्थम, बिहार योग विद्यापीठ, मुंगेर, बिहार

श्री ओ.पी. तिवारी, सचिव, कैवल्यधाम, लोनावाला, एसएमवाईएम समिति, पुणे

डॉ. ईश्वर वी. बसवारेड्डी, निदेशक, मोरारजी देसाई राष्ट्रीय योग संस्थान, नई दिल्ली

डॉ. राजवी एच. मेहता, मुख्य वैज्ञानिक, आयंगर योगाश्रय, लोवर परेल, मुम्बई

डॉ. चिन्मय पांड्या, उपकुलपति, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार

कार्यक्रम विकास

प्रो. संतोष पांडा, अध्यक्ष, राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद, नई दिल्ली *(परियोजना निदेशक)*

प्रो. बी.एस. डागर (सेवानिवृत्त), महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा *(परियोजना समन्वयक)*

लेखक

डॉ. आर.एस. भोगल, कैवल्य धाम, लोनावाला, एसएमवाईएम समिति, पुणे (इकाई 2–4)

सुश्री करूणा नागराजन, एस–व्यास विश्वविद्यालय, बैंगलोर (इकाई 1)

अनुवादकर्ता

श्री एम.डी. शर्मा, डब्ल्यु.जेड. 313बी, जी ब्लॉक, आशा पार्क, हरिनगर, नई दिल्ली (इकाई 1–3)

श्री नागेश्वरनाथ, ए–1 / 155, सैक्टर 16, रोहिणी, नई दिल्ली (इकाई 4)

सम्पादक

डॉ. ईश्वर वी. बसवारेड्डी, निदेशक, मोरारजी देसाई राष्ट्रीय योग संस्थान, नई दिल्ली

प्रो. बी.एस. डागर (सेवानिवृत्त), महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा

डॉ. साधना आर्य, अतिथि प्राध्यापक, एमडीएनआईवाई

सम्पादक हिंदी रूपांतरण

प्रो. बी.एस. डागर (सेवानिवृत्त), महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा

प्रो. सुधीकान्त भारद्वाज (सेवानिवृत्त), 28–29, जैन कॉलोनी पार्ट–2, उत्तम नगर, नई दिल्ली

कॉपी सम्पादन

प्रो. बी.एस. डागर (सेवानिवृत्त), महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा

मुद्रण उत्पादन (प्रिंट प्रोडक्शन)

डॉ. राकेश तोमर, अवर सचिव (शैक्षिक), राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद, नई दिल्ली

श्री पीयूष, मालवीय नगर, नई दिल्ली *(डिजाइनर)*

कार्यालयीन सहायता

श्रीमती कनिका ढ़िल्लों, निजी सहायक, राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद, नई दिल्ली

श्री अमरदीप शाही, डी.ई.ओ., राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद, नई दिल्ली

आईएसबीएनः 978–81–931534–4–4

*राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद की ओर से **श्री जुगलाल सिंह,** सदस्य सचिव, द्वारा प्रकाशित।*

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद के विषय में कोई अन्य सूचना राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद कार्यालय, हंस भवन, विंग–II, 1, बहादुरशाह जफर मार्ग, नई दिल्ली–110002 भारत से प्राप्त की जा सकती है। वेबसाइटः http://www.ncte-india.org.

आवरण सज्जाः **श्री के. विश्वनाथन**, नई दिल्ली

मुद्रणः सैंट जोसेफ प्रैस, नई दिल्ली
ई–मेलः stjpress@gmail.com
मूल्यः ₹ 400 / (विद्यार्थी संस्करणः ₹ 200 /)

विषय–सूची

प्राक्कथन

ऐसे अध्यापकों की भूमिका को जो परिवर्तन के प्रणेता के रूप में विवेक और सहिष्णुता को प्रोत्साहित करते हों और बच्चों की शैक्षिक गुणवत्ता में सुधार लाते हों, कदापि अतिशयोक्ति के रूप में नहीं देखा जा सकता है। इसके लिए ऐसे अध्यापकों की आवश्यकता है जो व्यावसायिक दृष्टिकोण से सक्षम होने के साथ–साथ समाज की आवश्यकताओं के प्रति उत्तरदायी और प्रतिसंवेदी हों, जो अभिप्रेरणा, समुपयुक्त ज्ञान और कौशल से ऊर्जस्वित हों और जो अपने जीवन एवं अन्य व्यक्तियों के प्रति सकारात्मक सोच को प्रदर्शित करते हों, ऐसे अध्यापक जिनके चरित्र में सत्यनिष्ठा एवं आध्यात्मिकता के वैयक्तिक गुण विद्यमान हों।

ऐसी स्थिति में सर्वाधिक आवश्यक यह सुनिश्चित करना होगा कि हमारे अध्यापकों व अध्यापक–प्रशिक्षकों के व्यक्तित्व और विशेषतः उनकी अभिवृत्तियां इस प्रकार रूपांतरित हो जाएं कि वे बच्चों व किशोरों के व्यक्तित्व व अभिवृत्तियों में अपेक्षित विकास करने में सहायक हो सकें; ऐसा विकास जो स्वस्थ व शांतिपूर्ण जीवन यापन को सुखद बना सकें और साथ ही साथ जब वे बड़े हों तो वे समाजिक व राष्ट्रीय विकास तथा वैश्विक सद्भाव के लिए अपना प्रभावी योगदान दे सकें। इसमें शिक्षकों के लिए क्षेत्र–विशिष्ट ज्ञान और अभिक्षमता के साथ साथ सामाजिक/जीवनोपयोगी कौशलों को विकसित किया जाना भी शामिल है। इन्हीं कारणों तथा इनसे संबंधित अन्य कारणों से ही राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् (एनसीटीई) ने अध्यापक शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर अध्यापक शिक्षा पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रमों में नए सिरे से बदलाव लाने का प्रयास किया है और देश के सभी अध्यापक शिक्षा कार्यक्रमों में योग शिक्षा को एक अनिवार्य अध्ययन क्षेत्र के रूप में शामिल किया गया है।

इस संबंध में राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् (एनसीटीई) की भूमिका स्वाभाविक रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि योग मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास में उत्कृष्टता प्रदान करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि से सत्यापित पद्धति है, और यह मानव की अधिकांश व्याधियों एवं आधियों को निर्मूल समाप्त करने में रामबाण औषधि सिद्ध हो सकता है। योग–विज्ञान की तकनीकों का यदि नियमित रूप से और भलीभांति अभ्यास किया जाए तो इससे तनाव और चिन्ता, आशंका और भय, परिताप और नैराश्य से मुक्ति मिल सकती है, अन्यथा यदि ये लंबे समय तक चलते रहें, तो इनसे विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं, जिनसे आज का मानव पीडित है। योग जीवन शैली के अन्य आध्यात्मिक आयाम भी हैं।

डी.एल.एड, बी.एड. और एम.एड. पाठ्यचर्याओं के लिए योग शिक्षा पर विकसित इन तीनों मॉड्यूलों का उद्देश्य समाज की इस बृहद् अपेक्षा की पूर्ति करना हैं कि अध्यापक–प्रशिक्षकों व अध्यापकों के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण व समेकित विकास हो, ताकि वे क्रमशः बच्चों के समेकित व सर्वांगीण विकास को प्रभावित करने में अपना योगदान दे सकें।

मैं, एनसीटीई की ओर से विशेषज्ञ सलाहकार समिति (और विशेष रूप से प्रो. एच.आर. नागेन्द्र – समिति के अध्यक्ष), लेखक, संपादक, इस कार्य से सहयोजित अन्य अधिकारी/कर्मचारीगण, प्रो. भीम सिंह डागर (इस परियोजना के समन्वयक) और श्री जुगलाल सिंह, सदस्य सचिव, एनसीटीई के प्रति धन्यवाद प्रकट करता हूं जिन्होंने इस लक्ष्य को समय पर पूरा किया है।

नई दिल्ली
दिसम्बर 15, 2015

संतोष पांडा
अध्यक्ष
राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद,
नई दिल्ली

आमुख

अध्यापकों की शिक्षा विद्यार्थियों को दी जानेवाली शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अध्यापक विद्यार्थियों में सकारात्मक अभिवृत्ति विकसित करने, उनमें जिज्ञासा की वृद्धि करने, उनकी सृजनात्मक क्षमता को जाग्रत करने, विवेक और सहिष्णुता को बढ़ावा देने, बालकों को अपने स्वयं के साथ साथ वे जिस परिवेश व वातावरण में रहते हैं उसकी सूझबूझ रखने में सहायता प्रदान करने और अन्त में उनमें नैतिक चेतना, संवेदनशीलता और समाज की आवश्यकता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना विकसित करने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। इसलिए ठीक ही कहा जाता है कि कोई भी राष्ट्र अपने शिक्षक के स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता है। लेकिन विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इन सभी योग्यताओं को कक्षा में अन्तरित किया जाता है?

आज देश में अध्यापकों को तैयार करने वाली संस्थाओं की वस्तुस्थिति उपर्युक्त आदर्श स्थिति से बिल्कुल इतर और दुःखद एवं नैराश्यपूर्ण है। राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा पाठ्यचर्या ढांचा (नेशनल अध्यापक शिक्षा करिकुलम फ्रेमवर्क, 2009) में स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया गया है कि घटिया स्तर की निजी अध्यापक शिक्षा संस्थाएं कुकुरमुत्ते की तरह फैल रही हैं जिनसे राष्ट्रीय पाठ्यचर्या ढांचा (2005) और निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार (2009) के उद्देश्यों की पूर्ति करने के मार्ग में गंभीर खतरा उत्पन्न होता दिखाई दे रहा है। ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य हो जाता है कि उन संघटकों को शामिल करने के लिए जिनसे अध्यापक के व्यक्तित्व का समग्र विकास सुनिश्चित हो सके, विभिन्न स्तरों पर अध्यापक शिक्षा कार्यक्रमों की पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रमों में नए सिरे से बदलाव लाया जाए।

मुझे यह उल्लेख करते हुए अति प्रसन्नता हो रही है कि कुछ समय पहले ही राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद् ने अध्यापक शिक्षा को एक नया रूप प्रदान करने के लिए नए विनियम, 2014, विभिन्न संशोधित प्रतिमान और मानक लागू कर एक बहुत ही साहसिक, समुपयुक्त, और पारदर्शी कदम उठाया है। इन संशोधित विनियमों के अन्तर्गत, सभी अध्यापक शिक्षा कार्यक्रमों के पाठ्यचर्या ढांचे तथा पाठ्यक्रमों में अपेक्षित परिवर्तन लाए गए है। यह बड़े ही संतोष की बात है कि योग शिक्षा को सभी, 18,000 से अधिक अध्यापक शिक्षा संस्थाओं, जिनमें 3 लाख से अधिक शिक्षक प्रशिक्षक कार्यरत हैं और जहां 14 लाख से अधिक भावी अध्यापकों को प्रशिक्षित किया जाता है, एक अनिवार्य रूप से लागू किया गया है। ऐसा पहली बार हुआ है कि देश में सभी अध्यापक–प्रशिक्षकों, और प्रशिक्षुओं के लिए योग शिक्षा को राष्ट्रीय स्तर पर अनिवार्य बनाया गया है। एनसीटीई और उन सभी व्यक्तियों को जो इस कार्य को निरंतर आगे बढ़ाते रहे हैं, विशेष रूप से अध्यक्ष प्रो. पांडा को मैं हार्दिक बधाई देता हूं। एनसीटीई द्वारा मान्यता प्राप्त सभी 15 अध्यापक शिक्षा कार्यक्रमों के लिए योग शिक्षा से संबंधित विस्तृत पाठ्यक्रम और अधिगम मॉड्यूल बनाने के लिए गठित एनसीटीई की **विशेषज्ञ सलाहकार समिति** की अध्यक्षता करते हुए भी मुझे हर्ष हो रहा है।

योग अधिगम का एकमात्र क्षेत्र है जिसमें मानव के व्यक्तित्व के समग्र विकास को संपन्न करने की क्षमता है। योग की जडें भारतीय संस्कृति और परंपराओं में स्थापित हैं और यह किसी अन्य शैक्षणिक अनुशासन की भांति ही वैज्ञानिक विधि और विषय वस्तु पर आधारित है। इसके दावे भौतिकी या आयुर्विज्ञान की ही तरह सत्यापनीय व प्रामाणिक हैं। उपर्युक्त के दृष्टिगत, एनसीटीई ने ऐसी अधिगम सामग्रियों को विकसित करने का विचार किया है, जो सर्वाधिक प्रामाणिक और पंथनिरपेक्ष हो तथा किसी भी साम्प्रदायिक पूर्वग्रह से सर्वथा परे हो। इन मॉड्यूलों में सम्मिलित सामग्री पंथनिरपेक्षवाद और लोकतंत्र के मानदंडों को पूरा करती है और अधिकांश मामलों में इनकी शोध आधारित प्रामाणिकता है। इन अध्ययन सामग्रियों को देश के विभिन्न भागों से और विभिन्न योग विचार मंचों से योग शिक्षा के सुविख्यात विद्वज्जनों से मिलकर बनी विशेषज्ञ सलाहकार समिति के मार्गदर्शन में तैयार किया गया है।

प्रत्येक मॉड्यूल को विभिन्न अध्ययन–इकाइयों में विभक्त किया गया है जिनसे मुख्य विचार को सैद्धांतिक आधार मिलता है।

प्रत्येक मॉड्यूल की अंतिम इकाई अभ्यास पर आधारित है। अंतिम इकाई जिसे ''प्रायोगिक अनुदेशन'' की संज्ञा दी गई है, में आसन, प्राणायाम, बंध, मुद्रा या क्रिया (षट् कर्म) को मुद्राओं के ग्राफिक्स या चित्र के माध्यम से क्रमबद्ध रूप से चरण वार बताया गया है। संबंधित योगाभ्यास की प्रक्रियाओं के साथ–साथ सावधानी या विशेष अनुदेश, यदि कोई हो, का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है ताकि साधक, किसी

कुशल अभ्यासकर्ता के मार्गदर्शन में स्वयं भी योगाभ्यास कर सके। अपेक्षित होने पर विधि और निषेध भी दिया गया है।

इस विषय सामग्री को स्व–अधिगम रूप में प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि योग शिक्षकों से यह अपेक्षा नहीं की जाती है कि वे सदैव, विशेष रूप से प्रातःकाल और संध्या समय, जो योग की तकनीक के अभ्यास हेतु सर्वाधिक उपयुक्त समय है, उपलब्ध रहें।

अध्ययन की प्रत्येक इकाई उसकी प्रस्तावना से आरंभ होती है। उसके बाद विषय वस्तु के प्रस्तुतीकरण से पूर्व इसके अधिगम उद्देश्यों को प्रेक्षणीय अथवा परीक्षणीय रूप से दर्शाया गया है। तत्पश्चात् आभ्यंतरिक अभ्यास/क्रियाकलाप हैं जिनसे योग की तकनीक को सुगमता से समझने में सहायता मिलती है। मॉड्यूल के अन्त में प्रत्येक क्रियाकलाप के लिए कुछ सांकेतिक उत्तर दिए गए हैं। प्रत्येक इकाई के लिए जिज्ञासा का भाव उत्पन्न करने और उस पर चिन्तन करने के लिए कुछ विचारणीय प्रश्न दिए गए हैं। किसी भी इकाई के संक्षिप्त दर्शन हेतु प्रत्येक इकाई के अंत में इकाई का सार संक्षेप दिया गया है।

प्रायोगिक अनुदेशन संबंधी इकाई में सामान्य दिशानिर्देश दिए गए हैं, साथ ही उन मार्गदर्शी सिद्धांतों पर विशेष बल दिया गया है, जो उस मुद्रा विशेष से संबंधित है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इन मॉड्यूलों के अध्ययन के पश्चात् अध्यापक–प्रशिक्षकगण और भावी अध्यापकों के व्यक्तित्व में अवगम्य बदलाव परिलक्षित होगा। इसके फलस्वरुप वे अधिक सुखी व स्वस्थ व्यक्ति बन सकेंगे तथा पूर्ण विश्वास के साथ और बहुत ही प्रभावी ढंग से अध्यापन व अधिगम का कार्य निष्पादित कर पाएंगे। अध्यापक–प्रशिक्षकों के साथ साथ कक्षा में प्रविष्ट होने वाले प्रशिक्षुगण भी अपने स्वयं के जीवन में योग शिक्षा का वरण कर इसका अभ्यास कर पाएंगे, व साथ ही अपने विद्यार्थियों के लिए योगाभ्यास की प्रक्रिया को सहज रूप से प्रस्तुत करने में सक्षम होंगे।

आइए, हम सभी एक जुट होकर योग शिक्षा को राष्ट्रीय स्तर पर सफल बनाएं।

नई दिल्ली
दिसम्बर 15, 2015

एच.आर. नागेन्द्र
विशेषज्ञ सलाहकार समिति के अध्यक्ष
कुलाधिपति, स्वामी विवेकानंद योग
अनुसंधान संस्थान विश्वविद्यालय,
बैंगलोर

आभारोक्ति

डी.एल.एड., बी.एड., और एम.एड. कार्यक्रमों के लिए योग मॉड्यूल तैयार किया जाना दूरूह कार्य रहा है यद्यपि इस कार्य से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने अपने सुन्दर और अपार अनुभव से इसे अप्रतिम बनाने के लिए अपना बृहत्तर योगदान दिया है। डी.एल.एड के लिए इस मॉड्यूल को तैयार करने के पश्चात् हम गुरुजी प्रो. एच.आर नागेन्द्र, कुलाधिपति, स्वामी विवेकानन्द योग अनुसंधान संस्थान विश्वविद्यालय, बेंगलूरु और विशेषज्ञ सलाहकार समिति के अन्य सदस्य यथा स्वामी (डा.) आत्मप्रियानंद, कुलपति, रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय, बेलूरमठ; स्वामी (डा.) मंगलतीर्थम, पूर्व में बिहार योग विद्यालय, मुंगेर से सहयोजित; श्री ओ.पी. तिवारी, सचिव, कैवल्यधाम, लोनावला, पुणे; डा. ईश्वर वी. बसवा रेड्डी, निदेशक, मोरारजी देसाई, राष्ट्रीय योग संस्थान, नई दिल्ली; डा. राजवी मेहता, मुख्य वैज्ञानिक, आयंगर योगाश्रम, मुम्बई; डा. चिन्मय पांड्या, उप–कुलपति, देव संस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार; प्रो. जी.डी. शर्मा, विभागाध्यक्ष, योग विभाग, पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार के प्रति गहरा आभार व्यक्त करना चाहते हैं। इन मॉड्यूलों को तैयार करने में अपनाई जाने वाली प्रक्रिया के बारे में सुझाव देने और विस्तृत पाठ्यचर्या तैयार करने में सलाहकार समिति वस्तुतः एक प्रेरणास्रोत की भूमिका में रही, इससे समुपयुक्त मार्गदर्शन मिलता रहा।

इस मॉड्यूल की रचना का श्रेय डॉ. आर.एस. भोगल (केवल्यधाम लोनावला) और सुश्री करुणा नागराजन (स्वामी विवेकानंद योग अनुसंधान संस्थान विश्वविद्यालय, बैंगलोर) को जाता है। इन दोनों को हमारा विशेष धन्यवाद है। इन दोनों ने इन मॉड्यूलों को तैयार करने में दिन रात परिश्रम किया है। इसके अलावा सम्पादक डॉ. ईश्वर वी. बसवारेड्डी को विशेष धन्यवाद जिन्होंने इस कार्य को अंतिम रूप से तैयार करने हेतु हर प्रकार की सहायता और मार्गदर्शन दिया है।

एनसीटीई मोरारजी देसाई राष्ट्रीय योग संस्थान (एनडीएनआईवाई) नई दिल्ली के प्रति विशेष रूप से हार्दिक आभार प्रकट करती है चूंकि उन्होंने इस मॉड्यूल में प्रयोग हेतु वास्तविक चित्रों की प्रतियां, जिनमें विभिन्न योगाभ्यासों की मुद्रा दर्शाई गई है, हमें उपलब्ध कराई। इस कार्य के लिए हमारे पास शब्द नहीं है कि हम इस संस्थान के प्रति विशेष रूप से संस्थान के निदेशक डा. बसवा रेड्डी के प्रति कैसे आभार प्रकट करें। संस्थान के निदेशक ने पूरी प्रक्रिया में राष्ट्र हित, महत्त्व और उपयोगिता वाले इस उद्यम में सदैव हमारा यथोचित मार्गदर्शन किया है।

हम डा. राकेश तोमर, अवर सचिव (शैक्षणिक), जिन्होंने इस मॉड्यूल को तैयार करने के लिए अपेक्षित प्रशासनिक कार्य में विभिन्न तरीके से सहायता प्रदान की, के प्रति भी आभारी हैं। एनसीटीई श्री के. विश्वनाथन ग्राफिक आर्टिस्ट के प्रति भी कृतज्ञता अर्पित करती है, जिन्होंने बहुत सांकेतिक और सृजनात्मक रूप में आवरण पृष्ठ तैयार किया है जिससे इस मॉड्यूल के स्वरूप में निखार आया है।

विशेषरूप से श्री अमित कुमार के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हैं जिन्होंने पृष्ठ विन्यास और मॉड्यूल की संरचना में अपने कौशल का उत्कृष्ट प्रदर्शन किया है। सुश्री कनिका ढ़िल्लों और श्री अमरदीप शाही के प्रति भी हम धन्यवाद और आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने सभी प्रकार की सचिवालयी और प्रशासनिक सहायता प्रदान की जिसके बिना इतने कम समय में इस कार्य को संभवतः पूरा नहीं किया जा सकता था।

अध्यक्ष और अपनी ओर से, प्रो. बी.एस. डागर का विशेष धन्यवाद जिन्होंने अकेले ही सभी मॉड्यूल को तैयार किए जाने में संचालक व मार्गदर्शक की भूमिका निभाते हुए चेयरपर्सन के परामर्श से सम्पूर्ण कार्य का बहुत ही बारीकी से अध्ययन किया है और विशेषज्ञ सलाहकार समूह, लेखक, संपादक डिजाइनर और मुद्रक के बीच सुन्दर समन्वय स्थापित करते हुए इस भागीरथ कार्य को सम्पन्न किया है। उन्होंने कार्य में अपनी कर्मनिष्ठा और विशेषज्ञता के द्वारा इस सामग्री को ग्राह्य एवं उपयोगी बनाकर महान् कार्य किया है। इसके लिए वे विशेष साधुवाद के पात्र हैं।

एनसीटीई की ओर से और स्वयं मेरी ओर से, प्रो. संतोष पांडा, अध्यक्ष, एमसीटीई के प्रति हमारा आभार जिन्होंने इस कार्य के समापन सहित एनसीटीई में बहुत से सुधारों और अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यकलाप में अपना अप्रतिम योगदान दिया है और जो सच्चे अर्थ में हमारे प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

नई दिल्ली
दिसम्बर 15, 2015

जुगलाल सिंह
सदस्य सचिव,
राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद,
नई दिल्ली

मॉड्यूल के संबंध में

योग शिक्षा संबंधी इस मॉड्यूल में आपका स्वागत है, आपके बी.एड. पाठ्यचर्या का यह एक विशेष घटक है और इसे समस्त अध्यापक शिक्षा पाठ्यचर्याओं में एक आवश्यक घटक के रूप में पहली बार शामिल किया जा रहा है। जैसा कि आप जानते हैं कि योग का मूल प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता में विद्यमान है और जिसका उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्यक विकास रहा है। इसका प्रभाव व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों और पहलुओं पर – चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा सामाजिक, भावनात्मक, बौद्धिक, मानसिक, व्यवहार संबंधी और स्पष्ट रूप से कहा जाए तो नैतिक और आध्यात्मिक सभी पक्षों पर पड़ता है। योग का अभ्यास यदि नियमित रूप से और व्यवस्थित रूप से किया जाए तो निश्चित ही व्यक्ति का रूपांतरण एक सक्रिय व्यक्तित्व के रूप में हो जाता है, जो ऊर्जा और उत्साह से भरपूर होता है। इससे आपको शान्ति, संतुष्टि, प्रशान्ति, आत्मनियंत्रण, रोगों की प्रतिकारक क्षमता प्राप्त होती है और समग्र स्वास्थ्य विकसित होता है, स्मरण शक्ति तीव्र होती है, एकाग्रता बढ़ती है और मन रचनात्मक या सृजनात्मक हो जाता है।

यही कारण है कि अध्यापक और अध्यापक शिक्षकों को योग के क्षेत्र में पहल करने की आवश्यकता है जो आज विश्व भर में एक जीवन पद्धति के रूप में मान्य तथा स्वीकार्य है और सर्वत्र उसका अभ्यास किया जाता है।

दूसरी बात यह है कि यह सत्य पर आधारित है और योग के संदेश को प्रसारित करने और इसे एक जन आंदोलन के रूप में तैयार करने हेतु अध्यापकों से बढ़कर कोई एजेंसी नहीं हो सकती और अध्यापक ही सबसे प्रभावशाली होता है इसलिए अध्यापक शिक्षा में योग को शामिल करना आवश्यक है।

इसलिए योग शिक्षा के शैक्षिक महत्त्व की दृष्टि से बी.एड. कार्यक्रम से संबंधित योग शिक्षा को दो क्रैडिटों की भारिता दी गई है जो एक आधे पाठ्यक्रम के समकक्ष है। तत्पश्चात् इसे बराबर महत्त्व देकर सैद्धांतिक घटक और प्रायोगिक अनुदेशन के रूप में विभाजित किया गया है। क्योंकि प्रायोगिक अनुदेशन के लिए अधिक अध्ययन और अभ्यास समय की आवश्यकता है इसलिए इस पाठ्यक्रम को दिए गए कुल 48 अध्ययन घंटों में 16 घंटे सिद्धांत के लिए तथा 32 प्रायोगिक अनुदेशन के लिए निर्धारित किए हैं। प्रायोगिक पक्ष में जो समय दिया जाता है वह यौगिक क्रियाओं के अभ्यास के लिए है, जैसे आसन, प्राणायाम, बंध, मुद्राएं। इसमें अन्य संबंधित अथवा प्रायोगिक गतिविधियों को करने के लिए भी समय दिया गया है जैसा कि इस पाठ्यसामग्री में उल्लेख किया गया है।

इस मॉड्यूल में कुल चार इकाइयां हैं (तीन सैद्धान्तिक और एक प्रायोगिक अनुदेशन)। इन चार इकाईयों को निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है:

मॉड्यूल उद्देश्य

इस मॉड्यूल को पढ़कर आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- प्राचीन युग से लेकर योग के विकास के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन कर सकेंगे।
- विवेचना कर सकेंगे कि योग और योगाभ्यास स्वस्थ जीवन के लिए किस प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं।
- योग के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- अष्टांग योग के विभिन्न भागों का वर्णन कर सकेंगे।
- विभिन्न प्रकार के योग का वर्णन कर सकेंगे।
- हठ योग और अष्टांग योग किस प्रकार एक दूसरे के संपूरक हैं, स्पष्ट कर सकेंगे।
- षट्कर्म के नाम बता सकेंगे तथा शरीर और मन की स्वच्छता में इनका उपयोग कैसे होता है, स्पष्ट कर सकेंगे।
- प्रमुख आसनों और प्राणायाम क्रियाओं को निदर्शित कर सकेंगे।

- स्पष्ट कर सकेंगे कि योगाभ्यास स्वास्थ्य के लिए इतना आवश्यक क्यों है और किस प्रकार।
- विवेचना कर सकेंगे कि स्वस्थ रहने के लिए किस प्रकार की अभिवृत्ति और आहार आवश्यक है।

उपर्युक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अध्ययन संबंधी निम्नलिखित इकाइयों को शामिल किया गया है।

इकाई 1

इस मॉड्यूल की प्रथम इकाई को "योग और योगाभ्यास का परिचय" नाम दिया गया है। इस इकाई में योग की धारणाओं और सिद्धान्तों को आध्यात्मिक विकास संबंधी विज्ञान के रूप में निदर्शित किया गया है। इसमें योग के दो प्रमुख संप्रदाय हैंः पतंजलि योग और हठ योग। इस इकाई में पांच प्राणिक घटकों पर विचार–विमर्श किया गया है जो मनुष्य के शरीर संबंधी क्रियात्मक पहलुओं के संचालन के लिए अनिवार्य हैं जैसे प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। इसके अलावा इस इकाई में योग क्रियाओं की प्राचीन पद्धति पर भी विचार किया गया है जिसमें अष्टांग योग तथा हठ योग संबंधी क्रियाएं हैं जैसे आसन, प्राणायाम, षट्कर्म, मुद्राएं और बंध।

इकाई 2

दूसरी इकाई का शीर्षक "योग ग्रंथो का परिचय" है, जिसमें पतंजलि और हठ योग के व्यापक और प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने में सहायक यौगिक ग्रंथो के बारे में बताया गया है। अष्टांग योग के बारे में पतंजलि योग सूत्र नामक एक प्राचीन संहिता है जिसके चार पाद हैं – समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद तथा कैवल्य पाद। इस इकाई में पतंजलि के विचारों को बताया गया है जैसे पतंजलि का क्रिया योग। हठयौगिक सामग्री के बारे में इस इकाई में हठ प्रदीपिका, जो स्वामी स्वात्माराम द्वारा रचित ग्रंथ है, का संक्षिप्त विवरण दिया गया है, जिसके अंतर्गत बहुत सी हठयौगिक क्रियाएं सम्मिलित हैं। स्वात्माराम द्वारा दी गई यौगिक क्रियाओं के क्रम में आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसंधान शामिल हैं। इसके अलावा हठ योग से संबंधित अन्य ग्रंथ भी हैं जैसे घेरंड संहिता जिसमें अलग–अलग प्रकृति की 100 से अधिक यौगिक क्रियाएं हैं। इसमें विशेष रूप से शुद्धि (षट्कर्म) पर जोर दिया गया है।

इकाई 3

''योग और स्वास्थ्य'' नामक इस इकाई का उद्देश्य स्वास्थ्य और योग के संबंध को स्पष्ट करना है। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा पारिभाषित स्वास्थ्य संबंधी आधुनिक अवधारणा को स्पष्ट करने के बाद इकाई में यह बताया गया है कि योग स्वास्थ्य की देखभाल करने के मामले में कितना निवारक या रोधक कार्य कर सकता है तथा यदि योग की क्रियाओं को उचित रूप से और नियमित रूप से किया जाए तो इससे स्वास्थ्य, प्रसन्नता, सुख और शांति लाई जा सकती है। इस संदर्भ में इकाई के अंतर्गत पंचकोष की अवधारणा तथा सकारात्मक स्वास्थ्य प्राप्त करने में इसकी भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। इकाई में समग्र स्वास्थ्य सुनिश्चित करने में योग की भूमिका क्या हो सकती है, इसको भी बताया गया है।

इकाई 4

इकाई 4 प्रायोगिक अनुदेशन से संबंधित है। योग का उद्देश्य तब तक नहीं प्राप्त किया जा सकता है जब तक योग की विभिन्न क्रियाएं जैसे आसन, प्राणायाम, शुद्धि क्रियाएं, बंध क्रियाएं आदि को प्रायोगिक रूप से न किया जाए। इस उद्देश्य की दृष्टि से विभिन्न यौगिक क्रियाओं को क्रमबद्ध रूप से स्पष्ट किया गया है ताकि अभ्यासकर्ता (साधक) विधियों को पूर्ण रूप से सीख सके, इसमें जो सावधानियां होनी चाहिए, उन्हें क्रियाओं को करने से पहले देख लें। योगाभ्यासों की प्रत्येक क्रिया को स्पष्ट रूप से पारिभाषित किया गया है। इस इकाई में सामान्य दिशानिर्देश भी प्रस्तुत किए गए है जैसे विधि और निषेध आदि। क्रियाओं की पद्धति के बारे में और अधिक स्पष्टीकरण सुनिश्चित करने के लिए क्रमशः चित्रों को रखा गया है जिनमें विभिन्न प्रकार के आसन–मुद्राओं को शामिल किया गया है और उनसे संबंधित दिशा–निर्देश भी बताए गए हैं जो क्रियाओं/तकनीकों से संबंधित हैं।

इकाई 1: योग और योगाभ्यास का परिचय

संरचना

1.1 प्रस्तावना

इस तथ्य के बावजूद कि मनुष्य का तद्रूप स्वभाव आनंदमय होता है, तथापि प्रायः व्यक्ति अपने इस मूल स्वभाव से इतने भटक जाते हैं कि वे अपनी पहचान अपने मन, शरीर और पदार्थिक वस्तुओं के साथ कर लेते हैं। वे मौलिक सत्य की अवहेलना करते हैं और इस प्रकार इस अवास्तविक पहचान से हम स्वयं को अपूर्ण, सीमित, दुःखद और असहाय महसूस करते हैं। योग से लोगों को इस अज्ञान से दूर होने का मार्ग मिलता है और वे अपने वास्तविक दिव्य आत्मतत्त्व के प्रति सजग होने लगते हैं। इसका उद्देश्य किसी व्यक्ति को उन अपूर्णताओं से मुक्त कराना और उन्हें उच्चतम वैश्विक आत्मतत्त्व से मिलना है।

योग से मनुष्य को उसके पशुत्व से मुक्त करके पूर्णता की बुलन्दियों तक ले जाने की तकनीकें ही नहीं मिलती, बल्कि जीवन का मार्ग भी इससे प्रशस्त होता है। योग जीवन का वह पथ है, जिसमें शांति, प्रशांति, सामंजस्य और स्वास्थ्य, प्रेम और आनन्द, परिशुद्धता और सक्षमता निहित होती है। इस प्रकार के आनन्दमय जीवन के लिए यह प्रेरणा किसी मनुष्य रूपी जीव का अविवेकी प्रयास नहीं है। यह प्रेरणा

विवेक सम्मत, प्रसन्नता और सामंजस्य की सही समझ है तथा प्रसन्नता बढ़ाने की अनुकूल मानक प्रणाली का एक व्यावहारिक पहलू है। यह प्रेरणा और मानदण्ड प्राकृतिक नियम द्वारा निर्धारित हैं।

1.2 अधिगम उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- व्याख्या कर सकेंगे कि योग शिक्षा व्यक्ति के जीवन के लिए क्यों महत्त्वपूर्ण है।
- पतंजलि के अनुसार योग को पारिभाषित कर सकेंगे;
- योग के विषय में कुछ भ्रांतियों की पहचान कर सकेंगे;
- युग—युगांतर से योग के विकास के बारे में पता लगा सकेंगे;
- राजयोग और हठयोग के मध्य अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे;
- पाँच यमों और पाँच नियमों की सूची बनाकर उन्हें स्पष्ट कर सकेंगे;
- आसन, प्राणायाम और क्रियाओं सहित कम से कम छः यौगिक क्रियाओं का नाम बताकर उनका अभ्यास कर सकेंगे; और
- स्वस्थ जीवन—यापन में उपयोगी, विभिन्न यौगिक क्रियाओं का वर्गीकरण कर सकेंगे।

1.3 योगः अर्थ तथा सूत्रपात

योग शब्द संस्कृत की मूल क्रिया (युज्) से बना है, युज का अर्थ है जोड़ना (युज्यते अनेन इति योगः)। योग जोड़ने (सम्बद्ध करने) का कार्य करता है। वे कौन से तत्त्व हैं जो सम्बद्ध होते हैं? पारंपरिक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि इसमें व्यष्टि स्वत्व का समष्टि स्वत्व के साथ मेल है, अर्थात् यह एक अहंकारपूर्ण व्यक्तित्व का एक सर्वव्यापक, शाश्वत और यथार्थ की आनन्दमय अवस्था के रूप में विस्तार है।

पतंजलि का योग दर्शन भारतीय छः दर्शनों में से एक दर्शन है। पतंजलि एक महान ऋषि थे, जिन्होंने लगभग 4000 वर्ष पूर्व (जैसाकि कुछ प्रसिद्ध पाश्चात्य इतिहासकारों ने बताया) योग की आवश्यक विशेषताओं और सिद्धान्तों (जो पहले योग उपनिषदों के रूप में थे) को 'सूत्रों' के रूप में संकलित किया जो योग के क्षेत्र में यह एक महान् योगदान है। पतंजलि के अनुसार योग मन पर विजय प्राप्त करने की एक चैतन्य प्रक्रिया है।

भगवद्गीता और उपनिषदों में वर्णित योग का क्षेत्र काफी व्यापक है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है 'यह (योग) किसी के कायिक अस्तित्व के विकास को किसी एकल जीवन अथवा कुछ महीनों या थोड़े से घंटों में संपीडित करने का एक साधन है।' साधारणतया समस्त सृजन में प्रकृति से अन्योन्य क्रियाओं के कारण विकास की प्रक्रिया चलती है। किन्तु इस प्राकृतिक विकास में हजारों और लाखों वर्ष लग सकते हैं, पशुओं में यह लम्बी और जटिल प्रक्रिया होती है। मनुष्य को विवेक शक्ति, चैतन्य, सोचने—विचारने का संकाय, मन (बुद्धि) और समुचित रूप से विकसित स्वैच्छिक नियंत्रण प्रणालियां उपलब्ध हैं, जो इस विकास (वृद्धि) में तीव्रता ला सकती हैं। योग वह व्यवस्थित चैतन्य प्रक्रिया है, जिससे मनुष्य के विकास की प्रक्रिया बहुत कम समय में पूरी की जा सकती है।

श्री अरविन्दो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक स्तरों पर चहुँमुखी व्यक्तित्व के विकास पर जोर देते हैं। योग से उनका तात्पर्य हैः व्यक्ति में अव्यक्त क्षमताओं के विकास द्वारा आत्म—पूर्णता की ओर एक व्यवस्थित प्रयास। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे कमियां और अपूर्णताएं दूर हो जाती हैं और व्यक्ति एक महामानव के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। इस प्रकार योग किसी व्यक्ति की उसके विकास को पूर्णता तक पहुँचाने की एक क्रमबद्ध प्रक्रिया है। इस विकास से व्यक्ति चेतना के

उच्च स्तर पर जीना सीख जाता है। इस प्रकार योग व्यक्तित्व के चहुँमुखी विकास और वृद्धि तथा मानसिक संवर्धन की कुंजी है।

1.3.1 योग की परिभाषा

योग – मन पर विजय प्राप्त करना

जैसा कि पहले बताया गया है कि पतंजलि ने अपने द्वितीय सूत्र में योग को **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध'**: (योग सूत्र : 1.2) के रूप में पारिभाषित किया है। योग मन को नियंत्रित करने की प्रक्रिया है। नियंत्रण में दो पहलू होते हैं– किसी वांछित विषय अथवा वस्तु पर ध्यान को एकाग्र करने की शक्ति और लम्बे समय तक शांत रहने की क्षमता। पहले पहलू, यानी एकाग्रता को हम विकसित कर रहे हैं किन्तु मनुष्य की दूसरी क्षमता मौन और शांत रहने का कार्य कभी–कभी ही हो पाता है। इसलिए योग में इस दूसरे पहलू पर मुख्य रूप से जोर दिया गया है। '**योग वासिष्ठ**', जो योग पर सर्वोत्तम ग्रन्थ हैः **"मनः प्रशमनोपायः योगः इत्यभिधीयते"** – योग मन को शान्त करने का एक कुशल उपाय है। यह मन में उठने वाले विचारों/भावनाओं को रोकने की एक कठोर, यांत्रिक या स्थूल प्रक्रिया नहीं, बल्कि कुशल व सूक्ष्म प्रक्रिया है। योग मन पर नियंत्रण स्थापित करने का एक कौशलपूर्ण विज्ञान है। यह पूर्णता की अंतिम स्थिति तक पहुंचने की एक प्रक्रिया अथवा एक तकनीक के रूप में विख्यात है। किन्तु योग को उच्च शक्ति और क्षमताओं की स्थितियों के रूप में भी पारिभाषित किया गया है और इसे मौन की अंतिम स्थिति के रूप में भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त योग को समस्त रचनात्मक कार्यों की शक्ति के रूप में भी वर्णित किया गया है और स्वयं में यह एक सृजन भी है। अब हम देखेंगे कि इसे विभिन्न योग व उपनिषदीय ग्रंथों में एक स्थिति और शक्ति के रूप में भी निरूपित किया गया।

एक अकुशल व्यक्ति यदि दूरदर्शन सेट की मरम्मत करने का प्रयत्न करता है तो लगभग यह माना जाएगा कि वह इसे बरबाद कर देगा, जबकि एक अनुभवी और कार्यकुशल व्यक्ति पूर्ण रूप से जानता है कि इसमें क्या खराबी है और इसकी मरम्मत किस प्रकार करनी है। वह इसकी उचित रूप से मरम्मत करता है। इसीलिए जानकारी का होना अनिवार्य है।

कार्य रूप में परिणत करने में योग एक विशेष कौशल है, जिससे मन एक स्थिर अवस्था में पहुंच जाता हैः **"योगः कर्मसु कौशलम्"** (गीता 2.50)। योग कर्म में दक्षता है। दक्षता विश्राम और सजगता को कर्म में कायम रखने की होती है। इस प्रकार योग मन पर नियंत्रण स्थापित करने का एक कौशलपूर्ण विज्ञान है। योग लोकप्रिय रूप से पूर्णता की अंतिम स्थिति तक पहुंचने की एक प्रक्रिया अथवा एक तकनीक के रूप में विख्यात है किन्तु योग को उच्च शक्तियों और क्षमताओं की अवस्थाओं के रूप में भी पारिभाषित किया गया है और इसे **मौन** की अंतिम स्थिति के रूप में भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त योग को समस्त रचनात्मक कार्यों की शक्ति के रूप में भी वर्णित किया गया है और स्वयं में यह एक सृजन भी है। अब हम देखेंगे कि इसे विभिन्न योग व उपनिषदीय ग्रंथों में एक स्थिति और शक्ति के रूप में भी निरूपित किया गया।

योग – एक स्थिति

योग के द्वारा व्यक्ति चेतना के उच्च स्तरों में कूद जाता है और वह इन स्थितियों में बने रहने और इनके अनुरूप क्रिया करने में समर्थ हो जाता है। योग प्रायः हमारे मन की सूक्ष्म कारणात्मक पर्तों से संबन्ध स्थापित करता है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। (गीता 2.48)

हे! धनंजय सफलता या असफलता में समान भाव रखते हुए आसक्ति को त्याग कर योग में स्थिर होकर कर्म करते रहो।

समान भाव रखना ही योग है।

इस प्रकार, मन की वह सूक्ष्म अवस्था जो स्थिरता द्वारा परिलक्षित होती है, योगावस्था कहलाती है। भावना के स्तर पर योग व्यापक रूप से स्थिरता की एक स्थिति होती है, जिसमें मानसिक स्तर पर ध्यान की एकाग्रता और अनासक्ति उत्पन्न होती है तथा शारीरिक स्तर पर स्थिरता प्राप्त होती है। इसमें शरीर और मन का समन्वय स्थापित होने के कारण व्यक्ति में पूर्णता आ जाती है।

इस प्रकार योग है:

- मन को शांत रखकर स्वयं को एकाग्र करने की प्रक्रिया,
- मन की उच्च, सूक्ष्म पर्तों की स्थितियां, और
- मनुष्य और प्रकृति की रचनात्मक शक्ति को भी योग कहा गया है।

कार्यकलाप 1

1. इस श्लोक को स्पष्ट करें: *योगः कर्मसु कौशलम्*

1.3.2 योग के संबंध में भ्रांतियां

एक व्यक्ति अपने हाथ में एक लम्बी रस्सी लिए हुए एक विशेष मंच पर प्रकट होता है। जिज्ञासु श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करते हुए वह रस्सी के एक किनारे को पकड़ते हुए दूसरे किनारे को हवा में फेंकता है। रस्सी लहराती हुई ऊपर जाती है और किसी सहारे के बिना

हवा में सीधी स्थिर हो जाती है। वह व्यक्ति उस स्थिर रस्सी को सीढ़ी के रूप में प्रयोग कर कोई प्रयास किए बिना रस्सी के शीर्ष हिस्से तक पहुंच जाता है और हवा के मध्य में स्थिर होकर दर्शकों को नमस्कार करने लगता है। क्या रस्सी वाली इस करामात को योग कहा जा सकता है ?

लम्बे बालों वाले एक अर्धनग्न व्यक्ति $2 \times 1 \times 1$ मीटर माप वाले गड़ढ़े में प्रवेश करने हेतु तैयार दिखाई दिया। इस गड़ढ़े को विशेष रूप से प्रदर्शन हेतु तैयार किया गया था। उसने इसमें प्रवेश किया और उसके बाद गड़ढे को पूर्ण रूप से ढक दिया गया ताकि उसमें हवा न जा सके। कई दिनों तक वह व्यक्ति उस गड़ढे के भीतर रहा और लम्बी अवधि के बाद बिल्कुल तरोताजा बाहर निकला। उसमें थकान के कोई लक्षण नहीं दिखाई दिए। इसे भूगत समाधि कहा जाता है। आम लोगों की नजर में वह एक महान् योगी है। परंतु क्या यह वास्तव में योग है?

भूगत समाधि, सिद्धियां, जादू, मंत्र–तंत्र आदि के प्रदर्शन को भारत में भी अधिकांश लोग **योग** शब्द से सम्बद्ध करते हैं। परंतु वस्तुतः ये यभी भ्रांतियां हैं।

सारांश में यही कहा जा सकता है कि योग के विषय में कई प्रकार की भ्रांतियॉ हैं। बहुत से लोग जो इससे अनजान हैं अथवा जो भारतीय संस्कृति और परम्पराओं से अनभिज्ञ हैं, वे योग निम्नलिखित से जोड़ने की भूल कर बैठते हैं।

- धर्म – अंध–विश्वास, संप्रदाय, वाद
- जादू, करामात, वशीकरण
- भौतिक संस्कृति – ऐरोबिक्स तथा ऐनेरोबिक्स
- मानसिक एकाग्रता
- आत्म–दमन, आत्म–पीड़न

किन्तु हमने पहले अनेक परिभाषाएं देखी हैं, जिनमें योग की वास्तविक प्रकृति का वर्णन इस प्रकार नहीं है।

यह एक सम्पूर्ण प्रणाली है अथवा बेहतर रूप से एक विज्ञान है या जीवन का एक मार्ग है। योग जीवन का एक मार्ग होने के कारण इसमें आयु, लिंग, व्यवसाय, स्थिति, शर्तों, समस्याओं और दुखों से अलग रूप में उपयोग में लाया जा सकता है। योग का प्रयोग कोई भी/प्रत्येक मनुष्य – व्यक्तिगत, व्यावसायिक, सामाजिक, पारिवारिक अथवा आध्यात्मिक रूप में कर सकता है।

1.3.3 योग का आधार

योग का आधार प्रसन्नता की तलाश है। किन्तु हम प्रसन्नता की तलाश बाह्य रूप में ऐन्द्रियिक सुख में करते हैं। प्रसन्नता तो हमारे अपने भीतर होती है। यह मन को शान्त रखने से मिलती है। यह विचारों से विहीन स्थिति होती है। यह **आनन्द, स्वतंत्रता, ज्ञान** और **रचनात्मकता** की स्थिति होती है। उपनिषदों में भी यह उल्लेख मिलता है कि मौन साधना की मूल स्थिति, समस्त सृष्टि (सृजन) की हेतुक (कारणात्मक) स्थिति होती है। जो लोग उस व्यापक और स्थाई प्रसन्नता और आनन्द की तलाश में रहते हैं, जो लोग ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं, जो एकदम स्वतंत्र रहकर अधिक से अधिक रचनात्मक बनने की इच्छा रखते हैं, उनका एकमात्र उद्देश्य रहता है कि वे एकदम पूर्ण मौन की स्थिति में पहुंच जाएं। यह स्थिति होती है, जहां विचारों के लिए कोई स्थान नहीं होता और यह तब होता है जब हम स्वयं को उस आनन्दमय आंतरिक बोध से सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं।

कार्यकलाप 2

1. योग संबंधी कम से कम दो भ्रांतियों के विषय में अपने विचार स्पष्ट करें।

1.4 योग के विकास का इतिहास

योग का आशय उस प्राचीन योग प्रणाली से है, जिसे पतंजलि ने योगसूत्र में निरूपित किया है। पतंजलि ने अष्टांग योग प्रणाली के बारे में बताया है, जिसके अन्तर्गत समग्र आध्यात्मिक विकास पर जोर दिया गया, जिसमें नीतिशास्त्र (यम व नियम), आसन, प्राणायाम, इन्द्रियों पर नियंत्रण (प्रत्याहार), एकाग्रता (धारणा), ध्यान और समाधि शामिल हैं। इसमें एक सम्पूर्ण और समेकित आध्यात्मिक प्रशिक्षण प्रणाली सम्मिलित होती है।

यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन योग महान् वैदिक परम्परा का हिस्सा रहा है। पतंजलि ने तो बाद में इस शिक्षा का संकलन किया था। यौगिक शिक्षा के अन्तर्गत पतंजलि योग के समस्त पहलू शामिल हैं, जो पतंजलि से पहले वाले साहित्य में विद्यमान हैं, जैसे पुराण, महाभारत और उपनिषद् जिसमें पतंजलि का नाम बाद में आता है। योग का प्रणेता हिरण्यगर्भ को बताया जाता है, जो ब्रह्मांड में रचनात्मक और विकास मूलक शक्ति को निरुपित करते हैं।

योग को और अधिक पीछे जाकर ऋग्वेद में भी ढूंढा जा सकता है, जो सबसे प्राचीन हिंदु ग्रन्थ है, जिसमें हमारे मन और अन्तर्दृष्टि को सत्य अथवा वास्तविकता के प्रकाश के साथ सम्बद्ध करने की बात कही गई। प्राचीन काल में योग गुरुओं में अनेक प्रसिद्ध ऋषियों का नाम लिया जा सकता है जैसे वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य तथा जैगीशव्य। योगियों में जो योगेश्वर कहलाते हैं वह स्वयं श्रीकृष्ण है, जो भगवद् गीता के

नायक हैं। भगवद् गीता को योगशास्त्र भी कहा गया है, जिसके अंतर्गत योग पर प्रामाणिक कार्य उपलब्ध है। भगवान् शिव भी सर्वाधिक महान् योगी या आदिनाथ हैं।

भारत में योग मनुष्य के उस क्रियाकलाप का हिस्सा रहा है, जिसके द्वारा आध्यात्मिक ऊंचाइयों तक पहुंचा जा सकता है। योग का इतिहास 5 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:

- वैदिक काल
- पूर्व प्राचीन काल
- प्राचीन काल
- मध्यकाल
- आधुनिक काल

1.4.1 वैदिक काल

वेद–ऋचाएं विश्व में सबसे प्राचीन ग्रंथ है। संस्कृत शब्द वेद का अर्थ है – 'ज्ञान' और ऋक् का आशय 'प्रशंसा' से है। इस प्रकार ऋग्वेद ऐसी ऋचाओं का संकलन है जिनमें सर्वशक्तिमान् की प्रशंसा की गई है। अन्य तीन वेद हैं – यजुर्वेद (यज्ञ का ज्ञान), सामवेद (गायन का ज्ञान), तथा अथर्ववेद (अथर्व का ज्ञान)। वैदिक काल में ब्रह्मांड में उच्चता को प्राप्त करने के साधन थे – ज्ञान या श्रुति, जिन्हें ध्यान के माध्यम से लिया जाता था। इसमें तीन योग शामिल हैं – मंत्र योग, प्राण योग और ध्यान योग।

- *मंत्र योग* – जिसमें मंत्रों में निहित शक्ति के कारण, मंत्र मन के रूपांतरण के उपकरण के रूप में सक्रिय हो जाता है।

- *प्राण योग* – प्राणायाम के द्वारा जैव तंत्र को बल या शक्ति प्राप्त होती है।

- *ध्यान योग* – 'धी' शब्द का आशय बुद्धि या मेधा से है, जो ध्यान शब्द का मूल है। 'धी' यानी बुद्धि मन का आंतरिक भाग है, जिसके माध्यम से हमें शाश्वत सत्य को स्वीकार करने का सामर्थ्य मिलता है। 'धी' अथवा बुद्धि का यह संवर्धन मुख्य रूप से विवेक संकाय है, जो योग और वेदान्त की प्रमुख विशेषता है।

मन को एकाग्र करके एक स्थान/विचार पर स्थिर कर लेना ही ध्यान है। 'ध्यान' वह अवस्था है जिसमें एकाग्र मन की वृत्तियां तेल की अनवरत प्रवाहमान धारा की तरह एकमात्र धारणा के इर्द–गिर्द प्रवाहित होने लगती हैं और इसके पश्चात् मानसिक योग्यताएं (मानस) में कोई भी बाहरी वस्तु मौजूद नहीं होती। ध्यान की पांच विशेषताएं हैं: एकल विचार, सहजता, धीरता, सजगता, सहज विस्तार। मन की कोई भी अवस्था, जिसमें ये पांच विशेषताएं होती हैं उसे कहा जा सकता है कि वह ध्यान की अवस्था में है।

मैत्रायणी उपनिषद् में योग को षडंग–योग कहा गया है, यानी 6 अंगों (षडंग) की समेकित प्रणाली। मैत्रायणी उपनिषद् में इसे इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है: (1) श्वसन नियंत्रण (प्राणायाम), (2) इन्द्रिय नियंत्रण (प्रत्याहार), (3) ध्यान, (4) एकाग्रता (धारणा), (5) तर्क तथा (6) अन्तर्ज्ञान या अनुभवातीत/ज्ञानातीत अवस्था (समाधि), कठोपनिषद (2.5.4) के अनुसार योग एक ऐसी अवस्था है, जिसमें हमारी समस्त इन्द्रियां वश में हो जाती हैं, यानी इन्द्रियों पर और मन पर पूर्ण नियंत्रण हो जाता है।

1.4.2 पूर्व–प्राचीन काल

योग का सर्वाधिक असाधारण ग्रन्थ है भगवद्गीता, जिसकी रचना ईसा के लगभग 5000 वर्ष पूर्व हुई थी। भगवद्गीता के अनुसार ईश्वर से मिलने के चार मार्ग हैं। इन्हें इस प्रकार निरूपित किया गया है: जैसे श्रेष्ठ कर्म (कर्म योग), श्रेष्ठ श्रद्धा/उपासना (भक्तियोग), श्रेष्ठ/परिशुद्ध ज्ञान (ज्ञान योग) तथा संकल्प शक्ति योग (राज योग)।

भगवद्गीता में 18 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय योग कहलाता है। प्रत्येक अध्याय में अंतिम सत्य तक पहुंचने का मार्ग योग का मार्ग ही है। भगवद्गीता में मानव अस्तित्व, आत्मा की अमरता और ईश्वर के साथ हमारे शाश्वत सम्बन्ध के बारे में विशेष ज्ञान मिलता है। यह ज्ञान किसी अपवाद के बिना हम सबके लिए है।

1.4.3 प्राचीन काल

प्राचीन काल के दौरान यानी लगभग दूसरी शताब्दी में पतंजलि ने योग सूत्र लिखे थे, जिसमें 196 सूत्र हैं, जिनमें मानव जीवन के लक्ष्य तक पहुंचने के लिए 8 सोपान (अष्टांग) निरूपित हैं, जो जन्म और मृत्यु के दुःखों से मुक्ति का मार्ग है। इसे राजयोग यानी संकल्प शक्ति का योग कहा गया है। इसका संक्षिप्त विवरण उपखंड 1.5 में दिया गया है।

बुद्ध का अभ्युदय भी इसी काल में हुआ था, जिन्होंने हमें अष्ट मार्ग की शिक्षा दी, तथा जिसमें ध्यान पर विशेष जोर दिया गया है।

विपाशना भारत की सबसे प्राचीन तकनीक है। लम्बे समय तक मानवता के लिए जिसका विलोप हो गया था उसे गौतम बुद्ध ने 2500 वर्षों से भी अधिक पूर्व पुनर्जीवित किया। विपाशना शब्द का अर्थ है, चीजों को उसी रूप में देखना जैसे वे वास्तव में होती हैं। यह आत्म–प्रेक्षण द्वारा स्वयं को परिशोधित करने की प्रक्रिया है। इसकी शुरूआत मन को एकाग्र करने हेतु सामान्य श्वसन क्रिया द्वारा होती है। इसमें गहन एकाग्रता के साथ व्यक्ति शरीर और मन की परिवर्तनशील प्रकृति का अवलोकन करता है और आगे बढ़ता रहता है तथा अस्थाई और दुःखपूर्ण जीवन के शाश्वत सत्य की अनुभूति करने लगता है।

जैन धर्म में प्रत्याहार और ध्यान योग के दो प्रमुख खंड हैं।

1.4.4 मध्यकाल में योग

बुद्ध ने (लगभग 6ठी शताब्दी में) पूरे उपमहाद्वीप में ध्यान को लोकप्रिय बनाया था। किन्तु इसमें एक बात पर सहमति नहीं है कि कोई व्यक्ति ध्यान के माध्यम से आध्यात्मिक क्रियाएं तत्काल नहीं कर सकता। ध्यान के लिए पहले स्वयं को तत्पर करना होता है, 6ठी शताब्दी में जब बौद्ध धर्म के प्रभाव में कमी आ गयी थी तो मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ जैसे कुछ महान् योगियों ने इस पद्धति को परिशोधित किया। इस अवधि के दौरान हठ योग से सम्बन्धित कई ग्रंथों की रचना हुई।

इस अवधि में जो प्रमुख ग्रन्थ लिखे गए, उनमें स्वात्माराम द्वारा रचित **योग प्रदीपिका**, श्रीनिवास योगी द्वारा रचित **घेरंड संहिता** एक संवादात्मक ग्रंथ, श्रीनिवास योगी द्वारा रचित **हठरत्नावली**, जिसमें योग के साथ–साथ आयुर्वेद पर भी विमर्श किया है, नित्यानाथ द्वारा रचित **सिद्ध सिद्धान्त पद्धति** आदि शामिल हैं।

गुरु गोरखनाथ को नाथ सम्प्रदाय का प्रणेता माना जाता है और यह कहा जाता है कि नौ नाथ और 84 सिद्धों का मानव रूप में विश्व में योग और ध्यान का सन्देश प्रसारित करने के प्रयोजन से यौगिक अविर्भाव हुआ। वे यही योगी थे, जिन्होंने मानव को समाधि से अवगत कराया। कहा जाता है कि गुरू गोरखनाथ ने कई पुस्तकों की रचना की हैः जैसे – गोरख संहिता, गोरख गीता और योगचिन्तामणि।

1.4.5 आधुनिक काल में योग

श्री अरविन्दो द्वारा रचित "समग्र योग" (Integral Yoga) अथवा पूर्ण योग में दिव्य शक्ति के प्रति संपूर्ण समर्पण पर जोर दिया है जो दिव्य शक्ति का मार्ग है, ताकि व्यक्ति का रूपांतरण हो सके। श्री रामकृष्ण परम हंस भक्ति योग और दिव्य प्रेम के मार्ग का समर्थन करते हैं। रामकृष्ण के विचार में सभी धर्म मानव मन की विविध इच्छाओं की संतुष्टि हेतु ईश्वर के विभिन्न रूपों का प्रकटीकरण है। श्री रामकृष्ण का आधुनिक विश्व के लिए सबसे बड़ा योगदान हैः सभी धर्मों में सामंजस्य स्थापित करना।

स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त की शिक्षाओं को निम्नलिखित रूप में संक्षेपण किया है:

- प्रत्येक आत्मा संभाव्य रूप से दिव्य होती है ।
- इस आंतरिक दिव्यता को प्राप्त करने के लक्ष्य को पाने के लिए आंतरिक और बाह्य प्रकृति को नियंत्रित करना है।
- इसे कर्म योग से अथवा पूजा (भक्ति योग) अथवा मन को नियंत्रित करके (राज योग) अथवा दर्शन (ज्ञान योग) से किसी एक द्वारा अथवा एक से अधिक या इनमें से सभी के द्वारा प्राप्त करें और मुक्त हो जाएं।
- यह पूर्ण धर्म है। सिद्धांत, अथवा धर्म सिद्धान्त, अथवा अनुष्ठान, अथवा पुस्तकें, या मन्दिर या रूप, ये सभी मात्र गौण विवरण है।

1.4.6 योग के मूल स्रोत की ओर प्रेरित करने वाले मनोवैज्ञानिक पहलू

भारतीय दर्शन के प्राचीन ग्रंथों में पतंजलि योग संप्रदाय, जिसकी अवधि ईसा पूर्व 200 से 300 के अन्तर्गत है, को मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के संबंध में व्यापक स्तर पर मूल आधार के रूप में स्वीकार किया गया।

पतंजलि योग का संबंध निश्चित रूप से मन और इसकी वृत्तियों से है जिसमें मन को रूपांतरित करने की प्रक्रिया निहित है। इसमें ब्रह्मांड से समेकन की स्थिति प्राप्त करने हेतु मन का प्रशिक्षण संस्तुत किया गया है। इस उद्देश्य तक पहुंचने के मार्ग में सिद्धियां और शक्तियों की प्राप्ति भी होती है। पतंजलि योग का उद्देश्य मनुष्य को भौतिक पिंजड़े से मुक्त कराना है। मन भौतिक पदार्थ का सबसे बड़ा स्वरूप होता है और मनुष्य चित्त अथवा अहंकार (मन या अहं) से मुक्त होकर पावन हो जाता है।

मन या चित्त दो स्तरों पर संचालित होता है – बौद्धिक और भावनात्मक। मन संचालन के इन दोनों स्तरों को हटा देना होगा और इसके स्थान पर आवेग–रहित दृष्टिकोण को प्रतिस्थापित करना होगा। अनवरत विचार और विवेक (सुखदायक और श्रेष्ठ के मध्य विभेदन) दो साधन हैं, जिनसे बुद्धि और भावनाओं में फंसे अहं को समाप्त किया जा सकता है। वैराग्य या विरक्तता को ही विपरीत भावों के दुःखों जैसे प्रेम और घृणा, सुख और दुःख, समादर और बदनामी, प्रसन्नता और दुःख, से मुक्ति का मार्ग बताया गया है।

विरक्ति और अबाधित प्रशान्ति की इस स्थिति में पहुंचने का सबसे आसान मार्ग है भक्ति या सार्वभौमिक प्रेम का मार्ग। इसमें मनुष्य अपने सर्वस्व मन, आत्मा, अहंकार को दिव्य ईश्वर को सौंप देता है, वह केवल दिव्य इच्छा द्वारा संचालित होता है। इसे ईश्वर प्रणिधान कहा जाता है। इसके लिए व्यक्तिगत और सामाजिक अनुशासन की आवश्यकता होती है, जिन्हें ***यम*** और ***नियम*** कहा जाता है।

मित्रता का भाव (मैत्री), अनुकम्पा (करुणा, जिसमें ईर्ष्या नहीं, सदाचारी के प्रति आत्म–संतोष (मुदिता) और बुरे व्यक्तियों की उपेक्षा का संवर्धन होना चाहिए, जो प्रसन्नता के मार्ग को प्रशस्त (चित्त प्रसाद) करते हैं।

कार्यकलाप 3

1. पतंजलि के अनुसार योग का लक्ष्य क्या होता है?

2. आधुनिक काल में योग के प्रवर्तक कौन–कौन है?

1.5 अष्टांग योग या राज योग

पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग को अष्टांग कहा गया है जिसके 8 अंग हैं। इन का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

यम और नियम अथवा योग के सिद्धान्त

योग भौतिक अनुशासन से कहीं बढ़कर है। यह जीवन की एक शैली है – एक समृद्ध दार्शनिक मार्ग। *यम* (निग्रह) और *नियम* (वैयक्तिक स्तर पर अनुपालनीय) ऐसे दस सामान्य सिद्धांत हैं जो एक सामाजिक संदर्भ में एक स्वस्थ, बेहतर और खुश जीवन बिताने और आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने के लिए अत्यंत सहायक है। वे आपके चिंतन के लिए यहां दिए गए हैं ताकि आप एक तर्कपूर्ण ढंग से यह सोच सकें कि एक जटिल मन से कैसे निपटा जा सके, क्योंकि योग बाह्य रूप से थोपे गए नियमों को स्वीकार नहीं करता – यह आपके लिए सत्य की तलाश करता है और आपको इससे सम्बद्ध करता है।

यम

पतंजलि योगसूत्र के अनुसार यम केवल 5 होते हैं। इन्हें सर्वभौम महाव्रत भी कहा जाता है, क्योंकि वे किसी वर्ग, धर्म, समय अथवा परिस्थितियों तक सीमित नहीं होते। वे बाहरी दुनिया से अन्योन्यक्रिया करने संबंधी दिशानिर्देश हैं। इन्हें सामाजिक अनुशासन भी कहा जाता है, जिससे हम दूसरों से जुड़ते हैं। ये निम्नलिखित हैं:

- अहिंसा
- सत्य
- अस्तेय
- ब्रह्मचर्य तथा
- अपरिग्रह

याज्ञवल्क्य संहिता के अनुसार अहिंसा यानी हिंसा से दूर रहना अर्थात् विचार, वचन और कर्म में अहिंसा के प्रति सजग और अभ्यासरत रहना है। इसमें हमें करुणा, प्रेम, समझ, धैर्य, और सार्थकता का अभ्यास करने की प्रेरणा मिलती है।

पतंजलि सत्य को इस प्रकार वर्णित करते हैं: 'मन, कर्म और वचन में सामंजस्य रखना, सत्य के अनुसार बोलना और विचार करना, जो कुछ देखा गया, समझा गया या सुना गया है, तदनुसार बोलकर अभिव्यक्त करना और उसे बुद्धि में बनाए रखना'। पूर्ण रूप से जो सच्चा व्यक्ति होता है, वह बोलकर वही अभिव्यक्त करता है, जो वह मन में सोचता है। अन्ततः उसी के अनुसार कार्य करता है।

अष्टांग योग के यम का तीसरा घटक अस्तेय या चोरी न करना है। इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि जिस वस्तु पर हमारा अधिकार नहीं है उस पर बलात् अधिकार नहीं जमाना चाहिए। विचार, वचन और कर्म में हमें ईमानदार होना चाहिए। अस्तेय से ईर्ष्या और द्वेष समाप्त हो जाते हैं। इसमें व्यक्ति की पूर्णता और आत्मनिर्भरता पर जोर दिया गया है, जिससे वह असीम प्रगति की ओर अग्रसर हो सके।

यम के चौथे घटक यानी ब्रह्मचर्य का महत्त्व वेदों, स्मृतियों और पुराणों में वर्णित है। यह विश्वास किया जाता है कि वासनाओं का परित्याग करने से व्यक्ति दिव्य ईश्वर के निकट पहुंचता है। इस यम के अन्तर्गत मानसिक, मौखिक या शारीरिक सभी प्रकार के वासनामय सुख से दूर रहने पर जोर दिया गया है।

पांचवें यम यानी अपरिग्रह का शाब्दिक अर्थ है सांसारिक वस्तुओं का संचय न करना, उनके प्रति मोह या सम्बद्धता न हो। महर्षि व्यास ने कहा है कि यम की यह अंतिम अवस्था तभी प्राप्त हो सकती है जब हम हर प्रकार के वासनामय सुख से एकदम सम्बन्ध विच्छेद कर लें। इससे किसी प्रकार की हिंसा जैसी प्रवृति भी पूर्ण रूप से रुक जाएगी।

नियम

नियम अष्टांग योग का दूसरा अंग है। हम स्वयं से, अपने आन्तरिक दुनिया से कैसे सम्पर्क स्थापित करें। नियम हमारे आत्म नियमन के लिए होते हैं, जिनसे एक सकारात्मक वातावरण बनाए रखने में सहायता मिलती है, जिससे हमारा विकास होता है। पहले यमों के माध्यम से जो ऊर्जा उत्पन्न होती है, नियमों से उस ऊर्जा का उपयोग होता है। पतंजलि ने निम्नलिखित 5 नियमों का उल्लेख किया है:

- शौच अथवा शुद्धता
- सन्तोष अथवा संतुष्टि
- तप अथवा तपस्या
- स्वाध्याय अथवा आत्म–शिक्षा तथा
- ईश्वर प्रणिधान अथवा दिव्य शक्ति के प्रति समर्पण भाव

शौच से तात्पर्य है बाह्य और आंतरिक परिशुद्धता। ऋषि मनु के शब्दों में – जल से शरीर की परिशुद्धता होती है, सत्य से मन की, वास्तविक ज्ञान से बुद्धि की और आत्मा की परिशुद्धता ज्ञान और तप से होती है। इसमें बौद्धिक वाचिक और शारीरिक परिशुद्धता पर जोर दिया गया है।

दूसरा नियम सन्तोष है, जितना हमने ईमानदारी से परिश्रम करके अर्जित किया है, उससे अधिक की इच्छा नहीं होनी चाहिए। मन की इस अवस्था में हमें जो कुछ जीवन से मिला है उसमें सामंजस्य रखते

हुए, संतोष की अनुभूति होती है। संतोष से आनन्द प्राप्त करने का अभ्यास होता है – हर अवस्था में शान्ति को कायम रखना। मन की यह अवस्था किसी बाह्य कारणों पर निर्भर नहीं होती।

योग दर्शन में तीसरे नियम यानी तप के विषय में वर्णित है कि भूख और प्यास, शीत और गर्म, स्थान और स्थिति की असुविधाओं का सामना करते हुए मौन होकर ध्यान और व्रत किया जाए। इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि पूर्ण मनुष्य वह है जो मानसिक और शारीरिक तप का निरंतर अभ्यास करता है।

महर्षि व्यास के अनुसार आत्म–शिक्षा या स्वाध्याय के अन्तर्गत धर्मग्रन्थों का अध्ययन समाहित है। धर्मग्रन्थ हैं – वेद, उपनिषद आदि। गायत्री मंत्र और ओम मंत्र को जपना भी इसके अन्तर्गत शामिल है।

अन्तिम नियम ईश्वर प्रणिधान को व्याख्याकारों ने समस्त कर्मों को चाहे वे बुद्धि द्वारा किए जाते हों, वचन अथवा शरीर द्वारा किए जाते हों, उन्हें दिव्य ईश्वर को समर्पित किए जाने के रूप में वर्णित किया है। ऐसे कर्मों के परिणाम पर अन्य किसी का अधिकार नहीं है, इसलिए यह दिव्य ईश्वर के निर्णय पर निर्भर है। नश्वर मन को सामान्य रूप से दिव्य ईश्वर की अनुभूति समर्पण, परिशुद्धि, प्रशान्ति और मन की एकाग्रता से हो सकती है। इस दिव्य ध्यान से योगी के जीवन के सभी पहलू प्रभावित हो जाते हैं।

यम और नियमों के अभ्यास का लाभ

यम और नियमों से हमारी ऊर्जा को व्यवस्थित करने में सहायता मिलती है, जिससे हमारा बाहरी जीवन आन्तरिक विकास की ओर उन्मुख हो जाता है। इनसे हमें स्वयं में करुणा और जागरूकता लाने में सहायता मिलती है। इनकी सहायता से इस जीवन के मूल्यों का समादर होने लगता है, जिससे हम बाहरी नियंत्रण के साथ आन्तरिक सुंतुलन को कायम रखने में सक्षम होते हैं। संक्षेप में कहा जाए तो यही है कि इनसे हमें एक चैतन्य जीवन की ओर अग्रसर होने में सहायता मिलती है।

यम और नियम सही और गलत से संबंधित नहीं है। वे तो हमें स्वयं के साथ ईमानदार बनाने के लिए होते हैं। इन सिद्धान्तों के अनुसार जीवन यापन करने का आशय है – हम अपने जीवन को बेहतर तरीके से जीएं, हम समझदारी से चलें ताकि दिव्य ईश्वर के समीप पहुंचना संभव हो सके।

योगासन

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र 2.46 में आसन को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है :

'स्थिरसुखमासनम्'

आसन सुखपूर्वक एक स्थिति में जम कर स्थिर हो जाना है, पतंजलि इसे इसी प्रकार पारिभाषित करते हैं। आसनों अथवा योगासनों अथवा शारीरिक मुद्राओं का उद्देश्य स्वस्थ रहना और मन पर नियंत्रण रखना है।

योगासनों का अभ्यास धीरे–धीरे किया जाता है और शरीर को किसी विशेष स्थिति में लम्बे समय तक रखा जाता है। ऐसा करने से मांसपेशियां मजबूत होती हैं। ऐसे अभ्यास की मुख्य विशेषता **गहन विश्रान्ति** होती है। इनसे ऊर्जा का संरक्षण होता है, राजसिक स्वभाव यानी उग्रता में कमी आती है और मन की चंचलता कम होती है, जिससे तनाव समाप्त हो जाता है। यही आसनों की मुख्य विशेषता होती है। आसनों से मन प्रशान्त अवस्था में आ जाता है और मानसिक चंचलता की गति घटने लगती है – **मनः प्रशमन** हो जाता है, जिससे मस्तिष्क में सामंजस्य रहता है। मस्तिष्क की कोशिकाएं सुदृढ़ होकर सक्रिय हो जाती हैं और उनमें एकरूपता आ जाती है। अनुकंपी और सह–अनुकंपी स्नायु तंत्र में अद्‌भुत संतुलन और सामंजस्य स्थापित हो जाता है। आसनों से हम ध्यानरथ स्थिति में पहुंच जाते हैं। योगासन के अभ्यास से व्यक्ति अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करने लगता है, जिससे चिन्ताएं, फिक्र और तनाव समाप्त हो जाते हैं। इसका प्रभाव हर स्तर पर गहन होता है। शारीरिक व्यायामों से तो केवल कैलोरी की खपत होती है, जिससे हर समय भूख लगने लगती है और कभी–कभी वजन भी बढ़ने लगता है। किन्तु योगासनों के अभ्यास से इस प्रकार बार–बार भूख नहीं लगती क्योंकि इनसे मन नियंत्रित रहता है। इनसे

हमारा कायिक व्यक्तित्व विकसित होता है और निस्वार्थ की भावना विकसित होने लगती है तथा सकारात्मक स्वास्थ्य प्राप्त कर हम परमानन्द की स्थिति में पहुंचने लगते हैं।

योगासनों की तीन स्थितियां होती हैंः **स्थिर**, **चिर** और **सुख**। पहली स्थिति आसन को अधिक स्थिर बनाने की होती है। इसमें काफी प्रयास करना होता है तथा इसे पूरी एकाग्रता और इच्छा शक्ति से किया जाता है। एक बार जब वांछित और उपयुक्त स्थिति में आ जाते हैं तो यह हिले–डुले बिना स्थिर बनी रहती है और शरीर को किसी निश्चित समय तक हिलाए बिना एक ही अवस्था में रखा जाता है। धीरे–धीरे समय बढ़ाते हुए उसे काफी देर तक उसी अवस्था में रखने का अभ्यास किया जाता है। **चिर** दूसरी स्थिति है, जिस का लक्षण विश्राम अर्थात, किसी प्रकार का प्रयास न करना है। पतंजलि ने इसके लिए सूत्र में एक उपाय बताया है– **प्रयत्न–शैथिल्य** (प.यो.सू. 2.47)। इसीलिए योग शिक्षक बार–बार बोलता रहता है कि पूरे शरीर को विश्रान्ति यानी आराम की दशा में अनुभूत करें और चेहरे पर मुस्कान के साथ दर्द का आनन्द लें। व्यक्ति स्वयं भी चाहते हैं कि 'हमें आराम अथवा विश्रान्ति मिले, मुझे आराम करने दो, मुझे तनाव में नहीं रहना है, मुझे चिन्ता में नहीं रहना है', इसलिए आसन करते समय विश्राम की स्थिति प्राप्त करने हेतु प्रयत्न का प्रत्याहार करना चाहिए कि स्वयं को एकाग्र करें और व्यर्थ की चिन्ताओं से स्वयं को मुक्त रखें। अगली स्थिति सुख की है, जो आनन्द की स्थिति होती है। व्यक्ति एक बार जब आसन को लम्बे समय तक विश्रान्ति के साथ करने लगता है, आम प्रवृत्ति है कि मन इधर–उधर घूमने लगता है, जो आसनों के पूरे उद्देश्य के विरूद्ध है। इसलिए व्यक्ति इसे कैसे रोके? पतंजलि पुनः एक दूसरा उपाय बताते हैं **'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्'** (प.यो.सू. 2.47) यानी विशाल सुन्दर नीले आकाश या विस्तृत महासागर की कल्पना करने हेतु मन को उसी स्थान पर स्थिर रखें और केवल उसी वस्तु के साथ वहीं बने रहें। इससे मन द्वन्द्व से परे हो जाता है – **'ततो द्वन्द्वानभिघातः'** (प.यो.सू. 2.48) इससे मन में स्थिरता और संतुलन यानी समत्व आ सकता है।

इसलिए योग का प्रभाव शारीरिक स्तर से प्रारंभ होता है और मन के सूक्ष्मतर स्तर तक पहुंचने लगता है। शरीर से शुरु होता है और मांसपेशियों के स्तर की ओर बढ़ने लगता है, उसके बाद श्वसन के स्तर तक, मन अथवा भावनात्मक स्तर तक पहुंच जाता है, जिससे मन में संतुलन और शांति का संचार होता है। ऐसा करने से व्यक्ति शरीर और मन की आदर्श स्थिति को हासिल कर लेता है।

अब आसनों के अनेक वर्गीकरणों को समझने का प्रयत्न करते हैं। आसनों का वर्गीकरण कैसे करते हैं? प्रथम, सामान्य तथा खड़े होकर किए जाने वाले आसन, फिर बैठकर किए जाने वाले आसन, फिर औंधे (प्रणत) लेटकर किए जाने वाले तथा तत्पश्चात् चित लेटकर किए जाने वाले आसन। खड़े होकर किए जाने वाले आसन स्थिर आसनों के वर्गीकरण के अन्तर्गत आते हैं और जो आसन बैठी हुई अवस्था में किए जाते हैं वे बैठकी आसन की श्रेणी में होते हैं, पेट के बल लेटकर किए जाने वाले आसन प्रणत (अधोमुख) आसन कहलाते हैं। पीठ के बल लेटकर किए जाने वाले आसन पृष्ठ आसन की श्रेणी में आते हैं। उदाहरण के लिए – स्थिर आसनों में अर्धकटि चक्रासन, पाद हस्तासन, अर्ध चक्रासन, परिवृत्त त्रिकोणासन आदि शामिल हैं। स्थिर अवस्था वाले आसनों में व्यक्ति एक ओर मुड़ता है। पीछे और आगे की ओर मुड़ने वाले आसन आदि शामिल हैं। बैठकर किए जाने वाले आसनों में वज्रासन, पश्चिमोत्तानासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन आदि आते हैं। पेट के बल लेटकर किए जाने वाले आसन हैं – शलभासन, भुजंगासन, धनुरासन आदि।

आसनों का वर्गीकरण

आसनों को सांस्कृतिक, विश्रान्त और ध्यानस्थ रूप में भी वर्गीकृत किया गया है। शवासन, मकरासन (मगरमच्छ जैसा आसन), शीतल ताड़ासन और शीतल धनुरासन विश्रान्ति वाले आसन हैं। पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन और सुखासन आदि को ध्यानस्थ आसन कहा जाता है। अन्य सभी आसन सांस्कृतिक आसन कहलाते हैं। ये आसन विशेष रूप से हमारे व्यक्तित्व के संवर्धन के लिए होते हैं। उदाहरण के लिए ऐसे लोग हैं जो बहुत शर्मीले होते हैं और उनके कन्धे आगे की ओर झुके होते हैं, चेहरे पर संकोच होता है। ऐसे लोगों में आत्मविश्वास लाने, शर्मीलेपन को दूर करने तथा उन्हें निर्भीक व सक्रिय बनाने के लिए उन्हें सांस्कृतिक आसन करने की सलाह दी जाती है, जैसे पीछे की ओर झुकने वाले आसन या चक्रासन, भुजंगासन (कोबरे की आकृति वाला आसन), अर्ध चक्रासन (खड़े होकर पीछे की ओर झुककर)

और सुप्त वज्रासन। दूसरी ओर ऐसे भी लोग होते हैं जो जन्म से ही (ए–प्रकार के हैं) – बहुत ही अहंकारी और घमंडी हैं। उनके कन्धे हमेशा पीछे की ओर झुके होते हैं और सिर ऊपर रहेगा। ऐसे लोगों में नम्रता लाने के लिए आगे की ओर झुकने वाले आसन जैसे पश्चिमोत्तासन, शशांकासन, पादहस्तासन निर्धारित हैं, जिससे उनके अहंकारी स्वभाव में सुधार आ सके और प्रसन्नचित और हंसता–मुस्कुराता व्यक्तित्व बन सके। इसलिए प्रत्येक सांस्कृतिक आसन व्यक्तित्व के निर्माण की दृष्टि से निर्धारित हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण यौगिक आसनों का मौलिक वर्गीकरण है:

कार्यकलाप 4

1. अष्टांग योग के आठ अंग कौन–कौन से हैं?

2. पाँच नियमों और पाँच यमों के नाम क्रम से लिखिए

3. आसनों का वर्गीकरण किस प्रकार है?

प्राणायाम

पतंजलि के अनुसार

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः (प.यो.सू. 2.49)

अर्थात् अन्तःश्वसन और बहिःश्वसन (श्वास व उच्छ्वास) की गति को तोड़ना प्राणायाम कहलाता है। प्राण श्वसन से संबंधित है और जब कोई श्वसन क्रिया पर नियंत्रण करने लगता है, तो यह समझिए कि उसने प्राणायाम करना शुरु कर दिया है। श्वसन प्रणाली स्वैच्छिक तथा स्वतः दोनों रूपों में कार्य कर सकती है। किन्तु जब कोई सजग नहीं रहता तो श्वसन क्रिया स्वतः ही एक विशेष गति से होती रहती है। इसकी सामान्य गति 15 श्वासें (अन्तः श्वसन के साथ–साथ बहिःश्वसन) प्रति मिनट की होती है। प्राणायाम करते हुए व्यक्ति श्वसन गति को स्वेच्छा से कम कर देता है और दोनों नासिका छिद्रों के मध्य इसे संतुलित भी कर देता है।

प्राणायाम में पहला सोपान परिमार्जन (स्वच्छता) का होता है। यह देखना बहुत आवश्यक है कि इसमें हमारी श्वसन प्रणाली हमारे नियंत्रण में आ जाती है। इसमें तीव्रगति से श्वसन तकनीक शामिल है, जिसे कपालभाति कहा जाता है। यह क्रिया श्वसन मार्ग को स्वच्छ बना देती है। कपाल का अर्थ है खोपड़ी और भाति का अर्थ चमक से है। **तीव्र श्वसन क्रिया से मस्तिष्क की कोशिकाएं संवेदनशील हो जाती हैं और कपाल (खोपड़ी) में चमक आ जाती है।** ऐसा दोनों नासिका छिद्रों से **सक्रिय उच्छ्वास** से और उसके बाद स्वतः अन्तः श्वसन से होता है। यह सम्पूर्ण क्रिया पेट में होती है, इसमें आमाशय को अन्दर की ओर खींचना होता है, जिसमें फुफकार के साथ श्वास तेजी से बाहर आती है। पूरी श्वास फुफकार से बाहर आनी चाहिए। जब यह दोनों नासिका छिद्रों से की जाती है तो इसे द्विनासिका कपालभाति कहते हैं। मगर जब बारी–बारी से दोनों नासिकाओं से की जाती है तो पहले फुफकार बायीं नासिका छिद्र से और उसके बाद दायीं नासिका छिद्र से इसे **एकान्तर नासिका कपालभाति** कहा जाता है। सामान्य रूप से इसकी गति 120 सोपान प्रति मिनट यानी 120 बार अन्तः श्वसन तथा 120 बार उच्छ्वास प्रतिमिनट होती है। इस क्रिया से रक्त में कार्बनडाइऑक्साइड की मात्रा कम हो जाती है और रक्त में ऑक्सिजन की मात्रा में वृद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप सारी प्रणाली स्वच्छ हो जाती है। कपालभाति से श्वसन प्रणाली की सफाई हो जाती है। चाहे द्विनासिका कपालभाति हो या एकान्तर कपालभाति दोनों का प्रभाव एक ही तरह से होता है। पूरी प्रणाली में ऑक्सिजन का संचार होता है और मस्तिष्क की कोशिकाएं भी

संवेदनशील हो जाती हैं, क्योंकि मस्तिष्क में पूर्ण रूप से ऑक्सिजनयुक्त रक्त की आपूर्ति हो जाती है इससे स्मरणशक्ति और एकाग्रता शक्ति बढ़ती है और मन पर व्यापक रूप से नियंत्रण हो जाता है।

दूसरा सोपान श्वसन को सामान्य करना होता है, जिसे अनुभागीय/आंशिक श्वसन से पूरा किया जाता है। **श्वास लेने और श्वास छोड़ने की प्रक्रिया से श्वसन का एक चक्र पूरा होता है।** सामान्य श्वसन क्रिया की दर 15 से 18 प्रति मिनट होती है। किन्तु कुछ लोगों की गलत आदत होने के कारण उनकी श्वसन क्रिया बहुत तीव्र होती है और अधिकांश लोग श्वास संबंधी समस्याओं से ग्रस्त होते हैं। यह देखा गया है कि श्वसन क्रिया **की दर बहुत तेज होती है।**

सरलतम प्राणायाम किसी भी सुविधाजनक स्थिति में विश्राम की अवस्था में बैठ कर धीरे–धीरे श्वसन करना होता है। यह सुलभ प्राणायाम होता है। प्रगति की दृष्टि से श्वास लेते समय शीतल वायु की अनुभूति कीजिए और बाहर छोड़ते समय गर्म वायु की अनुभूति होती है। जब भीतर श्वास लेते हैं तो ऐसा लगना चाहिए की पूरे शरीर में ऊर्जा का संचार हो रहा है और जब श्वास धीरे–धीरे बाहर दोड़ते हैं तो पूरे शरीर में विश्रान्ति की अनुभूति होती है, जिससे आगे लाभ होता है। इस प्राणायाम को किसी भी दिन किसी भी समय खड़े होकर, बैठकर अथवा लेटकर किया जा सकता है।

विभिन्न प्रकार के प्राणायामों को निम्नलिखित चार मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता हैः

1. संतुलित रखने वाला प्राणायाम
2. संवेदनशील बनाने वाला प्राणायाम
3. शीतलता और जागरूकता विकसित करने वाला प्राणायाम
4. गुंजायमान और लययुक्त प्राणायाम

नाडीशुद्धि प्राणायाम में अन्तः श्वसन बायीं नासिका छिद्र से और बहिःश्वसन दायीं नासिका छिद्र से धीरे–धीरे किया जाता है। अगला अन्तःश्वसन दायीं नासिका छिद्र से और बहिःश्वसन बायीं नासिका छिद्र से किया जाता है, इससे एक चक्र पूरा होता है। इस अभ्यास से श्वासों में संतुलन और श्वसन मार्गों में स्वच्छता कायम हो जाती है। उपनिषदों में कहा गया है कि हमारे शरीर में 7.2 मिलियन नाडियां होती हैं, जिनमें ऑक्सिजन का प्रवाह होता है। इनमें एक व्यान, जो पांच प्रकार के प्राणों में से एक है सभी 7.2 मिलियन नाडियों में संचारित होता है। इस प्रवाह में किसी प्रकार का असंतुलन इड़ा (बायीं नासिका) और पिंगला (दायीं नासिका) के बीच में होता है। नाडी शुद्धि प्राणायाम इन दोनों में संतुलन लाता है। इसीलिए इसे **संतुलन करने वाला प्राणायाम** भी कहते हैं।

अगला प्राणायाम ***उज्जायी प्राणायाम*** है। यह संवेदनशीलता लाने का अभ्यास है। इसमें थोड़ा कंठच्छद होता है। इसमें वायु श्वास नली में अवरूद्ध होती है और वायु नली में एक 'हिश' सी आवाज होती है, जो अवरुद्धता की अलग–अलग सी ध्वनि (सामान्य आवाज के विपरीत) होती है। इससे गले के आसपास संवेदनशीलता आ जाती है।

अगले वर्ग में, ***शीतलता देने वाले प्राणायाम*** की तीन पंरपरागत विधियां हैंः ***शीतली, सीत्कारी*** और ***सदंत***। शीतली प्राणायाम में जीभ मोड़ी जाती है और मुंह से बाहर निकालकर कौवे की चोंच के जैसे दिखाई देता है। इस चोंच वाली जीभ से श्वास लेने पर नासिकाओं से श्वास छोड़ा जाता है। कोई भी व्यक्ति आसानी से तब शीतलता की अनुभूति करता है जब श्वास अंदर जाती है और जब बाहर निकलती है तो थोड़ी गर्मी का अनुभव होता है। सीत्कारी प्राणायाम में जीभ को पीछे की तरफ मोड़ लिया जाता है ताकि जीभ का अगला हिस्सा ऊपर वाले तालु को स्पर्श करे और श्वास जीभ के दोनों सिरों से लिया जाता है एवं श्वास नासिकाओं से छोड़ा जाता है। सदंत प्राणायाम में जीभ को दांतों के अगले भाग में लाया जाता है जिससे जीभ दांतों के पिछले हिस्से को स्पर्श कर सके। श्वास दांतों की दरारों के माध्यम से लिया जाता है और नासिकाओं से छोड़ा जाता है।

गुंजन वाले प्राणायाम की अगली श्रेणी ***भ्रामरी प्राणायाम*** से शुरु होती है। यहां पर नासिकाओं से श्वसन सामान्य होता है किन्तु जब सांस छोड़ी जाती है तो मादा मक्खी की सी आवाज (हम्मम) निकलती है। पूरे शरीर में आवाज गूंजती है और मन के विकारों का शमन होता है और मन शांत हो जाता है। यह

प्राणायाम सभी लोगों द्वारा किया जाना चाहिए और किसी भी अवस्था में किया जा सकता है। यहां तक कि कैंसर के मरीज भी इसको लेटकर कर सकते हैं।

प्रत्याहार

इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने से जब इन्द्रियों का उनके विषयों से सम्बन्ध टूट जाता है तब इन्द्रियाँ चित्त स्वरूप हो जाते है जैसा कि योगसूत्र में कहा गया है–

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकर इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। पा. यो. सू. 2.54

तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों का निग्रह ही प्रत्याहार है। जब इन्द्रियाँ विषयों की तरफ नहीं भागती हैं तो चित्त स्थिर हो जाता है। यही प्रत्याहार की स्थिति है।

धारणा

प्रारंभिक रूप से मन में कई प्रकार के विचार और विषय तैरते रहते हैं। एकाग्रता के माध्यम से इन विचारों और विषयों को कम किया जाता है और उसके बाद मन को एक विषय के ऊपर या एक विचार के ऊपर केन्द्रित किया जाता है। धारणा की यही अवस्था है। पतंजलि कहते हैं कि **देशबन्धश्चितस्य धारणा** (पा.यो.सू. 3.1) जिसमें मन को एक बिन्दु विशेष पर एकाग्र किया जाता है। वस्तुतः यह त्राटक की एक क्रियाविधि होती है। जलती हुई मोमबत्ती हम अगर आंखों के पास ले जाते हैं और मोमबत्ती की लौ को ही एक तरफ से देखते रहते हैं तो यह एकाग्रता का उदाहरण है। यही धारणा होती है।

ध्यान

धारणा का दूसरा सोपान ध्यान या मेडीटेसन होता है। यदि धारणा केन्द्रित होती है तो ध्यान विकेन्द्रित होता है। पतंजलि हमें ध्यान के बारे में बताते हैं कि यह प्रयासहीन धारणा है। जैसाकि धारणा के अंतर्गत यदि विपरीत रूप से ध्यान को केन्द्रित किया जाता है तो प्रयासहीन ध्यान के अंतर्गत पूरा विकेन्द्रीकरण होता है। यह पतंजलि के अष्टांग योग का सातवां अंग है।

समाधि

ध्यान से पूर्व मन में अनेक यादृच्छिक विचार विद्यमान होते हैं। ध्यान की अवस्था में ये सब विचार समाप्त हो जाते हैं। तब केवल वही वस्तु दिखाई देती है जिस पर ध्यान केन्द्रित होता है। ध्यान की परिपक्व अवस्था आने पर उस वस्तु का ज्ञान भी नहीं रहता है। उस अवस्था में द्रष्टा और दृश्य का भेद मिट जाता है। द्रष्टा चैतन्य रूप हो जाता है। यही समाधि है। **सम्यक् आधीयते इति समाधिः** अर्थात् गहन तल्लीनता अथवा महा–चेतनता ही समाधि है।

कार्यकलाप 5

1. विभिन्न प्रकार के प्राणायाम कौन–कौन से हैं?
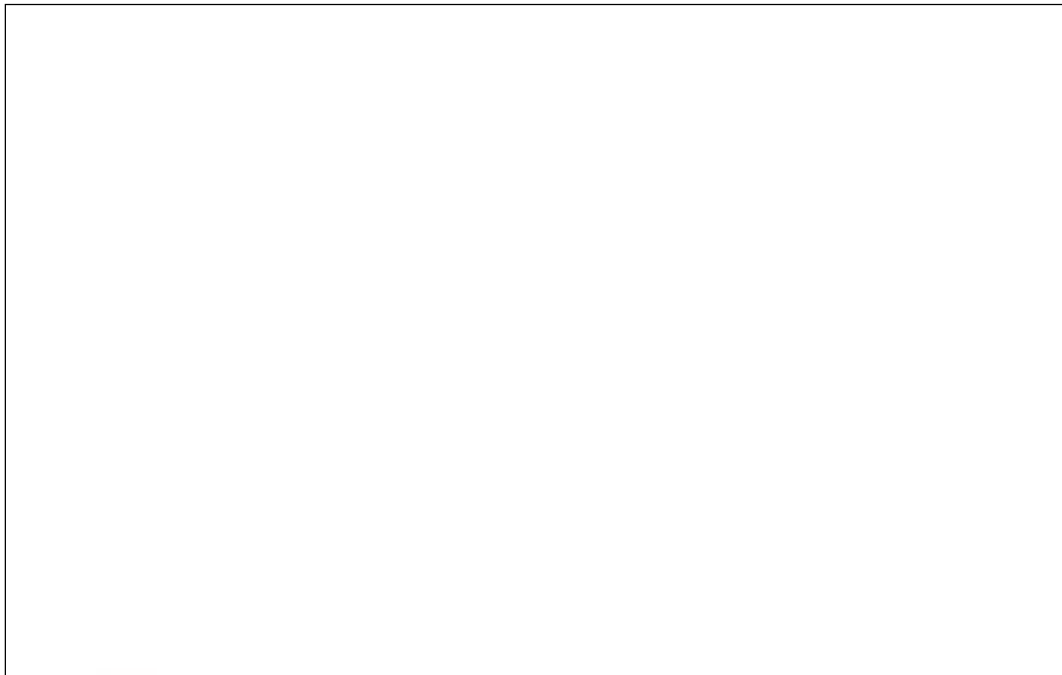
1.5.1 योग के उद्देश्य एवं लक्ष्य

- जीवन से अज्ञान (अविद्या अथवा वास्तविकता के बोध का अभाव) को दूर करना, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (अर्थात् जीवित रहने की उत्कट इच्छा), जीवन के इन पांच क्लेशों का विलोपन।
- उच्च्तम चेतनता की ऐसी स्थिति में प्रवेश करना जिसमें जीवन के सत्य, (बोध) पूर्ण चैतन्य, (ज्ञान) परम ज्ञान, आनन्द और प्रेम के रूप में प्रकटीकरण हो।
- वास्तविक आत्मा के प्रति बोध।

1.5.2 यौगिक क्रियाएंः क्या करें और क्या न करें

हठ यौगिक क्रियाओं के अभ्यास से कुछ विशेष शक्तियां प्राप्त होती हैं जिन्हें सिद्धियाँ भी कहा जाता है (जैसे अतीन्दिय दृष्टि और अतीन्द्रिय श्रवण)। इनके बारे में स्वात्माराम हमें सावधान करते हैं, यदि व्यक्ति भलीभांति और उचित अभिरुचि से अभ्यास नहीं करता है तो इस बात का खतरा होता है कि वह इन शक्तियों का दुरुपयोग करेगा। (पतंजलि सिद्धियों को व्यर्थ मानते हैं और आत्म अनुभूति के वास्तविक लक्ष्य में इन्हें एक बाधा के रूप में देखते हैं)।

स्वात्माराम कहते हैं कि इनका अभ्यास बिना फल की इच्छा से किया जाए, लेकिन बहुत ही ध्यान से, जिसमें एक संतुष्ट जीवन यापन हो और अल्पाहार हो। व्यक्ति को बुरी संगति से बचना चाहिए। आग से, यौन संबंधों से, लंबी यात्राओं से, सुबह–सुबह ठंडे जल के स्नान से, उपवास तथा भारी शारीरिक कार्य से बचना चाहिए। केवल वस्त्र (गेरुए) धारण करने से या योग संबंधी बाते करने मात्र से योगी नहीं बनता, अपितु निरंतर योगाभ्यास से ही यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है। हठ योग के अभ्यास के माध्यम से शरीर और मन को परिशोधित और स्वच्छ किया जा सकता है। इनके सही अभ्यास से साधक बंधन मुक्त हो सकता है।

परिणामों के बहकावे में आकर व्यक्ति यौगिक क्रियाओं का अत्यधिक अभ्यास कर सकता है गहन संवेदनाओं से कभी–कभी मनुष्य की स्वार्थ भावना में वृद्धि हो जाती हैं यदि सावधानी न बरती जाए तो हम घोर विपत्ति में फंस सकते हैं। ऐसी अवस्था में योग खतरनाक सिद्ध होगा।

'न हठात् न बलात्' न तो अत्यधिक कठोरता से और न बलपूर्वक, यही सूत्र त्वरित प्रगति के लिए अनुकूल है। यह एक विवेकपूर्ण प्रबंधन है, बुद्धि सम्मत प्रक्रिया है जिससे विकास हो सकता है। योग में यह दिशानिर्देश है।

1.6 योग की धाराएं

मनुष्य के व्यक्तित्व को मुख्य रूप से चार मूलभूत वर्गों में विभाजित किया जा सकता हैः भावनात्मक, सक्रिय, सहज ज्ञान और स्वैच्छिक। पतंजलि ने इस तथ्य को भलीभांति समझ लिया था, यह भी जान लिया था कि प्रत्येक व्यक्ति का अलग स्वभाव होता है और इन वर्गों में से जो सबसे शक्तिशाली होता है उसके अनुसार ही व्यवहार किया जाता है। वे जानते थे कि योग का मार्ग इस प्रकार से निर्धारित किया जाए जो किसी व्यक्ति के विशेष गुणों के अनुकूल हो। इसलिए वह सुझाव देते हैं किः

- भक्तियोग उन लोगों के लिए अनुकूल है जो भावनात्मक और भक्तिभाव में लीन होते हैं। (संदर्भ : 1:23; 2:1; 2:23; 2:45; आदि)
- ज्ञान योग उन लोगों के लिए है जो प्रकृति से सहज होते हैं। वह ओम (1:27–29) के वास्तविक अर्थ के विषय में चिंतन और अन्वेषण की संस्तुति करते हैं और सांख्य दर्शन के बारे में भी विस्तार से बताते हैं। (2:20, 21 आदि) जिसे वे बेहतर अनुभूति का साधन मानते हैं। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि सभी मानसिक ज्ञान सीमित होता है।
- राज योग या पतंजलि योग उन लोगों के लिए है जिनकी दृढ़ इच्छाशक्ति होती है, यह समस्त ग्रंथों का मूल विषय है।
- कर्मयोग उन लोगों के लिए है जो प्रकृति से सक्रिय होते हैं, यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु यह बहुत से सूत्रों में निहित है। उदाहरण के लिए यम और नियमों में कर्मयोग को नित्य प्रति के कार्यों और कर्तव्यों के रूप में महत्त्व दिया गया है। कर्म योग भक्ति योग वाले श्लोकों में भी वर्णित हुआ है। पतंजलि जानते थे कि भक्तियोग में सफलता मिलने पर स्वतः ही राजयोग में सफलता मिल जाती है, ज्ञान योग से राज योग की पूर्णता प्राप्त होती है। वे जानते थे कि योग के पथ पर चलने वाला व्यक्ति स्वयं को सम्पूर्ण अस्तित्व में समेकित कर लेता है। व्यर्थ की मानसिकता और अहम् को छोड़ देना चाहिए और इसके लिए जो भी उपलब्ध पद्धति है उसका उपयोग करना चाहिए। मन के नकारात्मक और बाधक कार्य छोड़ देने चाहिए।

वृत्तियों का निग्रह वैराग्य और अभ्यास (योग अभ्यास) से प्राप्त किया जा सकता है। (1:12)

इस कथन में योग के सभी मार्ग और तकनीकें शामिल हैं। इसमें कुछ भी नहीं छूटा। वे सब योग में सफलता की ओर अग्रसर करते हैं।

1.6.1 कर्म योग

भगवद् गीता में कर्म योग के चार मुख्य नियम वर्णित हैं ताकि आप सभी तनावों से एकदम मुक्त होकर अपने कर्म (कार्य) का हर क्षण आनन्द ले सकें।

क) कर्म कर्तव्य समझकर करें,

ख) कार्य को बिना आसक्ति से करें,

ग) परिणाम की चिंताओं को कभी आने मत दो जो आपके कार्य के दौरान आपके मन को विचलित करती हैं।

घ) असफलता और सफलता को समबुद्धि से स्वीकार करें।

कर्म योग की इन तकनीकों के उपयोग से हम अपने कार्य में पूर्ण सजगता के साथ विश्रांति में कार्य करने की कला सीखते हैं। अपने भीतर के आनन्द को खोने मत दीजिए, कर्म का पथ हमें यह सिखाता है कि

समाज के साथ किस प्रकार निष्पक्षता और प्रभावी रूप से अन्योन्य क्रिया की जाए। इस उद्देश्य को कायम रखते हुए और मन को स्थिर रखते हुए, एक न्यायाधीश की भांति दोनों पक्षों के सशक्त तर्कों को सुनते समय मन की स्थिरता ही काम करती है और यही कर्म योग की करामात है। यदि हम अपने तनाव और दबाव से नियमित रूप से छुटकारा पाते रहें तो पूरे कर्म संबंधी चरण में हमारी अंतर्दृष्टि का विस्तार होता है। कर्म योग की तकनीकों के उपयोग से तनाव और दबावों का जो संचय मन पर होता है उनको कम करने में सहायता मिलती है और हम तनावमुक्त जीवन जीने की संभावना को साकार कर सकते हैं।

1.6.2 भक्ति योग

भक्ति से तात्पर्य है कि ईश्वर के प्रति समर्पण और प्रेमपूर्ण आसक्ति। यह शब्द भज् (सम्मिलित होने) धातु से निर्मित है और सहभागिता की ओर संकेत करता है। भक्ति मार्ग पर चलने वाला योगी दिव्य ईश्वर के प्रति स्वयं को समर्पित करता है, भक्ति भाव से सेवा करता है और उनकी पूजा अर्चना में तल्लीन रहकर अन्ततः उस दिव्य ईश्वर में आध्यात्मिक रूप से मिल जाता है।

भारत की दार्शनिक और धार्मिक परंपराओं में भक्ति की अवधारणा काफी व्यापक रूप से जुड़ी है। नारद भक्ति सूत्र भक्ति की प्रकृति से संबंधित एक मुख्य ग्रंथ है जिसमें भक्ति और प्रेम के संबंध पर जोर दिया गया है और मौलिक शैली में प्रकृति के रहस्य को बताया गया है।

भक्ति से हृदय निर्मल हो जाता है तथा ईर्ष्या, घृणा, वासना, क्रोध, अहंकार, घमंड और उग्रता जैसे विकार समाप्त हो जाते हैं। इससे आनन्द, दिव्यता, प्रसन्नता, शान्ति और ज्ञान की प्राप्ति होती है। सभी तरह की चिन्ताएं, फिक्र, भय, मानसिक विकृतियां और कुंठाएं पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती हैं। भक्त जीवन और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है। उसे असीम शांति, आनन्द और ज्ञान की प्राप्ति होती है।

भक्ति का मार्ग पूरे विश्व में व्याप्त है और यह सभी जीवों के लिए होता है। यह हर काल में एक ही जैसा रहता है और इसका संबंध प्रत्यक्ष रूप से आत्मा से होता है और साथ ही महान् आत्मा से भी जुड़ जाता है, यह किसी जाति, धर्म, वर्ग और राष्ट्रीयता से ऊपर है। भक्ति आपके हृदय का पावन प्रेम होता है जिसमें भक्त दिव्य ईश्वर से मिलने के लिए उत्सुक होता है और इस जीवन में आपकी आत्मा दिव्य बन जाती है।

1.6.3 राज योग

मन के स्तर पर हम दृढ़ इच्छा शक्ति पर जोर देते हैं और इसमें स्वतंत्रता का पुट भी होता है। 'मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं होता है'। आज के समय में यदि हम कई प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त हैं जैसे बीमारी, तनाव और दबाव आदि ये हमारे द्वारा निर्मित हैं अर्थात् हमारी कमी से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए हमें स्वयं को बदलना होगा और यदि हम आनन्दमय स्थिति, रचनात्मकता और स्वतंत्रता में जीना चाहते हैं तो इन दुःखों पर विजय प्राप्त करनी होगी।

जब हम इस स्वतंत्रता को पहचान लेते हैं (जो हमारे अन्दर मौजूद है) और हम चेतना के उच्च स्तरों तक स्वयं को विकसित करने का संकल्प लेते हैं तो यह यात्रा शुरु हो जाती है। जैसे कि हम आगे की ओर बढ़ते हैं तो कई तरह की कठिनाइयां और बाधाएं हमारे मार्ग में उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए ऐसी तकनीकों की आवश्यकता है जो हमारे दृढ़ संकल्प को व्यवस्थित करे और राज योग से हम इन समस्याओं का समाधान अपनी इच्छाशक्ति या दृढ़ संकल्प से कर सकते हैं। इससे संबंधित सोपानों पर अष्टांग योग में विस्तृत रूप से चर्चा की गई है।

1.6.4 ज्ञान योग

ज्ञान योग बुद्धि और विश्लेषण का मार्ग है। यह विवेक से संबंधित है और इसकी अपनी एक क्रियाविधि होती है। इस क्रियाविधि का केन्द्र श्रवण स्मरण और विश्लेषण (मनन) और ध्यान करने की विधि

(निदिध्यासन) के इर्दगिर्द घूमता है। आज वैज्ञानिक युग में मनुष्य काफी तर्कशील हो गया है। आज बौद्धिक शक्ति का बोलबाला है। विश्लेषण इस विधि का उपकरण है। दर्शन (ज्ञान योग) का मार्ग प्रखर बुद्धिजीवियों के लिए उपयुक्त है और 'प्रसन्नता', के विश्लेषण के इर्दगिर्द केन्द्रित है, प्रमुख रूप से यह योगदान उपनिषदों का है।

चिन्तन–मनन उन शक्तियों पर निर्भर करता है जिन्हें तार्किक रूप से स्वीकार किया गया है, यह साधना अथवा गहन ध्यान है। यह ज्ञान योग का गहन चिन्तन–मनन भी है। जब हम ध्यान की गहराई में जाते हैं तो उच्च से उच्चतर आयामों तक पहुंच जाते हैं। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मुझमें वह आनन्दमय बोध आ गया है अथवा असीम चेतनता आ गई है। यह ज्ञान या आत्मानुभूति है।

कार्यकलाप 6

1. कर्म योग के चार प्रमुख नियम कौन–कौन से हैं?

1.7 योग के दो संप्रदायः राज योग और हठ योग

पतंजलि योग अष्टांग योग भी कहलाता है – अर्थात आठ अंगों से युक्त योग। इसका संबंध मानसिक अनुशासन तथा इसकी शक्तियों से है। जबकि हठ योग शारीरिक नियंत्रण और श्वसन के विनियमन पर जोर देता है।

हठ योग का परमोत्कर्ष राज योग होता है। हठ योग में निरंतर साधना (आत्म प्रयास, आध्यात्मिक अभ्यास) से राज योग में पहुंचना संभव होता है। हठ योग एक ऐसी सीढ़ी है जिससे होकर राज योग तक पहुंचा जा सकता है।

शरीर का शुद्धीकरण और श्वासों का नियंत्रण हठ योग का प्रत्यक्ष उद्देश्य है। शरीर के शुद्धीकरण के लिए षट्कर्म संस्तुत किए गए है जो इस प्रकार हैः धौति (आमाशय की सफाई), बस्ति (एनिमा का प्राकृतिक स्वरूप), नेति (नासिकाओं की स्वच्छता), त्राटक, नौलि (नाभि की सुदृढ़ता) और कपालभाति (एक विशेष प्राणायाम से अवरोधों को दूर करना), [प्राणायाम = श्वसन क्रिया का नियमन और नियंत्रण]। आसनों,

प्राणायाम, बन्धों और मुद्राओं से शरीर स्वस्थ, हल्का, मजबूत और सीधा हो जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य और सांसारिक शक्ति की प्राप्ति हो जाती है किन्तु छात्रों को यह राजयोग से संबंधित अभ्यासों के लिए तैयार करने की एक पद्धति है।

1.8 स्वस्थ जीवनचर्या के लिए यौगिक क्रियाएं

योग की वास्तविक प्रकृति का सार निम्नलिखित प्रकार से दिया जा सकता है:

- योग सम्पूर्णता की अनुभूति करने का विज्ञान और कला है अर्थात् इस का उद्देश्य अंतिम वास्तिवकता अथवा उच्च्तम चेतनता को प्राप्त करना है।
- सकल जीवन पद्धति अर्थात् शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, बौद्धिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक कल्याण से युक्त संपूर्ण जीवन।
- स्वास्थ्य, सामंजस्य और प्रसन्नता का विज्ञान जहां स्वास्थ्य, सामंजस्य और प्रसन्नता का अर्थ है:

  स्वास्थ्य *(सकल स्वास्थ्य)* – शारीरिक, भावनात्मक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक कल्याण।

  सामंजस्य – आंतरिक सामंजस्य (शरीर, मन और भावना) तथा बाह्य सामंजस्य (सामाजिक, व्यावसायिक)

  आनन्द – प्रसन्नता की स्थायी अवस्था अथवा परमानन्द की स्थिति अथवा आनन्दमय कोष – यह आत्म अनुभूति की स्थिति है।

उपर्युक्त के आधार पर हमने समझा है कि दिव्यता की ऊचाईयों तक व्यक्ति के विकास को संभव बनाने के लिए योग की सामान्य क्रियाविधि के अंतर्गत ऐसी उपचारात्मक तकनीक आनी चाहिए जिनके उपयोग से व्यक्ति अधिक स्वस्थ बना रहे।

योग ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्तित्व विकास में निम्नलिखित के आधार पर मुख्य भूमिका निभाती है :

i) आसनों के द्वारा मांसपेशियों में गहन विश्रान्ति आ जाती है।

ii) श्वसन क्रिया की दर कम तथा श्वास लेने की प्रक्रिया संतुलित हो जाती है जो प्राणायाम और श्वसन संबंधी अभ्यासों से संभव है।

iii) ध्यान के द्वारा मानसिक धरातल पर सृजनात्मक और इच्छाशक्ति को बढ़ाया जा सकता है।

iv) ज्ञान योग के अभ्यास से बुद्धि को तीव्र बनाना तथा मन की शान्ति स्थापित करना संभव होता है।

v) जीवन में प्रसन्नता का समावेश तथा भावनात्मक स्तर पर समरसता लाई जा सकती है। यह भजनों, धुनों, और भक्तिपूर्ण कीर्तनों के माध्यम से सम्भव है।

vi) मनुष्य के जीवन के हर पहलू में अन्तर्जात दिव्यता का प्रकटीकरण कर्म–योग के नियमों के अनुसरण द्वारा संभव है।

स्वस्थ जीवन के लिए समेकित योग मॉड्यूल (60 मिनट)

अभ्यास सं.	अभ्यास	दौर	अवधि
1	**श्वसन अभ्यास**		
	हस्त प्रसारण श्वसन	3×3	2 मिनट

	टखना प्रसारण श्वसन	5	1 मिनट
	खरगोश श्वसन	5	1 मिनट
	शशांकासन श्वसन	5	1 मिनट
	तात्कालिक विश्रान्ति तकनीक (आईआरटी)	–	1 मिनट
2	**शिथिलन अभ्यास**		
	धीमी गति से दौड़ना	–	2 मिनट
	आगे व पीछे झुकना	10	20 सेकेण्ड
	पार्श्व झुकाव	10	20 सेकेण्ड
	मरोड़ना	10	20 सेकेण्ड
	पवन मुक्तासन क्रिया	3×2+10+10	2 मिनट
	त्वरित विश्रान्ति तकनीक (क्यूआरटी)		2 मिनट
3	**सूर्यनमस्कार**	3	2 मिनट
4	**योगासन**		
	खड़े होकर करने वाले आसन (खड़े होकर)		
	अर्धकटि चक्रासन	दोनों ओर	1+1 मिनट
	त्रिकोणासन	दोनों ओर	1+1 मिनट
	परिवृत्त त्रिकोणासन	दोनों ओर	30 सेकेण्ड प्रत्येक
	बैठकर किए जाने वाले आसन		
	पश्चिमोत्तानासन	–	1 मिनट
	उष्ट्रासन	–	1 मिनट
	वक्रासन अथवा अर्ध मत्स्येंद्रासन	दोनों ओर	1+1 मिनट
	पेट के बल लेटकर किए जाने वाले आसन (अधोमुख या प्रणतासन)		
	भुजंगासन		1 मिनट
	शलभासन		1 मिनट
	पीठ के बल लेटकर (चित्त या उत्तान)		

	हलासन	–	30 सेकेण्ड
	चक्रासन	–	30 सेकेण्ड
	गहन विश्रान्ति वाली तकनीक (डीआरटी)	–	7 मिनट
5	**प्राणायाम के लिए तैयारी अभ्यास**		
	स्वच्छता लाने वाला श्वसन (कपालभाति क्रिया)	40–100	1 मिनट
	विभागीय प्राणायाम	3×4	2 मिनट
6	**प्राणायाम**		
	सूर्य अनुलोम विलोम प्राणायाम	5	1.5 मिनट
	नाडी शुद्धि प्राणायाम	5	3 मिनट
	शीतली तथा सदंत प्राणायाम	5	1.5 मिनट
	भ्रामरी प्राणायाम	–	1.5 मिनट
	नादानुसंधान प्राणायाम	3×4	3.5 मिनट
	भक्ति गीत	–	5 मिनट
	ध्यान	–	5 मिनट
	कुल		**60 मिनट**

1.9 कुछ चुनिंदा यौगिक क्रियाएं

संस्तुत योग अभ्यासों के क्रम में से, जो निम्नलिखित हैं, 10 या 12 आसनों को चुना जा सकता है और कुछ अन्य अभ्यासों को भी नियमित रूप से करने के लिए चुना जा सकता है। बारी–बारी से इनमें अन्य एक या दो अभ्यास जोड़े जा सकते हैं। इस प्रकार अभ्यास का कुल समय संतुलित रहता है। सामान्य रूप से कुल समय 30 से 45 मिनट तक प्रतिदिन हो सकता है।

1.9.1 आसन

- ***सर्वांगासन***

  स्रोतः स्रोत की जानकारी नहीं है किन्तु पारंपरिक रूप से यह काफी पुराना आसन है। यह विपरीतकरणी का संशोधित रूप है।

SARVĀṄGĀSANA

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001
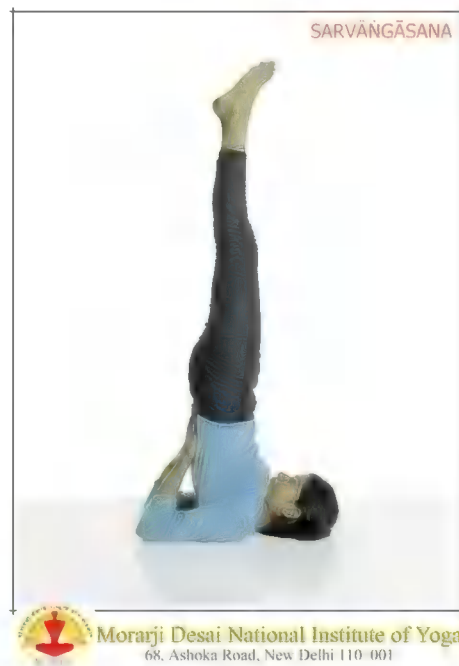
संक्षिप्त तकनीक

ठीक से सीधे लेट जाइए। दोनों पैरों को धीरे–धीरे एक साथ मिलाइए और ऊपर की ओर उठाकर 90 अंश तक ले जाइए, इसको कुछ देर के लिए कायम रखें। हाथों को जमीन पर टिकाकर टांगों को सिर की तरफ ले जाइए और साथ–साथ नितम्ब को भी उठाइए। इसको संतुलित रखिए और नितम्ब को थामने के लिए हाथों को नितम्ब पर ले जाइए ताकि उन्हें सहारा मिले। धीरे–धीरे नितम्ब को हाथों से दबाइए ताकि पैर ऊपर की ओर हों और पीठ तथा कंधे एक रेखा में हों। हाथों का सहारा लगातार पीठ पर लगा रहना चाहिए। अन्ततः ठोढ़ी को छाती से लगा होना चाहिए। विपरीत क्रम से धीरे–धीरे पूर्वावस्था में वापस आइए।

विधि और निषेध

हथेलियों पर ज्यादा दबाव न दें और शरीर को उठाने के लिए झटका ना दें।
यदि हृदय रोग की शिकायत हो तो इसे अपनी क्षमता से अधिक नहीं करना चाहिए।

लाभ

सिर की ओर रक्त परिवहन पर्याप्त रूप से होता है।

इस आसन से थायराइड और पैरा–थायराइड की समस्याओं से छुटकारा मिलता है जिससे इस अंग में रक्त परिभ्रमण में वृद्धि होती है, परिणामतः ये ग्रन्थियां सामान्य रूप से काम करने लगती हैं और शरीर के अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों के कार्यों को सुचारु बना देती हैं और शरीर की चयापचयी प्रक्रिया को स्थिर/नियमित कर देती है।

- ***धनुरासन***

स्रोतः घेरंड संहिता II:18 एच.पी. 1:25

DHANURĀSANA

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001
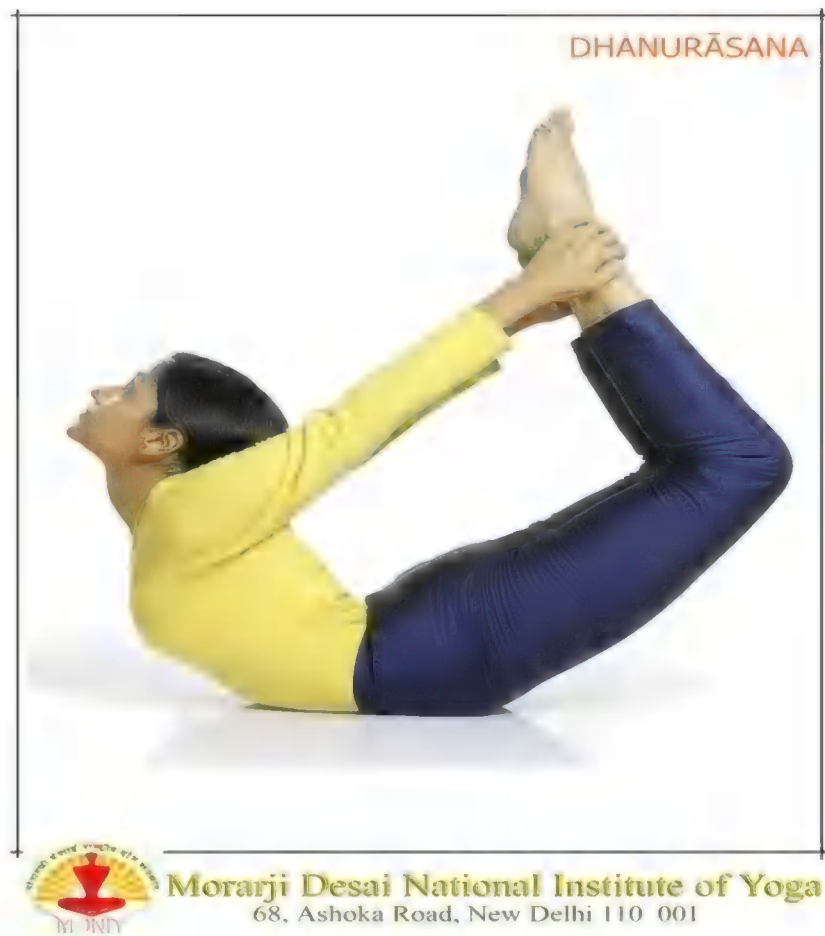
संक्षिप्त तकनीक

फर्श पर औंधा लेटकर ठोढ़ी को फर्श पर स्पर्श कीजिए और भुजाओं को शरीर के साथ समानांतर रूप में रखिए। टांगों को घुटनों से मोड़िए और टखनों को हाथ से पकडिए, धीरे–धीरे जांघ को ऊपर उठाइए, साथ–साथ सिर को भी उठाइए। सिर और छाती को उठाइए और शरीर को पेट के बल टिकाइए। कुछ सेकंडों तक इस अवस्था में बने रहिए और बाद में पहली वाली अवस्था में आ जाइए और विश्रांति की अनुभूति करें।

विधि और निषेध

धनुष का आकार बनाने की कोशिश करें।
प्रारंभिक अवस्था में घुटनों को अलग रखिए।
शरीर को झटका मत दीजिए।

लाभ

इस आसन से सुषुम्ना और पृष्ठ मांसपेशियां लचीली हो जाती हैं।
इससे कब्ज भी समाप्त हो जाती है, पाचन तंत्र की विकृतियां भी समाप्त होती हैं।

- *भद्रासन*

स्रोतः हठप्रदीपिका 1:53
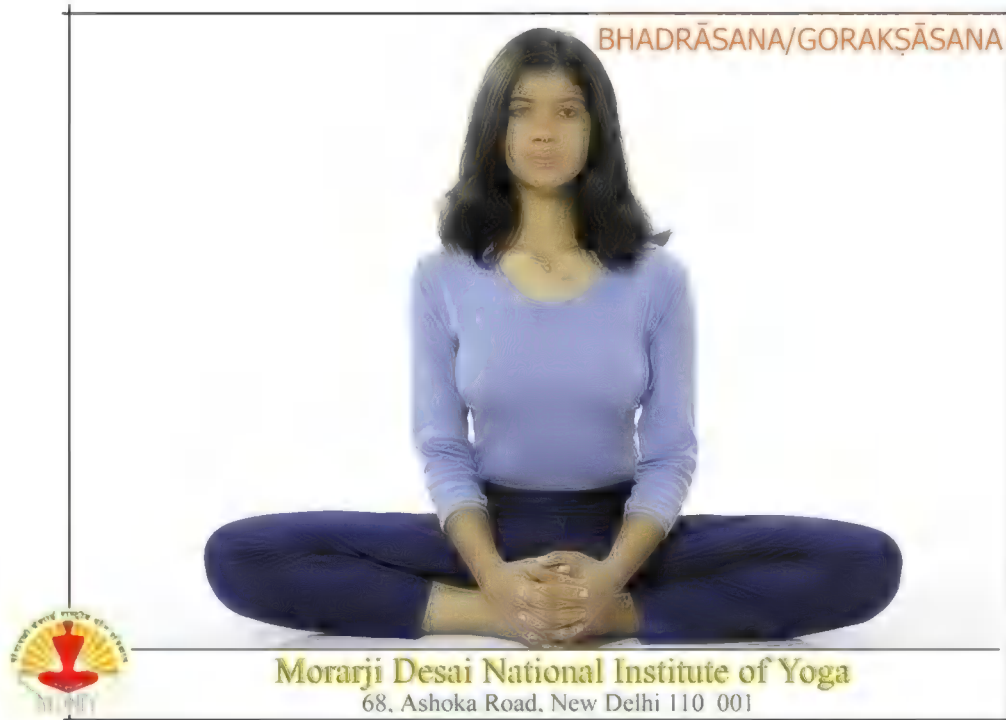
संक्षिप्त तकनीक

दंडासन में बैठिए, दोनों टांगों को एक साथ आगे मिलाइए, हाथ शरीर के अगल–बगल होने चाहिए, हथेलियां जमीन पर हों। रीढ़ की हड्डी बिल्कुल सीधी होनी चाहिए।

दोनों टांगों को धीरे–धीरे घुटनों से मोड़िए (पहले दांई ओर बाद में बांई) तथा दोनों तलवों को मिलाइए। उंगलियों से उन्हें पकड़े रखें और टखनों के चारों ओर उंगलियों की पकड़ रखिए। टांगें जमीन स्पर्श किए हुए होनी चाहिएं और घुटने भी जमीन पर होने चाहिएं।

विधि और निषेध

कमर और गर्दन सीधी होनी चाहिए। आभ्यंतर जांघों के मूल में खिंचाव होना महत्त्वपूर्ण है।

लाभ

इससे नितम्ब, घुटने और टखने के जोड़ों में बहुत अधिक लचीलापन आ जाता है और चोट लगने से बचने में सहायता मिलती है।

इससे रीढ़ के रज्जू भाग में तनाव से मुक्ति मिलती है।

यह कमर के पूरे भाग के लिए बहुत ही अच्छा आसन है तथा इससे नितम्ब, घुटने और टखनों के जोड़ों में लचीलापन आता है।

जांघों, श्रोणीय और जांघ के जोड़ो की मांसपेशियों में अच्छा खिंचाव आ जाता है जिससे वे स्वस्थ रहती हैं।

यह आसन श्रोणीय भाग के ऊतकों, नसो, नाड़ियों के विस्तारण के लिए लाभकारी है।

भद्रासन कमर और श्रोणीय हिस्सों की मांसपेशियों को मजबूत बनाने में सहायक है।

- ***पद्मासन***
  स्रोतः हठप्रदीपिका 1:45

  यह ध्यानस्थ आसन है।
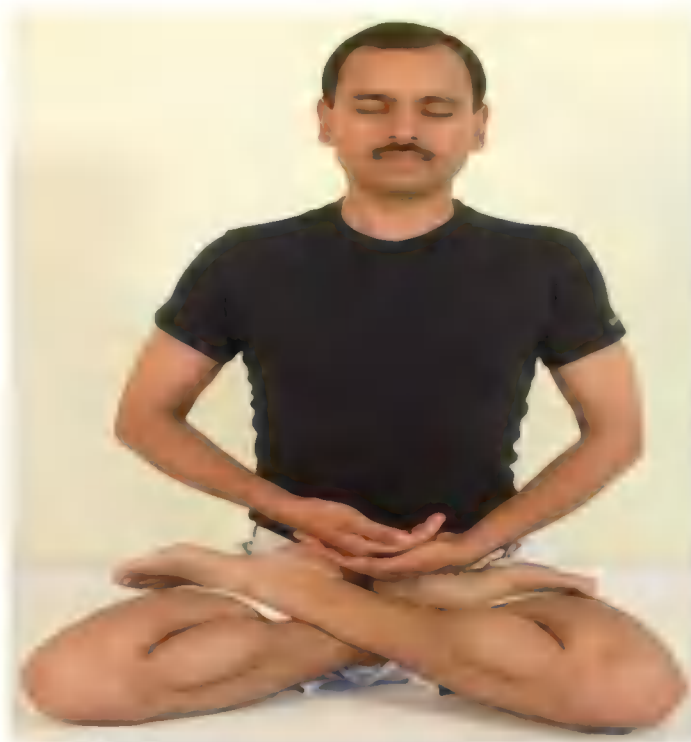
संक्षिप्त तकनीक

दंडासन में ठीक से बैठ जाइए। दाहिने पैर को हाथ की सहायता से घुटने पर रखिए और दाहिने टखने को पकड़कर पैर मजबूती से बायीं जांघ पर रखिए। इसी प्रकार बायें पैर को हाथ की सहायता से घुटने पर रखिए और पैर को दायीं जांघ पर रखिए। हाथ अपनी–अपनी ओर घुटनों पर ज्ञानमुद्रा में होने चाहिए और आंखे बंद हों।

विधि और निषेध

अंतिम आसन अवस्था में सुषुम्ना सीधी अवस्था में हो। पद्मासन करने से पहले अर्द्धपद्मासन किया जाना चाहिए।

आसन करने के लिए अधिक बल न लगाएं।

अधिक दर्द में आसन न किया जाए।

लाभ

श्रोणीय भाग में रक्त की अच्छी आपूर्ति होने लगती है और शरीर के पूरे भाग में अंगों को अच्छा लाभ मिलता है। त्रिकोणात्मक आधार के कारण यह आसन बेहतर एकाग्रता बढ़ाने में सहायता करता है।

- *सिंहासन*

स्रोतः हठप्रदीपिका 1:51, 52
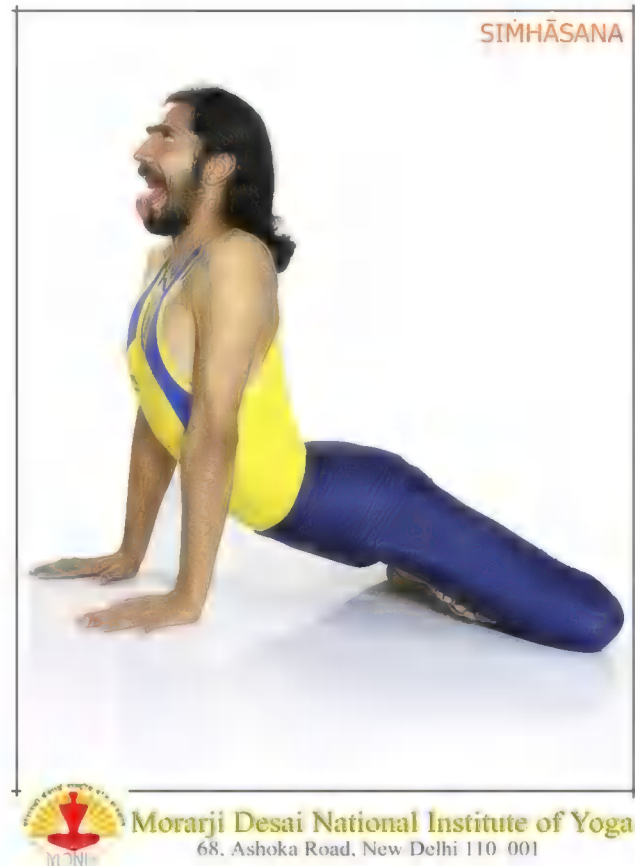
संक्षिप्त तकनीक

वज्रासन में बैठिए, धीरे–धीरे अपने नितम्बों को उठाइए और टांगों को कैंची की तरह एक–दूसरे में गुणा के चिन्ह् के रूप में रखिए और उसके ऊपर बैठ जाएं। दोनों हाथों को अपनी–अपनी ओर घुटनों पर रखिए और उंगलियों को फैला दें। जीभ जितना हो सके बाहर निकालिए और इसके साथ मुंह से दहाड़ के साथ श्वास बाहर निकालिए। कुछ देर के लिए इसी अवस्था में रहिए और धीरे–धीरे मूल अवस्था में आ जाएं।

विधि और निषेध

हाथों को सीधा रखें और जीभ को जितना संभव हो बाहर निकलें।

लाभ

टॉन्सिल की अवस्था में यह बहुत ही लाभकारी है।
जीभ में जो खुरदरापन होता है उसको दूर करने में सहायता मिलती है।

- *सुप्त–वज्रासन*

स्रोतः अज्ञात, किन्तु परंपरा पुरानी है।

संक्षिप्त तकनीक

वज्रासन में बैठिए। कोहनियों के सहारे से धीरे–धीरे कमर के बल लेट जाइए और जब तक कि सिर कंधे और कमर जमीन को न स्पर्श कर लें तब तक धीरे–धीरे क्रिया जारी रखिए। भुजाओं को एक–दूसरे के ऊपर रखकर तकिया बना लें और सिर के नीचे रख लें। घुटनों को जमीन पर एक–दूसरे से मिले होने चाहिए।

विधि और निषेध

जांघों और घुटनों के जोड़ों में समस्या होने पर इसे धीरे–धीरे करें।

डिस्क खिसकी हो और घुटने में दर्द हो तो इस आसन को न करें।

अपनी क्षमता से अधिक न करें।

घुटनों का विशेष ध्यान रखा जाए क्योंकि इस आसन में उनके ऊपर अधिक दबाव पड़ता है।

लाभ

यह आसन दमा और अन्य श्वास रोगों में बहुत ही लाभदायक है। गले के हिस्से में आगे की ओर अधिक खिंचाव होने से छाती की मांसपेशियां मजबूत होती हैं तथा स्वस्थ और लचीली हो जाती हैं।

नितम्बों की अच्छी कसरत हो जाती है और कमर की समस्याएं भी दूर हो जाती हैं।

शरीर के अगले भाग में काफी खिंचाव आ जाता है, विशेष रूप से रेखीय मांसपेशियों और पेट की दीवारों पर। इसका प्रभाव आंतों पर सकारात्मक रूप से पड़ता है।

पेट की वसा को कम करता है। कमर पतली हो जाती है।

पेट के हर तंत्र को मजबूत बनाकर इसमें सुधार लाता है।

- *जानुशिरासन*

स्रोतः अज्ञात, यह पश्चिमोत्तानासन का एक साधारण और प्राथमिक अभ्यास है।

संक्षिप्त तकनीक

सीधे बैठिए, पैरों को आगे की तरफ सीधा खींचिए। दाहिने घुटने को मोड़िए और एड़ी को बाएं पैर की जांघ के मूल में रखिए। दाएं पैर के तले को बाईं जांघ से सटाइए। पीठ को मोड़िए और धीरे–धीरे आगे की ओर झुकिए।

दोनों हाथों से बायें पैर के अंगुठे को पकड़िए। हाथों को आगे बढाइए और अंत में एक हाथ की कलाई को पकड़िए। निचली कमर से आगे को झुकिए और सांस छोड़िए। ठोढी या छाती को घुटने से स्पर्श करें। इसी प्रकार इसको दूसरी ओर से भी करें।

विधि और निषेध

छाती को अधिकतम खोलिए।
घुटने को मत मोड़िए।
ऊपरी पीठ से आगे मत झुकिए।

लाभ

यह आसन पेट की मांसपेशियों को सुदृढ़ बनाने में सहायक होता है। इसलिए कब्ज नहीं होती, यकृत के रोगों में लाभ होता है।

साइटिका की संभावना नहीं होती।

किडनी सुचारू रूप से काम करती हैं।

प्रोस्टेट ग्रंथि की वृद्धि से पीड़ित व्यक्तियों के लिए उत्तम होता है।

- ***पादहस्तासन***

स्रोतः अज्ञात, किन्तु यह आसन पारंपरिक है।
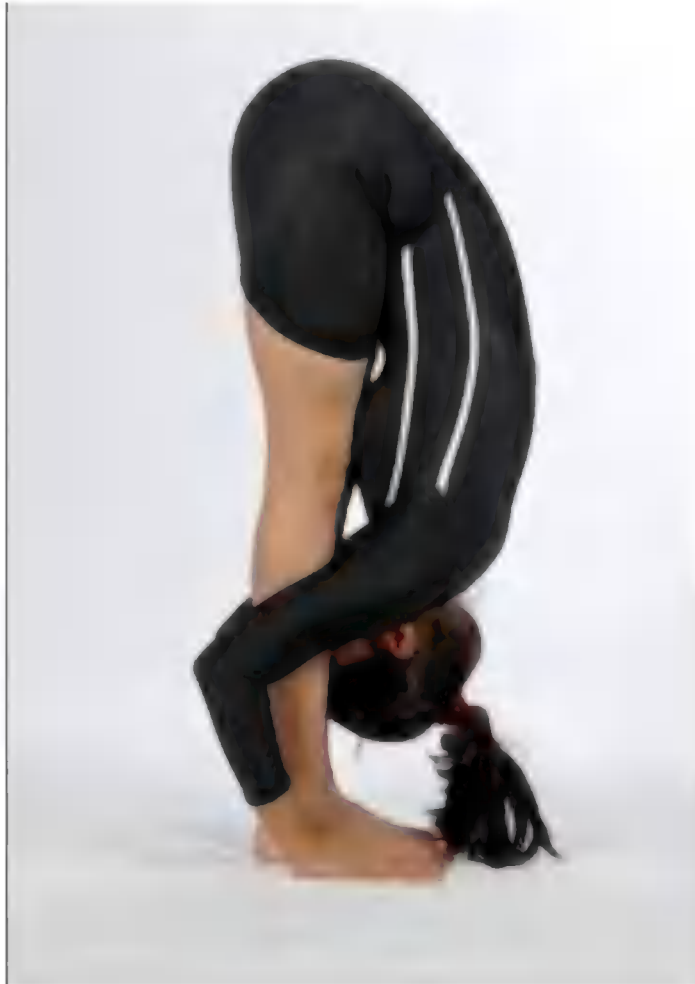
संक्षिप्त तकनीक

सीधे खड़े हो जाइए। पैरों को साथ–साथ मिलाइए और जमीन पर पैरों के आगे टिकाइए अथवा पैरों के दोनों ओर रखिए। हाथों की उंगलियाँ आगे की ओर हों। माथे को घुटनों के बीच रखिए।

विधि और निषेध

यदि हृदय रोग से पीड़ित हों, अमलीयता की शिकायत हो तो इस आसन को न करें।

लाभ

यह आसन अपच की शिकायत में लाभकारी है, सुषुम्ना और नितम्ब जोड़ों की मजबूती के लिए हितकर है।

1.9.2 बंध

- ***उड्डीयान***

  स्रोतः हठप्रदीपिका III:56
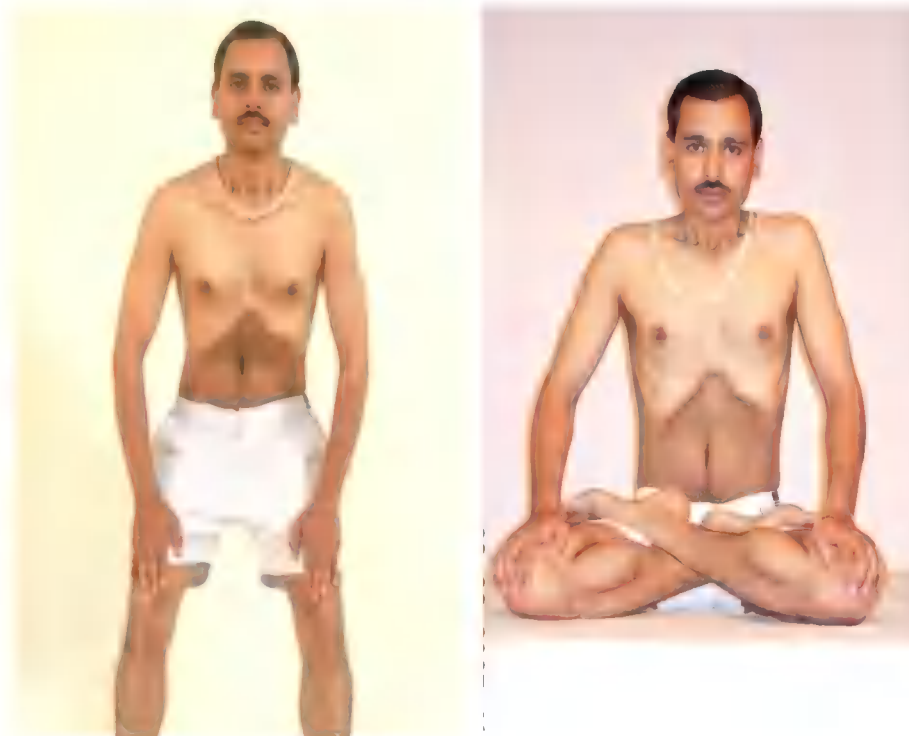
संक्षिप्त तकनीक

उड्डीयान तन्तुपट (डायफ्राम) बढ़ाने के लिए एक यौगिक अभ्यास है। इसे उड्डीयान इसलिए कहते हैं क्योंकि तन्तुपट को इसकी मौलिक अवस्था से ऊपर उठाने के लिए किया जाता है और वक्षीय विवर में काफी ऊंचा उठाया जाता है।

एड़ियों को एक फुट के अन्तर पर रखते हुए खड़े हो जाइए। पैर थोड़ा सा बाहर की तरफ हों और टांगें थोड़ी सी घुटनों के जोड़ों पर मुड़ी हुई हों। हाथों को घुटनों पर आराम से रखिए और आगे की तरफ झुकिए। मांसपेशियों को पूरा आराम दीजिए और पेट को ऊपर की तरफ दबाकर रखिए।

यह आसन पदमासन में बैठ कर भी किया जा सकता है।

विधि और निषेध

उड्डीयान हमेशा खाली पेट किया जाता है।

शुरूआत में तीन बार से ज्यादा न किया जाए।

क्योंकि इस अभ्यास में हृदय पर अधिक दबाव पड़ता है, इसलिए हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति इसको न करें।

लाभ

यह आसन सुषुम्ना नाड़ी, पीठ की मांसपेशियों और रेखीय मांसपेशियों में संतुलन बनाकर उन्हें मजबूत बनाता है। पीठ के हिस्से की वसा कम हो जाती है और साथ ही पेट की ओर ऊपर के हिस्से में खिंचाव आने से मोटाई कम हो जाती है और निचला पेट अंदर की ओर हो जाता है।

समस्त योगशिक्षा का लक्ष्य यह है कि मन को कैसे केन्द्रित किया जाए, इसके गुप्त खजाने को कैसे तलाश किया जाए, और आंतरिक, आध्यात्मिक संकाय को कैसे जागृत किया जाए।

1.9.3 क्रियाएं (षट्कर्म)

योग में शुद्धि अथवा 'शोधन' बहुत ही प्रमुख अवधारणा है जैसे शौच, नाड़ीशुद्धि, घटशुद्धि, चित्तशुद्धि ये ऐसे शब्द हैं जो शोधन की अवधारणा का प्रतिनिधित्व करते हैं। शाब्दिक रूप से शोधन का अर्थ होता है आंतरिक सफाई अथवा परिशुद्धि। लेकिन व्यापक अर्थ में इस शब्द का अर्थ अनुकूलन अथवा सुदृढ़ीकरण भी होता है।

शोधन संबंधी यह प्रकरण घेरंड संहिता में अभिव्यक्त है जिसका सारांश निम्नलिखित है:

'जैसे कि अधपका कच्चा मिट्टी का घड़ा पानी में रखने पर विघटित हो जाता है, उसी प्रकार शरीर की भी स्थिति होती है। इसलिए योग की अग्नि में शरीर को तपाइये तो यह परिशोधित होकर मजबूत हो जाता है।'

लाभ

षट्क्रियाओं का प्रभाव शारीरिक और ऊर्जा संबंधी शरीरों (कोषों) पर पड़ता है और दोषों (वात, पित्त और कफ) पर इसका प्रभाव पड़ता है। "प्राणायामों का अभ्यास करने वाले षटकर्मों का आश्रय लेते हैं।"

यदि कोई व्यक्ति शरीर के पदार्थों (वसा, बलगम और वात) के असंतुलन से पीड़ित है तो उसे स्वच्छता की प्रक्रिया वाले अभ्यासों का आश्रय लेकर शरीर को शुद्ध करना चाहिए। हठप्रदीपिका के अनुसार यह संस्तुत किया जाता है कि यदि तीन प्रकार के दोषीय पदार्थ संतुलित रूप से शरीर में मौजूद होते हैं तो इन अभ्यासों की जरूरत नहीं है।

- ***वमन धौति***

स्रोतः हठप्रदीपिका में बताया गया है कि यह अभ्यास 'गजकरणी' जैसा है। वमन धौति ठीक वैसे ही है कि जैसे 'गजकरणी'। (ह.प. II:26)

संक्षिप्त तकनीक

एक लीटर गुनगुना पानी लेकर उसमें एक चम्मच नमक मिलाइए। अच्छी तरह बैठकर इस नमकीन पानी के चार–पांच गिलास गटक लीजिए और तब तक पीते रहिए जब तक वह गले तक न पहुंच जाए। उसके बाद आगे की ओर झुकिए, शरीर को स्थिर रखकर जितना हो सके दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्य उंगलियों को एकदम गले तक घुसाइए और तब तक जारी रखें जब तक कि आमाशय का सारा पानी न निकल जाए।

विधि और निषेध

जो व्यक्ति उच्च रक्तचाप से पीड़ित है वह इस क्रिया को न करे।

लाभ

वमन प्रक्रिया से आमाशय और ऊपरी भाग में जमा अनावश्यक पदार्थ धुल जाते हैं और एसिड, बलगम और पित्त की परिशुद्धि हो जाती है।

- *त्राटक*

स्रोतः हठप्रदीपिका II:32
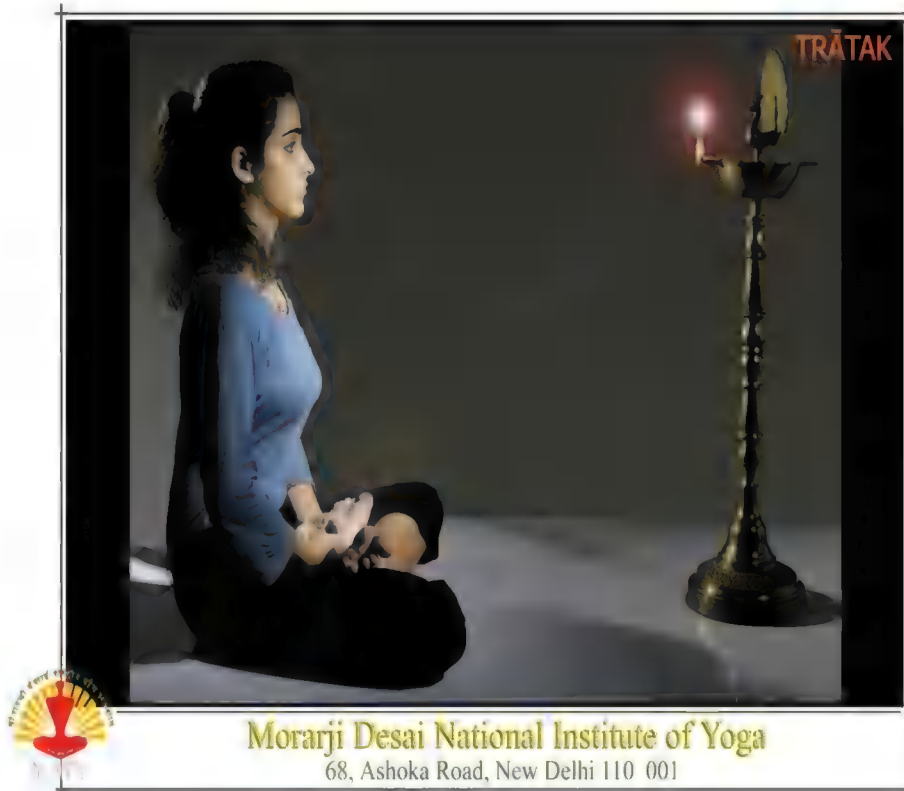
संक्षिप्त तकनीक

त्राटक में व्यक्ति कम से कम एक मीटर दूरी पर बैठकर जलती हुई लौ को अनवरत देखता रहे जबतक आंखों में आंसू न आ जाए। आंखें न झपकाएं। औसतन आंखों में आंसू आने में 5–7 मिनट तक लग जाते हैं। आंसू आने के बाद आंखों को धीरे से बंद कर लीजिए।

विधि और निषेध

आंखों पर ज्यादा जोर या दबाव न डालें।
तेज धूप में इस क्रिया को न करें क्योंकि इससे आंख का रेटिना फट सकता है।
त्राटक को अधिक देर तक न करें। आंसू आने पर विचलित न हों।

लाभ

इससे आंखें स्वच्छ हो जाती है और आंखों में चमक आ जाती है। इस क्रिया से मन शांत, एकाग्र हो जाता है और इच्छाशक्ति एवं एकाग्रता में वृद्धि होती है।

1.9.4 प्राणायाम

- *सूर्यभेदन प्राणायाम*

स्रोतः हठप्रदीपिका II:49

संक्षिप्त तकनीक

प्राणायाम की तकनीक के अनुसार दाहिनी नासिका से श्वास लीजिए और बायीं नासिका से बाहर छोड़िए।

विधि और निषेध

सूर्यभेदन प्राणायाम में अन्तःश्वास हमेशा दायीं नासिका से लिया जाता है और उसके बाद बायीं नासिका से बाहर निकालना होता है। इस अभ्यास को प्राथमिक रूप से शीत ऋतु में ही किया जाए।

लाभ

इससे शरीर में रक्त संचार संबंधी संतुलन रहता है तथा त्रिदोषिय संतुलन भी आ जाता है, इस प्रकार सभी प्रकार की शारीरिक और मानसिक कार्यप्रणाली सुचारू रूप से कार्य करने लगती है।

- *चन्द्रभेदन प्राणायाम*

Ćandrabhedī prāņāyāma

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001
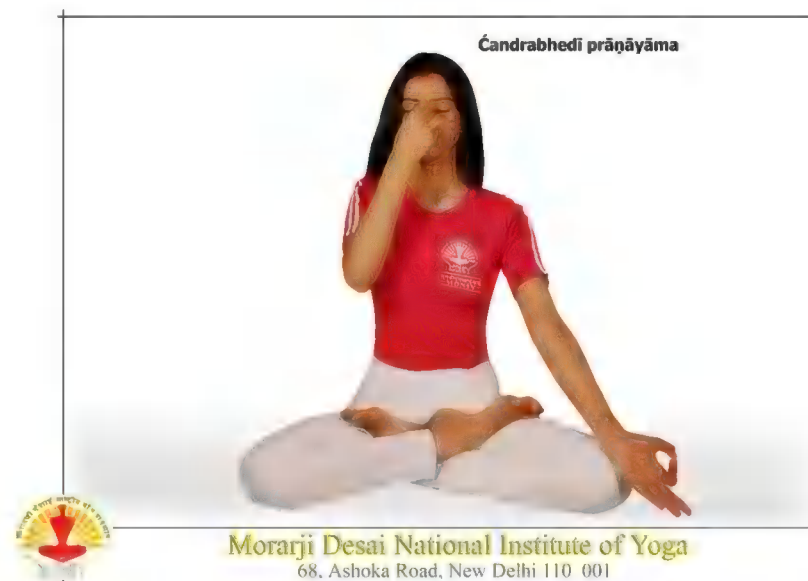
संक्षिप्त तकनीक

प्राणायाम की तकनीक के अनुसार श्वास बायीं नासिका से लेकर दाहिनी नासिका से छोड़नी होती है।

विधि और निषेध

चन्द्रभेदन प्राणायाम में अन्तःश्वसन सदैव बांयीं नासिका से और बहिःश्वसन दायीं नासिका से किया जाता है। इस अभ्यास को प्राथमिक रूप से ग्रीष्मकाल में ही किया जाना चाहिए।

लाभ

इससे शरीर में रक्त संचार संबंधी संतुलन और त्रिदोषिय संतुलन रहता है।

- *भ्रामरी प्राणायाम*

स्रोतः हठप्रदीपिका II:68

संक्षिप्त तकनीक

इस प्राणायाम में श्वसन करते समय एक नर मधुमक्खी की भांति ध्वनि उत्पन्न की जाती है जबकि श्वास को बाहर निकालते समय एक मादा मधुमक्खी जैसी ध्वनि उत्पन्न की जाती है। श्वास और प्रश्वास दोनों नासिका छिद्रों द्वारा किए जाते हैं।

विधि और निषेध

इसके लिए प्राणायाम के सामान्य निर्देशों का पालन करें।

लाभ

इस प्राणायाम के अभ्यास से मस्तिष्क से डरावने या भयंकर विचार दूर हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप मन और तंत्रिका तंत्र शांत हो जाते हैं। थाइरायड ग्लैंड के प्रकार्य में सुधार आ जाता है। इस प्राणायाम के करने से हृदय प्रसन्नता का अनुभव करता है।

- *भस्रिका प्राणायाम*

स्रोतः हठप्रदीपिका II:68

संक्षिप्त तकनीक

परम्परा के अनुसार सबसे पहले कपालभाति के 20 दौर जोर–जोर से करें तथा उसके तुरंत बाद एक दौर सूर्यभेदन प्राणायाम कुंभक के साथ करें। इससे एक दौर भस्त्रिका प्राणायाम हो जाता है।

(**टिप्पणीः** प्राणायाम में कुंभक एक बहुत ही उच्च क्रिया होती है इसलिए कुंभक न करें।)

विधि और निषेध

बिल्कुल सीधे बैठ जाइए और उपयुक्त दौर के लिए छाती को खोलें।
इसे क्षमता से अधिक न करें।

लाभ

इससे हृदय और फेफड़ों की क्षमता बढ़ती है, इसलिए यह ब्रोनकाइटिस और दमा के लिए लाभकारी है।

पूरे शरीर में रक्तसंचार में सुधार होता है।

पेट की मांसपेशियां स्वस्थ होती हैं और गंदगी दूर होती है।

- ***शीतली प्राणायाम (जीभ से हिस्स की आवाज)***

  स्रोत: हठप्रदीपिका II:57

ŚĪTALĪ PRĀṆĀYĀMA

संक्षिप्त तकनीक

श्वास लेने के दौरान जीभ को पत्ते की तरह दोनों किनारों से मोड़ें जैसे ट्यूब होती है। अब इस ट्यूब से श्वास लीजिए।

विधि और निषेध

इस क्रिया को केवल ग्रीष्मकाल में ही करें।

लाभ

इस प्राणायाम से ग्रंथि बढ़ने जैसी बीमारी समाप्त हो जाती है, यकृत, तिल्ली और पित्त जैसे रोगों में लाभ होता है। इससे भूख और प्यास का नियमन हो जाता है।

1.10 सारांश

जैसा कि आपने इस पहली इकाई 'योग और यौगिक अभ्यासों की प्रस्तावना' में देखा है इससे आपको योग की एक झलक मिल जाती है, साथ ही इसकी परिभाषाएं योग का उद्गम, ऐतिहासिक विकास, अष्टांग योग पर विस्तृत टिप्पणी, योग और इसकी धाराएं, योग के दो संप्रदाय, स्वस्थ जीवनयापन के लिए योगाभ्यास, इसमें शामिल हैं।

योग के तीन मुख्य सिद्धान्त हैं शरीर को विश्रान्ति, श्वसन क्रिया को धीमा करना तथा मन को शांत करना। इससे हमें संतुलन और समत्व का मार्गदर्शन मिलता है जो बौद्धिक स्तर पर लाभकारी है अच्छे और बुरे के बीच अन्तर करने की शक्ति प्राप्त होती है जिससे हम किसी भी परिस्थिति में संतुलित रहते हैं।

1.11 इकाई के अन्त में प्रश्न/क्रियाकलाप

1. योग के विकास के इतिहास पर चर्चा कीजिए।
2. यम और नियमों का विस्तृत विवरण दीजिए और यौगिक जीवन में इसके महत्त्व को बताइए।
3. चार प्रकार के प्राणायामों पर चर्चा कीजिए।
4. योग की चार धाराओं पर चर्चा कीजिए।
5. स्वस्थ जीवनयापन के सिद्धांतों का वर्णन करिए।

इकाई 2: योग ग्रंथों का परिचय

संरचना

2.1 प्रस्तावना

योग पर इस पाठ्यक्रम की पूर्ववर्ती इकाई (अर्थात् इकाई 1) में आपने सीखा कि पतंजलि के अनुसार योग चित्त या मन की गतिविधियों को नियंत्रित करने की कला तथा विज्ञान है। जैसा कि आपको ज्ञात है, आज तनाव और टूटन, चिंताएँ और कुंठा मानव जीवन को क्षत–विक्षत कर रहे हैं; ऐसी स्थिति में आज के मनुष्य के लिए योग शिक्षा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस स्थिति के अनुसार यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस अनुशासन को समझें जो हम सब के जीवन से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा है और जीवन को जीने और बेहतर बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

स्थिति हमें चेतावनी दे रही है कि हमें इसके अध्ययन की कितनी आवश्यकता है जो सीधे हममें से प्रत्येक के जीवन से संबंधित है और बेहतर जीवन में योगदान कर सकता है। वर्तमान इकाई में, आपका परिचय योग ग्रंथों से कराया जाएगा, जिनके द्वारा आप यौगिक साहित्य का सबसे प्रामाणिक स्रोत ज्ञात कर सकते हैं।

जैसा कि आपको ज्ञात है, अंतिम विश्लेषण के रूप में योग को दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है, पतंजलि योग एवं हठ योग। इस इकाई में प्रदत्त विवरण द्वारा, आप योग–शास्त्र पर लिखित प्रामाणिक ग्रंथों का अध्ययन कर अपने ज्ञान व विवेक को विकसित कर सकते हैं।

2.2 अधिगम उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात्, आप इस योग्य हो जाएँगे कि:

- यह औचित्य सिद्ध कर सकेंगे कि योग के प्रति एक सही दर्शन विकसित करने के लिए यौगिक ग्रंथों का अध्ययन क्यों महत्त्वपूर्ण है;
- पतंजलि के योग सूत्र के चार पादों में निहित मुख्य विषय को संक्षेप में स्पष्ट कर सकेंगे;

- व्याख्या कर सकेंगे कि अष्टांग योग किस प्रकार मानव या व्यक्तित्व विकास के लिए एक एकीकृत/समग्र दृष्टिकोण है;
- क्रिया योग के अर्थ और महत्त्व को स्पष्ट कर सकेंगे;
- योग पर विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखित अन्य योग ग्रंथों को बता सकेंगे;
- पतंजलि योग एवं हठ योग के बीच संबंध स्थापित कर यह बता सकेंगे कि वे एक दूसरे के पूरक हैं;
- कुछ योगासनों, मुद्रा, क्रिया और प्राणायामों के नाम बता सकेंगे तथा उनका अभ्यास कर सकेंगे;
- अभ्यास के दौरान पालन करने योग्य सामान्य अनुदेशों का वर्णन कर सकेंगे।

2.3 एक अनुशासन के रूप में योग का औचित्य

अध्ययन के एक विषय के रूप में योग एक विषय भर लगता है, लेकिन वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पता चलेगा कि इसकी काफी शाखाएं व प्रवृत्तियां समय–समय पर विकसित हुई, उदाहरण के तौर पर, राज योग या अष्टांग योग, हठ योग, भक्ति योग, जप योग, कर्म योग, ज्ञान योग, लय योग इत्यादि। इनके अभ्यास करने की विधियों के बीच थोड़ा–बहुत अंतर हो सकता है, लेकिन अंतिम उद्देश्य समान है। यह मुख्य रूप से एक आध्यात्मिक अनुशासन है। इसके बावजूद, यह सांसारिक मानव जीवन की वास्तविकताओं, समाज और परिवेश में अपनी जगह को अनदेखा नहीं करता। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है, यह मानसिक स्वास्थ्य के साथ–साथ शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी मानव आवश्यकताओं को पूरा करता है। वर्तमान समय में दुनिया भर में योग की माँग में तीव्र वृद्धि हुई है। यह स्थिति विभिन्न कारणों से है। इनमें सबसे प्रमुख है तनाव। अत्यधिक तनाव के कारण व्यक्ति के स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। तनाव और इसके बुरे प्रभाव से निबटने के लिए, बड़ी संख्या में लोग योग की ओर उन्मुख हो रहे हैं।

अतएव, योग को एक विज्ञान के रूप में जानने के लिए योग के मूल ग्रंथों का अध्ययन करना बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। इसका वैश्विक–दृष्टिकोण क्या है? यह बदलती परिस्थितियों के बीच में एक व्यक्ति को कैसे देखता है? यह एक सुरक्षित जीवनशैली के निर्माण हेतु किन सुझावों को प्रस्तुत करता है? किस प्रकार का आचरण व्यक्तिगत शांति और सामाजिक सद्भाव के लिए उपयोगी है?

इन सब मुद्दों तथा कुछ और अधिक जानने के लिए हमें योग के पारंपरिक ग्रंथों का अध्ययन करना अत्यंत उपयोगी होगा। योग के कुछ प्रकाशित ग्रंथों में से प्रत्येक पर एक संक्षिप्त रूपरेखा के साथ हम उनका उल्लेख कर रहे हैं।

2.4 योग और यौगिक ग्रंथों का वर्गीकरण

वर्गीकरण के एक व्यापक पैमाने पर, योग को दो प्रकारों में विभक्त किया गया है। एक, पतंजलि योग, जैसा कि उनके योग सूत्र में वर्णित है, और दूसरा हठ योग, जिस पर कई ग्रंथ उपलब्ध हैं।

2.4.1 पतंजलि का "योगसूत्र"

यह ग्रंथ महर्षि पतंजलि द्वारा रचित है। यह ग्रंथ सूत्रों के रूप में लिखा गया है। सूत्र–शैली भारत की प्राचीन दुर्लभ शैली है जिसमें विषय को अति संक्षिप्त शब्दों में प्रस्तुत किया जाता है। यह चार पादों में विभाजित है जिसमें 196 सूत्र निबद्ध हैं। इस ग्रंथ में महर्षि पतंजलि ने यथार्थ रूप में योग के आवश्यक दार्शनिक आदर्शों और सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है। प्रस्तुति की अपनी शैली में यह एक चमत्कार है। पतंजलि का "योग सूत्र", योग विषय पर एकमात्र सबसे प्रामाणिक पुस्तक के रूप में स्थापित है।

इसके चार पाद निम्नलिखित हैं: **समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद, और कैवल्य पाद।**

प्रथम पाद मौलिक योग की प्रकृति और इसकी कुछ तकनीकों से संबंधित है। यह इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करता है कि 'योग क्या है?' समाधि की स्थिति योग का सार रूप है। इसलिए, इस खंड में

समाधि पर व्यापक चर्चा की गई है। इस अध्याय में भी मानव मन (चित्त) और उसकी सभी अस्थिर दशाओं (विचित्ति) की प्रकृति पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरे पाद में क्लेश (कष्ट) की प्रकृति पर चर्चा और मानव कष्टों का हल खोजने का प्रयास किया गया है। यह एक प्रश्न उठाता है कि 'हमें योगाभ्यास क्यों करना चाहिए?' यह मानव जीवन और इसकी दशाओं का एक उत्तम विश्लेषण प्रदान करता है।

इस ग्रंथ के इस भाग में अभ्यास के आठ अंग (घटक) प्रस्तुत किए गए हैं जो इस प्रकार हैंः ***यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान* और *समाधि***। इन आठ घटकों के पहले पांच घटक बहिरंग योग या बाह्य प्रकृति के योग रूप कहे गए हैं। इन पांच घटकों को आरंभिक तैयारी के घटकों के रूप में जाना जा सकता है। बाद के तीन घटकों (***धारणा, ध्यान, समाधि***) को अंतरंग योग का घटक कहा गया है क्योंकि वे अंतर्मन को साधने का कार्य करते हैं। इनका अभ्यास हमें अंतरंग योग की ओर उन्मुख करता है जिसमें समाधि की स्थिति सन्निहित है। यह अध्याय हमें योग के धरातल पर मानसिक, शारीरिक, भावनात्मक और नैतिक रूप से तैयार करता है। तीसरा खंड विभूति पाद है जिसका पहला भाग अंतरंग योग, अष्टांग योग के अंतिम तीन घटक (समाधि), पर विस्तार से प्रकाश डालता है। ये उच्च तकनीकें यौगिक जीवन के रहस्यों को प्रकट करती हैं। दिव्य शक्तियों (विभूतियों एवं सिद्धियों) का अनुभव होता है। इस पाद का दूसरा भाग सिद्धियों पर विवरण प्रस्तुत करता है।

कैवल्य पाद इस ग्रंथ का अंतिम अध्याय है। यह योगाभ्यास से संबंधित दार्शनिक समस्याओं की गहरी छानबीन करता है। यह अध्याय मन की आवश्यक प्रकृति, लौकिक अवधारणा, मानव की ऐच्छिक प्रकृति और कैसे इच्छाएँ अनुकूलन और बंधन का कारण हैं; के बारे में भी चर्चा करता है। मुक्ति (कैवल्य) की स्थिति को किस प्रकार अनुभव किया जा सकता है और इस प्रकार की शुद्ध चेतना द्वारा किस तत्त्व की व्युत्पत्ति होती है, को स्पष्ट करता है।

"योगसूत्र" का अध्ययन एक श्रमसाध्य कार्य है। यह स्पष्टतः अत्यधिक उच्च मानसिकता की प्रतिपूर्ति करता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु ध्यान और अडिग अध्यवसाय दोनों ही आवश्यक शर्तें हैं। अतएव् बारंबार अध्ययन हेतु अध्येता को एक या दो सूत्रों के अभ्यास का परामर्श दिया जाता है। साथ ही आधुनिक भाषाओं में उपलब्ध टीकाएँ भी काफी सहायक सिद्ध होती हैं। एक समय में एक ही सूत्र का सार ग्रहण करना अधिक उपयोगी होगा, बनिस्बत इसके कि पूरी पुस्तक को तेजी से पढ़ जाना।

अष्टांग योग (योग सूत्र 2.29)

यहाँ नीचे योग के आठ घटकों में से प्रत्येक को संक्षिप्त रूप में परिभाषित किया जाता है। इनके बारे में विस्तार से पढ़ने के लिए आप इस इकाई का खंड 2.5 देख सकते हैं :

1) **यमः** इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सन्निहित हैं।

   - *अहिंसाः* शब्दों से, विचारों से और कर्मों से किसी को हानि न पहुँचाना।
   - *सत्यः* विचारों में सत्यता, परम–सत्य में स्थित रहना।
   - *अस्तेयः* चोर–प्रवृति का न होना, किसी अन्य की वस्तु को (बिना उसकी अनुमति के) नहीं लेना। तात्पर्य यह कि आचरण और व्यवहार में ईमानदारी बरतना।
   - *ब्रह्मचर्यः* चेतना को ब्रह्म के ज्ञान में स्थिर करना अथवा सभी इंद्रिय–जन्य सुखों में संयम बरतना।
   - *अपरिग्रहः* आवश्यकता से अधिक संचय नहीं करना और दूसरों की वस्तुओं की इच्छा नहीं करना।

   ये सभी गुण जीवन में लागू किए जाने पर आगे योग प्रशिक्षण के लिए एक मजबूत नैतिक आधार निर्मित करते हैं। यम आत्म–संयमित व्यवहार हेतु अपरिहार्य है। इन्हें महाव्रत, महान सार्वभौमिक प्रतिज्ञा भी कहा जाता है।

2) **नियमः** इसमें शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर–प्रणिधान सन्निहित हैं।

- *शौचः* आंतरिक और बाह्य दोनों ओर की शुद्धि।
- *संतोषः* लालच और लोभ पर नियंत्रण तथा प्रत्येक स्थिति में संतुष्ट रहने का प्रयास करना।
- *तपः* शारीरिक और मानसिक दोनों स्थितियों में तपस्या, आत्मानुशासन। यह भी योग और तप के विभिन्न कठिन अभ्यास हेतु बनाया गया है जो आंतरिक पवित्रता का प्रदायक है।
- *स्वाध्यायः* ग्रंथों का अध्ययन और उनके पाठों पर मनन तथा स्वयं ज्ञान का सृजन करना। यह भी गहरे चिंतन को प्रस्तुत करता है अथवा इस तरह के प्रश्नों की ओर उन्मुख करता है कि 'मैं कौन हूँ', 'मैं यहाँ क्यों हूँ', 'मैं किस ओर बढ़ रहा हूँ?' इस प्रकार के प्रश्नों पर चिंतन, मनन करना तथा इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढने का प्रयास करना।
- *ईश्वर–प्रणिधानः* ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण, पूर्ण श्रद्धा।

3) **आसनः** इसका अर्थ है– यह शरीर और मन पर नियंत्रण हेतु विभिन्न शारीरिक मुद्राओं का अभ्यास।

4) **प्राणायामः** प्राण पर नियंत्रण तथा सूक्ष्म और लंबे समय तक साँस लेने में क्षमता ग्रहण करने हेतु श्वास–लेने संबंधी खास तकनीकें।

5) **प्रत्याहारः** इंद्रियों को अंतर्मुखी करके उनके संबंधित विषयों से विमुख करना।

6) **धारणाः** यह अभ्यास किसी एक वस्तु पर ध्यान केंद्रित करने से संबद्ध है, जिससे कि वांछित एकाग्रचित्तता विकसित की जा सके।

7) **ध्यानः** इसका तात्पर्य मन को निर्बाध रूप से एक ही पदार्थ वस्तु की ओर केंद्रित किए रखना है।

8) **समाधिः** शुद्ध चेतना में विलय अथवा आत्मा से जुड़ना, शब्दों से परे परम–चैतन्य की अवस्था।

नोटः *अष्टांग योग के विभिन्न घटकों के बारे में विस्तार से पढ़ने के लिए कृपया इस इकाई के खंड 2.5 का अवलोकन करें।*

कार्यकलाप 7

1. योग की महत्त्वपूर्ण परंपरागत शैलियाँ कौन–कौन सी हैं?

2. अष्टांग योग के विभिन्न घटकों (अंगों) को उचित क्रम में लिखिए।

2.4.2 हठ योग ग्रंथ

निम्नलिखित खंड में हम हठ योग पर उपलब्ध कुछ महत्त्वपूर्ण परंपरागत ग्रंथों से आपका परिचय करा रहे हैं:

1) हठप्रदीपिका

हठ प्रदीपिका स्वात्मराम द्वारा रचित है। हठप्रदीपिका की पांडुलिपि के कुछ ही संस्करण उपलब्ध हैं। हालांकि दो प्रमुख प्रकाशित संस्करण प्रचलन में हैं।

क) हठप्रदीपिका; कैवल्यधाम, लोनावला द्वारा प्रकाशित। इसमें 400 छंद हैं जो 5 अध्यायों में फैले हुए हैं।

ख) हठप्रदीपिका; वर्ष 2011 में लोनावला योग संस्थान द्वारा प्रकाशित। इसमें दस अध्याय और लगभग 650 छंद हैं। इसमें कुछ अतिरिक्त अध्याय हैं जिनमें ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, राजयोग, काल ज्ञान और विदेहमुक्ति इत्यादि विषयों पर चर्चा है। यह एक पूर्ण ग्रंथ जान पड़ता है।

नाथ पंथ के सिद्ध योगियों के अनुसार, मानव शरीर पांच मूल तत्त्वों से मिलकर बना है। यह हठ योग के इन छह अंगों पर बल देता है: ***आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान*** और ***समाधि***। योगी के लिए भोजन ग्रहण करने और निराहार रहने की भी संस्तुति की गई है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए सिद्ध, पद्म, मत्स्येंद्र इत्यादि जैसे आसनों का शारीरिक मुद्राओं के रूप में वर्णन किया गया है।

शरीर के विषाक्त पदार्थों की सफाई के लिए धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि तथा कपालभाति नामक षट्कर्म का वर्णन किया गया है।

नाडियों की और अधिक शुद्धि के लिए, श्वास लेने की विभिन्न तकनीकों का वर्णन है। ये आठ कुंभक हैं: सूर्यभेदी, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा केवल।

इस पुस्तक में दस मुद्राओं का वर्णन किया गया है, जैसे: महामुद्रा, महाबंध इत्यादि। इसमें जालंधर, उड्डीयान तथा मूल तीन बंधों का वर्णन किया गया है।

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, मानवीय लक्षण (सकारात्मक और नकारात्मक भावनाओं) का वर्णन है।

इसके पश्चात् राजयोग का वर्णन है जो समाधि की तकनीक है। यह जीवात्मा और परमात्मा का मिलन है। यह अवस्था प्राणायाम की उच्च तकनीक के अभ्यास के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है। इसके लिए शांभवी या खेचरी मुद्रा का भी अभ्यास किया जाता है।

लय की स्थिति प्राप्त करने के लिए नादानुसंधान या रहस्यमय आंतरिक ध्वनि का वर्णन किया गया है। विभिन्न आंतरिक रहस्यमय या चमत्कारी ध्वनियों का श्रवण योग की चार दशाओं आरंभ, घट, परिकाय तथा निष्पत्ति द्वारा सुनिश्चित होता है।

काल ज्ञानः प्रकृति की शक्तियों में कुछ विशिष्ट संकेत छिपे होते हैं जो किसी योगी के निधन की आगामी भविष्यवाणी व्यक्त कर सकते हैं। यह ज्ञात होने पर वह शरीर छोड़ने का निर्णय कर सकता है।

मुक्ति (आध्यात्मिक मुक्ति) दो प्रकार की हो सकती हैं, जीवन्मुक्ति (जीते–जी मुक्ति) और विदेहमुक्ति (मृत्यु के बाद मोक्ष)

नोटः *अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास; बिहार योगपीठ जैसे अन्य कई संस्थानों ने हठप्रदीपिका पर टीकाएँ प्रकाशित की हैं। वे भी बहुत महत्त्व की हैं।*

2) घेरंड संहिता

इस ग्रंथ का एक महत्त्वपूर्ण संस्करण कैवल्यधाम, लोनावला द्वारा प्रकाशित हुआ है। यह लगभग सौ तकनीकों का वर्णन करता है। यह एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

हठप्रदीपिका से भिन्न, जहाँ हठयोग का समर्थन किया गया है, यह ग्रंथ हठयोग शब्द के स्थान पर 'घटस्थ योग' का समर्थन करता है। यह गुरु घेरंड और शिष्य चंडकापाली के मध्य वार्त्तालाप के रूप में है।

इसमें छह कियाओं का उल्लेख है, जिसमें छह क्रियाएँ मिलकर 13 धौति, 2 बस्ति, 1 नेति, 1 त्राटक, 1 नौलि और 3 कपालभाति के अभ्यास कराते हैं।

इसमें 32 आसनों का वर्णन है। पुस्तक में 25 मुद्राओं का वर्णन है; प्रत्याहार की 3 तकनीक, प्राणायाम के 10 अभ्यास, 3 ध्यान और 6 समाधियाँ वर्णित हैं।

यद्यपि यह घटस्थ योग (शरीर के माध्यम से योग) है, तथापि तकनीक इस प्रकार की हैं कि योगाकांक्षी धीरे–धीरे भौतिक स्थिति से ज्ञानातीत/अनुभवातीत स्थिति की ओर अग्रसर होता है।

शारीरिक परिशुद्धता प्राप्त करने हेतु 6 अभ्यास संस्तुत किए गए है जिनके अभ्यास फलस्वरूप रहस्यमय अनाहत ध्वनि सुनी जा सकती है, खेचरी और शांभवी में पूर्णता प्राप्त की जा सकती है, जिन से दिव्यदृष्टि विकसित हो सकती है।

काया शोधन सुनिश्चित करने हेतु धौति की तकनीक पर्याप्त विस्तृत रूप में उपलब्ध है।

इस ग्रंथ में वेदांतिक पाठ के अंश भी दृष्टव्य हैं।

3) सिद्ध–सिद्धांत–पद्धति

यह संभवतः एकमात्र ऐसी पुस्तक है जो नाथ योगियों के हठ पंथ के दार्शनिक सिद्धांतों पर प्रकाश डालती है, इसलिए यह महत्त्वपूर्ण है। यह वर्ष 2010 में लोनावला योग संस्थान द्वारा प्रकाशित की गई है। यह एक बहुत ही व्यवस्थित ढंग से लिखा गया ग्रंथ है जिसमें 350 छंद हैं जो छह अध्यायों में विभाजित है। इसके रचयिता गुरु गोरखनाथ हैं।

- पहला अध्याय अनाम (गुमनाम) से आरंभ होनेवाले विकास की प्रक्रिया का वर्णन करता है।
- दूसरे अध्याय में मानव शरीर की चर्चा है जिसमें चक्र, आधार इत्यादि का वर्णन है।
- तीसरे अध्याय में मानव शरीर के प्रति एक गहरी अंतर्दृष्टि विकसित की गई है। इस शरीर को ब्रह्मांड की एक प्रतिकृति कहा गया है।
- चौथे अध्याय में शरीर के आधार या पिंडाधार के साथ–साथ ब्रह्मांड के बारे में भी चर्चा है। शक्ति इसका सार/आधार है।
- पांचवें अध्याय में उस प्रक्रिया का वर्णन है जिसके द्वारा व्यक्ति पूर्णत्व के साथ संतुलन स्थापित कर सकता है।
- छठे अध्याय में किसी अवधूत योगी तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों की प्रकृति और चारित्रिक विशेषताओं की चर्चा है।

4) गोरख शतक

यह हठ योग पर एक छोटी पुस्तिका है जिसमें लगभग सौ छंद हैं। इसमें योग के छह अंगों (षडंग योग) का वर्णन है जबकि यम और नियम को छोड़ दिया गया है। यह एकता के उपनिषदीय अद्वैत आदर्श का अनुसरण करता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु साधनों का भी सुझाव देता है।

यह सभी चौरासी आसनों में सिद्धासन और कमलासन (पद्मासन) पर जोर देता है।

इसमें चक्र, नाड़ियों तथा विभिन्न प्राणों का भली–भाँति वर्णन किया गया है। प्राणायाम की कुछ तकनीकों का सविस्तार वर्णन है। यह भी वर्णन है कि प्राण की प्रक्रिया को सुषुम्ना से होकर महापद्म (सहस्रार) की ओर उत्प्रेरित किया जा सकता है।

इसकी असाधारण विशेषताओं में से एक विशेषता यह है कि इसमें पाँच धारणाओं का मानसदर्शन, बीज मंत्र इत्यादि के साथ पांच मूल तत्त्वों पर अभ्यास का रोचक वर्णन किया गया है, ताकि अभ्यासकर्ता इन तत्त्वों पर नियंत्रण हासिल कर सकते हैं।

5) कुंभक पद्धति

इसकी रचना काशी निवासी रघुवीर ने की थी।

इसमें प्राणायाम की विभिन्न तकनीकों और चेतना के विभिन्न स्तरों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है जिनमें से एक अध्यात्मोन्मुख साधक अपनी आभ्यंतर यात्रा के दौरान गुजरेगा। प्राणायाम की लगभग 72 तकनीकें बताई गई हैं, जिनमें कई अब तक अज्ञात हैं। उनमें से अधिकांश की प्रकृति अद्वितीय हैं। इन तकनीकों के नाम हठ योग के प्रकाशित ग्रंथों में से किसी में नहीं पाए जाते हैं।

कुंभक को दो भागों में विभाजित किया गया है, एक मेरु कुंभक (केवल कुंभक से तुलना की जा सकती है) और दूसरा अमेरु कुंभक। एक और वर्गीकरण है, अन्तः कुंभक (आंतरिक कुंभक), बाह्य कुंभक (बाहरी कुंभक) और स्तंभवृत्ति (केवल कुंभक) है।

6) हठरत्नावली

यह पुस्तक श्रीनिवासयोगी ने लिखी है। यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय नहीं है जितनी हठप्रदीपिका। इसे हठयोगरत्नसारणी या रत्नावली भी कहा जाता है। इसकी सामग्री चार अध्यायों में विभाजित है। विभिन्न विषयों का वितरण इस प्रकार है :

प्रथम अध्यायः मंत्र, लय, राज और हठ योग महायोग के अंतर्गत वर्णित हैं। शुद्धि की आठ प्रक्रियाएँ (बजाय सामान्य छह के) वर्णित हैं। ये चरबी और विषाक्त पदार्थों को ही नहीं, वरन् चक्र को भी शुद्ध करते हैं।

द्वितीय अध्यायः नौ कुंभकों का विस्तृत वर्णन दिया गया है; आठ के अतिरिक्त नौवां कुंभक भुजंगीकरण है।

तृतीय अध्यायः इस अध्याय में हमें चौरासी आसनों की पूरी सूची और विवरण मिलता है।

चतुर्थ अध्यायः नादानुसंधान के साथ–साथ इस अध्याय में समाधि के बारे में वर्णन है। आरंभ, घट, परिकाय और निष्पत्ति जैसी हठ की चार प्रगतिशील स्थितियाँ इस अध्याय की विषय–वस्तु है।

टीका की विशेषता है इसकी स्पष्ट भाषा–शैली, जो एक आम पाठक के लिए सहज ग्राह्य है।

इस विषय पर चर्चा के बारे में स्पष्टीकरण उनके अनुभव और तर्कसंगत दृष्टिकोण को निदर्शित करता है।

7) हठतत्त्वकौमुदी

यह संभवतः योग पर प्रकाशित उपलब्ध ग्रंथों में सबसे बड़ा संग्रह है जो 56 अध्यायों में फैला है। इस बृहद् योग ग्रंथ के लेखक काशी (बनारस) निवासी सुंदरदेव थे। हठ योग तकनीकों पर लगभग सभी जानकारी इस पुस्तक में उपलब्ध है। अपने दृष्टिकोण के समर्थन में लेखक द्वारा अनेक मूल उद्धरण उद्धृत किए गए हैं। अधिकांश उद्धरण पारंपरिक और प्रामाणिक स्रोतों से लिए गए हैं। इससे ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ गई है।

8) शिव संहिता

यह हठ योग पर एक और पुस्तक है। यह चौखंबा संस्कृत सीरीज कार्यालय, बनारस से प्रकाशित है।

9) शिवस्वरोदय

यह चौखंबा संस्कृत सीरीज कार्यालय, बनारस द्वारा प्रकाशित की गई है।

उपर्युक्त उल्लिखित ग्रंथों के अतिरिक्त, हठ योग पर कई और संस्थाओं द्वारा संपादित और प्रकाशित गंभीर ग्रंथ उपलब्ध हैं। इन कार्यों में से अधिकांश पहली बार योग अभ्यासकर्ता के लिए लाए गए हैं और इनमें से कई तो दुर्लभ पुस्तकें हैं। इस विषय पर और गहराई से अध्ययन के लिए इन पुस्तकों की सहायता ली जा सकती है।

इनमें से कुछ हैं:

1. भावदेव मिश्र की युक्तभावदेव
2. चयनित योगोपनिषद् का विवेचित संस्करण
3. मंडलब्राह्मणोपनिषद् एवं नादबिंदूपनिषद्
4. अमनस्कयोग लययोग पर एक ग्रंथ
5. अमृतवाक्यम्
6. दत्तात्रेययोगासनशास्त्रम्

2.5 पतंजलि के अष्टांग योग को समझना

पतंजलि योग सूत्र, जिसकी चर्चा सूत्र 2.29 में की गई है, आठ अंगों से मिलकर बना है, अतः इसे अष्टांग योग भी कहा जाता है। इन अंगों को संक्षेप में निम्नलिखित अनुच्छेदों में वर्णित किया गया है। ये पतंजलि योग का सार दिग्दर्शित करते हैं। यह उत्तरोत्तर रूप में मनुष्य के आध्यात्मिक उत्थान के लिए एक साधन है।

1) **यमः** इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सम्मिलित हैं।

- ***अहिंसाः*** कर्म, वचन या विचार से भी किसी को हानि नहीं पहुँचाना।

  आप अपने इलाके में एक गली में चल रहे हैं। आप एक घटिया छोटे कुत्ते को देखते हैं और उसे एक लात देते हैं। हुह! खूब बहादुरी दिखाई जा रही है! क्या यह बहादुरी का काम है? पुनः विचार करें। इससे क्या आपको कुछ प्राप्त हुआ? एक असहाय और निर्दोष कुत्ते को चोट पहुँचाना, जिसने आपको कोई हानि नहीं पहुँचाई!

  यह छोटी सी बात लगती है, लेकिन छोटी नहीं है। कमजोरों को हानि पहुँचाने की आपकी यह प्रवृत्ति कहीं आप के अन्तरतम से निकलती है। आप किसी जंगली भैंसे जैसे मजबूत जानवर के साथ ऐसी हरकत नहीं कर सकते। सभी जानवरों के प्रति दयालु रहें। आपको कैसा अनुभव होगा यदि केवल मस्ती के लिए अकारण कोई आपको शारीरिक चोट पहुँचाए? वास्तव में आपको बहुत बुरा लगेगा! जानवरों की भी भावनाएँ आप जैसी ही होती हैं, लेकिन वे मनुष्य की तरह अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में असमर्थ हैं बस। पतंजलि ने अहिंसा पर लंबा विवरण दिया है। हम बाद में कभी उस पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

- ***सत्यः*** सत्यवादिता, सभी प्रकार के व्यवहार में ईमानदारी। सत्य बोलना एक व्यक्तिगत और सामाजिक गुण है, लेकिन ऐसे अवसर भी आ सकते है जब दो वांछनीय मूल्य के मध्य एक द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। ऐसी अवस्था में सच कभी–कभी मुसीबत भी बन सकता है। अतः हमें सावधानीपूर्वक चुनाव करना चाहिए। जरा निम्नलिखित दृष्टांतों पर विचार कीजिए।

  क) आप सड़क पर चल रहे हैं। सड़क सुनसान है। देर शाम का समय है। अचानक आप एक युवा महिला को बेतहाशा दौड़ते देखते हैं। कुछ ही दूरी पर तीन लड़के इरादतन उसका पीछा कर रहे हैं। वह एक मोड़ लेती है और छुप जाती है और आप इसे देख लेते हैं। लड़के आपके पास आकर उसके बारे में पूछते हैं। अब आपके पास दो विकल्प हैं। सच बोलने का। लेकिन इससे वह महिला खतरे में पड़ जाएगी। एक अन्य विकल्प झूठ बोलकर लड़कों को गुमराह करने का है। इससे महिला पर आया खतरा टल जाएगा। आप निश्चित रूप से झूठ बोलकर युवा महिला की जिंदगी बचाने का निर्णय लेते हैं। ऐसा झूठ जो किसी निर्दोष को मुसीबत से बचा पाए एक बड़ा सत्य है।

  ख) आप सड़क पर चल रहे हैं। शाम का समय है। अचानक आप कंधों पर चोरी का एक बैग टाँगे भागते हुए एक चोर को देखते हैं। वह गलियों के अँधेरे कोने में खुद को छुपाना चाहता है। कुछ पुलिसकर्मी उसके पीछे लगे हैं और वे उसके बारे में आपसे पूछते हैं। आप क्या करेंगे? आप सच बोलते हैं, तो चोर पकड़ा और दंडित किया जाएगा जो काफी कष्टदायक हो सकता है। आप झूठ बोलकर पुलिसकर्मियों को गुमराह कर सकते हैं। इससे चोर दर्दनाक सजा से बच जाएगा। फिर भी आप पुलिस को चोर का पता बता देते हैं।

  ग) एक और उदाहरण लें। आपकी हाल ही में शादी हुई है। आपको हमेशा सच बोलने के लिए प्रशिक्षित किया गया है। शादी से पहले आपके कुछ संबंध थे। आप अपनी पत्नी के साथ ईमानदार रहना चाहते हैं ताकि आप दोनों के बीच कोई गलतफहमी पैदा न हो। आप सोचते हैं कि इस तरह आप हमेशा के लिए उसका विश्वास जीत सकते हैं। आप उसके सामने यह सिद्ध कर सकते हैं कि आप कितने भले हैं। लेकिन यह उसे भड़का भी सकता है। एक रूढ़िवादी पृष्ठभूमि से आनेवाली पत्नी कभी इस बात को नहीं पचा पाएगी कि उसके पति का किसी अन्य महिला के साथ संबंध रहा है। इस प्रकार, बहुत संभव है कि सत्य बोलने और दिल खोलकर रख देने से उसकी भावनाएँ बेहद आहत हो जाएँ और आपका नव–विवाहित जीवन अचानक ही एक झटके के साथ समाप्ति के मुँहाने पर आ खड़ा हो।

ऐसी स्थिति में यह जानना आवश्यक है कि हमें कब, कैसे और किन परिस्थितियों में सच नहीं बोलना चाहिए। हम कह सकते हैं कि सत्य उस संदर्भ पर निर्भर करेगा जिसमें आप अपने आप को पाते हैं।

- ***अस्तेयः*** चोरी न करना; किसी भी पराई वस्तु को हाथ नहीं लगाना। इसका तात्पर्य है, सभी मानवीय व्यवहार तथा आचरण में ईमानदारी बरतना।

  क) शहर के मध्य भाग में एक अच्छा मॉल है। आप मॉल में एक दुकान पर खरीददारी के लिए जाते हैं। यहाँ आप अकसर आते रहते हैं। एक घंटे में अपनी पसंद की सभी वस्तुओं कपड़े, प्रसाधन सामग्री इत्यादि लेकर आप टोकरी में डाल लेते हैं। इस दिन के लिए खरीददारी आपको पर्याप्त लगती है और आप दुकान के मुख्य द्वार पर स्थित काउंटर की ओर चल पड़ते हैं। काउंटर पर महिला पंक्ति में प्रतीक्षारत खरीददारों के साथ काफी व्यस्त है। थोड़ी देर बाद आपकी बारी आती है। आप भुगतान करते हैं। आपका बिल 29,540 रुपए का बनता है। आप 30,000 रुपए देते हैं। महिला जल्दबाजी में बाकी पैसे लौटाती है। नोट मुड़ेतुड़े और उलझे हुए हैं। आप जाँच करते हैं तो 500 का एक नोट ज्यादा मिलता है। आपके मन में दो विचार आते हैं। ईमानदारी से एक अतिरिक्त नोट वापस लौटा दिया जाए। आप यह भी सोचते हैं कि यदि आपने अतिरिक्त नोट नहीं लौटाया तो महिला को अपनी जेब से भरना होगा। एक और विचार आता है, 'मैं पैसे न लौटाऊँ, साथ ले जाऊँ।' लेकिन कहीं भीतर से कोई फुसफुसाता है, 'यह आपको शोभा नहीं देता। महिला को पैसे लौटा दो। यह ठीक नहीं है। वास्तव में यह चोरी है।' 'मैं पराई वस्तु को हाथ भी नहीं लगा सकता।' आप पैसे महिला को लौटा देते हैं। यह 'अस्तेय' है, चोरी न करना है। वह आपकी उदारता के लिए कृतज्ञतापूर्वक मुस्कान के साथ आपका धन्यवाद अदा करती है। आप अंदर से बहुत हल्का और सहज महसूस करते हैं। मानो दिल से कोई भारी बोझ उतर गया हो।

  ख) एक और उदाहरण लें। एक गली में एक दुकान के पास आपको एक मोबाइल पड़ा मिलता है। आसपास कोई नहीं होता। यह एक महँगा और अच्छा फोन है। आप उठाने को ललचाते हैं, पर तभी ठिठक जाते हैं। एक दूसरा विचार आता है। 'ये मेरा नहीं है।' इसे पास के दुकानवाले को सौंप दूँ। या फोन के मालिक को कॉल करके फोन वापस कर दूँ। आप दूसरे विकल्प के साथ जाते हैं। आप फोन मालिक को कॉल करते हैं। वह बहुत खुश होता है। जल्दी से आकर दिली मुस्कान के साथ आपको धन्यवाद देता है। आप मन की गहराई में संतुष्टि महसूस करते हैं। शांति की एक गहरी भावना आपको खुशी से भर देती है। ये 'अस्तेय' का अभ्यास है।

  'अस्तेय' (चोरी न करना) यम के पांच गुणों में से एक है। अस्तेय का अभ्यास भ्रष्टाचार को दूर कर देगा।

- ***ब्रह्मचर्यः*** सभी इंद्रिय–जनित सुखों में संयम बरतना। चेतना को ब्रह्म के ज्ञान में स्थिर करना।

  योग के दिशा–निर्देशों के अनुसार, अभ्यासकर्ता (साधक) को विपरीत लिंगी अथवा समलिंगी के साथ सभी शारीरिक संपर्कों से बचना चाहिए। बेशक, अभ्यासकर्ता यदि विवाहित है तो अपनी पत्नी/पति के साथ शारीरिक संपर्क, कर सकता है लेकिन नियंत्रित तरीके से।

  अकेले में हम हर समय ब्रह्म का चिंतन कर सकते हैं। एक आदर्श व्यवहार, जो वांछनीय है, का अनुसरण कर सकते हैं।

- ***अपरिग्रहः*** आवश्यकता से अधिक संचय नहीं करना और दूसरों की वस्तुओं की इच्छा नहीं करना। अपनी वास्तविक आवश्यकता से अधिक धन–संपत्ति या वस्तुओं के संग्रह से बचना।

क) आपके पास पहले से ही दो महँगे मोबाइल फोन है और आप बहुत खुश हैं। आपके करीबी दोस्त ने अभी–अभी एक बड़ा कीमती नवीनतम मॉडलवाला फोन खरीदा है। वह बड़ी शेखी के साथ सभी दोस्तों को अपना फोन दिखाता है। आपको अच्छा नहीं लगता। आपकी खुशी काफूर हो जाती है। आपके पास पैसा है। आप सोचते हैं कि एक ज्यादा महँगा फोन खरीद लूँ ताकि अपने दोस्त को नीचा दिखाया जा सके।

इसी के साथ आप बड़ी मानसिक शांति महसूस करते हैं। आपको लगता है कि इस प्रकार आप अपने अहं की तुष्टि कर सकते हैं। अब आपके पास एक विकल्प है। आप शांत रह सकते हैं।

झूठे अहंकार के शिकार होने से बचें। दो बार सोचें। कल को आपका कोई दूसरा दोस्त और ज्यादा कीमती हैंडसेट खरीद लेगा। और इसके बाद कोई दूसरा दोस्त। यह एक अंतहीन सिलसिला है। कब तक आप हर दूसरे दिन एक नया हैंडसेट खरीदने की इस प्रक्रिया को बनाए रख सकते हैं? क्या ये सब आवश्यक है? हरगिज नहीं! कृपया ध्यान रखें, अगर आप अनावश्यक रूप से कोई वस्तु खरीदते हैं तो कोई वास्तविक जरूरतमंद उससे वंचित रह जाता है। अच्छी भावनाएँ आपको भटकने से बचाती हैं और मन की शांति बनी रहती है। आप तय करते हैं कि अनावश्यक धन खर्च नहीं करेंगे, बल्कि भविष्य में बेहतर इस्तेमाल के लिए पैसे बचाएँगे।

विचार करें, आज अति–अधिकार की भावना ही समाज में हताशा का एकमात्र कारण लगता है।

2) नियमः इसमें शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान सम्मिलित हैं।

- ***शौचः*** आंतरिक और बाह्य दोनों ओर शुद्धता, सफाई।

  आपने स्नान किया? आपके कपड़े साफ हैं? आपका कमरा साफ और स्वच्छ है? कमरे की चीजें अपनी जगह व्यवस्थित हैं? आपके आसपास साफ–सफाई है?

  शौच जीवन के सभी क्षेत्रों में साफ–सफाई के बारे में है। यह एक स्वस्थ आदत है।

- ***संतोषः*** संतुष्टि; लालच और लोभ पर नियंत्रण रखना।

  इस समय जो कुछ भी आपके पास है, उसमें खुश रहना। अगर आप इस पल में खुश नहीं हैं, तो आप शायद भविष्य में कभी खुश नहीं होंगे। आप खुशी को टाल रहे हैं। यह न करें। क्या आपके पास एक मारुति 800 है? तो तहेदिल से उसे चलाने का आनंद लें। इसके साथ ही प्रगति करने के लिए प्रयास करते हैं। यदि आप मारुति 800 के साथ संतुष्ट नहीं हैं, तो भले ही बेंज आ जाए, आपको खुशी नहीं मिलेगी।

- ***तपः*** शारीरिक और मानसिक दोनों स्थितियों में तपस्या, आत्मानुशासन। यह भी योग और तप के विभिन्न कठिन अभ्यास हेतु बनाया गया है जो आंतरिक पवित्रता का प्रदायक है।

  कड़ी मेहनत। अपनी पढ़ाई में कड़ी मेहनत करें। सफलता का कोई छोटा रास्ता नहीं है। किसी के लिए भी नहीं। यह कभी नहीं था, यह कभी नहीं होगा।

- ***स्वाध्यायः*** पवित्र और उत्तम ग्रंथों का अध्ययन और उनकी विषयवस्तु पर मनन। यह भी गहरे चिंतन को प्रस्तुत करता है अथवा इस तरह के प्रश्नों की ओर उन्मुख करता है कि 'मैं कौन हूँ', 'मैं यहाँ क्यों हूँ', 'मैं किस ओर बढ़ रहा हूँ?' श्रवण (अनुभवजन्य), मनन (चिंतन) तथा निदिध्यासन (सत्यापन तथा प्रयोग) द्वारा ज्ञान का सृजन।

क) तो जीवन के नियमित कामकाज से कुछ समय निकालें। अपने कमरे के एक कोने में बैठें। शरीर कों शांत व स्थिर बनाएँ। शरीर के किसी भी भाग को न हिलाएँ। कुछ देर गहरी साँस भरें। फिर मन के अनंत में झाँकें। देखें आपका मन क्या कर रहा है। उठते विचारों को देखें। जैसे कि आप एक फिल्म देख रहे हैं। विचारों को देखें जो शून्य से उठते हैं और शून्य में ही खो जाते हैं। यह विचारों की एक कभी न खत्म होनेवाली रेखा है, जैसे चींटियों की रेखा। जैसे ही एक विचार मन के पटल पर आता देता है, अगले ही पल गायब हो जाता है। फिर एक दूसरा उठता है और बहुत जल्द वह भी खो जाता है।

बारीकी से देखें। दो विचारों के बीच कोई अंतर है? है, पर बहुत छोटा। पल के एक छोटे से अंश में कोई विचार जन्म नहीं लेता। यह अन्तराल बिल्कुल शुद्ध है, विचार शून्य। एक विशुद्ध चेतना। आपकी विशुद्ध आत्मा। शुद्ध आनंदमय आत्मा।

आप में विचार वातावरण के प्रभावन के फलस्वरूप आते हैं। आपकी इच्छाओं से। आपकी परवरिश से। आपकी शिक्षा से। यह आपका 'सत्य आत्मन' नहीं है। ये अर्जित विचार हैं। ये आपको व्यस्त और बेचैन, रखते हैं। आपको शायद ही इन विचारों से बाहर आकर शांति मिलती हो।

अभ्यास के माध्यम से, आप दो विचारों के बीच अपने वास्तविक आत्मन् की झलक पा सकते हैं। जैसे–जैसे अभ्यास बढ़ेगा, अन्तराल बड़ा होता जाएगा। इसका तात्पर्य है, परमानंद का विस्तार होना।

क्या यह एक महान् विचार नहीं है? निश्चित ही है।

ख) यह करने का एक और तरीका है। उन विचारों का निष्पक्षता से अध्ययन करें। वे नकारात्मक रहे हैं या सकारात्मक? सकारात्मक हैं, तो क्या आप उनमें वृद्धि कर सकते हैं? हाँ, आप कर सकते हैं। नकारात्मक हैं, तो क्या आप उन्हें कम कर सकते हैं? हाँ आप कर सकते हैं। कैसे? मजबूत संकल्प के माध्यम से। आप ऐसा करने में विफल हो सकते हैं। लेकिन यह असफलता आपको मजबूत बनाएगी।

- ***ईश्वर–प्रणिधानः*** ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण, पूर्ण श्रद्धा।

  कमरे के कोने में बैठें। मन में कहें, 'हे प्रभु! यह कार्य संपन्न होगा। इससे आपको बहुत शांति मिलेगी।

3) **आसनः** शारीरिक मुद्राओं का अभ्यास शरीर को स्थिरता प्रदान करता है।

पतंजलि ने आसन की परिभाषा कुछ ऐसे दी है – ***स्थिरसुखमासनम्***। विभिन्न योगासन–तकनीकों के विस्तृत विवरण के लिए आप अभ्यास (इकाई 4) का अवलोकन कर सकते हैं।

4) **प्राणायामः** प्राण पर नियंत्रण तथा सूक्ष्म और लंबे समय तक साँस लेने में सक्षम बनाने हेतु श्वास–लेने संबंधी खास तकनीक से संबंधित।

प्राणायाम पर कुछ विवरण खंड नीचे 2.6.1 में प्रस्तुत किया गया है।

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिः अष्टांग योग की इन तकनीकों के विनियमन हेतु योगसूत्र में मौलिक सिद्धांत उपलब्ध हैं। हालांकि, योगसूत्र में अभ्यास अनुपलब्ध हैं। हठ एक परंपरा है। यहां तक कि आसन और प्राणायाम के लिए भी हम हठ ग्रंथों की ओर देखते हैं। इसमें जो भी अभ्यास किया जाएगा, प्रत्याहार का अभ्यास कहा जाएगा। इस प्रकार यह कहना गलत नहीं होगा कि हठ ग्रंथ योग विषय पर अभ्यास पुस्तकें हैं।

5) **प्रत्याहारः** "आहार से विमुखता"। इंद्रियों को अंतर्मुखी करके उनके संबंधित विषयों (आहार) से विमुख करना। आहार शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ है जो इन्द्रियों द्वारा अंदर जाता है। प्रत्याहार का अर्थ है उस इन्द्रिय का उस के प्राकृतिक आहार (विषय) पर नियंत्रण करना।

प्रत्याहार की कुछ तकनीकें, जैसे कि हठप्रदीपिका – 6.4–5 (लोनावला योग संस्थान) में दी गई हैं, निम्नलिखित हैं :

एक योगी अनुकूल हो या प्रतिकूल, कान से जो भी सुनता है, उसे स्वयं का ही रूप जानकर उसको त्याग देता है।

त्वचा द्वारा छुआ गर्म या ठंडा, चाहे जो हो; प्रख्यात योगी उसे स्वयं का ही रूप जानकर त्याग देता है।

6) **धारणाः** यह अभ्यास एक ही वस्तु पर ध्यान केंद्रित करने से संबद्ध है, जिससे कि चित्त की वांछित एकाग्रता विकसित की जा सके।

7) **ध्यानः** इसका तात्पर्य मन को निर्बाध रूप से एक ही प्रदत्त वस्तु की ओर केंद्रित रखने से है।

ध्यान सभी विचारों से मन को मुक्त कर देने की तकनीक है। किसी भी तत्त्व पर अडिग एकाग्रता से किया गया अभ्यास ध्यान के रूप में परिभाषित किया गया है।

ध्यान दो प्रकार का होता हैः सगुण और निर्गुण।

सगुण ध्यानः हठप्रदीपिका 6.20 (लोनावला योग संस्थान) के अनुसार इसका अभ्यास पाँच तत्त्वों (पृथ्वी, वायु, जल, आकाश और अग्नि) में से प्रत्येक पर किया जाता है। इस प्रकार पाँच सगुण ध्यान हो सकते हैं। इस तरह के प्रत्येक ध्यान अभ्यास के लिए तत्त्व विशेष की विशेषताओं (गुणों) का प्रयोग किया जा सकता है।

उदाहरण के लिए, जल तत्त्व पर ध्यान :

जल, जो अमृत समान है, तीनों लोकों में प्रवाहित और प्लावित है; इसे हृदय में सीमाबद्ध करना चाहिए। ऐसा करके, अभ्यासकर्ता तरल पदार्थ (जल) के भय से मुक्त हो जाता है। (हठप्रदीपिका 6. 25, लोनावला योग संस्थान)

निर्गुण ध्यानः यह गुण या गुणों के ध्यान के बिना किया जाता है। अतः यह ध्यान का सार या पूर्ण रूप है। निर्गुण ध्यान और समाधि में अन्तर करना कठिन है।

8) **समाधिः** शुद्ध चेतना में विलय अथवा आत्मा से जुड़ना, शब्दों से परे परम–चैतन्य की अवस्था।

समाधि की अवस्था प्राप्त करने पर योगी को गंध, स्वाद, रूप, स्पर्श, सांस तथा स्वयं या दूसरों के बारे में कोई अनुभूति नहीं होती है। (हठप्रदीपिका 7.6, लोनावला योग संस्थान)

स्पष्ट है, अंतिम चार घटक अभ्यास की दृष्टि से काफी जटिल हैं।

कार्यकलाप 8

1. दैनिक जीवन में यम और नियम के महत्त्व का वर्णन कीजिए।

2. ध्यान की किसी मुद्रा में बैठकर घंटे–आध घंटे ध्यान करें। संक्षेप में अपने अनुभव नीचे लिखिए।

2.6 हठ योग परंपरा

हठ योग ग्रंथों में बड़ी संख्या में अभ्यास दिए गए हैं। आगे हम इन अभ्यासों के बड़े समूहों पर एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं :

2.6.1 आसन

हठयोग का मानना है कि योगाभ्यास में आसन की अग्रणी भूमिका है।

आसन, बनाई गई शारीरिक मुद्राएँ हैं जिन्हें कुछ समय के लिए ग्रहण करने के बाद छोड़ दिया जाता है। सुखासन, सिद्धासन इत्यादि ऐसे आसन हैं जिन्हें लंबे समय तक किया जा सकता है।

इस तरह के सैकड़ों आसन हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें करना और अधिक देर तक उस मुद्रा में बने रहना कठिन होता है। कुछ सरल आसन हैं। जिनके अभ्यास से शरीर कोमल और ऊर्जावान बन जाता है। मन को आराम महसूस होता है। श्वास सुचारू रूप से चलती है।

अधिकांश हठ ग्रंथों में उल्लिखित आसनों का कुछ न कुछ विवरण दिया गया है। एक आम कहावत है कि आसन चौरासी होते हैं। हठरत्नावली में सभी चौरासी आसनों का नामोल्लेख है। वह सूची पूर्ण लगती है।

2.6.2 प्राणायाम, आठ कुंभक

हठयोग द्वारा प्राणायाम के अभ्यास पर बहुत जोर डाला गया है। नाडियों की सफाई, मन को आराम, भावनाओं का प्रबंधन, विभिन्न शारीरिक रोगों का प्रबंधन, इंद्रियों का प्रत्याहार, ध्यान की स्थिति में प्रवेश, धारणा करना, प्रत्याहार के उपक्रम, ध्यान का अभ्यास और समाधि की स्थिति को प्राप्त करना; हठ योग का कहना है कि प्राणायाम मूल अभ्यास है।

कुंभक की पुस्तक में प्राणायाम की सत्तर से अधिक तकनीकों का वर्णन है। इतनी बड़ी संख्या योग की किसी भी पुस्तक में नहीं देखी जा सकती है। हठयोगप्रदीपिका में श्वसन क्रिया की आठ तकनीकों का वर्णन है, जिन्हें कुंभक के रूप में जाना जाता है।

प्राणायाम (कुंभक) के दो व्यापक वर्ग हैं, एक **सहित** और दूसरा **केवल**। केवल कुंभक, सहित कुंभक का स्वाभाविक फल है। केवल कुंभक समाधि की स्थिति के समतुल्य है।

नाडी शुद्धि प्राणायाम के सभी उन्नत तरीकों के लिए एक प्रमुख शर्त है।

प्राणायाम का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू है, सुषुम्ना के मध्य मार्ग के माध्यम से प्राण के प्रवाह को सिर के ऊपर सहस्रार चक्र, (शुद्ध चेतना केंद्र) तक भेजना।

इस प्रकार प्राणायाम एक उदात्त उद्‌देश्य के प्रति कार्य करता है।

नाडीशोधन, उज्जायी और सूर्यभेदन जैसे कुछ प्राणायाम काफी लोकप्रिय हैं और व्यापक रूप से किए जाते हैं। यहाँ इनकी तकनीकें दी गई हैं :

- ***नाडीशोधन प्राणायाम:*** अपने दाएं हाथ के अंगूठे से नाक के दाएं नासिका छिद्र को बंद कर लें और बाएं छिद्र से भीतर की ओर सांस खीचें। अब बाएं छिद्र को अंगूठे के बगल वाली दो अंगुलियों से बंद करें। दाएं छिद्र से अंगूठा हटा दें और सांस छोड़ें। अब इसी प्रक्रिया को बाएं छिद्र के साथ दोहराएं। इस प्रकार तीन महीने में नाडीशुद्धि की जा सकती है।
- ***उज्जायी प्राणायाम:*** मुंह को बंद करके नाक के दोनों छिद्रों से वायु को घर्षण ध्वनि के साथ तब तक अंदर खींचें (पूरक करें) जब तक वायु फेफड़ों में भर न जाए। फिर कुछ देर आंतरिक कुंभक (वायु को अंदर ही रोकना) करें। फिर नाक के दाएं छिद्र को बंद करके बाएं छिद्र से वायु को धीरे–धीरे बाहर निकाल दें (रेचन करें)। वायु को अंदर खींचते व बाहर छोड़ते समय गले से खर्राटें की आवाज निकलनी चाहिए। यह उज्जायी कुंभक है। इस तरह इस क्रिया का लगातार अभ्यास करें।
- ***सूर्यभेदन प्राणायाम:*** पद्‌मासन में बैठकर दायीं नासिका से साँस को अंदर खींचें (पूरक करें)। यथाशक्ति कुंभक की स्थिति में रहने के बाद बायीं नासिका से साँस बाहर निकाल दें (रेचक करें)। इस तरह इस क्रिया का लगातार अभ्यास करें।
- ***आठ कुंभक हठ परंपराओं के नाम हैं:*** सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा केवल।

कार्यकलाप 9

1. योग पर किन्हीं तीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के नाम लिखिए।

2. षट्कर्म और तीन प्राणायाम के नाम लिखिए।

2.6.3 पांच तत्त्वों पर धारणाएँ

धारणाएँ योग की उन्नत तकनीकें होती हैं। हठप्रदीपिका 6.12–16, (लोनावला योग संस्थान) में पांच तत्त्वों पर निम्नलिखित धारणाएँ व्यक्त की गई हैं :

- ***भुवो–धारणाः*** पृथ्वी तत्त्व जो गहरे सुनहरे–पीले रंग का है, इसका 'ल' बीज रूप, ब्रह्मा पीठासीन देवता हैं; इसके चार कोने हैं, जो हृदय में केंद्रित है, इस पर प्राण के साथ ध्यान केंद्रित करके पाँच घटिकाओं तक बनाए रखा जाना चाहिए। यह भुवो धारणा है, जो संयम लाती है और जिसके द्वारा पृथ्वी तत्त्व पर विजय पाई जाती है।

- ***वारिणी–धारणाः*** जल तत्त्व, जो अर्द्धचंद्र और कुंद फूल (चमेली) के सदृश श्वेत है, जो गले में स्थित है। इसका 'वा' बीज रूप, विष्णु पीठासीन देवता हैं। इस स्थान पर प्राण के साथ ध्यान एकाग्र रूप

से केंद्रित करके पाँच घटिकाओं तक बनाए रखा जाना चाहिए। यह वारिणी धारणा है, जो योगी को तीव्र विष को पचाने की शक्ति प्रदान करती है।

- ***वैश्वानरी–धारणाः*** अग्नि तत्त्व जो तालु में स्थित है और जो इंद्र–गोप कीट (किरिमदाना) की तरह गहरा लाल है; इसके तीन चमकीले कोने हैं; इसका 'र' बीज रूप – मूँगे जैसा लाल चमकीला और रुद्र पीठासीन देवता हैं। इस स्थान पर प्राण को केंद्रित करके पाँच घटिकाओं तक बनाए रखना चाहिए। यह वैश्वानरी धारणा है, जो योगी को अग्नि तत्त्व को नियंत्रित करने की शक्ति प्रदान करती है।
- ***वायवी–धारणाः*** वायु तत्त्व जो दोनों भौंहों के बीच में स्थित है; नेत्रबिंदु सदृश चमकीला, गोलाकार, वायु से मिलकर बना; इसका 'र' बीज रूप और ईश्वर पीठासीन देवता हैं। इस स्थान पर प्राण के साथ ध्यान को एकाग्र रूप से केंद्रित करके पाँच घटिकाओं तक बनाए रखा जाना चाहिए। यह वायवी धारणा है, जो योगी को अंतरिक्ष में विचरण की शक्ति प्रदान करती है।
- ***नभो–धारणाः*** आकाश तत्त्व, जो ब्रह्मरंध्र में स्थित है और जल की भाँति शुद्ध है। यह (अनसुने) नाद का वाहक है; इसका 'ह' बीज रूप और सदाशिव पीठासीन देवता हैं। इस स्थान पर प्राण के साथ मन को एकाग्र करके पाँच घटिकाओं तक बनाए रखा जाना चाहिए। यह नभो–धारणा है, जो योगी को मोक्ष प्रदान करती है।

2.6.4 मुद्रा और बंध

मुद्राः मध्ययुगीन साहित्य पर मुद्राओं का गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

अपनी चर्चा को हम केवल हठ योग की मुद्राओं तक ही सीमित रखते हैं। हठप्रदीपिका में दस मुद्राओं का वर्णन है। घेरंड संहिता में 25 मुद्राओं की चर्चा है। इन सभी ग्रंथों में मुद्राओं का व्यापक वर्णन किया गया है।

घेरंड संहिता के अनुसार, मुद्राओं का उद्देश्य संतुलन या स्थिरता स्थापित करना है, वहीं हठप्रदीपिका के अनुसार मुद्राओं का उद्देश्य कुंडलिनी शक्ति जागरण है।

हठप्रदीपिका की दस मुद्राएँ हैं:

महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी, वज्रौली और शक्तिचालिनी।

यहाँ हम केवल उड्डीयान एवं मूलबंध की चर्चा करेंगे:

उड्डीयान (यह एक बंध भी है): पेट के बल (प्रणत अवस्था में) लेटकर नाभि को ऊपर की ओर खींचें। उड्डीयान मुद्रा मृत्यु को जीत लेती है, जैसे शेर किसी हाथी पर काबू पाता है।

मूलबंध (यह एक मुद्रा भी है): गुदा के छिद्रों को सिकोड़कर ऊपर की ओर खींचे रखना मूलबंध कहलाता है। मूलाधार को एड़ी से दबाएँ, गुदा को सिकोड़ें तथा अपान को ऊपर की ओर उठाएँ।

बंधः ये अनिवार्य रूप से मुद्रा रहे हैं और संख्या में बहुत कम हैं। हठ योग में प्राणायाम–अभ्यास परंपरा के ये प्रायः अनिवार्य अंग के रूप में रहे हैं। उनमें से कुछ तो अपवाद के तौर पर स्वतंत्र रूप से अभ्यास में रहे हैं। हम कह सकते हैं कि प्राणायाम की तकनीक में प्रचलित ये मुद्राएँ बंध कहलाती हैं, क्योंकि वे प्राण–धाराओं को एक विशेष क्षेत्र में बाँधती हैं और प्राणिक धाराओं को एक विशेष दिशा में प्रवाहित करती हैं। सामान्य तौर पर अभ्यास में आनेवाले बंध और उनके स्थान इस प्रकार हैं :

	बंध	**स्थान**
1.	जालंधर	गला
2.	उड्डीयान	उदर
3.	मूलबंध	गुदा
4.	जिह्वा	मुख

उपर्युक्त सभी बंध सांस को अंदर थामकर अभ्यांतरकुंभक के निदर्शन के दौरान लगाए जाते हैं। प्राणायाम के दौरान बंध का प्रयोग हठयौगिक प्राणायाम की एक विशेष तकनीक जैसा प्रतीत होता है। इससे सुषुम्ना के मार्ग में दबाव बनाकर प्राणिक धाराओं को उत्प्रेरित किया जा सकता है। तीनों बंधों के सामूहिक प्रभाव द्वारा इड़ा और पिंगला नाड़ियों की कार्यप्रणाली को विनियमित करके सुषुम्ना को सक्रिय किया जा सकता है।

2.6.5 षट्कर्म

भीतरी शारीरिक शुद्धि की ये तकनीकें हठ् के एक खास लक्षण को निर्मित करती हैं। इस प्रयोजन के लिए विभिन्न अतिरिक्त तरीके लागू किए जाते हैं। कुछ हठ ग्रंथों में से इन्हें प्राणायाम का अभ्यास शुरू करने से पूर्व की आवश्यक क्रियाएँ माना गया है। इस तरह के अभ्यास द्वारा शरीर की अतिरिक्त वसा और विषाक्तता से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार प्राण को आसानी से और सुचारू रूप से नाड़ियों द्वारा, विशेष रूप से सुषुम्ना के माध्यम से निर्दिष्ट किया जा सकता है। यदि नाड़ियाँ ही शुद्ध नहीं होंगी तो प्राण मध्य गह्वर के माध्यम से ब्रह्मरंध्र तक नहीं पहुंच सकता है। और इसके बिना, कोई व्यक्ति (साधक) मनरहितता (अनमना भाव) की स्थिति का अनुभव नहीं कर सकता है।

इस औचित्य के आधार पर, हठ परंपरा षट्कर्म प्रस्तावित करती है।

षट्कर्म का समूह हैः धौति, बस्ती, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति हैं।

यहाँ हम नेति और कपालभाति की तकनीकों का वर्णन कर रहे हैं :

नेतिः एक लगभग 23 सेंटीमीटर माप का चिकना सूती कपड़ा नाक से भीतर डालकर मुँह से धीरे–धीरे बाहर निकालते हैं। यह नेति है।

कपालभातिः लोहार की धौंकनी के समान दाएँ और बाएँ नासापुटों से श्वास छोड़ें। इस प्रसिद्ध कपालभाति योग द्वारा कफ़ संबंधी विकार दूर होते हैं।

2.7 पतंजलि योग और हठ योग के बीच संपूरकता

आधुनिक समय में, हठप्रदीपिका और घेरंड संहिता जैसे ग्रंथों ने अपने मूर्त, स्पष्ट, आसान और परिसीमित योगाभ्यासों पर जोर देकर हठ योग प्रशिक्षण को एक अधिक व्यावहारिक रूप दे दिया है। आसन, प्राणायाम, मुद्रा, नादानुसंधान तथा शारीरिक परिशोधक प्रक्रियाओं (शुद्धि क्रिया या षट्कर्म) उत्पन्न सूक्ष्म शारीरिक प्रभावों ने आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिकों का ध्यान भी आकर्षित किया है। योग पर शोधपत्र अब पहले की तुलना में कहीं अधिक ग्रहणशील ढंग से खेल, स्वास्थ्य, चिकित्सा, मनोविज्ञान और शारीरिक शिक्षा के विषय पर अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में स्वीकार किए जा रहे हैं।

हालाँकि शिक्षित मन योग के किसी अन्य रूप की बजाय हठ योग प्रणाली द्वारा अधिक प्रभावित है, तथापि पतंजलि योग का महत्त्व कभी कम नहीं आंका जा सकता है। पतंजलि ने लगभग सभी प्रकार के साधकों के स्वभाव के अनुरूप योगाभ्यासों की एक पूरी शृंखला प्रदान की है। पतंजलि मन की क्रियाओं के रूपांतर की समाप्ति के लिए 'अभ्यास' और 'वैराग्य' की बात करते हैं जो योगी को 'द्रष्टा' अथवा यौगिक 'द्रष्टा सिद्धांत' की ओर ले जाते हैं। चित्त जो आमतौर पर एक बाहरी तत्त्व द्वारा निर्देशित चेतना है, जैसा कि सभी भारतीय दर्शनों में बताया गया है, इसे स्थिर और विकाररहित बनाने से पूर्व आत्मन् (एक स्व–विद्यमान चेतना) जिसे भारतीय सोच के अनुसार अस्तित्व के पूर्णरूपेण व्यापक बुनियादी सिद्धांत के रूप में समझा जाता है, को अपने असली स्वरूप में स्थापित करना आवश्यक है। चित्त, जिसमें व्युत्पत्ति की दृष्टि से मन, बुद्धि और अहंकार सम्मिलित हैं, भीतर की ओर निर्देशित और संयोजित होकर विभिन्न सरल मनोवैज्ञानिक तकनीकों (पतंजलि योग सूत्र 1.21, 2.23, 1.28, 1.33–39) के साथ मन को आनंदित करता है (यह समाधि की स्थिति की प्राप्ति में मददगार है और जन्मजात क्लेशों के उन्मूलन का एक साधन है)। अष्टांग योग (एक व्यवस्थित प्रवाह चार्ट जो योग में एक क्रमिक और निश्चित प्रगति प्रदायक है) आत्मन् को दीप्त करता है।

स्वात्माराम ने संकेत दिया है कि प्राण के प्रवाह पर नियंत्रण से चित्त पर नियंत्रण हो जाता है। साथ ही चित्त पर नियंत्रण से प्राण पर नियंत्रण होता है। इस प्रकार, एक तरह से योग की दोनों प्रणालियाँ अन्योन्याश्रित हैं। पतंजलि योग में दो व्यापक चरण हैं बहिरंग और अंतरंग। अपनी इंद्रियों के स्तर पर कार्य करने और प्रकृति में व्यवहारगत होने के कारण बहिरंग स्थिति को हठ योग के आरंभिक चरणों के बराबर समझा जा सकता है। पतंजलि योग और हठ योग दोनों में हालाँकि समाधि, को पूर्ण मुक्ति का अंतिम लक्ष्य माना गया है; परंतु यह हठ योग है जिसमें आसन, क्रिया, नाद अनुसंधान इत्यादि जैसे मूर्त अभ्यासों के रूप में "नियम पुस्तिका" की भांति प्रविधियों की सूची प्रदान की गई है और यम, नियम, वैराग्य, चित्तशुद्धि और प्रसाद आदि पर जोर दिए बिना समाधि की आरंभिक स्थिति तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त किया गया है। संक्षेप में, हठ योग, स्थूल शरीर के स्तर पर आसान और एक छोटी पद्धति है, जबकि पतंजलि सीधे चित्त के सूक्ष्म शरीर या मन पर शुरू होता है। हालांकि इन दोनों का परिणाम समाधि अवस्था की प्राप्ति है।

हालांकि यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि यौगिक खोज के उन्नत चरण में, हठ योग मानसिक दुनिया के अंतरतम को छू लेता है। वहीं अगर गलत तरीके से योग का अभ्यास करते समय प्राण भटक जाता है तो दैहिक और मानसिक बीमारियाँ आ घेरती हैं। हठ यौगिक चिकित्सा के अभ्यास द्वारा पूरे शरीर में सुधार, नियंत्रण और प्राण का सुचारू संचालन संभव है। वहीं पतंजलि ने मानसिक प्रक्रियाओं पर नियंत्रण और मन की शुद्धि पर जोर दिया है। स्वात्मराम के अनुसार, प्राण का सहज प्रवाह पूरे शरीर को उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करता है। प्राण जब गलत मार्ग के माध्यम से बहने लगता है, इसके प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होने से मानसिक और शारीरिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। स्वात्मराम ने इसके लिए विशिष्ट योग अभ्यास (हठप्रदीपिका सं. 1–25) की सिफारिश की है। हालांकि हठयोग में यम और नियम पर जोर नहीं दिया गया है जैसा कि हम पतंजलि योग में देखते हैं, लेकिन हठ योग के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांत यम और नियम की अवधारणाओं के करीब लगते हैं।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि जहाँ हठ योग प्राण को 'शरीर द्वारा मन का प्रेरण या संचालन' सिद्धांत पर जोर देता है, पतंजलि योग 'मन द्वारा शरीर का प्रेरण या संचालन' सिद्धांत पर कार्य करता है। हालांकि, यह सिर्फ प्रारंभिक चरण में है, फिर जैसे–जैसे हम योग के सूक्ष्म और अधिक अनुभवात्मक अभ्यासों की दिशा में आगे बढ़ते हैं, तो धीरे–धीरे यह अंतर धुँधला पड़ता जाता है। गौरतलब है कि लैचनिट और भोगल (2006) ने पाया कि एक ध्यान समूह ने अपने हठ योग अभ्यास के बाद अपने ध्यान अनुभवों में लंबी समयावधि में हठ योग समूह की तुलना में काफी अनुकूल परिवर्तन देखा। यह निष्कर्ष इस परिकल्पना का समर्थन करता है कि हठ योग अभ्यास ध्यानात्मक अनुभूतियों के लिए अनुकूल हैं।

कार्यकलाप 10

1. 'शरीर द्वारा मन का प्रेरण/संचालन' सिद्धांत तथा ' मन द्वारा शरीर का प्रेरण/संचालन' सिद्धांत के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।

2.8 पतंजलि योग सूत्र में ध्यान संबंधी प्रक्रियाएँ

योग ध्यान (अर्थात् ध्यान) अवधान शब्द की तुलना में बहुत अधिक प्रभावी और अनुभवातीत है। ध्यान शब्द पतंजलि अष्टांग योग में सातवाँ अंग है, जिसकी परिभाषा है, ''चेतना (पतंजलि योग सूत्र 3:2) का अटूट और सतत प्रवाह।'' ध्यान के पहले धारणा है, जिसकी परिभाषा है, (पतंजलि योग सूत्र 3:1) ''शरीर के भीतर या शरीर के बाहर स्थानीकृत अवधान।'' हालांकि करंबेलकर (1987), शास्त्री (1960) और योग के कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि धारणा के दौरान अवधान शरीर के किसी हिस्से पर केंद्रित होना चाहिए न कि बाहर। पतंजलि योग सूत्र के अनुसार धारणा के पहले समापत्ति आती है, जो चार प्रकार की है; यथा वितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार। जैसे–जैसे हम इन समापत्ति के पड़ाव एक के बाद एक पार करते हैं, हमारी चेतना तेजी से शुद्ध होती है। हालांकि ध्यान में चेतना काफी हद तक शुद्ध हो जाती है, तब ध्येता (ध्यानी), ध्येय (ध्यान की वस्तु) और ध्यान (ध्यान संबंधी प्रक्रिया) के बीच भेद नहीं रहता। तथापि समाधि में (पतंजलि योग सूत्र 3:3), वस्तु का केवल अर्थ आगे चमकता है। ध्यान की वस्तु से पूरी तरह से प्रभावित चेतना एक शून्य की स्थिति जैसी प्रतीत होती है।

ध्यान की अवस्था में हमारी चेतना सभी को शामिल कर लेती और इस तरह ज्ञान के बारे में हमारी बुनियादी जरूरत पूरी हो जाती है। यह स्थिति गैर–मूल्यांकनात्मक, गैर–प्रतिक्रियाशील बोध है, जो अनुभवातीत है। भगवद्गीता के अनुसार, इस तरह की योग स्थिति में सब दुख लुप्त हो जाता है और यौगिक आनंद (प्रसाद) प्राप्त होता है। साधक सभी मानसिक और शारीरिक समस्याओं से रहित हो जाता है और अंत में आत्म–साक्षात्कार एवं सही मनोवैज्ञानिक–शारीरिक संतुलित अवस्था प्राप्त करता है।

कार्यकलाप 11

1. ध्यान की सरलतम संभव परिभाषा क्या हो सकती है?

2. आप धारणा और ध्यान में कैसे अंतर स्पष्ट करेंगे? दोनों अवधारणाओं पर प्रकाश डालें।

2.9 सारांश

जैसा कि आप जानते हैं, समय–समय पर भारत के महान ऋषियों ने बिना सूक्ष्म और स्थूल की अनदेखी किए विज्ञान की आध्यात्मिक यात्रा के रूप में योग के विकास में योगदान किया, जो सूक्ष्मतम और परम को प्राप्त करने का एक सटीक साधन है। फिर भी, इसमें कोई संदेह नहीं है कि योग को एक व्यवस्थित, वैज्ञानिक और विकसित अनुशासन सबसे पहले महर्षि पतंजलि ने बनाया तथा इसके बाद हठ योगियों द्वारा। इन विचारकों ने कई योग ग्रंथों की रचना की, जिनकी गणना आज भी योग साहित्य के सबसे प्रामाणिक स्रोत के रूप में होती है। साधकों (अभ्यासकर्ता) की इस तरह के साहित्य तक आसान पहुँच के लिए इस इकाई का लेखन किया गया है। इसमें योग विचारकों की इन विषय सामग्री के बारे में संदर्भ और स्पष्ट संकेत हैं। योग के शुरुआती अभ्यासकर्ता की सुविधा के लिए योग और इसकी कार्यप्रणाली का प्रामाणिक साहित्य तथा विभिन्न ग्रंथों को संक्षेप में समेटा गया है। इस प्रकार इस इकाई में पतंजलि द्वारा अपने 'योग सूत्र' में योगार्थ और साधन पाद में अष्टांग योग के रूप में वर्णित इसकी कार्यप्रणाली और क्रिया योग (तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान) को स्पष्ट किया गया है। क्रिया योग के महत्त्व को इस रूप में दर्शाया जा सकता है कि इससे सभी क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष व अभिनिवेश) के फलों को धीरे–धीरे दुर्बल किया जा सकता है, वे क्लेश जो मानव की सभी ज्ञात व अज्ञात सभी अस्तित्व संबंधी समस्याओं के मूल हैं।

इसके अलावा, इकाई में हठ यौगिक ग्रंथों, जैसे कि स्वात्मराम रचित हठप्रदीपिका के बारे में बात की गई है, के अनुसार राज योग और हठ योग एक ही अनुशासन के दो पहलू हैं। स्वात्मराम ने योग का अभ्यास अनुक्रम – आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसंधान – दिया है। इसके बाद इसने घेरंड संहिता की बात की है, जो एक बहुत महत्त्वपूर्ण योगाभ्यास पुस्तिका मानी जाती है। इसमें 100 से अधिक योगाभ्यास दिए गए हैं। योग पर एक और ग्रंथ है "घटस्थ योग" जिसकी रचना महर्षि घेरंड ने की है, जो शुद्धि क्रिया पर जोर देते हैं। यह प्रणाली सप्तांग योग (क्रिया, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि) कहलाती है। इकाई आगे योग की दो प्रणालियों के बीच संपूरकता का पता लगाती है – हठ योग और पतंजलि योग के बीच। जहाँ पतंजलि मन के विचलन को रोकने और द्रष्टा भाव के लिए अभ्यास और वैराग्य की बात करते हैं, वहीं स्वात्माराम बताते हैं कि प्राण के प्रवाह पर नियंत्रण चित्त पर नियंत्रण है। इस प्रकार ये दोनों प्रणालियाँ एक–दूसरे पर निर्भर हैं।

मुख्य रूप से हम कह सकते हैं कि हठ योग जहाँ 'शरीर द्वारा मन का संचालन' सिद्धांत के माध्यम से प्राण की श्रृंखलाबद्धता पर जोर देता है, वहीं पतंजलि योग 'मन द्वारा शरीर की ओर' सिद्धांत पर काम करता है।

2.10 इकाई के अन्त में प्रश्न / क्रियाकलाप

1. भारतीय चिंतन में योग की दो प्रणालियाँ कौन सी हैं?
2. हठ प्रदीपिका ग्रंथ किसने लिखा है?
3. योग सूत्र के किस पाद में पाँच क्लेश वर्णित हैं?
4. उचित पदानुक्रम में 5 क्लेश के नाम लिखें।
5. सप्तांग योग के घटक क्या हैं?

इकाई 3: योग और स्वास्थ्य

संरचना

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम यौगिक दृष्टिकोण के अनुसार स्वास्थ्य की अवधारणा और रोगों के कारणों के बारे में पढ़ने जा रहे हैं। हम यह देखेंगे कि शरीर के किसी भी भाग में अगर ऊर्जा का ह्रास होता है, तो वह भाग रोगग्रस्त हो जाता है। योग ऊर्जा के अवरुद्ध चैनलों को खोलने का एक बहुत शक्तिशाली तरीका है। एक बार जैसे ही चैनल खुल जाते हैं वैसे ही बीमारी होने के कारण समाप्त हो जाते हैं और हम स्वस्थ हो जाते हैं। कहा गया है कि "रोकथाम इलाज से बेहतर" है। योग हमें रोग के कारणों को रोकने के बारे में भी सिखाता है ताकि किसी भी उपचारात्मक उपाय की कोई जरूरत न पड़े। यहाँ तक कि अगर हम स्वस्थ हैं तो भी अच्छे स्वास्थ्य को बनाए रखने और खराब स्वास्थ्य के कारणों की रोकथाम के लिए पर्याप्त मात्रा में योग तकनीकें मौजूद हैं। यम, नियम, पंच–कर्म, प्राणायाम आदि सभी का उद्‌देश्य स्वास्थ्य को बनाए रखना है। अगर हमें लगता है कि हमारा भौतिक शरीर ही एकमात्र शरीर है, तो हम गलत हैं। प्रिय छात्रगण, योग के अनुसार, शरीर तीन हैं जो पाँच कोषों से मिलकर बने हैं। हर व्यक्ति को उत्तम स्वास्थ्य और अंततः मुक्ति के लिए प्रत्येक शरीर और प्रत्येक कोष की अच्छी देखभाल करनी चाहिए। योग ने स्वस्थ रहने के कुछ बुनियादी सिद्धांत भी निर्धारित किए हैं। हम इन पर भी विस्तार से चर्चा करेंगे और मुझे लगता है कि इस चर्चा द्वारा आपको पर्याप्त लाभ प्राप्त होगा। और अंत में, हम समग्र स्वास्थ्य और कल्याण की अवधारणा को समझने की कोशिश करेंगे। जैसा कि पहली इकाई में कहा गया है, अच्छे स्वास्थ्य के बिना, कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता – न तो भौतिक समृद्धि और न ही आध्यात्मिक प्रगति।

3.2 अधिगम उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप इस योग्य हो जाएँगे कि:

- आधुनिक मनुष्य के लिए सकारात्मक स्वास्थ्य की आवश्यकता का औचित्य सिद्ध कर सकेंगे;
- योग साहित्य के अनुसार सकारात्मक स्वास्थ्य और रोग की अवधारणा की व्याख्या कर सकेंगे;
- स्वास्थ्य, चिकित्सा और रोग की अवधारणा पर चिकित्सा और योग के परिप्रेक्ष्य में चर्चा कर सकेंगे;
- खराब सेहत के कारणों का पता लगा सकेंगे;
- विवेचना कर सकेंगे कि योगाभ्यास और आहार के माध्यम से तनाव प्रबंधन कैसे किया जा सकता है;
- यौगिक आहार का औचित्य सिद्ध कर सकेंगे;
- त्रिगुण की अवधारणा और स्वास्थ्य के साथ इसके संबंधों की व्याख्या कर सकेंगे;
- समग्र स्वास्थ्य के लिए पंचकोष की अवधारणा पर चर्चा कर सकेंगे।

3.3 रचनात्मक स्वास्थ्य हेतु योग की आवश्यकता

तेजी से पनपती प्रतिस्पर्धा–आधारित आधुनिक जीवनशैली ने आज सदियों पुराने मानवीय मूल्यों का क्षरण कर दिया है, परिणामस्वरूप मानव जीवन शैली तनावग्रस्त हो गई है। जीवन की बदलती दैनंदिन भूमिकाओं के बीच इसने मनुष्य को मधुमेह और उच्च रक्तचाप जैसे मनोदैहिक विकारों की ओर धकेल दिया है।

आधुनिक शरीर–विज्ञान के अतिसरलीकारक सिद्धांतों पर आधारित आधुनिक उपचारात्मक उपाय, विशेष रूप से मानसिक और मनोदैहिक विकारों के मामले में, काफी हद तक अप्रभावी साबित हुए हैं। आधुनिक स्वास्थ्य संसाधन इस तरह के विकारों को केवल तात्कालिक राहत प्रदान कर सकते हैं। चूँकि ये संसाधन बाह्य–शारीरिक स्तर पर कार्य करते हैं, अतः मन की गहराई में पहुँचकर ये कारगर उपचार करने में अक्षम रहते हैं। मनुष्य क्योंकि एक जटिल मनोवैज्ञानिक प्रतिरक्षा–प्रणाली से लैस होता है, इसलिए उसके अस्तित्व से जुड़ी समस्याओं को सुलझाने की दिशा में एक समग्र दृष्टिकोण की जरूरत होती है। इस स्थिति में पारंपरिक उपचारात्मक उपाय समग्र स्वास्थ्य की दिशा में महत्त्वपूर्ण और कारगर सिद्ध हो सकते हैं। योग एक लम्बे काल से जाँची–परखी व्यावहारिक विज्ञान पर आधारित एक प्राचीन विद्या है, जो वर्तमान स्थिति की गंभीरता की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

पारंपरिक योग में प्राण (शारीरिक गतिशीलता को सक्रिय बनाए रखने वाला एक महत्त्वपूर्ण घटक) पर नियंत्रण और संतुलन स्थापित करने के लिए अपने मौलिक सिद्धांत हैं, जिससे इसकी उपचार–प्रणाली आधुनिक विकारों पर कहीं अधिक प्रभावी सिद्ध होती है। इसके लिए यह प्राचीन यौगिक विद्या धन्यवाद की पात्र है।

योग पर स्वास्थ्य से संबंधी महत्त्वपूर्ण उद्घाटन स्वामी कुवलयानंद ने वर्ष 1924 के आरंभ मे ही कर दिया था : ***"...योग का भौतिक पक्ष एक मामूली सी बात है, मुख्य तो मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष है।"***

योग का स्वास्थ्य के प्रति सदैव एक समग्र दृष्टिकोण रहा है, जिसमें मन–शरीर–आत्मा तीनों का सामूहिक उपचार शामिल है। योग दर्शन और योगाभ्यासों पर यदि हम एक सरसरी नजर डालें तो पाएँगे कि योग और स्वास्थ्य से जुड़ी सब गतिविधियाँ पतंजलि योग या हठ योग से संबंधित हैं। आयुर्वेद भी मन और

शरीर की परस्पर निर्भरता पर जोर देता है: ''शरीर–विशेष का संबंध एक मन–विशेष के साथ होता है, इसके विपरीत, मन–विशेष का संबंध एक शरीर–विशेष के साथ होता है (चरक संहिता 4:36)।''

3.4 प्राचीन योग साहित्य के अनुसार सकारात्मक स्वास्थ्य में मन की भूमिका

हालाँकि मन को 'अशांतिपरक सत्ता' कहा गया है (भगवद् गीता 2:60, 67; पतंजलि योग सूत्र 1: 2, 5); लेकिन यौगिक लक्ष्य को पाने में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। एक अनमना व्यक्ति मन के अभाव में न तो ठीक से सुन या देख सकता है, न किसी प्रकार की उत्तेजना का अनुभव कर सकता है। इस प्रकार मन, विचारित वस्तुओं की विशेषताओं को ग्रहण करने का साधन है। यदि वस्तु सात्त्विक अर्थात् सुखद और ज्ञानमय) होती है, तो मन भी यही विशेषता हासिल करता है। इसलिए अगर हम मन की शांति चाहते हैं तो नेकी, करुणा और आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। ध्यान रखें, मन तो बस माध्यम है! यह न तो स्वस्थ और न ही अस्वस्थ हो सकता है। शांति की स्थिति में इसे बुद्धिपूर्वक रचनात्मक गतिविधियों में लगाया जा सकता है। इसी वजह से दुनिया भर में, सभी आध्यात्मिक अभ्यासों के दौरान मन को ऐसी वस्तुओं पर केंद्रित किया जाता है जो अनिवार्य रूप से शांतिपूर्ण, निर्मल और दिव्य होती हैं। केवल वही मन शांत रह सकता है जिसे शांतिपूर्ण और निर्मल वस्तुओं की ओर केंद्रित रखा जाता है। इसी प्रकार, मन को यदि उत्तेजना पैदा करनेवाली वस्तुओं (राजसिक) की ओर केंद्रित रखा जाता है तो वह उपद्रव करने लगता है; तथा गलत और बुराई पैदा करनेवाली वस्तुओं (तामसिक) की ओर केंद्रित रखा जाता है तो वह उदासीन, स्वार्थी और गुमराह हो जाता है। योग अनिवार्य रूप से सात्त्विक होने के कारण, हमारे मन को भावनात्मक रूप से स्थिर, ईमानदार और शांत बनाने में मदद करता है।

संक्षेप में कहें तो यदि हम सकारात्मक स्वास्थ्य की कामना करते हैं तो मन को हमें अंतर्गामी बनाकर पूरी तरह सात्त्विक वस्तुओं में लगाना होगा, ताकि समय के साथ–साथ हमारा मन स्वतः ही दिव्य (यौगिक) स्थिति को प्राप्त करके योगत्व को प्राप्त हो जाए। अच्छी बात यह है कि भले ही हम दिव्य स्थिति (यौगिक स्वास्थ्य) प्राप्त न कर पाएँ, मन की शांत स्थिति तो प्राप्त कर ही लेते हैं जो धीरे–धीरे हमें रचनात्मक स्वास्थ्य की ओर ले जाती है।

सभी भारतीय प्राचीन शास्त्रों में मन की अनिवार्य रूप से एक अस्थिर सत्त्व के रूप में कल्पना की गई है; जो स्वभाव से अस्थिर और क्रियाशील है, क्योंकि यह सांसारिक उत्तेजनाओं से प्रायः प्रभावित होता रहता है। इसके अलावा विभिन्न इंद्रियाँ हमेशा उपद्रव करती रहती हैं और शायद ही कभी शांत अवस्था में रहती हों। वस्तु की प्रकृति के आधार पर मन भी सक्रिय या परेशान हो उठता है। इसका जिससे जुड़ाव होता है, उसी के अनुरूप इंद्रियों में विक्षोभ उत्पन्न होता है। यौगिक तत्त्वमीमांसा के अनुसार, मन पर जितना विवेक का नियंत्रण रहता है, उससे संबद्ध मानसिक गतिविधियाँ उसी हद तक लाभकारी होती हैं। मेलजेक (1961) ने प्रमाणित किया है कि हमारी मूल्य–प्रणाली हमारी शारीरिक संवेदन धारणा को प्रभावित करती है। इस प्रकार, सेरेब्रल कॉर्टेक्स (प्रमस्तिष्क–प्रान्तस्था) मन पर गहरा नियंत्रण रख सकती है और साधक को शांति, संतुलन और स्थिरता की ओर अग्रसर कर सकती है। सभी यौगिक ग्रंथों में विवेक (बुद्धि) को विभेदकारी और निर्णायक सत्ता माना गया है और योगाभ्यास, मंत्र आदि के माध्यम से इसे शक्तिशाली बनाने की सिफारिश की गई है, ताकि यह मानसिक गतिविधियों पर वांछनीय नियंत्रण रख सके।

पतंजलि योग सूत्र के अनुसार चित्त (मन, अहंकार और बुद्धि) की पांच स्थितियाँ होती हैं; ये हैं– मूढ़ (अज्ञान से भरा), क्षिप्त (मानसिक तौर पर रोगी), विक्षिप्त (आंशिक मानसिक रोगी) एकाग्र (आत्मकेंद्रित) और निरुद्ध (दिव्य)। एकाग्र स्थिति सात्त्विक होने के कारण रचनात्मक स्वास्थ्य की प्रतीक है इसलिए यह यौगिक स्वास्थ्य की अग्रदूत मानी जाती है।

कार्यकलाप 12

1. सकारात्मक स्वास्थ्य को बनाए रखने में मन की क्या भूमिका है?

2. योग के बुनियादी सिद्धांतों के संदर्भ में स्वामी कुवलयानंद के निम्न कथन का समर्थन कीजिए : "...योग का भौतिक पक्ष एक मामूली सी बात है, मुख्य तो मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष है।"

कार्यकलाप 13

1. स्वास्थ्य एवं रोग के संबंध में, यौगिक परिप्रेक्ष्य और आधुनिक चिकित्सा परिप्रेक्ष्य में अंतर स्पष्ट कीजिए। इस इकाई से अलग उचित उदाहरण दीजिए।

2. कृपया विस्तार से बताएं, ''योगाभ्यास के प्राचीन तरीके हमारे व्यक्तित्व विकास के लिए कहीं अधिक प्रभावी हैं।'' योग और शारीरिक व्यायाम के बीच अंतर बताते हुए अपने उत्तर का समर्थन करें।

3.5 स्वास्थ्य, चिकित्सा और रोग की अवधारणाएँ: यौगिक दृष्टिकोण

स्वास्थ्य का शब्दशः तात्पर्य है, किसी को शारीरिक रूप से फिर से सामान्य स्थिति में बहाल करना। इसके लिए यह पता लगाना आवश्यक होगा कि आखिर हम क्यों शारीरिक रूप से अस्वस्थ हो जाते हैं।

इकाई के इस भाग में हम स्पष्ट करेंगे कि वास्तव में स्वास्थ्य किसे कहते हैं और रोग और चिकित्सा शब्दों से क्या अभिप्रायः है। इन अवधारणाओं को समझने के लिए आधुनिक चिकित्सा विज्ञान तथा यौगिक दृष्टिकोण की तुलना भी करने का प्रयास करेंगे।

3.5.1 स्वास्थ्य और रोगों की संकल्पना

इकाई के इस भाग में हम स्वास्थ्य और रोग की मूल अवधारणा पर चर्चा करेंगे। विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू.एच.ओ.) ने स्वास्थ्य की परिभाषा शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक रूप से एक पूर्ण प्रसन्न अवस्था के तौर पर की है जो सभी प्रकार के रोगों से मुक्त होता हो। इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि स्वास्थ्य और खराब स्वास्थ्य दो अलग सत्ता नहीं हैं, जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है, बल्कि स्वास्थ्य को एक सदैव रहनेवाली कल्याणकारी स्थिति के तौर पर समझा जाना चाहिए।

STATE OF HEALTH
PERFECTION
POSITIVE HEALTH
NORMAL HEALTH
2
1
3
4
ILLNESS
STATE OF WELL BEING
- PHYSICAL
- MENTAL
- SOCIAL
- SPIRITUAL
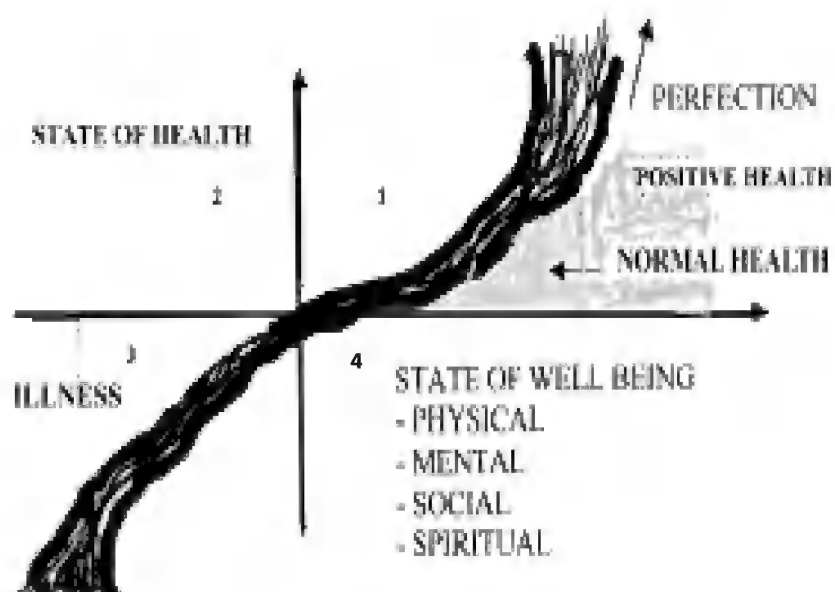
ऊपर दिए गए चित्र में तीसरा भाग 'खराब स्वास्थ्य का क्षेत्र' दिखा रहा है जिसे आम तौर पर हम 'बीमारी' के रूप में बताते हैं। इस स्थिति के नीचे, आदमी सहज कार्य करता है और जानवर जैसा होता है। पहला भाग 'सामान्य स्वास्थ्य' का क्षेत्र दर्शा रहा है जो सामान्य मनुष्य की स्थिति को दर्शाता है। जैसे–जैसे वह इस स्थिति से आगे बढ़ता है, अधिक ऊर्जावान् और स्वस्थ होता जाता है। यह सकारात्मक स्वास्थ्य के क्षेत्र के रूप में दिखाया गया है। इस स्थिति में सामान्य मनुष्य की भूख, प्यास, भय और योनेच्छा इत्यादि काफी कम हो जाते हैं और पूरी तरह नियंत्रण में रहते हैं। श्री अरबिंदो की अवधारणा के अनुसार, इस स्थिति में मनुष्य पांच इंद्रियों से परे एक अलग अलौकिक दुनिया में पहुँच जाता है और व्यक्ति के सामने चेतना की गहरी परतों को उजागर करता है और ज्ञान का यह विस्तार उसे देवत्व या पूर्णता की दिशा में ले जाता है। पूर्णता की ओर आगे ले जाने की इस प्रक्रिया में योग एक सचेतक के रूप में कार्य करता है और मनुष्य को पशु स्तर से उन्नत करके अंत में सर्वोच्च देवत्व तक पहुँचा देता है। यह मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक घटकों के सर्वांगीण विकास के लिए एक व्यवस्थित प्रक्रिया है। इस प्रकार, योग आदमी को स्वस्थ बनाने के साथ–साथ दिव्य ऊँचाइयों तक पहुँचाने की उपयोगी विधा है।

रोग की संकल्पना

योग पर सबसे अच्छे ग्रंथों में से एक योग–वासिष्ठ में योग के सार को बड़ी ही खूबसूरती से इस प्रकार चित्रित किया गया है : ***'मनःप्रशमनोपायः योग इत्यभिधीयते'*** – मन को शांत करने वाले उपाय को योग

कहा जाता है। यह उपाय एक सूक्ष्म एवं सुविचारित प्रक्रिया है, स्थूल एवं यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं जो हमारे मस्तिष्क में आने वाले विचारों को ही रोक दे।

YOGIC CONCEPT OF DISEASE

VYĀDHI

ADHIJA
SARA
&
SAMANYA

ĀNADHIJA
Non Stress born
Infection, Injury
Toxins
remedy: medicines
surgery
good action
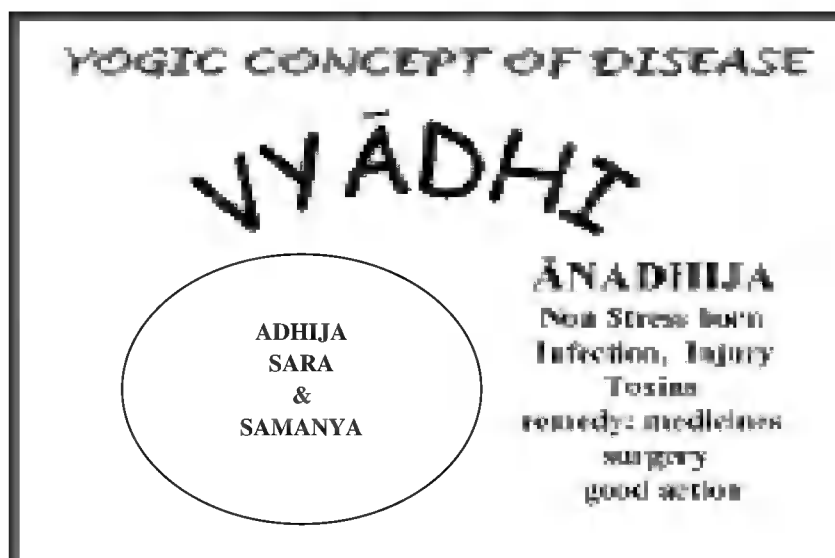
आनंदमय कोष में व्यक्ति अपने सही सामंजस्य और अंगीय संतुलन के साथ सर्वाधिक स्वस्थ रहता है। विज्ञानमय कोष में उपद्रव होते हैं लेकिन वे सही दिशा में प्रवाहित रहते हैं। योग ग्रंथों का कहना है कि यह मनोमय स्तर या कोष है, जहाँ से असंतुलन शुरू होते हैं। पसंद और नापसंद इस स्तर पर उभरते हैं। थीटा तरंगें हमारे कार्यों पर नियंत्रण शुरू कर देता है और वे अकसर गलत दिशा में होते हैं। मधुमेह का रोगी डॉक्टर की सलाह के खिलाफ जाकर गुलाब जामुन खाने को ललचाने लगता है। इस प्रकार खिलाफ जाने का सही कारण असंतुलन होता है। ये असंतुलन बढ़कर मानसिक व शारीरिक बीमारियों का रूप ले लेते हैं, जिन्हें क्रमशः आधि और व्याधि का नाम दिया गया है।

'आधि'– इस अवस्था में शारीरिक स्तर पर कोई लक्षण नहीं दिखता। लगातार बढ़ती इच्छाओं से पैदा होने वाला यह मानसिक विकार धीरे–धीरे पूरे शरीर को गिरफ्त में ले लेता है। अज्ञान (आनंद की वास्तविक स्थिति के बारे में अनभिज्ञता) की प्रधानता व्यक्ति को खराब खानपान, गलत जगह रहने, देर रात तक जागने, दुष्ट व बुरे लोगों के साथ रहने, चोट पहुंचाने आदि, विकार इत्यादि गलत कार्यों की ओर धकेलती है। ये शारीरिक रोगों को उत्पन्न करते हैं जिन्हें 'व्याधि' या सह–रोग कहते हैं।
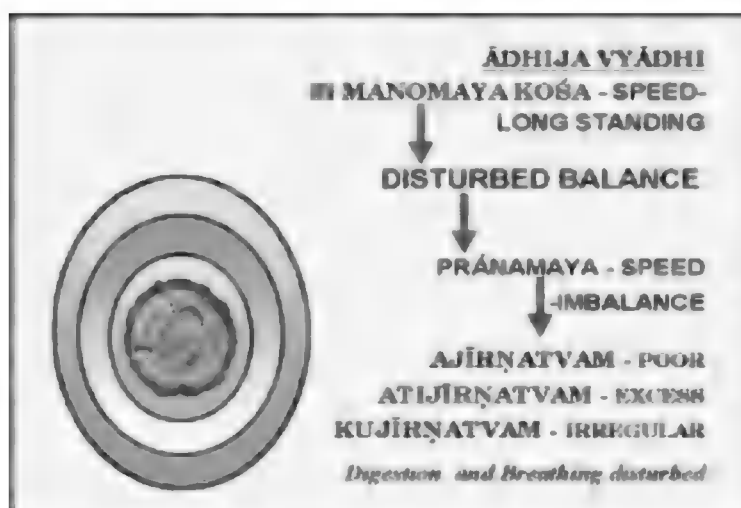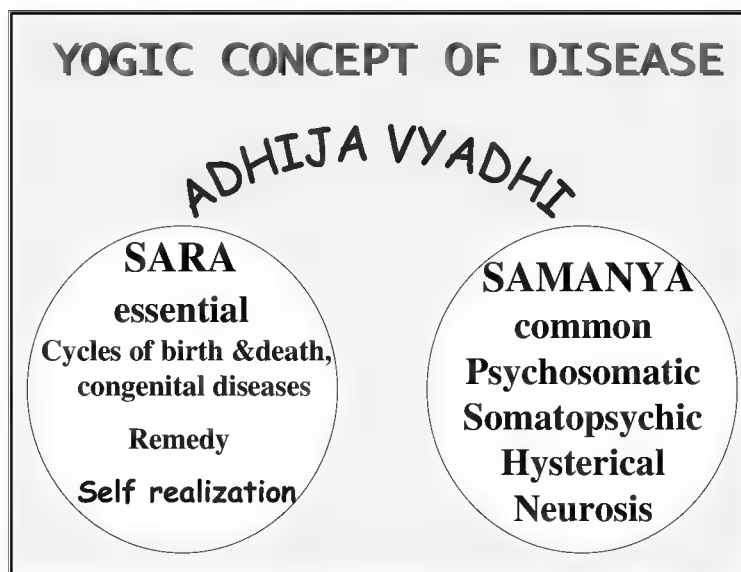
आधि (प्राथमिक रोग) दो प्रकार के होते है–सामान्य (साधारण) और सार (अवश्यम्भावी)। सामान्य रोग आकस्मिक रूप से होते हैं जबकि सार रोग पुनर्जन्म के लिए जिम्मेदार होते हैं। सामान्य रोग अकसर दुनियादारी के बीच पनपते हैं। इन्हें मानसिक रोग कहा जा सकता है। जब उपयुक्त तकनीक और सौहार्दपूर्ण वातावरण के साथ उनसे निपटा जाता है, तो साधारण प्रकार के रोग (आधि) गायब हो जाते हैं। साथ ही आधि से उत्पन्न शारीरिक रोग भी नष्ट हो जाते हैं। केवल विज्ञानमय कोष और आनंदमय कोष में रहकर ही भौतिक शरीर के जन्म के कारण रहे सूक्ष्म आधि रोगों को नष्ट किया जा सकता है। उस स्थिति में मनुष्य जन्म और मृत्यु के बंधन में नहीं बँधता। बीमारियों की दूसरी श्रेणी 'अनाधिज व्याधायः' है, जो मन द्वारा उत्पन्न नहीं होती। इनमें वास्तव में संक्रमण और संक्रामक रोग शामिल हैं। ग्रंथ कहते हैं कि अनाधिज व्याधियों को पारंपरिक दवाओं (आधुनिक चिकित्सा और आयुर्वेद की कीमोथेरेपी), मंत्रों (उनकी प्राकृतिक कंपन विशेषताओं के साथ) तथा अच्छे कार्यों से सँभाला जा सकता है। ये मन की पवित्रता लाने, प्राण के शरीर में स्वतंत्र रूप से बहने, आहार को उचित रूप से पचाने आदि में इत्यादि में सहयोगी होते हैं, जिससे रोग गायब हो जाते हैं।

मानसिक रोग

आधि के दो प्रकारों के अलावा सामान्य (साधारण) प्रकार के रोगों को आधुनिक मानसिक रोग कहा गया है। जब लोगों के बीच रहकर उत्तेजना के कारण मन में हलचल मचती है तो भौतिक शरीर भी इससे प्रभावित होता है। ये उत्तेजनाएं नाड़ियों में प्राण के प्रवाह में हिंसक उतार–चढ़ाव ला देते हैं। इससे प्राण लयहीन होकर गलत रास्तों पर उड़ान भरने लगता है। इस स्थिति में नाड़ियाँ देर तक स्थिरता बनाए नहीं रख सकतीं और काँपने लगती हैं। प्राण की इन बाधाओं तथा नाड़ियों की अस्थिरता के कारण भोजन ठीक से नहीं पचता। इससे कुजीर्णत्वम् (गलत पाचन), अतिजीर्णत्वम् (अधिक पाचन) तथा अजीर्णत्वम् (अपच) रोग हो जाते हैं। जब इस तरह अनुचित तरीके से पचा खाना शरीर में बैठ जाता है तो यह मानसिक व शारीरिक बीमारियों की वजह बनता है। योग इस तरह के मानसिक व शारीरिक रोगों के इलाज की कारगर विधि है।

3.5.2 पतंजलि "योगसूत्र" के अनुसार खराब स्वास्थ्य की उत्पत्ति

आधुनिक चिकित्सा और पतंजलि योग सूत्र में रोगों की उत्पत्ति के बारे में उल्लेखनीय समानताएँ हैं। इनके अनुसार, कोई भी रोग या तो वंशानुगत जीवन से आता है या बाहरी दुनिया के संपर्क में आने से। यही कारण है कि इन दोनों कारकों में से अकेले कोई भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, भले ही माता–पिता दोनों ही वंशानुगत रोगों से पीड़ित हों, फिर भी वे मानसिक व शारीरिक विकार पैदा नहीं कर सकते, जब तक कि बाहरी प्रभाव के संपर्क में नहीं आते। इसी प्रकार, किसी व्यक्ति की यदि वंशानुगत विशेषताएँ मजबूत होती हैं तो वह बाहरी विकारों से प्रभावित होने के बावजूद लंबे समय तक उनसे बचा रह सकता है। मानव इतिहास में महापुरुषों ने जीवन में बड़े–बड़े कष्ट झेले हैं लेकिन कभी हार नहीं मानी, आत्मसमर्पण नहीं किया। पतंजलि तत्त्वमीमांसा के अनुसार, क्लेश स्वभावतः वंशानुगत होते हैं, जबकि जीवन में महत्त्वपूर्ण घटनाओं के लिए परिवेश जिम्मेदार माना जाता है। चित्तवृत्ति एक विशिष्ट मानसिक क्रिया है जो पूर्व वर्णित दोनों कारकों के समन्वय से उत्पन्न होती है।

क्लेश (वेदनाओं) को सामान्य तौर पर सभी विद्यमान विकारों का मूल कारण माना जाता है और विशेष रूप में मनोदैहिक विकारों के लिए। क्लेश आंतरिक वातावरण (मानसिक व शारीरिक शक्तियों और कमजोरियों) तथा बाहरी वातावरण (प्राप्त मानसिक ग्रंथियों, पूर्वाग्रहों और स्वाभाविक मतिभ्रंश/विपथ–गमन) से संपर्क करके चित्तवृत्ति का निर्माण करता है। यदि कोई व्यक्ति इन चित्तवृत्तियों के साथ अपना तादात्मय स्थापित कर लेता है, तो तनाव का मन पर प्रभाव होने लग जाता है। अगर कोई उपचार नहीं किया जाए तो व्यक्ति तनाव के अगले चरण अर्थात् शारीरिक विकार वाली अवस्था में चला जाता है। यहाँ नव विकसित मनोदैहिक विकारों के स्थायी प्रभाव के बारे में बताया गया है। यदि उपचारात्मक पग नहीं लिए जाते तो तनाव का अगला चरण अर्थात् दैहिक चरण आरंभ हो जाता है। जल्दी इस पर नियंत्रण नहीं किया जाए तो यह संस्कार रूप में घर कर लेता है। इस प्रकार, तनाव जैविक चरण में पहुँच जाता है। इसलिए तनावजन्य रोगों की उपचार विधि अपनाई जाती है, जिसमें शामिल हैं: (1) रचनात्मक जीवन शैली, परिवेश में परिवर्तन, (2) क्रिया योग की तरह के योगाभ्यास करना (पतंजलि योग सूत्र 2:1) तथा ओंकार जप आदि। नियमित रूप से योगाभ्यास से मानसिक व शारीरिक दोनों प्रकार की व्याधियों में कारगर असर देखने को मिलता है तथा तनाव जैसे विकारों से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है।

3.5.3 समग्र स्वास्थ्य के लिए त्रिगुण और पंचकोष की अवधारणाएं

- ***त्रिगुण की संकल्पना***

  मनुष्य ने बाधारहित पूर्ण स्वास्थ्य और अजेय व्यक्तित्व पाने के लिए हमेशा कड़ा परिश्रम किया है। व्यक्तित्व के मामले में मनोविज्ञान में विखण्डित दृष्टिकोण रहा है। फ्रायड ने व्यक्तित्व विकास के लिए आधार के रूप में बचपन के अनुभवों पर जोर दिया। एडलर, फ्रॉम और हेनरी व्यक्तित्व के लिए सामाजिक निर्धारकों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। एरिक्सन और आलपोर्ट ने कुछ क्षमताओं को प्राप्त करने की वकालत की है। मैस्लो मूल आवश्यकताओं पर जोर देते हैं और रोजर्स व्यक्ति के व्यक्तित्व की बात करते हैं। योग का व्यक्तित्व विकास के प्रति एक समग्र दृष्टिकोण है।

सांख्यदर्शन जिसे प्रायः सैद्धान्तिक योग के रूप में जाना जाता है, में तीन प्रकार के शरीरों की कल्पना की गई है, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। योग के अंतर्गत यह माना गया है कि जो कुछ स्थूल शरीर को प्रभावित करता है, वह सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर दोनों को भी 'प्रभावित' करता है। इसलिए संतुलित और सार्थक भौतिक जीवन से व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन में पहुंचता है। अपने व्यक्तित्व की संरचना के अनुसार मनुष्य अपने अनुरूप योग–विधि अपना सकता है। राजसिक व्यक्ति कर्मयोग को अपना सकता है, सात्त्विक व्यक्ति भक्ति योग को और तामसिक व्यक्ति कर्म योग और ज्ञान योग को अपना सकता है। व्यक्ति तमस गुण के साथ प्रारम्भ उसे रजस गुण में परिवर्तित कर सकता है तथा उसके बाद सत्व गुण में बदलकर अन्ततः गुणातीत/निरूद्ध अवस्था में पहुंचने से पहले सभी गुणों से परे हो जाता है।"

डॉ. इन्द्रसेन (1960) ने कहा है "व्यक्तित्व की भारतीय अवधारणा में इसकी सामान्य संरचना का विश्लेषण किया गया है जिसके अंतर्गत इसके विकास की स्थितियों की खोज और उन्हें व्यवस्थित रूप से तैयार करने, तथा इसके उच्चतम विकास की गुणवत्ता व विशेषताओं का वर्णन मिलता है। सरल शब्दों में कहा जाए तो यही है कि आदमी क्या है, वह क्या बन सकता है और, वह ऐसा कैसे बन सकता है।

तैत्तिरीय आरण्यक में शरीर के पंचकोषों की अवधारणा हैः (i) अन्नमय कोष (स्थूल शरीर कोष), (ii) प्राणमय कोष (क्रियात्मक शरीर कोष), (iii) मनोमय कोष (भावनात्मक कोष), (iv) विज्ञानमय कोष (बौद्धिक कोष) तथा आनन्दमय कोष (परमानन्द कोष)। इन पांच कोषों का सह–अस्तित्व सभी के पूर्ण सामंजस्य के साथ होता है।

तैत्तिरीय अरण्यक के अनुसार व्यक्ति को उचित अभ्यासों द्वारा इन सभी कोषों की ओर ध्यान देना होता है। पंचकोष की अवधारणा के अनुसार मनुष्य एक सम्पूर्ण सत्ता है, जिसमें सभी पंचकोष एक स्वस्थ मनुष्य में पूर्ण सामंजस्य बनाए रखते हैं। सभी कोषों के संवर्धन के लिए उपयुक्त योगाभ्यास अपनाने की आवश्यकता होती है। अष्टांग योग का अभ्यास समग्रता की भावना से किया जाए, तो सभी कोषों का संवर्धन समग्र रूप से होने लगता है, और इस प्रक्रिया में हमें ऐसा व्यक्तित्व मिलता है, जो स्वयं में पूर्ण होता है।

केवल चिकित्सीय व्यवस्था के मामले में ही ऐसा होता है कि एक या अधिक विशेष कोषों में हम गड़बड़ी महसूस करते हैं तो अलग–अलग कोष के लिए संस्तुत प्रचलित अभ्यास को ही किया जाता है। उदाहण के लिए – अन्नमय कोष में व्यवधान होने से हम आसन युक्ताहार (उचित और संतुलित सात्त्विक आहार) आदि संस्तुत कर सकते हैं, प्राणमय कोष में व्यवधान होने पर प्राणायाम और अन्य ऐसे ही अभ्यासों को संस्तुत किया जाता है, मनोमय कोष की समस्या के उपचार के लिए हैं – प्रत्याहार और प्रयोगात्मक योग क्रियाएं, विज्ञानमय कोष में व्यवधान होने से धारणा और ध्यान की क्रियाएं संस्तुत की जा सकती हैं तथा आनन्दमय कोष के लिए ध्यान संबंधी तकनीकें जो भावातीत/अनुभवातीत प्रकार की होती है, इनका अभ्यास किया जा सकता है।

- ***पंचकोष की अवधारणा और रचनात्मक स्वास्थ्य***

तैत्तिरीय उपनिषद् में पचंकोष की अवधारणा और उनके विकास का वर्णन है। कोष का मतलब अस्तित्व की परतों से है। तैत्तिरीयोपनिषद् की आनन्दवल्ली में ब्रह्मानन्द को पाँच परतों से युक्त माना गया है। इसमें कहा गया है कि अन्नमय कोष से प्रारंभ होकर आनन्दमय कोष तक पहुंचकर हमारा अस्तित्व 5 परतों अथवा आवरणों से युक्त हो जाता है (देखें चित्र 3.1)।

चित्र 3.1: *पंचकोष*

जिस स्थूल शरीर को हम देखते हैं, वह अन्नमय कोष है। प्राणिक ऊर्जा से बना सूक्ष्म शरीर प्राणमय कोष होता है, जो जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। तीसरा कोष मनोमय कोष या मानसिक आवरण है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य की भावनाएं और आवेग विद्यमान होते हैं। चौथा विज्ञानमय कोष है। बौद्धिक विकास की यह अंतिम अवस्था है जहां व्यक्ति सहज रूप से विवेकी बन जाता है। उसे किसी चीज (बात) को सिद्ध करने के लिए आनुभविक साक्ष्य या तर्क का सहारा नहीं लेना पड़ता अपितु वह सहज रूप में विवेक के द्वारा निर्णय करता है और अच्छे और बुरे में अन्तर कर देता है। अंतिम परत आनंदमय कोष है। इसकी विशेषताएं हैं: रचनात्मकता, प्रसन्नता और आनन्द। अब हम इन कोषों को विस्तार से समझते हैं।

1) अन्नमय कोषः आहार आवरण

अन्न का शाब्दिक अर्थ भोजन अथवा आहार से है। हालांकि अस्तित्व के निम्नतम स्तर अन्नमय कोष का तात्पर्य भौतिक अस्तित्व के जगत से है। जो कुछ भी हम अपनी इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) के माध्यम से अनुभव करते हैं, वह भौतिक परत का भाग होता है।

भौतिक परत स्वयं में पूर्ण होती है। भौतिक संसार में होने के कारण वह आहार का उपयोग करती है। अन्ततः भौतिक अस्तित्व पदार्थ में ही विलीन हो जाता है। भौतिक शरीर हमारे अस्तित्व का सबसे बाहरी हिस्सा, जिसे अन्नमय कोष अथवा आहार आवरण के रूप में कहा गया है। यह भोजन का सार पिता से ग्रहण करके उत्पन्न होता है और मां द्वारा लिए गए भोजन से गर्भ में पोषित होता है। आहार का उपयोग करते रहने से इसका अस्तित्व अनवरत बना रहता है और अन्त में मृत्यु के पश्चात वापस जाकर पृथ्वी को उर्वर बनाने में योगदान देकर आहार बन जाता है। भौतिक संरचना का पदार्थ आहार से उत्पन्न होकर आहार में जीवित रहकर और पुनः आहार बन जाना स्वाभाविक ही आहार आवरण ही सबसे उत्तम नाम है। जो भोजन हम ग्रहण करते हैं वह मांसपेशियों, रक्तवाहिकाओं, नाड़ियों, रक्त और अस्थियों में परिवर्तित हो जाता है। यदि उचित अभ्यास के साथ उपयुक्त आहार या भोजन दिया जाता है तो अन्नमय कोष भलीभांति विकसित होता है। स्वस्थ विकास के लक्षण हैं, स्वास्थ्य, गतिशीलता, क्षमता और सहनशीलता। इन गुणों वाला व्यक्ति सभी प्रकार के कौशल आसानी से प्राप्त कर हाथ और आंख का उत्तम समन्वय कर लेता है। ग्रहण किया गया आहार विभिन्न पोषक तत्वों में परिवर्तित होकर हमें शारीरिक रूप से विकसित करता है। नित्य उपयुक्त आहार लेने की आदत, व्यायाम, खेलकूद, दौड़ना, टहलने और आसन आदि क्रियाओं के करने से अन्नमय कोष को विकसित किया जा सकता है।

2) प्राणमय कोषः जैव अथवा प्राणाधार आवरण

पंच प्राण आयुर्वेद में वर्णित पांच शारीरिक प्रणालियों के सदृश्य हैं, जो जैव या प्राणाधार कोष के रूप में माना जाता है। जो क्रियाएं शरीर को जीवित रखने में सहायक होती हैं: वे हमारे श्वसन क्रिया की वायु के कारण होती हैं। प्राणियों में जब तक यह प्रमुख सिद्धान्त कार्यरूप में परिणत होता रहता है, तब तक जीवन चलता रहता है। प्राणायाम और श्वसन सम्बन्धी अभ्यासों से प्राणमय कोष की गुणवत्ता में सुधार आता है। इसीलिए इसे प्राणाधार कोष कहा जाता है। पांच प्राण, जिनसे मिलकर यह कोष बनता है, निम्नलिखित है : –

i) प्राण (ज्ञान के संकाय से संबंधित), यह पांच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाहरी वातावरण से प्राप्त पांच प्रकार की संवेदनाओं के बोध को नियंत्रित करता है।

ii) अपान (उत्सर्जन का संकाय) शरीर से बाहर निकले हुए अपशिष्ट या जिन्हें शरीर स्वीकार नहीं करता जैसे पसीना, मूत्र, मल आदि अपान की अभिव्यक्ति है।

iii) समान (पाचन संबंधी संकाय) : यह आमाशय में एकत्र भोजन को पचाने का कार्य करता है।

iv) व्यान (परिसंचरण संबंधी संकाय): वह शक्ति जिससे पचे हुए भोजन से पोषक तत्वों को रक्त संचार द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों तक उपयुक्त रूप से पहुंचाया जाता है।

v) उदान (सोच–विचार से संबंधित संकाय): व्यक्ति में उसके विचारों को वर्तमान स्तर से उठाने की क्षमता जिससे किसी नए सिद्धान्त अथवा विचार–आत्म–शिक्षा की क्षमता की कल्पना करना या उसकी सराहना की जा सके। व्यक्ति की वृद्धावस्था में ये पांचों प्राण धीरे–धीरे कमजोर होने लगते हैं। यह जैव आवरण अन्नमय कोष को नियंत्रित और व्यवस्थित करता है। जब प्राण उपयुक्त रूप से कार्य नहीं करते हैं, तो भौतिक शरीर प्रभावित होता है। प्राणमय कोष के स्वस्थ विकास के लक्षण हैं: उत्साह, आवाज का कारगर उपयोग, शरीर की लचक, दृढ़ता, नेतृत्व के गुण, अनुशासन, ईमानदारी और उदारता।

3) मनोमय कोषः मानसिक आवरण

मनोमय कोष मानस अथवा मन से निर्मित है। इसमें सोच–विचार, भावना और इच्छा शामिल हैं। मन पांच ज्ञानेन्द्रियों के साथ स्वाद(जीभ), घ्राण(नाक), दृष्टि (आंख), श्रवण (कान) और स्पर्श (त्वचा) से मनोमय कोष, अथवा मन का आवरण बना है। मनुष्य का बंधन मन के कारण होता है, जिसमें सभी संवेदी परिणाम प्राप्त होते हैं, इसी में अच्छे और बुरे की पहचान होती है तथा अच्छे की इच्छा उत्पन्न होती है। यह कोष पहले वाले दोनों कोषों से कहीं अधिक शक्तिशाली होता है, और यह उनको नियंत्रित करता है। मनोमय कोष को इससे ऊपर के दो कोषों (विज्ञानमय और आनन्दमय कोष) द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। इस प्रकार यह मानव अस्तित्व के केन्द्र के रूप में स्थित है। इस कोष के भीतर उपचार के कई तौर–तरीके विद्यमान होते हैं जैसे सुगंध, संगीत, रंग, छद्म औषध चिकित्सा, आदि। अधिक कारगर होम्योपैथिक दवाएं भी इसे प्रभावित करती हैं। यह मन प्राणमय कोष या प्राणवायु आवरण को भी नियंत्रित करता है। उदाहरण के लिए, जब मन किसी सदमें से परेशान होता है तो इससे प्राण और शरीर की क्रियाएं प्रभावित हो जाती हैं। मन ज्ञानेन्द्रियों के प्रभाव को व्यक्त करता है। इसके भीतर अतीत की इच्छा और बुरी स्मृतियां संकलित होती हैं। नियमित प्रार्थना, और संकल्प करके मन की शक्ति में वृद्धि करना संभव है। मन, बुद्धि और शरीर में गहरा संबंध होता है। मनोमय कोष के विकास के लिए अच्छे साहित्य का अध्ययन उपयोगी होता है जैसे कविताएं, उपन्यास, निबंध और लेख आदि।

4) विज्ञानमय कोषः बौद्धिक आवरण

विज्ञानमय कोष विज्ञान अथवा बुद्धि से निर्मित है, जिसके अन्तर्गत अच्छे व बुरे में अन्तर का निर्धारण होता है। इसकी रचना अधिक बौद्धिक प्रक्रियाओं से हुई है तथा धारणा संबंधी अंगों से सम्बद्ध होता है। निम्नलिखित कारणों से यह ज्ञानयुक्त आवरण स्वयं में सर्वोपरि नहीं हो सकता, यह

परिवर्तनशील होता है और अनवरत स्थिर नहीं रहता तथा एक संज्ञाहीन और सीमित वस्तु है, यह हर समय मौजूद नहीं होता।

मन (मानस) तो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाहरी संवेदनाओं को प्राप्त करता है और कर्मोन्द्रियों को सूचित कर प्रेरित करता है। यद्यपि पांच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त संवेदनाएं एक दूसरे से अलग तरह की होती हैं, उनका एक समेकित अनुभव यह होता है कि उन्हें मन को प्रेषित किया जाता है। बुद्धि विवेचक और कुशाग्र प्रक्रिया है, जिसमें प्राप्त संवेदनाओं की परख और तद्नुसार निर्णय होता है। यह मन को अपने निर्णय के विषय में सूचित भी कर देती है कि किस प्रकार की अनुक्रिया की जानी है। मन स्मृति के आधार पर अपने अनुभवों को सुख अथवा विषाद से जोड़ देता है। बुद्धि हालांकि अपनी सोचने की क्षमता से एक तर्क संगत निर्णय लेती है जो भले ही मन को अच्छा न लगता हो किन्तु यह अन्ततः व्यक्ति के लिए लाभदायक हो सकता है। मन सभी स्मृतियों और ज्ञान का भंडार होता है। अनुभव का यह भंडार मनुष्य के क्रियाकलाप में मार्गदर्शक की भूमिका निभाता है। मन को आवेगों के अधिष्ठान के रूप में भी वर्णित किया जा सकता है। और बुद्धि उन क्षेत्रों की परख करने के लिए है, जिन्हें वे संचालित करते हैं। मन में केवल 'ज्ञात स्थानों' की यात्रा करने की क्षमता होती है किन्तु बुद्धि ज्ञान स्थलों में रहने के बावजूद नई खोजों की जांच करके उन पर मनन करने और समझने के लिए ज्ञात स्थलों में प्रवेश कर सकती है।

5) आनन्दमय कोषः परमानन्दमय आवरण

यह परमानन्द की स्थिति मानी जाती है, क्योंकि हम जाग्रत और स्वप्न की किसी भी अवस्था में होते हैं, तो हम पूर्व अनुभव के आधार पर ऐसी स्थिति में असीम शान्ति और परमानन्द का अनुभव करते हैं। आनन्दमय आवरण बौद्धिक आवरण को नियंत्रित करता है। जब अन्य सभी कोष पूर्ण विकसित होते हैं तो हमें अपनी अन्तरात्मा और बाह्यजगत् में समन्वय की अनुभूति होती है। इस सामंजस्य से हमें खुशी व आनन्द की अनुभूति होती है। ये पांचों कोष व्यक्ति द्वारा पहने हुए वस्त्रों की परत जैसे होते हैं, जो पहनने वाले व्यक्ति से एकदम अलग होते हैं। इसीलिए आत्मा अथवा वास्तविक अस्तित्व बाहरी अन्य पांचों परतों से पूर्ण रूप से अलग होता हैं।

कार्यकलाप 14

1. कोष की परिभाषा दीजिए।

2. कोष कितने होते हैं? उनके नाम बताइए।

3.5.4 स्वास्थ्य और रोगों से संबंधित लघु योगवासिष्ठ

हठ योग संबंधी ग्रन्थ 'लघु योग वासिष्ठ' के अनुसार जब मनोमय कोष (मन) बाधित होता है तो प्राणमय कोष भी बाधित होता है। इसके फलस्वरूप जिन तन्त्रिकाओं से प्राण का प्रवाह होता है, वे तंत्रिकाएं भी बाधित हो जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्राण और अधिक बाधित हो जाता है। ऐसी स्थिति में लिया गया भोजन 'जहर' बन जाता है, क्योंकि दबाव के कारण विभिन्न पाचक रस क्षीण हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में तीन प्रकार की समस्याएं उत्पन्न होती हैं, जैसे – अपच, कुपाचन और अति पाचन। इसके लिए संस्तुत उपचार हैं– संतों का सान्निध्य, मंत्रों का उच्चारण, रात को अधिक देर तक न जगना, इसके अतिरिक्त मन को शांत रखने और प्राण को इसकी सामान्य स्थिति में लाने के अन्य उपाय भी हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक के *"पंचकोष विवेक"* में मानव रचना की एक समग्र दृष्टि वर्णित है, जिसमें शरीर का अन्तर–आश्रय, प्राण, मन, बुद्धि तथा आन्तरिक आनन्द का चित्रण है। व्यक्ति को आत्म बोध प्राप्त करने से पहले कुछ योग क्रियाओं के माध्यम से इन सभी स्तरों को पार करना होता है।

3.6 खराब स्वास्थ्य के संभावित कारण

योग के अनुसार बीमारी या खराब स्वास्थ्य का कारण सामान्य रूप से मन, शरीर और वाणी के स्तर पर अशुद्धियाँ मानी गई हैं। आपकी अपनी ही बात आपमें तथा आपके लिए आस–पास के लोगों में संकट उत्पन्न कर सकती है। इस संकट या असुविधा को एक बीमारी के रूप में ही लिया जाना चाहिए। शरीर, मन और भावना एक त्रिपादिका (तिपाई) की तरह है। यदि एक पहलू ठीक तरह से कार्य नहीं कर रहा होता है तो हमारा जीवन असंतुलित हो जाएगा और स्वास्थ्य खराब होता रहेगा। योग (आयुर्वेद का एक घटक) एक ऐसा सूत्र है जो तीनों घटकों (शरीर, मन और भावना) को जोड़कर सद्‌भाव या सामंजस्य उत्पन्न करते हैं। यह सामंजस्य ही जीवन का आधार होता है।

पतंजलि योग सूत्र से पता लगता है कि खराब स्वास्थ्य का मूल कारण मुख्यतया मानसिक होता है। सूत्र (प.यो.सू.–1:31) में बताया गया है कि ***दुःख–दौर्मनस्य–अंगमेजयत्व–श्वास–प्रश्वासविक्षेपसहभुवः*** इसका अर्थ है दर्द और दुःख, मानसिक संताप, शरीर के अंगों में विकार आना तथा श्वास–प्रश्वास में व्यवधान आना, ये सब चित्त में व्यवधान होने के कारण हैं। चित्त की ये बाधाएं आन्तरिक होती हैं और इनमें से बहुत सी तो ऐसी हैं जिनका आभास आसानी से नहीं होता है किन्तु उनके होने का बोध बाहरी लक्षणों से होता है। इस सूत्र में इन लक्षणों को बताया गया है। इनमें से एक या एक से अधिक लक्षण हमेशा रहेंगे। जब कोई चित्त विक्षेप होता है, तभी ऐसे विकार होते हैं और इनकी गंभीरता का अनुमान इन बाहरी लक्षणों की गतिविधि की तीव्रता से लगाया जाता है। क्योंकि ये सहभाव (सहवर्ती) चित्त–विक्षेप के कारण होते हैं।

पहले वाले विकारों के नियंत्रण हेतु कुछ तकनीकें हैं, जो बाद वाले विकारों को दूर करने में भी सहायक होंगी। प्रथम दो सहभाव मानसिक होते हैं, मगर उनका प्रभाव शरीर पर भी होता है, इसलिए इनके माध्यम से गुप्त और सूक्ष्म चित्त–विक्षेप का पता आसानी से लग जाता है। बाद वाली दो बाधाएं शरीर में प्रत्यक्ष परिवर्तन ला देती हैं और आसानी से दिखाई देती हैं। दुःख का तात्पर्य शारीरिक दर्द और मानसिक अवसाद दोनों से है। शरीर के ऐसे दर्द या असुविधा का पता आसानी से लगाया जा सकता है, क्योंकि ऐसी अवस्था व्यक्ति बार–बार अपनी मुद्राएं या भंगिमाएं बदलता रहता है।

व्याधि (शारीरिक रोग): महर्षि पतंजलि (योग दर्शन 1:30) के अनुसार योग (समाधि) में ध्यानस्थ होने में नौ बाधाओं में से व्याधि को एक बाधा माना गया है। पतंजलि प्रत्यक्ष लक्षणों का विश्लेषण भी करते हैं, जैसे दुःख (मानसिक या शारीरिक दर्द), दौर्मनस्य (उदासी या विषाद), अंगमेजयत्व (सिहरन, कम्पन्न) तथा श्वास–प्रश्वास (श्वास सम्बन्धी अनियमितताएं) को मानसिक बाधाओं का सहवर्ती भाव माना गया है (योगसूत्रः 1:31)। कैवल्यधाम के एक प्रख्यात योग विशेषज्ञ घराटे के अनुसार ये अन्तराय विघटन (व्याधि) के मुख्य कारणों में से हैं। उन्होंने समाधि को स्वास्थ्य की आदर्श अवस्था के रूप में वर्णित किया है, जो क्लेशों और अन्तरयों के कारण उत्पन्न चित्तविक्षेपों (मन में बाधाएं) द्वारा बाधित हो जाती है। उन्होंने आगे कहा है कि बन्धन, व मुक्ति और प्रसन्नता व अप्रसन्नता का कारण मन होता है। उनके अनुसार योग का उद्देश्य इन कारकों (***क्लेशतनुकरणम्***) के प्रभाव को समाप्त या कम करना तथा समेकन (***समाधि भवनम्***) की स्थिति को संवर्धित करना है। महर्षि पतंजलि हमें मन को शान्त करने के लिए श्वसन धीमी गति और गहरे प्रवाह पर ध्यान केन्द्रित करने की सलाह देते हैं, जिससे मानसिक असंतुलन को नियंत्रित किया जा सकता है (***प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य*** – योगसूत्र 1:34)। उन्होंने स्थिरता और प्रशांति प्राप्त करने के लिए एक ज्योतिर्मय (दीप्ति) दर्द रहित आन्तरिक स्थिति पर ध्यान केन्द्रित करने की सलाह दी है (***विशोका वा ज्योतिष्मती*** – योगसूत्र 1:36)।

पतंजलि ने तनाव आधारित विकारों के प्राथमिक कारण को भी पंचक्लेश (मनोवैज्ञानिक वेदनाएं) की अवधारणा के माध्यम से समझाया है। ये अविद्या (अन्तिम सत्य वास्तविकता के प्रति अनभिज्ञता, जिससे शरीर से संबंधी तथ्यों की पहचान होती है), अस्मिता (आत्मा का अवास्तविक भाव), राग–द्वेष (लत व घृणा), अभिनिवेश (मौत के डर से जीवन के प्रति मोह), (***अविद्या–अस्मिता–रागद्वेषाभिनिवेशः क्लेशाः*** – योगसूत्र II:3)। मूल कारण के होने से अविद्या समय–समय पर अन्य क्लेशों को भी विभिन्न रूपों में प्रकट करती है। वे दर्द और कष्ट की करणीयता के मामले में निष्क्रिय, क्षीण, प्रत्यक्ष अथवा प्रभावी हो सकते हैं। (***अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्*** – योगसूत्र II:4)।

रोग के यौगिक दृष्टिकोण से यह देखा जा सकता है कि मनोदैहिक, तनाव से संबंधित विकार चार अलग–अलग चरणों के माध्यम से बढ़ते रहते हैं। इन्हें इस रूप में समझा जा सकता हैः

- **मानसिक चरणः** इस चरण की विशेषता है मध्यम परंतु स्थाई मनोवैज्ञानिक तथा व्यवहार सबंधी तनाव जनित लक्षण। जैसे चिड़चिड़ापन, नींद का उखड़ना इत्यादि। इस चरण को समान रूप से विज्ञानमय और मनोमय कोषों से सम्बद्ध किया जा सकता है। इस चरण में उपचार के रूप में योग बहुत कारगर होता है।

- **मनोदैहिक चरणः** यदि तनाव जारी रहता है तो लक्षण बढ़ जाते हैं, और साथ ही शरीर में भी सामान्य लक्षण प्रकट होने लगते हैं जैसे सामयिक उच्च रक्तचाप और सिहरन। यह चरण मनोमय और प्राणमय कोष से सह–संबंधित हो सकता है। इस चरण में उपचार के रूप में योग बहुत कारगर होता है।

- **दैहिक चरणः** इस चरण को अंगों, विशेष रूप से लक्षित अथवा संबंधित अंग, की क्रियाओं में बाधा होने के रूप में चिह्नित किया गया है। इस स्थिति में व्यक्ति रोग ग्रस्त अवस्था की पहचान करने लगता है। इस चरण को प्राणमय और अन्नमय कोष से सह–संबंधित किया जा सकता है। इस चरण में उपचार के रूप में योग कम प्रभावी होता है अतः इसमें योग को उपचार की अन्य विधियों के साथ मिलाकर प्रयोग में लाया जा सकता है।

- **जैविक चरणः** इस चरण में रोग स्थिति पूर्ण रूप से दिखाई देने लगती है तथा इसमें रोग विज्ञान संबंधी परिवर्तन जैसे आमाशय में व्रण (अल्सर) या पुराना उच्च रक्तचाप जैसे रोगों के लक्षण परिणामी जटिलताओं के साथ दिखाई देते हैं। इस चरण को अन्नमय कोष से सम्बन्धित किया जा सकता है, क्योंकि रोग शरीर में स्थित होता है। इस चरण में एक उपचार के रूप में योग का प्रभाव मात्र लघुकारक तथा जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाने तक सीमित हो सकता है। इसके अलावा इससे भावनात्मक और मनावैज्ञानिक प्रभाव सकारात्मक होते हैं, यहां तक कि जब व्यक्ति मृत्यु शैय्या पर पड़ा हो। अक्सर, रोग प्रक्रिया को आरंभिक स्थितियों को अनदेखा किया जाता है और अंतिम स्थिति को ही सब कुछ माना जाता है। इसमें किसी व्यक्ति की आदतें और जीवनशैली से इसका थोड़ा संबंध होता है। यह क्योंकि आधुनिक दवाओं से केवल शारीरिक पहलू पर ही प्रभाव होता है तथा पंचकोष और स्वास्थ्य रोग संबंधी प्रभावों पर ध्यान नहीं दिया जाता।

रोग होने संबंधी एक प्रमुख भारतीय अवधारणा त्रिदोषों का असंतुलन है। इसका वर्णन योग तथा आयुर्वेद के कई प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है, जैसे 'शिव स्वरोदय', 'सुश्रुत संहिता', 'चरक संहिता' और तिरुमंदिरम्। द्रविड़ सन्त कवि तिरुवल्लुवर के अनुसार त्रिदोष (वात, कफ, पित्त) के असंतुलन से रोग उत्पन्न होता है। वात शरीर की ऊर्जा है जो वायु की तरह परिभ्रमण करती रहती है और शरीर में इसी के कारण रक्त प्रवाह होता है। यह तंत्रिका तंत्र और जोड़ों से भी संबंधित होती है, जिससे हम गतिशील रहते हैं। यह पित्ताशय स्राव से संबंधित है और शरीर में ऊष्मा उत्पन्न करने का कारण होती है। यह उपचय क्रिया की ऊर्जा है, जो उत्पादक और पुनरोत्पादक प्रक्रियाओं में सहायता करती है। जैसे ही ये तीनों असंतुलित हो जाते हैं, वैसे ही हमारे शरीर के विशेष भागों में इनका प्रभाव होने लगता है और विकार आने लगता है। जब वात का असंतुलन होता है तो मुख्यतया बड़ी आंत के रोग होने लगते हैं जैसे कब्ज और गैस, तथा साथ–साथ तंत्रिका तंत्र, रोग प्रतिकारक प्रणाली और जोड़ों के रोग भी होने लगते हैं। जब पित्त अधिक मात्रा में बढ़ जाता है, तो हम छोटी आंत के रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं, जैसे दस्त के साथ–साथ जिगर, तिल्ली, थायराइड, रक्त, त्वचा आंखो के रोग हो जाते हैं। जब कफ अधिक मात्रा में बढ़ जाता है तो हमें आमाशय और फेफड़ों के रोग हो जाते हैं, अक्सर देखा जाता है कि जुकाम की स्थिति में बलगम अधिक आने लगता है, जिससे जल चयापचय संबंधी रोग भी हो जाते हैं जैसे शरीर के अंगों में सूजन आ जाती है। गोधूली बेला में योगाभ्यास करने से कफ में आराम मिलता है, दोपहर में अभ्यास करने से वात में आराम आता है तथा प्रातःकाल अभ्यास करने से पित्त के विकारों से आराम मिलता है। (अन्जनमपौंड्डुदलैयरूमंडियिलेवंजगा वाथमगरू भैद्दियानाथिक्षैंजिरू कल्लैयिर्सैथिडिर्पितरुम् नंजारासो न्नोम्नराइथिराइनास नासमे तिरुमंदिरम् 727)

स्वर योग संबंधी एक प्राचीन ग्रंथ **शिवस्वरोदय** के अनुसार रोग तब विकसित होता है जब नासिका छिद्रों में **स्वर** (सहज तथा नियमित वायु प्रवाह) अपना निर्धारित समय और दिन पूरा नहीं कर पाते। सामान्य रूप से नासिका में **स्वर** का प्रवाह चन्द्र चक्र के चरण के अनुसार एक विशेष गति से होता है। यह भी कहा जाता है कि यदि रोग स्वर की अनियमित क्रिया होने से विकसित होता है तो उस बाधित क्रिया में सुधार लाने से उस रोग का इलाज हो सकता है। विभिन्न विकारों को समाप्त करने के लिए **स्वर** परिवर्तन हेतु विभिन्न तकनीकों के प्रयोग की सलाह दी जाती है।

प्रसिद्ध ग्रंथ **योगवासिष्ठ** में रोग उत्पन्न होने का कारण और उसके निदान का वर्णन बड़े ही तार्किक तरीके से किया गया है। इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की मानसिक बाधाओं एवं शारीरिक बीमारियों को पांच तत्वों (पंच महाभूत) में विभक्त कर अन्य भारतीय औषधि प्रणालियों के समान तरीके से वर्णित किया गया है। **सामान्य आधिजा व्याधि** को ऐसे वर्णित किया गया है, जैसे कि वे दिन–प्रतिदिन के कारणों से उत्पन्न हो रहे हों तथा **साराधिजा व्याधि** जन्म–पुनर्जन्म के चक्र से अवश्य होने वाली बीमारी है, जिसे जन्मजात रोगों के रूप में आधुनिक संदर्भ में समझा जा सकता है। पहले वाले को तो दिन–प्रतिदिन के उपचारात्मक उपायों से सुधारा जा सकता है जैसे दवाओं और शल्य चिकित्सा से, किन्तु **साराधिजा व्याधि** को तब तक समाप्त नहीं किया जा सकता है, जब तक कि आत्म–ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता। **विश्वसार तन्त्र** के गुरु स्रोत में भी यही विचार व्यक्त किया गया है कि गुरु के माध्यम से प्राप्त अन्तिम आत्म ज्ञान से जन्म–जन्मान्तर के कार्मिक बन्धन अवस्त हो जाते हैंः

अनेक–जन्म–सम्प्राप्त–कर्मबन्धविघातिने।

आत्मज्ञानप्रदानेन तस्मै श्री गुरवे नमः–गुरु स्तोत्रः श्लोक–1।

योग वासिष्ठ में, उस तंत्र का विस्तृत विवेचन दिया गया है, जिसके द्वारा मनोदैहिक विकार घटित होते हैं। मानसिक भ्रम से प्राण (जीवन शक्ति) उद्वेलित होते हैं और तंत्रिकाओं में बेतरतीव प्रवाह होने लगता है, जिसके परिणाम स्वरूप ऊर्जा की कमी/अथवा इन चैनलों में पर्याप्त ऊर्जा नहीं पहुंच पाती। इससे भौतिक शरीर में व्यवधान आ जाता है, विशेष रूप से चयापचय क्रिया में अवरोध पहुंचता है, अत्यधिक भूख लगती है और पूरे पाचन तंत्र की क्रिया गड़बड़ा जाती है। पाचन तन्त्र के माध्यम से भोजन की प्राकृतिक गति रुक जाती है, जिससे अनेक शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह ग्रन्थ हजारों वर्ष पुराना है, जबकि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में मनादैहिक विकारों की अवधारणा को ही माना गया और अभी हाल ही में इसे स्वीकार किया गया। हमारे प्राचीन संतों में अन्तर्दृष्टि होती थी, और अब हमारा दायित्व है कि हम उनके सपनों को पूरा करें तथा उन्होंने मानवता के लिए जो महान सन्देश दिया था, उसे समझें।

पांडिचेरी में आनन्द आश्रम के संस्थापक योग महर्षि स्वामी गीतानन्द गिरि ने स्वास्थ्य और रोग के संबंध में काफी कुछ लिखा है। उन्होंने कहा कि 'योग मनोदैहिक रोगों के व्यापक और प्रचुर मात्रा में पनपने को उस दबाव और तनाव का प्राकृतिक प्रतिफल मानता है जिसकी उत्पत्ति आधुनिक प्रचार (प्रोपैगेंडा) से जन्मी इच्छाओं तथा शरीर के दुरूपयोग से हुई है जिसकी अनदेखी धर्म, विज्ञान और दर्शन द्वारा भी की गई है।' इसमें आधुनिक समाज का आहार 'घटिया खाना (जंक फूड)' का भी योगदान है, जिससे आप में अन्तहीन विकारों की संभावना बनी रहती है तथा मनुष्य के अपने ही अज्ञान और कुकर्मों से वह विनाश के कगार पर पहुंच रहा है। उन्होंने रोग के मूल कारण को इस प्रकार समझाया हैः ''योग एकत्व की एक समग्र और एकीकृत अवधारणा रूप में अद्वैत या स्वभाव से द्वंद्व रहित है। इसमें प्रसन्नता, सामंजस्य और विश्रान्ति निहित है। जब मानव–मन में द्वन्द्व या द्वैत मौजूद होता है तो रोग उत्पन्न होता है। द्वन्द्व की इसी झूठी अवधारणा से मानव–मन के सभी संघर्ष और मानव विकारों की विशाल सूची तैयार हुई है। मनुष्य के पतन का प्रमुख कारण यही दैत्व (रोग) होता है।''

तिरुवल्लुवर ने अधिक भोजन करने और रोग के सम्बन्ध पर यह कहते हुए जोर दिया है कि ''जो व्यक्ति खाली पेट होने पर खाता है वह स्वस्थ रहता है और जो लालच से अधिक खाता है, वह अस्वस्थ रहता है।''

वह हमें यह भी चेतावनी देते हैं कि जो भूख के स्तर से अधिक खाते हैं उन्हें बेहद कठिनाइयों का सामना करना होगा। वह सभी चिकित्सकों (डाक्टरों) को यह सलाह देता है कि पहले रोग का पता लगाओ और फिर इसके मूल कारण का पता लगाओ और अन्त में उस विशेष अन्तर्निहित कारण का उपाय खोजो।

योग यह बताता है कि ऐसे शारीरिक रोग जो मनोदैहिक प्रकृति के नहीं होते, उन्हें शल्य चिकित्सा, औषधि, प्रार्थना और जीवनशैली में आवश्यक सुधार लाकर प्रतिबंधित किया जा सकता है। शारीरिक रोगों के उपचार में विभिन्न योग तकनीकों के उपयोग से सहायता मिलती है और आवश्यक रूप से जीवन का उत्थान, स्वस्थ हो जाने और पुनर्वास के साथ स्वास्थ्य बहाल हो जाता है। जीवन में योग को अपनाने का प्रमुख लाभ दुर्घटना से बचना है। योग से व्यक्ति में बेहतर सतर्कता, सजगता और शारीरिक शक्ति आ जाती है, इससे उसका दुर्घटनाओं से बचाव होता है और शारीरिक व मानसिक दोनों प्रकार के आघातों को झेलने की शक्ति मिलती है। इसकी संरक्षणात्मक और सुधारात्मक विशेषताओं के अलावा योग का उद्देश्य सकारात्मक स्वास्थ्य का संवर्धन करना भी है, जिससे हम अपने जीवन में स्वास्थ्य संबंधी चुनौतियों से निपटने में समर्थ हो जाते हैं। यह वैसा ही तथ्य है, जैसे हम आर्थिक संकटों का मुकाबला करने के लिए बैंक में पैसे की बचत करते हैं, इसी प्रकार हम अप्रत्याशित स्वास्थ्य संबंधी चुनौतियां से निपटने के लिए अपने सकारात्मक स्वास्थ्य का संतुलन भी रख सकते हैं, जिससे रोग शीघ्र ही ठीक हो जाता है और हम एकदम स्वस्थ हो जाते हैं। आधुनिक समय में स्वास्थ्य के प्रति सजगता में सकारात्मक स्वास्थ्य की अवधारणा में योग का अनुपम योगदान है, लोगों की स्वास्थ्य सजगता में योग की संरक्षात्मक और संवर्धनात्मक दोनों भूमिकाएं होती हैं। यह सस्ती प्रणाली भी है और रोगियों को लाभ पहुंचाने के लिए इसका उपयोग समन्वित तरीके से दवा की अन्य प्रणालियों के साथ मिलाकर भी किया जा सकता है।

3.7 स्वस्थ रहने के यौगिक सिद्धान्त (आहार, विहार, आचार, विचार)

''स्वास्थ्य ही धन है'' यह एक प्रमाणित तथ्य है। एक स्वस्थ जीवन जीने के लिए अनिवार्य है कि हम अच्छी चीजें करें और एक स्वस्थ जीवन शैली अपनाएं। आधुनिक जगत जीवन शैली की व्यापक विकृतियों की विडम्बना झेल रहा है, जिसमें परिवर्तन लाने की आवश्यकता है तथा जिसे व्यक्ति स्वयं सचेतन रूप से ला सकते हैं। उचित और स्वस्थ जीवन शैली अपनाने में योग का बड़ा महत्त्व है, इसके मुख्य घटक इस प्रकार हैंः

1) **आचारः उचित आचार (नियमित दैनिक कार्य) द्वारा बेहतर मानसिक स्वास्थ्यः** योग में स्वस्थ कार्यकलाप के महत्त्व पर जोर दिया जाता है, जैसे–नियमित व्यायाम तथा आसन, प्राणायाम और क्रियाओं की संस्तुति की जाती है। सलाह दी जाती है कि इन्हें दिनचर्या बिल्कुल नियमित रूप से करनी चाहिए। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि कार्य, भोजन, व्यायाम और सोने के समय का ध्यान रखा जाए। नियमित आचार का एक उत्तम उदाहरण सूर्य है। इस प्रकार के स्वस्थ कार्यकलाप का एक मुख्य परिणाम है हृदय और श्वास संबंधी स्वास्थ्य।

2) **विचारः सही विचारों द्वारा उत्तम बौद्धिक स्वास्थ्यः** जीवन के प्रति उचित विचार और उचित दृष्टिकोण (अभिवृत्ति) होना हमारे स्वास्थ्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। संतुलित मानसिक स्थिति को नैतिक नियंत्रण और नीतिपरक मूल्यों (यम–नियम) का पालन करके हासिल किया जा सकता है। महात्मा गांधी ने कहा थाः ''प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता के लिए इस दुनिया में बहुत कुछ मौजूद है, किन्तु किसी व्यक्ति की लालसा के लिए यह पर्याप्त नहीं है।''

3) **आहारः** ''अन्नम् ब्रह्म'' भोजन ब्रह्म है। योग में स्वस्थ, पोषक तत्वों से भरपूर आहार की आवश्यकता पर जोर दिया गया है, जिसमें संतुलित ताजे आहार के साथ ताजा पानी, हरा सलाद, अंकुरित अन्न आदि, अशोधित अनाज और ताजे फल शामिल हैं। **सात्त्विक** आहार की आवश्यकता के प्रति सजग रहना बड़ी बात है, और यह प्रेम और स्नेह से बनाया हुआ होना चाहिए, और भोजन परोसने में भी वही भाव होना आवश्यक है।

कब खाना चाहिए?

प्राचीन ग्रंथों में कहा गया है कि व्यक्ति को सूर्योदय के समय रातभर का व्रत तोड़ना चाहिए और सूर्यास्त के समय अंतिम भोजन कर लेना चाहिए।

- राजा की तरह नास्ता करो। जो कुछ भी हम सुबह के समय खाते हैं, उसका अवशोषण और संचय अधिकतम होता है। इसलिए सुबह का भोजन पूर्ण रूप से पौष्टिक होना चाहिए।
- दोपहर का भोजन एक राजकुमार की तरह करोः दोपहर का भोजन ऐसा होना चाहिए जो आसानी से पच जाए।
- शाम का अल्पाहारः अपनी–अपनी पसंद के अनुसार किसी भी तरह के स्वाद का नाश्ता लिया जा सकता है।
- रात का भोजन एक भिखारी की तरहः रात का खाना पूरे दिन के भोजन से सबसे हल्का होना चाहिए।

क्या खाया जाए?

''जैसा खाओ अन्न, वैसा होता मन'', और जैसा मन होता है, वैसा ही आदमी होता है।

- **सात्त्विक भोजन** – पाचक भोजन आराम से खाओ, इससे विश्रान्ति और शान्ति की भावना आती है।
- **राजसिक भोजन** – इस भोजन से बड़ी मात्रा में ऊर्जा मिलती है, यह आसानी से नहीं पचता तथा इससे मन विचलित होता है, इसलिए इससे बचना चाहिए।
- **तामसिक भोजन** – यह बासी भोजन है तथा इसे पचाने में काफी समय लगता है इसको खाने से व्यक्ति सुस्त, निष्क्रिय, आलसी हो जाता है इससे तो अवश्य बचना चाहिए।

4) **विचार – "विचार से बेहतर भावनात्मक स्वास्थ्य"** – अच्छे स्वास्थ्य के लिए उचित मनोरंजक कार्यकलाप होने चाहिए जिससे शरीर और मन को आराम मिले। इसमें पूर्ण विश्रान्ति की अवस्था रहती है। वाणी तथा विचार भी शांत हों। उस तरह की गतिविधि भी हो सकती है, जिनमें व्यक्ति व्यष्टित्व की भावना खो दे। समष्टि की भावना अपनाने और व्यष्टि की भावना छोड़ने के लिए कर्मयोग सबसे शानदार तरीका है। समष्टि सक्रिय रचनात्मक शौक होने से दबी हुई भावनाएं निकल जाती हैं और मन तरोताजा हो जाता है। ऐसे कार्यकलाप, जैसे–बागवानी, कोई संगीत का यंत्र बजाना, गीत या कविताओं का गायन, कलाकृति बनाना तथा पेंटिंग या अन्य ऐसे शौक जो व्यक्ति को पसन्द होते हैं, करने से आनन्द की प्राप्ति में सहायता मिलती है। बगीचे, समुद्रतट, झील अथवा नदी के किनारे, सुबह या शाम के समय पहाड़ की चोटी पर प्रकृति की सैर करने से शरीर, मन और आत्मा जीवन्त हो उठती है। साधारण खेल वाले कार्यकलाप जैसे आपस में गेंद/रिंग खेलना या फेंकना या डफ बॉल खेलना, ऐसे खेल नियमित रूप से हंसते हुए खुशी से खेलने से शरीर, मन एवं आत्मा तरोताजा हो जाते हैं। बच्चों के साथ खेलने या बच्चों के कार्यकलाप के साथ घुलमिल जाने से भी आराम और ताजगी प्राप्त होती है। लम्बे समय तक कठोर शारीरिक और मानसिक परिश्रम करने के बाद हठ योग की चैतन्य विश्रान्ति वाली क्रियाएं जिनमें शवासन या निस्पंदभाव क्रियाएं शामिल हैं। इन्हें करने से व्यक्ति को आराम और ताजगी मिलती है। चैतन्य विश्रान्ति से नींद भी अच्छी आती है, शरीर को बहुत आराम मिलता है और मन एकदम शान्त व निश्चिन्त हो जाता है।

कार्यकलाप 15

1. स्वस्थ जीवन के यौगिक सिद्धान्तों की सूची बनाइए।

2. आचार और आहार में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

3.8 स्वास्थ्य प्रबंधन के लिए योग का समेकित दृष्टिकोण

मनोमय कोष में स्थित बाधा प्राणमय कोष के माध्यम से शारीरिक (अन्नमय कोष) में फैल जाते हैं। इसलिए इन मनोदैहिक रोगों के उपचार में शीघ्र परिणाम प्राप्त करने के लिए हमारे अस्तित्व के इन सभी स्तरों पर कार्य करना अनिवार्य हो जाता है। अतः एकीकृत पद्धति केवल शारीरिक परत से संबंधित नहीं है जिसका प्रभाव अस्थाई रूप से हो, जैसा कि मनोदैहिक प्रकार के रोगों, जैसे दमा, मधुमेह, उच्च रक्तचाप आदि के उपचार के लिए आधुनिक चिकित्सा में प्रयोग की जाने वाली दवाओं से हो रहा है। इसमें ऐसी तकनीकें सम्मिलित हैं, जो हमारे अस्तित्व के अलग–अलग आवरणों में संचालित होती हैं। योग संबंधी ग्रन्थों और उपनिषदों में उपलब्ध बहुत सी क्रियाएं, ऐसी हैं जिन्हें पांचों कोषों के अवरोधों को संतुलित करने और सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रयोग किया जाता है तथा इस प्रकार के बहुत से मनोदैहिक रोगों का उपचार हो जाता है। प्रत्येक कोष से सबंधित क्रियाएं नीचे दी गई हैं जिनका उपयोग एकीकृत स्वास्थ्य प्रबंधन के लिए किया जा सकता है।

क) अन्नमय कोष (शारीरिक परत) सम्बन्धी क्रियाएं

अन्नयमय कोष स्तर को व्यवस्थित रखने के लिए तथा रोगों के भौतिक लक्षण दूर करने के लिए स्वस्थ यौगिक आहार, क्रियाएं, हलका व्यायाम और योगासन किए जाते हैं।

i) *क्रियाएः* हमारे शरीर के भीतरी अंगों की स्वच्छता के लिए हठयोग में वर्णित ये यौगिक प्रक्रियाएं हैं। इनसे निम्नलिखित प्रभाव होते हैंः (क) अंगों को सक्रिय और मजबूत बनाना (ख) उनकी क्रियाओं को गतिशील बनाना (ग) विसंवेदीकरण (घ) गहन आंतरिक बोध लाना। योग ग्रंथों में वर्णित मुख्य्य क्रियाओं में से कुछ क्रियाओं के सरलीकृत संस्करण जैसे कैथेटर नेति, जल नेति, कपालभाति, अग्निसार, वमन धौति (कुंजल क्रिया) आदि को विशेष रूप से उपयोग में लाया जाता है।

ii) *शारीरिक व्यायाम और गतिविधि – शिथिलीकरण व्यायाम*

शरीर के प्रभावित अंगों को गतिशील व क्रियाशील बनाने के लिए बहुत आसान शारीरिक व्यायामों का प्रयोग किया जाता है। कुछ शारीरिक व्यायाम विशेष रोगों के उपचार हेतु अपनाए जाते हैं। जैसे – (क) जोड़ों को लचीला बनाना (ख) मांसपेशियों का विस्तारण स्वाभाविक एवं शिथिलीकरण (ग) शक्ति में सुधार लाना तथा (घ) शारीरिक क्षमता को विकसित करना।

iii) *योगासन–शारीरिक मुद्राएं*

योगासन शारीरिक मुद्राएं हैं, जिन्हें मन को शान्त बनाने के प्रयोजन से पशुओं की स्वाभाविक मुद्राओं का अनुकरण करके व्यवहार में लाया जाता है। इन आसनों के माध्यम से शरीर को सशक्त बनाया जाता है और इनसे गहन विश्रान्ति व मानसिक शान्ति मिलती है।

ख) प्राणमय कोष (प्राण की परत)

प्राण मूल जीवन का सिद्धान्त है। प्राण पर नियंत्रण करने के लिए प्राणायाम की प्रक्रिया होती है। **'प्राणोपनिषद्'** में वर्णित मानव प्रणाली में प्राणायाम की परिभाषा सबसे व्यापक रूप से दी गई है, जिसमें प्राणायाम के पांच स्वरूप बताए गए हैं। उसमें श्वसन के नियमन के माध्यम से पारम्परिक प्राणायाम का वर्णन किया गया है।

उचित श्वसन क्रिया के अभ्यास, क्रियाओं और प्राणायाम के माध्यम से हम प्राणमय कोष में क्रिया संचालित करने लगते हैं। उचित तरीके से प्राणायाम और श्वसन क्रिया के अभ्यास से प्राणमय कोष में प्राणों के प्रवाह में होने वाले अवरोध दूर करने में सहायता मिलती है। इस प्रकार इस प्राणमय कोष के स्तर पर रोगों को नियंत्रित किया जाता है।

ग) मनोमय कोष संबंधी क्रियाएं (मानसिक परत)

i) *धारणा और ध्यानः* इस स्तर पर प्रत्यक्ष उपचार पतंजलि के अष्टांग योग के अन्तिम तीन अंगों– धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा संभव हो सकता है। मन के संवर्धन की प्रक्रिया प्रारंभिक रूप से मन को किसी एक वस्तु पर एकाग्र रखने (धारणा) से पूरी होती है, उसके बाद मन को काफी लम्बे समय तक एक ही विचार (ध्यान) पर विश्रान्ति की स्थिति में रखा जाता है, जिससे अन्ततः चेतना की चरम स्थिति (समाधि) में पहुंच जाते हैं। ध्यानावस्था (ध्यान) की अवधि में एक लगातार अभ्यास से मन विश्रान्ति की अवस्था में आ जाता है। अनुभवातीत ध्यान (टी.एम.), जो एक साधारण मानकीकृत तकनीक है, के कई प्रकार के लाभ हैं, जो दिलचस्प और उल्लेखनीय होते हैं। बहुत से मनोदैहिक रोगों के उपचार में इसका प्रयोग लोकप्रिय हो गया है।

ii) *संवेग नियंत्रण*

मानसिक परेशानियों के मूल कारण से निपटने व उन पर नियंत्रण करने के लिए हम उन योग तकनीकों का प्रयोग करते हैं, जो हमारे संवेगों को नियंत्रित करती हैं।

एक भक्ति सत्र द्वारा जिसमें प्रार्थना, मंत्रोच्चार, भजन, नामावली, धुन, स्रोत का पाठ होता है, एक ऐसा वातावरण बनता है, जिससे संवेगों को प्रकट किया जाता है और उनकी पहचान होती है। उन्हें क्षीण किया जाता है तथा शान्त किया जाता है। इस प्रकार भक्ति सत्र से संवेगो पर नियंत्रण हो जाता है। ऐसे नियंत्रण से संवेगात्मक असन्तुलन और उत्तेजना की लहर समाप्त हो जाती हैं।

घ) विज्ञानमय कोष (विवेक अथवा प्रज्ञा सम्बन्धी परत)

भृगु इस अद्‌भुत खोज के बारे में वरूण को बताते हैं, गुरू प्रसन्न हैं और कहते हैं "आगे चलते रहो। तुम्हें कुछ कदम और आगे बढ़ना है, तुम सही दिशा में चल रहे हो।" अब गहन लम्बे तपस

के माध्यम से भृगु को अनुभूति होती है कि यह विज्ञान (ज्ञान) ही है, जिससे यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है और यही अन्तिम सत्य या वास्तविकता हो सकती है।

विज्ञानमय कोष हमारे अस्तित्व की चौथी परत है। हम सबके दो मन होते हैं। उदाहरण के लिए जैसे मनोमय कोष कहता है कि ''यह सुन्दर गुलाब है, मैं इसे लेना चाहता हूं'' और आप अपने हाथ को फूल तोड़ने का आदेश करने लगते हो, किन्तु भीतरी मन कहता है ''माफ करना, तुम इस फूल को नहीं तोड़ सकते, यह तुम्हारा नहीं है, यह तो पड़ोसी का बगीचा है'' और तुम स्वयं को रोक लेते हो। यही आंतरिक चेतना हमें लगातार मार्गदर्शन करती रहती है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, यही विज्ञानमय कोष है। यही मन का वह भाग है, जिसके माध्यम से मानव जाति इतने आगे बढ़ी है कि मनुष्य और पशु में अन्तर हो गया है। यह हमारी करणीय और अकरणीय के मध्य विभेद करने और करणीय का वरण करने की शक्ति है।

भर्तृहरि ने इस तथ्य को उजागर किया है कि यह संकाय, यानी विज्ञानमय कोष किस प्रकार मनोमय कोष को लगातार मार्गदर्शन देता रहता है, इसे उन मूल प्रवृत्तियों पर महारत हासिल है, जो खाने, संभोग करने, डरने और सोने से संबंधित होती हैं। इसलिए हम जानते हैं कि मनुष्य में ये सारी मूल प्रवृत्तियां मनोवैज्ञानिक होती हैं। उदाहरण के लिए, हमने पशुओं वाला वह चक्रीय व्यवहार खो दिया है जो यौन व्यवहार के लिए मद चक्र (गर्मी) उनमें अभी भी मौजूद है। स्वतंत्रता का यही तत्व है जो सभी मनुष्यों में जन्मजात होता है, जो हमें यह विभेद करने का मार्गदर्शन देता है कि ''अच्छा क्या है और बुरा क्या है'', यानी ''अच्छा और बुरा'', ''उचित और अनुचित'', इसी ज्ञान से सुख (प्रसन्नता) मिलता है। इस प्रकार विज्ञानमय कोष विभेदक संकाय है।

विज्ञानमय कोष से क्रिया संचालित करने के लिए एक बुनियादी विचार महत्त्वपूर्ण है। उपनिषद् ऐसे ज्ञान के खजाने हैं, जो सभी दुःखों और परेशानियों के उद्धारक हैं। बहुत सी गलत आदतों और परेशानियों का कारण आन्तरिक ज्ञान की कमी है। प्रसन्नता का जैसा विश्लेषण तैत्तिरीय उपनिषद् में किया गया है, उसमें समस्त जीवित प्राणियों से संबंधित अधिकांश मौलिक समस्याओं का समाधान मौजूद है। इस विश्लेषण में पाठक व्यवस्थित रूप से उस बुनियाद तक पहुंचता है, जहां से प्राण और मन का मिलन हो जाता है, यही आनन्दमय कोष है। इससे व्यक्ति को लालच की प्रवृत्ति को परिवर्तित करने में सहायता मिलती है तथा सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है और फिर उस आनन्द की अनुभूति होने लगती है जो हमारे अपने भीतर मौजूद है, यही सन्निहित आनन्द की स्थिति होती है। परिणामस्वरूप, जीवन में मनुष्य के दृष्टिकोण में परिवर्तन आता है। ज्ञान से गहन आसक्ति, आग्रह, पसन्द व नापसन्द समाप्त हो जाते हैं, जो मन को विचलित करने के बुनियादी कारण होते हैं। इस ज्ञान (आत्मज्ञान या स्वानुभूति) से सार प्रकार की आधियां भी दूर हो जाती हैं।

ङ.) आनन्दमय कोष (परमानन्द की परत)

वरुण अब अपने पुत्र को तपस में वापस जाने का आदेश देता है, और इस समय भृगु कभी वापस नहीं लौटता है। गुरू यह देखने जाता है कि पुत्र वापस क्यों नही लौटा। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भृगु गहन आनन्द में पूर्ण रूप से तल्लीन है। वहां विज्ञान और मनोमय कोष का कोई व्यक्ति 'मैं' मौजूद नहीं है, जो पिता को अपनी अनुभूति के बारे में बता सके। भृगु अब उस अन्तिम सत्य के ज्ञान में स्थित हो गया था, जो आनन्द इस ब्रह्मांड का मौलिक उपादान है, जिससे हर वस्तु का सृजन हुआ है।

यह आनन्दमय कोष कहलाता है – हमारे अस्तित्व की परमानन्दमय परत। यह हमारे अस्तित्व का सबसे सूक्ष्म पहलू है, जिसमें अन्य कोई संवेग या भावना निहित नहीं होती, यह पूर्ण शान्ति की अवस्था है – पूर्ण समत्व और स्वास्थ्य की अवस्था है।

मनोमय कोष में समत्व रचनात्मक शक्ति का प्रभुत्व होता है, तो विज्ञानमय कोष में विचार करने और विभेद करने की शक्ति होती है। परमानन्द आनन्दमय कोष में सन्निहित है जो व्यक्त अस्तित्व में विकास की सर्वोच्च अवस्था है। मनुष्य के अंतिम सत्य तक पहुंचने की यात्रा में उसे बारी–बारी से अस्तित्व के इन कोषों को पार करना होता है। विश्लेषण में इसे ''पंचकोष विवेक'' (अनुभव द्वारा ज्ञान, व्यक्ति के अस्तित्व के पांच कोष) कहा गया है तथा इससे संबंधित क्रियाओं को 'तपस' कहा गया है, जिनके माध्यम से व्यक्ति धीरे–धीरे स्वयं को रूपान्तरित करता है और प्रत्येक कोष की बाधाओं व बंधनों से मुक्त होकर विश्राम की स्थिति में आ जाता है। जैसा कि उपनिषदों में वर्णित है कि अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने की यह एक विधि है।

हमारे सभी कर्मों में हमारे अस्थाई शरीर (कारण शरीर) में आनन्द का संचार होना आनन्दमय कोष कहलाता है, जो बहुत ही प्रसन्न और स्वस्थ जीवन के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे हमारे जन्मजात रोग हर शक्ति सक्रिय हो जाती है जिससे हमारे रोगों पर प्रभाव पड़ता है और उनका पूरा उपचार हो जाता है। इसमें प्रयोग की जाने वाली तकनीकें कर्म योग के अन्तर्गत आती हैं, जो कर्म का रहस्य होता है।

जब हम अपने सभी प्रकार के कार्य करते हैं तो मानसिक स्तर पर यह रहस्य आन्तरिक शान्ति, समत्व बनाए रखने में निहित होता है। सामान्य रूप से हम जिन चीजों को पसन्द नहीं करते या पसन्द करते हैं हम उन पर परेशान हो जाते हैं और उत्तेजित हो जाते हैं। मगर हमें समत्व या सामंजस्य बनाए रखना होता है। अगला कदम है जब हम कार्य कर रहे होते हैं तो हमारे मन की आंतरिक सूक्ष्म परतों में गहन शान्ति और आनन्द जाग्रत होना चाहिए।

यह कार्य आत्म–बोध से स्वयं को परिवर्तित करने की अनवरत इच्छाशक्ति से और आत्म–संसूचन (ऑटो सजेशशन) से संपन्न होता है। पहले सोपान में यह पहचान करनी होती है कि ''मुझे तनाव हो रहा है।'' इसे समाप्त करने हेतु अपने भीतरी सम्पूर्ण आनन्द, शान्ति और विश्रान्ति को जाग्रत करना होता है। इस बात को दिन में कई बार याद करते रहो कि मेरे भीतर ही असीम शान्ति मौजूद है। योगाभ्यास करते समय चेहरे पर मुस्कराहट और विश्राम का भाव बनाए रखो।

कोष	**स्थिति**	**क्रिया**
अन्नमय कोष	जैविक शरीर	चलचित्र डाउनलोड करें, फेसबुक पर पारिवारिक तस्वीरें, सप्ताहांत संबंधी सामूहिक तस्वीरें (पार्टी की) अपलोड करें
प्राणमय कोष	ऊर्जा शरीर, शक्ति	स्वास्थ्य के उद्देश्य से खेलकूद, योग कार्यशालाओं में सम्मिलित हों
मनोमय कोष	मानसिक शरीर, विचार और भावनाएं	लोगों की मदद करें, सामाजिक गतिविधियों में सम्मिलित हों
विज्ञानमय कोष	बौद्धिक शरीर, आध्यात्मिक विभेदीकरण और विवेक	ज्ञान की प्राप्ति

आनन्दमय कोष	आनन्द शरीर, शुद्ध चेतना	परमानन्द की स्थिति, शरीर अब भी चेतना में है

3.8.1 मनोदैहिक स्वास्थ्य के लिए योग में संवेदी प्रतिपुष्टि की घटना

हमारी संवेदी तंत्रिकाएं समस्त संवेदी अंगों के माध्यम से (i) बाहरी जगत् तथा (ii) शरीर के भीतर से भी आवेगों को लाती हैं और इन्हें मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों तक पहुंचाती हैं। बर्हिसंवेदी आवेग शरीर के बाहर हमारे वातावरण से संबंधित होते हैं और अन्तः संवेदी आवेग आन्तरिक शरीर की क्रियाओं में होने वाले परिवर्तनों से संबंधित होते हैं। अन्तःसंवेदी आवेग दो प्रकार के होते हैं: बहिरंगग्राही (जोड़ो से संबंधित गति, शरीर की स्थिति तथा मांसपेशीय प्रणाली से संबंधित सजगता) तथा आंत्रग्राही (संवेग हमारे आंत्रीय अंगों से संबंधित होते हैं)। उल्लेखनीय है कि एक बड़ी सीमा तक अन्तःसंवेदी आवेश हमारी चेतना की परिधि में प्रविष्ट नहीं होते क्योंकि अनुक्रियाएं और स्वतः होने वाली क्रियाएं तंत्रिका प्रणाली के निचले केन्द्रों से संबंधित होती हैं। यौगिक क्रियाएं यदि परंपरागत तरीके से की जाती हैं, तो इनसे आन्तरिक संवेदनाएं चेतना स्तर तक पहुंच जाती हैं। इनसे उत्पन्न होने वाली सांवेदिक प्रतिपुष्टि घटना से हमारे समस्त क्रियाकलाप पर कहीं बेहतर सजग नियंत्रण होता है। योग तकनीकों से आंतरिक जागरूकता बढ़ने के कारण हमारी गहन जागरूकता के क्षेत्र में वृद्धि होती है, जिसमें सूक्ष्मतम गतिविधियां भी शामिल हैं। इस प्रकार योग साधक व्यक्ति एक महत्त्वपूर्ण स्तर तक आन्तरिक अंगों की क्रियाओं पर नियंत्रण करने और उन्हें नियमित बनाने में समर्थ हो जाता है। हठ योग ग्रन्थ में योग के मनोदैहिक प्रभावों के आभास के बारे में विस्तार से वर्णन किया गया है।

3.9 योग तथा यौगिक आहारीय विचार से तनाव प्रबंधन

तनाव एक दुष्प्रभावी अनुक्रिया है, जो संबंधित व्यक्ति में उसकी विशेषता के अनुरूप होती है तथा उसके अनुभव व अत्यधिक मनोदैहिक, मनो–सामाजिक और जैव–पारिस्थितिकीय आवश्यकताओं से संबंधित होती है।

पतंजलि योग सूत्र के अनुसार ''तनाव एक मनोशारीरिक असंतुलन की अवस्था है, जिसकी अनुभूति अपने आप का मानसिक वृत्तियों के साथ एकात्मीकरण के कारण होती है तथा जो हमारी अस्तित्व संबंधी वेदना और मनस्ताप, (जिन्हें क्लेशों की संज्ञा दी गई है) से उत्पन्न होती है एवं सामाजिक वातावरण तथा मनोशारीरिक अनुक्रिया प्रारूपों द्वारा प्रेरित होती है।''

3.9.1 योग द्वारा तनाव को कम करना

यू–स्ट्रैस–डिस्ट्रैस द्विभाजन में योग का कोई योगदान नहीं होता। योग के मतानुसार मानसिक गतिकी को पूरी तरह से शान्त किया जा सकता है, (प.यो.सू. 1:2), जिससे व्यक्ति यहीं पर और अभी अपने अनुभवातीत 'स्व' को महसूस करता है (प.यो.सू. 1–3)। चेतना की इस अनुभवातीत स्थिति को यौगिक साहित्य में रचनात्मक और जीवन और जीवनयापन से संबंधित सांसारिक तनाव से कहीं ऊपर माना जाता है। हम जिस सीमा तक इस दिव्य स्थिति का अनुभव करते हैं, उसी सीमा तक हम अपने आप को मन की वृत्तियों के साथ एकात्मीकरण से परे ले जाते हैं। इस का आशय है कि हम योगाभ्यास में जितनी प्रगति करेंगे, हमारा मनोदैहिक संतुलन उतना ही सुदृढ होगा। इससे समत्व प्राप्त होता है (भगवद्गीता 2:47), जिसमें हमारे सारे कर्म कौशलपूर्ण और रचनात्मक बन जाते हैं (भगवद्गीता 2:49)। इस प्रकार योगाभ्यास करने वाले को सभी मानसिक विकारों से रहित एवं निरंतर विकास व पूर्णता से सम्पन्न सकारात्मक स्वास्थ्य की अनुभूति होने लगती है। योगाभ्यास के प्रभाव से योग साधक का तनावों के प्रति रवैया और धारणा बदल जाने के कारण उसमें अनुपम सामर्थ्य आ जाता है और तनाव समाप्त हो जाता है।

3.9.2 आहार के द्वारा प्राण संयमन (ऊर्जा की गतिकी का व्यवस्थित प्रवाह)

हठप्रदीपिका (II:2) में कहा गया है कि चित्त और प्राण एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। एक को सुधारने से दूसरा भी सुधर जाता है। प्राण सभी दैहिक क्रियाओं के लिए आधार तैयार करता है तथा समस्त दैहिक क्रियाएं मुख्य रूप से तंत्रिका तंत्र, श्वसन तंत्र और पाचन तंत्र द्वारा संचालित होती हैं इसलिए इन तंत्रों की अपसामान्य क्रियाओं का मनुष्य के क्रियात्मक–जगत पर प्रतिकूल प्रभाव होता है, जिससे प्राण की अपसामान्य क्रिया का पता लगता है। अशांत प्राण, जिसे विसूची प्राण कहा गया है, भी मन की कार्यात्मकता को प्रभावित करता है। इस दुश्चक्र से मनुष्य में दूषित भावनाएं, विचार, और व्यवहार आने लगते हैं। इसलिए अधिक नमकीन, खट्टा, चटपटा, गर्म और मसालेदार भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि इनसें तंत्रिका तंत्र उत्तेजित होता है तथा इससे जलन उत्पन्न होती है। इसी कारण मांसाहारी भोजन से भी सामान्य नियमानुसार परहेज करने के लिए कहा गया है। लगभग सभी यौगिक ग्रंथों में यही कहा गया है कि मनोदैहिक क्रियाओं को सुव्यवस्थित व शान्त करने से ही प्राण की क्रिया सुचारू रूप से चलती रहती है और यही सकारात्मक स्वास्थ्य का मार्ग होता है। पतंजलि योग में यम, नियम तथा हठयोग के द्वारा सलाह दी गई कि अधिक जनसम्पर्क से दूर रहें, इसमें सम्प्रेषित करने के लिए यही सन्देश है। हमारी मनोदैहिक प्रणाली को सुव्यवस्थित रखने के लिए सार्थक रूप से संतुलित सामाजिक जीवन और सद्भावपूर्ण सामाजिक समायोजन बहुत आवश्यक है। इससे मानव शरीर के भीतर एक आदर्श प्राणिक क्रिया सुचारू रूप से चलती रहती है।

छन्दोग्य उपनिषद् में बताया गया कि संतुलित आहार से मन के परिशोधन में सहायता मिलती है और इस प्रक्रिया में मानसिक विकार दूर होने लगते हैं।

''भोजन की शुद्धता से आन्तरिक अंगों की शुद्धता रहती है, आन्तरिक अंगों की परिशुद्धता से अनन्त की अमोध स्मृति आती है। स्मृति आ जाने से सभी प्रकार के मनोदैहिकी बंधन/विकार मिट जाते हैं।'' (छ.उ. VII. 26.2)

आहार संबंधी विचार के बारे में भगवद्गीता, घेरंड संहिता और हठ प्रदीपिका निम्नलिखित तथ्य पर एकमत हैं:

''ऐसे खाद्य पदार्थ जो सरस, सुपाच्य, पौष्टिक और स्वीकार्य होते हैं, इनसे जीवन विकसित होता है मन की दृढ़ता, शक्ति, स्वास्थ्य और प्रसन्नता बढ़ती है, जो ऐसा आहार लेते हैं वे सत्वगुण से सम्पन्न होते हैं भगवद्गीता (17:8)''।

3.9.3 यौगिक आहार का तर्काधार

योग क्रियाओं से संवेदनशीलता में वृद्धि होती है तथा तंत्रिका तंत्र में उच्च स्तरीय संवेदी क्रियाकलाप होने लगते हैं, कुछ अभ्यासों को एक निश्चित स्तर तक करने पर तंत्रिका तंत्र संवेदनशील और कोमल हो जाता है। इसका प्रभाव हमारी समग्र अनुभूति करने, सोचने–विचारने व व्यवहार करने की प्रणाली पर पड़ता है, जिससे यह चेतना की गहन अवस्था की ओर बढ़ती है। तंत्रिका तंत्र की आन्तरिक उत्तेजना होने पर व्यक्ति स्वाभाविक रूप से उत्तेजक चीजों को छोड़ देता है: जैसे नमक, मसाले, मदिरा, मांस, अंडा, मछली और धूम्रपान तथा अधिक गर्म व बहुत ठंडी चीजों को खाना बन्द कर देता है। मांसाहारी भोजन वाली चीजों में सोडियम की मात्रा अधिक होने से तंत्रिका तंत्र में उत्तेजना उत्पन्न होती है। गाय के दूध, मक्खन और घी में हल्का सा असंतृप्त वसा अम्ल होता है, जिसके चिपचिपे निक्षेपण से तंत्रिकाओं के रेशे नर्म हो जाते हैं और तंत्रिका का संचालन बेहतर रहता है, और साथ ही तंत्रिका तंत्र शान्त और स्वस्थ रहता है।

यह दिलचस्प बात है कि न्यूरो ट्रांसमीटर सूक्ष्म मात्रा में होते हैं। इसके अलावा सूत्रयुग्मन में विद्युतीय ऊर्जा मिलिवोल्ट में होती है। शिव संहिता (बी.23) में दिए गए विवेचन के अनुसार कहा गया है कि भोजन का सबसे बढ़िया सार(रस) सूक्ष्म शरीर के पोषण के लिए चला जाता है। छांदोग्य उपनिषद में भी यही कथन है (छां. उप. 6:51)।

प्राणायाम में निलंबित श्वसन क्रिया के दौरान और ध्यान संबंधी क्रियाओं में धीमी गति से श्वसन करने से तंत्रिका तंत्र मोटर क्रियाकलाप वाली परिधि के साथ कम से कम आंशिक रूप से अपना सम्पर्क खो देता है तथा इससे आमाशय – बड़ी आंत के मार्ग में भोजन का अवरोध आ जाता है, इसलिए ऐसे खाद्य पदार्थ जिनमें जल्दी सड़न आ जाती है और जिनसे गैस बनती है तथा ऐसा भारी भोजन जिससे बड़ी आंत में अधिक दबाव पड़ने से आंतों में दर्द होने लगता है, ऐसे भोजन को नहीं लेना चाहिए।

सारांश में, यह बिल्कुल ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त सभी यौगिक विधियां तथा यौगिक आहारीय विचार आवश्यक रूप से सभी व्यक्तिगत तथा अन्तर्द्वन्द्वों तथा अपसमायोजन का उपयुक्त उपचार है।

कार्यकलाप 16

1. योगाभ्यास के लिए यौगिक आहारीय विचारों के तर्काधार और महत्त्व को स्पष्ट करें।

3.10 सारांश

आधुनिक जीवन के तनाव और जीवनचर्या हमारे मनोदैहिक स्वास्थ्य को ही प्रभावित नहीं कर रहे हैं, बल्कि इनसे हमारे मानवीय मूल्यों का क्षरण भी हो रहा है। इसके परिणामस्वरूप मनोदैहिक और मानसिक विकार तथा समायोजन संबंधी समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। योग मनोदैहिक और (आवश्यक रूप से पूर्ण होने से इन) अस्तित्व संबंधी समस्याओं को नियंत्रित करता है। योग से हमे बुद्धि को स्थिर और सात्त्विक बनाने में सहायता मिलती है, जिससे मन (अर्थात् मानस) शान्त होने लगता है। योग वासिष्ठ के अनुसार मन के शान्त होने की अवस्था योग की स्थिति का परिचायक है। पतंजलि के योगसूत्र (प.यो.सू.) के संदर्भ में चित्त की एकाग्र अवस्था को रचनात्मक स्वास्थ्य के परिचायक के रूप में लिया जा सकता है। इसके अलावा पतंजलि योग सूत्र के अनुसार चित्त की निरूद्ध अवस्था को यौगिक स्वास्थ्य के रूप में भी लिया जा सकता है। तैत्तिरीय आरण्यक और लघु योग वासिष्ठ में भी स्वास्थ्य का समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। इस यूनिट में यौगिक आहार का मूलाधार, समग्र व्यक्तित्व विकास के लिए पंचकोष का महत्त्व तथा योग के माध्यम से प्रभावी तनाव–उपचार का आधार जैसे शीर्षकों को शामिल किया गया है।

3.11 इकाई के अन्त में प्रश्न/क्रियाकलाप

1. आधुनिक तनाव के उपचार के लिए अन्य उपायों में योग को प्राथमिकता क्यों दी जाए?
2. किसी योग साधक को उसके योगाभ्यास में यौगिक आहार किस प्रकार सहायता करता है?
3. रचनात्मक स्वास्थ्य प्राप्त करने में मन की क्या भूमिका होती है?
4. 'लघु योग वासिष्ठ' के अनुसार रोग का मूल कारण क्या होता है?
5. हमारी दैहिक क्रियाओं को नियमित करने में संवेदी प्रतिक्रिया कैसे सहायता करती है?
6. योगाभ्यास द्वारा तनाव–उपचार कैसे संभव होता है?
7. हमारे शरीर में ऊर्जा गतिशीलता को बनाए रखने में यौगिक आहार कैसे सहायता करता है?
8. स्वास्थ्य प्रबंधन के लिए यौगिक उपाय क्या है?

इकाई 4: प्रायोगिक अनुदेशन

संरचना

4.1 प्रस्तावना

पिछली तीन इकाईयों के अध्ययन के पश्चात् हम आशा करते हैं कि अब आप विद्या के रूप में योग की प्रकृति, योग के सामान्य सिद्धान्तों के साथ–साथ महर्षि पतंजलि और बहुत से हठ योगियों द्वारा लिखित प्रामाणिक पाठ्यपुस्तकों से भी अवगत हो गए हैं। आपने अलग–अलग आसन मुद्रा, क्रिया, बन्ध जैसी पद्धतियों का भी अध्ययन किया है। आपने गीता का एक श्लोक भी पढ़ा होगा जिसमें उल्लेख हैं:–

'*योगः कर्मसु कौशलम्*' (गीता 2.50)

इस श्लोक का आशय यह है कि यदि आपने योग पद्धति में प्रवीणता प्राप्त नहीं की है तो आपको साधक होने का दावा करने का कोई अधिकार नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि योग सिद्धान्त को व्यवहार में अपनाया जाना आवश्यक है।

जैसा कि आप जानते हैं बी.एड. पाठ्यचर्या में योग पाठ्यक्रम चारों यूनिटों में है। पहली यूनिट में आपने योग के अभिप्राय इसकी अवधारणा और विभिन्न पद्धतियों के बारे में सीखा। योगाभ्यास में सामान्य तौर पर आसन, प्राणायाम, बंध, मुद्राएं और षट्कर्म शामिल हैं। यद्यपि योग पद्धति में प्रत्येक प्रकार के मानव व्यक्तित्व के विकास, स्वस्थ तथा प्रसन्न जीवन व्यतीत करने और दीर्घायु होने से संबंधित विशिष्ट कार्य हैं तथापि योग शिक्षा के कुछ सामान्य कार्य भी हैं जिनका उद्देश्य मानव व्यक्तित्व को इस रूप में विकसित करना है कि यह संभावनाओं को यथार्थस्वरूप में परिणत कर सके और इस प्रकार स्वयं को जान सके। योगाभ्यास आत्माभिव्यक्ति और आत्म–बोध की लक्ष्य प्राप्ति के साधन हैं।

इकाई 4 को इस उद्देश्य से तैयार किया गया है कि आप विभिन्न योगाभ्यास और अन्य अवधारणाओं को समझ पाएं जो इन पद्धतियों के मूल में निहित है। इसलिए इस यूनिट में ज्यादातर अष्टांग और हठ योग के कौशल आधारित पहलुओं को शामिल किया गया है। इन अभ्यास से साधक आत्म–साक्षात्कार (समाधि) के पथ पर अग्रसर हो सकता है। इन अभ्यासों की प्रक्रिया और इनके विभिन्न चरणों को चित्रों के माध्यम से दर्शाया गया है जिनमें किसी तकनीक विशेष अथवा अभ्यास विशेष को निदर्शित किया गया है। आपसे अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक योगाभ्यास से सम्बन्धित चरणों को समझें और अपने खाली वक्त में विशेष रूप से संध्याकाल अथवा प्रातःकाल (नाश्ता करने से पूर्व अथवा जब आपका पेट खाली हो) इसका अभ्यास करें। तकनीक विशेष का वर्णन करते समय आपका ध्यान विशेष रूप से उन सभी लाभों की ओर दिलाया जाता है जो आपको मिलने की संभावना है। यदि कोई व्यक्ति योग की तकनीक का भली–भांति और नियमित रूप से अभ्यास करता है तो इससे प्राप्त होने वाले संभावित शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य संबंधी फायदे को देखते हुए कतिपय तकनीक शामिल की गई हैं। उदाहरणार्थ, चिन्ता, कुण्ठा, तनाव, निराशा आदि से पीड़ित व्यक्तियों के लिए अनुलोम–विलोम सर्वाधिक लाभकारी हो सकता है। यदि

कोई स्वस्थ व्यक्ति इन तकनीकों का अभ्यास करता है उस पुरूष या महिला में ऐसी सभी बीमारियों से लड़ने के लिए रोग प्रतिरोधक क्षमता विकसित होने की प्रबल संभावना रहती है।

इस इकाई के विशिष्ट उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

4.2 अधिगम उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप

- खड़ी अवस्था, बैठकी अवस्था, प्रणत (पेट के बल लेटने की) अवस्था, और चित्त अवस्था में किए गए कम से कम तीन आसनों का नाम दे पाएंगे।
- समुचित सावधानी बरतते हुए ऐसे आसनों में से कम से कम एक आसन प्रदर्शित कर पाएंगे।
- विभिन्न प्रकार के प्राणायामों का नाम बता पाएंगे और उनकी प्रक्रियात्मक पद्धति को निदर्शित कर पाएंगे।
- विभिन्न बंधों और मुद्राओं की पहचान कर पाएंगे।
- कम से कम एक बन्ध और एक मुद्रा निदर्शित कर पाएंगे।
- कपालभाति (एक तरह का षट्कर्म) को निदर्शित कर पाएंगे और इसके लाभ प्राप्त कर, वर्णन कर पाएंगे, और
- रेखांकित कर पाएंगे कि कौन सी योग पद्धति तनाव और चिन्ता से निवृत्ति में सर्वाधिक लाभप्रद है।

4.3 नवशिक्षुओं के लिए योगाभ्यास हेतु सामान्य दिशा निर्देश

क्रियाओं और आसनों के लिए सामान्य और विशिष्ट मार्गदर्शी सिद्धान्त निम्नानुसार हैं:

1. श्वसन यथासंभव सामान्य/स्वाभाविक होनी चाहिए। इसमें बदलाव लाने की आवश्यकता नहीं है। श्वास स्वाभाविक रूप से चलने दिया जाना चाहिए, केवल कपालभाति, अनुलोम–विलोम, उज्जायी जैसी क्रियाओं में जब विशिष्ट रूप से श्वास क्रिया में बदलाव लाने के लिए अनुदेश दिया जाए तभी इसमें अपेक्षित परिवर्तन लाया जाना चाहिए।

2. योगाभ्यास करने के क्रम में कोई प्रतिस्पर्धी अभिवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

3. अपने भोजन, नींद और परिवेश को भी विनियमित करना महत्त्वपूर्ण है। भोजन ग्रहण करते समय आधा आमाशय जल और वायु के लिए खाली रखें। इससे बहुत से अप्रत्याशित रोगों से निवृत्ति मिलती है।

4. महिलाओं को मासिक धर्म के दौरान अथवा गर्भावस्था की अग्रिम अवस्था में योगाभ्यास नहीं करना चाहिए।

5. यदि आप किसी प्रकार की समस्या से ग्रस्त हैं तो योग सत्र आरंभ होने से पूर्व अपने अनुदेशक को इस समस्या से अवगत कराना आपके हित में है।

6. योगाभ्यास स्वच्छ हवादार कमरे में और नीचे साफ–सुथरी दरी बिछाकर करें। दुहरे मुड़े हुए बड़े आकार के मोटे और मुलायम कंबल जो सफेद चादर से ढ़का हो, योगाभ्यास के लिए बिछाने का आदर्श आसन है।

7. शिक्षुओं के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा और बंध के निमित्त अपेक्षाएं:–

   किसी भी योग पद्धति के अभ्यास के लिए व्यक्ति को निम्नलिखित चीजों की आवश्यकता पड़ती है:–

लगभग 4×7 आकार की आरामदेह चटाई
एक शांत और स्वच्छ स्थल जहां स्वच्छ वायु उपलब्ध हो
एक पथ प्रदर्शक जो कोई योग शिक्षक अथवा योग अभ्यास में निपुण कोई व्यक्ति।

षट्कर्मों के लिए अपेक्षित चीजों का विवरण इस इकाई में दिया गया है।

4.3.1 षट्क्रियाओं के अभ्यास के लिए दिशा निर्देश

हठ योग के पाठ में छह प्रक्षालन परिमार्जक प्रक्रियाओं का उल्लेख है। ये हैं—नेति, धौति, बस्ति, त्राटक, नौलि और कपालभाति जिसमें जल, वायु और शरीर के कतिपय अंगों की अवस्था में थोड़ा बदलाव करने की जरूरत पड़ती है।

1. ये क्रियाएं खाली पेट की जानी चाहिए। इसलिए इन्हें सामान्यतः प्रातःकाल किया जाना चाहिए।
2. वमन धौती और जल नेति के लिए नमकीन गुनगुने पानी का प्रयोग किया जाना चाहिए।

4.3.2 आसन के अभ्यास हेतु दिशा निर्देश

1. मोटे तौर पर आसनों के अभ्यास का क्रम इस प्रकार हैः— खड़े होकर, बैठ कर, प्रणत या अधोमुख, और चित्त लेट कर; उसके बाद श्वसन प्रक्रिया, बन्ध, मुद्रा, आराम और ध्यान।
2. आसन जल्दबाजी में अथवा किसी प्रकार का अनुचित बल प्रयोग कर और किसी दुराग्रह में नहीं करना चाहिए।
3. अंतिम अवस्था में क्रमिक रूप से धीरे—धीरे आएं और पूरे शरीर के भीतर अंतः चेतना के लिए आंखे मूंदकर इस अवस्था को बनाए रखें।
4. अपना श्वसन जारी रखते हुए दो अवस्थाओं के बीच के अन्तराल में आराम करें।
5. आसन में बने रहने का समय क्रमशः बढ़ाया जा सकता है।
6. अपनी शारीरिक क्षमताओं को ध्यान में रखकर ही अभ्यास करें जिसमें आसन में बने रहने की सीमा और समय को बढ़ाने पर अत्यधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।
7. आरंभ में ही अंतिम अवस्था में पहुंचने का प्रयास न करें विशेष रूप से जब आपका शरीर इसके लिए पूरी तरह तैयार नहीं हो।
8. अपनी शारीरिक क्षमता के अनुसार आसन में चरम अवस्था सहज रूप से बनाए रखना अधिक महत्त्वपूर्ण, आवश्यक और लाभकारी है।
9. शरीर आपके आदेश को काफी देर तक क्रमिक और श्रमसाध्य प्रशिक्षण के पश्चात ही सुनना आरंभ करता है।
10. आसन की स्थिति में रहने पर आदर्श स्थिति यह है कि किसी प्रकार का हिलना— डुलना, कंपन या किसी तरह से असहजता नहीं होनी चाहिए।
11. आसन के दौरान स्वैच्छिक रूप से श्वसन क्रिया में बदलाव नहीं लाएं। जिस अवस्था में आप अभ्यास कर रहे हैं, उसी के अनुरूप शरीर श्वसन क्रिया से समायोजित हो जाएगा।
12. योगाभ्यास करने वाले को पूरी लगन से अनुदेशों का अनुकरण करना है और इष्टतम ध्यान से इसका अभ्यास करना है।
13. बिना अवरोध के ही इस अभ्यास को जारी रखते हुए कुछ एक दिनों बाद कोई भी व्यक्ति शरीर—मस्तिष्क पर योगाभ्यास के प्रभाव को अनुभव कर सकता है। यदि फिर भी किसी कारणवश

नियमितता बाधित होती है तो व्यक्ति को न्यूनतम समय को बनाए रखते हुए पुनः अभ्यास आरम्भ करना चाहिए।

14. योगाभ्यास में गैर–अनुकूलन और पुनः अनुकूलन की प्रक्रियाएं शामिल हैं और इसलिए आरंभ में व्यक्ति को थोड़ी थकान हो सकती है किन्तु कुछ ही दिनों के भीतर शरीर और मस्तिष्क इसके अनुरूप ढल जाता है और व्यक्ति को कुछ दिनों में पुनः कुशलता और हर्ष का अनुभव होने लगता है।

4.3.3 प्राणायाम के अभ्यास के लिए दिशा निर्देश

1. प्राणायाम शरीर के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और नाजुक तंत्र अर्थात् श्वसन तंत्र और कार्डियोवैस्कूलर तंत्र से जुड़ा हुआ है।

2. प्राणायाम हठ योग की विशेष क्रिया है जिसमें हम अपने श्वसन से कार्य करते हैं, इसमें बदलाव लाते हैं, नियंत्रण करते हैं और इसे ही लंबे समय तक जारी रखते हैं। हठ प्रदीपिका में स्पष्ट किया गया है कि श्वसन क्रिया पर नियंत्रण के फलस्वरूप मस्तिष्क पर नियंत्रण स्थापित होता है। (हठ प्रदीपिका, पाठ–II, पद सं.0 2)

3. हठ–पाठों में सावधानी के तौर पर उल्लेख किया गया है कि जिस प्रकार बाघ, शेर या हाथी जैसे जंगली पशुओं पर धीरे–धीरे नियंत्रण किया जाता है, इसी तरह श्वसन क्रिया पर भी धीरे–धीरे नियंत्रण स्थापित किया जाना चाहिए। (हठ प्रदीपिका, पाठ–II, पद सं0 23)

4. सामान्यतः आसन के अभ्यास के बाद प्राणायाम किया जाना चाहिए।

5. आरंभ में व्यक्ति को श्वसन के सामान्य प्रकार से अवगत होना चाहिए।

6. अन्तःश्वसन और उच्छ्वसन को धीरे–धीरे लंबे समय तक बढ़ाया जाना चाहिए।

7. श्वसन के दौरान अपने उदर की गति पर ध्यान दें जो अन्तः श्वसन के दौरान थोड़ा फैलता है और उच्छ्वसन के दौरान थोड़ा भीतर जाता है।

8. परंपरागत रूप से प्राणायाम के तीन चरण हैं। इन्हें

   पूरक (प): नियंत्रित अन्तःश्वसन
   कुम्भक (क): नियंत्रित अवधारण
   रेचक (र): नियंत्रित उच्छ्वसन के नाम से जाना जाता है।

9. आरंभिक प्रक्रम में श्वसन के 1:2 के अनुपात को बनाए रखना सीखिए। इसका तात्पर्य है कि उच्द्वसन का समय अन्तःश्वसन के समय का दोगुना होना चाहिए।

10. 1:2 के अनुपात में अन्तःश्वसन और उच्छ्वसन के लंबे अभ्यास के पश्चात् व्यक्ति को किसी सुयोग्य शिक्षक के निर्देशन में श्वास के अवधारण की युक्ति सीखना चाहिए।

11. तथापि, प्राणायाम का अभ्यास करने के दौरान, उपर्युक्त आदर्श अनुपात तक पहुंचने में कोई शीघ्रता नहीं करनी चाहिए।

12. परंपरा के अनुसार आदर्श अनुपात 1 (प): 4(क): 2(र) है; समय की इकाई को परंपरागत तौर पर 'मात्रा' कहा जाता है। कुम्भक का अभ्यास तब तक नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि 1:2 के अनुपात का पर्याप्त अभ्यास नहीं किया गया हो।

13. पूरक कुम्भक रेचक की आदर्श मात्रा निम्नानुसार हैः

20:80:40 (सर्वाधिक उच्च/सर्वोत्तम प्रकार के लिए)

16:64:32 (औसत किस्म के लिए)

12:48:24 (न्यूनतम किस्म के लिए)

14. कुंभक का अभ्यास तीन बन्ध, जिन्हें मूल बन्ध, जालन्धर बंध और उड्डीयान बंध के नाम से जाना जाता है; के प्रयोग द्वारा किया जाता है।
15. स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए कुंभक आवश्यक नहीं है। वैज्ञानिक अन्वेषण के अनुसार कुम्भक के बगैर प्राणायाम का अभ्यास 'सेफ्टी वाल्व खोलकर' प्राणायाम करना है।
16. यद्यपि आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ने के इच्छुक व्यक्ति किसी सुयोग्य योग शिक्षक के मार्गनिर्देशन में कुम्भक का अभ्यास कर सकते हैं।

4.3.4 क्रिया योग के अभ्यास के लिए दिशा निर्देश

कैवल्यधाम परंपरा के अनुसार क्रिया योग में अनुलोम–विलोम प्राणायाम, ऊँकार जप और फिर गायत्री मंत्र का जाप 10 या 20 बार किया जाता है। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि ऊँकार या अमीन या अमेन का जाप इस तरह से किया जाए कि वह धीमे स्वर में और आहिस्ता–आहिस्ता हो।

4.3.5 'ध्यान' के अभ्यास हेतु दिशा निर्देश

1. आसन और प्राणायाम के अभ्यास से काफी लम्बे समय तक ध्यान की अवस्था में बैठने की क्षमता विकसित होगी।
2. ध्यान के अभ्यास के लिए किसी शांत स्थल का चयन करें।
3. धीरे से अपने नेत्र बन्द करें ताकि आत्म चेतना में प्रवेश कर सकें।
4. प्रथम चरण में, ध्यान की अवस्था में आराम से बैठें जिसमें सिर, गर्दन और धड़ बिल्कुल सीधी होनी चाहिए। शरीर आगे की ओर या पीछे की दिशा में झुका नहीं होना चाहिए।
5. अपने श्वास के प्रवाह को बिल्कुल ध्यान से निरंतर वायु को स्पर्श करते हुए अपने नाक के दोनों ओर और नासिका से होकर जाते हुए अनुभव करें।
6. जब आप इस प्रक्रिया को कुछ समय तक निरन्तर जारी रखते हैं तो आप सम्पूर्ण शरीर में एक अमूर्त और निर्विशिष्ट चेतना का अनुभव करेंगे। किसी प्रकार की कठिनाई होने पर श्वसन को चेतना की अवस्था में वापस ले जाएं।

आरंभिक चरण मे, सामान्यतया श्वास का अवलोकन करना कठिन होता है यदि मन इधर–उधर भटक रहा हो तो ऐसी स्थिति में, अपराधबोध से ग्रस्त होने की आवश्यकता नहीं है। धीरे–धीरे किन्तु निरन्तर आप अपने श्वास–प्रश्वास पर ध्यान केन्द्रित कीजिए।

4.4 प्रायोगिक योग सत्र के लिए सामान्य स्वास्थ्य वाले व्यक्तियों के निमित्त कुछ चुनिंदा योगाभ्यास

योगाभ्यास के कुछ संस्तुत प्रकार हैं जिसमें से व्यक्ति दस या बारह प्रमुख आसनों को चुन सकता है और कुछ अन्य प्रमुख अभ्यासों को दैनिक अभ्यास में जारी रख सकता है। चक्रानुक्रम में एक या दो अन्य अभ्यास को मुख्य अभ्यास में इस भांति जोड़ा जा सकता है कि अभ्यास का कुल समय नियमित करे। आमतौर पर, प्रतिदिन कुल 30 मिनट से 45 मिनट तक का समय होना चाहिए।

4.4.1 खड़े होकर

- ***ताडासन***
  स्रोतः यह एक पारंपरिक आसन है।

संक्षिप्त तकनीक

पैर की उंगुलियों को साथ जोड़कर सीधे खड़े हो जाएं, हाथों को शरीर के दोनों ओर रखें। दोनों हाथों को कंधे तक उठाएं और दोनों हाथों के बीच दूरी बनाए रखते हुए आकाश/छत की ओर ऊपर उठाएं। ऐड़ियों को धीरे–धीरे ऊपर उठाएं और पैर की उंगुलियों के सहारे खड़े हो जाएं और फिर पूरे शरीर पर ऊपर की दिशा में हाथों को फैलाएं। धीरे–धीरे ऐसे वापस आएं कि दोनों हाथ के पीछे जाने से पहले ही एड़ियां जमीन पर आ जाएं।

विधि और निषेध

यह संतुलन बनाने वाला आसन है इसलिए इसे धीरे–धीरे करें। शुरू में पैरों को दूर–दूर रखा जा सकता है।

लाभ

इससे ऊँचाई बढ़ाने में मदद मिलने के साथ–साथ मेरुदण्ड भी लचीला हो जाता है।

तनाव कम करने मे यह बहुत ही प्रभावी होता है।

- ***वृक्षासन***
  स्रोतः घेरण्ड संहिता II:36
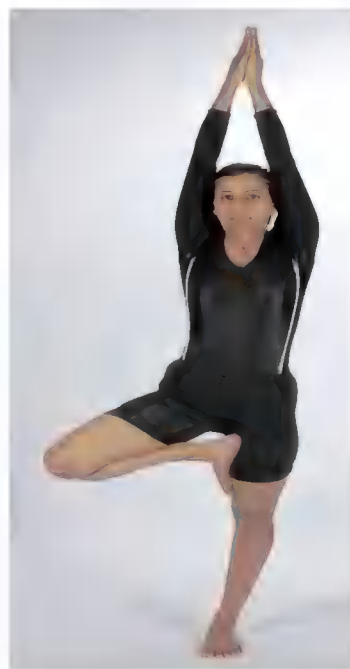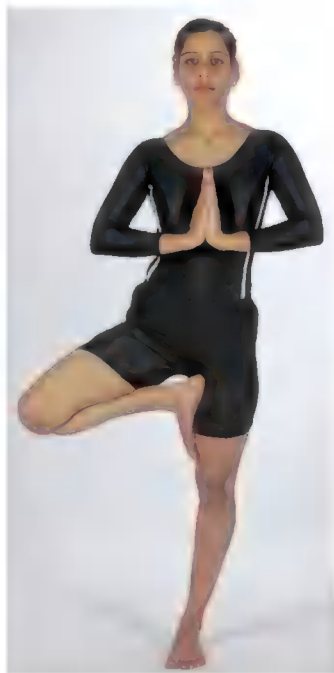
संक्षिप्त तकनीक

पैर की उंगुलियों को एक साथ जोड़कर सीधे खड़े हो जाएं और दोनों हाथों को शरीर के दोनों ओर रखें।

एक पैर को घुटने पर मोड़ें और ऐड़ी को दूसरे पैर की जांघ पर रखें।

दोनों हाथों को मोड़ें और नमस्कार की मुद्रा अपनाएं।

कुछ समय तक अपने आराम का ध्यान रखते हुए इसी आसन में बने रहें और इस आसन से विलोमतः बाहर आएं।

विधि और निषेध

इसे एक–एक करके दोनों पैरों से अभ्यास में लाएं। यह संतुलन बनाने का आसन है, इसलिए इसे धीरे–धीरे करें। शुरू में अपनी आंखें नही मूंदे अन्यथा आपका संतुलन बिगड़ जाएगा।

लाभ

इससे शरीर और मस्तिष्क के संतुलन में सुधार होता है और शरीर का सामान्य संतुलन तंत्र भी उन्नत होता है।

- ***पार्श्विक झुकाव वाला चक्रासन***

  स्रोतः पारंपरिक तौर पर चक्रासन पीछे की ओर झुकने वाला आसन है। स्वामी कुवलयानन्द ने इसका प्रवर्तन किया है ताकि इससे मेरुदण्ड में पार्श्विक झुकाव लाया जा सके।
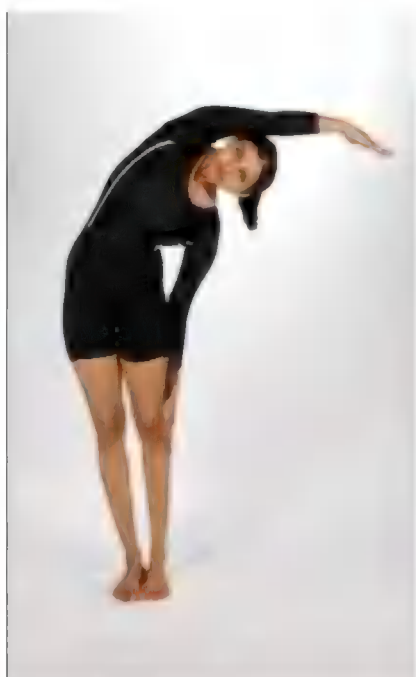
संक्षिप्त तकनीक

दोनों पैरों से सीधे खड़े हो जाएं और हाथों को जांघ के दोनों ओर रखें। दाहिने हाथ को कंधे के स्तर तक ऊपर उठाएं, हथेली नीचे की दिशा में होनी चाहिए। हथेली की दिशा छत की ओर करें और हाथ को तब तक ऊपर उठाएं जब तक कि बांह कान तक नहीं पहुंच जाए। हाथ को थोड़ा फैलाएं और बाद में इसे दूसरी तरफ झुकाना आरंभ करें। कुछ समय तक इसी आसन में बने रहें और फिर मूल स्थिति में वापस आएं।

विधि और निषेध

एक तरफ झुकते समय दूसरी ओर बने रहें।

आगे की ओर या पीछे की ओर नहीं झुकें।

पीठ में किसी प्रकार की शिकायत होने पर यह आसन नहीं करें।

लाभ

इससे मेरुदण्ड लचीला हो जाता है और बिम्ब अपने स्थान पर बना रहता है।

इस आसन से मेरुदण्ड में सुनम्यता लाने में मदद मिलती है और इससे तंत्रिकाएं और बगल की मांसपेशियां मजबूत होती हैं।

- *त्रिकोणासन*

स्रोतः अज्ञात किन्तु यह आसन परंपरा के माध्यम से आया है।
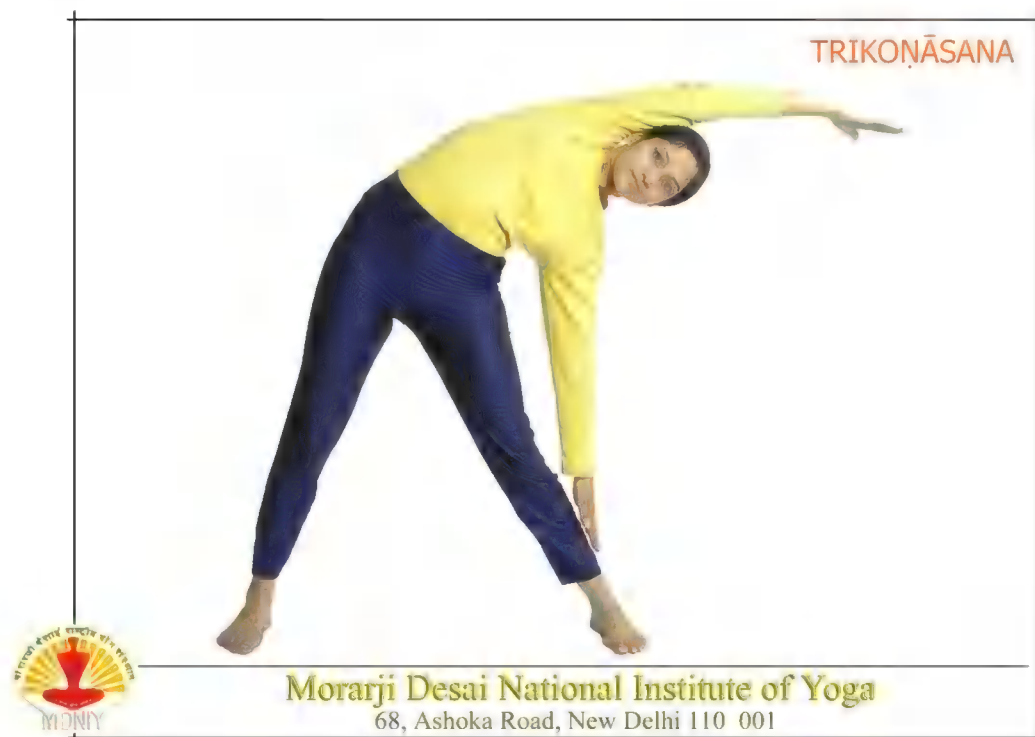
संक्षिप्त तकनीक

दोनों पैरों के बीच पर्याप्त दूरी रखें। दोनों भुजाओं को कंधे के स्तर तक बगल से समानान्तर रूप से उठाएं। श्वास छोड़ते समय धड़ को पार्श्विक रूप में मोड़ें और नीचे की दिशा में झुकते हुए एवं बायें हाथ से दाहिने पैर को स्पर्श करते हुए ऐसा करें। दाहिने हाथ को उठाए गए हाथ पर एक टक देखते हुए आकाश की दिशा में रखा जाना चाहिए।

विधि और निषेध

घुटने को न मोड़े।

लाभ

इससे कमर और नितम्ब के जोड़ों में लचीलापन बढ़ता है।

इससे साइटिका, पीठ दर्द, गर्दन का दर्द आदि के उपशमन में मदद मिलती है।

इससे उदर और श्रोणीय अंगों की मालिश में सहायता मिलती है।

- *उड्डीयान*

  स्रोतः हठप्रदीपिका III:56

UDDĪYĀNA BANDHA

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001
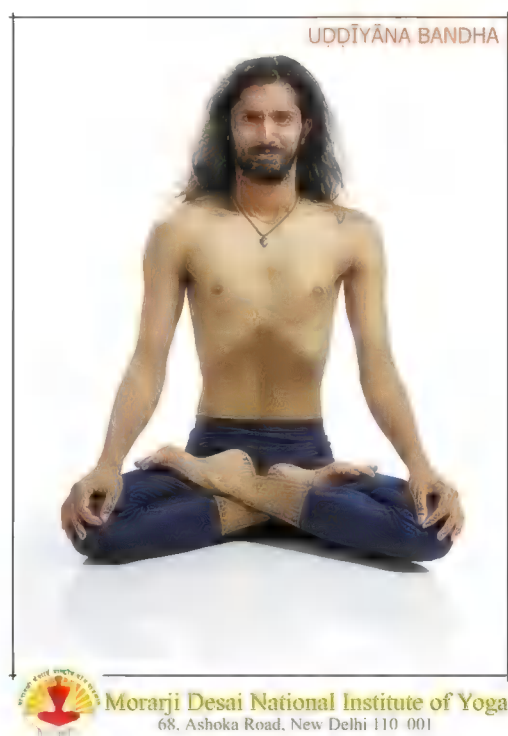
संक्षिप्त तकनीक

उड्डीयान डायाफ्राम बढ़ाने का एक योगाभ्यास है। इस क्रिया को उड्डीयान की संज्ञा दी जाती है क्योंकि इसकी मूल स्थिति से ऊपर उठकर डायफ्राम बनता है और योरैसिक गुहा में इसे बहुत ऊपर रखा जाता है।

अपने पैर को एक दूसरे से अलग रखकर ऐड़ी के सहारे सीधे खड़े हो जाएं। दोनों पैरों को थोड़ा बाहर की ओर मोड़ा जाता है और पैरों को थोड़ा घुटने के जोड़ की ओर झुकाया जाता है। हाथों को घुटने पर टिकाएं और आगे की ओर झुकें। मांसपेशियों को पूरी तरह ढीला छोड़ें और पूरे धड़ को आगे की ओर धक्का देकर बढ़ाएं।

विधि और निषेध

उड्डीयान का आसन हमेशा खाली पेट किया जाना चाहिए।

नए शिशु को एक दिन में तीन से अधिक बार यह आसन नहीं करना चाहिए।

चूंकि इस आसन से हृदय पर अधिक दबाव पड़ता है, दिल की बीमारी से पीडित व्यक्तियों को यह आसन नहीं करना चाहिए।

लाभ

इससे मेरुदण्ड के स्तम्भ, पीठ की मांसपेशियों को बल मिलता है। पीठ की ओर यह खिंचाव के साथ–साथ पेट को श्वसन द्वारा आगे पीछे की तरफ किया जाता है।

4.4.2 बैठ कर

- ***दण्डासन***

  स्रोतः अज्ञात, किन्तु यह पारंपरिक आसन है।

संक्षिप्त तकनीक

सीधा बैठिएः दोनों पैर सामने फैलाइए, पैर की उंगुलियों को आगे की ओर रखिए। हथेलियों को नितम्बों के बाजू में जमीन पर रखिए उंगुलियां आगे की ओर होनी चाहिए। हाथों को सीधा फैलाइए और पीठ सीधी रखिए।

विधि और निषेध

घुटनों को सीधा रखिए।

पैर की मांसपेशियों को सिकोड़िए।

छाती को अधिक से अधिक फुलाइए।

आगे की ओर नहीं झुकिए।

कोहनियां नहीं झुकाइए।

लाभ

यह आसन उन लोगों के लिए लाभकारी है जिनके पेट में गैस के कारण पेट–फूलने जैसी संवेदनशीलता आती है।

इससे कमर के इर्द–गिर्द का मोटापा कम होता है।

इससे किडनी की कार्यक्षमता बढ़ती है।

इससे घुटने के पीछे की नस में लचक पैदा होती है।

- *अर्द्ध पद्मासन*

  स्रोतः यह आसन परम्परा से आया है।

संक्षिप्त तकनीक

दण्डासन में बैठें। दाहिने पैर को, बाई जांघ पर रखें और एडी को पेट से सटाएँ। हाथों को ज्ञान मुद्रा/द्रोण मुद्रा में घुटनों पर रखें।

विधि और निषेध

अन्तिम स्थिति में मेरुदण्ड सीधा रहना चाहिए। पद्मासन से पूर्व अर्ध पद्मासन का अभ्यास करना चाहिए। अनुचित बल का प्रयोग नहीं करना चाहिए। पीठ दर्द की अवस्था में यह आसन नहीं करना चाहिए।

लाभ

कटि क्षेत्र में रक्त संचार बढ़ता है। त्रिकोणीय आधार बनने के कारण ध्यान लगाने में आसानी होती है।

- *पर्वतासन*

  स्रोतः यह आसन परम्परा से आया है।

संक्षिप्त तकनीक

पद्मासन में बैठें। दोनों हाथों को ऊपर की ओर समान्तर अवस्था में उठाएं, अपनी हथेलियों को साथ मिलाएं और हाथों को ऊपर खींचें, ऐसा लगे कि आप अपने समस्त शरीर को ऊपर उठा रहे हैं।

इस मुद्रा को कुछ समय तक बनाए रखें और फिर अपनी पहली अवस्था में आ जाए।

विधि और निषेध

अपनी क्षमता से अधिक नहीं खींचे।

जो व्यक्ति पद्मासन लगा कर नहीं बैठ सकते, वे वज्रासन में भी कर सकते हैं।

लाभ

इससे मेरुदंड (रीढ़) को एक प्राकृतिक खिंचाव मिलता है और इसका अभ्यास स्पॉन्डिलाइटिस के विकार से बचा सकता है।

- *स्वस्तिकासन (शुभ आसन)*
  स्रोतः हठ प्रदीपिका 1:19.

संक्षिप्त तकनीक

शरीर सीधा रखकर दंडासन में बैठें। दोनों पैरों को आगे की ओर फैलाएं; दोनों बांहों को शरीर के बाजू में रखें।

हथेलियां जमीन पर होनी चाहिए, अंगुलियां एक साथ आगे की ओर होनी चाहिए।

दाहिने पैर को घुटने तक मोड़ें और इसे बांये ऊरू मूल पर रखें और पैर के तलवे को भीतर रखें। बांयें पैर को घुटने पर मोड़ें और इसे दाहिनी जांघ की संधि पर रखें। दाहिने पैर की उंगुलियों को बायीं जांघ और पिण्डिका के बीच अन्तःस्थापित करें। पैर की बड़ी उंगुली को थोड़ा सा इस तरह रखें कि यह बाहर से दिखाई दें। बायें पैर की उगुलियां दाहिने पैर की पिण्डिका पर रहती हैं। ज्ञान मुद्रा में बैठें। अपनी सुविधा और आराम के अनुसार इस आसन में बने रहें और तब विपरीत ढंग से इस आसन को छोड़ें। (बायें पैर के साथ भी ऐसा ही करें)।

विधि और निषेध

अंतिम आसन में किसी दिशा में नहीं झुकें। टखने की संधियों को इस प्रकार नहीं मोड़ें कि यह एक दूसरे के ऊपर आ जाएं।

लाभ

यह ध्यान का आसन है जिसे मस्तिष्क और सांस की एकाग्रता से लंबे समय तक बनाए रखा जाना चाहिए। यह आसन प्राणायाम के लिए भी उत्तम है। टखने के जोड़ स्वस्थ और लचीले हो जाते हैं। इस आसन से त्रिकास्थि में बहुत अधिक मात्रा में रक्त का संचार होता है जिससे इसका संवर्धन होता है।

- ***योग मुद्रा***

  स्रोतः अज्ञात किन्तु यह पारंपरिक आसन है।

YOGĀSANA/YOGA MUDRĀ

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001

संक्षिप्त तकनीक

पद्मासन में बैठें, अपनी बांह को शरीर के पिछले भाग में लाएं। बायीं हथेली से दाहिनी कलाई को पकड़ें, अब नितम्ब स्थल से आगे की दिशा में मुडें, सिर और धड़ को नीचे की ओर तब तक झुकाएं जब तक कि यह जमीन को स्पर्श न कर ले।

विधि और निषेध

मेरुदण्ड के स्तम्भ को झटके नहीं दें।

नितम्ब को जमीन से ऊपर उठने न दें।

लाभ

त्रिकास्थि से जुड़ी नसें और संपूर्ण तंत्रिका तंत्र जाग्रत हो जाते हैं। विशेष रूप से पृष्ठ भागीय सर्वाइकल क्षेत्र में तनाव मुक्ति के साथ–साथ मेरुदण्ड के फैलाव के कारण मेरुदण्ड सशक्त होता है और इसके फलस्वरूप मेरुदण्ड के नसें सक्रिय हो जाती हैं।

- *वज्रासन*
  स्रोत: घेरण्ड संहिता–II:12
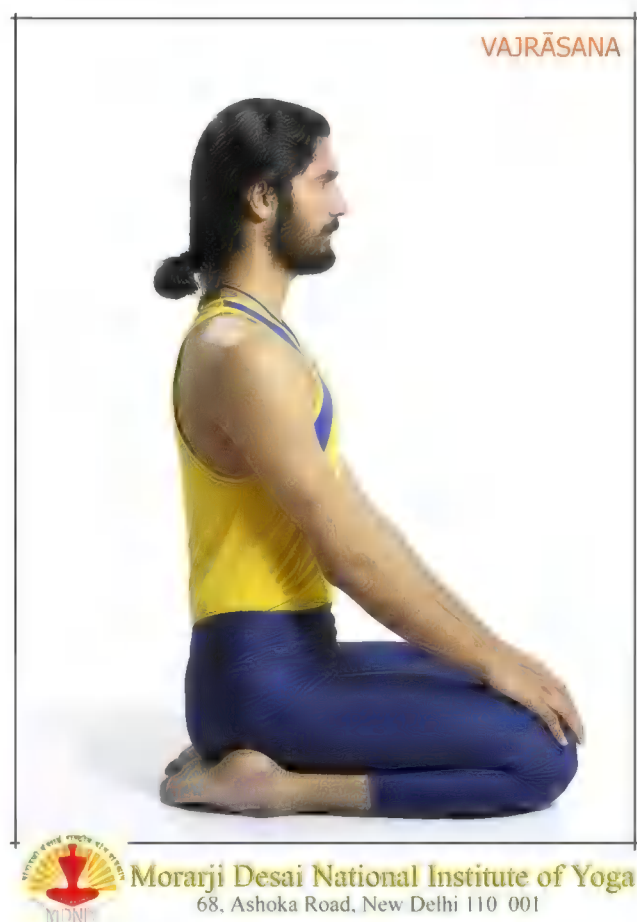
संक्षिप्त तकनीक

दण्डासन में लंबे समय तक बैठें। घुटने पर दाहिने पैर को मोड़ें और इसे दाहिने नितम्ब के नीचे रखें, पैर की उंगुलियां भीतर की ओर होनी चाहिए। इसी प्रकार, बायें पैर को मोड़ें और इसे बायें नितम्ब पर रखें, दोनों हाथ घुटनों पर रखें।

विधि और निषेध

ऐड़ियां बाहर की ओर रहेंगी जबकि पैर की उंगुलियां भीतर की तरफ रहेंगी।

ऐड़ियों पर नहीं बैठें।

यदि किसी के घुटने में और टखनों के जोड़ में ऐंठन आ रही हो तो इसका अभ्यास नहीं करें।

लाभ

इस आसन से जांघ और पिण्डिका की मांसपेशियां मजबूत होती है।

भोजनोपरांत वज्रासन में बैठने से पाचन–क्रिया बेहतर हो जाती है।

- ***योग मुद्रासन***
  स्रोतः घेरण्ड संहिता–II:12

संक्षिप्त तकनीक

वज्रासन में बैठें, हाथ मोड़ें और इसे नाभि क्षेत्र के बगल में रखें।

उच्छ्वसन के समय नितम्ब के जोड़ से आगे की ओर झुकें जब तक कि कपाल जमीन को स्पर्श न कर लें।

विधि और निषेध

नितम्बों को उठने नहीं दें।

पेट में दर्द होने पर यह आसन नहीं करें।

लाभ

इस आसन से जांघ की मांसपेशियां और पिण्डिका की मांसपेशियां मजबूत होती हैं। वज्रासन, श्रोणी की मांसपेशियां इस आसन से सम्पुष्ट होती हैं।

इस आसन से नीचे के अंगों में गठिया, संधिवात और हड्डियों के जोड़ों में दर्द आदि की आशंका समाप्त हो जाती है।

इस आसन से अन्तःस्रावी ग्रंथियां अर्थात् अधिवृक्क ग्रंथि, अग्नाशय और अण्डाशय की भी सम्पुष्टि होती है।

- ***शशांकासन (खरगोश मुद्रा)***
  स्रोतः अज्ञात किन्तु यह प्राचीन परंपरा से संबद्ध है।

ŚAŚĀṄKĀSANA

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001
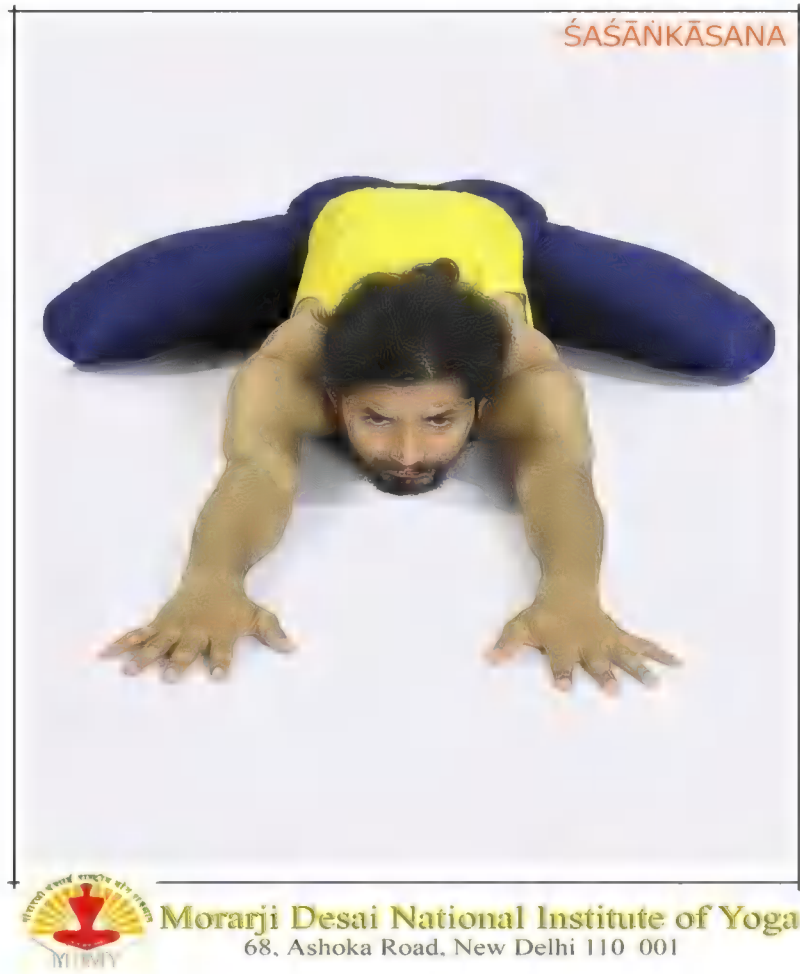
संक्षिप्त तकनीक

वज्रासन में बैठें, जबकि धीरे–धीरे श्वास भीतर लेते हुए अपनी बाहों को सिर के ऊपर उठाएं। तत्पश्चात् धीरे–धीरे श्वास छोड़ते हुए आगे की ओर झुकें और हथेलियों को जमीन पर फैलाएं साथ ही पेट को जांघ पर दबाकर रखें। इस आसन को विलोमतः बिल्कुल सीधे होकर छोड़ें।

विधि और निषेध

नितम्ब को ऊपर नहीं उठाएं।

लाभ

पाचन तंत्र और आंत्र से जुड़े अंगों के लिए यह सर्वोत्कृष्ट आसन है।

इससे पैर, जांघ और पीठ की मांसपेशियां मजबूत होती हैं।

इससे मेरुदण्ड की नसें भी स्फूर्त होती हैं।

- *मंडूकासन*
  स्रोतः घेरण्ड संहिता–II: 34

संक्षिप्त तकनीक

इस आसन का नाम करण एक मेंडक की मुद्रा के आधार पर किया गया है। इसमें साधक की टांगों की अवस्था एक मेंडक की पिछली टांगों की भांति होती है।

वज्रासन में बैठें। घुटनों को इतना फैलाइए (जैसा आकृति में दिया गया है) ताकि पैरों का पृष्ठीय भाग जमीन को छुए। दोनों पैरों की उंगलियां एक दूसरे के आमने–सामने हों और आपस में छूएं। सिर, गर्दन और धड़ बिल्कुल सीधे हों और हाथ अपनी–अपनी ओर के घुटनों पर रखे हों। आंखे बंद भी रख सकते हो और खुली भी।

विधि और निषेध

यदि श्रोणीय (पैल्विक) जोड़ों में कड़ापन या दुर्नम्यता हो तो अभ्यास नहीं करना चाहिए।

लाभ

यह आसन घुटनों के और टखनों के जोड़ों पर कार्य करता है जिससे उनका समन्वय ठीक रहता है और गति में लचीलापन आता है। इसके अभ्यास से उन व्यक्तियों को लाभ होता है जिन्हें बदहजमी, मधुमेह तथा पाचन संबंधी विकार होते हों।

- *उत्तान मंडूकासन*
  स्रोत: घेरण्ड संहिता– II: 35

UTTĀNA MANḌŪKĀSANA

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001
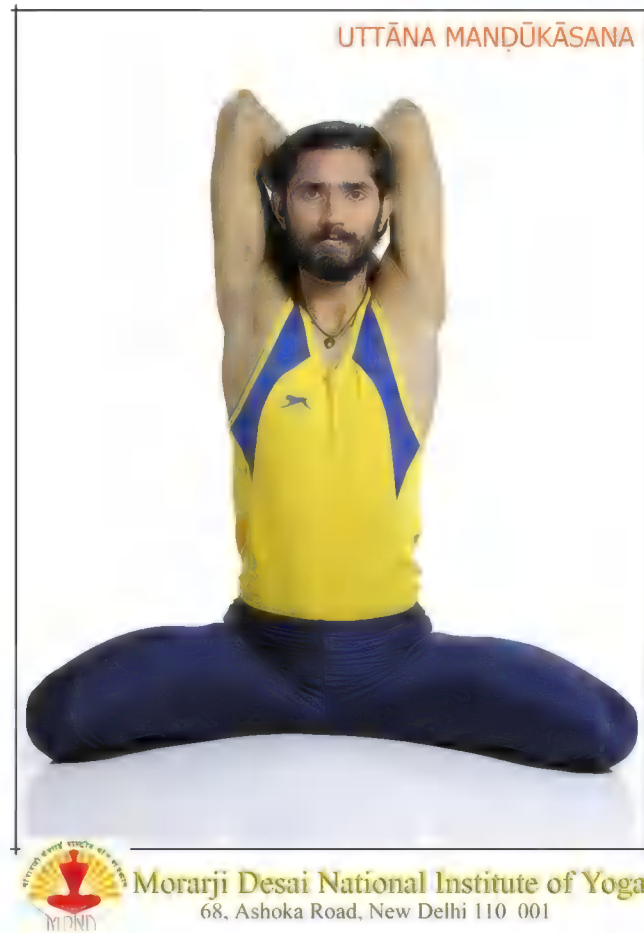
संक्षिप्त तकनीक

मंडूकासन में आकर, सिर को दोनों कोहनियों से पकड़ें। मेंढ़क की भांति ऊपर उठी हुई इस स्थिति को उत्तान मंडूकासन की संज्ञा दी जाती है। कोहनियों से सिर के घिरे होने से यह मेंढक के सिर के सदृश्य दिखाई पड़ता है।

विधि और निषेध

पीठ के दर्द, हृदय संबंधी समस्याएं और पैर के जोड़ों में दर्द की समस्या से पीड़ित व्यक्तियों को यह आसन नहीं करना चाहिए।

लाभ

इससे कब्ज, मधुमेह और पाचन संबंधी समस्याओं से पीड़ित व्यक्तियों को लाभ होता है।

इससे फेफड़े की क्षमता बढ़ती है, छाती के दोनों ओर और उदर में रक्त संचार होता है और इससे उदर एवं कंधे की मांसपेशियां भी मजबूत होती हैं। इससे गृध्रसी अर्थात् साइटिका के रोगियों की चिकित्सीय स्थिति में सुधार होता है।

- ***वक्रासन***
  स्रोतः इस आसन के प्रादुर्भाव का श्रेय स्वामी कुवलयानन्द को जाता है। यह मत्स्येन्द्रासन का सरल स्वरूप है।

संक्षिप्त तकनीक

लंबे समय तक बैठने की मुद्रा में आएं। हाथों को शरीर के बाजू में रखें और हथेलियां जमीन पर रखें। दायां पैर मोड़कर घुटने तक लाएं और बायें घुटने के बगल में तलवे को जमीन पर रखें। मुड़ा हुआ घुटना आगे की ओर होना चाहिए। दाहिने हाथ को पीछे की ओर ले जाएं और हथेली को मेरुदण्ड के सबसे निचले हिस्से में रखें। बायें हाथ को दाहिने घुटने की ओर ले जाएं और हथेली को जमीन पर रखें। दायां घुटना बांयीं ओर ले जाकर व्यक्ति को सिर पीछे की तरफ मोड़ना चाहिए। कुछ समय तक इसी अवस्था में बने रहें और विपरीत क्रम में इस आसन से बाहर आएं। दूसरी तरफ से भी ऐसा ही करें।

विधि और निषेध

पीठ की ओर रखा जाने वाला हाथ उस ओर का होना चाहिए जहां पैर को मोड़ा जाना है।

लाभ

इस आसन से कब्ज, उदर–वायु की शिकायत दूर होती है। मेरुदण्ड की कठोरता कम होती है और इसमें और अधिक लचीलापन आता है।

- ***मार्जारासन (बिल्ली मुद्रा)***
  स्रोतः अज्ञात, किन्तु यह पारंपरिक आसन है।

संक्षिप्त तकनीक

वज्रासन में बैठें। धीरे–धीरे घुटनों के बल खड़े हों, आगे की ओर झुकें और हथेलियों को सीधा जमीन पर रखें। श्वास लेते समय सिर को ऊपर उठाएं और मेरुदण्ड को नीचे करें। कुछ देर तक इसी अवस्था में रहें। इस अवस्था का त्याग करते समय सिर को नीचे झुकाएं और मेरुदण्ड को ऊपर की दिशा में ले जाएं।

विधि और निषेध

दोनों हाथ घुटने की सीध में होने चाहिए। कोहनियों पर बाहों को नहीं मोड़ें।

लाभ

इस आसन से मेरुदण्ड के लचीलेपन में सुधार होता है, पीठ को मजबूती मिलती है और उदर की मांसपेशियां भी पुष्ट होती हैं।

4.4.3 अधोमुख होकर (प्रणत अवस्था)

- ***मकरासन***

  स्रोतः घेरण्ड संहिता II: 40.

संक्षिप्त तकनीक

प्रणव अवस्था में पेट के बल लेट जाएं। अपने पैरों को बिल्कुल सामान्य दूरी पर रखें जिसकी एड़ियां भीतर हों और पैर की अंगुलियां बाहर की तरफ हों। बांये हाथ को कोहनियों पर और दाहिने कंधे पर और दाहिने हाथ को बांये कंधे पर रखें। सिर को बाहों के कुशन (cushion) पर रखें।

विधि और निषेध

यदि कोहनियों को एक दूसरे पर रखने में कठिनाई हो रही हो तो इन्हें थोड़ा अलग–अलग रखें। मोटापे की शिकायत होने पर या हृदय संबंधी परेशानी होने पर इस अभ्यास को नहीं करना चाहिए।

लाभ

परंपरागत रूप से यह आराम प्रदान करने वाली अवस्था है।

यह प्रायः सभी मानसिक–शारीरिक कष्ट में लाभप्रद है।

यह श्वसनांगों के साथ–साथ पाचन अंगों के लिए भी लाभप्रद है।

- ***निरालंबासन***

  स्रोतः यह भुजंग आसन का संशोधित सरल स्वरूप है।

संक्षिप्त तकनीक

पेट के बल सीधा लेट जाएं अपने पैर की अंगुलियों और ऐड़ी को एक साथ रखें और कपाल को जमीन पर रखें। अब अपने सिर को इस तरह से ऊपर उठाएं कि यह इस प्रक्रिया में धीरे–धीरे पीछे की दिशा में झुक जाए। अब कोहनियों पर अपनी बांहों को झुकाएं और कपाल के नीचे सहारे के लिए हथेलियां रखें। गर्दन और कंधे ऊपर उठ जाते हैं। पूरे शरीर के प्रति सजग रहें। कोहनियों को निरन्तर समायोजित करते रहें ताकि खिंचाव गर्दन और पीठ के निचले हिस्से में समान रूप से बंट जाए।

विधि और निषेध

आराम से सांस लें और सुगमतापूर्वक अपनी आंखें मूंद लें।

बिना किसी जबरदस्ती किए स्वाभाविक क्षमता के अनुसार आसन का अभ्यास करें। पीठ दर्द और कमर दर्द होने की दशा में इस आसन का अभ्यास नहीं करें।

लाभ

इससे गर्दन और जबड़े के दर्द से निजात मिलती है। इस आसन में शरीर को आराम मिलता है और स्पाइन और गर्दन सुनम्य एवं स्वस्थ रहता है। यह कटि प्रदेश की स्पोंडिलाइटिस में भी उपयोगी है। इसमें रीढ़ की हड्डी (मेरुदण्ड) की सुनम्यता भी कायम रहती है और स्पाइन से जुड़ी नसों का व्यायाम होता है। साइटिका में इससे बहुत अधिक मदद मिलती है।

दमा में यह बहुत लाभकारी है।

इससे शरीर और मस्तिष्क को अधिक से अधिक आराम मिलता है।

- *अर्द्ध–शलभासन*

  स्रोतः यह शलभासन का संशोधित रूप और सरल स्वरूप है।

संक्षिप्त तकनीक

जमीन पर प्रणत अवस्था में लेट जाएं, हाथों को शरीर के बगल में रखें, ठुड्डी जमीन से स्पर्श कर रहा हो। शरीर के बगल में मुट्ठी बांध लें अथवा इन्हें कमर के निचले हिस्से से लगाकर जमीन पर दबाएं। अब अपना एक पैर ऊपर की ओर उठाएं। कुछ सेकण्ड तक इस स्थिति में बने रहने के बाद धीरे–धीरे ऊपर उठाएं हुए पैर को जमीन पर रखें और आराम करें। दूसरे पैर के साथ भी इसी क्रिया को दोहराएं।

पूरी सांस भीतर लेकर इस आसन में आया जा सकता है और तब मकरासन में आराम की अवस्था में आते समय इसे छोड़ें। फेफड़े की क्षमता बढ़ाने के इच्छुक व्यक्ति ऐसा कर सकते हैं।

विधि और निषेध

यद्यपि इस अभ्यास में सांस लेने की क्रिया स्वाभाविक होती है। पैरों को उठाने के क्रम में श्रोणी प्रदेश को नहीं झुकाएं।

- *शलभासन*

  स्रोतः घेरण्ड संहिता II और 39.

ŚALABHĀSANA

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001

संक्षिप्त तकनीक

पारंपरिक रूप से इस आसन का अभ्यास निम्नलिखित रूप में किया जाता है:–

हथेलियों को छाती के दोनों तरफ रखिए, दोनों पैरों को एक साथ उठाइए, साथ ही सिर को भी जमीन से उठाइए।

अथवा

ठुड्डी को जमीन पर रखकर और धीरे से मुट्ठियां बन्द करके प्रणत अवस्था में लेट जाएं। अपने दोनों पैर धीरे–धीरे जमीन से 10 से 15 इंच ऊपर तक उठाएं।

विधि और निषेध

आरंभ में आधी बन्द मुट्ठी को जांघों के नीचे रखा जा सकता है ताकि पैरों को उठाने में सुविधा हो। घुटनों पर पैर को नहीं मोड़ें।

लाभ

इससे नीचे उदर की मांसपेशियां मजबूत होती हैं। यह पाचन क्रिया में लाभकारी है और इससे कब्जियत दूर होता है।

4.4.4 चित्त लेटकर

- ***शवासन (मृतक की अवस्था)***
  स्रोतः *हठप्रदीपिका 1:32 और घेरण्ड संहिता* II: 19

Savāsana

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001

संक्षिप्त तकनीक

जमीन पर ऊपर की ओर मुंह करके सीधे लेटकर दोनों पैर को बिल्कुल सही दूरी पर फैलाकर और हाथों को शरीर से लगभग छह ईंच की दूरी पर रखकर, हथेलियों को ऊपर, की ओर उठाकर, अंगुलियों को स्वाभाविक रूप से मोड़कर और आंखें बंदकर।

विधि और निषेध

शरीर के किसी भी अंग में कोई तनाव नहीं, इसलिए शरीर के पूरे ढांचे को ढ़ीला करें। प्राकृतिक श्वसन की चेतना को जारी रखें। उदर संचालन पर ध्यान देते हुए और नासिका से होकर अन्दर जाने वाली वायु के स्पर्श से होने वाली संवेदना पर भी निरंतर ध्यान देते हुए श्वास की प्रक्रिया को जितना अधिक स्वाभाविक हो सके, स्वाभाविक होने दो।

लाभ

यह सभी शारीरिक और मानसिक स्थिति, चिन्ता, विकार, नींद नहीं आने की स्थिति और मानसिक एवं शारीरिक थकान को दूर करने में लाभप्रद हैं।

- **(चित्त लेटकर) ताडासन**

संक्षिप्त तकनीक

पीठ के बल इस प्रकार लेटें कि पैर की अंगुलियां और ऐड़ी एक साथ हो और दोनों हाथ जांघ पर हों। धीरे–धीरे दोनों हाथों की हथेलियों को भीतर की ओर रखते हुए ऊपर उठाते हुए सिर के पीछे की ओर ले जाएं और उंगलियों को आपस में जोड़ें और धीरे–धीरे शरीर को सहजता के साथ खींचे।

विधि और निषेध

जल्दबाजी नहीं करें।
झटके से बचें। शरीर के अंगों को फैलाने का कार्य बिल्कुल निष्क्रिय होकर करें।

लाभ

इससे उँचाई बढ़ती है और तंत्रिका में सुधार होता है क्योंकि मेरुदंड सुनम्य हो जाता है। इससे श्वसन क्रिया में सुधार आता है।

पीठ का दर्द दूर होता है।

पैर की मांसपेशियां सशक्त होती हैं और घुटनों, टखनों और जांघों को मजबूती मिलती है।

- ***मेरुदण्डासन (मकर)***
  स्रोतः अज्ञात किन्तु यह पारंपरिक अवस्था है।

अभ्यास 1

अभ्यास 2

अभ्यास 3

संक्षिप्त तकनीक

अभ्यास 1

दोनों पैरों को एक साथ जोड़ें, हथेलियां जमीन पर रखें हाथों को शरीर के बगल में रखें।

दोनों हाथों को कंधों तक फैलाएं। बांयी ऐड़ी को दाहिने पैर के बड़े अंगूठे और उसके पास वाली दूसरी उंगली के बीच रखें। दोनों पैरों को दाहिनी ओर लाएं जब तक बांये पैर की उंगली जमीन को स्पर्श नहीं कर जाए। सिर और गर्दन को बांयी ओर रखें। इसी प्रक्रिया को दांयी तरफ भी दोहराएं।

अभ्यास 2

दोनों हाथों को कंधे तक फैलाएं। बांया पैर मोड़ें और टखने के जोड़ को घुटने तक ले जाएं। बांये पैर को तब तक दाहिनी ओर ले जाएं जब तक कि बायां घुटना जमीन को नहीं स्पर्श कर जाए। सिर और गर्दन को बांयी ओर ले जाएं। इसे दूसरी तरफ भी दोहराएं।

अभ्यास 3

दोनों हाथों को कंधे तक फैलाएं। बायां पैर जहां तक संभव हो, 90 डिग्री तक उठाएं और इसे दाहिनी तरफ ले जाएं। इसके साथ–साथ सिर और गर्दन को बायीं ओर ले जाएं। इसे दूसरी तरफ भी दोहराएं।

विधि और निषेध

पैर की अंगुलियों के मामले में दोनों पैरों को एक साथ मिलाकर उठाना चाहिए घुटने बिल्कुल अगल बगल में होने चाहिए।

पीठ में अकड़न होने पर या पीठ में किसी प्रकार की तकलीफ होने पर इसका अभ्यास नहीं किया जाना चाहिए।

लाभ

यह रीढ़ की हड्डी के लचीलेपन को कायम रखने जिससे स्पाइन के निचले भाग वाले क्षेत्र में स्पोंडिलाइटिस जैसी व्याधियों को दूर करने में लाभदायक है।

यह व्यवस्था सबसे निचले और सबसे ऊपरी छोर के अंगों को सशक्त बनाने के लिए भी लाभप्रद है।

- *उत्तानपादासन*

Uttānpādāsan

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001

स्रोतः अज्ञात किन्तु यह पारंपरिक अवस्था है। इस अवस्था को विशिष्ट अवस्थाएं यथा (अर्द्धासन, विपरीतकरणी, सर्वांगासन और हलासन) के पूर्व की तैयारी वाले अभ्यास के रूप में देखा जाता है।

संक्षिप्त तकनीक

दोनों पैरों को एक साथ जोड़कर चित्त चित्त लेट जाएं। हाथों को शरीर के बगल में करें, हथेलियों को जमीन पर रखें, बायें पैर को धीरे–धीरे 60 डिग्री कोण तक उठाएं और कुछ देर तक इसी अवस्था में बने रहें। इस अवस्था से धीरे–धीरे बाहर आएं और पूर्व की स्थिति में पहुंच जाएं। दाहिने पैर के साथ भी इसी तरह करें। फिर दोनों पैरों को एक साथ उठाकर करें।

विधि और निषेध

इससे उदर के निचले हिस्से में दबाव और सिकुड़न उत्पन्न होती है, इसलिए ध्यानपूर्वक अभ्यास करें। अपने पैरों को उपर की दिशा में उठाते समय इन्हें घुटनों के पास नहीं मोड़ें।

लाभ

यह कब्ज, अपच, दिमागी कमजोरी और मधुमेह में लाभकारी है। इससे उदर की मांसपेशियां मजबूत होती हैं।

अर्द्ध हलासन

उत्तानपदासन की ही तरह दोनों पैरों को उठाएं और घुटने पर झुकाएं बगैर 90 डिग्री तक पहुंचे, साथ ही 45 डिग्री और 60 डिग्री के कोण पर रूकते हुए इसे बनाए रखिए। 90 डिग्री तक पहुंचते हुए इस अवस्था में कुछ देर बने रहें और धीरे–धीरे उत्तानपादासन में वापस आएं।

विधि और निषेध

90 डिग्री तक पहुंचें लेकिन अपने शरीर की सीमा से परे नहीं जाएं। इसे विपरीतकर्णी, सर्वांगासन और हलासन से पहले अभ्यास किया जाना चाहिए।

लाभ

इससे विपरीतकरणी आदि में मदद मिलती है। इससे पाचन तंत्र में सुधार होता है और कब्ज दूर होता है।

- ***सेतुबन्धासन***
  स्रोतः बिल्कुल ठीक–ठीक नहीं ज्ञात है।

संक्षिप्त तकनीक

दोनों पैरों को एक साथ जोड़कर चित्त लेट जाएं और अपनी बाहों को शरीर के बगल में रखें हथेली जमीन पर रखें। घुटने के पास दोनों पैरों को मोड़ें, पैर के तलवे को जमीन पर रखें और ऐड़ियां नितम्ब के नजदीक होनी चाहिए। दोनों बाहों को ऐड़ियों के पास रखें और दोनों टखनों को कसकर पकड़े रहें। जहां तक संभव हो, कमर और जांघ को ऊपर की ओर उठाएं। गर्दन और कंधे को कसकर जमीन पर रखें। अपनी सुविधा के अनुसार इस अवस्था में बने रहें और इस अवस्था को धीरे–धीरे छोड़ें।

विधि और निषेध

यदि पीठ में कोई समस्या हो तो इसका अभ्यास नहीं करें।

लाभ

इससे कमर और जांघ की मांसपेशियों के रोग को दूर करने में मदद मिलती है।

यह पीठ के नीचे और उदर की मांसपेशियों को भी मजबूत करने में लाभकारी है और इससे छाती खुलती है। इस प्रक्रिया में मांसपेशियों को आराम मिलता है।

- *पवनमुक्तासन*

स्रोतः अज्ञात, किन्तु यह पारंपरिक अवस्था है।

Pawanamuktāsana-4

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001

संक्षिप्त तकनीक

पैरों को एक साथ जोड़कर चित्त लेट जाएं और हाथ को शरीर के बगल में रखें, हथेलियों को जमीन पर रखें। दोनों पैरों को पेट के ऊपर से मोड़ें। दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में जोड़कर घुटने को पकड़े और इसे पेट पर दबाएं। सांस छोड़ते समय सिर उठाएं और इसे घुटने को स्पर्श करने दें।

विधि और निषेध

इससे उदर के निचले भाग में दबाव पड़ता है और सिकुड़न होती है इसलिए इसका ध्यानपूर्वक अभ्यास करें। यदि पीठ में कोई शिकायत हो या किसी रोग से पीड़ित हों तो इसका अभ्यास नहीं करें।

लाभ

इस आसन से पाचन शक्ति बढ़ती है और इससे उदर संबंधी विकार जैसे पेट खराब और कब्जियत से निवृत्ति मिलती है।

- ***विपरीतकरणी***

  स्रोतः घेरण्ड संहिता III:31.

VIPAREETAKARANI MUDRĀ

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001

संक्षिप्त तकनीक

चित्त लेट जाएं। अपने दोनों पैरों को धीरे–धीरे 90 डिग्री तक उठाएं। कुछ समय तक इसी स्थिति में बने रहें। हाथों को जमीन पर दबाकर रखें और दोनों पैरों को सिर की ओर ले जाएं, नितम्ब को उठाएं।

नितम्ब को सहारा देने के लिए संतुलन बनाएं और अपने हाथ उठाएं। अपने पैरों को सीधा रखें।

वापस आते समय पैरों को सिर की ओर थोड़ा ले जाएं, हाथों को जमीन पर रखें और धीरे–धीरे नितम्बों को जमीन पर रखें।

विधि और निषेध

विपरीतकरणी का अभ्यास आरंभ करने से पूर्व उत्तानपादासन का अभ्यास करें। पैर और नितम्ब को उठाते समय या वापस आते समय झटका नहीं लें। हथेलियों पर अत्यधिक जोर नहीं दें।

लाभ

आंत रोग, अपच में फायदेमंद है।

इससे शरीर में बेहतर रक्त संचार होता है।

- ***अर्द्ध मत्स्यासन***

  अपनी पीठ के बल सीधा लेट जाएं – घुटने को सीधा रखें, पैर और पांव को एक साथ रखें। हाथों को जांघ की बगल में रखें, हथेलियां नीचे की ओर रखें, अपनी कोहनियों और बांह के अगले भाग को कमर के निचले हिस्से के दोनों और फंसाकर रखें और इन्हें धीरे–धीरे जमीन पर दबाकर सुदृढ़ रखें। अपनी छाती को उठाएं और सिर को जमीन से दूर रखें; जब तक आप आधा नहीं बैठ जाएं अपनी छाती को गोलाकार आकृति में रखें। तत्पश्चात् अपने सिर को जमीन की ओर वापस छोड़ें। इस बात को सुनिश्चित करें कि आपके पैर सीधे रहें।

4.4.5 क्रियाएं

सारे योग शिक्षण का लक्ष्य यह बताना है कि मन को किस प्रकार केन्द्रित किया जाए, इसके छिपे हुए पहलुओं का किस प्रकार पता लगाया जाए और आभ्यंतरिक आध्यात्मिक वृत्तियों को किस तरह जागृत किया जाए।

- ***शुद्धि***

  शुद्धि अथवा 'शोधन' योग की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है अर्थात् *शौच, नाडीशुद्धि, घटशुद्धि, चित्तशुद्धि* कुछ ऐसे सुपरिचित पद हैं जिनका प्रयोग 'शोधन' की संकल्पना के निरूपक के रूप में किया जाता है। शाब्दिक अनुवाद के आधार पर 'शोधन' से आंतरिक *शुद्धि अथवा शुद्धिकरण* अभिप्रेत हैं। किन्तु व्यापक अर्थ में इसमें अनुकूलन अथवा सुदृढ़ीकरण भी शामिल है।

  शोधन की अवधारणा को घेरंड संहिता में इस प्रकार, सुस्पष्ट किया गया है:–

  > *'जिस प्रकार बिना पकाए गए मिट्टी के पात्र जल में टूटकर बिखर जाते हैं, वही स्थिति हमारे शरीर की है। इसलिए शरीर को योग की अग्नि में तपाएं ताकि यह परिशुद्ध और सबल हो जाए।'*

लाभ

षट्कर्म का भौतिक और शक्ति–शरीरों (कोष) दोनों के भीतर शक्तिशाली प्रभाव पड़ता है और इनका त्रिदोषों (वात, पित, कफ) पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। 'प्राणायाम के साधक षट्कर्म का आश्रय लेते हैं।'

अगर कोई व्यक्ति त्रिदोष के असंतुलन से पीड़ित है तो उसे स्वच्छता की प्रक्रियाओं का आश्रय लेकर शरीर का शुद्धीकरण करना चाहिए। हठ प्रदीपिका के अनुसार, यदि त्रिदोष बिल्कुल साम्य अवस्था में होते हैं तो इनके अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है।

- ***जल नेति***

  स्रोतः हठ योग का यह अभ्यास परंपरा से चला आ रहा है।
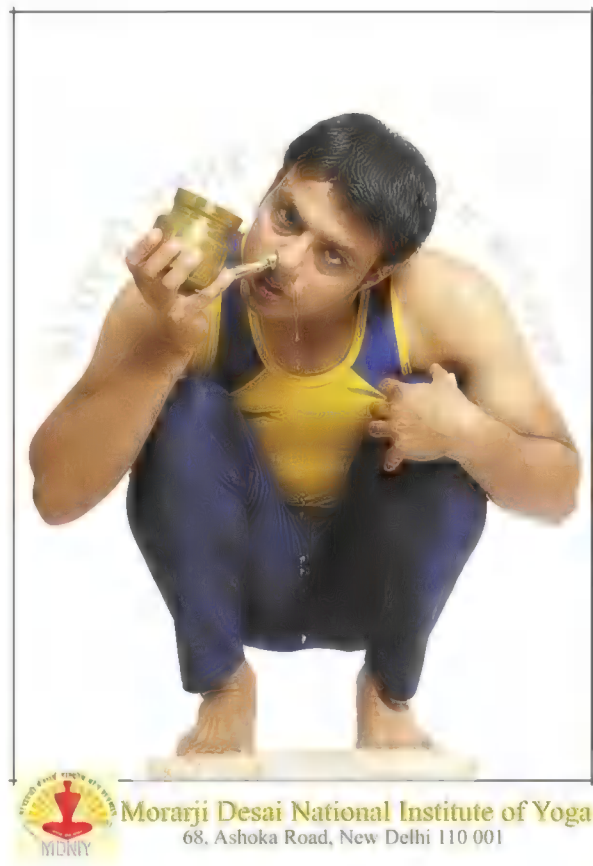
संक्षिप्त तकनीक

नमकीन जल से भरा हुआ कोई स्वच्छ नेति पात्र तैयार रखा जाना चाहिए। मुख बिल्कुल खुला रखें ताकि व्यक्ति निर्विघ्न रूप से श्वसन क्रिया जारी रख सके। पात्र के नोजल को नासिका में घुसाइए और पात्र को ऊपर उठाते हुए सिर झुकाइए ताकि एक नासिका से जल भीतर जाए और दूसरी नासिका से बाहर आ जाए। लगभग 30 सेकण्ड के बाद पात्र को नीचे रखिए और नाक को साफ कीजिए। यह प्रक्रिया दूसरी नासिका के साथ दोहराइए। कपालभाति करके नाक को साफ कीजिए।

विधि और निषेध

नाक को सुखाने के लिए जल नेति के बाद कपालभाति किया जाता है।

पहले एक नासिका छिद्र बंद कर श्वास लीजिए और फिर दूसरे से और फिर दोनों नासिका छिद्रों से खुलकर सांस लीजिए।

लाभ

जल नेति से घ्राण–तंत्र संबंधी क्षेत्र से कीटाणु दूर हो जाते हैं। यह थकान, नासिका–छिन्द्रों की सूजन, कण्ठ–शूल, नेत्र और गले की सूजन, टॉंसिल, सरदर्द, अनिद्रा आदि से निवृत्ति दिलाती है। सांस की अन्य बीमारियां जैसे कि दमा, श्वासनली की सूजन, निमोनिया आदि को दूर करने में जल नेति की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

- ***सूत्र नेति***

स्रोतः पारंपरिक रूप से यह कपास के सूत्र को सावधानीपूर्वक मोड़कर और मधुमक्खी से बने मोम में डुबोकर किया जाता था। किन्तु अब एक पतले रबड़ के कैथेटर का प्रयोग किया जाता है। सूत्र नेति सप्ताह में एक बार की जा सकती है और उसके बाद जल नेति का सहारा लिया जा सकता है।
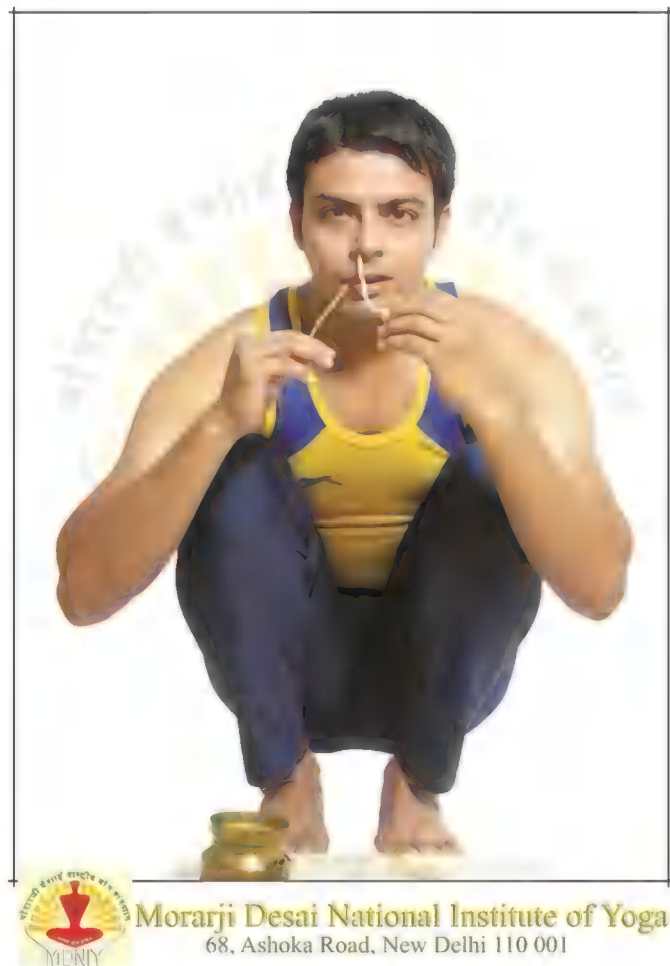
संक्षिप्त तकनीक

बहुत धीरे से सूत्र को बांए नथुने में तब तक अन्दर करते रहें, जब तक ऐसा महसूस न हो कि यह गले के पीछे आ गया है। तत्पश्चात् अंगुलियां डालकर गले तक पहुंचें और सूत्र को मुख से बाहर निकालें। धीरे से सूत्र को आगे–पीछे खींचें। ऐसा 5 से 10 बार करें और इसे बाहर निकालें। दूसरे नथुने में भी ऐसा ही करें।

लाभ

इस योगाभ्यास से दोनों नासिका छिद्रों में होने वाले वायु के प्रवाह में संतुलन कायम रखने में सहायता मिलती है। वायु मार्गों की घर्षणयुक्त मसाज होने से झिल्लियों को मजबूती मिलती है और वे अपेक्षाकृत अधिक कुशलतापूर्वक कार्य करने लगती हैं। इससे फेफड़े में प्रविष्ट होने वाली वायु अति स्वच्छ, गर्म, आर्द्र और संक्रमण रहित हो जाती है ताकि फेफड़े में प्रविष्ट होने वाली वायु इष्टतम स्थिति में रहे।

- *कपालभाति*
  स्रोतः हठ प्रदीपिका II:236
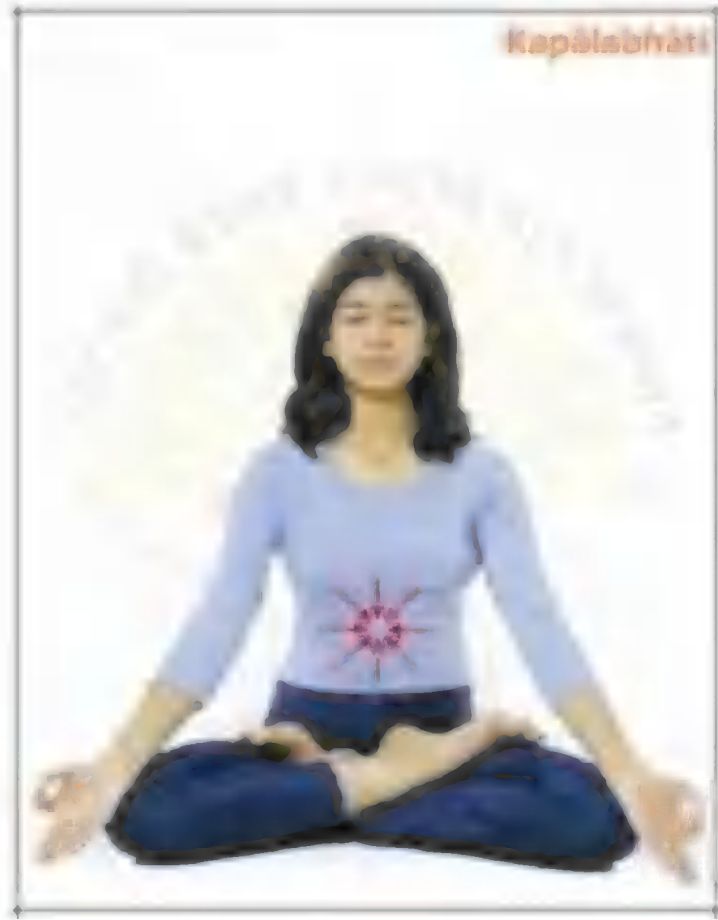
संक्षिप्त तकनीक

सीधे बैठें। गहरी सांस लें। बलपूर्वक इस प्रकार सांस बाहर निकालें कि उदर सिकुड़कर वायु बाहर निकाले। श्वास लेते समय कोई अतिरिक्त प्रयास न करें। निष्क्रिय श्वसन के माध्यम से वायु शरीर में प्रविष्ट होगी। यह कपालभाति का एक चक्र है। प्रति सेकण्ड 1 या 2 बार ऐसा करते हुए 20 से 30 बार इसी पद्धति को दोहराएं। धीरे–धीरे इसकी आवृति को बढ़ाकर 120 बार तक ले जाएं। एक अभ्यास सत्र में व्यक्ति एक से तीन बार ऐसा कर सकता है।

विधि और निषेध

श्वास को बलपूर्वक बाहर निकालें परन्तु सांस लेते समय कोई अतिरिक्त प्रयास न करें।

सांस छोड़ने के दौरान छाती/कंधा न हिलाएं।

चेहरे के संकुचन का परिहार किया जाना चाहिए।

लाभ

इससे हृदय और फेफड़े की क्षमता में सुधार होता है और इसलिए यह दमा के लिए उत्तम है। इससे पूरे शरीर के भीतर रक्त प्रवाह में सुधार होता है, पेट की मांसपेशियां सशक्त होती हैं। इससे आलस्य दूर होता है।

4.4.6 मुद्रा

- ***ब्रह्म मुद्रा***

  स्रोतः अज्ञात किन्तु यह परंपरा बहुत पुरानी है। इस अभ्यास में सृजनहार अर्थात् ब्रह्मा के चतुर्मुख की नकल की जाती है।

संक्षिप्त तकनीक

अपने मेरुदण्ड को सीधा रखकर पद्मासन या किसी अन्य सहज स्थिति में बैठें। गर्दन सीधी रखकर सामने की ओर देखें। धीरे–धीरे चेहरे को दाहिनी दिशा में मोड़ें और ठुड्डी को कंधा हिलाए बगैर दायें कंधे के समीप लाएं। कुछ समय तक ऐसी ही अवस्था में रहकर चेहरे को सामने लाएं। इसी प्रकार, चेहरे को बायीं दिशा में मोड़ें। इसके बाद, धीरे–धीरे सिर को पीछे की ओर लाएं। पुनः थोड़ी देर पीछे आने के पश्चात् धीरे–धीरे चेहरे को नीचे लाएं और ठुड्डी को गले के नीचे छोटे से गड्ढे (जुगुलर नॉच) से स्पर्श होने दें। धीरे–धीरे वापस आएं।

विधि और निषेध

सर्वाइकल स्पांडलाइटिस से पीड़ित व्यक्तियों को सिर को आगे मोड़ने से परहेज करना चाहिए।

लाभ

इससे गर्दन और पीठ का दर्द दूर होता है और तनाव मुक्ति के लिए भी यह रामबाण है।

4.4.7 प्राणायाम

- ***अनुलोम विलोम प्राणायाम***

  स्रोतः हठप्रदीपिका II: 7-10

NĀḌĪ ŚODHANA PRĀṆĀYĀMA

Morarji Desai National Institute of Yoga
68, Ashoka Road, New Delhi 110 001
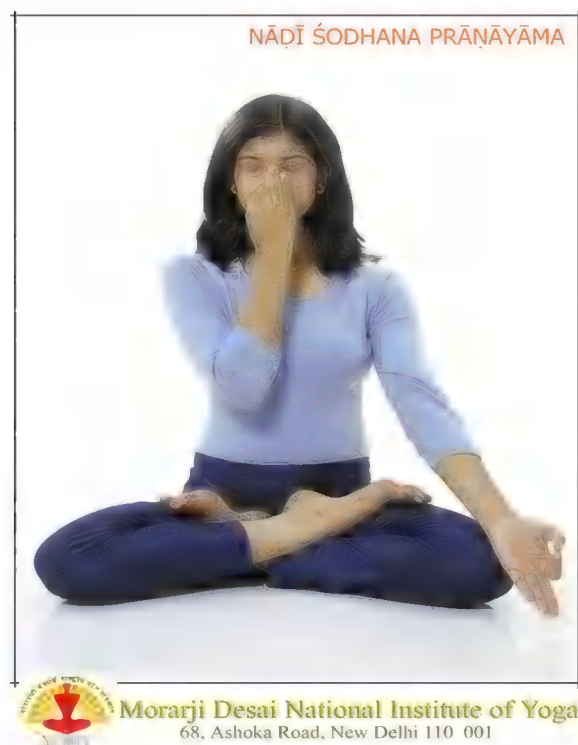
संक्षिप्त तकनीक

योग के अनुसार, शरीर को स्वस्थ रखने के लिए दोनों नासिका छिद्रों का इष्टतम रूप से कार्यशील रहना अनिवार्य है और दोनों नासिका छिद्र एकसमान रूप से खुले रहने चाहिएं। आमतौर पर, अधिकांश व्यक्तियों को तब तक इस बात का पता नहीं चल पाता है जब तक कि उन्हें ऐसा प्रशिक्षण नहीं दिया गया हो। यह अदल–बदल कर किया जाने वाला प्राणायाम है जो योग की भाषा में "अनुलोम विलोम" नाम से प्रचलित है। इस प्राणायाम से शरीर के भीतरी तंत्र में सन्तुलन स्थापित होता हैं। इसे "नाडी शोधक" अथवा मलशोधक भी कहा जाता है। मल से 'अशुद्धि' अभिप्रेत है और ऐसी मान्यता है कि प्राणायाम से वे सभी विकार दूर हो जाते हैं जिनसे त्रिदोष की उत्पत्ति होती हैं।

पूरक – अनुलोम–विलोम प्राणायाम में साधक पहले बायीं नासिका के माध्यम से सांस लेता है। सांस लेते समय छाती द्वारा कार्य किया जाना होता है। नियंत्रित श्वसन के दौरान योग सीखने वालों को अपनी छाती फुलानी पड़ती है।

रेचक – इस पूरक के बाद दाहिनी नासिका से श्वास छोड़ा जाता है। श्वास छोड़ते समय किसी भी स्थिति में साधक को अपने फेफड़ों से नियंत्रण नहीं हटाना चाहिए।

पूरक – इस नियंत्रित उच्छ्वसन के बाद उसी नासिका छिद्र से श्वास लिया जाता है, जिससे श्वास छोड़ा गया हैं। पूरक का अभ्यास इससे पूर्व वर्णित पद्धति से ही किया जाना चाहिए।

रेचक – नियंत्रित श्वास–ग्रहण के बाद फेफड़े से नियंत्रण हटाए बगैर बाएं नासिका छिद्र से उच्छ्वसन किया जाता है।

यह एक बार की अनुलोम–विलोम प्रक्रिया है। इसका अभ्यास करने के क्रम में स्मरण रखना चाहिए किः–

1. श्वास लेने का कार्य बाएं नासिका छिद्र से आरंभ किया जाएगा।
2. जिस नासिका छिद्र से श्वास लिया गया है, उस नासिका छिद्र का प्रयोग श्वास छोड़ने के लिए नहीं किया जाना चाहिए।
3. श्वास छोड़ने के लिए जिस नासिका छिद्र का प्रयोग हुआ है। श्वास ग्रहण के लिए उसका ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

विधि और निषेध

प्राणायाम के सामान्य सिद्धांतों को अपनाएं।

लाभ

इस प्राणायाम से सभी रक्त नालिकाओं अर्थात् नाडियों की शुद्धि में मदद मिलती है। श्वासनली साफ हो जाती है जिसके फलस्वरूप श्वसन सुगम और लंबे समय तक चलता रहता है। यह ऊर्जा के महत्त्वपूर्ण स्रोतों को भी स्वच्छ करने और उसमें नवजीवन का संचार करने में भी सहायक है। इस प्राणायाम का अभ्यास करने से मस्तिष्क शांत और निर्मल हो जाता है और मानसिक विकार और भय दूर होते हैं।

- ***उज्जायी प्राणायाम***
  स्रोतः हठप्रदीपिका II: 51, 52
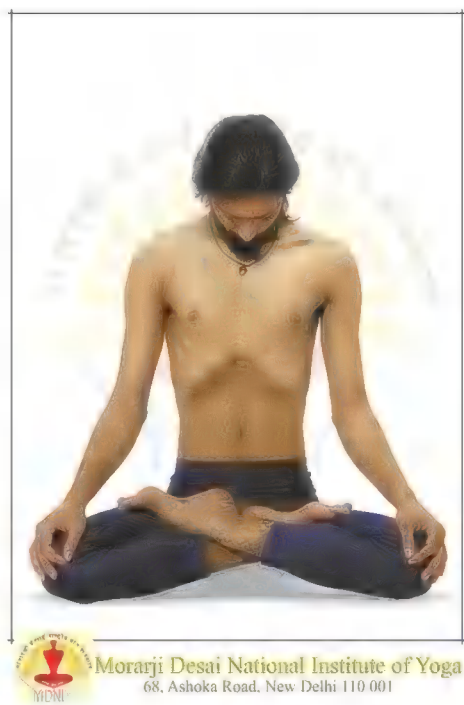
संक्षिप्त तकनीक

पूरक– प्रथम पूरक सहित प्रत्येक पूरक पूर्ण उच्छ्वसन से आरंभ होता है। उज्जायी में दोनों नासिका छिद्रों के माध्यम से श्वास लिया जाता है। वायु को अंदर प्रविष्ट कराते समय छाती कार्य–प्रवृत्त रहती है। नियंत्रित श्वसन के दौरान योगी को अपनी छाती फुलानी पड़ती है। श्वास ग्रहण करने के क्रम में हर समय कण्ठ द्वार अंशतः बन्द रहता है। कंठद्वार के आंशिक रूप से बंद होने से गले में निरंतर सर्प के

फुफकारने जैसी ध्वनि उत्पन्न होती है। श्वास–ग्रहण और उच्छ्वसन की पूरी प्रक्रिया सुचारू और समरूप होनी चाहिए।

रेचक – उज्जायी में उच्छ्वसन बाएं नासिका छिद्र से किया जाता है। रेचक के किसी भी चरण में साधक को अपने फेफड़े का नियंत्रण नहीं खोना चाहिए। पूरे प्रक्रम में कण्ठद्वार आंशिक रूप से बन्द होना चाहिए और एक समान घर्षण जैसी आवाज उत्पन्न होनी चाहिए।

विधि और निषेध

ध्वनि सुचारु और निर्बाध होनी चाहिए।

लाभ

पाठ्यपुस्तक के अनुसार, इससे 'धातुओं' में असंतुलन के कारण उत्पन्न सभी रोगों से निवृत्ति मिलती है।

- ***सीतकारी प्राणायाम (दाँतों से सिसकारी)***
  स्रोतः हठप्रदीपिका II: 54

संक्षिप्त तकनीक

'सी–सी' का प्रयोग उस ध्वनि के लिए किया गया है जो अघखुले या पूर्णतः बन्द आगे के दांतों के माध्यम से सांस लेने से उत्पन्न होती है। इस प्रक्रिया में जिह्वा के अग्रभाग से वायु के दबाव और ध्वनि को नियंत्रित किया जाता है।

विधि और निषेध

सीतकारी का अभ्यास केवल ग्रीष्म ऋतु में करें।

लाभ

इससे कुल मिलाकर शीतलता का अनुभव होता है। इससे सुस्ती और आलस्य दूर होता है।

कार्यकलाप 17

1. विद्यार्थियों और शिक्षकों को प्रायोगिक योग के व्यवहार्य/अनुदेशात्मक पहलुओं से संबंधित महत्त्वपूर्ण विषय पर एक समनुदेशन (आलेख) प्रस्तुत करने के लिए कहा जाना चाहिए।

4.5 सारांश

प्रायोगिक पाठ्यचर्या की इस यूनिट की विषय सूची में आसन, प्राणायाम, बंध, मुद्रा, शुद्धिक्रिया और ध्यान की सभी अनिवार्य उन्नत तकनीक को शामिल किया गया है। विद्यार्थियों और शिक्षकों से अपेक्षा की जाती है कि वे उल्लिखित पद्धति का अभ्यास इस तरीके से करें कि पहले दो दिनों में दस अभ्यासों में निपुण हो जाएं जिससे प्रथम सप्ताह के दौरान अन्य साधनाओं को धीरे–धीरे जोड़कर साधना को श्रेण्य और प्रायोगिक बनाए जाने पर जोर दिया जाना चाहिए। तत्पश्चात् शेष सत्रों के दौरान प्रवीण प्रशिक्षक अथवा योग शिक्षक की सूझबूझ से प्रायः सभी साधनाओं का अभ्यास किया जाता है।

विद्यार्थी–शिक्षक से सामान्य स्वास्थ्य वाले व्यक्तियों अथवा उन्नत योगियों के कुशल व स्वस्थ जीवन हेतु एक प्रोजेक्ट फाइल (अनुदेश सहित योगाभ्यास के चित्र दर्शाते हुए) तैयार करने की अपेक्षा होनी चाहिए।

4.6 इकाई के अन्त में प्रश्न/क्रियाकलाप

1. प्राणायाम की साधना प्रारंभ करने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए पी.के.आर की अनुशंसित विधि क्या है?
2. षट्कर्म का नाम लिखें। मानसिक–शारीरिक विकृतियों पर काबू पाने से होने वाले लाभ का उल्लेख करें।
3. ध्यान करते समय कौन से आसन सर्वाधिक उपयोगी और आरामदायक हैं?

संस्थाबद्ध प्रशिक्षण हेतु दिशानिर्देश

प्रस्तुत मॉड्यूल का उद्देश्य स्व–शिक्षण से है। तथापि कुछ ऐसे पहलू हैं, जिन्हें योग संस्थाओं में भलीभांति सीखा जा सकता है। इसलिए यह संस्तुति की जाती है कि अध्यापक शिक्षा संस्थाएं में ऐसी व्यवस्था करें, जिससे एक निश्चित अवधि के लिए छात्र–अध्यापक किसी योग संस्थान से अंतरंग व्यवस्था के रूप में जुड़ जाएं। यह समय व संसाधनों की उपलब्धता और उपयुक्तता पर निर्भर करता है। अतः यह अंतरंग प्रशिक्षण कुछ दिनों या कुछ सप्ताहों के लिए हो सकता है। एक अंतरंग प्रशिक्षु के रूप में आप अपने अनुभवों व प्रेक्षणों को डायरी में टिप्पणी सहित रिकार्ड करें और निम्नलिखित का विश्लेषण करें:

- योग संस्कृति योग प्रशिक्षण का एक महत्वपूर्ण पहलू है, जिसे पुस्तकों से नहीं सीखा जा सकता है। अंतरंग प्रशिक्षु को उन परिपाटियों/पद्धतियों, मंत्रों और उसके मूल्य का अवलोकन करना चाहिए जिनका आदान–प्रदान उस संस्था के सदस्यों द्वारा किया जा रहा हो, जहां अंतरंग प्रशिक्षु एक अंतरंग प्रशिक्षु के रूप में कार्य कर रहा है। यह अंतरंग व्यवस्था व्यक्ति को यौगिक संवर्धन की ओर उन्मुख करेगी।

- अंतरंग प्रशिक्षु को योग संस्था के उपागम का अवलोकन करना चाहिए। योग एक व्यापक विषय है। योग में बहुत से संप्रदाय और पद्धतियां शामिल हैं। प्रत्येक संप्रदाय एक विशेष दर्शन का अनुकरण करता है। अंतरंग प्रशिक्षु धीरे–धीरे उस रूपरेखा को सीख जाता है, जिसमें वह संस्था कार्य कर रही है। इससे अंतरंग प्रशिक्षु को उस विशिष्ट दर्शन और संबंधित क्रियाओं के बारे में समझने में सहायता मिलेगी। इसके साथ–साथ अंतरंग प्रशिक्षु को उसकी अपने कार्य की उस रूपरेखा को विकसित करने में भी सहायता मिलेगी जो उसके लिए अधिक उपयुक्त हो सकती है।

- अंतरंग प्रशिक्षु को उस योग संस्था द्वारा अपनाई जाने वाली कार्यप्रणाली पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। इस कार्यप्रणाली में औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरीके हो सकते हैं, तथा आपको एक अंतरंग प्रशिक्षु के रूप में इन तरीकों को सीखना चाहिए। इससे आपको अपनी स्वयं की कार्यप्रणाली विकसित करने में सहायता मिलेगी।

- अंतरंग प्रशिक्षु को गुरु–शिष्य परंपरा वाले पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। पुस्तकों से तो व्यक्ति सिद्धान्त और तकनीक सीख सकता है, परंतु यौगिक क्रियाओं के उन सूक्ष्म पहलुओं का ज्ञान नही होता जिन्हें 'गुरु–शिष्य परम्परा' से सीखा जा सकता है। योग एक आध्यात्मिक विषय है, जिसके लिए गुरु और शिष्य के बीच निकट सान्निध्य में ज्ञान संचरण होने की आवश्यकता होती है। इस संबंध में शिष्य में आदर, प्रतिबद्धता, समर्पण और आज्ञाकारिता जैसे गुणों का होना आवश्यक है।

- अंतरंग प्रशिक्षु को संस्था में योग कक्षाओं की व्यवस्था तथा अन्य कार्यकलाप का ध्यान से अवलोकन करना चाहिए, जिससे वह बाद में योग कक्षाओं और अन्य संबंधित कार्यकलापों को सुचारु रूप से संचालित कर सकता है।

- इस प्रकार के अंतरंग प्रशिक्षण के माध्यम से आपको प्रमुख आवश्यक अनुभव प्राप्त करना चाहिए। यदि हो सके तो आपके अध्यापक शिक्षा कार्यक्रम से, अथवा बाद में भी यह अनुभव लिया जा सकता है। इससे आप योग शिक्षा को और आगे विकसित करने में समर्थ हो सकेंगे तथा आपने इस मॉड्यूल के माध्यम से जो कुछ सीखा है, इससे भी अधिक आप कर सकते हैं, और आपके अध्ययन पाठ्यक्रम के दौरान शारीरिक शिक्षा/योग शिक्षक ने जो कुछ भी आपको सिखाया है, उस ज्ञान को आगे विकसित कर सकते हैं।

पारिभाषिक शब्दावली

अभ्यास वैराग्य योगः प.यो.सू. में एक प्रकार की यौगिक क्रिया जिसमें आस–पास के लौकिक जगत् के प्रति सकारात्मक उदासीनता का भाव जाग्रत करने के लिए आत्मीय योग पर बल दिया जाता है।

अग्नि धातुः जठराग्नि जिससे खाद्य पदार्थ के परिपाचन और पाचन क्रिया में सहायता मिलती है।

आमः कमजोर/निःशक्त जठराग्नि के कारण काया में संग्रहित विषाक्त पदार्थ।

आधिः मन के रोग/की विकृतियों को आधि की संज्ञा दी जाती है। आधि का तात्पर्य विभिन्न मानसिक विकृतियों से है।

अपरिग्रहः सांसारिक चीजों की जमाखोरी नहीं करना और इसकी अभिवृत्ति।

अष्टांग योगः पातंजल योग जिसमें आठ अंग/संघटक अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि शामिल हैं। इस योग का प्रतिपादन महर्षि पतंजलि ने "योग सूत्र" नामक गंथ में किया।

अविद्याः वास्तविक और अवास्तविक में भेद की अनभिज्ञता।

बस्तिः उत्सर्जन तंत्र के कोलन भाग के प्रक्षालन की यौगिक प्रक्रिया।

धौतिः विभिन्न माध्यमों से शरीर की कोटरिकाओं (cavity) के प्रचालन की योग विधि।

व्याधिः रोग – एक विशेष प्रकार की आसामान्य स्थिति है, संरचनात्मक अथवा प्रकार्यात्मक दोष जिससे कोई जीव आंशिक रूप से अथवा पूर्णरूपेण दुष्प्रभावित होता है।

त्रिदोषः वात, पित्त, कफ।

स्वास्थ्यः यद्यपि व्यक्ति में रोगों के अभाव को व्यक्ति के स्वास्थ्य को निरूपित किया जाता है, तथापि शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक आयामों को इसमें जोड़ देने से स्वास्थ्य का अभिप्राय और भी अधिक सार्थक हो जाता है। इसका अभिप्रायः मात्र शारीरिक रोगों से मुक्ति नहीं है, अपितु इसमें हमारे व्यक्तित्त्व के अन्य आयामों का स्वास्थ्य भी सम्मिलित है।

ईश्वर प्रणिधानः ईश्वरीय शक्ति के समक्ष पूर्ण समर्पण की भावना/प्रकृति।

कपालभातिः बालात् उच्छ्वसन के बाद अप्रयास अन्तः श्वसन जिसमें नाभि के अधोक्षेत्र पर दबाव डाला जाता है।

कफः शारीरिक बलगम। कफ वह संयोजक चिकना पदार्थ है जो सभी चीजों को एक साथ जोड़कर रखता है और यह ऐसी उपापचयी ऊर्जा है जिससे उत्पादी और पुनरुत्पादी प्रक्रियाओं में सहायता मिलती है।

नौलिः एक योगाभ्यास है जिससे उदर के अधोभाग का आभ्यंतरिक मसाज (मर्दन) होता है जिससे आंतों से जुड़े अंगों को जकड़न से मुक्ति मिलती है।

नेतिः पानी या रबड़ के कैथेटर के माध्यम से नाक के म्यूकस की सफाई करने की प्रक्रिया।

पित्तः शरीर में ताप के कारण स्रावित द्रव्य। यह उपापचयन की ऊर्जा है जो पाचन के लिए अनिवार्य है।

रसः दुग्ध जैसा श्वेत द्रव्य जो पाचन क्रिया के दौरान छोटी आंत से लिम्फैटिक तंत्र में बहकर जाता है। सप्त धातु हैः – वसा, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और शुक्र।

संन्यासः आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सांसारिक माया मोह का परित्याग।

संयम योगः धारणा, ध्यान और समाधि के एक साथ मिलने का योग।

स्वाध्यायः आध्यात्मिक/धार्मिक कृतियों का स्वाध्याय/स्वयं के बारे में चिन्तन, मनन।

तपसः स्थूल जगत से सूक्ष्मता की ओर अभिमुख और इस पथ पर अग्रसर होने की तैयारी में मानसिक–शारीरिक अनुकूलन का योगाभ्यास।

त्राटकः बिना पलक झपकाए मोमबत्ती की लौ अथवा किसी अन्य बिन्दु पर तब तक देखते रहना जब तक कि कपोलों से होकर आंसू नहीं बहने लगें।

वातः शरीर में विद्यमान वायु। यह शरीर की ऐसी ऊर्जा है जो हवा की तरह बहती है और शरीर के भीतर प्रवाह उत्पन्न करती है।

व्याधिः शारीरिक रोग।

कुशलता (सुखानुभूति): कुशलता शब्द का प्रयोग व्यवहारवाद में एक गतिशील शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक कुशलता के लिए किया जाता है जिससे व्यक्ति अपनी पूरी क्षमता का उपयोग करते हुए स्वस्थ और आनन्ददायी जीवन व्यतीत कर पाता है।

योग दर्शनः योग का दर्शन जिससे हमें मन–मस्तिष्क की जटिलताओं के भंवर से ऊपर उठकर सत्य को समझने में सहायता मिलती है।

योग वासिष्ठः गुरु वसिष्ठ द्वारा लिखित हठ योग की कृति।

पठन–सुझाव

Anantharaman, T.R. (1996). *Ancient Yoga and Modern Science*. New Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers Pvt Ltd.

Bhavanani, A.D. (2008). *A Primer of Yoga Theory*. Pondicherry: Dhivyananda Creations, Iyyangar Nagar.

Bhogal, R.S. (2010). *Yoga & Mental Health & Beyond*. Lonavla: Kaivalyadhama SMYM Samiti,

Bhogal, R.S. (2011). *Yoga & Modern Psychology*. Lonavla: Kaivalyadhama SMYM Samiti.

Bucher, Charles A. (1975). *Foundation of Physical Education*. (St. Louis: The C.V. Mosby Co.).

Devi, I. (1987). *Yoga, The Technique of Health and Happiness*. Bombay: Jaico Publishing House.

Digambar ji, Swamī & Gharote, M.L. (1978). *Gheraṇḍa Saṃhitā*. Lonavala: Kaivalyadhama SMYM Samiti.

Digambarji, Swamī & Kokaje, R.S. (1971). *Haṭhapradīpikā*. Lonavala: Kaivalyadhama SMYM Samiti.

Goel, A. (2007). *Yoga Education, Philosophy and Practice*. New Delhi: Deep and Deep Publications.

http//www.wikipaedia.com

Karambelkar, P.V. (1984). *Pātañjala Yoga Sūtra*. Lonavala: Kaivalyadhama SMYM Samiti.

Karambelkar, P.V. (1987). *Pātañjala Yoga Sūtra*. Lonavala: Kaivalyadhama, SMYM Samiti.

Kuvalayānanda, Swamī & Vinekar, S.L. (1963). *Yogic Therapy*. Lonavala: Kaivalyadhama SMYM Samiti.

Kuvalayānanda, Swamī (1933). *Āanas*. Lonavala: Kaivalyadhama SMYM Samiti.

Kuvalayananda, S. & Vinekar, S.L. (1963). *Yogic Therapy: Its Basic Principles and Methods*. New Delhi: Ministry of Health and Family Welfare.

Nath, S.P. (2005). *Speaking of Yoga*. New Delhi: Sterling Publishers.

Swami Satyānanda (1999). *Four Chapters on Freedom. Commentary on Yoga Sūtras of Patañjali Saraswathi*. Bihar School of Yoga, Munger.

Yadav, Y.P. & Yadav, R. (1998). *Art of Yoga*. Friends Publications, India.

विचारणीय प्रश्न

1. योग के जनक कौन थे? मानव को योग के बारे में विचार करने, इसका पता लगाने और इसे विकसित करने की आवश्यकता क्यों पड़ी? (उपनिषदों में इन प्रश्नों का उत्तर दिए जाने का प्रयास किया गया है हालांकि वे पारलौकिक हैं)
2. क्या धर्मग्रथों के अनुसार योगाभ्यास करने के फलस्वरूप कोई व्यक्ति तत्काल पूर्णरूपेण रूपान्तरित अवस्था में पहुंच सकता है? (पतंजलि से पूर्व और पतंजलि के बाद रचित धर्मग्रंथों से हमें बहुत अधिक सहायता मिल सकती है)
3. क्या हम अपनी सभी सांसारिक कामनाओं, प्रवृत्तियों, अहम् भाव, क्लेश और संस्कारों को त्याग कर इससे आगे बढ़ सकते हैं? (सैद्धांतिक रूप से, हां, किन्तु व्यवहार में केवल निरंतर योगाभ्यास के माध्यम से ही ऐसी दिशा, योग्यता और अवस्था प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है)
4. घटस्थ योग और पतंजलि योग में क्या अन्तर है?
5. किस आधार पर आप यह मानते हैं कि पतंजलि योग और हठ योग एक–दूसरे के पूरक हैं?
6. अष्टांग योग के किन संघटकों को क्रिया योग की संज्ञा दी जाती है और क्यों?
7. 'मन' का परिचायक शरीर' सिद्धान्त और 'शरीर का परिचायक मन' सिद्धांत पद की विवेचना कीजिए।
8. आप अपने सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन में कैसे संतुलन बनाए रखेंगे?
9. एक स्वस्थ और संतुलित जीवन व्यतीत करने में योग किस प्रकार सहायक सिद्ध हो सकता है?

कार्यकलाप के सांकेतिक उत्तर

कार्यकलाप 1

1. योगः कर्मसु कौशलम् से तात्पर्य है कि जिससे कर्म में कौशल (दक्षता) मिलती है, वही योग है।

कार्यकलाप 2

- योग को विश्वास, उपासना अथवा वाद के रूप में मानते हुए तथा
- शारीरिक अभ्यास – एरोबिक्स तथा ऐनैरोबिक्स।

कार्यकलाप 3

1. मनुष्य को भौतिक पिंजड़े से मुक्त करने के लिए ब्रह्मांड के साथ एकत्व प्राप्त करने हेतु मन का प्रशिक्षण,
2. श्री अरबिन्दो, स्वामी विवेकानन्द, श्री रामकृष्ण परमहंस।

कार्यकलाप 4

1. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि
2. यमः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।
   नियमः शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान
3. आसनों को इस प्रकार वर्गीकृत किया गया हैः संस्कारक, विश्रान्तिदायक तथा ध्यानात्मक।

कार्यकलाप 5

1. प्राणायाम को इस प्रकार वर्गीकृत किया गया हैः संतुलन देने वाला, संवेदनशील बनाने वाला, शीतलता प्रदान करने वाला, स्पन्दन अथवा लय उत्पन्न करने वाला।

कार्यकलाप 6

1. कर्तव्य की भावना से कार्य करना।
2. कर्म के साथ सघन रूप से आसक्ति के बिना (ध्यान में केन्द्रित) कार्य करना।
3. कार्य के समय अपने मन में परिणाम के विषय में कभी चिन्ता न करना।
4. असफलता और सफलता को समान रूप से स्वीकार करना।

कार्यकलाप 7

1. योग के दो प्राचीन ग्रन्थ हैंः पतंजलि योग और हठयोग।
2. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि।

कार्यकलाप 9

1. पतंजलि योगसूत्र, हठप्रदीपिका, तथा हठरत्नावली।
2. नेति, धौति, नौलि, बस्ति, त्राटक और कपालभाति। तीन प्राणायाम हैंः नाडीशुद्धि, अनुलोम–विलोम और कुम्भक।

कार्यकलाप 10

1. मन को प्रभावित करने वाले शरीर का मतलब है जब मन शरीर पर प्रभाव डालता है तथा शरीर को प्रभावित करने वाले मन का मतलब है जब शरीर मन पर प्रभाव डालता है।

कार्यकलाप 11

1. किसी विशेष लक्ष्य पर लम्बे समय तक मन को एकाग्र रखना ध्यान है।
2. धारणा कम समय तक मन को एकाग्र रखना है और ध्यान लम्बे समय तक एकाग्र रखना है।

कार्यकलाप 12

1. शरीर की अपेक्षा मन उच्च स्तर पर होता है, इसलिए वह विभिन्न शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित करता है, यदि मन में कोई व्यवधान आता है तो इसका शरीर पर विपरीत प्रभाव होता है, और यदि मन शान्त और शीतल होता है तो शरीर भी उचित दिशा में विकसित होता है।

कार्यकलाप 13

1. कृपया इकाई 3 का अनुच्छेद 3.3 देखें।

कार्यकलाप 14

1. कोष से 'खोल', 'कवच', 'कोठारी', 'लिफाफा', 'पर्दा', 'संदूक' आदि खजाना अभिप्रेत है। यह अस्तित्व के विभिन्न स्तरों से संबंधित है।
2. पांच कोष होते हैं जो निम्नानुसार हैंः–
   - अन्नमय कोष – पोषणः शारीरिक काया
   - प्राणमय कोष – शक्ति युक्त कायाः सूक्ष्म शरीर
   - मनोमय कोष – मानसिक कायाः सूक्ष्म शरीर
   - विज्ञानमय कोष – बौद्धिक कायाः सूक्ष्म शरीर
   - आनन्दमय कोष – प्रसन्न कायाः नैमित्तिक शरीर

कार्यकलाप 15

1. सर्वांगीण स्वास्थ्य से संपूर्ण स्वास्थ्य अर्थात् मस्तिष्क, शरीर और आत्मा का एकीकरण अभिप्रेत है।
2. कुशलता, मानसिक, शारीरिक, भावनात्मक संतुलन की अवस्था है। एक स्वस्थ जीवन शैली को कायम रखना जिसमें संतुलित आहार, व्यायाम और समुचित विश्राम समाहित है, उत्तम स्वास्थ्य और कुशलता की स्थिति अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ये निवारक उपाय है। योग विज्ञान में अनेक प्रायोगिक तकनीकों के साथ–साथ समुचित जीवन शैली के लिए सलाह भी है ताकि स्वास्थ्य और कुशलता की स्थिति बनी रहे। बहिरंग साधना यथा–यम, नियम, आसन और प्राणायाम तथा प्रत्याहार शारीरिक स्वास्थ्य में सहायक है जबकि अन्तरंग साधना अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि से प्रत्याहार के साथ–साथ मानसिक स्वास्थ्य भी बना रहता है।

a, आ ā, इ i, ई ī, उ u, ऊ ū, ऋ ṛ, ॠ ṝ,

ए e, ऐ ai, ओ o, औ ou, ं ṁ, : ḥ,

क् k, ख् kh, ग् g, घ् gh, ङ् ṅ,

च् c, छ् ch, ज् j, झ् jh, ञ् ñ,

ट् ṭ, ठ् ṭh, ड् ḍ, ढ् ḍh, ण् ṇ,

त् t, थ् th, द् d, ध् dh, न् n,

प् p, फ् ph, ब् b, भ् bh, म् m,

य् y, र् r, ल् l, व् v,

श् ś, ष् ṣ, स् s, ह् h.

राअशिप विनियम 2014: विशिष्टताएं

राअशिप ने 15 कार्यक्रमों के लिए मानक व मापदंडों के साथ संशोधित विनियम 2014 को पूर्ण रूप से तैयार करके 28 नवम्बर, 2014 को अधिसूचित कर दिया, जिसमें भारत के माननीय उच्चतम न्यायालय के आदेशानुसार सरकार द्वारा गठित न्यायमूर्ति वर्मा आयोग की संस्तुतियों को कार्यान्वित करते हुए राअशिप ने 15 कार्यक्रमों के लिए मानक व मापदंडों के साथ संशोधित विनियम 2014 को पूर्ण रूप से तैयार करके 28 नवम्बर, 2014 को भारत सरकार के गजट अधिसूचना सं. 346 (फा.सं. 51–1/2014/राअशिप/एनएंडएस) में अधिसूचित करा दिया है। न्यायमूर्ति वर्मा आयोग ने अध्यापक शिक्षा में व्यापक स्तर पर सुधार करने के सुझाव दिए थे, जिन्हें नये विनियम 2014 के अंतर्गत सम्मिलित किया गया है।

विनियम 2014 की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

- 15 कार्यक्रमों के व्यापक पुलिन्दे का प्रस्ताव, जिसमें पहली बार तीन नए कार्यक्रमों से संबंधित मान्यता – 4 वर्षीय समेकित बी.ए./बी.एससी.बी–एड., 3 वर्षीय बी.एड (अंशकालीन) तथा 3 वर्षीय समेकित बी.एड. एम.एड. कार्यक्रम।
- तीन कार्यक्रमों की अवधि – बी.एड., बी.पी.एड. और एम.एड. तीनों कार्यक्रमों की अवधि 2 वर्ष तक बढ़ायी गई है, जिससे सर्वोत्तम अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के अनुकूल इनको व्यावसायिक महत्त्व दिया गया है।
- अब से स्वतंत्र रूप से कार्यरत संस्थाओं के स्थान पर अध्यापक शिक्षा संबंधी समेकित संस्थाएं स्थापित की जाएंगी (बहु–विषयक या अनेक कार्यक्रमों से युक्त अध्यापक शिक्षा)।
- प्रत्येक कार्यक्रम संबंधी पाठ्यचर्या में तीन घटक होते हैं– सिद्धान्त, प्रयोगात्मक तथा अंतरंग अभ्यास तथा कम से कम 25 प्रतिशत कार्यक्रम (यानी 4 समेस्टर वाले बी.एड. में एक समेस्टर) स्कूल–आधारित कार्यकलापों और अंतरंग अभ्यास के लिए समर्पित होते हैं।
- आईसीटी, योगशिक्षा, लिंग व अशक्तता/समावेशी शिक्षा प्रत्येक कार्यक्रम पाठ्यचर्या के अभिन्न भाग हैं, जिन्हें 18000 से अधिक अध्यापक शिक्षा संस्थाओं में पढ़ाया जाना है और 14 लाख से अधिक छात्र अध्यापक इनका अध्ययन करेंगे।
- और अधिक समेकित अध्यापक कार्यक्रमों को प्रोत्साहित किया गया है।
- अध्यापक प्रशिक्षक एम.एड. की उपाधि में या तो प्रारंभिक शिक्षा में विशेषज्ञता होती है या माध्यमिक/उच्चतर माध्यमिक शिक्षा में।
- अन्तःस्थ गुणवत्ता प्रतिभूति तंत्र के साथ मुक्त तथा दूरवर्ती शिक्षण (ओडीएल) अधिक मजबूत हो गया है। इसके मानक व मापदंड सम्मिश्रित शिक्षण रूपरेखा के अन्तर्गत निर्धारण किए जाते हैं।
- आवेदन करते समय सम्बद्ध विश्वविद्यालय/संस्था से अनापत्ति प्रमाण पत्र अनिवार्य है।
- आवेदन पत्र, शुल्क का भुगतान, निरीक्षण टीम की रिपोर्ट आदि 'ऑन लाइन' व्यवस्था है। मुख्यालय तथा क्षेत्रीय समितियों द्वारा निरीक्षण/अनुश्रवण के लिए पारदर्शी प्रयोग हेतु केन्द्रीकृत कम्प्यूटरीकृत निरीक्षण टीम की व्यवस्था बनाई गई है। (इसके लिए ई–गवर्नेंस की प्रक्रिया क्रियान्वित की जा रही है)
- अध्यापक शिक्षा संबंधी प्रत्येक संस्था को राअशिप द्वारा मान्यताप्राप्त किसी भी प्रत्यायन एजेंसी से प्रत्येक 5 वर्ष में अनिवार्य प्रत्यायन प्राप्त करना होता है। (इस संदर्भ में एनएएसी के साथ एक समझौता ज्ञापन पर हस्ताक्षर हुए हैं।)

सांख्य दर्शन का अद्वैतवादी मूल्यांकन

(An Advaitic Appraisal of Samkhya Philosophy)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

UNIVERSITY OF ALLAHABAD
QUOT RAMI TOT ARBORES
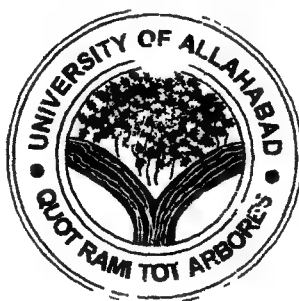
प्रस्तुतकर्ता

प्रेम प्रकाश चन्द्र शर्मा

दर्शन विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

निर्देशक

डॉ० राम लाल सिंह

पूर्व प्रोफेसर, दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2000

दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

चिन्तन–धर्मिता मनुष्य की मनुष्यता को जहॉ एक ओर परिभाषित करती है, वही दूसरी ओर उसके सहजात मानवीय विरासत के रूप मे उसमे धनात्मक रूप से कुछ न कुछ जोडकर उसे पुरस्सर करने के लिए निरन्तर अभिप्रेरित भी करती रहती है। मानव की इसी प्रवृत्ति ने अनन्त ज्ञानराशि के वाग्मय को प्रस्तुत किया है और निरन्तर करती चली आ रही है। यह भी सत्य है कि मनुष्य के चिन्तन की साक्षी उसकी चेतना उसकी प्रहरी भी है, जो उसके चिन्तन–धर्मिता को कही न कही से सूत्रधार के रूप मे निर्देशित करती रहती है। जिसके फलस्वरूप चिन्तन–धर्मी मानव अपनी आस्थाओ के साथ अभीष्ट दिशा मे यात्रा करता चलता है। यह भी कही न कही सत्य ही है कि मनुष्य की चिन्तन–धर्मिता और चेतना के पीछे उसका जन्मातरागत सस्कार ही किसी न किसी रूप मे मनुष्य के कार्य को परिष्कार प्रदान करता चलता है। किन्तु इन सब से आगे कही एक कूटस्थ सत्य भी है, जिसके अनुशासन मे सृष्टि की प्रत्येक घटना सप्रयोजन ही घटित हुआ करती है।

श्रद्धेय पितृचरण श्री पी० आर० शर्मा की हार्दिक इच्छा रही कि मै उनके उस स्वप्न को पूरा करूँ, जिसमे वह पुत्र को विद्वान और भक्तमान् के रूप मे परिभाषित करते रहे और कहते रहे 'कि तेन पुत्रेण य न विद्वान न च भक्तिमान्'। सम्भवत उनका यह कथ्य ही मुझे एक दूसरे जिज्ञासाओ के ससार मे खीच ले जाता है। जहॉ समूची सृष्टि किसी रहस्य मे लिपटी हुई दिखाई देने लगती है और मै स्वय सृष्टि का घटक होने के कारण बारम्बार जिज्ञासु मनोभाव से इस रहस्य को समझने मे प्रयत्नशील रहता रहा। सयोगवश श्रद्धेय गुरुवर डॉ० राम लाल सिह के साहचर्य मे मेरी इन जिज्ञासाओ को कभी–कभी त्रास भी मिलती रही और मै निहित तलाश मे आगे बढता रहा। एक समय ऐसा भी आता है कि वह स्वय मुझे इस दिशा मे कुछ मौलिक लेखन और चिन्तन के लिए प्रेरित करने लगते है और एतद् विषयक कोई शोधग्रन्थ लिखने की भी प्रेरणा देते रहे। फलत मै सृष्टि के सूत्रधार के रूप मे उनके निर्देशो से सकेत पा कर इस

ओर चल पडा और उनके निदेशन मे ही प्रस्तुत शोध शीर्षक ***'सांख्य दर्शन का अद्वैतवादी मूल्यांकन'*** पर शोध कार्य प्रारम्भ किया।

शोध कार्य करते समय आरम्भ से अन्त तक यद्यपि जाने कितनी विषम परिस्थितियॉ अपनी विसगतियो के साथ कठिनाइयो को लेकर आई, किन्तु इन सभी को परीक्षा काल की चुनौती मानकर मेरा तरुण मन सकल्पबद्ध होकर मेरा साथ देता रहा और अन्तत शोध कार्य अपनी पूर्णता के तट पर अग्रसर हो चला, जिसके फलस्वरूप आज यह 'प्राक्कथन' लेखन कार्य भी सम्पन्न हो रहा है।

शोध प्रबन्ध के आद्योपरान्त निर्देशन, उत्साहवर्धन और प्रोत्साहन के रूप मे जिन श्रद्धेय गुरुजन ने अपना अमृतोपम स्नेह प्रदान किया, पूज्यपाद गुरुवर्यय डॉ० राम लाल सिह (निवर्तमान प्रोफेसर–दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन तो सम्भवत उनकी वात्सल्य का अवमूल्यन करना होगा। फलत उनका चिरऋणी रहना ही मेरे लिए एक प्रेरणास्पद पूॅजी ही रहेगी। इनके अतिरिक्त जिन अन्य श्रद्धेय गुरुजनो ने अपना अमूल्य मार्गदर्शन एव उच्छतित स्नेह प्रदान किया, उनमे दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डॉ० डी० एन० द्विवेदी और डॉ० जे० एस० श्रीवास्तव–पूर्व विभागाध्यक्ष, डॉ० मृदुला रवि प्रकाश–विभागाध्यक्ष, डॉ० सी० एल० त्रिपाठी, डॉ० आर० एस० भटनागर, डॉ० नरेन्द्र सिह, डॉ० गौरी चट्टोपाध्याय, डॉ० जटा शकर, डॉ० एच० एस० उपाध्याय, डॉ० आशा लाल, डॉ० श्रीकान्त मिश्र आदि, इविग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद दर्शन विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ० शिवभानु सिह और डॉ० एस० एन०त्रिपाठी, प्राध्यापक सस्कृत विभाग, डायट, चडीगॉव, पौडी गढवाल का इन क्षणो मे ही नही, अपितु भविष्य मे भी यावत् जीवन आभारी रहूॅगा।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को सात अध्यायो मे विभक्त किया गया है, जिसके प्रथम अध्याय मे 'सांख्य दर्शन का उद्भव', द्वितीय अध्याय मे 'साख्य दर्शन का विकास', तृतीय अध्याय मे'

साख्य दर्शन · एक परिचय', चर्तुथ अध्याय मे 'साख्य दर्शन का तत्त्ववाद', पचम् अध्याय मे 'साख्य दर्शन का पाश्चात्य दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन', षष्ठम् अध्याय मे 'साख्य दर्शन का अन्य भारतीय दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन' और सप्तम् अध्याय मे 'निष्कर्षात्मक अनुलेख शकराचार्य कृत साख्य दर्शन की आलोचना उसका मूल्याकन' के साथ उपसहारात्मक अनुलेख प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध लेखन मे जहॉ एक ओर भारतीय दर्शन मे विशेष रूप से आचार्य ईश्वरकृष्ण कृत 'साख्यकारिका', प० उदयवीर शास्त्री कृत 'साख्य दर्शन का इतिहास', डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र कृत 'साख्य दर्शन की ऐतिहासिक पराम्परा', डॉ० राधाकृष्णन् कृत 'इडियन फिलॉसफी', विद्यारणमुनि कृत 'पचदशी', डॉ० कीथ की 'साख्य सिस्टम', डॉ० सी० डी० शर्मा कृत 'भारतीय दर्शन अनुशीलन और आलोचन', दासगुप्ता कृत 'हिस्ट्री ऑफ इडियन फिलॉसफी', 'ब्रह्मसूत्रभाष्य', 'कठोपनिषद्', 'छादोग्योपनिषद्' आदि मानव सदर्भ ग्रन्थो से एक बलवती अभिप्रेरणा मिली है, वही दूसरी ओर पाश्चात्य दर्शन के सम्बध मे प्रो० दयाकृष्ण कृत 'पाश्चात् दर्शन का इतिहास', डॉ० सी० एल० त्रिपाठी कृत 'ग्रीक दर्शन', डॉ० बी० एन० सिह कृत 'पाश्चात्य दर्शन', ब्रैडले कृत 'एपियरेन्स एण्ड रियलिटी', बर्गसा कृत 'क्रीएटिव इवोल्युशन', डॉ० जे० एस० श्रीवास्तव कृत 'अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास' आदि ग्रन्थो से भी ऊर्जात्मक सम्बल मिला है, जिसे शोध प्रबन्ध मे यथा सम्भव देखा जा सकता है।

शोध प्रबन्ध के लेखन मे जिन पुस्ताकालयो का विशेष सहयोग मिला, उनमे इलाहाबाद विश्वविद्यालय और उसके दर्शन विभाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, श्री गगा नाथ झा केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद और उत्तर प्रदेश प्रशासन, लखनऊ के सचिवालय के पुस्तकालय का आभारी हूँ और आभारी हूँ, वहॉ के उन अधिकारी और कर्मियो का जिन्होने एतद् विषयक सहयोग और परामर्श प्रदान किया।

जिनके पूँजीभूत स्नेह का विकसित रूप अपने इन करो से कुछ लिखने मे समर्थ हुआ, उस परम श्रद्धेया 'मॉ' श्रीमती सुषमा शर्मा के लिए किन शब्दो मे अपनी भक्ति निवेदित करूँ, क्योकि

उराके अमृत स्नेह के अतिरिक्त मै और हूँ ही क्या, तथा उसके साथ–साथ उन बहनो कु० शशि प्रभा शर्मा, कु० इन्दु शर्मा और कु० सविता शर्मा के हार्दिक सहयोग को भी कैसे अविकल व्यक्त कर सकता हूँ, जिनका प्रत्येक स्वर मेरे प्राणो की लहरी के साथ 'एकम्–एक' रहा है।

शोध प्रबन्ध के प्रारम्भ से अन्त तक की यात्रा मे जो अनुसन्धाता मे असीम उत्साह, प्रखर ऊर्जा, बलवती प्रेरणा तथा लक्ष्य की ओर उत्तरोतर सकल्पबद्ध होकर बढते रहने की अप्रतिम प्रतिबद्धता निरतर भरते रहे और हाथ मे हाथ लेकर आगे चलते रहे। उन सहृदय मित्रो मे डॉ० निखिल सिह–प्रवक्ता, सैन्य विज्ञान, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोपेश्वर, चमोली, श्री सजय सिह–आई० पी० एस०, डॉ० ए० के० सिह भदौरिया–प्रवक्ता, दर्शन विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद, श्री राजेश विश्वकर्मा और श्री इन्द्रमणि विश्वकर्मा–शोध छात्र, राजनीति, श्री सुरेन्द्र यादव–एम० ए०, प्रा० इति०, डॉ० शिखा चोहान–आर० ए०, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, श्री हिम्मत सिह–व्यापार कर अधिकारी, श्री धवल सिह–एम० ए०, मध्य० इति०, श्री देवी प्रसाद–खाद्य अधिकारी को आज के इन क्षणो मे स्मरण करते हुऐ भावानुभूति की जिस सीमा पर मै खडा हूँ, लगता है कि आज हम सब एक साथ खडे है और इसके लिये उनके प्रति केवल कृतज्ञता ज्ञापन करना सम्भवतया उनकी उन अनन्त सदिच्छाओ एव सद्भावनाओ के साथ अन्याय करना होगा। फलत "हम तिहारे है, तिहारे ही रहेगे" कहना ही अधिक उपयुक्त लगता है।

शोध प्रबन्ध पूर्ण होने के पश्चात् और प्राक्कथन लिखने के बीच मेरा चयन 'लोक सेवा अयोग' द्वारा 'सहायक सेवायोजन अधिकारी' के रूप मे हुआ तथा मेरी प्रथम नियुक्ति 'पौडी गढवाल' मे 'नगर सेवायोजन अधिकारी' के रूप मे हुई। विभाग से सम्पर्क होने के पश्चात मेरा प्रोत्साहन अपने आशीर्वाद के रूप मे करते रहने वाले श्री टी० पी० वर्मा, उप निदेशक, प्रशिक्षण एव सेवायोजन विभाग, लखनऊ के प्रति कृतज्ञ हूँ। साथ ही अपने कार्यालय के क्षेत्र मे श्री सुभाष कुमार, क्षेत्रीय सेवायोजन अधिकारी और मेरे कार्यालय के कर्मचारी गण वरिष्ठ सहायक

द्वय श्री सुरेन्द्र लाल और श्री एस० एस० नेगी, कनिष्ठ सहायक श्री सुरेश चन्द्र और श्री रवीन्द्र सिह रावत तथा अन्य सर्वश्री जगदीश, हयात, दिनेश व रमेश का भी आभारी हूँ। साथ मे पौडी के नये वातावरण मे उन नवागन्तुको श्री प्रशान्त–डी० एस० टी० ओ०, श्री राकेश श्रीवास्तव व श्री श्रद्धा नन्द त्रिपाठी–साख्यिकी निरीक्षक, श्री एस० के० वर्मा व श्री डी० पी० सिन्हा–उपकारापाल, श्री आर० के० चौधरी–डी० ए०, पी० डब्ल्यू० डी०, भवनस्वामी श्री जी० एस० बिष्ट, श्री अशोक सिह, श्री राजीव त्रिपाठी, श्री राघव सिह, श्री रामचन्द्र, अन्सार अहमद, श्री सजीव वर्मा आदि का भी आभारी हूँ, जिन्होने एक नये परिवेश के साथ समायोजित होने मे सहयोग देने के साथ मानसिक सतोष और भावनात्मक प्रेरणा प्रदान करते रहे।

अन्तत शोध प्रबन्ध को मेरी अनुपस्थिति मे भी यथावत् मुद्रण प्रक्रिया को जारी रखते हुए, उरो यथाशीघ्र तैयार कराने मे अपना अमूल्य समय देकर, जो सहयोग श्री देवी प्रसाद, खाद्य अधिकारी ने दिया। उसके लिऐ मै उनका चिरऋणी रहूँगा। स्वच्छ, सुन्दर एव आकर्षक कम्प्यूटरीकृत मुद्रण के लिए श्री एस० एम० श्रीवास्तव और श्री वीरेन्द्र विश्वकर्मा को धन्यवाद देना भी अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

भवदीय

२६ अक्टूबर, २०००

▪ शुभ दीपावली ▪

प्रेम प्रकाश चन्द्र शर्मा

अध्याय प्रथम

सांख्य दर्शन का उद्भव

भारतीय दर्शन मे साख्य दर्शन को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है, जिसका उल्लेख वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, महाभारत, पुराण आदि मे मिलता है। वैदिक सहिताओ मे 'साख्य' शब्द साक्षात् कही नही मिलता है। किन्तु साख्य की विचारधारा का मूल ऋग्वेद[१] मे मिलता है।। इस ग्रन्थ मे प्रतिपादित विश्व–विज्ञान के विवरण मे साख्य के 'प्रकृति–पुरुष सिद्धान्त' की कुछ अस्पष्ट पूर्वप्रकल्पनाओ का उल्लेख मिलता है।[२] साथ ही साख्य सदृश एक दर्शन का प्रणेता महर्षि कपिल को मानते हुए ऋग्वेद[३] मे इनका उल्लेख आदरपूर्वक दिया गया है। वेदभाष्यकार सायण इसका अर्थ 'प्रसिद्ध ऋषि' साख्य का प्रवक्ता 'कपिल' ही हो सकता है। इस प्रकार कपिल की सत्ता ऋग्वेद मे स्वीकार की जाती है। ऐतरेय ब्राह्मण मे 'कपिलेय' का उल्लेख है इससे भी कपिल की सत्ता ब्राह्मण ग्रन्थ से पहले सिद्ध होती है।[४] भारतीय प्राचीन ग्रन्थो म सृष्टि सम्बन्धी विभिन्न मत मिलते है, इन वैषम्यपूर्ण मतो मे सृष्टि सम्बन्धी एक सामान्य विचार की स्थापना सहज नही थी। लेकिन साख्य तर्क के माध्यम से सृष्टि सम्बन्धी, जो वास्तविक विचार प्रस्तुत करता है, उस विषय मे साख्य को प्रारम्भ बिन्दु मान सकते है। 'यजुर्वेद की शाखा' नामक लेख मे डा० रघुवीर ने 'कपिल शाखा' को आर्यावर्त मे प्रचालित बताया है।[५] प० उदयवीर शास्त्री[६] ने साख्य दर्शन के कपिल द्वारा प्रणीत होने मे भागवत पुराण[७] पर श्रीधर स्वामी की व्याख्या के आधार पर अन्तिम श्लोक के 'तत्वाना सख्याता गणक साख्य प्रवर्तक इत्यर्थ ' के आधार पर महर्षि कपिल को साख्य दर्शन का प्रवर्तक माना है।

'न जायते इत्यजा' का कथन वेदो मे प्रकृति के लिए ही कहा गया है, यही कारण है कि यहाँ प्रकृति को 'अजा' कहा गया है। यही नही, अपितु श्रुतियो मे भी आत्मा को आनन्द स्वरूप नही माना गया है, यथा 'नानद न निरानन्दम्'। साख्य दर्शन मे देवो को वैकारिक सर्ग का माना गया है जिनमे उच्चावच स्तर का भेद है। प्रकाशात्मक सत्वगुण आधिक्य से युक्त अहकार 'वैकारिक' कहलाता है। वैकारिक अहकार से उत्पन्न देवता के शरीर मे 'कारण गुणा कार्यगुणानारमन्ते' के नियम से प्रकाशशीलता आदि लक्षण विद्यमान है। शरीर अधिष्ठान है और अधिष्ठाता इससे ऊपर है। अधिष्ठान के रूप मे प्रकृति की वास्तविक सत्ता स्वीकार करने वाले वेद मे यदि कोई दर्शन है तो वह साख्य ही होगा।[८] प्रकृति को भ्रम के रूप मे स्वीकार करने वाला अद्वैत वेदात ऋग्वेद का दर्शन नही हो सकता है। क्योकि वैदिक साहित्य में ब्रह्म को

प्रकृति के रूप मे लिया गया है। पुलिन बिहारी चकवर्ती[९] ने आसुरि और पचशिख के मत मे ब्रह्म को विश्वात्मा का अर्थ माना है। वैदिक साहित्य मे ब्रह्म का प्रयोग 'बृहति' और 'बृहयति' दो अर्थों मे हुआ है, जो क्रमश प्रकृति और पुरुष अर्थ को व्यक्त करता है। इस प्रकार यहाँ विकासवाद के अनुसार कार्य को कारणानुरूप दिखाया गया है। साख्य के मत मे प्रकृति एक अक्षय भण्डार है, जिसमे सम्पूर्ण विश्व का विकास हुआ है या होता है। सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त ने पचशिख के मत मे ब्रह्म को प्रकृति के अर्थ मे स्वीकार किया है।[१०]

उपनिषदो से न केवल पुनर्जन्म तथा ससार की अमरता के ही भाव, अपितु ऐसे–ऐसे मुख्य सिद्धान्त भी, जैसे कि ज्ञान मोक्ष का साधन है और पुरुष विशुद्ध प्रमाता है, आदि विचार लिये गए है।[११] कठोपानिषद्[१२] मे प्रकृति के स्तर पर विकास श्रखला मे सबसे ऊँचा स्थान 'अव्यक्त' को दिया गया है, जिससे महान आत्मा, बुद्धि, मन, पदार्थ (विषय) और इन्द्रिया क्रमश उत्पन्न होती है। अहकार का उल्लेख नही है और परमात्मा (ब्रह्म) की सत्ता को स्वीकार किया गया है, तो भी विश्व विकास का यह सबसे प्रथम वर्णन है। जिसका उपयोग साख्य के विचारको ने किया प्रतीत होता है।[१३] मैत्रामणी उपनिषद् जो बौद्धकाल के बाद की मानी जाती है[१४] परिष्कृत साख्य से सुपारिचित था, तन्मात्राओ[१५] तीन गुणो[१६] और आत्मा एव प्रकृति के भेद का उल्लेख करती है।[१७]

दालमन साख्य को ब्रह्मविद्या मानते हुए ये निरपेक्ष के स्थान पर प्रकृति को स्वीकार करते है और व्यक्ति के रूप मे ईश्वर को स्वीकार नही करते है। ये छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् मे प्रतिपादित दर्शन को मुख्यतया साख्य मत ही मानते है। यहॉ तक कि इन्होने महाभारत मे कथित साख्य को परवर्ती साख्य और शाकरवेदान्त का स्रोत मानते है। इनके मत मे शतपथ ब्राह्मण मे २५वा तत्त्व आत्मा को बताया गया है और प्रकृति के त्रिगुणा का निर्देश अथर्ववेद में स्वीकार करते है।[१८] इस सम्बन्ध मे कीथ[१९] का कथन अशत उचित है कि दालमन साख्य को जान बूझकर ब्रह्मवादी बना देते है। क्योकि साख्य मे ब्रह्म की स्थिति पुराण आदि आगम प्रमाणो के आधार पर सिद्ध करते है। प्रभाकर मिश्र[२०] और भोजराज के मत मे साख्य ब्रह्मवादी है तो अहिर्बुध्न्यसहिता के षष्टितत्र मे प्रथम तत्त्व ब्रह्म को माना गया है। बृहदारण्यक

उपनिषद् के स्वामी धनानन्द[२१] परिणामवादी मानते है, बल्कि आचार्य याज्ञवल्क्य, जिन्हे साख्याचार्य कहा जाता है, ने तत्त्व सम्बन्धी विचार मे तत्कालीन वातावरण से सामजस्य रखते हुए साख्य के मूलभूत अभ्युपगमो का समर्थन किया है। जिसमे सत्कार्यवाद प्रमुख है। छान्दोग्योपनिषद्[२२] मे सत्कार्यवाद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मिट्टी के लोदे के मालूम हो जाने पर उससे निर्मित पदार्थों का भी ज्ञान हो जाता है। क्योंकि कार्य कारण को अभिन्न माना गया है। स्पष्ट है कि यहाँ विश्व को असत् या शून्य से उत्पन्न नही माना गया है।[२३] छान्दोग्य उपनिषद्[२४] मे वर्णित त्रिवृत्त के सम्बन्ध मे उदयवीर शास्त्री[२५] और पुशल्कर ने इसे साख्य के तीनो गुणो से युक्त प्रकृति का ही उल्लेख माना है। लोमान्य तिलक[२६] सृष्टि की रचना और सहार के प्रकरण का उपसहार करते हुए उपनिषदो मे वर्णित प्रकृति के तीनो गुणो के 'अन्योन्य मिथुनवृत्ति' के सम्बन्ध मे कहते है कि ऐसा वर्णन साख्यशास्त्र ज्ञान के आधार पर उल्लिखित हैं, क्योकि सृष्टि के विकास के इसी क्रम को शास्त्रकारो ने प्रमाणित माना है। बृहदारण्यक उपनिषद्[२७] मे प्रज्ञा सृष्टि के लिए दो विरुद्ध स्वभाव वाले तत्त्वो का सकेत मिलता है। यही नही, इसी उपनिषद्[२८] मे भोग्य और भोक्ता का जो उल्लेख हुआ है। वह प्रकृति–पुरुष वाले साख्य दर्शन की ओर ही सकेत करता है।[२९]

यद्यपि उपनिषद् मे साख्य की परवर्ती विकसित अवस्था की विशिष्टताए नही मिलती है लेकिन यहाँ वही सिद्धान्त प्राप्त होते है, जो साख्य और वेदान्त मतो मे प्रारम्भ से ही समान रूप से रहे है, इस प्रकार साख्य के प्रमुख विचार उपनिषदो की नानाविध शिक्षाओ मे मिलते है।[३०] डॉ० कीथ[३१] के अनुसार ''उपनिषदो मे साख्य दर्शन या सम्प्रदाय का किसी प्रकार का वास्तविक साक्ष्य पाना असभव है। फिर भी उनमे यत्र–तत्र ऐसे बीज मिलते है, जिनसे उन विचारो का विकास लक्षित होता है। जो आगे चलकर साख्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप से रखे गए।'' डा० कीथ साख्यदर्शन के उपनिषदो से बहुत दूर का ही सम्बन्ध मानते हुए आगे कहते है ''यदि पूर्ण व्यवस्थित सांख्य दर्शन महाभारत मे पूर्व वर्तमान था तो सचमुच यह बडी विलक्षण बात लगती है कि उसमे पच तन्मात्रो के सिद्धान्त की ,जिसका साख्य दर्शन स्पष्ट प्रतिपादन है और जो उस दर्शन का विशिष्ट सिद्धान्त है, सर्वथा उपेक्षा ही कर दी गई है। उसकी चर्चा तक न की जाय।'' डा० कीथ आचार्य ईश्वर कृष्ण की साख्यकारिका के "CLASSIC SAMKHYA"

को ही व्यवस्थित साख्य मानते है।

डा० कीथ के मत के विपरीत यह सिद्ध है कि महाभारत अपने वास्तविक रूप मे छठी शताब्दी ई० पू० तक आ चुका था। क्योकि आश्वलायन गृह्यसूत्र मे गीता के श्लोको का उल्लेख किया गया है, ये ग्रन्थ पाचवी सदी ई० पू० के है। महाभारत मे इसके रचना उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इसकी रचना वेद–विद्या एव कठिन शास्त्रो के ज्ञान से वंचित स्त्री शूद्र आदि के लिए विशेष रूप से तथा द्विजजातियो के लिए सामान्य रूप से धर्म और दर्शन आदि के ज्ञान का प्रचार कराना था। इस स्थिति मे महाभारत मे साख्य दर्शन का सम्पूर्ण परिचय न मिलना आश्चर्यजनक नही होना चाहिए। यही नही, बल्कि छन्दोग्य उपनिषद् के 'तेजोऽबन्न' दूसरे शब्दो मे तेजस, जल और पृथ्वी रूप जो त्रिरूपात्मक गुणो को जगत कारण प्रतिपादित है, वह साख्य द्वारा मान्य लोहित–शुक्ल–कृष्ण जड प्रकृति ही है या उससे भिन्न स्पष्ट प्रमाण के अभाव मे दावे के साथ कुछ नही कहा जा सकता।[३२]

महाभारत मे स्पष्ट रूप से साख्य के समान एक निश्चयात्मक विचार पद्धति मिलती है।[३३] अनुगीता मे पुरुष तथा प्रकृति के भेद की व्याख्या दी गई है।[३४] पुरुष ज्ञान का प्रमाता (विषयी) है, जो पच्चीसवा तत्त्व है और इसके विपरीत अन्य चौबीस तत्त्व जो प्रकृति के है। वे ज्ञान के प्रमेय (विषय) है।[३५] आत्मा तथा प्रकृति के मौलिक भेद को पहचान लेने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[३६] आत्माओं की अनेकता अनुभवगम्य है। जीवात्माए तभी तक अनेक है, जब तक उनका सबध प्रकृति से है, किन्तु जैसे ही वे प्रकृति से अपने पार्थक्य का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेती है, वे छब्बीसवे तत्त्व 'ईश्वर' के पास लौट जाती है।[३७] महाकाव्यो के दर्शन का स्वरूप निश्चित रूप से ईश्वरवादी है और उसमे जो कुछ साख्य के अश विद्यमान है, उन्हे ईश्वरवादी की ओर ही लगाया जा सकता है। स्पष्ट है कि साख्य ने अपना परवर्ती विशिष्ट रूप महाकाव्यो मे भी प्राप्त नही किया था, क्योकि उदाहरण के रूप मे उनमे तन्मात्राओ का वर्णन नहीं है। तत्त्वो की व्याख्या तथा विकास के सबध मे भिन्न–भिन्न विचार मिलते है। इस विषय मे शास्त्रीय साख्य के प्रति निकटतम पहुच अनुगीता मे पाई जाती है।[३८] महाभारत मे आचार्य द्वय पचशिख[३९] और असितदेवल[४०] के विचारो का उल्लेख किया गया है। आचार्य पचशिख तीन गुणो की

प्रकल्पना को मानते थे। वे पुरुषो[४१] को आणविक आकार का मानते थे[४२] और पुरुषो एव प्रकृति के सबध का कारण कर्म नही, बल्कि भेद का अभाव माना है।[४३]

यदि मान ले कि उपनिषदो, महाभारत, भागवत् आदि का साख्यमत सेश्वर है तो प्रश्न उठता है कि मौलिक साख्या के ईश्वरवादी होने पर प्राचीन वेदान्त से उसका क्या अन्तर होगा, जिसके कारण प्राचीनकाल से ही साख्य एक पृथक् मार्ग माना जाता रहा है, इस सम्बन्ध मे दो मत हो सकते है एक तो साख्य दर्शन का इस सृष्टि का द्विसत्तात्मक 'प्रकृतिपुरुषमूलक' मानना और वेदान्त दर्शन का इसे ब्रह्म अद्वैतमूलक 'एकात्मक' मानना। जबकि दूसरा मत है कि साख्य का चेतनतत्त्व 'पुरुष' को परमार्थत अनेक माना जाय और वेदान्त दर्शन का उसे परमार्थत एक अद्वेतरूप माना। इस प्रकार साख्यमत जहॉ द्वैतवादी है, वही वेदान्त पारमार्थिक अभेद मानने से अद्वैतवादी है। यद्यपि वेदान्त मे भी विभिन्न वाद मिलते है जेसे मध्वाचार्य का द्वैतवादी होना।[४४]

श्वेताश्वर उपनिषद्[४५] मे उल्लिखित कपिल को शकर प्रकृति वेदान्ती साख्य प्रवर्तक कपिल न मानकर साख्यमत को अवैदिक मानते हुए कहते है ''एक तो ऋषि प्रसूत कपिलम् इत्यादि श्रुति मे कपिल का सामान्य रूप से ही कथन है। उनके विषय मे ऐसी विशिष्ट बात नही कथित जिससे अनेक कपिलो मे से साख्य प्रवर्तक विशिष्ट कपिल मुनि का ही उक्त श्रुति मे ग्रहण हो सके। दूसरे यदि उक्त श्रुति मे कपिल पद का अर्थ साख्य प्रवर्तक कपिल ही भान लिया जाय तो भी परमेश्वर की प्राप्ति के प्रसग मे उन्ही का माहात्म्य पदर्शित करने के लिए कपिल की सर्वज्ञता (ऐसा तो जैनी भी मानते है) का उसके अग रूप से किया गया यह वर्णन उस (सर्वज्ञता) का साधक नही हो सकता।[४६] भाष्य की न्यायनिर्णय टीका के रचियता आनन्दागिरि तथा रत्नप्रभा के कृतिकार गोबिन्दानन्द भी यही मत व्यक्त करते है। लेकिन प्रो० गार्बे का विचार है कि श्वेताश्वर उपनिषद् मे कपिल[४७] और मे 'योग' के साथ साख्य शब्द का आना[४८] स्पष्ट करता है कि इस श्रुतिकार को सांख्यमत का निश्चित ज्ञान था।[४९] यही नही, स्वय भाष्यकार शकराचार्य कपिल शब्द का पूर्वोक्त 'हिरण्यगर्भ' अर्थ करने के पश्चात, पुन सप्रमाण सर्वप्रसिद्ध साख्यकर्ता कपिल ऋषि भी अर्थ करते हुए कहते है 'साख्यना कपिलो देवो रुद्राणामसि शकर.' इति परमर्षि प्रसिद्ध। -------- स एव व कपिल· प्रसिद्धोऽग्रे सृष्टि काले'' और 'अन्यर्थदर्शनस्य

च प्राप्तिरहितस्या साधकत्वात्' इत्यादि। इस सम्बन्ध मे शास्त्री जी का मत है कि "हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि इस श्रुति मे जिस कपिल का उल्लेख है, वह साख्य पवर्तक कपिल ही है और यह मत शकराचार्य को भी मान्य है। इसलिए प्रथम कपिल पद का जो अर्थ शकराचार्य हिरण्यगर्भ (कनक कपिल वर्ण) किया है। वह प्रौढिवाद से किया गया है। उसमे श्रुति का स्वारस्य न जानकर ही अन्त मे विस्तारपूर्वक प्रमाण राहित साख्य प्रवर्तक कपिल का उल्लेख माना है।"[५०] यही नही, श्वेताश्वर उपनिषद् मे कई ऐसे स्थल है, जहाँ साख्य मत का उल्लेख किया गया है, जैसे–व्यक्त के साथ अव्यक्त का प्रयोग (१/८), अजा का उल्लेख(१/६) और (४/५), प्रधान का उल्लेख (१/१०) और प्रकृति का प्रयोग(४/१०) मे किया गया है, साथ मे 'द्वा सुपर्णा सयुजा समान वृक्ष परिषस्वजाते। तयोरस्य पिप्पल स्वाद्वत्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति"[५१] मे जीवन ईश्वर और प्रकृति के साथ शरीरादि कार्य का स्पष्ट रूप से पृथक्–पृथक् कथन किया गया है। यह त्रैत साख्यमत की अपनी मौलिकता थी, लेकिन शकराचार्य यहाँ पर अद्वैतवाद ढूढ लेते है।

प्राचीनतम उपनिषद् वृहदारण्यक और छान्दोग्य मे प्रधान या अजा तत्त्व की विवेचना स्पष्ट रूप से नही मिलती है। लेकिन ऐसा अनुमान है कि श्वेताश्वर उपनिषद् मे अजा की कल्पना साख्यदर्शन से आई होगी। लेकिन इस बात से इकार नही किया जा सकता है कि त्रिरूप जगद्योनि का सिद्धान्त छान्दोग्य उपनिषद् मे बीज रूप मे विद्यमान है। मत्र के 'स्वगुणैर्निगूढाम्' पदो से पूर्वोक्त अनुमान और निश्चित हो जाता है। क्योकि भारतीय दर्शन मे जगद्योनी के त्रिगुणो की परिकल्पना साख्यदर्शन की अपनी विशिष्टता है। जिसके आधार पर साख्य का त्रिगुणात्मक प्रधान कारणवाद विकसित हुआ। ऐसे ही श्वेताश्वर उपनिषद् मे कहा गया है –

अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा बहवी प्रजा सृजमाना सरूपा।
अजोह्येको जुषमाणाऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगाभजोऽन्य ।।

जैसे साख्मत तीनो गुणो अर्थात त्रिगुणात्मिका प्रकृति को क्रमश श्वेत, रक्त और कृष्ण रूप माना गया है। उसी प्रकार उक्त मत्र मे भी जगतजननीशक्ति को भी 'लोहितशुक्लकृष्ण" कहा गया है। जिस प्रकार साख्य प्रकृति को 'अजा' अर्थात् न उत्पन्न होने वाली कहता है उसी

प्रकार इस मत्र मे जगत्कर्तृ शक्ति को अजा कहा गया है। इसी प्रकार साख्यमत मे विविध और बहुरूप जगत को एकमात्र प्रकृति से उत्पन्न मानते हुए उसे स्वरूपत उसे त्रिगुणात्मक अथवा बहुविध–स्वगत भेद से युक्त माना गया है। वैसे ही उक्त मत्र मे भी जगतजननीशक्ति रूप अजा को त्रिविध माना है। स्पष्ट है कि मत्र गे जगत का उपादान कारण प्रकृति को माना गया है, ईश्वर को नही। साख्मत के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के विषय मे साख्यसूत्र 'श्रुतिरापि 1zkkud k; BoL,[५२] मे जिस श्रुति का कथन है। वह आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत मे भी सही है।

लेकिन शकराचार्य के मत मे अजा शब्द से साख्यमत अभिप्रेत नही होता है। यहाँ परमेश्वर से उत्पन्न तेजस, जल और पृथ्वी ही चतुर्विध प्राणी समूह को सृष्टि करने वाली 'अजा' है[५३] और स्पष्ट करते हुए ब्रह्मसूत्रभाष्य[५४] मे कहा गया है कि चूँकि छान्दोग्य उपनिषद् मे इन तीनो की उत्पत्ति परमतत्त्व से मानकर इन्हे क्रमश लाल, सफेद और काला कहा गया है। अत यही श्वेताश्वर उपनिषद् मे 'अजामेका लोहित शुक्ल कृष्णम्' इत्यादि द्वारा 'अजा' कहा गया है। परन्तु वाच्यार्थ के सम्भव न होने पर ही लक्ष्यार्थ लेना उचित है और न्याय सगत होगा। फिर 'मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरम्'[५५] तथा 'योमोनियोनिमधितिष्ठत्येक'[५६] इत्यादि मत्रो के द्वारा भी उसी परमेश्वर रूप शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। किसी स्वतत्र प्रकृति की सिद्धि नही होती है। यही बात शकराचार्य कठोपनिषद्भाष्म मे भी कहते है, यद्यपि कठोपनिषद् मे इस से कम बाह्य दृष्टि से तो साख्यदर्शन के महत्, अव्यक्त आदि पारिभाषिक पदो का उल्लेख मिलता है। जैसे 'महत परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष पर'।[५७] परन्तु इसके विरुद्ध शकराचार्य कहते है कि यहाँ 'अव्यक्त' परमात्मा की ही सर्वधारण सामर्थ्यवान अनन्तशक्ति उसी की कारणावस्था माना है न कि साख्य के प्रधान की भाति कोई पृथक् स्वतत्र तत्त्व। इसी 'अव्यक्त' को श्वेताश्वर उपनिषद् मे शक्ति, माया, प्रकृति, प्रधान आदि कहा गया है। किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि त्रिरूप जगद्योनि का जो सिद्धान्त छान्दोग्य आदि श्रुतियो मे वर्णित है। वह भाष्यकार शकराचार्य को भी मान्य है। छान्दोग्य उपनिषद् का 'तेजोऽबन्न' एक नही, तीन है। फिर यह 'अज' नही, अपितु ब्रह्म से उत्पन्न है, जबकि सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक होकर भी तीन नही, एक ही है। जो अज और अनादि है। वहीं श्वेताश्वर उपनिषद् जगत के उपादान कारण रूप त्रिगुण शक्ति के अज और एक ही मानता है। हॉ, यह बात और है कि वह इस अज शक्ति को ब्रह्म या परमेश्वर की

शक्ति मानता है।[५८]

डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र का विचार है कि पूर्वोक्त समानताओ के कारण साख्य की प्रकृति सम्बन्धी धारणा छान्दोग्य और श्वेताश्वर उपनिषद् के बीच की कडी हो सकती है। दूसरे शब्दो मे श्वेताश्वरोक्त त्रैगण्य, तथापि एक एव अज अनादि रूप प्रकृति सम्बन्धी मत छान्दोग्योक्त त्रिरूप "तेजाऽबन्न"[५९] से सीधे विकसित न मानकर साख्योक्त त्रिगुणात्मक अजा प्रकृति के द्वारा ही विकासत मानना अधिक युक्तियुक्त लगता है। श्वेताश्वर उपनिषद् मे साख्य सम्बन्धी स्पष्ट है कि साख्य इस त्रुटि के समय से पहले ही वर्तमान रहा होगा। किन्तु शकराचार्य प्रभृति विद्वानो के मतानुसार साख्य और 'कपिल' इत्यादि पदो के लिए साख्यशास्त्र के प्रवर्तक सबसे अधिक श्वेताश्वर उपनिषद् के ही ऋणी हैं। जो भी हो, परन्तु उपरोक्त तर्कों से एक बात स्वमेव सिद्ध है कि शकराचार्य आदि के भगीरथ प्रयत्न के बावजूद साख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति अश्रौत अर्थात् अवैदिक सिद्ध नही होती है। यह ठीक है कि साख्य का यह प्रकृतिवाद श्रुति सम्मत एतद्विषयक सिद्धान्त का अनुकारण मात्र नही है, बल्कि उससे स्वतत्र रूप से विकसति है यही कारण है कि उससे भिन्न है। वेदान्त सूत्रो के कर्ता बादरायण, व्यास से भी पूर्ण मौलिक साख्य निरीश्वरवादी हो गया था। यह मत सूत्रो के तर्कवाद मे साख्य के निरीश्वर प्रकृतिवाद के खण्डन से प्रसिद्ध होता है। चूँकि साख्य अपने प्रादुर्भाव या उद्‌भव के समय से ही एक पृथक् प्रस्थान माना जाता रहा है। यही कारण है कि यह इसका उपनिषदो से कुछ न कुछ भेद बना रहा है। यही नही, अपितु जब मूल साख्य कभी ईश्वरवादी रहा होगा तो भी उसकी प्रकृति ईश्वर की शक्ति न होकर उससे पृथक् एक स्वतत्र तत्त्व रही होगी।[६०]

शकराचार्य स्वय को श्रुतिवादी एव सम्प्रदायविद् उद्‌घोषित करते हुए अपने भाष्यो को भी श्रुतिपरक तदुनसारी कहा है। परन्तु इसके विपरीत साख्य श्रुतियो का भाष्य न होकर स्वतत्र विकास है। इस स्वतंत्रता के लिए स्वय श्रुतियो मे भी पर्याप्त अवकाश एव छूट है। इसी का परिणाम है कि महर्षि बादरायण स्वय अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न मत व्यक्त करते है। उपनिषद् मे आत्मा जैसे भेदवाद, अभेदवाद या भेदाभेदवाद आदि। इन सब मतो के अनन्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी द्वैतवाद को श्रुति सम्मत ही मानते है।[६१] साख्यमत के सम्बन्ध मे

विवाद के सन्दर्भ मे डॉ० कीथ[६२] और पुलिन बिहारी चक्रवर्ती[६३] ने पुनर्जन्म सिद्धान्त और निराशावाद के लिए साख्य को बौद्धधर्म का उपजीवी मानते है। ये ऐसा विचार इसलिए व्यक्त करते है क्योकि इनके मत मे साख्य मत मैत्रायणी सहिता से विकसित हुई है। यही नही, डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्[६४] भी कुछ अश तक इस मत रो सहमत दिखते है। लेकिन ससार की वास्तविक सत्ता मानने वाला साख्य निराशावादी कैसे हो सकता है? यदि सासारिक सुख को सुखाभास मानने तथा आनन्द को प्रकृति के सत्वगुण का परिणाम मानकर दु ख सम्मिाश्रित बताते हुए त्रिगुण रो ऊपर परमनिश्रेयस को स्वीकार करने के कारण यदि साख्य निराशावादी है तो ऐसे मे सभी उपनिषद् निराशावादी होगे। तब फिर सुख की कसौटी पर केवल मीमासा दर्शन जो कर्ममीमासा भी कहलाता है, ही खरा उतरेगा। जिसकी कटु आलोचना साख्य और वेदान्त दोनो करते है। आनन्दमुक्त जीवन्मुक्ति को स्वीकार करने के कारण साख्य निराशावादी नही हो सकता है क्योकि श्रुतियो मे भी मुक्ति को 'नानन्द न निरानन्दम्' कहा गया है। सभी सत्ताओ को एकमात्र ब्रह्म मे समाहित कर मायोपजन्य मानने वाले अद्वैत वेदान्त की अपेक्षा प्रकृतिजन्य ससार को वास्तविक मानने वाला साख्य अधिक उन्नत, आशावादी, निरापद एव सामजस्य पूर्ण हो, इसे डा० कीथ भी स्वीकार करते है।[६५] शकराचार्य को परिणामवादी मानते हुए आर० जी० भण्डारकर यहाँ तक कहते है कि शकराचार्य द्वारा अपने परिणामवाद को विवर्तरूप मानना निराधार है।[६६] साख्य मत मे सूक्ष्मशरीर को विभिन्न प्रकार की भूमिकाओ मे कार्य करने वाले नट रूप मे उल्लिखित किया गया है। यह सूक्ष्मशरीर ''बुद्धि–अहकार–मन दशेन्द्रिय पचतन्मात्राए'' का सघात है। आत्मा को कर्ता सिद्ध करने के लिए 'सूक्ष्मशरीर' की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ मे लोकमान्य तिलक का मत है कि लिगशरीर के राम्बन्ध में साख्य मत और औपनिषदीय मत मे एक मत्य है।[६७]

श्वेताश्वर उपनिषद् के ''तथैकनेमि त्रिवृत्र षोऽशात शतर्धार विशाति प्रत्यराभि''[६८] मत्र सख्यात्मक वर्णनशैली में है। प्रो० कीथ उक्त निषयाभेद को अधिक महत्त्व न देते हुए 'सख्यात्मक वर्णन को बहुत कुछ ब्राह्मण सम्प्रदायो रो प्रभावित मानते है।[६९] लेकिन ऐसा मानना ठीक नही है क्योकि 'संख्यात्मक वर्णन' साख्य की अपनी विशेषता है। सांख्यसूत्रो पर आधारित जो 'तत्त्वसमास' नामक अत्यन्त लघु (मात्र २५ सूत्र) ग्रन्थ है उसमे से २२ सूत्रो में तत्त्वो का

विवेचन और विश्लेषण सख्याओ मे ही हुआ है। यही नही, 'साख्यप्रवचनसूत्र' और 'साख्यकारिका' मे भी विषयो का प्रतिपादन सख्याओ द्वारा ही हुआ है। अत श्वेताश्वर उपनिषद् को सख्यात्मक वर्णन के सदर्भ मे साख्यदर्शन से प्रभावित मानना उचित है। क्योकि जो जिस परम्परा का ग्रन्थ है उसी को मूल परम्परा से प्रभावित मानकर उसके प्रामाण्य के विषय मे सदेह प्रकट करना अनुचित है। अत यही कारण है कि प्रो० रिचर्ड गार्बे साख्य दर्शन को श्वेताश्वर उपनिषद् के पूर्व का मानते है।

साख्य दर्शन 'पुरुष' को परमार्थत शरीर के समान धर्मो से रहित मानते हुए सारा कारणकार्यभाव अचित् त्रिगुणात्मिका प्रकृति मे ही मानता है। प्रकृति के तीनो गुण प्रतिक्षण परिणामी होने के कारण निरन्तर अनन्त कार्य, अनन्त परिणाम, अनन्त परिवर्तन उत्पन्न करते रहते है, सभी कुछ उसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परिणाम है। छान्दोग्य[७०] और वृहदारण्यक[७१] के उपनिषद् मे आत्मा का वही स्वरूप वर्णित है जो साख्य दर्शन मे माना गया है। यद्यपि अभि–भेद के कारण साख्य मत मे एकत्व को स्वीकार नही किया गया है, तथापि उसने समस्त आत्माओ के पारस्परिक एकत्व सम्बधी मत को 'वस्त्वेकत्व' अथवा 'व्यक्त्येकत्व' की दृष्टि से तो नही, अपितु 'जात्येकत्व'[७२] अर्थात् सामान्य चिन्मात्र की दृष्टि से स्वीकार किया है। इस प्रकार साख्य श्रुतियो के साथ अपने 'पुरुष बहुत्व सिद्धान्त' का समन्वय प्रकारान्तर से अवश्य प्रकट करती है। यही नही साख्य पुरूष को चिन्मात्र माना है, चिदानन्द रूप नही।[७३] आत्मा को आनन्द रूप मानने वाले श्रौत वचनो को साख्य दुखभाव का ही प्रतिपादक मानता है साख्यमत मे एक आत्मा को चिद्रूप और आनन्दरूप कहने से द्वित्त्व का भाव आता है। अत आत्मानन्द दुखाभाव रूप ही है। इस प्रकार साख्य मत मे आनन्दरूप आत्मा का श्रौत अभिप्राय 'आध्यात्मिक, अधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध दुखो से मुक्ति' ही है।[७४] इस प्रकार यहाँ भी साख्य मत श्रुति मतो से यथा कश्चित साम्य रखने का प्रमास करती है आगे साख्यमत है कि मोक्ष को श्रुति आनन्दरूप इसलिए अगीकार करती है, कि सासारिक बन्धनो मे पडे अज्ञजन उसकी ओर आकृष्ट हो।[७५] इस प्रकार साख्य के पुरुष, प्रकृति आदि सम्बन्धी मत श्रुतियो मे भी मिलते है और कुछ अश तक उनमें परस्पर साम्यता भी मिलती है। फिर भी उनमे परस्पर मतवैभिन्य का कारण है, रुचि–भेद और दृष्टिभेद से श्रुतियों को अत्यन्त प्रचीन काल से ही भिन्न–भिन्न प्रकार से समझा जाता रहा

है। अत कालान्तर मे ऐसे मतभेद और वैषम्य आ जाना कोई आश्चर्यजनक बात नही है।

यह ठीक है कि उपनिषद् मे साख्य के सकेतो को ढूढने के लिए उपलक्षण रीति को उपादेय बताया गया है, लेकिन सकेत खोजने मे अभेद स्थापन नही किया जाना चाहिए। जैसा कि प्रसिद्ध दार्शनिक अनीमा सेनगुप्ता इस तथ्य को नजर अदाज करके एकत्ववादी उपनिषद् मे एकत्ववादी साख्य को स्वीकार करती है। साख्य की तत्त्वमीमासा मे 'तत्त्व' को सार मात्र मानने से अलग हटकर प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वो की सत्ता स्वीकार की है। तत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'युक्तिदीपिका' मे आचार्य वार्षगण्य के मतावलम्बियो के कथन को ही भोजदेव कृत 'तत्त्वार्थप्रकाशिका' मे भी उद्धृत कर तत्त्व को प्रलय पर्यन्त रहने वाला तत्त्व माना है—

आ प्रलय तिष्ठति यत्सर्वेषा भोगदायि च भूतानाम्।
तत्तु तत्त्वामिति प्रोक्त, न शरीर घटादि तत्त्वमत ।।

यही नही, साख्य का द्वितत्त्ववाद वेद और उपनिषद् के साथ 'महाभारत मे' भी मिलता है। यही कारण है कि साख्य की प्रचीनता को ध्यान मे रख्ते हुए लोकमान्य तिलक सम्भावनाओ को आगिग रूप से स्वीकार करते हुए साख्य को सर्वप्राचीन दर्शन मानते है, जो वैदिक परम्परा मे ही विकसित हुआ।[७६] प्रो० गार्बे भी कहते है कि कपिल के ही सिद्धान्त मे सर्वप्रथम मानव मन को पूर्ण स्वतत्रता मिली और उसकी दार्शनिक शक्ति का प्रथम प्रकाशन हुआ।[७७] यही कारण है कि उपनिषद् परम्पराभूत दर्शन पर विचार करते हुए मैक्समूलर[७८] ओर पुशत्कर[७९] साख्य को भी सभी भारतीय विचारों का उपजीव्य माना है। औपनिषदीय पदावली की ही भाति साख्य के पदो का भी प्रयोग सस्कृत भाषा के लगभग सभी साहित्य मे अविकल एव असकृत् रूप से हुआ है। परिणामस्वरूप कुछ लोग उपनिषद् और साख्य को समानान्तर मान लेते है। यद्यपि यह सत्य है कि साख्य सर्वत्र अपने स्वरूप मे नही मिलता है जिसका कारण है कथन का प्रकार जनश्रुति के आधार पर प्राप्त ज्ञान अथवा प्रतिपाद्य का स्वरूप।

सांख्यदर्शन आस्तिक दर्शन है, अथवा नही, यह विवाद का विषय है। मनु के मत मे वेद के प्रामाण्य को मानने वाला ही आस्तिक है।[८०] साख्य आगम प्रमाणवादी है इसलिए वह आस्तिक

दर्शन है। यद्यपि ईश्वरवादी विचारकगण साख्य को आस्तिक दर्शन की परिधि मे स्वीकार नही करते है।[८१] लेकिन भाट्टमीमासक कुमारिल भट्ट साख्य–योग, पाशुपत, पाचरात्र आदि को बौद्धदर्शन की ही भाति वेद विरुद्ध मानते है।[८२] क्योकि साख्य यज्ञ मे पशुबलि को स्वीकार नही करते है। वही दूसरी ओर भीमाचार्य ने 'न्यायकोष' मे 'परलोकाद्यास्तित्ववादी' को आस्तिक और 'वेदमार्गमननुरुन्धान' को नास्तिक मानते हुए अद्वैत वेदान्त को भी साख्य के समान ही नास्तिक माना है। लेकिन आगम प्रमाणवाद के आधार पर साख्य और वेदान्त आस्तिक है। सत्वादिगुणो के कारण ऊर्ध्वाध लोको (परलोक अर्थात् पुनर्जन्म सम्बन्धी मत) की स्थिति साख्य का विश्वास है। लेकिन यह सब साख्य मत मे त्रिगुण प्रकृति के अन्दर ही है, परम नि श्रेयस या कैवल्य की प्राप्ति त्रिगुण के त्याग पर ही प्राप्य है। प्रो० कीथ भी साख्य को आस्तिक दर्शन मानते है। यहॉ तक की आचार्य पचशिख ने महाभारत[८३] मे वेद निन्दक की आलोचना की है। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार महाकाव्य मे वर्णित साख्य दर्शन ईश्वरवादी है। परिणामस्वरूप आप २४ तत्त्वो वाले साख्य को 26 तत्त्वो वाले (26वा ईश्वर) दर्शन से बाद का मानते है।[८४] लेकिन इसके विपरीत डा० सुरेन्द्र नाथ दासगुप्त 24 तत्त्व वाले साख्य को ही सर्व प्राचीन मानते है। लेकिन तत्त्व–सख्या के आधार पर साख्य की प्रचीनता सिद्ध करना इतना दुरुह कार्य था कि प्रो० हिरियन्ना ने साख्य के इतिहास को अन्धकारमय कहकर टाल गए है।[८५] अत प्रो० हिरियन्ना डा० राधाकृष्णन् के इस मत से सहमत है कि साख्य आज एक जीवित विश्वास नही है।[८६] यह ठीक है कि सृष्टिपदार्थो के आधुनिक सश्लेषण और विश्लेषण की पद्धति तथा अनुसधान यत्रो का ज्ञान आदि विद्धान कपिल महर्षि को भले ही न रहा हो, लेकिन यह कम आश्चर्यजनक नही है कि साख्य और अर्वाचीन आधिभौतिकशास्त्र मे तत्त्वत समानता है। आज सृष्टि को सुसम्बद्ध किया जा सकता है किन्तु यह भी सच है कि अव्यक्त प्रकति से अनेक विध सृष्टि के निकास के विषय मे कपिल की अपेक्षा कुछ अधिक बताया भी नही जा सकता है। इस स्थिति मे भी साख्य को एक जीवित विश्वास न मानते हुए उसकी प्राचीनता पर सन्देह करना असगतपूर्ण तथ्य है।[८७]

प० श्री कृष्ण शास्त्री तैलग 'साख्यशास्त्र के कर्ता' नामक शीर्षक और महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ कृत 'भारतभावदीप'[८८] में साख्य को वेदान्त दर्शन के रूप मे स्वीकार किया

गया है, साथ मे महर्षि कपिल को इसका उपदेष्टा मानते हुए इस दर्शन को सेश्वर माना हे। इस भ्रम का कारण है महाभारतीय साख्य का सेश्वर होना और यहाँ प्रकृति का ईश्वर से पृथक् तत्त्व होने पर भी उसके सर्वथा अधीन होने के कारण अश, शरीर, कार्य इत्यादि रूप मे कल्पित और कथित है। यही भ्रम शकरभाष्य के टीकाकार गोविन्दानन्द कृत 'रत्नप्रभा'[८६] मे भी व्यक्त होती है। यहाँ टीकाकार ने दो प्रकार के साख्य माने है (1) वैदिक साख्य और (2) अवैदिक साख्य। इसी प्रकार पद्मपुराण मे दो कपिल का उल्लेख है, जिसमे एक को वैदिक साख्य का और दूसरे को अवैदिक अर्थात् वेदविरूद्ध साख्य का उपदेश देते हुए बताया गया है।[६०] इसका कारण है ब्रह्मसूत्रभाष्य[६१] मे श्वेताश्वरउपनिषद्[६२] के सम्बन्ध मे श्वेताश्वर कथित साख्य को वेद विरुद्ध कहा गया है, और इससे सम्बद्ध कपिल को विष्णु अवतार वासुदेव कपिल, जिसे अनेक ग्रन्थो मे साख्य प्रणेता माना गया है, से भिन्न माना गया है।

प्रकृति या ज्ञान के साधन को महत्व देने वाले पुराण एव महाभारत म प्रकृतिवादी कहा गया है, जो साख्य का ही वाचक है।[६३] विष्णुपुराण, जिसे डा० राधाकृष्णन महापुराणो मे मानने का आग्रह करते है, मे शिव और ब्रह्म दोनो प्रकृति को ही सक्रिय तथा पुरुष को निष्क्रिय मानने वाले सिद्धान्त को 'साख्य' कहते है।[६४] इसी प्रकार गुणरत्न 'षड्दर्शनसमुच्चय' मे मौलिक साख्य को बहुप्रधानवादी माना गया है।[६५] प्रकृति और पुरुष के सयोग से प्रथमोत्पादित 'महत्' तत्त्व का उल्लेख 'विश्वात्मा' के रूप मे पुराणादि[६६] मे मिलता है जो साख्य की प्रकृति सिद्धान्त के अनुकूल है, यथा मत्स्यपुराण[६७] मे ब्रह्मा–विष्णु–महेश को 'महत्' से उत्पन्न माना गया है, जो क्रमश रजस–सत्व–तमस गुण की प्रधानता से युक्त है। इसी तरह वायु पुराण[६८] मे भी साख्य प्रतिपादित 'महत्' को ईश्वर या ब्रह्म माना गया है जो अपने अन्दर समस्त जीवनो और शरीरो को धारण किए हुए है तथा प्रत्येक व्यक्तित्व रूप जीव इस अनत विश्वात्मा का अशमात्र है। महाभारत[६९] मे प्रकृति जो परिवर्तित होती है को अविद्या और पुरुष जो सभी प्रकार के परिवर्तनो से उन्मुक्त है, को 'विद्या' कहा गया है।

श्रीमद्भागवद् पुराण के 'साख्य प्रकरण' मे महर्षि कपिल माता देवहूति से कहते है "माँ! जो पुरुष मुझमे चित्त लगाकर श्रद्धापूर्वक एक बार भी इस-साख्य ज्ञान को सुन लेता है अथवा दूसरे के

प्रति कथन करता है, वह मेरे परम पद को प्राप्त करता है'' ।[१००] यही नही, महत् तत्त्व को 'मत्स्यपुराण' मे ब्रह्मा की उपाधि भी माना गया है, जिससे वे सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वकर्ता, सर्वपालक तथा सर्वसंहर्ता कहलाए।[१०१] महाभारत के शातिपर्व मे भी कहा गया है ''साख्य के समान कोई ज्ञान नही और योग के समान कोई बल नही[१०२] शकराचार्य साख्य दर्शन और उपनिषद् के बीच निहित भेदो को व्यक्त करते है, जैसे कि उपनिषद् के ईश्वरवाद के विपरीत साख्य निरीश्वरवादी है, उपनिषद् के प्रज्ञानात्मक ब्रह्माद्वयवाद के विपरीत साख्य का द्वैतवाद, उपनिषद् के विवर्तवाद के विपरीत प्रकृतिपरिणामवाद और उपनिषदीय एकात्मवाद को विपरीत साख्य का पुरुषबहुतत्त्ववाद। फिर ब्रह्मसूत्रभाष्य[१०३] मे कहते है ''अध्यात्मविषयक अनेक स्मृतियो के होने पर भी साख्ययोग स्मृतियो मे ही निराकरण मे प्रयत्न किया गया है क्योंकि ये दोनों लोक मे परमपुरुषार्थ के साधन के रूप मे प्रसिद्ध है शिष्ट महापुरुषो द्वारा गृहीत है तथा ''तत्कारण साख्ययोगभिपन्न ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै[१०४] इत्यादि श्रौत लिगो से युक्त है। प्रो० गार्बे का मत है कि साख्य दर्शन का उद्भव उपनिषदो के 'प्रज्ञानाद्वैतवाद' के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी।[१०५] लेकिन यह मत उचित नहीं है, क्योकि कारिकाओ से पूर्व का साख्य मत औपनिषदीय धारणा के काफी करीब है फिर ऐसी मान्यता मात्र शकराचार्य की है कि उपनिषदो मे मात्र प्रज्ञानाद्वैतवाद ही है। जबकि ब्रह्मदत्र, भर्तृप्रपच भाष्कर इत्यादि वेदान्तियो ने औपनिषदीय धारणा को ब्रह्मपरिणामवादी बताया है, फिर प्रकृतिपरिणामवाद का विरोध कहाँ तक उचित है?

महाभारत मे अनेक स्थलो पर साख्य के सम्बन्ध मे ईश्वरवादी होने के साक्ष्य मिलते है। यहाँ तक कि शातिपर्व मे आचार्य आसुरि को अक्षर ब्रह्म का प्रतिपादक बताया गया है[१०६] और साख्य दार्शनिक के सम्बन्ध मे उनका 'यथा श्रुतिनिदर्शिन', 'ब्राह्मणस्तत्त्वदर्शिन'[१०७] इत्यादि कथन ईश्वरवादी होने की पुष्टि करता है। गीता मे भी साख्य के प्रकृति के अधिष्ठाता और प्रेरक रूप मे ईश्वर का कथन हुआ है – जैसे हे अर्जुन! मेरी अध्यक्षता मे ही प्रकृति चराचर जगत को उत्पन्न करती है और इस कारण से सृष्टिचक्र सदा घूमता रहता है।[१०८] इस प्रकार पुराण, महाभारत और गीता मे प्रकृति को परमेश्वर से अभिन्न बताते हुए उसका ही एक रूप या अश अथवा उससे ही उत्पन्न माना गया है। यही कारण है कि अनेक विद्वान इस साख्य परम्परा को विशुद्ध मौलिक साख्य मानने से इकार करते है। इस विषय मे लोकमान्य तिलक का मत है कि – ''महाभारत मे साख्य मत का निर्णय कई अध्यायो मे किया गया है। परन्तु उसमे वेदान्त

मतो का भी सम्मिश्रण हो गया है। इसलिए साख्य के शुद्ध साख्यमत को जानने के लिए दूसरे अन्य ग्रन्थो को भी देखने की आवश्यकता है। इस काम के लिए उक्त साख्यकारिका की अपेक्षा कोई भी अन्य अधिक प्राचीन ग्रन्थ इस सम्बन्ध मे उपलब्ध नही है।[१०९] यही नही, और आगे कहते है। गीता मे साख्यवादियो के द्वैत पर अद्वैत परब्रह्म की छाप लगी हुई है'।[११०] उक्त मत का समर्थन करते हुए प्रो० गार्बे भी मानते है कि साख्य एक स्वतत्र मस्तिष्क की उपज होने के साथ –साथ महाभारत के रचना के पूर्व ही विकसित हो चुका था।[१११] प्रो० जैकोबी साख्य दर्शन को भौतिकवादी मानते हुए इसका विकास औपनिषदीय परम्परा से मानने का विरोध करते है, लेकिन डा० कीथ इसके विरुद्ध कहते है, स्पष्टत साख्य विशुद्ध अमिश्रित भौतिकवादी विचारधारा से कदापि कथमपि विकसित नही हो सकता। इसका जन्म तथा विकास ऐसे भौतिकवाद से मानना पडेगा जिसका पूरक अध्यात्मवाद रहा हो। इस प्रकार फिर वही समस्या हमारे समक्ष उपस्थित होती है कि भौतिकतत्वो के विरुद्ध पुरुषो की सत्ता स्थापित करने वाली विचारधारा कहाँ से आई? इसका सरल और स्पष्ट उत्तर है कि यह विचारधारा उपनिषदो से ही विकसित हुई है।[११२] जैकोबी महोदय का यह विचार कि साख्य एक पूर्ववर्ती भौतिकवादी सप्रदाय का ही परिष्कृत रूप है, प्रमाणित नही होता है। परमार्थ सत्ता तथा आत्मा के स्वातत्र्य पर आग्रह रहने के कारण साख्य ने मानसिक प्रतीति सबधी समस्त भौतिकवादी विचारो के विरुद्ध प्रचार को अपना लक्ष्य बनाया साख्व के विकास मे हमे कोई भी अवस्था ऐसी प्रतीत नही होती। जहाँ पर इसका भौतिकवाद के साथ साम्य प्रदर्शित किया जा सके।[११३]

अश्वघोष के 'बुद्धचारित' मे हमे महात्मा बुद्ध तथा उनके भूतपूर्व शिक्षक 'अराड' की भेट का वर्णन मिलता है, जो साख्यसिद्धान्तो को मानता था। यद्यपि उनमे ईश्वरवादिता का प्रभाव था। यह अधिक संभव प्रतीक होता है कि साख्य का सबसे पूर्व का रूप एक प्रकार का यथार्थवादी ईश्वरवाद था, जो उपनिषदो के विशिष्टाद्वैत के समीप पहुँचता है। साख्य के इस प्रकार के रूप को तो उपनिषदो के उपदेशो का युक्तियुक्त परिष्कृत रूप माना जा सकता है। किन्तु द्वैतवादी साख्य को, जो पुरुषो के अनेकत्व तथा प्रकृति की स्वतत्रता पर बल देता है, और परमतत्व के वर्णन को बिल्कुल छोड देता है, उपनिषदो की शिक्षाओ के अनुरूप किसी भी अवस्था मे नही कहा जा सकता। प्रश्न उठता है कि साख्य ने तो परमतत्त्व के सिद्धान्त को

सर्वथा छोड दिया, वह कैसे हुआ क्योकि इसको साथ लेकर ही तो साख्य दर्शन को सतोष जनक माना जा सकता था। बौद्धदर्शन के उदय के पश्चात् तक साख्य ने एक सुव्यवस्थित दर्शन का रूप धारण नही किया था। जब बौद्धधर्म ने यथार्थवाद को चुनौती दी, तो साख्य ने उस चुनौती को स्वीकार किया। परिणामस्वरूप साख्य ने आत्माओ तथा प्रमेय पदार्थों की यथार्थता के पक्ष मे युक्तियुक्त आधार पर तर्क उपस्थित किया। जब इस दर्शन का विकास विशुद्ध युक्तियुक्त आधार पर हुआ तो इसे बाध्य होकर यह स्वीकार करना पडा कि ईश्वर की सिद्धि मे कोई प्रमाण नही है।[११४] 'विष्णुसहस्रनाम' की व्याख्या करते हुए शकराचार्य 'व्यास स्मृति' के एक श्लोक[११५] को उद्धृत करते है, जिसके अनुसार साख्य 'शुद्धात्मतत्त्व विज्ञान' है। अपने सैद्धान्तिक पर्यवेक्षण के द्वारा आत्मा को निष्फल, निष्क्रिय, निरवद्य, प्रकृति व्यतिरिक्त आदि सिद्ध करने के कारण साख्यशास्त्र का यह नाम अन्वर्थक है।

ब्रह्मसूत्र के रचनाकार महर्षि बादरायण और उसके भाष्यकार शकराचार्य ने तर्कवाद मे साख्य का युक्तिपूर्वक खडन करने के साथ कई स्थानो पर साख्य के उपनिषदमूलक होने का भी खण्डन किया है।[११६] शकराचार्य साख्य को वेदान्त का 'प्रधानमल्ल' (प्रमुख प्रतिपक्षी) मानते है। उनके अनुसार साख्य द्वैतवादी होने के कारण श्रुतिमूलक (उपनिषद्) नही है इस खण्डन विवाद का कारण ऐसा लगता है कि साख्य इसके पूर्व श्रुतिमूलक माना जाता रहा हो। अत सभावना है कि सांख्य अपने प्रारभिक रूप मे श्रुतिमूलक और ईश्वरवादी रहा हो। बाद मे बौद्ध–जैन के प्रभाव के कारण निरीश्वरवादी और वस्तुवादी हो गया हो।[११७] यद्यपि साख्य निरीश्वरवादी और द्वैतवादी भले हो गया हो। लेकिन (14वी–16वी सदी) मे साख्य को उसके श्रुतिमूलक होने की धारणा शंकराचार्य के एक अन्य खण्डन विद्या मे झलकती है।[११८] यह अवश्य है कि साख्य मत का जो एक मात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है, वह 'साख्य कारिका' है। जो द्वैतवादी, निरीश्वरवादी और वस्तुवादी साख्य का उल्लेख करती है, फिर सांख्य परम्परा उपनिषदीय परम्परा से भी पुरानी थी। अत उसके कुछ मामलो मे उत्तर होना स्वाभाविक है। एक लम्बे समयोपरान्त सांख्यप्रवचनसूत्र और उसके भाष्य (१४वी–१६वी सदी) मे साख्य को ईश्वरवादी मानने की वकालत की गई थी।

स्पष्ट है कि साख्य के प्रारम्भिक स्वरूप के सबध मे मतभेद है। लेकिन यह सच है कि साख्यदर्शन अपने अस्पष्ट वैज्ञानिक स्वरूप के साथ अत्यन्त प्रचीन काल से विद्यमान रहा है। फिर भी किसी अकाट्य प्रमाण के अभाव मे इसका उद्भव काल का निर्धारण मुश्किल ही नही, असम्भव भी प्रतीत होता है।

पाद टिप्पणी .

१ – द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते। तयोस्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यशनन्नन्योऽभि चाकशीति।।

ऋग्वेद – १/१६४/१२०।।

२ –Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-I, pp -81-85

३ – ऋग्वेद १०/२७/१६

४ – Origin & development of Samkhya system of thought, pp, 6-7

५ – Journal of Vadic studies, vol-I, Pt -II, The Vedas and their religious teaching, vol -I, pp-1-19

६ – शास्त्री, प० उदयवीर, साख्य दर्शन का इतिहास, पृ० – ६

७ – भागवद् पुराण – ३/२५/१

८ – महाभारत और पुराणो में साख्य दर्शन, पृ० – ३

६ – Origin & development of Samkhya system of thought, pp-25-28, 38-39, 44, 106

१०– History of Indian Philosophy, vol -I, pp-216-218, vol -III, pp- 470-475

११– वृहदा० उप० – २/४ व १४, ३/४ व २, ४/३ व १५, मुण्डकोपनिषद्–३/१

१२– कठोपनिषद् – ३/१६ व ११, ६/७ से ११

१३– प्रश्नोपनिषद – जिसके सोलह तत्त्वो की सत्ता के साथ साख्य के सूक्ष्म शरीर की तुलना। ऋग्वेद १०/१२/१, महाभारत – १२/३११,३

१४– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-I, pp-129, Keith, Samkhya system, pp-14-15, E.N

नृसिंहतापनीय – 'गर्भ' तथा 'चूलिका मे सब साख्य के सिद्धान्तो से अत्यन्त प्रमाणित है।

१५– मैत्रायणी उप० – ३/२, छान्दोग्य उप० – ६/३

१६– मैत्रायणी उप० – २/५, ५/२ कुछ विद्वान तीनो गुणो के विचार को छान्दोग्य उपनिषद मे वर्णित तीन रगो से सबध समझते है, जिनकी पुनरावृत्ति श्वेताश्वर उपनिषद मे भी की गई है।

१७– मैत्रायणी उप० – ६/१०, Keith, Samkhya system, pp-60, साख्य मे ऐसा विषय विवरण सहित कम है, जो उपनिषदो मे किसी न किसी स्थान पर न मिल सके।

१८– Samkhya system, pp-59-61

१९– Samkhya system, pp-60, The great epic of India, pp-81ff, Garbe Samkhya Philosophy pp-3ff

२०– Origin & development of samkhya system of thought pp-26-29

२१– Glimpses of Upnishad, C H I, Vol-I, pp-64-71

२२– छान्दोग्य उपनिषद्– ४/१/४

२३– Glimpses of Upnishad, C,H,I, Vol-I, pp-70-74

२४– छान्दोग्य उपनिषद्– ६/३/३ और ४

२५– साख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ४०–४१

२६– गीता रहस्य, पृ०– १५४–१६०

२७– वृहदारण्यक उपनिषद्– १/४/३

२८– वृहदारण्यक उप०– १/२/५ व १/४/६

२९– Evolution of Samkhya school of thought, pp-59-69, Birds eye view of Upnisad, Cambrindge history of India, Vol-I, pp-41-62

३०– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-I, pp-213-214

३१– Samkhya system, p-7

३२– मिश्र, डॉ० आद्याप्रसाद, साख्य दर्शन का इतिहास, पृ०– २२–२५

३३– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-I, pp-409-411

३४– महाभारत– १४/५०व८

३५– महाभारत–१२/३०६, ३६–४०

३६– महाभारत–१२/३०७, २०

३७– महाभारत – १२/३५०, २५–२६, १२/३५१, २–४

३८– महाभारत –१४/४०–४२

३६– महभारत –१२/२१६, १२/३२१,६६–११२,

४०– महाभारत– १२/२७४

४१– साख्य प्रवचन भाष्य– १/१२७

४२– योगभाष्य और तत्त्ववैशारदी– योगसूत्र १/३६ पर

४३– साख्य प्रवचन भाष्य– ६/६८

४४– मिश्र, डॉ० आद्यप्रसाद, साख्यदर्शन का इतिहास, पृ०– २७

४५– श्वेताश्वर उपनिषद्– ५/२

४६ – ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१

४७– श्वेताश्वर उप०– ५/२

४८– श्वेताश्वर उप०– ६/१३

४६– Samkhya system, p-46 ff

५०– Samkhya system, p-16

५१– श्वेताश्वर उपनिषद्– १/८, १/६व ४/५, १/१०, ४/१० और ४/६

५२– साख्यसूत्र– ५/१२

५३– श्वेताश्वर उपनिषद् भाष्य–'इदानीं तेजोऽबन्न लक्षण प्रकृतिछान्दोग्योपानिषत्प्रसिद्धामजारूपकल्पनया दर्शयति अजामेकामिति'

५४– ब्रह्मसूत्रभाष्य– १/४/६; श्वेताश्वर उपनिषद्– १/१ और १/३

५५– श्वेताश्वर उपनिषद्– ४/१०

५६– श्वेताश्वर उपनिषद्– ४/११

५७– कठोपनिषद्– ३/१०/११, साथ मे ६/७/११

५८– श्वेताश्वर उपनिषद्– १/६,४/५,१/१०

५६– छान्दोग्य उपनिषद्– ६/२/१३

६०–मिश्र, डॉ० आद्यप्रसाद, साख्य दर्शन का इतिहारा, पृ०– ३४–३५

६१– सत्यार्थ प्रकाश, खण्ड II, अध्याय IV-'प्रकृति ओर तीन गुण'

६२– Samkhya system, pp 18-20

६३– Origin & development of Samkhya of thought, ff 35-37

६४– Indian Philosopsy ,Pt- II , pp 250-251

६५– Samkhya system, p- 39 &fn

६६– Bhandarker commemoration vol, p-160

६७– गीता रहस्य, पृ०– ५२७–५२८

६८– श्वेताश्वर उपनिषद्– १/४

६९– Samkhya system, p-11

७०– छान्दोग्य उपनिषद्– एष आत्मा अपहतयाष्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपास (८/१/५)

७१– छान्दोग्य उपनिषद्– योऽशनायापिपासशोक मोह जरा मृत्युमत्येति (३/५/१)

७२– साख्य सूत्र –नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्(१/१५४), नाद्वैतमात्मनो लिगात् तद्भेद प्रतीते (५/६१),

न श्रुति विरोधो रागिण वैराग्याय तत्सिद्धे (६/५१)

७३– नैकस्यानन्दाचिद्रपत्वे द्वयोर्भेदात् ।।साख्सूत्र–५/६६।।

७४– दुखनिवृत्तेगौर्ष· ।।साख्सूत्र–५/६७।।

७५– विमुक्ता प्रशसामन्दानाम् ।।साख्यसूत्र–५/६८।।

७६– गीता रहस्य, पृ०– १४६–१५०

७७– Philosophy of Ancient India, p- 30

७८– Six system of Indian Philosophy, p- 320 ff

७९– Studies in the Epics and Puranas, p-14

८०–"नास्तिको वेद निन्दक"।। मनु स्मृति– २/११६।।

८१– Indian philosophy vol -II, p 20

८२– तन्त्रवार्त्तिक – १/३/४

८३– महाभारत– १२/२१८

८४– Indian philosophy, Vol-II, p-253 fn3

८५– Outline of Indian philosophy, p-267

८६– Indian philosophy, vol -II p-23, Outline of Indian Philosophy, p-267

८७– गीता रहस्य, पृ०– १५२–१५३

८८– महाभारत. शातिपर्व– २१८/२०, २१ और ३००/२ की टीका पर

८९– "कपिल शब्द मात्रेण साख्यकर्त्ता श्रौत इति भ्रान्तिरयुक्ता, तस्य द्वैतवादिन सर्वज्ञत्व भोगात्। अत्र च सर्वज्ञान सम्भृतत्त्वेन श्रुत कपिलोवासुदेवाश एव। स हि सर्वात्मत्वज्ञान वैदिक साख्यमुपदि शतीति सर्वज्ञ इति भाव"

९०– ब्रह्मसूत्र भाष्य – २/१/१ पर डॉ० बेल्वकर की टिप्पणी, पृ० – ४

९१– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१ "यातु श्रुति कपिलस्य ज्ञानातिशय प्रदर्शयन्ति, न तया श्रुति विरुद्धमपि कपिल मत श्रद्धातुशक्यम्, कपिलमति श्रुति सामान्यमात्रत्वात्, अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणा प्रतप्तुर्वा सुदेवनाम्न स्मरणात्।

९२– श्वेताश्वर उपनिषद्– ५/२

९३– ज्ञानव्यक्तमित्युक्त ज्ञेयो वै पचविशक। तथैव ज्ञानमव्यक्तविज्ञातापचविशक।।ब्रह्मपुराण,२४३–२४६, महाभारत– १२/३०६/४० व १२/३०७/६

९४– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-664,Fn-3

९५– 'मौलिक साख्या हि आत्मानमात्मान प्रति पृथक् प्रधान वदन्ति'

९६– भागवत पुराण– १/३/२२३, अविज्ञेय ब्रह्माग्रे समवर्तत– विष्णुपुराण

९७– सविकारात् प्रधानातु महत्तत्व प्रजायते। महानित्य यत ख्यातिर्लोकाना जायते सदा।
गुणेभ्य क्षोभ्यमानेभ्यस्त्रयो देवा विजाज्ञिरे। एकमूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ।।

९८– चौथा अध्याय, वायुपुराण

९९– महाभारत– १२/११४१९

१००– श्रीमद्भागवद् पुराण– ३/३२/४३

१०१– सविकारात्प्रधानात्तु महत्त्वमजायत। महानिती अत ख्यातिर्लोकाना जायते तदा।। मत्स्यपुराण।।

१०२–नास्ति साख्यसमज्ञानं, नास्ति योगसम बलं ।। महाभारत शातिपर्व–३१६/२।।

१०३–ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/४

१०४— श्वेताश्वर उपनिषद्— ६/१३

१०५— Samkhya,pp-189, XI of Encyclopeadia of Religious & Ethics

१०६— महाभारत शान्तिपर्व — २१८/१४

१०७— महाभारत शान्तिपर्व — ३०२/२१

१०८— श्रीमद्भागवत् गीता — ६/१०

१०६— गीता रहस्य, प्रकरण "कपिल साख्य शास्त्र", पृ० — १६१

११०— १०६— गीता रहस्य, प्रकरण "कपिल साख्य शास्त्र", पृ० — १७५

१११— Samkhya Philosophy, pp-54-59

११२— Samkhya system, pp-58, Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-251

११३— Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-217

११४— Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-219

११५— शुद्धात्मात्त्वविज्ञानम् साख्यमिति अभिधीयते — व्यासस्मृति

११६—ब्रह्मसूत्र भाष्य — १/४/१—३, १/१/५—११, २/१/१—३

११७— शर्मा, सी० डी०, भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, पृ० — १३७

हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २६७

११८—ब्रह्मसूत्र भाष्य— २/२/१—१०

द्वितीय अध्याय

सांख्य दर्शन का विकास

साख्य दर्शन दार्शनिक विचारो के उदाहरण भारत मे अत्यन्त प्राचीन काल से प्राप्त होती है। जिसमे साख्याचार्यों की एक लम्बी गुरू–शिष्य परम्परा वेदिक काल से ही श्रुति प्रमाणित हे। साख्यमत की प्रतिष्ठा परमर्षि कपिल द्वारा गाना जाता हे, तदोपरान्त अनेक साख्याचार्यो ने इस मत को पोषित ओर पल्लवित किया, किन्तु आचार्य ईश्वर कृष्ण आज एक मात्र प्रमाणित कृतिकार हे, जिसके द्वारा साख्यमत की सुसबद्ध सेद्धान्तिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई,, साख्यमत के प्रमुख आचार्यो सबधी विवरण इस प्रकार हे –

(I) महर्षि कपिल

साख्य मत का प्रवर्तक महर्षि कपिल को माना जाता है, यद्यपि उनकी ऐतिहासिकता को लेकर अनिश्चय की स्थिति है। डा० कीथ[१] यह मानते हे कि महाकाव्य मे दार्शनिक विवेचन के सन्दर्भ मे महर्षि कपिल का स्थान महत्वपूर्ण हे। किन्तु वे महर्षि कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति नही मानते। उनके मत मे 'कपिल' पद का प्रयोग शकराचार्य ने 'हिरण्यगर्भ' के रूप मे किया हे तथा सस्कृत साहित्य मे कपिल की एकात्मकता अग्नि, विष्णु शिव आदि से की जाती है। डॉ० हरिदत्त शर्मा[२] भी मानते हे कि कपिल की ऐतिहासिकता के सबध मे कोई प्रबल प्रमाण नही मिलता। डा० एस० राधाकृष्णन् की ब्रह्मसुत, अग्न्यावतार, विष्णवातार आदि अनेक प्रकार के वर्णन देखकर महर्षि कपिल को आख्यानात्मक अर्थात् काल्पनिक ही मानते है। डा० कविराज[३] के अनुसार नाथ सम्प्रदाय तथा प्राचीन रसायनशास्त्र के अनुयायियो के साहित्य मे भी उनको 'सिद्ध' माना गया है। ऐसा ही मत भगवद्गीता मे भी मिलता हे। किसी न किसी रूप मे किए गये अपने वैयक्तिक प्रयत्नो से प्राप्त हुई, जन्म–सिद्धि के दृष्टात रूप से उनका प्रायेण उल्लेख किया जाता है। योगसूत्रभाष्य मे एक सूत्रात्मक उद्धरण[४] प्राप्त हुआ, जिसे आचार्य वाचस्पति मिश्र पचाशिखाचार्य को मानते है। जिससे स्पष्ट हाता हे कि कपिल महर्षि ने 'तन्त्र' अर्थात् गूढ ज्ञान (नागत साख्य सिद्धान्त अथवा षष्टितन्त्त) का उपदेश अपने जिज्ञासु शिष्य को दिया था। निर्माणकाय की कल्पना से ध्वनित होता हे कि गुरू का अपना कोई भौतिक शरीर नही था और इसलिए शिष्य आसुरि के सम्मुख उनका प्रकट होना कोई ऐतिहासिक घटना नही है किन्तु इस

अर्थ मे यह घटना नि सन्देह ऐतिहासिक थी कि शिष्य आसुरि एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जिनके द्वारा साख्य मत का उद्धार काल विशेष मे होने वाली वास्तविक घटना थी। जिसका उल्लेख भागवद् पुराण[५] मे किया गया है।

डा० कविराज 'निर्माण चित्तधिष्ठाय'– के कारण महर्षि कपिल को लोक स्वीकृत अर्थ मे ऐतिहासिक नही मानते है। वे निर्माणचित्त पद का अर्थ निमार्णकाय करते है, इसे 'पाद टिप्पणी– मे स्पष्ट करते हुए कहते है कि 'निर्माणकाय' और 'निर्माणचित्त' वास्तव मे एक ही है। आचार्य पतजलि, व्यासदेव, पचशिख, उदयन आदि 'निर्माणकाय' का प्रयोग इसी अर्थ मे करते है। यही नही बौद्ध लेखको ने भी प्रचलित 'काय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है। वास्तव मे सिद्ध चित् और काय की आश्चर्यजनक एकता उत्पन्न कर देती है, परिणामस्वरूप उससे उत्पन्न वस्तु 'चित्त' और 'काय' दोनो ही कही जा सकती है। निर्वाण प्राप्त करने के पूर्व महर्षि कपिल ने एक सिद्ध देह धारण किया था तथा शिष्य आसुरि को साख्य ज्ञान का रहस्य प्रदान करने के लिए उनके सम्मुख प्रकट हुए थे।[६] लेकिन अन्य अवतारो को ऐतिहासिक मानकर विष्णु को इस पञ्चम् अवतार, जिसका विस्तृत जीवन–परिचय भागवत पुराण के तीसरे स्कन्ध मे मिलता है, को अनैतिहासिक कैसे माना जा सकता है। दूसरी तरफ शिख्योपदेश घटना को ऐतिहासिक मानना परन्तु गुरू को अनैतिहासिक मानना अत्यन्त विरोधाभासपूर्ण हे। डा० कविराज महर्षि कपिल को सिद्ध–पुरुष मानकर स्वरचित अयोनिज शरीरवाला मानते है किन्तु शरीर को अभोतिक मानना सगतपूर्ण नही है।[७]

महर्षि पतजलि, व्यासदेव और वाचस्पति मिश्र निर्माणचित्त और निर्माणकाय को परस्पर भिन्न मानते है तथा निर्माणकाय अर्थात् सिद्ध देह को भी वे भौतिक ही मानते है। योगसूत्र मे[८] पॉच प्रकार के सिद्धियो–जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, समाधि का वर्णन है। इसमे प्रथम जन्मसिद्धि का उल्लेख महर्षि कपिल के सबध मे होता है। इसके स्वरूप के सबध मे योगसूत्रभाष्य मे 'देहान्तरिताजन्मनासिद्धि'[९] अर्थात् किसी जन्म गे सम्पादित एक अथवा अनेक विशिष्ट कर्मो के फलस्वरूप जन्मान्तर मे किसी दृष्ट साधन अथवा प्रयास के बिना ही परिचिन्तज्ञता, दूरदर्शन आदि विशिष्ट शक्तियो का अविर्भाव[१०] कहा गया है। यहाँ योगभाष्य[११] का मत है कि सिद्धि योगी जब अपने विद्यमान शरीर और इन्द्रियो मे परिणत करना चाहता है, तब उस दूसरी योनि के

शरीर और इन्द्रियो की प्रकृतियॉ–उनके उपादान कारण–उनकी उत्पत्ति मे सहायक होती है। इस सबध मे आचार्य वाचस्पति मिश्र भी मानते हे कि साख्ययोग के अनुसार सभी शरीरो की प्रकृति पृथ्वी इत्यादि भूत है और समस्त इन्द्रियो की प्रकृति 'अस्मिता' (अहकार) है और सिद्धि योगी भी अयोनिज सिद्ध देह की रचना पृथ्वी आदि भूतो से ही करता हे। ऐसे ही इनके निमार्णचित्त होते है, जो मौलिकचित्त से भिन्न होते हे। जेसा कि योगसूत्र मे माना गया है, इसके भाष्यकार व्यासदेव[१२] कहते है कि चित्त के उपादान कारण 'अस्मिता' को लेकर सिद्धयोगी स्वरचित शरीरो के लिए पृथक्–पृथक् चित्त की रचना करते है।

उदयनाचार्य भी मानते है कि निर्माणकाय को निर्माणचित्त का उपलक्षण समझना चाहिए, उससे अभिन्न नही है।[१३] इसके समर्थन मे भाष्यकार वात्स्यायन ने भी योगी के पृथक्–पृथक् इन्द्रियो तथा शरीरो की रचना का उल्लेख किया है।[१४] नैयायिक मन को नित्य मानकर मन और शरीर को पृथक् करते है और कहते है कि जब योगी सिद्धि के बल पर अयोनिज शरीर एव इन्द्रियो की रचना करता है, तो वह मुक्त आत्माओ के बेकार हुए मनो को लेकर पूर्वकृत कर्मो के फल के रूप मे विषयोपलब्धियो का भोग कर लेता हे। अत निर्माणकाय और निर्माण चित्त एक नही है। आचार्य हरिहरानन्द आरण्यक[१५] महर्षि कपिल को ऐतिहासिक मानते हुए शकराचार्य के उद्धवरण पर 'कपिल' को 'हिण्यगर्भ' से तादात्म्य कर अनेतिहासिक मानने का खण्डन करते हुए कहते है कि भगवान हिरण्यगर्भ योग के मूल वक्ता है, जैसा कि 'हिण्यगर्भोयोगस्यवक्ता–नान्यन पुरातन' इत्यादि उद्धरण महाभारत मे मिलते है। इस कथन मे 'हिरण्यगर्भ' शब्द परमर्षि कपिल का ही नामान्तर है, जैसाकि 'विद्यासदायवन्तमादित्यस्थ समाहित' इत्यादि अन्य महाभारतीय कथन मे कहा गया है कि 'हिरण्य' अर्थात् अत्युज्ज्वल प्रकाशशील ज्ञान है, 'गर्भ' अर्थात् आन्तरिक सार जिसका वह पूर्ण सिद्ध विश्वाधीश 'हिरण्यगर्भ' है। जन्मसिद्ध, धर्मज्ञान आदि गुणो की समता के कारण महर्षि कपिल का एक नाम 'हिरण्गर्भ' भी था।

प्राचीन भारतीय साहित्य मे महर्षि कपिल के अनेक रूपो का उल्लेख है। अत उनका व्यक्ति परिचय विवादास्पद रहा है। महर्षि कपिल को अग्न्यावतार अथवा ब्रह्मसुत अथवा विष्ण्वातार माना जाता है। श्वेताश्वर उपनिषद् मे साख्य दर्शन एव महर्षि कपिल का उल्लेख

साथ–साथ हुआ है।[१६] महाभारत के गीता[१७] ओर शान्तिपर्व[१८] मे महर्षि कपिल को साख्य मत का प्रवर्तक कहा गया है। वनपर्व के सगरोपाख्यान मे महर्षि कपिल को वासुदेव कहा गया है,[१९] तो वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड[२०] मे सगरपुत्र ओर वासुदेव कपिल–सबधी घटना का सविस्तार वर्णन हुआ है। यही नही, भागवद् पुराण मे कर्दम ऋषि ओर देवहुति से उत्पन्न 'कपिल' को विष्णु अवतार माना गया है, जो साख्य प्रवर्तक के रूप मे प्रसिद्ध हुए।[२१] लेकिन दूसरी ओर महाभारत[२२] और वायुपुराण[२३] के आधार पर महर्षि कपिल को अग्न्यावतार माना जाता है, तो महाभारत[२४] मे ही महर्षि कपिल को भगवान ब्रह्मा के सप्तपुत्रो मे से एक मानते है उन्हे साख्य विशारद द्वारा सज्ञापित किया गया हे। इस महाभारती मत के समर्थन मे गोडपादाचार्य 'साख्यकारिकाभाष्य मे 'इह' भगवान 'ब्रह्मसुतो कपिलोनाम' कहा है। द्वविशति–सूत्री 'तत्त्वसमास' की 'सर्वोपकारिणी' नामक टीका मे भी महाभारत की भॉति कपिल नामक दो पृथक्–पृथक् ऋषियो का उल्लेख है, जिसमे एक को 'तत्त्वसमास' का रचयिता तथा दूसरे को 'साख्यप्रवचनसूत्र' का रचयिता कहा गया है। इसमे पहले को विष्णु और दूसरे को अग्नि का अवतार माना गया है। प० श्री कृष्णशास्त्री तैलग महर्षि कपिल को ब्रह्मसुत मानते है, परन्तु अपने स्रोत का कोई उल्लेख नही करते, और न ही ऐसा मत ही कही मिलता है। क्योकि साख्यसग्रह ओर एशियाटिक सोसायटी बगाल के सग्रह मे सुरक्षित पाण्डुलिपि 'कपिलसूत्रवृत्ति' मे भी 'ब्रह्मसुत' पद का उल्लेख नही है। स्वय आचार्य भिक्षु अपने षड्अध्यायी 'साख्यप्रवचनसूत्रभाष्य' मे कहते है कि महर्षि कपिल वास्तव मे विष्णवतार ही थे ओर अग्नि तेज के कारण वे अग्न्यावतार वैसे ही कहलाये, जैसे श्रीकृष्ण को काल कहा गया। ऐसा लगता है कि महाभारत मे भी सगर पुत्रो को भष्म करने के कारण ही महर्षि कपिल अग्न्यावतार कहलाये, यही सहितार्थ भी था।[२५] प० उदयवीर शास्त्री भी यही मानते हुए अग्न्यावतार का निराकारण कर भगवान ब्रह्मा से वरदान और ज्ञान प्राप्त करने के कारण वे 'ब्रह्मसुत' नाम से लोकश्रुत हुए मानते है, जबकि वास्तव मे महर्षि कपिल, जो साख्य प्रवर्तक थे, विष्णु के अवतार थे।[२६]

शकराचार्य का मत है कि श्वेताश्वर उपनिषद्[२७] के आधार पर जिस कपिल का उल्लेख होता है, वेद विरुद्ध है। अत 'कपिल' नाम साम्य के आधार पर इन्हे साख्यप्रवर्तक नही माना जा सकता । वास्तव में यहॉ सगर पुत्रों को भष्म करने वाले वासुदेव 'कपिल' से भिन्न कपिल का

उल्लेख है।[२८] लेकिन टीकाकार आनन्दगिरि[२६] शकरभाष्य का अर्थ लगाते है कि श्वेताश्वर उपनिषद् मे वासुदेव कपिल का उल्लेख है, जो अवैदिक साख्य प्रणेता महर्षि कपिल से भिन्न है। लेकिन यह मत असगत है क्योकि महाभारत, भागवतपुराण आदि के कथन साख्य प्रणेता महर्षि कपिल को वेद विरुद्ध नही मानते है। यही कारण है कि प० उदयवीर शास्त्री ने उक्त मत मे भाष्यकार का स्वरूप नही माना है।[३०] शकराचार्य अपने भाष्य मे कहते है कि श्रुति[३१] मे आये कपिल का अर्थ 'हिरण्यगर्भ' है। लेकिन इसी पद का इस अर्थ के विकल्प रूप से लोक प्रसिद्ध परमर्षि कपिल अर्थ भी शकराचार्य करते है और अपने समर्थन मे विष्णु पुराण आदि से प्रमाणो को भी उद्धृत किया है।[३२] इस विरोधा पूर्ण स्थिति पर प० उदयवीर शास्त्री कहते है कि "इसलिए शकराचार्य ने ब्रह्मसुत्र भाज्य मे एक प्रसग[३३] के अनन्तर एक पक्ति 'अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहिस्यासाधकत्वात्', लिख दी है जिससे उनके ह्रदय का स्पष्टीकरण हो जाता है। स्पष्ट है कि इस श्वेताश्वर श्रृति मे साख्य का प्रसिद्ध प्रणेता महर्षि कपिल ही उपादेय है भले ही उसका उल्लेख प्रसगवश आया हो। वास्तव मे शकराचार्य के अनुसार उक्त दोनो अर्थ हिरण्यगर्भ और महर्षि कपिल से साख्यविदो का यह अभिप्रेत कथमपि सिद्ध नही होता कि साख्य दर्शन और उसके उपदेष्टा महर्षि कपिल श्रृति मे प्रामाणिक घोषित किए गये है लेकिन इससे शकराचार्य महर्षि कपिल की ऐतिहासिकता को अवश्य स्वीकार करते है। षड्दर्शन के व्याख्याकार आचार्य वाचस्पति मिश्र 'परमर्षिणा'[३४] का अर्थ कपिलेन करते है और सासाद्धिक भावो का उदाहरण देते हुए 'यथा सर्गादावादि विद्वान भगवान कपिलो ----------[३५] लिखते है। वही 'तत्त्ववैशारदी'[३६] मे महर्षि कपिल को विष्णु का पचम अवतार मानते हुए साख्य प्रणेता आदि विद्वान के रूप मे स्वीकार किया गया है, जिन्होने लोककल्याणार्थ आचार्य आसुरि को साख्य मत का उपदेश दिया था।

महर्षि कपिल की ऐतिहासिक स्वीकृत के बावजूद उनका काल निर्धारण एक कठिन कार्य है, परन्तु यह माना जाता है कि आप वर्तमान कल्प के किसी आदिम अर्थात् प्रागैतिहासिक काल मे अवतीर्ण हुए थे। किन्तु इनके जन्म स्थान के सबध किसी प्रकार का निश्चय करना अत्यन्त दुष्कर है, फिर यहाँ ऐसे विषयेतर प्रसग का उल्लेख करना उचित भी प्रतीत नही होता।

पचशिखसूत्र की पक्ति "आदिविद्वान निर्माण चित्तमधिष्ठाय कारुण्यादभगवान् परमर्षिरासुरये

जिज्ञासमानाय तत्र प्रोवाच'' सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक उद्धरण है, जिसमे महर्षि कपिल के उपदेश को 'तत्र' को कहा जाता है। इसके समर्थन मे आचार्य ईश्वर कृष्ण भी इस ज्ञान को 'तत्र' कहते है।[३७] आगे की दो अन्तिम कारिकाओ[३८] मे स्पष्ट करते है कि शिष्य परम्पराओ से प्राप्त हुए इस ज्ञान को आचार्य ईश्वर कृष्ण ने प्रस्तुत सत्तर आर्याओ द्वारा सक्षेप मे रख दिया है। इन सत्तर कारिकाओ मे जो पदार्थ निरूपित है, वे नि सदेह समस्त 'षष्ठितत्र' नामक ग्रन्थ के ही प्रतिपाद्य विषय है। केवल उसकी आख्यायिकाए तथा परमत खण्डन इसमे नही है । अत स्पष्ट है कि उक्त 'तत्र' का तात्पर्य ''षष्ठितत्र'' स ही है, जिसके महर्षि कपिल प्रथम उपदेष्टा थे। अत्यन्त प्राचीन टीका 'मुक्तिदीपका' मे भी कपिलोक्त दर्शन के लिए 'तत्र' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।[३९] जिसमे 'पारमर्षस्यतत्रस्य' मे 'पारमर्ष' महर्षि कपिल के लिए आया है, और तत्र शब्द उनके दर्शन के लिए। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार शकराचार्य[४०] 'स्मृति' की व्याख्या करते हुए महर्षि कपिल द्वारा प्रणीत तत्र नामक स्मृति का उल्लेख करते है।

'कल्पसूत्र' नामक जैनग्रन्थ के प्रथम प्रकरण मे महावीर स्वामी को 'सट्ठितन्त्र विसारये' कहा गया है, जिसका अर्थ व्याख्याकार यशोविजय 'षट्टितन्त्र कपिलशास्त्र तत्र विशारद पण्डित' अर्थात् महावीर स्वामी ने कपिलशास्त्र षष्टितंत्र मे विशेष योग्यता प्राप्त की, करते है। पाचरात्र की सर्वप्रसिद्ध कृति अहिर्बुध्न्यसहिता[४१] के बारहवे अध्याय मे कहा गया है कि 'अत्यन्त प्राचीन काल मे भगवान विष्णु का सकल्प साख्य रूप मे कपिल ऋषि से जिस प्रकार से प्रकट हुआ था, वह सब मुझसे सुनो। महामुनि का वह 'साख्य' नामक शास्त्र साठ भागो वाला स्मृतितत्र कहा जाता है, यहॉ 'षष्टि भेद स्मृत तत्र' से षष्टितन्त्र ही अभिप्रेत है।

विद्वान गुणरत्न[४२] षष्टितत्रोद्धार का उल्लेख करते हुए आचार्य आसुरि द्वारा प्रचारित और आचार्य पचशिख द्वारा प्रतिपादित निरीश्वरीय साख्य सिद्धान्त को महर्षि कपिल की रचना मानते है, लेकिन इसका कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता । आचार्य द्वय वाचस्पति मिश्र और नारायण तीर्थ के अनुसार 'षष्टितत्र' किसी निश्चित मत का ग्रन्थ न होकर साठ विषयो का समूह अथवा योजना का उल्लेख मात्र था। षष्टितत्र के सबध मे यही मत जैन ग्रथ 'अनुयोगद्वारसूत्र' मे भी मिलता है। अहिर्बुध्न्यसहिता[४३] के अनुसार साख्य ईश्वरवादी दर्शन है, जिसमे साठ विभाग है,

इस विभाग के भी दो भाग है, एक मे बत्तीस विभाग प्रकृति के और दूसरे मे अट्ठाइस विभाग विप्रकृति के है। तत्त्वकौमुदी[४४] मे राजवार्तिक का एक दृष्टान्त है, जिसके अनुसार षष्टितत्र नाम प्रकृति सबधी साठ विषयो का इसके एकत्व का ओर पुरुष से भेद आदि का प्रतिपादन करने के कारण पडा। एक चीनी परम्परा मे षष्टितत्र का रचनाकार आचार्य पचशिख को माना गया है तो कुछ अन्य लोग आचार्य वार्षगण्य को इसका कृतिकार मानते है।[४५]

कुछ लोगो के मत मे षष्टितत्र के कृतिकार महर्षि कपिल नही है, अपितु आचार्य पचशिख थे। पण्डित रामावतार शर्मा का मत है कि कारिका का 'बहुदाकृति तन्त्र'[४६] और 'समाख्यात'[४७] के आधार पर स्पष्ट है कि महर्षि कपिल ने केवल उपदेश दिया था, जबकि 'तन्त्र' की रचना आचार्य पचशिख ने किया था। यही नही, चीनी परम्परा मे भी षष्टितन्त्र को आचार्य पचशिख की कृति मानी गई है। लेकिन डॉ० कीथ[४८] और डॉ० हरदत्त शर्मा[४९] इसे भ्रान्तिपूर्ण मानते है। पडित उदयवीर शस्त्री के दो तर्क[५०] इस सबध मे अतिमहत्वपूर्ण है, एक तो उक्त कारिकाश मे 'बहुदा' शब्द है, जो गुरू–शिष्य की लम्बी परम्परा का द्योतक है, जिसका उल्लेख युक्तिदीपिका और माठरवृत्ति मे भी हुआ है। दूसरे आचार्य पचशिख स्वय अपने परम गुरू महर्षि कपिल के उपदेश को 'तत्र' कहते है। साख्यसप्तति की जयमगला द्वारा और स्पष्ट करते हुए इस विषय मे कहा है[५१] कि षष्टितत्र द्वारा प्रपिपादित साठ पदार्थो की आचार्य पचशिख ने एक एक खण्ड मे व्याख्या किया था। इस प्रकर आचार्य पचशिख 'तन्त्र' व्याख्याकार थे, कृतिकार नही। जबकि दूसरी ओर योगसूत्र के भाष्य[५२] पर टीका करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र तत्त्ववैशारदी की अवतरणिका मे 'अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टि' और ब्रह्मसूत्रभाष्य[५३] की व्याख्या करते हुए आचार्य मिश्र भामती की अवतरणिका मे 'अतएवयोगशास्त्र व्युत्पादयिताहस्य भगवान वार्षगण्य' लिखा है। उक्त दोनों के आधार पर वालराम उदासीन प्रभृति विद्वान षष्टितन्त्र के रचयिता आचार्य वार्षगण्य को मानते है, परन्तु यह कथन पूर्वोक्त विवेचन के विरुद्ध है। प्रो० हिरियन्ना[५४] और पडित उदयवीर शास्त्री[५५] भी मानते है कि षष्टितन्त्र के कृतिकार आचार्य वार्षगण्य नही, महर्षि कपिल थे। आचार्य वार्षगण्य भी आचार्य पचशिख की भॉति षष्ठितन्त्र के व्याख्याता हो सकते है। फिर भी यदि हम आचार्य पचशिख अथवा वार्षगण्य को तन्त्र का रचनाकार मान ले तो इससे तन्त्र को गद्यात्मक कृति माननी पडेगी। क्योकि योगभाष्य आदि ग्रन्थो मे उक्त दोनों

आचार्यो के जो उद्धारण मिलते है वे गद्य मे है। जबकि षष्टितन्त्र के प्राप्त उद्धरण श्लोकात्मक पद्य मे है जो आचार्य वाचस्पति मिश्र के तत्त्ववेशरदी ओर भामती मे उद्धृत है।

स्पस्ट है कि षष्टितन्त्र के मूलकृतिकार महर्षि कपिल ही थे। लेकिन मूल षष्टितत्र के उपलब्ध न होने के कारण प्रश्न उठता हे कि वर्तमान मे कोन–सा ग्रथ इसका प्रतिनिधित्व करता है? आचार्य ईश्वर कृष्ण का मत है कि महर्षि कपिल द्वारा आचार्य आसुरि को दिया गया उपदेश का सक्षिप्त रूप साख्यकारिका मे उद्धृत हे।[५६] जवकि सबसे पृथक् प० उदय वीर शास्त्री का मत है, जो षडाध्यायी 'साख्यप्रवचनसूत्र' को महर्षि कपिल कृत 'षष्टितन्त्र' मानते है और साख्यकारिका को इसी का सक्षिप्त रूप। क्योकि आचार्य ईश्वर कृष्ण की अडसठ कारिकाओं का सिद्धान्त भूत प्रतिपाद्य विषय साख्य–षडाध्यायी के प्रथम तीन अध्यायो का विस्तारपूर्वक वर्णन है, जिसका आचार्य ईश्वर कृष्ण ने उसी अनुपर्वो के साथ सक्षेप दिया है। स्वय आचार्य ईश्वरकृष्ण कहते है, मैने षष्ठितन्त्रोक्त आख्यायिकाओ और परवादो को छोड दिया है। जैसा कि चतुर्थ अध्याय मे आख्यायिका तथा पचषष्ठ अध्यायो मे पर वादो का वर्णन है।[५७] प० शास्त्री दो बातो के आधार पर साख्यसूत्र को अर्वाचीन सिद्ध करते है–एक तो साख्यसूत्र के उद्धरण प्राचीन ग्रथो मे नही मिलते और दूसरे साख्यसूत्र मे अनेक अर्वाचीन आचार्यो के नाम, उनके विचारो एव सिद्धान्तो का अनेकश उल्लेख हुआ।

ईस्वी चौदहवी शताब्दी के बाद साख्यसूत्र की रचना मानने के विपरीत पन्द्रहवी सदी के वृत्तिकार अनिरुद्ध ने इस पर 'वृत्ति' नाम से सर्वप्रथम व्याख्या करते हुए गथ के प्रारम्भ मे ही यह स्पष्ट[५८] कर देते है कि सूत्र के रचनाकार महर्षि कपिल ही है। इनके पश्चात् ऐसा ही मत आचार्य विज्ञानभिक्षु 'श्रुत्य विरोधिनीरूप पत्ती षडध्यायीरूपेण विवेक शास्त्रेण कपिलमूर्ति भगवानुपदिदेश' कहते हुए मानते है। टीकाकार आचार्य अप्यय दीक्षित[५९] १/७६ और १/१६ व १/७ को उद्धृत करते हुए महर्षि कपिल को ही साख्यसूत्र का कृतिकार मानते है। साख्यसूत्र का 'सत्वरजसतमसासाम्यावस्था प्रकृति'[६०] का उल्लेख सूत्रसहिता के टीकाकार माधवाचार्य 'तात्पर्यदीपिका' में 'अतएव साख्यरुच्यते सत्त्वरजस्तमोगुणाना साम्यवस्था मूलप्रकृति इति'' और साख्यकारिका मे टीकाकार गौडपाद 'सत्वरजस्त्मसा साम्यावस्था प्रधानम्' व 'प्रकृति सत्वरजस्तमसा

साम्यावस्था' कहकर व्याख्या करते है। यहाँ प० उदयवीर शास्त्री के अनुसार जो अर्थ सूत्र और कारिकाओ मे समान रूप से उपलब्ध होते है, उनके निर्देश के लिए माधवाचार्य ने अधिक प्रचार के कारण कारिकाओ को ही उद्धृत किया है, परन्तु जो अर्थ केवल सूत्रो मे ही है, उनके लिए सूत्र को उद्धृत करना पडा है।[६१] जैनाचार्य सिद्धर्षि जिनका समय नवी शदी का उत्तरार्द्ध है, ने 'उपमितिभव प्रपञ्चकथा' और न्यायवार्तिककार उद्योतकर जो छठी शदी के है, ने न्यायसूत्र ४–१–२१ भाष्य मे साख्य सूत्र के १/६१ के पूर्वोक्त अश का उल्लेख करते है। यही नही बल्कि इरा रूत्र का उल्लेख सुश्रुतराहिता[६२] और पाचरात्र के अहिर्बुध्न्यसहिता[६३] मे भी किया गया है।

एक अन्य सूत्र 'अणुपरिमाणतत्'[६४] के सन्दर्भ मे नैषधचरित मे विद्वान माल्लिनाथ ने 'अणुपरिमाणमनिसूत्रणात्'[६५] लिखा है। स्पष्ट है कि यहाँ साख्यसूत्र की ही बात की गयी है क्योकि न्यायवैशेषिक मन को विभु रूप मानते है। साख्यसूत्र की प्राचीनता का सबसे निश्चित और प्रबल प्रमाण न्यायसूत्र के आचार्य वात्स्यायन कृत भाष्य मे मिलता है। न्यायसूत्रभाष्य[६६] मे मन को भी इन्द्रिय बताकर तज्जन्य ज्ञान को 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न माना गया है । लेकिन प्रश्न उठता है कि न्यायरात्र गे गन को इन्द्रिय नही गाना गया है औन न ही योगरात्र मे अथवा न ही अन्य किसी भारतीय दर्शन मे, साख्य दर्शन को छोडकर , आचार्य वात्स्यायन के अनुसार 'तत्रान्तर रागाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यग' अर्थात् 'दूरारे तन्त्र या शास्त्र मे ऐरा मिलता है' इससे स्पष्ट है कि यहाँ तन्त्र का अर्थ कारिका नही है क्योकि आचार्च वात्स्यायन आचार्य ईश्वरकृष्ण के पूर्ववर्ती थे, अत यहाँ साख्यसूत्र का ही सन्दर्भ है क्योंकि साख्सूत्र[६७] के 'कर्मेन्द्रिय बुद्धिन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्' और 'उभयात्कम्मन ' के अनुसार मन को इन्द्रिय भी माना गया है। साख्याचार्य देवल, जिनकी प्राचीनता का प्रमाण पुराण, महाभारत और ब्रह्मसूत्रभाष्य के द्वारा सिद्ध है, के नाम से एक उद्धरण याज्ञवल्क्यस्मृति के व्याख्याकार अपरादित्य[६८] भी देते है। इस उद्धरण के 'अशक्तिरष्टाविशतिधा', 'तुष्टिर्नवधा' और 'सिद्धिरष्टधा' साख्यसूत्र[६९] मे तथा 'षोडश विकारा ' दशमूलिकार्था त्रिविधोवन्ध ' और 'त्रिविधिदु खम'् तत्वसमाससूत्र[७०] मे अक्षरस मिलते है, इसके साथ ही थोडे भेद के साथ अनेक सूत्र, साख्यसूत्र और तत्त्वसमाससूत्र मे मिलते है। आचार्य देवल का उद्धृत सन्दर्भ विद्वान अपरादित्य की व्याख्या के अतिरिक्त प लक्ष्मी धर भट्ट के 'कृत्यकल्पतरु' नामक ग्रन्थ के मोक्ष काण्ड मे भी उपलब्ध है और दोनो स्थलो के पाठो मे

कोई अन्तर नही है। पुनश्च साख्यप्रवचनसूत्र अर्थात् साख्य सूत्र की अर्वाचीनता को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क दिये जाते है –

(१) साख्यप्रवचनसूत्र मे कई ऐसे सूत्र है जो अन्य ग्रन्थो मे ज्यों के त्यो मिलते है। यथा 'आवृत्ति –रस' 'कृदुपदेशात्'[७१] ब्रह्मसूत्र का ४/१/१, 'वृत्तय पञ्चतथ्य क्लिष्टाक्लिष्टा'[७२] योगसूत्र का १/५, 'हेतुमनित्यमव्यपि सक्रियमनेकमाश्रितम् लिगम्'[७३] दसवी साख्यकारिका की प्रथम पक्ति, 'सामान्यकरणवृति प्राणाद्या पञ्चवायव,[७४] उन्नीसवी साख्यकारिका की द्वितीय पक्ति 'सात्विकमेका दशकम् प्रर्वतते वैक्रितादहकारात्,[७५] पच्चीसवी साख्यकारिका की प्रथम पक्ति जिसमे 'सात्विकैकादशक' मिलता है और आदेऽशन्ति योगइतिपचशिख' व 'अविवेक निमित्तो वा पञ्चशिख' आचार्य पञ्चशिख के नाम इन दो सूत्रो[७६] का उल्लेख किया जाता है, उक्त उद्धरण के आधार पर साख्यप्रवचनसूत्र को अर्वाचीन सिद्ध किया जाता है। प्रो० मैक्समूलर के अनुसार तत्त्वसमाससूत्र तो प्राचीन है किन्तु साख्यदार्शनिको द्वारा जिस श्रुति की अपेक्षा की जाती थी उसी की साख्यूत्रो मे बार–बार दुहाई दी गयी है।[७७] लेकिन यह मत असगत है श्रुतियो की अपनी स्वतन्त्र समझ के कारण साख्य को अवैदिक श्रुति विरुद्ध घोषित कर उसकी निन्दा की जाती है। इसी दृष्टि से देखने के कारण साख्यप्रवचनसूत्र मे श्रुति प्रमाण की मान्यता उस पर वेदान्त आदि श्रौत दर्शनो के परवर्ती प्रभाव का फल प्रतीत होता है। यही करण है कि प्रो० मैक्समूलर प्रभृति इसे अर्वाचीन मानते है। ऋषि वामदेव की प्राचीनता, प्राचीनतम् उपनिषद् वृहदारण्य मे 'तद्वयततपश्यन ऋर्षिवामदेव प्रतिपदेहमनुर्भवसूर्यश्य'[७८] से सिद्ध है। ऋषि वामदेव के ब्रह्म दर्शन के साथ होने वाले सर्वात्मभाव के लिए परोक्ष भूतकाल की सूचना देने वाले विहरुप 'प्रतिपदै' का ही प्रयोग हुआ है। जबकि ऋषि सदानन्द ब्रह्मसुत होने से और आचार्य पचशिख होने से महर्षि कपिल के समकालीन होगे।[७९]

(२) अर्वाचीन नगरो के नामोल्लेख वाले सूत्र[८०] जो वास्तव मे प्रक्षिप्त प्रतीत होते है, जैसे नवायाभ्यान्तर योरूपस्योपरंजकभावोपि देशभेदात् सुध्नपाटलिपुत्रस्थमोरि व'।

(३) जिन सूत्रो मे परवर्ती न्याय वैशेषिक आदि के नाम मत आदि के उल्लेख के साथ

खण्डन–मण्डन किया गया है। उसे उनके उदभव काल को देखते हुए साख्यप्रवचनसूत्र मे प्रक्षिप्त ही माने जा सकते है। प्रथम अध्याय के २५व सूत्र मे वैशेषिक दर्शन का उल्लेख किया गया है। प्रथम अध्यााय के एक से छठे सूत्र तक म मोक्ष और सात से १६वे तक मे बन्ध के स्वरूप पर विचार किया गया है।' 'ननित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावस्य तद्योगस्तयोगादृते'[८१] जिसका अर्थ है स्वभावत शुद्ध बुद्ध और मुक्त आत्मा का तद्योग (तद्+योग) अथार्त् बन्ध–योग अर्थात प्रकृति–योग के बिना नही हो सकता है लेकिन प्रश्न हे कि बिना निमित्त के यह प्रकृति योग कैसे सम्भव है? जिसके उत्तर मे सूत्रकार 'तद्योगाऽप्यविवेकान्तसमानत्वम्'[८२] अर्थात् तद्योग अविवेक के कारण होता है। शब्दकृत ओर अर्थकृत दोनो ही सबधो के आधार पर पहले सूत्र के ठीक अनन्तर दूसरा सूत्र आना चाहिए, इसलिए नि सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि २०वे से ५४वें सूत्र तक कुल ३५ सूत्र प्रक्षिप्त हे। ये सूत्र पकरण विरुद्ध तथा पुनरुक्त आदि दोषो से मुक्त है, यही नही, इनकी पारस्परिक असंबद्धता इनके प्रतिपाद्य विषयो पर सामान्य दृष्टिपात करने से भी स्पष्ट हो जाती हे।[८३] जेसे अन्तिम सूत्र जिसमे न 'कर्मणाप्यतधर्मत्वात्'[८४] और 'अतिप्रसक्तिस्यधर्मत्व'[८५] को एक ही साथ १/१६ मे 'तथा न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रशक्तेश्च' और 'निर्गुणादिश्रुतिविरोद्धश्चेति'[८६] को एक ही सूत्र मे 'असगोऽयम् पुरुषेति'[८७] कहा गया है। उक्त सूत्रो की पुनरुक्ति सिद्ध होती है। इसी प्रकार अनिरुद्ध वृत्ति मे १ /५२, १/५३, १/५४ क्रम है। किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु १/५३ के 'इति' पाठ के असगत के कारण इसे १/५४ कर दिया है एव अनिरुद्धवृत्ति के १/५४ को १/५३ किया गया है। फिर भी 'इति' पाठ प्रसग से सगतपूर्ण नही है।[८८]

साख्यसूत्र का पाचवॉ प्रकरण 'मुक्ति' प्रकरण हे जो ७४ से ११६ वे सूत्र तक चलता है इसमे ७६, ८० और ८४ से ११५ तक सूत्र प्रक्षिप्त जान पडते है। ७६ वॉ एव ८० वॉ सूत्र क्रमश ७८ व ८३वे सूत्र के समान भाववाले है जबकि इनमे ८४वॉ सूत्र २/२०वे और १०३वॉ सूत्र ३/११ व १२ के आधार पर पुनरुक्ति है। इसी प्रकार १०४ से ११० तक सूत्र २/२०–३३ के सूत्रो के पुनरुक्ति है, जो इन्द्रिय, उनकी वृत्ति तथा रचना रा सम्बन्ध होने के कारण प्रकरण से असगत है। १०२ वॉ सूत्र साख्य मत के विरुद्ध है, क्योकि इसके अनुसार स्थूल शरीर पचभूतनिर्मित नही है।[८९] इसी प्रकार १११ और ११२ वा सूत्र साख्यमत का नही हो सकता है,[९०] क्योकि इनके

अनुसार शरीर भेदो के साथ शरीर को पार्थिक मानकर चार भूतो से निर्मित माना गया है। ८५ से १००वें सूत्र मे न्याय–वैशेषिक, बौद्धादि मत का विवरण और खण्डन है, जबकि ये मत साख्य की स्थापना के बहुत बाद के है। इसी प्रकार १०१वे सूत्र का प्रकरण से पूर्वापर कोई सबध नही रख्ता है। ११३ से ११५ वे सूत्र मे शरीर के साथ प्राण के सबध का निरूपण किया गया है। ११४ और ११५ वॉ सूत्र परस्पर विरोधी[९१] होने के साथ ११३वे सूत्र की भाति ही प्रकरण के पूर्वापर सूत्रो से कोई सबध नही रखता है। इस प्रकार उपरोक्त मुक्तिप्रकारण मे ३४ सूत्र प्रक्षिप्त है।

साख्यसूत्र के १/२४, २/१८ और २/३१ को साख्य कारिका के कमश १०, २५ और २६वे का पररचित मानकर साख्यसूत्र को साख्यकारिका के आधार पर निर्मित मानते है, परन्तु हम आगे देखेगे कि यह अतार्किक और असगत है जैसे कि सूत्र हेतुमदनित्य सक्रियमनेकमाश्रित लिगम्'[९२] ही अनिरुद्धवृत्ति मे भी दिया गया है। किन्तु आचार्य विज्ञानमिक्षु के भाष्य मे 'हेतुमदनित्यमव्यादि ---------' रूप मिलता है। अत प्रतीत होता है कि अव्यायि बाद मे जुडा है, अन्यथा आचार्य अनिरुद्ध इतने महत्वपूर्ण पद की व्याख्या अवश्य करते, अत इसे कारिका[९३] से अनुकृत नही माना जा राकता है। इरी प्रकार रूत्र 'सात्विकमेकादशक प्रवर्तते वैकृतादहकारात्'[९४] को कारिका 'सात्विक एकादशक प्रवर्तते वैकृतादहकारात्'[९५] नहीं माना जा सकता है, क्योकि सूत्र मे 'सातिवकमेंकादशक' पूर्वसूत्र के आधार पर नपुसकलिग मे है।[९६] जबकि कारिका का उद्धरण अपनी पूर्व कारिका के आधार पर पुलिग मे है। आगे कारिकाकार को पूर्वार्ध मे 'सर्ग' तथा उत्तरार्ध मे 'गण' पद का ही प्रयोग करना पडा।[९७] लेकिन सूत्रकार के लिए किसी प्रकार की छन्द सबधी विवशता नही थी। अत या तो सूत्र को कारिका के समान होना चाहिए था या फिर अन्य सूत्रो की भाति उससे पर्याप्त भिन्न होता, केवल लिग भेद का कोई प्रयोजन नही दिखाई देता है। अन्त मे' सामान्याकरणवृत्ति प्राणाद्या वायव पञ्च'[९८] सूत्र को सामान्यकरण वृति प्राणाद्यावायष पञ्च'[९९] इस कारिका की अनुकृति कहा गया है, लेकिन ब्रह्मसूत्र २/४/६ के भाष्य मे पूर्वपक्ष की व्याख्या करते हुए 'तत्रान्तरीय याभिप्रायात् समस्तकरणवृत्ति प्राण इति[१००] प्राप्तम्। एव तत्रान्तरीया आचक्षते–सामान्याकरण वृत्ति प्राणाद्या वायव पञ्च' इति कहा गया है। यहॉ पूर्वपक्ष के दो भाग है, एक श्रुति पर आधारित है, दूसरा तन्त्रान्तर (वेदान्त से भिन्न शास्त्र विशेष) पर। 'आचक्षते' तथा 'इति' पदो के प्रयोग से सर्वदा स्पष्ट है कि सामान्याकरणवृति—

-----------' शास्त्र विशेष का अक्षरस उद्धरण है। उक्त कारिकाजन्य पाठ हिन्दी अनुवाद के छपे हुए शाकरभाष्य सस्करणों[१०१] मे ही मिलता हे, जबकि साख्यसूत्र का मौलिक प्रामाणिक पाठ 'सामान्याकरण वृति -----------' ही है।

इस प्रकार साख्य सूत्र २/३३ और योगसूत्र १/५ दोनो मे 'वृत्तय पञ्चतथ्य क्लिष्टा' तथा साख्यसूत्र ४/३ और ब्रह्मसूत्र ४/१/१ दोनो मे आवृत्तिरस 'कृदुपदेशात' ही है। यह मूलत साख्यसूत्र का ही उद्धरण है जिसे बाद मे अन्य सूत्रकारो ने स्वीकार कर लिया था। यद्यपि सम्पूर्ण 'साख्यप्रवचन सूत्र' महर्षि कपिल की कृति नही हे परन्तु प्रक्षिप्तो को छोडकर शेष सूत्रो मे ही परमर्षिकी कृति समाविष्ट है। लेकिन प० उदयवीर शास्त्री[१०२] अहिर्बुध्न्यसहिता मे उल्लिखित 'षष्टितत्र' पर विचार करते समय 'साख्यकारिका' और उसके व्याख्याकार आचार्य द्वय वाचस्पति मिश्र और नारायण तीर्थ के व्याख्यान का आश्रय लेते है, न कि साख्यसूत्र (साख्यप्रवचनसुत्र) का। इसी प्रकार बुद्धचरित के 'अराडवृत्तात' मैं आए साख्यसिद्धान्त की विवेचना 'तत्त्वसमास' के आधार पर करते है न कि साख्यसूत्र के आधार पर प० शास्त्री[१०३] जिस सूत्र[१०४] के द्वारा विशेष रूप से साख्यसूत्र की प्राचीनता सिद्ध कर इसे महर्षि कपिल की कृति मानते है, किन्तु आगे इस ग्रथ का सशोधन आयुर्वेद के सश्रुतिसहिताकार द्वारा स्वीकार करते है।

ऐसा लगता है कि षष्टितत्र के वाद 'तत्त्वसमास'[१०५] की रचना हुई और तत्पश्चात् उसकी व्याख्या के रूप मे साख्यसूत्र की प्रस्तुति की गयी। पण्डित शास्त्री तत्त्वसमास एव साख्यसूत्र दोनो को प्राचीन मानते है। लेकिन प्रश्न उठता है कि यदि पष्टितत्र एव तत्त्वसमास महर्षि कपिल प्रणीत होकर भी प्रक्षिप्तों से बचे रह गये तो फिर साख्य सूत्र क्यो प्रक्षिप्त रूप मे ही रह गया। अत यह माना जा सकता है कि साख्यसूत्र प्राचीन भले मान लिया जाय किन्तु वह महर्षि कपिल की कृति नही हो सकती । इस वात को राभी रवीकार करते है कि तत्त्वसमास एव साख्यसूत्र के बीच शताब्दियो का अन्तर है।[१०६] साख्यसूत्र मे अचेतन वर्ग को "सात एक सोलह" या 'प्रकृति विकृति' 'प्रकृति केवल विकृति' के रूप में उल्लेख किया गया है है जो कारिकानुसार[१०७] है। पण्डित शास्त्री द्वारा साख्यसूत्र को तत्वसमास के एकीकृति मानना सगति पूर्ण नही लगता,

एक तो यहॉ मनुस्मृति, महाभारत, पुराण ,बुद्धचरित चरक सहिता , आचार्य पचशिख द्वारा तत्त्वसमास की कृति के साथ उसमे निहित सदर्भा के उल्लेख को नजरन्दाज कर दिया गया है, दूसरे जब तत्त्वसमास का उल्लेख हुआ तो वहॉ उसकी सहकृति साख्यसूत्र का उल्लेख क्यो नही किया गया? यहॉ तक कि साख्यसूत्र के प्रथम तीन अध्याय साख्यकारिका के क्रमश एक, बीस, इक्कीस, सैतीस और अडतीस–उनहत्तर कारिकाओ के अनुरूप है, फिर भी जहा सूत्र ईश्वरवादी gSogh d kfjd k fujh'ojoknh gS d hFk[१०८] और कार्वे[१०९] दोनो २/१८, २४ और ३१ वे सूत्र के आधार पर साख्यसूत्र को कारिका का अनुभागी मानकर उसकी अनुकृति मानते है तो दूसरी ओर मैक्समूलर,[११०] प्रो० हिरिएन्ना,[१११] डॉ० राधाकृष्णन,[११२] पुलिनबिहारी चक्रवर्ती[११३] प्रभृति विद्वान भी साख्यसूत्र को अर्वाचीन कृति ही मानते है। इस मत के समर्थन मे पण्डित राजाराम शर्मा[११४] साख्य सूत्र के पाचवें अध्याय के मगल विषयक सूत्र को नव्य न्याय के अनुरुप मानते है।

साख्यसूत्र के छ अध्यायो मे से तीन अध्याय मे साख्य सिद्धान्त की व्याख्या की गयी है। चौथे मे दृष्टान्त रूप मे कहानियॉ, पाचवे मे अन्य भारतीय दार्शनिको के मतो का खण्डन और अन्तिम अध्याय उपसहार का है। साख्यसूत्र मे एकेश्वरवादी के प्रति अधिक समन्वयात्मक प्रकृति दिखाई देती है उक्त सबध मे गोर्वे[११५] के अनुसार विशेषकर सूत्रो के रचनाकार उस अत्यन्त असभव स्थापना के लिए प्रमाण प्रस्तुत करने मे अथक प्रयास करते है। साख्य दर्शन की शिक्षाए एक शरीरधारी ईश्वर के सिद्धान्त, ब्रह्म की एक सर्वतोग्राही एकता के सिद्धान्त, ब्रह्म को आनद स्वरूप मानने के सिद्धान्त ओर दिव्य लोक की प्राप्त को उच्चतम लक्ष्य मानने के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध नही है, जिन्हे १/६५ व १/५४, ५/६४, ६८ व ११० तथा ६/५१, ५८, ५६ मे स्पष्टत देखा जा सकता है। नि सन्देह साख्यसूत्र मे अनेक स्थानो पर सरलता के साथ दिखाई देने वाले वेदान्त के प्रभाव के परिणाम मिलते है। सबसे अधिक स्पष्ट रूप मे ४/३ सूत्र[११६] मे जो वेदान्त सूत्र (ब्रह्म सूत्र) ४/१/११ की क्रमश पुनरावृत्ति है और ५/११६ वे सूत्र[११७] मे साख्य के प्रसिद्धवाक्य के स्थान पर वेदान्त की परिभाषिक सज्ञा 'ब्रह्म रूपता' का प्रयोग किया गया है। अत ऐसा माना जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य साख्य और ईश्वरवादी वेदान्त के अन्तर को न्यून करना था। सभवत यही कारण हे कि अधिकाश विद्वान इसका रचना काल १४वी शताब्दी मानते है। यही नही, इस ग्रथ का उल्लेख कारिका के प्रथम टीकाकार

आचार्य गौडपाद, माधवायार्य[११८] और गुणरत्न[११९] प्रभृति विद्वान नही करते है, जबकि ये साख्यकारिका का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते है। साख्यसूत्र पर पहला भाष्य १६वी शताब्दी मे लिखा गया । अत प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि यह पहले से ही विद्यमान था तो उसका उल्लेख अथवा उसकी व्यख्या पहले क्यो नही हुई? फिर इसमे अन्य दर्शनो का सुचारु रूप से खण्डन किया गया है जिनका उद्भव साख्यसूत्र के बहुत बाद हुआ। आचार्य वाचस्पति मिश्र उससे अभिज्ञ नही है। यहॉ तक कि इतिहासविद् अलबरुनी जो ११वी सदी का है, आचार्य ईश्वर कृष्ण और गौडपाद के ग्रथो का उल्लेख करता है किन्तु साख्यसूत्र का उल्लेख कहीं भी नहीं करता।[१२०] साख्यप्रवचनसूत्र अर्थात् साख्यसूत्र क साथ तत्त्वसमास[१२१] को भी महर्षि कपिल की कृति माना जाता है। लेकिन दोनो मे निहित विचारो और प्रमाणाभाव मे ऐसा मानना सगतिपूर्ण नही है।[१२२] अत साख्यसूत्र, जिसे महर्षि कपिल की रचना माना जाता है, निश्चय ही यह उचित प्रतीत नही होता। हो सकता है महर्षि कपिल ने किसी साख्यसूत्र की रचना की हो, लेकिन जो इतिहास के गर्त में विलीन हो चुकी है।[१२३]

(II) आचार्य आसुरि

आचार्य आसुरि महर्षि कपिल के शिष्य तथा प्रथित आचार्य पचाशिख के गुरु थे। इनका प्राचीनतम् उल्लेख 'पञ्चशिख सूत्र' मे मिलता है, जो भाष्यकार व्यासदेव[१२४] द्वारा उद्धृत है, आदि विद्वान ''निमार्णचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तत्र प्रोवाच'' अपने गुरू के विषय मे शिष्य का यह कथन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, इस सबध मे आचार्य ईश्वरकृष्ण आसुरिप पचशिखायतेन-------------- द्वारा आचार्य आसुरि का उल्लेख करते है।[१२५] गहाभारत[१२६] ओर भगवद् पुराण[१२७] गे भी आचार्य आसुरि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। किन्तु इन सबके बावजूद डा० कीथ[१२८] इन्हे ऐतिहासिक व्यक्ति नही मानते है, इनके अनुसार यदि हम भाष्यकार व्यास के उपरोक्त मत्र और आचार्य वाचस्पति मिश्र[१२९] के वचन को प्रमाणिक मान ले तो तदनुसार आचार्य पचशिख ने अपने उपर्युक्त वचन मे महर्षि कपिल को 'आदि विद्वान' कहा है और यह भी कहते हैं कि उन्होंने ने आचार्य आसुरि को उपदेश दिया था। लेकिन वे यहॉ यह नही कहते है कि वे स्वंय उन आचार्य आसुरि के शिष्य थे, अत इससे सत्तरवी कारिका का

कथन अप्रामाणिक अर्थात् अविश्वसनीयहो जाता है। लेकिन यह मत ठीक नही प्रतीत होता, यहॉ ठीक है कि पचशिख वचन मे आचार्य आसुरि को आचार्य पचशिख के गुरू होने की बात नही कही गई है। परन्तु यहॉ उनके कपिल शिष्य होने की बात स्वीकार की गई है, फिर आचार्य आसुरि अनैतिहासिक व्यक्ति कैसे हुए?

साख्यकारिका की टीका 'माठरवृत्ति'[१३०] तथा 'जयमगला'[१३१] मे साख्याचार्य आसुरि के गृहस्थाश्रम से सन्यास लेने का वर्णन है। जिसका साम्य शतपथ ब्राह्मण मे उल्लिखित आचार्य आसुरि से सबधित वर्णनो मे देखा जा सकता है। माठरवृत्ति के प्रारम्भ मे ही महर्षि कपिल और आचार्य आसुरि के सवाद से स्पष्ट है कि प्रवज्या से पूर्व आचार्य आसुरि सहस्रायाजी गृहस्थ ब्राह्मण और महायाज्ञिक आचार्य थे। सत्तरवीकारिका की वृत्ति[१३२] मे भी यही कहा गया है। अत डा० रिचर्ड गार्बे का यह कहना है कि साख्यशास्त्र के आसुरि और शतपथ ब्राह्मण को आसुरि परस्पर भिन्न है,[१३३] निराधार है।

चूँकि आचार्य आसुरि की कोई कृति उपलब्ध नही है। अत उनके विचार यत्र–तत्र सग्रह के रूप मे मिलते है। इनके प्रवज्या ग्रहण करने पर बुद्धि के धर्म, ज्ञान, वेराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अवैराग्य, अज्ञान और अनैश्वर्य, इन आठों भावों के सासिद्धिक (जन्मसिद्ध) प्राकृतिक और वैकृतिक प्रकारो को स्पष्ट करते हुए युक्तिदीपिका[१३४] मे आचार्य आसुरि के वैराग्य को प्राकृतिक कहा गया है। क्योंकि परमर्षि की कृपा से आचार्य आसुरि मे धर्म उत्पन्न हुआ, जिसके फलस्वरूप अशुद्धि जाती रही और प्रकृति का शुद्धि स्रोत फूट निकला। जिससे अनुग्रहीत होने पर दु खत्रय मे अनेकश प्रहार से पीडित होकर उसकी निवृत्ति के उपायो को जानने की उन्हे इच्छा हुई और परिणामत उन्होने प्रवज्या ग्रहण की।

जैनाचार्य हरिभद्रसूरि के 'षड्दर्शनसमुच्चय' के साख्य प्रकरण मे आचार्य आसुरि के नाम से एक श्लोक उद्धृत है "विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदय स्वच्छे (स्वच्छो) यथा चन्द्रमसोऽम्भसि।।" अर्थात् जिस प्रकार स्वच्छ निर्मल जल मे चन्द्र प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार असग अर्थात शुद्ध चिद्रूप पुरुष मे बुद्धि प्रतिबिम्बित होती है। उस समय

जो बुद्धि का दृक् रूप मे परिणाम होता है उसे ही पुरुष का भोग कहा जाता है। इसका उल्लेख बाद मे 'स्याद्वादमजरी' तथा 'बादमहार्णव' जैनग्रथो मे भी हुआ है। इसके अनुसार श्रवणादि ज्ञानेन्द्रियो तथा वागादि कर्मेन्द्रियो के द्वारा आहार्य विषयो को लेकर पुरुष के सन्निध्य से दृक् अर्थात् चेतन रूप मे परिणत हुई, बुद्धि पुरुष मे समर्पित करती है और इस प्रकार उसका भोग सिद्ध करती है। साख्यकारिका[१३५] मे इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य ईश्वर कृष्ण भी करते है। जिसमे दस आतरिक तथा तीन बाह्य करणो मे बुद्धि की प्रधानता को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि चूँकि समस्त विषयो के सबध मे होने वाले पुरुष के योग को बुद्धि ही सम्पादित करती है। वही अन्तत प्रकृति एव पुरुष के सूक्ष्म भेद को प्रकट करती है, इसलिए वही प्रधान है। तात्पर्य यह है कि पुरुष का सुख–दु खादि भोग स्वत न होकर बुद्धि के कारण सपन्न होता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र[१३६] ने इसे अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। साख्यसूत्र[१३७] मे इसी विषय का स्वीकार किया गया है। उसमे यह कहा है कि जिस प्रकार लाल जपा कुसुम से समीपस्थ–स्वच्छ श्वेत स्फटिक मणि लाल हो जाती है और उसको हटाने पर फिर स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार बुद्धि के सानिध्य से उसके विषय भोग आदि धर्म–निधर्मक पुरुष मे सकान्त अर्थात् आरोपित हो जाते है। इसी बात को 'पचशिखसूत्र' मे इस प्रकार कहा गया है "अपरिणामिनी हि शोक्तृशक्तिरप्रतिसक्रमा च परिणाभिन्यर्थे प्रतिसक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्त चैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रत या बुद्धिवृत्यविशिष्टा ही ज्ञानवृत्तिराख्यायते।" इस प्रकार ये सभी अपरिणामी पुरुष मे आहार्य भोग ही मानते है, वास्तविक नही। लेकिन आचार्य विन्ध्यवासी के अनुसार पुरुष मे यह आहार्य भोग भी नही होता है, अपितु यह भोग पुरुष की सानिध्य से चेतन–सी प्रतीत होने वाली बुद्धि मे ही होता है।

आगे आचार्य आसुरि कहते है कि 'आद्य' तत्त्व अर्थात् प्रकृति सत्व रजस्तमो रूप है। प्रधान से महत् अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहकार और अहकार से एकादश इन्द्रियॉ तथा पुन पचमहाभूत उत्पन्न होते है। ये तेइस तत्त्व 'मध्यम' अर्थात् मध्य के है, पच्चीसवॉ तत्त्व पुरुष है। पुरुष के अधिष्ठातृत्व मे ही प्रकृति अपने सृष्टि कार्य मे प्रवृत्त होती है । आधुनिक विद्वान महाभारत मे वर्णित कपिल आसुरिसवाद को साख्य दर्शन के अनुरूप नही मानते है, परन्तु यह धारणा सुसगत नही है। विद्वान परमार्थ ने आसुरि आचार्य को दी गई शिक्षा का जिस प्रकार

वर्णन किया है, वह माठरवृत्ति और जयमगला के अनुरूप है। जिसके अनुसार पहले 'तम' तथा बाद मे 'क्षेत्रज्ञ' उसमे प्रविष्ट हुआ। क्षेत्रज्ञ और तम क्रमश पुरुष और प्रकृति के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। यहाँ प्रयुक्त 'तमस' ऋग्वेद[१३८] के 'तमस' का स्मरण कराता है। महाभारत[१३९] मे भी तमस का प्रयोग प्रकृति के अर्थ मे ही किया गया है। इस प्रकार आचार्य आसुरि साख्य दर्शन के पदार्थो का जो उल्लेख करते है उसका महर्षि कपिल के मत से विरोध नही प्रतीत होता।

(III) आचार्य पंचशिख

आचार्य पचशिख, आचार्य आसुरि के शिष्य थे, जो साख्यकारिका की ७०वी कारिका से स्पष्ट होता है। जिससे यह भी स्पष्ट सकेत मिलता है कि महर्षि कपिल से आचार्य पचशिख तक पहुँचे हुए उस ज्ञान–सम्प्रदाय की 'सज्ञातत्र' अथवा 'षष्टितत्र' थी। स्वय आचार्य पचशिख कहते है "आदिविद्वाननिमार्णचित्तमधिष्ठाय कारुणाद्भगवान् परमर्षिराणुये तत्र प्रवाच।"[१४०] लेकिन आचार्य ईश्वरकृष्ण की बहुधाकृत तत्र[१४१] और 'समाख्यातम्'[१४२] के पदो के आधार पर महामहोपाध्याय प० रामावतार शर्मा और चीनी परम्परा षष्टितत्र का रचनाकार आचार्य पचशिख को मानती है। लेकिन 'कृततत्रम्' के साथ 'बहुधा' पद इस मत का समर्थन नही करता है। वास्तव मे आचार्य पचशिख तक एक शिष्य होने की परम्परा रहा होगी और उनके पश्चात् अनेक शिष्य जैसे इनके जनक, वशिष्ठ आदि शिष्य थे, होने लगे। तत्र पहले से ही विद्यमान था, आचार्य पचशिख ने केवल उसका अध्ययन किया था। उक्त दोनो मतो का समर्थन माठरवृत्ति और युक्तिदीपिका[१४३] मे भी किया गया है। अत यह हो सकता है कि महर्षि कपिल प्रणीत सक्षिप्त षष्टितत्र का विस्तार एव सवर्द्धन आचार्य पचशिख के हाथो ही सम्पन्न हुआ हो।

आचार्य पचशिख की प्रासगिकता स्वयसिद्ध है। इसीलिए विद्वान वेबर ने साख्य को भारतीय दर्शनो मे सबसे प्राचीन माना है।[१४४] स्वय शकराचार्य ने वृहदारण्यक मे उद्धृत 'असभूति' पद[१४५] को साख्य की प्रकृति के अर्थ मे स्वीकार कर इसकी प्राचीनता को सिद्ध किया है। महाभारत के अनुसार आचार्य पचशिख पराशरगोत्र[१४६] के थे और वे मानसयज्ञी थे।[१४७] मन के उहापोह अथवा तर्क–धर्म मे निष्णात वे पचरात्र विशारद पचज्ञ, पचकृत और पञ्चगुण भी थे।

उन्होने नैष्ठिक बुद्धि प्राप्त की थी। उनकी सर्वज्ञता अनुत्तम थी। आचार्य नीलकण्ठ शास्त्री ने भारतभावदीप[१४८] के उक्त उपाधियो की व्याख्या करते हुए कहते है कि आचार्य पचशिख का पचशिख नाम इसलिए पडा कि वे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एव आनदमय–इन पच पुरुषों के शिखास्वरूप पुच्छरूप सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के ज्ञाता थे। इस प्रकार 'पचशिख' सासारिक नाम न होकर ज्ञानार्जित नाम था। पचत्रज्ञ एव पचकृत पचशिख नाम धारण करने के पूर्ण कहलाये। ज्ञान एव उपासना की इस समस्त साधना के लिए साधक को शम, दम, उपरति, तितिक्षा एव समाधान इन श्रुत्युक्त पचगुणो से सुसज्जित होना परमावश्यक है। इसी से उन्हे 'पचगुण' भी कहा गया है। 'पचरात्र विशारद' इन सबसे पूर्व की अवस्था थी, किंतु पचज्ञ, पचकृत आदि विशेषणो का प० नीलकण्ठ कृत व्याख्यान आचार्य पचशिख को वेदान्तसम्प्रदामानुयायी सिद्ध करता है। प० नीलकण्ठ प्राचीन साख्य को उपनिषादीय अर्थात् वेदान्तीय मानते हैं। उनके अनुसार महाभारतीय पद 'पुरुषावस्थामव्यम्त्म् पुरुषार्थन्यिवेदमत्' मे अव्यक्त का अर्थ अव्याकृत पुरुष[१४९] है और वही परामार्थ है। अपने मत के समर्थन मे महाभारत के १४ वें श्लोक 'यतदेकाक्षर ब्रह्म नानरूप प्रदृश्यते। आसुरिमण्डले तस्मिन् प्रतिपेद तद्व्ययम्' को उपस्थित करते है। वस्तुत महाभारत एव भागवत पुराणादि में उल्लिखित साख्य विद्वान कपिल, आसुरि, पचशिख आदि का प्राचीन साख्य सेश्वर है, परन्तु उससे उसको वेदान्त से अभिन्न समझना निराभ्रम ही, क्योंकि इसमे त्रिगुणात्मक प्रधान या प्रकृति एव पुरुष साख्यशास्त्रीय कल्पना प्रकृति एव पुरुष के वस्तुत भिन्न तत्त्व होने मे कोई अन्तर नही आता। यहॉ वेदान्तीय प्रभाव देखने का मूल कारण ही उस समय वेदान्तीय विचार का सर्व प्रभावित होना और साख्याचार्य की कोई स्वीकृति का मूर्त रूप न ले पाना, जिसके कारण अन्य लेखको के प्रभाव आ गये है, ऐसा लगता है।

योगभाष्य[१५०] मे आचार्य व्यासदेव तथा साख्यतत्त्वकौमुदी में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने आचार्य पचशिख का सर्वप्रसिद्ध वचन "स्मात् स्पल्प सकर सपरहिार सम्प्रत्यवमर्ष कुशलस्य नामकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलम् हि मे वह्न्यदस्ति यत्रायमावाय गत स्वर्गेप्यपकर्षमल्पम् करिष्यति" उद्धृत किया है।जिसरो स्पष्ट होता है कि आचार्य पचशिख मानते थे कि वेदो के द्वारा विहित यज्ञो मे अनिवार्य रूप से होने वाली हिसा भी पाप उत्पन्न करती है। अत. आचार्य पचशिख के मत मे अहिसा हो मानव का सर्वाधिक कल्याण करने वाला तत्त्व है। यही पचरात्र

मत की समस्त साधना का रहस्य एव उस साधना की सफलता का मूलमत्र था। ज्ञान एव अहिसा को मोक्ष प्राप्ति का सर्वाधिक हितकारी और अनिवार्य साधन मानने के कारण इन्हे 'पचरात्रविशारद' कहा गया। यही मत साख्य मे भी आगे चलकर मान्य हुआ। आचार्य ईश्वरकृष्ण का वैदिक यज्ञ के सन्दर्भ मे "दृष्टवदानुश्रविक सह्य विशुद्धि क्षयातिसमयुक्त" कथन आचार्य पचशिख की मान्यता का ही समर्थन करता है और मीमासकों का इनके विरुद्ध "तद् विपरीत श्रेयान्" कथन साख्य मत की स्थापना करता है। योग दर्शन मे भी अहिसा को सार्वभौम धर्म कहा गया है जैसा की योगरूत्र[१५१] मे अष्टयोगपद्धति मे प्रमुख पच यमो मे अहिसा को प्रथम स्थान दिया गया है।

यद्यपि आचार्य पचशिख का कोई ग्रथ उपलब्ध नही है, तथापि उनके सिद्धान्तो एव विशिष्ट मतों के उद्धरण साख्ययोग के प्राचीन ग्रन्थो मे मिलते है। सबसे अधिक उद्धरण आचार्य व्यास कृत योगभाष्य मे मिलते है जो 'तथा चोक्तम्' तथा 'च सूत्रम' इत्यादि शब्दो के साथ दिये गये है, जिनके आधार पर इन्हे आचार्य पचशिख के सूत्र माना गया है। तत्त्ववैशारदी टीका मे तथा आचार्य भिक्षु आदि परवर्ती टीकाकारो के आधार पर निम्न वचन आचार्य पचशिख के माने गये है, जिनका उल्लेख 'योगभाष्य' मे मिलता है –

(i) एकमेव दर्शनख्यातिरेव दर्शन –१/४

(ii) तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत् सम्प्रजानीते–१/३६

(iii) व्यक्तमव्यक्त वा सत्त्वमात्मस्वेनाभि प्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्यसम्पद मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्या–त्मव्यापद मन्य मान स सर्वोऽप्रतिबुद्ध –२/५

(iv) बुद्धित पर पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धि मोहेन–२/६

(v) रूपातिशया वृत्यतिशयाश्च परस्परेण विरुद्ध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशये सह प्रवर्तन्ते –२/१५ और ३/१३

(vi) तत्सयोगहेतु विवर्ज्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दु खप्रतीकार २/१७ (ब्रह्मसूत्र २/२/१० के शारीरकभाष्य की भामती)

(vii) अय तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्त्तष्वकर्तारि च पुरुषे तुल्यातुल्य जातीये चतुर्थेतात्क्रियालाक्षिण्युयनीयमानान् सर्वभावा नुपपन्नाननुपश्यन्न दर्शनमन्यच्छकते–२/१८

(viii) अपारिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसक्रमा च परिणामीन्यर्थो प्रतिसक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपया बुद्धि वृत्तेरनुकामात्रतया बुद्धि कृत्य विशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्याते—२/२०

(ix) धर्मिणामनादिसयोगाद् धर्ममात्राणामप्यनादि सयोग—२/२२

(x) तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्व सर्वेषा भवति ३/१४

उक्त उद्धरण सख्या (i) (iii) (iv), (vii) आरै (x) एक ही विषय से सबधित है। ये सभी एक ही तथ्य को भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रतिपादित करते है। उद्धरण नम्बर एक का तात्पर्य है कि व्यवहार काल मे एक मात्र बुद्धि कृति ख्याति ज्ञान या दर्शन ही रहता है वही पुरुष का भी ज्ञान या दशर्न बन जाता है। चौथे उद्धरण के अनुसार यद्यपि नित्यज्ञानरवरूप होने के कारण पुरुष मे किसी भी प्रकार का परिणाम सभव नही है। तथापि अविवेक के कारण वह रवभावत प्रतिक्षण परिणामिनी त्रिगुणात्मिका बुद्धि (चित्त) की वृत्तियो व्यापारो या परिणमों को देखता हुआ तादात्मक या तद्रूप–सा प्रतीत होता है। इस प्रकार बुद्धिकृत विविध ज्ञानो को वह रवकृत ही कार्य समझता है परकृत नही। स्त्री पत्नी पुत्र भोजन कुर्सी आदि को अविवेकवश रवकीय मानता हुआ इसी समृद्धि को अपनी समृद्धि और विपत्ति को अपनी विपत्ति समझता है जो उसका अज्ञान या मोह है और ज्ञान इच्छा क्रिया सुख दु ख भोग इत्यादि अनेक व्यावहारिक धर्मो से युक्त जिस एक पुरुष रूपधर्मी को हम सब जानते व समझते है वह परमार्थत एक वस्तु या तत्त्व नही है। यद्यपि आम आदि दर्शन इन युक्त धर्मो को एम मात्र आत्मा या पुरुष के ही विशिक्त गुण मानते है एव इन अनेक धर्मो से उन एक का ही अनुमान करते है, तथापि साख्य दर्शन की ऐसी मान्यता नही है। साख्य के अनुसार व्यवहारिक मनुष्य मुख्यता तो निगुर्ण एव अपरिणामी पुरुष तत्व तथा नित्यपरिणामी त्रिगुणात्मक प्रकृति तत्व का किन्तु प्रकृति के बुद्धि अहकार मन अदि विकारो को पृथक्– पृथक लेने पर इन अनके तत्त्वो का अद्भुत मिश्रण ही इन सबकी विचित्र समाप्ति है। नित्य ज्ञान पुरुष अथवा आत्मा का रवरूप भूत धर्म ही तथा सकल्प इच्छा क्रिया सुख दु खादि प्रकृति के उक्त विकारो के धर्म ही। सातवे उच्चारण मे पुरुष के सारूप्य–वैरूप्य तादात्म्य दोनो ही कथित है। त्रिगुणात्मक बुद्धि के साथ अपना तादात्म्य ग्रहण करने मे पुरुष के अनादि अविवेक के अतिरिक्त उसका बुद्धि से सर्वथा विरूप न होना सर्वदा

रवरूप न हाने पर भी कुछ सरूप होना ही कारण है। रजत खण्ड से विरूप या भिन्न तथापि उसके रारूप का सदृभ शुक्ति मे ही रजत खण्ड का आरोप होता है अन्यत्र कही नही। इस प्रकार रपष्ट है कि पुरुष का अनादि अविवेक ओर बुद्धि के साथ उसका सादृश्य दोनो ही तादात्म्य के कारण ही। ८वे उद्धरण मे भी दोनों का यही तादात्म्य बताया गया हे। इसमे उल्लिखित ज्ञानवृत्ति पद चित्तशक्ति अर्थात् चिन्मात्र पुरुष का बोधक है। इसमे सारूप्य की बात भी रपष्ट है। अनादि अविवेक के कारण परिणामिनी बुद्धि मे असक्रान्त भी सक्रान्त सा लगता है। परिणागरवरूप वह बुद्धि की भॉति ही परिणागी प्रतीत होता है। बुद्धि चिदवभास या चितप्रतिबिम्ब को प्राप्त करके पुरुष के समान चैतन्य प्रतीत होने लगता है। इस समय रारूप्य के कारण पुरुष व्यवहारकाल मे बुद्धि के साथ अपना तादात्म्य ग्रहण कर बैठता है। इसी बात को उक्त उदाहरण के तरमाश्च प्राप्त ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते । अन्तिम पक्ति मे कहा गया है। रपष्ट है कि तादात्म्य दोनो के सानिध्य से होता है और इस सानिध्य का कारण अविवेक है। आचार्य पचशिख के मत मे अविवेक अनादि है। इनके इस मत का उल्लेख साख्यसूत्र मे अविवेक निमिन्तोवापचशिख[१५२] कहकर किया गया है।

उद्धरण स० २ मे मन की विषयवती और अस्मितामात्रा' नामक द्विविध ज्योतिषमती स्थिति की द्वितीय कोटि का वर्णन है। इस स्थिति मे मनरूपादि समस्त विषयो से हीन होकर अन्य समस्त वृत्तियो से शून्य अह बोध रूपवृत्ति के रवरूप मे स्थित हो जाता है। इसी को सास्मित सम्प्रज्ञात कहते है क्योकि इसमे अहमस्मि इत्याकारक आत्मविषयक ज्ञान होता रहता ही। पाचवे उद्धरण मे गुणो के पररपर विरुद्ध रवभाव की बात कही गयी है। बुद्धि के सत्व गुण के धर्म वैराग्य ज्ञान एव ऐश्वर्य मे चार रूप है। तमो गुण को भी अधर्म अवैराग्य या राग अज्ञान तथा अनैश्वर्य चार रूप ही सुख दुख एव मोह इनकी वृत्तिया है। ये परस्पर विरोधी है। इसलिए लगातत्रिार दीर्घ समय तक न तो अहिराा सत्य ब्रह्मचर्य आदि धर्म ही प्रबल रूप से चलते ह ओर न ही हिराा असत्य मैथुन आदि अधर्म। कभी एक प्रबल रहता है तो कभी दूसरा इसी प्रकार सुख या दुख लगातार नही रहते। हॉ इनके सामान्य रूप विशिष्टि या प्रबल रूपों के साथ अवश्य रहते है जैसे प्रबल सुख के साथ दु ख भी गौण रूप से रहता है अथवा प्रबल दु ख के साथ गौण रूप से सुख का रहना। तात्पर्य यह है कि बुद्धि के तीनो गुणो के चचल

या क्षिप्र परिणामी होने के कारण बुद्धि या चित् के भाव और व्यापार प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते है। इस प्रकार इसकी अस्थिरता के कारण विवेकीजनो एव योगियो को सब कुछ दु ख ही प्रतीत होता है।

उध्वरण सख्या ६ को रपष्ट करते हुए आचार्य पचशिख कहते है कि सयोग के नष्ट हो जाने पर समरत दु खो की भी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। क्योकि अनादि अविवेक के फलभूत आदि सयोग के फलरवरूप ही सारे दु ख अनादि काल से होते आ रहे है। विवेक ज्ञान के न उत्पन्न होने पर तो अविद्या प्रलय काल मे रवीकार्य अधारभूत चित्त के साथ प्रधान मे निरुद्ध होकर सरकार रूप से पडी रहता है और सृष्टि काल आने पर पुन स्वीकार्य चित्त की उत्पत्ति का बीज बनती है। ६वे उध्वरण को आर्चाय भिक्षु एव हरिहरानन्द आरण्यक स्पष्ट आचार्य पचशिख का वचन मानते है तथा आचार्य वाचरपति मिश्र इसे आगमिनामुनुमतिम् कहते हैं। जिसका अर्थ है कि धर्मो अर्थात परिणाम नित्य सत्व इत्यादि तीनों गुणो का कूटस्थ नित्य पुरुषो के साथ अनादि सयोग होने के कारण अधर्मियो के महत इत्यादि समस्त धर्मों अथवा परिणामो का पुरुषो के साथ अनादि सयोग होता है। इरी सयोग निमित्तजन्य होने के कारण नित्य नही है। इसी सयोग के रवरूप के सम्बध मे योगसूत्र मे कहा गया है कि रवशक्ति अर्थात दृश्य एव रवागिशक्ति अर्थात द्रष्टा इन दोनों का सयोग–बुद्धि एव पुरुष का सयोग– दर्शन कार्य का हेतु है।[१५३] यहॉ दर्शन का दो रूप ही एक तो द्रष्टा पुरुष द्वारा दृश्य बुद्धि का अविवेकपूर्वक दर्शन जिसे भोग कहा जाता है और दूसरा विवेकपूर्वक दर्शन जिसका व्यवहित फल भोग ही भाष्य से रपष्ट है कि इस अनादि सयोग का अन्त विवेकज्ञान द्वारा होता है अन्यथा वह जन्मजन्मान्तर तक चलाता रहता है।

रवरवामि शक्तयो रवरूपोपलब्धि हेतु सयोग [१५४] को मूलत महर्षि कपिल[१५५] और आचार्य पचशिख का सिद्धान्त कहा गया है साख्यसूत्र मे इसी को अविवेक निमित्तो व पचशिख [१५६] कहा गया है इसे आचार्य भिक्षु भी रवीकार करते है। वरतुत भोक्तृभोगय भाव' अर्थात बुद्धि एव पुरुष के अनादि सम्बध का मूलभूत कारण अविवेक ही है। इस प्रकार आचार्य पचशिख का मत समीचीन है, जिसे कीथ[१५७] ने भी रवीकार किया। आचार्य पचशिख के व्यक्ति

सम्बन्धी मत के समर्थन मे साख्यसूत्र मे आधारोभूक्ति भोग इतिपचशिख[१५८] का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त पाचवें अध्याय के गुण से ५६वे सूत्रतक मे जगत उपादान कारण त्रिगुणात्मक प्रधान की सिद्धि त्रिविध प्रमाणो के आधार पर की गयी है। इनमे सर्वप्रथम अनुमान फिर शब्द और अन्त मे प्रत्यक्ष प्रभाव के द्वारा जगत उपादान के रूप मे प्रकृति की सिद्धि की गयी थी। साख्य का दृष्टिकोण मुख्यत बुद्धिवादी है। वह अपने प्रधान पुरुष आदि मूलभूत प्रमेयो की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण का ही आश्रय लेता है तथा उसका साख्य नाम भी उसकी इस दृष्टि रो परिचायक है। प्रस्तुत प्रकरण मे भी महत्व कम की दृष्टि से तीनो प्रमाणो मे सर्वप्रथम अनुमान का विरतारपूर्वक फिर शब्दों का उनसे कम विस्तार मे तथा अन्त मे प्रत्यक्ष का सक्षेपत उल्लेख है। जब साख्य दर्शन मे अनुमान का महत्व इतना अधिक है तब उसके प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त व्याप्ति आदि अर्थों के निरूपण को परवर्ती काल के शास्त्रान्तरो के प्रभाव का फल नही है। साख्यसूत्र मे व्याप्ति के सबध मे विस्तृत विवेचना की गयी है।[१५९] अत साख्य मे व्याप्ति सम्बधी धारणा महर्षि कपिल द्वारा प्रणीत ही रही है। साख्यसूत्र में व्याप्ति के लक्षण का उल्लेख करते हुए नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्ति [१६०] कहा गया है किन्तु आगे[१६१] उल्लिखित है कि व्याप्ति भिन्न तत्व नही है। क्योकि भिन्न तत्व होने पर उसके आश्रय रूप मे साध्य एव साधन से भिन्न पदार्थ की कल्पना करनी होगी जो सर्वथा असत्य होगा। क्योंकि व्यक्ति का आश्रय तो साध्य एव साधन अथवा केवल साधन ही होता है उनसे भिन्न कुछ भी नही।[१६२] आचार्य अनिरुद्ध कृत वृत्ति मे भी ऐसा ही माना गया है। लेकिन निजशक्त्युद्भवमित्याचार्या [१६३] के सन्दर्भ मे आचार्य भिक्षु पर–मत और आचार्य अनिरुद्ध स्व–मत का उल्लेख करते है। आचार्य अनिरुद्ध के अनुसार अग्नि एव धूम की उत्पत्ति विशिष्ट शक्ति है। जिसका ग्रहण दोनों साथ–साथ देखने से होता है यही व्यक्ति है।[१६४]

आचार्य भिक्षु के अनुसार व्यक्ति की रवशक्ति से उत्पन्न शक्ति विशेष रूप तत्त्वान्तर ही व्यक्ति है। लेकिन आचार्यों के मत मे रवशक्ति मात्र व्याप्ति नही है। क्योकि द्रव्य की रवशक्ति द्रव्य मात्र मे ही सीमित रहती है और उसे ही व्याप्ति मान लेने पर तो अग्नि के स्थान से उठकर अन्य स्थान मे फैले हुए धूम का भी अग्नि व्याप्यता नही सिद्ध होती है। यहाँ आचार्य भिक्षु का उत्तर है कि उत्पत्तिकालावच्छिन को धूम का विशेषण कर देने से दूसरी अव्याप्यकता की

शका नही उठेगी।[१६५] वेदान्ती महादेव भी आचार्य भिक्षु की भॉति स्वशक्ति से उत्पन्न शक्ति को ही व्यक्ति कहा है लेकिन वे इसे आचार्य अनिरुद्ध की भॉति स्वमत ही मानते है।[१६६] यही कारण है कि ५/३१ वे सूत्र मे प्रतिपादित रवमत के कारण ही आचार्य अनिरुद्ध ५/३२वे प्रतिपादित आचार्य पचशिख के मत को एकदेशि मत कहते है। आचार्य अनिरुद्ध के अनुसार यद्यपि सूत्रकार ५/३६वे सूत्र मे सिद्धान्त के साथ इसका समन्वय करते है। यहा आचार्य भिक्षु का मत ३२वे ओर ३६वे सूत्र मे रपष्ट नही होते जबकि आचार्य अनिरुद्ध की व्याख्या कही अधिक स्पष्ट एव सन्तोषजनक है। डॉ० रिचर्ड गार्वे ने ५/३२ वें सूत्र को रपष्ट किया है।[१६७] अधेयशक्तियोग पचशिख [१६८] का अर्थ आचार्य अनिरुद्ध के अनुसार पचशिखाचार्य के मत मे पदार्थों पर आरोपित शक्ति के साथ सम्बध का नाम व्याप्ति है। यदि यह व्याप्ति निज या सहजशक्ति होता है आरोपित न होती तो किसी अव्युत्पन्न या अज्ञ व्यक्ति को भी वरतु का प्रत्यक्ष होने पर उस व्यक्ति का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए था परन्तु ऐसा होता नही। इसलिए व्यक्ति को पदार्थ मे आरोपित शक्ति मानना चहिए प्राकृतिक अथवा सहज नही। यद्यपि शक्ति के वास्तविक होने पर किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष के साथ उसकी उस वास्तविक या सहज शक्ति का प्रत्यक्ष होना चाहिए तथापि पदार्थों की सभी शक्तियो का रवत ग्रहण असेम्भव है जैसे पिता पुत्र का पाररपरिक सबध वास्तविक होने पर भी बिना बताये दोनों को देखने मात्र से नही ज्ञात होता। दूसरे शब्दो में व्याप्ति पदार्थों की शक्ति के साथ सम्बन्ध का नाम है चाहे वह कल्पित हो अथवा सहज।

भावागणेश कृत तत्वयाथार्थ्य–दीपन गे पचशिखाचार्य के चार श्लोको का उल्लेख उसकी प्रामणिकता के साथ किया गया है।[१६९] तत्त्वसमास–सूत्रो की प्राचीनतम टीका क्रमदीपिका मे भी वे श्लोक मिलते है और प० उदयवीर शारत्री[१७०] उक्त धारणा की सभावनाओ को स्वीकार करते है। उक्त चारों श्लोक निम्नवत है –

(१) पचविशति तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रये वरान।
जटी गुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र राशय।।[१७१]

(२) तत्त्वानि मो वेदयते यथावद् गुण रवरूपाण्याधि दैवत च।

विमुक्ता पाप्मा गतदोषसघो गुणास्तु मुक्ते न गुणै स भुज्यते।।[१७२]

(३) प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च।
दक्षिणभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्तते।।[१७३]

(४) आद्यौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसक्षयात।
कृच्छक्षयान्तृतीयस्तु व्याख्यात मोक्षलक्षणम।।[१७४]

इस प्रकार पहले एव दूसरे उद्धरण मे समस्त तत्त्वो के ज्ञान के फल सम्बधी कथन है जिसमे अध्यास मे त्रयोदशकरण अधिभूत मे कारणो के त्रयोदश विषय तथा अधिदेव मे करणो के त्रयोदश देवताओ की व्याख्या कर इन्हे रवरूपभूत चित् से भिन्न माना गया है। तीसरे उद्धरण मे त्रिविध बन्धन प्राकृत बध अष्ट प्रकृतियो (अव्यक्त महत् अहकार एव पचतन्मात्राए) द्वारा वैकारिक बन्ध प्रकृति के शब्दादि विकार युक्त मन द्वारा और दाक्षिणा द्वारा का उल्लेख है, जबकि चोथे मे त्रिविध मोक्ष तत्वज्ञान द्वारा प्राकृत बध से राग क्षय द्वारा वैकारिक बध से और धर्माधर्म क्षय द्वारा दाक्षिणाबन्ध से मुक्ति पाने का उल्लेख है।

महाभारत के शान्तिपर्व के २१६वे अध्याय मे पचशिख वाक्य जो वेदान्त सिद्धान्तो से प्रभावित एव मिश्रित है। ये जनदेव जनक के प्रश्न का उत्तर आचार्य पचशिख इस प्रकार देते है– यह मनुष्य– शरीर, इन्द्रिय एव चित्त का समाहार मात्र है। तात्पर्य यह है कि अनादि अविवेक के कारण असग एव अपरिणामी चित्त पुरुष का परिणामी तथा अचित्– चित् या बुद्धि एव उसके शरीरेन्द्रिय आदि कार्यो के साथ अनादि सयोग होने से मनुष्य नामक समाहार बनता है। ज्ञान होने से न तो इसका अन्त अभाव मे होता है और न किसी भाव मे केवल अनादि सयोग के नष्ट हो जाने पर यह समाहार नष्ट हो जाता है और अपने विशुद्ध चितरूप मे पुरुष प्रतिष्ठित हो जाता है।[१७५] यह शरीर भी एक नही अपितु अनके तत्त्वो का समाहार है[१७६] मे तत्त्व पाच है अकाश, वायु अग्नि जल एव पृथ्वी।[१७७] इन्द्रियॉ भी पाच है श्रवण रपर्श जिह्वा चक्षु एव घ्राण मूर्त रूपी द्रव्यो के साथ शब्द रपर्श रूप रस एव गन्ध इन इन्द्रियो के ग्राह्य विषय है।[१७८] इस समस्त गुण समाहार को आत्मरूप से देखते हुए पुरुष का असत् दृष्टि से होने वाला अनत दु ख सान्त नही होता है।[१७९] द्रष्टा आत्मा अर्थात पुरुष मे देखे जाने वाला दृश्य अनात्म ही है। क्योकि जो

द्रष्टा है वही दृश्य कैसे हो सकता है? इसी दुखात्मक अनात्मा के आरोप से दृक् आत्मा अपने को दुखी मानता है ।अत इस सबका त्याग ही दु ख का आत्यन्तिक विनाश है।[१८०] पचकर्मेन्द्रिय मन प्राण तथा पचकर्मेन्द्रिय रवरव विषयो के सहित त्याज्य है।[१८१] यह समस्त अनात्म पदार्थ मूलत सत्व रजस एव तमस नाम तीनो गुणो का ही उपज है। इनमे सत्व के लक्षण या कार्य प्रहर्ष प्रीति आनान्द सुख शान्ति आदि रजत के लिग अतुष्टि परिताप लोभ अक्षमा आदि तथा तमस के लिग अविवेक मोह प्रमाद रवप्न आलरय आदि है।[१८२]

आचार्य पचशिख तीनों गुणो की प्रकल्पना[१८३] को मानते है और पुरुष को आणविक आकार का इनके अनुसार प्रकृति पुरुष के सम्बध का आधार कर्म नही अपितु भेद का अभाव है।[१८४] उपरोक्त विवरण के सम्बध मे आचार्यगण वाचरपति मिश्र विज्ञानभिक्षु तथ हरिहरानन्द आरण्यक के अतिरिक्त अन्य भाष्यटीकाकारों ने भी आचार्य पचशिख का वचन होने की बात मानी गयी है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे वचन भी हैं जिसके सबध मे उक्त विद्वानगण भले ही उन्हे पचशिख वचन मानने मे सन्देह करे। किन्तु रवमत सामन्जस्य के अतिरिक्त योग भाष्यकार के उद्धृत करने के समान ढग से भी उन्हे पचशिखरात्र मानना उचित होगा जो कि इस प्रकार है –

(१) स खल्वय ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा प्रमादकृतेभ्यो हिसादिनिदानभ्यो निवर्तमानस्तामेवावादात रूपामहिसा करोति[१८५] इसे आचार्य भिक्षु अत्रैवागमिकाना सम्मतिमाह आदि शब्दो द्वारा प्रस्तुत करते है तो आचार्य भिक्षु ने योगभाष्यकार के यथा चोक्ता शब्दो को दुहरा दिया है।

(२) महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशील सत्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुक्ते[१८६] आचार्य भिक्षु इसे अत्रैवागामिनामनुमतिमाह आदि द्वारा तो आचार्य भिक्षु पूर्वाचार्यवाक्य प्रमाणयाति और विद्वान हरिहरानद आरण्यक पूर्वाचार्यराम्मतिमाह आदि द्वारा प्रस्तुत करते है।

(३) तपो न पर प्राणायामात ततो विशुद्धिर्मलाना दीप्तिश्च ज्ञानस्य[१८७] इसे आचार्य मिश्र अत्राप्यागमिनामनुमतिमाह द्वारा तो आचार्य भिक्षु इरा पर कुछ नही कहते है।

(४) जलभूम्यो पारिणामिक रसादिवैश्वरूप्य स्थावरेषु दृष्ट तथा स्थावराणा जगमेषु जगमाना स्थावरेषु[१८८] इसके प्ररतुतीकरण मे आचार्य मिश्र ने तदेवोपपादयति शब्द तो आचार्य भिक्षु ने अतार्थ पूर्वाचायैरिद वक्ष्यमाण प्रमाण मुक्तम शब्दादि द्वारा प्रस्तुत किया है।

(५) एक जाति समान्विमानामषा धर्ममात्रव्यावृति[१८९] मे उद्धृत भाष्य शब्दावली तथा चोक्त का ही उल्लेख आचार्य मिश्र ने किया है जबकि आचार्य भिक्षु इसके स्थान पर पूर्वाचार्य वचन कहा है।

(६) ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिना विहारस्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मान प्रकृष्ट धर्ममभिनिर्वतयन्ति[१९०] भाष्य मे उद्धृत तथा चोक्तम का ही प्रयोग आचार्य भिक्षु करते है तो आचार्य मिश्र इसके स्थान पर सम्मातिमाचार्याणामाह इत्यदि शब्दो का प्रयोग करते है।

(७) रवभाव मुक्त्वा दोषाद् येषा पूर्वपक्षे रुचिर्भवति अरुचिश्च निर्णये भवति[१९१] इसे अनधि ाकारिणभागामिना वचनेन दर्शयति द्वारा आचार्य मिश्र तो उक्त पूर्वाचार्यै आदि द्वारा द्वारा आचार्य भिक्षु ने प्रस्तुत किया हे।

डॉ० दासगुप्ता महाभारत[१९२] ओर मत्रयपुराण[१९३] मे उल्लिखित २६वें तत्त्व के रूप मे ईश्वर सबधी मत को देखकर परम्परया साख्य को सेश्वर मानते है। लेकिन २४वे तत्त्वो वाले मत को मौलिक साख्य मानते हुए इसे पचशिख साख्य मत कहते है।[१९४] परन्तु जिस मौलिक राख्य को डॉ० दारागुप्ता आर्चाय पचशिख का गत गानते है। डॉ० राधाकृष्णन्[१९५] और कीथ[१९६] उसका विरोध यह कहते हुए करते है कि उक्त आर्चाय पचशिख को साख्यचार्य नही मान सकते। क्योकि इनके मत मे आचार्य पचशिख ब्रह्मसिद्धात के समर्थक अथवा प्रवर्तक थे। किन्तु यह मत उचित प्रतीत नही होता। क्योकि महाभारत[१९७] से सिद्ध है कि वह आचार्य्र पचशिख ही थे। जिन्होने महार्षि कपिल के शिष्य आचार्य आसुरि से उपदेश प्राप्त किया। चीनी परम्परा मे एक पचशिखाचार्य का उल्लेख मिलता है। लेकिन उन्हे महर्षि कणाद् जो वैशेषिक दर्शन के सस्थापक थे, का शिष्य बताया गया है। अत वे साख्याचार्य पचशिख से भिन्न है।[१९८] इस प्रकार महाभारत के जनकपचशिखसवाद परिच्छेद व अन्य उद्धरणो के साथ साख्ययोग दर्शन से

सबधित विभिन्न ग्रन्थों मे उपलब्ध पचशिख वचनो मे प्रतिपादित सिद्धात प्रायेण एक ही है। अत आचार्य पचशिख साख्यमत के ही प्रतिपादक है।

(IV) आचार्य वार्षगण्य

आचार्य वार्षगण्य का उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व[१९९] के महावल्म्भ जनक सवाद मे मिलता है। साख्यकारिका की टीका युक्तिदीपिका[२००] मे आचार्यों का उल्लेख जो कालक्रमानुसार नही हुआ है– सक्षपैणतुद्वाव------------ हारीतवाद्धलिकैरात पौरिकर्षभेश्वर पञ्चादिकरण पतजलिवार्षगण्यकौण्डिण्य– मूलादिक शिष्य परम्पारयागम---------------। पडिण्त उदयवीर शास्त्री के अनुसार वार्षगण्य अर्थात वृषगणगोत्र मे उत्पन्न हुआ व्यक्ति गोत्रनाम प्रतीत होता है सासकारिक नाम नही।[२०१] जैसा कि आसुरि आचार्य के विषय मे माना जाता है। उसकी सिद्धि वृषगण पद से मानी गयी जो गर्गादिगण[२०२] मे पठित है। आचार्य वार्षगण्य का समय महर्षि पाणिनि से प्राचीन सभवत भारत युद्ध काल से भी पूर्व माना जाता है।[२०३]

षष्टितत्र का रचना को लेकर जो विवाद रहा है कुछ लोग आचार्य वार्षगण्य को उसका कृतिकार मानते है। परन्तु प्रो० हिरियन्ना एव पण्डित शास्त्री ऐसा नही मानते है। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि आचार्य ईश्वरकृष्ण ने अपनी उपसहारात्मक कारिकाओ मे जहाँ महाषि कपिल आचार्य द्वय असुरि एव पचशिख इन तीन सर्व प्राचीन प्राचार्यों का साक्षात् उल्लेख कर तत्र विकसित करने मे आचार्य द्वय आसुरि एव पचशिख के योगदान की प्रशसा की है। वही आचार्य वार्षगण्य का उल्लेख भी नही किया गया है। वास्तव मे महार्षि कपिल प्रवर्तित साख्यशास्त्र के अर्न्तगत आचार्य वार्षगण्य की अपनी एक अलग एक विशिष्ट विचारधारा थी जैसे आपके अनुसार करण ग्यारह प्रकार के होते है।[२०४] जबकि महर्षि कपिल तेरह प्रकार के करणो को स्वीकार करते है।[२०५] इस प्रकार आचार्य वार्षगण्य त्रिविध अत करण–बुद्धि मन एव अहकार मे केवल बुद्धि को ही स्वीकार करते है। उसी प्रकार आचार्य ईश्वरकृष्ण एव आचार्य वार्षगण्य प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण को अलग–अलग ढग से प्रस्तुत करते है। युक्तिदीपिकाकार ने आचार्य वार्षगण्य द्वारा प्रतिपादित लक्षणो का निर्देश इस प्रकार किया है– श्रोतादिवृत्तिरितिवार्षगणा,'[२०६]

उसी प्रकार का प्रत्याख्यान न्यायवार्तिक की टीका न्यायवार्तिकतात्पर्य मे आचार्य वाचरपति मिश्र ने लिखा है– वार्षगण्यास्यापि लक्षणमयुक्तमित्याहसोत्रारिवृत्तिरिति ।[२०७] जबकि आचार्य ईश्वरकृष्ण ने ५वी कारिका के प्रथम चरण मे दृष्ट अर्थात प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण प्रतिविषयाध्यवसाय दिया है।

प्रो० हिरियन्ना[२०८] मायेव और मायैव मे अन्तर कर प० उदयवीर शास्त्री के इस वाक्य का विरोध करते है कि अमरकोश मे भी इव और एव पदो को समानार्थक माना गया है। प्रो०हिरियन्ना के मत मे यह विशेष परिस्थिति मे सामान्यीकरण करने का प्रयास है।[२०९] क्योकि तत्त्ववैशारदी मे मायेव का अर्थ इस प्रकार है कि गुणो का मूल रूप अर्थात अव्यक्त अथवा प्रधान जो कि दृष्टिपथ मे नही आता माया से विपरीत धर्म वाला होने के कारण नित्य ही परमार्थ है। उसके विपरीत जो दृष्टिपथ मे आने वाला गुणो को व्यक्त रूप अथवा उसके विकार है वे सर्वथा माया तो नही किन्तु माया की तरह अवश्य ही आर्विभाव – तिरोभाव वाले अर्थात अनित्य का विनाश है।[२१०] इसी प्रकार अतएव योग शारत्रमत्युत्पादमिताहरम भगवान् वार्षगण्य गुणानाम ------------------ सुतुच्छकम् इति मे मायैव का अर्थ है कि गुणो गुणात्मक प्रधान का ग्रहण योग की व्युत्पत्ति के लिए निमित्त या द्वार से ही किया गया है स्वरूप अर्थात् वास्तविक प्रतिपाद्य के रूप मे नही क्योकि गुणो मे तत्त्व का वरतु कुछ भी नही है वे सर्वथा अतात्त्विक रवरूपत शून्य का माया मात्र है। इस प्रकार मायेव का अर्थ जगत की विनाशशीलता है और मायेव का अर्थ काल्पनिकता है। अत दोनो एक नही है। प्रो० हिरियन्ना यहॉ पर मायेव पाठ षष्टितत्र रो गानकर गायैव को आचार्य वार्षगण्य का गानते है।

प्रो० हिरियन्ना ने आचार्य वाचरपति मिश्र की भामती[२११] मे आचार्य वार्षगण्य के नाम उद्धृत गुणानाम् परम रूप न दृष्टिपथमृच्छति। यन्तुदृष्टिपथ प्राप्ततन्मायैव सुतुच्छकम् श्लोक के आध ार पर आचार्य वार्षगण्य को ब्रह्मपरिणामवादी कहा है। लेकिन प० उदयवीर शास्त्री[२१२] इसका खण्डन करते हुए कहते है कि आचार्य वार्षगण्य मूल उपादान कारण को चेतन नही अपितु अचेतन प्रधान[२१३] को मानते है जो जगत का मूल है। वास्तव मे आचार्य वाचरपति मिश्र ने भामती मे इच्छानुसार मूल मायेव का मायेव मे परिवर्तित कर दिया पर एक बात नही भूले कि इसका

उल्लेख आचार्य वार्षगण्य के साथ किया है। यही कारण है कि प्रो० हिरियन्ना मायेव और मायैव का जो महत्वपूर्ण भेद माना है वह आचार्य वाचरपति मिश्र के व्याख्यानो से भी समर्थित है। अत मायैव पाठ एव उसका पाठ जो कुछ दिखाई पडता है वह माया है। प्रधानवादी वार्षगण्य के मत रो अरागत है। क्योकि प्रधानवाद के अनुरार जगत आर्विभाव – तिरोभाव धमर्क होने के कारण मायेव ही कहा जा सकता है मायैव नही। योग भाष्यकार व्यासदेव के साक्ष्य के आधार पर भी आचार्य वार्षगण्य प्रधानवादी साख्य योगाचार्य सिद्ध होते है। यथा– अतउक्तम्– मूर्तिव्यवधिजाति–भेदाभावान्नास्ति मूलपृथकत्व इति वार्षगण्य।[२१४] इसकी जो व्याख्या आचार्य मिश्र[२१५] करते है वह भी उक्त मत का ही समर्थन करती है। भामती मे आचार्य वार्षगण्य के नाम उद्धृत गुणाना परम रूप न दृष्टिपथमृच्छति की व्याख्या भामतीकार रपष्ट नही करते क्योकि दृष्टिपथ मे न आने वाला गुणो का परम रूप त्रिगुणात्मक अव्यक्त का प्रधान के अतिरिक्त ब्रह्म इत्यादि कुछ भी नही हो सकता है। अपनी विशिष्टता के कारण हो सकता है कि आचार्य वार्षगण्य साख्याचार्य होने पर भी स्थूल जगत को माया मानते हो परन्तु वे ब्रह्मवादी कदापि नही हो सकते।[२१६]

साख्यकारिका का प्रचीन वाक्य युक्तिदीपिका मे आचार्य वार्षगण्य के साख्ययोग विषयक कुछ विशिष्ट मत निम्नवत है –

(i) तथा च वार्षगणा पठन्ति –

तदेतत त्रैलोक्य व्यक्तेरपैति न सत्त्वात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। ससर्गाच्चास्य सौक्ष्म्य सोक्ष्म्याच्चानुपलब्धि तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाश। सतु द्विविध – आसर्गप्रलयात् तत्त्वाना कालान्तरावस्थानादितरेषाम् इति [२१७]

(ii) तथा च भगवान् वार्षगण्य पठति–

रूपतिशमा वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते सामान्यानि तातिशमै स वर्तन्त[२१८]

(iii) तथा च वार्षगणा पठन्ति –

बुद्धिवृच्याविष्टो हि प्रत्ययत्वेनानुवर्तमानामनुयाति पुरुष [२१९] इति

(iv) वार्षगणाना प्रधानात् महानुत्पद्यते[२२०]

(v) एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ते एकोत्तराणीति वार्षगण्य[२२१]

(vi) करण एकादशविधामिति वार्षगणा[२२२]

(vii) यदि यथा वार्षगणा आहु –

लिगमात्रो महानसवेद्य कार्यकारणरूपेणाशिविष्टो

विशिष्टलक्षणेन तथा रयात्तत्वान्तरम्[२२३]

(viii)वार्षगणाना तु यथा रत्रीपुशरीराणामचेतनानामुछिश्येतरेतर

प्रवृत्तिस्तथा प्रधानरयेत्यय दृष्टान्त[२२४]

सर्वाधिक महत्वपूर्ण वह सिद्धात है जिसमे आचार्य वार्षगण्य ने आदिम सर्ग मे प्रधान की प्रवृत्ति को चेतन पुरुष की सहायता के बिना ही माना है। आचार्य वार्षगण्य के इस सिद्धान्त को युक्तिदीपिका[२२५] मे उद्धृत किया गया है। अर्थात् प्रधान की प्रवृत्ति आदि सर्ग मे ज्ञानपूर्वक नही होती है पुरुष रो ऊपर गृहीत अर्थात् चेतनानिरपेक्ष की प्रकृति रवकार्य मे प्रवृत्त होती है। इस प्रकार आचार्य वार्षगण्य का मत चेतन–निरपेक्ष प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रतिपादन करता है। परन्तु इसके विपरीत माठरवृत्ति एव गौडपादभाष्य मे षष्टितत्र नाम से उद्धृत पुरुषाधिष्ठितम् प्रधान प्रवर्तते वाक्य मे चेतन पुरुष से परिगृहीत या मुक्त प्रकृति की प्रवृत्ति का ही सिद्धान्त प्रतिपादित है। यह वाक्य सभावत आचार्य पचशिख का है इसमे कथित सिद्धान्त साख्यसूत्र के 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वम् मणिवत मे भी प्रतिपादित है इस प्रकार आचार्य वार्षगण्य के अनेक सिद्धान्तो का उल्लेख साख्ययोग दर्शन के प्राचीन साहित्य मे मिलता है। सर्वाधिक उल्लेख साख्यकारिका की प्राचीन टीका मुक्तिदीपिका मे है एक उल्लेख व्यासभाष्य मे है तो छिटपुट विचार भामती साख्यतत्त्वकौमुदी न्यायवार्तिक आदि मे मिलता है यथा –

(i) अतएव पचपर्वा अविद्या इत्याह भगवान् वार्षगण्य[२२६]

(ii) सम्बन्धादेकस्मात प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमान[२२७]

(V) आचार्य ईश्वरकृष्ण

आचार्य ईश्वरकृष्ण का उल्लेख जैनग्रन्थ अनुयोगद्वारसूत्र मे उल्लिखिल जैनेतर ग्रन्थो मे

से एक कनगसत्तरी के सन्दर्भ मे किया जाता है जो कि साख्यसप्तति अर्थात् साख्यकारिका का ही एक नाम था। चीनी यात्री कुईची के मत मे उक्त ग्रन्थ के रचयिता को पारितोषिक के रूप मे तीन लाख स्वर्ण मुद्राए प्राप्त होने के कारण इसका नाम हिरण्यसप्तति अर्थात् कनकसप्तति कहा गया। परन्तु डॉ० बेल्बाल्कर के अनुसार हिरण्यसप्तति[२२८] एक व्याख्यान् ग्रथ है जो आचार्य विन्ध्यवास की थी।[२२९] किन्तु डॉ० बेल्बाल्कर ने योगवृत्ति मे उदधृत विन्ध्यवास वचन के आधार पर जो उक्त मत दिया है वह ग्रथ गद्यात्मक है तब ऐसे व्याख्यान ग्रथ का नाम हिरणसप्तति कैसे उचित होगा? क्योकि सप्तति यह गणनापरक शब्द पद्य के सबध मे प्रयुक्त होती है अत बेल्बल्कर का मत असगत है। आचार्य ईश्वरकृष्ण कृत साख्यकारिका साख्य दर्शन का सर्वाधिक प्रचलित एव सर्वविदित ग्रथ है[२३०]। यह ग्रन्थ छन्दोबद्ध कारिकाओ से युक्त है जो वस्तुत सूत्र ही जान पडती है। सूत्रो की भाति ये कारिकाए भी सारवद्विश्वतोमुखम् ही है थोडे मे विविध अर्थजात इनमे भरा हुआ है। यही कारण है कि ये गुरु गम्भीर और दुरुह रही परिणामरवरूप ग्रथ रचना के बाद ही से व्याख्यान और टीकाए लिखी जा रही है।

साख्यसप्तति की टीका माठरवृत्ति के चीनी अनुवाद मे आचार्य ईश्वरकृष्ण को साख्यसप्तति का रचयिता और पो–पो–ली का शिष्य कहा गया है। पो–पो–ली का हिन्दी अनुवाद शिष्यपरम्परयागत पद की व्याख्या करते हुए जापानी विद्वान डॉ० तकाकुसु वर्ष अर्थात (पोपोली > पोसोली > पोलिसो > वरीसो > वर्ष) वार्षगण्य मानते है, किन्तु आचार्य द्वय ईश्वरकृष्ण और वार्षगण्य मे ऐतिहासिक कालक्रम का इतना अन्तर है कि ये गुरु–शिष्य परम्परा मे नही गाने जा सकते। इसका खण्डन डॉ० बेल्बाल्कर करते हुए पोपोली का सबध आचार्य देवल से मानते है क्योकि माठराचार्य[२३१] के द्वारा उल्लिखित आचार्यो मे आचार्य देवल अन्तिम है इस आधार पर यहॉ आचार्य ईश्वरकृष्ण का गुरु आचार्य देवल को माना है। लेकिन प० शास्त्री इसके विरुद्ध कहते है कि आचार्य देवल के पश्चात प्रभृति और उसके बाद तेभ्य आया है। जिससे रपष्ट है कि आचार्य द्वय देवल और ईश्वरकृष्ण के बीच भी कई आचार्य हुए यद्यपि पोपीली का अर्थ 'कपिल करना उचित होगा क्योकि एक तो आचार्य ईश्वरकृष्ण जिस ग्रथ तत्र अर्थात् षष्टितत्र का सक्षेप किया है उसका साक्षात् सबध महर्षि कपिल से है और दूसरे माठरवृत्ति मे सर्वप्रथम साख्याचार्य कपिल का साक्षात निर्देश है कपिलादासुरिणा

प्राप्तम । अत परम्परा का मूल आचार्य होने के कारण महर्षि कपिल को आचार्य ईश्वरकृष्ण का गुरु मानना शिष्यपरम्परयागत और ऐतिहासिक व तार्किक दृष्टि से भी सगतपूर्ण है।

सामान्यत आचार्य ईश्वरकृष्ण के सप्तत्या किल येऽर्थास्तेऽर्था कृत्स्नस्य षष्टितत्रस्य[२३२] रवकीय कथन से ही कारिकाओ साख्यविषयक विवाद का साधान हो जाना चाहिए था परन्तु ऐसा नही हुआ। वर्तमान मे बहत्तर कारिकाए उपलब्ध है जबकि उक्त कथनानुसार सत्तर कारिकाए होनी चाहिए। अत प्रश्न उठता है कि ऐसी कौन–सी दो कारिकाए है जो प्रक्षिप्त हो सकती है। लोकमान्य तिलक विल्सन महोदय[२३३] की इस बात से सहमत है कि साख्यकारिका मे सत्तर कारिकाए ही थी तथा गौडपादभाष्य मे उनहत्तर कारिका तक का ही भाष्य मिलता है यहाँ बीच की एक कारिका लुप्त हो गई है।[२३४] लोकमान्य तिलक अपने समर्थन मे कहते है कि गौडपादभाष्य[२३५] मे भी सत्तर कारिका की बात कही गई है। लुप्त कारिका के लिए गौडपादभाष्य के आधार पर इकसठवी कारिका के बाद की कारिका होना बताया है। क्योकि इकसठवी कारिका का[२३६] जो भाष्य मिलता है उसमे एक नही दो कारिकाओ का भाष्य सम्मिलित है। इसमे एक तो इकसठवी कारिका की जिसमे प्रकृति के सुकुमारत्व का वर्णन है और दूसरी कारिका जो इसके बाद की होनी चाहिए जिसमे ईश्वरादि कारणता का उल्लेख है। उक्त लुप्त कारिका इस प्रकार की हो सकती– कारणमीश्वरमेके ब्रुवते काल परे रवभाव वा। प्रजा कथ निर्गुणता व्यक्त काल रवाभावश्च' क्योकि पूर्वकाल मे स्वभाव काल एव ईश्वर भी जगत के कारण माने जाते थे यह बात श्वेताश्वर उपनिषद् के स्वभावमेके कवयो वदन्ति काल तथान्ये परिगुह्यमाना। देवरयैष तु लोके ये नेद भ्राम्यत बाहाचक्रम मत्र से रपष्ट होती है। किंतु एस० सूर्यनारायण शास्त्री ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि इकसठवी कारिका के गौडपादभाष्य[२३७] और माठरवृति[२३८] के अन्तिम भाग मे किया गया है सुकुमारतम शब्द का परामर्श इस सभावना का सर्वथा निराकरण कर देता है कि इकसठवी कारिका के भाष्य का उत्तरार्ध किसी अन्य का भाष्य है क्योकि सुकुमारतम पद इकसठवी कारिका मे ही स्थित है। फिर ईश्वर–निषेध वाली कारिका के लुप्त होने की तो कारिका से लुप्त होने के साथ भाष्य से भी लुप्त करनी चाहिए थी जो गौडपादभाष्य के साथ माठरवृति मे भी उलट–फेर करनी पडती। डॉ० हरदत्त शर्मा[२३९] का तर्क है कि तत्र सुकुमारतर वर्णयति के अनतर न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य' पक्ति आनी

चाहिए न कि के चिदीश्वर कारण ब्रूवते क्योकि ईश्वरादि की कारणता का कथन प्रकृति की सुकुमारता का वर्णन नही है। इकसठवी कारिका के बाद बासठवी कारिका मे आचार्य ईश्वरकृष्ण ने जो विषय प्ररतुत किया है उसमे भी क्रमबद्धता और विषयरूपता है। अत इनके बीच लोकमान्य तिलक का एक नई कारिका जो ईश्वर कारणता का निषेध करती है की आशा करना अतार्किक और काल्पनिक है।

विद्वान अय्यारवामी शास्त्री[२४०] का मत है कि चीनी भाषा मे अनुदित सरकृत टीका मे अपनाई गई सोलह विकारो की उत्पत्ति की पद्धति साख्यकारिका से सर्वथा भिन्न है। २२वे और २५वे कारिका से रपष्ट है कि एकादश इन्द्रिया व पचतन्मात्राए अहकार से तथा पचतन्मात्राओ से पचमहाभूत उत्पन्न होते है। किन्तु ३ ८ १० १५ ५६ ५६ और ६८वी कारिका की व्याख्या मे चीनी अनुदित सरकृत टीका सोलह विकारो (एकादशेन्द्रिय और पचमहाभूत) को पचतन्मात्राओ से निकला हुआ बताते है। जबकि यह २१ २५ २६ ओर २७ वी कारिकाओ इस विषय मे विरोध नही करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ईश्वरकृष्ण के समय तक और कुछ समय बाद तक भी विकारो की उत्पत्ति प्रक्रिया अनिश्चित थी। क्योकि उनके समकालीन एव कुछ पूर्ववर्ती व परवर्ती ग्रथो मे भी इससे नितान्त भिन्न विवरण प्राप्त होते है। यही नही साख्यकारिका की २२ २४ २५ और ३६ वी कारिका के आधार पर सूक्ष्मशरीर को अटठारह तत्त्वो से बना हुआ माना जाता है। गौडपादभाष्य के अतिरिक्त टीकाए भी यही मानती है। किन्तु चीनी अनुदित सस्कृत टीका सूक्ष्मशरीर को सात तत्त्वो (महत् + अहकार + पचमन्मात्र) से निर्मित मानती है। इस बात का समर्थन गौडपादभाष्य के अतिरिक्त अन्यत्र कही नही मिलता। तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए छ प्रकार के अवलोकन या विचार और आठ प्रकार के बुद्धभग जिनकी कोई भी चर्चा किसी भी टीका मे नही मिलती। इसलिए यह कहना गलत नही होगा कि इन तथ्यो का उद्‌भव या आरम्भ–पष्टितत्र जैसे कुछ अत्यन्त प्रचीन ग्रथो से हुआ हो। लकिन इस सबध मे प० उदयवीर शास्त्री[२४१] के अनुसार आचार्य ईश्वरकृष्ण ने पदार्थों के प्रादुर्भाव तथा उनके क्रम की एक ही निश्चित रीति को रवीकार किया है और यह भी आचार्य ईश्वरकृष्ण के लेखानुसार निश्चित है कि वही रीति षष्टितत्र मे भी रवीकृत की गई है। पचाधिकरण के अतिरिक्त अन्य सभी उपलब्ध साख्याचार्यों के लेखो मे इन्द्रियो को अहकारिक ही माना गया है भौतिक नही। इसके विपरीत

अन्य अनेक दार्शनिक सप्रदाय जैसे—न्याय वैशेषिक बौद्ध शाकरवेदान्त आदि इन्द्रियो को भौतिक ही मानते है। साख्याचार्य पचाधिकरण भी यही मानते है। फिर जिस चालीसवी कारिका के आधार पर चीनी अनुवाद मे सूक्ष्मशरीर को सात तत्वो वाला माना गया है। उसी के आगे १० ४१ ४२ और ६२वी कारिका के चीनी अनुवाद मे सूक्ष्मशरीर के अटठारह तत्त्व स्वीकार किये गऐ है।[२४२] जबकि बयालिसवी कारिका के गौडपादभाष्य मे सूक्ष्मशरीर को अट्ठारह तत्त्वो का माना गया है। अय्यास्वामी शास्त्री आगे कहते है कि परमार्थ के साक्ष्य के आधार पर हमे स्वीकार करना पडेगा कि आचार्य ईश्वरकृष्ण ने केवल सत्तर ही कारिकाए लिखी थी न एक कम और न एक अधिक। क्योकि वसुबन्धुचरित मे लिखा है कि आचार्य वसुबन्धु ने सुवर्णसप्तति अर्थात् साख्यकारिका का खण्डन करने के विशिष्ट अभिप्राय से ही उसका अनुकरण करते हुए सत्तर कारिकाओ का अपना परमार्थसप्तति नामक ग्रथ लिखा। कारिका तिरसठ जिसका अनुवाद परमार्थ ने नही किया है तथा कारिका बहत्तर जिसे चीनी अनुवाद मे किसी मेधावी की उक्ति कहा गया है। चूँकि यह कारिका चीनी भाषा मे अनुदित नही हुई है और इस कारण से परमार्थ के समय के बाद का प्रक्षेप प्रतीत होता है।[२४३] लोकमान्य तिलक को छोडकर सोवानी अय्यास्वामी और विल्सन बहत्तरवी कारिका को प्रक्षिप्त मानते है जबकि कारिकाओ के सत्तर होने की अकाटय सूचना बहत्तरवी कारिका से ही प्राप्त होती है अत यह मत असगत है। लेकिन सोवानी के मत मे भी असगति है जब वे सत्तरवी को उनहत्तरवी से कम महत्वपूर्ण नही समझते जो साख्य के प्राचीन आचार्यों की परम्परा एव उसके अविच्छिन्न सप्रदाय को बताने के लिए आवश्यक है।[२४४] प० उदयवीर शास्त्री ने चीनी अनुवाद के मूल जो ५५७—५६९ ईस्वी के बीच मानी जाती है से भी प्राचीन माठरवृत्ति को सिद्ध किया। जिसमे अन्तिम तीनो कारिका पर टीका है। अत गौडपादाचार्य के बाद का इन्हे प्रक्षिप्त मानना नितान्त असगत है।

सम्भव है कि अन्तिम तीन कारिकाओ का दार्शनिक सिद्धान्त की दृष्टि से महत्वपूर्ण न होने के कारण आचार्य गौडपाद ने इसका उल्लेख न किया हो। फिर भी यदि साख्यकारिका के प्रथम टीकाकार आचार्य गौडपाद के भाष्य के आधार पर उक्त तीनो कारिकाओ को प्रक्षिप्त मानकर हटा दिया जाये तो सत्तरहवी और इकहत्तरवी कारिका का मूल ग्रथ मे सम्मिलित न होने पर उनहत्तरवी कारिका के वर्णन के अनुसार साख्यकारिका के रचयिता महर्षि कपिल होगे और

तब साख्यकारिका की प्रामाणिकता पर प्रभाव पडेगा। क्योकि सत्तरवी कारिका प्राचीन आचार्य परम्परा का निर्देश करती है एव इकहत्तरवी कारिका शिष्य–परम्परा द्वारा मूल शास्त्र के आचार्य ईश्वरकृष्ण तक पहुँचने का निर्देश करती है। जबकि बहत्तरवी कारिका इस ग्रथ की रचना का कथन करके इराकी पूर्व प्रतिपादित प्रामाणिकता को सुदृढ करती है। यहाँ प० शास्त्री[२४५] के अनुसार इन चारो कारिकाओ का परस्पर तार्किक सामजस्य इतना सगठित और सतुलित है कि उसमे से एक पद भी हटाया जाना अनर्थ का हेतु हो सकता है। बहत्तरवी कारिका मे उद्धित सप्तति का शब्दार्थ सत्तर अवश्य है परन्तु इसका अभिप्राय यहाँ लगभग सत्तर ही है ठीक सत्तर नही। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रथ का नाम सप्तति समझना चाहिए केवल सिद्धान्तपरक सत्तर कारिकाओ का नही। सबसे बडी बात यह है कि युक्तिदीपिका[२४६] मे भी साख्यकारिका को सप्तति कह कर भी पूरी बहत्तर कारिकाओ की व्याख्या की गई है। वास्तव मे साख्यकारिका मे बहत्तर कारिका होने पर भी उसको सप्तति वैसे ही माना गया है जैसे भर्तृहरि की श्रृगारशतक जिसमे १०२ श्लोक है हाल की गाथासप्तशती जिसमे ७०३ पद है अथवा साम्ब की साम्बपचाशिका जिसमे ५३२ श्लोक है का नामोल्लेख किया जाता है।

प्रक्षिप्त अशो को छोड दे तो सूत्र और कारिका के बीच कई विषयो यथा सृष्टिक्रम, सूक्ष्म व स्थूल शरीरो के घटकावयव प्रकृति व पुरुष के रूप मे दो मूल तत्त्व के साथ कुल पच्चीस तत्त्वो के सबन्ध मे समानता है।[२४७] यद्यपि साख्यकारिका की टीका युक्तिदीपिका से स्पष्ट होता है कि कुछ साख्यचार्य प्रधान और महत के बीच एक और सूक्ष्म तत्त्व मानते है लेकिन पचाधिकरण वार्षगण्य आचार्यगण सूत्र और कारिका की भाति ही प्रकृति से सीधे महत् तत्त्व की उत्पत्ति मानते है। अहकार से पचतन्मात्रो की उत्पत्ति प्राय सभी आचार्य मानते है किन्तु आचार्य विन्ध्यवासी महत से छ तत्त्वो (अहकार + पचतमात्र) की उत्पति मानते है। साख्यसूत्र[२४८] मे स्पष्टत इन्द्रियो के भौतिकत्व का खण्डन तथा अहकारिकत्व का कथन किया गया है। प० उदयवीर शास्त्री[२४९] के अनुसार साख्यसूत्र और साख्यकारिका मे महत्वपूर्ण भेद ईश्वर की मान्यता को लेकर है। आचार्य भिक्षु के अनुसार वर्तमान साख्यसूत्र ईश्वर की नित्य सत्ता का खण्डन करता है तथापि यह खण्डन वास्तविक नही। अपितु विशेष अभिप्राय या कारण से किया गया होने के कारण अवास्तविक है। ब्रह्मसूत्रो मे स्वतत्र प्रधानकारणवाद का खण्डन होने से प्रतीत होता है

कि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण व व्यास से पूर्व साख्य निरीश्वरवादी था एव उपलब्ध साख्यसूत्रो मे ईश्वर विषयक एकाध सूत्र तो ऐसे है जिन्हे ईश्वर खण्डनपरक मानने के अतिरिक्त और कोई उपाय नही है। आचार्य ईश्वर कृष्ण की साख्यकारिका मे प्रत्यक्षत ईश्वर का खण्डन तो नही किया गया है तथापि कही भी उन्होने उसका प्रतिपादन भी नही किया है। यहॉ तक कि प्रकृति से सृष्टि मानी गई है और ज्ञानाभ्यास के सन्दर्भ मे भी ईश्वर का उल्लेख नही किया गया है। अत आचार्य ईश्वरकृष्ण अनीश्वरवादी ही थे। परन्तु लोकमान्य तिलक पुरुष को उपादान कारण न मानने के कारण निरीश्वरवादी आचार्य ईश्वरकृष्ण को जडवादी मानते है लेकिन यह मान्यता अनुचित है। क्योकि यह ठीक है कि साख्यकारिका[२५०] मे प्रकृति की सुकुमारता का वर्णन ईश्वर की कारणता का कथन नही है किन्तु के चिदीश्वर कारण ब्रुवते-------तस्मात कालो न कारण नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारण न प्रकृते कारणन्तरमरतीति पूरा भाष्य[२५१] जिसमे ईश्वर काल और स्वभाव की सृष्टि कारणता का पहले पूर्वपक्ष के रूप मे उसके निषेध तथा प्रधान की सृष्टि कारणता का कथन है अवश्य ही प्रधान की सुकुमारता का वर्णन है। जैसा कि ऊपर उद्धृत भाष्याश के ठीक बाद की न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य इत्यादि भाष्य पक्ति से रपष्ट है। क्योकि पुरुष जब प्रधान के उस वारतविक रवरूप सृष्टि के प्रति उसके उपादानत्व को जान लेता है तो मानो प्रकृति यह जानकर कि पुरुष ने मेरे रवरूप को पहचान लिया है पुन उसके समक्ष नही आती लज्जावती सुकुमारी को भाति उसके निवृत्त या पराडमुख हो जाती है। यह प्रकृति की सुकुमारता का वर्णन है। इसी वर्णन का उपसहार स्वाभाविक रूप से न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषरय इस पक्ति मे किया गया है। अत लोकमान्य तिलक का यह मनना कि कोई ऐसी कारिका थी, जिसमे ईश्वर की सत्ता का निषेध किया गया था लुप्त हो गई है मानना सगतपूर्ण नही है। आचार्य ईश्वरकृष्ण सृष्टि के उपादान अथवा निमित्त कारण किसी भी रूप मे ईश्वर को न मानने के कारण निरीश्वरवादी आचार्य है और पुरुष को सृष्टि का उपादान कारण न मानते हुए भी निमित्त कारण मानने से आचार्य ईश्वरकृष्ण पुरुषवादी और आध्यात्मवादी है जडवादी कदापि नही। क्योकि आचार्य ईश्वरकृष्ण मोक्ष का हेतु विवेकज्ञान को ही रवीकार करते है।[२५२]

साख्यदर्शन के विकास मे महर्षि कपिल और आचार्यगण पचशिख, जनक जैगीषव्य आदि ने अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया यद्यपि उनमे से अधिकाश की कृतिया

कालकवलित हो चूॅकी है। किन्तु यह सत्य है कि साख्यदर्शन के समूचे विकास मे साख्यसिद्धान्तो का आचार्य ईश्वरकृष्ण कृत प्रतिपादन एव व्याख्यान अपना अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सम्बन्ध मे आचार्य ईश्वरकृष्ण कृत साख्यकारिका एक अति महत्वपूर्ण प्रकाशमान ज्ञानदीप है। साख्यकारिका का प्रतिपाद्य विषय वही है जो महर्षि कपिल कृत प्राचीन साख्यग्रथ षष्टितत्र का था। सख्यकारिका मे षष्टितत्र के केवल सिद्धान्तो को ग्रहण कर उनकी आख्यायिकाओ और व्याख्यानो को छोड दिया गया है। वर्तमान मे साख्यदर्शन का जो स्पष्ट और सामान्य धारणा है उसके लिए साख्यकारिका एक दर्पण है जिसका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

साख्यकारिका का प्रारम्भ इस अकाटय सत्य की स्वीकृति से होती है कि जीवन दुखमय है और प्राणिमात्र उससे छुटकारा (मुक्ति) प्राप्त करना चहता है दूसरी कारिका मे मुक्ति के साधन के रूप मे व्यक्त अव्यक्तज्ञ विवेकपरक तत्त्वज्ञान के महत्व को स्वीकार कर वेदोक्त यज्ञादि कर्म की अज्ञानता का निर्देश है। तीसरी कारिका मे व्यक्ताव्यक्तज्ञ नाम त्रिविध साख्यीय तत्त्वो को अन्य प्रकार से चार कोटियो मूल प्रकृति (प्रकृति) प्रकृति–विकृति (सात = महत + अहकार + पचतन्मात्राए) केवल विकृति (सोलह तत्त्व = एकादशेद्रिया + पचमहाभूत) और न प्रकुति न विकृति रूप पुरुष का उल्लेख है। जबकि चौथी से छठी कारिका मे ज्ञानमीमासीय स्वरूप की विवेचना है जिसमे त्रिविध प्रमाणो को बताया गया है। सातवी कारिका मे उन आठ स्थितियो का वर्णन है जिनके कारण विद्यमान वस्तुओ का भी प्रत्यक्ष नही होता। लेकिन आठवी कारिका प्रकृति और पुरुष के सूक्ष्मता के कारण उनका प्रत्यक्ष नही अपितु सामान्यऽतोदृष्ट अनुमान से ज्ञान प्राप्त करते है। नवी कारिका से सत्कार्यवाद की प्रतिष्ठा की गई है तो दसवी और ग्यारहवी कारिका मे व्यक्त और अव्यक्त के भेद एव दोनो के परस्पर सादृश्य और पुरुष का उनसे वैषम्य दिखया गया है। बारहवी और तेरहवी कारिका मे गुणो का स्वरूप का वर्णन है तो चौहदवी कारिका मे अविवेकत्व विषयत्व आदि धर्मो के आश्रय के रूप मे अव्यक्त की सिद्धि के साथ पद्रहवी और सोलहवी कारिका अव्यक्त की सत्ता सिद्ध करने के साथ सृष्टि और प्रलय की व्याख्या करती है। सहत्रहवी से उन्नीसवी मे पुरुष की सत्ता अनेकत्व और स्वरूपत्व की विवेचना है। बीसवी कारिका अकर्ता को कर्ता समझने और इक्कीसवी कारिका प्रकृति–पुरुष के परस्पर सयोग होने का उल्लेख करता है। बाइसवी कारिका मे सृष्टि विकास

क्रम के तेइस तत्त्वो के और तेइसवी कारिका मे बुद्धि के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। चौबीसवी कारिका मे अहकार तत्त्व का उल्लेख है पचीसवी मे अहकार से उत्पन्न होने वाले एकादशेन्द्रियॉ और पचतन्मात्राओ को बताया गया है। २६वी कारिका मे दस इन्द्रियो की तथा २७वे मे मन की स्पष्ट विवेचना की गई है। अटठाइस से सैतीसवे कारिका मे पचज्ञानेन्द्रियो के व्यापार त्रिविध अन्त करण के लक्षण कर्मेन्द्रिय त्रयोदशकरण आदि और उनके विषयो आदि का विवेचन किया गया है। अडतीसवी कारिका मे तन्मात्रा का उल्लेख है तो ३६ से ४३वी कारिका मे सूक्ष्मशरीर (लिगशरीर) और स्थूलशरीर के स्वरूप को बताया गया है। चवालिस और पैतालिसवी कारिका मे धर्म–अधर्म की गति और ४६ से ५२वी कारिका मे बुद्धि के धर्मादि आठ भावो का विस्तृत वर्णन किया गया है। ५३वी कारिका मे तन्मात्रा सर्ग के वर्णन मे देव तीर्थक और मनुष्य सृष्टि के प्रकार का उल्लेख है ५४वी कारिका मे लोको को गुणो के आधार पर बाटा गया है। ५५वे कारिका द्वारा दु ख के मूल कारण को तथा ५६वे द्वारा सृष्टि के प्रयोजन को स्पष्ट किया गया है। इकसठ से छासठवी कारिकाओ मे प्रकृति कृत सृष्टि का पर्यवसान मोक्ष मे दिखाया गया है। ६७ से ६८वी कारिका के अनुसार शरीरपात होने पर भोग और अपवर्ग दोनो ही प्रयोजन तथा प्रकृति से निवृति द्वारा पुरुष की आत्यन्तिक मुक्ति का उल्लेख है। इस प्रकार साख्यकारिका मे एक से अडसठवी कारिका तक मे साख्य दर्शन के प्रतिपाद्य विषय अर्थात् सिद्धान्तो का वर्णन किया गया है। जबकि ६६वी के महर्षि कपिल को साख्यमत का मूल उपदेष्टा ७०वी मे गुरु–शिष्य परम्परा ७१वी मे कृतिकार ने साख्य परम्परा को ग्रहण कर प्रस्तुत करने की आत्म स्वीकृति है और ७२वी कारिका मे कृति के मूलस्रोत षष्टितत्र का उल्लेख किया गया है।

लेकिन साख्यकारिका की सम्यक विवेचना से स्पष्ट है कि इस कृति मे साख्य दर्शन के मूल स्वरूप मे असगति दिखाई देती है जो प्रकृति और पुरुष के स्वरूप और उनके सबधो के सदर्भ मे स्पष्ट होने के साथ पुरुष के स्वरूप और पुरुषबहुत्व सम्बधी धारणा के विवेचन मे परिलक्षित होती है।

२२– वनपर्व– २२१/२१

२३– वायुपुराण– ५/४५

२४– शाातिपर्व– ३४०/६६ ७० व ७२

२५– वनपर्व– १०७/२६

२६– शास्त्री प० उदयवीर साख्यदर्शन का इतिहास पृ०– १

२७– ऋषि प्रभूत कपिल यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभार्तै जायमान च पश्येत ।।श्वेताश्वर उपनिषाद्–५/२।।

२८– ब्रह्मरात्र भाष्य– २/१/११

२६– आनन्दगिरि ब्रह्मसूत्र भाष्य पर टीकाकार

३०– शास्त्री प० उदयवीर साख्यदर्शन का इतिहास पृ०– १३

३१– श्वेताश्वर उपनिषद्– ५/२

३२– साख्याना कपिलो देवो रुद्राणायसि शकर इति परमार्षि प्रसिद्ध ।।५/२–श्वेताश्वर उप० भाष्य।।

३३– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१

३४– साख्यतत्त्वकौमुदी– ६६वीं कारिका पर

३५– साख्यतत्त्वकौमुदी– ४३वीं कारिका पर

३६– योगसूत्र भाष्य– १/२५

३७– साख्यकारिका– ७०

३८– साख्यकारिका– ७१व ७२

३६– युक्तिदीपिका– ३व १४

४०– ब्रह्मसूत्र– २/१/१

४१– अहिर्बुध्न्यसहिता– १२१/ १६

४२– तर्करहस्यदीपिका

४३– अध्याय– १२

४४– अध्याय– ७२

४५– भामती– २/१/३ Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-I, pp-213-214

४६– साख्यकारिका– ७०

४७– साख्यकारिका– ६६

४८– Samkhya system, p-48

४९– साख्यतत्त्व कौमुदी भूमिका पृ०– १६

५०– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– ८३

५१– बहुधा कृत तत्र षष्टितत्राख्य षष्टिखड कृतमिति। तत्रैव ही षष्टिरर्था व्याख्याता – जयमगला पृ० ५

५२– ते व्यक्त सूक्ष्मा गुणात्मान ।। ४/१३– योगसूत्र भाष्य।।

५३– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/३

५४– General of Oriental Rsearch, Pt-III, pp-107-112

५५– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– ८७से९१

५६ - साख्यकारिका– ७१

५७– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– १०४

५८– अतिकारुणिको महामुनिर्जगदुछिधीर्षु कपिलो मोक्षशास्त्रमारभमाण प्रथमसूत्र चकार – अनिरुद्धवृत्ति

५९– श्री कण्ठभाष्य ब्रह्मसूत्र– २/२/१ के सन्दर्भ मे साख्यसूत्र– १/७६ और ब्रह्मसूत्र– २/२/८ के सन्दर्भ मे साख्यसूत्र – १/१६ व १/७ प्रधानकारणवादे पक्षपाहेतु परिच्छिन्नत्वान्न सर्वोपादान इत्यादि कपिलसूत्रोक्त सूचयन पूर्वपक्षयति प्रधानेति ।

६०– साख्यसूत्र– १/६१

६१– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– १८५

६२– सुश्रुतसहिता अध्याय– १ सत्त्वरजस्तमोलक्षणम् अव्यक्त नाम ।

६३– अहिर्बुध्न्यसहिता– ६/१७व१८

६४– साख्यसूत्र– ३/१४

६५– नैषधचरित– १११/५६११

६६– न्यायसूत्र भाष्य – १/१/४

६७– साख्यसूत्र– २/१६ व २६

६८– प्रायश्चित प्रकरण श्लोक– १०६

६९– साख्यसूत्र– ३ /१८ ३६ व ४०

७०— तत्त्वसमास— २ १६ १६ और २२

७१— साख्यसूत्र— ४/३

७२— साख्यसूत्र— २/३३

७३— साख्यसूत्र— १/१२४

७४— साख्यसूत्र— २/३१

७५— साख्यसूत्र— २/१८

७६— साख्यसूत्र— ५/३२ और ६/६८

७७— The six Systems of Indian Philosophy

७८— वृहदारण्यक उपनिषद्— १/४/१०

७६— मिश्र डा० आधा प्रसाद साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ०— १०२

८०— साख्यसूत्र

८१— साख्यसूत्र— १/१६

८२— साख्यसूत्र— १/५५

८३— साख्य दर्शन का इतिहास पृ०— २४० और २४२ से २४६

८४— साख्यसूत्र— १/५२

८५— साख्यसूत्र— १/५४

८६— साख्यसूत्र— १/५३

८७— साख्यसूत्र— १/१५

८८— मिश्र डा० ए० पी० साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ०— १०४

८६— न पाचभौतिक शरीर बहूनामुपादानायोगात्

६०— साख्यसूत्र— ५/१११ और ५/११२

६१— भोक्तुरधिष्ठानाद् भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसगात भृत्यद्वारा स्वाम्धिष्ठितिर्नैकान्तात्

६२— साख्यसूत्र— १/१२४

६३— हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रित लिगम। सावयव परतत्र व्यक्त विपरीतमव्यक्तम्।।१०।।

६४— साख्यसूत्र— २/१८

६५– साख्यकारिका– २५

६६– एकादश पचतन्मात्र तत्कार्यम्– २/१७ कार्यम् नपुसकलिग है और तत पर से पूर्वसूत्र मे स्थित अहकार का परामर्श होता है।

६७– अभिमानोऽहकारस्तास्माद् द्विविध प्रवर्तते सर्ग । एकादशकश्च गणस्तन्मात्र पचकश्चैव ।२४।। यहॉ गण शब्द पुलिग है।

६८– साख्यसूत्र– २/३१

६६– साख्यसूत्र– २६

१००– ब्रह्मचारी विष्णु कृत हिन्दी अनुवाद वेदान्त केसरी

१०१– ब्रह्मसूत्र भाष्य पृ०– ५७७ अन्य समस्त प्रामाणिक सस्करणो मे भी सामान्याकरण वृत्ति इत्यादि ही पाठ है। अत यही प्राचीन मौलिक पाठ होगा। ५वॉ सस्करण वाणी विलास सस्करण, भामती तरू परियल सहित मुम्बई सस्करण चौखम्भा सस्करण सि० वाराणसी सस्करण आदि मे यही पाठ मिलता है ।

१०२– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– ४८ से ५२

१०३– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– २०४ से २०६

१०४– साख्यसूत्र– १/१६

१०५– प्राचीन और मौलिक साख्य की कृति History of Indian Philosophy, Pt-I, pp-213 & fn-224 & 216 to 218

१०६– पाण्डेय राम सुमेर महाभारत और पुराणो मे साख्य दर्शन पृ०– ७७ से ७६

१०७– साख्यसूत्र साख्यकारिका– ३

१०८– A History of Samsknt Literature, P- 488 to 489, SamkhyaDie system, p-112 & 109

१०६– Die Samkhya Philosophy, pp-68 to 70

११० - The six Systems of Indian Philosophy, pp-318ff

१११– Outline of Indian Philosophy, pp-269

११२– Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-II, pp-254

११३– Origin & development of Samkhya system of thought, pp-116 & 118

११४– साख्य के प्राचीन ग्रथ सूत्र के ऊपर विवेचन

११५– गार्बे एच० बी० पी की आवृत्ति पृ०– ११

११६– साख्यसूत्र– ४/३

११७– साख्यसूत्र– ५/४६

११८– सर्वदर्शनसग्रह

११९– तर्करहस्यदीपिका

१२०– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-255-256, fn-4

१२१– MaxMullar, The six Systems of Indian Philosophy, pp-242, साख्य की प्राचीनतम कृति है।

१२२– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-254

१२३– शर्मा सी०डी भारतीय दर्शन अलोचन और अनुशीलन, पृ०– १३७ से १३८

१२४– योगसूत्र भाष्य– १/२५

१२५– साख्यकारिका– ७०

१२६– आसुरे प्रथम शिष्य २१८/१०, आसुरिर्मण्डले तस्मिन् २१८/१४, तस्य पचशिख शिष्यो २१८/१५

१२७– भागवद् पुराण– १/३/१०

१२८– Samkhya system, p-47 to 49

१२९– तत्त्ववैशारदी (योगभाष्य पर टीका)

१३०– आसुरि सगोत्र ब्राह्मण विशेष वर्षसहस्रया जिनमधि कारिणमवगत्य माठरवृत्ति पृ०– २

१३१– आसुरि सगोत्र ब्राह्मण विशेष वर्षसहस्त्रया जिन भाग त्योवाच जयमगला

१३२– मुनिर्भगवान् कपिल आसुरिसगोत्राय ब्राह्मणाय वर्ष सहस्राजिनेऽधि कारितामवगम्य प्रददौ –अनिरुद्धवृत्ति।

१३३– Samkhya and Yoga, pp-2to3

१३४– युक्तिदीपिका, पृ०– १४८

१३५– सर्वप्रत्युपभोग यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धि। सैव च विशिनष्टि पुन प्रधानपुरुषान्तर सूक्ष्मम्।।३७।।

१३६– बुद्धिहि पुरुष सान्निधानात् सा पुरुषमुपभोजयति तत्त्वकौमुदी पृ०– १६६

१३७– कुसुमवच्च मणि– २/३५

१३८– ऋग्वेद– १०/१२६

१३६– अव्यक्त प्रकृतिमाया प्रधान ब्रह्मकारणम्। अव्याकृत तम पुष्प क्षेत्रक्षरनामकम।।

१४०– योगभाष्य– १/२५

१४१– साख्यकारिका– ७०

१४२– साख्यकारिका– ६६

१४३– बहुधा कृत तत्र षष्टितत्राख्यम षष्टिखण्ड कृतिमिति तत्रैव हि षष्टिरर्था व्याख्याता बहुभ्यो जनकवाशिष्यादिभ्य समाख्यात् ।

१४४– Webei, History of Indian Letrature, pp-235

१४५– वृहदारण्यक उपनिषाद्– ४/४/१३

१४६– शातिपर्व– ३२६/२४

१४७– शातिपर्व –२१८/१० से १२ और १५ से १७

१४८– श्लोक सख्या– १० से १२ की व्याख्या

१४९– इसकी तुलना महत परमव्यक्तमव्यक्तात पुरुष पर इस कठोपनिषद् मे आए अव्यक्त शब्द की शकरचार्य कृत व्याख्या करने पर नीलकठ महोदय की वेदान्तीय दृष्टि स्पष्ट होती है।

१५०– योगभाष्य– २/६

१५१– अहिसासत्यास्तेयब्रह्मचार्याऽपरिग्रहा यमा ।।योगसूत्र–१२/३०।।

१५२– साख्यसूत्र– ६/६८

१५३– साख्यसूत्र– २/२३

१५४– योगसूत्र– २/२३

१५५– न नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावस्य तद्योगस्तद्योगाहते – १/१६ तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्'– १/५५ ।।साख्यसूत्र।।

१५६– साख्यसूत्र– ६/६८

१५७– His doctrin of the reason of the eternal by the eternal body or sycic ppperchos, Samkhya system,

१५८– साख्यसूत्र– ५/३२

१५९– साख्यसूत्र– ५/५६ ६० ७६ ६६ ११६ १२२ १२६

१६०— साख्यसूत्र— ५/२६

१६१— साख्यसूत्र— ५/३० न तत्वान्तर वस्तुकल्पनाप्रसक्ते

१६२— साख्य प्रवचन भाष्य पृ०— २१६

१६३— साख्यसूत्र— ५/३१

१६४— अनिरुद्धवृत्ति पृ०— १६४

१६५— साख्यप्रवचन भाष्य पृ०— १६४

१६६— वृत्तिरार पृ०—१६४

१६७— साख्यसूत्र वृत्ति— अग्रेजी अनुवाद वाला भाग पृ०— १६५ और ४१५ पाद टिप्पणी— २

१६८— साख्यसूत्र— ५/३२

१६९— तत्त्वयाथार्थ्य दीपक भूमिका श्लोक— ३

१७०— Samkhya system, pp-336& 483

१७१— तत्त्याथार्थ्य दीपन पृ०— ६१ पुरुष इस तृतीय सूत्र की व्याख्या मे प्रस्तुत श्लोक उद्धृत है।

१७२— तत्त्वयाथार्थ्य दीपन पृ०—७२ यह श्लोक अध्यात्मम् अधिभूतम् तथा अधिदेवम (७—६) इन तीन सूत्रो की सम्मिलित व्याख्यान् मे उद्धृत है।

१७३— तत्त्वयायार्थ्य दीपन पृ०— ८२ यह श्लोक त्रिविधोबन्ध' इस २१वे सूत्र की व्याख्या मे उद्धृत है।

१७४— तत्त्वयाथार्थ्य दीपन पृ०— ८२ यह श्लोक २२वे त्रिविधो मोक्ष के व्याख्यान् मे उद्धृत है। योगसूत्र— २/१८ के योगवार्तिक मे आचार्य भिक्षु ने भी इसे आचार्य पचशिख का माना है।

१७५— शाति पर्व— २१६/६

१७६— शाति पर्व— २१६/८

१७७— शाति पर्व— २१६/१०

१७८— शाति पर्व— २१६/१२

१७९— शाति पर्व— २१६/१४

१८०— शाति पर्व— २१६/१५ से १६

१८१— शाति पर्व— २१६/२०से २३

१८२— शाति पर्व— २१६/२६ से ३१

१८३— योगभाष्य और तत्त्ववैशारदी— १/३६ योगसूत्र

१८४— साख्य प्रवचन भाष्य— ६/६८

१८५— योगभाष्य— २/३०

१८६— योगभाष्य— २/५२

१८७— योगभाष्य— २/५२

१८८— योगभाष्य— ३/१४

१८९ योगभाष्य ३/४४

१९०— योगभाष्य— ४/१०

१९१— योगभाष्य— ४/२५

१९२— महाभारत— १२/३१८/७३

१९३— मत्स्यपुराण— ४/२८

१९४— History of Indian Philosophy, Pt-II, pp-218 & Pt-III, pp- 479 to 480

१९५— Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt-I, pp-504 & Pt-II, pp-253

१९६— Origin & development of Samkhya system of thought, pp- 39ff & 55ff, Samkhya system, pp- 50 to 55

१९७— महाभारत— १२/२१८/२२ और नारदपुराण— ४४ और ४५

१९८— यूई वैशेषिक फिलासफी पृ०— ७८

१९९— शातिपर्व— ३१८/५९

२००— साख्यकारिका— ७१ पर टीका

२०१— शास्त्री साख्यदर्शन का इतिहास पृ०— ५०७

२०२— गर्गादिभ्यो यत्र गोत्र इत्येव— ४/१/१०५ ।।अष्टाध्यायी।।

२०३— शास्त्री साख्य दर्शन का इतिहास पृ०— ५०७

२०४— करण एकादशमिति वार्षगणा मुक्तिदीपिका पृ०— १३२

२०५— करण त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ।।साख्य सूत्र—२/३८।। और साख्यकारिका— ३२

२०६— युक्तिदीपिका पृ०— ३६

२०७– न्यायवार्तिका– १/१/४

२०८– शास्त्री साख्य दर्शन का इतिहारा पृ०– ८७ से ८८

२०९– Huiyanna, General of Oriental Rseaich, Pt-III, pp-107-112

२१०– गायेव तु न गाया रातुच्छक विनाशि यथाहि मायाहनाभेवान्यया भवति एव विकारा अप्याविर्भावति रोभावधर्माण प्रतिक्षणमन्यथा प्रकृतिर्नित्यतया मायाविधर्मेण परमार्थेति– तत्त्ववैशारदी

२११– शास्त्री साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– ८७ से ८८

२१२– ब्रहारात्र– २/१/३ पर भागती।

२१३– तथा च वार्षगणा पठन्ति प्रधान प्रवृति स्प्रत्यया पुरुषेणा परिगृह्यमणादिसर्गे वर्तते इति पृ०– १०२, करणाना गहती स्वभावाति प्रधानात् स्वलपा च स्वत इति वार्षगण्य पृ०–१०८, साधारणो नहै महान् प्रकृत्वादिति वार्षगणान पक्ष पृ०–१४५ ।।युक्तिदीपिका।।

२१४– योगरात्र गाष्य– ३/५३

२१५– तदाह गूर्ति व्यवधि इति। उक्तभेदहेतूपलक्षणमेतद् जगन्मूलस्य प्रधानस्य पृथकत्व भेदो नास्तीत्यर्थ– योगरात्र ३/५३ पर टीका तत्त्ववैशारदी पृ०– २८७

२१६– गिश्र, डा० आद्या प्रराद राख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ०– ८४

२१७– युक्तिदीपिका पृ०–६७

२१८– युक्तिदीपिका पृ०–७२

२१९– युक्तिदीपिका पृ०–६५

२२०– युक्तिदीपिका, पृ०– १०८

२२१– युक्तिदीपिका पृ०–१०८

२२२– युक्तिदीपिका पृ०–१३२

२२३– युक्तिदीपिका पृ०–१३३

२२४– युक्तिदीपिका पृ०–१७०

२२५– युक्तिदीपिका राख्या– ६, पृ० १०२

२२६– साख्यतत्त्व कौमुदी, आर्या– ४७

२२७– न्यायवार्तिका– १/१/५

२२८— अनुयोगद्वार सूत्र— ४१

२२६— भण्डारकर स्मारक ग्रथ पृ०— १७६ से १७७

२३०— आधुनिक योरोपीय और अनेक भरतीय विद्वानो का मत है कि उपलभ्यमान साख्य ग्रथो मे सबसे प्राचीन ग्रथ आचार्य ईश्वरकृष्ण रचित कारिका है— कीथ ए० बी द सस्कृत आफ सस्कृत लिटरेचर पृ० — ४८८

२३१— कपिलदासुरिणा प्राप्तमिद ज्ञानमत पचशिखेन तस्माद् भार्गवोलूक वाल्मीकि हारीत देवल प्रभृती नागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्रापतम्। तदेव षष्टितत्रमार्याभि सक्षिप्तम् माठर वृत्ति।

२३२— साख्यकारिका— ७२

२३३— Sowani, B B A Critical study of Samkhya system, pp-8, line-15 Sowani, B B

२३४— गौडपादभाष्य मे उनहत्तरवीं कारिका की व्याख्या की गई है। अत विल्सन का मत है कि ७० ७१ और ७२ कारिकाए प्रक्षिप्त है तथा इकसठवी कारिका के बाद एक कारिका लुप्त है परन्तु लोकमान्य तिलक बहत्तरवी कारिका को प्रक्षिप्त नहीं मनते है।

२३५— साख्य कपिल मुनिना प्रोक्त ससार विमुक्ति कारण हि। यत्रैता सप्ततिरियो भाष्य चात्र गौडपाद कृत।

२३६— प्रकते सुकुमारतर न किचिदस्तीति मे मतिर्भवति। या दृष्टाऽस्मीति पुर्नदर्शनमुपैति पुरुषस्य— साख्यकारिका।

२३७— तस्मात् प्रकृतिरेव कारण न प्रकृते कारणन्तमस्तीति न पुर्नदर्शनमुपयाति पुरुषस्य अत प्रकृते सुकुमारतर सुभोग्यतर न कि चिदीश्वरादिकारणम् स्तीति मे मतिर्भवति।

२३८— एवमीश्वरादीनि अकारणानि सुकुमारतरमित्येतद्वाक्यशेष कृत। यस्मात् सुकुमारतर प्रधान तस्मादुच्यते प्रकृते सुकुमारतर न किचिदस्तीति मतिर्भवति इति मे पुरुषस्य।

२३६— डॉ० गगानाथ झा कृत अग्रेजी अनुवाद सहित साख्यतत्त्वकौमुदी सस्कृत अश पृ०— ७३ व ७४

२४०— परमार्थ कृत चीनी अनुवाद का सस्कृत अनुधाद भूमिका पृ०— ४३

२४१— शास्त्री प० उदयवीर साख्यदर्शन का इतिहास पृ०— ४६६ से ७१

२४२— तत सूक्ष्मशरीरमेकादशेन्द्रिय सयुक्त सुवर्णसप्ततिशास्त्र पृ०— ५८

२४३— शास्त्री, अय्यास्वामी सरुवर्णसप्ततिशास्त्र सस्कृत भाग पृ०— ६१

२४४— A Critical study of Samkhya system, pp 53, बहत्तरवी कारिका पर पाद टिप्पणी

२४५– शास्त्री प० उदयवीर साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– १३१

२४६– सप्तमाख्य प्रकरण सकल शास्त्रयेव वा श्लोक– ६

२४७– साख्यसूत्र– ३/१७ साख्यकारिका– ३८ व ३६

२४८– न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहकारिकत्वश्रुते – ५/८४

२४६– शास्त्री साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– १६२ १६३ व१२६

२५०– साख्यकारिका– ६१

२५१– गौडपादभाष्य ६१वीं कारिका पर

२५२– साख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ०– १६४ व १६७

तृतीय अध्याय

सांख्य दर्शन - एक परिचय

भारतीय विद्वानो के लिए मुख्यत चार प्रश्न ही विचारणीय रहे है – (I) मानव का वास्तविक स्वरूप (II) मानव के वास्तविक स्वरूप का मूलस्रोत (III) जीवन के गहनीय उद्देश्य (IV) जीवन के इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपेक्षित साधन। जीवन के क्रियाकलापो से उसके नए आचार से जो नए अनुभव होते थे–क्रमश उससे हमारे विचारो मे परिवर्तन होते रहे है। इस प्रकार आचार से विचार और विचार से आचार प्रेरित होते रहते है। आचार और विचार की एकरूपता के लिए किये जाने वाला निरन्तर प्रयास जीवन के प्रति भारतीय विद्वानो की तात्विक दृष्टि की ओर संकेत करता है। अर्थात भारतीय सास्कृतिक परम्परा मे जो दर्शन कहलाता है जीवन की प्रयोगशाला मे अनुभव किया गया सत्य ही है। यही कारण है कि उनके द्रष्टाओ को ऋषि अथवा साक्षात्कृतधर्मा मनीषी[1] कहते है। उदाहरणार्थ दृश्यतेऽनेनेति दर्शन (दृश धातु ल्युट प्रत्यय करणे) अर्थात जिनके स्वाध्याय तथा तदनुसार अभ्यास या आचरण से तत्त्व का दर्शन हो वे ही दर्शन है। कालान्तर मे रुचि शक्ति अभ्यास आादि कि भेद के तत्त्व के सम्बन्ध मे जैसे–जैसे विचार वैषम्य होते गए वैसे–वैसे विभिन्न प्रकार के दर्शन सम्प्रदायो का विकास हुआ ऐसे ही एक प्रमुख दर्शन साख्यमत का प्रारम्भ हुआ। साख्यदर्शन के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल[2] कहते है भारतीय सस्कृति मे किसी समय साख्य दर्शन का अत्यन्त ऊँचा स्थान था। देश के उदात्त मस्तिष्क साख्य की विचार पद्धति से सोचते थे। वस्तुत महाभारत[3] मे भी इस दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके शातिपर्व मे पचशिख धर्मध्वज याज्ञवल्क्य आदि साख्याचार्यों के विचारो का उल्लेख किया गया है। साख्य दर्शन का प्रभाव गीता मे प्रतिपादित दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पर्याप्त रूप से विद्यमान है।

साख्य शब्द की निष्पत्ति सख्या शब्द में अण् प्रत्यय जोडने से और सख्या शब्द की व्युत्पत्ति सम् उपसर्ग+चक्षिङ् धातु → ख्यात्र दर्शन + अड प्रत्यय + टाप् से हुई है जिसका तात्पर्य है सम्यक् ख्याति अर्थात सत्य (विवेक) ज्ञान है। यहॉ सख्या सम्यक् विचारण और क्रमपूर्वक तत्त्ववचन को स्पष्ट करती है इन दोनो अर्थों को इसमे व्यक्त करने के लिए आचार्य विज्ञानभिक्षु महाभारत[4] के निम्न श्लोक को प्रस्तुत करते है –

सख्या प्रकूर्वते चेव प्रकृति च प्रचक्षते।

तत्वानि च चतुर्विंशत् तेन साख्य प्रकीर्तितम्।।

यहाँ गणनार्थक सख्या शब्द से साख्य की निष्पत्ति मानकर उल्लिखित है कि जो सख्या प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान का उपदेश करते है। जो प्रकृति का प्रतिपादन करते है तथा जो तत्त्वों की सख्या चौबीस मानते है व साख्य दर्शन कहलाते है। विवेकज्ञान[५] से परमपुरुषार्थ कैवल्य की प्राप्ति होती है इस प्रकार सख्या शब्द साख्यदर्शन की अतिमहत्त्वपूर्ण दार्शनिक खोज को व्यक्त करने वाला सक्षिप्त नाम है। जिसके प्रथम व्याख्याता होने के कारण प्राचीन काल से ही साख्य नाम से अभिहित हुए। वर्तमान समय मे साख्यकारिका और साख्यप्रवचनसूत्र दोनों ही ग्रन्थो मे प्रकृति और पुरुष की सत्ता तथा सत्कार्यवाद की स्थापना हेतुओ के आधार के रूप मे की गई है। इस प्रकार शास्त्र का श्रवण भी जो विवेकज्ञान का मूलाधार है प्रायेण तर्कप्रधान है। मनन में तो अनुकूल तर्कों द्वारा शस्त्रोक्त तथ्यों तथा सिद्धातो का चिन्तन निहित है। अत विवेकज्ञान के कारण साख्यदर्शन का विशेष सम्बन्ध तर्क और बुद्धिवादिता से है। प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी साख्य मत को श्रुति का सत् तर्कों द्वारा ही किए जाने वाला मनन मानते हुए कहते है जो एकाऽडद्वितीय इत्यादि पुरुष विषयक वेद वचन जीव का सारा अभिमान दूर करके उसे मुक्त कराने के लिए उस पुरुष को सर्वप्रकार के वैधर्म्य रूप भेद से रहित बताते है न कि उसकी अखण्डता का प्रतिपादन करते है। उन्ही वेदवचनो के अर्थ के मनन के लिए अपेक्षित सद् युक्तियो का उपदेश करने के लिए साख्य कर्ता नारायणावतार भगवान् कपिल आविर्भूत हुए थे[६] और अचाक्षुषणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वहने के भाष्य[७] मे भी इसी बात का समर्थन किया गया है।

'गणक शब्द पर शास्त्री जी फुटनोट मे लिखते है[८] कि वस्तुत इसका अर्थ तत्त्वज्ञान है। लेकिन सख्या इतना गौण अर्थ नही रखता ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल मे दार्शनिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जब तत्त्वो की सख्या निश्चित नही थी तब साख्य ने जगत की सूक्ष्म मीमासा का प्रयास किया था जिसके फलरवरूप चौबीस तत्त्वो को माना गया। जिसमे प्रथम तत्त्व प्रकृति अर्थात प्रधान को शेष तेइस का मूल सिद्ध किया गया। चित्त पुरुष के सानिध्य से इसी एक तत्त्व प्रकृति को क्रमश तेइस अवान्तर तत्त्वों मे परिणत होकर समस्त जड जगत का विकास माना गया। साख्य दर्शन का सक्षिप्त समग्र अध्ययन करने की दृष्टि से निम्नवत् विषयों का उल्लेख आवश्यक है।

(I) तत्त्वमीमांसा

तत्त्वमीमासा का मुख्य विषय है वह कौन–सा आधारभूत तत्व है? जिससे समस्त ससार की उत्पत्ति होती है और उसका रवरूप क्या है? विश्व का मूलभूत स्वरूप क्या है? साख्य दर्शन दो निरपेक्ष तत्वो प्रकृति और पुरुष को मानता है। अत वह द्वैतवादी है। विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वह विकासवादी है। जहाँ ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही किया जाता। साख्य प्रकृति और पुरुष दोनो की सिद्धि अनुमान रो मानता है क्योकि मूलप्रकृति और पुरुष दोनो ही प्रत्यक्ष के विषय नही है।[९] साख्य दर्शन २५ तत्त्वो का ज्ञान देता है। जिसमे प्रकृति और उसके २३ विकारो तथा पुरुष का रागावेश है।

(1) प्रकृति

साख्य की प्रकृति प्रत्यक्षगम्य नही है उसकी उपलब्धि इसलिए नही होती कि वह नितान्त सूक्ष्म है। उसका ज्ञान उसके कार्यों से होता है जो प्रकृति के लिग और अनुमापक है। साख्यकारिका प्रकृति के सम्बन्ध मे युक्ति देती है। प्रकृति के रवरूप सम्बन्धी तर्क –

भेदानापरिमाणात समन्वायत् शक्तित प्रकृतेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरवरूपश्च ।।[१०]

१ भेदाना परिमाणात् - इस जगत के सारे पदार्थ अर्थात् बुद्धि से लेकर महाभूत पर्यन्त परिमित परिणाम वाले है। आ० वाचरपति मिश्र के शब्दों में वे अव्यापी है। प्रत्येक कार्य अपने कारण की तुलना मे परिमित अर्थात् सीमित है। अत जगत के सब पदार्थों का मूलकारण अवश्य ही असीमित और अपरिमित होना चाहिए और यह कारण प्रकृति है।[११]

२ समन्वयात् - इस जगत के सब पदार्थ सुखदु खमोहात्मक है अर्थात एक ही पदार्थ भिन्न–भिन्न लोगो मे भिन्न–भिन्न प्रभाव पैदा करता है जैसे बसन्त मे कोयल की कूक प्रिया सयुक्त पुरुष गे सुख ओर विरही में दु ख ओर माली मे मोह (अज्ञान) उत्पन्न करती है। इस प्रकार ससार के सब पदार्थ त्रिगुणमय है। उनमें एकता व समानता सर्वत्र पायी जाती है। सत्व गुण से

सुख रजोगुण से दु ख और तमोगुण से मोह उत्पन्न होता है। अत सिद्ध है कि त्रिगुणत्मिका प्रकृति जो तीनो गुणो से समन्वित है ही समरत पदार्थो का मूल कारण है।

३ **शक्तित प्रकृतेश्च** - प्रत्येक कार्य का उद्‌गम एक कारण से होता है जिसमे उसे उत्पन्न करने की शक्ति निहित होती है। यहॉ शक्ति का अर्थ वही है कि कार्य कारण मे अनभिव्यक्ति रूप ले वर्तमान रहता है। यह शक्तिमती मूलकारण प्रकृति है।

४ **कारणकार्यविभागाद्** - विधमान कार्य ही कारण रा आर्विभूत होकर विभक्त रूप मे (कारण से भिन्न रूप मे) प्रतीत होता है। आ० वाचरपति मिश्र यहॉ कछुए का उदाहरण देते है। जैसे कछुए मे पहले रो ही मोजूद अग बाद में अलग–अलग निकले हुए दिखाई देते है। यह विभाग ही सिद्ध करता हे कि अव्यक्त कारण से ही समस्त व्यक्त कार्य उत्पन्न होते है। यह अव्यक्त कारण प्रकृति है।[१२]

५ **अविभागाद् वैश्वस्वरूपस्य** – इस जगत के समरत पदार्थों की रवरूपगत एकता ही वैश्वरूप है रागजरय है। यह एकता गूलकारण प्रकृति से आती है। अत विश्व के समस्त पदार्थ प्रलय मे पुन लीन होकर कारण से अविभक्त बन जाते है। सिद्ध है कि अव्यक्त कारण ही प्रकृति है।

चोथी और पाचवी युक्तियो का आधार सत्कार्यवाद है। चौथी युक्ति के अनुसार उत्पत्ति के समय कार्य का कारण से अविर्भाव होता है और अपने विनाश के समय कार्य का कारण में तिरोभाव हो जाता हे। इस प्रकार उक्त दोनो युक्तियॉ पहले से मौजूद कार्य के विभाग और अविभाग से अव्यक्त कारण की सत्ता सिद्ध होती है। जबकि शेष तीन युक्तियॉ त्रिगुणात्मक विश्व के आधार पर अव्यक्त प्रकृति को सिद्ध करती है। साख्य का परिणामवाद आधुनिक विकासवाद से भिन्न है। आधुनिक विकासवाद नवीन की उत्पत्ति और कुछ हद तक प्रगति भी मानते है। साख्य उन्नति और अवनति सृष्टि ओर प्रलय दोनो का समर्थक है। जिस क्रम से प्रकृति सृष्टि करती है। उससे उलटे क्रम मे विश्व को अपने मे लय भी करती है। साख्य के विकास या परिणामवाद की एक विशेषता यह है कि यह विकास निरुद्‌देश्य नही होता है। बल्कि पुरुष मे मोक्ष माध्यम के लिए होता है।[१३] साख्य के मूलतत्त्व यानी प्रकृति का अनुमान

सत्कार्यवाद पर निर्भर है इस सम्बन्ध मे कारिका कहती है –

असद्कारणादुपादानग्रहणात्सर्व सभवाभावात ।

शक्तस्य शक्यकारणात कारणभावाच्च सत्कार्यम ।।[१४]

१ **असदकारणात्** - यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नही तो वह असद् होगा असद् होने से वह शशश्रृग के समान होगा। धर्मी के बिना धर्म नही रह सकता है। कर्म वाले फल को किसी न किसी रूप में मौजूद रहना चाहिए। जैसे कि असद् का कभी भाव नही होता है और असद् का कभी अभाव नही होता।[१५]

२ **उपादानग्रहणात्** - प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण या समवाय कारण से सम्बद्ध रहता है और इसीलिए उसमे उसकी उत्पत्ति होती है। कोई भी सम्बन्ध दो सद् पदार्थों मे रह सकता है। सत और असत् मे सम्बन्ध नही हो सकता है जैसे तिल के बिना तेल नही हो सकता है। इसमे कार्य के उपादान कारण मे विद्यमानता सिद्ध होती है। आ० वाचस्पति मिश्र ग्रहण का अर्थ सम्बन्ध मानते है।

३ **सर्वसम्भावनभावात्** - सब वस्तुओं मे दूसरी सब वस्तुओ की उत्पत्ति असमान होना यह सिद्ध करता है कि कार्य असत् नही होता कार्य की उत्पत्ति पूर्व भी उपादन करण मे विद्यमान मानना पडेगा। अन्यथा किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति माननी पडेगी और यह असभव है।

४ **शक्तस्य शक्यकारणात्** - यह तर्क पूर्व तर्क का पूरक है। शक्त कारण से है शक्य करण की उत्पत्ति सभव है। जिस करण मे जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। उस करण से वही कार्य उत्पन्न हो सकता है अन्यथा बैल से दूध भी दूहा जा सकेगा।

५ **कारणभावात्** - कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो रूप है। अर्थात कार्य वास्तव में कारणात्मक होता है कारण से भिन्न नही। तात्त्विक रूप मे कार्यकरण अभिन्न है। दोनो में भेद अव्यवहारिक है। कारणकार्य की अव्यक्तावस्था है और कार्य कारण का व्यक्त रूप है।

साख्य के कार्यकारणवाद पर उसका प्रकृतिवाद निर्भर है। क्योकि प्रकृति की सिद्धि कारण के रूप मे उसके कार्यो द्वारा होती है। सत्कार्यवाद के सम्बन्ध मे साख्य प्रकृतिपरिणामवाद है। कार्य नई सृष्टि नही है वह कारण की कार्य रूप मे अभिव्यक्ति है।

प्रकृति स्वरूप सम्बन्धी तर्क – साख्य की प्रकृति एक निरपेक्ष तत्त्व है। प्रकृति समस्त जड जगत की जननी है वह स्वय अजन्मा है। सृष्टि का आदि कारण होने से इसे मूलप्रकृति कहा जाता है। अत इसे प्रधान भी कहा जाता है। इसमे समरत कार्य अव्यक्त रूप में से विद्यमान रहती है। अत यह अव्यक्त कहलाती है। यह जड ओर अचेतन होने से विवेकशून्य है। लेकिन एक रवतत्र और व्यापक होने के साथ सामान्य या अनेक पुरुष भोग्य है।[१६] वह त्रिगुणात्मक है।[१७] अर्थात प्रकृति सत्त्व रजस और तमस तीनों गुणो से बनी है। प्रकृति निरन्तर परिणाम सातिकी है। इसमे विरूप या सरूप परिणाम होता है। इस अर्थ मे भी वह प्रसवधर्मिर्णी है।[१८] प्रकृति के गुण सूक्ष्म और अतिन्द्रिय है इसीलिए प्रकृति के समान इनका भी प्रत्यक्ष नही होता है। इनके कार्यो से इनका अनुमान किया जाताहै।[१९] सत्व गुण का कार्य सुख है रजोगुण का कार्य दु ख है तमोगुण का कार्य मोह है ये प्रकृति के निर्माणक तत्त्व है।[२०] सत्त्व गुण शुद्धता या स्वच्छता का प्रतीक है। यह प्रकाश ओर लघु होने रो उर्ध्वगागी है। यह शुक्लवर्ण है इसमे सरलता प्रीति श्रद्धा सन्तोष विवेक दया आदि सुखद भाव आते है। रजोगुण अशुद्ध का प्रतीक है। यह सक्रिय अचल तथा उपरटम्भव है या सश्लेषजनक होता है इसी की क्रियाशीलता के कारण निरन्तर परिणाम होता है। यह रक्तवर्ण है उसमे मानमद द्वेष क्रोध अप्रीति मत्कर आदि दु खद भाव आते है। तमोगुण अन्धकार या अज्ञान का प्रतीक है। यह गुण अवच्छायक और अवरोधक होने से अधोगामी है। यह कृष्ण वर्ण है। इसमे प्रमाद आलरय निद्रा मूर्च्छा विशाद आदि आते है। ये तीनो गुण एक दूसरे से पृथक नही किये जा सकते है। ये सदा सयुक्त रहते है।[२१]

(II) पुरुष

साख्य दर्शन का दूसरा निरपेक्ष तत्त्व पुरुष है वह निष्क्रिय और अचेतन आत्मतत्त्व है।

वह विषयी ज्ञाता और अनुभविता है। वह शरीर इन्द्रियॉ बुद्धि अहकार और मन से विलक्षण या भिन्न है। पुरुष चैतन्य रवरूप है। वह परम विशुद्ध परातपर चैतन्य है। जो समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। वह साक्षी और कूटस्थ नित्य है। वह व्यापक और विभु है। वह कार्य–कारण भाव से परे निर्गुण है। वह दिक भावातीत है। किन्तु आनन्द रवरूप नही है। आनन्द और चैतन्य दो भिन्न–भिन्न वरतुए है। पुरुष केवल द्रष्टा है। वह अकर्ता है[२२] जब अज्ञान के कारण पुरुष रवय शरीर या बुद्धि या मन समझ बैठता है। तब उसे आभासित होता है कि वह कर्म या परिवर्तन के प्रवाह मे पडकर नाना प्रकार के दु खों क्लेषों के दलदल मे फस गया है। साख्य पुरुष की सत्ता सिद्ध करने के लिये निम्न तर्क देता है –

सघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोस्ति भोक्तृभावात कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च्।।[२३]

१ **सघातपरार्थत्वात्** - प्रकृति ओर उसमे उत्पन्न सघात रूपी समरत व्यक्त कार्य समूह जड होने से अपने लिए नही है। प्रत्युत उसकी सत्ता किसी अन्य के लिए है। जो चेतन हो तथा जिराके प्रयोजन को जानने के लिए हो उसकी रात्ता हो। रचना रचयिता की ओर नहीं, बल्कि अपना उपयोग करने वाले की ओर इगित करती है। प्रकृति तीनो गुण बृद्धि अहकार मन इन्द्रिय शरीर आदि सब पुरुष के भोग्य ओर अपवर्ग रूपी प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होते है। यह प्रयोजनमूलक तर्क है।

२ **त्रिगुणादिविपर्ययाद्** - तीनो गुणो से भिन्न होने से प्रकृति तथा अव्यक्त कार्य समूह सत्व रजस और तमोगुण युक्त है। इस प्रकार ससारके पदार्थों का त्रिगुणमय होना गुणहीन पुरुष को सिद्ध करता है। क्योकि सगुण निर्गुण की ओर तथा त्रिगुण नि त्रिगुण की ओर चेतन अचेतन की ओर तथा परिणामी अपरिणामी की ओर अनिवार्यतया सकेत करता है। जिसमे पुरुष चेतन की सत्ता सिद्ध होती है। यह तर्कशास्त्रीय तर्क है।

३ **अधिष्ठनात्** - ज्ञान तथा रागरत अनुगान अधिष्ठान के रूप मे पुरुष की सत्ता सिद्ध है। हमारा लौकिक ज्ञान सुख और दु ख अनुभव बुद्धि का अहकार या गनोमूलक हमारी सारी चित्तवृत्तियॉ

ज्ञाता या अनुभविता की ओर सकेत करती है। यह ज्ञाता ही हमारे ज्ञान को सारी चित्तवृत्तियो को प्रकाशित करके एकता के सूत्र मे पिरोती है। यह प्रमाता और साक्ष्य चैतन्यरूप है। यह सत्तामूलक तर्क है।

४ **भोक्तृभावात्** - प्रकृति तथा उसके कार्यसमूह जड होने से भोग्य है। वे स्वय अपना उपभोग नही कर सकते है। सब पदार्थ सुख दु ख और मोह उत्पन्न करते है। अत जड भोग्य वस्तु के भोगार्थ चेतना भोक्ता की सत्ता अनिवार्य है। दृश्य से द्रष्टा का अनुमान किया जाता है। यहॉ भोक्ता होने का अर्थ द्रष्टा होना है। यह नीतिशास्त्रीय तर्क है।

५ **कैवल्यार्थम् प्रवृते** - ज्ञानी पुरुषों में कैवल्य के लिए प्रवृत्ति पायी जाती है। विविध दु खों की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही कैवल्य कहा जाता है। बुद्धि मन आदि सुख–दु ख इत्यादि गुणों से युक्त है उनसे दु ख निवृत्ति या कैवल्य की इच्छा नही हो सकती। अत कैवल्य की इच्छा पुरुष की सत्ता सिद्ध करता है। कैवल्य प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान से सम्भव है। यह आध्यात्मिक अर्थात रहरयवादी तर्क है।

साख्य दर्शन पुरुष की अनेकता मे विश्वास करता है। यह पुरुषो मे सख्यागत भेद और गुणगत अभेद मानता है। साख्य पुरुष की अनेकता स्वीकार कर उसके समर्थन मे निम्न तर्क देता है –

जननमरणकरणाना प्रतिनियमादयुगपद् प्रवृतेश्च।
पुरुषबहुत्व सिद्ध त्रैगुण्यविपर्यय याच्चैव।।[२४]

। **जननप्रतिनियमात्** - विभिन्न पुरुषो का जन्म अलग–अलग होता है अन्यथा एक पुरुष के जन्म होने सें सभी पुरुषो का जन्म हो जाता।

॥ **मरणप्रतिनियमात्** - भिन्न–भिन्न पुरुषो की मृत्यु भिन्न–भिन्न रामय पर होती है। अन्यथा एक पुरुष की मृत्यु होने मात्र से सभी पुरुषों की मृत्यु हो जाती।

III **करणानाप्रतिनियमात्** - प्रत्येक पुरुष की ज्ञानेन्द्रियॉ अलग–अलग होती है और उसी के

अनुरूप उनकी विषय ग्राह्यता भी इसलिए जब कोई पुरुष किसी रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श का अनुभव करता है तो अन्य सभी पुरुषो को यही अनुभव एक साथ नही होता है। अत सिद्ध है कि पुरुष अनेक है।

ıv **अयुगपतप्रवृते** - सभी पुरुषो की प्रवृत्तियॉ भिन्न–भिन्न होती है यही कारण है कि किसी एक काम मे सब पुरुषों की प्रवृत्तियॉ एक साथ नही होती है। दोनो प्रवृत्तियॉ कर्मेन्द्रियों द्वारा कृत शारीरिक तथा वाचिक कर्म और अन्त करण द्वारा कृत मानस कर्म की प्रवृत्ति अलग–अलग पुरुषों मे अलग–अलग होती है जैसे सुख दु ख चलना खाना आदि ऐसा नही होता कि एक पुरुष के बन्धन अथवा मुक्ति से सबकी बन्धन अथवा मुक्ति हो जाय।

v **त्रैगुण्यविपर्ययात्** - पुरुषो मे सख्यागत तथा गुणगत दोनो प्रकार के भेद है क्योकि किसी पुरुष में सत्व गुण का प्रधान है किसी मे रजोगुण का और किसी मे तमोगुण का। अत तीनों गुणो के अनुपात मे न्यूनाधिक भेद के कारण प्रति शरीर मे अधिष्ठाता पुरुषो मे भेद सिद्ध होता है। अत पुरुषो की अनेकता सिद्ध है।

(ııı) प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध

सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति और पुरुषों के सम्बन्ध के द्वारा सभव होती है। प्रकृति पुरुषार्थ सिद्धि के लिए होता है? और गुण वैषम्य उत्पन्न करने वाले विरूप परिणाम से होता है। ऐसा अकेले प्रकृति द्वारा सम्भव नही है। अत साख्य दर्शन इस प्रकृति के लिए पुरुष को भी सम्बद्ध किया है। इस प्रकार प्रकृति को पुरुष की अपेक्षा रहती है। वह स्वय पुरुष को देखना चाहती है। वह चाहती है कि पुरुष उसे देखे उसका भोग करे तथा उसके स्वरूप को जानकर मोक्ष प्राप्त कर सके। इसीलिए प्रकृति के भोग मे प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए प्रकृति सृष्टि में प्रवृत्त होती है। प्रकृति अचेतन और अन्ध है किन्तु सक्रिय है। पुरुष चेतन और द्रष्टा है किन्तु पगु और निष्क्रिय है। जिस प्रकार कोई पगु व्यक्ति किसी अधे व्यक्ति के कन्धों पर बैठकर उसे मार्ग बताता रहे और अधा व्यक्ति चलता रहे तो वे दोनो इस परस्पर सयोग से अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँच सकते है। जहॉ उनमें से कोई भी अकेला नही जा सकता था। इसी प्रकार पगु

अन्ध न्याय से पुरुष और प्रकृति पररपर सयुक्त होकर सृष्टि करते है।[२५] लेकिन साख्य प्रकृति और पुरुष को परस्पर विपरीत और स्वतत्र तत्त्व रवीकार करती है। उसका यह द्वैतवाद प्रकृति और पुरुष के सयोग मे बाधक है। फिर यहाँ पगु ओर अन्ध व्यक्ति मे चेतन प्राणी हैअत उदाहरण उपयुक्त नही है। लेकिन सृष्टि के क्रम के सम्बन्ध मे साख्यकारिका कुल २५ तत्वों का उल्लेखकरती है। इसमे प्रकृति प्रथम और पुरुष पच्चीसवॉ तत्त्व है। प्रकृति और पुरुष के सयोग मे सर्वप्रथम महत अर्थात बुद्धि पुन अहकार और अहकार में सात्विक अहकार से एकादश इन्द्रियॉ इरागे अन्त करण गन पच ज्ञानेन्द्रियॉ–श्रवण त्वचा चक्षु जिह्वा घ्राण और पच कर्मेन्द्रियॉ–वाक पाणि पाद प्रजनन और विसर्जन का उद्भव होता है। तामस अहकार से पचतन्मात्राए रूप रस गन्ध रपर्श ओर शब्द उत्पन्न होते है। राजस अहकार अन्य दोनों अहकारो को क्रियाशीलता प्रदान करता है। तन्त्रमात्राओ से पचमहाभूत–आकाश अग्नि वायु जल और पृथ्वी उत्पन्न होते है। इस आ० वाचरपति मिश्र भी स्वीकार करते है।[२६]

सर्वप्रथम आर्विभूत तत्त्व महत् व्यष्टि मे बुद्धि कहलाता है। बुद्धि अचेतन और प्रकृति का सूक्ष्मतम तत्त्व है जो पुरुष के चैतन्य को स्वय मे दर्पण की भाति प्रतिबिम्बित करता है। इसमें अचेतन बुद्धि अचेतनवत श्रेष्ठ होती है। निर्गुण युग सीमित मानकर जीव के रूप मे प्रतीत होता है। रा।त्विक बुद्धि के कर्ग ज्ञान वैराग्य ओर ऐश्वर्य चार गुण है। क्योकि तामस बुद्धि इसमे विपरीतगुण वाली होती है। बुद्धि से अहकार की उत्पत्ति होती है यह व्यक्तित्व का तत्त्व है। अहकार के कारण ही मै व मेरा का भाव होता है। इसी से ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व के साथ कर्तृत्व की भावना आती है। अहकार तीन प्रकार के होते है[२७] –

(अ) सात्विक अहकार - सत्त्व गुण प्रधान होता है जिससे समष्टि रूप से एकादशेन्द्रियॉ उद्भूत होती है और व्यष्टि रूप मे शुभ कार्य उत्पन्न होते है।

(व) तामस अहकार - तामरा अहकार तमोगुण प्रधान है। समष्टि रूप मे यह पचतमत्राओ को और व्यष्टि रूप मे प्रमाद आलश्य काम लोभ आदि को उत्पन्न करता है।

(स) राजस अहकार - रजो गुण प्राधान्य है, समष्टि रूप मे सात्विक और तामस अहकार को

शक्ति देता है। जबकि व्यष्टि रूप मे अशुभ कार्यों का जनक है । इस प्रकार बुद्धि अहकार और मन तीनो अन्त करण और पचज्ञानेन्द्रियॉ और पचकर्मेन्द्रियॉ तेरह करण है।[२८] आचार्य ईश्वर कृष्ण और वाचरपति मिश्र के मत के विपरीत आचार्य भिक्षु का मत है कि सात्विक अहकार से मात्र मन और राजस अहकार से दस इन्द्रियॉ उत्पन्न होती है।[२९] लेकिन यह मत पच्चीसवी कारिका के सात्विक एकादशक के साख्य सिन्द्धान्तीय और व्याकरणिक व्याख्या के अनुरूप नही है।[३०]

तामस अहकार से पचतमात्राए - नाम रूप रस गध र्स्पश और शब्द जिससे पच महाभूत पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश की उत्पत्ति होती है । तन्मात्राओ और गुणो के नाम एक ही है। आकाश नामक महाभूत तथा उसका शब्द नामक गुण दोनो उत्पन्न होते है। शब्द तन्मात्र सहित रपर्श तन्मात्रा से वायु नामक महाभूत और उससे शब्द तथा रपर्श नामक गुण उत्पन्न होते है। शब्द रपर्श तन्मात्र सहित रूपतन्मात्रा से अग्नि या तेजस नामक गुण उत्पन्न होते है। शब्द रपर्श रूप तन्मात्रा सहित रस तन्मात्रा से जल नामक महाभूत और उसके शब्द रपर्श रूप रस नामक गुण उत्पन्न होते है। शब्द रपर्श रूप रस तन्मात्रा सहित गन्ध नामक गुण उत्पन्न होते है।[३१] प्रकृति का सारा सृष्टि व्यापार पुरुष के भोग ओर मोक्ष रूपी प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होता हे । प्रकृति से अधिक गुणवती ओर उपकारिणी अन्य कोई नही है।

(iv) बन्धन और मोक्ष

हमारा सासारिक जीवन सुख–दुख से भरा हुआ है। यदि किसी जीव के लिए दु ख क्लेशो से त्राण पाना सम्भव भी हो तो जरा और मृत्यु के चगुल से छुटकारा पाना उनके लिए असम्भव है । सासारिक जीवन आध्यात्मिक दु ख मे जीव की अपने शरीर या मन आदि से उत्पन्न होता है जैसें शारीरिक अथवा मानसिक व्याधियो रोग क्षुब्ध क्रोध आधिभौतिक दु ख जो बाह्य भोतिक पदार्थ के कारण उत्पन्न होता हे । जेसे काटे का गडना चाकू की चोट या लडने आदि और आधिदैविक दु ख बाह्य आलौकिक कारण रो उत्पन्न होता है जैसे भूत प्रेत बाढ आदि से भरा है।[३२]

पुरुष बुद्धि मे प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य के रूप मे अर्थात् जीव के रूप मे प्रतीत होने लगता है। तब बुद्धि मे सुख–दु ख का अविर्भाव होने पर पुरुष को ऐसा भान होता है कि उसे ही सुख–दु ख हो रहा है जैसे अपने सेवक के अपमान मे स्वामी अपना अपमान समझता है। यही अविवेक सारे अनर्थो की जड है। इस प्रकार द्रष्टा रूप पुरुष अपने को दृश्य (प्रकति) समझ लेता है। बन्धन इसी चीज का नाम है शुद्ध पुरुष का नही। बचपन के कारण ही पुर्नजन्म का चक्र चलता है। साख्य मत मे यह नवीन कारण आयी कि एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर मे जाने वाला आत्मा रूप पुरुष नही अपितु लिग शरीर है। जिस लिग शरीर मे तेरह कारण होते है।[३३] जब पुरुष को अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है।[३४] त्रिविध दु ख की आत्यान्तिक निवृत्ति को साख्य ने मोक्ष मुक्ति अपवर्ग कैवल्य की सज्ञा दी है। यही परम पुरुषार्थ है । मोक्ष मे पुरुष अपने नित्य शुद्ध चैतन्य रूप मे प्रकाशित होता है। लेकिन मोक्ष आनन्द रूप नही है। क्योकि एक तो सुख–दु ख सापेक्ष है और दूसरे सुख सत्व गुण का कार्य है तथा पुरुष स्वभावत त्रिगुणातीत है।

सभी दु ख क्लेशो से मुक्ति पाने का मार्ग है। विवेक ज्ञान अर्थात प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान। कर्म गुणो से सम्भव है अत कर्म से मोक्ष नही मिल सकता। क्योंकि मोक्ष निस्त्रैगुण्य है। सुखी या दु खी होने वाला मन है आत्मा नही। इसी तरह पुण्य धर्म और अर्धम आदि अहकार के गुण है जो सभी कार्यो का प्रवर्तक या कर्त्ता है।[३५] परिवर्तनशील मनोविकार मन के ध - र्म है आत्मा के नही। आत्मा शारीरिक और मानसिक क्रियाओ का केवल साक्षी मात्र है। यह जो भ्रम है कि यह शरीर या मन ही मै हूँ इसे दूर करने के लिए सत्य का साक्षात् अनुभव जरूरी है। सम्यक ज्ञान होते ही पुरुष मुक्त हो जाता है, भले ही प्रारब्ध कर्मो के कारण वह सदेह बना रहे यह जीवन्मुक्ति की अवस्था है।[३६] मृत्यु के अनतर जब देह से भी मुक्ति होती है तो उसे विदेहमुक्ति कहते है । इस अवस्था मे स्थूल सूक्ष्म सभी प्रकार के शरीर से सम्बन्ध छूट जाता है और कैवल्य की प्राप्ति होती है। आ० विज्ञानभिक्षु विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मानते है।[३७] अन्त करणावच्छिन्न जीव का लिग शरीर के रूप मे बन्धन होता है और उसी का मोक्ष होता है। इस प्रकार प्रकृति ही बधती है और प्रकृति ही मुक्त होती है। अत पुरुष का न तो बन्धन

होता है और न वह जन्म–मरण रूपी ससार चक्र मे फसता है और न वह मुक्त होता है। यह तो प्रकृति मे ही है जो लिग शरीर के रूप मे नाना पुरुषो के आश्रय से बधती है और ससरण करती है और मुक्त होती है।[३८] इस प्रकार साख्य दर्शन मे पुरुष बन्धन और मोक्ष से असपृक्त है।

(v) ईश्वर

मूल साख्य सेश्वर रहा होगा किन्तु शास्त्रीय आचार्य ईश्वर कृष्ण के समय मे निरीश्वरवादी हो गया। सम्भव है वह जैन और बोद्ध दर्शन के प्रभाव के कारण हुआ हो।[३९] यहाँ अत ईश्वर के अरितत्व के विरुद्ध निम्न युक्तियाँ[४०] दी जाती है –

1 ईश्वर को नित्य निर्विकार और परमतत्त्व माना जाता है किन्तु जो परिणामी नही हैं। वह किसी वस्तु का निमित्त कारण नही हो सकता ।

2 यदि ईश्वर प्रकृति का नियामक है तो ईश्वर प्रकृति के सचालन के द्वारा सृष्टि रचना मे क्यों प्रवृत होता है। क्योकि पूर्ण ईश्वर मे कोई अपूर्ण इच्छा नही है। दूसरे ससार इतने पापो और कष्टो रो भरा है कि यह कहना अरागत प्रतीत होता है कि ईश्वर जीवो के हित साधनार्थ सृष्टि करता है ।

3 यदि ईश्वर मे विश्वास किया जाय तो इससे जीवो का स्वातत्र्य और अमरत्व बाधित हो जाता है। क्योंकि यदि जीव ईश्वर के अग है तो वे ईश्वरीय शक्ति से युक्त नश्वर होने चाहिए। परन्तु ऐसा नही है।

लेकिन कुछ साख्य टीकाकार जैसे आचार्य विज्ञानभिक्षु[४१] और लोकमान्य तिलक[४२] साख्य को ईश्वरवादी मानते है। यहाँ ईश्वर को सृष्टि क्रिया के प्रवर्तक के रूप मे नही मानते अपितु इनका मानना है कि ईश्वर के रान्निकर्ष रो ही प्रकृति की क्रियाशक्ति प्रवर्तित हो जाती है। किन्तु यह ईश्वरवादी साख्य मत रवीकार्य नही है।[४३]

(II) ज्ञानमीमासा

दर्शन प्रमुख विषय है। समग्र विश्व का उसकी मौलिक वास्तविकता मे ज्ञान प्राप्त करना ज्ञानसम्बन्धी विवेचना मे निम्न प्रश्न उठते है– ज्ञान क्या है? ज्ञान के साधन के क्या है? ज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध क्या है? और ज्ञान की सत्यता–असत्यता कैसे निर्धारित की जाती है। साख्यकारिका मे प्रमाण का लक्षण नही दिया गया है। आ० वाचस्पति मिश्र के मत मे प्रमाण की व्युत्पत्ति से ही उसका लक्षण प्राप्त हो जाता है फिर भी प्रमाण की विवेचना की जाती है वह इस प्रकार है –

किसी विषय के यथार्थ निश्चित ज्ञान को प्रमा कहते है। जब चैतन्य पुरुष बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होता है तब ज्ञान का उदय होता है । बुद्धि जड है और चैतन्य रूप होकर भी स्वत विषयो का साक्षात्कर नही कर सकती है। आत्मा को बुद्धि मन और इन्द्रियो के द्वारा विषयों का ज्ञान होता है। जब इन्द्रियो और मन के व्यापार मे विषयो का आकार बुद्धि पर अकित हो जाता है और बुद्धि पर आत्मा के चैतन्य का प्रकाश पडता है। तब उसे उन विषयो का ज्ञान होता है। प्रमा की उत्पत्ति तीन बातो पर निर्भर करती है–

1 **प्रमाता** - जानने वाला ।

2 **प्रमेय** - विषय जो जाना जाता है।

3 **प्रमाण** - साधन जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार बुद्धि की वृत्ति को जिसके द्वारा पुरुष को विषय का ज्ञान होता है प्रमाण कहते है।[४४]

साख्य मे यथार्थ ज्ञान और भ्रान्तिज्ञान आदि बुद्धि या चित्त की वृत्तिया है क्योकि पुरुष के निर्विकार और एकरस होने के कारण उसमे किसी प्रकार का विकार नही होता है। यहॉ चित्त वृत्ति को प्रमा कहा गया है। लेकिन चित्त या बुद्धि की वृत्ति जड है । उसे ज्ञान नही कह सकते दूसरी दृष्टि मे पुरुष का बोध ही प्रमा है। साख्यसूत्र[४५] मे इन दोनों प्रमा को स्वीकार किया गया है। आ० वाचस्पति मिश्र के मत मे मुख्य अर्थ मे बुद्धिवृत्ति प्रमा है और गौण अर्थ मे **पुरुष का**

बोध। यह मत साख्य के पुरुष अवधारणा के अनुरूप भी है। सुख–दु ख ज्ञानादि परिणाम बुद्धि मे होते है। अविवेक के कारण पुरुष उन्हे आत्मसात करता प्रतीत होता है। इस प्रतीति के कारण ही प्रमा या बोध पुरुष का कहा गया है । आचार्य विज्ञानभिक्षु[४६] यहाॅ प्रमा के सम्बन्ध मे कहते है कि यदि रूप फल को केवल पुरुषनिष्ठ माना जाय तो बुद्धि वृत्ति को प्रमाण कहा जायेगा तथा यदि प्रमा को केवल बुद्धिनिष्ठ माना जाय तब इन्द्रिय सन्निकर्ष को ही प्रमाण मानना होगा और इस स्थिति मे पुरुष प्रमा का साक्षी होगा प्रमाता नही। यदि पुरुष के बोध और बुद्धि वृत्ति दोनों को प्रमा कहा जाय तब प्रमा भेद से उक्त दोनों बुद्धिवृत्ति और इन्द्रिय सन्निकर्ष प्रमाण कहे जायेगे। आ० विज्ञान भिक्षु आगे कहते है कि योगभाष्य मे बोध पुरुष निष्ठ होता है। यही साख्य का भी मत है। इसी प्रकार कारिका की युक्तिदीपिका टीका[४७] के अनुसार बुद्धिवृत्ति ही प्रमाण है इसलिए साख्य को अध्यवसाय प्रमाणवादी कहा जाता है तभी प्रगाणफल प्रमा पुरुषनिष्ठ कहा जायेगा ।

विषय ज्ञान का रवरूप रपष्ट करते हुए साख्यकारिका[४८] कहती है कि पुरोदृश्यमान पदार्थ का ज्ञान होने मे चार कारणो (चक्षुराज) एक–एक ब्राह्य करण और तीन अन्त करण (मन अहकार बुद्धि) का व्यापार युगपद् अथवा क्रमश होती है। परोक्ष पदार्थों मे भी ब्राह्येन्द्रिय के तात्कालिक व्यापार को छोडकर लेकिन पूर्वकालिक ब्राह्येन्द्रियजन्य ज्ञानपूर्वक तीन अन्त कारण मन अहकार और बुद्धि की वृत्ति युगपद् अथवा क्रमश होती है। इस सम्बन्ध मे साख्यसूत्र[४९] मे भी दो मत युगपद् (अक्रमिक) ओर क्रमिक व्यापार को स्वीकार किया गया है। लेकिन दोनो के व्याख्याकारो मे कुछ मे केवल क्रमिक तथा कुछ ने क्रमिक और अक्रमिक दोनो को माना है। साख्यसूत्र की व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते है कि यहाॅ केवल इन्द्रियो को ही वृत्तियो के क्रमिकत्व एव अक्रमिकत्व का कथन है। लेकिन अनिरुद्धवृत्ति[५०] मे बाह्येन्द्रिय मन अहकार और बुद्धि चारो के वृत्तियो के क्रमिकत्व और अक्रमिकत्व को स्वीकार करते है तो दूसरी ओर इन्द्रियो की वृत्तियो का अक्रमिकत्व (युगपद्) होना स्वीकार नही किया गया है। जबकि सूत्र मे इन्द्रियो की वृत्तियो के क्रमिकत्व के अतिरिक्त अक्रमिकत्व का कथन होने से मन के मध्यम परिणाम वाला होना का साख्यीय सिद्धात भी अर्थत सूचित हो जाता है। प्राय किसी प्रकार के भय अथवा व्याकुलता की अवस्था मे करण चतुष्टय की युगपद् वृत्ति हुआ करती है, जैसे घोर

अन्धकार मे सामने से आते चोर को देखते ही एकदम मन की सकल्पनात्मक अहकार की अभिमानात्मक तथा बुद्धि की अध्यवसायात्मक वृत्ति बनती है और वह तुरन्त वहाँ से भाग जाता है।[५१]

(1) प्रमाण

साख्य केवल तीन प्रमाण[५२] – प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द को ही मानता है और जिसकी विवेचना इस प्रकार की जाती है –

१ प्रत्यक्ष - प्रतिविषयाध्योदृष्टम तत्त्वकौमुदी की व्याख्या के अनुसार जो विषय से सम्बन्धित होती है अर्थात इन्द्रिय उसके आश्रित होने वाले अध्यवसाय जो बुद्धि–व्यापार या बुद्धि–क्रिया या बुद्धिवृत्ति है को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। जब कोई विषय जैसे वृक्षादि दृष्टि पथ मे आता है तब उस विषय का हमारे नेत्रेन्द्रिय के साथ सयोग होता है उस विषय के कारण हमारे नेत्रेन्द्रिय पर विशेष प्रकार का प्रभाव पडता है। जिसका विश्लेषण और सश्लेषण मन करता है । इन्द्रिय और मन के व्यापार से बुद्धि पर प्रभाव पडता है ओर वह विषय का आकार ग्रहण करती है। परन्तु उसमे सत्व गुण का आधिक्य रहता है। जिसके कारण वह दर्पण की तरह पुरुष चैतन्य को प्रतिबिम्बित करती है। पुरुष का चैतन्य उसमें प्रतिबिम्बित होने पर बुद्धि की अचेतन वृत्ति उद्भासित हो उठती है और वह प्रकाशित हो। प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप मे परिणत हो जाती है।

प्रतिबिम्बवाद के सम्बन्ध मे उक्त व्याख्या आ० वाचरपति मिश्र की है। लेकिन आ० विज्ञानभिक्षु आगे का प्रतिबिम्ब होने के बाद विषयाकारक बुद्धि आत्मा मे प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकार आ० वाचरपति मिश्र आत्मा मे बुद्धि का प्रतिबिम्ब नही मानते पर आ० विज्ञानभिक्षु दोनों का प्रतिबिम्ब एक दूसरे मे मानते है।[५३] आ० विज्ञानभिक्षु आत्मा मे बुद्धि का प्रतिबिम्ब होना इसलिए गानते है कि इरारो आत्गा के राुखदु खादि अनुभव की व्याख्या की जा सके। अन्यथा शुद्ध चैतन्यरवरूप आत्मा को जो सभी विकारों से रहित है सुखदु ख का अनुभव नही हो सकता है। बुद्धि को ही ये अनुभव हो सकते है। लेकिन यह मत साख्य के साक्षी रूप आत्मा स्वरूप के अनुसार उचित नही लगता है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार के माने गये है **निर्विकल्प प्रत्यक्ष**–जिस क्षण मे इन्द्रिय के साथ विषय का सयोग होता है। उस क्षण मे जो विषय का अवलोकन होता है। यह मानसिक विश्लेषण–सश्लेषण के पूर्व की अवस्था है। इसमे केवल विषय की प्रतीति होती है। विषय की प्रकारता का ज्ञान नही होता। जैसे शिशु या मूकव्यक्ति का अनुभव। **सविकल्प प्रत्यक्ष**–जिस प्रत्यक्ष मे विषय का मन के द्वारा विश्लेषण सश्लेषण और रूप निर्धारण होता है। जैसे यह गौ है अथवा फूल लाल है।[५४]

वृत्तिकार अनिरुद्ध निर्विकल्पक ओर सविकल्पक दोनो को ही प्रत्यक्ष मानते है। उनके अनुसार सादृश्य से सरकारो के उद्‌भव हो जाने पर स्मृति के द्वारा वस्तु विशेष के नाम जाति इत्यादि का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसी से उसका विशेष नाम सविकल्पक है।[५५] स्पष्ट है कि वृत्तिकार अनिरुद्ध सविकल्पक ज्ञान को स्मृतिजन्य मानते है और चूँकि स्मृति मनोभाव जन्य होती है। न्याय ओर वैशेषिक मे निर्विकल्पक ओर सविकल्पक दोनो प्रमाण माने गये है निर्विकल्पक प्रमा का लक्षण नामजात्यादियोजनाहीन वस्तुमात्रा वगाहिज्ञान र्निविकल्पम् दिया गया है। अर्थात जिस ज्ञान मे विशेषण और विशेष्य इत्यादि प्रकार से नाम जाति इत्यादि की प्रतीति होती है वह बालक या गूगे के ज्ञान का ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है। एक सम्बन्धिज्ञानम् ‚परसम्बन्धिरमारकम अर्थात सम्बद्ध पदार्थो मे से एक का ज्ञान तुरन्त दूसरे का स्मरण करा देता है। इस नियम के अनुसार प्रौढ पुरुष को अर्थ का रवरूप ज्ञान होते है। तत्काल उसके नाम, जाति आदि का स्मरण हो जाता है। इस प्रकार दर्शन क्षण का उसका निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान मे परिणत हो जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान मे उभय प्रकार न्याय–वैशेषिक के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शन सम्प्रदायों को भी मान्य है।[५६] मध्व वल्लभ तथा भर्तृहरि (वैयाकरण) के अनुसार सारा ज्ञान सविकल्पक ही होता है। वे ज्ञान के उत्पत्ति क्रम मे पदार्थ के सामान्य मात्र या स्वरूप मात्र के बोध का अस्तित्व स्वीकार ही नही करते। वे विशेषण–विशेष्य भाव से रहित कोई ज्ञान नही मानते। जैन दर्शन निर्विकल्पक की रात्ता तो गानता है। पर उसे प्रत्यक्ष की कोटि मे न रखकर उससे बाहर रखता है। वह केवल सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानता है। इसलिए आचार्य हेमचन्द्र ने निर्विकल्पक को अनध्यवसाय रूप कहकर प्रमाण की कोटि से बाहर ही रखा है इसके विपरीत बौद्ध दर्शन केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानता है। आ०

दिङनाग के प्रमाण समुच्चय को प्रत्यक्षकल्पना पोढम नामजात्यासयुक्तम् कथन परवर्ती बौद्ध दार्शनिको के लिये पथ प्रदर्शक सिद्धात बन गया। आचार्य धर्मकीर्ति आदि बौद्ध नैयायिको ने नाम जाति आदि विकल्पो अथवा विशेषो को कल्पना मात्र मानते हुए उनकी प्रतीति को विशुद्ध प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक) की कोटि से बाहर ही रखा। लेकिन वृत्तिकार अनिरुद्ध सविकल्प को प्रत्यक्ष न मानने के पक्ष का खण्डन किया है।[५७] वे कहते है कि सादृश्य से सस्कारो के उद्भव हो जाने पर स्वरूप भागत या वस्तुत ज्ञात होते हुए पदार्थो के नाम जाति आदि विकल्पो (धर्मो) का स्मृति के द्वारा ज्ञान हो जाता है। इस अधिक उपलब्धि के कारण ही यह सविकल्प वृत्तिकर है। लेकिन आ० भिक्षु सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते है। पर वे अनिरुद्ध के विपरीत सविकल्पक को भी निर्विकल्पक की तरह इन्द्रियजन्य मानते है। स्मृति की तरह केवल मनोजन्य नही।[५८] योग्यभाष्य मे व्यासदेव केवल सविकल्पक ज्ञान को ही इन्द्रियजन्य ही मानते है।

२ **अनुमान** - लिङलिगी पूर्वकम् यत अनुमानम[५९] इस प्रकार लिग या हेतु (व्याप्य) द्वारा लिगी या साध्य व्यापक ज्ञान का अनुमिति या अनुमान ज्ञान है। जैसे धूप से अग्नि का ज्ञान यहॉ धुप व्याप्य है और अग्नि व्यापक है। इस प्रकार अनुमान व्याप्ति सम्बन्ध[६०] पर आधारित है। अनुमान पहले दो प्रकारो मे विभक्त किया जाता है वीत और अवीत बीत जो अनुमान व्यापक विधिवाक्य अर्थात अन्वयव्याप्ति पर आधारित रहता है। यह दो प्रकार का होता है – पूर्ववत या सामान्यतोऽदृष्ट। अवीत – जो अनुमान व्यापक निषेधवाक्य अर्थात व्यतिरेक व्याप्ति पर आधारित रहता है। इसे शेषवत भी कहा जाता है। यह मत न्याय दर्शन[६१] के भी अनुरूप है। इस प्रकार अनुमान के तीन प्रकार है –

। **पूर्ववत अनुमान** - पूर्ववत अनुमान वह है जो वस्तुओ के बीच दृष्ट व्याप्ति सम्बन्ध पर अवलम्बित है। यहॉ नियत साहचर्य का सम्बन्ध पाया जाता है। जैसे धुॅआ देखकर आग का अनुमान करना।

॥ **सामान्यतोऽदृष्ट अनुमान** - उसे कहते है जहॉ लिग और साध्य के बीच व्याप्ति सम्बन्ध नही देखा गया है। किन्तु लिग का सादृश्य उन वस्तुओ से है जिनका साध्य के साथ नियत सम्बन्ध है।

जैसे इन्द्रियो का अनुमान इन्द्रियो के अगोचर होने से प्रत्यक्ष के विषय नही हो सकती है। अत इन्द्रियो के अस्तित्व का ज्ञान अनुमान के द्वारा सभव है। यथा सभी कार्य किसी न किसी साधन द्वारा सम्पादित होते है। जैसे किसी रूप या गम्य का अनुभव भी एक कार्य है। जिसके लिये किसी विशेष समान्य या कारण अर्थात इन्द्रियो को देना चाहिए। साख्यमत मे अतीन्द्रिय पदार्थो जैसे प्रकृति और पुरुष का अनुमान समान्यतोदृष्ट से होता है।

III **शेषवत् अनुमान** - जब सभी विकल्पो को छाटते–छाटते अत मे एक ही शेष बच जाता है तब बही सत्य प्रमाणित होता है। जैसे शब्द कर्म सामान्य विशेष समवाय या अभाव नही हो सकता है। अत शब्द गुण है।

श्री सतीश चन्द्र चटोपध्याय[६२] का मत है कि नैयायिक की भाति साख्य भी पचावयव वाक्य को अनुमानका सबसे प्रमाणित रवरूप मानते है। जिसे पदार्थानुमान कहा जाता है। जो निम्न है –

I **प्रतिज्ञा** - पक्ष के साथ साध्य का सम्बन्ध बतलाना जैसे पर्वत पर अग्नि है।
II **हेतु** - व्याप्ति के आधार पर साध्य की सत्ता प्रमाणित करने वाला तत्व जैसे पर्वत पर धूम्र है।
III **उदाहरण** - दृष्टात के साथ–साथ व्याप्ति का प्रतिपादन करना जैसे जहॉ–जहॉ धूप है वहॉ वहॉ अग्नि है। जैसे चूल्हा।
IV **उपनय** - दृष्टात की स्थिति से पक्ष की स्थिति की तुलना करना यह उपनय परामर्श का ही दूसरा नाम है। जैस–पर्वत पर वैसा ही धूम है।
V **निगमन** - प्रतिज्ञा वाक्य पर उपसहार करना। जैसे – अत पर्वत पर अग्नि है।

३ **शब्द** - आप्तवचन अथवा आगम प्रमाण कहा गया है। जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नही होता। उसका ज्ञान आप्तवचन के द्वारा हो जाता है। वाक्य का अर्थ शब्दों का एक विशेष क्रम से विन्यास शब्द है। किसी वरतु का वाचक होता है। वाच्य विषय ही शब्द का अर्थ है। शब्द वह सकेत है जो किरी वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है। वाक्य होने के लिये शब्द–बोध का होना आवश्यक है। शब्द दो प्रकार का होता है –

I **लौकिक शब्द** - एक विश्वासपात्र व्यक्तियो के आप्त वचन से प्राप्त ज्ञान । साख्य इसे स्वतत्र प्रमाण के अर्न्तगत नही रखता है। क्योकि ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है।

II **वैदिक शब्द** - साख्य इसे ही शब्द प्रमाण मानता है। जो श्रुतियॉ वेद वाक्य ही है वैदिक वाक्य उन अगोचर विषयो का ज्ञान कराता है जो प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नही लाये जा सकते है।[६३] वेद अपौरुषेय है। अत वैदिक वाक्य स्वत प्रमाण है। वे द्रष्टा ऋषियो की अन्त अनूभूति है– लेकिन ये नित्य नही है– क्योकि दिव्य दृष्टि से उत्पन्न और सनातन पठन–पाठन की परम्परा मे है।

(II) प्रामाण्यवाद[६४]

प्रामाण्य प्रमाण का धर्म है प्रामाण्य का अर्थ है ज्ञान का सत्य होना। और अप्रामाण का अर्थ है ज्ञान का असत्य होना। प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति एक वस्तु है और ज्ञान (ज्ञप्ति) अन्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य को रवत अथवा परत रूप में मानते है। यदि ज्ञान का प्रामाण अथवा अप्रामाण्य की प्राप्ति उसकी उत्पत्ति के साधन में (ज्ञानोत्पादक सामग्री) और ज्ञाप्ति के साधनो (ज्ञान ग्राहक सामग्री) से ही प्राप्त होती है तो रवत प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य कहलायेगा। लेकिन जब ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य अपने ज्ञानोत्पादक सामग्री और ज्ञान ग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री में ज्ञात होता है तो परत प्रामाण अथवा आप्रमाण्य कहलाता है। यहॉ साख्य मे ज्ञप्ति और उत्पत्ति दोनो दृष्टियो से प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वत माना गया है।

साख्य के सत्कार्यवाद और बुद्धि वृत्ति की व्याख्या से स्वत प्रामाण्य और अप्रामाण्य सिद्ध होता है। सत्कार्यवाद सिद्धात मे साख्य किसी भी नई उत्पत्ति को स्वीकार नही करता। अत ज्ञान का प्रागाण और अप्रामाण्य की कोई नई उत्पत्ति नही है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य ज्ञान के ही गुण है तथा किसी भी वस्तु के तथा उसके गुणो के कारण भिन्न–भिन्न नही हो सकते है। अत ज्ञान का प्रामाण्य ओर अप्रामाण्य रवत दूसरे व्यावहारिक ज्ञान का प्रकाशक जो बुद्धि है। उसका त्रिगुणात्मक होना है। अर्थात तीनो गुण न्युनाधिक मात्रा मे सत्त्व, रजस और

तमस गुण सदैव विद्यमान रहते है। सत्त्व गुण प्रामाण्य तथा तमस् और रजस् गुण अप्रामाण्य रूप होने मे किसी भी बुद्धि की वृत्ति मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो तत्त्व सदैव विद्यमान होते है।

वास्तव मे ज्ञान के विषय मे निरपेक्ष मत को स्वीकार भी नही किया जा सकता। प्रत्येक ज्ञान आशिक रूप से प्रमा और आशिक रूप से अप्रमा रूप होता है। इस दृष्टि से साख्य मत ठीक है। लेकिन साख्य प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए सत्व की प्रधानता पर बल देता है। जिसका एक मात्र साधन योग है। परन्तु यह व्यावहारिक समाधान नही है। क्योंकि साख्य द्वारा प्रस्तुत स्थिति हमारे व्यावहारिक जीवन तथा सामान्य अनुभव द्वारा पुष्ट नही होती। प्रमा तथा अप्रमा की उत्पत्ति के समय मानव की मनोवैज्ञानिक स्थिति लगभग एक ही होती है। दोनो ही ज्ञान उस समय प्रमा ही प्रतीत होते है। तब हम किस प्रकार यह जान सकते है कि अमुक अवस्था मे ज्ञान प्रमा रूप है तथा अमुक अवस्था मे अप्रमा रूप। इस सम्बन्ध मे कोई दिशा साख्य मत मे नही मिलता। अत साख्य द्वारा प्रतिपादित मत की व्यावाहारिक उपयोगिता नही है।

(iii) भ्रम सिद्धात

साख्य दर्शन मे भ्रात ज्ञान के लिये अविवेक शब्द मिलता है। साख्यकारिका और उसकी टीका तत्त्वकौमुदी मे भ्रम के सम्बन्ध में विवेचन नही है। साख्य एक वस्तुवादी दर्शन है। जिसके अनुसार देखने पर या दूसरे ज्ञान के अवसर पर हम बाह्य वस्तु मे अपनी ओर से किसी धर्म का आरोप नही करते है। इस दृष्टि मे कोई भी ज्ञान निरालम्ब (विषयहीन) या भ्रात नही है। साख्य को सामान्य सिद्धात के आधार पर भ्रम अर्थात ख्याति विषय सिद्धात इस प्रकार है – विश्व के सभी पदार्थ तीनो गुणो से निर्मित है। वे सुख–दु ख मोहात्मक है। इस प्रकार ज्ञान का विषय बनने वाली प्रत्येक वस्तु मे अनेक धर्म होते है। वस्तुए अपनी इन्ही विविध धर्मों के कारण सुखात्मक दु खात्मक और मोहात्मक होती है। अत उन्हे देखने या जानने वाला पुरूष भी विभिन्न राग–विरागो से युक्त होता है। पुरुष अपनी वासनाओ और प्रयोजनों के अनुरूप वस्तु विशेष के कुछ पहलुओं को देखता है और कुछ को नही। जैसे सीप के सफेद रग और चमक को देखता है। लेकिन उसके हल्केपन को नही जान पाता। अत उसे सीप मे चॉदी का भ्रम होता

है। इस प्रकार से भ्राति ज्ञान वस्तु का अपूर्ण ज्ञान है।[६५]

साख्य दर्शन मे इस सिद्धात को लेकर भी विवाद है। इस सम्बन्ध मे तीन मतों का उल्लेख किया जाता है—

I साख्य में अविवेक का जो स्वरूप मिलता है तथा तेरहवी कारिका की व्याख्या मे आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते है कि एक वस्तु में विभिन्न धर्म होने से भिन्न भिन्न गुण (सुख दु ख मोह) उत्पन्न होते है। उसके आधार पर अख्यातिवाद के समान साख्य के भ्रम सिद्धात को माना जाता है। जिसकी विवेचना साख्यतत्त्वविवेचन मे मिलती है।[६६]

II साख्यसूत्र[६७] में साख्य मत को बाध और अबाध से सदसत ख्यातिवाद् माना गया है। जिसके अनुसार जब यह सर्प है ऐसा ज्ञान होता है उस समय यह पक्ष पुरोवर्ती वस्तु का निर्देश करता है। पुरोवर्ती वस्तु के सामान्य धर्म जगल में स्थित सर्प का स्मरण करा देते है। जिससे भ्रम शका डर आदि भी उभर आते है। परिणामस्वरूप उस पुरोवर्त्ती वस्तु और जगल मे स्थित सर्प के परस्पर असंसर्ग का ग्रहण नही हो पाता है ओर पुरोवर्ती वस्तु का जगल स्थित सर्प का ससर्ग समझ लिया जाता है। अत वे एक दीखने लगते है। पर जैसे ही हमे उस अससर्ग का ग्रहण होता है तब सर्प के स्वरूप से बाधा नही होती वह तो जगल मे जैसा पहले स्थित था अब भी है। इस आधार पर दृश्यादृश्य जगत का मूलकारण जाना जा सकता है। कार्य का बाध होता है जब कि कारण अबाधित रहता है। जैसे सुवर्ण वही रहता है लेकिन आकृति बदलती रहती है।

उक्त दोनो भ्रम सिद्धात स्वरूपत एक है। केवल विवेचन नाम दो है। क्योकि जब हम ज्ञान के आधार पर अथवा दो ज्ञानो को मुख्य मानकर प्रस्तुत करते है— तब उसे अख्यातिवाद कहते है— कितु जब ज्ञान के विषय को आधार मान लेते है— तो उसे सद्असद् ख्यातिवाद कहते है। इस प्रकार ये क्रमश प्रामाण्यवाद और कारणता सिद्धात पर आधरित है।

III आ० विज्ञानभिक्षु[६८] अपने भाष्य में उक्त मतों को अस्वीकार कर विवेकाग्रह को ही भ्रात ज्ञान का मूल तत्त्व मानते है। ऐसी स्थिति मे दीखने वाली शुक्ति से भिन्न बुद्धिस्थ रजत को स्वीकार

करना पडेगा जो साख्य के वस्तुवाद के अनूरूप नही है।

पाद टिप्पणी

१ – भास्काचार्य – निरुक्त साक्षज्ञत्कृतधर्माण ऋषयोबभमव

२ – शास्त्री प० उदयवीर साख्य दर्शन का इतिहाय भूमिका पृ०–१

३ – महाभारत शातिपर्व – ३०१/१०६

४ – महाभारत शान्तिपर्व – ३०६/४३

५ – साख्यकारिका – ५१

६ – साख्य प्रवचन भाष्य की अवतरिणा श्लोक

७ – साख्य सूत्र – १/६० पर भाष्य

८ – शास्त्री प० उदयवीर साख्य दर्शन का इतिहास पृ० – ६ – पाद टिप्पणी

६ – साख्यकारिका

१०– साख्यकारिका– १५

११– यत् परिमित तस्य सत् उत्पत्तिर्दृष्टा – युक्तिदीपिका

१२– कारण और कार्य निवर्तक और निवर्त्य होते है कारण से कार्य की निवृत्ति या सिद्धि होती है इस
प्रकार कार्य कारण का अनुमापक होता है – युक्तिदीपिका

१३– देवराज, डॉ० एन० के० भारतीय दर्शन पृ० – ३६४–३६५

१४– साख्यकारिका– १६

१५– नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत गीता – २/१६

१६– शर्मा सी० डी० भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ० – १४०

१७– गुणाना साम्यावस्था प्रकृति

१८– त्रिगुणानविवेकि विषय सामान्यमचेतन प्रसवधर्मी।। साख्यकारिका–१५।।

१६– गुणाना परम रूप न दृष्टिपथमृच्छति

२०– प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्था ।। साख्यकारिका–१२।।

२१– सत्त्व लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चल च रज। गुरुवरणकमेव तम प्रदीपच्चार्थतो वृत्ति

।।साख्यकारिका–१३।।

२२– साख्यकारिका– १६

२३– साख्यकारिका– १७

२४– साख्यकारिका– १८

२५– साख्यकारिका– २१

२६– साख्यकारिका– २२ साख्यतत्त्व कौमुदी २६वी कारिका पर भाष्य

२७– साख्यकारिका– २५

२८– त्रयोदशकरण ।। साख्यकारिका–३२।।

२६– अतस्तद्वैकृतात् सात्विकाहकाराज्जायत इत्यर्थ अतश्च राजसाहकारदशेन्द्रियाणि तामारहकाराच्च तन्मात्राणीत्यापि गन्तव्यम साख्यसूत्र २/१८ पर भाष्य

३०– एकादशक – एकादश–सख्या–परिमित गण का बोधक है– उदासीन जी विद्वताषिणी

३१– साख्यकारिका– ३८

३२– साख्यकारिका– १

३३– साख्यकारिका– ४०

३४– ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बध ।। साख्यकारिका–४४।। तदा द्रष्टु स्वारूपेऽवस्थापम्

३५– साख्यसूत्र और वृत्ति

३६– नाभुक्ते शीयते कर्त, ।।साख्यसूत्र – ५/२५।। और २६

३७– साख्यकारिका– ६७व६८ पर साख्यतत्त्व कौमुदी साख्यसूत्र – ३/७८–८४ पर अनिरुद्धवृत्ति साख्य प्रवचन भाष्य– ३/७६–८४ और ५/११६

३८– साख्यकारिका– ६२

३६– शर्मा सी० डी० भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ० – १५२

४०– चट्टोपाध्याय और दत्त भारतीय दर्शन, पृ० – १८३–१८४

४१– साख्यप्रवचन भाष्य

४२– कारणमीश्वरमेके पुरुष काल परे स्वभाव वा।
प्रजा कथ निर्गुणतो व्यक्त काल स्वभावश्च।। (लुप्त कारिका)

४३— मजूमदार ए० के० द साख्य कासेप्शन आफ परसनेलिटी चैप्टर – I और II

४४— चटटोपाध्याय एव दत्त भारतीय दर्शन पृ० – १७६—१७७

४५— साख्यसूत्र— १/८७

४६— साख्यप्रवचन भाष्य— १/८७

४७— तस्मात सिद्धमध्वसायप्रमाणवादिन प्रमाणात्फलमर्थान्तरमिति— ६वी कारिका पर टीका

४८— साख्यकारिका— ३०

४६— साख्यरात्र— २/३२

५०— अक्रमशश्च – रात्रौ विद्युदालोके व्याघ्र द्रष्टवा झटित्यपसराति तत्र चतुर्णामेकदावृत्ति और यद्यपि वृत्तीनामेकदाऽराभवात् तत्रापिक्रम एव तथाप्युत्पल शतपत्र व्यतिभेदवदवभासनादक्रम इत्युक्तमिति – साख्यसूत्र २/३२ पर टीका

५१— साख्यतत्त्व कौमुदी— १६८

५२— साख्यकारिका— ४ और ५

५३— साख्यप्रवचन भाष्य—१/६६ व्यासभाष्य— ४/२२

५४— चटटोपाध्याय सतीशचन्द्र द न्याय थ्योरी आफ नॉलेज अध्याय—६

५५— अनिरुद्ध वृत्ति साख्यसूत्र १/८६ पर

५६— श्लोकवार्तिक (प्रत्यक्ष सूत्र) ११२ १२०

५७— प्रत्यक्ष सूत्र— १/८६ पर अनिरुद्ध वृत्ति

५८— क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रिय वृत्ति ।। साख्य प्रवचन भाष्य— २/३२।।

५६— साख्यकारिका— ५

६०— न सकृद्ग्रहणात् सबधसिद्धि ।। साख्यसूत्र—५/२८।।

६१— न्यायभाष्य— १/१/३२

६२— द न्याय थ्योरी आफ नॉलेज (बुक III) न्यायवार्तिक बोध पृ० – ३८ न्यायसूत्र – १/३२—३६ साख्यसूत्र – ५/२७

६३— साख्यकारिका— ५१

६४— देवराज डॉ० एन० के० भारतीय दर्शन पृ० – २६६—२६७

चतुर्थ अध्याय

सांख्य दर्शन का तत्त्ववाद

किसी भी वरतु को व्यवहार मे दो प्रकार से देखने की प्रणाली सदैव प्रचलित रही है–

(i) वस्तु के स्वरूप सबधी अवधारणा की अन्तरग परीक्षा

(ii) वस्तु के कर्त्ता दिक्काल मौलिकता तथा परतत्रता आदि सबधी विवेचना की बहिरग परीक्षा

उक्त दोनो एक दूसरे के पूरक है भारतीय परम्परा अन्तरग परीक्षा और पाश्चात्य परम्परा बहिरग परीक्षा को महत्त्व देती है। जबकि तत्त्व सम्बधी विवेचना मे दोनो का समन्वय आवश्यक है।[1] साख्य दर्शन के विचार मे कर्तृत्त्व के निश्चित हो जाने पर उसकी प्राचीनता रवय निर्धारित हो जाती है। यद्यपि साख्य दर्शन अन्तरग परीक्षा पर बल देने के कारण एक परीक्षा हो जाता है। साख्य मे दो प्रकार के तत्त्वो को रवीकार किया गया है एक प्रकृति जो अचेतन सगुण सविकार और सक्रिय है तथा दूसरा पुरुष जो चेतन निर्गुण निर्विकार एव निष्क्रिय है। प्रकृति अव्यक्त है जबकि पुरुष अनादि अनन्त अव्यय एव जन्मादि से व्यतिरिक्त माना गया है।[2]

बहत्तरवी कारिका के सन्दर्भ मे माठर वृत्ति[3] का व्याख्यान है तत्रमित्याख्यायते। तम एव खल्विदमग्रासति। तस्मिस्तमसि क्षेत्रज्ञोऽभ्यवर्तते प्रथमम। तम इत्युच्यते प्रकृति पुरुष क्षेत्रज्ञ। इससे रपष्ट है कि वह तत्र पद की व्याख्या कर रही है जिसमे तमस ही पहले था। यहाँ तमस् की विद्यमानता मे क्षेत्रज्ञ प्रथम वर्तमान था। यहाँ तमस प्रकृति और पुरुष क्षेत्रज्ञ माना गया है। इरा प्रकार तत्र पद के निर्वचन का एक विशेष प्रकार ध्वनित होता है। तमस शब्द का तम और क्षेत्रज्ञ का त्र वर्ण लेकर तत्र पद बना है जिसके अनुरार जिरामे प्रकृति एव पुरुष के स्वरूप का विवेचन हो वह तत्र है।

साख्य दर्शन को तत्त्व–सबधी धारणा निम्नवत है –

(I) प्रकृति

साख्य दशन का प्रथम तत्त्व प्रकृति है। यह जड सक्रिय और त्रिगुणात्मक है।[4] प्रक्रियते अनयेति प्रकृति अर्थात जिससे कोई पदार्थ बनाया जाए उसे प्रकृति कहते है। मूल प्रकृति प्रधान भी कहलाती है। प्रकृष्ट कारण होने के कारण इसे प्रकृति और प्रसवधर्मा होने से

भी इरो प्रकृति कहा जाता है।[५] विश्व के कार्य–राघात का वह गूल है वह राबका कारण है इसका कोई कारण नही है। मूले मूलाभावादगूल मूलम अर्थात प्रकृति ही सबका मूल कारण है।[६] रात्त्व रज ओर तम इन ती ो गुणो की राम्यावस्था का नाम प्रकृति है।[७] प्रकृति के महदादि ही है जो कार्य है वह त्रिगुणात्मक प्रत्यक्षगम्य सभी पदार्थो मे विविध गुणो की रात्ता रपष्ट प्रतीत होती है प्रत्येक पदार्थ सुख–दुख और मोह का जनक है। अत इनका कारण भी त्रिगुणात्मक होगा जो कि प्रधान ही है। इस प्रकार अनुमान से भी प्रकृति की सत्ता सिद्ध है। अतिसूक्ष्म होने के कारण प्रधान का प्रत्यक्ष नही होता अत कार्य से ही कारण का अनुमान किया जाता है।[८]

प्रकृति के तीन गुणो मे रात्व गुण सत्व शब्द की व्युत्पत्ति सत से है सत् का अर्थ है जो यथार्थ है। यद्यपि इरा प्रकार की राज्ञा चैतन्य के लिए प्रयुक्त होती है लेकिन रात्व गुण कार्य क्षम चैतन्य होने के कारण उरो ऐरा गाना गया है गोण अर्थ मे सत् अर्थात् रात्त्व पूर्णता है।[९] सत्त्वगुण लघु एव प्रकाशक होता है इसी रो बुद्धि में विषय ज्ञान का प्रकाश होता है तथा इन्द्रियो मे प्रसन्नता का सचार होता है।[१०] रजोगुण गतिशील है ओर अन्यो को भी गति देता है जबकि तमोगुण जडता का प्रतीक है।[११] सृष्टि प्रकृति की वैषम्यावस्था है। कार्यावस्था मे आने पर विकृति कहलाती है।[१२] अत गुणत्रय रूपी लिग से ही प्रकृति की सत्ता रिाद्ध होती हे।[१३]

श्रुति प्रमाण रो भी प्रकृति की रात्ता रिाद्ध है। तदैक्षात बहुरया ब्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत इरा श्रुति कथन का तत् शब्द रार्वकारणभूत प्रधान को ही बताता है। क्योकि रात्व गुण युक्त होने ओर परिणागी होने के कारण प्रधान मे ज्ञानशक्ति ओर क्रियाशक्ति दोनो है ब्रह्म मे नही।[१४] व्यक्त जगत मे जितने भी भद है वे राब परिमित पराधीन और अनिल है। अत उसका कारण अपरिमित रवतत्र और नित्य होना चाहिए। चूँकि प्रकृति परिमित नही है। अत उसके परे अथवा उराके कारण की कल्पना नही हो राकती।[१५] इसी प्रकार प्रधान मे शब्द रपर्श रूप ररा एव गध अवयव न रहने से प्रकृति निरवयव है।[१६]

राख्य दर्शन मे रृष्टि का गूल कारण प्रकृति निगुण सत्व, प्रसव–धर्मिणी अचेतन

अलिग क्षेत्र, ज्ञान बहुधानक आदि संज्ञाओ की व्याख्या पुराण एव महाभारत मे मिलती है। पुराणो मे प्रकृति के प्र–कृ–ति अक्षरों द्वारा भी अव्यक्त की व्याख्या की गयी है। गीता दर्शन पर विचार करते हुए दासगुप्ता[१७] ने व्यक्त पद को त्रिविध विभक्त किया है – (i)पुलिग (ii) नपुसकलिग (iii) अनिश्चित लिग रूप अर्थात् समरत पद मे प्रयुक्त इसमे दासगुप्ता अभिव्यक्त को केवल नपुसक लिग मे प्रयुक्त प्रकृति के अर्थ मे माना है। जबकि पुराणो एव महाभारत मे पुलिग अभिव्यक्त को पुरुष का द्योतक मानता है। पुरुष एव प्रकृति निर्विवाद अभिव्यक्ति माने गये है लेकिन पुरुष जहा प्रत्यक्षगम्य होने के कारण अभिव्यक्त है वही प्रकृति कारण रूप तथा प्रत्यक्ष लिग होने के कारण अभिव्यक्त है। साख्य दर्शन मे प्रकृति को स्त्रीरूप माना गया है[१८] इसे अनेक तत्त्वो का आध्यात्मिक सघात माना गया है जो सतत परिवर्तनशील है। आनुभविक जगत का मूल कारण प्रकृति है जो अव्यक्त है तथा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय गोचर नही है जिसका ज्ञान विश्व के नानात्व के द्वारा अनुमान द्वारा सभव है। विश्व का प्रथम सिद्धान्त होने के नाते इसे प्रधान कहते है। यह अत्यन्त अचेतन होने के कारण जड भी कहा जाता है तथा सतत क्रियाशील अपरिमित ऊर्जा होने के कारण यह शक्ति कहलाती है। साख्य दर्शन कारणकार्य सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहता है कि कारण वह सत्ता है कि जिसमे कार्य अव्यक्त रूप मे पहले से विद्यमान रहता है।[१९] इस दृष्टि से साख्य दर्शन प्रकृति परिणामवादी सत्कर्म को स्वीकार करता है। प्रकृति सत्वगुण रजोगुण एव तमोगुण से युक्त होकर त्रिगुणात्मिका कहलाता है। ये त्रिगुण ही प्रकृति है[२०] जिसके न्यूनाधिक सम्मिश्रण से सम्पूर्ण जगत की सृष्टि होती है।

सत्व रज एव तम प्रकृति के धर्म नही अपितु प्रकृति स्वरूप है। स्वरूप की साम्यावस्था कोई अवस्था नही अपितु गुणो की स्थिति है।[२१] जबकि आधुनिक विद्वानो ने सत्व रज एव तम को गुण विभाग के रूप मे स्वीकार किया है और सत्वादि को अनेक सख्यक माना है। लेकिन पुराण इतिहास एव कारिकादि मे इस प्रकार के निर्देश का अत्यन्ताभाव है। साख्य मे धर्म परिणाम विकार, कार्य एव विषेश इत्यादि समानार्थक है। इस प्रकार धर्मी परिणामी कारण एव सामान्य इत्यादि एकार्थक है। वस्तुत प्रकृति स्वरूप गुण सत्व रज तम जिनका प्रीत अप्रीत एव विषादात्मक[२२] स्वरूप उभयत्र समान रूप मे उपस्थित है। कारिकादि के व्याख्याकारो ने गुण विवेचन के सन्दर्भ मे पुराण वचनो का ही आश्रय लिया है।

महाभारत मे अव्यक्त–प्रकृति–प्रधान एकार्थक है। प्रकृति के अव्यक्त नाम से ही व्यक्त अथवा कार्य के सत् होने का प्रतिपदान होता है।[२३] कार्य को सत् सिद्ध करने के लिए अनुलोम एव प्रतिलोम परिणामो को अभ्युपगत किया गया है। प्रकृति के परिवर्तनशील सिद्धान्त को व्यवस्थित करने के लिए ही समान एव वैषम्य द्विविध अवस्थाओ को माना गया है।[२४] दोनों एक दूसरे से इतने सम्पृक्त है कि योगियो के लिए भी दुरुह एव दु साधन है।

सभी कार्य अनुलोम क्रम से उन्नत तथा प्रतिलोम कम से कारणलीन होते है। इसके लिए सत्व तथा तमस मे पररपर की स्थिति अनिवार्य रूप से आवश्यक है अथवा अन्योन्य में इसका परिवर्तन सत्कार्यवाद के अनुरूप राभव नही होगा। चूँकि इन दोनो मे गति का अभाव है। अत पररपर को प्राप्त करने के लिए गति के रूप मे रजो गुण को स्वीकार किया गया है। ये प्रेरक तत्त्व के रूप मे माना गया है। इसकी स्थिति सत्व तथा तमस् मे है अन्यथा इसे बाह्य प्रेरक मानना पडेगा जो साख्य के लिए अनिष्टकारी होता। साख्य मे प्रकृति की मुख्य कारक है। सन्निधि मात्र से गुणक्षोभक होने से पुरुष निमित्त मात्र है। त्रिगुण मे एक दूसरे के उपकारक होने के कारण पररपरोकार्यकारणभाव से त्रिगुण सिद्धान्त से अभ्युपगत होता है। त्रिगुण की व्याख्या वटबीज के रूप मे करते हुए डा० बी० एन० सील[२५] तथा राधाकृष्णन्[२६] यह मानते है कि बीज स्थूल के प्रति करने के लिए एक गति की अपेक्षा रखता है। इसलिए गतियुक्त मानना आवश्यक है। जिस प्रकार तम को प्रति करने के लिए सत्त्व मे गत्यात्मक रजस की स्थिति मानना जरूरी है । उसी प्रकार प्रतिलोम क्रम मे सत्व की स्थिति को प्राप्त करने के लिए तमस मे गत्यात्मकता रजस की स्थिति मानना आवश्यक है। इस प्रकार ये तीनो एक दूसरे से सम्पृक्त है। इनकी सम्पृक्तता भी अलौकिक है। इसकी तुलना बालुका एव जल अथवा दूधजल के सम्मिश्रण से उपमित नही किया जा सकता। क्योकि जहाँ बालुका एव जल पृथक–पृथक् प्रतीत होते है। वही दूध एव जल के सम्मिश्रण को पृथक करके समझना अत्यन्त कठिन है। त्रिगुण स्वप्राधान्यानुसार स्पष्ट रूप से प्रतीत होते है। फिर भी इन्हे। पृथक करना सभव नही है किन्तु कुछ विद्वान त्रिगुण के इस अपृथक् सबध को बाद का मानते है। जबकि कीथ इसका विरोध करते हुए मानते है कि साख्य मे सर्वदा गुण सिद्धान्त मान्य रहा है। गुण सिद्धान्त से रहित साख्य की कल्पना ही बेकार है।[२७]

कीथ का विचार नितान्त समीचीन है क्योकि साख्य की प्रकृति त्रिगुण सिद्धान्त मे अविनाभाव है। तत्वसमास मे भी त्रैगुण्यम का ही प्रयोग है। गुणो के विषय मे आ० विज्ञानभिक्षु इन्हे वस्तु मानते है किन्तु आ० वाचरपति मिश्र गौडपाद तथा अन्य साख्यकार यहॉ चुप है। आ० भिक्षु का व्याख्यान इनके स्वभाव के विषय मे बहुत अधिक सन्तोषजनक एव बौद्धिक है। ऐसा लगता है कि आ० विज्ञानभिक्षु से पहले के लोग इस विचार से परिचित न रहे हो तथा भौतिक सिद्धान्त के स्थापन के समय गुण स्वभाव विषयक धारणा अव्यक्त रही हो। लेकिन १६वी सदी के भिक्षु इस मत के उद्भावक नही पल्लवित करने वाले ही हो सकते है। क्योकि पूर्व टीकाकार एव विद्धान आदि इससे परिचिन रहे होगे कि साख्य मे गुण तथा द्रव्य ही विवक्षित होता है। अत गुण प्रकृति रवरूप होन से द्रव्य स्वरूप है।[२८]

दासगुप्ता गुणो का केवल तीन अर्थ– विशेषण ररसी तथा गौण मानते है।[२६] पुराणेतिहास मे गुण प्रकृति विकार अच्छाई गुना तथा पाश आदि अनेक अर्थों मे प्रयुक्त है। प्रो० हिरियन्ना गुण का अर्थ ररसी नही मानते है लेकिन इसके अतिरिक्त कोई समाधान नही देते।[३०] दासगुप्ता ने इस अर्थ को आ० विज्ञानभिक्षु के अनुकरण पर रवीकार किया है। आ० विज्ञानभिक्षु का मत है कि पुरुष को बॉधने के कारण ही गुण पाश रवरूप है। इस सन्दर्भ मे आगम प्रमाण भी मिलते है। गुण बॉधने के साथ–साथ पुरुष को मुक्त भी करता है। लोकमान्य तिलक भी पुरुष को बॉधने एव छोडने को लेकर त्रिगुण को पाश के अर्थ मे मानते है।[३१] तत्त्व– समास की टीकाओ मे पुरुषोपकारी होने से सत्वादि को गुण माना गया है। दूसरे शब्दो मे पुरुषार्थ साधक होने से गुण है। इनके विविध परिणामो मे पुरुष के भागोपवर्ग साधन की महान शक्ति होती है। दासगुप्ता की मान्यता है कि गुण किसी न किसी रूप मे परिवर्तनशील होने से गौड अर्थ है। पुरुष स्थिर है। ये त्रिगुण सर्वव्यापक सर्वप्रेरक एव सर्वोपादान है। प्रकृति रवरूप त्रिगुण को अनेक सख्यक मानते हुए डा० अणिमा सेनगुप्ता डा० राधाकृष्णन को अपने समर्थन मे उद्धृत करता है[३२] लेकिन यह मत असगत है। क्योकि डा० राधाकृष्णन आ० वाचरपति मिश्र के मत का समर्थन करते है और आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत का खण्डन। त्रिगुण को डा० राधाकृष्णन प्रत्यक्षातिग एव कार्यस्वभानुमेव मानते है।[३३] सत्त्व को सत् अस्तित्व रो व्युत्पन्न करके सुक्ष्मतादि को उसके अनुमापक के रूप मे माना है। इसके अनुरार त्रिगुण सिद्धान्त का उद्गम मनोविज्ञान है।

उपनिषद् आदि ग्रन्थो मे इसका प्रयोग इसी रूप मे हुआ है। व्यवहार मे इनकी उपमा मेघ रत्री छत्र आदि रो दी जाती है। उनके अनुसार इसके लिए अधिक से अधिक तीन ही अथवा न्यून रा न्यून सख्या तीन ही हो सकती है।[३४]

समस्त जगत एव व्यवहार प्रकृति के तीनो गुणो मे ही समाहित है। प्रकृति से ऊपर पदार्थ एव क्रिया की कल्पना ठीक नही है। पुरुष निर्गुण तथा निष्क्रिय होकर भी जब प्रकृति के पाश मे एक बार पड जाता है तो घटियन्त्रवत जन्ममरण के चक्र मे भ्रमण करता है। गुण परिज्ञान पर्यन्त उस पाश से पुरुष की मुक्ति सभव नही है। त्रिगुण मे प्रत्येक गुण मोक्ष के लिए उपकारी नही है इसके लिए उपकारी गुण के ज्ञानार्थ त्रिगुण का ज्ञान अनिवार्यत जरूरी है। स्पष्ट है कि सत्व रजस एव तमस तीनो मे सत्व गुण निर्मल होने के कारण मोक्ष के लिए उपयोगी है। यही कारण है कि सूर्य के प्रकाश मे सर्वत्र बल दिया गया है। आ० पचशिख के विवेचन मे गुण परिज्ञान को विमोक्ष बुद्धि कहा गया है। जिसे जानने वाला अप्रमत्त हो जल मे वर्तमान किन्तु तद्सम्पृक्त कमलपत्र की भॉति कर्मफल से असम्पृक्त रहता है।[३५] गीता[३६] एव देवीभागवत[३७] मे भी गुणो की व्यापकता को स्वीकार करते हुए गुण परिज्ञान को असभव माना है। वास्तव मे वरतु मे मात्र गुणत्रय समन्वित है। जैसे कि विष्णु सत्वप्रधान होकर भी रजसतमस समन्वित ब्रह्मा रस प्रधान होकर भी सत्व–तमस समन्वित और शिव तमप्रधान होकर भी सत्वरजस युक्त हे। इस प्रकार भारतीय मान्यता मे ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सदेवासुरमानुष इन्ही त्रिगुणो के परिवेश मे वर्तमान है। रपष्ट है कि परिणामात्मक सत्कार्यवाद यहॉ आधारभूत रूप मे रवीकृत है।

साख्य गतिविज्ञान के नाम रो भी प्रसिद्ध है।[३८] प्रकृति पुरुष के सयोग से कर्मप्रवाह परिवर्तित होता है। कर्म प्रकृति मे है पुरुष से पुरुष से उसका कोई सबध नही है। गुण प्रवाह पद गुणो की प्रवृत्ति को अधिकृत कर कर्म प्रवाह के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। प्रकृति स्वरूप गुण को कर्म अभिज्ञ मानते हुए स्पष्ट है कि कर्मभाव है तत्त्व नही और गुण तत्त्व है भाव नही। अत नामरूप कर्म अविद्या माया एव प्रकृति को एकार्थ मानना दोषपूर्ण है क्योकि नामरूप कर्म के फलस्वरूप होता है और प्रकृति–पुरुष का अपार्थक्य अविद्या है। जबकि माया जगत एव जीवन की निरर्थकता का द्योतक है। महाभारत मे साख्य के लिए प्रकृतिवादी सज्ञा का प्रयोग हुआ है

तो लोकमान्य तिलक[३९] त्रिवृत्त्करण को पचीकरण से पूर्व का मानते हे।

साख्यकारिका[४०] मे एक ही प्रकृति को माना गया है। जबकि विष्णु पुराण आदि मे जितनी सृष्टियॉ है अथवा होगी उतने मूल प्रकृति को रवीकार किया गया है। इस प्रकार यहॉ प्रकृति की बहुलता अर्थात् अनेकता को माना गया है[४१] किन्तु आ० विज्ञानभिक्षु के मत मे सभी सूक्तियो की मूल प्रकृति भिन्न–भिन्न नही है वस्तुत वे अभिन्न है। किन्तु उस मूल प्रकृति की अभिव्यक्ति हर सर्ग मे अलग–अलग होती है जैसे एक ही वृक्ष ऋत भेद से भिन्न–भिन्न सा रूप ग्रहण करने पर भी रवय अभिन्न रहती है। इस प्रकार उस अनेक व्यक्तित्व को मान लेने पर भी प्रकृति का अनेक व्यक्तित्व रूप पुरुष बहुत्व सिद्धान्त से बिलकुल भिन्न है। क्योकि पुरुष–बहुत्व मे प्रत्येक पुरुष अन्य पुरुषो से भिन्न होता है। जबकि एक सर्ग की प्रकृति दूसरे सर्ग की प्रकृति से अलग नही होती। अत यहॉ प्रकृति–बहुत्व नही कर प्रकृति–व्यक्तित्व–बहुत्व को ही माना गया है।[४२]

गुण विभु है तीनो गुणो मे पाररपरिक वैधर्म्य एव साधर्म्य है। सत्वादि गुणो मे लघुत्व चलत्व और गुरूत्वादि का ममता देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि ये गुण विभु नही बल्कि परिच्छिन्न है। लेकिन जैसा कि माना गया है कि परिच्छिन्न होना स्थान पर अनुपस्थिति की उपयोगिता पर प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अविच्छिन्न होना है और वेसा न होना विभु होना हे। सलादि द्रव्य चूँकि ससार की सभी वस्तुओ के उपादान कारण है अत उनके स्थानीय अभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अविच्छिन्नता नही है। इसलिए सत्वादि तम विभु का व्यापक सिद्ध होते है।[४३] इन गुणो के विषय मे एक बात ओर रपष्ट है कि तीनो गुण सख्या मे केवल तीन ही नही अपितु व्यक्तिभेद से अनन्त है। उन्हे अनन्त व्यक्तित्व वाला न मानने से यह बात कभी भी सिद्ध नही हो सकती है कि गुणो के पररपर त्रिगुण वैचित्य से कार्य वैचित्य होता है। गुणो केब असख्य व्यक्त्वि वाले होने पर भी इन्हे तीन ही मानना जाति अथवा समान्य दृष्टि से उचित है।[४४]

सृष्टि एव प्रलय क्रमश मानने पर भी सृष्टि अनादि है। सृष्टयादि का हेतु प्रकृति–पुरुष सयोग है जैसा कि साख्यकारिका के रचयीता ईश्वरकृष्ण वाचरपती मिश्र

परमार्थ गौडपाद और अनिरुद्धादि साख्य शास्त्री मानते है। किन्तु विज्ञान भिक्षु[४५] साख्य सूत्रो के आधार पर मानते है कि यह प्रकृति पुरुष सयोग सर्ग का मूल हेतु नही है। उनकी दृष्टि मे इस सयोग का कारण अविद्या है जो कि वि मता राबध से पुरुष गत मानी गयी है। यह अभावात्मक अथवा तुच्छ नही है। इस अविद्या के द्वारा ही प्रकृति पुरुष सयोग होता है ओर इरा सयोग के उपरान्त राृष्टि होती है। जो व्यक्ति सृष्टि की मान्यता पर आधारित है। किन्तु समस्त सृष्टि मे प्रकृति पुरुष सयोग का निमित्त अविवेक को नही माना है बल्कि इसमे ईश्वर की इच्छा का समावेश किया गया है। परिणामरवरूप वे इसका साख्य प्रक्रिया के अन्तर्गत समावेश नही कर सके है अत यहॉ चित्त सामान्य का प्रकृति सयोग कीं कारण रूप माना जाना चाहिए।

प्रथम सृष्टि पदार्थ महत तत्त्व है जो व्यष्टि रूप से वृद्धि और समष्टि रूप से जगत बीजभूत हिरण्यगर्भ है।[४६] बुद्धि के जागरण के समय चिदचिद् का विभाजन नही होता है। अहकार के समय ही यह विभाजन उत्पन्न होता है इसी तरह साख्य मे भी अहकार एक विभाजक तत्त्व के रूप में माना गया है।[४७] बुद्धि के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त पुरिशेते से व्युत्पन्न पुरुष निगुर्ण निष्क्रिय निष्कलक चित रवभाव पुरुष से भिन्न ही कुछ लोगो के मत मे इन्दियो को केवल तैजसजन्य माना गया है।[४८] आचार्य विज्ञानभिक्षु ११वी इन्द्रिय मन को ही सात्त्विक मानते है ओर अन्य इन्द्रियो और अहकारादि को राजस। अहकारोपादानक होने के कारण ही मन बाह्येन्द्रियो से साधर्म्य रखता है तथा ज्ञान कर्म के रूप मे द्विधा विभक्त इन इन्दियों द्वारा आलोचित विषयो का मनन करने के कारण उभयात्मक एव इन्दियेश्वर है। भरतीय दर्शन मे एक ही मन माना गया है। भट्ट मीमासा के अतिरिक्त सभी आरितक दर्शन इसे अणु परिणाम रूप मानते है जिसके अभाव मे विषय का प्रत्यक्ष सभव नही है। जबकि पाश्चात्य दर्शन मे दो प्रकार के मन माने गये है। जिसके कारण इस दशर्न को सकुचित दृष्टि वाला माना जाता है।[४९] मन अहकार से साक्षात उत्पन्न होने के कारण इसे अहकार के बाद तीसरे रार्ग के रूप मे माना गया है। सत्त्व के समुद्रेक मे बुद्धि को महान कहा गया है ज्ञान बुद्धि के सात्विक धर्मों में आता है। इसलिए इसी से पुरुष को मुक्ति प्राप्त होता है।[५०] तन्मात्रा को क्रमश एक द्वि त्रि चतु पच गुणात्मक माना गया है।[५१] आर्चाय वार्षगण्य भी इसी मत को मानते है।[५२] तन्मात्र से स्थूल भूत का अपने गुणो के साथ उत्पन्न होना कारणरूप गुणों के अनुसार होता है। डॉ० राधाकृष्णन् भी इस मत का

रामर्थन करते है।[५३] जिसकी रपष्ट विवेचना आचार्य विज्ञानभिक्षु के योगवार्तिक मे भी मिलते है। जबकि कर्म मार्कण्डेय मत्स्य पुराण आदि[५४] तन्मात्र एकेक गुणात्मक मानते हे पर विकारा की विविधता और दुरुहता देखते हुए यह मत मानना उचित नही है।

देश–काल की सत्ता साख्य मे पृथक नही मानी गयी है। अपितु इनके सीमित एव असीमित द्विविध रूप हो सकते है ऐसा माना गया है। सीमित होने पर इन्हे आकाश से सम्बद्ध किया जाता है जबकि इन्हे नित्य मानने पर इनका पर्यावसान प्रकृति मे किया जाता है काल का सबसे छोटा भाग क्षण ही और दिक का सबसे छोटा भाग अणु है। इस प्रकार परिर्वतन की प्रत्येक इकाई को क्षण के द्वारा समझा जाता है। इनका एकीकरण जो बुद्धि का कार्य है। दण्डादि के प्रत्यय को उत्पन्न करता है यही कारण है कि योगभाष्य तथा दूसरीटीका तत्त्ववैशारदी मे काल को बुद्धि निर्माण कहा गया है।[५५] आधुनिक भौतिकशास्त्री भी इस अध यात्मिक काल मापावधि को स्वीकार करते है।[५६] आधुनिक भौतिकशास्त्री आइस्टीन भी समय के मानसिक अस्तित्व मे सिद्ध करने के लिए मानते है कि एक मनुष्य का सुन्दरियो के बीच एक घण्टा भी एक क्षण के बराबर है। जबकि चूल्हे के पास व्यतीत होने वाला एक क्षण घटों के समान लगता है।[५७]

कारिका तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्य [५८] की माठर द्वारा कथित पररपरानुप्रवेशि द्वारा मिश्रित तनमात्राओ से महाभूतो की उत्पत्ति के सिद्धात का खण्डन करते हुए युक्तिदीपिकाकार का मत है कि एक एक तन्मात्र से एक एक महाभूत की उत्पत्ति पृथक–पृथक् होती है।[५९] इस प्रकार मठार के अनुसार शब्दतन्मात्रानुप्रविष्टस्पर्शतन्मात्र से वायु शब्दस्पर्शतन्मात्रानुप्रविष्ट रूपतन्मात्र से तेज शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रानु– प्रविष्ट रसतन्मात्र से जल एव शब्दर्स्पशरूपरसतन्मात्रानुप्रविष्ट गधतन्मात्र से पृथ्वी उत्पन्न होती है। जबकि युक्तिदीपिकाकार के मत मे शब्दतन्मात्र से आकश रपर्शतन्मात्र से वायु रूपतन्मात्र से तेज रसतन्मात्र से जल और गधतन्मात्र से पृथ्वी उत्पन्न होती है। लेकिन इनका मानना है कि स्पर्शतन्मात्र शब्द ओर रपर्श गुणों वाला रूपतन्मात्र शब्द रपर्श और रूप गुणों वाला रसतन्मात्र शब्द स्पर्श रूप एव रस गुणो वाला तथा गधतन्मात्र शब्द रपर्श रूप रस एव गध गुणों वाला होता है।

३२वी कारिका[६०] के व्याख्यान मे युक्तिदीपिकाकार कहते है कि विषयो का आहरण कार्य कर्मेन्दियॉ ही करती है। क्योकि विषयो का ग्रहण करने की सामर्थ्य मात्र उन्ही मे है। जबकि धारण कार्य केवल ज्ञानेन्द्रियॉ ही करती है। क्योकि विषयों की सन्निधि होने पर उनका आकार धारण करने अथवा उन्ही के आकार का हो जाने का स्वभाव और सामर्थ्य केवल उन्ही मे है। दूसरी ओर विषय का प्रकाशन कार्य अन्त करण–मन अहकार एव बुद्धि द्वारा होता है क्योंकि निश्चय करने का सामर्थ्य केवल उन्ही मे होता है। लेकिन इसके विपरीत माठर का मत है कि इन्द्रियॉ मात्र का कार्य आहरण अभियान का कार्य धारण तथा बुद्धि का कार्य धारण तथा प्रकाशन है।[६१] जयमगलाकार युक्तिदीपिकाकार के मत से सहमत होते हुए भी इतना भेद है कि बुद्धि को प्रकाशन कार्य करने वाली इन्द्रियो के साथ न रखकर धारण करने वाले मन एव अहकार के साथ रखा है।[६२] मूलकारिका मे समस्त त्रयोदशकरणो के कायो को आहरण धारण एव प्रकाशन इन तीन ही कोटियो मे अन्तभूति कर दिया गया है। तत्त्वकोमुदीकाकार वाचस्पति मिश्र भी जयमगला के विचारों से सहमत है।

कारिका के प्रभूत'[६३] पद का अर्थ युक्तिदीपिका[६४] मे उद्भिज एव स्वेदज किया गया है जो एक नवीन मत है। जिसके अनुसार स्वेदज एव उद्भिज जीवों के शरीरो का कारिकोक्ति सूक्ष्मशरीर मातापित्रज– शरीर एव प्रभूत महाभूत' मे से किसी मे भी अन्तरभाव नही किया जा सकता। किंतु जयमगल तत्त्वकौमुदी आदि टीकाओं मे युक्तिदीपिका के उक्त अर्थ का निषेध करते है।

कारण–कार्य सिद्धात के सन्दर्भ मे कारिका के टीकाकारो के मत मतवैभिन्न होने के बावजूद कारणकार्य विभागत् हेतु पद का जो अर्थ माठरवृत्ति[६५] मे मिलता है। वहॉ अर्थ युक्तिदीपिका एव जयमगला मे भी मानी गयी लेकिन बाद में दोनों दोषपूर्ण माना। जिसमे युक्तिदीपिका[६६] का मत है कि साख्य मे कार्य एव कारण अभिन्न होने के कारण दोनो[६७] का परस्पर विभाग नही हो सकता है। जबकि जयमगला का मत है कि उक्त हेतु का उपर्युक्त अर्थ करने पर अर्थ की पुनर्रुक्ति ही सिद्ध होती है।[६८] जिसका समर्थन आठवी करिका से होती है। माठरवृत्ति मे अविभाग पद को नञ् तत्पुरुष मानकर उसका विग्रह न विभागो अविभाग किया

है। जिससे उसे लय अर्थ का बोधक मानकर स्थूल जगत से लेकर महत पर्यन्त समस्त विकारों का अपने–अपने सगठन कारणो मे लय मानते हुए प्रधान मे सृष्टिपरम्परा की विश्राति मानी गयी है। इस प्रकार प्रधान की सत्ता समस्त कार्यों के मूल कारण के रूप मे सिद्ध की गयी है। जयमगला[६९] मे भी अविभाग का लय अर्थ ही माना गया है तथा विविध जगत की उत्पत्ति स्थिति एव लय होने के कारण प्रलय काल मे उसका लय कहाँ होता है। यह प्रश्न उठाकर ईश्वरवादियो मे मत मे निर्गुण ईश्वर मे होने वाले लय का खण्डन करके प्रधान[७०] मे ही लय माना गया है। इस मत का समर्थन युक्तिदीपिका मे भी प्रधान को ही जगत के लय का आधार माना गया है।

कारिकाटीकाकार वाचस्पति मिश्र[७१] असतकरणात हेतु पद की व्याख्या करते हुए अभाव से भाव की उत्पत्ति का खण्डन करते है। आगे वाचस्पति मिश्र कारणभावात का अर्थ स्पष्ट करते है कि कार्य इसलिए भी उत्पत्ति के पूर्व सत् सिद्ध होता है कि वह कारण स्वरूप होता है। कार्य कारण से भिन्न नही होता और कारण तो सत होता ही है। तब उससे अभिन्न कार्य असत कैसे हो सकता है। १०वी कारिका मे व्यक्त को सक्रिय तथा अव्यक्त को अक्रिय माना गया है। परन्तु प्रश्न है कि अव्यक्त अर्थात प्रकृति तो अक्रिय न होकर नित्य परिणाम रूप क्रिया से युक्त रहता है। इस सम्बन्ध मे वाचस्पति मिश्र इसका परिस्पन्दवत अर्थ करते है। वास्तव मे अव्यक्त मे देहत्याग–प्रवेशरूपक्रिया न होने से उसको अक्रिय कहना उचित है।[७२]

आचार्य व्यासदेव[७३] का मत है कि प्रकृति वह है जो कभी नही है और न ही अभावात्मक है। जिसका अस्तित्व है और नही भी है। जिसके अन्दर कोई अभाव नही है। जो अव्यक्त है विशेष लक्षण से रहित है और सबकी मुख्य पृष्ठभूमि है। प्रकृति के भिन्न–भिन्न गुण साम्यावस्था मे भी निष्क्रिय नही रहते बल्कि यह एक प्रकार की प्रसारण की अवस्था है। इन्ही तीनो गुणो के द्वारा समान भौतिक और मानसिक परिर्वतन सभव होते है।[७४] प्रकृति की सूक्ष्मता के कारण ही यह प्रत्यक्षगम्य नही है।[७५] प्रकृति और गुणो के वास्तविक स्वरूप को जानना सभव नही है। क्योकि हमारा ज्ञान दृश्यमान् जगत तक ही सीमित है।[७६] यह आनुभाविक रूप एक अमूर्तभाव है केवल नाममात्र है।[७७] गुणों को आर्चाय भिक्षु यथार्थ सत्ता के प्रकार मानते हैं। यद्यपि आचार्य

वाचस्पति मिश्र और साख्यकारिका की इसी कारण नही मिलती। पाररपरिक प्रभाव अथवा सामीप्य के कारण उनके अन्दर परिवर्तन होते है। परिणामस्वरूप वे विकसित होते है। पररपर मिलते है तथा पुन पृथक होते है फिर भी उनमे से कोई गुण अपनी शक्ति को नही खोता है। भले अन्य गुण सक्रिय क्यो न रहे।[७८] गुणों के विषय मे आचार्य भिक्षु का मत बिल्कुल अलग है क्योंकि ये गुण को सूक्ष्मता तथा व्यक्ति रूप पदार्थों की विविधता के आधार पर सख्या मे अनन्त मानते है। इनके अनुसार ऐसा मानना ठीक नही है कि व्यापक गुण अपने विविध सयोगो के कारण विविध कार्यो को उत्पन्न करते है क्योंकि यह मत छोटे–छोटे भेदो की समुचित व्याख्या नही कर पाते। अत गुणों की अभिव्यक्तिया असंख्य है तथापि कुछ सामान्य लक्षणो तथा लघुता आदि के आधार पर इनका तीन प्रकार का वर्गीकरण किया जाता है।[७९] साख्यकारिका के अनुसार[८०] तीनो गुण कभी भी अलग–अलग नही रहते। वे एक दूसरे को पुष्ट करते है और एक दूसरे से मिले–जुले रहते है। वे परस्पर वैसे ही घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है जैसे बत्ती तेल और दीपकलौ पररपर मिले हुए है। ये तीनो गुण प्रकृति के सारभूत तत्त्व है सम्पूर्ण जगत और इनके भेद इन्ही गुणो पर आधारित है। वास्तव मे गुणो की ऐसी कल्पना का आदिस्रोत मनोवैज्ञानिक है क्योकि इनके अन्दर जिस आधार पर भेद किया गया है वे भावना के भिन्न–भिन्न प्रकारो पर आधारित है। प्रारम्भिक काल मे साख्यकारिका द्वारा गुण के माध्यम से प्रकृति के विभिन्न पक्षो अर्थात अवयवो को व्यक्त किया गया है।

साख्य दर्शन मे जगत के कारण के रूप मे जिस द्रव्य का उल्लेख किया गया है और जगत की समस्त वस्तुए जिसके भिन्न–भिन्न विन्यास हैं। भौतिकवादी विचार होने का भ्रम पैदा करता है। साख्य का भौतिकवाद और प्रकृतिवाद दोनो ही विश्व के एक युक्तियुक्त भाव को प्राप्त करना चाहते है और दोनो एक ऐसे परम यर्थाथ तत्त्व पर बल देते है जो नित्य अविनश्वर तथा सर्वव्यापी है। लेकिन साख्य की प्रकृति एक विशुद्ध भौतिक द्रव्य नही है जेसा कि भौतिकवाद मानता है। साख्य विचारक दो तत्त्वो प्रकृति और पुरुष की निरपेक्ष सत्ता रवीकार करते है। यहॉ प्रकृति मात्र भौतिक जगत के पचमहाभूतो को ही उत्पन्न नही करती अपितु मानसिक तत्त्वों को भी उत्पन्न करती है। इस प्रकार आत्मतत्त्व का मानसिक तत्त्व से भिन्नता रपष्ट है। अत प्रकृति सभी प्रमेय विषयक जीवन का आधार है। प्रकृति परिणमनशील जगत का

आधार है। जो कि जगत के तनाव का प्रतीक है। बिना चेतनता और बिना पूर्वनिर्धारित योजना के निरन्तर क्रियाशील रहती है। प्रकृति ऐसे लक्ष्य के प्रति गतिमान है जिसे वह जानती नही। साख्य इस विचार पर विज्ञान के द्वारा नही अपितु अध्यात्म के द्वारा प्राप्त करता है।[८१]

प्रकृति अनुभव की दृष्टि से एक आकषर्ण है। यदि बाह्य यथार्थ अनुभव द्वारा सिद्ध है तो प्रकृति विशुद्ध प्रमेय विषय का ऐसा आकषर्ण है जो बुद्धिगम्य नही है। जब प्रकृति को अव्यक्त कहा जाता है तो इसका अर्थ है कि यह वस्तुओं का रूप रहित अधिष्ठान है। शारीरिक तथा मानसिक सृष्टि का प्रत्येक भाग उस तनाव का प्रतीक है जो एक गुण और उसके विरोधी के बीच निहित है और जो क्रियाशीलता का कारण है।[८२] प्रकृति गुणो की पृष्ठभूमि में नही रहती अपितु यह गुणो की त्रिमूर्ति है। तीनो गुण प्रकृत के रूप है धर्म नही। वास्तव मे यह एक ऐसा भावात्मक आर्कषण है जिसके अन्दर समस्त पदार्थों को उत्पन्न करने की क्षमता निहित है।[८३] यदि प्रकृति को एक यात्रिक व्यवस्था मान लिया जाये तो सकल्प–स्वातत्र्य एक भुलावा मात्र होगा। इस दशा मे नैतिक मान्यता निरर्थक हो जाएगी। लेकिन साख्य जिसे अध्यात्मवाद और एकमात्र पुरुषार्थ मोक्ष को प्रश्रय देता है। उससे स्पष्ट है कि न तो प्रकृति की दशा एक यात्रिकता मात्र है और नही पुरुष एक पत्थर मात्र है। साख्य इस बात पर बल देता है कि वह ज्ञान जो हमारा रक्षक है प्रकृति की देन है।[८४]

सत्कार्यवाद[८५] के आधार पर साख्य प्रकृति परिणामवादी भी है। जिसमे पाच प्रकार के तर्क दिये गये है –

(१) असदकारणात् – कारण व्यापार के पूर्व कारण मे कार्य के असत् होने पर उसको उत्पन्न नही किया जा सकता ।

(२) उपादानग्रहणात् – प्रत्येक वस्तुए कार्य अपने अनुरूप कारण को ग्रहण करता है ।

(३) सर्वसभवाभावात् – सभी प्रकार के कारणो से सभी प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति नही अर्थात निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य की अभिव्यक्ति ।

(४) शक्तस्य शक्यकरणात – जिसमे उत्पादन की सामर्थ्य है, वह शक्त[८६] है तथा जो उत्पन्न होने योग्य है वह शक्य है अर्थात् कार्य कारंण मे शक्य–शक्त सबध है।

(५) कारणभावाच्च – कारण के अनुरूप ही कार्य का भाव होता है।[८७]

तृतीय और चतुर्थ हेतु एक प्रकार से द्वितीय हेतु का ही पूरक है जबकि पाचवा हेतु प्रथम और द्वितीय हेतु की भाति स्वतव और महत्वपूर्ण हेतु है। साख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार जगतरूप कार्य से उसके कारण के प्रधान अर्थात त्रिगुणात्मक होने का अवश्यमेव अनुमान होता है क्योंकि जगत वरतुत शब्द स्पर्श रूप रस ओर गन्ध के स्वरूप का ही है और ये शब्द रपर्श इत्यादि सर्वदा सुख–दुख–मोह को उत्पन्न करने के कारण सत्वरजस्तमोरूप त्रिगुणात्मक ही होते है अर्थात कारण और कार्य मे अभेद होने से जिस प्रकार का कार्य है उसी प्रकार का कारण भी होगा ऐसा अनुमान होगा। लेकिन यदि कारण और कार्य दो भिन्न वस्तु नही है तो उनमे से एक ही यर्थाथ हो सकता है दोनो कारण और कार्य अर्थात धर्मी और धर्म एक ही है और दोनो यर्थाथ अर्थात् सत हो यह नही हो सकता है। जैसे कि घट से घट की उत्पत्ति नही होती। अपितु मिट्टी से घट की उत्पत्ति होती है। साख्य मत मे परिणाम वास्तविक और सत्य होता है। लेकिन ऐसा मानने पर सत कारण मे परिवर्तन वास्तविक मानना होगा तब सत सत्ता विचार से प्रभावित होगी। ऐसा होने पर प्रकृति और निरपेक्ष सत्ता कैसे हो सकती है। अत परिणाम को तात्रिक नही माना जाता है। इस प्रकार सत से सत की उत्पत्ति की धारणा भी उचित नही प्रतीत होता है।

साख्य दर्शन के मत से मिटटी आदि उपादान करण ही घट इत्यादि कार्य के रूप मे परिणत हो जाता है अर्थात् कारण ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रधान ही महदादि कार्य रूप से उत्पन्न होता है। साख्य मत मे प्रधान नित्य है लेकिन यह कहना कि प्रधान उत्पन्न होता है का अर्थ है नित्य प्रधान से महदादि कार्य वैसे ही व्यक्त होते है जैसे मिटटी के पिण्ड से घडा व्यक्त होता है। परन्तु यहाँ 'नित्य प्रधान रफुटनशील है कहना ही वदतोव्याघात है।[८८] अत सत् का वास्तविक जन्म नही माना जा सकता है। वेदान्तीय मतानुसार[८९] जाग्रत काल के भी पदार्थों की प्रयोजनवत्ता स्वप्न काल मे असिद्ध हो जाती है। जाग्रत काल मे खूब खा–पीकर तृप्त हुआ व्यक्ति सोते ही स्वप्न मे अपने को भूख–प्यास से ठीक उसी प्रकार पीडित एव दिन–रात भर का भूखा–प्यासा दिखता है। जैसे कि रवप्न मे जब खा–पीकर उठा हुआ व्यक्ति अपने को

भूखा प्यासा पाता है। अत स्पष्ट है कि स्वप्निक पदार्थों की भाति जाग्रतकालीन अर्थात् व्यावहारिक पदार्थों के भी मिथ्या अर्थात असत होने मे कोई शका नही है। लेकिन साख्यसूत्रधार[६०] जगत की सत्यता का प्रतिपाद न करते हुए उसका यह हेतु दिया है कि जगत की उत्पत्ति ता प्रकृति से हुई है जो अदूषित कारण है दूषित करण नही। जिससे उसका वह कार्य दूषित मिथ्या या असत् हो जाता है। इसके विपरीत स्वप्न काल के पदार्थ निद्रादि दोष से दूषित अन्त करण कार्य है। अत वे मिथ्या है। इस प्रकार स्वप्निक सृष्टि के मिथ्यात्व के बल पर व्यावहारिक सृष्टि का मिथ्यात्व कथमपि प्रतिपादित नही किया जा सकता क्योकि दोनो मे महत्वपूर्ण वैषम्य है। अत साख्य मत मे उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता का अर्थ है कि वह सूक्ष्म रूप से ही कारण मे रहता है। स्थूल अथवा वक्ता रूप से सिद्ध नही रहता जिससे उसे व्यवहार या उपयोग मे लाया जा सके। साख्य द्वारा सत् शब्द का प्रयोग भी उस अर्थ मे तो नही ही है जिसमे वह उत्पन्न या स्थूल घट के लिए उसका प्रयोग करता है। स्पष्ट है कि साख्य अनुत्पन्न घट के लिए सत् का प्रयोग इस अर्थ मे करता है कि मिटटी और घट में शक्त और शक्य का सबध हे अर्थात मिटटी मे घर को उत्पन्न करने की क्षमता है। साथ ही परिणाम का अर्थ अभिव्यक्ति से ही है तथा वास्तविक सत्ता का सबध व्यावहारिक सार्थकता से है पारमार्थिक रूप से नही।

(II) पुरुष

साख्य दर्शन का दूसरा मूल तत्त्व किन्तु सृष्टिकम मे पच्चीसवा तत्त्व पुरुष है।[६१] जो प्रकृति के समान ही निरपेक्ष माना गया है। पुरुष न कारण है न कार्य है और न ही उसका कोई परिणाम होता है। वह न प्रकृति है न विकृति। पुरुष निष्क्रिय किन्तु चेतन सत्ता है इसलिए द्रष्टा है। वह विषय नही है बल्कि विषयभूत प्रकृति और उसके कार्य उसके सम्मुख दर्शित होते है। जो उसे दिखाने मात्र के लिए होते है। अत पुरुष साक्षी है। चूँकि पुरुष स्वरूपत सत्त्व रजस और तमस तीनों गुणो से रहित है। अत उसका कैवल्य स्वत सिद्ध है। पुरुष उदासीन है क्योकि वह सुख दु ख आदि मे लिप्त नही होता है। चूँकि पुरुष महत आदि की तरह अन्य वस्तुओ से सम्मिलित होकर क्रिया नही करता है। अत पुरुष विविक्त और अपरिणामी होने के कारण अकर्ता है।[६२] वास्तविक कतृत्व बुद्धि मे ही रहता है। स्वय साख्य के मत मे प्रकृति लिग नही है।

बुद्धि प्रकृति का लिग है न कि पुरुष का। अत अहकार आदि का अपने–अपने कारणो का अनुमान करा सकते है पुरुष का नही। साख्य दर्शन के मत मे पुरुष अनेक है। प्रत्येक पुरुष का जन्म–मरण और इन्द्रियाँ अलग–अलग होती है। प्रत्येक पुरुष की प्रवृत्तियाँ भी भिन्न–भिन्न होती है। क्योकि एक काम में सबकी प्रवृति एक साथ नही होती। इस प्रकार विभिन्न पुरुषो मे तीन गुणो का विपर्यय पाया जाता है।[९३] किंतु बधन मोक्ष और ससार पुरुष मे आरोपित किये जाते है। वे पुरुष मे दिखते है पर वास्तव मे वहाँ होते नही क्योकि साख्यसिद्धात मे बधन मोक्ष और पुनर्जन्म पुरुष का नही माना गया है। लेकिन चैतन्य स्वरूप पुरुष से सयुक्त हुई जड बुद्धि चेतनवती प्रतीत होती है। उसी प्रकार कर्तृत्व त्रिगुणात्मक जड पदार्थो का एक धर्म है। पुरुष मे प्रतिसक्रमित होने से कर्ता की तरह अवभाषित होता है।[९४]

साख्य दर्शन के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थो जैसे प्रकृति अथवा पुरुष का अनुमान सामान्यतोऽदृष्ट से होता है।[९५] अनिरुद्ध के समान आ० विज्ञानभिक्षु की पुरुष के अस्तित्व के विषय मे सभी दार्शनिको के एक मत होने के कारण उसके अस्तित्व को सिद्ध करने वाले प्रमाणो की अधिक आवश्यकता नही समझते।[९६] तथापि अपने भाग्य मे आ० विज्ञानभिक्षु पुरुष अस्तित्व प्रमाण मे भर्तृहरि सम्मति स्वानिभूति[९७] का भी सन्निवेश करते है। उन्होने पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट की पद्धति[९८] की ही भाति इस अनुभूति प्रमाण को जानेऽहमिति धीवलात [९९] कहकर अपनी सहमति व्यक्त की है।

आर्चाय विज्ञानभिक्षु के अनुसार जब तक पुरुष जीवरूप से रहता है तब तक पुरुष मे भोक्तृत्व रूप रहता है। आ० वाचस्पति मिश्र भी इसे स्वीकार करते है।[१००] यद्यपि दोनो आचार्यों मे भोग का स्वरूप भिन्न–भिन्न है। मिश्र मानते है कि बुद्धिस्थ पुरुष प्रतिबिम्ब मे सारा भोग होता है किन्तु भिक्षु के मत मे इस प्रकार का भोग प्रतिबिम्बगत होने से तुच्छ होगा। अत पुरुषस्थ–बुद्धि–प्रतिबिम्ब है। भोग चाहे प्रतिबिम्ब रूप ही क्यो न हो पुरुष का भोगादित्व तो निश्चित रहता है। भोग को क्रिया मान लेने के ही कारण अनिरुद्ध पुरुष मे भोगातित्व नही मानते है। लेकिन उनका यह मत उचित नही है। इसी प्रकार प्रकृति को भोक्तृ कहने वाले अनिरुद्ध की भर्त्सना करते हुए अचार्य भिक्षु ने दृष्टत्वस्वरूप भोग का व्यपदेश पुरुष मे माना है जिसका

समर्थन उपनिषद् आदि श्रुतियो से भी होता है। आचार्य माठर द्वारा पुरुष के मोक्ष कालिक स्वरूप मे आनन्द की मान्यता का भी आचार्य भिक्षु विरोध करते है। पुरुष मे इच्छा आदि गुण कभी नही माने जा सकते है। इच्छा आदि धर्म तो अन्वय–व्यातिरेक से मन के ही धर्म माने जा सकते है। पुरुष को निगुर्ण कहने मे गुण शब्द का अर्थ आचार्य रामानुज आदि की भाति अच्छा गुण नही लेना चाहिए। यहाँ पर गुण का अर्थ कोई भी विशेष गुण है। किसी भी विशेष के न होने से ही पुरुष निगुर्ण है।[१०१]

आत्मा के अर्थ मे पुरुष शब्द पुराण एव महाभारत में प्राय मिलता है। जिसकी उत्पत्ति पुरूशेते से माना गया है। साख्य मे आत्मा पुरुष के रूप मे ही व्यवहृत है। साख्य सूत्र मे पुरुष के अनुमान के लिए उसके प्रकाश स्वरूप को एक आधार माना गया है।[१०२] क्योकि अधकार स्वरूप अचेतन वर्ग मे प्रकाश की अशक्तता है। साख्यशास्त्रियो के बीच विषयो के ज्ञान ओर भोग के स्वरूप को लेकर भी मत वैभिन्न है। आचार्य आसुरि[१०३] और आचार्य विन्ध्यवासी के मतो मे भोग के स्वरूप को लेकर अन्तर है। आचार्य आसुरि के मत मे पुरुष मे प्रतिबिम्बित बुद्धि ही पुरुष का भोग है अर्थात बुद्धि के सब धर्म उसी मे होते रहते है। पुरुष का भोग इतना ही है कि बुद्धि अपने धर्मो को लेकर उसमे प्रतिबिम्बित हो रही है। जबकि आचार्य विन्ध्यवासी के अनुसार अविकृतात्मा अर्थात असग रहता हुआ ही पुरुष स–सानिध्य से अचेतन मन अथवा बुद्धि को स्वनिर्भास अर्थात् चेतन–सदृश्य कर देता है। जिस प्रकार लाल कमल अपने सम्पर्क से स्फटिक को लाल कर देता है। इस प्रकार सानिध्य के कारण चेतन पुरुष बुद्धि मे प्रतिफलित हो जाता है। यही उसका भोग है। स्पष्ट है कि जहाँ आचार्य आसुरि असग पुरुष मे आहार्य भोग मानते है। वही विन्ध्यवासी[१०४] पुरुष मे आधर भोग भी सभव नही मानते। इनके मत मे बुद्धि मे पुरुष के प्रतिबिम्बित हुए बिना भोगादि के सम्भव न होने से पुरुष मे आहार भोग का केवल उपचार होता है। अन्यथा भोग तो मुख्यत बुद्धि मे ही होता है। यहा आचार्य आसुरि का मत है साख्यकारिका की मान्यता के अनुरूप है।[१०५]

इसी प्रकार भोग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अनिरुद्ध[१०६] का मत है कि भोग बुद्धि मे ही होता है। पुरुष को तो केवल उसका अभिमान होता है। लेकिन आचार्य भिक्षु[१०७] इसका खडन

करते हुए कहते हैं कि यह मत कि बुद्धि में चेतन पुरुष की प्रतिबिम्ब पडने के कारण बुद्धि ही सब अर्थों का ज्ञाता है ज्ञान और इच्छा के समानाधिकरण्य का जीवन मे अनेकश अनुभव होने के कारण ज्ञान की चेतना पुरुष मे तथा प्रवृत्ति को बुद्धि मे मानना उचित नही प्रतीत होता है।अत सब पदार्थों का ज्ञान भी बुद्धि को ही होता ऐसा मानना भी ठीक नही है क्योंकि बुद्धि को ही ज्ञाता मानने पर सूत्र के विचारों से विरोध उत्पन्न हो जाता है क्योकि उसमे चेतन आत्मा के भोग की ही बात मानी गयी है। बुद्धि के भोग की नही दूसरे यदि आचार्य अनिरुद्ध के मत को मान ले तो पुरुष की सिद्धि मे कोई प्रमाण नही मिलेगा। क्योंकि उनके मत में पुरुष के अनुमान मे लिग बनने वाले भोग को तो बुद्धि मे ही मान लिया गया है। इस प्रकार आचार्य भिक्षु भोग को ही पुरुष मे ही रवीकार करते है। भले ही वह स्वत न होकर बुद्धि द्वारा उसमे सम्पादित होता हैं।

प्रमाण के स्वरूप के सबध में आचार्य अनिरुद्ध के अनुसार किसी भी प्रमेय अर्थात पदार्थ की प्रमा अर्थात उसका ज्ञान मुख्यत बुद्धि को ही होता है और पुरुष को तो उसका केवल अभिज्ञान होता है। जबकि आचार्य भिक्षु[१०८] के मत में बाह्य ज्ञानेन्द्रियो एव मन और अहकार नामक अन्त करणो के द्वारा सम्पादित एव परम्परया बुद्धि को समर्पित वह ज्ञान बुद्धि के द्वारा पुरुष को समर्पित किये जाने उस तक आहार्य होने के कारण पुरुष गति ही होता है। चूँकि आचार्य भिक्षु विषय की प्रमा की आहार्य रूप से पुरुषनिष्ठ होना मागते है। अत उनकी दृष्टि में इसे सपादित करने वाले बुद्धि वृत्ति (बुद्धि–व्यापार) ही एक मात्र प्रमाण है। आचार्य वासुदेव[१०९] का मत है कि प्रमाण चित्त या बुद्धि की वृत्ति का नाम एव तज्जन्य पुरुषनिष्ठ बोध (ज्ञान) उसका फल है। प्रत्यक्ष प्रमाण के सबध मे इन्द्रियो प्रणालिका अर्थात द्वार कहा गया है। जिससे रपष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय अथवा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष नही अपितु इन दानो के योग से उत्पन्न हुई बुद्धि अर्थात चित–वृत्ति ही है। इसी प्रकार अनुमान एव शब्द प्रमाण भी चित–वृत्ति रूप ही है। लेकिन इन तीनो मे अन्तर यह है कि प्रत्यक्ष की चित–वृत्ति इन्द्रियार्थ–सान्निकर्षोत्पन्न एव विशेषावाधारण प्रधान होती है। अनुमान की चित्–वृत्ति व्यापित आदि के ज्ञान से उत्पन्न और सामान्यावाधारण प्रधान होती है तथा शब्द प्रमाण की चित–वृत्ति वाक्यार्थ ज्ञान से उत्पन्न होती हे।

परन्तु प्रमाण एव प्रमा के एक बिध्य के विषय मे वाचस्पाति मिश्र[११०] के साथ एक मत होने पर भी बुद्धि वृत्ति और पुरुष मे पररपर होने वाले सबध के विषय मे विज्ञान भिक्षु का उनसे मतभेद है। वाचरपति मिश्र अन्त करण या बुद्धि की वृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब मानते है। अनिरूद्ध[१११] पुरुष को ही बुद्धि या अन्त करण मैं प्रतिबिम्बित मानते है। लेकिन विज्ञानभिक्षु का उक्त दानो से मतभेद है। वस्तुत विज्ञानभिक्षु[११२] का मत है कि अर्थाकार रूप परिणति बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्बित उतना ही जरूरी है जितना पुरुष का तादृश्य बुद्धि में। इस प्रकार यहा प्रतिबिम्बित उभयपक्षी घटना है एक पक्षी नही। विज्ञानभिक्षु यह पारारपरिक प्रतिबिम्बन प्रक्रिया एक विशेष प्रकार का सयोग है। जिससे चित पुरुष बुद्धि या अन्त करण मे बिना सशक्त हुए प्रतिबिम्बित होता है। जिस प्रकार लोहे के साथ अग्नि का सयोग विशेष ही लोहे का उज्जवलन होता है अग्नि का प्रकाश आदि उसमे सक्रान्त नही होता उसी प्रकार पुरुष का भी बुद्धि के साथ सयोग विशेष है। बुद्धि मे प्रतिबिम्बन है लेकिन यहॉ पर बुद्धि का ही सत्वोद्रेख रूप परिणाम होता है पुरुष का नही। द्विविध प्रमा और द्विविध प्रमाण के सबध मे आचार्य भिक्षु[११३] का मत है कि यदि पुरुष निष्ठ प्रमा को प्रमाण का फल या कार्य मानते है तो बुद्धि वृत्ति को प्रमाण मानना होगा यदि बुद्धि वृत्ति को ही प्रमाण का फल माना जाय तो इन्द्रियार्थ–सननिष्कर्ष को प्रमाण मानना होगा तथा पुरुषगत बौध एव बुद्धि वृत्ति दोनो को ही प्रमाण माने तो बुद्धि वृत्ति इन्द्रियार्थ–सननिष्कर्ष दोनो को ही क्रमश प्रमाण मानना पडेगा। चक्षुरादि इन्द्रियो के विषय मे प्रमाण का व्यवहार केवल परम्परा से ही समझना चाहिए।

साख्य दर्शन के पुरुष बहुत्त अवधारणा के सबध के कुछ लोगो का मत है कि यह एक परवर्ती विचार है कितु पुराणोतिहास मे भी साख्य का पुरुष बहुत्व रपष्ट रूप से परिलक्षित होता है जैसे कि वायुपुराण मे शरीर की अनेकता के आधार पर पुरुषनानात्व को भी स्वीकार किया गया है तो दूसरी और गीता मे भी पुरुष–बहुत्त्व सबधी मत यत्र–तत्र मिलते है। पुराण एव महाभारत के पुरुष बहुत्व सबधी विचार को देखते हुए कुछ लोगों द्वारा साख्य मे पुरुषैकतत्व को सिद्ध करने का प्रयास उचित नही लगता है। साख्य सूत्र[११४] मे भी पुरुषैकत्व सबधी जो मत मिलते है उसे देखते हुए गार्वे आदि ने अर्वाचीन कृति माना है। विज्ञानभिक्षु तथा भावगणेश आदि द्वारा साख्य मे पुरुषैकत्व सिद्ध करने का जो प्रयास किया गया है उसे देखते हुए परवर्ती विद्वानो

ने तत्त्वसमास तथा साख्य सूत्र दोनों को एक कालिक माना है। जबकि भावगणेश ने आचा
भिक्षु का अनुसरण करते हुए तत्त्वसमास की टीका की है। अत तत्त्वरामास को साख्य रूत्र व
समकालीन नही मानना चहिए। तत्त्वसमास मे केवल पुरुष[११५] पद है जिससे भावगणेश व
पुरुषैकत्व अर्थ की प्राप्ति हुई जबकि वायु–पुराण ब्रह्माण्ड पुराण तथा महाभारत से[११६] पुरु
नानात्व ही सिद्ध होता है। वास्तव मे तत्त्वसमास के पुरुष पद को केवल चित के अस्तित्व व
द्योतक मानना चाहिए।

पुराणो में प्रतिसचर को त्रिविध माना गया है प्रतिसंचर का अर्थ यहॉ लय से है। त्रिवि
। लय मे एक आत्यान्तिक लय भी है जो कि ज्ञान द्वारा सभव है चूँकि सबको एक सा
आत्यन्तिक लय के साधन ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। अत एक साथ सबका आत्यन्ति
लय भी नही होगा। इसीलिए पुराणो मे पुरुष बहुत्व सबधी मत को स्वीकृति मिली है।[११७] मो
के लिए वैयक्तिक साधना ही उपादेय है। विविध जीव कार्यविपाक मरण गर्भवास जन्म विभि
जीव कुलो मे स्थिति को सम्यक रूप से जानने पर मोक्षोन्मुखी वृत्ति होती है। माहात्म्य शरी
को बैविध्य भी पुरुष के नानात्व का प्रतिपादन करता है। अत कीथ आदि द्वारा पुरुष बहुत्व व
परवर्ती साख्य की अवधारणा मानना ठीक नही है। साख्यकारिका[११८] मे पुरुष बहुत्वम् सिद्ध
कहता इस बात का प्रमाण है कि आचार्य ईश्वर कृष्ण पुरुष नानात्व की सिद्धि मे विशेष रूप
प्रयत्नशील है। आचार्य ईश्वर कृष्ण ने अपनी अन्तिम कारिका मे पष्ठितत्र शास्त्र कि मत व
प्रतिपादित करने का विचार व्यक्त कर परम्परया साख्य सिद्धान्त में पुरुष–बहुत्व सबधी मान्य
को बल प्रदान किया है। पुराण तथा महाभारत मे उपल्बध पुरूष नानात्व के सन्दर्भ मे सा
कारिका के तर्क को उक्त दिशा मे एक महत्वपूर्ण प्रमाण के रूप मे माना जाता है। वायु त
ब्रह्माण्ड पुराण मे शरीर एव सुख–दु ख भोग को ही पुरुष बहुत्व का अनुमापक माना गया
जैसे कि कारिका मे जन्म मरण करण सत्वादि विपर्यय एव अयुक्तपत्य प्रवृति को पुरुष बहु
का हेतु बताया गया है।

बद्ध पुरुष के प्रति जन्म प्रच्यवी स्थूल शरीर के जननादि के आधार पर पुरुप नान
सिद्ध किया जाता है क्योंकि शरीर एक सघात है उसकी परार्थता पुरुषनुमान मे अन्यतम

है। कैव्लय आप्तप्रमाण का प्रमेय है अत मुक्त पुरुष के हेतुओ काअन्वेषण एव उनके आधर पर पुरुष नानात्व की सिद्धि असम्भव है। बद्ध एव मुक्ति क भेद को लेकर ही साख्य कारिका क टीकाकारो मे मतभेद है। दशमूलिकार्थ की व्याख्या करते हुए कुछ टीकाकार एकत्व को भी पुरुष के पक्ष मे मानते है।[११९] जबकि युक्तिदीपिका तत्त्वकौमुदी जयमगला तथा माठरवृत्ति मे एक मत से नानात्व को ही पुरुष परक माना गया है। गोडपादभाष्य मे एकत्व को पुरुष के सबध ा मे माना गया है।[१२०] पुरुष उदासीन चित स्वभाव प्रकाश रवरूप निष्क्रिय विभु तथा अनादि हे जबकि इसके विपरीत प्रकृति सक्रिय अचित अधकार स्वरूप सगुणरूप तथा पुरुष की भाति विभु एव आनादि है। यहॉ विद्धानों मे पुरुष के निमिन्तत्व को लेकर विवाद है इसका मुख्य कारण यह है कि साख्य कारिका एव साख्य सूत्र दोनो मे पुरुष के लिए निमिन्त शब्द का प्रयुक्त न होना है। दर्शन मे निमित्त शब्द का प्रयोग मुख्यत कारण करण और प्रयोजन तीन अर्थो मे होता है। साख्य दर्शन मे यह प्रथम दो अर्थो मे क्रमश पुरुष एव धर्मादि भावो का वाचक है। साख्य कारिका और साख्य सूत्र में निमित्त शब्द अन्तिम दो अर्थो करण[१२१] एव प्रयोजन में[१२२] ही प्रयुक्त हुआ है। जबकि प्रकृति को सर्वत्र उपादान के रूप मे रवीकार किया गया है। अत परिशेष्येयात् पुरुष निमित्त रूप कारण ही सिद्ध होता है वास्तव मे साख्यकारिका एव साख्य सूत्र में पुरुष के लिए अलग से निमित्त शब्द का प्रयोग न करके निमित्तत्व को अधिष्ठातित्व में ही निहित मान लिया गया है।[१२३] इन दोनो ग्रथो में पुरुष के अनुमान मे प्रकृति तथा प्राकृतगण को अधिष्ठान कहने के द्वारा पुरुष की अधिष्ठातित्व में निमित्तत्व को गत्वार्थ समझकर उसके लिए अलग से निमित्त शब्द का प्रयोग की आवश्यकता नही समझी गयी।

गौडपाद[१२४] ने पुरुष के अधिष्ठातित्व को सिद्ध करने के लिए षष्ठितन्त्र के उद्धरणो को ग्रहण किया है। इन्होने साख्यकारिका[१२५] के शक्तस्यशक्यकरणात् को पुरुष और उपादानग्रहणात को प्रकृति का व्यजक मानकर पुरुष निमित्तत्व को कारिका मे निहित माना है। वैसे भी पुरुषाधि ाष्ठित होकर ही प्रकृति भोग्य होती है अन्यथा उसकी भोग्यता अनुपपन्य है। अत पुरुष का अधि ाष्ठातित्व के अतिरिक्त अन्य कोई रूप नही माना जा सकता।[१२६] पुरुष अपरिणामी कूटस्थ नित्य के साथ–साथ निमित्त रूप अधिष्ठाता भी है। अत पुरुष को अधिष्ठाता अर्थात निमित्त कारण रूप मानने मे आशकित कर्तत्वापत्ति को अपसारित करने के लिए अयरकान्तमणि के द्वारा समझा

जा सकता है।[१२७] उक्त उदाहरण पुराणेतिहासीय है जो जयीय एव श्रेण्य साख्य के एतत्सबध ी एकमत्य का प्रबल प्रतिपादक है। जिस प्रकार चुम्बक के सानिध्य मात्र से लोह मे गति मे उत्पन्न होती है वैसे ही पुरुष के सन्निधि मात्र से प्रकृतिगुणक्षोभिणी हो जाती है और महदादि विशेषों का विकास होता है। महत के साथ प्रतिबिम्बन के कारण पुरुष का दृष्टव्य कर्तृत्व एव भोक्तृत्व सिद्ध होता है अर्थात् पुरुष का कर्तृत्व आदि बुध्द्युपाधिक है।[१२८] आचार्य भिक्षु पुरुष के भोक्तृत्वादि को सिद्ध करने के लिए अन्योन्य का प्रतिबिम्बन मानते है।

यदि अद्वैतेवदान्त की यह मान्यता कि चैतन्य पुरुष एक ही है। उसमे तत तत शरीर रूप उपधियो के भेद से जन्म मरण एव करण पृथक होता है मान ली जाए तो प्रश्न उठता है कि[१२९]

(अ)– तब एक ही शरीर के हाथ और स्तन की अभिव्यक्ति से भी जन्म मरण आदि की व्यवस्था होनी चाहिए जैसे कि हाथ कटने से मृत्यु ओर स्तन के अभिव्यक्त होने से युवती उत्पन्न हो जानी चहिए।

(ब)– यद्यपि पुरुष के निष्क्रिय होने से प्रकृति उसका धर्म नही है तथा रव स्वामिभाव सम्बन्ध से बुद्धिगत वृत्तियो का पुरुष मे आरोप कर लिया जाता है। अत सभी मनुष्यो की कार्य प्रवृत्ति एक समान न होने रपष्ट है कि प्रत्येक शरीर भिन्न–भिन्न पुरुषो द्वारा अधिष्ठित है प्रवृत्ति के एक साथ न होने से अत पुरुष का नानात्व सिद्ध होता है।

(स)– यही नही समस्त चेतन प्राणियो की प्रकृति अपने–अपने गुण धर्म के अनुसार भिन्न–भिन्न होती है। प्राकृतिक पदार्थो के गुण भेद या वर्ग भेद को मिटाया नही जा सकता। भारतीय समाज मे जातीय विभाजन एव पाश्चात्य की नरलीय विभाजन की व्यवस्था इन्ही गुण वैभिन्य के कारण की गयी है।

(द)– इन पुरुषो में कोई विरला ही कैवल्य की प्राप्ति करता है। प्रकृति मे सभी कार्य त्रिगुण है। किन्तु मै निगुर्ण एव कूटस्थ नित्य हूँ। यही साख्य मे सत्व–पुरुषान्यथाख्याति है अर्थात सत्त्व प्रधान बुद्धि–वृत्ति का उदय होने पर जड चेतनात्मक दोनो तत्त्वों का पृथक्–पृथक

ज्ञान होता है।

इसी प्रकार पुण्यवान स्वर्ग मे आता है पापी नरक मे पुण्यात्मा अच्छे स्थानो मे जन्म लेता है। पापी बुरे स्थानो में। इस अर्थ वाले श्रुति–स्मृति व्यवस्था के विभाग के अन्यथानुपपत्ति रो पुरुष–बहुत्व ही गानना श्रेयष्कर है। जन्म एव मरण का अर्थ उत्पत्ति एव विनाश नही अपितु अपूर्व देहेन्द्रियादि के विशिष्ट सघात से सयोग एव वियोग है।[१३०] इस प्रकार का सयोग–वियोग चूँकि स्फटिक मे लौहित्य नीलत्वादि सयोग–वियोग की भाति केवल प्रतिबिम्बन योग एव भोगरूपी है। अत पुरुष मे इनका निषेध नही है। पुरुष मे केवल परिणाम स्वरूप धर्मों का ही प्रतिवेध है।[१३१] अत पुरुष–बहुत्व मानना उचित है।

लेकिन कारिका[१३२] में पुरुष–बहुत्व सबधी युक्ति ऊपरी दृष्टि से उचित नही लगती क्योंकि वस्तुत कभी भी जन्म मरणादि न प्राप्त करने वाला पुरुष जननमरणकरणानामप्रतिनियमात आदि के आधार पर अनेक कैसे हो सकता है? पृथक–पृथक् जन्म मरण एव करण के आधार पर व्यवहारत पुरुष की अनेकता भले ही सिद्ध हो परन्तु परमार्थत यह कैसे सभव है। आ० वाचस्पति मिश्र के मत मे पुरुष परमार्थत एक ही है किन्तु आ० वाचस्पति मिश्र[१३३] यहाँ साख्य के पुरुष–बहुत्व का खण्डन नही करते है अपितु साख्य के पुरुष–बहुत्व के सिद्धात को सुदृढ आधारों पर प्रतिष्ठित ही करते है। वे साख्य एव शाकर वेदान्त के एतत सबधी मत को स्पष्ट करते हुए मानते हैं कि वेदान्त मे आत्मरूप पुरुष व्यवहारत एक ही है। जबकि परमार्थत वह एक ही है। इसके विपरीत साख्य मे पुरुष के अनेकता पारमार्थिक रूप से भी माना है। यद्यपि आचार्य मिश्र का स्पष्ट मत है कि जन्म–मरण पुरुष के धर्म नही है तथापि जिनके भी ये धर्म हैं। पुरुष के सानिध्य के कारण उनमे सभव होता है। इस प्रकार यदि पृथक्–पृथक शरीरो के सबध से ये घटनाए होती देखी जाती है तो स्पष्ट है कि पृथक–पृथक पुरुषो के सबध के कारण ही उनमे घटनाए पृथक्–पृथक होती है। अत पुरुषो के पार्थक्य अथवा बहुत्व की सिद्धि के लिए जन्म मृत्यु आदि का पृथक्–पृथक शरीरो मे तथा पुरुष के कारण होना ही अपेक्षित है। पुरुष मे होना ही आचार्य भिक्षु का उक्त मत जयमगला[१३४] एव युक्तिदीपिका[१३५] मे भी मिलता है।

साख्य सिद्धात मे पुरुष के मोक्ष की अवधारणा मिलती है। विवेक निमित्तक मोक्ष ही दर्शन का लक्ष्य है। जिसे परम निश्रेयस कहा गया है।[१३६] व्युदासीनतया विवेच्य ससार चक्र के अनन्तर उसके हान स्वरूप मोक्ष का विमर्श सम्प्रति उपक्रान्त है। चतुर्विध पुरुषार्थो में यही नित्य एव निरतिशय है अतएव परमपुरुषार्थ है इसलिए श्रेयोभिलाषी योगिजन्य अन्य तीन का परित्याग कर इसकी प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न करते है। कर्म एव ससार की भयकरता को देखकर तत्त्वविद्मुमुक्ष होते है।[१३७] वस्तुत बन्धन एव मोक्ष दोनो ही पुरुष के लिए अवास्तविक है। मोक्ष एव बधन दोनों को वैकल्पिक माना गया है। दो पृथक वस्तु को एक तथा एक वस्तु के दो वस्तु के रूप मे मानना विकल्प ही बन्धन–मोक्ष तथा पुरुष अत्यन्त पृथक है। पुरुष को इनसे सम्बद्ध करना ही विकल्प है। ये दोनो बधन एव मोक्ष प्रकृतिगत हैं। पुरुष शुद्ध एव मुक्त स्वभाव है प्रकृति के पार्थक्य को जानकर केवल अथवा स्वरूप मे अवस्थित होना ही पुरुष का मोक्ष ही प्रकृति के सम्पर्क मे पुरुष अचोर चौरइवधृत की भाति है।[१३८]

कैवल्य मे आत्मा सभी विचारो से मुक्त होकर अपने स्वरूप मे स्थित होता है। साख्य मे पुरुष सच्चित स्वरूप है। अत साख्य मोक्ष मे आनन्द को नही मानते है क्योकि उसके अनुसार आनन्द सत्व का धर्म है।। त्रिविध दु ख के आत्यन्तिक उच्छेद के लिए आनन्द से रहित होना आवश्यक है अन्यथा सत्व के अभिभूत होने पर पुन दु खादि का उद्भव होगा। महाभारत[१३९] मे भी मोक्ष को 'अदुखमसुखम् कहा गया है।

आत्मा रूप चैतन्य शरीर नही है न ही चैतन्य पदार्थो से उत्पन्न होने वाली वस्तु है। चूँकि यह चैतन्य उनके अन्दर अलग–अलग विद्यमान नही है। अत यह उन सबमे एक साथ रह भी नही सकती।[१४०] आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है क्योंकि इन्द्रियाँ स्वय द्रष्टा न होकर दर्शन के साधन है।[१४१] हमारे समस्त अनुभव आत्मा के द्वारा ही एक इकाई के रूप मे व्यवस्थित होते है। यह प्रकृति और शरीर से भिन्न है।[१४२] यह अपरिवर्तनशील सत्ता है जो कि सभी प्रकार के विचारो और सवेदनाओ को प्रकाशित करती है। क्योकि बिना एक स्थाई चेतन तत्त्व के सुख या दुख रूपी विविध अवस्थाओ का अनुभव सभव नही होगा।[१४३] आत्मा सुषुप्ति की अवस्था मे भी विद्यमान रहता है साथ ही जाग्रत और स्वप्नावस्था मे भी यह वर्तमान रहता है जो भी

परिवर्तन होते और दिखाई देते है। वे बुद्धि के अन्तर्गत आते है। उनका आत्मरूप पुरुष से कोई सबध नही है।[१४४] आचार्य विज्ञानभिक्षु आगे कहते है कि साख्य के पुरुष का न आदि है और न अन्त। अत यह अजन्मा है यह निगुर्ण है सूक्ष्म सर्वव्यापी नित्यद्रव्य इन्द्रियातीत अनुभवातीत देशकाल और कारण–कार्य श्रृखला के परे चिद्रूप है। पुरुष स्थाई अखण्ड और पूर्व सत्ता है। जब पुरुष शारीरिक सीमाओ से मुक्त होता है तो इसे परिवर्तनो का बोध नही रहता। बल्कि तब यह अपने वास्तविक स्वरूप मे स्थित होता हे।[१४५] पुरुष प्रकृति से सबद्ध नही उदासीन निर्लिप्त निष्क्रिय एक मात्र साक्षी रूप दर्शक है।[१४६] यद्यपि पुरुष विक्षुब्ध प्रतीत होता है लेकिन इसका कारण मन है। पुरुष और मन का सबध अस्थाई है। इस सबध का पुरुष पर दीर्घकालिक या स्थाई प्रभाव नही पडता है। क्योकि यह साहचर्य यथार्थ न होने के कारण कोई प्रमाण नही छोडता है। पुरुष जो निष्क्रिय रूप से निर्मित है निर्लिप्त है कर्ता प्रतीत होता है। किन्तु ऐसा त्रैगुण्यक प्रकृति के प्रमाण के कारण अनुभव होता है।[१४७]

साख्य दर्शन मे पुरुष की अनेकता मे विश्वास किया जाता है। इसके अनुसार ससार मे चैतन्ययुक्त प्राणी अनेक है और इनमे से हर कोई विषयीनिष्ठ और विषयनिष्ठ प्रक्रियाओ को अपने स्वतत्र अनुभव द्वारा अपनी ही विधि से समझता है। यहाँ विविध लोगों के दृष्टिकोण मे भेद का आधार प्रकृति के व्यापार नही अपितु चैतन्य स्वरूप द्रष्टा का भिन्न–भिन्न होता है। जिनकी इन्द्रियाँ और कर्म ही नही अपितु वे जन्म और मृत्यु भी अलग–अलग प्राप्त करते हैं।[१४८] साख्य मत में मोक्ष किसी एक निरपेक्ष सत्ता में तादात्म्य बनाना नही बल्कि प्रकृति से अलग हो जाना है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य मे आत्मा का मूल स्वरूप प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों की क्रियाओं का मूक दर्शक रहना है। जिनके साथ ये पुरुष अस्थाई रूप से सबद्ध समझ लिये थे। अत आचार्य भिक्षु का मत है कि धर्मशाखाओ अथवा दार्शनिक मतो मे जिस एकेश्वरवाद का सर्मथन किया गया है। वे आत्माओ के तात्रिक गुणो के परस्पर अभेद को प्रतिपादित करते है किसी अखण्डता का नही।[१४९] जीवात्मा इन्द्रियो के सयोग तथा शरीर द्वारा सीमित होने से पुरुष से पृथक रूप मे जाना जाता है। आ० भिक्षु के अनुसार पुरुष अपने आप मे जीव नही हे अपितु जब पुरुष अहकार युक्त होता है तो जीव कहलाता है।[१५०] बुद्धि के अन्दर पुरुष का प्रतिबिम्ब अहभाव के रूप मे प्रतीत होता है जो हमारी सभी मानसिक और शारीरिक अवस्थाओं और

दशाओ को जानती है। अत जब हमे इसका ज्ञान नही हो जाता कि बुद्धि पुरुष नही है अर्थात पुरुष बुद्धि के परे है। हम बुद्धि को पुरुष रूप आत्मा मानते रहते है। इस प्रकार प्रत्येक जीव बुद्धि के आधार पर अपने पूर्व कर्मों के अनुरूप निर्मित एक पृथक सस्थान है।[१५१] क्रियाशीलता और परिवर्तन का सबध बुद्धि से है जो प्रकृति की उत्पत्ति है। फिर भी पुरुष के साथ इसके सयोग के कारण निष्क्रिय और निर्लिप्त पुरुष सक्रिय और कर्ता प्रतीत होता है। जबकि वास्तव मे कर्तव्य का सबध अत करण से है जो चैतन्यपुरुष के प्रतिबिम्ब से कर्तव्य प्राप्त करता हे।[१५२] परिणामस्वरूप जीवात्मा अपने यथार्थस्वरूप को भूल जाता है और भ्रमवश मान लेता है कि वह सोचता अनुभव करता और कर्म करता है। शरीर से राबध होने के कारण पुरुष अपने को जीवन के एक परिमित और विशिष्ट रूप जीव मान लेता है। इस प्रकार जीव अपने मूल से वचित हो जाता है। यद्यपि पुरुष गाति नही करता है तथापि वह जिस शरीर मे स्थित है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक गति करता है। इसी प्रकार पुरुष निष्क्रिय है किन्तु उसे सहमति ओर असहमति प्रदान करने वाला माना जाता है यद्यपि ये सभी गतियॉ प्रकृति में ही होती। किन्तु भ्रमवश अकर्ता को कर्ता मान लिया जाता है।[१५३] वास्तविक बधन चित्त का होता है जबकि पुरुष पर इसकी छाया मात्र होती है। जिसका उस पर कोई प्रभाव नही पडता है। अत दु ख—सुख की अनुभूति मात्र प्रतिबिम्ब के रूप मे है जो उपाधि की वृत्ति है।[१५४] जब प्रकृति कार्य करती है तो उसके परिणाम की अनुभूति पुरुष को होता है क्योकि प्रकृति की क्रिया पुरुष के अनुभव के लिए है। वास्तव मे यह अनुभव भी अहभव के कारण आता है जो अविवेक द्वारा उत्पन्न होता है। जब कभी यथार्थज्ञान पुरुष को हो जाता है तब उसे न सुख होता है न दुख तथा न कर्तृत्व भाव आता है ओर न भोक्तृत्व भाव।[१५५]

डा० राधाकृष्णन के अनुसार[१५६] पुरुष का अरितत्व मानसिक अवस्थाओ की सीमा के परे और उससे पृथक् है पुरुष न तो अनुभवगम्य है और न ही लौकिक तत्त्वविज्ञान के विचार के अन्तगर्त आता है। निवेधात्मक पद्धति के आधार पर पुरुष का रवरूप नित्य और अखण्ड हे जा परिणामी नही है अर्थात। विविधता की छाया से भी रहित है और यह सदैव अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप मे अवस्थित रहता है। यहॉ साक्षी रूप मे द्रष्टा है। जिस पुरुष के लिए प्रकृति की उपस्थिति है, कभी भी रगमच पर नही आता है यद्यपि समरत अनुभव उसकी और सकेत करता

है। जीव प्रकृति की उपाधि युक्त है अत वह विशुद्ध पुरुष नही है। प्रत्येक आत्मा जो हमारे ज्ञान का विषय बनती है शरीर युक्त आत्मा है। यदि हम समस्त अनुभाविक तथ्यो को माने तो यह जो निर्गुण आत्मा जिसमे से समस्त वस्तुविषय निकाल दिये जाय मात्र एक कल्पित रचना होगी। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि पुरुष के आस्तित्व को सिद्ध करने के लिए साख्य जिन तर्कों को प्रस्तुत करती है वे आनुभाविक व्यक्तियो अर्थात जीवात्माओ के अस्तित्व ही सिद्ध करती है।[१५७] जिसके आधार पर साख्य पुरुष बहुत्व को सिद्ध करता है उससे भी यही सिद्ध होता है।[१५८] पुरुष बहुत्व के सबध मे जो सबसे महत्वपूर्ण तर्क दिया जाता है वह यह है कि यदि एक मात्र पुरुष की सत्ता स्वीकार की जाए तो इसके भ्रम का निवारण अर्थात विवेक–ज्ञान होते ही सृष्टि की प्रक्रिया का भी अत हो जायेगा। जबकि ऐसा कहना असगत है। वास्तव मे यह सृष्टि बद्धात्माओ के लिए तब भी विद्यमान रहती है। जबकि कुछ आत्माए मोक्ष प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार हम यह मानने के लिए बाद्ध है कि शरीर धारी आत्माएँ अनेक और भिन्न–भिन्न है। प्रत्येक जीवात्मा का अपना–अपना शारीरिक सघटन और अपनी अपनी रुची होती है इसी प्रकार इनके जन्म–मरण और क्रियाए भी अलग–अलग होती है।[१५९] साख्य का पुरुष प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। सभी प्रकार के परिवर्तन और लक्षण प्रकृति से ही सबद्ध है। पुरुष के अन्दर भेद प्रतिपादन करने का कोई आधार नही प्रतीत होता है। यद्यपि सभी पुरुषो के अन्दर एक ही समान चैतन्य तथा सर्वव्यापकता के लक्षण है इनके बीच न्यूनातिन्यून भेद भी नही है। क्योकि प्रत्येक पुरुष सभी प्रकार की विविधताओ से मुक्त है अत पुरुषबहुत्व की अवधारणा पूर्णत असगत है। यही कारण है कि गौडपादाचार्य प्रभृति साख्यटीकाकार एक अर्थात अद्वैत पुरुष के मत को स्वीकार करते है।[१६०] क्योकि जन्म, मरण करणदि के आधार पर ही नही अपितु भोक्ता मुमुक्षादि की धारणा से शरीरबद्ध जीव का अनेकत्व ही सिद्ध होता है। साख्य मत मे प्रधानत पुरुष को निष्क्रिय उदासीन नित्य और चेतन माना गया है जिसमे किसी प्रकार की कामना या इच्छा नही है। प्रकृति जिस पुरुष के लिए रगमच पर आती है और लीला करती है वह पुरुष नित्य और स्वतत्र नही हो सकता। वह प्रतिबिम्बित अहभाव रूप जीवात्मा ही होगी। अनेकत्व में सीमितताए मिश्रित रहती है। जबकि परम, नित्य अविनश्वर और निरुपाधित पुरुष एक ही हो सकता है। इसलिए यदि पुरुष की सत्ता प्रकृति के अभिनय अर्थात सृष्टि प्रक्रिया हेतु सरार्ग के लिए

आवश्यक है तो उसके लिए एक ही नित्य–शुद्ध–मुक्त पुरुष पर्याप्त है।[१६१] स्पष्ट है कि साख्य पुरुष की यथार्थ सत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य है क्योकि इसके बिना जगत की व्याख्या सम्भव नही है। लेकिन आश्चार्य है कि समस्त साख्य दर्शन पुरुष और जीव के भेद का उल्लेख नही मिलता। यदि पुरुष एक सर्वथा अपरिवर्तनीय निष्क्रिय और पृथक सत्ता है तो वह कर्ता या भोक्ता नही हो सकता है। क्योकि तब वह अध्यारोपण के आधार पर गलती भी कर सकता हे। अध्यापरोपण का अर्थ है[१६२] किसी जीवात्मा द्वारा एक वस्तु के गुणो का दूसरे वस्तु मे आरोपण करना जीवों का अस्तित्व व्यक्तियो के रूप में है। पुरुष पूर्ण आत्मा का ही नाम है जो देहस्थ आत्मा से भिन्न है। पुरुष मेरा सारतत्त्व है जबकि जीव इसकी विकृति है। अत पुरुष मूलत न प्रकृति है और न विकृति ही। वह निष्क्रिय व असग चेतन सत्ता है।[१६३]

आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार सभी आत्माए ईश्वरीय है।[१६४] यद्यपि आत्माओ के अन्त स्थित ऐश्वर्य को रजस तथा तमस गुणो द्वारा अवच्छेद किया जाता है।[१६५] अहकार जो व्यक्तित्व का तत्त्व है का कार्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभियान है। कर्तव्य का सबध इसी के साथ होता है पुरुष अर्थात् आत्मा के साथ नही।[१६६] यह कहना ठीक नही है कि प्रकृति पुरुषो के उद्देश्यो के अनुसार कार्य करती है क्योकि पुरुष अनादिकाल से स्वतत्र है और प्रकृति की प्रक्रियाओ से उत्पन्न सुखादि का भोग करने में असमर्थ है। अत प्रकृति की क्रियाए पुरुष नही जीवो के उपयोग मे निमित्त है क्योंकि जीव ही पूर्ण अन्तर्दृष्टि रखने के कारण अपने लिगशरीर के साथ [illegible] [illegible]पित कर लेता है। जबकि यहॉ भेदपरक विवेक ज्ञान की आवश्यकता है। ऐसे प्राणी जिन्हे प्रकृति जन्म देती है दु ख भोगने के लिए बाध्य है यद्यपि उन्हे अवसर चाहिए कि वे छुटकारा पा सके।[१६७]

साख्यकारिका मे इन्द्रियॉ पुरुष को अनुमान प्रमाण का[१६८] विषय माना गया है जैसा कि पुरुष तत्त्व की सत्ता के अनुमान पाच हेतुओ के आधार पर किया गया है।[१६९] पुरुष की सत्ता के अनुमान में जो प्रमाण दिये गये है, उनके आधार पर प्रकृति से पृथक पुरुष तत्त्व तो अवश्य सिद्ध होता है, परन्तु त्रिगुणात्मक जगत के भोक्ता अधिष्ठाता और बद्ध आदि रूप मे ही अकर्ता अभोक्ता आदि विशुद्ध रूप मे नही। यद्यपि सघात का भोक्ता तथा त्रिगुण–विपरीत कहे जाने से

सघात के त्रिगुणात्मक रूप से भिन्न उसका निगुर्ण चित्त रूप प्रकट होता है तथापि सघातपरार्थत्वात् एव अधिष्ठानत्वात हेतुओ से उसका बहुत्य सिद्ध होता है। इसी प्रकार[१७०] पुरुष की अनेकता सिद्ध करने वाले जो पाच हेतु माने गऐ है उनसे पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है परन्तु वह पुरुष जन्म लेने वाला मरने वाला विभिन्न देशकालो मे विविध कार्य करने वाला अर्थात कर्ता तथा त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव हेतु के आधार पर त्रिगुणात्मक स्वभाव वाला सिद्ध होता है उक्त सदर्भ मे वदतोव्याघात दोष उत्पन्न होता है क्योकि स्वय कारिकाकार ने पुरुष को कारण–कार्यभाव से रहित बन्धन मोक्ष से शून्य तथा भोक्तृत्व–कतृर्त्वादि आदि से विहीन माना है।[१७१] अत १७वी और १८वी कारिका के आधार पर पुरुष का व्यावहरिकत्व–जीवत्व ही सिद्ध होता हे। जो आचार्य ईश्वर कृष्ण को कथमपि मान्य नही होगा। अत पुरुष के अनुमान के लिए उक्त हेतुओ को तर्क सगत नही माना जा सकता है। जिस पुरुष की अनेकता सिद्ध करने के लिए जननमरणकरणानामप्रतिनियमात इत्यादि तर्क दिए गये है वह पुरुष निगुर्ण होने से असग उदासीन और अनुकर्ता नित्य होने से जन्म–मरण से विमुक्त होगा। फिर कैसे जन्म मरण और करणादि की भिन्नता के आधार पर पुरुष बहुत्व कैसे सिद्ध होगा ?

साख्यकारिका मे पुरुष की सत्ता अनुमान द्वारा ही मानी गयी है। परतु पुरुष को न प्रकृति न विकृति मानने से[१७२] पुरुष को निगुर्ण तथा अपरिणामी मानने से सस्सरणशील न होने से उसका बधन और मोक्ष न होना[१७३] और तत्त्वज्ञान के आधार पर अकर्ता और अभोक्तृत्व का ज्ञान होना[१७४] इत्यादि कारिकाओं मे पुरुष के निगुर्ण रूप का वर्णन मिलता है। इस प्रकार कार्य कारणोमय रूप से भिन्न पुरुष का जो पारामर्थिक विशुद्ध चिन्त रूप है, उसका अनुमान किसी भी प्रकार से सम्भव प्रतीत नही होता क्योंकि उसमे लिग बनने वाले निजी धर्म गुण क्रिया अवस्था इत्यादि की न तो सत्ता ही है और न प्राप्ति ही होती है। किंतु मूलप्रकृतिरविकृति एव उसके कार्यभूत महद्प्रकृतिविकृत्य सक्त तथा षोडशक्रतु विकार से सर्वाथा विविक्त न प्रकृतिर्नविकृति पुरुष का उस रूप मे ज्ञान ही साख्य दर्शन का अतिम लक्ष्य है मोक्ष–दु खो से मुक्ति – का एकमात्रोपाय पुरुष के द्वारा अपने मूल स्वरूप का अनुभव किया जाना और उसका यह रूप शब्द प्रमाण के द्वारा ही सम्भव होने पर दीर्घ काल तक मनन निधिध्यासनादि साधनो के सतत् अभ्यास से अनुभवगम्य[१७५] होगा अनुमान प्रमाण से नही लेकिन किसी भी टीका

मे शब्द प्रमाण के विषय मे कैवल्य के इस महत्व का उल्लेख नही किया गया हे। तस्माद्विचारिद्धग परोसमाप्तागमात्सिद्धम् [१७६] से रपष्ट है कि कारिकाकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान के भी विषय न बनने वाले समस्त अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान शब्द प्रमाण द्वारा मानते है।[१७७] तथापि टीकाकारो द्वारा शब्द प्रमाण के विषय मे कैवल्य उपाधि आत्मरवरूप का उल्लेख किया जाना आश्चर्यजनक है। लेकिन अपवादस्वरूप जयमगलाकार[१७८] ने छठी कारिका के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हुए रपष्ट शब्दो में कैवल्य को शब्द प्रमाण के प्रमेयो मे समाहित किया है। जयमगलाकार का यह मत उचित प्रतीत होता है जबकि स्वय कारिकाकार ने पुरुष को परमार्थत कारणकार्यभाव[१७९] से परे बधन मोक्ष से परे[१८०] और पारमार्थिक ज्ञान स्वरूप माना है।[१८१] जिससे स्पष्ट है कि पुरुष की सत्ता[१८२] सिद्ध करने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये गये है वे उसके व्यावहारिक या लौकिक रूप को ही विषय बनाते हे न कि उपरोक्त कथित पुरुष के पारामर्थिकस्वरूप को।

वास्तव में अनुमान रवभावत उसी वस्तु अथवा उसके उसी धर्म अथवा स्वभाव आदि को विषय बनाता है लौकिक होने से जिसका कुछ अश प्रत्यक्ष का विषय बनता है। अत जिसका कुछ भी प्रत्यक्ष नही होता है। उसका अनुमान कदापि सभव नही हो सकता। इस प्रकार पुरुष की सत्ता तथा उसके बहुत्व का अनुमान इसके व्यावहारिक अर्थात प्रत्यक्षगम्य धर्मो मे आधार का ही सबध है अन्यथा नही। यहाँ इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि इन अनुमानो द्वारा पुरुष के विषय मे कर्तृत्व भोक्तृत्व जन्म मरण बन्धक मोक्षादि भावो अथवा धर्मो की प्रतीति और दृढ होती है। जब कि पुरुष की वारतविकता तथा पारमर्थिक अनेकता को सिद्ध करने के लिए कारिकाकार ने इनका आश्रय लिया है। लेकिन साख्यकारिका मे यह विसगति स्पष्टत प्रतीत होती है। क्योंकि १७वी और १८वी कारिकाओ के अनुमानो से दृढ होने वाली इस मिथ्या प्रतीति का तीसरी बासठवी और चौसठवी कारिकाओ द्वारा बलपूर्वक रपष्ट रूप से निषेध किया गया है। जैसाकि कारिकाकार ने स्वय कैवल्य के लिए अपेक्षित प्रकृत–पुरुष–विवेक ज्ञान हेतु प्रकृति की अपेक्षा की है। जबकि यह विवेकज्ञान ' बुद्धि का एक विशेष प्रकार का परिणाम है और रवय बुद्धि प्रकृति का परिणाम है।[१८३] इस प्रकार प्रकारान्तर से प्रकृति का ही परिणामभूत विवेकज्ञान से सम्पन पुरुष अपनी लौकिक सत्ता की ओर सकेत करता है।

(III) प्रकृति-पुरुष सबध

साख्य मे पुरुष और प्रकृति के लक्षण रवभावत परस्पर प्रतिकूल है। प्रकृति अचेतन और पुरुष चेतन है। प्रकृति क्रियाशील होने के कारण सदैव सक्रमणशील रहती है। जबकि पुरुष निष्क्रिय होने से अकर्ता है। पुरूष बिना किसी परिवर्तन के निरन्तर रहने वाला है। जबकि प्रकृति सदैव परिवर्त्यमान रहने वाली है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है जबकि पुरुष निर्गुण है। प्रकृति प्रमेय अर्थात् विषय है। जबकि पुरुष प्रमाता अर्थात् विषयी है। प्रकृति अन्धी है तथा पुरुष साक्षी है। साख्य मे दोनो तत्त्व भिन्न–भिन्न[१८४] होते हुए भी अनादि सिद्ध रवयभू एव रवतत्र है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जगत का मूल है तथा सत्त्व–रजस–तमस तीनो गुण सृष्टि का उपादान कारण है।[१८५] त्रिगुणात्मिका प्रकृति मे क्षोभ चेतन तत्त्व पुरुष के सयोग द्वारा होता है और उसकी सक्रियता निष्क्रिय पुरुष पर आरोपित हो जाती है।[१८६] फलस्वरूप प्रकृति अनेक सजातीय तथा विजातीय तत्त्वों में परिणत हो जाती है। इस प्रकार पुरुष से प्रकृति का सयोग निमित्त कारण है। ये क्रमश सुखात्मक दुखात्मक तथा मोहात्मक होते हैं तथा प्रकाश प्रवृत्ति ओर नियमन करते है।[१८७] ये सब पृथक्–पृथक रूप में रहते हैं तो वह साम्यावस्था होती है और जब इन तीनों मे परस्पर सयोग होती है तो वह वैषम्यावस्था होती है। यह दूसरी अवस्था ही सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करने मे समर्थ होती है। साम्यावस्था मूलप्रकृति या प्रधान या अव्यक्त आदि कहलाती है। जबकि वैषम्यावस्था को क्षुब्धावस्था अर्थात सृष्टि की अवस्था कहते है। इस अवस्था मे स्वभाववश ये गुण कभी अपने मे ही एक दूसरे को दबाने की चेष्टा करते है और कभी किसी कार्य की उत्पात्त क ालए एक दूसरे का आश्रय ग्रहण करते है।[१८८]

साख्य सिद्धात में कारण वह सत्ता है जिसमे कार्य गुप्त रूप से विद्यमान रहता है। सत्कार्यवाद का यह सिद्धात इस बात पर बल देता है कि कारण तथा कार्य एक ही पदार्थ की अविकसित तथा विकसित अवस्थाए है अर्थात् समस्त उत्पत्ति का विकास और समस्त विकास का विलय कारण मे माना जाता है।[१८९] साख्य अत्यन्ताभाव में विश्वास नही करता इसके अनुसार भूतकाल और भविष्यकाल की अवस्थाओं का नाश नही होता। साख्य निम्न स्तर से उच्चतम रतर विश्व का अनुवर्तन स्वीकार करता है। पदार्थों के आविर्भाव तथा तिरोभाव की एक निश्चित अवस्था है। इस प्रकार साख्य जगत की प्रयोजनवादी व्याख्या करता है। जगत प्रकृति का परिणाम है और प्रकृति जगत का कारण है। प्रत्येक वस्तु किसी उत्पादक कारण का कार्य है

क्योकि असत से किसी वस्तु की उत्पत्ति नही होती। उत्पन्न पदार्थ पराधीन है। किन्तु प्रकृति स्वाधीन है। उत्पन्न पदार्थ अनेक है देशकालविच्छिन्न है। किन्तु प्रकृति एक है सर्वव्यापी है और नित्य है।[१६०]

लोकमान्य तिलक सृष्टिशास्त्रज्ञ हेकेल के विचार उद्धृत करते है। जिसके अनुसार मन अहकार बुद्धि और आत्मा ये सब शरीर के कर्म हे। जैसा कि हम देखते है कि जब मनुष्य का मस्तिष्क बिगड जाता है तो उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है और वह पागल हो जाता हे। इस प्रकार सिर पर लगी चोट से मस्तिष्क का कोई अग क्षतिग्रस्त हो जाता है तो भी स्मरणशक्ति दुष्प्रभावित होती है अर्थात मनोधर्म भी जड मस्तिष्क के ही गुण है। अत इन्हे जड वस्तु से कभी अलग नही कर सकते है। यही कारण है कि मस्तिष्क के साथ–साथ मनोधर्म और आत्मा को व्यक्त पदार्थों के वर्ग मे सम्मिलित करते है। इस प्रकार जडवाद मान ले तो एकमात्र अव्यक्त जड प्रकृति ही शेष बचती हे। अत सभी व्यक्त पदार्थों का निर्माण प्रकृति से हुआ हे। परन्तु लोकमान्य तिलक इससे सहमत नही है। उनका मत है कि ऐसा मानने पर निष्कर्ष यह निकलेगा कि मूलप्रकृति की शक्ति धीरे–धीरे बढती गई है और अन्त मे उसी को चैतन्य का स्वरूप प्राप्त हो गया । सत्कार्यवाद के अनुसार प्रकृति के कुछ नियम है जिनके आधार पर जगत और जीव स्थित है। यदि एकमात्र जड की सत्ता मान ले तो न तो आत्मा अविनाशी होगा न स्वतत्र और तब मोक्ष की भी आवश्यकता नही होगी। हेकेल के मत मे सारी सृष्टि का मूल कारण एकमात्र जड और अव्यक्त प्रकृति ही है। अत इसे वे अद्वैत कहते है परन्तु यह जडाद्वैत होगा। जो साख्य को स्वीकार्य नही होगा।[१६१]

भागवद्गीता मे प्रकृति ओर पुरुष को अनादि तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गया है।[१६२] प्रकृति को समस्त कार्यकारण व्यापार और पुरुष को सुखदुखादि सभी उपयोगो का हेतु माना गया है। लेकिन इन दोनो को गीता अनादि मानती है परन्तु साख्य की भाति स्वयभू नही मानती है। क्योकि यहाँ भगवान श्रीकृष्ण प्रकृति को अपनी माया कहते है और पुरुष को अपना ही अश मानते हैं।[१६३] इस प्रकार गीता साख्य पद को स्वीकार करती है परन्तु उन्हें अर्थ अपने अनुसार प्रदान करती है। डॉ० राधाकृष्णन् के मत में साख्य मत आधुनिक भौतिक सिद्धात से कुछ साम्य रखती है। दोनो विश्व के मूलकारण के रूप मे एक आद्य द्रव को मानते हैं और उसकी यथार्थ सत्ता पर बल देते है। इसे वे नित्य, अविनाशी ओर सर्वव्यापी मानते है किन्तु प्रकृति की तुलना

विशुद्ध एव सरल भौतिक द्रव्य मे नही की जा सकती। भोतिकवादी मत के विपरीत साख्यमत मे प्रकृति का विकास एक प्रयोजन को लेकर होता है। प्रकृति न तो मात्र भौतिक द्रव्य सत्ता है और न चेतनतानि विष्ट सत्ता है। प्रकृति से केवल पचमहाभूत ही नही अपितु मानसिक तत्त्वो की भी उत्पत्ति होती है। यह समस्त प्रमेय विषयक जीवन की केन्द्र बिन्दु है। साख्य मत का आध ार विज्ञान नही अध्यात्म है। यथार्थ तत्त्व को उसकी पूर्णता के साथ अपरिवर्तनशील प्रमाता (विषयी) और परिवर्तनशील प्रमेय (विषय) के रूप मे पृथक किया गया है तथा प्रकृति परिणमनशील जगत का आधार है। यह अविभ्रात क्रियाशील जगत के तनाव का प्रतीक है। यह बिना चेतन के बिना किसी पूर्व निर्धारित योजना के बराबर क्रियाशील रहती है। यह ऐसे लक्ष्य के प्रति क्रियाशील है जिसे यह समझती नही है।[१६४]

प्रकृति वह मौलिक द्रव्य है जिसमे से यह जगत् विकसित होता है। साख्य दर्शन किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर को नही मानता। पुरुष की सन्निधि मात्र से किसी तरह प्रकृति की साम्यावस्था का भग उससे परिणाम द्वारा जगत की सृष्टि होती है। प्रकृति ओर पुरुष का यह सयोग एक विलक्षण प्रकार का सबध है। जब तक दोनो का सयोग नही होता है तब तक सृष्टि सभव नही है। क्योंकि न तो अकेले पुरुष जो निष्क्रिय है और न ही अकेले प्रकृति जो की जड है द्वारा सृष्टि सभव नही है। साख्यकारिका मे प्रकृति एव पुरुष का सबध अनेक उपमाओ द्वारा बनाया गया है। जिसमे लगडे एव अन्धे का सम्बन्ध यहॉ निष्क्रिय होने से पुरुष लगडा अर्थात् गतिहीन है और प्रकृति जड होने के कारण अन्धी है। दोनों के सयोग से ही सृष्टि–कर्म होता है।[१६५] साख्यकारिका में माना गया है कि जिस प्रकार बछडे के पोषण के लिए ज्ञान–शून्य अचेतन दूध का गाय के स्तनो से प्रभावित होना स्वाभाविक है। उसी प्रकार पुरुष को मोक्ष प्रदान करने के लिए अचेतन प्रकृति की सृष्टि योजना अत्यन्त स्वाभाविक है।[१६६] साख्य मत मे जिस प्रकार अयस्ककान्तमणि चुम्बक–पत्थर स्वय गतिमान हुए बिना ही लोहे मे गति पैदा कर् देती है। उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष प्रकृति के सृष्टि करने की प्रेरणा देता है।

प्रकृति एव पुरुष का सयोग होने से गुणो की साम्यावस्था मे विचार उत्पन्न हो जाता है। जिसे गुण क्षोभ कहते है। सर्वप्रथम रजोगुण जो स्वभावत क्रियात्मक है। परिवर्तनशील होता है

तब उसके कारण और गुणो मे भी स्पन्दन होने लगता है। फलस्वरूप प्रकृति मे तीव्र क्रिया शुरू होता है। जिसमे प्रत्येक गुण दूसरे गुणो से प्रतिद्वन्द्विता करते है। क्रमश तीनो गुणों का पृथक्करण एव सयोजन होता है और न्यूनाधिक अनुपातो मे उनके सयोग से नाना प्रकार के सासारिक विषय उत्पन्न होते है। इस सृष्टि क्रम मे महत अर्थात बुद्धि उत्पन्न होने वाला प्रथम तत्त्व है।[१९७] यह बाह्य जगत की दृष्टि से विराट बीज स्वरूप महत है और आभ्यन्तरिक दृष्टि से बुद्धि जो जीवो मे विद्यमान रहती है। प्रकृति का दूसरा विकार अहकार हे जो कर्तृत्व एव भोक्तृत्व के भाव को उत्पन्न करता है। अहकार प्रकृति के गुणो के आधार पर तीन प्रकार के है जिसमे सात्विक अहकार से एकादश इन्द्रियॉ तथा तामस अहकार से पचतन्मात्राए उत्पन्न होती है। किन्तु राजस अहकार उक्त दोनों अहकारो का सहायक होता है। पचतन्मात्राओं शब्द स्पर्श रूप रस एव गन्ध से प्रत्येक परवर्ती मे पूर्ववर्ती के गुण को सम्मिलित करते हुए पचमहाभूत आकाश वायु अग्नि जल एव पृथ्वी की उत्पत्ति होती है।[१९८] साख्य सिद्धात मे स्थूलशरीर पचभूतो से निर्मित माना गया हे। स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर का आश्रय है। सूक्ष्मशरीर अटठारह तत्त्वों त्रयोदशकरण एव पचतन्मात्राओ से निर्मित है। किन्तु आ० भिक्षु एक तीसरे प्रकार का अधिष्ठानशरीर मानते हैं। जब सूक्ष्मशरीर एक स्थूलशरीर से दूसरे स्थूलशरीर मे गमन करता है तो सूक्ष्मशरीर अधिष्ठानशरीर का आश्रय लेता है।[१९९]

कारिका के सयोग का अर्थ आ० वाचस्पति मिश्र सन्निधान[२००] (समीपता) करते है। जबकि तत्त्ववैशारदी में उन्होंने सयोग का अर्थ योग्यता माना है।[२०१] स्पष्ट है कि पुरुष एव प्रकृति तथा बुद्धि एव पुरुष के बीच एक प्रकार का पूर्वस्थापित सामजस्य पाया जाता है। जिसके कारण वे एक दूसरे पर उपकार करते है। इस प्रकार प्रकृति का सयोग अविद्या हेतुक है। यह सयोग दो परस्पर विपरीत स्वभाव वाले तत्वो को अभ्यूपगत करने के कारण साख्य स्वभाववाद तथा भौतिकवाद दोनो की सीमाओ और दोषो से विरहित है। उसके साथ ही वह अध्यात्मवाद तथा प्रत्ययवाद के दोषो से भी निर्मुक्त है क्योंकि इसमे स्व–स्वामिसबध द्रष्टा–दृश्य भोक्ता–भोग्य अधिष्ठाता–अधिष्ठेय चिदचिद् रूप मे पुरुष एव प्रकृति समानातर व्यवस्थित है।[२०२] दोनो नित्य है पुरुष कूटस्थ नित्य है और प्रकृति परिणाम नित्य[२०३] तत्त्वसमास के अनुसार 'जो वस्तु जो नहीं है उसे वह समझना ही बन्धन है[२०४] दूसरे शब्दो मे बन्धन प्रकृतिगत है उसे पुरुषगत

समझना ही अविवेक है।[२०५]

पुराण एव महाभारत मे प्रकृति के विकास को पुरुषाधिष्ठित देखकर वहाँ विद्वानगण साख्य को स्वीकार नही करते। जबकि साख्यमत मे भी समस्त प्राकृतिक विकार पुरुषधिष्ठित ही होते है। वस्तुत चेतन का स्वछाया सम्पर्कत्व ही यहाँ अधिष्ठातृत्व है। पुरुष का प्रयोजकत्व यहाँ अधिष्ठातृत्व पद से विवादित नही है। वह अधिष्ठाता होते हुए भी उदासीन एव असग है।[२०६] उसकी उदासीनता सदैव अक्षुण्य है। इसलिए इसे उपेक्ष्य भी कहा गया है। उपेक्ष्य एव उदासीन एकार्थक है उपसमीपेस्थित्वा इच्छैते इति उपेक्षा यह अर्थ पुरुष के स्वरूप का द्योतक है। प्रकृति जगत का विकास करती हुई अक्षय है। यह पुरुष अधिष्ठित होकर ही समस्त चराचर जगत का उत्पन्न करती है। समस्त विकार इसी से उत्पन्न होते है और इसी मे लीन हो जाते है। पचमीविभक्ति का प्रयोग साख्य के परिणामात्मक सत्कार्यवाद का सूचक है। प्रकृति से उत्पन्न भाव अयस्ककान्तमणि को आश्च्योतन के सदृश्य है। समस्त अचेतन वर्ग को पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला माना गया है।[२०७] प० नीलकण्ठ शास्त्री एव डॉ० राधाकृष्णन प्रभृति विद्वान यहाँ प्रकृति को पुरुष से अधिष्ठित होने के कारण परतत्र मान लेते है।[२०८] किन्तु वास्तव मे प्रकृति पुरुष के प्रयोजन का साधन करने तथा उससे अधिष्ठित होने के कारण परतत्र नही है। प्रकृति को सर्व पदार्थ लय स्थान मानकर उसे अलिग कहा गया है और अलिग होने के कारण ही प्रकृति स्वतत्र है। प्रकृति उसी अवस्था मे परतत्र होगी जब वह किसी अन्य कारण से विकसित होकर प्रलय की अवस्था मे स्वकारणलीन होगी। अर्थात जब वह किसी अन्य तत्त्व का लिग हो। साख्य में व्यक्त पदार्थों को ही सावमव एव परतत्र कहा गया है।[२०९] लय को प्राप्त होने वाले तत्त्व को लिग माना जाता है। चूँकि प्रकृति उत्पत्ति और लय का आश्रय स्वय है अत प्रकृति स्वतत्र है।

सत्व मे ही पुण्य–पाप प्रतिष्ठित है। पुरुष द्रष्टा, साक्षी अकर्ता, उदासीन तथा पुण्य–पाप से अलिप्त है। वैकल्पिक भ्रमवश पुरुष प्रकृतिगत कर्मों को अपना समझने लगता है। विकल्प एव विपर्यय दोनो चित्त की अतात्विक वृत्तियॉ है। विपर्यय को भ्रम या अविद्या कहते है। विपर्यय और विकल्प मे मौलिक अतर यह है कि विपर्यय वास्तविकता के बोध के अनन्तर बाधित हो जाता है। कितु विकल्प का बाधा नही होता है यह निरन्तर बना रहता है। अवस्तु वस्तुवत

व्यवहार जैसे शशविषाण बन्ध्यापुत्र अकाशकुसुम विकल्प है। इसी प्रकार प्रकृतिगत पारिणाम को पुरुषगत तथा पुरुषगत चैतन्य को प्रकृतिगत समझना विकल्प है।[२१०] विकार से प्रकृति तथा अधिष्ठान से स्वरूप विकार एव प्रकृति से पुरुष का अनुमान किया जाता है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान से इन दोनो तत्त्वो को जानने के कारण ही साख्य के आन्विक्षिकी कहा गया है। सत्कार्यवाद के आधार प्रकृति का तथा प्रकृति एव प्रकृतिगण से वैधर्म्य के आधार पर पुरुष का अनुमान होता है।[२११] इस प्रकार साख्य मे अनुमान प्रमाण की प्रधानता है। श्रुति प्रमाण से भी प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है। श्रुति मत मे भी सृष्टि का मूल कारण प्रधान ही है ब्रह्म नही।[२१२] क्योकि सत्वगुणमुक्त होने पर परिणामी होने के कारण प्रधान मे ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनो हो सकती है जो ब्रह्म मे सभव नही है।[२१३] वेदान्तादि वाक्यो का समवय भी प्रकृति मे ही है। सत्वगुण के निरतिशय उत्कर्ष से सर्वज्ञ है ब्रह्म नही।[२१४] ससार का कोई कार्य एक होकर ज्ञानदि को उत्पन्न नही करता किंतु अनेक प्रमाण प्रेमयादि युक्त होकर कार्य को उत्पन्न करता है। ब्रह्म केवल एक ही है और प्रकृति त्रिगुण है। इसमे प्रकृति ही जगत का वास्तविक कारण होगा ब्रह्म नही। कार्यकारण मे विकार लाए बिना उत्पन्न नही होता यही कारण है कि घट के समान सर्गादि प्रकृति का कार्य है।[२१५] कार्य के नाश से कारण का भी नाश हो जाता है अत अचेतन ही जगत का कारण है ब्रह्मा नही। यदि ब्रह्म को कारण मान ले तो कार्य का नाश होने पर उसका भी नाश हो जायगा। प्रकृति भी निष्क्रिय चेतन पुरुष क सयोग से अपने कार्य मे प्रवृत्त होती है।[२१६]

साख्यप्रवचनभाष्य की भूमिका मे साख्य को निरीश्वरवादी माना गया है और इसे साख्य की दुर्बलता कहा गया है।[२१७] साख्यप्रवचनभाष्य की भूमिका मे साख्य को निरीश्वरवादी माना गया है और इसे साख्य की दुर्बलता कहा गया है। इसीलिए उन्हे साख्य मे ईश्वर की मान्यता के अभाव के कारण ब्रह्म के रूप मे निर्गुण पुरुष सामान्य को मानना पडा। अत साख्यमत मे स्वीकृत चित सामान्य ही योग और वेदान्त मे ईश्वर माना गया है।[२१८] पुरुष चेतन किन्तु निष्क्रिय है और प्रकृति सक्रिय किन्तु जड है दोनो का सयोग भले ही वह पचगन्धवत माना जाये कैसे सभव हो सकता है? साख्ययोग केवल इसी मान्यता के प्रसग मे अप्रमाणिक है।[२१९] प्रकृति एव पुरुष ईश्वर की शक्तियाँ है ईश्वर की इच्छा से ही प्रकृति एव पुरुष दोनो का सयोग होता है।

समुत्पाद नही होता। प्रकृति विभु होने के कारण ही निष्क्रिय मानी गयी है। यद्यपि इसका परिणाम लक्षण एव क्रिया है। जिसके कारण इसे सक्रिय माना जाता है। तथापि सर्वत्र विद्यमान होने के कारण इसमे प्रवेश निस्सरण आदि क्रिया के न होने के कारण इसे कहाँ गया है। आचार्य भिक्षु के मत मे प्रकृति के अक्रियत्व का अविधेय है।[२२९] चूँकि प्रकृति किसी अन्य तत्त्व में लीन नही होती अत यह अलिग है लेकिन दूसरी तरफ यह पुरुष का अनुमापक होने से लिग है।[२३०] [illegible] नही क्योंकि साख्य प्रकृति पुरुष का द्वितत्त्ववादी है। द्वितत्त्वाद मे प्रकृति पुरुष के साधर्म्य एव वैधर्म्य का जो मत मिलता है उसमें इसे सत्व क्षेत्रज्ञ अर्थात क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ माना गया है। स्पष्ट है कि प्रकृति पुरुष दोनो नित्य स्वतत्र विभु एव अलिग है। पुरुष कार्यकारण का अग न होने के कारण इसका अनुमान प्रकृति की भाति नही होता अत वह निर्विकार है। पुरुष का अनुमान व्यक्त एव अव्यक्त मे स्वरूप से होता है।[२३१]

पुरुष निगुर्ण असहत, अविषय चेतन एव अपरिणामी होने से व्यक्त–अव्यक्त दोनो से विपरीत है। किंतु अकारण निरवयव तथा विभु होने से यह व्यक्त से विपरीत तथा प्रधान के समान है। पुरुष बहुत्व विवाद का विषय है। आचार्य गौडपाद एकत्व को पुरुषपरक मानते है।[२३२] यद्यपि पुराणेतिहास मे पुरुषैकत्व एव पुरुष नानात्व दोनो के प्रमाण मिलते है हिरण्यगर्भ सिद्धात पुरुषैकत्व का प्रतिपादन करता है। उस सदर्भ मे विद्वान विल्सन का भी मत है कि प्रत्येक पुरुष अपने अनेक जन्मों मे अनेक शरीर धारण करता है तथापि एक ही रहता है।[२३३] किंतु साख्यकारिका में पुरुष बहुत्व की सिद्धि की गयी है।[२३४] जबकि साख्य भूत मे पुरुष नानात्व के साथ पुरुषैकत्व को भी स्वीकार किया गया है। पुरुष को जातिपरक मानकर तथा उपाधियो के द्वारा अद्वैत श्रुति से पुरुष नानात्व को अविरुद्ध माना गया है।[२३५] विवेकज्ञान जगत प्रवाह की नित्यता जन्मादि मुक्तता को पुरुष बहुत्व का प्रतिपादक माना गया है। साख्यकारिका योगसूत्र एव साख्यसूत्र मे भी पुरुष बहुत्व को ससार के प्रवाह की निरतरता के लिए आवश्यक माना गया है। क्योकि सभी पुरुष एक साथ मुक्त नही होते। बद्ध पुरुषों के लिए प्रकृति को नर्तकी माना गया है। साख्यकारिका मे प्रकृति को लज्जालु स्त्री बताया गया है जो पुरुष के द्वारा एक बार देख लिए जाने पर पुन उसकी दृष्टि मे नही आती है।[२३६] पुरुष बहुत्व के सबध मे आचार्य अनिरुद्ध ने अजामेकोम इत्यादि श्वतोश्वर उपनिषद् के कथन को उद्धृत किया है। इस प्रकार

पुरुष एकत्व अथवा नानात्व के सबध मे कोई निश्चित धारणा नही मिलती है। यद्यपि पुरुष क रवरूप अरितत्ववाद के सबध मे विचारगत एकता मिलती है।[२३७]

पुराणेतिहासीय और परवर्ती साख्य दोनों मे व्यक्त एव अव्यक्त की प्रवृत्ति को परार्थ माना गया है। निष्क्रिय होने से पुरुष का अनुमान प्रकृति की भाति नही किया जा सकता। व्यक्ताव्यक्त की परार्थता ही इसकी स्थिति का अनुमापक है। साख्यसूत्र एव साख्यकारिका मे इसकी परार्थता व्यक्त करने के लिए वत्सार्थ स्वाभाविक रूप से प्रसवित होने वाले दुग्ध का उदाहरण दिया गया है। गाय के स्तन से दूध निकलने का कोई बाह्य प्रयोजन नही है। बल्कि वत्स को देखकर ही दूध स्वयमेव ही प्रवाहित होता है। इससे प्रकृति की प्रयोजनवत्ता सिद्ध होती है। पुरुष का भोगावपर्ग प्रकृति का प्रयोजन है।[२३८] पुरुष इसके विकारो का अधिष्ठाता होते हुए भी इसकी प्रवृत्ति का प्रयोजक नही। इसी प्रकार की परार्थ प्रवृत्ति से इसकी रवतत्रता बाधित नही होती अपितु प्रकृति रवय अपने द्विविध परिणामो द्वारा विविध पुरुषार्थों को सिद्ध करता है।[२३९] साख्य सूत्र मे इस परार्थता को रपष्ट करने के लिए सूपकार उष्ट्र और गर्भदास का उदाहरण दिया जिसमे सूपकार सम्पूर्ण पाक अपने रवामी के लिए उष्ट्र कुकुम का वहन दूसरे के लिए और गर्भदास (जन्म से दास) बिना आदेश के ही रवामी के मनोनुकूल ही कार्य करता है। इस प्रकार प्रकृति के कार्य पुरुष के लिए निरन्तर होते रहते है।[२४०] इस सबध में पुराण महाभारत मे नदी वृक्ष के फल वायु का गन्धवहन आदि उदाहरण मिलते है। प्रत्येक व्यक्ति यह मेरा शरीर है का कथन का प्रयोग प्राय करता है। पुरुष के बिना केवल प्रकृति से यह प्रत्यय सभव नही है क्योकि आत्मा के अभाव मे भी इसे मानने पर भी मृत्यु शरीर मे भी अभिमान की प्रशक्ति होगी। यह व्यवहार बाध्य है। क्योकि एक मृत शरीर है। ऐसा कथन त्रिकाल मे असभव है। यह अभिमान भी प्रकृति का धर्म है। पुरुष का कर्तृत्व एव भोक्तत्व आदि अतात्त्विक है।[२४१] आत्मा के चितत्तस्वरूप को चित्त धर्मत्व का वाचक न मान जाये। इसलिये साख्य मूल मे इसके चिद्रूपत्व का सर्मथन और चिद् धर्म होने का निषेध किया गया है।[२४२] कारण यह है कि पुरुष निगुर्ण होने से चिद् धर्मा नही हो सकता है। क्योकि यह सृष्टि विरुद्ध है।[२४३] आत्मा सच्चिद्रूप है। जड का प्रकाशक होने से यह प्रकाश रवरूप है।[२४४] समस्त चराचर जगत प्रकृति से ही विकसित है। प्रकाशाभाव मे यह विकास असभव है। साख्य मे आदि प्रकृति का वही

निदेशक है। निष्क्रिय होने के कारण पुरुष पगु तथा अचेतन होने के कारण प्रकृति अधी बतायी गयी है। यह उपमा लौकिक है। जबकि पारमार्थिक रूप से दोनो असख्य है। इनके अधिष्ठानत्व एव अधिष्ठातृत्व का व्यक्त करने के लिए ऐसे उदाहरण दिए गये है। यद्यपि समस्त विश्व प्रकृति के गर्भ से ही उत्पन्न है। तथापि उसकी अभिव्यक्ति के लिए निमित्तकारण के रूप मे पुरुष की स्थिति स्वीकार की गई है। पुराण–महाभारत मे ब्रह्मादि त्रिदेव इसी रूप में अभ्युपगत है। पकृति की सहायता से ये सृष्टि सर्जन मे समर्थ है। किंतु पुरुष एव ईश्वर मे यहॉ अणुमात्र भी वैलक्षण्ये नही है।[२४५]

सत्कार्यवाद सर्वत्र स्वीकृत है। इसी से सर्वकारण प्रकृति का अनुमान होता है। कार्य के स्वरूप को अधिकृत कर साख्य मे कार्य को परिणाम तथा वेदान्त मे विवर्त बताया गया है। उपादान सम–सत्ताक परिणाम होता है। उपादान विषम–सत्ताक विवर्त होता है।[२४६] अत साख्य के सत्कार्यवाद को परिमाणात्मक माना गया है। पुराण एव महाभारत मे इसी मत को स्वीकार किया गया है।[२४७] कारण से कार्यविभक्ति के लिए निमित्त कारण की स्थिति मानी गई है। पुरुष ही जगत का निमित्त कारण है ।

बुद्धि–अहकार–मन जिन्हे स्वलक्षणवृत्ति अर्थात बुद्धि को अहमवसायात्मिका अहकार को अभिमानात्मक तथा मन को सकल्प–विकल्पात्मक कहा गया है।[२४८] बुद्धि के सात्विक एव तामस द्विविध रूप माने गए है । धर्म ज्ञान वैराग्य एव ऐश्वर्य सात्विक तथा इनके प्रतीक अधर्मादि तामस है।[२४९] इस प्रकार बुद्धि के कुल आठ धर्म है। अत सात रूपो से प्रकति स्वय को बाधती[२५०] तथा एक रूप से मुक्त रहती है। सप्त रूप से धर्म वैराग्य ऐश्वर्य अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य एव एक रूप से ज्ञान विवक्षित है। ज्ञानाच्चात्यन्तिक प्रोक्त यह पुराणेतिहास मे वैकत अहकार से देवता तैजस से इन्द्रियवर्ग भूतादि से तन्मात्रा को विकसित माना गया है तथा तैजस को इनका प्रवर्तक माना गया है। इन्द्रिय अहकार और मन का स्वामी बुद्धि है। यही सभी विषयो का अवगाहन करती है । यह इन्द्रियेश्वर मन द्वारा सकल्पित एव अहकार द्वारा अभिमत विषयो का अध्यवसाय अर्थात् निश्चय करती है।[२५१] इस प्रकार बुद्धि ही इन्द्रिय निकाय के माध्यम से पुरुष के भोग को साधती है तथा प्रकृति–पुरुष के सूक्ष्म-अन्तर को प्रकाशित करती है।[२५२] इसी

कारण पुराणेतिहास मे इसे सर्वेन्द्रिय स्वरूप कहा गया है। इस प्रकार मनोबुद्धि का प्राधान्य उभयत्र अभ्युपगत है। बोध के साधकतम होने से इन्हें कारण कहा गया है।[२५३]

साख्य मे स्पष्ट रूप से बताया गया है कि समस्त कारण समूह अचेतन त्रिगुण सघात एव परार्थ है। पर पुरुष है। अत मन आत्मा से नितान्त भिन्न है। आत्मा विभु एव चेतन है जबकि मन अणु पारिणाम एव अचेतन है। आत्मा कूटस्थ नित्य एव निष्क्रिय है। आत्मा द्रव्य है गुण पर्वस्वरूप प्रकृति महत् तथा अहमादि विशेषात दृश्य है। आत्मा से इनका अभेद है पचपर्वा अविद्या है जो जात्यायुर्भोगानिमित्तक कर्माशय मूल है। निष्कर्षत परस्पर प्रतीप स्वभाव आत्मा एव मन आदि का अभेद अज्ञान विजृम्भित है। महत से अविशेष सूक्ष्म ारीर है। विशेष से स्थूलशरीर है। सूक्ष्मशरीर जन्म–जन्मान्तर मे एक ही रहता है। यही सभी कार्य सस्कारों का अधिष्ठान है। भावादि वासित सूक्ष्म विग्रह अविधा हेतुक प्रकृति–पुरुष सयोग के समानान्तर उत्पन्न होता है। अत पूर्वोत्पन्न है। आत्यन्तिक लय पर्यन्त रहने से नियत है। अबाधित गाति होने से अशक्त तथा स्थूल शरीर के बिना भोगसक्त होने से निरुपभोग है। प्रकृति के विभुक्त या वैरवरूप्य के भोग के कर्मानुरार[२५४] विभिन्न रूपों को धारण करने वाला लिगशरीर अनेक भूमिकाओ मे कार्य करने वाले नट के समान माना गया है। इन्ही रूपो को स्थूलशरीर कहा जाता है। भूतसर्ग विभाग इसी के आधार पर स्पष्ट है कि इसमे रहने के कारण सूक्ष्मशरीर को सूक्ष्म कहा गया है। पुरुष के रूप मे पुरिशेते इस यौगिक अर्थ मे ही इसे ग्रहण किया गया है। ऐसे स्थलो मे भी इसे आत्मा से भिन्न माना गया है।[२५५] यह सच्चिद् पुरुष से व्यतिरिक्त है क्योकि पुरुष विभु है। वृहदारण्यक उपनिषद् मे इस सस्करण की उपमा जलूथा से दी गई है। कर्मसिद्वात भी सत्कार्यवाद का ही समर्थक है और ससार की नित्यता पुरुष–बहुत्व का प्रतिपादन है।[२५६]

पुराणमहाभारत मे तत्त्वों का विभाजन सोलह–आठ–एक के रूप मे तथा साख्यकारिका एव साख्यसूत्र मे 'एक–सात–सोलह–१ के रूप मे मिलता है।[२५७] तत्त्व विभाजन से उपेत होने के कारण तत्त्वसमास को मूल षष्टितत्र कहा गया है। यही प्रचीन ग्रथो मे अविभक्त साख्य का उपजीव्य है। पुरोणेतिहास मे ईश्वर एव पुरुषोत्तम की चर्चा एक ही तत्त्व के रूप मे हुई है

जिसे छब्बीसवा तत्त्व माना गया है। ईश्वर को पुरुष भिन्न बताया गया है। योगसूत्र[२५८] मे ईश्वर इसी रूप मे अभ्युपगत है। पुरुष विशेष होने के कारण इसे पृथक तत्त्व मानना अर्थवाद मात्र हे। साख्यसूत्र मे[२५६] पुरुष विशेष ईश्वर का नही अपितु न्यायाभ्युपगत जगतकर्ता ईश्वर का खडन है। साख्यकारिका इस विषय मे मौन है। पुरुष के रूप मे ईश्वर की स्वीकृति इसमे भी मानी जा सकती है। साख्यसूत्र और साख्यकाारिका मे दिक् कारण की पृथक चर्चा नही मिलती है। इसे आकाश एव प्रकृति मे अन्तर्भूत कर दिया गया है मैक्समूलर ने इसे अद्वैतवेदान्त का प्रभाव कहा है। इसी कारण साख्यसूत्र को अत्यन्त पश्चात की कृति माना गया है। यह मत तर्क सम्मत है। तत्वसमोसोपजीवी पुराणेतिहासीय साख्य को दृष्टिगत करने से यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि वैदिक सहिता के ऊषकाल मे यादि किसी दर्शन की स्थापना मानी जा सकती है तो वह साख्य दर्शन था।

सत्कार्यवादी साख्य के मत मे दुख नाश का अर्थ है दुख का अभिभाव या तिरोधान होना। क्योकि साख्य के अनुसार दुख रजोगुण का परिणाम विशेष है। इसका सर्वथा नाश नही होता अपितु दुख अपने स्थूल आकार से सूक्ष्माकार मे परिणत होकर सदा के लिए शान्त हो जाता है। यह उसकी वर्तमानता से अतीतावस्था है। क्योकि ध्वस एव प्रागभाव का कमश अतीत एव अनागत अवस्था ही स्वरूप होता है। यह गीता भी मानती है कि जो नही है वह कभी नहीं हो सकता और जो है उसका कभी भी अभाव नही हो सकता। तत्त्वज्ञानी लोगों ने सत एव असत दोनो वस्तुओ का अन्त जान लिया है।[२६०]

प्रकृति और पुरुष के पार्थक्य का सकेत ऋग्वेद[२६१] मे भी मिलता है। साख्यसूत्र मे प्रकृति–पुरुष के सबधों को भी राग–विराग के द्वारा बताया गया है। सृष्टि के प्रारम्भ के विषय मे आचार्य भिक्षु[२६२] का मत अपासिद्धात होने से अमान्य है क्योकि यह कितनी उलटी बात है कि प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति एव पुरुष का सयोग एव फिर सृष्टि ? अथवा प्रकृति एव पुरुष के सयोग से प्रकृति मे क्षोभ और सृष्टि ? यादि क्षोभ को सयोग से पूर्व माना जाय तो सयोग का कारण क्षोभ होगा। किंतु तब क्षोभ का कारण क्या होगा ? यहा क्षोभ को अनादि नही मान सकते। क्योंकि तब प्रलय कभी भी सभव नही होगी ऐसा इसलिए कि भावरूप क्षोभ अनादि होने

से नित्य होगा और उसके नित्य होने से उसके कारण प्रकृति के तीनो गुणो मे होने वाला वैषम्य भी नित्य होगा तब सृष्टि भी नित्य होगी। इसके अतिरिक्त प्रकृति एव पुरुष के सयाग का ... सूत्रकार[२६३] के द्वारा अनकेश अविवेक कहा गया है क्षोभ नही। स्वय आचार्य भिक्षु[२६४] ने भी अपने भाष्य मे अविवेक द्वारा साक्षात सयोग होने की बात कही है फिर प्रकृति एव पुरुष के सयोग से प्रकृति मे क्षोभ और तत्पश्चात सृष्टि मानने पर कोई असगति भी नही आती। जैसी प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति एव पुरुष के सयोग और उससे सृष्टि होने से दिखाई जा चुकी है। सयोग का कारण अविवेक तो अनादि है जैसे कि साख्यसूत्र[२६५] मे भी माना गया है। इसलिए उसका कारण भी ढूढने की आवश्यकता नही है।

साख्य विकास और विलय की प्रकिया को स्वीकार करता है। आचार्य भिक्षु के मत मे सत्कार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य एक ही पदार्थ की अविकसित और विकसित अवस्थाए है। समस्त उत्पादन और समस्त विनाश का आधार कारण ही है। आत्यान्तिक अभाव जैसी कोई वस्तु नही है। भूत और भविष्य की अवस्थाओ का नाश नही होता है। क्योंकि उनका प्रत्यक्ष ज्ञान योगिगण करते है।[२६६] इस प्रकार विकास का अर्थ है जो कुछ दिया है उसका प्रकट होना।[२६७] कारण और कार्य की भिन्नता का आधार हमारे क्रियात्मकम स्वार्थ है। यथा–घडा ही पानी को धारण करता है मिट्टी नही। अत उपादान कारण और कार्य मौलिक रूप मे एक ही है। किन्तु वे क्रियात्मक रूप मे भिन्न–भिन्न है। क्योकि उनसे भिन्न–भिन्न प्रयोजन सिद्ध होते हे। तादात्म्य मौलिक है। भेद का आधार उनका क्रियात्मक रूप है। साख्य मे उपादान करण मे स्थित होता है तो निमित्त कारण बाहर से उतना प्रभाव डालता है। जिससे कार्य अपने कारणात्मक स्थिति से स्वतत्र हो सके। अत इस सहकारी शक्ति के बिना कार्य उत्पन्न नही हो सकता है।[२६८] डॉ० राधाकृष्णन् के मत मे साख्यदर्शन के अनुसार कोई भी कारण किसी भी कार्य को उत्पन्न कर सकता है, क्योकि सभी पदार्थ प्रकृति मे से ही उत्पन्न होती है। लेकिन इसके लिए हमे कुछ बाधाए उत्पन्न करने वाली रुकावटो को दूर करना होगा। आचार्य भिक्षु के अनुसार भी यदि पत्थर के अन्दर से कणो की वह अवस्था जो उसके भीतर गुप्त शाक्ति को विकसित होकर अकुर के रूप मे फूटने से रोकती है ईश्वर की ईच्छा से दूर हो जाये तो पत्थर के टुकडे से भी पौधा निकल सकता है।[२६९] कार्य दो प्रकार के होते है एक जो सरल अभिव्यक्ति

की अवस्था इसमे दूध से मलाई की उत्पत्ति होती है दूसरा पुनरुत्पत्ति की अवस्था इसमे स्वण से आभूषण का निर्माण होता है। जब किसी वस्तु के स्वभाव मे परिवर्तन होता है तो यह कार्य पारिणाम है। जब सम्भाव्यता वास्तविकता मे बदलती है और परिवर्तन केवल बाह्य होता है तो यह लक्षण–परिणाम है तथा जब केवल समय व्यतीत होने पर अवस्था मे परिवर्तन होता है तो यह अवस्था–परिणाम होता है।[२७०] परिवर्तन हर पल और स्थान पर हो रहा है। यही कारण है कि कोई भी व्यक्ति एक ही जलधारा मे दो बार स्नान नही कर सकता इसी प्रकार दोनो बार के पग डालने मे व्यक्ति भी वही नही रहता। क्योकि जैसे जलधारा मे परिवर्तन हो रहा है वैसे ही उस व्यक्ति मे भी परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार सब कुछ सब प्रकार से परिवर्तनशील है।[२७१] यह जगत अयथार्थ नही क्योकि यह मनुष्य भ्रम नही है और न ही यथार्थ है। क्योकि इसका लोप हो जाता है।[२७२] साख्य मे न तो यह माना गया है कि यह जगत उसका प्रतिबिम्ब है जिसका अस्तित्व नही है[२७३] और न यही मानता है कि यह जगत केवल विचारमात्र है।[२७४] परिवर्तनो के अधीन होने के कारण इस जगत की प्रतीयमान यथार्थ सत्ता है।[२७५]

प्रकृति के सृष्टि विकास मे एक आकर्षक सौन्दर्य होने के साथ एक ऐसी योजना भी निहित है जिसका एक धार्मिक प्रयोजन स्पष्ट है।[२७६] प्रकृति से एक ऐसे जगत का विकास होता है कि जिसमे विनाश भी अन्तनिर्हित है और जिसका उद्देश्य पुरुष को जागृत करना और विवेकज्ञान की प्राप्ति कराना है। प्रकृति के क्रियाकलाप एक ऐसे पुरुष के लिए होते है जो निष्क्रिय है और जो अपने सम्मुख होने वाली इन सब क्रियाओ को देखती है। यद्यपि इरासे प्रभावित नही होती है। इस प्रकार पुरुष की सेवा ही प्रकृति का लक्ष्य है।[२७७] यद्यपि प्रकृति को स्वय इस लक्ष्य का ज्ञान नही रहता। यहॉ साख्य चमत्कारवाद का निषेधकर एक अन्तर्निहित उद्देश्यवाद को स्वीकार करती है। यह क्रियाकलाप यत्रवत होने पर भी अपने विकास योजना के आधार पर एक विलक्षण मेधावी सत्ता अर्थात ईश्वर की ओर सकेत करता है। लेकिन साख्य मत मे प्रकृति का क्रियाकलाप किसी सचेतन चितन का परिणाम नही है।[२७८] विकास की प्रथम अवस्था मे प्रकृति निष्क्रिय रहती है और असख्य पुरुष भी निश्चेष्ट पडे रहते है। लेकिन ये निश्चेष्ट पुरुष प्रकृति पर एक यात्रिक शक्ति का प्रयोग करते है फलस्वरूप प्रकृति की साम्यावस्था मे क्षोभ पैदा हो जाता है जिससे एक ऐसी गति पैदा होती है जिसके कारण विकास

यात्रा शुरू होती है। जिसका परिणाम अन्तत ह्रास ओर विनाश के रूप मे होता है। लेकिन प्रकृति अपनी इस निष्क्रिय दशा मे पुन पुरुष से उत्तेजना प्राप्त कर विकास करती है। यह प्रक्रिया निरन्तर तब तक चलती रहती है जब तक सभी पुरुष मोक्ष की प्राप्ति नही कर लेते है। इस प्रकार विश्व सबधी प्रक्रिया का पहला और अतिम कारण पुरुष ही है। किन्तु पुरुष की कारणता यत्रवत है जो किसी इच्छा का परिणाम नही अपितु सान्निध्य के कारण है। जिसमे एक विशेष प्रकार का आकर्षण है।[२७९] यहाँ जब तक प्रकृति और पुरुष के बीच कल्पित सबध रहता हे तभी तक प्रकृति पुरुष के प्रति कार्य करती है। जब पुरुष विकास ओर विलय को प्राप्त होने वाला प्राकृतिक जगत से अपने भेद को पहचान लेता है तो प्रकृति उसके प्रति अपना व्यापार बन्द कर देती है।[२८०] इस प्रकार प्रकृति के विकास का नैमित्तिक कारण केवल पुरुषो की उपस्थिति ही नही है क्योकि वह तो निरन्तर बनी रहती है। बल्कि उसका अपने और प्रकृति के भेद का न जान पाना है। साख्य मे अविवेक को पुरुष तथा प्रकृति के सयोग का कारण माना गया है।[२८१] आनदिरूप अविवेक प्रलयकाल मे भी रहता है यद्यपि तब प्रकृति और पुरुष का सयोग नही रहता। यह सयोग यथार्थ नही क्योकि इससे पुरुष के अन्दर कोई नया गुण नही उत्पन्न होता है। फिर भी प्रकृति और पुरुष के सबध को योग्य और भोक्ता के सबध को माना जाता है। आ० भिक्षु के मत मे यदि सबध नित्य है तो ज्ञान से इसका अन्त नही हो सकता और यदि यह अनित्य है तो भी यह सयोग ही कहा जायेगा।[२८२]

विषयी और विषय एकत्व की ओर सकेत करते है। यद्यपि ये भिन्न है फिर एक इकाई के अन्तर्गत ही है। क्योकि एक चैतन्य विषय का चैतन्य है और विषय चैतन्य का ही विषय है। अपने को पदार्थ जगत से भिन्न करने और उससे सबद्ध करने मे ही हम आत्मा अर्थात विषयी को जान सकते है अन्यथा नही। अत विषयी और विषय की सबधविहीनता की स्थिति मे एक दूसरे की ओर सक्रमण सम्भव नही है। दोनो पक्षो की एकता उनके भेद की पूर्वकल्पना है। भेद का कारण अज्ञान अर्थात अविद्या है। जिसके कारण हम अनुभव के स्वरूप और उसकी अवस्थाओं पर विचार नही कर पाते। ओर हम विषयी व विषय के माध्यम से परमतत्त्व को जानने मे असमर्थ हो जाते है। यह सत्य है कि द्वैतपरक विचार हमारे मतो के लिए आवश्यक है। लेकिन ऐसा सही मान ले कि यही वास्तविकता है तो उन्हे जोडने के लिए एक तृतीय पदार्थ की

आवश्यकता होगी लेकिन इस तीसरी वस्तु की स्वीकृति भी हमे सतोषप्रद समाधान नही देती है तब हम यह मानने को विवश होते है कि ये दोनो एक ही परम चैतन्य के दो पक्ष है जो समस्त ज्ञान और जीवन का आधार है इस परमएकत्व को न पहचान पाना ही साख्य की प्रकल्पना मे एक मौलिक भूल है।[२८३] क्योकि प्रकृति पुरुष के अन्दर एक साथ ही अपने विषय मे और जगत के विषय मे जिसमे वह निवास करती है। सत्य अस्तित्व के ज्ञान को उत्पन्न करती है तो क्या इन दोनो के भेद मे जो एकत्व निहित है उसका साक्षी नही है? क्योकि प्रकृति तभी व्यक्त होती है जब इसका सबध विषयी से होता है। लेकिन जब यह विषयी से असबद्ध रहती है तो अव्यक्त रहती है। यही नही प्रकृति जो करती है उसकी सूचना भी पुरुष द्वारा ही मिलती है।[२८४] अत पुरुष से स्वतत्र प्रकृति का विचार स्वत विरोधी हो जाता है। प्रकृति सबधी जो विकास प्रक्रिया है उसमे उद्देश्यवाद निहित है जिसका कारण भी पुरुष है। प्रकृति के विकास का पुरुष के मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है। यद्यपि साख्य यह नही मानती है कि प्रकृति ज्ञानपूर्वक कोई योजना बनाती है और उसे प्रयोग मे लाती है। लेकिन यह मानता है कि प्रकृति का विकास पुरुष के प्रयोजन की पूर्ति के लिए बनाई गई योजना का क्रियात्मक रूप है। अत स्पष्ट है कि प्रकृति क्या बनती है अथवा बनेगी यह इस बात पर निर्भर करता है कि पुरुष का प्रयोजन क्या है अथवा वह क्या चाहता है? प्रकृति की विकास श्रृखला मे पुरुष कही नही है फिर इस श्रृखला से एक समान सम्बद्ध है। इस प्रकार पुरुष विकास मे प्रकृति के लिए सहायक के साथ मे निरन्तर बना रहता है। यदि पुरुष इस प्रकृति प्रक्रिया मे अनायास ही न आ जाता तथा जीवात्मा इस सृष्टि मे भागीदार न बनता तो प्रकृति का कोई भी कार्य सभव नही था।[२८५]

प्रकृति के विकास मे सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है महत जो सकल विश्व का कारण है। साख्य का महत् विश्वीय पक्ष को दर्शाता है और इसका पर्यायवाची बुद्धि मनोवैज्ञानिक पक्ष है जो प्रत्येक व्यक्ति मे रहता है। लेकिन साख्य मे महत् के मनोवैज्ञानिक पक्ष को ही स्वीकार किया गया है। क्योकि इसका बुद्धि और उसके गुणो धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य व इसके विपरीत मे साम्य देखने से भी मनौवैज्ञानिक अर्थ की पुष्टि होती है लेकिन बुद्धि की जो उपलब्धियॉ महत् ब्रह्म आदि मिलते है। उससे विश्व सम्बन्धी अर्थ ही किया गया है।[२८६] बुद्धि प्रकृति की कारणावस्था मे बीजशक्ति के रूप मे सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है। यह अव्यक्तावस्था है। जब

यह कार्यावस्था मे परिवर्तित होती है तो यह बुद्धि कहलाती है। आ० विज्ञानभिक्षू के अनुसार यह कभी भी असफल न होने वाली और सब सरकारो को धारण करने वाली है।[२८७] प्रकृति जड ह ओर एक है किन्तु पुरुष अनेक है। फिर पुरुष रासर्ग के पश्चात प्रकृति से उत्पन्न महत का क्या स्वरूप है। भिन्न–भिन्न पुरुषो के आधार पर प्रकृति भी विकास क्रम की योजना मे कैसे सप्रयोजन मे एकरूपता हो सकती है। अत पुरुष बहुत्व जीवतत्त्व की ओर तथा महत् मुक्त प्रकृति विश्वात्मा रूप की ओर और निष्क्रिय चेतन पुरुष एकतत्त्ववाद की तरफ सकेत करता है। क्योकि साख्य कारिका मे बुद्धि के जो व्यापार बताये गये है वे अहकार मन इन्द्रिय ओर ज्ञेय विषय के साथ सम्पन्न होते है।[२८८] जबकि साख्य मत में जब प्रथम विकास अवस्था आती है तो एकमात्र बुद्धि (महत) ही होती है अन्य कुछ नही।[२८९] अत यहॉ महत (बुद्धि) प्रकृति को विश्वीय रूप मे ग्रहण करता है जो विषय–विषयी का आधार है। यह अवधारणा विश्वात्मा के अनुरूप होगी जो साख्य को मान्य नही है। जबकि बुद्धि (महत्) प्रकृति के उत्पन्न पदार्थ तथा अहकार की उत्पादिका के रूप मे उस बुद्धि से भिन्न है जो इन्द्रियो मन तथा अहकार की क्रियाओ पर नियन्त्रण करती है। यदि महत और बुद्धि को एक मान लिया जाये तो सम्पूर्ण सृष्टि विषयनिष्ठ होगी जबकि अहम् और अनह दोनो की बुद्धि से उत्पन्न होते है।[२९०] विकास क्रम मे बुद्धि के बाद उत्पन्न होने वाला पदार्थ अहकार है यहॉ पर भी विश्व सबधी और मनोवैज्ञानिक पक्षो मे भेद है। मनौवैज्ञानिक दृष्टि से अहम् का भाव अनह (विषय) के बिना असभव है। अत एक विश्वात्मक अहकार की सम्भ्वाना को स्वीकार करना पडेगा जिसमें से व्यक्ति रूप विषय और विषयी उत्पन्न होते है। अहकार को भौतिक सामग्री के रूप मे द्रव्य माना गया है क्योकि यह अन्य द्रव्यो का उपादान कारण है। आचार्य भिक्षु के आनुसार तत्त्वो तथा अन्य सबकी रचना के पूर्व आभिमान का अस्तित्व है और इस प्रकार इसे सृष्टि का कारण कहा गया है। जहॉ बुद्धि अपने व्यापार म ज्ञान विषयक है वहा अहकार क्रियात्मक है। अहकार वह नही है जो सार्वभौम चैतन्य को व्यक्तित्व का रूप देता है क्योकि साख्य के अनुसार व्यक्तित्व पहले ही विघमान रहता है बल्कि बाह्य जगत से जो सस्कार आते है अहकार उन्हें व्यक्तितव प्रदान करता है।[२९१]

विश्व सबधी योजना का निर्माण मानवीय आत्मा के सादृश्य पर किया जाता है। क्योकि मनुष्य विश्व का एक सक्षिप्त रूप है जहॉ एक छोटे पैमाने पर यथार्थ सत्ता सभी घटक अव्ययो

को दोहराया जाता है। साख्य की विकास की पूरी योजना व्यक्ति के मनौवेज्ञानिक अनुभव के आधार पर इसकी स्थित है।[२६२] साख्य की भॉति कठोपनिषद्[२६३] मे भी प्रकृति व महत के प्र०ाग उत्पत्ति के समान है अव्यक्त से महान आत्मा के विकास की बात का उल्लेख है। महत प्रकृति है जो चैतन्य से प्रकाशित होता है उपनिषदों मे इसे विश्वात्मा (हिरण्यगर्भ/ब्रह्मा) माना गया है। इस प्रकार प्रकृति से महत की उत्पत्ति वेदान्तीय अवधारणा की स्वकृति है। जहॉ सर्वोपरि ब्रह्म का रवरूप विशुद्ध चैतन्य जैसा कि साख्य के पुरुष का है वही प्रकृति का चैतन्य शून्यता है आर जब दोनो पररपर मिलते है तो विषय-विषयी का भाव आता है यही महत है। जैसे ही विषयी (प्रमाता) अपने को विषय (प्रमेय) से विरोध स्वभाव का पाता है उसमे अहभाव उत्पन्न होता है।[२६४] इस प्रकार अहभाव का विाचार सृष्टि रचना के पूर्व आता है मै अनेक हो जाऊँगा मै प्रजनन करूॅगा [२६५] यहॉ साख्य की समस्या यह है कि एक मनोवेज्ञानिक दृष्टि को तत्त्व ज्ञान सबधी कथन से मिला देता है। इस प्रकार साख्य अपने पूर्व कल्पित धारणाओ को उपनिषदीय विचारो से मिला देता है। जो तात्विक रूप से इसके लिए विजातीय है।

प्रकृति और पुरुष के सबध से जो महत् तत्त्व उत्पन्न होता है वह जीव नही है। क्योकि यह महत् ही प्रकृति को निरन्तर क्रियाशील रहने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है चाहे सभी जीवो को मोक्ष की प्राप्ति हो जाय। क्योकि जैसे ही निरपेक्ष आत्मा अर्थात पुरुष को विषय०का ज्ञान होता है वह विषयो (प्रमेयो) पर कार्य करने से सर्वोच्य विषयी जिसे महत कहा गया है हो जाता है।[२६६] रवय आचार्य भिक्षु ने प्रकृति जो परिवर्तित होती है को अविद्या और पुरुष जो सभी प्रकार के परिवर्तनो से उन्मुक्त है को विद्या माना है।[२६७] राख्य इस बात को मानती है कि प्रकृति किसी भी रूप मे विषयी निष्ठ या अयथार्थ नही क्योकि एक अयथार्थ सत्ता यथार्थ बन्धन का कारण नही हो सकती है।[२६८] प्रकृति पुरुष के प्रति निषेधात्मक है। इस प्रकार पुरुष रूप आत्मा का प्रकृति अनात्मकरूप है। पुरुष का प्रकृति को देखना इस बात का प्रमाण है कि पुरुष प्रकृति को अस्तित्व को स्वीकार करती है।[२६९] दूसरे शब्दों मे पुरुष की यह रवीकृति ही प्रकृति को अस्तित्व प्रदान करती है। आचार्य भिक्षु भी सृष्टि के प्रारम्भ मे उत्पन्न हुए एक सर्वोपरि आत्मा अर्थात पुरुष को स्वीकार करते है और महत् तत्त्व उसके साथ उपधि के रूप मे था।[३००] ऐसा ईश्वर-महत् प्रारभिक एकतत्व है। जिसमे दो भिन्न-भिन्न प्रवृतिया एक दूसरे मे समाहित होकर

एक हो गई है। इसी प्रकार वेदान्त पुराणादि श्रुतिया भी प्रकृति को सर्वोच्च आत्म रात्ता पर निर्भर मानती है।[३०१] यही धारणा एक सगतपूर्ण साख्य दर्शन का आधार है।

यदि प्रकृति स्वेच्छया क्रियाशील होती तो मोक्ष कभी भी सभव नही होता इसी प्रकार यदि प्रकृति रवेच्छा से निष्क्रिय होती है तो ऐहलौकिक जीवन का प्रवाह चलता ही नही। साख्य इस बात को रवीकार करता है। कि जड प्रकृति की क्रियाशीलता इस बात की और सकेत करती है कि गति का कारण कोई और है रवय गतिमान नही है कितु प्रकृति की गति का कारण है। प्रकृति का विकास इस विषय का उपलक्षण है कि कोई अन्य मूलकर्ता है कितु मूलकर्ता के रूप मे साख्य जिस पुरुष को रवीकार करती है वह प्रकृति पर सीधे-सीधे कोई प्रभाव उत्पन्न करने मे असमर्थ है। साख्य के अनुसार पुरुष की उपस्थित मात्र ही प्रकृति की क्रियाशीलता ओर विकास के लिए प्रेरित करती है। यद्यापि पुरुष मे रचनात्मक शाक्ति से अनेक रूप विश्व को उत्पन्न करती है।[३०२] स्पष्ट है कि विचार शून्य प्रकृति पुरुष द्वारा मार्गदर्शन पाकर ही जगत का निर्माण करती है। साख्य कारिका मे प्रकृति और पुरुष के सबध को स्पष्ट करने के लिए अन्धे ओर लगडे का जो उदाहरण दिया गया है उसकी व्याख्या करते हुए गौडपादचार्य कहते है कि जिस प्रकार एक लगडे और एक अधे ने जो जगल से गुजरते समय डाकुओ के आक्रमण से अपने राहयोगियो, से बिछुड़ गये थे आपस मे बातचीत करते हुए एक दूसरे का विश्वास प्राप्त कर लेते है। वे अपनी सामर्थ्यानुसार अपने कार्यो का बटवारा कर लेते है जिसके अनुसार लगडा व्यक्ति अधे व्यक्ति के कधो पर सवार होगा और लगडे व्यक्ति द्वारा बताये मार्ग पर अधा व्यक्ति चलकर दोनो अपने गन्तव्य स्थल तक पहुँचकर अलग-अलग हो जाते है ठीक इसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष चल नही सकता लेकिन चैतन्य होने के कारण वह देख सकता है और सक्रिय प्रकृति चल अर्थात गति तो कर सकता है लेकिन जड होने के कारण देख नही सकती। अत लगडा रूप पुरुष और अधा रूप प्रकृति है। यहॉ पुरुष को मोक्ष प्राप्त कराकर प्रकृति कार्य करना समाप्त कर देती है और पुरुष भी प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार उनके अपने अपने प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उपका पररपर सबध समाप्त हो जाता है।[३०३]

एक तरफ साख्य द्वारा प्रकृनि और पुरुष के द्वैतभाव को मान लेने के कारण मनुष्य के

चेतन्य का उनके रवभाव के अन्य तत्त्वो से विभाग मानना पडता है वही दूसरी तरफ साख्य अपनी धारणा के बिल्कुल विपरीत मनुष्य स्वभाव के एकत्व को मानकर ज्ञान–जीवन आर नैतिकता को बुद्धिगम्म स्वीकार करती है। यदि बुद्धि अनात्मिक और जड होती तो चतन्य को प्रतिबिम्बित नही करती क्योकि दो विपरीत रवभाव की वरतुए परस्पर प्रतिबिम्ब के रूप मे कार्य नही कर सकती। पुरुष को बुद्धि की अवस्थाओ का अनुभव नही होता है क्योंकि बुद्धि मे पुरुष का प्रतिबिब यथार्थ नही है। साख्य के अनुसार पुरुष का बुद्धि के साथ सबन्ध सहयोगात्मक है प्रतिरपर्धात्मक नही। क्योकि पुरुष प्रकृति के सबध का केन्द्र बुद्धि मे है जो विभिन्न विषयो और स्तरो पर भेद और समवय करती है तथा अहकार की सहायता से विचार इन्द्रिय ओर कार्य सबधी क्रियाओ के साथ तादात्म्य स्थापित करती है। जब बुद्धि को यथार्थ का ज्ञान हो जाता हे कि तादात्म्य एक भूल है और जो कुछ दृश्य है वह मात्र गुणो की विक्षुब्धता है तो बुद्धि भी विरत हो जाती है। पुरुष का सयोग टूट जाने पर प्रकृति भी पुरुष मे प्रतिबिम्बित होने की सामर्थ्य खो देती है। इस प्रकार बुद्धि का कार्य पुरुष के लिए सहयोगात्मक ही रहता है।[३०४]

पुरुष और प्रकृति के सबध का कारण अविवेक को माना गया है अत यह एक प्रकार का मिथ्या सबध है। लेकिन ऐसी दो स्वतत्र सत्ताए जो परस्पर बिल्कुल विरोधी स्वभाव की हे एक दूसरे से कैसे सम्बद्ध हो जाती है विचार कर पाना कठिन है। वास्तव मे प्रकृति और पुरुष की ऐसी पारस्पारिक अनुकूलता आश्चर्यजनक है। यदि तर्कत विचार करे तो चेतनापूर्ण पुरुष ओर अचेतन प्रकृति एक ही विकास की स्थितिया है। यह जीव ही है जो मुक्त होने के लिए प्रयत्न करता है। इस सीमित चैतन्य के आधार पर ही एक अनन्त चैतन्य की पूर्व कल्पना होती है जो प्रकृति के बन्धन से सीमित है। लेकिन सीमित आत्मा रूप जीव अपनी अन्तर्निहित अनन्त चैतन्य का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो वह इस बधन से मुक्त हो जाता है। साख्य मे यर्थाथता की प्रक्रिया का जो उपादान तत्त्व भी यत्र रचना और आत्मा के स्वातन्त्र्य की दो ग्रथियो मे विभाजन करता है, वास्तव मे ये यथार्थ ऐतिहासिक नही अपितु भावनात्मक है। जिससे रपष्ट होता है कि आनुभाविक जगत मे दो भिन्न–भिन्न प्रवृतिया है जो परस्पर इस प्रकार सबधित है कि उन्हे अलग–अलग नही किया जा सकता। पुरुष ओर प्रकृति समस्त अनुभव के दो पहलू हे। वास्तव मे ये दोनो अर्थात् चैतन्य और जडता एक ही पारिणमन अर्थात् सत्ता के दो पहलू है। यथार्थ

सत्ता न तो केवल पुरुष है और न ही केवल प्रकृति। ये अभौतिक रूप ओर रूपहीन प्रकृति होने से अस्तित्वविहिन है क्योकि जो अस्तित्वान होते है उनके नाम और रूप होते हे। सबसे प्रथम आरितत्वान सत्ता महत है जो तब पैदा होती है जब पुरुष प्रकृति को सूचित करता है। अत यह विशुद्ध प्रकृति नही अपितु रूपधारिणी प्रकृति है। महत निर्विकल्प प्रकृति की सविकल्प अभिव्यक्ति है जिरामे पुरुष का भी सहयोग है। यदि हम सृष्टि प्रक्रिया के उद्भव के पीछे तक जाकर विचार करे तो रपष्ट होगा कि उच्चतम बिन्दु पर एक ऐसा पूर्ण चैतन्य स्वरूप सत्ता है जिसमे सभी वस्तुओ को सम्भाव्यता निहित है। वस्तुत सभी वस्तुए पुरुष•और प्रकृति को सयुक्त करती है और पुरुष को अधिकाधिक अभिव्यक्त करने के सघर्ष करती है यह सघर्ष ही जगत की विकास प्रक्रिया है।[३०५]

साख्य के अनुसार आनुभविक जगत की दोनों जड और चेतन (विषय और विषयी) एक दूसरे पर प्राधान्य प्राप्त करने के लिए सघर्ष करती है जो अपने तार्किक आधार के रूप मे किसी अन्य तत्त्व की ओर सकेत करती है। इस प्रकार सघर्षशील जगत मे एक ओर पुरुष अर्थात विषयी और दूसरी ओर प्रकृति अर्थात् विषय है नित्य एक दूसरे के विपरीत है। लेकिन यह धारणा न तो आनुभाविक तथ्यो के अनुकूल है और न ही साख्य के सिद्धातो के अनुकूल है। यदि महत रूप विश्वीय आत्मा व्यक्तिरूप विषमियो (अहकार) के अनेकत्व और व्यक्तिरूप विषयो (तन्मात्रओ) के अनेकत्व को उत्पन्न करता है तथा यदि सभी विषयो को एक प्रकृति मे समाहित कर दिया जाता है तो सभी विषयियो को एक सार्वभौम पुरुष मे समाहित क्यो नही कर सकते अर्थात् पुरुष–बहुत्व की धारणा असगत है। पुन यदि पुरुष और प्रकृति को एक दूसरे से रवतत्र ओर निरपेक्ष माना जाये तो दर्शनशास्त्र की समस्या का समाधान असभव है। अन्यथा यह कहने के कोई हानि नही है कि ये परस्पर विरोधी तत्व एक ही पूर्ण इकाई मे अन्तर्निविष्ट है जो इनसे परे है। साख्य मे पुरुष जीव के साथ मिश्रित नही है जो वस्तुओ के विभाग से विभक्त नही है। विश्वीय अभिव्यक्ति के तनाव और सघर्ष से प्रभावित नही है जो समरत सृष्टि के अन्दर ओर इन सबसे बाहर और ऊपर है इस प्रकार साख्य एक विशुद्व और पूर्ण चैतन्य की सत्ता की उपस्थिति का स्वीकार करता है। जिसे एक महान निरपेक्ष आत्मा कह सकते है।[३०६]

प्रश्न उठता हैकि सृष्टि अर्थात प्रकृति पुरुष का सबध क्या ? इसे प्रथम सूत्र[३०७] मे रपष्ट करते हुए कहा गया है कि रवरूपत मुक्त पुरुष के मोक्ष के लिए ही यह सबध ओर सृष्टि होती है। इस प्रकार यह सृष्टि परार्थ होती है। लेकिन पुन प्रश्न उठता है कि जो रवत रवाभावत मुक्त है उसका मोक्ष कैसे? पुरुष तो निगुर्ण एव अपरिणामी है और दुख पारिणाम है प्रकृति क रजस गुण का। वारतव मे दु ख पुरुष मे न होकर प्रकृति और उसकी सन्तति बुद्धि मे होती है तथा प्रकृति के कार्य बुद्धि के सानिध्य से उसमे स्थित दु ख का अज्ञान या भ्रम के कारण अपने मे आरोप कर लेने से पुरुष मे दु ख की प्रतीत होती है।[३०८] इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से दुख रजोगुण का परिणाम होने से भले ही प्रकृति का हो परन्तु सामान्य या व्यावाहारिक दृष्टि से वह उसी का होगा जिसे उसकी अनुभूति होगी अथवा जो उसे भोगता है और अनुभव अथवा भोक्ता होना तो चेतना का ही धर्म है अचेतन का नही। अत जब दु खभोग चेतना का धर्म है तो उससे मुक्ति अर्थात मोक्ष भी चेतन का ही धर्म होगा। इसी कारण से सृष्टि परार्थ ही कही गई है।[३०९] इक्कीसवी कारिका मे सृष्टि का प्रयोजन एव उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपेक्षित प्रकृति और पुरुष का पारस्पारिक सयोग वर्णित है। पूर्वोद्धृत कारिकाओ से इस कारिका मे यह विषेशता है कि जहाँ पूर्व उद्धृत कारिकाओ मे पुरुषार्थ–सिद्धि के लिए प्रकृति और पुरुष का सयोग और उस सयोग के द्वारा सृष्टि मानी गयी है। वही इस कारिका मे प्रकृति ओर पुरुष दोनों की अर्थ–सिद्धि के लिए सृष्टि को स्वीकार किया गया है। इस सबध मे प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मिश्र[३१०] पारस्पारिक स्वार्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रधानस्य दर्शनार्थम् प्रकृति की पुरुष विषयक और पुरुषस्य कैवल्यार्थम पुरुष की प्रकृति विषयक अपेक्षा को स्वीकार करती है। कैवल्य के लिए अपेक्षित सत्व–पुरुषान्यताख्यति अर्थात प्रकृति पुरुष विवेकज्ञान के लिए प्रकृति की अपेक्षा इसीलिए रवीकृत है क्योकि यह विवेकज्ञान बुद्धि का ही एक विशेष प्रकार का परिणाम है।[३११] और यह बुद्धि भी रवय प्रकृति का परिणाम है अत प्रकृति का ही पारिणामभूत विवेकज्ञान उसके अभाव मे सर्वथा असभव है।

प्रयोजन के सबध मे उद्धृत कारिकाओ मे पररपर विरोध दिखाई देता है क्योंकि सृष्टि के उपक्रम मे आई हुई कारिकाओं मे प्रकृति के दर्शनार्थ और पुरुष के कैवल्यार्थ सृष्टि की बात कही गई है। जबकि सृष्टि के उपसहार के रूप मे आयी हुई कारिकाओं मे पुरुष के भोग और

मोक्ष के लिए सृष्टि कही गयी है। लेकिन यहॉ वास्तविक विरोध नही है भोग वस्तुत एक ही जो भोग्य प्रकृति और भोक्ता पुरुष दोनो के बिना असभव है। यहा भोग पुरुष का ही स्वार्थ है क्योकि प्रकृति के गुणों द्वारा पूर्वजन्मो मैं किये गये और अनादि अविद्या के कारण प्रकृति के साथ अपना तादात्म्या ऐक्यरूप ग्रहण करने के कारण अपना समझकर समस्त प्रारब्ध कर्मों का दु खत्रय रूप फल भोगते हुए ही पुरुष को उससे मुक्ति पाने की इच्छा होती है[३१२] अन्यथा नही। मोक्ष और भोग दोनों ही पुरुष के ही रवार्थ है प्रकृति के नही। इस प्रकार पुरुष के हित सम्पादन हेतु प्रकृति पुरुष के सयोग से सृष्टि करती है। अर्थात दोनो का प्रयोजन समान या एक ही हे। लेकिन यहा शका उठती है कि परमार्थत पुरुष का कोई प्रयोजन नही हो सकता क्योकि वह स्वभवत निर्बन्ध और नित्य मुक्त है। इसी प्रकार प्रकृति का भी प्रयोजन नही सकता क्योंकि वह अचेतन है। साख्य दर्शन मे प्रकृति पुरुष के अधीन नही है। यदि पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता या नियामक माना जाता तो यह सम्भव था कि पुरुष अपने अधीन प्रकृति का अपने प्रयोजन की सिद्धि हेतु प्रयोग करता हे। चूँकि प्रकृति अचेतन है अत वह स्वय पुरुष का प्रयोजन समझकर उपकार भाव से उसकी सिद्धि के लिए प्रवृत नही हो सकती। यहॉ आचार्य ईश्वरकृष्ण का मत सगतपूर्ण नही है कि गुणवती उपकारिणी प्रकृति निगुर्ण अनुपकारी पुरुष के भोग–मोक्ष के सम्पादनार्थ ही सृष्टि मे प्रवृत होती है।[३१३]

रपष्ट है कि साख्यकारिका परमार्थत निर्बन्ध और नित्य मुक्त पुरुष के प्रयोजन की बात नही करता सृष्टि के प्रयोजन का तात्पर्य यह है कि पुरुष को जीवनगत अर्थात बद्धावस्था के लिए ही प्रयोजन की बात कही गई है जो उचित भी है। प्रकृति के साथ उसका अपना तादात्मय–ग्रहण अनादि अज्ञान अर्थात अविवेक के कारण होता है। दूसरे शब्दो मे विविध कर्म तथा उनके दु खादि फल का भोग वस्तुत तो है प्रकृति के परिणाम[३१४] पर प्रतीत दोनो की ही होती है। पुरुष को पुरुष का त्रिविध दु ख के साथ अभिघात या अभिसबध कहकर उससे मुक्ति पाने के लिए उसके निवतर्क हेतु की बात की गई है।[३१५] यह निर्वतक हेतु विवेक ज्ञान के सतत अभ्यास से उत्पन्न तत्त्वज्ञान है जो पुरुष के स्वरूप से अभिन्न नित्यज्ञान है।[३१६] पुरूष इस पारमार्थिक स्वरूप के आधार पर ही उसे ससारण अर्थात जन्म–मरण रूप बधन एव मोक्ष से भी परे माना गया है।[३१७]

साख्य कारिका मे पाररपारिक सयोग से पुरुष के कर्त्ता ओर प्रकृति के चैतन्य होने की बात स्वीकार की गई है।[318] किंतु प्रश्न उठता है कि सृष्टि के पूर्व प्रकृति सूक्ष्तम गुणों की समस्या मे रहती है और पुरुष अपने शद्ध चिन्मात्र रूप मे हो तो फिर इन दोनों मे सभोग किस प्रकार होता है? कारिका मे न तो इस पर स्पष्ट विवेचन है और न ही इसे सर्वविदित उदाहरणो द्वारा रपष्ट किया गया है। साख्य सूत्र मे कुसुम और रवच्छ रफाटिक इत्यादि दृष्टात इस सबध मे कुछ विशेष उपयोगी नही सिद्ध होते क्योंकि उक्त उदाहरण प्रत्यक्ष जगत के है। जबकि सृष्टि के प्रारम्भ के पूर्व प्रकृति ओर पुरुष सूक्ष्मातिसूक्षम पदार्थ है।[319] इसी प्रकार प्रकृति एव पुरुष मे स्थूलता का सर्वथा अभाव होने से दोनो के पारस्परिक सयोग और उससे उत्पन्न माना गया । पारस्पारिक प्रतिबिब के अभाव मे बीसवी कारिका मे उद्धत कथन सभव नही प्रतीत होता। भोगादि के लिए अपेक्षित सृष्टि के कारण—भूत उक्त सयोग का कारण योगदर्शन और आचार्य पचशिख अनादि अविद्या[320] को मानते है। सयोग की कारण भूता अविद्या यद्यपि अनादि है लेकिन नित्य नही अपितु सगत है। इसका कारण है कि प्रकृति और पुरुष के बच यह कोई रवाभाविक अविच्छेद सबध नही है अपितु सूक्ष्म वैचारिक सबध है। इस प्रकार यहा प्रकृति—पुरुप के सबध की दार्शनिक व्याख्या की जाती है तात्रिक नही। जैसा कि साख्यदार्शनिकों की मान्यता है कि जो ही साधक अपने तथा प्रकृति के वास्तविक रूपो का भेद—पार्थक्य जान लेगा त्यो ही इस सयोग का अत हो जायगा। सयोग का अत होते ही कर्तृत्वाभिमान जो पूर्व अविवेक कृत पाररपारिक सबध के कारण होता था नष्ट हो जायगा। तत्पश्चात् सारे सचित और क्रीयमाण कार्य विवेचन ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते है और साधक वास्तविक कैवल्य का अनुगान करता है।[321]

साख्यकारिका[322] प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष के निमित्त होती है। लेकिन प्रश्न उठता है कि यह कैसा पुरुष होगा तो वास्तव मे यह बद्ध पुरुष अर्थात् जीव ही होगा जो सृष्टि का परिणाम है। तब ऐसा बद्ध पुरुष प्रकृति के सयोग का आधार और निरपेक्ष शुद्ध चैतन्य रूप कैसे हो सकता है तथा स्वय प्रकृति जड होने के कारण सयोग का आधार नही हो सकती। फिर कैवल्य की जो ज्ञान—साधन रूप है[323] वह निरपेक्ष शुद्ध चैतन्य रूप पुरुष की ओर राकेत करता है जो साख्यकारिका मे अद्वैत की अरपष्ट अनुभूति कराती है।

इस प्रकार द्वैतवादी साख्य अद्वैतवादी आदर्श की सत्यता को नही छू पाता केवल बोध के उस स्तर पर ही सतुष्ट हो जाता है जो सत ओर असत् के भेद को महत्त्व देता है। दोनो क विरोध को यथार्थ तथा दोनो के तादात्म्य को अयथार्थ स्वीकार करता है। वास्तव मे साख्य की धारणा जो मनुष्य के मानसिक अनुभव की आवश्यकाता की कुछ पूर्ति करती है एक ऐसा दार्शनिक मत है जो अधिकतर तत्त्वविज्ञान विषयक प्रवृतियो के साचे के प्रभाव से प्राप्त हुआ है न कि वस्तुओ के अस्तित्व सबधी अवलोकन से उत्पन्न वैज्ञानिक प्रेरणा द्वारा पाया जाता हे। किन्तु साख्य का दार्शनिक सिद्धान्त जो प्रकृति और पुरुष के द्वैतवाद तथा अनन्त पुरुषो के अनेकत्व को मानते है। प्रत्येक पुरुष असीमित है फिर भी वे अन्यो की असीमितता का व्याघात नही करते और उनसे बाह्य और स्वतन्त्र अस्तित्व रखते है जो दार्शनिक समस्या का सतोषप्रद समाधान नही देता। वास्तव मे द्वैतवादपरक यथार्थवाद मिथ्या तत्त्वविज्ञान (तत्त्वमीमासा) का परिणाम है।

पाद टिप्पणी

१ – पाण्डेय डा० राम शरण, महाभारत और पुराणो मे साख्यदर्शन पृ०– ३१

२ – साख्यकारिका पृ०– १५ व १७ योगसूत्र – २/१८ २० व २३ तथा ४/३३

३ – तमो वा इदमग्र आसीदेकम् – ५/२ मैत्रायणी उपनिषद्।। तम आसीत तमसा गूढमग्रे – १०/१२६/३ ऋग्वेद।।

४ – साख्यकारिका – ११

५ – मूल प्रकृति प्रधान मूलभूतत्वात्।। माठरवृत्ति का०न० ३ पृ० – २४

६ – साख्यसूत्र – १/६७

७ – सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृति – १/६१ साख्यसूत्र

८ – माठरवृत्ति – ८

६ – साख्यतत्त्वकौमुदी – १३

१०– गौडपाद भाष्य – १३ पृ० – ३६

११– साख्यकारिका – १३

१२– साख्यकारिका – १२

१३ – अव्यक्त त्रिगुणाल्लिगात् – १/१३६ साख्यसूत्र

१४– ब्रह्मसूत्र भाष्य – १/१

१५– साख्यकारिका – १५ और १६ साख्यसूत्र – १/१७४

१६– निरवयवमूर्तत्वात – माठरवृत्ति

१७– दासगुप्ता पृ०– १५६ से १५७

१८– साख्यकारिका – ५६ और ६१

१६– साख्यकारिका – ६

२०– साख्यसूत्र – ६/३६।। सत्वरजस्तम इति एषैव प्रकृति सदा एषैव ससृतिर्जन्तोरस्या परि पर पद –साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – ३३

२१– साख्यसूत्र १/६२ ।। सत्वादीगुणाना प्रकृतिधर्मत्व नास्ति प्रकृतिस्वरूपत्वादित्यर्थ – साख्य प्रवचन भाष्य, पृ० – ६३।। सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रधानम ।।१६–गौडपाद भाष्य।।

२२– साख्यकारिका – १२ व १३ तत्त्ववैशारदी – २/१८वें सूत्र व्यासभाष्य पर साख्य प्रवचन भाष्य –१/१२७ से १२८

२३– अव्यक्त याहु प्रकृति परा प्रकृति वादिन – १२/३०५/२३ और १२/२१० व २११ ।।महाभारत।।

२४– साध्यर्म्य वैधर्म्य कृत सयोगोऽनदिमास्तयो – वायुपुराण ४/१०२/३४ ब्रह्मपुराण – ४/१२/३१

२५– Positive sciences of Hindus, pp- 4 to 7

२६– Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-262

२७– Samkhya system,pp-28

२८– साख्य प्रवचन भाष्य

२६– History offIndian Philosophy, Pt-I, pp- 243 to 244

३०– भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ० – २७२ की पाद टिप्पणी

३१– गीता रहस्य पृ० – १६८

३२– इवोल्यूशन ऑव साख्य पृ० –१६ से २०

३३— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-262 & 26

३४— प्रकृते स्त्रिगुणायास्तु एते प्रधानस्य गुणास्त्रय सत्त्व रजस्तमश्चैव व गुणानेतान प्रचक्षते त्रिस्त्र प्रकृतया सात्त्विकी राजसी चैव तामसी वेव सत्व रजस्तमश्चैव त्रयोगुणा

३५— महाभारत — १२/२१२/४३ से ४५, १४/३६/३६ १४/३८/१५ नरो हि वेद गुणानिमान्सदा स तामसे राजसै सर्वगुणै प्रमुच्यते नरस्तु यो वेद गुणानिमान्सदा गुणान्स मुक्ते न गुणै स युज्यते

३६— भगवद्गीता — ५/१० से १२

३७— देवी भागवत — ६/३०३१

३८— महाभारत — १२/३०६

३९— गीता रहस्य पृ० — १८८ छान्दोग्य उप० — ६/३४ श्वेताश्वर उप० — १/४

४०— साख्यकारिका — १०

४१— महान्त च समावृत्य प्रधान समवस्थितम् अनन्तस्य न तस्यान्त सख्यान चापि न विद्यते— विष्णु पुराण

४२— साख्य प्रवचन भाष्य पृ० — ६३

४३— अत्रोच्यते परिच्छिन्नत्वमत्र दैशिका भावप्रतियोगिताक्येदकावच्छिन्नत्वम —साख्य प्रवचन भाष्य पृ० —४३

४४— सत्त्वादि त्रयमपि व्यक्तिभेदादनन्तम् — साख्य प्रवचन भाष्य पृ० — ६३

४५— साख्य प्रवचन भाष्य पृ० — २८

४६— श्रीवास्तव डा० सुरेशचन्द्र आचार्य भिक्षु और उनका भारतीय दर्शन मे स्थान पृ० — २२५

४७— गीता रहस्य पृ० — १७४ इण्डियन फिलासफीकल रिव्यू, भाग—३ पृ० —३०० से आगे

४८— साख्य तत्त्व कौमुदी प्रभा पृ० — १४० से १४२

४९— History offIndian Philosophy, Pt-I, pp- 28 to 29The nature of mind & its activities, C N I, Pt-III, pp-507 to 509

५०— साख्यकारिका — २३ व ३७

५१— तत्त्वकौमुदी युक्तिदीपिका योगभाष्य

५२— Origin & development of Samkhya system of thought, pp, 241 to 243

५३— Radhakrishanan, Indian Philosophy Pt-II, pp-271

५४— साख्यसूत्र — ३/२० व २२

५५– योगभाष्य तत्ववेशारदी ३/५२सूत्र पर

५६– Relationship between Body and Mind, Pt-II, pp -64 to 65

५७– Evolution of Samkhya system of thought, pp -39 & 40

५८– साख्यकारिका – ३८

५६– युक्तिदीपिका – १४१

६०– साख्यकारिका – ३२

६१– माठरवृत्ति – पृ० – ४६

६२– जयमगला पृ० – ३६

६३– साख्यकारिका – ३६

६४– युक्तिदीपिका पृ० – १४३

६५– मठारवृत्ति पृ० – २६६

६६– युक्तिदीपिका पृ० – ७६

६७– जयमगला पृ० – १२१ व २२

६८– मठारवृत्ति पृ० – २७

६६– जयमगला पृ० – २२ व २३

७०– युक्तिदीपिका पृ० –८२ व ८६

७१– कारणभावात् कार्यस्य कारणात्यकत्वात्। नहि कारणभ्दिन्न कार्य कारण च सदिति कथ तदभिन कार्यमसद् भवेत ? – साख्यतत्त्वकौमुदी– ६वीं कारिका पर

७२– तथाहि बुदध्यादय उपत्तमुपात्त देह त्यजन्ति देहान्तर चोपाददते इति तेषा परिस्पन्द – आचार्य मिश्र सक्रिप्रवेशादिक्रियावत् बुद्ध्यादयो ह्येक देह व्यक्त्वा देहान्तर प्रविशन्ति – नारायण तीर्थ

७३– योगभाष्य – २/१६

७४– साख्य प्रवचन भाष्य – १/६१

७५– साख्यकारिका – ८

७६– योगभाष्य – ४/१३

७७– सज्ञामात्रम् – ।।१/६८ साख्य प्रवचन भाष्य ।।

७८— साख्य प्रवचन भाष्य — १/६१ योगभाष्य — २/१८

७६— साख्य प्रवचन भाष्य — १/१२७ व १२८

८०— त्रिगुणात्मक ।।१३ साख्यकारिका।।

८१— राधाकृष्णन् इडियन फिलासफी खण्ड २ पृ० २६१ २६२

८२— विषमत्व ।।५/२ मैत्रायणी उपनिषाद्।।

८३— साख्यसूत्र वृत्तिसार — १/६१ और ६/३६ योगवार्तिका — २/१८

८४— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-330

८५— साख्यकारिका — ६

८६— शाक्तिमदिति शक्तम्

८७— नहि कारणदभिन्न कार्य कारण च सदिति कथ तदभिन्न चा कार्यमसद् भवेतु — साख्य तत्त्व कौमुदी।

८८— माडूक्य कारिका — ४/११

८६— माडूक्यकारिका भाष्य — २/७

६०— जगत्सत्यतव मदुष्ट कारण जन्मत्वाद् बाघ काथावात६/५२ साख्यसूत्र

६१— पुरुष ।।३ तत्त्वसमास।।

६२— साख्यकारिका — १६

६३— साख्यकारिका — १८

६४— साख्यकारिका — २०

६५— साख्यकारिका — ६

६६— अनिरुद्धवृत्ति साख्य प्रवचन भाष्य पृ० — ६६ (६/१ सूत्र पर)

६७— स्वानुभूत्येक मानाय नमश्चिन्मात्ररूपिणे — १ नीतिशतक

६८— कैगिटो अर्गो सम — देकार्ट

६६— साख्यसार उत्तर भाग प्रथम परिच्छेद साख्य प्रवचन भाष्य, पृ० — ६१

१००— साख्य तत्त्व कौमुदी पृ० — ११८

१०१— श्रीवास्तव, डा० एस० सी०, आचार्य भिक्षु और भारतीय दर्शन मे उनका स्थान पृ० — १४६ से १५०

१०२— साख्यसूत्र — १/४५ अनिरुद्धवृत्ति और इसकी टीका पृ० — ८२

१०३– विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धो भोगोऽस्य कथ्यते। प्रतिबिम्बोदय स्वच्छे यथा चन्दमसोऽम्यसि –षडदर्शन समुच्चय

१०४– पुरुषोऽविकृत्मत्मैव स्वनिमीसमचेतनम। मन करोति सान्निध्यादुपात्रि स्फटिक तथा –षडदर्शनसमुच्चय

१०५– साख्यकारिका – २७

१०६– अनिरुद्धवृत्ति साख्यसूत्र – १/६७ से ६६

१०७– साख्य प्रवचन भाष्य – १/६६

१०८– साख्य प्रवचन भाष्य – १/८७

१०६– योगभाष्य – १/७

११०– साख्य तत्त्व कौमुदी – ५वी कारिका पर

१११– अनिरुद्धवृत्ति – १/६८

११२– साख्य प्रवचन भाष्य – १/६६

११३– असन्निकृष्ट प्रमातर्यवारुढोऽनधिगत् इति यावत चक्षुरादिषु तु प्रमाण व्यवहार परम्परैव सर्वथेति भाव – प्रारम्भ मे साख्य प्रवचन भाष्य

११४– साख्यसूत्र– पुरुषैकव्य साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – ७४

११५– तत्त्वसमास – ३

११६– महाभारत – १२/३०१ और १२/३१५/११

११७– ब्रह्मपुराण – २३६ अव्यक्तैत्वभित्याहु नानात्व पुरुषस्तया – १२/३१५/११ शातिपर्व

११८– साख्यकारिका – २८

११६– सुवर्णसप्तति शास्त्र भूमिका पृ० – १२ और १६

१२०– गौडपादभाष्य यूक्तिदीपिका साख्य तत्त्व कौमुदी और माठरवृत्ति (१०वीं व ११वीं कारिका पर)

१२१– साख्यकारिका – ४२

१२२– साख्यकारिका – ५७, साख्यसूत्र – ६/४४

१२३– साख्यकारिका – १७ साख्यसूत्र – १/१४२

१२४– गौडपादभाष्य – १७वीं कारिका पर विद्वतोषणी पृ० – २२७ व २२८

१२५– साख्यकारिका – ६

१२६– भोजवृत्ति – योगसूत्र ४/३३ पर

१२७– साख्यसूत्र – १/६६ व ६६

१२८– साख्यकारिका – २०

१२६– स्वामी डा० किशोरदास भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमासा पृ० – ११० व १११

१३०– साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – ७१

१३१– परिणामरूप धर्माणमेव पुरुष प्रतिषेधस्योक्तत्वात – साख्य प्रवचन भाष्य पृ० – ७३

१३२– साख्यकारिका – १८

१३३– साख्य तत्त्व कौमुदी – १८वीं कारिका पर

१३४– जयमगला १८ वीं कारिका पर पृ० – २५

१३५– युक्तिदीपिका – १८वी कारिका पर पृ० – ६८

१३६– साख्यकारिका – ६३

१३७– वस्तुस्थिता न बन्धोडास्ति तद्भावान्न मुक्तता विकल्पघटितावुभावपि न किचन – साख्यसूत्र

१३८– साख्यकारिका– ६२व६८ राख्यसूत्र– ३/६५ ७१से७३ योगसूत्र– १/३ २/२५ ३/५०व५५ ४/३३

१३६– महाभारत – १३/१४१ /६०

१४०– साख्यसूत्र – ३/२० व २१ और ५/१२६

१४१– साख्यसूत्र – २/२६

१४२– साख्यसूत्र – ६/१ व २

१४३– साख्यसूत्र – १/१४६ साख्य प्रवचन भाष्य – १/७५ योगसूत्र – ४/१८

१४४– साख्य प्रवचन भाष्य – १/१४८

१४५– अनिरुद्धवृत्ति – ६/५६

१४६– साख्य[illegible] १६, हरिभद्र षडदर्शनसमुच्चय ४१ पर मणिभद्र का मत – अमूर्तश्चेतनो योगी नित्य सर्वगतोऽक्रिय अकर्त्ता निगुण सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शन ।

१४७– प्रकृते कार्यनित्यैक नित्यैका प्रकृतिर्जडा । प्रकृतेस्त्रिगुणावेशादुदासीनाऽपिकर्त्तृवत ।।६ सर्वसिद्धान्तसारसग्रह ।

१४८– साख्यसूत्र – ६/४५ और १/१४६ व १५०

१४६– साख्यसूत्र – ५/६१

१५०— साख्य प्रवचन भाष्य — ६/६३

१५१— साख्य प्रवचन भाष्य — २/४६

१५२— साख्यसूत्र – १/६६

१५३— साख्यकारिका —२० व २२ साख्यसूत्र — १/१६२ व १६३ योगसूत्र — २/१७

१५४— साख्य प्रवचन भाष्य — १/१७

१५५— साख्यसूत्र — १/१०५ से १०७

१५६— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 320 to321

१५७— साख्यकारिका — १७

१५८— साख्यकारिका — १८

१५९— सर्वसिद्धात सार सग्रह — १२/६८ व ६६

१६०— गौडपादभाष्य — ११ व ४४ वीं कारिकाओ पर

१६१— ब्रह्मसूत्र भाष्य — २/३/५० और ५३

१६२— साख्यकारिका — २० व २१

१६३— साख्यकारिका —३ पुरुषस्तु पुनर्नप्रकृतिरनुत्पाद कत्त्वात न च विकृतिरनुत्मन्नवात — माठरवृत्ति ३ पृ०२४ व २५

१६४— साख्य प्रवचन भाष्य

१६५— साख्यप्रवचन भाष्य २/१५ सूत्र पर

१६६— साख्यसूत्र — ६/५४

१६७— अनिरुद्धवृत्ति — २/१ सूत्र पर

१६८— साख्यकारिका — ६

१६९— साख्यकारिका — १७

१७०— साख्यकारिका — १८

१७१— साख्यकारिका — ३ ६२ व ६४

१७२— न प्रकृतिने विकृति पुरूष ।।३।। साख्यकरिका

१७३— तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि ससारति कश्चित् ।।साख्यकारिका ६२।।

१७४ - एव तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम ।।६४ साख्यकारिका।।

१७५– साख्यकारिका – ६४ और ६५

१७६– तस्मादपि चासिद्ध परोक्षमाप्तागमात सिद्धम ।।६ साख्यकारिका।।

१७७– साख्यकारिका – ३ ६२ से ६८

१७८– सामान्यतोऽदृष्टादनुमनाद् यदसिद्ध परोक्ष तदत्यन्तपरोक्षत्वादागमात सिद्ध स्वर्गापवर्गो –जयमगला टीका

१७९– साख्यकारिका – ३

१८०– साख्यकारिका – ६२

१८१– साख्यकारिका – ६४

१८२– साख्यकारिका – १७

१८३– साख्यकारिका – २३

१८४– न प्रकृतिर्न विकृति पुरुष ।।३ साख्यकारिका।।

त्रिगुणमविवेक कि विषय सामान्यमं चेतन प्रसवधर्मि। व्यक्त तथा प्रधान तद्विपरीतस्तथा च पूमान।।१।।

१८५– उपादानग्रहणात् ।।६।।

१८६– तस्मातत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिगम। गुण कर्तृत्वेऽपि तथा कर्तैव भवत्युदासीन ।।२०।।

१८७– प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका प्रकाशप्रवृतिनियमार्था १२

१८८– अन्योन्यभिमवाश्रृयजननामिथुन वृत्त्यश्च गुणा १२

१८९– साख्यकारिका – ९

१९०– साख्यकारिका – १०

१९१– गीता रहस्य, भूमिका पृ० – १६१ व १६२

१९२– प्रकृति पुरुष चैव विद्धयनादि उभवापि – १३/१९

१९३– भागवद्गीता – ७/१४ और १५/७

१९४– Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-261-262

१९५– साख्यकारिका – २१

१९६– साख्यकारिका – ५७

१६७– साख्यसूत्र – १/७

१६८– तत्त्वकौमुदी – २२वीं कारिका पर

१६६– तत्त्वकौमुदी – ३८ से ४१वीं कारिका पर साख्यसूत्र – ३/१ से १७ साख्य प्रवचन भाष्य – ३/११

२००– तत्त्वकौमुदी – २०वी कारिका पर

२०१– तत्त्ववैशारदी – योगभाष्य २/२३ पर टीका

२०२– योगसूत्र – १/४१ २/१७ व २३ ४/२२

२०३– योगभाष्य – ४/३३

२०४– त्रिविधोबन्ध ।।१६ तत्त्वसमास।।

२०५– व्यसाभाष्य और तत्त्ववैशारदी – योगसूत्र १/८ व २/५ पर

२०६– साख्यकारिका –१७ २१ ५६ व ६३ साख्यसूत्र –१/६६ १४२ व १४४ ३/५१ ५८ व ५६ ६/४०–४४

२०७– साख्यसूत्र –१/१६४ और ६/७२ विद्वतेषिणी पृ० २२७–२२८

२०८– Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-I, pp-528

२०६– साख्यकारिका – १० और ११

२१०– Origin & development of Samkhya system of thought, pp, 9-10 मैकडोनल हिस्टी आफ

सस्कृति लिटरेचर पृ० – ३६० ६१ और १३४ १३५

२११– तदैक्षत बहुस्या प्रयाजयेति तत्तेजोऽसृजत

२१२– ब्रह्मसूत्र भाष्य – १/१

२१३– रत्न प्रभा पृ०– २२४

२१४– सगद्यि कार्य जडप्रकृतिक कार्यत्वात् घटवत

२१५– साख्यकारिका – २१

२१६– साख्यकारिका– ८ १० ११और४से१७ साख्यसूत्र –१/६२ ७० १०२ १०३ १०६ ११०और ३०से४६

२१७– अत सावकाशतया साख्यतेवेश्वर प्रतिषेधाशे दुर्बलमिति –साख्य प्रवचन भाष्य पृ०–४

२१८– अत्र शास्त्रेकारणब्रह्मतु पुरुष सामान्य निगृर्णमेवेष्यते ईश्वरानश्यपगमात्– साख्य प्र० भाष्य पृ०–१६६

२१६– स्वत्रत प्रधान कारणतावादिन्याश्च कपिलस्मृतेरप्रमाण्य प्रसज्यते – सा०प्र०भाष्य पृ० – २६५

२२०– गीतारहस्य– पृ०–१६३ की टिप्पणी

२२१— गौडपादभाष्य— कारिका ६१वी पर टिप्पणी पृ०— ५५

२२२— विष्णुपुराण — २/७/३७

२२३— इडियन थीज्य सी एच आई खण्ड ३ पृ० ५३६ ३७

२२४— हिस्ट्री आफ इडियन फिलासफी खण्ड—१ पृ०— ४८०

२२५— साख्य कासेप्शपन ऑव परसनैलिटी पृ० — १४ से आगे

२२६— साख्यकारिका — ११ साख्यसूत्र — १/१२६

२२७— हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रिय मनेक माश्रित लिगम ।।१०।। साख्यकारिका साख्यसूत्र १/१२४

२२८— साख्यसूत्र — १/१२१

२२६— अध्यवसायादिरुप प्रतिनियत कार्यशून्यत्व ।।२/१८ योगवार्तिक।।

२३०— लिगयति गमयति— तत्त्वकौमुदी पृ० —८४से८६

२३१— व्यासभाष्य और तत्त्ववैशारदी — योगसूत्र २/१७से२३ और ४/२३व२४ पर व्याख्या

२३२— साख्यकारिका भाष्य— ११वीं कारिका पर

२३३— साख्य तत्त्वकौमुदी प्रभा पृ०— ६२

२३४— साख्यकारिका — १८

२३५— साख्यसूत्र — १/१५४

२३६— साख्यकारिका — ६१ साख्यसूत्र — १/१४६ १५७ और १५६ तत्त्ववैशारदी —योगसूत्र— २/२२ पर

२३७— अनिरुद्धवृत्ति साख्यसूत्र —६/४५ पर

२३८— साख्यसूत्र — २/३७ साख्यकारिका — ५७

२३६— साख्यकारिका — ५६ साख्यसूत्र — ६/४३ व ४४

२४०— साख्यसूत्र — १/६६

२४१— साख्यसूत्र — १/६६ गीता — ३/२७

२४२— साख्यसूत्र — १/१४६ व १४७

२४३— आर्य पुरुष चिद्धर्मत्व

२४४— जडप्राकशयोगात् प्रकाश — १/१४५ साख्यसूत्र

२४५– साख्य प्रवचन भाष्य – ५/२–५

२४६– गीता रहस्य पृ०– २३७ से २४१

२४७– भागवद्गीता२/१६ साख्यकारिका –६ साख्यसूत्र – १/११० ११४ ११८ १२० और १२१

२४८– स्वालक्षणम् वृत्ति –तत्त्वकौमुदी २६वीं कारिका पर त्रयाणा स्वालक्षण–२/३० साख्य प्रवचन भाष्य

२४६– साख्यकारिका – २३ साख्यसूत्र – २/३१ से ५१

२५०– साख्यकारिका – ६३ साख्यसूत्र – ३/७३

२५१– साख्यकारिका – ३५ व ३६

२५२– साख्यकारिका – ३७

२५३– साख्यकारिका – ३३

२५४– व्यक्तिभेद कर्मविशेषात् ।।३/१० साख्यसूत्र।।

२५५– साख्यसूत्र – ३/११ से १३

२५६– साख्यसूत्र – १/१५६ ३/४७ ६३ ६६ व ७०

२५७– साख्यसूत्र – ३

२५८– योगसूत्र – १/२३ २६

२५६– योगसूत्र – ५/२ से १२

२६०– नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत । उभयोऽपि द्रष्टोऽन्तस्त्वनलयोस्तत्व दर्शिभि ।।गीता।।

२६१– द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ।।१/१६४ /२० ऋग्वेद।।

२६२– प्रकृते क्षोभात् प्रकृति पुरुषसयोगास्तस्मात् सृष्टिरिति सिद्धात ।।साख्य प्रवचन भाष्य ५/१०१।।

२६३– साख्यसूत्र – १/५५

२६४– अविवेकश्च सयोग द्वारैव बन्धकारण प्रलये दर्शनात् ।।राख्य प्रवचपन भाष्य १/५५।।

२६५– अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्ते ।।६/१२ साख्यराूत्र।।

२६६– साख्य प्रवचन भाष्य – १/१२० व १२१

२६७– छान्दोग्य उपनि० – ६/२/२ भागवत गीता – २/१६

२६८– योगभाष्य – ४/३

२६६– Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 258 fn III

२७०— योगभाष्य — ३/१३

२७१— साख्यसूत्र — १/१२१

२७२— साख्यसूत्र —५/५२ से ५३

२७३— साख्यसूत्र —५/५५

२७४— साख्यसूत्र — १/४२

२७५— साख्यप्र०भाष्य — १/२६

२७६— साख्यसूत्र — २/१ और ३/५८

२७७— साख्यकारिका — ५६

२७८— साख्यसूत्र — ३/६१

२७९— साख्यकारिका — ५७ साख्यसूत्र — १/६६

२८०— साख्यसूत्र ६/१२ से १५

२८१— योगसूत्र — २/२३ स २४

२८२— साख्य प्रवचन भाष्य — १/१६

२८३— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 327 to 328

२८४— प्रकरोतीति प्रकृति ।।साख्यसूत्र १/७६।।

२८५— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 328 to 329

२८६— साख्यकारिका —२२ व २३ (परवर्ती वेदान्त मे बुद्धि का समष्टि रूप मे हिरण्यगर्भ की उपाधि करके लिया गया है) Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 266 -267

२८७— साख्य प्र० भाष्य — २/४१ से ४२

२८८— साख्यकारिका — २३

२८९— साख्यकारिका — २२

२९०— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-267 to 268

२९१— साख्यकारिका — २४ साख्य प्र० भा० १/६३ बहुस्यामप्रजामेय — साख्यसूत्र— ६/५४

२९२— Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp-275 to 277

२९३— साख्यसूत्र — ३/११

२६४– साख्य प्रवचन भाष्य– ६/६६ यदाहुर्वासुदेवाख्यचित तन्महदात्मक ।। ३/२६/३१ भागवत पुराण।।

२६८– न हि स्वप्नरज्जवा बन्धन दृष्टम ।। साख्य प्रवचन भाष्य १/२०।।

२६६– साख्यकारिका – ६५

३०१– साख्य प्रवचन भाष्य – १/२६ विष्णुपुराण – १/२(प्रकृति सर्वोपारि प्रभु का कार्य है) विकारजननी मायामदृष्टरूपामजा ध्रुवाम – चूलिका उपनि०

३०२– Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II pp- 288

३०३– गौडपाडभाष्य – २१ वीं कारिका

३०४– विधारण्य विवरणप्रमेय सग्रह पृ० – ६३ इडियन थाट खण्ड–१ पृ० – ३७६

३०५– Radhakrishanan, Indian Philosophy, Pt-II, pp- 330 to 332

३०६– Radhakrishanan, Indian Philosophy Pt-II, pp- 332 to 333

३०७– विमुक्त विमोक्षार्थ स्वार्थ व प्रधान्सय – २/१

३०८– साख्यप्रवचन भाष्य – २/१

३०६– प्रधानसृष्टि परार्थ स्वतोऽप्य भोक्तृत्वादृष्ट्रड क्रुमवहनवम् – ३/५८ और ६/४० ।साख्यसूत्र। साख्यकारिका – ५६ व ६० साख्यतत्त्वकौमुदी – ६०वीं कारिका परमार्थ कृत चीनी अनुवाद अय्यास्वामी शास्त्री कृत सस्कृत रूपान्तर पृ०– ८४ यथा कश्चित स्वार्थ त्यक्तवा मित्रकार्याणि करोति एव प्रधानम् – गौडपाद भाष्य

३१०– साख्य तत्त्व कौमुदी – २१ वी कारिका

३११– साख्यकारिका – २३

३१२– दुखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हैतो ।।१–साख्यकारिका।। भोग्येन प्रधानेन सम्भिन्न पुरुषस्त–दूगत दुखत्रय स्वात्मन्यभिमन्यमान कैवल्य प्रार्थयते ।।साख्यतत्व कौमुदी–२१वी कारिका।।

३१३– साख्यकारिका – ५७ और २१

३१४– साख्यसूत्र –१/१०६ और ६/११ साख्यकारिका – १

३१५– तदनेन दुखत्रयेणान्त करणवर्तिना चेतनाशक्ति प्रतिकूलवेदनीयतयाऽभिघात इति एतावता प्रतिकूल वेदनीयत्व जिहासहेतुरुक्ता – साख्य तत्त्व कौमुदी

३१६– साख्यकारिका – ६४

३१७ साख्यकारिका ६२

३१८– साख्यकारिका – २०

३१६– साख्यसूत्र – २/३५ महत परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष पर। पुरुषान्न पर किचित सा कोष्ठा परागति ।।१/३/११ कठोपनि०।।

३२०– तस्य हेतुरविद्या ।।२/१८ योगसूत्र।। अविवेक निमित्तो वा पचशिख ।।६/६८ साख्यसूत्र।।

३२१– साख्यकारिका – ६७ से ६७

३२२– पुरुषविमोक्ष निमित्त तथा प्रकृति प्रधानस्य ।।साख्यकारिका – ५७।।

३२३– अविपर्ययाहिशुद्ध केवलमत्पद्यते ज्ञानम ।।साख्यकारिका ६४।।

अध्याय पंचम्

सांख्य दर्शन का पाश्चात्य दर्शन से तुलनात्मक अध्ययन

साख्य दर्शन के द्वैतवाद मे एक विशुद्ध चेतन्य पुरुष हे तो दूसरा जडात्मक तत्व प्रकृति है और आध्यात्मवादी विवेक–ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति है। साख्य कारणता सिद्धात मे परिणामवादी और सत्कार्यवादी है तो निरीश्वरवादी होने के साथ उसका सृष्टि के उत्पत्ति–सम्बन्धी मत मे विकासवादी धारणा है जो यत्रवादी दिखाई भले ही देती हो किन्तु वह प्रयोगवादी धारणा को स्वीकार करती है। पाश्चात्य दर्शन मे भी विविध दार्शनिक विचारधाराए मिलती है। जिनका कही साख्यमत से साम्य है तो कही विरोध भी मिलता है। जिसका तुलनात्मक अध्ययन निम्न शीर्षकों के अर्न्तगत किया गया है –

(I) तत्त्व सिद्धात

साख्य दर्शन दो प्रकार के मूलतत्त्वो को रवीकार करता है। उसके अनुसार प्रकृति ओर पुरुष दो परमतत्त्व है जिनके पारस्परिक सबध से इस जगत की उत्पत्ति होती है। ये दोनो तत्त्व एक दुसरे से रवतत्र रवरूप मे भिन्न तथा समानत सत्य है। दोनो अजन्मा नित्य सर्वव्यापक तथा विश्व के आधार है। किन्तु दोनों का स्वरूप एक दुसरे से बिलकुल भिन्न है। प्रकृति जड और एक है। किन्तु पुरुष चेतन और अनेक हैं। प्रकृति जगत का मूलकारण है और पुरुष निरपेक्ष द्रष्टा। साख्य सम्भवत इस रूप में अनीश्वरवादी नही है कि वह यह सिद्ध करता है कि ईश्वर नही है अपितु केवल यह मानता है कि ईश्वर है ऐसा मानने का कोई हेतु नही है।[१] आचार्य भिक्षु अनेकश साख्य को वेदान्त के विचारों के समान बताने का प्रयास करते है।[२] वे एक व्यापक पुरुष की सार्थकता को स्वीकार करते हुए मानते है कि वह सर्वोपरि अर्थात सार्वभौम सामूहिक पुरुष है सब कुछ जानने तथा सबकुछ करने की शक्ति रखता है और चुम्बक पत्थर के समान केवल सान्निध्य के कारण गति देने वाला है।[३] लेकिन आचार्य ईश्वरकृष्ण ऐसे किसी ईश्वर रूपी परमतत्त्व की कोई विवेचना नही करते। वास्तव मे साख्य दर्शन परमतत्त्व की सख्या की दृष्टि से अनेकत्ववादी और सके स्वरूप की दृष्टि से द्वैतवादी है।

पाश्चात्य दर्शन मे द्वैतवाद शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम हाइडे ने किया था जिसके अनुसार मूलतत्त्व शुभ के साथ–साथ अशुभ तत्त्व का भी सहअस्तित्व है । बाद मे नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र

से हटकर तत्त्वमीमासा के क्षेत्र मे क्रिश्चियन वुल्फ ने द्वैतवाद के आधार पर शरीर (अचेतन या जड) और आत्मा (चेतन) को पारस्परिक रूप से दो स्वतत्र तत्त्व मानते है। इस प्रकार द्वैतवाद के अनुसार परमतत्त्व की प्रकृति अथवा स्वरूप मे द्वेत है। दुसरे शब्दो मे विश्व का मूलतत्त्व एक प्रकार का नही प्रत्युत उसमे स्वाभाविक अथवा गुणात्मक द्वैत है।[४] पाश्चात्य दर्शन मे द्वैतवाद का प्रथम प्रमाण प्राचीन यूनानी दर्शन से होता है। थेलीज एनेक्जिमेण्डर तथा हेराक्लाइटस ने क्रमश जल वायु और अग्नि को मूलतत्त्व माना किन्तु उसमे जीव अर्थात चेतना का समावेश भी स्वीकार किया। अत यहाँ मूलद्रव्य को एकात्मक मानने पर भी उनके स्वरूप मे द्वैत है।[५]

दार्शनिक रूप से प्रथम द्वैतवादी एनेक्जेगोरस को माना जाता है। जिसने सर्वप्रथम चेतना को भौतिक जड द्रव्य से पृथक माना। उसके अनुसार जड द्रव्यो के साथ–साथ चेतना भी पारमार्थिक है। चेतन तत्त्व ही विभिन्न मूल जड द्रव्यों से विश्व के भिन्न–भिन्न पदार्थों का निर्माण करता है। अत परमतत्त्व अनेक है चेतन (नाउस) और भिन्न–भिन्न जडद्रव्य किन्तु उनका स्वरूप चिदात्मक तथा जडात्मक है।अत परतमत्त्व सख्या की दृष्टि से अनेकत्ववादी है जबकि अपने स्वरूप की दृष्टि से द्वैतवादी है।[६]

द्वैतवाद का विस्तृत विवरण प्लेटो और अरस्तू के दर्शन से मिलता है। प्लेटो के अनुसार श्रेयस प्रत्यय तथा जड द्रव्य से सयोग से विश्व की सृष्टि होती है। दोनो ही पारमार्थिक तत्त्व है। सामान्य प्रत्ययों की सख्या अनन्त है और सभी यथार्थ है किन्तु सभी का स्वतत्र अस्तित्व नही है। पूर्ण रूप से स्वतत्र सत्ता केवल श्रेय प्रत्यय की है जो सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापक एव सभी प्रत्ययो का अधिष्ठान है। मूलतत्त्व के चेतन पक्ष में परमतत्त्व एक सर्वव्यापी प्रत्यय श्रेयस है। जिसे प्लेटो ईश्वर कहता है। जडतत्त्व निर्गुण और आकारविहीन है। उसका अस्तित्व किसी श्रेयस प्रत्यय पर आधारित नही है। श्रेयस प्रत्यय विचार स्वरूप है। किन्तु जडद्रव्य अचेतन है। एक शुभ और पूर्णता का द्वैतक है तो दूसरा अशुभ और अपूर्णता का, एक विश्व को शुभ से विभूषित करता है तो दूसरा उसमे अशुभ का समावेश करता है। जडद्रव्य उपादान है। जिनपर भिन्न–भिन्न प्रत्ययों के अकित होने से विभिन्न पदार्थ निर्मित होते है। अकित करने वाला श्रेयस प्रत्यय ईश्वर है। जो निमित्त कारण है। इस प्रकार प्लेटो प्रत्यय और जड अर्थात अचेतन और जड दोनो को विश्व का मूल आधार मानने के कारण तत्त्वमीमासी दृष्टि से द्वैतवादी है।[७] किन्तु

प्रत्ययों पर अधिक बल देने के कारण उनका आदर्श प्रत्ययवाद है। प्लेटो का यह मत समीचीन है कि यदि सभी देवताओ के विश्व की उत्पत्ति के विषय मे अनेको सम्मतियो के बीच हर एक अश मे हम अपने विचारों को परस्पर सगत तथा सूक्ष्म रूप में ठीक नही बना सके। जो दूसरे की अपेक्षा कम सम्भव हो। क्योंकि हमें अवश्य याद रखना चाहिए कि जो बोलता हुँ और तुम जो उसका निर्णय करते हो हम सभी मरण्यधर्मा पुरुष है। इस प्रकार इन विषयो के ऊपर एक सम्भव गाथा से ही सतुष्ट रहना चाहिए और इससे अधिक की माग नही करनी चाहिए।[८]

अरस्तू के द्वैतवाद मे विश्व का मूल आकार और भौतिक द्रव्य है। इन्ही दोनों के सयोग से विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति होती है। आकार निमित्त कारण अर्थात प्रेरक कारण है। जो उपादान कारण जडतत्त्व को कार्य के रूप में परिवर्तित करता है। दोनों के स्वरूप के सबध मे अरस्तू का मत है कि दोनो एक दूसरे के विपरीत है। उनके स्वरूप या प्रकृति मे द्वैत है और यह द्वैत सदैव विद्यमान रहता है। मूल आकार सामान्य तथा विचार स्वरूप है जबकि उपादान शुद्ध विशेष और पूर्णत भौतिक है। अत यहाँ अरस्तू परमतत्त्व को सख्या और स्वरूप दोनो दृष्टि से द्वैतवादी मानते हैं।[९]

प्लेटो का सामान्य पृथक अतीन्द्रिय तथा प्रमुख आदर्शमय रूप युक्त है किन्तु अरस्तू के अनुसार दो वस्तुओ का श्रेय यथार्थ मे सुकरात को दिया जा सकता है आगमनात्मक अनुमान सबधी तर्क और सामान्य परिभाषा जो दोनों ही विज्ञान के प्रारम्भ से सबद्ध है। किन्तु सुकरात ने सामान्यो अथवा परिभाषाओं के अस्तित्व को पृथक नही किया तो भी उसके उत्तराधिकारियों ने उन्हें पृथक्–पृथक् अस्तित्व माना और इसे वे विचार कहते है।[१०] सुकरात से सहमत होते हुए प्लेटो की आलोचना अरस्तु करता है वे विचारों को एक साथ सामान्य द्रव्य और पृथक् व विशिष्ट मानते हैं। यह बात सम्भव नही यह पहले से ही बताया जा चुका है। उन व्यक्तियों ने के कहते है कि विचार सामान्य है दो मतों को जो एक में मिला दिया इसका कारण यह है कि उन्होने आदर्श द्रव्यो तथा इन्द्रियगम्य वस्तुओं को एक समान नही माना। उन्होने सोचा कि इन्द्रियगम्य विशिष्ट पदार्थ एक प्रवाह की अवस्था मे है और उनमे से कोई शेष नही रहता,किन्तु सामान्य इनसे पृथक और भिन्न है। सुकरात ने इस प्रकल्पना को प्रेरणा दी अपनी परिभाषाओ के द्वारा किन्तु उसने उन्हे बिशिष्ट पदार्थों से पृथक् नही किया था और उचित ही सोचकर पृथक्

नही किया था।[११]

प्लेटो सत् तथा परिणमन से भी आगे बढकर श्रेयस तक पहुचता है। प्लाटिनस निरपेक्ष सत्ता को अभी तक उददेश्य तथा विधेय के मध्य मे अविभक्त और इसलिए समस्त भेदभाव से ऊपर के रूप में जानने की चेष्टा करता है। यह निरपेक्ष परमसत्ता उन वस्तुओं में से एक भी नही है। जिनका कि यह आदि स्रोत है। इसका स्वरूप ऐसा है कि इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता अर्थात अस्तित्व रहित तत्त्व के विपरीत जीवन का अभाव—क्योंकि यह वह है जो इन सबसे अतीत है एक बार जब तुमने उसके लिए श्रेय शब्द का प्रयोग कर दिया तो फिर इसके अतिरिक्त और किसी विचार को इसके आगे जोडने की आवश्यकता नही क्योकि और कुछ जोडने से तुम उक्त अश मे उसकी न्यूनता का बखान करते हो। यहॉ तक भी मत कहो कि इसके अन्दर बोध की प्रक्रिया है। क्योंकि इससे भी तुम इसके अन्दर विभाग का समावेश कर दोगे।[१२] इसी प्रकार एलेक्जेड्रिया का क्लीमेट एक ऐसे लक्ष्य बिदु पर पहुँच जाता है जहॉ पहुँच कर सर्वोपरि सत्ता को इस रूप में नही कि यह क्या है अपितु इस रूप मे समझा जाता है कि क्या नही है। इरिजेना के अनुसार वह जो सृष्टि करता है किन्तु स्वय अजन्मा है वह जो रचना करता है और स्वय भी उत्पन्न हुआ है वह जिसकी रचना हुई है और जो रचना करता नही और वह जिसकी न तो रचना हुई है और न जो रचना करता है स्पष्ट है कि यह वर्णन पुरूष अथवा ब्रम्हा के अनुरूप है। डेकार्ट के अनुसार द्रव्य का अर्थ है स्वअस्तित्ववान् होना अपने अस्तित्व का वह स्वय कारण है। जो कि स्वतत्र और निरपेक्ष है। निरपेक्ष तत्त्व एक ही हो सकता है वह ईश्वर है।[१३] परन्तु सापेक्ष द्रव्य के बिना निरपेक्ष द्रव्य का कोई अर्थ नही है। सापेक्ष द्रव्य अपने अस्तित्व के लिए अन्य द्रव्य पर निर्भर होता है। सापेक्ष द्रव्य दो प्रकार के है आत्म और जड जो अपने अस्तित्व के लिए निरपेक्ष द्रव्य पर निर्भर है। इस प्रकार डेकार्ट के दर्शन में निरपेक्ष और सापेक्ष का द्वैत होने के साथ सापेक्ष द्रव्यों में चेतन और जडतत्त्व का द्वैत है। द्रव्य के अनिवार्य सर्वव्यापी और अवियोज्य धर्म को गुण कहा जाता है। द्रव्य को नष्ट किए बिना गुण को उससे अलग नही कर सकते। निरपेक्ष द्रव्य के अनन्त गुण है। जबकि सापेक्ष द्रव्य में सीमित गुण होते है आत्मा का गुण विचार और जड (शरीर) का गुण विस्तार है गुणो के आधार पर ही द्रव्यो की सत्ता का अनुमान किया जाता है।[१४]

होगा । यदि दो वस्तु दो है तो उनके बीच सदृश्य और भेद दोनों मानना होगा और जब केवल भेद हो तो वहाँ सबध नही होगा। इस प्रकार जड पदार्थो के बीच या चेतन पदार्थो के बीच सबध एक समस्या होगी । किन्तु यहाँ पर स्पष्ट नही है कि देकार्ट को एक धर्मी पदार्थों के बीच होने वाले कार्य–कारण सबध या किन्ही अन्य सबधो के बारे मे किसी कठिनाई का अनुभव हुआ। विशेष रूप से विभिन्न चेतन पदार्थों के बीच सबध साधारणतया यदि ईश्वर को छोड दे तो जड शरीर के माध्यम से ही होता है। फिर चेतन पदार्थों के बीच सबध और जड पदार्थो के बीच मे सबध की समस्या मे एक मूलभूत अन्तर है।[१७] शायद यही कारण था कि ग्यूलिक्स और मैलब्राश ने स्पष्टत स्वीकार किया कि चेतन (मनस अर्थात आत्मा) और जड (शरीर) आदि समस्त गति का प्रदाता एक मात्र ईश्वर है । उक्त द्वय सयोगवादी दार्शनिक मनस–देह के सबध की व्याख्या के लिए देकार्ट द्वारा प्रतिपादित क्रिया–प्रतिक्रिया के सिद्धन्त की अनिवार्यता को आवश्यक मानते है। अन्तत देकार्ट भी इस निष्कर्ष को स्वीकार करता है कि यद्यपि गति पिण्डो का मुख्य लक्षण है तथापि पिण्डो की प्रेरक शक्ति स्वय पिण्डो मे न होकर ईश्वर मे रहती है।[१८]

स्पिनोजा परम द्रव्य सत को एक ही मानता है। द्रव्य वह है जिसका आधार उसके स्वय के अन्दर हो अर्थात जड स्वनिष्ठ और आत्मबोध युक्त हो। द्रव्य के दो गुण विस्तार और विचार उसके अनन्त गुणो मे से एक है। विचार और विस्तार भिन्न–भिन्न है न कि विरोधी। विचार और विस्तार का द्रव्य से कोई विरोध नही है क्योंकि द्रव्य निर्विदष्ट है अत वे दोनो द्रव्य के विधेय हो सकते हैं।[१९] वास्तव मे स्पिनोजा का द्रव्य विचार और विस्तार दोनो के परे है। स्पिनोजा के अनुसार जिस प्रकार ईश्वर की सत्ता कि किसी उद्देश्य से नही होती उसी प्रकार ईश्वर का कार्य भी किसी प्रयोजन से नही होता वह पूर्ण है। अत उसका कोई प्रयोजन नही हो सकता। यदि वह क्रियाशील है तो अपने स्वभाव के कारण हो यही उसकी स्वत्रता है।[२०] चूँकि जड और चेतन दिखाई देने वाली प्रक्रियाये एक ही मूल सत की दो विशिष्ट विधाए है। इसलिए उनके अनुसार जो चेतन सत् मे अभिव्यक्त और चेतन के बीच कोई कार्य–कारण सबध नही है तभी वह एक दूसरे को स्वतत्र रूप मे प्रतिबिम्बित करते है जो बाद मे लाइबनित्ज के दर्शन मे भी मिलता है। स्पिनोजा द्वारा व्यक्त द्रव्य की परिभाषा के आधार पर लाइबनित्ज ने अनेक द्रव्य सत् की कल्पना की और कहा कि ये मोनाड है।[२१]

मनस शरीर के द्वैत सबध के विषय मे हाकिग का मत है कि जो ऐसे सिद्धान्त है जिन्हे क्रिया –प्रतिक्रियावाद और समानातरवाद कहा गया है। ये दोनो सिद्धात मनस और शरीर को दो द्रव्य मानने की अपेक्षा दो प्रतिक्रियाओ के रूप मे स्वीकार करती हैं । क्रिया–प्रतिक्रियावाद के अनुसार मस्तिष्क घटनाए मनस घटनाओ को प्रभावित करती है जबकि समानान्तरवाद मे मस्तिष्क घटनाए तथा मनस घटनाए बिना किसी भी पक्ष के हस्तक्षेप के एक दूसरे के पूर्णत अनुरूप चलती है। ये दो श्रखलाए या तो एक दूसरे को प्रभावित करती है या प्रभावित नही करती है। अत द्वैतवाद के लिए कोई अन्य विकल्प नही है।[२२]

स्पिनोजा की भाति लाइबनित्ज एक द्रव्य के सप्रत्यय को स्वीकार नही करता है। वह ईश्वर को अन्तिम द्रव्य मानता है। किन्तु उसका मत है कि यदि एककों की स्थापना न करे तो ईश्वर के अतिरिक्त विश्व की सभी वस्तुए सारहीन हो जाएगी। अत आपातिक वस्तुओ की व्याख्या के लिए बहुद्रव्यो के सप्रत्यय की आवश्यकता है। लाइबनित्ज के मत मे कोई भी दो वस्तुए जिन्हे एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है एक नही हो सकती। दो वस्तुओ की अभिन्नता कल्पित करना एक ही वस्तु को दो नामो से अभिहित करना है। लाइबनित्ज देकार्ट द्वारा ईश्वर के पश्चात् आत्म (चेतन) द्रव्य जो कि गौण हे को स्वीकार करता है। किन्तु वह जड द्रव्य को नही मानता है। उसके अनुसार सरल एव अविभाज्य वस्तुए ही द्रव्य हो सकती है। अत विस्तार को द्रव्य नही माना जा सकता। लाइबनित्ज ने मनोवैज्ञानिक विवेचना से स्पष्ट किया कि आत्मचेतन व्याक्तियो मे ही चेतनता के स्तर सदैव समान नही रहते जैसे सुषुप्ति या मूर्छा की अवस्था मे। अत उनके अनुसार एकक परिवार मे प्रत्यक्ष की श्रेणिया असीमित भिन्न स्तरीय हो सकती है।[२३]

यही कारण है कि लाइबनित्ज ने द्रव्य की इकाइयो के रूप मे एकको की स्थापना की और इन्ही से विश्व की सभी वस्तुओ की रचना की कल्पना की। इनका मूल स्वभाव प्रत्यक्ष और प्रवृत्ति है किन्तु ये सभी एक दूसरे से भिन्न है। यद्यपि सभी मिलकर प्रत्यक्ष के सभी सभव विकास स्तरो की अभिव्यक्त करते है। पर इसका अर्थ यह नही कि यह विकासवादी धारणा है। लाइबनित्ज के मत मे समस्त विश्व एककों से परिपूर्ण है किन्तु प्रत्येक का दृष्टिकोण शेष से

भिन्न है। प्रत्येक मे अपना अलग–अलग परिवर्तन का स्रोत है क्योंकि सभी मे प्रवृत्ति की भिन्न–भिन्न स्थिति होती है। अत वह कहता है कि एकको के लिए परस्पर भिन्न होना आवश्यक है। लाइबनित्ज के शास्त्र मे जन्म मरण अथवा पुनर्जन्म मानने के लिए कोई स्थान नही है। अत एकक ईश्वरीय चमत्कार से उत्पन्न हुए हे और चमत्कार से ही नष्ट हो सकते है।[२४]

लॉक मूल तत्त्व को द्रव्य कहता है जो सत्ता की दृष्टि से स्वतत्र है। द्रव्य सरल प्रत्ययो का योग है। द्रव्य गुण का आधार है बिना द्रव्य के गुण की सत्ता सम्भव नही है। गुणो का ही प्रत्यक्ष होता है द्रव्य का नही। लॉक द्वैतवादी है वह तीन प्रकार के द्रव्य मानता है। प्रथम जड द्रव्य द्वितीय आत्म द्रव्य और तीसरा ईश्वर। आकार विस्तार घनत्व स्थिति गति सख्या आदि जड द्रव्यो के गुण है और सोचना–समझना इच्छा करना विचार आदि आत्म द्रव्य के गुण है। जिस प्रकार शरीर द्रव्य का गुण विस्तार उसी प्रकार आत्म द्रव्य का गुण विचार है। विचार और विस्तार के द्वारा ही उनके आधार का अनुमान होता है। ईश्वर परम पुरुष है। इस प्रकार ईश्वर निरपेक्ष और उसके सापेक्ष जड और चेतन द्रव्य है। लॉक द्रव्य के गुणो को दो प्रकार का मानते है, एक मूल गुण जो द्रव्य के अविच्छेद वास्तविक कर्म है ऐसे गुणो की सत्ता ज्ञाता पर निर्भर नही करती। मूल गुण हमारी बुद्धि मे सवेदना उत्पन्न करती है। जिसके प्रत्ययो की उत्पत्ति होती है। दूसरे उपगुण मे द्रव्य के धर्म नही है इनकी सत्ता ज्ञाता पर निर्भर करती है। उपगुण मूलगुणो के कारण इन्द्रिय सवेदन के रूप मे उत्पन्न होते है।[२५] मूलगुण घनत्व विस्तार आकार गति आदि और उपगुण शब्द स्पर्श रूप आदि है। लेकिन लॉक द्रव्य को अनेक मानता है अत वह कहता है कि द्रव्य के अपने स्वरूप के सबध मे हम कुछ नही जानते है। इस प्रकार लॉक न तो द्रव्य को आस्तित्व को नकारता है और न ही गुणो के हेतु आश्रय की आवश्यकता का ही निषेध करते है। वे निषेध करते है पदार्थ वह भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक के ज्ञान का।[२६]

बर्कले केवल दो प्रकार की सत्ताए मानता है आत्माए जो द्रष्टाए है तथा प्रत्यय जो दृष्ट है। समस्त ज्ञेय जगत प्रत्ययो के अतिरिक्त और कुछ नही है। बर्कले के दर्शन मे भौतिक जगत के लिए कोई स्थान नही है। जिसे हम वस्तुओ से परिपूर्ण रूप मे जानते है तथा जिसकी सत्ता हमारे मन से स्वतत्र है बर्कले प्रत्ययो की स्थिति मनस मे स्वीकार करता है। बर्कल आगे कहते है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वीकर करेगा कि न तो हमारे विचार न भाव न कल्पना द्वारा निर्मित प्रत्यय

ही मन के बिना कोई अस्तित्व रखते है तथा यह भी कम स्पष्ट प्रतीत नही होता कि विभिन्न सवेद अथवा इन्द्रियो द्वारा प्राप्त प्रत्यय चाहे वे किसी प्रकार निश्चित हो अर्थात उनसे कोई भी विषय बनता हो। उस मनस के बिना नही रह सकते जो उनका प्रत्यक्ष करता है कोई भी व्यक्ति सबध वस्तुओँ के विषय मे प्रयुक्त अस्तित्व शब्द का अर्थ अपनी सहानुभूति से ही समझ सकता है। जिस मेज पर मै लिखता हूँ, वह है अर्थात मे उसे देखता हूँ और उसका अनुभव करता हूँ और यदि मै अपने अध्ययन कक्ष के बाहर होता तभी मे यह कहता कि वह है। जिससे मेरा तात्पर्य यह है कि यदि मै अपने अध्ययन कक्ष के भीतर होता तो मै उसका प्रत्यक्ष कर सकता था अथवा यह कि कोई अन्य व्यक्ति उसे वास्तव मे देख रहा है। गध है अर्थात उसे सूघा गया अथवा ध्वनि हुई अर्थात उसे सुना गया। इस प्रकार के अन्य समान कथनो का मे यही सब अर्थ लगाता हूँ। कारण कि वस्तुओ के विषय मे उनके प्रत्यक्ष होने के सन्दर्भ के बाहर जो भी कहा जाता है वह पूर्णयता अबोध प्रतीत होता है । इन वस्तुओ को प्रत्यक्ष करने वाले मनस अथवा चितनशील वस्तुओ की परिधि के बाहर उनका कोई अस्तित्व सभव नही है।[२७] बर्कले अस्तित्व के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहता है कि उसके द्वारा आत्मा अथवा मन के अस्तित्व को भी सिद्ध कर सकते है– अस्तित्व का अर्थ है प्रत्यक्ष किया मन अथवा प्रत्यक्ष करना इस प्रकार सत्ता दृष्टता है का तात्पर्य केवल वर्तमान दृष्टि से ही नही अपितु त्रैकालिक रूप मे ग्रहण करना चाहिए बर्कले प्रत्ययो की व्याख्या करते हुए बताते है कि प्रत्यय निष्क्रिय है वे चित्र के द्वारा स्पष्ट तो होते है, परन्तु स्वय चित्र रूप नही होते। आत्माए तथा प्रत्यय एक दूसरे से नितान्त भिन्न है। जब यह कहा जा सकता हे कि उनका अस्तित्व है। उन्हे जाना जाता है तो इस प्रकार के कथन से उन दोनो की किसी समान प्रकृति का अन्दाजा लगाने की भूल नही करनी चाहिए। अत जब हम कहते है कि प्रत्यय मन मे है तो उसका अर्थ मात्र है कि वे मन पर आश्रित है।[२८]

बर्कले के अनुसार यदि हम सृष्टि के विशाल अवयवो की विस्मयाकरक शोभा सौन्दर्य तथा पूर्णता के साथ छोटे अवयवो की उत्कृष्ट रचना तथा उसके साथ सम्पूर्ण सृष्टि के सतुलन पर ध्यान दे तथा यह जानने का प्रयास करे कि नित्य अनन्त ज्ञान शिव तथा पूर्ण आदि शब्दो से किन गुणो का परिचय प्राप्त होता हे तो हमे उस आत्मा का बोध हो जायेगा जो सर्वोपरि है जिसके द्वारा सभी कुछ सचालित है और जिसमे सबका अस्तित्व है। वस्तुत यह प्रकृति जिसका हम सदैव दर्शन करते है ईश्वरीय माया ही तो है। जिसमे नित्य प्रति हम उसी प्रकार ईश्वर का साक्षात्कार करते रहते है जैसे अन्य आत्माओ की। बर्कले जगत की यथार्थता को स्वीकार करते

हुए कहते है कि सूर्य चन्द्र नदियॉ पर्वत मकान यहॉ तक कि अपने शरीर के विषय मे भी क्या ये सब केवल मात्र किसी मनमौजी की कपोल कल्पनाए तथा भ्रातियॉ है मेरा उत्तर है कि पूर्ण व्यथित तथ्यो के सिद्वात के आधार पर इस प्रकृति के किसी भी एक पदार्थ से वचित नही होते। हम जो कुछ देखते है स्पर्श करते है सुनते है अथवा सुरक्षित रहता है सदा के लिए यथार्थ है। इस जगत मे एक प्राकृतिक अस्तित्व है ओर यथार्थ सत्ताओ तथा कपोल कल्पनाओ के मध्य का भेद अपनी पूरी शक्ति को स्थिर रखता है।[२९] रुथ के अनुसार ईश्वर के मन मे जगत की अवधारणा को जिस प्रकार शकराचार्य मानते हे वह बर्कले के विचारो से भी साम्य रखती है।

काट के अनुसार दोनो प्रकार के विषय अह–प्रत्यय और वस्तु–प्रत्यय आन्तरिक रूप से परस्पर भिन्न है। बल्कि केवल इस रूप मे भी भिन्न है कि ये एक दूसरे के बाहर प्रतीत होते है। सभव है कि प्रातिभासिक उपादान के मूल मे अन्तर्निहित वस्तुसत् भी वैसा परायत्त विषय–निबद्ध नही हो जैसा कि प्रतीत होता है।[३०] ईश्वर मेरे लिए इतर सत्ता नही है। वह मेरे स्वरूप का ही उच्चतम शिखर है । इसके विपरित जगत (इहलोक) मेरा ही इतरत्व है। हम ऐसी पराशक्ति का अभ्युपगम कर सकते है जो यद्यपि प्रकृति से अत्यन्त भिन्न है किन्तु साथ ही उसका कारण भी है और जिसमे परम श्रेमस और परमश्रेमस का समवय सिद्ध है।[३१] काट भौतिक को रवरूपवान् तत्त्व नही मानता है वह इसे केवल प्रतिमासिक मानता है उसके अनुसार भौतिक की स्वायत्त सत्ता कल्पनीय नही है। क्योकि रवरूप सत् केवल शुद्ध चित् ही हो सकता है। काट के मत मे मेरी पत्थर उठाने की इच्छा तथा हाथ और पत्थर का उठना एक ही लोक मे घटित होते है। जबकि देकार्ट दोनो को दो लोको की घटना मानकर असबद्व रूप से घटित करता है और इस प्रकार मै प्राकृतिक घटनाओ का कारण हूँ। क्योकि यहा कारण भूत मै और मेरी इच्छा प्रकृति ही है किन्तु तब ये सभी क्रियाकलाप सकल्प अथवा कर्त्तव्य नही है। कर्त्त के रूप मे मै इस प्रकृति मे कुछ घटित नही कर सकता।[३२] दूसरे शब्दो मे विषयकरण व्यापार मेरे स्वरूप के अन्तगर्त है। केवल विषय कृत उपादान मेरे से परे है। यहॉ साख्य के मत मे प्रतिभास विषयो–मुखता है और इस विषयोन्मुखता का और विषय का जो कि एक ही विषय है पुरुष से कोई सबध नही है। किन्तु काट साख्य के समान अपने सिद्वात के सबध मे निश्चित नही है।

काट आनुभविक जगत को प्रती तिरूप मानते है और मानवीय मस्तिष्क की रचना को इस

आनुभविक जगत का कारण मानते है। उनके अनुसार मनुष्य के लिए अतीन्द्रिय विषयो का ज्ञान प्राप्त करना असभव है क्योकि जो कुछ भी ज्ञान का विषय बनता है। वह देशकाल काल की आकृतियो और बोधग्रहण की श्रेणियो के अन्दर आबद्व ज्ञान प्राप्त होता है। वह उसका केवल आभास मात्र है। पर्याप्त मात्रा मे असद्भासता के कारण हमारी तार्किक क्रियाशीलता हमे प्रतीत रूप से जगत की ओर बलात ठेलती है। जो सदा के लिए हमारे तथा यथार्थसत्ता के मध्य मे अपना स्थान बनाती है। काट के अनुसार यदि तार्किक बुद्दि अपने को यथार्यता कर निर्माण आने वाली समझती है तो सत्य की प्राप्ति के अधिकार से वचित हो जाती है। यह भ्राति की अन्तर्निहित शक्ति के रूप मे परिणत हो जाती हे। देकार्ट के विपरीत जो हमारे अपने अस्तित्व सबघी ज्ञान जो साक्षात तथा सशयरहित है तथा बाह्य विषयो के ज्ञान के बीच भेद करता है जो अनुमानजन्य तथा समस्यापूर्ण है। काट का मत है कि ब्रह्म जगत का ज्ञान भी हमारे लिए उतना ही प्रत्यक्ष तथा निश्चित है जितना कि हमारा आत्मविषयक ज्ञान। काट बर्कल के प्रत्ययवाद के विरुद्ध कहता है कि सरल किन्तु आनुभविक रूप से निर्णीत मेरे अपने अस्तित्व की चेतना यह सिद्ध करती है कि बाह्य पदार्थो का अस्तित्व देश के अन्दर है।[३३] काट अनुभवम्य सब पदार्थो को प्रतीति मात्र कहता है तात्त्विक नही। इस प्रकार राधा कृष्णन् के मत मे काट वस्तुओ के अपने आप मे अनेकत्व मे विश्वास करता है। काट दृश्य ओर यथार्थ स्वरूप मे भेद करते हुए कहते हैं कि दृश्य स्वरूप वह है जो हमारे सामने प्रकट होता है तथा यथार्थ अर्थात स्वलक्षण दृश्य नही है, यह ज्ञान की सीमा है। सत्–असत बुद्धि के विकल्प है जिस प्रकार ये बुद्धि–विकल्प लागू नही होते। उन्हे सत् या असत् नही कह सकते है इस प्रकार ज्ञेयवादी काट बुद्धि की सीमा निर्धारित करते है।[३४]

फिक्टे के तत्त्वविज्ञान के अनुसार विज्ञान आत्मस्वरूप है। यही परमतत्व भी है जो आत्मरूप है। अचित भी चित्रूप ही है। विश्व का परमतत्व विज्ञान है यह विज्ञान ज्ञाता का स्वरूप होने के कारण ज्ञाता से अभिन्न है। आत्मा मे सकल्प–शक्ति है। इसी सकल्प–शक्ति की स्वतत्रता के कारण आत्मा अपने को अनात्म वस्तु के रूप मे प्रकट करती है। अचित् अर्थात अनात्म ज्ञेय रूप है। किन्तु दोनो से भिन्नता होने के बावजूद उनमें विरोधी नही है। क्योंकि चित्–अचित दोनो एक ही परमात्मा की अभिव्यक्तियॉ है।[३५] किन्तु शैलिग परमतत्त्व को प्रकृति

कहता है इसके अनुसार परमतत्त्व की अभिव्यक्ति पहले जगतरूप मे फिर जीव मे होती है। अत चेतन अर्थात ज्ञाता ही अचेतन अर्थात ज्ञेय रूप मे प्रतीत होता है। प्रकृति ही दृश्य आत्मा है और आत्मा अदृश्य प्रकृति है। फिक्टे के विपरीत शैलिग चित–अचित् मे विरोध नही मानता है। अत जड चेतन मे भेद सभव नही है क्योंकि वे पररपर सहायक है।[३६]

विज्ञानवादी हेगेल विशिष्टाद्वैतवादी है। उनका परमतत्त्व परमविज्ञान है। सम्पूर्ण जगत इसी परमविज्ञान की अभिव्यक्ति है। परमविज्ञान की ही एकमात्र सत्ता है। परमतत्व अपने विकास के पूर्व भी है। हेगेल सृष्टि की त्रिआयामी पक्ष विपक्ष सपक्ष को द्वद्वात्मक विकास को द्वारा जगत की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार वह जगत का अन्तर–सत् है जो तत्त्वत है। वह वस्तुनिष्ठ तथा विशिष्ट रूप ग्रहण करता है। तथा स्वय से सम्बन्ध स्थापित करता है। इस रूप मे वह बदलता है तथा स्वय के लिए है परन्तु इस विशेषीकरण में भी तथा अपने अन्य तत्त्व में भी वह स्वय से एकात्म है। वह स्वय मे एव स्वय के लिए तथा स्वत पूर्ण दोनों एक साथ है। वह स्व स्थित प्रकृति अपने मे अव्यक्त है आध्यात्मिक द्रव्य है। उसे अपने लिए तथा अपने ही कारण स्वनिष्ठ होना है। उसे आत्मा का ज्ञान होना चाहिए तथा स्वय के लिए विषय रूप मे उपस्थित होना चाहिए। परन्तु साथ ही उसे उस विषयनिष्ठ रूप का परिहार तथा अतिक्रमण करना है। इस प्रकार अपने अस्तित्व मे उसे उस विषयरूप में अपना बोध है। जिसमे वह स्वय ही प्रतिबिम्बित है। जब इस प्रकार विकसित रूप मे चित स्वय को चित रूप में जान लेता है, तब वह ज्ञान होता है।[३७] यह स्पष्ट है कि सत तथा उसकी गत्यात्मकता की अभिन्नता का बोध होता है तो दूसरी ओर गत्यात्मकता के स्वरूप का प्रकाशन होता हे। यही कारण है कि हेगेल परमतत्व को स्वरूपनिष्ठ सत् कहता है।

हेगेल के अनुसार परमचित् जो समग्र सत का मूर्त साकार अन्तिम तथा परमसत्य है। वह अपने उत्कर्ष के अत में स्वच्छद रूप मे अपना अतिक्रमण कर जाता है तथा अव्यवहित सत् का रूप अपना लेता है। वह उस जगत की सृष्टि के लिये कृतसकल्प होता है। जिसमे अत तक पहुचने के पुर्व ही समस्त विषय विद्यमान है ओर वह सब इस अनुलोम स्थिति के कारण अपने आरम्भ सहित किसी ऐसी अवस्था में परिणित हो जाता है। जो साध्य पर आश्रित है क्योंकि

साध्य ही तो सिद्धात है जहाँ ज्ञान अपनी समग्रता मे एक ऐसा वृत्त होता है। स्वय अपनी आरमिक स्थिति मे प्रत्यावर्तन को जहाँ प्रथम अन्तिम हो तथा अन्तिम प्रथम हो।[३८] हेगेल शेलिग की भाति प्रकृति को दिव्य नही मानता है अपितु उसे परमतत्त्व का ही एक पक्ष मानता है। यहाँ हेगेल प्रकृति की यथार्थता को स्वीकार करने के साथ प्रकृति को परम का ही एक अग मानने के कारण उसकी आगन्तुकता को भी स्वीकार करता है। अत वह प्रकृति के आन्तरिक और बाह्य पक्ष के बीच भेद करता है। एक ओर प्रकृति की अन्त रचना प्रत्यय के प्रतिबिम्बन तथा मौखिक सरचना से अभिन्न है तो दूसरी ओर प्रकृति के बाह्य पक्ष मे आगन्तुक तथा अभौक्तिकता है। लेकिन जो भौतिक है वह वास्तविक है तथा जो अभोक्तिक है वह अवास्तविक है। यदि आगन्तुकता को वास्तविक मानते तो तत्र के भीतर द्वैत उत्पन्न हो जायेगा अत यह अवास्तविक ही है।[३९]

ब्रैडले के मत मे निरपेक्ष परमब्रह्म ईश्वर नही है। मेरे लिए धार्मिक चैतन्य से बाह्य ईश्वर का कुछ अर्थ नही है और वह तात्त्विक रूप से क्रियात्मक है। मेरी दृष्टि मे निरपेक्ष ब्रह्म ईश्वर नही हो सकता। क्योकि अन्त मे निरपेक्ष का सबध किसी के साथ नही रहता तथा इसके सीमित सकल्प के अन्दर कोई क्रियात्मक सबध नही हो सकता हे। जब आप निरपेक्ष सत्ता की अथवा विश्व की पूजा करना प्रारम्भ करते है ओर इसे कार्य का विषय बनाते हैं तो अपने उस क्षण इसका रूपान्तरण कर दिया।[४०] आत्म सगत विचार के दृष्टिकोण से दोनो प्रकार के अनुभव अव्यवहित और व्यवहित तथा वस्तुए और विचार ससृष्टियाँ यहाँ तक कि ईश्वर का प्रत्यय भी यद्यपि ईश्वर कि अनुभूति सत्ता आभास नही है। परन्तु तत्वमीमासी या विचारात्मक दृष्टि से ईश्वर का प्रत्यय आत्मघाती है इसलिए आभास है। सभी कुछ अन्तत आभास है। निरपेक्ष सत ही परम सत् है। पर क्या हम आभासो को नितान्त सतविहीन या निरपेक्ष सत् से पृथक् मान सकते हैं ? स्पष्ट है कि नही, क्योंकि ऐसा मानने से निरपेक्ष सीमित अथवा सारहीन हो जायेगा तथा चिन्तन का आदर्श न रहकर (ब्रैडले के) तत्वज्ञान के लिये निरर्थक हो जायेगा प्रत्येक आभास कि अपनी सत् की मात्रा है। अस्थिर रूप से ही सही उसमें कुछ अन्तर्वस्तु और आत्मसगति है तो इसलिए किसी आभास को हम तुरन्त ओर पुर्णरूप से आभास नही कह सकते।[४१]

ब्रैडले के अनुसार जो कुछ मुझे अस्तित्व मे जगत मे अथवा अपने अन्दर मिलता है वह दर्शाता है कि यह कुछ है और यह इससे अधिक प्रदर्शन नही कर सकता। जो उपस्थित है वह निसन्देह उपस्थित है और उसे मानना ही होगा और उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। किन्तु एक स्वीकृत तत्त्व को मानने और बिना किसी सन्देह के उसकी विषयवस्तु को यथार्थ मान लेने मे बहुत बडा अन्तर है।[४२] अनेको के स्वरूप इसलिए केवल अपने में प्रत्येक अपने आप मे आत्म निर्भर नही है। क्योंकि यदि तुम प्रत्येक मे से उसके परे के प्रत्येक उल्लेख को मिटा दो तो अनेकत्व कही भी नही रहता और शब्द का अर्थ सिवाय इसके और कुछ नही है कि वह पूर्ण इकाई के आधार को अभिव्यक्त करता हे और एकात्मकता से अलग विविधता का अपना कोई अर्थ नही है इसलिए जिन विषयों कि आवश्यकता नही है वे स्वात्म विरोधी है और पृथक्–पृथक् पक्षों में प्रत्येक के अन्दर भेद करने से तुम बच नही सकते। क्योंकि इस प्रकार का मार्ग हमे नये विशेषो के विभाग कि ओर ले जायेगा। जिनमे से प्रत्येक के सम्बन्घ मे वही समस्या उत्पन्न होगी। यदि अनेको मे से प्रत्येक अपने से परे नही हैं तो वे अनेक नही रह सकते और दूसरी ओर जो आत्मनिर्भर नही रह सकता वह विशेष अथवा विलक्षण भी नही कहा जा सकता। इसलिए विशेष जिनमे से प्रत्येक यदि सम्भव हो सके तो विलक्षण हो केवल अमूर्त भाव ही सिद्ध होते है। क्योंकि ये सिद्धात रूप मे स्वात्म विरोधी है। इसलिए अयथार्थ है और अन्ततोगत्वा निरर्थक है।[४३]

यहॉ हाकिग का मत है कि पाश्चात्य दर्शन मे प्राचीन द्वैतवाद मुख्यत विश्व की उस दृष्टि से सम्बन्ध था जिसमे मनुष्य की दोहरी प्रकृति जिसकी एकं प्रकार की प्रतिध्वनि है किन्तु आधुनिक द्वैतवाद मुख्यत मनस और शरीर की समस्या से सम्बन्धित है और विश्व की व्याख्या इस आन्तरिक विभाजन के सन्दर्भ में की जाती है।[४४] हयूम के पश्चात मिल रसेल विटगेन्स्टाइन एयर आदि अनुभववादियों ने वस्तुए अनुभूत गुणो के सग्रह के अलावा और कुछ नही है। इन गुणो के आश्रय स्वरूप किसी स्थायी आधार को मानना प्रमाणों पर आधारित नही है। बल्कि एक कल्पना मात्र है। मिल ने द्रव्य को मात्र एक सम्भावना के रूप में लिया और माना कि यह सवेदनो की एक स्थायी सम्भावना है। समकालीन दर्शन मे तत्त्वमीमासा का निषेध कर दर्शन को तार्किक विश्लेषण तक ही सीमित रखा गया है। इस सम्बन्ध मे विटगेस्टाइन ने माना की

दर्शनशास्त्र विज्ञान के वाक्यो के अर्थों अथवा भाषा की तार्किक व्याख्या है तो ए० पी० एयर के अनुसार दर्शन का कार्य किसी अभौतिक तत्व की परिकल्पना करना नही इसका मुख्य कार्य आलोचनात्मक है। इस प्रकार रसेल एयर आदि ने द्रव्य सम्बन्धी धारणा को भाषा का एक भ्रामक प्रयोग का परिणाम माना है। आधुनिक वैज्ञानिक विश्लेषणो मे गुणो के आधार के रूप मे मुलभूत सत्ता के रूप मे किसी स्थायी अपरिवर्तनशील सत्ता को स्वीकार न करके परिवर्तन गति शक्ति ऊर्जा को विश्व का मूल माना गया है।[४५]

(II) सृष्टि-कारणता सिद्धांत

साख्य दर्शन मे ससार की समस्त वस्तुए मन शरीर इन्द्रिय बुद्धि आदि सीमित तथा सापेक्ष होने के कारण कार्यरूप है जो कतिपय उपादानो के सयोग से उत्पन्न माना गया है। यह जगत कार्यकारणो का प्रवाह है अत इस श्रखला का कोई न कोई मूलकारण अवश्य होना चाहिए। इस मूलकारण को साख्य प्रकृति कहता है जो समस्त कार्यों का कारण है किन्तु स्वय अनादि है। इस प्रकृति को निरपेक्ष और नित्य कहा गया है। प्रकृति के अन्दर सत्त्व रज और तम तीन तत्त्व है जिन्हें गुण कहा गया है। इन तीनो गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। यहॉ गुण का अर्थ धर्म है। त्रैगुण्य प्रकृति मे सत्व वह है जिसके द्वारा कोई भी वस्तु अपने को चैतन्य मे अभिव्यक्त करती है क्योकि ये लक्षण जीवन मात्र मे पाए जाते है इसलिए ये मूल प्रकृति के है।[४६] साख्यसूत्र के अनुसार यदि ईश्वर को सृष्टि का कारण मान ले तो वह या तो किसी स्वार्थवश या दयावश ही सृष्टि कार्य करेगा। लेकिन ईश्वर जिसके सभी स्वार्थ पुर्ण हो चुके है। वह पूर्णत निस्वार्थ है, क्योकि यदि ईश्वर स्वार्थमय उद्देश्यो अथवा इच्छाओं से प्रभावित होता है तो वह स्वतत्र नही है और यदि वह स्वतत्र है तो वह सृष्टि रचना सबधी कार्य मे अपने को लिप्त नही करेगा। इसी प्रकार ईश्वर ससार की रचना को दयावश भी नही करता क्योंकि सृष्टि रचना से पुर्ण आत्माओं को कोई दुख नही था। जिससें छुटकारा पाने की उन्हे आवश्यकता हो। यदि ईश्वर केवल शुभ कामना से ही प्रेरित हो तो उसके द्वारा उत्पन्न सभी प्राणी सुखी होने चाहिए। फिर यदि यह मान ले कि आचरण के भेदो के अनुसार ईश्वर को मनुष्यो के साथ भिन्न–भिन्न व्यवहार करना होता है तब फिर कार्य विधान ही कार्यकारी सिद्धात

होगा ईश्वर नही।

परवर्ती साख्यदार्शनिक भिक्षु वाचरपति नागेशादि आचार्यों ने पुरुष की आवश्यकताओं तथा प्रकृति के कार्यों के इस सामजस्य की व्याख्या करना असभव देखकर प्रकृति के विकास का पथ प्रदर्शक ईश्वर को स्वीकार किया।[४७] आचार्य वाचरपति मिश्र के अनुसार प्रकृति के विकास का सचालन एक सर्वज्ञ आत्मा द्वारा होता है तो आचार्य भिक्षु के मत मे महार्षि कपिल द्वारा ईश्वर का निषेद्ध एक प्रकार का नियामक सिद्वात हे ऐसा आग्रह इसलिए किया गया है कि ईश्वर की ओर अत्यधिक ध्यान लगाना सत्य ओर भेद विधायक ज्ञान के मार्ग मे बाधक होता है। आचार्य भिक्षु आगे कहते है कि निरीश्वरवाद को रवीकार करने का कारण यह था कि दुर्जन–पुरुषो को भरमाया जा सके जिससे कि वे यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने से दूर रहे।[४८] आचार्य भिक्षु प्राय साख्य के विचारो को वेदान्त के सामानान्तर लाने का प्रयास करते है।[४६] एक व्यापक पुरुष की यथार्थता स्वीकार करते हुए कहते हे कि वह सर्वोपरि अर्थात व्यापक सार्वभौम सामुहिक पुरुष है जब कुछ जानने तथा सब कुछ करने की शक्ति रखता है और चुम्बक–पत्थर के समान केवल सान्निध्य के कारण गति देने वाला है।[५०]

साख्य दर्शन प्रकृति परिणामवादी है ओर सत्यकार्यवाद को स्वीकार करने के कारण कार्य को उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण मे निहित मानता हे। उसके अनुसार कार्य करण की वास्तविक अभिव्यक्ति है। प्रकृति पुरुष के सानिध्य मात्र से विक्षुब्ध होती है तत्पश्चात सृष्टि प्रकिया लग जाती है । इस प्रकार पुरुष निमित्त कारण ओर प्रकृति उपादान कारण है।

परिवर्तन हर जगह तथा हर एक क्षण मे हो रहा हे हम एक ही जलधारा मे दो बार पग नही डाल सकते क्योकि कोई भी जल दो क्षण के लिए वही नही रहता और यह भी सत्य है वही व्यक्ति उसी जलधारा मे दो बार पग नही डाल सकता है क्योंकि इसी बीच जैसे जलधारा मे परिवर्तन हो गया उसी प्रकार व्यक्ति मे भी परिवर्तन हो गया। सब वस्तुए तथा अवस्थाए बाह्य तथा आतरिक इस परिवर्तन के नियम के अधीन हे। हेराक्लाइटस आगे भी कहता है कि जिस प्रकार मूलतत्त्व से जगत की सृष्टि होता है उसी प्रकार प्रलय की अवस्था मे जगत अपने मूलतत्त्व

मे विलीन हो जाता है।[५१] इसी परिवर्तन प्रक्रिया मे से मनुष्य का मस्तिष्क पूर्ववर्ती तथा पश्चातवर्ती के सबध द्वारा कार्यकारण नियम की रचना करता है ।

एम्पेडाक्लीज के अनुसार मात्र वस्तुओ का उदभव और विकास होता है मूलतत्त्व अपरिवर्तनीय और निर्जीव है । उसके अन्दर गति नाम की कोई चीज नही है हॉ प्रेम और घृणा नामक दो विरोधी शक्तिया है। जो भौतिक शक्तिया है मूलद्रव्य पृथ्वी जल वायु और अग्नि चार है इन्ही के द्वारा विरोधी शक्तिया की सक्रियता से सृष्टि और प्रलय होता है। जगत का आदि और अन्त नही है सृष्टि क्रम चक्राकार रूप से निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। साख्य दर्शन मे प्रत्यक्ष विषय के रूप इस जगत मे पाच इन्द्रियो के अनुरूप पचतन्मात्राओ के अनुरूप एम्पेजक्लीज की भी मान्यता है।[५२]

प्लेटो के अनुसार सृष्टि क्रम के पूर्व ईश्वर के पास प्रत्यय और द्रव्य नामक दो वस्तुए भी प्रत्ययो के प्रतिबिम्ब को द्रव्य मे अकित करके ईश्वर नाना प्रकार के जगत की रचना करता है । सर्वप्रथम विश्वात्मा महत् की सृष्टि हुई जो देश–काल मे स्थित है। यद्यपि वह निराकार है तदन्तर दिव्यलोक पृथ्वी महाभूतो आदि की सृष्टि होती है। प्लेटो के कारण सिद्धात मे चार कारण– निमित्त कारण उपादान कारण स्वरूप कारण और लक्ष्य कारण है। लक्ष्य कारण के कारण ही प्लेटो का सृष्टिविज्ञान प्रयोजनमूलक है। प्रकृति अथवा प्रकृति की शक्ति को प्लेटो समस्त सन्तति का आश्रय तथा उसकी धात्री कहता है। उनके अनुसार यथार्थवाद की जहॉ तक यथार्थ जगत को सर्वथा देश और काल के ऊपर है। एक ऐसी यथार्थता जो वर्णविहीन है आकृतिरहित तथा र्स्पश के अयोग्य है जो केवल मन के लिए दृश्य है जो आत्मा का स्वामी है।[५३] यहॉ प्लेटो तत्त्वो के अनेकत्व मे विश्वास करता है। प्लेटो के दर्शन मे ईश्वर के अतिरिक्त दो तत्त्व– प्रत्यय और द्रव्य मिलते है। लेकिन प्लेटो की दार्शनिक विवेचना मे ईश्वर निमित्त कारण प्रत्यय स्वरूप कारण और शुभ लक्ष्य कारण एक ही परमतत्त्व के विभिन्न सदर्भो मे किया गया वर्णन मात्र है। अत प्लेटो का कारण सिद्धात द्वैतवाद पर आधारित है जो अरस्तू के दर्शन मे स्पष्ट होता है।

अरस्तू के दर्शन मे कारणता सिद्धात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्लेटो के द्वारा कथित चारो कारण निमित्त उपादान स्वरूप और लक्ष्य कारण की व्यापक विवेचना करता है । उक्त चारों कारणो को द्रव्य– उपादान कारण ओर आकार–निमित्त स्वरूप ओर लक्ष्य कारण इन दो तत्त्वो मे ही सीमित कर देता है। उनके अनुसार ओपचारिक ओर अन्तिम कारण तादात्मयक है । आकारिक कारण किसी वस्तु का सत्व सप्रत्यय या प्रत्यय अन्तिम कारण उस वस्तु के प्रत्यय की वास्तविकता मे परिणित होता है । इसी प्रकार निमित्त कारण और अन्तिम कारण मे भी तादात्म्य है। निमित्त कारण सम्भूति का कारण है और अन्तिम कारण इस सम्भूति का अन्त अर्थात लक्ष्य सभी वस्तुए अपने अन्त को प्राप्त करने का प्रयास करती है। प्रकृति जड है। यद्यपि उसमे ऐसा कोई मरितष्क नही है जिसके अन्त का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप मे हो सके। किन्तु फिर भी प्रकृति अन्त की ओर अग्रसर हो रही है और अन्त ही उसकी गति का कारण है। यहॉ तीनो ही कारण आकार के प्रत्यय मे विलीन हो जाते है। इस प्रकार अन्तत भौतिक अर्थात उपादान कारण रूप द्रव्य ही शेष बचता है।[५४]

अकार के सिद्धात मे आकारिक अन्तिम और निमित्त तीनो कारण विद्यमान है अत ईश्वर ही तीनो कारण है, आकार ही वास्तविकता है। इसलिए विकास के सोपान के शिखर पर स्थित ईश्वर ही एक मात्र पूर्ण रूप से वास्तविक है । ईश्वर समस्त गति और सम्भूति का अन्तिम कारण है यही आदि प्रवर्तक है किन्तु स्वय अपरिवर्तित है। सृष्टि प्रयोजनमूलक है आकार ही अन्त अर्थात उद्देश्य होने के कारण सृष्टि मे पूर्व ही विद्यमान थी परम आकार ही इसका अन्त है किन्तु इसकी प्रप्ति कभी नही हो सकती, अत जगत का अन्त कालातीत है।[५५] अरस्तू के अनुसार समस्त दृश्य जगत निरकार द्रव्य और द्रव्यहीन आकार है दोनों के मध्य स्थित है। जगत की विभिन्न वरतुए निराकार द्रव्य से द्रव्यहीन आकार की ओर क्रमश विकास का परिणाम है। अत सृष्टि–प्रक्रिया अर्थात द्रव्य का आकार के रूप मे परिवर्तन तत्त्वता सोद्देश्य है। प्रकृति मे उद्देश्य है इसका यह अर्थ नही है प्रकृति अपना उद्देश्य जानती है। दूसरी ओर ईश्वर एक अस्तित्वमूलक चेतन प्राणी नही है क्योंकि वह कभी भी प्राप्त नही है। अर्थात प्रकृति की जितनी भी क्रियाए है वे सभी ही बुद्धि द्वारा ही की जाती है। किन्तु अस्तित्वमूलक यह चेतन बुद्धि द्वारा नही। दूसरे शब्दो सहज प्रकृति और गुरुत्वाकर्षण आदि यात्रिक शक्तिया तत्त्वत बुद्धि ही है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि बुद्धि द्वारा उनकी सृष्टि हुइ हे। बल्कि यह है कि वे बुद्धि ही है जो अपने को निम्न रूपो मे अभिव्यक्त कर रही ह। प्रकृति का अजैविक है। अत उसे यह ज्ञात नही है। उसकी क्रियाए बौद्धिक है। अत वह अपने कार्यों को सहज प्रवत्यात्मक ओर यात्रिक ढग से कर रही है जो बुद्धि के निरन्तर रूप हे प्रकृति सृष्टि प्रक्रिया मे आकार सदैव प्रेरणा प्रदान करती है और द्रव्य अवरोध उत्पन्न करता हे। अत जगत मे व्याप्त गति आकार द्वारा द्रव्य को परिवर्तित करने का प्रयास मात्र हे।[५६]

साख्य का पुरुष अरस्तू के ईश्वर से भिन्न नही हे। यद्यपि अरस्तू का मत है कि ससार के प्रारम्भ मे गति देने वाला एक सर्वशक्तिसम्पन ईश्वर हे तो भी ससार के कार्यकलाप मे ईश्वर का कोई अशदान नही है इसको वह नही मानता । अरस्तू के अनुसार ईश्वर विचारमग्न सत्ता जो अपने अन्दर ही सीमित है ओर इसलिए वह न तो विश्व के प्रति किसी प्रकार का कार्य कर सकती है और न उसकी ओर कुछ ध्यान ही दे सकती हे । वह सर्वप्रथम गति देने वाला ईश्वर है जिसके सम्बन्ध मे कहते है कि वह स्वय ऐसा उद्देश्य हे कि जिसकी प्रप्ति के लिए प्राणी मात्र पुरुषार्थ करता है ससार को गति देते है किन्तु ससार उसके कार्य से किसी भी प्रकार से निर्धारित नही होता है यदि वह सासारिक व्यापारो की भिन्नता करे तो उसके ईश्वरीय अस्तित्व की पूर्णता ही नष्ट हो जाती हे । इस प्रकार ईश्वर विशुद्ध विज्ञान रूप है और स्वय अचल है मात्र अपने अस्तित्व से ससार को गति देता है तत्पश्चात वस्तुओ का विकास अपने–अपने स्वभाव के कारण होता है किन्तु साख्य मे पुरुष की प्रकृति से बाह्य कहा गया है किन्तु बुद्धिगम्य नही। अत दोनो का सबध एक रहरय हे।[५७]

सेंट थामस एक्जीनस के कारणता सिद्वात मे ईश्वर को परमकारण माना गया है । उसके अनुसार जगत मे गति और परिणाम है। गति ओर परिणाम का प्रथम कारण न मानने पर अनवस्था दोष हो जाता है। अत आदि करण ईश्वर हे । इसी प्रकार प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ सभाला है अत कोई न कोई अनिवार्य सत सत्ता अवश्य होगी और वह ईश्वर है । प्रत्येक कार्य का कारण उपादान तथा निमित्त दोनो होता है कोई भी उपादान बिना किसी निमित्त कारण की सहायता के किसी कार्य मे पाणित नही होता है। निमित्त कारण श्रृखला का आदि कारण ईश्वर है।[५८]

देकार्ट कारण–कार्य के सबध मे परम्परावादी ह। इनके अनुसार ईश्वर ही जड ओर चेतन के बीच सबध का आधार है। प्रत्येक कार्य–कारण श्रृखला का चाहे वह जड वस्तुओ के बीच मे हो अथवा चेतन वस्तुओ के बीच अथवा उन दोनो के मध्य हो इनका आकार ईश्वर है केवल ईश्वर मे ही कार्यात्मक शक्ति है देकार्ट के अनुसार कार्य मे ऐसा कुछ भी नही हो सकता जो कारण मे पहले से ही विद्यमान हो। यह निगमानात्मक शेली की पूर्व मान्यता पर आधारित है। जिसके अनुसार निष्कर्ष अपने आकार वाक्य मे विद्यमान होता है। इस प्रकार कार्य पूरी तरह से अपने कारण पर निर्भर होता है किन्तु समय के सम्बन्ध मे कार्य का पूर्ववर्ती होना अनिवार्य नही है। अत देकार्ट कार्य–कारण मे अनुवर्ती पूर्ववर्ती का सबध नही स्वीकार करते। यहॉ वे कार्यसिद्धात मे काल के प्रत्येक खण्ड को एक दूसरे को पूर्णत भिन्न तथा पृथक मानते है। यही कारण है कि देकार्ट को भौतिक घटनाओ की व्याख्या के लिए सहयोगवादी मत को स्वीकार करना पडता है।[५६]

स्पिनोज भी देकार्ट के कारण–कार्य के निगमनात्मक सबध को स्वीकार करते है। द्रव्य या ईश्वर सर्वथा निरपेक्ष है यह जगत का स्वतत्र कारण हे। द्रव्य को स्वतत्र कारण के रूप नेचर नेचूरस कहा गया है। ईश्वर अपरिवर्तनशील होते हुए भी जगत का कारण है । ईश्वर ब्रह्म नही अर्न्तयामी कारण है। ईश्वर मे बुद्धि ओर इच्छा का द्वैत नही है। ईश्वर द्वारा अच्छी या बुरी सृष्टि मानना ईश्वर की सम्पूर्णता का परिचायक हे न कि उसकी पूर्णता का । यही कारण है कि ईश्वर विकल्प प्रस्तुत नही करता । ईश्वर मे इच्छा स्वाज्य न होने का अर्थ है सृष्टि प्रयोजनात्मक नही है । क्योकि प्रयोजनवाद को स्वीकार करने पर प्रयोजन अर्थात शुभ ईश्वर से भी ऊपर माना जायेगा । यदि वह क्रियाशील हे तो अपने स्वभाव के कारण यही उसकी स्वतत्रता है। ईश्वर पूर्ण और एकमात्र कारण हे। अत जिस प्रकार ईश्वर की सत्ता किसी उद्देश्य से नही होती उसी प्रकार ईश्वर का कार्य भी किसी प्रयोजन से नही होता।[६०]

लाइबनित्स का कारणता सिद्धात पर्याप्त कारण का नियम है जिसके अनुसार किसी वस्तु की सत्ता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त कारण का होना आवश्यक है। विश्व कारण–कार्य की श्रखला है किन्तु आदि कारण स्वयभू ओर अकारण हे । अनिवार्य शक्ति अविरोध के नियम

और सम्भाव्य शक्ति पर्याप्त कारणता सिद्वात पर आधारित हे ईश्वर ही अनेक सम्भावनाओ मे से ही किसी एक को सभव बनाता है।[६१] प्रकृति का अचेतन किन्तु अन्तस्थ हेतु विज्ञान जो लाइबनित्ज के पूर्व स्थापित समाज्सय के सिद्धात का स्मरण करता है। यह एक दुरूह स्थित है कि कैसे प्रकृति का विकास पुरुषो के आवश्यकता के अनूकुल हो जाता है दोनो को एक दूसरे से नितात विलक्षण मानना कठिन है। वास्तव मे पुरुष भूलवश प्रकृति के साथ सयोग कर लेता है और उसके प्रतिकार का उपाय इस समस्या ओर अधिक बढा देता है । ऐसा मत है कि बुराई उसका पूर्ण उपभोग करके दूर करना चाहिए। अत पुरुष को मोक्ष तभी प्राप्त होगा जब इसे प्रकृति के कार्यकलाप से सर्वथा विरक्ति हो जायेगी।[६२]

लॉक के कार्य–कारण नियम मे शक्ति की धारणा मिलती है जिनमे कुछ विशेष प्रकार के सबध का समावेश है। यहॉ शक्ति के दो प्रकार है– सक्रिय तथा निष्क्रय। सक्रिय शक्ति ही कारणात्मक क्रिया है लॉक के अनुसार एव कार्यणात्मक क्रिया का स्वरूप अत अनुभुति द्वारा जाना जा सकता है। लेकिन बाह्य विश्व के सबध मे लॉक अज्ञेयवादी है । अत बर्हिमुखी कारण सबधो के विषय मे जितने अनभिज्ञ है उतने ही अज्ञान हम पदार्थों के सार्वभौमिक सत्य के विषय मे। लेकिन लॉक यह दावा करता हैं कि प्रकृति विज्ञान निश्चित ज्ञान नही देता वह सम्भावित ही होता है। वह कहता है कि प्रत्येक वस्तु का जिसका प्रारम्भ होता है कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए और हमारा सकल्प व्यापार कारण प्रक्रिया का अनुभव का श्रोत है।[६३]

बर्कले कारणता सिद्धात के अर्न्तगत कहता है कि प्रत्ययो का कारण आत्मा है। उत्पन्न करने की शक्ति अथवा वास्तविक कारणतत्त्व केवल आत्मा मे ही है । आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत् सक्रिय नही होता। यहॉ प्रश्न उठता है कि यदि वस्तुए प्रत्यय है तथा प्रत्यय होने के कारण आत्मा के द्वारा सृष्ट है तो ऐसा नही कि ससार उस के विविध प्रपच मेरे मन की परिधि मे सीमित है। किन्तु बर्कले दृश्य या प्रत्यय के अस्तित्व के सबध मे कहता है कि यदि मै उसका प्रत्यक्ष नही करता हूँ तो अन्य प्रत्यक्ष करता है ओर यदि कोई भी नही करता तो परमात्मा उसका प्रत्यक्ष करता है।[६४] बर्कले के कारणता सम्बन्धी सिद्धात मे एक विशिष्टता है जिसके अनुसार कारणत्व की क्षमता केवल सकल्प युक्त आत्मा मे ही है। किन्तु ससीम्म आत्माए भी परमात्मा

की सृष्टि है। अत स्पष्ट है कि कारण केवल एक ही है और वह स्वय परमात्मा है उसके अतिरिक्त अन्य सभी कार्य मात्र है । बर्कले मानते हे कि ऐसा कहना ठीक नही है कि अग्नि ताप उत्पन्न करती है बल्कि यह कहना ठीक है कि ताप अग्नि का चिन्ह है और यही कहना तर्क सगत और वैज्ञानिक भी है । यहॉ बर्कले कारण शब्द का प्रयोग निमित्त अर्थात सोदेश्य कारण के रूप मे करता है जोकि उसकी धार्मिक आस्था के अनुरूप हे अन्यथा इस धारणा के परिणति ह्यूम के सदेहवाद मे ही होगी।[६५]

सन्देहवादी ह्यूम ने कारण–सिद्धात को खण्डित कर विज्ञान जगत को हिला दिया था क्योंकि वे इसे सश्लेषणात्मक अवधारणा मानते थे। जिसके अनुसार कार्य अभिव्यक्त होने के पूर्व अपने कारण मे विद्यमान नही रहता। अत कार्य एक नूतन अभिव्यक्ति है। किन्तु काट ने कारण–कार्य नियम की स्थापना करते हुए इसे विश्लेषणात्मक माना ।

प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। सृष्टि भी एक कार्य है जिसका कारण ईश्वर माना जाता है। पर यह स्वय स्वयभू ओर अकारण है। लेकिन काट ऐसी कारण सबधी मान्यता का खण्डन करता हुआ कहता है कि कारण–कार्य बुद्धि विकल्प है यह एक व्यावहारिक मान्यता है । इसीलिए यह पारमार्थिक विषयो पर लागू नही होता है। सृष्टि के सबध मे काट का मत है कि सृष्टि कल्पना मात्र अर्थात प्रत्यय मात्र हे। प्रत्ययो को जब वस्तु मान लेते है तभी विरोधाभास उत्पन्न होते है। जिसे काट सृष्टि विज्ञान सबधी विरोध कहता है जैसे यदि यह मान ले कि जगत की उत्पत्ति स्वतत्र कारण से हुई है तो अनवस्था दोष से बचने के लिए हम आदि कारण अर्थात् स्वतत्र कारण को स्वीकार करते हे किन्तु ऐसा स्वतत्र कारण स्वय अकारण होगा। परन्तु अकारण कोई घटना नही होती क्योंकि ऐसी वस्तु अनुभवातीत होगी जो हमारे अनुभव का विषय नही होगी और तब हम उन पर बुद्धि विकल्पो को लागू नही कर सकते है।[६६]

काट कारण कार्य सिद्धात को दोषपूर्ण मानते है। उनके अनुसार एक अतीद्रिय सत्ता को व्यावहारिक और ऐन्द्रिक जगत का कारण नही कहा जा सकता है । अत काट कहते है कि आपातिक जगत की सत्ता को आधार पर हम अनिवार्य अतीन्द्रिय सत्ता को नही प्राप्त कर सकते। यद्यपि आपातिक घटनाए अनिवार्य सत्ता की ओर सकेत करती है। किन्तु इससे यह सिद्ध नही

होता कि अनिवार्य सत्ता की वास्तविकता है। अनिवार्य सत्ता केवल प्रत्यय मात्र है अत प्रत्यय के आधार पर वास्तविकता स्थापित नही हो सकती। दूसरे एक पूर्ण और निरपेक्ष सत्ता किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नही करती क्योकि ऐसा न मानने पर कारण–सिद्धात उभयतो पास को प्राप्त होता है। इस प्रकार काट कारणता सिद्धात के आधार पर जगत के मूलतत्त्व को सिद्ध करने का विरोध करते है।[६७]

साख्य और काट दोनो ही मे इस प्रपचमय जगत का निर्माण अतीनद्रिय विषयी अर्थात पुरुषो तथा विषय या प्रकृति के सहयोग से हुआ हे। दोनो ही परलोक मे आत्माओ की स्वाध ीनता को रवीकार करते है और प्रकृति के अस्तित्व को भी । क्योंकि विषयी अपनी निष्क्रियता के कारण अपनी सवेदनाओ को उत्पन्न नही कर सकता। दोनो के अनुसार हम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर सकते है।[६८] फिक्टे कारणता पद का प्रयोग काट से सर्वथा भिन्न अर्थ मे करता है फिक्टे के सबध मे कारणता पद स्वतत्र क्रिया सामर्थ्य या परिवर्तन घटित करने की योग्यता का वाचक है। जबकि काट मे यह कारण्ता से अतिक्रामी है और इसी से स्वतत्र क्योंकि कारणता काट मे प्रातिभसिक जगत की एक विकल्पमूलक वर्गणा है । किन्तु यहॉ यह भी उल्लेखनीय है कि काट क्रिटिक आय प्रैक्टीकल रीजन मे कारणता का प्रयोग इस अर्थ मे भी किया है इसे वह काजा नाउमिना कहता है।[६९]

हेगेल परम्परागत कार्य–करण नियम की आलोचना करता है। उसके अनुसार कारण–सिद्धात के अर्न्तगत ससार की कोई भी घटना अकरण नही घटती है। किन्तु हेगेल कहता है कि ऐसा मानने पर परमकारण जो अकारण है की धारणा ठीक नही होगी । अत अनवस्था दोष बचने के लिए विश्व की व्याख्या करने के लिए किसी एक तत्त्व को परमकारण मानना तर्कसगत नही है । हेगेल के अनुसार परमतत्त्व का तार्किक स्वरूप सभव है। विश्व का परमतत्त्व कोई कारण नही वरन तर्क है। इसका विश्व कार्य नही अपितु निषकर्ष है। हेगेल परमतत्व और विश्व मे आधारवाक्य और निष्कर्ष का सबध मानते है। अत दोनो मे तार्किक अनिवार्यता का सबध है। परमतत्त्व वस्तु नही विज्ञान हे । वरतुए भौतिक और अभौतिक दोनो है। यह दैशिक–कालिक सत्ता होने से अनित्य ओर परिणामी है। जबकि विज्ञान देश–काल से

परे नित्य और अपरिणामी विज्ञान विशेष नही सामानय हे। व्यक्ति मरता है जाति तो नित्य है। यह विज्ञान ही विश्व के सर्वप्रथम सिद्धात है । विज्ञान स्वत साध्य है अत हेगेल का विज्ञान निरपेक्ष विज्ञान है किन्तु हेगेल के विज्ञान वस्तुओ से पृथक नही है। हेगेल विज्ञान को वस्तु मे अनुस्यूति मानता है क्योंकि विज्ञान वस्तु के धर्म हे। दूसरे शब्दो मे विज्ञान मूर्त सामान्य है अर्थात् समान्य–विशिष्ट–विशेष है । यही हेगेल का परमतत्त्व है।[७०]

हेगेल सृष्टि वर्णन करते हुए मानते है कि विज्ञान जो कि अमूर्त है। किन्तु वे अपने आप मे अमूर्त रूप मे नही रह पाते। अमूर्त मे मूर्त अन्तनिहित हे और अमूर्त सृष्टि प्रकिया द्वारा अपने मूर्त रूप को अभिव्यक्त करता है । यही प्रकृति के रूप मे अभिव्यक्त होता है इस प्रकार आतरिक विज्ञान का बाह्य रूप है । प्रकृति वर्णन मे हेगेल देश को पक्ष मानते हुए ससार से सभी पदार्थों को इस अनत दिक के परिणाम दिक रिक्त ओर अमूर्त है। शुद्ध विज्ञान के समान इसका कोई स्वरूप नही है। दिक सृष्टि प्रकिया के निम्नतर स्तर पर ओर आत्म जगत उच्चतम् स्तर पर है । प्रकृति की सभी वस्तुए इन दोनो के बीच हे। हेगेल के अनुसार सतत विकास निम्न से उच्च की ओर अग्रसर होती है। सम्पूर्ण जगत चेतना का विकास है।[७१]

हेगेल का विश्व विकासात्मक रूप मे विद्यमान है । निरपेक्ष विज्ञान अर्थात ईश्वर द्वारा विश्व की रचना होती है । ईश्वर और विश्व अभियोज्य सबध है अर्थात् विश्व ईश्वर का ही रूप है । विश्व की विशिष्ट वस्तुओ मे इस परमतत्त्व के विकास का स्तर अवश्य भिन्न है । यथा भौतिक वस्तुओ पेड पौधो पशु पक्षियो तथा मनुष्यो मे परमतत्त्व का क्रमश उत्तरोत्तर अधिक विकास हुआ । अत यह बिना ईश्वर के विश्व सम्भव नही तो बिना विश्व के ईश्वर भी सम्भव नही है। सामान्य प्रत्यय अर्थात् मूल धारणाए (कटेगरीज) ही वस्तु है। कार्य कारण की मूल धारणा ही है। हेगेल कहता है कि चित ओर सत अर्थात बोध और सत्ता दोनो एक ही है। अब हेगेल के विज्ञान विचारनिष्ठ मूल धारणाए हे जो तार्किक सत्ता कहलाती है। यद्यपि यह प्रयोजनमूलक रचना है।[७२]

ब्रैडले के अनुसार कार्य–कारण भाव वस्तुत समय के अन्दर हो रही परिवर्तन सम्बन्धी

निरन्तर प्रक्रिया की पुनर्रचना है। पृथक अवस्थाओ का परस्पर मिलना और प्रक्रिया का प्रारम्भ इनके बीच कही कोई विराम या अन्तरावकाश नही है। कारण और कार्य मे काल को लेकर भेद नही किया जाता उसमे काल सम्बन्धी भेद केवल कल्पनात्मक है। क्योंकि यदि कारण सेकेण्ड के एक अश भर भी रहा तो अनन्त काल तक भी रह सकता है। कार्य–कारण भाव का सूत्र एक कल्पनात्मक एकता है। जिसकी खोज और जिसका निर्माण हम परिवर्तनो से निरन्तर क्रम मे करते है। किन्तु उस क्रम के प्रवाह मे इसकी कोई वास्तविक सत्ता नही है। पर यह पहले व्याप्तियों के जगत मे रहता है।[७३] इसी सम्बन्ध मे व्हाइटहेड का मत है कि घटनाओं के विषय मे हमे ऐसा विचार नही करना चाहिए कि वे एक प्रस्तुत समय मे एक प्रस्तुत देश मे घटती है और प्रस्तुत स्थायी सामग्री मे हुये परिवर्तनों वाली है। काल–देश और सामग्री घटनाओं के सहायक है। सापेक्षता की पुरानी प्राकल्पना के आधार पर काल और देश सामग्री के मध्यगत सम्बन्ध है। हमारी प्रकल्पना के आधार पर वे घटनाओ के मध्यगत सम्बन्ध है। अत ब्रैडले के अनुसार परमकारण अपने मूलस्वरूप मे सम्बन्ध निरपेक्ष निर्गुण और निर्वैयक्तिक सत्ता है। हमे जिस जगत का ज्ञान होता है वह सत नही आभास मात्र है। चूँकि ब्रैडले विज्ञानवादी है। अत उनके मत मे जगत भौतिक नही आध्यात्मिक है।[७४]

बर्गसा के अनुसार सृजन का मूल आधार प्राणतत्त्व जिसे बर्गसा ईश्वर भी कहता है। जिसमे कोई भी पूर्वनिर्मित वस्तुए विद्यमान नही है। वह अविछिन्न जीवन प्रक्रिया और स्वातत्र्य है। सृष्टि कोई रहस्य नही है। वस्तुत जड और चेतन दोनों का स्रोत एक ही है। यद्यपि हमें जगत मे दो परस्पर विरोधी शक्तिया दिखाई देती है, एक है एकीकरण और सगठन और दूसरा है विभेदीकरण और विघटन । ससार में सबकुछ गतिशील प्रवाहमान और परिवर्तनशील है। यहॉ बर्गसा का मत है कि गति और परिवर्तन की समुचित व्याख्या उसी तत्त्व के द्वारा की जा सकती है। जो नित्य होने के साथ सतत् परिवर्तनशील हो और ऐसा तत्त्व है प्राणतत्त्व। सृष्टि की निष्पत्ति प्राणतत्व के द्वारा ही होती है जो स्वतत्र रूप मे स्वय को विभिन्न दिशाओ के विविध प्रकार से अभिव्यक्त कर सतुलन और समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है जैसे की एक ही कोशाणु विभाजित होकर अनेक कोशिकाओं को उत्पन्न करता है। अत सृष्टि के भीतर समन्वय इसलिए नही होता कि उसके भीतर सभी वस्तुए किसी एक ही लक्ष्य की ओर सचेष्ट

प्रक्रिया करती है। बल्कि समन्वय का कारण है कि सभी वस्तुए एक ही प्राणशक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ है।[७५]

व्हाइटहेड के कारणता सिद्धात मे मूलकारण ईश्वर वैचारिक कोटि व्यवस्था का ही एक अग है। जिसका सत् तथा जगत प्रक्रिया की व्याख्या मे अपना अनिवार्य स्थान है। सत् का मूलस्वरूप सृजनात्मक है। सत प्रवाह की इकाई वास्तविक तत्त्व है। जगत प्रक्रिया वास्तविक तत्त्व तथा शाश्वत वस्तु के सहयोग से चलती है। इस प्रकार सृष्टि प्रकिया ईश्वरीय अनुभव केन्द्र में चलती है। हर क्षण की सृष्टि ईश्वरीय अनुभव का अग है। जहाँ पर उसे नई सभावना का नई शाश्वत वस्तु का रूप मिलता जो दूसरे अग की सृष्टि में व्यक्त होती है। इस तरह ईश्वर भी सृष्टि प्रक्रिया का अग है। अत जैसे हर क्षण मे नये-नये रूप लेते हुए जगत प्रक्रिया प्रवाहित होता हुआ अग्रसर है। ईश्वर का स्वरूप कोई पूर्णतया निश्चित स्वरूप नही है वह भी सृजनात्मकता का अग है। व्हाइटहेड के मत मे जगत-सम्बन्धी तात्त्विक विचार आगिक दर्शन पद्धति का है जगत हर क्षण सृष्टि की निरन्तर प्रवाह है। इस प्रवाह का अनिवार्य अग सृष्टिकर्ता ईश्वर भी है।[७६]

आधुनिक वैज्ञानिक न्यूटन ने जगत को प्राकृतिक नियमो के द्वारा सचालित माना है। उनके अनुसार ईश्वर एक बार सृष्टि की रचना कर उसे जो प्रक्रिया प्रदान करता है। उसमे वह बार-बार हस्तक्षेप नही करता इस प्रकार न्यूटन का विचार तटस्थेश्वरवादी विचार का पोषक है लेकिन जॉन हिक[७७] के मत मे विश्व-रचना-सम्बन्धी सिद्धात में रचना का जो अर्थ है वह सामान्यत पहले से विद्यमान सामग्री को नये रूप प्रदान करना मात्र नही है। अपितु इसका तात्पर्य है कि अभावसे रचना करना अर्थात अपनी इच्छानुसार सृष्टि को तब अस्तित्व में लाना जब केवल ईश्वर की सत्ता थी परन्तु जार्ज गैलोवे[७८] इससे सहमत नही है। अपितु उसके अनुसार अभाव से सृष्टि-सम्बन्धी विचार मे व्याधात निहित है । वस्तुत जब हम रचना करने की बात करते है तो हमारे लिये मानवीय क्रिया से प्राप्त उदाहरणो और अनुभवो को छोडना बिल्कुल असम्भव है। किन्तु यह भी सच है कि इनके द्वारा इस बात की समुचित व्याख्या नही हो सकती कि स्वय इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई है ?

(III) सृष्टि-विकासवाद

साख्य दर्शन के विकासवाद मे दो तत्त्व माने गये है। एक प्रकृति जिसका सम्पूर्ण विश्व परिणाम है ओर दूसरा पुरुष जिसका विश्व प्रक्रिया के विकास मे कोई महत्वपूर्ण योगदान नही है। पुरुष की सन्निधि मात्र से प्रकृति चेतन की भाति प्रवृत्त होने लगती है तब प्रकृति के तीनो गुण तीन भिन्न प्रकार से क्रियाशील होते है। इसी विजातीय परिणाम का फल सृष्टि रचना है। साख्य को गुण–गुणी का भेद मान्य नही है। गुणी अथवा द्रव्य के एक विशेष प्रकार से क्रियाशील होने को ही गुण कहा जाता है।[७९] इस प्रकार गुण साम्य के कारण जब वह अव्यक्त होती है तब प्रलय होती है। गुण वैषम्य के कारण जब वह व्यक्त होती है तब उससे इस विविध विश्व का विकास होता है। साख्य दर्शन के अनुसार विकास प्रकिया मे साम्यावस्था मे वैषम्यावस्था अविशेष भावों से विशेष भावों का और अयुत्सिद्ध अव्यवयों समूहों से अयुत्सिद्ध अवयवों समूहों का उदय होता है।[८०] साख्य दर्शन के विकासवाद में दो बाते महत्वपूर्ण है पहली की साख्य देश–काल आदि पदार्थों की पृथक् या रवतत्र सत्ता नही मानता अपितु ये सभी प्रकृति के ही परिणाम है। दूसरा की भोतिक जगत की व्यष्टियॉ ही नही मनोवैज्ञानिक अर्थात मानसिक जगत की व्यष्टियॉ भी प्रकृति के ही दूरवर्ती परिणाम है।

रपष्ट है कि साख्य दर्शन प्रकृति की निरन्तर परिणमनशीलता को स्वीकार करता है। जो रजस गुण की रवाभावत गतिमयता के कारण है।[८१] साख्य में किसी अपूर्व की कल्पना नही की गई है वह किसी ईश्वर को भी नही मानता विश्व–प्रक्रिया अपने मे पूर्ण और निरपेक्ष है तथा उसमे घटित होने वाली प्रत्येक घटना का कारण उसके अतीत मे है। अत यहॉ यात्रिकवाद का आभारा होता है किन्तु ऐरा नही है। क्योकि साख्य मे प्रकृति का विकास पुरुष की मुक्ति के लिए होता है। अत साख्य का सृष्टि–विकासवाद कैवल्यार्थम् होने से सप्रयोजन है।[८२]

साख्य जगत के सर्वोच्च तत्त्व का विचार एक ऐसे एकत्व के रूप मे करता है जिसका तत्त्वो के साथ यथार्थ विरोध है। एक अमूर्त इकाई को या तो निरतर क्रियाशील या निरन्तर निष्क्रिय होना चाहिए। प्रकृति स्वरूपत अस्थिर नही है। अत इसे अनिवार्य रूप से भिन्न–भिन्न

होने की आवश्यकता नही है। प्रकृति जो अपने अन्दर सब वस्तुओं की सम्भावनाओ को धारण करती है । विचार के उपकरणों के रूप में और विचार के विषयो के रूप मे विकसित होती रहती है। यहॉ वरतुए सदा उत्पन्न की जाती है किन्तु नये रूप मे उत्पन्न नही होती उत्पत्ति केवल अभिव्यक्ति मात्र है और विनाश तिरोभाव मात्र है। उक्त दोनों प्रतिक्रियाकारी शक्तियो की अनुपस्थिति तथा उपस्थिति पर निर्भर करते है। बाधाओ के हटने पर ही वस्तुए अभिव्यक्त होती है। जो अभिव्यक्त होता है वह सत्त्व का रूप है। अभिव्यक्ति का कारण रजोगुण है तमस बाधा है। जो सत्त्व की अभिव्यक्ति के मार्ग मे उपस्थित होती है। जिस पर विजय प्राप्त करनी है।[८३]

पूर्व सुकरातवादी ग्रीक दर्शन मे एक ऐसी विचारधारा मिलती है जिसमे नित्य परिणामिकता (बिकमिग) को नित्य सत्ता (बिइग) से उच्च स्थान दिया गया है इस परम्परा का प्रमुख दर्शन हेराक्लाइटस था। उसने पारमेनिडीज की एक अनादि अपरिवर्तनशील सत्ता की धारणा और जीनो द्वारा गति और गत्यात्मकता के विरुद्ध की गई आलोचनाओं का प्रबल विरोध किया था। इसी को लम्बे अन्तराल के बाद बर्गसा ने जिस परिवर्तन की धारणा को स्वीकार कर एक नई दिशा दी ।[८४]

अरस्तू के अनुसार प्रत्येक वस्तु का एक एक रवाभाविक पूर्ण या विकसित आकार अथवा रूप है और प्रत्येक वस्तु उसी आकार को प्राप्त करने की क्रिया मे लगी हुई है। विश्व मे समस्त पदार्थ अपने–अपने आदर्श आकारों की ओर विकसित होती है। प्लेटो के विरूद्ध अरस्तु का मत है कि भौतिक द्रव्य अर्थात उपादान और उसका आकार अलग–अलग नही है। आकार वस्तु के उपादान मे रहता है और स्वय वस्तु इस आकार को अभिव्यक्त करने अथवा प्राप्त करने का लगातार प्रयास करता है। जिसे हम वस्तु या पदार्थ कहते है वह बीजभाव से वास्तविकता या वास्तविक भाव की ओर सक्राति या सक्रमण–क्रिया है। बीज भाव से वास्तविकता की ओर सक्रमण के लिए एक ऐसे पदार्थ की सहायता अपेक्षित होती है जो स्वय वास्तविकता रूप है। वास्तविकता की सहायता से ही बीज भाव वास्तविक बनता है। अरस्तू के दर्शन मे विकास का अर्थ उन्नति या प्रगति नही है। उराका अर्थ केवल प्रकिया विशेष का पूरा होना है। विश्व प्रक्रिया अपने को पूर्ण करने मे अवश्य लगी हुई है किन्तु जिस पूर्णता की प्राप्ति उसका लक्ष्य है उसे

एक उच्चतर दशा नही कह राकते। इस प्रकार अरस्तू का विकासवाद सप्रयोजन है।[८५] यहाँ अरस्तू के विकास मे भी साख्य के विकास की भाति विकास की प्रक्रिया में सब कुछ पूर्व से निहित है।

डॉ० सील[८६] के मत में प्रत्येक घटना मे तीन प्रकार के मूलतत्त्व है। बुद्धिगम्य सार शक्ति और घनत्व। निकट सयोग में ये वरतुओं के अन्दर अनिवार्य रचनात्मक अवयवों के रूप में प्रवेश करते है। किसी वस्तु का सार वह है। जिस रूप में वह अपने को बुद्धि के समक्ष अभिव्यक्त करती है और इस प्रकार की अभिव्यक्ति के बिना चेतनामय जगत में कुछ भी नही रह सकता किन्तु यह सारतत्व तीन लक्षणो मे से केवल एक है। यह न तो पुज को और न गुरूत्व को ध ारण करता है। न यह बाधा ही देता हे ओर न कोई कार्य ही करता हे। उसके बाद तमस का यह अश है जो पुज निष्क्रियता भौतिक सामग्री है। जो गति के मार्ग में तथा चेतनामय चितन के भी मार्ग मे बाधा देता है। किन्तु बुद्धि सामग्री तथा भौतिक सामग्री कोई कार्य नही कर सकती और अपने आप मे रचनात्मक क्रियाशीलता से रहित है। समस्त कार्य रजोगुण से होता हे जो शार्क का अश है और जो भौतिक द्रव्य की बाधा पर विजय प्राप्त करके बुद्धि को भी शक्ति प्रदान करता है जिसकी आवश्यकता इसे अपने चेतनामय नियमन और अनुकूलन के लिए होती है।

हेगेल के शब्दों म प्रकृति निषेधपरक अनिष्टसूचक शक्ति है जो ससार को अस्तित्व मे लाती है। यदि हम ऐसी खाई को लेकर चले जो भरी नही जा सकती तो ससार का एकत्व कभी बुद्धिगम्म न होगा। जैसे ही निरपेक्ष आत्मा एक प्रमेय के विषय अभिज्ञ होती है वह सर्वोपारि प्रमाता बन जाती है।[८७] प्रकृति को किसी अर्थ मे न तो एकत्व और न सामजस्य ही माना जा सकता है। यह मूर्त रूप सामान्य नही है जो भिन्न–भिन्न सत्ताओ के बधन मे एकत्व रखता है अथवा सत का नग्न एकत्व भी नही है जो न सबका लक्षण है। यह गुणों की एक क्षुब्धावस्था है प्रकृति के क्षेत्र मे व्यवस्था लाने तथा उसे सार्थक करने के लिए पुरुष की आवश्यकता है। प्रकृति के तीनो गुणों के धारण करने रो ही जगत का आत्मविरोधी स्वरूप प्रकट होता है क्योकि पूर्वता अथवा यर्थाथता वह है कि जिसमे तीनो गुणों के विरोध का दमन कर दिया गया है अथवा

उसका अतिक्रमण कर लिया गया है। किंतु प्रकृति का स्वरूप ऐसा नही है इसलिए यथार्थ नही है प्रकृति की प्रक्रिया की अन्तहीनता ही इसे अयथार्थ ओर सापेक्ष बना देती है।[८८]

फिक्टे के सिद्धात मे व्यावहारिक पक्ष विषयिता के परम सिद्धात के रूप मे परिणत हुआ। शेलिग व्यावहारिक तथा रसात्मक के महत्व को स्वीकार करते हुए भी फिक्टे के विरुद्ध प्रकृति को एक ऐसे रूप में ग्रहण करता है जिससे आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। हेगेल इन सभी पक्षो को ग्रहण करता है और परम के एक ऐसे दर्शन को प्रस्तुत करता है जिसमे विषयीनिस्ठ तथा विषयनिष्ठ सवेदन तथा बुद्धि सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक सभी को परस्पर विरोधी होते हुए भी अनिवार्य रूप में लिया गया है जो सम्पूर्ण की गत्यात्मकता मूर्तता तथा उसकी प्राणवत्ता में योगदान करते है ।[८९] फिक्टे के सिद्धात सक्रियता के रूप मे अह तथा अनाह के बीच जो द्वैत उत्पन होता है । वह अपरिहार्य रहता है तथा परमहस का स्वरूप अन्तत अनुभव के परे रहता है।[९०]

शैलिग के मत मे सृष्टि का प्रारम्भ एक के द्वारा आत्मजनन की कामना अर्थात एकोऽह बहुस्याम् से होता है अथवा इस प्रकार कह सकते हैं कि अतल अर्थात आधार आदि असत् में प्रकट वासना के स्पन्दन होता है। दूसरा प्रारम्भ प्रेम के सकल्प से होता है जिसके द्वारा प्रकृति मे शब्द ब्रह्म (वर्ड) का विस्फोट होता है और ईश्वर अपना व्यक्तित्व देता है। साथ ही एक अद्वय सत् ही प्रकृति माया के अन्ध गह्वर मे और शाश्वत प्रकाश मे व्याप्त है एक ही सत् वस्तुओं की कठोरता और एकाकीपन को और उनके सम्मिलित और स्नेह को व्याप्त करता है एक ही सत् शुभ मे प्रेम के सकल्प के और रूप मे अध के क्रोध के रूप मे व्यक्त होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि अद्वय तत्त्व वस्तुत ही अपने को द्विधाविभक्त करता है। ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति एक निर्धारित और यादृच्छिक क्रिया नही है बल्कि एक नैतिक रूप से अनिवार्य कर्म है जिसमे कि प्रेम तथा शिवत्व विजयी होते है।[९१] शैलिग की व्यवस्था में नेचुरान को साख्यिकीय प्रकृति नही कहा जा सकता क्योंकि उसकी पृथक सत्ता नही है। इसका स्वरूप मूलाविद्या या मूल माया के समान है। क्योकि ईश्वर एक है इसलिए जगत भी सभव्यत और वस्तुत एक ही होगा।[९२]

शैलिग के मत मे समग्रसत्ता अह तथा अनह प्रकृति के बीच विभक्त है फलत समस्या उनके समवय मे हैं। इस सम्बन्ध मे हेगेल को फिक्टे का मत उचित लगता है कि वाछित समवय सभव नही है। फिक्टे अह को प्रकृति के ऊपर मानता है। उसके अनुसार अह को विषय या वस्तु के रूप में नही अपितु परमह के रूप मे देखना चाहिए। यद्यपि अह को विषायिता स्वय उसके तथा विषयता के बीच समवय का माध्यम बन सकती है परन्तु इस बिदु को फिक्टे उसकी चरम तक नही ले जाता। फलत अह तथा अनह द्वैत बना रहता है परन्तु हेगेल अपरिहार्य द्वैत की उस स्थिति को स्वीकार नही करता। न ही शैलिग की अभद की अवधारणा उसे आकर्षक लगती है। हेगेल काट ही भॉति फिक्टे के असीम अहम के विषय मे कोई निरूपण देने को तैयार नही है। फिक्टे की तरह हेगेल द्वैत की वास्तविकता को स्वीकार करता है तथा ससीम अह के इस द्वैत के परिहार के सतत प्रयास के महत्व को भी स्वीकार करता है। परन्तु उसके मत मे असीम अहबोध से नितात परे नही है। दूसरी ओर शैलिग के साथ वह समवय की आधारभूत एकता के सिद्धात को भी नही मानता है परन्तु वह इस सिद्धात को बोध के भिन्न रूप में ग्रहण करता है।[६३]

विकास मे प्रत्येक अनुवर्ती अवस्था पूर्ववर्ती अवस्था का परिणाम है न केवल पूर्ववर्ती अवस्था का अतिक्रमण है आपितु साथ ही उसका सहार एव सरक्षण भी है। हेगेल कहता है कि इस आभ्यन्तरिक विकास की अन्तर्वस्तु अपने को आत्मचेतन मे अभिव्यक्ति करती है।[६४] अन्तिम सत्य को केवल द्रव्य नही अपितु विषयी के रूप मे देखना चाहिए। अर्थात् परमसत् जडवत् मृत अथवा निष्क्रिय न होकर असीम जीवन तथा आध्यात्मिकता से मुक्त है। किंतु अरस्तू के सबध मे हेगेल का मत इस अर्थ मे भिन्न है कि हेगेल ने चितन को एक परम सत् के रूप मे न देखकर उसे अन्तर्वस्तु के रूप मे देखने का प्रयास किया।[६५]

हेगेल ने विश्व–प्रक्रिया के समग्र भाव से नियमित होने पर बल दिया उनकी यह प्रकृति विज्ञान के अनुकूल थी। उनके अनुसार विश्व का सामान्य नियम द्वन्द्वन्याय है। निषेध स्वय व्यापकता को हटाकर सामजस्य रूप पूर्णता को प्राप्त करने के लिए है। अत असामजस्यपूर्णता या परम प्रत्यय को भी विश्व–प्रक्रिया का नियामक कहा गया है। क्योंकि परम प्रत्यय को भी विश्व

विकास का लक्ष्य अर्थात प्रयोजन कारण है।[६६] हेगेल के लिए निषेध निरपेक्ष रूप मे निषेध नही है अपितु किसी पूर्ण मे किसी अश का निषेध है। यही नही वह विशेषीकरण भी है। निषेध का जितना अस्वीकार है उतना ही स्वीकार भी है।[६७] निषेध का हेगेल की डायलोक्टिक मे प्रथम स्थान है। हेगेल के मत मे प्रकृति स्वरूप अर्थात अपने सम्बोध की दृष्टि से दिव्य है परन्तु अपनी सत्ता मे वह अपने प्रत्यक्ष के अनुरूप प्रतीत नही होती है।[६८] दिक् तत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति तो तब होती है जब प्रकृति अपना अतिक्रमण कर आत्म् रूप को प्राप्त करती है। प्रकृति आत्म की पूर्वावस्था है स्वय आत्म नही चित्त स्वतत्रता का क्षेत्र है जबकि प्रकृति अनिवार्यता का।[६६] हेगेल के शब्दों मे प्रकृति निषेधपरक अनिष्टसूचक शक्ति है जो ससार को अस्तित्व मे लाती है। यदि हम ऐसी खाई बना ले जो भरी न जा सके तो ससार का एकत्व कभी बुद्धिगम्म नही होगा। ज्यो ही निरपेक्ष आत्मा एक प्रमेय के विषय मे आभिन्न होती है वह सर्वोपरि प्रमाता बन जाती है।[१००]

अरस्तू की तरह विश्व–ब्रहाण्ड विकास–प्रक्रिया है जो एक निश्चित दिशा की ओर बढ रही है। हेगेल के मत में विश्व मे तर्कबुद्धि अथवा बुद्धितत्त्व व्यापत है। अर्थात विश्व की हर एक घटना पूर्ण रूप से नियामित है। प्रत्येक घटना विश्व के अस्तित्व मे नियमो का पालन कर रही है। बुद्धि और विश्व मे ज्ञाता तथा ज्ञेय मे कोई द्वैत नही है वे दोनों ही एक बुद्धितत्त्व या तर्कबुद्धि की अभिव्यक्तियॉ है विश्व प्रक्रिया को विभिन्न कोटियो मे उसके विकास का क्रम व्यक्त करती है जो बुद्धितत्त्व विश्व–ब्रह्माण्ड मे व्यापत है वो एक सरल इकाई न होकर एक तत्र है। विश्व के बुद्धितत्त्व को हेगेल ने प्रत्यय अथवा परम प्रत्यय माना है समस्त अपूर्ण प्रत्ययो की परिसमाप्ति परम प्रत्यय मे होती है इसी परिसमाप्ति या पर्यवसान के लिए धारणाओं मे विकास होता है। एक अपूर्व धारणा का दूसरी आशिक पूर्ण धारणा से बाध्य हो जाता है और एक तीसरी धारणा में इन पहली विरोधी धारणा का सामजस्य हो जाता है। यह तीसरी धारणा भी आगे चलकर अपनी विरोधी धारणा को उत्पन्न करती और उनके सामजस्य के लिए फिर एक नवीन धारणा का उदय होता है। पक्ष प्रतिपक्ष और सम्पक्ष इस क्रम से धारणा जगत का विकास होता है मानवी चितन इस विकास प्रतिफलित करता है। परम प्रत्यय विश्व- प्रक्रिया का अमूर्तसार है वह विश्व की आत्मा है। परम प्रत्यय विश्व–प्रक्रिया मे बुद्धितत्त्व के रूप मे व्याप्त है। जिस प्रकार

धारणाये या प्रत्यय पूर्णता की ओर विकसित होती है उसी प्रकार विश्व की मूर्त व्यष्टिया भी पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही है। धारणा जगत की भॉति प्रकृति जगत मे भी द्वद्व नियम का साम्राज्य है। वास्तव मे मूर्त जगत अमूर्त प्रत्यय जगत का ही शरीर अथवा ब्रह्म रूप है। प्रत्यय जगत मूर्त जगत की आत्मा है। हेगेल के अनुसार जो कुछ वास्तविक अर्थात् तात्त्विक है वह बुद्धिगम्य है और जो बुद्धिगम्य है वही वास्तविक है अर्थात अनुभव जगत के समस्त क्षेत्रो मे तर्कबुद्धि का साम्राज्य है।[१०१]

यान्त्रिक विकासवादी लाप्लासा रपेन्सर आदि के अनुसार विश्व यान्त्रिक और विकासशील है। यान्त्रिक का अर्थ है विश्व–प्रक्रिया मे कोई प्रयोजन अथवा उद्देश्य नही है अपितु प्राकृतिक नियमो का अखण्ड साम्राज्य है जिसमे कोई हरतक्षेप नही कर सकता प्राकृतिक घटनायें अतीत कारणों से सचालित होती है अर्थात प्रकृति एक अखण्ड कार्य–कारण श्रृखला सम्पूर्ण विश्व जीव तथा चेतन का विकास जड परमाणुओ के आकस्मिक सयोग से हुआ। इसके अनुसार जडद्रव्य (मैटर) गति (मोशन) तथा ऊर्जा (एनर्जी) विकास के मूलतत्त्व है। इसके अनुसार स्वअस्तित्ववान परमाणु गति के कारण एक दूसरे से सयुक्त होते है तथा अलग हो जाते है। जड और चेतन का भेद परमाणुओ की व्यवस्था सख्या तथा उसकी जटिलता की मात्रा पर आधारित है। स्पेन्सर का एक परम या निरपेक्ष तत्त्व है। आदिकारण मे विश्वास था। साख्य के विकास के साथ इसके मत से आश्चर्यजनक समानता है। यद्यपि रपेन्सर उस परम को अज्ञेय मानता है। उनका विषय है कि ज्ञान का विषय सापेक्ष तत्त्व है। जो द्रव्य गति ओर ऊर्जा है।[१०२] इस सम्बन्ध मे मत है कि स्पेन्सर का विकास भौतिक द्रव्य का सगठन और गति का सहवर्ती विखरन या क्षय है। जिसमे भौतिक द्रव्य अनिश्चित अससत सजातीयता से निश्चित असंसक्त और विजातीयता की ओर जाता है और उसका प्रतिधृत गति मे सामानान्तर रूपान्तरण होता है।[१०३]

जैविक विकासवाद मे लैमार्क डार्विन आदि के अनुसार विश्व मे विद्यमान समस्त जीवो का वर्तमान रवरूप विकास का फल है। जीव शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ मे लिया गया है। जिराके अनुरार वनरपति पशु आदि राभी प्राणी आ जाते है। इरा रिद्धात के अनुरार राभी जीव परिवर्तनशील है और उनके मध्य कोई मूल भेद नही है। विकास क्रम मे सर्वप्रथम कुछ बहुत ही

सरल जीवित कोशिकाए उत्पन्न हुई और उन्ही के क्रमिक विकास के परिणाम स्वरूप आज इतने जटिल और विभिन्न प्रकार के जीव उपलब्ध होते है। लेकिन सरल अथवा मूल जीवित कोशिकाओ की उत्पत्ति क्यो और किस प्रकार होती है। इसका कोई निश्चित उत्तर जैविक विकासवाद मे नही मिलता।[१०४] डार्विन के अनुसार स्रष्टा ने कुछ निर्जीव जड जनन कोशिकाओ मे जीवन डालकर आदि जीवित कोशिकाओं को उत्पन्न किया और जब जीवित कोशिकाओ का निर्माण होता है तो स्वयमेव प्राकृतिक नियमो द्वारा विकसित हो रही है।[१०५] डार्विन के विकासवाद मे प्राकृतिक वरण अर्थात् योग्यतम की अतिजीविता का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योकि योग्यतम की अतिजीविता को ही डार्विन ने प्राकृतिक वरण कहा हे।[१०६] सघर्ष मे पराजित जीवों का विनाश तो नही होता किन्तु अपने वाद अपनी सन्तान छोड जाने का अवसर उन्हें नही मिलता या बहुत ही कम मिलता है।[१०७] डार्विन के मत मे परिवर्तन अकारण अथवा आकस्मिकरूप से जीवित कोशिकाओ मे हो जाते है। आकस्मिक कहने का तात्पर्य यह नही है कि उनका कोई कारण नही है। ऐसे परिवर्तनो का कारण अवश्य होता है। किन्तु इन कारणो का पूर्णज्ञान हमे नही होता।[१०८] वशानुगत परिवर्तन के सम्बन्ध मे डार्विन का मत है कि ऐसा कोई परिवर्तन जो वशानुगत नही है हमारे लिये महत्वपूर्ण नही है तो प्रश्न है कि किस प्रकार के परिवर्तन सक्रात होते है और इनके सक्रात होने का कारण क्या है ? इस प्रकार के प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर डार्विन नही देता। अत वह स्वय कहता है कि वशानुगत से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न अधिकाशत अज्ञात ही है।[१०९]

बर्गसा सृजनात्मक विकासवाद में प्रातिभ की प्रसशा करता हुआ मानता है कि बुद्धि जैविक विकास के रहस्य को नही समझ सकते।[११०] उनके मत में जीवन शक्ति या प्राणात्मा ही एलेनविटल ही सम्प्रभु अर्थात परमतत्त्व । यह एक मूलशक्ति है वस्तु नही यह निरन्तर सृजन की माग है। जीव विकास का इतिहास तीन पृथक दिशाओ की ओर सकेत करता है। वनस्पति की जडता पशुपक्षियों की नैसर्गिक प्रवृत्तियॉ और मानव में बुद्धि। बर्गसा के अनुसार अनुकूलता विकास की एक आवश्यक अवस्था अवश्य है। परन्तु उसका कारण नही सत्य तो यह है कि अनुकूलता का सिद्धात विकास की प्रक्रिया मे मोड या घुमाव का ही वर्णन करता है न की उसकी दिशाओं की या स्वय इस प्रकिया की व्याख्या ।[१११] जैविक विकास वास्तव में लाखो व्यक्तियो के द्वारा विभिन्न दिशाओं मे हुआ है। जिनमे से प्रत्येक एक चौराहे पर आकर समाप्त होती है।

वहॉ रो फिर नये–नये मोड लेती हुई अपने मार्ग पर अग्रसर होती है।[११२] जीवन एक स्वतन्त्रता है। जो आवश्यकता मे प्रवेश करती है। यदि जडतत्त्व में इस सीमा तक नियत्रण होती की उसमें शिथलीकरण के लिये कोई स्थान ही न हो तो जीवन असम्भव होता।[११३] बर्गसा के अनुसार विकासवाद न तो यत्रवाद न ही प्रयोजनवाद यत्रवाद की मूलधारणा अतीत व भविष्य को वर्तमान के गणनीय प्रक्रिया के रूप मे देखती है दूसरे शब्दो मे सबकुछ पूर्वप्रदत्त है। किसी भी प्रकार की नवीनता सम्भव नही है। इसी प्रकार प्रयोजनवाद मे भी सबकुछ पूर्वनिश्चित है। इस तरह चरम हेतुवाद केवल उल्टा हुआ यन्त्रवाद है।[११४] मूलप्रेरक शक्ति सामान्य है। समरूपता तो पीछे है न कि आगे है। यह केवल धकेलने वाली शक्ति की एक रूपता के कारण है न कि किसी सामान्य लक्ष्य के कारण ।[११५] प्रगति का तात्पर्य प्रथम प्रेरणा से नियन्त्रित एक सामान्य दिशा मे बढना है तो नि सन्देह प्रगति हुई है परन्तु यह प्रगति जैविक विकास की केवल दो या तीन बडी शाखाओं मे हुई है। इन शाखाओ के बीच मे अनेक छोटे–छोटे मार्गों की भीड है। जिसमें अवरुद्धता अध पतन आदि भी दिखाई पडते है।[११६] बर्गसा के अनुसार जीवन शक्ति ईश्वर का रूप है। ईश्वर एक ऐसा स्रोत है जहॉ से उसके स्वतत्र प्रयास के फलस्वरूप प्रवृत्तियॉ या तरगे निकलती है जिनमें से प्रत्येक एक जगत बना देती है। किन्तु ईश्वर में कोई बनी बनाई वस्तु नही वह तो जीवन कर्म और स्वतन्त्रता की निरन्तरता है।[११७]

उद्‌गामी विकासवाद के अनुसार विकास में बिल्कुल नवीन गुणों का उद्‌भव होता है अर्थात ऐसे गुण का आर्विभाव जिसकी कल्पना पहले से न की जाती हो इस सिद्धात के अन्तर्गत एस० एलेक्जेण्डर का मत है कि देश–काल एकतत्त्व है। जो शुद्ध गत्यात्मक है। यह स्वतत्र गति रूप है और जड द्रव्य उससे उत्पन्न होता है । यदि देश–काल मिलकर एक ही तत्त्व है जिसमे बिन्दु क्षण अशभूत है। इन बिदु क्षणों में क्रमश जडद्रव्य की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् क्रमश रूप रस गन्ध आदि गुणो का आर्विभाव होता है। जिससे सृष्टि की रचना होती है। विकास क्रम में चेतना के उपरान्त जिस गुण का उद्‌गम या आर्विभाव होगा वह दैवतभाव (डिवीनिटी) है। विश्व का विकास प्रत्येक क्षण दैववाद की ओर बढ रहा है ईश्वर का सृजन कर रहा है। ईश्वर सदैव सिद्ध है। इस विश्व–प्रकिया मे एक आन्तरिक प्रेरणा निहित है जो उसे दैवतभाव की ओर अग्रसर करती है। सबसे अन्त में विकास–किया के उच्चतम फल के रूप में देवता या ईश्वर

(डाइटी) का उद्‌गमन होता है। ये देवता ससार के फल–पुष्प कहलाते है। किन्तु ये आदिकारण नही है।[११८] मार्गन के अनुसार प्रकृति में दो प्रकार की वस्तुए पाई जाती है जिसमे एक को परिणमित और दूसरे को उद्‌भूत माना जाता है । परिणमित उन वस्तुओ को कहा जाता है जो पूर्ववर्ती अवस्थाओ या कारणो के परिणाममात्र है। उद्‌गत वे तत्त्व अथवा नवीनताए है। जिनके सम्बन्ध में पहले से तो कुछ नही कह सकते। मूलतत्त्व न तो चित है और न ही अचित् है। वह चिदचिदात्मक है। जगत दो न होकर एक ही है। जड जगत और चेतन जगत भिन्न–भिन्न नही है। विश्व–प्रकिया गत्यात्मक है। मार्गन वास्तविक जगत के तीन स्तर मानता है। जडद्रव्य प्राण(जीवन) और मन। विकास की क्रिया सृजनात्मक सश्लेषण द्वारा होती है। यथा इलेक्ट्रान और प्रोट्रान परमाणु (एटम) अणु (मालिक्यूल्स) बन जाता है। अणु सगठित होकर यौगिक और परिवर्तित हो जाते है और यौगिक प्रोटोप्लाज्मिक (मैटर) जीवद्रव्य का रूप धारण करता है। इन उद्‌गामी गुणों का कारक ईश्वरीय अन्त प्रवृत्ति है । ईश्वर वह अन्त वृत्ति या प्रेरक सत्य है जिसके कर्तृत्त्व द्वारा उद्‌गामी गुणों का आर्विभाव होता है । ईश्वर विकास–प्रकिया का प्राण है। वह विकास–प्रकिया से बाहर कोई चीज न होकर उसी मे पूर्णतया व्याप्त है।[११९]

अभिनव पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धातो में यह विश्वास सामान्य रूप मे मान्य है कि विकास की प्रत्येक अवस्था पर निर्माणात्मक शक्तियो का प्रभाव अवश्य होता है। बर्गसा सृजनात्मक विकासवाद उत्तरकालीन चिन्तन के लिये काफी सहायक सिद्ध हुआ। जनरल इस्टेमस जो साकल्यवादी विकासवादी के मत में विश्व विकासशील है और विकास प्रकिया में एक प्रेरक सत्य है। जिसकी प्रवृत्ति अधिकाधिक बडी समष्टि या साकल्यो को बनाने मे होती है यथा विद्युत अणुओं से परमाणु बनते है और परमाणुओं से द्वयणुक और त्रयणुक तथा उनसे भौतिक द्रव्य के बडे समूह बनते है। जीवन के क्षेत्र में पहले एक कोशिका वाले जीवों का उद्‌गम होता है और फिर क्रमश सहस्रों कोशिकाओं वाले जीवों का उद्‌भव होता है।[१२०] इसी सम्बन्ध मे व्हाइटहेड ने भी कहा है कि विज्ञान एक नया पक्ष ग्रहण कर रहा है जिसे न तो शुद्ध रूप से भौतिक कह सकते है और न शुद्ध रूप से जैव ही[१२१] व्हाइटहेड के पूर्व ऊर्जा सरक्षण और उसके रूपान्तरण का सिद्धात मे उस विचार को समाप्त किया जिसमे द्रव्य को एक पिण्ड के रूप मे माना जाता था। परमाणुकता और उसका जीव विज्ञान मे उपयोग के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि

जीवित कोशिका ही नही अपितु सम्पूर्ण निर्जीव परमाणु भी निरतर गति और शक्ति के सगठित केन्द्र है अन्तर केवल मात्रात्मक अथवा स्तरों का है। डार्विन के विकासवाद के आधार पर माना गया कि पत्थर से लेकर मनुष्य तक में एक ही प्रक्रिया का तात्पर्य उपलब्ध होता है। उक्त तीनों के आगे व्हाइटहेड ने सम्पूर्ण–दिक मे शक्ति और सक्रियता के क्षेत्र का अस्तित्व के आध ार पर कहा कि द्रव्य और मन यथार्थ प्रकृति में एक दूसरे से उतने भिन्न नही है जितना की सामान्यत लोग समझते है। सबकुछ यहाँ तक ईश्वर की एकतन्त्र के अन्तर्गत जिसे अवव्ययी कहते हैं। इस प्रकार पररपर सम्बन्धित है कि उन्हें पृथक् नही किया जा सकता। व्हाइटहेड ने ईश्वर को आत्म सृजनशील प्राणी कहा जाता है। वह स्रष्टा नही अपितु सृजनात्मक क्रिया है वह स्थिर नही अपितु गतिशील है। वह आध्यात्मिक होने से समरत परिवर्तन से परे है यह अवयवी सिद्धात का प्रतिपादन करता है जिसे प्रकृति का सर्वांगीण सिद्धात कहा गया है।[१२२]

विलियम पेटन के अनुसार विकास आरम्भ कारिक अर्थ नही अपितु वास्तविक अर्थ मे एक समूह है। उसमे एक ऐसी सृजनात्मक प्रवृत्ति होती है जो अव्यवस्था के निरर्थक सघर्ष से ऊपर उठकर स्थिर सरचनात्मक सगठन और एकता की ओर उन्मुख रहती है। उनके अनुसार समस्त विकासात्मक क्रियाओं के मूल में रचनात्मक क्रिया की एक सर्वव्यापी बाध्यता होती है। पेटन के मत में प्रत्येक रचनात्मक क्रिया उन कुछ मूलगुणों का परिणाम है जो समस्त जीवन और मन में मिलते है। ये गुण है आत्मरक्षणा आत्मत्याग और सहयोग यहाँ विकास स्वतत्रता की अपेक्षा अनुशासन मे एक प्रगति है।[१२३] लेकिन अमेरिकन विकासवादी दार्शनिक चार्ल्स पियर्स इसे नही मानते इनके अनुसार यह मानना ठीक नही है कि नियम में स्थायित्व होता है परिवर्तन नही। बल्कि जगत में केवल विकास का नियम है जो सदिग्ध है। जिन नियम को अचल और स्थिर माना जाता है। वे भी वास्तव मे विकास नियम के अधीन ही हैं। नियमो की स्थिति आदतो जैसी है। आदत धीरे–धीरे बनती है। इसी प्रकार नियम भी धीरे–धीरे स्थिरता को प्राप्त होते हैं क्योंकि कोई विशेष नियम आज इतना व्यापक है वह अपने प्रारम्भ में इतना महत्वपूर्ण नही था। भौतिक में सबसे प्रसिद्ध नियम गुरुत्वाकर्षण का नियम है। सामान्य विचार के अनुसार जगत मे कोई प्राकृतिक पदार्थ छोटा या बडा निकट या दूर ऐसा नही है जो उसके प्रभाव में न हो पियर्स के मत मे व्यवस्था के साथ अव्यवस्था भी रपष्टता प्रतीत होती है। अव्यवस्था केवल

आभारा नही अपितु उसकी वास्तविक सत्ता है। इसका मुख्य कारण है कि व्यवस्था पूर्व से नही बनी है अपितु बन रही है।[१२४]

इस प्रकार विकासवाद विकास प्रक्रिया के सरल से जटिल रूप की प्रगति मानता है। ऐसा मानने वाले प्राचीन विकासवादी विकास प्रक्रिया को एकमार्गी के समर्थक थे। किन्तु आधुनिक विकासवादियो के अनुसार विकास की गति कभी सरल से जटिल और कभी जटिल से सरल दोनो ओर होती है। किन्तु विकासवाद मे ईश्वर को मानना आवश्यक नही है। इसमे ईश्वर को माना भी जा सकता है और नही भी। कुछ विकासवादियो ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार भी किया है और कुछ के अनुसार उसके अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है। वास्तव में वैज्ञानिक दृष्टि से सृष्टिवाद की पुष्टि नही होती।[१२५] सर्वोपरि प्रभु के नियन्त्रण द्वारा प्रकृति के अनेकत्व मे बराबर उन्नति होती है। जैसे की बर्गसा की प्राणशक्ति का एक ही स्पन्दन विभक्त होकर प्रकृति में नानाविध प्रतिध्वनियो से परिणित हो जाता है। आ० भिक्षु सृष्टि के प्रारम्भ मे उत्पन्न हुए एक सर्वोपरि पुरुष का उल्लेख करते है। महत्व उनके साथ उपाधि अथवा बाह्य विनियोग के रूप मे था।[१२६] साख्यसूत्र के अनुसार एक व्यवस्थापक ईश्वर की कल्पना को रवीकार करता ह। जो सृष्टि रचना काल में प्रकृति के क्रमिक विकासों की व्यवस्था करता है। साख्य एक ऐसे ईश्वर को मानता है जो पहले ही प्रकृति के अन्दर लीन था और पीछे से प्रकट हुआ।[१२७] रवीटजर के मत मे यदि हम इस जगत को ठीक ऐसा ही समझ ले जैसा यह दिखाई देता है तो मनुष्यो तथा इस की व्याख्या करना सम्भव होगा। हमारे लिए इस जगत मे किसी प्रकार के ऐसे प्रयोजन सम्बन्धी विकास को खोज निकालना कठिन है। जिससे हमारे अपने कर्मों की सार्थकता प्रकट हो सके।[१२८]

पाश्चात्य दर्शन में भारतीय दर्शन की अपेक्षा विश्व व्याख्या के विविध सिद्धातो को जन्म दिया जिसका मुख्य कारण वहाँ की वैज्ञानिक और ऐतिहासिक खोजे थी। यद्यपि वैशेषिक और साख्य मत में विश्व की महत्वपूर्ण व्याख्याए की गई। लेकिन अन्य मतावलम्बियो के सम्बन्ध मे ऐसा नही हुआ। साख्य के यान्त्रिकवाद में आश्चर्यजनक पूर्णता और आधुनिकता है तथा वह वर्तमान भौतिकी के काफी समीप दिखता है। फिर भी पाश्चात्य दर्शन में विश्व की व्याख्या में

विविधता और वैज्ञानिकता है।

(IV) आत्मतत्त्व

साख्य दर्शन मे आत्मतत्त्व को पुरुष नाम से अभिहित किया गया है जो विशुद्ध चेतन स्वरूप किन्तु निष्क्रिय सत्ता है। अत वह साक्षी रूप से अकर्ता अभोक्ता निरवयव व निर्गुण रूप है। पुरुष निर्विक्त और अपरिणामी होने के कारण अकर्ता है। फिर पुरुष बुद्धिहीन होने के कारण भोक्ता या कर्ताभाव से रहित है। बुद्धि प्राकृतिक लिग है। पुरुष का नही है। अत पुरुष निष्क्रिय और उदासीन सत्ता है। लेकिन साख्य के अनुसार पुरुष एक नही जैसा कि प्रकृति है अपितु पुरुष अनेक है। प्रत्येक पुरुष का जन्म मृत्यु और इन्द्रियॉ आदि भिन्न–भिन्न होती है। यही नही प्रत्येक पुरुष की प्रवृत्तियॉ भी अलग–अलग होती है। इसी प्रकार पुरुष का बन्धन मोक्ष और सासारिकता समझना अज्ञान के कारण होता है। जबकि वास्तव मे ये सभी प्रकृति में होती है। वास्तव मे चेतनरूप पुरुष के सयोग मे आने पर बुद्धि जो प्रकृति का परिणाम है चैतन्य युक्त हो जाती है। फलस्वरूप हम पुरुष को कर्ता कामी भोक्ता आदि मानने लगते हैं। साख्य मत में अन्त करण और बुद्धि प्रकृति के ही परिणाम है अर्थात मानसिक क्रियाए भौतिक तत्त्व है। यह मत आधुनिक शरीर–क्रिया मनोविज्ञान के अनुरूप है। अत आत्मतत्त्व इससे भिन्न विशुद्ध चेतना स्वरूप है।[१२९] दूसरी ओर ईश्वरवाद अमरत्व मे आस्था को दुर्बल करता है। क्योंकि यदि आत्माओं का स्रष्टा कोई है तो आत्माए अनादि न होगी और तब आत्मा को अमरत्व भी नही प्राप्त होगा साख्य का जो ज्ञान की कडी सीमायो के ही अन्दर रखने के लिये उत्सुक है। उसके अनुसार ईश्वर की यथार्थता तार्किक प्रमाणो के द्वारा सिद्ध नही हो सकती।[१३०]

पाश्चात्य दर्शन आत्मा के सम्बन्ध मे प्राचीन और स्पष्ट विचार पाइथागोरस के दर्शन मे मिलती है पाइथागोरस नैतिक और धार्मिक दार्शनिक था। उसके अनुसार आत्मा समाधि के द्वारा मुक्त होकर आवागमन के चक्र से छुटकारा प्राप्त कर लेती है और दिव्य को नित्य आनन्द का अनुभव करता है। सयम और साधना द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है। दर्शन बुद्धि विलास नहीं अपितु जीवनयापन की पद्धति है। ज्ञानी ही सर्वोत्तम है क्योकि वही आवागमन से मुक्ति पाता है।[१३१]

एनेक्जेगोरस के नाउस के साथ शरीर आत्मा का भेद प्रारम्भ हुआ जगत के मूलकारण के रूप मे भी आत्मा को रवीकृति मिलने लगी। परिणामस्वरूप ग्रीकदर्शन मानव केन्द्रित हो गया इसी परम्परा में साफिष्ट जो दार्शनिक की अपेक्षा नैतिक शिक्षक थे मानवतावादी दर्शन की स्थपना करते है। इसमें प्रोटोगोरस का मत था कि मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है। वे जो उसके सापेक्ष है उनका अस्तित्व है ओर जो उसके सापेक्ष नही है। उनका अस्तित्व नही है किन्तु उन्होंने मनुष्य का अर्थ सामान्य मनुष्य के अर्थ में नही लिया। बल्कि व्यक्ति विशेष के अर्थ में लिया। इसी प्रकार सभी वरतुओं के मापदण्ड का अर्थ सभी वस्तु की सत्यता के मापदण्ड से नही है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति उस सत्य का मापदण्ड है जो उनके लिए सत्य है। इस तरह सत्यता प्रत्येक व्यक्ति की सवेदना और अनुभूतियो से सम्बन्धित है अर्थात सत्यता व्यक्तिगत मामला है। वस्तुगत नही परिणामस्वरूप नैतिकता की वरतुनिष्ठता भी खण्डित हो गई जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व तो सबल रहा किन्तु सत्य दुर्बल हो गया। फिर नैतिकता का मापदण्ड सुख को मान लेने से आत्मिक शक्ति और आध्यात्म की उपेक्षा हुई।[१३२]

रवय को जानो (दाई इटसेल्फ) का सदेश देने वाले सुकरात मे आत्मा पर बल देते हुई नैतिक जीवन को ही सर्वोच्च जीवन माना। इन्होने ही ज्ञान को बुद्धि पर आधारित मानते हुए सत्य की वरतुनिष्ठता को स्थापित किया। उनके अनुसार ज्ञान ही सद्गुण है और सद्गुण ही ज्ञान है। आगे कहते है की निरन्तर अभ्यास ओर आत्म–नियन्त्रण द्वारा व्यक्ति अपने चरित्र का निर्माण कर सकता है। क्योंकि सुकरात ज्ञान को ही सद्गुण का एकमात्र आधार मानते है। अत ज्ञान को ही मुक्ति का सर्वोत्तम साधान भी कहते हैं। सद्गुण एक ही को सभी प्रकार सद्गुण आत्मसयम विवेक, दूरदर्शिता, करुणा आदि एक ही स्रोत से उत्पन्न हुये है और वह स्रोत है ज्ञान इसलिए ज्ञान ही एकमात्र सद्गुण है।[१३३]

प्लेटो के दर्शन में आत्मा प्रकृति और उसकी वस्तुओं के सचालक और नियत्रक है। गति का मूल आत्मा है। आत्मा अपने भी गति का मूल है। आत्मा एक सम्राट की भाति है। जो अपना आदेश रवय प्रसारित करता है। वह रवशासक है आत्म–प्रत्यानयन ओर आत्म–प्रजनन स्वरूप होने से आत्मा अविछिन्न रूप से गतिशील है और गति के जन्म का कारण भी। इस का आत्मा

जैविक बौद्धिक आदि क्रियाओ का स्रोत है आत्मा समस्त सृष्टि में व्याप्त है। अत यह एक प्राकृतिक शक्ति है। प्लेटो का आत्म सम्बन्धी मत प्रकृतिवादी है। नैतिकतावादी नही क्योंकि आत्मा विनाश उत्पत्ति व्यवस्था अव्यवस्था सत्य असत्य सभी का स्रोत है। यह नीति निरपेक्ष है। यह वस्तुनिष्ठ है व्यक्तिनिष्ठ नही। आत्मा एक आदर्शमूलक क्रिया है। यह शुभ के साक्षात्कार की प्रक्रिया है। इसका लक्ष्य पूर्णता है। अत यह मूल्यो के सरक्षण की ही प्रेरणा शक्ति है। इस प्रकार विश्व प्रक्रिया निष्प्रयोजन नही सप्रयोजन है।[१३४]

प्लेटो आत्मा के दो रूप मानता है–(i) – विश्वात्मा जो परोपकार अविनाशी और सर्वव्यापी है। यह ऐन्द्रिक जगत तथा प्रत्यय जगत के बीच मध्यस्थता का कार्य करती है। यही जगत का सचालक और जगत की नियमितता और सवाद का स्रष्टा है।(ii) – जीवात्मा जो कि जीवनशक्ति है। इसका विनाश जीवधारी की मृत्यु के बाद भी नही होता है। शरीर एक बन्दीगृह है और आत्मा इससे मुक्ति चाहती है। मुक्ति विशुद्ध ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। प्लेटो आत्मा के दो भाग करता है–(i)– बौद्धिक आत्मा और (ii)– अबोद्धिक आत्मा अबोद्धिक आत्मा को पुन दो भागों मे बॉटता है कुलीन और अकुलीन और अबौद्धिक आत्मा बौद्धिक भाग आत्मा का सर्वश्रेष्ठ भाग है। यह सरल अदैहिक अविभाज्य अविनाशी ओर अमर है। इसका धर्म बुद्धि है और कार्य ज्ञान है। जबकि अबोद्धिक आत्मा सावयव दैहिक विभाज्य विनाशी और मर्त्य है। इसका कार्य सवेदना वासना तथा किया है। सादृश्य आत्मसम्मान और अन्य सभी उदात्त सवेग इसके धर्म है। अकुलीन आत्मा का मुख्य धर्म आत्मसयम है। बुद्धि साहस और आत्मसयम के अतिरिक्त आत्मा में एक अन्य गुण न्याय भी होता है। न्याय तब उत्पन्न होता है जब अन्य तीनों ने आनुपातिक सामजस्य होता है। यही जीवन उत्तम भी होता है।[१३५]

प्लेटो के अनुसार आत्मा अमर है। क्योंकि वह अपनी गति का कारण स्वय है। वह सावयव नही निरवयव है। आत्मा अभौतिक तथा आदिरहित है। अत आत्मा अपरिवर्तनशील है। प्लेटो के मत में प्रत्येक 'वस्तु' अपने विरोधी से उत्पन्न होती है। अत यह मानना चाहिए कि जीवन की उत्पत्ति मृत्यु से होती है अर्थात् जीवन मृत्यु से आता है और मृत्यु का पुनर्जन्म होता है। रपष्ट है कि आत्मा जीवन का आधार है। चुकि आत्मा प्रत्ययो का ज्ञान प्राप्त करता है ।

अत आत्मा को भी प्रत्ययों की भॉति दिव्य होना चाहिए। मेनो नामक सवाद में प्लेटो आत्मा की अमरता को स्मृति के आधार पर सिद्ध करता है। उसके अनुसार प्रत्यय जगत से अवतीर्ण होने के कारण आत्मा ऐन्द्रिक जगत के सम्पर्क मे आकर अपने ज्ञान को तिरोहित व धूमिल कर लेता है। अत इस रपष्ट स्मृति को रमरण कराना पडता है। इसी के आधार पर न्याय बराबरी सत्यता आदि का स्मरण होता है। उक्त तर्कों के आधार पर प्लेटो आत्मा के पुनर्जन्म अर्थात आवागमन के सिद्धात को रवीकार करता है । प्लेटो के अनुसार सृष्टि में विविध प्रकार की वस्तुए है। इनमें पुरुष सर्वाधिक सम्पन्न है। इनमें भी कुछ अत्यन्त उच्च कोटि के पुरुष है किन्तु ऐसे पुरुषो का जीवन एक जन्म का परिणाम नही है। अत वर्तमान जन्म के पूर्व भी आत्मा का जीवन रहा होगा। इस प्रकार आत्मा अमर है । प्रत्ययो का जगत ही इसका मूल स्थान है। अत जब मनुष्य शुभ जीवन व्यतीत करता है। वह आनन्दमय प्रत्ययों के जगत को लौट जाता है और जो अशुभ जीवन व्यतीत करता है। वह मृत्यु के पश्चात नारकीय जीवन पाता है।[१३६]

सत्य के साक्षात्कार के विषय मे प्लेटो का मत है कि जिस प्रकार ग्लौकस द्वारा समुद्र की तह मे डुबकी लगाने के कारण पहचाना नही जाता क्योंकि उसका शरीर समुद्र की काई सीप मछली तथा अन्य वस्तुओं द्वारा इतनी अधिक मात्रा मे ढक जाता है कि वह पहचाना नही जा सकता । उसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा विकृत रूप में है। अर्थात सासारिक उपलब्धियो तथा अज्ञानता से ग्रसित जीवात्मा अपने वास्तविक रवरूप को नही जान पाता है। जब तक हमे ससार रूपी समुद्र से निकाल कर इसके ऊपर जमे हुए काई सीप तथा तलछट आदि मलो को हटाकर शुद्ध नही कर लेते तब तक हम इसके सत्य स्वरूप को नही जान सकते।[१३७]

अरस्तू के मत मे आत्मा शरीर का आकार अर्थात सगठन है। जिस प्रकार द्रव्य और आकार का अविच्छेद सम्बन्ध है उसी प्रकार आत्मा का शरीर से आत्मा शरीर की क्रियाशीलता है। प्लेटो के विपरीत अरस्तू की धारणा है कि आत्मा नूतन शरीर विशेषकर पशु शरीरो मे जन्म धारण करती है। अरस्तू प्लेटो की बात से सहमत नही है। एक आत्मा दुसरे शरीर मे प्रवेश करती है क्योंकि अरस्तू कहता है कि यदि प्लेटो की उक्त बात स्वीकार कर ले तो आत्मा के अमरत्व की धारणा समाप्त हो जोती है क्योकि किरी वस्तु के विनाश के साथ उसके व्यापार

का भी अन्त हो जाता है। प्लेटो के अनुसार आत्मा एक अतिन्द्रिय वस्तु है जो शरीर मे रखी अथवा निकाली जाती है। इस प्रकार आत्मा और शरीर अर्थात आकार और द्रव्य के बीच यान्त्रिक सम्बन्ध माना जाता है। किन्तु अरस्तू कहता है कि आत्मा शरीर का आकार है। अत वह शरीर से अलग नही हो सकता है दोनो के बीच जैविक सम्बन्ध है यान्त्रिक नही।[१३८]

अरस्तू बुद्धि को सक्रिय और निष्क्रिय रूप मे बाटते हुए कहता है कि सक्रिय बुद्धि अविनाशी और शाश्वत है। यह अनादि और अनन्त है। यही उत्पत्ति के समय शरीर मे प्रवेश करता है और मृत्यु के समय निकल जाता है। चूँकि मनुष्य की बुद्धि ईश्वर से ही प्रादुभूर्त होती है। अत मृत शरीर से निकलकर उसी मे यह विलीन हो जाती है। ईश्वर निरपेक्ष और पूर्ण बुद्धि है। लेकिन निष्क्रिय बुद्धि शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है। अरस्तू की आत्मा शाश्वत है किन्तु शाश्वत का अर्थ सर्वकालीनता नही अपितु कालातीतता है। अरस्तू भौतिक सद्‌गुण को पूर्णरूप से बोद्धिक मानता है और एकमात्र ज्ञान को ही अत्यावश्यक रवीकार करता है। जिसके लिए आत्म नियन्त्रण और निरन्तर अभ्यास पर अत्याधिक बल देते है। यहॉ बैराग्य पर बल न देकर बुद्धि और वुभुक्षा दोनों को रवीकार किया गया है। क्योकि वुभुक्षा और उद्वेग सदगुणो के द्रव्य है। तो बुद्धि उनका आकार है। स८गुण का अर्थ है नियन्त्रण न कि उन्मूलन। इस तरह अरस्तू मध्यममार्गी है। अरस्तू इच्छा–स्वातन्त्र्य के प्रबल समर्थक थे। उनके अनुसार मनुष्य को शुभ और अशुभ दोनो को चुनने का अधिकार है।[१३६]

प्लेटो दार्शनिको के लिए ज्ञान प्राप्ति का विधान करता है। जिसका अन्तिम फल श्रेयस का विचार है तथा अन्यों के लिए सत्य सभाति का जिसकी पहुँच अपने स्थान तथा कर्तव्यो तक ही है। इस प्रकार अरस्तू साधारण पुरुषो के लिए नैतिक धर्मो का विधान करता है। जो अधिकतर मानवीय व्यापार है और ऐसे मनुष्यो के लिए जिनका लक्ष्य अमरत्व प्राप्ति है। तर्क का प्रयोग बताया गया है। जो उत्तम तथा दैविय वस्तुओं का बोध करा सकता है।[१४०]

प्लाटिनस के अनुसार परम विज्ञान से जो प्रथम आत्मा उत्पन्न होती है वह विश्वात्मा है। यह दैवीय ओर ऐन्द्रिक जगत के बीच मध्यस्थता का कार्य करती है। विश्वात्मा शाश्वत और कालातीत है यह स्वयप्रकाश्य है। अविभाज्य और अमूर्त होते हुए भी यह विभाज्य और मूर्त

वस्तुओ की ओर झुकाव करती है। विश्वात्मा से एक अन्य आत्मा का जन्म होता है जो प्रकृति कहलाती है। इनमे प्रत्येक आत्मा अनेक आत्माओ से मुक्त है और अनेक आत्माओ को जन्म देती है। सृष्टि की इस प्रक्रिया मे अशात्माए लोकोत्तर जगत की निम्नतम सीमा पर पहुँचती है जहाँ दैवीय सत्ता की यह अपूर्णतम अभिव्यक्ति द्रव्य कहलाता है।[१४१]

प्लाटिनस आत्मा को दो प्रकार का मानता है एक पराप्रकृति जो प्लेटो की बौद्धिक आत्मा के समान है। यह सूक्ष्म शरीर से मुक्त है यह अतिन्द्रिय लोकोत्तर शुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वरूप है। यह देश–काल से परे परम विज्ञान की अपरोक्षानुभूति है। दूसरा अपरा प्रकृति आत्मा मे एक अपरिहार्य आन्तरिक प्रेरक शक्ति है जो इसे प्रकृति के अनुसार शरीर धारण करने के लिए मजबूर करती है तो दूसरी ओर जीवात्मा के पतन का एक अन्य कारण विश्वात्मा का जडजगत को रूप प्रदान करने की इच्छा है। इस प्रकार शरीर के सम्पर्क मे आने के कारण मानव मे अहम और हीनात्मा की उत्पत्ति होती है। परिणामस्वरूप आत्मा अपना मूल स्वरूप भूलकर बन्धन मे पड जाता है आगे आत्मा की मुक्ति की अवधारणा में प्लाटिनस कहते है कि आनन्द जीवन की पूर्णता है और पूर्णता चिन्तन मे है। अत आनन्द चिन्तन मे है प्लाटिनस मुक्ति के लिए शरीर और उससे सम्बन्धित सभी वस्तुओ से छुटकारा आवश्यक मानते है। इसके लिए शुद्धीकरण जिसके लिए नैतिक सदगुणो का सतत अभ्यास वैराग्यपुर्ण जीवन जरूरी है शुद्ध दर्शन के जीवन से आगे बढकर परमविज्ञान का अपरोक्षानुभूति मुक्ति का उत्तम साधन है। जिसके पश्चात् आत्मा विचार की सीमा का अतिक्रमण करके मूर्च्छा की अवस्था को प्राप्त करती है और फिर ईश्वर से एकाकार हो जाती है। ग्रीक दर्शन मे प्लाटिनस प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने माना की ईश्वर मिलन ही मुक्ति है।[१४२]

सत आगस्टाइन परमतत्त्व को परमात्मा भी कहता है। जिसका ज्ञान ही सर्वोतम ज्ञान है। विश्वास आत्मा का विषय है बुद्धि निश्चयात्मिका शक्ति है जो आत्मा की देन है। आत्मा परमात्मा का अश होने के कारण प्रकाशपुज है। आत्मा ही बुद्धि को प्रकाशित करती है प्रज्ञा ही दैवीय ज्ञान है। जब बुद्धि आत्मा विमुख होती है। तो प्रज्ञा कहलाती है। परम आनन्द की ओर आत्मा अभिमुख होती है। मानव चूँकि अपूर्ण और ससीम है। अत उसका स्रष्टा ईश्वर ही है।

ईश्वर की कृपा से ही मनुष्य पाप से मुक्त होता है। परमात्मा ही मनुष्य को क्षमा प्रदान कर सकती है। मुक्ति की अवस्था मे आत्मा दिव्यलोक मे ईश्वर का साक्षात्कार करते हुए निवास करती है। आनन्द ही नैतिकता का मापदण्ड है जिसकी प्राप्ति परमात्मा से होती है। मनुष्य के लिए सकल्प–स्वातत्रय द्वारा ही शुभ अशुभ के आधार पर जीवन का मूल्याकन किया जाता है। ईश्वर विमुख शुभत्व और ईश्वर विमुख होना अशुभ है। सकल्प स्वातत्र्य के आधार पर ही पाप के लिए व्यक्ति उत्तरदायी होता है।[१४३]

बुद्धिवाद मे आत्मतत्व जो ज्ञान और चित्त का आधार है को स्वीकार करते है। इसमें डेकार्ट स्वचेतन आत्मा को दर्शन का मूल केन्द्र बनाता है। उन्होंने आत्म अनात्म से सर्वथा पृथक् कर आत्मा की यथार्थता को अपने निजी अधिकार से रवतत्र सिद्ध किया। डेकार्ट के मत में जब मैं प्रत्येक चीज के असत होने की सोचता था तो मैंने देखा कि ऐसा होना ही चाहिए कि मैं जो सोच रहा था उसकी सत्ता ओर इस बात को समझते हुए कि यह सत मै सोच रहा हूँ। अत मेरी सत्ता है। इतना ठोस और पक्का है कि इसे सशयवादियो के बडे –२ तर्क भी नही काट सकते। मैने निश्चय कर लिया कि इस सत्य को अपने दर्शन का आधारभूत सत्य स्वीकार करने मे मुझे किचित मात्र भी शका नही होनी चाहिए। मे हूँ मेरी सत्ता है। अनिवार्य रूप से सत्य है जब–जब मै इसे मुह से कहता हूँ अथवा इरा पर विचार करता हूँ। यद्यपि वह मुझे कितना ही धोखा क्यों न दे ले वह ऐसा कभी नही कर पाएगा कि मेरे सोचने के समय जब मेरी सत्ता है मेरी सत्ता न हो। उसका मत है कि जो अनुभव कर रहा है उसकी सत्ता का न होना असम्भव है। वे इस नियम को नित्य सत्य भी कहते है।[१४४] ऐसा लगता है कि मै सोचता हूँ अत मै हूँ, के आधार पर अर्थात् यह सोचना सम्भव नही है कि मै नही सोच रहा हूँ अथवा मै नही हूँ अथवा मेरी सत्ता नही है। इस प्रकार के तर्क के आधार पर डेकार्ट यह दावा करता है कि चैतन्य अथवा सोचना ही मै अथवा आत्मा का रवरूप है। यदि इस दावे को सत्य मान लिया जाये तो इससे अनिवार्य रूप से यह नियमित होता है कि चैतन्य के बिना मेरा अस्तित्व नही है अर्थात् मेरे चेतन होने अथवा सोचने का अर्थ ही यही है कि मेरी सत्ता है।

लेकिन डेकार्ट का मत है कि ईश्वर के विचार का कारण मै स्वय नही हो सकता क्योकि

मै रवय अपूर्व हूँ और कर्म मे उराके अधिक सत्त्व नही है जितना कि कारण मे होता है। परन्तु भारतीय दर्शन मे आत्मा को अपूर्ण मानना अविद्या का लक्षण है। क्योंकि यहॉ अपूर्ण वही है जो विषय रूप है चूँकि न आत्मा न ईश्वर विश्व रूप है। अत दोनो सीमित या अपूर्ण नही है।[१४५] देकाॅट के अनुसार विचार ही आत्मा का गुण हे आत्मा की अमरता निर्विवाद सत्य है मैं या आत्मा देह से सर्वथा भिन्न है। आत्मा का ज्ञान शरीर के ज्ञान से सरल है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा नष्ट नही होती। आत्मा की सत्ता ज्ञान की पूर्व मान्यता है। ज्ञान आत्मा का गुण अर्थात् धर्म है।[१४६]

सर्वेश्वरवादी स्पिनोजा आत्मतत्त्व को चैतन्य रूप मानते है। यह चैतन्य ईश्वर के अनन्त गुणो मे से एक है। यही कारण है कि निरपेक्ष ज्ञान को स्पिनोजा ईश्वर का अनन्त अद्वैत रूप ही निर्विकल्प अनुभूति मानता है। पूर्णज्ञान पूर्ण आनदमय की अवस्था है जो ईश्वर मिश्रित होती है। अत रिपनोजा मानव का निश्रेष्ठ ईश्वर प्रेम को मानता है। भारतीय दर्शान मे बधन का कारण अज्ञान को माना गया है इसे रिपनोजा भी रवीकार करता है। अज्ञान के कारण ही लोग अनन्त परमात्मा से विमुख हो सत्ता सासारिक वस्तुओ को सुखद ओर शाश्वत मानकर उसके प्रति आसक्त होते है। इस प्रकार अज्ञानवश यथार्थ सत्ता को भूलकर भावनाओं के दु ख–सुख व काम के दास बन जाते है। ये निष्क्रिय भावना है जिसके कारण हमारा नियत्रण केवल बाह्य परिस्थितियो से होता है। विवेक जो बुद्धिमान और बलवान है से हीन होने के कारण हम अशुभ से घिरे होते है। क्योंकि मनुष्य इससे अपना समष्टि रूप भूला होता है। स्पिनोजा के अनुसार प्रकृति की घटनाए ईश्वर द्वारा नियत्रित होती है। अत किसी सासारिक घटना का क्रम नही बदल सकता स्पिनोजा नियतिवादी भाग्यवादी है। कितु स्पिनोजा के दर्शन मे स्वतत्रता की धारणा मिलती है। क्योकि उनके अनुसार अपने ही नियमों से अपने को नियत करना परतत्रता नही रवतत्रता है। अत मनुष्य का अपने रवभाव से नियत कार्य रवतत्रकार्य है।[१४७]

लाइबनित्ज चिदणु की रात्ता रवीकार करते है जो एक दूसरे से भिन्न है। इनमें गुणात्मक और सख्यात्मक भेद है। चिदणु चित् शक्ति युक्त है वे व्यक्ति विशेष है जिससे उनका निजत्व सिद्ध होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि मे चेतना का विस्तार है। लाइबनित्ज के अनुसार वनस्पति

जगत से लेकर मानव तक सभी स्तरो मे जीव व्याप्त है। चेतना के विविध रगो स्वचेतना की स्थिति चेतन की जागृतावस्था है जो मानव मे ही सभव है। अत यहॉ प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है और अह–बोध भी होता है। मानव विचारशील है विचार आत्मा का गुण है अत इस स्तर को आत्मा भी कहते है। पशु मे भी आत्मा है परन्तु यहा आत्मचेतना अर्थात विचार नही होता है। लाइबनित्ज इसे आत्म–जगत कहता है।[१४८]

चिदणु आत्मा चूँकि ईश्वर के रवभाव से उद्‌भूत हुए है अत वे अमर ओर अविनाशी है। लाइबनित्ज के आत्म–दर्शन मे जन्म–मरण और पुनर्वास के लिए कोई स्थान नही है। मै ईश्वरीय चमत्कार से ही उत्पन्न हुआ हूॅ। अत ये चमत्कार से ही नष्ट होते है। मध्य की स्थिति मे केवल सघटन और विघटन होते है। प्रत्येक आत्मा अपने शरीर का परिवर्तन धीरे–धीरे करती है। पूरापिण्ड एक साथ विघटित नही होता है। लाइबनित्ज मृत्यु को मात्र निरीक्ष्य कार्यो का स्थगन कहता है। वह एक पिण्ड से एक आत्मा का स्थाई सबध नही मानता। अत यहॉ पुनर्जन्म के लिए कोई स्थान नही है। इस प्रकार लाइबनित्ज ईश्वर के आधार पर जन्म–मरण से युक्त ससार की स्थापना करता है।[१४९] लाइबनित्ज नैतिक नियमो को जन्मजात मानता है। यही कारण है कि रवभावत मनुष्य सुख की प्राप्ति और दुख से छुटकारा चाहता है। ससार ईश्वर की नवीनतम प्रकृति है। पाप के सबध मे लाइबनित्ज का मत है कि एक तो दुख का होना मनुष्य के रवभाव मे है दूसरे पाप के लिए मनुष्य की चयन शक्ति दोषी है और तीसरे पाप के रहने से ही पुण्य का महत्व समझ मे आता है। अत पाप का कारण ईश्वर नही अपितु अज्ञान के कारण मनुष्य स्वभावत पाप करता है। वास्तव मे अशुभ की समस्या को धार्मिक दृष्टि से देखता है।[१५०]

लॉक के अनुसार आत्मतत्त्व के अस्तित्व के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है। यह स्वत सिद्ध सत्य है। विचार अर्थात ज्ञान का आश्रय आत्मा है। यद्यपि यह निष्क्रिय तत्त्व है। अत चितन, प्रत्यक्ष आदि अतिभौतिक गुणों का आधार आध्यात्मिक आत्मा है। आत्मज्ञान स्पष्ट ओर सिद्ध सत्ता है आत्मा अन्तरप्रत्यक्ष का विषय है।[१५१] चितन के समय हम विचारण तर्कणा एव भय आदि की अनुभूति करते है, और सहज रूप से यह सोचते है कि इन क्रियाओ के लिए किसी पदार्थ की आवश्यकता तो होनी ही चाहिए और हम इसे आत्मा कहते है आत्मा के

तादात्म्य से स्पष्ट है कि एकात्मकता उत्पन्न करने की क्षमता केवल आत्मा मे ही है।[१५२] लॉक सकल्प–स्वातत्र्य को अलग–अलग शक्ति के रूप मे मानता है। अत वह सकल्प–स्वातत्र्य की परम्परागत मान्यता का विरोध करता हुआ सकल्प–स्वातत्र्य का अर्थ मानता है कि हम अनेको विकलप मे से वही विकल्प चुनते है जिसके लिए हम सक्षम है। इस प्रकार नैतिकता के मापदण्ड को सामर्थ्य से जोड कर देखता है अत शक्ति सिद्धात पर आधारित नैतिक नियम उचित नही है। लॉक नैतिक नियम को ईश्वर प्रदत्त नही अपितु सामाजिक देन मानता है। वह कहता है कि शुभ वह है जिससे सुख प्राप्त हो ओर अशुभ वह जिससे दुख की प्रप्ति होती है।[१५३] इस प्रकार लॉक सुखवादी धारणा में आत्मातत्त्व का आध्यात्मिक पक्ष कमजोर हो जाता है।

बर्कले के अनुसार आत्मा विज्ञान से भिन्न चेतन सक्रिय सत्ता है। आत्मा ज्ञातारूप है जबकि विज्ञान श्रेय है। हमे आत्मा का ज्ञान स्वानुभूति द्वारा होता है। अत आत्मा का अस्तित्व स्वत सिद्ध है। आत्मा सभी प्रकार की मानसिक कियाओ का आधार हे। बर्कले कहता है कि हमें अको की आत्मा का ज्ञान अनुमान से होता है। चूँकि मेरी आत्मा ही सभी विज्ञानों को उत्पन्न नही करती अपितु इन विज्ञानों की उत्पत्ति मेरे ही समान अन्य असीम आत्माओ से हुई है। यहॉ आत्मा की स्वीकृति प्रत्ययों के कारण के रूप गे स्वीकार की गई है क्योकि विज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति आत्मा में निहित है।[१५४] लेकिन डेविड ह्यूम अनुभव के आधार पर आत्मतत्त्व को स्वीकार करने के निषेध वैसे ही करता है जैसे बर्कले ने लॉक के जडतत्त्व की सत्ता मे स्वीकार नही की थी।

काट आत्मा की नित्य सत्ता को स्वीकार करता है ज्ञान के लिए भी आत्मा की आवश्यकता पर बल दिया है। नित्य तथा अपरिणामी आत्मा के कारण ही अनित्य तथा शक्ति सवेदनाओं मे पारस्पारिक सयोग सभव है। अत ज्ञान की अन्तिम मान्यता आत्मा की एकता है परन्तु नित्य आत्मा ज्ञान का तार्किक आधार है। इसरो इराकी यथार्थ रात्ता नही सिद्ध होती है। हमे आत्मा की सत्ता का अनुभव नही होता हम इसे प्रज्ञा के द्वारा ही जानते है। देकार्ट के अनुसार आत्मा ज्ञात है द्रव्य है। ज्ञान से ही ज्ञाता की स्थिति सिद्ध होती है। परन्तु काट इसे दोषपूर्ण मानता है। अत आत्मा बुद्धि के विषय नही बन सकता इसे बुद्धि का विषय मानकर ज्ञेय नही कहा जा सकता।[१५५] काट की ट्रासडेंटल युक्ति के अनुसार जो अनुभव की उत्पत्ति और

सिद्धि के लिए आवश्यक है उसकी यथार्थता स्वीकार करनी चाहिए साख्यदर्शन में पुरुष की सत्ता सिद्ध करने मे अधिष्ठानात तर्क का प्रयोग इसी सदर्भ मे किया गया है।[१५६]

काट के अनुसार हमारे रवय के ज्ञान के लिए उस विचार कर्म की आवश्यकता है जो प्रत्येक राभव सवेदनात्मक बहुल को अह प्रत्यय के एकत्व मे जो कि सवेदना की निर्धारक विधा है सयोजित करता है जिसके द्वारा यह बहुत्व विषय रूप मे प्रदत्त होता है। इससे यह आपादित होता हे कि यद्यपि मेरा प्रतिभासिक अरितत्व वास्तव में प्रतीति मात्र नही है किंतु इस अस्तित्व का निर्धारण आतर सवेदन के आकार के माध्यम से और उसके अनुरूप ही घटित हो सकता है। आत्मा की चेतना आत्मा के ज्ञान से सर्वथा भिन्न है।[१५७]

इस प्रकार ज्ञाता रूप आत्मा अधिष्ठान की एकता है। यह आत्मा शुद्ध चेतन स्वरूप अह रवरूप विषयी है। ज्ञेय क्षणिक ओर अनित्य है। परन्तु ज्ञाता नित्य तथा कूटरूप है। ज्ञाता की एकता के कारण हीहै सवेदन–सग्रह पुनर्स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की एकता सभव है। इस प्रकार आत्मा एक शुद्ध ज्योति है जो सभी अवस्थाओ मे एक रूप रहता है।[१५८]

काट नैतिकता की पूर्ण मान्यता मे माने गये तीन तथ्यो में से एक आत्मा की अमरता को कर्तव्य और नैतिक जीवन के लिए आवश्यक मानते है। उनके अनुसार मानव सासारिक जीव है तथा इसमें पाशविक प्रवृत्तियॉ दी है। इन दुष्प्रवृत्तियौं के दमन के लिए कई जन्मो तक तपस्या करना पडता है। जिससे आत्मा की अमरता सिद्ध होती है इसी पूर्वमान्यता मे कर्तव्य के लिए कर्तव्य भी कारण को सकल्प–रवतत्र्य के अर्न्तगत स्वीकार करता है। काट के अनुसार नैतिक नियम में निग्रह की प्राप्ति कर्तव्यों का पालन बिना भय अथवा पुरस्कार की लालसा के किया गया है। इसलिए काट कहते है कि मानव साध्य है साधन नही।[१५९]

फिक्टे के अनुसार आत्मा विज्ञान रूप होने से ज्ञाता है। ज्ञाता ही अपने को श्रेय रूप में प्रकट करती है ऐसे आत्मा में निहित सकल्प–शाक्ति के कारण होता है। सकल्प–स्वतत्र्य के कारण ही मनुष्य स्वतत्र नैतिक प्राणी होता है। सकल्प–रवातत्र्य के कारण मनुष्य रारीम होता है। परिणामस्वरूप वह असीम आत्मा की ओर वह अग्ररार होता है। नैतिक नियमो के पालन से

ही मनुष्य अपनी अपूर्णता को समाप्त कर पूर्ण को प्राप्त कर सकता है। फिक्टे का निरपेक्ष अहमान तात्त्विक रूप में आनुभविक आत्मा से भिन्न हे। क्योंकि उस क्रिया का निर्माण जिसके द्वारा यह उस अवस्था को प्राप्त हुआ है जो इसका मौलिक रूप है। अनन्त की ही प्रक्रिया है।[१६०] यह फिक्टे के साख्य के सम्बन्ध मे उद्‌भूत करते हुए भडारकर मानते है कि जो व्यक्ति अपनी चेतना मे हो रहे व्यापार को साक्षात जानता है। वह कुछ ऐसी सवेदनाओ को जानता है, जिनको उत्पन्न करने वाला वह स्वय नही है। इसलिए वह एक बाह्य प्रकृति को स्वीकार कर लेते है। इसकी यथार्थता चैतन्य की रवतत्र क्रिया की मर्यादाओ से प्रमाणित होती है। चैतन्य की अवरथा मे जब मै अपने आपको परिगित अनुभन करता है तो बुद्धि सबसे पूर्व मै की पुष्टि करती है। और तब मै से भिन्न के साथ विरोध मे आती है। मै को सीमाबद्धता से उसकी पहले की रवतत्रता अथवा असीमता उपलाक्षित होती है।

इस प्रकार हमारे समक्ष सीमित अह अनह परिमिता और परम आत्मा आते है। साख्य का अहकार सीमित अह से सम्बद्ध है। सूक्ष्म और मूर्ततत्त्व तथा उनकी प्रतिरूप इन्द्रियॉ जिन्हे अह से उत्पन्न माना गया है। अनह के अनुरूप है रवतन्त्र अनन्त परमात्मा पुरुष है और इसकी सीमाए अनह के बन्धन से है। चूँकि सर्वथा रवतत्र पुरुष सीमाओ का उद्‌भव स्थान नही हो सकता। इसलिए साख्य एक विशिष्ट कारण के अस्तित्व को मान लेता है जो स्वरूप में अनन्त है और जिसकी सातता का कारण अनन्त अह के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण अह अज्ञान से अपने को मानता है।[१६१]

शेलिग के अनुसार परमतत्त्व स्वय को सीमित कर सर्वप्रथम अचेतन प्रकृति का निर्माण करती है। तत्पश्चात् आत्म चैतन्य की प्राप्ति के लिए जीवात्माओ का निर्माण करती है। जीवात्मा को सकल्प–स्वातत्र्य और आत्मबोध की प्राप्ति के लिए समाज और राज्य की आवश्यकता होती है। क्योकि समाज और राज्य हमारी स्वार्थपूर्ण एव वासनामय भावनाए स्वत उदात्त हो जाती है और नैतिकता के उच्च शिखर को हम प्राप्त करते है।[१६२] हेगेल कहता है कि प्रकृति के सारतत्त्व के रूप मे आत्मा की उत्पत्ति हुई है । अत आत्मा और प्रकृति को समकक्ष सत्ताए मानना ठीक नही है। यहाँ प्रकृति और आत्मा के बीच वही सम्बन्ध है जो अरस्तू के द्रव्य और

आकार के बीच है। अत आत्मा प्रकृति का एक विकसित रूप है। प्रकृति मे जो चैतन्य सूक्ष्म रूप से विद्यमान था। वही विकसित होकर सिद्धता को प्राप्त होता है। हेगेल के आत्म दर्शन मे द्वद्वात्मक विकास पक्ष विषयी आत्मा–विपक्ष विषय–आत्मा का समन्वयात्मक रूप निरपेक्ष आत्मा को उच्चतम समन्वय की प्राप्ति कला और धर्म के ऊपर दर्शन मे प्राप्त होता है। इसीलिए हेगेल मानता है कि निरपेक्ष आत्मतत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति है। जीवात्मा के रूप मे हेगेल मानव विज्ञान के अर्न्तगत आत्मा का प्रकटीकरण मानते है । यह बुद्धि या विवेक का स्तर न होकर केवल भावना का रतर होता है जिसमे मानव की जाति राष्ट्र लिग आयु जागृति एव सुषुप्ति की अवस्थाओ मूल प्रवृत्तियो एव सवेगों का अध्ययन होता है। लेकिन जब जीवात्मा बाह्य जगत के सम्बन्ध मे विचार करती है तो वह बाह्य परिस्थितियो ओर अन्य जीवात्माओ से ही नही अपितु अपने शरीर से भिन्न आत्म चेतन को रवीकार करने लगती है।[१६३] ब्रैडले जीवात्मा को आभास मात्र मानता है। वह कहता है कि जीवात्गा की कल्पना गे इतनी विरागतिया है कि उसे सत् नही माना जा सकता है। अत वह देहात्म–सम्बन्ध को नही मानता उसके अनुसार विषम निर्णय के बीच तादात्म्य कैसे हो सकता है। यही कारण है कि वह आत्म चैतन्य जिसमे छदम रूप से द्वैत है अर्थात आत्म–अनात्म के कारण तादात्म्य को सम्भव नही मानता है।एक मात्र चेतन सत्ता को रवीकार चिदणु के रूप मे रवतत्र और अनेकत्व की सभावना से ब्रैडले इकार करते है। क्योंकि इसमे व्याघात हो जाता है। वास्तव मे ब्रैडले तत्वमीमासा की दृष्टि से आत्मा की उक्त धारणा का निषेधात्मक पक्ष ही प्रस्तुत करते है। इसलिए वे कहते है कि मूलतत्त्व वही है जो आत्म निषेध ात्मक नही है। यही आत्मा का मूल रूप है।[१६४]

बर्गसा के अनुसार आत्मा एक ऐसी वृद्धिशील सत्ता है जो अपने पूर्व अनुभवों को स्मृति द्वारा साथ लेते हुए भविष्य के लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। बर्गसा के मत मे मनुष्य का विकारा हुआ है। जैसे अमीबा(आध्यजीव)से ऊपर उठने मे एक लम्बा समय लगा है। इनके अनुसार बुद्धि जीवन के प्रवाह को छिन्न –भिन्न कर देती है और अन्तहीन गत्यात्मक प्रक्रिया को बुद्धि एक स्थिर विषय अथवा ज्यामितीय गुणोत्तर श्रेणी के रूप मे परिणत कर देती है। लेकिन बुद्धि केवल यथार्थता का अवयव–विच्छेद ही नही करती बल्कि उसका फिर से निर्माण करने का प्रयास करती है। इसके व्यापार मे विश्लेषण और सश्लेषण दोनो रूप है अत यह देश–काल

और कारण—कार्य भाव के द्वारा एकत्व के बन्धनो मैं सम्भाल कर ग्रहण किये रहता है।[१६५]

आज के दार्शनिकों मे जैटाइल के अनुसार विशुद्ध प्रमाता की अवधारणा के अन्तर्गत इसे प्रमेय अथवा विषय नही माना जा सकता। आध्यात्मिक यथार्थता को समझना और इससे भी अधिक इसे जानना इसे अपने अन्दर जो इसे जानते है समाविष्ट कर लेता है।[१६६] यहॉ केयर्ड कहते है कि यदि प्रमेय पदार्थ का चेतन प्रमाता के साथ सम्बन्ध होना ज्ञान है तो यह जितना ही पूर्ण होगा उतना ही सन्निकट सम्बन्ध होगा और यह पूर्ण हो जाती है। जब द्वैतभाव प्रत्यक्ष पारदर्शी हो जाता है अर्थात् जब प्रमाता और प्रमेय मे एकत्व हो जाता है और जब द्वैतभाव केवल मात्र एकत्व को शब्दो मे प्रकट करने के लिए ही आवश्यक रह जाता है। सक्षेपत जब चैतन्य आत्म चैतन्य के रूप मे परिणत हो जाता है दूसरे एकहार्ट के अनुसार आत्मा के अन्दर एक ऐसी वस्तु है जो आत्मा के ऊपर है दैवीय है सरल है परमशून्य है नामरूप होकर अनाम है ज्ञात न होकर अज्ञात है यह ज्ञान के ऊपर है प्रेम से भी ऊॅची है कृपा से भी ऊॅची है क्योंकि इन सम्बन्धो मे भी भेद निहित है। इस प्रकाश को सन्तोष होता है केवल सर्वोच्च अनिवार्य तत्त्व से। इसका झुकाव सरल भूमि मे गोन निर्जन स्थान मे प्रवेश करने की ओर है जहॉ पर न पिता का न पुत्र का और न पवित्र आत्मा का ही कोई भेद रहता है। यह उस एकत्व मे प्रविष्ट होना चाहती है जहॉ किसी मनुष्य का निवास नही है। तब यह उस प्रकाश मे सतुष्ट होती है तब यह एकाकी है तब यह अपने मे एक है। चूॅकि यह भूमि एक सरल स्थिरता है। अपने आप मे अचल है किन्तु तो भी इस अचलता से ही सब वस्तुए गति प्राप्त करती है।[१६७]

आधुनिक वैज्ञानिक युग मे मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान मे भी आत्मा की अमरता मे विश्वास किया जाता है। डा० स्टीवेसन ने पुनर्जन्म को वैज्ञानिक ढग से सिद्ध किया। ट्रुब्लड के अनुसार यदि मृत्यु के बाद मनुष्य के जीवन का अन्त मान ले तो स्वय हमारे नैतिक उत्थान सामाजिक व्यवस्था तथा विश्व शाति के लिए उसके द्वारा की गयी सभी कोशिशे निरर्थक हो जायेगी। अत आत्मा की अमरता मे विश्वास करना पडेगा फिर भी आज की परिस्थितियो मे मानवीय कर्मों के महत्व और सार्थकता को विचार करने के लिए कर्मवाद को एक ऐसा नैतिक सिद्धात मानना होगा जो व्यक्ति और समाज दोनो के लिए अतिमहत्वपूर्ण है, चाहे इसके लिए

तत्वमीमासीय दृष्टि से किसी अतिप्राकृतिक सत्ता को स्वीकार करे अथवा नही।[१६८]

पादटिप्पणी

१ – ईश्वरासिद्धे

२ – साख्यप्रवचनभाष्य – १/१२२ ५/६१ व ६५, ६/५२ व ६६

३ – साख्यप्रवचनभाप्य– स हि पर पुरुष सामान्य सर्वज्ञानशक्तियत् कर्तृताशक्तिमच्च–३/५७ व ५/१२

४ – मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–२२

५ – मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–२१२–२१३

६ – त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन, पृष्ठ–६७–६८

७ – त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– १२६–१३७

८ – प्रसाद डॉ० राजेन्द्र दर्शनशास्त्र की रूपरेखा पृष्ठ–११०–१११

६ – त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन, पृष्ठ–१८५–१८६

१०– मेटाफिजिक्स १०७८बी २८ रास कृत आग्लभापा अनुवाद

११– मेटाफिजिक्स १०८६ए ३२

१२– साख्यकारिका – ३

१३– फल्केनबर्ग आर० हिस्टी ऑफ माडर्न फिलासफी पृष्ठ–६५

१४– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–२१३

१५– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ– २१३–२१४

१६– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ– २६ ३० व ३३

१७– दयाकृष्ण, प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास भूमिका पृष्ठ–v

१८– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खण्ड–२ पृष्ठ– ७५ व

१६– सिह बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ– १६४ व १६६

२०– सिह बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ– १६१–१६२

२१– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास भूमिका, पृष्ठ –iv

२२– चन्द्र रमेश अनुवादक दर्शन के प्रकार मूल लेखक–हाकिग पृष्ठ– १२६–१२८

२३— मोनाडॉलजि २०

२४— मोनाडॉलजि ६० ६ व १५ ७३

२५— मेयर एफ० हिस्टी ऑफ माडर्न फिलासफी पृष्ठ— १६ व १३६

२६— लॉक एन एशे पृष्ठ—१८६

२७— प्रिंसिपल्स —————————— परिच्छेद —१४२

२६— प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज परिच्छेद०— ३४ व १४६

३०— क्रिटिक ऑव प्योर रीजन डायलेक्टिक पुस्तक—२ अध्याय—१ अन्तिम अनुच्छेद

३१— क्रिटिक ऑव प्योर रीजन डाइलेक्टिक पुस्तक—२ अध्याय—१ अनु०—V पृष्ठ—१२५

३२— क्रिटिक ऑव प्योर रीजन डाइलेक्टिक पुस्तक—२ अध्याय—१ अनु०—V पृष्ठ—१५७—१५६

३३— क्रिटिक ऑव प्योर रीजन अध्याय—आदर्शवाद का खण्डन

३४— राधाकृष्णन एस० इण्डियन फिलासफी भाग—२ पृष्ठ—५२१—५२२

३५— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—३७२—३७४

३६— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—३८०—३८१

३७— बेली जे० बी० अनुवादक द फेनामेनालजि ऑव माइड पृष्ठ — ८६

३८— द साइस ऑव लॉजिक खण्ड—१ पृष्ठ—८३

३६— कोपिल्स्टन ए हिस्टी ऑव फिलासफी खण्ड—६ भाग—२ डबल डे सस्करण

४०— ट्रुथ एण्ड रिएलिटी, पृष्ठ—४२८

४१— सक्सेना, सुशील कुमार स्टडीज इन द मेटाफिजिक्स ऑव ब्रैडले

४२— एपीयरेस एण्ड रिएलिटी पृष्ठ—२०६—२०७

४३— लॉजिक खण्ड—२ पृष्ठ—६५१

४४— चन्द्र रमेश, अनु० दर्शन के प्रकार पृष्ठ—१२६

४५— तिवारी के० एन० तत्त्वमीमासा एव ज्ञानमीमासा पृष्ठ—१४०—१४१ निगम शोभा पाश्चात्य दर्शन के सम्प्रदाय पृष्ठ—६

४६— साख्यप्रवचनसूत्र, १/६३—६४ व ५/१ तत्त्वकौमुदी पृष्ठ—५७

४७— ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थं प्रतिबधापनय एव व्यापर — तत्त्ववैशारदी सा० सू०—४/२ पर

४८— पापिनी ज्ञानप्रतिबधार्थम्

४६— साख्यप्रवचनभाष्य सा० सू०—१/१२२ ५/६१ व ६५ ६/५२ व ६६ पर

५०— साख्यप्रवचनभाष्य सा० सू०—३/५७ व ५/१२ पर

५१— त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ—५२ व ५७ साख्यप्रवचनसूत्र १/१२१

५२— त्रिपाठी डा० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ—५६—६० एम्पेडाक्लीज तत्त्वो का सिद्धान्त

५३— त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ—१३७—१३८

५४— त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ—१८०—१८२

५५— त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ— १८६—१६१

५६— त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ— १६३—१६५

५७— राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग—२ पृष्ठ—२८६—२६०

५८— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—१२८—१२६

५६— दयाकृष्ण, प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२ पृष्ठ—६८—६६ और भूमिका—vi

६०— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२ पृष्ठ— ६३—६५ व ६८

६१— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—२१६

६२— राधाकृष्णन एस० इण्डियन फिलासफी भाग—२ पृष्ठ—३१८

६३— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२ पृष्ठ—१५७

६४— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२

६५— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२ पृष्ठ— १६०—१६१

६६— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—३६०—३६२

६७— श्रीवास्तव जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ—४७ मसीह याकु पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या पृष्ठ—२४६

६८— राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग—२ पृष्ठ—३०३ की पादटिप्पणी

६६— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड—२ पृष्ठ—२६६ की छठी पादटिप्पणी

७०— सिह डॉ बी० एन०, पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ— २८६—२६१

७१— सिह डॉ बी० एन०, पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ— २६७—२६८

७२– मसीह याकु पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या पृष्ठ– १५६–१६०

७३– लॉजिक खण्ड–२ पृष्ठ–३६ की पादटिप्पणी व ५४०

७४– श्रीवास्तव जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ–१०२ व ८६–८७

७५– श्रीवास्तव जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ–१६०–१६१ १६४–१६५ व १६८

७६– लाल बी० के० समकालीन पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ–२५८–२५६ २६२ व २६७

७७– हिक जॉन फिलासफी ऑव रिलिजन पृष्ठ–८

७८– गेलोवे जार्ज द फिलासफी ऑव रिलिजन पृष्ठ–४७०

७६– दासगुप्ता हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी खण्ड–१ पृष्ठ–२४४

८०– दासगुप्ता हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलासफी खण्ड–१ पृष्ठ– २४६

८१– प्रतिक्षण परिणमिनो हि सर्व एव भावा ऋते चितिशक्ते – ५ साख्यतत्त्वकौमुदी ।

८२– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–३२६

८३– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–२६३–२६४

८४– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ–४५८

८५– देवराज डॉ० एन० के० पूर्वी और पश्चिमी दर्शन पृष्ठ–१३५–१३७

८६– द पॉजिटिव साइसेज ऑव हिन्दूज पृष्ठ–४

८७– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–३३३

८८– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ– ३२५

८६– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ–३३६

६०– हिस्टी ऑव फिलासफी खण्ड–३ पृष्ठ–४७८

६१– शेलिग ऑव हयूमन फ्रीडम पृष्ठ– ७४ ८३ व ६०

६२– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ–३२२ की

६३– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ–३३५–३३६

६४– हिस्टी ऑव फिलासफी खण्ड–३ पृष्ठ–२५

६५– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२ पृष्ठ– ३३८

६६– देवराज डॉ० एन० के० पूर्वी और पश्चिमी दर्शन पृष्ठ– १४८–१५१

९७– द साइस ऑव लॉजिक खण्ड–१ पृष्ठ–६५

९८– हेगेल फिलासफी ऑव नेचर खण्ड–१ परि०–२९८ की पादटिप्पणी पृष्ठ–२०९

९९– दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खएड–२ पृष्ठ–३५६

१००– राधाकृष्णन एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ– ३३३

१०१– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ– २६२–२६४

१०२– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ– २६३–२६६

१०३– पैट्रिक जी० टी० डब्ल्यू० इण्टाडक्शन टू फिलासफी पृष्ठ–१२५

१०४– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–२७१

१०५– डार्विन चार्ल्स ओरिजिन ऑव स्पेसीज पृष्ठ– ४२६

१०६– डार्विन चार्ल्स ओरिजिन ऑव स्पेसीज पृष्ठ– १०२–१०३

१०७– डार्विन चार्ल्स ओरिजिन ऑव स्पेसीज पृष्ठ– ६६

१०८– डार्विन, चार्ल्स ओरिजिन ऑव स्पेसीज पृष्ठ– १३१

१०९– डार्विन चार्ल्स ओरिजिन ऑव स्पेसीज पृष्ठ– ६–२०

११०– बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ–१७४ व x

१११– बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ– १०७–१०८

११२– बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ– ५६–५७

११३– बर्गसा माइड–इनर्जी पृष्ठ–१३

११४– बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ–४१

११५– बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन, पृष्ठ– ५३–५४

११६– बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ– १०९

११७– बर्गसा क्रीएटिव इवोल्यूशन पृष्ठ– ६२

११८– देवराज डॉ० एन० के० पूर्वी ओर पश्चिमी दर्शन पृष्ठ– १६५–१६६

११९– मार्गन लायड इमर्जेंट इवोल्यूशन

१२०– मिश्र डॉ० अर्जुन, दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–३०६

१२१– व्हाइटहेड साइस एण्ड दमार्डन वर्ल्ड पृष्ठ–१४५

१२२– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–३०७–३०८

१२३– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–३०८–३०६

१२४– मिश्र डॉ० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–३१० दीवानचन्द्र तत्त्वज्ञान पृष्ठ–११६

१२५– मिश्र डा० अर्जुन दर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ–२६३

१२६– राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–३३४

साख्यप्रवचनभाष्य – सा० सू० ५/१२

१२७– प्रकृतिलीनस्य जन्येश्वरस्य सिद्धि – ३/५७ सा० सू०

१२८– सिविलाइजेशन एण्ड इथिक्स भाग–२ भूमिका पृष्ठ–१२

१२६– देवराज डॉ० एन० के० भारतीय दर्शन पृष्ठ–४०१

१३०– साख्यप्रवचनसूत्र– ५/१२

१३१– सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ– ६

१३२– सिह डॉ०बी०एन०, पाश्चात्य दर्शन पृ०–२५व२८ त्रिपाठी डॉ०सी०एल० ग्रीक दर्शन पृ०–७६–७७

१३३– त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– ८३ व ८६–८७

१३४–त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– १३८–१४०

१३५–त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– १४२–१४४

१३६– त्रिपाठी, डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– १४५–१४६

१३७– राधाकृष्णन्, एस० इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृष्ठ–५६८ की पादटिप्पणी

१३८– त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ–२०६–२०७

१३६– त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– २०७ २०६ २१४–२१५ व २१७–२१८

१४०– प्लेटो रिपब्लिक

१४१– त्रिपाठी डा० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ–२६६–२६७

१४२– त्रिपाठी डॉ० सी० एल० ग्रीक दर्शन पृष्ठ– २६६–२७१

१४३– सिह डॉ० बी० एन०, पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ–१११–११७

१४४– मेडिटेशस ऑन द फर्स्ट फिलासफी सख्या–२

१४५– दयाकृष्ण प्रो०, पाश्चात्य दर्शन का इतिहास खण्ड–२, भूमिका पृष्ठ–IV

१४६— मेडिटेशस ऑव द फर्स्ट फिलासफी सख्या—२

१४७— रिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—२०३ व २०६—२०८

१४८— रिह डा० बी० ए न० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ - २१४—२१५ व २२२—२२३

१४६— मोनार्डोलजि ७१ व ७३

१५०— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—२३६—२४१

१५१— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ— २६६

१५२— लॉक एन एशे कसर्निंग बुक—II, सेक्शन—xIII व xxIII, १५

१५३— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—२६८—२७१

१५४— दयाकृष्ण प्रो० पाश्चात्य दर्शन का इतिहास ाण्ड—२ पृष्ठ—१८६ व १८८—१८६

१५५— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—३६०

१५६— देवराज डॉ० एन० के० भारतीय दर्शन पृष्ठ—५२३

१५७— काट क्रिटिक ऑव प्योर रीजन खण्ड—v, पृष्ठ—१५७

१५८— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ—३५३

१५६— सिह डॉ० बी० एन० पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ— ३६६—३६७

१६०— राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग—२ पृष्ठ—४८४

१६१— भण्डारकर, आर० जी०, इण्डियन फिलासफी रिव्यू, पृष्ठ—२०० से आगे

१६२— श्रीवास्तव डॉ० जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ—५८

१६३— श्रीवास्तव डॉ० जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ— ७८—८०

१६४— श्रीवास्तव डॉ० जे० एस० अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ— ६८—१०२

१६५— राधाकृष्णन् एस० इण्डियन फिलासफी भाग—२ पृष्ठ—५२३

१६६— थियोरी ऑव माइड एज प्योर एक्ट पृष्ठ—६—७ व १०

१६७— हण्ट एशे ऑन पानथीइज्म पृष्ठ—१८०

१६८— वर्मा वी० पी० धर्मदर्शन की मूल समस्याए पृष्ठ—३३१—३३२ ३४४ व ३७३

अध्याय षष्ठम्

सांख्य दर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों से तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय दर्शन मे साख्य दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है यही कारण है कि शकराचार्य उसे प्रधानमल्ल कहते है। भारतीय दर्शन के विविध प्रकार की दार्शनिक विचाारधारा नास्तिक आरितक भौतिकवादी अध्यात्मवादी बहुत्ववादी द्वैतवादी अद्वैतवादी आदि मिलते है। साख्य दर्शन द्वैतवादी निरीश्वरवादी परिणामवादी ओर सत्कार्यवादी है। यथार्थवादी होकर भी वह अध्यात्मवादी से ओत–प्रोत है। अन्य भारतीय दार्शनिक परम्परा मे इसका तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार है—

(I) चार्वाक दर्शन

चार्वाक न तो श्रुति परम्परा में विश्वास करता है और न ही ईश्वर की सत्ता मे जबकि साख्य वेद आदि श्रुतियो मे विश्वास करती है। यद्यपि वह ईश्वर की सत्ता को रवीकार नही करती है। चार्वाक भौतिकवाद है जो मूल तत्त्व के रूप मे चार महाभूत पृथ्वी जल अग्नि और वायु को रवीकार करता है।[१] जबकि साख्य वस्तुवादी है और वह निरपेक्ष तत्त्व चेतन और निष्क्रिय पुरुष तथा जड और सक्रिय प्रकृति की सत्ता मानता है महाभूतो को तन्मात्राओ से उत्पन्न मानता है।

चार्वाक का चैतन्य किसी अभौतिक तत्त्व अर्थात् आत्मा का गुण नही है। उक्त चारो जड तत्त्वो के मिश्रण से ही चैतन्य गुण उत्पन होता है। जैसे पान कत्था चूना और सुपारी किसी मे लालिमा नही होती है। जब उन्हे मिलाकर खाया जाता है तो लाली उत्पन्न होती है।[२] इस प्रकार चेतन शरीर ही आत्मा है।[३] इसे भूतचैतन्यवाद कहा जाता है। साख्य शुद्ध चैतन्य पुरुष की सत्ता मानती है अत वह आत्मवादी दर्शन है आत्मा नित्य स्वप्रकाश स्वत सिद्ध ज्ञाता रूप है। चार्वाक केवल उन्ही तत्त्वो की सत्ता मे विश्वास करता है जिनका प्रत्यक्ष चार्वाक एक मात्र प्रमाण प्रत्यक्ष को स्वीकार करता है किया जा सके। लेकिन साख्य अध्यात्मवादी दर्शन होने से अतीन्द्रिय अनूभुति को भी स्वीकार करती है। यही कारण है कि वह अतीन्द्रिय सत्ता को भी मानती है।

चार्वाक कारणकार्य भाव को अस्वीकार कर सृष्टि के लिए स्वभाववाद को मानता है। जिसके अनुसार उपादान कारण जडतत्त्वो के द्वारा ही सृष्टि होती है। लेकिन उपादान द्रव्य

रवत क्रियाशील नही होता है। निष्क्रिय होने पर परिणामनशीलता तथा विकास के लिए निमित्त कारणभूत की कल्पना आवश्यक हो जाती है। चार्वाक मत मे जडतत्त्वो का अपना स्वभाव होता है अपने–अपने रवभाव के अनुसार वे सयुक्त होते है और उनके स्वत सम्मिश्रण मे ससार की उत्पत्ति होती है। जड तत्त्वो का आकस्मिक सयोग होता है। क्योकि इसके अनुसार ससार की उत्पत्ति किसी प्रयोजन साधन के लिए नही हुई है।[४] लेकिन साख्य सृष्टि के लिए निमित्त कारण पुरुष और उपादान कारण प्रकृति को मानती है। वह प्रकृति परिणामवादी है। कारणकार्य को रवीकार कर सत्कार्यवाद जिसके अनुसार कार्य अपने कारण मे पहले से ही निहित होता है को स्वीकार करती है। जिसमें जगत को सत्य माना जाता है। साख्य सृष्टि को प्रयोजनमूलक मानती है।

चार्वाक मे मुख्यत दो मत महत्वपूर्ण है एक स्वभाववाद और दूसरा यदृच्छावाद। पहला मत जगत मे परिवर्तन को वस्तुओ का स्वभाव मानता है और दूसरे मत मे यदृच्छिक (मनमाने तौर पर) है। दोनो ही प्रकृति के आधार पर दोनो सत्ता नही मानती पर दोनो मे ये अन्तर है कि रवभाववाद का विश्व अन्यत्र नही आत्मतन्त्र है। लेकिन आत्मा शब्द पूर्णत भौतिक है। यही कारण है कि कारणविहीन जगत मे चार्वाक भौतिक जगत तक ही सीमित रहा। फल की अनियमतिता के कारण यदृच्छवादियो की भोग प्रवृत्ति को बढावा मिला। साख्य मत के ठीक विपरीत चार्वाक प्रकृति की एकरूपता और नियमतिता पर विश्वास नही करते। जो कुछ एकरूपता दिखाई पडती है वो उसका तत्कालीन प्रभाव है। इसके पीछे अप्रत्यक्ष नियमो कि कल्पना ठीक नही है। यहॉ प्रकृति मे एकरूपता के नियम का निषेध है। ये काकतालीय न्याय मात्र है। सबकुछ अतार्किक परिस्थिति है।[५] चार्वाक सभी परिवर्तन की घटनाओं एव जीव की उत्पत्ति को आकास्मिक मानता है। क्योकि ये रात्कार्यवाद के विपरीत है। अपने रवरूप से पूर्व निर्धारित रूप गे यथा तथ्य नही गानता।

जडात्मक बहुतत्वादी चार्वाक मृत्यु को ही अन्तिम सत्य मानता है तथा ऐहिक सुखवाद को रवीकार्य करता है।[६] वही द्वैत वस्तुवादी साख्य मोक्ष को जीवन का अन्तिम ध्येय मानता है और दुख त्रयाभिघाता से मुक्त जीवन पर बल देता है जिसके लिए एक मात्र साधन विवेक ज्ञान है।

(II) जैन दर्शन

जैन दर्शन तत्त्वमीमासा वस्तुवादी और सापेक्षतावादी बहुत्ववाद है। मूलतत्व द्रव्य[७] को दो प्रकार का मानता है। जीव और अजीव ये क्रमश चेतन ओर अचेतन है।[८] लेकिन ये दोनों बिल्कुल विरोधी नही अपितु विश्व के दो मूल अगो के रूप मे सहवर्ती सघटक है। जिनसे सारा जगत प्रवर्तमान है। ये साथ–साथ रहते हुए भी पररपर रवतन्त्र है। साख्य दो निरपेक्ष और पररपर रवतत्र–चेतनरूप निष्क्रिय पुरुष और अचेतन रूप सक्रिय प्रकृति की मात्रा स्वीकार करता है। जैन जीव जगत के सारे चेतन भोक्ता वर्ग के लिए प्रयुक्त है। अत वह ज्ञाता कर्ता और भोक्ता रूप है। ज्ञान जीव का रवरूप गुण होने से ज्ञाता है। जीव कर्मों का वास्तविक कर्ता होने से कर्मफलों का वास्तविक भोक्ता है। जीव न विभु है और न अणु। लेकिन साख्य का पुरुष मूलत द्रष्टा अर्थात साक्षी चेतन है। अत वह वास्तविक कर्ता या भोक्ता नही है। पुरुष बहु है पर उनमे गुणात्मक या भावात्मक भेद नही है। जबकि जैन मे विभिन्न शरीरों के लिए आकार भेद के साथ जीवो कि इन्द्रियो की सख्या मे भी भेद पाया जाता है। किसी की एक किसी की दो या तीन या चार या किसी की पॉच इन्द्रियॉ होती है।[९] जैसे क्रमश शख चींटी, भौरा और मनुष्य।

अजीव योग्य है जिसका अनुभव स्पर्श घ्राण तथा रसनेन्द्रिय से सम्भव है। अमूर्तजीव आकाश काल धर्म और अधर्म है जबकि मूर्त अजीव द्रव्य पुद्गल[१०] रहता है। जगत के सारे पदार्थ जिनका भौतिक इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है के परिवर्तन तथा गतिया देखी जाती है। सब पुद्गल है जीवात्मा के साथ सश्लिष्ट होकर ये बन्धन का कारण बन जाते है।[११] पुद्गल तथा जीवो मे क्रिया और भाव दोनो है। इसी कारण उसमे परिणाम सम्मेलन तथा विकरण के माध्यम से जगत की उत्पत्ति स्थिति ओर विनाश दृष्टिगोचर होते है।[१२] शक्ति का निर्माण एव विकास जीव द्वारा होता है क्योकि निमित्त कारण बनकर पुद्गल कण समूहो को रूप देकर शरीर का निर्माण करते है। साख्य की प्रकृति अचेतन है पर वह इन्द्रिय प्राप्त नही है। वह जगत का निर्माण सूक्ष्म से स्थूल की ओर करती है। यहॉ प्रकृति पुरुष के लिए समस्त कार्य करती है। पुरुष सृष्टि में पूरी तरह असयुक्त है परिवर्तन प्रकृति में होता है। अत यह प्रकृति परिणामवादी है पुरुष नही। यद्यपि जेनी पुरुष को निष्क्रिय मानने मे साख्य को

अक्रियावादी कहते है।[१३]

जैन में सृष्टि की रचना किसी एक तत्त्व विशेष से नही अपितु उक्त हर भौतिक तत्त्वो से हुई है। इनमे से जीव और पुद्‌गलो की सख्या अनन्त है। इन द्रव्यो की न तो किसी देश–काल मे किसी तत्त्व मे सलिप्त होते है। ये अनादि और अनन्त है। लेकिन हम अनाद्यानन्त स्थिति मे परिवर्तन भी होता है। ऐसा वे अपने स्वभाव मे सन्निहित कर्मशीलता परिवर्तनशीलता के कारण निरन्तर परिवर्तित होते रहते है और इस प्रकार यह सृष्टि प्रवाह निरन्तर प्रवाहमान रहता है।[१४] सृष्टि और प्रलय से रहित एक शाश्वत लोक है जिसके विविध लोको मे प्राणी स्वाभाव के अनुसार जन्मादि ग्रहण करते है। कर्म का अर्थक्रिया नही अपितु भावशक्ति या भौतिकता के प्रति मोह है। इसी कर्मबीज के दग्ध हो जाने पर[१५] जन्म–मरण रूपी भव से छुटकारा मिल जाता है।

जैन यथार्थवाद मे साख्य दर्शन से आगे है वह पुद्‌गल को यथार्थ नही मानता है। अपितु जीव जैसा सूक्ष्म प्रत्यय भी यथार्थ है। जीव को भौतिक तो नही मानता लेकिन उसमें पुद्‌गल के सम्बन्ध को इतना वास्तविक मानता है कि इससे जीव भौतिकता के काफी करीब आ जाता है। साख्य के प्रकृति पुरुष के सबध की भाति यह सबध औपचारिक नही है। अपितु व्यावहारिक है। यहॉ अनुभूत विषय ही नही अनुभवकर्ता प्रमाता या विषयी भी उतना ही यथार्थ है। यही नही कर्म को भी पुद्‌गल मानकर जीव से उसका सम्बन्ध अनादि काल से मान लेता है।[१६] अत अनादि होने के कारण इसमे हेतु का अन्वेषण भी निरर्थक लगता है। जहॉ साख्य की प्रकृति सूक्ष्म ही नही स्थूल विषयो को भी उत्पन्न करती है। अपने स्वरूप मे वह साधारण अनुभव रूप नही, अपितु सूक्ष्म है। वही जैनियो का पुद्‌गल साधारण अनुभव का वास्तविक स्थूल विषय है।[१७] वस्तुओं की मूल प्रकृति के रूप मे आधारभूत द्रव्य की अवधारणा साख्य की प्रकृति को अनुभव के धरातल से काफी दूर जा पटकती है। सारे विकास कि आधार भूमि मात्र बनने से वह प्रत्ययवादी अवधारणा बन जाती है। इसका सारा विकास ससार मे औपचारिक रूप मे फसे पुरुष के लिए है। वह परितर्वन भी वस्तुरूप सत्य या वस्तुगत नही। उसकी विषयी सत्ता प्रकृति को सामान्यबोध से परे बना देती है।[१८] दूसरी ओर सारी प्रक्रिया आरोपण मात्र होने के कारण नैतिक

उत्तरदायित्व की गम्भीरता को कम कर देती है। जो नैतिकतापरक जैन धर्मावलम्बी को अभीष्ट नही। उसकी दृष्टि मे पुद्गल विभिन्न परिणामो को प्राप्त होता है। परिणाम की वास्तविकता प्रत्येक जीव को धार्मिक बन्धन के लिए गम्भीर उत्तरदायी सिद्ध करती है।[१९]

जैन दर्शन में काम, मन तथा वाणी को भौतिक मानना साख्य मे इनके प्रकृति मे उत्पत्ति होने के समान है एव वैज्ञानिक तेजस भूतादि और कर्मात्मा चार प्रकार के अहकारो का जैन दर्शन के आहारक वैक्रियक तैजसिक और कार्मण चार प्रकार के भौतिक शरीरो से पूरा साफ है।[२०]

भौतिक जगत के अध्ययन मे जैनियो ने पुद्गल के विश्लेषण के द्वारा अपने भौतिक परमाणु सिद्धात के प्ररतुत किया है।[२१] पुद्गलो की सबसे छोटी ईकाई अविभाज्य रूप परमाणु है। वह रवय ही अपना आदि मध्य और अत है। तथा इसे इन्द्रियो से ग्रहण नही किया जा सकता है।[२२] ये परगणक गुण और आकार की दृष्टि से पररपर समान है।[२३] जैन दर्शन का रासायनिक सम्मिलन का सिद्धात सभी परमाणुवाद की अपनी विशेषता है जिसमे किसी आत्मतत्त्व की आवश्यकता नही है। अपितु परमाणु का स्वभाव ही इसे सम्भव बना देता है।[२४] यही कारण है कि नित्यानित्यात्मक वस्तु रवभाव को विश्व का कर्ता–धर्ता मानने के कारण उसे स्वभाववादी भी कहा जाता है। द्रव्य गुण और पर्याय वाला है। पर्याय का व्यवहार उत्पाद एव व्यय के लिए है। वेदो मे परिवर्तन के सूचक गुण का व्यवहार ध्रौव्य के लिये है जो नित्यता वाचक है।[२५] उत्पत्ति सत्ता और विनाश दोनो पदार्थों के सहलक्षण है। परिवर्तन की अवस्था मे सर्व भी पदार्थमूलक द्रव्य के सातत्य के कारण पूर्वावस्था युक्त है। जबकि अपनी नवीनता के कारण पूर्वावस्था से हीन भी है। परिवर्तन मे एक वस्तु के स्वभाव पर दूसरी वस्तु आना जरूरी है। परन्तु इराके लिये किसी ऐसे आधार कि आवश्यकता है जो दोनो वरतुओ के लिए सामान्य हो।[२६] अत सब द्रव्य के सापेक्ष स्वभाव है। लेकिन साख्य मत मे मात्र प्रकृति को परिवर्तन का आधार माना गया है। जो अपना त्रयगुण सत्व–रजस–तमस के द्वारा जगत की उत्पत्ति और परिवर्तन का आधार बनती है जो प्रकृति की उत्पाद–स्थिति–विनाश का आधार है। प्रकृति पुरुष के सयोग से ही सृष्टि करती है। लेकिन पुरुष इससे अछूता रहता है। जैन के जीव के ही भॉति साख्य का पुरुष सृष्टि प्रक्रिया मे भाग नही लेता। अत मोह प्रकृति मे परिणामवादी

सत्कार्यवाद को रवीकार करती है। वास्तव मे जैन दर्शन मे विश्व कि सारी घटनाए जटिलता से परिपूर्ण है। किसी सामान्य नियम को बनाकर उस पर तर्कपूर्वक आग्रह करना अतिसामान्यीकरण है और वह वास्तविक जगत से दूर की वस्तु हो सकती है।

जैन द्वारा वस्तुओ के प्रति व्यापक अनेकान्तवादी दृष्टिकोण अपना लेने पर सभी प्रतिमान विरोधो का अविरुद्ध रूप सहजगम्य हो जाता है। द्रव्य स्वरूप मे अपरिवर्तित होते हुए भी पदार्थ रूप मे अपने गुणो तक पर्यायो के कारण अनन्त रूपो का हो सकता है।[२७] इसीलिए इसके विषय मे कोई एक कथन पर्याप्त नही है। जैन तर्कशारत्र मे सप्तभगीनय किसी निश्चित स्वरूप की नही अपितु प्रसभाव्यता पर ही बल देती है। स्याद्वाद इसी मत की पुष्टि करता है। इस प्रकार जैन सारे अनुभवो को सापेक्ष बताता है तथा वास्तविकता को इन सभी सापेक्ष रूप से अन्य अनुमानो से निर्मित मानता है।[२८] जैनियो का अनेकान्तवादी यथार्थवाद दर्शन इतिहास की महत्वपूर्ण देन है। लेकिन निरपेक्ष तत्त्व की अपेक्षा जैन दर्शन की सबसे बडी कमी भी है। क्योकि बिना निरपेक्षवाद के सापेक्षवाद सिद्ध नही हो सकता। फलत रयाद्वाद जो आशिक और अपूर्ण है सत्य सिद्ध नही है। परगार्थ के बिना व्यवहार नही टिक सकता। जबकि दर्शन और न्याय की अन्त प्रेरणा निरपेक्ष आत्मतत्त्व भी माना गया है और इगित करता है। जिसकी जैन मत मे उपेक्षा की गई है।[२९] जैसा कि साख्य मे निरपेक्ष आत्मतत्त्व और पुरुष को स्वीकार किया गया है और पूर्ण सत्य के रूप मे विवेकज्ञान को।

(III) बौद्ध दर्शन

बौद्ध मत के अनुसार यह जगत किसी एक या दो या अधिक मौलिक तत्त्वो से मिलकर निर्मित नही है। यहाँ तत्त्वो का विभाजन तीन भागो मे किया जाता है। रकन्ध आयतन और धातु जगत कि प्रत्येक वस्तु वह जड हो या चेतन पचरकन्धो रूप वेदना सज्ञा सरकार और विज्ञान से मिलकर बना है। रकन्ध का अर्थ सघात अर्थात् समूहन है।[३०] लेकिन यह रपष्ठ नही है कि ये पचस्कन्ध एक ही तत्त्व के रूपान्तर है अथवा पृथक पाच तत्त्व है अथवा उनकी द्रव्यात्मक सत्ता है भी या नही। वारतव मे यहाँ अवयवी नाम की कोई वरतु अवयवो के अतिरिक्त कुछ भी नही

है। अवयवो का राघात भी अवयवी है। लेकिन राख्य मे दो मूल व निरपेक्ष तत्त्वो की सत्ता रवीकार की गई है। एक प्रकृति जो राक्रिय और अचेतन है तथा दूरारी पुरुष जो निष्क्रिय और चेतन है। इन दोनो के सयोग रो ही राम्पूर्ण जगत की सृष्टि होती है।

बौद्ध दर्शन मे कारणता सिद्धात प्रतीत्यसमुत्पाद [31] पर आधारित है। इसके अनुसार बाह्य और मानरा जितनी भी घटनाए होती है। राब के लिए कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है। किरी कारण के बिना किरी भी घटना का अविर्भाव नही हो राकता है। यह नियम किरी चेतना शक्ति के द्वारा परिचालित नही होता। अपितु यह रवय चालित होता है। सामग्रियो के प्रत्यय अर्थात एक साथ होने रो ही कार्य उत्पन्न होते है। बोद्धगत मे यदृच्छावाद का निषेध प्रकृति की एकरूपता के आधार पर किया और यह भी माना कि कारण नियम मे किरी शक्ति की कोई भूमिका नही है। ये किसी आन्तरिक प्रयोजनवत्ता को नही मानते है। क्योकि इनके अनुसार कार्योत्पादनकारण का रवय को व्यक्त करना मात्र नही है। बल्कि वह कारण के साथ ही कुछ बाह्य राहकारी कारको का भी सयुक्त फल है। कारण कार्य के अनुक्रम मे अनिवार्यता तो है। लेकिन यह अनिवार्यता औपाधिक प्रकार की है। वह औपाधिक इसलिए है कि कोई सन्तति तब तक अस्तित्व मे नही आती जब तक कुछ उपाधियॉ पूरी न हो गई हो तथा वह अनिवार्य इसलिए है कि एक बार प्रारम्भ हो जाने के बाद सन्तति तब तक समाप्त नही होती जब तक उपाधियॉ बनी रहती है।[32] कारण सिद्धात की व्याख्या बौद्ध मतावलम्बी अलग–अलग करते है। वैभाषिक और सौत्रातिक जो अभिधार्मिक कहे जाते है। कारणो और अवस्थाओ के युगपत अस्तित्व को रवीकार करते है। ये बाह्य और आन्तरिक जगत को वारतविक और रवतन्त्र मानते है।[33] अत ये कारण कार्य मे नियत राहचर्य को स्वीकार करते है। लेकिन वैभाषिक बाह्य प्रत्यक्षवादी होने से अस्तित्ववादी है। तो सौत्रातिक बाह्य अनुमेयवादी होने के कारण क्षणिकवाद को मानते है शून्यवाद किसी भी साकार की रात्ता न मानने के कारण जगत को असत्य मानते है।[34] अत ये सापेक्षता सिद्धात पर बल देते है। परन्तु विज्ञानवादी एकमात्र विज्ञान जिन्हे हम बाह्य वरतुओ के रूप मे जानते है,[35] की सत्ता मानने के कारण सिद्धात को मानसिक अर्थात सप्रत्यात्मक मानते है।[36] रपष्ट है कि साख्य दर्शन बौद्ध धर्म से भिन्नता रखता है। साख्य दर्शन का कारण सिद्धात प्रकति परिणामवादी और सत्कार्यवादी है। उसके अनुरार जगत सत अर्थात् यथार्थ है। कार्य

अपने कारण मे पहले से ही विद्यमान रहता है और कार्य कारण की वास्तविक अभिव्यक्ति है।[३७] इस प्रकार सांख्य प्रयोजनवादी है। वह कारण मे निहित है। शक्ति सिद्धान्त को ही नही मानता अपितु आत्मरूप पुरुष की भी सत्ता स्वीकार करता है।

बौद्ध दर्शन मे कर्मवाद की स्थापना प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा ही होती है। जिसके अनुसार वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मो का ही फल है और वर्तमान जीवन के कारण ही भविष्य जीवन की उत्पत्ति होती है। यही जीवन–चक्र पुर्नजन्म का आधार है।[३८] बौद्ध दर्शन साख्य की भॉति ही किसी ईश्वरवादी को जगत के सचालक के रूप मे स्वीकार नही करता। बौद्ध मत में पचस्कन्ध स्वभाव तथा कर्म के द्वारा इस विश्व का सचालन होता है। इस विश्व के नाना प्रकार के प्राणियो के नाना प्रकार के कर्मो के आधिपत्य से । केवल उन प्राणियो के देहादि उत्पन्न होते है। बल्कि उन प्राणियो के निवास स्थान अर्थात् लोक का भी निर्माण होता है। बौद्धों के कर्म सिद्धात को व्यापक स्तर पर जीवन और जगत दोनो की उत्पत्ति और विनाश पर लागू किया। वे शाश्वत विश्व के स्थान पर सृष्टि और प्रलय को स्वीकार करते है।[३९] सांख्य दर्शन कर्मवाद और पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त वह दु ख की व्यापकता को स्वीकार करता है।[४०] अत साख्य और बोद्ध दोनो दु ख से मुक्ति की बात करते है।

बौद्ध मत मे सभी वस्तुए सस्कृत है। अत वे अनित्य है। महाभूतो से निर्मित वस्तुए कुछ समय के बाद ही नष्ट हो जाती है। जबकि चित् अर्थात् विज्ञान अहर्निश दूसरा ही उत्पन्न होता है और दूसरा ही नष्ट होता है। इस प्रकार एक का विनाश और दूसरे का उत्पाद लगातार होता रहता है। यही क्षणिकवाद जो अनित्यवाद भी कहलाता है।[४१] जितनी भी वस्तुए है। सभी की उत्पति कारणानुसार हुई है। ये सभी वस्तुए सब तरह से अनित्य है।[४२] महात्मा बुद्ध ने इस विचार को अनित्यवाद कहा है। इस सम्बन्ध मे युक्ति दी गई है। किसी वस्तु की सत्ता का लक्षण उसका अर्थक्रियाकारित्व अर्थात् किसी कार्य के उत्पन्न करने की शक्ति।[४३] अत सत्ता के लिए अर्थक्रियाकारित्व आवश्यक है। ससार की सभी वस्तुए प्रति क्षण बदलती रहती है। क्योकि किसी भी वस्तु मे प्रति क्षण एक ही प्रकार के परिणाम की सभावना रहती है। अत प्रत्येक वस्तु की सत्ता क्षणभर की है।[४४] वास्तव मे प्रत्यक्षीकरण के किन्ही दो क्षणो में वस्तुए केवल सादृश्य होती

है और इस सादृश्य को गलती से हम तादात्म्य मान लेते है। अनुभव की प्रत्येक अवस्था आर्विभूत होने के बाद तुरन्त तिरोहित होते ही अगली अवस्था में लीन हो जाती है और इस प्रकार प्रत्येक आगामी अवस्था मे सभी पूर्वगामी अवस्था अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहती है। जो अनुकूल परिस्थितियो मे अपने को अभिव्यक्त कर देती है।[४५] प्रक्रिया ही वस्तु है इस प्रकार बोद्ध दर्शन उपादान के अभेद के अर्थ मे एकता को तो अस्वीकार्य करता है। लेकिन उसके स्थान पर सातत्य को मान लेता है। साख्य सिद्धात जगत की क्षणिकता को स्वीकार करती है। किन्तु यह क्रियागत है। साख्य सत कारण की सत्कार्य रूप अभिव्यक्ति मानती है। वह नित्य सत्ता को स्वीकार करती है। इस प्रकार साख्य बौद्ध मत की समग्र क्षणिकवाद को स्वीकार नही करती है। क्योंकि बोद्ध किसी भी नित्य सता को स्वीकार नही करती। जबकि साख्य में निरपेक्ष और नित्य प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार कर सत्कार्यवादी सृष्टि विकास को मानते है।

बोद्ध दर्शन मे कूटस्थ नित्य चैतन्य रूप आत्मा की सत्ता को नही माना गया है। अत ये अनात्मवादी है। इनके अनुसार जीवन विभिन्न क्रमबद्ध और अव्यवस्थित अवस्थाओं का एक प्रवाह या सतान है। विभिन्न अवस्थाओं की सन्तति को ही जीवन कहते है।[४६] जीवन पूर्ववर्ती वर्तमान परवर्ती विभिन्न अवस्थाओ मे पुर्वापर कारण कार्य सम्बन्ध होता है। स्वय प्रतीत्यसमुत्पाद भूत, वर्तमान भविष्य तीनो कालो के अपने मे समाहित कर जीवन और जगत की व्याख्या करता है। मनुष्य केवल एक सघात का ही नाम है। जब तक यह सघात कायम रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है और जब यह नष्ट हो जाती है तब मनुष्य का भी अन्त हो जाता है। यह सघात 'पचस्कन्ध रूप है। इस सघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नही है।[४७] कर्म सिद्धात मे विश्वास बोद्ध दर्शन के लिए कोई दिक्कत शायद इसलिए पैदा नही करती क्योकि यदि कर्ता के बिना कर्म हो सकता है तो आत्मा के बिना भी पुनर्जन्म हो सकता है। बोद्ध तो प्रति क्षण पुनर्जन्म मानते है।[४८] साख्य के कर्मवाद और पुनर्जन्म का आधार आत्मरूप पुरुष है। यह पुरुष साक्षी रूप है, जो शुद्ध चैतन्य और नित्य है। यद्यपि साख्य के कर्मसिद्धात मे प्रतीत्यसमुत्पाद की भाति तीनो कालो अर्थात् प्रारब्ध सचित, क्रीयमाण कर्म का समाहार किया गया है। लेकिन जहॉं बौद्ध सत् प्रवाह को आधार मानती है। वही साख्य आत्मा की नित्य सत्ता भूत आधार को स्वीकार करती है। बौद्ध मत मे निर्वाण सुख रूप माना गया है। क्योकि बोद्ध

दु ख से छुटकारा पाना ही जीवन का सर्वोच्च साध्य मानता है।[४६] लेकिन यह प्रश्न उठता है कि अनात्मवाद मे सुखानुभूति कैसे सभव है। जब आत्मवादी साख्य मोक्ष को आनन्दहीन मानता है। वह मोक्ष को दु ख त्रयाभिघात से मुक्त मानता है पर सत गुण सापेक्ष सुख मानने के कारण आत्मा को आनन्द नही मानता है।

बोद्ध प्रत्यक्षवादी है। सारत बुद्ध प्रत्यक्ष ओर तर्क के दायरे के बाहर के किसी चीज को स्वीकार नही करते। क्योकि बौद्ध व्यवहारनिष्ठ है अर्थात जीवन की मुख्य बात दु ख से बचना है।[५०] बोद्ध का मत है कि दर्शन किसी को निर्मल नही करता केवल शाति प्रदान करती है। वैभाषिक और सौत्रातिक यथार्थवादी है। जिसमे विषयी और विषय दोनों वास्तविक स्वतत्र है लेकिन इनकी वास्तविकता और स्वतन्त्रता साख्य से भिन्न है। क्योकि साख्य मूलतत्त्व की सत्ता मानता है और सत्कार्यवादी है। जबकि उक्त दोनो तो किसी मूलतत्त्व को स्वीकार नही करते है तथा क्षणिकवाद मे सातत्य के आधार पर जगत को स्वीकार करते है।[५१] शून्यवाद की दृष्टि मे सब कुछ असत् है जो कि प्रतीतिमान है।[५२] अत यह साख्यमत से बिल्कुल ही भिन्न है। क्योकि साख्य जगत को सत मानता है। अत बोद्धमत में नैतिकता की स्थापना के लिए कोई सेद्धातिक आधार ढूढना मानो की झझावात मे क्षणिक रूप से पैर टिकाने की जगह ढूँढने की तरह है। विज्ञानवाद के मत मे एकमात्र विज्ञान की सत्ता है जो विज्ञप्तिमात्रता के द्वारा निरपेक्षवाद पर आधारित था। किन्तु स्वतत्र विज्ञानवाद ने इसका निषेध कर क्षणिकप्रवाहवानविज्ञान को स्वीकार किया जिसका प्रतिपादन आचार्य दिड्नाग ने किया। इन्होने साख्यमत की आलोचना[५३] मे कहा है कि साख्य जिन तर्कों से असत्कार्यवाद का खण्डन करते है। वे ही तर्क उसके सत्कार्यवाद के विरुद्ध भी प्रयुक्त किये जा सकते है। यथा– सत्य की उत्पत्ति नही हो सकती क्योकि जो सत्य है वह पहले ही उत्पन्न है। उसकी पुनर्रुत्पत्ति नही की जा सकती जब उत्पत्ति योग्य पदार्थ ही नही तो उपादान कारण ग्रहण की आवश्यकता नही। स्वतत्रविज्ञानवादी को असत्कार्यवादी की अपेक्षा अर्थक्रियासामर्थ्यवादी कहना अधिक उपयुक्त होगा। उसके असत्कार्यवादी का इतना ही अर्थ है कि प्रत्येक क्षणिक वस्तु अपनी उत्पत्ति से पूर्व क्षण मे असत है। किन्तु उत्पत्ति का अर्थ असत् पदार्थ की उत्पति नही अपितु अर्थक्रियासामर्थ्य है जो स्वय वस्तु का स्वरूप है। प्रकृति के नित्य होने से अर्थक्रियासामर्थ्य नही हो सकती और क्रमोत्पाद

नही कर राकती। दूसरे प्रकृति अकेले नही अपितु पुरुष के राहयोग से ही सृष्टि में प्रवृत्त होती है । फिर यदि कारण गे अभिव्यवित के लिए कोई अतिशय माना जाये तो इस अतिशय को ही कारण गानना होगा प्रकृति को नही। वास्तव गें बिना नित्य प्रकृति के राहायता लिए ही हग कार्य कारण वैचित्र्य को शक्ति भेद द्वारा सिद्ध कर राकते है।

प्रो० जैकोबी के गत गे बौद्धगत बारह हेतुओ की राहिता या रान्तान राख्य दर्शन की परम्परा की रपष्ट प्रतिच्छाया है। राख्य के प्रभाव के कारण ही बौद्धमत मे प्रधानतया जीवन दु खो के उद्भावक हेतुओ की व्याख्या की गई है। आचार्य गार्बे का भी यही गत है।[५४] ओल्डेनवर्ग का मत है कि बौद्ध दर्शन अपने मूल मे जगत को शून्य नही सद्वादी ही मानता है।[५५] प्रो० कीथ के अनुसार साख्य दर्शन और बोद्ध दर्शन मे कोई वास्तविक साम्य नही जैसे कि साख्य नित्यात्मवाद तथा यथार्थवाद का प्रबल पोषक है। परन्तु बौद्ध दर्शन नैरात्म्यवादी तथा अवस्तुवादी है। राख्य की परिणाग परम्परा के राथ बौद्धो के द्वादश हेतुओ के सन्तान ही कोई विशेष राम्बन्ध नही। जबकि प्रो० गार्बे का गत था कि अपने आरम्भ काल गे बोद्ध दर्शन न तो नेरारगयवादी ही था ओर न ही अवरतुवादी था। प्रो० कीथ[५६] के गत मे पुरुष एव गुण रिद्धात बौद्ध दर्शन गे नही है। कारणत ओर निराशावाद के लिए साख्य बोद्ध दर्शन का ऋणी है। बुद्धचरित्र[५७] मे आराध्य के उपदेश के आधार पर उक्त निष्कर्ष निकाला गया है। गुण साख्य का गोलिक प्रतिपाद्य है। जिराका प्रगाण ऋग्वेद[५८] गे भी गिलता है। प्रो० शारवैरकी[५९] के अनुसार राख्य के गुण के रथान पर रोतान्त्रिक धर्म को रवीकार करता है। जिन्हे गनोवैज्ञानिक रारार का उत्पादक मानते हैं। इनमे अन्तर यह है कि धर्म क्षणिक है और गुण नित्य है। जो प्रकृति रवरूप है। रार्वत्र क्षणिक रार्वशून्य ओर रार्वदु ख रो रागुत्पादित निराशावाद राख्य गे नही है। राख्य रारारिक दु ख गे सुख तथा रारारिक सुख गे दु ख को त्रिगुण रिद्धात के अनुरार मानते है। क्योकि साख्य मे प्रत्येक जागतिक पदार्थ त्रिगुणात्मक है। अत साख्य सुख दु ख दोनो के त्याग पर बल देता है। डा० राधाकृष्णन[६०] कहते है कि रासार की दु खग्राहिता तथा प्रकृति पुरुष विवेक से मोक्ष बुद्ध के लिए साकेतिक हुए होंगे तथा राख्य की गानरिाक प्रक्रिया के अनुसार बुद्ध ने स्कन्ध विषयक सिद्धात निश्चित किया होगा।

किन्तु साख्य सुत्र मे बोद्धो द्वारा प्रतिपादित अनेक मतो का खण्डन भी है। साख्य सूत्र बाह्य पदार्थ की क्षणिकता का खण्डन करता है। सूत्रकार इस बात का निषेध करते है कि वस्तुओ का अस्तित्व केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्दर है। वे प्रमेय विषयक कोई सत्ता नही रखती। वे इस बात से भी असहमत है कि शून्य के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नही।[६१] सृष्टि रचना सम्बन्धी साख्य की कल्पना एव बौद्ध दर्शन की कल्पना की कुछ साम्यता है। यथा– अविद्या का सादृश्य प्रधान से सरकार का बुद्धि से विज्ञान का अहकार से नामरूप का तन्मात्राओं से तथा षडायतन का इन्द्रियो से है। दूसरी ओर साख्य दर्शन की प्रत्यय सघ और बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद की धारणा मे समानता है।[६२] बौद्ध दर्शन के चार आर्यसत्य साख्य मत के चार सत्यो– (i) जिससे हमे छुटकारा पाना है वह दु ख है। (ii) दु ख का कारण है प्रकृति पुरुष के भेद को न जानना। (iii) दु ख के विनाश का नाम मोक्ष है। (iv) मोक्ष का उपाय सदसद् अविवेक सम्बन्धी ज्ञान के अनुकूल ही है।

(IV) योग दर्शन

साख्य एव योग दोनो समान विद्या के प्रतिपादक शास्त्र है। साख्य अध्यात्म विद्या के प्रतिपादक शास्त्र है। साख्य अध्यात्म विद्या का सैद्धातिक रूप है योग उसका व्यवहारिक रूप। साख्य दर्शन मे यह सिद्धात प्रतिष्ठित हुआ कि विवेकज्ञान से कैवल्य प्राप्त होता है। जबकि योग दर्शन विवेकज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है इस व्यवहारिक पक्ष का व्याख्यान करता है।[६३] प्रो० हिरियन्ना ने साख्य और योग को एक मान लिया है। यह माना है कि साख्य ने स्वभाववाद जैसे भौतिक दर्शन के प्रभाव मे जगत के विकास को प्रकृति से सबद्ध कर दिया जिससे ईश्वर निरवसर हो गया। योग ने उस महत्त्व को पुन प्राप्त कराया।[६४] लेकिन साख्य को स्वभाववाद से प्रभावित मानना ठीक नही है। यद्यपि ईश्वर के निमित्त कारण के रूप मे स्वीकार करने मे साख्य को कोई आपत्ति नही है। साख्य आधेय और योग आधार भी माना जाता है।[६५]

योग ने पच्चीस तत्त्वो को स्वीकार किया। विश्व की रचना नही हुई और वह नित्य है। इसमे परिवर्तन होते रहते है। अपने तात्त्विक रूप मे यह प्रकृति कहलाती है। इसका साहचर्य

गुणो के साथ है ओर उस रूप मे सदैव यह वैसा ही है। जीवात्माए असख्य है। जो जीवित प्राणियो को प्राणदान करती है। ये जीवात्माए स्वभावत निर्मल नित्य ओर निर्विकार है। किन्तु विश्व से सबधित होने के कारण ये परोक्ष रूप मे सुख–दुख को अनुभव करने वाली बनती है। जो सासारिक जीवन मे विभिन्न प्रकार की शरीराकृतिया धारण करती है। प्रकृति के विकारा के सम्बन्ध मे योग का मत है कि विकारा की दो समान्तर धारणाए है। जो महत् से शुरू होती है[66] और एक पक्ष मे अहकार मन पच ज्ञानेन्द्रियो ओर पच महाभूतो मे मिश्रित होती है। व्यास के मत मे महाभूत पच सार तत्वो से निकलते है ओर एकादशेन्द्रियॉ अहकार अथवा अस्मिता से उद्भूत है। तन्मात्राए अहकार से नही निकली है। बल्कि उसकी उत्पत्ति महत् से हुई है। आ० विज्ञानभिक्षु का मत है कि महर्षि व्यास ने केवल बुद्धि के परिवर्तनो को दो विभागो मे वर्णित किया है। किन्तु उनका सुझाव देने से नही है कि महत से तन्मात्राओ की उत्पत्ति अहकार पर निर्भर नही है।[67] साख्य मे अहकार सात्विक रूप मे इन्द्रियो को जन्म देता है और तमोरूप मे तन्मात्राओ को ओर ये दोनो ही महत् मे अवरुद्ध है। योग इन्द्रियो को स्वय भोतिक मानता है। इस प्रकार साख्य योग मे विकारा विषयक भेद अधिक महत्वपूर्ण है।

योग के मत मे जड चेतन के अभेद निबन्धक ससार को घटित करने की शक्ति अविद्या मे है।[68] यहॉ अविद्या को विद्या का अभाव रूप नही माना गया है यह ज्ञान विरोधी भाव पदार्थ है। अविद्या अनादि है। अत ससार अनादि है। प्रलयकाल में भी जीवात्माओ के चित्त प्रकृति की अवस्था मे लौट आती है और उसके अन्दर अपनी–अपनी अविद्याओ मे समाविष्ट हो जाते है। प्रत्येक नई सृष्टि के समय इनकी रचना नए शिरे से होती है। इसमे व्यक्तिगत अविद्याओ के कारण उचित परिवर्तन हो जाते है। योग की प्रतिबिम्ब व्याख्या प्रकृति से जडपदार्थो के साथ चेतन पुरुष का होने वाला अभेद सम्बन्ध ससार है।[69] परिणामवाद योग दर्शन का प्रमुख सिद्धात है, जो साख्य दर्शन की ही परम्परा है। लेकिन साख्य जहॉ कारण के रूप मे दो तत्त्व प्रकृति पुरुष को मानता है। वहीं योग मे नौ प्रकार के कारणो को माना गया है। जो नवविधिकारणवाद कहलाये जो इस प्रकार है। उत्पत्ति, स्थिति अभिव्यक्ति विकार, प्रत्यय, आदि वियोग अन्यत्व और धृति।[70] इस प्रकार योग मे सत्कार्यवाद का माना गया है। सभी प्रकट होने वाले धर्म धर्मो की योग्यता से अविच्छिन्न शक्तियाँ है।[71] विभिन्न फलो से उन योग्यताओ का अनुमान लगाते

है जो प्रकृति रूप कारण मे सम्भाव्य रूप से होते है। इस प्रकार सभी पदार्थों को मूल प्रकृति अपने सभी कार्यों के प्रति सामान्य रूप से अनुगत रहती हुई अपने मूल स्वरूप को कायम रखती है। यही नही वस्तु के अनागत अतीत तथा वर्तमान सभी धर्मों का अस्तित्व प्रत्येक समय रहता है।[७२] यथार्थ जगत मे सूक्ष्मता की अन्तिम परिणति जहाँ परमाणु मे होती है वही काल की सूक्ष्मता क्षण मे परमाणु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जिसने समय मे जाता है वही सूक्ष्म काल खण्ड क्षण कहा जाता है। क्षण वस्तुगत होता है। सारा क्रम क्षण के आश्रय से ही प्रवाह रूप से चलता रहता है। क्षणो का यह क्रमिक नैरन्तर्य बना रहता है। यही काल की अवबोधक है।[७३]

योग दर्शन के अनुसार मनुष्य प्रकृति के इतना आधीन नही है जितना कि साख्य मानता है। योग मे मनुष्य को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी और ईश्वर कि सहायता से वह अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। साख्य और योग दोनो मे एक समान जन्म चक्र अपने विविध दु खो के साथ एक ऐसा विषय है जिससे छुटकारा पाना है। प्रधान आत्मा का सयोग अर्थात् पुरुष का प्रकृति से पृथक् हो जाना इस ससार का कारण है। इस सयोग के विनाश का नाम ही मोक्ष है और इसका एकमात्र साधन पूर्ण अन्तर्दृष्टि है।[७४] आत्मा द्रष्टा है और प्रधान ज्ञेय है।[७५] दोनो का सयोग ही ससार का कारण है। जहा साख्य मे विवेकज्ञान मोक्ष का साधन है। वहाँ योग चित्त की एकाग्रता तथा क्रियात्मक प्रत्यन को महत्व देता है।[७६]

साख्य का मुख्य बिदु तार्किक अन्वेषण था तो योग भक्तिपरक साधनाओं के स्वरूप तथा मानसिक निग्रह का विवेचन करता है। इसलिए योग दर्शन को ईश्वरपरक विचार प्रकट करने के लिए बाध्य होना पडा। लेकिन योग मे जगत का मूल कारण नही है बल्कि योगसाधना के सम्बन्ध मे ईश्वर केवल ध्यान का ही विषय नही। बल्कि बाधाओ को दूर करके लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायता करने वाला भी है। किन्तु ईश्वर योगदर्शन का अतरग भाग नही है। यहाँ क्रियात्मक प्रयोजन एक शरीरधारी ईश्वर से पूरे हो जाते है और वह ईश्वरवाद की कल्पनात्मक रुचियो से अधिक वास्ता नही रखता, ईश्वर पूर्ण स्वभाववाला प्रकृष्ट सत्व है।[७७] उसमे सर्वज्ञाता का अकुर पूर्णता तक पहुँच जाता है।[७८] ईश्वर भी पुरुष है, लेकिन यह पुरुष विशेष' है। यह सदामुक्त और असग है। अत योग इसे 'पुरुष विशेष ईश्वर कहते है।[७९] ईश्वर कालातीत है।[८०] ईश्वर मे

ज्ञानशक्ति इच्छाशक्ति एव क्रियाशवित तीनो परम उत्कर्ष को प्राप्त है। ईश्वर को प्रकृति के विशुद्धतम् पक्ष अर्थात रात्व के साथ नित्य और अटूट सबध है। वह अपनी करुणा से सत्वगुण धारण करके परिवर्तन के रादर्शन गे अत प्रवेश करता है।[८१] प्राणिध्यान अर्थात निरवार्थ भक्ति रो हग ईश्वर की दया का पात्र बनने के योग्य हो जाते है। आ० विज्ञानभिक्षु का गत है कि राब प्रकार के चैतन्य युक्त ध्यान में ईश्वर का ध्यान सर्वोत्तम है।[८२] लेकिन ईश्वर विश्व का स्रष्टा अथवा रारक्षक नही है। इरा प्रश्न पर विवाद है कि गहाप्रलय की अवस्था गे ईश्वर अपनी उपाधि से सयुक्त रहता अथवा नही। वाचरपति मिश्र का मत है कि महाप्रलय मे ईश्वरोपाधि का लय होता है। इनके गत गे रात्कार्यवाद के अनुरार कार्यकारणभाव राम्बध का नियागक है। कारण रो कार्य का अविर्भाव होगा तथा उरी गे कार्य का तिरोभाव होना उक्त बात की पुष्टि करता है।[८३] लेकिन विज्ञानभिक्षु गहाप्रलय गे ईश्वरोपाधि का लय नही गानते हैं।[८४]

आ० वाचरपति गिश्र और भोजराज ने ईश्वर प्राणिध्यान को केवल एक स्थलीय गहत्ता दी है। जवकि भिक्षु ने ईश्वर प्राणिध्यान आदि के द्वारा की गई राधना को रार्वत्रिक उपादेयता रो युक्त बताया है। राख्य पद्धति के अनुकूल की गई निरीश्वरयोगसाधना– यद्यपि सफल होती है तथा विज्ञानभिक्षु की दृष्टि गे वह रोविध्यपूर्ण नही है। इरीलिए जीवात्मयोगसाधना रो परमात्मयोगराधना उन्हे कही अधिक श्रेयरकर लगती है। ईश्वर प्राणिध्यान का गार्ग उनकी दृष्टि मे राजमार्ग है।[८५] यद्यपि महर्षि पतजलि और महर्षि व्यारा ने ईश्वर का रवरूप रवय राधना के क्षेत्र मे प्ररतुत किया था किन्तु ईश्वर की मान्यता केवल वैकल्पिक रूप से ही उपस्थित हुई थी। आ० भिक्षु ने इस विकल्प को गुख्यकल्प और अनुकल्प के क्रम गे परिवर्तित कर दिया।[८६] ईश्वर राधना गुख्यकल्प और जीवात्म राधना अनुकल्प कहा गया है किन्तु भिक्षु की यह भक्ति निर्गुण ईश्वर की भक्ति है जो चिन्मात्र और चिरन्तन है तथा उराका वाचक शब्द ॐ है।[८७]

राख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष नागक दो नित्य गौलिक तत्त्व गानता है। क्या योग का ईश्वर नागक तत्त्व इन दोनो रो भिन्न है या फिर इन्ही दोनो गे रो किरी एक गे अन्तर्भावित किया जा सकता है? ईश्वर को प्रकृति तत्त्व के अन्तर्गत माना नही जा राकता, क्योकि प्रकृति अचेतन है। ईश्वर को इन दोनों तत्त्वो से भिन्न एक तीसरे प्रकार मौलिक तत्त्व मानने पर राख्य

ओर योग शास्त्र एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न प्रकार के शास्त्र हो जायेगे। इसीलिए योगसूत्रकार पातजलि ने ईश्वर को एक प्रकार का पुरुष ही माना है क्लेश कर्मविपाकाशयैरपरागृष्ट पुरुषविशेषईश्वर ईश्वर एक सामान्य पुरुष नही है। फिर भी वह एक पुरुष है। भले ही वह विशेष प्रकार का पुरुष हो। इसीलिए भिक्षु ईश्वर का अन्तर्भाव पुरुष और उसकी उपाधि का अन्तर्भाव प्रकृति मे करते है।[८८] श्रुतिया भी असगो ह्यय पुरुष कहती है तो फिर ईश्वर नामक पुरुष विशेष मे कोन–सा वैशिष्ट्य हुआ जिसके बल पर उसे विशिष्ट पुरुष माना जाय? निराकरण यह है कि परामर्श शब्द का अर्थ यहॉ वास्तविक भोग नही है। ईश्वर को क्लेशकर्मादि से अपराकृष्ट माना गया है। पुरुषो मे इन क्लेशकर्मादि की यह व्यपदिश्य मान्यता ही पुरुषो का भोग कहा जाता है। इसी व्यपदिश्यमान भोग केवल पर पुरुष को साख्ययोगशास्त्र मे भोक्ता कहते है।[८९] यही व्यपदिश्यमान भोग ही यहॉ पर परामर्श शब्द से अभीष्ट है। इस प्रकार का परामर्श सभी बद्वपुरुषो मे रहता है। परन्तु ईश्वर मे इस प्रकार का भी क्लेशकर्मादि परामर्श नही रहता। सामान्य पुरुषो से ईश्वर का यही वैशिष्टय है।[९०] ईश्वर मे त्रैकालिक परामर्श शून्यता है। जबकि कैवल्य प्राप्त सिद्धो मे पूर्णकालिक परामर्श रहता है। ईश्वर शुद्धसत्ता हे नित्य तथा शाश्वत है। सृष्टि के प्रयोजन से प्रकृति की साम्यावस्था मे सृष्टि के प्रयोजन से क्षोभ उत्पन्न करने की इच्छा भी तो ईश्वरोपाधि मे उपस्थित रहती है वह स्वय पूर्ण ज्ञान शक्ति है।[९१]

साख्य का स्वतत्रप्रधानकारणतावाद अनुचित है। योग भी स्वतत्रप्रधानकारणतावादी है। क्योंकि ईश्वर की सत्ता स्वीकर करने पर भी योग प्रकृति की प्रवृत्ति मे उसका प्रतिबन्ध निवर्तकत्व भाग स्वीकर किया गया है। किन्तु इससे साख्य और योग का अप्रामाण्य नही है। इस अश मे मे ये दोनो शास्त्र दुर्बल है।[९२]

डॉ० कीथ[९३] साख्ययोग को एक सम्प्रादाय मानते है। इसका समर्थन मे डॉ० पुलिन बिहारी चक्रवर्ती कहते है कि महाभरत मे वर्णित साख्य योग से मिश्रित है। आ० सहिता के आधार पर भी साख्य को साख्य योग कहा गया।[९४] प्रो० हिरियन्ना[९५] भी मानते है कि साख्य योग एक साथ ही है। साख्य ने स्वभाववाद जैसे भौतिकदर्शन के प्रभाव मे जगत के विकास को प्रकृति से ही सबद्ध कर दिया। जिससे निरवसर हो गया योग ने उस महत्व को पुन प्राप्त कराया।

(V) न्याय-वैशेषिक दर्शन

न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन समानतन्त्र है। परमाणुवादी बहुत्ववादी वस्तुवादी और ईश्वरवादी है। न्याय दर्शन मे जगत के उपादान कारण के रूप मे सोलह पदार्थों– प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति और निग्रह–स्थान को मानता है जबकि वैशेषिक दर्शन मे सात पदार्थ माना गया है जिसमे भाव पदार्थ मे छ पदार्थ – द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय तथा अभाव पदार्थ एक स्वतन्त्र पदार्थ है।[९६] निमित्त कारण के रूप मे ईश्वर के अस्तित्व को न्यायवैशेषिक स्वीकार करते है।[९७] यद्यपि यह विवाद का विषय है कि महर्षि कणाद् ईश्वरवादी थे अथवा नही। वैशेषिक सूत्र मे ईश्वर का उल्लेख नही मिलता किन्तु उनकी जीवनी के आधार पर ईश्वरवादी होने का प्रमाण दिया जाता है।[९८] इसी क्रम मे आचार्य प्रशस्तपाद पहले वैशेषिकाचार्य है जिन्होने वैशेषिक दर्शन को ईश्वरवादी माना। यहा तक कि शकराचार्य भी ईश्वरवादी वैशेषिक का ही उल्लेख करते है।[९९] इस प्रकार न्यायवैशेषिक मे ईश्वर को जगत का स्रष्टा पालक और सहारक माना गया है। यद्यपि कुछ लोगो का मत है की प्राचीन वैशेषिक ऐसा नही था। उनके अनुसार ईश्वर केवल अदृष्ट का सचालक मात्र है।[१००] ईश्वर उपादान पदार्थों के द्वारा जगत की सृष्टि और जीवो के सुख–दु ख का विधान जीवों के कर्मानुसार करता है। इसी के आधार पर ये ईश्वर को सिद्ध करने का तर्क देते है।[१०१] जगत धर्म प्रधान है। अत ईश्वर जगत का धर्म–व्यवस्थापक है जीवात्माओ के कर्मों का वह प्रयोजक कारण है। ईश्वर सभी जीवो के अपने–अपने अदृष्ट (अतीत संस्कार) के अनुसार कर्म करने को तथा उसके अनुसार फल पाने को प्रेरित करता है।[१०२] साख्य दर्शन द्वितत्त्ववादी वस्तुवाद है। मात्र दो निरपेक्ष तत्त्व प्रकृति जड रूप और पुरुष चेतन रूप है। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही किया गया है। यद्यपि साख्य दर्शन सृष्टि की प्रयोजनवादी व्याख्या करता है। अत यह भी कर्मवाद मे विश्वास करती है। लेकिन इसके दर्शन मे पुरुष को साक्षी और निर्विकार निर्लिप्त माना गया है। अत ये न्यायवैशेषिक के ईश्वर की भाति सृष्टा–पालक–सहारक नही है। साख्य मे प्रकृति ही पुरुष के सामीप्य को प्राप्त कर सृष्टि के लिये प्रयत्नशील होती है। अत पुरुष निमित्त कारण है। साख्य ने न्यायवैशेषिक के कडे पदार्थों को जटिल और गतिशील विश्व की व्याख्या के लिए

पर्याप्त साधन न मानकर आणविक अनेकवाद के सिद्धात से वस्तुत आगे पग बढाया। सृष्टि रचना के स्थान पर विकारावाद का प्रतिपादन करके साख्य ने अलौकिक धर्म की नीव मे ही कुठाराघात किया। इसके अनुसार यह ससार इसी सृष्टिकर्ता ईश्वर का कार्य नही है। जिसने अपनी इच्छा के चमत्कार से अपने से सर्वथा भिन्न इस ससार को आह्वान करके उत्पन्न किया बल्कि यह असख्य आत्माओ तथा सदा कर्मशील प्रकृति की परस्पर प्रतिक्रिया का परिणाम है।[१०३]

सृष्टिवाद मे न्यायवैशेषिक के दो महत्वपूर्ण मत है। एक कारण सिद्धात और दूसरा परमाणुवाद न्यायवेशेषिक तीन प्रकार के कारण मानता है –

(i) समवायि कारण इसे उपादान कारण भी कहते है। यह द्रव्य रूप होता है कार्य अपने समवायि मे समवाय सम्बन्ध मे रहता है और उससे पृथक् नही किया जा सकता। जैसे घडे का समवायि कारण मिट्टी है।

(ii) असमवायि कारण जो समवायि कारण मे समवाय सम्बन्ध से रहते हुए कार्योत्पत्ति मे सहायक होने के कारण रहता है। यह सदा गुण या कर्म होता है। गति के आधार कर्म को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानने का अर्थ है कि न्यायवैशेषिक स्थिरता को वास्तविकता का एक सम्भव लक्षण मानता है। जबकि साख्य इससे भिन्न मत रखता है। जिसके अनुसार भौतिक जगत मे वस्तुए बिल्कुल ही स्थिर नही है। न्यायवैशेषिक मत में विभु द्रव्य सदैव गतिहीन होता है। क्योकि ये केवल स्थान परिवर्तन परस्पन्द को मानते है। रूप परिवर्तन परिणाम को नही[१०४] जैसे तन्तु सयोग पट का असमवायि कारण है।

(iii) निमित्त कारण यह शक्तिमान होता है। जो अपनी शक्ति के उपादान कारण से कार्य उत्पन्न करता है। यथा– घट का निमित्त कारण कुम्भकार है। सामान्यत दो कारण ही माने जाते है। उपादान अर्थात् समवायि कारण और निमित्त कारण मे ही असमवायि कारण को माना जाता है।[१०५] इनके अनुसार कारण कार्य मे आनन्तर्य होता है। दोनो युगपत् नही हो सकते। कार्य अपने कारण से भिन्न और प्रागभाव होने से असत् होता है। कार्य पहले असत् है। फिर निमित्त कारण की क्रिया से उसकी उत्पत्ति होती है। उत्पन्न कार्य सत् है। अत ये असत्कार्यवादी

कहलाते है।[१०६] यह आरम्भवाद है क्योकि इनके अनुसार कार्य एक नई सृष्टि है। उसकी सत्ता का आरम्भ उसकी उत्पत्ति के साथ ही होता है। किन्तु साख्य के कारण सिद्धात मे उपादान कारण रूप प्रकृति तथा निमित्त कारण रूप पुरुष दो ही कारण है। जिनके सयोग से सृष्टि होती है। त्रिगुणात्मक प्रकृति कारण है और जगत कार्य है। साख्य परिणामवादी है। अत इनका मत है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति वास्तविक परिवर्तन है। प्रकृति भी सत्य है और जगत भी सत्य है। जैसा कि न्यायवैशेषिक मानते है कि सत एव नित्य परमाणुओं से उत्पन्न होने वाला जगत स्वभावत सत्य है। साख्य मत मे कारण और कार्य मे तादात्म्य है अर्थात कारण कार्य मे कुछ दृष्टियो से भिन्नता और कुछ मौलिक दृष्टियो से अभिन्नता है। उत्पादन किसी असत् पदार्थ का नही हो सकता है। बालू से तेल कभी नही मिलता। अत स्पष्ट है कि कार्य अपने कारण मे सूक्ष्म रूप से पहले से ही विद्यमान रहता है। यही सत्कार्यवाद है।

न्यायवैशेषिक दोनो परमाणुवादी है।[१०७] परमाणु जगत का कारण है। इस जगत के सारे भौतिक पदार्थ सावयव और उत्पत्ति विनाशशील है तथा नित्य परमाणुओ के विभिन्न सयोग से बनते है। पदार्थ की उत्पत्ति का अर्थ है परमाणु सयोग और विनाश का अर्थ है परमाणु सयोग विभाग। अतीन्द्रिय निर्वयव अभिजात्य और नित्य भौतिक द्रव्य परमाणु है। परमाणुओ मे गुण भेद और सख्या भेद दोनो है। ईश्वर की प्रेरणा और अदृष्ट आदि की सहायता से इनमे क्रिया उत्पन्न होती है। जिससे इन परमाणुओ का परस्पर सयोग होता है। परमाणुओ का भौतिक और रासायनिक विवेचन[१०८] न्यायवैशेषिक की महत्वपूर्ण देन है। परमाणुओ की आद्य स्पन्दन होते ही एक परमाणु दूसरे परमाणु से जुडकर द्वयणुक बन जाता है। सर्वप्रथम सारे परमाणु द्वयणुको मे परिवर्तित हो जाते हैं और फिर इन द्वयणुको से सृष्टि रचना होती है। तीन द्वयणुकों से त्रयणुक और चार त्रयणुको से चतुरणुक बनते हैं। इस पकार यह क्रम चलता है एव स्थूल महाभूत आदि की उत्पत्ति होती है। यह परमाणुवाद जडवाद या भौतिकवाद नही है। अपितु आध्यात्मिक वस्तुवाद है। साख्य मे प्रकृति त्रिगुणात्मक सत्व रज व तम है। ये गुण सूक्ष्म और अतीन्द्रिय है। यद्यपि साख्य मे गुण शब्द का प्रयोग हुआ है। तथापि ये न्यायवैशेषिक के गुणो के अर्थ मे गुण नही है। ये प्रकृति रूपी द्रव्य के गुण या धर्म नही है। अत प्रकृति तथा गुणो मे द्रव्य गुण सम्बन्ध नही है। ये गुण स्वय द्रव्य रूप और विभु है। न्यायवैशेषिक के परमाणु आदि की भांति निष्क्रिय

गूलत जड द्रव्य है ओर चैतन्य एक आगन्तुक गुण है। साख्य दर्शन मे आत्म रूप पुरुष की सत्ता रवीकार की गई है जो पूरी तरह से अध्यात्मवादी है। साख्य पुरुषबहुत्व को रवीकार करता है जैसा कि न्यायवैशेषिक भी गानते है। लेकिन साख्य के पुरुष का न्यायवैशेषिक की आत्मा से मूलभूत अन्तर है। पुरुष न तो जड है और न ही द्रव्य है यद्यपि वह विभु है। पुरुष निष्क्रिय है। पर विशुद्ध चेतन है। चेतन उसका आगन्तुक नही स्वरूप है। यही नही पुरुष का ज्ञान सामान्य कुदृष्टि अनुमान से होता है। पुरुष कर्ता भोक्ता या ज्ञाता नही है वह साक्षी मात्र है। उसे सुख–दु ख इच्छादि का कोई सम्बन्ध नही है। साख्य का पुरुष निर्विकार और निर्लिप्त है। दूसरी ओर न्यायवैशेषिक मन को अणु रूप निरवयव मानते है। अर्थात् वह एक समय मे एक ही विषय ग्रहण करता है जबकि साख्य मन को सावयव मानते है। जो एक साथ कई विषयो को ग्रहण करता है। न्यायवैशेषिक मत मे कदाचित एक समय मे अनेक ज्ञानो की उत्पत्ति प्रतीत होती है। जोकि भ्रम है भ्रम का आधार है। बडी शीघ्रता से एक के बाद दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति।[११६] अत न्यायवैशेषिक दर्शन साख्य के मध्यम परिणामवाद को नही मानता।[११७]

आत्मा के वास्तविक स्वरूप का विवेचन ही मोक्ष के स्वरूप की विवेचन का अर्थ है।[११८] न्यायवैशेषिक की दृष्टि से मोक्ष अपवर्ग' कहलाता है जबकि साख्य कैवल्य कहता है। न्यायवैशेषिक की दृष्टि में बन्धन अविद्या है तो मोक्ष विद्या है। आत्मा अविद्यावश कर्म करता है। कर्म से धर्माधर्म संस्कार अदृष्ट मे सचित होते रहते है तथा फलोन्मुख होने से आत्मा के कर्मफल भोगार्थ सृष्टि उत्पन्न होती है। आत्मा जब तक कर्म के जाल मे फँसा रहता है तब तक उसका बन्धन बना रहता है। ज्ञान द्वारा कर्म का विनाश हो जाने पर नये कर्म उत्पन्न नही होते तथा सचित और प्रारब्ध कर्मो को क्षय होने पर आत्मा शरीर इन्द्रियो और मन से आत्यन्तिक विरोध हो जाता है तथा आत्मा अपने शुद्ध रूप मे स्थित हो जाती है। मोक्ष समस्त दु खो की आत्यन्तिक निवृत्ति है।[११९] इसे साख्य भी मानता है और आत्मा के अनन्त अवस्थान को मोक्ष कहते है। अर्थात् मोक्ष के समय आत्मा के सभी आगन्तुक धर्म–विशेषगुण सदा के लिये [illegible] हो जाते है।[१२०] इस प्रकार मुक्त आत्मा अचेतन शिलाखण्ड के सदृश होकर ज्ञेय या विषय रूप हो जाता है। जिसमे चेतन एव आनन्द का सर्वथा अभाव रहता है और ऐसे आत्मा का ईश्वर के

राथ सम्बन्ध स्थापित नही किया गया। राख्य जीवन मे कर्म फल को महत्व देती है किन्तु वह आत्मरूप पुरुष को जड द्रव्य नही बनाती। राख्य मे भी मोक्ष को आनन्दहीन गाना गया है। लेकिन यह जड द्रव्य के रामान विषय रूप नही हो जाता। साख्य का पुरुष शुद्ध चेतन रूप निर्विकार और साक्षी रूप रात्ता है। गोक्ष का राधन विवेकज्ञान है। जिरागे प्रकृति पुरुष के भेद का ज्ञान निहित होता है। पुरुष कर्ता या भोक्ता या ज्ञाता नही है। लेकिन चेतना उसका रवरूप गुण है।

श्रुतियो मे सर्वज्ञ इत्यादि शब्द तो रोही शिर आदि की तरह लौकिक विकल्पो की भॉति आये हुए है। पुरुष को नित्य ज्ञान रूप गानने गे– (i) अन्त करण (ii) व्यवराय (iii) अनुव्यवसाय (iv) उनके अधार। इन चार पदार्थो की कल्पना से बचने का लाघव भी होता है। जबकि नैयायिको की यह कल्पना गौरव रवीकार करना पडता है। आचार्य भिक्षु के गत मे (i) अन्त करण (ii) उसकी वृत्ति (iii) नित्यज्ञान रूप आत्मा ये तीन ही पदार्थ मानने पडे गे।[१२१] पुरुष जाग्रत रवप्न रुषुप्ति दशाओ की बुद्धि वृत्ति का अविकल राक्षी है। वह नित्य गुक्त है। प्रकृति के राथ उराका रायोग अविद्या रो होता है। यह रायोग आविधिक उपराग या अधिक ज्ञान रूप होता है। इसलिए पुरुष गे कर्तृत्व और बृद्धि या प्रकृति गें ज्ञातृत्व प्रतीत होता है। वस्तुत वह नित्य दृष्टया ज्ञान रूप है। यह चिन्मात्र और केवल है तथा कूटस्थ नित्य भी है।[१२२] ब्रह्म गे प्रकति, पुरुष आदि अखिल शक्तियॉ अन्त लीन रहती है और रवत चिन्मात्र होने पर भी वह विशुद्ध सत्वाख्यमायोपाधि युक्त है। इससे ब्रह्म जगत का कारण भी सिद्ध हुआ है और इसमे विकारित्व का प्रसग नही आया। इसरो ब्रह्म जगत का अधिष्ठान कारण के राथ–साथ उपादान कारण रिद्ध होता है क्योकि उरारो अविभक्त रहकर उपष्टब्ध होकर भी प्रकृत्यादि का परिणागन का कार्य रूप गे हुआ है। वैशेषिक और साख्य रिद्धातों रो भी यह गत अविरुद्ध है। वैशेषिक ब्रह्म को निमित्त कारण कहते है और हमारी दृष्टि रो ब्रह्म ससार का रामवायि अरामवायि आदि से उदारीन तथा निगित्त कारणो से विलक्षण चौथे प्रकार का आधार (अधिष्ठान) कारण है। इरा प्रकार ब्रह्म की उपादान कारणता उसकी अन्तर्लीन परिणामिनी शक्ति प्रकृति के बल पर रिद्ध हुये और जगत का कर्तृत्त्व–ब्रह्म' मे माया के बल पर रिद्ध होने से यहा निगित्त कारणत्व ही है। अत ब्रह्म जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण भी सिद्ध होता है।[१२३] आ० भिक्षु

न्यायवैशेषिक की भूमिका को साख्य एव वेदान्त के परिमार्थिक स्तर के बहुत नीचे मानते है।[१२४]

विज्ञान के परगाणुवाद के आधार पर हाल गे कुछ रागय तक न्यायवैशेषिक अधिक वैज्ञानिक माने जाते थे तथा साख्यवेदान्तादि अनुभव कि व्याख्या नही अपितु आध्यात्मिक तुष्टि की प्रत्ययात्मक मार्ग थे। लेकिन आज न्यायवैशेषिक के परमाणुवाद अनुकूल नही रहे। क्योकि अब परगाणुवाद रथूल प्रकार के द्रव्य कण न होकर रार्वव्यापी वैद्युतशक्ति के अभिव्यजक केन्द्र मात्र है। जिनके परित अनवरत गतिशील परिवर्तन की धाराए है।[१२५] दूसरी ओर साख्य मे अग्नि जो राबसे महत्वपूर्ण उदाहरण दिया गया है वह विद्युत है।[१२६]

(VI) मीमांसा दर्शन

गीगारा बहुत्ववादी और बाह्याथार्थवादी है। इरा जगत के जड पदार्थ तथा जीवात्गाए सभी सत्य है। इस जगत की न तो सृष्टि होती है और न ही प्रलय। जगत के विभिन्न पदार्थ और व्यक्ति आते–जाते ओर बदलते रहते है कि यह जगत रादैव चलता रहता है।[१२७] गीगारा ईश्वर की रात्ता गे विश्वास करता है।[१२८] प्रभाकर[१२९] आठ पदार्थ द्रव्य गुण कर्ग रागान्य, परतन्त्रता(समवाय) शक्ति रादृश्य और राख्या तथा कुमारिल[१३०] पाच पदार्थ मानते है। द्रव्य गुण कर्म सामान्य चारो भावात्मक और अभाव और पुर्नजन्म कर्मवादी मे मीमासा की अटूट आस्था है। जिसके अनुसार कर्म कार्य कारणभाव के राम्बन्ध मे एक शक्ति का आर्विभाव करता है, जिसे 'अपूर्व[१३१] कहा गया है। यह कर्म का फल भोग करने की शक्ति है जो समय पाकर फलित होती है और फल की प्राप्ति होने तक आत्मा गे रहता है। कर्म फल का व्यापक नियग यह है कि लौकिक या वैदिक राभी कार्यो के फल राचित होते है।

साख्य दर्शन वस्तुवादी और द्वैतवादी है। वह प्रकृति और पुरुष दो तत्त्वो की रात्ता रवीकार करता है। राख्य जगत को वास्तविक गानता है तथा पुरुषबहुत्व के आधार पर जीवात्माओ को भी सत्य मानता है। लेकिन वह जगत को नित्य न मानकर रृष्टि ओर प्रलय जो क्रमश प्रकृति एव पुरुष के सयोग और वियोग पर आधारित है को रवीकार करता है। कर्मवाद और पुर्नजन्म मे विश्वास रखता है। लेकिन वह अपूर्व जैसी किरी अदृश्य शक्ति को

रवीकार नही करता अपितु इनके रथान पर लिंगशरीर को रवीकार करता है। यद्यपि साख्य भी ईश्वर के अरितत्व को रवीकार नही करता है। साख्य मीमासा के यज्ञादि कर्मों को महत्व नही देती।

कुमारिल द्रव्य को नियत मानते हुए उसमे भी परिवर्तन को रवीकार करते है। यहाँ गुण और रूप का परिवर्तन होता रहता है।[132] वारतविक मामले मे यह मत साख्य से मिलता-जुलता है। यह परिणामवाद है और यहाँ उपादान कारण और कर्म का सम्बन्ध वहाँ की तरह भेदाभेद माना गया है। लेकिन दोनो मे अन्तर यह है कि कुमारिल द्रव्यो को अन्त मे एक नही अनेक मानते है तथा वे परिणाम सम्बन्धी मत को आत्मा पर भी लागू करते है। जबकि साख्य की आत्मरूप पुरुष नितान्त अपरिणामी और निष्क्रिय है।[133]

आत्मा[134] अनेक है। जो कि नित्य सर्वगत विभु व्यापक द्रव्य है जो ज्ञान का आश्रय है। आत्मा ज्ञाता कर्ता ओर भोक्ता है। आत्मा मे रपन्दन नही है[135] परिणाम होता है।[136] आत्मा एक साथ ज्ञाता और ज्ञेय नही हो सकती। शरीर इन्द्रिय मन ओर बुद्धि से भिन्न है। अत आत्मा ज्ञान का मिलन हो सकती है। प्रभाकर[137] आत्मा को जड द्रव्य मानते है जो ज्ञान नामक गुण का आश्रय है। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है। लेकिन कुमारिल[138] ज्ञान को आत्मा का परिणाम या क्रिया मानते है। जिसके द्वारा आत्मा पदार्थों को जानती है। कुमारिल आत्मा को चिदचिद् रूप या जड बोद्धात्मक मानते है। आत्मा ज्ञानशक्ति रवभाव है। अत आत्मा मानस प्रत्यक्ष रूप अहम् प्राग गम्य है। मीमासा मे मोक्षावरथा मे सुषुप्ति के समान आत्मा मे ज्ञान सुखादि कि स्थिति नही मानते क्योकि उस समय आत्मा शुद्ध द्रव्य रूप मे रहता है एव शरीर इन्द्रिय सम्बन्ध विलय के कारण गुण ओर क्रिया से उसका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। यद्यपि उसका ज्ञानशक्ति रवभाव बना रहता है। साख्य का पुरुष भी अनेक नित्य ओर विभु रूप है। साख्य का पुरुष ज्ञाता या कर्ता या भोक्ता नही वह साक्षी रूप है। मुलत वह निर्गुण ओर निष्क्रिय चैतन्य रूप है। अत वह ज्ञान का विषय नही है। उसका ज्ञान सामान्यतोऽदृष्टानुमान के द्वारा ही सम्भव है। पुरुष मे किसी भी प्रकार का विकार नही होता। अत प्रमा भी बुद्धि का धर्म है, क्योकि यह भी विकार का ही परिणाम है जबकि पुरुष निर्विकार है।

कुछ लोगो का मत है कि मीमासाक मोक्ष को नही मानते। अपितु वे रवर्ग को ही मोक्ष

मानते है।[१३९] अर्थात् जो रवर्ग चाहता है वही यज्ञ करे। लेकिन कई मीमासको ने मोक्ष सम्बन्धी मत व्यक्त किये है। इनके अनुसार इस दृश्यमान जगत के साथ आत्मा के सम्बन्ध का विनाश होना ही मोक्ष है। शरीर तो भोगायतन है। इन्द्रिया भोग–साधन है और पदार्थ भोग–विषय है। इन तीनो प्रकार के बधनो के आत्यान्तिक नाश को मोक्ष मानते है।[१४०] मोक्षावस्था को पाने के लिये कर्म ही प्रधान कारण है और आत्मज्ञान सहकारी कारण है अत मीमासा ज्ञान–कर्म–समुच्च्यवादी है।[१४१] प्रभाकर के अनुसार देह का अत्यान्तिक उच्छेद ही मोक्ष है।[१४२] चैतन्य आत्मा का धर्म न होने के कारण वह सुख–दु ख का अनुभव नही करता। अत मोक्षावस्था आनन्द की अवस्था नही है।[१४३] परन्तु परवर्ती भटटमीमासको ने मोक्ष को आनन्दानुभूति के रूप मे माना है।[१४४] साख्य दर्शन मे मोक्ष की स्पष्ट अवधारणा मिलती है। साख्य मे प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का ज्ञान ही मोक्ष माना गया है। मोक्ष के लिये ज्ञान सर्वोत्तम साधन है। जिसे साख्य विवेकज्ञान कहता है। साख्य चैतन को पुरुष का नित्य रूप मानता है किन्तु मोक्ष को आनन्दहीन मानता है। क्योकि वह सुखादि को प्रकृति का गुण मानता है। अत पुरुष निर्गुण होने के कारण मोक्ष मे आनन्दादि से भी मुक्त हो जाता है। मीमासा मे सामान्य नियम तो यही है कि प्रत्येक ज्ञान सत्य का दर्शन कराता है पर कभी–कभी इस नियम के अपवाद भी होते है जो ख्याति कहलाते है।[१४५] प्राचीन साख्य सत्‌ख्याति' को मानता था, जो प्रभाकर[१४६] के 'अख्याति के समान माना जाता है। भ्रम अज्ञान या अपूर्व किन्तु सत्य ज्ञान है। समस्त ज्ञान यथार्थ है। शुक्ति मे रजत का कुछ अश विद्यमान रहता है जिसके कारण उसमे सफेदी चमक आदि समान धर्म होते है। साख्य भ्रम मे रजत का आशिक प्रत्यक्ष मानता है। जबकि प्रभाकर रजत का स्मरण मानते है और मनोदोष से स्मृति–प्रमोष' मानते है। प्रभाकर ज्ञान की उपयोगिता पर बल देते है और साख्य ज्ञान को प्रकाशक होने के कारण अपने आप मे महत्वपूर्ण मानते है। दूसरी ओर साख्य सूत्र के सदसत्ख्याति' और कुमारिल के विपरीतख्याति के सम्बन्धो पर विचार करते है। सद्‌ख्याति[१४७] मे शुक्ति और रजत दोनो विषय तथा इनके अलग–अलग ज्ञान सत् है। अत सत्‌ख्याति है तथा इन सत्य वस्तुओ तथा ज्ञानो का सम्बन्ध मिथ्या होने के कारण असत् है। अत असत्‌ख्याति है। इस प्रकार यह बुद्धि दोष से दो भिन्न ज्ञानो और उनके विषयो को मिलाकर एक ज्ञान के रूप मे माना जाता है। ऐसा ही विपरीतख्याति का भी मत है। इसके

अनुसार शुक्ति और रजत को मिलाकर शुक्ति के स्थान पर रजत का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। जो इनसे सत्य वरतुओं के मिथ्या सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। सम्यक ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का बाध होता है वस्तुओ का नही।

(VII) मध्व वेदान्त

मध्व वेदान्त भी साख्य दर्शन के भाति द्वैतवादी है। मध्य वेदान्त मे ईश्वर जीव और प्रकृति की सत्ता रवीकार की गई है। तीनों पररपर भिन्न है और इनमे से किसी एक को दूसरे मे अन्तर्भूत नही माना जा सकता परब्रह्म ईश्वर रवतन्त्र तत्त्व है। जबकि प्रकृति और जीव परतन्त्र तत्त्व है ये तीनो सत् है। क्योकि इनकी सर्वदा प्रतीति होती है।[१४८] ईश्वर निमित्त कारण और प्रकृति उपादान कारण है। मध्व वेदान्त की वास्तविकता को मानते है तथा भेद के रूप उतने ही होते है। जितने रूपो मे वरतु का सम्बन्ध दूसरी वस्तु से ज्ञात होता है। यह पदार्थ का रवरूप है।[१४९] इसे पदार्थो का रवरूप भेद कहते है। अनुयोगी और प्रतियोगी का भेदक यह विशेष तत्त्व अनन्त है।[१५०] वैशेषिक के समान मध्वाचार्य इसे न तो एक पृथक् पदार्थ मानते है और न एक अलग गुण बल्कि पदार्थ या द्रव्य का रवरूप जैसा साख्य योग मीमासा दर्शनो मे माना गया है। अत मध्वाचार्य ज्ञान को सविशेष और गुणात्मक द्रव्य मानते है। साख्ययोग मे भी भेद को अधिकरण रवरूप एव प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ज्ञेय माना गया है।[१५१] लेकिन साख्य केवल दो तत्त्व मानता है। पुरुष और प्रकृति दोनो पररपर रवतन्त्र और निरपेक्ष है। पुरुष निष्क्रिय और चेतन रूप निमित्त कारण है तथा प्रकृति सक्रिय और अचेतन रूप उपादान कारण है। लेकिन निरीश्वरवादी है।

मध्वाचार्य सृष्टि को वास्तविक और सप्रयोजन मानते है। ईश्वर के इक्षण से कोई सृष्टि मिथ्या नही, अपितु इसकी पारमार्थिक सत्ता है। सृष्टि और प्रलय भी वास्तविक है। प्रकृति ईश्वर की इच्छा या शक्ति है।[१५२] वह अपने को ईश्वर के नियन्त्रण में दे देती है और ईश्वर उसमे शक्ति का सचार करके जगत का सचालन करता है और उसमे स्थित (व्याप्त) होकर अपने को अनेक रूपो मे व्यक्त करता है।[१५३]

जगत प्रकृति का वास्तविक विकार है। उपादान कारण और उराके कार्य गे भेदाभेद सम्बन्ध है। जैसा कि तन्तु और पट मे न तो अत्यन्त भेद है और न ही अत्यन्त अभेद है। यद्यपि उपादान कारण और निमित्त कारण का आत्यन्तिक भेद मान्य है। वस्तुत भेद पर अधिक बल देकर गध्वाचार्य ने सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद गे समन्वय स्थापित किया। चूँकि कार्य अपने कारण से पूर्व सत रहता है। अत सत्कार्यवाद है और चूँकि कार्य अपने निमित्त कारण से सर्वथा भिन्न ही रहता है।[१५४] उसकी प्रेरणा से उत्पन्न होता है। अत असत्कार्यवाद है। लेकिन जहॉ तक उपादान कारण के सम्बन्ध मे है। मध्वाचार्य साख्य मत के करीब है। साख्य दर्शन मे परिणामवाद पर बल देते है। जगत को वास्तविक माना है। साख्य के सृष्टि सिद्धात मे पुरुष पूरी तरह निर्लिप्त है। वह प्रकृति के राथ सृष्टि में किसी भी प्रकार का सक्रिय सहयोग नही देता केवल प्रकृति पुरुष के रामीप्य से क्षोभ द्वारा सृष्टि मे रवय सलग्न होती है।

जीव अनेक और पररपर भिन्न है ये अणुरूप नित्य कर्ता भोक्ता रूपवान जन्मगरण वाला होता है यह निरवयव तत्त्व है। शरीर के रायोग–वियोग से जन्म–गरण को प्राप्त होता है। रवरूपत यह पूर्णज्ञान सम्पन्न होता है। किन्तु धर्म और अधर्म के कारण प्रकट नही होता। ईश्वराधीन होने पर भी धर्माधर्म के राम्बन्ध में रवतन्त्र है। यहॉ जीव अणुरूप होकर भी ज्ञान गुण द्वारा विभु रूप है।[१५५] अविद्या आदि रो मुक्ति के लिए ईश्वर की अनुकम्पा आवश्यक है। जीव से भिन्न है। किन्तु उसका अश है।[१५६] इस प्रकार तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म जैसे श्रुति वचन जीव और ब्रह्म के बीच तथा 'एकमेवाद्वितीयम्' रार्वखल्विद ब्रह्म जैसे श्रुति वचन ब्रह्म और जगत के बीच अभेद बताने के लिए नही अपितु जीव की तात्त्विक रवतत्रता एव महत्ता को बताने के लिए तथा जगत की सत्ता प्रवृत्ति आदि ब्रह्म के आधीन बताने के लिए है न कि इनका ब्रह्म रो स्वरूपभेद।[१५७] साख्य भी पुरुष की अनेकता को रवीकार करती है। यह अनेकता सरार के साथ मोक्षावस्था मे भी बनी रहती है। लेकिन राख्य गे ईश्वर की रात्ता न रवीकार करने के कारण ये रवतन्त्र है। साख्य का पुरुष राक्षी और निर्विकार है, जो कर्ता, भोक्ता या ज्ञाता नही है। क्योंकि साख्य मत गे भोग और कैवल्य रवय प्रकृति का ही प्रकारान्तर रो होता है। वह सृष्टि और प्रलय का मूल कारक है। पुरुष नित्य चैतन्य और विभु है। अविद्या ही 'भोक्ता–कर्ता–ज्ञाता का आधार है। चूँकि साख्य निरीश्वरवादी है। अत यहॉ ईश्वर और जीव के राम्बन्धो की बात नही है।

जीव उपाधि की उत्पत्ति और सम्पर्क के कारण जीव एक विशेष रूप में आर्विभूत होकर सूक्ष्म और स्थूलशरीर धारण करता है। जीव अविद्या का आश्रय है यही बन्धन है। बन्धन से मुक्ति ईश्वर की कृपा से प्राप्त होती है। मोक्ष का साधन ज्ञानयुक्त भक्ति है।[१५८] स्वरूपावस्थिति ही मोक्ष है तथापि मुक्त जीव का शरीर ब्रह्म के शरीर से भिन्न तथा जीव ब्रह्मैम्य नही है। मोक्ष आनन्द स्वरूप है। किन्तु इसमे भी तारतम्य बना रहता है।[१५९] तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म ब्रह्मविद् बह्मैव भवति इत्यादि का तात्पर्य यह नही है कि ससार में जीव भिन्न रहता हुआ भी मुक्त होकर ब्रह्म से अभिन्न होकर उसी मे लीन हो जाता है। अपितु यह है कि जीव की अपनी तात्त्विक स्वतत्रता है और स्वरूपत ब्रह्म से भिन्न है। यह स्वतत्र स्वरूप रखता है तथापि सत्ता और प्रतीति के लिए ब्रह्म के अधीन है।[१६०] साख्य दर्शन मे अविवेक को बन्धन का कारण माना गया है। पुरुष अनेक है और यह अनेकता मोक्षावस्था में बनी रहती है। मोक्ष का साधन विवेकज्ञान है। निरीश्वरवादी होने के कारण साख्य में ईश्वरजीवएकत्व का प्रश्न ही नही उठता। यहाँ मोक्ष को आनन्द या सुखविहीन माना गया है। क्योकि ये प्रकृति के गुण है। पुरुष स्वरूपत शुद्ध चैतन्य और साक्षी रूप है।

(VIII) विशिष्टाद्वैतवाद

द्वैतविशिष्ट अद्वैत ऐसा अद्वैत जो सदा द्वैत से विशिष्ट रहता है। द्वैत विशेषण है और अद्वैत विशेष्य है। भेद के बिना अभेद और अभेद के बिना भेद सिद्ध नही होता है। अत दोनो सदा साथ रहते है। और इनमे पार्थक्य सम्भव नही है। द्वैत और अद्वैत मे अपृथक सिद्धि सम्बन्ध है। क्योकि इन्हे एक दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। अद्वैत मुख्य है और द्वैत गौण है।[१६१] साख्य दर्शन द्वैतवादी है। जो निरपेक्ष और स्वतन्त्र सत्ता है। एक मात्र द्वैत ही मान्य है और अद्वैत के लिये कोई मान्य नही है।

रामानुजाचार्य ईश्वरवादी है। ईश्वर चिदचिद् विशिष्ट है।[१६२] चित्त जीवात्मा और अचित्त प्रकृति है। जीवात्मा और प्रकृति ईश्वर के समान ही नित्य सत्ताये है। चित्त और अचित्त ईश्वर के साथ अपृथक् रूप मे सयुक्त होते है। डा० राधाकृष्णन् इसे जैविक सम्बन्ध मानते हुये ईश्वर

को एक जैविक इकाई मानते हैं।[१६३] अगागी विशेषण विशेष्य शेष–शेषी इत्यादि सम्बन्ध भी शरीर–शरीरी भाव से ही सिद्ध होते है।[१६४] ईश्वर जीव और प्रकृति तीनो परस्पर भिन्न अश है। ये भेद स्वगत भेद है। जीवात्मा और प्रकृति दोनो ही ईश्वर पर आश्रित है और ईश्वर द्वारा ही सचालित होते हैं। जीवात्मा और प्रकृति दोनो ही सृष्टि से पहले ईश्वर मे सूक्ष्म रूप से स्थित रहते है और उसी के सकल्प से परस्पर सयुक्त होकर जगत के रूप मे प्रकट होते है।[१६५] इस प्रकार ईश्वर सृष्टि का कर्ता व नियामक है। जबकि जीवात्मा और प्रकृति उसके उपकरण एव नियाम्भ है। इस प्रकार रामानुजाचार्य ब्रह्म की दो अवस्था मानते है।[१६६] एक कारण ब्रह्म जिसमें चित और अचित सूक्ष्म रूप से परस्पर सयुक्त न होकर अपने–अपने स्वरूप मे स्थित होते है। इसका कार्य ब्रह्म इसमे ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के नियामक अश मे कोई परिवर्तन नही होता किन्तु चित् और अचित् उसके सकल्प से स्थूल होकर नाम रूप धारण कर लेते है। अव्यक्त प्रकृति व्यक्त हो जाती है और जीवात्माओ के कर्म के अनुसार फल भोग प्रदान करने के लिये उनके सयोग से नामरूपात्मक जगत के रूप मे विकसित हो जाती है। इस प्रकार ईश्वर मे अभिन्न निमित्तोपादान करणत्व भी है।[१६७] वास्तव मे रामानुजाचार्य का ईश्वर सगुण है। जो गुणाष्टक श्री बल वीर्य तेज, ज्ञान ऐश्वर्य सर्वसकल्पत्व ओर अपहतपाप्मत्व से सयुक्त है।[१६८] साख्य दर्शन निरीश्वरवादी है। ईश्वर की सत्ता का निषेध करने के कारण दो स्वतत्र और निरपेक्ष सत्ताए मानी गयी है। एक पुरुष, जो चेतन और निष्क्रिय है। तथा दूसरा प्रकृति जो अचेतन और सक्रिय है। यहॉ प्रकृति निरपेक्ष सत्ता है। अत पुरुष उसकी नियामक या सचालक नही है। स्वय प्रकृति ही पुरुष के सम्पर्क से विचलित होकर सृष्टि कर्म मे लगती है। साख्य का पुरुष निर्लिप्त और निर्विकार होने के कारण साक्षी मात्र है। अत वह सृष्टि या प्रलय मे किसी प्रकार भी क्रिया नही करता। अत साख्य के तत्त्व रामानुजाचार्य के तत्त्व स्वरूप से भिन्न है। यद्यपि प्रकृति उपादान कारण ओर पुरुष को निमित्त कारण है। तथापि दोनो परस्पर भिन्न ओर स्वतत्र सत्ताए है। रामानुजमचार्य का ईश्वर एक जैविक इकाई है। जबकि साख्य के द्वितत्त्व मे एक प्रकार प्रतिबिम्बवाद मिलता हैं।

आचार्य भिक्षु ने भास्कर रामानुज तथा निम्बार्क आदि की भाति ब्रह्म को ईश्वर परमेश्वर और परमात्मा कहा है।[१६९] शकर की भाति ब्रह्म और ईश्वर को भिन्न नही माना है[१७०] ओर न

ही निम्बार्क आदि की भाति विष्णु आदि को ईश्वर या ब्रह्म कहते है।[१७१] रामानुज इत्यादि की भाति ज्ञान को वे ब्रह्म का गुण नही मानते। उनके लिए ब्रह्म ज्ञाता है ज्ञान है और वेद भी। ब्रह्म की ज्ञेयता मे भी उन्हे कर्तृकर्मविरोधादि की आपत्ति सर्वथा अनुचित लगती है। रामानुज की भाति ये भी ब्रह्म की स्वप्रकाशता रवीकार करते है। इरासे ब्रह्म की ज्ञेय रूपता मे कोई अन्तर नही पडता है। भिक्षु निम्बार्क की भाति जीव को ब्रह्म का अश मानते है। रामानुज की भाति विशेषण नही। ब्रह्म के रूप के भारकर कार्य रूप ओर निरुपाधि रूप को कारण रूप गानते है। जबकि शकर गत ब्रह्म रादा तथा निरुपाधिक है।[१७२] किन्तु भिक्षु ब्रह्म के कारण और कार्य दोनो रूप सोपाधिक मानते है।

सृष्टि जीवात्मा और प्रकृति के सयोग द्वारा ईश्वर के सकल्प से होती है। जीवात्मा द्वारा सचित कर्मफल का जिसे अदृष्ट् कहा जाता है। जीवात्मा द्वारा भोग कराना इरा जडचेतन सयोग का उद्देश्य है। प्रकृति अर्थात् अचेत मे विकार अर्थात परिणाम ईश्वर के सकल्प ओर जीवात्मा के रायोग रो होता है। लेकिन प्रकृति रवभाव रो ही विकारी नही है। विकार प्रकृति गे विद्यगान है क्योकि विकार प्रकृति का कार्य है ओर सभी कार्य अपने कारण मे विद्यमान रहते है। विकारीपन तो प्रकृति का रवभाव ही है।[१७३] परन्तु विकारी होते हुए भी प्रकृति का सत्ता क्षणिक या मिथ्या नही है। प्रकृति जीवात्मा की तरह ही एक अनन्त एव नित्य सत्ता है। क्योकि ये ईश्वर और जीवात्मा का सहवर्ती द्रव्य है।[१७४] रागानुजाचार्य प्रकृति के तीन प्रकार मानते है।

(अ) शुद्ध सत्त्व – ये एक अप्राकृतिक द्रव्य है। जो कि रजस्तमस से शून्य है। जिसके अध्यात्मिक लोक और विग्रहो का निर्माण होता है।

(ब) गिश्रसत्त्व – ये गूला प्रकृति है। ये अविद्या या गाया भी कहलाती है।[१७५] इरागे रात्व रजरा और तगरा तीनो गुण है। ये जगत का उपादान कारण है।[१७६]

(स) सत्त्वशून्य – यह काल है जो सत्त्व रस और तम तीनो से शून्य है। साख्य दर्शन गे त्रिगुणत्मिका प्रकृति को जगत का मूल कारण माना गया है। रामानुजाचार्य भी सृष्टि के मुल कारण को प्रकृति मानते है। परन्तु रामानुजाचार्य साख्य दर्शन के पुरुष ओर प्रकृति के

आत्यान्तिक भेद पर आधारित द्वैत को नही रवीकार करते है। उनके अनुरार प्रकृति ईश्वर पर आधारित उसकी विशेष शक्ति है जिसके द्वारा और जिससे रासार का उदभव होता है। माया ईश्वर कि सृजनशक्ति है।[१७७] साख्य दार्शनिक अव्यक्त को प्रकृति की सूक्ष्मावस्था और प्रकृति की स्थूलावस्था को व्यक्तावास्था मानते है। परन्तु रामानुजाचार्य मतावलम्बी अव्यक्त को गिश्र रात्व की चोथी अवरथा को कहते है। राख्य ओर रागानुज के गत भे प्रकृति राम्बन्धी विचार को लेकर मत वैभिन्य है। साख्य मे त्रिगुण प्रकृति के धर्म तत्त्व है। रामानुज दर्शन मे त्रिगुणप्रकृति के गुण मात्र है। साख्य मे त्रिगुण अविभाज्य रूप से एकत्रित रहते है। विशिष्टाद्वैत मे शुद्ध सत्त्व की कल्पना भी है। जो रजरतम रपर्श शून्य है। साख्य की प्रकृति असीम है। रामानुज के प्रकृति नित्य विभूति से सीमित है। साख्य की प्रकृति रवतन्त्र है जबकि रामानुज के मत मे ईश्वराश्रित है। ये ईश्वर ये अपृथक् उनका शरीर है। साख्य मे प्रकृति पुरुषार्थ कि सिद्धि के लिये सृष्टि करती है। रामानुज दर्शन मे सृष्टि ईश्वर की लीला है। जो उनके सकल्प द्वारा होती है।[१७८]

साख्य गतानुरार रात्त्वरजस्तमोमयी त्रिगुणत्मिका प्रकृति जड है। यह प्रकृति का रवरूप इन्हे भी यद्यपि अभीष्ट है किन्तु वे प्रकृति को रार्वतत्र–रवतत्र नही गानते बल्कि उरो परगेश्वर की अन्तर्लीन शक्ति के रूप मे रवीकार करते है। यहाँ तक तो वे रामानुज और निम्बार्क से सहमत है किन्तु वे रामानुज की भाति प्रकृति को अविद्या माया या अक्षर नही मानते। विष्णुपुराणाभिमत प्रकृति और माया के वास्तविक भेद को भी इन्होंने नही माना। बल्कि यह कहकर इस कथन का परिवर्तन किया है कि जडत्वादि साधर्म्य से माया को भी प्रकृति के अर्न्तगत उसके एक विशिष्ट रूप मे स्वीकार करना चाहिए।[१७९] मूल प्रकृति के रवाभाविक रूप और माया के रवाभाविक रूप मे रपष्ट अन्तर केवल यह है कि प्रकृति परिणामिनी है और माया अपरिणामिनी है। माया केवल शुद्धसत्त्वा होने के कारण नित्य आनन्द वाली है। उसगे रजोगुणादि राहित्य के कारण दु खादि की सम्भावना नही रहती।[१८०] शकर के द्वारा माने गए आत्मनिष्ठ अविद्या के[१८१] सिद्धात का इन्होने प्रत्याख्यान किया है और माया के विषय गे यह कहा है कि इस ईश्वरोपाधि की ईश्वरनिष्ठता नही है। अपितु नित्यरायोगमात्र है। जीव की ही भाति प्रकृति कृत पदार्थो की भी उत्पत्ति गौण ही समझनी चाहिए।

यह ससार वास्तविक परिणाम है ब्रह्म की शक्तिभूत प्रकृति का और वह भी पुरुष के सयोग के फलरवरूप इस ससार की निरन्तर प्रवहमान स्थिति का अधिष्ठान कारण ब्रह्म है। चूँकि ब्रह्माष्ठित ब्रह्मशक्तिप्रकृति का ही विविध परिणाम यह व्याकृत जगत है। अत ब्रह्म इस सकल प्रपच का उपादान कारण कहा जा सकता है। चूँकि प्रकृति परिणाम की सारी प्रेरणा ब्रह्मोपाधिभूत अपरिणामिनी माया से सुलभ होती है इसलिए ब्रह्म को हम जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते है। आचार्य भिक्षु इस प्रकार की कारणता मानकर इस अश मे शकर रामानुज बल्लभ और निम्बार्क की ही श्रेणी मे आते है। इन आचार्यों ने भी अपने–अपने ढग से ब्रह्म को जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना है।[१८२]

रामानुजाचार्य द्वारा मान्य सृष्टि क्रम का विकास साख्य मत के लगभग समान है। अव्यक्त का प्रथम विकार महत् है। फिर महत् से अहकार की उत्पत्ति होती है। अहकार के तीन प्रकार है सात्त्विक अहकार जिससे एकादशेन्द्रिया उत्पन्न होती है। मन को साख्य उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो के साथ मानता है। किन्तु रामानुज मन को केवल ज्ञानेन्द्रिय के साथ ही मानते है। रामानुजाचार्य सूक्ष्मशरीर अर्थात् लिगशरीर को साख्य की भाति कमेन्द्रियो से भी युक्त नही मानते है। केवल मन और पच ज्ञानेन्द्रियो की ही बात करते है। रामानुज शकर की भाति मन को कई नाम देते है। यथा – वह बुद्धि है जब वह निर्णय करता है वह अहकार है, जब वह अज्ञानवश स्वय को आत्मा मान लेता है। वह चित्त है, जब वह चिन्तन या विचार करता है। एक ओर साख्य तमस अहकार से पचतमात्राये और पचतन्मात्रओ से प्रत्येक परवर्ती मे पूर्ववर्ती के गुण को सम्मिलित करते हुए पचमहाभूतो की उत्पत्ति मानते है। परन्तु रामानुजाचार्य क्रमिक उत्पत्ति मानते है। सबसे पहले भूतादि से शब्दतन्मात्र और शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश महाभूत से स्पर्शतन्मात्र और स्पर्शतन्मात्र से वायुमहाभूत की उत्पत्ति होती है। वायु से रूपतन्मात्र और रूपतन्मात्र से अग्नि महाभूत की उत्पत्ति होती है। अग्नि से रसतन्मात्र और रसतन्मात्र से जल महाभूत की उत्पत्ति होती है। जल से गन्धतन्मात्र और गन्धतन्मात्र से पृथ्वी महाभूत का उत्पत्ति होती है। इन महाभूतो से पचीकरण सिद्धात के आधार पर जगत के विभिन्न विषयो की सृष्टि होती है।[१८३]

सत्त्व कारण से सत्कार्यवाद ही उत्पन्न होता है। क्योंकि कारण और कार्य मे केवल अवस्था का भेद है। कारण स्वय कार्य रूप मे परिवर्तित हो जाता है। कारण मे कार्य की पूर्वोपस्थिति स्वीकार करने वाले सिद्धात सत्कार्यवाद को रामानुजाचार्य स्वीकार करते हैं।[१८४] अत रामानुज जगत को ब्रह्मात्मक मानते हैं। जगत के उपादान कारण प्रकृति और निमित्त कारण दोनो ही नित्य और सत्य है। अत जगत मिथ्या नही अपितु जगत की सत्ता पारमार्थिक है। क्योंकि यह सविशेष ब्रह्म की विभूति है।[१८५] रामानुजाचार्य सत्कार्यवाद में परिणामवादी है। इस प्रकार साख्य दर्शन मे भी सत्कार्यवादी परिणामवाद स्वीकृत है।उत्पत्ति का अर्थ आर्विभाव और लय का अर्थ तिरोभाव है। कारण ही कारणावस्था मे और कार्यावस्था मे लीन रहता है। कारणावस्था प्रलयावस्था और कार्यावस्था सर्गावस्था है। साख्य प्रकृति या परिणामवाद को मानता है। जबकि रामानुजाचार्य ब्रह्मपरिणामवादी है। यह सम्पूर्ण चेतनाचेतन विश्व ईश्वर का शरीर है। यह ईश्वर का तात्त्विक परिणाम और सत्य सृष्टि है। जगतरूपी शरीर की आत्मा ईश्वर है। साख्य और रामानुज के परिणामवाद में यह अन्तर है कि जहॉ ब्रह्मपरिणामवाद मे प्रकृति का विकास और उसका नियन्त्रण ईश्वर के अधीन होता है।[१८६] वही साख्य की प्रकृति पुरुष के सम्पर्क से विचलित मात्र होकर स्वय अपना विकास और उसका नियन्त्रण करती है।

चित्त अर्थात् जीवात्मा एक नित्य चेतन द्रव्य है। यह ज्ञानस्वरूप और ज्ञानाश्रय है।[१८७] इसके गुण रूप ज्ञान को धर्मभूत ज्ञान कहते है। जीवात्मा का ज्ञान कर्म एव प्रकृति के सयोग से सकुचित होता है। कर्मो का कर्ता अथवा कर्मफल का भोक्ता शरीर से सम्बन्ध होने के कारण है। अत कर्तृत्व और भोतृत्व आत्मा के स्वभाव नही है। ये गुण आत्मा के साथ अनिवार्य रूप से तब तक सम्बद्ध रहते है जब तक उसका क्रमबन्ध शरीर से समाप्त नही हो जाता । जीवात्मा मन प्राण इन्द्रिय एव शरीर से भिन्न एक आनन्दमय सत्ता है। जीवात्मा का अहमर्थ प्रत्यूयवाद है।[१८८] रामानुजाचार्य जीवात्मा का बोध मै के रूप मे मानते है। यही कारण है कि इन्होंने जीवात्मा को एक विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न सत्ता माना है। जीवात्मा के वैयक्तिकता कभी नष्ट नही होती। ससार की स्थिति मे ईश्वर से नियन्त्रित होकर भी आत्मा को कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त है। क्योकि जीव और ईश्वर परस्पर भिन्न सत्ताए है। रामानुजाचार्य जीवात्मा की अनेकता विश्वास करते है। जो परस्पर भिन्न है। यह भिन्नता मोक्ष मे भी बनी रहती है। मुक्त जीवों मे

गुणात्मक भेद नही रहता तथापि उनमे राख्या भेद बना रहता है।[१८६] आत्मा अणु परिणाम है।[१९०] विभु सत्ता नही अणुत्व आकार की अत्यन्त सूक्ष्मता को कहते हैं। आत्मा की गति अव्याहृत है। किन्तु विभु ज्ञान गुण के कारण वह व्यापक है।[१९१] ईश्वर प्रकारिन और जीव प्रकार है। जीव रवरूपता ब्रह्म के समान अविकारी है।[१९२] जीवात्मा का गुण चैतन्य है। आत्मा चेतन है चैतन्य नही। अत आत्मा चेतन का आश्रय है। मुक्ति की अवस्था मे भी आत्मा चैतन्य रहित नही है।[१९३] क्योंकि मुक्त पुरुष की चेतना का विषय ईश्वर होता है। रामानुजाचार्य के मत के विपरीत साख्य का जीवात्म रूप पुरुष निरपेक्ष और रवतन्त्र सत्ता है। वह चेतना का आश्रय नही अपितु चैतन्य रवरूप है। वह नित्य और शुद्ध चैतन्य रूप है। राख्य का पुरुष अहयमर्थ–प्रत्ययवाच्य नही है। क्योकि वह निर्विकार ओर निर्लिप्त है। वह रागानुजाचार्य के इस मत से सहमत है कि कर्तृत्व ओर भोक्तृत्व शरीर से सम्बन्ध होने के कारण है। लेकिन साख्य उसे ज्ञाता रूप भी नही मानती क्योंकि ज्ञातृत्व भी बुद्धि से राम्बद्ध होने से एक प्रकार का विकार है और निरीश्वरवादी साख्य मे पुरुष रवय प्रकाश्य है। यह आनन्दरवरूप नही है। क्योंकि साख्य के मत आनन्द या सुख प्रकृति के गुण है। अत पूरुष राक्षी द्रष्टा मात्र निर्विकार विशुद्ध चैतन्य रवरूप रात्ता है। राख्य भी रागानुज की भॉति पुरुष की अनेकता मे विश्वारा करती है। उसके अनुसार जन्म, मृत्यु इन्द्रियॉ आदि प्रतिनियमो के आधार पर पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है। अत प्रत्येक जीव मे पृथक्–पृथक् पूरुष है।

जीव निम्बार्क आदि तीनों वैष्णव वेदान्ती जीव को परब्रह्म के स्वरूप का कोई भाग या खण्ड नही मानते है। इन लोगों के मत मे जीव अपने रवरूप स्थिाति तथा प्रवृत्ति के लिए ब्रह्म के अधीन है। यह ब्रह्माधीनता या ब्रह्मायत्तता ही जीव का अशत्व है।[१९४] किन्तु विभु ब्रह्म जीव को साग्निस्फुर्लिग के रागान अशाशिभाव से सजातीय मानते हैं।[१९५] रामानुजादि राभी, वेदान्ती जीव को अणु परिणाम वाला मानते है। परन्तु भिक्षु जीव को विभु मानते है[१९६] ओर न ही रामानुज[१९७] की भॉति जीव को ब्रह्म का विशेषण रवीकार करते थे। जीव विभु है। इराग अणुता का व्यपदेश केवल औपाधिक है। क्योकि ऐसा ही श्रुति मत है।[१९८] जीवोपाधि बुद्धि ही कर्मावरथा के कारण परिणामवादी है। अत बुद्धि अणु है न कि जीव, वह तो निर्गुण है।[१९९] जीवात्मा का बन्धन कर्मज होता है और उसका मोक्ष इस बन्धन का नाश है। ससार न ही देहात्म–भ्रम बन्धन का

कारण है। जीव शरीर के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है तब उसमे प्रकृतिजन्य अहकार का उदय होता है। जो उसके ज्ञान स्वरूप को सकुचित कर देता है। लेकिन अहकार शुन्य जीवात्मा शुद्ध चेतन सत्ता है और रासार उरारो लिप्त नही होता। रागानुजाचार्य के मत मे जीव कि उत्पत्ति राारारिक रूप गें उराके कल्याण के लिए होता है। यदि जगत के वारतविक रवरूप को जान लिया जाता है तो जगत जीव के लिए बन्धन नही होता। आत्मा का आत्मरवरूप बोध ही मोक्ष है। प्रारब्ध कर्म नष्ट होने पर जब शरीर का अन्त हो जाता है तभी रामानुज मोक्ष मानते है।[२००] अत रामानुजाचार्य जीवनमुक्ति को नही मानते। यही कारण है कि यहॉ पूर्ण मुक्ति को ईश्वरसाक्षात्कार को मानते है। जो ईश्वर के कृपा से प्राप्त होती है जिसकी प्राप्ति भक्ति से होती है।[२०१] इस सम्बन्ध में तत्त्वमसि श्रुति वचन को रपष्ट करते रामानुजाचार्य कहते है कि त्वम् पदार्थ का तात्पर्य अचिद्विशिष्टजीवशरीरक ब्रह्म अर्थात देहेन्द्रियान्त करण विशिष्ट जीवरूपी शरीर मे अर्न्तयामी आत्मभूत ब्रह्म और तत् पदार्थ का तात्पर्य है सर्वज्ञसत्यसकल्पजगतकारण ब्रह्म जो सम्पूर्ण विश्व मे व्यापक है। उसका कर्ता–धर्ता–हर्ता–नियन्ता परब्रह्म अर्थात् ईश्वर है। इस प्रकार जीव का अर्न्तयागी ईश्वर ओर जगत का कारण ईश्वर दोनो एक ही है। लेकिन जीव और ब्रह्म का रवरूपैक्य सम्भव नही। अत मोक्षावस्था मे भी रामानुजाचार्य जीवात्मा और ईश्वर के बीच भेद को शाश्वत मानते है। अर्थात् ईश्वर मे जीव पूर्णत विलीन नही होता है।[२०२] साख्य दर्शन मे भी बन्धन का आधार कर्म को माना गया है। जो अहकार जन्य होता है प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध को न जानने के कारण जन्ममरण चक्र चलता है। विवेकज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। लेकिन मोक्ष आनन्द स्वरूप नही है। निरीश्वरवादी साख्य मे जीव द्वारा रवरूप ज्ञान की प्राप्ति ही मोक्ष है। साख्य जीवनमुक्ति को भी रवीकार करता है। साख्य जीव मोक्षावस्था मे पुरुष की अनेकता को रवीकार करता है। अर्थात् वास्तव मे पुरुष का न तो बन्धन होता है, न वह जन्ममरण रूपी ससार चक्र मे फॅराता है और न ही मुक्त होता है। यह तो प्रकृति ही है, जो लिगशरीर के रूप मे नाना पुरुषों के आश्रय से बनती है, ससरण करती है और मुक्त होती है। पुरुष रवाभवत त्रिगुणातीत है।

पाद टिप्पणी

१ – पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि

२ – चतुर्भ्य खलु भूतेश्यश्चैतन्यमुपजायते ताम्बूलपूगचूर्णाना योगाद् राग इवोत्थितम्

३ – चैतन्या विशिष्टो देह एव आत्मा।

४ – चट्टोपाध्याय एव दत्त भारतीय दर्शन पृ० – ४०

५ – अतर्किकोपस्थितमेव सर्वचित्र जनाना सुखदु ख जात। काकस्य तालेन यथाभिधातो न बुद्धिपूर्वोऽस्ति वृथाभिमान ।। आ० चा० – २/१/१/४ हरिभद्रसूरि षड्दर्शनसमुच्चय पृ० – २४

६ – मरणमेव अपवर्ग, काम एवैक पुरुषार्थ ।
यावत्जीवेतसुखजीवेत् ऋण कृत्वा घृतपिवेत। भष्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत?

७ – सत् द्रव्यलक्षण तत्त्वार्थ सूत्र – ५/२६

८ – द्रव्यजीवोऽजीवो जीव पुनश्चेतनोपयोगभय । पुद्गल द्रव्य प्रमुखो चेतनो भवति चाजीव ।।
कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार पृ० – १७८

६ – पुढवि जलतेववाऊवणप्पदी निविहथवरे इन्दी। विगतिगचदुपचक्खा तस्य जीवाहोन्ति सखादी।।
द्रव्यसग्रह नेमिचन्द्र।।

१०– पूरणगलनान्वर्थ सज्ञत्वात् पुद्गला ।। राजवार्तिक–५/१/२४।।

११– प्रवचनसार – (२), ८६, ८८

१२– तत्त्वाकसूत्र – ५/२६–३०

१३– Origin & development of samkhya system of thought pp-82

१४– पचास्तिकाय – ६ कार्तिकेयानुप्रेक्षा – ११६–११७ द्रव्याणानित्यत्वत लोकस्यापि जानीत नित्यत्वग्।
तेषा परिणागात् लोकस्यापि जानीत परिणागग्।। गुनि कार्तिकेय ।।

१५– दग्धे बीजे यथात्यन्त प्रादुरभवति नाकुर । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाकुर।। तत्त्वार्थसार ८१७।।

१६– पचाध्यायी– २/३५, लोकप्रकाश– ४२४

१७– स्पर्शरसगधवर्णवन्त पुद्गला ।। तत्त्वार्थसूत्र ५/२३।।

१८– पाठक, भारतीय दर्शन में जगत, पृ०– ५१,

१६– तत्त्वार्थ सूत्र– ८/२से३

२०– पाठक भारतीय दर्शन मे जगत पृ०–७२

२१– तत्त्वार्थसार– ३/५६ (१) सूरि

२२– तत्त्वार्थसार– ३/५६

२३– न परमाणुवत्सर्वे स्कधा रामपरिमाणा एव अष्टसहस्री १ से ६ पेज– ७६ विद्यानन्दस्वामी

२४– रीील बृजेन्द्र नाथ पाजिटिव साइसेज ऑफ द एशिएट हिन्दूज पेज ६७

२५– गुणपर्यायवत् द्रव्यम् पचास्तिकाय तत्त्वार्थ सूत्र –१५ भावस्य नास्ति नाशो अभावस्य चैव उत्पाद ।
गुणायायोषु भावा उत्पादव्यामान् प्रकुर्वान्ति।।

२६– तत्त्वार्थ सूत्र– ५/३०

२७– अनन्तकार्यात्मकमेव तत्त्वम् – तत्त्वार्थ सूत्र

२८– स्याद्वाद् मजरी का०–५

२६– भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०– ४३ से ४४

३०– आभिधर्मकोश भाष्य– १/१२ पृ०– ८ व १२

३१– इगस्मि राति इद होति इमस्मि न राति इद न होति– गहानिदानराुत्त महावग्ग (दीघनिकाय) पृ– ४५

३२– हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ०– १४४

३३– Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-I, pp-566

३४– Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-I, pp-595

३५– तत्त्व सग्रह (३२६) शातिरक्षित आलम्बन परीक्षा– ६

३६– चटर्जी अशोक कु०, द योगचार आइडियालिज्म पृ०– १००

३७– यद् सत् तद् नाभावम् यदसत् तद् न भावम् – गीता

३८– पुनरपि जनन पुनरपि गरण पुनरपि जननी जठरे शयनम्

३६– अगन्नसुत्त (५) पार्थक्यवग्ग पृ०– ६६

४०– बुद्ध रार्व दुखग् साख्य दुखत्रय

४१– सयुक्त निकाय– २/१७

४२– Radhakrishnan , Indian Philosophy, Pt-I, pp-349

४३– अर्थक्रियाकारित्वलक्षण सत्– प्रमाणवार्तिक– २/३

४४– यत् सत्तत्क्षणिकम, The self is not only collective, but also a recollective enity, Journal of the Royal Asiatic Society, P-581

४५– Davids, Mrs Rhys, Buddhism, P--136

४६– महानिदान सुत्त महावग्ग (दीघनिकाय)

४७– Davids, Mrs Rhys, Buddhism Psycnology, P--98

४८– हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ०–१५४

४६– भिक्खूवग्ग धम्मपद (२५)६

५०– ओल्डेनवर्ग बुद्धा पृ०– २०४ से २०५

५१– सयुक्त निकाय– १६/१०

५२– यत्शून्य तदसत् येन शून्य तत्सत्

येन शून्य तदपि असत् – मध्यमशास्त्र कारिका (एकादशाध्याय)

५३– शर्मा सी०डी० भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०– १२७ से १२८

५४– Samkhya Philosophy, भूमिका पृ०– २

५५– Samkhya Philosophy, अनिरुद्ध वृत्ति की भूमिका पृ०– २ से १५

५६– Samkhya system, pp- 25 to 33 & 60 to 63

५७– बुद्धचरित १२वा सर्ग 'अश्वघोष' अव्यक्त व्यक्त अष्टौ प्रकृतय षोडश विकारा

Origin & developmen of Samkhya system of thought, pp- 99 to 100

५८– तानिधर्माणि प्रथमान्यासन – १०/६०

५६– I H Q, vol - 10, pp- 737 to 760

६०– Radhakrishnan, Indian Philosophy, Pt - I, pp- 473

६१– साख्यसूत्र– १/२७ से ४७

६२– कर्न मैनुअल आफ बुद्धिज्म पृ० ४७ पाद टिप्पणी ६

६३– महाभारत– १२/३०७/४५, १२/२३६/२६, ब्रह्मपुराण– २४१/४/५

६४– Hiriyanna, Outline of Indian Philosophy, pp- 267 to 269

६५– साख्य दर्शन का इतिहास पृ०– १४३ व टिप्पणी

६६– यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिगमात्र महत्तत्व तस्मिन्नेते सत्तामात्र महत्यात्मन्यवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति–

।।व्यासभाष्य–१/१६।।

६७– योगवार्तिक– १/४५

६८– तस्य हेतुरविद्या ।। योगसूत्र– २/२४ ।।

६९– तत्त्ववैशारदी (योगसूत्र– ४/३३)

७०– व्यासभाष्य– २३६

७१– योगसूत्र भाष्य– ३/१४

७२– योगसूत्र– ४/१२ अतीतामागत स्वरूपतोऽस्त्मध्य भेदाद् धर्मणाद् ।। व्यासभाष्य–३/५२।।

७३– व्यासभाष्य– ३/५२

७४– योगभाष्य– २/१५

७५– योगभाष्य– २/१८

७६– योगवाशिष्ठ, मधुसूदन सरस्वती, भगवद् गीता– ६/२६

७७– योगभाष्य– १/२४

७८– तत्र निरतिशय सर्वज्ञत्वबीजम् ।।योगसूत्र–१/२५ पर योगभाष्य और योगवार्तिक।।

७९– योगसूत्र– १/२४

८०– योगसूत्र– १/२५ २६

८१– योगभाष्य– १/२५

८२– योगसार सग्रह– १

८३– तत्त्ववैशारदी, पृ०– ६६

८४– ईश्वरोपाधेर्ज्ञानलक्षणवृति प्रलयेऽप्याति' – योगवार्तिक पृ०– ६८

८५– योगवार्तिकम् पृ०– २४२

८६– योगवार्तिकम् पृ०– ६३

८७– एतेन प्रीमातामीशो य आत्मा सर्वरोहिनाम् – योगवर्तिकम् (अन्तिम श्लोक की अन्तिम पाक्ति)

८८– 'तथा चेश्वारस्य पुरुषेऽन्तर्भावन्तुदुपाधे प्रधाने इति भाव – योगवर्तिकम् पृ०–६५

८६— ते च मनसि वर्तमाना पुरुषे व्यपिदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति – योगवर्तिकम् पृ०—६५

६०— यो ह्येनन भोगेना परामृष्ट स पुरुषविशेष ईश्वर – योगवर्तिकम पृ०—६६

६१— योगवर्तिकम्— पृ०— ६७ और ६८

६२— योग पातजलशास्त्र प्रकृतिस्वातन्त्र्यमात्राशे प्रयुक्त प्रत्याख्यात —विज्ञानमृत भाष्य पृ०— २७१

६३— Samkhya Phılosophy, p- 70 to 71

६४— Orıgın & developmenat of Samkhya system of thought, pp- 13 to 89

६५— Hırıyanna, Outlıneof Indıan Phılosophy, pp- 267 to 268

६६— वैशेषिक सूत्र— १/१/१४ तर्कामृत अध्याय— १

६७— न्यायसूत्र भाष्य ४/१/१४ प्रशस्तपाद भाष्य पृ०— ४८ से ४६

६८— Thakur, Introductıon of Vaısesıka Darsana, p- 10

६६— काणादास्तु एतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वर निमित्तकारणमनुमिमते अणुश्व समवायिकारणम्

।।ब्रह्मसूत्र भाष्य— १/१/५।।

१००— भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०—१७० व १८६

१०१— न्यायकुसुमाजलि— ५/१

१०२— षडदर्शनसमुच्चय, अध्याय— १

१०३— Radhakrıshnan , Indıan Phılosophy, Pt-II, pp- 214

१०४— हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ०— २३२

Radhakrıshnan , Indıan Phılosophy, Pt-I, pp-213-214

१०५— भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०— १८६

१०६— तर्कसग्रह पृ०— २८

१०७— न्यायभाष्य— ४/२/१६

१०८— वैशेषिकसूत्र— ७/१६ प्रशस्त पादभाष्य पाकज पूकरणम्

१०६— रात्वोक्षनि द्रव्याणि न वैशेषिका गुणा सेयोगाभिवगत्वात्— सा०प्र०भा०, पृ०—३२

भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, पृ०—१४२

११०— साख्य प्रवचन भाष्य पृ०— ३३

१११– साख्य प्रवचन भाष्य पृ०– ६३ से ६४

११२– साख्य प्रवचन भाष्य पृ०– ३५

११३– सात्विकमेकादशक प्रवर्तते वैकृतादहकारात्।। सा०सूत्र–२/१८।। सुवर्णसप्तति पृ०– ३१ से ४१

११४– न्यायसूत्र– १/१/१० तर्क सग्रह पृ०– १२ न्यायवार्तिक– १/१/१० पृ०– ६४

११५– न्यायभाष्य १/१/१०, पदार्थधर्म सग्रह– ३०

११६– व्योमवती– ४२६ न्याय कदली – २३३ से२२४ न्याय मजरी भाग–२ पृ०– ६८

११७– देवराज भारतीय दर्शन पृ०– ३२८

११८– न्यायमजरी भाग–२ पृ०– ८०

११६– न्यायसूत्र– १/१/२२

१२०– अशेष विशेष गुणोच्छेदो मोक्ष – न्यायमजरी भाग–२ पृ०– ७७ तात्पर्य टीका– १/१/२ पृ०– ६६

१२१– साख्य प्रवचन भाष्य पृ०– ७०

१२२– नित्यशुद्धो नित्यबुद्धो नित्यमुक्तो निरुजन स्वप्रकाशो निराधार सर्ववस्तुषु।।साख्यकारिका–२२।।

१२३– विज्ञानमृत भाष्य पृ०– ३१ से ३४

१२४– न्यायवैशेषिकोक्तज्ञानस्य परमार्थ भूमौ बाधित्वाच्य– साख्य प्रवचन भाष्य पृ०– ३

१२५– पाठक डा० सच्चिदानन्द भारतीय दर्शनो मे जगत पृ०– १६२

१२६– पाठक, डा० राच्चिदानन्द भारतीय दर्शनो मे जगत पृ०– १७२

१२७– शास्त्रदीपिका, पृ०– १०२ यथा सदृश्यते तथा– श्लोकवार्तिक श्लोक–२६, पृ०– ५५२

न कदाचिदनीदृश जगत्

१२८– श्लोकवार्तिक पृ०– ३४

१२६– प्रकरण पचिका (न्यायसिद्धि सहिता) पृ०– ७८ सर्वसिद्धान्त रहस्य

१३०– जाति निर्णय, पृ०– ८६ शास्त्रीदीपिका, अभाव परिच्छेद पृ०– ८३

१३१– शास्त्रदीपिका पृ०– ८०, प्रकरण पचिका पृ०–१८४ से १६५, शावरभाष्य, पृ०– २/१/५

१३२– श्लोकवार्तिक, पृ०– ४४३, श्लोक– ३२ से ३३

१३३– हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ०– ३२२

१३४– श्लोकवार्तिक (आत्मवाद) शास्त्रदीपिका (आत्मवाद) प्रकरण पचिका, प्रकरण–८

१३५— श्लोकवार्तिक श्लोक—७४ पृ०— ७०७

१३६— ज्ञान सुखारि रूपेण परिणामित्वम्

१३७— प्रकरण पचिका पृ०— १४८

१३८— मानमेयोदय पृ०— १६२ से १६४ शास्त्रदीपिका— ५६ से ५७

१३६— स्वर्ग कामो यजेत — न्यायमजरी— ५१४

१४०— मीमासा न्यायप्रकाश पृ०— १६०

१४१— श्लोक वार्तिक सबधाक्षेपपरिहार १०६ से १०७ शास्त्र दीपिक १२५ से १२८

१४२— आत्यन्तिकवस्तु देहोच्छेदो मोक्ष

१४३— शास्त्र दीपिका १२५ से १३१

१४४— मानमेयोदय पृ०— ८७ से ८६

१४५— प्रकरण पाचिका, पृ०— ४३ नयविवेक पृ०— ८६ से ६३ तत्ररहस्य पृ०—२ से ५

१४६— शास्त्रदीपिका, ५८ रो ५६ , वार्तिक श्लोक २४२ रो २४६

१४७— शर्मा री० डी० भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०— २०३

१४८— तत्त्वोद्योत पृ०—१६ न्यायामृत, ६५ से ६७

१४६— न्यायामृत पृ०— ५५८

१५०— मध्वसिद्धान्त सार पृ०— ६

१५१— देवराज भारतीय दर्शन पृ०— ६२०

१५२— हरेरिच्छाऽथना बलम्

१५३— ब्रह्मसूत्र— १/४/२७ पर मध्य भाष्य

१५४— न्यायसुधा, पृ०— ११३

१५५— 'अणुर्ह्येष आत्माऽय वा ये ते सिनीत पुण्य चापुण्य चेति

श्रुतौ अणुत्व इत्यताऽविरोध इति —मध्वभाष्य

१५६— तत्त्वप्रकाशिका, पृ०— १२१

१५७— न्यायसुधा पृ०— २६६

१५८— 'माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहो हि भक्ति'— तत्त्वप्रकाशिका अणुव्याखान्—३/२/१

१५६— तारतम्येन तिष्ठति गुणैरानन्दपूर्वकै — गध्वगीता भाष्य (मुक्तिवाद) पृ०—८२

१६०— न्यायसुधा २६६

१६१— सर्वार्थसिद्धि— ५६० श्रीभाष्य— २/१/६ श्रीभाष्य (टीका) विशिष्टान्तर्भाव एव ऐक्यम पृ०— १३२

१६२— चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर

१६३—वेदार्थ सग्रह पृ०— ३४

१६४— वेदार्थ सग्रह, पृ०— ६७ से ६८

१६५— श्रीभाष्य— २/१/६ श्रीभाष्य सूत्र— २/४ १४

१६६— वेदार्थ सग्रह पृ०— १७

१६७— वेदार्थ सग्रह पृ०— २२

१६८— देवराज भारतीय दर्शन पृ०— ५६८ से ५६६

१६६— वेदान्तसूत्र १/१/१२ पर भास्कर भाष्य, पृ०— २४ वेदान्त सूत्र १/१/२ पर श्रीभाष्य

वेदान्तपारिजात सौरभ विज्ञानमृतम् भाष्य

१७०— ब्रह्मसूत्र (शाकर) भाष्य की चतु सूत्री

१७१— विज्ञानमृतम् भाष्य पृ०— १३३, १३५ व १३७

१७२— वेदान्तसूत्र १/१/१२ से १६ पर भास्कर भाष्य

१७३— श्रीभाष्य— २/१/१५ ३/२/२१

१७४— श्रीभाष्य (टीका) पृ०— १६८ से १६६

१७५ —माया तु प्रकृति विजात् (प्रकृति ही विधेय है) तत्त्वत्रय पृ०— ७६ ज्ञान विरोधत्वादविधा

१७६ —ब्रह्मसूत्र— १/४/८ पर श्रीभाष्य

१७७— श्री भाष्य— १/४/६

१७८— देवराज भारतीय दर्शन पृ०— ५७८ शर्मा भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन पृ०— ३०२

१७६— अविद्यास्मितारागद्वेषाभिभिविनेश पचक्लेशा ।।योग सूत्र— २/३।।

१८०— विज्ञानमृतम् भाष्य, पृ०— ३१६

१८१— एतेनाविद्या आत्मानिष्ठत्वमप्यपास्तम्, वि० भ० पृ०— ८४

१८२— श्रीवास्तव, डा० सुरेशचन्द्र आर्चाय विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन मे उनका स्थान, पृ०— २४२

१८३— देवराज भारतीय दर्शन पृ०— ५७६ से ५८०

१८४— श्रीभाष्य— १/१/५

१८५— श्रीभाष्य— १/१/१

१८६— सर्वार्थसिद्धि — १/१६

१८७— अतो ज्ञातृत्वमेव जीवात्मन स्वरूपम् श्रीभाष्य — २/३/३१

१८८— श्रीभाष्य — १/१/१

१८९— वेदार्थ सग्रह पृ०— १

१९०— स चायमात्माऽणु परिमाण श्रीभाष्य — २/३/३१

१९१— श्रीभाष्य — २/३/३६

१९२— श्रीभाष्य — २/३/१८

१९३— श्रीभाष्य — ४/४/१६

१९४— रामकृष्ण आर्चाय ब्रह्मसूत्रो के वैष्णवभाष्यो का तुलनात्मक अध्ययन, पृ०— २३६

१९५— वेदात सूत्र— २/३/४२ पर अणुभाष्य

१९६— ब्रह्मसूत्र भाष्य— १/२/७ विज्ञानमृतम् भाष्य पृ० — ३४३

१९७— श्रीभाष्य — १/१/१

१९८— स चानन्त्माय कल्पते सवा एष महानज आत्मा योऽयविज्ञानमय प्राणेषु

१९९— विज्ञानमृतम् भाष्य— ३७४

२००— श्रीभाष्य— ४/४/२

२०१— श्रीभाष्य— मगलाचरण, वेदार्थ सग्रह पृ०— ४४

२०२— श्रीभाष्य, पृ०— ८०

अध्याय सप्तम्

निष्कर्षात्मक अनुलेख : शंकराचार्य कृत सांख्य दर्शन की आलोचना और मूल्यांकन

दर्शन मे माना जाता है कि जिसके प्रारम्भ और अन्त के सबध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता है । किंतु भारतीय दर्शन का प्रारम्भिक रूप साख्य दर्शन को कहा गया तो अन्तिम परिणति के रूप मे अद्वैत दर्शन को स्वीकृति प्राप्त हुई है। यही कारण है कि शकराचार्य साख्य दर्शन को अपना प्रधानमल्ल कहते है। इस प्रकार शकराचार्य अन्य भारतीय दर्शनो की अपेक्षा साख्य दर्शन की आलोचना मे अधिक रुचि दिखाते है यद्यपि साख्य दर्शन शकराचार्य के अद्वैतवाद, विवर्तवाद और ब्रह्मात्मैकत्ववाद की अपेक्षा द्वैतवाद परिणामवादी और आत्मसाक्षात्कर पर बल देता है। लेकिन इसकी सम्यक् निवेचना से स्पष्ट करते है कि साख्य दर्शन की अन्तिम परिणति अद्वैतवाद है जो अपने छद्म रूप से निहित है।

अद्वैतवाद मे एकमात्र निरपेक्ष और अन्तिम सत्ता ब्रह्म को माना गया है यह शुद्ध सत्ता एव चैतन्य स्वरूप है तथा स्वत निर्विकार है। ब्रह्म और आत्मा मे अभेद है तथा जगत का आधार ब्रह्म है। अद्वेतवेदान्त मे ब्रह्म के दो लक्षण माने गए हैं –

(i) स्वरूप लक्षण– सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म'[1] यह निर्गुण ब्रह्म है यही परब्रह्म है।

(ii) तटस्थ लक्षण[2]– जगत्कर्ता जगत्पालक, जगत्सहारक आदि उसके कारण यह सगुण ब्रह्म है जिसे अपरब्रह्म कहा गया है। इसे ईश्वर भी कहते है, जो उपास्य है।

ब्रह्म के यथार्थ अर्थात् स्वरूप लक्षण और औपाधिक अर्थात् तटस्थ लक्षण को स्पष्ट करने के लिए शकराचार्य जादूगर और गडरिये का उदाहरण देते है।[3] लेकिन शकराचार्य ब्रह्म के वास्तविक रूप को उपनिषदों के समान नेति–नेति के द्वारा ही समझाते है। अत वे मानते है कि ब्रह्म मे यह गुण नही है वह गुण नही है। इसी तरह किसी गुण का उपास्यता तक का ब्रह्म मे आरोप नही किया जाता है।[4] इसी कारण अद्वैत वेदान्त मे ब्रह्म को मूलत निगुर्ण माना गया है। अद्वैत वेदान्त मे ब्रह्म को सजातीय विजातीय और स्वगत सभी भेदो से रहित माना गया है। वस्तुत कर्तृत्व अर्थात् गुणत्व का स्वाभाविक गुण नही है। यह केवल ब्रह्म उपाधि मात्र है। अत ब्रह्म केवल मायोपहित अर्थात् माया की उपाधि से युक्त है। वास्तव मे सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दोनो एक ही है। जैसे कि नाट्यशाला के भीतर जो आदमी है वही नाटयशाला से बाहर जाने पर दूसरा आदमी नहीं हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म से मायाशक्ति के द्वारा जगत का क्रमिक विकास होता है अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल की परिणति का आभास होता है। इस विकास क्रम मे तीन अवस्थाए होती है - (i) अव्यक्त कारणावस्था यथा बीजावस्था (ii) सूक्ष्म परिणामावस्था यथा अकुरावस्था और (iii) स्थूल परिणामावस्था यथा वृक्षावस्था।[५] वास्तव मे अपरिणामी ब्रह्म मे ये परिणाम या विकार नही हो सकते। ये सभी परिवर्तन या विकार माया ही के खेल है। यह माया या सृष्टि शक्ति पहले अव्यक्त रहती है तब सूक्ष्म विषयो मे व्यक्त होती है उसके पश्चात् स्थूल विषयो मे। इस प्रकार शकराचार्य ब्रह्म की चार अवस्थाए मानते हैं जिसमे एक निर्गुण ब्रह्म की और शेष सगुण ब्रह्म की अवस्थाए है –

(i) परब्रह्म – शुद्ध सच्चिद् स्वरूप।

(ii) ईश्वर – अव्यक्त आत्मा का आश्रय होने के कारण ब्रह्म को सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ ईश्वर का कहा जाता है।

(iii) हिरण्यगर्भ – जब माया सूक्ष्म रूप से व्यक्त होती है। यहॉ ब्रह्म का अर्थ हैं सकल सूक्ष्म विषयो की समष्टि।

(iv) वैश्वानर – विराट रूप, जब माया स्थूलरूप मे अर्थात् दृश्यमान् विषयो मे अभिव्यक्त होती है। तब ब्रह्म का अर्थ है, सभी स्थूल विषयो की समष्टि अर्थात् समस्त व्यक्त ससार।

लेकिन शकराचार्य सृष्टि विकास के सम्बन्ध मे उतना नही ध्यान देते है। जितना मूल तत्त्व ब्रह्म के प्रतिपादन या परिवर्तनशील विशेष विषयो के खण्डन मे। उनके अनुसार सृष्टि–विकास की व्यवस्था केवल निम्न स्तर की दृष्टि से सत्य है। अद्वैत वेदान्त मे जगत सत या असत् न होकर मिथ्या अर्थात् सत् मे असत् की प्रतीति है। मायोपहित ब्रह्म रूप ईश्वर मे जगत की सृष्टि होती है। अत ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर नानात्व दूर हो जाता है। ऋग्वेद मे भी माना गया है कि एक ही इन्द्रिय माया के प्रभाव से नाना रूपो मे प्रकट होते है।[६] श्वेताश्वर उपनिषद् मे भी ब्रह्म की माया को 'प्रकृति' कहा गया है।[७] माया को भावरूप अज्ञान है, जो अनादि है। ईश्वर के लिए सृष्टि केवल लीला मात्र है, ईश्वर स्वय उस माया से मुग्ध नही होता।[८] शकराचार्य यद्यपि स्वप्न के उदाहरण द्वारा जगत के स्वरूप का उपादान करते है, तथापि वह बाधित स्वप्न ज्ञान और बाधक जाग्रत ज्ञान (व्यावहारिक जगत) मे बहुत अन्तर है इन दोनो के कारण रूप अज्ञान भी

भिन्न–भिन्न है।[९] प्रथम प्रकार का अनुभव यथा स्वप्न या भ्रम व्यक्तिगत एव तात्कालिक अज्ञान से होता है जबकि द्वितीय प्रकार का अनुभव यथा जगतादि के नाना विषयो का प्रत्यक्ष सार्वजनिक और अपेक्षाकृत स्थायी अज्ञान से होता है। यहाँ प्रथम को अविद्या और द्वितीय को माया कहते है। माया मे प्रतिफलित चिदानन्द सर्वज्ञ ईश्वर है और अविद्या मे प्रतिबिम्बित चिदात्मा जीव है।[१०] शकराचार्य इसे अध्यास कहते है जिसका अर्थ है पूर्ववर्ती अनुभव का परवर्ती आधार मे अवभासित होना अर्थात् हम अज्ञान के कारण पूर्वजन्मो मे अनुभूत नाना विषयो का शुद्ध सत्ता या ब्रह्म मे आरोप करते हैं। इसमे केवल अधिष्ठान का आवरण ही नही होता अपितु विक्षेप भी होता है। आवरण का अर्थ है यर्थाथ स्वरूप को ढकना और विक्षेप का अर्थ है उस पर दूसरी वस्तु का आरोप करना।[११]

ससार के परिवर्तनशील विशेष विषयो को शुद्ध सत नही कहा जा सकता है क्योंकि वे विशेष विकारशील है। किंतु वे बध्यापुत्र के समान सर्वथा असत् अलीक या तुच्छ भी नही है। क्योकि उनमे भी सत्ता है जो उनके रूप मे आभासित हो रही है। अत वे न तो सत् है न असत् बल्कि वे 'सदसदनिर्वचनीय' है। यह सागरत विषय सासार और उनकी जननी माया या अविद्या भी सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है। भ्रम के विषय मे इनका मत अनिर्वचनीय ख्यातिवाद कहा जाता है, सत् और असत् को स्पष्ट करते हुए शकराचार्य कहते है कि जिसकी वृत्ति सभी वस्तुओ मे रहे, वह सत् है और जिसकी वृत्ति सभी वस्तुओ मे नही रहे वह असत् है। इस प्रकार अनुवृत्ति सत का लक्षण है और व्यभिचार असत् का।[१२] जो प्रतीति बाधित हो जाती है वह कम सत्य मानी जाती है और जिस प्रतीति के द्वारा जो बाधित होती है वह आशिक सत् होती है। परन्तु इन सब बाध्य–बाधक प्रतीतियो के रहते हुए भी शुद्ध सत्ता या चैतन्य बाधित नही होता। यह सर्वव्यापी शुद्ध सत्ता की एक मात्र वस्तु है। जिसके बाधित होने की कल्पना भी नही की जा सकती। अत यह ऐसी सत्ता है जो प्रत्येक देश–काल और अवस्था मे अबाधित है।[१३] शकराचार्य सत्कार्यवाद से सहमत है कि कार्य पहले से ही अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है। कार्य कोई नई वस्तु नही है। लेकिन वे कार्य को कारण का वास्तविक विकार नही मानते, अपितु विकार को आभासित ही मानने से विवर्तवादी है। अत वे जगत को ब्रह्म का परिणाम नही विवर्त मानते है। अत यहाँ जगत की आभासिक सत्ता है।[१४] लेकिन ऐसा नही कि यहाँ जगत की सत्ता

नही मानी गयी है। शकराचार्य सत्ता की तीन कोटियॉ[१५] मानते है –

(i) पारमार्थिक सत्ता – शुद्ध सत्ता जो सभी प्रतीतियों मे प्रकट होती है और जो न बाधित होती है न जिसके बाधित होने की कल्पना ही हो सकती है।

(ii) व्यावहारिक सत्ता – वे विषय जो स्वाभाविक जाग्रत अवस्था मे प्रकट होते है और जो हमारे दैनिक जीवन और व्यवहार के विषय है। परन्तु जो तार्किक दृष्टि में विरोधात्मक है या बाधित होने कि सभावना रहने के कारण सम्पूर्णत सत्य नही कहे जा सकते।

(iii) प्रातिभासित सत्ता – वे विषय जो क्षण भर के लिए प्रकट होते है, जैसे स्वप्न या भ्रम किन्तु स्वाभाविक जाग्रत अवस्था के अनुभवो से बाधित होते है। जगत की सत्ता पर बल देते हुए शकराचार्य कहते है कि जैसे कारण रूपी भ्रम की सत्ता त्रिकाल मे रहती है वैसे ही त्रिकाल में सत्व नही खोती क्योकि कारण कार्य अभिन्न है[१६] पुनश्च नाना रूपात्मक विषय सत्ता रूपेण सत्य है किन्तु अपने विशेष रूप में असत् है।[१७]

शकराचार्य की माया का प्रयोग ब्रह्म सूत्र मे एक बार हुआ है जिसका अर्थ परमेश्वर की शक्ति अविद्या इन्द्रजाल और मिथ्यात्व लिया गया है। ब्रह्मसूत्रभाष्य मे माया शब्द का अर्थ मिथ्यात्व माना गया है। शकराचार्य ने ईश्वर को मायावी और जगत को माया कहा है। अद्वैत वेदान्त शुद्ध सत्व प्रधान उपहित चैतन्य को ईश्वर मानता है तथा उपाधिभूत माया को जगत का उपादान कारण मानते है।[१८] शकराचार्य प्रकृति सिद्धात की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए माया को प्रकृति का ही पर्याय मानते हैं।[१९] शकराचार्य की माया रूपी प्रकृति भी सत्व, रज और तम गुणो से युक्त है। परन्तु यह सॉख्य की प्रकृति जो निरपेक्ष और स्वतन्त्र है, नही है। शकराचार्य की प्रकृति ईश्वर की माया है जो उसी पर सदैव आश्रित रहती है।[२०] शकराचार्य साख्य के प्रधानकारणवाद का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार अचेतन जड प्रकृति समस्त जगत का उपादान कारण नही हो सकती। इस जगत का उपादान कारण नित्य कूटस्थ अपरिणामी ब्रह्म ही होगा। ब्रह्म चेतन है, वही इस जगत का कारण है। प्रकृति जगत का कारण है क्योकि वह श्रुत्वादि के द्वारा सिद्ध नही है। श्रुति मे कारण को ईक्षण करने वाला कहा गया है। इस प्रकार आरम्भ मे केवल आत्मा ही था अन्य कोई वस्तु नही थी। उसने ईक्षण किया कि मै लोको की रचना करूँ और तब समस्त सृष्टि की रचना की। इस प्रकार श्रुति ईक्षणपूर्वक कर्त्ता का

समर्थन करती है।[२१] अचेतन प्रधान को जगत का उपादान कारण मानना तो श्रुति सम्मत नही है क्योकि प्रकृति के जड होने से ईक्षण कर्तृत्व नही है।

ब्रह्म में माया द्वारा ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों है।[२२] यदि साख्य मतानुसार प्रकृति को जगत का कारण गान लें तो उक्त दोनो बाते असगत हो जायेगी। जबकि श्रुति सत् शब्द से ब्रह्म का निर्देश करती है।[२३] प्रकृति सर्वज्ञ भी नही है साख्य मतावलम्बियों का कथन है कि सत्वगुण के धर्मरूप ज्ञान से प्रकृति सर्वज्ञ है। लेकिन यह मत ठीक नही है। क्योकि प्रकृति की साम्यावस्था मे गुणो की समता रहती है। अत सत्व गुण का धर्म रूप ज्ञान नही हो सकता। सर्वज्ञान की शक्ति होने के कारण भी प्रकृति मे सर्वज्ञत्व सिद्ध नही है क्योंकि यदि गुणो की समता होने पर भी सत्व मे रहने वाली ज्ञानशक्ति के आधार पर प्रकृति को सर्वज्ञ मान ले तो रजोगुण और तमोगुण मे रहने वाली ज्ञान प्रतिबधक शक्ति के आधार पर उसे अल्पज्ञ भी मानना पडेगा।[२४] प्रकृति मे सत्व के उत्कर्ष से सर्वज्ञता हो शक्ति है। यह कहना ठीक नही क्योकि साक्षी के बिना केवल सत्व गुण की वृत्ति ज्ञान नही हो सकती। क्योकि वह जड है साक्षी चेतन से प्रतिबिम्बित चित्तवृत्ति को ज्ञान कहा जाता है और उसी से वस्तु का ज्ञान होता है। अचेतन प्रकृति भी साक्षी नही अत प्रकृति मे सर्वज्ञत्व असम्भव है।[२५] जैसे लोहे के गोले आदि में अग्नि से दहन शक्ति प्राप्त होती है। उसी प्रकार प्रकृति मे ईक्षण–शक्ति साक्षी से प्राप्त होती है, ऐसा मान लेने पर प्रकृति को ईक्षण–शक्ति जिससे प्राप्त होती है वही मुख्य ब्रह्म जगत का कारण है।[२६] ज्ञान के नित्य होने के कारण उसमे अल्पज्ञता दोष नही है। कार्यानुकूल ज्ञान वाला ही कर्ता है। अत ईक्षण के अनुकूल नित्य ज्ञान वाला होने से वह कर्ता है। निष्कर्षत मायायुक्त व शरीररहित सर्वज्ञब्रह्म ही जन्य ईक्षण का कर्ता है।[२७] प्रकृति ईक्षण कर्ता न होने से जगत का उपादान कारण नही है। श्रुति द्वारा भी यह सिद्ध नही होता है कि मृतिका आदि की तरह अनेक स्वरूप होने से प्रकृति जगत का कारण हो सकता है और एकाकी ब्रह्म जगत का कारण नही हो सकता।[२८]

इक्षापूर्वक कर्तृत्व कुम्हार आदि निमित्त कारणों मे ही देखा जाता है व्यवहार मे देखा गया है कि क्रिया मे फल की सिद्धि के पूर्व अनेक कारण रहते है और ईश्वरत्व प्रसिद्धि इन दोनो

से ही ब्रह्म जगत का निमित्त कारण है। यह कार्य रूप जगत अवयवयुक्त अचेतन और अशुद्ध है। उसका कारण भी वैसा होना चाहिए क्योंकि कारण और कार्य समान देखे जाते है।[२९] श्रुति मे भी ब्रह्म को निष्फल और निष्क्रिय माना गया है।[३०] अत ब्रह्म को जगत का निमित्तौपादान कारण ही मानना चाहिए न कि केवल निमित्त कारण। उभय कारण मानने से श्रुति प्रतिपादित प्रतिज्ञा और दृष्टात बाधित नही होते।[३१] कार्य उपादान कारण से अभिन्न होता है न कि निमित्त कारण से कार्य अभिन्न होता है।[३२] अत प्रतिज्ञा और दृष्टात के अनुरोध से ब्रह्म ही उपादान कारण है प्रकृति नही। यह जगत सुख दु ख मोहात्मक इसका कारण भी वैसा है। जैसे घट मृत्तिका से उत्पन्न होकर मृत्तिका से अचित् है। इस अनुमान से भी प्रकृति जगत का उपादान कारण नही हो सकता। क्योंकि जड प्रकृति से इस विविध जगत की उत्पत्ति नही हो सकती।[३३] क्योकि यह विविध कार्य जगत चेतन से अधिष्ठित अचेतन प्रकृतिवाला है। अत चेतन अधिष्ठित के बिना अचेतन मे प्रवृत्ति सम्भव नही है।[३४] अचेतन प्रधान की साम्यावस्था की प्रच्युतिरूप प्रवृत्ति चेतन के बिना उत्पन्न नही हो सकती। इसलिए भी प्रधान जगत का कारण नही हो सकता।[३५] जैसे–मृत्तिका अथवा रथादि स्वय अचेतन होते हुए भी चेतन कुलाल अथवा अश्वादि से अधिष्ठित होकर भी प्रवृत्ति वाले देखे जाते है। अत इस हेतु से भी अचेतन प्रधान जगत का कारण सिद्ध नही होता।[३६] अयस्कान्तमणि स्वय प्रकृति रहित होते हुए भी लौह का प्रवर्तक होता है अथवा जैसे रूप आदि विषय भी स्वय प्रवृत्ति रहित होते हुए भी चक्षु आदि के प्रवर्तक होते वैसे ही प्रवृत्ति होते हुआ भी ईश्वर सर्वज्ञ व सर्वशाक्तिमान सबको प्रवृत्त करता है।[३७] वेदान्त मत में नान्योऽतोऽस्मि दृष्टा'[३८] इत्यादि श्रुतियो के आधार पर चेतन से अतिरिक्त कुछ भी नही तब प्रवर्त्य के न होने से चेतन ब्रह्म मे प्रवर्तक कैसे हो सकते हैं ? इस शका का उत्तर देते हुए कहते है कि अविद्या से चेतन मे कल्पित द्वेष से प्रवर्त्य और प्रवर्तक भाव आदि सब उत्पन्न होता है। अत माया प्रवर्त्य है और सर्वज्ञ ईश्वर प्रवर्तक है। इस प्रकार सर्वज्ञ कारण मे प्रवृत्ति मानना सभव है अचेतन कारणो मे नही।[३९] पूर्वपक्षी ने उदाहरण देते हुए कहा था कि जैसे दूध बछडे के पोषण के लिए स्वय प्रवृत्त होता है और जल स्वय बढता है। वैसे प्रधान स्वय प्रवृत्त होता है। आचार्य शकर इसका खण्डन करते है कि चेतन के कारण दूध और जल मे प्रवृत्ति हैं। साख्य के मत मे साम्य से अवस्थित हुए तीन गुण है ये तीन गुण ही प्रकृति है। पुरुष के उदासीन और

असग होने से वह न तो निवर्तक है न प्रवर्तक। इसीलिए प्रकृति अनपेक्ष है। अनपेक्ष होने के कारण प्रकृति कभी महदादि आकार से परिणित होगा और कभी नही होगा यह सब अयुक्त है। ईश्वर सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् है और सर्वज्ञ होने के कारण उसे प्रवर्तक या निवर्तक होने मे कोई विरोध नही है।[४०] जैसे कि साख्य मत में तृण पल्लव उदक आदि अन्य निमित्त की अपेक्षा किए बिना स्वभाव से ही क्षीर सागर आदि रूप मे परिणत होते है। उसी प्रकार प्रकृति भी महदादि रूप मे परिणत हो जायेगी। आचार्य शकर इसका खण्डन करते हुए कहते है कि यदि तृणादि स्वाभाविक रूप मे परिणत होते है तो हम प्रकृति का स्वाभाविक परिणाम मान लेते है। लेकिन तृणादि स्वाभावत ही परिणाम को नही प्राप्त होते। उन्हें भी अन्य निमित्त की अपेक्षा होती है। क्योंकि गाय द्वारा खाया गया तृण ही दूध मे परिवर्तित होता है। बैल आदि द्वारा खाया गया तृण क्षीर आदि मे परिवर्तित नही होता। इसलिए तृणादि के समान प्रकृति का परिणाम स्वाभाविक नही है।[४१] प्रकृति की स्वाभाविक प्रवृत्ति मानने पर उसे किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा नही है। उसी प्रकार उसे किसी प्रयोजन की भी अपेक्षा नही होगी। ऐसा मानने पर साख्य की इस बात का खण्डन हो जायेगा कि पुरुष के भोग तथा मोक्ष रूप अर्थ के लिए प्रकृति प्रवृत्त होती है।[४२] प्रकृति निमित्त की अपेक्षा नही रखता है। परन्तु प्रयोजन की अपेक्षा रखता है, ऐसा है तो भोग और मोक्ष अथवा दोनो ही प्रवृत्ति के प्रयोजन है। यदि भोग प्रवृत्ति का प्रयोजन है तो सुख आदि आधान अतिशय से रहित पुरुष का भोग किस प्रकार हो सकता है। यदि मोक्ष को प्रवृत्ति का प्रयोजन मान ले, तो प्रवृत्ति से पूर्व भी मोक्ष के सिद्ध होने से प्रवृत्ति निष्फल होगी और शब्दादि की अनुपलब्धि का प्रसग हो जायेगा। यदि भोग और मोक्ष दोनो की प्रवृत्ति का प्रयोजन माने तो भोग्य के योग्य तन्मात्राओ के अनन्त होने से मोक्ष के अभाव का प्रसग हो जायेगा।[४३]

साख्य मत में जैसे उत्सुकता की निवृत्ति के लिए क्रियाओ मे प्रवृत्ति होते है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति प्रवृत्त होती है।[४४] लेकिन यह मत ठीक नही है क्योंकि इस प्रकार की उत्सुकता अचेतन प्रकृति एव निर्मल चेतन पुरुष मे सभव नही है।[४५] अध और पगु पुरुष के समान अथवा लौह–चुम्बक के समान पुरुष प्रकृति का प्रवर्तक है। ऐसा मानने पर भी समस्या समाप्त नही होती। क्योकि साख्य मत मे प्रकृति की स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्ति स्वीकार की गई है। यहाँ पुरुष को प्रवर्तक नही क्योकि उदासीन पुरुष प्रकृति को प्रवृत्त कैसे करेगा। पगु पुरुष भी

अध पुरुष को वाणी आदि से प्रवृत्त करता है। लेकिन साख्य का पुरुष निर्गुण निर्विकार और निष्क्रिय है। अत उसमे किसी भी प्रकार की कोई प्रवृत्तिजनक व्यवहार नही होगा।[४६] अयस्ककातमणि के रामान रान्निधि मात्र रो भी प्रवृत्त नही मानी जा राकती। क्योंकि सन्निधि के नित्य होने से प्रवृत्ति भी नित्य होगी और अयरककातमणि की अनित्य सन्निधि होने से उसका अपना व्यवहार अनित्य होगा। अत यह मत भी उचित नही है।[४७] इस प्रकार प्रकृति को अचेतन और पुरुष को उदासीन होने के कारण दोनों का सम्बन्ध कराने वाले तीसरे के अभाव होने से सम्बन्ध की अनुत्पत्ति होगी। यदि योग्यता निमित्तक सम्बन्ध मान ले तो भी योग्यता के नित्य होने से मोक्षाभाव का प्रसग होगा।[४८] गुणो के अगागीभाव कि अनुत्पत्ति होने से भी प्रकृति की प्रवृत्ति नही हो सकती। क्योकि सत्व रजस और तमस इन तीनो गुणो की साम्यावस्था ही प्रकृति है। उस अवस्था मे एक दूसरे के रवरूप की अपेक्षा से रहित सत्वादि गुणो के अपने–अपने स्वरूप नाश होने के भय से पररपर के प्रति अगागिभाव नही हो सकता और क्षोभ उत्पन्न करने वाले किसी बाह्य पदार्थ के न होने से गुणो की विषमता नित्य महदादि की उत्पत्ति नही होगी।[४६]

आचार्य शकर के अनुरार साख्यविद् यह कहते है कि हम गुणो को निरपेक्ष रवभाव तथा कूटस्थ नही मानते, क्योकि ऐसा स्वीकार करने का कोई प्रमाण नही मिलता। कार्य के अनुसार गुणो का रवाभाव रवीकार किया जाता है। गुणो का रवाभाव चलायमान है इसलिए साम्यावस्था मे भी गुण वैषम्य प्राप्ति के योग्य ही रहते है। लेकिन ऐसा मानने पर भी प्रकृति मे ज्ञानशक्ति का अभाव रहता है। ज्ञानशक्ति का अभाव होने से रचना अनुत्पत्ति आदि दोष ज्यो का त्यो रहेगे। यदि ज्ञानशक्ति को मान ले तो साख्य का यह सिद्धात खण्डित हो जाता है क्योंकि एक चेतन अनेक प्रपच रूप जगत का उपादान कारण है। इससे ब्रह्मवाद उपस्थित हो जाता है। वैषम्य प्राप्ति के योग्य भी गुण साम्यावस्था में निमित्त न होने से वैषम्य को नही प्राप्त होते। यदि प्राप्त होते है तो निमित्त का अभाव होने रो रादैव विषमता पायी जायेगी। इस प्रकार दोष दूर नही हो पायेगा।[५०]

शकराचार्य भी सत्कार्यवादी है। जिसके अनुसार कार्य पहले से ही अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है। इस प्रकार कार्य कोई नई वस्तु नही है। लेकिन शकराचार्य साख्य की

भॉति परिणामवादी जिसमे कार्य को कारण का वारतविक विकार मान लिया गया है नही है। शकराचार्य के मत मे कार्य अपने कारण का अभासिक विकार है जैसे ररसी का सॉप के रूप गें दिखाई देना।[५१] विवर्तवाद के पक्ष मे शकराचार्य की युक्तियॉ ओर उनकी माया अविद्या तथा अध्यात्म विषयक सिद्धात ये सब अद्वैतवाद के प्रमुख यौक्तिक आधार है। कार्य कारण से भिन्न वरतु नही है। मिटटी का बर्तन मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नही है। अत ये मानना उचित नही है कि कार्य एक नई वरतु है जो पहले अपने कारण मे नही थी। तत्त्वत कार्य सदैव अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है। निमित्त कारण की क्रिया से किसी नये द्रव्य की उत्पत्ति नही होती। केवल उस द्रव्य के निहित रूप की अभिव्यक्ति मात्र हो जाती है। अत कार्य को अपने कारण से अनन्य और उसमें पूर्व से विद्यमान मानना चाहिए।[५२] इस प्रकार कार्य कारण की अवस्था मात्र है।[५३] साख्य के परिणामवाद के विरुद्ध शकराचार्य का मत है कि यदि उपादान कारण मे वारतविक विकार मान लें तो इसका अर्थ होगा जो आकार असत् था वह सत् हो जाता है। इससे रवय सत्कार्यवाद खण्डित हो जाता है। शकराचार्य प्रत्यक्ष को अस्वीकार नही करते केवल उराका यथार्थ तत्त्व क्या है उरी का अनुसधान करते है। साख्य का वारतविक परिवर्तन तभी मान्य होगा। जब आकार की अपनी अलग सत्ता हो, परन्तु सूक्ष्म विवेचन से रपष्ट है कि आकार उपादान (द्रव्य) की एक अवस्था मात्र है जो उरारो अविच्छेद्य है। अत आकार की जो कुछ सत्ता है, वो द्रव्य या वस्तु को लेकर है। क्योंकि आकरिमक परिवर्तन होने पर भी कोई वरतु वही कही जाती है। जैसे देवदत्त सोते उठते या बैठते हुए भी देवदत्त ही कहा जाता है।[५४] यदि आकार ओर किरी गुण की द्रव्य रो पृथक् रात्ता गान लें तो गुण ओर द्रव्य मे बिना किसी वरतु की सहायता से सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। अब यदि तीसरी वस्तु की कल्पना करते है तो उसका पहली और दूसरी वरतु से सम्बन्ध जोडने के लिए चौथी और पॉचवी वस्तु की भी कल्पना करनी पडेगी। इस तरह अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। इस प्रकार गुण और उसके द्रव्य गे पार्थक्य की कल्पना करना अयुक्ति सगत है। अत आकार द्रव्य से भिन्न सत्ता नही है।[५५] यहॉ साख्य द्रव्य और गुण के एक ही यथार्थता सम्पन्न मानता है जबकि अद्वैत वेदान्त द्रव्य के विचार को अतार्किक मानता है तथा समझता है कि यह केवल विचार का एक प्रकार है।[५६]

जब कोई कार्य उत्पन्न होता है तो द्रव्य मे विकार उत्पन्न नही होता है। कारण कार्य

का सम्बन्ध वास्तविक परिवर्तन को इगित नही करता। यद्यपि जो भी परिवर्तन होता है वो कारण के द्वारा ही सभव है। आकाश नीला नही है फिर भी नीला दिखाई देता है। इस प्रकार सूर्य में गति नही है फिर भी गति दिखाई देती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष किन्तु असत्य घटना को आभास कहते है। जो वास्तविक सत्ता नही होती। अत सभी विकार आभास मात्र है यही विवर्तवाद है।[५७] इस मिथ्या कल्पना का कारण अविद्या अथवा माया है जो असत् मे सत् का आभास कराती है। इसी का प्रभाव है कि ब्रह्म मे जगत का अध्यास होता है। यद्यपि इससे ब्रह्म मे किसी भी प्रकार का विकार नही आता है। एकमात्र ब्रह्म ही वह सत्ता है जो सभी द्रव्य नामधारी पदार्थ के विकार का आधार है और सभी विषयों में एक–सा बना रहता है।[५८] शकराचार्य के अनुसार उपादान कारण का सदृश कार्य परिणाम कहलाता है और विषय कार्य विवर्त। यह सादृश्य और विषमता सत्ता की श्रेणी या प्रकार मे होती है। दही दूध का परिणाम है और सर्प रस्सी का विवर्त दही और दूध की सत्ता एक प्रकार की है सर्प और रस्सी की दो प्रकार की सर्प की सत्ता केवल कल्पना में है, देश और काल मे नही।[५९] गीताभाष्य[६०] मे माया को 'त्रिगुणात्मिक अविद्यालक्षणा प्रकृति कहा गया है जो सचराचर जगत को उत्पन्न करती है।[६१] किन्तु एक बात स्पष्ट है कि माया का आश्रय परमेश्वर को माना है, ब्रह्म को नही । इस प्रकार माया से सयुक्त परमेश्वर ही जगत का स्रष्टा है ।

प्राय बाह्य विषयो को अचेतन और अपने मन की आभ्यातरिक वृत्तियो को चेतन माना जाता है। परन्तु वहॉ मन की वृत्ति का अस्तित्व स्वयप्रकाश है। वही बाह्य ससार का अस्तित्व भी स्वय अपने को प्रकाशित करता है। इस प्रकार प्रकाश की शक्ति बाह्य और आभ्यातरिक दोनो पदार्थों मे पायी जाती है। अत दोनो पदार्थों मे जो अनुगत सामान्य तत्त्व सत्ता है वह स्वय प्रकाशक है। जो असत् यथा बन्ध्या पुत्र है वह क्षण भर के लिए भी अपने को प्रकट नही करता है। इस प्रकार सत्ता रूप ब्रह्म स्वयप्रकाश चैतन्य स्वरूप है।[६२] प्रत्येक भाव या विचार का विषय सत्य नही होता तो भी वह विचार अवगति के रूप में तो अवश्य ही सत् (सत्ता) है[६३] सुषुप्तावास्था या मूर्च्छावस्था निर्विषयक होने पर भी सत् होती है।[६४] इस प्रकार सत्ता एक अव्यभिचारी वस्तु है, जो बाह्य और आभ्यातरिक सभी अवस्थाओ मे अनुगत रहती है।[६५] अत. सत्ता मूल द्रव्य अर्थात् उपादन कारण है। सभी बाह्य विषय और आभ्यातरिक वृत्तियॉ इसी सत्ता

के नाना रूप है। शुद्ध सत्ता जो समरत ससार का मूल कारण है, नाना रूपो मे प्रकट होने पर भी रवय निराकार है भिन्न–भिन्न भागों मे होने पर भी यर्थाथत निरवयव है। सात विषयो मे भारागान होने पर भी वस्तुत अनन्त है यह सत्ता ब्रह्म ही है।[६६]

यदि साख्य के प्रकृति और पुरुष की पररपर निरपेक्षता और वैपरीत्य गुण को स्वीकार कर लें जैसा की सख्यामत है तो प्रकृति से विकास की व्याख्या करना सम्भव नही है। क्योकि तब यह रपष्टत नही कह सकते है कैसे एक निर्देशक चैतन्य के बिना प्रकृति अपनी अन्तर्निहित सम्भावनाओ को अभिव्यक्ति करती है जैसा कि साख्य रवय मत देता है कि जब तक कोई बुद्धि सम्पन्न तत्त्व उपस्थित नही होता है किसी प्रकार की क्रियाशीलता ही सभव नही है। अत शकराचार्य के अनुसार साख्य मत मे प्रकृति का स्वरूप तीनो गुण की साम्यावस्था है। फिर प्रकृति से भिन्न कोई ऐसा तत्त्व नही है जो प्रकृति को क्रियाशील होने के लिए बाध्य करे अथवा इसे रोके। क्योकि पुरुष उदासीन और निष्क्रिय है तथा प्रकृति किसी सबध विशेष मे स्थित नही है, तब यह समझना सम्भव नही है कि कैसे कभी प्रकृति महदादि को व्यक्त करती है और कभी नही करती है।[६७] इसी प्रकार साख्य का यह मत भी सगत पूर्ण नही है कि प्रकृति से महदादि का विकास वैसे ही होता जैसे घास दूध मे रूपातरित हो जाता है। क्योकि घास को दूध मे रूपातरित होने के लिए अन्य कारणो की आवश्यकता होती है जो गाय के अदर ही उपलब्ध होती है बैल मे नही।[६८] पुरुष और प्रकृति का ऐसा कोई सामान्य उद्देश्य नही है जिसके लिए वे पररपर सहयोग की अपेक्षा करे। अचेतन प्रकृति को दु ख नही हो सकता और उदासीन पुरुष दु ख का अनुभाव नही कर सकता। तब दोनो ससार के उद्धार के लिए कार्य कर सकते है। इसका उत्तर तब नही दिया जा सकता जब तक साख्य एक उच्चतर एक को स्वीकार नही कर लेता। आचार्य विज्ञानभिक्षु जो ईश्वरवादी है पुरुष और प्रकृति के सयुक्त कर्म की व्याख्या करने मे समर्थ है।[६९]

शकराचार्य विशुद्ध अद्वैतवादी है। अत ब्रह्म और आत्मा मे अभेद है। उनके अनुसार एक विषय का दूसरे विषय मे भेद–ज्ञाता ज्ञेय का भेद तथा जीव और ईश्वर का भेद ये सब माया की सृष्टि है। यहॉ तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ है जीवत्मा और ब्रह्म का अभेद सम्बध। त्वम्' का

अर्थ शरीर की उपाधि से युक्त प्रत्यक्ष जीव विशेष और तत् का अर्थ परोक्ष परमतत्त्व पर ब्रह्म का बोध। अत यहाँ त्वम् से जीव का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य और तत् से परोक्ष तत्त्व का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य समझना चाहिए। इसी तादात्म्य अहब्रह्मास्मि का ज्ञान करना ही तत्त्वमसि' वाक्य का उद्देश्य है।[७०] इन्द्रियो के द्वारा जो स्थूल शरीर दिखायी पडता है उनके भीतर एक सूक्ष्म शरीर होता है जो अत करण प्राण और इन्द्रियो का समूह है। अनादि अविधा के कारण आत्मा भ्रमवश अपने को स्थूल या सूक्ष्म शरीर समझ लेता है। यह बधन है ऐसा अहकार (मै) भाव की उत्पत्ति के कारण होता है। जबकि यथार्थ मे आत्मा शुद्ध चैतन्य और आनद स्वरूप है।[७१] शकराचार्य आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए युक्ति देने की आवश्यकता नही समझते। उनका मत है कि आत्मा प्रत्येक जीव मे स्वत प्रकाश्य है प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि मै हूँ मै नही हूँ' ऐसा कोई अनुभव नही करता है।[७२]

जो किसी वस्तु की सभी अवस्थाओ मे विद्यमान रहे वही उसका यथार्थ तत्त्व या असली सत्ता है।[७३] इस दृष्टि से शरीर इन्द्रिय अत करण आदि मे जिस तत्त्व के कारण आत्मा उससे अपना अभेद सबध मानता है, वह ज्ञान है। आत्मा चाहे जिस रूप मे प्रकट हो ज्ञान ही उसका असली धर्म है। यह कोई विशेष विषयक ज्ञान नही बल्कि शुद्ध सामान्य चैतन्य है। मेरा शरीर मेरी इन्द्रियाँ मेरा अत करण आदि शब्दो के व्यवहार से स्पष्ट है कि आत्मा अपने को शरीर, इन्द्रिय और अतकरण आदि से पृथक् कर इन्हे अपने से भिन्न ब्रह्म पदार्थ समझ सकता है। अत ये आत्मा के यथार्थ स्वरूप नही है। यही नही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति मे भी आत्मा का सारभूत चैतन्य, इन तीनो अवस्थाओ मे वर्तमान रहता है। प्रत्येक जीव मे जीव और साक्षी दोनो होते है। साक्षी उदासीन अर्थात् अनासक्त द्रष्टा और ज्ञाता है। जबकि जीव आसक्त, भोक्ता और कर्त्ता है। साक्षी ज्ञान सुषुप्ति मे भी बना रहता है वह नित्य अखण्ड और निर्विकार है। जबकि जीववृत्ति ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के सबध से उत्पन्न होता है। साक्षी अन्त करण भोग होता है जबकि जीव अन्त करण विशिष्ट होता है।[७४] आत्मा का यथार्थ स्वरूप निर्विषयक ज्ञान या शुद्ध चैतन्य है। शुद्ध चैतन्य आनद स्वरूप है।[७५] उपाधि सहित शुद्ध सत्ता जीव और जगत दोनो के समान है। चैतन्य दोनो मे विद्यमान रहता है, जीव मे व्यक्त रूप से और बाह्य जगत मे अव्यक्त रूप से। अत जीव और जगत दोनो मे एक ही तत्त्व है यदि जगत और जीव को एक ही सामान्य

गया है–

(i) जीवन्मुक्ति[७६]– इस अवस्था मे प्रारब्ध कर्मों के फल के रूप मे शरीर शेष रहता है परन्तु मुक्तात्मा अपने को शरीर नही समझता ओर जगत के सभी प्रपच को भी जान लेता है। यही कारण है कि जीव तत्त्व मोक्ष महावाक्य के द्वारा ब्रह्मात्मैकत्व को जानकर अह ब्रह्म के रूप मे आत्म–साक्षात्कर करता है। अत वह जगत के बधन से मुक्त हो जाता है।

(ii) विदेहमुक्ति– इस अवस्था मे जीव का शरीर भी नष्ट हो जाता है। क्योकि प्रारब्ध कार्य के फल का भोग हो जाने पर शरीर स्वत नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जीव ब्रह्म मे लीन हो जाता है शकराचार्य सायुज्य मोक्ष को मानते है।[८०]

इस प्रकार अद्वैतवेदान्त मे ब्रह्म और आत्मा की एकता को स्वीकार करते है। अत मोक्ष को आनदस्वरूप मानते है जो ब्रह्मानुभूति ही है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र के मत मे अज्ञान का आश्रय जीव है और उसका विषय ब्रह्म लेकिन सक्षेप–शारीरक आचार्य मिश्र के मत का खण्डन करता है। जिसके अनुसार[८१] अज्ञान जीव के पहले की वस्तु है और जीव का कारण है। अज्ञान पूर्व सिद्ध है, जीव बाद मे आता है इसलिए जीव अज्ञान का न आश्रय हो सकता है न विषय। इसी प्रकार जड तत्त्व भी अज्ञान का आश्रय नही हो सकता क्योकि जड जगत भी जीव की तरह अज्ञान से उत्पन्न होता है। कार्य अपने कारण का आश्रय या विषय कभी नही बन सकता । जिसे जीवात्मा कहते है। वह लौकिक और वैदिक व्यवहारो का अधिष्ठाता होता है। अत उसे साक्षी नही कह सकते। जीव चिदाभासविशिष्ट अहकार रूप है यह जीव साक्षी चैतन्य मे अध्यस्त है अर्थात् साक्षी चैतन्य जीव के अभ्यास का अधिष्ठान है। सुषुप्ति की अवस्था मे अहकार आदि का अभाव रहता है किन्तु उस दशा मे भी साक्षी चैतन्य प्रकाशमान रहता है। अत अन्त करणविशिष्ट को जीव (प्रमाता)[८२] तथा अन्त करण की उपाधि से युक्त को साक्षी कहते है। साख्य और वेदान्त दोनो आत्मा के बधन को वास्तविक नही मानते है। शकराचार्य इसे अध्यास रूप मानते है। साख्य मत मे पुरुष और बुद्धि एकता को आनुभविक पुरुष से अलग मानते हुए आनुभविक पुरुष (जीवात्मा) कहा गया है। इस प्रकार साहचर्य के कारण आनुभविक पुरुष के दो तत्त्वो मे से प्रत्येक पूरी तरह से रूपातरति

दिखायी देता है। जड–बुद्धि चेतन जैसी हो जाती और निष्क्रिय पुरुष सक्रिय जैसा हो जाता है।[८३] चेतन तत्त्व के स्वरूप के सबध मे अद्वैत वेदान्त का मत लगभग वही है जो साख्य का है। लेकिन अद्वैत वेदान्त साख्य की तरह यह नही मानता कि यह जो भौतिक उपकरण इसकी अभिव्यक्ति मे गूढ तरीके से सहायक है। उससे यह परमार्थत भिन्न है क्योकि अद्वैत के अनुसार इस उपकरण का भी अन्तिम मूल ब्रह्म ही है जो एक मात्र सत् सत्ता है। यही कारण है कि भौतिक उपकरण और चेतन तत्त्व की परस्पर क्रिया की अद्वैतवादी व्याख्या साख्य की व्याख्या से अधिक सन्तोषप्रद है। अद्वैत चेतन तत्त्व को निष्क्रिय मानता है फिर भी जो सक्रियता इसमे दिखायी देती है वह आभासी मात्र है और वस्तुत इसके भौतिक सहचर अत करण का धर्म है। इस प्रकार चेतन तत्त्व साक्षी[८४] कहा गया जो साख्य के पुरुष के समकक्ष है। यह अन्त करण की वृत्तियो का निष्क्रिय द्रष्टा है। व्यावहारिक प्रयोजनों की दृष्टि से केवल निष्क्रिय साक्षी और सक्रिय अन्त करण का सयुक्त रूप ही वास्तविक है। यही ज्ञाता भोक्ता और कर्त्ता है। इस सग्रथित रूप मे ही साक्षी जीव कहलाता है। इस प्रकार आत्मचेतन मे एक ही जीव के दो रूप एक ज्ञाता का और दूसरा ज्ञेय का प्रकट होते है। यदि जीव के अदर अत करण रूपी विषयाश न हो तो आत्मचेतना की बात ही नही की जा सकती। क्योकि ज्ञाता ज्ञेय से अभिन्न नही हो सकता। लेकिन जब अन्त मे यह भग होती है तब अन्त करण अपने मूल कारण माया मे लीन हो जाता है और साक्षी अपने साक्षित्व से हीन होकर ब्रह्म बन जाता है। इस प्रकार यद्यपि साक्षी और जीव एक नही है। हालाकि बिल्कुल भिन्न भी नही है। क्योकि जीव अन्त करण मे व्याप्त चैतन्य है और साक्षी केवल चैतन्य है।[८५]

अद्वैत वेदान्त मे बुद्धि इत्यादि ज्ञानागो की धारणा के साथ–साथ ज्ञान का प्रतिनिधान सिद्धात साख्य मत के समान ही है। लेकिन साख्य से अन्तर यह है कि वेदान्त मे दस इन्द्रियो को भूतो से उत्पन्न मानते है जबकि साख्य अहकार से यहॉ अत करण को भी भौतिक मान लिया जाता है जिसमे पॉचो भूतो के अश विद्यमान होते है। इसमे भी तेजस की प्रधानता है अत इसमे चचलता होती है। इस प्रकार यह अपने ही स्थान मे रहते हुए या किसी इद्रिय से बाहर की ओर प्रवाहित होकर जहॉ पहुॅचता है वहॉ सदैव अपने आकाश को बदल लेता है। केवल सुषुप्ति मे ही यह निष्क्रिय होता है यह सक्रिय अवस्था मे जो आकार धारण करता है

उन्हे साख्य की भाति शकराचार्य भी वृत्ति कहते है । यहॉ रपष्ट है कि चेतना की अभिव्यक्ति के लिए भौतिक राहायता अपरिहार्य है। यद्यपि चेतना से ये बिल्कुल पृथक् है।[८६]

सर्वव्यापक (पुरुष) आत्मा के बहुत्व के सबध मे जो निर्गुण और श्रेष्ठतम् विशुद्ध प्रजा है। शकराचार्य का मत है कि यह मान ले कि सब आत्माए प्रज्ञारूप है और उनमे प्रकृति से ससर्ग आदि के विषय मे कोई मतभेद नही है तो स्पष्ट है कि यदि एक आत्मा का सबध सुख या दुख से हो तो सभी आत्माए सुख या दुख से सबद्ध होगी। इसी प्रकार आत्माए यदि एक समान सर्वत्र व्यापक है तो सब एक ही स्थान को घेरेगी।[८७] शकराचार्य कहते हैं कि अपने अनेकत्व मे सीमितताए निहित होती है और एक परम अविनश्वर शाश्वत तथा निरुपाधिक पुरुष एक से अधिक नही हो सकता है। यदि पुरुष की सत्ता प्रकृति के लिए आवश्यक ही है तो इसके लिए एक ही पुरुष पर्याप्त है। अत यह मानना कि अनेक सर्वव्यापी आत्माए है असगत है। क्योकि इस प्रकार का कोई दृष्टात नही मिलता है।[८८]

साख्य का 'पुरुषबहुत्व अपने ही चैतन्य और निरपेक्ष स्वरूप का साक्षात्कार कर मोक्ष (कैवल्य) की प्राप्ति करता है उसे किसी अन्य अनन्त और निरपेक्ष सत्ता की आवश्यकता नही है। जबकि शकराचार्य मे आत्मसाक्षात्कर आत्मा के ब्रह्मरवरूप के साक्षात्कार की बात करता है। इस प्रकार साख्य का मुमुक्ष पुरुष रूप जीवात्मा अपने मे ही पूर्ण है वही शकराचार्य की मुमुक्ष जीवात्मा अपने यथार्थ रवरूप के साथ ब्रह्म से एकात्मता का भी साक्षात्कर करता है। जब मुक्तात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तो मोक्ष मे आत्मा का लोप नही, अपितु चैतन्य के विस्तार और प्रकाश के द्वारा अपनी अनन्त और निरपेक्ष सत्ता का साक्षात्कार है।[८९]

शकराचार्य के अनुसार सूक्ष्म शरीर मे सत्रह तत्त्व है, जिसमे पचज्ञानेन्द्रियॉ, पचकर्मेन्द्रियॉ, पचप्राण मन और बुद्धि। जबकि साख्य मत मे अट्ठारह तत्त्व है, जिसमे त्रयोदशकरण और पचतमात्राए है।[९०] यह सूक्ष्म शरीर भौतिक होते हुए भी पारदर्शक होते है। अत जब जीवात्मा भौतिक शरीर को छोडकर परलोक गमन करती है तो यह दिखायी नही देती है। जबकि सूक्ष्म शरीर और पचप्राण मोक्षप्राप्ति पर्यन्त आत्मा के स्थाई अवयवो के रूप मे विद्यमान रहते है।[९१]

पचज्ञानेन्द्रियो पचकर्मेंद्रियो और मन मे सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थ है जो सूक्ष्म अर्थात् अणुरूप और रीमित है। किन्तु वे परमाणु तुल्य अर्थात् अणु के आकार के नही है। क्योकि तब वे समरत शरीर मे व्याप्त नही हो सकते है। उन्हे सूक्ष्म माना गया है यदि स्थूल माना जाता तो वे मृत्यु के समय निकल जाते। वे आकार मे परिमित है इसी कारण ये इनकी गति अर्थात् आगमन सभव होता है।[६२] उपाधियों द्वारा आवृत आत्मा जीव है जो कर्त्ता और भोक्ता है जबकि सर्वोच्च आत्मा परमात्मा उक्त दोनो अवस्थाओ से मुक्त है।[६३] जीव शरीर तथा इन्द्रियो पर शासन करता है। अत वह कार्यफल का भोक्ता है। इस जीव का मूल रूप आत्मा है। अत यह विभु है अणु रूप नही। यदि यह अणु मान लिया जाय तो शरीर को व्याप्त करने और उनमे होने वाले सवेदनाओ को ग्रहण करना सभव न होगा।[६४] ऐसा ही साख्य का भी मत है। सुषुप्ति की अवस्था मे सीमित करने वाली उपाधियॉ विद्यमान रहती है जिससे कि जब यह फिर अस्तित्व के रूप मे आती है तो जीव भी पुन आस्तित्व के रूप मे आ जाता है।[६५] मोक्ष भी अवस्था मे अविद्या के समस्त बीज नष्ट हो जाते है।[६६] तात्त्विक रूप से प्रत्येक जीव सर्वोपरि यथार्थ सत्ता है और अपरिवर्तनशील एव अपरिवर्तित तथा खण्डरहित है। फिर भी जीव तीन पुनर्जन्म चक्र का भागीदार होता है।[६७] प्रतिबन्ध करने वाली आश्रित वस्तुए इस जगत मे भिन्न–भिन्न आत्माओ को व्यक्तित्व प्रदान करती है। इन आश्रित वस्तुओ के भेद से आत्माओ मे भी भेद होता है परिणामरवरूप कर्मो और कर्मफलो मे पररपर मिश्रण नही हो पाता है।[६८]

कर्गफल या भोक्ता रूप आत्मा को सात बुद्धि न मानकर प्रतिबिम्बित माना गया है जो कि अवियुक्त रूप गे प्रतिबिम्ब डालने वाले मन के राथ सबद्ध है। जिस प्रकार जल के अन्दर सूर्य अथवा चन्द्रमा केवल प्रतिबिम्ब मात्र होता है यथार्थ नही अथवा जिस प्रकार एक श्वेतवर्ण स्फटिक मे लाल रग केवल लाल फूल का प्रतिबिम्ब मात्र है यथार्थ नही। क्योकि जल के न रहने पर केवल सूर्य अथवा चन्द्रमा ही रह जाते है प्रतिबिम्ब नही और लालफूल के न रहने पर केवल श्वेतवर्ण रफटिक अपरिवर्तित रूप मे रह जाता है। इसी प्रकार जीवात्माए एक मात्र यथार्थ सत्ता के अविद्या के अन्दर पडे प्रतिबिम्ब मात्र है और यथार्थ कुछ नही। अविद्या के नाश होने पर प्रतिबिम्बो का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है और केवल मात्र यथार्थ सत्ता रह जाती है।[६९] जिस प्रकार प्रतिबिम्बों मे पररपर भेद दर्पणो के स्वरूप पर निर्भर करता है। उसी प्रकार निरपेक्ष ब्रह्म

भिन्न–भिन्न अन्त करणो मे प्रतिबिम्बित होकर भिन्न–भिन्न जीवात्माओ के रूप मे जाना जाता है। यहाँ माना जाता है कि अविद्या जो एक सूक्ष्म वरतु है। अन्त करण के रूप मे अवच्छेदक है । विशेषण या जीव का एक आवश्यक भाव है। जिसके बिना जीव का एक आवश्यक भाग है जिसके बिना जीव अस्तित्व नही रह सकता वहाँ प्रतिबिम्ब सम्बन्धी मत मे अन्त करण एक उपाधि मात्र है। जिसका जीव के वास्तविक रवरूप से कोई सम्बन्ध नही है।[१००] जीवात्मा परम सत् से सर्वथा भिन्न नही है। क्योकि तब ये मानना पडेगा कि जीवात्मा ज्ञान रवरूप सत्ता के रवभाव की नही है और न ही उससे अभिन्न है। क्योकि इस दशा मे वे एक दूसरे से भिन्न नही होगे। इस प्रकार जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न भी है और नही भी क्योकि शकराचार्य का मत है कि जीवात्मा मे जो मुक्ति को प्राप्त नही हुआ वे ब्रह्म से भिन्न है। लेकिन जो मुक्त आत्माए है उनका ब्रह्म से सर्वथा तादात्म्य भाव है।[१०१]

साख्य द्वारा पुरुष और जीव के सम्बन्ध मे जो विवरण दिया जाता है। अद्वैत वेदान्त के आत्मतत्त्व और अहम् भाव के वर्णन के अनुरूप है। अद्वैत वेदान्त मे आत्मा कर्म से स्वतन्त्र तथा शरीर और मन के बन्धनो से परे है। यद्यपि आत्मा कर्म करता हुआ लिप्त प्रतीत होता है। निरुपाधिक आत्मा अथवा पुरुष ही जीव माना जाता है। शकराचार्य के मत में व्यक्तित्व का सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर से है जबकि साख्य मे लिगशरीर से है। आ० भिक्षु का पारस्परिक प्रतिबिम्ब[१०२] सम्बन्धी मत अद्वैत वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद के समान है। शकराचार्य के अनुसार आत्मा अत करण मे प्रतिबिम्बित होता है। यह चिदाभास की प्रतीति ही जीवात्मा है।[१०३] आ० विज्ञानभिक्षु[१०४] सूर्यपुराण का एक उदाहरण देते हुए कहते है कि जिस प्रकार एक विशुद्ध स्फटिक मणि के ऊपर रक्त वर्ण की वस्तु रखने पर वह वस्तु भी लोगो को लाल रग की दिखाई पडती है उसी प्रकार की स्थिति पुरुष की है। लेकिन यहाँ शकराचार्य[१०५] रफटिक के गुलदस्ते का उदाहरण देते है जो अपने अदर रखे हुए लाल फूलो के कारण लाल रग का दिखाई देता है। यद्यपि यह रवय मे सभी प्रकार के रगो से रहित है। शकराचार्य प्रकृति के सृष्टिप्रक्रिया प्रयोजन के सम्बन्ध मे प्रश्न करते है कि क्या यह आत्मा एव पुरुषो के भोग के लिये है य मोक्षार्थ ? आगे कहते है कि यदि मान लें कि प्रकृति के क्रियाकलाप सुखोपभोग के लिए है तो ऐसी आत्मा सुख का भोग कैसे कर सकती है जो सुख या दुख को आत्मसात करने मे असमर्थ

है? इसी प्रकार उसका मोक्ष भी नही सिद्ध होगा। क्योकि निष्क्रिय और स्वतत्र आत्मा रूप पुरुष मोक्ष को अपना लक्ष्य नही बना सकती है। जबकि प्रकृति का लक्ष्य पुरुष को नानाविध अनुभवो मे बाधना है। यदि उद्देश्य मोक्ष होता तो प्रकृति की क्रिया निरभिप्राय होती क्योकि पुरुष पहले से ही मोक्षावस्था मे है। यदि सुखोपभोग और मोक्ष दोनो प्रयोजन है तो प्रकृति के अनेक पदार्थों जो पुरुष के सुखोपभोग के लिए है के कारण अन्तिम लक्ष्य प्राप्त न होगा। प्रकृति की सृष्टि प्रक्रियादि को किसी की इच्छा पूर्ति का प्रयोजन भी नही मान सकते है। क्योकि न तो बुद्धिहीन प्रकृति और न ही तात्त्विक रूप से विशुद्ध आत्मा ही किसी इच्छा का अनुभव कर सकता है। अन्तत यदि यह मान लिया जाये कि प्रकृति क्रियाशील है। क्योकि ऐसा न मानने पर दृष्टिशक्ति (पुरुष के सदर्भ मे) और सृजनात्मक शक्ति प्रकृति के सदर्भ मे प्रयोजन शून्य हो जायेगी तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि दोनो का किसी समय भी अत न होगा। तब प्रतीकमान जगत का कभी भी अत न होगा और इस प्रकार अन्तिम मोक्ष असभव हो जायेगा।[१०६]

अन्तत साख्यमत की समग्र तार्किक और तात्त्विक विवेचन से स्पष्ट होता है कि साख्य मे विद्यमान अन्तर्विरोधो के बावजूद अद्वैतवाद की झलक मिलती है। शकराचार्य परब्रह्म को निर्गुण मानते है उसका स्वरूपलक्षण 'सत्यज्ञानमनतम्' कहते हैं ब्रह्म सभी प्रकार के परिणाम और विकार के परे है। अत परब्रह्म शुद्ध सच्चिद् स्वरूप है। साख्य मत मे पुरुष को भी शुद्ध सच्चिद् स्वरूप निरपेक्ष सत्ता माना गया है। पुरुष निर्विकार निर्गुण और निष्क्रिय होने के कारण वह प्रकृतिगत यहाँ तक कि प्रकृति का पुरुष सयोग होने पर भी परिणाम और विकार से पूरी तरह से अछूता और निर्लिप्त रहता है। अद्वैत वेदान्त मे जगत मिथ्या है क्योकि इसकी सृष्टि मायोपहित बह्मरूप ईश्वर द्वारा होता है। कितु जगत बन्ध्यापुत्र नही है और न ही यह तुच्छ है। यह आभासिक होकर भी सत्तावान् है। माया द्वारा ब्रह्म मे ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनो का आरोप होता है। शकराचार्य प्रकृति सिद्धात की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए माया को प्रकृति का ही पयार्य मानते है। साख्य मत मे जगत को वास्तविक मानते हुए प्रकृति के परिणाम को यथार्थ माना गया है। लेकिन मोक्ष अवधारणा मे इसे विवेकज्ञाननिरस्या माना गया है। किन्तु प्रश्न उठता है कि जो वास्तविक है उसका ज्ञान द्वारा निषेध कैसे हो सकता है? यदि सर्प वास्तविक नही रज्जूसर्प है तभी इसका निराकरण ज्ञान द्वारा सभब है। इसी प्रकार साख्य

की प्रथग सृष्ट्योत्पत्ति महत् मायोपहित ईश्वर के रामान प्रतीत है जो विश्वात्मा का प्रतिरूप है। इसी प्रकार पश्चात् जगत की सृष्टि होती है। लेकिन वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टि शकराचार्य के ईश्वर सृष्टि की अपेक्षा प्रकृति की विकासवादी व्याख्या अधिक तर्क सगत है।

साख्य मे प्रकृति पुरुष के सम्बन्ध को वास्तविक मानना उचित नही लगता है। एक तो जो उदाहरण दिये गये है वे अपर्याप्त है तो उसमे या तो चेतन सत्ता निहित है अथवा उनको चेतन सत्ता के अपेक्षा है। साख्यमत मे पुरुष प्रकृति के पृथकत्व का ज्ञान विवेकज्ञान द्वारा होता है और तदोपरान्त मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत प्रश्न उठता है कि यदि सयोग का अत ज्ञाननिरस्या है तो प्रकृति के सम्बन्ध का कारण अविद्याजन्य क्यो नही होगा। आचार्य ईश्वरकृष्ण और विज्ञानभिक्षु इरो अपनी कृतियो गे रवीकार करते है। फिर जब सम्बन्ध अविद्याजन्य है तो प्रकृति परिणाम वारतविक कैसे होगा? साख्यमत मे जैसे पुरुष उत्सुकता के निवृत्ति के लिए क्रियाओ मे प्रवृत्त होते है, वैसे ही पुरुष मोक्ष के लिये प्रवृत्ति होता है। लेकिन यह मत ठीक नही है, क्योकि इस प्रकार की उत्सुकता अचेतन प्रकृति और निर्मल चेतन पुरुष मे सम्भव नही है। यदि प्रकृति के रजोगुण के कार्य के अनुसार उसका रवभाव मान ले तो साम्यावस्था में गुण वैषम्य की स्थिति बनी रहेगी।

साख्य के परिणामवाद के विरुद्ध शकराचार्य का मत है कि यदि उपादान कारण मे वारतविक विकार गान लें, तो अर्थ होगा कि जो आकार असत् था वह सत् हो जाता है। जिससे रवय रात्कार्यवाद खण्डित हो जाता है। राख्य का वास्तविक परिवर्तन तभी मान्य होगा, जब आकार ही अपनी अलग सत्ता हो। लेकिन सच्चाई यह है कि आकार उपादान की ही एक अवस्था मात्र है जो उससे अविच्छेद है। यही कारण है कि आकारिक परिवर्तन होने पर भी वस्तु वही कहलाती है जो पहले कहलाती थी। यथा– देवदत्त समय और स्थान बदलने पर भी वही कहलाता है। यही विवर्तवाद अद्वैतवाद का प्रमुख यौक्तिक आधार है।

जीव के सम्बन्ध मे प्रतिबिम्बवाद साख्य और अद्वैतवाद दोनो मे मिलता है। किन्तु दोनों की व्याख्या मे अन्तर है। अद्वैतवाद के मतानुसार ब्रह्मरूप अनन्त चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर

प्रतिबिम्ब पडता है जहाँ अविद्या के स्वरूप के आधार पर भिन्न–भिन्न अन्त करणो मे प्रतिबिम्बित होकर भिन्न–भिन्न जीवात्मा के रूप मे अनन्त चैतन्य आभासित होता है। साख्य बुद्धि पर चैतन्य के प्रतिबिम्ब को स्वीकार करता है। किन्तु उसके आभासित पुरुष रूप जीव न मानकर पुरुषबहुत्व की सत्ता मे विश्वास करता है जो तर्कसगत नही है। क्योकि व्यावहारिक प्रयोजन की दृष्टि से केवल निष्क्रिय साथी और सक्रिय अन्त करण का सयुक्त रूप ही वास्तविक है। यही ज्ञाता भोक्ता और कर्त्ता है। इस सग्रथित रूप मे ही साक्षी जीव कहलाता है। आ० वाचरपति मिश्र के मत मे अज्ञान का आश्रय जीव है और उसका विषय ब्रह्म है। किन्तु सक्षेप–शरीरक इसका खण्डन करता हुए कहता है कि अज्ञान जीव के पहले की वस्तु है और जीव का कारण है। जीव चिदाभास विशिष्ट अहकार रूप है। यह जीव साक्षी चैतन्य मे अध्ययनरत है अत आत्मा के बन्धन को साख्य भी वास्तविक नही मानता।

साख्य दर्शन मे ईश्वरवादी धारणा का कोई सकेत नही मिलता किन्तु अद्वैतवाद की छाप अवश्य दृष्टिगत होती है। सक्रिय किन्तु जड प्रकृति का परिणाम यह जगत है। सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति से ही उद्भूत हुई है। लेकिन ऐसा तभी होता है जब प्रकृति पुरुष से सम्पर्क प्राप्त करती है। इस प्रकार सम्पर्क से केवल प्रकृति ही प्रभावित होती है पुरुष नही। यहाँ परिणामी प्रकृति अपरिणामी पुरुष के सापेक्ष लगती है। अत प्रकृति की निरपेक्ष सत्ता मानना तर्कसगत नही लगता इस प्रकार प्रकृतिपरिणामवाद पुरुषविवर्तवाद की ओर झुका हुआ है। पुरुष स्वरूपत साक्षी अकर्ता चेतन सत्ता होते हुए निरपेक्ष तत्त्व है। परन्तु पुरुष के अस्तित्व और उसके बहुत्व सम्बन्धी तर्क जीवात्मा को सिद्ध करते है। अत जीवबहुत्व के विरुद्ध पुरुषबहुत्व को स्वीकार करना उचित नही है। क्योकि पुरुषबहुत्व व्यक्तिवादी धारणा को स्वीकार करता है। जबकि निरपेक्ष पुरुष की एक मात्र सत्ता सार्वभौमिक वय पर आधारित है। साख्य मे मोक्ष को ज्ञान निवर्तक मानकर क्योकि बन्धन वास्तविक नही है दु ख की आत्यान्तिक निवृत्ति मोक्षावस्था के विशुद्ध चैतन्य को आनन्दावस्था सिद्ध करती है जो साख्य मत मे निहित अद्वैतवाद की प्रतिछाया और साख्यकारिका की तर्कसगत व्याख्या होगी। इस प्रकार साख्य अन्तर्विरोधो से मुक्त होकर श्रुति सम्मत अद्वैतवाद के रूप मे परिणत हो जायेगा।

पाद-टिप्पणी

१ – तैतरीय उपनिषद् भाष्य –२/१

२ – ब्रह्मसूत्र भाष्य– १/१/२

३ – ब्रह्मसूत्र भाष्य–२/१/१ नट की उपमा के लिए ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१८

४ – केनोपनिषद् भाष्य– १/५

५ – सदानद कृत वेदान्तसार

६ – ऋग्वेद– ६/४७/१६ इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते– वृहदारण्यक उप० भाष्य।। २/५/१६।।

७ – माया तु प्रकृति विद्यात् मायिन तु महेश्वरम्– श्वतोश्वर उपनि० भाष्य।। ४/१०।।

८ – ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/६

६ – ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/२६

१०– पचदशी– १/१६–१७

११– ब्रह्मसूत्र भाष्य– प्रारभ मे अध्याय विचार सक्षेप शारीरक– १/२०

१२– छान्दोग्य उप०– ६/२२ ब्रह्मसूत्र– २/१/११, गीता– २/१६ पर शाकरभाष्य

१३– सक्षेप शारीरक–२/६१ यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदशनस्नानादिकार्यमनृत तथापि तदवगति सत्यमेय फलम् प्रतिबुद्धस्यापि अवाध्यमानत्वात–ब्रह्मसूत्र भाष्य।। २/१/१४।।

१४– रातत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरित अतत्त्वातोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृत – वेदान्तसार

१५– देवराज,एन० के० भारतीय दर्शन, पृ०– ५२६–५२७,
चट्टोपाध्याय एव चटर्जी भारतीय दर्शन पृ०– २४३

१६– ब्रह्मसूत्र भाष्य–१/१/१६

१७– छान्दोग्य उप० भाष्य – ६/३/२

१८– गीता रहस्य– १७१

१६– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१४

२०– ब्रह्मसूत्र– १/४/३ और श्वेताश्वर उप०– ४/५४/११ पर भाष्य

२१– ब्रह्मसूत्र भाष्य– १/१/५

२२– छान्दोग्य उप० भाष्य– ६/२/३ प्रश्नोपनिषद् भाष्य– ६/३

२३– गोविदानद आचार्य रत्नप्रभा पृ०–२२४

२४– बह्मसूत्र भाष्य– १/१/५

२५– ब्रह्मसूत्र भाष्य– १/१/५

२६– यथाग्नि निमित्तमय विण्डादेर्दग्धृत्वम् तथा सति यन्निभित्तमोाक्षितत्त्व प्रधानस्य तदेव सर्वज्ञ मुख्य ब्रह्म जगत कारणभीति युक्त।। ब्र०सू० भाष्य– १/१/५।।

२७– रत्नप्रभा पृ०– २३८–२३६

२८– ब्र०सू० भाष्य– १/१/५

२९– ब्र०सू० भाष्य– १/४/२३

३०– निष्फल निष्क्रिय शात निरवय निरजनम् ।।श्वेता०उप०– ६/१६।।

३१– प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टातानुपरोधात्।। ब्र०सू० भाष्य– १/४/२३।।

३२– छान्दोग्य उप०– ६/१/२

३३– रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।। ब्र०सू० भाष्य– २/२/१।।

३४– स०दी० पृ०– ४०२

३५– ब्र०सू०–२/२/२

३६– ब्र०सू०भाष्य– २/२/२

३७– ब्र०रू० भाष्य– २/२/२

३८– वृह० उप०– ३/७/२३

३९– ब्र०सू० भाष्य– २/२/२ स०दी०– पृ० ४०४–४०५

४०– ब्र०सू० भाष्य– २/२/४

४१– ब्र०सू० भाष्य २/२/५

४२– ब्र०सू० भाष्य २/२/६

४३– ब्र०सू० भाष्य– २/२/६

४४– साख्यकारिका– १८

४५– ब्र०सू० भाष्य– २/२/६

४६– प्रधानस्य स्वत्रस्य प्रवृत्यभ्युपगमात् पुरुषस्य निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च ।। ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/७।।

४७– नाप्ययस्कान्तदत्सनिधि मात्रेणप्रवर्तयेत् सधिनित्वेन प्रकृतिनित्यत्वप्रसगात् ।। ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/७।।

४८–ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/७

४६– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/८

५०– बह्मसूत्र भाष्य– २/२/६ और २/२/१

५१– सक्षेप शारीरक– २/६१

५२– ब्रह्मसूत्र– २/१व१४–२० छान्दोग्य– ६/१२ तैतरीय– २/६द्ध वृहदा०– १/२/१

गीता– २/१६ पर भाष्य

५३– कारणस्य एक सस्थानमात्र कार्यम् ।। ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/१७।।

५४ - ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१८

५५– चट्टोपाध्याय एव दत्त, भारतीय दर्शन पृ०– २३५

५६– एस०राधाकृष्णन् इन्डियन फिलासफी पृ०–२३६ पर टिप्पणी–II

५७– सतत्त्वोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरित अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहत –वेदातसार

५८– एकरूपेण हि अवस्थितो योऽर्थ स परमार्थ ।।ब्रह्मसूत्र भाष्य–२/१/११ व २/१/१४।।

५६– परिणामो नामोपादान समसत्ताक कार्यापत्ति । विवर्तो हि नामोपादानविषम सत्ताककार्यापत्ति ।।

६०– गीताभाष्य– ६/१०

६१– मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरम् ।।ब्रह्मसूत्र भाष्य– १/४/३।।

६२– चटटोपाध्याय और दत्त भारतीय दर्शन पृ०– २३७

६३– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/१/१४

६४– छान्दोग्य उप० भाष्य– ६/२/१

६५– Mc Taggart, The Nature of Existance

६६– चटटोपाध्याय एव दत्त भारतीय दर्शन पृ०– २३७

६७– ब्रह्मसूत्र– २/२/४ और प्रश्नोपनिषद्– ६/३ पर भाष्य

६८– ब्रह्मसूत्र भाष्य– २/२/५

६६– विज्ञानामृत– १/१व२

रुद्रयामलम्

[उत्तरतन्त्रम्]

(द्वितीयो भागः)

कुलपतेः : डॉ. मण्डनमिश्रस्य 'शिवसङ्कल्प'-पुरोवाचा पुरस्कृतम्

सम्पादकः

आचार्यश्रीरामप्रसादत्रिपाठी

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[सप्तमं पुष्पम्]

रुद्रयामलम्

[उत्तरतन्त्रम्]

(द्वितीयो भागः)

सम्पादकः

आचार्यश्रीरामप्रसादत्रिपाठी

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. VII]

RUDRAYĀMALAM

[PART TWO]

Foreword by
DR. MANDAN MISHRA .M
Vice-Chancellor
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi

Edited by
ĀCĀRYA ŚRĪ RĀMAPRASĀDA TRIPĀṬHĪ
Ex. Professor & Head of Department
of
Vyākaraṇa-Yoga-Tantra & Āgama
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi

V A R A N A S I
1 9 9 6

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

■

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002

■

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002

■

Second Edition—1000 Copies
Price-Rs. 164-00

■

Printed at—
Ratna Printing Works
B 21/42 A, Kamachha,
Varanasi-221 010

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला
[सप्तमं पुष्पम्]

रुद्रयामलम्

(उत्तरतन्त्रम्)

[द्वितीयो भागः]

कुलपतेः डॉ. मण्डनमिश्रस्य 'शिवसङ्कल्प'-पुरोवाचा
पुरस्कृतम्

सम्पादकः

आचार्यश्रीरामप्रसादत्रिपाठी
व्याकरण-योग-तन्त्रागमविभागाध्यक्षचरः,
वेदवेदाङ्गसंकायाध्यक्षचरश्च,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
वाराणसी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय

वाराणस्याम्

२०५२ तमे वैक्रमाब्दे   १९१७ तमे शकाब्दे   १९९६ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धानप्रकाशनपर्यवेक्षकः –
निदेशकः, अनुसन्धानसंस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी ।

■

प्रकाशकः –
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१ ००२.

■

प्राप्तिस्थानम् –
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१ ००२.

■

प्रथमं संस्करणम्, १००० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्–१६४=०० रूप्यकाणि

■

मुद्रकः–
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
बी. २१/४२ ए, कमच्छा,
वाराणसी-२२१ ०१०.

शिवसङ्कल्पः

भारतीयसंस्कृतावगाहनाय निगमागमतन्त्राणामध्ययनमत्यावश्यकम् । निगमो वेदः, परब्रह्मणो निःश्वासरूपोऽपौरुषेय आगमश्च शिव-ब्रह्म-विष्णु-शक्ति-गणेशा-दित्यादिमुखाद् विनिःसृतः पौरुषेयः । यथा–शैवागमो वैष्णवागमः (वैखानसः पाञ्चरात्रश्च) शाक्तागमो गाणपत्यागम आदित्यागमादयश्च । तन्त्रं च आगमस्यैवैकः प्रकारोऽथवा आगमस्यैवापरं नाम । इदं च **शारदातिलके** उक्तम्–

"आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ ।
तदागम इति प्रोक्तं शास्त्रे परमपावनम्" ॥

प्रकारान्तरेणेदमेव ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीभास्करीटीकायां निम्नरूपेणोपस्था-पितम्–

"आगतं शिववक्त्रात्तु गतं च गिरिजामुखे ।
मतं श्रीवासुदेवेन आगमस्तेन कीर्तितः ॥
गुरुः शिष्यपदे स्थित्वा स्वयमेव सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यं तन्त्रं समवतारयत्" ॥

एवञ्च आगमस्यैवापरं नाम तन्त्रमिति ।अत एव **मनुस्मृति**टीकायां (१।२) श्रीकुल्लूक-भट्टेनोक्तम्–

"वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा श्रुतिरुच्यते" ।

तन्त्रालोके चोत्तरोत्तरोत्तममध्यमावरतन्त्राणां प्रख्याने कथितं यत्–

"नरर्षिदेवद्रुहिणविष्णुरुद्राद्युदीरितम् ।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यात् पूर्वपूर्वप्रबोधकम् ॥
सर्वज्ञानोत्तरादादौ भासते स्म महेश्वरः" ॥

अपरेऽप्यनेकेऽर्थास्तन्त्रशब्दस्य भवन्ति; किन्तु तन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धस्य तन्त्रशब्द-स्यास्मिन्नेवार्थे रूढिर्यत्र परमनिःश्रेयःसाधनप्रकारास्तत्तन्त्रम् । **वाराहीतन्त्रा**नुसारम्–

"सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम् ।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः" ॥

एतदर्थं यत्र पटलम्, पद्धतिः, कवचम्, सहस्रनाम तथा स्तोत्राणि भवन्ति, तत्तन्त्रमिति । एवञ्च यत्र शिवेन प्रोच्यते, उमया च श्रूयते तत् शैवं तन्त्रम्, यत्र च उमया प्रोच्यते शिवेन च श्रूयते तत् शाक्तम्, यत्र उभाभ्यां प्रोच्यते श्रूयते च तद् यामलं तन्त्रम् । यामलतन्त्राणां संख्याया निर्धारणमशक्यम्; किन्तु वाराहीतन्त्रे षड्यामलतन्त्राणि उल्लिखितानि–**आदियामलम्, ब्रह्मयामलम्, विष्णुयामलम्, रुद्रयामलम्, गणेशयामलम्, आदित्ययामलम्** । भवानीभैरवाभ्यामुभाभ्यां प्रोक्तत्वेन श्रुतत्वेन च यामलतन्त्रस्य वैशिष्ट्यं भवति ।

इदं च **'रुद्रयामलतन्त्रम्'** आनन्दभैरव्यानन्दभैरवयोः परस्परप्रश्नोत्तररूपेण प्रवर्तितम् । विषयवैपुल्याद् बृंहणत्वाच्चेदं रुद्रयामलतन्त्रम् अन्यानि तन्त्राण्यतिशेते । **"चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमभिसन्धाय भुवनम्"** (सौन्दर्यलहर्याम्–३१) इत्युक्तदिशा चतुःषष्टिसंख्याके तन्त्रे रुद्रयामलतन्त्रस्योत्तमत्वं वर्णितमस्ति । वाराणस्यां च चतुःषष्टियोगिनीनां स्थितिरस्ति । अस्मिन् ग्रन्थे च वाराणस्या विशिष्टं स्थानम् । इदं हि यामलस्योत्तरतन्त्रस्य द्वितीयभागस्य द्वितीयं संस्करणम् ।

अयमस्ति सौभाग्यस्य विषयो यदस्य सम्पादनं वाराणस्या गौरवभूतैर्वेदवेदाङ्ग-पुराणस्मृतिधर्मशास्त्रादीनां विशिष्टैर्मनीषिभिः साक्षात्पाणिनेरवतारभूतैः श्रद्धेयैराचार्यप्रवरैः **प्रो.रामप्रसादत्रिपाठि**महोदयैर्विहितम् । तेषां समग्रस्य वैदुष्यस्येदमपि निदर्शनं यत्तैरधिकारपूर्वकं तन्त्रविद्याया अस्य ग्रन्थस्य विभिन्नेषु विषयेषु मौलिक्यष्टिप्पण्यः प्रस्तुताः, ताभिश्च भृशं संवर्द्धितोऽस्य महिमा । वन्दनीया आचार्यवर्या विश्वविद्यालयस्यास्य कृते विशेषतः प्रतिष्ठास्थानम् । अत्र च पूर्वं व्याकरणविभागस्याचार्यपदं साङ्ख्ययोगतन्त्रागमविभागस्याप्यध्यक्षपदम्, अनन्तरं वर्तमाने च काले सम्मानिताचार्यत्वं च निर्वहन्तो विदुषामपि मार्गदर्शनं कुर्वन्ति । तेषाञ्च गृहं सर्वदा स्नातकैः शोधार्थिभिः परिपूर्णं भवति, यत्र चाहर्निशं केवलं विद्यायाः साधना प्रचलति, प्रदर्शयति चास्माकं राष्ट्रस्य गौरवास्पदीमाचार्यपरम्पराम् । तेषां समस्तमपि जीवनं प्रेरणादायकम् । एतैर्विलम्बेनापि संस्कृताध्ययनमारभ्य स्वकीयया साधनया स्वनामधन्यानां गुरुवर्याणामाशीर्भिश्च यद्वैदुष्यमर्जितं तत् सर्वथानुकरणीयम् । एते विद्यया विनयेन विवेकेन च समानरूपेण सम्भूषिताः सरलतायाः शिष्यजनवत्सलतायाश्च प्रतिमूर्त्तित्वेन राराज्यन्ते । शिष्यसम्पद्दृष्ट्याऽप्याचार्यत्रिपाठिनो महान्तः सौभाग्यशालिनः । एतेषां शिष्या देशस्य विभिन्नेषु विश्वविद्यालयेषु विद्यापीठेषु च आचार्य-प्राचार्य-प्रभृतिपदेषु विराजमानाः संवर्द्धयन्ति प्राचीनां पाण्डित्यपरम्पराम् । यथा संस्कृतं संस्कृतिश्च वाराणसीं विना तथैव वाराणस्यपि आचार्यत्रिपाठिमहोदयं विना विद्यायाः क्षेत्रे न प्राप्नोति परिपूर्णतामिति सर्वसम्मतं सत्यम् । भारतराष्ट्रपतिभिरेते

संस्कृतवैदुष्यक्षेत्रे आजीवनं विंशतिसहस्ररूप्यकमितेन वार्षिकेण मानदेयेन सह सम्मान-प्रमाणपत्रेण सम्मानिताः, उत्तरप्रदेशसंस्कृताकादम्या एकलक्षरूप्यकमितेन **विश्व-संस्कृत-भारती** पुरस्कारेण, नवदेहलीस्थश्रीलालबहादुरशास्त्रिराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठेन (मानित-विश्वविद्यालयेन) च **'महामहोपाध्याय'** इति सम्मानोपाधिना विभूषिताः । अयमस्ति दुर्लभः संयोगो यत् तेऽध्यापने लेखने भाषणे उपदेशप्रदाने पौराणिकाख्यानविवेचने च समानरूपेण दक्षाः कुशलिनश्च । ते च सन्ति वाराणस्या विद्वत्परिषदोऽध्यक्षाः । तेषामुपस्थित्यैवासौ विश्वविद्यालयो विविधाश्च शास्त्रीयाः कार्यक्रमा अलङ्कृता भवन्ति ।

तेषामनेन प्रकाशनेनाप्यस्माकं प्रकाशनकार्यक्रमस्य गरिमा सम्पोषितः । अतस्तेभ्योऽहं विश्वविद्यालयपक्षतः सविनयं कृतज्ञताविनयाञ्जलिं प्रकाशनाधिकारिणे **डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठिने** रत्नामुद्रणालयव्यवस्थापकाय **श्रीविपुलशङ्करपण्ड्या** महोदयाय च धन्यवादान् विज्ञापयन् ग्रन्थमिमं तन्त्रविद्यानुरागिभ्यः सादरं सप्रश्रयं समर्पयामि ।

वाराणसी
वासन्तिकनवरात्रारम्भः
वि. सं. २०५३
(२०-३-१९९६ खैस्ताब्दः)

मण्डनमिश्रः
कुलपतिः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

॥ श्रीहरिः शरणम् ॥

प्रस्तावना

रुद्रयामलस्योत्तरतन्त्रस्यायं द्वितीयो भागः प्रकाशनं समुपैतीत्यामोदस्य विषयः। अस्य प्रथमो भागः पूर्वमेव १९९१ ईशवीयवत्सरे सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयत एव प्रकाशितः। प्रथमभागस्य भूमिकायां रुद्रयामलस्य विवेच्यविषयाणाम्, तन्त्रसाधनासम्बद्धदेशकालानाम्, मन्त्ररहस्य-स्वररहस्य-षट्चक्रदेवरहस्यानां सम्यग् विवेचनमस्त्येवेति धियाऽत्र द्वितीये भागे संक्षेपत एव प्रास्ताविकं प्रस्तूयत इति ध्येयम्।

आस्तिकानां सर्वेषामेव दर्शनानामागमानां वा स्रोतांसि वेदा एवेति संशीतिरहितो वादः। आगमोपदेशो गुरुपरम्परासम्बन्धमपेक्षमाणः किञ्चिदनुशासनमपि वेदयते, गुरव आगमैः शिष्याननुशासतीति कृत्वाऽऽगमानां शास्त्रत्वमपि मन्तव्यम्।

तन्त्रागमयोः सकलशास्त्रे परस्परमभेदेन व्यवहारः प्रचलति। तन्यन्ते विस्तीर्यन्ते ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयनिःश्रेयससाधका उपाया अनेनेति व्युत्पत्तिमादधानोऽस्ति तन्त्र-शब्दः। ततश्च "समाजस्य धारकत्वं पोषकत्वं वा तन्त्रत्वम्" इति, "नियमविशेष-नियन्त्रितलोकत्वं तन्त्रत्वम्" इति वा लभ्यते। तथा चोक्तम्—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥
व्यवहारः कथ्यते यत्र तथा चाध्यात्मवर्णनम्।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तं तन्त्रमित्यभिधीयते॥

अथ च 'आगम्यते यो येन यत्र वेति' विग्रहे आगमशब्दो निष्पद्यते। ततश्च गतिः प्राप्तिः, ज्ञानं वा इति स्वीकृत्या सम्यक्प्राप्तिविषयः, सम्यक्प्राप्तिसाधनम्, सम्यग्ज्ञानाधिकरणमिति त्रयोऽर्था लभ्यन्ते। आभिर्व्युत्पत्तिभिर्मोक्षतत्त्वस्य ज्ञापकत्वं साधनत्वम्, आत्मतत्त्वविवेचकत्वं वा आगमशास्त्रत्वमित्यायाति।

तच्च समाजस्य पोषणमन्तरा न सम्भवतीति समाजपोषणनियमविशेषज्ञापकत्वे सति [illegible]तत्त्वस्य ज्ञापकत्वमनुशासकत्वं वाऽऽगमत्वमिति पर्यवस्यति। समाज-पोषकत्वं तन्त्रत्वमित्यत्र समाजपोषणं किमर्थमिति विचारे क्रियमाणे आत्म-ज्ञानार्थमिति उत्तरमायाति। एवं तन्त्रपदार्थस्य फलमागमपदार्थः, आगमपदार्थस्य साधनं तन्त्रपदार्थः, द्वयोरनयोस्साध्यसाधनभावेनैव पूर्णता। अतश्च योगरूढ्या तन्त्रागमशब्दयोः साम्यं दृष्ट्वा तान्त्रिकैरन्यैर्वा विद्वद्भिरभेदेनानयोर्व्यवहारः कृतः।

एवञ्च दर्शन-शास्त्र-तन्त्र-आगमशब्देषु समानतया सामान्यविशेषभावेन वा कृतो व्यवहारोऽनुभूयत इति निष्कर्षः ।

शैव-शाक्त-यामलभेदात्तन्त्रस्य त्रैविध्यमस्ति । शैवतन्त्रे शिवभट्टारकस्य, शाक्ततन्त्रे शिवाभट्टारिकायाः, यामलतन्त्रे तु पुनर्द्वयोरनयोरभेदस्य वर्णनं कृतमस्ति ।

कियन्ति सन्ति यामलतन्त्राणि ? अत्र संख्यानिर्धारणं कर्त्तुमशक्यम्, तथापि वाराहीतन्त्रेऽष्टलक्षणात्मकयामलस्य षाड्विध्यं निर्दिष्टमस्ति, आदियामल-ब्रह्मयामल-विष्णुयामल-रुद्रयामल-गणेशयामलादित्ययामलभेदात् ।

चतुःषष्टिसंख्याकेषु तन्त्रग्रन्थेषु "राधाख्यं मालिनीतन्त्रं रुद्रयामलमुत्तमम्" इत्युक्त्या यद्यपि रुद्रयामलस्यापि समावेशो दृश्यते, तथापि "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च मन्त्रनिर्णय एव च" इत्यादिलक्षणलक्षितात् तन्त्राद् अष्टलक्षणात्मकं यामलं तदपेक्षया वैलक्षण्येनाभिहितम् । तथा हि—

सृष्टिश्च ज्योतिषाख्यानं नित्यकृत्यप्रदीपनम् ।
क्रमसूत्रं वर्णभेदो जातिभेदस्तथैव च ॥
युगधर्मश्च संख्यातो यामलस्याष्टलक्षणम् ॥ इति ॥

एवं विशिष्टेष्वागमग्रन्थेषु निर्दिष्टस्यास्य वैशिष्ट्यं प्राचीनत्वं च निर्विवादम् । ग्रन्थस्यास्य मातृकाः प्रायः सर्वेष्वेव ग्रन्थालयेषु समुपलभ्यन्ते । सन्ति च स्तोत्र-पटलादीनि बहूनि पुस्तकानि रुद्रयामलान्तर्गततया निर्दिष्टानि ।

अत्र यथाक्रमं द्वितीयभागान्तर्गतपटलानां संक्षेपतो विषयवस्तुनिर्देशः क्रियते—

षट्चत्वारिंशे पटले रुद्रशक्तिलाकिनीस्तोत्रं सविधि प्रकीर्त्तितमस्ति । प्रथमतस्तत्र स्तोत्रस्यास्य माहात्म्यं निरूपितमनन्तरञ्च विनियोगस्तदनु स्तोत्रपाठो वर्त्तते । अस्य माहात्म्ये—

महासिद्धो भवेदेव महाकालवशो भवेत् ।
त्रैलोक्यरक्षणार्थाय ब्रह्मणा विष्णुना तथा ॥
एतत्स्तवनपाठेन चाष्टाङ्गकुलदेवताः ।
वशीभूताः प्रभवन्ति सप्तस्वर्गस्थदेवताः ॥

इत्यादि श्लोकैः एतत्स्तोत्रपाठाद् बहुविधसिद्धिलाभो निर्दिष्टः । स्तोत्रेऽस्मिन् महारुद्रशक्तेरनेकविधदोषापकर्तृत्वं जगत्तारणकर्तृत्वं परब्रह्मरूपत्वञ्च प्रदर्शितम् । तथा हि—

महालोभं पापं हर हर हरे हीरकनिभे
विषानन्दोद्धाता मम तनु विषं वेशवशिनि ।
सुधानन्दं देहि क्षयमपि हर क्रोधमतुलं
मदं कामं लोभं कुलजननि दिव्यं वितर तत् ॥

जगत्तारिणी त्वं जगद्व्यापिनी त्वं
जगज्ज्वालारूपा जगद्धर्मरूपा ।
अनैकान्तिकत्वात्त्वमानन्दरूपा
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ इति ।

सप्तचत्त्वारिंशे पटले आनन्दभैरव्या षट्चक्रभेदमाहात्म्यवर्णनपुरःसरं महामन्त्रं पूजाप्रकरणं रुद्राणीयजनञ्च सविधि प्रकीर्तितम् । मन्त्रोद्धार ईदृङ् निरूपितः –

सम्प्रति मन्त्रस्योद्धारं करोमि कालकूटप ।
प्रणवं पूर्वमुच्चार्य नमःशब्दं ततो वदेत् ॥
ते शब्दान्ते समुद्धृत्य रुद्रशब्दं ततः परम् ।
रूपिण्यै पदमुच्चार्य रुद्राणीमन्त्रमीरितम् ॥ इत्यादि ।

अथ चाऽत्र पटले मातृकादिवर्णैः न्यासविधिरपि विस्तरेण प्रतिपादितोऽस्ति, एवञ्चानेकेषां मन्त्राणां सम्यगुपन्यासोऽपि विस्तरेणात्र राजते । अत एवास्य पटलस्य नामकरणं मन्त्रप्रकाश इति वर्तते ।

अष्टचत्त्वारिंशे पटले पूर्वमानन्दभैरवेणानन्दभैरवीं प्रत्येतन्निवेदनं कृतमस्ति यद्–हे देवि ! मया पूर्वं महारुद्रस्य पुण्यं श्रुतं किन्त्विदानीं तन्नुतिं वद यस्याः श्रवणमात्रेण योगिनीवशः सिद्धिसम्पत्तिश्च स्यादिति । एतदनुसारं आनन्दभैरव्या रुद्रमृत्युञ्जय-स्तवनमकारि । तस्य च पूर्वं माहात्म्यं तदनु बहुविधगुणानुवादात्मिका मृत्युञ्जयस्तुतिः प्रकीर्तिता । तथा हि–

शिवागमं शब्दमयं विभाकरं भास्वत्प्रचण्डानलविग्रहं ग्रहम् ।
ग्रहस्थितं ज्ञानकरं करालं भजामि शम्भुं गगनाधिरूढम् ॥
मायामयं पङ्कजदामकोमलं दिग्व्यापिनं दण्डधरं महेश्वरम् ।
त्रिपक्षकं त्र्यक्षरबीजभावं त्रिपद्ममूलं त्रिगुणं भजामि ॥

इत्यादिभिः श्लोकैः स्तुतिरस्तीति ।

एकोनपञ्चाशत्तमे पटले लाकिनीदेव्याः स्तोत्रपाठो वर्त्तते । अत्र पूर्वं विनियोगः, अनन्तरं लाकिनीदेव्याः स्वरूपवर्णनं विविधफलप्रदातृत्वञ्च सम्यङ् निरूपितम् । तथा हि–

केयूरामलहारमालशुभगा वीरासना स्थायिनी
भार्या रुद्रपतेः प्रवालविमला वक्त्रोत्पलस्रग्धरा ।
माता योगवतां सती परा परपदा माध्वीरसाच्छादिता
त्वं मां पाहि कृपामयी यमगतं मृत्युञ्जये श्रीधरे ॥
आकाङ्क्षी कुलसंख्यका क्षयकरी शत्रुप्रभादेर्दया
भक्तानामतिदुःखहा शशिमुखी योन्यानना कामुकी ।

कामस्थानमकामदोषशतकं शीघ्रं त्वलक्षेमदा
जीवन्मुक्तिपदं विधेहि समरे सर्गद्रुहस्य प्रियम् ॥

इत्यादयः श्लोकास्तस्या देव्या माहात्म्यमाख्यापयन्ति ।

पञ्चाशत्तमे पटले मणिभेदप्रकाशस्य याथातथ्येन वर्णनमस्ति । पूर्वमत्र त्रिवीरस्य उत्तमाधममध्यमभेदेन त्रैविध्यं निरूपितम् । तथा चोक्तम्–

त्रिवीरं त्रिविधं प्रोक्तमुत्तमाधममध्यमम् ।
तत्रैव त्रिविधं सङ्गमूर्ध्वपातालभूतलम् ॥

अथ चात्र त्रिविधभावस्य दिव्यवीरपशुभेदेन निरूपणमीदृक् समाख्यातम्–

तन्मध्ये त्रिविधं भावं दिव्यवीरपशुक्रमम् ।
दिवि तिष्ठन्ति देवाश्च वीरास्तिष्ठन्ति भूतले ॥
पशवः सन्ति पाताले क्रमशः क्रमशः प्रभो ।
सर्वत्र त्रिगुणच्छन्नं सत्त्वरजस्तमादिकम् ॥ इति ।

इतोऽनन्तरं विजयापत्रशोधनविधिरपि सम्यग् वर्णितोऽस्ति । तथा हि–

अमरा बिल्वपत्रं तु चामरा विजयादलम् ।
अमरलताग्रन्थिदूर्वा निर्गुण्डी चामरेश्वरी ॥

अथ च–

देहि देहि पदस्यान्ते स्वाहान्तं मन्त्रमुत्तमम् ।
एतन्मन्त्रेण चोत्पाट्य मन्त्रयित्वा प्रभक्षयेत् ॥

एकपञ्चाशत्तमे पटले लाकिनीसहस्रनाम प्रकीर्त्तितमस्ति । पूर्वमस्य पाठस्य माहात्म्यं तदनु चास्य विनियोगो वर्त्तते । अस्य पाठफलत्वेन प्रामुख्येन सर्वविध-सम्पत्तिलाभो मणियोगसुसिद्धिश्च निरूपिता । तथा हि–

तवाह्लादप्रणयनात् सर्वसम्पत्तिप्राप्तये ।
मणियोगसुसिद्ध्यर्थं सावधानाऽवधारय ॥

भूर्जपत्रे नाम्नां लेखनं विधाय कण्ठे धारणमपि कृपादायकमित्यप्यत्राख्यातमस्ति । उक्तञ्च–भूर्जपत्रे लिखित्वा च कण्ठशीर्षे प्रधारयेत् ॥ इति ।

अष्टोत्तरसहस्रनामसु प्रमुखतो नामान्येतानि सन्ति–

महाचण्डेश्वरी मीनो मणिपूरप्रकाशिका ।
महामत्तो महारात्रो महावीरासनस्थिता ॥
मायावी मारहन्ता च मातङ्गी मङ्गलेश्वरी ।
मृत्युहारी मुनिश्रेष्ठा मनोहारी मनोयवा ॥

महापतिर्महारुद्रो मरुणाहतकारिणी ।
मालाधारी शंखमाली मञ्जरी मांसभक्षिणी ॥

द्विपञ्चाशत्तमे पटले मन्त्रार्थचैतन्यविन्यासविधिः वर्णितो वर्त्तते । उक्तञ्च–

मन्त्राणां मन्त्रचैतन्यं विषयाणि शृणु प्रभो ।
मणिपूरे त्वनायासे यत्प्रसाद स्थिरो भव ॥

अथ चात्र शिवध्यानस्य फलमपि सम्यग् वर्णितमस्ति ।

त्रिपञ्चाशत्तमे पटले मणिपूरभेदनस्य सम्यङ्निरूपणमस्ति । तन्माहात्म्यञ्चेत्थं निरूपितम्–

कालभक्षो भवेत् सोऽपि म्रियते नाऽत्र संशयः ।
मणिपूरे मनो दत्त्वा साधयेद् देवताः सदा ॥

अथ चात्र दन्ती-धौतीत्यादीनामपि सम्यग् वर्णनमुपलभ्यते । तथा हि–

दन्ती योगं तदा कुर्याद् यदा मुख्यक्रियावतः ।
तदा क्षणेन यः कुर्याद् यदा तृष्णाविवर्जितः ॥
तृष्णानाशो भवेन्मोक्ष इति मे योगनिर्णयः ।
विशेषेण प्रवक्ष्येऽहं शृणु कैलासपावन ॥

चतुःपञ्चाशत्तमे पटले आनन्दभैरव्या पञ्चसिद्धद्रव्यशोधनस्य विधिः प्रदर्शितोऽस्ति । अस्य माहात्म्यवर्णने उक्तम्–

अमराशनमन्त्राणि शृणुष्व पार्वतीश्वर ।
यस्य स्मरणमात्रेण नरो नारायणो भवेत् ॥ इति ।

अत्र हि बिल्वपत्रभक्षणमाहात्म्यं दूर्वामहत्त्वञ्चापि सम्यगाख्यातमस्ति ।

पञ्चपञ्चाशत्तमे पटले क्रमयोगेन शिवतत्त्वस्य कथमवाप्तिरिति प्रश्ने देव्याऽऽनन्दभैरव्या मणिपूरचक्रभेदनविधिः प्रकाशितोऽस्ति । तथा चोक्तम्–

'तन्नाभिमूलदेशे च नीलपद्मं महाप्रभम् "। इत्याभ्य–
सर्वसिद्धिप्रदा माता सर्वत्र सर्वपालिका ।
सदा रक्षतु मां देवी विद्याभिः कुलपालिका ॥ इत्यन्तम् ।

षट्पञ्चाशत्तमे पटले अनाहतपद्मविन्यासविधिर्निरूपितो वर्त्तते । अत्र पद्मध्यानस्य वर्णनमप्यनुषङ्गतः कृतमस्ति । ध्याने पाठ्यानि पद्यानि प्रमुखत इमानि–

हृत्पद्मं कुलपालितं सुललितं हंसेन संशोधितं
बन्धूकामलदीप्तिकोटिजडितं सम्भावितं साधकैः ।
अत्युत्कृष्टमयूखपुञ्जमिलितं सिन्दूरपूरारुणं
ध्यात्वा पश्यति यो नरः प्रतिदिनं काद्यारुणैरावृतम् ॥

महाकायं तेजोमयमपि चरुं बीजमखिलं
मुदा ध्याये कामापहमतिमुखं चाष्टमदले ।
महासिन्दूराद्रिं दिनकरकराकोटिविमलं
त्रिनेत्रं पञ्चास्यं दशभुजयुतं सर्ववपुषम् ॥ ञं ।
त्रिनेत्रं कामाख्यं शिशुकरुणया सिद्धिफलदं
सुरत्नालङ्कारच्छविरुचितनूनां समनघम् ।
ठकारं बिन्द्विन्दुं नवरविघटाकोटिकिरणं
दले चार्के ध्याये कमलवरमाला शिशुधरम् ॥ ठँ । इत्यादि ।

सप्तपञ्चाशत्तमे पटले काकिनीश्वरपर्णपार्श्वचरयजनं सम्यक् प्रतिपादितम् । तत्र मन्त्रस्वरूपाण्यपि प्रदर्शितानि, तैश्च मन्त्रैर्वर्णरूपाया भगवत्याः सरस्वत्याः पूजनप्रकारोऽपि प्रदर्शितः । तथा हि–

इति मन्त्रेण पूज्या वर्णरूपा सरस्वती ।
तदा प्रसन्नाः सिध्यन्ति श्रीकाकिन्याः कलौ युगे ॥

अष्टपञ्चाशत्तमे पटले काकिनीसिद्धिसाधनं विधिवत् प्रख्यापितमस्ति । काकिनीदेव्याः स्वरूपमत्रेदृङ् निरूपितम्–

सर्वेषां ज्ञानकर्त्री च सर्वानन्दकरी हृदि ।
सा देवी काकिनी विद्या ईश्वरी परमा कला ॥

अत्र पटले नानाविधानि कामबीजान्यपि वर्णितानि सन्ति ।

ऊनषष्टितमे पटले काकिनीदेव्याः स्तोत्रमाख्यातम् । काकिनीस्तोत्राख्येऽस्मिन् पटले–

'ज्ञानेश्वरी शुभकरी परिभावनीया
योगेश्वरैर्हरिहरैर्गुरुभिर्महेन्द्रैः ।
तां काकिनीं परशिवां परमेशपत्नीं
संस्तौमि चारुहृदयाम्बुजपीठमध्ये ॥

इत्यादि स्तुतिगीतैः देव्या स्तवनमस्ति ।

षष्टितमे पटले सुरस्तवनं प्रकीर्तितम् । तथा चोक्तम्–

ईश्वरस्य स्तवब्रह्मपरं निर्वाणसाधनम् ।
शोभाकोटियोगपतेर्योगेन्द्रस्य परापतेः ॥
कौलत्वं शृणु शङ्करप्रियकरं स्तोत्रं तदीशस्य च ।
श्रीनाथाय नमः कुलेश परमप्राणेश तुभ्यं मुदा ॥

एकषष्टितमे पटले काकिनीदेव्या अष्टोत्तरसहस्रनाम्नां संकीर्त्तनमस्ति । अस्य पाठः कुत्रचिद् निर्जनस्थाने यथा भूमिगर्तमण्डपे शून्यागारे वा करणीय इति पाठविधौ निरूपितः ।. तथा चोक्तम्-

काकिनीश्वरयोगाढ्यं सहस्रनाममङ्गलम् ।
अष्टोत्तरं वृताकारं कोटिसौदामिनीप्रभम् ॥
प्रपठेद् योगसिद्ध्यर्थं भावकः परमप्रियः ।
शून्यागारे भूमिगर्तमण्डपे शून्यदेशके ॥
गङ्गागर्भे महारण्ये चैकान्ते निर्जनेऽपि वा ।
दुर्भिक्षवर्जिते देशे सर्वोपद्रववर्जिते ॥

द्विषष्टितमे पटले ईश्वरस्तोत्रविन्यासो निरूपितः । अस्य स्तोत्रस्य माहात्म्यमीदृङ् निरूपितम्—

एतत्स्तवनपाठेन सहस्राख्यान्तसिद्धिषु ।
राजत्वं लभते सद्योऽथवा योगी च सम्पदि ॥
मुनयः क्रोधवेतालस्तथा चण्डेश्वरादयः ।
एतच्छुभस्तवेन्द्रेण स्तुत्वा सर्वत्र सिद्धिगाः ॥

अत्र स्तोत्रे ललितैः पद्यैः स्तुतिर्विहितेति दिङ्मात्रमत्रोदाह्रियते—

पूर्णः पूर्णेन्दुबिम्बाननकमलकटाक्षादघौघापहारी
नारीन्धाता विधाता स भवति न च तान् योगयोग्यान् महेन्द्रान् ।
सम्पत्तिप्राणयोगी निरवधिवरदानन्दगोप्ता शरीरो
बालो मृत्युञ्जयस्य प्रभुरिति भयहा पातु मे गुप्तदेहम् ॥

त्रिषष्टितमे पटले आनन्दभैरव्या आनन्दभैरवं प्रति अनाहतनादेश्वरस्य सम्मोहनाख्यं कवचं प्रकीर्त्तितमस्ति । अस्मिन् कवचे महेश्वरं प्रति प्रार्थना स्वरक्षायै वर्त्तते । तथा हि—

प्रणवो मे पातु शीर्षं ललाटं च सदाशिवः ।
प्रासादो हृदयं पातु बाहुयुग्मं महेश्वरः ॥

अस्य स्तोत्रस्य माहात्म्यम्—

असाध्यं साधयेदेव पठनात् कवचस्य च ।
धारणात् पूजनात् साक्षात् सर्वपीठफलं लभेत् ॥
वाणी वश्या स्थिरा लक्ष्मीः सर्वैश्वर्यसमन्वितः ।
त्यागिता लभ्यते पश्चान्निःसङ्गो विहरेत् शिवः ॥

इत्यादिभिः निगदितम् ।

चतुःषष्टितमे पटले हि न्यासपूर्वकस्य कर्णिकास्थानपूजनस्य विधिः प्रतिपादितोऽस्ति । किं नाम कर्णिकेति प्रश्नस्योत्तरे उक्तम्–

पञ्चरश्मियुतं क्षेत्रं तन्मध्ये केशवप्रियम् ।
तन्मध्ये कर्णिकास्थानं परमाह्लादवर्धनम् ॥

अथ चात्र भैरवेण पृष्टाः सर्वे योगार्थाः श्रीदेव्या यथाक्रमं प्रतिपादिताः । तथा हि आनन्दभैरवेण पृष्टमेतत्–

"यदि मां रक्षितुं शक्ता विषाक्ताङ्गं सदावतु ।
कथं वा कण्ठसञ्चारः कथं वा राक्षसी क्रिया ॥
कथं वा रिपुविद्वेषी कथं वा मङ्गलोदयः ।
कियद्वा विनयाह्लादं कियद्वा कालसाधनम्" ॥ इत्यादि ।

एतेषामुत्तरार्थमानन्दभैरव्या–

"आदौ कण्ठसञ्चारः श्रूयतां परमेश्वर ।
श्रोतव्यं मन्त्रिभिर्नित्यं कर्त्तव्यं प्रत्यहं प्रभो" ॥

इत्यादिभिः श्लोकैः समेषां प्रश्नानां समाधानं विहितम् ।

पञ्चषष्टितमे पटले शाकिनीदेव्याः सदाशिवस्य च पूजनविधिवर्णितो वर्त्तते । तथा चोक्तम्–

ध्यात्वा शाकिनीं देवीं शाकम्भर्याश्च दक्षिणे ।
पूजयेत् परया भक्त्या पूर्वोक्तविधिना प्रभो ॥
आदौ जलं शोधयित्वा हस्तौ पादौ च विग्रहम् ।
क्षालयित्वा च द्विराचम्य मूलमन्त्रेण साधकः ॥

षष्ठषष्टितमे पटले शाकिनीयजनं सविधि वर्णितम् । शाकिनीयजनविधौ प्राणायामन्यासध्यानादीनां सम्यगाख्यानं वर्त्तते । तथा चोक्तम्–

संयोज्य जीवं कुलवस्त्रमध्ये श्रीकुण्डलिन्या सह मूलपद्मम् ।
क्रमेण भित्वा समयोर्ध्वतुण्डो विशुद्धपद्मे लयमाचरेद् बुधः ॥
पूर्वोक्तध्यानमाकुर्यान्मन्त्राक्षराणि भावयेत् ।
चिच्छक्तौ परमात्मानं भावयित्वा पुनः पुनः ॥
न्यासजालं ततः कुर्यात् शृणु तत्त्वासनादिकम् ।
सदाशिव ऋषिश्चास्य मस्तके संन्यसेत् सुधीः ॥

सप्तषष्टितमे पटले शाकिनीस्तोत्रविन्यासस्याख्यानं वर्त्तते । अस्य स्तोत्रस्य विधानं वाराणस्यामस्तीति–

"वाराणसीपुरे स्थित्वा कण्ठपद्मस्थितां भज ।
स्तोत्रेणानेन विधिना भक्तिं कुरु महाशिवे ॥"

इति श्लोकेन ज्ञायते । अस्य माहात्म्यमित्थं वर्णितम्–

एतत्स्तववरं पठेद्यदि सदा ध्यात्वा नरेन्द्रः सुखी
धन्यः पुण्यमुपैति देवविलयं पीठादिसन्दर्शनम् ।
योगानामपि सिद्धिभाक्प्रियतरं ज्ञानं धनं लभ्यते
राजानं वशयन्ति ते च सहसा साक्षात् कटाक्षै रमाम् ॥

अष्टषष्टितमे पटले आनन्दभैरव्या विशुद्धवर्णध्यानं प्रत्यपादि । तथा च–

वर्णध्यानं तव स्नेहात् कथये मम रूपकम् ।
अकस्मात् सिद्धिदं ध्यानं ज्ञानमात्रेण सिध्यति ॥

अस्य ध्यानस्य माहात्म्यमीदृगुच्यते–

एवं ध्यात्वा षोडशारे स्थिरचेताः प्रपूजयेत् ।
वर्णरूपं शक्तियुतं लोकनाथं सदाशिवम् ॥
तदा प्रसन्ना बुद्धिः स्यादमरो जायतेऽचिरात् ।
खेचरत्वं वाक्यसिद्धिं जलस्तम्भादिसिद्धिभाक् ॥ इति ।

एकोनसप्ततितमे पटले भगवत्याः काकिनीदेव्याः नामसहस्राणि प्रोक्तानि । तथा चास्य माहात्म्ये उक्तम्–

अष्टोत्तरसहस्राख्यं सदाशिवसमन्वितम् ।
महाप्रभावजननं दमनं दुष्टचेतसाम् ॥
सर्वरक्षाकरं लोके कण्ठपद्मप्रसिद्धये ।
अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिनिवारणम् ॥

काकिनीदेव्याः नामसु प्रमुखत एतानि नामान्युदाहाररूपेण प्रस्तूयन्तेऽत्र–

योगिनी योगजेताख्यः सुयोगा योगशङ्करः ।
योगप्रिया योगविद्वान् योगदा योगषड्भुवि ॥

सप्ततितमे पटले सदाशिवशाकिनीकवचफलादेशस्याख्यानमस्ति । उक्तञ्चात्र–

शृणुष्व कामदं नामाद्भुतं कवचमङ्गलम् ।
त्रैलोक्यसारभूतं च सर्वज्ञानविवर्धनम् ॥ इति ।

कवचे प्रमुखाः केचन श्लोकाः–

ॐ प्रभावा सदा पातु महाकाशाधिकाशिनी ।
त्रिगुणा चण्डिका पातु क्रोधदंष्ट्रा करालिनी ॥
अनन्तानन्तमहिमा महास्त्रदलपङ्कजम् ।
पूर्वाह्णं पातु सततं गायत्री सविता मम ॥
अनन्तशयना पातु वटमूलनिवासिनी ।
प्रलये मां काली पातु वटपत्रनिवासिनी ॥

एकसप्ततितमे पटले प्रमुखतः श्रीबटुकनाथस्य पूजाविधिः ध्यानञ्च प्रकीर्तितम् । तथा चोक्तम्–

कण्ठाब्जं मे सदानन्द प्रकाशय युगं द्विठः ।
अस्यापि ध्यानमाकृत्य जप्त्वा लक्षं समापयेत् ॥

अथ च–

करकल्पितकपालः कुण्डली दण्डपाणि-
स्तरुणतिमिरनीलो व्यालयज्ञोपवीती ।
क्रमसमयसपर्याविघ्नविच्छेदहेतु-
र्जयति बटुकनाथः सिद्धिदः कौलिकानाम् ॥ इति ।

द्विसप्ततितमे पटले कालीस्तवनमस्ति । तथा चोक्तम्–

श्रीकालीचरणं चराचरगुणं सौदामिनीसम्भवं
गुञ्जद्गर्वगुरुप्रभानखमुखाह्लादैककृष्णासनम् ।
प्रेतारण्यासननिर्मितामलकजा नन्दोपरि श्वासनं
श्रीमन्नाथकरारविन्दमिलनं नेत्राञ्जनं राजते ॥

त्रिसप्ततितमे पटले वाणीगीतविन्यासो विस्तरेण प्रतिपादितो वर्त्तते । उक्तञ्चात्र–

श्रूयतां कोमलाम्भोजस्थितवक्त्रविराजिते ।
अत्यद्भुतं महागीतं शृणोति साधको हि यत् ॥
ध्वनिरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः ।
तन्मनो विलयं याति ध्वनिषु ज्ञानकोटिषु ॥

चतुःसप्ततितमे पटले सदाशिवकवचपाठो वर्तते । उक्तं हि–

श्रूयतां भगवन्नाथ महाकालकुलार्णव ।
प्रसादमन्त्रकवचं सदाशिवकुलोदयम् ॥

अस्य पाठस्य फलं शिवसायुज्यलाभो वर्णितः । तथा हि–

सिद्धकवचमाख्यातं केवलं ज्ञानसिद्धये ।
मोक्षाय जगतां शम्भोः प्रियाय परमेश्वर ॥ इत्युक्तम् ।

पञ्चसप्ततितमे पटलेऽकालमृत्युहरणसभावर्णनं विराजते । उक्तञ्चात्र–

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशम् ।
स्मरणात् पठनाद्ध्यानात् सदाशिवपतेः प्रभोः ॥

षट्सप्ततितमे पटले शाकिनीकवचस्य वर्णनं वर्त्तते । अस्य कवचस्य पाठमाहात्म्यमपि निगदितमत्र । तथा हि–

कवचं कारणैर्देवीं पूजयित्वा यथाविधि ।
अकस्मात् कार्यसिद्धिः स्यादष्टैश्वर्यसमन्वितः ॥

एतां विद्यामवधार्य जनोऽमृतं लभते इत्यप्यत्र सुष्ठु भणितम्, तथा चोक्तमपि–

धारयित्वा त्विमां विद्यामेतैर्दोषैर्न लिप्यते ।
कण्ठे यो धारयेदेतां समरे कण्ठधारिणीम् ॥
अक्षयत्वमवाप्नोति जीवमात्रः सदाशिवः ।
गोरोचनाकुङ्कुमेन कालागुरुहरिद्रया ।
लाक्षारसैर्लेखयित्वा धारयित्वामृतं लभेत् ॥ इति ।

सप्तसप्ततितमे पटले योगार्थसञ्चयनं सम्यङ्निरूपितं वर्त्तते । उक्तं हि–

चक्रस्थं चक्रबाह्यस्थं बाह्यमाभ्यन्तरं परम् ।
पश्यत्येव महायोगी कालचक्रं ततः परम् ॥ इति ।

अष्टसप्ततितमे पटले कण्ठाम्भोजभेदप्रकाशस्य सम्यङ्निरूपणं कृतमस्ति । कण्ठस्य माहात्म्यवर्णने उक्तमेतत्–

अनायासेन सिद्धिः स्याद् ज्ञानी च ज्ञानवान् भवेत् ।
ऊर्ध्वमुखं कण्ठपद्मं तदग्रे चक्रमण्डलम् ॥
इति कण्ठस्य माहात्म्यं संक्षेपात् कथितं मया ।
जानाति योगी ध्यानेन ज्ञानयुक्तेन चेतसा ॥ इति ।

एकोनाशीतितमे पटले शाकिनीमन्त्रोद्देशः कृतो वर्त्तते । तथा चोक्तम्–

वक्ष्येऽहं द्विदलं विभाण्डकमलं कालानलव्याकुलं
शोभामोहनरञ्जनं सुचपलामालाकपालोज्ज्वलम् ।
दीप्तिश्रेणि सुकर्णिकान्तरगतः श्रीशाकिनीवल्लभः
प्राणिप्राणनिदानगः परशिवः सम्पातु सञ्चारगः ॥

अशीतितमे पटले महामन्त्रस्य माहात्म्यं तस्य निर्वचनमपि सम्यङ्निरूपितं वर्त्तते । तथा हि–

स्वाहान्तो मन्त्रराजः सकलसुरपदानन्दितो भावपूज्यः ।
महामन्त्रं प्रवक्ष्यामि येन सिद्धो भवेन्नरः ॥
जपित्वा युगलक्षं तु यत्नेन परमेश्वर ।
वाक्सिद्धिं देवलोके तु गमनं निजदेहतः ॥

एकाशीतितमे पटले भ्रूपद्मग्रन्थिभेदस्य सम्यगाख्यानं वर्त्तते । तथा च–

अप्रकाश्यं महागोप्यं सारात्सारं परात्परम् ।
भ्रूपद्मभेदनादीनां क्रमं शृणु महेश्वर ॥

अन्यच्च–

द्विमासात् सप्तग्रन्थीनां भेत्ता स्याद्भैरवो यथा ।
इति ग्रन्थिभेदनस्य क्रमज्ञानमुदाहृतम् ॥

द्व्यशीतितमे पटले हाकिनी-परशिवयजनस्य वर्णनं कृतमस्ति । अस्य विधौ प्रोक्तम्—

निर्जने प्रातरुत्थाय प्रातःकीर्तिं समाचरन् ।
देहबाह्यस्नानमादौ कृत्वा साधकोत्तमः ॥
आसनञ्च गोपनीयं प्रत्येकेनापि कारयेत् ।
पूर्वोक्तयोगचिह्नानि आसनानि समाचरेत् ॥
चतुस्त्रिंशत्संख्याघटितकवचं चासनमिह
प्रबुद्धं देहस्य क्षयमरणशंकाविरहितम् ।
महच्छब्देनाढ्यं यदि गदितसत्रत्रयमिति
प्रभाते मध्याह्ने निशि विकुरुते योगहृदयः ॥ इति ।

त्र्यशीतितमे पटले हाकिनीस्तोत्रपाठो वर्त्तते । तथा चोक्तम्—

कथयस्व वरारोहे हाकिनीस्तोत्रमुत्तरम् ।
यस्य प्रपठनाद् वाग्मी कृपायसे दयामयि ॥

अत्र स्तोत्रे बहुविधैर्ललितपद्यैः स्तुतिर्विहितास्ति । यथा—

शरण्यं वरेण्यं महाकामधन्यं
महादेवदेवं त्रिकालादिजन्यम् ।
श्मशानोग्रधूलिप्रियाङ्गानुलेपं
सदा स्तौमि संसारसारं निषेकम् ॥ इति ।

चतुरशीतितमे पटले हाकिनीदेव्याः कवचपाठो विद्यते । उक्तञ्चात्रानन्दभैरव्या—

आदौ शृणु महावीर परमानन्दसागर ।
कवचं हाकिनीदेव्याः संसारार्णवतारकम् ॥

पूर्वमत्र कवचपाठमाहात्म्यं तदनु तस्य विनियोगस्ततोऽनन्तरं कवचपाठो वर्त्तते ।

पञ्चाशीतितमे पटले परशिवस्य कवचपाठो विद्यते । उक्तञ्चा नन्दभैरव्या—

श्रूयतां योगिनीनाथ योगविद्यापते प्रभो ।
परनाथस्य कवचं ज्ञानगम्यं पुरातनम् ॥

अत्रापि पूर्वं कवचपाठमाहात्म्यं तदनु तस्य विनियोगस्ततोऽनन्तरं कवचपाठो वर्त्तते ।

षडशीतितमे पटले आनन्दभैरवस्य प्रार्थनानुसारमानन्दभैरव्या डाकिन्याः सुन्दरसहस्राष्टोत्तरं शुभनाम प्रकीर्तितम् । तथा ह्युक्तम्—

साक्षात्ते कथयामि नाथ सकलं पुण्यं पवित्रं गुरो
नाम्नां शक्तिसहस्रनाम भविकं ज्ञानादि चाष्टोत्तरम् ।
योगीन्द्रैर्जयकाङ्क्षिभिः प्रियकलाप्रेमाभिलाषार्चितैः
सेव्यं पाठ्यमतीव गोप्यमखिले शीघ्रं पठस्व प्रभो ॥

अस्यापि विनियोगं विधाय–

हाकिनीवसुधालक्ष्मीः परमात्मकला परा ।
परप्रिया परातीता परमा परमप्रिया ॥ इत्यारभ्य–
क्षुन्निवृत्तिः क्षणज्ञानी वल्लभा क्षणभङ्गुरा ।
इत्येतत् कथितं नाथ हाकिन्याः कुलशेखर ॥
सहस्रनामयोगाङ्गमष्टोत्तरशतान्वितम् ।
यः पठेन्नियतः श्रीमान् स योगी नाऽत्र संशयः ॥

इति पर्यन्तं सहस्रनामपाठः प्रकीर्तितः । अनन्तरञ्चास्य पाठस्य माहात्म्यमपि सुष्ठु निगदितम् ।

सप्ताशीतितमे पटले परशिवहाकिनीश्वराष्टोत्तरसहस्रनामपाठो वर्त्तते । तथा चोक्तम्–

सहस्रनामयोगाङ्गमष्टोत्तरसमाकुलम् ।
भ्रूपद्मभेदनाथाय हाकिनीयोगसिद्धये ॥
परनाथस्य योगाधिसिद्धये कुलभैरवि ।
कृपया वद मे प्रीता धर्मसिद्धिनिबन्धनात् ॥

अत्र–

ॐ ह्ल सौ सां परेशश्च पराशक्तिः प्रियेश्वरः ।
शिवः परः पारिभद्रः परेशो निर्मलोऽद्वयः ॥ इत्यारभ्य–
मातृप्रियो मातृपूज्यो मातृकामण्डलेश्वरः ।
भ्रान्तिहन्ता भ्रान्तिदाता भ्रान्तस्थो भ्रान्तिवल्लभः ॥

इति पर्यन्तमष्टोत्तर-सहस्रनाम परिगणितम् ।

अष्टाशीतितमे पटले पराशक्तिनिर्मूलस्थाननिर्णयस्य समाख्यानमस्ति । तथा हि–

शृणुष्व परमेश त्वं दुर्लभं योगिमण्डले ।
महायोगज्ञानसारं त्रैलोक्यमङ्गलं शुभम् ॥
होमस्थानं शिखामध्ये दीपस्य भ्रूदलान्तरे ।
परब्रह्मस्वरूपां तां शिखारूपां जगत्प्रियाम् ॥

इत्यादिभिः पराशक्तिनिर्मूलस्थानस्य सम्यग् वर्णनं विहितम् ।

एकोननवतितमे पटले वाराणसीपीठनाथान्तर्यजनं सम्यगाख्यातमस्ति । तथा चोक्तम्—

कालरूपमहादेव कालकूटासवप्रिय ।
इदानीं शृणु देवेश वाराणस्याः प्रियं पदम् ॥
शतकोटियोगिनीनां मण्डलं योगिसेवितम् ।
तं ध्यायेत् सर्वदा योगी यदि कल्याणमिच्छति ॥ इति ।

नवतितमे पटले वाराणस्याः पञ्चकोणे हाकिनीदेव्याः पञ्चपीठानां तदधिष्ठातृदेवानां च समाख्यानमस्ति । अत्रैव पटले पञ्चकोणे पञ्चतत्त्वानाम्, पञ्चबीजानामपि सम्यग् वर्णनमवाप्यते । तथा चोक्तम्—

पञ्चकोणे पञ्चपीठं कामदं व्यालसिद्धिदम् ।
निर्वाणसिद्धिदं देव किमन्यत् कथयामि ते ॥
पञ्चकोणे पञ्चतत्त्वं पञ्चबीजं स्वमेव च ।
पूर्वकोणे इन्द्रबीजं पृथिव्याश्च त्रिकोणकम् ॥
तद्दक्षिणे वायुबीजं वायवीशक्तिमण्डलम् ।
वायुमुग्रवेगधरं धरणीभञ्जनाख्यकम् ॥ इत्यादि ।

अथ च—

पञ्चकोणे पञ्चतत्त्वं काशीपीठं च लिङ्गिनः ।
कोटिरूपधरा एते चात्रैव भान्ति नित्यशः ॥
हाकिनीमण्डलं मध्ये काश्यास्त्रिकोणयन्त्रके ।
हाकिनीपञ्चतत्त्वाख्यां पञ्चभूतप्रकाशिनीम् ॥

इत्यादिप्रकारेण हाकिनीदेव्या वर्णनं द्रष्टव्यम् ।

मान्या विद्वांसो निवेद्यन्ते यद्योगतन्त्रग्रन्थमालायां सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालयेन रुद्रयामलस्योत्तरतन्त्रस्य नवतितमपटलान्तस्य प्रथमं संस्करणं प्रातःस्मरणीयानां तदानीन्तनकुलपतिपदमधितिष्ठतां विद्वद्वरेण्यानां श्रीमद्बदरीनाथशुक्लमहोदयानां सत्प्रेरणया सुसम्पन्नमभवत् । अधुनाऽस्य ग्रन्थस्य दौर्लभ्यमालक्ष्य पुनर्मुद्रणाय सन्नद्धेन सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयेन षट्चत्वारिंशपटलतो नवतिपटलपर्यन्त उत्तरभागः प्रकाश्यमानोऽस्तीति परमं प्रमोदस्थानम् ।

"श्रेयांसि बहु विघ्नानि" इति वादसत्त्वेऽपि दुर्लभस्यास्य ग्रन्थस्याचिरप्रकाशने साम्प्रतिककुलपतिपदं सभाजयता प्राच्यप्रतीच्योभयविधविद्यापारदृश्वनां महामनीषिणां **डॉ. श्रीविद्यानिवासमिश्रमहानुभावानां** साधुप्रेरणैव महत्कारणम् । मान्या मिश्रमहोदयाः सर्वथा धन्यवादैः सत्क्रियन्ते ।

पुनश्चास्य ग्रन्थस्य प्रकाशने प्रकाशनाधिकारिणः **श्रीहरिश्चन्द्रमणित्रिपाठिनः**, प्राग्रूपसंशोधकस्य **श्रीहरिबंशकुमारपाण्डेयस्य**, तत्सहयोगिकर्मचारिणाम्, रत्नाप्रेस-सञ्चालकमहोदयानां **श्रीविनयशङ्करपण्ड्यानां** तत्रत्येतरकर्मचारिणाम् अत्रत्याचार्योपाचार्यादीनाम्, छात्राणां च सहयोगेन कठिनतरमपि एतत्कार्यं सम्पन्नतामलभत, तदर्थं सर्वे शुभाशीराशिभिः समेध्यन्ते।

शिष्याणामध्यापनेन स्वयमपि शास्त्रचिन्तया च समयस्याल्पतया भ्रमाद् मुद्रणदोषाद्वा त्रुटयो नूनं सम्भाव्यन्ते, ताश्च यदि सुधीभिः सोसूच्यन्ते, तर्ह्यहं तदीयां कृतज्ञतामावक्ष्यामि। अन्ते च भगवन्तौ भवानीविश्वनाथौ प्रार्थये यत्तदीयानुग्रहेणैष विश्वविद्यालय ईदृशे महनीयकार्ये सर्वथा सर्वदा च तत्परतां भजेतेति स्वीयं हार्दं प्रकाशयति–

वाराणस्याम्,
विजयदशम्याम्,
२०४९ तमे वैक्रमाब्दे

रामप्रसादत्रिपाठी
सम्मानिताध्यापकः,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
वाराणस्याम्।

विषयानुक्रमणिका

रुद्रयामलम्

[उत्तरतन्त्रम्]

(द्वितीयो भागः)

अथ षट्चत्वारिंशः पटलः

आनन्दभैरवी उवाच—

श्रृणु भैरव[1] वक्ष्यामि रुद्राणीस्तोत्रमुत्तमम् ।
श्रुत्वा पठित्वा देवेश धारयित्त्वा स्वदेहके ॥ १ ।

महासिद्धो भवेदेव महाकालवशो भवेत् ।
त्रैलोक्यरक्षणार्थाय ब्रह्मणा विष्णुना तथा[2] ॥ २ ।

रुद्रयुक्तां महारौद्रीं स्तुत्त्वा[3] सर्वंजयो भवेत् ।
तच्छ्रुत्त्वा मुनयः सर्वे योगिनो योगदर्शकाः ॥ ३ ।

सर्वे देवाः सर्वलोकाधिपाः स्युः प्राणरक्षकाः ।
एततृस्तवनमात्रेण ब्रह्मा ब्रह्मत्त्वमाप्नुयात् ॥ ४ ।

विष्णुर्विष्णुत्त्वमाप्नोति देवत्त्वं सर्वदेवताः ।
इदानीं श्रृणु तत्स्तोत्रमष्टाङ्गयोगसाधनम् ॥ ५ ।

एतत्स्तवनपाठेन चाष्टाङ्गकुलदेवताः ।
वशीभूताः प्रभवन्ति[4] सप्तस्वर्गस्थदेवताः[5] ॥ ६ ।

अस्य महारुद्रशक्तिस्तोत्रस्य महाकालभैरवऋषिरनुष्टुप्छन्दः श्रीमच्छ्रीरूपिणी देवता[6] वां बीजं द्रां शक्तिः [7]समौं स्फें कीलकं महोग्रादि[8] देवता सर्वाभीष्टसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः ॥

महारौद्री रुद्रारुणरवरवक्रोधनिकरा
विकारा धर्माणां हरतु विषयं देहि परमम् ।
विवेकं सत्पुत्रं त्वमपि जगतामादिपुरुषं
विभाकोटिग्रामस्खलननिचला [9]लोचनचला ॥ ७ ।

---

१. श्रृणु वक्ष्यामि ते रुद्र—क०; २ कृतामिति—ख०; ३. श्रुत्वा—क० । ४. भवन्त्येव—ख०; ५. सप्तसंख्याकाश्च ते स्वर्गाश्चेति सप्तस्वर्गाः, मध्यमपदलोपिसमासः । तत्र तिष्ठन्ति इति सप्तस्वर्गस्थाः, कर्तरि कप्रत्ययः । ताश्च ता देवताश्चेति कर्मधारयसमासः । ६. रां—क०; ७. क्षौ फे—क०; ८. महोग्र, महोग्रायी क्रमेण—ग०; ९. चालन—ग० ।

त्वमेका त्रैलोक्यं व्यवसि[1] सततं मे शुभभवा
अनन्ता सा चातीन्द्रियगणकला नागवसना ।
श्रियं दातुं नित्यं समुदयति रश्मिस्तव शिवे
शिवाह्लादानन्दा जडितमनमन्दा[2] कुरु मुदा ॥ ८ ।

महालोभं पापं हर हर हरे [3]हीरकनिभे
विषानन्दोद्घाता मम तनु[4] विषं वेशवशिनि ।
सुधानन्दं देहि क्षयमपि हरक्रोधमतुलं
मदं[5] कामं मोहं कुलजननि दिव्यं वितर तत् ॥ ९ ।

तपस्यासद्भावं त्वमपि च ददासीह यदि वा
प्रदीप्ता सद्व्याप्ता भवति तव दाने मम मनः ।
प्रफुल्लातिश्रीदे जय मम न भक्तिं निजशुभां
समीडे त्वामेकां भुवनजनरक्षां कुरु सदा ॥ १० ।

विचार्यं स्वे तन्त्रे रचयसि सुखं नित्यमिलितम्
महाखड्गप्रख्या त्रिभुवनकरा रुद्रदयिता ।
सुराणां संरक्षां यदि कुरु मुदा पीठनिकरे[6]
मणिद्वीपे तेजोमयि हि मणिपूरेऽमलपदम् ॥ ११ ।

महाक्षेत्रे युद्धोत्सवभयहरा त्वं कुलकला
किराती सर्वाणी मम कुलगतं पालय लये ।
लयज्ञानानन्दं रचय हृदये योगजननि
यतीनां रक्षायै कुलयुवति विद्ये[7] उदयति ॥ १२ ।

---

१. चरसि-ख० । 'व्यवसि' इति मूलपाठे विशेषेण अवसि रक्षसि, इत्यर्थो बोध्यः । चरसि इति पाठे तु भक्षयसि इत्यर्थः । प्रलयकाले त्रैलोक्यस्य देव्या भक्षणात्, स्वोदरे लयकरणात् । २. मनमंगमिति–ग०, जडिततममगमिति–ख० । ३. हारकनिभ–क०; ४. तनुरियमिति–ख०; ५. यदा–ग०; ६. पीठनिकटे–क०; ७. विघ्नेन्द्रजयति–क०, त्वमपि हि–ख० ।

प्रतिष्ठा कीर्तिस्ते त्वमव[1]तरसि त्रासि [2]तिमिरा-
न्न जाने त्वत् तत्त्वं तरुणि महिमानं [3]सुखमयम् ।
महापारावारां निधिभवजलेशं कुरु जयम्[4]
हिरण्याह्लादस्था त्वमपि करुणासागरमयी[5] ॥ १३ ।

विधातारं विष्णुं सुरवरणवन्दीन्[6] परजनान्
प्रपासि त्वं सिद्धा सुखभुवनभंगक्षयकरा ।
किरन्ती[7] सानन्दा किरणशतकोटिं त्रिभुवने[8]
त्वमेका कल्याणि गिरिशरमणि पाहि सततम् ॥ १४ ।

त्वदीयं सुखान्तं समीच्छामि सत्यं
विसर्गेन्दुवर्णात्मकं कामनाख्यम् ।
कृपादृष्टिपाता मनः पाहि[9] शुद्धा
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ १५ ।

जगत्तारिणी त्वं जगद्व्यापिनी त्वं
जगज्ज्वालरूपा[10] जगद्धर्मरूपा ।
अनेकान्तिकत्वात्त्वमानन्दरूपा
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ १६ ।

विधानं जनानां कुरु त्वं त्वमीशा
क्षपाक्षामचित्ता[11] प्रियानन्ददात्री ।
त्वमाज्ञाम्बुजस्था त्वमार्या[12] गुरूणां
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ १७ ।

---

१. तमसि–ख० । २-३. तिमिराट्–क०, 'तिमिराट्' इति पाठे तिमिरमन्धकारमटति या सा तिमिराट्, अटतिः कर्तृक्विबन्तः, भगवत्या विशेषणमेतत् । तिमिरादिति पाठे तु स्पष्टमेव, तिमिराद् अन्धकारात्, त्रासि = रक्षसि, त्रैङ्धातुर्बाहुलकाद् आदादिकः परस्मैपदी च मन्तव्योऽत्र पक्षे । प्रथमान्तपाठेऽपि त्रासि इत्यस्येयमेव स्थितिः ।
४. सुरमयमिति पुरमयमिति वा–क०; ५. सागरमयि–ग०; ६. रादीनिति–क० । ७. किरातीति–क०; ८. च्छदविले–क०; ९. पातासनं पाहि–ख०; १०. जगद्धर्मरूपा जगज्ज्ञानरूपेति–क०; ११. क्षुब्धदा–क०; १२. त्वमाज्ञा गुरूणामिति–क० । अत्र आज्ञा इति पाठे आ = समन्ताद् जानाति इति 'आज्ञा', "आतश्चोपसर्गे" इति कर्तरि कप्रत्ययः । स्त्रीत्वद्योतकः टाप्प्रत्ययः । त्वं गुरून् सम्यग् जानासि, इत्यर्थः ।

प्रभामण्डलस्था स्थितित्यागसंस्था
स्थलाम्भोजमाला[1] त्वमालग्नकण्ठा ।
शिवश्यामवर्णा महापिंगलार्णा[2]
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ १८ ।

चतुर्थश्रुतिस्थाचलश्चन्द्रसंस्था
महावेदभाषा त्वमेका [3]जगत्याम् ।
महाभक्तिभावाश्रितं मां प्रसिद्धे
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ १९ ।

जगद्धामचेष्टे जगद्बुद्धिनिष्ठे
जगद्यौवनस्था जगद्भावसंस्था[4] ।
समावर्त्तमध्ये[5] महाघूर्णितं मां
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ २० ।

[6]महासृष्टिसंहारकालक्रमस्था
महामांसभक्षा सदानन्दरूपा[7] ।
[8]महाशाक्यमौनीन्द्रपूज्ये सुरेज्ये
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ २१ ॥

चतुःषष्टितन्त्रार्णवाह्लादकत्वा-
न्महाभौतिकत्वान्महासिद्धिविद्या ।
छलच्छिन्नदेहा छलानन्नसंज्ञा
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ २२ ॥

शिवत्त्वं महत्त्वं [9]समत्वागलत्वा-
दनैकान्तिकत्त्वं ददासि त्वमाद्या ।
सुधासागरस्था महामोहनस्था
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ २३ ॥

---

१. द्वया–ग० । २. पिङ्गलाक्षीति–क०; ३. त्वमेकासि सारः–क०; ४ समावर्तनेया–क० । ५. जगद्भावनस्था–क०; ६. दृष्टि–क०; ७. सदानन्दसेव्या–क० । सदा आनन्देन सेव्या, अथवा सता नित्यसत्तया आनन्देन च सेव्या । 'नित्यसत्तानित्यानन्दवती, इत्यर्थः । 'सदानन्दरूपा' इति पाठे तु सदानन्दः परतरं ब्रह्म रूपं यस्या इत्यर्थः । ८. महामोक्षमौलीन्द्र''''वरात्वम्–क०, ९. मयत्वामयत्वादिति–ग० ।

महासिंहपृष्ठे पदाम्भोजलक्ष्मी-
मम श्रीशिरोमण्डलस्थं[1] प्रपातु ।
भवानन्दसन्तानकल्पेऽवदेहं
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ २४ ॥

स्थिरा सा महाविद्युदाकारहारा
महाच्चञ्चला चाचला[2] ज्ञानजन्या ।
सदा [3]भावनत्त्वात्सदा ज्ञापनस्था[4]
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ २५ ।

कुलानन्दमोहा[5] महाकौलकन्या
कुलक्षेत्ररक्षा कुलच्छत्रकारा ।
महाचञ्चलत्त्वान्महावायुघूर्णा[6]
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ २६ ।

चिरंजीविनी भामिनी[7] भूमिबीजा
भयाभावहन्त्री शरत्कोटिचन्द्रा ।
विभूतिर्भयाहारकर्त्री[8] प्रकृष्टा
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ २७ ।

महावीरभावाश्रया[9] भावरूपा
विशेषाविशेषे[10] महाशैववीरा ।
विसर्गापवर्गाश्रयार्णोज्ज्वलत्त्वात्[11]
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ २८ ।

---

१. मण्डलस्था–ख०; २. वाननज्ञानजन्येति–क०; ३. सदाभावनत्वां सदाज्ञापनत्वामिति–क०; ४. सदाज्ञानसंस्था ख०; ५. मोदा–क०; ६. अस्मिन् पाठे कुलानन्देन मोदो हर्षो यस्याः सा; 'कुलानन्दमोहा' इति मूलपाठे तु कुलानन्देन मोहयति भक्तान् या सा । न चैवं कर्मण्यण् स्यादिति वाच्यम्, कर्मवाचकपदाभावात्, भक्तपदस्याध्याहारलभ्यत्वात् । एवं च कर्तरि पचाद्यजन्तोऽयं स्त्रीत्वे टाबन्तः; ७. पूर्णं–ख०;६. भाविनीति–क० । ८. भवानन्द–ख०; ९. साशश्रयेति–क०; १०. विशेषाभिशोक महाशैववीरा–क०; महाशेषवीरा–ग०; ११. श्रयत्वोज्ज्वल–क० ।

महापञ्चमत्त्वान्महामोदकत्वान्महा-
कौलिकत्वादसञ्चारणत्वात् ।
कुलप्रेमभावक्रियानिश्चलत्वात्
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ २९ ।

वसोः सिद्धिदात्री शिवानन्दकर्त्री[1]
महामैथुनानन्दसम्भेदनत्वात् ।
सुखाश्वासतत्त्वात्तपः प्राणरक्षा
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ३० ।

गलत्प्रेमभावा कुलज्ञानतत्त्वात्[2]
प्रिया श्रीकृपात्वं [3]भवाधारमूर्त्तिः ।
महैश्वर्यहेतोर्महाराजकन्या
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ३१ ।

महामोक्षविद्या महानिर्मलत्वात्
प्रभापञ्चचूडस्य[4] सिद्धिप्रिया च ।
महानादबिन्दुप्रयासाभिरामा
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ३२ ।

महाविद्रुमाकारवर्णाभिरामा
कुलाह्लादसूत्रादिसंसाधनत्वात् ।
महद्राज्यविद्याधना[5] संघटत्वात्
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ३३ ।

तवाङ्घ्रिद्वयाम्भोज पूजासुखत्वा-
न्महाकालरूपा स्वयं सर्वविद्या ।
विकारादिसम्बन्धविशेषणत्वात्
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ३४ ।

---

१. निरानन्द–क॰; शिवानन्दकर्त्री इति पाठे शिवं कल्याणमानन्दं च करोति या सा । कर्मण्यण् न शङ्क्यः कर्त्री इति तृजन्तेन साधयित्वा पुनः षष्ठीसमासः; २. कुलज्ञानतत्त्व-मिति–क॰; ३. भवाधारमुक्तिः–ग॰; ४. महापञ्चभूतस्य–ख॰; चूतस्येति–ग॰ । ५. धवैः संचितत्वादिति–ख॰ ।

शिवत्त्वं शुभत्त्वं महाशैलकन्ये
प्रियत्वं परत्वं महापावनत्वम् ।
समाधेहि तत्त्वादनेकान्तिकत्वा-
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ।। ३५ ।

महाचेतनादेवनादोन[1]नत्वाद-
संख्यामतीनां मनोयोगमुख्या ।
विरोधापहन्त्री रिपुप्राणहन्त्री[2]
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ।। ३६ ।

चतुर्विंशतिक्रोधतत्त्वानुकूले
वियत्खण्डचन्द्रोज्ज्वले कीलकस्थे[3] ।
सदा मां प्रपातु प्रचण्डार्कवर्णा[4]
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ।। ३७ ।

शुभं कामधेनुस्वरूपं स्वदेहं
सदा दर्शने[5] श्रद्धया चारुवर्णा ।
हिमांशुप्रभाकोटिवर्णेऽत्वपूर्णे[6]
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ।। ३८ ।

महाकामबीजान्विता खण्डयन्ती
महादोषजालं शनेरावहन्ती ।
शिवाभद्रकाली स्थिरानन्दमाला
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ।। ३९ ।

---

१. नादोलनत्वादिति–क०, संख्यासतीनामिति–क० ।
महच्चेतनादानकात्वमेकाहयसंख्यामतीनां मनोयोगमुखेनेति–ख० ।
२. रिपुपापाहत्या(हन्या)–क०; ३. वियत्खण्डचण्डाकुले घोलसंस्थेति–ग० ।
४. प्रघानार्कवर्णेति–ग० । अस्मिन् पाठे प्रघानो योऽर्कवर्णः श्वेतो गुणः, सोऽस्ति यस्यामिति बहुव्रीहिः । मूलपाठे तु प्रचण्डः अर्कवर्णा उष्णत्वयुक्तः श्वेतोऽस्ति यस्या इति विग्रहः ।
५. सदानन्ददा–ग०; ६. वर्णात्वपूर्णे–क०; वर्णाहयपूर्णा–ख० ।

महाकालकूटाशिनं तीक्ष्णनेत्रं
सदा पाहि शम्भुं भयार्द्रातिवेलम् ।
भवापालनत्वादसंख्यानिवासा
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ।

हरन्ती विषाढ्यं[1] वहन्ती कलाद्यं
रटन्ती[2] नटन्ती विशाला भ्रमन्ती ।
श्रियः[3] पालनी पालिका बालिकात्वात्
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ४० ।

भवानन्दहेतोः[4] सदा श्रद्धया वा
पदाम्भोजमध्ये मनोयोगकाले ।
परासंख्यते कामसंक्षालनत्त्वा[5]-
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ४१ ।

क्षितिक्षोभनाशाय[6] सिद्धादिविद्या
कुलाढ्याखिलाढ्याननासूक्ष्ममध्या[7] ।
प्रयत्नं करोषि क्षयानन्ददाना
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ४२ ।

महाधैर्यमाहृत्यजं जप्यते येस्त-
वाद्याभिधानानि कालिप्रभाते ।
तदैवापि काले ददासीह सिद्धिं
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ४३ ।

---

१. विषान्नमिति–ख०, विषाद्यमिति–ग० । विषेणाढ्यं सम्पन्नं किमपि भक्ष्यम् । अथवा विषान्नमिति पाठे विषमिश्रितमन्नमिति मध्यमपदलोपिसमासः । यदि भक्तेन विषान्नमपि भक्षितं स्यात्तदा तदीयं मारकदोषं हरन्ती भगवती इत्यर्थः ।

२. रटन्ती विलोला भ्रमन्ती जपन्ती–ग०; ३. श्रियः पालिनी पालिके कालिके वा–क० ।

४. तवानन्दहेतोरिति–ग०; ५. कामसंख्याननत्वादिति क० ।

६. क्षितिक्षोभनायेति–क०, सिद्धयादि विद्येति च–क०; ७. शिलामध्यमध्येति–क० ।

चिरं स्थापयन्ती चिरं भासयन्ती[1]
त्वमाख्या गुरूणां[2] कुलानन्दविद्ये ।
[3]स्वधाकारतुष्टा कलावह्निजाया
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ४४ ।

सुरानन्दकाले फलोद्भूतचिह्ना
चितामध्यदेशे महासिद्धिदात्री ।
त्रिभि[4]न्नाविभिन्नामहारुद्रविद्ये
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ४५ ।

महापूर्वि[5] कात्यायनि क्रोधमूले
विवेकादिकं धर्ममादौ ददासि ।
त्रयाणां सुराणां मुदा रक्षणाय
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ४६ ।

विशुद्धस्फुटत्वान्महाकौतुकत्वा-
[6]त्तनुध्यानमोहादनन्ते[7] कृतत्वात् ।
[8]कुलारक्षणात्मा महालक्षणात्मा
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ४७ ।

दहन्ती रिपूणां [9]कुलश्चात्मदेशं
[10]क्षणादेव सूक्ष्मासुसूक्ष्मा सती सा ।
ममानन्ददेशं सदा पालय श्री[11]
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ४८ ।

---

१. भावयन्ती–ग०; २. गुणानन्दविघे क० ।
३. सुघाकामतुष्टेति–क० । सुघायाः काम इच्छा, तेन तुष्टा । 'स्वघाकारतुष्टा' इति मूलपाठे तु स्वघाकारेण तुष्टा इत्यर्थो बोध्यः; ४. त्रिभिन्नाघिभन्ना–ग० ।
५. महापुष्टि.... क०; ६. घ्यानसत्वात्–क०; ७. असन्तैकतत्त्वात्–क० ।
८ कुलारक्षणत्वात्, महालक्षणत्वात्–क० ।
९. कुलच्छत्रदेशं ग० ।
१०. सदाज्ञानगम्याखिलानां जनानाम्–ख०, कुलच्छत्रदेशं कुलं देवसूक्ष्मा मतीनाम्–ग० ।
११. पालयश्रोस्त्व मेका–ख० ।

चतुर्थाश्रमस्थाश्रमं पाहि रुद्रे
महोग्रप्रतापे महारौद्रि भद्रे ।
महापातकादिक्षयत्त्वामृतत्त्वा-[1]
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ४९ ।

[2]महावायुरम्ये महाज्ञानगम्ये
[3]महामन्त्रजाप्यादिसिद्धिप्रसिद्धे ।
[4]लयं देहि बाह्यानिलाघातनत्त्वा-
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ५० ।

न जानामि किं वामरो वापि विष्णु-
र्महाकौलिको वा न जानाति पूजाम् ।
[5]कुलाद्यासनन्ते सुरेन्द्रादिपाठे
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ५१ ।

[6]मदीयं प्रलोभ्यं महाभद्रकालि
प्रकाशेन कर्त्तुं समर्था भव त्वम् ।
पदाब्जे च [7]हन्तुं महापापसर्गे
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ५२ ।

वहन्ती कपालं स्खलन्तीमपार्थं
महाहेममाला [8]महाकाशयन्ती ।
[9]शिवो मङ्गलं मे तु वैश्वानरीशे
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ५३ ।

---

१. क्षयत्वानृतत्वं क०; २. महावायुवश्ये महाज्ञानवश्ये–ग० ।
३. तन्त्र–ग० । महामन्त्रस्य जाप्येन आदिसिद्धिः प्रमुखसिद्धिः, तया प्रसिद्धा, तत्सम्बोधने एतद्रूपम् । अथवा—महामन्त्रजाप्यमादिर्यस्य तेन सिद्धिः प्रसिद्धा यस्या इति । तन्त्रशब्द-घटिते पाठे तु मन्त्रस्य स्थाने तन्त्रशब्दः पठनीयः; ४. नयम्–क० ।
५. कुलसेवनान्तस्तवेन्द्रादिपाठम्–ग०; ६. यदीयं प्रलोभं ·· ····प्रकर्षेण कर्तुम्–क० ।
७. हर्त्तुम् इति–क०; ८. मनाकालयन्ती–क०, मलाकाशपात्री–ख० ।
९. शिरोऽस्त्ववैश्यानरीशे–ग०, शिवात्वरूपा च वैश्यानरीशे ।

प्रचण्डा प्रसन्ना भवक्षोभहेतो-
विवादादिघाताय शान्तिः प्रतुष्टिः ।
कियत्कालसंस्था प्रसन्नान्तरात्मा
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ५४ ।

[1]महावायुपाना क्रियामोक्षकाले
कुलज्ञान[2]दाना दिवारूपिणी त्वम् ।
प्रभुत्वं विधेहि[3] क्षमे कामकर्त्री
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥ ५५ ।

यदि श्रीवराद्ये ममाख्या[4] ससिद्धि
[5]विदेहीति चित्ते समाधाय भक्तः ।
समाप्नोति शीघ्रं सदा प्राथ्यंते ये:[6]
सदा पठ्यते[7] वा मुदा वारमेकम् ॥ ५६ ।

महाकालशम्भो महाज्ञानसिद्धः
सदा[8] कालवश्ये[9] पठेदेकचित्तः ।
महाभक्तिभावं [10]लभेद् वेदमुक्ति
महादेवभक्ति त्रिकालेन योगम् ॥ ५७ ।

मणेः पीठमध्ये [11]महारुद्रकान्तां
महालाकिनीं कुण्डलीं[12] भावयन्ती ।
[13]महापुण्यलाभं स्तवं ब्रह्मसारं
महाकान्तलाभाय पुण्याय सिद्धये ॥ ५८ ।

---

१. दानक्रिया मोक्षकाले; २. कुलज्ञानदानार्थिनी त्वम्–ग० ।
३. विदेहि । 'विदेहि' इति पाठे विशेषेण देहि इत्यर्थः, अथवा विगतो देहो देहभानं यस्याः सा विदेही तत्सम्बोधने हे विदेहि ! इत्यर्थो बोध्यः ।
४. अभ्याससिद्धिम्–क०; ५. विदेहापि चित्ते–क० ।
६. वै–क० । ७. पाठ्यते; ८. यदा–क० ।
९. कालवश्यः–ख० । 'कालवश्ये' इति पाठे कालो वश्यो यस्याः सा, तत्सम्बोधने इदं रूपम् । पूर्वं निपातस्यानित्यत्वाद् वश्यशब्दस्य परनिपातः ।
१०. लभस्वाढ्यभक्ति–ख०, लभस्वेदमुक्ति–ग० ।
११. महाब्रह्मकान्तां–ग० । महारुद्रस्य कान्ता, अथवा महती चासौ रुद्रकान्ता च । 'महाब्रह्मकान्तेति' पाठे महती ब्रह्मकान्ता, माया इति; १२. कुण्डलम्; १३. महापुण्यभावं–क० ।

महाकालि रुद्राणि भद्राणि कृष्णे[1]
भवानन्दमूर्त्तिप्रकाशाय कुर्यात् ।
किलानन्दमाकृत्य सम्पूज्यते ये-
र्महादेवि चण्डे तव ध्याननिष्ठा[2] ॥ ५९ ।

महामोक्षभावं[3] समाप्नोति शीघ्रं
महाशुद्धता कामहा कालरूपी[4] ॥ ६०।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धिमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे मणिपूरभेदनक्रमे भैरवीभैरवसंवादे रुद्रशक्तिलाकिनीस्तोत्रं नाम [5]षट्चत्वारिंशः पटलः ॥

---

१. पूज्ये—ख० अधिकः पाठः; २. निष्ठः–ग० ।

३. मोक्षे महेति विशेषणेन लेशाविद्याकृतप्रभावस्यापि समाप्तिः सोसूच्यते । यथा ब्रह्मणो मानसपुत्रेषु सनक-सनन्दनादिष्वपि लेशाविद्यायाः प्रभाव आसीदेव, अत एव जयविजययोर्भगवत्पार्षदयोः जन्मत्रितयकृते दैत्ययोनौ जन्मविषयकः शापस्तैः प्रदत्तः । एवं च स्थूलाविद्याकृतबन्धनान्निवृत्तौ सत्यामपि लेशाविद्याजनितः प्रभावो यदा समाप्यते, तदैव महामोक्षावाप्तिः संमन्तव्या ।

४. (क) कालरूप इत्यपि पाठः प्रतिभाति ।
(ख) प्रकाशाय पङ्केरुहातां जनास्ते महायोगिनो भूतनाथा भवन्ति—क० अधिकः पाठः ।

५. सप्तचत्वारिंशत्तमः पटलः–ग० ।

अथ सप्तचत्त्वारिंशः पटलः

श्री-आनन्दभैरवी उवाच—

शृणु कैलासनाथाब्ज[1] चक्रमण्डलसंस्थितिम् ।
षट्चक्रभेदमाहात्म्यं सावधानावधारय ॥ १ ।

अप्रकाश्यमिदं यन्त्रं[2] मणिपूरविभेदनम् ।
अष्टैश्वर्यसाधनाय जीवन्मुक्तिप्रदाय[3] च ॥ २ ।

कथयामि महाकाल यज्ज्ञात्वा योगिनोऽमराः ।
क्रियासाधनमात्रेण केन योगेन एव हि ॥ ३ ।

साधनादेव सर्वज्ञः सर्वार्थज्ञानवान् भवेत् ।
रुद्राणीसहितं रुद्रं ध्यात्वा सम्पूज्य सञ्जपेत् ॥ ४ ।

अथ वक्ष्ये महामन्त्रं पूजाप्रकरणं तथा ।
मणिपूरे स्थितो मन्त्री रुद्राणीयजनं चरेत् ॥ ५ ।

[4]सम्प्रतिमन्त्रस्योद्धारं करोमि कालकूटप[5] ।
प्रणवं पूर्वमुच्चार्य नमःशब्दं ततो वदेत् ॥ ६ ।

ते शब्दान्ते समुद्धृत्य रुद्रशब्दं ततः परम् ।
[6]रूपिण्यै पदमुच्चार्य रुद्राणीमन्त्रमीरितम् ॥ ७ ।

ततो महारुद्रमन्त्रं वक्ष्यामि तत्त्वतः शृणु ।
प्रणवान्ते [7]नमःशब्दं ते महाशब्दमुच्चरेत् ॥ ८ ।

रुद्राय [8]पदमुद्धृत्य महारुद्रमनुः स्मृतः ।
[9]ततोऽन्यत्कालरूपेश रुद्राणी मन्त्रमाश्रृणु ॥ ९ ।

---

१. नाथाद्य–ख०; २. वक्तुं–क०, मन्त्रं–ख०; ३. प्रियाय–क० ।
४. दम्पत्यो मन्त्रमुद्धारम्–ख०, सम्पात्यामन्त्रमुद्धारम्–ख० ।
५. कालकूटं पिबति, कालकूटात् पाति, इति वा, कालकूटपः, तत्सम्बोधने हे कालकूटप ! इति भगवता शिवेन विषपानं कृतम्, ततश्च देवा रक्षिता इति ।
६. रूपिणे–ख०; ७. शब्दः–ग० । मन्त्रस्य स्वरूपं निःसारणीयम् ।
८. मुचार्य–क०; ९. अन्य–ग० ।

डादिफान्तैः सर्ववर्णैराद्यन्ते पुटितं मनोः ।
सर्वशेषे वलिजाया महामन्त्रोत्तमोत्तमः ॥ १० ।
अस्य जापनमात्रेण षट्पद्म[1]साधने जयी ।
एवं प्रकारं रुद्रस्य चाथवान्यप्रकारकम् ॥ ११ ।
रुद्राणां विविधं मन्त्रं कोटितन्त्रे विनिर्णयम् ।
मणिपूरे सदा ध्यायेद् योगसाधनहेतुना ॥ १२ ।
सर्वत्र मानसं कार्यं ध्यानपूजाविधानकम् ।
प्रमोदाख्यातिमनुभिर्मृत्युञ्जयादिभिस्तथा ॥ १३ ।
चैतन्यं कारयेत् शीघ्रं मणिपूरस्थदेवयोः ।
[2]अथ वक्ष्ये महेशस्य [3]रुद्रस्य परमात्मनः ॥ १४ ।
प्रासादाख्यं महामन्त्रं त्रैलोक्यफलसिद्धिदम् ।
सान्तमोङ्कार[4]संयुक्तं नादबिन्दुविभूषितम् ॥ १५ ।
प्रासादाख्ये मनुः[5] प्रोक्तो भजतां कामदो[6]मणिः ।
प्रणवं पूर्वमुच्चार्य स्वाहान्तं जपते यदि ॥ १६ ।
स्तम्भनादीनि कर्माणि स करोति न संशयः ।
अथवा मृत्युजेतारं महामन्त्रं [6]महामनुम् ॥ १७ ।
जपेन्मानसजापेन[7] यज्जाप्यं प्राणरक्षकम् ।
तारं स्थिरा[8] सकर्णेन्दुर्भृगुः सर्गसमन्वितः ॥ १८ ।
त्र्यक्षरात्मा निगदितो मन्त्रो मृत्युञ्जयात्मकः ।
अथवान्यप्रकारेण जपेन्मृत्युञ्जयात्मकम् ॥ १९ ॥

---

१. जापने–ग० । —षट्पद्मसाधने जयति तच्छीलः; २. तत्त्वं–ग० ।
३. परमात्मानमीश्वरम्–ग० । यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् । रुदिर् अश्रुविमोचने इति धातोरक्प्रत्ययः, कित्वाद् गुणाभावः ।
४. हान्तमोकार–क०, सान्तमोकार–ग०; ५. मनु–क० ।
६. मुनिः–क० । —महामुनिः मृत्युजेतारं महामन्त्रं जपेत् । अनेन रूपेणान्वये कृते सति अर्थसङ्गत्याऽयमेव पाठो युक्तः प्रतिभाति । महामनुमिति पाठे मनुशब्दस्य मन्त्रार्थकत्वात् पौनरुक्त्यदोष आपतति । मणिः–ग० ।
७. जपन्–क०; ८. स्थिराम्–क० ।

मृत्युञ्जयं समुद्धृत्य पालय द्वितयं ततः ।
मृत्युञ्जयं समुद्धृत्य पुनरेव[1] विलोमतः ॥ २० ।
द्वादशाक्षरमन्त्रोऽयं मृत्युञ्जयाभिधोऽपरः ।
ध्यानं (पूजां) न्यासं तथा शृणु वक्ष्यामि शंकर ॥ २१ ।
रुद्रमन्त्रेण पुटितं योजयेन्मृत्युहारणम् ।
तथा हि रुद्रकान्ताया मन्त्रेण पुटितं शिवम् ॥ २२ ।
जपित्वा पूजयित्वा च नरो गोप्ता भवेद्वशी ।
प्रातःकृत्यादिकं कृत्वा हविष्याशी जितेन्द्रियः ॥ २३ ।
अतिसावधानपरो[2] विधिसेवापरायणः ।
स्नानसन्ध्यादिकं कृत्वा आसनादिकमाश्रयेत् ॥ २४ ।
समाप्य आसनं सर्वं पीतवस्त्रे पिधाय च ।
अथवा शुक्लवस्त्रे द्वे परिधाय मनोहरे ॥ २५ ।
कोमलाद्यासने गत्वा प्रक्षाल्य पादयुग्मकम् ।
द्विराचम्य विधानेन पूजायां स्वस्तिकासने ॥ २६ ।
वीरासने तथा पद्मासनयोन्यासने तथा ।
उपविश्य निर्मलात्मा पूजामार्गपरो भवेत् ॥ २७ ।
सर्वाणि द्रव्यभोज्यानि मनसा कल्पितानि च ।
तदलाभे सलाभे वा मनःकल्पितशोधनम् ॥ २८ ।
करणीयं सर्वदैव निजबाह्येऽपि[3] चालयेत् ।
यथा लभ्यानि द्रव्याणि संशोध्य[4] तत्र योजयेत् ॥ २९ ।
ततः कुर्याद्विशेषेण प्राणायामं मनोरमम् ।
चतुःषष्टिमात्रया वा तथा षोडशमात्रया ॥ ३० ।

---

१. एवम्–क०; २. सावधानपरो भूत्वा–क० ।
३. स्वाजे राजे वा–क०; ४. सन्तोष्य–ग०; 'संशोध्य' इति पाठः साधीयान् । द्रव्यस्य पुष्पधूपादेः संशोधनं भवति, न तु सन्तोषणम्, अचेतनत्वात् । यदि द्रव्यं पश्वादिकम्, तदा 'सन्तोष्य' इति पाठो युक्त एव ।

तद्द्वादशमात्रया वा संख्यया[1] वायुमाश्रयेत् ।
प्राणायामं समाप्याथ रुद्रन्यासं समाचरेत् ॥ ३१ ।

श्रीकण्ठादिमहावीरन्यासं कुर्यात् प्रयत्नतः ।
रुद्रन्यासं प्रवक्ष्यामि [2]मनुयोगादिसिद्धये ॥ ३२ ।

एतन्न्यासाभिकरणे नरो रुद्रसमो भवेत् ।
सदा कुर्यान्महान्यासं सर्वसिद्धिप्रकाशनात् ॥ ३३ ।

शक्तिहीनं शक्तियुक्तं महान्यासं प्रकीर्तितम् ।
शक्तियुक्तं समाकृत्य महाशक्तो भवेद्बली ॥ ३४ ।

शक्तिहीनं तथा कार्यं सर्वविघ्नविनाशनात् ।
मातृकापद्मचक्रे[3] तु मातृकावर्गसंयुतम् ॥ ३५ ।

मातृकापुटितं मन्त्रं किं वा मन्त्रेण संपुटम् ।
कृत्वा मन्त्री न्यासजालं सावधानेन कारयेत् ॥ ३६ ।

विक्रमी सिंहतुल्यः स्यात्तं दृष्ट्वा यान्ति शत्रवः ।
मौनी भूत्वा समाकृत्य कुलचक्रस्य भेदनम्[4] ॥ ३७ ।

मणिपूरे स्थिरो[5] भूत्वा महातेजोमयो भवेत् ।
तेषां नाम प्रवक्ष्यामि पञ्चाशदेकसंख्यया ॥ ३८ ।

पञ्चाशदेकशक्तीनां तथा नाम शृणु प्रभो ।
सर्वेषामभिधानान्ते[6] ईशाय नम उच्चरेत् ॥ ३९ ।

एकैकं मातृकावर्णं नाम्न आद्ये नियोजयेत् ।
शक्तियुक्तं [7]सदा नाम ईशान्तं सन्त्यजे तथा ॥ ४० ।

भेदने शक्तियुक्तस्तु न्यासं कुर्यान्महायतिः ।
कुशासने सिद्धिहेतोश्चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ४१ ।

---

१. संख्यया–क०; २. महा–क०; ३. वर्णं चक्रे–ग० ।
४. भेदनात्–क० । ५. स्थितो–ग० ।
६. अभिधानार्थम्–ख० । —एकपञ्चाशत्संख्याकशक्तीनां नामानि उच्चार्य 'ईशाय नमः, इत्युच्चरेत्, इति तात्पर्यम् । अभिधानन्तु–ग० । ७. यदा.........तदा–ग० ।

बद्धैकमासनं योगी न्यासजालं समाचरेत् ।
अथवा द्वीपिचर्मादि कोमलाद्यासनेऽपि वा ॥ ४२ ।

योगाभ्यासी न्यासजालं कृत्वा [1]सावमयो भवेत् ।
भद्रकालीगृहे स्थित्वा ये कुर्वन्ति निरन्तरम् ॥ ४३ ।

महान्यासं महादेव तत्क्षणादमरो भवेत् ।
आयुरारोग्यसम्पत्ति [2]सम्प्राप्नोति महाश्रियम् ॥ ४४ ।

समायाति मम स्थाने न्यासयोगप्रसादतः ।
न्यासधारणयोगेन मणिपूरे [3]हृदो भवेत् ॥ ४५ ।

आदौ [4]तन्नाम वक्तव्यं पश्चात् [5]शक्त्याभिधानकम् ।
श्रीकण्ठश्चाप्यनन्तश्च सूक्ष्मा त्रिमूर्तिरेव च ॥ ४६ ।

अमरेश्वरश्चार्घीशो भावभूतिस्ततः [6]परम् ।
अतिथोशस्थानुकेशो हरो झिष्टीश[7] एव च ॥ ४७ ।

भौतिकः सद्योजातश्चाप्यनुग्रहेश्वरस्तथा ।
अक्रूरोऽपि महासेनो [8]निर्जरादिश्च षोडश ॥ ४८ ।

एते देवा महारुद्र षोडशस्वरविग्रहाः ।
क्रोधीशश्चापि चण्डेशः पञ्चान्तकः शिवोत्तमः ॥ ४९ ।

एकरुद्रस्तथा कूर्म [9]एकनेत्रेश्वरस्ततः ।
चतुराननोऽजेशश्च सर्वः सोमेश एव च ॥ ५६ ।

[10]लाङ्गलीशो दारुकेशोऽर्द्धनारीश्वर एव च ।
वाणीशश्च भुजङ्गेशः पिनाकीशस्ततः परम् ॥ ५१ ।

---

१. सारमयो–ग०; २. समाप्नोति–क०; ३. अपि भो–ग० ।
४. तत्त्वान्तम्–ग०; ५. यथा–ख० । अधिक पाठः; ६. तथा परः–क० ।
७ कोटीश–क०; ८. निजस्वरादि षोडशः–क०; ९. तथा–क० ।
१०. उमाकान्तेश आषाढिः डिण्डीशोऽत्रीश एव च । मीनेशश्चापि मेषेशो लोहितेशः शिखीश्वरः ॥ छगलण्डे द्विरपेडशो महाकालेश्वरस्ततः । अधिकः पाठः–क० ।
लाङ्गलमस्ति यस्य स लाङ्गली, तस्येशः, स चासौ ईशः, स ईशो यस्येति वा त्रिविधः समासः ।

[1]खड्गीशश्चरकेशश्च श्येनो भृग्वीश एव च ।
नकुलीशः शिवेशश्च संवर्त्तकेश एव च ॥ ५२ ।

एते रुद्राः समाख्याताः सर्वकाले [2]कुलेश्वराः ।
यस्य नाम्नश्चान्तभाते ईशशब्दो न विद्यते ॥ ५३ ।

केशान्तं नाम संस्कृत्य न्यासं मौलीशमाचरेत् ।
कामं मोहादिनाशार्थं यः करोति निरन्तरम् ॥ ५४ ।

मातृकावर्णघटितं मातृकास्थलके न्यसेत् ।
[3]शक्तियुक्तं यदा न्यासं तत्कालेऽपीशयोजनम् ।
अथवा रुद्रशक्त्या[4] च तथा रुद्रेण सम्पुटम् ॥ ५५ ।

निजमन्त्रेण वा नाथ पुटितं मातृकास्थले ।
शक्त्या च [5]ग्रथनं कृत्वा संसारं सन्तरेत् क्षणात् ॥ ५६ ।

तत्प्रकारं शृणु प्राणनाथ शङ्कर वल्लभ ।
पूर्णोदरी च गिरिजा शाल्मली तदनन्तरम् ॥ ५७ ।

लोलाक्षी वर्त्तुलाक्षी च दीर्घघोणा ततः परम् ।
सुदीर्घमुखि[6]गोमुख्यौ दीर्घजिह्वा ततः परम् ॥ ५८ ।

कुण्डोदरी चोद्ध्र्वमुखी तथा विकृतमुख्यपि ।
ज्वालामुखी वह्निमुखी[7] लोलजिह्वा ततः परम् ॥ ५९ ।

विद्यामुखी तथा नाथ एताश्च स्वरशक्तयः ।
काद्यार्णशक्तिविद्याश्च वक्ष्यामि पार्वतीश्वर ॥ ६० ।

महाकालीसरस्वत्योर्महालक्ष्म्यास्ततः परम् ।
द्राविणी नागरी भूयः खेचरी चापि मञ्जरी ॥ ६१ ।

रूपिणी बिम्बिनी[8] पश्चात् काकोदरी च पूतना ।
भद्रकाली योगिनी च शङ्खिनी गर्ज्जिनी तथा ॥ ६२ ।

---

१. खड्गीशः सुरकेश–ग०; २. कुलेश्वर ग० ।
३. यदा न्यासं प्रकुर्वीत–ग०; ४. रुद्रशक्त्या चेति–ग०; ५. प्रथममिति–ग० ।
६. सुदीर्घमुखी गोमुख्या–ग० ।
७. चोल्कामुखी सुश्रीमुखी ततः परम्–क० । वह्निरिव प्रकाशमानं मुखं यस्याः सा । अथवा वह्निर्मुखे यस्या इति व्यधिकरणबहुव्रीहिः समासः; ८. विरली–ख० ।

कालरात्रिः कुब्जिका च कर्पर्द्दिनी ततः परम् ।
वज्रा जया [1]ततो नाथ सुमुखेश्वर्यपि प्रभो ॥ ६३ ।

रेवती माधवी चैव वारुणी वायवी तथा ।
वक्षोविदारिणी चैव सुमहालक्ष्म्यथ प्रभो ॥ ६४ ।

व्यापिनी चैव माया च रुद्राङ्कपीठदेवताः ।
सर्वाभरणसंयुक्ता सिन्दूरारुणविग्रहाः ॥ ६५ ।

धूतशूलकपालादि[2] बाणशक्तिप्रखेटकाः ।
वराभयकरा नित्याः सर्ववाहनवाहनाः[3] ॥ ६६ ।

श्रीकण्ठाद्या[4] महारुद्रा धृतशूलकपालकाः ।
खड्गखेटकशक्तीषु गदामूसलधारकाः ॥ ६७ ।

नानास्त्रधारका नित्या बन्धूककोटिसुन्दराः ।
रक्तचन्दनदिग्धांगाः पञ्चचूडधराः पराः ॥ ६८ ।

रक्तोत्पलमहामाला[5]लङ्कारकरपंकजाः ।
पीठन्यासं ततः कुर्यात् मम तन्त्रानुसारतः ॥ ६९ ।

सर्वत्र मूलपुटितमथवा वर्णसम्पुटम् ।
कृत्वा पीठन्यासकार्यं विधानेन वदामि तत् ॥ ७० ।

ॐ [6]अनन्ताय नमश्च नमो हृदि ततः परम् ।
ॐ पद्माय नमःशब्दं हृदये च ततः परम् ॥ ७१ ।

ॐ सूर्यमण्डलाय [7]द्वादशान्ते कलात्मने…… ।
ॐ नमः पदं समुच्चार्य चान्ते च हृदये प्रभो ॥ ७२ ।

ॐ उं सोममण्डलाय षोडशकलात्मने नमः ।
सर्वत्र हृदये कार्यं पीठन्यासं मनोलयम् ॥ ७३ ।

---

१. तथा—क०; २. कपालासि—क०; ३. सर्वस्ववाहनाः—ग०; ४. कण्ठास्या—ग० ।
५. भाला—क० । रक्तानि उत्पलानि (कमलानि) तेषां माला तद्रूपोऽलंकारः करपङ्कजे यस्याः सा । व्यधिकरणबहुव्रीहिः ।
६. अं श्रं न्यन्ताय—ग०; ७. द्वादशकलात्मने तत—ग० ।

ॐ मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने नमः ।
ॐ सं सत्त्वाय नमश्च ॐ रं रजसे नमः ।। ७४ ।

ॐ तं तमसे नमश्च पूर्वादिकेशरेषु च ।
ॐ [1]तं आत्मने नमश्च ॐ सर्वव्यापिने नमः ।। ७५ ।

ॐ [2]अं अन्तरात्मने च ॐ मनोन्मन्यै नमश्च ।
तदुपरि ततो वदेद् नमोऽन्ते शून्यवासिने ।। ७६ ।

ॐ [3]पं परमात्मने च नमोऽन्ते कालरूपिणे ।
ॐ ह्रीं ज्ञानात्मने चान्ते नमोऽन्ते वर्णवासिने ।। ७७ ।

पीठशक्तेस्ततो न्यासं कुर्यात् साधकयोगिराट् ।
हृत्पद्मस्यापि पूर्वादि केशरेषु च संन्यसेत् ।। ७८ ।

ॐ वामायै नमश्चान्ते ॐ ज्येष्ठायै[4] नमो वदेत् ।
ॐ सर्वभूतदमन्यै[5] नमःशब्दं समुच्चरेत् ।। ७९ ।

एता विन्यस्य देवेश मध्ये विन्यासमाचरेत् ।
हृत्पद्मस्य कर्णिकायां कृत्वा भावनमाचरेत् ।। ८० ।

ॐ मनोन्मन्यै नमश्च तदुपरि ततो वदेत् ।
ॐ नमो भगवतेऽन्ते च सकलपदमुच्चरेत् ।
गुणाय[6] शक्तियुक्ताय अनन्ताय पदन्ततः ।। ८१ ।

[7]कहोडमुनिपुत्रश्च ऋषिरस्य प्रकीर्तितः ।
महेश्वरमुखाज्ज्ञात्वा यः साक्षात्तपसा मनुम् ।। ८२ ।

---

१. आम्–क०; २. आम्–क०; ३. पं० नास्ति–ग०; ४. नमः शब्दं पुनर्वदेदिति–ग० ।

५. ॐ रौद्रायै नमश्चान्ते ॐ काल्यै च नमो वदेत्–क० ।
ॐ कलविकरिण्यै नमःशब्दं ततो वदेत् ।
ॐ बलप्रमथन्यै नमो व भोऽन्ते च पुनर्वदेत्–क० अधि० ।

६. गुणार्थं–क० । शक्तियुक्ताय अनन्ताय गुणाय इत्यादिरूपेणान्वयः करणीयः ।
गुणपदमत्र आद्यजन्ततया गुणिपरतया बोध्यम् ।

७. योगपीठात्मने चान्ते नमःशब्दं समुच्चरेत् ।
ततः कुर्यान्महादेव ऋष्यादिन्यासमेव च ।
रुद्रशक्त्या ऋषेर्विष्णुस्तथा मृत्युञ्जयस्य च ।।

संसाधयति शुद्धात्मा स तस्य ऋषिरीरितः ।
गुरुत्वान्मस्तके चास्य न्यासस्तु[1] परिकीर्त्तितः ।। ८३ ।

सर्वेषां [2]मन्त्रतत्त्वानां छादनाद् छन्द उच्यते ।
अक्षरत्त्वात्पदत्त्वाच्च मुखे च्छन्दः समीरितम् ।। ८४ ।

सर्वेषामेव जन्तूनां प्रेषणात्प्रेरणात्तथा[3] ।
हृदयाम्भोजमध्यस्था देवता [4]तत्र तां न्यसेत् ।। ८५ ।

ऋषिच्छन्दोऽपरिज्ञानान्न मन्त्रः फलभाग्भवेत् ।
दौर्बल्यं याति यन्त्राणां विनियोगमजानताम् ।। ८६ ।

न्यसेन्मूर्ध्नि ऋषिन्यासं छन्दोन्यासं मुखाम्बुजे ।
देवतान्यासमाकुर्याद् हृदयाम्भोरुहे सुधीः ।। ८७ ।

मूके गुह्ये बीजन्यासं शक्तिन्यासन्तु पादयोः ।
सर्वाङ्गे कीलकन्यासमाचरेत्[5] यत्नतः सुधीः ।। ८८ ।

शिवशक्त्यात्मकन्यासं [6]शिरस्येव समाचरेत् ।
शिरसि प्राणरक्षायै महाविष्णुऋषये नमः ।। ८९ ।

मुखे पंक्तिच्छन्दसे वै नमःशब्दं समुच्चरेत् ।
हृदि महारुद्राय शक्तियुक्ताय संवदेत् ।। ९० ।

देवतायै नमः शब्दं करन्यासं ततश्चरेत् ।
ततोऽङ्गन्यासमाकृत्य ध्यानं कुर्यात् प्रयत्नतः ।। ९१ ।

वह्निना दीर्घबीजेन यन्त्रस्याङ्गक्रियां चरेत् ।
रुद्रध्यानं प्रवक्ष्यामि ध्यानाद् भवति भूपति ।।। ९२ ।

---

१. समस्तः परिकीर्तितः–ग०; २. सर्वेषां मन्त्रतत्त्वानां छादनाद् वृन्द उच्यते–ग० ।

३. भाषणात्प्रबलात्तथा–ग० । ४. देवतातत्त्वतां न्यसेदिति–ग० ।

५. कीलकन्यासं शिवन्यासं समाचरेत्–क० ।

६. शिवषोढा समाचरेत्–क० । —शिवश्च शक्तिश्च आत्मा यस्य, तादृशं न्यासं शिरस्येव समाचरेत् ।

रौद्रं रौद्रात्मकं तं प्रकृतिपुरुषं गम्भीरगीताभिधानं
शूलं खड्गं दधानं वरमभयकरं पद्ममेकं प्रचण्डम् ।
सञ्चारं रश्मिजालं शशिशतकिरणं कामधेनुस्वरूपं
ध्यायेद्रौद्रीं स्वशक्ति[1]प्रलयमयतनुं सूर्यकोटिप्रकाशम् ॥ ९३ ।

एवं ध्यात्वा [2]सुमनसैश्च सम्पूज्यार्घ्यविधिञ्चरेत् ।
कृत्वार्घ्यं रुद्रमन्त्रेण पीठपूजां समाचरेत् ॥ ९४ ।

वामा ज्येष्ठा तथा रौद्री काली[3]कालपदादिका ।
[4]विकरण्याक्षरा प्रोक्ता बलादिविकरण्यथ ॥ ९५ ।

बलप्रमथनी पश्चात् सर्वभूतदमन्यथ ।
[5]मनोन्मनीति सम्प्रोक्ताः शिवस्य पीठशक्तयः ॥ ९६ ।

[6]पूजयेद् गन्धपुष्पाद्यैः पीठशक्तीः क्रमेण तु ।
प्रणवादि नमोऽन्तेन पूजा कार्या विधानतः ॥ ९७ ।

पुनर्ध्यात्वा च पाद्यार्घ्यैरावाह्य परिपूजयेत् ।
पाद्यमर्घ्यमाचमनीयं स्नानीयं पुनराचमनम् ॥ ९८ ।

[7]गन्धपुष्पबिल्वदलैः पूर्वावरणमर्चयेत् ।
[8]वं हृदयाय नम इत्यादिषडङ्गपूजनम्[9] ॥ ९९ ।

मध्ये चतुर्दिक्षु चैवं शेषे वारद्वयं [10]वदेत् ।
इन्द्रादीन् लोकपालांश्च पूजयित्वा ततोऽर्चयेत् ॥ १०० ।

वज्रादींश्च महाकालधूपदीपैर्निवेदयेत् ।
नैवेद्यं [11]बहु कृत्वा पानार्थं जलदानकम् ॥ १०१ ।

शरीरशोधनं कृत्वा प्राणायामं ततश्चरेत् ।
जपेत् शतत्रयं मन्त्री विशुद्धः शुद्धचेतसा ॥ १०२ ।

---

१. प्रणय–ग०; २. मानसैश्चेति–ग०; ३. कलपदादिका–ग० ।
४. विकरण्यान्तया प्रोक्ताबलादिविकरण्यथा–क०; ५. मन्मयीति स''''''''क० ।
६. पूजयेन्नन्दपुष्टाद्यैरिति–ख० । पूजयेन्नन्दपुष्पाद्यैरिति–ग० ।
७. गन्धश्च त्रपुष्पं च बिल्वदलानि चेति द्वन्द्वः; ८. वां–क०; ९. पूजम्बरेदिति–क० ।
१०. भवेदिति–क० । ११. वन्दनमिति–ग० ।

अष्टोत्तरं योजयित्वा गजान्तकसहस्रकम् ।
अथवाष्टोत्तरशतं जप्त्वा समर्पणं चरेत् ॥ १०३ ।

प्राणायामत्रयं [1]कुर्यान्निजमन्त्रप्रसिद्धये ।
ततः प्रणाममाकुर्यात् शक्तिचैतन्यहेतुना ॥ १०४ ।

नमो रुद्राय देवाय कोटिसूर्येन्दुमूर्त्तये ।
सर्वाय ज्ञानदानाय नमस्ते शूलधारिणे ॥ १०५ ।

नमस्ते कालरुद्राय कालाय वेदरूपिणे ।
[2]वेदमार्गप्रदर्शाय शत्रुसंक्षयकारिणे ॥ १०६ ।

[3]रौद्राय शक्तियुक्ताय शङ्कराय नमो नमः ।
चतुर्भुजाय वेदाय महाकाशस्वरूपिणे ॥ १०७ ।

वरपद्मशूलखड्गधारिणे [4]ब्रह्मणे नमः········ ।
रुद्रशक्त्यर्चनं कृत्वा महारुद्रेण संयुतम् ॥ १०८ ।

मणिपूरे दृढो[5] याति सत्यं सत्यं कुलेश्वर ।
शक्त्यर्च्चनविधिं वक्ष्ये मूलमन्त्रेण पूजनम् ॥ १०९ ।

सर्वत्र कारयेन्मन्त्री अष्टैश्वर्यजयाय च ।
आदौ ऋषिन्यासकार्यं वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ॥ ११० ।

शिरसीहरुद्रशक्तिर्महाविष्णुपदन्ततः ।
ऋषये नम उच्चार्य मुखे हस्तं नियोजयेत् ॥ १११ ।

पंक्तिछन्दसे नमश्च हृदि हस्तं नियोजयेत् ।
महारुद्राणीति पदं लाकिनीपदमेव च ॥ ११२ ।

त्रिशक्त्यन्ते महाविद्या देवतायै नमस्ततः ।
गुह्ये ॐ पदमुच्चार्य निजबीजाय ते नमः ॥ ११३ ।

सर्वाङ्गे सकलायैव वज्राय कीलकाय च ।
नमः पदं समुच्चार्य ऋष्यादिन्यासमेव च ॥ ११४ ।

---

१. प्रवृद्धये–क॰; २. प्रज्ञानायेति–ग॰ ।
वेदैरुक्तो मार्गः, वेदमार्गः, तस्य प्रदर्शाय (दर्शकाय) इति षष्ठीतत्पुरुषसमासः ।
३. विद्रायेति–ग॰; ४. धारिणेयनमोनमः–ग॰; ५. दृढा–क॰ ।

रुद्रवत्सकलं कार्यं कराङ्गन्यासकर्मणि ।
[1]आदावृष्यादिकन्यासः करशुद्धिस्ततः परम् ॥ ११५ ।
अङ्गुलिव्यापकन्यासो हृदादिन्यास एव च ।
रुद्रशक्तिमहाषोढान्यासञ्च तदनन्तरम् ॥ ११६ ।
मन्त्रन्यासं ततः कृत्वा व्यापकन्यासमाचरेत् ।
तालत्रयञ्च दिग्बन्धः प्राणायामस्ततः परम् ॥ ११७ ।
ध्यानं कुर्याद्विशेषेण रुद्रशक्त्या महाप्रभो ॥ ११८ ।
रुद्राणीं रुद्रकान्तां नवरसजडितां कुंकुमाशक्तगात्रां[2]
लोकेशीं षड्भुजान्तां [3]त्रिभुवनयजितां कोटिसौदामिनीभाम् ।
पद्मस्थां पद्महस्तां वरभयकरां खड्गशक्तिं दधानां
ध्यायेद् रौद्रीं [4]त्रिनेत्रां शवदमनशशिश्रेणिभूषामलाङ्गीम्[5]॥११९।
रुद्रवत् पूजनं कार्यं रुद्रशक्त्याश्च[6] शंकर ।
दशोपचारैः पूजा वा तथा पञ्चोपचारकैः ॥ १२० ।
अष्टादशोपचारैर्वा षोडशाद्युपचारकैः ।
अलाभे तु प्रकर्त्तव्यं मानसेन निवेदयेत् ॥ १२१ ।
सर्वत्र मानसं कार्यं कोटि कोटिगुणं भवेत् ।
पूजां समाप्य विधिना जलं दत्त्वा जपादिके ॥ १२२ ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा जप्त्वाष्टोत्तरकं शतम् ।
सहस्रं वा मुहुर्जप्त्वा अष्टोत्तरसमन्वितम् ॥ १२३ ।
जपं समर्पयेद्विद्वान् गुह्यातिगुह्यमन्त्रकैः ।
प्राणायामत्रयं पश्चात् कुर्यात् साधकसत्तमः ॥ १२४ ।
वन्दनं भक्तियुक्तेन कुर्याद् योगादिसिद्धये ।
महारौद्र नमस्तेऽस्तु लाकिन्यै ते नमो नमः ॥ १२५ ।

---

१. आदावङ्गादिन्यासः—ग०; २. कुङ्कुमेनासक्तं गात्रं यस्याः सा ।
३. महितामिति—ख०; ४. शरदमल—क० ।
५. अनङ्गामिति—क० । शवानां दमनी, शशिनां श्रेणयो भूषा यस्याः सा, अमलानि अङ्गानि यस्याः सा । त्रयाणां कर्मधारयद्वयम् । ६. रुद्रशक्त्या चेति—ख० ।

शान्त्यै तुष्ट्यै नमो नित्यं दुर्गायै[1] ते नमो नमः ।
रुद्रशक्त्यै नमो नित्यं मणिपूरनिवासिनी ॥ १२६ ।

अष्टसिद्धि योगसिद्धि [2]देहि तुभ्यं नमो नमः ।
सर्वग्रन्थिच्छेदिकायै परब्रह्मस्वरूपिणी[3] ॥ १२७ ।

मां रक्ष पालय त्वं हि मणिपूरे नमो नमः ।
प्रणम्य विधिनानेन पूजासमापनञ्चरेत् ॥ १२८ ।

पुनस्तत्र पूजयेद् वै प्रासादाख्यं महाप्रभुम् ।
तथा [4]मृत्युञ्जयं देवं मणिपूरे प्रपूजयेत् ॥ १२९ ।

प्राणायामादिकं कृत्वा श्रीकण्ठन्यासमाचरेत् ।
[5]पूर्णोदर्यादिसहितं कृत्वा पीठं न्यसेत्सुधीः ॥ १३० ।

पीठमनुं प्रविन्यस्य ऋष्यादिन्यासमाचरेत् ।
ऋषिरस्य [6]वासुदेवः पङ्क्तिश्छन्द उदाहृतम् ॥ १३१ ।

सदाशिवो देवता च अङ्गुलिन्यासमाचरेत् ।
ह्रामङ्गुष्ठाभ्यां नमः पश्चात् ह्रींतर्जनीभ्यां[7]ततः परम् ॥
खां नमः पदमन्ते च षड्दीर्घभाजयान्वितम् ॥ १३२ ।

एवं करन्यासमाकार्यं विधानेन समाचरेत् ।
शूद्रस्तु एतत्पर्यन्तं कार्यं होमादिकं च यत् ॥ १३३ ।

न कुर्यात् पार्वतीनाथ तथा [8]स्त्रीलोक इत्यपि ।
यदि ज्ञानी भवेद्देव स देवो न तु मानुषः ॥ १३४ ।

चाण्डालादीनि वा जातौ [9]स्थितो ब्राह्मणोत्तमः ।
ज्ञानवान् [10]वादसंवादे वर्जितो न्यासमाचरेत् ॥ १३५ ।

न्यासस्तन्मयता बुद्धिः सोऽहंभावेन पूजयेत् ।
स एव ज्ञानी परमो वेदशास्त्रविशारदः ॥ १३६ ।

---

१. श्रद्धायै इति–ख०; २. तस्यै इति–ख० ।
३. परं च तद् ब्रह्म चेति परब्रह्म तस्य स्वरूपम्, तदस्ति यस्यां सा ।
४. मृत्युं जयति, इति पूर्वपदस्य मुमागमः ।
५. पूर्णादिव्यादिसहितमिति–ख०; ६. वामदेव–ख०; ७. तर्जनीपदं ततः–ख० ।
८. तथास्त्रिलोक इत्यपि–ख०; ९. स्थिरो वेति–ख०; १०. रायसंवाद–ग० ।

न्यासपूजादिकं तस्य सर्वदा नात्र संशयः ।
यावद्देहे ह्यहंबुद्धिस्तावन्मरणधारकः[1] ॥ १३७ ।

तद्वर्जितो [2]मृत्युजेता न्यासपूजादिकं कृतः ।
षड्दीर्घभाजा बीजेन [3]हकारेण सबिन्दुना ॥ १३८ ।

[4]करयोरंगुलिद्वन्द्वं विन्यसेत् संक्रमेण तु ।
ईशानाद्याः पञ्चमूर्त्तीर्विन्यसेत् साधकोत्तमः ॥ १३९ ।

ततः कुर्यान्महादेव ऊर्द्ध्वः प्राग्दक्षिणोत्तरे ।
मुखेषु विन्यसेन्मन्त्री चांगुलिभिः परस्परम् ॥ १४० ।

तत्तद्बीजैः प्रयत्नेन तत्तन्मूर्त्तीः प्रविन्यसेत् ।
अंगुष्ठयोः शेषभागे हौँ ईशानाय ॐ नमः ॥ १४१ ।

षड्दीर्घभाजा बीजेन हकारेण सबिन्दुना ।
तत्पुरुषमघोरञ्च वामदेवं ततः परम् ॥ १४२ ।

सद्योजातं क्रमेणैव अंगुली[5] द्वे ततः परम् ।
विन्यसेत्साधकश्रेष्ठो नमोऽन्तं परमेश्वर ॥ १४३ ।

[6]शिरोवदनहृद्गुह्यपादेषु विन्यसेत्सुधीः ।
[7]तत्तदंगुलिभिश्चैव तत्क्रमेण प्रविन्यसेत् ॥ १४४ ।

पञ्चमूर्त्तीर्न्यसेन्नाथ तत्प्रकारं शृणुष्व तत् ।
ईशानादिस्वबीजन्तु प्रकारेण प्रविन्यसेत् ॥ १४५ ।

शूद्रः कुर्यान्न्यासजालमेतत्[8] पर्यन्तमेव हि ।
तत ऊर्ध्वप्राग्दक्षिणपश्चिमोत्तरसंमुखे ॥ १४६ ।

ईशानस्य पञ्चकला ब्रह्म ऋग्[9]वेदसंयुताः ।
पञ्चपादादिका नाथ प्रणवादिनमोऽन्तिकाः ॥ १४७ ।

---

१. धारण—ग० । मरणं धरतीति, मरणधारकः । यावद्देहे अहंबुद्धिस्तावद् जननं मरणं च ।
२. चेता—ग०; ३. हःकारेण—ख०; ४. [illegible] ख०; ५. अङ्गुलिषु परस्परम्—ग० ।
६. शिरसि वदने हृदि गुह्ये पादे इति इतरेतरयोगद्वन्द्वसमासः ।
७. एतत्पद्यार्धं—ख० पुस्तके नास्ति; ८. एतत्पद्मान्तमेवहीति—ख० ।
९. नित्यमृग्वेदसंयुताः—ख० ।

ईशानं सर्वविद्यानां उँ नलिन्यै[1] ततः परम् ।
कलायै नम एवापि सर्वत्रैवं क्रमेण तु ॥ १४८ ।

ईश्वरः सर्वभूतानां [2]तदङ्गं पदकं ततः ।
दयायै कलायै नमश्चापि ब्रह्मादिपदन्ततः ॥ १४९ ।

उं ब्रह्मेष्टदायै चान्ते कलायै नम इत्यपि ।
ततः शिवोऽस्तु[3] मे पदं ॐ सावित्र्यै पदं वदेत् ॥ १५० ।

कलायै नम एवं हि सदाशिवो[4] पदन्ततः ।
ओमन्ते चांशु[5]मालिन्यै कलायै पद इत्यपि ॥ १५१ ।

दिङ्मुखे स न्यसेन्मन्त्री पूर्वादिक्रमयोगतः ।
तत्पुरुषस्य चतस्रः कला न्यसेत् सदा वशी ॥ १५२ ।

ॐ तत्पुरुषायपदं विद्महे तदनन्तरम् ।
ॐ शान्त्यै पदस्यान्ते कलायै नम इत्यपि ॥ १५३ ।

महादेवाय शब्दान्ते धीमहीति ततः पदम् ।
ॐ विद्यायै पदस्यान्ते कलायै नम इत्यपि ॥ १५४ ।

तन्नो रुद्रः पदं पश्चात् ॐ प्रतिष्ठायै पदं लिखेत् ।
[6]श्री दुर्गायै कलायै नमश्चाथ प्रचोदयात् ॥ १५५ ।

ॐ[7] निवृत्यै कलायै च नमः पदं समुच्चरेत् ।
ततोऽष्टस्थानमध्ये तु अघोराष्टकलां न्यसेत् ॥ १५६ ।

[8]हृद्ग्रीवां मध्यगतलं तथा नाभिषु पृष्ठके ।
तथा वक्षसि चाघोरा अष्टौ कला न्यसेत् सुधीः ॥ १५७ ।

---

१. शशिन्यै–ख०; २. ओमङ्गं पदकं ततः–ख० ।
३. ततः शिरोमेष्ष्तु पदं नमोवीर्ये पदं वदेत्–ख० । सवित्रे पदं ततः–क० ।
४. सदाशिवपदं ततः–ख०; ५. चान्तमालिन्यै–ग० ।
६. ॐ कलायै नमः पश्चात् प्रचोदयात् पदं वदेत्–ख०; ७. ॐ निचुत्यै ।
८. अघोरा चासौ अष्ढकला चेति कर्मधारयः, ततो द्वितोया, न्यसनक्रियाकर्मत । अष्टौ कला यस्यां सा ।

[1]अघोरेभ्य उमान्ते वै उमायै पदमुच्चरेत् ।
कलायै नम एवाथ अघोरेभ्यः पदं वदेत् ॥ १५८ ।
ॐ मोह्यायै पदस्यान्ते कलायै नम इत्यपि ।
अघोरपदमुच्चार्यं क्षमायै शब्दमुच्चरेत् ॥ १५९ ।
कलायै [2]नम एवाथ घोरतरेभ्य एव च ।
ॐ निद्रायै पदस्यान्ते कलायै नम इत्यपि ॥ १६० ।
सर्वतः सर्वं ॐ अन्ते व्याधये शब्दमुच्चरेत् ।
कलायै नम एवाथ सर्वेभ्यः पदमुच्चरेत् ॥ १६१ ।
ॐ मृत्यवे पदस्यान्ते कलायै नम इत्यपि ।
नमस्तेऽस्तु पदस्यान्ते ओम् क्षुधायै पदं वदेत् ॥ १६२ ।
कलायै [3]नम एवाथ रुद्ररूपेऽथ एव च ।
ओम् कृष्णायै पदस्यान्ते कलायै नम इत्यपि ॥ १६३ ।
वामदेवस्य देवस्य[4] त्रयोदश कला न्यसेत् ।
एतेषु स्थानपद्मेषु तत्प्रकारं शृणु प्रभो ॥ १६४ ।
गुह्येऽण्ड[5]शेषमध्ये तु उरुयुग्मे ततः पदम् ।
जानुद्वये तथा जंघायुगलेस्फिग्द्वये[6] तथा ॥ १६५ ।
[7]कटयां पार्श्वयुगे चैव क्रमेण भावको न्यसेत् ।
आदौ प्रणवमुच्चार्य ततो मन्त्रं स्मरेत्सुधीः ॥ १६६ ।
[8]सद्योजातं प्रपद्यामि ओम् वृद्ध्यै पदमुच्चरेत् ।
कलायै नम एवाथ सद्योजाताय वै नमः ॥ १६७ ।

---

१. चिह्नितं श्लोकयुग्मं–ख० ।
२. मनस एवाघोरतरेभ्य एव चेति–ख०;　३. मनसा एव रुद्ररूपेभ्य एव चेति–ख० ।
४. देवेश–क०;　५. गुह्योऽण्डकोशमध्ये तु–ख ।
६. स्फीग्द्वय–ख० । जङ्घयोर्युगले, स्फिचोर्द्वयोः षष्ठीतत्पुरुषौ । नितम्बस्याधोभागः स्फिच्-पदेनोच्यते ।
७. कोट्याः–ग० ।
८. चिह्नितं पदत्रयं–ख० पुस्तके नास्ति; किन्तु ॐ वामदेवाय नमः, ॐ वज्रायै ततः परम् । कलायै नम एवाय अष्टाटा नम इत्यपि, इति पाठभेदेन सह अधिकः पाठः ।

[1]ओम् वृद्ध्यै पदकस्यान्ते कलायै नम इत्यपि ।
भवे पदे ततः पश्चाद् ओम् सद्यः पदमुच्चरेत् ।। १६८ ।
कलायै नम एवाथ अभवे ओम् ततः परम् ।
ओम् मेधायै पदस्यान्ते कलायै नम उच्यते ।। १६९ ।
ततो भजस्व मां शब्दं ओम् प्रज्ञायै पदं वदेत् ।
कलायै नम एवाथ भव ओम् शब्दमुच्चरेत् ।। १७० ।
प्रभायै पदमुच्चार्य कलायै नम इत्यपि ।
तद्भवाय नमः पश्चात् ओम् सुधायै नमस्ततः ।। १७१ ।
कलायै नम उच्चार्य न्यसेदष्टौ कलाः प्रभोः[2] ।
[3]ईशानाख्यास्ततो नाथ भक्तः पञ्च ऋचो न्यसेत् ।। १७२ ।
पञ्चांगुलिषु योगेश[4] क्रमशः कामनाशनात् ।
प्रणवं पुर्वमुच्चार्य ततो मन्त्रं स्मरेत्सुधीः ।। १७३ ।
ईशानः सर्वविद्यानां ईश्वरस्तदनन्तरम् ।
उच्चरेत्सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिरित्यपि[5] ।। १७४ ।
ब्रह्मणोऽधिपतिः पश्चात् शिवो मेऽस्तु सदाशिवः ।
प्रणवं पूर्वमुच्चार्य ततस्तत्पुरुषाय च ।। १७५ ।
विद्महे पदतः पश्चात् महादेवाय धीमहि ।
ततो रुद्रः पदस्यान्ते प्रचोदयात्पुनर्वदेत् ।। १७६ ।
प्रणवं पूर्वमुद्धृत्य ततो मन्त्रं स्मरेत् सुधीः ।
अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरशब्दं समुच्चरेत् ।। १७७ ।
घोरतरेभ्य एवान्ते सर्वतः सर्वशब्दकम् ।
सर्वेभ्योऽन्ते नमस्तेस्तु रुद्ररूपेभ्य एव च ।। १७८ ।
ततः प्रणवमुच्चार्य मन्त्रं पश्चात् स्मरेद्बुधः ।
वामदेवाय शब्दान्ते नमो ज्येष्ठायशब्दतः ।। १७९ ।

---

१. ॐ रक्षायै पदस्यान्ते–ख०; २. प्रभा–ग०; ३. ईशानाद्यास्ततो नाथ–क० ।
४. योगेन–ख०; ५. अनेन क्रमेण मन्त्रस्य स्वरूपं संकेतितमस्ति ।

नमो रुद्राय शब्दान्ते नमः शब्दं समुच्चरेत् ।
कालाय नम एवान्ते कालविकरणाय च ॥ १८० ।

नमो बलविकरणाय बलप्रमथनाय च ।
ओम् वामदेवाय नमः ओम् वज्राय ततः परम् ॥ १८१ ।

कलायै नम एवाथ ज्येष्ठाय नम इत्यपि ।
ओम् रक्षायै पदस्यान्ते कलायै नम इत्यपि ॥ १८२ ।

रुद्राय नम ओम् रत्यै कलायै नम इंत्यपि ।
कालाय नम इत्यन्ते पालिन्यै शब्दमुच्चरेत् ॥ १८३ ।

कलायै नम एवाथ कल ओम् शब्दमुच्चरेत् ।
[1]कामायै शब्दमुच्चार्य कलायै नम एव हि ॥ १८४ ।

विकरणाय नमोन्ते प्रणवञ्चोच्चरेद्बुधः ।
संयमिन्यै पदान्ते च कलायै नम इत्यपि ॥ १८५ ।

बल ओम् शब्दमुच्चार्य क्रोधायैपदमुच्चरेत् ।
कलायै नम एवाथ [2]विकलायै नमस्ततः ॥ १८६ ।

ॐ वृद्धयै पदकस्यान्ते कलायै नम इत्यपि ।
बल ॐ शब्दमुच्चार्य स्थिरायै शब्दमुच्चरेत् ॥ १८७ ।

कलायै नम एवाथ प्रमथनाय नमस्ततः ।
ॐ रौद्रपदस्यान्ते कलायै नम इत्यथ ॥ १८८ ।

सर्वभूतदमनाय नम ॐ पदमुच्चरेत् ।
भ्रामिन्यै पदकस्यान्ते कलायै नम इत्यपि ॥ १८९ ।

नम ॐ शब्दमुच्चार्य मोहिन्यै पदकं स्मरेत् ।
कलायै नम एवाथ उन्मनाय नमस्ततः ॥ १९० ।

ॐ जयायै पदस्यान्ते कलायै नम उच्चरेत् ।
ततो न्यासं महाकाल सद्योजातस्य ताः कलाः ॥ १९१ ।

---

१. मायायै–ख० ।

२. विकरणाय–ख० । कस्मिन् पदे उच्चारिते किं पदमुच्चारणोयमिति व्यवस्था विहिता एषु पद्येषु ।

अष्टौ स्थानेषु चैतेषु सर्वपापनिवृत्तये ।
[1]पार्श्वयोर्हस्तयोश्चैव नासिकायाञ्च मस्तके ॥ १९२ ।

बाहुयुग्मे महावीर मणिपूरविभेदकः ।
तत्प्रकारं प्रवक्ष्येऽहं सावधानोऽवधारय ॥ १९३ ।

बलप्रमथनाय नमोन्ते च सर्वभूतपदं वदेत् ।
दमनाय नमोऽन्ते तु नमः शब्दं समुच्चरेत् ॥ १९४ ।

उन्मनाय नमः पश्चात् पुनः प्रणवमुद्धरेत् ।
सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमः ॥ १९५ ।

भवे भवेनादिभवे भजस्व मां ततः परम् ।
भवोद्भवाय शब्दान्ते नमो मन्त्रं मुदा न्यसेत् ॥ १९६ ।

अङ्गुलीभ्यां समाहृत्य पञ्च ऋचानया प्रभो ।
एवं क्रमेण सन्न्यासं कुर्यादेषु स्थलेषु च ॥ १९७ ।

मूर्ध्निहृद्गुह्यपादेषु न्यसेदेता ऋचो मुदा ।
ततः कुर्यान्महाकाल चाङ्गन्यासान्तरं शुभम् ॥ १९८ ।

तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि सावधानोऽवधारय ।
वाग्भवं पूर्वमुच्चार्य कामबीजं ततः परम् ॥ १९९ ।

वकारं शत्रुसंयुक्तं दक्षकार्णेन्दुसंयुतम् ।
चन्द्रबीजं [2]वामनेत्रथान्तवह्निविधून्नतम् ॥ २०० ।

केवलं चन्द्रबीजन्तु सविसर्गमनुं ततः ।
सर्वज्ञाय पदस्यान्ते हृदयाय नमः पदम् ॥ २०१ ।

[3]अमृते पदमुच्चार्य कामबीजं ततः पदम् ।
तेजोज्वालापदं मालिनेऽन्ते च [4]क्लृप्ताय ब्रह्मणेऽपि वसेत्ततः ॥२०२।

---

१. स्तनयोश्चैवेति–ख० । अस्मिन्नपि पत्रे पूर्ववदेव मन्त्रपूर्तये शब्दानां क्रमिकत्वव्यवस्था विहिताऽस्ति ।

२. खान्त–ख० ।

३. अमृतं पदमुच्चार्य तेजोज्वाला पदं ततः ।
मानिनेऽन्ते च तृप्ताय ब्राह्मणः शिवमेततः ॥ ख० ।

४. तृप्ताय ब्रह्मणो शिरसे ततः–क० ।

स्वाहान्तं तत एवाथ [1]ज्वलितशिखिशब्दकम् ।
शिखायानादिबोधाय शिखायै[2] वषडित्यथ ॥ २०३ ।

वज्रिणे वज्रहस्ताय स्वतन्त्राय पदं वदेत् ।
कवचाय तारशब्दं ततोऽन्यद्बीजमुच्चरेत् ॥ २०४ ।

नाकारं बिन्दुसंयुक्तं वामनेत्रं सबिन्दुकम् ।
[3]पशुशब्दं तारमन्त्रं अनन्तशक्तये पदम् ॥ २०५ ।

अस्त्राय फडिति प्रोच्य एवं विन्यस्य योगिराट् ।
मणिपूरे मनो योज्य [4]ध्यायेच्चैतन्यमुत्तमम् ॥ २०६ ।

ओम् मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजवावर्णैर्मुखैः पञ्चभिः
[5]त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम् ।
शूलं टंककृपाणवज्रदहनान्नागेन्द्रघण्टाङ्कुशान्
पाशं भीतिहरं [6]दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे ॥ २०७ ।

एवं ध्यात्वा मानसोपचारैः सम्पूज्य पूजकः ।
[7]अर्घ्यस्थापनमाकुर्यान्निजमन्त्राभिशोधनम् ॥ २०८ ।

शैवोक्तपीठमन्वन्तां पीठपूजां ततश्चरेत् ।
पुनर्ध्यात्वा समावाह्य चावाहनादिमुद्रया ॥ २०९ ।

पञ्चपुष्पाञ्जलिदानपर्यन्तं परिपूजयेत् ।
पञ्चपुष्पाञ्जलिं दत्त्वा [8]वदनार्चनमाचरेत् ॥ २१० ।

---

१. जनित शिखि–ख०; २. शिवायै षट् इत्यपि–ख० ।
३. शकारं बिन्दुसंयुक्तमवरेददलसमन्वितम् ।
चकारञ्च हकारञ्च दीर्घंप्रणवसंयुतम् ॥
परतो लुप्तशब्दान्ते शक्तये पदमुच्चरेत् ।
नेत्रत्रयाद्य शब्दान्ते वौषट् पदमुदीरयेत् ॥
शकारं शत्रुसंयुक्तं वामनेत्रं सबिन्दुकम् ।
पशुशब्दं तारशब्दं अनन्तशत्रुभेपदम् ॥ ख० अधि० ।
४. ध्यायेच्चैतन्यरूपकमिति ख०; ५. दधानमसिता–ख० ।
६. त्र्यक्ष्यैरिति–ग०; ७. बीजमन्त्राभिशोधकमिति–ख० ।
८. आवरणार्चनमाचरेदिति–ख० । वरुणार्चनमाचरेदिति–ग० ।

[1]शिवावरुणदेवांश्च पूजयेत्तत् क्रमं शृणु ।
ऐशान्यां पूजयेद्विद्वान् ईशानाय नमस्ततः ॥ २११ ।
पूर्वे ॐ तत्पुरुषाय नमः शब्दं समुच्चरेत् ।
दक्षिणे ॐ अघोराय नमः शब्दं समुच्चरेत् ॥ २१२ ।
उत्तरे ॐ वामशब्दं देवाय नम उच्चरेत्[2] ।
पश्चिमे प्रणवं पश्चात् सद्योजाताय एव हि ॥ २१३ ।
नमोऽन्तं पूजनं कृत्वा सर्वसिद्धीश्वरो भवेत् ।
ईशानादिचतुष्केषु [3]निवृत्तीत्यादीन् प्रपूजयेत् ॥ २१४ ।
प्रणवान्ते [4]निवृत्यै स नमश्चान्ते ततोऽर्चयेत् ।
एवं [5]प्रतिष्ठां विद्यां च शान्तिं सम्पूज्य यत्नतः ॥ २१५ ।
प्रणवादिनमोऽन्तेन चतुर्थ्यन्तपदेन च ।
योजयित्वा महापूजाविधौ कुर्यात् [6]समर्पणम् ॥ २१६ ।
दशदलस्य मध्ये तु विभाव्याष्टदलं[7] सुधीः ।
तत्रैव पूजनं कुर्यात् अष्टाङ्गयोगसिद्धये ॥ २१७ ।
प्रणवादिनमोऽन्तेन चतुर्थ्यन्तपदेन च ।
पूजयेद्देवदेवेशं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ॥ २१८ ।
अनन्तेशं पूजयेद्वै तथा [8]सूक्ष्मेशमेव च ।
शिवोत्तमेशं सम्पूज्य एकनेत्रेशमेव च ॥ २१९ ।
एकरुद्रेशमेवं हि त्रिमूर्त्तीशं ततोऽर्चयेत् ।
भक्त्या समर्चयेत्तत्र श्रीकण्ठेशं शिखण्डिनम् ॥ २२० ।
तद्बाह्यपत्रिकाग्रेषु उत्तरादिक्रमेण तु ।
उमाद्या देवताः पूज्याः प्रणवादिनमोऽन्तिकाः ॥ २२१ ।

---

१. शिवावरुणदेवाश्चेति–ग० ।
२. वामशब्दमुच्चार्य देवाय नम इत्युच्चारणीयम्, अर्थात् 'वामदेवाय नमः' इत्यत्र तात्पर्यम् ।
३. निवृत्त्यादीनिति–ख०;
४. निवृत्तौ चेति–ख० ।
५. प्रतिष्ठा विद्या चेति–ख०;
६. समर्चनमिति–ख० ।
७. द्विदलमिति–ख०;
८. शम्भुं त्रिलिङ्गकमिति ख० ।

उमादेवीं समभ्यर्च्य तथा चण्डेश्वरं ततः ।
नन्दिनञ्च महाकालं गणेशं वृषभं तथा ॥ २२२ ।
[1]भृङ्गरीटः स्कन्दपुत्रो तद्बाह्ये क्रमतोऽर्चयेत् ।
इन्द्रादीन् लोकपालाँश्च गन्धदीपैः समर्चयेत् ॥ २२३ ।
वज्रादींश्च क्रमेणैव पूजयेत्साधकोत्तमः ।
धूपदीपादिनैवेद्यपानार्थं [2]पुनराचमनम् ॥ २२४ ।
संहारमुद्रया चोर्ध्वे स्थापयेद्रुद्ररूपिणम् ।
विसर्जनान्तं तत्कर्म [3]उत्सृष्टपूजनादिकम् ॥ २२५ ।
समाप्य विधिनानेन पूजाकर्म समापयेत् ।
प्रत्यहं मानसं जापं होममर्चनतर्पणे ॥ २२६ ।
वर्धयेत् साधकश्रेष्ठो भक्तिभावपरायणः ।
पञ्चलक्षजपेनास्या पुरश्चरणमिष्यते ॥ २२७ ।
एवं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रं पञ्चलक्षं मधुप्लुतैः ।
प्रसूनैः करवीरोत्थैरथवा जुहुयात् सुधीः ॥ २२८ ।
सर्वदा मानसं कार्यं [4]द्रव्यालाभेऽनिशं चरेत् ।
तद्दशांशं [5]प्रजुहुयात्तद्दशांशञ्च तर्पणम् ॥ २२९ ।
*तद्दशांशं चाभिषेकं दशांशं विप्रभोजनम् ।
एवं जपं साधनञ्च पुरा [6]नारायणो मुनिः ॥ २३० ।
कृत्वा [7]सर्वसत्त्वमयः शीतलो योगिराड् [8]भवेत् ।
यः करोति साधनानि सोऽचिरादमरो भवेत् ॥ २३१ ।
[9]पूजान्ते पूजाशेषे च पूजामध्यक्रमेण च ।
प्रणमेत् साधकश्रेष्ठो [10]वरुणात् पापभूपतेः ॥ २३२ ।

---

१. भृङ्गरीटिस्कपुत्रो–ग०; २. पुनराचममिति–ख०; ३. तच्छिष्टपूजनादिकमिति–ख० ।
४. द्रव्यालाभेऽपि संचरेदिति–ख०; ५. चाभिषेकं दशांशं विप्रभोजनमिति–ख० ।
* एषश्लोको–ख० पु० नास्ति; ६. नारायणेन च–ग०; ७. सर्वमन्त्रमय–ख० ।
८. भवेदिति–ग० ।
९. पूजाद्यैश्चैव शेषे च पूजामध्ये क्रमेण तु–ख०; १०. वारणादिति–ख० ।

[1]ॐ नमः परमकल्याण नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्ते पार्वतीनाथ [2]उमाकान्त नमोऽस्तु ते ॥ २३३ ।
विश्वात्मने विचिन्त्याय गुणाय निर्गुणाय च ।
धर्माय ज्ञानमोक्षाय नमस्ते सर्वयोगिने ॥ २३४ ।
नमस्ते कालरूपाय त्रैलोक्यरक्षणाय च ।
[3]गोलोकघातकार्यैव चण्डेशाय नमोऽस्तु ते ॥ २३५ ।
सद्योजाताय देवाय नमस्ते शूलधारिणे ।
कालान्ताय च कान्ताय चैतन्याय नमो नमः ॥ २३६ ।
कुलात्मकाय कौलाय चन्द्रशेखर ते नमः ।
[4]उमानाथ नमस्तुभ्यं योगीन्द्राय नमो नमः ॥ २३७ ।
सर्वाय सर्वपूज्याय ध्यानस्थाय गुणात्मने ।
पार्वतीप्राणनाथाय नमस्ते परमात्मने ॥ २३८ ।
एतत् स्तोत्रं पठित्वा च स्तौति यः परमेश्वरम् ।
याति [5]रुद्रकुलस्थानं मणिपूरं विभिद्यते ॥ २३९ ।
एतत् स्तोत्रप्रपाठेन तुष्टो भवति शंकरः ।
[6]खेचरत्वं पदं नित्यं ददाति परमेश्वरः ॥ २४० ।
ततो वक्ष्ये महादेव मृत्युञ्जयविधानकम् ।
यत् कृत्वा परमब्रह्ममयो भवति साधकः ॥ २४१ ।
मृत्युञ्जयस्य मन्त्रं वै जपते यदि मानुषः ।
कोटिवर्षशतं स्थित्वा लीनो भवति ब्रह्मणि ॥ २४२ ।
सर्वव्यापकरूपेण स तिष्ठति सदाशिव ।
तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि [7]सावधानोऽवधारय ॥ २४३ ।
[8]आदौ पूजां विधानेन वक्ष्यामि सारनिर्मिताम् ।
[9]श्रीकण्ठपूर्णोदर्याश्च न्यासं चास्ये समाचरेत् ॥ २४४ ।

---

१. ओमिति—ख पु० नास्ति; २. उमानाथेति—ख०; ३. त्रैलोक्यघातकार्यैवेति—ख० ।
४. उमाकान्तेति—ख०; ५. रुद्रकुलस्थाने—ग०; ६. खेचरत्वपदमिति—ख० ।
७. सावधानावधारयेति—क०; ८. आदौपूजा विधानं च वक्ष्यामि सारनिर्णीतं—ख० ।
९. पुर्तोदर्याश्चेति—ख० ।

ततो हृदयमध्ये तु स्वहस्ताङ्गुलिमुद्रया[1] ।
[2]तद्वयान्यस्य देवेश तत्प्रकाशं [3]प्रचक्ष्यते ॥ २४५ ।
प्रणवादि नमोऽन्तेन चतुर्थ्यन्तपदेन च ।
योजयित्वा न्यसेन्मन्त्री मन्त्रभावपरायणः ॥ २४६ ।
आधारशक्तिमेवं हि प्रकृतितदनन्तरम् ।
कूर्ममनन्तं तत्पश्चात् पृथिवीं क्षीरसागरम् ॥ २४७ ।
श्वेतद्वीपं ततः पश्चान्मणिमण्डपमेव च ।
[4]कल्पवृक्षे ततो नाथ विन्यसेन्मणिवेदिकाम् ॥ २४८ ।
रत्नसिंहासनं तत्र हृदयाम्भोजमण्डले ।
दक्षवामस्कन्धभागे वामोरौ दक्षिणे तथा ॥ २४९ ।
मुखे वामपार्श्वभागे नाभौ दक्षपार्श्वके ।
प्रणवादिनमोऽन्तेन चतुर्थ्यन्तपदेन च ॥ २५० ।
सर्वत्र न्यासमाकुर्यात्तेषां नाम शृणु प्रभो ।
क्रमेण सर्वं कर्त्तव्यं [5]क्रमभङ्गो न चाचरेत् ॥ २५१ ।
धर्मं ज्ञानञ्च वैराग्यमैश्वर्यं तदनन्तरम् ।
अधर्ममपि चाज्ञानमवैराग्यं ततः परम् ॥ २५२ ।
अनैश्वर्यं क्रमेणापि विन्यसेत् साधकोत्तमः ।
पुनर्वारं हृदम्भोजे न्यसेदेकमनाः सुधीः ॥ २५३ ।
अनन्तपद्ममेवन्तु [6]अं सूर्यमण्डलं तथा ।
[7]द्विषट्कलात्मना सार्धं सं सोममण्डलं तथा ॥ २५४ ।
षोडशकलात्मानञ्च मं वह्निमण्डलं तथा ।
दशकलात्मना सार्धं सं [8]सत्वं तदनन्तरम् ॥ २५५ ।

---

१. हस्ताङ्गुलीसमुद्रया–ख०; २. त स्वयाख्यस्येति–ख; तत्त्वायान्यस्येति–ग० ।
३. प्रचत्रते–ख०; ४. कल्पवृक्षमिति–ग० ।
५. क्रमभङ्गेन चाचरेदिति–ख; ६. तं–ख० ।
७. द्वादशकात्मना सायं सुं सोममण्डल तथेति–ख०; ८. सत्त्व–ग० ।

रं [1]बीजं रजसं तत्र तं तमसमेव च ।
आं [2]आत्मने न्यसेन्मन्त्री अं अन्तरात्मने नमः ॥ २५६ ।
पं बीजं परमात्मानं मायाज्ञानात्मने नमः ।
इत्यन्तं न्यस्य देवेश मन्त्रसिद्धिमवाप्स्यसि ॥ २५७ ।
मणिपूरे मन्त्रसिद्धिं सर्वसिद्धिमवाप्नुयात् ।
यः करोति सदान्यासं ध्यानपूजापरायणः ॥ २५८ ।
[3]वामां ज्येष्ठां तथा रौद्रीं कालीं कलपदादिकाम् ।
विकरण्याह्वया युक्ता बलविकरणीं तथा ॥ २५९ ।
बलप्रमथिनीं चैव न्यसेत् साधकसत्तमः ।
ततः सर्वभूतदमनीं मनोन्मनीं ततो न्यसेत् ॥ २६० ।
तदुपरि न्यसेन्नाथ ॐ नमो भगवते पदम् ।
[4]सकलगुणात्मनः शक्ति चान्ते युक्ताय पदमावदेत् ॥ २६१ ।
अनन्ताय पदस्यान्ते योगपीठात्मने पदम् ।
नमोऽन्तोऽयं महामन्त्रः सर्वोपरि न्यसेत्सुधीः ॥ २६२ ।
ततो नाथ समाकुर्यात् साधको गतभीः स्वयम् ।
ऋष्यादिन्यासमाकुर्यात् तत्प्रकारं शृणु प्रभो ॥ २६३ ।
शिरसि पदमुच्चार्य कहोडऋषये नमः ।
तदुपरि ततो नाथ महाविष्णुपदं वदेत् ॥ २६४ ।
ऋषये नम इत्युक्त्वा मुखे देवीपदं वदेत् ।
गायत्रीच्छन्दसे पश्चान्नमः शब्दं समुच्चरेत् ॥ २६५ ।
हृदि मृत्युञ्जयायैवं देवतायै नमः पदम् ।
ऋषिः कहोडो देव्याश्च गायत्रीच्छन्द ईरितम् ॥ २६६ ।
मृत्युञ्जयो महादेवो देवतास्य [5]प्रकीर्तिता ।
कराङ्गन्यासको कुर्यात् षड्दीर्घभाजया सह ॥ २६७ ।

---

१. राजसमिति–ख०; २. आत्मानमिति–ख० ।
३. वामा ज्येष्ठा तथा रौद्री काली कलपदाविकमिति–ग० ।
४. सकलगुणात्मशक्तिचान्ते भुक्ताय पदमावदेत्–ख०; ५. प्रकीर्तितः–क० ।

सकारेण महाकाल तत्प्रकारं शृणु प्रभो ।
सामङ्गुष्ठाभ्यां चान्ते च नमः शब्दं क्रमेण तु ॥ २६८ ।

एवं कराङ्गुलीन्यासं कुर्यादेव महाप्रभो ।
[1]षड्दीर्घभाजा मन्त्रेण सकारेण सबिन्दुना ॥ २६९ ।

कराङ्गन्यासमाकुर्यात् कुलतन्त्रक्रमेण तु ।
ततो ध्यानं समाकुर्यात् शुभभावपरायणः ॥ २७० ।

इन्द्वर्कानललोचनं स्मितमुखं [2]पद्मद्वयान्तास्पदं
मुद्रापाशमृगाक्षसूत्रविलसत्पाणिं हिमांशुच्छविम् ।
कोटीरेन्दुगलत्सुधाप्लुततनुं हारादिभूषोज्ज्वलं[3]
कान्त्या विश्वविमोहनं पशुपतिं मृत्युञ्जयं भावये ॥ २७१ ।

एवं ध्यात्वा मानसोपचारद्रव्यैः प्रपूजयेत् ।
अर्घ्यस्थापनामाकृत्य तत्तन्मन्त्रेण साधकः ॥ २७२ ।

[4]पूजयेत्पीठमन्वन्ता तत्तन्मन्त्रेण साधकः ।
पुनर्ध्यात्वा समावाह्य मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ॥ २७३ ।

पाद्यादिभिः पूजयेद्वै गन्धपुष्पादिशोभितैः ।
पञ्चपुष्पाञ्जलिं दत्वा परिवारान् प्रपूजयेत् ॥ २७४ ।

केशरेष्वग्निनिरृतिवाय्वीशानेषु पूजयेत् ।
मध्ये दिक्षु च तन्मध्ये सा बीजं तत्र चोच्चरेत् ॥ २७५ ।

हृदयाय नमश्चान्ते सीं बीजं तदनन्तरम् ।
शिरसे स्वाहया सार्धं सु बीजं तदनन्तरम् ॥ २७६ ।

शिखायै वषडित्यादि सैं बीजं तदनन्तरम् ।
कवचाय पदस्यान्ते तारबीजं समुच्चरेत् ॥ २७७ ।

सों बीजं पूर्वमुच्चार्य नेत्रत्रयाय इत्यपि ।
वौषडादिमध्यपदं चतुर्दिक्षु ततः परम् ॥ २७८ ।

---

१. बीजेनेति–ख०; २. पद्मन्वयान्तास्पदं–ग० ।
३. मृषाकुलमिति–ख०; ४. एतत्पद्यत्रयं–ख पुस्तके नास्ति ।

[1]सश्चान्तेऽस्त्रायशब्दान्ते फडित्येव समर्चयेत् ।
षडङ्गानि पूजयित्वा तद्बहिः प्रतिपूजयेत् ।। २७९ ।
इन्द्रादींल्लोकपालांश्च [2]वज्रादींश्च तथा प्रभो ।
धूपदीपादिनैवेद्यपानादीनि प्रदापयेत् ।। २८० ।
विधिना वादनं कुर्यान्मृत्युञ्जयसुतोषणात्[3] ।
विसर्जनान्तं यत्कर्म समाप्य विधिनामुना ।। २८१ ।
संहारमुद्रया [4]चैव हृदये [5]चानयेद्बुधः ।
प्रसन्नहृदयो भूत्वा चरणोदकमापिबेत् ।। २८२ ।
एतन्मात्रेण देवेश सर्वसिद्धि समाप्नुयात् ।
पिबामि चरणद्वन्द्वाम्भोजनिःसृतकं भजे ।। २८३ ।
अमरत्वं सदा देहि मृत्युञ्जय नमोऽस्तु ते ।। २८४ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे मन्त्रप्रकाशो नाम
[6]सप्तचत्वारिंशः पटलः ॥

---

१. मश्चान्ते–क०; २. पूजयेत्तु तथा–ख०; ३. सुभूषणात्–ख ।
४. देवमिति–ख०; ५. चालयेदिति–ख०; ६. अष्टचत्वारिंशदिति–ख० ।

अथाष्टचत्त्वारिंशः पटलः

आनन्दभैरव उवाच—

श्रुतं च साधनं पुण्यं महारुद्रस्य सुन्दरि ।
मणिपूरे प्रकाशञ्च कथितं ज्ञाननिर्णयम् ॥ १ ।

अकस्मात् सिद्धिसम्पत्ति[1] नुतिं वद महाप्रियाम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण पाठेन योगिनीवशम् ॥ २ ।

श्री-आनन्दभैरवी उवाच—

परमानन्ददेवेश योगानामधिप प्रभो ।
स्तोत्रं रुद्रस्य वक्ष्यामि सारात्सारं परात्परम् ॥ ३ ।

यज्ज्ञात्वा योगिनः सर्वे षट्चक्रपरिभेदकाः ।
आकाशगामिनः सर्वे स्वर्गमोक्षाभिलाषुकाः[2] ॥ ४ ।

महादेवसमाः सर्वे देवाश्च स्वर्गभोगिनः[3] ।
सर्वरक्षाकरं स्तोत्रं ये पठन्ति निरन्तरम् ॥ ५ ।

ते यान्ति ब्रह्मसदनं सिद्धमुख्या महीतले ॥ ६ ।

[4]ॐ भजामि शम्भुं सुखमोक्षहेतुं
रुद्रं महाशक्तिसमाकुलाङ्गम् ।
[5]रौद्रात्मकं चारुहिमांशुशेखरं
कालं गणेशं सुमुखाय शङ्करम् ॥ ७ ।

मृत्युञ्जयं जीवनरक्षकं परं
शिवं परब्रह्मशरीरमङ्गलम् ।
हिमांशुकोटिच्छविमादधानं
भजामि पद्मद्वयमध्यसंस्थितम् ॥ ८ ।

---

१. सम्पत्तिः स्यात्त्वं वद महाप्रिये—ख०;
२. अभिनासकाः—ग० ।
३. सर्गभोगिनः—ख०;
४. ओमिति—ख० पु० नास्ति ।
५. रौद्रार्थकं रुद्रहिमांशुशेखरं कालं कुलेशं शिवशङ्करञ्चेति—ख० ।

[1]सर्वात्मकं कामविनाशमूलं
तं चन्द्रचूडं मणिपूरवासिनम् ।
चतुर्भुजं ज्ञानसमुद्रयाढ्यं
पाशं मृगाक्षं गुणसूत्रव्याप्तम् ॥ ९ ॥

धरामयं तेजसमिन्दुकोटिं
वायुं जलेशं [2]गगनात्मकं परम् ।
भजामि रुद्रं कुललाकिनीगतं
सर्वाङ्गयोगं जयदं सुरेश्वरम् ॥ १० ॥

शुक्रं [3]महाभीमनयं पुराणं
प्राणात्मकं व्याधिविनाशमूलम् ।
[4]यज्ञात्मकं कामनिवारणं गुरुं
भजामि विश्वेश्वरशङ्करं शिवम् ॥ ११ ॥

वेदागमानामतिमूलदेशं
तदुद्भवं [5]भद्रहितं [6]परापरम् ।
कालान्तकं [7]ब्रह्मसनातनप्रियं
भजामि शम्भुं [8]गगनादिरूढम् ॥ १२ ॥

शिवागमं शब्दमयं विभाकरं
[9]भास्वत्प्रचण्डानलविग्रहं ग्रहम् ।
ग्रहस्थितं ज्ञानकरं करालं
भजामि शम्भुं प्रकृतीश्वरं हरम् ॥ १३ ॥

छायाकरं योगकरं सुखेन्द्रं
मत्तं महामत्तकुलोत्सवाढ्यम् ।
योगेश्वरं योगकलानिधिं विधिं
विधानवक्तारमहं भजामि ॥ १४ ॥

---

१. सर्वार्थकमिति–ख०; २. गगणात्मकमिति–ख०; ३. लयमिति–ख० ।
४. यज्ञार्थकमिति–ख०; ५. तद्रहितमिति–ख०; ६. परात्परमिति–ख० ।
७. निरूपणमिति–ख०; ८. गगणादिकरूढमिति–ख० ।
९. प्रचण्डामन्तविग्रहं विभुमिति–ख० ।

हेमाचलालङ्कृतशुद्धवेशं
वराभयादाननिदानमूलम् ।
भजामि कान्तं वनमालशोभित
[1]चामूलपद्मामलमालिनं कुलम् ॥ १५ ।
स्वयं [2]पुराणं पुरुषेश्वरं गुरुं
[3]मिथ्याभयाह्लादविभाविनं भजे ।
भावप्रियं प्रेमकलाधरं शिवं
गिरीश्वरं चारुपदारविन्दम् ॥ १६ ।
ध्यानप्रियं ज्ञानगभीरयोगं
भाग्यास्पदं [4]भाग्यसमं सुलक्षणम् ।
शूलायुधं शूलविभूषिताङ्गं
श्रीशङ्करं मोक्षफलक्रियं भजे ॥ १७ ।
नमो नमो रुद्रगणेभ्य एवं
मृत्युञ्जयेभ्यः कुलचञ्चलेभ्यः ।
शक्तिप्रियेभ्यो विजयादिभूतये
शिवाय धन्याय नमो नमस्ते ॥ १८ ।
[5]बाह्यं त्रिशूलं वरसूक्ष्मभावं
विशालनेत्रं तनुमध्यगामिनम् ।
[6]महाविपद्दुःखविनाशबीजं
[7]प्रज्ञादयाकान्तिकरं भजामि ॥ १९ ।
पुरान्तकं पूर्णशरीरिणं गुरुं
स्मरारिमाद्यं निजतर्कमार्गम् ।
अनादिदेवं दिवि दोषघातिनं
भजामि [8]पञ्चाक्षरपुण्यसाधनम् ॥ २० ।

---

१. चाम्लानपद्मासनमानिनं कुलमिति–ख० ।
२. प्रधानमिति–ख०; ३. सुरमिति–ख० गुरुम् ?
४. सिद्धाभवाह्लादिविभाविनमिति–ख०; ५. भाग्यमयमिति–ख० ।
६. भाव्यमिति–ख०; ७. महाविपद्भस्मविलासबीजमिति–ख० ।
८. शुद्धोदयं शान्तिकरमिति–ख० ।

दिगम्बरं [1]पद्ममुखं [2]करस्थं
स्थितिक्रियायोगनियोजनं भवम् ।
भावात्मकं भद्रशरीरिणं शिवं
भजामि पञ्चाननमर्कवर्णम् ॥ २१ ॥

मायामयं पङ्कजदामकोमलं
दिग्व्यापिनं दण्डधरं [3]हरेश्वरम् ।
त्रिपक्षकं [4]त्र्यक्षरबीजभावं
त्रिपद्ममूलं त्रिगुणं भजामि ॥ २२ ॥

विद्याधरं [5]वेदविधानकार्यं
कायागतं नीतनिनादतोषम् ।
नित्यं चतुर्वर्गफलादिमूलं
वेदादिसूत्रं प्रणमामि योगम् ॥ २३ ॥

वेदान्तवेद्यं कुलशास्त्रविज्ञं
क्रियामयं [6]योगस्वधर्मदानम् ।
भक्तेश्वरं भक्तिपरायणं वरं
[7]भक्तं महाबुद्धिकरं भजाम्यहम् ॥ २४ ॥

गतागतं गम्यमगम्यभावं
[8]समुल्लसत्कोटिकलावतंसम् ।
[9]भावात्मकं भावमयं सुखासुखं
भजामि भर्गं प्रथमारुणप्रभम् ॥ २५ ॥

बिन्दुस्वरूपं परिवादवादिनं
मध्याह्नसूर्यायुतसन्निभं नवम् ।
विभूतिदानं [10]निजदानदानं
दानात्मकं तं प्रणमामि देवम् ॥ २६ ॥

---

१. सुखमिति–ख॰; २. करस्थितमिति–ख॰ ।
३. सुरेश्वरमिति–ग॰; ४. अक्षरबीजभावमिति–ख॰ ।
५. देव……ख॰; ६. सुधर्म……ख॰; ७. शक्तिकरमिति–ग॰ ।
८. शरद्विधोः कोटिकलावतंसमिति–ख॰; ९. भावार्थकमिति–ख॰; १०. योग–ख॰ ।

कुम्भापहं शत्रुनिकुम्भघातिनं
दैत्यारिमीशं कुलकामिनीशम् ।
प्रीत्यान्वितं चिन्त्यमचिन्त्यभावं
प्रभाकराह्लादमहं भजामि ॥ २७ ।

त्रिमूर्त्तिमूलाय जयाय शम्भवे हिताय लोकस्य [1]वपुर्धराय ।
नमो [2]भयाच्छिन्नविघातिने पते नमो नमो विश्वशरीरधारिणे ॥ २८ ।

तपःफलाय प्रकृतिग्रहाय [3]गुणात्मने सिद्धिकराय योगिने ।
नमः प्रसिद्धाय [4]दयातुराय वाञ्छाफलोत्साहविवर्धनाय ते[5] ॥ २९ ।

[6]शिवममरमहान्तं पूर्णयोगाश्रयन्तं
धरणिधरकराब्जैर्वर्धमानं[7] त्रिसर्गम् ।
[8]विसममरणघातं [9]मृत्युपूज्यं जनेशं
विधिगणपतिसेव्यं पूजये भावयामि ॥ ३० ।

एतत्स्तोत्रं [10]पठेद्विद्वान् मुनिर्योगपरायणः ।
नित्यं जगन्नाथगुरुं भावयित्वा पुनः पुनः ॥ ३१ ।

मणिपूरे [11]वायुनिष्ठो नित्यं स्तोत्रं पठेद् यदि ।
जीवन्मुक्तश्च देहान्ते परं निर्वाणमाप्नुयात् ॥ ३२ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने रुद्रमृत्युञ्जयस्तवनं नाम [12]अष्टचत्वारिंशत्तमः पटलः ॥

---

१. सुधायुषे मुदा–ख०; २. भवाच्छन्ननिघातिने ते–ख०; ३. गुणार्थिने–ख० ।
४. दयार्घावाय–ख०; ५. ते ख० पु० नास्ति; ६. शिववरहस्तं पुष्पयोगाश्रयन्तमिति–ख० ।
७. रम्यमायामिति; ८. चरण–ख०; ९. मृत्युघातं नरेशमिति–ख० ।
१०. मणियोगपरायणः–ख०; ११. पयोनिष्ठो–ख०; १२. एकोनपञ्चाशदिति–ख० ।

अथैकोनपञ्चाशत्तमः पटलः

आनन्दभैरवी उवाच—

षट्चक्रभेदनार्थाय सर्वसिद्धसुसिद्धये ।
वक्ष्यामि लाकिनीदेवीस्तोत्रं परमदुर्लभम् ।। १ ।

यत्पाठादतिसन्तोषं प्राप्नोति यतिरीश्वर ।
तत्क्रियासारसम्पन्नं स्तवनं लाकिनीप्रियम् ।। २ ।

अस्य श्रीलाकिनीस्तोत्रस्य महाविष्णुकहोड-ऋषि-
र्गायत्रीच्छन्दो महासिद्धिदमृत्युञ्जयमहारुद्र[1]लाकिनी
सरस्वतीदेवता मणिपुरभेदने[2] जपे विनियोगः ।
ओम् [3]बीजाक्षरमूर्तिमार्तिहरिणीमार्यां जयां[4]बुद्धिदां
दीनानामपराधकोटिहननीं संज्ञार्मणि योगिनाम्[5] ।
त्वामाद्यामनुरागिणीं गुणगणामोदैकहेतुस्थलां
स्थित्यन्तःकृतकौतुकीम[6]वरदे वन्दे मुदा लाकिनीम् ।। ३ ।

हेरम्बार्चनसिद्धिदा द्वयगता कोटिप्रभा भास्करा
साकारा किरणोज्ज्वला सुखमयी वेदध्वनिप्राणिनी ।
कोपाको[7]पितलक्षणा तरुतराकल्पाशया संशया
[8]कृत्वैवं वरवर्णिनी समवतु श्रीलाकिनी कङ्किनी ।। ४ ।

केयुरामलहारमालशुभगा वीरासना[9] स्थायिनी
भार्या रुद्रपतेः प्रवालविमला [10]वक्त्रोत्पलस्रग्धरा ।
माता योगवतां सती परा[11]परपदा माध्वीरसाच्छादिता
त्वं मां पाहि कृपामयो यमगतं मृत्युञ्जये श्रीधरे ।। ५ ।

---

१. डाकिनी–ख०;   २. मणिपूरभेदग्रन्थिभेदन–ख०;   ३. मुक्ति–ख० ।
४. हरिणीमार्यां जयां वृद्धिदाम्–ख०;   ५. योगिनीम्–ख० ।
६. शुभकरीम्–ख०;   ७. कोपाकायिका–ख० ।
८. त्वञ्चैकावरवर्णिनी समवतु किङ्किणी श्रीलाकिनी–ख० ।
९. वीरासनस्थायिनी–ख०;   १०. रक्तोपलासुन्दरी–ख०;   ११, परपदाम्–ख० ।

आकाङ्क्षीकुलसङ्ख्यका क्षयकरी [1]शत्रुप्रभादेर्दया
भक्तानामतिदुःखहा शशिमुखो योन्यानना कामुकी ।
कामस्थानम[2]कामदोषशतकं शीघ्रं त्वलक्षेमदा[3]
जीवन्मुक्तिपदं विधेहि समरे सर्गद्रुहस्य प्रियम् ॥ ६ ।

त्वं पञ्चाननपूजिता त्वमशिता त्वं बालविद्यागति-
स्त्वं सत्यं[4] कवितासु वाक्यकविता त्वं केवलानन्ददा ।
त्वं लाक्षारुणरूपिणी[5] त्वमवरा त्वं लिङ्गसंहारिणी
त्वं साक्षादमृतप्रदा त्वमजरा त्वं लाकिनी पातु[6] माम् ॥ ७ ।

नानामङ्गलधर्मराज्यजडिता संस्कारबोधाश्रया
लिङ्गस्थाचलपुत्रिका नवगृहे [7]संकामयन्ती शिवा ।
मे लिङ्गोपरि रुद्रनाथ विपथव्याभेदनं सङ्गमं
शीघ्रं कारय देवि [8]मोक्षतुरिकं कोटीव चन्द्रोज्ज्वला ॥ ८ ।

चन्द्राभासकलाश्रया[9] श्रयति या शब्दच्छटा या समा[10]
माया मोहभिदा[11] दया दयति या कृष्णक्रियामोहिनी ।
लक्ष्मीर्नीलकलेवरामलमणेः पूर्वं[12] सदा रक्षतु
श्रीविद्या भयदायिनी त्वमपि सा मे नाभिमूलोदया ॥ ९ ।

मात्रा [13]मुद्रामननिलया मालिनी मन्त्रविद्या
विश्वेशानी शयनरहिता शीतवातातपस्था ।
सत्यासत्या वचनभवगा[14] गौरि माता त्वमेव
प्राणान् रक्ष प्रथमकिरणामाश्रये त्वामनन्ताम् ॥ १० ।

सिद्धासिद्धा शशिरविकला केवलाम्भोजसंस्था
स्थित्यानन्दा नयनस्वचलाम्भोजमध्यप्रकाशा ।
नित्यं श्रद्धागतिपथकरा[15] कर्त्री कामानहर्त्री
[16]नाद्यस्तोत्रं भज भज भजे त्वामनन्तां स्वरूपे ॥ ११ ।

---

१. शत्रुप्रभानाशिनी–ख॰; २. मम–ख॰; ३. हन–ख॰ ।
४. सत्या मुखसत्यवाम्य कलिता–ख॰; ५. कायिका विषधरा–ख॰; ६. पाहि–ख॰ ।
७. संकाशयन्ती–ख॰; ८. मोदभविकम्–ख॰; ९. चन्द्राभाकरणाश्रयो–ख॰ ।
१०. उमा–ख॰; ११. महोदयो दयति या–ख॰; १२. पूरम्–ख॰: १३. मथन–ख॰ ।
१४. सुभगा–ख॰; १५. दतकामानवद्या–ख॰; १६. नाभ्यम्भोजम्–ख॰ ।

पीतापीता पवनगमना धारणध्यानयोगा
कालाकाला कलिकुलकला निष्कला ज्ञानरूपा[१] ।
कृष्णानन्दा मदनकुहरा केकरा शङ्करी वा[२]
त्वं श्रीधात्री धवलकमलं नाभिमूले प्रवक्ष्ये[३] ॥ १२ ।
श्वेता श्वेतारुणशतकरा भावनाज्ञानसिद्धिः
प्रीताप्रीता परमगहना[४] चारुणामाननाया: ।
[५]त्वं सा विद्या विधिबुधवरा धारणाज्ञानगम्या
रम्यारम्या [६]रमणनिरता नीरदा पातु नाभिम् ॥ १३ ।
[७]मन्दोद्बन्धप्रियवधुलता नीरवानावहन्त्री
क्षेत्राक्षेत्रा परचरगता भुक्तिमुक्तिप्रकाशा ।
कौलाकौलाज्ञापितनयना[८] गञ्जना वातमुग्धा
[९]मुग्धामुग्धामतिधनपतेर्नाभिसंस्थेऽवनाभिम् ॥ १४ ।
हंसी सिंहासनगतपदा चक्रविद्या सुसूक्ष्मा
श्रीविद्या त्वं नवविलचरा सुन्दरी रक्तवर्णा ।
स्वर्णाम्भोजोपरि शुभमना चक्रमध्ये प्रतिष्ठा
[१०]सर्वा वर्णा परिजनदयानाभिपद्मं च रक्षा ॥ १५ ।
ब्रह्मानन्दा नृपगणमहापूजया शोभिताङ्गी
श्रीश्रीविद्यासकलविभवा भावनीया महेन्द्रैः ।
सिद्धस्थाने मणिमयगृहे मूलसिंहासनस्था[११]
पद्मे चाष्टान्वितयुगदले नाभिमूले[१२]ममाव ॥ १६ ।
योगज्ञानं [१३]द्विविधविभवं वेदविद्याप्रकाशं
मे चाष्टाङ्ग[१४] समवतु मुदा षोडशी भैरवस्था ।
चन्द्रोल्का त्वं[१५] भवभयहरा शोकतापापहन्त्री
नाभावब्जे[१६]उदयति सुरो यस्तमीशे प्ररक्ष ॥ १७ ।

---

१. निष्कलाज्ञाकपाला ख०; २. या ख०; ३. प्ररक्ष ख० ।
४. पवनगठना तारणा मारणा या–ख०; ५. हंसा–ख०; ६. वसन–ख० ।
७. सेन्दोगंन्धप्रियविधुनितानीखा वा वाहन्ती–ख०; ८. क्षपितकलुषाज्ञानगम्या चिराय–ख० ।
९. शुद्धाशुद्धा.......नाभिसंस्था व नाभिम्–ख०; १०. सर्वंच्छन्ना.......ज्ञानपदं प्ररक्ष–ख० ।
११. आसनस्थे–ख०; १२. रुद्ररूपात्वमेव–ख०; १३. विविध–ख० ।
१४. चाष्टाङ्गैर्मां प्रणतशिरसं–ख०; १५. चन्द्राङ्गा–ख०; १६. नाभेरब्जे–ख० ।

संशिष्टा[1] त्वं विरत करुणे शीतले शीतशैले
साक्षादन्यप्रचयवचना[2] पार्वणा पर्वपूरा।
विद्युत्पूरं [3]समसुखमयं पाहि पञ्चानना या
त्वं सा देवी शुभमणिगृहे शीतलत्वं[4] विधेहि ॥ १८।
छन्दोगानां सकलविषयच्छेदिनी चार्णमाता
माला लाक्षारुणकिरणगा गोपपूज्या गिरीज्या[5]।
मातस्त्वं मे स्वमणिभवनं पाहि सूक्ष्मा भवानी
[6]वानस्थानाश्रय जय कराचाङ्गिरा चान्नपूर्णा ॥ १९।
चन्दोल्लासाऽवयवसुखदा दीर्घकेशी विशाला
त्वं मातङ्गी जननि [7]जगतां बालिका विप्रचण्डा।
ज्योत्स्नाजाले उदयति सदा रक्तभाषप्रभासा[8]
त्वं मे रुद्र हरिहरतनुं नाभिमूले प्ररक्ष ॥ २०।
वाणीनाम्ना रचयति वचः सुन्दरी वर्णनस्था
स्थित्यन्तस्था चलतनुधरा [9]धामसन्धामरा सा।
बोधानन्दप्रकृतितनुभिर्व्यापिनी ज्ञानमुग्धा
मातस्त्वं मे [10]मणिदलगृहं पाहि सर्वाङ्गविद्ये ॥ २१।
विद्या [11]चण्डामलसितसृजा चन्दनालिप्तदेहा
विश्वेशानि भगवति शिवे त्वं [12]क्षयामोघरूपा।
[13]जाया शम्भोर्जटिलशिवगता मोक्षदा मानसंस्था
चित्तं शुभ्रं कुरु विषयछेदनं [14]छेदिनि त्वम् ॥ २२।
मणिमयकुलगेहे कोटिविद्युत्प्रकाशेऽ-[15]
भयवरमपि देहि क्रोधविद्ये मयि त्वम्।
सकलसुखविभोगं पालय प्राणरूपं
चरणतलविलग्नं मामनाथं परेशि ॥ २३।

---

१. सुश्लिष्टा त्वं विभव-ख०; २. अर्थप्रचय-ख०; ३. मम-ख०।
४. शीलता-ख०; ५. पूज्यादिविद्या-ख०; ६. बालस्थानाप्रचुरप्रखरा-ख०।
७. गजमुनिमतां मालिका-ख०; ८. भाषाप्रकाशा-ख०।
९. फुल्लमन्दारवासा-ख०; १०. मणिकुलगृहं-ख०; ११. वेद्यावर्णामनसिजरुजा-ख०।
१२. क्षपाघोररूपा-ख०; १३. जये-ख०, —प्रकुरु-ख०; १४. छेदनाच्छेदिनी त्वम्-ख०।
१५. प्रकाशा-ख०।

भुवनगहनहेतोः[1] कायसर्गा विनास्ते
विधिमखसुरनाथं मानुषादि त्रिसर्गम्[2] ।
मम मणिकुलपद्मे नित्यरूपाभिधानं
जयति खलु [3]तदानीं स्तोत्रसारप्रकारम् ॥ २४ ।

भवतु[4] चरणपद्मे लाकिनी देवकन्ये
[5]विरचय मनुशास्त्रं सिद्धमन्त्रप्रकारम् ।
[6]वह वह भवभावं त्राहि मां चन्द्रगेहे
कठिनहृदयनाशं शङ्करि त्वं[7] कुरुष्व ॥ २५ ।

कमलवनसमीपे [8]वन्यमध्येऽतिगुह्ये
विषयविषयिनाशं कौलिके त्वं विकृत्य ।
[9]भवनिजमणिपीठे स्थापयित्वा निदानं
हर हरदयिते त्वं दोषषट्कं विवादम् ॥ २६ ।

घोरे सान्द्रान्धकारे[10]मम निजकुलदृग्दानकर्त्रि प्रसन्ने
वाञ्छाकल्पद्रुमस्था त्वमिह कुशलदा[11]दायभागाविभागा ।
त्वं काली[12]नन्दिनीस्था नयकरुणघटा मध्यगा माधका त्वं
भीमा भीत्यापहन्त्री हरपदनयनो[13]लाकिनी नाभिमाव ॥ २७ ।

एतत्स्तोत्रं पठेद् विद्वान् योगज्ञानी निराश्रयः ।
महासुखगतो[14] वीरो विभवायामृताय च ॥ २८ ।

भोगमोक्षौ करे तस्य चैहिके योगिराड् भवेत् ।
परे याति महादेवो पादपद्मे न संशयः ॥ २९ ।

---

१. गठनहेतो कायशङ्का विनाशात्–ख० ।
२. मानुषादित्यसर्गम्–ख०; ३. तदा मे–ख० ।
४. तव तु–ख०; ५. विरचय–ख०; ६. भुवननिखिलतापात्–ख० ।
७. शङ्करि–ख०; ८. अरण्य–ख०; ९. हर–ख० ।
१०. अखिलनिजकुलमुद्धारकर्त्रीप्रसन्ने–ख०; ११. भागातिभागा–ख० ।
१२. लाङ्गलीस्थालयकर्णघटामध्यगामातृका त्वम्–ख०; १३. विलयालाकिनी नाभिसार–ख० ।
१४. पुण्यगतो धोरो विभवेनामृतेन च–ख० ।

ऐहिके चिरजीवित्वं ददाति कामदायिनी ।
मणिपुरे स्थितो याति[1] कुलमार्गप्रसादतः ॥ ३० ॥

कुलमार्गेण यत्स्थानं लयं विश्वेश्वरीपदम् ।
[2]तल्लया मणिपूरस्था देवता पश्यति ध्रुवम् ॥ ३१ ॥

पूजान्ते प्रपठेत् स्तोत्रं भक्तिभावपरायणः ।
शीघ्रमेव हि योगी स्यात् कुलमार्गप्रसादतः ॥ ३२ ॥

॥[3]इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे लाकिनीशस्तवनं नाम एकोनपञ्चाशत्तमः पटलः ॥

---

१. स्थिरो–ख०; २. उल्लयान्मणिपूरस्था–ख० ।
३. इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे भैरवीभैरवसंबादे लाकिनीशस्तवनं नाम पञ्चाशत्तमः पटलः ।

अथ पञ्चाशत्तमः पटलः

आनन्दभैरवी उवाच—

नाथ कान्त प्रवक्ष्यामि सिद्धसाधनमुत्तमम् ।
येन साधनमात्रेण नरो योगी भवेद् ध्रुवम् ॥ १ ॥

त्रिवीरं[1] त्रिविधं प्रोक्तमुत्तमाधममध्यमम् ।
तत्रैव त्रिविधं [2]सङ्गमूर्ध्वपातालभूतलम् ॥ २ ॥

[3]सप्त ऊर्ध्वं तथा नाथ सप्त भूतलमेव च ।
सप्त पातालमेवं हि सप्तत्रिसप्तसंख्यकम् ॥ ३ ॥

तन्मध्ये त्रिविधं भावं दिव्यवीरपशुक्रमम् ।
दिवि तिष्ठन्ति देवाश्च वीरास्तिष्ठन्ति भूतले ॥ ४ ॥

पशवः सन्ति पाताले क्रमशः क्रमशः प्रभो ।
सर्वत्र त्रिगुणच्छन्नं[4] सत्त्वरजस्तमादिकम् ॥ ५ ॥

सत्त्वगुणं स्वर्गमध्ये सर्वे [5]विष्णुपरायणाः ।
[6]तदा सर्वे दृढाः स्वर्गे भूतले च रजोगुणम् ॥ ६ ॥

ब्रह्मसेवापराः सर्वे ब्रह्मज्ञानिन एव च ।
पाताले शिवसेवाश्च[7] शिवरूपिण एव च ॥ ७ ॥

तमोगुणात् पशोर्भावं तमोदृष्टिं समाप्य च ।
ततो विहाय तज्ज्ञानं वीरो भवति साधकः ॥ ८ ॥

वीरभावे ज्ञानदृष्टिं ब्रह्मसिद्धिं समाप्य च ।
देवता भवति क्षिप्रं सत्त्वे निर्मलभावके ॥ ९ ॥

---

१. शरीरम्–ख०; २. प्रोक्तमुत्तमाधममध्यमम्–ख० ।
३. सप्त ऊर्ध्वमित्यतः पशुक्रममिति यावत् 'ख' पुस्तके नास्ति ।
४. द्विगुणाच्छन्नं–ख०; ५. विष्णुसेवापरायणे–ख० ।
६. सदा–ख०; ७. शिवसेवी च शिवरूपी स एव च–ख० ।

स्थिरो भूत्वा महादेवो भवत्येव क्रमेण तु ।
आकाशगामिनी सिद्धिः क्रमशो भवति ध्रुवम् ॥ १० ।

मूलाधारस्य चाधो वै पातालतलवासिनः ।
तदूर्ध्वे ब्रह्मलोके तु भूतलादिनिवासिनः ॥ ११ ।

तदूर्ध्वे सत्त्वनिलयं स्वाधिष्ठानं हि दैवतम् ।
विधिविद्याप्रकाशश्च वरदेवस्य सम्पदम् ॥ १२ ।

तदूर्ध्वे[1] सर्वरूपञ्च सर्वज्ञानाश्रयं परम् ।
परस्थानं महादेव मणिपुरं मनोहरम् ॥ १३ ।

रुद्रशक्त्यात्मकं चक्रं श्रीविद्याचक्रमण्डलम् ।
लाकिनी परमा माया महारुद्रेण सेविता ॥ १४ ।

मणिपुरप्रकाशाय रुद्रशक्तिर्विभाति च ।
सर्वज्ञानानन्दमयं सर्वसिद्धिप्रकारकम्[2] ॥ १५ ।

महासूक्ष्मशब्दमयं[3] कुण्डलं[4] ज्ञानसाधनम् ।
यस्याः साधनमात्रेण योगी भवति भैरव ॥ १६ ।

प्रकार[5] एव सेवायां महासिद्धीश्वरो भवेत् ।
सर्वे च पशवः सन्ति तलवद् भूतले नराः ॥ १७ ।

तेषां ज्ञानप्रकाशाय वीरभावः प्रकाशितः ।
वीरभावं मुदा[6] प्राप्य क्रमेण देवता भवेत् ॥ १८ ।

यत्काले वीरभावादिसिद्धिं प्राप्नोति मानवः ।
तत्कालनिर्णयं वक्ष्ये वीराद्देवत्वमाप्नुयात् ॥ १९ ।

मासेनाकर्षिणी सिद्धिर्मासेन[7] वाक्पतिर्भवेत् ।
मासत्रयेण संयोगाज्जायते सुरवल्लभः ॥ २० ।

एवं चतुष्टये मासि भवेद् दिक्पालगोचरः ।
पञ्चमे पञ्चबाणः स्यात् षष्ठे रुद्रो न संशयः ॥ २१ ।

---

१. तु–ख०; २. प्रकाशकम्–ख०; ३. शब्दलयम्–ख० ।
४. कुण्डली–ख०; ५. प्रकारत्रय–ख०; ६. सदा–ख०; ७. च–ख० ।

वीरभावं समाश्रित्य सर्वदा योगमाश्रयेत् ।
पशोरधीनं देवेश वीरभावं मनोहरम् ॥ २२ ।
[1]वीराधीनं दिव्यभावं दिव्येन रुद्रतर्पणम् ।
[2]रुद्रदर्शनमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥ २३ ।
जीवन्मुक्तिपदं प्राप्य किन्न सिध्यति भूतले ।
मनोनिवेशमाकृत्य पशुभावाश्रितो नरः ॥ २४ ।
वीरभावं समाश्रित्य चादौ योगं समाश्रयेत् ।
सर्वदा चाभ्यसेद् योगं मन्त्रन्यासपरायणः ॥ २५ ।
[3]योगसिद्धिं ज्ञानसिद्धिं मोक्षसिद्धिं ततः परम् ।
यदि मोक्षमिहेच्छन्ति पशवः शास्त्रमोहिताः ॥ २६ ।
[4]समज्ञानं वीरभावमाश्रित्य योगमाप्नुयात् ।
योगाभ्यासस्य चाद्ये च[5] शरीरं परिशोधयेत् ॥ २७ ।
आदौ पञ्चामराः[6] कार्याः सर्वकार्यनिराश्रयाः ।
केवलं योगमाश्रित्य सदा पञ्चामरा[7] भवेत् ॥ २८ ।
द्विप्रकारं [8]महाकालपञ्चामराभिधानकम् ।
नेती दन्ती तथा धौती [9]नेउली क्षालनं तथा ॥ २९ ।
एकप्रकारमेवं हि कथितं परमेश्वर ।
दन्ती नेती तथा धौति नेउली क्षालनक्रमात् ॥ ३० ।
एवं वा नित्यमाकुर्याद् योगसिद्धिसमृद्धये ।
[10]पञ्चामरासाधनादिकाले कुर्यान्निजक्रियाम् ॥ ३१ ।
ओषधी [11]पञ्चमं ग्राह्यं पञ्चयोगसुसिद्धये ।
बिल्वपत्रं जयापत्रं तुलसीश्यामपत्रकम् ॥ ३२ ।

---

१. वीरो योगो भवेद्ध्रुवम्–ख० ।
२. योगाधीनं दिव्यभावं दिव्येन रुद्रदर्शनम्–ख० पुस्तके अधिकः पाठः ।
३. मन्त्रसिद्धि योगसिद्धिं–ख ।
४. ममज्ञानं वीरभावञ्चाश्रित्य–ख०; ५. वै–ख०; ६. पञ्चासवाः–ख० ।
७. पञ्चासवो–ख०; ८. पञ्चासवा–ख०; ९. कुलनं तथा–ख० ।
१०. पञ्चासवा–ख०; ११. पञ्चकम्–ख० ।

निर्गुण्डीपत्रमेवं तु [1]दूर्वाग्रन्थिरसेन च ।
एषां प्रकृतिनामानि वक्ष्यामि शृणु शङ्कर ॥ ३३ ।
[2]अमरा बिल्वपत्रं तु चामरा विजयादलम् ।
[3]अमरलता ग्रन्थिदूर्वा निर्गुण्डी चामरेश्वरी ॥ ३४ ।
अमरा श्यामतुलसी पञ्चामरास्तरूद्भवाः ।
कथिता योगसिद्धयर्थे तत्प्रमाणं क्रमात् शृणु ॥ ३५ ।
पञ्चतोलकमानं तु विजयापत्रमेव च ।
अन्येषां तोलकं चैकं संशोध्य भक्षणं चरेत् ॥ ३६ ।
एतद्भक्षणमात्रेण पञ्चयोगे जयी भवेत् ।
पुनस्तेषां महाकाल मनुं वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ ३७ ।
सकलं चामरायोगं मन्त्रेणानेन भक्षयेत् ।
तातद्वयं समुद्धृत्य ऋयुगं तदनन्तरम् ॥ ३८ ।
विसर्गबिन्दुसंयुक्तं तत्पश्चादमृतामुखि ।
मरणं [4]मारयद्वन्द्वं योगसिद्धिं ततः परम् ॥ ३९ ।
देहि देहि पदस्यान्ते स्वाहान्तं मन्त्रमुत्तमम् ।
एतन्मन्त्रेण चोत्पाटच मन्त्रयित्वा [5]प्रभक्षयेत् ॥ ४० ।
एतत्काण्डस्य [6]मन्त्रं तु तत्रैव परियोजयेत् ।
निर्गुण्डीमन्त्रराजं तु शृणु वक्ष्यामि भैरव ॥ ४१ ।
कामबीजत्रयं पश्चात् कालीबीजत्रयं तथा ।
सर्वयोगं ततः पश्चात् साधय-द्वयमेव च ॥ ४२ ।
[7]अमृतत्वं मयि शक्तं समर्पयद्वयं ततः ।
स्वाहान्तमनुना चाथ[8] चोत्पाटच भक्षणं चरेत् ॥ ४३ ।
बिल्वपत्रं प्रगृह्णीयात्तन्मन्त्रं शृणु [9]भैरव ।
लज्जाबीजं कामबीजं शक्तिबीजं ततः परम् ॥ ४४ ।

---

१. द्रव्यग्रन्थि–ख०; २. अमरी–ख०; ३. वासवेश्वरी–ख० ।
४. हावयद्वन्द्वं–ख०; ५. प्रवन्दयेत्–ख०; ६. मन्त्राणं–ख० ।
७. अमृतत्वे मयिशब्दं–ख०; ८. नाथ !–ख०; ९. कौलिक–ख० ।

ब्रह्मबीजं ततः पश्चाद् गौरसुन्दरि चावदेत् ।
मां स्थापय महायोगे पालयद्वयमेव च ॥ ४५ ।

शङ्करप्रेमगलिते[1] स्वाहान्तं मन्त्रमुच्चरेत् ।
तुलसीपत्रं संशोध्य चोत्पाटच मनुनाऽमुना ॥ ४६ ।

विष्णुप्रिये महामाये[2] शिवयोगप्रसाधिनि ।
मायाच्छेदं ततः पश्चात् संसारं [3]हारयद्वयम् ॥ ४७।

अमरत्वं देहि देहि स्वाहान्तं प्रणवादिकम् ।
शृणु श्रीविजयापत्रशोधनं हि चतुर्विधम् ॥ ४८ ।

[4]चतुर्वर्णं स्वमन्त्रेण परिशोध्य कुलाकुलम् ।
तत्क्रमं परिवक्ष्यामि सावधानाऽवधारय ॥ ४९ ।

[5]प्रणवं पूर्वमुच्चार्य देवीबीजं ततः परम् ।
स्वाहान्तं मन्त्रमुद्धृत्य संशोध्य भक्षयेत् सुधीः ॥ ५० ।

एकीकृत्य महादेव चैतन्मन्त्रेण मन्त्रयेत् ।
अमृतेऽमृतशब्दान्ते तद्भवे पदं ततः ॥ ५१ ।

श्रीबीजं मन्मथं बीजं लज्जाबीजद्वयं क्रमात् ।
क्रमेण च समुद्धृत्य विजये ज्ञानसुन्दरि ॥ ५२ ।

योगमोक्षप्रदे पश्चात् कायशोधिनि पावनि ।
मम पश्चात् कायसिद्धि देहि देहि ततः परम् ॥ ५३ ।

अमृतवर्षिणि शब्दान्ते अमृतं तदनन्तरम् ।
आकर्षयद्वयं पश्चात् सिद्धि देह्यनलप्रिये[6] ॥ ५४ ।

एतन्मन्त्रेण संशोध्य सावधानेन भक्षयेत् ।
न्यूनाधिकं न कर्तव्यं शनैरभ्यासमाचरेत् ॥ ५५ ।

---

१. गलितः–ख०; २. महाप्रिये–ख०; ३. हावय–ख०; ४. चतुर्वर्णेषु मन्त्रेण–ख० ।
५. एतत्श्लोकद्वयं अमृतवर्षिणिशब्दान्ते इत्यतः प्राक् 'ख'पुस्तके पठ्यते ।
६. देह्यनलप्रिया–ख० ।

यावत् प्रमाणभक्षः स्यात् प्रमाणे चाधिकं न च ।
एतद्भोजनमाकृत्य पय.पानं [1]समाचरेत् ॥ ५६ ।

तत्प्रकारं शृणु प्राणनाथ ईश्वर शङ्कर ।
मरीचबीजं संशोध्य दुग्धशोधनमाचरेत् ॥ ५७ ।

[2]एतत्प्रकारं द्विविधं तत्प्रकारं वदाम्यहम् ।
वाञ्छाकल्पतरोर्मूले गुरुं ध्यात्वा पुनः पुनः ॥ ५८ ।

मानसोपचारद्रव्यैः पूजयित्वा विधानतः ।
मरीचं तोलकार्धं तु शोधयेन्मनुनामुना ॥ ५९ ।

श्रीकृष्णबीजमुद्धृत्य पृथ्वीबीजत्रयं तथा ।
घोरघोरतरे पश्चान्मरीचकुलसुन्दरि ॥ ६० ।

नीला त्वं भव देहे मे शरीरं शोधय द्वयम् ।
द्विठान्तोऽयं मनुः प्रोक्तस्तत्पश्चाद् दुग्धशोधनम् ॥ ६१ ।

आदौ मरीचं भुक्त्वा तु दुग्धपानं [3]महाबलम् ।
चर्वयित्वा मरीचं तु दुग्धपानं महाबलम् ॥ ६२ ।

कृष्णबीजं समुद्धृत्य कामेश्वरीमनुं ततः ।
[4]शिवबीजद्वयं पश्चात् [5]कृष्णगोवसवासिनी ॥ ६३ ।

योगविग्रहमुद्धृत्य मम कामप्रसाधिनि ।
तत्पश्चाद् [6]योगसिद्धीनामीश्वरि क्षेत्रवासिनि[7] ॥ ६४ ।

शरीरं वसमन्ते च चालयद्वयमेव च ।
विघ्नान् वारय युग्मं तु स्वाहान्तोऽयं महामनुः ॥ ६५ ।

द्वादशवारमुच्चार्य चाथवा पञ्चवारकम् ।
वारत्रयं [8]मुदा शोध्य सर्वत्रायं विधिः स्मृतः ॥ ६६ ।

यदि पिबेत् खेचरत्वं तथा दुग्धं द्विपादकम् ।
यदि चेत् केवलं दुग्धं तदा प्रस्थं चतुर्दश ॥ ६७ ।

---

१. समारभेत्–ख०; २. प्रमाणमिति–ख०; ३. महाफलम्–ख०; ४. त्रयम्–ख० ।
५. गोरस–ख०; ६. ईश्वरी–ख०; ७. वासिनी–ख०; ८. मृदा–ख० ।

लघ्वाहारी महाज्ञानी पञ्चमादिविरागवित् ।
मणिपुरे मनोयोगं समाकृत्यामरो भवेत् ।। ६८ ।
चतुर्वर्गः करे तस्य यो मणेः पीठमाश्रयेत् ।

[1]श्रीआनन्दभैरव उवाच—

मणिपुरभेदनार्थं मनोयोगसुसिद्धये ।। ६९ ।
खेचरादिमहायोगसिद्धये सर्वसिद्धये ।
मृत्युञ्जयस्य देवस्य रुद्रशक्त्याश्च दर्शनात् ।। ७० ।
तथा पीठस्थिरार्थाय कालजालवसाय च ।
सहस्रनामबीजानि चाष्टोत्तरशतानि च ।। ७१ ।
मृत्युञ्जयस्य लाकिन्याः स्तोत्रं [2]मकारकूटकम् ।
कथयस्व [3]वरारोहे यदि स्नेहोऽस्ति मां प्रति ।। ७२ ।
ज्ञानदे परमेशानि शरीरं मम रक्षतु ।। ७३ ।

।। इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने [4]सिद्धमन्त्रप्रकरणे भैरवभैरवीसंवादे मणिभेदप्रकाशो नाम पञ्चाशत्तमः पटलः ।।

●

१. आनन्दभैरवो उवाच—ख०; २. परमदुर्लभम्—ख०; ३. वरावोहे-ख० ।
४. सिद्धिमन्त्र ......षट्चक्रप्रकाशे......मणिपूरभेदप्रकाशे एकपञ्चाशत्तमः पटलः—ख० ।

अथैकपञ्चाशत्तमः पटलः

आनन्दभैरवी उवाच—

अथ सम्भेदनार्थाय वक्ष्ये षट्पङ्कजस्य च ।
महारुद्रस्य देवस्य[1] श्रीश्रीमृत्युञ्जयस्य च ॥ १ ।
लाकिनीशक्तिसहितं सहस्रनाममङ्गलम् ।
अष्टोत्तरशतव्याप्तं निगूढं भव[2] सिद्धये ॥ २ ।
धारयित्वा पठित्वा च श्रुत्वा वा नाममङ्गलम् ।
शृणुष्व परमानन्द योगेन्द्र चन्द्रशेखर ॥ ३ ।
तवाह्लादप्रणयनात् सर्वसम्पत्तिप्राप्तये[3] ।
मणियोगसुसिद्ध्यर्थं सावधानाऽवधारय ॥ ४ ।

[4]अष्टोत्तरसहस्रनाममङ्गलस्य कहोडऋषि-
र्गायत्रीच्छन्दो महारुद्रमृत्युञ्जयलाकिनी-
सरस्वतीदेवता सर्वाभीष्टशचीपीठयोगसिद्ध्यर्थे
विनियोगः ॥

ॐ मृत्युञ्जय रुद्रादि लाकिन्यादि सरस्वती ।
मृत्यु[5]जेता महारौद्री महारुद्रसरस्वती ॥ ५ ।
महारौद्रो मृत्युहरो महामणिविभूषिता ।
महादेवो महावक्त्रो महामाया महेश्वरी ॥ ६ ।
महावीरो महाकालो महाचण्डेश्वरी[6] स्नुषा ।
[7]महावातो महाभेदो वीरभद्रा महातुरा ॥ ७ ।

---

१. च–ख०; २. तव–ख०; ३. प्रियाप्तये–ख० ।
४. अस्य अष्टोत्तरशतसहस्रनाममङ्गलस्य महाविष्णुः..................मणिपीठयोनिसिद्ध्यर्थे विनियोगः–ख०; ५. मृत्युतेजो–ख० ।
६. चण्डेश्वरीश्वराः–ख०; ७. महारात्रो महाभद्रो वीरभद्रा महान्तरा–ख० ।

महाचण्डेश्वरो मीनो मणिपूरप्रकाशिका ।
महामत्तो [1]महारात्रो महावीरासनस्थिता ॥ ८ ॥

मायावी मारहन्ता च मातङ्गी मङ्गलेश्वरी ।
मृत्युहारी मुनिश्रेष्ठा मनोहारी मनोयवा ॥ ९ ॥

[2]मण्डलस्थो मनीलाङ्गी मान्या मोहनमौलिनी ।
मत्तवेशो महाबाणो [3]महाबला महालया ॥ १० ॥

मारी हारी महामारी मदिरामत्तगामिनी ।
महामायाश्रयो मौनी [4]महामाया मरुत्प्रिया ॥ ११ ॥

[5]मुद्राशी मदिरापी च मनोयोगा महोदया ।
मांसाशी मीनभक्षश्च मोहिनी मेघवाहना ॥ १२ ॥

मानभङ्गप्रियो मान्या[6] महामान्यो महाबला ।
महाबाणधरो[7] मुख्यो महाविद्या महीयसी ॥ १३ ॥

महाशूलधरोऽनन्तो[8] महाबली महाकुला ।
मलयाद्रिनिवासी च [9]मतिर्मालासनप्रिया ॥ १४ ॥

मायापतिर्महारुद्रो मरुणाहतकारिणी[10] ।
मालाधारी[11]शङ्खमाली मञ्जरी मांसभक्षिणी ॥ १५ ॥

महालक्षणसम्पन्नो महालक्षणलक्षणा ।
महाज्ञानी महावेगी मौषली मुषलप्रिया ॥ १६ ॥

[12]महोख्यो मालिनीनाथो मन्दराद्रिनिवासिनी ।
[13]मौनीनामन्तरस्थश्च मानभङ्गा[14]मनःस्विनी ॥ १७ ॥

महाविद्यापतिर्मध्यो [15]मध्ये पर्वतवासिनी ।
मदिरापो मन्दहरो मदनामदनासना ॥ १८ ॥

---

१. महामत्ता–ख०; २. मण्डलस्थो मलानन्दो–ख०; ३. महाबालो महाबाला–ख० ।
४. महानन्दा–ख०; ५. मुद्रापी–ख०; ६. मान्यो–ख० ।
७. घरामुख्या–ख०; ८. मत्ता महावाणी–ख०; ९. महिमा चानलप्रिया–ख० ।
१०. कामिनी–ख०; ११. शङ्खमालो–ख०; १२. महाक्षो–ख० ।
१३. मुनीनाम्–ख०; १४. मलम्बिनी–ख०; १५. मध्य–ख० ।

मदनस्थो मदक्षेत्रो महाहिमनिवासिनी ।
महान् महात्मा माङ्गल्यो महामङ्गलधारिणी ॥ १९ ।
[1]महाहीनशरीरश्च [2]मनोहरतदुद्भवा ।
मायाशक्तिपतिर्मोहा[3] महामोहनिवासिनी ॥ २० ।
महच्चित्तो निर्मलात्मा [4]महतामशुचिस्थिता ।
मत्तकुञ्जरपृष्ठस्थो मत्तकुञ्जरगामिनी ॥ २१ ।
मकरो मरुतानन्दो माकरी [5]मृगपूजिता ।
[6]मणोपूज्या मनोरूपी मेदमांसविभोजिनी ॥ २२ ।
[7]महाकामो महाधीरो महामहिषमर्दिनी ।
महिषासुरबुद्धिस्थो महिषासुरनाशिनी ॥ २३ ।
महिषस्थो [8]महेशस्थो मधुकैटभनाशिनी ।
मधुनाथश्च मधुपो मधुमांसादिसिद्धिदा ॥ २४ ।
महाभैरवपूज्यश्च महाभैरवपूजिता ।
महाकान्तिप्रियानन्दो महाकान्तिस्थितामरा ॥ २५ ।
मालाकोटिधरो [9]मालो मुण्डमालाविभूषिता ।
मण्डलज्ञाननिरतो मणिमण्डलवासिनी ॥ २६ ।
[10]महाविभूतिक्रोधस्थो मिथ्यादोषसरस्वती ।
मेरुस्थो मेरुनिलयो [11]मैनाकानुजरूपिणि ॥ २७ ।
महाशैलासनो [12]मेरुमोहिनी मेघवाहिनी ।
मञ्जुघोषो मञ्जुनाथो[13]मोहमुद्गरधारिणी ॥ २८ ।
[14]मेढ्रस्थो मणिपीठस्थो मूलरूपा मनोहरा ।
मङ्गलार्थो महायोगी [15]मत्तमेहसमुद्भवा ॥ २९ ।

---

१. मायाहोनशरीरश्च–ख०; २. मनोहरतनूद्भवा–ख०; ३. मोहो–ख० ।
४. महतामायुषि स्थितिः–ख०; ५. मृकु–ख०; ६. मुनिपूज्यो–ख० ।
७. महाकामो–ख०; ८. महिषारिः–ख०; ९. मायो मृत्युमाला–ख० ।
१०. कोध्रस्थामिथ्यादोष–ख०; ११. मैनाकालय–ख०; १२. मेदिनीमेघवाहना–ख० ।
१३. मोहमुग्धवरासिनी–ख०; १४. मेरुस्थो–ख०; १५. मत्तदेह–ख० ।

[1]मतिस्थितो मनोमानो मनोमाता महोन्मनी ।
मन्दबुद्धिहरो मृत्युर्मृत्युहन्त्री मनःप्रिया ॥ ३० ।

महाभक्तो महाशक्तो [2]महाशक्तिर्मदातुरा ।
मणिपुरप्रकाशश्च मणिपुरविभेदिनी ॥ ३१ ।

[3]मकारकूटनिलयो माना मानमनोहरी ।
माक्षरो मातृकावर्णो मातृकाबीजमालिनी ॥ ३२ ।

महातेजा महारश्मिर्मन्युगः[4] स्यान्मधुप्रिया ।
मधुमांससमुत्पन्नो मधुमांसविहारिणी ॥ ३३ ।

मैथुनानन्दनिरतो [5]मैथुनालापमोहिनी ।
मुरारिप्रेमसन्तुष्टो [6]मुरारिकरसेविता ॥ ३४ ।

माल्यचन्दनदिग्धाङ्गो मालिनीमन्त्रजीविका ।
मन्त्रजालस्थितो मन्त्री मन्त्रिणां मन्त्रसिद्धिदा ॥ ३५ ।

मन्त्रचैतन्यकारी च मन्त्रसिद्धिप्रिया सती ।
महातीर्थप्रियो मेषो[7] महासिंहासनस्थिता ॥ ३६ ।

[8]महाक्रोधसुसम्पन्नो महती बुद्धिदायिनी ।
मरणज्ञानरहितो महामरणनाशिनी ॥ ३७ ।

मरणोद्भूतहन्ता च महामुद्रान्विता मुदा ।
महामोदकरो मारो मारस्था मारनाशिनी ॥ ३८ ।

[9]महाहेतुहरो हर्ता महापुरनिवासिनी ।
महाकौलिकपालश्च [10]महादैत्यनिवारिणी ॥ ३९ ।

मार्तण्डकोटिकिरणो मृतिहन्त्री मृतिस्थिता ।
[11]महाशैलोऽमलो मायी महाकालगुणोदया ॥ ४० ।

---

१. मतिस्थाता मनोमादी–ख०; २. मदान्तरा–ख० ।
३. मंकार…… मणिमाला–ख०; ४. महातेजो…… मन्दहास्या–ख० ।
५. मैथुनाह्लादहारिणी–ख०; ६. स्मरारि–ख०; ७. मेचो–ख०; ८ समुत्पन्नो–ख० ।
९. मार्गो–ख०; १०. निवासिनी–ख०; ११. शैलासनो मायी–ख० ।

महाजयो महारुद्रो महारुद्रारुणाकरा ।
[1]मनोवर्णमृजोमाख्यो मुद्रा तरुणरूपिणी ॥ ४१ ।

मुण्डमालाधरो [2]मार्यो मार्यपुष्पमृजामनी ।
मङ्गलप्रेमभावस्था[3] महाविद्युत्प्रभाचला ॥ ४२ ।

[4]मुद्राधारी मतस्थैर्यो मतभेदप्रकारिणी ।
महापुराणवेत्ता च महापौराणिकामृता ॥ ४३ ।

मौनविद्यो [5]महाविद्या महाधननिवासिनी ।
मघवा माघमध्यस्था[6] महासैन्या महोरगा ॥ ४४ ।

महाफणिधरो मात्रा[7] मातृका मन्त्रवासिनी ।
महाविभूतिदानाढ्यो मेरुवाहनवाहना ॥ ४५ ।

महाह्लादो महामित्रो महामैत्रेयपूजिता ।
मार्कण्डेयसिद्धिदाता मार्कण्डेयायुषिस्थिता ॥ ४६ ।

मार्कण्डेयो मुहुः[8] प्रीतो मातृका मण्डलेश्वरी ।
[9]मानसंस्थो मानदाता मनोधारणतत्परा ॥ ४७ ।

मयदानवचित्तस्थो मयदानवचित्रिणी ।
महागुणधरानन्दो [10]महालिङ्गविहारिणी ॥ ४८ ।

महेश्वरस्थितो मूलो मूलविद्याकुलोदया ।
मायापो मोहनोन्मादी[11] महागुरुनिवासिनी ॥ ४९ ।

महाशुक्लाम्बरधरो मलयागुरुधूपिता ।
[12]मधूपिनीमधूल्लासो माध्वीरससमाश्रया ॥ ५० ।

महागुरुर्महादेहो महोत्साहा [13]महोत्पला ।
मध्यपङ्कजसंस्थाता मध्याम्बुजनिवासिनी[14]॥ ५१ ।

---

१. मनोवर्त्ममृजोमाख्यो–ख०; २. माद्या मा च पुष्पमृजामला–ख०; ३. भावस्थो–ख० ।
४. मात्राधारो मतेस्थैर्यो–ख०; ५. महामन्त्रो–ख०; ६. मासस्थो महाशैत्या–ख० ।
७. मायो····– यन्त्रवासिनी–ख०; ८. मृकुप्रीतो–ख०; ९. मानसस्थो–ख० ।
१०. महानिन्दा–ख०; ११. मोहनन्यासी–ख०; १२. मधुपेशो–ख० ।
१३. महोल्वणा–ख०; —'महोत्पला' इति पाठे तु महान्ति उत्पलानि यस्यां सा इति विग्रहे बहुव्रीहिः । 'महोल्वणा' इति पाठे तु महदुल्वणं यस्यां सा इति लौकिके विग्रहे साधुता बोध्या; १४. विनोदिनी–ख० ।

मारीभयहरो मल्लो मल्लग्रहविरोधिनी ।
[1]महामुण्डलयोन्मादी मदघूर्णितलोचना ॥ ५२ ।
[2]महासद्योजातकालो महाकपिलवर्तिनी ।
[3]मेघवाहो महावक्त्रो मनसामणिधारिणी ॥ ५३ ।
मरणाश्रयहन्ता च [4]महागुर्वीगणस्थिता ।
महापद्मस्थितो मन्त्रो[5] मन्त्रविद्यानिधीश्वरी ॥ ५४ ।
मकरासनसंस्थाता[6] महामृत्युविनाशिनी ।
मोहनो मोहिनीनाथो मत्त [7]नर्तनवासिनी ॥ ५५ ।
[8]महाकालकुलोल्लासी महाकामादिनाशिनी ।
मूलपद्मनिवासी च महामूलकुलोदया[9] ॥ ५६ ।
मासाख्यो[10]मासनिलया मङ्गलस्था महागुणा ।
मायाच्छन्नतरो[11] मोनो मीमांसागुणवादिनो ॥ ५७ ।
मीमांसाकारको मायी मार्जारसिद्धिदायिनी ।
मेदिनीवल्लभक्षेमो मेदिनीज्ञानमोदिनी[12]॥ ५८ ।
मौषलीशो [13]मृषार्थस्थो मनःकल्पितकेशरी ।
मनसः श्रीधरो जापो[14]मन्दहाससुशोभिता ॥ ५९ ।
मैनाको मेनकापुत्रो मायाच्छन्ना[15]महाक्रिया ।
महाक्रिया[16]च लोमाण्डो मण्डलासनशोभिता ॥ ६० ।
मायाधारणकर्ता च महाद्वेषविनाशिनी ।
[17]मुक्तकेशी मुक्तदेहो मुक्तिदा मुक्तिमानिनी ॥ ६१ ।

---

१. मण्डलयोन्यादि–ख०; २. महासह्यो मत्तकालो–ख० ।
३. मेषावहो–ख०; ४. महागुरु–ख०; ५. मन्त्री मन्त्रविद्याविधोश्वरी–ख० ।
६. संस्थश्च–ख; ७. मण्डल–ख०; ८. कुलश्रीशो–ख० ।
९. फलोदया–ख०; १०. माननिलयो–ख०; ११. हरो....वासिनी–ख० ।
१२. भेदिनी–ख०; १३. मुषार्थस्थो–ख० ।
१४. मन्दाहहासशोभिता–ख० ।—मन्देन हासेन सुशोभिता, कर्मधारयगर्भस्तृतीयातत्पुरुषः । 'मन्दाहहासशोभिता' इति पाठे तु मन्दमह्नोतीति व्याप्नोतीति मन्दाहः, स चासौ हासश्चेति कर्मधारयः ।
१५. महत्क्रिया–ख०; १६. महाक्रियश्च लोमार्णो–ख०; १७. मुक्ताकाशो मुक्तदेहो–ख० ।

मुक्ताहारधरो मुक्तो मुक्तिमार्गप्रकाशिनी ।
महामुक्ति क्रियाच्छन्नो[1] महोच्चगिरिनन्दिनी ॥ ६२ ।

मूषलाद्यस्त्रहन्ता[2] च महागौरीमनःक्रिया ।
महाधनी महामानी मनोमत्ता[3] मनोलया ॥ ६३ ।

महारणगतः [4]सान्तो महावीणाविनोदिनी ।
महाशत्रुनिहन्ता च महास्त्रजालमालिनी ॥ ६४ ।

[5]शिवो रुद्रो वलीशानी कितवामोदवर्द्धिनी ।
[6]चन्द्रचूडाधरो वेदो मदोन्मत्ता महोज्ज्वला ॥ ६५ ।

विगलत्कोटिचन्द्राभो विधुकोटिसमोदया ।
अग्निज्वालाधरो वीरो ज्वालामालासहस्रधा ॥ ६६ ।

भर्गप्रियकरो धर्मो महाधार्मिकतत्परा ।
धर्मध्वजो धर्मकर्ता धर्मगुप्तिप्रसृत्वरी ॥ ६७ ।

महाविद्रुमपूरस्थो विद्रुमाभायुतप्रभा ।
पुष्पमालाधरो मान्यः शत्रूणां कुलनाशिनी ॥ ६८ ।

[7]कोजागरो विसर्गस्थो बीजमालाविभूषिता ।
[8]बोजचन्द्रो बोजपुरो बीजाभा विघ्ननाशिनी ॥ ६९ ।

[9]विशिष्टो विधिमोक्षस्थो वेदाङ्गपरिपूरिणी ।
किरातिनीपतिः श्रीमान् विज्ञाविज्ञजनप्रिया ॥ ७० ।

[10]वर्धस्थो वर्धसम्पन्नो वर्णमालाविभूषिता ।
महाद्रुमगतः शूरो विलसत्कोटिचन्द्रभा ॥ ७१ ।

---

१. क्रमाच्छन्नो महागिरिनिवासिनी–ख० ।
२. हस्तश्च ········ प्रिया–ख०; ३. मनोन्मत्ता–ख०; ४. मान्तो–ख०;
५. महारुद्रो महाशाल–ख०; ६. चन्द्रचूणाधरो इत्यतो विद्रुमाभायुतप्रभापर्यन्तः पाठ – ख० पुस्तके नास्ति; ७. कोजागरा विसर्गस्था इति–ख० ।—को जागर्ति इति विवरणे कोजागरो विसर्गस्थ इत्यादि बोध्यम् ।
८. बीजचन्द्रा–ख०; ९. विशिष्टा विधिमोक्षस्था–ख० ।
१०. वर्गस्थो वर्गसम्पर्को वर्गमालाविभूषिता–ख० ।

महाकुमारनिलयो महाकामकुमारिका ।
कामजालक्रियानाथो [1]विकला कमलासना ।। ७२ ।

खण्डबुद्धिहरो भावो भवतीति [2]दुरासना ।
असंख्यको रूपसंख्यो नामसंख्यादिपूरणी ।। ७३ ।

[3]सद्मनाद्यमनाः कोषकिङ्किणीजालमालिनी ।
[4]चन्द्रायुतमुखाम्भोजो विभायुतसमानना ।। ७४ ।

कालबुद्धिहरो [5]बालो भगवत्यम्बिकाण्डजा ।
[6]मुण्डहस्तश्चातुराद्यः विवादरहितावृता ।। ७५ ।

पञ्चमाचारकुशलो महापञ्चमलालसा ।
[7]विकारशून्यो दुर्धर्षो द्विपदा मानुषक्रिया ।। ७६ ।

मयदानवकर्मस्थो विधातृकर्मबोधिनो ।
कलिकालक्रियारूढो वायवीघर्घरध्वनिः ।। ७७ ।

सर्वसञ्चारकर्ता च सर्वसञ्चारकर्त्रिका ।
मन्दमन्दगतिप्रेमा मन्दमन्दगतिस्थिता ।। ७८ ।

[8]साट्टहासो विधुकला चाघोराघोरयातना ।
महानरकहर्ता च [9]नरकादिविपाकहा ।। ७९ ।

पञ्चरश्मिसमुद्भूतो [10]नगादिबलघातिनी ।
[11]गरुडासनसंपूज्यो गरुडप्रेमवर्धिनी ।। ८० ।

अश्वत्थवृक्षनिलयो वटवृक्षतलस्थिता ।
[12]चिराङ्गो प्रथमाबुद्धिः प्रपञ्चसारसङ्गतिः ।। ८१ ।

---

१. विफला–ख०; २. भवभीतिदुरापहा–ख० ।
३. कम्बलाद्यासनः–ख० । —कम्बलादि असनं क्षेपणं यस्य । असु क्षेपणे ल्युडन्तः ।
'सद्मनाद्यपना' इति पाठे तु सद्मनादि अमनो यस्येत्यर्थो बोध्यः ।
४. चन्द्रयुक्तमुखाम्भोजो–ख०; ५. कालो–ख०; ६. अण्डस्थको अण्डबाह्यस्थो–ख० ।
७. वूरन्ये–ख०; ८. साट्टहासो विधुकलशः–ख०; ९. विनाशिनी–ख० ।
१०. रणघातिनी–ख०; ११. संयुक्ता–ख०; १२. चित्राङ्ग–ख० ।

स्थितिकर्ता स्थितिच्छाया विम्रदा च्छत्रधारिणी।
दाडिमाभासकुसुमो दाडिमोद्भवपुष्पिका ॥ ८२ ।
[1]द्राढ्यो द्रवीभरतिका रतिकालापवर्धिनी ।
रत्नगर्भो रत्नमाला रत्नेश्वर इवागतिः ॥ ८३ ।
[2]प्रसिद्धः पावनी पुच्छा पुच्छसुस्थः परापरा ।
खेत्ररी खेचरः [3]स्वस्थो महाखड्गधरा जया ॥ ८४ ।
किशोरभावखेलस्थो [4]विखनादिप्रकारिका ।
महाशब्दप्रकाशश्च महाशब्दप्रकाशिका ॥ ८५ ।
चारुहासो विपद्हन्ता शत्रुमित्रगणस्थिता ।
वज्रदण्डधरो व्याघ्रो वियत्खेलनखञ्जना ॥ ८६ ।
गदाधरः [5]शीलधारी शशिकूर्परगाबला ।
वसनासनकारी च वसनावसनप्रिया ॥ ८७ ।
महाविद्याधरो गुप्तो विशिष्टगोपनक्रिया ।
[6]गुप्तगीतागायनस्थो गुप्तशास्त्रगलप्रदा[7] ॥ ८८ ।
योगविद्यापुराणश्च यागविद्या विभाकला ।
एककालो द्विकालश्चात्र[8] कालफलाम्बुजा ॥ ८९ ।
अष्टादशभुजो रौद्रो भुजगा विघ्ननाशिनी ।
विद्यागोपनकारी च विद्यासिद्धिप्रदायिनी ॥ ९० ।
विजयानन्दगो मन्दो महाकालमहेश्वरी ।
[9]भूतिदानरतो मार्गो महद्गीताप्रकाशिनी ॥ ९१ ।
[10]केशाद्यावेशसन्तानो मङ्गलाभा कुलान्तरा ।
द्विभुजो वेदबाहुश्च षड्भुजा कामचारिणी ॥ ९२ ।

---

१. द्राढ्या द्रविणदेशस्था–ख०; २. प्रसिद्धा पावनो····सुस्थ सर्गपराचरा–ख० ।
३. सुस्थो···घराघ्यया–ख०; ४. विखलादि–ख०; ५. शूलधारी–ख०; ६. गुप्तगीतो–ख० ।
७. गुप्तं यच्छास्त्रं तस्य गलमन्तर्देशं मुखं वा प्रदयते रक्षति या सा, "आतश्चोपसर्गे" इति कर्तरि कप्रत्यये साधुत्वम् ।
८. त्रिकालफलाम्बुदा–ख०; ९. भूरि···महागीताप्रकाशिनी–ख०; १०. वेशाद्यावेश–ख० ।

चन्द्रकान्तमाल्यधरो[१] लोकातिलोकरागिणी ।
त्रिभङ्गदेहनिकरो विभाङ्ग[२]स्था विनोदिनी ॥ ९३ ।
त्रिकूटस्थस्त्रिभावस्थस्त्रिशरीरा[३] त्रिकालजा ।
एकवक्त्रो द्विवक्त्रश्च वक्त्रशून्या शिशुप्रिया ॥ ९४ ।
श्रीविद्यामन्त्रजालस्थो विज्ञानी कुशलेश्वरी ।
[४]घटासरगतो गौरा गोरवी गौरिकाचला ॥ ९५ ।
गुरुज्ञानगतो गन्धो गन्धभोग्या गिरिध्वजा ।
[५]छायामण्डलमध्यस्थो विकटा पुष्करानना ॥ ९६ ।
कामाख्यो निरहङ्कारः [६]कामरूपनृपाङ्गजा ।
सुलभो दुर्लभो [७]दुःखी सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपिणी ॥ ९७ ।
[८]बीजजापपशोः क्रूरो विमोहगुणनाशिनी ।
[९]अर्धरो निपुणोल्लाशो विभुरूपा सरस्वती ॥ ९८ ।
[१०]अनन्तघोषनिलयो विहङ्गगणगामिनी ।
अच्युतेशः प्रकाण्डस्थः प्रचण्डफालवाहिनी[११]॥ ९९ ।
अभ्रान्तो भ्रान्तिरहिता[१२]श्रान्तो यान्ति प्रतिष्ठिता।
अव्यर्थो व्यर्थवाक्यस्थो[१३]विशङ्काशङ्कयान्विता ॥ १०० ।
यमुनापतिपः पीनो महाकालवसावहा ।
जम्बुद्वीपेश्वरः पारः [१४]पारावारकृतासनी ॥ १०१ ।
वज्रदण्डधरः शान्तो मिथ्यागतिरतीन्द्रिया ।
अनन्तशयनो [१५]न्यूनः परमाह्लादवर्धिनी ॥ १०२ ।

---

१. अलकातिलकरागिणी–ख०; २. त्रिभङ्गस्था–ख०; ३. त्रितारस्थस्त्र्यशरेणुस्त्रिकालजा–ख० ।
४. घटासवगतो गौगो गोरवी गौरिकाचला–ख०; ५. हारमण्डल–ख० ।
६. कामाकामविकाशजा–ख० । —कामेन स्वेच्छया रूपं यस्य सनृपस्तस्याङ्गाज्जाता इति कामरूपनृपाङ्गजा इति ।
७. दुर्लभाक्षीण–ख० ।
८. श्रीबीजजापको क्रूरो–ख०; ९. अकुलोऽतिकुलोद्वासो–ख०; १०. अनन्ताधारनिलयो–ख० ।
११. फलवासिनी–ख०; १२. भ्रान्तिरहितो भ्रान्तो भ्रान्ति–ख०; १३. बाह्यस्थो–ख० ।
१४. पारापारहुतासनी–ख०; १५. शयनोन्मूलः ।

[1]शिष्टाश्रणिलयो व्याख्यो वसन्तकालसुप्रिया ।
विरजान्दोलितो भिन्नो विशुद्धगुणमण्डिता ॥ १०३ ।
[2]अञ्जनेशः खञ्जनेशः पललासवभक्षिणी[3] ।
अङ्गभाषाकृतिस्नाता[4] सुधारसफलातुरा ॥ १०४ ।
फलबीजधरो दौर्गो द्वारपालनपल्लवा ।
पिप्पलादः[5] कारणश्च विख्यातिरतिवल्लभा ॥ १०५ ।
संहारविग्रहो विप्रो [6]विषण्णा कामरूपिणी ।
अवलापो नापनापो[7] विक्लृप्ता कंसनाशिनी ॥ १०६ ।
हठात्कारेण[8] तो चामो नाचामो विनयक्रिया ।
सर्वः सर्वसुखाच्छन्नो[9] जिताजितगुणोदया ॥ १०७ ।
भास्वत्किरीटो [10]राङ्कारी वरुणेशीतलान्तरा ।
अमूल्यरत्नदानाढ्यो दिवारात्रिस्त्रिखण्डजा ॥ १०८ ।
मारबीजमहामानो[11] हरबीजादिसंस्थिता ।
अनन्तवासुकीशानो लाकिनी काकिनी द्विधा ॥ १०९ ।
कोटिध्वजो बृहद्गर्गश्चामुण्डा रणचण्डिका ।
उमेशो रत्नमालेशी विकुम्भगणपूजितः ॥ ११० ।
निकुम्भपूजितः कृष्णो विष्णुपत्नी सुधात्मिका ।
[12]अल्पकालहरः कुन्तो महाकुन्तास्त्रधारिणी ॥ १११ ।
ब्रह्मास्त्रधारकः क्षिप्तो[13] वनमालाविभूषिता ।
एकाक्षरो द्व्यक्षरश्च षोडशाक्षरसम्भवा ॥ ११२ ।

---

१. सिताभ्रनिलयो ध्येयी; २. आञ्जनेशः खाण्डनेशः–ख० ।
३. पललं च आसवश्चेति पललासवम् 'मांसमद्यम्', तद् भक्षयति तच्छीला, कर्तरि णिनिप्रत्ययः ।
४. कृतस्नानः सुधारस कलान्तरा–ख०; ५. पिप्पलादो वारुणश्च विख्याता–ख० ।
६. विषणा–ख०; ७. लापलापो–ख० ।
८. हठात्कारगती चाभो वाचामो विनयप्रिया–ख०; ९. सर्वकालसुखाच्छन्नो–ख० ।
१०. झङ्कारी करणेशी–ख०; ११. महामानी–ख० ।
१२. कल्पकालहरो कुम्भो महाकुम्भास्त्र–ख०; १३. क्षिप्रो–ख० ।

अतिगम्भीरवातस्थो महागम्भीरवाद्यगा ।
त्रिविधात्मा[1]त्रिदेशात्मा [2]तृतीया त्राणकारिणी ॥ ११३ ।

कियत्कालचलानन्दो[3] विहङ्गगमनासना ।
गीर्वाणो बाणहन्ता[4] च बाणहस्ता विधूच्छला ॥ ११४ ।

बिन्दुधर्मोज्ज्वलोदारो वियज्ज्वलनकारिणी ।
विवासा[5] व्यासपूज्यश्च नवदेशीप्रधानिका ॥ ११५ ।

विलोलवदनो वामो[6] विरोमा मोदकारिणी ।
हिरण्यहारभूषाङ्गः [7]कलिङ्गनन्दिनीशगा ॥ ११६ ।

अनन्यक्षीणवक्षश्च क्षितिक्षोभविनाशिका ।
क्षणक्षेत्रप्रसादाङ्गो [8]वशिष्ठादिऋषीश्वरी ॥ ११७ ।

रेवातीरनिवासी च गङ्गातीरनिवासिनी ।
[9]चाङ्गेशः पुष्करेशश्च व्यासभाषाविशेषिका ॥ ११८ ।

[10]अमलानाथसंज्ञश्च रामेश्वरसुपूजिता ।
रमानाथः प्रभुः प्राप्तिः कीर्तिदुर्गाभिधानिका[11] ॥ ११९ ।

लम्बोदरः प्रेमकालो लम्बोदरकुलप्रिया ।
[12]स्वर्गदेहो ध्यानमानो लोचनायतधारिणी ॥ १२० ।

अव्यर्थवचनप्रख्यो[13] विद्यावागीश्वरप्रिया ।
[14]अब्दमानस्मृतिप्राणः कलिङ्गनगरेश्वरी ॥ १२१ ।

---

१. त्रिदिवेशस्त्रिदशात्मा–ख० ।
२. त्रिदेशात्मा इत्यस्य स्थाने दशात्मा इति पाठो युक्तः । तिस्रो दशा अवस्था भवन्ति येषां ते त्रिदशा देवाः, तेषामात्मा ।
३. बलानन्दो·······मार्गनासना–ख०; ४. बाणहस्तश्च–ख०; ५. विरामव्यासपूज्यश्च–ख० ।
६. व्यासो विरामो–ख०; ७. कलिन्दनन्दिनीनगा–ख०; ८. विशिष्टानामधीश्वरी–ख० ।
९. गङ्गेशः–ख०; १०. आतुरानाथसंज्ञश्च–ख०; ११. कीर्तिश्रद्धाभिधारिणी–ख० ।
१२. अर्धदेहो–ख०; १३. प्राज्ञो तथा–ख०;
१४. ॐ ॐ अब्दमणेस्मृतिप्राणकलिङ्ग–ख० । —अब्दः कालो मानं प्रमाणं यस्य सः, स्मृतिः प्राणो यस्य सः । द्वयोः कर्मधारयः ।

[1]अतिगुह्यतरज्ञानी गुप्तचन्द्रात्मिकाव्यया ।
मणिनागगतो गन्ता वागीशानी बलप्रदा ॥ १२२ ।

कुलासनगतो नाशो [2]विनाशा नाशसुप्रिया ।
विनाशमूलः कूलस्थः संहारकुलकेश्वरी ॥ १२३ ।

त्रिवाक्यगुणविप्रेन्द्रो महदाश्चर्यचित्रिणो ।
आशुतोषगुणाच्छन्नो मदविह्वलमण्डला[3] ॥ १२४ ।

विरूपाक्षी लेलिहश्च महामुद्राप्रकाशिनी ।
अष्टादशाक्षरो रुद्रो मकरन्दसुबिन्दुगा ॥ १२५ ।

छत्रचामरधारी च छत्रदात्री त्रिपौण्ड्रजा[4] ।
इन्द्रात्मको विधाता च धनदा नादकारिणी[5] ॥ १२६ ।

कुण्डलोपरमानन्दो मधुपुष्पसमुद्भवा ।
बिल्ववृक्षस्थितो रुद्रो नयनाम्बुजवासिनी[6] ॥ १२७ ।

हिरण्यगर्भः कौमारो विरूपाक्षा [7]ऋतुप्रिया ।
श्रीवृक्षनिलयश्यामो महाकुलतरूद्भवा ॥ १२८ ।

कुलवृक्षस्थितो विद्वान् हिरण्यरजतप्रिया ।
कुलपः[8] प्राणपः प्राणा पञ्चचूडधराधरा ॥ १२९ ।

उषती वेदिकानाथो [9]नर्मधर्मविवेचिका ।
शीतलाप्तः शीतहीनो मनःस्थैर्यकरी क्षया ॥ १३० ।

कुक्षिस्थः क्षणभङ्गस्थो गिरिपीठनिवासिनी ।
[10]अर्धकायः प्रसन्नात्मा प्रसन्नवनवासिनी ॥ १३१ ।

---

१. ॐॐअतिभोजतरङ्गिणी गुप्तचक्रात्मिकात्मदा–ख०; २. त्रिनाशनाथ–ख० ।
३. सुन्दरी–ख०; ४. त्रिपुण्ड्रजा–ख०; ५. धनदानादि–ख०; ६. रागिणी–ख० ।
७. क्रतुप्रिया–ख०; ८. कुलेशः धरोधरा–ख० ।
९. धर्माधर्मविवेचका–ख० । —नर्म हास्यादि, धर्मो वेदविहितो विधिः, आगमविहितो विधिर्वा, तयोः विवेचिका ।
१०. स्वर्गकायः–ख० ।

प्रतिष्ठेशः[1] प्राणधर्मा ज्योतीरूपा ऋतुप्रिया ।
धर्मध्वजपताकेशो वलाका [2]रसवर्धिनी ॥ १३२ ।

मेरुश्रृङ्गगतो धूर्तो धूर्तमत्ता खलस्पृहा ।
सेवासिद्धिप्रदोऽनन्तोऽनन्तकार्यविभेदिका[3] ॥ १३३ ।

[4]भाविनामस्त्वजानज्ञो विराटपीठवासिनी ।
विच्छेदच्छेदभेदश्च [5]छलन्शास्त्रप्रकाशिका* ॥ १३४ ।

[6]चारुकर्म्या संस्कृतश्च तप्तहाटकरूपिणी ।
परानन्दरसज्ञानी रससन्तानमन्त्रिणी ॥ १३५ ।

प्रतीक्षः सूक्ष्मशब्दश्च प्रसङ्गसङ्गतिप्रिया ।
अमायी सागरोद्भूतो वन्ध्यादोषविवर्जिता ॥ १३६ ।

जितधर्मो [7]ज्वलच्छत्री व्यापिका फलवाहना ।
व्याघ्रचर्माम्बरो योगी महापीना[8] वरप्रदा ॥ १३७ ।

---

१. प्रतिष्ठेशः प्राणधर्मो ज्योतिरूपा भृगुप्रिया—ख० ।
२. शत—ख०; ३. कार्या विभेदिका—ख० ।
४. ब्रह्मबीजं ततः पश्चात्—ख०; ५. छलशास्त्रप्रकाशिका—ख० ।
* अन्येषां तोलकं चैकं संशोध्य भक्षणं चरेत् ।
पुनस्तेषां महाकालमनुं वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ १३२ ।
सकलं चामरायोगं मन्त्रेणानेन भक्षयेत् ।
तारद्वयं समुद्धृत्य श्रीयुग्मं तदनन्तरम् ॥ १३३ ।
विसर्गबिन्दुसंयुक्तं तत्पश्चादमृतामुखि ।
मारय हारय द्वन्द्वं योगसिद्धि ततः परम् ॥ १३४ ।
देहि देहि पदस्यान्ते स्वाहान्तं मन्त्रमुत्तमम् ।
एतन्मन्त्रेण चोद्धृत्य मन्त्रयित्वा प्रभक्षयेत् ॥ १३५ ।
एतत्काण्डस्य मन्त्रं तु तत्रैव परियोजयेत् ।
निर्गुण्डो मन्त्रबीजेन्द्रं शृणु वक्ष्यामि भैरव ॥ १३६ ।
कामबीजत्रयं पश्चात् कालीबीजत्रयं तथा ।
सर्वयोगं ततः पश्चात् साधय द्वयमेव च ॥ १३७ ।
अमृतत्वं मयि शब्दं समर्पयद्वयं तथा । —इति ख० पुस्तके अधिकः पाठः ।
६. चारुकान्तालङ्कृतश्च सप्त—ख०; ७. कुलवृतो······भटवाहना—ख० ।
८. महापीठा बलप्रदा—ख० ।

वरदाता सारदाता ज्ञानदा [1]वरवाहिनी ।
चारुकेशधरो [2]मा पो विशाला गुणदाम्बरा ॥ १३८ ।

ताडङ्कमालानिर्माल[3]धरस्ताडङ्कमोहिनी ।
पञ्चालदेशसम्भूतो [4]विशुद्धस्वरवल्लभा ॥ १३९ ।

किरातपूजितो व्याधो मनुचिन्तापरायणा ।
शिववाक्यरतो [5]वामो भृगुरामकुलेश्वरी ॥ १४० ।

स्वयम्भुकुसुमाच्छन्नो विधिविद्याप्रकाशिनी ।
प्रभाकरतनूद्भूतो विशल्यकरणोश्वरी ॥ १४१ ।

उषतीश्वरसम्पर्की योगविज्ञानवासिनी ।
उत्तमो मध्यमो [6]व्याख्यो वाच्यावाच्यवराङ्गना ॥ १४२ ।

आंबीजवादरोषाढचा[7] मन्दरोदरकारिणी ।
[8]कृष्णसिद्धान्तसंस्थानो युद्धसाधनर्चचिका ॥ १४३ ।

[9]मथुरासुन्दरीनाथो मथुरापीठवासिनी ।
पलायनविशून्यश्च प्रकृतिप्रत्ययस्थिता ॥ १४४ ।

प्रकृतिप्राणनिलयो विकृतिज्ञाननाशिनी ।
सर्वशास्त्रविभेदश्च मत्तसिहासनासना ॥ १४५ ।

इतिहासप्रियो धीरो विमलामलरूपिणी ।
मणिसिहासनस्थश्च मणिपूरजयोदया ॥ १४६ ।

भद्रकालीजपानन्दो भद्राभद्रप्रकाशिनी ।
श्रीभद्रो भद्रनाथश्च भयभङ्गविहिंसिनी ॥ १४७ ।

---

१. ज्ञानदानन्दवाहिनी–ख० ।
२. मान्यो·······विशालगुण–ख०; ३. निर्माल्य–ख०; ४. विशुद्धेश्वरवल्लभा–ख० ।
५. रामो–ख०; ६. वाच्यो····वराङ्गना ख०; ७. वोटाट्यो–ख० ।
८. कृष्णसिद्धान्तेषु आगमोक्तसिद्धान्तेयु संस्थानं यस्य स इति विवेकः ।
९. मथुरेत्यतः मणिसिहासनात्प्राक् श्लोकद्वयं 'ख'पुस्तके नास्ति ।

आत्मारामो विधेयात्मा शूलपाणिप्रियान्तरा ।
[1]अतिविद्यादृढाभ्यासो विशेषवित्त[2]दायिनी ॥ १४८ ॥

[3]अजरामरकान्तिश्च कान्तिकोटिधरा शुभा ।
पशुपालः पद्मसंस्थः श्रीशपाशुपतास्त्रदा ॥ १४९ ॥

सर्वशास्त्रधरो दृप्तो ज्ञानिनी ज्ञानवर्धिनी ।
द्वितीयानाथ ईशार्द्धो बादरायणमोहिनी ॥ १५० ॥

[4]शवमांसाशनो भीमो भीमनेत्रा भयानका ।
शिवज्ञानक्रमो दक्षः क्रियायोगपरायणा[5] ॥ १५१ ॥

दानस्थो[6] दानसम्पन्नो दन्तुरा पार्वतीपरा ।
प्रियानन्दो दिवाकर्ता निशानिषादघातिनी[7] ॥ १५२ ॥

अष्टहस्तो विलोलाक्षो मनःस्थापनकारिणी ।
मृदुपुत्रो मृदुच्छत्रो विभाङ्गपुण्यनन्दिनी[8] ॥ १५३ ॥

अन्तरिक्षगतो मूलो [9]मूलपुत्रप्रकाशिनी ।
अभीतिदाननिरतो विधुमालामनोहरी ॥ १५४ ॥

[10]चतुरास्रजाह्नवीशो गिरिकन्या कुतूहली ।
शिशुपालरिपुप्राणो विदेश[11]पदरक्षिणी ॥ १५५ ॥

[12]विलक्षणो विधिज्ञाता मानहन्त्री त्रिविक्रमा ।
त्रिकोणाननयोगीशो निम्ननाभिर्नगेश्वरी ॥ १५६ ॥

---

१. अभिविद्या–ख०; २. विधि–ख० ।
३. अजरेत्यारम्य ज्ञानवर्धिनीपर्यन्तं 'ख'पुस्तके नास्ति ।
४. मृगमांसाशनो–ख०; ५. परायणाः–ख०; ६. कुलस्थो दानसम्मानो–ख० ।
७. निशायां ये निषादाश्चाण्डालास्तान् घातयति तच्छोला । अथवा निशामन्धकारमज्ञानं निषादं चण्डालकर्मं च घातयति तच्छीला ।
८. कुलनन्दिनी–ख०; ९. मनःसूत्रप्रकाशिनी–ख०; १०. चतुरस्रो हृषीकेशो धनि–ख० ।
११. विद्वेषिज्वरदायिनी–ख० ।
१२. विलक्षणो विध्येतरारम्य ज्वरदायिनीपर्यन्तं 'ख'पुस्तके नास्ति ।

नवीनगुणसम्पन्नो नवकन्याकुलाचला ।
त्रिविधेशो विशङ्केतो विज्वरा ज्वरदायिनी ॥ १५७ ।

अतिधार्मिकपुत्रश्च चारुसिंहासनस्थिता ।
[1]स्थापकोत्तमवर्गाणां सतां सिद्धिप्रकाशिनी ॥ १५८ ।

सिद्धप्रियो[2] विशालाक्षो ध्वंसकर्त्री निरञ्जना ।
शक्तीशो विकलेशश्च क्रतुकर्मफलोदया ॥ १५९ ।

विफलेशो वियद्गामी ललिता बुद्धिवाहना ।
मलयाद्रितपःक्षेमः [3]क्षयकर्त्री रजोगुणा ॥ १६० ।

द्विरुण्डको द्वारपालो [4]बलेर्विघ्नविनाशिनी ।
मायापद्मगतो मानो [5]मारीविद्याविनाशिनी[6] ॥ १६१ ।

हिङ्गुलाजस्थितः सिद्धो विदुषां वादसारिणी[7] ।
श्रीपतीशः श्रीकरेशः श्रीविद्या भुवनेश्वरी ॥ १६२ ।

मतिप्रथमजो[8] धन्यो मिथिलानाथपुत्रिका ।
रामचन्द्रप्रियः प्राप्तो रघुनाथकुलेश्वरी ॥ १६३ ।

[9]कूर्मः कूर्मगतो वीरो वसावर्गा गिरीश्वरी ।
[10]राजराजेश्वरीबालो रतिपीठगुणान्तरा ॥ १६४ ।

कामरूपधरोल्लासो विदग्धा कामरूपिणी ।
अतिथीशः [11]सर्वभर्ता नानालङ्कारशोभिता ॥ १६५ ।

नानालङ्कारभूषाङ्गो [12]नरमालाविभूषिता ।
जगन्नाथो जगद्व्यापी जगतामिष्टसिद्धिदा ॥ १६६ ।

---

१. स्थापको गुणवर्गाणां–ख०; २. सिद्धिप्रियो–ख०; ३. क्षयकर्त्ता–ख० ।
४. नानाविघ्न–ख०; ५. मायी–ख० ।
६. मारी महामारी तत्सम्पादिका या विद्या, तां विनाशयति, तच्छीला ।
७. साधिनी–ख०; ८. प्रथमतो–ख० ।
९. कर्मकुलगतो धीरो वनदुर्गा गिरीश्वरी–ख०; १०. राजेश्वरो–ख० ।
११. सुग्धभर्ता–ख०; १२. वनमालाविभूषणा–ख० ।

जगत्कामो [1]जगद्व्यापी जयन्ती जयदायिनी ।
जयकारी जीवकारी [2]जयदा जीवनी जया ॥ १६७ ।

जयो गणेशः श्रीदाता [3]महापीठनिवासिनी ।
विषमः सामवेदस्थो यजुर्वेदांशयोगया ॥ १६८ ।

त्रिकालगुणगम्भीरो द्वाविंशतिकराम्बुजा[4] ।
सहस्रबाहुः [5]सारस्थो भागगा भवभाविनी ॥ १६९ ।

[6]भवनादिकरो मार्गो विनीता नयनाम्बुजा ।
सर्वत्राकर्षकोऽखण्डः सर्वज्ञानाभिकर्षिणी ॥ १७० ।

जिताशयो [7]जितविप्रः कलङ्कगुणवर्जिता ।
निराधारो निरालम्बो विषया ज्ञानवर्जिता ॥ १७१ ।

अतिविस्तारवदनो विवादखलनाशिनी ।
[8]भार्यानाथः क्षोभनाशो रिपूणां कुलपूजिता ॥ १७२ ।

[9]आशवो भूरिवर्गाणां चारुकुन्तलमण्डिता ।
अतिबुद्धिधरो सूक्ष्मो रजनीध्वान्तनाशिनी ॥ १७३ ।

ज्योत्स्नाजालकरो योगी[10]वियोगशायिनी युगा ।
युगगामी योगगामी[11]जयदा लाकिनी शिवा ॥ १७४ ।

संज्ञाबुद्धिकरो भावो भवभीतिविमोहिनी ।
सुन्दरः सुन्दरानन्दो रति[12]का रतिसुन्दरी ॥ १७५ ।

रतिज्ञानी रतिसुखो रतिनाथ[13]प्रकाशिनी ।
[14]बुद्धरूपी बोधमात्रो वैरोधो द्वैतवर्जिता ॥ १७६ ।

---

१. जगज्जायो जयन्ती–ख०; २. जीवनी जयी–ख०; ३. मञ्चपीठ–ख० ।
४. वेदांशमयाख्या–ख० । द्वाविंशतिः करा हस्ता अम्बुजानि कमलानि इव यस्याः सा ।
५. भावस्थो भावना–ख० ।
६. भवनादकरो मार्गो–ख०; ७. जितरिपुः कलङ्कदोषवर्जिता–ख० ।
८. आर्यनाथः········कुलनाशिनी–ख०; ९. आश्रयो–ख०; १०. वियोगगामिनीयुता–ख० ।
११. जयदानकारी–ख०; १२. रतिकामातिसुन्दरी–ख०; १३. रतिसुख–ख० ।
१४. बुद्धिरूपी बोधमात्रा द्विबोधा द्वैतवर्जिता–ख० ।

भूरिभावहरानन्दो भूरिसन्तानदायिनी ।
यज्ञसाधनकर्ता च सुयज्ञः पञ्चमोचना[1] ॥ १७७ ॥

कोटिकोटिचन्द्रतेजः[2] कोटिकोटिरुचिच्छटा ।
कोटिकोटिचञ्चलाभो[3] द्विकोटयुतचञ्चला ॥ १७८ ॥

कोटिसूर्याच्छन्नदेहः कोटिकोटिरविप्रभा ।
कोटिचन्द्रकान्तमणिः कोटीन्दुकान्तनिर्मला ॥ १७९ ॥

शतकोटिविधुमणिः शतकोटीन्दुकान्तगा ।
विलसत्कोटिकालाग्निः कोटिकालानलोपमा ॥ १८० ॥

कोटि[4]वह्निगतो वह्निवह्निजाया द्विगोद्भवा ।
महातेजोवह्निवारिः[5] कालाग्निहारधारिणी ॥ १८१ ॥

कालाग्निरुद्रो भगवान्[6] कालाग्निरुद्ररूपिणी ।
कालात्मा कलिकालात्मा कलिकाकुललाकिनी[7] ॥ १८२ ॥

मृत्युजितो[8] मृत्युतेजा मृत्युञ्जयमनुप्रिया ।
महामृत्युहरो मृत्युरपमृत्युविनाशिनी ॥ १८३ ॥

जयो जयेशो जयदो जयदा जयवर्धिनी ।
जयकरो जगद्धर्मो जगज्जीवनरक्षिणी ॥ १८४ ॥

सर्वजित्सर्वरूपी च सर्वदा सर्वभाविनी ।
[9]इत्येतत् कथितं नाथ महाविद्याभिधानकम्[10] ॥ १८५ ॥

---

१. परमासना–ख० । — परममासनं यस्याः सा 'पञ्चमोचना' इति पाठे तु पञ्चभ्यः शब्दादि विषयेभ्यो मोचयति या सा । नन्द्यादित्वाल्ल्युः प्रत्ययः, अनादेशः ।

२. तेजाः······रविच्छटा–ख०; ३. चन्द्रनाभो द्विकोटियुत–ख० ।

४. कोटि कोटि वह्निनिभो–ख०; ५. राशिः–ख०; ६. कालाग्निरुद्रो–ख ।

७. कुलनाशिनी–ख०; ८. मृत्युजित् मृत्युजेता–ख० ।

९. ॐ ॐ ॐ ख०—पु० अधिकः पाठः ।

१०. महाविद्या अभिधानं यस्य तदिति बहुव्रीहिः । महाविद्याया वर्णनं तत्र तत्रोपलभ्यते ।

शब्दब्रह्ममयं साक्षात् कल्पवृक्षस्वरूपकम्[1] ।
अष्टोत्तरसहस्राख्यं शतसंख्यासमाकुलम् ॥ १८६ ।

त्रैलोक्यमङ्गलक्षेत्रं सिद्धविद्याफलप्रदम् ।
सकलं निष्कलं साक्षात् कल्पद्रुमकलान्वितम्[2] ॥ १८७ ।

योगिनामात्मविज्ञानमात्मज्ञानकरं[3] परम् ।
यः पठेद् भावसम्पूर्णो मिथ्याधर्मविवर्जितः ॥ १८८ ।

रुद्रपीठे स्वयं[4] भूत्वा महायोगी भवेद्ध्रुवम् ।
अकस्मात्सिद्धिमाप्नोति चाधमां[5]माल्यदायिनीम्॥ १८९ ।

[6]राजलक्ष्मीधनैश्वर्यमतिधैर्यं हयादिकम् ।
कुञ्जरं सुन्दरं [7]वीरं पुत्रं राज्यं सुखं जयम् ॥ १९० ।

राजराजेश्वरत्वं च दिव्यवाहनमेव च ।
अक्लेशपञ्चमासिद्धिं[8] ततः प्राप्नोति मध्यमाम् ॥ १९१ ।

अत्यन्तदुःखहननं गुरुत्वं लोकमण्डले ।
देवानां भक्तिसंख्याञ्च[9] दिव्यभावं सदासुखम् ॥ १९२ ।

आयुर्वृद्धिं लोकवश्यं पूर्णकोशं हि गोधनम् ।
देवानां [10]राज्यभवनं प्रत्यक्षे स्वप्नकालके ॥ १९३ ।

दीर्घदृष्टिभयत्यागं चाल्पकार्यविवर्जितम् ।
सदा धर्मप्रियत्वं च धर्मज्ञानं महागुणम् ॥ १९४ ।

विवेकाङ्कुरमानन्दं [11]श्रीवाणीसुकृपान्वितम् ।
तत उत्तमयोगस्थां सिद्धिं[12]प्राप्नोति साधकः ॥ १९५ ।

[13]अनन्तगुणसंस्थानं मायार्थभूतिवर्जनम् ।
एकान्तस्थानवसतिं योगशास्त्रनियोजनम् ॥ १९६ ।

---

१. कल्पवृक्षफलान्वितम्–ख०; २. फलान्वितम्–ख०; ३. मोक्षज्ञानकरं परम्–ख० ।
४. रुद्रपीठे स्वयंभूयो–ख०; ५. चाधिकं–ख०; ६. राजलक्ष्मीं–ख० ।
७. धीरम्–ख०; ८. पञ्चमाम्–ख०; ९. भावञ्च ख० ।
१०. वाक्यश्रवणम्–ख० । —वाक्यस्य श्रवणमत्यन्तं महत्त्वमादधाति । एतेन महनीयं रहस्यमुद्घाटितं भवति । ११. श्रावणीसुकृपान्वितम्–ख० ।
१२. प्राप्नोति साधकोत्तमः–ख०; १३. अत्यन्तगुणसंस्थानम्–ख० ।

सर्वाकाङ्क्षाविशून्यत्वं देवतैकान्तसेवनम् ।
खेचरत्वं सर्वगतिं भावसिद्धिं सुरप्रियम्[1] ॥ १९७ ।
सदा [2]रौद्रक्रियायोगं विभूत्यष्टाङ्गसिद्धिदम् ।
दृढज्ञानं [3]सर्वशास्त्रकारित्वं रससागरम् ॥ १९८ ।
एकभावं द्वैतशून्यं महापदनियोजनम् ।
महागुणवतीविद्यापतित्वं शान्तिमेव च ॥ १९९ ।
प्राप्नोति साधकश्रेष्ठो यः पठेद् भावनिश्चलः ।
त्रिकालमेककालं वा द्विकालं वा पठेत् सुधीः ॥ २०० ।
शतमष्टोत्तरं चास्य पुरश्चर्याविधिः स्मृतः ।
पुरश्चरणमाकृत्य पठित्वा च पुनः पुनः ॥ २०१ ।
अष्टैश्वर्ययुतो भूत्वा [4]मनोगतिमवाप्नुयात् ।
[5]सर्वत्र कुशलं व्याप्तं यः पठेन्नियतः शुचिः ॥ २०२ ।
षट्चक्रमणिपीठञ्च भित्त्वाऽनाहतगो भवेत् ।
अनाहतं ततो भित्त्वा विशुद्धसङ्गमो भवेत् ॥ २०३ ।
विशुद्धपद्मं भित्त्वा च शीर्षे[6] द्विदलगो भवेत् ।
द्विदलादिमहापद्मं भित्त्वैतत् स्तोत्रपाठतः ॥ २०४ ।
चतुर्वर्गी[7] क्रियां कृत्वा चान्ते निर्वाणमोक्षभाक् ।
योगिनां योगसिद्ध्यर्थे सर्वभूतदयोदयम्[8] ॥ २०५ ।
निर्वाणमोक्षसिद्ध्यर्थे कथितं परमेश्वर ।
एतत्स्तवनपाठेन किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ २०६ ।
कुलं [9]कुलक्रमेणैव साधयेद् योगसाधनम् ।
योगान्ते योगमध्ये च योगाद्ये प्रपठेत् स्तवम् ॥ २०७ ।

---

१. सुरप्रियम्–ख०; २, सदायोग–ख०; ३. धर्मशास्त्रे कवित्वम्–ख० ।
४. विशुद्धसङ्गमो भवेत्–ख० । —मनसो गतिः । सा च वायोर्गतितोऽपि अत्यन्तं सूक्ष्मा भवति । अत एव भगवतो हनुमतो विषये मनोजव इति शब्दः प्रयुज्यते ।
५. सर्वत्रेत्यारभ्य भवेदितिपर्यन्तं ख-पुस्तके नास्ति; ६. शीघ्रम्–ख० ।
७. चतुर्वर्गक्रियाम्–ख०; ८. शुभोदयात्–ख०; ९. कुलाकुलक्रमेणैव–ख० ।

कृत्तिकारोहिणीयोगयात्रायां[1] मिथुने तथा ।
श्रवणायां मेषगणे[2] कुजे चेन्दुसमाकुले ॥ २०८ ॥

शनिवारे च सङ्क्रान्त्यां कुजवारे पुनः [3]पुनः ।
सन्ध्याकाले लिखेत् स्तोत्रं ध्यानधारणयोगिराट्[4]॥ २०९ ॥

भूर्जपत्रे लिखित्वा च कण्ठे शीर्षे [5]प्रधारयेत् ।
अथवा रात्रियोगे च कुलचक्रे लिखेत् सुधीः ॥ २१० ॥

सर्वत्र कुलयोगेन पठन्[6] सिद्धिमवाप्नुयात् ।
एतन्नाम्ना प्रजुहुयात् कालिकाकृतिमान्[7] भवेत् ॥ २११ ॥

तद्दशांशक्रमेणैव हुत्वा योगीह सर्वदा ।
मणिपूरे दृढो भूत्वा रुद्रशक्तिकृपां[8] लभेत् ॥ २१२ ॥

॥[9]इति श्रीरुद्रयामले लाकिनीशाष्टोत्तरसहस्रनाम-
विन्यासे एकपञ्चाशत्तमः पटलः ॥

●

१. योगे आर्द्रायां–ख०; २. लग्ने कुब्जे कुहु–ख०; ३. पुनर्वसौ-ख० ।

४. वित्–ख०; —ध्यानं च धारणं च ध्यानधारणे, तयोर्योगी, तत्र राजमानः । ध्यानधारणयोः सिद्धिं सम्पाद्य विराजमानो योगी इत्यर्थः ।

५. प्रदापयेत्–ख०; ६. पठित्वा–ख०; ७. कालिकाहुतिदानवत्–ख० ।

८. रुद्रस्य भगवतो या शक्तिः भगवती भवानी रुद्राणी, तस्याः कृपा ।

९. इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धिमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे महारुद्रमृत्युञ्जयलाकिनीशाष्टोत्तरशतसहस्रविन्यासो नाम द्विपञ्चाशत्तमः पटलः ।

अथ द्विपञ्चाशत्तमः पटलः

आनन्दभैरव उवाच—

कथयस्व वरारोहे मणिपूरमनुक्रमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे चाष्टसिद्धिमवाप्नुयुः ॥ १ ॥
प्रजपन् गच्छति क्षिप्रं अनायास[1]मनाहते ।
मन्त्रार्थं [2]मन्त्रचैतन्यं निजविग्रहरक्षणम् ॥ २ ॥
तत्परापरग्रन्थिस्थं विचार्यं वक्तुमर्हसि ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

महाभैरवकालाग्ने मनुज्ञानं [3]निशामय ॥ ३ ॥
कथयामि तव स्नेहादतिकोमलसाधनम् ।
मन्त्राणां [4]मन्त्रचैतन्यं विषयानि शृणु प्रभो ॥ ४ ॥
मणिपूरे त्वनायासे[5] यत्प्रसादात् [6]स्थिरो भवेत् ।
एतत्करणमात्रेण योगी भवति निश्चितम् ॥ ५ ॥
कोटिकोटिमन्त्रजालं[7] तदर्थकोटयः स्मृताः ।
एतन्मध्ये सारभागं कथयामि कुलार्णव ॥ ६ ॥
सर्वत्र समभावेन संस्मरन्[8] मन्त्रमुत्तमम् ।
शरीरमपरिच्छिन्नं ब्रह्माण्डं सचराचरम् ॥ ७ ॥
मूलादिमणिपूरान्तं त्रिगुणं मनुरूपकम् ।
वर्णमालामुपादाय[9] मुहुर्मुहुर्जपेत् सुधीः ॥ ८ ॥
पूर्णतेजोमयीं ध्यायेत् [10]कोटिकालाग्निरूपिणीम् ।
स्वदेवतां सदा ध्यायेन्मूलादिब्रह्मरन्ध्रके ॥ ९ ॥

---

१. प्राणायामैरनाहते–ख०; २. मनु–ख०; ३. नां मनशाय–क० ।
४. मनुना मन्त्रचैतन्यं विविधानि–ख०; ५. तव ज्ञाने–ख०; ६, शिवो–ख० ।
७. मन्त्रजापात् तदर्थे–ख०; ८. संस्मरेत् मूर्तिमुत्तमाम्–ख० ।
९. वर्णमालानुसारेण–ख०; १०. कोटिकामग्निरूपिणीम्–ख० ।

तन्मूर्तिमपरिच्छिन्नां [1]गूढस्थाननिवासिनीम् ।
[2]गभीरोर्ध्वगलानन्दां सुधासागरवासिनीम् ॥ १० ।

[3]यज्ज्ञात्वा ब्रह्मतुल्यं स्याद् ब्रह्मरन्ध्रे विभावनात् ।
मूलरन्ध्रे मुदा ध्यायेत् कोटिकालानलोज्ज्वलम्[4] ॥ ११ ।

ज्वलन्तं ध्यानमाकुर्यादूर्ध्वशिखाप्रभाकरम् ।
[5]सुधारसमोदमुग्धं हृव्याग्निसदृशोज्ज्वलम् ॥ १२ ।

ललाटं चिन्तयेत् कान्तं पूर्णेन्दुकोटिसङ्कुलम्[6] ।
विगलद्रसपुञ्जं तु [7]तद्रसप्रोज्ज्वलाननम् ॥ १३ ।

[8]स्थिरवायुस्थिराकारं मन्त्रार्थं चेति भावयेत् ।
अथवा शुद्धसङ्काशं [9]पूर्णब्रह्ममयूखगम् ॥ १४ ।

[10]मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं मूलं ध्यात्वा पुनः पुनः ।
विचिन्तयेत् सूक्ष्मरूपां महागुर्वीं स्वदेवताम् ॥ १५ ।

मन्त्रार्थं चेति तज्ज्ञानं तज्ज्ञानान्मोक्षमाप्नुयात् ।
[11]मन्त्रार्थज्ञानमात्रेण सिद्धिनिर्वाणमाप्नुयात् ॥ १६ ।

न स्थूलं नातिसूक्ष्मं गुणमयवपुषं विश्वनाथं[12]स्वशक्ति
स्वानन्दानन्दचित्तं कलिफलमचलं चञ्चलं शुक्लरक्तम् ।
पीनापीनादिरूपं त्रिगुणगगमनं मूलपद्मादिवक्त्रे[13]
विश्वात्मानं कुलाख्यं मनुगुणजडितं भावयेत्सिद्धलोकः[14] ॥१७।

---

१. गृह—ख०; २. गभीराह्लादनानन्दाम्—ख०; ३. यज्ज्ञात्वेति पुस्तके नास्ति—ख० ।
४. ज्वलाम्—ख०; ५. रसामोदिमुग्धम्—ख०; ६. सङ्गमम्—ख० ।
७. रसात्प्रोज्वलानलम्—ख०; ८. वायुं स्थिराकारं—ख०; ९. मयं शुभम्—ख० ।
१०. मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं मूलम् । मूलमाद्यचक्रं तदादिर्यस्य, ब्रह्मरन्ध्रं शिरोदेशस्थं चक्रं तदन्तो यस्य तत् ।
११. मन्त्रार्थज्ञानेति पुस्तके नास्ति—ख० ।
१२. सानन्दा''''''''सकलं शुक्लवक्त्रं विशुद्धम्—ख० ।
१३. रन्ध्रे—ख०; १४. सिद्धिहेतोः—ख० ।

चतुःषष्टिक्षेत्रे त्रिगुणजननीं ध्याननिपुणां
(महा) [1]मन्त्राकारां भुवनकरुणां बोधविषये ।
महाविद्यामाद्यां [2]मनुमयरसाच्छन्नतनुता-
[3]मवाप्यामन्दाब्धौ कुलपथि भजन्तीह रसिकाः ॥ १८ ।

समस्तं शून्यार्थं रजतघटनारायणमयं
विसर्गं बिन्दुस्थं रविशशिकलावह्निकिरणम् ।
[4]जगद्व्यापाराङ्गं भवविरहितं भावजडितं
[5]विकाराधाराहं दशदलबिले स्थापयति धीः ॥ १९ ।

सुरासुरभयप्रदं तरुणरूपशोभाकरं
मनोहरकलेवरं सकलदेहसंज्ञापनम्[6] ।
भजन्ति मुनयो नृपा [7]यतय इन्द्रदेवादयो
दशच्छदनिकेतने प्रकृतिदेहमध्यस्थितम् ॥ २० ।

प्रचण्डवचनाश्रयं[8] ध्वनिकलापसम्मर्दनं
महोत्कटतपःप्रियं [9]भजति चाशुतोषं शिवम् ।
निधाय हृदि पङ्कजे किमपि नाभिमूलेऽपि वा
विभावगुणभावनं परिकरोति योगी महान् ॥ २१ ।

स्वकीयगुणसत्त्वके कठिनचित्तसंज्ञार्पणं[10]
चतुर्भुजकलेवरे दशकलाधरेन्दीवरे ।
मनोहरहरं[11] परमसारमाद्याक्षरं
[12]प्रकृत्य परमेश्वरे प्रणवरूपमारोपये ॥ २२ ।

---

१. महामन्त्राकारं भुवनकरजां वेशविषये–ख० ।
२. तनुगा–ख०; ३. मवाप्यानन्दाब्धौ कुलपथिजम्–ख०; ४. व्यापारादिम्–ख० ।
५. विकाराधाराहं दशदलयुतं स्थापयति धीः–ख० ।
६. संज्ञापकम्–ख० । —सकलदेहान् संज्ञापयति इति भावः ।
७. प्रतिदिनं तथेन्द्रादयः–ख०; ८. चरणाश्रयं धवलि–ख० ।
९. भवति–ख०; १०. संज्ञापनम्–ख० ।
११. मनोहरपरं हरं परमसारमाद्याक्षरम्–ख०; १२. प्रकृष्ट.........आरोपयेत्–ख० ।

विविक्तमतिनिर्मलं [1]कमलहासमाल्याश्रयं
शिवं [2]शतकभास्करं सकलदेहमध्येऽपि वा ।
भुजायुतधरं धराधरधरं हि मुद्राधरं
भजन्ति कुलकामिनीपतय ईश वेश्याम्पदा ॥ २३ ।

सदा चरणपङ्कजे [3]विवहानिमुद्राश्रये
[4]कृपामयसलक्षणं गतिगसत्त्वसम्भावनम् ।
सदैकगुणभावनं परमदेवदेवास्य या[5]
त्रिलोकजननीपते रमणमेव कुर्याद्वशी ॥ २४ ।

एवं [6]कृत्वा निरालम्बविश्वासध्यानवान्नरः ।
अकस्मान्मन्त्रचैतन्यं[7] प्राप्नोत्यर्थविनिर्णयम् ॥ २५ ।

॥[8]इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे मन्त्रार्थचैतन्यविन्यासो नाम द्विपञ्चाशत्तमः पटलः ॥

---

१. हार–ख०; २. सकल......पद्ममध्ये–ख०; ३. विफलहानि–ख० ।
४. सुलक्षणम्......मतिग–ख० ।—कृपामयं सलक्षणं यस्य तत् । प्राचुर्ये मयट् । तत्प्रकृतवचने मयडिति सूत्रेण तस्य विधानम्; ५. वै–ख० ।
६. जप्त्वा सदा मन्त्रं विश्वमध्ये परः शुचिः–ख० ।
७. मन्त्रस्य चैतन्यम्, चेतनत्वम् । मन्त्रा हि मननात् चेतनत्वं प्रकटयन्ति ।
८. इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रभेदप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे मन्त्रार्थचैतन्यविन्यासो नाम त्रिपञ्चाशत्तमः पटलः ।

अथ त्रिपञ्चाशत्तमः पटलः

[1]श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

आनन्दसागराम्भोजमध्यस्थ परमप्रिय ।
इदानीं कालजालादिवारणं शृणु भैरव ॥ १ ।
सम्पूर्य सञ्चयाच्छन्नं वायुं स्वाभाविकीगतिम्[2] ।
कुम्भयित्वा स्वभावेन चिरकालं सुखी भवेत् ॥ २ ।
शनैः शनैः रेचयित्वा सर्वदा तद्गतो भवेत् ।
कालजालवशो[3] याति तत्क्षणान्नात्र संशयः ॥ ३ ।
विना [4]वाय्वाकुञ्चनेन न सिध्यति च को जनः ।
वायुचालनमात्रेण सूक्ष्ममार्गोद्गमेन च ॥ ४ ।
सिध्यत्येव महायोगी कालजालवशोऽपि[5] च ।
कालवशं न करोति मोहादतिसुखायते[6] ॥ ५ ।
कालभक्षो भवेत् सोऽपि म्रियते नात्र संशयः ।
मणिपुरे मनो दत्त्वा साधयेद् देवताः[7] सदा ॥ ६ ।
स्तोत्रं ध्यानं नाम गुणं पठित्वा च पुनः पुनः ।
मनोयोगञ्च सर्वत्र वायुना कारयेद् बुधः ॥ ७ ।
कुम्भयित्वा [8]धारयित्वा रेचयित्वा पुनः पुनः ।
सर्वकालवशं नीत्वा जितात्मा चामरो भवेत् ॥ ८ ।
लोभमोहौ वर्जयित्वा कामक्रोधादिपातकम् ।
सर्वदा वायुपानञ्च कृत्वा रहसि [9]संवशी ॥ ९ ।

---

१. आनन्दभैरवी उवाच–ख०; २. पतिम्–ख०; ३. कालजोलवसं–ख० ।
४. कुम्भकयोगेन को हि सिध्यति भूतले–ख० । —'विना वाय्वाकुञ्चनेन न सिध्यति च को जनः' इति मूलपाठे वायोराकुञ्चनं निरोधः संकोच इति यावत् । एवं च कुम्भकयोग एव पर्यवसानं भवति ।
५. भवेदिति–ख०; ६. सुखोदयात्–ख०; ७. देवताम्–ख० ।
८. सदायोगी–ख०; ९. सद्वशी–ख० ।

नित्यं वायुसाधनानि षट्चक्रभेदनाय च ।
शनैः शनैर्धारयेद्वै[1] चिरजीवित्वसाधनात् ॥ १० ॥

यदि न चिरजीवी स्यात् कालात्मा वायुसेवकः ।
षट्चक्रभावसिद्धयन्ते ज्ञानी मृत्युवशो भवेत् ॥ ११ ॥

अतः कुर्याच्छिवज्ञानं वायुसंसिद्धकारणम् ।
तत्क्रियासाधनार्थाय [2]आदौ पञ्चामराविधिम् ॥ १२ ॥

कुर्यात् साधकमुख्यश्च निजकायप्रसाधनात् ।
नेतीयोगं तदा कुर्याद् यथा भवति संवशी ॥ १३ ॥

धौतीयोगं तदा कुर्याद् यथा भवति संवशो[3] ।
नेउलीयोगमाकुर्याद्[4] यत्र लोको न विद्यते ॥ १४ ॥

[5]दन्तीयोगं तदा कुर्याद् यदा मुख्यक्रियावतः ।
तदा क्षणेन यः कुर्याद्[6] यदा तृष्णाविवर्जितः ॥ १५ ॥

तृष्णानाशो[7] भवेन्मोक्ष इति मे योगनिर्णयः ।
विशेषेण प्रवक्ष्येऽहं शृणु कैलासपावन ॥ १६ ॥

एतत्कार्यं पुरा कृत्वा[8] दिवि देवा मुनीश्वराः ।
कायसिद्धिं मुदा कृत्वा छायामायाविवर्जिताः ॥ १७ ॥

सर्वत्र गामिनः सर्वे धर्मशास्त्रार्थपण्डिताः ।
चिरजीविन एवापि [9]सकलश्रीसमन्विताः ॥ १८ ॥

तत्तद्भेदान् प्रवक्ष्यामि साधनं[10]कायरक्षणम् ।
यः करोति महादेव कायसाधनमुत्तमम् ॥ १९ ॥

स आयाति ममानन्दसदने नात्र संशयः ।
प्रभाते च समुत्थाय ब्राह्मे[11] कालफलोदये ॥ २० ॥

---

१. रेचयेद्वै–ख०; २. चादौ–ख०; ३. संयमो–ख० ।
४. सदा कुर्यात्–ख०; ५. दण्डी सदा मुख्यक्रियारतः–ख०; ६. यः कुर्याद् यथा–ख० ।
७. नाशे–ख० ।—अयं पाठो युक्ततरः प्रतिभाति, यतो हि यस्य च भावेन भावलक्षणमिति सूत्रविहितसप्तम्या ज्ञापकत्वमर्थः। अतश्च तृष्णानाशज्ञाप्यो मोक्ष इत्यर्थः सम्पन्नः ।
८. पुरस्कृत्वा–ख०; ९. कमलाश्री–ख०; १०. साधनान् कायरक्षणान्–ख० ।
११. कलि–ख० ।

सहस्रारे गुरोः पादपङ्कजध्यानमाचरेत् ।
विचिन्तयेत्ततः श्रीमान् गुरुरूपां सरस्वतीम् ॥ २१ ।

स्वदेवतां परानन्दरसिको योगबुद्धिमान् ।
प्रणम्य शिरसा नित्यं शौचकार्यं[1] समाचरेत् ॥ २२ ।

शौचक्रियाक्रमेणैव सिद्धः शुचिगुणान्वितः ।
प्रगच्छेच्छौचकार्यार्थं घटमानन्तु[2] यत्नतः ॥ २३ ।

मृत्तिकाप्रस्थमानञ्च नीत्वा शौचं समाचरेत् ।
कुल्कुलं[3] सप्तदशकं वर्चत्यागं पुनः पुनः ॥ २४ ।

ततस्तर्जन्या [4]चालोड्य वामहस्तस्य शङ्कर ।
गुदरन्ध्रे समायोज्य क्षालनं हि पुनः पुनः ॥ २५ ।

[5]यावच्च विसर्गत्यागं निःशेषेण मलक्षयम् ।
तावन्मृत्पयसा क्षाल्य शोधयेदुदरं सुधीः ॥ २६ ।

यावन्न जायते सौख्यं तावत्कालं समाचरेत् ।
तत उत्थाय विधिना मृत्तिकाशौचमाचरेत् ॥ २७ ।

येन क्रमेण विष्ठाया गन्धनाशोऽपि जायते ।
पादद्वयं समाक्षाल्य चान्तःशौचं [6]समाश्रयेत् ॥ २८ ।

तत्क्रियासफलं[7] वक्ष्ये शृणु योगेश्वर प्रभो ।
सूक्ष्मवस्त्रसमुद्भूतं डोरकं सूक्ष्मरन्ध्रके[8] ॥ २९ ।

नासिकाया[9] दृढतरं कोमलं चातिनिर्मलम् ।
शनैः शनैर्नियोज्याथ जिह्वामूले निवेशयेत् ॥ ३० ।

जिह्वामूलात् सदादाय[10] वारं द्वादशकं सुधीः ।
मन्दमन्दाघर्षणं तु कृत्वा भेदं [11]समानयेत् ॥ ३१ ।

---

१. शौचं कार्यं समाचरेत्–ख० ।
२. घटमानं जलं नयेत्–ख० । —घटते यत्तद् घटमानं जलम्, शौचक्रियोपयोगि जलमिति भावः । ३. कुन्थनं–ख०; ४. अल्पतैलैः–ख० ।
५. कालं भवेत् वै तु–ख०; ६. समाचरेत्–ख०; ७. सकलम्–ख० ।
८. वस्त्रके–ख०; ९. नासिकायाम्–ख०; १०. समावाय–ख० ।
११ समाचरेत्–ख० ।

मायात्रयेण बीजेन देवीबीजत्रयेण च ।
रमाबीजत्रयेणापि योगिन्यै नम इत्यपि ॥ ३२ ।

एतन्मन्त्रेण योगीन्द्रो नेतीयोगं समाचरेत् ।
शिरःस्थाङ्गं[1] समाकृत्य कण्ठशोधनमाचरेत् ॥ ३३ ।

ततो वक्षःशोधनं तु ततो नाभेश्च शोधनम् ।
क्रमेण कुर्यात् कायार्थे[2] तत्प्रकारं शृणु प्रभो ॥ ३४ ।

धौतीक्रियां समाकुर्यात् तप्तोदकनिसेवनम् ।
शुक्लवस्त्रं सूक्ष्मसूत्रं [3]चाष्टाङ्गुलप्रमाणकम् ॥ ३५ ।

द्वात्रिंशद्धस्तमानं तु[4] पूर्णसंख्या उदीरिता ।
मन्त्री प्रथमतः कुर्यात् चतुरङ्गुलवस्त्रकम् ॥ ३६ ।

दीर्घे पञ्चहस्तमानं तप्तोदकसमन्वितम् ।
भक्षयेत् शेषजिह्वाग्रे संस्थाप्य वसनं सुखम् ॥ ३७ ।

तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठमुद्राभिर्भक्षयेत् सुधीः ।
क्रमेण वर्धयेन्नित्यं दीर्घे च प्रसवे तथा ॥ ३८ ।

[5]एतन्मन्त्रेण देवेश पूर्वोक्तमनुना तथा ।
सर्वत्र पूर्वबीजेन[6] संशोध्य बीजमुच्चरेत् ॥ ३९ ।

शक्तिबीजत्रयं पश्चात् कामबीजत्रयं तथा ।
लक्ष्मीबीजत्रयं पश्चान्महाधौतनिवासिनी ॥ ४० ।

मेवाडीमलमन्त्रे[7] तु क्षालयद्वयमेव च ।
भार्या वहेत्ततः पश्चादुदरे सन्निवेशयेत्[8] ॥ ४१ ।

शनैर्निवेशमाकृत्य यावत् सर्वः[9] प्रजायते ।
[10]एतद्योगप्रसादेन वायवी सुकृपा भवेत् ॥ ४२ ।

---

१. शिरः शुद्धि ......करशोधन........ख० ।
२. 'कार्यार्धे–ख० । —नेतीयोगो नासिकारन्ध्रेण वस्त्रादिक्रियया कण्ठस्य वक्षसः नाभेश्च मलशोधनं भवति। मलच्छन्नानि इमानि स्थानानि यदि स्युस्तदा योगक्रियायां बाधा भवति ।
३. चाष्टाङ्गुलि–ख०; ४. तन्तुमानन्तु–ख० ।
५. एतन्मन्त्रेणेति श्लोकार्धः ख० नास्ति; ६. मन्त्रेण–ख०; ७. मलमन्त्रे–ख० ।
८. बम्धे–ख०; ९. सर्व–ख०; १०. एतदिति श्लोकार्धं ख० पुस्तके नास्ति ।

ततः कुर्यात् साधकेन्द्रो विग्रहक्षेमकारणात् ।
नेउलीपरमं योगं [1]गात्रदृढनिबन्धनम् ॥ ४३ ॥

[2]घूर्णायमानमाकुर्यादुदरं परमेश्वर ।
सर्वदा चालनं कुर्यात् प्राणवायुप्रधारणम् ॥ ४४ ॥

वामे घूर्णितमाकृत्य दक्षिणे घूर्णितं चरेत् ।
एवं क्रमेण देवेश [3]पुटपाकं समाचरेत् ॥ ४५ ॥

एतन्मन्त्रेण देवेश [4]शुभासने हठो भवेत् ।
ब्रह्मबीजत्रयं पश्चात् कालीबीजत्रयं ततः ॥ ४६ ॥

देवीप्रणवयुग्मं तु गात्रस्थायै नमो द्विठः ।
तदन्ते नाडिकादीनां क्षालनं पारमाद्भुतम् ॥ ४७ ॥

वक्षःस्थानं[5] महादेव दन्तीयोगेन कारयेत् ।
गजमानं दन्तकाष्ठं निर्मलं सुन्दरं मतम्[6] ॥ ४८ ॥

दन्तकाष्ठं [7]क्षालयेद्वै मनुना साधकाग्रणीः ।
[8]मायाबीजत्रयं पश्चाद् भैरवीबीजकत्रयम् ॥ ४९ ॥

मर्दिनीबीजयुगलं दन्तकाष्ठनिवासिनी ।
मे हृद्ग्रन्थि छेदय इति युगलं वह्निसुन्दरी ॥ ५० ॥

क्रमेण विधिनानेन गलरन्ध्रे निवेशयेत् ।
यावन्नाभेरधो याति यावत् [9]सुखमयानि च ॥ ५१ ॥

तावद्दन्तीयोगकार्यं प्रभाते सर्वकार्यकम् ।
एतदन्ते ततः कुर्यान्नाडीक्षालनमेव [10]च ॥ ५२ ॥

तन्मन्त्रं शृणु वीरेन्द्र चामरत्वप्रदायकम् ।
आदौ प्रणवमुद्धृत्य दीर्घप्रणवयुग्मकम् ॥ ५३ ॥

---

१. गात्रस्य दृढबन्धनम्–ख० ।—गात्रस्य शरीरस्य तदङ्गस्य च दृढं बन्धनमिति यावत् ।
२. मान मा–ख०; ३. सदाचरेत्–ख०, पेटपाक–क०; ४. शुभासन–ख० ।
५. स्थाने महाकाल–ख०; ६. नतम्–क०; ७. कारयेत्–ख० ।
८. श्यामाबीजत्रयं–ख०; ९. सुखमयो न च ख० ।
१०. दन्तीयोगक्रियां कृत्वा नाडीचालनं कर्तव्यम्, तेन नाडीशोधनं भवति ।

भुवनेशीबीजयुग्मं चन्द्रबीजत्रयं ततः ।
कृष्णबीजत्रयं पश्चादर्कबीजत्रयं ततः ॥ ५४ ।

[1]वाग्भवत्रयमुद्धृत्य वह्निबीजत्रयं ततः ।
श्रीबीजं मन्मथं लक्ष्मीं शीतले तदनन्तरम् ॥ ५५ ।

[2]स्वोदरं नाडिकामूलं मलक्षालययुग्मकम् ।
स्वाहान्तमनुना नित्यं क्षालयेन्नाडिकाधमाः ॥ ५६ ।

यावत्तृष्णानाशकः स्यात्तावत्कालं समाचरेत् ।
[3]यावदुद्गमशक्तित्वं त्रिदण्डावधि धारणा ॥ ५७ ।

तावन्न जायते नाथ क्षालनं सुखसाधनम् ।
यदि भाग्यवशादेव त्रिदण्डवायुकुम्भकम् ॥ ५८ ।

स्वयमेव समायाति नाडिकाक्षालनं शुभम् ।
[4]यावत्सूक्ष्मानिलालापं मधुपानं निरन्तरम् ॥ ५९ ।

पादाम्भोजनिःसृतं तु परमानन्दवर्धनम् ।
तत्सुखेनापरिच्छिन्नं [5]संज्ञाननिर्मलेन च ॥ ६० ।

चिदानन्दस्वरूपेण [6]आनन्दाश्रुविमोचनम् ।
तदा हि [7]हृदयग्रन्थिभेदनं देहवर्धनम् ॥ ६१ ।

तदा हि पुलकं स्थैर्यं देहावेशस्थिरं तथा ।
तदा षट्कञ्ज[8] सिद्धान्तज्ञानं चैतन्यनिर्मलम् ॥ ६२ ।

चिदानन्दमयो भूत्वा [9]तृष्णाज्ञानविवर्जितः ।
जीवन्मुक्तः परानन्दरसिकः [10]प्रणयप्रियः ॥ ६३ ।

स्थिरचेता महायोगी भवत्येव न संशयः ।
[11]आस्तिको देवभक्तश्च निन्दावादविवर्जितः ॥ ६४ ।

---

१. वाग्भवेति श्लोकार्धः ख० पुस्तके नास्ति; २. शोधयन् नाडिकामूलं–ख० ।
३. उद्गमशक्तिर्न–ख०; ४. मलालापं–ख०; ५. सज्ञान–ख० ।
६. स्वानन्दाश्रुविलोचनम्–ख० ।
७. हृदये ग्रन्थिछेदनं–ख० । —हृदयस्य ग्रन्थोनां भेदनम्, हृदये या ग्रन्थयस्तासां भेदनम् । अयमेव भेदो द्वयोः पाठयोः ।
८. षट्कज–क०; ९. कृष्णाज्ञान–ख०; १०. प्रलयप्रियः–क०; ११. देवदत्तश्च–ख० ।

स एवात्मा महाज्ञानी भवत्येव न संशयः ।
पञ्चयोगं समाकृत्य नित्यादिकमनुत्तमम् ॥ ६५ ।

स्नानं कुर्याद्विधानेन तोर्थराजनिकेतने ।
इडा गङ्गाजले वापि पिङ्गला यमुनाजले ॥ ६६ ।

सुषुम्नायां सरस्वत्यां [1]वसुपुष्करकोटिषु ।
तथापि बाह्यस्नाने तु सर्वाङ्गमस्तकं विना ॥ ६७ ।

सप्तवारं समासिञ्चेत्[2] मस्तकं बाह्यवारिणा ।
मार्जनेनापि मनुना मूलमन्त्रेण वा पुनः ॥ ६८ ।

ततोऽङ्गं मार्जयित्वा च सन्ध्यावन्दनमाचरेत् ।
बाह्यसन्ध्यां तु [3]मन्त्रेणैवान्तरे प्रकृतीश्वरम् ॥ ६९ ।

ऊर्ध्वाधस्तैजसं बिन्दुं नादमण्डलसम्पुटम् ।
[4]सन्ध्यावन्दनमाकृत्य महौषधिं [5]प्रभक्षयेत् ॥ ७० ।

मूलमन्त्रेणाभिमन्त्र्य पञ्चगव्यं कुलेश्वर ।
ततः कुर्यान्महापूजां स्वस्वमन्त्रोक्तसाधिताम् ॥ ७१ ।

षट्चक्रार्थं ततो ध्यायेद् यदुक्तं विधिना प्रभो ।
[6]कुण्डलिन्या महापूजा सहस्रनाममङ्गलम् ॥ ७२ ।

[7]देवतानां पठेद्धीमान् सर्वकाले सुसिद्धये ।
मूलाधारं मुदा भित्वा सूक्ष्मवायुद्वयेन च ॥ ७३ ।

ततो भेदं स्वाधिष्ठानं राकिणीविष्णुसङ्गमम् ।
तयोरनुक्रमं नाथ सहस्रनाममङ्गलम् ॥ ७४ ।

अत्यन्तगुह्यकथनं सत्त्वभक्तिप्रकारकम् ।
भित्त्वा भेदं मुदा कुर्यान्मणिपोठस्थदेवयोः ॥ ७५ ।

---

१. द्युषु–ख०; २. समासिञ्च–क०; ३. मन्त्रजालैः–ख० ।
४. सन्ध्यावन्दनमाकृत्येत्यनेन शुचित्वं द्योतितम् । ५. प्रकर्षेण औषधभक्षणविधानेनेत्यर्थः ।
६ कुण्डल्यादिमहापूजां–ख० ।
७. देवतानामित्यतः मङ्गलं पर्यन्तं श्लोकद्वयं ख० पुस्तके नास्ति ।

ध्यानं ज्ञानं स्तवं नित्यं यजनं नामकीर्तनम् ।
चैतन्यं रुद्रलाकिन्यास्तथा मृत्युञ्जयस्य च ॥ ७६ ।

नित्यं गुरुमयं ध्यात्वा सर्वगामिनमीश्वरम्[1] ।
चिरजीवी महायोगी भवत्येव न संशयः ॥ ७७ ।

॥[2] इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे भैरवभैरवीसंवादे मणिपूरभेदो नाम त्रिपञ्चाशत्तमः पटलः ॥

---

१. गुरुतत्त्वं व्यापकतया सर्वेश्वरसदृशं भवति इति यावत्, तस्य ध्यानेन सकलेष्टसिद्धिर्भवति ।

२. इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरव-भैरवीसंवादे मणिपूरणभेदो नाम चतुःपञ्चाशत्तमः पटलः ।

अथ चतुःपञ्चाशत्तमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवो उवाच—

परापराविभेदज्ञ निगूढज्ञानसाधनम्[1] ।
इदानीं शृणु सर्वज्ञ पञ्चद्रव्यादिसाधनम् ॥ १ ।

षट्चक्रपद्मभेदार्थं यत्क्रमाज्जायते क्षणात् ।
अमरश्चामरा[2] चैव सर्वसिद्धिप्रदायिका ॥ २ ।

ब्रह्मज्ञानसाधनी च ब्रह्मानन्दस्वरूपिणी[3] ।
अमरलता[4] तथा ध्येया दूर्वासंज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ३ ।

सिद्धामरा च निर्गुण्डी सर्वसिद्धिप्रदायिका[5] ।
नीलामरा ततो ग्राह्या नीलतुलसीसङ्गिता ॥ ४ ।

अमरुः[6] समयापत्रं चामरा बिल्वपत्रिका ।
शिवप्रिया सदा पूज्या [7]पूर्वोक्तावासमाश्रयेत् ॥ ५ ।

एतद्भक्षणमन्त्राणि शृणु कैलासभूपते ।
ब्राह्मणी[8] क्षत्रिया वैश्या शूद्रा च [9]क्रमतो जया ॥ ६ ।

तत्तन्मन्त्रेण संशोध्य भक्षयेन्मनुनामुना ।
[10]सर्वासाममरादीनां[11] भक्षणे समुदीरिता ॥ ७ ।

प्रणवं दीर्घप्रणवं कपिले ज्ञानसाधनि ।
[12]मम योगं साधयेति युगं स्वरेण सम्पुटम् ॥ ८ ।

---

१. साधन–क०; २. "अमरश्चामरश्चैव"......"प्रदायकः"–ख० ।
३. ब्रह्मज्ञानप्रकाशिनी–ख०; ४. अमलता–ख०; ५. सर्वसिद्धिप्रदायिनी–ख० ।
६. अमरा–ख०; ७. पूर्वोक्ताम्–ख०; ८. ब्रह्माणि–क० ।
९. क्रमशा–ख०; १०. सर्वासां पूर्वोक्तानामोषधीनामित्यर्थः ।
११. अमरा देवा आदयो येषां तेषाम् । अनुक्ते कर्तरि कृद्योगे षष्ठी ।
१२. ममयोगम्–ख० ।

[1]शाखासमूहसम्पूर्णे महौषधिनिवासिनि ।
मामेकममरं [2]देहि कुरु युग्मं ततो द्विठः ॥ ९ ।
अमराशनमन्त्राणि शृणुष्व पार्वतीश्वर ।
यस्य स्मरणमात्रेण नरो नारायणो भवेत् ॥ १० ।
शिववद् विहरेल्लोके बिल्वपत्रस्य भक्षणात् ।
श्रीबीजत्रयमुद्धृत्य वाग्देवीत्रितयं ततः ॥ ११ ।
लक्ष्मीकामेश्वरीबीजं[3] रमाकामत्रयं त्रयम् ।
सिद्धविश्वेशि[4] परमे निगूढतरुवासिनि ॥ १२ ।
मामेकं ज्ञानतत्त्वेऽन्ते[5] नियोजय युगं द्विठः ।
एतन्मन्त्रेण वीरेन्द्रो विधितत्त्वाख्यमुद्रया ॥ १३ ।
शोधयित्वा पुनर्नाथ चामरां[6] शोधयेत्ततः ।
[7]दूर्वा देवी त्रिभुवने अमृतत्वप्रदायिनि ॥ १४ ।
ग्रन्थिच्छेदभेदवारी प्रणवाद्ये परे रमा[8] ।
ततो हि विष्णुबीजञ्च किङ्किणी[9] बीजमुद्धरेत् ॥ १५ ।
राजराजेश्वरीबीजं श्रीबीजं त्रीणि तत्परम्[10]।
सुधाखण्डे मामिहान्ते सिद्धामरपदं लिखेत् ॥ १६ ।
देहि देहि नमः स्वाहा शब्दमुच्चार्य शोधयेत् ।
[11]एतद्भक्षणमात्रेण चिरकालं सुखी भवेत् ॥ १७ ।
सर्वसंयोगमात्रेण सिद्धो भवति साधकः ।
सिद्धामराशोधनं तु शृणु श्रीचन्द्रशेखर ॥ १८ ।
सिद्धामरा च निर्गुण्डी त्रिषु लोकेषु गोपिता ।
एतत्प्रधानं मूलञ्च पत्रं वा [12]चालयेत् सुधीः ॥ १९ ।

---

१. प्रशाखा–ख०; २. देव–ख०; ३. बीज–क० ।
४. विल्वेशि–क०; ५. तु–ख०; ६. चामरतां तु शोधयेत्–ख० ।
७. पूर्वा–ख० ।—दूर्वा देवी अमृतं प्रददाति, दूर्वाया अशनेन दूर्वाशाऋषिर्महानभवत् ।
८. पुरेव सा–ख०; ९. किं किं बीजं समुद्धरेत्–क० ।
१०. निर्वैरिसम्–क०; ११. स्मरणमात्रेण–ख०; १२. भक्षयेत्–ख० ।

मूलाभावे दलं [1]ग्राह्यं दलाभावे न मूलकम् ।
आनयेत् साधकश्रेष्ठः शोभनेन दिनेन तु ॥ २० ।

तदा भवति सिद्धिश्च कौलानां नियमो नहि ।
कौलिके सर्वसिद्धिश्च कौलिके योगसाधनम् ॥ २१ ।

कुलाचारविहीनानां [2]योगभोगादिकं कथम् ।
विना योगेन भोगादिसञ्चयो जायते कथम् ॥ २२ ।

[3]योगसाधनमात्रेण भोगसाधनमालभेत् ।
तद्भोगं परमं ज्ञानं [4]कालामृतनिसेवनम् ॥ २३ ।

विषयाह्लादभोगादिरनायासेन वर्धते ।
[5]शरीरिणामादिकार्यं शरीरस्य प्रभो प्रियम् ॥ २४ ।

शीतलामृतरूपाढ्यं व्यक्ताव्यक्तप्रकारकम् ।
आदिसाधनमेवं हि कथितं स्नेहहेतुना ॥ २५ ।

वल्लभ प्राणरक्षार्थे [6]शोकार्तिवारणाय च ।
पुनस्तु कथये [7]तुभ्यं निर्गुण्डीशोधनं मनुम् ॥ २६ ।

ॐ निर्गुण्डि महामाये [8]महायवनिवासिनि ।
आयुरारोग्यजननि ब्रह्मशब्दनिवासिनि ॥ २७ ।

मदीयं सकलं कायं शुद्धं[9] कुरु युगं ततः ।
नान्तयुग्मं बिन्दुनादभूषितं चारुतेजसम् ॥ २८ ।

चतुर्दशस्वरव्याप्तं (ठ युगं)[10] बिन्दुभूषितम् ।
लक्ष्मीबीजत्रयं [11]पश्चाद् रमाबीजमयं लिखेत् ॥ २९ ।

वज्रकायं देहि देहि शब्दान्ते वह्निसुन्दरी ।
एतन्मन्त्रेण संशोध्य भक्षयेत् साधकोत्तमः ॥ ३० ।

---

१. भोज्यं पत्राभावे च–ख०; २. योगं योगादिकम्–ख० ।
३. योगसञ्चयमात्रेण–ख०; ४. ज्ञानामृतनिषेवणम्–ख० ।
५. शरीराणाम्–ख० । —शरीरिणामिति पाठो युक्ततरः, तेषां हि शरीरं प्रियं भवति । तत्रैवात्मतादात्म्यात् ।
६. शोकाश्रु–ख०; ७. तेऽहं–ख०; ८. महासत्त्व–ख० ।
९. गुह्यं–ख०; १०. घायुगं–ख०; ११. उमा–ख० ।

ततोऽमरो भवेत् क्षिप्रं नात्र कार्या विचारणा ।
तुलसीशोधनं वक्ष्ये शृणुष्व परमेश्वर ॥ ३१ ।
यत्कृत्वा च निरोगी स्याद्बलवान् विजितेन्द्रियः ।
प्रणवं वैष्णवी देवी सत्त्वज्ञाननिवासिनि ॥ ३२ ।
कामबीजत्रयान्ते तु मां रक्ष युगलं द्विठः ।
एतच्छोधनमाकृत्य भक्षणं यः करोति च[1] ॥ ३३ ।
कायसिद्धिर्भवेत्तस्य ध्यानधारणयोगिनः[2] ॥ ३४ ।

॥[3]इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे
भैरवीभैरवसंवादे पञ्चसिद्धद्रव्यशोधनं
नाम चतुःपञ्चाशत्तमः पटलः ॥

*

१. हि–ख० । —एतस्याः तुलसीदेव्याः संशोधनपूर्वकं सेवनेन सर्वसम्पत्तिर्बले वीर्ये ऐश्वर्ये विद्यायां च ।

२. ध्याने धारणे च योगो यस्य, तस्य योगिनः कायसिद्धिर्भवति । कायस्योड्डयनं दूरदर्शनं दूरश्रवणमित्यादि सिद्धय इत्यर्थः ।

३. इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे पञ्चद्रव्यशोधनं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमः पटलः ।

अथ पञ्चपञ्चाशत्तमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

कथयामि तव स्नेहात् कायवश्यविशेषणात् ।
हठयोगं प्रकथितमिदानीं शृणुत क्रमम् ॥ १ ॥

मणिपूरस्थितं रुद्रं त्रैलोक्ये [1]पवनाक्षयम् ।
कथयामि शिवानन्द शिवशङ्कर मङ्गल[2] ॥ २ ॥

स्वाधिष्ठानोर्ध्वदेशे च परमानन्दसागरम् ।
नाभिमूलं मेघजालमध्यविद्युच्छताकुलम् ॥ ३ ॥

रहस्यातिरहस्यं च योगिनामतिसारगम् ।
तन्नाभिमूलदेशे च नीलपद्मं महाप्रभम् ॥ ४ ॥

तद्दलाग्रे सदा भान्ति डादि[3]फान्ताक्षराणि च ।
तब्दाह्ये शोभितं रूपं त्रिकोणमनलस्य च ॥ ५ ॥

प्रभातसूर्यसंकाशं शिखाकारं[4] निरञ्जनम् ।
तत्राग्निबीजरूपं च रूपातीतं गुणान्तरम्[5] ॥ ६ ॥

विचिन्तयेन्मेषपृष्ठवाहनं चारुणाकृतिम् ।
चतुर्बाहुं त्रिनयनं चारुदेहधरं परम् ॥ ७ ॥

तत्क्रोडे भाति रुद्रेशः सिन्दूरारुणविग्रहः ।
[6]ब्रह्मरूपी त्रिनयनः सृष्टिसंहारकारकः ॥ ८ ॥

विभूतिभूषिताङ्गस्तु लोकानामिष्टदो विभुः ।
[7]तस्य वामे सदा भाति लाकिनी परदेवता ॥ ९ ॥

---

१. परमाक्षरम्–ख०; २. मङ्गलम्–ख०; ३. भाविकान्ताक्षराणि–ख० ।
४. शिखाकारम्–ख०; ५. निरञ्जनम्–क० ।
६. वृद्धरूपी त्रिनेत्रश्च–ख० । —ब्रह्मणो रूपमस्ति यस्य स ब्रह्मरूपी । अथवा ब्रह्म रूपयति बोधयति इति ब्रह्मरूपी, णिनिप्रत्ययः कर्तरि ।
७. तस्या–क० ।

चतुर्भुजा महादेवी त्रिनेत्रा सौख्यदायिनी ।
श्यामाङ्गी पीतवसना विचित्रालङ्कृतामरा[1] ॥ १० ।

सर्वसिद्धिप्रदा माता सर्वत्र सर्वपालिका ।
सदा रक्षतु मां देवी विद्याभिः कुलपालिका[2] ॥ ११ ।

एवं ध्यात्वा पूजयित्वा जपयागस्तवादिभिः ।
ततः सिद्धो भवेन्मन्त्री मणिपूरप्रसादतः ॥ १२ ।

मणिपूरफलं वक्ष्ये समासेन [3]शृणुष्व तत् ।
कोटिवर्षशतेनापि फलं वक्तुं न शक्यते ॥ १३ ।

मणिपूरानन्तरं हि प्रवक्तव्यमनाहतम्[4] ।
स्तोत्रं ध्यानं नामधेयं[5] सहस्रगुणशङ्करम् ॥ १४ ।

फलमत्यन्तगुह्यं च [6]सुहृत्पद्मोपसिद्धिदम् ।
आत्मज्ञानं मोक्षसिद्धिं प्रेमभक्त्यादिलाभकम् ॥ १५ ।

संहर्ता जनसङ्घानां पालकः कमलाकरः[7] ।
अकस्माज्ज्ञानसन्दोहलक्ष्मीं प्राप्नोति योगिराट् ॥ १६ ।

॥ [8]इति श्रीरुद्रयामले मणिपूरभेदो नाम
पञ्चपञ्चाशत्तमः पटलः ॥

●

---

१. अलङ्कृताम्बरा–ख०; २. कालिका–ख०; ३. शृणु प्रभो–ख० ।
४. अनाहतः–ख०; ५. समाधेयम्–ख०; ६. सुहृत्पद्मोपलब्धिगम्–ख० ।
७. कमलापतिः–ख० । —अयमेव पाठो युक्ततरः । कमलाकर इति पाठे तु कृषातुः सम्पादने संवर्धने वा बोध्यः ।
८. इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे मणिपूरभेदो नाम षट्पञ्चाशत्तमः पटलः ।

अथ षट्पञ्चाशत्तमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

वद कामिनि कौमारि सुरानन्दे कुलेश्वरि ।
हृदयाम्भोजविन्यासमधुना वक्तुमर्हसि ॥ १ ।

यस्य विज्ञानमात्रेण नरो योगेश्वरो भवेत् ।
सर्वसिद्धिक्रियास्थानं योगिनामतिदुर्लभम् ॥ २ ।

सर्वतत्त्वस्वरूपं च सिद्धिमार्गप्रकाशकम् ।
[१]हृदयाम्भोजविज्ञानान्मार्तण्डभैरवो भवेत् ॥ ३ ।

श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं [२]षट्चक्रसारमङ्गलम् ।
[३]स्नेहाद् वृष्टिक्रमेणैव भक्तियोगोद्भवेन च ॥ ४ ।

भेदनं भावनं ज्ञानं चित्तदर्शनमेव च ।
मन्त्रोद्धारश्च सङ्केतं सर्वज्ञादिगुणोदयम् ॥ ५ ।

यजनं काकिनीदेव्या ईश्वरस्य गुणात्मनः ।
स्तवनं कवचं सर्वं सहस्रनाममङ्गलम् ॥ ६ ।

वायूनां मण्डलज्ञानं समासेन वदस्व मे ।
त्वमेव शरणं देवि त्राहि मां दुःखसङ्कटात्[४] ॥ ७ ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

महाकाल [५]भयाभाव भक्तिभावपरायण ।
[६]ममानन्दभैरवेश शृणु वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ ८ ।

यदुक्तं भवता चात्र चाश्रुतं [७]चाद्भुतं मतम् ।
नोक्तं कुत्रापि सर्वेश तव स्नेहात् प्रकाशितम् ॥ ९ ।

---

१. हृदयाम्भोध–क०; २. षट्सु चक्रेषु मङ्गलम्–ख०; ३. स्नेह–ख० ।
४. 'संप्रोदश्च कटच्' इति सूत्रेण संगतमित्यर्थे समुपसर्गात् कटच्प्रत्ययः । दुःखानां संकटात् संगमनात् ।
५. महाभाग–ख०; ६. महानन्द–ख०; ७. परमाद्भुतम्–ख० ।

अप्रकाश्यमिदं रत्नं दुःखजालनिवारणम् ।
सावधानेन सर्वेश कुरु त्वं योगसाधनम् ॥ १० ।

मयि योगं महादेव कृत्वा कालवशं नय[1] ।
मयि योगं न [2]करोति सिद्धिभक्तिक्रियादिकम् ॥ ११ ।

अकस्मान्मरणं तस्य कालभक्षो न संशयः ।
केवलं मां हृदम्भोजे परिपूर्णफलोदये ॥ १२ ।

सर्वाकारे[3] मनोराज्ये नानाकौतुकसंकुले ।
पूजयित्वा सदा ध्यायेत् काकिनीं मां न संशयः ॥ १३ ।

स[4] योगी जायते नाथ हृदम्बुजप्रसादतः ।
हृत्पङ्केरुहमध्यस्थाः सर्वे देवाः सवासवाः ॥ १४ ।

मामर्चयन्ति ते नित्यं भक्तिभावपरायणाः ।
ये ध्यायन्ति महावीर[5] ते पश्यन्ति सवासवान् ॥ १५ ।

क्रमेण प्राणसंयोगान् मां पश्यन्ति न संशयः ।
[6]मामेकं काकिनोध्यानं स्थिरवायुं प्रचण्डकम् ॥ १६ ।

पश्यन्ति योगिनः काये अष्टैश्वर्यं महाप्रभम् ।
केवलं भक्तियोगेन नित्ययोगे[7] स्युरुत्तमाः ॥ १७ ।

पद्मध्यानं प्रथमतः कृत्वा सिद्धो [8]भवेन्नरः ।
तद्धयानं श्रृणु वीरेश योगिनामिह दुर्लभम् ॥ १८ ।

[9]हृत्पद्मं कुलपालितं सुललितं हंसेन संशोधितं
[10]बन्धूकामलदीप्तिकोटिजडितं सम्भावितं साधकैः ।
अत्युत्कृष्टमयूखपुञ्जमिलितं सिन्दूरपूरारुणं[11]
ध्यात्वा पश्यति यो नरः प्रतिदिनं काद्यारुणैरावृतम् ॥ १९ ।

---

१. हर–ख०; २. करोषि–ख० । ३. सर्वकाममनोबाह्ये .... सङ्कुलः–ख० ।
४. संयोगी ....हृदम्भोज–ख० ।
५. महावीरास्तपस्यन्ति च वासवान्–ख० । वासवेनेन्द्रेण सहितान् इन्द्रसहितान् देवान् । च वासवानिति पाठे तु अनेककल्पसंभूतान् वासवान् इन्द्रान् ।
६. मामेकम्–क०; ७. नित्ययोगेन चोत्तमम्–ख०; ८. न संशयः–ख० ।
९. हृत्पद्मे–ख०; १०. बल्गु कोमल–ख०; ११. वर्णारुणम्–ख० ।

स स्यात्कोटिधनेश्वरो नरवरो भूयात्त्वभावार्णवे[1]
यो नित्यं लिपिभावनं प्रकुरुते नित्येश्वरालोकनात् ।
तद्ध्यानं क्रमतो वदामि सकलं येन प्रसिद्धो[2] भवे-
दानन्दार्णवमध्यपद्मकलितं [3]काद्यर्कवर्णोज्ज्वलम् ॥ २० ।

दले पूर्वे ध्यायेदतिविमलवर्णं कमिति वा
प्रभातार्कच्छायारुणकिरणयोगं युगमयम् ।
[4]चतुर्बाहुं नित्यं त्रिनयनमनन्तं रविगतं
भवाद्याशक्तिस्थं[5] स्वभवनघटाशोभिततनुम्[6] ॥२१कँ।

[7]द्वितीये पत्रेऽस्मिन् खमरुणसमूहाश्रयपदं
पदं श्रीतारिण्या अनिलगगनयोः प्रियकरम् ।
मुदा ध्यायेदेवं परममनिलं देवभुजगं
सुवर्णालङ्कारं त्रिनयनममोल्यं सुखमयम् ॥२२खँ।

तृतीये[8] पत्रेऽस्मिन् विधुयुतकपालं त्रिनयनं
[9]स्वसिन्दूराकारं द्वियुगभुजशोभाभवमहम् ।
सदा ध्यायेदेवं परमपुरुषं श्रीगणपतिं
[10]स्फुरद्रक्ताकारं तरुणमणिमालं जितमदम् ॥२३गँ।

चतुःपत्रे ध्यायेद्यमरुणशतं[11] घोरनिनदं
क्रियादक्षं मूर्तिं त्रिनयनसरोजं युगभुजम् ।
वराभीतिप्रोच्छत्स्फटिकजपमालादिसहितं
[12]फणालङ्काराङ्गं शिव शिव मुखेशोत्तममहम् ॥२४घँ।

---

१. भूयस्त्वत्यं वक्षसि—ख०; २. प्रसिद्धे—ख०; ३. काद्यार्क—ख० ।
४. चतुर्बाङ्ग—ख०; ५. शक्तिस्त्वं—ख० ।
६. स्वस्य भवने या घटा घटना तया शोभिता तनुर्यस्य तम् । स्वभवनघटास्थायिनी स्ववशगा भवति, परभवनघटा परतन्त्रा भवति ।
७. द्वितीये ...सुखमयमिति श्लोकमिदं ख० पुस्तके नास्ति; ८. द्वितीयं पत्रस्थं—ख० ।
९. ससिन्दूराकारं ... त्रिगुणभुज—ख०; १०. सुरत्नाकारं वै ... मालं—ख० ।
११. अमलमरुणम्—ख०; १२. कलाऽलङ्काराङ्ग शिरसिहमुखेशोत्तममहम्—क० ।

ङंबीजं सिन्दूरारुणममखिलनाथं त्रिनयनं
महामोक्षस्थानं [1]मणिकनकरत्नाद्यभरणम् ।
[2]चतुर्बाहुं रुद्रं जगति भवमेकं गुणविभुं
[3]कपालं [4]श्रीमालं वरमभयकं बिभ्रतमहम् ॥२५ङँ।

[5]चतुर्बाहूल्लासं कमलवरमालासिसहितं
विभुं तं ध्यायेऽहं विधुशतमुखं तं त्रिनयनम् ।
प्रभातार्कप्रायं सकलमणिरत्नाभरणकं
महाज्योत्स्नाजालं परमरसबिन्दूद्भवतनुम् ॥२६चँ।

तमेकं नेत्रस्थं [6]छममलकरं नूतनरविं
चतुर्बाहुं[7] ध्याये वरतनुकपालेषु सहितम् ।
सुधाधारापानं कनकजपमालाऽऽवृततनुं
त्रिनेत्रं योगेन्द्रं वसुदलगतं चारुवदनम् ॥छँ २७।

चतुर्वक्त्रं ध्याये [8]जमजममरं सारुणतनुं
विशालाक्षं सूक्ष्मं [9]समरसमयं ब्रह्मवपुषम् ।
[10]चतुर्बाहुं देवं त्रिभुवनपदं सारघटितं
महाशङ्खं [11]रुद्रं वरमभयकं बिभ्रतबलम् ॥जँ २८।

महाकायं तेजोमयमपि चरुं बीजमखिलं
[12]मुदा ध्याये कामापहमतिमुखं चाष्टमदले ।
महासिन्दूराद्रि दिनकरकलाकोटिविमलं
त्रिनेत्रं पञ्चास्यं दशभुजयुतं [13]सर्ववपुषम् ॥झँ २९।

---

१. शशि–ख०; २. चतुर्घाङ्गं........पतितजननाथम्–ख०; ३. क्रियानाथं देवं–ख० ।
४. श्रियं मिमीते या सा श्रीमा, तामलते भूषयति इति श्रीमालः, कर्तरि अण्प्रत्ययः, अल्धातोः ।
५. चतुर्घाङ्गं ध्याये–ख०; ६. छल–ख० ।
७. चतुर्घाङ्ग........कपालेष्वष्टसहितम्–ख०; ८. अथ च मनसा चारुणतनुम्–ख० ।
९. समयमनिशं चक्रवपुषम्–ख०; १०. चतुर्घाङ्गं–ख० ।
११. रुण्डं–क०; १२. सदा–ख० ।
१३. सर्वं वपुर्यस्य तम् । सर्वं जगत् तस्य भगवतो वपुं शरीरमेवेति भावः ।

[1]ञबीजं [2]सार्धेन्दूद्भवशिखमखेशं त्रिनयनं
[3]चतुर्बाहुं ध्याये सुकमलगदाचक्रनियुतम् ।
महामालाव्याप्तं सुकनकशुभाऽलङ्कृतगुरुं[4]
[5]प्रभातार्कं विश्वार्चितजडिलरूपं रविदले ॥ञँ ३०।

मनोरूपाच्छन्नं त्रिनयनमधीशारुणदले[6]
टबीजं बिन्द्विन्द्वं[7] जपवटिवराभीत्यसिधरम् ।
तमेकं सोमेशं [8]मणिमयचलत्कुण्डलधरं
मुदा ध्याये शम्भुं हृदि शिवदले सिद्धकमले ॥टँ ३१।

त्रिनेत्रं कामाख्यं शिशुकरुणया सिद्धिफलदं
सुरत्नाऽलङ्कारच्छविरुचितनूनां समनघम् ।
ठकारं [9]बिन्द्विन्द्वं नवरविघटाकोटिकिरणं
दले चार्के ध्याये कमलवरमालाशिशुधरम् ॥ठँ ३२।

एतच्छुद्धमनोलयस्य भवनं[10] चैतन्यसंसिद्धये[11]
वर्णानां जपभावनं यदि सदा चिन्तामणेर्मण्डलम् ।
योगीन्द्रः कुरुते वशिष्ठसदृशो वाचां पतिर्भूतले
वाक्सिद्धि चिरकालवासमखिले देवो हि नो मानुषः ॥ ३३ ।

वाञ्छाचिन्तामणिगृहं[12] हृदयाम्भोजमण्डलम् ।
तन्मध्ये पवनस्थानं मण्डलाकारमुल्बणम् ॥ ३४ ।
बुद्धिप्रतिभया व्याप्तं तन्मध्ये पवनाक्षरम् ।
आच्छन्नधूमसङ्काशं प्रसिद्धस्थानमुत्तमम् ॥ ३५ ।
तन्मध्ये देवतापीठं षट्कोणं मण्डलं परम् ।
तन्मध्ये भावयेदिष्टं स्वस्वकल्पोक्तसाधितम् ॥ ३६ ।

---

१. वं–ख०; २. सार्धचन्द्रोद्भव–ख०; ३. चतुर्धाङ्गं……स्वकमल……निविडम् ।
४. मालाङ्कितगुरुम्–ख०; ५. प्रभातार्कम्–ख ।
६. अधीशं दशदले–ख०; ७. टकारं विन्द्वाढ्यम्–ख० ।
८. कनकलसत्कुण्डलधरम्–ख०; ९. विन्द्वाख्यम्……विकलम्–ख० ।
१०. भुवने–ख०; ११. चैतन्यस्य परतत्त्वस्य संसिद्धिस्तस्यै इति भावः ।
१२. मणेर्गेहं–ख० ।

वायोर्ध्यानं तत्र कुर्यादत्यन्तसूक्ष्मरूपिणम् ।
निराकारं परंब्रह्म साकारं शब्दरूपिणम् ।। ३७ ।
निरक्षरं स्वाक्षराढयं महोग्रं [1]स्थिररूपिणम् ।
[2]चतुर्बाहुं जगद्व्याप्तं कृष्णसारासनं यवम् ।। ३८ ।
लोकत्रयाणां वरदं करुणासिन्धुरूपिणम् ।
पञ्चभूतात्मकं रौद्रं प्राणसञ्ज्ञं किरीटिनम् ।। ३९ ।
संबिभ्रतं [3]वराभीतिघण्टाडमरुसेवकान् ।
[4]ईशनाम्ना परिचितं [5]परहंसं कुलेश्वरम् ।। ४० ।
सर्वाऽलङ्कारशोभाङ्गं [6]विवेकोदयकारणम् ।
विचिन्तयेत् साधकेन्द्रः परिवारगणावृतम् ।। ४१ ।

तत्र पङ्केरुहे ध्यायेदीश्वरं वर्णरूपिणम् ।
त्रैलोक्यमङ्गलं नाथं[7] चतुर्बाहुं[8] किरीटिनम् ।। ४२ ।

रत्नमालाशोभिताङ्गं शुक्लवर्णं महाप्रभम् ।
ईश्वरं योगिनामीशं [9]वरदं परमेश्वरम् ।। ४३ ।

[10]वराभीतिशङ्खपद्मश्रिया जुष्टं पुरातनम् ।
रत्नाभरणभूषाङ्गं हृदयाम्भोजवासिनम् ।। ४४ ।

वाञ्छातिरिक्तफलदं भावसिद्धिप्रकाशकम् ।
परमहंसमीशानं ध्यायेद् हृत्पद्ममण्डले ।। ४५ ।

तत्पार्श्वे ध्यानमाकुर्यात् काकिनीं परमेश्वरीम् ।
त्रैलोक्यपूजितां देवीं काकचञ्चुप्रकाशिनीम् ।। ४६ ।

---

१. महोग्रग्रन्थिरूपिणम्–ख० । —स्थिरं रूपयति इति कर्तरि णिनिप्रत्ययः ।
२. चतुर्धाङ्गं·······वरम्–ख० । —चत्वारो बाहवो यस्य तम् ।
३. डामर–ख०; ४. ईशा–ख०; ५. परं हंसं–ख० ।
६. रविकोदयकारणम्–ख०; ७. नाथ–क० ।
८. चतुर्धाङ्गम्–ख० । — चतुर्धा विभक्तानि अङ्गानि यस्य तम् ।
९. ध्यायेद् हृत्पद्ममण्डले–ख० ।
१०. वराभीतीत्यत आरम्य पद्ममण्डले पर्यन्तं–ख० नास्ति ।

चतुर्भुजां पीतवर्णां[1] पीतवस्त्रोपशोभिताम् ।
नवविद्युत्कोटिरूपां विलोलनेत्रपङ्कजाम् ।। ४७ ।

कपालशशिशूलास्त्रवरदानसमाकुलाम् ।
विचित्ररत्ननिर्माण[2]स्वर्णाऽलङ्कारभूषिताम् ।। ४८ ।

[3]त्रैलोक्यललितां सूक्ष्मां वराभयकराम्बुजाम् ।
सुधापानरतां मत्तां पूर्णरूपां कुलेश्वरीम् ।। ४९ ।

रत्नकङ्कणमालाढ्यां परमानन्दभैरवीम् ।
हृदयाम्भोजमध्यस्थां ध्यायेऽहं हंसगामिनीम् ।। ५० ।

तत्पीठमध्यनिकरे[4] त्रिकोणं परिचिन्तयेत् ।
पीठशक्तिं सुवर्णाढ्यां विद्युत्कोटिसमोदयाम् ।। ५१ ।

काकिनीसदृशीं मत्तां पूर्णान्तःकरणोद्यताम्[5] ।
सर्वाऽलङ्कारभूषाढ्यां परिवारगणावृताम् ।। ५२ ।

तद्दक्षिणे पार्श्वभागे [6]चिन्तयेत्त्वामलिङ्गकम् ।
सुवर्णशुद्धसंकाशं निर्मलं चारुतेजसम् ।। ५३ ।

महालक्ष्मीप्रियानन्दं सर्वाकारं निरञ्जनम् ।
ज्ञानयोगोदयं ब्रह्मरूपिणं बहुरूपिणम् ।। ५४ ।

प्रदीपकलिकाकारं चिन्तयेदीश्वरं शिवम् ।
एतेषां ज्ञानमाकृत्य[7] वागीशो भवति क्षणात् ।। ५५ ।

वाक्यसिद्धिं[8] तत्र नाथ चिन्तयेत्तत्प्रसिद्धये ।
तत्र भानोर्मण्डलञ्च चिन्तयेत् साधकाग्रणीः ।। ५६ ।

---

१. महादेवीं–ख० । -पीतो वर्णो यस्याः । पीतवस्त्रेणोपशोभितामिति भावः ।
२. निर्माणाम्–ख०; ३. त्रैगुण्य–ख०; ४. ध्याननिकटे त्रिकोणाम्–ख० ।
५. पूर्वान्तः–ख० ।
६. बाण–ख० । —बाणलिङ्गं नामेदं लिङ्गम्, तस्य चिन्ता कार्या, वामलिङ्गकमिति पाठे तु वामं सुन्दरं यल्लिङ्गं तस्य चिन्तेत्याद्यर्थः ।
७. ध्यानम्–ख०; ८. राज्यसिद्धिम्.........नाथम्–ख० ।

पद्मकिञ्जल्कमध्ये तु चिन्तयेदरुणायुतम् ।
मासैकसाधनादेव योगी स्याच्छीतलाङ्गधृक् ॥ ५७ ॥

द्विमासे ग्रन्थिभेदः [1]स्यादनन्तगुणवान् भवेत् ।
[2]त्रिमासे योगयोग्यः स्यात् सर्पादिविषनाशकृत् ॥ ५८ ॥

चतुर्मासे निर्मलात्मा भावकः स्थिरमानसः ।
पञ्चमे मासि सम्प्राप्ते वायवी कृपयान्विता ॥ ५९ ॥

स्थिरवायुः स्थिरा [3]दृष्टिरतीव सुखसम्पदः ।
ततो दिने दिने वृद्धिर्वायूनामनुकम्पया ॥ ६० ॥

षण्मासात् पापसत्यक्तो मुक्तवद् भ्रमते चिरम् ।
जले चाग्नौ च भूगर्त्ते कदाचिन्न म्रियेत हि ॥ ६१ ॥

ईश्वरात्मा महाज्ञानी निःशङ्को [4]निरुपद्रुतः ।
[5]महाविवेकसिद्धान्तज्ञानी भेदविवर्जितः ॥ ६२ ॥

स भूत्वा चिरजीवी च [6]भुक्तिभागी दिने दिने ।
सप्तमे कल्पसन्त्यक्तो मदनो [7]दोषविग्रहः ॥ ६३ ॥

नित्यानन्दगुणप्राप्तिर्भूमित्यागो दिने दिने ।
अष्टमे सर्वशत्रुघ्नो [8]रामनामविवर्जितः ॥ ६४ ॥

अणिमादिदर्शनञ्च ब्रह्मगोबिन्दुदर्शनम् ।
नवमे क्षालनासिद्धिर्भूमित्यागस्त्रिहस्तकः[9] ॥ ६५ ॥

[10]दशमे योगसिद्धिश्च षट्चक्रादिप्रदर्शनम् ।
ब्रह्मरन्ध्रभेदनज्ञो महानन्दविग्रहः ॥ ६६ ॥

एकादशे सर्वसिद्धिः पञ्चभूतमयाङ्गधृक् ।
सप्तस्वर्गालोकनञ्च षट्शिवप्रियदर्शनम् ॥ ६७ ॥

---

१. अत्यन्तगुणवान्—ख० ।
२. साधको—ख०, सर्वादि इति—क०; ३. त्वतीव सुखसम्पदाम्—ख० ।
४. निरुपद्रवः—ख०; ५. सिद्धिस्तु—ख०; ६. मुक्तिभागो—क० ।
७. मदनोपमः—ख०; ८. वाञ्छानाशविवर्जितः—ख०; ९. पञ्चभूतमयाङ्गधृक्—ख० ।
१०. दशमे इत्यतो मयाङ्गधृगिति पर्यन्तं—ख० पु० नास्ति ।

द्वादशे देवसन्मानं देवतापाददर्शनम् ।
अत्यन्तं सुखसन्तानं मायाजालनिवारणम् ॥ ६८ ।

[1]सर्वविद्यासर्वसिद्धिर्दिव्यभक्तिः शुभोदया ।
ते वीरास्ते च योगीन्द्रास्ते दिव्यास्ते च भैरवाः ॥ ६९ ।

ते सर्वे [2]मृत्युजेतारस्ते भक्ता मुक्तिभागिनः ।
ये तिष्ठन्ति महारण्ये निर्जने पर्वते चिरम् ॥ ७० ।

धारयन्ति साधयन्ति योगमेतत् कुलेश्वर ।
योगे[3] योगाद् भवेन्मोक्ष इति मे तत्त्वनिर्णयः ॥ ७१ ।

संसारोत्तारणे[4] मुक्तिर्योगशब्देन कथ्यते ।
लोके हि दुर्लभं योगं योगात्परतरं नहि ॥ ७२ ।

योगं पञ्चविधं प्रोक्तमेकं विषयसम्मतम् ।
द्वितीयञ्च द्विभेदञ्च पूजायोगं तृतीयकम् ॥ ७३ ।

भक्तियोगं परं ब्रह्मयोगसारं कुलेश्वर ।
सर्वत्रापि [6]मनोयोगाद्बद्धो मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥ ७४ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे
षट्चक्रप्रकाशे भैरवभैरवीसंवादेऽनाहतपद्म-
विन्यासो नाम [5]षट्पञ्चाशत्तमः पटलः ॥

---

१. सर्वा विद्याश्चतुर्दशसंख्याकाः, सर्वाः सिद्धयः यस्यां सा दिव्यभक्तिः शुभोदयकरी इति यावत् ।

२. मृत्युगोसार–ख०; ३. योगयोगाद्……तत्त्वस्य निर्गमः–ख० ।

४. संसारोत्तारणात्–ख० ।

५. इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धिमन्त्र……सप्तपञ्चाशत्तमः पटलः ।

६. मनसो योगो वृत्तिनिरोधः, तस्माद् बद्धो भवति, यदि सांसारिकं विषयमाधृत्य मनोयोगो विधीयते । यदि तु परमेशस्वरूपे योगः क्रियते, तदा मोक्षः ।

अथ सप्तपञ्चाशत्तमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवो उवाच—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि विवेकगुणलक्षणम् ।
वर्णध्यानानन्तरं हि पूजनं तन्महाफलम्[1] ॥ १ ।
पूजया लभते पूजां विवेकं भावसम्भवम् ।
काकिनीश्वरसंयोगं भावं परमदुर्लभम् ॥ २ ।
यजनं काकिनीदेव्या ईश्वरस्यापि भावनम् ।
पूजाभावे महासिद्धिर्जायते तत्क्षणाच्छिव ॥ ३ ।
भावेन लभ्यते पूजा विवेकं पूजया लभेत् ।
विवेकं[2] ब्रह्मभावन्तु प्राप्नोति कोटिजन्मनि ॥ ४ ।
अथवा लभ्यते शीघ्रं तवापि मदनुग्रहैः ।
तत्प्रकारं शृणु प्राणवल्लभ त्रिपुरेश्वर ॥ ५ ।
यस्य विज्ञानमात्रेण भवेत् परमभावकः ।
विचिन्तयेद्वर्णपार्श्वे चतुर्दिक्षु क्रमेण तु ॥ ६ ।
सिद्धेश्वरान् योगयुक्तान् महापुरुषसंश्रितान्[3] ।
ब्रह्माणं परमं हंसं रुद्रं विश्वेश्वरं प्रभुम् ॥ ७ ।
[4]मृत्युञ्जयं महाकालं नीलकण्ठं सुरेश्वरम् ।
श्रीविष्णुं कमलानाथं पञ्चचूडं कुमारकम् ॥ ८ ।
चन्द्रं सूर्यं [5]प्रजानाथं दक्षं मुनीन्द्रमेव च ।
[6]प्रचेतसं मरीचिञ्च कश्यपं पुलहं तथा ॥ ९ ।
वशिष्ठञ्च भृगुञ्चैव गौतमं कपिलं मुनिम् ।
पुलस्त्यञ्च क्रतुञ्चैव प्रह्लादं कर्दमं तथा ॥ १० ।

---

१. महत्फलम्—ख॰; २. विवेकब्रह्मभावस्तु—ख॰; ३. संज्ञितान्—ख॰ ।
४. मृत्युं जयति इति मृत्युञ्जयः, "संज्ञायां मृतृवृजिधारिसहितपिदमः" इति सूत्रेण खच्प्रत्ययः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुम् ।
५. प्रभानाथम्—ख॰; ६. प्रचेतारम्—क॰ ।

अथर्वाङ्गिरसर्षिञ्च[1] बालखिल्यान् मरीचिपान् ।
[2]मलसञ्चान्तरीक्षञ्च विद्याश्च पवनं विभुम् ॥ ११ ।

तेजसञ्च जलञ्चैव महीस्पर्शञ्च शब्दकम् ।
तथा रूपं रसं गन्धं प्रकृतिञ्च विकारकम् ॥ १२ ।

यच्चान्यत् कारणं सर्वं [3]भुवाक्षयं चराचरम् ।
तत्पार्श्वगामिनो देवा सेन्द्रा [4]भ्रमन्ति नित्यशः ॥ १३ ।

अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयश्च वीर्यवान् ।
यमदग्निर्भरद्वाजः [5]संवर्तश्च्यवनस्तथा ॥ १४ ।

दुर्वासाश्च महाभाग ऋष्यश्रृङ्गश्च धार्मिकः ।
सनत्कुमारो भगवान् योगाचार्यो महातपाः ॥ १५ ।

असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ।
ऋषभाजितशक्रश्च[6] महावीर्यस्तथा मणिः ॥ १६ ।

[7]आयुर्वेदं तथाष्टाङ्गमेते भान्ति स्वमूर्तयः ।
चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्यैश्च गभस्तिभिः ॥ १७ ।

वायव ऋतवश्चैव सङ्कल्पः प्राण एव च ।
मूर्तिमन्तो महात्मानो महाव्रतपरायणाः ॥ १८ ।

एते चान्ये च बहव ईश्वरं समुपासते ।
एते पार्श्वे चिन्तनीया वर्णानां साधकोत्तमैः ॥ १९ ।

तत्पार्श्वस्थः प्रभाकोटिधारकः प्रतिभाति च ।
[8]अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तथा दमः ॥ २० ।

तत्र गन्धर्वमुख्याश्च सहिताप्सरसस्तथा ।
विंशतिः सप्त चैवान्ये लोकपालाश्च सर्वशः ॥ २१ ।

---

१. अंगिरसञ्चैव–ख०; २. मानसाश्चान्तरीक्षाश्च–ख० ।
३. भवाक्षय–ख०; ४. सम्भान्ति–क० ।
५. सर्वाभ्य–क०; ६. शत्रुश्च–ख० ।
७. आयुर्वेदमित्यतः परायणाः पर्यन्तं–ख० पुस्तके नास्ति ।—अष्टावङ्गानि यस्मिन् स तम् । आयुः वेदयति प्रापयति ज्ञापयति वा इति आयुर्वेदः, तम् ।
८. अर्थो धर्मश्चेत्यत एव चेति पर्यन्तं श्लोकद्वयं ख० पुस्तके नास्ति ।

शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च ।
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च ॥ २२ ।
मन्त्रो रथन्तरश्चैव [1]हविष्मान् वसुमानपि ।
आदित्याः साधिराजानो नानावृन्दैरुपासिताः[2] ॥ २३ ।
मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्च कपालिनः ।
तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ ॥ २४ ।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदस्तथा विधिः[3] ।
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव हि ॥ २५ ।
इतिहासोपदेशश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
ग्रहा यज्ञाश्च[4] सोमाश्च देवतानि च सर्वशः ॥ २६ ।
सावित्री तारिणी[5] दुर्गा वाणी सप्तविधा तथा ।
मेधा धृतिः स्मृतिश्चैव प्रज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा ॥ २७ ।
सामानि श्रुतिशास्त्राणि गाथास्तु विविधास्तथा ।
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विभान्ति च ॥ २८ ।
नाटिका विविधाः कार्याः[6] कथाख्यायिककारिकाः ।
अत्र तिष्ठन्ति ये पुण्या ये पुण्या गुरुपूजकाः ॥ २९ ।
क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवारात्रिश्च सर्वतः ।
अर्धमासास्तथामासाः ऋतवः षट् च शङ्कर ॥ ३० ।
संवत्सराः [7]पञ्चयुगं मासा रात्रिश्चतुर्विधा ।
कालचक्रञ्च यद्दिव्यं नित्यमव्ययम् ॥ ३१ ।
धर्मचक्रस्तथा चापि नित्यमास्ते महेश्वर ।
[8]अदितिश्च दितिश्चैव रुद्रश्च विनता तथा ॥ ३२ ।

---

१. हविमान्–क०; २. उपागताः–ख०; ३. निधिः–क०; ४. ग्रहा यज्ञश्च–क० ।

५. सावित्री दुर्गतरिणी–क० ।—तारिणीति पाठे तारयति या सा इति विग्रहे णिनिर्बाहुलकात् । दुर्गतरिणी इति पाठे तु दुर्गस्य संसारस्य तरणे तरिणी नौका इति यावत् ।

६. नाटका विविधा काव्या कथाख्यायिकककारिकाः–क०; ७. पञ्चयुग्मं–ख० ।

८. अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सुरसा विनता इव–क० ।—दो-धातुरवखण्डने, ततः क्तिन्प्रत्ययः, न दितिरदितिरखण्डिता, स्वविचारे विचला न भवति । दितिस्तु खण्डिता, मध्ये मध्ये स्वविचारं खण्डयति ।

कालिका [1]युवती देवी सुरसा चाथ गौतमी ।
[2]प्राधा कद्रुश्च वै देव्यो देवतानाञ्च मातरः ॥ ३३ ।
रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा षष्ठी तथा परा ।
पृथिवीसञ्ज्ञिता देवी ह्रीः स्वाहा कीर्तिरेव च ॥ ३४ ।
सुरा देवी शची चैव तथा पुष्टिररुन्धती ।
[3]संसिद्धि सिद्धिदा विद्या महादेवी रतिस्तथा ॥ ३५ ।
एताश्चान्याश्च वै देव्य उपतस्थुरलङ्कृताः ।
आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाश्विनावपि ॥ ३६ ।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च पितरश्च महर्षयः ।
राजर्षयस्तत्र भान्ति हरिश्चन्द्रादयः प्रभो ॥ ३७ ।
सर्वे हेमकुण्डलिनः सर्वाऽलङ्कारभूषिताः ।
भावुका गीतवाद्यादि [4]निस्वनैर्मग्नदेहिनः ॥ ३८ ।
भावयन्ति महेशानीं काकिनीं परमेश्वरीम् ।
वर्णरूपां नित्यकलां महेश्वरपतिव्रताम् ॥ ३९ ।
ईश्वरं भावयन्त्येते पूजयन्ति निरन्तरम् ।
वेष्टिताः सुन्दराकाराः[5] अष्टसिद्धिसमृद्धिदाः[6] ॥ ४० ।
एताः पूज्या महाकालवर्णपार्श्वचराः प्रभाः[7] ।
प्रसीद नाथ स्वामीति नाम्ना मनसि पूजयेत् ॥ ४१ ।
वर्णेश्वरप्रियानन्दां काकिनीं पूजयाम्यहम् ।
इति मन्त्रेणैव[8] पूज्या वर्णरूपा सरस्वती ॥ ४२ ।
तदा प्रसन्नाः सिद्धयन्ति श्रीकाकिन्याः कलौ युगे ॥ ४३ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवभैरवीसंवादे काकिनीश्वरपर्णपार्श्वचरयजनं नाम सप्तपञ्चाशत्तमः[9] पटलः ॥

---

१. सुरभी देवी शर्मा—ख० ; २. एताश्चान्याश्च—ख० ।
३. संसिद्धिर्वासा नियतिर्विडीदेवीरतिस्तथा—क० ।
४. विश्व—क० । —गीतं वाद्यमादिर्यस्य तादृशैः निस्वनैर्मग्ना देहिनः । आनन्दसागरे निमग्ना भवन्ति, विलक्षणगीतादिश्रवणेनेति भावः ।
५. सुन्दरकराः—क० ; ६. समृद्धिदा—क० ; ७. प्रभो—ख० ।
८. वै पूज्या—ख० ; ९. अष्टपञ्चाशत्तमः पटलः—ख० ।

अथाष्टपञ्चाशत्तमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

अथाष्टसिद्धिमाहात्म्यं शृणु श्रीचन्द्रशेखर ।
मन्त्रोद्धारं तथा न्यासं कवचाङ्गं तव प्रियम् ॥ १ ।

स्तोत्रं सहस्रनामाख्यं साष्टोत्तरमनुप्रियम् ।
साकारध्यानमखिलं सालोक्यादिपदप्रदम् ॥ २ ।

यस्य [1]करणमात्रेण [2]सुरो भवति मानुषः ।
वृक्षबीजाद् भवेद्वृक्षः श्रद्धया च फलोदयः ॥ ३ ।

यथा तथैव मन्त्राणामुदयो बीजयोगतः ।
बीजन्तु परमं ज्ञानं बीजाधीनं चराचरम् ॥ ४ ।

बीजमाश्रित्य सर्वेन्द्राः प्रतिभान्ति महौजसः ।
कोटिसूर्यप्रतीकाशाः प्राणस्थाननिवासिनः ॥ ५ ।

के चाप्ययुतसूर्याभाः शतसूर्यसमप्रभाः ।
केचिद् द्वादशसूर्याभाः को [3]जनश्चैकभासुराः ॥ ६ ।

कोऽपि [4]नाम मुनिर्दीप्तः कोऽपि चन्द्रसमप्रभः ।
कोऽपि श्रीकान्तिकिरणः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ ७ ।

एते बीजसमुद्भूता [5]निर्बीजाश्च पञ्चदेवताः ।
ब्रह्मविष्णुशिवानन्दभैरवाः[6] प्राणदेवताः ॥ ८ ।

ब्रह्मा ब्रह्मस्वरूपेण श्वासमार्गप्रवेशकः ।
[7]विष्णुर्वैष्णवतत्त्वेन कुम्भकान्तर्गतः प्रभुः ॥ ९ ।

---

१. स्मरण–ख०; २. शिवो–ख०; ३. केऽपि ज्वलत्प्रभाकराः–ख० ।
४. नानामनोर्दीप्तिः–ख० ।
५. बीजाश्च–क० । —निर्गतं बीजं यासां ताः पञ्च देवताः । ब्रह्मा विष्णुः शिवः आनन्दो भैरवश्चेति प्राणापानसमानोदानव्यानाख्यपञ्चप्राणवासुदेवताः ।
६. भैरव इति समस्तपदात्मकः पाठः–ख० पुस्तके; ७. विष्णुर्वैष्णवतन्त्रेणेति–ख० ।

शिवः संहाररूपेण महाप्रलयगः प्रभुः ।
आनन्दभैरवः श्रीमान् मूलज्ञानी परात्परः ॥ १० ।

मूलाम्भोजाद् ब्रह्मरन्ध्रं यावत्तत्र [1]प्रवेशिका ।
प्राणविद्यास्वरूपेण बीजरूपा सनातनी ॥ ११ ।

सा भाव्या योगिभिर्नित्यं योगाङ्गैरतिभाव्यते ।
योगशास्त्रं विना नाथ के जानन्ति महर्षयः ॥ १२ ।

[2]अत्यन्तदुःखसाध्या सा योगिज्ञेया मनोयवा ।
नानारूपा बृहद्रूपा श्वासोच्छ्वासप्रकाशिनी ॥ १३ ।

हृदयाम्भोजमध्यस्था ईश्वरस्थानवासिनी ।
[3]कालचञ्चुप्रकाशा सा सर्वभूतहृदिस्थिता ॥ १४ ।

सर्वेषां ज्ञानकर्त्री च सर्वानन्दकरी हृदि ।
सा देवी काकिनी [4]विद्या ईश्वरी परमा कला ॥ १५ ।

विभाव्या कोटिसूर्याभा कोटिचन्द्रसमानना ।
तस्या मन्त्रं महामन्त्रं ब्रह्ममन्त्रं हि योगिनाम् ॥ १६ ।

शृणु नाथ कुलानन्द भैरव्यादिमनुं मुदा ।
एतन्मन्त्रप्रभावेण[5] परात्मानं वशं नयेत् ॥ १७ ।

दीर्घप्रणवमुच्चार्य वामनेत्रं समुद्धरेत् ।
[6]मायान्ते वाग्भवं बीजं कामबीजं समुद्धरेत् ॥ १८ ।

कामबीजं तथैश्वर्यं नमोऽन्ते[7] वह्निकामिनी ।
एतन्मन्त्रप्रसादेन भवेत् कालवशः क्षणात् ॥ १९ ।

[8]अत्यन्तसुखमाप्नोति भयाज्ञानापहो भवेत् ।
कामेन पुटितं मन्त्रं वाग्भवेनापि वा प्रभो ॥ २० ।

---

१. प्रवेशकः–ख०; २. अनन्तसुख–ख० ।
३. काकचञ्चुप्रकाशा–ख०; ४. देवीति–ख० ।
५. प्रसादेन–ख० । —एतस्य मन्त्रस्य भैरवमन्त्रस्य प्रभावेण प्रसादेन वा इति पाठद्वयोर्यो भावः ।
६. मायानामिति–क०; ७. नमोन्तवह्नि–ख०; ८. अनन्तेति–ख० ।

स्वमन्त्रपुटितं कृत्वा सिद्धिः स्यादचिरादिह ।
अथान्यमन्त्रं वक्ष्यामि [1]सावधानोऽवधारय ॥ २१ ।

भद्रकालीं समुद्धृत्य किङ्किणीबीजमुद्धरेत् ।
[2]बालाबीजं समुद्धृत्य माहेश्वर्यै नमो द्विठः ॥ २२ ।

केवलं मूलमन्त्रेण पुटितं मूलमन्त्रकैः ।
पूजयेत् परया भक्त्या हृदयाम्भोजमण्डले ॥ २३ ।

अप्रकाश्यमिमं मन्त्रं सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।
लक्षजपेन सिद्धिः स्याद् हृदयाब्जे [3]स्थिरो भवेत् ॥ २४ ।

अकस्माद्दीपकलिकाकारं जीवं[4] प्रपश्यति ।
ततो भवेन्महायोगी ईश्वरीमन्त्रसाधनात् ॥ २५ ।

ध्यानं वक्ष्यामि पूजाया गुह्याद्गुह्यतरं परम् ।
ध्यात्वा पाद्यादिभिर्नाथ मनःकल्पितपुष्पकैः ॥ २६ ।

पूजयेत्परया भक्त्या मन्त्रध्यानपरायणः ॥ २७ ।

शशधरशतकोटिश्रीमयूखप्रभायाः
सुरतरुगुणशोभा निर्मला वेदहस्ता ।
अरुणकिरणभालाहारमाला विलोला
हृदयकमलमध्ये श्रीश्वरीं तां भजामि ॥ २८ ।

एवं [5]सर्वस्वरूपां तां विभाव्य हृदयाम्बुजे ।
पुनः पुनः पूजयेद्वै त्रैलोक्योद्भवपुष्पकैः ॥ २९ ।

अवश्यं सिद्धिमाप्नोति पूजायोगप्रभावतः ।
आयुरारोग्यजननं[6] पूजनं सुमहाफलम् ॥ ३० ।

ततो जपेन्महामन्त्रं वर्णमालाक्रमेण तु ।
प्राणायामं ततः कृत्वा न्यसेत् सर्वाङ्गमध्यके ॥ ३१ ।

---

१. सावधानावधारयेति–क० ख०; २. कलाबीजमिति–ख०; ३. शिवो–ख० ।
४. बीजमिति–ख० । —दीपस्य कलिकाया आकारो यस्य तादृशं जीवं स्वस्वरूपं प्रपश्यति ।
५. सर्वात्मरूपामिति–ख०; ६. जननीं सुमहत्फलसम्भवाम्–ख० ।

मातृकाग्रन्थिनिकरे न्यसेत् पूर्वोक्तनामभिः ।
यदुक्तं पूर्वंपटले तेषां नामभिरेव च ॥ ३२ ।

विन्यस्य मन्त्रपुटितं मन्त्रन्यासं ततश्चरेत् ।
काकिन्या अष्टशक्तीनां न्यासं कुर्यात्ततः परम् ॥ ३३ ।

काकजिह्वाद्विकाण्डेशी[1] कामाख्या[2] काकिनी ध्वजा ।
काकिनी काकमाला च काकचञ्चुप्रकाशिनी ॥ ३४ ।

कोकिला चाष्टशक्तीनां नाम्ना विन्यस्य मस्तके ।
कण्ठकूपे न्यसेत्पश्चात् षोडशस्वरसम्पुटम् ॥ ३५ ।

हृदये विन्यसेन्नाथ कादिद्वादशसम्पुटम् ।
मन्त्रं विन्यस्य विधिना नाभौ मन्त्रेण सम्पुटम्[3] ॥ ३६ ।

डादिफान्तन्तु[4] विन्यस्य वादिलान्तं स्वलिङ्गके ।
मूलाधारे मूलमन्त्रपुटितं वादिसान्तकम्[5] ॥ ३७ ।

विन्यस्य व्यापकं न्यासं कृत्वाङ्गानि च बन्धयेत्[6] ।
ततः प्राणायाममेकं[7] कृत्वा प्राणान् समाश्रयेत् ॥ ३८ ।

ततः स्तोत्रं पठेद्धीमान् तत्सर्वं श्रृणु शङ्कर ।
[8]हविष्याशी वशीभूत्वा साधयेदिह सिद्धये ॥ ३९ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे काकिनीसिद्धिसाधन-
[9]नामाष्टपञ्चाशत्तमः पटलः ॥

१. द्विकाकेशीति–ख०; २. काकाक्षा–ख० ।

३. नाभौ मन्त्रेण सम्पुटं मन्त्रं विधिना विन्यस्य जपेत् ।

४. फान्तं प्रविन्यस्येति–ख०; ५. वादिमान्तकमिति–ख०; ६. वर्धयेदिति–ख० ।

७. प्राणायामत्रिकं कृत्वा प्राणायामं समाश्रयेत्–ख० ।

८. हविष्यमश्नाति तच्छीलो वशी स्वेन्द्रियविजेता भूत्वा सिद्धये सिद्धिमवाप्तुं साधयेत् ।

९. ऊनषष्ठितमः पटलः–ख० ।

अथोनषष्टितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच[1]—

ज्ञानेश्वरी शुभकरी परिभावनीया
योगेश्वरैर्हरिहरैर्गुरुभिर्महेन्द्रैः ।
तां काकिनीं परशिवां[2] परमेशपत्नीं
संस्तौमि[3] चारुहृदयाम्बुजपीठमध्ये[4] ॥ १ ।

एकाकिनी त्रिजगतामतिनाशकाले
त्वां काकिनीं [5]समरकार्णा(ण्ड)ककाकपत्नीम् ।
त्वं[6] साक्षिणी भुवनभङ्गविधौ सकास्ते
भूषण्डकाकमहिषीव वयं भजामः ॥ २ ।

एकाकिनीं सकलधारणकालयोगे
आधार्य देहसमये सति काकिनीं त्वाम् ।
वाय्वासने मनस आशु विकारनाशे
काकेन्द्रचञ्चुचलितामहमेवमीडे ॥ ३ ।

भावोदये प्रणयिनीमगतौ[7] च भावा
आह्लादयोगविभवे[8] भुवनेश्वरीं त्वाम् ।
[9]मन्दारहाररुचिरे परमेश्वरि त्वं
रक्षां कुरु प्रथमतो मतिमाश्रयामि ॥ ४ ।

---

१. ख-पुस्तके नास्ति; २. प्रसविनीमिति—ख०; ३. तामिति—ख० ।
४. राजिमध्ये—ख०; ५. कालिक—ख० ।
६. त्वां साक्षिणीं भुवनभङ्गविधौ सकान्ते... महिषीं सततं भजामीति—ख० ।
७. विभवे—ख० । ८. आह्लादाधायको योग आह्लादयोगस्तस्य विभव ऐश्वर्यम् ।
९. तृतीयचरणं मन्दारहारादि ख-पु० नास्ति ।

चन्द्रोदये[1] सुखमयी द्युतिकोटिदीप्ता
गोप्यागमे [2]सुमतिभिः स्वमनांसि शुद्धा ।
सा त्वं सुखात्त्वं[3] भवभावविपूजनीये
रक्षां कुरु प्रथमभास्करमङ्घ्रिमीडे ॥ ५ ॥

ते पादपङ्कजमजस्रमहं भजामि
सानन्दबिन्दुविमलासनभावपुञ्जे[4] ।
गुञ्जावटी[5]विमलमाल्यसुशोभिताङ्गे
[6]स्यामेव मे चरमभावसमूहदात्री ॥ ६ ॥

पञ्चानने दशभुजे सकलास्त्रयुक्ते
विद्ये भये नरहरे नरहारभूषे ।
[7]प्रेतासने त्रिनयने जननी त्वमेव
[8]रक्षे शुभे चरणपङ्कजमाश्रयामि ॥ ७ ॥

श्रीसुन्दरि प्रणतरक्षिणि वेदमात-
स्तारेश्वरी[9] त्वमपि रक्ष विनाशकाले ।
यद्येकभक्त[10] इतिहासपुराणवक्ता
नित्यानुरक्तहरपादसरोजमीडे ॥ ८ ॥

ते श्रीपदं भुवनसारमनन्तसेव्यं
योगास्पदं कृतिभिराश्रयमेकयोगम् ।
सर्वे भजन्ति निजमोक्षफलाय नित्यं
दीनोऽहमम्ब[11] भुवनेशि मुदा[12]भजामि ॥ ९ ॥

---

१. चन्द्रोदये इत्यादि प्रथमचरणं ख० पु० नास्ति ।
२. सुखकरी शुभदाय शुद्धा–ख०; ३. सुखानुभवकारिणि पूजनीये–ख० ।
४. वनहासपुञ्जे–ख०; ५. गुञ्जात्कटो विमलमाल सुशोभिताङ्गे ।
६. श्यामे च मे········धात्री–ख० ।
७. श्वेतासने–ख० । —प्रेत आसनं यस्याः सा तत्सम्बोधने, प्रेतासने त्रीणि नयनानि यस्याः सा, तत्सम्बोधने इति यावत् ।
८. दीनोऽस्मि ते–ख०; ९. तारेश्वरीति–क० ।
१०. यद्येक एव इतिहासपुराणरूपे नित्यं तवैव खलु पादसरोजमीडे–ख० ।
११. मद्य–ख०; १२. मुदाश्रयामि–ख० ।

त्रैलोक्यपूजितपदं हृदयाम्बुजस्थं
चित्तप्रकाशकमले[1] स्वसुखानुभूतम् ।
मायाश्रयं सकलसिद्धिनिदानरूपं
मञ्जीरहारविनतं वरमाश्रयामि ॥ १० ।

[2]कोटीरहारकमलप्रियमाल्यशोभे
शोभाकरे स्थिरतरा भव मे हृदब्जे ।
भूमण्डले हि बलवान्कृतकृत्य एव
त्वामीश्वरीं हृदि मुदा सुखमाश्रयामि ॥ ११ ।

[3]नित्ये पुरा भजति योगसुसिद्धयेऽसौ
शम्भुर्गिरीश इति चेश्वरपार्श्वगामि ।
सायुज्यनाथपदवीं गत ईशकान्ते
एकाकिनी कुलवताङ्घ्रियुगं किमन्यैः ॥ १२ ।

ध्यायन्ति योगिन [4]इहाघसमूहशैलं
[5]संहारहेतुकसदाघविनाशनाय ।
चित्तोत्सवाय विभवाय जयाय भूमेः
दीनोऽहमाशु विभजामि पदं श्रिये ते ॥ १३ ।

कृष्णे सिते [6]विमलपीतनिभे सुरक्ते
वर्णाश्रये त्वमव [7]मामतिदीनमेकम् ।
पुत्रं तवैव चरणाम्बुजमेव[8] कान्तं
नीलाम्बुजे स्थिरतरं कुरु कामदात्रि ॥ १४ ।

---

१. चित्तप्रकाशकमशेषसुखानुभूतमिति–ख० ।

२. चन्द्रोदये सुखमयं द्युतिकोटिदीप्तमिति–ख० ।

३. नित्यं पुरा भवति वै खलु योगसिद्ध्यै ।—नितरां भवा नित्या ध्रुवा । 'त्यब् नेर्ध्रुवे' इति वार्तिकेन त्यपि सति नित्या इति । सम्बोधने नित्ये ।

४. इहैव तवाङ्घ्रियुग्मम्; ५. हेतुवडपाघविनाशनाय–क० ।

६. विमलपङ्कजकोशसंस्थे–ख० ।

७. मामिह–ख० । —एकमतिदीनमतिहीनं मामित्यन्वयः । दीङ् क्षये इत्यस्माद्दीनशब्दो निष्ठान्तः, ओदितश्चेति तस्य नत्वे दीनः, क्षीण इत्यर्थः ।

८. संस्मृतं माम्–ख० ।

सर्वेश्वरी प्रियकरि[1] भवभावहन्त्रि
[2]नानाध्वनिप्रणतकामदुघे विचित्रे ।
रत्नाम्बरे सुखपदं यदि देहि दास्यं
[3]त्वं चारुवर्णगलिते[4] पदमाश्रयामि ॥ १५ ।

रत्नाकरे सकरुणेऽरुणकोटिवर्णे
[5]स्वर्णादिनिर्मितसृजापविशोभिताङ्गी ।
त्वं काकिनी यदि कटाक्षनिपातमेकं
[6]सर्वं कुरुष्व सुखमोक्षपथप्रमोदी ॥ १६ ।

आद्ये प्रवालविमलेऽमलमाल्यशोभे
सूक्ष्मेऽतिसूक्ष्मनिकरे[7] करुणानिधाने ।
[8]वाले वले प्रचले चपले प्रलापे
योगेशि पादकमलं कुलमाश्रयामि ॥ १७ ।

त्वं षोडशी खरतरा खरखड्गहस्ते
खड्गेश्वरी प्रखरवाक्यमथाढ्यवक्त्रे ।
खर्जूरहाररुचिरे खलहन्त्रि तुभ्यं
नित्यं नमो नम उपेन्द्रगिरीन्द्रसेव्ये ॥ १८ ।

गीतानते तरुतरे प्रणमामि नित्यं
गात्रेश्वरी गतिहरे गणनाथसेव्ये ।
गायन्ति ते चरणपङ्कजसारगीतं
रक्षाप्रचण्डकलुषादनुपेक्षणीयम् ॥ १९ ।

दीर्घस्वरे घनवरे घनघोरनादे
घोराननने नवघने घटनाघनानाम् ।
घोरास्पदे घटगते घटशून्यकर्त्रि
त्वं काकिनी समवतु क्षितिदोषजालात् ॥ २० ।

---

१. प्रियकरी–ख० ; २. नानात्मिके सकलकामहरे विचित्रे–ख०; ३. तच्चारु–ख० ।
४. गणितम्–ख०; ५. स्वार्थादि–ख०; ६. कर्णे कुरुष्व खलु मोक्षपदानुभेदी–ख० ।
७. तनु देहि पदाब्जयुग्मम्–ख० ।
८. त्वं षोडशी इत्यारभ्य पटलान्तं श्लोक-कदम्बकं ख०-पुस्तके नास्ति ।

आनुस्वरे स्मरहरे ननु रूपविद्ये
संयोगिनीप्रबलशत्रुविनाशभूते ।
रक्षेऽतिरक्ष करुणां कुरु देहि मोक्षं
चण्डि प्रचण्डनयने चरणं भजे ते ॥ २१ ।

छत्रप्रदे छलहरे छदवासिनी त्वं
छद्मस्थिते हृदयपङ्कजदक्षयोगे[1] ।
त्वां पूजये जयधरे यदुनाथ जन्यो
जाये जयं यदिह देहि पदं भजामि ॥ २२ ।

झङ्के झनज्वलयतीह रिपुं पिबन्ति
त्वं कौशिकी सकलदेहविशोधनी त्वम् ।
नित्येऽनुनासिकपदे सकलार्थदे त्वं
रक्षां कुरुष्व विपदे कुलपुञ्जगुञ्जे ॥ २३ ।

टङ्कारगेऽट्टहसने टललेऽट्टहासे
ठाक्कारिणी सठहरापरिनिष्ठिता त्वम् ।
सिंहेष्टपृष्ठनिलयेऽस्थिरयोगभावं
हृत्पद्मके कुरु सदा सकलार्थदात्रि ॥ २४ ।

एतत्स्त्रोत्रं पठेद्धीमान् ध्यानन्यासपरायणः ।
विभाव्य स्तौति यो योगी स योगी मोक्षभाग्भवेत् ॥ २५ ।

हृत्पङ्करुहमध्यस्थं स पश्यति जगत्त्रयम् ।
[2]अष्टसिद्धियुतः शीघ्रं जीवन्मुक्तो भवेन्नरः ॥ २६ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे काकिनीस्तोत्रविन्यासो नामोनषष्टितमः पटलः ॥

●

---

१. हृदयं पङ्कजमिव, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" इति समासः ।
२. अष्टौ सिद्धयोऽणिमाद्याः प्रसिद्धाः, ताभिर्युतोऽलङ्कृत इति यावत् ।

अथ षष्टितमः पटलः

आनन्दभैरव उवाच—

वद कान्ते परानन्दे रहस्यं कुलसुन्दरि ।
यस्य विज्ञानमात्रेण भवेद् गङ्गाधरो हरिः ॥ १ ।

ईश्वरस्य स्तवब्रह्मपरं निर्वाणसाधनम् ।
[1]शोभाकोटियोगपतेर्योगेन्द्रस्य परापतेः ॥ २ ।

ईश्वरं के न मानन्ति ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
तस्य स्मरणमात्रेण महावाग्मी च मृत्युजित् ॥ ३ ।

[2]मन्त्री वेदान्तसिद्धान्तं तं भजन्ति महर्षयः ।
देवा मनुष्या गन्धर्वास्तं भजन्ति महेश्वरम् ॥ ४ ।

अकालमृत्युहरणं सर्वदा सर्वतोमुखम् ।
सदा तस्य स्तवं दिव्यं श्रोतुमिच्छामि शाङ्करि[3] ॥ ५ ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

कौल त्वं शृणु शङ्करप्रियकरं स्तोत्रं [4]तदीशस्य च
श्रीनाथाय नमः कुलेश [5]परमप्राणेश तुभ्यं मुदा ।
सानन्दाय नमो भवाय पतये लोकेश्वरायों नमो
भूतेशाय गणाधिपाय यतये[6] श्रीशूलिने ते नमः ॥ ६ ।

कान्ताय प्रणवाय[7] योगपतये योगेश्वरायों नमो
[8]महारायाक्षरेश्वराय महते नित्याय नित्यं नमः ।
स्वाधिष्ठानविभेदकाय हरये मूलाब्जसम्भेदिने
[9]नाभेरम्बुजभेदिने हृदयाम्भोद्भिदकायों नमः ॥ ७ ।

---

१. शोभा कोटिर्योगपते.........परागतिः–ख०; २. सर्ववेदान्तसिद्धान्तैस्तम्–ख० ।
३. शङ्करो–ख०; ४. मदीशस्य च–ख०; ५. सततम्–ख० ।
६. सततम्–ख० ।—यतिः सन्न्यासिराट्, तस्मै, श्रिया सहितः शूली, तस्मै इति भावः ।
७. प्रभवाय–ख० ।
८. ओङ्काराय, कवीश्वराय–ख० ।—भोगानामायो वृद्धिः, तत्रान्तर्यागिणे इति यावत् ।
९. ओम्नमोऽम्बुजभेदिने हृत्पद्मोद्भेदकाय ओं नमः–ख० ।

कालाय प्रणवाय मायवशिने नित्यं नमो भास्वते
मोक्षाय प्रथमेश्वराय कवये खट्वाङ्गहस्ताय ते।
भक्तिश्रीनिधये[1] महेन्द्रखचराय[2] मायाश्रयायों नमो
विज्ञानाय शिवाय सूक्ष्मगतये गूढाय भूयो नमः॥ ८॥

सर्वज्ञाय जयाय भूतिपतये[3] भूतेश्वराय प्रभो
पञ्चास्याय हराय देवपतये गौरीश्वराय श्रिये।
[4]भोगायान्तरगामिने हरिहरायानन्दचिद्रूपिणे
कल्याणाय भगाय शुद्धमतिभिर्नित्यं नमस्ते नमः॥ ९॥

गोविन्दप्रियवल्लभाय विधये ब्रह्मादिकोत्पत्तये
उत्पत्तिस्थितिसंहृतिप्रकृतये [5]बाह्याय विश्वेश्वर।
तुभ्यं काल नमो नमः प्रलययोगोल्लासिने भूभृते
[6]विज्ञाताय गिरीन्द्रपूजित विभो भूताधिपायानिशम्[7]॥ १०॥

गौरीशाय गणार्चिताय मनसे[8] मान्याय[9] भूवासिने
भूतोत्साहमहोशनाथशशिचूडाय प्रधानाय ते।
नित्यं नित्यकलाकुलाय फणिचूडाय[10] प्रबुद्धाय ते
तेजःशान्तिपते सतां[11] पतिपते निर्वासिसे ते नमः॥ ११॥

शोभाकोटियुताय चन्द्रकिरणाह्लादाय सूक्ष्माय ते
तुभ्यं नाथ नमो नमः प्रणमतामानन्दसिन्धूत्सवा।
हेरम्ब[12] श्रयकार्तिकेयजनकानन्दप्रियाय प्रभो
पित्रे सर्वसुखाय सर्वपतये श्रीनीलकण्ठेश्वर॥ १२॥

---

१. निलये–ख०; २. खचरैर्माया………ख०; ३. भूतपतये–ख०।
४. ओंभोगान्तरगामिने–ख०; ५. बाम्यायेति–क०; ६. विख्याताय–ख०।
७. भूतानामधिपाय स्वामिने।
८. मनवे–ख०; ९. मन्याय–क०; १०. बुद्धायेति–ख०।
११. संजलपतिनिर्वासिशो नमः–क०; १२. हेरम्बाश्रयकार्तिकेशजनका………ख०।

त्रिब्रह्मार्पितभूतये सुरतये[1] श्रीभास्वते योगिना-
मानन्दोदयकारिणे कुलपते ते[2] नाथ तुभ्यं नमः।
ब्रह्मानन्दकुलाय रौप्यगिरये सौन्दर्यसंसिद्धये
सर्वानन्दकराय सम्परतरायाढ्याय सत्यं[3] नमः ॥ १३ ।

काशीशं कौशिकीशं सुरतरुकिरणं कारणाख्यं सुखाख्यं[4]
गौरीशं [5]गङ्गिरीशं गुरुमगुरुगिरिश्रेणिलिप्ताङ्गवङ्गम्।
घोषाख्यं मञ्जुघोषं घनगणघटितं घोरसङ्घट्टनादं
[6]चार्वीशं राघवेशं घनहृदि घटमामीश्वरं घोटकेशम्[7] ॥ १४ ।

[8]लाक्षाभाण्डं विशालो वसति तव करे स्थावरो जङ्गमो वा
भूताध्यक्षो[9] वशिष्ठः स्वपरिजनकुले सर्वदा पाहि शम्भो।
भक्तिज्ञानं [10]न दातुं चपलमलमणिश्रेणिमाला विलोला
लोकाभीतो[11]कलङ्की विधिशतमुकुटश्रीपदाम्भोरुहं ते ॥ १५ ।

धूर्तः शौरिः प्रशान्तो विमलमधुरसामोदमानोऽप्रमत्तो[12]
मायामोहापदेवी[13] सुरमदमदनो दानसम्मानदाता।
[14]त्वं नाथं श्रीपदाम्भोरुहविमलतले[15] ते कथं ना सुरक्षे
पूर्वास्यो दक्षिणास्यो धनपतिवदनः पश्चिमास्यो[16]मुनिस्त्वम् ॥ १६ ।

---

१. सुरपते—ख०; २. हे—ख०; ३. सत्यमिति—क०।
४. सुषाख्यमिति—ख०।
५. सर्वमीशं गुरुगिरिनमितं श्रोणिलिप्ताङ्गभस्ममिति—ख०।
६. अर्घीशं......जनघटनया चेश्वरमिति......ख०।
७. घोटकानामीशं घोटकेशमित्यनेन तीव्रगतिकानां मनांसि ईशयति इति यावत्।
८. नित्यं वै त्वं विशालो वसति तव करे " ख०।
९. भूताध्यक्षं वाशिष्ठमिति—ख०।
१०. न दत्तमिति ख०... चपलसितमणि... विलोलो... ख०।
११. लोकातीतः कलङ्कीविधुशत... अम्भोरुहस्ते—ख०।—अकलङ्की इति पदच्छेदो भाति। "अतो रोरप्लुतादप्लुते" इति सूत्रेण रोरुत्वम्।
१२. मोदमानः प्रमत्तो—ख०; १३. प्रणाशो...सर्वसम्मानदाता—ख०।
१४. ते नाथ; १५. तलेऽहं कथं चाशु वक्ष्ये—ख०; १६. मुनीन्द्र—ख०।

[1]भेदी [2]सिद्धान्तविद्याधरनिधिकिरणः कारणोऽनन्तशक्ति-
र्यः साक्षात् कामधेनुः स च धनपतिपः सर्वभोगानुरागी ।
पादाम्भोजे हि नित्यं [3]कलगिरिसुतानाथ ते योगिपत्वं
चित्तं मे चञ्चलाख्यं शशिधरकिरणो वाक्पते[4] योगसिद्धिः ॥ १७ ॥

[5]कपर्दी श्रीखड्गासिवरगदया वेदभुजया
घनच्छायासंकोचरचरवशच्छद्मविजयः[6] ।
जयी जेता जायेर्जयमनुकरोतु श्रियतमो
ज्वलज्झंझावाते क्षणधर इह क्रोध इति मे ॥ १८ ॥

[7]अथाऽऽज्ञाचक्रान्तर्गतविवरमाच्छन्नजटिलः
प्रतिज्ञाभङ्गस्थकटकशतकोटिप्रकटितः ।
कुठारस्ते[8] क्रोधी कमठकटवासी[9] कठिनहा
ककाराद्यं[10] नत्वा दशकिरणमानोऽवतु सदा ॥ १९ ॥

[11]सुधाखण्डादेव्याः स्तवनपठनेन प्रियकरं
पदाम्भोजं चेति प्रचयति[12] स्वभाग्यं कुलपते[13]।
[14]प्रधाने भूखण्डे जयति यदि मृत्युञ्जयपदं
विनोदं भूयोगं पचति[15] सहसा [16]प्रेमतरलः ॥ २० ॥

---

१. भेदे—ख०; २. विघु ; ३. समरगिरि....योगपन्नमिति—क० ।
४. वाक्पतेर्योगसिन्धो—ख० ।—'वाक्पते, योगसिन्धो' इति पदद्वयस्य संबोधने औचित्यम्, अथवा वाक्पते ! हे भगवन् ! तदा योगसिद्धिर्भवति, इत्यन्वयः ।
५. कापर्दी श्रीखड्गासिवरगदयावेद भुजगो
घनच्छायां संकोचय मम सदा कायनिचये ।
जयी जेता जातेर्ज ....ख० ।
६. स्थूलविजयः—ख० ।
७. सदाज्ञाचक्रान्तर्गतविषधरमाच्छन्नजटिलः—ख०; ८. कुठारास्त्रः—ख० ।
९. तट—ख०; १०. ककाराद्यणोद्वादशकिरणयुक्तोऽवतु सदा—ख० ।
११. सुधाखण्डं हुत्वा स्तवनपठने न प्रिय....ख०; १२. प्रचरति—ख०; १३. कुलपतेः—ख० ।
१४. प्रधाने—ख० ।—अयमेव पाठो युक्तः प्रतिभाति, अर्थसंगतेः ।
१५. पठति—ख०; १६. तरणः—ख० ।

यद्येवं प्रपठेदिदमनियतं[1] कौलावलीसंयुतं[2]
[3]स्तोत्रं साररहस्यभारपरमानन्दैकचित्तस्थलम् ।
योगीन्द्रावगतित्वमुक्तफलदं[4] सर्वेश्वरत्त्वं पदं
चन्द्रादित्यसमागतं परपदाह्लादैकमात्रं लभेत् ॥ २१ ।

ते शम्भो यदि पादाम्भोरुहमङ्गलवल्लिका[5] ।
[6]पूज्यते सर्वदा योगी निर्वाणगुणसिद्धये ॥ २२ ।

किन्न सिद्धयति भूमध्ये शिवभक्तिप्रसादतः ॥ २३ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने अनाहतपद्मे
[7]सुरस्तवनं नाम षष्टितमः पटलः ॥

●

---

१. न्तु–ख० ; २. सम्मतमिति–ख० ।
३. संसारे सरहस्यकं भवभयानन्दैकचित्तस्थलमिति–ख० ।
४. मुक्तिफलदमिति–ख० ।—अर्थसंगत्या अयमेव पाठो युक्ततरो भाति ।
५. पाद एव अम्भोरुहं कमलम्, अथवा पादोऽम्भोरुहमिव, तत्र मङ्गलवल्लिका ।
६. स्तौति वै सर्वदा'''ख० ।—पूज्यते सर्वदा योगी, इति मूलपाठो युक्ततरः प्रतिभाति ।
७. अत्र क-खपुस्तकयोः पटलसंख्या समाना जाता ।

अथैकषष्टितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

वद कल्याणि कामेशि त्रैलोक्यपरिपूजिते ।
ब्रह्माण्डानन्तनिलये[1] कैलासशिखरोज्ज्वले ॥ १ ।

कालिके कालरात्रिस्थे महाकालनिषेविते ।
शब्दब्रह्मस्वरूपे त्वं वक्तुमर्हसि सादरात् ॥ २ ।

[2]सहस्रनामयोगाख्यम् अष्टोत्तरमनन्तरम् ।
अनन्तकोटिब्रह्माण्डं सारं परममङ्गलम् ॥ ३ ।

ज्ञानसिद्धिकरं साक्षाद् अत्यन्तानन्दवर्धनम् ।
[3]सङ्केतशब्दमोक्षार्थं काकिनीस्वरसंयुतम् ॥ ४ ।

परानन्दकरं ब्रह्म निर्वाणपदलालितम्[4] ।
[5]स्नेहादभिसुखानन्दादादौ ब्रह्म वरानने ॥ ५ ।

इच्छामि सर्वदा मातर्जगतां सुरसुन्दरि ।
स्नेहानन्दरसोद्रेकसम्बन्धान्[6] कथय द्रुतम् ॥ ६ ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

ईश्वर श्रीनीलकण्ठ नागमालाविभूषित ।
नागेन्द्रचित्रमालाढ्य नागाधिपरमेश्वर ॥ ७ ।

काकिनीश्वरयोगाढ्यं सहस्रनाममङ्गलम् ।
[7]अष्टोत्तरं वृताकारं कोटिसौदामिनीप्रभम् ॥ ८ ।

---

१. आनन्द—ख०; २. इदं पद्यार्धं ख० पु० नास्ति; ३. शङ्केत—क० ।
४. मादितमिति—क०; ५. स्नेहादतिसुखा''''श्रोतुं वरानने—ख० ।
६. सम्बन्धान्कवचं द्रुतमिति—ख० ।—स्नेहेनानन्दः स्नेहानन्दः, स चासौ रसश्च तस्योद्रेको वर्धनम्, तेन जनिताः सम्बन्धास्तान् । स्नेहानन्दः सत्त्वगुणजनितो भवति, रजस्तमोभ्यां तु आनन्दस्य विखण्डनं भवति ।
७. अष्टोत्तरं विभाकरमिति—क० ।

आयुरारोग्यजननं श्रृणुष्वावहितो मम ।
अनन्तकोटिब्रह्माण्डसारं नित्यं परात्परम् ॥ ९ ।

साधनं ब्रह्मणो ज्ञानं [1]योगानां योगसाधनम् ।
सार्वज्ञ्यगुह्यसंस्कारं संस्कारादिफलप्रदम् ॥ १० ।

वाञ्छासिद्धिकरं साक्षान्महापातकनाशनम् ।
महादारिद्र्यशमनं महैश्वर्यप्रदायकम् ॥ ११ ।

[2]जपेद्यः प्रातरि प्रीतो मध्याह्नेऽस्तमिते रवौ ।
नमस्कृत्य जपेन्नाम ध्यानयोगपरायणः ॥ १२ ।

काकिनीश्वरसंयोगं ध्यानं ध्यानगुणोदयम् ।
आदौ ध्यानं समाचर्य निर्मलोऽमलचेतसा ॥ १३ ।

ध्यायेद्देवीं महाकालीं काकिनीं कालरूपिणीम् ।
परानन्दरसोन्मत्तां श्यामां कामदुघां पराम् ॥ १४ ।

चतुर्भुजां खड्गचर्मवरपद्मधरां [3]हराम् ।
शत्रुक्षयकरीं रत्नाऽलङ्कारकोटिमण्डिताम् ॥ १५ ।

तरुणानन्दरसिकां पीतवस्त्रां मनोरमाम् ।
केयूरहारललितां ताटङ्कद्वयशोभिताम् ॥ १६ ।

ईश्वरीं कामरत्नाख्यां काकचञ्चुपुटाननाम् ।
सुन्दरीं वनमालाढ्यां चारुसिंहासनस्थिताम् ॥ १७ ।

[4]हृत्पद्मकर्णिकामध्याकाशसौदामिनीप्रभाम् ।
एवं ध्यात्वा पठेन्नाम मङ्गलानि पुनः पुनः ॥ १८ ।

ईश्वरं कोटिसूर्याभं [5]ध्यायेद्धृदयमण्डले ।
चतुर्भुजं वीररूपं लावण्यं भावसम्भवम् ॥ १९ ।

---

१. योगिनामिति–ख० ।
२. पठेद्य प्रातरुत्थाय······ मध्याह्ने वा तथाविधः–ख० ।
३. परामिति–ख० ।—हरामिति पाठे हरतीति हरा, पचादजन्तता ज्ञेया । परामिति पाठे तु उत्कृष्टामित्यर्थो ज्ञेयः ।
४. हृत्पद्मकर्णिकामध्यकोटि सौदामिनि प्रभामिति–ख० ।
५. हृन्मण्डले परम्–ख० ।

श्यामं हिरण्यभूषाङ्गं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।
अभयं वरदं पद्मं[1] महाखड्गधरं विभुम् ॥ २० ।
किरीटिनं महाकायं स्मितहास्यं[2] प्रकाशकम् ।
हृदयाम्बुजमध्यस्थं नूपुरैरुपशोभितम् ॥ २१ ।
कोटिकालानलं दीप्तं काकिनीदक्षिणस्थितम्[3] ।
एवं विचिन्त्य मनसा योगिनं[4] परमेश्वरम् ॥ २२ ।
ततः पठेत् सहस्राख्यं[5] वदामि शृणु तत्प्रभो ॥ २३ ।

अस्य श्रीकाकिनीश्वरसहस्रनामस्तोत्रस्य ब्रह्मऋषिर्गायत्रीच्छन्दो जगदीश्वरकाकिनी देवता निर्वाणयोगार्थसिद्धयर्थे [6]जपे विनियोगः ।

ॐ [7]ईश्वरः काकिनीशान ईशान कमलेश्वरी ।
ईशः काकेश्वरीशानी[8] ईश्वरीशः कुलेश्वरी ॥ २४ ।
[9]ईशमोक्षः कामधेनुः कपर्दीशः कपर्दिनी ।
कौलः कुलीनान्तरगा कविः[10]काव्यप्रकाशिनी ॥ २५ ।
कलादेशः सुकविता कारणः[11] करुणामयी ।
कञ्जपत्रेक्षणः काली कामः[12]कौलावलीश्वरी ॥ २६ ।
किरातरूपी केवल्याकिरणः[13] कामनाशना ।
[14]कार्णाटेशः सकर्णाटो कलिकः कालिकापुटा ॥ २७ ।

---

१. पद्ममहा…… ख०; २. स्मितहास्यप्रकाशकम्–ख० ।
३. दक्षिणे–ख०; ४. योगिनाम्–ख०; ५. सहस्रास्यम्–ख० ।
६. जपे–ख० पु० नास्ति ।
७. ॐ ॐ ईश्वरः काकिनीशा ईशानः कुलेश्वरी । ईशः साक्षी कामधेनुः कपर्दिर्नाकपद्मिनी–ख० ।
८. ईश सामर्थ्ये इत्यस्माद् धातोः 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' इति कर्त्तरि वरच्, ततः प्रयोगे ङीष् ।
९. इदं पद्यार्धं ख० पुस्तके न दृश्यते; १०. कविकाव्य…… ख० ।
११. कारणा–ख०; १२. कौलावली–ख०; १३. केवलं कमलासना–ख० ।
१४. किम्नटेशः सुकेशाक्षी कपिलः कलिप्रस्फुटः–ख० ।

किशोरः कीशुनमिता[1] केशवेशः कुलेश्वरी ।
केशकिञ्जलककुटिलः[2] कामराजकुतूहला[3] ॥ २८ ।

करकोटिधरः कूटा क्रियाक्रूरः क्रियावती ।
[4]कुम्भहा कुम्भहन्त्री च कटकच्छकलावती ॥ २९ ।

[5]कञ्जवक्त्रः कालमुखी कोटिसूर्यकरानना ।
कम्रः कलपः समृद्धिस्था कुपोऽन्तस्थः कुलाचला ॥ ३० ।

[6]कुणपः कौलपाकाशा स्वकान्तः कामवासिनी[7] ।
सुकृतिः शाङ्करी विद्या [8]कलकः कलनाश्रया ॥ ३१ ।

[9]कर्कन्धुस्थः कौलकन्या कुलीनः कन्यकाकुला ।
कुमारः केशरी विद्या कामहा कुलपण्डिता ॥ ३२ ।

[10]कल्कीशः कमनीयाङ्गी कुशलः कुशलावती ।
केतकीपुष्पमालाढ्यः केतकीकुसुमान्विता ॥ ३३ ।

कुसुमानन्दमालाढ्यः कुसुमामलमालिका ।
कवीन्द्रः काव्यसम्भूतः काममञ्जीररञ्जिनी ॥ ३४ ।

कुशासनस्थः कौशल्याकुलपः कल्पपादपा ।
कल्पवृक्षः कल्पलता विकल्पः कल्पगामिनी ॥ ३५ ।

कठोरस्थः[11] काचनिभा करालः कालवासिनी ।
कालकूटाश्रयानन्दः कर्कशाकाशवाहिनी ॥ ३६ ।

---

१. कीशरसिका कौलकेशः–ख० ।

२. केशकिञ्जल्को जटिलः–ख० । —केशानां किञ्जल्कोऽस्यास्ति स केशकिञ्जल्की । अत इनिः । षष्ठीतत्पुरुषे सति मत्वर्थीय इनिः ।

३. बीज–ख०; ४. कष्टहा कुष्ठहन्त्री च कटकास्या कलावती–ख० ।

५. कम्नवक्रः कामसुखी कोटिसूर्यवरानना–ख० ।
कम्पः कम्पसुबुद्धिस्थः कल्पान्तस्थः–ख० ।

६. कुलपः–ख०; ७. काञ्ची–ख० ।

८. कामहा कुलपण्डिता–ख० । —कामे वास इति कामवासः, सोऽस्या अस्ति सा । कामाधिष्ठात्री इत्यर्थः । ९. अयं श्लोकः ख० पु० नास्ति ।

१०. कंकेशः–ख० । —कर्कः शुक्लोऽश्वः । सोऽस्यास्ति स कर्की, रलयोरभेदे लत्वम् । स चासौ ईशश्चेति कर्मधारयः । कल्की इति कलियुगान्ते भगवदवतारः; ११.कठिनमा–ख०।

कटधूमाकृतिच्छायो[1] विकटासनसंस्थिता ।
[2]कायधारी कूपकरी करवीरागतः[3] कृषी ॥ ३७ ।
कालगम्भीरनादान्ता[4] विकलालापमानसा[5] ।
[6]प्रकृतीशः सत्प्रकृतिः प्रकृष्टः कर्षिणीश्वरी ॥ ३८ ।
भगवान् वारुणीवर्णा विवर्णो [7]वर्णरूपिणी ।
सुवर्णवर्णो हेमाभो महान्[8] महेन्द्रपूजिता ॥ ३९ ।
महात्मा महतीशानी महेशो मत्तगामिनी ।
महावीरो महावेगा महालक्ष्मीश्वरो मतिः ॥ ४० ।
महादेवो महादेवो महानन्दो महाकला ।
महाकालो महाकाली महाबलो महाबला ॥ ४१ ।
महामान्यो महामान्या महाधन्यो[9] महाधनी ।
महामालो महामाला महाकाशो महाकशा[10] ॥ ५२ ।
महायशो[11] महायज्ञा महाराजो [12]महारजा ।
महाविद्यो महाविद्या महामुख्यो महामखी[13] ॥ ४३ ।
महारात्रो महारात्रिर्महाधीरो[14] महाशया ।
महाक्षेत्रो महाक्षेत्रा कुरुक्षेत्रः कुरुप्रिया ॥ ४४ ।
महाचण्डो महोग्रा च महामत्तो महामतिः ।
महावेदो महावेदा महोत्साहो महोत्सवा ॥ ४५ ।
महाकल्पो महाकल्पा महायोगो[15] महागतिः ।
महाभद्रो महाभद्रा महासूक्ष्मो महाचला ॥ ४६ ।

---

१. छाया–ख०; २. काल–ख० ।
३. भगः कृषा–ख०; ४. नादन्तो–ख०; ५. मानुषा–ख० ।
६. प्रकृतिस्थः–ख०; ७. वर्णो वर्णस्वरूपिणी–ख० ।
८. महामहेन्द्र–ख० ।
९. महाघन्या–ख० ।—प्रकरणदृष्ट्या तु 'महाधन्या' इत्येव पाठो युक्ततरः प्रतिभाति, धनमैश्वर्यं लब्धवती धन्या, महती चासौ धन्या चेति विशेषणसमासः ।
१०. महावियत्–ख०; ११. महायज्ञो–ख०; १२. महेश्वरी–ख०;
१३. महामुखी–ख०; १४. महारात्री–क०; १५. महायोगी–ख० ।

महावाक्यो महावाणी महायज्वा[१] महाजवा ।
महामूर्तिर्महाकान्ता[२] महाधर्मो महाधना[३] ॥ ४७ ॥

महामहोग्रो महिषी महाभोग्यो[४] महाप्रभा ।
[५]महाक्षेमो महामाया महामाया महारमा ॥ ४८ ॥

महेन्द्रपूजिता माता विभालो[६] मण्डलेश्वरी ।
[७]महाविकालो विकला [८]प्रतलस्थललामगा ॥ ४९ ॥

कैवल्यदाता कैवल्या कौतुकस्थो विकर्षिणी[९] ।
[१०]वालाप्रतिर्वालिपत्नी वलरामो वलाङ्गजा ॥ ५० ॥

[११]अवलेशः कामवीरा प्राणेशः प्राणरक्षिणी ।
पञ्चमाचारगः पञ्चापञ्चमः[१२] पञ्चमीश्वरी ॥ ५१ ॥

प्रपञ्चः पञ्चरसगा[१३] निष्प्रपञ्चः कृपामयी ।
कामरूपी कामरूपा कामक्रोधविवर्जिता ॥ ५२ ॥

कामात्मा कामनिलया कामाख्या[१४]कामचञ्चला ।
कामपुष्पधरः कामा कामेशः[१५] कामपुष्पिणी ॥ ५३ ॥

महामुद्राधरो मुद्रा सन्मुद्रः [१६]काममुद्रिका ।
चन्द्रार्धकृतभालाभो विधुकोटिमुखाम्बुजा ॥ ५४ ॥

---

१. महाजल्पा महाज्वली–ख० ; २. महामूर्ति महाकान्तो–ख० ।
३. महाधमा–क० ; ४. महाभाग्यो–ख० ।
५. महाक्षोमो–क० ; ६. विभाण्डो–ख० ।
७. महाविकारी–ख० ; ८. प्रवलस्थः स्थलायता–ख० ।
९. विकल्पिनो–ख० ।
१०. बाला पति बाला पानो पत्नी बालो–ख० ।
११. अवनीशः कालवीरा–ख० ; १२. प्रपञ्चः–ख० ।
१३. रसना–ख० ; १४. कामाख्यः–ख० ।
१५. कटकस्थः कलावती–ख० ।
१६. कम्रवक्रः काममुखी कोटिसूर्यकरानना ।
कुनपः कीलपाकाशा सुकान्तः काञ्चवासिनी ॥
सुकृतिः शाङ्करी विध्या कामहा कुलपालिता । ख० ।

चन्द्रकोटिप्रभाधारी चन्द्रज्योतिः स्वरूपिणी ।
सूर्याभो वीरकिरणा[1] सूर्यकोटिविभाविता[2] ।। ५५ ।

मिहिरेशो[3] मानवका अन्तर्गामी[4] निराश्रया ।
प्रजापतीशः कल्याणी[5] दक्षेशः कुलरोहिणी ।। ५६ ।

अप्रचेताः[6] प्रचेतस्था व्यासेशो व्यासपूजिता ।
काश्यपेशः काश्यपेशी भृग्वीशो[7] भार्गवेश्वरी ।। ५७ ।

वशिष्ठः प्रियभावस्थो वशिष्ठबाधितापरा ।
पुलस्त्यपूजितो देवः पुलस्त्यचित्तसंस्थिता ।। ५८ ।

अगस्त्याच्र्योऽगस्त्यमाता प्रह्लादेशो वलीश्वरी ।
कर्दमेशः कर्दमाद्या बालको बालपूजिता ।। ५९ ।

मनस्थश्चान्तरिक्षस्था शब्दज्ञानी सरस्वती ।
रूपातीता[8] रूपशून्या विरूपो रूपमोहिनी ।। ६० ।

विद्याधरेशो विद्येशी वृषस्थो [9]वृषवाहिनी ।
रसज्ञो रसिकानन्दा विरसो रसवर्जिता ।। ६१ ।

सौनः सनत्कुमारेशी योगचर्येश्वरः प्रिया ।
[10]दुर्वाशाः प्राणनिलयः साङ्ख्ययोगसमुद्भवा ।। ६२ ।

असङ्ख्येयो[11]मांसभक्षा सुमांसाशी मनोरमा ।
नरमांसविभोक्ता च नरमांसविनोदिनी ।। ६३ ।

[12]मीनवक्त्रप्रियो मोना मीनभुङ्मीनभक्षिणी ।
रोहिताशी मत्स्यगन्धा [13]मत्स्यनाथो रसापहा ।। ६४ ।

---

१. सूर्याभः सूर्यकिरणा–ख० ।
२. विभासिता–ख० ।—सूर्याणां कोटयस्ताभिर्विभाविता ।
३. महेन्द्रेणो मीनवक्त्रा–ख०; ४. अन्तर्यामी–ख०; ५. श्रीकन्या–ख० ।
६. स्वचेतः स्यःस्वचेतः स्था–ख० ।—अविद्यमानं प्रचेतो यस्य सः; ७. भृगुपः–ख० ।
८. वाहना–ख०; ९. मौनः········योगाचार्ये–ख०; १०. दुर्वासा–ख० ।
११. असङ्ख्या मांसभक्षा चेति–ख०; १२. मत्स्यमत्तासवप्रिया–ख० ।
१३. पद्यार्धं ख० पु० नास्ति ।

[1]पार्वतीप्रेमनिकरो त्रिधिदेवाधिपूजिता ।
विधातृवरदो वेद्या वेदो वेदकुमारिका ॥ ६५ ।
श्यामेशो सितवर्णा च चासितोऽसितरूपिणी ।
महामत्ताऽऽसवाशी च महामत्ताऽऽसवप्रिया ॥ ६६ ।
[2]आसवाढ्योऽमनादेवी निर्मलासवपामरा[3] ।
विसत्तो[4] मदिरामत्ता मत्तकुञ्जरगामिनी ॥ ६७ ।
मणिमालाधरो मालामातृकेशः[5] प्रसन्नधीः ।
जरामृत्युहरो गौरी गायनस्थो जरामरा ॥ ६८ ।
सुचञ्चलोऽतिदुर्धर्षा कण्ठस्थो [6]हृद्गता सती ।
अशोकः शोकरहिता मन्दरस्थो[7] हि मन्त्रिणी ॥ ६९ ।
मन्त्रमालाधरानन्दो मन्त्रयन्त्रप्रकाशिनी ।
मन्त्रार्थचैतन्यकरो मन्त्रसिद्धिप्रकाशिनी ॥ ७० ।
मन्त्रज्ञो मन्त्रनिलया [8]मन्त्रार्थामन्त्रमन्त्रिणी ।
बीजध्यानसमन्तस्था मन्त्रमालेऽतिसिद्धिदा ॥ ७१ ।
मन्त्रवेत्ता मन्त्रसिद्धिर्मन्त्रस्थो मान्त्रिकान्तरा ।
बीजस्वरूपो बीजेशी बीजमालेऽति[9] बीजिका ॥ ७२ ।
बीजात्मा बीजनिलया बीजाढ्या[10]बीजमालिनी।
बीजध्यानो बीजयज्ञा बीजाढ्या बीजमालिनी[11]॥ ७३ ।
[12]महाबीजधरो बीजा बीजाढ्या बीजवल्लभा ।
मेघमाला मेघमालो वनमाली हलायुधा ॥ ७४ ।

---

१. पार्वतीप्रेमनिकर इत्यारभ्य महामत्तासवप्रियान्तं—श्लोकयुगलं-ख० पु० नास्ति ।
२. अमला-ख०; ३. सुप्रिया-ख०; ४. विमुक्तो-ख०; ५. महाकेशः-ख० ।
६. कण्ठस्य हृद्गता-ख० । —प्रकरणदृष्टया 'कण्ठस्थः' इत्येव पाठो युक्तः । कण्ठे तिष्ठतीति कण्ठस्थो भगवान् शिवः ।
७. मन्त्रस्थो यतिमन्त्रिणी-ख० ।
८. मन्त्रार्था-क०; ९. बीजमालातिबीजिका-ख०; १०. बीजगो-ख० ।
११. बीजसुन्दरी-ख० ।
१२. बीजतातो बीजमाता बीजज्ञो बीजमालिनी । ख० पु० नास्ति ।

कृष्णाजिनधरो रौद्रा रौद्रा[1] रौद्रगणाश्रया ।
रौद्रप्रियो रौद्रकर्त्री [2]रौद्रलोकप्रदः प्रभा ।। ७५ ।

विनाशी सर्वगानां[3] च सर्वाणी सर्वसम्पदा ।
नारदेशः प्रधानेशी वारणेशो[4] वनेश्वरी ।। ७६ ।

कृष्णेश्वरः केशवेशी [5]कृष्णवर्णस्त्रिलोचना ।
[6]कामेश्वरो राघवेशी बालेशी वा बाणपूजितः ।। ७७ ।

भवानीशो भवानी च भवेन्द्रो भववल्लभा ।
भवानन्दोऽतिसूक्ष्माख्या भवमूर्तिर्भवेश्वरी ।। ७८ ।

भवच्छायो भवानन्दो भवभीतिहरो वला ।
भाषाज्ञानीभाषमाला[7] महाजीवोऽतिवासना ।। ७९ ।

लोभापम्दो लोभकर्त्री प्रलोभो लोभवर्धिनी ।
मोहातीतो मोहमाता मोहजालो महावती[8] ।। ८० ।

मोहमुद्‌गरधारी[9] च मोहमुद्‌गरधारिणी ।
[10]मोहान्वितो मोहमुग्धा कामेशः कामिनीश्वरी ।। ८१ ।

[11]कामलापकरोऽकामा सत्कामो कामनाशिनी ।
[12]बृहन्मुखो बृहन्नेत्रा पद्माभोऽम्बुजलोचना ।। ८२ ।

पद्ममालः पद्ममाला श्रीदेवो देवरक्षिणी ।
असितोऽप्यसिता चैव आह्लादो[13]देवमातृका ।। ८३ ।

---

१. रुद्रो रुद्रगणप्रिया—ख०; २. रुद्रलोकप्रदः प्रभो—ख० ।
३. सर्वगतानां शर्वाणी सर्वसम्पदाम्—ख०; ४. रावणेशो रणेश्वरी—ख० ।
५. कृष्णवर्णोऽतिचञ्चलः—ख० । —पाठद्वयमपि युक्तं प्रतिभाति । कृष्णवर्णः श्रीशिवः, त्रिलोचना भगवती । क्षीरसागराद् विनिःसृतस्य विषस्य पानेन भगवान् शिवो नीलकण्ठ इत्युच्यते ।
६. रामेश्वरो रामवेशी बाणेशो बाणपूजिता—ख० ।
७. भाषमाना महाजिह्वोऽतिवामना—ख०; ८. अमरावती—ख० ।
९. मोहमुद्‌गरक्षो बीजा—ख०; १०. महान्वितो महामुक्ता—ख० ।
११. कामलोपकरो·······सत्कामा—ख०; १२. बृहन्मख—क० ।
१३. साह्लादो नाशमातृका—ख० ।

नागेश्वरः शैलमाता नागेन्द्रो वै नगात्मजा ।
नारायणेश्वरः कीर्तिः सत्कीर्तिः कीर्तिवर्धिनी ॥ ८४ ।

[1]कार्तिकेशः कार्तिकी च विकर्ता गहनाश्रया ।
[2]विरक्तो गरुडारूढा गरुडस्थो हि गारुडी ॥ ८५ ।

गरुडेशो गुरुमयी गुरुदेवो गुरुप्रदा ।
गौराङ्गेशो गौरकन्या गङ्गेशः प्राङ्गणेश्वरी ॥ ८६ ।

[3]प्रतिकेशो विशाला च निरालोको निरीन्द्रिया ।
प्रेतबीजस्वरूपश्च प्रेताऽलङ्कारभूषिता ॥ ८७ ।

प्रेमगेहः[4] प्रेमहन्त्री हरीन्द्रो हरिणेक्षणा ।
कालेशः कालिकेशानी कौलिकेशश्च काकिनी ॥ ८८ ।

कालमञ्जीरधारी च कालमञ्जीरमोहिनी ।
करालवदनः काली कैवल्यदानदः कथा[5] ॥ ८९ ।

कमलापालकः कुन्ती कैकेयीशः सुतः[6] कला ।
[7]कालानलः कुलज्ञा च कुलगामी कुलाश्रया ॥ ९० ।

कुलधर्मस्थितः कौला कुलमार्गः कुलातुरा[8] ।
[9]कुलजिह्वः[10]कुलानन्दा कृष्णः कृष्णसमुद्भवा[11]॥ ९१ ।

[12]कृष्णेशः कृष्णमहिषी काकस्थः काकचञ्चुका ।
कालधर्मः कालरूपा कालः कालप्रकाशिनी ॥ ९२ ।

कालजः कालकन्या[13] च कालेशः कालसुन्दरी ।
खड्गहस्तः खर्पराढ्या खरगः खरखङ्गिनी[14] ॥ ९३ ।

---

१. कृत्तिवेशः........कलहा कलहप्रिया–ख० ।
२. विरक्त इत्यारभ्य प्राङ्गणेश्वरी इत्यन्तं–ख० पु० नास्ति ।
३. प्रतिष्ठेश–ख०; ४. प्रेमगः–ख०; ५. सदा–ख० ।
६. कैकेयज्ञः सुतः–क०; ७. कलाननहू–ख०; ८. कुलान्तरा–ख० ।
९. कुलजिह्वा–ख०; १०. कुलानन्दा–क०; ११. तनूद्भवा इति–ख० ।
१२. कालानलः कृष्णकेशा काकुत्स्थ–ख०; १३. कालजन्या–ख० ।
१४. खञ्जनी–ख० ।

[1]खलबुद्धिहरः खेला खञ्जनेशः सुखाञ्जनी ।
गीतप्रियो गायनस्था गणपालो [2]गुहाश्रया ।। ९४ ।
[3]गर्गप्रियो गयाप्राप्तिर्गर्गस्थो हि गभीरिणा ।
[4]गारुडीशो हि गान्धर्वी गतीशो गार्हवह्निजा ।। ९५ ।
गणगन्धर्वगोपालो गणगन्धर्वगो गता ।
गभीरमानी[5] सम्भेदो गभीरकोटिसागरा ।। ९६ ।
गतिस्थो गाणपत्यस्था[6] गणनाद्यो गवा तनूः ।
गन्धद्वारो गन्धमाला गन्धाढ्यो गन्धनिर्गमा ।। ९७ ।
गन्धमोहितसर्वाङ्गो गन्धचञ्चलमोहिनी[7] ।
गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यादिप्रपूजिता ।। ८ ।
[8]गन्धागुरुसुकस्तूरी कुङ्कुमादिविमण्डिता[9] ।
गोकुला मधुरानन्दा पुष्पगन्धान्तरस्थिता[10] ।। ९९ ।
गन्धमादनसम्भूतपुष्पमाल्यविभूषितः[11] ।
[12]रत्नाद्यशेषालङ्कारमालामण्डितविग्रहः ।। १०० ।
स्वर्णाद्यशेषालङ्काररहारमालाविमण्डिता ।
[13]करवीरायुतप्रख्यरक्तलोचनपङ्कजः ।। १०१ ।
जवाकोटिकोटिशत चारुलोचनपङ्कजा ।
घनकोटिमहानास्य[14] पङ्कजालोलविग्रहा ।। १०२ ।
घर्घरध्वनिमानन्दकाव्याम्बुधिमुखाम्बुजा ।
घोरचित्रसर्पराज मालाकोटिशताङ्कभृत् ।। १०३ ।
घनघोरमहानाग[15] चित्रमालाविभूषिता ।
घण्टाकोटिमहानादमानन्दलोलविग्रहः ।। १०४ ।

---

१. खरबुद्धि–ख०; २. गणाधीशो गुहप्रिया–ख०;
३. गमप्राप्ति....गकीरिणी–ख०; ४. गारुडेशो हि गन्धर्वपती–ख० ।
५. नाद.... ....ख०; ६. गाणपत्यस्थो–ख०; ७. चन्दन–ख० ।
८. चन्दनागुरु–ख०; ९. सुमण्डिता–ख०; १०. स्थित–ख० ।
११. विभूषिता–ख०; १२. मणि–ख० ।
१३. कुसुमप्रख्या–ख०; १४. समानास्य–ख०; १५. [illegible] पु० नास्ति ।

घण्टाडमरु मन्त्रादिध्यानानन्दकराम्बुजा । ।
[2]घटकोटिकोटिशतसहस्रमङ्गलासना ॥ १०५ ।
घण्टाशङ्खपद्मचक्रवराभयकराम्बुजा ।
घातको रिपुकोटीनां शुम्भादीनां[3] तथा सताम् ॥ १०६ ।
घातिनीदैत्यघोराश्च[4] शङ्खानां सततं तथा ।
चार्वाकमतसङ्घातचतुराननपङ्कजः ॥ १०७ ।
चञ्चलानन्दसर्वार्थसारवाग्वादिनीश्वरी ।
चन्द्रकोटिसुनिर्मल[5] मालालम्बितकण्ठभृत् ॥ १०८ ।
चन्द्रकोटिसमानस्य पङ्केरुहमनोहरा ।
चन्द्रज्योत्स्नायुतप्रख्यहारभूषितमस्तकः ॥ १०९ ।
[6]चन्द्रबिम्बसहस्राभायुतभूषितमस्तकः[7] ।
चारुचन्द्रकान्तमणिमणिहारायुताङ्गभृत् ॥ ११० ।
चन्दनागुरुकस्तूरी कुङ्कुमासक्तमालिनी ।
चण्डमुण्डमहामुण्डायुतनिर्मलमाल्यभृत्[8] ॥ १११ ।
[9]चण्डमुण्डघोरमुण्डनिर्माणकुलमालिनी[10] ।
चण्डाट्टहासघोराढ्यवदनाम्भोजचञ्चलः ॥ ११२ ।
चलत्खञ्जननेत्राम्भोरुहमोहितशङ्करा[11] ।
चलदम्भोजनयनानन्दपुष्करमोहितः ॥ ११३ ।
चलदिन्दुभाषमाणावग्रहखेदचन्द्रिका[12] ।
चन्द्रार्धकोटिकिरण चूडामण्डलमण्डितः ॥ ११४ ।
चन्द्रचूडाम्भोजमाला उत्तमाङ्गविमण्डितः[13] ।
चलदर्कसहस्रान्त[14] रत्नहारविभूषितः ॥ ११५ ।

---

१. यन्त्रादि–ख०; २. पद्यार्धं ख० पु० नास्ति; ३. कुम्भादीनां तथा सती–ख० ।
४. घोरात्मभयानां नाशिनी तथा सर्वशत्रुविनाशाय....ख० ।
५. निर्माण–क० ।
६. चन्द्र–ख०; ७. मस्तका–ख०; ८. निर्माल्य–ख० ।
९. महामुण्ड–ख०; १०. निर्माल्य–ख०; ११. शङ्करः–ख० ।
१२. स्वेद–ख०; १३. विमण्डिता–ख०; १४. सहस्राभ–ख० ।

चलदर्ककोटिशतमुखाम्भोजतपोज्वला[1] ।
चारुरत्नासनाम्भोजचन्द्रिकामध्यसंस्थितः ॥ ११६ ।

चारुद्वादश पत्रादि[2] कर्णिकासुप्रकाशिका ।
[3]चमत्कारगटङ्कारधनुर्बाणकराम्बुजः ॥ ११७ ।

चतुर्थवेदगाथादि स्तुतिकोटिसुसिद्धिदा ।
चलदम्बुजनेत्रार्कवह्निचन्द्रत्रयान्वितः ॥ ११८ ।

चलत्सहस्रसङ्ख्यात[4] पङ्कजादिप्रकाशिका ।
चमत्काराट्टहासास्य स्मितपङ्कजराजयः ॥ ११९ ।

चमत्कारमहाघोरसाट्टाट्टहासशोभिता ।
छायासहस्रसंसारशीतलानिलशीतलः ॥ १२० ।

छदपद्मप्रभामानसिंहासनसमास्थिता ।
छलत्कोटिदैत्यराजमुण्डमालाविभूषितः ॥ १२१ ।

छिन्नादिकोटिमन्त्रार्थज्ञानचैतन्यकारिणी ।
चित्रमार्गमहाध्वान्तग्रन्थिसम्भेदकारकः ॥ १२२ ।

अस्त्रकास्त्रादिब्रह्मास्त्र सहस्रकोटिधारिणी ।
अजामांसादिसद्भक्षरसामोदप्रवाहगः ॥ १२३ ।

छेदनादि महोग्रास्त्रे भुजवामप्रकाशिनी ।
जयाख्यादिमहासाम ज्ञानार्थस्य प्रकाशकः ॥ १२४ ।

जायागणहृदम्भोज बुद्धिज्ञानप्रकाशिनी ।
जनार्दनप्रेमभाव महाधनसुखप्रदः ॥ १२५ ।

जगदीशकुलानन्दसिन्धुपङ्कजवासिनी ।
जीवनास्थादिजनकः परमानन्दयोगिनाम् ॥ १२६ ।

जननी योगशास्त्राणां भक्तानां पादपद्मयोः ।
रुक्षपवननिर्वातमहोल्कापातकारणः ॥ १२७ ।

---

१. भयोज्वला—ख०; २. पुत्रादि—ख० ।
३. चमत्कारघटाङ्कारवधूर्बालकराम्बुजः—ख० ।
४. चलसदलपङ्केरुहादिप्रकाशिका—ख० ।

झर्झरीमधुरी वीणा वेणुशङ्खप्रवादिनी ।
झनत्कारोघसंहारकरदण्डविशानधृक् ॥ १२८ ।
झर्झरीनायिकार्य्यादिकराम्भोजनिषेविता ।
टङ्कारभावसंहारमहाजागरवेशधृक् ॥ १२९ ।
टङ्कासिपाशुपातास्त्र चर्मकार्मुकधारिणी ।
टकनानलसङ्घट्टपट्टाम्बरविभूषितः ॥ १३० ।
टुल्टुनी किङ्किणी कोटि विचित्रध्वनिगामिनी ।
ठं ठं ठं मनुमूलान्तः स्वप्रकाशप्रबोधकः ॥ १३१ ।
ठं ठं ठं प्रखराह्लादनादसंवादवादिनी ।
ठं ठं ठं कूर्मपृष्ठस्थः कामचाकारभासनः ॥ १३२ ।
ठं ठं ठं बीजवह्निस्थ हातुकभ्रूविभूषिता ।
डामरप्रखराह्लादसिद्धिविद्याप्रकाशकः ॥ १३३ ।
डिण्डिमध्वानमधुरवाणीसम्मुखपङ्कजा ।
डं डं डं खरकृत्यादि मारणान्तः प्रकाशिका ॥ १३४ ।
ढक्कारवाद्यभूपूरतारसप्तस्वराश्रयः ।
ढौं ढौं ढौं ढौकढक्कलं वह्निजायामनुप्रियः ॥ १३५ ।
ढं ढं ढं ढौं ढ ढं ढ कृत्येत्थाहेति वासिनी ।
तारकब्रह्ममन्त्रस्थः श्रीपादपद्मभावकः ॥ १३६ ।
तारिण्यादिमहामन्त्र सिद्धिसर्वार्थसिद्धिदा ।
तन्त्रमन्त्रमहायन्त्र वेदयोगसुसारवित् ॥ १३७ ।
तालवेतालदैतालश्रीतालादिसुसिद्धदा ।
तरुकल्पलतापुष्पकलबीजप्रकाशकः ॥ १३८ ।
डिन्तिडीतालहिन्तालतुलसीकुलवृक्षजा ।
अकारकूटविन्द्विन्दुमालामण्डितविग्रहः ॥ १३९ ।
स्थातृप्रस्थप्रथागाथास्थूलस्थित्यन्तसंहरा ।
दरीकुञ्जहेममालावनमालादिभूषितः ॥ १४० ।

[1]दारिद्र्यदुःखदहनकालानलशतोपमः ।
दशसाहस्रवक्त्राम्भोरुहशोभितविग्रहः ॥ १४१ ॥
पाशाभयवराह्लादधनधर्मादिवर्धिनी ।
धर्मकोटिशतोल्लाससिद्धिऋद्धिसमृद्धिदा ॥ १४२ ॥
ध्यानयोगज्ञानयोगमन्त्रयोगफलप्रदा ।
नामकोटिशतानन्तसुकीर्तिगुणमोहनः ॥ १४३ ॥
निमित्तफलसद्भावभावाभावविवर्जिता ।
परमानन्दपदवी दानलोलपदाम्बुजः ॥ १४४ ॥
प्रतिष्ठासुनिवृत्तादि समाधिफलसाधिनी ।
फेरवीगणसन्मानवसुसिद्धिप्रदायकः ॥ १४५ ॥
फेत्कारीकुलतन्त्रादि फलसिद्धिस्वरूपिणी ।
वराङ्गनाकोटिकोटिकराम्भोजनिसेविता ॥ १४६ ॥
वरदानज्ञानदान मोक्षदातिचञ्चला ।
भैरवानन्दनाथाख्य शतकोटिमुदान्वितः ॥ १४७ ॥
भावसिद्धिक्रियासिद्धिसाष्टाङ्गसिद्धिदायिनी ।
मकारपञ्चकाह्लादमहामोदशरीरधृक् ॥ १४८ ॥
मदिरादिपञ्चतत्त्वनिर्वाणज्ञानदायिनी ।
यजमानक्रियायोगविभागफलदायकः ॥ १४९ ॥
यशःसहस्रकोटिस्थ गुणगायनतत्परा ।
रणमध्यस्थकालाग्नि क्रोधधारसुविग्रहः ॥ १५० ॥
काकिनीशाकिनीशक्तियोगादि काकिनीकला ।
लक्षणायुतकोटीन्दुललाटतिलकान्वितः ॥ १५१ ॥
[2]लाक्षाबन्धूकसिन्दूरवर्णलावण्यलालिता ।
वातायुतसहस्राङ्गघूर्णायमानभूधरः ॥ १५२ ॥

---

१. दरिद्रस्य भावो दारिद्र्यम्, तस्य दुःखम्, तस्य दहने कालानलशतोपम इत्यन्वयः ।
२. लाक्षाबन्धूकसिन्दूरवर्णस्य लावण्येन सौन्दर्येण लालिता । भगवत्या इदं स्वरूपवर्णनम् ।

विवस्वत्प्रेमभक्तिस्थ चरणद्वन्द्वनिर्मला ।
श्रीसीतापतिशुद्धाङ्ग व्याप्तेन्द्रनीलसन्निभः ॥ १५३ ।

शीतनीलाशतानन्दसागरप्रेमभक्तिदा ।
षट्पङ्केरुहदेवादिस्वप्रकाशप्रबोधिनी ॥ १५४ ।

महोर्मिस्थषडाधारप्रसन्नहृदयाम्बुजा ।
श्यामप्रेमकलाबन्धसर्वाङ्गकुलनायकः ॥ १५५ ।

संसारसारशास्त्रादि सम्बन्धसुन्दराश्रया ।
ह्सौः प्रेतमहाबीजमालाचित्रितकण्ठधृक् ॥ १५६ ।

हकारवामकर्णाढ्य चन्द्रबिन्दुविभूषिता ।
लयसृष्टिस्थितिक्षेत्रपानपालकनामधृक् ॥ १५७ ।

लक्ष्मीलक्षजपानन्दसिद्धिसिद्धान्तवर्णिनी ।
क्षुन्निवृत्तिक्षपारक्षा क्षुधाक्षोभनिवारकः ॥ १५८ ।

क्षत्रियादिकुरुक्षेत्रारुणाक्षिप्तत्रिलोचना ।
अनन्त इतिहासस्थ आज्ञागामी च ईश्वरी ॥ १५९ ।

उमेश उटकन्येशी ऋद्धिस्थहृस्थगोमुखी ।
गकारेश्वरसंयुक्त त्रिकुण्डदेवतारिणी ॥ १६० ।

एणाचीशप्रियानन्द ऐरावतकुलेश्वरी ।
ओढ्रपुष्पानन्तदीप्त ओढ्रपुष्पानखाग्रका ॥ १६१ ।

ऐहृत्यशतकोटिस्थ औ दीर्घप्रणवाश्रया ।
अङ्गस्थाङ्गदेवस्था अर्यस्थश्चार्यमेश्वरी ॥ १६२ ।

मातृकावर्णनिलयः सर्वमातृकलान्विता ।
[1]मातृकामन्त्रजालस्थः प्रसन्नगुणदायिनी ॥ १६३ ।

अत्युत्कटपथिप्रज्ञा गुणमातृपदे स्थिता ।
स्थावरानन्ददेवेशो विसर्गान्तरगामिनी ॥ १६४ ।

---

१. मातृकामन्त्राणां जाले तिष्ठति इति, "सुपि स्थः" इति कर्तरि कप्रत्ययः ।

अकलङ्को निष्कलङ्को निराधारो निराश्रया ।
निराश्रयो निराधारो निर्बीजो बीजयोगिनी ॥ १६५ ।

निःशङ्को निस्पृहानन्दो सिन्धूरत्नावलिप्रभा ।
आकाशस्थः खेचरी च स्वर्गदाता शिवेश्वरी ॥ १६६ ।

[1]सूक्ष्मातिसूक्ष्मात्वैर्ज्ञेया दारापदुःखहारिणी ।
नानादेशसमुद्भूतो नानालङ्कारलङ्कृता ॥ १६७ ।

नवीनाख्यो नूतनस्थ नयनाब्जनिवासिनी ।
विषयाख्यविषानन्दा विषयाशी विषापहा ॥ १६८ ।

विषयातीतभावस्थो विषयानन्दघातिनी ।
विषयच्छेदनास्त्रस्थो विषयज्ञाननाशिनी ॥ १६९ ।

संसारछेदकच्छायो भवच्छायो भवान्तका ।
संसारार्थप्रवर्तश्च संसारपरिवर्तिका ॥ १७० ॥

संसारमोहहन्ता च संसारार्णवतारिणी ।
संसारघटकश्रीदा संसारध्वान्तमोहिनी ॥ १७१ ।

पञ्चतत्त्वस्वरूपश्च पञ्चतत्त्वप्रबोधिनी ।
पार्थिवः पृथिवीशानी पृथुपूज्यः पुरातनी ॥ १७१ ।

वरुणेशो वारुणा च वारिदेशो जलोद्यमा ।
मरुस्थो जीवनस्था च जलभुग्जलवाहना ॥ १७३ ।

तेजः कान्तः प्रोज्वलस्था तेजोराशेस्तु तेजसी ।
तेजस्थस्तेजसो माला तेजः कीर्तिः स्वरश्मिगा ॥ १७४ ।

पवनेशश्चानिलस्था परमात्मा निनान्तरा ।
वायुपूरककारी च वायुकुम्भकवर्धिनी ॥ १७५ ।

वायुच्छिद्रकरो वाता वायुनिर्गममुद्रिका ।
कुम्भकस्थो रेचकस्था पूरकस्थातिपूरिणी ॥ १७६ ।

---

१. 'सूक्ष्मातिसूक्ष्मा तु विज्ञेया' इति पाठः प्रतिभाति । अथवा 'सूक्ष्मातिसूक्ष्मा च विज्ञेया' इति पाठः करणीयः ।

वाय्वाकाशाधाररूपी वायुसञ्चारकारिणी ।
वायुसिद्धिकरो दात्री वायुयोगी च वायुगा ॥ १७७ ।

आकाशप्रकरो ब्राह्मी आकाशान्तर्गतद्विगा ।
आकाशकुम्भकानन्दो गगनाह्लादवर्धिनी ॥ १७८ ।

गगनाच्छन्नदेहस्थो गगनाभेदकारिणी ।
गगनादिमहासिद्धो गगनग्रन्थिभेदिनी ॥ १७९ ।

कालकर्मा महाकाली कालयोगी च कालिका ।
कालछत्रः कालहत्या कालदेवो हि कालिका ॥ १८० ।

कालब्रह्मस्वरूपश्च कालितत्त्वार्थरक्षिणी ।
दिगम्बरो दिक्पतिस्था दिगात्मा दिगि भास्वरा ॥ १८१ ।

दिक्पालस्थो दिक्प्रसन्ना दिग्वलो दिक्कुलेश्वरी ।
दिगघोरो दिग्वसना दिग्वीरा दिक्पतीश्वरी ॥ १८२ ।

आत्मार्थो व्यापितत्त्वज्ञ आत्मज्ञानी च सात्मिका ।
आत्मीयश्चात्मबीजस्था चान्तरात्मात्ममोहिनी ॥ १८३ ।

आत्मसञ्ज्ञानकारी च आत्मानन्दस्वरूपिणी ।
आत्मयज्ञो महात्मज्ञा महात्मात्मप्रकाशिनी ॥ १८४ ।

[1]आत्मविकारहन्ता च विद्यात्मीयादिदेवता ।
मनोयोगकरो दुर्गा मनः [2]प्रत्यक्ष ईश्वरी ॥ १८५ ।

मनोभवनिहन्ता च मनोभवविवर्धिनी ।
[3]मनश्चान्तरीक्षयोगो निराकारगुणोदया ॥ १८६ ।

---

१. चमत्काराट्टहासेत्यारभ्य विद्यात्मीयादिदेवतान्तं श्लोकजातं [illegible] पुस्तके नास्ति ।

२. प्रत्यक्षकेश्वरी–ख० ।—अयं पाठो युक्तः । यतो हि अन्वर्थताऽत्रैव पाठे । प्रत्यक्षं कायति या सा प्रत्यक्षका, सा चासावीश्वरी चेति ।

३. मनसान्तरिक्ष···· ····ख० ।

[1]मनोनिराकारयोगी मनोयोगेन्द्रसाक्षिणी ।
[2]मनःप्रतिष्ठो मनसा मानशङ्का मनोगतिः ॥ १८७ ।

नवद्रव्यनिगूढार्थो नरेन्द्रविनिवारिणी[3] ।
नवीनगुणकर्मादिसाकारः खगगामिनी ॥ १८८ ।

अत्युन्मत्ता महावाणी वायवीशो महानिला ।
सर्वपापापहन्ता च सर्वव्याधिनिवारिणी ॥ १८९ ।

द्वारदेवीश्वरी प्रीतिः प्रलयाग्निः करालिनी ।
[4]भूषण्डगणतातश्च भूःषण्डरुधिरप्रदा ॥ १९० ।

[5]काकावलीशः सर्वेशी काकपुच्छधरो जया ।
[6]अजितेशो जितानन्दा वीरभद्रः प्रभावती ॥ १९१ ।

अन्तर्नाडीगतप्राणो वैशेषिकगुणोदया ।
[7]रत्ननिर्मितपीठस्थः सिंहस्था रथगामिनी ॥ १९२ ।

कुलकोटीश्वराचार्यो वासुदेवनिषेविता ।
आधारविरहज्ञानी सर्वाधारस्वरूपिणी ॥ १९३ ।

सर्वज्ञः सर्वविज्ञाना मार्तण्डो[8] यश इल्वला ।
[9]इन्द्रेशो विन्ध्यशैलेशी वारणेशः प्रकाशिनी ॥ १९४ ।

[10]अनन्तभुजराजेन्द्रो अनन्ताक्षरनाशिनी ।
[11]आशीर्वादस्तु वरदोऽनुग्रहोऽनुग्रहक्रिया ॥ १९५ ।

---

१. मनोविकारयोगी–ख० ।
२. मनःपूर्तिर्मनोज्योतिर्मानसेशो···· ····ख० ।—मनसि प्रतिष्ठा यस्यासौ मनःप्रतिष्ठः । अथवा मनसा प्रतिष्ठा यस्य सः । मनसोऽधिकरणत्वं कारणत्वं वा, योग्यताबलात् । शमदमादिसम्पन्ने एव मनसि ईदृशी स्थितिर्भवति ।
३. मणिवासिनी–ख०; ४. भुषण्ड–ख०; ५. ककारादीशः–ख० ।
६. अजितेशा जितानन्दो–ख०; ७. रत्ननिर्माणभाकोटिसिंहस्थोरयगामिनी–ख० ।
८. मार्तण्डेयेन्दुवन्दिता–ख०; ९. उत्केशी विल्वशैलेशी चारुनेत्रप्रकाशिनी–ख० ।
१०. अनन्तराजराजेन्द्रो ज्वालानगसुरनाशिनी ।
११. आशीर्वादरता देवी भक्तानुग्रहकातरा–ख० ।

प्रेतासनसमासीनो मेरुकुञ्जनिवासिनी ।
मणिमन्दिरमध्यस्थो मणिपीठनिवासिनी ॥ १९६ ।
सर्वप्रहरणः[1] प्रेतो विधिविद्याप्रकाशिनी ।
प्रचण्डनयनानन्दो [2]मञ्जीरकलरञ्जिनी ॥ १९७ ।
कलमञ्जीरपादाब्जो [3]बलमृत्युपरायणा ।
कुलमालाव्यापिताङ्गः[4] कुलेन्द्रः कुलपण्डिता ॥ १९८ ।
बालिकेशो रुद्रचण्डा बालेन्द्रः प्राणबालिका ।
कुमारीशः काममाता मन्दिरेशः स्वमन्दिरा ॥ १९९ ।
अकालजननीनाथो [5]विदग्धात्मा प्रियङ्करी ।
वेदाद्यो वेदजननी वैराग्यस्थो[6] विरागदा ॥ २०० ।
स्मितहास्यास्यकमलः स्मितहास्यविमोहिनी ।
दन्तुरेशो दन्तुरु च दन्तीशो दशनप्रभा ॥ २०१ ।
दिग्दन्तो हि दिग्दशना भ्रष्टभुक् चर्वणप्रिया ।
मांसप्रधाना[7] भोक्ता च प्रधानमांसभक्षिणी ॥ २०२ ।
[8]मत्स्यमांसमहामुद्रा [9]रजोरुधिरभुक्प्रिया ।
सुरामांसमहामीनमुद्रामैथुनसुप्रिया ॥ २०३ ।
कुलद्रव्यप्रियानन्दो [10]मद्यादिकुलसिद्धिदा ।
हृत्कण्ठभ्रूसहस्रारभेदनोऽन्ते [11]विभेदिनी ॥ २०४ ।
प्रसन्नहृदयाम्भोजः प्रसन्नहृदयाम्बुजा ।
प्रसन्नवरदानाढ्यः [12]प्रसन्नवरदायिनी ॥ २०५ ।
प्रेमभक्तिप्रकाशाढ्यः प्रेमानन्दप्रकाशिनी ॥ २०६ ।

---

१. सर्वप्रहरणोपेतो–ख०; २. कनकाञ्जलिः–ख०; ३. सर्वत्यागपरायणा–ख० ।
४. व्यापिताङ्गी–ख० । —कुलमालाभिः व्यापितमङ्गं यस्य सः । व्यापितं विशेषतः सम्बद्धम् । कुलमाला तान्त्रिकपरम्परानुशिष्टा भवति ।
५. विश्वात्मा सुप्रियङ्करी–ख०; ६. वैराग्यस्थो–ख० ।
७. ....प्रधाननोक्ता च–ख०; ८. मद्य–ख० ।
९. रुधिरसुप्रिया–ख० ।—रजोरुधिरव्याप्ता या दृक् नेत्रं तत्प्रिया । रजस्तमोऽधिष्ठात्री या देवी, तस्याः रजोरुधिरप्रियत्वं भवति ।
१०. प्रियानन्दा–ख०; ११. भूरिभेदिनी–ख०; १२. प्रेमानन्दप्रकाशिनी–ख० ।

प्रभाकरफलोदयः[1] परमसूक्ष्मपुरप्रिया
[2]प्रभातरविरश्मिगः प्रथमभानुशोभान्विता ।
प्रचण्डरिपुमन्मथः[3] प्रचलितेन्दुदेहोद्गतः
[4]प्रभापटलपाटलप्रचयघर्मपुञ्जार्चिता ॥ २०७ ।
सुरेन्द्रगणपूजितः [5]सुरवरेशसम्पूजिता
सुरेन्द्रकुल [6]सेवितो नरपतीन्द्रसंसेविता ।
[7]गणेन्द्र गणनायको गणपतीन्द्र देवात्मजा
भवार्णवगतारको जलधिकर्णधारप्रिया ॥ २०८ ।
सुरासुरकुलोद्भवः सुररिपुप्रसिद्धिस्थिता
सुरारिगणघातकः सुरगणेन्द्रसंसिद्धिदा ।
[8]अभीप्सितफलप्रदः सुरवरादिसिद्धिप्रदा
[9]प्रियाङ्गजकुलार्थदः सुतधनापवर्गप्रदा ॥ २०९ ।
[10]शिवस्वशिवकाकिनी हरहरा च भीमस्वना[11]
क्षितीश इषुरक्षका [12]समनदर्पहन्तोदया ।
गुणेश्वर उमापती[13] हृदयपद्मभेदी[14] गतिः
क्षपाकरललाटधृक्[15]स्वसुखमार्गसन्दायिनी ॥ २१० ।
श्मशानतटनिष्पट[16]प्रचटहासकालङ्कृता
हठत्शठमनस्तटे सुरकपाटसंछेदकः ।
[17]स्मराननविवर्धनः [18]प्रियवसन्तसम्बायवी
विराजितमुखाम्बुजः कमलमञ्जसिहासना[19] ॥ २११ ।

---

१. फलोदारः–ख०; २. प्रकाररश्मिरूपः प्रथमो भानुशोभिता–ख० ।

३. विपुलोन्मत्तः चलितेन्दुप्रभावहः–ख०; ४. जटिलः प्रभूतघर्मपूजिता–ख० ।

५. सुरेन्द्रवेशपूजिता–ख०; ६. नरेन्द्रकुलसेविता–ख० ।

७. नगेन्द्रगणनायको नगपतीन्द्रदेवात्मजा ।

८. बलिच्छलनतत्परः–ख०; ९. प्रियद्विज–ख०; १०. शिवश्च शिवकामिनी–ख० ।

११. सभा–ख०; १२. मदनदर्पहन्त्रादया–ख०; १३. उमावती ।

१४. भेदे–ख०; १५. विकटहासविस्फारिता–ख०; १६. निष्पटः स्मरकपाटसञ्छेदकः–ख० ।

१७. स्मरानलविमर्दन–ख० । —स्मरस्य कामदेवस्य आननं मुखम्, तद् विवर्धतेऽनेनेति स्मराननविवर्धनः । अस्यां व्युत्पत्तौ कामवर्धकत्वमायाति, तच्च शिवे भगवति न संघटत इति कृत्वा तक्षणार्थकाद् वृधधातोः करणे ल्युट्प्रत्ययः कार्यः ।

१८. सद्वायवी–ख०; १९. मञ्ज–क० ।

भवो भवपतिप्रभाभव कविश्च भाव्यासुरैः[1]
क्रियेश्वर ईलावती [2]तरुणगाहितारावती ।
[3]मुनीन्द्रमनुसिद्धिदः सुरमुनीन्द्रसिद्धायुषी[4]
मुरारिहरदेहगस्त्रिभुवना[5] विनाशक्रिया ॥ २१२ ।

[6]द्विकः कनककाकिनी कनकतुङ्गकीलालकः
कमलाकुलः कुलकलार्कमालोमला ।
[7]सुभक्तमसाधकप्रकृतियोगयोग्यार्चितो
विवेकगतमानसः [8]प्रभुपरादिहस्तार्चिता ॥ २१३ ।

त्वमेव कुलनायकः प्रलययोगविद्येश्वरी[9]
प्रचण्डगणगो नगाभुवनदर्पहारी हरा[10]।
चराचरसहस्रगः [11]सकलरूपमध्यस्थितः
स्वनामगुणपूरकः स्वगुणनामसम्पूरणी[12] ॥ २१४ ।

इति ते कथितं नाथ सहस्रनाममङ्गलम् ।
अत्यद्भुतं परानन्दरससिद्धान्तदायकम् ॥ २१५ ।
मातृकामन्त्रघटितं सर्वसिद्धान्तसागरम्[13] ।
[14]सिद्धविद्यामहोल्लासमानन्दगुणसाधनम् ॥ २१६ ।

---

१. भव्याभवः–ख० । २. तरुणगो–ख० ।

३. सुख–ख० । —मन्यते ज्ञायते इष्टतत्त्वं येन स मनुः मन्त्रः, मुनीन्द्रस्य मनुः मन्त्रः, तेन जायमाना सिद्धिः, तां ददाति इति । "आतोऽनुपसर्गे कः" इति दाधातुतः कर्तरि कप्रत्ययः ।

४. सिद्धिप्रदा–ख०; ५. त्रिभुवनस्य नाशक्रिया–ख० ।

६. हितः·········कनकसंशुद्धिः किलार्थप्रदा–ख० ।

७. यति·········प्रतियोग·········ख० ।

८. विभुवरादि·········ख०; ९. प्रलयकालयोगच्छविः–ख०; १०. तथा ।

११. प्रकृतरूपशक्तिस्थिता–ख० ।

१२. कृपार्द्रहृदयासदा निखिललोककल्पद्रुमः–ख० अधि० ।

१३. सारकम्–ख०; १४. सिद्धिविद्यामहोत्साह–ख० ।

दुर्लभं सर्वलोकेषु [1]यामले तत्प्रकाशितम् ।
[2]तव स्नेहरसामोदमोहितानन्दभैरव ॥ २१७ ।

कुत्रापि नापि कथितं स्वसिद्ध[3]हानिशङ्कया ।
[4]सर्वादियोगसिद्धान्तसिद्धये [5]भुक्तिमुक्तये ॥ २१८ ।

प्रेमाह्लादरसेनैव दुर्लभं तत्प्रकाशितम् ।
येन विज्ञातमात्रेण भवेच्छ्रीभैरवेश्वरः ॥ २१९ ।

[6]एतन्नामशुभफलं वक्तुं न च समर्थकः ।
कोटिवर्षशतेनापि यत्फलं लभते नरः ॥ २२० ।

यत्फलं योगिनामेक[7]क्षणाल्लभ्यं [8]भवार्णवे ।
यः पठेत् प्रातरुत्थाय [9]दुर्गग्रहनिवारणात् ॥ २२१ ।

[10]दुष्टेन्द्रियभयेनापि महाभयनिवारणात् ।
ध्यात्वा नाम जपेन्नित्यं मध्याह्ने च विशेषतः ॥ २२२ ।

सन्ध्यायां रात्रियोगे च साधयेन्नामसाधनम् ।
योगाभ्यासे ग्रन्थिभेदे [11]योगध्याननिरूपणे ॥ २२३ ।

पठनाद् योगसिद्धिः स्याद् ग्रन्थिभेदो दिने दिने ।
योगज्ञानप्रसिद्धिः[12]स्याद् योगः स्यादेकचित्ततः ॥ २२४ ।

देहस्थदेववश्याय[13] महामोहप्रशान्तये ।
[14]स्तम्भनायारिसैन्यानां प्रत्यहं प्रपठेच्छुचिः ॥ २२५ ।

---

१. यामले-ख०; २. वसामोद-क०; ३. सिद्धिहानेस्तु शङ्कया-ख० ।

४. भवादियोग........ख० । आदयः प्रमुखा ये योगाः, तेषां सिद्धान्ताः, सर्वे च ते तादृशसिद्धान्ताश्च तेषां सिद्धये ।

५. भक्तिमुक्तये-ख०; ६. नाम्नः-ख०; ७. मेव-ख० ।

८. भवान्तरे-ख०; ९. दुष्टग्रह........ख० ।

१०. ध्यात्वा सुरभयेनापि महाभयनिवारणम्-ख०; ११. ज्ञान-ख० ।

१२. प्रसिद्धः स्यात्-ख०; १३. देह-ख० ।

१४. स्तम्भनाय विशाल्यानां-ख० ।—स्तम्भनायारिसैन्यानामित्यत्र स्तम्भनमवरोधनं तस्मै । अरीणां शत्रूणां सैन्यानि तेषामवरोधेन विजयो ध्रुवः ।

भक्तिभावेन पाठेन सर्वकर्मसु सुक्षमः ।
स्तम्भयेत् परसैन्यानि[1] वारैकपाठमात्रतः ॥ २२६ ।

[2]वारत्रयप्रपठनाद् वशयेद् भुवनत्रयम् ।
वारत्रयं तु प्रपठेद् यो मूर्खः पण्डितोऽपि वा ॥ २२७ ।

शान्तिमाप्नोति परमां विद्यां भुवनमोहिनीम् ।
प्रतिष्ठाञ्च ततः प्राप्य मोक्षनिर्वाणमाप्नुयात् ॥ २२८ ।

[3]विनाशयेदरीञ्छीघ्रं चतुर्वारप्रपाठने ।
पञ्चावृत्तिप्रपाठेन शत्रुमुच्चाटयेत् क्षणात् ॥ २२९ ।

[4]षडावृत्त्या साधकेन्द्रः शत्रूणां नाशको भवेत् ।
आकर्षयेत् [5]परद्रव्यं सप्तवारं पठेद् यदि ॥ २३० ।

एवं [6]क्रमगतं ध्यात्वा यः पठेदतिभक्तितः ।
स भवेद् योगिनीनाथो महाकल्पद्रुमोपमः ॥ २३१ ।

ग्रन्थिभेदसमर्थः स्यान्मासमात्रं पठेद् यदि ।
दूरदर्शी महावीरो बलवान् पण्डितेश्वरः ॥ २३२ ।

महाज्ञानी लोकनाथो भवत्येव न संशयः ।
मासैकेन समर्थः स्यान्निर्वाणमोक्षसिद्धिभाक् ॥ २३३ ।

प्रपठेद् योगसिद्ध्यर्थं भावकः परमप्रियः ।
शून्यागारे [7]भूमिगर्तमण्डपे शून्यदेशके ॥ २३४ ।

[8]गङ्गागर्भे महारण्ये चैकान्ते निर्जनेऽपि वा ।
दुर्भिक्षवर्जिते देशे सर्वोपद्रववर्जिते ॥ २३५ ।

श्मशाने प्रान्तरेश्वत्थमूले वटतरुस्थले ।
इष्टकामयगेहे वा यत्र[9] लोको न वर्तते ॥ २३६ ।

---

१. शल्यानि–ख०; २. वारद्वय–ख० ।
३. विद्वेषयेत्–ख०; चतुरावर्तनाद्वरम्–क०; ४. षडावृन्याम्–ख० ।
५. सुरद्रव्यं ; ६. योगमतम्–ख० ।
७. बिल्वमूले चितायां शून्यदेशके–ख०; ८. महागर्ते–ख० ।
९. हेमकाष्ठादिनिर्मिते–ख० ।

[1]तत्र तत्रानन्दरूपी महापीठस्थलेऽपि[2] च ।
दृढासनस्थः प्रजपेन्नाममङ्गलमुत्तमम् ॥ २३७ ।

ध्यानधारणशुद्धाङ्गो न्यासपूजापरायणः ।
ध्यात्वा स्तौति प्रभाते च मृत्युजेता [3]भवेद्ध्रुवम् ॥ २३८ ।

[4]अष्टाङ्गसिद्धिमाप्नोति चामरत्वमवाप्नुयात् ।
गुरुदेवमहामन्त्रभक्तो भवति निश्चितम् ॥ २३९ ।

शरीरे तस्य दुःखानि न भवन्ति [5]कुवृद्धयः ।
दुष्टग्रहाः पलायन्ते तं दृष्ट्वा योगिनं परम् ॥ २४० ।

यः पठेत् सततं मन्त्री तस्य हस्तेऽष्टसिद्धयः ।
तस्य हृत्पद्मलिङ्गस्था देवाः सिद्धयन्ति चापराः ॥ २४१ ।

युगकोटिसहस्राणि चिरायुर्योगिराड् भवेत् ।
[6]शुद्धशीलो निराकारो ब्रह्मा विष्णुः शिवः[7] स च॥
स नित्यः [8]कार्यंसिद्धश्च स जीवन्मुक्तिमाप्नुयात् ॥ २४२ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने ईश्वरशक्तिकाकिन्यष्टोत्तर-सहस्रनामस्तोत्रविन्यासो नाम एकषष्टितमः पटलः ॥

●

---

१. तत्तदानन्दरूपी च–ख०; २. देवता–क०; ३. भवेन्नरः–ख०।
४. कालकालो भवेद्योगी–ख० । —अष्टसंख्याकानि अङ्गानि इति मध्यमपदलोपिसमासः, तेषां सिद्धिः । अष्टाङ्गयोगसिद्धिरित्यपि बोध्यम् ।
५. कवाचन–ख० ।
६. सुकुलीनो–ख० । —शुद्धं शीलं यस्यासौ शुद्धशीलः । शीलं स्वभाव आचारो वा ।
७. शिवस्य च–ख०; ८. कायसिद्धिस्थो–ख० ।

अथ द्विषष्टितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

अथ नाथ प्रवक्ष्येऽहं काकिनीगुरुदेवयोः ।
मन्त्रोद्धारस्तवज्ञानं येन सिद्धो भवेद् यतिः ॥ १ ।

एतत्स्तवनपाठेन सहस्राख्यान्तसिद्धिषु[1] ।
राजत्वं लभते सद्योऽथवा योगी च सम्पदि ॥ २ ।

यथा जनकराजा च विषये[2] गुरुभक्तिमान् ।
महासिद्धो महाज्ञानी तथा भवति साधकः ॥ ३ ।

सुरा नागा रुद्रगणाः सर्वे विद्यार्थसेवकाः ।
योगी ज्ञानी तथा सिद्धाः खेचरा यक्षराक्षसाः ॥ ४ ।

मुनयः[3] क्रोधवेतालास्तथा चण्डेश्वरादयः ।
एतच्छुभस्तवेन्द्रेण स्तुत्वा सर्वत्र सिद्धिगाः ॥ ५ ।

[4]पूर्णः पूर्णेन्दुबिम्बाननकमलकटाक्षादघोघापहारी
नारीन्धाता विधाता समवति न च तान् योगयोग्यान् महेन्द्रान् ।
सम्पत्तिप्राणयोगी निरवधिवरदानन्दगोप्ता शरीरो
बालो मृत्युञ्जयस्य[5] प्रभुरिति भयहा पातु मे गुप्तदेहम् ॥ ६ ।

---

१. सन्विषु–ख०; २. विषये–ख० ।

३. मन्युः क्रोधवेतालो तथा चक्रेश्वरादयः ।

४. पूर्णः पूर्णेन्दुदिवाननकमलकटाखोत्कटाघाप–ख०, हारी नारी धाता विधाता प्रसरति च तान् योगयोग्यान्········योगो भूयान्नरोऽसौ···· ··· भृत्योः···· प्रभुरिति भुवने ···· ···· ···· गुप्तदेहः–ख० ।

५. मृत्युं जयति इति मृत्युञ्जयः । ''संज्ञायां भृ तृ वृ जि धारि सहि तपि दम'' इति खच्-प्रत्ययः, मुमागमश्च खिति परतः ।

[1]कामक्रोधापहन्ता जनयति भरतान् भारतान् पातु पृथ्वीं
यो योगी भावयोगी मम कुलफलदः सर्वदा शं करोतु ।
तत्क्रोडे लोकचक्रं तिलतुलतुलसेसन्निभं भाति सूक्ष्मं
तच्छ्रीनाथाङ्घ्रिपादद्वयमजरमहं भावये हृत्प्रपञ्चे ॥ ७ ।

[2]मायां मोहे विवेकी शतकितवरिपूच्छेदकः प्रेरकस्थ-
कोर्षाणी गुप्ततन्द्रावनिभवमनुजो यो महामङ्गलस्थः ।
लोकातीतो तितीरो जय जय करुणानाथ दाता तपस्वी
मन्त्रोद्धारार्थगुप्तं समवति य इह प्राणनाथं तमीडे ॥ ८ ।

[3]भावान्तो योऽतिगुर्वी हृदि जयकमलेऽन्तेऽमरप्रत्यथर्वो
वाग्देवी देवतायै नम इति मनुना मोहितो वाक्पतीशः ।
मन्त्रार्थोद्दीपनाख्यो विजयसखाकोटिभिर्वेष्टितो यो
बालार्कानन्दरश्मिप्रचयशतमखः पातु मां दुःखजालात् ॥ ९ ।

[4]हृष्टाङ्गा [5]सङ्गताङ्गाननविमलशिखाकोटिभिर्वर्जितो यो
मन्त्राच्चैतन्यहर्ता प्रणवमयशिवं तत्सदान्ते शिवं च ।
ध्यात्वा माहेश्वरायां नम इति जपनात् ते महेन्द्राधिपः स्यात्
कालीपुत्रः स एव त्वमभयवरदः सेव्यते यैः स मुक्तः ॥ १० ।

---

१. ···· ····जनयति भवतः पाति पृथ्वी च योगी—ख० ।—मालाधारी प्रपायात् मम कुल-सकलं सर्वदा शङ्करो वै तत्क्रोडे···· ····निलतुलतुलना सन्निभं भाति सूक्ष्म तच्छ्रीनाथा ···· ····मद्यहरणं भावयेदाशु कुञ्जे—ख० ।

२. स च कित रिपुहृत् कोशविध्वंसकारी सर्वाघीशो महेशो निखिलसुखमयो निर्गुणो निर्विकारो लोकातीतोऽहि तीव्रो···· ‾ नियतं प्राणनाथं तमीडे—ख० ।

३. तारान्ते याऽपि गुर्वी निजहृदिकमलेऽन्ते सरस्वत्ययो वा
तस्मै नित्यं नमो मे नम इति मनुना···· ···· ····
मन्त्रार्थे हैपलाख्यो निजविजय···· ···· ···· ····
बालार्कानन्दवश्यः···· ···· ···· ख० ।

४. कृत्याकृत्यास्वरूपो कुलविमलशिखाकोटिभिः संयुक्तो यो—ख० ।
मन्त्रञ्चैतन्यहर्ता प्रणवमथ शिवां तत्सदान्ते शिवं च ········ ·· ····सेवते यः स मुक्तः ।

५. संगतेन अङ्गेनाननेन विमलशिखया कोट्या च वर्जितः । अथवा संगतादिविमल-शिखान्तानामितरेतरयोगद्वन्द्वं कृत्वा तासां कोट्यः, ताभिर्वर्जितो रहितः, निराकार इति यावत् ।

हंसः प्राणाविहन्ता[1] त्वमखिलवरदस्त्वं निदानः[2] प्रधानः
शान्तीशस्त्वं प्रतिष्ठः [3]प्रणवशिवसदाभद्रमाहेश्वराय ।
[4]अन्तेऽत्युच्चैर्नमोऽन्ते मनुमिह जपते सम्पदे दोषभङ्गा-
दानन्दाब्धौ [5]त्वमीशो गुरुरिह चपलं चापलं मां [6]प्रपाहि ॥ ११ ।

[7]आनन्दोद्रेककारो त्वमपि सकरुणासागरो भक्तिदाता
दाता विद्याधरीणां त्वमपि सुररिपुः पार्वतीप्राणनाथः ।
तारे बिन्द्वाधराढ्यं क्षरमथविधुमत्तं मन्त्रमेकाक्षरं ते
तारान्तं त्र्यक्षरन्तं प्रजपति यदि यो योगिराड् भूतले स्यात् ॥ १२ ।

[8]सर्पाण्डस्थं सुसिद्धो हरविधुमधरं चन्द्रबिन्दुस्वरूपं
जप्त्वा नित्यं विलोमं प्रणवमृतिहरं वह्निकान्ता तदन्ते ।
एतद्रूपं [9]पदं यो भजति वरगतं हेममञ्जीरनादं
मन्त्रेक्षानन्दचित्तं विजयवरकुलानन्ददः प्राणगं ते ॥ १३ ।

उच्चाटे मोहने वाप्यरिवशसमये[10] शान्तिपुष्ट्यान्तवश्ये[11]
[12]ते मन्त्रान् योजयित्वा जपति यदि सुधीः श्रीपदाब्जावलम्बी ।
[13]सिध्येत् षट्कर्मसारं परमगुरुगतः स भवेत् कल्पशाखी
राजेन्द्रः सर्वलोके धनपतिसदृशः शम्भुनाथप्रसादात् ॥ १४ ।

---

१. प्राणो–ख०; २. निधान–ख० ।
३. प्रणमसि व च । —प्रणवश्च शिवश्च सदाभद्रश्च महेश्वराणामयं माहेश्वरः, स च, एतेषां समाहारद्वन्द्वः । अथवा प्रणवशिवसदाभद्रसहितो माहेश्वर इति मध्यमपदलोपिसमासः ।
४. अन्ते उच्चैर्नमोऽन्तं मनुमिह जपति तत्पदे देवभृङ्ग ।
५. त्वमेको–ख०; ६. मां च पाहि–ख० ।
७. सृष्टिस्थित्यन्तकारी···· ···· करुणासागरो मुक्तिदाता
पूज्यो विद्याधरीणां त्वमसुरविजयः···· ···· ।
तारान्तं बिन्दुयुक्तं सकलविधुयुतं मन्त्रमेकाक्षरं
जप्त्वा ध्यात्वा च देवीं त्रिभुवनविजयी ···· ···· । इति ख० ।
८. सप्ताणंस्थं सुसिद्धो हरवधुमधुरं ···· ···· ।
···· ···· ···· दुरित ···· ।
९. सदा यो भजति मनुवरं सर्वसिद्धीश्वरो वै ।
हे मातः ! शोभनेऽस्मि न विजय वर कुलानन्द सन्तानयुक्तः ।
१०. वद्य इति–ख०; ११. काले–ख०; १२. तन्त्रमन्त्रान्···· ···· इति–ख० ।
१३. सिद्धः षट्कर्मसारः स भवति भुवने भूतनाथ प्रपन्नः ।

[1]खान्तं शक्रादिरूढं विधुनयनयुतं कामबीजं त्रिशक्ति
[2]चाद्येऽन्ते ॐ शिवायानलवधुमिलितं यो जपेन्नाथमन्त्रम् ।
तेनाम्नायो जपित्वा कुलपथनिरतः साधकः श्रीवरेण्यः
किं तस्यासाध्यसिद्धि त्रिजगति स सुखी सन्मुखी योगमार्गी ॥ १५ ।

[3]सर्वातीतो विहारी पदगतिरहितः सर्वगामी विरामी
हस्ताभावो विनेता निरवधिवरदः सर्वरूपी विरूपी ।
[4]मन्त्रज्ञस्त्वं सुमन्त्री महमयसमयः संशयासारहन्ता
मन्ता विश्वेश्वरीणां परपशुपतयेऽन्ते नमः पातु नम्रम् ॥ १६ ।

योगी भोगी [5]विरागी त्वमतुलविभवः सम्भवः पञ्चचूडो
[6]वाणी शेषः [7]प्रियेशः [8]शशिग्रथितमृडाशोभिताङ्गो ह्यनङ्गः ।
कामो माया रमेशः प्रथमदिनकरश्रेणि [9]शोभावलिप्तः
सर्वाङ्गं यः [10]प्रपायादमलकमलगः क्रोधगो योऽवलोकम् ॥ १७ ।

एतच्छ्रीशङ्करस्तोत्रं यः पठेन्नियतः शुचिः ।
संवत्सराद् भवेत् सिद्धिः सर्वज्ञानप्रदायिनी ॥ १८ ।

शुचौ वाप्यशुचौ स्तौति भक्त्यायः साधकोत्तमः ।
स सर्वयातनामुक्तो योगी ग्रन्थिविभेदकः ॥ १९ ।

अकस्मात् सिद्धिमाप्नोति प्रेमानन्दसुभक्तिदाम् ।
शतमष्टोत्तरं चास्य पुरश्चर्याविधिः स्मृतः ॥ २० ।

---

१. शान्तम् -ख० ।
२. तस्यान्ते.... ....नम इति मिलितं.... .... ।
त्वन्नाम्ना ... . किं वरेण्यः ।
किन्तस्या साध्यसिद्धिः प्रजपति सुमुखी योगभागप्रपन्नः—ख० ।
३. सर्वाभीतो .. .... विवासी ।
४. मन्त्रज्ञस्थः .. ....सकलमनुमयः संशये मन्त्रो विश्वेश्वरीणां.... ....
५. विरोगी—ख०; ६. वानीशेशः—ख०; ७. शशिशकलरुचा—ख० ।
८. शशिना ग्रथितो मृडः शिवः, आशोभितानि अङ्गानि यस्य सः । द्वयोर्मध्यमपदलोपि-समासो बोध्यः ।
९. विलिप्तः—ख० ।
१०. सर्वां सिद्धिं प्रपायादमलकमलगः क्रोधज्ञो यो नृलोकम्—ख० ।

न स्नानं न जपः कार्यं न पूजादिविधानकम् ।
केवलं स्तवपाठेनानाहृते सुस्थिरो भवेत् ॥ २१ ।

चिरञ्जीवी [1]वीतरागो वीतसंसारभावनः ।
पठित्वा धारयित्वा[2] च योगभ्रष्टो न सम्भवेत् ॥
[3]अनायासे योगसिद्धिं प्राप्नोति विपुलां श्रियम् ॥ २२ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे
षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे ईश्वरस्तोत्रविन्यासो
नाम द्विषष्टितमः पटलः ॥

●

---

१. वीतरोगी–ख० । —वीतराग इत्येव पाठो युक्तः । वीतरोग इति पाठेऽपि संसाररूपो रोगश्चेत्तर्हि सोऽपि पाठः सम्भवति ।
२. भावयित्वा–ख०; ३. सर्वायासे–क० ।

अथ त्रिषष्टितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवो उवाच—

कवचं शृणु चास्यैव लोकनाथ शिवापते ।
ईश्वरस्य परं[1] ब्रह्म निर्वाणयोगदायकम् ॥ १ ॥

कवचं दुर्लभं लोके [2]नामसम्मोहनं परम् ।
कवचं ध्यानमात्रेण[3] निर्वाणफलभाग्भवेत् ॥ २ ॥

[4]अस्य किं पुत्रमाहात्म्यं तथापि तद्वदाम्यहम् ।
केवलं ग्रन्थिभेदाय निजदेहानुरक्षणात् ॥ ३ ॥

सर्वेषामपि योगेन्द्र देवानां योगिनां तथा ।
[5]भावादिसिद्धिलाभाय कायनिर्मलसिद्धये ॥ ४ ॥

प्रकाशितं महाकाल तव स्नेहवशादपि ।
सर्वे मन्त्राः प्रसिद्धयन्ति सम्मोहकवचाश्रयाः ॥ ५ ॥

कवचस्य ऋषिर्ब्रह्मा छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतम् ।
ईश्वरो देवता प्रोक्त[6]स्तथा शक्तिश्च काकिनी ॥ ६ ॥

कीलकं [7]क्रूं तथा ज्ञेयं ध्यानसाधनसिद्धये ।
[8]हृदब्जभेदनार्थे तु विनियोगः प्रकीर्तितः ॥ ७ ॥

एतच्छ्रीसम्मोहनमहाकवचस्य ब्रह्मा ऋषिरनुष्टुप् छन्द ईश्वरो देवता काकिनी शक्तिः [9]क्रूं कीलकं ध्यान-साधनसिद्धये हृदब्जभेदार्थे[10] जपे विनियोगः ।

प्रणवो मे पातु शीर्षं ललाटं च सदाशिवः ।
प्रासादो हृदयं पातु बाहुयुग्मं महेश्वरः ॥ ८ ॥

---

१. परमम्–ख०; २. नाथ–ख०; ३. मार्गेण–ख०; ४. अन्यत्कि–ख० ।
५. तारादि–ख० ।—भाव आदिर्यासां ता भावादयः, [illegible] ताः सिद्धयश्च तासां लाभाय प्राप्तये । ६. प्रोक्ता–ख०; ७. हुं–ख० ।
८. हृदब्जं हृत्कमलं तस्य भेदनार्थे विकासनार्थे, सूर्यकरैः कमलं प्रभिन्नं भवति ।
९. हुं–ख०; १०. भेदनार्थे–ख० ।

पृष्ठं पातु महादेव उदरं कामनाशनः ।
पार्श्वौ पातु कामराजो बालः[1] पृष्ठतलान्तरम् ॥ ९ ।

कुक्षिमूलं[2] महावीरो ललितापतिरीश्वरः ।
मृत्युञ्जयो नीलकण्ठो लिङ्गदेशं सदावतु ॥ १० ।

लिङ्गाधो मुद्रिका पातु पादयुग्ममुमापतिः ।
अङ्गुष्ठं पातु सततं पार्वतीप्राणवल्लभः ॥ ११ ।

गुल्फं पातु त्र्यम्बकश्च जानुनी युवतीपतिः ।
ऊरुमूलं सदा पातु मञ्जुघोषः सनातनः ॥ १२ ।

[3]सिमनीदेशमापातु भैरवः क्रोधभैरवः ।
लिङ्गदेशोद्गमं पातु लिङ्गरूपी जगत्पतिः ॥ १३ ।

हृदयाग्रं सदा पातु महेशः काकिनीश्वरः ।
ग्रीवां पातु वृषस्थश्च कण्ठदेशं दिगम्बरः ॥ १४ ।

लम्बिकां पातु गणपो नासिकां भवनाशकः[4] ।
भ्रूमध्यं पातु योगीन्द्रः [5]महेशः पातु मस्तकम् ॥ १५ ।

मूर्ध्निदेशं मुनीन्द्रश्च द्वादशस्थो महेश्वरः ।
द्वादशाम्भोरुहं पातु [6]काकिनीप्राणवल्लभः ॥ १६ ।

नाभिमूलाम्बुजं पातु महारुद्रो जगन्मयः ।
स्वाधिष्ठानाम्बुजं पातु सदा हरिहरात्मकः ॥ १७ ।

मूलपद्मं सदा पातु ब्रह्मेन्द्रो डाकिनीश्वरः ।
कुण्डलीं सर्वदा पातु डाकिनी योगिनीश्वरः ॥ १८ ।

कुण्डली मातृका पातु वटुकेशः शिरोहरः ।
राकिणीविग्रहं पातु वामदेवो महेश्वरः ॥ १९ ।

---

१. बलिः–ख० । २. तूणं–ख०; ३. सीमनीं सदा–ख० ।

४. नाशनः–ख० ।—भवं संसारं नाशयति स भवनाशकः । पूर्वं नाशक इति ण्वुलन्तं साधयित्वा भवेन सह षष्ठीसमासः पश्चात् कार्यः ।

५. सदेशः–ख०; ६. कामिनी–ख० ।

पञ्चाननः सदा पातु लाकिनीवज्रविग्रहम् ।
स्वस्थानं द्वादशारञ्च वीरः पातु [1]सुकाकिनीम् ॥ २० ।

वीरेन्द्रः कर्णिकां पातु द्वादशारं विषाशनः ।
षोडशारं सदा पातु क्रोधवीरः सदाशिवः ॥ २१ ।

मां पातु [2]वज्रनाथेशोऽरिभयात्[3] क्रोधभैरवः ।
[4]षट्चक्रं सर्वदा पातु लाकिनीश्रीसदाशिवः ॥ २२ ।

षोडशाम्भोरुहान्तस्थं पातु धूम्राक्षपालकः
दिङ्नाथेशो महाकायो मां पातु परमेश्वरः ।
[5]आकाशगङ्गाजटिलो [6]द्विदलं पातु मे परम्
गङ्गाधरः सदा पातु [7]हाकिनीं परमेश्वरः ॥ २३ ।

[8]हाकिनीपरशिवो मे भ्रूपद्मं परिरक्षतु ।
दण्डपाणीश्वरः पातु मनोरूपं द्विपत्रकं ॥ २४ ।

साधुकेशः सदा पातु मनोन्मन्यादिवासिनम् ।
[9]पिङ्गाक्षेशः सदा पातु भयभूमौ तनूं मम ॥ २५ ।

[10]उन्मनोस्थानकं पातु रोधिनीसहितं मम ।
सुधाघटः सदा पातु ममानन्दादिदेवताम् ॥ २६ ।

आनन्दभैरवः पातु गूढदेशाधिदेवताम् ।
मायामयोपहा[11] पातु सुषुम्नाडिकाकलाम् ॥ २७ ।

इडाकलाधरं पातु कोटिसूर्यप्रभाकरः ।
पिङ्गलामिहिरं पातु चन्द्रशेखर ईश्वरः ॥ २८ ।

---

१. स्वकाकानीम्–ख०;
२. वज–ख०;
३. विभवान्–ख०;
४. षड्वक्रं–ख० ।
५. आकाशगङ्गयाऽभिषिक्तः, स चासौ जटिलश्च । मध्यमपदलोपिसमासः । अथवाऽऽकाशगङ्गयैव जटिलः । सैव जटा इति भावः ।
६. विदलं पातु चेश्वरः–ख०;
७. हाकिनी परमेश्वरम्–ख० ।
८. हाकिनीशः शिरः पातु भ्रू पद्मं–ख०;
९. पिङ्गलाक्षः–ख० ।
१०. मे स्थलं········बोधिनोसहितं शिवः–ख०;
११. मायामयः सदा–ख० ।

कोटिकालानलस्थानं सुषुम्नायां सदावतु ।
सुधासमुद्रो मां पातु रत्नकोटिमणीश्वरः ।। २९ ।

शिवनाथः सदा पातु कुण्डलीचक्रमेव मे ।
विष्णुचक्रं महादेवः कालरात्रः कुलान्वितम् ।। ३० ।

मृत्युजेता सदा पातु सहस्रारं सदा मम ।
सहस्रदलगं शम्भुं स्वयम्भूः पातु सर्वदा ।। ३१ ।

[1]सर्वरूपिणमीशानं पातु शर्वो हि सर्वदा ।
सर्वत्र [2]सर्वदा पातु श्रीनीलकण्ठ ईश्वरः ।। ३२ ।

सर्वबीजस्वरूपो मे बीजमालां सदावतु ।
मातृकां सर्वबीजेशो [3]मातृकार्णं शिवो मम ।। ३३ ।

अहङ्कारं हरः पातु करमालां सदा मम ।
जलेऽरण्ये महाभीतौ पर्वते शून्यमण्डपे ।। ३४ ।

व्याघ्रभल्लूकमहिषपश्वादिभयदूषिते ।
महारण्ये घोरयुद्धे गगने भूतलेऽतले ।। ३५ ।

अत्युत्कटे शस्त्रघाते शत्रुचौरादिभीतिषु ।
महासिंहभये क्रूरे मत्तहस्तिभये तथा ।। ३६ ।

ग्रहव्याधिमहाभीतौ सर्पभीतौ च सर्वदा ।
पिशाचभूतवेतालब्रह्मदैत्यभयादिषु ।। ३७ ।

[4]अपवादापवादेषु मिथ्यावादेषु सर्वदा ।
करालकालिकानाथः प्रचण्डः प्रखरः परः ।। ३८ ।

उग्रः [5]कपर्दी भीदंष्ट्री कालाच्छन्नकरः कविः ।
क्रोधाच्छन्नो [6]महोन्मत्तो गारुडीशो महेशभृत्[7] ।। ३९ ।

---

१. मुनि–ख०; २. सर्वाङ्गं सर्वदा पातु देवः–ख ।
३. मातृकानामूस्मं दुर्गभूमिः, तत्संबोधने । अथवा शिवेन सह मध्यमपदलोपिसमासः ।
४. अन्नादे रुपवादेषु–ख०; ५. कपर्दमी–ख०; ६. मदोन्मत्तो–ख० ।
७. महास्त्रभृत्–ख० ।

पञ्चाननः पञ्चरश्मिः पावनः पावमानकः ।
[1]शिखामात्रामहामुद्राधारकः क्रोधभूपतिः ॥ ४० ।

द्रावकः पूरकः पुष्टः पोषकः पारिभाषिकः ।
एते पान्तु महारुद्रा द्वाविंशतिमहाभये ॥ ४१ ।

एते सर्वे शक्तियुक्ता मुण्डमालाविभूषिताः ।
अहङ्कारेश्वराः क्रुद्धा योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः ॥ ४२ ।

चतुर्भुजा महावीराः खड्गखेटकधारकाः ।
कपालशङ्खमालाढ्या नानारत्नविभूषिताः ॥ ४३ ।

किङ्किणीजालमालाढ्या हेमनूपुरराजिताः[2] ।
नानालङ्कारशोभाढ्याश्चन्द्रचूडाविभूषिताः ॥ ४४ ।

सदानन्दयुताः श्रीदा मोक्षदाः कर्मयोगिनाम् ।
सर्वदा भगवान् पातु ईश्वराः पान्तु नित्यशः ॥ ४५ ।

ब्रह्मा पातु मूलपद्मं श्रीविष्णुः पातु षड्दलम् ।
रुद्रः पातु दशदलमीश्वरः पात्वनाहतम् ॥ ४६ ।

सदाशिवः पातु नित्यं षोडशारं सदा मम ।
[3]परो द्विदलमापातु षट्शिवाः पान्तु नित्यशः ॥ ४७ ।

अपराः पान्तु सततं मम देहं कुलेश्वराः ।
पूर्णं ब्रह्म सदा पातु सर्वाङ्गं सर्वदेवताः ॥ ४८ ।

कालरूपी सदा पातु मनोरूपी शिरो[4] मम ।
आत्मलीनः सदा पातु ललाटं वेदवित्प्रभुः ॥ ४९ ।

वाराणसीश्वरः पातु [5]मम भ्रूमध्यपीठकम् ।
[6]योगिनाथः सदा पातु मम दन्तावलिं दृढम् ॥ ५० ।

---

१. मात्रौ–ख० ।—शिखा च मात्रा च महामुद्रा चेति द्वन्द्वः । धारयतीति धारकः । शिखामात्रामहामुद्राणां धारक इति षष्ठीसमासः ।

२. सुनूपुरविराजिता–ख०; ३. परश्च द्विदलं पातु–ख०; ४. शिवो–ख० ।

५. नीलकेशो हरेश्वरः–ख० ।

६. योगिनाथ इत्यारभ्य अतिथीश्वरानां ख० पु० नास्ति । ७. अर्घेश्वरो–ख० ।

ओष्ठाधरौ सदा पातु झिल्टीशो भौतिकेश्वरः ।
नासापुटद्वयं पातु भारभूतीशोऽतिथीश्वरः ॥ ५१ ।
गण्डयुग्मं सदा पातु स्थाणुकेशो हरेश्वरः ।
कर्णदेशं सदा पातु अमरोऽधीश्वरो मम ॥ ५२ ।
महासेनेश्वरस्तुण्डं मम पातु निरन्तरम् ।
[1]श्रीकण्ठादिमहारुद्राः स्वाङ्गग्रन्थिषु मातृकाः ॥ ५३ ।
मां पातु कालरुद्रश्च सर्वाङ्गं कालसंक्षयः ।
[2]अकालतारकः पातु उदरं परिपूरकः ॥ ५४ ।
अगस्त्यादिमुनिश्रेष्ठाः पान्तु योगिन ईश्वराः ।
श्रीनाथेश्वर ईशानः पातु मे सूक्ष्मनाडिकाः ॥ ५५ ।
त्रिशूली पातु पूर्वस्यां दक्षिणे मृत्युनाशनः ।
पश्चिमे वारुणीमत्तो महाकालः सदाऽवतु ॥ ५६ ।
उत्तरे चावधूतेशो भैरवः कालभैरवः ।
ईशाने पातु शान्तीशो वायव्यां योगिवल्लभः ॥ ५७ ।
मरुत्कोणे दैत्यहन्ता पातु मां सततं शिवः ।
वह्निकोणे सदा पातु कालानलमुखाम्बुजः ॥ ५८ ।
ऊर्ध्वं ब्रह्मा सदा पातु अधोऽनन्तः सदाऽवतु ।
सर्वदेवः सदा सातु [3]सर्वदेहगतं सुखम् ॥ ५९ ।
[4]इहार्हावल्लभः पातु कालाख्येशो गुणो मम ।
रविनाथः सदा पातु हृदयं मानसं मम ॥ ६० ।
चन्द्रेशः पातु सततं भ्रूमध्यं मम कामदः ।
वज्रदण्डधरः पातु रक्ताङ्गेशस्त्रिलोचनम् ॥ ६१ ।
बुधश्यामसुन्दरेशः पातु मे हृदयस्थलम् ।
सुवर्णवर्णगुर्वीशो मम कण्ठं सदाऽवतु ॥ ६२ ।

---

१. श्रीकण्ठादयो महान्तो रुद्रदेवा मातृकाश्च स्वाङ्गग्रन्थिषु पान्तु रक्षन्तु इत्यर्थः ।
२. अकालतारकः–ख०; ३. रक्ताङ्गेशः त्रिलोचनः–ख० ।
४. इहार्हा इत्यारभ्य स्त्रिलोचमित्यन्तं ख० पु० नास्ति ।

सिन्दूरजलदच्छन्नाद्यर्कशुक्रेश्वरो गलम्[1] ।
नाभिदेशं सदा पातु शनिश्यामेश [2]ईश्वरः ॥ ६३ ॥

[3]राहुः पातु महावक्त्रः केवलं मुखमण्डलम् ।
केतुः पातु महाकायः सदा मे गुह्यदेशकम् ॥ ६४ ॥

इन्द्रादिदेवताः पान्तु परिवारगणैर्युताः[4] ।
शिरोमण्डलदिग्रूपं पान्तु वैकुण्ठवासिनः ॥ ६५ ॥

भैरवा भैरवीयुक्ताः सर्वदेहसमुद्भवाः ।
भीमद्रंष्ट्रा महाकाया[5] मम पान्तु निरन्तरम् ॥ ६६ ॥

यज्ञभुङ्नीलकण्ठो मे हृदयं पातु सर्वदा ।
[6]उन्मत्तभैरवाः पान्तु ईश्वराः पान्तु सर्वदा ॥ ६७ ॥

क्रोधभूपतयः पान्तु श्रीमायामदनान्विताः ।
इत्येतत् कवचं तारं तारकब्रह्ममङ्गलम् ॥ ६८ ॥

कथितं नाथ यत्नेन कुत्रापि न प्रकाशितम् ।
तव स्नेहवशादेव प्रसन्नहृदयान्विता[7] ॥ ६९ ॥

कृपां कुरु दयानाथ तवैव कवचाद्भुतम् ।
हिताय जगतां मोहविनाशायामृताय च ॥ ७० ॥

पठितव्यं साधकेन्द्रैर्योगीन्द्रैरुपवन्दितम् ।
दुर्लभं सर्वलोकेषु सुलभं तत्त्ववेदिभिः ॥ ७१ ॥

असाध्यं साधयेदेव पठनात् कवचस्य च ।
धारणात् पूजनात् साक्षात् सर्वपीठफलं[8] लभेत् ॥ ७२ ॥

---

१. गणम्–ख० । —गलमिति पाठो युक्ततरः प्रतिभाति, अग्रे च नाभिदेशस्य कथनात् ।
२. शनिरिव श्याम ईशः, शनिश्यामेश इत्यर्थः ।
३. शशि–ख०; ४. गुणैरिति–ख० ।
५. महाकायम्–ख० । —महाकायमिति पाठे तु द्वितीयान्तं महाकायं रक्षणक्रियायाः कर्मतया मन्यते । महाकाया इति पाठे तु बहुव्रीहिर्बोध्यः ।
६. ख० पु० नास्ति; ७. हृदयान्वित–ख०; ८. सर्वाभिष्टकुलम्–ख० ।

काकचञ्चुपुटं कृत्वा सप्तधा पञ्चधापि वा ।
कवचं प्रपठेद्विद्वान् गूढसिद्धिनिबन्धनात् ॥ ७३ ।

काकिनीश्वरसंयोगं सुयोगं[1] कवचान्वितम् ।
ईश्वराङ्गं विभाव्यैव कल्पवृक्षसमो भवेत् ॥ ७४ ।

एतत्कवचपाठेन देवत्वं लभते ध्रुवम् ।
आरोग्यं परमं ज्ञानं मोहनं जगतां वशम् ॥ ७५ ।

स्तम्भयेत् परसैन्यानि पठेद्वारत्रयं यदि ।
शान्तिमाप्नोति शीघ्रं स [2]षट्कर्मकरणक्षमः ॥ ७६ ।

[3]आकाङ्क्षारसलालित्यविषयाशाविवर्जितः ।
साधकः कामधेनुः स्यादिच्छादिसिद्धिभाग्भवेत् ॥ ७७ ।

सर्वत्र गतिशक्तिः स्यात् स्त्रीणां मन्मथरूपधृक् ।
अणिमालघिमाप्राप्तिगुणादिसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ७८ ।

योगिनीवल्लभो भूत्वा विचरेत् साधकाग्रणीः ।
यथा गुहो गणेशश्च तथा स मे हि पुत्रकः ॥ ७९ ।

श्रीमान् कुलीनः सारज्ञः सर्वधर्मविवर्जितः ।
शनैः शनैर्मुदा याति षोडशारे यतीश्वरः ॥ ८० ।

यत्र भाति शाकिनीशः सदाशिवगुरुः प्रभुः ।
क्रमेण परमं स्थानं प्राप्नोति मम योगतः ॥ ८१ ।

मम योगं विना नाथ तव भक्तिः कथं भवेत् ।
एतत्सम्मोहनाख्यस्य[4] कवचस्य प्रपाठतः ॥ ८२ ।

---

१. सूत्रञ्च–ख० ।
२. षट्चक्रधारणक्षमः–ख० ।
३. आकाङ्क्षा इत्यारभ्य कथं भवेद् इत्यन्तं ख० पु० नास्ति ।
४. एतस्य सम्मोहने आख्या यस्येति बहुव्रीहिः । अथवा एतत्संमोहनमाचष्टे इति कः कर्तरि बोध्यः ।

वाणी वश्या स्थिरा लक्ष्मीः[1] सर्वैश्वर्यसमन्वितः ।
त्यागिता लभ्यते पश्चान्निःसङ्गो विहरेत् शिवः ॥
सदाशिवे [2]मनो याति सिद्धमन्त्री मनोलयः[3] ॥ ८३ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवभैरवीसंवादेऽनाहतेश्वरसम्मोहनाख्यकवचं नाम त्रिषष्टितमः पटलः ॥

---

१. यदा वाणी वश्या भवति, वशमायाति, तदा लक्ष्मीः स्थिरा भवति ।

२. मन्त्रो न संशयः—ख० ।

३. चतुर्वर्गं लभेत् साध्यो ब्रह्मज्ञानी सदाशिवः ।
सर्वं भूतसमः शान्तः परमानन्दचिन्मयः ॥
भवेत् लोके न संदेहो मानवोऽस्य प्रसादतः—ख० अ० पाठः ।

अथ चतुःषष्टितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

अथ भेदान् प्रवक्ष्यामि सर्वेन्द्रियविनिग्रहान् ।
शृणु चैकमनाः शम्भो यदि वाञ्छाफलेच्छुकः ॥ १ ॥

पुनर्ज्ञानं समाप्नोति स्मृतिविज्ञानवर्जितम् ।
यत्र वै कुरुते न्यासं मम तन्त्रोक्तसम्मतम् ॥ २ ॥

अनाहतोर्ध्वं श्रीपद्मं दलषोडशवेष्टितम् ।
कण्ठकूपमहाधूमावयवे कोटिभास्वरम् ॥ ३ ॥

पञ्चरश्मियुतं क्षेत्रं तन्मध्ये केशवप्रभम् ।
तन्मध्ये कर्णिकास्थानं परमाह्लादवर्धनम् ॥ ४ ॥

अप्रकाश्यं सुगोप्यन्तु शिवरूपं सदाशिवम् ।
पूजयेन्मतिमान् ज्ञानी साकिनीशक्तिवल्लभम् ॥ ५ ॥

महाजनाः कामकलादिबीजै-
निरुध्य वक्त्रं परिभावयन्ति ।
मेघाभमुग्रं स्थिरविद्युदाभं
श्यामं महासुन्दरविग्रहामलम् ॥ ६ ॥

निरूपणं नास्ति गतिप्रकाश-
श्चालोकनं पञ्चमवर्णयोगः ।
जातेर्विचारः प्रतिपादको यः
सदाशिवं शान्तजनाश्रयं भजे ॥ ७ ॥

अकालचक्रं कुलकालचक्रं
प्रकाशमानं भजतां सुरद्रुमम् ।
यजन्ति चक्रं तरुणारुणायुतं
सिन्दूरशैलामलदीप्तवन्तम्[1] ॥ ८ ॥

---

१. सिन्दूरस्य शैलेनामलं दीप्तवन्तमिति चक्रस्य विशेषणम् ।

ब्रह्मादिदेवाः प्रतिपूजयन्ति
तदादिदेवस्य समाधिभावम् ॥ ९ ।

भल्लेषी भल्लकुल्ला कलयति वलिभिर्वीरभल्लूकभाला-
भर्गभ्रान्तिर्विभान्ती भयलविलकलाकालसर्पातुरस्था ।
कौला कैलासमालाकुलकमलजले बिन्दुलावण्यलीला
कण्ठाम्भोजे ज्वलन्ती कनकमधुगृहे पीठपूरे समाधौ ॥ १० ।

ध्येयाया चिन्तनीया रुचिरविकिरणा साकिनी पीतवस्त्रा
सा पायान्नीरदाभं वरदसमददं चन्द्रचूडं सदेशम् ।
ब्रह्मेन्द्रैर्योगिमुख्यैर्विरचयति दलग्रन्थिसंस्थानचित्रं
विद्युत्पुञ्जप्रकाशा मुनिगणनिलया सेव्यतां साधकेन्द्रैः ॥ ११ ।

आकाशाख्यप्रकाशे द्विरसदलकलाप्रोज्ज्वले ब्रह्ममार्गे
जीवानां हंसमालाविरचितपवने धूमधूमेन्दुशुभ्रे ।
श्रीमार्तण्डो विशुद्धे जयति कुलपथोद्दीपनः प्राणवायुः
साकिन्या योगिनीभिर्वसति सुखपदामोदचिन्तामनीशः ॥ १२ ।

द्वावेव धत्तः सकलञ्च कालं
सदाशिवौ तौ मधुपूरवासिनौ ।
इच्छाक्रियाज्ञानविराजितौ यौ
प्रधानदेवौ भजतां सुखास्पदौ ॥ १३ ।

विशुद्धपद्मे प्रकृतीश्वरौ यौ
प्रचक्रतू बाणशिवादिभेदिनौ ।
अकाररूपे गुरुमन्त्रदीप्तौ
कुलाकुलार्थौ पथि भावनीयौ ॥ १४ ।

महाभैरव उवाच—
कुलजे परमे विद्ये नित्यानन्दस्वरूपिणि ।
भेदान् सर्वान्मम स्नेहाद्वक्तुमर्हसि सुन्दरि ॥ १५ ।
कालकूटमहाभीममदोन्मादसुविस्मृतः ।
अहं न जाने योगार्थान् नित्यायुर्बन्धनप्रियान् ॥ १६ ।

यदि मां रक्षितुं शक्ता विषाक्ताङ्गं सदावतु ।
कथं वा कण्ठसञ्चारः कथं वा राक्षसी क्रिया ॥ १७ ।

कथं वा रिपुविद्वेषी कथं वा मङ्गलोदयः ।
कियद्वा विनयाह्लादं कियद्वा कालसाधनम् ॥ १८ ।

नवीनत्वं कथं याति ध्यानं वा कीदृशं तव ।
तवाज्ञागुरुसद्भावं कुलपीठप्रदर्शनम् ॥ १९ ।

कुण्डलीगमनं कुत्र साधकानां कुलं कुतः ।
वर्णध्यानं कुत्र पदे दलभेदः कथं भवेत् ॥ २० ।

स्फूर्तिर्विद्यावियोगो हि पूर्वज्ञानसमोदयः ।
कथं समरसप्राप्तिः कथं वा कायकल्पनम् ॥ २१ ।

मथनं कामदेवस्य कथं देहे व्यवस्थितिः ।
कण्ठाम्भोजस्थिरः को वा भावज्ञानी च को जनः ॥ २२ ।

भावादि त्वत्कृपादृष्ट्या वद आदौ पतिं प्रति ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

आदौ श्रीकण्ठसञ्चारः श्रूयतां परमेश्वर ॥ २३ ।

श्रोतव्यं मन्त्रिभिर्नित्यं कर्तव्यं प्रत्यहं प्रभो ॥ २४ ।

कण्ठे षोडशकं दलं तदुदरे श्रीकर्णिकामण्डलं
तद्बाह्ये चतुरस्रकं सुखमयं षट्कोणमन्तर्गतम् ।
बाह्ये द्वारचतुष्टयं नवगृहं भूबिम्बषट्कं ततः
श्रीचन्द्रातपमूर्ध्वके मधुपुरी तत्कर्णिकायां यजेत् ॥ २५ ।

तत्कर्णिकामध्यनिगूढदेशे
सम्भाति नित्यं मधुपूरदेशः ।
तन्मध्यदेशेऽष्टपुरीप्रकाशः
कौलक्रियासाधनसिद्धये स्यात् ॥ २६ ।

पूर्वादिताः प्रेमकलाधिनाथाः
प्रभान्ति माध्वीरससारस्निग्धाः[1] ।
तेषां प्रणामः क्रियते यतीन्द्रै-
र्ध्येयाः सदाकण्ठदलप्रकाशः ॥ २७ ।

वामेश्वरः पूर्वगृहं प्रयाति
राहुर्गृहं ज्येष्ठगणेश्वरीशः ।
रौद्रात्मको मृत्युपतेर्गृहं तथा
कालीश्वरो नैरृतिहेममन्दिरम् ॥ २८ ।

सकलविकरणीशो वारुणं मन्दिरं तत्
सवनधिकरणीशः पावनः मन्दिरं तत् ।
सबलविमथनीशो मन्दिरं चोत्तरस्थं
समवति निजगेहं सर्वभूताधिदेवः ॥ २९ ।

मध्यं मनोन्मनीनाथः सर्वालम्भस्तदूर्ध्वकम् ।
मन्दिरं हेमजडितं नानारत्नविनिर्मितम् ॥ ३० ।

एतेषां शक्तयो ध्येयाः स्वस्ववामपदोज्ज्वलाः ।
तासां नाम्ना योजयित्वा स्वमन्त्रैः प्रणवेन वा ॥ ३१ ।

सम्पुटीकृत्य जप्त्वा च असाध्यं खलु सिद्धयति ।
नवकोणोर्ध्वगेहे च पूर्वस्यां दिशि राजते ॥ ३२ ।

वामा देवी महातेजोमयी भुजचतुष्टया ।
नानालङ्कारशोभाङ्गी साधकाऽभीष्टदा सदा ॥ ३३ ।

वह्नौ हेममन्दिरे च ज्येष्ठा देवी चतुर्भुजा ।
सर्वालङ्कारसंयुक्ता पद्ममालाविराजिता ॥ ३४ ।

ध्येया सदा योगिमुख्यैः सर्वसिद्धिसमृद्धये ।
यमस्वर्णमन्दिरे च रौद्री परमसिद्धिदा ॥ ३५ ।

चतुर्भुजा त्रिनेत्रा च ध्येयालङ्कारमण्डिता ।
नैरृते हेमगेहे च काली देवी चतुर्भुजा ॥ ३६ ।

---

१. माध्वीरससारेण स्निग्धाः ।

सर्वाऽलङ्कारशोभाढ्या त्रिनेत्रा वरदायिनी ।
सर्वास्त्रधारिणी देवी मुण्डमालासुशोभिता ॥ ३७ ।

ध्येया योगेन्द्रविद्याभिः परमा ज्ञानदायिनी ।
कलविकरणो देवी भाति वारुणमन्दिरे ॥ ३८ ।

चतुर्भुजा योगिमाता त्रिनेत्रा भरणान्विता ।
सा ध्येया योगिमुख्यैश्च अणिमाद्यष्टसिद्धिदा ॥ ३९ ।

पावने स्वर्णगेहे च ध्येया साधकसत्तमैः ।
बन्धूकपुष्पसङ्काशा केयूरहारमालिनी ॥ ४० ।

बलविकरणी देवी सर्वाभरणभूषिता ।
चतुर्भुजा त्रिनेत्रा च सर्वादिसिद्धिदायिनी ॥ ४१ ।

बलप्रमथिनी देवी धनदा मोक्षदा सदा ।
कुबेरहेमगेहस्था सर्वानन्दकरोद्यता ॥ ४२ ।

श्रीसर्वभूतदमनी ध्येया ईशानमन्दिरे ।
प्रथमारुणसङ्काशा करवीरस्रजान्विता ॥ ४३ ।

चतुर्भुजा त्रिनेत्रा च सर्वालङ्कारशोभिता ।
मध्ये श्रीकर्णिकायाश्च ध्येया सर्वजनेश्वरैः ॥ ४४ ।

सूर्यप्रभा सदा ध्येया देवी श्रीदा मनोन्मनी ।
चतुर्भुजा महादीप्तिरलङ्कारोपशोभिता ॥ ४५ ।

त्रिनेत्रा वरदा सर्वा सर्वान्तःकरणस्थिता ।
सकलगुणात्मशक्तियुक्ता देवी चतुर्भुजा ॥ ४६ ।

अरुणायुतसङ्काशा रुण्डमालाविराजिता ।
[1]अनन्तानन्तमहिमा ध्येया साद्या चतुर्भुजा ॥ ४७ ।

त्रिनेत्रा रक्तवसना सर्वालङ्कारमण्डिता[2] ।
एतासां ध्यानमाकृत्य पूजयेद्विधिवत् ततः ॥ ४८ ।

---

१ अनन्तानन्तो महिमा यस्याः सा; २. सर्वालङ्कारैर्मण्डिता इति ।

[1]मनः कल्पितद्रव्यैश्च साक्षात्कल्पितद्रव्यकैः ।
जप्त्वा नाम्ना योजयित्वा समर्प्य विधिवत्सुधीः ॥ ४९ ।

कृत्वा मांसासवैर्योगी तर्पयेन्मधुधारया ।
अभिषेकं कुलद्रव्यैः साधकैर्योगिभिः सह ॥ ५० ।

भोजयेद् योगिमुख्याश्च ब्राह्मणान् वेदपारगान् ।
नानाविधकुलद्रव्यैर्भक्ष्यैर्भोज्यैश्च योगिराट् ॥ ५१ ।

ततः प्रकाशमाप्नोति मनोयोगेन वार्पयेत् ।
एतत्प्रकारः कण्ठस्य सञ्चारः परमेश्वर ॥ ५२ ।

लभ्यते विधिनानेन दिव्यभावेन वार्पयेत् ।
ततः सिद्धिमवाप्नोति साकिनीदर्शनं तथा ॥ ५३ ।

पत्न्या सार्धं साधकेन्द्रः सिद्धमन्त्रमवाप्नुयात् ।
अथ वक्ष्ये महाकाल राक्षसीं परमां क्रियाम् ॥ ५४ ।

येन कर्मसाधनेन शिवत्वमपि लभ्यते ।
चीनाचारं राक्षसीनां कुलीनानां सदाशिव ॥ ५५ ।

राक्षसी वेदभाषा च वेदमन्त्रविशोधिता ।
चीनाचारं राक्षसीनां साधनादेव सिद्धयति ॥ ५६ ।

चीनाचारं प्रवक्ष्यामि राक्षसीनां महाफलम् ।
अष्टादशप्रकारन्तु चीनाचारं प्रचक्षते ॥ ५७ ।

सर्वत्र शुद्धसद्भावः प्रयोजनविरागवित् ।
उत्तमोत्तमसंज्ञं चानुत्तमोत्तममेव च ॥ ५८ ।

[2]अत्यन्तोत्तमसंज्ञं चात्यन्तानुत्तममेव च ।
अनुत्तमोत्तमं नाथ चात्युत्तममथापरम् ॥ ५९ ।

उत्तमं सप्तविधञ्च चीनाचारेषु योजयेत् ।
अत्यन्तमध्यमं चीने चातिमध्यममेव च ॥ ६० ।

---

१. मनसा कल्पितानि द्रव्याणि, तैरित्यर्थः ।
२. अन्तमतिक्रान्ता अत्यन्ता, तादृशो उत्तमा संज्ञा यस्य तम् ।

मध्यमध्यमसञ्ज्ञञ्च मध्यमन्तु चतुर्विधम् ।
अत्यन्ताधमसञ्ज्ञञ्चात्यन्ताधममेव च ॥ ६१ ।

अत्यधमाधमं चैवात्यन्ताधमाधमं तथा ।
अत्यधमं तथा नाथाधमाधममथापरम् ॥ ६२ ।

अधमं सप्तमं विद्धि राक्षसीचीनसाधने ।
दिनपक्षमासवर्षभेदेषु कारयेत् क्रमात् ॥ ६३ ।

आदावुत्तमसिद्धान्तश्रवणं कुरु शङ्कर ।
यदा ऋतुमती पृथ्वी त्रिदिनं चाम्बुवीचिषु ॥ ६४ ।

तद्दिनात्तु दिनं यावत्तावद्धि मांसचर्वणम् ।
चीनद्रुमासवानन्दपञ्चतत्त्वनिषेवणम् ॥ ६५ ।

अबाधतो यः करोति चोत्तमोत्तममेव तत् ।
अनुत्तमोत्तमं वक्ष्ये पूजाकालेषु योजयेत् ॥ ६६ ।

केवलं गुप्तभावेन पञ्चतत्त्वनिषेवणम् ।
अत्यागं स्वीयबीजं तु कुलपीठस्य मन्थनम् ॥ ६७ ।

तत्पीठमथनोद्भूतसुधारसनियोजनम् ।
आसवेषु च सर्वेषु तदासवनिषेवणम् ॥ ६८ ।

अष्टप्रकारमांसाढ्यं सदा चर्वणतत्परम् ।
पूजाकालं विना द्रव्यं नाहरेत् साधकोत्तमः ॥ ६९ ।

[1]अनुत्तमोत्तमं तद्धि सर्वदेशे च सर्वदा ।
अत्यन्तोत्तमचीनं तु वक्ष्याम्यत्र विधानतः ॥ ७० ।

येन सिद्धो भवेन्मन्त्री सदाशिवादिदर्शनम् ।
प्रत्यहं वत्सरं व्याप्य निशायामर्धरात्रके ॥ ७१ ।

पञ्चतत्त्वं समानीय अष्टनायिकया सह ।
पूजयेत् क्रमतो मन्त्री तत्कथाश्रवणोत्सुकः ॥ ७२ ।

---

१. नास्ति उत्तमो यस्मात् सोऽनुत्तमः । अनुत्तमेष्वपि उत्तमस्तमित्यर्थः ।

क्रमेण मथनं कृत्वाऽऽसवे संयोज्य नित्यशः ।
[1]शुद्धभावेन गृह्णीयाद् ब्राह्मण्यां बीजमर्पयेत् ॥ ७३ ।

तद्बीजेन समासिञ्चेन्मस्तकादिषु पङ्कजे ।
दत्वा ताभ्यो दक्षिणादीन् स्वातन्त्र्यमपि चाचरेत्॥७४ ।

अत्यन्तोत्तममेतद्धि न चारम्भो विशां विना ।
अत्यन्तानुत्तमं विद्धि येन सिद्धो भवेन्मनुः ॥ ७५ ।

आनन्दे त्यागमापन्ने पुनरानन्दमाश्रयेत् ।
सर्वदानन्दसंयुक्तः प्रजपेद्यजनादिषु ॥ ७६ ।

न विशेषो दिवारात्रौ सर्वदारसुसंयुतः ।
उत्कासनोपविष्टस्तु निर्जने कुलसाधनम् ॥ ७७ ।

अनुत्तमोत्तमं विद्धि मायाजालनिकृन्तनम् ।
कालाकालं विहायादौ स्वकुलं परमेव वा ॥ ७८ ।

तन्नाम्नाहूय यत्नेन दापयेदासनादिकम् ।
महाशङ्खं समानीय कुलद्रव्यं तथानघ ॥ ७९ ।

विधिना पूजनं कृत्वा कुलवारे च साधकः ।
दाता भोक्ता संविदश्च शोधितस्य कुलेश्वर ॥ ८० ।

स्वीयाङ्गे न्यासजालादीन् तासामङ्गे ततः परम् ।
शिवपूजां ततः कृत्वा कुलपूजां समारभेत् ॥ ८१ ।

पीठे संयोज्य शम्भुं चाक्षुभ्योऽयुतजपं चरेत् ।
जपं समर्पयेत् तस्या वामहस्ताम्बुजे सुधीः ॥ ८२ ।

विसर्जनं स्वबीजस्य ततो नित्याप्रतर्पणम् ।
आसवे योजयित्वा तु तया सार्धं पिबेन्मधु ॥ ८३ ।

वामभागे कुलं कृत्वा लक्षजाप्यं समापयेत् ।
कुलद्रव्यैश्च होमः स्यात् तद्दशांशेन तर्पणम् ॥ ८४ ।

---

१. शुद्धश्चासौ भावश्चेति कर्मधारयः । सर्वत्र भावशुद्धिरेव मूलम् ।

तद्दशांशाभिषेकन्तु दशांशं विप्रभोजनम् ।
ततः कुमारीभोज्यञ्च मधुमांसासवैः प्रभो ।। ८५ ।

प्रत्यहं वत्सरं व्याप्य कुलवारे कुजे शनौ ।
वत्सरान्ते मम पदाम्भोजं पश्यति निश्चितम् ।। ८६ ।

अनुत्तमोत्तमञ्चैतद् राक्षसीचीनसाधने ।
अत्युत्तमं प्रवक्ष्यामि सावधानावधारय ।। ८७ ।

सदा जितेन्द्रियो भूत्वा योगाभ्यासपरायणः ।
मांसासवाद्यैः सन्तर्प्य कालिकां घोरनिःस्वनाम् ।। ८८ ।

एकादशीव्यतीपाते कुलवारे कुले तिथौ ।
कुलमानीय साक्षाद्वै परंब्रह्ममयो भवन् ।। ८९ ।

केवलं लयभावेन देवीपूजां समारभेत् ।
कुलदृष्टचा च तद्बुद्ध्या तत्तद्धयानपरायणः ।। ९० ।

मूलाधारे महाचक्रे योगिनीकोटिराजिते ।
कोटिब्रह्मालये सिद्धे सूक्ष्ममार्गेण साधकः ।। ९१ ।

ज्योतिराकाशगङ्गाभिर्यथाधाराभिराप्लुताम् ।
पृथिवीं ब्रह्मजननीं ब्रह्मानन्दस्वरूपिणीम् ।। ९२ ।

तथा कुलमयीं नित्यां नित्यानन्दस्वरूपिणीम् ।
कुलकुण्डलिनीं देवीं विश्वमातां त्रिलोचनाम् ।। ९३ ।

महाघनरसोल्लासां महोन्मादादिबिन्दुभिः ।
गलिताभिर्महाधाराजन्याब्धिशतकोटिभिः ।। ९४ ।

परिच्छिन्नाभिरुद्धते ज्योतीरन्ध्रे महापथे ।
अत्रैव सततं भाति सूक्ष्मात्सूक्ष्मतराऽपरा ।। ९५ ।

बिन्दूद्भवा महाधारा कोटिसौदामिनीप्रभा[1] ।
तस्या रूपस्य का पूजा कुलदेव्या महाप्रभो ।। ९६ ।

---

१. कोटिसंख्याकाः सौदामिन्यस्तासां प्रभा यस्यां सा ।

केवलं बिन्दुधाराभिस्तर्पयामि सदानघाम् ।
कुलदेवीं जगद्रूपां स्थूलसूक्ष्मस्वरूपिणीम्[1] ॥ ९७ ॥

मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं तर्पयामि सुरेश्वरीम् ।
इत्येवं मनसा यस्य तस्य किं बाह्यपूजया ॥ ९८ ॥

तथापि कल्पयाम्यत्र सा(शा)रदीये महोत्सवे ।
यथा कुलवतीं दुर्गां तथाहं कुलनायिकाम् ॥ ९९ ॥

मूलपद्मात्समाकृष्य नागिनीं नागकन्यकाम् ।
कुहकोद्भवरूपस्थां मनुष्यगणकन्यकाम् ॥ १०० ॥

वामेऽहं कल्पयाम्यत्र कुलपीठे मनोरमे ।
कुलदेवीं वामभागे पूजयाम्यधुनामुना ॥ १०१ ॥

तर्पयामि महाबिन्दूद्भवासवघटामृतैः ।
मांसाष्टकयुतैर्नित्यं मुद्राभिर्मीनमिश्रितैः ॥ १०२ ॥

यथान्तःकरणे सा तु तथा मे बाह्यतर्पणम् ।
शुभं भवतु नित्यं मे महारात्रिश्च सौख्यदा ॥ १०३ ॥

कुलं भवतु सौख्यं मे बाह्यपूजा शुभा मम ।
इत्येवं मनसा यस्य तस्याः सौख्यं कुतः प्रभो ॥ १०४ ॥

सर्वदा पूजनं तस्य चैव कालो निरर्थकः ।
अभेदबुद्ध्या सर्वत्र पूजनं भावसाधने ॥ १०५ ॥

अत्युत्तममिति प्रोक्तं कौलानां योगसाधने ।
जातिवृत्तं न तत्रैव यदीच्छति फलोदयम् ॥ १०६ ॥

उत्तमं सम्प्रवक्ष्येऽहं यथोचितफलोदयम् ।
अत्र तन्त्रे क्रिया गुप्ता गुप्तमामन्त्रितं कुलम् ॥ १०७ ॥

गुप्तं कुलरसं नित्यं गुप्तपानं सदा प्रभो ।
वर्षे वर्षे पूर्णसिद्धि प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥ १०८ ॥

---

१. स्थूलानि सूक्ष्माणि च स्वरूपाणि सन्ति यस्यां सा, इनिप्रत्ययान्तः ।

मासे मासे तर्पणन्तु पक्षे पक्षे कुलक्रिया ।
दिने दिने सदा पानं कौलानामिति लक्षणम् ।। १०९ ।

गुप्तक्रियाभिः सिद्धचेत न प्रकाश्यं कदाचन ।
सर्वत्यागी तदेव स्यात् प्रकाशो जायते यदि ।। ११० ।

उत्तमं भावमालम्ब्य क्षिप्रं सिद्धचति साधकः ।
तस्यैव लक्षणं नित्यं तन्त्रनाथे निरूपितम् ।। १११ ।

शिवोक्तिलक्षणे प्रोक्तं भैरवेण मया सह ।
तत्सर्वं ज्ञानमालम्ब्य चोत्तमस्त्वं भविष्यसि ।। ११२ ।

अत्यन्तमध्यमं वक्ष्ये चीनाचारक्रमेण तु ।
यत्कृत्वा मुनयः सर्वे कौललक्षणभावकाः ।। ११३ ।

पीठोपपीठमध्ये च महापीठे कुलार्णवे ।
[1]महाचीनद्रुमलतावेष्टिते साधकान्विते ।। ११४ ।

तत्रैकमासनं कृत्वा तिथित्रयदिने शुभे ।
उक्तासनमुपानीय तत्र निश्चयचेतसा ।। ११५ ।

लक्षमेकं जपेन्नित्यं कामनाविषयस्थितः ।
कृष्णे वा शुक्लपक्षे वा होमादिविधिमाचरेत् ।। ११६ ।

कुमारीं भोजयित्वा तु कण्ठे तौ भावयेत्सदा ।
मासेन सिद्धिमाप्नोति कुलद्रव्यप्रसादतः ।। ११७ ।

अत्यन्तमध्यमं चीनं कथितं तव यत्नतः ।
अतिमध्यममावक्ष्ये यज्ज्ञात्वा योगिराड् भवेत् ।। ११८ ।

कालाकालं विहायाथ सदान्तःकरणस्थितः ।
भावयित्वा सुधादेवीं डाकिन्यादिस्वरूपिणीम् ।। ११९ ।

पञ्चशक्ति समानीय पूजयेत्कुलजै रसैः ।
कुलपुष्पैः साधकेन्द्रः कुलीनां भावयेत्ततः ।। १२० ।

---

१. महाचीनद्रुमलताभिर्वेष्टित इत्यर्थः । चीनदेशेऽयं वृक्षः सम्भाव्यते ।

यथा बाह्ये तथा हृद्ये कण्ठे मणिगृहे तथा ।
वैकुण्ठे विष्णुकमले मूलाधारे पुनः पुनः ॥ १२१ ।

ध्यात्वा ध्यात्वा तर्पयेद्यः स कामविजयी भवेत् ।
अतिमध्यममेतत्तु योगिनामपि दुर्लभम् ॥ १२२ ।

मध्यमध्यममावक्ष्ये कुलीनफलसागरम् ।
वाञ्छासिद्धिकरं साक्षात् शिववद्विहरेन्मुदा ॥ १२३ ।

मासमध्ये पञ्चवारं पञ्चतत्त्वनिषेवणम् ।
यजनं भावनं नित्यं होमकर्म समापयेत् ॥ १२४ ।

बाह्यक्रियासु निपुणः श्मशाने विपिनेऽपि वा ।
भावयेत् कान्तं शिरसि काकिनीं साकिनीं कलाम् ॥ १२५ ।

पञ्चशक्ति द्वयं वापि गृहीत्वा तर्पणं चरेत् ।
तर्पणान्ते जपेद्विद्यामहर्निशमनातुरः ॥ १२६ ।

होमतर्पणकाले तु कुलशक्तिं प्रपूजयेत् ।
आसनं स्वागतं पाद्यमर्घमाचमनीयकम् ॥ १२७ ।

मधुपर्कं च मनस्नानवसनाभरणानि च ।
[1]गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यं शीतलं जलम् ॥ १२८ ।

पक्वान्नं पक्वमांसञ्च पक्वञ्च व्यञ्जनादिकम् ।
कर्पूरवासितं नीरं ताम्बूलं तदनन्तरम् ॥ १२९ ।

लवङ्गादिसमायुक्तं दत्वा गन्धानुलेपनम् ।
गन्धमाल्यादिकं दत्वा प्रार्थयेत्सुहितं वरम् ॥ १३० ।

तस्यै दत्वा स्वमात्मानं कुलपीठे स्थिरो भवेत् ।
कण्ठपद्मे मनो याति शक्तिमन्त्रप्रभावतः ॥ १३१ ।

मध्यमध्यममेतद्धि कुलीनविप्रभोजनम् ।
क्रमशः सिद्धिमाप्नोति मध्यमं शृणु भैरव ॥ १३२ ।

---

१. गन्धः पुष्पं धूपो दीपो नैवेद्यमिति समाहारद्वन्द्वः । पञ्चोपचारे एतानि द्रव्याणि योज्यानि ।

यथा काले कुलद्रव्यं समानीय प्रयत्नतः ।
नवशक्तिमेकशक्तिं त्रिशक्तिं वासमाहरेत् ॥ १३३ ।

गुप्तस्थाने समानीय गुप्तद्रव्यैः प्रपूजयेत् ।
दशोपचारविधिना पूजयेदिष्टदेवताम् ॥ १३४ ।

प्रातःकाले च मध्याह्ने सायाह्ने मध्यरात्रिके ।
सहस्रजपमाकृत्यार्चनं वारचतुष्टयम् ॥ १३५ ।

मध्यरात्रौ शक्तिमात्रं स्थापयेदग्रतः सुधीः ।
साक्षान्मूर्त्तौ दिगम्बर्यां मुद्रया परिपूजयेत् ॥ १३६ ।

जयन्ती मङ्गला काली भद्रकाली कपालिनी ।
दुर्गा शिवा क्षमा धात्री स्वाहा स्वधा नमोऽस्तु ते ॥ १३७ ।

अनेन मनुनाभ्यर्च्य परंब्रह्मस्वरूपिणीम् ।
कुलद्रव्यं पिबेत् पश्चाच्छक्तिदत्तं पुनः पुनः ॥ १३८ ।

शक्तिप्रसादं विधिना संशोध्य पानमाचरेत् ।
शोधयामि परां देवीं कुलास्यपद्मनिर्गताम् ॥ १३९ ।

पिबामि परमानन्दैस्तत्प्रसादात्कुलेश्वरि ।
इत्यादि मध्यमं प्रोक्तं चीनाचारेषु दुर्लभम् ॥ १४० ।

अत्यन्ताधमचीनन्तु वक्ष्याम्यत्र विशेषतः ।
मासमध्ये त्रिदिनन्तु तर्पणन्तु त्रयं त्रयम् ॥ १४१ ।

अष्टोत्तरशतं जाप्यं केवलं शक्तिशोधनम् ।
ऋषिमातृकराङ्गादिन्यासं स्वीयतनौ चरेत् ॥ १४२ ।

कुलाङ्गेऽपि समाकृत्य पीठे शम्भुं नियोजयेत् ।
[1]धर्माधर्मकलास्नेहमात्माग्नौ मनसा स्रुचा ॥ १४३ ।

सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम् ।
स्वाहान्तमन्त्रमुच्चार्य नियोज्य जपमाचरेत् ॥ १४४ ।

---

१. धर्मः, अधर्मः, तयोः कला, तस्याः स्नेहः ।

जपं समर्प्य विधिना स्तोत्रं कवचमापठेत् ।
कवचान्ते ततो मन्त्री स्वबीजहोममाचरेत् ॥ १४५ ।

कुलत्रिकोणगगनवायूज्ज्वलकुलानले ।
कुलप्रकाशिते पद्मतले च मनुनामुना ॥ १४६ ।

प्रकाशाकाशहस्ताभ्यामवलम्ब्योन्मनीस्रुचा ।
धर्माधर्मकलास्नेहपूर्णमग्नौ जुहोम्यहम् ॥ १४७ ।

स्वाहेति मन्त्रमुच्चार्य ततस्तेनैव तर्पणम् ।
तर्पणान्ते चाभिषेकं स्वशक्तिकुलजै रसैः ॥ १४८ ।

शक्तीनां ब्राह्मणस्थाने भोजनञ्च समापनम् ।
केवलं त्रिदिनं मासे चात्यन्ताधमलक्षणम् ॥ १४९ ।

अत्यन्तात्यधमं चीनं वक्ष्यामि कुलवल्लभ ।
राक्षसोक्रियया व्याप्तं भुजङ्गाकारभोजनम् ॥ १५० ।

अहमेव परंब्रह्म बुद्ध्यात्मानं प्रतर्पयेत् ।
आत्मम्भरी स्वयं नित्यं शक्तित्यागपरो नरः ॥ १५१ ।

अन्तरे च न तु त्यागो मनसा कर्मसाधनम् ।
पञ्चतत्त्वं स्वयं पीत्वा सदानन्दस्वरूपवान्[१] ॥ १५२ ।

बीजत्यागं न करोति लिङ्गं वक्त्रे पुनः पुनः ।
दन्तावलियुते वक्त्रे बीजोच्चारणमुच्चकैः ॥ १५३ ।

उपांशु मानसं वापि जप्त्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।
न तु बाह्ये महापूजा एकादशीव्रतं विना ॥ १५४ ।

एकादश्यामवश्यन्तु पूजयेत्सुरसुन्दरीम् ।
यथाविधि विधानेन शक्तिं सन्तोषयेत् सुधीः ॥ १५५ ।

सर्वदेशे सर्वपीठे तत्राशुचिर्न विद्यते ।
अशुचेर्भावमालब्य नरकं खलु गच्छति ॥ १५६ ।

---

१. सदानन्दस्य स्वरूपमिति षष्ठीतत्पुरुषः, तदस्यास्तीति मतुबन्तः ।

विष्ठायां गन्धनिबिडे मांसमेदादिगन्धके ।
सुगन्धदेशके वापि एकभावेन पूजयेत् ॥ १५७ ।

पूजान्ते षट्सहस्राख्यस्तोत्रं कवचमापठेत् ।
तदन्ते विहरेद्वीरो मदनाह्लादवर्जितः ॥ १५८ ।

अन्तरे कुण्डलीयुक्तः कामकर्ता स्वयं भवेत् ।
न तु बाह्ये स्वबीजस्य त्याग एव सुरेश्वर ॥ १५९ ।

तदा योगे स्थिरो याति चात्यन्तात्यधमादिभिः ।
अत्यधमाधमं वक्ष्ये कालात्मञ्छृणु सादरम् ॥ १६० ।

मासमध्ये वारमेकं कुलाचारं सचीनकम् ।
कुलमालां समानीय कुलेन पुटितं मनुम् ॥ १६१ ।

शक्तियुक्तो जपेन्मन्त्री मन्त्रध्यानपरायणः ।
चतुर्दण्डगते रात्रौ जपारम्भ उदीरितः ॥ १६२ ।

जपेत्तु सकलां रात्रिं वेददण्डस्थिते न तु ।
भयं नैव तु कर्तव्यं हास्यं तत्र विवर्जयेत् ॥ १६३ ।

कालीतन्त्रविधानेन तारातन्त्रक्रमेण वा ।
पूजाजपं समर्प्याथ शक्तिं सम्प्रार्थयन्मुदा ॥ १६४ ।

स्तोत्रं कवचमुच्चार्य विहरेच्च यथाविधिम् ।
मासमध्ये दिनमेकं कृत्वा योगी भवेन्नरः ॥
पशुत्वं न समायाति वीरतन्त्रप्रसादतः ।
एतदन्यदिने नाथ पञ्चतत्त्वाक्ततण्डुलम् ॥ १६५ ।

वदनाम्भोरुहे दत्वा जपेत्तद्गतमानसः ।
एवं वत्सरपर्यन्तं कृत्वा योगी भवेन्नरः ॥ १६६ ।

अत्यधमाधमं कृत्वा पशुत्वमपि मुञ्चति ।
कुलेश परमानन्द वक्ष्येऽन्त्यन्ताधमाधमम्[1] ॥ १६७ ।

---

१. अधमादपि अधमः, अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तः, स चासौ अधमाधमश्च ।

भवेयुः साधकाग्रयाश्च वीराः पशुगुणोदयाः ।
उच्चदेशे गृहं कृत्वा मण्डलाकारमेव च ॥ १६८ ।

शक्तिं विना चरेत्कार्यं नृणां मुण्डत्रयोदशे ।
आसनं तत्र संस्कृत्य जपेत्तु शङ्खमालया ॥ १६९ ।

अनुकल्पितद्रव्येण साक्षात्कल्पितद्रव्यकैः ।
पूजयेत्परया भक्त्या स्वात्मानं शक्तिकुण्डलीम् ॥ १७० ।

एकाकी निर्जने देशे तद्गतः प्रजपेन्मनुम् ।
कुलपूजाक्रमेणैव आत्मशक्तिं प्रतर्पयेत् ॥ १७१ ।

सहस्रनामयोगाङ्गं षट्चक्रभेदनक्रमात् ।
पठित्वा स्तोत्रकवचं विन्यसेदात्मनो हृदि ॥ १७२ ।

गुप्तजाप्यक्रमेणैव सिद्धो भवति मानवः ।
इत्येतत्कथितं नाथ महासिद्धिकरं परम् ॥ १७३ ।

दिवारात्रौ साधकस्य विशेषो नास्ति शङ्कर ।
पशुभावं परित्यज्य सिद्धोऽत्यन्ताधमाधमम् ॥ १७४ ।

अत्यधमं प्रवक्ष्यामि चीनाचारक्रमेण तु ।
येन सिद्धो भवेन्मन्त्री पशुभावं विमुञ्चति ॥ १७५ ।

शृणु प्राणेश वरद सिद्धानामधिपाधिप ।
पातालमण्डपं कृत्वा गन्धनिर्गमवर्जितम् ॥ १७६ ।

तत्रासनं समाकृत्य तत्र मुण्डत्रयं त्रयम् ।
तन्मध्ये निवसेन्नाथ कुलविद्यासमन्वितः ॥ १७७ ।

कुलीनां पण्डितां नारीं दिव्यालङ्कारमण्डिताम् ।
सर्वदानन्दनिलयां रसिकां क्रोधवर्जिताम् ॥ १७८ ।

सुन्दरीं [1]यौवनाह्लादललितां देवयोगिनीम् ।
एवंभूतां देवशक्तिं वामभागे नियोज्य च ॥ १७९ ।

---

१. यौवनस्याह्लादेन ललिता । यूनो भावो यौवनम् । "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" इत्यण्-प्रत्ययः ।

पूजयेत्परया भक्त्या यथेष्टदेवतां प्रभो ।
केवलं पूजनं कृत्वा त्रिदिनं कुलमन्दिरे ॥ १८० ।

अथ सप्तदिनान्[1] वापि पूजाजपविधिं चरेत् ।
शक्तिं सन्तर्पयेद् भक्त्या नवकन्यामथापि वा ॥ १८१ ।

वस्त्रालङ्कारभूषाद्यैः कुलद्रव्यैर्यथाविधि ।
सन्तोषयेत् सदा कामी लिङ्गध्यानपरायणः ॥ १८२ ।

धूपदीपौ तथा दद्यात् सर्वदा साधकोत्तमः ।
यथा तत्त्वान्तनाशः स्यात्तथा तच्चित्ततामसम् ॥ १८३ ।

नश्यत्येव महाकाल अत्यधमप्रसादतः ।
अधमाधममावक्ष्ये यथोक्तफलसिद्धये ॥ १८४ ।

मन्त्री पीठे समागम्य मुक्तकेशो दिगम्बरः ।
घृणालज्जाविरहितो निर्जने विपिनेऽपि वा ॥ १८५ ।

गङ्गागर्भे गिरौ वापि बिल्वमूले चतुष्पथे ।
वटमूलेऽश्वत्थमूले चीनद्रुमतलेऽपि वा ॥ १८६ ।

कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां समारभ्य प्रयत्नतः ।
मुण्डमेकमधः क्षिप्त्वा गन्धचन्दनलेपितम् ॥ १८७ ।

हस्तार्धमानतो नाथ चाण्डालं हीनजातिगम् ।
तत्र स्थित्वा जपेन्मन्त्री भयमात्रं विवर्जयेत् ॥ १८८ ।

चाण्डालीशक्तिमानीय कुलद्रव्यं तथा प्रभो ।
तद्दिनात्तद्दिनं यावत्तावदष्टोत्तरं शतम् ॥ १८९ ।

विधिना शोधनं कृत्वा शक्त्यै दत्वा स्वयं पिबेत् ।
आनन्दसागरे मग्नः सर्वदर्शी निरामयः ॥ १९० ।

मांसमुद्राचर्वणं तु सदानन्दमयो भवन् ।
प्रत्यहं साधनं कृत्वा वर्षमध्ये च मासकम् ॥ १९१ ।

---

१. दिनशब्दस्य नपुंसकत्वेऽपि अत्र पुंस्त्वम् । लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति महाभाष्यवचनात् ।

मासेन सिद्धिमाप्नोति राक्षसीक्रमतः प्रभो ।
अधमाधमकार्येण पशुश्चीनाश्रितो भवेत् ॥ १९२ ।

अधमं शृणु यत्नेन कौलानामतिदुर्लभम् ।
अधमादिक्रमेणैव वत्सरान्मां प्रपश्यति ॥ १९३ ।

पशुवत्सकलं कार्यं रात्रौ चापि कुलक्रिया ।
कुलदेव्यास्त्रिरात्रौ[1] च कुलपीठे मनोरमे ॥ १९४ ।

पूजयेत् परमानन्दैः कुलध्यानपरायणः ।
कुलपुष्पैः कुलद्रव्यैः साङ्गोपाङ्गैर्विधानतः ॥ १९५ ।

कुलपूजां मध्यरात्रौ ब्राह्मणो ब्राह्मणीयुतः ।
क्षत्रियः क्षत्रियायुक्तो वैश्यो वैश्यान्वितः सदा ॥ १९६ ।

शूद्रः शूद्रकलायुक्तो निजाभावे परायुतः ।
जुहुयात् कालसर्पिण्या वदनाम्भोजसुन्दरे ॥ १९७ ।

पुरश्चरणवत् कार्यं दिवारात्रौ प्रतर्पयेत् ।
अकालमृत्युजेता स्यात् परानन्दमयो भवन् ॥ १९८ ।

अनायासेन सिद्धिः स्यादधमस्य प्रसादतः ।
रिपुविद्वेषणं वक्ष्ये देवदेव शृणु प्रभो ॥ १९९ ।

यस्य प्रसादमात्रेण निःशत्रुरवरान् भवेत् ।
कण्ठपद्मे दृढो भूत्वा साकिनीं श्रीसदाशिवम् ॥ २०० ।

पूजयित्वा विधानेन भावयेत् तद्गतो यदि ।
मञ्जुघोषस्य मनुना पुटीकृत्य सदाशिवम् ॥ २०१ ।

तारयद्वयमुच्चार्य रक्षात्मानं युगं तथा ।
परपक्षं छेदयति योगशत्रून् विनाशय ॥ २०२ ।

युगलं युगलं तत्र रमावह्नित्रयं त्रयम् ।
ततो मारययुग्मन्तु खादयद्वयमेव च ॥ २०३ ।

---

१. त्रिरावृत्ता रात्रिस्त्रिरात्रिस्तत्र त्रिरात्राविति मध्यमपदलोपिसमासो ज्ञेयः, न तु तिसृणां रात्रीणां समाहारस्त्रिरात्रं तत्रेति विग्रहः ।

शत्रुकण्ठत्रिशूल्यन्ते निकण्ठरिपुपञ्चकान् ।
हारयद्वयमुच्चार्य स्वाहान्तमनुमाजपेत् ॥ २०४ ॥

स भवेद्रिपुविद्वेषी योगाभ्यासी स्वयं भवेत् ।
अन्यमन्त्रं वक्ष्यामि सावधानोऽवधारय ॥ २०५ ॥

अघोरमन्त्रपुटितं साकिनीनिजमन्त्रकम् ।
तदन्ते कामराजन्तु रिपुं मे योगविघ्नदम् ॥ १०६ ॥

दारयद्वयमुच्चार्य विद्वेषयद्वयं वदेत् ।
परपक्षं छेदयेति कालजालं हरद्वयम् ॥ २०७ ॥

स्वाहान्तमन्त्रमुच्चार्य जपेत् कण्ठाधिदेवताम् ।
स भवेद्रिपुविद्वेषी योगविघ्नादिविघ्नहृत्[1] ॥ २०८ ॥

मङ्गलोदयमावक्ष्ये येन योगी भवेन्नरः ।
रात्रिशेषे समुत्थाय जपेन्मध्यन्दिनावधि ॥ २०९ ॥

योगध्यानं सर्वदैव कण्ठपद्मे स्थिरो भवेत् ।
मङ्गलोदयमाप्नोति चिरजीवी भवेद् ध्रुवम् ॥ २१० ॥

विस्मयाह्लादमावक्ष्ये यत्कृत्वा योगिनीपतिः ।
स्वीकृत्य च कुलं द्रव्यं परानन्दमयो भवन् ॥ २११ ॥

ध्यानाद्विलयमाप्नोति तस्य नाशः कुतः प्रभो ।
क्रमेण परतां याति क्रयविक्रयवर्जितः ॥ २१२ ॥

तस्मिन् प्रलयमापन्ने कुतो देहः कुतो मृतिः ।
तस्यैव सर्वदा पूजा बाह्यपूजा निरर्थिका ॥ २१३ ॥

एतस्मिन् प्रलये याते कुतः सृष्टिस्थितिर्भवेत् ।
सृष्टिस्थितिमयो भूत्वा विलयं याति निश्चितम् ॥ २१४ ॥

कालसाधनमावक्ष्ये यथा कुण्डलिनीपदम् ।
यदा समरमानन्दः सानन्दचेतसान्वितः[2] ॥ २१५ ॥

---

१. योगे योगकर्मणि ये विघ्नास्त आदयो येषां ते योगविघ्नादयः, ते च ते विघ्नाश्च, तान् हरतीति योगविघ्नादिविघ्नहृत्, हृधातोः कर्तरि क्विप् ।

२. आनन्देन सहेति सानन्दं चेतः, तेनान्वितः । बहुव्रीहिगर्भस्तत्पुरुषसमासः ।

तदेव फलदं कालं तस्मिन् काले च साधयेत् ।
साधनादेव सिद्धिः स्यात् तत्कालसाधनञ्चरेत् ॥ २१६ ।

शृणु नाथ नवीनत्वं येन याति नरोत्तमः ।
प्रातःकालं समारभ्य यावद्दण्डचतुष्टयम् ॥ २१७ ।

शौचं स्नानादिकं कृत्वा चासनाभ्यासमाश्रयेत् ।
ततो योगधारणाञ्च ततः पूजादिकं प्रभो ॥ २१८ ।

ततो जपादिकं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत् ।
षट्षोडशद्वादशन्तु कुण्डलीवायुधारणम् ॥ २१९ ।

ततो न्यासं स्तोत्रपाठं कवचं नाममङ्गलम् ।
पठित्वा देवतां हृद्ये पुनरानीय यत्नतः ॥ २२० ।

चरणोदकपानं तु पश्चासवनिषेवणम् ।
दुग्धपानं ततः पश्चात् सन्ध्यावधि विधानतः ॥ २२१ ।

रात्रौ ध्यानं सदा कृत्वा समाधिं क्रमतो लभेत् ।
एवं क्रमेण देवेश नवीनत्वं समाप्नुयात् ॥ २२२ ।

मम ध्यानं प्रवक्ष्यामि सावधानोऽवधारय ।
अनाश्रयं सदा ध्यायेदानन्दप्रणयादिभिः ॥ २२३ ।

निराश्रयं निराकारं मम ध्यानमुदीरितम् ।
रूपातीतं [1]निर्विकल्पं सर्वज्ञं योगवारिदम् ॥ २२४ ।

कोटिसूर्यप्रतीकाशं तेजोबिम्बं निराकुलम् ।
ज्वालामालासहस्राढ्यं कालानलशतोपमम् ॥ २२५ ।

दंष्ट्राकरालदुर्धर्षं जटामण्डलमण्डितम् ।
त्रिशूलं वरहस्तञ्च घोररूपं भयानकम् ॥ २२६ ।

अनन्तानन्तमहिमं[2] सर्वगामिनमीश्वरम् ।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥ २२७ ।

---

१. निर्गता विविधाः कल्पाः कल्पना यस्मात्तदिति बहुव्रीहिसमासः ।
२. अनन्तानन्तो महिमा यस्य, तम् ।

सर्वमावृत्य तिष्ठन्तं कण्ठस्थं कण्ठवायुगम् ।
मम ध्यानं सदा कृत्वा परं ब्रह्ममयो भवेत् ॥ २२८ ।

ममाज्ञा गुरुसद्भावं शृणु यत्नेन भैरव ।
कण्ठस्थं दैवतं देवगुरुरूपं महागुणम् ॥ २२९ ।

आनन्दभैरवं पश्चान्महाकालं ततः परम् ।
ज्ञानानन्दं सदानन्दं भैरवानन्दमेव च ॥ २३० ।

श्यामानन्दं शिवानन्दं कालानन्दमतः परम् ।
सुधानन्दं हरानन्दं सुरानन्दमतः परम् ॥ २३१ ।

कुलानन्दं प्रियानन्दं यज्ञानन्दमतः परम् ।
ध्यानानन्दं परानन्दं योगानन्दं ततः परम् ॥ २३२ ।

क्रोधानन्दं क्रियानन्दं बोधाबन्दं ततः परम् ।
देवानन्दं जयानन्दं विजयानन्दमेव च ॥ २३३ ।

ब्रह्मानन्दं प्रभानन्दं पूर्णानन्दं ततः परम् ।
जगदानन्दरूपं च ममाज्ञागुरुचक्रगम् ॥ २३४ ।

ममाज्ञागुरुसद्भावं कृत्वाऽभ्यर्च्य विभावयेत् ।
कण्ठपद्मे स्थिरो याति साधकः स्थिरचेतसा ॥ २३५ ।

वक्ष्येऽहं देवदेवेश कुलपीठप्रदर्शनम् ।
कामस्थानं कामकलावेष्टितं योगिनीपदम् ॥ २३६ ।

कामरूपं महापीठं कुलपीठं प्रकीर्तितम् ।
तस्य दर्शनमात्रेण जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ २३७ ।

तत्प्रकारविधिं वक्ष्ये सावधानोऽवधारय ।
कुलपीठे समागम्य यदा तद्गतमानसः ॥ २३८ ।

तदैव पूजनं कृत्वा किं न सिद्ध्यति भूतले ।
आदौ भवेत् कालरूपभूपतिः[1] सिद्धिदर्शकः[2] ॥ २३९ ।

---

१. कालस्य रूपमिव रूपं यस्यासौ कालरूपः, भुवः पतिर्भूपतिः । कालरूपश्चासौ भूपतिश्चेति कर्मधारयः ।

२. पश्यति इति दर्शकः, दृशेर्ण्वुल्प्रत्ययः कर्तरि । सिद्धीनां दर्शक इति ।

कुलपूजाविधानेन निजपीठे प्रपूजयेत् ।
कामेश्वरीं कालकन्यां कामकौतूहलोज्ज्वलाम् ॥ २४० ।
कालरूपां प्रपूज्याथ सर्वभावेन पूजयेत् ।
सुधादानं पाद्यदानं अर्घ्यमांसादि मुद्रया ॥ २४१ ।
आचमनीयं सकुलं गन्धमालिङ्गनादिकम् ।
नखदंष्ट्राक्षतादीनि पुष्पाणि विविधानि च ॥ २४२ ।
समूहधूपदानं तु कुलपीठप्रदर्शकम् ।
तत्स्पर्शनं भवेद्दीपः प्रवेशो हि कुलान्तरे ॥ २४३ ।
तन्नैवेद्यं महासौख्यं सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।
कुलद्रव्यन्तु पानार्थं ततस्ताम्बूलभक्षणम् ॥ २४४ ।
स्थापनं तर्पणं विद्धि मम पूजाक्रमादिकम् ।
तन्मूलेन यथा नाथ पूर्वोक्तेन प्रकारयेत् ॥ २४५ ।
कुण्डलीगमनं वक्ष्ये संक्षेपाच्छृणु वल्लभ ।
कायशोधनमाकृत्य आसनादिकमाचरेत् ॥ २४६ ।
प्राणायामं त्रिधा कृत्वा भूतन्यासं समाचरेत् ।
[1]अङ्गन्यासकरन्यासौ बीजन्यासेषु षोढया ॥ २४७ ।
व्यापकं पञ्चधा कृत्वा भूतशुद्धिं समाचरेत् ।
जीवेनैक्यं विभाव्यैव ब्रह्मरन्ध्रे निवेशयेत् ॥ २४८ ।
ब्रह्मरन्ध्रे ततो गत्वा सुषुम्नामुखमाश्रयेत् ।
तन्मध्ये कर्णिकास्थानं तन्मध्ये च चतुर्दलम् ॥ २४९ ।
चतुर्दलान्ते सा देवी विभाति तामुपाश्रयेत् ।
तामुपकुञ्च्य यत्नेन सिद्धरूपी प्रबुद्धयेत् ॥ २५० ।
देवैः सार्धं ततो गच्छेत् षड्दले काकिनीस्थले ।
तया सार्धं कुण्डलिन्या देवैर्गच्छेद्दशच्छदे[2] ॥ २५१ ।

---

१. अङ्गेषु न्यासः, करयोश्च न्यासो देवतास्थापनम् । द्वयोर्द्वन्द्वः ।
२ दश दशच्छदा यत्रासौ दशच्छदः; यथा सप्तच्छदो भवति वृक्षस्तद्वत् ।

एवं क्रमेण हृत्पद्मं षोडशारं ततः परम् ।
द्विदलं भेदमाकृत्य बोधिनीचक्रमाश्रयेत् ॥ २५२ ।
ततः कटाहमाभेद्य पूर्णशैलं समाश्रयेत् ।
ततोऽसौ ह्युन्मनीं भित्त्वा घटाधारे मनोलयम् ॥ २५३ ।
तदूर्ध्वे प्रलयाकारं ब्रह्मचक्रं निराकुलम् ।
तदूर्ध्वे ब्रह्मदण्डन्तु तदूर्ध्वे केवलं जलम् ॥ २५४ ।
सर्वं जलं समालम्ब्य सहस्रारं प्रभामयम् ।
तदूर्ध्वे कर्णिकास्थानं सिद्धखड्गं तदूर्ध्वके ॥ २५५ ।
सर्वबीजमयं नाथ मातृकामण्डलं ततः ।
मातृकामण्डलोर्ध्वे च प्रेतबीजं सुधामयम् ॥ २५६ ।
प्रेतासनोपरि ध्यायेन्महाकालकुलेश्वरीम् ।
तत्रैव श्रीपदाम्भोजतले संस्थापयेन्मनः ॥ २५७ ।
पूर्वोक्तदेवताभिस्तु लययोगेन लेपयेत् ।
तत्रैव स्थित्वा संध्यायेन्मूलेऽनलमनुं प्रभो ॥ २५८ ।
वायुबीजेन प्रज्वाल्य दहेद्देहं यतीश्वरः ।
तन्नेत्रद्वयपर्यन्तं कर्णयुग्मावधि प्रभो ॥ २५९ ।
प्रदह्य भ्रूदले नेत्रे वह्नौ वह्निलयं चरेत् ।
तच्छिखापटलेनैव क्षरन्ति ब्रह्मबिन्दवः ॥ २६० ।
तद्बिन्दुधारया देहं वरुणैः प्लावयेत्ततः ।
शुद्धदेहं ततो ध्यायेद् बीजेन प्रथमाङ्कुरम् ॥ २६१ ।
अधोमार्गेण सन्ध्यायेत् कुण्डलिन्या गमागमम्[1] ।
इत्येतत् कथितं नाथ कुण्डलीगमनादिकम् ॥ २६२ ।
[2]साधकालम्बनं वक्ष्ये येन सिद्धो हि साधकः ।
प्राणविद्यासुसिद्धिः स्यादायुरारोग्यमालभेत् ॥ २६३ ।

---

१. गमश्चागमश्चेत्यनयोः समाहारो गमागमम् ।
२. साधकस्यालम्बनमाश्रयः ।

श्रीकारुणोऽकारणगुप्तभावे विभावयामि प्रियपादपद्मम्[1] ।
एवं मनोयोगमुपेत्य नित्यं श्रीसाधकालम्बनमेव सम्पदम् ॥२६४।

नित्योपलब्धिविज्ञाने सुन्दरीचरणाम्बुजे ।
आत्मानमर्पयन् भावैः साधकालम्बनं हि तत् ॥ २६५ ।

वर्णध्यानं शृणु प्रीतः शङ्कर प्राणशङ्कर ।
मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तमकारादीन् स्मरेद् बुधः ॥ २६६ ।

स्मृत्वा ग्रथित्वा मनुना विलोमेन पुनः पुनः ।
भावयेन्मनसा योगी सत्त्वाधिष्ठानतत्परः ॥ २६७ ।

कोटिसूर्यायुताभासं प्रत्येकग्रन्थिभेदतः ।
मन्त्राक्षरं परंब्रह्म ध्यात्वा ध्यात्वा विभाकरम् ॥ २६८ ।

भित्त्वा सहस्रारमध्यं क्षकारं भाति चन्द्रगम् ।
[2]अनुलोमविलोमेन विभाव्य ध्यानमाचरेत् ॥ २६९ ।

अकारादिक्षकारान्तं वर्णध्यानं समीरितम् ।
दलभेदं प्रवक्ष्यामि यत्र यत्र पदे स्थितिः ॥ २७० ।

विसर्गाद् बिन्दुपर्यन्तो दलभेदः प्रकीर्तितः ।
तथापि शृणु योगेन्द्र सङ्केतार्थविनिर्णयम् ॥ २७१ ।

देवतादक्षिणावर्त्या योगेन भावयेद्दलम् ।
एवं मूलादिपद्मानां भेदः श्रीकण्ठभूषण ॥ २७२ ।

एवं सहस्रारपद्मदलभेदः प्रकीर्तितः ।
स्फूर्तिविद्यां प्रवक्ष्यामि अकस्मात्सिद्धिदायिनीम् ॥ २७३ ।

निरन्तरं जपेद्विद्यां समभावपरायणः ।
अकस्मात्स्फूर्तिविद्यः स्यात्काव्यवाक्पतिरीश्वरः ॥ २७४ ।

वाचां सिद्धिः करे तस्य कुब्जिकासिद्धिरेव च ।
यदि कण्ठाम्बुजे ध्यायेत् काकचञ्चुपुटस्थितः ॥ २७५ ।

---

१. प्रियौ च तौ पादौ च प्रियपादौ तौ पद्मभिव, इति उपमितसमासः ।
२. अनुलोमेन सहितो विलोमस्तेन । अनुगतं च तल्लोम चेति—अच्प्रत्ययः समासान्तः ।

इत्येताः स्फूर्तिविद्या हि [1]सर्वपद्मदलस्थिताः ।
वियोगं सम्प्रवक्ष्यामि येन मन्त्री च निर्भयः ॥ २७६ ॥

स्त्रीपुत्रधनमित्रादिलोभमोहादिपातकम् ।
वर्जयित्वा तनुक्लेशं विवेकं समुपाश्रयेत् ॥ २७७ ॥

वियोगः स हि विज्ञेयो मन्त्रन्यासपरायणः ।
अथ वक्ष्ये त्रियोगेन्द्र पूर्वज्ञानसमोदयम् ॥ २७८ ॥

काले काले क्रियासिद्धिश्चण्डिकापार्श्वगो भवेत् ।
पूर्वस्यां दिशि पूर्वाह्णे वदनाम्भोजमण्डलः ॥ २७९ ॥

ज्ञानद्रव्यसमरसैरुदयं भावयेद् रविम् ।
पूर्वपूर्वस्वजन्मादिज्ञानसमोदयं लभेत् ॥ २८० ॥

आकाशे च मनो दत्वा आकाशाख्यं स्मरन्मनुम् ।
पूर्वजन्मादिसञ्ज्ञानं जानाति समभावकः ॥ २८१ ॥

इति ते कथितं नाथ पूर्वज्ञानसमोदयम् ।
अथात्र संप्रवक्ष्यामि सिद्धः शुद्धः फलार्थभाक् ॥ २८२ ॥

येन क्रमेण सम्भूयात् खेचरीमेलनं प्रभो ।
या या समरसप्राप्तिः सा सैव फलसिद्धिदा ॥ २८३ ॥

शृणु संक्षेपतो वक्ष्ये पश्चाद्वक्तव्यमेव तत् ।
आसनादिकमाकृत्य कायसङ्कोचमाचरन् ॥ २८४ ॥

कामलता क्षुद्रतरैर्भेदिता वसनाग्रकैः ।
तालुमूलोत्तरे मूले नियोज्य मधुपो भवेत् ॥ २८५ ॥

तदेव जपमाकृत्य वायुं धृत्वा मधुं पिबेत् ।
सा स्यात्समरसप्राप्तिः कामलिङ्गे स्थिरो भवेत् ॥ २८६ ॥

इत्येषा कथिता विद्या लताभेदं शृणु प्रभो ।
[2]श्वेतवाटचालसूत्रेण निर्मिता या लता शुभा ॥ २८७ ॥

---

१. सर्वाणि च तानि पद्मानि च, तेषां दलेषु पत्रेषु स्थिताः ।
२. श्वेतं यद् वाटचालसूत्रं तेनेत्यर्थः । वाटचालः कश्चन सूत्रारम्भकपदार्थः ।

अथवा पद्मसूत्रेण लतां कुर्याद्विचक्षणः ।
अष्टादशाङ्गुलमितं नातिसूक्ष्मं प्रमाणवत् ।। २८८ ।

जित्वाधः सन्निवेश्याथ घर्षयेत् कामसुन्दर ।
तदा जित्वा स्वयं याति घर्षणेन पुनः पुनः ।। २८९ ।

तदा पश्चाज्जित्वा क्रियां कुर्यात्तालुमूले निधाय च ।
क्रमेणामृतमाप्नोति जिह्वाधश्छेदने ध्रुवम् ।। २९० ।

सा स्यात्समरसप्राप्तिर्यदि मन्त्राक्षरं भजेत् ।
जीवब्रह्मबुद्धिमन्तास्तु तिष्ठन्ति निरञ्जने ।। २९१ ।

कूष्माण्डाकारदेही च ब्रह्मसाधनतत्परः ।
सदा समरसप्राप्तिरनायासेन लभ्यते ।। २९२ ।

जले स्थले भूमिगर्ते शरीरं नापि नश्यति ।
अजरामरदेही स्याद् योगोऽयं योगिदुर्लभः ।। २९३ ।

कायकल्पनमावक्ष्ये येन सिद्धपतिर्भवेत् ।
शृणुष्वैकमनाः शम्भो गृहस्थानां तु दुर्लभम् ।। २९४ ।

महारण्ये पद्मवने शीतले गन्धशोभिते ।
[1]कायकल्पनमाकृत्य भावयेत् कण्ठपङ्कजम् ।। २९५ ।

उदारचित्तः सर्वत्र वैष्णवाचारतत्परः ।
पद्मे पद्मे स्वदेहस्य कल्पना च दले दले ।। २९६ ।

क्रमशः कण्ठपद्मे च स्वीयदेहस्य कल्पना ।
क्रियते यदि योगेन्द्रैस्तदा देहस्य रक्षणम् ।। २९७ ।

अन्यथा मृत्युवश्यः स्याद् योगभ्रष्टो भवेन्नरः ।
एवं क्रमेण सर्वत्र कुर्यात् कायस्य कल्पनम् ।। २९८ ।

[2]जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते मोहसङ्कटात् ।
अथान्यत् सम्प्रवक्ष्यामि कायकल्पनमेव तत् ।। २९९ ।

---

१. कायस्य देहस्य कल्पनं नवनिर्माणम् ।
२. जरा च मरणं च जरामरणे त एव दुःखे, ते आद्ये येषां तैः ।

नानापीठे त्वसाध्ये च [1]चक्षुरिन्द्रियवर्जिते ।
मनोगम्ये स्थिरो भूत्वा स्वदेहमपि कल्पयेत् ॥ ३०० ।
वाराणस्यादिपीठे च महाज्वालामुखीपदे ।
कुरुक्षेत्रे प्रयागे च दक्षिणे द्वारकादिषु ॥ ३०१ ।
हरिद्वारोदये तीर्थे मार्कण्डेये च कापिले ।
वृन्दावने गुह्यपीठे गङ्गायमुनयोस्तटे ॥ ३०२ ।
पुष्करे पृथिवीतीर्थे कायतीर्थे गयादिषु ।
कालकल्पनमाकृत्य श्रद्धावान् पूजयेत्परम् ॥ ३०३ ।
सदाशिवं साकिनीशं शाकिनीयोगिनीगणैः ।
वेष्टितं परया भक्त्या ध्यात्वा देहं प्रकल्पयेत् ॥ ३०४ ।
प्रकल्प्य स्वतनुं तत्र ततो देवस्य कल्पयेत् ।
येषां मनसि यद्धयानं तद्धयानं कायकल्पनम् ॥ ३०५ ।
एतत्कायकल्पनेन मौनी वाक्सिद्धिमाप्नुयात् ।
इदानीं कामदेवस्य मथनं शृणु भैरव ॥ ३०६ ।
कामदेवस्य मथनं सुखदं मोक्षदं परम् ।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥ ३०७ ।
बिन्दुपाताद्भवेन्नाशस्ततो हि बिन्दुरक्षणम् ।
तत्तदौषधमावक्ष्ये येन बिन्दुः स्थिरो भवेत् ॥ ३०८ ।
नित्यं सेवनमाकुर्यात्तेषां मूलमाहरन् ।
श्वेतापराजितामूलं सिद्धिमूलं ततः परम् ॥ ३०९ ।
शतपर्णिमूलमेकं कदम्बमूलमेव च ।
श्वेतकुन्दपुष्पमूलं करवीरं तथाशितम् ॥ ३१० ।
[2]कृष्णधुस्तूरमूलन्तु सेफालीमूलमेव च ।
चितामूलं तथा शम्भो निर्गुण्डीमूलमाहरन् ॥ ३११ ।

---

१. चक्षुरिन्द्रियेण वर्जिते इति । यत्र चक्षुरिन्द्रियस्य गतिर्न भवति, एवंभूते मनोगम्ये विषये इत्यर्थः ।
२. कृष्णो यो धुस्तूरस्तस्य मूलम् । धत्तूरपदमपि तत्रार्थे प्रयुज्यते ।

एकीकृत्य विधानेन [1]रविवारेऽर्कमूलकैः ।
समभागेन योगेन्द्र चूर्णीकृत्य पृथक् पृथक् ॥ ३१२ ।

शुक्रवारे च पूर्वाह्ने मिश्रं कुर्याद्दिनत्रयम् ।
षड्रात्रिं शोधयेत् काममुद्राभिर्वामदेवताः ॥ ३१३ ।

मध्यमाङ्गुलिमुत्तोल्य दक्षिणेनापि मुष्टिना ।
धृत्वा च शोधयेदादौ द्रव्यमूलानि साधकः ॥ ३१४ ।

विजयाचूर्णयोगेन पिबेच्चूर्णं द्वितोलकम् ।
अर्धतोलकमुनैक्यं विजयाः सार्धतोलकाः ॥ ३१५ ।

मिश्रीकृत्य विधानेऽपि तत्तत्कुजदिने शुभे ।
एतत्प्रभक्षणेनैव मदनं वशमानयेत् ॥ ३१६ ।

यदा मनसि आयाति पुष्पधन्वा महाबली ।
तदा तं पूजयित्वा च कामदेवं निवारयेत् ॥ ३१७ ।

इति कामस्य मथनं देहे व्यवस्थितं शृणु ।
अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसिमनीलिङ्गनाभिषु ॥ ३१८ ।

हृद्ग्रीवाकण्ठदेशेषु लम्बिकायां तथा नसि ।
भ्रूमध्ये मस्तके मूर्ध्नि वाय्वाकाशप्रियालये ॥ ३१९ ।

वायुरूपं स्वदेहन्तु स्थापयित्वा मनुं जपेत् ।
कुम्भकप्राणयोयेन निजदेहव्यवस्थितिः ॥ ३२० ।

कण्ठाम्भोजे स्थिरो यो हि तं जनं शृणु भैरव ।
[2]योगारम्भावधिर्यो हि स्त्रीसंसर्गं विवर्जयेत् ॥ ३२१ ।

मातृणां गमनं नास्ति यस्य स कण्ठसंस्थितः ।
नित्यं करोति योगं यो धर्मात्मा स्थिरचेतसा ॥ ३२२ ।

स एव कण्ठपद्मे च स्थिरो भवति निश्चितम् ।
[3]भावज्ञानी च यो विद्वान् तं विदामि दयार्णव ॥ ३२३ ।

---

१. अर्को मन्दारस्तस्य मूलकैः । मूलान्येव मूलकानि स्वार्थे कप्रत्ययः ।

२. योगस्यारम्भः, तस्यावधिः ।

३. भावस्यान्तस्तत्त्वस्य ज्ञानी ज्ञाता । ज्ञानमस्ति यस्येति ज्ञानी, इनिप्रत्ययो मत्वर्थीयः ।

कुण्डलीस्पर्शमात्रेण तन्मयो जायते क्षणात् ।
सर्वदेवे परं भावं कृत्वा ज्ञानेन पूजयेत् ॥ ३२४ ।

सर्वपीठे स्थिरो भूत्वा ज्ञानात्मा परिपूजयेत् ।
क्रमेण कण्ठभेदः स्याद् योगी भवति सत्वरम् ॥ ३२५ ।

धनं धान्यं धरां धर्मं कीर्तिमायुर्यशः श्रियम् ।
उरगान् दन्तिनः पुत्रान् लोकान् सर्वस्वस्वोदयम् ॥ ३२६ ।

एतज्ज्ञानप्रसादेन लभ्यते परमेश्वरम्[1] ॥ ३२७ ।

ज्ञात्वा योगेन्द्रचक्रं त्रिभुवनविवरध्वान्तजालप्रकाशं
मूलाम्भोजे रसाख्ये दशदलविमले हृत्स्वपद्मे विलासम् ।
कण्ठाम्भोजे मनोज्ञे द्विदलस्वकमले भावयन्तं सुरेन्द्रैः
श्वेताम्भोजे परेशं निरवधिगगनं पूजये भावयामि ॥ ३२८ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवभैरवीसंवादे कण्ठपद्मभेदविज्ञानविन्यासो नाम चतुःषष्टितमः पटलः ॥

---

१. पातीति पः परमात्मा, रमयति इति रमा, पचादित्वादच्प्रत्ययः कर्तरि ज्ञेयः । पस्य परमात्मनो रमा परमा, तस्या ईश्वर ईश्वरत्वं यस्मिन् ऐश्वर्ये, तत् तादृशमलौकिकमैश्वर्यं लभ्यते, प्राप्यते । तत्र एतज्ज्ञानस्य प्रसादः कारणम् ।

अथ पञ्चषष्टितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

अथ कान्त प्रवक्ष्यामि समुदायफलोदयम् ।
कण्ठाम्भोजस्य वर्णानां ध्यानं मन्त्रं शृणु प्रभो ॥ १ ।

शाकिनीसहितं नित्यं पूजयित्वा सदाशिवम् ।
मूढोऽपि योगिनां श्रेष्ठः किमन्ये ध्यानयोगिनः ॥ २ ।

ध्यात्वा सम्पूजयेद्यस्तु सोऽभीष्टं फलमाप्नुयात् ।
ततो ध्यानं प्रवक्ष्यामि वीरनाथ शृणु प्रभो ॥ ३ ।

आदौ श्रीशाकिनीध्यानं पश्चाद् ध्यानं सदाशिवे[1]।
द्वयोरभेदबुद्धया[2] च कामजेता स्वयं भवेत् ॥ ४ ।

वन्दे नित्यां सुशीलां त्रिभुवनवरदां शाकिनीं पीतवस्त्रां
वेदाद्यां वेदमातां सुखमयललितां वेदहस्तोज्ज्वलाङ्गीम् ।
ध्याये पीयूषधारामलघटसुधया स्निग्धदेहां हसन्तीं
मायां शम्भोर्ललाटे विधुकिरणकरां श्रीसदानन्दयुक्ताम् ॥ ५ ।

अम्भोजास्त्रादिमुद्रासिववरजटा धारयन्तीं करालं
श्यामां पीनस्तनाढ्यां त्रिनयनकमलां प्रेतलिङ्गासनस्थाम् ।
सर्वाङ्गालङ्कृतां श्रीं विधुशतवदनाम्भोजशोभां वहन्तीं
शम्भोरानन्दकर्त्रीं चरमगुणपदां स्थूलसूक्ष्मस्वरूपाम् ॥ ६ ।

एवं ध्यायेन्महायोगी स्थूलसूक्ष्मस्वरूपिणीम् ।
अभेद्यभेदकरणीं शङ्कर प्रेमवल्लभ ॥ ७ ।

---

१. सदाशिवे इति विषयसप्तमी । सदाशिवविषयकं ध्यानं पश्चात् करणीयम् ।
२. शिवस्य शिवायां चाभेदबुद्धिः कार्या, शक्तिशक्तिमतोरभेद इति सिद्धान्तात् ।

या विद्या वाग्भवाढ्या हरिवधुकमला[1] केवले निष्फलन्ते
मायालक्ष्मीस्त्रिकूटं शशिमुखितदधः शाकिनी क्षेत्रपालम् ।
वक्षद्वन्द्वं त्रिकूटं वधुमधरमिवासिद्धिमिष्टां विधेहि
स्वाहान्तोऽयं महेशत्रिभुवनभविकाह्लादहेतोः प्रकाशः ॥ ८ ।

प्रणवं पूर्वमुद्धृत्य वाग्भवं तदनन्तरम् ।
शाकिनि त्वं तदन्ते तु मम दोषान् विनाशय ॥ ९ ।
युगलं वह्निकान्तां च मन्त्रार्थाः सारदाः स्मृताः ।
कामराजं समुद्धृत्य हिरण्याक्षि सनातनि ॥ १० ।
शाकिन्यन्ते महामाये मायावह्निश्रिया युतम् ।
एषा मन्त्रात्मिका विद्या कण्ठाम्भोजप्रकाशिनी ॥ ११ ।
शाकम्भरी महाविद्या तस्य वामे विभाति च ।
तस्य मन्त्रं प्रवक्ष्यामि ज्ञात्वैव योगवित् प्रभुः ॥ १२ ।
महामन्त्रस्य माहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ।
भावमात्रेण सिद्धिः स्यात् किं पुनर्मोक्षसाधनम् ॥ १३ ।

विद्यां कामकलां विचित्रवसनां पद्मासनस्थां शिवां
कामाख्यां सकलान् स्वरान् त्रिजगतां शाकैर्महायोगिनी ।
नित्यं या परिपाल्यते भगवतीं शाकम्भरीं तां भजे
सा योगाधिपरक्षका निशि दिशि श्रीकण्ठपद्मे प्रभा ॥ १४ ।

अद्यापि प्रियकण्ठपद्मनिकरे सम्भाति शाकम्भरी
विद्यावाक्कमलायुत स्मितमुखि प्रान्ते च शाकम्भरि ।
वह्निर्वारुणवायुबीजमनलद्वन्द्वं हि वक्षद्वयं
वह्निप्रेमकलान्वितो[2] मनुवरः साक्षाज्जगत्क्षोभकृत् ॥ १५ ।

शाकम्भरीं महामायां पूजयेद् द्वारदेवताम् ।
तदन्ते सर्वदेवाश्च शक्रादीन् परिपूजयेत् ॥ १६ ।

---

१. 'हरेर्वधूः कमला, ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलमित्यत्र बहुलग्रहणाद् वधूघटकोकारस्य ह्रस्वः ।

२. मनुर्मन्त्रः, तेषु मनुषु वरः श्रेष्ठः, मन्त्रराज इति यावत् ।

ध्यात्वा च शाकिनीं देवीं शाकम्भर्याश्च दक्षिणे ।
पूजयेत् परया भक्त्या पूर्वोक्तविधिना प्रभो ॥ १७ ।

शाकम्भरीं त्रिनयनां सूर्येन्दुवह्नियोजिताम्[1] ।
रक्तपद्मस्थितां श्यामां वेदबाहुश्रियोज्ज्वलाम् ॥ १८ ।

वराभयकरां खड्गकपालकमलान्विताम् ।
नानालङ्कारशोभाङ्गीं मुक्तकुन्तलभूषिताम् ॥ १९ ।

प्रसन्नवदनाम्भोजस्मितहास्यविराजिताम् ।
साधकाभीष्टदां नित्यां महाविद्यां भजाम्यहम् ॥ २० ।

ततो मानसपूजाञ्च ध्यानान्ते तु समाचरेत् ।
पुनर्ध्यानं ततः कृत्वा चित्तावाहनमाचरेत् ॥ २१ ।

पाद्याद्यैः पूजयेन्नित्यं भक्त्या च योगसिद्धये ।
ततो जपेच्छतं वापि चाष्टोत्तरसहस्रकम् ॥ २२ ।

एवं लक्षसमाप्ते तु कण्ठे देवीं प्रपश्यति ।
होमादीन् क्रमशः कुर्याद् ब्राह्मणानां तु भोजनम् ॥ २३ ।

तदन्ते शाकिनीपूजा प्रथमे वापि कारयेत् ।
तत्प्रकारं शृणु प्राणवल्लभे कामसुन्दरि ॥ २४ ।

आदौ जलं शोधयित्वा हस्तौ पादौ च विग्रहम् ।
क्षालयित्वा द्विराचम्य मूलमन्त्रेण साधकः ॥ २५ ।

शिखाबन्धनमाकृत्य चासनं परिशोधयेत् ।
ततोऽर्घ्यस्थापनं कृत्वा पीठं निर्माय यत्नतः ॥ २६ ।

पीठचक्रं शोधयित्वा पीठपूजां समाचरेत् ।
ततो ध्यानं भूतशुद्धिं न्यासजालं समाचरेत् ॥ २७ ।

पुनः प्राणायामयुग्मं कृत्वा देहं दृढं नयेत् ।
ततो ध्यानं मानसार्चां[2] मुद्रादर्शनमेव च ॥ २८ ।

---

१. सूर्यश्च इन्दुश्च वह्निश्चेति सूर्येन्दुवह्नयः, तैर्योजिताम् । अत एव—वन्दे वह्निशशाङ्क-सूर्यनयनमिति शिवतत्त्वप्रतिपादकं पदम् ।

२. मनसा अर्चा पूजा । मानसी पूजा महते कल्याणाय भवति ।

ततः पाद्यं तथार्घ्यं तु चारुशङ्खेन कारयेत् ।
आचमनीयं ततः स्नानं पुनराचमनं तथा ॥ २९ ॥

गन्धं पुष्पाणि सर्वाणि विल्वपत्राणि दापयेत् ।
निजावरणदेवांश्च पूजयित्वा क्रमेण तु ॥ ३० ॥

धूपदीपौ निवेद्याथ नैवेद्यं पानकं[1] ततः ।
पुनराचमनं दत्वा बलिद्रव्याणि दापयेत् ॥ ३१ ॥

बलिं दत्वा जपेन्मन्त्रं सहस्रं वा शताष्टकम् ।
दिवसे यज्जपं कुर्याद्रात्रौ तज्जाप्यमाश्रयेत् ॥ ३२ ॥

जपं समर्पयेद् विद्वान् गुह्यातिगुह्यमन्त्रकैः ।
प्राणायामं त्रिषट्कृत्वा वन्दनं च प्रदक्षिणम् ॥ ३३ ॥

स्तोत्रञ्च कवचं नित्यं सहस्रनाममङ्गलम् ।
पठेद्भक्त्या कण्ठपद्मे कायकल्पनकृन्नरः ॥ ३४ ॥

एवं विधिविधानेन पूजयित्वा सदाशिवम् ।
अस्मिञ्छास्त्रे क्रिया गुप्ता गुप्तनारीप्रपूजनम् ॥ ३५ ॥

अथवा मनसा सर्वं पूजायागजपं[2] चरेत् ।
यथा देव्यास्तथा शम्भोर्जपयागः समोरितः ॥ ३६ ॥

एवं क्रमेण पूज्याश्च बाह्यस्था मुनयः क्रमात् ।
पूज्या वर्णकला नाथ तद्बाह्यस्थान् प्रपूजयेत् ॥ ३७ ॥

एवं हि मासकार्येण वरं सिद्धिं समाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे भैरवीभैरवसंवादे शाकिनीसदाशिवार्चनं नाम पञ्चषष्टितमः पटलः ॥

●

---

१. पीयते चर्व्यंते यत्तत्पानं तदेव च पानकम्, स्वार्थे कप्रत्ययः । ताम्बूलमित्यर्थः ।

२. नास्ति जपः स्फुटमुच्चारणं यस्मिन् पूजाकर्मणि तद् अजपम् ।

अथ षष्ठषष्टितमः पटलः

आनन्दभैरवी उवाच—

कैलासशिखरारूढ पञ्चवक्त्र त्रिलोचन ।
सर्वभूतप्रपूज्याथ शाकिनीयजनं शृणु ॥ १ ।
पूजनं त्रिविधं प्रोक्तं मनः साक्षाद्वचोमयम् ।
मानसं योगिनां प्रोक्तं साक्षात् पूजागृहं प्रभो ॥ २ ।
वाचामयं तामसानां नृपाणां कामिनां प्रभो ।
एका पूजा च त्रिविधा कथिता परमेश्वर ॥ ३ ।
सा पूजा सिद्धिदा काले त्रिकाले सर्वकालके ।
काले सिद्धिर्गृहस्थानां त्रिकाले ब्रह्मचारिणाम् ॥ ४ ।
योगिनां सर्वकालेऽपि विफला दुष्टचेतसाम् ।
भावत्रयं हि पूजानां रजःसत्त्वतमोमयम् ॥ ५ ।
त्रिशक्तिपूजनं नाथ सर्वत्र परिकीर्तितम् ।
ब्रह्माणीं वैष्णवीं तत्र पूजयेत् तां महेश्वरीम् ॥ ६ ।
त्रिभावेन पूजयित्वा शक्तिं ब्रह्मत्रयेण च ।
पशुरूपवीररूपदिव्यरूपेण[1] पूजयेत् ॥ ७ ।
बलिदानं हि सर्वत्र परं मोक्षाय केवलम् ।
क्रमेण शृणु योगेश सर्वाविद्यादिपूजनम्[2] ॥ ८ ।
यत्कृत्वा सम्भवेद् योगी परं ब्रह्ममयोऽचिरात् ॥ ९ ।
स्थानं वीक्ष्य महेन्द्रकोटिसदृशं श्रीलक्षणैर्लक्षितं
देवानां दिवि वीरनाथ रुचिरं पुण्यं पवित्रं सुखम् ।
रम्यं देवगृहान्वितं परजलैर्व्याप्तं तरुच्छायया
सौगन्धादिषु मान्यशैलपवनं काले वसन्तेऽपि वा ॥ १० ।

---

१. पशु-वीर-दिव्येति त्रीणि रूपाणि भगवतः पूजने उक्तानि ।
२. सर्वा विद्याः, ता आदिर्यासां तासां पूजनम् । बाहुलकाद् ह्रस्वाभावः ।

शून्ये देवगृहे तले वरतरोश्चित्तार्पितात्मा यति-
श्चाम्भोजासनसंस्थितो मृदुकटे व्याघ्राजिने वारणे ।
आदौ पादयुगं भुवि स्थितमिति व्याशोध्य हस्तौ तथा
नीरं निर्मलगन्धराजमिलितं संक्षाल्य पद्मासनः ॥ ११ ।

[1]जलशोधनमन्त्रस्तु श्रूयतां परमेश्वर ।
प्रणवं स्तरणप्रान्ते वज्रोदकमतः परम् ॥ १२ ।
शोधयामि ततः स्वाहा जलमन्त्र उदाहृतः ।
प्रक्षिपेत्तज्जलं भिन्नजले भैरवशङ्कर ॥ १३ ।
हस्तौ पादौ तज्जलेन क्षालयेत् काममायया ।
विग्रहं मूलमन्त्रेण चाचमने द्वे उदाहृते ॥ १४ ।
शिखाबन्धनमन्त्रस्तु शृणून्मत्तकुमारक ।
अप्रकाश्यं महामन्त्रं शिखाबन्धनमासनम् ॥ १५ ।
शोधयेत् त्रिपुरानाथ कालाग्निशिखयोज्ज्वल ।
आसनं शोधयाम्यद्य द्वारपालो भवानिशम् ॥ १६ ।
प्रणवाद्यैर्नमोऽन्तेन शोधयेत् परमेश्वर ।
शोधयेत् त्रिपुरानाथ कालाग्निशिखयोज्ज्वल ॥ १७ ।
शिखाग्रं बन्धयाम्यद्य द्वारपालो भवानिशम् ।
ततोऽर्घ्यं स्थापयेद् विद्वान् शङ्खाधारे मनोरमे ॥ १८ ।
मूलमन्त्रेण संक्षाल्य ततो मूलेन पूरयेत् ।
रक्तचन्दनयुक्तेन जलेन चन्दनेन च ॥ १९ ।
ततो दूर्वार्घ्यपुष्पाणि साधारे दापयेत् सुधीः ।
दशधा मूलमन्त्रं तु तत्र जप्त्वा[2] सुधामयम् ॥ २० ।
[3]धेनुमुद्रां मत्स्यमुद्रां योनिमुद्रां प्रदर्शयेत् ।
जपेत् तत्र सारमन्त्रमाच्छाद्य मत्स्यमुद्रया ॥ २१ ।

---

१. जलस्य शोधने स्वच्छीकरणे पवित्रीकरणं च यो मन्त्रस्तस्य स्वरूपं गुप्तरूपेणाग्रे उक्तमस्ति ।

२. छान्दसत्वादिडभावः । जपधातुः सेट्कः ।

३. आसां मुद्राणां स्वरूपमुक्तमस्ति ।

आत्मानं प्रोक्षयेदादौ ततो द्रव्याणि प्रोक्षयेत् ।
ततः पीठं सुनिर्माथ ताम्रे हेमशलाकया ॥ २२ ।

नवकोणं विलिख्याथ षट्कोणञ्च तदन्तरे ।
बाह्ये च मण्डलद्वन्द्वं षोडशार्णं ततो लिखेत् ॥ २३ ।

तद्बाह्ये च चतुर्द्वारं भूबिम्बद्वितयं पुनः ।
एवं पीठं विनिर्माय दलेऽर्णान् विलिखेत्ततः ॥ २४ ।

ॐ सुरेखायै नमः स्वाहा मन्त्रेण परिलेखयेत् ।
प्रणवञ्च महारेखाशब्दान्ते शोधयामि युक् ॥ २५ ।

वह्निबीजायादिमनून् शोधयेत् पीठचक्रकम् ।
पीठपूजां ततः कुर्यात् प्रणवादिनमोऽन्तकैः ॥ २६ ।

सांपदं पूर्वमुच्चार्य हृदयाय नमस्ततः ।
षड्दीर्घभाजा बीजेन पूजयेद् वामतः सुधीः ॥ २७ ।

पूर्वादीशानपर्यन्तं चतुर्दिक्षु च मध्यके ।
पूजयित्वा च तन्मध्ये वर्णोच्चारणपूर्वकैः ॥ २८ ।

पीठशक्ति पूजयित्वा पीठनायकमर्चयेत् ।
प्रणवादिनमोऽन्तेन सर्वत्र प्रतिपूजयेत् ॥ २९ ।

पीठशक्ति शाकिनीन्तु तथा शाकम्भरीं शिवाम् ।
लक्ष्मीं सरस्वतीं दुर्गां चण्डिकां गणनायिकाम् ॥ ३० ।

भद्रकालीं विशालाक्षीं श्रद्धां मायां दयां कलाम् ।
रणचण्डां मधुमतीं प्रसन्नां रत्नमालिनीम् ॥ ३१ ।

[1]हिरण्यवर्णां कौमारीं वाग्देवीं त्रिजटां महीम् ।
त्रिशूलिनीं वेदमातां सिद्धाद्यां मधुनायिकाम् ॥ ३२ ।

मधुपुरेश्वरीं कुब्जां तथा मधुमतीं यजेत् ।
शाकाख्यां[2] शाकचक्षाञ्च[3] वरहस्तां हसन्मुखीम् ॥ ३३ ।

---

१. हिरण्यस्य वर्णः पीतो भवति, तादृशो वर्णो यस्याः सा ।
२. शाका आख्या यस्याः सा, शाका इति मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः, ततष्टाप् ।
३. शाकेन चष्टे, शाकं चष्टे इति वा शाकचक्षा, पचाद्यच्, टाप् ।

कपालिनीं [1]खड्गहस्तां वनमालाञ्च माधवीम् ।
विचित्राङ्गीं ललज्जिह्वां चेकितानां प्रभामयीम् ॥ ३४ ।
सर्वां सर्वाकर्षिणीञ्च बहुरूपां सुरां सुधाम् ।
सर्वमयीं वर्णमयीं मुण्डमालां त्रिकालिकाम् ॥ ३५ ।
विश्वेश्वरीं विश्वमातां महाविद्यां सनातनीम् ।
एता विद्याः पूजनीयाः प्रणवादिनमोऽन्तिकाः ॥ ३६ ।
ततो ध्यानं प्रवक्ष्यामि संक्षेपतः शृणु प्रिये ।
शाकिनीं श्रीवेदविद्यां स्थूलसूक्ष्मस्वरूपिणीम् ॥ ३७ ।
पीतवर्णां त्रिनयनां वेदहस्तां हसन्मुखीम् ।
सदाशिवयुतां गौरीं सर्वालङ्कारमण्डिताम् ॥ ३८ ।
त्रिलोचनां सूर्यचन्द्रवह्निमण्डलमण्डिताम् ।
कपालपद्मविमलवराभयकराम्बुजाम् ॥ ३९ ।
देवदानवगन्धर्वयोगसिद्धप्रपूजिताम् ।
षोडशारमहापद्मसंस्थितां वनमालिनीम् ॥ ४० ।
शाकम्भरीदेवविद्यामाधवीशक्तिशोभिताम् ।
[2]मुनिदेवमहेन्द्रादिब्रह्मविष्णुशिवाश्रयाम् ॥ ४१ ।
ध्यायेऽहं कण्ठपद्मस्थां सर्वसिद्धिसमृद्धिदाम् ।
एवं ध्यात्वा कण्ठपद्मे भूतशुद्धिं ततश्चरेत् ॥ ४२ ।
भूतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि येन कण्ठे स्थिरो भवेत् ।
आकाशगामिनी सिद्धिर्लभ्यते नात्र संशयः ॥ ४३ ।
संयोज्य जीवं कुलवर्त्ममध्ये श्रीकुण्डलिन्या सह मूलपद्मम् ।
क्रमेण भित्त्वा समयोर्ध्वतुण्डो विशुद्धपद्मे लयमाचरेद् बुधः ॥४४।
शाकिनीपार्श्वभागे तु जीवं संस्थापयेत् सुधीः ।
कुण्डलिन्या लयं कृत्वा वह्निबीजेन भस्मसात् ॥ ४५ ।

---

१. खड्गो हस्ते यस्याः सा खड्गहस्ता, व्यधिकरणबहुव्रीहिसमासो ज्ञापकसिद्धः ।
२. मुनयो देवा महेन्द्रादयः, ब्रह्म-विष्णु-शिवा आश्रयो यस्याः सा । आश्रय इति कथनेन एते शयनभूमय इति बोध्यम् ।

देहं तदा विदधीत वायुबीजेन शोषयेत् ।
वरुणेनामृतं कृत्वा वेदनारहितो भवेत् ॥ ४६ ।
धैर्येण भावयेद्देवं शाकिनीशं सदाशिवम् ।
त्रैलोक्यान्वितमीशानं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥ ४७ ।
पूर्वोक्तध्यानमाकुर्यान्मन्त्राक्षराणि भावयेत् ।
चिच्छक्तौ परमात्मानं भावयित्वा पुनः पुनः ॥ ४८ ।
आत्मलग्नं तत्र पदे कृत्वा चिन्तामणिं भजेत् ।
धूम्राकारं महाकाशं विचिन्त्य तेजसावृतम् ॥ ४९ ।
लीलामयं देवताया रूपं सम्पूज्य मानसैः ।
क्रमेण नासिकाद्वारात् सोऽहंबीजेन चालयेत् ॥ ५० ।
आनीय संमुखे पीठे संस्थाप्य जीवमर्पयेत् ।
तत्रैव संस्थिरो भूत्वा तत्प्राणान् तत्र स्थापयेत् ॥ ५१ ।
[1]आं ह्रीं क्रों शब्दमुच्चार्य यं रं लं वं ततः परम् ।
इत्याद्यैः स्थापयेत् प्राणान् ततोऽर्चविधि[2]माचरेत् ॥ ५२ ।
न्यासजालं ततः कुर्यात् शृणु तत्त्वासनादिकम् ।
सदाशिव ऋषिश्चास्य मस्तके संन्यसेत् सुधीः ॥ ५३ ।
सदाशिवाय ऋषये नमः प्रणवमाद्यके ।
मुखे प्रणवमुच्चार्य चानुष्टुप्छन्दसे नमः ॥ ५४ ।
हृदि प्रणवमुच्चार्य शाकिन्यै तदनन्तरम् ।
सदाशिवप्रयुक्तायै देवतायै नमस्ततः ॥ ५५ ।
कराङ्गन्यासौ सङ्कुर्यात् षड्दीर्घस्वरसंयुतैः ।
सकारैर्देवदेवेश मातृकां बीजसम्पुटाम् ॥ ५६ ।
मातृकास्थानमालम्ब्य सांबीजेन तु वा चरेत् ।
व्यापकषोडशवारं प्राणायामयुगं चरेत् ॥ ५७ ।

---

१. मन्त्रस्य स्वरूपमत्रोक्तमस्ति, तत एवावगन्तव्यम् ।
२. अर्चनमर्चः, तस्य विधिः । भावे कप्रत्ययो घनर्थे कविधानमिति वचनेन ।

पुनर्ध्यानं मानसार्चा[1] योनिमुद्रां प्रदर्शयेत् ।
पद्ममुद्रां ततः कृत्वा पाद्याद्यैः परिपूजयेत् ॥ ५८ ॥

आदौ मूलं समुच्चार्य एतत्पाद्यं ततः स्मरेत् ।
सदाशिवप्रयुक्तायै शाकिन्यै नम इत्यपि ॥ ५९ ॥

एवं क्रमेण पूर्वार्घ्यमाचमनीयं निवेदयेत् ।
स्नानीयं क्रमतो दद्यात् पुनराचमनीयकम् ॥ ६० ॥

गन्धं पुष्पाणि मूलेन दद्याद् भक्त्या सदाशिवे ।
बिल्वपत्राणि मूलेन दत्वा वरुणमर्चयेत् ॥ ६१ ॥

धेनुमुद्रां मत्स्यमुद्रां सिंहमुद्रां प्रदर्शयेत् ।
प्रणवं सां हृदयाय नमश्चाग्नौ प्रपूजयेत् ॥ ६२ ॥

प्रणवञ्च शीं शिरसे स्वाहया नैऋते यजेत् ।
प्रणवं सूं शिखायै वषड् वायौ यजेत् क्रमात् ॥ ६३ ॥

प्रणवं सैं कवचाय कूर्चमीशे प्रपूजयेत् ।
मध्ये सौं नेत्रत्रयाय वौषट् प्रणवमाद्यके ॥ ६४ ॥

[2]चतुर्दिक्षु ततः पश्चात् सः अस्त्राय ततो हि फट् ।
[3]प्रणवाद्यं पूजयित्वा मस्तके ऋषिमर्चयेत् ॥ ६५ ॥

प्रणवं मूलऋषये सदाशिवाय कृत्ततः ।
पूर्वादिवामतः पूज्याः परिवारादिदेवताः ॥ ६६ ॥

आनन्दभैरवं पश्चान्महाकालं समर्चयेत् ।
[4]सुधानन्दं हरानन्दं सुरानन्दं समर्चयेत् ॥ ६७ ॥

कुलानन्दं प्रियानन्दं यज्ञानन्दमतः परम् ।
ध्यानानन्दं परानन्दं योगानन्दं समर्चयेत् ॥ ६८ ॥

---

१. मनसि भवा मानसी, आसमन्तादर्चनमर्चा, मानसो अर्चा इति विशेषणसमासः ।
२. चतुःसंख्याकासु दिक्षु इति मध्यमपदलोपिसमासः ।
३. प्रणव आद्यो यस्य तं प्रणवाद्यम् ।
४. ज्ञानानन्दं सदानन्दं भैरवानन्दमेव च ।
श्यामानन्दं शिवानन्दं कालानन्दं ततः परम् ॥

[1]क्रोधानन्दं [2]क्रियानन्दं [3]बोधानन्दं तथार्चयेत् ।
देवानन्दं जयानन्दं विजयानन्दमेव च ॥ ६९ ।

ब्रह्मानन्दं प्रभानन्दं पूर्णानन्दं समर्चयेत् ।
जगदानन्दरूपं तु ममाज्ञागुरुचक्रगम् ॥ ७० ।

पूजयित्वा देहशक्तिमेतेषां पार्श्वके यजेत् ।
कल्याणीं कामकन्यां त्रिपुरां षोडशीं तथा ॥ ७१ ।

विद्याधरीं नीलवर्णां श्यामां सिंहासनस्थिताम् ।
चण्डिकामुपकन्याञ्च चन्द्रचूडसरस्वतीम् ॥ ७२ ।

कपिलां मेघदूताञ्च धूम्रवर्णां जटाधराम् ।
त्रिलोचनां खेचरीञ्च गगनां कामरूपिणीम् ॥ ७३ ।

पीनकुचां व्याघ्रमुखीं मधुपानां मदोन्मदाम् ।
रम्यां स्नेहकलां धर्मां तथा मधुमतीं हराम् ॥ ७४ ।

हारमालां वनमालां चकोरां कुलकामिनीम् ।
पूजितां गुरुसर्वाणीं सर्वतत्त्वस्वरूपिणीम् ॥ ७५ ।

पूजयेत् सर्वतः शक्त्या ईशानान्तं क्रमेण तु ।
तन्मध्ये केशवं ध्यात्वा दलस्वरमुपार्चयेत् ॥ ७६ ।

अकारादिषोडशार्णान् प्रणवादिनमोऽन्तिकान् ।
नीलवर्णान् सरक्ताढ्यान् कुङ्कुमालक्तवेष्टितान् ॥ ७७ ।

विद्युत्कोटिसमाभासपद्मरागसमोज्ज्वलान् ।
मनोरथपूर्णकरान् जगदानन्दवर्धकान् ॥ ७८ ।

सुप्रियाकण्ठताल्वादिपरमात्मप्रदर्शकान् ।
तेषां नाम्ना पूजयित्वा यथा मार्तण्डमण्डले ॥ ७९ ।

तथाऽत्र ते पूजिताः स्युः स्वस्वनामप्रचोदिताः ।
शृणु नाथ महाकाय [4]मदोन्मत्त दिगम्बर ॥ ८० ।

---

१. क्रोधेनानन्दो भवति यस्य सः, तम्; २. क्रियया आनन्दो यस्य ।
३. बोधेनानन्दो यस्य तमिति; ४. मदेन विजयापानेन विषपानेन वा उन्मत्तः, विभोरः ।

[1]स्थिरचेताः सदा भूत्वा पूजय त्वं हि शाकिनीम् ।
तत्र पद्मकर्णिकायां शवरूपं सदाशिवम् ॥ ८१ ।

ध्यात्वा मद्गतमध्ये तु पीठचक्रं प्रपूजयेत् ।
मूलाधारे कामरूपं कामचक्रं त्रिलक्षणम् ॥ ८२ ।

पीठाय नम उच्चार्य चाद्यतारकमुच्चरेत् ।
हृदि जालन्धरं पीठं सिद्धपीठं त्रिचक्रकम् ॥ ८३ ।

ललाटे पूर्णगिर्याख्यं हिङ्गुलादं सुपीठकम् ।
उड्डियानं तदूर्ध्वे तु मेघकुञ्जं स्वपीठकम् ॥ ८४ ।

महापीठं भ्रुवोर्मध्ये वाराणसीञ्च लिङ्गकम् ।
लोचनत्रयमध्ये तु ज्वलन्तीसिद्धपीठकम् ॥ ८५ ।

ज्वालामुखी त्रिवेणी च पीठत्रयमुदाहृतम् ।
त्रिलोचने त्रिपीठं मे अवश्यं परिपूजयेत् ॥ ८६ ।

मुखाम्बुजे पूजयेद् वै मायारतिं सुभद्रिकाम् ।
कम्पिल्लनगरं वंशनगरं कामभञ्जनम् ॥ ८७ ।

हिरण्यनगरं तत्र एकदन्तारसायनाम् ।
कपालपीठं ताल्वाख्यं फणिपीठं मुखे यजेत् ॥ ८८ ।

कण्ठे मधुपुरीपीठं सुधापीठं तदन्तिके ।
आह्लादपीठं श्रीपीठं शून्यपीठं प्रियाञ्जलम् ॥ ८९ ।

पूरञ्जनाख्यं भद्राख्यं कण्ठे अम्भपुरो मम ।
नाभौ महापीठराजमयोध्याभवपीठकम् ॥ ९० ।

लक्ष्मीपीठं ब्रह्मपीठं लाङ्गलीपीठमेव च ।
मानपीठं ज्ञानपीठं रुद्रपीठं तदन्तिके ॥ ९१ ।

लाकिनी कुलपापीठं वलाकापीठमेव च ।
रौद्रप्रभामहापीठं म्लेच्छवासिसुपीठकम्[2] ॥ ९२ ।

---

१. स्थिरं चेतो यस्य तादृशो भूत्वा इत्यर्थः ।

२. म्लेच्छानां वासो म्लेच्छवासः, सोऽस्यास्तीति मत्वर्थीय इनिः ।

मक्कासिद्धकरीपीठं निरञ्जनस्वपीठकम् ।
ब्राह्मीपीठं दत्तपीठमभयापीठमेव च ॥ ९३ ।

रङ्गिणीपीठमेवं हि फेत्कारीपीठमर्चयेत् ।
गर्गरीसिद्धपीठं च चन्द्रशेखरशैलकम् ॥ ९४ ।

हरिद्वाराख्यपीठं तु समुद्रपीठमर्चयेत् ।
कटचां संकेतपीठं च काञ्चीपीठं त्रिघर्घरम् ॥ ९५ ।

शूलिनीपीठमभ्यर्च्य लङ्कापीठं समर्चयेत् ।
वारुणीपीठमभ्यर्च्य वज्रपीठं समर्चयेत् ॥ ९६ ।

सिद्धकटाहपीठञ्च महासंहारपीठकम् ।
षट्पीठं द्राविडापीठं विष्णुपीठं रसान्वितम् ॥ ९७ ।

दलपीठं तथा राधापीठं पञ्चनलाख्यकम् ।
कुण्डलीचक्रपीठं तु कामपीठं समर्चयेत् ॥ ९८ ।

महावाय्वाकाशपीठं त्रिकालचक्रपीठकम् ।
ब्रह्मपीठं धरापीठं शत्रुपीठं समर्चयेत् ॥ ९९ ।

कुञ्जराख्यं महापीठं कालधर्माख्यपीठकम् ।
तद्वामे डाकिनीपीठं गर्भपीठं तदन्तिके ॥ १०० ।

मयूरपीठमभ्यर्च्य गारुडीपीठमर्चयेत् ।
प्रणवं पूर्वमुच्चार्य चात्र पीठस्थितान् स्वरान् ॥ १०१ ।

पूजयामि पद्मपुष्पैः प्रसन्नाः प्रभवन्तु ते ।
पूजयित्वा पीठलोकं शिवलोकं समर्चयेद् ॥ १०२ ।

क्षेत्रपाललोकमेवं धूम्रलोकं त्रिलोककम् ।
पूजयेत् सागरान् सप्त भुवनानि चतुर्दश ॥ १०३ ।

[1]ताराग्रहणक्रान्तलोकपालयुतानि च ।
पूजयित्वा तद्बाह्ये च शक्तिविद्याः प्रपूजयेत् ॥ १०४ ।

---

१. ताराणां ग्रहाणां च गणाः, तैः क्रान्ता लोकास्तान् पालयन्ति ये तैर्युतानि ।

डाकिनी राकिणी पूज्या लाकिनी काकिनी तथा ।
शाकिनी हाकिनी पश्चात् प्रभा नीला च बोधिनी ॥ १०५ ।
उन्मनी भाविनी चिन्ता प्रियाङ्गी मानसेश्वरी ।
उल्कामुखी क्रोधमुखी विप्रचित्ता सुभद्रिका ॥ १०६ ।
नागिनी नागमाला च पृथिवीतीर्थवासिनी[1] ।
अकलङ्का जाह्नवी च स्वर्गगङ्गा मनोन्मनी ॥ १०७ ।
सं सत्त्वस्था रं रजःस्था तं तमःस्था प्रपूजयेत् ।
सर्वां देवीं पूजयेद् वै [2]प्रणवादिनमोऽन्तिकाम् ॥ १०८ ।
धूपदीपौ स्वमूलेन दद्यात् साधकयोगिराट् ।
नैवेद्यं शोधयित्वा च दद्यात् पानार्थकं प्रभो ॥ १०९ ।
पुनराचमनं दत्वा विशेषबलिमर्पयेत् ।
पूर्वोक्तस्तु ममानेन पञ्चतत्त्वक्रियादिभिः ॥ ११० ।
अनेन मनुना दद्याद् बलित्रयमनुत्तमम् ।
प्रणवं कालमायेऽन्ते सर्वपीठनिवासिनि ॥ १११ ।
तदन्ते कालिकाबीजं स्वबीजं तदनन्तरम् ।
आकाशवाहिनीत्यन्ते बलिं गृह्ण ततः परम् ॥ ११२ ।
पञ्चतत्त्वादिमिलितं कपाले तदनन्तरम् ।
परिगृह्णयुगं पश्चात् शब्दबीजं ततो द्विजः ॥ ११३ ।
अनेन मनुना दद्याद् बलित्रयमनुत्तमम् ।
सर्वत्र मानसैर्योगी ददाति पूजनं बलिम् ॥ ११४ ।
प्राणायामं त्रिधा कृत्वा जपेन्मन्त्रं यथाविधि ।
सहस्रं वा शतं वापि चाष्टोत्तरसमन्वितम् ॥ ११५ ।
दिवसे यज्जपं कुर्याद्रात्रौ तज्जाप्यमाश्रयेत् ।
जपं समर्पयेद् देव्या वामहस्ते तु मन्त्रकैः ॥ ११६ ॥

---

१. पृथिवीतीर्थे वसति तच्छीला पृथिवीतीर्थवासिनी ।
२. प्रणव आदिर्यस्याः, नमोऽन्तिको यस्याः सा, पुत्रः प्रणवादिश्च नमोऽन्तिकश्चेति कर्मधारयः ।

[1]गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादात् सुरेश्वरि ॥ ११७ ।
प्राणायामं त्रिषट्कृत्वा वन्दनं च प्रदक्षिणम् ।
संवन्दे वरदे देवि त्रैलोक्यकुलपावनि ॥ ११८ ।
सर्वसिद्धिप्रदे देवि शाकिनि त्वां नमाम्यहम् ।
वेदविद्याप्रकाशे त्वं नानाविद्याविनोदिनि ॥ ११९ ।
भवानि सिद्धिदे देवि वरदा भव सर्वदा ।
सर्वदानवहन्त्री त्वं मम शत्रून् विनाशय ॥ १२० ।
अकालमृत्युहरणं कुलकौमारिशाकिनि ।
सदाशिवयुते नित्ये सदाशिवविहारिणि ॥ १२१ ।
अमरत्वं सदा देहि भक्तिं मुक्तिं प्रयच्छ मे ।
शाकिनि प्राणदे देवि देवानां प्राणरक्षिणि ॥ १२२ ।
शाकम्भरि नमस्तेऽस्तु मम देहं समाश्रय ।
वाञ्छाकल्पतरोर्मूले स्थायिनि प्रेमदायिनि ॥ १२३ ।
सर्वलोकार्चिते सिद्धिकण्ठपद्मे स्थिरा भव ॥ १२४ ।
कण्ठाम्भोरुहमण्डले सुविमले वाञ्छाफले ज्वालिनि
कामाख्ये प्रणमामि शाकिनि पदं मार्तर्हि शाकम्भरि ।
देवानां जगतां हिताय विनये सम्यग्वरश्रीप्रदे
स्थित्यादिक्रमसंस्थिता भव महाकाशप्रभाचञ्चले ॥ १२५ ।
इति प्रणम्य भावेन भुक्तिमुक्ती[2] लभेद् ध्रुवम् ।
पूजाफलमवाप्नोति प्रदक्षिणरतो नरः ॥ १२६ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवभैरवीसंवादे शाकिनीयजनं नाम षष्ठषष्टितमः पटलः ॥

---

१. गुह्यमतिगुह्यं च गोपायति या सा, गुपेः कर्तरि तृच्प्रत्ययः ।

२. भुक्तिर्भोग ऐहलौकिकः, मुक्तिर्मोक्षः पारलौकिकः, द्वयोः प्राप्तिः ।

अथ सप्तषष्टितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

कुरु नाथ वन्दनं भो पूजनं कवचं पठ ।
[1]वर्णाध्यानं कण्ठपद्मे स्थिरो भव जगत्पते ॥ १ ।

परमा शाकिनी विद्या [2]महामोहनिवारिणी ।
योगिनीकोटिभिः सार्धं राजते सूर्यवत् सदा ॥ २ ।

वाराणसीपुरे स्थित्वा कण्ठपद्मस्थितां भज ।
स्तोत्रेणानेन विधिना भक्ति कुरु महाशिवे ॥ ३ ।

अखण्डे नीलपङ्केरुहविमलकरे स्थापितां षोडशारे
हेमाभां विद्युताभां सुकणकवलयां चन्द्रकोटिप्रभावाम् ।
श्रीकन्यां शाकिनीशां त्रिपुरहरकराम्भोजपूजाविनोदीं
कामाख्यां रुद्रमायां वधुनयनयुतां शक्रकान्तप्रकाशाम् ॥ ४ ।

सिन्धुस्थां भावयामि प्रमथगणवधूप्रोज्ज्वलां वेदयुक्तां
योगेन्द्रानन्दकर्त्रीं कमलवलयां नीलजीमूतनेत्राम् ।
ओङ्कारां कारणाख्यां मधुगृहनिकरामष्टगेहप्रकाशा-
मानन्दज्ञाननित्यां द्विविनदलकलां कण्ठवैकुण्ठशोभाम् ॥ ५ ।

धर्मार्थज्ञानदात्रीं त्रिभुवनभुविकाह्लादहेतोः प्रकाश्यां
विन्ध्यस्थां पीठकन्यां त्रिकमलनयनां वेदहस्तां प्रसन्नाम् ।
स्मेरास्यां चन्द्रवक्त्रां हरिहरविधिभिर्ध्यानगम्यां कदाचि-
च्छम्भुस्थां चारुरूपां भवभयहरणीं तारिणीं भावयामि ॥ ६ ।

---

१. वर्णानामाध्यानमिति विग्रहे षष्ठीतत्पुरुषः ।

२. महान् मोहो महामोहः, सन्महदिति समासः, तं निवारयति तच्छीला कर्तरि णिनिः ।

सूक्ष्मां [1]स्थूलप्रभाढ्यां [2]चरणतलविभाकोटिबन्धूककान्ति
कान्तानां कामकान्तां जयरतिभवतीं शाकिनीं शोकहन्त्रीम् ।
शब्दान्तःप्रान्तरस्थां स्थितिलयगगनां पद्मरागस्रजाढ्यां
कान्त्या विश्वं ज्वलन्तीं मदनवधुरमाबीजमालां स्मरामि ॥ ७ ।

व्याघ्रस्थां व्याघ्रवस्त्रां हरिणनयनकैः केवलानन्दरूपां
वामां शक्तिं प्रवालां त्रिकुलजलकलां कालराजेश्वरीं याम् ।
आनन्दाब्धौ प्रभान्तीं प्रभुगणभयहां मातृकाबीजभूषां
घोरामट्टाट्टहास्यां दशनसुहसनां चारुनेत्रां भजामि ॥ ८ ।

बालादित्यायुताभां चरमपदमदां मद्यमाधुर्यभक्षां
क्षोणीसिंहासनस्थां मणिमयजपमालाभिर्वरानन्दहस्ताम् ।
मातल्लीलाकलापां तरतनुविमलां चामले कण्ठपद्मे
नित्यज्ञानप्रकाशां भजति मम सदानन्दचित्तावसन्नाम् ॥ ९ ।

हालापानोद्यताङ्गीं परमसुखमयीं वेदसन्तानकर्त्रीं
योगानन्दादिकर्त्रीं तरुणघनघटाघोररूपां करालाम् ।
आकाशाम्भोजमध्येऽविकलकरयुषा व्यापकाङ्गप्रकाशां
सा माता श्रीं वहन्तीं परिसमयकलौ मोक्षभक्तिं भजे त्वाम् ॥ १० ।

सा विद्याधर्मचिन्तामणिगुणजनिता योजिता जातु भीतौ
शब्दब्रह्मैकहेतुस्थलनिलयमहाज्ञानसाक्षिप्रतीता ।
त्वं माता वेदमाता हर हर कलुषं बालिशं तारयन्ती
जीवात्मानं द्विरक्षक्षयमरणभयभ्रान्तिमाभञ्जयन्ती ॥ ११ ।

[3]ज्वालामालाविलोला कलयति कलुषं शाकिनी सैव माता
यातायातप्रभातोदयदिवसनिशाभ्रान्तिमोहारिनाशा ।
दासानामामवासा वसति शशिगृहे कार्तिकेशासुवंशा
संसारेऽशादिहंसा चल चल चपलं त्वं कलाषोडशारे ॥ १२ ।

---

१. स्थूला बृहती या प्रभा, तया आढ्यां समृद्धाम् ।
२. चरणतलस्य या विभा, तया, कोटिबन्धूकपुष्पसदृशी कान्तिर्यस्याः सा ।
३. ज्वालानां मालास्ताभिर्विलोला चञ्चला ।

बीजात्मा यज्ञकुण्डे रचयति चरणाच्छन्दसां गद्यपद्यैः
पाताले भूकराले कुलयुगदलके निर्गता वेदशक्तिः ।
पश्यन्ती मध्यमाद्या नयनवचनगा वैखरी वाक्स्वरूपा
कण्ठे हृत्पद्ममूले कथयति कविता स्तम्भितास्त्वां प्रयामि ॥ १३ ।

परासापर्वासारहितमतहासा प्रविश मे
घनश्यामे वामे द्विकमललाटेऽतिशिखया ।
वहन्ती सिन्दूरं त्रिजपपरयानामपरया
मुखाम्भोजे वश्या भवभवयुगं षोडशदले ॥ १४ ।

रमा लज्जा माया वधुमदनकूर्चास्त्रसहिते
हिते मातः शाकम्भरि धरणि बाला कमलया ।
निशार्धे शत्र्वङ्गं हन हन हरे संहर रिपुं
त्रितारी षट्कूटा [1]मदनवधुजा ह्लिजाया हर अघम् ॥ १५ ।

योगेन्द्रानन्दमुद्रां तरतनुतपनां तापिनीं तप्तदेहां
मुग्धानां मोहमुग्धां मुकुटशशिमणिच्छाययाच्छन्नवेशाम् ।
कामाख्यां ब्रह्मबीजध्वनिमदनकुलाद्यादिबीजप्रतिष्ठां
स्वाहान्तां भावयामि क्षितिसुरपतिहंसाख्यब्रह्मास्त्रविद्याम् ॥ १६ ।

सायाह्ने कामलक्ष्मीः पवनविधुयुता दीर्घनेत्रा त्रिनेत्रा
सावित्री मध्यकाले न चलति चलति श्रद्धया मस्तकोर्ध्वे ।
कोटयर्काभासमाना न नमति कुटिलं तेजसा व्याकुलालं
कालोल्काकोटिकूटं रमयति धवलास्यारुणाङ्गी प्रभाते ॥ १७ ।

गायत्री वर्णमात्रामितवनवनिता मानिवा भालकूपे
हालाकालानलाङ्गी तिमिरहरपदालीढपादारविन्दा ।
त्वं विद्या वाग्भवाद्या [2]प्रणवतनुमयी देवलक्ष्मीः प्रसादा[3]
नादाद्याचार्धचन्द्रोज्ज्वलयुगलं षोडशारे ममारे ॥ १८ ।

---

१. मदनस्य कामदेवस्य या वधूस्ततो जाता, बाहुलकाद् ह्रस्वः ।
२. प्रणव एव तनुस्तत्स्वरूपा, स्वार्थे मयट् ।
३. प्रसादयति या सा—सदेर्ण्यन्तात् पचाद्यच्प्रत्ययः ।

जाया माया विमायाह्वयमुखि विमले केवले तारहारे
हाराकंचित्रिताङ्गि स्ववधुयुगयुगे तारयद्वन्द्वचन्द्रे ।
स्वाहा मेधा स्वधा त्वं [1]श्रुतिनुतिसुनतिग्रन्थिवाग्वादिनी त्वं
मामेकं रक्षयुग्मं धरणिधरसुखं सञ्चयाग्निप्रियान्ता ॥ १९ ।

एतत् स्तववरं पठेद्यदि सदा ध्यात्वा नरेन्द्रः सुखी
धन्यः पुण्यमुपैति देवविलयं पीठादिसन्दर्शनम् ।
योगानामपि सिद्धिभाक्प्रियतरं ज्ञानं धनं लभ्यते
राजानं वशयन्ति ते च सहसा साक्षात् कटाक्षे रमाम् ॥ २० ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे शाकिनीस्तोत्रविन्यासो नाम सप्तषष्टितमः पटलः ॥

●

---

१. श्रुतिर्नुतिः सुनतिः, तासां ग्रन्थिः, तत्र वाग्वादिनी सरस्वती, तद्ग्रन्थिरहस्योद्घाटने साक्षात् सरस्वती इति भावः ।

अथाष्टषष्टितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

त्रैलोक्यरक्षणार्थाय पूजयामि तवानघे ।
संसारविलयार्थाय तव श्रीचरणाम्बुजम् ॥ १ ॥

महादेवि जगद्धात्रि परमानन्दवर्धिनि ।
भवानि भैरवि प्राणे वर्णध्यानं वदामलम् ॥ २ ॥

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

अथ कामेश गौराङ्ग धर्माधर्मप्रदर्शक ।
इदानीं शृणु सर्वज्ञ महाज्ञाननिरूपणम् ॥ ३ ॥

वर्णध्यानं तव स्नेहात् कथये मम रूपकम् ।
अकस्मात् सिद्धिदं ध्यानं ज्ञानमात्रेण सिद्ध्यति ॥ ४ ॥

अकारं ध्यायेऽहं हरिहरचतुर्वक्त्रविबुधैः[1]
सदा ध्येयं शुक्लं विधुमुखिवधुश्रीश्रुतिभुजम् ।
विधेयं कौमारं त्रिनयनमलङ्कारजडितं
कपालाब्जास्त्राहिमहितशितांशुप्रभकरम् ॥ ५ । अं

आंबीजाढ्यां प्रभासां कनकघटमधुप्रीतिमानां विमानां
शुल्कच्छायां वहन्तीं श्रुतिभुजसहितां पद्मनालाख्यमालाम् ।
खड्गं तां धारयन्तीं मुकुटमणिरुचिं क्रोधमाकाशदेशं
नानालङ्कारदीप्तिं हिमकरकपिलावाहनीं भावयामि ॥ ६ ।आं

इं मायां भुवनस्थितां वधुयुतां श्रीषोडशीसंयुतां
मायालक्षणलक्षितां त्रिजगतां विद्याभयश्रीपदाम् ।
हस्ताम्भोजचतुष्टयां त्रिनयनां शूलासिभालाम्बुजां
नानारत्नजनूपुरां सुरनतां ध्याये विशुद्धाम्बुजे ॥ ७ ।इं

---

१. हरिश्च हरश्च चतुर्वक्त्रश्च (ब्रह्मा च) ते च ते विबुधाश्च, तैः ।

कोट्यर्काभासमानां कनकमयमहालङ्कृतां ध्यानगम्यां
ईकाराकारमूर्ति त्रिनयनकमलां वेदहास्योज्ज्वलाङ्गीम् ।
शङ्खाम्भोजासिघण्टासहिततनुवरां देवसिंहासनस्थां
वेदस्थां वेदसिद्धां रुधिरशितयुतां बाललीलां भजामि ॥ ८ ।ईं

उकारं ब्रह्माणं त्रिमुनिसहितं काञ्चनरसं
हयं हंसारूढं इवरसनयुतं मन्दिराजालवाद्यम् ।
विशालं वेदास्यं शतरविसुवर्णं त्रिनयनं
जटाकुण्डाह्लादं तरुणपुरुषं नौमि सततम् ॥ ९ ।उं

ऊङ्कारं सर्वरूपं विधुशतजटितं काञ्चनाभं त्रिसर्गं
मन्दारैर्मानसाप्तं प्रचयघनरसं शुद्धसूत्राक्षमालम् ।
हस्तौ द्वौ संवहन्तं फणिगणललनामालयानन्दरूपं
सिद्धानामिष्टसिद्धिं कुलकमलघनं भावये षोडशारे ॥ १० ।ऊं

ऋङ्कारं सप्तरेखासहितविमलया मालया शोभिताङ्गं
मायाविस्थं प्रसन्नाननकमलवरं वारणाकारदेहम् ।
पुण्यं यज्ञादिसिद्धं मदनशशिकलामादनं षड्भुजाढ्यं
घण्टाचार्वस्त्रखड्गामलकमलकपालाङ्कमेकं भजामि ॥ ११ ।ऋं

ॠं बीजं चातिथीशं शितकमलमुखं शुक्लवर्णं त्रिनेत्रं
मायालक्ष्मीस्वरान्तं तरुणरविकरं षड्भुजं नीलवस्त्रम् ।
नानालङ्कारशोभातरमुकुटतटं चन्द्रबिम्बस्वभावं
खड्गाब्जज्ञानमुद्रामधुधरसुगदापाशपाणिं भजामि ॥ १२ ।ॠं

ऌकारं [1]स्थाणुकेशं त्रिनयनवदनाम्भोजतेजःप्रकाशं[2]
पूर्णात्मानं परेशं त्रिगुणघनमयं नीलवर्णं त्रिभावम् ।
षड्बाहुं पिङ्गकेशामलगलितशिरोमण्डलं मालयाढ्यं
वेदासिज्ञानमालाम्बुजवरगदया शोभितं भावयामि ॥ १३ ।ऌं

---

१. स्थाणवस्तत्सदृशाः केशा यस्य सः, तम् ।

२. त्रयाणां नयनानां वदनाम्भोजस्य च तेजः प्रकाशयति, तमित्यर्थः ।

लृङ्कारं शितवसनयुक्शुक्लकिरणं
सुधामग्नं ध्याये हरिणनयनं वेदभुजगम् ।
भुजङ्गाम्भोजासिप्रियवरदभावं शुभकरं
करालं भूपालं सुरमुनिगणैः सेव्यमनिशम् ॥ १४ । लॄं

एंबीजं कालवर्णं शतयुवतिगतं वेष्टितं देवमुख्यैः
सूर्याभं बिन्दुसर्गं भुजयुगसहितं पद्मभालं[1] करालम् ।
सालङ्कारं किरीटं त्रिनयनममरं नूपुरेन्दुप्रकाशं
झिण्टीशं शम्बरीशं प्रमथसुतगणैर्व्यापितं भावयामि ॥ १५ । एं

शुक्लाभं वा भवार्णं त्रिवलितनयनं शुद्धबन्धूकवस्त्रं
रत्नालङ्कारहारं त्रिभुवनवचनं षड्भुजं बीजसारम् ।
ध्यायेऽहं षोडशारे त्रिमदनरमणे भावितं पञ्चरश्मि
योगाद्यं भौतिकेशं गगनपथकरं वह्निजायास्वरान्तम् ॥ १६ । ऐं

भजे [2]प्रणवलक्षणं शितकरं चलत्कुण्डलं
चतुर्भुजविभाकरं कमलशङ्खशूलाभयम् ।
अलङ्कृतकलेवरं विमलपीतवस्त्रं मुखं
शुक्लांशुशतवेष्टितं मुकुटनूपुराढ्यं परम् ॥ १७ ।ओं

ध्याये चानुग्रहेशं प्रणवधवल ओङ्काररूपं सुसूक्ष्मं
ब्रह्मद्वारप्रभेदं श्रुतिभुजललितं खड्गबाणास्थभालम् ।
जन्तूनां कोटिकान्ति शतरविमुकुटं क्रोधराजं महेशं
रत्नालङ्कारशोभं चरलतलरिभामण्डलं सारुणाभम् ॥ १८ ।औं

अङ्कारं बिन्दुभावं ललितदशभुजं व्याघ्रचर्माम्बराढ्यं
पञ्चास्यं तं त्रिनेत्रं स्वकणकवलयं चन्द्रकोटिप्रकाशम् ।
शूलास्त्रासीषु चक्रप्रतनफलगदाखेटकाम्भोजभालं
ध्याये चाक्रूरदेवं परशुखरपदं सारदं स्थूलसूक्ष्मम् ॥ १९ । अं

---

१. पद्मं कमलं भाले मस्तके विराजते यस्य । अथवा पद्मवत् शोभमानो भालो यस्य ।
२. प्रणवो लक्षणं परिचायको यस्य तमित्यर्थः ।

अःकारं श्रीविसर्गं कमलदलगतं दीनदातारमेकं
शुक्लाभं कोटिसूर्यं शतभुजललितं देवविद्यास्त्रखड्गम् ।
सर्वाङ्गारक्तधारं त्रिनयनकमलानन्दितं मन्दहास्यं
पञ्चाशद्वक्त्रशोभाभवतनुकिरणं कारणं भावयामि ॥२०॥अः

एवं ध्यात्वा षोडशारे स्थिरचेताः प्रपूजयेत् ।
वर्णरूपं शक्तियुतं लोकनाथं सदाशिवम् ॥ २१ ॥

तदा प्रसन्ना बुद्धिः स्यादमरो जायतेऽचिरात् ।
खेचरत्वं वाक्यसिद्धिं जलस्तम्भादिसिद्धिभाक् ॥ २२ ॥

पूर्वादिवामतो ध्यायेत् कामनाभयवर्जितः ।
गुह्यस्थाने ध्यानकार्यं [1]यत्र विद्याः स्फुरन्ति ताः ॥ २३ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे
षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे विशुद्धवर्णध्यानं
नाम अष्टषष्टितमः पटलः ॥

●

---

१. यत्र ता विद्याः स्फुरन्ति इत्यन्वययोजना । विद्यास्तावच्चतुर्दशसंख्याकाः । तत्रागमशास्त्रस्य धर्मशास्त्रे परिगणना कृताऽस्ति ।

अथैकोनसप्ततितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

कैलासशिखरारूढ पञ्चवक्त्र त्रिलोचन ।
अभेद्यभेदकप्राण वल्लभ श्रीसदाशिव ॥ १ ॥

[1]भवप्राणप्ररक्षाय कालकूटहराय च ।
प्रत्यङ्गिरापादुकाय दान्तं शब्दमयं प्रियम् ॥ २ ॥

इच्छामि रक्षणार्थाय भक्तानां योगिनां सताम् ।
अवश्यं कथयाम्यत्र सर्वमङ्गललक्षणम् ॥ ३ ॥

अष्टोत्तरसहस्राख्यं सदाशिवसमन्वितम् ।
महाप्रभावजननं दमनं दुष्टचेतसाम् ॥ ४ ॥

सर्वरक्षाकरं लोके कण्ठपद्मप्रसिद्धये ।
अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिनिवारणम् ॥ ५ ॥

योगसिद्धिकरं साक्षाद् अमृतानन्दकारकम् ।
विषज्वालादिहरणं मन्त्रसिद्धिकरं परम् ॥ ६ ॥

नाम्नां स्मरणमात्रेण योगिनां वल्लभो भवेत् ।
सदाशिवयुतां देवीं सम्पूज्य संस्मरेद् यदि ॥ ७ ॥

मासान्ते सिद्धिमाप्नोति खेचरीमेलनं भवेत् ।
आकाशगामिनी सिद्धिः पठित्वा लभ्यते ध्रुवम् ॥ ८ ॥

धनं रत्नं क्रियासिद्धि [2]विभूतिसिद्धिमालभेत् ।
पठनाद् धारणाद्योगी महादेवः सदाशिवः ॥ ९ ॥

विष्णुश्चक्रधरः साक्षाद् ब्रह्मा नित्यं तपोधनः ।
योगिनः सर्वदेवाश्च मुनयश्चापि योगिनः ॥ १० ॥

---

१. भवः संसारस्तस्य प्राणाः, तेषां प्ररक्षः, तस्मै ।

२. विभूतीनां सर्वैश्वर्याणां सिद्धिस्तामित्यर्थः ।

सिद्धाः सर्वे सञ्चरन्ति धृत्वा च पठनाद् यतः ।
ये ये पठन्ति नित्यं तु ते सिद्धा विष्णुसम्भवाः ॥ ११ ।

किमन्यत् कथनेनापि भुक्तिं मुक्तिं क्षणाल्लभेत् ॥ १२ ।

अस्य श्रीभुवनमङ्गलमहास्तोत्राष्टोत्तरसहस्रनाम्नः सदाशिव ऋषिर्गायत्रीच्छन्दः सदाशिवशाकिनीदेवता पुरुषार्थाष्टसिद्धिसमययोगसमृद्धये विनियोगः ॥

ॐ शाकिनी पीतवस्त्रा सदाशिव उमापतिः ।
शाकम्भरी महादेवी भवानी भुवनप्रियः ॥ १३ ।
योगिनी योगधर्मात्मा योगात्मा श्रीसदाशिवः ।
युगाद्या युगधर्मा च योगविद्या सुयोगिराट् ॥ १४ ।
योगिनी योगजेताख्यः सुयोगा योगशङ्करः ।
योगप्रिया योगविद्वान् योगदा योगषड्भुवि ॥ १५ ।
त्रियोगा जगदीशात्मा जापिका [1]जपसिद्धिदः ।
यत्नी यत्नप्रियानन्दो विधिज्ञा वेदसारवित् ॥ १६ ।
सुप्रतिष्ठा शुभकरो मदिरा मदनप्रियः ।
मधुविद्या माधवीशः क्षितिः क्षोभविनाशनः ॥ १७ ।
वीतिज्ञा मन्मथघ्नश्च चमरी चारुलोचनः ।
एकान्तरा कल्पतरुः क्षमाबुद्धो रमासवः ॥ १८ ।
वसुन्धरा वामदेवः श्रीविद्या मन्दरस्थितः ।
अकलङ्का निरातङ्क उतङ्का शङ्कराश्रयः ॥ १९ ।
निराकारा निर्विकल्पो रसदा रसिकाश्रयः ।
रामा [2]रामननाथश्च लक्ष्मी नीलेषुलोचनः ॥ २० ।
विद्याधरी धरानन्दः कनका काञ्चनाङ्गधृक् ।
शुभा शुभकरोन्मत्तः प्रचण्डा चण्डविक्रमः ॥ २१ ।

१. जपेन सिद्धिर्जपसिद्धिः, तृतीयातत्पुरुषः, तां ददातीति ।
२. रामयतीति रामनः कर्तरि ल्युट्प्रत्ययो बाहुलकात्, णत्वाभावोऽपि ।

सुशीला देवजनकः काकिनी [1]कमलाननः ।
कज्जलाभा कृष्णदेहः शूलिनी खड्गचर्मधृक् ॥ २२ ॥
गतिग्राह्यः प्रभागौरः क्षमा क्षुब्धः शिवा शिवः ।
जवा यतिः परा हरिर्हराहरोऽक्षराक्षरः ॥ २३ ॥
सनातनो सनातनः श्मशानवासिनीपतिः ।
जयाक्षयो धराचरः समागतिः प्रमापतिः ॥ २४ ॥
कुलाकुलो मलाननो वलोवला मलामलः ।
प्रभाधरः परापरः सरासरः कराकरः ॥ २५ ॥
मयामयः पयापयः पलापलो दयादयः ।
भयाभयो जयाजयो गयागयः फलान्वयः ॥ २६ ॥
समागमो धमाधमो रमारमो वमावमः ।
वराङ्गणा धराधरः प्रभाकरो भ्रमाभ्रमः ॥ २७ ॥
सती सुखो सुलक्षणा कृपाकरो दयानिधिः ।
धरापतिः प्रियापतिर्विरागिणी मनोन्मनः ॥ २८ ॥
प्रधाविनी सदाचलः प्रचञ्चलातिचञ्चलः ।
कटुप्रिया महाकटुः पटुप्रिया महापटुः ॥ २९ ॥
धनावली गणागणी खराखरः फणिः क्षणः ।
प्रियान्विता शिरोमणिस्तु शाकिनी सदाशिवः ॥ ३० ॥
रुणारुणो घनाघनो हयो हयो लयी लयः ।
सुदन्तरा सुदागमः खलापहा महाशयः ॥ ३१ ॥
चलत्कुचा जवावृतो घनान्तरा स्वरान्तकः ।
प्रचण्डघर्घरध्वनिः प्रिया प्रतापवह्निगः ॥ ३२ ॥
प्रशान्तिरुन्दुरुस्थिता महेश्वरी महेश्वरः ।
महाशिवाविनी घनी रणेश्वरी[2] रणेश्वरः[3] ॥ ३३ ॥

---

१. कमलवद् आननं मुखं यस्य सः ।
२. रणे ईश्वरी इव । अथवा रणस्य ईश्वरी स्वामिनी ।
३. रणस्येश्वरोऽधिष्ठाता शिवो भगवान् ।

प्रतापिनी प्रतापनः प्रमाणिका प्रमाणवित् ।
त्रिशुद्धवासिनी मुनिर्विशुद्धविन्मधूत्तमा ।। ३४ ।
तिलोत्तमा महोत्तमः[1] सदामया दयामयः ।
विकारतारिणी तरुः सुरासुरो मरागुरुः ।। ३५ ।
प्रकाशिका प्रकाशकः प्रचण्डिका विभाण्डकः ।
त्रिशूलिनी गदाधरः प्रवालिका महाबलः ।। ३६ ।
क्रियावती जरापतिः प्रभाम्बरा दिगम्बरः ।
कुलाम्बरा मृगाम्बरा निरन्तरा जरान्तरः ।। ३७ ।
श्मशाननिलया शम्भुर्भवानी भीमलोचनः ।
कृतान्तहारिणीकान्तः कुपिता कामनाशनः ।। ३८ ।
चतुर्भुजा पद्मनेत्रो दशहस्ता महागुरुः ।
दशानना दशग्रीवः क्षिप्राक्षी क्षेपनप्रियः ।। ३९ ।
वाराणसी पीठवासी काशी विश्वगुरुप्रियः ।
कपालिनी महाकालः कालिका कलिपावनः ।। ४० ।
रन्ध्रवर्त्मस्थिता वाग्मी रती रामगुरुप्रभुः ।
सुलक्ष्मीः प्रान्तरस्थश्च योगिकन्या कृतान्तकः ।। ४१ ।
सुरान्तका पुण्यदाता तारिणी तरुणप्रियः ।
महाभयतरा तारास्तारिका तारकप्रभुः ।। ४२ ।
तारकब्रह्मजननी महादृप्तः भवाग्रजः ।
लिङ्गगम्या लिङ्गरूपी चण्डिका वृषवाहनः ।। ४३ ।
रुद्राणी रुद्रदेवश्च कामजा काममन्थनः ।
विजातीया जातितातो विधात्री धातृपोषकः ।। ४४ ।
निराकारा महाकाशः सुप्रविद्या विभावसुः ।
वासुकी [2]पतितत्राता त्रिवेणी तत्त्वदर्शकः ।। ४५ ।

---

१. एषामयमतिशयेनोत्कृष्ट उत्तमः । महांश्चासौ उत्तमश्च ।
२. पतितानां त्राता त्राणकर्ता रक्षक इति यावत् ।

पताका पद्मवासी च त्रिवार्ता कीर्तिवर्धनः ।
धरणी धारणाव्याप्तो विमलानन्दवर्धनः ॥ ४६ ।

विप्रचित्ता कुण्डकारी विरजा कालकम्पनः ।
सूक्ष्माधारा अतिज्ञानी मन्त्रसिद्धिः प्रमाणगः ॥ ४७ ।

वाच्या वारणतुण्डश्च कमला कृष्णसेवकः ।
दुन्दुभिस्था वाद्यभाण्डो नीलाङ्गी वारणाश्रयः ॥ ४८ ।

वसन्ताद्या शीतरश्मिः प्रमाद्या शक्तिवल्लभः ।
खड्गिना चक्रकुन्ताढ्यः शिशिराल्पधनप्रियः ॥ ४९ ।

दुर्वाच्या मन्त्रनिलयः खण्डकाली कुलाश्रयः ।
वानरी हस्तिहाराद्यः प्रणया लिङ्गपूजकः ॥ ५० ।

मानुषी मनुरूपश्च नीलवर्णा विधुप्रभः ।
अधश्चन्द्रधरा कालः कमला दीर्घकेशधृक् ॥ ५१ ।

दीर्घकेशी विश्वकेशी त्रिवर्गा खण्डनिर्णयः ।
गृहिणी ग्रहहर्ता च ग्रहपीडा ग्रहक्षयः ॥ ५२ ।

पुष्पगन्धा वारिचरः क्रोधादेवी दिवाकरः ।
अञ्जना क्रूरहर्ता च केवला कातरप्रियः ॥ ५३ ।

पद्यामयी पापहर्ता विद्याद्या शैलमर्दकः ।
कृष्णजिह्वा रक्तमुखो भुवनेशी परात्परः ॥ ५४ ।

वदरी मूलसम्पर्कः क्षेत्रपाला बलानलः ।
[1]पितृभूमिस्थिताचार्यो विषया बादरायणिः ॥ ५५ ।

पुरोगमा पुरोगामी वीरगा रिपुनाशकः ।
महामाया महान्मायो वरदः कामदान्तकः ॥ ५६ ।

[2]पशुलक्ष्मीः पशुपतिः पञ्चशक्तिः क्षपान्तकः ।
व्यापिका विजयाच्छन्नो विजातीया वराननः ॥ ५७ ।

---

१. पितृणां भूमौ स्थित आचार्यः ।

२. पश्यतीति पशुस्तादृशी दर्शनशीला लक्ष्मीर्यस्याः सा ।

कटुमूर्तिः शाकमूर्तिस्त्रिपुरा [1]पद्मगर्भजः ।
अजाब्या जारकः प्रक्ष्या वातुलः क्षेत्रबान्धवा ॥ ५८ ।

अनन्तानन्तरूपस्थो लावण्यस्था प्रसञ्चयः ।
योगज्ञो ज्ञानचक्रेशो बभ्रमा भ्रमणुस्थितः ॥ ५९ ।

शिशुपाला भूतनाथो भूतकृत्या कुटुम्बपः ।
तृप्ताश्वत्थो वरारोहा वटुकः प्रोटिकावशः ॥ ६० ।

श्रद्धा श्रद्धान्वितः पुष्टिः पुष्टो रुष्टाष्टमाधवा ।
मिलिता मेलनः पृथ्वी तत्त्वज्ञानी चरुप्रिया ॥ ६१ ।

अलब्धा भयहानन्त्या दशनः प्राप्तमानसा ।
जीवनी परमानन्दो विद्याढ्या धर्मकर्मजः ॥ ६२ ।

[2]अपवादरताकाङ्क्षी विल्वानाभद्रकम्बलः ।
शिविवाराहनोन्मत्तो विशालाक्षी परन्तपः ॥ ६३ ।

गोपनीया सुगोप्ता च पार्वती परमेश्वरः ।
श्रीमातङ्गी त्रिपीठस्थो विकारी ध्याननिर्मलः ॥ ६४ ।

चातुरी चतुरानन्दः पुत्रिणी सुतवत्सलः ।
वामनी विषयानन्दः किङ्करी क्रोधजीवनः ॥ ६५ ।

चन्द्रानना प्रियानन्दः कुशला केतकीप्रियः ।
प्रचला तारकज्ञानी त्रिकर्मा नर्मदापतिः ॥ ६६ ।

कपाटस्था कलापस्थो विद्याज्ञा वर्धमानगः ।
त्रिकूटा त्रिविधानन्दो नन्दना नन्दनप्रियः ॥ ६७ ।

विचिकित्सा समाप्ताङ्गो मन्त्रज्ञा मनुवर्धनः ।
मन्त्रिका चाम्बिकानाथो विवाशी वंशवर्धनः ॥ ६८ ।

वज्रजिह्वा वज्रदन्तो विक्रिया क्षेत्रपालनः ।
विकारणी पार्वतीशः प्रियाङ्गी पञ्चचामरः ॥ ६९ ।

---

१. पद्मगर्भे जात इति । सप्तम्यां जनेर्डः इति डप्रत्ययः ।
२. अपवादे रतं रतिमाकाङ्क्षति या सा, कर्मणि उपपदेऽण्प्रत्ययस्ततो ङीप् ।

आंशिका वामदेवाद्या विमायाढ्या परापरः ।
पायाङ्गी परमैश्वर्या दाता भोक्त्री दिवाकरः ॥ ७० ॥

[1]कामदात्री विचित्राक्षो रिपुरक्षा क्षपान्तकृत् ।
घोरमुखी घर्घराख्यो विलज्वा ज्वालिनीपतिः ॥ ७१ ॥

ज्वालामुखी धर्मकर्ता श्रीकर्त्री कारणात्मकः ।
मुण्डाली पञ्चचूडाश्च त्रिशावर्णा स्थिताग्रजः ॥ ७२ ॥

विरूपाक्षी बृहद्गर्भो राकिनी श्रीपितामहः ।
वैष्णवी विष्णुभक्तश्च डाकिनी डिण्डिमप्रियः ॥ ७३ ॥

रतिविद्या रामनाथो राधिका विष्णुलक्षणः ।
चतुर्भुजा वेदहस्तो लाकिनी मीनकुन्तलः ॥ ७४ ॥

मूर्धजा लाङ्गलीदेवः स्थविरा जीर्णविग्रहः ।
लाकिनीशा लाकिनीशः प्रियाख्या चारुवाहनः ॥ ७५ ॥

जटिला त्रिजटाधारी चतुराङ्गी चराचरः ।
त्रिश्रोता पार्वतीनाथो भुवनेशी नरेश्वरः ॥ ७६ ॥

पिनाकिनी पिनाकी च चन्द्रचूडा विचारवित् ।
जाड्यहन्त्री जडात्मा च जिह्वायुक्तो जरामरः ॥ ७७ ॥

अनाहताख्या राजेन्द्रः काकिनी सात्त्विकस्थितः ।
मरुन्मूर्तिः पद्महस्तो विशद्धा शुद्धवाहनः ॥ ७८ ॥

वृषली वृषपृष्ठस्थो विभोगा भोगवर्धनः ।
यौवनस्था युवासाक्षी लोकाद्या लोकसाक्षिणी ॥ ७९ ॥

बगला चन्द्रचूडाख्यो भैरवी मत्तभैरवः ।
क्रोधाधिपा वज्रधारी इन्द्राणी वह्निवल्लभः ॥ ८० ॥

निर्विकारा सूत्रधारी मत्तपाना दिवाश्रयः ।
[2]शब्दगर्भा शब्दमयो वासवा वासवानुजः ॥ ८१ ॥

---

१. कामानां मनोरथानां दात्री समर्पयित्री ।

२. शब्दः शब्दतत्त्वं गर्भे यस्याः सा ।

दिक्पाला ग्रहनाथश्च ईशानी नरवाहनः ।
यक्षिणीशा [1]भूतिनीशो विभूतिर्भूतिवर्धनः ॥ ८२ ।

जयावती कालकारी कल्क्यविद्या विधानवित् ।
लज्जातीता लक्षणाङ्गो विषपायी मदाश्रयः ॥ ८३ ।

विदेशिनी विदेशस्थोऽपापा पापवर्जितः ।
अतिक्षोभा कलातीतो निरिन्द्रियगणोदया ॥ ८४ ।

वाचालो वचनग्रन्थिमन्दरो वेदमन्दिरा ।
पञ्चमः पञ्चमोदुर्गो दुर्गा दुर्गतिनाशनः ॥ ८५ ।

दुर्गन्धा गन्धराजश्च सुगन्धा गन्धचालनः ।
चार्वङ्गी चर्वणप्रीतो विशङ्का मरलारवित् ॥ ८६ ।

अतिथिस्था स्थावराद्या जपस्था जपमालिनी ।
वसुन्धरसुता तार्क्षी तार्किकः प्राणतार्किकः ॥ ८७ ।

तालवृक्षावृतोन्नासा तालजाया जटाधरः ।
जटिलेशी जटाधारी सप्तमीशः प्रसप्तमो ॥ ८८ ।

अष्टमीवेशकृत् कालो सर्वः सर्वेश्वरीश्वरः ।
शत्रुहन्त्री नित्यमन्त्री तरुणी तारकाश्रयः ॥ ८९ ।

धर्मगुप्तिः सारगुप्तो मनोयोगा विषापहः ।
वज्रावीरः सुरासौरी चन्द्रिका चन्द्रशेखरः ॥ ९० ।

विटपीन्द्रा वटस्थानी भद्रपालः कुलेश्वरः ।
चातकाद्या चन्द्रदेहः प्रियाभार्या मनोयवः ॥ ९१ ।

तीर्थपुण्या तीर्थयोगी जलजा[2] जलशायकः ।
भूतेश्वरप्रियाभूतो भगमाला भगाननः ॥ ९२ ।

भगिनी भगवान् भोग्या भवतो भीमलोचनः ।
भृगुपुत्री भार्गवेशः प्रलयालयकारणः ॥ ९३ ।

---

१. भूतिनीनामीशो भूतिनीशः । भगवान् शिवः ।
२. जले जाता जलजा, कमला, लक्ष्मीरिति यावत् ।

रुद्राणी रुद्रगणपो रौद्राक्षी[1] क्षीणवाहनः ।
[2]कुम्भान्तका निकुम्भारिः कुम्भान्ती कुम्भिनीरगः ।। ९४ ।

कूष्माण्डी धनरत्नाढ्यो महोग्राग्राहकः शुभा ।
शिविरस्था शिवानन्दः शवासनकृतासनी ।। ९५ ।

प्रसंशा समनः प्राज्ञा विभाव्या भव्यलोचनः ।
कुरुविद्या कौरवंशः कुलकन्या मृणालधृक् ।। ९६ ।

द्विदलस्था परानन्दो नन्दिसेव्या बृहन्नला ।
व्याससेव्या व्यासपूज्यो धरणी धीरलोचनः ।। ९७ ।

त्रिविधारण्या तुलाकोटिः कार्पासा खार्पराङ्गधृक् ।
वशिष्ठाराधिताविष्टो वशगा वशजीवनः ।। ९८ ।

खड्गहस्ता खड्गधारी शूलहस्ता विभाकरः ।
अतुला तुलनाहीनो विविधा ध्याननिर्णयः ।। ९९ ।

अप्रकाश्या विशोध्यश्च चामुण्डा चण्डवाहनः ।
गिरिजा गायनोन्मत्तो मलामाली चलाधमः ।। १०० ।

पिङ्गदेहा पिङ्गकेशोऽसमर्था शीलवाहनः ।
गारुडी गरुडानन्दो विशोका वंशवर्धनः ।। १०१ ।

वेणीन्द्रा चातकप्रायो विद्याद्या दोषमर्दकः ।
अट्टहासा अट्टहासो मधुभक्षा मधुव्रतः ।। १०२ ।

मधुरानन्दसम्पन्ना माधवो मधुनाशिका ।
माकरी मकरप्रेमो माघस्था मघवाहनः ।। १०३ ।

विशाखा सुसखा सूक्ष्मा ज्येष्ठो ज्येष्ठजनप्रिया ।
आषाढनिलयाषाढो मिथिला मैथिलीश्वरः[3] ।। १०४ ।

---

१. रौद्रे भयानकेऽक्षिणी यस्याः सा इति भावः । षच् समासान्तः षित्वान् ङीष् ।

२. शवासना शवारूढो विषमा प्रेतवासनः ।
प्रेतलिङ्गस्थिता प्रौढो वारन्द्रा नवकान्तकः ।।

३. मैथिलोनामोश्वरः ।

शीतशैत्यगतो वाणी [1]विमलालक्षणेश्वरः ।
अकार्यकार्यजनको भद्रा भाद्रपदीयकः ॥ १०५ ।
प्रवरा वरहंसाख्यः पवशोभा पुराणवित् ।
श्रावणी हरिनाथश्च श्रवणा श्रवणाङ्कुरः ॥ १०६ ।
सुकर्त्री साधनाध्यक्षो विशोध्या शुद्धभावनः ।
एकशेषा शशिधरो धरान्तः स्थावराधरः ॥ १०७ ।
धर्मपुत्री धर्ममात्रो विजया जयदायकः ।
दासरक्षादि विदशकलापो विधवापतिः ॥ १०८ ।
विधवाधवलो धूर्तः धूर्ताढचो धूर्तपालिका ।
शङ्करः कामगामी च देवला देवमायिका ॥ १०९ ।
विनाशो मन्दराच्छन्ना मन्दरस्थो महाद्वया ।
अतिपुत्री त्रिमुण्डी च मुण्डमाला त्रिचण्डिका ॥ ११० ।
कर्कटीशः कोटरश्च सिंहिका सिंहवाहनः ।
नारसिंही नृसिंहश्च नर्मदा जाह्नवीपतिः ॥ १११ ।
त्रिविधस्त्री त्रिसर्गास्त्रो दिगम्बरो दिगम्बरी ।
मुश्वानो मश्वभेदी च मालश्वा चञ्चलाग्रजः ॥ ११२ ।
कटुतुङ्गी विकाशात्मा ऋद्धिस्पष्टाक्षरोऽन्तरा ।
विरिञ्चिः प्रभवानन्दो नन्दिनी मन्दराद्रिधृक् ॥ ११३ ।
कालिकाभा काञ्चनाभो मदिराद्या मदोदयः ।
द्रविडस्था दाडिमस्थो मज्जातीता मरुद्गतिः ॥ ११४ ।
क्षान्तिप्रज्ञो विधिप्रज्ञा वीतिज्ञोत्सुकनिश्चया ।
अभावो मलिनाकारा कारागारा विचारहा ॥ ११५ ।
शब्दः कटाहभेदात्मा शिशुलोकप्रपालिका ।
अतिविस्तारवदनो [2]विभवानन्दमानसा ॥ ११६ ।

---

१. विमलाया लक्षणे ईश्वरः । अथवा लक्षयतीति लक्षणः, कर्तरि ल्युट् । विमलायाः लक्षणश्चासौ ईश्वरश्च इति विग्रहः ।

२. विभवस्यानन्दो मानसे यस्याः सा । व्यधिकरणबहुव्रीहिः ।

[1]आकाशवसनोन्मादी मेपुरा मांसचर्वणः ।
अतिकान्ता प्रशान्तात्मा नित्यगुह्या गभीरगः ॥ ११७ ।
त्रिगम्भीरा तत्त्ववासी राक्षसी पूतनाक्षरः ।
अभोगगणिका हस्ती गणेशजननीश्वरः ॥ ११८ ।
कुण्डपालककर्ता च त्रिरुण्डा रुण्डभालधृक् ।
अतिशक्ता विशक्तात्मा देव्याङ्गी नन्दनाश्रयः ॥ ११९ ।
भावनीया भ्रान्तिहरः कापिलाभा मनोहरः ।
आर्यादेवी नीलवर्णा सायको बलवीर्यदा ॥ १२० ।
सुखदो मोक्षदाताऽतो जननी वाञ्छितप्रदः ।
चातिरूपा विरूपस्थो वाच्या वाच्यविवर्जितः ॥ १२१ ।
महालिङ्गसमुत्पन्ना काकभेरी नदस्थितः ।
आत्मारामकलाकायः सिद्धिदाता गणेश्वरी ॥ १२२ ।
कल्पद्रुमः कल्पलता कुलवृक्षः कुलद्रुमा ।
सुमना श्रीगुरुमयी गुरुमन्त्रप्रदायकः ॥ १२३ ।
अनन्तशयनाऽनन्तो जलेशी जह्नुजेश्वरः ।
गङ्गा गङ्गाधरः श्रीदा भास्करेशो महाबला ॥ १२४ ।
गुप्ताक्षरो विधिरता विधानपुरुषेश्वरः ।
सिद्धकलङ्का कुण्डाली वाग्देवः पञ्चदेवता ॥ १२५ ।
अल्पातीता मनोहारो त्रिविधा तत्त्वलोचना ।
अमायापतिर्भूभ्रान्तिः पाञ्चजन्यधरोऽग्रजा ॥ १२६ ।
अतितप्तः कामतप्ता मायामोहविवर्जितः ।
आर्या पुत्रेश्वरः स्थाणुः कृशानुस्था जलाप्लुतः ॥ १२७ ।
वारुणी मदिरामत्तो मांसप्रेमदिगम्बरा ।
अन्तरस्थो देहसिद्धा [2]कलानलसुराद्रिपः ॥ १२८ ।

---

१. आकाश एव वसनं यस्य, स चासौ उन्मादी चेति बहुव्रीहिगर्भस्तत्पुरुषः ।

२. कलारूपोऽनलोऽग्निर्यस्य सः । सुराद्रिं सुमेरुं पाति रक्षति इति सुराद्रिपः । पुनः कर्मधारयः ।

आकाशवाहिनी देवः काकिनीशो दिगम्बरी ।
काकचञ्चुपुटमधुहरो गगनशाब्धिपा ॥ १२९ ।

मुद्राहारी महामुद्रा [1]मीनपो [2]मीनभक्षिणी ।
शाकिनी शिवनाथेशः काकोर्ध्वेशो सदाशिवः ॥ १३० ।

कमला कण्ठकमलः स्थायुकः प्रेमनायिका ।
मृणालमालाधारी च मृणालमालमालिनी ॥ १३१ ।

अनादिनिधना तारा दुर्गतारा निराक्षरा ।
सर्वाक्षरा सर्ववर्णा सर्वमन्त्राक्षमालिका ॥ १३२ ।

आनन्दभैरवो नीलकण्ठो ब्रह्माण्डमण्डितः ।
शिवो विश्वेश्वरोऽनन्तः सर्वातीतो निरञ्जनः ॥ १३३ ।

इति ते कथितं नाथ त्रैलोक्यसारमङ्गलम् ।
भुवनमङ्गलं नाम महापातकनाशनम् ॥ १३४ ।

अस्य प्रपठनेऽपि च यत्फलं लभते नरः ।
तत्सर्वं कथितुं नालं कोटिवर्षशतैरपि ॥ १३५ ।

तथापि तव यत्नेन फलं शृणु दयार्णव ।
राजद्वारे नदीतीरे संग्रामे विजनेऽनले ॥ १३६ ।

शून्यागारे निर्जने वा घोरान्धकाररात्रिके ।
चतुष्टये श्मशाने वा पठित्वा षोडशे दले ॥ १३७ ।

रक्ताम्भोजैः पूजयित्वा मनसा कामचिन्तयन् ।
घृताक्तैर्जुहुयान्नित्यं नाम प्रत्येकमुच्चरन् ॥ १३८ ।

मूलमन्त्रेण पुटितमाज्यं वह्नौ समर्पयेत् ।
अन्तरे स्वसुखे होमः सर्वसिद्धिसुखप्रदः ॥ १३९ ।

सद्योमधुयुतैर्मांसैः सुसुखे मन्त्रमुच्चरन् ।
प्रत्येकं नामपुटितं हुत्वा पुनर्मुखाम्बुजे ॥ १४० ।

---

१. मीनं पाति रक्षति इति मीनपः ।
२. मीनं भक्षयति तच्छीला, ताच्छील्ये णिनिः कर्तरि ।

कुण्डलीरसजिह्वायां जीवन्मुक्तो भवेन्नरः ।
धृत्वा वापि पठित्वा वा स्तुत्वा वा विधिना प्रभो ॥ १४१ ।

महारुद्रो भवेत्साक्षान्मम देहान्वितो भवेत् ।
योगी ज्ञानी भवेत् सिद्धः सारसङ्केतदर्शकः ॥ १४२ ।

अपराजितः सर्वलोके किमन्यत् फलसाधनम् ।
धृत्वा राजत्वमाप्नोति कण्ठे पृथ्वीश्वरो भवेत् ॥ १४३ ।

दक्षहस्ते तथा धृत्वा धनवान् गुणवान् भवेत् ।
[1]अकालमृत्युहरणं [2]सर्वव्याधिनिवारणम् ॥ १४४ ।

हुत्वा राजेन्द्रनाथश्च महावाग्मी सदाऽभयः ।
सर्वेषां मथनं कृत्वा गणेशो मम कार्तिकः ॥ १४५ ।

देवानामधिपो भूत्वा सर्वज्ञो भवति प्रभो ।
यथा तथा महायोगी भ्रमत्येव न संशयः ॥ १४६ ।

प्रातःकाले पठेद् यस्तु मस्तके स्तुतिधारकः ।
जलस्तम्भं करोत्येव रसस्तम्भं तथैव च ॥ १४७ ।

राज्यस्तम्भं नरस्तम्भं वीर्यस्तम्भं तथैव च ।
विद्यास्तम्भं सुखस्तम्भं क्षेत्रस्तम्भं तथैव च ॥ १४८ ।

राजस्तम्भं धनस्तम्भं ग्रामस्तम्भं तथैव च ।
मध्याह्ने च पठेद् यस्तु वह्निस्तम्भं करोत्यपि ॥ १४९ ।

कालस्तम्भं वयःस्तम्भं श्वासस्तम्भं तथैव च ।
रसस्तम्भं वायुस्तम्भं बाहुस्तम्भं करोत्यपि ॥ १५० ।

सायाह्ने च पठेद् यस्तु कण्ठोदरे च धारयन् ।
मन्त्रस्तम्भं शिलास्तम्भं शास्त्रस्तम्भं करोत्यपि ॥ १५१ ।

हिरण्यरजतस्तम्भं वज्रस्तम्भं तथैव च ।
अकालत्वादिसंस्तम्भं वातस्तम्भं करोत्यपि ॥ १५२ ।

---

१. अकाले यो मृत्युः, तस्य हरणम् ।
२. सर्वे व्याधयस्तेषां विनाशनम्, विनाशकम्, कर्तरि ल्युट् ।

पारदस्तम्भनं शिल्पकल्पना ज्ञानस्तम्भनम् ।
आसनस्तम्भनं व्याधिस्तम्भनं बन्धनं रिपोः ॥ १५३ ।

षट्पद्मस्तम्भनं कृत्वा योगी भवति निश्चितम् ।
वन्ध्या नारी लभेत् पुत्रं सुन्दरं सुमनोहरम् ॥ १५४ ।

भ्रष्टो मनुष्यो राजेन्द्रः किमन्ये साधवो जनाः ।
श्रवणान्मकरे लग्ने चित्रायोगे च पर्वणि ॥ १५५ ।

हिरण्ययोगे वायव्यां लिखित्वा माघमासके ।
वैशाखे राजयोगे वा रोहिण्याख्या विशेषतः ॥ १५६ ।

श्रीमद्भुवनमङ्गलं नाम यशोदातृ भवेद् ध्रुवम् ।
जायन्ते राजवल्लभा अमराः खेचरा लिखनेन ॥ १५७ ।

धर्मार्थकाममोक्षं च प्राप्नुवन्ति च पाठकाः ।
कीर्तिरात्मदृष्टिपातं लभते नात्र संशयः ॥ १५८ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे शाकिनीसदाशिवस्तवनमङ्गलाष्टोत्तरसहस्रनामविन्यासो नाम एकोनसप्ततितमः पटलः ॥

अथ सप्ततितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

कथितं शाकिनीसारं सदाशिवफलोदयम् ।
श्रुतं परमकल्याणं भेदभाषाक्रमोदयम् ॥ १ ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि कवचं सारदुर्लभम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण भवेत् साक्षात् सदाशिवः ॥ २ ।
वद कान्ते शब्दमयि यदि स्नेहोऽस्ति मां प्रति ।
आनन्दभैरवं नत्वा सोवाचानन्दभैरवी ॥ ३ ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

गुरोः परमकल्याणं कवचं कथये तव ।
सदाशिवस्य शाकिन्या भैरवानन्दविग्रह ॥ ४ ।
श्रृणुष्व कामदं नामाद्भुतं कवचमङ्गलम् ।
त्रैलोक्यसारभूतं च सर्वज्ञानविवर्धनम् ॥ ५ ।
सर्वमन्त्रौघनिकरं ज्ञानमात्रेण सिद्धयति ।
सर्वगूढप्रियानन्दं सामरस्यं कुलान्तरम् ॥ ६ ।
प्रचण्डचण्डिकातुल्यं सर्वनिर्णयसाक्षिणम् ।
सर्वबुद्धिकरानन्दं कुलयोगिमनोगतम् ॥ ७ ।
रामसेव्यं शिवं शम्भुसेवितं विषनाशनम् ।
अप्रकाश्यं महायोगं धनारोग्यविवर्धनम् ॥ ८ ।
सर्वसौभाग्यजननं सर्वानन्दकरं परम् ।
सर्वतन्त्रदुर्लभं यत् कथितं रुद्रयामले ॥ ९ ।

अस्य श्रीशाकिनीसदाशिवकामनानाममहाकवचस्य सदाशिवऋषिर्गायत्रीच्छन्दः शाकिनी देवता सकलहरीं जीवबीजं मायास्त्रशक्तिः कामस्वाहा कीलकं वज्रं दंष्ट्राघोरघर्घरामहोग्राशाकिनीशक्तिः सदाशिवमहामन्त्रसिद्धये विनियोगः ॥

ॐ प्रभावा सदा पातु महाकाशाधिशाकिनी ।
त्रिगुणा चण्डिका पातु क्रोधदंष्ट्रा करालिनी ॥ १० ।
[1]अनन्ताऽनन्तमहिमा महास्त्रदलपङ्कजम् ।
पूर्वाह्णं पातु सततं गायत्री सविता मम ॥ ११ ।
आकाशवाहिनी देवी शिरोमङ्गलमद्भुतम् ।
सर्वदा पातु मे गुह्यं लिङ्गं चक्रं सुधामयम् ॥ १२ ।
महामण्डलमध्यस्था पातु मे भालमण्डलम् ।
सहस्रशतकोटीन्दुयोगिनीगणमण्डलम् ॥ १३ ।
महाचक्रेश्वरी पातु महाचक्रेश्वरो मम ।
मुखाब्जं चण्डिका देवी दन्तावलिमनन्तकः ॥ १४ ।
जिह्वाग्रं तालुमूलस्था तालुमूलं मनोजवः ।
तीक्ष्णदंष्ट्रा दन्तमध्यं कण्ठाग्रं चिबुकं शिवः ॥ १५ ।
सदा पातु षोडशारं शाकिनी श्रीसदाशिवः ।
कण्ठमध्यस्थितं पातु महामोहविनाशिनी ॥ १६ ।
प्रेतराजः सदा पातु महादेवी स्वपङ्कजम् ।
विद्यादेवी महाशक्तिः कूटस्थानं सदाशिवः ॥ १७ ।
महाकाशावलघ्नी मे धूम्रां भोजञ्च धूर्जटी ।
कौमुदी पटलाङ्गो मे वर्णंषोडशसंज्ञकम् ॥ १८ ।
अकारादिकान्तवर्णान् श्रीदेवी परिपातु मे ।
[2]हेमचित्ररथस्था मे चित्रिणी पातु मे मधु ॥ १९ ।
अपर्णा या विशुद्धं मे षोडशीषोडशाक्ष्यकम् ।
पञ्चदुर्गा सहदेवः प्रत्येकं पातु मे दलम् ॥ २० ।
दीपमासहल्कीं मे प्रवरा पातु मे बला ।
व्यापिनी चानवच्छिन्ना पातु मे दलमण्डलम् ॥ २१ ।

---

१. अनन्तानन्तो महिमा यस्यासौ बहुव्रीहिसमासेन साधुता बोध्या ।
२. हेम्नः सुवर्णस्य चित्रम्, तदेव रथस्तत्र तिष्ठति या सा ।

अकालतारिणी दुर्गा [1]शुक्रं चक्रं सदावतु ।
शाकिनीशो महामाया परिवारान्विताऽवतु ॥ २२ ।

पञ्चरश्मिर्नीलकण्ठो मधुपूरं स्वपीठकम् ।
सदा पातु कण्ठपङ्केरुहाश्रयस्वरानपि ॥ २३ ।

[2]कण्ठस्वर्गः सदा पातु कन्दर्पेशो मनोगतिः ।
शाकिनी शाकविभवा शाकेशी शाकसम्भवा ॥ २४ ।

शाकम्भरीश्वरा पातु सुमना दलषोडशम् ।
सदाशिवः सदा पातु परिवारगणैः सह ॥ २५ ।

हृदयं शाकिनी देवी शिरःस्थानं सदावतु ।
काकिनीसहितं पातु द्वादशारं कुलेश्वरी ॥ २६ ।

दलद्वादशकं पातु कामनाथः सदाशिवः ।
अभेदरूपिणी पातु कादिठान्ताक्षरं मम ॥ २७ ।

वाणी मे हृदयग्रन्थिर्देशं तु कपिलेश्वरः ।
पायान्मेघं च सूर्यास्या विमाया हृत्सु कर्णिकाम् ॥ २८ ।

तालहस्ता महावाणी पातु मे हृदयान्तरम् ।
शोषिणी मोहिनी वह्निः पातु मे हृदयाम्बुजम् ॥ २९ ।

पिलापिप्पलादेशो रतिर्मे हृदयेप्सितम् ।
योगिनीकुलदन्तश्च पातु मे हृत्स्वरानपि ॥ ३० ।

केकरेशो गूढसंज्ञा वज्रधारी हृदम्बुजम् ।
एकलिङ्गी सदा पातु हृदयान्तः शिवं मम ॥ ३१ ।

तदधो मण्डलं पातु भेदाभेदविवर्जिता ।
अकाललक्षणः पातु पाशिनी नाभिमण्डलम् ॥ ३२ ।

कालकूटस्वरूपो मे नाभिपद्मं प्रपातु मे ।
चन्द्रचूडा विधुमुखी शाकिनी मे दशाम्बुजम् ॥ ३३ ।

---

१. 'क'पुस्तके सुक्रमिति पाठः ।

२. कण्ठे स्वर्गो यस्य सः । यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

त्रिवृत्ताकारमुद्रा मे पातु रुद्रश्च लाकिनीम् ।
त्रिखण्डारोहणः पातु डादिफान्ताक्षरानपि ॥ ३४ ।

कालिका कपिला कृष्णा घनावाला कपालिनी ।
ललिता तारिणी सर्वा महामाया दशच्छदम् ॥ ३५ ।

परिपातु कामदुर्गा लाकिनी पातु मे सदा ।
सदाशिवः पातु नित्यं मणिपूरं कुलस्थलम् ॥ ३६ ।

जाड्यनाशकरी दुर्गा मुण्डमालाविभूषिता ।
मां पातु सप्तरोधात्मा केशवेशी महापदम् ॥ ३७ ।

अभया चण्डिका कृष्णा कालिका कुलपण्डिता ।
वज्रवर्णा धारणाख्या धरा धात्री क्षमा रमा ॥ ३८ ।

वासुकी वसुधा वाच्या सर्वाणी सर्वमङ्गला ।
पार्वती सर्वशक्तिस्था पार्वणे परिपातु माम् ॥ ३९ ।

रणे राजकुले द्यूते वादे मानापमानके ।
गेहेऽरण्ये प्रान्तरे च जले चानलमध्यके ॥ ४० ।

सर्वाणी सर्वदा पातु महातन्त्रार्थभूषिता ।
विजया पद्मिनी जाया जानकी कमलावती ॥ ४१ ।

एताः पान्तु दिग्विदिक्षु महापातकनाशनाः ।
अन्तरं पातु लिङ्गस्था लिङ्गमूलाम्बुजं मम ॥ ४२ ।

कर्णिकां पातु सततं काञ्चीपीठस्थिता शिवा ।
अतिवेगान्विता पातु वह्निमण्डलमेव मे ॥ ४३ ।

राक्षसीशा सदा पातु जम्बुद्वीपनिवासिनी ।
जाह्नवी भास्करा मीना मलयस्था मलाङ्गजा ॥ ४४ ।

मतितप्ता पापहन्त्री परिपातु विभाकरी ।
लयस्थानं सदा पातु कुञ्जरेश्वरसंस्थिता ॥ ४५ ।

विंशत्यर्णमहाविद्या लम्बमाना कुलस्थली ।
मन्दिरे पातु मां नित्यं वित्तसंहारकारिणी ॥ ४६ ।

अनन्तशयना पातु वटमूलनिवासिनी ।
प्रलये मां काली पातु वटपत्रनिवासिनी ॥ ४७ ।

केवलाख्या सदा पातु महाकूर्चस्वरूपिणी ।
आयुरारोग्यदात्री मे धनं राज्यं सदावतु ॥ ४८ ।

कामरूपं गृहं पीठं परिपातु महाबला ।
बलाका घोरदंष्ट्रा मे उदरं पातु सर्वदा ॥ ४९ ।

सर्वरोगहरा पातु मुण्डमालाविभूषिता ।
आनन्दो नन्दनाथो मे हृदूर्ध्वाब्जं सदाऽवतु ॥ ५० ।

षट्पद्मं सर्वदा पातु नानारूपविहारिणी ।
अकलङ्का निराधारा नित्यपुष्टा निरिन्द्रिया ॥ ५१ ।

षोडशोर्ध्वं महापद्मं द्विदलं पातु सर्वदा ।
दिग्विदिक्षु सदा पातु शाकिन्याद्यष्टशक्तयः ॥ ५२ ।

अतिगुप्तस्थलं पातु पापनाशकरी परा ।
क्षालनाख्या लिङ्गगुह्ये पातु मे पावनं प्रभा ॥ ५३ ।

विप्रचित्ता कोटराक्षी लिपिभूता सरस्वती ।
चतुर्दलं सदा पातु विभूतिः कामया सह ॥ ५४ ।

पान्तु विद्याः सदैताश्च [1]रिपुपक्षविनाशनाः ।
कटिदेशं सदा पातु चामुण्डा शूलधारिणी ॥ ५५ ।

त्रिनेत्रा सर्वदा पातु भूर्भुवःस्वःस्वरूपिणी ।
वसन्तादिकलाः पान्तु पामरोग्रप्रतापिनी ॥ ५६ ।

षड्भुजा सर्वदा पातु वेदहस्ता प्रपातु माम् ।
अतिविद्या सर्वविद्या चण्डविद्या प्रपातु माम् ॥ ५७ ।

वारुणी मदिरा पातु सर्वाङ्गं शाकिनी मम ।
गृहोदरी सदा पातु सर्वाङ्गं वज्रधारिणी ॥ ५८ ।

उल्कामुखी सदा पातु भृगुवंशसमुद्भवा ।
अकालतारिणी दुर्गा ललिता धर्मधारिणी ॥ ५९ ।

---

१. रिपूणां पक्षास्तान् विनाशयति सः । कर्तरि ल्युट्प्रत्ययो बाहुलकात् ।

विंशत्यर्णा महाविद्या सर्वत्र सर्वदाऽवतु ।
हसकलहरी विद्या परिपातु सदाशिवा ॥ ६० ।

सहस्रवदना वाणी परिपातु जलोदरी ।
जलरूपा सदा पातु महोज्वलकलेवरा ॥ ६१ ।

षोडशी सकलहरी सर्वाणी पातु पार्वती ।
महामत्ता सदा पातु कामनाथप्रपूरका ॥ ६२ ।

वामदेवी सदा पातु सर्वाङ्गे देहदेवता ।
कामपीठस्थिता दुर्गा परिवारगणावृता ॥ ६३ ।

सदाशिवः सदा पातु सामवेदस्वरूपगा ।
श्मशानवासिनी देवी महाकालसमन्विता ॥ ६४ ।

आर्या देवी सदा पातु माता पातु महाकला ।
सर्वत्र कपिला पातु महाभगवतीश्वरी ॥ ६५ ।

इति ते कथितं नाथ महाविद्याफलप्रदम्[1] ।
कवचं दुर्लभं लोके तव स्नेहात् प्रकाशितम् ॥ ६६ ।

अतिगुह्यतरं ज्ञानं कवचं सर्वसिद्धिदम् ।
[2]अमलोदारचित्तः सन् पूजयित्वा सदाशिवम् ॥ ६७ ।

तथा श्रीशाकिनीदेव्याः पूजनं सुमहत्फलम् ।
राज्यदं धनदं वाञ्छासिद्धिदं धर्मसिद्धिदम् ॥ ६८ ।

वाचां सिद्धिं करे प्राप्य अष्टसिद्धिः करे भवेत् ।
काकिनीदर्शनं प्राप्य शाकिनीदर्शनं भवेत् ॥ ६९ ।

मन्त्रसिद्धिं तन्त्रसिद्धिं क्रियासिद्धिं लभेद् ध्रुवम् ।
आकाशगामिनी सिद्धिः करे तस्य विराजते ॥ ७० ।

पुरुषो दक्षिणे बाहौ योषिद्वामभुजे तथा ।
धृत्वा कवचराजं तु राजत्वं लभते ध्रुवम् ॥ ७१ ।

---

१. महाविद्यायाः फलं प्रददाति यः, सः, तमित्यर्थः ।
२. अमलं कामक्रोधादिमलशून्यमुदारं च चित्तं यस्यासौ ।

महापातककोटीश्च हत्वा राजत्वमालभेत् ।
वने वृक्षतलेऽश्वत्थमूले स्थित्वा पठेद् यदि ॥ ७२ ।
त्रिसन्ध्यं दशधा जप्त्वा शतधा वा सहस्रधा ।
स भवेत् कल्पवृक्षेशो भूमीशो नात्र संशयः ॥ ७३ ।
कोटिवर्षसहस्राणि चिरजीवी स योगिराट् ।
महासिद्धो भवेद् धीमान् महापातकनाशकृत् ॥ ७४ ।
मासार्धेन भवेद् योग्यो विप्रो गुणसमन्वितः ।
वर्षैकेण क्षत्रियश्च वैश्यो वर्षचतुष्टये ॥ ७५ ।
शूद्रो द्वादशवर्षेण योगी भवति पाठतः ।
एवं महाफलं नित्यं कवचं यः पठेत् सुधीः ॥ ७६ ।
[1]भोगमोक्षौ करे तस्य किमन्यैर्बहुभाषितैः ॥ ७७ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवभैरवीसंवादे सदाशिवशाकिनीकवचफलादेशो नाम सप्ततितमः पटलः ॥

---

१. भोग ऐहलौकिकसुखसाक्षात्कारः, मोक्षः पारलौकिकानन्दरूपता, द्वयोरनयोरनायासेन सिद्धिः ।

अथैकसप्ततितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

श्रूयतां देव कल्याण त्रैलोक्यविजयात्मक ।
सदाशिवमनुं नाथ महापातकनाशनम् ।। १ ।

आयुरारोग्यफलदं सर्वशत्रुनिवारणम् ।
अतिगुह्यतमं ध्यानं बालिशानां सुखावहम् ।। २ ।

आद्याबीजं समुद्धृत्य कामबीजं तदन्तरम् ।
रुद्रबीजं रमाबीजं कालबीजं ततः सदा ।। ३ ।

शिवनाथप्रियानन्दं ज्ञानं देहि युगं द्विठः ।
[1]फणिबीजं समुद्धृत्य राजराजेश्वरीमनुम् ।। ४ ।

वैष्णवीबीजमुद्धृत्य शिवबीजं तदन्तिके ।
सदाशिवाय शब्दान्ते हृल्लेखा वह्निसुन्दरी ।। ५ ।

आदिबीजं समुद्धृत्य ततो वामतनुस्थिता ।
शब्दबीजं मूलबीजं सदाशिव नमोऽस्तु ते ।। ६ ।

[2]द्विठान्तोऽयं मनुः श्रेष्ठः सर्वरत्नसमृद्धिदः ।
वासुदेवसमो विद्वान् स भवेन्नात्र संशयः ।। ७ ।

वैष्णवो वा महाशाक्तो महाशैवोऽथवा पुनः ।
गृह्णीयान्मनुराजेन्द्रं यत्प्रसादाच्छिवो भवेत् ।। ८ ।

विमला वाक्यसिद्धिः स्यात्कार्यसिद्धिर्न संशयः ।
शिवमन्त्रं प्रवक्ष्यामि येन सर्वार्थपारगः ।। ९ ।

अकालेऽपि च योगी स्यात् कामधेनुस्वरूपवान् ।
हालाहलं समुद्धृत्य ततो माहेशबीजकम् ।। १० ।

---

१. फणिनः शेषस्य भगवतो बीजम् ।
२. द्वौ ठौ ठकारौ अन्तौ अन्तावयवौ यस्य मनोः मन्त्रस्य स मनुः ।

श्रीबीजं धर्मबीजञ्च क्षेत्रपालमनुं तथा ।
नीलकण्ठमनुं पश्चात् प्रियागुं बीजमुद्धरेत् ॥ ११ ।

शिवबीजं तदन्ते तु सदाशिवाय धीमहि ।
तन्नः शिवः प्रचोशब्दाद्द्यादेवं द्विठो मनुः ॥ १२ ।

आवाहनं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयमनन्तरम् ।
गन्धपुष्पविल्वपत्रकोटिभिः परिपूजयेत् ॥ १३ ।

स्तोषणं पोषणं पुष्टं दारणं मारणं तथा ।
सुप्तं कलहमुक्तानां पूजनं सुमहत्फलम् ॥ १४ ।

शर्वादीन् परिपूज्याथ सद्योजातादिमर्चयेत् ।
प्राणायामत्रयं कृत्वा जपेत् तद्गतमानसः ॥ १५ ।

देवं पिनाकपाणिं च पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ।
शूलखट्वाङ्गमुशलगदापाणिं महाभुजम् ॥ १६ ।

देवदेवं महादेवं सर्वभूतात्मकं गुरुम् ।
त्रैलोक्यरक्षकं शम्भुं भुजङ्गहारभूषितम्[१] ॥ १७ ।

अट्टहासादिशक्तीनां सहस्रगणपण्डितम् ।
वृषासनस्थं नीलेशं नीलकण्ठं सदाशिवम् ॥ १८ ।

एवं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रं सहस्रं प्रत्यहं शुचिः ।
विशेषेण दिवारात्रौ समभागेन सञ्जपेत् ॥ १९ ।

तत्रैव त्र्यम्बकं ध्यात्वा तत्तद्रूपेण साधकः ।
तद्बुध्वा पूजयित्वा च त्र्यम्बकं यो जपेन्नरः ॥ २० ।

तस्य हस्ते त्रिभुवनं हस्तामलकवद्[२] भवेत् ।
भोगमोक्षौ करे तस्य किमन्यत् साधनेन च ॥ २१ ।

सदाशिवेन मनुना सम्पुटीत्य यो जपेत् ।
तस्य सर्वार्थसिद्धिः स्याद् यद्यन्मनसि वर्तते ॥ २२ ।

---

१. भुजङ्गस्य सर्पस्य हारेण भूषितम् ।
२. हस्ते आमलकं हस्तामलकम्, सुप्सुपेति समासः ।

प्रणवं पूर्वमुच्चार्य त्र्यम्बकं तदनन्तरम् ।
यजामहे समुद्धृत्य सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ॥ २३ ।

उर्वारुकमिवान्ते तु बन्धनात् पदमुद्धरेत् ।
मृत्योर्मुक्षीयशब्दान्ते[1] मामृताद्वह्निसुन्दरी ॥ २४ ।

सदाशिवेन पुटितं मन्त्रं यो जपते नरः ।
स भवेत् कल्पतरुपः पूजनेनामृतं लभेत् ॥ २५ ।

सर्वकालं सुखी भूत्वा मोक्षमाप्नोति निश्चितम् ।
अन्यं त्र्यम्बकमन्त्रं तु शृणुष्व सर्वकामदम् ॥ २६ ।

राज्यदं धनदं मन्त्रं महापातकनाशनम् ।
शब्दब्रह्ममयं साक्षात् सर्वज्ञानं लभेद् ध्रुवम् ॥ २७ ।

कालकूटं समुद्धृत्य मृत्युञ्जयं समुद्धरेत् ।
महापातकराशिं मे हरयुग्मं ततो द्विठः ॥ २८ ।

अन्यमन्त्रं प्रवक्ष्यामि सावधानोऽवधारय ।
विद्याद्ये प्रणवं दत्त्वा कामबीजद्वयं द्वयम् ॥ २९ ।

मृत्युञ्जयं क्षेत्रपालं विशुद्धेशं स्थिरं कुरु ।
युगलं कामबीजान्तं देव्यन्ते वह्निसुन्दरी ॥ ३० ।

अन्यं मन्त्रं प्रवक्ष्यामि सावधानोऽवधारय ।
कामकालीयुगं पश्चात् संज्ञाबीजद्वयं ततः ॥ ३१ ।

वटुकं कामबीजञ्च षोडशारं प्रकाशय ।
युगलं शक्तिकूटञ्च शिवबीजं ततो द्विठः ॥ ३२ ।

पूर्ववत् सकलं कुर्याज्जपपूजादिकं प्रभो ।
सदाशिवपूजनं च ध्यानहोमादितर्पणम् ॥ ३३ ।

अन्यं मन्त्रं प्रवक्ष्यामि महादेवं समुद्धरेत् ।
वटुकं क्षेत्रपालं च गणेशस्य मनुं ततः ॥ ३४ ।

---

१. प्रणव ओङ्कार आदिः मामृताद् अन्त इति श्रुत्वा मरुत्तरादियानचालनमन्यद् वा यत् कार्यं क्रियते, तत्रैव पूर्णा सिद्धिर्लभ्यते । अत्र नास्ति सन्देहः ।

कण्ठाब्जं मे सदानन्द प्रकाशय युगं द्विठः ।
अस्यापि ध्यानमाकृत्य जप्त्वा लक्षं समापयेत् ॥ ३५ ।

करकलितकपालः कुण्डली दण्डपाणि-
स्तरुणतिमिरनीलो व्यालयज्ञोपवीती ।
क्रमसमयसपर्याविघ्नविच्छेदहेतु-
र्जयति वटुकनाथः सिद्धिदः कौलिकानाम् ॥ ३६ ।

वन्दे बालं स्फटिकसदृशं कुण्डलोल्लासिवक्त्रं
दिव्याकल्पैर्नवमणिमयैः किङ्किणीनूपुराद्यैः ।
दीप्ताकारं विशदवसनं सुप्रसन्नं त्रिनेत्रं
हस्ताब्जाभ्यां दधतमनिशं शूलदण्डौ दधानम् ॥ ३७ ।

उद्यद्भास्करसन्निभं त्रिनयनं रक्ताङ्गरागोज्ज्वलं
स्मेरास्यं वरदं कपालमभयं शूलं दधानं करैः ।
नीलग्रीवमुदारकौस्तुभधरं शीतांशुखण्डोज्ज्वलं
वन्धूकारुणवाससं भयहरं देवं सदा भावये ॥ ३८ ।

देवेशं वटुकं सदाशिवगुरुं त्रैलोक्यरक्षाकरं
नानालङ्कृतभूषणं शशधरं बन्धूकपुष्पोज्ज्वलम् ।
श्वेतश्वेतविभूषणं मणिमयं कृष्णं सनीलं शिवं
देवानामधिदैवतं सुखकरं नाथं सदा भावये ॥ ३९ ।

एवं ध्यात्वा महायोगी नीलकण्ठं सदाशिवम् ।
कण्ठपद्मे स्थिरो भूत्वा शाकिनीदर्शनं लभेत् ॥ ४० ।

भूत्वा महावीरनाथो मनोयोगमवाप्नुयात् ।
सिद्धमन्त्रं प्रवक्ष्यामि येन सर्वत्र पारगः ॥ ४१ ।

[1]आकाशगामिनी सिद्धिः स्तम्भनादिसुसिद्धिभाक्[2] ।
वाक्सिद्धिं कायसिद्धिञ्च जरामरणवर्जितः ॥ ४२ ।

---

१. आकाशे स्पष्टतया गन्तुमर्हति या सा ।
२. स्तम्भनमवरोधः, तदादिर्यासां सुसिद्धीनाम्, ता भजत इति ।

[1]शिवबीजं समुद्धृत्य विजयाबीजमुद्धरेत् ।
कामकालीयुगान्ते तु रमात्रिकूटमुद्धरेत् ।। ४३ ।

बीजत्रयं समुद्धृत्य(स्फें स्फें स्फें)कामनाथाय शब्दतः ।
सदाशिवाय शब्दान्ते वरदाय नमो द्विठः ।। ४४ ।

एतन्मन्त्रप्रसादेन योगी स्यान्नात्र संशयः ।
अन्यं मन्त्रं प्रवक्ष्यामि यथावदवधारय ।। ४५ ।

क्षान्तबीजं समुद्धृत्य लान्तबीजत्रयं तथा ।
भवानीबीजमुद्धृत्य सङ्घट्टयुगलं ततः ।। ४६ ।

क्रोधराजबीजयुग्मं लक्ष्मीशपतये ततः ।
वरदाय हृत्पदान्ते कामदाय ततो द्विठः ।। ४७ ।

अन्यं मन्त्रं प्रवक्ष्यामि येन योगी भवेन्नरः ।
गगनाबीजमुद्धृत्य कामराजं समुद्धरेत् ।। ४८ ।

मायान्ते देवदेवाय हृच्छिवाय द्विठो मनुः ।
एतन्मन्त्रप्रसादेन किन्न सिद्ध्यति भूतले ।। ४९ ।

अनायासेन योगी स्यात् किं पुनः साधनेन च ।
केवलं जपमात्रेण योगी स्यान्नात्र संशयः ।। ५० ।

अन्यं वक्ष्ये भैरवेन्द्र प्रणवं कामराजकम् ।
श्रीबीजं वह्नियुगलं रिपुहरयुगं ततः ।। ५१ ।

सिद्धिं देहि ततः स्वाहा[2] मन्त्रोऽयं योगिदुर्लभः ।
पूर्ववद्ध्यानमेवं हि कृत्वाऽमरत्वमश्नुते ।। ५२ ।

अन्यं मन्त्रं प्रवक्ष्यामि येन पीठस्थिरो भवेत् ।
अमादिबीजमाभाष्य ततो महापदं स्मरेत् ।। ५३ ।

कालाय विकरणाय कलान्ते तु समुद्धरेत् ।
बलाय बलविकरणाय षोडशारदलं ततः ।। ५४ ।

---

१. सम्प्रदायगम्यं वाऽस्य ।
२. सांङ्केतिकोऽयं मन्त्रः । अत्रैव वर्तते तदीयः संकेतः ।

निवेशाय युगं वित्तं स्थापयान्ते सदाशिव ।
काकिनीशामावह्निसुन्दरीकामदो मनुः ॥ ५५ ।

एकाक्षरं प्रवक्ष्यामि येन सिद्धो मनुर्भवेत् ।
क्षान्तबीजं बिन्दुयुक्तं चन्द्रबीजं तथोद्धरेत् ॥ ५६ ।

अधो दन्तयुतं कृत्वा जपेत् तद्‌गतमानसः ।
प्रत्येकदलमध्ये तु ध्यात्वा देवं सदाशिवम् ॥ ५७ ।

अनायासेन सिद्धिः स्यात् प्राणरक्षा सदा भवेत् ।
पुनरेकाक्षरं वक्ष्ये येन सिद्ध्यन्ति मानवाः ॥ ५८ ।

न देयं पाशवेभ्यश्च निन्दकेभ्यो विशेषतः ।
शिवं चन्द्रबिन्दुयुक्तं महामन्त्रं [1]प्रकीर्तितम् ॥ ५९ ।

अस्य साधनमात्रेण योगिनां वल्लभो भवेत् ॥ ६० ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे एकसप्ततितमः पटलः ॥

●

१. चन्द्रबिन्दुरनुस्वारस्तेन संयुक्तस्यास्य मन्त्रस्य महत्त्वं परिज्ञेयम्, यद्यपि मन्त्रशब्दो नित्यपुंल्लिङ्गः, तथापि लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति महाभाष्योक्त्या लोकाश्रयत्वेन तस्यात्र क्लीबताऽपि बोध्या, अथवा 'जानीहि' इत्यस्याध्याहारेण तत्प्रयोज्यं कर्मत्वं ज्ञेयम् ।

अथ द्विसप्ततितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

महाकाल शिवानन्द परमानन्दनिर्भर ।
त्रैलोक्यसिद्धिद प्राणवल्लभ श्रूयतां स्तवः ॥ १ ॥

शाकिनी हृदये भाति सा देवी जननी शिवा ।
कालीति जगति ख्याता सा देवी हृदयस्थिता ॥ २ ॥

[1]निरञ्जना निराकारा नीलाञ्जनविकासिनी ।
आद्या देवी कालिकाख्या केवला निष्कला शिवा ॥ ३ ॥

अनन्ताऽनन्तरूपस्था शाकिनी हृदयस्थिता ।
तामसी तारिणी तारा महोग्रा नीलविग्रहा ॥ ४ ॥

कपाला मुण्डमालाढ्या शववाहनवाहना ।
ललज्जिह्वा सरोजाक्षी चन्द्रकोटिसमोदया ॥ ५ ॥

वाय्वग्निभूजलान्तस्था भवानी [2]शून्यवासिनी ।
तस्मात् स्तोत्रमप्रकाश्यं कृष्णकाल्याः कुलोदयम् ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णभगवत्याश्च नीलदेव्या कुलार्णवम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन सावधानोऽवधारय ॥ ७ ॥

महाभैरवी उवाच—

श्रीकालीचरणं चराचरगुणं सौदामिनीस्तम्भनं
गुञ्जद्गर्वगुरुप्रभानखमुखाह्लादैककृष्णासनम् ।
प्रेतारण्यासननिर्मितामलकजा नन्दोपरिश्वासनं
[3]श्रीमन्नाथकरारविन्दमिलनं नेत्राञ्जनं राजते ॥ ८ ॥

---

१. निर्गतमञ्जनं यस्याः सा, अञ्जनं मायामलो बोध्यः ।

२. 'सून्य'—क० पाठः ।

३. श्रीमन्नाथस्य करौ अरविन्दं कमलमिवेति श्रीमन्नाथकरारविन्दं तस्य मिलनं मेलनमिति यावत् ।

दीप्तिः प्राप्तिः समाप्तिः प्रियमतिसुगतिः सङ्गतिः शीतनीतो
मिथ्यामिथ्यासुरथ्या नतिररतिसती जातिवृत्तिर्गुणोक्तिः ।
व्यापारार्थी क्षुधार्थी वसति रतिपतिर्ज्योतिराकाशगङ्गा
[1]श्रीदुर्गाशम्भुकालीचरणकमलकं सर्वदा भाति सूक्ष्मम् ॥ ९ ।

देवेन्द्राः पञ्चभूता रविशशिमुकुटाः क्रोधवेतालकोलाः
कैलासस्थाः प्रशस्ताः स्तवनमपि तत्प्रत्यहं सम्पठन्ति ।
आत्मानं श्रीदकालीकुलचरणतलं हृत्कुलानन्दपद्मे
ध्यात्वा ध्यात्वा प्रवीरा अहमनुबहुधोः स्तौमि किं ध्याननिष्ठः ॥ १० ।

श्रुत्वा स्तोत्रगुणं तवैव चरणाम्भोजस्य वाञ्छाफलं
प्रेच्छामीहयति प्रियाय कुरुते मोक्षाय तत्त्वार्थतः ।
मातर्मोहिनिदानमानतरुणी कातीति मन्यामहे
योग्यश्रीचरणाम्बुजे त्रिजगतामानन्दपुञ्जे सुखम् ॥ ११ ।

पुत्रो श्रीदेवपूज्यो प्रकुरुत इतिहासादिगूढार्थगुप्तिं
श्यामे मातः प्रसन्ना भव वरदकरी कारणं देहि नित्यम् ।
योगानन्दं शिवान्तः सुरतरुफलदं सर्ववेदान्तभाष्यं
सत्सङ्गं सद्विवेकं कुरु कुरु कवितापञ्चभूतप्रकाशम् ॥ १२ ।

आह्लादोद्रेककारी परमपदविदां प्रोल्बणार्थप्रकाशः
प्रेष्यः पारार्थचिन्तामणिगुणसरलः पारणः प्रेमगानः ।
सारात्मा श्रीस्तवोऽयं जयसुरवसतां शुक्रसंस्कारगन्ता
मन्ता मोहादिकानां सुरगणतरुणी कोटिभिर्ध्येय इन्द्रैः ॥ १३ ।

नामग्रहणविमलपावनपुण्यजलनिधिमन्थनेन
निर्मलचित्तगसुरगुणपारग सुखसुधाकरस्थित-
हास्येन योगधराधरनरवरकुञ्जरभुजयुगदीर्घपद्ममृणालेन ॥ १४ ।

हरिविधिहर अपरपरसरभात्रकपाल
सेवनेन सुन्दरी काली चरणेन ॥ १५ ।

---

१. श्रिया सहिता दुर्गा-शम्भु-काल्यः, मध्यमपदलोपिसमासः, ततस्तासां चरणाः कमलकमिवेति उपमितसमासः ।

भास्वत्कोटिप्रचण्डानलगुणललिताभाविता सिद्धकाली
प्रोक्तं यद्योगगीतावचनसुरचनामङ्गलं योगिनाद्या ।
श्यामानन्दद्रुमाख्ये भजनयजनगङ्गाङ्गतीरप्रकाशं
सर्वानन्दोत्सवत्वं वरदसुरवदासम्भवे मय्यभावे ॥ १६ ।

एतत्प्रथमे कुलं गुरुकुलं लावण्यलीलाकुलं
प्राणानन्दकुलं कुलाकुलकुलं कालीकुलं संकुलम् ।
मातः कालियुगादि कौलिनि शिवे सर्वन्तराङ्गस्थितं
नित्यं तत्र नियोजय श्रुतिगिरा श्रीधर्मपुत्रं भवे ॥ १७ ।

हेरम्बादिकुलेशयोगजननि त्वं योगतत्त्वप्रिया
यद्येवं कुरुते पदाम्बुजरजो योगं तवानन्ददम् ।
सः स्यात्सङ्कटपाटलारिसदनं जित्वा स्वयं मन्मथं
श्रीमान्मन्मथमन्मथः प्रचयति ह्यष्टाङ्गयोगं परम् ॥ १८ ।

योगी याति परं पदं सुखपदं वाञ्छास्पदं सम्पदं
त्रैलोक्यं परमेश्वरं यदि पुनः पारं भवाम्भोनिधेः ।
भावं भूधरराजराजदुहिते ज्ञातं विचारं तव
श्रीपादाम्बुजपूजनं प्रकुरुते ते नीरदप्रोज्ज्वले ॥ १९ ।

आदावष्टाङ्गयोगं वदति भवसुखं भक्तिसिद्धान्तमेकं
भूलोके पावनाख्यं पवनगमनगं श्रीनगेन्द्राङ्गजायाः ।
सिद्धीनामष्टसिद्धिं यमनियमवशादासनप्राणयोगात्
प्रत्याहारं विभोर्ध्वारुणगुणवसनं ध्यानमेवं समाधिम् ॥ २० ।

मातः शान्तिगुणावलम्बिनि शिवे शान्तिप्रदे योगिनां
दारे देवगुणे विधेहि सकलं शान्तिक्रियामङ्गलम् ।
यज्ञानामुदयं प्रयाति सहसा यस्याः प्रसादाद् भुवं
तां सर्वां प्रवदामि [1]कामदहनस्तम्भाय मोहक्षयात् ॥ २१ ।

---

१. कामस्य कामदेवस्य दहनः, भगवान् शिवः, तस्य स्तम्भाय निरोधाय । दह्यते येन स इति कर्तरि ल्युट्प्रत्ययः ।

एको जीवति योगिराडतिसुखी जीवन्ति न श्रीसुताः
सर्वं योगभवं भवे विभवगाः पश्यन् स्वकीयायुषम् ।
इत्येवं परिभाव्य सर्वविषयं शान्ति समालम्ब्यको
मूले वेददलोज्ज्वले कुलपथे श्रीकुण्डलीं भावय ॥ २२ ।

शान्तिभ्रान्तिनिकृन्तनी स्वरमणी प्रेमोद्‌गता भक्तिदा
लावण्याम्बुधिरत्नकोटिकिरणाह्लादैकमूर्तिप्रभा ।
एकाकारपराक्रमादपय मा क्रोधक्रमक्षोभिणी
या मूलामलपङ्कजे रचयति श्रीमाधुरी तां भजे ॥ २३ ।

रे रे पामर दुर्भग प्रतिदिनं किं कर्म वा राधसे
व्यापारं विषयाश्रयं प्रकुरुषे न ध्यायसे श्रीपदम् ।
मिथ्यैतत्क्षणभङ्गुरं त्यज मुदा संसारभावं विषं
श्रीकालीं कुलपण्डितां गुणवतीं शान्ति समाराधय ॥ २४ ।

शिवस्त्री या शान्तिः परमसुखदा भावजनिका
विवेकः संजातो वहसि च तया भाति नियतम् ।
विवेकोऽसौ त्यागी जनयति सुधासिन्धुसुन्दर-
मदो ब्रह्मज्ञानं परमममले योगिनि परे ॥ २५ ।

द्वयं ब्रह्मज्ञानं परमममले चागममयं
विवेकोद्‌भूतं स्यादमलपरमं शब्दमपरम् ।
द्वयोर्मूलीभूता हृदि सपदि शान्तिः प्रियतमा
प्रभा कालीपादाम्बुजयुगलभक्तिप्रलयदा ॥ २६ ।

कुलश्रीकुण्डल्याः परमरसभावं[1] नवमयं
पदं मातुः काल्याः प्रथमरविकान्त्याः सुखमयम् ।
वदामि प्रोत्साहे वशषसशुभे हाटकनिभे
विधिः श्रीडाकिन्याऽमरपतिधरित्रीति च भजेत् ॥ २७ ।

---

१. नवमेव नवीनमेव नवमयम्, स्वार्थे मयट्प्रत्ययः, 'तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो मनोहरम्' इति माघोक्त्या तस्य नवत्वं बोध्यम् ।

त्रयं स्थान नित्यं [1]रविशशिकलावह्निघटितं
महातीर्थं सम्यक् पवनगगनस्थं भवकरम् ।
विभिन्नं सङ्कृत्य द्वयमपि कुलग्रन्थिसहितं
सुषुम्नाश्रीतीर्थे महति गगने पूर्णलयवान् ॥ २८ ।

त्रयं संशोध्यादौ परमपदवीं गच्छति महान्
सुदृष्टाङ्गैर्योगैः परिभवति शुद्धं मम तनुम् ।
अतो योगाष्टाङ्गं कलुषसुखमुक्तं वितनुते
क्रियादौ सङ्कुर्याद्यमनियमकार्यं यतिवरः ॥ २९ ।

अहिंसासत्यार्थी प्रचयति सुयोगं तव पदं
धनस्ते यद्योगी शुचिधृतिदयादाननिपुणः ।
क्षमालघ्वाहारी समगुणपरानन्दनिपुणः
स्वयं सिद्धः सद्ब्राह्मणकुलपताकी सुखमयी ॥ ३० ।

तपः सन्तोषाढ्यो हरयजन आस्तिक्यमतिमान्
यतीनां सिद्धान्तश्रवणहृदयप्राणविलयः ।
जयानन्दामग्नो हवनमनलेपः प्रकुरुते
महाभक्तः श्रीह्रीर्मतिरतिकुलीनस्तव पदः ॥ ३१ ।

सुषुम्नामुखाम्भोरुहाग्रे च पद्मं
दलं चेदहेमाक्षरं मूलदेशे ।
स्थिरापृष्ठवंशस्य मध्ये सुषुम्ना-
न्तरे वज्रिणी चित्रिणीभासिपद्मैः ॥ ३२ ।

सुषुम्नादिनाड्या युगात् कर्णमूला-
त्प्रकाशप्रकाशा बहिर्युग्मनाडी ।
इडा पिङ्गला वामभागे च दक्षे
सुधां शूरवी राजसे तत्र नित्यम् ॥ ३३ ।

---

१. रविः सूर्यः शशिकला चन्द्रकला, वह्निः अग्निः, तैर्घटितम् ।

विसर्गं[1] बिन्द्वन्तं स्वगुणनिलयं त्वं जनयसि
त्वमेका कल्याणी गिरिशजननी कालिकलया ।
परानन्दं कृत्वा यदि परिजपन्ति प्रियतमाः
परिक्षाल्य ज्ञानैरिह परिजयन्ति प्रियपदम् ॥ ३४ ।

अष्टादशाङ्गुलगतं ऋजुदन्तकाष्ठं
स्वीयाङ्गुलार्धघटितं प्रशर शनैर्यः ।
संयोज्य [2]तालुरसनागलरन्ध्रमध्ये
दन्तीक्रियामुपचरेत् तव भावनाय ॥ ३५ ।

नाडीक्षालनमाकरोति यतिराड् दण्डे त्रयं धारयन्
युष्मच्छ्रीचरणार्पणो नवमदण्डस्यानिलस्तम्भनात् ।
प्राणायामफलं यतिः प्रतिदिनं संवर्धते सुश्रमा-
दानन्दाम्बुधिमज्जनं कुलरसैर्मुक्तो भवेत् तत्क्षणात् ॥ ३६ ।

वदामि परमश्रिये पदपद्मयोगं शुभं
हिताय जगतां मम प्रियगणस्य भागश्रिये ।
सदा हि कुरुते नरः सकलयोगसिद्धिं मुदा
तदेव तव सेवको जननि मातरेकाक्षरम् ॥ ३७ ।

करुणासागरे मग्नः सदा निर्मलतेजसा ।
तवाङ्घ्रिकोमलाम्भोजं ध्यात्वा योगीश्वरो भवेत् ॥ ३८ ।

करुणासागरे मग्नो येन योगेन निर्मलः ।
तद्योगं तव पादाब्जं को मूर्खः कः सुपण्डितः ॥ ३९ ।

यमनियमसुकाले नेउलीयोगशिक्षा
प्रवभति कफनाशा नाशरन्ध्रे त्रिसूत्री ।
हृदयकफविनाशा धोतिका योगशिक्षा
गलविलगलवस्त्रं षष्टिहस्तं वहन्ती ॥ ४० ।

---

१. विसर्गबिन्दुरन्तोऽन्तावयवो यस्य तमिति भावः ।
२. तालु च रसना च गलरन्ध्रश्चेति द्वन्द्वः, तन्मध्ये तादृशं काष्ठं संयोज्यम् ।

सुसूक्ष्मरसनस्य च स्वभुजषष्टिहस्तं गल-
प्रमाणमिति सन्ततप्रसरपञ्चयुग्माङ्गुलम् ।
पवित्रशुचिधोतिकारं भवसि सर्वपीडापहा
स्वकण्ठकमलोदयाममलभीतदामाभजे ॥ ४१ ।

भजति यदि कुमारीं नेउली योगदृष्टया
स भवति परवेत्ता मोहजालं छिनत्ति ।
स्मितमुखि भवति त्वां मूढ एवातिजीवो
भ्रमितमुदवधूर्ना कारसिद्धि ददासि ॥ ४२ ।

शनैर्दन्ती योगं स्वपदयुगपद्मे वितनुते
शिवे योगी मासादपि भवति वायुं स्थगयति ।
असौ मन्त्री चाम्रातकदलं सुदण्डं गलविले
नियोज्यादौ ध्यात्वा तव चरणपङ्केरुहतलम् ॥ ४३ ।

कुलाकुलचेतता परिकरोषि विल्वच्छदी
सुशान्तिगुणदा जया परमभक्तिनिर्गुण्डिका ।
मुकुन्दतुलसी प्रिया गुणिनि मुक्तिदा योगिनी
ददास्यमरसम्पदं दलवियोगमूर्ध्वोदरीम् ॥ ४४ ।

[1]पञ्चामरासाधनयोगकर्त्री पञ्चामरानाम महौषधिः स्थिता ।
त्वमेव सर्वेश्वररूपधारिणी यैः पूज्यते सोऽह्रिकपारमेष्ठी ॥४५।

पठति यदि भवान्याः शाकिनीदेहदेव्याः
स्तवनमरुणवर्णामार्कलक्ष्म्याः प्रकाशम् ।
व्रजति परमराज्यं देवपूज्यः प्रतिष्ठो
मनुजपनसुशीलो लीलया शम्भुरूपम् ॥ ४६ ।

१. पञ्चानाममराणां समाहारः पञ्चामरी, तस्याः साधनयोगं करोति या सा । 'पञ्चामरी' इति पाठो युक्तः । अथवा पञ्चामराणामासाधनेति पदच्छेदः कार्यः ।

प्रातर्मध्याह्नकाले च सायाह्ने च त्रिसप्तके ।
शतं पठित्वा मोक्षः स्यात् पुरश्चर्याफलं [1]लभेत् ॥ ४७ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे शाकिनीकृत-कालीस्तवनं नाम द्विसप्ततितमः पटलः ॥

●

१. पुरश्चर्या पुरश्चरणं तस्य फलं मोक्षाख्यम् । इदमेव पुरुषार्थचतुष्टयस्य चरमं फलमुक्तमस्ति शास्त्रेषु ।

अथ त्रिसप्ततितमः पटलः

श्रूयतां कोमलाम्भोजस्थितवक्त्रविराजिते ।
अत्यद्भुतं महागीतं शृणोति साधको हि यत् ॥ १ ।

ध्वनिरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः ।
तन्मनो विलयं याति ध्वनिषु ज्ञानकोटिषु ॥ २ ।

तद्ध्वनिज्ञानसंज्ञानं शृण्वन्ति योगिनो जनाः ॥ ३ ।

परमगुणगभीरे धीरनीरे शरीरे
भवनवभवकान्तो संप्रशात्मा नितान्तम् ।
विमलमधुरवाक्यालङ्कृतज्ञानसिन्धौ
सकलवचनरत्नं स्थापयामास वाणी ॥ ४ ।

ॐतुण्डोग्रस्थिरवचनगा मोहयज्जीववर्णं
शङ्कातङ्कारहितचरिता मोहिता ज्ञानतन्द्रे ।
सालङ्कारा खरतरकरा वाक्यमालां वहन्ती
सा पश्यन्ती विमलकरुणा राध्यतां मूलचक्रे ॥ ५ ।

संसारे सारभागे सयुवतिसुकपालक्षणैर्लक्षिताङ्गे
सिद्धान्तज्ञानजीवं चरमसमगुणं भूपतेर्योगिनो वा ।
विप्रेन्द्राणामनन्तं ध्वनिगुरुमधुरं व्यापितं पार्वतीशे
हे हे कालप्रकालप्रियतनुशिखरे वेशमासं चयत्वम् ॥ ६ ।

सञ्चारे परमस्थिरे हरिहरे विद्याधरे भूधरे
साकारे करुणाकरे स्वविलये ते पादपङ्केरुहे ।
नित्यज्ञानमयं जयं सुरतरुच्छायालयं पूजये
मातः कालि कलाधरे गलबिले शाकम्भरि शाकिनि ॥ ७ ।

भास्वत्कोटिरविच्छटाभरसुखश्रीकण्ठवीरालये
हृत्पङ्केरुहमध्यसारघटितं सारस्वतोत्पत्तिदम् ।
श्रीदेवीगुरुरूपिणीचरणपद्मान्तःप्रभामण्डलं
शैलेन्द्रोदयकारिणीमणिगृहं मापद्मनाभेरधः ॥ ८ ।

वाञ्छाकल्पद्रुमस्था स्थितिलयफलदा योगिनी योगमाता
सूक्ष्मानन्दप्रशंसा तरुणरविकला कोकिलालापमुग्धा ।
स्निग्धा स्निग्धाङ्गसङ्गा नवशशिमुकुटा चारुवर्णा विशाला
सा दुर्गा दुःखहन्त्री भवतु शिवगृहे कामनासिद्धिदात्री ॥ ९ ।

निराश्रयमहं पदं भवति कालि भक्त्याश्रये
श्रिये विमलभावदे सकलभावगो गोगणः ।
मयि प्रियधनं मुदा वितर चारुदृष्ट्या सुखं
तदेव गलभागकृद्गगनपद्ममध्यस्थले ॥ १० ।

नित्ये निष्फलरूपभूतिनिकरे त्रैलोक्यरक्षाकरे
धर्मध्वान्तनिकेतने गणयति ज्ञानप्रयोगान्तरम् ।
ते पादाम्बुजसम्भवः प्रियगणः प्राणाश्रितः पार्थिवो
मातः पर्वतराजराजदुहिते पुण्यं पवित्राप्तये ॥ ११ ।

भीभर्गो भारसर्गो भवरवविभवो भूतिभारावलम्बी
भावाभावः प्रभावः प्रभवति भुवने भीमभक्तिप्रकाशः ।
भूभूतोद्भूतभीतिप्रभृतिभयभवासम्भवानन्दभावो
मातस्ते पादपङ्केरुहविमलतलानन्दसेवाभिवृद्ध्या ॥ १२ ।

नित्यं पातु गणेश्वरी गणपतेर्माता रमे मातरं
प्राणं प्रत्ययपूर्वसिद्धिकरणी सिद्धासने रक्षतु ।
आनन्दाम्बुधिमज्जनैकसुखदा भालस्थलस्थापिनी
कण्ठाम्भोरुहकर्णिका सुरगणान् गीता परा सुस्वरान् ॥ १३ ।

कृपापारावारा विमलपुरुषं गौरिवपुषं[1]
धरावक्षे मुख्ये धरणिसुतबुद्धयाऽधमनरम् ।
न जाने त्वत्कामं तनुविरहचिन्तामणिमयं
तव स्नेहाध्वीनां गमयति न पारं सुरवरः ॥ १४ ।

जयति जय जयाज्योतिराधारजेता
सुरनरगणपूज्यः खेटचक्रस्य मध्ये ।
भवकमलकराढ्यं नम्रभावं प्रतापं
गमयति तव पादाम्भोजसेवाबलेन ॥ १५ ।

इत्येतैः श्लोकमुख्यैस्तु स्तुत्वा गीतरसान्तरैः ।
परब्रह्ममयीं ध्यात्वा स्वयं ब्रह्मतनुं गतः ॥ १६ ।

अकस्माद् भोगसम्पत्तिर्मोक्षपद्धतयः शुभाः ।
प्रभवन्ति स्वयं विद्या अष्टादश गुणोदयाः ॥ १७ ।

नीलजीमूतसङ्काशं चन्द्रशेखरमीश्वरम् ।
सदाशिवं महाशक्तिशाकिनीवामसंस्थितम् ॥ १८ ।

चतुर्भुजं देवदेवमनन्तमक्षरं[2] हरम् ।
भावगीतं पुनर्गीत्वा परं ब्रह्मसमो भवेत् ॥ १९ ।

कण्ठषोडशसम्पूर्णमध्ये योगी स्थिराशयः ।
अष्टसिद्धीश्वरो भूत्वा भावसिद्धिं लभेद् ध्रुवम् ॥ २० ।

त्वया सह समाह्लाददर्शनं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ २१ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे वाणीगीतविन्यासो नाम त्रिसप्ततितमः पटलः ॥

●

---

१. गौर्या वपुर्यस्य तम् । बाहुलकाद् ईकारस्य स्थाने ह्रस्वादेशः ।

२. न क्षीयते न क्षरति वा अक्षरम्, क्षीयतेः क्षरतेर्वाङ्प्रत्ययः, अथवा अश्नुते व्याप्नोति यत्तदक्षरम् । अशेः सरन्प्रत्ययः ।

अथ चतुःसप्ततितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

शैलजे देवदेवेशि सर्वाम्नायप्रपूजिते ।
सर्वं मे कथितं देवि कवचं न प्रकाशितम् ॥ १ ॥

[1]प्रासादाख्यस्य मन्त्रस्य कवचं मे प्रकाशय ।
सदाशिवमहादेवभावितं सिद्धिदायकम् ॥ २ ॥

अप्रकाश्यं महामन्त्रं भैरवीभैरवोदयम् ।
सर्वरक्षाकरं देवि यदि स्नेहोऽस्ति मां प्रति ॥ ३ ॥

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

श्रूयतां भगवन्नाथ महाकालकुलार्णव ।
प्रासादमन्त्रकवचं सदाशिवकुलोदयम् ॥ ४ ॥

प्रासादमन्त्रदेवस्य वामदेव ऋषिः स्मृतः ।
पङ्क्तिश्छन्दश्च देवेशः सदाशिवोऽत्र देवता ॥ ५ ॥

[2]साधकाभीष्टसिद्धौ च विनियोगः प्रकीर्तितः ।
शिरो मे सर्वदा पातु प्रासादाख्यः सदाशिवः ॥ ६ ॥

षडक्षरस्वरूपो मे वदनं तु महेश्वरः ।
अष्टाक्षरशक्तिरुद्रश्चक्षुषी मे सदाऽवतु ॥ ७ ॥

पञ्चाक्षरात्मा भगवान् भुजौ मे परिरक्षतु ।
मृत्युञ्जयस्त्रिबीजात्मा आयू रक्षतु मे सदा ॥ ८ ॥

वटमूलसमासीनो दक्षिणामूर्तिरव्ययः ।
सदा मां सर्वतः पातु षट्त्रिंशद्वर्णरूपधृक् ॥ ९ ॥

---

१. प्रकर्षेण आ समन्तात् सीदन्ति तिष्ठन्ति जना यस्मिन् स मन्त्रः प्रासादाख्यः ।

२. साधकानामभीष्टस्य सिद्धौ इत्यर्थः ।

द्वाविंशार्णात्मको रुद्रः कुक्षिं मे परिरक्षतु ।
त्रिवर्णाढ्यो नीलकण्ठः कण्ठं रक्षतु सर्वदा ॥ १० ।
चिन्तामणिर्बीजरूपोऽर्धनारीश्वरो [1]हरः ।
सदा रक्षतु मे गुह्यं सर्वसम्पत्प्रदायकः ॥ ११ ।
एकाक्षरस्वरूपात्मा कूटव्यापी महेश्वरः ।
मार्तण्डो भैरवो नित्यं पादौ मे परिरक्षतु ॥ १२ ।
तुम्बुराख्यो महाबीजस्वरूपस्त्रिपुरान्तकः[2] ।
सदा मारणभूमौ च रक्षतु त्रिदशाधिपः ॥ १३ ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वानमीशानो मम रक्षतु सर्वदा ।
दक्षिणास्यं तत्पुरुषोऽवतु मे गिरिनायकः ॥ १४ ।
अघोराख्यो महादेवः पूर्वास्यं परिरक्षतु ।
वामदेवः पश्चिमास्यं सदा मे परिरक्षतु ॥ १५ ।
उत्तरास्यं सदा पातु सद्योजातस्वरूपधृक् ।
मृत्युजेता सदा पातु जलेऽरण्ये महाभये ॥ १६ ।
पर्वते विषमस्थाने विषहर्ता सदाऽवतु ।
कालरुद्रः सदा पातु सर्वाङ्गं कालदेवता ॥ १७ ।
कालाग्निरुद्रः सम्पातु महाव्याधिभयादिषु ।
अकालतारकः पातु खड्गधारी सदाशिवः ॥ १८ ।
कवची वामदेवश्च सदा पातु महाभये ।
[3]कालभक्षः पातु रुद्रो रुरुकः क्षेत्रपालकः ॥ १९ ।
मातृकामण्डलं पातु सम्पूर्णचन्द्रशेखरः ।
चिरायुः शाकिनीभर्ता चायुषं पातु मे सदा ॥ २० ।

---

१. अर्धे नारी, तादृश ईश्वरः, भगवान् शिवः । भगवतोऽर्धभागो नारीरूपः, अर्धञ्च नररूपः ।

२. त्रिपुरस्य त्रिपुराख्यस्यासुरस्य अन्तकः कालरूपः । अन्तं कायति इति अन्तकः ।

३. कालं भक्षयति योऽसौ कालभक्षः, कर्मण्यण् ।

सिंहस्कन्धः सदा पातु रुद्राणीवल्लभोऽवतु ।
भालं पातु वज्रदम्भालेखकः क्रान्तिरूपकः ॥ २१ ।

निरूपकः सदा पातु खेचरीखेचरप्रियः ।
रत्नमालाधरः पातु [1]रक्तमुखीश्वरोऽवतु ॥ २२ ।

वदनं चक्षुषी कर्णौ पातु पञ्चाननो मम ।
वेदध्वनिः सदा पातु नासारन्ध्रद्वयं मम ॥ २३ ।

कपालधारकः पातु गण्डयुग्मं युगान्तकृत् ।
रक्तजिह्वापतिः पातु ममोष्ठाधरवासिनम् ॥ २४ ।

दन्तावलियुगं पातु भृगुरामेश्वरः शिवः ।
तालमूलं सदा पातु विश्वभोजो रसामृतम् ॥ २५ ।

जिह्वाग्रं वाक्पतीशश्च भवानीशः शिवो मम ।
मुखवृत्तं सदा पातु महासेनः कवीश्वरः ॥ २६ ।

क्रोधनाथः सदा पातु दक्षहस्तादिमूलकम् ।
दक्षकूर्परमापातु तदग्रं कुक्कुरेश्वरः ॥ २७ ।

चिरजीवी सदा पातु चाङ्गुलीमूलदेशकम् ।
अङ्गुल्यग्रं सदा ब्रह्मा ब्रह्मलिङ्गधरः प्रभुः ॥ २८ ।

विद्यापतिः [2]पार्वतीशो वामहस्तादिमूलकम् ।
पातु वामकूर्परं मे वामकेश्वर ईश्वरः ॥ २९ ।

कुण्डवासी सदा पातु कूर्पराग्रं कुलाचलः ।
वेदमातृपतिः पातु कामधेनुपतिः प्रभुः ॥ ३० ।

ममाङ्गुलीमूलदेशं पातु पञ्चमुखो मम ।
वामाङ्गुल्यग्रभागं मे पातु पर्वतपूजितः[3] ॥ ३१ ।

---

१. रक्तं मुखं यस्याः सा रक्तमुखी तस्या ईश्वर इति षष्ठीतत्पुरुषः ।

२. पर्वतस्य पर्वतराजस्येयं पुत्री पार्वती, तस्या ईशः । पर्वाणि भवन्ति यस्मिन् सः पर्वतः । तत्पर्वमरुद्भ्यामिति तत्प्रत्ययः सप्तम्यर्थे ।

३. पर्वतेन पर्वतराजेन हिमाद्रिणा पूजितः समर्चितः, भगवान् शिवः ।

तनुमूलाग्रभागं मे कूर्मचक्रधरः प्रभुः ।
शाकिनीवल्लभः पातु दक्षाङ्घ्रिमध्यदेशकम् ॥ ३२ ।

गुल्फाग्रं गर्गरीनाथः पादाग्रं मूलदेवता ।
अभयावल्लभः पातु दक्षाङ्गुल्यग्रभागकम् ॥ ३३ ।

पातु स्मरहरो योगी [1]वामोरुमूलदेशकम् ।
वामपादमध्यदेशं मध्यदेशेश्वरोऽवतु ॥ ३४ ।

पातु मे भगवाञ्छम्भुर्मम गुल्फाग्रदेशकम् ।
मूलदेशं वामपादं पातु मेऽङ्गुष्ठमूलकम् ॥ ३५ ।

कारणात्मा नीलकण्ठः प्रभाधारी यमान्तकः ।
अङ्गुष्ठाग्रं सदा पातु सुषुम्नानाडिकेश्वरः ॥ ३६ ।

महारुद्रेश्वरः पातु मम नाभिमनोभवम् ।
उदरं गगनाधारः कामहर्ता हृदम्बुजम् ॥ ३७ ।

सर्वानन्दात्मकः पातु मम स्कन्धयुगं शिवः ।
हृदयाद् दक्षहस्ताग्रपर्यन्तं पातु शोकहा ॥ ३८ ।

हृदयाद् वामहस्ताग्रपर्यन्तं परमेश्वरः ।
हृदयान्मम दक्षाङ्घ्रिनखान्तं मे शिवोऽवतु ॥ ३९ ।

[2]सदानन्दा सदा पातु हृदाद्यङ्घ्रि तु उन्मदः ।
वासुकीवल्लभः पातु हृदादिगुददेशकम् ॥ ४० ।

अनन्तनाथ आपातु हृदादिमूर्धदेशकम्[3] ।
व्यापकः सर्वदा पातु सदाशिव उमापतिः ॥ ४१ ।

तारात्मकः कायसिद्धः शक्तीशः शुक्रदेवता ।
पञ्चचूडः सदा पातु पञ्चतत्त्वाङ्गरूपकम् ॥ ४२ ।

---

१. वाम ऊरुः जघनम् तस्य मूलदेशः, स एव मूलदेशकः, तम् ।

२. सदा सर्वदा आनन्दो यस्यां सा, अथवा सदा आनन्दयति भक्तान् या सा सदानन्दा, पचाद्यच्-प्रत्ययः कर्तरि ।

३. हृद् आदिर्यस्य तादृशो मूर्धा, स चासौ देशकश्चेति भावः ।

शीर्षादिपादपर्यन्तं कामधेनुः सदावतु ।
जलेऽरण्ये घोरवने सङ्कटे च महापथे ॥ ४३ ।
प्रान्तरे पातु गुप्ताक्षः कामराजः परापरः ।
अर्धनारीश्वरः पातु मातृकापरमेश्वरः ॥ ४४ ।
मातृकामन्त्रपुटितः स्वस्वस्थानं सदावतु ।
धर्मात्मा धर्मसन्धि मे पिङ्गलां पातु चण्डिकाम् ॥ ४५ ।
विह्वलः सर्वदा पातु भोलानाथः सदाऽवतु ।
सर्वदेशे सर्वपीठे कामरूपे विशेषतः ॥ ४६ ।
सर्वदा योगिनीनाथः परमात्मा सदाऽवतु ।
कामरूपाख्यपीठादि पञ्चाशत् पीठदेवताः ॥ ४७ ।
पञ्चाशत्पीठमाया तु कामरूपं सदाशिवः ।
भवो रुद्रो महेशश्च शङ्करो मन्मथान्तकः ॥ ४८ ।
गुह्यकेशः पापहर्ता कपाली शूलधारकः ।
पञ्चवक्त्रो दशभुजो भुजङ्गभूषणो हरः ॥ ४९ ।
महाकालो महारुद्रो महावीरो हृदि स्थितः ।
महादेवो महागुह्यो महामाया महागुणः ॥ ५० ।
पशुपतिर्विरूपाक्षो[1] हरीशो धवलेश्वरः ।
वटुकेशः क्रमाचार्यः पञ्चशूली हृदुद्भवः ॥ ५१ ।
उन्मनीशः साहसिकः पराख्यः पर्वतेश्वरः ।
सर्वात्मा च महात्मा च शिवात्मा च श्मशानगः ॥ ५२ ।
क्रोधवीरः कालकारी सूक्ष्मधर्मा धुरन्धरः ।
श्यामकः क्रूरहर्ता च गणेशः कालमाधवः ॥ ५३ ।
ज्ञानात्मा कपिलात्मा च सिद्धात्मा योगिनीपतिः ।
कोटिसूर्यप्रतीकाश एकपञ्चाशदीश्वराः[2] ॥ ५४ ।

---

१. विरूपे विकृते अक्षिणी यस्य स इति बहुव्रीहिः । षच्प्रत्ययः समासान्तः ।
२. एकेनाधिका एकाधिका, सा चासौ पञ्चाशच्चेति एकपञ्चाशत्, तत्संख्याका ईश्वराः मध्यमपदलोपिसमासः ।

सदा पान्तु मातृकस्थाः स्थितिसर्गलयात्मकाः ।
आदिपीठं कामरूपं काञ्चीपीठं तदन्तिके ॥ ५५ ।

अयोध्यापीठनगरं तदूर्ध्वे जालकन्धरम् ।
जालन्धरं तदूर्ध्वे तु सिद्धपीठं तदन्तिके ॥ ५६ ।

कालीपीठं तदूर्ध्वे तु चण्डिकापीठमग्रके ।
अष्टपुरीमहापीठं कण्ठदेशं सदाशिवः ॥ ५७ ।

सदा पातु महावीरः कालधर्मी परात्परः ।
मधुपुरीमहापीठं चाष्टपुरान्तरस्थितम् ॥ ५८ ।

[1]मायावतीमहापीठं तदूर्ध्वे परिकीर्तितम् ।
वाराणसीमहापीठं[2] धर्मपीठं तदन्तिके ॥ ५९ ।

ज्वालामुखीमहापीठं तदन्तःस्थं प्रकीर्तितम् ।
तदूर्ध्वे च महापीठं ज्वलन्तीपीठमेव च ॥ ६० ।

तदूर्ध्वे पूर्णगिर्याख्यं कुरुक्षेत्रं तदन्तिके ।
उड्डियानं तदूर्ध्वे तु कमलापीठमेव च ॥ ६१ ।

हरिद्वारं महापीठं बदरीपीठमेव च ।
व्यासपीठं नारदाख्यं तदूर्ध्वे वाडवानलम् ॥ ६२ ।

हिङ्गुलादं तदूर्ध्वे तु लङ्कापीठं तदूर्ध्वके ।
तदूर्ध्वे शारदापीठं रतिपीठं तदूर्ध्वके ॥ ६३ ।

लिङ्गपीठं कलापीठं द्वारकापीठमेव च ।
कपालपीठं हर्याख्ये वरदापीठमुत्तरे ॥ ६४ ।

कालीपीठं तदूर्ध्वे तु तारापीठं तदूर्ध्वके ।
उग्रतारामहापीठं महोग्रापीठमेव च ॥ ६५ ।

---

१. मायावती मायानगरी हरिद्वारपुरी, तस्या महापीठमिति भावः ।
२. वरं च तदनश्च वरानः, पवित्रजलम्, तदद्दूरगता नगरी वाराणसी, तस्या पीठस्य महनीयत्यवात् महापीठता ।

नीलसरस्वतीपीठं जरापीठं तदूर्ध्वके ।
तदूर्ध्वे गगनापीठं खेचरीपीठमेव च ॥ ६६ ॥

तदूर्ध्वे तारिणीपीठं सहस्रदलमध्यके ।
कर्त्रीपीठं तदूर्ध्वे च देवीपीठं तदूर्ध्वके ॥ ६७ ॥

राजराजेश्वरीपीठं षोडशीपीठमेव च ।
सहस्रदलमध्ये तु सहस्रपीठमेव च ॥ ६८ ॥

मध्ये एकजटापीठं कर्त्रीतीरकलोपरि ।
षोडशीमुखविद्याभिर्वेष्टिता तारिणीकला ॥ ६९ ॥

काली नीला महाविद्या त्वरिता छिन्नमस्तका[1] ।
वाग्वादिनी चान्नपूर्णा देवी प्रत्यङ्गिरा पुनः ॥ ७० ॥

कामाख्या वासली बाला मातङ्गी शैलवासिनी ।
षोडशी भुवनेशानी भैरवी बगलामुखी ॥ ७१ ॥

धूमावती वेदमाता हरसिद्धा च दक्षिणा ।
एता विद्या महाविद्याः शिवसेवनशोभिताः ॥ ७२ ॥

द्वाविंशतिमहाविद्या द्वारं द्वाविंशतिस्थलम् ।
महापीठे सहस्रारे सर्वदा पान्तु मां कलाः ॥ ७३ ॥

सदाशिवः शक्तियुक्तः पातु चण्डेश्वरो हरः ।
पञ्चामराधरः पातु देवीनाथः सदाऽवतु ॥ ७४ ॥

पार्वतीप्राणनाथो मे सर्वाङ्गं पातु सर्वदा ।
अघोरनाथ ईशानो वरदो मदनान्तकः ॥ ७५ ॥

यज्ञहर्ता दक्षखण्डो वीरभद्रो दिगम्बरः ।
अष्टादशभुजो रौद्रो नीलपङ्कजलोचनः ॥ ७६ ॥

त्रिलोचनः कालकामो महारुद्रो गणेश्वरः ।
काकिनीवल्लभः शूली योगकर्ता महेश्वरः ॥ ७७ ॥

---

१. छिन्नं मस्तकं यस्याः सा । एवंभूता भगवती छिन्नमस्तका इति कथ्यते ।

वागीश्वरः स्मरहरो महामन्त्रो हलायुधः ।
श्रीनाथः पूजितो बालो बालेन्द्रो बलवाहनः ॥ ७८ ।

बलरामः कृष्णरामो गोविन्दो माधवीश्वरः ।
जितामित्रेश्वरश्चूडामणीशो मानदः सुखी ॥ ७९ ।

मुखं वृन्दावनं पातु [1]षड्दलाम्भोरुहस्थितम् ।
वैष्णवीवल्लभः पातु ब्रह्माणं कुलकुण्डली ॥ ८० ।

विष्णुनाथः सदा पातु ब्रह्माग्नि गरुडध्वजः ।
ज्वालामालाधरः पातु [2]कालानलधरोऽवतु ॥ ८१ ।

काकिनीवल्लभः पातु ईश्वरो भैरवेश्वरः ।
महारुद्रो [3]नीलकण्ठो मणिपूरं सुलाकिनीम् ॥ ८२ ।

सदा पातु मणिगृहं रुद्राणीप्रियवल्लभः ।
महारुद्रो नीलकण्ठो महाविष्णुं सदावतु ॥ ८३ ।

राकिणीं विष्णुलक्ष्मीं च पातु मे वैष्णवीं कलाम् ।
सदाशिवो नीलकण्ठो मम पातु हृदि स्थलम् ॥ ८४ ।

ईश्वरं परमात्मानं मम रक्षतु शाकिनीम् ।
सदाशिवं सदा पातु द्विदलस्थोऽपरो हरः ॥ ८५ ।

हाकिनीशक्तितः पातु सहस्रारं शिवोऽवतु ।
तारानाथविधिः पातु सहस्रारनिवासिनीम् ॥ ८६ ।

महाकाशं सदा पातु तदधो वायुमण्डलम् ।
वह्निमण्डलमापातु तदधः शाकिनीश्वरः ॥ ८७ ।

तदात्मकः सदा पातु कीलालं कौलदेवता ।
पृथिवीं पार्थिवः पातु सर्वदैकं सदाशिवः ॥ ८८ ।

---

१. षड्दलानि यस्मिन् तत्, तादृशमम्भोरुहं कमलम्, तत्र स्थितम् ।

२. कालोऽन सः परो यस्मिन् । परत्वं प्रवानत्वम् ।

३. क्षीरसागरान्निःसृतं विषं पीत्वा भगवान् शिवो नीलग्रीवादिनामभिर्भूषितोऽभवत् । यतो हि विषस्य कण्ठ एवावरोधः कृतो भगवता, यदि उदरे तस्य प्रवेशः स्यात्तदा तत्रत्यानि नानाब्रह्माण्डानि भस्मीभूतानि भविष्यन्तीति मत्वा कण्ठ एवावरोधः कृतः, अतश्च नीलकण्ठेत्यादि नाम सुशोभितमभवत् ।

इत्थं रक्षाकरं नाथ कवचं देवदुर्लभम् ।
प्रातःकाले पठेद्यस्तु सोऽभीष्टं फलमाप्नुयात् ॥ ८९ ।
पूजाकाले पठेद्यस्तु कवचं साधकोत्तमः ।
कीर्तिश्रीकान्तिमेधायुर्बृंहितो भवति ध्रुवम् ॥ ९० ।
अप्रकाश्यं महावीरकवचं सर्वसिद्धिदम् ।
ज्ञानमात्रेण भूर्लोके जेता कालस्य योगिराट् ॥ ९१ ।
अस्य धारणमात्रेण कालसूत्रान्तको भवेत् ।
अस्य धारणपाठेन सर्वज्ञो भवति ध्रुवम् ॥ ९२ ।
सर्वे व्यासवशिष्ठादिमहासिद्धाश्च योगिनः ।
पठित्वा धारयित्वा ते प्रधानास्तत्त्वचिन्तकाः ॥ ९३ ।
कण्ठे यो धारयेदेतत् कवचं त्वत्स्वरूपकम् ।
मद्वक्त्राम्भोरुहोद्भूतं विद्यावाक् सिद्धिदायकम् ॥ ९४ ।
युद्धे विजयमाप्नोति द्यूते वादे च साधकः ।
कवचं धारयेद्यस्तु साधको दक्षिणे भुजे ॥ ९५ ।
देवा मनुष्या गन्धर्वास्तस्य वश्या न संशयः ।
कवचं शिरसा यस्तु धारयेद् यतमानसः ॥ ९६ ।
करस्थास्तस्य देवेशि अणिमाद्यष्टसिद्धयः[1] ।
भूर्जपत्रे त्विमां विद्यां शुक्लपट्टेन वेष्टिताम् ॥ ९७ ।
रजतोदरसंविष्टां कृत्वा च धारयेत् सुधीः ।
सम्प्राप्य महतीं लक्ष्मीमन्ते तव शरीरधृक् ॥ ९८ ।
यस्मै कस्मै न दातव्यं न प्रकाश्यं कदाचन ।
शिष्याय भक्तियुक्ताय साधकाय प्रकाशयेत् ॥ ९९ ।
योगिने ज्ञानयुक्ताय देयं धर्मात्मने सदा ।
अन्यथा सिद्धिहानिः स्यात्सत्यं सत्यं न संशयः[2] ॥ १०० ।

---

१. अणिमा आदिर्यासां ता अणिमादयः, ताश्चाष्टसिद्धयश्च इति बहुव्रीहिगर्भस्तत्पुरुषः ।
२. गन्धश्चन्दनादिः, पुष्पं कमलादि ते आद्ये येषां तैः । द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ।

तव स्नेहान्महादेव कथितं कवचं शुभम् ।
न देयं कवचं सिद्धं यदीच्छेदात्मनो हितम् ॥ १०१ ।

यदि भाग्यफलेनापि कवचं यदि लभ्यते ।
धूर्तो वा कपटी वापि खलो वा दुर्ग्रहस्थितः ॥ १०२ ।

निजकर्मफलत्यागमवश्यं खलु कारयेत् ।
तदा सिद्धिमवाप्नोति धर्मधाराधरो भवेत् ॥ १०३ ।

सिद्धिपूजाफलं तस्य दिवसे दिवसे सुधीः ।
धूर्ततां खलतां मिथ्यां कापटचं स विहाय च ॥ १०४ ।

राजराजेश्वरो भूत्वा जीवन्मुक्तो न संशयः ।
योऽर्चयेद् [1]गण्धपुष्पाद्यैः कवचं मन्मुखोदितम् ॥ १०५ ।

तेनार्चिता महादेव सर्वदेवा न संशयः ।
[2]राजसिकं मानसिकं तामसिकं परन्तपः ॥ १०६ ।

हृद्ये मानसिकं ध्यायन् पूजा राजसिकं स्मृतम् ।
तामसिकं लोकमध्ये कवचार्चा त्रिधा मता ॥ १०७ ।

सिद्धकवचमाख्यातं केवलं ज्ञानसिद्धये ।
मोक्षाय जगतां शम्भोः प्रियाय परमेश्वर ॥ १०८ ।

तन्त्रेऽस्मिन् सारसङ्केतं पूजाऽप्यारोपणादिकम् ।
अन्तःकरणमध्ये तु सर्वकार्यमुदीरयेत् ॥ १०९ ।

राज्ये च प्रपठेत् स्तोत्रं कवचं ज्ञानसिद्धये ।
इति ते कथितं नाथ परमात्मनि मङ्गलम् ॥ ११० ।

यस्याराधनमात्रेण शिवत्वमुत किं प्रभो ॥ १११ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे
षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे सदाशिवकवचपाठो
नाम चतुःसप्ततितमः पटलः ॥

●

---

१. 'सदाशिव' इति सम्बोधनान्तः पाठः ।

२. सामान्ये नपुंसकम् । अतश्च कवचार्चा इति विशेष्यपदेन सह समानाधिकरणो नास्ति विरोधः ।

अथ पञ्चसप्ततितमः पटलः

आनन्दभैरव उवाच—

कथितं शारदं धाम अप्रकाश्यं [1]फलोदयम् ।
इदानीं कथय प्राणवल्लभे वरदा भव ॥ १ ।

कण्ठाम्भोजे कीदृशी या सभा परममोहिनी ।
गायन्ती योगिभिर्नित्यं परमानन्दवर्धिनी ॥ २ ।

सभोत्कृष्टां सिद्धसभां वर्तय ब्रह्मवादिनि ।
तदा मे सफलं ज्ञानं सफलं सारनिर्णयम् ॥ ३ ।

यदि सा कथ्यते देवि सभा सर्वप्रतिष्ठिता ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

श्रूयतां देवदेवेश सर्वानन्दप्रपूरक ॥ ४ ।

सभा ज्ञानमयी नित्या षोडशारप्रकाशिनी ।
विस्तीर्णा सप्तति चैव योजनानां शितप्रभा ॥ ५ ।

तपसा निर्मिता लक्ष्मीर्ज्ञानमङ्गलमण्डिता ।
राशिप्रभा खेचरी सा कैलासशिखरोपमा ॥ ६ ।

गुह्यकैरुह्यमाना सा मधुरध्वनिपूरणी ।
दिव्यहेममयैरुच्चैः पादपैरुपशोभिता ॥ ७ ।

रश्मिमती भास्वती च दिव्यगन्धमनोरमा ।
शिताभ्रशिखराकारा हेमतोरणशोभिता ॥ ८ ।

दिव्यहेममयैः शृङ्गैर्विद्युद्भिरिव चित्रिता ।
षोडशारकर्णिकायां प्रतिभा [2]विश्वजित्वरी ॥ ९ ।

---

१. फलस्योदयो यस्मिन् तद् धाम शारदमप्रकाश्यम्, गोपनीयमिति भावः । उत्कृष्टं तत्त्वं सर्वं गोपनीयमेव भवति, तत एव तस्य सुरक्षा स्यात् ।

२. जयति तच्छीला जित्वरी, "इण्नश्जिसर्तिभ्यः क्वरप्" इति पाणिनिसूत्रेण कर्तरि क्वरप्प्रत्ययः । "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इति तुगागमः, ङीप् च, विश्वस्य जित्वरी जयनशीला इति ।

तस्यां सदाशिवो नाथो विचित्राभरणायुधः ।
स्त्रीसहस्रावृतः श्रीमानास्ते ज्वलितकुण्डलः ॥ १० ।

दिवाकरनिभे रम्ये दिव्यास्तरणसंयुते ।
दिव्यपादोपधाने च निषण्णः परमासने ॥ ११ ।

मन्दाराणामुदाराणां वनानि सुरभीणि च ।
सौगन्धिकानां चादाय गन्धान् गन्धवहः शुचिः ॥ १२ ।

नलिन्याश्चाणकाख्यायाश्चन्दनानां वनस्य च ।
मनोहृदयसंह्लादी वायुस्तमुपसेवते ॥ १३ ।

तत्र देवाः सगन्धर्वा गणैरप्सरसां वृताः ।
दिव्यतालेन गायन्ति गीतानि परमेश्वर ॥ १४ ।

मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता ।
चारुनेत्रा घृताची च मेनका मुञ्जिकस्तनी ॥ १५ ।

विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्वशी इरा ।
वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्धिदा लता ॥ १६ ।

रत्नावती महामाया कमला गन्धकेशिका ।
बाणमाता महाभर्गा ज्योतिः प्रज्ञा भवाऽभवा ॥ १७ ।

प्रभवा सम्भवा गुञ्जा साराङ्गी सारविक्रमा ।
त्रिलोचनी त्रिवेदिस्था अम्बिका सप्तशायका ॥ १८ ।

विरला वरदा माया सिद्धा कात्यायनी तथा ।
योगिनी खेचरी सिद्धा जीवाङ्गी दीर्घलोचनी ॥ १९ ।

रमणी च हिरण्याक्षी पद्मवक्त्रा हिरण्मयी ।
एताः सहस्रशश्चान्या [1]नृत्यगीतविशारदाः ॥ २० ।

ईशानमुपतिष्ठन्ति गन्धर्वाप्सरसाङ्गणाः ।
अनिशं दिव्यवादित्रैर्नृत्यगीतैश्च सा सभा ॥ २१ ।

---

१. नृत्यं च गीतं च नृत्यगीते तत्र विशारदा इति सप्तमीसमासः, योगविभागस्य भाष्येऽदर्शनात् सह सुपेत्यत्र सुपेति विभक्तयोगेन समासो बोध्यः ।

अशून्या रुचिरा भाति गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
किन्नरोरगगन्धर्वा नरा नाम तथा परे ।। २२ ।

मानभद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रोऽथ गुह्यकः ।
काशवलो गण्डकण्डूः पत्योद्रश्च महाबलः ।। २३ ।

कुस्तुम्बुरुः पिशाचाश्च गजकर्णे विशानकः ।
वराहकर्णस्ताम्रोष्ठः फलभक्षः फलोदकः ।। २४ ।

अङ्गचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभीषणः ।
पुष्पाननः पिङ्गलकः शोणितोदः प्रवालकः ।। २५ ।

वृकवांश्चानिकेतश्च चीरवासाश्च भावतः ।
भरद्वाजो वारिधरी महामायो धनञ्जयः ।। २६ ।

कपिलः कपिलाचार्यो महायोगी क्षमाधरः ।
एते चान्ये च बहवो यक्षा शतसहस्रशः ।। २७ ।

सदा भगवती लक्ष्मीस्तथैव नलकूबरः ।
तयोः परिजनाः सर्वे वारुणीमद्यकारकाः ।। २८ ।

अतो मधुपुरी नाम चाष्टपूरं मधुस्थलम् ।
तद्बाह्ये सा सभा भाति चन्द्रकोटिसमोदया ।। २९ ।

अहञ्च निवसाम्यस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधाः ।
ब्रह्मर्षयो भवन्त्यत्र तथा देवर्षयो परे ।। ३० ।

क्रव्यादा राक्षसाश्चान्ये गन्धर्वाश्च महाबलाः ।
उपासन्ते महात्मानं तस्यां शिवदमीश्वरम् ।। ३१ ।

भगवान् भूतसङ्घैश्च वृतः शतसहस्रशः ।
उमापतिः पशुपतिः शूलधृग् भगनेत्रहा ।। ३२ ।

त्र्यम्बको राजशार्दूलो देवी च [1]विगतक्रमाः ।
वामनैर्विकटैः कुब्जैः प्रिययक्षैर्महाबलैः ।। ३३ ।

---

१. विगतः क्रमो येषां ते—क्रमस्य वैशिष्ट्यमत्राविवक्षितमिति भावः ।

[1]मेदोमांसासवैरुग्रैरुग्रधन्वा महाबलः ।
नानाप्रहरणैर्घोरैर्घातैरिव महाजवैः ॥ ३४ ।

वृतः सहायैस्तत्रास्ते सदैव श्रीसदाशिवः ।
प्रकृष्टाः सततश्वा(पि?प्य)वन्तु शम्भुपरिच्छदाः ॥ ३५ ।

गन्धर्वाणाञ्च पतयो विश्वावसुर्हाहा हुहूः ।
तुम्बुरुः पर्वतश्चैव शैलूरश्च तथापरः ॥ ३६ ।

चित्रसेनश्च गीतज्ञस्तथा चित्ररथोऽपि च ।
एते चान्ये च गन्धर्वाः सदाशिवमुपासते ॥ ३७ ।

विद्याधराधिपश्चैव चक्रवर्मा (हि)मानुगः ।
उपासतुस्ततस्तस्यां प्रभुं धनदमीश्वरम् ॥ ३८ ।

हिमवान् पारिभद्रश्च विन्ध्यकैलासमन्दराः ।
किन्नराः शतशस्तत्र ज्ञानिनामीश्वरं प्रभुम् ॥ ३९ ।

गणाश्च शतशस्तत्र भगदत्तपुरोगमाः ।
द्रुमः किंपुरुषश्चैव उपास्ते वरदेश्वरम् ॥ ४० ।

राक्षसाधिपतिश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
सह यज्ञैः सगन्धर्वैः सह सर्वैर्निशाचरैः ॥ ४१ ।

विभीषणश्च धर्मिष्ठ उपास्ते श्रीसदाशिवम् ।
मलयो मन्दरश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ॥ ४२ ।

इन्द्रकीलः सनाभश्च तथा दिव्यौ च पर्वतौ ।
एते चान्ये च बहवः सर्वे मेरुपुरोगमाः ॥ ४३ ।

उपासते महात्मानं सदाशिवमधीश्वरम् ।
नन्दीश्वरश्च भगवान् महाकालस्तथैव च ॥ ४४ ।

शक्तं कर्णमुखाः[2] सर्वे देव्याः पारिषदास्तथा ।
काष्ठभृकुटी मुखोदन्ती विजया च तपोऽधिका ॥ ४५ ।

---

१. मेदश्च मांसश्च आसवश्चेति इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।

२. कर्णस्य समीपे प्रत्यावर्तितं मुखं येषां ते । अथवा कर्णेन्द्रियेणैव मुखक्रिया सम्पाद्यते तैः । अथवा कर्णमुखाः कर्णेजपाः ।

श्वेतश्च वृषभश्चैव नर्दन्नास्ते महाबलः ।
वरदं राक्षसाश्चान्ये पिशाचाश्च समासते ॥ ४६ ।

पार्षदैः संपरिवृतमुमया च महेश्वरम् ।
सदा हि देवदेवेशं शिवं त्रैलोक्यभावनम् ॥ ४७ ।

प्रणम्य मूर्ध्ना पौलस्त्यो बन्धुरूपमुमापतिम् ।
ततोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य महादेवात् कुलेश्वरात् ॥ ४८ ।

आस्ते कदाचिद् भगवान् भवो धनपतेः सखा ।
निधिप्रवरमुख्यौ च शङ्खपद्मधनेश्वरौ ॥ ४९ ।

सर्वान्निधीन् प्रगृह्याथ उपास्ताद्वै सदाशिवम् ।
समता तादृशी रम्या मया गुप्तान्तरीक्षगा ॥ ५० ।

पितामहसभा तस्या ऊर्ध्वे भाति विभाविता ।
दिक्पालानां सभाग्रे तु स्थिरविद्युत्समोदया ॥ ५१ ।

महादेवं कीर्तयिष्ये सतां कण्ठसरोरुहे ।
योगिनां मौनशीलानां ध्यानसिद्धिप्रदा सभाम् ॥ ५२ ।

[1]महापातककोटिघ्नी वर्णना नास्ति ब्रह्मणः ।
सभाया वर्णने शक्तो नाहं वर्षशतैरपि ॥ ५३ ।

तथापि तव सिद्ध्यर्थं संक्षेपाद् वर्ण्यते प्रभो ।
पितामहसभां नाथ कथ्यमानां विशुद्धये ॥ ५४ ।

शक्यते सा न निर्देष्टुमेवं रूपेति सोज्ज्वला ।
सर्वदा संस्थिरा तत्र यथा नारायणे स्थिरा ॥ ५५ ।

समरूपं संविभाव्य सभया श्रीपितामहः ।
उपासते महात्मानं शाकिनी परमेश्वरम् ॥ ५६ ।

अप्रमेयां सभां दिव्यां मानुषीं नित्यरूपिणीम् ।
अनिर्दिश्यां प्रभावेण [2]सर्वभूतमनोरमाम् ॥ ५७ ।

---

१. महान्ति पातकानि हतवती या सा महापातघ्नी, हन्तेः क्विप् कर्तरि भूते ।

२. सर्वेषां भूतानां प्राणिनां मनांसि रमयति इत्यर्थिकाम् । रमयति या सा रमा, पचाद्यचि सति टाप् । सर्वभूतमनसां रमा इति विग्रहो बोध्यः ।

ओषधैर्वा तथा युक्तैरुत्तमा या अनाशिनी ।
मन्मथा सा सभा देवी न शीता न च घर्मदा ।। ५८ ।

न क्षुत्पिपाशे न ग्लानिं न भूतां नापि भाविताम् ।
नानारूपैरिव कृता मणिभिः सहितायुधैः ।। ५९ ।

स्तम्भैर्न च धृता सा तु शाश्वती न च [1]साक्षरा ।
दिव्यैर्नानाविधैर्भावैर्भास्वद्भिरमितप्रभैः ।। ६० ।

अतिचन्द्रञ्च सूर्यञ्च भासते सा प्रभा स्वयम् ।
प्रदीप्ता नाकपृष्ठस्था भासयन्तीव भास्करम् ।। ६१ ।

तस्यां स भगवानास्ते विदधद्देवमानुषान् ।
स्वयमेकोऽनिशं नाथ सर्वलोकपितामहः ।। ६२ ।

उपतिष्ठन्ति चाप्येनं प्रजानां पतयः प्रभुम् ।
दक्षः प्रचेता पुलहो मरीचिः कश्यपो यतिः ।। ६३ ।

भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च गौतमोऽथाङ्गिरास्तथा ।
पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव प्रह्लादः कर्दमस्तथा ।। ६४ ।

अथर्वाङ्गिरसश्चैव बालखिल्या मरीचिपाः ।
मनोऽन्तरीक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही ।। ६५ ।

शब्दस्पर्शौ तथा रूपं रसो गन्धश्च धार्मिकः ।
प्रकृतिश्चाहङ्कारश्च यच्चान्यत्कारणं भुवः ।। ६६ ।

अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयो मुनीश्वरः ।
जमदग्निर्भरद्वाजः संवर्तश्च्यवनस्तथा ।। ६७ ।

[2]दुर्वासाश्चामरिर्जेता ऋष्यशृङ्गस्तपोधनः ।
सनत्कुमारो भगवान् योगाचार्यो महातपाः ।। ६८ ।

असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ।
ऋषभो जितशत्रुश्च महावीर्यस्तपोमुनिः ।। ६९ ।

---

१. अश्नुते व्याप्नोति इत्यक्षरम्, अश्धातोः सरन् प्रत्ययः, तेन सहिता साक्षरा ।
२. दुष्टं विकृतं वासो यस्य स इति बहुव्रीहिः । वैराग्यातिशयेन वस्त्रविषयेऽभिलाषाभावः ।

आयुर्वेदस्तथाष्टाङ्गो देहवान् वीर्यधारकः ।
ऊर्ध्वरेता महायोगी देवदत्तो भगीरथः ॥ ७० ॥

कपिलाचार्य ईशाप्तो धनदः सारसङ्गतः ।
महावाग्मीश्वरः कालः प्रियकर्मा च सुव्रतः ॥ ७१ ॥

वरुणः सार्वभौमश्च देवाचार्यो धनञ्जयः ।
कामपुत्रो वशिष्ठश्च मन्दारोऽश्वत्थ एव च ॥ ७२ ॥

रविमुख्यो विधाता च नैर्ऋतो यम एव च ।
अग्निः शक्रो विभाण्डश्च महावीरो गणेश्वरः ॥ ७३ ॥

कार्तिकेयो जीवनाथो ग्रहचक्रः शुभङ्करः ।
वेदज्ञाता धर्मवेत्ता वारेन्द्रो नन्दनः प्रभुः ॥ ७४ ॥

बृहस्पतिः शुक्रदेवो विज्ञानी भास्वरास्त्रधृक् ।
अन्ये च बहवः सन्ति ऊर्ध्वरेतार ईशगाः ॥ ७५ ॥

तस्यां भान्ति महाकाल ! केवलानन्दविग्रहाः ।
चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्यैश्च गभस्तिभिः ॥ ७६ ॥

वायवः क्रतवश्चैव सङ्कल्पः प्राण एव च ।
मूर्तिमन्तो महात्मानो [1]महाव्रतपरायणाः ॥ ७७ ॥

एते चान्ये च बहवः सदाशिवमुपासते ।
अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षोऽद्वेषस्तपो दमः ॥ ७८ ॥

आयान्ति तस्यां गन्धर्वाः सहिताप्सरसस्तथा ।
विंशतिः सप्त चैवान्ये लोकपालाश्च सर्वशः ॥ ७९ ॥

नवग्रहास्तत्र सन्ति नानोपचारपण्डिताः ।
मन्त्रो रथन्तरश्चैव हरिमान् वसुमानपि ॥ ८० ॥

आदित्याः [2]साधिराजानो नानावृन्दैरुपागताः ।
मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्च दिगीश्वराः ॥ ८१ ॥

---

१. महाव्रतानि परमयनं येषां ते महाव्रतपरायणाः । परायणत्वं प्रधानाश्रयता ।
२. राजानमधिगताः, अधिराजानस्तैः सहिताः ।

तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ ।
ऋग्वेदश्च सामवेदो यजुर्वेदः सदाशिवः ॥ ८२ ।
अथर्ववेदस्तस्यान्तः सर्वशास्त्राणि चैव ह ।
इतिहासोपदेशाश्च [1]वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ८३ ।
ग्रहा यक्षाश्च सोमाश्च दैवतानि च सर्वशः ।
सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा ॥ ८४ ।
स्मृतिर्मेधा धृतिश्चैव बुद्धिः प्रज्ञा क्षमा यशः ।
स्तुतिशास्त्राणि सामानि गाथास्तु विविधास्तथा ॥ ८५ ।
भाष्याणि तर्कवस्त्राणि देहवन्ति विभान्ति च ।
नाटका विविधाः काव्याः कथाख्याधिककारिकाः ॥ ८६ ।
तत्र तिष्ठन्ति ये पुण्या ये चान्ये गुरुपूजकाः ।
क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवारात्रिः प्रभातगा ॥ ८७ ।
अर्धमासास्तथा मासा ऋतवः षट् च भैरव ।
संवत्सराः पञ्चयुगं मासा रात्रिश्चतुर्विधाः ॥ ८८ ।
कालचक्रञ्च यद्दिव्यं नित्यमक्षयमव्ययम् ।
धर्मचक्रं तथा चापि नित्यमन्तेषु विग्रहाः ॥ ८९ ।
अदितिर्दक्षकश्चैव सुरसा विनता इरा ।
कालका सुरभी देवी सरमा चाथ गौतमी ॥ ९० ।
प्रधा कद्रूश्च वै देव्यो देवतानाञ्च मातरः ।
रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा षष्ठी तथापरा ॥ ९१ ।
पृथिवी गाङ्गता देवी ह्रीः स्वाहा कीर्तिरेव च ।
सुरा देवी शची चैव तथा पुष्टिररुन्धती ॥ ९२ ।
संवृद्धिराशा नियतिरिडा देवी रतिस्तथा ।
कामिनी परमानन्दा देवी श्रीत्रिपुरेश्वरी ॥ ९३ ।

---

१. वेदानामङ्गं षट्—शिक्षा, कल्पः, ज्योतिषम्, व्याकरणम्, छन्दः, निरुक्तं चेति ।

कामामाता महाबाला वरदाद्या सरस्वती ।
मन्दाकिनी वियद्गङ्गा स्वर्गगङ्गा [1]मनोजवा ॥ ९४ ।

त्रिस्रोता चन्द्रभागा च महावेगवती नदी ।
पञ्चतीर्थकलापद्माः सागराः सागरोदयाः ॥ ९५ ।

कालिन्दी वैष्णवी सिद्धा तरला [2]पुष्करोदयाः ।
भानुमती महावेगा चण्डशुक्रा महानदी ॥ ९६ ।

वेत्रवती च कावेरी महाभर्गा वसुन्धरा ।
विभावती पद्मलक्ष्मीः प्रभा भद्रा किरातिनी ॥ ९७ ।

अम्बालिका त्वहल्या च त्रितुण्डा मण्डलेश्वरी ।
मन्दोदरी मन्दवेगा मदिरा शारदा नदी ॥ ९८ ।

निर्मला मन्दरग्रन्थिः प्रज्ञा ज्वालावती रतिः ।
अवन्ती च रटन्ती च युगाद्या माघसप्तमी ॥ ९९ ।

पञ्चतुण्डा घोरनादा सन्तोषी तुष्टवंशिनी ।
भरद्वाजेश्वरी धर्मा शतधारा धरावती ॥ १०० ।

मल्लिका मालिनी मन्दा हिन्दोला लिङ्गवाहिनी।
वर्तुला सिद्धलङ्का च कुरुक्षेत्रस्थिता नदी ॥ १०१ ।

आकाशगङ्गा सिद्धाङ्गी गोतमी बालिका गया ।
दैत्यजिह्वा कालजिह्वा चतुष्कोटिकलाऽमला ॥ १०२ ।

नाडिका सार्धवह्निस्था प्रत्येकस्था न संस्थिताः ।
मूर्तिमत्यो विभान्त्यस्यां सिन्धुदेव्यस्तथा पराः ॥ १०३ ।

सभायां कृष्णनाम्नी च नदी कुलवती बला ।
तस्यां प्रधाना त्रिनदी वामदक्षिणमध्यतः ॥ १०४ ।

इडावती पिङ्गलाख्या सुषुम्नाद्या सरस्वती ।
त्रिमध्ये पूजिता देवी सुषुम्ना बहुरूपिणी ॥ १०५ ।

---

१. मनसो जवो वेगस्तत्सदृशो जवो यस्याः सा गङ्गा भगवती सर्वं पुनाति ।
२. पुष्करे पुष्करक्षेत्रे आद्यतीर्थे उदयो यासां ताः ।

नदाश्चापि च तत्सङ्ख्याः सार्धत्रिकोटयः स्मृताः।
नदः शोणो महाशोणो वटुको बलवान् हरः ॥ १०६ ।
तरुणस्तारको भद्रो विभद्रो नर्मदापतिः ।
प्रभानाथो वीरमुख्यो विशालो बलदेवकः ॥ १०७ ।
पद्मरागो मारकेतस्त्रिवृत्तो नन्दनो घनः ।
[1]अकालजिह्वो हिंसाढ्यो विधूतो ह्यवधूतकः ॥ १०८ ।
ब्रह्मपुत्रो विभाकारः कपिलोऽञ्जन एव च ।
साम्ब एको महासंख्यो[2] मण्डलाख्यो बृहन्नलः ॥ १०९ ।
शतनालाधरो रुद्रो विश्वगामी धनञ्जयः ।
सहस्रवदनो वाक्यो घर्घरो दमनस्तथा ॥ ११० ।
सिताख्यो मानवो गर्तः कुलाख्यो विसमापतिः ।
भवकुण्डो विसर्गाख्यो ज्योतिष्टोमः फलाकरः ॥ १११ ।
धवलो बदराख्यश्च वीरभद्रो मखस्तथा ।
मर्महन्ता शूलगर्तो मानभङ्गो दिवागमः ॥ ११२ ।
शूरश्चैव कालकूटो मधुगामी जलान्तकः ।
दधिधारो घृताख्यश्च सुधाधारो महानदः ॥ ११३ ।
हिङ्गूलाख्यो मालकेतुः पयस्वान् पयसः पतिः ।
लवणाख्यो धर्मपुत्रो जीवपुत्रो धनाकरः ॥ ११४ ।
मायापतिः कलानाथो विन्ध्यलो लवणाश्रयः ।
इक्षुधाराधरो मानो विधुवर्णो धराजलः ॥ ११५ ।
पुष्करो दुष्कराख्यश्च शङ्करश्च सदाशिव ।
एते चान्ये च बहवः पुष्करं समुपासते ॥ ११६ ।
त्रयाणां पुष्करः श्रेष्ठः सुषुम्नानाडिकाश्रयः ।
इडायां पुष्कराख्यश्च पिङ्गलायाञ्च शङ्करः ॥ ११७ ।
नदाश्चापि बहुतरा मूर्तिमन्तो विभान्ति च ।
नद्यश्च मूर्तिमत्यश्च सदाशिवमुपाश्रिताः ॥ ११८ ।

---

१. अकाले जिह्वा यस्य सः । अकाल एव प्राणिनं ग्रहीतुं जिह्वा याति यस्येत्यर्थः ।
२. मण्डं लाति आदत्ते इति मण्डलः, स आख्या यस्येति बहुव्रीहिः ।

पूजयन्ति कर्णिकायां सभायां ब्रह्मणः प्रभो ।
सदाशिवसभामध्ये ब्रह्मणः सभयोज्ज्वला ॥ ११९ ।

तस्यां देवसभा भाति शक्रस्यापि मनोहरा ।
पूर्वादिक्रमयोगेन ध्येया च खेचरीव वा ॥ १२० ।

वह्निकोणेऽनलसभा महातेजोमयी परा ।
कर्णिकाया दक्षिणे च [1]धर्मराजमहासभा ॥ १२१ ।

नैर्ऋते राक्षसेन्द्रस्य सभा सकलमोहिनी ।
वरुणे भाति दीप्ताख्या वारुणीया सभाऽपरा ॥ १२२ ।

वायुकोणे वायुसभा कौबेरी चोत्तरे सभा ।
अधो नन्दसभा भाति चोर्ध्वं ब्रह्मसभा प्रभो ॥ १२३ ।

मध्ये च भाति सूर्याभां शतायुतसमोदयाम् ।
सदाशिवसभां नाथ ब्रह्माण्डे मण्डलोद्भवाम् ॥ १२४ ।

सूक्ष्ममार्गे सदा भान्तीमीश्वरस्यापि रूपिणीम् ।
आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाश्विनावपि ॥ १२५ ।

विश्वेदेवाश्च साध्याश्च पितरश्च महर्षयः ।
एक एव तु राजर्षिः प्रधानस्तत्र भाति हि ॥ १२६ ।

[2]त्रयोदशगुणोपेता भान्ति राजर्षयस्तथा ।
पृथुश्चैव धर्मराजो हरिश्चन्द्रो युधिष्ठिरः ॥ १२७ ।

रामचन्द्रो रमानाथो भगीरथ इलापतिः ।
प्रह्लादः कर्दमश्चैव विभीषणश्च धार्मिकः ॥ १२८ ।

नलश्चैव रुक्ममाली विक्रमोद्धततापसाः ।
वामपार्श्वे अधोभागे प्रदीप्ता ह्यासनावनौ ॥ १२९ ।

अन्ये च मुनयः सन्ति समावेष्टय सदाशिवम् ।
महाभक्ताः प्रपश्यन्ति सदाशिवपरं पदम् ॥ १३० ।

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
स्मरणात् पठनाद्ध्यानात् सदाशिवपतेः प्रभोः ॥ १३१ ।

---

१. धर्मस्य राजा धर्मराजः, स एव महानाश्रयो यस्याः सा ।

२. त्रयोदशसंख्याकैर्गुणैरुपेता इति मध्यमपदलोपिसमासः ।

अनायासेन सिद्ध्यन्ति ये ये भक्ता महीतले ।
वृद्धा वा बालका वापि यौवनस्था[1] नरा अपि ॥ १३२ ।
अनायासं फलं लब्ध्वा प्रपश्यन्ति सदाशिवम् ।
एतेषां ध्यानमाकृत्य चार्चयन्ति सदाशिवम् ॥ १३३ ।
स याति सहसा नाथ सदाशिवपरं पदम् ।
देवीनां यजनं कृत्वा ये ध्यायन्ति सदाशिवम् ॥ १३४ ।
त्रैलोक्यं सहसा दृष्ट्वा प्रपश्यन्ति सदाशिवम् ।
यथाकाले निर्जने च गवीनां कुहरेऽपि वा ॥ १३५ ।
स्थित्वा चैकमना ध्यायेत् सदाशिवपरं पदम् ।
शिवत्वं याति सहसा ध्यानाद् ब्रह्मगतस्य च ॥ १३६ ।
ब्राह्मणः सहसा याति सदाशिवपरं पदम् ।
एवंभूतं ध्यायतीह सदाशिवपदाम्बुजम् ॥ १३७ ।
रत्ननूपुरनादाढ्यं चलद्भूषणमण्डितम् ।
पद्मरागस्याङ्गुलीभिर्मण्डितं रक्तपङ्कजम् ॥ १३८ ।
सिद्धसभासेवितञ्च सिद्धानामाश्रयाकरम् ।
[2]देवदानवगन्धर्वसिद्धचारणसेवितम् ॥ १३९ ।
मुनीन्द्रगणपूज्यञ्च धर्मसिन्धुमयं ध्रुवम् ।
वाञ्छादिफलदं कान्तं शतारुणसमप्रभम् ॥ १४० ।
सर्वविद्यामयं ध्यायेद् हंसमार्गे[3] निरञ्जने ॥ १४१ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवभैरवीसंवादेऽकालमृत्युहरण-सभावर्णनं पञ्चसप्ततितमः पटलः ॥

---

१. यूनो भावो यौवनं तत्र तिष्ठति या सा "सुपि स्थः" इति कर्तरि अर्थे कप्रत्ययः । स्त्रीत्वविवक्षायां टाप्प्रत्ययः ।

२. देवदानवगन्धर्वसिद्धचारणैः सेवितम् । द्वन्द्वगर्भस्तृतीयासमासः ।

३. हंसानां नीरक्षीरविवेचनसदृशप्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारवतां मार्गः पन्थाः, तत्रेत्यर्थः ।

अथ षष्ठसप्ततितमः पटलः

आनन्दभैरवी उवाच—

कथयामि महाकाल ! चात्यन्ताद्भुतसाधनम् ।
कवचं काकिनीदेव्या [1]अष्टोत्तरशताक्षरम् ॥ १ ॥

यस्य गेहे करे शीर्षे कण्ठे च चित्तमध्यके ।
भुजमध्ये च कट्यां वा धारयित्वा महीतले ॥ २ ॥

किं न सिद्धिं करोत्येव साधको योगिनीपतिः ।
योगसिद्धिः क्रियासिद्धिः शिवासिद्धिस्तथा परा ॥ ३ ॥

महासिद्धिः खेचरी च सुषुम्णासिद्धिरेव च ।
फलसिद्धिः कालसिद्धिः क्रियासिद्धिः शिवाम्बिका ॥ ४ ॥

जङ्घासिद्धिः परासिद्धिः खड्गसिद्धिः सुसूक्ष्मगा ।
अणिमाद्यष्टसिद्धिश्च करे तस्य स्थिरा भवेत् ॥ ५ ॥

कवचं काकिनीदेव्याः सर्वसिद्धिप्रदायकम् ।
अकाले वा सुकाले वा पठनाद् धर्मसञ्चयम् ॥ ६ ॥

जयो धर्मसञ्चयेन जयो यत्र शिवस्ततः ।
यत्र शिवा तत्र शिवः कवचात्मा द्वयं प्रियो ॥ ७ ॥

कर्तारौ तौ सदा तारौ पार्वतीपरमेश्वरौ ।
कार्यकारणस्रष्टारौ उभौ तत्र परात्परौ ॥ ८ ॥

कवचात्मकमूर्त्तौ च स्थातारौ प्रभवात्मकौ ।
तस्य नामाक्षरं वक्ष्ये शृणुष्व भैरवेश्वर ॥ ९ ॥

भैरवी भीमरूपा च विरूपा रूपवर्जिता ।
सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपा च स्वप्रकाशा[2] च शाकिनी ॥ १० ॥

---

१. अष्टोत्तरं शतमक्षराणि यस्मिन् कवचे, तमत्यन्ताद्भुतसाधनभूतं सिद्धितत्त्वप्रदायकमित्यर्थः ।

२. स्वेनात्मना प्रकाशो यस्याः सा । घटादीनां यथा परप्रकाश्यत्वं तथा शाकिनीदेव्याः परतः प्रकाश्यता नास्ति । वेदान्तशास्त्रे परब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वमुच्यते ।

चपला चञ्चला भीमा चन्द्रदेवी परापरा ।
कमलाक्षी देवमाता खड्गकपालधारिणी ॥ ११ ।
गुर्वी गौरी घनच्छाया ॐकाराद्या चरुप्रिया ।
छाया जया चाञ्जना च ओङ्कारात्मा कलावती ॥ १२ ।
टङ्कारिणी डाकिनी च टक्कादेवी रुणप्रिया ।
तारिणी स्थूलपुष्टा च दयाधर्मप्रिया नुतिः ॥ १३ ।
परमा बुद्धिशक्तिश्च फलदा फाल्गुनी कला ।
वसुधारा वासुकी च भद्रकाली भवाभवा ॥ १४ ।
मनसा मोहिनी माता यशोदा याज्ञिका यशा ।
रूपेश्वरी रणप्राणा लक्ष्मीर्लक्षणशोभिता ॥ १५ ।
वसुप्रिया वसुरता बालरक्षा शशिप्रभा ।
षडक्षरी शारदा च हरिद्रा हारमालिनी ॥ १६ ।
लावण्यनिरता लङ्का क्षयरोगविनाशिनी ।
क्षेत्रपाला च क्षेत्री च क्षत्रिया क्षेमदा क्षमा ॥ १७ ।
[1]क्षुन्निवृत्तिकरी क्षुब्धा क्षालनाख्या क्षराक्षरा ।
अनन्ताख्या उमा दुर्गा ऋषभा ईश्वरप्रिया ॥ १८ ।
लृकारबीजकूटस्था लृकारदीर्घजीविका ।
एरण्डरणचामुण्डा ऐन्द्री इष्टप्रियान्तरा ॥ १९ ।
तुन्तुण्डा ओषधी च उत्तमाधममध्यमा ।
औद्वेषिणी औषधस्था अट्टहासात्मसङ्गता ॥ २० ।
अर्थदा अष्टहस्ता च अर्ककोटिमयूखगा ।
अर्धनारीश्वरा अर्च्या अर्बुदास्त्रधरा समा ॥ २१ ।
अष्टैश्वर्यप्रदा[2] अर्घा अम्भस्था चाप्यरुन्धती ।
अर्पणाख्या अर्कमुनी अर्पणा अस्खलस्थिता ॥ २२ ।

---

१. क्षुधो निवृत्तिः, क्षुन्निवृत्तिस्तां करोति, तच्छीला या सा । कृञ्धातोष्टप्रत्ययः, टित्वाद् ङीप्प्रत्ययः ।

२. अष्टसंख्याकानि ऐश्वर्याणि, तानि प्रददाति या सा, "आतश्चोपसर्गे" इति कप्रत्यये स्त्रीत्वविवक्षायां टापप्रत्ययः ।

अर्चनाढ्या अर्चनास्था अराती अरुणाधरा ।
अष्टोत्तराख्यममृतं पठित्वा कवचं पठेत् ॥ २३ ।
तदा फलसमृद्धिः स्यादायुरारोग्यसाधनम्[1] ।
शाकिनीकवचस्यास्य सदाशिव ऋषिः स्मृतः ॥ २४ ।
गायत्रीच्छन्द एवापि शाकिनी देहदेवता ।
ओं श्रीं क्लीं मे शिरः पातु ब्लूँ ह्लूँ मे ललाटकम् ॥ २५ ।
चक्षुषी खेचरी पातु कर्णौ मे शिवशाकिनी ।
गण्डयुग्मं सदा पातु देवशाकम्भरी रमा ॥ २६ ।
स्वाहा पातु युग्मनासां ओष्ठाऽधरं शिरोऽवतु ।
द्रीं ह्रीं श्रीं मे दन्तपङ्क्ति जिह्वाग्रं देहदेवता ॥ २७ ।
चिबुकं कमला देवी वाग्दात्री मे कपालकम् ।
वदनं कालिका पातु शब्दबीजात्मिका गलम् ॥ २८ ।
कण्ठदेवी शाकिनी च पातु मे कण्ठपङ्कजम् ।
सुरादेवी सदा पातु हृत्पद्मं कामरूपिणी ॥ २९ ।
कलावती कामकामा काममाला विशुद्धकम् ।
सदाशिवपथं पातु लक्ष्मीर्मे नाभिपङ्कजम् ॥ ३० ।
उल्कामुखी सदा पातु देवमाता षडक्षरम् ।
सदा पातु विष्णुपद्मं राकिणी पातु मे दलम् ॥ ३१ ।
कटिदेशं सदा पातु भोगदा ज्ञानमोक्षदा ।
मूलाधारं सदा पातु काकिनी परमेश्वरी ॥ ३२ ।
एकरूपा सदा पातु लिङ्गाधारं विरूपिणी ।
[2]मार्कण्डपूजिता देवी मृकुण्डा मूलवासिनी ॥ ३३ ।
सदा मे पातु देवेशि अभया चारुदेशकम् ।
दर्शनाख्या महादेवी लिङ्गाधारं पदान्तरम् ॥ ३४ ।

---

१. आयुश्चारोग्यं चेति आयुरारोग्ये ते साधयति यत्तत्, कर्तरि ल्युट् बाहुलकात् । अथवा करण एव सः ।

२. मृकण्डस्य पुत्रो मार्कण्डस्तेन पूजिता इति भावः । मार्कण्डेयशब्दस्तु ढक्प्रत्ययान्तो द्रष्टव्यः ।

पातु देवी हिरण्याक्षी सर्वाङ्गं सर्वदेवता ।
विधात्री सूक्ष्मरूपस्था [1]स्थूलाङ्गी च कृशोदरी ॥ ३५ ।

सर्वत्र सर्वदा पातु देवी शाकम्भरी मम ।
हृत्कालिका सदा पातु सर्वाङ्गं सर्वदेशके ॥ ३६ ।

इति ते कथितं नाथ कवचं देवदुर्लभम् ।
पठित्वा सिद्धिमाप्नोति राजत्वं लभते नरः ॥ ३७ ।

अकस्मात् सूर्यतुल्यः स्यात् कामजेता स्वयं भवेत् ।
धारणाद् देहवृद्धिः स्यादायुरारोग्यसम्पदम् ॥ ३८ ।

वायुसिद्धिकरं साक्षादमृतानन्दविग्रहम् ।
अग्निस्तम्भं जलस्तम्भं वायुस्तम्भं करोति हि ॥ ३९ ।

खेचरो योगजेता स्यादाशाक्षयकरो भवेत् ।
ततः पठेत् काममन्त्रं तदन्ते ध्यानमाचरेत् ॥ ४० ।

ॐ श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे
नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणा-
मुम्म इषाण सर्वंलोकम्म इषाण ॥ ४१ ।

जपित्वा काममन्त्रं हि सर्वकामफलं लभेत् ।
ततो ध्यात्वा च कवचं ध्यायेद्यः शाकिनीशिवम् ॥ ४२ ।

स वेदपारमायाति शाकिनीध्यानयोगतः ॥ ४३ ।

प्राणाख्यां शुक्लपद्मे निरवधिनिलयां शाकिनीं पीतवस्त्रां
सूक्ष्मां भूषातिरुद्रोद्भवतनुचपलां चञ्चलां सिद्धिलोलाम् ।
हस्तैः पद्मैश्चतुर्भिः सुनयनकमलैर्भासमानां शिवाढ्यां
पद्माभीतिप्रचण्डासिचयसहितां शाकमातां भजामि ॥ ४४ ।

---

१. स्थूलेऽक्षिणी यस्याः सा । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् इति सूत्रेण षच्प्रत्ययः, षित्वान् ङीष् । स्थूलाङ्गी इति पाठेऽपि 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' इति वचनेन ङीष्प्रत्ययो वैकल्पिकविधिना बोध्यः ।

ध्यात्वा योगी श्मशाने [1]गिरिवरकुहरे डाकिनीदेशमध्ये
शून्ये गर्ते वने वा गगनगृहतले शून्यगेहे सुप्रवासे ।
ज्ञानात्मा यो वशी वा पठति च सततं शाकिनीदेहयोगं
गङ्गायां स्वीयगर्भे कवचमभयदं सर्वदं याति सिद्धिम् ॥ ४५ ।

कवचं कारणैर्देवीं पूजयित्वा यथाविधि ।
अकस्मात् [2]कायसिद्धिः स्यादष्टैश्वर्यसमन्वितः ॥ ४६ ।

मोक्षमाप्नोति भावेन सुखं तस्य पदे पदे ।
म्रियन्तु बालका यस्याः [3]काकवन्ध्या च या भवेत् ॥ ४७ ।

धारयित्वा त्विमां विद्यामेतैर्दोषैर्न लिप्यते ।
कण्ठे यो धारयेदेतां समरे काण्डधारिणीम् ॥ ४८ ।

अक्षयत्वमवाप्नोति जीवमात्रः सदाशिवः ।
गोरोचनाकुङ्कुमेन कालागुरुहरिद्रया ॥ ४९ ।

लाक्षारसैर्लेखयित्वा धारयित्वाऽमृतं लभेत् ॥ ५० ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवभैरवीसंवादे शाकिनीकवचं नाम षट्सप्ततितमः पटलः ॥

●

---

१. गिलति पृथिवीं निगिलति योऽसौ गिरिः । गृधातोरौणादिक इ-प्रत्ययः, तस्य कित्वाद् गुणाभावः । गिरीणां वरस्तस्य कुहरे इति भावः ।

२. चीयन्तेऽस्मिन्नस्थ्यादीनि स कायः, "निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' इति सूत्रेण चिञ्धातोर्घञ् आदेश्चकारस्य ककारादेशश्च, कायस्य सिद्धौ तस्य सर्वदेशेषु अप्रतिहता गतिर्भवति, सूर्यलोके, चन्द्रलोके, हिमाच्छन्नदेशे वा तद्गमनस्यावरोधो न भवति ।

३. काकवन्ध्याशब्दः पारिभाषिकः । यस्याः स्त्रिया बालका उत्पद्य म्रियन्ते, सा काकवन्ध्या इत्युच्यते ।

अथ सप्तसप्ततितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

इदानीं वद कौमारि सुन्दरि प्राणवल्लभे ।
अशीतितमे पटले वद योगार्थसञ्चयम् ॥ १ ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

शृणु भैरवराजेन्द्र सदाशिवादिशाकिनीम् ।
द्वयोराह्लादयोगो हि भोगमोक्षफलायते[1] ॥ २ ।

आकाशपरमाणूनां विशिष्टामलचक्षुषाम् ।
दर्शनं विद्युज्जडितं प्राप्नोति सहसा सुधीः ॥ ३ ।

सदाशिवकुलस्थानोपरि श्रीशाकिनीपदम् ।
द्वयोर्यो हि विशिष्टज्ञो ज्ञानखेचरसिद्धये ॥ ४ ।

तत्कुलस्थानमावक्ष्ये यथावदवधारय ।
षोडशाख्यदलाग्रेषु मध्यमूलेषु सर्वतः ॥ ५ ।

सदाशिवकुलस्थानं चक्रराजं विचिन्तयेत् ।
विचिन्त्य शतधा योगी किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ ६ ।

भूतानामधिपो भूत्वा स्थिरो भवति भूतले ।
भगवन्तं महाकायं परदेवं सदाशिवम् ॥ ७ ।

चक्रस्थं चक्रबाह्यस्थं बाह्यमाभ्यन्तरं परम् ।
पश्यत्येव महायोगी कालचक्रं ततः परम् ॥ ८ ।

अनायासेन गगनग्रन्थिं भित्त्वा परे लयम् ।
चक्रराजप्रसादेन सर्वसञ्चारगो भवेत् ॥ ९ ।

[2]द्वात्रिंशत्कठिनग्रन्थिं भित्त्वाकाशे खगोर्ध्वगः ।
ततः परशिवानन्दचक्रं शक्त्यात्मकं ततः ॥ १० ।

---

१. भोगश्च मोक्षश्च भोगमोक्षौ, तौ च ते फले चेति भोगमोक्षफले, त इवाचरति इति भोगमोक्षफलायते, "उपमानादाचारे" इति सूत्रेण क्यङ्प्रत्ययः ।

२. द्वात्रिंशत्संख्याका कठिना ग्रन्थिस्तद्भेदनमुक्तम् । एतद्ग्रन्थिगणना पारिभाषिकी वर्तते ।

ततो हि शब्दनिकरं परास्थानं ततः परम् ।
[1]सकलानिष्कलास्थानं बोधनीमण्डलं ततः ॥ ११ ।

तदूर्ध्वञ्चोन्मनीपीठं भित्त्वा च तदनन्तरम् ।
भृगुपूरं ततो भित्त्वा नादपूरं ततः परम् ॥ १२ ।

नादान्तकं ततो भित्त्वा ब्रह्मविष्णुघटाकरम् ।
क्रियाकरं प्राणलयं यज्ञस्थानं शिखापदम् ॥ १३ ।

पूर्णगिरिमुड्डियानं भित्त्वा च स्वपदं ततः ।
दुर्गस्थानं ततो भित्त्वा प्रकाशस्थानमेव च ॥ १४ ।

तदूर्ध्वे पिङ्गलास्थानं तदूर्ध्वे तापदं ततः ।
सुषुम्नामण्डलं भित्त्वा धौम्रिकोणं महालयम् ॥ १५ ।

महाबिन्दुं तदूर्ध्वे तु षट्कोणं तु तदूर्ध्वके ।
तदूर्ध्वे वासनापूरं बीजपूरं तदूर्ध्वके ॥ १६ ।

तदूर्ध्वे विष्णुचक्रं तु कुलालिचक्रवत्स्थितम् ।
तं भित्त्वा कामनगरं सर्वकामफलप्रदम् ॥ १७ ।

तदूर्ध्वे शक्रचक्रं तु तदूर्ध्वे भूमिचक्रकम् ।
तदूर्ध्वे कोषचक्रं तु तदूर्ध्वे वायुचक्रकम् ॥ १८ ।

तदूर्ध्वे वह्निचक्रं तु तदूर्ध्वेऽमृतचक्रकम् ।
तदूर्ध्वे जलचक्रं तु दिवाचक्रं तदूर्ध्वके ॥ १९ ।

तदूर्ध्वे यामिनीचक्रं तदूर्ध्वे तारचक्रकम् ।
तदूर्ध्वे धर्मचक्रं तु कालचक्रं तदूर्ध्वके ॥ २० ।

सर्वकालं सदा व्याप्य जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सदा तदूर्ध्वनिकरं सप्तसागरमण्डलम् ॥ २१ ।

तदूर्ध्वे भाति सततं श्रीजलान्तकमण्डलम् ।
तदूर्ध्वे तु महाचक्रं महापद्मवनाकरम् ॥ २२ ।

---

१. कलाभिः सहिता सकला, निर्गता कला यस्याः सा निष्कला, सकला च निष्कला च, तासां स्थानम् । विरोधिधर्मयोः समावेशः परतत्त्व एव भवति । अत एव वन्दे वह्निशशाङ्कसूर्यनयनमिति कथनं भगवति शिवे संगच्छते ।

टङ्कारोपरि संध्यायेत् सहस्रारे सुपङ्कजम् ।
तं भित्त्वा ज्ञानपद्मं तु कर्णिकायां प्रपश्यति ॥ २३ ।

[1]प्रेतरूपमहादेवशवाकारं तु निष्क्रियम् ।
अस्योरसि प्रेतबीजं सूर्यायुतसमप्रभम् ॥ २४ ।

ऊरुमूले च तस्यापि क्रोधबीजं शतारुणम् ।
तस्योपरि महाकालीमवश्यं परिपश्यति ॥ २५ ।

प्रत्यालीढपदामम्बामम्बुजाक्षीं हसन्मुखीम् ।
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकराम्बुजाम् ॥ २६ ।

त्रैलोक्यजननीं ब्रह्मरूपिणीं मुकुटोज्ज्वलाम् ।
मुण्डमालां संवहन्तीं सर्वास्त्रां सर्वकारणाम् ॥ २७ ।

अनन्तकोटिब्रह्माण्डब्रह्मव्यापकरूपिणीम् ।
प्रसन्नवदनां घोरां शवकर्णां करालिनीम् ॥ २८ ।

योगीन्द्रजननीं नित्यां भवानीं भवमोचिनीम् ।
विमलां निर्मलानन्दां ज्ञानानन्दस्वरूपिणीम् ॥ २९ ।

धर्मार्थकाममोक्षस्थां मुक्तकेशीं दिगम्बरीम् ।
ललितां सुन्दरीं श्यामां महाकालनिषेविताम् ॥ ३० ।

महोग्रां चन्द्रघण्टाढ्यनितम्बरत्नमेखलाम् ।
सहस्रानन्तसूर्योग्रतेजोरूपां कुलप्रियाम् ॥ ३१ ।

श्मशानवासिनीं दुर्गां श्मशानालयवासिनीम् ।
घोररावां महारौद्रीं कालिकां दक्षिणां पराम् ॥ ३२ ।

कर्णावतंसतां नीतशवयुग्मभयानकाम् ।
घोरदंष्ट्रां करालास्यां पीनोन्नतपयोधराम् ॥ ३३ ।

शवानां करसङ्घातैः कृतकाञ्चीं प्रियंवदाम् ।
[2]सृक्कद्वयगलद्रक्तधाराविस्फुरिताननाम् ॥ ३४ ।

---

१. प्रेतरूपो महादेवस्तस्य शवाकारस्तं प्रपश्यति इत्यन्वयः ।

२. सृक्कद्वयेन गलन्ती या रक्तधारा, तया विस्फुरितमाननं यस्याः सा, तामिति भावः ।

[1]बालार्कमण्डलाम्भोजनयनत्रयभूषिताम् ।
दन्तुरां दक्षिणव्यापिमुक्तालम्बिकुचश्रियम् ॥ ३५ ।

शवरूपमहादेवहृदयोपरि संस्थिताम् ।
शिवाभिर्घोररावाभिश्चतुर्दिक्षु समन्विताम् ॥ ३६ ।

महाकालव्यापकेन विपरीतरतातुराम् ।
सुखप्रसन्नवदनां स्मेरारुणसरोरुहाम् ॥ ३७ ।

मधुमांसचर्वणाढ्यां वरदां मदनातुराम् ।
वेदवेदाङ्गविद्याभिरुदारगुणसम्भवाम् ॥ ३८ ।

दैत्यदानवदर्पघ्नीं भगमालाकलेवराम् ॥ ३९ ।

चिन्तयेत् कौलिकां कालीं कुलवृक्षतलस्थिताम् ।
श्रीकल्पलतिकां विद्युत्कोटिमण्डितकुण्डलाम् ॥ ४० ।

नागयज्ञोपवीताढ्यां चन्द्रार्धकृतशेखराम् ।
सर्वालङ्कारयुक्ताञ्च वह्न्यर्कशशिलोचनाम् ॥ ४१ ।

ललज्जिह्वां कामरूपां कामपीठनिवासिनीम् ।
अतिसौन्दर्यवदनां धाराविस्फुरितप्रभाम् ॥ ४२ ।

कामदां सिद्धगन्धर्वदेवचारणनाटकैः ।
स्तूयमानां ब्रह्मविष्णुशिवशक्रमहर्षिभिः ॥ ४३ ।

सर्वदा वन्दितां कोटिजलदाभतनुप्रभाम् ।
संसारतारिणीं तारां तारब्रह्मस्वरूपिणीम् ॥ ४४ ।

इन्दुनीलमणिश्रेणिशोभाविद्युत्प्रकाशिनीम् ।
श्रीवासमधुरानन्दप्रियप्रेमदिगम्बरीम् ॥ ४५ ।

लज्जातीतां कुलातीतां ज्ञानातीतां निरञ्जनाम् ।
[2]क्रोधपुञ्जसमुद्भूतद्वीपिचर्मकटिप्रभाम् ॥ ४६ ।

---

१. बालार्को बालसूर्यस्तस्य मण्डलं तेन प्रस्फुटितमम्भोरुहं कमलं तद्वद् नयनत्रयं तेन भूषिताम् ।

२. क्रोधपुञ्जेन समुद्भूता द्वीपिचर्मणा (व्याघ्रचर्मणा) आच्छादिता या कटिस्तस्याः प्रभा यस्याः सा भगवती शिवा ।

नीला-घना-बला-माया-मात्रा-मुद्रा-कलादिभिः ।
सर्वदा पूजितां ध्यायेत् सहस्रारवराम्बुजे ॥ ४७ ।

एवं ध्यात्वा महाकालीं श्यामां कामदुघां[1] शिवाम्[2] ।
[3]आकाशगामिनीं सिद्धिमवश्यं लभते वशी ॥ ४८ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे
षट्चक्रप्रकाशे सदाशिवकुलचक्रक्रमनिरूपणे
भैरवीभैरवसंवादे योगार्थसञ्चयनं नाम
सप्तसप्ततितमः पटलः ॥

●

---

१. कामान् इष्टान् विषयान् दोग्धीति कामदुघा, स्वेष्टविषयप्रपूरिका भगवती शिवा देवी इति भावः ।

२. शेते प्रलयकाले सर्वं जगद् यस्यां सा शिवा, शेतेर्डंप्रत्यये टाप् ।

३. आकाशे गच्छति, तच्छीला "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इति णिनिः ।

अथाष्टसप्ततितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

श्रृणु भैरव वक्ष्यामि सङ्केतार्थविनिर्णयम् ।
कुलचक्रक्रमं सिद्धं शक्तिसदाशिवस्य च ॥ १ ॥

अस्य विज्ञानमात्रेण कण्ठपद्मे स्थिरो भवेत् ।
पद्माग्रे च सारचक्रं योगिनामतिसुप्रियम् ॥ २ ॥

ध्यानादेव महाबाहो सर्वचक्रप्रदर्शकम् ।
ऊर्ध्वरेता कामजेता ज्ञानी मौनी दिगम्बरः ॥ ३ ॥

खेचरो धारकः श्रीमान् कौलिकः साधको भवेत् ।
तच्चक्रध्यानमेवं तु द्विद्वारमग्रतो मुखे ॥ ४ ॥

तदन्ते चापि द्विद्वारं तिलार्धं भिन्नरेखया ।
रेखाद्वये नैकद्वारमेवं द्वारद्वयं पुनः ॥ ५ ॥

अग्रादुत्तरपर्यन्तं ध्यायेद् वारद्वयं सुधीः ।
द्वयोर्मध्ये चतुर्वेदरेखामण्डलमेव च ॥ ६ ॥

तदन्तरे च षट्कोणं द्विषट्कोणं तदन्तरे ।
तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं तन्मध्ये चन्द्रमण्डलम् ॥ ७ ॥

तन्मध्ये शून्यरूपं तु निराकारं निरञ्जनम् ।
तत्त्वज्ञानाश्रितानन्दविद्यात्मानं ममास्पदम् ॥ ८ ॥

स्थूलसूक्ष्ममयं शुद्धं वाच्यवाचकभावनम् ।
अभेदं तु ममात्मानं कोटिसूर्यसमप्रभम् ॥ ९ ॥

कोटिविद्युत्प्रभाकारं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।
[1]सर्वव्यापकमीशानमभेदज्ञानकारणम्[2] ॥ १० ॥

---

१. सर्वेषु पदार्थेषु व्याप्नोति इति सर्वव्यापकम् ।

२. अभेदज्ञानमद्वैतज्ञानम्, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, इति श्रुतिप्रतिपादितं तस्य कारणम् ।

विधातारं परब्रह्म सर्वज्ञं सर्वदर्शिनम् ।
सर्वशास्त्रप्रवक्तारं ज्ञानज्ञेयं चराचरम् ॥ ११ ।

अष्टहस्तं विशालाक्षं शूलिनं मुण्डमालिनम् ।
जरातीतं निर्विकल्पं तरुणं तारकं हरम् ॥ १२ ।

हरिं ब्रह्माणमीशानं त्रिलोकानां प्रभामयम् ।
अभेद्यभेदकं सिद्धं सिद्धासनकरं सुरम् ॥ १३ ।

गन्धर्वनगरं देशं विशेषं सर्वतोमुखम् ।
अकालतारकं स्वाहास्वधाशक्तिसमन्वितम् ॥ १४ ।

कोटिकालानलाकारं रौद्रं रुद्रात्मकं भवम् ।
कन्याश्रीसुन्दरीकोटिमण्डलान्तःप्रकाशकम् ॥ १५ ।

तेजोबिम्बं भासमानं सर्वव्याधिनिकृन्तनम् ।
हृषीकेशानन्दसिद्धं त्रिविक्रमफलोदयम् ॥ १६ ।

नृसिंहक्रोधनिलयं सर्वदैत्यविनाशनम् ।
मीनावतारवेदार्थसमुद्धरणकारणम् ॥ १७ ।

कूर्मपृष्ठाधारचक्रं वराहदन्तभूषणम् ।
नरसिंहाकारभक्तरक्षकं परमेश्वरम् ॥ १८ ।

महेन्द्ररक्षकं दैत्यदर्पघ्नं वामनं तनुम् ।
दैत्यक्षत्रियदर्पघ्नं परशुरामं द्विजाधिपम् ॥ १९ ।

भृगुवंशपतिं सत्यज्ञानावतारमुत्तमम् ।
श्रीरामं पावनं रक्षोहन्तारं तापसं गुरुम् ॥ २० ।

त्रैलोक्याधारमानन्दरूपं हलधरं परम् ।
अनन्तं योगिनामाद्यं सहस्राङ्कफलान्वितम् ॥ २१ ।

बुद्धं [1]निराकारधर्मं [2]सर्वशास्त्रार्थवर्धकम् ।
नित्यश्रुत्युदितामोदधर्माधर्मविवर्जितम् ॥ २२ ।

---

१. निर्गत आकारो यस्मात्तादृशो धर्मो यस्य तम् ।
२. सर्वं शास्त्रार्थं वर्धयति समेधयति, छेदयति वा ।

स्वयम्भुवं स्वप्रकाशं परमात्मानं मङ्गलम् ।
एकाकारं धर्मचक्रवेदिनं स्वच्छसङ्गरम् ॥ २३ ।
दुष्टनिग्रहकर्तारं महावीरं धनञ्जयम् ।
श्रीकृष्णं सर्वसेवाभिः पूजितं तन्मयं शुभम् ॥ २४ ।
विमदं रक्षकं [1]ध्यानज्ञानमोक्षप्रकाशकम् ।
राजराजेश्वरं वास्यं सर्वलोकनिषेवितम् ॥ २५ ।
सर्वदेहस्थितं धर्मं धर्मात्मानं विनोदिनम् ।
व्यापकं [2]व्यापकाधारं निर्विकल्पं सुधामयम् ॥ २६ ।
विशिष्टं पञ्चपाषाणमहापीठनिवासिनम् ।
अनन्तानन्तमहिमं कपालशूलधारिणम् ॥ २७ ।
त्रिरेखामण्डलस्थानं चतुर्वेदक्रमाकरम् ।
एकवक्त्रं द्विपादं च द्विमुखञ्च चतुष्पदम् ॥ २८ ।
त्रिमुखं षड्भुजं नाथं चतुर्वक्त्रं विधिं परम् ।
अष्टाम्भोजभुजाम्भोजं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥ २९ ।
शिवं दशभुजं सौख्यं सुन्दरं श्रीषडाननम् ।
नित्यं द्वादशहस्तञ्च सर्वास्त्रधारिणं ध्रुवम् ॥ ३० ।
सप्तमुखं महाकायं चतुर्दशभुजं प्रियम् ।
अष्टमुखं शिवाह्लादं भुजषोडशमण्डितम् ॥ ३१ ।
नवपद्ममुखाम्भोजमष्टादशभुजं विभुम् ।
उन्मत्तभैरवं कोटिमहाविद्याद्यवल्लभम् ॥ ३२ ।
अमरेशं महाकायमष्टादशभुजापतिम् ।
कालराशिं कृष्णवर्णं चित्रसर्पसुमालिनम् ॥ ३३ ।
शतवक्त्रं कोटिहस्तं सहस्रवदनाम्बुजम् ।
शतकोटिमुखं [3]नित्यानन्दसन्तानमन्दिरम् ॥ ३४ ।

---

१. ध्यानं ज्ञानं मोक्षं च प्रकाशयति इति भावः ।
२. व्यापकश्चासौ आधारश्चेति कर्मधारयो न तु बहुव्रीहिः ।
३. नित्यो य आनन्दस्तस्य सन्तानो विस्तारस्तस्य मन्दिरमाश्रयम् ।

[1]अनन्तचरणाम्भोजमनन्तजनसेवितम्[2] ।
अनन्तहस्तकमलमनन्तालङ्कृतोज्ज्वलम् ॥ ३५ ।
अन्तःप्रकाशनिकरमनन्तगुणसम्भवम् ।
अनन्तसृष्टिस्रष्टारमनन्तस्थितिकारणम् ॥ ३६ ।
अनन्तकमलावन्ये चानन्तसंहृतिप्रियम् ।
अनन्तबीजनिकरमनन्तशास्त्रनिश्चयम् ॥ ३७ ।
अनन्ततापसन्तृप्तमनन्तजलमध्यगम् ।
अनन्तपरमाधारमनन्तवह्निधारिणम् ॥ ३८ ।
अनन्ताकाशनिकरमनन्तपृथिवीपतिम् ।
अनन्तज्वालामालाढ्यमनन्तबुद्धिकारणम् ॥ ३९ ।
अनन्तस्थानपूजाढ्यमनन्तनामसिद्धिदम् ।
अनन्तगतिविज्ञानमनन्तराज्यदं सुखम् ॥ ४० ।
अनन्तधर्मशास्त्रार्थकिरणं काव्यपूजितम् ।
अनन्तदेवतास्थानमनन्तकर्मसिद्धिदम् ॥ ४१ ।
अनन्तमालागुटिकाजापिनं नित्यसिद्धिदम् ।
अनन्तचित्तसञ्चारमनन्तानन्तविक्रमम् ॥ ४२ ।
अनन्तजीवसंज्ञानमनन्तभावनाप्रियम् ।
अनन्तनिर्मलानन्दमनन्तप्राणिवल्लभम् ॥ ४३ ।
अनन्तगाथाकर्तारमनन्तसिन्धुसंस्थितम् ।
सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥ ४४ ।
सर्वमावृत्त्य तिष्ठन्तमपराजितमीश्वरम् ।
ध्यात्वाऽऽनन्दमयं देवं पीठमध्ये च साधकम् ॥ ४५ ।
शाकिनीदेवशक्तिश्रीप्रेमाह्लादपरायणम् ।
[3]देवदेवं विश्वमयं शक्यरूपं [4]सनातनम् ॥ ४६ ।

---

१. अनन्तौ चरणौ अम्भोजमिव कमलमिव यस्य तम् ।
२. अनन्ता ये जनाः, तैः सेवितम्, सभाजितम् ।
३. देवानपि देवयति योऽसौ ।
४. सना भवः सनातनः तम् ।

मम रूपं यदा नाम्ना स्तौति [1]कामविनोदिनम् ।
ध्यात्वा चक्रपुरे योगी निरालम्बो दिगम्बरः ॥ ४७ ।

गगने चक्रसारं तु कुलनाम्ना प्रतिष्ठितम् ।
ध्यात्वा भवति योगीन्द्रः खेचरो गतभीः प्रभुः ॥ ४८ ।

अनायासेन सिद्धिः स्याद् ज्ञानी च ज्ञानवान् भवेत् ।
ऊर्ध्वंमुखं कण्ठपद्मं तदग्रे चक्रमण्डलम् ॥ ४९ ।

अधोमुखं नेत्रपद्मं द्विदलं चातिसुन्दरम् ।
तदग्रे च महाचक्रं तदाकारं महाप्रभम् ॥ ५० ।

द्विचक्रसङ्गमं यत्र दृश्यते रात्रियोगतः ।
तदा भवति देवेश चतुर्द्वारं मनोहरम् ॥ ५१ ।

चक्रं निरञ्जनं ज्ञानज्ञेयं मन्त्रमयं शिव ।
यो जानाति महादेव स भवेत् कल्पपादपः ॥ ५२ ।

इति कण्ठस्य माहात्म्यं संक्षेपात् कथितं मया ।
जानाति योगी ध्यानेन ज्ञानयुक्तेन चेतसा ॥ ५३ ।

पश्यत्येव महात्मानं ज्ञानज्ञेयं सुधामयम् ।
कोटिवर्षशतेनापि कथितुं नैव शक्यते ॥ ५४ ।

तव भक्त्या महादेव तवायुःक्षेत्ररक्षणात् ।
इदानीं कथितं कण्ठपद्मसञ्चारमङ्गलम् ॥ ५५ ।

अप्रकाश्यं महागुह्यं शब्दब्रह्मस्वरूपकम् ।
निर्जने दोषरहिते व्याधिबाधाविवर्जिते ॥ ५६ ।

सुभिक्षानिन्दारहिते स्थित्वा तत्र दृढव्रतः ।
भावयेत् परया भक्त्या तव रूपं विचिन्तयन् ॥ ५७ ।

अचिराद्योगसिद्धः स्यान्निदानज्ञानसिद्धिभाक् ।
श्रीमातृका महादेवी लीलावती शुभा सती ॥ ५८ ।

---

१. कामदेवमपि विनोदयति तच्छीला, तमिति ।

अम्बा गुर्वी गुरुशक्तिः पातु मामतिकातरम् ।
ताममम्बामम्बुजाक्षीं[1] च प्रणम्य च पुनः पुनः ॥ ५९ ।

इदानीं कथये नाथ भूपद्मज्ञाननिर्णयम्[2] ॥ ६० ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे
भैरवीभैरवसंवादे कण्ठाम्भोजभेदप्रकाशो
नाम अष्टसप्ततितमः पटलः ॥

●

---

१. अम्बुजे कमले इवाक्षिणी यस्याः सा । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' इति सूत्रेण बहुव्रीहौ षच्प्रत्ययः । ततो ङीष्, स्त्रीत्वविवक्षासत्त्वात् ।

२. भूपद्मं पृथिवीकमलम्, अथवा भवनं भूः, उत्पत्तिः, पद्मे यस्यासौ भूपद्मः, ब्रह्मा, तस्य यज्ज्ञानं तस्य निर्णयो निश्चयो यत्र तमिति भावः ।

अथैकोनाशीतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

कथयस्व वरारोहे [1]कामनासिद्धिमङ्गलम् ।
अप्रकाश्यं महाज्ञानं यदि स्नेहोऽस्ति मां प्रति ॥ १ ।

अनादिशास्त्रगोप्यं तु सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।
सुखस्नेहकृपादृष्ट्या सर्वतत्त्वसुमङ्गलम् ॥ २ ।

ज्ञानगम्यं शब्दजालं कोमलान्तःप्रकाशकम् ।
आयुरारोग्यजननं धर्मार्थकाममोक्षदम् ॥ ३ ।

भूपद्मद्विदलं सिद्धमुनिमण्डलसङ्कुलम् ।
ज्ञानिनामात्मसिद्धान्तरूपज्ञानसमागमम् ॥ ४ ।

यामलस्य महारुद्रसेवितस्य वरानने ।
वद विस्तार्य यत्नेन जीवन्मुक्तिपदं यतः ॥ ५ ।

लभ्यते तत्क्षणादेव कृपया करुणामयि ।
कालकूटप्रभावेण चात्मनो विस्मृतिर्गता ॥ ६ ।

तां विस्मृतिं समाकृत्य स्मृतिज्ञानं विधेहि मे ।
परमानन्दनिर्वाहनिर्वाणप्रथमाङ्कुरम् ॥ ७ ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

वक्ष्येऽहं द्विदलं विभाण्डकमलं कालानलव्याकुलं
शोभामोहनरञ्जनं सुचपलामालाकपालोज्ज्वलम्[2] ।
दीप्तिश्रेणिसुकर्णिकान्तरगतः श्रीशाकिनीवल्लभः
प्राणिप्राणनिदानगः परशिवः सम्पातु सञ्चारगः ॥ ८ ।

---

१. कामनानां सिद्धयः, तासां मङ्गलम् । मङ्गेरलच्प्रत्ययः ।

२. सुचपला या मालाः, ताः कपाले यस्य सः, स चासौ उज्ज्वलश्च । अथवा सुचपला मालाः सन्ति [illegible] कपाले, तेनोज्ज्वलमिति भावः ।

[1]संहारोज्ज्वलकान्तिकान्तनिकरं संहारकूपोज्ज्वलं
तेजोरूपमहाशिखासुखपदं पीयूषतैलप्रियम् ।
ताराधीशदिनेशतैजसमयं मायापरादोद्यमं
विद्यावल्लभभावसारविनुतं द्वे पत्रमित्रे भजे ॥ ९ ।

आकाशाग्रे प्रभाग्रोग्रगमनधरणीधारसारे प्रचारे
श्रीनाथेशः क्षितीशः प्रचुरविधुमणिश्रेणिमालाग्रकण्ठः ।
श्रीकण्ठो नीलकण्ठः प्रभवति भुवनानन्दकर्तार्थकर्ता
विद्या श्रीहाकिनीशः स्फटिकमणिगृहे रक्तशक्त्या च हंसः ॥ १० ।

पुरो विभाति कर्णिकासुमध्यचक्रमण्डले
विशिष्टशक्तिहाकिनी तथापि दुर्गतारिणी ।
यदीह भाव्यते नरैः सुमन्त्रतन्त्रगायनै-
स्तदा परत्वमाप्नुयाद्दिवि स्थिरो भवेद्दृते ॥ ११ ।

द्विदलकमलमध्ये हाकिनी देवमाता
विभवनवकुमारी योगिनी योगसिद्धा ।
यदि चरति विलिप्ता चोर्ध्वमार्गे निषण्णा
त्रिभुवनकरुणाभिः साधकस्य प्रसन्ना ॥ १२ ।

जपरटिपरमन्त्रप्राणजापी मनुष्यो
भवति विमलचेता हाकिनीहोमदेव्याः ।
मनुमपि हृदि नित्यं संविभाव्य प्रतिष्ठः
परपुरकुलगामी ध्यानविज्ञानपुण्यः ॥ १३ ।

विषयमधुरतृष्णावर्जितो [2]निर्जितारिः
कुलयुगकमलान्तः सुप्रकाशस्वरूपः ।
विधिकृतकुलदोषं भाति निर्जित्य दोषं
रतिपतिसमकान्तः साधको निर्णितान्तः[3] ॥ १४ ।

---

१. संहारोज्ज्वला कान्तिः, तस्याः कान्तस्तेषां निकरः समूहो यत्रासौ तम् ।
२. निर्जिता अरयः कामक्रोधलोभादयो येनासौ तमिति भावः ।
३. निर्णितः निर्णीतोऽन्तो यस्य । अत्रेकारस्य बाहुलकाद् ह्रस्वः ।

जपति मनुधनाथं भ्रान्तिहोमोत्सवार्थं
मनुजकुलवरेण्योऽन्यानि काल्या विहाय ।
अयुतशतसुमन्त्रान्नाशपुञ्जाक्षराणि
प्रसवति [1]रिपुहन्ता साधको हाकिनीशः ॥ १५ ।

परशिवनवभावप्रावणान्तःप्रवेशी
द्विदलकमलशोभा कोटिसंभाषयन्ती ।
निजकुलपरिदेवैर्भाव्यते भावमानै-
र्भवति चपलमाद्या हाकिनी सुप्रसन्ना ॥ १६ ।

आज्ञानाम सुपङ्कजं विधुशताह्लादप्रभापाटलं
विद्युद्रश्मिभिरुन्नतं धवलपीठानन्दचिद्रूपदम् ।
हस्ताभ्यां कनकप्रभादीप्ताभ्यां प्रकाशोज्ज्वलं
हाकिन्या कलाभयाप्रचलितं ध्यायेत् परानन्दनम्[2] ॥१७।

ध्यानज्ञानादिधाम प्रचयति जयति क्षोभितारिप्रसारी
हस्ताभ्यां हेमभाभ्यां तरुणरविशशोशोभिताभ्यां विधाय ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मातिसूक्ष्मं विचरयति सुधां हाकिनी प्राप्य नाथं
कोटीन्दुक्षेमकान्तिप्रसभधनरसा नन्दितामभ्रपीठे ॥ १८ ।

ध्यायेद् देवीं पराढ्यां त्रिभुवनजननीं षण्मुखीं वेदहस्तां
विद्यामुद्राविरुण्डं जपवटिडमरुं धारयन्तीं ज्वलन्तीम् ।
चेतःशान्तिप्रदात्रीं विधुमणिमुकुरां भीषमानां समानां
षट्कोणे बिन्दुमूले युगदलकमले द्वारयुग्मद्वयाढ्ये ॥ १९ ।

एतच्चक्रस्य मध्ये सकलसुरगणविद्युताकारदीप्ता
नित्यं संभाति पार्श्वावधिकमलमहामण्डलाकारभावे ।
दोषाशेषापनाशे सकलबुधजनैः शोभिता पद्ममाला
प्राणाख्या वह्निजिह्वा[3] सुखमयविमला योगिनो योगमुख्या॥२०।

---

१. रिपूणां कामक्रोधलोभादीनां हन्ता विनाशकः ।
२. परान् अन्यान् आनन्दयति योऽसौ तम् ।
३. वह्निरग्निर्जिह्वा यस्याः सा, संयोगोपधत्वाद् ङीषोऽभावः ।

[1]मनोयोगचिह्नं प्रसिद्धं सुसूक्ष्मं
शुभे पद्ममध्ये शिखाकारचित्तम् ।
महायोनिचक्रे प्रिये कर्णिकायां
शिवस्थानमुग्रं वशी वीक्ष्य शुक्लम् ॥ २१ ।

महाविद्युताकारणं भासमानं
परंब्रह्मसूत्रप्रबोधं विनोदम् ।
महाकौलमार्गं स्थिरप्राणबुद्धिः
क्रमेणैव तच्चिन्तयेत् साधकेन्द्रः ॥ २२ ।

महावेदसूत्रादिबीजप्रकाशं
शतानन्दचन्द्रप्रभं भाव्यमानम् ।
विभाव्याशु नाथप्रियं पञ्चचूडं
महामोक्षगामी जितक्रोधकामः ॥ २३ ।

य एतत् स्वचित्तान्वितः साधकेन्द्रो
विभुध्यानयुक्तः प्रियात्मा महात्मा ।
पुरे शीघ्रगामी पराणां नराणां
मुनीन्द्रः क्षितीन्द्रो महावेदवक्ता ॥ २४ ।

द्विधा बोधविज्ञानशून्यो वरेण्यो भवेत् सर्वदर्शी स सर्वज्ञराजः ।
सदा पूर्णसिद्धिप्रसिद्धोऽरिहन्ता महासृष्टिसंहारपालादिकर्ता ॥ २५ ।

क्षणादाविभाव्य प्रभुर्दीर्घजीवी सुधीः सर्वशास्त्रार्थवेत्ता सुमन्त्री ।
महाज्ञानयुक्तो भवेदेकचित्तो बली बाणतुल्यो विधातुः प्रशस्यः ॥ २६ ।

स्वचक्रमण्डलान्तरे त्रिकोणभूमिबिम्बके
तदन्तरे च षोडशच्छदा विभान्ति वामके ।
सुपत्रके मनोहरे प्रदीपभाशिखाकृति-
र्महोज्ज्वला [2]स्फु(र)त्प्रभा चतुर्गृहं ततो बहिः ॥२७।

---

१. मनसो योगः, मनस एकाग्रता, स एव चिह्नं लक्षणं यस्य तम् ।
२. स्फुरन्ती प्रभा यस्याः सा, स्वप्रकाशा इति भावः ।

[1]प्रणवविरचनाभिः शोभितं चक्रराजं
तदुपरि विलसच्छ्रीचन्द्रखण्डप्रकाशः ।
तदुपरि विगलद्बिन्दुकान्तो मकार-
स्तदुपरि शितनादो भाति पीयूषपुञ्जः ॥ २८ ॥

ध्यायेद्यः क्रमतः सुधीः प्रियपदालीने इह क्षेत्रके
बध्वा चेतसि भावपुञ्जनिकरां श्रीनाथसेवोदिताम् ।
योगीन्द्रोदितयोगशासननिरालम्बां परां सादरा-
मभ्यासान्नियतं वशी परनर उग्रां कलां पश्यति ॥ २९ ॥

तन्मध्यान्तः प्रकाशामतिविमलकलामादिवात्मप्रकाशा-
माद्यक्षे स्वप्रतिष्ठामतिसुखविभवामाश्रये स्थानसिद्धाम् ।
हाकिन्याङ्घ्रिप्रभामण्डलकमलमहारूपलावण्यधैर्यं
सौभाग्यं ध्याननिष्ठे विलसति मधुरं ध्यानमारोपयामि ॥ ३० ॥

ज्वलत्कोटिदीपाकृतिस्नेहजालं
वहन्तं रटन्तं नवीनार्ककान्तम्[2] ।
स्फुरज्ज्योतिराकाशपृथ्वीन्दुमध्यं
भवेद् वै महेन्द्रो विलोक्याशु योगी ॥ ३१ ॥

इहानन्दबाह्ये परेशो हि साक्षान्
महापूर्णभूतिप्रभावोऽव्ययो हि ।
महावह्निचन्द्रार्कसन्मण्डलो वा
महाविष्णुचक्रोपरि श्रीहरिः स्यात् ॥ ३२ ॥

महाविष्णुयोगी महायोगयोगीन्द्रसेव्यं महेन्द्रः ।
विलोक्याशुभन्नार्थतन्त्रप्रतापं तदा तद्विशत्यत्र पञ्चत्वकाले ॥ ३३ ॥

लयस्थानमाकाशवायोरतीव
प्रतापप्रियस्याञ्जनस्याशु पश्येत् ।
महानादरूपं तदूर्ध्वे शिवार्धं[3]
विशालाक्षरूपं शिवाकारमानम् ॥ ३४ ॥

---

१. प्रणवस्य विरचनाः, ताभिः शोभितम् ।
२. नवीनो योऽर्कः सूर्यः बालसूर्यः, स इव कान्तः कमनीयः ।
३. विशालेऽक्षिणी यस्य सः, तस्य रूपमिव रूपं यस्य ।

सुशान्तं महान्तं धराकान्तलान्तं वरं दातुमुत्फुल्लहस्तारविन्दम् ।
सभीतिप्रदं [1]शुद्धबुद्धप्रबोधं दयादानकर्तारमापश्यतीह ॥ ३५ ॥

गुरूणां पदाम्भोरुहाह्लादलीनो
जनः पश्यति प्राणनाथं परेशम् ।
दिनेशं रमेशं धनेशं नरेशं
स योगी निरोगी महाशुद्धवेशम् ॥ ३६ ॥

स वाचां सुसिद्धिं समाप्नोति शुद्धिं
वरं कामलक्ष्मीश्वरत्वं महत्त्वम् ।
न भूयात् त्रिलोके पुनर्जन्मभावः
सदा गायति श्रीपतिर्नारदो वा ॥ ३७ ॥

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

न श्रुतं देवि कल्याणि हाकिनीकूटमन्त्रकम् ।
तथा पूजाविधिं ध्यानं जपं वायुविनिर्गमम् ॥ ३८ ॥

इत्यादियोगं स्तोत्राणि सहस्रनाममङ्गलम् ।
तथा [2]श्रीवरनाथस्य कृपया वद सुन्दरि ॥ ३९ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे भैरवीभैरवसंवादे शाकिनीमन्त्रोद्देशो नाम एकोनाशीतितमः पटलः ॥

●

---

१. शुद्धो बुद्धः प्रबोधो यस्यासौ ।

२. श्रिया सहितो वरः, श्रीवरः, मध्यमपदलोपिसमासः । स चासौ नाथश्चेति श्रीवरनाथः ।

अथाशीतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

श्रृणुष्व [1]परमानन्दहेतुपानप्रियङ्कर ।
अत्यद्भुतं परस्यापि हाकिन्या मन्त्रमेव च ॥ १ ।
अथाशीतितमे नाथ पठनाह्लादसागरे ।
रहस्यं परमानन्दवर्धनं कामदं मनुम् ॥ २ ।
अस्यापि भावकर्ता यः स योगी न तु मानुषः ।
अतिविद्या चातिधनं महाराज्यं सदाशिव ॥ ३ ।
अस्याराधनमात्रेण स्वयमेव समाप्नुयात् ।
इति हेतोः संकथये मन्त्रोद्धारं क्रमेण तु ॥ ४ ।
अत्यद्भुत ज्ञाननिदानभावदं
महामनुं मानसजापमाश्रयम् ।
अनल्पविज्ञाननिधिप्रदं शुभं
पुण्यं पवित्रं श्रृणु भैरवेन्द्र ॥ ५ ।

तारं ब्रह्म मनुं श्मशानसहितं शम्भुं विभुं हान्तकं
भान्तं रान्तजलं हुताशनमयं वायुञ्च वामाक्षिणम् ।
वायोरक्षरसंयुतं त्रिपुरया श्रीकामकूटान्वितं
चान्ते हाकिनि देवि वह्नियुवती मन्त्रोऽयमानन्ददः ॥ ६ ।
भाषामारकलारमावधुयुता देवी शिवप्रेयसी
विद्ये हाकिनि तारमन्त्रपुटितं मायाग्निजायान्वितम् ।
योगेन्द्रावनतं महेन्द्रजपितं श्वासाभिरुच्छ्वासितं
ये ध्यायन्ति महीतले प्रियमयी भार्या [2]पतिप्रेमगा ॥ ७ ।

---

१. परमानन्दहेतुः पानं यस्यासौ, प्रियं करोति इति प्रियंकरः, "क्षेमप्रियमद्रेऽण् च" इति सूत्रेण खच्प्रत्ययः कर्तरि । पानान्तस्य करान्तेन सह कर्मधारयसमासो ज्ञेयः । अथवा परमानन्दहेतवे पानं भक्तजनानां रक्षणं येन सः । भक्तान् रक्षित्वा तेभ्यः परमानन्दं ददाति भगवान् शिव इति भावः ।

२. पतिप्रेम गच्छति, गमयति वा सा । गमेः कर्तरि डप्रत्ययः, ततष्टाप् ।

आकाशं वह्निकूटं [1]वधुशिवदयिताशक्तिकामत्रिकूटं
हाकिन्यै परनाथभासुरगुरोः शक्त्यै नमोऽग्निप्रिया।
हाकिन्याः प्रेममन्त्रं जपति यदि सुधी राजराजेश्वरः स्या-
दानन्दाब्धौ निमग्नः प्रचयति किरणं भावराशिप्रकाशम् ॥ ८ ।

द्वे लक्षे मन्त्रसिद्धिर्भवति निजकुले कामधेनुस्वरूपः[2]
क्षेत्रज्ञः क्षेत्रविज्ञो वशयति जगतां भावसारं नरेन्द्रः।
विद्याबीजं रमाढ्यं सुरधुनिसहितं कामकूटं तदन्ते
शब्दाख्यं ब्रह्मतत्त्वं तरुणि भुवनेशि प्रेत्य हाकिनीं श्रीम् ॥ ९ ।

स्वाहान्तो मन्त्रराजः [3]सकलसुरपदानन्दितो भावपूज्यः।
महामन्त्रं प्रवक्ष्यामि येन सिद्धो भवेन्नरः ॥ १० ।

शिवमन्त्रं हाकिनीश परनाथस्य भूपतेः।
यस्याराधनमात्रेण मृत्युजेता न संशयः ॥ ११ ।

प्रेतबीजं समुद्धृत्य विषबीजं ततः परम्।
वह्निबीजं कालकूटबीजं तु तदनन्तरम् ॥ १२ ।

अत्यन्तं दुःखजालं मे हन युग्मं विदारय।
युगलं कामकूटं तु संहारबीजमेव च ॥ १३ ।

शिवबीजं तदन्ते तु हंसः सोहं ततो वदेत्।
स्वाहान्तमन्त्रो जप्तो हि लक्षमात्रं महेश्वर ॥ १४ ।

कुम्भकं रेचकं कृत्वा धारयेत् पवनं शुभम्।
एवं कृत्वा महादेव शिवानन्दं प्रकृत्य च ॥ १५ ।

महाप्रलयकालेऽपि सुस्थिरो भवति ध्रुवम्।
तस्यापि हस्तकमले सदा तिष्ठन्ति सिद्धयः ॥ १६ ।

जपित्वा युगलक्षं तु यत्नेन परमेश्वर।
वाक्सिद्धिं देवलोके तु गमनं निजदेहतः ॥ १७ ।

---

१. वधूश्चासौ शिवदयिता च, सा चासौ शक्तिश्च, तस्याः कामस्तस्य त्रिकूटम्। द्वितीयान्तं जपति इत्यनेनान्वेति।

२. कामधेनोः स्वरूपमिव स्वरूपं यस्य सः। सर्वेष्टदाता इति भावः।

३. सकला ये सुरास्तेषां पदैरानन्दित इति भावः।

तस्य दर्शनमात्रेण लोकाः स्युर्हि निरोगिणः ।
अष्टादशलक्षजपाद् [1]ब्रह्माण्डभेदको भवेत् ॥ १८ ॥
सहस्रारे मनो याति तस्यैव नात्र संशयः ।
तदा [2]संसारसंहारपालनसृजनास्पदः ॥ १९ ॥
तस्य संसारं सकलं कोटिब्रह्माण्डमेव च ।
अनयोर्मन्त्रजापेन सिद्धार्थवद् भवेत् कविः ॥ २० ॥
सर्वशास्त्रार्थवेदार्थसाङ्ख्यार्थादिषु पारगः ।
तस्य साक्षान्मूर्तिमन्तो विभान्ति पुरतो ध्रुवम् ॥ २१ ॥
वारमेकं कदाचिद्वा चायाति मुखपङ्कजे ।
चतुर्विधा मुक्तिः कामसिद्धयः सर्वदा हृदि ॥ २२ ॥
विभान्ति हि किमन्यद्वा कथितुं शक्यते मया ।
वलान्ते रामपुत्रः स्यात् सश्रीकः कृष्ण एव सः ॥ २३ ॥
कृष्णान्ते रामनाम स्यात् भूपतेः पालको भवेत् ।
श्रीरुद्रस्य परदेवदेवस्य सुप्रियो भवेत् ॥ २४ ॥
नवान्ते द्वीपराशीनां चतुर्यामलपारगः ।
चतुःषष्टितन्त्रवेत्ता चेत् कामनगरे स्थितः ॥ २५ ॥

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे
षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे भेदोपक्रमो
नाम अशीतितमः पटलः ॥

●

---

१. ब्रह्माण्डानां भेदं करोति इति । ब्रह्माण्डभेदनसामर्थ्यवानिति भावः ।

२. संसारस्य संहारः पालनं सृजनम्, तत्रास्पदं प्रतिष्ठा यस्य सः । भगवान् शिव एवास्य जगतः सर्जन-पालन-संहारान् करोतीति तत्त्वम् ।

अथैकाशीतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

अथ वक्ष्यामि लोकेश [1]मन्त्रोद्धारान्तकालके ।
हाकिन्याः परनाथस्य साधनं पूजनं शृणु ॥ १ ।
त्र्यशीतितमान्ते तु चतुरशीतितमे मम ।
परनाथस्य हाकिन्या यजनं चाद्भुतं महत् ॥ २ ।
अप्रकाश्यं महागोप्यं सारात्सारं परात्परम् ।
भ्रूपद्मभेदनादीनां क्रमं शृणु महेश्वर ॥ ३ ।
यो हि जानाति भ्रूमध्ये भ्रूपद्मभेदनक्रमम् ।
स ममाग्रे समायाति जीवन्मुक्तो भवार्णवे ॥ ४ ।
तत्क्रमोपक्रमज्ञानं महापातकनाशनम् ।
अकस्मात् सिद्धिदं नित्यं सदानन्दपदप्रदम् ॥ ५ ।
भार्या भवति कामेशी लक्ष्मीनाथो भवेद् ध्रुवम् ।

आनन्दभैरव उवाच—

अथ राज्यक्रियासारं केन प्राप्नोति भूतले ॥ ६ ।
राजत्वं शिष्यवर्गाणां भेदनं केन वा भवेत् ।
साक्षात् सिद्धिक्रमज्ञानं भ्रूपद्मभेदनक्रमम् ॥ ७ ।
कृपया वद मे शीघ्रं यदि श्रद्धा दया मयि ।

आनन्दभैरवी उवाच—

विस्तार्य कथयाम्यत्र सारसङ्केतमङ्गलम् ॥ ८ ।
श्रीगुरोर्वदनाम्भोजनिजमन्त्रप्रकाशितम्[2] ।
श्रुत्वा योगी योगयोग्यो भवत्येव न संशयः ॥ ९ ।

---

१. मन्त्रोद्धारस्यान्तः अवसानं तस्य कालः समयः, तत्र, स्वार्थे कप्रत्ययः ।

२. वदनमम्भोजमिवेति वदनाम्भोजम्, ततो मन्त्रस्य प्रकाशितम्, प्रकाशनमित्यर्थः ।

अधोमुखे भाति [1]महारविप्रभा ग्रन्थिप्रचण्डोपरिवारकाभिः ।
शनैः शनैर्भेदनयोगकाले प्रयत्नमाकृत्य भवेद्धि योगी ॥१०।
बद्धमेकासनं कृत्वा चित्तमारोप्य यत्नतः ।
भ्रूपद्मनिकरे शोभामण्डलानन्दपूरिते ॥ ११ ।
सत्त्वग्रन्थिपदं भित्वा स्थिरचेता भवेद् ध्रुवम् ।
अकालमृत्युः कुत एव तस्य प्रभाकरज्ञाननिकेतशोभी ।
आकाशगामी भुवनाधिकारी स्थिराशयः प्रेमकलापगामी ॥१२।
सप्तसु ग्रन्थिमुखेषु देवताः सप्तधा मुदा ॥ १३ ।
विभान्ति योगिरक्षायै योगमायावशाय च ।
स्थिरमाया योगमाया कालमाया च लाकिनी ॥ १४ ।
देवमाया धर्ममाया विमाया सप्त देवताः ।
ग्रन्थिमध्ये रत्नवर्णा निर्मलानन्ददायिकाः ॥ १५ ।
सत्त्वग्रन्थिर्महादेव आकाशाग्रेति भाति हि ।
आदौ तस्यापि भेदञ्च एकैकक्रमयोगतः ॥ १६ ।
सूक्ष्मवायुक्रमेणैव भित्वा च योगिमण्डले ।
शीघ्रं याति मनो यस्य स वीरो न तु मानुषः ॥ १७ ।
ग्रन्थिनामानि वक्ष्यामि सावधानोऽवधारय ।
खगिनी द्राविणी धूम्रा कठिना कर्कटी तथा ॥ १८ ।
श्यामला कपिला सप्त ग्रन्थिरूपप्रतिष्ठिता ।
खगिनीमन्त्रमुच्चार्य सूक्ष्मश्वासक्रमेण[2] तु ॥ १९ ।
ऊर्ध्वमार्गे विहायापि ह्यष्टोत्तरशतेन च ।
प्रणवं भुवनेशानी खगिनीबीजमेव च ॥ २० ।
भेदा भेदा भवान्ते तु पुनः खं बीजमेव च ।
अस्त्रान्तं मन्त्रमुच्चार्य भेदने च दृढो भवेत् ॥ २१ ।

---

१. महान् रविः, प्रचण्डः सूर्यः, तस्य प्रभा इव प्रभा यस्याः सा ।
२. सूक्ष्मो यः श्वासक्रमस्तेन । उपांशुप्रयोगेणेत्यर्थः । अयमेव मानसो जपः ।

द्राविणीमन्त्रमुच्चार्यं सूक्ष्ममार्गेण भैरव ।
जपेदष्टोत्तरेणापि शतमन्त्रेण सर्वदा ॥ २२ ।
प्रणवं परमाबीजं ब्रह्मबीजं ततो बहिः ।
वाग्भवं द्राविणीबीजं ग्रन्थिद्रावययुग्मकम् ॥ २३ ।
स्वाहास्त्र्यन्तं महामन्त्रं ध्यात्वा ध्यात्वा पुनः पुनः ।
[1]जप्त्वा भ्रूदलसूक्ष्मदृष्ट्या विलोक्य भ्रूदलान्तरम् ॥ २४ ।
अकस्माद् भेदमाप्नोति किं बन्धक्लेशतः प्रभो ।
धूम्रामन्त्रं प्रवक्ष्यामि येन सिद्धो भवेन्नरः ॥ २५ ।
प्रणवं कमलाबीजं देवीबीजं ततः परम् ।
धूम्राबीजं तदन्ते तु मृत्युनाशिनि शब्दतः ॥ २६ ।
ग्रन्थि धनयुगान्ते तु चास्त्राय फडिति स्थितिः ।
इति मन्त्रं सहस्रं वा शतं वाष्टोत्तरं जपेत् ॥ २७ ।
चक्रासनमुपाकृत्य [2]भेकासनमथापि वा ।
भ्रुवोरन्तर्गतं पद्मं द्विदलं चारुमण्डलम् ॥ २८ ।
तदन्तरे कर्णिकायां महापीठं विचिन्तयेत् ।
बिन्दुषट्कोणमालिख्य त्रिकोणस्थान्तरः सुधीः ॥ २९ ।
तद्बहिः सप्तभूरेखं विचिन्त्य पङ्कजं शुभम् ।
दिव्यं शतदलं विद्युत्कोटिकान्तिसमप्रभम् ॥ ३० ।
पत्रे पत्रे महामुद्रास्थानं परमदुर्लभम् ।
दिव्यस्थानं परीवारस्थानं ध्यात्वा पुनः पुनः ॥ ३१ ।
कर्णिकायां ततो ध्यायेद् हाकिनीपरमेश्वरम् ।
कठिनामन्त्रमावक्ष्ये ग्रन्थिभेत्ता भवेदनु ॥ ३२ ।
येन योगक्रमेणैव शास्त्रजालं वशं नयेत् ।
प्रणवं वाग्भवं माया रमा कामस्ततः परम् ॥ ३३ ।

---

१. जपधातुः सेट्कः, इति कृत्वा जपित्वा इति स्याच्छान्दसत्वात् प्रकृते इडभावो बोध्यः । अथवा गणपाठस्य बाहुलकात्, 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' इति वचनात् ।
२. भेकस्य मण्डूकस्यासनं भेकासनम् ।

कठिनग्रन्थि छेदयेति युगलं परमेश्वरि ।
मायास्त्राय फडन्ताय महामन्त्र उदाहृतः ।। ३४ ।

शतमष्टोत्तरं नित्यं सहस्रं वा जपेद् बुधः ।
अधो मुण्डासनं कृत्वा तत्र पद्मासने विशेत् ।। ३५ ।

भूपद्मे चित्तमारोप्य महापीठे मनोरमे ।
पीठं त्रिकोणमध्ये तु बिन्दुषट्कोणमेव च ।। ३६ ।

तद्बहिः सप्तभूबिम्बं तत्र पद्मं विचिन्तयेत् ।
रक्तं शवदलं पद्मं चतुर्द्वारं तदुत्तरे ।। ३७ ।

पत्रे पत्रे केशराणि त्रीणि त्रीणि क्रमेण तु ।
ब्रह्मविष्णुमहेशादिरूपाणि परिचिन्तयेत् ।। ३८ ।

[1]कर्कटीमन्त्रमावक्ष्ये साक्षाद्भूमिविभेदनात् ।
ब्रह्मबीजं मायाशब्दं मायाकर्कटीशब्दतः[2] ।। ३९ ।

कूटग्रन्थि भेदयेति द्वयं कामकला ततः ।
अस्त्राय फडिति ख्यातो महामन्त्रोत्तमोत्तमः ।। ४० ।

शतमष्टोत्तरं ध्यात्वा मन्त्रं चिच्छक्तिमण्डले ।
श्यामलामन्त्रमावक्ष्ये भैरवेश महाप्रभो ।। ४१ ।

शृणुष्वाराधय ज्ञानं सार्वज्ञसिद्धिदायकम् ।
प्रणवं कालिकाबीजं त्रिवारमुच्चरेत् सुधीः ।। ४२ ।

तदन्ते मायायुगलं श्रीबीजं तदनन्तरम् ।
तदन्ते श्यामलाबीजं दृढग्रन्थिविभेदिनी ।। ४३ ।

विलं निर्मलं शब्दान्ते मा कुरु द्वयमेव च ।
कामास्त्राय फडिति च मन्त्रसारः प्रयोगदः ।। ४४ ।

शतमष्टोत्तरं जाप्यं प्रत्यहं चासनस्थितः ।
शनैः शनैः सिद्धियुक्तो ज्ञानी मौनी महागुणी[3] ।। ४५ ।

---

१. कर्कट्या मायाया मन्त्रस्तमिति भावः । स मन्त्रः सम्प्रदायगम्यः ।
२. माया च कर्कटी चेति शब्दौ यत्र मन्त्रे तस्मात् ।
३. महांश्चासौ गुणश्चेति महागुणः, सोऽस्ति अस्येति मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः ।

भवेत् साधकमुख्यश्च मम देहाश्रितो भवेत् ।
[1]कपिलामन्त्रमावक्ष्ये शृणुष्व भैरवेश्वर ॥ ४६ ।

प्रणवं बालाबीजं तु कपिलाबीजमुत्तमम् ।
तां तु ग्रन्थि भेदयेति युगलं छेदयेति च ॥ ४७ ।

चित्तं मे भूगृहे पश्चात् समारोपय युग्मकम् ।
पुनस्तु कपिलाबीजं मायाबीजं ततो वदेत् ॥ ४८ ।

रमास्त्राय फडन्तोऽयं महामन्त्रोत्तमोत्तमः ।
शतमष्टोत्तरं वापि सहस्रं प्रजपेद् यदि ॥ ४९ ।

[2]द्विमासात् [3]सप्तग्रन्थीनां भेत्ता स्याद् भैरवो यथा।
इति ग्रन्थिभेदनस्य क्रमज्ञानमुदाहृतम् ॥ ५० ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे भ्रूपद्मसप्तग्रन्थिभेदो नाम एकाशीतितमः पटलः ॥

१. कपिलामन्त्रः, कर्कटीमन्त्रः, माया मन्त्रः, इमे मन्त्राः साम्प्रदायिकाः ।
२. द्वयोर्मासयोः समाहारो द्विमासम्, तस्मात् ।
३. सप्तसंख्याकानां ग्रन्थीनामिति मध्यमपदलोपिसमासः ।

अथ द्व्यशीतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

अथ कान्त प्रवक्ष्यामि साधय त्वं सदा निशि ।
हृदि सिद्धान्तविज्ञानं सिद्धिमिष्टां यदिच्छसि ॥ १ ।

गोपय त्वं प्रयत्नेन सच्छिष्ये च निवेदय ।
दुष्टेभ्यो वञ्चकेभ्यश्च पुत्रेभ्यो न प्रकाशय ॥ २ ।

निर्जने प्रातरुत्थाय प्रातः कीर्तिं समाचरन् ।
देहबाह्यस्नानमादौ कृत्वा च साधकोत्तमः ॥ ३ ।

आसनञ्च गोपनीयं प्रत्येकेनापि कारयेत् ।
[1]पूर्वोक्तयोगचिह्नानि आसनानि समाचरेत् ॥ ४ ।

आदौ श्रीमत्स्यकूर्माम्बुजविकटकटस्वस्तिकेन्द्रासनानि
चित्राथर्वापवर्गाननविषमसमाचन्द्रताज्ञानदानि ।
कोकावाक्ताम्रचूडासवभगमृगभीमाद्यवीरोत्कटानि
क्रोधाक्षत्राङ्गसिद्धाहिगरुडमुकुटायोनिभेकासनानि ॥ ५ ।

चतुस्त्रिंशत्संख्याघटितकवलं चासनमिह
प्रबुद्धं देहस्य क्षयमरणशङ्काविरहितम् ।
महच्छब्देनाढ्यं यदि गदितसत्त्रयमिति
प्रभाते मध्याह्ने निशि विकुरुते योगहृदयः ॥ ६ ।

गौरी गौरवगुर्विणीन्द्रियमहागार्हाग्निदा योगदा
[2]योगानन्तभवद्गुणानुगमनाः को वासमर्थो मखैः ।
यस्यास्तां सविता दधाति मतिमान् पादाम्बुजं कोमलं
हाकिन्याः परनाथदेववपुषः सम्भाव्य सम्पूज्यते ॥ ७ ।

---

१. पूर्वोक्तानि यानि योगचिह्नानि योगलक्षणानि ।

२. योगेनानन्ता अथवा योगस्यानन्ता ये भवतां गुणास्ताननुगतं मनो यस्य स इति भावः ।

एतान्यासनमूलानि कृत्वा दृढतरः सुधीः ।
निर्जने पूजनं कुर्याद् यदि कल्याणमिच्छति ॥ ८ ।
[1]दिव्यशङ्खहस्तपद्मो योगो योगमुपाश्रयेत् ।
आसनान्ते महापद्मासनं कृत्वाऽर्चयेन्मुदा ॥ ९ ।
इति योगाभ्यासकाल इदानीं यजनं शृणु ।
बाह्यपूजां समाप्यादौ ह्यन्तर्यजनं चरेत् ॥ १० ।
[2]योगाभ्यासविधिज्ञानमिति शास्त्रार्थनिश्चयम् ।
पूजानिर्घण्टनं नाथ शृणु संक्षेपतः प्रभो ॥ ११ ।
तदन्ते तु प्रवक्तव्यं पूजाविधानमन्त्रकम् ।
सदाभ्यासेन योगेन जीवन्मुक्तिपदं लभेत् ॥ १२ ।
आदावाचमनं नाथ तदन्ते जलशोधनम् ।
आसनादिशोधनं तु चक्रमण्डलभावना ॥ १३ ।
शिखाग्रन्थिबन्धनं तु पीठनिर्माणमेव च ।
पुष्पघण्टाशोधनं तु शङ्खशोधनमेव च ॥ १४ ।
पीठपूजा हृदि ध्यानं भूतशुद्धिस्ततः परम् ।
न्यासजालं ततः सिद्धपुरुषाणाञ्च भावनम् ॥ १५ ।
पुनर्ध्यानम् ऋषिध्यानं हाकिनीपरदेवयोः ।
जीवसंस्कारमेवं हि जीवदानं ततः परम् ॥ १६ ।
महामुद्रादर्शनं तु चावाहनादिमुद्रया[3] ।
पाद्यमर्घ्यस्थापनं तु कृत्वा युगलमेव च ॥ १७ ।
पाद्यादिभिः पूजनञ्च मङ्गलं सोपचारकम् ।
दशोपचारं पञ्चोपचारं मूलेन कारयेत् ॥ १८ ।
अष्टादशोपचारं तु महाभक्त्या निवेदयेत् ।
षोडशोपचारयुक्तैः पूजयेद् वापि साधकः ॥ १९ ।

---

१. दिव्यः शङ्खो हस्तपद्मो यस्य सः । हस्तौ पद्ममिवेति हस्तपद्मम्, उपमितं व्याघ्रादिभिरिति समासः ।

२. योगाभ्यासस्य विधिस्तस्य ज्ञानम् ।

३. आवाहनादीनामपि मुद्रा भवति, सा च साम्प्रदायिकविधिनैव ज्ञेया ।

ततः प्राणायामयुग्मं कृत्वा च [1]साधकोत्तमः ।
जपेत् सहस्रं शतं वा चाष्टोत्तरसमन्वितम् ॥ २० ।
त्रिलक्षं लक्षमेकं वा जपेन्मन्त्रमनन्यधीः ।
जपसमर्पणं कृत्वा प्राणायामत्रयं चरेत् ॥ २१ ।
ततो हि वन्दनं स्तोत्रकवचं सर्वदा जपेत् ।
सहस्रनामसन्तानं चाष्टोत्तरशतान्वितम् ॥ २२ ।
पठित्वा भेदमाकृत्य नरो योगीश्वरो भवेत् ।
श्रवणाद्दर्शनाज्ज्ञानान्मयि भावानुकीर्तनात् ॥ २३ ।
यादृशी जायते श्रद्धा सन्निकर्षं तमालभेत् ।
त्रिलक्षं जपमाकृत्य तद्दशांशेन होमयेत् ॥ २४ ।
तद्दशांशतर्पणन्तु तद्दशांशं चाभिषेकम् ।
तद्दशांशं विप्रभोज्यं कुमारीभोजनं तथा ॥ २५ ।
कुमारीयजनं तत्र कुमारीतन्त्रमापठेत् ।
कुमारीसहस्रनामानि पठेदावश्यकं नरः ॥ २६ ।
ततः कुलक्रियां कुर्याद्योगी योगेश्वरो भवेत् ।
[2]आद्याशक्तिप्रभावः स्यात्तस्य हृत्पद्ममण्डले ॥ २७ ।
यथा मूले स्वाधिष्ठाने मणिपूरे यथा मम ।
हृत्पङ्कजे यथा पूजा या पूजा कण्ठपङ्कजे[3] ॥ २८ ।
सा पूजा भ्रूमहापद्मे मम मन्त्रेण कारयेत् ।
तदायेष्वथ सन्तोषः प्रीतिवृद्धिः सदा मम ॥ २९ ।
मम सन्तोषमात्रेण ग्रन्थिभेत्ता स्वयं भवेत् ।
त्रिराचमनं कुर्यान्मूलमन्त्रेण शङ्कर ॥ ३० ।
तथा चाचमनं वारमेकं कृत्वा महासुधीः ।
ततो जलं शोधयेद् वै मूलान्ते जलबीजकम् ॥ ३१ ।

---

१. साधकेषु उत्तम इति । सप्तमी इति योगविभागेन सुपेति विभक्तयोगेन वा समासः ।
२. आद्यायाः शक्तेः प्रभावः ।
३. कण्ठः पङ्कजमिवेति कण्ठपङ्कजम्, उपमितसमासः ।

निर्मलं चन्द्रखण्डेन सुगन्धिचन्दनेन च ।
मिलितं शोधयानन्दभैरव प्राणभैरवी ॥ ३२ ।

एतन्मन्त्रेण संशोध्य चासनं परिशोधयेत् ।
आसने संस्थिते देवि [1]कूर्मचक्रनिवासिनी ॥ ३३ ।

ममासनं शोधय त्वं सिद्धिदे परहाकिनि ।
एवं संशोध्य मनुना भावयेच्चक्रमण्डलम् ॥ ३४ ।

त्रैलोक्यव्यापिनं योगिमहाविष्णुसुमण्डलम् ।
अत्युच्चं सर्वदा ध्यात्वा तस्योपरि निजासनम् ॥ ३५ ।

विभाव्य पूजयेद् देवीं भ्रूपीठचक्रमण्डले ।
शिखाबन्धनमन्त्रं तु शृणु भैरव भूपते ॥ ३६ ।

यस्यापि कारणेनापि पलायन्तेऽतिविघ्नदा ।
प्रणवञ्च शिखाबन्धवालं बन्धयद्वयम् ॥ ३७ ।

तारं मायास्त्राय फट् च मन्त्रोऽयं ज्ञानिदुर्लभः ।
प्रणवान्ते वासग्रन्थि बन्धयामि नमो द्विठः ॥ ३८ ।

पीठनिर्माणमावक्ष्ये सावधानोऽवधारय ।
त्रिकोणाभ्यन्तरे बिन्दुषट्कोणं संल्लिखेत् सुधीः ॥ ३९ ।

तदन्ते सप्तभूबिम्बं ततः शतदलायुतम् ।
चतुर्द्वारं समालिख्य मन्त्रसंस्कारमाचरेत् ॥ ४० ।

विस्तीर्णताम्रपात्रे तु लिखेत् स्वर्णशलाकया ।
अथवा रौप्यलेखन्या चाथवा बिल्वकण्टकैः ॥ ४१ ।

यन्त्रं निर्माय संस्कारं कुर्याच्छ्रोतत्त्वमुद्रया ।
प्रणवं यन्त्रराजं तु रुचिरेखासमाकुलम् ॥ ४२ ।

[2]योषित्प्रियतराकारं कुलपीठं प्रशोधये ।
स्वाहान्तं मूलमुच्चार्य रक्तवर्णं विचिन्तयेत् ॥ ४३ ।

---

१. कूर्मचक्रे निवसति तच्छीला सुप्यजाताविति णिनिः कर्तरि ।
२. योषितां स्त्रीणां प्रियतर आकारो यस्यासौ इति बहुव्रीहिः ।

शुक्लचन्दनसारेण[1] रक्तचन्दनकेन वा ।
कुङ्कुमेनापि संलिख्य चानेन संस्क्रियां चरेत् ।। ४४ ।
पुष्पशोधनमावक्ष्ये प्रणवं भुवनेश्वरीम् ।
शोधयामि वरं पुष्पं सुगन्धं रक्तपाटलम् ।। ४५ ।
श्वेतं पीतं नीलकृष्णं कुसुमं गन्धसागरम् ।
शोधयामि युगं स्वाहा मन्त्रेणानेन शोधयेत् ।। ४६ ।
प्रणवं शब्दबीजं तु चाकाशबीजसेचनम् ।
घं घण्टां शोधयाम्यद्य वरदा भवहाकिनी ।। ४७ ।
पीठे सम्पूजयेद् भक्त्या साधकेन्द्रो न चान्यधीः ।
षड्दले च रक्तवर्णां पूजयेत् पीठनायिकाम् ।। ४८ ।
कमला सुन्दरी रम्या मोहिनी हरमेखला ।
तेजोरूपा शिखावह्निज्वालाकालानलेश्वरी ।। ४९ ।
समया रमणी भीमा रतिः कामसरस्वती ।
वीणावती मधुमती वासनाकर्षिणी तथा ।। ५० ।
ईरा शुद्धात्मिका भद्रा शान्तिर्निर्माल्यवासिनी ।
अरुन्धती च सावित्री किरणाच्छादिनी तथा ।। ५१ ।
स्वाहा स्वधा[2] विशालाक्षी मदना मदनातुरा ।
भ्रान्तिः प्रभावती ज्ञानदात्री विज्ञानदायिनी ।। ५२ ।
कोकिलाक्षी कुरङ्गाक्षी बोधिनी सप्तमण्डली ।
हिरण्या मन्दिरा चेतःशुद्धिदा सिद्धिदा तथा ।। ५३ ।
मन्दाकिनी बृहद्गङ्गा सिद्धा भोगवती तथा ।
तरङ्गिनी च मोहा च त्रिवेणी मूर्तधारिणी ।। ५४ ।
गुर्वी तरङ्गपूज्या च विमला त्रिपुरा परा ।
त्रितारी तारिणी भद्रकालिका ग्रन्थिभेदिनी ।। ५५ ।

---

१. रक्तं यच्चन्दनं तत् कायतीति रक्तचन्दनकः, तेन । सर्गे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः कर्तरि ज्ञेयः ।

२. विशालेऽक्षिणी यस्याः सा । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' इति षच्प्रत्ययः समासान्तः ।

रत्नमाला[1] पापहरा पार्वती [2]मानसोश्वरा ।
भगमालिन्युमा देवी देवमाता कलावती ॥ ५६ ।

पञ्चानना कालजित्वा दृप्ता पञ्चशिखा तथा ।
मर्दिनी रणमातङ्गी खड्गहस्ता हसन्मुखी ॥ ५७ ।

पद्ममाला किङ्किणी च धरित्री च वसुन्धरा ।
फाल्गुनी पञ्चपीठस्था दीप्ता घोषयसालसा ॥ ५८ ।

पवित्रा धूमिनी दीर्घजङ्घा व्याघ्रमुखी तथा ।
कातरा तरुणी हक्षा हाकिनीन्द्रावती जया ॥ ५९ ।

जयदा पूजिता एताः शतच्छदनिकेतने ।
पराशक्ति पूजयित्वा मन्त्रशक्ति प्रपूजयेत् ॥ ६० ।

तरला चञ्चला धात्री चारुणा सूर्यगा दया ।
स्मृतिर्दीक्षा धारणाक्षा दंशिनी भद्रकालिका ॥ ६१ ।

षट्कालतारिणी रुद्रवलिता वर्णरूपिणी ।
एताः पूज्या महादेव योगिन्यो मन्त्रशक्तयः ॥ ६२ ।

हृदि ध्यानं प्रवक्ष्यामि ध्यानात्मा साधको यतः ।
महाबीजं रक्तवर्णं विभावय न······ ॥ ६३ ।

महासुन्दररूपं तु कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
विभाव्य मनसा योगी भूतशुद्धि समाचरेत् ॥ ६४ ।

वह्निना दह्यमानं तु देहं ध्यात्वा पुनः पुनः ।
वायुना शोष्य देहं तु जलेनाप्लावयन् पुनः ॥ ६५ ।

मूलमन्त्रेण सर्वाङ्गं [3]सुधासागरसम्भवम् ।
ध्यात्वा दिव्यमयं पश्चान्मनःपूजां समाचरेत् ॥ ६६ ।

न्यासजालं प्रवक्ष्यामि साधकानां हिताय च ।
न्यासजालप्रभावेण साधको योगिराड् भवेत् ॥ ६७ ।

---

१. हरतीति हरा पचाद्यचि टाप्, पापस्येति कर्मणि षष्ठ्या समासः ।
२. मानसः मनसा स्वीकृत ईश्वरो यया सा । शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् ।
३. सुधायाः सागरस्तस्य सम्भवो यत्र तदिति भावः ।

[1]अच्छेद्याभेद्यकायः स्यान्मृत्युजेता स्वयं भवेत् ।
ऋषिमातृकरन्यासं चाङ्गन्यासं ततः परम् ॥ ६८ ।
आचरेत् पूर्ववद् भक्त्या मूलं चाद्याक्षरेण च ।
सदाशिव ऋषिः प्रोक्तो गायत्रीच्छन्द एव च ॥ ६९ ।
देवता ह्राकिनी देवी परनाथप्रियङ्करी[2] ।
देवता क्लीं बीजसारं कीलकं मूलमेव च ॥ ७० ।
शीर्षे मुखे हृदि ग्रन्थौ मूलाधारे च विग्रहे ।
ऋषिन्यासं सदा कुर्याद्धाकिनीप्रीतिवर्धनम् ॥ ७१ ।
ॐ पदान्ते च शिरसि सदाशिवाय शब्दतः ।
ऋषये नम उच्चार्य मुखे शब्दं ततो वदेत् ॥ ७२ ।
गायत्रीच्छन्दसे पश्चान्नमःशब्दं ततो वदेत् ।
हृदि श्रीह्राकिनीदेव्यै परशक्त्यै ततो वदेत् ॥ ७३ ।
देवतायै नमः पश्चान्मूलाधारे ततो वदेत् ।
क्लीं बीजाय नमः पश्चात् सर्वाङ्गे च ततो वदेत् ॥ ७४ ।
मूलमार्यदेवतायै नमःशब्दं ततो वदेत् ।
ततः कुर्यान्महादेव शृणु सर्वाङ्गसिद्धये ॥ ७५ ।
हृदये हस्तमारोप्य श्रीतत्त्वमुद्रया सुधीः ।
बिन्दुयुक्तं न्यसेदादौ ततो दक्षभुजे न्यसेत् ॥ ७६ ।
एकारादिचतुर्वर्ण्यं मूलेन पुटितं प्रभो ।
बिन्दुयुक्तं दक्षहस्ते विन्यसेत् साधकोत्तमः ॥ ७७ ।
तथा वामभुजे न्यासमाचरेन्मनुसम्पुटम् ।
ठादिठान्ताक्षरैर्बिन्दुयुक्तैर्न्यासं समाचरेत् ॥ ७८ ।
नादिभान्ताक्षरैर्बिन्दुयुक्तैः स्वमनुसम्पुटैः ।
दक्षपादे न्यसेद्धीमान्[3] ततो वामपदे न्यसेत् ॥ ७९ ।

---

१. अच्छेद्योऽभेद्यश्च कायो यस्येति तद्गुणसंज्ञानबहुव्रीहिर्बोध्यः ।
२. पर उत्कृष्टो नाथः सदाशिवः, तस्य प्रियं करोति या सा गौरादेराकृतिगणत्वात्, पुंयोगविवक्षया वा ङीष् ।
३. प्रशस्ता धीर्यस्यासौ धीमान्, प्राशस्त्ये मतुप् ।

मादिक्षान्ताक्षरैर्बिन्दुसंयुतैर्मनुसम्पुटैः ।
मातृकान्यासमाकृत्य करन्यासं समाचरेत् ॥ ८० ।
ह्रीँबीजेन करन्यासं षड्दीर्घभाक्स्वरेण च ।
एवं चाङ्गन्यासं कार्यं विधानेन कुलेश्वर ॥ ८१ ।
पूर्वोक्तेनापि सकलं न्यासजालं समापयेत् ।
ततः षोढा समाकुर्याद्धाकिनीपरदेवयोः ॥ ८२ ।
मूलाख्यां मातृकास्थाने न्यासस्थानं सुलक्षणम् ।
रुद्रैस्तु प्रथमो न्यासो द्वितीयस्तु ग्रहैर्युतः ॥ ८३ ।
लोकपालैस्तृतीयः स्याच्छिवशक्त्या चतुर्थकः ।
शक्त्यादिभिः पञ्चमः स्यात् षष्ठः पीठैर्निगद्यते ॥ ८४ ।
मन्त्रेण पुटितं रुद्रं मातृस्थाने प्रविन्यसेत् ।
श्रीकण्ठोऽनन्तसूक्ष्मेण [1]त्रिमूर्तीशामरेण कौ[2] ॥ ८५ ।
अर्घीशो भारभूतीशोऽतिथीशो हि ततः परम् ।
स्थाणुकेशो हरेशश्च झिण्टीशो भौतिकेश्वरः ॥ ८६ ।
सद्योजातेश्वरः पश्चादनुग्राहेश्वरस्ततः ।
अक्रूरेशो महासेनः सूराणामधिपेश्वरः ॥ ८७ ।
क्रोधीशश्चापि चण्डेशः पञ्चान्तकेश एव च ।
शिवोत्तमेशश्चात्रापि चेकरुद्रेश्वरस्ततः ॥ ८८ ।
कूर्मेश एकनेत्रेशश्चतुरानन एव च ।
अजेशश्चापि सर्वेशः सोमेशस्तदनन्तरम् ॥ ८९ ।
लाङ्गलीशो दारुकेशोऽर्धनारीश्वर एव च ।
उमाकान्तेश्वरः पश्चादाषाढीशस्ततः परम् ॥ ९० ।
दण्डीशो द्रीशमीनेशो मेघेशस्तदनन्तरम् ।
लोहितेशः [3]शिखीशश्च छागलण्डेश एव च ॥ ९१ ।

---

१. त्रिसृणां मूर्तीनां समाहारः, त्रिमूर्ति, तस्येशोऽमरस्तेन ।

२. कायन्ति शब्दायन्ते प्राणिनो यस्यां सा कुः पृथिवी । 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः ।

३. शिखाऽस्ति यस्य स शिखी, तस्येशः ।

द्विरण्डेशो [1]महाकालेश्वरो वाणीश एव च ।
भुजङ्गेशः पिनाकीशः खड्गीशस्तदनन्तरम् ॥ ९२ ।
बकेश्वरश्च श्वेतेशो भृग्वीशस्तदनन्तरम् ।
नकुलीशः शिवेशश्च संवर्तकेश एव च ॥ ९३ ।
पञ्चाशदेकयुक्ताः स्यू रुद्राद्याः क्रोधभैरवाः ।
आदौ मूलं ततो मातृवर्णमेकं क्रमेण तु ॥ ९४ ।
मातृकास्थानमध्ये तु श्रीकण्ठादीश्वरास्ततः ।
चतुर्थ्यन्ते नमःशब्दं ततो मूलं पुनः पुनः ॥ ९५ ।
इति श्रीकण्ठविन्यासः कथितः कुलभैरव ।
तदिदानीं ग्रहन्यासं शृणु वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ ९६ ।
हृदये च भ्रुवोर्मध्ये लोचनत्रितये ततः ।
हृदये च कण्ठकूपे गलदेशे ततः परम् ॥ ९७ ।
नाभिमूले मुखाम्भोजे गुह्ये च विन्यसेद् ग्रहान् ।
रविसोमौ मङ्गलश्च बुधो बृहस्पतिस्तथा ॥ ९८ ।
शुक्रः शनैश्चरः पश्चाद् राहुः केतुस्ततः परम् ।
न्यसेत्तु स्वस्वमुद्रया ममोक्तस्थानमण्डले ॥ ९९ ।
स्वरैः सूर्यं यादिरान्तैः सोमं कादिशरैः कुजम् ।
चादिपञ्चाक्षरं नाथ बुधं टादिशरैर्गुरुम् ॥ १०० ।
डादिहान्तैस्तथा शुक्रं पादिमान्तैः शनैश्चरम् ।
शादिहान्तैस्तथा राहुं लक्षाद्यां केतुमेव च ॥ १०१ ।
लोकपालन्यासमादौ वक्ष्यामि कुलभैरव ।
शिरोमण्डलमध्ये तु दक्षिणावर्तयोगतः ॥ १०२ ।
अधःपर्यन्तमाल्यस्य मूलेन पुटितं सदा ।
इन्द्राय शक्तिहस्ताय [2]सवाहनाय ॐ नमः ॥ १०३ ।

---

१. महान् कालः स एवेश्वरः, 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' इति गीतावचनात् ।
२. वहन्ति यैस्ते वाहनाः, कर्तरि ल्युट् वाहुलकात्, तैः सहिताय ।

ह्रस्वपञ्चस्वरेणापि मूलान्ते संन्यसेत् सुधीः ।
एकादशस्वरेणापि युक्ताय वह्नये नमः ॥ १०४ ।

सवाहनाय [1]सर्वास्त्रधारिणे तादृशाय च ।
यमाय वाहनस्थाय शूलास्त्रधारिणे नमः ॥ १०५ ।

कादिपञ्चवर्णसारैर्मूलेन पुटितैरपि ।
कर्णे दक्षिणमूलोर्ध्वे हस्तस्य तत्त्वमुद्रया ॥ १०६ ।

यमन्यासं प्रकृत्याशु नैर्ऋत्ये न्यासमाचरेत् ।
आदौ बीजं चादिपञ्चबीजान्ते नैर्ऋताय च ॥ १०७ ।

वसोऽधिपतये सर्वास्त्रादिवाहनवाहिने ।
नमोऽन्ते मूलमन्त्रं तु इति सर्वत्र भावना ॥ १०८ ।

मूलं टादिपञ्चवर्णं वरुणाय ततः परम् ।
सवाहनाय सर्वास्त्रधारिणे नम एव च ॥ १०९ ।

तदन्ते मूलमन्त्रं तु वरुणाय समाचरेत् ।
मूलान्ते तादिपञ्चार्णं सवाहनाय वायवे ॥ ११० ।

सर्वास्त्रधारिणे पश्चान्नमो मूलं ततः परम् ।
ततः कुर्यात् कुबेरस्य न्यासं परमदुर्लभम् ॥ १११ ।

आदौ मूलं पादिपञ्चाक्षरमुच्चार्य साधकः ।
कुबेराय सर्वास्त्रधारिणे नरवाहिने ॥ ११२ ।

नमोऽन्ते मूलमन्त्रं तु वामकर्णोपरि न्यसेत् ।
आदौ मूलं पादिवान्तमीशानाय ततः परम् ॥ ११३ ।

सवाहनाय सर्वास्त्रधारिणे नम उच्चरेत् ।
तदन्ते बीजविन्यासमीशानन्यास ईरितः ॥ ११४ ।

आदौ मूलं शादिहान्तं [2]शक्रोर्ध्वे हस्तमर्पयन् ।
अधोऽनन्ताय देवाय सर्वास्त्रधारिणे ततः ॥ ११५ ।

---

१. सर्वाणि अस्त्राणि सर्वास्त्राणि, विशेषणसमासः, तानि घरति तच्छीलः, णिनिः कर्तरि ।

२. शक्र इन्द्रदेवः, तस्योर्ध्वे ऊर्ध्वभागे ।

सवाहनाय हृच्छब्दं मूलं चापि तदन्तरे ।
आदौ मूलं ततो लक्षं ब्रह्मणेऽस्त्रादिधारिणे ॥ ११६ ।
सवाहनाय हृच्छब्दं मूलञ्च तदनन्तरम् ।
ब्रह्मरन्ध्रे प्रविन्यस्य ब्रह्मज्ञानमवाप्नुयात् ॥ ११७ ।
इति दिक्पालविन्यासः कथितः कालभैरव ।
शिवशक्तिन्यासजालं श्रृणुष्व परमाद्भुतम् ॥ ११८ ।
यस्य करणमात्रेण षट्चक्रभेदको भवेत् ।
आदौ स्थानं प्रवक्ष्यामि यत्र न्यासं स्वमुद्रया ॥ ११९ ।
मूलाधारपद्ममध्ये स्वाधिष्ठानाम्बुजे ततः ।
मणिपूरे महापद्मे [1]हृदयाम्भोजमण्डले ॥ १२० ।
कण्ठे विशुद्धपद्मे च तथा [2]भ्रूपद्ममण्डले ।
एतेषु षट्सु पद्मेषु शक्तियुक्तं शिवं न्यसेत् ॥ १२१ ।
आदौ मूलं वादिसान्तं डाकिनीसहिताय च ।
ब्रह्मणे नम उच्चार्य मूलमन्त्रं ततः परम् ॥ १२२ ।
आदौ मूलं वादिलान्तं राकिणीसहिताय च ।
विष्णवे नम उच्चार्यं मूलविद्यां ततो वदेत् ॥ १२३ ।
आदौ मूलं वादिलान्तं राकिणीसहिताय च ।
विष्णवे नम उच्चार्यं मूलविद्यां ततो वदेत् ॥ १२४ ।
आदौ मूलं डादिफान्तं लाकिनीसहिताय च ।
रुद्राय नम उच्चार्यं ततो मूलं प्रविन्यसेत् ॥ १२५ ।
आदौ मूलं कादिठान्तं काकिनीसहिताय च ।
ईश्वराय नमो मूलं विन्यसेत् साधकाग्रणीः ॥ १२६ ।
आदौ मूलं स्वरान् पश्चात् शाकिनीसहिताय च ।
सदाशिवाय हृच्छब्दं मूलमुच्चार्यं विन्यसेत् ॥ १२७ ।
आदौ मूलं ततो हं क्षं हाकिनीसहिताय च ।
ततः परशिवायान्ते नमो मूलं प्रविन्यसेत् ॥ १२८ ।

---

१. हृदयस्याम्भोजं कमलम्, तस्य मण्डलम् । कमलमिति जात्यभिप्रायेण एकवचनम् । अथवा अम्भोजानि कमलानि, तेषां मण्डलं समूहः ।

२. भ्रूपद्मानि भ्रूकमलानि, तेषां मण्डलम् । भ्रुवौ कमले इवेति उपमितसमासः ।

[1]शिवशक्तिन्यासमेवं कथितं तव यत्नतः।
इदानीं शक्तिविन्यासं कथयामि शृणुष्व तत् ॥ १२९ ।
ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे च भ्रूमध्ये कण्ठगह्वरे।
हृदये नाभिमूले च लिङ्गमूले स्वमूलके ॥ १३० ।
ऊरुमूले तथा जङ्घायुगले विन्यसेत् सुधीः।
पादद्वये तथा गुह्ये युगले पादयोस्तले ॥ १३१ ।
क्रमेण विन्यसेद्धीमान् मूलमन्त्रेण सम्पुटम्।
शक्तिनाम शृणु प्राणवल्लभ प्राणरक्षक ॥ १३२ ।
शक्तिर्माया रमादेवी भवानी दीनवत्सला।
सुमना काकिनी हंसी तथा संसारतारिणी ॥ १३३ ।
योगिनी गोपिका माला वज्राख्या चित्रिणी तथा।
नटिनी भारवी दुर्गा रतिर्महिषमर्दिनी ॥ १३४ ।
एता अष्टादश (श)क्तिमुख्याः संन्यासकर्मणि।
आदौ मूलं स्वरं चैकं षोडशादिक्रमेण तु ॥ १३५ ।
तदन्ते शक्तिमुच्चार्य चतुर्थ्यन्तपदान्वितम्।
नमःशब्दं तदन्ते तु ततो मूलं वदेत् सुधीः ॥ १३६ ।
कादिनान्ताक्षराणां तु चाद्ये बीजं निधाय च।
रत्यै नमो मूलमन्त्रं चाङ्गुष्ठं युगले न्यसेत् ॥ १३७ ।
आदौ मूलं पादिक्षान्तं शक्तिञ्च तदनन्तरम्।
चतुर्थ्यन्तं नमो मूलं शक्तिन्यासः समीरितः ॥ १३८ ।
पीठन्यासं प्रवक्ष्यामि सावधानोऽवधारय।
मूलाधारे कामरूपं कामाख्यं लिङ्गमूलके ॥ १३९ ।
कामराजं त्रिकोणे तु हृदि ज्वालन्धरं तथा।
हृद्यूर्ध्वे मधुकरस्थानं तदूर्ध्वे गगनाख्यकम् ॥ १४० ।

१. शिवस्य शक्तेश्च न्यासम् । एतन्मते शिवशक्त्योः परस्परमभेद एव ।

ललाटे [१]पूर्णगिर्याख्यमुड्डयानं तदूर्ध्वके ।
तदूर्ध्वे शाङ्करीपीठं रुद्रपीठं तदूर्ध्वके ॥ १४१ ॥
तदूर्ध्वे करुणापीठं चोन्मनीपीठमेव च ।
रोधनीपीठमेवं तु बिन्दुपीठं तदूर्ध्वके ॥ १४२ ॥
तदूर्ध्वे रत्नपीठं तु तदूर्ध्वे शुक्रपीठकम् ।
तदूर्ध्वे वासनापीठं विसर्गपीठमेव च ॥ १४३ ॥
ब्रह्मपीठं तदूर्ध्वे तु कालीपीठं तदूर्ध्वके ।
तदूर्ध्वे तारिणीपीठं एकपीठं तदूर्ध्वके ॥ १४४ ॥
तदूर्ध्वे च जटापीठं पिङ्गलापीठमेव च ।
वाराणसीमहापीठं भ्रुवोर्मध्ये प्रविन्यसेत् ॥ १४५ ॥
लोचनत्रयमध्ये तु अवन्तीपीठमेव च ।
मायावतीं मुखवृत्ते जिह्वाग्रे तु मधूत्तमम् ॥ १४६ ॥
तन्मध्ये रसनापीठं दंष्ट्रापीठं तदन्तिके ।
विद्यापीठं तदग्रे तु योगिनीपीठमेव च ॥ १४७ ॥
कण्ठे चाष्टपुरीपीठं[२] तथा मधुपुरीत्रयम् ।
भुजद्वये भोगपीठं श्रीपीठं पार्श्वयुग्मके ॥ १४८ ॥
उदरे रह्वलापीठं धर्मपीठं निवीतके ।
काञ्चीपीठं कटितटे देवपीठं तदुत्तरे ॥ १४९ ॥
तदधः श्यामलापीठं गोपीपीठं तदन्तिके ।
अयोध्यापीठचक्रं[३] तु नाभिमूले प्रविन्यसेत् ॥ १५० ॥
श्मशानपीठं गुह्ये तु शिवापीठं तथा तले ।
ऊरुयुग्मे शीतले वा पीठयुग्मं प्रविन्यसेत् ॥ १५१ ॥
रङ्किणीपीठनगरं जङ्घायुग्मे उदाहृतम् ।
स्तनयुग्मे क्षीरपीठमङ्गुष्ठे द्वे प्रविन्यसेत् ॥ १५२ ॥

---

१. पूर्णगिरिराख्या यस्य तादृशमुड्डयानम् ।

२. अष्टसंख्याकाः पुर्यः अष्टपुर्यस्तासां पीठम् ।

३. अयोध्यायाः पीठं तस्य चक्रम् । मर्यादापुरुषोत्तमरामस्य जन्मभूरयोध्यापीठम् ।

कालीपीठं क्रोधपीठं विन्यसेत् [1]साधकाग्रणीः ।
पञ्चाशदेकपीठं तु केशाग्रे राज्यपीठकम् ॥ १५३ ।

आदौ मूलं ततो वर्णं स्थाननाम ततः परम् ।
पीठनाम चतुर्थ्यन्तं नमोमूलं ततः परम् ॥ १५४ ।

इति पीठन्यासमूलं कथितं तव यत्नतः ।
अस्य करणमात्रेण योगी सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १५५ ।

चिरजीवी स्वयं देवः प्रभाकरसमो बली ।
यन्नमन्ति महेशानि षोढापुटितविग्रहाः ॥ १५६ ।

अल्पायुः स भवेत् सद्यो देवता कम्पते भिया ।
इति ते कथितं नाथ षोढान्यासं महाशुभम् ॥ १५७ ।

ततः सिद्धपुरुषाणां भावनं शृणु शङ्कर ।
मीननाथो गुरुः श्रीमान् आगस्यो देवराजकः ॥ १५८ ।

कालाननः सोमराजो वीरनाथो धनञ्जयः ।
कृष्णः कान्तमतिर्बुद्धो धर्मावतार एव च ॥ १५९ ।

वशिष्ठो नारदश्चैव शुकः प्रह्लाद एव च ।
जनको भार्गवेशश्च कुरुक्षेत्रेश्वरस्तथा ॥ १६० ।

विश्वामित्रो भरद्वाजो मैनाको मेरुरेव च ।
अनन्तो योगनाथश्च महेन्द्रो मदिरेश्वरः ॥ १६१ ।

[2]ब्रह्मानन्दशिवानन्दौ सनकानन्द एव च ।
सर्वेश्वरः कामदेवः शुक्राचार्यः कुलेश्वरः ॥ १६२ ।

इति सिद्धपुरुषाणां ध्यानं कृत्वा विभावयेत् ।
रक्तवर्णं महासत्त्वं पुरुषं सर्वभूषणम् ॥ १६३ ।

विभाव्य ध्यानमाकुर्याद् हाकिनीपरदेवयोः ।
आदौ श्रीपरदेवस्य[3] ध्यानं शृणु महेश्वर ॥ १६४ ।

---

१. साधकानामग्रणीः प्रमुखः, न तु साधकश्चासौ अग्रणीः ।
२. ब्रह्मरूप आनन्दः, शिवात्मकश्च आनन्दः, 'सच्चिदानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतिः ।
३. श्रीसहितः परदेवः, तस्य ।

शुक्लाभं परमेश्वरं परशिवं [1]सूक्ष्मातिसूक्ष्मं गुरुं
सर्वाऽलङ्कृतविग्रहं त्रिजगतां सारं परं निर्मलम् ।
अद्वैतं दशहस्तपङ्कजतलं श्रीदं त्रिनेत्रं शिवं
देवेन्द्रैः परिपूजितं सुखमयं सच्चित्परानन्ददम् ॥ १६५ ।

ध्यायेत् पञ्चमुखं महास्त्रवरदं भक्तैः सदा पूजितम्॥ १६६ ।

एवं ध्यात्वा परनाथं मानसोग्रोपचारतः ।
पूजयित्वा नमस्कृत्य ह्राकिनीध्यानमाचरेत् ॥ १६७ ।

त्रैलोक्योत्सववन्दितां त्रिजगतामानन्दपूर्णोदयां
नानाऽलङ्कृतभूषणां सुमुकुटोल्लासैकबीजप्रभाम् ।
श्यामां मोक्षदवेदहस्तकमलां कारुण्यवारांनिधिं
शोभामण्डलमण्डितां पथि भजे श्रीह्राकिनीमीश्वरीम् ॥१६८।

अस्याः सप्तकुलध्यानं पश्चाद् वक्तव्यमेव च ।
महामुद्रादर्शनं तु चेदानीं शृणु भैरव ॥ १६९ ।

योनिमुद्रा महामुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।
तया चावाहनं कुर्यात् साधको निश्चलात्मना ॥ १७० ।

अर्घ्यद्वयं स्थापयित्वा पूर्वचक्रक्रमेण तु ।
पुनर्ध्यात्वा तयोः पादाम्भोजे दद्यात् सदाशिवः ॥ १७१ ।

षोडशोपचारद्रव्यैस्ततः सम्पूजयेत् सुधीः ।
ऋषिध्यानं प्रवक्ष्यामि यस्य मूर्ध्नि प्रविन्यसेत् ॥ १७२ ।

मूर्तं सदाशिवं देवं नानालङ्कारभूषितम्[2] ।
द्विभुजं पीतवसनं धर्माधर्मप्रदर्शकम् ॥ १७३ ।

वराभयकरं शान्तं ह्राकिनीशिरसि स्थितम् ।
विभाव्य पूजयेत् तत्र गन्धपुष्पादिभिः प्रभो ॥ १७४ ।
जीवसंस्कारमावक्ष्ये येन [3]जीवस्थितिर्भवेत् ।
स्वहृदये दक्षहस्ते तत्र मुद्राक्रमेण तु ॥ १७५ ।

---

१. सूक्ष्मेभ्योऽपि अतिसूक्ष्मम् । अणोरणीयान् महतो महीयानिति श्रुतिः ।
२. नानाऽलङ्कारैर्भूषिताम्, तृतीयातत्पुरुषः ।
३. जीवानां स्थितिः जीवसंस्कारजन्या भवति ।

हाकिनीपरदेवस्य मन्त्रं स्मृत्वा पुनः पुनः ।
स्थापयामि स्वचित्तं मे हाकिन्या सह सम्पदे ॥ १७६ ।

स्थिरो भव महाजीव ममाज्ञां परिपालय ।
स्वाहान्तं मन्त्रमुच्चार्य जीवं संस्कारयेत् ततः ॥ १७७ ।

जीवदानमतो वक्ष्ये हाकिनीपरदेवयोः ।
आदौ श्रीहाकिनीदेव्या जीवदानं शृणु प्रभो ॥ १७८ ।

आं ह्रीं क्रों बीजमुच्चार्य पूर्ववज्जीवसंस्थितम्[१] ।
एकविंशतिवारं तु हाकिनीहृदये जपेत् ॥ १७९ ।

स्वाहान्तेनापि मनुना जीवसंस्कार ईरितः ।
एवं श्रीपरदेवस्य प्राणदानमुदाहृतम् ॥ १८० ।

पुनर्ध्यानं प्रवक्ष्यामि शृणु भैरव वल्लभ ।
यां ध्यात्वा सर्वग्रन्थीनां स्वयं भेत्ता स्वयं हरिः ॥ १८१ ।

अर्घ्यविन्यासयुगलं शृणु भद्रोदर प्रभो ॥ १८२ ।

वेदाङ्गोज्वलनप्रभां त्रिनयनानन्दैकचित्तोज्ज्वलां
लावण्यं प्रियवाक्यमोहनिकरां श्रीसन्मुखीं हाकिनीम् ।
चण्डालामलभालमहाखड्गप्रभापङ्कज-
छायापुत्रवरान् भयहरामश्रं द्रुयन्तीं भजे ॥ १८३ ।

श्रीं श्रीं श्रीं भैरवेशं सुखमयपुरुषं कोटिदीपप्रकाशं
कोटचलङ्कारभूषणं त्रिजगति वरदं व्याघ्रचर्माम्बराढचम् ।
योगीन्द्रैर्योगिमुख्यैः सुरवरतरुणैः सर्वदा पूज्यमानं
पञ्चास्यं शून्यचन्द्रायतभुजकिरणं योगिचूडामणीशम् ॥१८४।

ध्यायेऽहं शरणागतं प्रियतमं मायाश्रयं शङ्करं
रौप्याद्रिप्रभविग्रहं शवमुखं शून्येन्दुवक्त्राम्बुजम् ।
षट्स्थानात्रशतार्कचन्द्रकिरणं [२]भास्वत्त्रिनेत्रं परं
निर्वाणाख्यपदप्रदं कुलकलानाथं भजे भ्रूदले ॥ १८५ ।

---

१. जीवसंस्कारजन्यैव जीवानां संस्थितिर्भवति ।
२. भास्वन्ति प्रभावन्ति त्रिनेत्राणि यस्य । त्रयाणां नेत्राणां समाहारः ।

एवं ध्यात्वा महादेवीं हाकिनीं श्रीपरेश्वरम् ।
नित्यं स्वयम्भुं [1]नागेन्द्रघण्टाडमरुनादितम् ॥ १८६ ।

महाकायकराम्भोजपूजितं पञ्चचूडिनम् ।
अतिसौन्दर्यवदनं नागेन्द्रहारशोभितम् ॥ १८७ ।

महातेजोमयं कोटिचन्द्रकान्तिस्फुरत्प्रभम् ।
घर्घरध्वनिमञ्जीरहंसाकारपदाम्बुजम् ॥ १८८ ।

वृषासनस्थं योगीन्द्रं हाकिनीपरमेश्वरम् ।
हाकिनीसुन्दरीवामशोभाविद्युत्प्रकाशिनम् ॥ १८९ ।

अतिसौन्दर्यलहरीं योगमायास्वरूपिणीम् ।
कामधेनुस्वरूपाख्यां स्वकान्त्या विश्वमोहिनीम् ॥ १९० ।

रौप्याद्रिसदृशाकारां चित्रविद्रुमसल्लताम् ।
मुक्तकेशीं मेघमालां रौप्याद्रयाच्छादनीं कियत् ॥ १९१ ।

चलद्भ्रमरकोटयर्कचन्द्रवह्नित्रिलोचनाम् ।
[2]षण्मुखीं वेदहस्तां तु पद्मरागसमप्रभाम् ॥ १९२ ।

पद्मरागकान्तमालाधारिणीं हेतुसुप्रियाम् ।
साधकानां हितार्थाय कपालासिभयानकाम् ॥ १९३ ।

सर्वसौभाग्यदां नित्यां डमरुजपमालिकाम् ।
धारयन्तीं महाविद्यामानन्दोदयसाक्षिणीम्[3] ॥ १९४ ।

भ्रू पद्मकर्णिकामध्ये गतच्छदसुपङ्कजे ।
शोभारूपं संप्रहन्तीं काकिनीशाकिनीप्रियाम् ॥ १९५ ।

लाकिनीराकिणीध्येयां डाकिनीपरिपूजिताम् ।
कुण्डलीबन्धुजननी पूजयामि महीतले ॥ १९६ ।

एवं ध्यात्वा चार्घ्यसारं क्रमतो युगलं चरेत् ।
त्रिकोणमण्डलद्वन्द्वं चाग्रे कृत्वाऽङ्गुलेन च ॥ १९७ ।

---

१. नागानामिन्द्रो नागेन्द्र ऐरावतः, तस्य घण्टा च डमरुश्च ताभ्यां नादितं शब्दायितम् ।

२. षट्संख्याकानि मुखानि यस्याः सा, स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादिति ङीष् ।
स्वोद्योगवति ।

३. आनन्दस्योदये साक्षिणीम् । यस्याः साक्षित्वे आनन्दस्योदयो भवति ।

[1]तीर्थवाहनकालाद्यैः पूरयेद् गन्धकैस्ततः ।
तदाद्ये चापि फट्कारैः खड्गाधारञ्च शङ्खकम् ॥ १९८ ।
क्षालयेन्मनुनानेन शृणुष्व कुलभैरव ।
ॐशङ्खस्थं शङ्खत्वं पुण्यानां मङ्गलानाञ्च मङ्गलम् ॥१९९।
विष्णुना विधृतो नित्यं मम शान्तिप्रदो भव ।
ॐशङ्खाधारं शोधयामि कूर्माकारेण भास्वता ॥ २०० ।
विसर्गबिन्दुसर्गेऽहं त्रिकोणे स्थापयाम्यहम् ।
धेनुयोनिं मत्स्यमुद्रां दशधा मन्त्रमाजपेत् ॥ २०१ ।
आत्मानं प्रोक्षयेदादौ ततो द्रव्यादिप्रोक्षणम् ।
एवं क्रमेण देवेश देवदेव महेश्वर ॥ २०२ ।
अर्घ्यद्वयं पुरः श्रीमान् स्थापयन् कौलिको जनः ।
पूजां कुर्याद्विशेषेण रात्रिशेषे विशेषतः ॥ २०३ ।
महामुद्रादर्शनं तु चाधुनापि समाचरेत् ।
[2]अवश्यं सिद्धिमाप्नोति हेतुयुक्तो हि साधकः ॥ २०४ ।
महामुद्रा योनिमुद्रा सर्वतन्त्रे निरूपिता ।
यो जानाति महादेव स योगी नात्र संशयः ॥ २०५ ।
महापूजां समाकुर्याद् देवदेव मयोदिताम् ।
ध्यानयुक्तस्य या पूजा सा पूजा सफला भुवि ॥ २०६ ।
सदा कालीपूजनवत् पूजां कुर्यात् समाहितः ।
तच्च देशे समागम्य गन्धर्वनगरेऽपि वा ॥ २०७ ।
पर्वते निर्जने वापि शून्यागारे श्मशानके ।
महाविद्यां कामधेनुं हाकिनीं परिपूजयेत् ॥ २०८ ।
पाद्यमन्त्रं प्रवक्ष्यामि प्रणवं रतिसुन्दरी[3] ।
रमाबीजं महादेवि तदन्ते पाद्यमुत्तमम् ॥ २०९ ।

---

१. तीर्थवाहनकालाद्यैर्गन्धकैः पूरयेदित्यन्वयः ।
२. हेतुयुक्तः सत्तर्कशीलः साधकः अवश्यं निश्चयेन सिद्धिमाप्नोति ।
३. रतिश्च सा सुन्दरी च, अथवा रतौ सुन्दरी ।

गन्धोदितं गृह्ण गृह्ण हाकिन्यै हूँ द्विठः प्रभो ।
एवं सर्वत्र कर्तव्यं नामभेदेन कारयेत् ॥ २१० ।
दापयेन्नामभेदैश्च सर्वद्रव्याणि भैरव ।
आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचनीयकम् ॥ २११ ।
[1]मधुपर्काचमनस्नानवसनाभरणानि च ।
गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं वन्दनं तथा ॥ २१२ ।
पानार्थं जलदानन्तु बलिदानं ततः परम् ।
अष्टादशोपचाराश्च सर्वतन्त्रेषु गोपिताः ॥ २१३ ।
प्राणायामत्रयं कुर्यात् साधको निर्भयः शुचिः ।
जपं कुर्याद् विशेषेण महामालाक्रमेण तु ॥ २१४ ।
अन्यं मनुवरं नाथ शृणु भैरव ईश्वर ।
प्रणवं प्रेतराजं तु वह्निबीजं तदुत्तरे ॥ २१५ ।
हालाहलं महाकाल परनाथाय धीमहि ।
कामबीजं हाकिनी च चतुर्थ्यन्तपदात्मिका ॥ २१६ ।
सोऽहं हंसस्ततः स्वाहा महामन्त्रं जपेद् बुधः ।
लक्षजपेन सिद्धिः स्यादज्ञानी ज्ञानवान् भवेत् ॥ २१७ ।
असिद्धः सिद्धरूपी स्यादाख्या कीर्तिः प्रवर्धते ।
महावाग्मी सर्वशास्त्रवेत्ता सर्वज्ञसिद्धिभाक् ॥ २१८ ।
वाचां सिद्धिरष्टसिद्धिः प्रकाश्या भान्ति तत्करे ।
युगयुग्मपुरश्चर्याविधानेनामरो भवेत् ॥ २१९ ।
योगी स्यात् प्रलयस्थायी ध्यानात्मा ज्ञानवाञ्छुचिः ।
अप्रकाश्यगुणी भूत्वा राजराजेश्वरो भवेत् ॥ २२० ।
गुह्यातिगुह्यगोप्त्री[2] त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादात् परेश्वरि ॥ २२१ ।

---

१. मधुपर्कः—'पलमेकं मधु कुर्याद् द्विपलं दधि उच्यते ।
पलमेकं घृतं चैव मधुपर्कविधिःस्मृतः ॥
२. गुह्येष्वपि अतिगुह्यं तस्य गोप्त्री रक्षिका इत्यर्थः ।

इति समर्प्य तद्धस्ते हेमरूपं विचिन्तयन् ।
ततः प्राणायामयुतं मन्त्रं तु त्रिगतं जपेत् ॥ २२२ ।
बलिदानमनुं वक्ष्ये शृणु श्रीकुलपण्डित ।
आदौ मूलं सिद्धबलिं सुधामांससमन्वितम्[1] ॥ २२३ ।
[2]मीनमुद्रासमाक्रान्तमथवा मिष्टसद्बलिम् ।
गृह्णयुग्मं तथा गृह्णापययुग्मं द्विठस्ततः ॥ २२४ ।
दापयेत् साधकेन्द्रश्च भक्त्या कामसुसिद्धये ।
ततः स्तोत्रं पठेद्धीमान् गद्यपद्यादिभेदतः ॥ २२५ ।
पठेच्च कवचं ब्रह्मसम्मतं देहरक्षणम् ।
सहस्रनामसन्तानं पठेद् वा हरमुद्रया ॥ २२६ ।
स्वस्थाने स्थापयेन्नाथ हाकिन्या परमेश्वरम् ॥ २२७ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे हाकिनीपरशिवयजनं नाम द्व्यशीतितमः पटलः ॥

●

१. सुधया मिश्रितेन मांसेन समन्वितम् ।
२. मीनेन मुद्रया च समाक्रान्तम् ।
विशेषः—मीनो मुद्रा सुधामांसप्रभृतिपदार्था न कामपूरकाः, अपि तु पारिभाषिकरूपेण विधिपूरकाः ।

अथ त्र्यशीतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

कथयस्व वरारोहे हाकिनीस्तोत्रमुत्तमम् ।
यस्य प्रपाठनाद् [1]वाग्मी कृपायासे दयामयि ॥ १ ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

अत्यद्भुतं स्तोत्रवरं शृणु प्रभो सर्वेश्वरैर्भावितमादिगुह्यम् ।
यैः पठ्यते साधकचक्रनाथैस्तैरेव सिद्धैरतिधर्मविद्भिः ॥ २ ।

ब्रह्माख्यां कामविद्यां नरहरिजननीं कामकूटस्वरूपां
हाकिन्याख्यां शम्भुजायां त्रिवधुमदनशां तारिणीं स्तौमि सिद्धाम् ।
हेरम्बानन्दविद्यां त्रिसमनदमनीं दीर्घकेशीं त्रिनेत्रां
मन्दारारण्यमध्ये विकसितवदनाम्भोजहासप्रकाशाम् ॥ ३ ।

हिरण्यालङ्कारां त्रितयनयनां पट्टवसनां
महास्निग्धां शुद्धां कुलजनवरामिन्दुवदनाम् ।
सदा स्तौति श्रीदां भुवनकरुणां भावतरुणां
त्रिवेणीश्वेताभां वसमयतनुं भ्रूयुगदले ॥ ४ ।

महापद्मवनोद्रेकरम्यस्थाननिवासिनि ।
हाकिनि त्वां मुदा स्तौमि तद्धर्मकुरुपागताम् ॥ ५ ।

संसारार्णवतारिणीं नरहरिप्रेमाभिलाषोन्मनीं
[2]भावारम्भविसर्जनैकनिलयां मायां महासुन्दरीम् ।
भास्वत्कोटिसुरत्नसिंहवसतिं श्रीहाकिनीं द्राविणीं
स्तौमि क्षेत्रनिरीक्षणाय नियतां श्रीभारतीभाविताम् ॥ ६ ।

---

१. वाचो ग्मिनिरिति ग्मिनिप्रत्ययः ।

२. भास्वत्कोटिसुरत्नेति सिंहस्य विशेषणम् । अथवा स्वतन्त्रमेव । तेषु सिंहे च वसतिर्यस्याः सा ।

[1]संस्कारश्रियमातनोति सहसा श्रीपार्वतीवल्लभे
नानारत्नकलापदर्शनमहाज्ञानं निदानं धनम् ।
सा साक्षादखिलेश्वरी [2]परशिवानन्दैकबिन्दूज्ज्वला
मामादौ परिरक्षतु प्रियकरी संस्तौमि पीठान्तरे ॥ ७ ।

आकाशवेदलिङ्गे स्थितिपथिमिलिते भाति सा रक्तबर्हा
सा मां पात्वम्ब काली कुलपथभविका क्रोधनिःक्रोधकर्त्री ।
तस्याः श्रीपादपद्मत्रिभुवनभक्तकेशालिमाला
युक्तं सर्वेन्द्रपूज्यं निरवधिकमले द्वे दले स्तौमि विद्याम् ॥ ८ ।

साङ्गं द्वयं त्वत्प्रियं पदयुगं पत्रद्वयश्रेयसं
मञ्जीराद्भुतहारपादकमलं सम्भाव्य संस्तौम्यहम् ।
यद् ध्यात्वा हरिरीश्वरो गुणधरो जेता महारेःक्षणा-
दाशापाशविसर्जनैकनिलयं त्रैलोक्यसंरक्षकः ॥ ९ ।

या यात्रा व्रतवासिनी शशिमुखी छागादिमांसप्रिया
मामेकं परिपालय त्वमखिले त्वामेकरूपां शिवाम् ।
स्तौमीन्द्रावनतिप्रियां वाङ्मोक्षसहितानन्दैकहेतुप्रदाम् ॥ १० ।

वरं परं नमाम्यहं गिरीन्द्ररूपगवंहं[3]
महेश्वरं परेश्वरं श्मशानबीजगह्वरम् ।
हिरण्यरत्नभूषणं शतेन्दुतेजसं तथा
शिवं तनुं पुनः परप्रभाप्रभाकरम् ॥ ११ ।

शरण्यं वरेण्यं महाकामधन्यं
महादेवदेवं त्रिकालादिजन्यम् ।
श्मशानोग्रधूलिप्रियाङ्गानुलेपं
सदा स्तौमि संसारसारं निषेकम् ॥ १२ ।

---

१. संस्कारजनितां श्रियमित्यर्थः ।
२. परशिव आनन्दस्तस्यैको बिन्दुस्तेनोज्ज्वला प्रकाशमाना ।
३. गिरीन्द्ररूपस्य गवं हन्ति, एवंभूतो महेश्वरः ।

परशिवं मनसा सहसा निशि
प्रतिदिनं प्रणमाम्यहमादिमम्[1] ।
शशिमुखीशतचन्द्रिकयान्वितं
भजनसाधनसत्फलदायकम् ॥ १३ ॥

परशिवचरणाब्जं हाकिनीशक्तिसेव्यं
त्रिभुवनसुखदानं ध्यानमात्रप्रकाशम् ।
अतिसुललितहस्ताम्भोजशोभां वहन्तं
भुवि निजकुलसारं स्तौमि योगीन्द्रगम्यम् ॥ १४ ॥

शोकाशोकावलीलामति हि कलयति प्राणदेहाभिलाषं
हाकिन्याः प्राणनाथो भवशमनकरो हीरकासृग्धरो वा ।
सोऽसौ भ्रूपद्मसारे रचयति कलिकां चित्तदीपस्य नित्यां
तस्य श्रीपादपद्मं गुणगणयजितं पूजितं स्तौमि भाले ॥ १५ ॥

मेरुशृङ्गनिकेतनैकवसनं गोलोकसंसेवितं
यज्ञानन्दनिषेवितं परशिवं योगीन्द्रचित्तस्थलम् ।
हालापाननिराकुलं पशुसमां सामोदनाचर्वणां
वन्दे नन्दिमहादिभैरववरैर्वन्द्यं जगत्कारणम् ॥ १६ ॥

मायापथच्छलकलाकपिलापतिस्त्वं
त्वं भूविरपतिरूपापतिरेकचक्रः ।
आपोऽनलत्वमखिले गगनप्रकाशा-
वायुस्थमावसिमुखं शरणं प्रपद्ये ॥ १७ ॥

वाञ्छाकल्पद्रुमतलगतं हेमसिंहासनस्थं
श्रीहाकिन्या रमणनिरतं कामकेलिप्रकाशम् ।
मायामोहं क्षयमतिसुखं विन्ध्यशैलाग्रसंस्थं
वन्दे नाथं हरपरशिवं रूपजालप्रकाशम् ॥ १८ ॥

---

१. आदौ सृष्टेरादौ भवमादिमम् । 'अग्रादिपश्चाड्डिमच्' इति डिमच्प्रत्ययः । सृष्टिकर्ता भर्ता इत्यर्थः ।

पठेद् यः स्तोत्रार्थं भवति स सुखी योगनिपुणः
क्षुधातृष्णानाशः श्रवणधृतयशोवासिसरसः ।
स योगीन्द्रो मासादतिशयपरानन्दघटकः
परीतः प्राणाख्ये रचयति [1]सुधासिन्धुसुरसम् ।। १९ ।

एतत् स्तोत्रं पठेद्विद्वान् [2]ध्यानन्यासससमन्वितम् ।
शुक्लं रक्तं तथा पीतं नीलं कृष्णं विभाव्य च ।। २० ।

कालचतुष्टये नित्यं पठित्वा सिद्धिमाप्नुयात् ।
आकाशे भूतले नाथ पाताले विघ्नकोटयः ।। २१ ।

योगिनां पठनादेव नश्यन्ति तत्क्षणादिह ।
सर्वत्र गामी स भवेदतिभाग्यफलोदयम् ।। २२ ।

महापापहरं स्तोत्रं हाकिनीहृदयोद्भवम् ।
सदाशिवप्रियं योगसिद्धिदं देवसेवितम् ।। २३ ।

सहस्रवारपाठेन पुरश्चर्याफलं लभेत् ।
पठित्वा स्तोत्रराजं तु श्मशाने निर्जने वने ।। २४ ।

अन्तरिक्षेऽथवा नाथ योगी स्यादमरो महान् ।
अस्य प्रपठनाद्वाग्मी ज्ञानवान् विजितेन्द्रियः ।। २५ ।

ध्यानात्मा संभवेत् क्षिप्रं परिवारगणैः सह ।
प्रातःकाले निशायां तु मध्याह्ने शेषकालके ।। २६ ।

प्रपठेत् स्तोत्रसारं तु भावात्मा साधकोत्तमः ।
अनायासेन भ्रूपद्मे स्थिरो भवति निश्चितम् ।। २७ ।

श्रीगुरोश्चरणाम्भोजं[3] हृदये ध्याननिर्णयम् ।
यो ध्यात्वा पठते स्तोत्रं स भवेत् कल्पपादपः[4] ।।२८ ।

---

१. सुधासिन्धुश्चासौ सुरसश्च । शोभनरससमन्वितः ।
२. ध्यानेन न्यासेन च समन्वितम् ।
३. चरणौ अम्भोजमिव इति, उपमितसमासः ।
४. कल्पस्य कल्पनायाः पादपो वृक्षः, कल्पतरुरित्यर्थः । यस्य छायायां मनोरथानि फलन्ति ।

इदानीं कथये नाथ कवचं पटलान्तरे ॥ २९ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे
भैरवीभैरवसंवादे हाकिनीपरनाथस्तोत्रविन्यासो
नाम त्र्यशीतितमः पटलः ॥

●

अथ चतुरशीतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

अथादौ कथयानन्दभैरवि प्राणवल्लभे ।
कवचं हाकिनीदेव्याः परमानन्दवर्धनम् ॥ १ ।

हेतुयुक्तं श्रद्धया मे करुणासागरस्थिते ।
शीघ्रं विरचयानन्द कवचं सारमङ्गलम्[1] ॥ २ ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

आदौ शृणु महावीर परमानन्दसागर ।
कवचं हाकिनीदेव्याः संसारार्णवतारकम् ॥ ३ ।

यस्य स्मरणमात्रेण योगी योगस्थिरो भवेत् ।
अन्तरिक्षे च भूलोके पाताले ये चराचराः ॥ ४ ।

स्तम्भिता वेपमानाः स्युर्विद्याज्ञानादिपाठतः ।
कवचध्वनिमात्रेण भूतप्रेतपिशाचकाः[2] ॥ ५ ।

विद्रवन्ति भयार्ता वै कालरुद्रप्रभावतः ।
यथाऽऽलोको वह्निमध्ये स्थिरो भवति निश्चितम् ॥ ६ ।

ॐ अस्याः श्रीहाकिनीदेव्याः सानन्दसारमङ्गलस्य महाकवचस्य सदाशिव ऋषिर्गायत्रीच्छन्दः श्रीहाकिनीपरदेवता क्लीं बीजं स्वाहा शक्तिः सिद्धलक्ष्मीमूलकीलकं देहान्तर्गतमहाकामसिद्धयर्थे जपे विनियोगः ।

ॐ पातु शीर्षचक्रं मे क्लीं पातु भालमण्डलम्[3] ।
स्वमूलं पातु मे नित्यं लोचनत्रितयं मम ॥ ७ ।

---

१. सारमङ्गलं कवचं शीघ्रं विरचयेत्यन्वयः ।

२. भूताश्च प्रेताश्च पिशाचकाश्च इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।

३. भालस्य मस्तकस्य मण्डलम् ।

गण्डयुग्मं सदा पातु वाग्भवाद्या [1]मनोरमा ।
श्रीं ह्रीं पातु कर्णयुग्मं हाकिनी परदेवता ॥ ८ ।
महाविद्या सदा पातु ममोष्ठाधरसम्पुटम् ।
[2]दन्तावलियुगं पातु ह्रीं श्रीं स्वाहा परेश्वरी ॥ ९ ।
क्लीं ह्रीं श्रीं हाकिनीदेवी स्वाहा पातु रसप्रियाम् ।
सृक्कनीं पातु सततं शक्तिः कामवरा मधुः ॥ १० ।
स्वाहा पातु शिखा शक्तिर्भ्रूमध्यं पातु सर्वदा ।
हाकिनी मण्डलं पातु परानाथेश्वरी परा ॥ ११ ।
सुन्दरी सर्वदा पातु द्विदलं कामसुन्दरी ।
अमृताख्या सदा पातु भ्रूप्रकाशस्थलं मम ॥ १२ ।
वह्निज्वाला सदा पातु भ्रूश्मशानस्थलं मम ।
सुरभी पातु मायास्त्रं स्वाहा मे भ्रूगतच्छदम् ॥ १३ ।
त्रिकोणं पातु कामाख्या हाकिनी परमेश्वरी ।
त्रिपुरा सुन्दरी पातु द्विषट्कोणं सदा मम ॥ १४ ।
हिङ्गुलादेश्वरी पातु षट्कोणबिन्दुमण्डलम् ।
सप्तभूबिम्बमापातु भूतलान्तःप्रकाशिनी ॥ १५ ।
महाशतदलं पातु शतकोटिमरुप्रिया ।
गुरुविद्यामयी पातु वाणी मे मत्तगामिनी ॥ १६ ।
चतुर्द्वारं सर्वचक्रं पातु मे परमेश्वरी ।
अत्यन्तदुःखहन्त्री मे मनश्चक्रं सदावतु ॥ १७ ।
शब्दब्रह्ममयी[3] पातु चन्द्रमण्डलमेव मे ।
अकालतारिणी दुर्गा सर्गस्थित्यन्तकारिणी ॥ १८ ।
महापुरुषसंस्थानं हाकिनी मण्डलं मम ।
पातु वर्णमयी तारा चन्द्रार्धं मे सुरेश्वरी ॥ १९ ।

---

१. रमयति या सा रमा, मनसो रमा मनोरमा ।
२. दन्तानामवलो, तयोर्युगम् । उपरिभागेऽधोभागे च स्थिता दन्तावलिः ।
३. शब्द एव ब्रह्म, तत्स्वरूपा ।

उन्मनीनगरं पातु [1]वह्निकुण्डनिवासिनी ।
मदिरा पातु सततं भालं विषहरा मम ॥ २० ।

धर्मदा ज्ञानदा पातु धर्मज्ञानपदं मम ।
तालपत्नीश्वरी पातु अमृतानन्दकारिणी[2] ॥ २१ ।

वैराग्यनिकरं पातु बिन्दुस्थानं महाबला ।
त्रितारी कूटशक्तिर्मे सदा पातु विशुद्धकम् ॥ २२ ।

शाकिनीशं सदा पातु शाकिनी कुलभैरवी ।
सप्तद्वीपेश्वरी पातु मम षोडशपङ्कजम् ॥ २३ ।

शाकिनी भैरवी पातु चण्डदुर्गा सरस्वती ।
कुमारी कुलजा लक्ष्मीः सिद्धार्थं मे सदाऽवतु ॥ २४ ।

हृदयं पातु सततं शाकिनी परमेश्वरी ।
बीजरूपा सदा देवी महामहिषघातिनी ॥ २५ ।

उदरं पातु सततं योगिनीकोटिभिः सह ।
उमा महेश्वरी पातु प्रचण्डा मम पृष्ठकम् ॥ २६ ।

चामुण्डा भैरवी बाला पार्श्वयुग्मं सदाऽवतु ।
परमा चेश्वरी पातु देवमाता स्तनद्वयम् ॥ २७ ।

सौभाग्यहाकिनी देवी पायात्तु यक्षसः प्रियम् ।
आद्या देवी शिखारूपा भुजयुग्मं सदाऽवतु ॥ २८ ।

सर्वापराधहर्त्री मे कामविद्या दशच्छदम् ।
मणिपूरं सदा पातु दशवर्णात्मिका शिवा ॥ २९ ।

नाभिचक्रं सदा पातु लाकिनी पद्मवासिनी ।
नित्यदेशदलं पातु पार्वती वेदपालिनी ॥ ३० ।

महारुद्रेश्वरी पातु पीठरूपं मणि मम ।
[3]तेजोमण्डलमापातु रुद्राणी शूलधारिणी ॥ ३१ ।

---

१. वहति हविर्द्रव्यमिति वह्निः, तस्य कुण्डे निवसति, तच्छीला ।
२. अमृतानन्दं करोति तच्छीला, णिनिः कर्तरि, स्त्रीत्वविवक्षायां ङीप् ।
३. शूलधारिणी रुद्राणी तेजोमण्डलम् आपातु इत्यन्वययोजना ।

अभया सर्वदा पातु योगविद्या नितम्बकम् ।
नितम्बाधारचक्रं मे पातु शैलं[1] नितम्बिनी ॥ ३२ ।
तरुणी मन्त्रजालस्था वैष्णवी लिङ्गमण्डलम् ।
सदा पातु हाकिनीशा महाविष्णुस्थलं मम ॥ ३३ ।
वैष्णवी ललिता माया रमादेवी कटिं मम ।
स्वाधिष्ठानं सदा पातु गुह्यरूपा सरस्वती ॥ ३४ ।
भवानी भगवत्पत्नी श्मशानकालिका गुदम् ।
पातु मे रणमातङ्गी राकिनी कुलमण्डलम् ॥ ३५ ।
व्यक्ताव्यक्तस्वरूपा मे मूलाधारं सदाऽवतु ।
चतुर्दलं चतुर्वर्णं पातु मे ज्ञानकुण्डली ॥ ३६ ।
तपस्विनी सदा पातु पावनी मूलमावतु ।
रतिका घटिका वेश्या धरिणी कामसुन्दरी ॥ ३७ ।
वह्निकान्ता सदा पातु ममोरुयुगलं सदा ।
उल्कामुखी क्षेत्रसिद्धा जङ्घायुग्मं सदाऽवतु ॥ ३८ ।
बालामुखी पातु सम्पत्प्रदा श्रीकुलभैरवी ।
पादाम्बुजद्वयं पातु सर्वाङ्गं परहाकिनी ॥ ३९ ।
मदना मेदिनी धन्या चामुण्डा मुण्डमालिनी ।
रमा कामकला ज्येष्ठा तथाज्ञा रतिसुन्दरी ॥ ४० ।
मनोयोगा सदा पातु निर्मला विमलामला ।
काञ्चनी बगला रात्रिः पञ्चमी रतिसुन्दरी ॥ ४१ ।
सर्वत्र सर्वदा पातु योगाद्या प्रेमकातरा ।
पर्वते विपिने शून्ये रणे घोरतरे भवे ॥ ४२ ।
[2]श्मशानवासिनी पातु सर्ववाहनवाहना ।
सर्वास्त्रधारिणी पातु पञ्चमी पञ्चमप्रिया ॥ ४३ ।

---

१. 'शैलनितम्बिनी' इत्येवं पदं युक्तम् ।
२. श्मशाने वसति तच्छीला । शवानां शयनमिति विग्रहे शवशब्दस्य श्म आदेशः, शयनस्य शानादेशः, पृषोदरादित्वात् ।

चतुर्भुजा सदा पातु हाकिनी देहदेवता ।
[1]सहस्रायुतकोटीन्दुवदना परमेश्वरी ॥ ४४ ।
योगिनीभिः सदा पातु सर्वदेशे तु सर्वदा ।
अनन्ता सर्वदा पातु महाविघ्नविनाशिनी ॥ ४५ ।
जले चानलगर्ते वा व्याधिभीतौ रिपोर्भये ।
व्याघ्रभीतौ चौरभीतौ महोन्मादभयादिषु ॥ ४६ ।
ग्रहभीतौ देवभीतौ दानवादिभयेषु च ।
अभया निर्भया भीतिहारिणी भयनाशिनी ॥ ४७ ।
महाभीमा भद्रकाली भैरवी मारकामला ।
महाभूतेश्वरी माता जगद्धात्री सदाऽवतु ॥ ४८ ।
सर्वदेशे सर्वपीठे मातृका पातु नित्यशः ।
इत्येतत् कवचं सर्वसिद्धिदं दुःखनाशनम् ॥ ४९ ।
कथितं तव यत्नेन महाकाल प्रभो ! हर ।
यः पठेत् प्रातरुत्थाय कवचं देवदुर्लभम् ॥ ५० ।
स भवेत् कालजेताऽपि स देवो न तु मानुषः ।
ध्यानात्मा साधकः श्रीमान् परमात्मा भवेत् स्वयम् ॥५१।
आज्ञापद्मे स्थिरो भूत्वा नित्यो भवति निश्चितम् ।
अकालमृत्युहरणं [2]संसारार्णवतारणम् ॥ ५२ ।
कवचं देवदेवेश चानन्दसारमङ्गलम् ।
यः पठेदतिभक्त्या च जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥ ५३ ।
चतुर्विधा मुक्तिमाला तद्गले संस्थिरा ध्रुवम् ।
भवन्ति योगमुख्यानां गुरुर्वेदान्तपारगः ॥ ५४ ।
[3]सर्वशास्त्रार्थवेत्ता स्याद् यामलार्थज्ञ ईश्वरः ।
शान्ति विद्यां प्रतिष्ठाञ्च निर्वृत्ति प्राप्य निर्मलः ॥ ५५ ।

---

१. सहस्रायुतकोटीन्दूनां वदनमिव वदनं यस्याः सा । उद्यते उच्यतेऽनेनेति वदनम्, वदेः करणे ल्युट्प्रत्ययः ।

२. आनन्दस्य सारः सारभूतं मङ्गलं मङ्गलस्वरूपम्, कवचमित्यस्य विशेषणमिदम् ।

३. सर्वाणि च तानि शास्त्राणि तेषामर्थस्य वेत्ता ज्ञाता, यामलस्यार्थं जानाति, तादृशः ।

योगात्मा चेश्वरत्वं हि प्राप्नोति नात्र संशयः ।
कुजे वा शनिवारे वा संक्रान्त्यां रविवासरे ॥ ५६ ।
अमावास्यासु रिक्तायां धारयेत् कवचं शुभम् ।
पुरुषो दक्षिणे हस्ते वामा[1] वामभुजे तदा ॥ ५७ ।
सर्वसिद्धिमवाप्नोति यद्यन्मनसि वर्तते ।
गोरोचनाकुङ्कुमेन चालक्तेन विलिख्य च ॥ ५८ ।
अवश्यं सिद्धिमाप्नोति [2]हाकिनीयोगजापतः ॥ ५९ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे
भैरवीभैरवसंवादे हाकिनीकवचं नाम
चतुरशीतितमः पटलः ॥

१. वामा वामाङ्गिनो स्त्री वामभुजे वामहस्ते कवचं धारयेत् । पुरुषस्तु दक्षिणे हस्ते धारयेत् ।

२. हाकिन्या योगस्य जापेनेति भावः । आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानमिति वचनेन सार्वविभक्तिकस्तसिः प्रत्ययः ।

अथ पञ्चाशीतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

वरानने वरारोहे [1]सर्वज्ञाननिदानदे ।
आनन्दहृदयोल्लासे परमानन्दवर्धिनि ॥ १ ॥

कथितं कवचं पुण्यं रहस्यं चातिदुर्लभम् ।
न चोक्तं ज्ञानगम्यं तु महाजालनिसेवितम् ॥ २ ॥

परनाथस्य कवचं सार्वज्ञज्ञानसिद्धिदम् ।
इदानीं वद मे यत्नादानन्दकुलभैरवी ॥ ३ ॥

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

श्रूयतां योगिनीनाथ योगविद्यापते प्रभो ।
परनाथस्य कवचं ज्ञानगम्यं पुरातनम् ॥ ४ ॥

अतिगोप्यं योगसारं सर्वतन्त्रेषु दुर्लभम् ।
इदानीं नाथ यत्नेन कथयामि परं पदम् ॥ ५ ॥

अस्य श्रीपरनाथमहाकवचस्य सदाशिव ऋषिः परमात्मा देवता ह्सौः बीजं ज्ञानशक्तिरानन्दं कीलकं सर्वाभीष्टसिद्ध्यर्थे विनियोगः ।

ॐकारं वेदबीजं मे सदा पातु शिरोधनम् ।
ह्सौः महाप्रेतराजः कपालं पातु सर्वदा ॥ ६ ॥

हाकिनीशः सहायाख्यः कामकेशगुणानि[2] मे ।
वाराणसीपुरः पातु भ्रूमध्यपरदेवता ॥ ७ ॥

षं रं शं वं सदा पातु हं क्षं पातु भ्रुवोर्दलम् ।
बाणलिङ्गं सदा पातु भ्रूपद्मयुवती मम ॥ ८ ॥

---

१. सर्वेषां ज्ञानानां निदानं ददाति या सा, तत्सम्बोधने सर्वज्ञाननिदानदे इति रूपम् । निदानमादिकारणम् ।

२. काम्यन्ते ये ते कामाः, कर्मणि घञ्प्रत्ययः, ते च ते केशाश्च कामकेशाः, तेषां गुणानि, ग्रथनानि ।

कालानलः सदा पातु द्विदलस्थं परात्परम् ।
भ्रूगह्वरं सदानन्दं पातु त्रिपुरभैरवः ॥ ९ ।
अनाथलिङ्गः सर्वेशः पातु मे लोचनत्रयम् ।
अभयो मङ्गलः पातु ध्रुवाख्ये लोलजिह्विकाम् ॥ १० ।
[1]पञ्चाननः सदा पातु वदनं कामसुन्दरः ।
उन्मत्तभैरवेन्द्रोऽथ [2]गण्डयुग्मं सदावतु ॥ ११ ।
हिरण्याख्यः सदा पातु दन्ताग्रालिं श्मशानगः ।
महादेवः सदा पातु महाकाशः श्रुती मम ॥ १२ ।
विकटाख्यो मञ्जुघोषः सदा पातु हनुस्थलम् ।
प्रणवात्मा सदा पातु कण्ठं मे नीलकण्ठभृत् ॥ १३ ।
अपराजितः शुक्लवर्णः सदा पातु महामला ।
गलदेशं महाकाशं त्रिपुरा परमेश्वरी ॥ १४ ।
मृत्युञ्जयश्च घोराख्यो विशुद्धं सर्वदाऽवतु ।
[3]स्वरानीश्वरसंयुक्तान् योगीशः सर्वदाऽवतु ॥ १५ ।
वामदेवः सदा पातु हृदयं परमेश्वरः ।
ईश्वरः सर्वदा पातु परदेवः सदाशिवः ॥ १६ ।
अट्टहासः सदा पातु योगिनीकोटिभिः सह ।
अकालचक्रः सर्वज्ञश्चावधूतेश्वरो भुजौ ॥ १७ ।
महाकालः सदा पातु भेरुण्डापतिरीश्वरः ।
पार्श्वदेशं सदा पातु काकिनीपरवल्लभः ॥ १८ ।
अच्युतेशः सदा पातु कुक्षियुग्मं सदा मम ।
अथर्वेशः सदानन्दः पातु पृष्ठं सुरेश्वरः ॥ १९ ।
तपिनीपतिरीशानो वीरभद्रो यतीश्वरः ।
नाभिमण्डलमापातु ममोदरमुमापतिः[4] ॥ २० ।

---

१. पञ्चसंख्याकानि आननानि यस्य सः । आ समन्ताद् अनिति प्राणिति येन तत् ।
२. गण्डयोः कपोलयोर्युग्मम् । गडि वदनैकदेशे इति धातुर्घञन्तः ।
३. ईश्वरसंयुक्तान् स्वरान् योगीशः सर्वदाऽवतु रक्षतु—इत्यर्थः ।
४. उमाया भगवत्याः पार्वत्याः पतिः शिवः ।

घर्घरः पातु सततं रुद्रं [1]राकिणिवल्लभम् ।
जटाजूटधरः पातु रुद्राणीं रौद्रदेवताम् ॥ २१ ।
नितम्बं पातु योगेन्द्रः प्रभाद्यो मे कटिस्थलम् ।
स्वाधिष्ठानं सदा पातु षड्दलान्तः प्रकाशकः ॥ २२ ।
अभयः सर्वदा पातु भर्गः पातु चतुर्दलम् ।
तरुणीशः सदा पातु कुण्डलीं डाकिनीपदम् ॥ २३ ।
गुदरन्ध्रं सदा पातु पार्वतीप्रियवल्लभः[2] ।
यज्ञनाथः सदा पातु ऊरुयुग्मं स्वमन्त्रवित् ॥ २४ ।
जङ्घायुगं सदा पातु धर्मलक्ष्मीश्वरः प्रभुः ।
महाकालः पातु पादतलयुग्मं महीश्वरः ॥ २५ ।
सर्वाङ्गं वरदः पातु वटुकः श्रीसदाशिवः ।
महारुद्रः श्रीपतीशः सदा उग्रः प्रपातु माम् ॥ २६ ।
रणे द्यूते विवादे च शून्यागारे महाभये ।
पाताले पर्वतेऽरण्ये पातु वाग्वादिनीश्वरः ॥ २७ ।
घण्टेश्वरः शङ्खनादो मुरारीशः प्रपातु माम् ।
परमानन्ददः पातु हितार्थी पथि पातु माम् ॥ २८ ।
महाविद्यापतिः पातु प्रेतराजः प्रपातु माम् ।
पुत्रं मित्रं कलत्रं मे बन्धुं स्वजनमेव च ॥ २९ ।
सर्वाधारः सदा पातु लिङ्गरूपी महेश्वरः ।
परमात्मा सदा पातु गुह्यदेशस्थदेवताम् ॥ ३० ।
परिवारान्वितः पातु महाचन्द्रः सदाऽवतु ।
मारणोच्चाटने स्तम्भे विद्वेषे पातु मोहनः ॥ ३१ ।
मोहने द्रावणे स्थैर्ये वश्ये शान्तौ सदाशिवः ।
परनाथो गुरुः पातु [3]पारिजातवनाश्रयः ॥ ३२ ।

---

१. राकिण्या वल्लभः, छान्दसत्वाद् बाहुलकाद् वा ह्रस्वः ।
२. पार्वतीप्रियो वल्लभः सदाशिवः । पार्वतीवल्लभ इति कथने तु वल्लभे भगवत्याः प्रियत्वं सातिशयं न भासेत ।
३. पारिजातस्य वनमाश्रयो यस्य सः ।

सर्वंभुक् कालरुद्रो मे सर्वत्र परिपातु माम् ।
इत्येतत् कथितं सर्वसिद्धिदं कवचं शुभम् ॥ ३३ ।

परनाथस्य देवस्य [1]सार्वज्ञज्ञानसिद्धिदम् ।
कवचं दुर्लभं लोके सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ॥ ३४ ।

यामले देवदेवेश प्रकाशितमहर्निशम् ।
यः पठेदेकवारं तु स रुद्रो नात्र संशयः ॥ ३५ ।

कीर्तिश्रीकान्तिमेधायुर्बृंहितो भवति ध्रुवम् ।
अस्य स्मरणमात्रेण राजत्वं योगिनां पतिः ॥ ३६ ।

भवेत् कामक्रोधजेता मृत्युजेता महाकविः ।
तस्यासाध्यं त्रिभुवने न किञ्चिदपि वर्तते ॥ ३७ ।

यः कण्ठे मस्तके वापि धारयेत् कवचं शुभम् ।
रक्तेन चन्दनेनापि कुङ्कुमेनापि वा लिखेत् ॥ ३८ ।

स भवेद् वीरपुत्रश्च महापातककोटिहा[2] ।
अनायासेन देवेश योगसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ३९ ।

शतमष्टोत्तरं जप्वा पुरश्चर्याफलं लभेत् ॥ ४० ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे
षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे परशिवकवच-
पाठो नाम पञ्चाशीतितमः पटलः ॥

●

---

१. सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः, तस्य भावः सार्वज्ञ्यम्, तस्य ज्ञानं तस्य सिद्धिं ददाति इति ।
२. महान्ति च तानि पातकानि चेति महापातकानि तेषां कोटिं हतवानिति महापातककोटिहा, भूते क्विप् । प्रथमैकवचने रूपम् ।

अथ षडशीतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

[1]आनन्दार्णवमध्यभावघटितश्रौतप्रवाहोज्ज्वले
कान्ते दत्तसुशान्तिदे यमदमाह्लादैकशक्तिप्रभे[2] ।
स्नेहानन्दकटाख्यदिव्यकृपया शीघ्रं वदस्वाद्भुतं
हाकिन्याः शुभनाम सुन्दरसहस्राष्टोत्तरं श्रीगुरोः ॥ १ ॥

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

साक्षात्ते कथयामि नाथ सकलं पुण्यं पवित्रं गुरो
नाम्नां शक्तिसहस्रनाम भविकं ज्ञानादि चाष्टोत्तरम् ।
योगीन्द्रैर्जयकाङ्क्षिभिः प्रियकलाप्रेमाभिलाषार्चितैः
सेव्यं पाठ्यमतीव गोप्यमखिले शीघ्रं पठस्व प्रभो ॥ २ ॥

अस्य श्रीपरनाथमहाशक्तिहाकिनीपरमेश्वरीदेव्यष्टोत्तरसहस्रनाम्नः स्तोत्रस्य सदाशिव ऋषिः गायत्रीच्छन्दः श्रीपरमेश्वरीहाकिनीमहाशक्तिर्देवता क्लीं बीजं स्वाहा शक्तिः सिद्धलक्ष्मीमूलकीलकं देहान्तर्गतमहाकायज्ञानसिद्धयर्थे जपे विनियोगः ।

ॐ हाकिनी वसुधा लक्ष्मी परमात्मकला परा ।
परप्रिया परातीता परमा परमप्रिया ॥ ३ ॥

परेश्वरी परप्रेमा परब्रह्मस्वरूपिणी ।
परन्तपा परानन्दा परनाथनिसेविनी ॥ ४ ॥

[3]पराकाशस्थिता पारा पारापारनिरूपिणी ।
पराकाङ्क्ष्या पराशक्तिः पुरातनतनुः प्रभा ॥ ५ ॥

---

१. आनन्दार्णवमध्यभावघटितेन श्रौतप्रवाहेणोज्ज्वला इति भावः ।

२. यमदमजनिताह्लादेन जनिता या एका अद्वितीया शक्तिस्तस्याः प्रभास्वरूपा ।

३. पराकाशे परमाकाशे स्थिता, न तु अपराकाशे इति भावः ।

पञ्चाननप्रिया पूर्वा परदारा परादरा ।
परदेशगता नाथा [1]परमाह्लादवर्धिनी ॥ ६ ।

पार्वतो परकुलाख्या पराञ्जनसुलोचना ।
परंब्रह्मप्रिया माया परंब्रह्मप्रकाशिनी ॥ ७ ।

परंब्रह्मज्ञानगम्या परंब्रह्मेश्वरप्रिया ।
पूर्वातीता परातीता अपारमहिमस्थिता ॥ ८ ।

अपारसागरोद्धारा अपारदुस्तरोद्धरा ।
परानलशिखाकारा परभ्रूमध्यवासिनी ॥ ९ ।

परश्रेष्ठा परक्षेत्रवासिनी परमालिनी ।
पर्वतेश्वरकन्या च पराग्निकोटिसम्भवा ॥ १० ।

परच्छाया परच्छत्रा परच्छिद्रविनिर्गता ।
परदेवगतिः प्रेमा [2]पञ्चचूडामणिप्रभा ॥ ११ ।

पञ्चमी पशुनाथेशी त्रिपञ्चा पञ्चसुन्दरी ।
पारिजातवनस्था च पारिजातस्रजप्रिया ॥ १२ ।

परापरविभेदा च परलोकविमुक्तिदा ।
परतापानलाकारा परस्त्री परजापिनी ॥ १३ ।

परास्त्रधारिणी पूरवासिनी परमेश्वरी ।
प्रेमोल्लासकरी प्रेमसन्तानभक्तिदायिनी ॥ १४ ।

परशब्दप्रिया पौरा परामर्षणकारिणी ।
प्रसन्ना परयन्त्रस्था प्रसन्ना पद्ममालिनी ॥ १५ ।

प्रियंवदा परत्राप्ता परधान्यार्थवर्धिनी ।
परभूमिरता पीता परकातरपूजिता ॥ १६ ।

[3]परास्यवाक्यविनता पुरुषस्था पुरञ्जना ।
प्रौढा मेयहरा प्रीतिवर्धनी प्रियवर्धिनी ॥ १७ ।

---

१. परममाह्लादं वर्धयति तच्छीला इति विग्रहे णिनिः कर्तरि ।

२. पञ्चानां चूडामणीनां प्रभा इव प्रभा यस्याः सा ।

३. परस्यास्यं मुखम्, तस्य यद् वाक्यम्, तेन विनता, विशेषेण नता ।

[1]प्रपञ्चदुःखहन्त्री च [2]प्रपञ्चसारनिर्गता ।
पुराणनिर्गता पीना पीनस्तनभवोज्ज्वला[3] ॥ १८ ॥
पट्टवस्त्रपरीधाना पट्टसूत्रप्रचालिनी ।
परद्रव्यप्रदा प्रीता परश्रद्धा परान्तरा ॥ १९ ॥
पावनीया परक्षुब्धा परसारविनाशिनी ।
परमेव [4]निगूढार्थतत्त्वचिन्ताप्रकाशिनी ॥ २० ॥
प्रचुरार्थप्रदा पृथ्वी पद्मपत्रद्वयस्थिता ।
प्रसन्नहृदयानन्दा प्रसन्नासनसंस्थिता ॥ २१ ॥
प्रसन्नरत्नमालाढ्या प्रसन्नवनमालिनी ।
प्रसन्नकरुणानन्दा प्रसन्नहृदयस्थिता ॥ २२ ॥
पराभासरता पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिणा ।
पवनस्था पानरता पवनाधारविग्रहा ॥ २३ ॥
प्रभुप्रिया प्रभुरता प्रभुभक्तिप्रदायिनी ।
परतृष्णावर्धिनी च प्रचया परजन्मदा ॥ २४ ॥
परजन्मनिरस्ता च परसञ्चारकारिणी ।
परजाता पारिजाता पवित्रा पुण्यवर्धिनी ॥ २५ ॥
पापहर्त्री पापकोटिनाशिनी परमोक्षदा ।
परमाणुरता सूक्ष्मा परमाणुविभञ्जिनी ॥ २६ ॥
परमाणुस्थूलकरी परात्परतरा पथा ।
पूषणः प्रियकर्त्री च पूषणा पोषणत्रपा ॥ २७ ॥
भूपपाला पाशहस्ता प्रचण्डा प्राणरक्षिणी ।
पयःशिलाऽपूपभक्षा पीयूषपानतत्परा ॥ २८ ॥
पीयूषतृप्तदेहा च पीयूषमथनक्रिया ।
पीयूषसागरोद्भूता पीयूषस्निग्धदोहिनी ॥ २९ ॥

---

१. प्रपञ्चस्य दुःखं तस्य हर्त्री विनाशिका ।
२. प्रपञ्चसाराद् निर्गता ।
३. पीनौ यौ स्तनौ, तयोर्भवेन सत्तया उज्ज्वलः ।
४. निगूढार्थतत्त्वस्य चिन्तां प्रकाशयति तच्छीला । कर्तरि णिनिः ।

पीयूषनिर्मलाकारा [1]पीयूषघनविग्रहा ।
प्राणापानसमानादिपवनस्तम्भनप्रिया ॥ ३० ॥
पवनांशप्रभाकारा प्रेमोद्गतस्वभक्तिदा ।
पाषाणतनुसंस्था च पाषाणचित्तविग्रहा ॥ ३१ ॥
पश्चिमानन्दनिरता पश्चिमा पश्चिमप्रिया ।
प्रभाकारतनूग्रा च प्रभाकरमुखी प्रभा ॥ ३२ ॥
सुप्रभा प्रान्तरस्था च प्रेयत्वसाधनप्रिया ।
अस्थिता पामसी पूर्वनाथपूजितपादुका ॥ ३३ ॥
पादुकामन्त्रसिद्धा च पादुकामन्त्रजापिनी ।
पादुकामङ्गलस्था च पादुकाम्भोजराजिनी ॥ ३४ ॥
प्रभाभारुणकोटिस्था प्रचण्डसूर्यकोटिगा[2] ।
पालयन्ती त्रिलोकानां परमा परहाकिनी ॥ ३५ ॥
परावरानना प्रज्ञा प्रान्तरान्तःप्रसिद्धिदा ।
पारिजातवनोन्मादा परमोन्मादरागिणी ॥ ३६ ॥
परमाह्लादमोदा च परमाकाशवाहिनी ।
परमाकाशदेवी च प्रथाद्रिपुरसुन्दरी ॥ ३७ ॥
प्रतिकूलकरी प्राणानुकूलपरिकारिणी ।
प्राणरुद्रेश्वरप्रीता प्रचण्डगणनायिका ॥ ३८ ॥
पोष्ट्री पौत्रादिरक्षत्री पुण्ड्रका पञ्चचामरा ।
परयोषा परप्राया परसन्तानरक्षका ॥ ३९ ॥
परयोगिरता पाशपशुपाशविमोहिनी ।
पशुपाशप्रदा पूज्या प्रसादगुणदायिनी ॥ ४० ॥
प्रह्लादस्था [3]प्रफुल्लाब्जमुखी परमसुन्दरी ।
परराम परारामा पार्वणी पार्वणप्रिया ॥ ४१ ॥

---

१. पीयूषघनो विग्रहो यस्याः सा, अमृतमयशरीरा इति भावः ।
२. प्रचण्डानां सूर्याणां कोटिं गच्छति या सा ।
३. प्रफुल्लमब्जं कमलं तदिव मुखं यस्याः सा ।

प्रियङ्करी पूर्वमाता पालनाख्या [1]परासरा ।
[2]पराशरसुभाग्यस्था परकान्तिनितम्बिनी ॥ ४२ ॥
परश्मशानगम्या च प्रियचन्द्रमुखीपला ।
पलसानकरी प्लक्षा प्लवङ्गगणपूजिता ॥ ४३ ॥
प्लक्षस्था पल्लवस्था च पङ्केरुहमुखी पटा ।
पटाकारस्थिता पाठ्या पवित्रलोकदायिनी ॥ ४४ ॥
पवित्रमन्त्रजाप्यस्था पवित्रस्थानवासिनी[3] ।
पवित्रालङ्कृताङ्गी च पवित्रदेहधारिणी ॥ ४५ ॥
त्रिपुरा परमैश्वर्यपूजिता सर्वपूजिता ।
पललप्रियहृद्या च पलालचर्वणप्रिया ॥ ४६ ॥
परगोगणगोप्या च प्रभुस्त्रीरौद्रतैजसी ।
प्रफुल्लाम्भोजवदना प्रफुल्लपद्ममालिनी ॥ ४७ ॥
पुष्पप्रिया पुष्पकुला कुलपुष्पप्रियाकुला ।
पुष्पस्था पुष्पसङ्काशा पुष्पकोमलविग्रहा ॥ ४८ ॥
पौष्पी पानरता पुष्पमधुपानरता प्रचा ।
प्रतीची प्रचयाह्लादो प्राचनाख्या च प्राश्चिका ॥ ४९ ॥
परोदरे गुणानन्दा परौदार्यगुणप्रिया ।
पारा कोटिध्वनिरता पद्मसूत्रप्रबोधिनी ॥ ५० ॥
प्रियप्रबोधनिरता प्रचण्डनादमोहिनी ।
पीवरा पीवरग्रन्थिप्रभेदा प्रलयापहा ॥ ५१ ॥
प्रलया प्रलयानन्दा प्रलयस्था प्रयोगिनी ।
प्रयोगकुशला पक्षा पक्षभेदप्रकाशिनी ॥ ५२ ॥
एकपक्षा द्विपक्षा च पञ्चपक्षप्रसिद्धिदा ।
पलाशकुसुमानन्दा [4]पलाशपुष्पमालिनी ॥ ५३ ॥

---

१. परान् शत्रून् आ समन्तात् सरति (सारयति) या सा पचाद्यजन्तेन प्रासराशब्देन सह षष्ठीसमासः ।
२. पराशरस्य सुभाग्ये तिष्ठति या सा । 'सुपि स्थः' इति कप्रत्ययेन सता समासः ।
३. पवित्रस्थाने वसति तच्छीला । कर्तरि णिनिः, उपपदसमासः । पवित्रस्थाने वसितव्यं भक्तजनैरित्यनेन सूचितम् ।
४. पलाशपुष्पैर्मालिते शोभते या सा । अथवा पलाशपुष्पमाला अस्ति यस्याः सा । शिखादित्वादिनिः ।

[1]पलाशपुष्पहोमस्था पलाशच्छदसंस्थिता ।
पात्रपक्षा पीतवस्त्रा पीतवर्णप्रकाशिनी ॥ ५४ ।
निपीतकालकूटी च पीतसंसारसागरा ।
पद्मपत्रजलस्था च पद्मपत्रनिवासिनी ॥ ५५ ।
पद्ममाला पापहरा पट्टाम्बरधरा परा ।
परनिर्वाणदात्री च पराशा [2]परशासना ॥ ५६ ।
अप्रियविनिहन्त्री च परसंस्कारपालिनी ।
प्रतिष्ठा पूजिता सिद्धा प्रसिद्धप्रभुवादिनी ॥ ५७ ।
प्रयाससिद्धिदा क्षुब्धा प्रपञ्चगुणनाशिनी ।
प्रणिपत्या प्राणिशिष्या प्रतिष्ठिततनूप्रिया ॥ ५८ ।
अप्रतिष्ठा निहन्त्री च पादपद्मद्वयान्विता ।
पादाम्बुजप्रेमभक्तिपूज्यप्राणप्रदायिनी ॥ ५९ ।
पैशाची च प्रक्षपिता पितृश्रद्धा पितामही ।
प्रपितामहपूज्या च पितृलोकस्वधापरा ॥ ६० ।
पुनर्भवा पुनर्जीवा पौनःपुन्यगतिस्थिता ।
प्रधानबलिभक्षादिसुप्रिया प्रियसाक्षिणी ॥ ६१ ।
पतङ्गकोटिजीवाख्या पावकस्था च पावनी ।
परज्ञानार्थदात्री च परतन्त्रार्थसाधिनी ॥ ६२ ।
प्रत्यग्ज्योतिःस्वरूपा च प्रथमा प्रथमारुणा ।
प्रातःसन्ध्या पार्थसन्ध्या परसन्ध्यास्वरूपिणी ॥ ६३ ।
प्रधानवरदा प्राणज्ञाननिर्णयकारिणी ।
प्रभञ्जना प्राञ्जनेशी प्रयोगोद्रेककारिणी ॥ ६४ ।
प्रफुल्लपददात्री च प्रसमाया पुरोदया ।
पर्वतप्राणरक्षत्री [3]पर्वताधारसाक्षिणी ॥ ६५ ।

---

१. पलाशपुष्पाणां होमे तिष्ठति या सा । 'सुपि स्थः' इति कर्तरि कप्रत्ययः । उपपदमतिङिति समासः ।

२. परान् शास्तीति, बाहुलकात् कर्तरि ल्युट्प्रत्ययः । षष्ठीसमासः । अजादित्वाट्टाप् । अथवा नन्द्यादित्वात् ल्युः ।

३. पर्वतानामाधारस्य साक्षिणी । एतावता गभीरसाक्षित्वं भगवत्या व्यज्यते ।

पर्वतप्राणशोभा च [1]पर्वतच्छत्रकारिणी ।
पर्वता ज्ञानहर्त्री च प्रलयोदयसाक्षिणी ॥ ६६ ।
प्रारब्धजननी काली प्रद्युम्नजननी सुरा ।
प्राक्सुरेश्वरपत्नी च परवीरकुलापहा ॥ ६७ ।
परवीरनियन्त्री च परप्रणवमालिनी ।
प्रणवेशी प्रणवगा प्रणवाद्याक्षरप्रिया ॥ ६८ ।
प्रणवार्णजपप्रीता प्राणमृत्युञ्जयप्रदा ।
प्रणवालङ्कृता व्यूढा पशुभक्षणतर्पणा ॥ ६९ ।
पशुदोषहरा पाशुपतास्त्रकोटिधारिणी ।
प्रवेशिनी प्रवेशाख्या पद्मपत्रत्रिलोचना ॥ ७० ।
पशुमांसासवानन्दा पशुकोटिबलिप्रिया ।
पशुधर्मक्षया प्रार्या पशुतर्पणकारिणी[2] ॥ ७१ ।
पशुश्रद्धाकरी पूज्या पशुमुण्डसुमालिनी ।
परवीरयोगशिक्षा परसिद्धान्तयोगिनी ॥ ७२ ।
परशुक्रोधमुख्यास्त्रा परशुप्रलयप्रदा ।
पद्मरागमालधरा पद्मरागासनस्थिता ॥ ७३ ।
पद्मरागमणिश्रेणीहारालङ्कारशोभिता ।
परमधूलिसौन्दर्यमञ्जीरपादुकाम्बुजा ॥ ७४ ।
हर्त्री समस्तदुःखानां हिरण्यहारशोभिता ।
हरिणाक्षी हरिस्था च हरा हारावती हिरा ॥ ७५ ।
हारकुण्डलशोभाढ्या हारकेयूरमण्डिता ।
हरणस्था हाकिनी च [3]होमकर्मप्रकाशिनी ॥ ७६ ।
हरिद्रा हरिपूज्या च हरमाला हरेश्वरी ।
हरातीता हरसिद्धा ह्रींकारी हंसमालिनी ॥ ७७ ।

---

१. पर्वतानां छत्रं करोति तच्छीला । णिनिप्रत्ययान्तेन सहोपपदसमासः । अनेन विशिष्टभक्तानां कृते आच्छादनदानकर्त्री भगवती, इति व्यज्यते ।

२. पशूनां तर्पणं करोति तच्छीला उपपदसमासेन साधुत्वप्राप्तिः । एतावता भक्तजन-तर्पयित्री भगवती इति व्यज्यते ।

३. होमकर्माणि प्रकाशयति तच्छीला । उपपदसमासः ।

हंसमन्त्रस्वरूपा च [1]हंसमण्डलभेदिनी ।
हंसः सोऽहं मणिकरा हंसराजोपरिस्थिता ॥ ७८ ॥
हीरकाभा हीरकस्रकधारिणी हरमेखला ।
हरकुण्डमेखला च होमदण्डसुमेखला ॥ ७९ ॥
हरधरप्रियानन्दा हलीशानी हरोदया ।
हरपत्नी हररता संहारविग्रहोज्ज्वला ॥ ८० ॥
संहारनिलया हाला ह्लौंबीजप्रणवप्रिया ।
हलक्षा हक्षवर्णस्था हाकिनो हरमोहिनी ॥ ८१ ॥
हाहा - हूहू - प्रियानन्दगायनप्रेमसुप्रिया ।
हरभूतिप्रदा हारप्रिया हीरकमालिनी ॥ ८२ ॥
हीरकाभा हीरकस्था हराधारा हरस्थिता ।
हालानिषेविता हिन्ता हिन्तालवनसिद्धिदा ॥ ८३ ॥
महामाया महारौद्री महादेवनिषेविता ।
महानया महादेवी महासिद्धा महोदया ॥ ८४ ॥
महायोगा महाभद्रा महायोगेन्द्रतारिणी[2] ।
महादीपशिखाकारा महादीपप्रकाशिनी ॥ ८५ ॥
महादीपप्रकाशाख्या महाश्रद्धा महामतिः ।
महामहीयसी मोहनाशिनी महती महा ॥ ८६ ॥
महाकालपूजिता च महाकालकुलेश्वरी ।
महायोगीन्द्रजननी मोहसिद्धिप्रदायिनी ॥ ८७ ॥
आहुतिस्थाहुतिरता होतृवेदमनुप्रिया ।
हैयङ्गबोजभोक्त्री च हैयङ्गबीजसुप्रिया ॥ ८८ ॥
हे सम्बोधनरूपा च हे हेतोः परमात्मजा ।
हलनाथप्रिया देवी [3]हिताहितविनाशिनी ॥ ८९ ॥

---

१. हंसानां मण्डलं भेद्यति भेदयति स्नेहयति या तच्छीला सा हंससमुदाये स्नेहं सम्पादयति ।

२. महान्तो योगेन्द्रास्तान् तारयति तच्छीला भगवती इति भावः ।

३. हितेषु येऽहितांशाः, तान् विनाशयति तच्छीला ।

हन्त्री समस्तपापानां [1]हलहेतुप्रदाप्रदा ।
हलहेतुच्छलस्था च हिलिहिलिप्रयागिनी ॥ ९० ।
हुतासनमुखी शून्या हरिणी हरतन्त्रदा ।
हठात्कारगतिप्रीता सुण्टकालङ्कृता इला ॥ ९१ ।
हलायुधाद्यजननी हिल्लोला हेमबर्हिणी ।
हैमी हिमसुता हेमपर्वतशृङ्गसंस्थिरा ॥ ९२ ।
हरणाख्या हरिप्रेमवर्धिनी हरमोहिनी ।
हरमाता हरप्रज्ञा हुङ्कारी हरपावनी ॥ ९३ ।
हेरम्बजननी हट्टमध्यस्थलनिवासिनी ।
हिमकुन्देन्दुधवला हिमपर्वतवासिनी ॥ ९४ ।
होतृस्था हरहाला च हेलातीता अहर्गणा ।
अहङ्कारा हेतुगर्ता हेतुस्था हितकारिणी ॥ ९५ ।
हतभाग्यनिहन्त्री च हतासद्बुद्धिजीविका ।
हेतुप्रिया महारात्री अहोराख्या हरोद्गमा ॥ ९६ ।
अहंणादिप्रिया चार्हा [2]हाहाकारनिनादिनी ।
हनुमत्कल्पसंस्थाना हनुमत्सिद्धिदायिनी ॥ ९७ ।
हलाहलप्रियाघोरा महाभीमा हलायुधा ।
हसौः बीजस्वरूपा च हसौं प्रेताख्यजापिनी ॥ ९८ ।
आह्लादिनी इहानन्दा अर्घ्यंकान्ता हरार्चना ।
हरभीतिहराहःका बीजहःकामहक्षरा ॥ ९९ ।
हेरम्बयोगसिद्धिस्था हेरम्बादिसुतप्रिया ।
हननाख्या हेतुनाम्नी हठात् सिद्धिप्रयोगदा ॥ १०० ।
उमा महेश्वरी आद्या अनन्तानन्तशक्तिदा ।
[3]आधारार्हंसुरक्षा च ईश्वरी उग्रतारिणी ॥ १०१ ।

---

१. हलस्य विलेखनस्य ये हेतवः, तान् प्रदापयन्ति ये ते हलहेतुप्रदापाः, कर्मण्यण्प्रत्ययः । तान् ददाति या सा, 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कर्तरि कप्रत्ययः, स्त्रीत्वविवक्षायां टाप् ।

२. हाहाकारं निनादयति तच्छीला, णिनिप्रत्ययान्तेन सहोपपदसमासः, ङीप्प्रत्ययः स्त्रीत्वद्योतकः ।

३. आधारार्हाणां सुरक्षा । षष्ठीसमासे साधुता ।

उषेश्वरी उत्तमा च [1]ऊर्ध्वपद्मविभेदिनी ।
ऋद्धिसिद्धिप्रदा क्षुल्लाकाशबीजसुसिद्धिदा ॥ १०२ ।

तृतकस्थातृतकस्था तृस्वराखर्वबीजगा ।
एरण्डपुष्पहोमाढ्या ऐश्वर्यदानतत्परा[2] ॥ १०३ ।

ओड्रपुष्पप्रिया ॐकाराक्षरा औषधप्रिया ।
अर्वणासार:अंशाख्या अ:स्था च कपिला कला ॥ १०४ ।

कैलासस्था कामधेनु: खर्वा खेटकधारिणी ।
खरपुष्पप्रिया खड्गधारिणी खरगामिनी ॥ १०५ ।

गभीरा गीतगायत्री गुर्वा गुरुतरा गया ।
घनकोटिनादकरी घर्घरा घोरनादिनी ॥ १०६ ।

घनच्छाया चारुवर्णा चण्डिका चारुहासिनी ।
चारुचन्द्रमुखी चारुचित्तभावार्थगामिनी ॥ १०७ ।

छत्राकिनी छलच्छिन्ना छागमांसविनोदिनी ।
जयदा जीवी जन्या च जीमूतैरुपशोभिता ॥ १०८ ।

जयिश्री जयमुण्डाली झङ्कारी झञ्जनादिका ।
टङ्कारधारिणी टङ्कबाणकार्मुकधारिणी ॥ १०९ ।

ठकुराणी ठठङ्कारी डामरेशी च डिण्डिमा ।
ढक्कानादप्रिया ढक्का तवमाला तलातला ॥ ११० ।

तिमिरा तारिणी तारा तरुणा तालसिद्धिदा ।
तृप्ता च तेजसी चैव तुलनातलवासिनी ॥ १११ ।

तोषणा तौलिनी तैलगन्धामोदितदिङ्मुखी ।
स्थूलप्रिया थकाराद्या स्थितिरूपा च संस्थिरा ॥ ११२ ।

दक्षिणदेहनादाक्षा दक्षपत्नी च दक्षजा ।
दारिद्र्यदोषहन्त्री च [3]दारुणास्त्रविभञ्जिनी ॥ ११३ ।

---

१. ऊर्ध्वपद्मानि विभेदयति तच्छीला । उपपदसमासेन साधुता ।

२. ऐश्वर्यदाने तत्परा, तादृशी भगवती जगदम्बिका ।

३. दारुणानि यानि अस्त्राणि, तानि विभनक्ति तच्छीला । एतावता आधुनिकानां परमाणुबमाख्यानामस्त्राणां विनाशेऽपि दक्षा ।

[1]दंष्ट्राकरालवदनी दीर्घमात्रादलान्विता ।
देवमाता देवसेना देवपूज्या दयादशा ॥ ११४ ।
दीक्षादानप्रदा दैन्यहन्त्री दीर्घसुकुन्तला ।
दनुजेन्द्रनिहन्त्री च दनुजारिविमर्दिनी ॥ ११५ ।
देशपूज्या दायदात्री दशनास्त्रप्रधारिणी[2] ।
दासरक्षा देशरक्षा दिगम्बरदिगम्बरी ॥ ११६ ।
दिक्प्रभापाटलव्याप्ता दरोगृहनिवासिनी ।
दर्शनस्था दार्शनिका दत्तभार्या च दुर्गहा ॥ ११७ ।
दुर्गा दीर्घमुखी दुःखनाशिनी दिविसंस्थिता ।
धन्या धनप्रदा धारा धरणी धारिणी धरा ॥ ११८ ।
धृतसौन्दर्यवदना धनदा धान्यवर्धिनी ।
ध्यानप्राप्ता ध्यानगम्या ध्यानज्ञानप्रकाशिनी ॥ ११९ ।
ध्येया धीरपूजिता च धूमेशी च धुरन्धरा ।
धूमकेतुहरा धूमा ध्येया सर्वसुरेश्वरैः ॥ १२० ।
धर्मार्थमोक्षदा धर्मचिन्ता धर्मप्रकाशिनी ।
धूलिरूपा च धवला धवलच्छत्रधारिणी ॥ १२१ ।
धवलाम्बरधात्री च धवलासनसंस्थिता ।
धवला हिमालयधरा धरणी साधनक्रिया ॥ १२२ ।
धवलेश्वरकन्या च धवलाध्वाधलामुखी ।
धीरकन्या धर्मकन्या ध्रुवसिद्धिप्रदायिनी ॥ १२३ ।
ध्रुवानन्दा ध्रुवश्रद्धा ध्रुवसन्तोषवर्धिनी ।
नारिकेलजलस्नाता नारिकेलफलासना ॥ १२४ ।
नारी नारायणीशाना नम्रपूजनसुप्रिया ।
नरदेवरता [3]नित्यगणगन्धर्वपूजिता ॥ १२५ ।

१. दंष्ट्राभिः करालं भयङ्करं वदनं यस्याः सा । स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधादिति ङीष् ।
२. दशनान्येव दन्ता एव अस्त्राणि, तानि प्रकर्षेण धरति, तच्छीला ।
३. नित्यं यथा स्यात्तथा गणेन गन्धर्वैश्च पूजिता, सम्मानिता ।

नरकविहारिणी चैव [1]नरकान्तककारिणी ।
नरक्षेत्रकलादेवी नवकोशनिवासिनी ॥ १२६ ।
नाक्षत्रविद्या नाक्षत्री नक्षत्रमण्डलस्थिता ।
नृपोन्नाशकरी नारायणी नूपुरधारिणी ॥ १२७ ।
नृत्यगीतप्रियानीता नवीना नामशायिनी ।
नौनूतनास्त्रधरा नित्या नवपुष्पवनस्थिता ॥ १२८ ।
नवपुष्पप्रेमरता नवचम्पकमालिनी ।
नवरत्नहारमाला नवजाम्बूनदप्रभा ॥ १२९ ।
नमस्कारप्रिया निन्दा वादनादप्रणाशिनी ।
पवनाक्षरमाला च पवनाक्षरमालिनी ॥ १३० ।
परदोषभयङ्कारा प्रचरद्रूपसंस्थिता ।
प्रस्फुटिताम्भोजमालाधारिणी प्रेमवासिनी ॥ १३१ ।
परमानन्दसप्तानहरी पृथुनितम्बिनी ।
प्रवालमाला लोभाङ्गी पयोदा शतविग्रहा ॥ १३२ ।
पयोदकरुणाकारा पारम्पर्याप्रसादिनी ।
प्रारम्भकर्मनिरता प्रारब्धभोगदायिनी[2] ॥ १३३ ।
प्रेमसिद्धिकरी प्रेमधारा गङ्गाम्बुशोभिनी ।
फेरुपुण्यवरानन्दा फेरुभोजनतोषणी ॥ १३४ ।
फलदा फलवर्धा च फलाह्लादविनोदिनी ।
फणिमालाधरा देवी फणिहारादिशोभिनी ॥ १३५ ।
फणा फणीकारमुखी फणस्था फणिमण्डला ।
सहस्रफणिसम्प्राप्ता फुल्लारविन्दमालिनी ॥ १३६ ।
वासुकी व्यासपूज्या च वासुदेवार्चनप्रिया ।
[3]वासुदेवकलावाच्या वाचकस्था वसुस्थिता ॥ १३७ ।

---

१. नरकस्य नरकासुरस्यान्तकं करोति तच्छीला, णिनिः कर्तरि, उपपदसमासः ।
२. प्रारब्धा ये भोगाः, तान् ददाति, तच्छीला ।
३. वासुदेवस्य भगवतः कलाः, ताभिर्वाच्या वाच्यमाना ।

वज्रदण्डधराधारा[1] विरदा वादसाधिनी ।
वसन्तकालनिलया वसोर्द्धारा वसुन्धरा ॥ १३८ ।
वेपमानरक्षका च वपूरक्षा वृषासना ।
विवस्वत्प्रेमकुशला विद्यावाद्यविनोदिनी ॥ १३९ ।
विधिविद्याप्रकाशा च विधिसिद्धान्तदायिनी ।
विधिज्ञा वेदकुशला वेदवाक्यविवासिनी ॥ १४० ।
बलदेवपूजिता च बालभावप्रपूजिता[2] ।
बाला वसुमती वेद्या वृद्धमाता बुधप्रिया ॥ १४१ ।
बृहस्पतिप्रिया वीरपूजिता बालचन्द्रिका ।
विग्रहज्ञानरक्षा च व्याघ्रचर्मधरावरा ॥ १४२ ।
व्यथाबोधापहन्त्री च विसर्गमण्डलस्थिता ।
बाणभूषापूजिता वनमाला विहायसी ॥ १४३ ।
वामदेवप्रिया वामपूजाजापपरायणा ।
भद्रा भ्रमरवर्णा च भ्रामरी भ्रमरप्रभा ॥ १४४ ।
भालचन्द्रधरा भीमा भीमनेत्राभवाभवा ।
भीममुखी भीमदेहा भीमविक्रमकारिणी ॥ १४५ ।
भीमश्रद्धा भीमपूज्या भीमाकारातिसुन्दरी ।
भीमसङ्ग्रामजयदा भीमाद्या [3]भीमभैरवी ॥ १४६ ।
भैरवेशी भैरवी च सदानन्दादिभैरवी ।
सदानन्दभैरवी च भैरवेन्द्रप्रियङ्करी ॥ १४७ ।
भल्लास्त्रधारिणी भैमी भृगुवंशप्रकाशिनी ।
भर्गपत्नी भर्गमाता भङ्गस्था [4]भङ्गभक्षिणी ॥ १४८ ।

---

१. वज्रदण्डं धरन्ति ये ते वज्रदण्डधराः । पचाद्यजन्तेन धराशब्देन समासः, तेषामाधारा आधारभूता ।

२. बालभावेन प्रपूजिता । एतेन भगवत्यां बालभावोऽपि महनीयोऽस्ति ।

३. भीमलोचनेति पाठान्तरमप्युल्लिखितमस्ति ।

४. भङ्गस्य भङ्गपत्रस्य भक्षिणी । एतेन विजयापानमपि भगवत्या इष्टमस्ति इति व्यज्यते ।

भक्षप्रिया भक्षरता भृकुण्डा भावभैरवी ।
भावदा भवदा भावप्रभावा [1]भावनाशिनी ॥ १४९ ।
भालसिन्दूरतिलका भाललोकसुकुण्डला ।
भालमालालकाशोभा भासयन्ती भवार्णवा ॥ १५० ।
भवभीतिहरा भालचन्द्रमण्डलवासिनी[2] ।
भ्रमद्भ्रमरनेत्राब्जसुन्दरी भीमसुन्दरी ॥ १५१ ।
भजनप्रियरूपा च भावभोजनसिद्धिदा ।
भ्रूचन्द्रनिरता बिन्दुचक्रभ्रूपद्मभेदिनी ॥ १५२ ।
भवपाशहरा भीमभावकन्दनिवासिनी ।
मनोयोगसिद्धिदात्री मानसी मनसो मही ॥ १५३ ।
महती मीनभक्षा च मीनचर्बणतत्परा ।
मीनावतारनिरता मांसचर्बणतत्परा ॥ १५४ ।
मांसप्रिया मांससिद्धा सिद्धमांसविनोदिनी ।
माया महावीरपूज्या मधुप्रेमदिगम्बरी ॥ १५५ ।
माधवी मदिरामध्या मधुमांसनिषेविता ।
मीनमुद्राभक्षिणी च मीनमुद्राप्रतर्पिणी ॥ १५६ ।
मुद्रामैथुनसंतृप्ता मैथुनानन्दवर्धिनी ।
मैथुनज्ञानमोक्षस्था महामहिषमर्दिनी ॥ १५७ ।
यज्ञश्रद्धा योगसिद्धा यत्नो यत्नप्रकाशिनी ।
यशोदा यशसि प्रीता यौवनस्था यमापहा ॥ १५८ ।
रासश्रद्धातुरारामरमणीरमणप्रिया ।
राज्यदा [3]रजनीराजवल्लभा रामसुन्दरी ॥ १५९ ।
रतिश्चारतिरूपा च रुद्रलोकसरस्वती ।
रुद्राणी रणचामुण्डा रघुवंशप्रकाशिनी ॥ १६० ।

---

१. भावं नाशयति या सा, अत्र भावपदं कुत्सितभावबोधकमिति ज्ञेयम् ।
२. भाले चन्द्रो यस्य स भालचन्द्रः शिवः, तस्य मण्डलं समाजस्तत्र वसति या सा ।
३. रजन्यां राजते योऽसौ रजनीराजश्चन्द्रः, स वल्लभो यस्या सा ।

लक्ष्मीर्लीलावती लोका [1]लावण्यकोटिसम्भवा ।
लोकातीता लक्षणाख्या लिङ्गधारा लवङ्गदा ॥ १६१ ॥

लवङ्गपुष्पनिरता लवङ्गतरुसंस्थिता ।
लेलिहाना लयकरी लीलादेहप्रकाशिनी ॥ १६२ ॥

लाक्षाशोभाधरा लङ्का रत्नमासवधारिणी ।
लक्षजापसिद्धिकरी लक्षमन्त्रप्रकाशिनी ॥ १६३ ॥

वशिनी वशकर्त्री च वश्यकर्मनिवासिनी[2] ।
वेशावेश्या वेशवेश्या वंशिनी वंशवर्धिनी ॥ १६४ ॥

वंशमाया वज्रशब्दमोहिनी शब्दरूपिणी ।
शिवा शिवमयी शिक्षा शशिचूडामणिप्रभा ॥ १६५ ॥

शवयुग्मभीतिदा च शवयुग्मभयानका ।
शवस्था शववक्षस्था शाब्दबोधप्रकाशिनी ॥ १६६ ॥

षट्पद्मभेदिनी षट्का षट्कोणयन्त्रमध्यगा ।
षट्चक्रसारदा सारा सारात्सारसरोरुहा ॥ १६७ ॥

समनादिनिहन्त्री च सिद्धिदा संशयापहा ।
संसारपूजिता धन्या सप्तमण्डलसाक्षिणी ॥ १६८ ॥

सुन्दरी सुन्दरप्रीता सुन्दरानन्दवर्धिनी ।
सुन्दरास्या सुनवस्त्री सौन्दर्यसिद्धिदायिनी ॥ १६९ ॥

त्रिसुन्दरी[3] सर्वरी च सर्वा त्रिपुरसुन्दरी ।
श्यामला सर्वमाता च सख्यभावप्रिया स्वरा ॥ १७० ॥

साक्षात्कारस्थिता साक्षात्साक्षिणी सर्वसाक्षिणी ।
हाकिनी शाकिनीमाता शाकिनी काकिनीप्रिया ॥ १७१ ॥

---

१. लावण्यानि सौन्दर्याणि तेषां कोटौ सम्भवति या सा। परमातिशयलावण्यसम्पन्ना इति भावः।

२. वशमर्हन्ति ये ते वश्याः, तेषां कर्मणि निवसति, तच्छीला। एतेन भक्तजनानां क्रियां सफलतया सम्पादयतीति ध्वनितम्।

३. त्रिषु लोकेषु सुन्दरी, अथवा त्रिषु गुणेषु सुन्दरी इति भावः।

हाकिनी लाकिनीमाता हाकिनी राकिणीप्रिया ।
हाकिनी डाकिनीमाता हरा कुण्डलिनी हया ॥ १७२ ।
हयस्था हयतेजःस्था हसौंबीजप्रकाशिनी ।
लवणाम्बुस्थिता लक्षग्रन्थिभेदनकारिणी ॥ १७२ ।
लक्षकोटिभास्कराभा [1]लक्षब्रह्माण्डकारिणी ।
क्षणदण्डपलाकारा क्षपाक्षोभविनाशिनी ॥ १७४ ।
क्षेत्रपालादिवटुकगणेशयोगिनीप्रिया ।
क्षयरोगहरा क्षौणी क्षालनस्थाक्षरप्रिया ॥ १७५ ।
क्षाद्यस्वरान्तसिद्धिस्था क्षादिकान्तप्रकाशिनी ।
क्षाराम्बुतिक्तनिकरा क्षितिदुःखविनाशिनी ॥ १७६ ।
क्षुन्निवृत्तिः क्षणज्ञानी वल्लभा क्षणभङ्गुरा ।
इत्येतत् कथितं नाथ हाकिन्याः कुलशेखर ॥ १७७ ।
सहस्रनामयोगाङ्गमष्टोत्तरशतान्वितम् ।
यः पठेन्नियतः श्रीमान् स योगी नात्र संशयः ॥ १७८ ।
अस्य स्मरणमात्रेण वीरो योगेश्वरो भवेत् ।
अस्यापि च फलं वक्तुं कोटिवर्षशतैरपि ॥ १७९ ।
शक्यते नापि सहसा संक्षेपात् शृणु सत्फलम् ।
आयुरारोग्यमाप्नोति विश्वासं श्रीगुरोः पदेः ॥ १८० ।
सारसिद्धिकरं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम् ।
[2]अत्यन्तदुःखदहनं सर्वसौभाग्यदायकम् ॥ १८१ ।
पठनात् सर्वदा योगसिद्धिमाप्नोति योगिराट् ।
देहसिद्धिः काव्यसिद्धिर्ज्ञानसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ॥ १८२ ।
वाचां सिद्धिः खड्गसिद्धिः खेचरत्वमवाप्नुयात् ।
त्रैलोक्यवल्लभो योगी सर्वकामार्थसिद्धिभाक् ॥ १८३ ।

---

१. लक्षाणि लक्षसंख्याकानि अनेकानि इति यावत्, इयन्ति यानि ब्रह्माण्डानि, तानि करोति तच्छीला लक्षब्रह्माण्डकारिणी इति भावः ।

२. अत्यन्तं यद् दुःखम्, तस्य दहनं दाहकम् । बाहुलकात् कर्तरि ल्युट्प्रत्ययः ।

अप्रकाश्यं महारत्नं पठित्वा सिद्धिमाप्नुयात् ।
अस्य प्रपठनेनापि भ्रूपद्मे चित्तमर्पयन् ॥ १८४ ।

[1]यशोभाग्यमवाप्नोति राजराजेश्वरो भवेत् ।
डाकिनीसिद्धिमाप्नोति कुण्डलीवशमानयेत् ॥ १८५ ।

ध्यानात्मा साधकेन्द्रश्च यतिर्भूत्वा शुभे दिने ।
ध्यानं कुर्यात् पद्ममध्यकर्णिकायां शिवालये ॥ १८६ ।

भ्रूमध्ये चक्रसारे च ध्यात्वा ध्यात्वा पठेद् यदि ।
राकिणीसिद्धिमाप्नोति देवतादर्शनं लभेत् ॥ १८७ ।

भाग्यसिद्धिमवाप्नोति नित्यं प्रपठनाद्यतः ।
साक्षात्सिद्धिमवाप्नोति शक्तियुक्तः पठेद्यदि ॥ १८८ ।

हिरण्याक्षी लाकिनीशा वशमाप्नोति धैर्यवान् ।
रात्रिशेषे समुत्थाय पठेद् यदि शिवालये ॥ १८९ ।

पूजान्ते वा जपान्ते वा वारमेकं पठेद्यदि ।
वीरसिद्धिमवाप्नोति काकिनीवशमानयेत् ॥ १९० ।

रात्रिं व्याप्य पठेद्यस्तु शुद्धचेता जितेन्द्रियः ।
शय्यायां चण्डिकागेहे मधुगेहेऽथवा पुनः ॥ १९१ ।

शाकिनीसिद्धिमाप्नोति सर्वदेशे च सर्वदा ।
प्रभाते च समुत्थाय शुद्धात्मा पञ्चमे दिने ॥ १९२ ।

अमावास्यासु विज्ञायां श्रवणायां विशेषतः ।
शुक्लपक्षे नवम्यां तु कृष्णपक्षेऽष्टमीदिने ॥ १९३ ।

भार्यायुक्तः पठेद्यस्तु वशमाप्नोति भूपतिम् ।
एकाकी निर्जने देशे कामजेता[2] महाबली ॥ १९४ ।

प्रपठेद् रात्रिशेषे च स भवेत् साधकोत्तमः ।
कल्पद्रुमसमो दाता देवजेता न संशयः ॥ १९५ ।

---

१. यशश्च भाग्यं चेत्यनयोः समाहारद्वन्द्वे साधुता । अथवा यशसा सहितं भाग्यमिति मध्यमपदलोपिसमासः ।

२. कामस्य कामदेवस्य जेता । अथवा कामस्य इच्छातत्त्वस्य जेता ।

[1]शिवशक्तिमध्यभागे यन्त्रं संस्थाप्य यत्नतः ।
प्रपठेत् साधकेन्द्रश्च सर्वज्ञाता स्थिराशयः ।। १९६ ।
एकान्तनिर्जने रम्ये तपःसिद्धिफलोदये[2] ।
देशे स्थित्वा पठेद्यस्तु जीवन्मुक्ति फलं लभेत् ।। १९७ ।
अकालेऽपि सकालेऽपि पठित्वा सिद्धिमाप्नुयात् ।
त्रिकालं यस्तु पठति प्रान्तरे वा चतुष्पथे ।। १९८ ।
योगिनीनां पतिः साक्षादायुर्वृद्धिर्दिने दिने ।
वारमेकं पठेद्यस्तु मूर्खो वा पण्डितोऽपि वा ।। १९९ ।
वाचामीशो भवेत् क्षिप्रं योगयुक्तो भवेद् ध्रुवम् ।
सम्भावितो भवेदेकं वारपाठेन भैरव ।। २०० ।
जित्वा कालमहामृत्युं देवीभक्तिमवाप्नुयात् ।
पठित्वा वारमेकं तु यात्रां कुर्वन्ति ये जनाः ।। २०१ ।
देवीदर्शनसिद्धिञ्च प्राप्तो योगमवाप्नुयात् ।
प्रत्येकं नाममुच्चार्य यो यागमनुसञ्चरेत् ।। २०२ ।
स भवेन्मम पुत्रो हि सर्वकामफलं लभेत् ।
[3]सर्वयज्ञफलं ज्ञानसिद्धिमाप्नोति योगिराट् ।। २०३ ।
भूतले भूभृतांनाथो महासिद्धो महाकविः ।
कण्ठे शीर्षे दक्षभुजे पुरुषो धारयेद्यदि ।। २०४ ।
योषिद्वामभुजे धृत्वा सर्वसिद्धिमवाप्नुयात् ।
गोरोचनाकुङ्कुमेन रक्तचन्दनकेन च ।। २०५ ।
यावकैर्वा महेशानि लिखेन्मन्त्रं समाहितः ।
आद्या देवी परप्राणसिद्धिमाप्नोति निश्चितम् ।। २०६ ।
लिङ्गे पीठे पूर्णिमायां कृष्णचतुर्दशीदिने ।
भौमवारे मध्यरात्रौ पठित्वा [4]कामसिद्धिभाक् ।। २०७ ।

---

१. शिवस्य शक्तेश्च मध्यभागे यन्त्रस्य संस्थापना कार्या ।
२. तपसां सिद्धिः, तस्याः फलस्योदये, उत्पत्तिसमये ।
३. सर्वेषां यज्ञानां फलानि च ज्ञानं च तेषां सिद्धिः ।
४. कामानां संकल्पानां सिद्धिः ।

किं न सिद्धयति भूखण्डे अजरामर एव सः ।
रमणीकोटिभर्ता स्याद् वर्षद्वादशपाठतः ॥ २०८ ।
अष्टवर्षप्रपाठेन [1]कायप्रवेशसिद्धिभाक् ।
षड्वर्षमात्रपाठेन कुबेरसदृशो धनी ॥ २०९ ।
वारैकमात्रपाठेन वर्षे वर्षे दिने दिने ।
स भवेत् पञ्चतत्त्वज्ञो तत्त्वज्ञानी न संशयः ॥ २१० ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो वसेत् कल्पत्रयं भुवि ।
यः पठेत् सप्तधा नाथ सप्ताहनि दिने दिने ॥ २११ ।
रात्रौ वारत्रयं धीमान् पठित्वा खेचरो भवेत् ।
अश्विनी शुक्लपक्षे च रोहिण्यसितपक्षके ॥ २१२ ।
अष्टम्यां हि नवम्यां तु पठेद् वारत्रयं निशि ।
दिवसे वारमेकं तु स भवेत् पञ्चतत्त्ववित् ॥ २१३ ।
अनायासेन देवेश पञ्चामरादिसिद्धिभाक् ।
खेचरीमेलनं तस्य नित्यं भवति निश्चितम् ॥ २१४ ।
स्वर्गे मर्त्ये च पाताले क्षणान्निःसरति ध्रुवम् ।
[2]अग्निस्तम्भं जलस्तम्भं वातस्तम्भं करोति सः ॥ २१५ ।
पञ्चतत्त्वक्रमेणैव श्मशाने यस्तु सम्पठेत् ।
स भवेद् देवदेवेशः सिद्धान्तसारपण्डितः[3] ॥ २१६ ।
शूकरासवसंयुक्तः कुलद्रव्येण वा पुनः ।
बिल्वमूले पीठमूले विधानेन प्रपूजयेत् ॥
परेण परमा देवी तुष्टा भवति सिद्धिदा ॥ २१७ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवभैरवीसंवादे हाकिनीसहस्रनामविन्यासो नाम षडशीतितमः पटलः ॥

१. काये परशरीरे प्रवेशः, तस्य सिद्धिः ।

२. अग्नि-जल-वायूनां स्तम्भो निरोधः ।

३. सिद्धोऽन्तो येषां ते सिद्धान्ताः, तेषां सारः, तत्र पण्डितः विज्ञः । सदसद्विवेकिनी बुद्धिः पण्डा, सा सञ्जाता यस्य सः पण्डितः ।

अथ सप्ताशीतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरव उवाच—

आनन्दभैरवि प्राणवल्लभे जगदीश्वरि ।
तव [1]प्रसादवाक्येन श्रुतं नामसहस्रकम् ॥ १ ।
हाकिन्याः कुलयोगिन्याः परमाद्भुतमङ्गलम् ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि परनाथस्य वाञ्छितम् ॥ २ ।
सहस्रनामयोगाङ्गमष्टोत्तरसमाकुलम् ।
भ्रूपद्मभेदनार्थाय हाकिनीयोगसिद्धये ॥ ३ ।
परनाथस्य योगाधिसिद्धये कुलभैरवि ।
कृपया वद मे प्रीता धर्मसिद्धिनिबन्धनात् ॥ ४ ।
मम देहरक्षणाय पातिव्रात्यप्रसिद्धये ।
महाविषहरे शीघ्रं वद योगिनि विस्तरात् ॥ ५ ।
त्वत्प्रसादात् खेचराणां भैरवाणां हि योगिनाम् ।
नाथोऽहं जगतीखण्डे सुधाखण्डे वद प्रिये ॥ ६ ।
पुनः पुनः स्तौमि नित्ये त्वमेव सुप्रिया भव ।

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

अथ योगेश्वर प्राणनाथ योगेन्द्र सिद्धिद ॥ ७ ।
इदानीं कथये तेऽहं निजदेहसुसिद्धये ।
सर्वदा हि पठस्व त्वं कालमृत्युं वशं नय ॥ ८ ।
कृपया तव नाथस्य स्नेहपाशनियन्त्रिता ।
तवाज्ञापालनार्थाय कालकूटविनाशनात् ॥ ९ ।
[2]भुक्तिमुक्तिक्रियाभक्तिसिद्धये तच्छृणु प्रभो ।
नित्यामृतखण्डरसोल्लासनामसहस्रकम् ॥ १० ।

---

१. प्रसादः प्रसन्नता, तस्या वाक्यम्, प्रसादवचनमिति यावत् ।
२. भुक्तिश्च मुक्तिश्च क्रिया च भक्तिश्च तासां सिद्धिः, तस्यै ।

अष्टोत्तरं प्रयत्नेन योगिनां हि हिताय च ।
कथयामि [1]सिद्धनामज्ञाननिर्णयसाधनम् ॥ ११ ।

अस्य श्रीपरनाथमहादेवमात्मनोऽष्टोत्तरसहस्र-नाम्नः स्तोत्रस्य सदाशिव ऋषिरुष्णिक्छन्दः श्रीपरनाथमहापुरुषपरमात्मा देवता ह्सौं बीजं सां शक्तिः प्रचण्डपरनाथमूलकीलकं चतुर्वर्गहाकिनी-परयोगसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः ॥

ॐ ह्सौ सां परेशश्च पराशक्तिः प्रियेश्वरः ।
शिवः परः पारिभद्रः परेशो निर्मलोऽद्वयः ॥ १२ ।
स्वयंज्योतिरनाद्यन्तो निर्विकारः परात्परः ।
परमात्मा पराकाशोऽपरोऽप्यपराजितः ॥ १३ ।
पार्वतीवल्लभः श्रीमान् दीनबन्धुस्त्रिलोचनः ।
योगात्मा योगदः सिद्धेश्वरो वीरः स्वरान्तकः ॥ १४ ।
कपिलेशो गुरुर्गीतः स्वप्रियो गीतमोहनः ।
गभीरो गाधनस्थश्च गीतवाद्यप्रियङ्करः ॥ १५ ।
गुरुगीतापवित्रश्च गानसम्मानतोज्झितः ।
गयानाथो दत्तनाथो दत्तात्रेयपतिः शिवः ॥ १६ ।
आकाशवाहको नीलो नीलाञ्जनशरीरधृक् ।
खगरूपी खेचरश्च गगनात्मा गभीरगः ॥ १७ ।
गोकोटिदानकर्त्ता च गोकोटिदुग्धभोजनः ।
अभयावल्लभः श्रीमान् परमात्मा निराकृतिः ॥ १८ ।
सांख्याधारी निराकारी निराकरणवल्लभः ।
वाय्वाहारी वायुरूपी वायुगन्ता स्ववायुपाः ॥ १९ ।
[2]वातघ्नो वातसम्पत्तिर्वाताजीर्णो वसन्तवित् ।
वासनीशो व्यासनाथो नारदादिमुनीश्वरः ॥ २० ।

---

१. सिद्धानां नामानि तेषां ज्ञानानि, तन्निर्णयस्य साधनम् ।

२. वातं हन्ति इति वातघ्नः, वातेति कर्मण्युपपदे हन्तेः टक्प्रत्ययः कर्तरि । गमहने-त्यकारलोपः ।

[1]नारायणप्रियानन्दो नारायणनिराकृतिः ।
नावमालो नावकर्ता नावसंज्ञानधारकः ॥ २१ ।

जलाधारो ज्ञेय इन्द्रो निरिन्द्रियगुणोदयः ।
तेजोरूपी चण्डभीमो तेजोमालाधरः कुलः ॥ २२ ।

कुलतेजा कुलानन्दः शोभाढ्यो वेदरश्मिधृक् ।
किरणात्मा कारणात्मा कल्पच्छायापतिः शशी ॥ २३ ।

परज्ञानी परानन्ददायको धर्मजित्प्रभुः ।
त्रिलोचनाम्भोजराजो दीर्घनेत्रो मनोहरः ॥ २४ ।

चामुण्डेशः प्रचण्डेशः पारिभद्रेश्वरो हरः ।
गोपिता मोहितो गोप्ता गुप्तिस्थो गोपपूजितः ॥ २५ ।

गोपनाख्यो गोधनेशश्च चारुवक्त्रो दिगम्बरः ।
पञ्चाननः पञ्चमीशो विशालो गरुडेश्वरः ॥ २६ ।

अर्धनारीश्वरेशश्च नायिकेशः कुलान्तकः ।
संहारविग्रहः प्रेतभूतकोटिपरायणः ॥ २७ ।

अनन्तेशोऽप्यनन्तात्मा मणिचूडो विभावसुः ।
कालानलः कालरूपी वेदधर्मेश्वरः कविः ॥ २८ ।

भर्गः स्मरहरः शम्भुः स्वयम्भुः पीतकुण्डलः ।
जायापतिर्याजजूको विलाशीशः शिखापतिः ॥ २९ ।

पर्वतेशः पार्वणाख्यः क्षेत्रपालो महीश्वरः ।
[2]वाराणसीपतिर्मान्यो धन्यो वृषसुवाहनः ॥ ३० ।

अमृतानन्दितो मुग्धो वनमालीश्वरः प्रियः ।
काशीपतिः प्राणपतिः कालकण्ठो महेश्वरः ॥ ३१ ।

कम्बुकण्ठः क्रान्तिवर्गो वर्गात्मा जलशासनः ।
जलबुद्बुदवक्षश्च जलरेखामयः पृथुः ॥ ३२ ।

---

१. नारायणस्य प्रिय आनन्दो यस्य सः । आपो नाराः, तेऽयनं यस्य स नारायणः । पूर्वपदात् संज्ञायामिति णत्वम् ।

२. वरं च तदनश्च वरानः पवित्रजलम्, तस्यादूरभवा नगरी वाराणसी, अदूरभवश्चेत्यणि, संज्ञायां णत्वे च साधुता ।

[1]पार्थिवेशो महीकर्ता पृथिवीपरिपालकः ।
भूमिस्थो भूमिपूज्यश्च क्षोणीवृन्दारकार्चितः ॥ ३३ ।
शूलपाणिः शक्तिहस्तो पद्मगर्भो हिरण्यभृत् ।
भूगर्तसंस्थितो योगी योगसम्भवविग्रहः ॥ ३४ ।
पातालमूलकर्ता च पातालकुलपालकः ।
पातालनागमालाढ्यो दानकर्ता निराकुलः ॥ ३५ ।
भ्रूणहन्ता पापराधिनागकः कालनागकः ।
कपिलोग्रतपःप्रीतो लोकोपकारकृन्नृपः ॥ ३६ ।
नृपार्चितो नृपार्थस्थो नृपार्थकोटिदायकः ।
पार्थिवार्चनसन्तुष्टो महावेगी परेश्वरः ॥ ३७ ।
परापारापारतरो महातरुनिवासकः ।
तरुमूलस्थितो रुद्रो रुद्रनामफलोदयः ॥ ३८ ।
रौद्रीशक्तिपतिः क्रोधी कोपनष्टो विरोचनः ।
असंख्येयाख्ययुक्तश्च परिणामविवर्जितः ॥ ३९ ।
प्रतापी पवनाधारः प्रशंस्यः सर्वनिर्णयः ।
वेदजापी मन्त्रजापी देवता गुरुरीश्वरः ॥ ४० ।
श्रीनाथो गुरुदेवश्च परनाथो गुरुः प्रभुः ।
परापरगुरुर्ज्ञानी तन्त्रज्ञोऽर्कशतप्रभाः ॥ ४१ ।
तार्क्ष्यो गमनकारी च कालभावी निरञ्जनः ।
कालकूटानलः श्रोतः पुञ्जपानपरायणः ॥ ४२ ।
परिवारगणाढ्यश्च पाराशर्षिसुतस्थितः ।
स्थितिस्थापकरूपश्च [2]रूपातीतोऽमलापतिः ॥ ४३ ।
पतीशो भागुरिश्चैव कालश्चैव हरिस्तथा ।
वैष्णवः प्रेमसिन्धुश्च तरलो वातवित्तहा ॥ ४४ ।

---

१. पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः, स चासौ ईशश्चेति पार्थिवेशः । अथवा पार्थिवानां पृथिवीपतीनामीश इति ।

२. रूपमतीतोऽतिक्रान्त इति रूपातीतः, द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैरिति तत्पुरुषसमासः ।

भावस्वरूपो भगवान् निराकाशः सनातनः ।
अव्ययः पुरुषः साक्षी चाच्युतो मन्दराश्रयः ॥ ४५ ।

मन्दराद्रिक्रियानन्दो[1] वृन्दावनतनूद्भवः ।
वाच्यावाच्यस्वरूपश्च निर्मलाख्यो विवादहा ॥ ४६ ।

वैद्यो वेदपरो ग्रन्थो वेदशास्त्रप्रकाशकः ।
स्मृतिमूलो वेदयुक्तिः प्रत्यक्षकुलदेवता ॥ ४७ ।

परीक्षको वारणाख्यो महाशैलनिषेवितः ।
विरिञ्चप्रेमदाता च जन्योल्लासकरः प्रियः ॥ ४८ ।

प्रयागधारी पयोऽर्थी गाङ्गागङ्गाधरः स्मरः ।
गङ्गाबुद्धिप्रियो देवो गङ्गास्नाननिषेवितः ॥ ४९ ।

गङ्गासलिलसंस्थो हि गङ्गाप्रत्यक्षसाधकः ।
गिरो गङ्गामणिमरो मल्लिकामालधारकः ॥ ५० ।

मल्लिकागन्धसुप्रेमो मल्लिकापुष्पधारकः ।
महाद्रुमो महावीरो महाशूरो महोरगः ॥ ५१ ।

महातुष्टिर्महापुष्टिर्महालक्ष्मीशुभङ्करः ।
महाश्रमी महाध्यानी महाचण्डेश्वरो महान् ॥ ५२ ।

महादेवो महाह्लादो महाबुद्धिप्रकाशकः ।
महाभक्तो महाशक्तो महाधूर्तो महामतिः ॥ ५३ ।

महाच्छत्रधरो धारोधरकोटिगतप्रभा ।
अद्वैतानन्दवादी च मुक्तो भङ्गप्रियोऽप्रियः ॥ ५४ ।

अतिगन्धश्चातिमात्रो निर्णितान्तः परन्तपः ।
निर्णितोऽनिलधारी च सूक्ष्मानिलनिरूपकः ॥ ५५ ।

महाभयङ्करो गोलो [2]महाविवेकभूषणः ।
सुधानन्दः पीठसंस्थो हिङ्गुलादेश्वरः सुरः ॥ ५६ ।

---

१. मन्दरश्चासौ अद्रिश्चेति मन्दराद्रिः, मन्दराचलः, तदीयक्रियया क्षीरसागरे संचरणेन आनन्दो यस्य सः ।

२. महान् विवेकः स एव भूषणं यस्य स इत्यर्थः ।

नरो नागपतिः क्रूरो भक्तानां कामदः प्रभुः ।
नागमालाधरो धर्मी नित्यकर्मी कुलीनकृत् ॥ ५७ ।

शिशुपालेश्वरः [1]कीर्तिविकारी लिङ्गधारकः ।
तृषानन्दो हृषीकेशेश्वरः पाञ्चालवल्लभः ॥ ५८ ।

अक्रूरेशः पतिः प्रीतिवर्धको लोकवर्धकः ।
अतिपूज्यो वामदेवो दारुणो रतिसुन्दरः ॥ ५९ ।

महाकालः प्रियाह्लादी विनोदी पञ्चचूडधृक् ।
आद्याशक्तिपतिः पान्तो विभाधारी प्रभाकरः ॥ ६० ।

अनायासगतिर्बुद्धिप्रफुल्लो नन्दिपूजितः ।
शिलामूर्तिस्थितो रत्नमालामण्डितविग्रहः ॥ ६१ ।

बुधश्रीदो बुधानन्दो विबुधो बोधवर्धनः ।
अघोरः कालहर्ता च निष्कलङ्को निराश्रयः ॥ ६२ ।

पीठशक्तिपतिः प्रेमधारको मोहकारकः ।
असमो विसमो भावोऽभावो भावो निरिन्द्रियः ॥ ६३ ।

निरालोको बिलानन्दो बिलस्थो विषभुक्पतिः ।
दुर्गापतिर्दुर्गहर्ता दीर्घसिद्धान्तपूजितः ॥ ६४ ।

सर्वो दुर्गपतिर्विप्रो विप्रपूजापरायणः ।
ब्राह्मणानन्दनिरतो ब्रह्मकर्मसमाधिवित् ॥ ६५ ।

विश्वात्मा विश्वभर्ता च विश्वविज्ञानपूरकः ।
विश्वान्तःकरणस्थश्च विश्वसंज्ञाप्रतिष्ठितः ॥ ६६ ।

विश्वाधारो विश्वपूज्यो विश्वस्थोऽर्चित इन्द्रहा ।
अलाबुभक्षणः क्षान्तिरक्षो रक्षनिवारणः ॥ ६७ ।

तितिक्षारहितो हूतिः [2]पुरुहूतप्रियङ्करः ।
पुरुषः पुरुषश्रेष्ठो विलालस्थः कुलालहा ॥ ६८ ।

---

१. कीर्तिं विकिरति तच्छीलः, कीर्तिविक्षेपेण शोभते योऽसौ । णिनिः ताच्छील्ये कर्मण्युपपदे सति ।

२. पुरुहूतस्येन्द्रदेवस्य प्रियं करोति इति, अथवा पुरुहूतस्य प्रियङ्कर इत्येव ।

कुटिलस्थो विधिप्राणो [1]विषयानन्दपारगः ।
ब्रह्मज्ञानप्रदो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मगुणान्तरः ॥ ६९ ।

पालकेशो विराजश्च वज्रदण्डो महास्त्रधृक् ।
सर्वास्त्ररक्षकः श्रीदो विधिबुद्धिप्रपूरणः ॥ ७० ।

आर्यापुत्रो देवराजपूजितो मुनिपूजितः ।
गन्धर्वपूजितः पूज्यो दानवज्ञाननाशनः ॥ ७१ ।

अप्सरोगणपूज्यश्च मर्त्यलोकसुपूजितः ।
मृत्युजिद्रिपुजित् प्लक्षो मृत्युञ्जय इषुप्रियः ॥ ७२ ।

त्रिबीजात्मा नीलकण्ठः क्षितीशो रोगनाशनः ।
जितारिः प्रेमसेव्यश्च भक्तिगम्यो निरुद्यमः ॥ ७३ ।

निरीहो निरयाह्लादः कुमारो रिपुपूजितः ।
अजो देवात्मजो धर्मोऽसन्तो मन्दमासनः ॥ ७४ ।

मन्दहासो मन्दनष्टो मन्दगन्धसुवासितः ।
माणिक्यहारनिलयो मुक्ताहारविभूषितः ॥ ७५ ।

मुक्तिदो भक्तिदश्चैव निर्वाणपददानदः ।
निर्विकल्पो मोदधारी निरातङ्को महाजनः ॥ ७६ ।

मुक्ताविद्रुममालाढ्यो मुक्तादामलसत्कटिः ॥ ७७ ।

रत्नेश्वरो धनेशश्च धनेशप्राणवल्लभः ।
धनजीवी कर्मजीवी संहारविग्रहोज्ज्वलः ॥ ७८ ।

सङ्केतार्थज्ञानशून्यो महासङ्केतपण्डितः ।
सुपण्डितः क्षेमदाता भवदाता भवान्वयः ॥ ७९ ।

किङ्करेशो विधाता च विधातुः प्रियवल्लभः ।
कर्ता हर्ता कारयिता [2]योजनायोजनाश्रयः ॥ ८० ।

---

१. विषयजनितो [illegible] आनन्दः, तस्य पारं गत इति । गमेर्डप्रत्ययः ।

२. योजनानामयोजनानां चेति योजनायोजनाः, तासामाश्रयः ।

युक्तो योगपतिः श्रद्धापालको [1]भूतशङ्करः ।
भूताध्यक्षो भूतनाथो भूतपालनतत्परः ॥ ८१ ।
विभूतिदाता भूतिश्च महाभूतिविवर्धनः ।
महालक्ष्मीश्वरः कान्तः कमनीयः कलाधरः ॥ ८२ ।
कमलाकान्त ईशानो यमोऽमरो मनोजवः ।
मनयोगी मानयोगी मानभङ्गो निरूपणः ॥ ८३ ।
अव्यक्तानन्दनिरतो व्यक्ताव्यक्तनिरूपितः ।
आत्मारामपतिः कृष्णपालको रामपालकः ॥ ८४ ।
लक्षणेशो लक्षभर्ता भावतीशः प्रजाभवः ।
भरताख्यो भारतश्च शत्रुघ्नो हनुमान् कपिः ॥ ८५ ।
कपिचूडामणिः क्षेत्रपालेशो दिक्करान्तरः ।
दिशांपतिर्दिशीशश्च दिक्पालो हि दिगम्बरः ॥ ८६ ।
अनन्तरत्नचूडाढ्यो नानारत्नासनस्थितः ।
संविदानन्दनिरतो विजयो विजयात्मजः ॥ ८७ ।
जयाजयविचारश्च भावचूडामणीश्वरः ।
मुण्डमालाधरस्तन्त्री सारतन्त्रप्रचारकः ॥ ८८ ।
संसाररक्षकः प्राणी पञ्चप्राणो महाशयः ।
गरुडध्वजपूज्यश्च गरुडध्वजविग्रहः ॥ ८९ ।
गारुडीशो मन्त्रिणीशो मैत्रप्राणहिताकरः ।
सिद्धिमित्रो मित्रदेवो जगन्नाथो नरेश्वरः ॥ ९० ।
नरेन्द्रेश्वरभावस्थो विद्याभावप्रचारवित् ।
कालाग्निरुद्रो भगवान् प्रचण्डेश्वरभूपतिः ॥ ९१ ।
[2]अलक्ष्मीहारकः क्रुद्धो रिपूणां क्षयकारकः ।
सदानन्दमयो वृद्धो धर्मसाक्षी सुधांशुधृक् ॥ ९२ ।

---

१. भूतानां भूतयोनिं प्राप्तानां शं कल्याणं करोति योऽसौ भूतशंकरः, शमित्युपपदे करोतेः 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति पाणिनीयसूत्रेण ताच्छील्ये द्योत्ये टप्रत्यये सति साधुता बोध्या ।

२. न लक्ष्मीरलक्ष्मीर्दरिद्रादेवी तां हरति योऽसौ । अथवा लक्ष्मीं हरतीति लक्ष्मीहारक इति । न लक्ष्मीहारकः ।

साक्षरो रिपुवर्गस्थो दैत्यहा [1]मुण्डधारकः ।
कपाली रुण्डमालाढ्यो महाबीजप्रकाशकः ॥ ९३ ।
अजेयोग्रपतिः स्वाहावल्लभो हेतुवल्लभः ।
हेतुप्रियानन्ददाता हेतुबीजप्रकाशकः ॥ ९४ ।
श्रुतिक्षिप्रमणिरतो ब्रह्मसूत्रप्रबोधकः ।
ब्रह्मानन्दो जयानन्दो विजयानन्द एव च ॥ ९५ ।
सुधानन्दो बुधानन्दो विद्यानन्दो बलीपतिः ।
ज्ञानानन्दो विभानन्दो भावानन्दो नृपासनः ॥ ९६ ।
सर्वासनोग्रानन्दश्च जगदानन्ददायकः ।
पूर्णानन्दो भवानन्दो ह्यमृतानन्द एव च ॥ ९७ ।
शीतलोऽशीतिवर्षस्थो व्यवस्थापरिचायकः ।
शीलाढ्यश्च सुशीलश्च शीलानन्दो पराश्रयः ॥ ९८ ।
सुलभो मधुरानन्दो मधुरामोदमादनः ।
अभेद्यो मूत्रसञ्चारी कलहाख्यो विषङ्कुटः ॥ ९९ ।
वाशभाढ्यः परानन्दो विसमानन्द उल्बणः ।
अधिपो वारुणीमत्तो मत्तगन्धर्वशासनः ॥ १०० ।
शतकोटिशरुश्रीदो वीरकोटिसमप्रभः ।
अजाविभावरीनाथो विषमापूष्णिपूजितः ॥ १०१ ।
विद्यापतिर्वेदपतिरप्रमेयपराक्रमः ।
रक्षोपतिर्महावीरपतिः प्रेमोपकारकः ॥ १०२ ।
वारणाविप्रियानन्दो वारणेशो विभुस्थितः ।
रणचण्डो रणेशश्च रणरामप्रियः प्रभुः ॥ १०३ ।
रणनाथो रणाह्लादः संग्रामप्रेतविग्रहः[2] ।
देवीभक्तो देवदेवो दिवि दारुणतत्परः ॥ १०४ ।

---

१. धरतीति धारकः, धृञो ण्वुल्प्रत्ययः, मुण्डानां धारकः, महादेवः ।
२. संग्रामे युद्धे प्रेतस्य विग्रहो देहो यस्य सः । रणक्षेत्रे प्रेतशरीरं धृत्वा रणक्रिया विधीयत इति भावः ।

खड्गी च कवची सिद्धः शूली धूलिस्त्रिशूलधृक् ।
धनुष्मान् धर्मचित्तेशोऽचिन्ननागसुमाल्यधृक्[1] ।। १०५ ।
अर्थोऽनर्थप्रियोऽप्रायो मलातीतोऽतिसुन्दरः ।
काञ्चनाढ्यो हेममाली काञ्चनशृङ्गशासनः ।। १०६ ।
कन्दर्पजेता पुरुषः कपित्थेशोऽर्कशेखरः ।
पद्मगन्धोऽतिसद्गन्धश्चन्द्रशेखरभृत् सुखी ।। १०७ ।
पवित्राधारनिलयो विद्यावद्वरबीजभृत् ।
कन्दर्पसदृशाकारो मायाजिद् व्याघ्रचर्मधृक् ।। १०८ ।
अतिसौन्दर्यचूडाढ्यो नागचित्रमणिप्रियः ।
अतिगण्डः कुम्भकर्णः कुरुजेता कवीश्वरः ।। १०९ ।
एकमुखो द्वितुण्डश्च द्विविधो वेदशासनः ।
आत्माश्रयो गुरुमयो गुरुमन्त्रप्रदायकः ।। ११० ।
शौरीनाथो ज्ञानमार्गी सिद्धमार्गी प्रचण्डगः ।
नामगः क्षेत्रगः क्षेत्रो गगनग्रन्थिभेदकः ।। १११ ।
गाणपत्यवसाच्छन्नो गाणपत्यवसादवः ।
गम्भीरोऽतिसुसूक्ष्मश्च गीतवाद्यप्रियंवदः ।। ११२ ।
आह्लादोद्रेककारी च सदाह्लादी मनोगतिः ।
शिवशक्तिप्रियः श्यामवर्णः परमबान्धवः ।। ११३ ।
अतिथिप्रियकरो नित्यो गोविन्देशो हरीश्वरः ।
सर्वेशो भाविनीनाथो विद्यागर्भो विभाण्डकः ।। ११४ ।
ब्रह्माण्डरूपकर्ता च ब्रह्माण्डधर्मधारकः ।
धर्मार्णवो धर्ममार्गी धर्मचिन्तासुसिद्धिदः ।। ११५ ।
अस्थास्थितो ह्यास्तिकश्च स्वस्तिस्वच्छन्दवाचकः ।
[2]अन्नरूपी अन्नकस्थो मानदाता महामनाः ।। ११६ ।

---

१. अचित् न इति अचिन्न, अर्थात् चिद्रूपः । पुनश्च नागानां सुमाल्यं शोभना माला तां धृष्णोतीति । क्विन्प्रत्ययान्तः, क्विन्प्रत्ययस्य कुरिति कुत्वे सति साधुता ।

२. अन्नस्य रूपमन्नरूपम्, तदस्याति अन्नरूपी । अत इनिप्रत्ययः । अथवा अन्नं रूपयति प्रकाशयति इति णिनिः कर्तरि ।

आद्याशक्तिप्रभुर्मातृवर्णजालप्रचारकः ।
मातृकामन्त्रपूज्यश्च [1]मातृकामन्त्रसिद्धिदः ॥ ११७ ।

मातृप्रियो मातृपूज्यो मातृकामण्डलेश्वरः ।
भ्रान्तिहन्ता भ्रान्तिदाता भ्रान्तस्थो भ्रान्तिवल्लभः ॥ ११८ ।

इत्येतत् कथितं नाथ सहस्रनाममङ्गलम् ।
अष्टोत्तरं महापुण्यं स्वर्गीयं भुवि दुर्लभम् ॥ ११९ ।

यस्य श्रवणमात्रेण नरो नारायणो भवेत् ।
अप्रकाश्यं महागुह्यं देवानामप्यगोचरम् ॥ १२० ।

फलं कोटिवर्षशतैर्वक्तुं न शक्यते बुधैः ।
यस्य स्मरणमाकृत्य योगिनीयोगपारगः ॥ १२१ ।

सोऽक्षणः सर्वसिद्धीनां त्रैलोक्ये सचराचरे ।
देवाश्च बहवः सन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः ॥ १२२ ।

पठनाद्धारणाज्ज्ञानी महापातकनाशकः ।
आयुरारोग्यसम्पत्तिबृंहितो भवति ध्रुवम् ॥ १२३ ।

संग्रामे ग्रहभीतौ च महारण्ये जले भये ।
वारमेकं पठेद्यस्तु स भवेद् देववल्लभः ॥ १२४ ।

सर्वेषां मानसम्भङ्गो योगिराड् भवति क्षणात् ।
पूजां कृत्वा विशेषेण यः पठेन्नियतः शुचिः ॥ १२५ ।

स सर्वलोकनाथः स्यात् परमानन्दमाप्नुयात् ।
एकपीठे जपेद्यस्तु कामरूपे विशेषतः ॥ १२६ ।

त्रिकालं वाथ षट्कालं पठित्वा योगिराड् भवेत् ।
आकाशगामिनीं सिद्धिं गुटिकासिद्धिमेव च ॥ १२७ ।

प्राप्नोति साधकेन्द्रस्तु राजत्वं हि दिने दिने ।
सर्वदा यः पठेन्नित्यं सर्वज्ञः सुकुशाग्रधीः[2] ॥ १२८ ।

---

१. मातृकामन्त्रस्य सिद्धिं ददाति, 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कर्तरि कप्रत्यये साधुता ।
२. कुशाग्रमिव तीक्ष्णा धीर्बुद्धिर्यस्य सः, शोभनः कुशाग्रधीः इति ।

अवश्यं योगिनां श्रेष्ठः [1]कामजेता महीतले ।
अज्ञानी ज्ञानवान् सद्योऽधनी च धनवान् भवेत् ॥ १२९ ।

सर्वदा राजसम्मानं पञ्चत्वं नास्ति तस्य हि ।
गले दक्षिणबाहौ च धारयेद्यस्तु भक्तितः ॥ १३० ।

अचिरात्तस्य सिद्धिः स्यान्नात्र कार्या विचारणा ।
अवधूतेश्वरो भूत्वा राजते नात्र संशयः ॥ १३१ ।

रक्तचन्दनयुक्तेन हरिद्राकुङ्कुमेन च ।
सेफालिकापुष्पदण्डैर्दलसङ्कुलवर्जितैः ॥ १३२ ।

मिलित्वा यो लिखेत् स्तोत्रं केवलं चन्दनाम्भसा ।
स भवेत् पार्वतीपुत्रः क्षणाद्वा द्वादशाहनि ॥ १३३ ।

एकमासं द्विमासं वा त्रिमासं वर्षमेव च ।
जीवन्मुक्तो धारयित्वा सहस्रनामकीर्तनम् ॥ १३४ ।

पठित्वा तद्द्विगुणशः पुण्यं कोटिगुणं लभेत् ।
किमन्यं कथयिष्यामि सार्वभौमेश्वरो भवेत् ॥ १३५ ।

त्रिभुवनगणनाथो योगिनीशो धनाढ्यो
[2]मतिसुविमलभावो दीर्घकालं वसेत् सः ।
इह पठति भवानीवल्लभः स्तोत्रसारं
दशशतमभिधेयं ज्ञानमष्टोत्तरं च ॥ १३६ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्कोणप्रकाशे भूपद्मभेदविन्यासे भैरवीभैरवसंवादे परशिवडाकिनीश्वराष्टोत्तर-सहस्रनामपाठे सप्ताशीतितमः पटलः ॥

•

---

१. काम्यन्ते ये ते कामा इष्टविषयाः, तेषां जेता । तद्ग्रहणेच्छाशून्य इति भावः ।

२. मन्यतेऽनया सा मतिः, बुद्धिः, तत्र सुविमला भावा यस्य भक्तजनस्य, स मतिसुविमल-भावः । अथवा मतिसहितः सुविमलो भावो यस्य इति ।

अथाष्टाशीतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

शृणुष्व परमेश त्वं दुर्लभं योगिमण्डले ।
[1]महायोगज्ञानसारं त्रैलोक्यमङ्गलं शुभम् ॥ १ ।
यस्य विज्ञानमात्रेण साधकोऽसाधकोऽपि वा ।
मृत्युञ्जयो भवेज्ज्ञानी परमानन्दरूपभाक् ॥ २ ।
होमस्थानं शिखामध्ये दीपस्य भ्रूदलान्तरे ।
परंब्रह्मस्वरूपां तां शिखारूपां जगत्प्रियाम् ॥ ३ ।
स्वाहाशक्तिं तत्र नाथ विचिन्त्य मनसा सुधीः ।
यः स्तुत्वा प्रत्यहं होमकर्मसिद्धिं समापयेत् ॥ ४ ।
इत्येतत् परमं ज्ञानमन्यज्ज्ञानं शृणु प्रभो ।
शिखोर्ध्वे च परा शक्तिः परंब्रह्मस्वरूपिणी ॥ ५ ।
उष्ट्रमुखी रक्तमुखी कोटिकालानलोपमा ।
तां ध्यात्वा कुलपद्मस्य कर्णिकायां महामनाः ॥ ६ ।
मनोयोगस्थितां देवीं परमानन्ददायिनीम् ।
सूक्ष्मातिसूक्ष्मभावस्थां स्थूलातिस्थूलविग्रहाम् ॥ ७ ।
कालातीतां कालरूपां कालाकालप्रकाशिनीम् ।
धर्मोदयां भानुमतीं प्रबन्धकौशलेश्वरीम् ॥ ८ ।
पार्वतीं रणमातङ्गीं मतङ्गगमनां पराम् ।
निर्वाणसिद्धिदां धात्रीं पञ्चतत्त्वप्रकाशिनीम् ॥ ९ ।
पञ्चमीं पञ्चमस्थाञ्च पञ्चवक्त्रप्रियंवदाम्[2] ।
पद्मरश्मि पद्मवान् शोभितां दिक्पटाम्बराम् ॥ १० ।

---

१. महान्तो ये योगा इति महायोगाः, तेषां ज्ञानानि, तत्सारमिति द्वितीयैकवचनान्तमेतत् । श्रवणक्रियानिरूपिता कर्मता ।

२. पञ्चवक्त्राणि मुखानि यस्यासौ पञ्चवक्त्रः शिवः, तस्य प्रियं वदति या सा, 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्प्रत्ययः ।

प्रवालस्थूलकोटीन्द्रनीलचन्द्रमणिस्रजाम् ।
द्विभुजां मौनशीलाञ्च [1]ज्ञानपुस्तकधारिणीम् ॥ ११ ।

एकाकारस्थितां रौद्रीं परदेवीं विभाव्य च ।
तच्चतुर्दिक्षु सततं शतयोगिनीमण्डलम् ॥ १२ ।

चक्रपङ्क्त्याकारशोभामण्डलं मण्डपस्थितम् ।
तासां नामानि वक्ष्यामि श्रृणु भैरववल्लभ ॥ १३ ।

श्मशानवासिनी दुर्गा हरिणाक्षी प्रचण्डिका ।
रौद्री श्यामा योगिनी च शिवानी शिवमोहिनी ॥ १४ ।

सुखिनी पञ्चमी बाला कुटिलाक्षी वसुन्धरा ।
सुवर्णाङ्गी पावना च पवित्रा परमानना ॥ १५ ।

सिद्धिदा मङ्गला भाव्या सुरति कामदा रतिः ।
प्रबला विमला चमना प्रभा काञ्चनमालिनी ॥ १६ ।

त्रिभङ्गदेहश्यामाङ्गी तरुणा तरलावती ।
सुलभा दुर्लभा सर्वा प्रफुल्लकमलापि वा ॥ १७ ।

पातालमुखी गोमुण्डा घोरहासा विलासिनी ।
अरुणा श्रवणा मन्त्री मालती मल्लिका तथा ॥ १८ ।

वैश्वानरो भरद्वाजा त्रिविभागा मतिः क्षुधा ।
सुभद्राभाकरी लिप्ता नर्तका चिटिसुन्दरी ॥ १९ ।

बृहन्नली भागवती विशाला विरला तथा ।
मानसी वानरीग्रीवा क्रोधिनी मोहिनी तथा ॥ २० ।

आकर्षिणी स्तम्भिनी च त्रिजटा रुक्ममालिनी ।
सप्तिका सुकला गोर्या गभीरा मुषलावती ॥ २१ ।

बृहन्नितम्बा मोहाक्षी मन्दिरा चन्द्रिका तथा ।
सिद्धा विद्याधरा हारा रतिः [2]कैशोरधर्मिणी ॥ २२ ।

---

१. ज्ञानस्य पुस्तकं ज्ञानप्रदं पुस्तकं धरति तच्छीला, णिनिः कर्तरि । पुनश्च ऋन्नेभ्यो ङीबिति ङीप्प्रत्ययः ।

२. किशोरस्य भावः कैशोरम्, तादृशो धर्मोऽस्ति यस्याः सा । इनिः, तद्धितः ।

तथा शान्तिर्भद्रदा च विकारी मञ्चवासिनी ।
महाविद्या भवानी च [1]तारब्रह्मस्वरूपिणी ॥ २३ ।
मातङ्गी बगला कृष्णा शिवा हैमवतीश्वरा ।
समनापहरा काली कन्दर्पवनिता शुभा ॥ २४ ।
वाराणसीश्वरी बाला कमला चारुहासिनी ।
अजन्ता हिमकन्या च शर्वाणी कुलचञ्चला ॥ २५ ।
तपस्विनी राजपुत्री चोमापर्णा निरञ्जना ।
आधारभूता सावित्री वाच्यावाच्या चराचरा ॥ २६ ।
कल्क्येशी शशिवदना निर्विकल्पसुपाक्षणी ।
भुवनेशी सुन्दरी च सती सिद्धिप्रदा कला ॥ २७ ।
कृपणा पद्मवदना शब्देशी भगमालिनी ।
आराधिता शोकहरा हरा हीरकमालिनी ॥ २८ ।
हालाहलहरा हारा रती कालानलापहा ।
भैरवी वीरमाता च महाभाग्यवती उमा ॥ २९ ।
सुलभा दुर्गमाता च सुगन्धा गन्धमालिनी ।
अमावास्या सिता भद्रा चारुणी सूर्यपुत्रिणी ॥ ३० ।
दानदा धनदा सिद्धिदायिनी भोगदायिनी ।
इलावती रत्नमाला मनोयोगनिवासिनी ॥ ३१ ।
मनस्विनी मूलमाता मूलमन्त्रस्वरूपिणी ।
एतासां ध्यानमाकृत्य चतुर्दिक्षु क्रमेण तु ॥ ३२ ।
विभाव्य तैजसीं सर्वां तेजोमालाविनाशिनीम् ।
अतिसौन्दर्यलहरीं पारिजातवनान्तरे ॥ ३३ ।
महामण्डलमध्ये तु [2]रत्नसन्तानर्निमिते ।
ग्रहस्यापि महाकालं चतुर्द्वारं विचिन्तयेत् ॥ ३४ ।

---

१. तारयति यत्तद् तारम्, तच्च तद् ब्रह्म चेति तारब्रह्म, तस्य स्वरूपमस्ति यस्याः सा । इनिः तद्धितः ।

२. रत्नानां सन्तानः प्रस्तानः, तेन निर्मिते इति भावः ।

[1]मणिकोटिविनिर्माणचतुस्तोरणभूषितम् ।
मण्डपस्योर्ध्वभागे च महाचन्द्रातपं शितम् ॥ ३५ ।

शतसूर्यप्रभं कान्तं मुक्तादामविभूषितम् ।
तथा मण्डपमध्योर्ध्वे वितालाङ्कं मनोहरम् ॥ ३६ ।

तदधः स्वर्णनिर्माणच्छत्रं मणिमयं रुचिम् ।
तदधः सिंहरूपाक्षि युक्तसिंहासनं परम् ॥ ३७ ।

तदूर्ध्वे प्रेतबीजं तु प्रेतलिङ्गोपमं स्मृतम् ।
प्रेतलिङ्गोपरि ध्यात्वा काञ्चनस्यापि मण्डलम् ॥ ३८ ।

महापीठं त्रिकोणं तु कर्णिकायां महाप्रभम् ।
शुक्लपद्मं महाशोभं षोडशच्छदमण्डितम् ॥ ३९ ।

षोडशस्वरसंयुक्तं केशकेषु च वर्णकान् ।
दक्षिणावर्तयोगेन विद्युद्रूपं विचिन्तयेत् ॥ ४० ।

चतुष्कोणत्रयं पश्चाच्चतुर्द्वारं मनोहरम् ।
तत्र संचिन्तयेद् देवीं वारुणीमत्तविग्रहाम् ॥ ४१ ।

पराम्बारूपिणीं तारां तरुणादित्यसन्निभाम् ।
चतुर्द्वारे सदा ध्यायेद् देवानां चापि मण्डलम् ॥ ४२ ।

सवाहनं दैवतं च परिवारसमन्वितम् ।
इन्द्रनीलप्रभं कान्तं पूर्वद्वारीन्द्रचिन्तनम् ॥ ४३ ।

वह्निकोणे तथा वह्निमण्डलं सर्वतोमुखम् ।
परिवारान्वितं ध्यात्वा यमलोकं तु दक्षिणे ॥ ४४ ।

यमं श्यामं महाकान्तं परिवारगणान्वितम् ।
सवाहनं ततो ध्यायेन्नैर्ऋतं राक्षसीं पुरीम् ॥ ४५ ।

तदुत्तरे सदा ध्यायेद् वरुणं [2]मेषवाहनम् ।
परिवारान्वितं शुक्लं भास्वरं तत्र चिन्तयेत् ॥ ४६ ।

---

१. मणिकोटिभिर्विनिर्माणम्, तेन चतुस्तोरणेन च भूषितं शोभितम् ।
२. मेषो वाहनं यस्य सः । वह-धातोः करणे ल्युट् , निपातनाद् दीर्घश्च ।

तदुत्तरे मरुल्लोकं [1]कृष्णसारस्ववाहनम् ।
परिवारान्वितं ध्यात्वा तत्पूर्वे चिन्तयेत् ततः ॥ ४७ ।

कुबेरमुत्तरद्वारि परिवारगणान्वितम् ।
सवाहनं कुत्सितञ्च सर्वरत्नोपशोभितम् ॥ ४८ ।

ईशाने ईशलोकञ्च परिवारगणान्वितम् ।
सवाहनं सर्वलोकपूजितं परमेश्वरम् ॥ ४९ ।

परिवारान्वितं ध्यात्वा नानावाद्यसमन्वितम् ।
भेरीतुरीधुधुरीणां सहस्रकोटिमेव च ॥ ५० ।

दुन्दुभिकुलितामोदगायनानन्दपूरितम् ।
नानासुन्दरवाद्याढ्यं पूर्वलोकं विचिन्तयेत् ॥ ५१ ।

वेणुवीणामृदङ्गानां सहस्रकोटिनादितम् ।
यमलोकं नैर्ऋते च मन्त्रकोटिसमन्वितम् ॥ ५२ ।

करतालकांस्यढक्काध्वनिकोटिप्रपूरितम् ।
जलेश्वरमहालोकं दुन्दुभिध्वनिमोहितम् ॥ ५३ ।

यन्त्रकोटिध्वनिश्रेणिमोहितं तत्र चिन्तयेत् ।
झर्झरोपर्परीताङ्गीस्वनादनादितं रुचिम् ॥ ५४ ।

मरुल्लोकं तथा ध्यायेत् कुबेरस्थानमेव च ।
दुन्दुभिश्रेणिढक्कादियन्त्रनादविमोहितम् ॥ ५५ ।

रागतालनृत्यगीतं मूर्तिमन्त्रं विचिन्तयेत् ।
दीप्तिश्रेणिधरं कान्तं गन्धर्वनगरं ततः ॥ ५६ ।

अप्सरोभिः परिवृतं सर्वत्र नगरे सुधीः ।
विचिन्तयेद् गानरसं रसिकं सर्वमङ्गलम् ॥ ५७ ।

सर्वलोकस्थिता शोभा शोभा [2]सर्वविमोहिनी ।
सर्वस्यान्तु समायान्तु देवर्षि यन्त्रगायकम् ॥ ५८ ।

---

१. कृष्णसारा मृगविशेषाः स्ववाहनं यस्य तम् । एतावता तद्देशस्य पावित्र्यं प्रत्यायितम् ।
२. सर्वान् विमोहयति तच्छीला, णिनिः ताच्छील्ये कर्तरि ।

वाद्यवादकमेवं हि चिन्तयेत् परमावृतम् ।
ब्रह्मर्षिमण्डलं तस्यां सर्वेषां गायनान्वितम् ॥ ५९ ।

[1]देवर्षिसर्वविज्ञानवाक्यरत्नस्वगायनम् ।
विचिन्त्यैवं विधानेन निजपीठं विचिन्तयेत् ॥ ६० ।

पीठशक्तिं विचिन्त्याशु पीठनायकमेव च ।
विचिन्त्यानन्दमग्नः स्यादचिरात् सिद्धिमाप्नुयात् ॥
अधो [2]वाराणसीपीठं ध्यायेत् तत् क्रममाश्रृणु ॥ ६१ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे पराशक्तिनिर्मूलस्थान-निर्णयो नाम अष्टाशीतितमः पटलः ॥

---

१. देवर्षिर्नारदस्तस्य सर्वविज्ञानयुक्तं वाक्यं रत्नमिव प्रकाशकं तेन स्वगायनं यत्र पीठे तमिति भावः ।

२. वरणा च असिश्चेति वरणासी, तयोर्मध्ये भवा नगरी वाराणसी, अण्प्रत्यये ङीपि च साधुता ज्ञेया, तस्यां पीठमिति यावत् ।

अथैकोननवतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

कालरूप महादेव कालकूटासवप्रिय ।
इदानीं श्रृणु देवेश वाराणस्याः प्रियं पदम्[1] ॥ १ ।

शतकोटियोगिनीनां मण्डलं योगिसेवितम् ।
तं ध्यायेत् सर्वदा योगी यदि कल्याणमिच्छति ॥ २ ।

भ्रूमध्ये भाति सततं मण्डलाकारशोभितम् ।
मातृकायन्त्ररूपं तु सर्वसारं विचिन्तयेत् ॥ ३ ।

कोटिस्वयम्भुलिङ्गाढ्यं पुण्यकोटिफलोदयम् ।
अतिसिद्धिप्रदं देशं देशनाथप्रियम्पदम् ॥ ४ ।

अमलाकमलाशक्तिकोटिकोटिसमन्वितम् ।
त्रिशूलोपरि पूरं तु च्छत्राकारं फलाकरम् ॥ ५ ।

कोटिलिङ्गप्रधानन्तु योगेश्वरशिवं प्रभुम् ।
अष्टोत्तरशतानन्दविग्रहं मन्मथान्तकम् ॥ ६ ।

वराभयकरं सिद्धं डमरुच्छत्रधारिणम् ।
त्रिशूलमुद्गराद्यस्त्रखेटकादिविभूषितम् ॥ ७ ।

पञ्चमुखं दशभुजं शङ्खमालाकपालकम् ।
ध्यात्वा सञ्चिन्तयेच्छम्भुं दश दिक्षु क्रमेण तु ॥ ८ ।

स्थाने स्थाने दश दश मूर्तिचिह्नं विचिन्तयेत् ।
शोणाभं विद्युताभञ्च [2]पुरीरक्षणकारणम् ॥ ९ ।

हेतुप्रियं गजारूढं वृषारूढं द्वयं द्वयम् ।
अत्र चिन्तनमाकृत्य पीठविद्यावशं नयेत् ॥ १० ।

---

१. पदं स्थानम्, 'पदं व्यवसितत्राणस्थान लक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इति कोशप्रमाणेन पदशब्दस्य स्थानेऽर्थेऽपि वृत्तिः ।

२. पुरी वाराणसी, तस्या रक्षणे कारणम् । भगवान् शिवो विश्वनाथः ।

दशकं व्याप्य तिष्ठन्ति [1]मण्डलाकारसुक्रमात् ।
अयुतं शिवलिङ्गं तु दश दिक्षु दश स्थले ॥ ११ ।
विचिन्तयेच्छुक्लवर्णं काञ्चनालङ्कृतोज्ज्वलम् ।
पूर्वस्यां दशरूपं तु चायुतावरणं प्रभुम् ॥ १२ ।
दश नाम प्रवक्ष्यामि शृणु भैरवभूपते ।
जटिलः काल उन्मत्तः क्रोधराजः सदाशिवः ॥ १३ ।
परो दधीचिनाथश्च सुवाशी प्रमथेश्वरः ।
यज्ञनाथेश्वरश्चैव चायुतेश्वरवल्लभः ॥ १४ ।
वह्निकोणे सदा भान्ति मूर्तिमन्तः शिवा दश ।
वज्रधरो महाकालः कपिलेश्वर एव च ॥ १५ ।
पञ्चाननो योगिनाथो घर्घरेशः पिनाकधृक् ।
पशुपालः क्षेमदश्च ब्रह्मनाथो दश स्मृताः ॥ १६ ।
एते चायुतलिङ्गेशा मूर्तिमन्तो विभान्ति च ।
एतेषां ध्यानमाकृत्य पूजयेद् घृतधारया ॥ १७ ।
चिन्तयेद् दक्षिणे पश्चाद्दशमूर्त्ति शिवस्य च ।
वीरः शूलेश्वरः सिद्धेश्वरः श्रीपार्वतीश्वरः ॥ १८ ।
गणनाथेश्वरः शम्भुः प्रचण्डो दक्षयज्ञहा ।
काशीपतिः पशुपतिः शिवा एते दश स्मृताः ॥ १९ ।
अयुतानन्दलिङ्गेशाः कपालशूलधारकाः[2] ।
मूर्तिमन्तो विभान्त्यत्र शिवमण्डलमध्यगाः ॥ २० ।
एतान् सञ्चिन्तयेद् भक्त्या पीठक्षेत्रे च दक्षिणे ।
नैर्ऋते चिन्तयेत् पश्चात् कामाख्यः शिवलिङ्गकः ॥ २१ ।
दक्षिणामूर्तिरीशानो वामनेशो मनोहरः ।
वामदेवो बाणनाथो [3]रघुवीरेश्वरस्ततः ॥ २२ ।

---

१. मण्डलस्याकारस्तस्य शोभनीयः क्रमस्तस्मात् ।
२. कपालस्य शूलस्य च धारकाः । धरन्ति इति धारकाः ।
३. रघूणां वीरः, रामचन्द्रः, तस्येश्वरः ।

[1]कामराजेश्वरः कामकलेशो दश ईश्वराः ।
मूर्तिमन्तो विभान्त्यत्रायुतलिङ्गेश्वराः प्रभो ॥ २३ ।

विचिन्त्य परया भक्त्या पूजयेद् बिल्वपत्रकैः ।
सर्वत्र मानसार्चा च पूर्वोक्तमूर्तिकल्पना ॥ २४ ।

वरुणे च ततो ध्यायेन्मण्डलस्थान् दश क्रमान् ।
अरुणेश्वरो योगेन्द्रकाशीराजसुरान्तकाः ॥ २५ ।

त्रिशूली वरुणेशश्च कालाख्यः कामदायकः ।
कालाग्निरुद्रो भद्रेशो दश रुद्राः प्रकीर्तिताः ॥ २६ ।

शिवलिङ्गायुतेशाश्च सर्वशक्तिसमन्विताः ।
वायुकोणे स्थिता एते रुद्राश्चायुतलिङ्गपाः ॥ २७ ।

महारुद्रो वातनाथो रुद्रात्मा रौद्ररूपकः ।
रूपनाथो हि हनुमान् सूर्येशो वसुधेश्वरः ॥ २८ ।

वासुकीवल्लभः सत्यपतिरेते महेश्वराः ।
परिवारयुताः श्रेष्ठा महारुद्रादिवल्लभाः ॥ २९ ।

एते पूज्याश्चिन्तनीयाः कामनाफलसिद्धये ।
उत्तरे चोत्तरास्यश्च कुबेरेश्वर ईश्वरः ॥ ३० ।

पञ्चाधारः पारमेशः परहंसप्रभाकरः ।
अनन्तेशः कायरक्षो रत्नेश्वर उमापतिः ॥ ३१ ।

एकादशैते रुद्राश्च नित्यायुतगणेश्वराः ।
एते पूज्या ध्यायितव्याः पूर्वोक्तमूर्तिकल्पनाः ॥ ३२ ।

ईशाने च ततो ध्यायेदीश्वरान् परमेश्वर ।
ईशो वैश्वानरेशश्च [2]विश्वामित्रेश्वरस्तथा ॥ ३३ ।

ईशानोऽपि च मायेशो बटुकेशो रमेश्वरः ।
कालान्तकेशः कामाख्यो महाकामपुरीश्वरः ॥ ३४ ।

---

१. कामराजस्येश्वरः, अथवा कामराज ईश्वरो यस्य सः ।
२. विश्वं मित्रं यस्यासौ विश्वामित्रः, 'मित्रे चर्षौ' इति दीर्घः । तस्येश्वरः ।

[1]श्मशानवासिदेवेशः सर्वरूपप्रकाशकः ।
एकादशैते रुद्राश्च कामपीठनिवासिनः ॥ ३५ ॥

अयुतानन्दलिङ्गेशाश्चिन्तनीयाः प्रपूजिताः ।
वाराणसीमध्यपीठे त्रयोदश शिवेश्वराः ॥ ३६ ॥

अधोमण्डलमध्ये तु चिन्तयित्वा प्रपूजयेत् ।
मृत्युञ्जयो मोक्षदश्च शिवेशो भैरवेश्वरः ॥ ३७ ॥

भूतनाथो भूतकर्ता क्षेत्रपालः परापरः ।
मञ्जुघोषेश्वरः कालदमनः कोशलेश्वरः ॥ ३८ ॥

मुनिनाथो वर्णमाली रुद्रा भैरवरूपिणः ।
एते त्रयोदशानन्दशिवरूपाः सुरेश्वराः ॥ ३९ ॥

अयुतानन्दलिङ्गेशाः पूज्यमानाः सुरासुरैः ।
वराभयप्रदाः पञ्चतत्त्वप्रकाशकारिणः ॥ ४० ॥

वाराणस्यूर्ध्वपीठे च त्रयोदश शिवान् यजेत् ।
विचिन्त्य परमानन्दसाधकः स्थिरचेतसा ॥ ४१ ॥

ब्रह्मेशो ब्रह्मकुलेशो ब्रह्मलिङ्गो विधीश्वरः ।
ब्रह्माण्डभेदकश्चात्मारामो वक्रेश्वरस्तथा ॥ ४२ ॥

बलीशो भार्गवेशश्च सदानन्देश्वरो हरः ।
कृष्णेश्वरो रामनाथो रुद्रास्त्रयोदश स्मृताः ॥ ४३ ॥

अयुतानन्दलिङ्गेशा भैरवेन्द्राः प्रकीर्तिताः ।
एते पूज्या महाकालरुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥ ४४ ॥

कपालीशादयो ज्ञानज्ञेया निर्मलचेतसा ।
सर्वाऽलङ्कारशोभाढ्या रत्नकुण्डलमण्डिताः ॥ ४५ ॥

[2]सृष्टिसंहारकर्तारो देवकार्ये नियोजिताः ।
एतेषां ध्यानमाकृत्य पूजयेच्चित्तपुष्पकैः ॥ ४६ ॥

---

१. श्मशाने वसति तच्छीलः श्मशानवासी, स चासौ देवेशश्च ।
२. सृष्टिसंहारस्य कर्तारो विधातार इति यावत् ।

तदा सिद्धिमवाप्नोति सत्यं सत्यं महेश्वर ।
अकालतारका एते [1]सर्वसिद्धिसमृद्धिदाः ॥ ४७ ।
आनन्दभैरवाह्लादकारिणः कुलपण्डिताः ।
एते रुद्राः पूजयन्ति महाविद्याः सुलक्षणाः ॥ ४८ ।
तासां नाम प्रवक्ष्यामि क्रमशः शृणु भैरव ।
द्रां द्रीं दश महाविद्याः पञ्चतत्त्वप्रकाशिकाः ॥ ४९ ।
सर्वसिद्धिप्रदा नाथ पूजयन्ति महीतले ।
सत्यत्रेताद्वापरे च कलौ पूर्णफलप्रदाः ॥ ५० ।
तासां नामानि वक्ष्यामि या या हि रुद्रपूजिताः ।
त्रिपुरासुन्दरी देवी तथा त्रिपुरभैरवी ॥ ५१ ।
भुवनेशी चान्नपूर्णा मातङ्गी विन्ध्यवासिनी ।
छिन्नमस्ता च बगला त्रिकूटा पञ्चमी तथा ॥ ५२ ।
कालिका तारिणी देवी काशीनाथप्रपूजिताः ।
[2]तन्त्रोक्तबाह्यपूजादिरवश्यं पूजयेत् सुधीः ॥ ५३ ।
साधकः सिद्धिमाप्नोति कुलपूजाक्रमेण तु ।
योगसिद्धिमवाप्नोति मासादेव न संशयः ॥ ५४ ।
भ्रूपद्मभेदने काले त्ववश्यं परिपूजयेत् ॥ ५५ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे वाराणसीपीठनाथान्तर्यजनं नाम एकोननवतितमः पटलः ॥

●

---

१. सर्वासां सिद्धीनां समृद्धीनां च दातारः, 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्यये साधुता ।

२. तन्त्रे तन्त्रागमे उक्ता प्रोक्ता या बाह्यपूजा, सा आदिर्यस्याः पूजायाः सा ताम्, पूजादिमिति यावत् । अत्र द्वितीयान्त एव पाठो युक्तः ।

अथ नवतितमः पटलः

श्रीआनन्दभैरवी उवाच—

शृणु कान्त प्रवक्ष्यामि हाकिनीपञ्चमण्डलम् ।
वाराणसीमध्यपीठे पञ्चकोणं विचिन्तयेत् ॥ १ ।

तत्र श्रीहाकिनीदेव्याः पञ्चपीठं विचिन्तयेत् ।
पञ्चपीठे पञ्चदेवं [1]रत्नमालाविमण्डितम् ॥ २ ।

भूतप्रेतपिशाचादियक्षदानवकोटिभिः ।
वेष्टितं सर्वलोकाढ्यं पञ्चकोणं विचिन्तयेत् ॥ ३ ।

पञ्चकोणे पञ्चपीठं कामदं व्यालसिद्धिदम् ।
निर्वाणसिद्धिदं देव किमन्यत् कथयामि ते ॥ ४ ।

पञ्चकोणे पञ्चतत्त्वं पञ्चबीजं स्वमेव च ।
पूर्वकोणे इन्द्रबीजं पृथिव्याश्च त्रिकोणकम् ॥ ५ ।

तद्दक्षिणे वायुबीजं वायवीशक्तिमण्डलम् ।
वायुमुग्रवेगधरं धरणीभञ्जनाख्यकम् ॥ ६ ।

तदधो गृहपीठे च त्रिकोणमण्डलोज्ज्वले ।
जलबीजं वारुणाख्यं सर्वरत्नासनस्थितम् ॥ ७ ।

शीतलं बहुरूपं तं त्रिलोकवायुभञ्जकम् ।
सर्वाधस्तैजसं रूपं वह्निबीजं महाप्रभम् ॥ ८ ।

सर्वदा तं मूर्तिमन्तं तेजोमालासमाकुलम् ।
महोग्रं सर्वभक्षञ्च जलीयदोषभञ्जकम् ॥ ९ ।

आकाशं सर्वशेषाख्यं महाप्रलयसङ्गमम् ।
कुम्भकाधारचक्रं तु [2]आकाशबीजरूपिणम् ॥ १० ।

---

१. रत्नमालाभिर्विमण्डितम् । तृतीयातत्पुरुषेण साधुता ।

२. आकाशस्य बीजं रूपयति तच्छीलः, आकाशबीजरूपी, तमित्यर्थः ।

सर्वेषां लयसंस्थानं निर्मलं [1]तत्त्वसिद्धिदम् ।
हाकिनीपञ्चपीठञ्च पञ्च प्राणान् तदन्तरे ॥ ११ ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
मूर्तिमन्तो विभान्त्यत्र लोकानां मृत्युनाशनात् ॥ १२ ।
एतेषु वायुकुण्डेषु पूजयेत् पञ्चवायवीम् ।
प्राणेशी गुदगापाना समानेशी कुलान्तरा ॥ १३ ।
उदानेशी व्यानमाता वायव्यः पञ्च पूजिताः ।
पञ्चप्राणो पञ्चयोगं यः करोति कुलेश्वर ॥ १४ ।
वायवीष्वर्पयेन्नित्यं पञ्चतत्त्वं सुयोगवित् ।
शुद्धासवं शुद्धमांसं शुद्धमीनं तथापरम् ॥ १५ ।
शुद्धमुद्रां तथा शुद्धकुलचन्दनमर्पयेत् ।
पञ्चतत्त्वं दापयेद् यः कुलसिद्धिनिबन्धनात् ॥ १६ ।
हाकिनीपरमायान्तु परमाभिः प्रतर्पयेत् ।
वाराणसीमध्यपीठचक्रविद्या समा शृणु ॥ १७ ।
वाराणसीमण्डलञ्च त्रिकोणं षोडशच्छदम् ।
केशरद्वयमेवं तु पत्रे पत्रे प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ।
चतुष्कोणत्रयं तस्योर्ध्वे चतुर्द्वारमेव च ।
एतद्वाराणसीचक्रं सर्वकामसुसिद्धिदम् ॥ १९ ।
वाराणसीचक्रमध्ये त्रिकोणस्यान्तरे सुधीः ।
प्रपञ्चगुणदुःखानि हरेच्च पञ्चकोणकम् ॥ २० ।
त्रिकोणस्यान्तरे ध्यात्वा किन्न सिद्धयति भूतले ।
एतत्प्रकाशितं चक्रं यो ध्यायति निरन्तरम् ॥ २१ ।
[2]मनोयोगसिद्धिभावं स प्राप्नोति न संशयः ।
मनोयोगसिद्धिकाले सदावश्यं विचिन्तयेत् ॥ २२ ।

---

१. तत्त्वानां सिद्धिं ददाति इति । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः ।
२. मनोयोगस्य सिद्धिस्तस्या भावस्तम् । भावो भावना ।

पञ्चकोणे पञ्चतत्त्वं काशीपीठे च लिङ्गिनः ।
कोटिरूपधरा एते चात्रैव भान्ति नित्यशः ॥ २३ ।

हाकिनीमण्डलं मध्ये काश्यास्त्रिकोणयन्त्रके ।
हाकिनी पञ्चतत्त्वाख्यां पञ्चभूतप्रकाशिनीम्[1] ॥ २४ ।

पृथिवीजलरूपाञ्च तेजोरूपाञ्च वायवीम् ।
गगनां क्रमतो ध्यायेद् दक्षिणावर्तसत्पथा ॥ २५ ।

विभाव्य पञ्चमीं देवीं हाकिनीमण्डले यजेत् ।
सर्वत्र ह्यन्तर्यजनं कृत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २६ ।

इति वाराणसीचक्रमध्यस्थं पञ्चकोणकम् ।
हाकिनीमण्डलं देवनायिकागणमण्डितम् ॥ २७ ।

सर्वालङ्कारशोभाढ्यं हेममालाविराजितम् ।
शिवशक्त्यात्मकं चक्रं परमसिद्धिदायकम् ॥ २८ ।

अप्रकाश्यं सर्वतन्त्रे काशितं रुद्रयामले ।
षट्कोणमण्डलं वक्ष्ये हाकिन्याः शिवशक्तिगम् ॥ २९ ।

वाराणसीमण्डलाग्रे प्रतिभाति निरन्तरम् ।
शिवशक्तिमयं शुद्धचक्रराजं विचिन्तयेत् ॥ ३० ।

तदूर्ध्वे चोन्मनीदेशं तदूर्ध्वे बोधनीपुरम् ।
मण्डलं शृणु यत्नेन येनान्तर्यजनं लभेत् ॥ ३१ ।

षट्कोणं कर्णिकामध्ये तद्बाह्ये मण्डलाष्टकम् ।
तदूर्ध्वे षोडशदलं केशरद्वयसंयुतम् ॥ ३२ ।

चतुर्द्वारं तदूर्ध्वे तु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा ।
षट्कोणमध्यदेशे तु परनाथं परान्वितम् ॥ ३३ ।

षट्कोणे सर्वदा भान्ति [2]षट्चक्रस्थितिशक्तयः ।
पतिभिः सह देवेशी डाकिनी कुण्डलीप्रिया ॥ ३४ ।

---

१. पञ्चसंख्याकानि भूतानि प्रकाशयति तच्छीला ।

२. षट्चक्रेषु स्थितिर्यासां शक्तीनां ताः शक्तयः । अथवा षट्चक्रस्थितेति पाठोऽदन्तः ।

राकिणी लाकिनी देवी काकिनी शाकिनी तथा ।
हाकिनी च दक्षिणतो ध्येया शिवसमीपगा ॥ ३५ ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
ततः परशिवो ध्येयः [1]स्वमुक्तिमण्डलस्थितः ॥ ३६ ।
ध्यात्वा सम्पूजयेच्चक्रे शिवशक्तिमयं परम् ।
[2]पराशक्तिसमाक्रान्तं स्वयम्भुलिङ्गरूपिणम् ॥ ३७ ।
सर्वसिद्धान्तनिलयं वेदवेदाङ्गगायनम् ।
मायातीतं निर्विकल्पं स्वप्रकाशं निरञ्जनम् ॥ ३८ ।
षट्कोणान्तर्गतं ध्यात्वा पराशक्तिसमन्वितम् ।
तदूर्ध्वेऽष्टमण्डलं तु व्याप्य कोटिसहस्रशः ॥ ३९ ।
योगिन्यः सन्ति नित्यं तु परमानन्दसिद्धिदाः ।
तदूर्ध्वे षोडशारे च भान्ति स्वरसमन्विताः ॥ ४० ।
परा शक्तिः प्रभाकारा चतुर्द्वारे ततो लिखेत् ।
अष्टवर्गक्रमेणापि सर्वसिद्धिं विभावयेत् ॥ ४१ ।
सिद्धिपूजामवाप्नोति मण्डलाकारभावनात् ।
मण्डलं यो महाकालभ्रूर्ध्वे ध्यायेद्यदि प्रियम् ॥ ४२ ।
महासिद्धिमवाप्नोति सत्यं सत्यं कुलेश्वर ।
अनायासेन योगेन्द्र योगिनीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ४३ ।
एतच्चक्रं विभाव्याशु भावसिद्धिमवाप्नुयात् ।
भावसिद्धिस्थितं चक्रं मनोयोगसुसिद्धिदम् ॥ ४४ ।
अन्यच्छ्रीबोधिनीचक्रस्याधोभागे विचिन्तयेत् ।
उन्मनीज्ञानचक्रं तु [3]सार्वज्ञसिद्धिदायकम् ॥ ४५ ।
नवकोणं बिन्दुयुक्तं प्रेतबीजं विचिन्तयेत् ।
तं व्याप्य नवकोणं तु मण्डलत्रयमेव च ॥ ४६ ।

---

१. स्वस्य मुक्तिस्तस्या मण्डले स्थित इति भावः ।

२. पराशक्तिः पश्यन्त्या अपि परा परा वाक्, एषैव भगवती सर्वस्य जगतो विधात्री । तया शक्त्या समाक्रान्तम् ।

३. सर्वज्ञस्य भावः सार्वज्ञ्यं तस्य सिद्धिः, तस्या दायकम् ।

षोडशारं तद्बहिस्तु चतुर्द्वारं तु तद्बहिः ।
दले दले सुरान् ध्यायेदष्टवर्गं ततो लिखेत् ॥ ४७ ।
अष्टकोणे चतुर्द्वारमण्डलस्य विभाव्य च ।
उन्मनीनगरं मध्ये तन्मध्ये पररूपिणम् ॥ ४८ ।
शक्तियुक्तं विभाव्याशु सिद्धिमिष्टां प्रयच्छति ।
पदार्थनवकं तत्र बीजयुक्तं विभावयेत् ॥ ४९ ।
तत्पदार्थान् प्रवक्ष्यामि शृणुष्व भैरवेश्वर ।
पृथिवीं जलरेखाञ्च तेजोरूपाञ्च वायवीम् ॥ ५० ।
[1]आकाशगामिनीं देवीं कालरूपां दिगम्बरीम् ।
आत्मशक्ति मनःशक्ति [2]दक्षिणावर्तयोगतः ।
लिखित्वा स्वस्वबीजाढ्यां भावयेत् कुलवर्त्मना ॥ ५१ ।

॥ इति श्रीरुद्रयामले उत्तरतन्त्रे महातन्त्रोद्दीपने सिद्धमन्त्रप्रकरणे षट्चक्रप्रकाशे भैरवीभैरवसंवादे वाराणसीपञ्चपीठ-प्रकाशो नाम नवतितमः पटलः ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

---

१. आकाशे गच्छति तच्छीला आकाशगामिनी, ताम् ।
२. दक्षिणावर्तस्य योगतः । दक्षिणावर्तः शङ्खोऽस्ति ।

श्लोकानुक्रमणिका

●

श्रीमरितोण्टदार्यविरचितः

कैवल्यसारः

टिप्पणीसमलङ्कृतः

KAIVALYASĀRA
OF
ŚRĪ MARITOṆṬADĀRYA
WITH
ṬIPPAṆĪ

Editor :

Vidvan Dr. H. P. Malledevaru, M.A., Ph.D.

प्राच्यविद्यासंशोधनालयः, मैसूरु

ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, MYSORE

1988

Price : **Rs. 16-50**

UNIVERSITY OF MYSORE
Oriental Research Institute Series No. 169

मैसूरु विश्वविद्यानिलयः
प्राच्यविद्यासंशोधनालयग्रन्थमाला-१६९

KAIVALYASĀRA

with
COMMENTARY

कैवल्यसारः

टिप्पण्यादिसमलंकृतः

ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, MYSORE
प्राच्यविद्यासंशोधनालयः, मैसूरु

1988

UNIVERSITY OF MYSORE
Oriental Research Institute Series No.-169

KAIVALYASĀRA

WITH
COMMENTARY

Edited by
Vidwan Dr. H. P. MALLEDEVARU,
M.A., Ph.D. Dip-in-Ind.
DIRECTOR,
Oriental Research Institute
and Professor, Department of Post-Graduate Studies
and Research in Sanskrit, Manasagangotri,
University of Mysore, Mysore
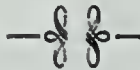
ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, MYSORE

1988

मैसूरु तिश्वविद्यानिलयः
प्राच्यविद्यासंशोधनालयग्रन्थमालाङ्कः-१६९

श्रीमरितोण्टदार्यविरचितः

कैवल्यसारः

सम्पादकः

विद्वान् हेच्. पि. मल्लेदेवरु, एम्.ए., पिहेच्.डि.

प्राच्यविद्यासंशोधनालयाध्यक्षः,
मैसूरु विश्वविद्यानिलय-स्नातकोत्तर-संस्कृताध्ययन-संशोधन-
विभागप्राध्यापकः, मानसगङ्गोत्री
मैसूरु विश्वविद्यानिलयः, मैसूरु

प्राच्यविद्यासंशोधनालयः, मैसूरु

१९८८

INTRODUCTION

Kaivalyasara of Sri Maritontadarya is one of the standard works of Virasaivism. It deals with the philosophical and practical aspects of the Virasaiva religion in a very lucid manner. Even though this work was printed earlier with Marathi translation, a critical edition of this work was not available any where. The undersigned took this responsibility on himself and prepared the critical edition.

Critical Apparatus :

Four manuscripts and one printed edition of the Kaivalyasara have been utilized in preparing the present critical edition. The details of them are given below :

I The edition of Kaivalyasara printed in Devanagari characters was published from Sholapur. This is complete and also contains Marathi translation. This is indicated in the footnotes as "क". The variant readings printed in this edition have been indicated as "ख" in the foot notes of the present edition.

II A paper manuscript in Kannada script, in which variant readings have also been given and also a Kannada translation is found. This

is indicated as "ग" and its footnotes are shown as "घ"

III One paper manuscript in Devanagari script which contains only the original Kaivalyasara. This is indicated as "च".

IV One paper manuscript in Kannada script containing only the original Kaivalyasara. This was obtained from Vidvan Sri M. S. Basavarajaiah, Tiptur, (Retired Research Assistant Class-I of Oriental Research Institute). This is indicated as "छ"

V One Palmleaf manuscript in Kannada characters which is preserved at the Oriental Research Institute, Mysore, Its number is P. 10703. This is indicated as "ज"

The Author :

Sri Maritontadarya wrote the present work besides Virasaivananda Chandrika and a commentary on the well known work Siddhanta Sikhamani.

Our author belongs to the middle of the 18th Century A.D. He was patronised by the ruler of Keladi, Sri Basavappa Nayaka II, who ruled the Kingdom from 1739 to 1757 A.D. The rulers of Keladi were great patrons of literature and arts. Sri Maritontadarya was a noted scholar of that age and it is but natural that his literary activities flourished in the court of Basavappanayaka. Even though the eighteenth century was a turbulent one

as far as the Kingdom of Bednur was considered, the literary activities were probably uninterrupted. The religious ceremonies and philosophical studies also were encouraged by the rulers. Mutts were established and enlightened seers were made to preside over such mutts to guide the people in spiritual matters.

Sri Maritontadaraya himself describes all these facts in the introductory portions of his another work "Virasaivanandacandrika". He also gives the complete geneology of the Kings of Ikkeri starting from Candappanayaka upto his (the author's) patron. Basavappanayaka II. Thus the author has thrown light also on the history of the Ikkeri Kingdom, which is sometimes called Keladi Kingdom and also Bednur Kingdom.

Works of Sri Maritontadarya

Three Sanskrit works of our author have come to light. They are:

1) Kaivalyasara.
2) Virasaivanandacandrika and
3) A commentary called tattvadipika on the famous "Siddhantasikhamani"

From the above works, Sri Maritontadarya's erudition, proficiency in Virasaiva Philosophy and mastery on Sanskrit language become evident.

Kaivalyasara : The present work has been aptly named Kaivalyasara i.e., the essence of oneness

(with the God). Virasaivism propounds the path of Satsthala for attaining emancipation. The soul is technically called the Anga and the Lord is called the Linga. From the standpoint of the Anga, the Satsthalas (or the six pilgrims stages) are Bhakha, Mahesa, Prasadi, Pranalinga. Sarana and Aikya. From the standpoint of Linga, the six stages are called Acara linga, Gurulinga, Sivalinga, Jangamalinga, Prasadalinga and Mahalinga. These states are elaborated to 101 states (Ekottarasatasthala) in the further development of the philosophy. The Angasthala has 55 steps while the lingasthala possesses 46. The main aim of Sri Maritontadarya, in the present work is to explicate in detail the various aspects of the 101 sthalas. He has successfully shown that the Satsthala Siddhanta is supported by the Vedas and Upanisads.

The Kaivalyasara may be divided into two parts. The Angasthala nirupana and the Lingasthala nirupana.

At the beginning of the work the four necessary elements (called Anubandhacatustaya) are elucidated. One who follows the Virasaiva religion and is a true devotee (Bhakta) and also possesses a fervent desire for liberation is the Adhikari (eligible candidate) for the study of this treatise. Emancipation, which is attained through devotion is the phala (fruit) of the study.

The subject dealt with in the work, technically

called Visaya, is the satsthala. The relation (Sambandha) between the work and the subject is that of the illuminator and the illuminated (Prakasyaprakasakabhava). All the above factors are clearly elucidated by the author. The meaning of the word Virasaiva, importance of devotion, the meaning of sthala and the nature of the state of mukti are also elucidated in the introductory stanzas.

In the first chapter which is named Bhaktasthala, it is shown that the soul (Atman or Anga) should become pure. He should then approach a worthy and enlightened Guru and obtain initiation (diksa). Such a devotee, worshipping the Istalinga and changing the Pancaksari mantra, should proceed in the path of mukti.

In the second chapter called Mahesvarasthala, it is stated that the devotee should never separate himself from the Linga. He should renounce all the rites or rituals which may be against Virasaiva religion. He should visualise the oneness of Siva and his creation. The devotee should always feel and experience the presence of Lord Siva in his own heart. In the third chapter called Prasadisthala, the greatness of Prasada is described. The spiritual power of Guru, Linga and Jangama is also stated here. In the fourth chapter, which is named Pranalingisthala, the procedure of worshipping the Pranalinga is described. In the fifth chapter called Saranasthala, the duties of a Sarana are

elucidated. It is stated that a Sarana should be fully unwavering in his faith, like a devoted wife to her husband.

The sixth chapter is called the Aikyasthala. In it the devotee virtually attains oneness with Siva (linga). Such a fulfilled soul experiences the highest bliss of emanicipation. Here ends the first part.

The six chapters of the second part deal with Lingasthala.

The first chapter is called Diksagurusthala. Here the three aspects of the relation of the Anga and the Linga are dealt with. The nature of the Diksaguru Siksaguru and Jnanaguru are also described.

The second chapter called Gurulinga sthala describes the spiritual aspects of a Sivayogi's behaviour. It is stated that the Sivayogi possesses actual form of the Parabrahma.

In the third chapter called Kayanugrahasthala, which is the counterpart of the prasadisthala, the process of Anugraha of the preceptor to his disciple is described.

In the fourth chapter called Jangamalinga-sthala, which is the counterpart of Pranalingi-sthala, the author describes how the soul rises in spiritual stature. The disciple understands that Atman becomes Antaratman and finally Paramatman by the 'Guru's grace.

In the fifth chapter called Prasadalingisthala, which is the counterpart of Saranasthala, the devotee attains a higher spiritual plane and experiences the oneness of the soul and the Lord.

The last chapter is called Mahalingasthala and it is the counterpart of the Aikyasthala. In this chapter, the final state of the devotee, in which he becomes fully pure and also free from Karma, a is depicted. His ego is totally dissolved by the grace of Guru and he becomes one with the Lord Mahalinga.

Thus, this work explains the Satsthalas which are elaborated into 101 sthalas. Every point is established with the statements from Sruti and also other pramanas. It is shown that the Jnana (knowledge), Karma (action) and Bhakti (devotion) mingle together to assist the devotee in attaining emancipation. In sum, the Kaivalyasara is a compendium of Virasaiva Philosophy, from which one can get an insight into the transcendental experiences of the Saranas.

I am extremely happy to express my gratitude to all who have helped in bringing out this volume. The Vice-chancellor, Registrar, Syndicate Members and other authorities of our University have given their valuable suggestions and I thank them. Sri N. S. Venkatanathachar, Retired Senior Research Assistant, has assisted in the preparation of the press copy ; The Director, Mysore University

Printing Press has extended co-operation. M/s. Chaaritra Printers, Mysore, have printed the volume with a nice get-up. I express my gratitude to all of them.

I hope that this book will be received warmly by the scholars.

H. P. Malledevaru

अ नु क्र म णि का

—o—

॥ श्रीः ॥

कैवल्यसारे परिकल्पितानां एकोत्तरशतस्थलानां क्रमप्रकाशिका

-o-

1) पूर्वार्धम्—अङ्गस्थलम् ।

2) उत्तरार्धम्—लिङ्गस्थलम् ।

3) अङ्गस्थले षट्प्रकरणानि—भक्त-माहेश्वर-प्रसादि-प्राणलिङ्गि-शरण-ऐक्यस्थलानीति ।

4) लिङ्गस्थले षट् प्रकरणानि—आचारलिङ्ग-गुरुलिङ्ग-कायानुग्रह-जङ्गमलिङ्ग-प्रसादलिङ्ग-महालिङ्ग स्थलानीति ।

5)	तत्र–भक्तस्थले	१५	स्थलानि ।
6)	माहेश्वरस्थले	९	,,
7)	प्रसादिस्थले	७	,,
8)	प्राणलिङ्गस्थले	५	,,
9)	शरणस्थले	४	,,
10)	ऐक्यस्थले	४	,,
11)	आचारलिङ्गस्थले	९	,,
12)	गुरुलिङ्गस्थले	९	,,
13)	कायानुग्रहस्थले	९	,,
14)	जङ्गमलिङ्गस्थले	१२	,,
15)	प्रसादलिङ्गस्थले	९	,,
16)	महालिङ्गस्थले	९	,,
	आहत्य	१०१	स्थलानि

कैवल्यसारस्य विषयानुक्रमणिका

– o –

स्थलानुक्रमः	प्रतिपाद्यविषयाः	ग्रन्थभागसंख्या

अङ्गस्थलनिरूपणं पूर्वार्धम्

तत्र भक्तस्थलं प्रथमं प्रकरणम्

कैवल्यसारस्य विषयानुक्रमणिका

– o –

स्थलानुक्रमः — प्रतिपाद्यविषयाः — ग्रन्थभागसंख्या

अङ्गस्थलनिरूपणं पूर्वार्धम्

तत्र भक्तस्थलं प्रथमं प्रकरणम्

माहेश्वरस्थलम्—द्वितीयं प्रकरणम्

प्रसादिस्थलम्—तृतीयं प्रकरणम्

प्राणलिङ्गस्थलम्—चतुर्थं प्रकरणम्

शरणस्थलम्—पञ्चमं प्रकरणम्

ऐक्यस्थलम्—षष्ठं प्रकरणम्

अथ लिङ्गस्थलनिरूपणं उत्तरार्धम्
तत्र आचारलिङ्गस्थलं—प्रथमं प्रकरणम्

गुरुलिङ्गस्थलम्—द्वितीयं प्रकरणम्

कायानुग्रहस्थलम्—तृतीयं प्रकरणम्

जङ्गमलिङ्गस्थलम्—चतुर्थं प्रकरणम्

प्रसादलिङ्गस्थलम्—पञ्चमं प्रकरणम्

महालिङ्गस्थलम्—षष्ठं प्रकरणम्

॥ विषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

माहेश्वरस्थलम्—द्वितीयं प्रकरणम्

प्रसादिस्थलम्—तृतीयं प्रकरणम्

प्राणलिङ्गस्थलम्—चतुर्थं प्रकरणम्

शरणस्थलम्—पञ्चमं प्रकरणम्

ऐक्यस्थलम्—षष्ठं प्रकरणम्

अथ लिङ्गस्थलनिरूपणं उत्तरार्धम्
तत्र आचारलिङ्गस्थलं—प्रथमं प्रकरणम्

गुरुलिङ्गस्थलम्—द्वितीयं प्रकरणम्

कायानुग्रहस्थलम्—तृतीयं प्रकरणम्

जङ्गमलिङ्गस्थलम्—चतुर्थं प्रकरणम्

प्रसादलिङ्गस्थलम्—पञ्चमं प्रकरणम्

महालिङ्गस्थलम्—षष्ठं प्रकरणम्

॥ विषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

कवल्यसारः

टिप्पण्यादिसमलङ्कृतः

॥ ॐ ॥

॥ श्री शिवाय नमः ॥

॥ श्री साम्बसदाशिवाय नमः ॥

श्री मरितोण्टदार्यविरचितः

॥ कैवल्यसारः ॥

—

पूर्वार्धम्——अङ्गस्थलनिरूपणम्

तत्र भक्तस्थलं-प्रथमं प्रकरणम्

निरञ्जनलिङ्गवन्दनरूपं मङ्गलम् —

1 यदेकमव्यक्तमनन्तमीड्यं विभुं स्वयं निष्कलमद्वितीयम् ।
गुरुस्वरूपेण सुखप्रदं तत् निरञ्जनं लिङ्गमहं नमामि ॥

गुरुसन्निधौ स्वस्वकृत्योः रक्षणप्रार्थना —

2 स्वाधिष्ठितमखिलमिदं जगदेकीकृत्य मां कृतिं चैताम् ।
ब्रह्मप्रापकगुरुराट् पायात् चिद्रूपबोळबसवार्यः ॥

* कठिनपदटिप्पणी *

[1] ईड्यं–स्तुतिपात्रम् । विभुं–सर्वव्यापकम् । निष्कलं–कलातीतम् । अद्वितीयं–समाभ्यधिकरहितम् । निरञ्जनाभिधं लिङ्गम् । [2] स्वाधिष्ठितं–स्वस्मिन् प्रतिष्ठितम् । एकीकृत्य–एकरूपतामापाद्य । चिद्रूपः–ज्ञानस्वरूपः । पायात्–रक्षतु ।

प्रभुं स्वयं (ग) । इत आरभ्य (२५) 'एकमेव परं ब्रह्म' इति श्लोकपर्यन्तो भागः 'छ' पुस्तके न दृश्यते ।

ग्रन्थकरणप्रतिज्ञा —

3 श्रीमद्वेदान्तमूलोत्थितविमलशतैकस्थलोत्कृष्टमेतं
वीराख्यं शैवतन्त्रं प्रतिभटहृदयान्तस्तमश्चण्डभानुम् ।
ध्यात्वा चिन्मात्ररूपं गुरुवरमनिशं सिद्धवीराख्यदेवं
नीत्वा शान्तिं प्रपञ्चं जगदुपकृतये निर्ममोऽहं च कुर्याम् ॥

ग्रन्थप्रतिपाद्यार्थसारः, कर्तृनाम च —

4 एकोत्तरस्थलशतं विमलाङ्गलिङ्ग-
सम्बन्धरूपमधिगम्य गुरोः प्रसादात् ।
कैवल्यसारमखिलात्मसुखावबोध-
सिद्ध्यर्थमाह भुवि तोण्टददेशिकेन्द्रः ॥

ग्रन्थारम्भः —

5 अथ वीरतन्त्रोदिताचारसम्पन्नसर्वोपनिषत्प्रतिपाद्यज्ञानगोचर-
कैवल्यसारं आरभ्यते —

---

[3] श्रीमत्–ज्ञानसम्पद्भरितं यत् वेदान्तमूलं–उपनिषद्रूपं मूलं तस्मादुत्थितं निर्मलैकोत्तरशतस्थलनिरूपणेन सर्वोत्कृष्टं च । प्रतिभटाः मतान्तरीयाः । चण्डभानुः–सूर्यः । जगतः शान्तिं आपाद्य उपकारकरणायेत्यर्थः । एतं ग्रन्थं कुर्यामित्यन्वयः । [4] सम्बन्धः–सामरस्यम् । अधिगम्य–ज्ञात्वा । आह–रचयामास । [5] वीरतन्त्रं–वीरागमः । आचारसम्पन्नं–आचरणप्रक्रिया-प्रतिपादकम् । कैवल्यसारं–कैवल्यसाराख्योऽयं ग्रन्थः ।

---

[4] एतच्छ्लोकानन्तरं आग्रन्थसमाप्ति 'च' 'छ' पुस्तकयोः केवलं प्रमाणाकराः एव वर्तन्ते, न तु कैवल्यसारमूलग्रन्थः वाक्यरूपः । [5] अत्र वीरतन्त्रो (ग)

अधिकारी —

6 अत्र वीरशैवव्रतनिष्ठः मुमुक्षुः भक्त एव अधिकारी ।

प्रयोजनम् —

7 शिवभक्तिसमासादिताङ्गलिङ्गसायुज्यरूपमुक्तिरेव प्रयोजनम् ।

विषयः —

8 एकोत्तरशतस्थलप्रतिपादकसकलोपनिषत्प्रतिपाद्यज्ञानमेव विषयः ।

सम्बन्धः —

9 अस्य विषयस्य कैवल्यसाराख्यशास्त्रेण सह विषयविषयिभावः सम्बन्धः ।

तत्र अधिकारिवीरशैवस्वरूपम् —

10 नन्वत्र वीरशैवव्रतनिष्ठः मुमुक्षुः भक्त एवाधिकारीत्युक्तम् । वीरशैवस्वरूपज्ञानाभावे तद्व्रतनिष्ठत्वादिस्वरूपं सुतरां दुर्ज्ञेयमिति चेत्—न ।

11 सकलोपनिषत्प्रतिपाद्यशिवजीवैक्यबोधकशिवज्ञानविचारतानामेव वीरशैवाभिधानत्वमिति उत्तरकामिकादिषु —

---

[6] मुमुक्षुः–मुक्तिमपेक्षमाणः । [7] सायुज्यं–सामरस्यम् । [8] एकोत्तरशतस्थलानां सकलोपनिषत्प्रतिपाद्यताज्ञानमेव विषयः इत्यर्थः । [9] तथा च कैवल्यसाराख्यमिदं शास्त्रं विषयि, उक्तं ज्ञानमेव विषयः इत्यर्थः । [10] अत्र –वीरशैवशास्त्रे । तद्व्रतानि–वीरशैवविहिताचाराः । निष्ठत्वं–निष्ठावत्त्वम् । उत्तरकामिकादिषु । आगमेष्विति शेषः ।

---

[8] अथ वीरशैव(घ) [9] विषयविषयीभावः (क,ग) [10-11] मिति चेत्–सकलो (क,ग)

वीरशैवशब्दार्थः —

12 विशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवाः वीरशैवास्तु ते मताः ।। इत्युक्तत्वात् ।

भक्तेः मुक्तिहेतुत्वे ज्ञानस्य तद्धेतुत्वविरोधाशङ्का —

13 ननु शिवभक्तिसमासादिताङ्गलिङ्गसायुज्यरूपमुक्तिरेव प्रयोजन-मित्युक्तम्, तदयुक्तम् ।

14 तथाहि–मुक्तेः शिवभक्तिसमासादितत्वे —

ज्ञानादेव तु कैवल्यम्

इति श्रुतिप्रतिपाद्यज्ञानस्य कारणत्वं न स्यात् ।

15 किञ्च—मुक्तेः स्वरूपत्वं वा ? अतिरिक्तत्वं वा ? नाद्यः । भक्तेः कारणत्वाभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । अद्वैतभङ्गा-पुरुषार्थत्वादिदोषप्रसङ्गात् । इति चेत्—न ।

भक्तेरेव मुक्तिहेतुत्वे औचित्योपपादनम् —

16 ज्ञानकारणकवैदिककर्मनिवृत्तिरूपमोक्षानन्तरभाविस्वतन्त्रनिजलीला-पन्नभक्तेरेव मुक्त्यव्यवहितकारणत्वस्य वातुलादितन्त्रेषु—

17 ज्ञानादेव तु मोक्षः स्यात् मोक्षादुपरि शाम्भवी ।
भक्तिः परतरा भाति स्वतन्त्रा निजलीलया ।। इत्युक्तत्वात् ।

---

[13] सायुज्यं-सामरस्यम् । [15] स्वरूपत्वं–जीवस्वरूपात्मकत्वम् । अतिरिक्तत्वं–जीवस्वरूपातिरिक्तकिञ्चिद्रूपत्वम् । प्रसङ्गात्–जीवस्वरूपस्य स्वतः नित्यसिद्धत्वात् । अद्वैतं शिवजीवयोरैक्यम् । [16] ज्ञानकारणानि यानि वैदिककर्माणि, तेषां निवृत्तिरूपः यः मोक्षः इत्यर्थः ।

18 अन्यथा परम्परासाधनीभूतज्ञानस्यापि मुक्तिकारणत्वे अक्षराभ्यासादेरपि कारणत्वं स्यात् ॥

लिङ्गाङ्गसामरस्यस्यैव मुक्तिपदार्थत्वम् —

19 ननु मुक्तेः स्वरूपातिरिक्तत्वचोद्ये किमुत्तरम्? इति चेत्—श्रूयतामवधानेन ।

20 अङ्गलिङ्गसामरस्यस्य मुक्तेः सदसद्विलक्षणरूपत्वं वातुलादिसर्वागमसिद्धम् ।

तत्प्रमाणोपपादनम् —

21 तत् कथम्? इति चेत् —
शिव एव स्वयं लिङ्गं आत्मैवाङ्गं भवेत् खलु ।
तयोः शिवात्मनोः सम्यग्योगः संयोग एव हि ॥

22 सम्यग्योगो हि संयोगः भवेल्लिङ्गाङ्गयोः सदा ।
संयोग एव सायुज्यरूपा मुक्तिर्न संशयः ॥ इति हि उच्यते ।

शिवतत्त्वव्याख्यानप्रतिज्ञा —

23 अथ स्थलशब्देनोच्यमानं शिवतत्त्वं सकलागमसारसङ्ग्रहशिवाद्वैतपरतत्त्वप्रतिपादकवचनमुखेन व्याख्यायते ॥

स्थलशब्दस्य ब्रह्मपरत्वनिरूपणारम्भः —

24 तत्रादौ स्थलशब्दः ब्रह्मणि कथं निष्पन्नः? इत्याशङ्कां निवार्यमाणः सर्वागमेष्वपि तत्र तत्र स्थलत्वेन प्रतिपादकाभिष्ठानपरवचनानि संगृह्य व्याख्यायन्ते ॥

---

[18] परम्परेति । वैदिककर्मनिवृत्तिरूपमोक्षकारणीभूतज्ञानस्यापीत्यर्थः । [19] चोद्ये–शङ्कायाम् । [20] अङ्गलिङ्गयोः–जीवेश्वरयोः । [21] सम्यग्योगः–सामरस्यम् । [24] निष्पन्नः-निर्व्यूढः । निवार्यमाणः-निवारयतेति यावत् ।

ब्रह्मरूपशिवतत्त्वस्यैव स्थलत्वम् —

25 एकमेव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
शिवतत्त्वं शिवाचार्याः स्थलमित्याहुरादरात् ॥

26 लोके स्थलशब्दस्य प्रदेशान्तरवाचकत्वात् कथं ब्रह्मणि प्रयोगः ?
इत्याशङ्कायामाह —

सर्वस्थानलयभूतं स्थलम् —

27 सर्वेषां स्थानभूतत्वात् लयभूतत्वतस्तथा ।
तत्त्वानां महदादीनां स्थलमित्यभिधीयते ॥

स्थलव्यवहारोपपत्तिः —

28 एवं च अधिष्ठानव्यतिरेकेण वस्त्वन्तराभावात् व्यवहारः कथमुपपद्यते ? इत्याशङ्कायामाह —

29 स्वशक्तिक्षोभमात्रेण स्थलं तत् द्विविधं भवेत् ।
एकं लिङ्गस्थलं प्रोक्तं अन्यदङ्गस्थलं स्मृतम् ॥

स्थलस्यैकस्यैव लिङ्गाङ्गभेदोपपत्तिः —

30 एकस्य वस्तुनः द्वैरूप्यासम्भवादिति न्यायेन एकस्यैव वस्तुनः

तत्र तत्र प्रसक्तस्थलेषु । अधिष्ठानपरवचनानि–सकलजगदधिष्ठानभूतशिवबोधकवचनानि । [25] परंब्रह्म शिवतत्त्वं स्थलमित्याहुः इत्यन्वयः । [26] लोके –लोकव्यवहारे । प्रदेशान्तरं–देशभेदः । [27] स्थानभूतत्वात्–उत्पत्तिहेतुत्वात् । लयभूतत्वतः–लयहेतुत्वात् । अनयोर्हि आद्याक्षरे स्थ-ल शब्दे इति । [28] अधिष्ठानव्यतिरेकेण–जगदधिष्ठानं ईश्वरमन्तरा । [29] क्षोभविशिष्टं चलनम् । [30] भेदेन–लिङ्गरूपेण अङ्गरूपेण च ।

---

[25] परंब्रह्म (च) परब्रह्म (छ) रादरात् (वातुले) (च) [28] कथमापद्यते (क,ज)
[29] दङ्गस्थलं मतम् (ज)

भेदेन प्रतीतिविषयत्वं न कुत्रापि दृष्टम् ? इत्येतां शङ्कां दृष्टान्तमुखेन परिहरति —

31 महद्घटप्रभेदेन यथाऽऽकाशं प्रतीयते ।
प्रतीयते तथा चैकस्थलं लिङ्गाङ्गभेदतः ॥

आत्मन एव लिङ्गाङ्गरूपत्वम् —

32 सत्यज्ञानानन्दात्मकस्य परमात्मनः स्वेतरकल्पितभेदः स्वस्य कथमुपपद्यते ? इत्यत आह —

33 चिन्मात्रं परमं साक्षात् स्थलं सत्यादिलक्षणम् ।
लिङ्गाङ्गत्वं शिवात्मत्वभेदेनैव स्वयं श्रितम् ॥

पूर्वोत्तरविरोधपरिहारः —

34 पूर्वं स्वशक्तिक्षोभमात्रेणेत्युक्तम्, इदानीं तु स्वयमेव लिङ्गाङ्गत्वं श्रितमित्युक्तम् । इदं अनुपपन्नम् ? इत्यत आह —

35 यथा स्थलं द्विधाभूतं तथा शक्तिर्द्विधा भवेत् ।
शक्तिरप्रतिघा साक्षात् शिवेन सहधर्मिणी ॥

परमात्मनि तादृशभेदप्रतीत्युपपत्तिः —

36 तथापि शक्तिपरमात्मनोः भेदकल्पकत्वाभावात् कथं भेदः प्रतीयते ? इत्यत आह —

---

[31] महदिदमाकाशं महाकाशं घटाकाशमिति भेदेनेत्यर्थः । [32] सत्यज्ञानानन्दात्मकस्य सच्चिदानन्दरूपस्य । कथमिति । अखण्डात्मकत्वात् आशङ्का । [33] शिवात्मत्वभेदेन-शिवजीवभेदेन । श्रितम् । अभूदिति यावत् । [35] अप्रतिघा-प्रतिबन्धकरहिता । सहधर्मिणी-अनन्यरूपेति यावत् । [36] भेदकल्पकत्वाभावात्-भेदप्रयोजकधर्माभावात् ।

---

[35] शक्तिद्विधा (च) शक्तीरप्रतिघा (छ) सहधर्मिणि (छ)

37 लिङ्गस्थलाश्रया काचित् काचिदङ्गस्थलाश्रया ।
लिङ्गस्थलाश्रया शक्तिः कलारूपा प्रकीर्तिता ।
अङ्गस्थलाश्रया शक्तिः भक्तिरूपा भवापहा ॥

लिंगशब्दार्थः —

38 तन्त्रान्तरोक्तलिङ्गशब्दार्थं अत्र प्रमाणयति —

39 लीयते गम्यते यत्र येन सर्वं चराचरम् ।
तदेतल्लिङ्गमित्युक्तं लिङ्गतत्त्वविशारदैः ॥

अङ्गशब्दार्थः —

40 लिङ्गस्थलं सम्यग्विचार्य क्रमप्राप्तं अङ्गस्थलं निरूपयति —

41 अनाद्यन्तमजं लिङ्गं तत्पदं परमं प्रति ।
यद् गच्छति महाभक्त्या तदङ्गमिति निश्चितम् ॥

आत्मस्वरूपम् —

42 आत्मस्वरूपापरिचये तस्य अङ्गत्वमेव ज्ञातुं न शक्यते इत्याकांक्षायां आत्मस्वरूपमाह —

43 आत्माऽयं केवलः शुद्धः शिवस्यांशः सदाऽमलः ।
नित्यो निरञ्जनः शान्तः तस्मादात्मा स्वयं शिवः ॥

---

[37] भवः–संसारः । [38] तन्त्रान्तरं–वातुलागमातिरिक्तं तन्त्रम् । [39] विशारदैः अनुभाविभिः । [41] अनाद्यन्तं–आद्यन्तरहितम् । अजं–उत्पत्तिरहितम् । तत्पदं–तत्पदशब्दवाच्यम् । यत्–स्थलं जीवरूपम् । [42] तस्य –आत्मनः । [43] केवलः मुक्तः । निरञ्जनः–पापलेपरहितः । शान्तः–रागद्वेषरहितः ।

---

[41] अनाद्यन्तमित्ययं श्लोकः छ पुस्तके न दृश्यते [43] निरञ्जनस्यान्तः (क)

आत्मनः शिवाङ्गत्वोपपत्तिः —

44 एवंभूतस्य आत्मनः शिवाङ्गत्वं कथमुपपद्यते ? इत्यत आह —

45 सोऽयमात्मा शिवाङ्गं स्यात् शिवेनाङ्गीकृतत्वतः ।
सर्वज्ञतादिभेदैश्च शिवाङ्गमयमिष्यते ॥

प्रकारान्तरेणात्मनः शिवाङ्गत्वोपपादनम् —

46 अङ्गमितिपदव्युत्पत्तिविचारेणापि आत्मनः शिवाङ्गत्वमुपपद्यते इत्याह —

47 अमिति ब्रह्म सन्मात्रं गच्छतीति गमुच्यते ।
रूप्यतेऽङ्गमिति प्राज्ञैः अङ्गतत्त्वविचिन्तकैः ॥

लिङ्गे अङ्गे च षट्स्थलव्यवहारहेतुः —

48 यत् एकमेवेत्यादि प्रतिपादितं एकमेव स्थलं स्वशक्तिक्षोभमात्रादेव द्विविधं जातम्, तदेव शक्तिभक्तिरूपोपाधिवशात् एकमेव प्रत्येकं प्रत्येकं त्रिविधं त्रिविधं स्यात्, ज्ञानक्रियात्मकत्वेन पुनरेकं द्विविधं द्विविधं भवति । एवं च पूर्वोक्तं तयोरेकस्थलं शक्तिविशिष्टं सत् लिङ्गषट्स्थलमिति व्यवह्रियते । अन्यत्तु भक्तिविशिष्टं सत् अङ्गषट्स्थलमिति व्यवहारः ।

आहत्य द्वादशस्थलत्वम् —

49 तथा च एकमेव परस्परवैलक्षण्येन द्वादशधा जातम् ।

---

[44] शिवाङ्गत्वं–शिवस्य अङ्गरूपत्वम् । [45] आत्मा–जीवः ।
[47] रूप्यते–निरूप्यते । [48] स्वशक्तिः–चिच्छक्तिः ।

---

[45] शिवेनांगिकृ (छ) तादिभेदैश्च (च) [48] एकमेकं प्रत्येकं (क,ग) शक्तिविशिष्टाल्लिङ्गस्थलमिति व्यवह्रियते (क)

तदवान्तरभेदैकोत्तरशतस्थलोपपादनप्रतिज्ञा —

50 इदानीं तदवान्तरभेदान् एकोत्तरशतसंख्याकान् पिण्डादिज्ञान-शून्यान्तत्वेनाभिमतान् वीरशैवाचार्यागस्त्यदूर्वासादिसकलपुरातन-व्यवहारविषयान् सकलविद्यासागरशिरोमणिसर्वोपनिषदर्थसंग्रह-मुखेन विविच्य प्रत्येकं प्रत्येकं प्रतिपादयितुं तत्तत्स्थलप्रतिपादक श्रुतिगणः अनुसन्धीयते ।

लिंगस्थलात्प्रागेव अंगस्थलनिरूपणे हेतुः —

51 तत्र यद्यपि — लिङ्गस्थलनिरूपणाधीनमेव अङ्गस्थलनिरूपणम् । तथा च अंगस्थलनिरूपणात् पूर्वमेव लिंगस्थलं निरूपणीयम् । उपजीव्यनिरूपणानन्तरमेव उपजीवकनिरूपणस्य न्याय्यत्वात् ।

52 तथापि— अङ्गस्थलस्वरूपज्ञानं विना लिंगस्थलस्वरूपस्य दुर्ज्ञेय-त्वात्, अंगस्थलमेव प्रथमं निरूपणीयमिति विनिगमकानुरोधेन साङ्गस्थलमेव प्रथमं निरूप्यते ।

लिंगांगस्थलयोः पौर्वापर्ये हेतुः —

53 ननु उभयोरप्येकस्मादेवोत्पन्नत्वाविशेषात्, एकस्य प्राथम्यं अन्य-स्यानन्तर्यमिति विनिगमकमेव न सम्भवति । येन अंगस्थलस्य प्राथम्यमंगीक्रियेत इति चेत्—न ।

54 उभयोरपि एकस्मादेव उत्पन्नत्वाविशेषेऽपि स्वस्वरूपज्ञानाधीनमेव परस्वरूपज्ञानमित्येव विनिगमकम् ।

---

[50] तदवान्तरभेदान्–उक्तद्वादशस्थलावान्तरभेदान् । अभिमतान्–अङ्गीकृतान् । [52] तथापीति । घटकघटितज्ञानन्यायेनेति भावः । सांगमंग-स्थलमेवेति पाठः स्यात् । [54] एकस्मादेव । स्थलादिति शेषः । स्वस्य–अङ्ग-

---

[52] स्वरूपं ज्ञानं विना (क) नुरोधेन अङ्गस्थल (ज) [53] प्राथम्यमङ्गीक्रियते (क)

उक्तार्थस्य साध्यसाधननिरूपणेऽप्यतिदेशः —

55 अन्यथा —

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तः ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

56 ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

इति पौर्वापर्यक्रमभङ्गोऽपि स्यात् ।

तत्रांगस्थले पञ्चदशभक्तस्थलेषु प्रथमं पिण्डस्थलनिरूपणप्रतिज्ञा —

57 तस्मात्—अङ्गस्थलस्यैव आदौ निरूपणीयत्वे सिद्धे, तदवान्तर-भेदभक्तस्थलादिभूतं पिण्डस्थलं निरूप्यते ।

पिण्डस्थलपदार्थः (१)—

58 अत्र बहुजन्मकृतसुकृतवशात् क्षीणपापस्सन् निर्मलान्तःकरण-चरमदेही यः स एवात्मा पिण्डसंज्ञः । तदन्तराऽवस्थितपरब्रह्मैव पिण्डस्थलमित्युच्यते । श्वेताश्वतरोपनिषदि —

59 तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिः आपः स्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥

रूपस्यात्मनः यत्स्वरूपं तद्ज्ञानाधीनमेवेत्यर्थः । विनिगमकं—अन्यतरनिरूपण नियामकमिति यावत् । [55] अन्यथा—एवंविधपौर्वापर्यक्रमनियामकानङ्गीकारे । [56] स्यादिति । तत्र हि जीवसहजगुणानां त्यागानन्तरं हि दैवगुणं देवभावं च प्राप्तुं योग्यता प्रतिपादितेति भावः । [58] चरमदेही—पुनर्जन्माभावात् अस्य देहस्यैवान्तिमत्वादिति भावः । [59] स्रोतस्सु—नदीषु । अरणीषु—काष्ठेषु ।

[53-54] इति चेत्—ननूभयोरपि (ज) [56] भूतप्रसन्ना (क) [59] स्स्वरणिस्स्विवाग्निः (छ)

60 तथैवोक्तं कूर्मपुराणे —

अङ्कुरः सुन्दरे बीजे सूर्यकान्ते च पावकः ।
सलिलं चन्द्रकान्ते च तथाऽऽत्माङ्गेऽपि साध्यते ॥

पिण्डज्ञानस्थलम् (२)—

61 एवंभूतपरब्रह्मणि स्वान्तरावस्थितसकलनिष्कलात्मकतत्त्वं प्रदर्शयितुं या इच्छा जायते, तदनुरोधेन यत् पिण्डभूतात्मनि ज्ञानं जायते, तदेव पिण्डज्ञानस्थलमित्युच्यते ।

62 अमृतनादोपनिषदि —

ज्ञाननेत्रं समादायोद्धरेत्तद्वह्निवत् परम् ।
निश्चलं निष्कलं शान्तं तद्ब्रह्माहमिति स्मृतम् ॥

63 कठवल्ल्युपनिषदि —

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

64 तथैवोक्तं वासिष्ठे —

कुतो मायेयमिति ते राम ! माऽस्तु विचारणा ।
कथमेनां जहामीति चैषा तेऽस्तु विचारणा ॥

एनं पिण्डस्थं परमात्मानम् । [60] अङ्कुर इति । यथेत्यादिः । साध्यते–अभिव्यक्तीक्रियते । [61] सकलं अंगतत्त्वम् । निष्कलं–लिङ्गतत्त्वम् । [62] उद्धरेत्–प्रज्वलितं कुर्यात् । [63] अनवस्थेषु–अनित्येषु । आत्मानं–परं ब्रह्म । [64] जहामि–त्यजामि ।

---

[62] ज्ञाननेत्रांगमा (छ) द्धरेद्वह्नि (च) द्वह्नितत्परः (छ) अयं श्लोकः निर्णयसागरमुद्रिते अमृतनादोपनिषत्पुस्तके न दृश्यते । किन्तु ब्रह्मबिन्दूपनिषदि किञ्चिद्व्यत्यस्ततया दृश्यते (घ) [64] मायीयमिति (छ) यैषा तेस्तु (छ)

संसारहेयस्थलम् (३)—

65 एवंविधपिण्डज्ञानवान् महात्मा सकलनिष्कलतत्त्वं सम्यग् विचार्य तयोः सकलरूपसंसारस्य हेयत्वबुद्धौ सत्यां, अनन्तरं संसारहेय-स्थलमित्युच्यते। मैत्रेयोपनिषदि—

66 भगवन्! अस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्लशोणितश्लेष्माश्रु-दूषिते विण्मूत्रवातपित्तकफसङ्घाते दुर्गन्धे निस्सारेऽस्मिन् (संसारे) शरीरे किं कामोपभोगैः?

67 तथैवोक्तं पुराणे—

मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ।
देहे चेत् प्रीतिमान्मूढः भविता नरकेऽपि सः॥

गुरुकारुण्यस्थलम् (४)—

68 एवंभूतसंसारजुगुप्सानन्तरं गुरूपदेशाभावे स्वस्वरूपसाक्षात्कारा-सम्भवात्, तदर्थं गुरूपसदने कृते सति अनन्तरं गुरुकारुण्यस्थल-मित्युच्यते।

69 मुण्डकोपनिषदि—

तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

---

[65] सकलनिष्कलतत्त्वं-अङ्गलिङ्गतत्त्वम्। हेयत्वं-त्याज्यत्वम्। [67] संहतौ-सङ्घातरूपे। नरकेऽपि प्रीतिमान् भवितेत्यर्थः। [68] उपसदने-आश्रयणे। [69] अभिगच्छेत्-आश्रयणं कुर्यात्।

---

[66] स्मिन् संसारे (घ) इदं भगवन्नित्यादिवाक्यं मैत्रेयोपनिषदि न दृश्यते। किन्तु मैत्रायण्युपनिषदि दृश्यते (घ) पित्थकफ (च) [67] मज्जाऽस्थिसंहते (घ) अयं श्लोकः नारदपरिव्राजकोपनिषद्यपि दृश्यते (घ) [69] समित्पाणिश्श्रोत्रियं (छ)

70 किञ्च मैत्रेयोपनिषदि—

अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां, शिखरिणां प्रपतनं, ध्रुवस्य प्रचलनं, प्रश्वनं वा तरूणां, निमज्जनं पृथिव्याः, स्थानादपसरणं सुराणामित्येवंविधेऽस्मिन् संसारे किं कामोपभोगैः ? यैरेवाश्रितस्यासकृदिहावर्तनं दृश्यते, इति उद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोऽर्दमानस्थो भेक इवासमस्मिन् संसारे भगवन् ! त्वं नो गतिः त्वं नो गतिः ।

71 तथैवोक्तं वाक्यवृत्तौ—

अनायासेन येनास्मात् मुच्येयं भवबन्धनात् ।
तन्मे संक्षिप्य भगवन् ! केवलं कृपया वद ।। इति ।

लिङ्गधारणस्थलम् (५)—

72 एवं गुरुकरुणान्वितस्यैव महात्मनः पञ्चभूतात्मकस्थूलदेहधर्मान् परिहृत्य सदाचारसाधनीभूतदेहस्योपरि लिङ्गधारणे कृते सति अनन्तरं लिङ्गधारणस्थलमित्युच्यते ।

73 ऋग्वेदे—

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रुतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ।।

---

[70] प्रश्वनं—शुष्कीभवनम् । इह—संसारे । अर्दमानस्थः—उच्चैर्वटवदायमानः । [73] ब्रह्मणस्पते—हे गुरो । पर्येषि—व्याप्नोषि । अतप्ततनूः—तपोरहितः ।

---

[70] किमेतैर्मान्यानां (घ) प्रचलनं स्थानं वा तरूणां (घ) प्रचलनं प्रच्यवनं वा(क) दपसरणं सोहमित्येवं(क,घ) सुराणामित्येतद्विधेऽस्मिन् (क,घ) सकृदिच्छावर्तनं(क,घ) सकृदुदावर्तनं(ज) त्यन्धोदपानस्थो(क,ग) त्यर्धोर्धमानस्तु (छ) भोगैर्वाश्रितस्य(छ) भेक इवाहमस्मिन् (घ) भेक इवास यस्मिन् (क) त्वं नो गतिरिति (घ) [71] मुच्येत भव (क) अयं श्लोकः छ-पुस्तके नास्ति । [72] भूतस्य (ज) [73] अतसंतनोर्न (छ)

74 तथैवोक्तं कामिकागमे—

ऋगित्याह पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ।
तस्मात् पवित्रं तल्लिङ्गं धार्यं शैवमनामयम् ॥

75 अतप्ततनुरज्ञो वै सामः संस्कारवर्जितः ।
दीक्षया रहितः साक्षात् नाप्नुयाल्लिङ्गमुत्तमम् ।

76 ब्रह्माण्डपुराणे—

तपसा तप्ता तनुर्यस्य स तप्ततनुरुच्यते ।
परिपक्वो विमोक्षाय सोऽश्नुते लिङ्गधारणम् ॥

77 किञ्च ब्रह्मोपनिषदि—

यदक्षरं परं ब्रह्म तत् सूत्रमिति धारयेत् ।
सूचनात् सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम् ॥
धारणात् तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ।

78 अस्मिन्नर्थे योगजागमे—

संस्यूतत्वात् समस्तेषु वस्तुष्वपि तु सन्ततम् ।
सूचनात् परमेशस्य सूत्रं लिङ्गमितीरितम् ॥

79 किञ्च बृहत्कालोत्तरे—

व्रतानि दुश्चराणीह तपांस्युग्राणि यानि च ।
न्यूनानि तानि सर्वाणि शिवलिङ्गस्य धारणात् ॥

आमः—अपरिपक्वान्तःकरणः । श्रुतासः—ज्ञानिनः । [74] अनामयं—दोषरहितम् ।
[75] सामः—मलत्रयसहितः । [77] सूत्रमिति ज्ञात्वेत्यर्थः । परं पदं—परब्रह्म ।
[78] संस्यूतत्वात्—अनुस्यूतत्वेन वर्तमानत्वात् । [79] धारणात्—न्यूनस्वरूपाणीत्यन्वयः ।

---

[74] स्समासत (ज) [75] दीक्षाया (छ) [76] तनुर्मेयस्य स (छ) अयं श्लोकः क-घ पुस्तकयोः नास्ति । [77] अयं सार्धश्लोकः छ पुस्तके नास्ति । [78] संसूतत्वात् (क)

80 तथा शिवरहस्ये—

परिशुद्धेन मनसा नियमेन दृढव्रतः ।
शिवस्य लिङ्गं बिभ्राणः शिवमेव प्रपद्यते ॥

81 तथा वातुलेऽपि—

यस्य सांसारिको भावः नास्ति लज्जादयस्तथा ।
स भक्तो निश्चलो धन्यः लिङ्गं सर्वत्र धारयेत् ॥

82 तत्रैव—

दास्यैकव्रतनिष्ठस्तु समतिक्रान्तलौकिकः ।
धारयेच्छिवलिङ्गं च पूजयेत् नियतात्मवान् ॥

विभूतिधारणस्थलम् (६)—

83 एवं लिङ्गधारणसम्पन्नस्य परब्रह्माविनाभूतचित्प्रकाशस्वरूपभस्म धारणं कर्तव्यमिति नियम एव विभूतिधारणस्थलमित्युच्यते ।

84 जाबालोपनिषदि—

विभूतिधारणात् ब्रह्मैकत्वं गच्छति स एष भस्मज्योतिः स एष भस्मज्योतिः । विभूतिधारणात् कैवल्यमश्नुते स एष भस्मज्योतिः स एष भस्मज्योतिः । विभूतिधारणादेव अमृतत्वं गच्छति । स एष भस्मज्योतिः स एष भस्मज्योतिः ॥

---

[82] लौकिकः—लोकव्यवहारः । नियतात्मवान्—निश्चलचित्तः । [84] ब्रह्मैकत्वं—कैवल्यफलम् । भस्मज्योतिः—ज्योतिर्मयभस्मस्वरूपः । अमृतत्वं—मुक्तिम् ।

---

[80] शिरस्सुलिङ्गं (घ) प्रपाद्यते (छ) [81] लज्जादयास्तथा (छ) सभक्तो निश्शटो (क) धन्ये लिङ्गं (छ)

रुद्राक्षधारणस्थलम् (७)—

85 एवं महाज्ञानं भस्म, सत्क्रियामुखेन धृतस्य लिङ्गक्रियासम्पन्नस्य शिवज्ञानचक्षुस्सम्भूतरुद्राक्षधारणे कृते सति, अनन्तरं रुद्राक्ष-धारणस्थलमित्युच्यते ।

86 जाबालोपनिषदि—

य इदं रुद्राक्षं धत्ते सः सर्वपुण्यतीर्थस्नातो भवति, सः सर्व-वेदधारी भवति, स सर्वक्रतुकृद्भवति, स सर्ववेदात्मको भवति, सः सत्यं परमः शिवः, सः परमः शिवः ॥

87 तत्रैव—

पापं कुर्वन्नपि मानवः रुद्राक्षं धारयन् सर्वपाप्मानं तरति ॥

88 मानवपुराणे —

रुद्राक्षं धारयन् पापं कुर्वन्नपि च मानवः ।
सर्वं तरति पाप्मानं जाबालश्रुतिराह हि ॥

पञ्चाक्षरीजपस्थलम् (८)—

89 एवं लिङ्गाङ्गिनः विभूतिरुद्राक्षधारकस्य नित्यलिङ्गार्चनारतलिङ्ग-सम्पन्नस्य प्रणवान्वितपञ्चाक्षरीजपस्यावश्यकत्वेन अनन्तरं पञ्चा-क्षरीस्थलमित्युच्यते ।

90 यजुर्वेदे शतरुद्रीये— नमः शिवाय च ।

---

[85] शिवज्ञानरूपं चक्षुः । [86] धत्ते-धारयति । क्रतुः यज्ञयागादिः । [90] नम-श्शब्दलक्ष्यार्थभूतः आत्मा शिवशब्दलक्ष्यार्थभूतपरमात्मना साकं आयशब्दार्थ

---

[86] 'यइदं' इत्यारभ्य २४८ तम ग्रन्थविभागे 'नैवपञ्चषट्' इति ग्रन्थपर्यन्तं 'च' मातृकायां 'ग' मातृकायां च ग्रन्थः लुप्तः । रुद्राक्षं दन्तेत्रसः (छ)
[89] रुद्राक्षधारस्य (ज)

91 तथैवोक्तं शिवज्ञानविद्यायाम्—

अङ्गं नमःपदमिदं शिव एष लिङ्गं
सम्बन्धमायपदमेतदुदीरितं स्यात् ।
लिङ्गाङ्गसङ्गमपदत्रयबोधनार्थं
मन्त्रोऽयमाह निगमागममन्त्रराजः ॥

भक्तमार्गस्थलम् (९)—

92 एवं विभूतिरुद्राक्षाणि धृत्वा पञ्चाक्षरीं जपित्वा नित्यलिङ्गार्चनारतस्य साङ्गक्रियावर्तनं यथेत्याकाङ्क्षायां अनन्तरं भक्तस्थलमित्युच्यते ।

93 वृद्धजाबालोपनिषदि—

तस्मात् भस्मरुद्राक्षाणि धृत्वा रुद्रानुवाकैः रुद्रं सम्पूज्य ।

94 एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे ।

इत्यादिभिः परमेश्वरं स्तुत्वा सततं युक्तिभिर्मन्यमानः ध्यायेत् । ततः सकलपाशबन्धच्छेदात् मुक्तो भवति । नित्यसुखी भवति । न संसारी भवति । शिवस्वरूपो भवति, शिवस्वरूपो भवति, शिवस्वरूपो भवति ॥

95 तथा च शिवाद्वैते—

शिवयोगी शिवः साक्षात् इति कैङ्कर्यभक्तितः ।
पूजनं सुमनाः कुर्वन् यः सः भक्त इतीरितः ॥

सम्बन्धं प्राप्नोतीति व्याख्या । तदेवोक्तं उत्तरप्रमाणे । [91] मन्त्रराजः–नमःशिवायेति मन्त्रः । [92] वर्तनं–चरितम् । [94] इत्यादिभिः । मन्त्रैरिति शेषः । मन्यमानः–मननं कुर्वन् । [95] साक्षात्–प्रत्यक्षरूपः । कैङ्कर्यं–किङ्करभावः ।

---

[94] ध्यायते (छ) एक एव हि (च) [95] सुमनः (छ) कुर्वंस्तस्य भक्त (ज)

96 तथा वातुले—

मुक्तस्यैव भवेद्भक्तिः बद्धस्य न कदाचन ।
भक्तस्यैव हि मुक्तिः स्यात् नाभक्तस्य कदाचन ॥

97 वातुले—

प्रसादभक्तिमुक्तीनां एकदेशसमन्वयः ।
अपि मुक्तिर्भवेज्जन्या शेषौ द्वौ जनकौ मतौ ॥

98 तत्रैव—

प्रसादो जनकः प्रोक्तः जननी भक्तिरीरिता ।
अनयोरैक्यभावेन जनिता मुक्तिकन्यका ॥

99 स्कान्दे—

लिङ्गे प्राणं समाधाय प्राणे लिङ्गं तु शाम्भवम् ।
सशरीरं मनः कृत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेद्यदि ॥

100 साऽभ्यन्तरा भक्तिरिति प्रोच्यते शिवयोगिभिः ।
सा यस्मिन् वर्तते तस्य जीवनं भ्रष्टबीजवत् ॥

101 तत्रैव—

बहुनाऽत्र किमुक्तेन गुह्यात् गुह्यतरं परम् ।
शिवभक्तिर्न सन्देहः तया युक्तो विमुच्यते ॥

---

[96] मुक्तस्यैव–विषयान्तरैरनाकृष्टस्यैव । [97] एकदेशसमन्वयः–एकस्मिन्नेव पुरुषे सङ्गमः । अपिशब्दः चेदर्थे ।

---

[97] मुक्तिर्भवे जन्या (छ) [98] जननी मुक्ति (ज) जनिका मुक्ति (छ) [99] समादाय(छ) स्वशरीरं (छ,ज) [100] साऽभ्यन्तरे (छ)

102 किञ्च वातुले—

प्रसादाद्देवताभक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भवः ।
यथैवाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा तथाऽङ्कुरम् ॥

103 प्रसादपूर्विका चैका भक्तिर्मुक्तिविधायिनी ।
नैव सा शक्यते प्राप्तुं नरैरेकेन जन्मना ॥

104 तत्र—

अनेकजन्मशुद्धानां श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम् ।
विरक्तानां प्रबुद्धानां प्रसीदति महेश्वरः ॥

105 प्रसन्ने सति मुक्तोऽभूत् मुक्तः शिवसमो भवेत् ।
अल्पभाव्यपि यो मर्त्यः तस्य जन्मत्रयात्परम् ॥

106 तथा स्कान्दे—

तीर्थयात्रा बहुविधाः यज्ञाश्च विविधाः कृताः ।
एषां जन्मसहस्रेषु तस्मात् भक्तिर्भवेच्छिवे ॥

107 किञ्च ब्रह्मगीतायाम्—

नाहं प्रसन्नस्तपसा न दानेन नचेज्यया ।
तुष्टोऽहं भक्तिलेशेन क्षिप्रं याति परं पदम् ॥

108 तत्रैव—

न कर्मणा न तपसा न जपैर्न समाधिभिः ।
न ज्ञानेन न दानेन वश्योऽहं श्रद्धया विना ॥

---

[104] श्रौतस्मार्तानुवर्तिनां–श्रुतिस्मृतिविहितकर्मानुष्ठातॄणाम् । [105] अल्पभाव्यपि –स्वल्पशः शिवभावनावानपि । [106] तस्मात्–पूर्वोक्तपुण्यपरिपाकादेव ।

---

[103] प्रसादपूर्विका एकभक्तिः (छ,ज) विदायिनी (छ,ज) [105] अल्पभाव्यप्रियो मर यः (छ,ज) [106] यज्ञश्च विविधः कृतः (छ,ज) येषां जन्म (छ) [107] ब्रह्मगीतासु (छ)

109 तथा स्कान्दे—

शुभानामशुभानां च कर्मणां वाऽपि सञ्चयम् ।
करोति भस्मसात् भक्तिः दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥

110 शैवरत्नाकरे—

सद्भक्तजनसङ्गश्च दुःसङ्गाभाव एव च ।
एताभ्यां वर्धते पुंसां शिवभक्तिर्गरीयसी ॥

गुरुलिङ्गार्चनसरूपोभयस्थलम् (१०)—

111 एवं सद्भक्तिस्थलसम्पन्नस्य भक्तस्य देहप्राणरूपकर्तृभृत्यत्वसम्बन्ध यथेत्याकाङ्क्षायां अनन्तरं उभयस्थलमित्युच्यते ।

112 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

113 तथैवोक्तं तत्त्वसारे—

सम्यग्गुरुं शिवं नित्यं ज्ञात्वा तत्पूजनं बुधः ।
यः करोत्युभयाकारं शिवस्यैकाश्रयः स हि ॥

जङ्गमार्चनलक्षणत्रिविधसम्पत्तिस्थलम् (११)—

114 एवं उभयस्थले लिङ्गाङ्गोभयसम्बन्धज्ञानवतः भक्तस्य शरीरमनो

---

[109] भस्मसात्करोतीत्यन्वयः । [110] गरीयसी–अत्युत्तमस्वरूपा । [111] देहेति अत्र देहस्य भृत्यस्थानत्वम्, प्राणस्य तु कर्तृस्थानत्वम् । उभयेति । गुरु-लिङ्गार्चनसरूपोभयेत्यर्थः । [112] प्रकाशन्ते–बुद्धिगताः भवन्ति । [113] उभयाकारं पूजनमित्यन्वयः । एकाश्रयः–मुख्यं स्थानम् । [114] शरीरमनो

---

[109] करोति भस्मसद्भक्तिः (छ) [110] जनसङ्गश्च (क) [111] देवप्राणरूपा (ज)

भावेषु गुरुलिङ्गजङ्गमभूतविचारो यथेत्याकांक्षायां अनन्तरं त्रिविधसम्पत्तिस्थलमित्युच्यते ।

115 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

तस्याभिज्ञानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवलमाप्तकामः ।

116 तथैवोक्तं वातुलतन्त्रे —

गुरौ देवे समा बुद्धिः यथा या शिवयोगिनि ।
सैषा त्रिविधसम्पत्तिः संवित्साम्राज्यशालिनाम् ॥

चतुर्विधसारायस्थलम् (१२)—

117 एवं त्रिविधसम्पत्तिस्थलसम्पन्नस्य भक्तस्य शरीरमनोज्ञानपरिणामेषु गुरुलिङ्गजङ्गमप्रसादभक्तिसंनिहितभेदः कथमित्याकाङ्क्षायां अनन्तरं चतुर्विधसारायस्थलमित्युच्यते ॥

118 पारातश्रुतौ—

प्राञ्चो धावन्ति, प्राञ्चो व हि सुवर्गो लोकः, चतसृभिरनुमन्त्रयते चत्वारि छन्दांसि । छन्दोभिरेवैनान् सुवर्गं लोकं गमयति ॥

119 तथैवोक्तं शिवरहस्ये—

शिवाचार्यातिथिष्वेतत् प्रसादेऽप्येकरूपिणी ।
सा चतुर्विधसारोक्ता भक्तिरव्यभिचारिणी ॥

भावेषु–शरीरमनोज्ञानपरिणामेषु । [116]संवित्–सम्यग्ज्ञानम् । तदेव साम्राज्यम् । [117] सारायेतिपदस्थाने 'ज' मातृकायां सारेति पठितम् । [118]प्राञ्चः–पुरातनाः । लोकः–दृष्टिविषयः । चतसृभिः–गुरुलिङ्गजङ्गमप्रसादैः ।

---

[115] तस्याभिधानात् (छ,ज) [116] सैषां त्रिविध (छ,ज) [117] चतुर्विधसारस्थल (ज)
[118] प्राङ्चि हि सुवर्गो (ज)

उपाधिदानस्थलम् (१२)—

120 एवं चतुर्विधसारायस्थलसम्पन्नः महात्मा सकलभक्तजनहितोपदेशार्थं गुरुलिङ्गजङ्गमपूजानिरूपणे कृते सति अनन्तरं उपाधिदानस्थलमित्युच्यते ॥

121 छन्दोग्योपनिषदि—

त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति ।

122 काठकीयश्रुतौ—

यस्त्वातिथिभ्यः अन्नादिहविः अदत्त्वा भुङ्क्ते स किल्बिषं भुङ्क्ते ।

123 तथैवोक्तं शिवरहस्ये—

क्षीयन्ते च वरारोहे ! तपो यज्ञक्रियादयः ।
न क्षीयते वरारोहे ! वीरवक्त्रहुतं हविः ॥

124 किञ्च शैवपुराणे—

नाहं तदद्मि यजमानहविर्वितानं
चोद्यं घृतप्लुतमिदं हुतभुङ्मुखेन ।
यज्जङ्गमस्य मुखतश्चरतोऽनुमासं
तृप्तिर्न मे ह्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥

अनुमन्त्रयते-ध्यायन्ति । [120] चतुर्विधसारस्थलेति 'ज'-पुस्तके पाठः । [121] धर्मस्कन्धाः-धर्मवृक्षशाखाः । [122] किल्बिषं-पापम् । [123] वरारोहे ! इति ईश्वरकृतं पार्वत्याः सम्बोधनम् । वीरवक्त्रे वीरमाहेश्वरमुखे हुतं-अर्पितम् । हविः अन्नादिकम् । [124] वितानं-अत्यधिकम् । चोद्यं-आश्चर्यकरम् ।

---

[120] सम्पन्नमहात्मा (ज)

125 पेषणं खण्डनं चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनम् ।
पञ्चसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न जायते ॥

126 देवकार्यं गुरोः कार्यं गणकार्यं च योगिने ।
खननोत्पाटनं खण्डं कुर्वन् पापैर्न लिप्यते ॥

127 तथैव शातातपस्मृतौ—

आत्मार्थं न पचेदन्नं देवतार्थं तु पाचयेत् ।
आत्मार्थं पचते यस्तु ब्रह्महा स च कथ्यते ॥

128 किञ्च शिवरहस्ये—

लिङ्गार्थं जङ्गमार्थं च विशेषं पाकमुत्तमम् ।
आत्मार्थं यत् कृतं पाकं श्वानमांससमं भवेत् ॥

129 ब्रह्मगीतायाम्—

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं दानमिष्यते ।
आहुः प्रवृत्तमाचार्याः देवैश्वर्यादिसाधकम् ॥

130 शिवधर्मोत्तरे—

तस्मात् पात्रतमं ज्ञात्वा शिवभक्तमकल्मषम् ।
तस्मै सर्वं प्रदातव्यं अक्षयं फलमिच्छता ॥

---

[125] एवं स्थिते मोक्षं केन जायते ? न केनापि इत्यन्वयः । [126] गणः-शिवगणः । [127] आत्मार्थं-केवलस्वदेहपोषणार्थम् । [129] देवैश्वर्यादि-इन्द्रैश्वर्यादि ।

---

[125] पेषणं खण्डनं (छ) प्रमार्जनी (छ)

131 शिवरत्नाकरे—

शिवभक्तमतिक्रम्य यच्चान्यस्मै प्रदीयते ।
निष्फलं तद्भवेद्दानं नरकं च प्रपद्यते ॥

132 शिवरहस्ये—

सर्वाचारविशेषेण सर्वव्रतविशेषतः ।
सर्वशीलविशेषेण शिवदासोऽहमुत्तमम् ॥

निरुपाधिदानस्थलम् (१४)—

133 एवं सकलभक्तजनानां भक्तिारम्भमुपदिश्य महात्मा स्वयमुपाधिमनादृत्य निरुपाधिकः सन् सेवापरः कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं निरुपाधिदानस्थलमित्युच्यते ।

134 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

यो देवानामधिपः यस्मिन् लोकाः अधिश्रिताः ।
य ईशोऽस्य द्विपाच्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

135 तथा शिवरहस्ये—

ममेशस्वामिकं कार्यं सर्वं मत्वेशचोदितम् ।
यस्यार्थः क्रियते पात्रे सा क्रिया निरुपाधिका ॥

---

[131] शिवभक्तमिति स्वरसः पाठः । [132] शिवदासोऽहं—शिवभक्तानां सेवेति यावत् । [133] भक्तिारम्भं–भक्त्युदयमूलभूतार्थान् । [134] अधिश्रिताः–आश्रिताः । द्विपात्–द्विपादश्च । [135] ईशः शिव एव स्वामी यस्य तत् ।

---

[131] शिवभक्ति (क) [132] सर्ववृत्तविशेषतः (छ,ज) [134] यस्मिन् लोक अधिश्रितः (छ) द्विपादश्चतुष्पदः (छ,ज) तस्मै देवाय (छ)

136 किञ्च भगवद्गीतायाम्—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं निरुपाधिकम् ॥

137 वातुलतन्त्रे—

मदीयं तुभ्यमित्युक्तं न दद्यात् वस्तु किञ्चन ।
त्वदीयं तुभ्यमित्येतत् दानं विमलमीरितम् ॥

138 तत्रैव—

समयाराधनं नित्यं धनप्राणाभिमानकैः ।
त्रिसन्ध्यं ध्यानतो देवि ! मार्गशुद्धिरिहोच्यते ॥

सहजदानस्थलम् (१५)—

139 एवं निरुपाधिको भूत्वा कर्तृभृत्यभावेन सेवापरो महात्मा स्वकृत-भक्तौ स्वीकृतवस्तुनि च अभेदे प्राप्ते सति, अनन्तरं सहजदान-स्थलमित्युच्यते ॥

140 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म चैतत् ॥

141 तथैवोक्तं कूर्मपुराणे—

दाता दानं च देयं च पात्रं चैव शिवः स्वयम् ।
नाहं कारणमित्येतत् दानं विमलमीरितम् ॥

---

[136] पुण्यदेशे पुण्यकाले सत्पात्रे चेत्यर्थः । [138] समयाराधनं–समयाचार-निमित्तं आराधनम् । मार्गशुद्धिः–चरित्रशुद्धिः । [141] देयवस्तुसम्पादने दाने च नाहं कारणमिति भावसहितमित्यर्थः ।

---

[138] समयाचरणे निरयं (छ) प्राणाभिमानतः (छ,ख) त्रिसन्ध्यं दास्यतो देवि ! (ख,छ) [140] सर्वं भोग्यं त्रिविधं (छ)

142 तथा स्कान्दे—

शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत् ।
शिवो यजति तत्सर्वं तच्छिवः सोऽहमेव च ॥

143 कपिल उवाच—

न्यायार्जितं धनं यस्तु शिवभक्त्यैव केवलम् ।
दद्यात् सङ्गविनिर्मुक्तः तद्दानं सहजं स्मृतम् ॥

144 वासिष्ठे—

निरुपाधिकचिद्रूपपरानन्दात्मवस्तुनि ।
समार्पं सकलं यस्य स दानी शङ्करः स्वयम् ॥

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते
परमवीरशैवाद्वैतबोधिन्यां एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमाला-
विवरणाख्यकैवल्यसारे भक्तस्थलं नाम
प्रथमं प्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

—❦—
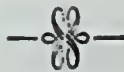
[142] तत्–तस्मात् कारणात् । [143] सङ्गविनिर्मुक्तः–फलापेक्षारहितः ।
[144] चिद्रूपं–ज्ञानस्वरूपम् । समार्पं–अर्पितम् ।

॥ श्री शिवाय नमः ॥

माहेश्वरस्थलम्—द्वितीयं प्रकरणम्

नवविधमाहेश्वरस्थलेषु–प्रथमं माहेश्वरप्रशंसास्थलम् (१६)—

145 एवं भक्तस्थलमाश्रित्य कर्तृभृत्यभावं विस्मृत्य स्वस्वरूपनिष्ठ-महात्माऽनन्तरं निष्ठामुखेन आचारमनुस्मृत्य सामरस्यं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायां अनन्तरं माहेश्वरस्थलमित्युच्यते ॥

146 श्रीरुद्रे—

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः ॥

147 तथा उत्तरकामिके—

ब्रह्मादिदेवताजालं मोहितं मायया सदा ।
अशक्तं मुक्तिदाने तु क्षयातिशयसंयुतम् ॥

148 अनादिमुक्तो भगवान् एक एव महेश्वरः ।
मुक्तिदश्चेति यो देवः स वै माहेश्वरः स्मृतः ॥

149 ब्रह्माद्यैर्मलिनप्रायैः निर्मले परमेश्वरे ।
साम्योक्तिं यो न सहते स वै माहेश्वराभिधः ॥

---

[146] विशिखासः–शिवादन्यमजानानाः । कपर्दिनः–जटाधारिणः । [147] क्षयातिशयसंयुतं–अमृतत्वमनापन्नम्। क्षपातितमसा युतमितिपाठे–गाढान्धकारयुतया माययेत्यन्वयः । [148] भगवान्–षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः । [149]यः भक्तः।

---

[145] निष्ठमाहात्म्यानन्तरं (क) महेश्वरस्थल (ज) [147] क्षपातितमसायुतम् (ख,ज)
[148] महेश्वरः स्मृतः (ज) [146_147_148] श्लोकौ छ-पुस्तके न दृश्येते ।
[149] यो न सहिते (छ)

150 क्षयातिशयसंयुक्ताः ब्रह्मविष्ण्वादिसम्पदः ।
तृणवन्मन्यते बुद्ध्या वीरमाहेश्वरः सदा ॥

151 सिद्धान्तशेखरे—

सदाकाले शिवे भक्तिः लिङ्गजङ्गमपूजनम् ।
एकपत्नीव्रतं वीरमाहेश्वरमहाव्रतम् ॥

152 शैवरत्नाकरे—

तदेव लिङ्गं तत् प्रोक्तं लिङ्गाचारस्तु यस्य वै ।
तेनैवाचारलिङ्गेन लिङ्गी माहेश्वरो जनः ॥

लिङ्गनिष्ठास्थलम् (१७)—

153 एवं माहेश्वरस्थले नियमव्रतादिषु कृतनिश्चयस्य माहेश्वरस्य अङ्गस्थितलिङ्गनिष्ठाभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायां अनन्तरं लिङ्गनिष्ठास्थलमित्युच्यते ।

154 अथर्वशिरउपनिषदि—

शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज्य समाप्ताऽथर्वणीश्रुतिः ॥

155 तथैवोक्तं शैवपुराणे—

संसारमोचकः साक्षात् शिव एव न चापरः ।
अन्याश्च देवताः सर्वाः केवलं भोगदायिकाः ॥

---

[150] अत्रापि क्षपातिशयेत्यपि पाठः । स एवार्थः । [154] सर्वमन्यत् परित्यज्य शिव एक एव ध्येयः इत्युक्त्वा श्रुतिः समाप्तिमगमत् इत्यर्थः । [155] केवल-

---

[150] क्षपातिशय (छ,ज) [151_152_154] एते श्लोकाः छ-पुस्तके न दृश्यन्ते ।

[154] समाप्ताऽथर्वशिखा (ज)

156 सर्वमन्यत् परित्यज्य शिव एव शिवङ्करः ।
ध्येय इत्याह परमा श्रुतिराथर्वणी खलु ॥

157 स्कान्दे—
प्रणामदर्शनस्पर्शपूजाद्यैर्नियमेन यत् ।
शिवलिङ्गस्य भजनं लिङ्गनिष्ठेति गीयते ॥

158 किञ्च कूर्मपुराणे—
तदेव परमं धाम सैवेह परमा गतिः ।
सैवेह परमा काष्ठा लिङ्गनिष्ठा शिवस्य या ॥

159 तथैवोक्तं ब्रह्मणा वायवीयसंहितायाम्—
तदीयं त्रिविधं रूपं स्थूलं सूक्ष्मं ततः परम् ।
अस्मदाद्यमरैर्दृश्यं स्थूलं सूक्ष्मं च योगिभिः ॥

160 ततः परं तु यन्नित्यं ज्ञानमानन्दमव्ययम् ।
तन्निष्ठैस्तत्परैर्भक्तैः दृश्यं तद्व्रतमास्तिकैः ॥

161 किञ्च वातुले—
लिङ्गभक्तिर्लिङ्गपूजा लिङ्गधारणमेव च ।
लिङ्गप्रसादस्वीकारः लिङ्गश्रवणमादरात् ।
लिङ्गध्यानं लिङ्गमनः सर्वं लिङ्गमयं जगत् ॥

मिति–न तु मुक्तिदायकाः इति भावः । [156] परमा–अत्यन्तोत्कृष्टा, वेदेषु तुरीया वा । [157] नियमेन शास्त्रोक्तनियमानुष्ठानपूर्वकम् । [158] धाम–स्थानं तेजो वा । [159] अस्मदाद्यमरैः–अस्मदादिभिर्मानुषैः इन्द्रादिदेवैश्चेत्यर्थः । सूक्ष्ममिति योगिभिरित्यनेनान्वेति । [161] एवं क्रियते चेत् सर्वं जगत् तदा

---

[159] तथैवोक्तमिति नास्ति (छ)

पूर्वाश्रयनिरसनस्थलम् (१८)—

162 एवं लिङ्गनिष्ठान्वितो माहेश्वरः तस्मिन् लिङ्गे लोलुपः सन् स्वस्य पूर्वजातिजीवभावलौकिकनानाप्रपञ्चपूर्वाश्रयान् मिथ्येति मत्वा निरसने कृते सति अनन्तरं पूर्वाश्रयनिरसनस्थलमित्युच्यते ।

163 मुण्डकोपनिषदि—

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित् कुले भवति, तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।

164 किञ्च नारायणोपनिषदि—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।

165 तथैवोक्तं स्कान्दे—

अज्ञानं पूर्वमित्याहुः भवोऽनादिस्तदाश्रयः ।
सर्वं निरसितव्यं तत् प्रयत्नेन विपश्चिता ॥

166 तथा सिद्धान्तशेखरे—

यो दीक्षितस्तु श्राद्धादौ स्वपूर्वविधिमाचरेत् ।
तस्य तन्निष्फलं सर्वं समयेन च लङ्घ्यते ॥

लिङ्गमयं भवेदित्यर्थः । [162] लोलुपः–अत्यासक्तः सन् । मिथ्येति–मिथ्याप्रायं गतमितीत्यर्थः । [163] अस्य कुले इत्यन्वयः । गुहाग्रन्थिभ्यः–हृदयान्तरालस्थिताज्ञानग्रन्थिभ्यः इत्यर्थः । [164] त्यागेन–पूर्वाश्रयपरित्यागेन । [165] भवः–जन्मजरामरणादिहेतुः संसारः । तदाश्रयः–अज्ञानाश्रयः । [166] स्वपूर्वविधिम्–दीक्षाप्राक्काले विहितानि कर्तव्यानि । समयेन शिवाचारेण ।

---

[162] स्वस्य पूर्वजात (ज) प्रपञ्चपूर्वाश्रमान् (ज) [163] न स्यात् ब्रह्मवित्कु (छ,ज)
[165] नादि तदाश्रयः (छ,ज)

167 शिवरहस्ये—

सन्ध्या ध्यानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम् ।
वृद्धाचारं तु तत्सर्वं शिवलिङ्गी न कारयेत् ॥

अद्वैतनिरसनस्थलम् (१९)—

168 एवं पूर्वाश्रयनिरस्तमाहेश्वरः लिङ्गं ज्ञात्वा तल्लिङ्गमुखं पृथग्वाचा व्यवहृते सति भिन्नत्वं प्राप्यतीति वाङ्निवृत्तौ सत्यां अनन्तरं वागद्वैतनिरसनस्थलमित्युच्यते ।

169 मुण्डकोपनिषदि—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढाः
अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥
अविद्यायां बहुधा वर्तमानाः
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ॥

170 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

---

[167] वृद्धाचारं–पितृपितामहपरम्परयाऽऽगतं आचारम् । [168] पृथग्वाचा–भिन्नभिन्नैः नामभिः । वाग्द्वैतेति क्वचित् । [169] जङ्घन्यमानाः–निकृष्टाः । परियन्ति–सञ्चरन्ति । बालाः–अज्ञानिनः । [170] सुपर्णा पक्षिणौ–जीवदेवात्मकौ ।

---

[167] स्त्र्द्धाचारं (छ) [168] वाग्द्वैत (छ) अन्ते–वागद्वैत । [169] जघन्यमानाः (ज) 'अंधेनैव' इति पादः नास्ति (ज) [169] तमः श्लोकः छ-पुस्तके न दृश्यते ।
[170] सयुजौ सखायौ (छ,ज)

171 तथैवोक्तं सूतसंहितायाम्—

द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिन् जीवेशाख्यौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥

172 तथा वासिष्ठे—

अज्ञस्याल्पप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥

173 किञ्च विश्वसादाख्ये

सर्वेषामेव भावानां आत्मा सर्वेश्वरो हरः ।
सति तस्मिन् अविज्ञाते किमद्वैतं भवेदहो !

174 तथा पद्मनाभौ—

एक एव सदा रुद्रः न द्वितीयोऽस्ति कश्चन ।
एतदद्वैतविज्ञानं अन्यद्व्यर्थमुदाहृतम् ॥

आह्वाननिरसनस्थलम् (२०) –

175 एवं वागद्वैतनिरसनं कृत्वा सर्वाङ्गे लिङ्गमेव पूर्णमिति विज्ञाता महेश्वरः कदाचिदावाह्य कदाचिद्विसर्जयितुं अवकाशमजानानः आह्वानबिसर्जनोभयेऽपि निरस्ते सति अनन्तरं आह्वाननिरसन-स्थलमित्युच्यते ।

पिप्पलं–कर्मफलमिति यावत् । [172] अज्ञं अल्पप्रबुद्धं च शिष्यं प्रतीत्यर्थः । [173] अद्वैतं–अद्वैतज्ञानम् । [175] एवं वाग्द्वैतेति 'ज' पुस्तकपाठः ।

---

[171] द्वा सुपर्णा (छ,ज) [173] किञ्च चिन्ताविश्वसादाख्ये (छ)
[175] एवं वाग्द्वैत (ज)

176 प्रश्नोपनिषदि—

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥

177 तथैव सिद्धान्तशिखामणौ—

यदा शिवकलायुक्तं लिङ्गं दद्यान्महागुरुः ।
तदारभ्य शिवस्तत्र तिष्ठत्याह्वानमत्र किम् ॥

178 तत्रैव—

सुसंस्कारेषु लिङ्गेषु सदा संनिहितः शिवः ।
तत्राह्वानं न कर्तव्यं प्रतिपत्तिविरोधकम् ॥

179 पुनस्तत्रैव—

नाह्वानं न विसर्गं च स्वेष्टलिङ्गे तु कारयेत् ।
लिङ्गनिष्ठापरो नित्यं इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥

180 किञ्च वातुले—

वासनाऽऽवाह्यते देवि ! वासनैव विसर्ज्यते ।
पारमार्थेन देवस्य नावाहनविसर्जने ॥

181 किञ्च तन्त्रसारे—

कुतो वाऽऽनीयते देवि ! कुतो वा स विसर्ज्यते ।
स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन स हि योगिषु संस्थितः ॥

---

[176] तां तनुम् । मोत्क्रमीः उलङ्घनं मा कुरु । [178] प्रतिपत्तिविरोधकं-सहजज्ञानप्रतिरोधकम् । [180] वासनेति । जीवात्मनामिति शेषः ।
[181] आनीयते-आवाह्यते । न विसर्ज्यते इति च दृश्यते ।

---

[176] या मनसि (छ) [179] आह्वानं न (छ) [181] न विसर्जते (छ) [181] स विसर्जते (ज)

अष्टमूर्तिनिरसनस्थलम् (२१)—

182 एवं निवृत्ताह्वानविसर्जनोभयवतः माहेश्वरस्य अष्टतनुभिराविर्भूत-समस्तप्रपञ्चः मिथ्या इति ज्ञाने सति, अनन्तरं अष्टमूर्तिनिरसन-स्थलमित्युच्यते ।

183 अन्तर्यामिब्राह्मणोपनिषदि—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।

184 योऽप्सु तिष्ठन् अद्भ्योऽन्तरः यमापो न विदुः यस्यापः शरीरं योऽपोन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।

185 योऽग्नौ तिष्ठन् अग्नेरन्तरः यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।

186 यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरः यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।

187 य आकाशे तिष्ठन् आकाशादन्तरः यमाकाशं न वेद यस्याकाशं शरीरं य आकाशमन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।

188 यश्चन्द्रमसि तिष्ठन् चन्द्रमसोन्तरः यं चन्द्रमा न वेद यस्य चन्द्रमाः शरीरं यश्चन्द्रमसमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।

189 य आत्मनि तिष्ठन् आत्मन अन्तरः यमात्मा न वेद

---

183 अन्तरः–अन्तर्वर्तमानः । यमयति–नियमयति ।

यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।

190 तथा आदित्यपुराणे—

तथा कर्ता कुलालादिः न घटादिर्न हि स्वयम् ।
भूम्यादिकृत्तदीशानः भूम्यादेरन्य एव हि ॥

191 तत्रैव—

व्यतिरिक्तः शरीरादेः शरीरी यद्वदिष्यते ।
तथा मूर्त्यष्टकादन्यः मूर्तिमान् पृथगीश्वरः ॥

192 तथा च स्कान्दे—

न गन्धादिगुणैर्युक्तः क्ष्माऽऽदिवत् गन्धवान् शिवः ।
न स्यन्दनस्वभावश्च यथैवापस्तथा विभुः ॥

193 यथा ज्वलनवन्नोष्णः तिरश्चीनो न वायुवत् ।
नाकाशवत्तथाऽऽशब्दः शिवः परमचेतनः ॥

194 चन्द्रसूर्याविवाश्रान्तं स्थाणुर्न परिवर्तते ।
मायागुणादिसम्बन्धः नात्मवत् परमेशितुः ॥

सर्वगत्वनिरसनस्थलम् (२२)—

195 एवं परित्यक्तमूर्त्यष्टकेन माहेश्वरेण शरणपूर्णः शिवः इति ज्ञात्वा प्रतिष्ठाप्य जगत्पूर्णः शिवः इत्युच्यमानेन सर्वगतशब्दनिरसने कृते सति, अनन्तरं सर्वगतनिरसनस्थलमित्युच्यते ।

---

[192] गन्धादिगुणैर्युक्तक्ष्मादिवत् इति स्यात् । [193] तिरश्चीनः तिर्यग्गतिः । आशब्दः आसमन्तात् शब्दगुणकः । [195] शरणेषु–शरणानां मध्ये पूर्णः ।

---

[190] न घटाद्येव हि (छ) [191] शरीराद्यैः (छ) ष्टकादन्ये (छ)

196 बृहदारण्यकोपनिषदि—

अनन्वागतः न भवति असङ्गो ह्ययं पुरुषः ।

197 तथा स्कान्दे—

असङ्गो ह्ययमित्येवं ब्रवीति च परा श्रुतिः ।
तस्मादात्मा तु विज्ञप्तः कर्मभिर्न स बध्यते ॥

198 चिद्रूपस्यात्मनः साक्षात् ब्रह्मतामाह हि श्रुतिः ॥

199 किञ्च शिवगीतायाम्—

कथं सर्वगतत्वं स्यात् शिवस्य परमात्मनः ।
असङ्गो ह्ययं पुरुषः इत्याह श्रुतिरुन्नता ॥

200 तथा शिवधर्मे—

कथं भवेत् सर्वगतः शिवः परमपूरुषः ।
जडं नाशि च सर्वं च चिदानन्दघनः शिवः ॥

201 पुनरत एवोक्तं श्रीरुद्रोपनिषदि—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शंतमया गिरिशं ताभिचाकशीहि ॥

---

[196] अनन्वागतः—संसारहेतुभिः कर्मभिः बद्धः । [197] विज्ञप्तः अपरोक्षगोचरः । [199] असङ्गः—जीवसङ्गरहितः । [200] चिद्घनः आनन्दघनश्च । [201] शिवा तनूः—लिङ्गरूपं शरीरम् ।

---

[196] न भवते सङ्गो (छ) [197_198_199] इमे श्लोकाः क-पुस्तके न सन्ति ।
[200] पुरुषः (छ,ज) नाशी च (छ) [201] शान्तमया (छ)

202 तथैवोक्तं शैवपुराणे—

लिङ्गं शिवा तनूः प्रोक्ता मूर्तिः घोरतनुः स्मृता ।
अपापेषु च भक्तेषु तयोर्मध्ये शिवा तनूः ।
काशते परमेशस्य शिष्टास्ते लिङ्गधारिणः ॥

203 पुनर्वातुले—

अघोराऽपापकाशीति या ते रुद्र शिवा तनूः ।
यजुषा गीयते यस्मात् तस्मात् शैवोऽघवर्जितः ॥

204 किञ्च शिवयोगप्रदीपिकायाम्—

नित्यं भाति त्वदीयेषु या ते रुद्र शिवा तनूः ।
अघोराऽपापकाशीति श्रुतिराह सनातनी ॥

205 कारणागमे—

अपापकाशीति वपुः श्रुतं ते
शिष्टाः प्रसिद्धाः भगवन्नपापाः ।
अतस्त्वदीयानपहाय भक्तान्
अन्यानशिष्टानिति निश्चिनोमि ॥

शिवजगन्मयस्थलम् (२३)—

206 एवं निरस्तसर्वगतमाहेश्वरः प्रपञ्चे शिवव्यतिरिक्ते शिवेन विना प्रपञ्चस्य भानमेव न स्यात् इति ज्ञात्वा, तस्मिन् स्थितोऽपि

---

[202] काशते–प्रकाशते । अत इति शेषः । [205] त्वदीयान् भक्तान्–शिव-भक्तान् । [206] अस्थित इव इति 'ज' पाठ एव युक्तः । शून्य इवेत्यर्थः ।

---

[202] शिवा तनुः (छ) [203] अघोरपाप (छ) [204] शिवा तनुः (छ) अघोरपाप (छ)

अस्थितैव तिष्ठतीति निश्चये ज्ञाप्यमाने सति अनन्तरं शिवजगन्मयस्थलमित्युच्यते ॥

207 मुण्डकोपनिषदि—
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् पश्चात् दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

208 किञ्च उत्तरतापनीयोपनिषदि—
सर्वगो ह्येष ईश्वरः क्रियाज्ञानात्मा सर्वं शर्वमयं हि सर्वे जीवाः शर्वमयाः ॥

209 तथा श्वेताश्वतरोपनिषदि—

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।
न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ॥

210 तथा च वायुपुराणे—
शिवेनाधिष्ठितं यत् स्यात् जगत्सर्वं चराचरम् ।
शुद्धा स्वाभाविकी यस्य शक्तिः सर्वातिशायिनी ॥

211 किंच अमृतबिन्दूपनिषदि—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकदा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

---

[207] वरिष्ठं–श्रेष्ठम् । [208] शर्वः–शिवः । [209] ईशिता–नियामकः । लिङ्गं–तदनुमानहेतुकं चिह्नम् ।

[208_209_210] इमे श्लोकाः छ-पुस्तके न दृश्यन्ते ।

212 तथैवोक्तं योगशास्त्रे—

एक एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

213 किंच सौरपुराणे—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तः चैतन्यं सर्वगं शिवम् ।
तदेवेदं च विश्वं हि तस्मादन्यन्न विद्यते ॥

भक्तदेहिकलिङ्गस्थलम् (२४) –

214 एवं शिव एव जगद्रूप–जगद्व्यतिरिक्तरूपद्वयसमर्थः इति मत्वा, तं शिवं स्वस्मिन् आलिङ्ग्य स्थितमाहेश्वरे तथाविधः शिवः भक्तदेहिकदेहः सन् स्थितभेदः यथा— इत्याकाङ्क्षायां अनन्तरं भक्तदेहिकलिङ्गस्थलमित्युच्यते ॥

215 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरन्यं पुरुषं महान्तम् ॥

---

[212] जलचन्द्रवत्–गगनस्थितः जलान्तर्दृश्यमानः चन्द्र इव । [213] चैतन्यं–ज्ञानस्वरूपम् । तत् ब्रह्मैव इदंप्रकारं विश्वं भवति हि । [214] भक्तदेहिकदेवः इति 'ज' पाठः युक्तः स्यात् । [215] जवनः शीघ्रगामी । ग्रहीता सर्वाश्रयभूतः । तमाहुरग्र्यमिति 'ज' पाठः युक्तः । ज्येष्ठमित्यर्थः ।

[212_213_214] इमे श्लोकाः छ-पुस्तके न दृश्यन्ते । [215] जवनो गृहीता (छ)

216 तथा शिवरहस्ये—

शिवाङ्गं शरणः साक्षात् शरणाङ्गं शिवो भवेत् ।
शिवास्यं शरणः साक्षात् शरणास्यं शिवो भवेत् ॥

217 किंच शिवसूत्रे—

लिङ्ग एवेशिते यद्वत् शिवः सर्वगतोऽपि सन् ।
तथा भक्तजनेष्वेव शिवताव्यक्तिरिष्यते ॥

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते
परमवीरशैवाद्वैतबोधिन्यां एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमाला-
विवरणाख्यकैवल्यसारे माहेश्वरस्थलं नाम
द्वितीयं प्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

—~—

[216] आस्यं -मुखम् । [217] लिङ्ग एवेष्यते इति 'ज' पाठः युक्तः । इष्यते इच्छाविषयो भवति । शिवताव्यक्तिः शिवत्वस्वरूपम् ॥

[217] तमः श्लोकः छ-पुस्तके न दृश्यते ।

॥ श्री शिवाय नमः ॥

प्रसादिस्थलम्—तृतीयं प्रकरणम्

सप्तविधप्रसादिस्थले प्रथमं प्रसादिस्थलम् (२५)—

218 एवं माहेश्वरस्थले आचारमनुष्ठाय भक्तलिङ्गकाययोः सामरस्यवान् महात्मा तदनन्तरं सावधानमुखेन अनुष्ठानभेदो यथेत्याकाङ्क्षायां—अनन्तरं प्रसादिस्थलमित्युच्यते ।

219 जाबालोपनिषदि—

रुद्रेणात्तमश्नन्ति, रुद्रेण पीतं पिबन्ति, रुद्रेणाघ्रातं जिघ्रन्ति॥

220 तथा स्कान्दे—

शिष्टाः शान्ताश्च रुद्रेण भुक्तमेव हि भुञ्जते ।
घ्रातमेव हि जिघ्रन्ति पीतमेव पिबन्ति च ॥

221 किंच छान्दोग्योपनिषदि—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलाभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥

222 बृहदारण्यकोपनिषदि—

यदन्नं पुरुषोऽश्नुते तदन्नं तस्य देवता ॥

---

[218] सामरस्यवान्–समरसभाववान् । [219] आत्तं–स्वीकृतम् । [220] भुक्तादिशेषं प्रसादरूपेणेति शेषः । [221] सत्त्वं–अन्तःकरणम् । ध्रुवा–अचला, एकाग्रा । सर्वग्रन्थीनां–समस्तसंस्कारवासनानाम् । [222] अन्नं विषयं, अश्नुते–अनुभवति ।

---

[219] रुद्रेणाघ्रहन्त जिघ्रन्ति (छ) [221] सर्वग्रन्थीनां विमोक्षः (छ)

उच्छिष्टान्नप्रसादतत्त्वनिर्णयद्वारा तत्त्वत्रयनिर्णयः —

223 तथैवोक्तं वातुले—
जगज्जीवेश्वराणां तु त्रयाणां तत्त्वनिर्णयः ।
उच्छिष्टान्नप्रसादेषु त्रिषु निर्णीयते क्रमात् ॥

224 शरीरादिजगद्रूपं उच्छिष्टं भ्रान्तिलक्षणम् ।
अन्नं तदभिमानी स्यात् जीवः संसारलक्षणः ॥

225 प्रसाद ईश्वरः साक्षात् सच्चिदानन्दलक्षणः ॥

226 प्रसाद आद्यन्तविवर्जितः स्वयं
ह्यखण्डरूपं परिशेपलक्षणः ।
विकल्पहीनः सुविशुद्धवत् स्थितः
प्रभाव एषोऽस्य निजस्वभावजः ॥

227 लीयते द्रव्यसन्नादि यत्र यद् गम्यते यतः ।
प्रसादत्वेन तल्लिङ्गं प्रसादस्त्वत एव सः ॥

228 अर्चनाद्वारतो लिङ्गं अर्पणद्वारतः स्वयम् ।
प्रसाद इति भक्त्याऽयं एक एवोपचर्यते ॥

229 अन्नं पदार्थरूपं तत्करणं कल्पना समाख्याता ।
अर्पणमन्नाविलोपो ह्यादानं ग्रहणमित्यतो विद्धि ॥

---

[223] जगदादीनां त्रयाणां उच्छिष्टादिषु त्रिषु यथासंख्यमन्वयः । तस्यैव विवरणं अग्रिमश्लोकैः क्रियते । [226] परिशेपलक्षणः–अखण्डजगत्येव नष्टेऽपि शाश्वतः स्वयं शिष्यते हि देव इति । [228] अर्चनाद्वारतः–पूजां प्रति द्वार-भूतत्वात् । [229] तत्करणं–तादृशान्नोपस्कारः । आदानं–अर्पणम् ।

---

[223] उच्छिष्टं न प्रसादेषु (छ) [224] अन्नं तदभिमानस्य (छ) [226] तमश्लोकादारभ्य २४७ श्लोकपर्यन्तं छ-पुस्तके न दृश्यते । [226] सुविशुद्धवत् सितः (ज)
[228] एवमेवोपचर्यते (ज)

230 यद्भाजनस्थं विनिवेद्यमानं
अन्नादिकं भाण्डगतं तदंशम् ।
लिङ्गार्पितं भाजनसुस्थितं चेत्
भाण्डस्थितं चैव समर्पितं स्यात् ॥

231 घृतात्मकं यन्नवनीतमाद्यं
प्रतापितं वह्निमुखे निजं स्यात् ।
यथा यथा लिङ्गमुखार्पितं यत्
भवेत् प्रसादात्मकमन्नमाद्यम् ॥

232 रौप्ये यथाऽऽलोक्य शुक्तिकायां
लुप्ते स्वयं शिष्यत एव या सा ।
तद्वत् प्रसादस्य पदार्थभावे
लुप्ते स्वयं शिष्यत एव वस्तु ॥

233 नोच्छिष्टभावो न निषिद्धभावः
साक्षात् प्रसादे परमे पवित्रे ।
भोगे प्रसादस्य ऋतं शृणु त्वं
भुक्ते च तस्मिन् न हि सम्भवोऽस्य ॥

234 प्रसाद उच्छिष्टनिषिद्धभावः
घटेत चेन्नैव भवेत् प्रसादः ।
अभावतश्चास्य न चास्ति लिङ्गं
गुरुर्न चास्ति क्रमतो निपातः ॥

---

[231] निजं–घृतरूपम् । [232] रौप्ये–रजतभावे लुप्ते इत्यन्वयः । [233] ऋतं–सत्यांशम् । [234] अस्य–प्रसादस्य । निपातः–पतनम् । तेषां गुरुलिङ्गप्रसादाः

---

[231] यथा तथा लिङ्ग (ज) [233] नोच्छिष्टभावो हि (ज) साक्षात्पवित्रौ सादे (ज) ?

235 रोगार्थमौषधं सेव्यं दोषार्थं चात्मनस्तथा ।
सेव्यः शिवप्रसादोऽयं इति शैवी परा स्थितिः ॥

236 असंस्कृतात्मेन्द्रियभूतकायैः
अलिङ्गिभिः स्वार्थपरैः सकामैः ।
दृष्टं श्रुतं स्पृष्टमथोपभुक्तं
घ्राताद्यमुच्छिष्टमिति प्रसिद्धम् ॥

237 अतीन्द्रियैरविषयैः अकामैः षट्स्थलात्मभिः ।
यद् भुक्तं तद्धि नोच्छिष्टं न निषिद्धं न दूषितम् ॥

238 आचाराह्वयलिङ्गमस्य वपुरात्मा गौरवं लिङ्गकं
प्राणः स्यात् शिवलिंगमिन्द्रियसमूहस्तद्वदेव स्वयम् ।
प्रोक्तं यच्चरलिंगमेष विषयप्रासादलिङ्गं तथा
तृप्तिः षट्स्थलरूपिणस्तव किमाचक्षे महालिङ्गकम् ॥

239 मुसलोलूखलचुल्लीघटेक्षुतिलयन्त्रमुखसमुद्भूतम् ।
न किमपि दूष्यति लोके दूष्यति गुरुलिङ्गजङ्गममुखोत्थम् ॥

240 अत्र तन्त्रान्तरे—

स्त्रीभिः सहैव भुञ्जन्ते न दोष इति मानवाः ।
मद्भक्तानां प्रसादान्नं न गृह्णन्ति दुरात्मनः ॥

न सन्तीति भावः । [235] दोषार्थं—भवदोषनाशनाय । [236] उच्छिष्टमिति-न तु प्रसाद इति । [237] षट्स्थलस्वरूपवद्भिः । [238] अस्य—षट्स्थलरूपिणः । गौरवं गुरुसम्बन्धि । किमाचक्षे—किं वदेत्यर्थः । [240] भुञ्जन्ते—भुञ्जते इति यावत् । दुरात्मनः—दुरात्मान इति यावत् ।

---

[238] वपुरात्मगौरवं (ज) प्रासादलिङ्गस्तथा (ज़)

241 ओदनसूतकमादौ अन्ते चोच्छिष्टसूतकं द्वितयम् ।
हित्वा शिवप्रसादं भुनक्ति यः स प्रसादवान् भवति ॥

242 सूतकं पातकं प्रोक्तं पातकं किल्बिषं महत् ।
तस्मात् सूतकमाद्यं तं हित्वा भोगं समाचरेत् ॥

243 आचारेण च गुरुणा शिवेन चरमूर्तिना प्रसादेन ।
महता घ्रातं पीतं दृष्टं स्पृष्टं श्रुतं स्मृतं भज स्वमतम् ॥

244 भाण्डो देही भाजनं चेन्द्रियाणि
जीवात्माऽयं द्रव्यरूपो यदन्नम् ।
भक्त्या लिङ्गायार्पयित्वा परस्मै
शेषीभूतं तं प्रसादं भजस्व ॥

245 योगजागमे—

स सुखज्ञः स योगीशः स एवागमतत्त्ववित् ।
शिवार्पितधिया स स्वेष्विन्द्रियेषु य आचरेत् ॥

246 शिवरहस्ये—

लिङ्गार्पितपदार्थैस्तु सम्भोगी लिङ्गसंयुतः ।
अनर्पितपरित्यागी प्रसादीति निगद्यते ॥

---

[241] हित्वेति पूर्वेणान्वेति । [242] किल्बिषं–नरकहेतुः । भोगं–प्रसादास्वादनम् । [243] आचारलिङ्गेन, गुरुलिङ्गेन शिवलिङ्गेन चेत्यर्थः । जङ्गमलिङ्गेन प्रसादलिङ्गेन महालिङ्गेन च । [244] भाण्डो देहः इति 'ज' पाठः युक्तः । [246] सम्भोगी–सम्यगास्वादयिता ।

---

[243] महता घृतं (ज)

247 तत्रैव—

पूजकाः बहवः सन्ति भक्ताः शतसहस्रशः ।
मत्प्रसादस्य योग्यास्तु द्वित्रयो नैव पञ्चषट् ॥

गुरुमाहात्म्यस्थलम् (२६)—

248 एवं गुरुलिङ्गजङ्गमानां प्रसन्नप्रसादस्वीकर्तुः प्रसादिनः अङ्गालिङ्गित-गुरुमाहात्म्यं यथेत्याकांक्षायां गुरुमाहात्म्यस्थलमुच्यते ॥

249 अथर्वणवेदे—

कदम्बगोलकाकारः विश्वस्यातिहितः वपुर्धत्ते जगद्धितार्थं वेदादिनिगमैः प्रणवादिमन्त्रैः क्रियादिकर्मणे आत्माऽयं बोधः स रुद्रः स चरः द्विभुजः द्व्यक्षः द्विपादेकशिराः एको रुद्रः आचार्यरूपः ॥

250 तथा च वीरागमे—

ललाटलोचनं चान्द्रीं कलामपि च दोर्द्वयम् ।
अन्तर्निधाय वर्तेऽहं गुरुरूपो महेश्वरि ! ॥

251 लैङ्गे—

स्पर्शादप्यधिकं मन्ये गुरुपादसरोरुहम् ।
स्पर्शश्च कुरुते स्वर्णं गुरुरात्मसमं हि तत् ॥

---

[249] अतिहितः परस्वरूपः । निगमैः आगमैः । अयं परमात्मा बोधः ज्ञान-स्वरूपः । चरः–जङ्गमः । इदमेव विशेष्यम् । [250] वर्ते–अस्मि ।
[251] स्पर्शात्–स्पर्शाख्यमणेरपि ।

---

[247] मत्प्रसादस्य योगास्तु (ज) [249] क्रियादिकर्मणि (छ) देकशिरमेको (छ)
[250] चान्द्रिं (ग,छ) [251] गुरोरात्मसमं (ग,छ)

लिङ्गमाहात्म्यस्थलम् (२७)—

252 एवं सर्वाङ्गेषु गुरुमाहात्म्यस्थिरीकृतप्रसादिनः मनसि स्थिरीकृत-लिङ्गमाहात्म्यं यथेत्याकाङ्क्षायां अनन्तरं लिङ्गमाहात्म्यस्थल-मित्युच्यते ॥

253 सामवेदे—

यस्यान्तःस्थानि भूतानि यस्मात् सर्वं प्रवर्तते ।
यमाहुस्तत् परं तत्त्वं स देवः स्यान्महेश्वरः ॥

254 तथैवोक्तं ब्रह्माण्डपुराणे—

चराचरात्मकमिदं यत्र विश्वं विलीयते ।
उत्पद्यते यतो भूयः तल्लिङ्गं परमिष्यते ॥

255 किञ्च वीरागमे—

लिङ्गमध्ये जगत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥
लिङ्गबाह्यं परं नास्ति तस्माल्लिङ्गं प्रपूजयेत् ॥

जङ्गममाहात्म्यस्थलम् (२८)—

256 एवं मनसि स्थिरीकृतलिंगमाहात्म्यवतः प्रसादिनः ज्ञानान्तराव-स्थितजङ्गममाहात्म्यं यथा इत्याकांक्षायां अनन्तरं जंगममाहात्म्य-स्थलमित्युच्यते ।

257 छान्दोग्योपनिषदि—

आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एतं पश्यन्नेतं मन्वानः एतं

---

[253] यस्य शिवलिंगस्य । [254] विलीयते । प्रलयकाले इति शेषः । भूयः -सृष्टिकाले पुनः । [255] सचराचरं–स्थावरजङ्गमसहितम् । परं अन्यत् यत् किञ्चित् । [257] एतत्–परब्रह्म । विज्ञायमानः–साक्षात्कुर्वन् । स्वराट्–स्वयं

---

[253] यस्यान्तस्थानि (च) [254] चरचरात्मक (च) यन्त्रं विश्वं (छ) [257] कामचरो (छ)

विज्ञायमान आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराट् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥

258 यजुर्वेदे—

देवानां देवो अतिथिः ।

259 किञ्च ऋग्वेदाहरणे—

ईश्वरोऽतिथिरेव चरतो तदीहाह स्म ।

260 तथैवोक्तं वीरागमे—

सर्वलोकोपकाराय यो देवः परमेश्वरः ।
चरत्यतिथिरूपेण नमस्ते जङ्गमात्मने ॥

भक्तमाहात्म्यस्थलम् (२९)—

261 एवं जङ्गममाहात्म्यं ज्ञात्वा तत्प्रसादं स्वीकृत्य सुखीभूतप्रसादिनः सदाचारवर्तनेन दृश्यमानभक्तमाहात्म्यं कथमित्याकाङ्क्षायां अनन्तरं भक्तमाहात्म्यस्थलमित्युच्यते ॥

262 बृहदारण्यकोपनिषदि—

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति ।

प्रकाशमानः । चारः–मनस्सञ्चारः । [258] अतिथिः जंगमः देवानां देवः । [259] चरतः सञ्चरन्निति यावत् । [262] तितिक्षुः–क्षमावान् ।

---

[259] ऋग्वेदारणे (ग,छ) चरितस्तदु ह स्माह (ग) चरितस्तादिह स्माह (छ)
[260] जंगमात्मने इत्यनन्तरं [224],[225] अङ्कनयोः स्थितौ शरीरादीति श्लोकौ अत्र दृश्येते (छ) [262] भूत्वाऽत्मनैवात्मात्मानं (ग,च) पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति (ग,च) पश्यति स सर्वं (छ)

263 तथा वीरागमे—

मद्भक्तजनमाहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
जानेऽहं त्वं च जानासि नन्दी जानाति वा गुहः ॥

264 किञ्च शिवधर्मोत्तरे—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽप्यन्त्यजोऽपि वा ।
शिवभक्तः सदा पूज्यः सर्वावस्थां गतोऽपि वा ॥

265 वीरागमे—

पातके समनुप्राप्ते शिवभक्तगृहं व्रजेत् ।
याचयेदन्नममृतं तदलाभे जलं पिबेत् ॥

शरणमाहात्म्यस्थलम् (३०)—

266 एवं भक्तत्वेन भूतमाहात्म्यं स्वगतत्वेनाभिन्नं सत् प्रसादिनः बाह्याभ्यन्तरयोः परिणामप्रवेशभूतपरमानन्दमाहात्म्यं कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं शरणमाहात्म्यस्थलमित्युच्यते ॥

267 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥

---

[263] अहमिति शिवः । त्वमिति पार्वती । [264] सर्वावस्थां–ऐश्वर्यं दारिद्र्यं वा । [265] पातके–यस्मिन् कस्मिन्नपि वा पापे । [267] गुणाभासं–गुणानां प्रकाशकम् । शरणं शरण इति जानीयात् ।

---

[263] जानेऽहं त्वं हि (ग,च) [265] सर्वावस्थागतो (ग,च) [267] शरणं सुहृद् (ख) विवर्जितः (ग,च)

268 तथा शिवयोगप्रदीपिकायाम्—

धन्यानि तानि नगराणि निरामयानि
नित्योत्सवानि विजयोत्तरभूपतीनि ।
एकोऽपि यत्र शिवयोगसमाहितात्मा
पद्भ्यां पवित्रयति पावनपादुकाभ्याम् ॥

प्रसादमाहात्म्यस्थलम् (३१)—

269 एवं सर्वाङ्गेषु परमानन्दवान् प्रसादी स्वस्वीकृतपरिणामप्रसाद-माहात्म्यं कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं प्रसादमाहात्म्यस्थल-मित्युच्यते ॥

270 मैत्रेयोपनिषदि—

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥

271 किञ्च यजुर्वेदे—

रुद्रेणात्तममृतं देवाद्यैर्भोक्तुकामा वेदाश्च कामयन्ते ।

272 किञ्च मुण्डकोपनिषदि—

निर्माल्यमेव सदा भक्षयेत् , चण्डालो नव चण्डालः,
पुल्कसो नैव पुल्कसः ।

---

[268] निरामयानि–नीरोगवन्ति । पवित्रपादुकाविशिष्टाभ्याम् । [270] हन्ति–नाशयति । प्रसन्नमनस्कः परमात्मलिंगे स्थित्वा । [271] आत्तं–स्वीकृतम् । अमृतं–प्रसादम् । [272] निर्माल्यं–शिवप्रसादम् । तथाकृते सतीति शेषः ।

---

[268] धान्यानीतिश्लोकः ग,च,छ-पुस्तकेषु न दृश्यते । [270] प्रसादेनाहन्ति (छ)
[271] रुद्रेणात्तममृतं (ग,च) देवाद्यैर्भुक्तुकामा (छ)

273 तथा सूतसंहितायाम्—

प्रसादे सति कीटो वा पतङ्गो वा नरोऽथ वा ।
देवो वा दानवो वाऽपि लभते ज्ञानमुत्तमम् ।

274 तत्रैव —

शिवप्रसादेन समो न विद्यते
शिवप्रसादादधिकं न विद्यते ।
शिवप्रसादेन शिवस्य संनिधिः
शिवप्रसादेन विशुद्धताऽऽत्मनः ।।

275 सत्यं सत्यं पुनस्सत्यं उद्धृत्य भुजमुच्यते ।
प्रसादादेव सर्वेषां सर्वसिद्धिर्महेशितुः ।।

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते
परमवीरशैवाद्वैतबोधिनि एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमाला-
विवरणाख्यकैवल्यसारे प्रसादिस्थलं नाम
तृतीयं प्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

—❀—
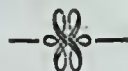
[273] पतङ्गः पक्षी । [274] संनिधिः–साक्षात्कारः । आत्मनः–चित्तस्य विशुद्धता निर्ममत्वम् । [275] सर्वसिद्धिः–समस्तपुरुषार्थलाभः ।

[275] उत्क्षिप्य भुज (ग,च)

॥ श्री शिवाय नमः ॥

प्राणलिङ्गिस्थलम्—चतुर्थं प्रकरणम्

पञ्चविधप्राणलिंगिस्थले प्रथमं प्राणलिंगिस्थलम् (३२)—

276 एवं प्रसादिस्थलमनुष्ठाय प्रसन्नप्रसादसमरसीभूतप्रसादी अनुभवमुखेनानुष्ठाय सामरस्यप्राप्तिमान् कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं प्राणलिंगिस्थलमित्युच्यते ॥

प्राणलिंगशब्दार्थविचारः —

277 ननु प्राणलिंगमित्यत्र प्राणे लिंगमित्याधारार्थो वा ? प्राणस्य लिंगमिति सम्बन्धार्थो वा ? प्राण एव लिंगमिति एकाश्रयत्वं वा ? कस्य प्राणलिंगत्वम् ?

तत्र प्राणपदार्थाः —

278 किञ्च प्राणशब्दस्यानेकार्थवाचकत्वात् । यथा मृगेन्द्रे—
चित्यातिवाहिके शक्तौ प्राणशब्दः कलासु च ।

प्राणलिंगपदार्थाः —

279 रेचकपूरकात्मकप्राणवायुसम्बन्धस्य मन्त्रात्मकस्यापि प्राणलिङ्गत्वम् ।

---

[276] प्रसन्नः–समरसीभूतः । [278] चिति–चैतन्ये । आतिवाहिके–कलादीक्षित्यन्ते तात्त्विकशरीरे । शक्तौ–बलात्मकपरशक्तौ । [279] मन्त्रात्मकस्य–नादबिन्द्वात्मकस्य ।

---

[276] प्राणलिंगार्चनस्थलम् (छ) [278] आरभ्य [282] पर्यन्तं ग,च,छ-पुस्तकेपु नास्ति ।

280 सूक्ष्मशरीरांशेषु श्रोत्रादीन्द्रियेषु प्रवर्तमानस्य आचारादि-षड्विधलिङ्गस्यापि प्राणलिङ्गत्वम् ।

281 हृदयकमलकर्णिकामध्यस्थितसूर्यचन्द्राग्निमण्डलत्रयसम्बन्ध-स्यापि प्राणलिङ्गत्वम् ।

282 चेतस्यविनाभूतत्वेन अभिन्नतया वर्तमानस्य परमसूक्ष्मनाद-स्यापि प्राणलिङ्गत्वम् ॥

शङ्कानिगमनम् —

283 एतस्मात् आधारसम्बन्धाभेदात्मना प्राणलिङ्गस्य स्थितिः इति चेत्—न ।

उक्तानामर्थानां निरसनम् —

284 उक्तप्राणलिङ्गचातुर्विध्यमपि न संभवति । तस्य सूक्ष्माङ्गगोचरत्वेन असत्यतापत्तेः ।

285 किंच–अङ्गत्रयमध्ये एकाङ्गस्य लिंगत्वमेव भज्येत । तथाभूतां-गांशे संसारोऽपि न निवर्तेत । इच्छाविषयीभूतेष्टलिङ्गस्यैव ध्यानगोचरत्वेन प्राणलिंगत्वात् ।

निष्कृष्टः प्राणलिङ्गपदार्थः —

286 तस्मात् इष्टलिंगप्रतिबिम्बमेव सूक्ष्मांगगोचरं सत् प्राणलिंगमिति मन्तव्यम् ॥

287 तथा श्वेताश्वतरोपनिषदि—

यत एव बिम्बं हृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।

---

[280] शरीरान्तेषु इति 'ज' पाठः युक्तः । [287] यत एव–इष्टलिंगात् । उपलिप्तं–व्याप्तम् । सुधान्तं अमृतभावपर्यन्तम् ।

---

[287] यत्रैव बिम्ब (ग,च)

288 मुण्डकोपनिषदि—

अन्तश्शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रः
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

289 तथा वीरागमे—

प्राणिना धृतलिङ्गं तत् प्राणस्थाने विनिक्षिपेत् ।
यस्तु भेदेन जानाति न च लिङ्गं न चार्चनम् ॥

290 तत्रैव—

इष्टलिङ्गमविश्वस्य प्राणलिंगं न पश्यति ।
दर्पणप्रतिबिम्बानां यथा रूपं तथा भवेत् ॥

291 पुनस्तत्रैव—

सर्वतत्त्वमयः प्राणः सर्वज्ञानमयः शिवः ।
अनयोर्योगमेवैतत् प्राणलिङ्गमिहोच्यते ॥

292 किंच शैवरत्नाकरे—

प्राणलिङ्गी स विज्ञेयः प्राग्रूपस्य ह्यनित्यताम् ।
विचार्य सर्वज्ञानाख्यलिङ्गं सर्वं सदाऽऽमृशन् ॥

प्राणलिङ्गार्चनास्थलम् (२२) —

293 एवं प्राणलिंगसम्बन्धवतः लिंगप्राणिनः प्राणलिंगपूजाक्रमः कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं प्राणलिंगार्चनास्थलमित्युच्यते ॥

---

[288] यं इष्टलिंगकलारूपं प्राणलिंगम्। [289]अत्र पाणिना इति 'ग' पाठः युक्तः। जानाति तस्येत्यर्थः। [290] तथा च इष्टप्राणलिंगयोः बिम्बप्रतिबिम्बभावः इति भावः। [291] अनयोः तत्त्वज्ञानयोः प्राणशिवयोर्वा। [292] आमृशन्–विचारयन्। प्रसादीत्यादिः।

294 अथर्वशीर्षोपनिषदि—

प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाहुः
यस्मिन् क्रोधो या च तृष्णाऽक्षमा च ।
तृष्णां हित्वा हेतुजालस्य मूलं
बुद्ध्याऽऽचिन्त्य स्थापयित्वाऽथ रुद्रे ॥

295 तथैवोक्तं वातुले—

प्राणलिङ्गं मनोग्राह्यं भवेत् सकलनिष्कलम् ।
तत्प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाहुरिति श्रुतिः ॥

296 किञ्च बृहदारण्यकोपनिषदि—

लिङ्गं मनो यत्र निषक्तं प्राप्य रात्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययं तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण इत्यनुकामयमानोऽथ कामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

297 किञ्च मुण्डकोपनिषदि—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्मनिष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः तद्यदात्मविदो विदुः ॥

---

[294] यस्मिन् लिङ्गे । छित्वेति 'ग' पाठः साधुः । चिन्त्य–विचिन्त्येति यावत् । स्थापयेदिति प्रकृतम् । [295] तत्–तस्मात् कारणात् । तत्प्राणलिङ्गमिति वा । [296] रात्तं स्वीकृतम् । [297] विरजं–रजोगुणातीतम् । ज्योतिषां–सूर्यादीनामपि ।

---

[294] तृष्णां छित्वा (ग,च,छ) या च बुद्ध्याऽक्षमा च (छ) बुद्ध्या चिन्त्या (च) [296] निसक्तं(छ) तस्माल्लोकान्(ग,च) स्यस्मै कर्मणे(ग,च) तस्य प्राणोत्क्रामन्ति (ग,च)

शिवयोगसमाधिस्थलम् (३४)—

298 एवं प्राणलिङ्गार्चनारतस्य लिङ्गलीनसकलकरणस्य प्राणलिङ्गिनः लिङ्गसमाधिभेदः कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं शिवयोगसमाधिस्थल-मित्युच्यते ।

299 मैत्रेयोपनिषदि—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसः
निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा सदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

300 किञ्च तैत्तिरीयोपनिषदि—

नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा ।
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ॥

301 किञ्च मुण्डकोपनिषदि—

प्राणो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

302 तथा योगसारे—

जीवः प्राणपरिस्पन्दः परात्मा लिङ्गमीरितम् ।
उभयोरेकतावस्था सा समाधिः प्रकीर्तिता ॥

---

[299] मलस्य–आणवादेः । गिरा तदेति 'ग' पाठः युक्तः । [300] तन्वी–सूक्ष्मा । भास्वती–प्रकाशमाना । परमात्मा लिङ्गरूपी । [301] अप्रमत्तेन–सावधानेन । तन्मयः–ब्रह्ममयः । [302] परिस्पन्दः–सञ्चारः । उभयोः जीवपरमात्मनोः ।

---

[299] गिरा तदा (ग,च) [300] शूकवत्तन्वि (ग,च) [302] परमात्मा लिङ्गमीरितः(ग,च) परमात्मा (च)

303 किञ्च अचिन्त्यविश्वसादाख्ये—

सर्वज्ञानं सर्वकार्यं परात्परतरं शिवम् ।
बिसतन्तुनिभज्योतिः भावयेद्योगवित्तमः ॥

304 तथाच वीरागमे—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि भवत्प्रश्नस्य निर्णयम् ।
इदमात्मरहस्यं च मनोधर्मव्यवस्थितम् ॥

305 आधारस्थानमाद्यं स्यात् स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
नाभिस्थानं तृतीयं स्यात् उदरं तु चतुर्थकम् ॥

306 हृदयं पञ्चमं स्थानं कण्ठः षष्ठ उदीरितः ।
भ्रूमध्यं सप्तमं स्थानं शून्यमष्टममुच्यते ॥

307 ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च शक्तिरेको गुरुः शिवः ।
सदाशिवः क्रमादेषां स्थानानामधिपा इमे ॥

308 आधाराज्जायते वर्णाश्रमधर्मादिकक्रिया ।
मायाव्यसनमोहादि स्वाधिष्ठानाद्भवत्यथ ।

309 नाभिस्थानाद्भवत्येव तामसत्वमदादिकम् ।
क्षुत्पिपासादिका धर्माः उदरस्थानसम्भवाः ॥

---

[303] ज्ञानस्वरूपं कर्तृस्वरूपं च । बिसतन्तुः–कमलनाळः । [305] अष्टस्थानानां सूचनं आधारेत्यादिना । [307] उक्तानामष्टस्थानानां अधिदेवताः आह–ब्रह्मेत्यादिना । अष्टस्थानेभ्यः उत्पद्यमानान् धर्मानाह–आधारादित्यादिना ।

---

[304] भवेत्प्रश्नस्य (च) [306] कण्ठं षष्ठमुदीरतम् (ग,च) [308] धर्माधिका क्रिया (छ)
[309] तामसत्वं मदा (ग,च)

हृदयस्थानसम्भूतं भक्तिशान्तिदयादिकम् ।
शब्दशक्तिविरक्त्याद्याः क्रियाः कण्ठसमुद्भवाः ॥

310 ज्ञानप्रज्ञाप्रभावादि कर्म भ्रूमध्यसम्भवम् ।
निश्चिन्तत्वसदानन्दौ शून्यस्थानसमुद्भवौ ॥

311 धर्मस्थानं द्वयं त्वेषां मायास्थानं तथा द्वयम् ।
भक्तिस्थानं द्वयं चैव विरक्तिश्च तथा द्वयम् ॥

312 संसारो जायते सम्यक् आद्यस्थानचतुष्टयात् ।
निस्संसारित्वमेव स्यात् ऊर्ध्वस्थानचतुष्टयात् ॥

313 अधमं मध्यमं चादिद्वयमन्योन्यसङ्गतम् ।
ऊर्ध्वद्वयं तथायुक्तं उत्तमं चोत्तमोत्तमम् ॥

314 आदिस्थानादिषट्कं स्यात् शक्तिबीजसमन्वितम् ।
ततः शून्यस्थानयुगं शक्तिबीजविवर्जितम् ॥

315 स्कान्दे—
उपरिष्टादथ ज्ञेयं कैलासनिलयाह्वयम् ।
तत्पदं ब्रह्मरन्ध्राख्यं तन्निरालम्बनं स्मृतम् ॥

निजलिंगस्थलम् (३५)—

316 एवं शिवयोगसमाधिनिष्ठप्राणलिङ्गिनः मनसि मनोमूर्तिरूपेण

---

[310] प्रभावः–सामर्थ्यम् । शून्यस्थानं–ब्रह्मरन्ध्रम् । [311] तेषु स्थानेषु धर्मादि-विभागमाह–धर्मेति । [314] शून्यस्थानयुगं–आज्ञाब्रह्मरन्ध्रे । [315] तत्पदं–तस्य परब्रह्मरूपिणः शिवस्य पदं स्थानम् ।

भक्तिः शान्ति(ग,च) विरक्त्याद्याः(छ) क्रियाकाशसमुद्भवः(ग,च) [310] शून्यस्थान-समुत्थिता(ग,च) शून्यस्थानसमुत्थितौ(छ) [311] द्वयं तेषां (ग:च) [312] सुसारो(छ)

स्थितलिङ्गस्य सहजभावः कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं लिङ्गनिज-
स्थलमित्युच्यते ॥

317 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

318 तथैवोक्तं सूतसंहितायाम्—

स्वयं ज्योतिरिति प्राह श्रुतिः साध्वी महेश्वरम् ।
तस्य भासा सर्वमिदं विभातीत्यपि चाह हि ॥

319 वेदान्तवाक्योत्थपरात्मविद्यां
शिवस्य लिङ्गं कथयन्ति केचित् ।
विचारजन्यामपि सत्यविद्यां
ब्रुवन्ति चान्ये परमस्य लिङ्गम् ॥

320 शिवस्य लिङ्गं शिवलिङ्गमन्ये
मुनीश्वराः वेदविदो वदन्ति ।
स्वयंप्रकाशस्य न युज्यते यत्
ततश्च शम्भुः स्वयमेव लिङ्गम् ॥

---

[317] तत्र–तादृशपरशिवलिङ्गस्य पुरतः । [318] साध्वी–समीचीना । साध्वि इति गौर्याः सम्बोधनं वा । [319] सत्यविद्यां–दृष्टज्ञानम् । [320] लिङ्गं–लाञ्छनम् ।

---

[317] तमेव भान्तमित्याद्युत्तरभागः ग,च-पुस्तकयोः न दृश्यते । [318] साध्वि ! महेश्वरम् (ग,च) त्यपि चाहु हि (ग,च) [319] विचारजन्यमपि (ग)
[320] स्वयंप्रकाशस्य (ग,च)

अंगालिंगस्थलम् (३६)—

321 एवं लिङ्गं निजज्ञानवतः प्राणलिङ्गिनः सर्वावयवलिंगभावक्रमः कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं अंगलिंगस्थलमित्युच्यते ।

322 तैत्तिरीयोपनिषदि—

असन्नेव स भवति । असद् ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति । तस्यैष एव शारीर आत्मा ॥

323 तथा शम्भुप्रभायाम्—

यल्लिङ्गं शुद्धदेहस्थं मल्लिङ्गं लिङ्गसंयुतम् ।
तल्लिङ्गं विदितं येन स भवेदङ्गलिङ्गवान् ॥

324 तत्रैव —

यत्र लिङ्गे वरारोहे त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
तल्लिङ्गं पूजितं येन स भवेदङ्गलिङ्गवान् ॥

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते
परमवीरशैवाद्वैतबोधिनि एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमाला-
विवरणाख्यकैवल्यसारे प्राणलिङ्गिस्थलं नाम
चतुर्थं प्रकरणं समाप्तम् ॥

—

यत्—उक्तं लाञ्छनम् । [322] तस्य तादृशस्य परशिवस्य । [323] मल्लिग-मित्यस्य स्थाने अलिंगमिति व्याख्यापाठः (घ) लाञ्छनरहितमित्यर्थः । [324] वरारोहे इति गौर्याः सम्बोधनम् । येन—शिवभक्तेन ॥

---

[323] देहस्थमल्लिंगं (च)

॥ श्री शिवाय नमः ॥

शरणस्थलम्—पञ्चमं प्रकरणम्

चतुर्विधशरणस्थलेषु प्रथमं शरणस्थलम् (३७)—

325 एवं प्राणलिङ्गस्थलमनुष्ठाय लिंगलीनसर्वावयववान् प्राणलिंगी सुज्ञानमुखेनानुष्ठाय समरसीभूतभेदः कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं शरणस्थलमित्युच्यते ।

326 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

तं महादेवं आत्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।

327 किञ्च प्रश्नोपनिषदि—

अहं परंब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ते तमर्चयन्तः त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति नमः परमपुरुषेभ्यो नमः परमपुरुषेभ्यः ।

328 तथा स्कान्दे—

चिन्तयामि शिवं केन जातं शिवमयं मनः ।
पयोनिमग्नवपुषः पयस्तृष्णा न जायते ॥

---

[326] प्रकाशं–प्रकाशकरम् । शरणं–रक्षकम् । [328] पयः–उदकम् ।

---

[326] तन्महादेवं (छ) [327] नातः परं नास्तीति (ग,च) नः पितं ता यो योऽस्माक (ग,च) [328] पयोऽसि मग्न (च)

329 किञ्च वासिष्ठे —

कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः ।
तपन्तु द्वादशादित्याः नास्ति निर्मनसः क्षतिः ॥

तामसनिरसनस्थलम् (३८) –

330 एवं शरणस्थले महाज्ञानेन स्वस्वरूपविज्ञाता शरणः स्वस्य ज्ञानस्य गोचरीभूततमोनिरसने कृते सति, अनन्तरं तामसनिरसनस्थलमित्युच्यते ।

331 मैत्रेयोपनिषदि —

स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरित्यतोऽभिभूतत्वात् संमूढत्वं प्रयाति, संमूढत्वात् आत्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नापश्यत् ।

332 तथा शिवधर्मोत्तरे —

मलमज्ञानमित्युक्तं संसाराङ्कुरकारणम् ।
तत्तमस्तेन तमसा युक्तो यः तामसः स्मृतः ॥

333 किञ्च सिद्धान्तशेखरे —

ज्ञानहीनं गुरुं प्राप्य कुतो मुक्तिमवाप्नुयात् ।
भिन्ननावाश्रितः सिन्धोः यथा पारं न गच्छति ॥

---

[329] कल्पान्तः–प्रलयकालः । निर्मनसः–सर्वस्यापि मनसः शिवमयत्वेन तदतिरिक्तमनसोऽभावात् शिवचिन्तकस्य निर्मनस्त्वम् । [331] अभिभूतः–अत्यन्तमावृतः । संमूढत्वं अज्ञत्वम् । कारयितारं–प्रेरकम् । [332] तादृशं मलमेव तमः । [333] भिन्नं–सरन्ध्रम् ।

---

[329] चैकत्वमार्णवाः(ग,च) [331] कारयितारं न पश्यत्येव(छ) [333] ज्ञानहीनगुरुं (छ)

निर्देशस्थलम् (२९) —

334 एवं ज्ञानगोचरीभूततमो निरस्य शरणः सुज्ञानं निर्दिश्य स्थैर्यं गते सति अनन्तरं निर्देशस्थलमित्युच्यते ।

335 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

336 तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥

337 तथा स्कान्दे—

शङ्कया भक्षितं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
सा शङ्का भक्षिता येन स वीरो भुवि दुर्लभः ॥

338 किञ्च योगपट्सहस्रिकायाम्—

गुरुश्च गुणवान् प्राज्ञः परानन्दावभासकः ।
तत्त्ववित् तत्त्वसम्पन्नः मुक्तिदो न तु चापरः ॥

---

[335] बहूनां–जीवानां यः कामान्–अपेक्षितार्थान् विदधाति–पूरयति । [336] अनिर्देश्यं–चक्षुषा मनसा वा ज्ञातुमशक्यम् । भाति–प्रकाशते । विभाति –न प्रकाशते । [337] भक्षितं–आक्रान्तम् । भक्षिता–नाशिता ।

---

[335] शाश्वति नेतरेषाम् (ग, च) [336] कथं नो तद्विजानीयां (छ)
[338] गुणवान् प्रज्ञः (ग,च)

339 किंच योगार्णवे—

मीनः स्नानपरः फणी पवनभुक् मेषस्तु पर्णाशनः
नीराशी स तु चातकः प्रतिदिनं शेते बिले मूषकः ।
भस्मोद्धूलनतत्परः खलु खरो ध्यानानुरक्तो बकः
सर्वं निष्फलितं विवेकरहितं ज्ञानप्रधानं तपः ॥

340 तत्रैव—

स्वस्थानं च परित्यज्य परस्थानं समाश्रिताः ।
स्त्रीहेमभुक्तिलाभस्य पाशाद्गच्छन्ति प्राणिनः ॥

341 प्राणिमार्गं परित्यज्य सन्मार्गं लिङ्गसंयुतः ।
शिवज्ञानवतां पुंसां सङ्गमिच्छति गच्छति ॥

शीलसम्पादनस्थलम् (४०)—

342 एवं सुज्ञानं निर्दिश्य स्वस्वरूपं ज्ञात्वा ज्ञानरूपसर्वाङ्गशरणस्य महाज्ञानमेव चारित्रं तदतिरिक्तदुःशीलचारित्रं नास्तीति दर्शिते सति अनन्तरं शीलसम्पादनस्थलमित्युच्यते ।

343 कठवल्ल्युपनिषदि—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

---

[339] फणी–सर्पः । नीराशी–जलदच्युतजलपायी । [340] पाशात्–आशयेति यावत् । [341] इच्छति चेत् सन्मार्गं गच्छतीत्यन्वयः । [343] गुहा–दहराकाशः । तत्र आहितं गतम् । गह्वरे–सुषिरे । पुराणं अनादिसिद्धिम् । अधिगमेन–आचरणेन ।

[339-340-341] एते त्रयः श्लोकाः (ग,च) पुस्तकयोः न सन्ति । [343] गंहरेष्ठं (ग,च)

344 तथैवोक्तं कूर्मपुराणे —

परस्य शिवतत्त्वस्य जिज्ञासामधिकृत्य यत् ।
ईषणासु च वैराग्यं तच्छीलं परमं स्मृतम् ॥

345 किञ्च शैवपुराणे—

व्रतं शिवैकविषयं नियमश्च सनातनः ।
शीलमित्युच्यते सद्भिः येन शीली भवेत् पुमान् ।

346 किंच लैङ्गे —

शिव एव परं ज्योतिः नान्यत् किञ्चन विद्यते ।
इति यश्च स्थिरीभावः तच्छीलं परमं विदुः ॥

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते
परमवीरशैवाद्वैतबोधिनि एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमाला-
विवरणाख्यकैवल्यसारे शरणस्थलं नाम
पञ्चमं प्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

—∞—

---

[344] ईषणासु–अर्थपुत्रकलत्राद्यपेक्षासु । [345] शीली–शीलवान् । [346] स्थिरी-भावः–स्थिरतामापन्नः मनसि निश्चयः । तदेव शीलेषु परमोत्कृष्टं शीलमिति विदुः ।

---

[345] शीलि भवेत् (च) [346] लैंगे (च) स्थिरिभावः (ग,च)

॥ श्री शिवाय नमः ॥

ऐक्यस्थलम्—षष्ठं प्रकरणम्

चतुर्विधैक्यस्थलेषु प्रथमं ऐक्यस्थलम् (४१)—

347 एवं शरणस्थले महाज्ञानेन सकलं संशयं निवर्त्य, निजस्वरूपं साक्षात्कृत्य, परमानन्दस्वरूपशरणः स्वस्य ज्ञानं विस्मृत्य तद्वि-स्मरणमपि विनाश्य महालिंगैक्यगतभेदः कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं ऐक्यस्थलमित्युच्यते ।

348 उत्तरतापनीयोपनिषदि—

अथ लिङ्गात् संहृत्य, तेजसा शरीरत्रयं संव्याप्य, तदधि-ष्ठानमात्मानं संज्वाल्य, तत्तेज आत्मचैतन्यरूपं बलमव-ष्टभ्य, गुणैः ऐक्यं सम्पाद्य, महास्थूलं महासूक्ष्मं महा-कारणं संहृत्य, मात्राभिर्होत्रनुज्ञात्रनुज्ञाविकल्परूपं चिन्तयन् विमृशेत् ॥

349 किंच कैवल्योपनिषदि—

न भूमिरापो मम नास्ति वह्निः
न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च ।

---

[48] संहृत्य—सङ्गृह्य । मात्राभिः पञ्चतन्मात्राभिः । चिन्तयन् ग्रसेत् इति 'ग'-पाठे एकीकुर्यादित्यर्थः । [349] मम मनसि एतादृशाः भेदाः न सन्तीति

---

[348] आत्मचैतन्यं (छ) मात्राभिरोतारनु (ग,च) मात्राभिरोतानु (छ)
चिन्तयन् ग्रसेत् (ग,च)

एवं विदित्वा परमात्मरूपं
गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥

350 समस्तसाक्षिन् सदसद्विहीनं
प्रयाति शुद्धः परमात्मरूपम् ।

351 तथा देवीकालोत्तरे—

अहमेको न मे कश्चित् नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याहं तं न पश्यामि यो मम ॥

352 वासिष्ठे—

विलीनाशेषबाह्यार्थबुद्धेः अभ्यासयोगतः ।
जीवस्य ब्रह्मताप्राप्तिः मुक्तिरित्यभिधीयते ॥

353 किञ्च शिवाद्वैते—

अखण्डपरिपूर्णश्स्वात्मसंभावनोर्जितः ।
स्वप्नेऽप्यभेदनभ्रान्तः यः स ऐक्य इहोदितः ॥

विदित्वेत्यर्थः । साक्षीति 'ग'-पाठे भूत्वेति शेषः । अस्मिन् पाठे साक्षिण-मित्यर्थः । [351] ईश्वरेतरसम्बन्धः मम नास्तीत्यर्थः । [352] अभ्यासयोगः लये हेतुः । [353] सम्यग्भावना संभावना, तद्बलविशिष्टः । न तु भेदविषयक-भ्रान्तिमान् ।

---

[350] समस्तसाक्षी (ग,च) समस्तसाक्षि (छ) [351] तन्न पश्यामि यो (ग,छ)
[352] ब्रह्मतां प्राप्तिः (ग,च) बाह्यार्थबुद्धिरभ्या (छ) [353] स्वप्नेऽप्यभेदेन (छ)
भ्रान्तो यस्य ऐक्य (ग) ऐक्यमिहोदितः (च)

आचारसम्पत्तिस्थलम् (४२)—

354 एवं महालिंगसमरसीभूतलिंगैक्ये षट्स्थलसम्पन्नसर्वाचारलीनभावः कथमित्याकांक्षायाम्—अनन्तरं सर्वाचारसम्पत्तिस्थलमित्युच्यते ॥

355 छान्दोग्योपनिषदि—

एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये, सुहृदः साधुकृत्यं, द्विषन्तः पापकृत्यं, यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवं विदितपापं कर्म न श्लिष्यते ॥

356 तथा वासिष्ठे —

गच्छतः तिष्ठतश्चैव जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
सर्वाचारगता पूजा नित्यमाध्यात्मिका त्वियम् ॥

357 किञ्च षट्साहस्रिकायाम्—

परामृतरसास्वादनिर्भरानन्दसुन्दरः ।
निराकारोऽखिलाचारचरणैकान्ततत्परः ॥

---

[356] सर्वाचारेषु–दैनन्दिनसर्वकर्मस्वपि, गता क्रियमाणा । [357] निराकारः–एवंविधः इति निर्णेतुमशक्याकारवान् शरणः ।

---

[355] यावन्न विमोक्षे(ग,च) अथ सम्पत्स्ये(ग,च) साधुकृत्यां (ग,च) पापकृत्यां (ग,च) न शिष्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति(ग,च) [356] जाग्रतः स्वपतोऽपि वा (च) नित्यमध्यात्मिका (ग,च) [357] खिलाचार (ग,च)

एकभाजनस्थलम् (४३)—

358 एवं सर्वाङ्गलीनसर्वाचारसम्पदः लिंगैक्यस्य महालिंगमेव भाजनं, तन्महालिंगस्यापि लिंगैक्य एव भाजनं भूत्वा नामद्वयं विलीय एकभाजनीभूतभेदः कथमित्याकांक्षायाम्—अनन्तरं एकभाजनस्थलमित्युच्यते ।

359 मुण्डकोपनिषदि—

कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥

360 तथा सूत्रार्णवे—

प्रभुणा भवता यस्य जातं हृदयमेलनम् ।
प्राभवीणां विभूतीनां परमेकः स भाजनम् ॥

361 किञ्च शिवसूत्रे —

विद्भाजनं भाजनेभ्यः बाह्येभ्यो हि विशिष्यते ।
वस्तु यद्गतमेतत् स्यात् इतरे नैवमित्यतः ॥

सहभोजनस्थलम् (४४)—

362 एवं महालिंगे प्रासैकभाजनलिंगैक्यः तन्महालिंगं च समरस-

---

[359] एकीभवन्ति–समरसीभवन्ति । [360] शिवेति सम्बोधनमध्याहार्यम् । प्राभवीणां–प्रभुभूतभगवत्सम्बन्धिनाम् । भाजनं पात्रभूतः । विद्भाजनं–ज्ञानपात्रम् ।

---

[360] प्रभूणां (ग,च) यस्या जातं (छ) प्राभविणां (ग,च) [361] विशेष्यते (ग,च)

भावेन परमानन्दसुखे सुखीभूतभेदः कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं सहभोजनस्थलमित्युच्यते ।

363 तैत्तिरीयोपनिषदि—

योो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥

364 तथैवोक्तं वातुले—

एवं लिङ्गार्पितं सर्वं इति यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽश्नुते सकलान् कामान् विपश्चिद् ब्रह्मणा सह ॥

365 किञ्च कठवल्ल्युपनिषदि —

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥

366 तथैवोक्तम् —

येन गन्धान् रसान् रूपं स्पर्शान् शब्दान् रतिक्रियाम् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥

---

[363] परमे व्योमन् गुहायां–परमाकाशरूपगुहायाम् । अश्नुते–अनुभवति । विपश्चिता–ज्ञानस्वरूपेण । [365] मैथुनान्–रतिसम्पर्कानुबन्धिनः । एतेन ब्रह्मणैव ।

---

[363] विपश्चतेति (ग,च) [365] शब्दं रूपं च (छ) परिशिष्यति (छ)
[366] रतिक्रियान् (ग,च) लिंगदेहिशिवा (छ)

367 तत्रैव—

लिङ्गदेही शिवात्म्यैकः लिङ्गाचारी न लौकिकः ।
सर्वं लिङ्गमयं प्रोक्तं लिङ्गेन सह सोऽश्नुते ॥

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते परमवीरशैवाद्वैतबोधिनि एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमाला-विवरणाख्यकैवल्यसारे अंगस्थलनिरूपणे ऐक्यस्थलनिरूपणं नाम षष्ठं प्रकरणं संपूर्णम् ॥

इति अङ्गस्थलनिरूपणं नाम
पूर्वार्धं समाप्तम् ॥

—⁂—

[367] लिंगदेही–ज्ञानरूपदेहवान् । शिवात्मैक्यः इति 'ग' पाठः युक्तः । न लौकिकः । इह लोके वर्तमानोऽपि लोकातीत एव । लिंगमयं परब्रह्ममयम् । अश्नुते–अनुभवति ।

[367] शिवात्म्यैक्यः (ग,च) लिंगाचारि (ग,च)

॥ श्री शिवाय नमः ॥

अथ उत्तरार्धे—लिङ्गस्थलनिरूपणम्

तत्र आचारलिङ्गस्थलम्—प्रथमं प्रकरणम्

उत्तरे लिङ्गस्थले नवविधभक्तस्थलेषु प्रथमं दीक्षागुरुस्थलम् (४५)—

368 एवं चतुश्चत्वारिंशदंगस्थलविशिष्टषट्स्थलांगशरणस्य मनःस्थले स्थैर्यंगतलिङ्गस्थलविचारः कथमित्याकांक्षायां अनन्तरं दीक्षा-गुरुस्थलमित्युच्यते ॥

लिङ्गस्थलोपपादनावश्यकता —

369 तत्रापि प्रथमादिष्टभक्तस्थलान्तर्गतगुरुकारुण्याश्रितभक्तस्याचार-लिंगं पुनस्तस्यैव गुरुलिंगजंगमरूपेण त्रैविध्यं प्रथममंगस्थल एव प्रतिपाद्य, तद्भेदोपदेशार्थं लिंगषट्स्थलमुपन्यस्यति ।

भक्तस्थलस्यात्र नवविधत्वोपपत्तिः —

370 भक्तोपास्यमानाचारलिङ्गमेव गुरुर्लिंगजंगमरूपेण त्रिविधं भवति । पुनस्तदेव प्रत्येकं प्रत्येकं त्रिविधं त्रिविधं भवति ॥

तत्प्रयोजनम् —

371 तथा च—भक्त एव गुरुत्रयमपि त्यागाङ्गभोगांगयोगांगस्वरूप-त्वेनानुसन्धाय, त्रिविधगुरुकारुण्यात् त्रिविधाङ्गे त्रिविधलिंगं च

---

[368] पूर्वार्धोत्तरार्धयोः संगतिमाह—एवमिति । [370] तदेव—आचारलिंगमेव । तथा च भक्तस्थलस्य नवविधत्वं उपपन्नमित्यर्थः ।

सम्बध्य क्रमेण तथाविधलिंगचैतन्यरूपं स्वयचरपररूपजंगममेवेति निश्चित्य तज्जङ्गममेव प्राणस्तदेव मन्त्रं, तन्मन्त्रोच्चारणपरश्च भक्तः त्रिविधजंगमस्य दासोहंभावेन स्थातव्यः ॥

एकस्यैवात्मनः अंगत्वांगित्वोभयरूपेण कथमविरोधाशङ्का —

372 ननु पूर्वं इमे लिंगमङ्गमित्यत्र कुण्डलिन्याद्युपाधिरहितस्य परमशिवस्य लिंगत्वं उक्त्वा, अविद्याद्युपाधिरहितस्यात्मन एव अंगत्वं प्रतिपादितम्। इदानीं तु शिवयोगीश्वरस्य अंगित्वमभिप्रेत्य तदीयेषु क्रियादिदीक्षात्रयशुद्धेषु अंगत्रयेषु लिंगत्रयं द्योतते इत्युक्तत्वात्, एकस्यैवात्मनः तत्र अंगत्वकथनम्, अत्र अंगित्वकथनं च विरुध्यते ॥

अंगपदार्थनिर्दिष्टस्वरूपासंभवाशङ्का —

373 किञ्च अंगशब्दस्य देहवाचकत्वं वा? जीववाचकत्वं वा? अप्राधान्यवाचकत्वं वा?। न प्रथमः, विभुत्वादात्मनः कार्यात्मकजडवस्तुवत् सांशत्वं न घटते। न द्वितीयः,

"अमिति ब्रह्म सन्मात्रं गच्छतीति गमुच्यते।"

इति वचनात्, देहाद्देहान्तरं प्रति संसरतः अहङ्कारादितत्त्वयुक्तस्य जीवस्य सकलतत्त्वातीतेन लिंगेन सह सम्बन्धायोगात्। न तृतीयः, सम्बन्धरूपां क्रियां प्रति सम्बन्धिनोरुभयोरपि मुख्य-

---

[372] सापेक्षत्वे विरोधाभावेऽपि सापेक्षतायाः ग्रन्थतः उक्तत्वाभावात् विरुध्यते इत्यापातोक्तिः। [373] देहे जीवे अप्रधाने च स्वरसत एव प्रयोगसत्त्वादितिभावः। सर्वत्र ईश्वरापेक्षया इति शेषः पूरणीयः। अयोगादिति निमील्याशङ्का।

स्यात् अंगत्रयसंबन्धत्वेन आत्मनः अंगित्वात् एकस्यैव लिंगस्य संबन्धायोगात् ।

एवं च लिंगांगसम्बन्ध एव न घटते—इति चेत् ।

उभयोराशङ्कयोः समाधानम् —

374 लोके कान्ताकान्तसामुद्रनादेयजलादिसम्बन्धित्वे समानेऽपि, एकस्य मुख्यत्वम्, अन्यस्य अमुख्यत्वं यथा, तथैव—लिंगांगसंबन्धेऽपि सम्बन्धं प्रति सृष्ट्यादिद्वारेण अनादिप्रवृत्तत्वात् लिंगस्य मुख्यत्वम् । दीक्षानन्तरप्रवृत्तत्वेन अमुख्यत्वात् मुमुक्षोरंगत्वात् ।

लिङ्गांगयोः सम्बन्धत्रयोपपादनम् —

375 तस्याप्यंगरूपस्य मुमुक्षोर्लिङ्गात्मकेन परशिवेन सह सम्बन्धोऽपि अंगत्रयदीक्षात्रयलिंगत्रयोपाधिना भवतीति त्रिप्रकारः ।

तत्रात्मनोऽप्यस्य इष्टलिंगसंबन्धः —

376 तत्र जातिकुलाद्यभिमानाश्रयस्थूलशरीरोपाहितस्य अंगसंज्ञकस्य आत्मन एव इष्टलिंगेन सह सम्बन्धः ॥

प्राणलिङ्गसंबन्धः —

377 त्रिंशत्तत्त्वात्मकसूक्ष्मशरीरव्याप्तात्मनः प्राणलिंगेन सह संबन्धः ।

महालिंगसंबन्धः —

378 शुद्धाशुद्धभोगसाधनशुद्धाशुद्धमायाविभेदनेन तनुकरणाद्यङ्कुरोत्पादनकारणस्य ज्ञानक्रियारूपस्य आत्मनः अज्ञताव्यापादनकारणस्य स्वयमकारणकोऽपि अनादिनिबिडकारणस्याञ्जनस्योपरि-

---

[374] नादेयं–नदीसंबन्धि । अनेन अप्राधान्यरूपः तृतीयो विकल्प एव साधितः भवति । [375] संबन्धबाहुल्योपपादनं–तस्येति ।

तया वर्तमानस्यात्मनश्च निर्विकारनिजचैतन्यरूपेण महालिंगेन सह अनवच्छिन्नात्मकः परमसम्बन्धः इति त्रिविधसम्बन्धः ॥

शिवजीवसंबन्धस्यैवंरूपेण युक्तत्वम् —

379 अस्य अंगित्वस्य औपचारिकत्वात् अंगसंज्ञकस्यात्मनः लिंगसंज्ञकेन शिवेन सह संबन्ध इति युक्तम् ॥

380 कठवल्ल्युपनिषदि —

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

381 तथा योगसारे—

शुद्धां यः शाम्भवीं दीक्षां करोति गुरुरुत्तमः ।
तस्मै दद्यात् स्वमात्मानं पूज्यो वन्द्यः स सद्गुरुः ॥

382 तथा स्वायंभुवसूत्रे —

स्वदेशिकमनुप्राप्य दीक्षाविच्छिन्नबन्धनः ।
प्रयाति शिवसायुज्यं निर्ममो निरुपप्लवः ॥

---

[379] औपचारिकत्वात्–अवयवार्थनिबन्धनत्वात् । [380] लब्धा इति 'ग' पाठः युक्तः । ग्रहीता शिष्य इत्यर्थः । अनुशिष्टः–उपदेश्यः । [381] शाम्भवीं–शिवसंबन्धिनीम् । [382] देशिकं–आचार्यम् । निरुपप्लवः-निर्दुःखः ।

---

[380] बहवो यं विद्युः (ग,च) अत्र उभयत्रापि आश्चर्यशब्दस्थाने आचार्यशब्द एव मातृकायां दृश्यते । [381] पूज्ये (छ) बन्धस्य (ग,च) [382] आरभ्य [385] पर्यन्तं ग,च,छ-पुस्तकेषु न दृश्यते ।

383 किञ्च सुज्ञानोत्तरसूत्रे —

तत्त्वैरेभिर्निबद्धात्मा सर्वधर्मैश्च संयुतः ।
नान्येन शक्यते मोक्तुं मुक्त्वा दीक्षां शिवात्मिकाम् ॥

384 किञ्च मतङ्गपारमेश्वरे—

दीक्षानलप्लुष्टमलस्य जन्तोः
स्वात्म्यं बलं व्यक्तिमुपैति योगात् ।
शक्त्या विभोश्चुम्बितहृत्प्रदेशः
नान्येन पुंसो विनिवृत्तिमेति ॥

385 किंच स्वायंभुवसूत्रे —

अनेन क्रमयोगेन परां केवलतां गतः ।
अनाद्यशुद्धिशून्यत्वात् प्राप्नोति न भवान्तरम् ॥

386 किंच वातुलतन्त्रे —

तनुत्रयगतानादिमलत्रयमसौ गुरुः ।
दीक्षात्रयेण निर्दग्ध्वा लिङ्गत्रयमुपादिशेत् ॥

387 एकमेव परं लिङ्गं अङ्गेऽस्मिन् सुप्रतिष्ठितम् ।
सर्वतोमुखमाभाति नामरूपक्रियात्मना ॥

---

[383] तत्त्वैः–प्रकृतिविकारैः । [384] प्लुष्टं–दग्धम् । [385] केवलतां–कैवल्यम् । भवान्तरं–जन्मान्तरम् । [386] तनुत्रयं–स्थूलसूक्ष्मकारणरूपम् । आणवादिमल-त्रयम् । वेधमन्त्रक्रियासंज्ञं दीक्षात्रयम् । इष्टप्राणभावरूपं लिंगत्रयम् ।

---

[386] दीक्षात्रयेण निर्दह्य (ग,च) दीक्षात्रयेण निर्दाह्य (छ)
[387-388] श्लोकद्वयं ग,च,छ-पुस्तकेषु न दृश्यते ।

388 इष्टलिङ्गं तु बाह्याङ्गे प्राणलिङ्गं तथाऽऽन्तरे।
भावलिङ्गं सदैवाऽऽत्मसङ्गेऽस्मिन् सुप्रतिष्ठितम् ॥

शिक्षागुरुस्थलम् (४६)—

389 एवं उपदेशार्थं दीक्षागुरुस्वरूपप्राप्तलिंगस्य शिक्षामुखेन बोध-स्वरूपप्राप्तिभेदः कथम्? इत्याकांक्षायां अनन्तरं शिक्षागुरुस्थल-मित्युच्यते।

390 यजुर्वेदोपनिषदि —

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथि-देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपा-स्यानि। नो इतराणि। एष आदेशः एष उपदेशः ॥

391 तथा वीरागमे —

तल्लिङ्गं जङ्गमात्मेति बहुशो जङ्गमैः कृतः।
सम्यग् बोधश्च तत्पूजा शिक्षेति कथिताऽनघे। ॥

---

389 शिक्षामुखेन–उपदेशमुखेन। 390 अन्तेवासिनं–शिष्यम्। भूत्यै–ऐश्वर्य-निमित्तेन। आदेशः–निर्देशः। 391 अनघे इति गौर्याः सम्बोधनम्। तत्–दीक्षागुरुरूपम्। शिक्षेति–शिक्षागुरुरिति।

---

390 प्रमुदितव्यम् (ग,च) 391 जंगमैः कृताः (ग,च) तत्पूज्य (ग,च) तत्पूज्ये (छ)

392 किंच शिवाद्वैते —

पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभास्य भेदतः ।
अभेदोत्तरपक्षान्तर्नीयते तं स्तुमः शिवम् ॥

393 चन्द्रावलोकने—

कुलाचाररताः सन्ति बहवो गुरवो मुने ! ।
कुलाचारविहीनस्तु गुरुरेकोऽपि दुर्लभः ॥

394 तथा योगशतके—

न स्याज्जन्म यथा तथा गुरुवरः सेव्यः स नोड्डीशवत्
नो नाट्यागमतर्कतन्त्रहतधीः नो बाह्यविज्ञानवित् ।
शिष्यान्तर्गतसंशयच्छिदमलं स्वं स्वेन विज्ञापयन्
आस्ते यस्तु गुरुः स धन्य उदितः नान्यः स्वमौढ्यप्रदः॥

395 किञ्च तन्त्रसारे—

सुन्दरः सुमुखः स्वच्छः सुलभः सर्वतन्त्रवित् ।
असंशयः संशयच्छित् निरपेक्षो गुरुर्मतः ॥

ज्ञानगुरुस्थलम् (४७)—

396 एवं शिक्षागुरुस्वरूपं प्राप्तलिङ्गं सुज्ञानकटाक्षोन्मीलननिमित्तेन ज्ञान-गुरुस्वरूपं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायां, अनन्तरं ज्ञानगुरु-स्थलमित्युच्यते ॥

---

[392] प्रतियोगिनः कारणत्वविधया । [393] कुलाचारात् भ्रंशसम्भवादेवमुक्तम् । [394] उड्डीशनामा कुलाचारप्रवर्तकः । मौढ्यं–मतसिद्धान्तादिविषये अन्धत्वम् । [395] तन्त्रं–शास्त्रम् शिवागमादि । निरपेक्षः भौतिकविषयाशारहितः ।

---

[392] तः आरभ्य [396] पर्यन्तं ग,च,छ-पुस्तकेषु न दृश्यते ।

397 मुण्डकोपनिषदि—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥

398 तथैवोक्तं वीरागमे—

स्वपूर्वजन्मसत्कर्मवासनाभिः शिवार्चना ।
शिवभक्तिः स्वयं चित्ते स्वानुभाव इति स्मृतः ॥

399 तथा वासिष्ठे—

दुर्वारसंशयध्वान्तनिरोधित्वे चिदंशुमान् ।
गुरुश्च ज्ञानमेवोक्तः स्वानुभूत्यात्मतत्त्ववित् ॥

400 किञ्च शिवधर्मोत्तरे—

ज्ञानमूलं गुरुः प्रोक्तः स प्रशस्तः प्रवर्तकः ।
ज्ञानेन तु महासिद्धः भवेद्योगीश्वरस्थितिः ॥

क्रियालिंगस्थलम् (४८)—

401 एवं त्रिविधगुरुस्वरूपैकीभूतलिङ्गमेव शरणाङ्गे इष्टलिंगस्वरूपं प्राप्त-भेदः कथमित्याकांक्षायाम्—अनन्तरं क्रियालिङ्गस्थलमित्युच्यते ।

---

[397] अक्षरं–नाशरहितम् । प्रोवाच–उपदिदेश । [398] यस्येत्यादिः स्वानुभाव-गुरुः । [399] ध्वान्तं–अन्धकारः । चिदंशुमान्–ज्ञानसूर्यः । [400] महासिद्धः –अत्यन्तप्रसिद्धः ।

---

[397] प्रकाशान्तचित्ताय (छ) [398] जन्मसत्कार्य (च) [399] ज्ञानमेवोक्तम् (छ)

402 अथर्वशिर उपनिषदि—

रुद्र एकत्वमाह रुद्रं शाश्वतं वै पुराणम् ।
इष्टमूर्जं तपसाऽनुयच्छते ॥

403 तथैवोक्तं वातुले—

सकलं दृक्कलाग्राह्यं इष्टलिङ्गस्थलं महत् ।
इष्टावाप्तिकरं साक्षात् अनिष्टपरिहारकम् ॥

404 इष्टमूर्जं स्वभक्तानां अनुयच्छति सर्वदा ।
इष्टलिङ्गमिति प्राह तस्मादाथर्वणी श्रुतिः ॥

भावलिंगस्थलम् (४९)—

405 एवमङ्गाभ्यस्तक्रियालिङ्गे भावे पूर्णे सति अनन्तरं भावलिङ्गस्थल-मित्युच्यते ॥

406 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

भावग्राह्यमनिलाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कल्पसर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तमः ॥

407 तथैवोक्तं वातुले—

निष्कलं भावलिङ्गं स्यात् भावग्राह्यं परात्परम् ।
सन्मात्रं भावलिङ्गं स्यात् इति निष्ठा महात्मनाम् ॥

---

[402] पुराणं–अनादिसिद्धम् । इष्टं–इष्टलिंगम् । ऊर्जं–अत्यधिकम् ।
[403] दृक्कला–नेत्रेन्द्रियम् । [406]अनिलाख्यं–वर्णनामातीतम् । भावाभावौ –सदसद्व्यवहारौ । [407] भावः–अन्तरङ्गम् ।

---

[402] रुद्रे एकत्वं (ग,च) [403] इष्टप्राप्तिकरं (छ) [406] कल्पस्वर्गकरं (च)

408 किञ्च महाभारते—

न काष्ठे विद्यते देवः न शिलायां न कर्दमे ।
भावे तु विद्यते देवः तस्माद्भावेन भाव्यते ॥

ज्ञानलिंगस्थलम् (५०)—

409 एवं भावपूर्णसद्भावरूपलिङ्गे महाज्ञानस्वरूपप्राप्तौ सत्यां अनन्तरं ज्ञानलिङ्गस्थलमित्युच्यते ।

410 मुण्डकोपनिषदि—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः
ततस्तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

411 तथैवोक्तं वातुले—

परात्परं तु यत् प्रोक्तं ज्ञानलिङ्गं तदुच्यते ।
भावनातीतमव्यक्तं परं ब्रह्म शिवाभिधम् ॥

412 किञ्च स्कान्दे—

अपि सन्त्यक्तसर्वार्थाः नियमार्थं हि योगिनः ।
संभाव्य ज्ञानलिङ्गं हि रमन्ते हृदयान्तरे ॥

---

[408] कर्दमे–मृत्पिण्डे । भाव्यते–ज्ञायते । [410] विशुद्धसत्त्वः–निर्मलान्तःकरणः । [411] अदृश्यं–अव्यक्तम् । [413] सम्भाव्य–ध्यात्वा ।

---

[410] ततस्तु तं पश्यते (ग,च) निष्कलं धार्यमानः (छ)

413 किञ्च सिद्धान्तशेखरे—

आनन्दलक्षणा तृप्तिः निरुपाधितया स्थिता।
तदुत्थानन्दसान्द्रत्वं ज्ञानलिङ्गं तु तृप्तिदम्॥

स्वयस्थलम् (५१)—

414 एवं त्रिविधलिङ्गस्वरूपैकीभूतलिङ्गं शरणस्य स्वभावगुणे निश्चलीभूतभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम् — अनन्तरं स्वयस्थलमित्युच्यते॥

415 अथर्वशिखोपनिषदि—

सम्यक् समस्तानपि पदान् जयति स्वयं ब्रह्म भवति— एष सिद्धिकरः।

416 तथैवोक्तं वीरागमे—

आत्मलिङ्गपरिज्ञानात् नन्दी स शिवलाञ्छनः।
बाह्यकर्मपरित्यागी स स्वयं लिङ्गमुच्यते॥

417 तथा स्कान्दे—

ध्यानं शैवं तथा शिक्षा नित्यमेकान्तशीलता।
यतश्चत्वारि कर्माणि पञ्चमं नोपपद्यते॥

---

[413] तदुत्थं–तादृशतृप्तिजन्यम्। सान्द्रत्वं–निबिडत्वम्। [415]पदान्–स्थानानि।
[416] स्वयंलिङ्गं–स्वयजङ्गमलिंगम्। [417] भिक्षेति 'ग' पाठः युक्तः।

---

[415] जयतीति स्वयं (ग,च) स्वयं स्वयं ब्रह्म (छ) [416] परिज्ञानानन्दी (ग,च) नन्दीशः शिवलाञ्छनः (ख) [417] शैवं तथा भिक्षा (ग,च)

418 सूतसंहितायाम्—

दातॄनपि जनान् भक्तान् याचित्वाऽर्थं सुदुर्लभम् ।
क्षुभितस्तदभावेन क्षोभयेन्न कदाचन ॥

419 किञ्च वासिष्ठे—

विधिना शिवभावेन सत्कृत्य भयभक्तितः ।
आददीत मुनिर्दत्तं तद्भैक्ष्यममृतं भवेत् ॥

420 शिवधर्मोत्तरे—

तदेवाश्रद्धया दत्तं नाददीत कदाचन ।
अनन्यमानसः शान्तः शिवविद्यां जपेत् सदा ॥

421 किञ्च वासिष्ठे—

सर्वत्र समताशून्यः सर्वत्र समतायुतः ।
वृथामूलनिकेतश्च मुमुक्षुरिह शस्यते ॥

422 तथा स्कान्दे—

सर्वारम्भपरित्यागः भैक्ष्यास्यं वृक्षमूलिता ।
निष्परिग्रहतादोषः समतायोगिवर्तनम् ॥

---

[418] सुदुर्लभं–प्राप्तुमशक्यं अनुचितं वा । क्षुभितः–कुपित इति यावत् । न क्षोभयेत् दातुः व्याकुलतां न प्रापयेत् । [419] आगमोक्तविधिमनुसृत्य । मुनिः शिवयोगी । [420] शिवविद्यां–शिवमन्त्राक्षरीजपम् । [421] वृथा शस्यते–स्तूयते इत्यन्वयः । [422] भैक्षान्नभोजनम् ।

---

[418] याचितार्थं (छ) क्षोभयन्न कदाचन (छ) [419] तद्भैक्षममृतं (ग,च) तद्भैक्षायामृतं (छ) [422] वृक्षमूलिकः (ग,च) ग्रहताद्रोहसमता (ग,च) ग्रहतद्द्रोहसमता (छ)

चरस्थलम् (५२)—

423 एवं स्वभावे निश्चलीभूतलिंगं भक्तिं निमित्तीकृत्य सञ्चारभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं चरस्थलमित्युच्यते ।

424 परमहंसोपनिषदि—

जटां धृत्वा चीरवासाश्च भूत्वा
लोकान् वहन्नेव चरत्यथ स्वयम् ॥

425 ऋग्वेदे—

चरैवेति चरैवेति चरन् वै मधु विन्दति ।

426 किंच परमहंसोपनिषदि—

एकशाटीपरिवृतः मुण्डोदरपात्री भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशेत् आसायं प्रदक्षिणेनाविचिकित्सन् सार्वर्णिकं भैक्ष्यचर्यमभिशस्तपतितवर्ज्यम् ॥

427 यजुर्वेदे—

इमान् लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसञ्चरन् । एतत् साम गायन्नास्ते ॥

---

[424] वासः–वस्त्रम् । [425] चरैव–सञ्चारमेव कुरु । मधु–मधुमयीं मुक्तिम् । [426] शाटी वस्त्रम् । उदरमेव भिक्षापात्रं यस्य सः । अविचिकित्सन्–जुगुप्सारहितः । [427] व्याख्यानुसारेण कामान्नी इति स्यात् ।

---

[424] धृत्वा चिरावासाश्च (छ) लोकान् वहन्त्येव (छ) चरत्यथास्वयम् (छ)
[426] एकशाटिपरि (ग,च) पात्रिभिक्षा (छ) सार्ववर्णिकं (ग,च) भैक्षाचर्य (ग,च) भैक्षाचार्यं (छ) पतितवर्जम् (छ) [427] कामान्निकासरूप्य (ग,च) गायन्नास्ति (छ)

428 तथैवोक्तं वीरागमे—

शिवलिङ्गादभेदात्मा तन्निक्षिप्तेन्द्रियव्रजः ।
स्वेच्छाविहारी स्वानन्दः स चरं लिङ्गमुच्यते ॥

429 तथा वातुले—

अतत्त्वसंसारविनाशनेन वा
श्रुतिप्रमाणेन च तर्कवर्त्मना ।
प्रबोधमानस्य शिवस्य तं पुनः
स्वमेव गायन् विचरेत् स्वलीलया ॥

430 किञ्च योगसारे—

स्वेच्छया चरते क्षोणीं भुञ्जानो विषयानपि ।
अकर्ताऽन्तर्बहिःकर्ता स योगी राजयोगिराट् ॥

431 किञ्च शिवयोगदीपिकायाम्—

पुण्यक्षेत्रेषु सर्वेषु सञ्चरन्नात्मवृत्तये ।
याचमानो जनान् साधून् न जातु क्लेशयेत् कृशान् ॥

432 तथा वातुलतन्त्रे—

यथा मध्वाददानोऽपि भृङ्गः पुष्पं न बाधते ।
तथा माधुकरीं भिक्षां आददीत गृहाधिपात् ॥

---

[430] वस्तुतः अकर्ताऽपि । [431] आत्मवृत्तये–जीविकायै । कृशान्–दरिद्रान् ।

---

[428] दभेदात्मतन्नि (ग,च) [429] प्रबोधमानश्च (ग,च) गायन् विचकित्सलीलया (ग,च) [430] स्वेच्छया चरति क्षोणिं (ग,च) भुञ्जानोऽपि विषया (ग,च) [432] माधूकरिं (ग,च)

परस्थलम् (५३)—

433 एवं भक्त्यर्थं सञ्चरितचरलिङ्गस्य परापरनिर्गमनं कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं परस्थलमित्युच्यते ॥

434 हंसोपनिषदि—

आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिः यादृच्छिकः भिक्षुः नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासितं च न लक्ष्यं न पृथगपृथक् सर्वत्रानिकेतस्थितिरेव भिक्षुः ॥

435 तथैवोक्तं वीरागमे—

सदाशिवस्य तत्त्वस्य यदधिष्ठानमुत्तमम् ।
स्थावरं लिङ्गमेवैतत् परलिङ्गमुदीरितम् ॥

436 तथा भगवद्गीतायाम्—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥

437 वातुलेऽपि—

लिङ्गं शिवो भवेत् क्षेत्रं अङ्गं संयोग आश्रयः ।
तस्माल्लिङ्गाङ्गसंयुक्तः योऽपि सोऽत्याश्रमी भवेत् ॥

---

[434] आशाम्बरः दिगम्बरः । यादृच्छिकः–यदृच्छालाभसन्तुष्टः । अनिकेता –अनिर्दिष्टा स्थितिः यस्य सः । [435] अधिष्ठानं–सांनिध्यहेतुः । स्थावरं-अचलम् । [436] स्थिरमतिः दैवनिष्ठावान् ।

---

[434] यदृच्छिकः(छ) न पृथङ् नापृथक्(ग,च) [436] सन्तुष्टा(ग,च) अनिकेतस्थिर(ग,च)

438 किञ्च देवीकालोत्तरे—

हेतुर्नास्ति फलं नास्ति नास्ति कर्म स्वभावतः ।
असद्भूतमिदं सर्वं नास्ति लोको न लौकिकः ॥

439 नात्र पूजा नमस्कारः न जपो ध्यानमेव च ।
केवलं ज्ञेयमित्युक्तं वेदितव्यं न किञ्चन ॥

440 किञ्च योगार्णवे—

वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतेर्दासो भवेन्नरः ।
अभिमानविहीनश्चेत् वर्तते श्रुतिमूर्धनि ॥

441 सूतसंहितायाम्—

यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णानाश्रमान् सर्वान् अतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥

442 तन्त्रान्तरे—

त्यक्तसंसारकलवः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽप्यचित्तस्तु स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते परमवीरशैवाद्वैतबोधिनि एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमालाविवरणाख्यकैवल्यसारे लिङ्गस्थलनिरूपणे आचारलिङ्गस्थलं नाम प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ॥

—∞—

[438] हेतुः जन्महेतुः । फलं–भोगफलम् । कर्म पुण्यपापरूपम् । असद्भूतं–जडसदृशम् । [439] न किञ्चनेति–तस्यामवस्थायामिति शेषः । [441] गलितः–शिथिलीकृतः । [442] संसारकस्य–कुत्सितस्य संसारस्य लवः लेशः । कलावानपि सावयवोऽपि निष्कलः निरवयवः । सः एवंविधः ॥

[442] तन्त्रसारे (छ) शान्तसंसारक (ग,च) सचित्योऽप्याचि (छ)

॥ श्री शिवाय नमः ॥

गुरुलिङ्गस्थलम्—द्वितीयं प्रकरणम्

नवविधमाहेश्वरस्थले प्रथमं क्रियागमस्थलम् (५४)—

443 एवं जंगमलिङ्गस्थलत्रितयैकीभूतलिङ्गं वीरमाहेश्वरस्य सत्क्रियायामागमस्वरूपं प्राप्तभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम् अनन्तरं क्रियागमस्थलमित्युच्यते।

ससंगति प्रकृतप्रकरणनिरूपणौचित्यं, अस्य गुरुलिंगविचाररूपता च —

444 अथ परजंगमस्थलशिरोमणित्वेन पूर्णाचारलिङ्गस्वरूपं तदवान्तरभेदांश्च सम्यगुपदिश्य, तदनन्तरं परजङ्गमैकशरणत्वेन कृतकृत्यस्य माहेश्वरस्य शरणभूतपरजंगममेव गुरुस्तस्यैव नवविधस्थलत्वेन चोपास्यत्वं प्रतिपादयितुं तदधिकारिणो माहेश्वरस्य आगमलिंगत्रैविध्येन व्रतशीलाचारनिष्ठरूपादिकं माहेश्वरस्थलप्रतिपादिताचारनिष्ठत्वेनैव लिंगनिष्ठान्वितत्वं कायलिङ्गत्रैविध्यावग्रहणं पूर्वाश्रयाद्यष्टमूर्त्यन्तनिरासकत्वं चाचारलिङ्गत्रैविध्येन सर्वगतनिरासकत्वं च शिवजगन्मयत्वं च प्रतिष्ठाप्य तस्मिन् लिङ्गे भक्तदेहिकलिंगमिति निश्चयमधिगम्य नवविधगुरुलिंगविचारः कर्तव्यः ॥

445 मुण्डकोपनिषदि—

तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन् तानि

---

[445] कवयः–अभिज्ञाः। तानि कर्माणि। अस्मिन् लोके सुकृतस्य–पुण्यस्य पन्थाः–मार्गः–उपायः इति यत् तदेतत् सत्यमित्यन्वयः।

---

[445] तान्याचरेत (ग,च) सत्यकाम एष (छ) पन्थः (छ)

त्रेतायां बहुधा सन्ततानि तान्याचरत नियतं सत्यकामाः !
एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥

446 तथा सिद्धान्तशिखामणौ—

प्रकाशते यथा नाग्निः अरण्यामिन्धनं विना ।
क्रियां विना तथाऽन्तःस्थः न प्रकाशो भवेच्छिवः ॥

447 ऋग्वेदे—

अयं मे हस्तो, भगवान्, अयं मे भगवत्तरः, अयं मे विश्व-
भेषजः अयं शिवाभिमर्शनः अयं माता, अयं पिता, अयं
जीवातुरगमत् पदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवेहि निरिहि ॥

448 तथैवोक्तं वातुले—

धारयेद्यस्तु हस्तेन लिङ्गाकारं शिवं सदा ।
तस्य हस्तस्थितं विद्धि मत्पदं सम्पदां पदम् ॥

449 यजुर्वेदे—

तव श्रियै मरुतो मर्दयन्तः रुद्र ! यत्ते जनिम चारु चित्रं
पदं यद्विष्णोः परमं निधाये ॥

---

[446] अरण्यां–अरणिनिष्ठः अग्निरिति भावः । [447] हस्तः–लिंगपीठभूतः हस्तः । भगवान्–पूज्यः । भगवत्तरः पूज्यतरः । निरिहि–मा गच्छ । [449] मरुतः देवताः । मर्दयन्तः पूजयन्तः ।

---

[446] अरण्यमिन्धनं (ग,च) [447] भगत्तरः (ग,च) जीवानुरागमात् (ग,च) सुबन्धो एहि (ग,च) [449] तव श्रिये (ग,च) मरुतो मर्द्दयन्तः (ग,च) रुद्रायते (छ) जनिमाचारो चित्रं (छ)

450 तथा तात्पर्यसंग्रहे—

अर्थश्रिया शिवकरोऽपि विरज्यतस्ते
श्रीशो यया त्वमसि दासतयाऽभियुक्तः ।
अस्याः कृते जनिम चारुविचित्ररूपं
अभ्यर्चितं तव मरुद्भिरुदाहरन्ति ॥

451 ऋग्वेदे—

त्रियम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥

452 तथा लैङ्गे—

त्रियम्बकं यजेद्देवं सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
किं करिष्यति मां मृत्युः मृत्योर्मृत्युरहं तथा ॥

भावागमस्थलम् (५५)—

453 एवं क्रियागमस्वरूपापन्नलिङ्गं माहेश्वरस्य भावागमस्वरूपं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं भावागमस्थलमित्युच्यते ॥

454 बृहदारण्यकोपनिषदि—

यं यदा यथोपासते तदेव भवति, यद्भावं तद्भवति, यथाकारी यथाचारी तथा भवति ॥

---

[450] श्रिया—समृद्धया । [451] त्रियम्बकं—लोचनत्रयविशिष्टम् । मुक्षीय—मोचनं कुरुतात् । मा इति निषेधार्थकः । [454] तदेव तद्रूप एव ।

---

[450] शिव करोषि (ग,च) त्वमपि दास (ग,च) अभ्यार्चितं (छ) [452] यजेदेवं (ग,च)
[454] यथाकारि यथाचारि (ग,च)

455 तथा योगार्णवे—

ज्योतिरूपं शिवं पूर्णं विश्वतेजोऽतिवर्तिनम् ।
आशयं भासयन्तं च भावयन् तन्मयो भवेत् ॥

456 कामिकागमेऽपि—

अनिर्देश्यमनौपम्यं विधिविष्णुप्रमोहजित् ।
महोदारं महालिङ्गं भावयेदनिशं बुधः ॥

ज्ञानागमस्थलम् (५६)—

457 एवं निष्ठासम्पन्नमेव भूत्वा भावसद्भावसन्निहितलिङ्गं माहेश्वरस्य ज्ञानागमस्वरूपं प्राप्तभेदः कथमित्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं ज्ञानागमस्थलमित्युच्यते ॥

458 कैवल्योपनिषदि—

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पाशं दहति पण्डितः ॥

459 तथा च आग्नेयपुराणे—

शास्त्रसज्जनसत्कार्यैः सम्यक् संशिक्षितैर्मुहुः ।
ज्ञानस्याभिगमः शश्वत् विज्ञेयो ज्ञानवर्त्मगैः ॥

---

[455] आशयं-हृदयम् । [456] प्रमोहः–अज्ञानम् । [458] अरणिं–अधरारणिम् । उत्तरारणिं–ऊर्ध्वारणिम् । पाशं–संसारबन्धनम् । [459] अभिगमः–प्राप्तिः ।

---

[455] तेजोतिवर्तनम् (छ) भावयेत्तन्मयो (छ) [458] चोत्तरारणीम् (ग,च)
[459] तथा ज्ञेय (ग,च)

460 सूतसंहितायां च—

विकल्परहितं तत्त्वं ज्ञानमानन्दमद्वयम् ।
ये पश्यन्ति विमुक्तास्ते जीवन्तोऽपि न संशयः ॥

461 किञ्च सिद्धान्तरहस्ये—

न शास्त्रोक्तैश्च नियमैः नियम्य क्वापि कर्हिचित् ।
ज्ञानेनाराधनं शम्भोः इदमव्याकुलात्मनाम् ॥

462 शिवधर्मेऽपि—

ज्योतिःस्मरणमात्रेण न क्षिणोति यथा तमः ।
तथा सुज्ञानरहितैः क्रियाद्यैर्न शिवो भवेत् ॥

सकायस्थलम् (५७)—

463 एवं आगमलिंगत्रैविध्यमेकीभूतलिङ्गं माहेश्वरस्य सर्वाङ्गमथनेन लिंगकायसम्बन्धस्वरूपं प्राप्तभेदः कथमित्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं सकायस्थलमित्युच्यते ।

464 बृहदारण्यकोपनिषदि—

आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमिह संज्वरेत् ? ॥

---

[460] विकल्पः–सन्देहः । अद्वयं–अद्वितीयम् । विमुक्ताः–भवबन्धनात् मुक्ताः । जीवन्मुक्ताः इति यावत् । [461] न नियम्यमिति यावत् । अव्याकुलात्मनां–स्थिरचित्तानाम् । [462] न भवेत्–तमः न क्षिणोति । [464] संज्वरेत्–दण्डनं कुर्यात् ।

---

[464] आत्मनं च (ग,च) पुरुषः (छ)

465 किञ्च छान्दोग्योपनिषदि—

शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेण संस्कुर्वन्नेतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ।

466 तथैवोक्तं त्रिकाण्डसारे—

नो चेत् स्थूलादिभिः कायैः तद्धर्मैरपि यन्त्रितः ।
भक्तिं व्यवहरन् तज्ज्ञः स सकाय ईर्यते ॥

467 किञ्च शम्भुप्रभायाम्—

धार्यते येन कायेन लिङ्गाकारः शिवः सदा ।
स एव कायस्तेनैव कायवान् परिकीर्त्यते ॥

468 देवीकालोत्तरे—

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः सन्ततं जनवर्जितः ।
अनेनैव शरीरेण सर्वज्ञः सन् प्रकाशते ॥

469 वातुलेऽपि—

एवं लिङ्गशरीरं स्यात् परनिर्वाणलक्षणम् ।
तद्भावभावितं साक्षात् तच्चरित्रं पवित्रितम् ॥

अकायस्थलम् (५८)—

470 एवं माहेश्वरस्य लिङ्गकायमथनेन निर्देहभावः कथमित्याकाङ्क्षायाम् —अनन्तरं अकायस्थलमित्युच्यते ॥

---

[466] यन्त्रितः–बद्धः । व्यवहरन्–अनुतिष्ठन् । ईर्यते–उच्यते । [467] लिङ्गाकारः लिङ्गमूर्तिः । [468] जनवर्जितः–एकान्तवासी । [469] परनिर्वाणं–उत्तमो मोक्षः । तत् लिङ्गम् ।

---

[465] लोकं जेक्ष्यन्तो (छ) [469] वातूलेऽपि (ग)

471 छान्दोग्योपनिषदि—

अस्त्यशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये स्पृशतः। अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात् समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥

472 कैवल्योपनिषदि —

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यः
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशः
न जन्मदेहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ॥

473 तथैवोक्तं स्कान्दे—

अत्यन्तदृढया भक्त्या शिवतत्त्वैकभावया ।
गतदेहादिसंसक्तिः अकाय इति गीयते ॥

474 किञ्च शैवरत्नाकरे—

तदिष्टलिङ्गं यद्धाम चिद्रूपस्य परात्मनः ।
लीनोऽत्र लिङ्गे यत्कायो निर्देहस्स महान् भवेत् ॥

---

[471] अभिनिष्पद्यते–सर्वत्र प्रकाशते । [473] भावः–चित्तम् । देहादिसंसक्तिः–देहेन्द्रियादिधर्मसंगः । [474] धाम–मूर्तिः । अत्र इष्टे ।

---

[472] देहान्तकृ (छ) [474] शिवरत्नाकरे (च) यद्धामं (छ)

परकायस्थलम् (५९)—

475 एवं अकायस्वरूपापन्नलिंगस्य सकलनिष्कलातीतकायभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायां अनन्तरं परकायस्थलमित्युच्यते ॥

476 मुण्डकोपनिषदि—

त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥

477 तथैवोक्तं वातुले—

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
उभयं प्रति यो वेद स भुञ्जानो न लिप्यते ॥

478 तथा स्वायम्भुवसूत्रे—

शिवधामार्पितस्यास्य भोगभोक्तुर्न जातुचित् ।
भोक्तृत्वमधिकारित्वं पतिकृत्यानुकारिता ॥

479 किञ्च आदित्यपुराणे—

स्वेच्छाविग्रहिणः सर्वे स्वेच्छाचाराः गणेश्वराः ।
शिवेन सह ते भोगान् भुक्त्वा यान्ति शिवं पदम् ॥

---

[476] धामसु त्रिषु–लिंगस्थानेषु । तेभ्यः–त्रिभ्यः । [477] उभयं–भोग्यं-भोक्तारं च । भुञ्जानः–भोगान् अनुभवन्नपि । [478] पतिकृत्यस्य––जगत्पतेः शिवस्य सृष्ट्यादिकृत्यानाम् । [479] गणेश्वराः–शिवशरणाः ।

---

[476] त्रिपु दामसु (ग,च) [476] वातूले (छ) त्रिपु दामसु (ग,च)
[478] शिवदामा (ग,च) प्रतिकृत्या (क) [479] विग्रहणः (च)

480 शैवरत्नाकरे—

चिदग्निप्लुष्टसंसारबीजाङ्कुरकलेबरः ।
चिल्लिङ्गालम्बनं यश्च पराख्याङ्गी स चेरितः ॥

धर्माचारस्थलम् (६०)—

481 एवं कायलिंगत्रैविध्यं एकीभूतलिङ्गं माहेश्वरस्य सद्धर्मचरित्रार्थं एकीभूतभेदः कथमित्याकाङ्क्षायाम् — अनन्तरं धर्माचारस्थलमित्युच्यते ।

482 तैत्तिरीयोपनिषदि—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ॥

483 वातुले—

आचारस्यापरित्यागः सुगृहीतस्य भक्तितः ।
अपि प्राणात्ययेनायं स धर्माचार उच्यते ॥

484 किञ्च आदित्यपुराणे—

धर्मो बहुविधः प्रोक्तः मुनिभिः तत्त्वदर्शिभिः ।
तत्राक्षयः परो धर्मः शिवधर्मः सनातनः ॥

---

[480] चिदग्निः–ज्ञानाग्निः । प्लुष्टं–दग्धम् । पराख्याङ्गी–पराभिधकायवान् ।
[482] प्रतिष्ठा–आधारः । अपनुदति–परिहरति । [483] अत्ययः–अपायः ।
[484] अक्षयः–अनपायः ।

---

[480] शिवरत्नाकरे (च) [483] आचारस्य परि (च) स्वगृहीतस्य (ग,च)
[484] बहुविदः (छ)

485 शैवपुराणेऽपि—

उपासीत शिवं शश्वत् धर्मेण विमलेन च।
शैवं पदमवाप्नोति परमानन्दमव्ययम् ॥

486 देवीकालोत्तरे—

क्रिमिकीटपतङ्गांश्च तथा देवि! वनस्पतीन्।
न नाशयेद् बुधो जीवान् परमार्थमतिर्यतः ॥

487 तथैव—

न मूलोत्पाटनं कुर्यात् पत्रच्छेदं विवर्जयेत्।
भूतपीडां न कुर्वीत पुष्पाणां च निकृन्तनम् ॥
स्वयं पतितपुष्पैस्तु कर्तव्यं शिवपूजनम् ॥

भावाचारस्थलम् (६१)—

488 एवं धर्माचारस्वरूपापन्नलिंगं माहेश्वरस्य मनःस्थले स्थिरीभूतसद्भावचारित्रं कथमित्याकाङ्क्षायाम् — अनन्तरं भावाचारस्थलमित्युच्यते।

489 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥

---

[486] पतङ्गान्–पक्षिणः। [487]निकृन्तनं–छेदनं, न कुर्यादित्यन्वेति। [488]विवर्जयेदिति। तेषामपि अन्तस्संज्ञचेतनत्वात्। [489] सः अन्यः–अतीतः सन् तत्त्वतः निश्चयात्मकं ज्ञानं याति लभते।

---

[485] उपासितशिवं (ग,च) [486] देवीकालोत्तरे (छ) तथा देवी (ग,च) परमार्थं (छ)

490 तथा स्कान्दे—

क्रियावतामपि सदा कुर्वतामपि सत्क्रियाम् ।
विगुणाः स्युः क्रियाः सर्वाः विना निश्चलभावनाम् ॥

491 लैङ्गेऽपि—

भावशुद्धिस्तु शुद्धिः स्यात् तदाचारानशेषतः ।
विशुद्धेनैव भावेन भावयेदनिशं बुधः ॥

492 वातुले—

क्रियाद्वैतं न कर्तव्यं भावाद्वैतं समाचरेत् ।
क्रिया निर्वहते या तु भावशुद्धिस्तु शाङ्करि ! ॥

493 निश्वासकारिकायाम्—

गोदोहमिषुपातं वा नयनोन्मीलमात्रकम् ।
सकृत् परपदे युक्तः न पुनर्भवमाप्नुयात् ॥

ज्ञानाचारस्थलम् (६२)—

494 एवं मनोमध्ये सद्भावचारित्रसम्बन्धिभूतलिंग माहेश्वरस्य महाज्ञानचारित्रापन्नभेदः कथमित्याकाङ्क्षायाम्— अनन्तरं ज्ञानाचारस्थलमित्युच्यते ॥

---

[491] तदाचारान्–तादृशभावाचारान् । [492] सर्वस्या अपि क्रियायाः भावसम्बन्धेनैव शुद्धता भवतीति भावः । [493] गोदोहादि तत्तत्क्रियापरिमितकालमात्रद्योतकम् । भवः जन्म ।

---

[492] निर्वहते यस्तु (ग,च)

495 छान्दोग्योपनिषदि—

आत्मसत्यात्मसाक्षी च सत्ताधर्मः प्रतापवान् ।
न स पापानि कुरुते यस्यात्मा भवति प्रियः ॥

496 तत्रैव—

सर्वभूतात्मभूतेभ्यः सम्यग् भूतानि पश्यतः ।
देवा हि मार्गे मुह्यन्ति पदज्ञानात् पदैषिणः ॥

497 तथैवोक्तं कामिकागमे—

ज्ञानातीतं परं तत्त्वं केवलं सर्वतोमुखम् ।
केवलात्मस्वरूपं तु ज्ञानरूपेण भावयेत् ॥

498 किञ्च वासिष्ठे—

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमाश्रितः ।
तदेवास्वादयत्यन्तः बहिर्व्यवहरन्नपि ॥

499 किञ्च सर्वज्ञानोत्तरे—

द्रव्याणां समदर्शी च स मुक्तः सर्वबन्धनैः ।
सर्वं शिवमयं भाति नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥

---

[495] आत्मनि स्वस्मिन् सत्यस्वरूपः यः आत्मा-परमात्मा । सत्ताधर्मः निरपाय-ज्ञानाचारयुक्तः । [496] मार्गे–ज्ञानमार्गे । पदं–शिवपदम् । [497] केवलं–शुद्धम् । [498] धीरः–ज्ञानी । तदेव–शिवतत्त्वमेव । [499] सर्वं जगत् शिवस्वरूपम् । अशिवं–शिवशून्यम् ।

---

[495] धर्मप्रतापवान् (ग,च) [496] देवापि मार्गे (ग,च) [498] तदेव स्वाद (छ)

500 तथा देवीकालोत्तरे—

पञ्चभूतात्मको देहः शिवस्तत्रैव तिष्ठति ।
शिवाद्यवनिपर्यन्तो लोकोऽयं शङ्करात्मकः ॥

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते
परमवीरशैवाद्वैतबोधिनि एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमालाविवरणाख्य-
कैवल्यसारे लिङ्गस्थलनिरूपणे गुरुलिंगस्थलं नाम
द्वितीयं प्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

—⁂—

---

500 तत्रैव–अस्मिन् देहे एव ।

---

500 देवीकालोत्तरे (ग) देहोऽशिव (ग,च)

॥ श्री शिवाय नमः ॥

कायानुग्रहस्थलम्—तृतीयं प्रकरणम्

नवविधप्रसादिस्थले प्रथमं कायानुग्रहस्थलम् (६३)—

501 एवं आचारलिंगत्रैविध्यमेकीभूतलिंगं लिंगप्रसादिनः शरीरे अवगृहीतभेदः कथमित्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं कायानुग्रहस्थलमित्युच्यते ॥

गुरुलिंगस्वरूपम् —

502 अथ भक्तदेहिकलिंगस्थलविशिष्टमाहेश्वरस्याचारलिंगत्रैविध्यस्थल एव सम्यग्विचार्यमाणे सावधानतया तदेव गुरुलिंगं भवति ॥

शिवलिंगस्वरूपम् —

503 तदेव सदाचारसम्पत्त्या शिवलिंगं भवति ॥

प्रसादित्वसिद्धिक्रमः —

504 तस्मिन्नेव शिवलिंगे सर्वार्पितभोगित्वमेव प्रसादित्वम् । तथासति तत्र अनुग्रहलिंगत्रैविध्ये अविरलो भूत्वा गुरुमहत्त्वादि शरणमहत्त्वान्तमाक्रम्यार्पितशिवलिंगत्रैविध्ये, तदात्मकः सन् प्रसादमहत्त्वमेव स्वयं भूत्वा, तनुकरणलिंगत्रैविध्ये निजस्वरूपमवलोक्य, शिवलिंगसावधानित्वेनैव प्रसादित्वसिद्धिः ॥

505 कैवल्योपनिषदि—

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः
शुचिः समग्रीवशिरश्शरीरः ।

---

[505] शरीरे इति सर्वत्रान्वेति । अत्याश्रमस्थः–आश्रमधर्मातीतः । निरुद्धय–

---

[505] निरुद्धभक्त्या (छ)

अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि
निरुद्ध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ॥

506 तथा वासिष्ठे—

भृङ्गभावनया यद्वत् कीटः स इव जायते ।
शिवभावाभियोगेन तद्वदेव भवेत् पुमान् ॥

507 योगदीपिकायां च—

यथा संस्कारसम्पत्त्या ब्राह्मणो द्विजतामियात् ।
तथोपदेशसम्पत्त्या स्यात् पुमानप्यलौकिकः ॥

508 तथा शिवरहस्ये—

सर्पदष्टस्य यद्देहं तद्देहं विषदेहवत् ।
लिङ्गदष्टस्य यद्देहं तद्देहं लिङ्गदेहवत् ॥

509 तत्रैव—

तैलयुक्तं च कार्पासं ज्योतिःस्पर्शेन ज्योतिवत् ।
स्नेहयुक्तश्च सद्भक्तः लिङ्गस्पर्शेन लिङ्गवत् ॥

इन्द्रियानुग्रहस्थलम् (६४)—

510 एवं प्रसादिशरीरावगृहीतलिंगं तस्य सर्वेन्द्रियमुखसम्बन्धीभूतभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं इन्द्रियानुग्रहस्थलमित्युच्यते ।

अन्तर्नियम्य । प्रणम्येति–उत्तरक्रियान्वयि । [506] स इव–भृंगोपमः । अभियोगेन–भावनया । तद्वदेव—शिवोपमः । [507] अलौकिकः–लोकधर्मातीतः । [508] लिंगदष्टस्य–व्याप्तलिंगधर्मणः । [509] ज्योतिवत्–ज्योतिर्वदिति यावत् ।

---

[507] अथोपदेश (च)

511 श्वेताश्वतरोपनिषदि—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥

512 शिवाद्वैते—

बहिर्मुखानीन्द्रियाणि जनयन्ति भवोदयम् ।
अन्तर्मुखानि तान्येव संसारक्षयहेतवः ॥

513 स्कान्दे—

मनोबुद्धिरहङ्कारः इन्द्रियाणि गुणत्रयम् ।
न स्पृशन्ति महात्मानं विकारास्तस्य नैव हि ॥

514 भगवद्गीतायाम्—

रागद्वेषविहीनैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

प्राणानुग्रहस्थलम् (६५)—

515 एवं सर्वेन्द्रियसम्बन्धलिंगेन प्रसादिनः प्राणस्थलालिंगितभेदः

---

[511] हृदि संनिवेश्येत्यन्वयः । ब्रह्मोडुपेन—परब्रह्मात्मकनावा । स्रोतांसि—दुःखप्रवाहान् । [512] भवोदयं—संसारोत्पत्तिम् । [513] विकाराः—जन्मजरादिविकाराः । [514] विहीनैरिन्द्रियैरित्यन्वयः । चरन्—अनुभवन् । विधेयात्मा—वश्यचित्तः ।

---

[511] हृदिन्द्रियाणि (ग,च) स्रोतांसि (ग,च) [513] विकारस्तस्य (छ)
[515] प्रसादिनः प्राणलिंगस्थलभेदः (ख)

कथमित्याकांक्षायाम्— अनन्तरं प्राणानुग्रहस्थलमित्युच्यते ॥

516 कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि—

योवै प्राणः सा प्रज्ञा, या प्रज्ञा स प्राणः सहैतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः ॥

517 तथा चन्द्रावलोकने—

यत्र दृष्टे मनःस्थैर्यं यत्र चैव हि मारुतः ।
लीनः क्वापि भवेदेवं तस्यायं स्यादनुग्रहः ॥

518 किञ्च स्कान्दे—

यथा लोहः सुवर्णत्वं प्राप्नोत्यौषधयोगतः ।
आत्मध्यानात् तथा प्राणः परमात्मत्वमाप्नुयात् ॥

कायार्पितस्थलम् (६६)—

519 एवं अनुग्रहलिंगत्रैविध्यमेकीभूतलिंगं लिंगप्रसादिनः शरीरार्पित मुखलिंगभूतभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं कायार्पित-स्थलमित्युच्यते ॥

520 प्रश्नोपनिषदि—

अथ यथैतस्मिन् शरीरे सुखं भवति स यथा सौम्य वयांसि वासवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते,एवं ह वै तत्सर्वं परे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥

---

[516] प्रज्ञा–विवेकवान् । [517] यत्र–परे ब्रह्मणि । अयं–प्राणसम्बन्धी ।
[520] वयांसि–पक्षिणः । संप्रतिष्ठन्ते–अभिमुखतया गच्छन्ति । एवं परमात्मानं

---

[516] प्राणः सा प्रज्ञया प्रज्ञा (ग,च) [517] यत्र दृष्टिर्मनः (ग,च) लीनं क्वापि (ग,च
[520] अथ यदेतस्मिन् (ग,च) स तथा सौम्य (च) सोम्य (छ) वासौवृक्षं (ग,च) एवं ह वै हि तत्सर्वं (छ)

521 तथैवोक्तं शिवरहस्ये—

यदा योगी निजं देहं शिवाय विनिवेदयेत् ।
तदा भवति तद्रूपं शिवरूपं न संशयः ॥

522 किञ्च बृहत्कालोत्तरे—

संयोगेषु वियोगेषु चाणुमात्रसुखानि च ।
यः कुर्यादिष्टलिङ्गे च सावधानी निरन्तरम् ॥

523 तथा योगजागमे—

यदा शिवाय स्वात्मानं दत्तवान् देशिकात्मने ।
तदा शैवो भवेद्देवि ! न ततोऽस्ति पुनर्भवः ॥

524 किञ्च शिवयोगदीपिकायाम्—

चक्षुः प्रीतिविधायीनि प्रेक्षणीयानि यानि च ।
तानि देहेन सम्पाद्य शिवाय प्रेक्षयेत् सदा ॥

करणार्पितस्थलम् (६७)—

525 एवं शरीरे अर्पितमुखापन्नलिंग प्रसादिनः अन्तःकरणे अर्पितमुखं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं करणार्पितस्थलमित्युच्यते ।

प्रति अभिमुखीभूय एकीभवन्ति । [521] तद्रूपं–तज्जीवस्वरूपम् । [522] सावधानी सः सावधानभक्तिमान् भवेत् । सः प्रसादी । [523] देशिकात्मने–शिवस्वरूपाय । [524] प्रेक्षयेत्–निवेदयेदित्यर्थः ।

---

[522] सावधानि (ग,च) [523] भवेद्देवी (ग,च)

526 कठवल्ल्युपनिषदि—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सह ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥

527 तत्रैव—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

528 इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुः मनीषिणः ॥

529 तथैवोक्तं शिवरहस्ये—

तदन्तःकरणं येन क्रियतेऽन्तः शिवेऽखिलम् ।
यस्यार्पितेऽन्तःकरणं स प्रोक्तः करणार्पकः ॥

530 शैवरत्नाकरे—

यदिन्द्रियगतं किञ्चित् यत् सुखं तच्छिवार्पितम् ।
तत्प्रसादं च भोक्तव्यं तदिन्द्रियमुखेन च ॥

531 वासिष्ठे—

एवं विरक्तः स्वेनैव मनसा तत् समर्पयेत् ।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिकम् ॥

---

[526] युक्तेन–योगविशिष्टेन । [527] प्रग्रहमेव–रज्जुमेव । [529] क्रियते–अर्प्यते । अन्तः–अन्तर्वर्तमानं मनोभावात्मकं सर्वम् । [530] इन्द्रियागतं–इन्द्रियद्वारा प्राप्तम् । अस्य च सुखे अन्वयः । [531] स्वेनैव मनसा–न तु परप्रेरणया ।

---

[526] सदश्व इव (छ) [528] हयान्याहुः (ग,च) विषयान्तेषु (ग) विषयास्तेषु (च)
[530] यदिन्द्रियगतं (छ) [53] स्पर्शनप्राणं (छ)

भावार्पितस्थलम् (६८)—

532 एवं अन्तःकरणे समर्पितसुखं प्राप्तलिंगं प्रसादिनः सर्वाङ्गेषु स्वयमेव सर्वार्पितप्राप्तभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं भावार्पितस्थलमित्युच्यते ।

533 मैत्रेयोपनिषदि—

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत् परमं पदम् ॥

534 तथा शिवरहस्ये—

यत्र भावस्य भाव्यं स्यात् शिवाय परमात्मने ।
समर्प्यतेऽग्र्यमादौ यत् तद्भावार्पितमिष्यते ॥

535 तत्रैव—

चित्तस्थितपदार्थौघमननं यस्य मानसम् ।
अर्प्यते तन्मनोभावः स स्यात् भावार्पकः शिवे ॥

536 किञ्च रुद्रयामले—

ईश्वरार्पितभावत्वात् प्रियसंसर्गसम्भवैः ।
विकारैरनतिस्पृष्टः भावयुक्तो भवेद्बुधः ॥

---

[533] लयः–तामसी निद्रादिः । विक्षेपः–चाञ्चल्यम् । [535] पदार्थौघः–पदार्थानां समूहः । [536] अनतिस्पृष्टः–अत्यन्तमपीडितः ।

---

[533] यात्युन्मनिभावं (ग,च) यदात्मन्युन्मनीभावं (ख) तथा तत् (छ)
[534] भावस्य भावं (छ) समर्पितेऽग्र्य (छ) [536] रनतिस्पृष्टं (छ) रनतिस्पृष्ट (छ)

537 तथा वासिष्ठे—

संसर्गं प्रियवर्गस्य शिवस्यैवेति भावयन् ।
अहङ्कारप्रहाणेन भावशुद्धिं च विन्दति ॥

538 किञ्च विमर्शनसाहस्र्याम्—

सर्वेषामर्पको भावः तं भावं परमे शिवे ।
समर्पितवतः सम्यक् किमन्यदवशिष्यते ॥

539 वातुले—

सर्वाङ्गं लिङ्गमेव स्यात् अन्नपानाद्यमर्पितम्।
प्रसादस्तृप्तिरेव स्यात् सर्वं लिङ्गमयं भवेत् ॥

540 तत्रैव—

भोक्ता भोग्यं भोजयिता सर्वमेतच्चराचरम् ।
भावयन् शिवरूपेण शिवो भवति वस्तुतः ॥

शिष्यस्थलम् (६९)—

541 एवं अर्पितलिङ्गत्रैविध्यस्थलं एकीभूतलिंगं प्रसादिनि उपदेशमुखेन शिष्यभावं प्राप्तभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं शिष्य-स्थलमित्युच्यते ॥

542 मुण्डकोपनिषदि—

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥

---

[537] शिवस्यैवेति–शिवसम्बन्धीति । [540] भोक्ता-भोगानुभववान् । भोजयिता भोगप्रेरकः । एतत्त्रयरूपं–सर्वं चराचरमेतत् शिवरूपेण भावयन् इत्यन्वयः ।
[542] एनं–गुरुम् । सर्वगं-सर्वत्रव्याप्तं शिवम् ।

---

[539] लिंगमयो भवेत् (ग,च) [542] सम्प्राप्येनमृ (ग,च) वीतरागः (छ) धीरः [छ] युक्तात्मनस्सन्तः सर्वं (ग,च)

543 तथा वातुले—

आक्रुष्टास्ताडिता वाऽपि ये विषादं न यान्ति हि ।
ते योग्याः संयताः शिष्याः शिवसंस्कारकर्मणि ॥

544 शिवाद्वैते—

प्रह्वीभावं समासाद्य मनोवाक्कायकर्मभिः ।
गुरुभक्तिः सदा यस्य स शिष्य इति कथ्यते ॥

545 तत्रैव—

ऋजवो मृदवः शुद्धाः विनीताः स्थिरचेतसः ।
शौचाचारसमोपेताः शिष्यास्त्वत्र प्रकीर्तिताः ॥

546 शम्भुप्रभायाम्—

प्रशान्तं गुरुमभ्येत्य शिवज्ञानामृताम्बुधिम् ।
भजते सततं यस्तु स शिष्य इति कथ्यते ॥

शुश्रूषास्थलम् (७०)—

547 एवं शिष्यभावापन्नलिंगं प्रसादिनः अंगे शुश्रूषाभावं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम् —शुश्रूषास्थलमित्युच्यते ॥

548 प्रश्नोपनिषदि—

स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नः महिमानमनुभवति ॥

---

[543] संयताः–इन्द्रियसंयमविशिष्टाः । [544] प्रह्वीभावं–अनुकूलताम् । [546] गुरुं भजते सेवते इत्यन्वयः । [548] महिमानं गुरोरानन्दानुभवम् ।

---

[543] योग्याः संयुताः (छ) [544] प्रह्विभावं (ग,च) [545] शुद्धः (ग,च) शिष्यास्तेऽत्र (ग,च) [546] अयं श्लोकः ग,च-पुस्तकयोः न दृश्यते ।

549 किञ्च केनोपनिषदि—

यावदुपाधिपर्यन्तं गुरुं शुश्रूषयेत् ॥

550 किञ्च पारातश्रुतौ—

तस्माच्छुश्रूषुः पुत्राणाँ हृद्यतमः नेदिष्ठो नेदिष्ठो ब्रह्मणो भवति ।

551 तथैवोक्तं सिद्धान्तशेखरे—

गुरुशुश्रूषणं कार्यं गुरोर्वाक्यानुवर्तनम् ।
सदागुरुपरो नित्यं गुरोराज्ञां न लङ्घयेत् ॥

552 किञ्च सूतसंहितायाम्—

परमाद्वैतविज्ञाननिष्ठस्य परयोगिनः ।
शुश्रूषा शुद्धविद्यायाः साधनं न हि संशयः ॥

553 मानवपुराणे—

शिवे क्रुद्धे गुरुस्त्राता गुरौ क्रुद्धे न कश्चन ।
तस्मादिष्टं गुरोः कार्यं कायेन मनसा गिरा ॥

554 यजुर्वेदे—

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य ॥

सेव्यस्थलम् (७१)—

555 एवं शुश्रूषाभावापन्नलिङ्ग प्रसादिनः शरीरे इतरेतराध्यासरहित-

---

[550] शुश्रूषुः गुरुसेवारतः । नेदिष्ठः अन्तिकतमः । [552] परमाद्वैतं–शिवाद्वैतम् । [553] गुरोरिष्टमित्यन्वयः ।

---

[549] कैवल्योपनिषदि (छ) [550] परातश्रुतौ (छ) [552] शुश्रूषाः शुद्धा (ग,च)
[553] मनसा गिरौ (ग,च) [554] अयं भागः ग,च-पुस्तकयोः न दृश्यते।

गुरुशिष्यसामरस्यं प्राप्तभेदः कथम्? इत्याकांक्षायाम्—अनन्तरं सेव्यस्थलमित्युच्यते ।

556 मुण्डकोपनिषदि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

557 तथैवोक्तं वातुले—

तस्मिन् दृष्टे परे लिङ्गे निष्कले निरुपाधिके ।
अस्य जीवस्य कर्माणि क्षीयन्ते सकलानि वै ॥

558 अविद्याहृदयग्रन्थिः भिद्यते शतधाऽपि च ।
संशयाः बहुसङ्कल्पाः छिद्यन्ते च सहस्रधा ॥

559 ग्रन्थान्तरे—

उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः ।
स एवाहं स्वप्रकाशः भाति विश्वप्रकाशकः ॥

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते परम-वीरशैवाद्वैतबोधिनि एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमालाविवरणाख्य-कैवल्यसारे लिङ्गस्थलनिरूपणे कायानुग्रहस्थलं नाम तृतीयं प्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

—o—

[557] निष्कले—कलातीते । [558] बहुसङ्कल्पाः—बहुविधाः स्वतन्त्राः निष्फलाः सङ्कल्पाश्चेत्यर्थः । [559] ते—शिवप्रकाशकाः उपायाः । स एव—तादृश-शिवस्वरूपेणैव, अहं—अहमिति भासमानः अयं जीवः ।

[557] वातूले (छ) [559] शिवे भाति (छ)

॥ श्री शिवाय नमः ॥

जङ्गमलिङ्गस्थलम्—चतुर्थं प्रकरणम्

द्वादशविधप्राणलिंगस्थले प्रथमं जीवात्मस्थलम् (७२)—

560 एवं तनुगुणलिंगत्रैविध्यमेकीभूतलिङ्गं प्राणलिंगिनि जीवभावनिवृत्तिं कृत्वा लिंगसञ्जीवसम्यक्त्वं प्राप्तभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं जीवात्मस्थलमित्युच्यते ।

पूर्वोत्तरसंगत्युपपादनम् —

561 अथैवम्भूतप्रसादिनि स्वस्य साकारत्रितये लिङ्गत्वेन भक्तो भूत्वा, तद्भक्तलिंगे जङ्गममेव चैतन्यमिति ज्ञात्वा, तस्मिन् जंगमलिङ्गे अनुभवभक्त्या समरसभूतप्राणलिङ्गी आत्मलिङ्गत्रैविध्येन प्राणलिंगी भूत्वा, प्राणलिंगार्चकः सन् शिवयोगसमाधिं प्राप्य, निजरूपलिंगत्रैविध्येन लिङ्गं निजमनुसन्धाय, तल्लिङ्गनिजेन प्रसादलिङ्गत्रैविध्ये स्थित्वा तत्प्रसादलिंगमेवाङ्गमिति ज्ञात्वा, पादोदकलिंगत्रैविध्ये समरसत्वं गतः सन्, प्राणलिंगिस्वरूपं प्राप्तः ॥

562 वृद्धजाबालोपनिषदि—

सकलङ्कत्व-जन्मवत्त्व-दुःखित्वादिकं जीवस्वरूपं, तदनभिज्ञत्वमहङ्कारः, सः तेनाविष्टः स्वर्गनरकभोक्ता संसारसागरनिमग्नः मिथ्याभिमानी जीवः किल्बिषाश्रयः पुनःपुनरुत्पद्यते ॥

---

[562] जीवस्वरूपं—बद्धजीवस्वरूपमित्यर्थः । किल्बिषं—अविद्यामूलं पापम् । उत्पद्यते—पाञ्चभौतिकदेहसम्बन्धरूपं जन्म प्राप्नोति ।

---

[562] दुःखत्वादिकं (च) मिथ्याभिमानिजीवः (छ)

563 किञ्च बृहदारण्यकोपनिषदि—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

564 तथैवोक्तं स्वायम्भुवसूत्रे—

कलोद्वलितचैतन्यः विद्यादर्शितगोचरः ।
रागेण रञ्जितश्चापि बुद्ध्यादिकरणैर्युतः ॥

565 मायाद्यवनिपर्यन्ते तत्त्वभूतात्मवर्त्मनि ।
भुङ्क्ते तत्र स्थितो भोगान् भोगैकरसिकः पुमान् ॥

566 किरणागमे—

अनादिमलसम्बन्धात् किञ्चिदज्ञो मयोदितः ।
अनादिमलमुक्तत्वात् सर्वज्ञोऽसौ ततः शिवः ॥

567 ग्रन्थान्तरे—

जीवः शिवः शिवो जीवः सज्जीवः केवलः शिवः ।
पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥

568 पुनरन्यत्र—

हंसहंसेति यो ब्रूयात् हंसो नाम सदाशिवः ॥

---

[563] वालः–कण्टकविशेषः । [564] उद्वलितं–अभिव्यञ्जितम् । [566] किञ्चिद्-ज्ञोऽणुर्मयोदितः इति ग-पाठः उचितः । [567] सज्जीवः सत्स्वरूपः जीवः ।

---

[564] कलोद्वलित (ग,च) किरणागमेऽपि (छ) [566] किञ्चिद्ज्ञोऽणुर्मयो (ग, च)
[567] सजीवं केवलं (छ)

अन्तरात्मस्थलम् (७३)—

569 एवं जीवभावनिवर्तकलिङ्गं प्राणलिंगिनि आत्मविवेकं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं अन्तरात्मस्थलमित्युच्यते ।

570 कठवल्ल्युपनिषदि—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥

571 किञ्च ब्रह्मोपनिषदि—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

572 तथैवोक्तं सूतसंहितायाम्—

चराचरात्मकमिदं यत्र विश्वं महेश्वरे ।
अध्यात्मचिन्तया ग्राह्ये सूत्रे मणिगणा इव ॥

573 ग्रन्थान्तरे—

वर्तमानोऽपि न पुमान् युज्यते वस्तुभिर्गुणैः ।
शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादिभिः ॥

---

[571] चेता–चित्स्वरूपः । [573] देहे एव वर्तमानोऽपि शुद्धश्चेत् न युज्यते इत्यन्वयः ।

---

[571] भूतादिवासः (छ) [572] आध्यात्म (छ) [573] न पुमान् न युज्यते (घ)

574 किञ्च शिवसूत्रे—

पुर्यष्टकसमायोगात् विचरन् सर्वमूर्तिषु ।
रङ्गोऽन्तरात्मा विज्ञेयः नृत्यतः परमात्मनः ॥

परमात्मस्थलम् (७४)—

575 एवं अन्तरात्मस्वरूपापन्नलिङ्गं प्राणलिंगिनः विवेकस्वरूपपरमात्मानमावृत्य स्थितभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं परमात्मस्थलमित्युच्यते ।

576 बृद्धजाबालोपनिषदि—

दहराकाशमध्यस्थसहस्रदलशोभिते ।
स्फुरत्केसरसंश्लिष्टकर्णिके च सरोरुहे ॥

577 सोमसूर्याग्निमण्डले निवातदीपोपस्थायी निस्सङ्गः सर्वकर्मसाक्षी परमात्माऽवतिष्ठते ॥

578 किञ्च नारायणोपनिषदि—

दहरं विपाप्मं परवेश्मभूतं
यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम् ।
तत्रापि दहरं गगनं विशोकः
तस्मिन् यदन्तः तदुपासितव्यम् ॥

---

[574] पुर्यष्टकेति । शब्दःस्पर्शश्च रूपश्च रसो गन्धश्च पञ्चमः । बुद्धिर्मनस्त्वहङ्कारः पुर्यष्टकमुदाहृतम् । [576] दहराकाशः–चिदाकाशः । [577] उपस्थायी –सदृशः । [578] दहरं–दहराकाशः । परवेश्म–परमात्मस्थानम् । पुरं देहः ।

---

[574] नृत्यन्तःपर (छ) [576] संक्लिष्ट (छ) [577] निस्संगस्सर्वकर्म (छ) मात्माऽवतिष्ठति (छ) [578] दहरं विपापं (ग,च) परमेश्म (च)

579 तथैवोक्तं ग्रन्थान्तरे—

संज्ञापितस्य वै नास्ति न रूपं न च कल्पना ।
स सर्वभूतानुगतः परमात्मा सनातनः ॥

580 अङ्गलग्नेऽपि वातादौ स्पर्शाद्यनुभवं विना ।
जीवतश्चेतसो रूपं तद्रूपं परमात्मनः ॥

581 आत्माऽयं केवलः स्वस्थः शान्तः सूक्ष्मः सनातनः ।
अस्ति सर्वान्तरे साक्षी चिन्मात्रः तमसः परः ॥

582 वातुले—

स पश्यति शरीरं तत् शरीरं तं न पश्यति ।
तौ पश्यति परः कश्चित् तावुभौ तं न पश्यतः ॥

निर्देहागमस्थलम् (७५)—

583 एवं आत्मलिङ्गत्रैविध्यमेकीभूतलिङ्गं प्राणलिंगिनः निर्देहस्वभावचारित्र्यं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं निर्देहागमस्थलमित्युच्यते ।

584 छान्दोग्योपनिषदि—

एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः विशोकोऽविजुगुप्सोऽपिपासुः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः ॥

---

579 संज्ञा तु तस्य वै इति ग-पाठः युक्तः । 580 स्पर्शाद्यनुभवशून्यम् । 581 स्वस्थः–निश्चलः । सनातनः नित्यः । 582 सः जीवः । परः–परमात्मा । तौ–जीवशरीरे । तं परमात्मानम् । 584 अविजिघत्सः इति ग-पाठः मूले ।

---

579 संज्ञा तु तस्य (ग,च) 581 आत्मा यः केवलः (ग,च) आस्ते सर्वान्तरे (ग,च) 582 शरीरं तं पश्यति (च) 584 विशोकोऽविजिघत्सो (ग,च)

585 तथा सिद्धान्तरहस्ये—

पृथिव्यां यानि भूतानि जिह्वोपस्थपराणि च ।
जिह्वोपस्थपरित्यागी निर्देहः स महेश्वरः ॥

586 तथा शैवपुराणे—

शिवपूजोपकरणं देहं यः कुरुते नरः ।
सोऽचिरेणैव कालेन विदेहो जायते नरः ॥

587 किञ्च स्कान्दे—

तत्फलं देहलाभस्य येन संसेव्य शङ्करम् ।
न पुनर्देहसम्बन्धं देही यत् प्राप्नुयादिति ॥

588 वासिष्ठे—

वासनारहितैरन्तरिन्द्रियैराहरन् क्रियाः ।
न विक्रियामवाप्नोति भवक्षोभशतैरपि ॥

निर्भावागमस्थलम् (७६)—

589 एवं निर्देहचारित्रीभूतलिंगं प्राणलिंगिनि निर्भावचारित्रं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं निर्भावागमस्थलमित्युच्यते ।

590 मैत्रेयोपनिषदि—

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाद्भावः स्वयोनावुपशाम्यति ॥

---

[586] विदेहः—देहबन्धरहितः । [588] आहरन्—कुर्वन् । [590] निरिन्धनः—काष्ठरहितः । वृत्तिः—बहिः प्रसरः । स्वयोनौ—परमशिवे ।

---

[585] निर्देही स महे (ग,च) [587] देहि यस्मा (ग,च) [588] रहरन् क्रियाः (छ) सविक्रिया (च) [590] स्वयोनावुपशाम्यते (छ)

591 तथैवोक्तं वासिष्ठे—

यदा न भाव्यते भावः क्वचित् जगति वस्तुनि ।
तदा हृदम्बरे शून्ये कथं चित्तं प्रजायते ॥

592 तत्रैव—

न जायते न म्रियते किंचिदत्र जगत्त्रये ।
न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते ॥

नष्टागमस्थलम् (७७)—

593 एवं निर्भावचारित्रापन्नलिङ्गं प्राणलिङ्गिनि विलीनतच्चरित्रं सदा-गमविरहितत्वं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्— अनन्तरं नष्टागमस्थलमित्युच्यते ।

594 मैत्रेयोपनिषदि—

तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावत् क्षयं गतम् ।
एतद्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः ॥

595 तथैवोक्तं शिवरहस्ये—

पुनर्भवाधिकारश्च मुक्तस्येह न विद्यते ।
यथा दग्धस्य बीजस्य प्ररोहो नात्र दृश्यते ॥

---

[592] यः परमात्मा इति शेषः । भावविकाराणां अन्येषामपि । [594] क्षयं गतम् । मन इति शेषः ।

---

[591] तथा हृदम्बरे (छ)

596 तथा योगजागमे—

अक्रियैव परा पूजा मौनमेव परो जपः ।
अचिन्तैव परं ध्यानं अनिच्छैव परं फलम् ॥

597 तत्रैव—

योगश्च निद्रा, क्रतवश्चरित्रं,
स्वेच्छासनं देवमहानिवेद्यम् ।
लीलार्पणं देवपवित्रदानं,
जपः प्रलापः, शयनं प्रणामः ॥

598 पुनस्तत्रैव—

कृतिः सेवा, गतिर्यात्रा मतिश्चिन्ता वचः स्तुतिः ।
अहो सर्वात्मना शम्भोः सुधियां सर्वथाऽर्चनम् ॥

599 शिवरहस्ये—

या या चेष्टा समुत्पन्ना जायते शिवयोगिनाम् ।
सा सा पूजनमीशस्य सर्वदा तद्गतात्मनाम् ॥

600 ग्रन्थान्तरे—

तुर्यके तु परावस्था तुर्यातीते तु निर्जना ।
सा नष्टा या दशा दृश्या नष्टयोः दृष्टिदृश्ययोः ॥

---

[597] योगः ध्यानप्रधानः । क्रतवः-पूजाः । चरित्रं-परिशुद्धो व्यवहारः । स्वेच्छासनं-स्वेच्छानुसारेण वर्तनम् । देवस्य पवित्रारोपणोत्सवः ।
[598] शम्भोरिति सर्वत्रान्वेति । [600] तुर्यके-तुरीयावस्थायाम् । या दशा

---

[596] मौनमेव परं जपः (ग,च) [598] अहो सर्वात्मनः शम्भोः (छ) सुधीयां (ग,च)
[600] दृश्यनष्टयोः (क)

601 किञ्च वातुले—

शब्दब्रह्म ज्ञानं, निःशब्दब्रह्म, सत्क्रियानिष्ठा ।
शब्दब्रह्म यदुक्तं निःशब्दब्रह्म तच्चरति तूष्णीम् ॥

आदिप्रसादिस्थलम् (७८)—

602 एवं निरूपितलिङ्गत्रैविध्यमेकीभूतलिङ्गं प्राणलिंगिनि सुखप्रसाद-स्वरूपं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं आदि-प्रसादिस्थलमित्युच्यते ॥

603 परमहंसोपनिषदि—

सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिमुपरमते य आत्मन्येव स्थीयते यत् पूर्णानन्दैकबोधसद्ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ॥

604 कठवल्ल्युपनिषदि—

अणोरणीयान् महतो महीमान्
आत्मागुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोकः
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥

605 तथैवोक्तं शिवरहस्ये—

गुरुवाक्यामृतास्वादात् अपुनर्भवहेतुकात् ।
य आनन्दमवाप्नोति स प्रसादीति कथ्यते ॥

दृश्या इति छेदः । [601] ज्ञानस्य शब्दब्रह्मेति, सत्क्रियानिष्ठायाः निःशब्द-ब्रह्मेति च संज्ञा । [604] गुहायां-हृदयाकाशे । अक्रतुं-क्रतुफलगोचरम् । धातुः—तस्यैव परब्रह्मणः । महिमानं-प्रकाशस्वरूपम् ।

---

[601] तच्चरति तुष्टिम् (ग,च) [603] आत्मन्येवावस्थीयते(ग,च) [605] स प्रासादीति(ग,च)

606 शैवरत्नाकरे—

शिवभावप्रसङ्गेन प्रसादी सोऽभिधीयते ।
यस्य प्रियेषु वीतस्य सर्वत्रोपरतं मनः ॥

607 ग्रन्थान्तरे—

यस्यातिविश्रुतार्थानां इन्द्रियाणां प्रभावतः ।
शिवभावप्रसन्नः स्यात् स प्रसादीति गीयते ॥

608 किञ्च सिद्धान्तशेखरेऽपि—

परेण भावयोगेन प्रसीदति महेश्वरः ।
तस्मादस्य शिवो भावः स प्रसादीति कथ्यते ॥

609 वातुले—

अस्यात्मनः क्रियाः सर्वाः लिङ्गार्पिततया स्थिताः ।
स्वस्मिन्नेव स्वयं याति विश्रान्तिं सुखलक्षणम् ॥

अन्त्यप्रसादस्थलम् (७९)—

610 एवमादिप्रसादस्वरूपापन्नलिङ्गं प्राणलिंगिनि प्राणप्रसादस्वरूपं प्राप्त-भेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं अन्त्यप्रसादस्थल-मित्युच्यते ॥

---

[606] वीतस्य—सङ्गशून्यस्य । [607] विश्रुताः—प्रसिद्धाः । [608] परेण—अत्युत्कृष्टेन । शिवो भावः—शिवमयोभावः । [609] अस्य—प्रसादिनः । आत्मनः—स्वस्य ।

---

[607] स प्रसादीति गम्यते (ग,च) [608] तस्माद्यस्यसिवभावः (ग,च)
[609] स्वयं यान्ति (ग,च) विश्रान्तिं च सुलक्षणम् (ग,च)

611 कैवल्योपनिषदि—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत् प्रकाशते ।
तद्ब्रह्माऽहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥

612 तथैवोक्तं वातुले—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिसर्वावस्थासु सर्वदा ।
लिङ्गार्पितोपभोगेन निर्लेपोऽयं न संशयः ॥

613 शिवाद्वैते—

संविदेव परा तृप्तिः भावपर्यन्तभासुरा ।
तथैव तृप्तो यस्सोऽन्त्यप्रसादीति निगद्यते ॥

614 किञ्च वासिष्ठे—

चिन्मात्रत्वं प्रयातस्य तीर्णमृत्योः स्वचेतसः ।
यो भवेत् परमानन्दः केनासावुपमीयते ॥

सेव्यप्रसादिस्थलम् (८०)—

615 एवं अन्त्यप्रसादस्वरूपापन्नलिङ्गं प्राणलिंगिनि तृप्तिं प्राप्तमेद कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं सेव्यप्रसादिस्थलमित्युच्यते ।

616 मैत्रेयोपनिषदि—

अथ य एष सम्प्रसादः अस्मात् शरीरात् समुत्थाय

---

[612] लिङ्गसमर्पितस्य वस्तुनः उपभोगेनेत्यर्थः । [613] संवित्–सम्यग् ज्ञानम् । भावपर्यन्तभासुरा–ध्यानान्ते भासमाना । [616] सम्प्रसादः–समीचीनः प्रसादः ।

---

[611] 'कैवल्योपनिषदि' इति नास्ति (छ) [614] प्रयातस्यातीर्णं (छ) मृत्युस्वचेतसः (छ) [616] अथ एष (ग,च)

परञ्ज्योतिरूपमुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्मेति ॥

617 शिवसूत्रे—

तृप्तिः सङ्कोचविषयः पूर्णभावात् परात्मनः ।
तथैव तृप्तः तृप्तः स्यात् न सुधास्वादनादिभिः ॥

618 शिवाद्वैते—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य किमन्यैः भोज्यराशिभिः ।
ज्ञानमेव परानन्दं प्रकाशयति शैवकम् ॥

619 किञ्च शिवधर्मोत्तरे—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य भक्त्या च विवशात्मनः ।
नैवास्ति किंचित् कर्तव्यं अस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

620 शैवरत्नाकरे—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
अन्तर्न च बहिस्तुष्टया कृतमस्ति कदाचन ॥

621 ज्ञानोत्तरेऽपि—

नान्तःशरीर एवायं बाह्य एव न संस्थितः ।
महानन्दप्रसादोऽयं सर्वत्रैवावभासते ॥

[617] तथैव–तेनैव प्रकारेण । [618] शैवकं ज्ञानमेवेत्यन्वयः । [620] बहिस्तृष्णा-कृत्यमिति 'ग' पाठः युक्तः ।

---

[617] सुधासाधनादिभिः (ग,च) [620] तमश्लोकानन्तरं [619] तमः श्लोकः दृश्यते (क,च)

622 किञ्च वासिष्ठे—

आनन्दलक्षणा तृप्तिः निरुपाधितया स्थिता ।
तदुत्थानन्दसान्द्रत्वं ज्ञानामृतमुदीरितम् ॥

623 तत्त्वसारे—

पिण्डे मुक्ताः पदे मुक्ताः रूपे मुक्ताः षडानन ! ।
रूपातीते तु ये मुक्ताः ते मुक्ताः तृप्तिमागताः ॥

दीक्षापादोदकस्थलम् (८१)—

624 एवं प्रसादलिङ्गत्रैविध्यमेकीभूतलिङ्गं प्राणलिंगिनः मलत्रयनिर्हरणार्थं पादोदकस्वरूपं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं दीक्षापादोदकस्थलमित्युच्यते ॥

625 ऐतरेयोपनिषदि—

अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् । अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या सन्धिः । प्रवचनं सन्धानम् ।

626 ऋग्वेदे—

आप्मानं तीर्थं क इह प्रवोचद्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत् सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्मा अधिष्ठितं तावति वाक् ॥

---

[622] तदुत्थं–तृप्त्युत्थम् । सान्द्रत्वं–पूर्णत्वम् । [623] पिण्डे–देहे । पदे–स्थाने ।
[626] आप्मानं–पादोदकरूपम् । उक्था–नियतनिष्ठा ।

---

[626] पञ्चदशान्युक्ता (छ) तावति वाक् (छ)

627 तथैवोक्तं शिवरहस्ये—

अविभक्तसुधास्वादा निर्वृतिर्या परात्परा ।
दुर्लभा देहिनां साक्षात् दीक्षापादोदकं हि तत् ॥

628 योगशास्त्रे—

निरूढशिवसद्भावरसेन विमलेन यः ।
परेण पावनीभूतः किं तस्यान्यत्क्रियादिकैः ॥

629 किञ्च शिवरहस्ये—

शोषणं पापपङ्कस्य दीपनं ज्ञानतेजसः ।
गुरुपादोदकं चित्रं संसारद्रुमनाशनम् ॥

शिक्षापादोदकस्थलम् (८२)—

630 एवं दीक्षापादोदकस्वरूपापन्नलिंग शिक्षागुरुतत्त्वे दृष्टपादोदक-स्वरूपं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्— अनन्तरं शिक्षा-पादोदकस्थलमित्युच्यते ॥

631 तैत्तिरीयोपनिषदि—

चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि ।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूताः अतिपात्मानमरातिं तरेम ॥

---

[627] अविभक्तः–अपृथक्कृतः । निर्वृतिः–सुखम् । [628] निरूढः–दृढतया स्थितः । [629] संसारद्रुमः–संसाररूपो वृक्षः । [631] विततं–सर्वत्र व्याप्तम् । अतिपाप्मानं–अतिशयितं पापराशिम् ।

---

[627] दुर्लभो (ग,च) देहिना (ग,च) [628] तस्यान्यक्रियादि (ग,च)

632 पारातश्रुतौ—

लोकस्य द्वारमर्चिमत्पवित्रम्
ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत् ।
अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानम्
चरणं नो लोके सुधितां ददातु ॥

633 तथैवोक्तं सिद्धान्तशेखरे—

अविद्यामूलनाशाय जन्मकर्मनिवृत्तये ।
ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं गुरुपादोदकं पिबेत् ॥

634 शिवसूत्रे—

प्रत्यक् स्रोतसि सतत प्रवृत्तनिजधाम्नि निर्मले गगने ।
अवगाह्यानन्दमये स्नातो निःशेषमृष्टदृश्यमलः ॥

635 किञ्च स्वात्मयोगप्रदीपिकायाम् —

तत्तद्धृषीकविषयाख्यतरङ्गसङ्घ-
सङ्क्षुब्जं निजमनोमरुतोपनीतम् ।
यत्सौख्यविन्दुमुपजीवति जीवलोकः
सोऽनन्तसत्यसुखबोधसुधाब्धिरस्मि ॥

ज्ञानपादोदकस्थलम् (८३)—

636 एवं शिक्षापादोदकस्वरूपापन्नलिङ्गं त्रिपुटिरहितं सन्महाज्ञानगुरु-

---

[632] अर्चिमत्—कान्तिमत् । महस्वत्—परब्रह्मस्वरूपम् । सुधितां—सद्बुद्धि-मत्ताम् । [634] प्रत्यक्स्रोतसि—प्रत्यगात्मरूपे प्रवाहे । [635] हृषीकं—ज्ञानेन्द्रियम् ।

---

[634] निजदाम्नि (ग,च) [635] विन्दुमु स जीवति (छ)

तत्त्वपरमानन्दस्वरूपं प्राप्तभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं ज्ञानपादोदकस्थलमित्युच्यते ॥

637 छान्दोग्योपनिषदि—

पञ्चेन्द्रियस्य पुरुषस्य यदेव स्यादनावृतम् ।
तदस्य स्रवते प्रज्ञा गुरोः पादादिवोदकम् ॥

638 परमहंसोपनिषदि—

तेन नित्यान्निवृत्तः तन्नित्यबोधः तत्स्वयमेवावस्थितिः तच्छान्तमचलमद्वयानन्दविज्ञानघन एवास्मि, तदेव मम परमधाम ॥

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते परमवीरशैवाद्वैतबोधिनि एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमाला-विवरणाख्यकैवल्यसारे लिंगस्थलनिरूपणे जङ्गमलिङ्गस्थलं नाम चतुर्थं प्रकरणं संपूर्णम् ॥

—

637 अनावृतं–आवरणरहितं स्वस्वरूपम् । स्रवते–प्रवहति । 638 तेन–ज्ञानपादोदकेन । नित्यात्–नित्यताभावनायाः । नित्यबोधः–नित्यज्ञान-स्वरूपः ।

637 'गुरोः पादादिवोदकम्' इति भागः च-पुस्तके द्विः वर्तते ।

|| श्री शिवाय नमः ||

प्रसादलिङ्गस्थलम् —पञ्चमं प्रकरणम्

नवविधशरणस्थले प्रथमं क्रियानिष्पत्तिस्थलम् (८४)—

639 एवं पादोदकलिङ्गत्रैविध्यमेकीभूतलिङ्गं शरणस्य सत्क्रियायां निष्पत्तिस्वरूपं प्राप्तभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं क्रियानिष्पत्तिस्थलमित्युच्यते ।

पूर्वोत्तरसंगतिविवरणम् —

640 अथैवंविधप्राणलिंगी परमानन्देन परिणामप्रसादलिंगे स्वस्वरूपं विस्मृत्य निष्पत्तिलिङ्गत्रैविध्ये शरणो भूत्वा शरणलिंगयोः सतिपतिन्यायमनुसृत्य सकलकरणोपभोगं निवार्य तामसस्वरूपं निराकृत्य आकाशलिंगत्रैविध्यमुपास्य निर्देशस्थले स्थित्वा तनुकरणसंसारभ्रान्तिं व्युदस्य शीलसंपादनेन प्रकाशलिङ्गत्रैविध्येन सम्पन्नो भूत्वा सकलकर्मनिवर्तकः शिवैक्यं गतः सन् शरणत्वं प्राप्तः ।

641 क्षुरिकोपनिषदि—

यथा निर्याणकाले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत् ।
तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा शिवं व्रजेत् ॥

---

[641] निर्याणकाले—नाशकाले । दग्ध्वा—वर्तिकादिकमिति शेषः । लयं—स्वयमित्यादिः । सर्वाणि—सञ्चितादीनि । व्रजेत्—प्राप्नुयात् ।

---

[641] निर्वाणकाले—इति मूलपाठः । दग्धालयं (ग,च) योगिदग्धाशिवं (ग,च)

642 तथैवोक्तं योगजागमे—

फलप्रकाशकं पुष्पं फलं पुष्पविनाशकम् ।
ज्ञानप्रकाशकं कर्म ज्ञानं कर्मविनाशकम् ॥

भावनिष्पत्तिस्थलम् (८५)—

643 एवं क्रियानिष्पत्तिस्वरूपापन्नलिंगं शरणस्याङ्गे संयोगं प्राप्य प्राणस्याग्रे दृश्यमानभावान्तर्भावत्वेन लक्ष्यं सत् तद्भावनिष्पत्तिस्वरूपं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं भावनिष्पत्तिस्थलमित्युच्यते ।

644 हंसोपनिषदि—

तस्मान्मनोविलीने मनसि गते सङ्कल्पविकल्पे दग्धे पुण्यः पापे, सदाशिवों शक्त्या आत्मनः सर्वत्रावस्थितैः शान्तप्रकाशयतीति वेदवचनं भवति भवति ॥

645 किञ्च कठवल्ल्युपनिषदि—

इन्द्रियेभ्यः परं मनः मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादपि महानात्मा महतोऽव्यक्तमेव च ॥

646 **अव्यक्तात्तु परः पुरुषः व्यापको लिङ्गमेव च ।**
यद् ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुः अमृतत्वं च गच्छति ॥

---

[642] प्रकाशकं–उत्पादकम् । [644] तस्मात्–क्रियानिष्पत्तेर्हेतोः । सदाशिवों–प्रणवस्वरूपः सदाशिवः । [645] सत्त्वं–वुद्धितत्त्वम् । अधि–अधिकः ।

---

[644] **सङ्कल्पे विकल्पे (ग,च) शक्त्यात्मानः (ग,च) सदाशिवो (च)**
[646] **अव्यक्तात्परः (छ)**

647 पुनस्तत्रैव —

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

648 महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

649 तथैवोक्तं किरणागमे —

चिरेण साध्यमानस्य भावकैर्विगतक्रमैः ।
स्थिरीभावो हि भावस्य भावनिष्पत्तिरिष्यते ॥

650 शैवरत्नाकरे —

अभ्यासक्रमतः सिद्धे भावे वृत्तिनिरोधकः ।
शिवभावः परो भाति भक्तस्य क्षीणचेतसः ॥

ज्ञाननिष्पत्तिस्थलम् (८६)—

651 एवं भावे निष्पन्नलिङ्गं शरणस्य त्रिपुटीनाशानन्तरं तच्छरण-ज्ञानान्तरे स्वयमेव स्थित्वा तद्ज्ञाननिष्पत्तिस्वरूपं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्–अनन्तरं ज्ञाननिष्पत्तिस्थलमित्युच्यते ।

---

[648] पुरुषः–लिङ्गतत्त्वम् । [649] भावकैः–भावनाभिः । [650] सिद्धे । सतीति शेषः । वृत्तिनिरोधकः–क्रियाप्रवृत्तिनिरोधहेतुः ।

---

[649] साध्यमानस्य (छ) स्थितिभावो हि (छ) [650] शिवभावपरो (ग,च) एतच्छ्लोकानन्तरं ग,च-पुस्तकयोः श्लोकद्वयं दृश्यते यथा—

" इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥
एवं बुद्धेः परं बुध्द्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥ इति ।

652 चुलिकोपनिषदि —

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषः ।
तमेकमेव पश्यन्ति परिशुद्धाश्चितं द्विजाः ॥

653 किञ्च अमृतबिन्दूपनिषदि —

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता ।
क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥

654 तथैवोक्तं योगसंग्रहे —

ज्ञानस्य परिनिष्पत्तिः निर्ममत्वादिकैर्गुणैः ।
निश्चयो नान्यथाज्ञानात् परमात्मस्पृशो भवेत् ॥

655 तत्त्वसारे —

न रक्तं न च वा पीतं न शुक्लं कृष्णमेव च ।
सर्वैर्गुणैर्विनिर्मुक्तं ज्ञानातीतं परात्परम् ॥

पिण्डाकाशस्थलम् (८७)—

656 एवं निष्पत्तिलिङ्गत्रैविध्यमेकीभूतलिंगं शरणस्य पिण्डे पिण्डस्वरूपं प्राप्य तत्पिण्डं निरवयवस्वरूपं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं पिण्डाकाशस्थलमित्युच्यते ।

657 ऐतरेयोपनिषदि —

आकाशशरीरं ब्रह्म सत्यात्मप्राणारामं मन आनन्दम् ।
शान्तिसमृद्धममृतम् इति प्राचीनयोग्योपास्व ॥

---

[654] परिनिष्पत्तिः-पूर्णसिद्धिः । भवेदिति शेषः । परमात्मविषयीकृतात् ज्ञानादित्यन्वयः । [655] परात्परं तत्त्वमित्यर्थः । [657] योगिन्नुपास्वेतिपाठे

---

[652] पश्यन्तु ज्ञान (छ) शुद्धां चित्तं द्विजाः (ग,च) [657] प्राचीनयोगिन्नुपास्व(ग,च)

658 तथैवोक्तं शिवरहस्ये —

शरीरे परमाकाशं परात्परतरं शिवम् ।
भावयेत् भावसंशुद्धेः पिण्डाकाशः स उच्यते ॥

659 किञ्च सूक्तावल्याम् —

षट्त्रिंशता सङ्घटितान्तरायत्वगादिसप्तावरणान्वितायं ।
नादात्मलिङ्गस्थितिमङ्गलाय नमः शरीराय शिवालयाय ॥

विन्द्वाकाशस्थलम् (८८)—

660 एवं पिण्डनिरवयवत्वापन्नलिंगं शरणस्य पिण्डमध्यस्थचिति विन्द्वाकाशस्वरूपं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्— अनन्तरं विन्द्वाकाशस्थलमित्युच्यते ।

661 बृहदारण्यकोपनिषदि —

य एषोऽन्तर्हृदयाकाशः तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः ॥

662 किञ्च तैत्तिरीयोपनिषदि —

य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः ॥

हे प्राचीनयोगिन् ब्रह्म एवंरूपमिति उपासनं कुरु इत्यन्वयः । [658] परात्–प्रकृतेः । भावयेत्–ध्यानं कुर्यात् । सः–एवंभावुकः । [659] शरीराय–सिद्धपुरुषशरीरायेत्यर्थः । [661] वशी–वशकर्ता । [662] हिरण्मयः–हिरण्यमयः ।

---

[659] आरभ्य [663] पर्यन्तं ग-पुस्तके नास्ति ।

663 तथैवोक्तं किरणागमे —

सदाशिवादितत्त्वानां कारणं व्यापकः शिवः ।
विन्दुरूपः शिवो ध्येयः बिन्द्वाकाश इतीर्यते ॥

664 निःश्वासकारिकायाम् —

बिन्दुमध्यगतं सूक्ष्मं सुषिरं ज्योतिरूपकम् ।
दृष्ट्वा तं सर्वभूतात्मा स शान्तिपददीपकम् ॥

महाकाशस्थलम् (८९)—

665 एवं बिन्द्वाख्यनिरवयवलिंग शरणस्य ज्ञानलक्ष्यस्याश्रयीभूतचैतन्ये निरस्तज्ञानज्ञेयभावं तत् निरवयवस्वरूपं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं महदाकाशस्थलमित्युच्यते ।

666 बृहदारण्यकोपनिषदि —

अदः पूर्णमिदं पूर्णं पूर्णात् पूर्णतरं महत् ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

667 ओं खं ब्रह्म खं पुराणम् ॥

668 तथैवोक्तं वासिष्ठे —

सर्वं व्योमकृतं व्योम्ना व्योम्नि व्योम विलीयते ।
भुज्यते व्योमनि व्योम व्योम व्योमनि शाश्वतम् ॥

---

[664] बिन्दुः–बिन्द्वाकाशः । सुषिरं–ब्रह्मनाळः । दीपरूपं तं दृष्ट्वेत्यन्वयः । [666] अदः–पृथक्त्वया भासमानम् । [667] खं–आकाशस्वरूपम् । [668] व्योम्ना–आकाशशरीरेण परब्रह्मणा । भुज्यते–संरक्ष्यते ।

669 तत्रैव—

सर्वोपाधिविहीनस्य साक्षात्कर्तुमशक्यतः ।
महाकाशतया सर्वं दृश्यते तस्य वस्तुतः ॥

क्रियाप्रकाशनस्थलम् (९०)—

670 एवं आकाशलिंगत्रैविध्यमेकीभूतलिंगं शरीरस्य सर्वक्रियासु स्वयमेव प्रकाशत्वं प्राप्तभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं क्रियाप्रकाशस्थलमित्युच्यते ॥

671 मुण्डकोपनिषदि —

क्रियावन्तः श्रोत्रियाः ब्रह्मनिष्ठाः
स्वयं जुह्वन्त एकर्षिं श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत तत्
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥

672 तथैवोक्तं शिवरहस्ये —

अतीवोत्तमभावेन प्रसन्नविमलात्मनाम् ।
या चोदिता निवृत्तिः स्यात् सा क्रियायाः प्रकाशिता ॥

673 किञ्च रुद्रयामले —

दृश्यजातमशेषं च शिवत्वेनैव पश्यतः ।
क्रियाकलापस्तस्यैव चिद्रूपं चाखिलं भवेत् ॥

---

[671] जुह्वन्तः—प्राणाग्निहोत्रं कुर्वन्तः । एकर्षि—परं ब्रह्म । यत् चीर्णं आचरितं व्रतं, तदेव शिरः अन्तिममित्यर्थः । [672] चोदिता—शास्त्रबोधिता ।
[673] क्रियाकलापस्सर्वोऽपि तस्य ज्ञानस्वरूपो भवेदित्यन्वयः ।

---

[669] महाकाशतनुस्सर्वं (ग,च) [671] विधिवादैस्तु (छ) [672] या चोदितनिवृत्तिः (छ)
[673] च खिलं (छ)

भावप्रकाशनस्थलम् (९१)—

674 एवं क्रियायां स्वयमेव क्रियास्वरूपं प्राप्य प्रकाशभूतलिंग शरणस्य मनोभावमध्ये भावस्वरूपं स्वयमेव भूत्वा प्रकाशत्वं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्— अनन्तरं भावप्रकाश-स्थलमित्युच्यते ॥

675 हंसोपनिषदि—

भावः प्रकाशते येन यत्र भावः प्रलीयते ।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सुखी भवति संयमी ॥

676 तथैवोक्तं विज्ञानभैरवीये —

शिवभावप्रकाशेन नष्टे भेदतमस्यथ ।
पुनः स एव विमलः शिवमेव प्रकाशते ॥

677 किञ्च रुद्रयामले —

अनाहते ततः शून्ये सुस्थितं युगपन्मनः ।
आद्यन्तशून्यनिरतः शिवभावः प्रकाशते ॥

678 स्वावबोधे च —

यद्येवं परमो भावः प्रत्यग्भूतः प्रकाशितः ।
स याति परमं भावं स्वकं साक्षात् प्रकाशितम् ॥

---

675 प्रकाश्यते इति घ-पाठः साधुः । 676 भेदतमसि–भेदरूपे तमसि । शिव एवेति ग-पाठः साधुः । 677 शून्यरूपे अनाहतस्थाने ।
678 प्रत्यग्भूतः–प्रत्यगात्मरूपः ।

---

676 मनः स एव (ग,च) 677 आद्यन्तशून्ये नि (छ) 678 यदैवं परमो (ग,च)

ज्ञानप्रकाशनस्थलम् (९२)—

679 एवं भावप्रकाशित्वापन्नलिंगं शरणस्य भावभाविभावितमिति त्रिपुटिनाशानन्तरं स्वयमेव महाज्ञानं भूत्वा स्वस्मिन्नेव स्वयंप्रकाशत्वं प्राप्तभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं ज्ञानप्रकाशस्थलमित्युच्यते।

680 मुण्डकोपनिषदि —

मायामात्रमिदं द्वैतं अद्वैतं परमार्थतः।
विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ॥

681 उपदेशादिना पाशे ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥

682 तथैवोक्तं सूतसंहितायाम् —

द्वैतं मायामयं प्राह श्रुतिः सत्यार्थवादिनी।
वास्तवं प्राह चाद्वैतं सर्वमानातिगामिनी ॥

683 किञ्च वासिष्ठे —

ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने विश्वोपाधिविवर्जिते।
सर्वं संविन्मयं भाति तदन्यन्नैव दृश्यते ॥

---

680 कल्पितो विकल्प इत्यन्वयः। 681 पाशे-संसारपाशे। 682 सर्वमानातिवादिनी-सर्वप्रमाणमूर्धन्यभूता। 683 संविन्मयं-ज्ञानमयम्। तदन्यत्-ब्रह्मातिरिक्तम्।

---

680 यदि केन चेत् (छ) 682 सत्यार्थवादिनि (ग,च) प्राह च द्वैतं (छ) गामिनि (ग,च) 683 तदन्यं नैव (ग,च)

684 स्वावबोधेऽपि —

न किञ्चित् चिन्तयेद्योगी उदासीनपरो भवेत् ।
नकिञ्चिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते
परमवीरशैवाद्वैतबोधिनि एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमालाविवरणाख्य-
कैवल्यसारे लिङ्गस्थलनिरूपणे प्रसादलिंगस्थलं नाम
पञ्चमं प्रकरणं सम्पूर्णम् ॥

—∞—

[684] उदासीनपरः–औदासीन्ये आसक्तः । नकिञ्चिच्चिन्तनादेव–बाह्य-विषयमात्रचिन्तनाभावे सति । स्वयं–प्रतिबन्धकाभावादिति भावः ॥

॥ श्री शिवाय नमः ॥

महालिङ्गस्थलम्—षष्ठं प्रकरणम्

नवविधैक्यस्थलेषु प्रथमं स्वीकृतप्रसादैक्यलम् (९३)—

685 एवं प्रकाशलिंगं ऐक्ये परिणामग्राहकत्वं प्राप्य सोऽपि तस्मिन् लिङ्गे परिणामग्राहकत्वं प्राप्य भिन्नभावपरित्यागेन परमानन्दपरिणामत्वं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं स्वीकृतप्रसादिस्थलमित्युच्यते ॥

पूर्वोत्तरसंगतिः –

686 अथैवं प्रसादलिंगपरिणामः शरणः अधिष्ठानसामरस्येन महालिंगैक्यं गन्तुमुद्युक्तः व्यापकलिंगत्रैविध्यनिष्ठतया प्रतीतः सन् तथाविधैक्ये सर्वाचारसम्पत्तेरेव कारणत्वात् अधिष्ठानलिङ्गत्रैविध्ये निजस्वरूपमवगम्य एकभाजनसहभोजनयोरर्पितसामरस्येन अतीतलिंगत्रैविध्यनिष्ठत्वेन निरवयवो भूत्वा स्थायित्वमेव परशिवस्वरूपत्वमिति सिद्धम् ॥

687 वृहदारण्यकोपनिषदि —

यत्रास्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्, तत्केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कं श्रावयेत्, तत्केन कं स्पृशेत्, तत्केन कमास्वादयेत् ॥

---

[687] यत्र–यस्यामवस्थायाम् । अस्य–योगिनः । आत्मैव–परब्रह्मैव । केन साधनेन । कं–परब्रह्मेतरम् ।

---

[687] यत्र त्वस्य सर्वं (ग,च)

688 किञ्च वृद्धजाबालोपनिषदि —

भुक्तशेषं भगवतः त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥

689 किञ्च मुण्डकोपनिषदि —

संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदं अत्रैतत्सर्वमर्पितमेतत् प्राणं निमेषश्च यत् ॥

690 किञ्च तलवकारोपनिषदि —

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते, यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते, यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रेणेदं श्रुतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते, यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्राणीयते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिद-मुपासते ॥

691 तथैवोक्तं शिवयोगदीपिकायाम् —

आदाय बाह्यविषयान्
इन्द्रियमार्गैरहङ्कृतौ चेतः ।
अर्पयति सा च बुद्धौ बुद्धेः
साक्षी ततः पुमान् भुंक्ते ॥

---

688 भुक्तशेषं–प्रसादरूपम् । 689 गुहाचरं–दहराकाशमध्यस्थम् । 690 अन-भ्युदितं–नोक्तम् । अभ्युद्यते–वदति । 691 अहंकृतौ अर्पयतीत्यन्वयः । पुमान्–जीवः । भुंक्ते–अनुभवति ।

---

691 रहंकृता चेतः (छ)

692 किञ्च शिवसूत्रे —

स्वात्मार्पणं विकल्पानां अर्पणं शिवधामनि ।
तृप्तिसङ्कोचविलयविकासशिवचित्सुखम् ॥

693 लिङ्गसारे —

जन्मत्रयविदं वक्ष्ये स्थित्युत्पत्तिविनाशनम् ।
सङ्कल्पितार्पितं भावं अर्पितत्रयमुत्तमम् ॥

694 आधिव्याधिमहाशखं त्रिविधं लिङ्गार्पितं सदा ।
बाल्ययौवनवृद्धत्वं त्रिविधं लिङ्गार्पितं सदा ॥

695 विस्मयं जननं निद्रा सर्वं लिङ्गे समर्पितम् ।
कृष्णं श्वेतं च पीतं च स्वयं लिङ्गे समर्पितम् ॥

696 उत्पत्तिस्थितिपर्यन्तं सुखदुःखेषु सर्वथा ।
सम्पदश्च व्युदासोऽहं सर्वद्रव्यं समर्पितम् ॥

697 वासिष्ठे —

नान्यत् पश्यति योगीन्द्रः नान्यज्जानाति किञ्चन ।
नान्यच्छृणोति संदृष्टे चिदानन्दमये शिवे ॥

---

[692] विकल्पानां–सन्देहानाम् । चित्सुखं–सुखमयज्ञानस्वरूपम् ।
[696] व्युदासः–तिरस्कारः । अहं–आत्मा चेति । [697] ज्ञानानन्दमये शिवे सम्यक दृष्टे साक्षात्कृते सति । अन्यत् तद्व्यतिरिक्तं किञ्चिदपि ।

---

[692] शिवदामनि (ग, च) [693] स्थित्योत्पत्ति (छ) [694] वृद्धत्वं भवेल्लिगा (ख)
[696] सर्वदा (ग, च)

698 तत्रैव —

न वाञ्छिता न त्यजिता ज्ञेयं प्राप्यं स्वभावतः ।
सरितः सागरेणैव भोक्तव्या भोगभूमयः ॥

शिष्टोदनस्थलम् (९४)—

699 एवं परमानन्दप्रसादजनितसुखमालिंग्य तृप्तिलिंगमैक्ये स्वयं स्वस्वरूपत्वेन स्थितभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं शिष्टोदनस्थलमित्युच्यते ॥

700 बृहदारण्यकोपनिषदि —

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घं अथात आदेशो नेति नेति ॥

701 तथैवोक्तं वातुले

नेति नेतीति नेतीति शेषितं यत् परं पदम् ।
निराकर्तुमशक्यत्वात् तदस्मीति सुखी भवेत् ॥

702 चन्द्रावलोकने —

चित्तत्वैकस्वरूपस्य न स्यात् ज्ञेयादिकं क्वचित् ।
यद्यत् स्थितं तत्तदस्य भासा ज्ञानमयं मतम् ॥

---

[698]न वाञ्छता न त्यजतेति ग-पाठः उचितः । [700]अभिवदन्ति–सत्यं वदन्ति । आदेशः उपदेश इति यावत् । [701] नेति नेति इति निराकर्तुमशक्यत्वात् इत्यन्वयः । [702] चित्तरूपत्वमेकमेव स्वरूपं यस्य तस्य । भासा–तेजसा ।

---

[698] न वाञ्छता (ग,च) सरित्सागरेणैव (च) [700] गार्गी (ग,च) ब्रह्मण (छ) अभिवदन्ते (छ) [701] नेतीति नेतीति (छ)

703 किञ्च सूतसंहितायाम् —

गुरूपदेशेन शिवं विलोकयेत्
विलोकनेनापि शिवं विलोकयेत् ।
विलोकनं चापि विसृज्य केवलं
स्वभावभूतं स्वचिदेव शिष्यते ॥

चराचरलयस्थलम् (९५)—

704 एवं निजस्वरूपस्थितलिङ्ग ऐक्ये चराचरोभयनास्तित्वं प्राप्तभेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं चराचरनास्तिस्थलमित्युच्यते ।

705 चुलिकोपनिषदि—

यस्मिन् सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजङ्गमम् ।
तस्मिन्नेव लयं याति बुद्बुदाः सागरे यथा ॥

706 तथैवोक्तं वासिष्ठे —

नैकता नान्यथा चैव न महत्ता न चाणुता ।
वेदनत्वं स्वसंवेद्यं यत्र नास्ति चराचरम् ॥

707 तत्रैव —

यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
चराचरं जगद्विश्वं मदन्यन्नास्ति किञ्चन ॥

---

[703] विलोकनेनापि—स्वयमिति शेषः । स्वचिदेव—स्वज्ञानमेव । [705] प्रोतं—अनुस्यूतम् । तस्मिन्नेव—परे ब्रह्मण्येव । [706] नान्यतेति 'ग' पाठः युक्तः ।

---

[703] यद्भावभूतं स्वचिदेव (ख)

708 किञ्च सर्वज्ञानोत्तरे—

क्रिमिकीटपतङ्गेषु स्थावरे जङ्गमे तथा ।
न किञ्चिदस्ति वस्तुत्वं सर्वदैव प्रतिष्ठितम् ॥

भाण्डस्थलम् (९६)—

709 एवं व्यापकलिङ्गत्रैविध्यमेकीभूतलिङ्गं ऐक्यस्य सर्वाङ्गमिति भाण्डे लीनं सत् सर्वाचाराख्यसकलकरणद्रव्याणां आश्रयस्थानत्वं प्राप्त-भेदः कथम्? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं भाण्डस्थलमित्युच्यते॥

710 कैवल्योपनिषदि —

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥

711 किञ्च तैत्तिरीयोपनिषदि —

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति ॥

712 किञ्च प्रश्नोपनिषदि —

विज्ञानमात्मा सह देवैः सर्वैः
प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य !
स सर्वज्ञः स सर्वमेवाविवसति ॥

---

[708] पतङ्गेषु–पक्षिषु । प्रतिष्ठितं–सुस्थिरं वस्तुत्वं नास्तीत्यन्वयः । [710] अद्वयं–एकमेव । [711] यत्–यत्र प्रयन्ति लयं यान्ति अभिसंविशन्ति एकी-भवन्ति । [712] संप्रतिष्ठन्ति । दृढतया वर्तन्ते । वेदयते–वेत्ति । अधि-वसति–व्याप्नोति ।

713 तथैवोक्तं वातुले —

सर्वत्यागान्तरे नास्ति ज्ञानमात्मप्रदर्शकम् ।
यच्छून्यमेव भाण्डं स्यात् तत्र तत्राधितिष्ठति ॥

714 स्तोत्रार्णवे —

विकसति स्ववपुर्भवदात्मकं
समुपयान्ति जगन्ति ममाङ्गताम् ।
व्रजति सर्वमिदं द्वयभवितं
स्मृतिपदोपगमप्यनुपास्यताम् ॥

भाजनस्थलम् (९७)—

715 एवं सर्वकारणानीति सर्वाचारसाधनानि व्याप्य भाण्डस्वरूपं प्राप्तलिङ्गं तस्यैक्यस्य स्वयमेव भाजनस्वरूपत्वं प्राप्तभेदः कथमित्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं भाजनस्थलमित्युच्यते ।

716 ईशावास्योपनिषदि —

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

717 तथैवोक्तं वासिष्ठे —

अखण्डपरिपूर्णं यत् सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
तद्येन ज्ञाप्यते तादृक् ज्ञानं स्वाभिन्नभाजनम् ॥

---

[713] सर्वत्यागान्तरे–सर्वत्यागसदृशम् । [714] भवदात्मकं–त्वत्स्वरूपम् । अङ्गत्वं–शरीरत्वम् । व्रजति–तिरोभवति । स्मृतिपदा उपगतमपि ।
[716] सत्यस्यापि जनं प्राणिभावः हितं प्राप्तः ।

---

[714] समुपयाति (छ) वृजति सर्वं (छ) [716] पिहितं जनम् (छ)

718 किञ्च शिवधर्मोत्तरे —

यद्धौतं ज्ञानसलिलैः स्वात्मानन्दप्रमार्जितम् ।
तत्पात्रं सर्वपात्राणां उत्तमं परिकीर्तितम् ॥

अंगलेपनस्थलम् (९८)—

719 एवं ऐक्यलिङ्गयोः सामरस्येनाविरलीभूतलिङ्गं ऐक्यस्य सर्वाङ्गे लेपत्वं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं अङ्ग-लेपनस्थलमित्युच्यते ॥

720 तैत्तिरीयोपनिषदि —

यस्मिन्निदं सञ्च विचैति सर्वं
यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।

721 किञ्च ज्ञानबिन्दूपनिषदि —

पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये तु सर्पिषः ।
तिलमध्ये तथा तैलं पाषाणेऽपि तु काञ्चनम् ॥

722 एवं सर्वाणि भूतानि मणिः सूत्र इवात्मनि ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढः ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितः ॥

723 तिलेषु च यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रये ।
पुरुषस्य शरीरे तु स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः ॥

---

[718] धौतं–क्षालितम् । [720] सञ्चविचैति–वृद्धिक्षयौ याति । अधिनिषेदुः–समरसीभवन्ति । [722] ब्रह्म–लिङ्गैक्यमापन्नः परे ब्रह्मणि संस्थितः ।

---

[718] तत्पात्रः सर्व (ग,च) उत्तमः (ग,च) [723] बाह्याभ्यन्तरे (छ)

724 तथैवोक्तं वातुले —

स बाह्याभ्यन्तरं साक्षात् लिङ्गं ज्योतिः परं स्वकम् ।
तिले तैलमिवाभातं अरण्यामिव पावकः ॥

725 क्षीरे सर्पिरिव स्रोतसि अम्बुवत् स्थितमात्मनि ॥

स्वपराज्ञास्थलम् (९९)—

726 एवं अधिष्ठानलिंगं त्रैविध्यमेकीभूतलिंगं ऐक्ये इदमहमित्युभयं ज्ञात्वा प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं स्वपराज्ञा-स्थलमित्युच्यते ॥

727 बृहदारण्यकोपनिषदि —

यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तः न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं, एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्, तद्वदसौ तदाप्तकाममात्मकामं अकामं रूपं शोकान्तरम् ॥

728 च जाबालोपनिषदि —

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

---

[727] संपरिष्वक्तः—आलिंगितः । प्राज्ञेन—त्रैकालिकज्ञानयुतेन । शोकान्तरं—अन्यदपि वा यत्किञ्चिद्दुःखविशेषम् । [728] अमतं—अज्ञातम् ।

---

[724] बाह्याभ्यन्तरं (छ) तिलं तैल (क) [727] तद्वदसौ तथात्मकाम (छ)
[728] विज्ञानमविज्ञानताम् (च)

729 सर्व ज्ञानोत्तरे —

स्वयं स्वस्य परो नैव न परः स्वस्य विद्यते ।
इनि धार्येऽपि संलीने तस्मिन् ज्ञेयं न तस्य हि ॥

730 किञ्च वासिष्ठे —

सर्वज्ञता सा शिवता सावस्था परमात्मिका ।
सा सत्यता सा च तृप्तिः न यत्र स्वपरेक्षणम् ॥

भावाभावलयस्थलम् —

731 एवं इदमहमिति उभयज्ञत्वं प्राप्तलिङ्गैक्यभावनिर्भावोभयराहित्यं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायाम्—अनन्तरं भावाभावनष्टस्थलमित्युच्यते ॥

732 अमृतबिन्दूपनिषदि —

न निरोधो न चोत्पत्तिः न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुः न वै मुक्तः इत्येषा परमार्थता ॥

733 योगजागमे —

भावाभावद्वयातीतं स्वप्नजागरणातिगम् ।
मृत्युजीवननिर्मुक्तं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥

---

[729] धार्ये निश्चीयमाने ज्ञानेऽपि संलीने सति । [730] यत्र यस्मिन् पुरुषे ।
[733] स्वरूपतो भावाभावयोरतीतम्, विषयतः स्वप्नजागरातीतं चेत्यर्थः ।

---

[730] सर्वज्ञाता (छ) [731] अनन्तरं भावभावस्थल (छ) [733] भावाभावाद्वया (छ)

734 किञ्च वासिष्ठे —

अहंभावो यदा नास्ति निरहन्ता तदा न हि ।
न यत्राहं न निरहं तद्भावाभावनाशनम् ॥

735 तत्रैव —

त्वन्ताऽहन्तात्मता यत्र परता नास्ति किञ्चन ।
न क्वचिद्भेदकलना न भावाभावरञ्जना ॥

ज्ञानशून्यस्थलम् (१०१)—

736 एवं भावनिर्भावोभयरहितलिङ्गं ऐक्यस्य मूलज्ञानमालिङ्ग्य, तद् ज्ञानमेव स्वयं भूत्वा, तद् ज्ञानं निजस्वरूपे स्थित्वा, शून्यत्वं प्राप्तभेदः कथम् ? इत्यकाङ्क्षायाम्— अनन्तरं ज्ञानशून्यस्थलमित्युच्यते ॥

737 तेजोबिन्दूपनिषदि —

अशून्यं शून्यभावं तु शून्यातीतं हृदि स्थितम् ।
न ध्यातं न च वाऽध्यातं यत् ध्येयाध्येयमेव च ॥

738 सर्वं च यत्पदं शून्यं न परं न परापरम् ।
अचिन्त्यामप्रवुद्धं च न सत्यं न च तद्विदुः ॥

---

[734] न हि इति । ध्वंसं प्रति प्रतियोगिनः कारणत्वादिति न्यायेनेत्यर्थः । [737] न ध्यातं ध्यानातीतम् । [738] अप्रवुद्धयमिति (ग) पाठः युक्तः । बुद्ध्यगोचरमित्यर्थः ।

---

[734] न यत्राहं न निराहं (क) [735] परता नास्ति काचन (ग,च) न क्वजिद्भेदकल्पना (ग,च) [737] न ध्येयाध्येय (ग,च) [638] मप्रवुध्यं (ग,च)

739 तथैवोक्तं योगजागमे —

ज्ञानाचारसमायुक्ताः ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।
ज्ञानिनः शिवभावेन ज्ञानशून्यैक्यभागिनः ॥

740 किञ्च निःश्वासकारिकायाम् —

उल्काहस्तो यथा कश्चित् द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत् ।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात् ज्ञानं परित्यजेत् ॥

741 वासिष्ठे —

आत्मनो निर्विकारस्य क्व ज्ञानं क्व च वा क्रिया ।
वेदका न बहिर्भावाः अतः शून्यमिदं जगत् ॥

742 कामिकागमे —

यथा घृते घृतं न्यस्तं क्षीरे क्षीरं यथैव च ।
केवलत्वं तथा प्राप्तं न किञ्चिदपि तद्भवेत् ॥

---

[739] ज्ञानस्वरूपेणाचारेणेत्यर्थः । [740] तां उल्काम् । ज्ञानं–ज्ञानसाधनमिति यावत् । [741] आत्मज्ञानसम्पादकाः । [742] केवलत्वं–शुद्धब्रह्मस्वरूपत्वम् । सः किञ्चिदपि अन्यत् न । किन्तु तदेव ब्रह्मैव भवेत् इत्यर्थः ।

---

[740] निश्वास (ग,च) [741] आत्मानुनिर्वि (छ) को ज्ञानं क्व च (छ) बहिर्भाव अथ (छ)

743 शून्यं शून्यं पुनः शून्यं त्रिशून्यं पश्यति क्षणात् ।
सर्वशून्यं निराभासं सामरस्यं तदा भवेत् ।

फलश्रुतिः —

744 श्रीतोण्टदार्यरचितं एकोत्तरशतस्थलम् ।
कैवल्यसारपठनात् सद्य एव विमुक्तिभाक् ॥

इति श्रीमत्परमशिवयोगिराट्परिव्राजकाचार्य श्री तोण्टदार्यविरचिते
परमवीरशैवाद्वैतबोधिनि एकोत्तरशतस्थलश्रुतिमाला-
विवरणाख्यकैवल्यसारे लिंगस्थलनिरूपणे जङ्गमलिङ्गस्थलं
नाम षष्ठं प्रकरणं संपूर्णम् ॥

॥ कैवल्यसारः सम्पूर्णः ॥

---

[743] पश्यतीत्यस्य यदेत्यादिः । त्रिशून्यं–भूतभविष्यद्वर्तमानात्मककालत्रय-शून्यम् । निराभासं–रूपान्तरेण भानशून्यम् । [744] यस्मिन् कैवल्यसारे एकोत्तरशतस्थलं विवृतं, तस्यास्य कैवल्यसारस्य पठनादित्यन्वयः ॥

इति—डाक्टर् एच्. पि. मल्लेदेवरुनाम्ना विरचिता
श्रीकैवल्यसारलघुटिप्पणी समाप्ता

अनुबन्धाः

— o —

१. विषयाणां अकारादिसूचनी
२. प्रमाणानां अकारादिसूचनी
३. प्रमाणतया उद्धृतानां ग्रन्थानां ससङ्केतविवरणा अकारादिसूचनी
४. उपन्यस्तानां दृष्टान्तानां सूचनी
५. ग्रन्थप्रयुक्तानां केषांचित् पारिभाषिकपदानां सूचनी

कैवल्यसारस्य विषयाणाम्
अकाराद्यनुक्रमणिका

—o—

इ

उ

ए

ऐ

क

ग

त

द

ध

न

प

व

श

प्रमाणानां आकरसहिता अकारादिसूचनी

—o—

त

प्रमाणतया उद्धृतानां ग्रन्थानां ससङ्केतवितरणा अकारादिसूचनी

— o —

सङ्केतः	ग्रन्थः
	अ
अ.ना	अमृतनादोपनिषत्
अ.ब्रा.उ	अमृतबिन्दूपनिषत्
अं.ब्रा.उ	अन्तर्यामिब्राह्मणोपनिषत्
अ.वि.सा	अचिन्त्यविश्वसादाख्यम्
अ.वे.	अथर्वणवेदः
अ.शिखो.	अथर्वशिखोपनिषत्
अ.शि.उ.	अथर्वशिरउपनिषत्
अ.शी.उ	अथर्वशीर्षोपनिषत्
	आ
आदि.पु	आदित्यपुराणम्
आ.पु	आग्नेयपुराणम्
	ई
ई.उ	ईशावास्योपनिषत्
	उ
उ.का	उत्तरकामिकागमः
उ.ता.उ	उत्तरतापनीयोपनिषत्
	ऋ
ऋग्वे	ऋग्वेदसंहिता
ऋग्वे.आ	ऋग्वेदाहरणम्
	ऐ
ऐ.उ	ऐतरेयोपनिषत्
	क
क.उ	कठवल्ल्युपनिषत्
कामि.आ	कामिकागमः
का.श्रु	काठकीयश्रुतिः
कि.आ	किरणागमः
कू.पु	कूर्मपुराणम्
के.उ	केनोपनिषत्
कौ.ब्रा.उ	कौषीतकीब्राह्मणोपनिषत्
क्षु.उ	क्षुरिकोपनिषत्
	ग
ग्रं.अ	ग्रन्थान्तरम्
	च
चं.अ	चन्द्रावलोकनम्
चु.उ	चुलिकोपनिषत्
	छ
छां.उ	छान्दोग्योपनिषत्
	ज
जा.उ	जाबालोपनिषत्
ज्ञा.उ	ज्ञानोत्तरम्

त

तं.आ तन्त्रान्तरम्
त.उ तलवकारोपनिषत्
त.सा तत्त्वसारः
तं.सा तन्त्रसारः
ता.सं तात्पर्यसंग्रहः
ते.बिं.उ तेजोबिन्दूपनिषत्
तै.उ तैत्तरीयोपनिषत्

द

दे.का.उ देविकालोत्तरम्

ध

ध्या.बिं ध्यानबिन्दूपनिषत्

न

ना.उ नारायणोपनिषत्
नि.का निश्वासकारिकाः

प

प.ना पद्मनाभिः
प.हं.उ परमहंसोपनिषत्
पा.श्र पारातश्रुतिः
पुरा. पुराणम्
प्र.उ प्रश्नोपनिषत्

ब

बृ.उ बृहदारण्यकोपनिषत्
बृ.का.उ बृहत्कालोत्तरम्
बृ.जा बृहज्जाबालोपनिषत्
ब्रं.उ ब्रह्मोपनिषत्
ब्रं.गी ब्रह्मगीता
ब्रं.पु ब्रह्मपुराणम्

भ

भ.गी भगवद्गीता

म

म.पा मतङ्गपारमेश्वरम्
म.भा महाभारतम्
मा.पु मानवपुराणम्
मुं.उ मुण्डकोपनिषत्
मृ.आ मृगेन्द्रागमः
मै.उ मैत्रेयोपनिषत्

य

य.वे यजुर्वेदः
य.वे.श.रु यजुर्वेदशतरुद्रीयम्
यो.अ योगार्णवः
यो.आ योगजागमः
यो.दी योगदीपिका
यो.श योगशतकम्
यो.शा योगशास्त्रम्
यो.सं योगसंग्रहः
यो.सा योगसारः

र

रु.या रुद्रयामलम्

ल

लिं.स लिङ्गसारः
लैं. लैङ्गयम्

उपन्यस्तानां दृष्टान्तानां अकारादिसूचनी

— o —

कैवल्यसारस्थ–पारिभाषिकपदानाम्
अकारादिसूचनी

ष

स

॥ श्रीहरिः ॥

व्रत-परिचय

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

पं० हनूमान शर्मा

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

सभी देशों तथा धर्मोंमें व्रतका महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्रतसे मनुष्यकी अन्तरात्मा शुद्ध होती है। इससे ज्ञानशक्ति, विचारशक्ति, बुद्धि, श्रद्धा, मेधा, भक्ति तथा पवित्रताकी वृद्धि होती है; अकेला एक उपवास सैकड़ों रोगोंका संहार करता है, नियमतः व्रत तथा उपवासोंके पालनसे उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घजीवनकी प्राप्ति होती है—यह सर्वथा निर्विवाद है।

‘**व्रियते स्वर्गं व्रजन्ति स्वर्गमनेन वा**’—जिससे स्वर्गमें गमन अथवा स्वर्गका वरण होता हो (पृषोदरादि)—इस अर्थमें ‘व्रत’ शब्दकी निरुक्ति होती है। ‘निरुक्त’ में व्रतका अर्थ सत्कर्मानुष्ठान तथा उस क्रियासे निवृत्ति कहा गया है।[1] अमरसिंह आदि कोषनिर्माताओं, निबन्धकारों तथा दूसरे व्याख्याताओंने व्रतका अर्थ उपवासादि पुण्य नियमोंका ग्रहण बतलाया है।

‘**नियमो व्रतमस्त्री तच्चोपवासादि पुण्यकम्**’

‘शब्दरत्नावली’ कार संयम और नियमको व्रतका समानार्थक मानते हैं। वाराहपुराणमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और सरलताको मानसिक व्रत; एकभुक्त, नक्तव्रत, निराहारादिको

---

१. व्रतमिति कर्मनाम—वृणोतीति सतः। अत्र स्कन्दस्वामी—कर्तरि सत् इति कृतव्याख्यानम्\.\.\.\.\.\.\.\.\.व्रतं कर्मोच्यते। कस्माद् वारयते तद्धि संकल्पपूर्वकं प्रवृत्तिरूपमग्नि-होत्रादिकर्मप्रत्यवायं वारयतीति पुरुषः प्रवर्तमानो निवर्तमानश्च व्रतेनाभिसम्बन्धस्तेनाव्रतेन निर्वायत इति व्रतस्यैव प्राधान्याद्धेतुकर्तृत्वेन विवध्यते वृणातेर्धातोः (स्वा० उ०) पृषिरंजिभ्यां कित् (उ० ३।१०८) इति विधीयमानस्तच्प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति कित्वाद् गुणाभावो यणादेशः। वारयतेर्वा तत्—इत्यत्र लुगिति लुगपि बाहुलकात्। व्रते भाजदेवः इतिक्षीरस्वामी। व्रत्यते वर्ज्यते सर्वभोगोऽत्र इति सुबोधिनीकारः, व्रतेर्धातोः ‘पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण’ (३।३।११८) इति घः प्रत्ययः। व्रतिश्च वर्जनार्थः। ‘अथा वयमादित्यव्रते तव’ (ऋ० सं० १।२।१५।५) ‘ब्राह्मणा व्रतचारिणः’ (ऋ० सं० ५।७।३।१) इति च निगमो ‘अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि’ (वा० सं० १।५) इत्यादौ व्रतशब्दे निवृत्तिकर्मता।

कायिक व्रत तथा मौन एवं हित, मित, सत्य, मृदु भाषणको वाचिक व्रत कहा गया है।[१]

इतिहास-पुराणोंमें जिस तपस्याका इतना महत्त्व बतलाया गया है, वह भी वेदोक्त कृच्छ्र-चान्द्रायणादि उपवासोंके अतिरिक्त कुछ दूसरा नहीं है।

'तत्र तपो नाम विध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम्'

(शाण्डिल्योप० १।२)

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं यत् तत् तप इत्युच्यते बुधैः॥

(श्रीजाबालदर्शनोप० २।३)[२]

कूर्मपुराणमें व्रतोपवाससे भगवान् विष्णु तथा भगवान् शिवकी प्राप्ति कही गयी है।

व्रतोपवासैर्नियमैर्होमैर्ब्राह्मणतर्पणैः।
तेषां वै रुद्रसायुज्यं जायते तत्प्रसादतः॥

गरुडपुराण कहता है कि राजर्षि धुन्धुमारको व्रतोंसे १०० पुत्रोंकी प्राप्ति हुई, राजा दशरथको सदा व्रत करते रहनेसे साक्षात् परमात्मा ही पुरुषोत्तम राजराजेन्द्र श्रीरामके रूपमें पुत्र बनकर आये, महाराज जनक भी व्रती थे। आदित्यपुराणमें व्रतोंसे दुःख-दारिद्र्य एवं रोगोंके नाशकी बात कही गयी है।

व्रतोपवासान् खलु यो विधत्ते दारिद्र्यपाशं स भिनत्ति चाशु।
व्रतोपवासेषु रतस्य पुंसश्चैवापदः शान्तिमुशन्ति तज्ज्ञाः॥

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्मषम्।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि व्रतचारिणाम्॥
एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासादिकं च यत्।
तत् सर्वं कायिकं पुंसां व्रतं भवति नान्यथा॥

२. अधिक जाननेके लिये देखिये अमरकोष ३।३।२३२; वाल्मीकि० १।१।१ की तिलकटीका; महानारायणोप० ७९; वायुपुराण ५९।४१; नारदपुराण ३३।७५; महा० शा० प० १६१।१०; अनु० प० १०३।३ इत्यादि।

संक्षेपमें व्रत हिंदू-संस्कृति एवं धर्मके प्राण हैं; व्रतोंपर वेद, धर्मशास्त्रों, पुराणों तथा वेदांगोंमें बहुत कुछ कहा गया है। व्रतराज, व्रतार्क, व्रतकौस्तुभ, जयसिंहकल्पद्रुम, मुक्तकसंग्रह, हेमाद्रिव्रतखण्ड आदि बीसों विशाल निबन्धग्रन्थ तो केवल व्रतोंपर लिखे गये हैं। आजसे १५ वर्ष पूर्व पं० श्रीहनूमानजी शर्माने इन सभी ग्रन्थोंका सार लेकर तथा अन्य वाचस्पत्य आदि कोषोंके सहारे अद्‌भुत सामग्रियोंका संग्रह करके व्रत-परिचय नामका एक लम्बा लेख लिखा था, जो 'कल्याण' में वर्षोंतक धारावाहिक लेखके रूपमें प्रकाशित हुआ था। सभी प्रकारके पाठकोंने उसे बड़ा पसंद किया और तबसे कई लोगोंका निरन्तर आग्रह बना रहा कि इसे पुस्तकरूपमें अलगसे अवश्य प्रकाशित किया जाय। कई कारणों तथा प्रेसकी व्यस्ततासे वह अबतक रुका रहा। भगवत्कृपासे अब वह इच्छा पूर्ण हो पायी।

व्रत-परिचयके लेखक पं० श्रीहनूमानजी शर्मा बड़े उच्चकोटिके विद्वान्, शास्त्रानुरागी तथा धर्मपरायण व्यक्ति थे। अत्यन्त वृद्ध हो जानेपर भी उन्होंने एक बार इसे पुनः देख लेने तथा यत्र-तत्र यत्किंचित् संशोधन-परिवर्धन कर देनेकी कृपा की थी। खेद है यह पुस्तक उक्त पण्डितजीके जीवनकालमें प्रकाशित न हो पायी। कुछ दिन पूर्व उनका देहान्त हो गया।

व्रतकथा-प्रेमियों तथा विद्वान् ब्राह्मणोंकी उपयोगिताके लिये परिशिष्टमें कुछ मूल आवश्यक कथाएँ दे दी गयी हैं। यदि कोई उपयोगी कथा या व्रतका परिचय छूट गया हो तो विद्वान् पाठक हमें सूचना दें; हम उनके सुझावका स्वागत करेंगे।

भाद्र-संकष्ट-चतुर्थी
सं० २०१३
गीताप्रेस

प्रार्थी—
जानकीनाथ शर्मा

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

विषय	पृष्ठ-संख्या

श्रावणके व्रत

(कृष्णपक्ष)

(शुक्लपक्ष)

भाद्रपदके व्रत

(कृष्णपक्ष)

विषय	पृष्ठ-संख्या

आश्विनके व्रत

विषय	पृष्ठ-संख्या

मार्गशीर्षके व्रत

(कृष्णपक्ष)

(शुक्लपक्ष)

पौषके व्रत

(कृष्णपक्ष)

(शुक्लपक्ष)

विषय	पृष्ठ-संख्या

परिशिष्ट

(१) अधिमासव्रत

(२) संक्रान्तिव्रत

(३) अयनव्रत

(४) पक्षव्रत

(५) वारव्रत

(पापोंसे होनेवाले सब प्रकारके रोग और कष्टोंको दूर करनेवाले व्रत)

विषय	पृष्ठ-संख्या

लोकहितकर व्रत

पाँच पुत्रप्रद व्रत

कथाएँ

॥ श्रीहरि: ॥

व्रत-परिचय

पूर्वांग

व्रतोंसे अनेक अंशोंमें प्राणिमात्रका और विशेषकर मनुष्योंका बड़ा भारी उपकार होता है। तत्त्वदर्शी महर्षियोंने इनमें विज्ञानके सैकड़ों अंश संयुक्त कर दिये हैं। ग्रामीण या देहाती मनुष्यतक इस बातको जानते हैं कि अरुचि, अजीर्ण, उदरशूल, मलावरोध, सिरदर्द और ज्वर-जैसे स्वत:सम्भूत साधारण रोगोंसे लेकर कोढ़, उपदंश, जलोदर, अग्निमान्द्य, क्षतक्षय और राजयक्ष्मा-जैसी असाध्य या प्राणान्तक महाव्याधियाँ भी व्रतोंके प्रयोगसे निर्मूल हो जाती हैं और अपूर्व तथा स्थायी आरोग्यता प्राप्त होती है।

यद्यपि रोग भी पाप हैं और ऐसे पाप व्रतोंसे दूर होते ही हैं, तथापि कायिक, वाचिक, मानसिक और संसर्गजनित पाप, उपपाप और महापापादि भी व्रतोंसे दूर होते हैं। उनके समूल नाशका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि व्रतारम्भके पहले पापयुक्त प्राणियोंका मुख हतप्रभ रहता है और व्रतकी समाप्ति होते ही वह सूर्योदयके कमलकी तरह खिल जाता है।

भारतमें व्रतोंका सर्वव्यापी प्रचार है। सभी श्रेणीके नर-नारी सूर्य-सोम-भौमादिके एकभुक्तसाध्य व्रतसे लेकर एकाधिक कई दिनोंतकके अन्नपानादिवर्जित कष्टसाध्य व्रतोंतकको बड़ी श्रद्धासे करते हैं। इनके फल और महत्त्व भी प्राय: सर्वज्ञात हैं। फिर भी यह सूचित कर देना अत्युक्ति न होगा कि 'मनुष्योंके कल्याणके लिये व्रत स्वर्गके सोपान अथवा संसार-सागरसे तार देनेवाली प्रत्यक्ष नौका है।'

व्रतोंके प्रभावसे मनुष्योंकी आत्मा शुद्ध होती है। संकल्पशक्ति बढ़ती

है। बुद्धि, विचार, चतुराई या ज्ञानतन्तु विकसित होते हैं। शरीरके अन्तस्तलमें परमात्माके प्रति भक्ति, श्रद्धा और तल्लीनताका संचार होता है। व्यापार-व्यवसाय, कला-कौशल, शास्त्रानुसंधान और व्यवहार-कुशलताका सफल सम्पादन उत्साहपूर्वक किया जाता है और सुखमय दीर्घ जीवनके आरोग्य-साधनोंका स्वतः संचय हो जाता है। ऐसा दूसरा कौन-सा साधन है जिसके करनेसे एकसे ही अनेक लाभ हों।

यही सब सोचकर संक्षेपमें व्रतोंका यह परिचय लिखा जाता है, इससे व्रतसम्बन्धी प्रायः सभी बातोंपर परिचय प्राप्त होगा, व्रतोंकी विधि, उनके परिणाम आदिका पता लगेगा, जिससे व्रतोंमें श्रद्धा होगी और व्रतोंसे लाभ उठानेकी प्रवृत्ति बढ़ेगी। यह अवश्य ध्यान रहना चाहिये कि पूर्वांगमें जो विधि-विधान या नियमादि दिये हैं, वे सब आगेके व्रतोंके लिये उपयोगी हैं। अतः व्रत करनेवालोंको चाहिये कि वे व्रतारम्भके पहले इनका मनन अवश्य कर लिया करें।

(१) मनुष्योंके हितके लिये तपोधन महर्षियोंने अनेक साधन नियत किये हैं, उनमें एक साधन व्रत भी है।

(२) 'निरुक्त' में व्रतको कर्म सूचित किया है और 'श्रीदत्त' ने अभीष्ट कर्ममें प्रवृत्त होनेके संकल्पको व्रत बतलाया है। इनके सिवा अन्य आचार्योंने पुण्यप्राप्तिके लिये किसी पुण्य तिथिमें उपवास करने या किसी उपवासके कर्मानुष्ठानद्वारा पुण्य संचय करनेके संकल्पको व्रत सूचित किया है।

(३) मनुष्य-जीवनको सफल करनेके कामोंमें व्रतकी बड़ी महिमा मानी गयी है। 'देवल' का कथन है कि व्रत और उपवासके नियम-पालनसे शरीरको तपाना ही तप है*। व्रत अनेक हैं और अनेक व्रतोंके प्रकार भी अनेक हैं। यहाँ उनका कुछ उल्लेख किया जाता है।

---

* वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं यत् तत् तप इत्युच्यते बुधैः॥

(४) लोकप्रसिद्धिमें व्रत और उपवास दो हैं और ये कायिक, वाचिक, मानसिक, नित्य, नैमित्तिक, काम्य, एकभुक्त, अयाचित, मितभुक्, चान्द्रायण और प्राजापत्यके रूपमें किये जाते हैं। इनके निम्नलिखित प्रकार हैं।

(५) वास्तवमें व्रत और उपवास दोनों एक हैं, अन्तर यह है कि व्रतमें भोजन किया जा सकता है और उपवासमें निराहार रहना पड़ता है। इनके कायिकादि तीन भेद हैं—(१) शस्त्राघात, मर्माघात और कार्यहानि आदिजनित हिंसाके त्यागसे 'कायिक', (२) सत्य बोलने और प्राणिमात्रमें निर्वैर रहनेसे 'वाचिक' और (३) मनको शान्त रखनेकी दृढ़तासे 'मानसिक' व्रत होता है।

(६) पुण्यसंचयके एकादशी आदि 'नित्य' व्रत, पापक्षयके चान्द्रायणादि 'नैमित्तिक' व्रत और सुख-सौभाग्यादिके वटसावित्री आदि 'काम्य' व्रत माने गये हैं। इनमें द्रव्यविशेषके भोजन और पूजनादिकी साधनाके द्वारा साध्य व्रत 'प्रवृत्तिरूप' होते हैं और केवल उपवासादि करनेके द्वारा साध्य व्रत 'निवृत्तिरूप' हैं। इनका यथोचित उपयोग फल देता है।

(७) एकभुक्त व्रतके—स्वतन्त्र, अन्यांग और प्रतिनिधि तीन भेद हैं। (१) दिनार्ध व्यतीत होनेपर 'स्वतन्त्र' एकभुक्त होता है, (२) मध्याह्नमें 'अन्यांग' किया जाता है और (३) 'प्रतिनिधि' आगे-पीछे भी हो सकता है।

(८) 'नक्तव्रत' रातमें किया जाता है। उसमें यह विशेषता है कि गृहस्थ रात्रि होनेपर उस व्रतको करें और संन्यासी तथा विधवा सूर्य रहते हुए।

(९) 'अयाचित व्रत' में बिना माँगे जो कुछ मिले उसीको निषेध काल बचाकर दिन या रातमें जब अवसर हो तभी (केवल एक बार) भोजन करे और 'मितभुक्' में प्रतिदिन दस ग्रास (या

एक नियत प्रमाणका) भोजन करे। अयाचित और मितभुक् दोनों व्रत परम सिद्धि देनेवाले हैं।

(१०) चन्द्रकी प्रसन्नता, चन्द्रलोककी प्राप्ति अथवा पापादिकी निवृत्तिके लिये 'चान्द्रायण' व्रत किया जाता है। यह चन्द्रकलाके समान बढ़ता और घटता है। जैसे शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको एक, द्वितीयाको दो और तृतीयाको तीन, इस क्रमसे बढ़ाकर पूर्णिमाको पन्द्रह ग्रास भोजन करे। फिर कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको चौदह, द्वितीयाको तेरह और तृतीयाको बारहके उत्क्रमसे घटाकर चतुर्दशीको एक और अमावास्याको निराहार रहनेसे एक चान्द्रायण होता है। यह 'यवमध्य' चान्द्रायण है*। इसका दूसरा प्रकार यह है—

(११) शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको चौदह, द्वितीयाको तेरह और तृतीयाको बारहके उत्क्रमसे घटाकर पूर्णिमाको एक और कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको एक, द्वितीयाको दो और तृतीयाको तीनके क्रमसे बढ़ाकर चतुर्दशीको चौदह ग्रास भोजन करे और अमावास्याको निराहार रहे। यह दूसरा चान्द्रायण है। इसको 'पिपिलिकातनु' चान्द्रायण कहते हैं।

(१२) प्राजापत्य बारह दिनोंमें होता है। उसमें व्रतारम्भके पहले तीन दिनोंमें प्रतिदिन बाईस ग्रास भोजन करे। फिर तीन दिनतक प्रतिदिन छब्बीस ग्रास भोजन करे। उसके बाद तीन दिन आपाचित (पूर्ण पकाया हुआ) अन्न चौबीस ग्रास भोजन करे और फिर तीन दिन सर्वथा निराहार रहे। इस प्रकार बारह दिनमें एक 'प्राजापत्य' होता है। ग्रासका प्रमाण जितना मुँहमें आ सके, उतना है।

(१३) उपर्युक्त व्रत मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र, योग,

---

* क्योंकि जैसे जौ आदि-अन्तमें पतला और मध्यमें मोटा होता है, उसी प्रकार एक ग्राससे आरम्भ कर पंद्रह ग्रास बीचमें कर पुनः घटाते हुए एक ग्रासपर समाप्त होता है। यवमध्य चान्द्रायण बराबर किसी मासकी शुक्ल प्रतिपदासे ही शुरू किया जाता है।

करण, समय और देवपूजासे सहयोग रखते हैं। यथा—वैशाख, भाद्रपद, कार्तिक और माघके 'मास' व्रत। शुक्ल और कृष्णके 'पक्ष' व्रत। चतुर्थी, एकादशी और अमावास्या आदिके 'तिथि' व्रत। सूर्य, सोम और भौमादिके 'वार' व्रत। श्रवण, अनुराधा और रोहिणी आदिके 'नक्षत्र' व्रत। व्यतीपातादिके 'योग' व्रत। भद्रा आदिके 'करण' व्रत और गणेश, विष्णु आदिके 'देव' व्रत स्वतन्त्र व्रत हैं।

(१४) बुधाष्टमी—सोम, भौम, शनि, त्रयोदशी और भानुसप्तमी आदि 'तिथि-वार' के, चैत्र शुक्ल नवमी भौम, पुष्य मेषार्क और मध्याह्नकी 'रामनवमी' तथा भाद्रपद कृष्णपक्ष अष्टमी बुधवार रोहिणी सिंहार्क और अर्धरात्रिकी 'कृष्णजन्माष्टमी' आदिके सामूहिक व्रत हैं। कुछ व्रत ऐसे हैं, जिनमें उपर्युक्त तिथि-वारादिके विभिन्न सहयोग यदा-कदा प्राप्त होते हैं। इन सबके उपयोगी वाक्योंका यत्किंचित् दिग्दर्शन अथवा अनुसंधान आगे किया गया है, विशेष विधान हर महीनेमें व्रतोंके साथ बतलाया जायगा।

(१५) यह अवश्य स्मरण रहना चाहिये कि 'व्रत-परिचय' व्रतराज, व्रतार्क, मासस्तबक, जयसिंह-कल्पद्रुम और मुक्तकसंग्रह आदि प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थोंके आधारसे लिखा गया है और इसके प्रमाणवाक्य भी उक्त ग्रन्थोंसे ही उद्‌धृत किये गये हैं—जो उनमें भी अति प्राचीन कालके श्रुति, स्मृति, पुराण और धर्मशास्त्रोंसे लिये हुए हैं और उनमेंसे अधिकांश ग्रन्थ इस समय कुछ तो अस्त-व्यस्त या रूपान्तरित हो गये हैं और कुछ सर्वथा नष्टप्राय या दुष्प्राप्य हैं। व्रतोंका बहुत ज्यादा वर्णन पुराणोंमें है, परंतु हस्तलिखित और मुद्रित पुराणोंमें कइयोंमें इतना अन्तर हो गया कि बहुत-से व्रत जो ब्रह्म, विष्णु या वराहादि पुराणोंमें बतलाये जाते हैं, वे उनमें मिलते ही नहीं। अतएव 'व्रत-परिचय' में प्रत्येक वाक्यके साथ जो नाम दिये गये हैं, वे सब उपर्युक्त ग्रन्थोंके ही हैं और विशेषज्ञ उनके मूल ग्रन्थोंको देखनेकी अपेक्षा

उपर्युक्त संग्रह-ग्रन्थोंमें ही देख सकते हैं। पृष्ठ-संख्या इस कारण नहीं दी है कि बहुत-से वाक्य एक ही ग्रन्थमें अनेक जगह आये हैं।

तिथ्यादिका निर्णय

(१६) सूर्योदयकी तिथि यदि दोपहरतक न रहे तो वह 'खण्डा'[१] होती है, उसमें व्रतका आरम्भ और समाप्ति दोनों वर्जित हैं और सूर्योदयसे सूर्यास्तपर्यन्त रहनेवाली तिथि 'अखण्डा'[२] होती है। यदि गुरु और शुक्र अस्त न हुए हों तो उसमें व्रतका आरम्भ अच्छा है। जिस व्रतसम्बन्धी[३] कर्मके लिये शास्त्रोंमें जो समय नियत है, उस समय यदि व्रतकी तिथि मौजूद हो तो उसी दिन उस तिथिके द्वारा व्रतसम्बन्धी कार्य ठीक समयपर करना चाहिये। तिथिका क्षय और वृद्धि व्रतका निश्चय करनेमें कारण नहीं हैं।

(१७) जो तिथि व्रतके[४] लिये आवश्यक नक्षत्र और योगसे युक्त हो, वह यदि तीन मुहूर्त हो तो वह भी श्रेष्ठ होती है। जन्म[५] और मरणमें तथा व्रतादिकी पारणामें तात्कालिक तिथि ग्राह्य है; किंतु बहुत-से व्रतोंकी पारणामें विशेष निर्णय किया जाता है, वह यथास्थान दिया है। जिस[६] तिथिमें सूर्य उदय या अस्त हो, वह तिथि स्नान-दान-जपादिमें सम्पूर्ण उपयोगी होती है। पूर्वाह्ण[७] देवोंका, मध्याह्न

---

१. उदयस्था तिथिर्या हि न भवेद् दिनमध्यगा।
सा खण्डा न व्रतानां स्यादारम्भश्च समापनम्॥ (हेमाद्रि व्रतखण्ड सत्यव्रत)

२. खखण्डव्यापिमार्तण्डा यद्यखण्डा भवेत् तिथिः।
व्रतप्रारम्भणं तस्यामनस्तगुरुशुक्रयुक्॥ (हेमाद्रि वृद्ध वसिष्ठ)

३. कर्मणो यस्य यः कालस्तत्कालव्यापिनी तिथिः।
तया कर्माणि कुर्वीत ह्रासवृद्धी न कारणम्॥ (वृद्ध याज्ञवल्क्य)

४. या तिथिर्ऋक्षसंयुक्ता या च योगेन नारद।
मुहूर्त्तत्रयमात्रापि सापि सर्वा प्रशस्यते॥ (गोभिल)

५. पारणे मरणे नृणां तिथिस्तात्कालिकी स्मृता॥ (नारदीय)

६. यां तिथिं समनुप्राप्य उदयं याति भास्करः।
सा तिथिः सकला ज्ञेया स्नानदानजपादिषु॥ (देवल)

७. पूर्वाह्णो वै देवानां मध्याह्नो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणाम्॥ (श्रुति)

मनुष्योंका और अपराह्ण पितरोंका समय है। जिसका जो समय हो, उसका पूजनादि कर्म उसी समयमें करना चाहिये।

(१८) आजके सूर्योदयसे कलके सूर्योदयतक एक दिन होता है। उसके दिन और रात्रि दो भाग हैं। पहले भाग (दिन)-में प्रातःसंध्या और मध्याह्नसंध्या तथा दूसरे भाग (रात्रि)-में सायाह्न और निशीथ हैं। इनके अतिरिक्त पूर्वाह्ण[1], मध्याह्न, अपराह्ण और सायाह्नरूपमें चार भाग माने हैं। व्यासजीने दिनभरके पाँच भाग निश्चित किये हैं।

(१९) सूर्योदयसे तीन-तीन मुहूर्तके प्रातःकाल, संगव, मध्याह्न, अपराह्ण और सायाह्न—ये पाँच भाग हैं। त्रिंशद्घटी प्रमाणके दिनमानका पंद्रहवाँ हिस्सा एक मुहूर्त होता है। यदि दिनमान ३४ घड़ीके हों, तो सवा दो और २६ के हों, तो पौने दोका मुहूर्त होता है। निर्णयमें मुहूर्त और उपर्युक्त दिनविभाग आवश्यक होते हैं।

(२०) प्रदोषकाल[2] सूर्यास्तके बाद दो घड़ीतक माना गया है और उषःकाल सूर्योदयसे पहले रहता है। दानादिमें[3] पूर्वाह्ण देवोंका, मध्याह्न मनुष्योंका, अपराह्ण पितरोंका और सायाह्न राक्षसोंका समय है। अतः यथायोग्य कालमें दानादि देनेसे यथोचित फल मिलता है।

(२१) व्रतके[4] अधिकारी कौन हैं? इस विषयमें धर्मशास्त्रोंकी आज्ञा है कि जो अपने वर्णाश्रमके आचार-विचारमें रत रहते हों, निष्कपट, निर्लोभ, सत्यवादी, सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाले, वेदके

---

१. पूर्वाह्णः प्रथमं सार्धं मध्याह्नः प्रहरं तथा।
आतृतीयादपराह्णः सायाह्नश्च ततः परम्॥ (गोभिल)

२. प्रदोषोऽस्तमयादूर्ध्वं घटिकाद्वयमिष्यते। (तिथ्यादि तत्त्वम्)

३. पूर्वाह्णो दैविकः कालो मध्याह्नश्चापि मानुषः।
अपराह्णः पितृणां तु सायाह्नो राक्षसः स्मृतः॥ (व्यास)

४. निजवर्णाश्रमाचारनिरतः शुद्धमानसः।
अलुब्धः सत्यवादी च सर्वभूतहिते रतः॥

अनुयायी, बुद्धिमान् तथा पहलेसे निश्चय करके यथावत् कर्म करनेवाले हों ऐसे मनुष्य व्रताधिकारी होते हैं।

(२२) उपर्युक्त गुणसम्पन्न[१] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री और पुरुष सभी अधिकारी हैं। केवल सौभाग्यवती स्त्रियोंके लिये यह[२] लिखा है कि पतिकी सेवाके सिवा उनके लिये न कोई यज्ञ है, न व्रत है और न उपासना है। वे पतिकी सेवासे ही स्वर्गादि अभीष्ट लोकोंमें जा सकती हैं। फिर भी वे चाहें तो पतिकी अनुमतिसे करें; क्योंकि[३] पत्नी पतिकी आज्ञा माननेवाली होती है। अतः उसके लिये पतिका व्रत ही कल्याणकारी है। अस्तु, शास्त्रकारोंकी व्रतादिके विषयमें यह आज्ञा है कि उनका आरम्भ श्रेष्ठ समयमें किया जाय।

(२३) बृहस्पति[४] और शुक्रका अस्त तथा अस्त होनेके पहलेके तीन दिन वृद्धत्वके और उदय होनेके बादके तीन दिन बालत्वके व्रतारम्भमें वर्जित हैं। ऐसे अवसरमें व्रतादिका आरम्भ और उत्सर्ग नहीं करना चाहिये। इनके सिवा भद्रादि कुयोग और मलमासादि भी त्याज्य हैं। किसी भी व्रतके आरम्भमें सोम[५], शुक्र, बृहस्पति और बुधवार हों तो सब कामोंमें सफलता प्राप्त कराते हैं और इनके साथ अश्विनी,[६] मृगशिरा, पुष्य, हस्त, तीनों उत्तरा, अनुराधा और रेवती नक्षत्र, प्रीति, सिद्धि, साध्य, शुभ, शोभन और आयुष्मान् योग हों तो सब प्रकारका सुख देते हैं।

---

१. पूर्वं निश्चयमाश्रित्य यथावत्कर्मकारकः।
अवेदनिन्दको धीमानधिकारी व्रतादिषु॥ (स्कन्दपुराण)

२. नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
भर्तृशुश्रूषयैवैता लोकानिष्टान् व्रजन्ति हि॥ (स्कन्दपुराण)

३. पत्नी पत्युरनुज्ञाता व्रतादिष्वधिकारिणी। (व्यास)

४. अस्तगे च गुरौ शुक्रे बाले वृद्धे मलिम्लुचे।
उद्यापनमुपारम्भं व्रतानां नैव कारयेत्॥ (गार्ग्य)

५. सोमशुक्रगुरुसौम्यवासराः सर्वकर्मसु भवन्ति सिद्धिदाः। (रत्नमाला)

६. हस्तमैत्रमृगपुष्यत्र्युत्तरा अश्विपौष्णशुभयोगसौख्यदाः। (मुक्तकसंग्रह)

(२४) व्रत करनेवाला व्रतके आरम्भके पहले दिन मुण्डन कराये और शौच-स्नानादि नित्यकृत्यसे निवृत्त होकर आगामी दिनमें जो व्रत किया जाय, उसके उपयोगी व्यवस्था करे। मध्याह्नमें एकभुक्त व्रत करके रात्रिमें सोत्साह शयन करे। दूसरे दिन उषःकालमें (सूर्योदयसे दो मुहूर्त पहले) उठकर शौच-स्नानादि करके प्रातःकालका[१] भोजन बिना किये ही सूर्य और व्रतके देवताको अपनी अभिलाषा निवेदन करके व्रतका आरम्भ करे।

(२५) आरम्भमें[२] गणपति, मातृका और पंचदेवका पूजन करके नान्दीश्राद्ध करे और व्रत-देवताकी सुवर्णमयी मूर्ति बनवाकर उसका पंचोपचार, दशोपचार या षोडशोपचार पूजन करे। मास, पक्ष, तिथि, वार और नक्षत्रादिमें जिसका व्रत हो उसका अधिष्ठाता ही 'व्रतका[३] देवता' होता है। अतः प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीयादिके यथाक्रम अग्नि, ब्रह्मा, गौरी आदि और अश्विनी, भरणी, कृत्तिकादिके नासत्य (अश्विनीकुमार), यम और अग्नि आदि तथा वारोंके सूर्य, सोम, भौमादि अधिष्ठाता हैं।

(२६) उपर्युक्त प्रकारसे (जिस अवधिका व्रत हो उस अवधितक) यथाविधि व्रत करके उसके समाप्त होनेपर वित्तानुसार उद्यापन[४] करे। उद्यापन किये बिना व्रत निष्फल होता है। कौन व्रत किस प्रकार किया जाता है, किस व्रतकी कितनी अवधि होती है और किस व्रतका कैसा उद्यापन किया जाता है—ये सब बातें आगे प्रत्येक व्रतके साथ संयुक्त की जायँगी और वहीं उनके विधि-विधानादि बतलाये जायँगे।

---

१. अभुक्त्वा प्रातराहारं स्नात्वाऽऽचम्य समाहितः।
सूर्याय देवताभ्यश्च निवेद्य व्रतमाचरेत्॥ (देवल)

२. व्रतारम्भे मातृपूजां नान्दीश्राद्धं च कारयेत्॥ (शातातप)

३. स्नात्वा व्रतवता सर्वव्रतेषु व्रतमूर्तयः
पूज्याः सुवर्णमय्याद्या दानं दद्याद् द्विजानपि॥ (पृथ्वीचन्द्रोदय)

४. कुर्यादुद्यापनं चैव समाप्तौ यदुदीरितम्।
उद्यापनं विना यत्तु तद्व्रतं निष्फलं भवेत्॥ (नन्दिपुराण)

(२७) व्रतीको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि व्रत आरम्भ करनेके बाद यदि क्रोध[१], लोभ, मोह या आलस्यवश उसे अधूरा छोड़ दे तो तीन दिनतक अन्नका त्याग करके फिर उस व्रतका आरम्भ करे।

(२८) व्रतके समय बार-बार[२] जल पीने, दिनमें सोने, ताम्बूल चबाने और स्त्री-सहवास करनेसे व्रत बिगड़ जाता है। व्रतके[३] दिनोंमें स्तेय (चोरी) आदिसे वर्जित रहकर क्षमा, दया, दान, शौच, इन्द्रियनिग्रह, देवपूजा, अग्निहोत्र और संतोषके काम करने उचित और आवश्यक हैं।

(२९) जल[४], फल, मूल, दूध, हवि, ब्राह्मणकी इच्छा, ओषधि और गुरु (पूज्यजनों)-के वचन—इन आठसे व्रत नहीं बिगड़ते। होमावशिष्ट[५] खीर, भिक्षाका अन्न, सत्तू (सेके हुए जौका चूर्ण), कण (गोरैड़ या तृणपुष्प), यावक (जौ), शाक (तोरों, ककड़ी, मेथी आदि), गोदुग्ध, दही, घी, मूल, आम, अनार, नारंगी और कदलीफल आदि खानेयोग्य हविष्य हैं।

---

१. क्रोधात् प्रमादाल्लोभाद् वा व्रतभंगो भवेद् यदि।
दिनत्रयं न भुंजीत............॥ (गरुड)
............पुनरेव व्रती भवेत्॥ (वायुपुराण)

२. असकृज्जलपानाच्च सकृत्ताम्बूलभक्षणात्।
उपवासः प्रणश्येत दिवास्वापाच्च मैथुनात्॥ (विष्णु)

३. क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
देवपूजाग्निहवनं संतोषः स्तेयवर्जनम्॥
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्थितः॥ (भविष्यपुराण)

४. अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम्॥ (पद्मपुराण)

५. चरुभैक्ष्यसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलादीनि।
हवींष्युत्तरोत्तरं प्रशस्तानि॥ (गौतम)

(३०) व्रतमें गन्ध[१], पुष्प, माला, वस्त्र और व्रतयोग्य अलंकारादि ग्राह्य हैं। व्रत-पूजा या हवनादिमें केवल[२] एक वस्त्र (धोती आदि) पहनकर या बहुत वस्त्र धारणकर मन्त्रादिके जप करना या होमादि करना उचित नहीं। व्रत करनेवाला पुरुष हो या सुवासिनी (स्त्री) हो, सम्पूर्ण व्रतोंमें लाल[३] वस्त्र और सुगन्धित सफेद पुष्प धारण करे। वर्णभेदसे ब्राह्मणोंके[४] सफेद, क्षत्रियोंके मजीठ-जैसे, वैश्योंके पीले और शूद्रोंके नीले अथवा बिना रंगके वस्त्र अनुकूल होते हैं और धोती त्रिकच्छ[५] (जिसमें नीचेका पल्ला पृष्ठपर और आगेके पल्लेका ऊपरका हिस्सा नाभिके नीचे और नीचेका हिस्सा बायें पसवाड़ेमें लगाया जाता है) उत्तम मानी गयी है। ऐसी धोती बाँधनेवाले ब्राह्मण मुनि होते हैं। इसके अतिरिक्त ध्वजप्रयुक्त, ग्रन्थियुक्त और यवनोंके समान दोनों पल्ले खुली हुई धोती वर्जित है।

(३१) व्रत करनेवाले मोहवश बिना आचमन किये क्रिया करें, तो उनका व्रत वृथा होता है। नहाते-धोते, खाते-पीते, सोते, छींके लेते समय और गलियोंमें घूमकर आनेपर आचमन[६] किया हुआ हो तो भी दुबारा

---

१. गन्धालंकारवस्त्राणि पुष्पमालानुलेपनम्। (वृद्धशातातप)

२. नैकवासा जपेन्मन्त्रं बहुवासाकुलोऽपि वा।

३. सर्वेषु तूपवासेषु पुमान् वाथ सुवासिनी।
धारयेद् रक्तवस्त्राणि कुसुमानि सितानि च॥ (विष्णुधर्म)

४. ब्राह्मणस्य सितं वस्त्रं मांजिष्ठं नृपतेः स्मृतम्।
पीतं वैश्यस्य शूद्रस्य नीलं मलवदिष्यते॥ (मनु)

५. वामकुक्षौ च नाभौ च पृष्ठे चैव यथाक्रमम्।
त्रिकच्छेन समायुक्तो द्विजोऽसौ मुनिरुच्यते॥ (याज्ञवल्क्य)

६. स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्योपसर्पणे।
आचान्तः पुनराचामेद् वासो विपरिधाय च॥ (याज्ञवल्क्य)
संहतांगुलिना तोयं गृहीत्वा पाणिना द्विजः।
मुक्तांगुष्ठकनिष्ठेन शेषेणाचमनं चरेत्॥ (नागदेव)

आचमन करे। यदि जल न मिले तो दक्षिण कर्णका स्पर्श कर ले, आचमन लेते समय दाहिने हाथकी अंगुलियोंको मिलाकर सीधी करे और उनमेंसे कनिष्ठा तथा अँगूठेको अलग रखकर आचमन करे अथवा—दाहिने[१] हाथके पोरुओंको बराबर करके हाथको गौके कान-जैसा बनाकर आचमन करे। (लोक-व्यवहारमें आचमनादिके भूल जानेपर दाहिना कान छुआ करते हैं।)

(३२) अधोवायुके[२] निकल जाने, आक्रन्द (रोने), क्रोध करने, बिल्ली और चूहेसे छू जाने, जोरसे हँसने और झूठ बोलनेपर जलस्पर्श करना आवश्यक होता है। उपवासमें[३] और श्राद्धमें दतौन नहीं करना चाहिये। यदि अधिक आवश्यक हो तो जलके बारह कुल्ले करें—अथवा आमके पल्लव,[४] जल या अँगुलीसे दाँतोंको साफ कर लें। व्रत[५] करनेवालेको बैल, ऊँट और गदहेकी सवारी नहीं करनी चाहिये।

(३३) बहुत[६] दिनोंमें समाप्त होनेवाले व्रतका पहले संकल्प कर लिया हो तो उसमें जन्म और मरणका सूतक नहीं लगता। इसी

---

१. आयतं पर्वणां कृत्वा गोकर्णाकृतिवत् करम्।
एतेनैव विधानेन द्विजो ह्याचमनं चरेत्॥ (भारद्वाज)

२. अधोवायुसमुत्सर्गे आक्रन्दे क्रोधसम्भवे।
मार्जारमूषकस्पर्शे प्रहासेऽनृतभाषणे॥
निमित्तेष्वेषु सर्वेषु कर्म कुर्वन्नपः स्पृशेत्। (बृहस्पति)

३. उपवासे तथा श्राद्धे न खादेद् दन्तधावनम्। (स्मृत्यन्तर)
अलाभे दन्तकाष्ठानां निषिद्धायां तिथौ तथा।
अपां द्वादशगण्डूषैर्विदध्याद् दन्तधावनम्॥ (व्यास)

४. पर्णोदकेनांगुल्या वा दन्तान् धावयेत्....। (स्मृत्यर्थसार)

५. गोयानमुष्ट्रयानं च कथंचिदपि नाचरेत्।
खरयानं च सततं व्रते चाप्युपसंकरम्॥ (स्मृत्यन्तर)

६. बहुकालिकसंकल्पो गृहीतश्च पुरा यदि।
सूतके मृतके चैव व्रतं तन्नैव दुष्यति॥ (शुद्धितत्त्व—विष्णु)

प्रकार किसी[१] कामनाके व्रतमें सूतक आ जाय, तो दान और पूजनके सिवा व्रतमें बाधा नहीं आती। कई व्रत ऐसे हैं, जिनमें दान, व्रत और पूजन तीनों होते हैं। यथा—गणेश-चतुर्थी, अनन्त-चतुर्दशी और अर्कसप्तमी आदिमें व्रतेश्वरकी पूजा, वायन आदिका दान और अभीष्टका व्रत तीनों हैं। ऐसे व्रतोंमें अशौच आनेपर व्रत करता रहे—दान और पूजा न करे। इसी प्रकार—

(३४) बड़े व्रतका[२] प्रारम्भ करनेपर स्त्री रजस्वला हो जाय, तो उससे भी व्रतमें कोई रुकावट नहीं होती। अशौचके माननेमें सपिण्ड, साकुल्य और सगोत्र—इन तीनोंका निश्चय आवश्यक होता है। तीन पीढ़ीतक सपिण्ड, दस पीढ़ीतक साकुल्य और इससे आगे सगोत्र पीढ़ी माने जाते हैं। इनमें सामान्यरूपसे सपिण्डमें दस दिन, साकुल्यमें तीन दिन और सगोत्रमें एक दिन अथवा स्नानमात्र सूतक रहता है। लम्बे व्रतोंमें इससे बाधा नहीं होती।

(३५) व्रतमें[३], तीर्थयात्रामें, अध्ययनकालमें तथा विशेषकर श्राद्धमें दूसरेका अन्न लेनेसे जिसका अन्न होता है, उसीको उसका पुण्य प्राप्त हो जाता है। आपत्ति अथवा असामर्थ्यवश यात्रा और व्रतादि धर्मकार्य अपनेसे न हो सके तो पति[४], पत्नी, ज्येष्ठ पुत्र, पुरोहित, भाई या मित्रको प्रतिहस्तक

---

१. काम्योपवासे प्रक्रान्ते त्वन्तरा मृतसूतके।
तत्र काम्यव्रतं कुर्याद् दानार्चनविवर्जितम्॥ (कूर्मपुराण)

२. प्रारब्धदीर्घतपसां नारीणां यद् रजो भवेत्।
न तत्रापि व्रतस्य स्यादुपरोधः कदाचन॥ (सत्यव्रत)

३. व्रते च तीर्थेऽध्ययने श्राद्धेऽपि च विशेषतः।
परान्नभोजनाद् देवि यस्यान्नं तस्य तत्फलम्॥ (टोडरानन्द)

४. भर्ता पुत्रः पुरोधाश्च भ्राता पत्नी सखापि च।
यात्रायां धर्मकार्येषु कर्तव्याः प्रतिहस्तकाः॥ (मदनरत्न, प्रभासखण्ड)
पुत्राद् वा कारयेदाद्याद् ब्राह्मणाद् वापि कारयेत्। (वायुपुराण)

(प्रतिनिधि या एवजी) बनाकर उनसे करावे। उपर्युक्त प्रतिनिधि प्राप्त न हो तो वह काम ब्राह्मणसे हो सकता है।

(३६) प्रातः-सायं[1] (संध्या) और संधियोंमें, जप, भोजन और दतौनमें, मूत्र और पुरीषके त्यागमें, पितृकार्य तथा देवकार्यमें और दान, योग तथा गुरुके समीपमें मौन रहनेसे मनुष्यको स्वर्ग मिलता है— '**मौनं सर्वार्थसाधकम्।**' दान[2], होम, आचमन, देवार्चन, भोजन, स्वाध्याय और पितृतर्पण—ये 'प्रौढपाद' (ऊकड़ू) बैठकर न करे। प्रौढपाद[3] तीन प्रकारका होता है, एक यह कि पाँवोंके तलवे आसनपर रखकर—दोनों घुटने मिलाके पींडियोंको जाँघोंसे लगाकर बैठे। दूसरा—दोनों घुटने आसनपर लगाकर एड़ियोंपर आरूढ़ हो और तीसरा यह है कि दोनों पैर सीधे फैलाकर जाँघें आसनपर लगावे। ये तीनों ही निषिद्ध हैं।

(३७) कन्या[4], शय्या (सुख-शय्या), मकान, गौ और स्त्री—ये एकहीको देने चाहिये; बहुतोंको देनेपर हिस्सा होनेसे पाप लगता है। व्रतमें रहकर प्राणरक्षाके अर्थसे जल पीवे। फल, मूल, दूध, जौ, यज्ञशिष्ट तथा हवि खाय; रोग-पीड़ामें वैद्यकी बतलायी हुई औषध ले और ब्राह्मणकी अभिलाषा सिद्ध करे तो अति शीघ्र और गुरुके वचनसे करे। दीर्घ या

---

१. संध्ययोरुभयोर्जप्ये भोजने दन्तधावने।
पितृकार्ये च दैवे च तथा मूत्रपुरीषयोः।
गुरूणां संनिधौ दाने योगे चैव विशेषतः।
एषु मौनं समातिष्ठन् स्वर्गं प्राप्नोति मानुषः॥ (अंगिरा)

२. दानमाचमनं होमं भोजनं देवतार्चनम्।
प्रौढपादो न कुर्वीत स्वाध्यायं पितृतर्पणम्॥ (शाट्यायन)

३. आसनारूढपादस्तु जान्वोर्वा जंघयोस्तथा।
कृतावसिक्थको यश्च प्रौढपादः स उच्यते॥ (शाट्यायन)

४. कन्या शय्या गृहं चैव देयं यद् गोस्त्रियादिकम्।
एका एकस्य दातव्या न बहुभ्यः कथंचन॥ (कात्यायन)

अदीर्घ सभी व्रतोंकी पारणासे पूर्ति और उद्यापनसे समाप्ति जाननी चाहिये। कदाचित् ये दोनों न किये जायँ, तो व्रत निष्फल हो जाता है।

(३८) पारणाका निर्णय और उद्यापनका विधान आगे प्रत्येक व्रतके साथ दिये गये हैं। इनके सिवा विशेष बातें धर्मशास्त्रोंसे जानी जा सकती हैं। व्रतोंमें बहुत-से व्रत ऐसे हैं जो व्रत, पूजा और दान—तीनोंके सहयोगसे सम्पन्न होते हैं। उनके विषयके कुछ आवश्यक वाक्य यहाँ देते हैं।

(१) 'ब्राह्मण'[१] शान्त, संत, सुशील, अक्रोधी और प्राणिमात्रका हित करनेवाला श्रेष्ठ होता है।

(२) 'ब्राह्मणके[२] कर्म' अग्निहोत्र, तपश्चर्या, सत्यवाक्य, वेदाज्ञाका पालन, अतिथि-सत्कार और वैश्वदेव-साधन मुख्य हैं।

(३) 'यज्ञोपवीत'[३] त्रैवर्णिकोंके और विशेषकर ब्राह्मणोंके स्वरूपज्ञानका आदर्श और धर्म-कर्मादिका साधन है। यह सूत, रेशम, गोबाल (सुरगौके रोम), सन, वल्कल और तृणपर्यन्तसे निर्माण किया जाता है। इनसे बने हुए यज्ञोपवीत कार्यानुसार उपयुक्त होते हैं। सूतका सर्वप्रधान है। उसके बनानेके लिये सूतके धागेको वामावर्तसे तिगुना करके दक्षिणावर्तसे नौगुना करे और उसे त्रिसर बनाकर गाँठ लगावे।

(४) 'यज्ञोपवीत'[४] धारण करते समय '**यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं०**'

---

१. शान्तः सन्तः सुशीलश्च सर्वभूतहिते रतः।
क्रोधं कर्तुं न जानाति स वै ब्राह्मण उच्यते॥ (धन्वन्तरि)

२. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥ (अंगिरा)

३. कार्पासक्षौमगोबालशणवल्कतृणादिभिः। (हरिहरभाष्य)
वामावर्तं त्रिगुणितं कृत्वा प्रदक्षिणावर्तं नवगुणं विधाय तदेवं त्रिसरं कृत्वा ग्रन्थिं विदध्यात्। (ह० ह०)

४. यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ (ब्रह्मकर्म०)

का उच्चारण करे और विसर्जनके समय '**एतावद्दिनपर्यन्तं०**' से क्षमा माँगे। बायें कंधेपर यज्ञोपवीत रहनेसे सव्य और दायेंपर रहनेसे अपसव्य होता है तथा दोनोंके बदले गलेमें रहनेसे कण्ठीवत् हो जाता है। मूत्रादिके त्यागनेमें इसे कर्णस्थ रखना आवश्यक है और इसके बिना मल-मूत्रका त्याग करना निषिद्ध माना गया है।

(५) 'यज्ञोपवीत' को स्वाभाविक रूपमें बायें कंधेके ऊपर और दाहिने हाथके नीचे नाभितक लटकाये रखना चाहिये। नित्य-कर्मादिमें दो वस्त्र (धोती और गमछा) एवं दो यज्ञोपवीत (एक नित्यका और एक कार्यका) रखना चाहिये। यदि गमछा न हो तो तीन यज्ञोपवीत होने चाहिये। धारण किये हुए यज्ञोपवीतको चार मास हो जायँ या जन्म-मरणादिका सूतक आ जाय तो उसे बदल देना चाहिये।[१]

(६) 'कलश'[२] सोने, चाँदी, ताँबे या (छेदरहित) मिट्टीका और सुदृढ़ उत्तम माना गया है। वह मंगलकार्योंमें मंगलकारी होता है।

(७) 'जल'[३] नदी आदिका बहता हुआ 'ब्राह्मण', सरोवर आदिका बँधा हुआ 'क्षत्रिय', कूपादिका ढँका हुआ 'वैश्य' और घरके बर्तनोंमें रखा हुआ 'शूद्र' वर्ण माना गया है। अतः व्रतोपवासादिमें पवित्र जल लेना आवश्यक है।

(८) 'दुग्धत्रितय'[४] में दूध, दही और घी हैं। ये गौके उत्तम,

एतावद्दिनपर्यन्तं ब्रह्म त्वं धारितं मया।
जीर्णत्वात् त्वं परित्यक्तो गच्छ सूत्र यथासुखम्॥ (आह्निक)

१. सूतके मृतके चैव गते मासचतुष्टये।
नवयज्ञोपवीतानि धृत्वा पूर्वाणि संत्यजेत्॥ (मुक्तक)

२. हैमो वा राजतस्ताम्रो मृण्मयो वापि ह्यव्रणः। (कर्मप्रदीप)

३. प्रवाहितं ब्रह्मतोयं क्षात्रतोयं सरोवरम्।
कूपोदकं वैश्यतोयं गृहभाण्डेषु शूद्रवत्॥ (मुक्तक)

४. पयो दधि घृतं गव्यं दुग्धत्रितयमिष्यते। (गौतम)

महिषीके मध्यम और बकरी आदिके निकृष्ट होते हैं। रोगादिमें यथायोग्य सब उपयोगी हैं।

(९) 'मधुरत्रय'[१] में घी, दूध और शहद मुख्य हैं।

(१०) 'मधुपर्क'[२] दही एक भाग, शहद दो भाग और घी एक भाग मिलानेसे होता है।

(११) 'कालत्रय'[३] प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल हैं।

(१२) 'कालचतुष्टय'[४]—रात्रि व्यतीत होते समय ५५ घड़ीपर 'उषःकाल', ५७ पर 'अरुणोदय', ५८ पर 'प्रातःकाल' और ६० पर 'सूर्योदय' होता है। इसके पहले पाँच घड़ीका 'ब्राह्ममुहूर्त' ईश्वर-चिन्तनका है।

(१३) 'वेद' ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—ये चार वेद[५] हैं।

(१४) 'उपवेद' आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और स्थापत्य—ये उनके यथाक्रम उपवेद और ईति, धृति, शिवा और शक्ति—ये योषिता हैं।

(१५) 'चतुःसम'[६]—कपूर, चन्दन, कस्तूरी और केसर—ये चारों समान भागमें होनेपर 'चतुःसम' कहलाते हैं।

(१६) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण 'चातुर्वर्ण्य'[७] हैं।

(१७) 'पंचदेव'[८]—सूर्य, गणेश, शक्ति, शिव और विष्णु आराध्य

---

१. आज्यं क्षीरं मधु तथा मधुरत्रयमुच्यते। (कात्यायन)
२. दधिमधुघृतानि विषमभागमिलितानि मधुपर्कः। (कर्मप्रदीप)
३. प्रातर्मध्याह्नसायाह्नास्त्रयः कालाः। (श्रुति)
४. पंच पंच उषःकालः सप्तपंचारुणोदयः।
अष्ट पंच भवेत् प्रातस्ततः सूर्योदयः स्मृतः॥ (विष्णु)
५. ऋग्यजुःसामाथर्वाणि ।
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं शिल्पकं तथा॥ (मुक्तक)
६. कर्पूरं चन्दनं दर्पः कुंकुमं च चतुःसमम्। (गृह्यपरिशिष्ट)
७. ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः सुप्रसिद्धाः।
८. आदित्यो गणनाथश्च देवी रुद्रश्च केशवः। (वाचस्पति)

हैं। इनकी गणना विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्ति—इस क्रमसे भी की जाती है। इनकी प्रदक्षिणामें एक गणेशजीके, दो सूर्यके, तीन शक्तिके, चार विष्णुके और आधी शिवके नियत हैं।

(१८) 'पंचोपचार'[१]—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य अर्पण करनेसे पंचोपचार पूजा होती है।

(१९) 'पंचनदी'[२]—भागीरथी, यमुना, सरस्वती, गोदावरी और नर्मदा—ये पाँच मुख्य नदियाँ हैं।

(२०) 'पंचपल्लव'[३]—पीपल, गूलर, अशोक (आशोपालो), आम और वट—इनके पत्ते पंचपल्लव हैं।

(२१) 'पंचपुष्प'[४] —चमेली, आम, शमी (खेजड़ा), पद्म (कमल) और करवीर (कनेर)-के पुष्प—पंचपुष्प हैं।

(२२) 'पंचगन्ध'[५] —चूर्ण किया हुआ, घिसा हुआ, दाहसे खींचा हुआ, रससे मथा हुआ और प्राणीके अंगसे पैदा हुआ (कस्तूरी)—ये पंचगन्ध हैं।

(२३) 'पंचगव्य'[६] —ताँबेके वर्ण-जैसी गौका गोमूत्र **'गायत्री'** से ८ भाग, लाल गौका गोबर '**गन्धद्वारां०**' से १६ भाग, सफेद गौका दूध

---

१. गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं पंच ते क्रमात्॥ (जाबालि)

२. भागीरथी समाख्याता यमुना च सरस्वती।
किरणा धूतपापा च पंचनद्यः प्रकीर्तिताः॥ (वाचस्पति)

३. अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षचूतन्यग्रोधपल्लवाः। (ब्रह्माण्डपुराण)

४. चम्पकाम्रशमीपद्म करवीरं च पंचमम्। (देवीपुराण)

५. चूर्णीकृतो वा घृष्टो वा दाहकर्षित एव वा।
रसः सम्मर्दजो वापि प्राण्यंगोद्भव एव वा॥ (कालीपुराण)

६. गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। (पाराशर)
ताम्रारुणश्वेतकृष्णनीलानामाहरेद् गवाम्॥
(वीरमित्रोदय—स्कन्दपुराण)

'**आप्यायस्व०**' से १२ भाग, काली गौका दही '**दधि क्राव्णो०**' से १० भाग और नीली गौका घी '**तेजोऽसि शुक्र०**' से ८ भाग लेकर मिलाने और फिर उन्हें छान लेनेसे पंचगव्य होता है। इस प्रकारसे तैयार किये हुए पंचगव्यको '**यत् त्वगस्थिगतं पापं०**' से तीन बार पीवे, तो देहके सम्पूर्ण पाप-ताप, रोग और वैर-भाव नष्ट हो जाते हैं।

(२४) 'पंचामृत'[१]—गौके दूध, दही और घीमें चीनी और शहद मिलाकर छाननेसे पंचामृत बनता है और इसका यथाविधि उपयोग करनेसे शान्ति मिलती है।

(२५) 'पंचरत्न'[२]—सोना, हीरा, नीलमणि, पद्मराग और मोती—ये पाँच रत्न हैं।

(२६) 'पंचांग'[३] तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करणका ज्ञापक है। इससे व्रतादि निश्चय होते हैं।

(२७) 'षट्कर्म'[४] —१—स्नान, २—संध्या-जप, ३—होम, ४—पठनपाठन, ५—देवार्चन और ६—वैश्वदेव तथा अतिथि-सत्कार— ये छः कर्म हैं। द्विजातिमात्रके लिये इनका करना परम आवश्यक है।

अष्ट षोडश अर्कांशा दश अष्ट क्रमेण च। (नृसिंह)
गायत्र्या गन्धद्वारां च आप्यायदधिक्रावण:।
तेजोऽसिशुक्रमन्त्रैश्च पंचगव्यमकारयेत्॥ (स्कन्द)
यत् त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मामके।
प्राशनात् पंचगव्यस्य दहत्वग्निरिवेन्धनम्॥ (ब्रह्मकर्म)

१. गव्यमाज्यं दधि क्षीरं माक्षिकं शर्करान्वितम्। (धन्वन्तरि)

२. कनकं हीरकं नीलं पद्मरागश्च मौक्तिकम्। (बृहन्निघण्टु)

३. तिथिवारं च नक्षत्रं योगं करणमेव च।
पंचांगमिति विख्यातं……… (धर्मसार)

४. स्नानं संध्या जपो होमः स्वाध्यायो देवतार्चनम्।
वैश्वदेवातिथेयश्च षट् कर्माणि………॥ (पराशर)

(२८) 'षडंग'[१]—हृदय, मस्तक, शिखा, दोनों नेत्र, दोनों भुजा और परस्पर कर-स्पर्श षडंग हैं।

(२९) 'वेद[२]-षडंग'—कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, शिक्षा और ज्यौतिष—ये छः शास्त्र वेदके अंग हैं।

(३०) 'सप्तर्षि'[३]—कश्यप, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, जमदग्नि, वसिष्ठ और विश्वामित्र—ये सप्तर्षि हैं।

(३१) 'सप्तगोत्र'[४]—पिता, माता, पत्नी, बहिन, पुत्री, फूआ और मौसी—ये सात गोत्र (कुटुम्ब) हैं।

(३२) 'सप्तमृद्'[५]—हाथी-घोड़ेके चलनेका रास्ता, संकुचित मार्ग, दीमक, सरिता-संगम, गोशाला और राजद्वारमें प्रवेश करनेकी जगह—इन स्थानोंकी मृत्तिका सप्तमृद् हैं।

(३३) 'सप्तधान्य'[६]—जौ, गेहूँ, धान, तिल, काँगनी, श्यामाक (सावाँ) और देवधान्य—ये सप्तधान्य हैं।

(३४) 'सप्तधातु'[७]—सोना, चाँदी, ताँबा, आरकूट, लोहा, राँगा और सीसा—ये सप्तधातु हैं।

---

१. वक्षः शिरः शिखा बाहू नेत्रम् अस्त्राय फट् इति॥ (मुक्तक)

२. शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतींषि वेदषडंगानि। (कारिका)

३. कश्यपोऽथ भरद्वाजो गौतमश्चात्रिरेव च।
जमदग्निर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रो……॥ (वाचस्पति)

४. पितुर्मातुश्च भार्याया भगिन्या दुहितुस्तथा।
पितृष्वसामातृष्वस्त्रोर्गोत्राणां सप्तकं स्मृतम्॥ (धाता)

५. गजाश्वरथ्यावल्मीकसंगमाद्ध्रदगोकुलात्।
राजद्वारप्रवेशाच्च मृदमानीय निःक्षिपेत्॥ (स्मृतिसंग्रह)

६. यवगोधूमधान्यानि तिलाः कंगुस्तथैव च।
श्यामाकं देवधान्यं च सप्तधान्यमुदाहृतम्॥ (स्मृत्यन्तर)

७. सुवर्णं राजतं ताम्रमारकूटं तथैव च।
लौहं त्रपु तथा सीसं धातवः सप्त कीर्तिताः॥ (भविष्यपुराण)

(३५) 'अष्टांग[1] अर्घ्य'—जल, पुष्प, कुशाका अग्रभाग, दही, अक्षत, केसर, दूर्वा और सुपारी—इन आठ पदार्थोंसे अर्घ्य सम्पादन किया जाता है।

(३६) 'अष्ट[2] महादान'—कपास, नमक, घी, सप्तधान्य, सुवर्ण, लौह, पृथ्वी और गौ—ये महादान हैं।

(३७) 'नवरत्न'[3]—माणिक, मोती, मूँगा, सुवर्ण, पुखराज, हीरा, इन्द्रनील, गोमेद और वैदूर्यमणि—ये नवरत्न हैं। इनके धारण करने या दान देनेसे सूर्यादिकी प्रसन्नता बढ़ती है।

(३८) 'दशौषधि'[4]—कूट, जटामांसी, दोनों हलदी, मुरा, शिलाजीत, चन्दन, बच, चम्पक और नागरमोथा—ये दस द्रव्य सर्वौषधिके हैं।

(३९) 'दस[5] दान'—गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, घी, वस्त्र, धान्य, गुड़, चाँदी और लवण—ये दस दान हैं।

(४०) 'नमस्कार'[6]—अभिवादनके समय जो मनुष्य दूर हो, जलमें

---

१. दधिदूर्वाकुशाग्रैश्च कुसुमाक्षतकुंकुमैः।
सिद्धार्थोदकपूगैश्च अष्टांगं ह्यर्घ्यमुच्यते॥ (पूजापद्धति)

२. कार्पासं लवणं सर्पिः सप्तधान्यं सुवर्णकम्।
लौहं चैव क्षितिर्गावो महादानानि चाष्ट वै॥ (दानखण्ड)

३. माणिक्यं मौक्तिकं चैव प्रवालं हेम पुष्पकम्।
वज्रं नीलं च गोमेदं वैदूर्यं नवरत्नकम्॥ (दानखण्ड)

४. कुष्टं मांसी हरिद्रे द्वे मुरा शैलेयचन्दनम्।
वचाचम्पकमुस्ताश्च सर्वौषध्यो दश स्मृताः॥ (छन्दोगपरिशिष्ट)

५. गोभूतिलहिरण्याज्यवासोधान्यगुडानि च।
रौप्यं लवणमित्याहुर्दश दानान्यनुक्रमात्॥ (कर्मसमुच्चय)

६. दूरस्थं जलमध्यस्थं धावन्तं मदगर्वितम्।
क्रोधवन्तं चाशुचिकं नमस्कारं विवर्जयेत्॥

हो, दौड़ रहा हो, धनसे गर्वित हो, नहाता हो, मूढ़ हो या अपवित्र हो तो ऐसी अवस्थामें उसे नमस्कार नहीं करना चाहिये। अस्तु।

(४१) इस प्रकारके आचार-विचार, व्रत-उपवास, पूजा-पाठ और हरिस्मरण—ये सब स्वर्गीय सुख प्राप्त होनेके प्रधान साधन हैं।

(४२) 'यक्षकर्दम'[१]—व्रतादिमें पंचगव्यादिके समान इसका भी उपयोग होता है। यह दो प्रकारसे बनता है। एक केशर, अगर, कस्तूरी और कंकोल—इन चार ओषधियोंके समान भाग लेकर कर्दम बनावे। दूसरेमें कस्तूरी २ भाग, केशर २ भाग, चन्दन ३ भाग और हरिद्रा १ भाग लेकर कर्दम बनावे।

(४३) 'शतकर्दम'—शान्तिसारादिमें शतौषधि (सौ ओषधियों)-के नाम बताये हैं। उन्हींसे शतकर्दम बनता है। सौ कर्णिकाका कमल-पुष्प होता है। मतान्तरमें उसीको शतकर्दम बतलाया है।

(४४) 'ब्रह्मकूर्च'[२]—यज्ञादिमें पंचगव्यादिका हवन ब्रह्मकूर्चसे ही किया जाता है। यह आगेके भागमें गाँठवाली सात हरी दर्भा (दाभ)-से बनता है।

पुष्पहस्तो वारिहस्तस्तैलाभ्यंगो जलस्थितः।
आशीःकर्त्ता नमस्कर्त्ता उभयोर्नरकं भवेत्॥ (कर्मलोचन)

१. (क) 'यक्षकर्दम'—कर्पूरागरुकस्तूरीकंकोलैर्यक्षकर्दमः। (अमरकोश)

(ख) 'यक्षकर्दम'—कस्तूरिकाया द्वौ भागौ द्वौ भागौ कुंकुमस्य च॥
चन्दनस्य त्रयो भागाः शशिनस्त्वेक एव हि। (प्रतिष्ठाप्रकाश)

२. अहोरात्रोषितो भूत्वा पौर्णमास्यां विशेषतः।
पंचगव्यं पिबेत्प्रातर्ब्रह्मकूर्चविधिः स्मृतः॥ (प्रायश्चित्तविवेक)

चैत्रके व्रत

कृष्णपक्ष

आरम्भका निवेदन—प्रत्येक प्रयोजनके सभी व्रत मास[1], पक्ष और तिथि-वारादिके सहयोगसे सम्पन्न होते हैं। मास चार प्रकारके माने गये हैं। वे सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र नामोंसे प्रसिद्ध हैं। उनमें सूर्यसंक्रान्तिके आरम्भसे उसकी समाप्तिपर्यन्तका 'सौर'[2], सूर्योदयसे सूर्योदय-पर्यन्तके एक दिन-जैसे ३० दिनका 'सावन'[3], शुक्ल और कृष्णपक्षका 'चान्द्र'[4] और अश्विनीके आरम्भसे रेवतीके अन्ततकके चन्द्रभोगका 'नाक्षत्र'[5] मास होता है। ये सब प्रयोजनके अनुसार पृथक्-पृथक् लिये जाते हैं—यथा विवाहादिमें[6] 'सौर', यज्ञादिमें 'सावन'[7], श्राद्ध आदिमें 'चान्द्र'[8] और नक्षत्रसत्र (नक्षत्र-सम्बन्धी यज्ञ, यथा श्लेषा-मूलादिजन्मशान्ति)-में 'नाक्षत्र'[9] लिया जाता है।..... मास-गणनामें वैशाख आदिकी अपेक्षा सर्वप्रथम चैत्र क्यों लिया गया? इसका कारण यह है कि सृष्टिके आरम्भ (अथवा ज्योतिर्गणनाके प्रारम्भ)-में चन्द्रमा चित्रापर था—(और चित्रा

---

१. मस्यन्ते परिमीयन्ते चन्द्रवृद्धिक्षयादिना। (मदनरत्न)

२. अर्कसंक्रान्त्यवधिः सौरः।

३. त्रिंशद्दिनः सावनः।

४. पक्षयुक्तश्चान्द्रः। (माधवीय)

५. सर्वर्क्षपरिवर्तैस्तु नाक्षत्रो मास उच्यते। (विष्णु)

६. सौरो मासो विवाहादौ।

७. यज्ञादौ सावनः स्मृतः।

८. आब्दिके पितृकार्ये च चान्द्रो मासः प्रशस्यते। (गर्ग)

९. नक्षत्रसत्राण्यन्यानि नाक्षत्रे च प्रशस्यते। (विष्णु)

चैत्रीको प्राय:[१] होती ही है;) इस कारण अन्य महीनोंकी अपेक्षा चैत्र पहला महीना माना गया है और इसके पीछे वैशाख आदि आते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार चैत्रीको चित्रा होना सम्भव माना गया है, उसी प्रकार वैशाखीको विशाखा, ज्येष्ठीको ज्येष्ठा, आषाढ़ीको पूर्वाषाढ़ा, श्रावणीको श्रवण, भाद्रीको पूर्वा-भाद्रपद, आश्विनीको अश्विनी, कार्तिकीको कृत्तिका, मार्गशीर्षीको मृगशिरा, पौषीको पुष्य, माघीको मघा और फाल्गुनीको पूर्वाफाल्गुनी होना भी सम्भव सूचित किया गया है। ·····प्रत्येक मासके शुक्ल और कृष्ण दो पक्ष हैं। इनका उपयोग लोकव्यवहारमें दक्षिण प्रान्तमें शुक्ल और कृष्ण और अन्य प्रान्तोंमें कृष्ण और शुक्लके क्रमसे करते हैं। वास्तवमें वह व्रतोत्सवादिमें[२] शुक्लसे और तिथिकृत्यादिमें[३] कृष्णसे प्रारम्भ किया जाता है।······

(१) गौरीव्रत (व्रतविज्ञान)—यह चैत्र कृष्ण प्रतिपदासे चैत्र शुक्ल द्वितीयातक किया जाता है। इसको विवाहिता और कुमारी दोनों प्रकारकी स्त्रियाँ करती हैं। इसके लिये होलीकी भस्म और काली मिट्टी—इनके मिश्रणसे गौरीकी मूर्ति बनायी जाती है और प्रतिदिन प्रात:कालके समय समीपके पुष्पोद्यानसे फल, पुष्प, दूर्वा और जलपूर्ण कलश लाकर उसको गीत-मन्त्रोंसे पूजती हैं। यह व्रत विशेषकर अहिवातकी रक्षा और पतिप्रेमकी वृद्धिके निमित्त किया जाता है।

(२) होलामहोत्सव (पुराणसमुच्चय-मुक्तकसंग्रह)—यह उत्सव होलीके दूसरे दिन चैत्र कृष्ण प्रतिपदाको होता है। लोकप्रसिद्धिमें इसे धुरेडी, छारंडी, फाग या बोहराजयन्ती कहते हैं। नागरिक नर-नारी

---

१. 'चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि। (बृहन्नारदीय)

२. व्रतोत्सवे च शुक्लादि।

३. कृष्णादि तिथिकर्माणि। (ब्रह्म)

इसे रंग, गुलाल, गोष्ठी, परिहास और गायन–वादनसे और देहातीलोग धूल–धमासा, जलक्रीडा और धमाल आदिसे सम्पन्न करते हैं। आजकल इस उत्सवका रूप बहुत विकृत और उच्छृंखलतापूर्ण हो गया है। लोगोंको सभ्यताके साथ भगवद्भावसे भरे हुए गीत आदि गाकर यह उत्सव मनाना चाहिये। इस उत्सवके चार उद्देश्य प्रतीत होते हैं—(१) जनता जानती है कि होलीके जलानेमें प्रह्लादके निरापद निकल जानेके हर्षमें यह उत्सव सम्पन्न होता है। (२) शास्त्रोंमें इस दिन इसी रूपमें 'नवान्नेष्टि' यज्ञ घोषित किया गया है, अतः नवप्राप्त नवान्नके सम्मानार्थ यह उत्सव किया जाता है। (३) यज्ञकी समाप्तिमें भस्मवन्दन और अभिषेक किया जाता है, किंतु ये दोनों कृत्य विशेषकर कुत्सित रूपमें होते हैं। (४) वैसे माघ शुक्ल पंचमीसे चैत्रशुक्ल पंचमीपर्यन्तका वसन्तोत्सव स्वतः होता ही है।

(३) संकष्टचतुर्थीव्रत (भविष्यपुराण)—यदि निकट भविष्यमें किसी अमिट संकटकी शंका हो या पहलेसे ही संकटापन्न[१] अवस्था बनी हुई हो तो उसके निवारणके निमित्त संकटचतुर्थीका व्रत करना चाहिये। यह सभी महीनोंमें कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है। इसमें चन्द्रोदयव्यापिनी चतुर्थी ली जाती है। यदि वह दो दिन चन्द्रोदय–व्यापिनी[२] हो तो प्रथम दिनका व्रत करे। व्रतीको चाहिये कि वह उक्त चतुर्थीको प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर दाहिने हाथमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जल लेकर '**मम वर्तमानागामिसकलसंकटनिरसन–पूर्वकसकलाभीष्टसिद्धये संकटचतुर्थीव्रतमहं करिष्ये**' यह संकल्प करके दिनभर मौन रहे और सायंकालके समय पुनः स्नान करके चौकी या वेदीपर '**तीव्रायै, ज्वालिन्यै, नन्दायै, भोगदायै,**

---

१. यदा संक्लेशितो मर्त्यो नानादुःखैश्च दारुणैः।
तदा कृष्णे चतुर्थ्यां वै पूजनीयो गणाधिपः॥ (भविष्यपुराण)

२. चतुर्थी गणनाथस्य मातृविद्धा प्रशस्यते।
मध्याह्नव्यापिनी चेत् स्यात् परतश्चेत् परेऽहनि॥ (बृहस्पति)

कामरूपिण्यै, उग्रायै, तेजोवत्यै, सत्यायै च दिक्षु विदिक्षु, मध्ये विघ्ननाशिन्यै सर्वशक्तिकमलासनायै नमः' इन मन्त्रोंसे पीठपूजा करनेके बाद वेदीके बीचमें स्वर्णादिनिर्मित गणेशजीका—१ '**गणेशाय नमः**' से आवाहन, २ '**विघ्ननाशिने नमः**' से आसन, ३ '**लम्बोदराय नमः**' से पाद्य, ४ '**चन्द्रार्धधारिणे नमः**' से अर्घ्य, ५ '**विश्वप्रियाय नमः**' से आचमन, ६ '**ब्रह्मचारिणे नमः**' से स्नान, ७ '**कुमारगुरवे नमः**' से वस्त्र, ८ '**शिवात्मजाय नमः**' से यज्ञोपवीत, ९ '**रुद्रपुत्राय नमः**' से गन्ध, १० '**विघ्नहर्त्रे नमः**' से अक्षत, ११ '**परशुधारिणे नमः**' से पुष्प, १२ '**भवानीप्रीतिकर्त्रे नमः**' से धूप, १३ '**गजकर्णाय नमः**' से दीपक, १४ '**अघनाशिने नमः**' से नैवेद्य (आचमन), १५ '**सिद्धिदाय नमः**' से ताम्बूल और १६ '**सर्वभोगदायिने नमः**' से दक्षिणा अर्पण करके '**षोडशोपचारपूजन**' करे और कर्पूर अथवा घीकी बत्ती जलाकर नीराजन करे। इसके पीछे दूर्वाके दो अंकुर लेकर '**गणाधिपाय नमः** २, **उमापुत्राय नमः** २, **अघनाशाय नमः** २, **एकदन्ताय नमः** २, **इभवक्त्राय नमः** २, **मूषकवाहनाय नमः** २, **विनायकाय नमः** २, **ईशपुत्राय नमः** २, **सर्वसिद्धिप्रदाय नमः** २, **कुमारगुरवे नमः** २ और '**गणाधिप नमस्तेऽस्तु उमापुत्राघनाशन। एकदन्तेभवक्त्रेति तथा मूषकवाहन। विनायकेशपुत्रेति सर्वसिद्धि-प्रदायक। कुमारगुरवे तुभ्यं पूजयामि प्रयत्नतः**' इनमें आरम्भसे १० मन्त्रोंद्वारा दो-दो और अन्तके पूरे मन्त्रसे एक दूर्वा अर्पण करके '**यज्ञेन यज्ञ०**' से मन्त्र-पुष्पांजलि अर्पण करे और '**संसारपीडाव्यथितं हि मां सदा संकष्टभूतं सुमुख प्रसीद। त्वं त्राहि मां मोचय कष्टसंघान्नमो नमो विघ्नविनाशनाय॥**' से नमस्कार करके '**श्रीविप्राय नमस्तुभ्यं साक्षाद्देवस्वरूपिणे। गणेशप्रीतये तुभ्यं मोदकान् वै ददाम्यहम्॥**' से मोदक, सुपारी, मूँग और दक्षिणा रखकर वायन (बायना) दे।.....इसके बाद चन्द्रोदय होनेपर चन्द्रमाका गन्ध-

पुष्पादिसे विधिवत् पूजन करके '**ज्योत्स्नापते नमस्तुभ्यं नमस्ते ज्योतिषां पते। नमस्ते रोहिणीकान्त गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' से चन्द्रमाको अर्घ्य देकर '**नभोमण्डलदीपाय शिरोरत्नाय धूर्जटेः। कला-भिर्वर्धमानाय नमश्चन्द्राय चारवे॥**' से प्रार्थना करे। फिर '**गणेशाय नमस्तुभ्यं सर्वसिद्धिप्रदायक। संकष्टं हर मे देव गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' से गणेशजीको तीन अर्घ्य देकर—'**तिथीनामुत्तमे देवि गणेशप्रियवल्लभे। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सर्वसिद्धिप्रदायिके॥**' से तिथिको अर्घ्य दे। पीछे सुपूजित गणेशजीका '**आयातस्त्वमुमापुत्र ममानुग्रहकाम्यया। पूजितोऽसि मया भक्त्या गच्छ स्थानं स्वकं प्रभो॥**' से विसर्जन कर ब्राह्मणोंको भोजन कराये और स्वयं तैलवर्जित एक बार भोजन करे।''''हाँ, यह व्रत तो गणेशजीका है, फिर इसमें चन्द्रमाका प्राधान्य क्यों माना गया है? तो इस विषयमें ब्रह्माण्डपुराणमें लिखा है कि पार्वतीने गणेशजीको प्रकट किया, उस समय इन्द्र-चन्द्रादि सभी देवताओंने आकर उनका दर्शन किया; किंतु शनिदेव दूर रहे। कारण यह था कि उनकी दृष्टिसे प्रत्येक प्राणी और पदार्थके टुकड़े हो जाते थे। परंतु पार्वतीके रुष्ट होनेसे शनिने गणेशजीपर दृष्टि डाली। फल यह हुआ कि गणेशजीका मस्तक उड़कर अमृतमय चन्द्रमण्डलमें चला गया।''''दूसरी कथा यह है कि पार्वतीने अपने शरीरके मैलसे गणेशजीको उत्पन्न करके उनको द्वारपर बैठा दिया। जब थोड़ी देर बाद शिवजी आकर अंदर जाने लगे, तब गणेशजीने उनको नहीं जाने दिया। तब उन्होंने अनजानमें अपने त्रिशूलसे उनका मस्तक काट डाला और वह चन्द्रलोकमें चला गया। इधर पार्वतीकी प्रसन्नताके लिये शिवजीने हाथीके सद्योजात बच्चेका मस्तक मँगवाकर गणेशजीके जोड़ दिया। विज्ञानियोंका विश्वास है कि गणेशजीका असली मस्तक चन्द्रमामें है और इसी सम्भावनासे चन्द्रमाका दर्शन किया जाता है।'''' यह व्रत ४ या १३ वर्षतक करनेका है। अतः अवधि समाप्त होनेपर इसका उद्यापन करे। उसमें सर्वतोभद्रमण्डलपर

कलश स्थापन करके उसपर गणेशजीकी स्वर्णमयी मूर्तिका पूजन करे। ऋतुकालके गन्ध-पुष्पादि धारण कराये। उसी जगह चाँदीके चन्द्रमाका अर्चन करे। नैवेद्यमें '**इक्षवः सक्तवो रम्भाफलानि चिमटास्तथा। मोदका नारिकेलानि लाजा द्रव्याष्टकं स्मृतम्॥**' का ग्रहण करे। घी, तिल, शर्करा और बिजोरेके टुकड़ोंको एकत्र करके इनका यथाविधि हवन करे। इसके पीछे २१ मोदक लेकर १ गणंजय, २ गणपति, ३ हेरम्ब, ४ धरणीधर, ५ महागणाधिपति, ६ यज्ञेश्वर, ७ शीघ्रप्रसाद, ८ अभंगसिद्धि, ९ अमृत, १० मन्त्रज्ञ, ११ किन्नाम, १२ द्विपद, १३ सुमंगल, १४ बीज, १५ आशापूरक, १६ वरद, १७ शिव, १८ कश्यप, १९ नन्दन, २० सिद्धिनाथ और २१ ढुण्ढिराज—इन नामोंसे एक-एक मोदक अर्पण करे। इसके अतिरिक्त गोदान, शय्यादान आदि देकर और ब्राह्मणभोजन कराकर स्वयं भोजन करे। उक्त २१ मोदकोंमें १ गणेशजीके लिये छोड़ दे, १० ब्राह्मणोंको दे और दस अपने लिये रखे।''''''कथाका सार यह है कि प्राचीन कालमें मयूरध्वज नामका राजा बड़ा प्रभावशाली और धर्मज्ञ था। एक बार उसका पुत्र कहीं खो गया और बहुत अनुसंधान करनेपर भी न मिला। तब मन्त्रिपुत्रकी धर्मवती स्त्रीके अनुरोधसे राजाके सम्पूर्ण परिवारने चैत्र कृष्ण चतुर्थीका बड़े समारोहसे यथाविधि व्रत किया। तब भगवान् गणेशजीकी कृपासे राजपुत्र आ गया और उसने मयूरध्वजकी आजीवन सेवा की।

(४) शीतलाष्टमी (स्कन्दपुराण)—इस देशमें शीतलाष्टमीका व्रत केवल चैत्र कृष्ण अष्टमीको होता है; किंतु स्कन्दपुराणमें चैत्रादि ४ महीनोंमें इस व्रतके करनेका विधान है। इसमें पूर्वविद्धा अष्टमी* ली जाती है। व्रतीको चाहिये कि अष्टमीको शीतल जलसे प्रातःस्नानादि करके '**मम गेहे शीतलारोगजनितोपद्रवप्रशमनपूर्वकायुरारोग्यैश्वर्याभिवृद्धये शीतलाष्टमी-**

---

* व्रतमात्रेऽष्टमी कृष्णा पूर्वा शुक्लाष्टमी परा। (माधव)

व्रतं करिष्ये।' यह संकल्प करे। तदनन्तर सुगन्धयुक्त गन्ध-पुष्पादिसे शीतलाका पूजन करके प्रत्येक प्रकारके मेवे, मिठाई, पूआ, पूरी, दाल-भात, लपसी और रोटी-तरकारी आदि कच्चे-पक्के, सभी शीतल पदार्थ (पहले दिनके बनाये हुए) भोग लगाये और शीतलास्तोत्रका पाठ करके रात्रिमें जागरण और दीपावली करे। नैवेद्यमें यह विशेषता[१] है कि चातुर्मासी व्रत हो तो—१ चैत्रमें शीतल पदार्थ, २ वैशाखमें घी और शर्करासे युक्त सत्तू, ३ ज्येष्ठमें पूर्व दिनके बनाये हुए अपूप (पूए) और ४ आषाढ़में घी और शक्कर मिली हुई खीरका नैवेद्य अर्पण करे। इस प्रकार करनेसे व्रतीके कुलमें दाहज्वर, पीतज्वर, विस्फोटक, दुर्गन्धयुक्त फोड़े, नेत्रोंके समस्त रोग, शीतलाकी फुंसियोंके चिह्न और शीतलाजनित सर्वदोष दूर होते हैं और शीतला सदैव संतुष्ट रहती है। शीतलास्तोत्रमें[२] शीतलाका जो स्वरूप बतलाया है, वह शीतलाके रोगीके लिये बहुत हितकारी है। उसमें बतलाया है कि 'शीतला दिगम्बरा है, गर्दभपर आरूढ़ रहती है, शूप, मार्जनी (झाड़ू) और नीमके पत्तोंसे अलंकृत होती है और हाथमें शीतल जलका कलश रखती है।' वास्तवमें शीतलाके रोगीके सर्वांगमें दाहयुक्त फोड़े होनेसे वह बिलकुल नग्न हो जाता है। 'गर्दभपिण्डी' (गधेकी लीद)-की गन्धसे फोड़ोंकी पीड़ा कम होती है। शूपके काम (अन्नकी सफाई आदि) करने

---

१. भक्षयेद् वटकान् पूपांश्चैत्रे शीतजलान्वितान्।
वैशाखे सक्तुकं तावत् साज्यं शर्करयान्वितम्॥
एवं या कुरुते नारी व्रतं वर्षचतुष्टयम्।
तत्कुले नोपसर्पन्ति गलगण्डग्रहादयः॥
विष्फोटकभयं घोरं कुले तस्य न जायते।
शीतले ज्वरदग्धस्य पूतगन्धगतस्य च॥
प्रणष्टचक्षुषः पुंसस्त्वामाहुर्जीवनौषधम्। (स्कन्द०)

२. वन्देऽहं शीतलां देवीं रासभस्थां दिगम्बराम्।
मार्जनीकलशोपेतां शूर्पालंकृतमस्तकाम्॥ (शीतलास्तोत्र)

और झाड़ू लगानेसे बीमारी बढ़ जाती है, अतः इन कामोंको सर्वथा बंद रखनेके लिये शूप और झाड़ू बीमारके समीप रखते हैं। नीमके पत्तोंसे शीतलाके फोड़े सड़ नहीं सकते और शीतल जलके कलशका समीप रखना तो आवश्यक है ही।

(५) **संतानाष्टमी** (विष्णुधर्मोत्तर)—यह व्रत भी चैत्र कृष्ण अष्टमीको ही किया जाता है। इसमें प्रातःस्नानादिके बाद श्रीकृष्ण और देवकीका गन्धादिसे पूजन करे और मध्याह्नमें सात्त्विक पदार्थोंका भोग लगाये।

(६) **कृष्णैकादशी** (नानापुराणस्मृति)—यह व्रत चैत्रादि सभी महीनोंके शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्षोंमें किया जाता है[१]। फल दोनोंका ही समान है। शुक्ल और कृष्णमें कोई विशेषता नहीं है। जिस प्रकार शिव और विष्णु दोनों आराध्य हैं, उसी प्रकार कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंकी एकादशी उपोष्य है[२]। विशेषता यह है कि पुत्रवान् गृहस्थ शुक्ल एकादशी और वानप्रस्थ, संन्यासी तथा विधवा दोनोंका व्रत करें तो उत्तम होता है[३]। इसमें शैव और वैष्णवका भेद भी आवश्यक नहीं; क्योंकि जो जीवमात्रको[४] समान समझे, निजाचारमें रत रहे और अपने प्रत्येक कार्यको विष्णु और शिवके अर्पण करता रहे, वही शैव और वैष्णव होता है। अतः दोनोंके श्रेष्ठ बर्ताव एक होनेसे शैव और वैष्णवोंमें अपने-आप ही अभेद हो जाता है। इस

---

१. एकादशी सदोपोष्या पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः। (सनत्कुमार)

२. यथा विष्णुः शिवश्चैव तथैवैकादशी स्मृता। (वराहपुराण)

३. विधवाया वनस्थस्य यतेश्चैकादशीद्वये।
उपवासो गृहस्थस्य शुक्लायामेव पुत्रिणः॥ (कालादर्श)

४. समात्मा सर्वभूतेषु निजाचारादविप्लुतः।
विष्णवर्पिताखिलाचारःस हि वैष्णव उच्यते।(शैवःखलूच्यते)॥ (स्कन्द)

सर्वोत्कृष्ट प्रभावके कारण ही शास्त्रोंमें एकादशीका महत्त्व[१] अधिक माना गया है।.....इसके शुद्धा और विद्धा—ये दो भेद हैं। दशमी आदिसे विद्ध हो, वह 'विद्धा' और अविद्ध हो वह 'शुद्धा' होती है। इस व्रतको शैव, वैष्णव और सौर—सब करते हैं[२]। वेधके विषयमें बहुतोंके विभिन्न मत हैं। उनको शैव, वैष्णव और सौर पृथक्-पृथक् ग्रहण करते हैं। (१) सिद्धान्तरूपसे उदयव्यापिनी ली जाती है। परंतु उसकी उपलब्धि सदैव नहीं होती। इस कारण (२) कोई पहले दिनकी ४५ घड़ी दशमीको त्यागते हैं। (३) कोई ५५ घड़ीका वेध निषिद्ध मानते हैं। (४) कई दशमी और द्वादशीके योगकी एकादशीको त्यागकर द्वादशीका व्रत करते हैं। (५) कई एकादशीको ही उपोष्य बतलाते हैं। (६) मत्स्यपुराणके मतानुसार क्षय एकादशी निषिद्ध होती है। (७) जिस दिन दशमी अनुमान १।१५, एकादशी ५७।२२ और द्वादशी १।२३ हो उस दिन एकादशीका क्षय हो जाता है। (८) किसीके मतमें दशमी ४५ से जितनी ज्यादा हो उतना ही ज्यादा बुरा वेध होता है। यथा ४५ का 'कपाल', ५२ का 'छाया', ५३ का 'ग्रासाख्य', ५४ का 'सम्पूर्ण', ५५ का 'सुप्रसिद्ध', ५६ का 'महावेध', ५७ का 'प्रलयाख्य', ५८ का 'महाप्रलयाख्य', ५९ का 'घोराख्य' और ६० का 'राक्षसाख्य' वेध होता है। ये सब साम्प्रदायिक वेध हैं और (९) वैष्णवोंमें ४५ तथा ५५ का वेध त्याज्य होता है.....एकादशीके

---

१. संसाराख्यमहाघोरदु:खिनां सर्वदेहिनाम्।
एकादश्युपवासोऽयं निर्मितं परमौषधम्॥ (वसिष्ठ)
एकादशीं परित्यज्य योऽन्यद्व्रतमुपासते
स करस्थं महारत्नं त्यक्त्वा लोष्ठं हि याचते॥ (स्मृत्यन्तर)
अष्टवर्षाधिको मर्त्यो ह्यपूर्णाशीतिवत्सर:।
एकादश्यामुपवसेत् पक्षयोरुभयोरपि॥ (कात्यायन)

२. वैष्णवो वाथ शैवो वा सौरोऽप्येतत् समाचरेत्। (सौरपुराण)

१ उन्मीलिनी, २ वंजुली, ३ त्रिस्पृशा, ४ पक्षवर्धिनी, ५ जया, ६ विजया, ७ जयन्ती और ८ पापनाशिनी—ये आठ भेद और हैं। इनमें त्रिस्पृशा (तीनोंको स्पर्श[१] करनेवाली) एकादशी (यथा सूर्योदयमें एकादशी, तत्पश्चात् द्वादशी और दूसरे सूर्योदयमें त्रयोदशी हो वह) महाफल देनेवाली मानी गयी है।....एकादशीके नित्य और काम्य दो भेद हैं। निष्काम की जाय, वह 'नित्य' और धन-पुत्रादिकी प्राप्ति अथवा रोग-दोषादिकी निवृत्तिके निमित्त की जाय, वह 'काम्य' होती है। नित्यमें मलमास या शुक्रास्तादिकी मनाही नहीं; किंतु काम्यमें शुभ समय होनेकी आवश्यकता है। व्रतविधि सकाम और निष्काम दोनोंकी एक है। यदि असामर्थ्य अथवा आपत्ति[२] आदि अमिट कारणोंसे नित्य व्रत न किया जा सके तो एकभक्त, नक्तव्रत, अयाचित अथवा दूसरेके द्वारा व्रत हो जाय तो कोई दोष नहीं। यद्यपि दिनक्षय[३], सूर्यसंक्रान्ति और चन्द्रादित्यके ग्रहणमें व्रत करना वर्जित है; किंतु एकादशीके नित्य व्रतके लिये ऐसे अवसरमें भी फल-मूलादिसे परिहार कर लेनेकी आज्ञा है। यदि एकादशीके नित्य व्रतके दिन (माता-पिता आदिका) नैमित्तिक श्राद्ध आ जाय तो श्राद्ध और उपवास दोनों करे; किंतु श्राद्धीय भोजनको (जिसे पुत्रको भी करना चाहिये) दाहिने हाथमें लेकर सूँघ ले और गौको खिलाकर स्वयं उपवास रखे[४]।....व्रतके दूसरे दिन पारण

---

१. अरुणोदय आद्या स्याद् द्वादशी सकलं दिनम्।
अन्ते त्रयोदशी प्रातस्त्रिस्पृशा सा हरेः प्रिया॥ (ब्रह्मवैवर्त०)

२. एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च।
उपवासेन दानेन न निर्द्वादशिको भवेत्॥ (मार्कण्डेय)

३. दिनक्षयेऽर्कसंक्रान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
उपवासं न कुर्वीत पुत्रपौत्रसमन्वितः॥ (मत्स्यपुराण)

४. उपवासो यदा नित्यः श्राद्धं नैमित्तिकं भवेत्।
उपवासं तदा कुर्यादाघ्राय पितृसेवितम्॥ (कात्यायन)

किया जाता है। उस दिन यदि द्वादशी बहुत कम हो और नित्य कर्मके पूर्ण करनेमें देर लगे तो प्रातःकाल और मध्याह्नकालके दोनों काम उषःकालमें कर ले। यदि संकटवश पारण न हो सके तो केवल जल पीकर पारण करे। इनके अतिरिक्त अन्य विधान आगे वैशाखादिके व्रतोंमें यथास्थान दिये गये हैं।……एकादशीका व्रत करनेवालेको चाहिये कि वह प्रथमारम्भका व्रत मलमासादिमें न करे। गुरु-शुक्रके उदयके चैत्र, वैशाख, माघ या मार्गशीर्षकी एकादशीसे आरम्भ करके श्रद्धा, भक्ति और सदाचारसहित सदैव करता रहे। व्रतके (दशमी, एकादशी और द्वादशी—इन) तीन दिनोंमें कांस्यपात्र, मसूर, चने, मिथ्याभाषण, शाक, शहद, तेल, मैथुन, द्यूत और अत्यम्बुपान— इनका सेवन न करे।……व्रतके पहले दिन (दशमीको) और दूसरे दिन (द्वादशीको) हविष्यान्न (जौ, गेहूँ, मूँग, सेंधा नमक, काली मिर्च, शर्करा और गोघृत आदि)-का एक बार भोजन करे। दशमीकी रातमें एकादशीके व्रतका स्मरण रखे और एकादशीको प्रातः-स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर '**मम कायिकवाचिकमानसिकसांसर्गिकपातकोपपातक-दुरितक्षयपूर्वकश्रुतिस्मृतिपुराणोक्तफलप्राप्तये श्रीपरमेश्वर-प्रीतिकामनया विजयैकादशीव्रतमहं करिष्ये**' यह संकल्प करके जितेन्द्रिय होकर श्रद्धा, भक्ति और विधिसहित भगवान्का पूजन करे। उत्तम प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि अर्पण करके नीराजन करे। तत्पश्चात् जप, हवन, स्तोत्रपाठ और मनोहर गायन-वादन और नृत्य करके प्रदक्षिणा और दण्डवत् करे। इस प्रकार भगवान्की सेवा और स्मरणमें दिन व्यतीत करके रात्रिमें कथा, वार्ता, स्तोत्रपाठ अथवा भजन आदिके साथ जागरण करे। फिर द्वादशीको पुनः पूजन करनेके पश्चात् पारण करे*।……यद्यपि

* स्नात्वा सम्यग् विधानेन सोपवासो जितेन्द्रियः।
सम्पूज्य विधिवद् विष्णुं श्रद्धया सुसमाहितः॥

एकादशीका उपवास अस्सी वर्षकी आयु होनेतक करते रहना आवश्यक है; किंतु असामर्थ्यादिवश सदैव न बन सके तो उद्यापन करके समाप्त करे। उद्यापनमें सर्वतोभद्रमण्डलपर सुवर्णादिका कलश स्थापन करके उसपर भगवान्‌की स्वर्णमयी मूर्तिका शास्त्रोक्त-विधिसे पूजन करे। घी, तिल, खीर और मेवा आदिसे हवन करे। दूसरे दिन द्वादशीको प्रातःस्नानादिके पीछे गोदान, अन्नदान, शय्यादान, भूयसी आदि देकर और ब्राह्मण-भोजन कराकर स्वयं भोजन करे। ब्राह्मण-भोजनके लिये २६ द्विजदम्पतियोंको सात्त्विक पदार्थोंका भोजन कराके सुपूजित और वस्त्रादिसे भूषित २६ कलश (प्रत्येकको एक-एक) दे।.....चैत्र कृष्ण एकादशी 'पापमोचिनी' है। यह पापोंसे मुक्त करती है। च्यवनऋषिके उत्कृष्ट तपस्वी पुत्र मेधावीने मंजुघोषाके संसर्गसे अपना सम्पूर्ण तप-तेज खो दिया था, किंतु पिताने उससे चैत्र कृष्ण एकादशीका व्रत करवाया। तब उसके प्रभावसे मेधावीके सब पाप नष्ट हो गये और वह यथापूर्व अपने धर्म-कर्म, सदनुष्ठान और तपश्चर्यामें संलग्न हो गया।

(७) वारुणीयोग*—(वाचस्पति-निबन्ध)—यह पुण्यप्रद महायोग तीन प्रकारका होता है। पहला चैत्र कृष्ण त्रयोदशीको वारुण नक्षत्र

पुष्पैर्गन्धैस्तथा धूपैर्दीपैर्नैवेद्यकैः परैः।
उपचारैर्बहुविधैर्जपहोमप्रदक्षिणैः॥
स्तोत्रैर्नानाविधैर्दिव्यैर्गीतवाद्यमनोहरैः।
दण्डवत् प्रणिपातैश्च जयशब्दैस्तथोत्तमैः॥
गीतैर्वाद्यैः संस्तवैश्च पुराणश्रवणादिभिः।
एवं सम्पूज्य विधिवद् रात्रौ कृत्वा प्रजागरम्॥
याति विष्णोः परं स्थानं नरो नास्त्यत्र संशयः। (ब्रह्मपुराण)

* चैत्रासिते वारुणऋक्षयुक्ता त्रयोदशी सूर्यसुतस्य वारे।
योगे शुभे सा महती महत्या गंगाजलेऽर्कग्रहकोटितुल्या॥ (त्रिस्थलीसेतु)

(शतभिषा) हो तो 'वारुणी', दूसरा उसी दिन शतभिषा और शनिवार हो तो 'महावारुणी' और तीसरा शतभिषा, शनिवार और शुभ योग हो तो 'महामहावारुणी' होता है। इस योगमें गंगादि तीर्थस्थानोंमें स्नान, दान और उपवासादि करनेसे शतशः सूर्यग्रहणोंके समान फल होता है। उस दिनका पुण्यकाल पंचांगसे ज्ञात हो सकता है। (उदाहरणार्थ तीनों योग इस प्रकार हैं। चैत्र कृष्ण त्रयोदशी १३। ७, शतभिषा १७। ५—इस दिन प्रातः १३। ७ तक 'वारुणी'; चैत्र कृष्ण १३ शनिवार ५। १५, शतभिषा ३०। ३२—इस दिन ५। १५ तक महावारुणी और चैत्र कृष्ण १३ शनिवार ५०। ५५, शतभिषा २२। २० और शुभयोग १३। ७—इस दिन पूर्वाह्णमें १३ घड़ी ७ पलतक महामहावारुणी मानना चाहिये। त्रयोदशीमें नक्षत्रादि जितनी देर रहें उतनी घड़ीतक वारुणी आदि रहते हैं।)

(८) **प्रदोषव्रत** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत शिवजीकी प्रसन्नता और प्रभुत्वकी प्राप्तिके प्रयोजनसे प्रत्येक मासके कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंमें त्रयोदशीको किया जाता है। शिवपूजन और रात्रि-भोजनके अनुरोधसे इसे 'प्रदोष[1]' कहते हैं। इसका समय सूर्यास्तसे दो घड़ी रात बीतनेतक[2] है। जो मनुष्य प्रदोषके समय परमेश्वर (शिवजी)-के चरण-कमलका अनन्य मनसे आश्रय लेता है उसके धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव और सुख-सम्पत्ति सदैव बढ़ते रहते हैं[3]। यदि कृष्ण पक्षमें सोम और शुक्ल पक्षमें शनि हो तो उस प्रदोषका विशेष फल

१. शिवपूजानक्तभोजनात्मकं प्रदोषम्। (हेमाद्रि)

२. प्रदोषोऽस्तमयादूर्ध्वं घटिकाद्वयमिष्यते। (माधव)
प्रदोषोऽस्तमयादूर्ध्वं घटिकात्रयमिष्यते। (गौड़ग्रन्थ)

३. ये वै प्रदोषसमये परमेश्वरस्य कुर्वन्त्यनन्यमनसोऽङ्घ्रिसरोजसेवाम्।
नित्यं प्रवृद्धधनधान्यकलत्रपुत्रसौभाग्यसम्पदधिकास्त इहैव लोकाः॥
(स्कन्द०)

होता है[१]। कृष्ण-प्रदोषमें प्रदोषव्यापिनी परविद्धा त्रयोदशी ली जाती है[२]। उस दिन सूर्यास्तके समय पुनः स्नान करके शिवमूर्तिके समीप पूर्व या उत्तरमुख होकर बैठे और हाथमें जल, फल, पुष्प और गन्धाक्षत लेकर '**मम शिवप्रसादप्राप्तिकामनया प्रदोषव्रतांगीभूतं शिवपूजनं करिष्ये**' यह संकल्प करके भालपर भस्मके भव्य तिलक और गलेमें रुद्राक्षकी माला धारण करे। उत्तम प्रकारके गन्ध, पुष्प और बिल्व-पत्रादिसे उमा-महेश्वरका पद्धतिके अनुसार पूजन करे। यदि साक्षात् शिवमूर्तिका सांनिध्य प्राप्त न हो सके तो भीगी हुई चिकनी मिट्टीको '**हराय नमः**' से ग्रहण करके '**महेश्वराय नमः**' से कुक्कुटाण्ड अथवा करांगुष्ठके प्रमाणकी मूर्ति बनाये। फिर '**शूलपाणये नमः**' से प्रतिष्ठा और '**पिनाकपाणये नमः**' से आवाहन करके '**शिवाय नमः**' से स्नान कराये और '**पशुपतये नमः**' से गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य अर्पण करे। तत्पश्चात् '**जय नाथ कृपासिन्धो जय भक्तार्तिभंजन। जय दुस्तरसंसारसागरोत्तारण प्रभो॥ प्रसीद मे महाभाग संसारार्तस्य खिद्यतः। सर्वपापक्षयं कृत्वा रक्ष मां परमेश्वर॥**' से प्रार्थना करके '**महादेवाय नमः**' से पूजित मूर्तिका विसर्जन करे[३]।.....इस व्रतकी पूर्ण अवधि २१ वर्षकी है, परंतु समय और सामर्थ्य न हो तो उद्यापन करके इसका विसर्जन करे। विशेष विधान आगे वैशाखादिके व्रतोंसे जान सकते हैं।

---

१. यदा त्रयोदशी कृष्णा सोमवारेण संयुता।
यदा त्रयोदशी शुक्ला मन्दवारेण संयुता॥
तदातीव फलं प्राप्तं धनपुत्रादिकं लभेत्। (हेमाद्रि)

२. शुक्लत्रयोदशी पूर्वा परा कृष्णा त्रयोदशी। (माधव)
यदा तु कृष्णपक्षे परविद्धा न लभ्यते तदा पूर्वविद्धा ग्राह्या। (वसिष्ठ)

३. हरो महेश्वरश्चैव शूलपाणिः पिनाकधृक्।
शिवः पशुपतिश्चैव महादेवेति पूजयेत्॥ (शिवपूजा)

(९) केदारदर्शन (पृथ्वीचन्द्रोदय)—चैत्र कृष्ण चतुर्दशीको केदारनाथका ध्यान और मानसोपचार पूजन करके व्रत करे और बन सके तो गंगास्नान करके एकभुक्त व्रत करे तो इस व्रतके करनेसे केदारनाथके दर्शनोंके समान फल होता है और जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(१०) चैत्री अमा (हेमाद्रि)—चैत्र कृष्ण अमावस्याको प्रातः-स्नानादिके पीछे यथासामर्थ्य अन्न, गौ, सुवर्ण और वस्त्रादिका दान, पितरोंका श्राद्ध और देवताओंके समीप जप-ध्यान और पूजन करके ब्राह्मण-भोजन कराये तो बहुत पुण्य होता है। यदि इस दिन सोम, भौम अथवा गुरुवार हो तो ऐसे योगके दान-पुण्य, ब्राह्मण-भोजन और व्रतसे सूर्यग्रहणके समान फल होता है।

(११) वह्निव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह चैत्र कृष्ण अमावस्याको किया जाता है। इसमें परविद्धा अमा लेनी चाहिये। व्रतके पहले दिन (चैत्र कृष्ण चतुर्दशीको) नित्यके स्नानादिसे निवृत्त होकर अग्निदेवकी सुवर्णनिर्मित मूर्तिका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और अमावस्याको '**ॐ अग्नये स्वाहा**' इस मन्त्रसे तिल, घी और शर्कराका हवन करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करनेके पश्चात् वह्निकी मूर्ति ब्राह्मणको दे दे।

(१२) पितृव्रत (विष्णुधर्म)—चैत्र कृष्ण प्रतिपदासे अमावस्यातक प्रभास्वर, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त, क्रव्याद, भूत, आज्यपति और सुकालिन् नामके पितरोंका पूजन करनेसे पित्रीश्वर प्रसन्न होते हैं।

शुक्लपक्ष

(१) संवत्सर (अनुसंधानमंजूषा)—यह चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको पूजित होता है। इसमें मुख्यतया ब्रह्माजीका और उनकी निर्माण की हुई सृष्टिके प्रधान-प्रधान देवी, देवताओं, यक्ष-राक्षस, गन्धर्वों, ऋषि-मुनियों, मनुष्यों, नदियों, पर्वतों, पशु-पक्षियों और कीटाणुओंका ही नहीं—रोगों और उनके उपचारोंतकका पूजन किया

जाता है। इससे यह स्वतः सूचित होता है कि संवत्सर सर्वप्रधान, महामान्य[१] है। संवत्सर उसे कहते हैं जिसमें मासादि भलीभाँति[२] निवास करते रहें। इसका दूसरा अर्थ है बारह महीनेका 'कालविशेष'। यही श्रुतिका[३] वाक्य भी है। जिस प्रकार महीनोंके चान्द्रादि तीन भेद हैं उसी प्रकार संवत्सरके भी सौर, सावन[४] और चान्द्र— ये तीन भेद हैं। परंतु अधिमाससे चान्द्रमास १३ हो जाते हैं। ऐसा होनेसे संवत्सर १२ महीनेका नहीं रहता, १३ का हो जाता है। इसका स्मृतिकारोंने यह समाधान किया है कि 'बादरायणने अधिमासको ३०-३० दिनके दो महीने नहीं माने[५], ६० दिनका एक महीना माना है।' इसलिये संवत्‌के बारह महीने ही हो जाते हैं। फिर भी १३ महीने माने जायँ तो दूसरे श्रुति-वाक्यके[६] अनुसार १३ मासका भी संवत्सर होता है। ज्योतिःशास्त्रके अनुसार संवत्सरके सौर, सावन, चान्द्र, बार्हस्पत्य और नाक्षत्र—ये ५ भेद हैं। परंतु धर्म-कर्म और लोक-व्यवहारमें[७] चान्द्र संवत्सरकी प्रवृत्ति ही विख्यात है। ...चान्द्र संवत्सरका प्रारम्भ चैत्र शुक्ल[८] प्रतिपदासे होता है। इसपर कोई यह पूछ सकते हैं कि जब चान्द्रमास

---

१. कालः सृजति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥
अनादिरेष भगवान् कालोऽनन्तोऽजरोऽमरः।
सर्वगत्वात् स्वतन्त्रत्वात् सर्वात्मत्वान्महेश्वरः॥ (विष्णुधर्मोत्तर)

२. स च संवत्सरः सम्यग् वसन्त्यस्मिन् मासादयः। (स्मृतिसार)

३. द्वादश मासाः संवत्सरः। (श्रुति)

४. चान्द्रसावनसौराणां त्रयः संवत्सरा अपि। (ब्रह्मसिद्धान्त)

५. षष्ट्या तु दिवसैर्मासः कथितो बादरायणैः। (स्मृत्यन्तर)

६. अति त्रयोदशमासः। (श्रुति)

७. स्मरेत् सर्वत्र कर्मादौ चान्द्रं संवत्सरं सदा।
नान्यं यस्माद्वत्सरादौ प्रवृत्तिस्तस्य कीर्तिता॥ (आर्ष्टिषेण)

८. चान्द्रोऽब्दो मधुशुक्लगप्रतिपदारम्भः। (दीपिका)

कृष्ण प्रतिपदासे प्रारम्भ होते हैं तो संवत्सर शुक्लसे क्यों होता है। इसका समाधान यह है कि कृष्णके आरम्भमें मलमास आनेकी सम्भावना रहती है और शुक्लमें नहीं रहती। इस कारण संवत्सरकी प्रवृत्ति शुक्ल प्रतिपदासे ही अनुकूल होती है। इसके सिवा ब्रह्माजीने सृष्टिका[1] आरम्भ इसी शुक्ल प्रतिपदाको किया था और इसी दिन मत्स्यावतारका[2] आविर्भाव तथा सत्ययुगका आरम्भ हुआ था। इस महत्त्वको मानकर भारतके महामहिम सार्वभौम सम्राट् विक्रमादित्यने भी अपने संवत्सरका आरम्भ (आजसे प्रायः दो हजार वर्ष पहले) चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको ही किया था।... इसमें संदेह नहीं कि विश्वके यावन्मात्र संवत्सरोंमें शालिवाहन शक और विक्रम-संवत्सर—ये दोनों सर्वोत्कृष्ट हैं। परंतु शकका विशेषकर गणितमें प्रयोजन होता है और विक्रम-संवत्‌का इस देशमें गणित, फलित, लोक-व्यवहार और धर्मानुष्ठानोंके समय-ज्ञान आदिमें अमिट रूपसे उपयोग और आदर किया जाता है। प्रारम्भमें प्रतिपदा[3] लेनेका यह प्रयोजन है कि ब्रह्माजीने जब सृष्टिका आरम्भ किया, उस समय इसको 'प्रवरा' (सर्वोत्तम) तिथि सूचित किया था और वास्तवमें यह प्रवरा है भी। इसमें धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक और राजनीतिक आदि अधिक महत्त्वके अनेक काम आरम्भ किये जाते हैं। इसमें संवत्सरका पूजन, नवरात्र-घट-स्थापन, ध्वजारोपण, तैलाभ्यंग-स्नान, वर्षेशादिका फलपाठ, पारिभद्रका पत्र-प्राशन और प्रपास्थापन आदि लोकप्रसिद्ध और विश्वोपकारक अनेक काम होते हैं। इसके

---

१. चैत्रे मासि जगद् ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि। (ब्रह्मपुराण)

२. कृते च प्रभवे चैत्रे प्रतिपच्छुक्लपक्षगा।
रेवत्यां योगविष्कम्भे दिवा द्वादशनाडिकाः॥
मत्स्यरूपकुमार्यां च अवतीर्णो हरिः स्वयम्। (स्मृतिकौस्तुभ)
ग्रन्थान्तरेषु चैत्रशुक्लतृतीयायां मत्स्यावतारः संसूचितः॥

३. तिथीनां प्रवरा यस्माद् ब्रह्मणा समुदाहृता।
प्रतिपद्यापदे पूर्वे प्रतिपत् तेन सोच्यते। (भविष्योत्तर)

द्वारा सनातनी जनतामें सर्वत्र ही संवत्सरका महोत्सव[१] मनाया जाता है।

(२) **संवत्सरपूजन** (ब्रह्माण्डपुराण)—यह चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको किया जाता है। यदि चैत्र अधिक मास हो तो दूसरे चैत्रमें करना चाहिये। इसमें 'सम्मुखी[२]' (सर्वा-व्यापिनी) प्रतिपदा ली जाती है। ज्यौतिष शास्त्रके अनुसार उस दिन उदयमें जो वार हो, वही उस वर्षका राजा[३] होता है। यदि उदयव्यापिनी दो दिन हो या दोनों दिनोंमें ही न हो तो पहले दिन जो वार हो वह वर्षेश होता है। चैत्र मलमास हो तो पूजनादि सभी काम शुद्ध चैत्रमें करने चाहिये। मलमासमें कृष्ण पक्षके काम पहले महीनेमें और शुक्लपक्षके काम दूसरेमें करने चाहिये। यथा शीतलापूजन प्रथम चैत्रमें और नवरात्र तथा गौरीपूजन दूसरे चैत्रमें होते हैं..... चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको प्रातः स्नानादि नित्यकर्म करनेके पश्चात् हाथमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जल लेकर '**मम सकुटुम्बस्य सपरिवारस्य स्वजनपरिजनसहितस्य वा आयुरारोग्यैश्वर्यादिसकलशुभफलोत्तरोत्तराभिवृद्ध्यर्थं ब्रह्मादिसंवत्सरदेवतानां पूजनमहं करिष्ये**' यह संकल्प करके नवनिर्मित समचौरस चौकी या बालूकी वेदीपर श्वेत वस्त्र बिछाये और उसपर हरिद्रा अथवा केसरसे रँगे हुए अक्षतोंका अष्टदल कमल बनाकर उसपर सुवर्णनिर्मित मूर्ति स्थापन करके '**ॐ ब्रह्मणे नमः**' से ब्रह्माजीका आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल,

---

१. प्राप्ते नूतनवत्सरे प्रतिगृहं कुर्याद् ध्वजारोपणं
स्नानं मंगलमाचरेद् द्विजवरैः साकं सुपूजोत्सवैः।
देवानां गुरुयोषितां च विभवालंकारवस्त्रादिभिः
सम्पूज्यो गणकः फलं च शृणुयात् तस्माच्च लाभप्रदम्॥ (उत्सवचन्द्रिका)

२. प्रतिपत्सम्मुखी कार्या या भवेदापराह्णिकी। (स्कन्दपुराण)

३. चैत्रे सितप्रतिपदि यो वारोऽर्कोदये स वर्षेशः।
उदयद्वितये पूर्वो नोदययुगलेऽपि पूर्वः स्यात्॥ (ज्योतिर्निबन्ध)

नीराजन, नमस्कार, पुष्पांजलि और प्रार्थना—इन उपचारोंसे पूजन करे। इसी प्रकार १ कालाय, २ निमेषाय, ३ त्रुट्यै, ४ लवाय, ५ क्षणाय, ६ काष्ठायै, ७ कलायै, ८ सुषुम्णायै, ९ नाडिकायै, १० मुहूर्ताय, ११ निशाभ्यः, १२ पुण्यदिवसेभ्यः, १३ पक्षाभ्याम्, १४ मासेभ्यः, १५ षड्ऋतुभ्यः, १६ अयनाभ्याम्, १७ संवत्सरपरिवत्सरेडावत्सरानुवत्सरवत्सरेभ्यः, १८ कृतयुगादिभ्यः, १९ नवग्रहेभ्यः, २० अष्टाविंशतियोगेभ्यः, २१ द्वादशराशिभ्यः, २२ करणेभ्यः, २३ व्यतीपातेभ्यः, २४ प्रतिवर्षाधिपेभ्यः, २५ विज्ञातेभ्यः, २६ सानुयात्रकुलनागेभ्यः, २७ चतुर्दशमनुभ्यः, २८ पंचपुरन्दरेभ्यः, २९ दक्षकन्याभ्यः, ३० देव्यै, ३१ सुभद्रायै, ३२ जयायै, ३३ भृगुशास्त्राय, ३४ सर्वास्त्रजनकाय, ३५ बहुपुत्रपत्नीसहिताय, ३६ बृद्ध्यै, ३७ ऋद्ध्यै, ३८ निद्रायै, ३९ धनदाय, ४० गुह्यकस्वामिने, ४१ नलकूबरयक्षेभ्यः, ४२ शंखपद्मनिधिभ्याम्, ४३ भद्रकाल्यै, ४४ सुरभ्यै, ४५ वेदवेदान्तवेदांगविद्यासंस्थायिभ्यः, ४६ नागयक्षसुपर्णेभ्यः, ४७ गरुडाय, ४८ अरुणाय, ४९ सप्तद्वीपेभ्यः, ५० सप्तसमुद्रेभ्यः, ५१ सागरेभ्यः, ५२ उत्तरकुरुभ्यः, ५३ ऐरावताय, ५४ भद्राश्वकेतुमालाय, ५५ इलावृताय, ५६ हरिवर्षाय, ५७ किम्पुरुषेभ्यः, ५८ भारताय, ५९ नवखण्डेभ्यः, ६० सप्तपातालेभ्यः, ६१ सप्तनरकेभ्यः, ६२ कालाग्निरुद्रशेषेभ्यः, ६३ हरये क्रोडरूपिणे, ६४ सप्तलोकेभ्यः, ६५ पंचमहाभूतेभ्यः, ६६ तमसे, ६७ तमःप्रकृत्यै, ६८ रजसे, ६९ रजःप्रकृत्यै, ७० प्रकृतये, ७१ पुरुषाय, ७२ अभिमानाय, ७३ अव्यक्तमूर्तये, ७४ हिमप्रमुखपर्वतेभ्यः, ७५ पुराणेभ्यः, ७६ गंगादिसप्तनदीभ्यः, ७७ सप्तमुनिभ्यः, ७८ पुष्करादितीर्थेभ्यः, ७९ वितस्तादिनिम्नगाभ्यः, ८० चतुर्दशदीर्घाभ्यः, ८१ धारिणीभ्यः, ८२ धात्रीभ्यः,

८३ विधात्रीभ्यः, ८४ छन्दोभ्यः, ८५ सुरभ्यैरावणाभ्याम्, ८६ उच्चैःश्रवसे, ८७ ध्रुवाय, ८८ धन्वन्तरये, ८९ शस्त्रास्त्राभ्याम्, ९० विनायककुमाराभ्याम्, ९१ विघ्नेभ्यः, ९२ शाखाय, ९३ विशाखाय, ९४ नैगमेयाय, ९५ स्कन्दगृहेभ्यः, ९६ स्कन्दमातृभ्यः, ९७ ज्वराय; रोगपतये, ९८ भस्मप्रहरणाय, ९९ ऋत्विग्भ्यः, १०० वालखिल्याय, १०१ काश्यपाय, १०२ अगस्तये, १०३ नारदाय, १०४ व्यासादिभ्यः, १०५ अप्सरोभ्यः, १०६ सोमपदेवेभ्यः, १०७ असोमपदेवेभ्यः, १०८ तुषितेभ्यः, १०९ द्वादशादित्येभ्यः, ११० सगणैकादशरुद्रेभ्यः, १११ दशपुण्येभ्यो विश्वेदेवेभ्यः, ११२ अष्टवसुभ्यः, ११३ नवयोगिभ्यः, ११४ द्वादशभृगुभ्यः, ११५ द्वादशांगिरोभ्यः, ११६ तपस्विभ्यः, ११७ नासत्यदस्राभ्याम्, ११८ अश्विभ्याम्, ११९ द्वादशसाध्येभ्यः, १२० द्वादशपौराणेभ्यः, १२१ एकोनपंचाशद्मरुद्गणेभ्यः, १२२ शिल्पाचार्याय विश्वकर्मणे, १२३ सायुधसवाहनेभ्योऽष्टलोकपालेभ्यः, १२४ आयुधेभ्यः, १२५ वाहनेभ्यः, १२६ वर्मभ्यः, १२७ आसनेभ्यः, १२८ दुन्दुभिभ्यः, १२९ देवेभ्यः, १३० दैत्यराक्षसगन्धर्वपिशाचेभ्यः, १३१ सप्तभेदेभ्यः, १३२ पितृभ्यः, १३३ प्रेतेभ्यः, १३४ सुसूक्ष्मदेवेभ्यः, १३५ भावगम्येभ्यः और **१३६ बहुरूपाय विष्णवे परमात्मने नमः परमात्मविष्णुमावाहयामि स्थापयामि**— इस प्रकार उपर्युक्त सम्पूर्ण देवताओंका पृथक्-पृथक् अथवा एकत्र यथाविधि पूजन करके '**भगवंस्त्वत्प्रसादेन वर्षं क्षेममिहास्तु मे। संवत्सरोपसर्गा मे विलयं यान्त्वशेषतः॥**' से प्रार्थना करे और विविध प्रकारके उत्तम और सात्त्विक पदार्थोंसे ब्राह्मणोंको भोजन करानेके बाद एक बार स्वयं भोजन करे। पूजनके समय नवीन पंचांगसे उस वर्षके राजा, मन्त्री, सेनाध्यक्ष, धनाधिप, धान्याधिप, दुर्गाधिप, संवत्सर-निवास और फलाधिप आदिके फल

श्रवण[1] करे। निवास-स्थानोंको ध्वजा, पताका, तोरण और बंदनवार आदिसे सुशोभित करे। द्वारदेश और देवीपूजाके स्थानमें सुपूजित घट स्थापन करे। पारिभद्रके[2] कोमल पत्तों और पुष्पोंका चूर्ण करके उनमें काली मिर्च, नमक, हींग, जीरा और अजमोद मिलाकर भक्षण करे और सामर्थ्य हो तो 'प्रपा[3]' (पौसरे)-का स्थापन करे। निम्बपत्र-भक्षण और प्रपाके प्रारम्भकी प्रार्थना टिप्पणीके मन्त्रोंसे करे। इस प्रकार करनेसे राजा, प्रजा और साम्राज्यमें वर्षपर्यन्त व्यापक शान्ति रहती है।

(३) **तिलकव्रत** (भविष्योत्तर)—यह व्रत चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको किया जाता है। इसके निमित्त नदी या तालाबके तटपर जाकर अथवा घरपर ही पटवासकके चूर्णसे संवत्सरकी मूर्ति लिखकर उसका '**संवत्सराय नमः**', '**चैत्राय नमः**', '**वसन्ताय नमः**' आदि नाम-मन्त्रोंसे पूजन करके विद्वान् ब्राह्मणका अर्चन करे। उस समय ब्राह्मण '**संवत्सरोऽसि०**[4]' मन्त्र पढ़े। तब '**भगवंस्त्वत्प्रसादेन वर्षं क्षेममिहास्तु मे। संवत्सरोपसर्गो मे विलयं यात्वशेषतः॥**' से प्रार्थना करे और दक्षिणा दे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको वर्षभर करे तो भूत-प्रेत-पिशाचादिकी बाधाएँ शान्त हो जाती हैं।

(४) **आरोग्यव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी इसी प्रतिपदाको किया जाता है। इसके निमित्त पहले दिन व्रत करके प्रतिपदाको एक चौकीपर

---

१. शकवत्सरभूपमन्त्रिणां रसधान्येश्वरमेघपातिनाम्।
श्रवणात् पठनाच्च वै नृणां शुभतां यात्यशुभं सहाश्रिया॥ (ज्योतिर्निबन्ध)

२. पारिभद्रस्य पत्राणि कोमलानि विशेषतः।
सपुष्पाणि समादाय चूर्णं कृत्वा विधानतः॥
मरिचं लवणं हिंगुं जीरकेण च संयुतम्।
अजमोदयुतं कृत्वा भक्षयेद् रोगशान्तये॥ (पंचांगपारिजात)

३. प्रपेयं सर्वसामान्या भूतेभ्यः प्रतिपादिता।
अस्याः प्रदानात् पितरस्तृप्यन्तु च पितामहाः॥ (दानचन्द्रिका)

४. संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीडावत्सरोऽसि अनुवत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। (यजुर्वेद)

अनेक प्रकारके कमल बिछाकर उनमें सूर्यका ध्यान करे। श्वेत वर्णके सुगन्धित गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। दही, चीनी, घी, पूए, दूध, भात और फल आदि अर्पण करे। वह्नि और ब्राह्मणको तृप्त करे। फिर सम्पूर्ण सामग्रीका एक-एक ग्रास भक्षण करे और शेषको त्याग दे। उसके बाद ब्राह्मणकी आज्ञा हो तब फिर भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको वर्षपर्यन्त व्रत और शिव-दर्शन करे तो सदैव आरोग्य रह सकता है।

(५) **विद्याव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—चैत्र शुक्ल प्रतिपदाको एक वेदीपर अक्षतोंका अष्टदल बनाकर उसके मध्यमें ब्रह्मा, पूर्वमें ऋक्, दक्षिणमें यजुः, पश्चिममें साम, उत्तरमें अथर्व, अग्निकोणमें षट्शास्त्र, नैर्ऋत्यमें धर्मशास्त्र, वायव्यमें पुराण और ईशानमें न्यायशास्त्रको स्थापन करे तथा उन सबका नाम-मन्त्रसे आवाहनादि पूजन करके व्रत रखे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल प्रतिपदाको १२ महीने करके गोदान करे और फिर उसी प्रकार १२ वर्षतक यथावत् करता रहे तो वह महाविद्वान् बन सकता है।

(६) **नवरात्र** (नानाशास्त्र-पुराणादि)—ये चैत्र, आषाढ़, आश्विन और माघकी शुक्ल प्रतिपदासे नवमीतक नौ दिनके होते हैं; परंतु प्रसिद्धिमें चैत्र और आश्विनके नवरात्र ही मुख्य माने जाते हैं। इनमें भी देवीभक्त आश्विनके नवरात्र अधिक करते हैं। इनको यथाक्रम वासन्ती और शारदीय कहते हैं। इनका आरम्भ चैत्र और आश्विन शुक्ल प्रतिपदाको होता है। अतः यह प्रतिपदा 'सम्मुखी'[१] शुभ होती है। नवरात्रोंके आरम्भमें अमायुक्त[२] प्रतिपदा अच्छी नहीं। ......आरम्भमें घटस्थापनके समय यदि चित्रा और वैधृति[३] हों तो उनका त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि चित्रामें धनका[४] और वैधृतिमें

१. 'प्रतिपत्सम्मुखी कार्या या भवेदापराह्णिकी॥' (स्कन्द)
२. 'अमायुक्ता न कर्तव्या प्रतिपत् पूजने मम।' (देवीभागवत)
३. 'प्रारभ्यं नवरात्रं स्याद्धित्वा चित्रां च वैधृतिम्।' (देवीभागवत)
४. 'वैधृतौ पुत्रनाशः स्याच्चित्रायां धननाशनम्।' (रुद्रयामल)

पुत्रका नाश होता है।''''घटस्थापनका समय 'प्रातःकाल[१]' है। अतः उस दिन चित्रा या वैधृति रात्रितक रहें (और रात्रिमें नवरात्रोंका स्थापन[२] या आरम्भ होता नहीं,) तो या तो वैधृत्यादिके आद्य[३] तीन अंश त्यागकर चौथे अंशमें करे या मध्याह्नके समय[४] (अभिजित् मुहूर्तमें) स्थापन करे। स्मरण रहे कि देवीका आवाहन[५], प्रवेशन, नित्यार्चन और विसर्जन—ये सब प्रातःकालमें शुभ होते हैं। अतः उचित समयका अनुपयोग न होने दे।''''स्त्री हो या पुरुष, सबको नवरात्र करना चाहिये। यदि कारणवश स्वयं न[६] कर सकें तो प्रतिनिधि (पति-पत्नी, ज्येष्ठ पुत्र, सहोदर या ब्राह्मण) द्वारा करायें।''''नवरात्र नौ रात्रि पूर्ण होनेसे पूर्ण होता है। इसलिये यदि इतना समय न मिले या सामर्थ्य न हो तो सात[७], पाँच, तीन या एक दिन व्रत करे और व्रतमें भी उपवास, अयाचित, नक्त या एकभुक्त—जो बन सके यथासामर्थ्य वही कर ले।'''''यदि नवरात्रोंमें घटस्थापन करनेके बाद सूतक[८] हो जाय तो कोई दोष नहीं, परंतु पहले हो जाय तो पूजनादि स्वयं

---

१. भास्करोदयमारभ्य यावत्तु दश नाडिकाः।
प्रातःकाल इति प्रोक्तः स्थापनारोपणादिषु॥ (विष्णुधर्म)

२. 'न च कुम्भाभिषेचनम्।' (रुद्रयामल)

३. 'त्याज्या अंशास्त्रयस्त्वाद्यास्तुरीयांशे तु पूजनम्।' (भविष्य)

४. सम्पूर्णा प्रतिपद्ध्येव चित्रायुक्ता यदा भवेत्।
वैधृत्या वापि युक्ता स्यात् तदा माध्यन्दिने रवौ॥
अभिजित्तु मुहूर्तं यत् तत्र स्थापनमिष्यते। (रुद्रयामल)

५. प्रातरावाहयेद् देवीं प्रातरेव प्रवेशयेत्।
प्रातः प्रातश्च सम्पूज्य प्रातरेव विसर्जयेत्॥ (देवीपुराण)

६. 'स्वयं वाप्यन्यतो वापि पूजयेत् पूजयीत वा।' (पूजापंकजभास्कर)

७. अथात्र नवरात्रं च सप्तपंचत्रिकादि वा।
एकभक्तेन नक्तेनायाचितोपोषितैः क्रमात्॥ (दीक्षित)

८. व्रतयज्ञविवाहेषु श्राद्धे होमेऽर्चने जपे।
प्रारब्धे सूतकं न स्यादनारब्धे तु सूतकम्॥ (विष्णु)

न करे।.....चैत्रके नवरात्रमें शक्तिकी उपासना[१] तो प्रसिद्ध ही है; साथ ही शक्तिधरकी उपासना भी की जाती है। उदाहरणार्थ एक ओर देवीभागवत, कालिकापुराण, मार्कण्डेयपुराण, नवार्णमन्त्रके पुरश्चरण और दुर्गापाठकी शतसहस्त्रायुतचण्डी आदि होते हैं तो दूसरी ओर श्रीमद्भागवत, अध्यात्म-रामायण, वाल्मीकीय रामायण, तुलसीकृत रामायण, राममन्त्र-पुरश्चरण, एक-तीन-पाँच-सात दिनकी या नवाह्निक अखण्ड रामनामध्वनि और रामलीला आदि किये जाते हैं। यही कारण है कि ये 'देवी-नवरात्र' और 'राम-नवरात्र' नामोंसे प्रसिद्ध हैं।.....नवरात्रका प्रयोग प्रारम्भ करनेके पहले सुगन्धयुक्त तैलके उद्वर्तनादिसे मंगलस्नान करके नित्यकर्म करे और स्थिर शान्तिके पवित्र स्थानमें शुभ मृत्तिकाकी वेदी बनाये। उसमें जौ और गेहूँ—इन दोनोंको मिलाकर बोये। वहीं सोने, चाँदी, ताँबे या मिट्टीके कलशको यथाविधि स्थापन करके गणेशादिका पूजन और पुण्याहवाचन करे और पीछे देवी (या देव)-के समीप शुभासनपर पूर्व (या उत्तर) मुख बैठकर '**मम महामायाभगवती (वा मायाधिपति भगवत्) प्रीतये (आयुर्बलवित्तारोग्यसमादरादिप्राप्तये वा) नवरात्रव्रतमहं करिष्ये।**' यह संकल्प करके मण्डलके मध्यमें रखे हुए कलशपर सोने, चाँदी, धातु, पाषाण, मृत्तिका या चित्रमय मूर्ति विराजमान करे और उसका आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, नीराजन, पुष्पांजलि, नमस्कार और प्रार्थना आदि उपचारोंसे पूजन करे। इसके बाद यदि सामर्थ्य हो तो नौ दिनतक नौ (और यदि सामर्थ्य न हो तो सात, पाँच, तीन या एक) कन्याओंको देवी मानकर उनको गन्ध-पुष्पादिसे अर्चित करके भोजन कराये और फिर आप भोजन करे। व्रतीको चाहिये कि उन दिनोंमें भूशयन, मिताहार, ब्रह्मचर्यका पालन, क्षमा, दया,

---

* 'त्रिकालं पूजयेद् देवीं जपस्तोत्रपरायणः।' (देवीभागवत)

उदारता एवं उत्साहादिकी वृद्धि और क्रोध, लोभ, मोहादिका त्याग रखे। इस प्रकार नौ रात्रि व्यतीत होनेपर दसवें दिन प्रातःकालमें विसर्जन करे तो सब प्रकारके विपुल सुख-साधन सदैव प्रस्तुत रहते हैं और भगवान् (या भगवती) प्रसन्न होते हैं।

(७) पंचरात्र (भविष्यपुराण)—ये व्रत नवरात्रोंके अन्तर्गत किये जाते हैं। विशेषता यह है कि इनमें पंचमीको एकभुक्त व्रत करे, षष्ठीको नक्तव्रत रखे, सप्तमीको अयाचित भोजन करे, अष्टमीको अन्नवर्जित उपवास रखे और नवमीको पारण करे तो इससे देवीकी प्रसन्नता बढ़ती है।

(८) बालेन्दुव्रत (विष्णुधर्म)—यह चैत्र शुक्ल द्वितीयाको किया जाता है। इस दिन सूर्यास्तके समय शुद्ध जलसे स्नान करके चावलोंका बालेन्दु-मण्डल बनाये अथवा चन्द्रदर्शनके समय उसीमें बालेन्दु-मण्डलकी कल्पना करके आकाशस्थ चन्द्रमाका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। ईख, गुड़, अक्षत, सुपारी और सैन्धव अर्पण करे और '**बालचन्द्रमसे नमः**' इस मन्त्रसे आहुति देकर भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल द्वितीयाको एक वर्षतक करनेसे सुख और भाग्यकी वृद्धि होती है। इसमें तैलपक्व पदार्थ खानेकी मनाही है।

(९) नेत्रव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी इसी द्वितीयाको किया जाता है। इसके लिये सूर्य-चन्द्रस्वरूप अश्विनीकुमारोंकी मूर्ति बनवाकर उनका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। ब्रह्मचर्यसे रहे। ब्राह्मणोंको सोने-चाँदीकी दक्षिणा दे और गौके दहीमें गौका घी मिलाकर भोजन करे। यह व्रत १२ वर्षतक किया जाता है और इसके करनेसे नेत्रोंकी ज्योति और मुख-मण्डलकी आभा बढ़ती है।

(१०) दोलनोत्सव (व्रतरत्न)—चैत्र शुक्ल तृतीयाको प्रातःकालके समय जानकीनाथ रामचन्द्रभगवान्‌का राजोपचार पूजन करके उनको पालनेमें विराजमान कर झुलाये और इसी प्रकार सुरेश्वर और रमापतिको दोलारूढ़ करके उनके दर्शन करे तो सब पाप दूर होते हैं।

(११) **गौरीतृतीया** (व्रतोत्सवसंग्रह)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल तृतीयाको) किया जाता है। सौभाग्यवती स्त्रियाँ उस दिन प्रातः-स्नान करके उत्तम रंगीन वस्त्र (लाल धोती आदि) धारण करके शुद्ध स्थानमें २४ अंगुलकी सम-चौरस वेदी बनायें और उसपर केसर, चन्दन और कपूरसे मण्डल बनाकर उसमें सोने या चाँदीकी मूर्ति स्थापन करके अनेक प्रकारके फल, पुष्प, दूर्वा और गन्धादिसे पूजन करें। उसी जगह गौरी, उमा, लतिका, सुभगा, भगमालिनी, मनोन्मना, भवानी, कामदा, भोगवर्द्धिनी और अम्बिका—इनको भी गन्ध-पुष्पादिसे चर्चित और सुशोभित करे और भोजनमें केवल एक बार दूध पीये तो पति-पुत्रादिका अखण्ड सुख प्राप्त होता है।

(१२) **ईश्वर-गौरी** (व्रतोत्सव)—इसी दिन (चैत्र शुक्ल तृतीयाको) काष्ठादिकी पूर्वनिर्मित शिव-गौरीकी मूर्तियोंको स्नान कराके उत्तम प्रकारके वस्त्र और आभूषणादिसे भूषितकर पूजन करे और डोल, पालने या सिंहासनादिमें उनको सावधानीके साथ विराजमान करके सायंकालके समय विविध प्रकारके गाजे-बाजे, लवाजमे, सौभाग्यवती स्त्रियों और सत्पुरुषोंके समारोहके साथ उनको नगरसे बाहर किसी पुष्पोद्यान या सरोवरके तटपर स्थापित करे और वहाँ कुछ कालतक क्रीड़ा-कौतुकादिकी कला प्रदर्शन करानेके पीछे उनको उसी प्रकार वापस लाकर यथास्थान स्थापित कर दे। इस प्रकार प्रतिवर्ष करते रहनेसे नगर, ग्राम और उपबस्ती आदिमें सर्वत्र ही उद्योग, उत्साह, आरोग्यता और सर्वसौख्य बढ़ते हैं।

(१३) **गौरीविसर्जन** (व्रतोत्सव)—यह भी चैत्र शुक्ल तृतीयाको होता है। होलीके दूसरे दिन (चैत्र कृष्ण प्रतिपदा)-से जो कुमारी और विवाहिता बालिकाएँ प्रतिदिन गनगौर पूजती हैं, वे चैत्र शुक्ल द्वितीया (सिंजारे)-के दिन किसी नद, नदी, तालाब या सरोवरपर जाकर अपनी पूजी हुई गनगौरोंको पानी पिलाती हैं और दूसरे दिन सायंकालके समय

उनका विसर्जन कर देती हैं। यह व्रत विवाहिता लड़कियोंके लिये पतिका अनुराग उत्पन्न करानेवाला और कुमारिकाओंको उत्तम पति देनेवाला है।

(१४) श्रीव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह चैत्र शुक्ल पंचमीको किया जाता है। इसलिये तृतीयाको अभ्यंग-स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण करे। माला आदि भी सफेद ले और व्रतमें संलग्न रहे। घी, दही और भातका भोजन करे। चतुर्थीको स्नान करके व्रत रखे और पंचमीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् लक्ष्मीका पूजन करे। पूजनमें धान्य, हलदी, अदरख, गन्ने, गुड़ और लवण आदि अर्पण करके कमलके पुष्पोंका लक्ष्मीसूक्तसे हवन करे। यदि कमल न मिलें तो बेलके टुकड़ोंका और वे भी न हों तो केवल घीका हवन करे और पद्मिनी (कमलोंवाली तलाई)-में स्नान करके सुवर्णका दान करे तो 'श्री' (लक्ष्मी)-की प्राप्ति होती है।

(१५) लक्ष्मीव्रत (भविष्योत्तर)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल पंचमीको) किया जाता है। इसमें लक्ष्मीका पूजन और व्रत करके सुवर्णके बने हुए कमलका दान करे तो सब प्रकारके दुःख दूर होते हैं।

(१६) सौभाग्यव्रत (भविष्योत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल पंचमीको होता है। इसमें पृथ्वीका, पंचमीका और चन्द्रमाका गन्धादिसे पूजन करके एक बार भोजन करे तो आयु और ऐश्वर्य दोनों बढ़ते हैं।

(१७) कुमारव्रत (कालोत्तर)—यह चैत्र शुक्ल षष्ठीको किया जाता है। उस दिन मयूरपर बैठे हुए स्वामिकार्तिककी सुवर्णके समान मूर्ति बनवाकर उसका पूजन करे। आचार्यको वस्त्र और सुवर्ण दे। उपवास रखे और सद्वैद्यकी सम्मतिके अनुसार ब्राह्मीका रस और घी पिये। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल पंचमीको एक वर्षपर्यन्त करनेसे महाबुद्धिमान् होता है। शास्त्रोंका आशय सहज ही समझमें आ सकता है और शास्त्रार्थमें स्फुरणाशक्तिका भलीभाँति विकास होता है।

(१८) मोदनव्रत (हेमाद्रि)—यह चैत्र शुक्ल सप्तमीको किया जाता

है। उस दिन प्रातःस्नानादि करके सूर्यनारायणका पूजन करे। ब्राह्मणोंको खीरका भोजन कराये और आप भी एक बार उसीका भोजन करे।

(१९) **नामसप्तमी** (भविष्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल सप्तमीसे वर्षपर्यन्त होता है और चैत्रादि १२ महीनोंमें सूर्यके १२ नामोंसे यथाक्रम पूजन किया जाता है। यथा—१ चैत्रमें धाता, २ वैशाखमें अर्यमा, ३ ज्येष्ठमें मित्र, ४ आषाढ़में वरुण, ५ श्रावणमें इन्द्र, ६ भाद्रपदमें विवस्वान्, ७ आश्विनमें पर्जन्य, ८ कार्तिकमें पूषा, ९ मार्गशीर्षमें अंशुमान्, १० पौषमें भग, ११ माघमें त्वष्टा और १२ फाल्गुनमें जिष्णु नामसे यथाविधि पूजन करके एकभुक्त व्रत करे तो आयु, आरोग्य और ऐश्वर्यकी अपूर्व वृद्धि होती है।

(२०) **सूर्यव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—यह भी चैत्र शुक्ल सप्तमीको ही होता है। इसके लिये एकान्तके मकानको लीपकर या धोकर स्वच्छ करे और उसके मध्यमें वेदी बनाकर उसपर अष्टदल कमल लिखे और कमलके प्रत्येक दलमें निम्नलिखित मूर्ति स्थापित करे। यथा—पूर्वके दलपर दो ऋतुकारक 'गन्धर्व', आग्नेय पत्रपर दो ऋतुकारक 'गन्धर्व', दक्षिण दलपर दो 'अप्सराएँ', नैर्ऋत्यके दलपर दो 'राक्षस', पश्चिमके दलपर ऋतुकारक दो 'महानाग', वायव्यके दलपर दो 'यातुधान', उत्तरके दलपर दो 'ऋषि' और ईशानके दलपर एक 'ग्रह' स्थापन करके उन सबका यथाक्रम पृथक्-पृथक् गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसे पंचोपचार पूजन करके सूर्यके निमित्त घीकी १०८ आहुतियाँ दे और अन्य सबके निमित्त आठ-आठ आहुतियाँ दे तथा प्रत्येकके निमित्त एक-एक ब्राह्मणको भोजन कराये। इस प्रकार शुक्ल पक्षकी प्रत्येक सप्तमीको एक वर्षतक करे तो उसको सूर्यलोककी प्राप्ति होती है।

(२१) **अशोककलिकाप्राशनव्रत** (कृत्यरत्नावली, कूर्मपुराण)—यह चैत्र शुक्ल अष्टमीको किया जाता है। उस दिन

प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर अशोक (आशापाला)-के वृक्षका पूजन करके उसके पुष्प अथवा कोमल पत्तोंकी आठ कलिकाएँ लेकर उनसे शिवजीका पूजन करे और '**त्वामशोक नमाम्येनं मधुमाससमुद्भवम्। शोकार्तः कलिकां प्राश्य मामशोकं सदा कुरु॥**' से आठ कलिकाएँ भक्षण करके व्रत करे तो वह शोकरहित रहता है। यदि उस दिन बुधवार हो या पुनर्वसु हो या दोनों हों तो व्रतीको किसी प्रकारका शोक नहीं होता।

(२२) भवानीव्रत (भविष्यपुराण)—चैत्र शुक्ल अष्टमीको भवानीका प्रादुर्भाव हुआ था, अतः उस दिन देवीका पूजन करके अपूप आदिका भोग लगाये और व्रत करे।

(२३) रामनवमी (विष्णुधर्मोत्तर)—इस व्रतकी चारों जयन्तियोंमें गणना है। यह चैत्र शुक्ल नवमीको किया जाता है। इसमें मध्याह्नव्यापिनी शुद्धा तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन मध्याह्नव्यापिनी हो या दोनों दिनोंमें ही न हो तो पहला व्रत करना चाहिये। इसमें अष्टमीका वेध हो तो निषेध[१] नहीं, दशमीका वेध वर्जित है।..... यह व्रत नित्य[२], नैमित्तिक और काम्य—तीन प्रकारका है। नित्य होनेसे इसे निष्काम भावना रखकर आजीवन किया जाय तो उसका अनन्त औरअमिट फल होता है और किसी निमित्त या कामनासे किया जाय तो उसका यथेच्छ फल मिलता है। भगवान् रामचन्द्रका जन्म[३] हुआ, उस समय चैत्र शुक्ल नवमी, गुरुवार,

---

१. अष्टम्या नवमी विद्धा कर्तव्या फलकांक्षिभिः।
न कुर्यान्नवमी तात दशम्या तु कदाचन॥ (दीक्षित)

२. नित्यं नैमित्तिकं काम्यं व्रतं वेति विचार्यते।
निष्कामानां विधानात्तु तत् काम्यं तावदिष्यते॥ (रामार्चन)

३. श्रीरामश्चैत्रमासे दिनदलसमये पुष्यभे कर्कलग्ने
जीवेन्दोः कीटराशौ मृगभगतकुजे ज्ञे झषे मेषगेऽर्के।
मन्दे जूकेऽङ्गनायां तमसि शफरिगे भार्गवेये नवम्यां
पंचोच्चे चावतीर्णो दशरथतनयः प्रादुरासीत् स्वयम्भूः॥ (रामचन्द्रजन्मपत्री)

पुष्य (या दूसरे मतसे पुनर्वसु), मध्याह्न और कर्क लग्न था। उत्सवके दिन ये सब तो सदैव आ नहीं सकते, परंतु जन्मर्क्ष कई बार आ जाता है; अतः वह हो तो उसे अवश्य लेना चाहिये।""जो मनुष्य रामनवमीका भक्ति और विश्वासके साथ व्रत करते हैं, उनको महान् फल मिलता है।""व्रतीको चाहिये कि व्रतके पहले दिन (चैत्र शुक्ल अष्टमीको) प्रातःस्नानादिसे निश्चिन्त होकर भगवान् रामचन्द्रका स्मरण करे। दूसरे दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) नित्यकृत्यसे अति शीघ्र निवृत्त होकर '**उपोष्य नवमी त्वद्य यामेष्वष्टसु राघव। तेन प्रीतो भव त्वं भो संसारात् त्राहि मां हरे॥**' इस मन्त्रसे भगवान्‌के प्रति व्रत करनेकी भावना प्रकट करे और '**मम भगवत्प्रीतिकामनया (वामुकफल-प्राप्तिकामनया) रामजयन्तीव्रतमहं करिष्ये**' यह संकल्प करके काम-क्रोध-लोभ-मोहादिसे वर्जित होकर व्रत करे।""तत्पश्चात् मन्दिर अथवा अपने मकानको ध्वजा-पताका, तोरण और बंदनवार आदिसे सुशोभित करके उसके उत्तर भागमें रंगीन कपड़ेका मण्डप बनाये और उसके अंदर सर्वतोभद्रमण्डलकी रचना करके उसके मध्यभागमें यथाविधि कलश-स्थापन करे। कलशके ऊपर रामपंचायतन (जिसके मध्यमें राम-सीता, दोनों पार्श्वोंमें भरत और शत्रुघ्न, पृष्ठ-प्रदेशमें लक्ष्मण और पादतलमें हनुमान्‌जी)-की सुवर्णनिर्मित मूर्ति स्थापन करके उसका आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करे। व्रतराज, व्रतार्क, जयसिंहकल्पद्रुम और विष्णुपूजन आदिमें वैदिक और पौराणिक दोनों प्रकारकी पूजनविधि है। उसके अनुसार पूजन करे।""उस[१] दिन दिनभर

---

* चैत्रे मासि नवम्यां तु शुक्लपक्षे रघूत्तमः।
प्रादुरासीत् पुरा ब्रह्मन् परब्रह्मैव केवलम्॥
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यमुपवासव्रतं सदा।
तत्र जागरणं कुर्याद् रघुनाथपरो भुवि॥
उपोषणं जागरणं पितॄनुद्दिश्य तर्पणम्।
तस्मिन् दिने तु कर्तव्यं ब्रह्मप्राप्तिमभीप्सुभिः॥ (रामार्चनचन्द्रिका)

भगवान्‌का भजन-स्मरण, स्तोत्रपाठ, दान-पुण्य, हवन, पितृश्राद्ध और उत्सव करे और रात्रिमें उत्तम प्रकारके गायन-वादन-नर्तन (रामलीला) और चरित्र-श्रवणादिके द्वारा जागरण करे तथा दूसरे दिन (दशमीको) पारण करके व्रतका विसर्जन करे। सामर्थ्य हो तो सुवर्णकी मूर्तिका दान और ब्राह्मण-भोजन कराये तथा इस प्रकार प्रतिवर्ष करता रहे।

(२४) **मातृकाव्रत** (विष्णुधर्म)—यह भी इसी दिन (चैत्र शुक्ल नवमीको) होता है। इसमें भैरव और चौंसठ योगिनियोंका सफेद रंगके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन किया जाता है।

(२५) **शुक्लैकादशी** (नानापुराणस्मृति)—इसको चैत्र शुक्ल एकादशीके दिन पूर्वोक्त प्रकारसे करना चाहिये। व्रतके पहले दिन (दशमीके मध्याह्नमें) जौ, गेहूँ और मूँग आदिका एक बार भोजन करके भगवान्‌का स्मरण करे। दूसरे दिन (एकादशीको) प्रातःस्नानादि करके '**ममाखिलपापक्षयपूर्वकपरमेश्वरप्रीतिकामनया कामदैकादशीव्रतं करिष्ये**' यह संकल्प करके रात्रिके समय भगवान्‌को दोलारूढ करे और उनके सम्मुख जागरण करे। फिर दूसरे दिन पारण करे तो सब प्रकारके पाप दूर होते हैं।......इसका कथासार यह है कि प्राचीन कालमें सुवर्ण और रत्नोंसे सुशोभित भोगिपुर नगरके पुण्डरीक राजाके ललित और ललिता नामके गन्धर्व-गन्धर्विणी गायन-विद्यामें बड़े प्रवीण थे। एक दिन राजाके बुलानेपर ललित कार्यवश नहीं आया, तब राजाने उसको राक्षस बना दिया। इसपर ललिता बहुत दुःखी हुई और ऋष्यशृंगकी आज्ञासे उसने कामदाका व्रत करके पतिको पूर्वरूपमें प्राप्त किया।

(२६) **मदनद्वादशी** (मत्स्यपुराण)—यह व्रत चैत्र शुक्ल द्वादशीको किया जाता है। उस दिन गुड़के जलसे स्नान करके एक वेदीपर चावलोंसे भरा हुआ कलश स्थापन करे और उसके ऊपर ताँबेके पात्रमें गुड़ और सुवर्णकी मूर्ति रखकर उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। साथ ही अनेक

प्रकारके फल, पुष्प, ईख और नैवेद्य अर्पण करे तथा उनमेंसे एक फल लेकर उसको भक्षण करे। इस प्रकार १३ महीने करे तो उसको पुत्र-शोक नहीं होता।

(२७) **मदनपूजा** (धर्मशास्त्रसमुच्चय)—यह व्रत चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको किया जाता है। उस दिन स्नान करके उत्तम कपड़ेपर मदनदेवकी मनोमोहक मूर्ति अंकित करे और उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके घीसे बनाये हुए मोदकारी मोदकोंका '**नमो रामाय कामाय कामदेवस्य मूर्तये। ब्रह्मविष्णुशिवेन्द्राणां नमः क्षेमकराय वै॥**' से नैवेद्य अर्पण करे और रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिन पारण करे तो पति-पुत्रादिका अखण्ड सुख होता है।

(२८) **प्रदोषव्रत** (व्रतविज्ञान)—यह अतिप्रशस्त सर्वाचरणीय श्रेष्ठ व्रत प्रत्येक मासकी शुक्ल और कृष्ण त्रयोदशीको किया जाता है। कृष्णका विधान पहले लिखा ही जा चुका है, उसीके अनुसार शुक्लका व्रत करना चाहिये। विशेषता यह है कि संतानके लिये 'शनिप्रदोष', ऋणमोचनके लिये 'भौमप्रदोष' और शान्तिरक्षाके लिये 'सोमप्रदोष' अधिक फलदायी हैं। इनके सिवा आयु और आरोग्यकी वृद्धिके लिये 'अर्कप्रदोष' उत्तम होता है। व्रतीको चाहिये कि उस दिन सूर्यास्तके समय पुनः स्नान करके शिवजीका पूजन करे और '**भवाय भवनाशाय महादेवाय धीमते। रुद्राय नीलकण्ठाय शर्वाय शशिमौलिने॥ उग्रायोग्राघनाशाय भीमाय भयहारिणे। ईशानाय नमस्तुभ्यं पशूनां पतये नमः॥**' से प्रार्थना करके भोजन करे।

(२९) **चैत्री पूर्णिमा** (पुराणसमुच्चय)—प्रत्येक मासकी पूर्णिमाको पूर्ण चन्द्रमाका और तत्प्रकाशक सूर्यका तथा विष्णुरूप सत्यनारायणका व्रत किया जाता है। यह पूर्णिमा चन्द्रोदयव्यापिनी ली जाती है। इसमें देवपूजन, दान-पुण्य, तीर्थ-स्नान और पुराण-श्रवणादि करनेसे पूर्ण फल मिलता है।

यदि इस दिन चित्रा हो तो विचित्र वस्त्रोंका दान करनेसे सौभाग्यकी वृद्धि होती है।

(३०) **तिथीशपूजन** (धर्मानुसंधान)—यह व्रत प्रतिपदादि प्रत्येक तिथिके स्वामीका पूजन करनेसे सम्पन्न होता है। विधान यह है कि प्रातः-स्नानादिके पीछे वेदी या चौकीपर रक्त वस्त्र बिछाकर उसपर अक्षतोंका अष्टदल बनाये। उसके मध्यमें जिस दिन जो तिथि हो, उसके स्वामीकी सुवर्णमयी मूर्तिका पूजन करे। तिथियोंके स्वामी क्रमशः प्रतिपदाके 'अग्निदेव', द्वितीयाके 'ब्रह्मा', तृतीयाकी 'गौरी', चतुर्थीके 'गणेश', पंचमीके 'सर्प', षष्ठीके 'स्वामिकार्तिक', सप्तमीके 'सूर्य', अष्टमीके 'शिव' (भैरव), नवमीकी 'दुर्गा', दशमीके 'अन्तक' (यमराज), एकादशीके 'विश्वेदेवा', द्वादशीके 'हरि' (विष्णु), त्रयोदशीके 'कामदेव', चतुर्दशीके 'शिव', पूर्णिमाके 'चन्द्रमा' और अमाके 'पितर' हैं। इनका व्रत और पूजन प्रतिदिन करते रहनेसे हर्ष, उत्साह और आरोग्यकी वृद्धि होती है।

(३१) **हनुमद्व्रत** (उत्सवसिन्धु-व्रतरत्नाकर)—यह व्रत हनुमान्‌जीकी जन्मतिथिका है। जिन पंचांगोंके आधारसे व्रतोंका निर्णय किया जाता है, उनमें हनुमान्‌जीकी जन्मतिथि किसीमें कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी और किसीमें चैत्र शुक्ल पूर्णिमा है। किसी भी देवताकी अधिकृति या जन्मतिथि एक होती है, परंतु हनुमान्‌जीकी दो मानते हैं। यह विशेषता है। इस विषयके ग्रन्थोंमें इन दोनोंके उल्लेख अवश्य हैं, परंतु आशयोंमें भिन्नता है। पहला 'जन्मदिन' है और दूसरा 'विजयाभिनन्दन' का महोत्सव। ......'उत्सवसिन्धु'* में लिखा है कि कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी, भौमवारको स्वाती नक्षत्र और मेषलग्नमें अंजनीके गर्भसे हनुमान्‌जीके रूपमें स्वयं शिवजी उत्पन्न हुए थे।

---

* ऊर्जस्य चासिते पक्षे स्वात्यां भौमे कपीश्वरः।
मेषलग्नेऽञ्जनीगर्भाच्छिवः प्रादुरभूत् स्वयम्॥ (उत्सवसिन्धु)

'व्रतरत्नाकर'[१] में भी यही है कि कार्तिक कृष्णकी भूततिथि (चतुर्दशी)-को मंगलवारके दिन महानिशामें अंजनादेवीने हनुमान्‌जीको जन्म दिया था। दूसरे वाक्यकी अपेक्षा पहलेमें स्वाती नक्षत्र और मेषलग्न विशेष है। परंतु कार्तिकीको कृत्तिका होनेसे कृष्ण चतुर्दशीको चित्रा या स्वातीका होना असम्भव नहीं। ......इनके विपरीत 'हनुमदुपासनाकल्पद्रुम'[२] नामक ग्रन्थमें, जो एक महाविद्वान्‌का संकलन किया हुआ है, चैत्र शुक्ल पूर्णिमा, मंगलवारके दिन मूँजकी मेखलासे युक्त, कौपीनसे संयुक्त और यज्ञोपवीतसे भूषित हनुमान्‌जीका उत्पन्न होना लिखा है। साथमें यह विशेष लिखा है कि 'कैकेयीके हाथसे[३] चील्हके द्वारा आयी हुई यज्ञकी खीर खानेसे अंजनाके हनुमान्‌जी उत्पन्न हुए। अस्तु।' ......रामचरित्रके अन्वेषणमें वाल्मीकीय रामायण अधिक मान्य है। उसमें हनुमान्‌जीकी जन्मकथा (किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ६६ और उत्तरकाण्ड सर्ग ३५ में) पूर्णरूपसे लिखी गयी है। उससे ज्ञात होता है कि अंजनीके उदरसे हनुमान्‌जी उत्पन्न हुए। भूखे होनेसे ये आकाशमें उछल गये और उदय होते हुए सूर्यको फल समझकर उनके समीप चले गये। उस दिन पर्वतिथि (अमावास्या) होनेसे सूर्यको ग्रसनेके

---

१. कार्तिकस्यासिते पक्षे भूतायां च महानिशि।
भौमवारेऽञ्जना देवी हनुमन्तमजीजनत्॥ (व्रतरत्नाकर)

२. चैत्रे मासि सिते पक्षे पौर्णमास्यां कुजेऽहनि।
मौंजीमेखलया युक्तः कौपीनपरिधारकः॥ (ह० क०)

३. कैकेयीहस्ततः पिण्डं जहार चिल्हिपक्षिणी।
गच्छन्त्याकाशमार्गेण तदा वायुर्महानभूत्॥
तुण्डात् प्रगलिते पिण्डे वायुर्नीत्वांजनांजलौ।
क्षिप्तवान् स्थापितं पिण्डं भक्षयामास तत्क्षणात्॥
नवमासगते पुत्रं सुषुवे सांजना शुभम्।
(हनुमदुपासनाकल्पद्रुम; आनन्द रा० सारकां०)

लिये राहु[1] आया था। परंतु वह इनको दूसरा राहु मानकर भागने लगा, तब इन्द्रने अंजनीपुत्रपर वज्रका प्रहार किया, उससे उनकी ठोडी टेढ़ी हो गयी। इसीसे ये हनुमान् कहलाये। इस अंशमें चैत्र या कार्तिकका नाम नहीं है। सम्भव है कल्पभेद या भ्रान्तिवश अन्य ग्रन्थोंमें चैत्र लिखा गया हो। ''''हनुमान्‌जीका एक जन्मपत्र भी है, उसमें तिथि चतुर्दशी, वार मंगल, नक्षत्र चित्रा और मास अनिर्दिष्ट है। कुण्डलीमें सूर्य, मंगल, गुरु, भृगु और शनि—ये उच्चके हैं और ये ४, १, ७, ३ और १० इन स्थानोंमें यथाक्रम बैठे हैं। इन सबके देखनेसे यह तथ्य निकलता है कि कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिमें हनुमान्‌जीका जन्म हुआ था और चैत्र शुक्ल पूर्णिमाको सीताकी खोज, राक्षसोंके उपमर्दन, लंकाके दहन और समुद्रके उल्लंघन आदिमें हनुमान्‌जीके विजयी होने और निरापद वापस लौटनेके उपलक्ष्यमें हर्षोन्मत्त वानरोंने मधुवनमें हर्ष मनाया था और उससे सभी नर-वानर सुखी हुए थे। इस कारण उक्त दोनों दिनोंमें व्रत और उत्सव किया जाय तो '**अधिकस्याधिकं फलम्**' तो होगा ही। '''''इस व्रतमें तात्कालिक (रात्रिव्यापिनी) तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो तो दूसरा व्रत करना चाहिये। व्रतीका कर्तव्य है कि वह हनुमज्जन्मदिनके व्रत-निमित्त धनत्रयोदशी (का० कृ० १३)-की रात्रिमें राम-जानकी और हनुमान्‌जीका स्मरण करके पृथ्वीपर शयन करे तथा रूपचतुर्दशी (का० कृ० १४)-को अरुणोदयसे पहले उठकर राम-जानकी और हनुमान्‌जीका पुनः स्मरण करके प्रातःस्नानादिसे जल्दी निवृत्त हो ले। तत्पश्चात् हाथमें जल लेकर—'**ममाखिलानिष्टनिरसन-**

---

* यमेव दिवसं ह्येष ग्रहीतुं भास्करं प्लुतः।
तमेव दिवसं राहुर्जिघृक्षति दिवाकरम्॥
अद्याहं पर्वकाले तु जिघृक्षुः सूर्यमागतः।
अथान्यो राहुरासाद्य जग्राह सहसा रविम्॥ (वाल्मीकीय रामायण)

पूर्वकसकलाभीष्टसिद्धये तेजोबलबुद्धिविद्याधनधान्यसमृद्ध्यायुरारोग्यादिवृद्धये च हनुमद्व्रतं तदंगीभूतपूजनं च करिष्ये।' यह संकल्प करके हनुमान्‌जीकी पूर्वप्रतिष्ठित प्रतिमाके समीप पूर्व या उत्तरमुख बैठकर अति नम्रताके साथ '**अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्। सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥**' से प्रार्थना करे और फिर उनका यथाविधान षोडशोपचार पूजन करे। स्नानमें समीप हो तो नदीका और न हो तो श्रीजल मिला हुआ कूपोदक, वस्त्रोंमें लाल कौपीन और पीताम्बर, गन्धमें केसर मिला हुआ चन्दन, मूँजका यज्ञोपवीत, पुष्पोंमें शतपत्र (हजारा), केतकी, कनेर और अन्य पीले पुष्प, धूपमें अगर-तगरादि, दीपकमें गोघृतपूर्ण बत्ती और नैवेद्यमें घृतपक्व अपूप (पूआ) अथवा आटेको घीमें सेंककर गुड़ मिलाये हुए मोदक और केला आदि फल अर्पण करे तथा नीराजन, नमस्कार, पुष्पांजलि और प्रदक्षिणाके बाद '**मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्। वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥**' से प्रार्थना करके प्रसाद वितरण करे और सामर्थ्य हो तो ब्राह्मणभोजन कराकर स्वयं भोजन करे। रात्रिके समय दीपावली, स्तोत्रपाठ, गायन-वादन या संकीर्तनसे जागरण करे।......यदि किसी कार्य-सिद्धिके लिये व्रत करना हो तो मार्गशीर्ष शुक्ल त्रयोदशीको प्रातःस्नानादि करके एक वेदीपर अक्षत-पुंजसे १३ कमल बनाये। उनपर जलपूर्ण पूजित कलश स्थापन करके उसके ऊपर लगाये हुए पीले वस्त्रपर १३ कमलोंमें १३ गाँठ लगा हुआ नौ सूतका पीला डोरा रखे। फिर वेदीका पूजन करके उपर्युक्त विधिसे अथवा पद्धतिके क्रमसे हनुमान्‌जीका पूजन और जप, ध्यान, उपासना आदि करे तथा ब्राह्मणभोजनादिके पीछे स्वयं भोजन कर व्रतको पूर्ण करे तो सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध होते हैं।......कथा-सार यह है कि सूर्यके वरसे सुवर्णके बने हुए सुमेरुमें केसरीका राज्य था। उसके अति सुन्दरी अंजना नामकी स्त्री थी। एक बार उसने शुचिस्नान करके सुन्दर वस्त्राभूषण धारण

किये। उस समय पवनदेवने उसके कर्णरन्ध्रमें प्रवेशकर आते समय आश्वासन दिया कि तेरे सूर्य, अग्नि एवं सुवर्णके समान तेजस्वी, वेद-वेदांगोंका मर्मज्ञ, विश्ववन्द्य महाबली पुत्र होगा। ……ऐसा ही हुआ। कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी महानिशामें अंजनाके उदरसे हनुमान्‌जी उत्पन्न हुए। दो प्रहर बाद सूर्योदय होते ही उन्हें भूख लगी। माता फल लाने गयी, इधर वनके वृक्षोंमें लाल वर्णके बालक सूर्यको फल मानकर हनुमान्‌जी उसको लेनेके लिये आकाशमें उछल गये। उस दिन अमा होनेसे सूर्यको ग्रसनेके लिये राहु आया था, किंतु इनको दूसरा राहु मानकर भाग गया। तब इन्द्रने हनुमान्‌जीपर वज्र-प्रहार किया। उससे इनकी ठोडी टेढ़ी हो गयी, जिससे ये हनुमान् कहलाये। इन्द्रकी इस धृष्टताका दण्ड देनेके लिये इन्होंने प्राणिमात्रका वायुसंचार रोक दिया। तब ब्रह्मादि सभी देवोंने अलग-अलग इन्हें वर दिये। ब्रह्माजीने अमितायुका, इन्द्रने वज्रसे हत न होनेका, सूर्यने अपने शतांश तेजसे युक्त और सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ होनेका, वरुणने पाश और जलसे अभय रहनेका, यमने यमदण्डसे अवध्य और पाशसे नाश न होनेका, कुबेरने शत्रुमर्दिनी गदासे निःशंक रहनेका, शंकरने प्रमत्त और अजेय योद्धाओंसे जय प्राप्त करनेका और विश्वकर्माने मयके बनाये हुए सभी प्रकारके दुर्बोध्य और असह्य, अस्त्र, शस्त्र तथा यन्त्रादिसे कुछ भी क्षति न होनेका वर दिया। ……इस प्रकारके वरोंके प्रभावसे आगे जाकर हनुमान्‌जीने अमित पराक्रमके जो काम किये, वे सब हनुमान्‌जीके भक्तोंमें प्रसिद्ध हैं और जो अश्रुत या अज्ञात हैं, वे अनेक प्रकारकी रामायणों, पद्म, स्कन्द और वायु आदि पुराणों एवं उपासना-विषयके अगणित ग्रन्थोंसे ज्ञात हो सकते हैं। ऐसे विश्ववन्द्य महाबली और श्रीरामचन्द्रके अनन्य भक्त हनुमान्‌जीके जप, ध्यान, उपासना, व्रत और उत्सव आदि करनेसे सब प्रकारके संकट दूर होते हैं। देवदुर्लभ पद, सम्मान और सुख प्राप्त होते हैं तथा राम-जानकी और हनुमान्‌जीके प्रसन्न होनेसे उपासकका कल्याण होता है। एवमस्तु।

वैशाखके व्रत

कृष्णपक्ष

(१) **वैशाखस्नान**—चैत्र शुक्ल पूर्णिमासे वैशाख शुक्ल पूर्णिमातक प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व किसी तीर्थस्थान नदी या कुआँ, बावली, सरोवर अथवा अपने घरपर ही शुद्ध जलसे स्नान करे और नित्यकृत्यके अतिरिक्त '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' या '**हरे राम हरे राम०**' मन्त्रका यथाशक्ति जप करके एक बार भोजन करे। इकतीस दिनतक ऐसा क्रम रखनेसे अनेक प्रकारके रोग और दोष दूर होते हैं एवं प्रभाव तथा पुण्य बढ़ता है।

(२) **संकष्टचतुर्थी**—यह व्रत प्रत्येक महीनेकी कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है। इसमें चन्द्रोदयतक रहनेवाली चतुर्थी ग्रहण की जाती है। यदि दो दिन ऐसी चतुर्थी हो तो '**मातृविद्धा प्रशस्यते**' के अनुसार तृतीयासे युक्त व्रत करना चाहिये। उस दिन सायंकालके समय स्नान करके गणेशजीका पूजन करे और चन्द्रोदय होनेपर उन्हें अर्घ्य दे।

(३) **चण्डिकानवमी**—यह व्रत वैशाखके दोनों पक्षोंमें नवमीको किया जाता है। उस दिन प्रातःस्नानके पश्चात् लाल धोती पहनकर सुगन्धयुक्त पुष्पादिसे चण्डिका देवीका पूजन करे और पुष्पांजलि अर्पण कर उपवास रखे। इस व्रतका सविधि अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य हंस, कुन्द और चन्द्रमाके समान गौरवर्ण एवं ध्रुवके समान तेजस्वी दिव्य स्वरूप धारणकर उत्तम विमानपर आरूढ़ हो देवलोकमें आदर पाता है।*

(४) **कृष्णैकादशी**—वैशाख कृष्णकी एकादशीका नाम वरूथिनी

---

* हंसकुन्देन्दुसंकाशस्तेजसा ध्रुवसंनिभः।
विमानवरमारूढो देवलोके महीयते॥ (निर्णयामृते भविष्योत्तरे)

है। इसका व्रत करनेसे सब प्रकारके पाप-ताप दूर होते हैं, अनन्त शान्ति मिलती है और स्वर्गादि उत्तम लोक प्राप्त होते हैं। व्रतीको चाहिये कि वह दशमीको हविष्यान्नका एक बार भोजन करे। कांस्यपात्र[1], मांस और मसूरादि ग्रहण न करे। फिर एकादशीको उपवास करे, उस दिन जूआ[2] और निद्रा आदिका त्याग रखे। रात्रिमें भगवन्नाम-स्मरणपूर्वक जागरण करे और द्वादशीको मांस[3]-कांस्यादिका परित्याग करके यथाविहित पारणा करे। (वास्तवमें द्यूतक्रीड़ा आदिका तथा मांस आदिका सदा ही त्याग करना चाहिये)।

(५) **प्रदोषव्रत**—यह सुप्रसिद्ध व्रत है। प्रत्येक मासकी कृष्ण-शुक्ल त्रयोदशीको किया जाता है। इसका विशेष विवरण वैशाख शुक्लमें देखिये। व्रतीको चाहिये कि वह व्रतके दिन सूर्यास्तके समय पुनः स्नान करके शिवजीके समीप बैठकर उनका भक्तिसहित पूजन करे और सूर्यास्तसे दो या तीन घड़ी रात्रि व्यतीत होनेसे पहले ही भोजन करके शिवका स्मरण करे।

(६) **अमाव्रत**—अमावास्या पर्वतिथि है। इसमें दान, पुण्य, जप, तप और व्रत करनेसे बहुत फल होता है। विशेषरूपसे इस तिथिको श्राद्ध करनेसे पितृगण प्रसन्न होते हैं।

शुक्लपक्ष

(१) **अक्षयतृतीया**—वैशाख शुक्ल तृतीयाको अक्षयतृतीया कहते हैं। यह सनातनधर्मियोंका प्रधान त्यौहार है। इस दिन दिये हुए

---

१. कांस्यं मांसं मसूरान्नं चणकं कोद्रवांस्तथा।
शाकं मधु परान्नं च पुनर्भोजनमैथुने।
वैष्णवो व्रतकर्ता च दशम्यां दश वर्जयेत्॥

२. द्यूतक्रीडां च निद्रां च ताम्बूलं दन्तधावनम्।
परापवादपैशुन्यं स्तेयं हिंसां तथा रतिम्।
क्रोधं चानृतवाक्यं च एकादश्यां विवर्जयेत्॥

३. मांसादिकं च पूर्वोक्तं द्वादश्यामपि वर्जयेत्। (भविष्योत्तरपुराणे)

दान और किये हुए स्नान, होम, जप आदि सभी कर्मोंका फल अनन्त[1] होता है—सभी अक्षय हो जाते हैं; इसीसे इसका नाम अक्षया[2] हुआ है। इसी तिथिको नर-नारायण, परशुराम और हयग्रीव-अवतार हुए थे; इसलिये इस दिन उनकी जयन्ती मनायी जाती है तथा इसी दिन त्रेतायुग भी आरम्भ हुआ था। अतएव इसे मध्याह्नव्यापिनी ग्रहण करना चाहिये। परंतु परशुरामजी प्रदोषकालमें प्रकट हुए थे; इसलिये यदि द्वितीयाको मध्याह्नसे पहले तृतीया आ जाय तो उस दिन अक्षयतृतीया, नर-नारायण-जयन्ती, परशुराम-जयन्ती और हयग्रीव-जयन्ती सब सम्पन्न की जा सकती हैं और यदि द्वितीया अधिक हो तो परशुराम-जयन्ती दूसरे दिन होती है। यदि इस दिन गौरीव्रत भी हो तो '**गौरी विनायकोपेता**' के अनुसार गौरीपुत्र गणेशकी तिथि चतुर्थीका सहयोग अधिक शुभ होता है। अक्षयतृतीया बड़ी पवित्र और महान् फल देनेवाली तिथि है। इसलिये इस दिन सफलताकी आशासे व्रतोत्सवादिके अतिरिक्त वस्त्र, शस्त्र और आभूषणादि बनवाये अथवा धारण किये जाते हैं तथा नवीन स्थान, संस्था एवं समाज आदिका स्थापन या उद्घाटन भी किया जाता है। ज्योतिषीलोग आगामी वर्षकी तेजी-मंदी जाननेके लिये इस दिन सब प्रकारके अन्न, वस्त्र आदि व्यावहारिक वस्तुओं और व्यक्तिविशेषोंके नामोंको तौलकर एक सुपूजित स्थानमें रखते हैं और दूसरे दिन फिर तौलकर उनकी न्यूनाधिकतासे भविष्यका शुभाशुभ मालूम करते हैं। अक्षयतृतीयामें तृतीया तिथि, सोमवार और रोहिणी नक्षत्र ये तीनों हों तो बहुत श्रेष्ठ माना जाता है। किसानलोग उस दिन चन्द्रमाके अस्त होते समय रोहिणीका आगे जाना अच्छा और पीछे रह जाना बुरा मानते हैं।

---

१. स्नात्वा हुत्वा च दत्त्वा च जप्त्वानन्तफलं लभेत्। (भारते)

२. यत्किंचिद् दीयते दानं स्वल्पं वा यदि वा बहु।
तत् सर्वमक्षयं यस्मात् तेनेयमक्षया स्मृता॥ (भविष्ये)

अक्षयतृतीयाव्रत—इस दिन उपर्युक्त तीनों जयन्तियाँ एकत्र होनेसे व्रतीको चाहिये कि वह प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होकर '**ममाखिलपापक्षयपूर्वकसकलशुभफलप्राप्तये भगवत्प्रीतिकामनया देवत्रयपूजनमहं करिष्ये**' ऐसा संकल्प करके भगवान्‌का यथाविधि षोडशोपचारसे पूजन[१] करे। उन्हें पंचामृतसे स्नान करावे, सुगन्धित पुष्पमाला पहनावे और नैवेद्यमें नर-नारायणके निमित्त सेके हुए जौ या गेहूँका 'सत्तू', परशुरामके निमित्त कोमल ककड़ी और हयग्रीवके निमित्त भीगी हुई चनेकी दाल अर्पण करे। बन सके तो उपवास तथा समुद्रस्नान[२] या गंगास्नान करे और जौ[३], गेहूँ, चने, सत्तू, दही-चावल ईखके रस और दूधके बने हुए खाद्य पदार्थ (खाँड़, मावा, मिठाई आदि) तथा सुवर्ण एवं जलपूर्ण कलश, धर्मघट, अन्न[४], सब प्रकारके रस और ग्रीष्म-ॠतुके उपयोगी वस्तुओंका दान करे तथा पितृश्राद्ध करे और ब्राह्मणभोजन भी करावे। यह सब यथाशक्ति करनेसे अनन्त फल होता है।

परशुराम-जयन्ती—परशुरामजीका जन्म वैशाख शुक्ल तृतीयाको रात्रिके प्रथम प्रहरमें हुआ था, अतः यह प्रदोषव्यापिनी ग्राह्य होती है। यदि दो दिन प्रदोषव्यापिनी हो तो दूसरा व्रत करना चाहिये।

---

१. यः पश्यति तृतीयायां कृष्णं चन्दनभूषितम्।
वैशाखस्य सिते पक्षे स यात्यच्युतमन्दिरम्॥ (विष्णुधर्मोत्तरे)

२. युगादौ तु नरः स्नात्वा विधिवल्लवणोदधौ।
गोसहस्रप्रदानस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥ (पृथ्वीचन्द्रोदये सौरपुराणे)

३. यवगोधूमचणकान् सक्तु दध्योदनं तथा।
इक्षुक्षीरविकारांश्च हिरण्यं च स्वशक्तितः॥
उदकुम्भान् सकरकान् सन्नान् सर्वरसैः सह।
ग्रैष्मिकं सर्वमेवात्र सस्यं दाने प्रशस्यते॥ (भविष्योत्तरे)

४. गन्धोदकतिलैर्मिश्रं सान्नं कुम्भं फलान्वितम्।
पितृभ्यः सम्प्रदास्यामि अक्षय्यमुपतिष्ठतु॥ (वि० ध०)

व्रतके दिन प्रातः-स्नानके अनन्तर '**मम ब्रह्मत्वप्राप्तिकामनया परशुरामपूजनमहं करिष्ये**' यह संकल्प करके सूर्यास्ततक मौन रखे और सायंकालमें पुनः स्नान करके परशुरामजीका पूजन करे तथा '**जमदग्निसुतो वीर क्षत्रियान्तकर प्रभो। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं कृपया परमेश्वर॥**' इस मन्त्रसे अर्घ्य देकर रात्रिभर राममन्त्रका जप करे।

गौरीपूजा—यह भी वैशाख शुक्ल तृतीयाको ही की जाती है। इस दिन पार्वतीका प्रीतिपूर्वक पूजन करके धातु या मिट्टीके कलशमें जल, फल, पुष्प, गन्ध, तिल और अन्न भरकर '**एष धर्मघटो दत्तो ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः। अस्य प्रदानात्सकला मम सन्तु मनोरथाः॥**' यह उच्चारण करके उसे दान करे।

(२) पुत्र-प्राप्तिव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—यह व्रत वैशाख शुक्ल पंचमीसे प्रारम्भ होकर वर्षभरमें पूर्ण होता है। आरम्भमें पंचमीको उपवास करके षष्ठीको स्कन्द-कुमार-विशाख और गुहका पूजन करे, इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल पंचमी और षष्ठीको वर्षपर्यन्त करता रहे तो पुत्रार्थीको पुत्र, धनार्थीको धन और स्वर्गार्थीको स्वर्ग प्राप्त होता है। यह शिवजीका बतलाया हुआ व्रत है।

(३) निम्बसप्तमी (भविष्योत्तर)—वैशाख शुक्ल सप्तमीको स्नानादि नित्यकर्म करके अक्रोध और जितेन्द्रिय रहकर नीमके पत्ते ग्रहण करे और '**निम्बपल्लव भद्रं ते सुभद्रं तेऽस्तु वै सदा। ममापि कुरु भद्रं वै प्राशनाद् रोगहा भव॥**' इस मन्त्रसे एक-एक पत्ता खाकर पृथ्वीपर शयन करे तथा अष्टमीको सूर्यनारायणका पूजन करके ब्राह्मणोंको भोजन करावे। उसके बाद स्वयं भोजन करे।

(४) कमलसप्तमी (पद्मपुराण)—इस व्रतके लिये सुवर्णका कमल और सूर्यकी मूर्ति बनवाकर वैशाख शुक्ल सप्तमीको वेदीपर कमल और कमलपर सूर्यकी मूर्ति स्थापित करे एवं

उनका यथाविधि पूजन करके '**नमस्ते पद्महस्ताय नमस्ते विश्वधारिणे। दिवाकर नमस्तुभ्यं प्रभाकर नमोऽस्तु ते॥**' इस श्लोकसे प्रार्थना करके सूर्यास्तके समय एक जलका घड़ा, एक गौ और उक्त कमलादि ब्राह्मणोंको दान करे तथा दूसरे दिन उनको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको एक वर्ष करे तो सब प्रकारका सुख प्राप्त होता है।

(५) **शर्करासप्तमी** (पद्मपुराण)—यह भी वैशाख शुक्ल सप्तमीको ही होता है। इसके लिये उक्त सप्तमीको सफेद तिलोंके जलसे स्नान करके सफेद वस्त्र धारण करे। एक वेदीपर कुंकुमसे अष्टदल लिखकर '**ॐ नमः सवित्रे**' इस मन्त्रसे उसका पूजन करे। फिर उसपर खाँड़से भरा हुआ और सफेद वस्त्रसे ढँका हुआ सुवर्णयुक्त कोरा कलश स्थापित करके '**विश्वदेवमयो यस्माद्वेदवादीति पठ्यसे। त्वमेवामृतसर्वस्वमतः पाहि सनातन॥**' (पद्मपुराण)—इस मन्त्रसे यथाविधि पूजन करे और दूसरे दिन ब्राह्मणोंको घृत और शर्करामिश्रित खीरका भोजन कराकर वह घड़ा दान करे। इससे आयु, आरोग्य और ऐश्वर्यकी वृद्धि होती है।

(६) **वैशाखी अष्टमी** (निर्णयामृत)—इसके निमित्त वैशाख शुक्ल अष्टमीको आमके रससे स्नान करके अपराजिता देवीको उशीर और जटामासीके जलसे स्नान करावे। फिर पंचगन्ध* (जायफल, पूगफल, कपूर, कंकोल और लौंग)-का लेपन करे और गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके घी, शक्कर तथा खीरका भोग लगावे। स्वयं उपवास करे और दूसरे दिन नवमीको ब्राह्मण-भोजन कराकर भोजन करे तो समस्त तीर्थोंमें स्नान करनेके समान फल होता है।

(७) **श्रीजानकी-नवमी**—वैष्णवोंके मतानुसार वैशाख शुक्ल

---

* कंकोलपूगकर्पूरं जातीफललवंगके।
सुगन्धपंचकं प्रोक्तमायुर्वेदप्रकाशके॥ (देवीपुराणे)

नवमीको भगवती जानकीका प्रादुर्भाव हुआ था। अतएव इस दिन व्रत रहकर उनका जन्मोत्सव तथा पूजन करना चाहिये। **पुष्यान्वितायां तु कुजे नवम्यां श्रीमाधवे मासि सिते हलाग्रतः। भुवोऽर्चयित्वा जनकेन कर्षणे सीताविरासीद् व्रतमत्र कुर्यात्॥** (वै० मता० भा० ७९)

(८) वैशाखशुक्लैकादशी (कूर्मपुराण)—इस व्रतके नियम-विधान और निर्णय कृष्ण एकादशीकी भाँति हैं। इसका नाम मोहिनी है। इससे मोहजाल और पापसमूह दूर होते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने इस व्रतको सीताजीकी खोज करते समय किया था। उनके पीछे कौण्डिन्यके कहनेसे धृष्टबुद्धिने और श्रीकृष्णके कहनेसे युधिष्ठिरादिने किया। इस समय भी सनातनधर्मावलम्बी इस व्रतको बड़ी श्रद्धासे करते हैं। इसकी एक कथा है, उससे ज्ञात होता है कि मनुष्यका किस प्रकार कुसंगसे पतन और सुसंगसे सुधार हो जाता है। प्राचीन कालमें सरस्वतीके तटवर्ती भद्रावती नगरीमें द्युतिमान् राजाके १ सुमन, २ सुद्युम्न, ३ मेधावी, ४ कृष्णाती और ५ धृष्टबुद्धि—ये पाँच पुत्र हुए थे। इनमें धृष्टबुद्धिका वेश्या आदिके कुसंगसे पतन हो गया और वह धन-धान्य-सम्मान तथा गृह आदिसे हीन होकर हिंसावृत्तिमें लग गया। इस दुर्गतिसे उसने अनेक अनर्थ किये। अन्तमें कौण्डिन्यने बतलाया कि तुम मोहिनी एकादशीका व्रत करो, उससे तुम्हारा उद्धार होगा। यह सुनकर उसने वैसा ही किया और इस व्रतके प्रभावसे पूर्ववत् सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर अन्तमें स्वर्गमें गया।

(९) मधुसूदनपूजा (महाभारत-दानधर्म)—वैशाख शुक्ल द्वादशीको भगवान् मधुसूदनका पूजन करके व्रत करे तो उससे 'अग्निष्टोम' के समान फल होता है।* यदि इस दिन बृहस्पति और मंगल सिंहराशिके और सूर्य मेषका हो तथा हस्त नक्षत्र और व्यतीपात

---

* वैशाखमासि द्वादश्यां पूजयेन्मधुसूदनम्।
अग्निष्टोममवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति॥ (महाभारते दानधर्मे)

हो तो इस सुयोगमें अन्न, वस्त्र, सुवर्ण, गौ और पृथ्वीका दान देनेसे सब प्रकारके पाप दूर होकर देवत्व, इन्द्रत्व, नृपतित्व और आरोग्य प्राप्त होता है।[१]

(१०) कामदेवव्रत (मदनरत्न-विष्णुधर्मोत्तर)—कामदेवकी सुवर्णमयी मूर्ति बनवाकर वैशाख शुक्ल त्रयोदशीको उसका पूजन करके उपवास करे और दूसरे दिन ब्राह्मणभोजन कराकर पूजा-सामग्रीसहित मूर्तिका दान करके भोजन करे। इस प्रकार वर्षभर प्रत्येक शुक्लपक्षकी त्रयोदशीको करनेसे सब प्रकारके रोगादिकी निवृत्ति और आरोग्यादिकी प्रवृत्ति होती है।

(११) पुत्रादिप्रद प्रदोषव्रत (मदनरत्न-निर्णयामृत)—यद्यपि प्रदोषव्रत प्रत्येक त्रयोदशीको होता है और इसके नियम आदि ऊपर दिये जा चुके हैं, तथापि कामनाभेदसे इसमें यह विशेषता[२] है कि (१) यदि पुत्रप्राप्तिकी कामना हो तो शुक्लपक्षकी जिस त्रयोदशीको शनिवार हो, उससे आरम्भ करके वर्षपर्यन्त या फल प्राप्त होनेतक व्रत करे। (२) ऋण-मोचनकी कामना हो तो जिस त्रयोदशीको भौमवार हो उससे आरम्भ करे। (३) सौभाग्य और स्त्रीकी समृद्धिकी कामना हो तो जिस त्रयोदशीको शुक्रवार हो,

---

१. पंचाननस्थौ गुरुभूमिपुत्रौ मेषे रविः स्याद् यदि शुक्लपक्षे।
पाशाभिधाना करभेण युक्ता तिथिर्व्यतीपात इतीह योगः॥
अस्मिंस्तु गोभूमिहिरण्यवस्त्रदानेन सर्वं परिहाय पापम्।
सुरत्वमिन्द्रत्वमनामयत्वं मर्त्याधिपत्यं लभते मनुष्यः॥ (हेमाद्रौ)

२. यदा त्रयोदशी शुक्ला मन्दवारेण संयुता।
आरब्धव्यं व्रतं तत्र संतानफलसिद्धये॥
ऋणप्रमोचनार्थं तु भौमवारेण संयुता।
सौभाग्यस्त्रीसमृद्ध्यर्थं शुक्रवारेण संयुता॥
आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थं भानुवारेण संयुता।
(मदनरत्न-निर्णयामृतान्तर्गतस्कन्दपुराणवचनानि)

उससे आरम्भ करे। (४) अभीष्ट-सिद्धिकी कामना हो तो जिस त्रयोदशीको सोमवार हो, उससे आरम्भ करे और यदि (५) आयु, आरोग्यादिकी कामना हो तो जिस त्रयोदशीको रविवार हो, उससे आरम्भ करके प्रत्येक शुक्ल-कृष्ण त्रयोदशीको एक वर्षतक करे। व्रतके दिन प्रातःस्नानादि करके '**मम पुत्रादिप्राप्ति-कामनया प्रदोषव्रतमहं करिष्ये।**' यह संकल्प करके सूर्यास्तके समय पुनः स्नान करे और शिवजीके समीप बैठकर वेदपाठी ब्राह्मणके आज्ञानुसार '**भवाय भवनाशाय०**[१]' इस मन्त्रसे प्रार्थना करके षोडशोपचारसे पूजन करे। नैवेद्यमें सेके हुए जौका सत्तू, घी और शक्करका भोग लगावे। इसके बाद वहीं आठों दिशाओंमें आठ दीपक रखकर प्रत्येकके स्थापनमें आठ बार नमस्कार करे। इसके बाद '**धर्मस्त्वं वृषरूपेण०**[२]' से वृष (नन्दीश्वर)-को जल और दूर्वा खिला-पिलाकर उसका पूजन करे और उसको स्पर्श करके '**ऋणरोगादि०**[३]' इस पूरे मन्त्रसे शिव, पार्वती और नन्दिकेश्वरकी प्रार्थना करे। यह व्रत विशेषकर स्त्रियोंके करनेका है

---

१. भवाय भवनाशाय महादेवाय धीमते।
रुद्राय नीलकण्ठाय शर्वाय शशिमौलिने॥
उग्रायोग्राघनाशाय भीमाय भयहारिणे।
ईशानाय नमस्तुभ्यं पशूनां पतये नमः॥

२. धर्मस्त्वं वृषरूपेण जगदानन्दकारक।
अष्टमूर्तेरधिष्ठानमतः पाहि सनातन॥

३. ऋणरोगादिदारिद्र्यपापक्षुदपमृत्यवः।
भयशोकमनस्तापा नश्यन्तु मम सर्वदा॥
पृथिव्यां यानि तीर्थानि सागरान्तानि यानि च।
अण्डमाश्रित्य तिष्ठन्ति प्रदोषे गोवृषस्य तु॥
स्पृष्ट्वा तु वृषणौ तस्य शृंगमध्ये विलोक्य च।
पुच्छं च ककुदं चैव सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(मदनरत्न-निर्णयामृतान्तर्गतस्कन्दपुराणवचनानि)

और वृषके पुच्छ और शृंग आदिके स्पर्श करनेसे अभीष्टसिद्धि होती है।

(१२) नृसिंह-जयन्तीव्रत (वराह और नृसिंहपुराण)—यह व्रत वैशाख शुक्ल चतुर्दशीको किया जाता है। इसमें प्रदोषव्यापिनी चतुर्दशी लेनी चाहिये। यदि दो दिन ऐसी चतुर्दशी हो अथवा दोनों ही दिन न हो तो भी (मदनतिथि) त्रयोदशीका संसर्ग बचानेके विचारसे दूसरे दिन ही उपवास करना चाहिये। यह अवश्य स्मरण रहे कि दैवयोग अथवा सौभाग्यवश किसी दिन पूर्वविद्धामें शनि, स्वाती[1], सिद्धि और वणिजका संयोग हो तो उसी दिन व्रत करना चाहिये। व्रतके दिन प्रातःकालमें सूर्यादिको व्रत करनेकी भावना निवेदन करके ताँबेके पात्रमें जल ले और '**नृसिंह देवदेवेश तव जन्मदिने शुभे। उपवासं करिष्यामि सर्वभोगविवर्जितः॥**' इस मन्त्रसे संकल्प करके मध्याह्नके समय नदी आदिपर जाकर क्रमशः तिल, गोमय, मृत्तिका और आँवले मलकर पृथक्-पृथक् चार बार स्नान करे। इसके बाद शुद्ध स्नान करके वहीं नित्यकृत्य करे। फिर घर आकर क्रोध, लोभ, मोह, मिथ्याभाषण, कुसंग और पापाचार आदिका सर्वथा त्याग करके ब्रह्मचर्यसहित उपवास करे। सायंकालमें एक वेदीपर अष्टदल बनाकर उसपर सिंह, नृसिंह और लक्ष्मीकी सोनेकी मूर्ति स्थापित करके वेदमन्त्रोंसे प्राण-प्रतिष्ठापूर्वक उनका षोडशोपचारसे (अथवा पौराणिक[2]

---

१. स्वातीनक्षत्रसंयोगे शनिवारे महद्व्रतम्।
सिद्धियोगस्य संयोगे वणिजे करणे तथा॥
पुंसां सौभाग्ययोगेन लभ्यते दैवयोगतः।
सर्वैरैतैस्तु संयुक्तं हत्याकोटिविनाशनम्॥ (नृसिंहपुराणे)

२. चन्दनं शीतलं दिव्यं चन्द्रकुंकुममिश्रितम्।
ददामि तव तुष्ट्यर्थं नृसिंह परमेश्वर॥ (इति गन्धम्)
कालोद्भवानि पुष्पाणि तुलस्यादीनि वै प्रभो।
पूजयामि नृसिंह त्वां लक्ष्म्या सह नमोऽस्तु ते॥ (इति पुष्पम्)

मन्त्रोंसे पंचोपचारसे) पूजन करे। रात्रिमें गायन-वादन, पुराणश्रवण या हरिसंकीर्तनसे जागरण करे। दूसरे दिन फिर पूजन करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वजनोंसहित स्वयं भोजन करे। इस प्रकार प्रतिवर्ष करते रहनेसे नृसिंहभगवान् उसकी सब जगह रक्षा करते हैं और यथेच्छ धन-धान्य देते हैं। नृसिंहपुराणमें इस व्रतकी कथा है। उसका सारांश यह है—जब हिरण्यकशिपुका संहार करके नृसिंहभगवान् कुछ शान्त हुए, तब प्रह्लादजीने पूछा कि 'भगवन्! अन्य भक्तोंकी अपेक्षा मेरे प्रति आपका अधिक स्नेह होनेका क्या कारण है?' तब भगवान्ने कहा कि 'पूर्वजन्ममें तू विद्याहीन, आचारहीन वासुदेव नामका ब्राह्मण था। एक बार मेरे व्रतके दिन (वैशाख शुक्ल चतुर्दशीको) विशेष कारणवश तूने न जल पिया, न भोजन किया, न सोया और ब्रह्मचर्यसे रहा। इस प्रकार स्वत:सिद्ध उपवास और जागरण हो जानेके प्रभावसे तू भक्तराज प्रह्लाद हुआ।'

(१३) कदलीव्रत (हेमाद्रि)—यह व्रत विशेषरूपसे गुजरातमें किया जाता है। यह वैशाख, माघ और कार्तिक—किसी भी महीनेमें हो सकता है। इसमें पूर्वाह्णव्यापिनी चतुर्दशी ली जाती है। उस दिन शुद्ध मृत्तिकाकी वेदीपर स्वस्तिक बनाकर उसपर

कालागरुमयं धूपं सर्वदेवसुवल्लभम्।
करोमि ते महाविष्णो सर्वकामसमृद्धये॥ (इति धूपम्)
दीप: पापहर: प्रोक्तस्तमोराशिविनाशन:।
दीपेन लभ्यते तेजस्तस्माद् दीपं ददामि ते॥ (इति दीपम्)
नैवेद्यं सौख्यदं चारुभक्ष्यभोज्यसमन्वितम्।
ददामि ते रमाकान्त सर्वपापक्षयं कुरु॥ (इति नैवेद्यम्)
उक्तप्रकारेण पंचोपचारविधिना देवं सम्पूज्य—
नृसिंहाच्युत देवेश लक्ष्मीकान्त जगत्पते।
अनेनार्घ्यप्रदानेन सफला: स्युर्मनोरथा:॥ (इति विशेषार्घ्यं दद्यात्)

मूल और पत्तोंसहित सुन्दर केलेका पेड़ स्थापित करे तथा उसे पवित्र जलसे सींचकर गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसे पूजन करे। इस प्रकार जबतक उसके फल न आवें, तबतक प्रतिदिन करता रहे। यदि किसी देशमें केला न मिले तो सोनेका बनवाकर उसका वर्षभर पूजन करे। उसके बाद उद्यापन करके व्रत समाप्त करे और पूजामें चढ़ायी हुई सामग्री आचार्यको दे।

(१४) **वैशाखी व्रत** (भविष्य०, आदित्य०, जाबालि०)—वैशाखी पूर्णिमा बड़ी पवित्र तिथि है। इस दिन दान-धर्मादिके अनेक कार्य किये जाते हैं। अतः यह उदयसे उदयपर्यन्त हो तो विशेष श्रेष्ठ होती है। अन्यथा कार्यानुसार लेनी चाहिये। इस दिन (१) धर्मराजके निमित्त जलपूर्ण कलश और पकवान देनेसे गोदानके समान फल होता है। (२) यदि पाँच या सात ब्राह्मणोंको शर्करासहित तिल दे तो सब पापोंका क्षय हो जाता है। (३) इस दिन शुद्ध भूमिपर तिल फैलाकर उसपर पूँछ और सींगोंसहित काले मृगका चर्म बिछावे और उसे सब प्रकारके वस्त्रोंसहित दान करे तो अनन्त फल होता है। (४) यदि तिलोंके जलसे स्नान करके घी, चीनी और तिलोंसे भरा हुआ पात्र विष्णुभगवान्‌को निवेदन करे और उन्हींसे अग्निमें आहुति दे अथवा तिल और शहदका दान करे, तिलके तेलके दीपक जलावे, जल और तिलोंका तर्पण करे अथवा गंगादिमें स्नान करे तो सब पापोंसे निवृत्त होता है। (५) यदि इस दिन एक समय भोजन करके पूर्णिमा, चन्द्रमा अथवा सत्यनारायणका व्रत करे तो सब प्रकारके सुख, सम्पदा और श्रेयकी प्राप्ति होती है।

ज्येष्ठके व्रत

कृष्णपक्ष

(१) **संकष्टचतुर्थीव्रत** (भविष्योत्तर)— ज्येष्ठकृष्णा चतुर्थीको, जो चन्द्रोदयतक रहनेवाली हो, प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करके व्रतके संकल्पसे दिनभर मौन रहे। सायंकालमें पुनः स्नान करके गणेशजीका और चन्द्रोदय होनेपर चन्द्रमाका पूजन करे तथा शंखमें दूध, दूर्वा, सुपारी और गन्धाक्षत लेकर '**ज्योत्स्नापते नमस्तुभ्यं नमस्ते ज्योतिषां पते। नमस्ते रोहिणीकान्त गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' इस मन्त्रसे चन्द्रमाको, '**गौरीसुत नमस्तेऽस्तु सततं मोदकप्रिय। सर्वसंकटनाशाय गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' इस मन्त्रसे गणेशजीको और '**तिथीनामुत्तमे देवि गणेशप्रियवल्लभे। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं सर्वसिद्धिप्रदायिके॥**' इस मन्त्रसे चतुर्थीको अर्घ्य दे तथा वायन दान करके भोजन करे।

(२) **कृष्णैकादशीव्रत** (ब्रह्माण्डपुराण)—एकादशीका व्रत करनेवाला दशमीको जौ, गेहूँ और मूँगके पदार्थका एक बार भोजन करे। एकादशीको प्रातःस्नानादि करके उपवास रखे और द्वादशीको पारण करके भोजन करे। इस एकादशीका नाम 'अपरा' है। इसके व्रतसे अपार पाप दूर होते हैं। जो लोग सद्वैद्य होकर गरीबोंका इलाज नहीं करते, षट्शास्त्री होकर बिना माँ-बापके बच्चोंको नहीं पढ़ाते, सद्व्रत राजा होकर भी गरीब प्रजाको कभी नहीं सँभालते, सबल होकर भी अपाहिजको आपत्तिसे नहीं बचाते और धनवान् होकर भी आपद्ग्रस्त परिवारोंको सहायता नहीं देते, वे नरकमें जानेयोग्य पापी होते हैं। किंतु अपराका व्रत ऐसे व्यक्तियोंको भी निष्पाप करके वैकुण्ठमें भेज देता है।*

---

* अपरासेवनाद् राजन् विपाप्मा भवति ध्रुवम्।
कूटसाक्ष्यं मानकूटं तुलाकूटं करोति च॥

(३) प्रदोषव्रत—यह कृष्ण, शुक्ल दोनों पक्षकी प्रदोषव्यापिनी त्रयोदशीको किया जाता है। उस दिन सायंकालके समय शिवजीका पूजन करके दो घड़ी रात जानेके पहले एक बार भोजन करना चाहिये। विशेष बातें ऊपर लिखी जा चुकी हैं।

(४) अमाव्रत—इस दिन परलोकस्थ पितृगणोंको प्राप्त करानेके लिये कई प्रकारके दान-पुण्य किये जाते हैं तथा तीर्थस्नान, जप-तप और व्रतादिका भी नियम है। इन सबके पुण्यांश सूर्य-किरणोंसे आकर्षित होकर परलोकमें यथायोग्य प्राप्त होते हैं।

(५) वटसावित्रीव्रत—यह व्रत स्कन्द और भविष्योत्तरके अनुसार ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमाको और निर्णयामृतादिके अनुसार अमावस्याको किया जाता है। इस देशमें प्रायः अमावस्याको ही होता है। संसारकी सभी स्त्रियोंमें ऐसी कोई शायद ही हुई होगी, जो सावित्रीके समान अपने अखण्ड पातिव्रत्य और दृढ़ प्रतिज्ञाके प्रभावसे यमद्वारपर गये हुए पतिको सदेह लौटा लायी हो। अतः विधवा, सधवा, बालिका, वृद्धा, सपुत्रा, अपुत्रा सभी स्त्रियोंको सावित्रीका व्रत अवश्य करना चाहिये[१]। विधि[२] यह है कि ज्येष्ठकृष्णा त्रयोदशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् '**मम वैधव्यादि-सकलदोषपरिहारार्थं ब्रह्मसावित्रीप्रीत्यर्थं सत्यवत्सावित्रीप्रीत्यर्थं च वटसावित्रीव्रतमहं करिष्ये।**' यह संकल्प करके तीन दिन उपवास करे। यदि सामर्थ्य न हो तो त्रयोदशीको रात्रिभोजन,

---

कूटवेदं पठेद् विप्रः कूटशास्त्रं तथैव च।
ज्यौतिषी कूटगणकः कूटपूर्वाधिको भिषक्॥
कूटसाक्षिसमा ह्येते विज्ञेया नरकौकसः।
अपरासेवनाद् राजन् पापमुक्ता भवन्ति ते॥ (ब्रह्माण्डपुराणे)

१. नारी वा विधवा वापि पुत्रीपुत्रविवर्जिता।
सभर्तृका सपुत्रा वा कुर्याद् व्रतमिदं शुभम्॥(स्कान्दे धर्मवचनम्)

२. यह विधि जयसिंहकल्पद्रुममें लिखित व्रतपद्धतिके अनुसार है।

चतुर्दशीको अयाचित और अमावस्याको उपवास करके शुक्ल प्रतिपदाको समाप्त करे। अमावस्याको वटके समीप बैठकर बाँसके एक पात्रमें सप्तधान्य भरकर उसे दो वस्त्रोंसे ढक दे और दूसरे पात्रमें सुवर्णकी ब्रह्मसावित्री तथा सत्यसावित्रीकी मूर्ति स्थापित करके गन्धाक्षतादिसे पूजन करे। तत्पश्चात् वटके सूत लपेटकर उसका यथाविधि पूजन करके परिक्रमा करे। फिर '**अवैधव्यं च सौभाग्यं देहि त्वं मम सुव्रते। पुत्रान् पौत्रांश्च सौख्यं च गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' इस श्लोकसे सावित्रीको अर्घ्य दे और '**वट सिंचामि ते मूलं सलिलैरमृतोपमैः। यथा शाखाप्रशाखाभिर्वृद्धोऽसि त्वं महीतले। तथा पुत्रैश्च पौत्रैश्च सम्पन्नं कुरु मां सदा॥**' इस श्लोकसे वटवृक्षकी प्रार्थना करे। देशभेद और मतान्तरके अनुरोधसे इसकी व्रतविधिमें कोई-कोई उपचार भिन्न प्रकारसे भी होते हैं। यहाँ उन सबका समावेश नहीं किया है। सावित्रीकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है—यह मद्रदेशके राजा अश्वपतिकी पुत्री थी। द्युमत्सेनके पुत्र सत्यवान्‌से इसका विवाह हुआ था। विवाहके पहले नारदजीने कहा था कि सत्यवान् सिर्फ सालभर जीयेगा। किंतु दृढव्रता सावित्रीने अपने मनसे अंगीकार किये हुए पतिका परिवर्तन नहीं किया और एक वर्षतक पातिव्रत्यधर्ममें पूर्णतया तत्पर रहकर अंधे सास-ससुरकी और अल्पायु पतिकी प्रेमके साथ सेवा की। अन्तमें वर्षसमाप्तिके दिन (ज्ये० शु० १५ को) सत्यवान् और सावित्री समिधा लानेको वनमें गये। वहाँ एक विषधर सर्पने सत्यवान्‌को डस लिया। वह बेहोश होकर गिर गया। उसी अवस्थामें यमराज आये और सत्यवान्‌के सूक्ष्मशरीरको ले जाने लगे। किंतु फिर उन्होंने सती सावित्रीकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर सत्यवान्‌को सजीव कर दिया और सावित्रीको सौ पुत्र होने तथा राज्यच्युत अंधे सास-ससुरको राज्यसहित दृष्टि प्राप्त होनेका वर दिया।

शुक्लपक्ष

(१) **करवीरव्रत** (भविष्योत्तर)—ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदाको देवताके बगीचेमें जाकर कनेरके वृक्षका पूजन करे। उसको मूल और शाखा-प्रशाखाओंके सहित स्नान कराकर लाल वस्त्र ओढ़ावे। गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादिसे पूजन करे। उसके समीप सप्तधान्य रखकर उसपर केले, नारंगी, बिजौरा और गुणक आदि स्थापित करे और '**करवीर विषावास नमस्ते भानुवल्लभ। मौलिमण्डन दुर्गादिदेवानां सततं प्रिय॥**' इस मन्त्रसे अथवा '**आकृष्णेन रजसा वर्तमानो०**' इत्यादि मन्त्रसे प्रार्थना करके पूजा-सामग्री ब्राह्मणको दे दे। फिर घर जाकर व्रत करे। यह व्रत सूर्यकी आराधनाका है। आपद्ग्रस्त अवस्थामें स्त्रियोंको तत्काल फल देता है। प्राचीन कालमें सावित्री, सरस्वती, सत्यभामा और दमयन्ती आदिने इसी व्रतसे अभीष्ट फल प्राप्त किया था।

(२) **रम्भाव्रत** (भविष्योत्तर)—इस व्रतमें पूर्वविद्धा तिथि ली जाती है। इसके लिये ज्येष्ठ शुक्ल तृतीयाको प्रातःकाल स्नानादि नित्यकर्म करके शुद्ध स्थानमें पूर्वाभिमुख बैठे। अपने पार्श्वभागमें १ गार्हपत्य, २ दक्षिणाग्नि, ३ सभ्य, ४ आहवनीय और ५ भास्कर नामकी पाँच अग्नियोंको प्रज्वलित करे। उनके मध्यमें पूर्वाभिमुख बैठकर पद्मासनसे विराजमान चार भुजाओंवाली, सम्पूर्ण आभूषणादिसे भूषिता तथा जटा-जूट और मृगचर्मधारिणी देवीको अपने सम्मुख स्थापित करे। फिर '**ॐ महाकाल्यै नमः। महालक्ष्म्यै नमः। महासरस्वत्यै नमः।**' आदि नामोंसे महानिशा, महामाया, महादेवी, महिषनाशिनी, गंगा, यमुना, सिन्धु, शतद्रु, नर्मदा और वैतरणीपर्यन्त सबका पूजन करे तथा इन्हीं नामोंसे '**नमः**' के स्थानमें '**स्वाहा**' का उच्चारण करके १०८ आहुतियाँ दें। फिर नाना प्रकारके फल, पुष्प और नैवेद्य अर्पण करके '**त्वं शक्तिस्त्वं स्वधा स्वाहा त्वं सावित्री सरस्वती। पतिं देहि गृहं देहि सुतान् देहि नमोऽस्तु ते॥**' इस मन्त्रसे प्रार्थना

करे तो उस स्त्रीका घर सुख, समृद्धि और पुत्रादिसे पूर्ण हो जाता है। यह व्रत माताके कहनेसे पार्वतीने किया था।

(३) **पार्वती-पूजा** (निर्णयामृत)—ज्येष्ठ शुक्ला तृतीयाको पार्वतीका जन्म हुआ था। अतः स्त्रियोंको चाहिये कि वे अपने सुख और सौभाग्यादिकी वृद्धिके लिये इस दिन उनका प्रीतिपूर्वक पूजन करें तथा विविध प्रकारके फल, पुष्प और नैवेद्यादि अर्पण करके गायन-वादन और नृत्यके साथ उनका जन्मोत्सव मनावें।

(४) **शिव-पूजा** (भविष्योत्तर)—ज्येष्ठ मासके कृष्ण या शुक्ल किसी पक्षकी अष्टमीको शिवजीका और केवल शुक्लाष्टमीको शुक्लादेवीका यथाविधि पूजन करे। शुक्लादेवीने जब दानवोंका संहार किया था, तब देवताओंने उनका पूजन किया था। अतः आपत्तियोंकी निवृत्तिके लिये मनुष्योंको भी यह व्रत करना चाहिये।

(५) **उमा ब्राह्मणी** (भविष्योत्तर)—ज्येष्ठ शुक्ल नवमीको उपवास करके ब्राह्मणी नामकी श्वेतवर्णा पार्वतीका भक्तिसहित पूजन करे और ब्राह्मण तथा ब्राह्मणकी कन्याको दूध मिले हुए भातका भोजन कराकर रात्रिमें स्वयं भोजन करे।

(६) **दशहराव्रत**[1] (ब्रह्मपुराण)—ज्येष्ठ शुक्ला दशमीको हस्त नक्षत्रमें स्वर्गसे गंगाका आगमन हुआ था। अतएव इस दिन गंगा आदिका स्नान, अन्न-वस्त्रादिका दान, जप-तप-उपासना और उपवास किया जाय तो दस[2] प्रकारके पाप (तीन प्रकारके

---

१. ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे दशमी हस्तसंयुता।
हरते दश पापानि तस्माद् दशहरा स्मृता॥ (ब्रह्मपुराणे)

२. अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥ (मनुः)

कायिक, चार प्रकारके वाचिक और तीन प्रकारके मानसिक) दूर होते हैं। यदि इस दिन १ ज्येष्ठ, २ शुक्ल, ३ दशमी, ४ बुध, ५ हस्त, ६ व्यतीपात, ७ गर, ८ आनन्द, ९ वृषस्थ रवि और १० कन्याका चन्द्र हो तो यह अपूर्वयोग[1] महाफलदायक होता है। इसमें योग-विशेषका बाहुल्य होनेसे पूर्वा या पराका विचार समयपर करके जिस दिन उपर्युक्त योग अधिक हों उस दिन स्नान, दान, जप, तप, व्रत और उपवास आदि करने चाहिये। यदि ज्येष्ठ अधिक मास हो तो ये काम शुद्धकी अपेक्षा मलमासमें करनेसे ही अधिक फल होता है। दशहराके दिन दशाश्वमेधमें दस प्रकार स्नान करके शिवलिंगका दस संख्याके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य और फल आदिसे पूजन करके रात्रिको जागरण करे तो अनन्त फल होता है।

(७) गंगा-पूजन—ज्येष्ठ शुक्ला दशमी (यदि ज्येष्ठ अधिक मास हो तो अधिक ज्येष्ठकी शुक्ल दशमी)-को गंगातटवर्ती प्रदेशमें अथवा सामर्थ्य न हो तो समीपके किसी भी जलाशय या घरके शुद्ध जलसे स्नान करके सुवर्णादिके पात्रमें त्रिनेत्र, चतुर्भुज[2], सर्वावयवभूषित, रत्नकुम्भधारिणी, श्वेत वस्त्रादिसे सुशोभित तथा वर और अभयमुद्रासे युक्त श्रीगंगाजीकी प्रशान्त मूर्ति अंकित करे। अथवा किसी साक्षात् मूर्तिके समीप बैठ जाय। फिर '**ॐ नमः शिवायै नारायण्यै दशहरायै गंगायै नमः**।' से आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करे तथा इन्हीं नामोंसे '**नमः**' के स्थानमें स्वाहायुक्त करके हवन करे। तत्पश्चात् '**ॐ नमो भगवति ऐं ह्रीं श्रीं (वाक्-काममायामयि) हिलि हिलि**

---

१. ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे दशम्यां बुधहस्तयोः।
व्यतीपाते गरानन्दे कन्याचन्द्रे वृषे रवौ।
दशयोगे नरः स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ (स्कान्दे)

२. चतुर्भुजां त्रिनेत्रां च सर्वावयवशोभिताम्।
रत्नकुम्भसिताम्भोजवरदाभयसत्कराम्॥
(जयसिंहकल्पद्रुमे गंगापूजनविधौ)

मिलि मिलि गंगे मां पावय पावय स्वाहा।' इस मन्त्रसे पाँच पुष्पांजलि अर्पण करके गंगाको भूतलपर लानेवाले भगीरथका और जहाँसे वे आयी हैं, उस हिमालयका नाम-मन्त्रसे पूजन करे। फिर दस फल, दस दीपक और दस सेर तिल—इनका '**गंगायै नमः।**' कहकर दान करे। साथ ही घी मिले हुए सत्तूके और गुड़के पिण्ड जलमें डाले। सामर्थ्य हो तो सोनेके कच्छप, मत्स्य और मण्डूकादि भी पूजन करके जलमें डाल दे। इसके अतिरिक्त १० किलो तिल, १० किलो जौ और १० किलो गेहूँ १० ब्राह्मणोंको दे। परदार और परद्रव्यादिसे दूर रहे तथा ज्येष्ठ शुक्ला प्रतिपदासे प्रारम्भ करके दशमीतक एकोत्तर-वृद्धिसे दशहरास्तोत्रका पाठ करे, तो सब प्रकारके पाप समूल नष्ट हो जाते हैं और दुर्लभ सम्पत्ति प्राप्त होती है।

(८) **निर्जलैकादशीव्रत** (महाभारत)—यह व्रत ज्येष्ठ शुक्ला एकादशीको किया जाता है। इसका नाम निर्जला है; अतः नामके अनुसार इसका व्रत किया जाय तो स्वर्गादिके सिवा आयु और आरोग्यवृद्धिके तत्त्व विशेषरूपसे विकसित होते हैं। व्यासजीके कथनानुसार यह अवश्य सत्य है कि 'अधिमाससहित एक वर्षकी पचीस एकादशी न की जा सकें तो केवल निर्जला* करनेसे ही पूरा फल प्राप्त हो जाता है।' निर्जला व्रत करनेवाला पुरुष अपवित्र अवस्थाके आचमनके सिवा बिन्दुमात्र जल भी ग्रहण न करे। यदि किसी प्रकार उपयोगमें ले लिया जाय तो उससे व्रत भंग हो जाता है। दृढ़तापूर्वक नियमपालनके साथ निर्जल उपवास करके द्वादशीको

---

* वृषस्थे मिथुनस्थेऽर्के शुक्ला ह्येकादशी भवेत्।
ज्येष्ठे मासि प्रयत्नेन सोपोष्या जलवर्जिता॥
स्नाने चाचमने चैव वर्जयेन्नोदकं बुधः।
संवत्सरस्य या मध्ये एकादश्यो भवन्त्युत॥
तासां फलमवाप्नोति अत्र मे नास्ति संशयः।
(हेमाद्रौ—महाभारते व्यासवचनम्)

स्नान करे और सामर्थ्यके अनुसार सुवर्ण और जलयुक्त कलश देकर भोजन करे तो सम्पूर्ण तीर्थोंमें जाकर स्नान-दानादि करनेके समान फल होता है।

एक बार बहुभोजी भीमसेनने व्यासजीके मुखसे प्रत्येक एकादशीको निराहार रहनेका नियम सुनकर विनम्र भावसे निवेदन किया कि 'महाराज! मुझसे कोई व्रत नहीं किया जाता। दिनभर बड़ी तीव्र क्षुधा बनी ही रहती है। अतः आप कोई ऐसा उपाय बतला दीजिये जिसके प्रभावसे स्वतः सद्‌गति हो जाय।' तब व्यासजीने कहा कि 'तुमसे वर्षभरकी सम्पूर्ण एकादशी नहीं हो सकती तो केवल एक निर्जला कर लो, इसीसे सालभरकी एकादशी करनेके समान फल हो जायगा।' तब भीमने वैसा ही किया और स्वर्गको गये।

(९) जलधेनुदान (मदनरत्न—स्कन्दपुराण)—ज्येष्ठ शुक्ला एकादशीको यथासामर्थ्य सोना, चाँदी या ताँबेके गौकी आकृतिके कलशमें अन्न, जल, सोना, चाँदी और ताँबा रखकर उसे दो सफेद वस्त्रोंसे ढके। उसके ऊपर दूर्वांकुर लगाये। कूट, उशीर, जटामासी, आँवले और प्रियंगु आदि ओषधियोंसहित छाता, जूता और कुशासन रखे। उसके समीप चारों दिशाओंमें तिलके पात्र और सामने घी, दही और चीनीका पात्र रखकर जलाधिपति वासुदेव भगवान्‌का पूजन करे। फिर उसमेंसे देनेयोग्य द्रव्यादिका दान करके उपवास करे।

(१०) दुर्गन्धि-दुर्भाग्यनाशक व्रत (भविष्योत्तर)—ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशीको किसी पवित्र नदीके किनारे जाकर सूर्यनारायणका दर्शन करके स्नान करे और उस देशके सफेद आक, लाल कनेर और सपुष्प नीमका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। ये तीनों वृक्ष*

---

* इत्थं योऽर्चयते भक्त्या वर्षे वर्षे पृथङ् नरः।
द्रुमत्रयं नृपश्रेष्ठ नारी वा भक्तिसंयुता।
तस्याः शरीरे दुर्गन्धं दौर्भाग्यं च न जायते॥ (श्रीकृष्णः)

सूर्यनारायणको बहुत प्रिय हैं, अतः इनका पूजन करके व्रत करनेसे सब प्रकारका दुर्भाग्य और दुर्गन्ध सदाके लिये दूर हो जाता है।

(११) **शुक्लप्रदोष**—यह कृष्ण-शुक्ल दोनों पक्षोंमें प्रतिमास किया जाता है। इसके नियम, विधान और पूजापद्धति आदि ऊपर लिखे जा चुके हैं। आगे जो कुछ विशेष होगा यथास्थान लिख दिया जायगा।

(१२) **पंचतपव्रत** (मत्स्यपुराण)—ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्दशीको पूर्वोक्त पाँच अग्नि प्रज्वलित करके दिनभर 'पंचधूनी' तपे और सायंकालमें शिवजीकी प्रसन्नताके लिये सुवर्ण-धेनुका दान देकर भोजन करे तो शिवजीकी प्रसन्नता होती है।

(१३) **बिल्वत्रिरात्रिव्रत** (हेमाद्रि—स्कन्दपुराण)—ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमाको जब ज्येष्ठा नक्षत्र और मंगलवार हो, तब उस दिन सरसों मिले हुए जलसे स्नान करके 'श्रीवृक्ष' (बिल्ववृक्ष)-का गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और एक समय हविष्यान्न भोजन करे। यदि भोजनको कुत्ता, सूअर या गधा आदि देख लें तो उसे त्याग कर दे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ला पूर्णिमाको वर्षपर्यन्त करके व्रतसमाप्तिके दिन बिल्ववृक्षके समीप जाकर एक पात्रमें एक किलो बालू या जौ, गेहूँ, चावल और तिल भरे तथा दूसरे पात्रको दो वस्त्रोंसे ढककर उसमें सुवर्णनिर्मित उमा-महेश्वरकी मूर्ति स्थापित करे तथा दो लाल वस्त्र अर्पण कर विविध प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादिसे पूजन करके '**श्रीनिकेत नमस्तुभ्यं हरप्रिय नमोऽस्तु ते। अवैधव्यं च मे देहि श्रियं जन्मनि जन्मनि॥**' इस मन्त्रसे प्रार्थना करे और बिल्वपत्रकी एक हजार आहुति देकर सोलह या आठ अथवा चार दम्पतियों (स्त्री-पुरुषों)-को वस्त्रालंकारादिसे भूषित करके भोजन करावे तो सब प्रकारके अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं।

आषाढ़के व्रत

कृष्णपक्ष

(१) **संकष्टचतुर्थीव्रत**—इसके सम्बन्धमें पहले वर्णन हो चुका है उसके अनुसार पूर्वविद्धा चन्द्रोदयव्यापिनीमें व्रत करके चन्द्रमाको अर्घ्य दे और हविष्यान्नका भोजन करे।

(२) **एकादशीव्रत** (ब्रह्मवैवर्तपुराण)—आषाढ़ कृष्ण एकादशीको प्रात:स्नानादि करके '**मम सकलपापक्षयपूर्वककुष्ठादिरोग-निवृत्तिकामनया योगिन्येकादशीव्रतमहं करिष्ये।**' संकल्प करके पुण्डरीकाक्षभगवान्‌का यथाविधि पूजन करे, उनके चरणोदकसे सब अंगोंका मार्जन करे और उपवास करके रात्रिमें जागरण करे तो कुष्ठादि सब रोगोंकी निवृत्ति हो जाती है। प्राचीन कालमें कुबेरके कोपसे हेममालीको कोढ़ हो गया था, उसने महामुनि मार्कण्डेयजीके आज्ञानुसार योगिनी एकादशीका उपवास किया, जिससे उसकी सम्पूर्ण व्याधियाँ मिट गयीं और कुबेरने उसे अपनी सेवामें वापस बुला लिया।

(३) **प्रदोषव्रत**—यह नित्य-व्रत है। प्रत्येक त्रयोदशीको किया जाता है। इसके विधानादि गत महीनोंमें लिखे जा चुके हैं। आगे जो कुछ विशेष होगा, यथासमय प्रकट किया जायगा।

शुक्लपक्ष

(१) **रथयात्रा** (स्कन्द)—आषाढ़ शुक्ल द्वितीयाको पुष्यनक्षत्र हो तो सुभद्रासहित भगवान्‌को रथमें विराजित कर यात्रा करावे और वापस पधार आनेपर यथास्थान स्थापित करे। इस दिन पुरीमें श्रीजगदीशभगवान्‌को सपरिवार विशाल रथपर आरूढ़ करके भ्रमण करवाते हैं। उस दिन वहाँ रथयात्राका अद्वितीय उत्सव होता है। देश-देशान्तरके लाखों नर-नारी एकत्र होते हैं।

उसी दिन अन्यत्र (जयपुर आदिमें) भगवान् रामचन्द्रजीको रथारूढ़ करके मन्दिरसे दूसरी जगह ले जाकर वाल्मीकिरामायणके युद्धकाण्डका पाठ सुनाते हैं और वहीं मुक्ताधान्यसे बीजवपन करके चातुर्मासीय कृषिकार्यका शुभारम्भ करते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि उस दिन भगवद्भक्तोंके यहाँ व्रत होता है और महोत्सव मनाया जाता है।

(२) **स्कन्दषष्ठीव्रत** (वाराहपुराण)—यह व्रत पंचमीयुक्त किया जाता है। आषाढ़ शुक्ल पंचमीको उपवास करे। षष्ठीको स्कन्दका पूजन करे और फिर एक बार भोजन करे। यह षष्ठी तिथि कुमार कार्तिकेयजीकी तिथि है, इसलिये इसे कौमारिकी कहते हैं।

(३) **विवस्वान्व्रत** (ब्रह्मपुराण)—आषाढ़ शुक्ल सप्तमीको सूर्य 'विवस्वान्' नामसे विख्यात हुए थे। अतः इस दिन रथचक्रके समान गोल मण्डल बनाकर उसमें विवस्वान्का गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य एवं पेय पदार्थ अर्पण करके व्रत करे।

(४) **महिषघ्नीव्रत** (देवीभागवत)—इस निमित्त आषाढ़ शुक्ल अष्टमीको उपवास करके हरिद्राके जलसे स्नान करे, वैसे ही जलसे महिषघ्नी देवीको स्नान करावे और केसर, चन्दन, धूप, कपूर आदिसे पूजन करे। नैवेद्यमें घी, चीनी और जौके संयोगसे बनाया हुआ पदार्थ अर्पण करे। ब्राह्मण और ब्राह्मणकुमारियोंको भोजन करावे, फिर स्वयं भोजन करे। इसके प्रभावसे सब प्रकारकी इष्ट-सिद्धि होती है।

(५) **ऐन्द्रीपूजन** (भविष्योत्तरपुराण)—आषाढ़के कृष्ण, शुक्ल किसी भी पक्षकी नवमीको ऐन्द्री नामकी दुर्गाका श्रद्धा-सहित पूजन करे और श्वेत ऐरावतपर विराजी हुई श्वेतवर्णकी देवीका ध्यान करके नक्तव्रत करे।

(६) **शुक्लैकादशीव्रत** (भविष्योत्तरपुराण)—आषाढ़ शुक्ल एकादशीका नाम देवशयनी है। इस दिन उपवास करके सोना, चाँदी, ताँबा या पीतलकी मूर्ति बनवाकर उसका यथोपलब्ध उपचारोंसे पूजन करे और पीताम्बरसे विभूषित करके सफेद चादरसे ढके हुए गद्दे-तकियावाले पलंगपर शयन करावे। उस अवसरके चार महीनोंके

लिये अपनी रुचि अथवा अभीष्टके अनुसार नित्य व्यवहारके पदार्थोंका त्याग और ग्रहण करे। जैसे मधुर स्वरके लिये 'गुड़'का, दीर्घायु अथवा पुत्र-पौत्रादिकी प्राप्तिके लिये 'तैल'का, शत्रुनाशादिके लिये 'कड़ुवे तैल' का, सौभाग्यके लिये 'मीठे तैल'का और स्वर्गप्राप्तिके लियें 'पुष्पादि' भोगोंका त्याग करे। देह-शुद्धि या सुन्दरताके लिये परिमित प्रमाणके 'पंचगव्य'का, वंश-वृद्धिके लिये नियमित 'दूध'का, कुरुक्षेत्रादिके समान फल मिलनेके लिये पात्रमें भोजन करनेके बदले 'पत्र'का और सर्वपापक्षयपूर्वक सकल पुण्यफल प्राप्त होनेके लिये 'एकभुक्त, नक्तव्रत, अयाचित भोजन या सर्वथा उपवास' करनेका व्रत ग्रहण करे। यदि इन चार महीनोंमें दूसरेके दिये हुए भक्ष्य-भोज्यादि सभी पदार्थोंके भक्षण करनेका त्याग रखे और उपर्युक्त चार व्रतोंमें जो बन सके उसको ग्रहण करे तो महाफल होता है।

(७) **स्वापमहोत्सव** (मदनरत्न)—आषाढ़ शुक्ल एकादशीको भगवान् क्षीरसागरमें शेष-शय्यापर शयन करते हैं। अतः इसका उत्सव मनानेके लिये सर्वलक्षणसंयुक्त मूर्ति बनवावे। अपनी सामर्थ्यके अनुसार सोना, चाँदी, ताँबा या पीतलकी या कागजकी मूर्ति (चित्र) बनवाकर गायन-वादन आदि समारोहके साथ विधिपूर्वक पूजन करे। रात्रिके समय '**सुप्ते त्वयि जगन्नाथे०**[1]' से प्रार्थना करके सुखसाधनोंसे सजी हुई शय्यापर शयन करावे। भगवान्‌का[2] सोना रात्रिमें, करवट बदलना संधिमें और जागना दिनमें होता है। इसके विपरीत हो तो अच्छा नहीं। यह विशेष है कि[3] शयन अनुराधाके

१. सुप्ते त्वयि जगन्नाथे जगत् सुप्तं भवेदिदम्।
विबुद्धे च विबुध्येत प्रसन्नो मे भवाव्यय॥ (रामार्चनचन्द्रिका)

२. निशि स्वापो दिवोत्थानं संध्यायां परिवर्तनम्। (ब्रह्मपुराण)

३. मैत्राद्यपादे स्वपितीह विष्णुः
श्रुतेश्च मध्ये परिवर्तमेति।
जागर्ति पौष्णस्य तथावसाने
नो पारणं तत्र बुधः प्रकुर्यात्॥ (नारदपुराण)

आद्य तृतीयांशमें, परिवर्तन श्रवणके मध्य तृतीयांशमें और उत्थान रेवतीके अन्तिम तृतीयांशमें होता है। यही कारण है कि आषाढ़, भाद्रपद और कार्तिकमें एकादशीके व्रतवाले पारणाके समय आषाढ़में अनुराधाका आद्य तृतीयांश, भाद्रपदमें श्रवणका मध्य तृतीयांश और कार्तिकमें रेवतीका अन्तिम तृतीयांश व्यतीत होनेके बाद (या उसके आरम्भसे पहले) पारण करते हैं। (स्मरण रहे कि एक नक्षत्र लगभग ६० घड़ीका होता है अतः उसके २०-२० घड़ीके तृतीयांश बनाकर पहला, दूसरा या तीसरा देख लेना चाहिये।) देवशयनके चातुर्मासीय व्रतोंमें पलंगपर सोना[1], भार्याका संग करना, मिथ्या बोलना, मांस, शहद और दूसरेके दिये हुए दही-भात आदिका भोजन करना और मूली, पटोल एवं बैगन आदि शाक[2]-पत्र खाना त्याग देना चाहिये। 'रामार्चनचन्द्रिका' में भगवान्‌की मूर्तिको रथपर चढ़ाकर घण्टा आदि बाजोंकी ऊँची आवाजके सहित जलाशयमें ले जाकर जलमें शयन करानेका विधान बतलाया है।

(८) वामनपूजा (महाभारत)—आषाढ़ शुक्ल द्वादशीको वामनजीका यथाविधि पूजन करके व्रत करे तो यज्ञके समान फल होता है। विधि यह है कि साक्षात् मूर्ति हो तो उसके समीप बैठकर, नहीं तो सुवर्णकी बनवाकर ताँबेके पात्रमें तुलसीदलपर स्थापन करे और वह भी न बने तो शालिग्रामजीकी मूर्तिका पुरुषसूक्तके मन्त्रोंसे षोडशोपचार पूजन करके व्रत करे।

(९) प्रदोषव्रत (हेमाद्रि)—पूर्वोक्त प्रकारसे सूर्यास्तके समय स्नान करके प्रदोष-समयमें शिवजीका पूजन करके सूर्यास्तके बाद एक बार भोजन करे। प्रदोष-समयमें शिवजीके समीप

---

१. मंचखट्वादिशयनं वर्जयेद् भक्तिमान्नरः।
अनृतौ वर्जयेद् भार्यां मांसं मधु परौदनम्॥
पटोलं मूलकं चैव वृन्ताकं च न भक्षयेत्। (स्कन्द)

२. मूलपत्रकरीराग्रफलफाण्टाधिरूढकाः।
त्वक्पत्रपुष्पकं चैव शाकं दशविधं स्मृतम्॥

'यक्ष, गन्धर्व*, पतग (पक्षी), उरग, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, देव, अप्सरा और भूतगण' उपस्थित रहते हैं, अतः उस समयके शिवपूजनसे सारे मनोरथोंकी सिद्धि होती है। यह व्रत आषाढ़ शुक्ल त्रयोदशीको होता है।

(१०) **हरिपूजा** (ब्रह्म-विष्णु)—आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशीको उपवास करके शुक्ल पूर्णिमाको पूर्वाह्नमें हरिका उत्तम प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसे पूजन करे। यदि उस दिन पूर्वाषाढ़ हो तो अन्नपानादिका दान करके एकभुक्त भोजन करे।

(११) **कोकिलाव्रत** (हेमाद्रि)—यह व्रत आषाढ़ी पूर्णिमासे प्रारम्भ करके श्रावणी पूर्णिमातक किया जाता है। इसके करनेसे मुख्यतः स्त्रियोंको सात जन्मतक सुत, सौभाग्य और सम्पत्ति मिलती है। विधान यह है—आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमाके सायंकाल स्नान करके कल्पना करे कि 'मैं ब्रह्मचर्यसे रहकर कोकिलाव्रत करूँगी। उसके बाद श्रावण कृष्ण प्रतिपदाको किसी नद, नदी, झरने, बावली, कुएँ या तालाब आदिपर '**मम धनधान्यादि-सहितसौभाग्यप्राप्तये शिवतुष्टये च कोकिलाव्रतमहं करिष्ये।**' यह संकल्प करके आरम्भके आठ दिनमें भीगे और पिसे हुए आँवलोंमें सुगन्धयुक्त तिलतैल मिलाकर उसे मलकर स्नान करे। फिर आठ दिनतक भिगोकर पिसी हुई मुरामांसी और वच-कुष्टादि दस ओषधियोंसे स्नान करे (दशौषधि पूर्वांगमें देखिये)। उसके बाद आठ दिनतक भिगोकर पिसी हुई बचके जलसे स्नान करे और उसके बाद अन्तके छः दिनतक पिसे हुए तिल-आँवले

---

* गन्धर्वयक्षपतगोरगसिद्धसाध्य-
विद्याधरामरवराप्सरसां गणाश्च।
येऽन्ये त्रिलोकनिलयाः सहभूतवर्गाः
प्राप्ते प्रदोषसमये हरपार्श्वसंस्थाः॥
तस्मात्प्रदोषे शिव एक एव पूज्यः॥ (स्कन्दपुराण ब्रह्मोत्तरखण्ड)

और सर्वोषधिके जलसे स्नान करे। इस क्रमसे प्रतिदिन स्नान करके पीठीके द्वारा निर्माण की हुई कोयलका पूजन करे। चन्दन, सुगन्धित पुष्प, धूप, दीप और तिल-तन्दुलादिका नैवेद्य अर्पण करे और '**तिलस्नेहे०**[1]' से प्रार्थना करे। इस प्रकार श्रावणी पूर्णिमापर्यन्त करके समाप्तिके दिन ताँबेके पात्रमें मिट्टीसे बनायी हुई कोकिलाके सुवर्णके पंख और रत्नोंके नेत्र लगाकर वस्त्राभूषणादिसे भूषित करके सास, ससुर, ज्योतिषी, पुरोहित अथवा कथावाचकके भेंट करनेसे स्त्री इस जन्ममें प्रीतिपूर्वक पोषण करनेवाले सुखरूप पतिके साथ सुख-सौभाग्यादि भोगकर अन्तमें गौरी (पार्वती)-की पुरीमें जाती है। इस व्रतमें गौरीका कोकिलाके रूपमें पूजन किया जाता है।

(१२) अम्बिकाव्रत (भविष्यपुराण)—आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशीको उपवास करके पूर्णिमाके प्रातःकाल अम्बिकादेवीका विधिवत् पूजन करनेसे यज्ञके समान फल होता है और व्रती विष्णुलोकमें जाता है।

(१३) विश्वेदेवपूजन (ब्रह्मपुराण)—आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमाको पूर्वाषाढ़ा हो तो महाबली दस[2] विश्वेदेवोंका पूजन करे, इससे उनकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

(१४) शिवशयनव्रत (हेमाद्रि, वामनपुराण)—आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमाको जटाजूटकी व्यवस्थाके विचारसे शिवजी सिंह-चर्मके विस्तरपर शयन करते हैं, अतः उस दिन पूर्वविद्धा पूर्णिमामें शिवपूजन करके रुद्रव्रत करनेसे शिवलोककी प्राप्ति होती है।

(१५) वायुधारिणी पूर्णिमा (ज्योतिःशास्त्र)—आषाढ़ शुक्ल

---

१. तिलस्नेहे तिलसौख्ये तिलवर्णे तिलामये।
सौभाग्यधनपुत्रांश्च देहि मे कोकिले नमः॥ (भविष्योत्तर०)

२. क्रतुर्दक्षो वसुः सत्यः कालः कामस्तथैव च।
धूरिश्च लोचनश्चैव तथा चैव पुरूरवाः॥
आश्रवश्च दशैवैते विश्वेदेवाः प्रकीर्तिताः। (मत्स्यपु०१७१ बृहस्पति)

पूर्णिमाको सूर्यास्तके समय गणेशादिका पूजन करके सुदीर्घ शंकुके अग्रभागमें मन्दवायुके संचालनमात्रसे संचालित होनेवाले तूलिकापुष्प (रूईके फोये)- को लटकाकर सीधा खड़ा करे और जिस दिशाकी हवा हो उसके अनुसार* शुभाशुभ निश्चित करे। अक्षय-तृतीयाके अनुसार इस पूर्णिमाको भी कलशस्थापन करके अनेक प्रकारकी वनौषधि, धान्य, प्रख्यात देश और उनके अधिपति एवं विख्यात व्यक्तियोंके नाम पृथक्-पृथक् तौलकर कपड़ेकी अलग-अलग पोटलियोंमें बाँधकर कलशके समीप स्थापन करते हैं और दूसरे दिन उसी प्रकार फिर तौलकर उनके न्यून, सम और अधिक होनेपर अन्नादिके मँहगे, सस्ते एवं देशविशेष और व्यक्तियोंके ह्रास, यथावत् और वृद्धि होनेका ज्ञान प्राप्त करते हैं।

(१६) व्यासपूजा पूर्णिमा (अर्चनविधि)—आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमाको प्रातःस्नानादि नित्य-कर्म करके ब्राह्मणोंसहित '**गुरुपरम्परासिद्ध्यर्थं व्यासपूजां करिष्ये।**' से संकल्प करके श्रीपर्णीवृक्षकी चौकीपर तत्सम धौतवस्त्र फैलाकर उसपर प्रागपर (पूर्वसे पश्चिम) और उदगपर (उत्तरसे दक्षिण)-को गन्धादिसे बारह-बारह रेखा बनाकर व्यास-पीठ निश्चित करे और दसों दिशाओंमें अक्षत छोड़कर दिग्-बन्धन करे। फिर ब्रह्म, ब्रह्मा, परापरशक्ति, व्यास, शुकदेव, गौडपाद, गोविन्दस्वामी और शंकराचार्यका नाममन्त्रसे आवाहनादि पूजन करके अपने दीक्षागुरु (तथा पिता, पितामह, भ्राता आदि)-का देवतुल्य पूजन करे। विशेष विस्तृत विधान शंकराचार्यविरचित 'व्यासपूजाविधि' में देखना चाहिये।

---

* आषाढ्यां भास्करास्ते सुरपतिनिलये वाति वाते सुवृष्टिः
सस्यार्धं सम्प्रकुर्याद् यदि दहनदिशो मन्दवृष्टिर्यमेन।
नैर्ऋत्यामन्ननाशो वरुणदिशि जलं वायुकोणे प्रवायुः
कौवेर्यां सस्यपूर्णा सकलवसुमती तद्वदीशानवायौ॥ (ज्योतिःशास्त्र)

श्रावणके व्रत

कृष्णपक्ष

(१) **अशून्यशयनव्रत** (भविष्यपुराण)—यह श्रावण कृष्ण द्वितीयासे मार्गशीर्ष कृष्ण द्वितीयापर्यन्त किया जाता है। इसमें पूर्वविद्धा तिथि ली जाती है। यदि दो दिन पूर्वविद्धा हो या दोनों दिन न हो तो परविद्धा लेनी चाहिये। इसमें शेषशय्यापर लक्ष्मीसहित नारायण शयन करते हैं, इसी कारण इसका नाम अशून्यशयन है। यह प्रसिद्ध है कि देवशयनीसे देवप्रबोधिनीतक भगवान् शयन करते हैं। साथ ही यह भी प्रसिद्ध है कि इस अवधिमें देवता सोते हैं और शास्त्रसे यही सिद्ध होता है कि द्वादशीको भगवान्, त्रयोदशीको काम, चतुर्दशीको यक्ष, पूर्णिमाको शिव, प्रतिपदाको ब्रह्मा, द्वितीयाको विश्वकर्मा और तृतीयाको उमाका शयन होता है। व्रतीको चाहिये कि श्रावण कृष्ण द्वितीयाको प्रातःस्नानादि करके श्रीवत्सचिह्नसे युक्त चार भुजाओंसे भूषित शेषशय्यापर स्थित और लक्ष्मीसहित भगवान्का गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। दिनभर मौन रहे। व्रत रखे और सायंकाल पुनः स्नान करके भगवान्का शयनोत्सव मनावे। फिर चन्द्रोदय होनेपर अर्घ्यपात्रमें जल, फल, पुष्प और गन्धाक्षत रखकर '**गगनांगणसंदीप क्षीराब्धिमथनोद्भव। भाभासितदिगाभोग रमानुज नमोऽस्तु ते॥**' (पुराणान्तर)—इस मन्त्रसे अर्घ्य दे और भगवान्को प्रणाम करके भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक कृष्ण द्वितीयाको करके मार्गशीर्ष कृष्ण तृतीयाको उस ऋतुमें होनेवाले (आम, अमरूद और केले आदि) मीठे फल सदाचारी ब्राह्मणको दक्षिणासहित दे। करोंदे, नीबू आदि खट्टे तथा इमली, कैरी, नारंगी, अनार आदि स्त्रीनामके फल न दे। इस व्रतसे व्रतीका गृहभंग नहीं होता—दाम्पत्यसुख अखण्ड रहता है। यदि स्त्री करे तो वह सौभाग्यवती होती है।

(२) **कज्जली तृतीया**—यदि श्रावण कृष्ण तृतीयाको श्रवण नक्षत्र हो तो विष्णुका पूजन करके व्रत करे। इसमें परविद्धा ग्राह्य होती है।*

(३) **स्वर्णगौरीव्रत** (स्कन्दपुराण)—यह श्रावण कृष्ण तृतीयाको किया जाता है। उस दिन प्रातःस्नानादि करके शुद्ध भूमिकी मृत्तिकासे गौरीकी मूर्ति बनावे। उसके समीप सूत या रेशमके १६ तारका डोरा बनाकर उसमें १६ गाँठ लगाकर स्थापित करे। फिर गौरीका आवाहनादि षोडश उपचारोंसे पूजन करके डोरेको दाहिने हाथमें बाँधे और व्रत करे। इस प्रकार १६ वर्ष करनेके बाद उद्यापन करे। उद्यापनमें एक वेदीपर अष्टदल बनाकर उसपर कलश स्थापित करे और कलशपर शिवगौरीकी सुवर्णमयी मूर्ति प्रतिष्ठित करके यथाविधि पूजन करे और प्रार्थना करके स्वर्णादिनिर्मित और १६ ग्रन्थियुक्त डोरेका पूजन करे। '**ॐ शिवाय नमः स्वाहा।**', '**ॐ शिवाय नमः स्वाहा।**' से हवन करके बाँसके १६ पात्रोंमें १६ फल और १६ प्रकारकी मिठाई भरकर १६ ब्राह्मणोंको दे और गोदान, अन्नदान, शय्यादान और भूयसी देकर १६ जोड़ा-जोड़ी जिमावे और फिर स्वयं भोजन करके व्रत समाप्त करे। इस व्रतके सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण कथा है—प्राचीन कालमें सरस्वतीके किनारेकी विमलापुरीके राजा चन्द्रप्रभने अप्सराओंके आदेशानुसार अपनी छोटी रानी विशालाक्षीसे यह व्रत करवाया था; किंतु मदान्विता महादेवी (बड़ी रानी)-ने उक्त डोरा तोड़ डाला। फल यह हुआ कि वह विक्षिप्त हो गयी और आम्र, सरोवर एवं ऋषिगणोंसे 'गौरी कहाँ है?' यह पूछने लगी। अन्तमें गौरीकी सानुकूलता होनेपर वह फिर पूर्वावस्थामें प्राप्त होकर सुखसे रही।

(४) **संकष्टचतुर्थी** (भविष्योत्तरपुराण)—यह व्रत श्रावण

---

* तृतीया श्रावणे कृष्णा या स्याच्छ्रवणसंयुता।
तस्यां सम्पूज्य गोविन्दं तुष्टिमग्र्यामवाप्नुयात्॥ (हेमाद्रौ विष्णुधर्मोत्तरे)

कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है। इसमें चन्द्रोदयव्यापिनी चतुर्थी ली जाती है। यदि दो दिन वैसी हो या दोनों ही दिन न हो तो पूर्वविद्धा लेना चाहिये। उस दिन नित्यकृत्य करके सूर्यादिसे व्रतकी भावना निवेदन कर '**मम सर्वविधसौभाग्यसिद्ध्यर्थं संकष्टहरगणपतिप्रीतये संकष्टचतुर्थीव्रतमहं करिष्ये।**' यह संकल्प करे और वस्त्राच्छादित वेदीपर मूर्तिमान् या फलस्वरूप गणेशजीको स्थापित करके '**कोटिसूर्यप्रभं देवं गजवक्त्रं चतुर्भुजम्। पाशांकुशधरं देवं ध्यायेत् सिद्धिविनायकम्॥**' से गणेशजीका ध्यान करके उनका पूजन करे और २१ दूर्वा लेकर '**गणाधिपाय नमः** २, **उमापुत्राय नमः** २, **अघनाशनाय नमः** २, **एकदन्ताय नमः** २, **इभवक्त्राय नमः** २, **मूषकवाहनाय नमः** २, **विनायकाय नमः** २, **ईशपुत्राय नमः** २, **सर्वसिद्धिप्रदायकाय नमः** २ और **कुमारगुरवे नमः** २' इन नामोंसे प्रत्येक नामके साथ दो-दो दूर्वा और गणाधिपादि दसों नामोंके द्वारा एक दूर्वा अर्पण करे। अन्तमें नीराजन करके पुष्पांजलि दे और '**संसारपीडाव्यथितं हि मां सदा संकष्टभूतं सुमुख प्रसीद। त्वं त्राहि मां मोचय कष्टसंघान्नमो नमो विघ्नविनाशनाय॥**' से प्रार्थना करके घी, गेहूँ और गुड़से बनाये हुए २१ मोदक लेकर एक गणेशजीके अर्पण करे, १० ब्राह्मणोंको दे और शेष १० अपने लिये रख दे। तत्पश्चात् चन्द्रोदय होनेपर उनका गन्धाक्षतसे पूजन करके '**ज्योत्स्नापते नमस्तुभ्यं नमस्ते ज्योतिषां पते। नमस्ते रोहिणीकान्त गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' से चन्द्रमाको, '**गजानन नमस्तुभ्यं सर्वसिद्धिप्रदायक। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं संकष्टं नाशयाशु मे॥**' से गणेशजीको और '**तिथीनामुत्तमे देवि गणेशप्रियवल्लभे। सर्वसम्पत्प्रदे देवि गृह्णणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' से चतुर्थीको अर्घ्य देकर भोजन करे। श्रावणमें लड्डू, भाद्रमें दही, आश्विनमें उपवास, कार्तिकमें दध्योदन,

मार्गशीर्षमें निराहार, पौषमें गोमूत्र, माघमें तिल, फाल्गुनमें घी, शक्कर, चैत्रमें पंचगव्य, वैशाखमें शतपत्रिका,ज्येष्ठमें घी और आषाढ़में मधु भक्षण करे। जमीनपर सोवे, जितक्रोधी, जितेन्द्रिय, निर्लोभी और मोहादिसे रहित होकर प्रतिमास एक वर्ष, तीन वर्ष या जन्मभर करे तो उसके संकट दूर होकर शान्ति मिलती है और ऋद्धि-सिद्धिसे संयुक्त होकर वह सुखी रहता है। इस व्रतको यदि कुमारी करे तो उसे सुयोग्य वर मिले। सौभाग्यवती युवती करे तो सौभाग्यादिकी वृद्धि हो और विधवा करे तो जन्मान्तरमें वह सौभाग्यवती रहे।

(५) शीतलासप्तमी (हेमाद्रि, भविष्यपुराण)—यह व्रत श्रावण कृष्ण सप्तमीको किया जाता है। इसमें मध्याह्नव्यापिनी तिथि ली जाती है। पूजाविधि और स्तोत्रपाठादि चैत्रके समान हैं। कथा यह है कि हस्तिनापुरके राजा इन्द्रद्युम्नकी धर्मशीला नामकी रानीके महाधर्म नामका पुत्र और गुणोत्तमा नामकी पुत्री थी। समयपर पुत्रीका विवाह हुआ। रथारूढ़ होकर पति-पत्नी घर गये। दैवयोगसे रास्तेमें पति अदृश्य हो गये। पतिवियोग मानकर पत्नीने विलाप किया। अन्तमें शीतल उपचारोंसे शीतलादेवीका पूजन करनेसे पतिदेव प्रकट हुए और प्रसन्नचित्तसे घर जाकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किये।

(६) कुमारीपूजा (निर्णयामृत, भविष्योत्तर)—श्रावण कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षकी नवमीको चाँदीकी बनी हुई कुमारी नामकी देवीका पूजन करे। मलयज चन्दन, कनेरके पुष्प, दशांग धूप, घृतपूर्ण दीपक और घीमें पकाये हुए मोदकादिसे पूजन करके ब्राह्मण, ब्राह्मणी और कुमारीको भोजन करावे। स्वयं बिल्वपत्र भक्षण करे तो परम तत्त्व प्राप्त होता है।

(७) कृष्णैकादशी (ब्रह्मवैवर्त०)—श्रावण कृष्ण एकादशीको उपवास करके श्रीकृष्णका पूजन करे। तुलसीदल और उसकी

मंजरी चढ़ावे। घीका दीपक प्रज्वलित रखे और यथाशक्ति दान दे तो अनन्त फल होता है। इसका नाम 'कामिका' है।

(८) **प्रदोषव्रत**—यह प्रत्येक त्रयोदशीको किया जाता है। परंतु श्रावणमें सोम-प्रदोष हो तो वह विशेष फल देता है। उस दिन ग्रामसे बाहर किसी पुष्पोद्यानके शिवमन्दिरमें जाकर शिव-पूजन करे और दो घड़ी रात्रि जानेसे पहले एक बार भोजन करे तो शिवजी प्रसन्न होते हैं। इसके सिवा श्रावणमें शिवजीके प्रीत्यर्थ चार सोमव्रत और होते हैं, जो श्रावणके अन्तर्गत ही हैं।

(९) **अमाव्रत**—देशभेदके अनुसार श्रावण कृष्ण अमावस्याको 'हरिता' (या हरियाली अमा) कहते हैं। इस दिन किसी एकान्त स्थानके जलाशयपर जाकर स्नान-दानादि करे और ब्राह्मणोंको भोजन करावे तो पितृगण प्रसन्न होते हैं।

शुक्लपक्ष

(१) **दूर्वागणपति** (सौरपुराण)—यह व्रत श्रावण शुक्ल चतुर्थीको किया जाता है। इसमें मध्याह्नव्यापिनी चतुर्थी ली जाती है। यदि वह दो दिन हो या दोनों दिन न हो तो '**मातृविद्धा प्रशस्यते**' के अनुसार पूर्वविद्धा व्रत करना चाहिये। उस दिन प्रातःस्नानादि करके सुवर्णके गणेशजी बनवावे जो एकदन्त, चतुर्भुज, गजानन और स्वर्णसिंहासनस्थ हों। उनके अतिरिक्त सोनेकी दूर्वा बनवावे। फिर सर्वतोभद्र-मण्डलपर कलश स्थापन करके उसमें स्वर्णमय दूर्वा लगाकर उसपर उक्त गणेशजीका स्थापन करे। उनको रक्तवस्त्रादिसे विभूषित करे और अनेक प्रकारके सुगन्धित पत्र, पुष्पादिसे पूजन करे। बेलपत्र, अपामार्ग, शमीपत्र, दूब और तुलसीपत्र अर्पण करे। फिर नीराजन करके '**गणेश्वर गणाध्यक्ष गौरीपुत्र गजानन। व्रतं सम्पूर्णतां यातु त्वत्प्रसादादिभानन॥**' इससे प्रार्थना करे। इस प्रकार तीन या पाँच वर्ष करनेसे सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध होते हैं।

(२) नागपंचमी—यह व्रत श्रावण शुक्ल पंचमीको किया जाता है। लोकाचार या देश-भेदवश किसी जगह कृष्णपक्षमें भी होता है। इसमें परविद्धा पंचमी ली जाती है। इस दिन सर्पोंको दूधसे स्नान और पूजन कर दूध पिलानेसे, वासुकीकुण्डमें स्नान करने, निज गृहके द्वारमें दोनों ओर गोबरके सर्प बनाकर उनका दधि, दूर्वा, कुशा, गन्ध, अक्षत, पुष्प, मोदक और मालपुआ आदिसे पूजा करने और ब्राह्मणोंको भोजन कराकर एकभुक्त व्रत करनेसे घरमें सर्पोंका भय नहीं होता है। यदि '**ॐ कुरुकुल्ये हुं फट् स्वाहा**' के परिमित जप करे तो सर्पविष दूर होता है।

(३) पापनाशिनी सप्तमी (हेमाद्रि)—यह व्रत श्रावण शुक्ल सप्तमीको हस्त नक्षत्र होनेसे उदयव्यापिनीमें किया जाता है। उस दिन जगद्गुरु चित्रभानुका पूजन करके दान, पुण्य, हवन और व्रत करे तो किये हुएका अक्षय फल होता है और प्रत्येक प्रकारके पाप, ताप दूर हो जाते हैं।

(४) दुर्गाव्रत (देवीपुराण)—श्रावण शुक्ल अष्टमीको प्रातः-स्नानादि नित्यकर्म करके पुनः स्नान करे और भीगे वस्त्र धारण किये हुए ही देवीको स्नान कराके खीरका नैवेद्य भोग लगावे और स्वयं भी उसीका एक बार भोजन करे तो भगवती दुर्गाकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

(५) शुक्लैकादशीव्रत (भविष्यपुराण)—श्रावण शुक्लकी एकादशी पवित्रा, पुत्रदा और पापनाशिनी होती है। इसके लिये पहले दिन मध्याह्नमें हविष्यान्नका एकभुक्तव्रत करके एकादशीको प्रातः-स्नानादिके अनन्तर '**मम समस्तदुरितक्षयपूर्वकं श्रीपरमेश्वर-प्रीत्यर्थं श्रावणशुक्लैकादशीव्रतमहं करिष्ये।**' यह संकल्प करके भक्तिभाव और विधानसहित भगवान्‌का पूजन करे और अनेक प्रकारके फल, पत्र, पुष्प और नैवेद्य अर्पण करके नीराजन करे। उसके बाद रात्रिके समय गायन, वादन, नर्तन, कीर्तन और कथा

श्रवण करते हुए जागरण करे। दूसरे दिन पारणा करके यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन करवाकर स्वयं भोजन करे। इस व्रतसे पापोंका नाश और पुत्रादिकी प्राप्ति होती है। पहले द्वापरयुगके आदिमें माहिष्मतीके राजा महीजित्के पुत्र नहीं था। उससे राजा-प्रजा दोनों चिन्तित थे। उन्होंने घोर वनमें तप करते हुए लोमश ऋषिसे प्रार्थना की, तब उन्होंने श्रावण शुक्ल एकादशीका व्रत करनेकी आज्ञा दी। तदनुसार ग्रामवासियोंसहित राजाने व्रत किया और उसके प्रभावसे उनको पुत्र प्राप्त हुआ।

(६) पवित्रार्पणविधि (बहुसम्मत)—श्रावण शुक्ल एकादशीको भगवान्को पवित्रक अर्पण किया जाता है। यद्यपि साधारण रूपमें बाजारसे लाये हुए रेशम या सूत्रके पवित्रक उपयोगमें आते हैं, किंतु शास्त्रमें इनका पृथक् विधान है। उसके अनुसार मणि, रत्न, सोना, चाँदी, ताँबा, रेशम, सूत, त्रिसर, पद्मसूत्र, कुशा, काश, मूँज, सन, बल्कल, कपास और अन्य प्रकारके रेशे आदिसे पवित्रक बनवावे अथवा सौभाग्यवती स्त्रीसे सूत कतवाकर उसके तीन तारोंको त्रिगुणित करके उनसे बनावे। रेशमका पवित्रक हो तो उसमें अंगूठेके पर्वके समान यथासामर्थ्य ३६०, २७०, १८०, १०८, ५४ या २७ गाँठ लगावे। उसकी लम्बाई जानु, जंघा या नाभिपर्यन्त करे और उसको पंचगव्यसे प्रोक्षण करके शुद्ध जलसे अभिषिक्त करे। फिर '**ॐ नमो नारायणाय**' का १०८ बार जप करके शंखोदकका छींटा दे और रात्रिभर रखकर व्रतके दूसरे दिन धारण करावे। उस समय घृतप्लावित एकाधिक बत्ती या कपूर जलाकर आरती करे और '**मणिविद्रुममालाभिर्मन्दारकुसुमादिभिः। इयं सांवत्सरी पूजा तवास्तु गरुडध्वज॥**' '**वनमाला यथा देव कौस्तुभः सततं हृदि। पवित्रमस्तु ते तद्वत् पूजां च हृदये वह॥**' यह श्लोक पढ़कर प्रणाम करे। सत्ययुगमें मणि आदि रत्नोंके, त्रेतामें सुवर्णके, द्वापरमें रेशमके और कलियुगमें सूत्रके पवित्रक धारण करानेयोग्य होते हैं और यतिलोग

मानसनिर्मित पवित्रक अर्पण करते हैं। विशेष वर्णन विष्णुरहस्य, स्मृति-कौस्तुभ, रामार्चनचन्द्रिका, नृसिंहपरिचर्या और शिवार्चनचन्द्रिका आदिसे विदित हो सकता है।

(७) **दधिव्रत** (महाभारत-दानधर्म)—श्रावण शुक्ल द्वादशीको दधिव्रत किया जाता है। उसमें दहीका उपयोग किया जाता है। यदि उस दिन श्रीधर भगवान्‌को विमानमें विराजितकर अहोरात्र आनन्दोत्सव करे तो उससे पंचयज्ञके समान फल होता है।*

(८) **प्रदोषव्रत**—इस विषयमें पहलेके महीनोंमें बहुत-सा विधान प्रकाशित हो चुका है, तदनुसार श्रावण शुक्ल त्रयोदशीको प्रदोषव्रत करना चाहिये।

(९) **रक्षाबन्धन** (मदनरत्न—भविष्योत्तरपुराण)—यह श्रावण शुक्ल पूर्णिमाको होता है। इसमें पराह्णव्यापिनी तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो या दोनों ही दिन न हो तो पूर्वा लेनी चाहिये। यदि उस दिन भद्रा हो तो उसका त्याग करना चाहिये। भद्रामें श्रावणी और फाल्गुनी दोनों वर्जित हैं; क्योंकि श्रावणीसे राजाका और फाल्गुनीसे प्रजाका अनिष्ट होता है। व्रतीको चाहिये कि उस दिन प्रातःस्नानादि करके वेदोक्त विधिसे रक्षाबन्धन, पितृतर्पण और ऋषिपूजन करे। शूद्र हो तो मन्त्रवर्जित स्नान-दानादि करे। रक्षाके लिये किसी विचित्र वस्त्र या रेशम आदिकी 'रक्षा' बनावे। उसमें सरसों, सुवर्ण, केसर, चन्दन, अक्षत और दूर्वा रखकर रंगीन सूतके डोरेमें बाँधे और अपने मकानके शुद्ध स्थानमें कलशादि स्थापन करके उसपर उसका यथाविधि पूजन करे। फिर उसे राजा, मन्त्री, वैश्य या शिष्ट शिष्यादिके दाहिने हाथमें '**येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः। तेन त्वामनुबध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥**' इस मन्त्रसे बाँधे। इसके बाँधनेसे वर्षभरतक

---

* अहोरात्रेण द्वादश्यां श्रावणे मासि श्रीधरम्।
पंचयज्ञमवाप्नोति विमानस्थश्च मोदते॥

पुत्र-पौत्रादिसहित सब सुखी रहते हैं।* कथा यों है कि एक बार देवता और दानवोंमें बारह वर्षतक युद्ध हुआ, पर देवता विजयी नहीं हुए, तब बृहस्पतिजीने सम्मति दी कि युद्ध रोक देना चाहिये। यह सुनकर इन्द्राणीने कहा कि मैं कल इन्द्रके रक्षा बाँधूँगी, उसके प्रभावसे इनकी रक्षा रहेगी और यह विजयी होंगे। श्रावण शुक्ल पूर्णिमाको वैसा ही किया गया और इन्द्रके साथ सम्पूर्ण देवता विजयी हुए।

(१०) **श्रवणपूजन** (व्रतोत्सव)—श्रावण शुक्ल पूर्णिमाको नेत्रहीन माता-पिताका एकमात्र पुत्र श्रवण (जो उनकी दिन-रात सेवा करता था) एक बार रात्रिके समय जल लानेको गया। वहीं कहीं हिरणकी ताकमें दशरथजी छिपे थे। उन्होंने जलसे घड़ेके शब्दको पशुका शब्द समझकर बाण छोड़ दिया, जिससे श्रवणकी मृत्यु हो गयी। यह सुनकर उसके माता-पिता बहुत दुःखी हुए। तब दशरथजीने उनको आश्वासन दिया और अपने अज्ञानमें किये हुए अपराधकी क्षमा-याचना करके श्रावणीको श्रवणपूजाका सर्वत्र प्रचार किया। उस दिनसे सम्पूर्ण सनातनी श्रवणपूजा करते हैं और उक्त रक्षा सर्वप्रथम उसीको अर्पण करते हैं।

(११) **ऋषितर्पण** (उपाकर्मपद्धति आदि)—यह श्रावण शुक्ल पूर्णिमाको किया जाता है। इसमें ऋक्, यजुः, सामके स्वाध्यायी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ या वानप्रस्थ किसी आश्रमके हों अपने-अपने वेद, कार्य और क्रियाके अनुकूल कालमें इस कर्मको सम्पन्न करते हैं। इसका आद्योपान्त पूरा विधान यहाँ नहीं लिखा जा सकता और बहुत संक्षिप्त लिखनेसे उपयोगमें भी

---

* यः श्रावणे विमलमासि विधानविज्ञो
रक्षाविधानमिदमाचरते मनुष्यः।
आस्ते सुखेन परमेण स वर्षमेकं
पुत्रप्रपौत्रसहितः ससुहृज्जनः स्यात्॥

नहीं आ सकता है। अतः सामान्यरूपमें यही लिखना उचित है कि उस दिन नदी आदिके तटवर्ती स्थानमें जाकर यथाविधि स्नान करे। कुशानिर्मित ऋषियोंकी स्थापना करके उनका पूजन, तर्पण और विसर्जन करे और रक्षा-पोटलिका बनाकर उसका मार्जन करे। तदनन्तर आगामी वर्षका अध्ययनक्रम नियत करके सायंकालके समय व्रतकी पूर्ति करे। इसमें उपाकर्मपद्धति आदिके अनुसार अनेक कार्य होते हैं, वे सब विद्वानोंसे जानकर यह कर्म प्रतिवर्ष सोपवीती प्रत्येक द्विजको अवश्य करना चाहिये। यद्यपि उपाकर्म चातुर्मासमें किया जाता है और इन दिनों नदियाँ रजस्वला होती हैं, तथापि '**उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च। चन्द्रसूर्यग्रहे चैव रजोदोषो न विद्यते॥**' इस वसिष्ठ-वाक्यके अनुसार उपाकर्ममें उसका दोष नहीं माना जाता।

(१२) **मंगला गौरीव्रत** (व्रतराज, भविष्यपुराण)—यह व्रत विवाहके बाद स्त्रीको पाँच वर्षोंतक प्रति श्रावणमें प्रति भौमवारको करना चाहिये। विवाहके बाद प्रथम श्रावणमें पीहरमें तथा अन्य चार वर्षोंमें पतिगृहमें ही यह व्रत करना चाहिये। इसकी विधि यह है कि देश-कालादिका कीर्तन कर '**मम पुत्रपौत्रसौभाग्यवृद्धये श्रीमंगला-गौरीप्रीत्यर्थं पंचवर्षपर्यन्तं मंगलागौरीव्रतं करिष्ये॥**' ऐसा संकल्प कर पीठके ऊपर गौरीको पधराकर उनके सामने लोक-व्यवहारानुसार पिट्ठेका पत्थर, रत्न बनाकर रखे। आँटेका एक बड़ा-सा १६ मुखवाला दीपक १६ बत्तियोंसे युक्त घृतपूरित कर प्रज्वलित करे। फिर षोडशोपचारसे भगवती गौरीकी पूजा करे। फिर बाँसके पात्रमें सौभाग्यादि द्रव्योंको रखकर '**अन्नकंचुकिसंयुक्तं सवस्त्रफलदक्षिणम्। वायनं गौरि विप्राय ददामि प्रीतये तव॥ सौभाग्यारोग्यकामानां सर्वसम्पत्समृद्धये। गौरीगिरीशतुष्ट्यर्थं वायनं ते ददाम्यहम्॥**' इन दोनों मन्त्रोंसे वायन दे। फिर माताको सौभाग्य द्रव्यके साथ लड्डू, कंचुकी, फल, वस्त्रके

साथ ताम्रपात्रमें वायन दे। फिर १६ मुँहवाले दीपकसे नीराजन (आरती) करे। फिर थोड़ा-सा दीपका पिष्ठ तथा बिना नमकका अन्न खाकर रातको जागरण करे तथा प्रात:कालमें गौरीका विसर्जन कर दे।

कथाका सार यह है कि कुण्डिन नगरमें एक धर्मपाल नामका धनी सेठ था। उसको कोई पुत्र न था। इसलिये दम्पति बड़े व्याकुल थे। उनके यहाँ प्रतिदिन एक जटा-रुद्राक्षमाल्यधारी भिक्षुक आया करता था। पतिकी सम्मतिसे एक दिन सेठानीने भिक्षुककी झोलीमें छिपाकर सोना डाल दिया। इसपर भिक्षुकने उसे अनपत्यता (संतानहीनता)-का शाप दे डाला। फिर बहुत अनुनय करनेपर गौरीकी कृपासे उसे एक अल्पायु पुत्र प्राप्त हुआ, जिसे गणपतिने १६ वें वर्ष सर्पदंशनका शाप दे दिया था। पर काशीके मार्गमें उस बालकका विवाह एक ऐसी कन्यासे हुआ जिसकी माताने मंगला गौरीव्रत किया था, इसलिये वह शतायु हो गया और मंगला गौरीकी कृपासे न तो साँप ही डँस सका न यमदूत ही १६ वें वर्ष उसके प्राण ले जा सके। वे जब कुण्डिनपुर लौटे तो माता-पिताने उनका बड़ा सोल्लास स्वागत किया।

भाद्रपदके व्रत

कृष्णपक्ष

(१) **कज्जलीतृतीया** (कृत्यरत्नावली)—यद्यपि यह व्रत वाक्य-विशेष या देश-भेदसे श्रावणमें किया जाता है, किंतु भाद्रपद कृष्ण तृतीयाको व्यापकरूपमें होता है। माहेश्वरी वैश्य इस दिन जौ, गेहूँ, चने और चावलके सत्तूमें घी, मीठा और मेवा डालकर उसके कई पदार्थ बनाते और चन्द्रोदयके बाद उसीका एक बार भोजन करते हैं। इस कारण यह व्रत 'सातूड़ी तीज' अथवा 'सतवा तीज' कहलाता है।

(२) **विशालाक्षीयात्रा** (काशीखण्ड)—इसके निमित्त भाद्रपद कृष्ण तृतीयाको व्रत किया जाता है। इसमें रात्रिव्यापिनी तिथि लेते हैं। इस दिन केवल उपवास और जागरण किया जाता है और भाद्रपद शुक्ल तृतीयाको सुवर्णनिर्मित गौरीका गन्धादिसे पूजन करते हैं। नैवेद्यमें गुड़के पूआ और यात्रामें विशालाक्षी मुख्य हैं।

(३) **संकष्टचतुर्थी** (भविष्योत्तर)—यह परिचित व्रत प्रत्येक कृष्ण चतुर्थीको होता है। इसमें चन्द्रोदयव्यापिनी तिथि ली जाती है। रात्रिमें चन्द्रमाको अर्घ्य देकर और पूजनीय पुरुषोंको वायन देकर भोजन किया जाता है। विशेष विधान पहले लिखा जा चुका है।

(४) **बहुलाव्रत**—यह मध्यप्रदेशमें भाद्रपद कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है।

(५) **चन्द्रषष्ठी** (भविष्यपुराण)—यह भाद्र कृष्ण षष्ठीको किया जाता है। इसमें चन्द्रोदयव्यापिनी तिथि ली जाती है। इसे विशेषकर विवाहिता या अविवाहिता लड़कियाँ ही करती हैं और चन्द्रोदय होनेपर उन्हें अर्घ्य देती हैं।

(६) **पुत्रव्रत** (वाराहपुराण)—इसके लिये भाद्रपद कृष्ण

सप्तमीको उपवासकर विष्णुका पूजन करे और दूसरे दिन '**ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा**' इस मन्त्रसे तिलोंकी १०८ आहुति देकर ब्राह्मणोंको भोजन करावे और बिल्वफल खाकर षड्रस (मधुर, अम्ल, लवण, कषाय, तिक्त और कटु) भक्षण करे। इस प्रकार प्रत्येक कृष्ण सप्तमीको करके वर्ष व्यतीत होनेपर दो गोदान करे तो पुत्रकी प्राप्ति होती है।

(७) **जन्माष्टमी** (शिव, विष्णु, ब्रह्म, वह्नि, भविष्यादि)—यह व्रत भाद्रपद कृष्ण अष्टमीको किया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णका जन्म भाद्रपद कृष्ण अष्टमी बुधवारको रोहिणी नक्षत्रमें अर्धरात्रिके समय वृषके चन्द्रमामें हुआ था। अतः अधिकांश उपासक उक्त बातोंमें अपने-अपने अभीष्ट योगका ग्रहण करते हैं। शास्त्रमें इसके शुद्धा और विद्धा दो भेद हैं। उदयसे उदयपर्यन्त शुद्धा और तद्गत सप्तमी या नवमीसे विद्धा होती है। शुद्धा या विद्धा भी—समा, न्यूना या अधिकाके भेदसे तीन प्रकारकी हो जाती हैं और इस प्रकार अठारह भेद बन जाते हैं, परंतु सिद्धान्तरूपमें तत्कालव्यापिनी (अर्धरात्रिमें रहनेवाली) तिथि अधिक मान्य होती है। वह यदि दो दिन हो—या दोनों ही दिन न हो तो (सप्तमीविद्धाको सर्वथा त्यागकर) नवमी-विद्धाका ग्रहण करना चाहिये। यह सर्वमान्य और पापघ्नव्रत बाल, कुमार, युवा और वृद्ध—सभी अवस्थावाले नर-नारियोंके करनेयोग्य है। इससे उनके पापोंकी निवृत्ति और सुखादिकी वृद्धि होती है। जो इसको नहीं करते, उनको पाप होता है। इसमें अष्टमीके उपवाससे पूजन और नवमीके (तिथिमात्र) पारणासे व्रतकी पूर्ति होती है। व्रत करनेवालेको चाहिये कि उपवासके पहले दिन लघु भोजन करे। रात्रिमें जितेन्द्रिय रहे और उपवासके दिन प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करके सूर्य, सोम, यम, काल, सन्धि, भूत, पवन, दिक्पति, भूमि, आकाश, खेचर, अमर और ब्रह्म आदिको नमस्कार करके पूर्व या

उत्तर मुख बैठे; हाथमें जल, फल, कुश, फूल और गन्ध लेकर '**ममाखिलपापप्रशमनपूर्वकसर्वाभीष्टसिद्धये श्रीकृष्णजन्माष्टमीव्रतमहं करिष्ये**' यह संकल्प करे और मध्याह्नके समय काले तिलोंके जलसे स्नान करके देवकीजीके लिये 'सूतिकागृह' नियत करे। उसे स्वच्छ और सुशोभित करके उसमें सूतिकाके उपयोगी सब सामग्री यथाक्रम रखे। सामर्थ्य हो तो गाने-बजानेका भी आयोजन करे। प्रसूतिगृहके सुखद विभागमें सुन्दर और सुकोमल बिछौनेके सुदृढ़ मंचपर अक्षतादिका मण्डल बनवाकर उसपर शुभ कलश स्थापन करे और उसीपर सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, मणि, वृक्ष, मिट्टी या चित्ररूपकी मूर्ति स्थापित करे। मूर्तिमें सद्यःप्रसूत श्रीकृष्णको स्तनपान कराती हुई देवकी हों और लक्ष्मीजी उनके चरण स्पर्श किये हुए हों—ऐसा भाव प्रकट रहे। इसके बाद यथासमय भगवान्‌के प्रकट होनेकी भावना करके वैदिक विधिसे, पौराणिक प्रकारसे अथवा अपने सम्प्रदायकी पद्धतिसे पंचोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार या आवरणपूजा आदिमें जो बन सके वही प्रीतिपूर्वक करे। पूजनमें देवकी, वसुदेव, वासुदेव, बलदेव, नन्द, यशोदा और लक्ष्मी—इन सबका क्रमशः नाम निर्दिष्ट करना चाहिये। ……अन्तमें '**प्रणमे देवजननीं त्वया जातस्तु वामनः। वसुदेवात्** तथा **कृष्णो नमस्तुभ्यं नमो नमः॥ सपुत्रार्घ्यं प्रदत्तं मे गृहाणेमं नमोऽस्तु ते।**' से देवकीको अर्घ्य दे और '**धर्माय धर्मेश्वराय धर्मपतये धर्मसम्भवाय गोविन्दाय नमो नमः।**' से श्रीकृष्णको 'पुष्पांजलि' अर्पण करे। तत्पश्चात् जातकर्म, नालच्छेदन, षष्ठीपूजन और नामकरणादि करके '**सोमाय सोमेश्वराय सोमपतये सोमसम्भवाय सोमाय नमो नमः।**' से चन्द्रमाका पूजन करे और फिर शंखमें जल, फल, कुश, कुसुम और गन्ध डालकर दोनों घुटने जमीनमें लगावे और '**क्षीरोदार्णवसंभूत अत्रिनेत्रसमुद्भव। गृहाणार्घ्यं शशांकेमं रोहिण्या सहितो मम॥ ज्योत्स्नापते नमस्तुभ्यं**

नमस्ते ज्योतिषां पते। नमस्ते रोहिणीकान्त अर्घ्यं मे प्रतिगृह्यताम्॥' से चन्द्रमाको अर्घ्य दे और रात्रिके शेष भागको स्तोत्र-पाठादि करते हुए बितावे। उसके बाद दूसरे दिन पूर्वाह्णमें पुनः स्नानादि करके जिस तिथि या नक्षत्रादिके योगमें व्रत किया हो उसका अन्त होनेपर पारणा करे। यदि अभीष्ट तिथि या नक्षत्रादिके समाप्त होनेमें विलम्ब हो तो जल पीकर पारणाकी पूर्ति करे।

(८) उमा-महेश्वरव्रत (हेमाद्रि)—यह भाद्रपद कृष्ण अष्टमीको करना चाहिये। इसमें सायंकालके समय उमा और महेश्वरका पूजन करके एकभुक्त व्रत करे।

(९) कालाष्टमी (हेमाद्रि)—यदि भाद्रपद कृष्ण अष्टमीको मृगशिरा हो तो शिवपूजन करके यह व्रत करे।

(१०) गोगानवमी (व्रतोत्सव)—यह व्यापक व्रत नहीं है। लोकाचारमें इसका प्राधान्य है। इसके लिये कुम्हारलोग काली मिट्टीकी एक मूर्ति बनाते हैं। वह वीर पुरुषकी होती है। उसे भाद्रपद कृष्ण नवमीको प्रातः सद्गृहस्थोंके घरोंमें ले जाते हैं और पूजन करवाके ले आते हैं। देखा जाता है कि अधिकांश गृहस्थ उस अश्वारूढ मूर्तिको अपूप और श्रावणीका रक्षासूत्र अर्पण करते हैं।

(११) दुर्गाबोधन (देवीपुराण)—यह व्रत यदि भाद्रपद कृष्ण नवमीको आर्द्रा हो तो उसमें गायन-वादनादिके साथ देवीका पूजन करनेसे सम्पन्न होता है।

(१२) कृष्णैकादशीव्रत (ब्रह्मवैवर्त)—यह सुपरिचित व्रत भाद्रपद कृष्ण एकादशीको किया जाता है। इसका नाम 'अजा' एकादशी है। इसके व्रतसे पुनर्जन्मकी बाधा दूर हो जाती है। प्राचीन कालमें चक्रवर्ती हरिश्चन्द्रने इसी व्रतसे अपनी बिगड़ी हुई दशासे उद्धार पाया था।

(१३) वत्सद्वादशी (व्रतोत्सव)—इसमें भाद्रपद कृष्ण द्वादशीको मध्याह्नसे पहले गोवत्सका पूजन करके (उनको पहले दिनके भिगोकर उगाये हुए) मूँग, मोठ और बाजरेका नैवेद्य भोग लगाते हैं और बाड़ करेलेकी बेलिसे उसको सुशोभित करते हैं। व्रतवाली स्त्रियोंकी भोजन-सामग्रीमें मूँग, मोठ और बाजरेका ही प्राधान्य होता है। इसमें दूध, दही या घी (गौका नहीं) भैंसका बर्तते हैं।

(१४) प्रदोषव्रत (स्कन्दपुराण)—इस सुप्रसिद्ध व्रतके विधि-विधान गत महीनोंमें प्रकाशित हो चुके हैं। विशेषता यह है कि भाद्रपदके सोमप्रदोषसे महाफल मिलता है।

(१५) कुशग्रहणी (मदनरत्न)—यह भाद्रपद कृष्ण अमावास्याके पूर्वाह्णमें मानी जाती है। शास्त्रमें—'**कुशाः काशा यवा दूर्वा उशीराश्च सकुन्दकाः। गोधूमा ब्राह्मयो मौंजा दश दर्भाः सबल्वजाः ॥**'—दस प्रकारका कुश बतलाया है। इनमें जो मिल सके उसीको ग्रहण करे। जिस कुशाका मूल सुतीक्ष्ण हो, उसमें सात पत्ती हों, अग्रभाग कटा न हो और हरा हो, वह देव और पितृ दोनों कार्योंमें बर्तने योग्य होती है। उसके लिये अमावास्याको दर्भस्थलमें जाकर पूर्व या उत्तर मुख बैठे और '**विरंचिना सहोत्पन्न परमेष्ठिन्निसर्गज। नुद सर्वाणि पापानि दर्भ स्वस्तिकरो भव॥ हुँ फट्।**' यह मन्त्र उच्चारण करके कुशाको दाहिने हाथसे उखाड़े (और इस प्रकार जितनी चाहिये, ले आवे)।

शुक्लपक्ष

(१) महत्तमाख्यशिवव्रत (स्कन्दपुराण)—यह व्रत भाद्रपद शुक्ल प्रतिपद्को किया जाता है। इसके लिये जटामण्डित और त्रिशूल, कपाल तथा कुण्डिकादिसे संयुक्त, चन्द्रादिसे सुशोभित, त्रिनेत्र शिवजीकी सुवर्णमयी मूर्ति बनवाकर भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदाको उसे विधिपूर्वक स्थापित किये हुए कलशपर स्थापितकर

यथाप्राप्त उपचारोंसे पूजन करे और नैवेद्यमें अड़तालीस फल या मोदक अथवा मिष्टान्नादि अर्पण करके उनमेंसे १६ देवताओंको और १६ ब्राह्मणोंको अर्पण करे, शेष १६ अपने लिये रखे और '**प्रसीद देवदेवेश चराचरजगद्गुरो। वृषध्वज महादेव त्रिनेत्राय नमो नमः॥**' से प्रार्थना करके दूध देनेवाली गौका दान करे और एक बार भोजन कर व्रतको समाप्त करे। इससे पापनाश होता है तथा राज्य, धन, पुत्र, स्त्री, आरोग्य और आयु आदिकी प्राप्ति होती है।

(२) मौनव्रत (स्कन्दपुराण)—यह व्रत भाद्रपद शुक्ल प्रतिपद्को पूर्ण होता है, किंतु श्रावण शुक्ल पूर्णिमासे ही इसका प्रारम्भ किया जाता है। उस दिन किसी जलाशयपर जाकर स्नान करे और कोमल दूर्वाके १६ अंकुरोंका डोरा बनाकर उसमें १६ गाँठ लगावे; फिर गन्धादिसे उसका पूजनकर स्त्री बाँयें हाथमें और पुरुष दाहिने हाथमें धारण करे। इसके बाद जल लाने, गेहूँ पीसने, उनसे नैवेद्य बनाने और अन्य आयोजन करने आदिमें सर्वथा मौन रहे। तत्पश्चात् भाद्रपद कृष्ण प्रतिपदाको जलाशयपर जाकर स्नानादि नित्यकर्म करके देव, ऋषि, मनुष्य और पितरोंका तर्पण करे और फिर सदाशिवका आवाहनादि षोडशोपचारसे पूजन करके '**जन्मजन्मान्तरेष्वेव भावाभावेन यत् कृतम्। क्षन्तव्यं देव तत् सर्वं शम्भो त्वां शरणं गतः॥**' से प्रार्थना करे। इस प्रकार १६ दिन करके भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदाको ब्राह्मण-भोजनादि करवाकर स्वयं भोजन करे तो इससे पुत्र-पौत्रादिकी प्राप्ति और पापादिकी निवृत्ति होती है।

(३) हरितालिका (भविष्योत्तरपुराण)—'**भाद्रस्य कजली कृष्णा शुक्ला च हरितालिका।**' के अनुसार भाद्रशुक्ल ३ को 'हरितालिका' का व्रत किया जाता है। इसमें मुहूर्तमात्र हो तो भी परा तिथि ग्राह्य की जाती है। (क्योंकि द्वितीया पितामहकी और चतुर्थी

पुत्रकी तिथि है; अतः द्वितीयाका योग निषेध और चतुर्थीका योग श्रेष्ठ होता है।) शास्त्रमें इस व्रतके लिये सधवा, विधवा सबको आज्ञा है। धर्मप्राणा स्त्रियोंको चाहिये कि वे '**मम उमामहेश्वरसायुज्यसिद्धये हरितालिकाव्रतमहं करिष्ये।**' यह संकल्प करके मकानको मण्डपादिसे सुशोभितकर पूजा-सामग्री एकत्र करे। इसके बाद कलशस्थापन करके उसपर सुवर्णादि-निर्मित शिव-गौरी (अथवा पूर्वप्रतिष्ठित हर-गौरी)-के समीप बैठकर उनका '**सहस्त्रशीर्षा०**' आदि मन्त्रोंसे पुष्पार्पणपर्यन्त पूजन करके '**ॐ उमायै० पार्वत्यै० जगद्धात्र्यै० जगत्प्रतिष्ठायै० शान्तिरूपिण्यै० शिवायै०** और **ब्रह्मरूपिण्यै नमः**' से उमाके और '**ॐ हराय० महेश्वराय० शम्भवे० शूलपाणये० पिनाकधृषे० शिवाय० पशुपतये** और **महादेवाय नमः**' से महेश्वरके नामोंसे स्थापन और पूजन करके धूप-दीपादिसे शेष षोडश उपचार सम्पन्न करे और '**देवि देवि उमे गौरि त्राहि मां करुणानिधे। ममापराधाः क्षन्तव्या भुक्तिमुक्तिप्रदा भव॥**' से प्रार्थना करे और निराहार रहे। दूसरे दिन पूर्वाह्णमें पारणा करके व्रतको समाप्त करे। इस प्रकार नियत अवधि पूर्ण होनेपर या भाद्रपद शुक्ल ३ को हस्तनक्षत्र और सोमवार हो तो रात्रिके समय मण्डलपर उमा-महेश्वरकी मूर्ति स्थापित करके उनका यथाविधि पूजन करे और तिल, घी आदिसे आहुति देकर दूसरे दिन अष्टयुग्म या षोडशयुग्म (जोड़ा-जोड़ी)-को भोजन कराके १६ सौभाग्य-द्रव्य (सुहागटिपारे) दे; फिर स्वयं भोजन करके व्रतका विसर्जन करे। इसी दिन 'हरिकाली', 'हस्तगौरी' और 'कोटीश्वरी' आदिके व्रत भी होते हैं। इन सबमें पार्वतीके पूजनका प्राधान्य है और विशेषकर इनको स्त्रियाँ करती हैं।

(४) **सिद्धिविनायकव्रत** (कृत्यरत्नावली)—यह भाद्रपद शुक्ल चतुर्थीको किया जाता है। इस दिन गणेशजीका मध्याह्नमें जन्म हुआ

था, अतः इसमें मध्याह्नव्यापिनी तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो या दोनों दिन न हो तो '**मातृविद्धा प्रशस्यते**' के अनुसार पूर्वविद्धा लेनी चाहिये। इस दिन रवि या भौमवार हो तो यह 'महाचतुर्थी' हो जाती है। इस दिन रात्रिमें चन्द्रदर्शन करनेसे मिथ्या कलंक लग जाता है। उसके निवारणके निमित्त स्यमन्तककी कथा श्रवण करना आवश्यक है*। अस्तु, व्रतके दिन प्रातःस्नानादि करके '**मम सर्वकर्मसिद्धये सिद्धिविनायकपूजनमहं करिष्ये**' से संकल्प करके 'स्वस्तिक' मण्डलपर प्रत्यक्ष अथवा स्वर्णादिनिर्मित मूर्ति स्थापन करके पुष्पार्पणपर्यन्त पूजन करे और फिर १३ 'नामपूजा' और २१ 'पत्रपूजा' करके धूप, दीपादिसे शेष उपचार सम्पन्न करे। अन्तमें घृतपाचित २१ मोदक अर्पण करके '**विघ्नानि नाशमायान्तु सर्वाणि सुरनायक। कार्यं मे सिद्धिमायातु पूजिते त्वयि धातरि॥**' से प्रार्थना करे और मोदकादि वितरण करके एक बार भोजन करे। इस दिन राजपूताना प्रान्तमें प्राचीन शैलीकी पाठशालाओंके छात्रगण बड़ी धूमधामसे 'गणपतिचतुर्थी' मनाते हैं और महाराष्ट्रदेशमें इसके महोत्सव होते हैं।

(५) **शिवाचतुर्थी** (भविष्यपुराण)—शिवा, शान्ता और सुखा— ये ३ चतुर्थी होती हैं। इनमें भाद्रपद शुक्ल चतुर्थीकी 'शिवा' संज्ञा है। इसमें स्नान, दान, जप और उपवास करनेसे सौगुना फल होता है।

---

* 'श्रीकृष्णकी द्वारकापुरीमें सत्राजित्‌ने सूर्यकी उपासनासे सूर्यसमान प्रकाशवाली और प्रतिदिन आठ भार सुवर्ण देनेवाली 'स्यमन्तक' मणि प्राप्त की थी। एक बार उसे संदेह हुआ कि शायद श्रीकृष्ण इसे छीन लेंगे। यह सोचकर उसने वह मणि अपने भाई प्रसेनको पहना दी। दैवयोगसे वनमें शिकारके लिये गये हुए प्रसेनको सिंह खा गया और सिंहसे वह मणि 'जाम्बवान्' छीन ले गये। इससे श्रीकृष्णपर यह कलंक लग गया कि 'मणिके लोभसे उन्होंने प्रसेनको मार डाला।' अन्तर्यामी श्रीकृष्ण जाम्बवान्‌की गुहामें गये और २१ दिनतक घोर युद्ध करके उनकी पुत्री जाम्बवतीको तथा स्यमन्तकमणिको ले आये। यह देखकर सत्राजित्‌ने वह मणि उन्हींको अर्पण कर दी। कलंक दूर हो गया।'

स्त्रियाँ यदि इस दिन गुड़, घी, लवण और अपूपादिसे अपने सास-श्वशुर या माँ आदिको तृप्त करें तो उनके सौभाग्यकी वृद्धि होती है। (माघ शुक्ल चतुर्थी शान्ता और भौमप्रयुक्त सुखा होती है।)

(६) ऋषिपंचमी (ब्रह्मपुराण)—भाद्रपद शुक्ल पंचमीको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र वर्णकी स्त्रियोंको चाहिये कि वे नद्यादिपर स्नानकर अपने घरके शुद्ध स्थलमें हरिद्रा आदिसे चौकोर मण्डल बनाकर उसपर सप्तर्षियोंका स्थापन करें और गन्ध, पुष्प, धूप, दीप तथा नैवेद्यादिसे पूजनकर '**कश्यपोऽत्रिर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ गौतमः। जमदग्निर्वसिष्ठश्च सप्तैते ऋषयः स्मृताः॥ दहन्तु पापं मे सर्वं गृह्णन्त्वर्घ्यं नमो नमः॥**' से अर्घ्य दें। इसके बाद अकृष्ट (बिना बोयी हुई) पृथ्वीमें पैदा हुए शाकादिका आहार करके ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक व्रत करें। इस प्रकार सात वर्ष करके आठवें वर्षमें सप्तर्षियोंकी सुवर्णमय सात मूर्ति बनवाकर कलश-स्थापन करके यथाविधि पूजनकर सात गोदान और सात युग्मक ब्राह्मण-भोजन कराके उनका विसर्जन करें। किसी देशमें इस दिन स्त्रियाँ पंचताड़ी तृण एवं भाईके दिये हुए चावल आदिकी कौए आदिको बलि देकर फिर स्वयं भोजन करती हैं।

(७) सूर्यषष्ठी (भविष्योत्तर)—सप्तमीप्रयुक्त भाद्रपद शुक्ल षष्ठीको स्नान, दान, जप और व्रत करनेसे अक्षय फल होता है। विशेषकर सूर्यका पूजन, गंगाका दर्शन और पंचगव्यप्राशनसे अश्वमेधके समान फल होता है। पूजामें गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य मुख्य हैं।

(८) चम्पाषष्ठी (हेमाद्रि, स्कन्दपुराण)—यदि भाद्रपद शुक्ल षष्ठीको भौमवार, विशाखा नक्षत्र और वैधृति योग हो तो 'चम्पाषष्ठी' होती है। इस निमित्त पंचमीको मनमें संकल्प करके षष्ठीके प्रभातमें सफेद तिल और मृत्तिका मिले हुए जलसे स्नान

करके कलशपर कुंकुमसे १२ आरे बनावे, उनमें रथ, अरुण और सूर्यका (सूर्यके १२ नामोंसे) पूजन करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराके स्वयं भोजन करे।

(९) फलसप्तमी (भविष्यपुराण)—भाद्रपद शुक्ल सप्तमीसे आरम्भ करके प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको सूर्यका फलोंसे पूजन करे और स्वयं फल-भक्षणकर व्रत करे।

(१०) मुक्ताभरण (हेमाद्रि, भविष्योत्तरपुराण)—भाद्रपद शुक्ल षष्ठीविद्धा सप्तमीको शुद्ध भूमिमें भवानी और शंकरकी मूर्ति लिखकर उनका षोडशोपचार पूजन करे और स्वयं फल खाकर व्रत करे।

(११) श्रीराधाष्टमी (बृहन्नारदीय पुराण पू० अध्याय ११७) भाद्रपद शुक्ला अष्टमीको जगज्जननी पराम्बा भगवती श्रीराधाका जन्म हुआ था, अतएव इस दिन राधा-व्रत करना चाहिये। स्नानादिके उपरान्त मण्डपके भीतर मण्डल बनाकर उसके मध्यभागमें मिट्टी या ताँबेका कलश स्थापित करे। उसके ऊपर ताँबेका पात्र रखे। उस पात्रके ऊपर दो वस्त्रोंसे ढकी हुई श्रीराधाकी सुवर्णमयी सुन्दर प्रतिमा स्थापित करे। फिर वाद्यसंयुक्त षोडशोपचारद्वारा स्नेहपूर्ण हृदयसे उसकी पूजा करे। पूजा ठीक मध्याह्नमें ही करनी चाहिये। शक्ति हो तो पूरा उपवास करे अन्यथा एकभुक्त व्रत करे। फिर दूसरे दिन भक्तिपूर्वक सुवासिनी स्त्रियोंको भोजन कराकर आचार्यको प्रतिमा दान करे। तत्पश्चात् स्वयं भी भोजन करे। इस प्रकार इस व्रतको समाप्त करना चाहिये। विधिपूर्वक राधाष्टमीव्रतके करनेसे मनुष्य व्रजका रहस्य जान लेता तथा राधा-परिकरोंमें निवास करता है।

(१२) दूर्वाष्टमी (भविष्यपुराण)—भाद्रपद शुक्लाष्टमीको उमासहित शिवका षोडशोपचार पूजन करके सात प्रकारके फल, पुष्प, दूर्वा और नैवेद्य अर्पणकर व्रत करे तो धनार्थी, पुत्रार्थी या कामार्थी आदिको धन, पुत्र और कामादि प्राप्त होते हैं।

(१३) महालक्ष्मीव्रत (मदनरत्न, स्कन्दपुराण)—भाद्रपद शुक्ल अष्टमीसे आरम्भ करके आश्विन कृष्ण अष्टमीपर्यन्त प्रतिदिन १६ अंजलि कुल्ले करके प्रातःस्नानादि नित्यकर्मकर चन्दनादिनिर्मित लक्ष्मीकी प्रतिमाका स्थापन करे। उसके समीप सोलह सूत्रके डोरेमें १६ गाँठ लगाकर उनका '**लक्ष्म्यै नमः**' से प्रत्येक गाँठका पूजन करके लक्ष्मीकी प्रतिमाका पूजन करे। (लक्ष्मीपूजनकी विशेष विधि 'सारसंग्रह' में देखनी चाहिये) पूजनके पश्चात् '**धनं धान्यं धरां हर्म्यं कीर्तिमायुर्यशः श्रियम्। तुरगान् दन्तिनः पुत्रान् महालक्ष्मि प्रयच्छ मे॥**' से उक्त डोरेको दाहिने हाथमें बाँधे और हरी दूर्वाके १६ पल्लव और १६ अक्षत लेकर कथा सुने। इस प्रकार करके आश्विन कृष्ण अष्टमीको विसर्जन करे।

(१४) नन्दानवमी (मदनरत्न, भविष्योत्तर)—भाद्रपद शुक्ल 'नन्दानवमी' को दुर्गाका यथाविधि पूजन करके व्रत करनेसे विष्णुलोक प्राप्त होता है। व्रतीको चाहिये कि वह शुक्ल सप्तमीको एकभुक्त व्रत करे और अष्टमीको उपवास करके दुर्गाको दूर्वांकुरोंपर स्थिरकर फल-पुष्पादिसे पूजन करे और रात्रिमें '**ॐ नन्दायै नमः स्वाहा हूँ फट्**' इस मन्त्रसे जप और जागरण करे। फिर नवमीके प्रभातमें चण्डिका देवीका, गुरुका और कुमारीका पूजन करके भोजन करे। स्नान और प्राशनमें कुशोदक उपयोगमें ले। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल सप्तमी, अष्टमी और नवमीको चार मासपर्यन्त करे।

(१५) दशावतारव्रत (भविष्योत्तर)—यह व्रत भाद्रपद शुक्ल दशमीको किया जाता है। एतन्निमित्त किसी जलाशयपर जाकर स्नान करके देव और पितरोंका तर्पण करे और अपने हाथसे आटेकी दो परो (लगभग ३००ग्राम आटा) लेकर उसके अपूप (पूआ) बनावे और 'मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, त्रिविक्रम, राम, कृष्ण, परशुराम, बौद्ध और कल्कि' इन दस अवतारोंका यथाविधि पूजन

करे और अपूपादिका भोग लगाकर उनमेंसे दस देवताके, दस ब्राह्मणके और दस अपने रखकर भोजन करे। इस प्रकार दस वर्षतक करे। १-अपूप, २-घेवर, ३-कासार, ४-मोदक, ५-सुहाल, ६-सकरपारे, ७-डोवठे, ८-गुणा, ९-कोकर और १०-पुष्पकर्ण—इन दस पदार्थोंमेंसे प्रतिवर्ष एक-एक पदार्थ देवता आदिको दस-दसकी संख्यामें अर्पण करे तो विष्णुलोककी प्राप्ति होती है।

(१६) शुक्लैकादशी (ब्रह्माण्डपुराण)—भाद्रपद शुक्ल 'पद्मा' एकादशीको प्रातःस्नानादिके अनन्तर भगवान्का यथाविधि पूजन करके उपवास करे और रात्रिके समय हरिस्मरणसहित जागरण करके दूसरे दिन पूर्वाह्णमें पारणा करे।.... यह स्मरण रहे कि प्रभातके समय यदि श्रवण नक्षत्रके मध्यभागकी (लगभग २०) घड़ीका अंश हो तो उसमें पारणा न करे। यह भी स्मरण रहे कि मध्याह्नसे पहले श्रवणका मध्य अंश न उतरे तो जल पीकर पारणा करे।..... प्राचीन कालमें सूर्यवंशके चक्रवर्ती मान्धाताने अपने राज्यकी तीन वर्षकी अनावृष्टिको मिटानेके लिये अंगिरा ऋषिके आदेशसे इसी 'पद्मा एकादशी' के व्रतका अनुष्ठान किया था, उससे मान्धाताके राज्यमें सर्वत्र सदैव अनुकूल वर्षा होती रही।..... यदि इस दिन श्रवण नक्षत्र हो तो यही 'विजया एकादशी' होती है। इसके व्रतसे सब प्रकारके अभीष्ट सिद्ध होते हैं। इस दिन भगवान् वामनजीका पूजन करना आवश्यक होता है। व्रतीको चाहिये कि भाद्रपद शुक्ल एकादशीको प्रातः-स्नानादि करके भगवान् वामनजीकी सुवर्णकी मूर्ति बनवावे और 'मत्स्य, कूर्म, वाराह' आदिके नामोच्चारणसहित गन्ध-पुष्पादि सभी उपचारोंसे उसका यथाविधि पूजन करे। दिनभर उपवास रखे और रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिन फिर उसका पूजन करके उपस्थित देय द्रव्यादि ब्राह्मणोंको देकर उनको भोजन करावे और फिर स्वयं भोजन करके व्रत समाप्त करे।

(१७) कटिपरिवर्तनोत्सव (भविष्योत्तर)—भाद्रपद शुक्ल एकादशीको भगवान्‌का कटिपरिवर्तन करावे। उसके लिये देव-प्रबोधिनीके समान सम्पूर्ण विधान बनवाकर भगवान्‌को विमानमें विराजित करके गायन, वादन, नर्तन, कीर्तन और जय-घोषादिके साथ जलाशयपर ले जाय और वहाँ जलपानादि साधनोंसे उनको दोलायमान करके वापस लाकर संध्याके समय महापूजा और नीराजन करे। रात्रिमें भगवान्‌को दक्षिण-कटि शयन कराके जागरण करे और दूसरे दिन पूर्वाह्णमें '**वासुदेव जगन्नाथ प्राप्तेयं द्वादशी तव। पार्श्वेन परिवर्तस्व सुखं स्वपिहि माधव॥**' से प्रार्थना करके पारणा करे। राजपूतानेमें यह उत्सव 'जलझूलनी' के नामसे प्रसिद्ध है और सामान्य या विशेष यथायोग्य आयोजनोंसे सर्वत्र ही मनाया जाता है।

(१८) प्रदोषव्रत—यह सुपरिचित व्रत प्रत्येक त्रयोदशीको किया जाता है। सूर्यास्तके समय स्नान करके लाल कनेरके पुष्प, लाल चन्दन और धूप-दीपादिसे शिवपूजन करके प्रदोष-समयमें एक बार भोजन करे। यदि इस दिन शनिवार हो तो और भी अधिक अच्छा है।

(१९) अनन्तव्रत (स्कन्द-ब्रह्म-भविष्यादि)—यह व्रत भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशीको किया जाता है। इसमें उदयव्यापिनी[१] तिथि ली जाती है। पूर्णिमाका सहयोग[२] होनेसे इसका फल बढ़ जाता है। कथाके अनुरोधसे मध्याह्नतक चतुर्दशी[३] रहे तो और भी अच्छा है। व्रतीको चाहिये कि उस दिन प्रातःस्नानादि करके '**ममाखिलपापक्षयपूर्वकशुभफलवृद्धये श्रीमदनन्तप्रीतिकामनया अनन्तव्रतमहं करिष्ये**' ऐसा संकल्प करके वासस्थानको स्वच्छ

---

१. उदये त्रिमुहूर्तापि ग्राह्यानन्तव्रते तिथिः।

२. तथा भाद्रपदस्यान्ते चतुर्दश्यां द्विजोत्तम।
पौर्णमास्याः समायोगे व्रतं चानन्तकं चरेत्॥

३. मध्याह्ने भोज्यवेलायाम्। इति।

और सुशोभित करे। यदि बन सके तो एक स्थानको या चौकी आदिको मण्डपरूपमें परिणत करके उसमें भगवान्‌की साक्षात् अथवा दर्भसे बनायी हुई सात फणोंवाली शेषस्वरूप अनन्तकी मूर्ति स्थापित करे। उसके आगे १४ गाँठका अनन्त दोरक रखे और नवीन आम्रपल्लव एवं गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादिसे पूजन करे। पूजनमें पंचामृत, पंजीरी, केले और मोदकादिका प्रसाद अर्पण करके '**नमस्ते देव देवेश नमस्ते धरणीधर। नमस्ते सर्वनागेन्द्र नमस्ते पुरुषोत्तम॥**' से नमस्कार करे और '**न्यूनातिरिक्तानि परिस्फुटानि यानीह कर्माणि मया कृतानि। सर्वाणि चैतानि मम क्षमस्व प्रयाहि तुष्टः पुनरागमाय॥**' इससे विसर्जन करके '**दाता च विष्णुर्भगवाननन्तः प्रतिग्रहीता च स एव विष्णुः। तस्मात्त्वया सर्वमिदं ततं च प्रसीद देवेश वरान् ददस्व॥**' से वायन दान करके कथा सुने और जिनमें नमक न पड़ा हो ऐसे पदार्थोंका भोजन करे। कथाका सार यह है कि····'प्राचीन कालमें सुमन्तु ब्राह्मणकी सुशीला कन्या कौण्डिन्यको ब्याही थी। उसने दीन पत्नियोंसे पूछकर अनन्त-व्रत धारण किया। एक बार कुयोगवश कौण्डिन्यने अनन्तके डोरेको तोड़कर आगमें पटक दिया। उससे उसकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी। तब वह दुःखी होकर अनन्तको देखने वनमें चला गया। वहाँ आम्र, गौ, वृष, खर, पुष्करिणी और वृद्ध ब्राह्मण मिले। ब्राह्मण स्वयं अनन्त थे। वे उसे गुहामें ले गये। वहाँ जाकर बतलाया कि वह आम वेदपाठी ब्राह्मण था, विद्यार्थियोंको न पढ़ानेसे 'आम' हुआ। गौ पृथ्वी थी, बीजापहरणसे 'गौ' हुई। वृष धर्म, खर क्रोध और पुष्करिणी बहिनें थीं। दानादि परस्पर लेने-देनेसे 'पुष्करिणी' हुईं और वृद्ध ब्राह्मण मैं हूँ। अब तुम घर जाओ। रास्तेमें आम्रादि मिलें उनसे संदेशा कहते जाओ और दोनों स्त्री-पुरुष व्रत करो, सब आनन्द होगा।' इस प्रकार १४ वर्ष (या यथासामर्थ्य) व्रत करे। फिर नियत

अवधि पूरी होनेपर भाद्रपद शुक्ल १४ को उद्यापन करे। उसके लिये 'सर्वतोभद्रस्थ कलशपर कुशनिर्मित या सुवर्णमय अनन्तकी मूर्ति और सोना, चाँदी, ताँबा, रेशम या सूत्रका (१४ ग्रन्थियुक्त) अनन्त दोरक स्थापन करके उनका वेदमन्त्रोंसे पूजन और तिल, घी, खाँड, मेवा एवं खीर आदिसे हवन करके गोदान, शय्यादान, अन्नदान (१४ घट, १४ सौभाग्यद्रव्य और १४ अनन्त दान) करके १४ युग्म ब्राह्मणोंको भोजन करावे और फिर स्वयं भोजन करके व्रतको समाप्त करे।

(२०) पालीव्रत (भविष्यपुराण)—भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशीको चारों वर्णकी कोई भी कुलवधू किसी जलपूर्ण बड़े तालाब आदिपर जाकर एक चौकीपर अक्षतादिका मण्डल बनाकर उसपर वरुणकी मूर्ति या वारुण यन्त्र लिखे। फिर उसका गन्ध, पुष्पादिसे पूजन करके '**वरुणाय नमस्तुभ्यं नमस्ते यादसां पते। अपां पते नमस्तुभ्यं रसानां पतये नमः॥**' से अर्घ्य दे और '**मा क्लेदं मा च दौर्गन्ध्यं वैरस्यं मा मुखेऽस्तु मे। वरुणो वारुणीभर्ता वरदोऽस्तु सदा मम॥**' से प्रार्थना करके ब्राह्मणोंको भोजन करावे और अग्निपक्व अन्नका स्वयं भोजन करे।

(२१) कदलीव्रत (भविष्योत्तरपुराण)—भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशीको कदली (केला)-के पेड़के समीप बैठकर अनेक प्रकारके फल, पुष्प और धूप-दीपादिसे उसका पूजन करे। सप्तधान्य, रक्तचन्दन, घृत-दीपक, दही, दूब, अक्षत, वस्त्र, घृतपाचित नैवेद्य, जायफल, पूगफल और प्रदक्षिणासे अर्चन सम्पन्नकर '**चिन्तयेत् कदलीं नित्यं कदलैः कामदीपितैः। शरीरारोग्यलावण्यं देहि देवि नमोऽस्तु ते॥**' से प्रार्थना करे। इस प्रकार तीन या चार मास करे तो उस कुलमें स्त्री कुलटा नहीं हों। सब पुत्र-पौत्रादिसंयुक्त सौभाग्यशालिनी सदाचारिणी हों!

आश्विनके व्रत

कृष्णपक्ष (महालय)

(१) **पितृव्रत** (कर्मकाण्डमार्गप्रदीप)—शास्त्रोंमें मनुष्योंके लिये देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण—ये तीन ऋण बतलाये गये हैं। इनमें श्राद्धके द्वारा पितृ-ऋणका उतारना आवश्यक है; क्योंकि जिन माता-पिताने हमारी आयु, आरोग्य और सुख-सौभाग्यादिकी अभिवृद्धिके लिये अनेक यत्न या प्रयास किये उनके ऋणसे मुक्त न होनेपर हमारा जन्मग्रहण करना निरर्थक होता है। उनके ऋण उतारनेमें कोई ज्यादा खर्च हो, सो भी नहीं है; केवल वर्षभरमें उनकी मृत्यु-तिथिको सर्वसुलभ जल, तिल, यव, कुश और पुष्प आदिसे उनका श्राद्ध सम्पन्न करने और गोग्रास देकर एक या तीन, पाँच आदि ब्राह्मणोंको भोजन करा देनेमात्रसे ऋण उतर जाता है; अतः इस सरलतासे साध्य होनेवाले कार्यकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इसके लिये जिस मासकी जिस तिथिको माता-पिता आदिकी मृत्यु हुई हो उस तिथिको श्राद्धादि करनेके सिवा, आश्विन कृष्ण (महालय) पक्षमें भी उसी तिथिको श्राद्ध-तर्पण-गोग्रास और ब्राह्मण-भोजनादि करना-कराना आवश्यक है; इससे पितृगण प्रसन्न होते हैं और हमारा सौभाग्य बढ़ता है। पुत्रको चाहिये कि वह माता-पिताकी मरण-तिथिको मध्याह्नकालमें पुनः स्नान करके श्राद्धादि करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराके स्वयं भोजन करे। जिस स्त्रीके कोई पुत्र न हो, वह स्वयं भी अपने पतिका श्राद्ध उसकी मृत्यु-तिथिको कर सकती है। भाद्रपद शुक्ल पूर्णिमासे प्रारम्भ करके आश्विन कृष्ण अमावस्यातक सोलह दिन पितरोंका तर्पण और विशेष तिथिको श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे 'पितृव्रत' यथोचितरूपमें पूर्ण होता है।

(२) संकष्टचतुर्थी (पूर्वागत)—आश्विन कृष्ण चतुर्थीको व्रत हो और उसी दिन माता-पिता आदिका श्राद्ध हो तो दिनमें श्राद्ध करके ब्राह्मणोंको भोजन करा दे और अपने हिस्सेके भोजनको सूँघकर गौको खिला दे। रात्रिमें चन्द्रोदयके बाद स्वयं भोजन करे। इस व्रतकी कथाका यह सार है कि एक बार बाणासुरकी पुत्री ऊषाको स्वप्नमें कृष्णपौत्र अनिरुद्धका दर्शन हुआ। ऊषाको उनके प्रत्यक्ष दर्शनकी अभिलाषा हुई और उसने चित्रलेखाके द्वारा अनिरुद्धको अपने घर मँगा लिया। इससे अनिरुद्धकी माताको बड़ा कष्ट हुआ। इस संकटको टालनेके लिये माताने व्रत किया, तब इस व्रतके प्रभावसे ऊषाके यहाँ छिपे हुए अनिरुद्धका पता लग गया और ऊषा तथा अनिरुद्ध द्वारका आ गये।

(३) पुत्रीयव्रत (हेमाद्रि)—आश्विन कृष्ण अष्टमीको प्रातःस्नानादि करके वासुदेवका पूजन करे। घी और खीरकी आहुति दे और जिस स्त्रीको पुत्रकी कामना हो, वह पुरुष-नामके—केले, अमरूद, सीताफल और खरबूजा आदि और जिसको कन्याकी कामना हो, वह स्त्री-नामके—नारंगी, अनार, कमरख और जामुन आदिका एक बार भोजन करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करनेसे पुत्र होता है। इसी तिथिको 'जीवत्पुत्रिकाव्रत' भी किया जाता है। इस व्रतका आचरण पुत्रकी जीवन-रक्षाके उद्देश्यसे होता है।

(४) कृष्णैकादशी (ब्रह्मवैवर्तपुराण)—आश्विन कृष्ण एकादशीका नाम 'इन्दिरा' है, इसके व्रतसे सब प्रकारके पाप दूर होते हैं। इसके निमित्त प्रातःस्नानादि करके उपवास करे और हरिस्मरणमें लगे रहकर रातभर जगे। यदि इस दिन पिता आदिका श्राद्ध हो और उपवासके कारण श्राद्धीय अन्नके ग्रहण करनेमें संकोच हो तो उसे सूँघकर गौको खिला दे और पारणके पश्चात् भोजन करे।

(५) **संन्यासीय श्राद्ध** (मदनपारिजातमें वायुपुराणका वचन)—पुत्रको चाहिये कि उसका पिता यदि यति (संन्यासी) या वनवासी हो तो आश्विन कृष्ण द्वादशीको उसके निमित्त श्राद्ध करे।*

(६) **पितृश्राद्ध** (हेमाद्रि)—आश्विन कृष्ण त्रयोदशीको पितृश्राद्ध करके पितरोंको तृप्त करे तो सब प्रकारके सुख प्राप्त हों। यदि उसके पुत्र हो तो अपिण्ड श्राद्ध करे।

(७) **प्रदोषव्रत** (पूर्वागत)—प्रत्येक त्रयोदशीमें होनेवाले इस व्रतको आश्विन कृष्ण त्रयोदशीको प्रदोषकालमें करे।

(८) **दुर्मरणश्राद्ध** (मरीचि)—जो मनुष्य तिर्यग्योनि (कुत्ता आदि)-के काटने और विष-शस्त्रादिके घातसे मरे हों या ब्रह्मघाती हुए हों, उनका आश्विन कृष्ण १४ को श्राद्ध करनेसे उनकी तृप्ति होती है।

शुक्लपक्ष

(१) **अशोकव्रत** (भविष्योत्तर)—आश्विन शुक्ल प्रतिपदाको नवीन पल्लवोंवाले अशोकवृक्षके समीप सप्तधान्य, गेहूँके गुणे, मोदक, अनार आदि ऋतुफल और पुष्पादि चढ़ाकर यथाविधि पूजन करे और '**अशोक शोकशमनो भव सर्वत्र नः कुले**' से अर्घ्य देकर उसे उत्तम वस्त्रोंसे ढककर पताकादि लगाये तो व्रतवती स्त्रीके सब शोक नष्ट हो जाते हैं। जिस समय जनकनन्दिनी सीताने लंकाकी अशोकवाटिकामें यह व्रत किया था, उस समय उनके सब शोक दूर हो गये थे।

(२) **नवरात्रव्रत** (देवीभागवतादि)—ये आश्विन शुक्ल प्रतिपदासे नवमीपर्यन्त होते हैं। इनका आरम्भ अमायुक्त प्रतिपदामें वर्जित है और द्वितीयायुक्त प्रतिपदामें शुभ है। नव रात्रियोंतक व्रत

---

* यतीनां च वनस्थानां वैष्णवानां विशेषतः।
द्वादश्यां विहितं श्राद्धं कृष्णपक्षे विशेषतः॥ (पृथ्वीचन्द्रोदयसंग्रहे)

करनेसे 'नवरात्र' व्रत पूर्ण होता है; तिथिकी ह्रास-वृद्धिसे इनमें न्यूनाधिकता नहीं होती। प्रारम्भके समय यदि चित्रा नक्षत्र और वैधृति हों तो उनके उतरनेके बाद व्रतका प्रारम्भ होना चाहिये। परंतु देवीका आवाहन, स्थापन और विसर्जन—ये तीनों प्रातःकालमें होते हैं; अतः यदि चित्रादि अधिक समयतक हों तो उसी दिन अभिजित् मुहूर्तमें आरम्भ करना चाहिये। वैसे तो वासन्ती नवरात्रोंमें विष्णुकी और शारदीय नवरात्रोंमें शक्तिकी उपासनाका प्राधान्य है ही; किंतु ये दोनों ही बहुत व्यापक हैं, अतः दोनोंमें दोनोंकी उपासना होती है। इनमें किसी वर्ण, विधान या देवादिकी भिन्नता नहीं है; सभी वर्ण अपने अभीष्टकी उपासना करते हैं। यदि नवरात्रपर्यन्त व्रत रखनेकी सामर्थ्य न हो तो (१) प्रतिपदासे सप्तमीपर्यन्त 'सप्तरात्र;' (२) पंचमीको एकभुक्त, षष्ठीको नक्तव्रत, सप्तमीको अयाचित, अष्टमीको उपवास और नवमीके पारणसे 'पंचरात्र;' (३) सप्तमी, अष्टमी और नवमीके एकभुक्त व्रतसे 'त्रिरात्र;' (४) आरम्भ और समाप्तिके दो व्रतोंसे 'युग्मरात्र' और (५) आरम्भ या समाप्तिके एक व्रतसे 'एकरात्र' के रूपमें जो भी किये जायँ, उन्हींसे अभीष्टकी सिद्धि होती है। आरम्भमें शुभस्थानकी मृत्तिकासे वेदी बनाकर उसमें जौ, गेहूँ बोये। उनपर यथासामर्थ्य सुवर्णादिका कलश स्थापित करे और कलशपर सोना, चाँदी, ताँबा, मृत्तिका, पाषाण या चित्रमय मूर्तिकी प्रतिष्ठा करे। मूर्ति यदि मिट्टी, कागज या सिन्दूर आदिकी हो और स्नानसे उसके नष्ट हो जानेका डर हो तो या तो उसपर दर्पण लगा देना चाहिये या खड्गादिको उसमें परिणत करना चाहिये। मूर्ति न होनेकी अवस्थामें कलशके पीछेको स्वस्तिक और उसके युग्म-पार्श्वमें त्रिशूल बनाकर दुर्गाका तथा चित्र, पुस्तक या शालग्रामादिको विराजमानकर विष्णुका पूजन

करे। पूजा राजसी, तामसी और सात्त्विकी—तीन प्रकारकी होती है; इनमें सात्त्विकीका सर्वाधिक प्रचार है। नवरात्र-व्रत आरम्भ करते समय सर्वप्रथम गणपति, मातृका, लोकपाल, नवग्रह और वरुणका पूजन, स्वस्तिवाचन और मधुपर्क ग्रहण करके प्रधान मूर्तिकी—जो राम-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण या शक्ति, भगवती, देवी आदि किसी भी अभीष्ट देवकी हो—वेदविधि या पद्धतिक्रमसे अथवा अपने साम्प्रदायिक विधानसे पूजा करे। देवीके नवरात्रमें महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वतीका पूजन तथा सप्तशतीका पाठ मुख्य है। यदि पाठ करना हो तो देवतुल्य पुस्तकका पूजन करके १, ३, ५ आदि विषम संख्याके पाठ करने चाहिये और पाठमें विशेष ब्राह्मण हों तो उनकी संख्या भी १, ३, ५ आदि विषम ही होनी चाहिये। फलसिद्धिके लिये १, उपद्रव-शान्तिके लिये ३, सामान्यतः सब प्रकारकी शान्तिके लिये ५, भयसे छूटनेके लिये ७, यज्ञफलकी प्राप्तिके लिये ९, राज्यके लिये ११, कार्यसिद्धिके लिये १२, किसीको वशमें करनेके लिये १४, सुख-सम्पत्तिके लिये १५, धन और पुत्रके लिये १६, शत्रु, रोग और राजाके भयसे छूटनेके लिये १७, प्रियकी प्राप्तिके लिये १८, बुरे ग्रहोंके दोषकी शान्तिके लिये २०, बन्धनसे मुक्त होनेके लिये २५ और मृत्युके भय, व्यापक उपद्रव तथा देशको नाश आदिसे बचानेके लिये और असाध्य वस्तुकी सिद्धि एवं लोकोत्तर लाभके लिये आवश्यकतानुसार सौ, हजार, दस हजार और लाख पाठतक करने चाहिये। देवीव्रतोंमें 'कुमारीपूजन' परमावश्यक माना गया है। यदि सामर्थ्य हो तो नवरात्रपर्यन्त और न हो तो समाप्तिके दिन कुमारीके चरण धोकर उसकी गन्ध-पुष्पादिसे पूजा करके मिष्टान्न भोजन कराना चाहिये। एक कन्याके पूजनसे ऐश्वर्यकी; दोसे भोग और

मोक्षकी; तीनसे धर्म, अर्थ, कामकी; चारसे राज्यपदकी; पाँचसे विद्याकी; छ:से षट्कर्मसिद्धिकी; सातसे राज्यकी; आठसे सम्पदाकी और नौसे पृथ्वीके प्रभुत्वकी प्राप्ति होती है। दो वर्षकी लड़की कुमारी, तीनकी त्रिमूर्तिनी, चारकी कल्याणी, पाँचकी रोहिणी, छ:की काली, सातकी चण्डिका, आठकी शाम्भवी, नौकी दुर्गा और दसकी सुभद्रास्वरूप होती है। इससे अधिक उम्रकी कन्याको कुमारीपूजामें नहीं सम्मिलित करना चाहिये।* दुर्गापूजामें प्रतिपदाको केशके संस्कार करनेवाले द्रव्य—आँवला और सुगन्धित तैल आदि; द्वितीयाको बाल बाँधनेके लिये रेशमी डोरी; तृतीयाको सिन्दूर और दर्पण; चतुर्थीको मधुपर्क, तिलक और नेत्रांजन; पंचमीको अंगराग और अलंकार तथा षष्ठीको फूल आदि समर्पण करे। सप्तमीको गृहमध्यपूजा, अष्टमीको उपवासपूर्वक पूजन, नवमीको महापूजा और कुमारीपूजा तथा दशमीको नीराजन और विसर्जन करे। इसी प्रकार राम-कृष्णादिके नवरात्रमें स्तोत्र-पाठ या लीलाप्रदर्शन आदि करे। यह उल्लेख दिग्दर्शनमात्र है, अतः विशेष बातें ग्रन्थान्तरोंसे जाननी चाहिये। इस प्रकार नौ दिनोंतक नवरात्र करके दशमीको दशांश हवन, ब्राह्मण-भोजन और व्रतका विसर्जन करे।

(३) **पुण्यप्रदा** (स्कन्दपुराण)—आश्विन शुक्ल द्वितीयाको किसी भी प्रकारका दान देकर व्रत करनेसे अत्यन्त फल होता है।

(४) **सिन्दूरतृतीया** (दुर्गाभक्तितरंगिणी)—आश्विन शुक्ल तृतीयाको चम्पाके तेलमें मिले हुए सिन्दूरसे देवीके केशपाशके मध्यभागको चर्चितकर दर्पण दिखाये तो देवीकी पूजा सम्पन्न होती है।

(५) **रथोत्सवचतुर्थी** (दुर्गाभक्तितरंगिणी)—आश्विन शुक्ल

* अत ऊर्ध्वं तु याः कन्याः सर्वकार्येषु वर्जिताः। (स्कन्दपुराण)

चतुर्थीको भगवतीका पूजन और जागरण करके उन्हें सजे हुए रथमें विराजमान करे और नगरमें भ्रमण कराके पुनः स्थापित करे।

(६) **शान्तिपंचमी** (हेमाद्रि)—आश्विन शुक्ल पंचमीको प्रातः-स्नानादिके पश्चात् वेदी या चौकीपर सफेद वस्त्र बिछाकर हरी और कोमल कुशके १२ नाग और एक इन्द्राणी बनाकर उसपर स्थापित करे। इन्द्राणीको जलसे और नागोंको घी, दूध और जल—तीनोंसे स्नान करावे। गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और अनेक प्रकारके नागोंका ध्यान करके '**नागाः प्रीता भवन्तीह शान्तिमाप्नोति वै विभो। स शान्तिलोकमासाद्य मोदते शाश्वतीः समाः॥**' से प्रार्थना करके '**ॐ कुरु कुल्ल्यं हुं फट् स्वाहा**' के १२ हजार जप करे। इस प्रकार उक्त कुश-निर्मित बारह नागोंमें आश्विनमें अनन्त, कार्तिकमें वासुकि, मार्गशीर्षमें शंख, पौषमें पद्म, माघमें कम्बल, फाल्गुनमें कर्कोटक, चैत्रमें अश्वतर, वैशाखमें शंखपाल, ज्येष्ठमें कालिय, आषाढ़में तक्षक, श्रावणमें पिंगल और भाद्रपदमें महानागका पूजन करे। इससे सर्पादिका भय दूर हो जाता है, सब प्रकारकी शान्ति बढ़ती है और उक्त मन्त्रसे सर्पविष रुक जाता है।

(७) **उपांगललिताव्रत** (कृत्यरत्नावली)—यह आश्विन शुक्ल पंचमीको किया जाता है। इसमें रात्रिव्यापिनी तिथि ली जाती है। व्रतीको चाहिये कि उस दिन अपामार्ग (ऊँगा)-के २१ दातुन लेकर '**आयुर्बलमिदम्०**' से एक-एक दातुन करके स्नान करे और सफेद वस्त्र पहनकर सुवर्णमयी उपांगललिताका यथाप्राप्त उपचारोंसे पूजन करे। रात्रिमें चन्द्रोदय होनेपर उन्हें अर्घ्य दे करके नक्तव्रतकर दूसरे दिन देवीका विसर्जन करे। इस व्रतकी महाराष्ट्र देशमें विशेष प्रसिद्धि है।

(८) **बिल्वनिमन्त्रण** (हेमाद्रि)—आश्विन शुक्ल षष्ठीको

प्रातः-कृत्यादि करके देवीका पूजन करे और यदि ज्येष्ठा हो तो उनकी पूजाके लिये बिल्ववृक्षका निमन्त्रिण करे।

(९) **बिल्वसप्तमी** (हेमाद्रि)—यदि आश्विन शुक्ल सप्तमीको मूल नक्षत्र हो (या न हो तो भी) पूर्वनिमन्त्रित बिल्ववृक्षकी दो फल लगी हुई शाखा लेकर देवीके समीप रखे और उनके सहित देवीका पूजन करे। इसमें सूर्योदय-संयुक्त परा तिथि ली जाती है।

(१०) **सरस्वतीशयनसप्तमी** (वीरमित्रोदय)—आश्विन शुक्ल सप्तमीसे नवमीपर्यन्त सरस्वतीका शयनव्रत किया जाता है। एतन्निमित्त सप्तमीको पुस्तकादिका पूजन करके सरस्वतीका शयन कराये, व्रतमें रहे और पठन-पाठन एवं लिखना-लिखाना बंद रखे और सप्तमी (के मूल)-से दशमी (के श्रवण) पर्यन्त पुस्तकादिका पूजन करता रहे। पूजनमें सरस्वतीकी स्वर्णमयी, शिलामयी या चित्रमयी जैसी भी मूर्ति हो वह चार भुजावाली, सर्वाभरणविभूषित, दो दायें हाथोंमें पुस्तक और रुद्राक्ष और दो बायें हाथोंमें वीणा और कमण्डलु धारण किये हुए समान रूपमें विराजी हुई हो—इस प्रकारका ध्यान करे।

(११) **महाष्टमी** (दुर्गोत्सवभक्तितरंगिणी, देवीपुराणादि)—आश्विन शुक्ल अष्टमीको देवीकी उपासनाके अनेक अनुष्ठान होते हैं, इस कारण यह महाष्टमी मानी जाती है। इसमें सप्तमीका वेध वर्जित और नवमीका ग्राह्य होता है। इस दिन देवी शक्ति धारण करती हैं और नवमीको पूजा समाप्त होती है; अतएव सप्तमीवेधसंयुक्त महाष्टमीको पूजनादि करनेसे पुत्र, स्त्री और धनकी हानि होती है। यदि अष्टमी मूलयुक्त और नवमी पूर्वाषाढ़ायुक्त हो अथवा दोनोंसे युक्त हो तो वह महानवमी होती है। यदि सूर्योदयके समय अष्टमी और सूर्यास्तके समय नवमी हो और भौमवार हो तो यह योग अधिक श्रेष्ठ होता

है। महाष्टमीके प्रातःकालमें पवित्र होकर भगवतीकी वस्त्र, शस्त्र, छत्र, चामर और राजचिह्नादिसहित पूजा करे। यदि उस समय भद्रा हो तो सायंकालके समय करे और अर्द्धरात्रिमें बलिप्रदान करे। कई स्थानोंमें इस दिन 'अखिलकारिणी' (खिलगानी) देवीका पूजन किया जाता है। वह भद्रावर्जित सायंकाल या प्रातःकाल किसीमें भी किया जा सकता है। उसमें त्रिशूलमात्रकी पूजा होती है।

(१२) **महानवमी** (हेमाद्रि, देवीभागवत)—आश्विन शुक्ल नवमीको प्रातःस्नानादि नित्यकर्म शीघ्र समाप्त करके '**उपोष्य नवमीं त्वद्य यामेष्वष्टसु चण्डिके। तेन प्रीता भव त्वं भोः संसारात् त्राहि मां सदा॥**' इस मन्त्रसे व्रत करनेकी भावना भगवतीके सम्मुख निवेदन करे। इसके बाद देवीपूजाके स्थानको ध्वजा, पताका, पुष्पमाला और बंदनवार आदिसे सुशोभित करके भगवतीका पंचदश, षोडश, षट्त्रिंश या राजोपचारादिमेंसे जो उपलब्ध हो उसी प्रकारसे पूजन करे। अनेक प्रकारके अन्न-पानादिका भोग लगाये और घृतपूर्ण बत्ती या कपूर जलाकर नीराजन करे। इस दिन धराधीशोंको चाहिये कि वे नवीन अश्वोंका पूजन करें। पूजाविधान आगे (दशमीके शस्त्रपूजनमें) दिया गया है। इस दिन पूर्व-विद्धा नवमी ली जाती है। यदि इसमें मूल, पूर्वा और उत्तराका (त्रैलोक्यदुर्लभ) सहयोग हो तो यह नवमी बड़े महत्त्वकी मानी जाती है। इसमें अनेक प्रकारके उपहारद्रव्योंसे पूजा की जाय तो महाफल होता है।

(१३) **भद्रकालीव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—आश्विन शुक्ल नवमीको वासस्थानके पूर्व भागमें भद्रकालीकी स्थापना करके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और उपवास रखे।

(१४) **रथनवमी** (भविष्यपुराण)—इसी दिन (आ० शु० ९

को) नवीन रथमें आसन बिछाकर महिषारूढ महिषघ्नीकी स्वर्णनिर्मित मूर्ति स्थापित करके पूजन करे और रथको राजमार्गोंमें भ्रमण कराकर यथास्थान ले आये और भगवतीका पुनः पूजन करके रथोत्सव-व्रत समाप्त करे।

(१५) शौर्यव्रत (ब्रह्मपुराण)—एतन्निमित्त आश्विन शुक्ल सप्तमीको संकल्प करे। अष्टमीको निरुदक (अन्न-पानादिवर्जित) उपवास रखे और नवमीको भगवतीकी भक्तिसहित उपासना करके '**दुर्गां देवीं महामायां महाभागां महाप्रभाम्।**' से प्रार्थना करके यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन कराये और स्वयं पिसे हुए सत्तूका पान करके व्रत करे।

(१६) नवरात्रसमाप्ति (देवीभागवत)—आश्विन शुक्ल दशमीके प्रातःकालमें भगवतीका यथाविधि पूजन करके नीराजन करे। '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः०**' से पुष्पांजलि अर्पण करे। '**मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं यदर्चितम्। पूर्णं भवतु तत् सर्वं त्वत्प्रसादान्महेश्वरि॥**' से क्षमा-प्रार्थना करके '**ॐ दुर्गायै नमः**' कहकर एक पुष्प ईशानमें छोड़ दे और '**गच्छ गच्छ परं स्थानं स्वस्थानं देवि चण्डिके। व्रतस्त्रोतोजलं वृद्ध्यै तिष्ठ गेहे च भूतये॥**' से कलशस्थ देवमूर्ति आदिको उठाकर यथास्थान स्थापित करे। यदि मूर्ति मृत्तिका आदिकी हो और यव-गोधूमके जुआरा हों तो उनको गायन-वादनके साथ समीपके जलाशयपर ले जाकर '**दुर्गे देवि जगन्मातः स्वस्थानं गच्छ पूजिते। षण्मासेषु व्यतीतेषु पुनरागमनाय वै॥ इमां पूजां मया देवि यथाशक्त्योपपादिताम्। रक्षार्थं त्वं समादाय व्रज स्वस्थानमुत्तमम्॥**' इन मन्त्रोंसे मूर्तिका विसर्जन करके जलमें प्रवेश कराये और जुआरा आदि जलमें डाल दे। इस विषयमें 'मत्स्यसूक्त' का यह आदेश है कि '**देवे दत्त्वा तु दानानि देवे दद्याच्च दक्षिणाम्। तत् सर्वं ब्राह्मणे दद्यादन्यथा विफलं भवेत्॥**' नवरात्रादिके

अवसरमें स्थापित देवताके जो कुछ फल-पुष्प-नैवेद्य अथवा उपहारादि अर्पण किया हो वह ब्राह्मणको देना चाहिये, अन्यथा विफल होता है।

(१७) **विजयादशमी** (श्रुति-स्मृति-पुराणादि)—आश्विन शुक्ल दशमीको श्रवणका सहयोग होनेसे विजयादशमी होती है। इस दिन राज्य-वृद्धिकी भावना और विजयप्राप्तिकी कामनावाले राजा 'विजयकाल' में प्रस्थान करते हैं। 'ज्योतिर्निबन्ध' में लिखा है कि '**आश्विनस्य सिते पक्षे दशम्यां तारकोदये। स कालो विजयो ज्ञेयः सर्वकार्यार्थसिद्धये॥**' आश्विन शुक्ल दशमीके सायंकालमें तारा उदय होनेके समय 'विजयकाल' रहता है। वह सब कामोंको सिद्ध करता है। आश्विन शुक्ल दशमी पूर्वविद्धा निषिद्ध, परविद्धा शुद्ध और श्रवणयुक्त सूर्योदयव्यापिनी सर्वश्रेष्ठ होती है। राजाओंको चाहिये कि उस दिन प्रातःस्नानादि नित्यकर्मसे निश्चिन्त होकर '**मम क्षेमारोग्यादिसिद्ध्यर्थं यात्रायां विजयसिद्ध्यर्थं गणपति-मातृकामार्गदेवतापराजिताशमीपूजनानि करिष्ये।**' यह संकल्प करके उक्त सभी देवताओं, अस्त्र-शस्त्राश्वादिकों और पूजनीय गुरुजन आदिका यथाविधि* पूजन करके सुसज्जित अश्वपर आरूढ़ होकर अपराह्णमें

* शस्त्रादीनां पूजनविधिः—ततो राजा 'गणेशाय नमः' इति नाममन्त्रेण आवाहनादि-षोडशोपचारैः सम्पूज्य एवं मातृकादीनां पितृदेवादीनां च सम्यक् पूजनं विधाय ततः 'छत्राय नमः' इत्यादिमन्त्रेण गन्धादिभिः सम्पूज्य—

यथाम्बुदश्छादयति शिवायेमां वसुन्धराम्।
तथा छादय राजानं विजयारोग्यवृद्धये॥

—इति पठेत्। एवं चामरादीनामपि पूजनं कुर्यात्। तेषां प्रार्थनामन्त्रान् एवं पठेत्।

चामरमन्त्रः

शशांककरसंकाश क्षीरडिण्डीरपाण्डुर।
प्रोत्सारयाशु दुरितं चामरामरदुर्लभ॥

खड्गमन्त्रः

असिर्विशसनः खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासदः।
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मधारस्तथैव च॥

गज, तुरग, रथराज्यैश्वर्यादिसहित यात्रा करके स्वपुरसे बाहर ईशान कोणमें शमी (जाँटी या खेजड़ा) और अश्मन्तक (कोविदार या कचनार)-के समीप अश्वसे उतरकर शमीके मूलकी भूमिका जलसे प्रोक्षण करे और पूर्व या उत्तर मुख बैठकर पहले शमीका और फिर अश्मन्तकका पूजन करे और '**शमी शमय मे**

इत्यष्टौ तव नामानि स्वयमुक्तानि वेधसा।
नक्षत्रं कृत्तिका ते तु गुरुर्देवो महेश्वरः॥
हिरण्यं च शरीरं ते धाता देवो जनार्दनः।
पिता पितामहो देवस्त्वं मां पालय सर्वदा॥
नीलजीमूतसंकाशस्तीक्ष्णदंष्ट्रः कृशोदरः।
भावशुद्धोऽमर्षणश्च अतितेजास्तथैव च॥
इयं येन धृता क्षोणी हतश्च महिषासुरः।
तीक्ष्णधाराय शुद्धाय तस्मै खड्गाय ते नमः॥

कटारमन्त्रः

रक्षांगानि गजान् रक्ष रक्ष वाजिधनानि च।
मम देहं सदा रक्ष कट्टारक नमोऽस्तु ते॥

छुरिकामन्त्रः

सर्वायुधानां प्रथमं निर्मितासि पिनाकिना।
शूलायुधाद् विनिष्कृष्य कृत्वा मुष्टिग्रहं शुभम्॥
चण्डिकायाः प्रदत्तासि सर्वदुष्टनिबर्हिणी।
तया विस्तारिता चासि देवानां प्रतिपादिता॥
सर्वसत्त्वांगभूतासि सर्वाशुभनिबर्हिणी।
छुरिके रक्ष मां नित्यं शान्तिं यच्छ नमोऽस्तु ते॥

कवचमन्त्रः

शर्मप्रदस्त्वं समरे वर्म सर्वायशो नुद।
रक्ष मां रक्षणीयोऽहं तापनेय नमोऽस्तु ते॥

चर्ममन्त्रः

चण्डिकायाः प्रदत्तं त्वं सर्वदुष्टनिबर्हणम्।
त्वया निस्तारिता देवाः सुप्रतिष्ठं पितामहैः॥
अतस्त्वयि बलं सर्वं विन्यस्तं देवसत्तमैः।
तस्मादायोधने रक्ष शत्रून् नाशय सर्वदा॥

पापं शमी लोहितकण्टका। धारिण्यर्जुन बाणानां रामस्य प्रियवादिनी ॥ करिष्यमाणयात्रायां यथाकालं सुखं मम । तत्र निर्विघ्नकर्त्री त्वं भव श्रीरामपूजिते ॥' इन मन्त्रोंसे शमीकी और '**अश्मन्तक महावृक्ष महादोषनिवारक ।इष्टानां दर्शनं देहि शत्रूणां च विनाशनम् ॥**'

चापमन्त्रः

सर्वायुधमहामात्र सर्वदेवारिसूदन।
चाप मां समरे रक्ष साकं शरवरैरिह॥
धृतः कृष्णेन रक्षार्थं संहाराय हरेण च।
त्रयीमूर्तिगतं देवं धनुरस्त्रं नमाम्यहम्॥

शक्तिमन्त्रः

शक्तिस्त्वं सर्वदेवानां गुहस्य च विशेषतः।
शक्तिरूपेण देवि त्वं रक्षां कुरु नमोऽस्तु ते॥

कुन्तमन्त्रः

प्रास पातय शत्रूंस्त्वमनया नाकमायया।
गृहाण जीवितं तेषां मम सैन्यं च रक्षय॥

अग्नियन्त्रमन्त्रः

अग्निशस्त्र नमस्तेऽस्तु दूरतः शत्रुनाशन।
शत्रून् दह हि शीघ्रं त्वं शिवं मे कुरु सर्वदा॥

पाशमन्त्रः

पाश त्वं नागरूपोऽसि विषपूर्णो विषोद्भवः।
शत्रवो हि त्वया बद्धा नागपाश नमोऽस्तु ते॥

परशुमन्त्रः

परशो त्वं महातीक्ष्ण सर्वदेवारिसूदन।
देवीहस्तस्थितो नित्यं शत्रुक्षय नमोऽस्तु ते॥

ध्वजमन्त्रः

शक्रकेतो महावीर्य सुपर्णस्त्वय्युपाश्रितः।
पत्रिराज नमस्तेऽस्तु तथा नारायणध्वज॥
काश्यपेयारुणभ्रातर्नागारे विष्णुवाहन।
अप्रमेय दुराधर्ष रणे देवारिसूदन॥
गरुत्मन् मारुतगतिस्त्वयि संनिहितो यतः।
साश्वचर्मायुधान् योधान् रक्ष त्वं च रिपून् दह॥

इससे अश्मन्तककी प्रार्थना करके शमीके अथवा अश्मन्तकके या दोनोंके पत्ते लेकर उनमें पूजास्थानकी थोड़ी-सी मृत्तिका और कुछ तण्डुल तथा एक सुपारी रखकर कपड़ेमें बाँध ले और कार्यसिद्धिकी कामनासे अपने पास रखे। फिर आचार्यादिका आशीर्वाद प्राप्तकर वहाँ ही पूर्व दिशामें विष्णुकी परिक्रमा करके अपने शत्रुके स्वरूपको

पताकामन्त्रः

हुतभुग् वसवो रुद्रा वायुः सोमो महर्षयः।
नागकिन्नरगन्धर्वयक्षभूतगणग्रहाः ॥
प्रमथास्तु सहादित्यैर्भूतेशो मातृभिः सह।
शक्रसेनापतिः स्कन्दो वरुणश्चाश्रितस्त्वयि॥
प्रदहन्तु रिपून् सर्वान् राजा विजयमृच्छतु।
यानि प्रयुक्तान्यरिभिरायुधानि समन्ततः॥
पतन्तूपरि शत्रूणां हतानि तव तेजसा।
हिरण्यकशिपोर्युद्धे युद्धे दैवासुरे तथा।
कालनेमिवधे यद्वद् यद्वत् त्रिपुरघातने॥
शोभितासि तथैवाद्य शोभयास्मांश्च संस्मर।
नीलां श्वेतामिमां दृष्ट्वा नश्यन्त्वाशु नृपारयः॥
व्याधिभिर्विविधैर्घोरैः शस्त्रैश्च युधि निर्जिताः।
सद्यः स्वस्था भवन्त्वस्मात्त्वद्वातेनापमार्जिताः॥
पूतना रेवती नाम्ना कालरात्रिश्च या स्मृता।
दहत्वाशु रिपून् सर्वान् पताके त्वं मयार्चिता॥

कनकदण्डमन्त्रः

प्रोत्सारणाय दुष्टानां साधुसंरक्षणाय च।
ब्रह्मणा निर्मितश्चासि व्यवहारप्रसिद्धये॥
यशो देहि सुखं देहि जयदो भव भूपतेः।
ताडयस्व रिपून् सर्वान् हेमदण्ड नमोऽस्तु ते॥

दुन्दुभिमन्त्रः

दुन्दुभे त्वं सपत्नानां घोरो हृदयकर्षणः।
तथास्तु तव शब्देन हर्षोऽस्माकं मुदावहः॥
भव भूमिपसैन्यानां तथा विजयवर्धनः।
यथा जीमूतघोषेण प्रहृष्यन्ति च बर्हिणः॥

हृदयमें और उसकी प्रतिकृति (मूर्ति या चित्रादि)-को दृष्टिमें रखकर (तोप, बंदूक या) सुवर्णके शरसे उसके हृदयके मर्मस्थलका भेदन करे और खड्गको हाथमें लेकर दक्षिण दिशासे आरम्भ करके वृक्षके समीपकी चारों दिशाओंमें जाकर सब दिशाओंकी विजय करे और

तथास्तु तव शब्देन हर्षोऽस्माकं मुदावहः।
यथा जीमूतशब्देन स्त्रीणां त्रासोऽभिजायते॥
तथैव तव शब्देन त्रस्यन्त्वस्मद्द्विषो रणे।

शंखमन्त्रः

पुण्यस्त्वं शंख पुण्यानां मंगलानां च मंगलम्।
विष्णुना विधृतो नित्यमतः शान्तिप्रदो भव॥

सिंहासनमन्त्रः

विजयो जयदो जेता रिपुहन्ता शुभंकरः।
दुःखहा धर्मदः शान्तः सर्वारिष्टविनाशनः॥
एते वै संनिधौ यस्मात् तव सिंहा महाबलाः।
तेन सिंहासनेति त्वं वेदैर्मन्त्रैश्च गीयसे॥
त्वयि स्थितः शिवः शान्तस्त्वयि शक्रः सुरेश्वरः।
त्वयि स्थितो हरिर्देवस्त्वदर्थं तप्यते तपः॥
नमस्ते सर्वतोभद्र भद्रदो भव भूपतेः।
त्रैलोक्यजयसर्वस्व सिंहासन नमोऽस्तु ते॥

अश्वपूजनम्

तद्दक्षिणकर्णे जपेत्।

कुलाभिजनजात्या च लक्षणैर्व्यञ्जनोत्तमैः।
भर्तारमभिरक्ष त्वं शिवं तव भवेदिति॥
कशाघातमधिष्ठानं क्षमस्व तुरगोत्तम।

ततोऽश्वाय भक्ष्यं दत्त्वा—

अश्वराज पुरोधास्तु विष्णुस्ते पुरतः स्थितः।
वरुणः पाशहस्तस्त्वां पृष्ठतः परिरक्षतु॥
वैवस्वतकुबेरौ च पार्श्वयोरभिरक्षताम्।
चन्द्रादित्यौ पृष्ठवंशे उदरं पृथिवीधरः॥
रक्षन्तु वक्त्रं गन्धर्वा बलमिन्द्रो ददातु ते।
हविःशेषमिति प्राश्यं विजयार्थं महीपतेः॥

शत्रुको जीत लिया है, यह कहे। इसके बाद यथापूर्व नगरमें जाकर प्रवेशद्वारपर नीराजनादि कराकर निवास करे।

(१८) **अपराजिता-पूजा** (निर्णयामृत)—आश्विन शुक्ल दशमीको प्रस्थान करनेके पहले अपराजिताका पूजन किया जाता है। उसके लिये अक्षतादिके अष्टदलपर मृत्तिकाकी मूर्ति स्थापन करके '**ॐ अपराजितायै नमः**' इससे अपराजिताका, (उसके दक्षिण भागमें) '**ॐ क्रियाशक्त्यै नमः**' इससे जयाका, (उसके वाम भागमें) '**ॐ**

आचमनं दत्त्वा स्तुतिं पठेत्—

गन्धर्वकुलजातस्त्वं मा भूयाः कुलदूषकः।
ब्रह्मणः सत्यवाक्येन सोमस्य वरुणस्य च॥
प्रभावाच्च हुताशस्य वर्धय त्वं तुरंग माम्।
तेजसा चैव सूर्यस्य मुनीनां तपसा तथा॥
रुद्रस्य ब्रह्मचर्येण पवनस्य बलेन च।
स्मर त्वं राजपुत्रं च कौस्तुभं च मणिं स्मर॥
सुरासुरैर्मथ्यमानक्षीरोदादमृतादिभिः।
जात उच्चैःश्रवाः पूर्वं तेन जातोऽसि तत् स्मर॥
यां गतिं ब्रह्महा गच्छेन्मातृहा पितृहा तथा।
भूमिहानृतवादी च क्षत्रियश्च पराङ्मुखः॥
सूर्याचन्द्रमसौ वायुर्यावत् पश्यति दुष्कृतम्।
व्रजाश्व तां गतिं क्षिप्रं तच्च पापं भवेत् तव॥
विकृतिं यदि गच्छेथा युद्धाध्वनि तुरंगम।
विजित्य समरे शत्रून् सह भर्त्रा सुखी भव॥

शिविकामन्त्रः

महेन्द्रनिर्मिते दिव्ये देवराजादिसेविते।
शिविके रक्ष मां नित्यं सदा त्वं संनिधौ भव॥
निर्मितासि कुबेरेण या त्वं निद्रासुखार्थिना।
शिविके पाहि मां नित्यं शान्तिं देहि नमोऽस्तु ते॥

रथमन्त्रः

शस्त्रास्त्रधारणार्थाय निर्मितो विश्वकर्मणा।
रथनेमिस्वनैर्घोरै रिपोर्हृदयकम्पनः॥

उमायै नमः' इससे विजयाका स्थापन करके आवाहनादि पूजन करे और '**चारुणा मुखपद्मेन विचित्रकनकोज्ज्वला। जया देवी भवे भक्ता सर्वकामान् ददातु मे॥ कांचनेन विचित्रेण केयूरेण विभूषिता। जयप्रदा महामाया शिवभावितमानसा॥ विजया च महाभागा ददातु विजयं मम। हारेण सुविचित्रेण भास्वत्कनकमेखला। अपराजिता रुद्ररता करोतु विजयं मम॥**' इनसे जया-विजया और अपराजिताकी प्रार्थना करके हरिद्रासे रँगे हुए वस्त्रमें दूब और सरसों रखकर डोरा बनावे। फिर '**सदापराजिते यस्मात्त्वं लतासूत्तमा स्मृता। सर्वकामार्थसिद्ध्यर्थं तस्मात्त्वां धारयाम्यहम्॥**' इस मन्त्रसे उसे अभिमन्त्रित करके—'**जयदे वरदे देवि दशम्यामपराजिते। धारयामि भुजे दक्षे जयलाभाभिवृद्धये**'॥ से उक्त डोरेको दाहिने हाथमें धारण करे।

(१९) रावण-वध (व्रतोत्सव)—पहले शमी-पूजनमें बतलाया गया है कि शत्रुकी प्रतिकृति (तत्तुल्य मूर्ति या चित्र) बनाकर सुवर्णके शरसे उसके मर्मस्थानका भेदन करे।

गजमन्त्रः

कुमुदैरावणौ पद्मः पुष्पदन्तोऽथ वामनः।
सुप्रतीकोऽञ्जनो नील एतेऽष्टौ देवयोनयः॥
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च वनान्यष्टौ समाश्रिताः।
मन्दो भद्रो मृगश्चैव राजा संकीर्ण एव च॥
वने वने प्रसूतास्ते स्मर योनिं महागज।
पान्तु त्वां वसवो रुद्रा आदित्याः समरुद्गणाः॥
भर्तारं रक्ष नागेन्द्र स्वामी च प्रतिपाल्यताम्।
अवाप्नुहि जयं युद्धे गमने स्वस्तितो व्रज॥
श्रीस्ते सोमाद् बलं विष्णोस्तेजः सूर्याज्जवोऽनिलात्।
स्थैर्यं मेरोर्जयं रुद्राद् यशो देवात् पुरन्दरात्॥
युद्धे रक्षन्तु नागास्त्वां दिशश्च सह दैवतैः।
अश्विनौ सह गन्धर्वैः पान्तु त्वां सर्वतः सदा॥

इति राजचिह्नादिपूजनविधिः।

(२०) शुक्लैकादशी (पद्मपुराण)—पापपरायण पुरुषोंके पापोंको वशवर्ती बनानेमें आश्विन शुक्ल एकादशी अंकुशके समान है। इसी कारण इसका नाम 'पापांकुशा' है। यह स्वर्ग और मोक्षको देनेवाली, शरीरको नीरोग रखनेवाली, सुन्दरी, सुशीला, स्त्री, सदाचारी पुत्र और सुस्थिर धन देनेवाली है। उस दिन दिनमें भगवान्‌का पूजन और रात्रिमें उनके सम्मुख जागरण करके दूसरे दिन पूर्वाह्णमें पारण करके व्रतको समाप्त करे।

(२१) पुत्रप्राप्तिव्रत (भविष्योत्तर)—आश्विन शुक्ल एकादशीको स्नान करके उपवास रखे और भगवान्‌का पूजन करके रात्रिके समय दूध देती हुई सवत्सा गौकी पूजा करके दूसरे दिन दिनभर व्रत रखे और रात्रिमें भोजन करे। इस प्रकार इसी (आ० शु०) एकादशीको १२ वर्ष या प्रत्येक महीनेकी शुक्ल द्वादशीको १२ मास व्रत करे और प्रतिमास या प्रतिवर्ष (पहले-दूसरे मास या वर्षके क्रमसे) १-अपराजित, २-अजातशत्रु, ३-पुराकृत, ४-पुरन्दर, ५-वर्धमान, ६-सुरेश, ७-महाबाहु, ८-प्रभु, ९-विभु, १०-सुभूति, ११-सुमन और १२-सुप्रचेता—इन १२ नामोंसे हरिका स्मरण करे तो देवतुल्य दीर्घायु पुत्र होता है।

(२२) पद्मनाभव्रत (वाराहपुराण)—आश्विन शुक्ल द्वादशीको पद्मपर प्रतिष्ठित किये हुए सनातन पद्मनाभका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके जागरण करे और व्रत रखे तो इस व्रतसे अनेक गोदानके समान फल होता है।

(२३) प्रदोषव्रत—आश्विन शुक्ल त्रयोदशीको सूर्यास्तसे पहले स्नान करके यथालब्धोपचारोंसे शिवजीका पूजन करे और रात्रि होनेपर एक बार भोजन करे।

(२४) कोजागरव्रत (कृत्यनिर्णयादि)—आश्विन शुक्ल निशीथव्यापिनी पूर्णिमाको ऐरावतपर आरूढ हुए इन्द्र और

महालक्ष्मीका पूजन करके उपवास करे और रात्रिके समय घृतपूरित और गन्ध-पुष्पादिसे सुपूजित एक लाख, पचास हजार, दस हजार, एक हजार या केवल एक सौ दीपक प्रज्वलित करके देवमन्दिरों, बाग-बगीचों, तुलसी-अश्वत्थके वृक्षों, बस्तीके रास्ते, चौराहे, गली और वास-भवनोंकी छत आदिपर रखे और प्रातःकाल होनेपर स्नानादि करके इन्द्रका पूजनकर ब्राह्मणोंको घी-शक्कर मिली हुई खीरका भोजन कराकर वस्त्रादिकी दक्षिणा और स्वर्णादिके दीपक दे तो अनन्त फल होता है। इस दिन रात्रिके समय इन्द्र और लक्ष्मी पूछते हैं कि 'कौन जागता है?' इसके उत्तरमें उनका पूजन और दीपज्योतिका प्रकाश देखनेमें आये तो अवश्य ही लक्ष्मी और प्रभुत्व प्राप्त होता है।

(२५) शरत्पूर्णिमा (कृत्यनिर्णयामृत)—इसमें प्रदोष और निशीथ दोनोंमें होनेवाली पूर्णिमा ली जाती है। यदि पहले दिन निशीथव्यापिनी हो और दूसरे दिन प्रदोषव्यापिनी न हो तो पहले दिन व्रत करना चाहिये। १—इस दिन काँसीके पात्रमें घी भरकर सुवर्णसहित ब्राह्मणको दे तो ओजस्वी होता है, २—अपराह्णमें हाथियोंका नीराजन करे तो उत्तम फल मिलता है और ३—अन्य प्रकारके अनुष्ठान करे तो उनकी सफल सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त आश्विन शुक्ल निशीथव्यापिनी पूर्णिमाको प्रभातके समय आराध्यदेवको सुश्वेत वस्त्राभूषणादिसे सुशोभित करके षोडशोपचार पूजन करे और रात्रिके समय उत्तम गोदुग्धकी खीरमें घी और सफेद खाँड मिलाकर अर्द्धरात्रिके समय भगवान्‌के अर्पण करे। साथ ही पूर्ण चन्द्रमाके मध्याकाशमें स्थित होनेपर उनका पूजन करे और पूर्वोक्त प्रकारकी खीरका नैवेद्य अर्पण करके दूसरे दिन उसका भोजन करे।

कार्तिकके व्रत

कृष्णपक्ष

(१) **कार्तिकस्नान** (हेमाद्रि)—धर्म-कर्मादिकी साधनाके लिये स्नान करनेकी सदैव आवश्यकता होती है। इसके सिवा आरोग्यकी अभिवृद्धि और उसकी रक्षाके लिये भी नित्य स्नानसे कल्याण होता है। विशेषकर माघ, वैशाख और कार्तिकका नित्य स्नान अधिक महत्त्वका है। मदनपारिजातमें लिखा है कि—'**कार्तिकं सकलं मासं नित्यस्नायी जितेन्द्रियः। जपन् हविष्यभुक्छान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥**' कार्तिक मासमें जितेन्द्रिय रहकर नित्य स्नान करे और हविष्य (जौ, गेहूँ, मूँग तथा दूध-दही और घी आदि)-का एक बार भोजन करे तो सब पाप दूर हो जाते हैं। इस व्रतको आश्विनकी पूर्णिमासे प्रारम्भ करके ३१वें दिन कार्तिक शुक्ल पूर्णिमाको समाप्त करे। इसमें स्नानके लिये घरके बर्तनोंकी अपेक्षा कुँआ, बावली या तालाब आदि अच्छे होते हैं और कूपादिकी अपेक्षा कुरुक्षेत्रादि तीर्थ, अयोध्या आदि पुरियाँ और काशीकी पाँचों नदियाँ एक-से-एक अधिक उत्तम हैं। ध्यान रहे कि स्नानके समय जलाशयमें प्रवेश करनेके पहले हाथ-पाँव और मैल अलग धो ले। आचमन करके चोटी बाँध ले और जल-कुशसे संकल्प करके स्नान करे। संकल्पमें कुशा लेनेके लिये अंगिराने लिखा है कि '**विना दर्भैश्च यत् स्नानं यच्च दानं विनोदकम्। असंख्यातं च यज्जप्तं तत् सर्वं निष्फलं भवेत्॥**' स्नानमें कुशा, दानमें संकल्पका जल और जपमें संख्या न हो तो ये सब फलदायक नहीं होते।.....यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि धर्मप्राण भारतके बड़े-बड़े नगरों, शहरों या गाँवोंमें ही नहीं, छोटे-छोटे टोलेतकमें भी अनेक नर-नारी

(विशेषकर स्त्रियाँ) बड़े सबेरे उठकर कार्तिकस्नान करतीं, भगवान्‌के भजन गातीं और एकभुक्त, एकग्रास, ग्रास-वृद्धि, नक्तव्रत या निराहारादि व्रत करती हैं और रात्रिके समय देवमन्दिरों, चौराहों, गलियों, तुलसीके बिरवों, पीपलके वृक्षों और लोकोपयोगी स्थानोंमें दीपक जलातीं और लम्बे बाँसमें लालटेन बाँधकर किसी ऊँचे स्थानमें 'आकाशी दीपक' प्रकाशित करती हैं।

(२) करकचतुर्थी (करवाचौथ) (वामनपुराण)—यह व्रत कार्तिक कृष्णकी चन्द्रोदयव्यापिनी चतुर्थीको किया जाता है। यदि वह दो दिन चन्द्रोदयव्यापिनी हो या दोनों ही दिन न हो तो '**मातृविद्धा प्रशस्यते**' के अनुसार पूर्वविद्धा लेना चाहिये। इस व्रतमें शिव-शिवा, स्वामिकार्तिक और चन्द्रमाका पूजन करना चाहिये और नैवेद्यमें (काली मिट्टीके कच्चे करवेमें चीनीकी चासनी ढालकर बनाये हुए) करवे या घीमें सेंके हुए और खाँड मिले हुए आटेके लड्डू अर्पण करने चाहिये। इस व्रतको विशेषकर सौभाग्यवती स्त्रियाँ अथवा उसी वर्षमें विवाही हुई लड़कियाँ करती हैं और नैवेद्यके १३ करवे या लड्डू और १ लोटा, १ वस्त्र और १ विशेष करवा पतिके माता-पिताको देती हैं।······व्रतीको चाहिये कि उस दिन प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करके '**मम सुख सौभाग्य-पुत्रपौत्रादिसुस्थिरश्रीप्राप्तये करकचतुर्थीव्रतमहं करिष्ये।**' यह संकल्प करके बालू (सफेद मिट्टी)-की वेदीपर पीपलका वृक्ष लिखे और उसके नीचे शिव-शिवा और षण्मुखकी मूर्ति अथवा चित्र स्थापन करके '**नमः शिवायै शर्वाण्यै सौभाग्यं संततिं शुभाम्। प्रयच्छ भक्तियुक्तानां नारीणां हरवल्लभे॥**' से शिवा (पार्वती)-का षोडशोपचार पूजन करे और '**नमः शिवाय**' से शिव तथा '**षण्मुखाय नमः**' से स्वामिकार्तिकका

पूजन करके नैवेद्यका पक्वान्न (करवे) और दक्षिणा ब्राह्मणको देकर चन्द्रमाको अर्घ्य दे और फिर भोजन करे। इसकी कथाका सार यह है कि—'शाकप्रस्थपुरके वेदधर्मा ब्राह्मणकी विवाहिता पुत्री वीरवतीने करकचतुर्थीका व्रत किया था। नियम यह था कि चन्द्रोदयके बाद भोजन करे। परंतु उससे भूख नहीं सही गयी और वह व्याकुल हो गयी। तब उसके भाईने पीपलकी आड़में महताब (आतिशबाजी) आदिका सुन्दर प्रकाश फैलाकर चन्द्रोदय दिखा दिया और वीरवतीको भोजन करवा दिया। परिणाम यह हुआ कि उसका पति तत्काल अलक्षित हो गया और वीरवतीने बारह महीनेतक प्रत्येक चतुर्थीका व्रत किया तब पुनः प्राप्त हुआ।

(३) दशरथपूजा (संवत्सरप्रदीप)—कार्तिक कृष्ण चतुर्थीको दशरथजीका पूजन करे और उनके समीपमें दुर्गाका पूजन करे तो सब प्रकारके सुख उपलब्ध होते हैं।

(४) दम्पत्यष्टमी (हेमाद्रि)—पुत्रकी कामनावाले स्त्री-पुरुषोंको चाहिये कि वे कार्तिक कृष्णाष्टमीको डाभकी पार्वती और शिव बनाकर उनका स्नान, गन्ध, अक्षत, पुष्प और नैवेद्यसे पूजन करें और उनके समीपमें ब्राह्मणका पूजन करके उसे दक्षिणा दें। ऐसा करनेसे पुत्रकी प्राप्ति होती है। इस व्रतमें चन्द्रोदयव्यापिनी तिथि लेनी चाहिये। यदि वह दो दिन हो या दोनों ही दिन न हो तो दूसरे दिन व्रत करना चाहिये।

(५) कृष्णैकादशी (ब्रह्मवैवर्त)—कार्तिक कृष्णकी एकादशीका नाम 'रमा' है। इसका व्रत करनेसे सब पापोंका क्षय होता है। इसकी कथाका सार यह है कि—'प्राचीन कालमें मुचुकुन्द नामका राजा बड़ा धर्मात्मा था। उसके इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर और विभीषण-जैसे मित्र और चन्द्रभागा-जैसी पुत्री थी। उसका विवाह दूसरे राज्यके शोभनके साथ हुआ था। विवाहके बाद वह

ससुराल गयी तो उसने देखा कि वहाँका राजा एकादशीका व्रत करवानेके लिये ढोल बजवाकर ढिंढोरा पिटवाता है और उससे उसका पति सूखता है। यह देखकर चन्द्रभागाने अपने पतिको समझाया कि 'इसमें कौन-सी बड़ी बात है। हमारे यहाँ तो हाथी, घोड़े, गाय, बैल, भैंस, बकरी और भेड़तकको एकादशी करनी पड़ती है और एतन्निमित्त उस दिन उनको चारा-दानातक नहीं दिया जाता।' यह सुनकर शोभनने व्रत कर लिया।

(६) गोवत्सद्वादशी (मदनरत्नान्तर्गत भविष्योत्तरपुराण)—यह व्रत कार्तिक कृष्ण द्वादशीको किया जाता है। इसमें प्रदोषव्यापिनी तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो या न हो तो '**वत्सपूजा वटश्चैव कर्तव्यौ प्रथमेऽहनि**' के अनुसार पहले दिन व्रत करना चाहिये। उस दिन सायंकालके समय गायें चरकर वापस आयें तब तुल्य वर्णकी गौ और बछड़ेका गन्धादिसे पूजन करके '**क्षीरोदार्णवसम्भूते सुरासुरनमस्कृते। सर्वदेवमये मातर्गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' से उसके (आगेके) चरणोंमें अर्घ्य दे और '**सर्वदेवमये देवि सर्वदेवैरलंकृते। मातर्ममाभिलषितं सफलं कुरु नन्दिनि॥**' से प्रार्थना करे। इस बातका स्मरण रखे कि उस दिनके भोजनके पदार्थोंमें गायका दूध, दही, घी, छाछ और खीर तथा तेलके पके हुए भुजिया पकौड़ी या अन्य कोई पदार्थ न हों।

(७) नीराजनद्वादशी (भविष्योत्तर)—कार्तिक कृष्ण द्वादशीको प्रातःस्नानसे निवृत्त होकर काँसे आदिके उज्ज्वल पात्रमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जलका पात्र रखकर देवता, ब्राह्मण, गुरुजन (बड़े-बूढ़े), माता और घोड़े आदिका नीराजन (आरती) करे तो अक्षय फल होता है। यह नीराजन पाँच दिनतक किया जाता है।

(८) यम-दीपदान (स्कन्दपुराण)—कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीको सायंकालके समय किसी पात्रमें मिट्टीके दीपक रखकर उन्हें तिलके तेलसे पूर्ण करे। उनमें नवीन रूईकी बत्ती रखे और उनको प्रकाशित करके गन्धादिसे पूजन करे। फिर दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके '**मृत्युना दण्डपाशाभ्यां कालेन श्यामया सह। त्रयोदश्यां दीपदानात् सूर्यजः प्रीयतां मम॥**' से दीपोंका दान करे तो उससे यमराज प्रसन्न होते हैं। यह त्रयोदशी प्रदोषव्यापिनी शुभ होती है। यदि वह दो दिन हो या न हो तो दूसरे दिन करे।

(९) धनत्रयोदशी (व्रतोत्सव)—कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीको सायंकालके समय एक दीपकको तेलसे भरकर प्रज्वलित करे और गन्धादिसे पूजन करके अपने मकानके द्वारदेशमें अन्नकी ढेरीपर रखे। स्मरण रहे वह दीप रातभर जलते रहना चाहिये, बुझना नहीं चाहिये।

(१०) गोत्रिरात्र (स्कन्दपुराण)—यह व्रत कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीसे दीपावलीके दिनतक किया जाता है। इसमें उदयव्यापिनी तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो तो पहले दिन व्रत करे। इस व्रतके लिये गोशाला या गायोंके आने-जानेके मार्गमें आठ हाथ लम्बी और चार हाथ चौड़ी वेदी बनाकर उसपर सर्वतोभद्र लिखे और उसके ऊपर छत्रके आकारका वृक्ष बनाकर उसमें विविध प्रकारके फल, पुष्प और पक्षी बनाये। वृक्षके नीचे मण्डलके मध्य भागमें गोवर्द्धनभगवान्‌की; उनके वाम भागमें रुक्मिणी, मित्रविन्दा, शैब्या और जाम्बवतीकी; दक्षिण भागमें सत्यभामा, लक्ष्मणा, सुदेवा और नाग्नजितिकी; उनके अग्र भागमें नन्दबाबा, पृष्ठ भागमें बलभद्र और यशोदा तथा कृष्णके सामने सुरभी, सुनन्दा, सुभद्रा और कामधेनु गौ—इनकी सुवर्णमयी

सोलह मूर्तियाँ स्थापित करे। उन सबका नाममन्त्र (यथा—**गोवर्द्धनाय नमः** आदि)-से पूजन करके '**गवामाधार गोविन्द रुक्मिणीवल्लभ प्रभो। गोपगोपीसमोपेत गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' से भगवान्‌को और '**रुद्राणां चैव या माता वसूनां दुहिता च या। आदित्यानां च भगिनी सा नः शान्तिं प्रयच्छतु॥**' से गौको अर्घ्य दे एवं '**सुरभी वैष्णवी माता नित्यं विष्णुपदे स्थिता। प्रतिगृह्णातु मे ग्रासं सुरभी मे प्रसीदतु॥**' से गौको ग्रास दे। इस प्रकार विविध भाँतिके फल, पुष्प, पक्वान्न और रसादिसे पूजन करके बाँसके पात्रोंमें सप्तधान्य और सात मिठाई भरकर सौभाग्यवती स्त्रियोंको दे। इस प्रकार तीन दिन व्रत करे और चौथे दिन प्रात:स्नानादि करके गायत्रीके मन्त्रसे तिलोंकी १०८ आहुति देकर व्रतका विसर्जन करे तो इससे सुत, सुख और सम्पत्तिका लाभ होता है।

(११) रूपचतुर्दशी (बहुसम्मत)—कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तमें—जिस दिन चन्द्रोदयके समय चतुर्दशी हो उस दिन प्रभात समयमें दन्तधावन आदि करके '**यमलोकदर्शनाभावकामोऽहमभ्यंगस्नानं करिष्ये।**' यह संकल्प करे और शरीरमें तिलके तेल आदिका उबटन या मर्दन करके हलसे उखड़ी हुई मिट्टीका ढेला, तुम्बी और अपामार्ग (ऊँगा)—इनको मस्तकके ऊपर बार-बार घुमाकर शुद्ध स्नान करे। यद्यपि कार्तिकस्नान करनेवालोंके लिये '**तैलाभ्यंगं तथा शय्यां परान्नं कांस्यभोजनम्। कार्तिके वर्जयेद् यस्तु परिपूर्णव्रती भवेत्॥**' के अनुसार तैलाभ्यंग वर्जित किया है, किंतु '**नरकस्य चतुर्दश्यां तैलाभ्यंगं च कारयेत्। अन्यत्र कार्तिकस्नायी तैलाभ्यंगं विवर्जयेत्॥**' के आदेशसे नरकचतुर्दशी या (रूपचतुर्दशी)-को तैलाभ्यंग करनेमें कोई दोष नहीं। यदि रूपचतुर्दशी दो दिनतक चन्द्रोदयव्यापिनी

हो तो चतुर्दशीके चौथे प्रहरमें स्नान करना चाहिये। इस व्रतको चार दिनतक करे तो सुख-सौभाग्यकी वृद्धि होती है।

(१२) **हनुमज्जन्म-महोत्सव** (व्रतरत्नाकर)—'**आश्विनस्यासिते पक्षे भूतायां च महानिशि। भौमवारेऽञ्जनादेवी हनूमन्तमजीजनत्॥**' अमान्त आश्विन (कार्तिक) कृष्ण चतुर्दशी भौमवारकी महानिशा (अर्धरात्रि)-में अंजनादेवीके उदरसे हनुमान्‌जीका जन्म हुआ था। अतः हनुमद्-उपासकोंको चाहिये कि वे इस दिन प्रातःस्नानादि करके '**मम शौर्यौदार्यधैर्यादिवृद्ध्यर्थं हनुमत्प्रीतिकामनया हनुमज्जयन्तीमहोत्सवं करिष्ये**' यह संकल्प करके हनुमान्‌जीका यथाविधि षोडशोपचार पूजन करें। पूजनके उपचारोंमें गन्धपूर्ण तेलमें सिन्दूर मिलाकर उससे मूर्तिको चर्चित करे। पुन्नाम (पुरुष नामके हजारा-गुलहजारा आदि)-के पुष्प चढ़ाये और नैवेद्यमें घृतपूर्ण चूरमा या घीमें सेंके हुए और शर्करा मिले हुए आटेका मोदक और केला, अमरूद आदि फल अर्पण करके वाल्मीकीय रामायणके सुन्दरकाण्डका पाठ करे। रात्रिके समय घृतपूर्ण दीपकोंकी दीपावलीका प्रदर्शन कराये। यद्यपि अधिकांश उपासक इसी दिन हनुमज्जयन्ती मनाते हैं और व्रत करते हैं, परन्तु शास्त्रान्तरमें चैत्र शुक्ल पूर्णिमाको हनुमज्जन्मका उल्लेख किया है; अतः इसका चैत्रके व्रतोंमें भी वर्णन मिलेगा और हनुमान्‌जीका पूजाविधान होगा।..... कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको हनुमज्जयन्ती मनानेका यह कारण है कि लंकाविजयके बाद श्रीराम अयोध्या आये। पीछे भगवान् रामचन्द्रजीने और भगवती जानकीजीने वानरादिको विदा करते समय यथायोग्य पारितोषिक दिया था। उस समय इसी दिन (का० कृ० १४ को) सीताजीने हनुमान्‌जीको पहले तो अपने गलेकी माला पहनायी (जिसमें बड़े-बड़े बहुमूल्य मोती और अनेक रत्न थे), परंतु उसमें राम-

नाम न होनेसे हनुमान्‌जी उससे संतुष्ट न हुए। तब सीताने अपने ललाटपर लगा हुआ सौभाग्यद्रव्य 'सिंदूर' प्रदान किया और कहा कि 'इससे बढ़कर मेरे पास अधिक महत्त्वकी कोई वस्तु नहीं है, अतएव तुम इसको हर्षके साथ धारण करो और सदैव अजरामर रहो।' यही कारण है कि कार्तिक कृष्ण १४ को हनुमज्जन्म-महोत्सव मनाया जाता है और तैल-सिंदूर चढ़ाया जाता है।

(१३) यम-तर्पण (कृत्यतत्त्वार्णव)—इसी दिन (का० कृ० १४ को) सायंकालके समय दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके जल, तिल और कुश लेकर देवतीर्थसे '**यमाय धर्मराजाय मृत्यवे अनन्ताय वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने वृकोदराय चित्राय** और **चित्रगुप्ताय।**' इनमेंसे प्रत्येक नामका '**नमः**' सहित उच्चारण करके जल छोड़े। यज्ञोपवीतको कण्ठीकी तरह रखे और काले तथा सफेद दोनों प्रकारके तिलोंको काममें ले। कारण यह है कि यममें धर्मराजके रूपसे देवत्व और यमराजके रूपसे पितृत्व—ये दोनों अंश विद्यमान हैं।

(१४) दीपदान (कृत्यचन्द्रिका)—इसी दिन प्रदोषके समय तिल-तेलसे भरे हुए प्रज्वलित और सुपूजित चौदह दीपक लेकर '**यममार्गान्धकारनिवारणार्थे चतुर्दशदीपानां दानं करिष्ये।**' से संकल्प करके ब्रह्मा, विष्णु और महेशादिके मन्दिर, मठ, परकोटा, बाग, बगीचे, बावली, गली, कूचे, नजरनिवास (हमेशा निगाहमें आनेवाले बाग), घुड़शाला तथा अन्य सूने स्थानोंमें भी यथाविभाग दीपस्थापन करे। इस प्रकारके दीपकोंसे यमराज संतुष्ट होते हैं।

(१५) नरकचतुर्दशी (लिंगपुराण)—यह भी इसी दिन होती है। इसके निमित्त चार बत्तियोंके दीपकको प्रज्वलित करके

पूर्वाभिमुख होकर '**दत्तो दीपश्चतुर्दश्यां नरकप्रीतये मया। चतुर्वर्तिसमायुक्तः सर्वपापापनुत्तये॥**' इसका उच्चारण करके दान करे। इस अवसरमें (आतिशबाजी आदिकी बनी हुई) प्रज्वलित उल्का लेकर '**अग्निदग्धाश्च ये जीवा येऽप्यदग्धाः कुले मम। उज्ज्वलज्योतिषा दग्धास्ते यान्तु परमां गतिम्॥**' से उसका दान करे तो उल्का आदिसे मरे हुए मनुष्योंकी सद्गति हो जाती है।

(१६) कार्तिकी अमावास्या (भविष्योत्तर)—इस दिन प्रातः-स्नानादि करनेके अनन्तर देव, पितृ और पूज्यजनोंका अर्चन करे और दूध, दही तथा घी आदिसे श्राद्ध करके अपराह्णके समय नगर, गाँव या बस्तीके प्रायः सभी मकानोंको स्वच्छ और सुशोभित करके विविध प्रकारके गायन, वादन, नर्तन और संकीर्तन करे और प्रदोषकालमें दीपावली सजाकर मित्र, स्वजन या सम्बन्धियोंसहित आधी रातके समय सम्पूर्ण दृश्योंका निरीक्षण करे। उसके बाद रात्रिके शेष भागमें सूप (छाजला) और डिंडिम (डमरू) आदिको वेगसे बजाकर अलक्ष्मीको निकाले।

(१७) कौमुदी-महोत्सव (हेमाद्रि)—उपर्युक्त प्रकारसे हृष्ट-पुष्ट और संतुष्ट होकर दीपक जलाने आदिसे कौमुदी-महोत्सव सम्पन्न होता है। वह्निपुराणके लेखानुसार यह व्रत कार्तिक कृष्ण एकादशीसे आरम्भ होकर अमावास्यातक किया जाता है।

(१८) दीपावली (व्रतोत्सव)—लोकप्रसिद्धिमें प्रज्वलित दीपकोंकी पंक्ति लगा देनेसे 'दीपावली' और स्थान-स्थानमें मण्डल बना देनेसे 'दीपमालिका' बनती है, अतः इस रूपमें ये दोनों नाम सार्थक हो जाते हैं। इस प्रकारकी दीपावली या दीपमालिका सम्पन्न करनेसे '**कार्तिके मास्यमावास्या तस्यां**

दीपप्रदीपनम्। शालायां ब्राह्मणः कुर्यात् स गच्छेत् परमं पदम्॥' के अनुसार परमपद प्राप्त होता है। ब्रह्मपुराणमें लिखा है कि 'कार्तिककी अमावास्याको अर्धरात्रिके समय लक्ष्मी महारानी सद्गृहस्थोंके मकानोंमें जहाँ-तहाँ विचरण करती हैं। इसलिये अपने मकानोंको सब प्रकारसे स्वच्छ, शुद्ध और सुशोभित करके दीपावली अथवा दीपमालिका बनानेसे लक्ष्मी प्रसन्न होती हैं और उनमें स्थायीरूपसे निवास करती हैं। इसके सिवा वर्षाकालके किये हुए दुष्कर्म (जाले, मकड़ी, धूल-धमासे और दुर्गन्ध आदि) दूर करनेके हेतुसे भी कार्तिकी अमावास्याको दीपावली लगाना हितकारी होता है। यह अमावास्या प्रदोषकालसे आधी राततक रहनेवाली श्रेष्ठ होती है। यदि वह आधी राततक न रहे तो प्रदोषव्यापिनी लेना चाहिये।

(१९) **लक्ष्मीपूजन**—कार्तिक कृष्ण अमावास्या (दीपावलीके दिन) प्रातःस्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर '**मम सर्वापच्छान्तिपूर्वकदीर्घायुष्यबलपुष्टिनैरुज्यादिसकलशुभफलप्राप्त्यर्थं गजतुरगरथराज्यैश्वर्यादिसकलसम्पदामुत्तरोत्तराभिवृद्ध्यर्थम् इन्द्रकुबेरसहितश्रीलक्ष्मीपूजनं करिष्ये।**' यह संकल्प करके दिनभर व्रत रखे और सायंकालके समय पुनः स्नान करके पूर्वोक्त प्रकारकी 'दीपावली', 'दीपमालिका' और 'दीपवृक्ष' आदि बनाकर कोशागार (खजाने)-में या किसी भी शुद्ध, सुन्दर, सुशोभित और शान्तिवर्द्धक स्थानमें वेदी बनाकर या चौकी-पाटे आदिपर अक्षतादिसे अष्टदल लिखे और उसपर लक्ष्मीका स्थापन करके '**लक्ष्म्यै नमः**', '**इन्द्राय नमः**' और '**कुबेराय नमः**'—इन नामोंसे तीनोंका पृथक्-पृथक् (या एकत्र) यथाविधि पूजन करके '**नमस्ते सर्वदेवानां वरदासि हरेः प्रिया। या गतिस्त्वत्प्रपन्नानां सा मे भूयात्त्वदर्चनात्॥**' से 'लक्ष्मी' की; '**ऐरावतसमारूढो वज्रहस्तो महाबलः। शतयज्ञाधिपो**

देवस्तस्मा इन्द्राय ते नमः ॥' से 'इन्द्र' की और '**धनदाय नमस्तुभ्यं निधिपद्माधिपाय च। भवन्तु त्वत्प्रसादान्मे धनधान्यादिसम्पदः ॥**' से 'कुबेर' की प्रार्थना करे। पूजनसामग्रीमें अनेक प्रकारकी उत्तमोत्तम मिठाई, उत्तमोत्तम फल-पुष्प और सुगन्धपूर्ण धूप-दीपादि ले और ब्रह्मचर्यसे रहकर उपवास अथवा नक्तव्रत करे।

शुक्लपक्ष

(१) गोवर्धनपूजा (हेमाद्रि)—दीपावलीके दूसरे दिन प्रभातके समय मकानके द्वारदेशमें गौके गोबरका गोवर्धन बनाये। शास्त्रमें उसको शिखरप्रयुक्त, वृक्ष-शाखादिसे संयुक्त और पुष्पादिसे सुशोभित बनानेका विधान है; किंतु अनेक स्थानोंमें उसे मनुष्यके आकारका बनाकर पुष्पादिसे भूषित करते हैं। चाहे जैसा हो, उसका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके '**गोवर्धन धराधार गोकुल-त्राणकारक। विष्णुबाहुकृतोच्छ्राय गवां कोटिप्रदो भव॥**' से प्रार्थना करे। इसके पीछे भूषणीय गौओंका आवाहन करके उनका यथाविधि पूजन करे और '**लक्ष्मीर्या लोकपालानां धेनुरूपेण संस्थिता। घृतं वहति यज्ञार्थे मम पापं व्यपोहतु॥**' से प्रार्थना करके रात्रिमें गौसे गोवर्धनका उपमर्दन कराये।

(२) अन्नकूट (भागवत और व्रतोत्सव)—कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाको भगवान्के नैवेद्यमें नित्यके नियमित पदार्थोंके अतिरिक्त यथासामर्थ्य (दाल, भात, कढ़ी, साग आदि 'कच्चे'; हलवा, पूरी, खीर आदि 'पक्के'; लड्डू, पेड़े, बर्फी, जलेबी आदि 'मीठे'; केले, नारंगी, अनार, सीताफल आदि 'फल'-फूल; बैगन, मूली, साग-पात, रायते, भुजिये आदि 'सलूने' और चटनी, मुरब्बे, अचार आदि खट्टे-मीठे-चरपरे) अनेक प्रकारके पदार्थ बनाकर अर्पण करे और भगवान्के भक्तोंको यथाविभाग भोजन कराकर शेष सामग्री आशार्थियोंमें वितरण करे। अन्नकूट

यथार्थमें गोवर्धनकी पूजाका ही समारोह है। प्राचीन कालमें व्रजके सम्पूर्ण नर-नारी अनेक पदार्थोंसे इन्द्रका पूजन करते और नाना प्रकारके षड्रसपूर्ण (छप्पन भोग, छत्तीसों व्यंजन) भोग लगाते थे। किंतु श्रीकृष्णने अपनी बालकावस्थामें ही इन्द्रकी पूजाको निषिद्ध बतलाकर गोवर्धनका पूजन करवाया और स्वयं ही दूसरे स्वरूपसे गोवर्धन बनकर अर्पण की हुई सम्पूर्ण भोजन-सामग्रीका भोग लगाया। यह देखकर इन्द्रने व्रजपर प्रलय करनेवाली वर्षा की, किंतु श्रीकृष्णने गोवर्धन पर्वतको हाथपर उठाकर और व्रजवासियोंको उसके नीचे खड़े रखकर बचा लिया।

(३) मार्गपाली (आदित्यपुराण)—कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाको सायंकालके समय कुश या काँसका लम्बा और मजबूत रस्सा बनाकर उसमें जहाँ-तहाँ अशोक (आशापाला)-के पत्ते गूँथकर बंदनवार बनवाये और राजप्रासादके प्रवेश-द्वारपर अथवा दरवाजेके आकारके दो अति उच्चस्तम्भोंपर इस सिरेसे उस सिरेतक बँधवा दे और गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके '**मार्गपालि नमस्तेऽस्तु सर्वलोकसुखप्रदे। विधेयैः पुत्रदाराद्यैः पुनरेहि व्रतस्य मे॥**' से प्रार्थना करे। इसके बाद सर्वप्रथम नराधिप (या बस्तीका कोई भी प्रधान पुरुष) और राजपरिवार और उनके पीछे नगरके नर-नारी और हाथी, घोड़े आदि हर्षध्वनिके साथ जयघोष करते हुए प्रवेश करें और राजा यथास्थान स्थित होकर सौभाग्यवती स्त्रियोंके द्वारा नीराजन करायें और हो सके तो रात्रिके समय बलिराजाका पूजन करके '**बलिराज नमस्तुभ्यं विरोचनसुत प्रभो। भविष्येन्द्र सुराराते पूजेयं प्रतिगृह्यताम्॥**' से प्रार्थना करे। जिस समय बलिने वामनभगवान्के लिये तीन पैंड पृथ्वीके दानको पूर्ण करनेके लिये आकाश और पातालको दो पैंडमें मानकर तीसरे

पैंडके लिये अपना मस्तक दिया, उस समय भगवान्ने कहा था कि 'हे दानवीर! भविष्यमें इसी प्रतिपदाको तेरा पूजन होगा और उत्सव मनाया जायगा।' इसी कारण उस दिन बलिका पूजन किया जाता है और करना चाहिये। ''''मार्गपाली और बलिकी पूजा करनेसे और विशेषकर मार्गपालीकी बंदनवारके नीचे होकर निकलनेसे उस वर्षमें सब प्रकारकी सुख-शान्ति रहती है और कई रोग दूर हो जाते हैं।''''अनेक बार देखनेमें आता है कि मनुष्योंमें जनपदनाशक महामारी और पशुओंमें बीमारी होती है, तब देहातके अनक्षर और साक्षर सामूहिकरूपमें सलाह करके सन, सूत या खींपका बहुत लम्बा रस्सा बनवाकर उसमें नीमके पत्ते गूँथ देते हैं और बीचमें ५ या ७ पाली नीचे-ऊपर लगाकर उसको गाँवमें प्रवेश करनेकी जगह बाँध देते हैं। ताकि उसके नीचे होकर निकलनेवाले नर-नारी और पशु (गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि) रोगी नहीं होते और सालभर प्रसन्न रहते हैं।

(४) **यमद्वितीया**—कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको यमका पूजन किया जाता है, इससे यह 'यमद्वितीया' कहलाती है। इस दिन वणिक्-वृत्तिवाले व्यवहारदक्ष वैश्य मसिपात्रादिका पूजन करते हैं, इस कारण इसे 'कलमदानपूजा' भी कहते हैं और इस दिन भाई अपनी बहिनके घर भोजन करते हैं, इसलिये यह 'भइया दूज' नामसे भी विख्यात है। हेमाद्रिके मतसे यह द्वितीया मध्याह्नव्यापिनी पूर्वविद्धा उत्तम होती है। स्मार्तमतमें आठ भागके दिनके पाँचवें भागकी श्रेष्ठ मानी है और स्कन्दके कथनानुसार अपराह्णव्यापिनी अधिक अच्छी होती है। यही उचित है। व्रतीको चाहिये कि प्रातःस्नानादिके अनन्तर कर्मकालके समय अक्षतादिके अष्टदलकमलपर गणेशादिका स्थापन करके '**मम यमराजप्रीतये यमपूजनम्—व्यवसाये व्यवहारे वा सकलार्थसिद्धये मसिपात्रादीनां पूजनम्—भ्रातुरायुष्यवृद्धये**

मम सौभाग्यवृद्धये च भ्रातृपूजनं च करिष्ये।' यह संकल्प करके गणेशजीका पूजन करनेके अनन्तर यमका, चित्रगुप्तका, यमदूतोंका और यमुनाका पूजन करे तथा '**धर्मराज नमस्तुभ्यं नमस्ते यमुनाग्रज। पाहि मां किंकरैः सार्धं सूर्यपुत्र नमोऽस्तु ते॥**' से 'यम' की— '**यमस्वसर्नमस्तेऽस्तु यमुने लोकपूजिते। वरदा भव मे नित्यं सूर्यपुत्रि नमोऽस्तु ते॥**' से 'यमुना' की और '**मसिभाजनसंयुक्तं ध्यायेत्तं च महाबलम्। लेखनीपट्टिकाहस्तं चित्रगुप्तं नमाम्यहम्॥**' से 'चित्रगुप्त' की प्रार्थना करके शंखमें या ताँबेके अर्घ्यपात्रमें अथवा अंजलिमें जल, पुष्प और गन्धाक्षत लेकर '**एह्येहि मार्तण्डज पाशहस्त यमान्तकालोकधरामरेश। भ्रातृद्वितीयाकृतदेवपूजां गृहाण चार्घ्यं भगवन्नमोऽस्तु ते।**' से यमराजको 'अर्घ्य' दे।.....उसी जगह मसिपात्र (दावात), लेखनी (कलम) और राजमुद्रा (मुख्य मुहर) स्थापन करके '**मसिपात्राय नमः।**' '**लेखन्यै नमः।**' और '**राजमुद्रायै नमः।**' इन नाममन्त्रोंसे उनका पूजन करके '**मसि त्वं लेखनीयुक्त-चित्रगुप्तशयस्थिता। सदक्षराणां पत्रे च लेख्यं कुरु सदा मम॥**' से 'मसिपात्र' की; '**या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता या वीणा वरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना। या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा॥**' '**तरुणशकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्रकान्तिः कुचभरनमितांगी संनिषण्णा सिताब्जे। निजकरकमलोद्यल्लेखनीपुस्तकश्रीः सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः॥**' '**कृष्णानने कृष्णजिह्वे चित्रगुप्तशयस्थिते। प्रार्थनेयं गृहाण त्वं सदैव वरदा भव॥**' से 'लेखनी' की और '**हिमचन्दनकुन्देन्दुकुमुदाम्भोजसंनिभे। प्रार्थनेयं गृहाणेमां नमस्ते राजमुद्रिके॥**' से 'राजमुद्रा' (मुहर)–की प्रार्थना करके सफेद कागजपर श्रीरामजी, '**श्रीरामो जयति, गणपतिर्जयति, शारदायै नमः** और

लक्ष्म्यै नमः' आदि लिखे। इसके अतिरिक्त छोटी भगिनीके घर जाकर बहिनकी की हुई पूजा ग्रहण करे। बहिनको चाहिये कि वह भाईको शुभासनपर बिठाकर उसके हाथ-पैर धुलाये। गन्धादिसे उसका पूजन करे और दाल, भात, फुलके, कढ़ी, सीरा, पूरी, चूरमा अथवा लड्डू, जलेबी, घेवर आदि यथासामर्थ्य उत्तम पदार्थोंका भोजन कराये और '**भ्रातस्तवानुजाताहं भुङ्क्ष्व भक्तमिमं शुभम्। प्रीतये यमराजस्य यमुनाया विशेषतः॥**' से उसका अभिनन्दन करे। इसके बाद भाई बहिनको यथासामर्थ्य अन्न-वस्त्र-आभूषण और सुवर्ण-मुद्रादि द्रव्य देकर उससे शुभाशिष प्राप्त करे।.....यदि सहजा (सगी) बहिन न हो तो पितृव्य-पुत्री (काकाकी कन्या), मातुल-पुत्री (मामाकी बेटी) या मित्रभगिनी (मित्रकी बहिन)— इनमें जो हो उसके यहाँ भोजन करे। यदि यमद्वितीयाको यमुनाके किनारेपर बहिनके हाथका बनाया भोजन करे तो उससे भाईकी आयुवृद्धि और बहिनके अहिवात (सौभाग्य)-की रक्षा होती है।

(५) नागव्रत (कूर्मपुराण)—कार्तिक शुक्ल चतुर्थीको मध्याह्नके समय शेषसहित शंखपालादि नागोंका पूजन करे, दूधसे स्नान कराये, गन्ध-पुष्प अर्पण करे और दुग्धका पान (भोजन) कराये तो विषजन्य बीमारियोंका भय नहीं होता और न सर्प डसते हैं। यह चतुर्थी मध्याह्नव्यापिनी ली जाती है।

(६) जयापंचमी (भविष्योत्तर)—यह व्रत कार्तिक शुक्ल पंचमीको किया जाता है। एतन्निमित्त तिलोद्वर्तनपूर्वक गंगादि तीर्थोंके स्मरणसहित शुद्ध स्नान करके शुद्धासनपर बैठकर भगवान् 'हरि' का और उनके वाम भागमें 'जया' का स्थापन करे। विविध प्रकारके गन्ध-पुष्पादिसे प्रीतिपूर्वक पूजन करे और हरिके चरण, घुटने, ऊरु, मेढ्र, उदर, वक्षःस्थल, कण्ठ, मुख

और मस्तक इनमें पद्मनाभ, नरसिंह, मन्मथ और दामोदर आदि नामोंसे अंगपूजा करके '**जयाय जयरूपाय जय गोविन्दरूपिणे। जय दामोदरायेति जय सर्व नमोऽस्तु ते॥**' से अर्घ्य दे और बाँसके पात्रमें सप्तधान्य भरकर लाल वस्त्रसे ढँककर '**यथा वेणुफलं दृष्ट्वा तुष्यते मधुसूदनः। तथा मेऽस्तु शुभं सर्वं वेणुपात्रप्रदानतः॥**' से ब्राह्मणोंको दे फिर एक वस्त्रमें गन्ध, अक्षत, पुष्प, सरसों और दूर्वा रखकर 'रक्षापोटलिका' तैयार करके '**येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः। तेन त्वामनुबध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥**' से रक्षाबन्धन करे। इस व्रतके करनेसे ब्रह्महत्या-जैसे पापोंकी निवृत्ति होती है और सब प्रकारके सुख उपलब्ध होते हैं।

(७) वह्निमहोत्सव (मत्स्यपुराण)—कार्तिक शुक्लपक्षकी भौमयुक्त षष्ठीको अग्निका और स्वामी कार्तिकका पूजन करे और दक्षिण दिशाकी ओर मुख करके घी, शहद, जल और पुष्पादि लेकर '**सप्तर्षिदारज स्कन्द सेनाधिप महाबल। रुद्रोमाग्निज षड्वक्त्र गंगागर्भ नमोऽस्तु ते॥**' से अर्घ्य दे और ब्राह्मणको आमान्न (भोजनयोग्य आटा, दाल आदि) देकर आप भोजन करे तथा रात्रिमें भूमिपर सोये तो रोग-दोषादि दूर हो जाते हैं।

(८) शाकसप्तमी—कार्तिक शुक्ल सप्तमीको उपलब्ध शाक-पत्रादिका दान करके रात्रिमें स्वयं भी शाकमात्रका भोजन करे और फिर प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको वर्षपर्यन्त करता रहे तो सम्पूर्ण व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

(९) गोष्ठ-(गोप-) अष्टमी (निर्णयामृत, कूर्मपुराण)—कार्तिक शुक्ल अष्टमीको प्रातःकालके समय गौओंको स्नान करावे। गन्ध-पुष्पादिसे उनका पूजन करे और अनेक प्रकारके वस्त्रालंकारसे अलंकृत करके उनके गोपालों (ग्वालों)-का पूजन

करे, गायोंको गोग्रास देकर उनकी परिक्रमा करे और थोड़ी दूरतक उनके साथ जाय तो सब प्रकारकी अभीष्टसिद्धि होती है। इसी गोपाष्टमीको सायंकालके समय गायें चरकर वापस आवें उस समय भी उनका आतिथ्य, अभिवादन और पंचोपचार पूजन करके कुछ भोजन करावे और उनकी चरणरजको मस्तकपर धारण करके ललाटपर लगावे तो उससे सौभाग्यकी वृद्धि होती है।

(१०) **नवमीव्रत** (हेमाद्रि, देवीपुराण)—कार्तिक शुक्ल नवमीको व्रत, पूजा, तर्पण और अन्नादिका दान करनेसे अनन्त फल होता है। इसमें पूर्वाह्णव्यापिनी तिथि ली जाती है। यदि वह दो दिन हो या न हो तो '**अष्टम्या नवमी विद्धा कर्तव्या फलकाङ्क्षिणा। न कुर्यान्नवमीं तात दशम्या तु कदाचन॥**' इस ब्रह्मवैवर्तके वचनके अनुसार पूर्वविद्धा लेनी चाहिये। इस दिनका किया हुआ पूजा-पाठ और दिया हुआ दान-पुण्य अक्षय हो जाता है, इस कारण इसका नाम 'अक्षयनवमी' है। इस दिन गो, भू, हिरण्य और वस्त्राभूषणादिका दान किया जाय तो यथाभाग्य इन्द्रत्व, शूरत्व या नराधिपत्वकी प्राप्ति होती है और ब्रह्महत्या-जैसे महापाप मिट जाते हैं। यही (कार्तिक शुक्ल नवमी) 'धात्रीनवमी' और 'कूष्माण्डनवमी' भी है। अतः इस दिन प्रातःस्नानादि करके धात्रीवृक्ष (आँवला)-के नीचे पूर्वाभिमुख बैठकर '**ॐ धात्र्यै नमः**' से उसका आवाहनादि 'षोडशोपचार' अथवा स्नान-गन्धादि 'पंचोपचार' पूजन करके '**पिता पितामहाश्चान्ये अपुत्रा ये च गोत्रिणः। ते पिबन्तु मया दत्तं धात्रीमूलेऽक्षयं पयः॥ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः। ते पिबन्तु मया दत्तं धात्रीमूलेऽक्षयं पयः॥**' इन मन्त्रोंसे उसके मूलमें दूधकी धारा गिराये, फिर '**दामोदरनिवासायै धात्र्यै देव्यै नमो नमः। सूत्रेणानेन बध्नामि धात्रि देवि नमोऽस्तु ते॥**' इस मन्त्रसे उसको

सूत्रसे आवेष्टित करे (सूत लपेटे) और कर्पूर या घृतपूर्ण बत्तीसे नीराजन करके '**यानि कानि च पापानि०**' से परिक्रमा करे।.....तदनन्तर सुपक्व कूष्माण्ड (अच्छा पका हुआ कोहला—कुम्हड़ा) लेकर उसके अंदर रत्न, सुवर्ण, रजत या रुपया आदि रखकर उसका गन्धादिसे पूजन करके '**कूष्माण्डं बहुबीजाढ्यं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा। दास्यामि विष्णवे तुभ्यं पितॄणां तारणाय च॥**' से प्रार्थना करे और दानपात्र ब्राह्मणके तिलक करके '**ममाखिलपापक्षयपूर्वकसुखसौभाग्यादीनामुत्तरोत्तराभिवृद्धये कूष्माण्डदानं करिष्ये।**' यह संकल्प करके ब्राह्मणको दे दे।

(११) सार्वभौमव्रत (वराहपुराण)—कार्तिक शुक्ल दशमीको प्रातःस्नान करके नक्तव्रत करनेकी प्रतिज्ञा करे और विविध प्रकारके चित्र-विचित्र गन्ध-पुष्पादिसे दिशाओंका पूजन करके दध्योदनादिकी शुद्ध बलि दे। उस समय—'**सर्वा भवत्यः सिध्यन्तु मम जन्मनि जन्मनि।**' यह प्रार्थना करे और अर्धरात्रिमें दध्योदन (दही और भात)-का भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक मासकी शुक्ल दशमीको वर्षभर करे तो दिग्विजयी (अथवा सर्वत्र विजयी) होता है।

(१२) आशादशमी (भविष्योत्तर)—धन, राज्य, खेती, वाणिज्य या पुत्रादि प्राप्त होनेकी आशा पूर्ण होनेके लिये कार्तिक शुक्ल दशमी (या किसी भी शुक्ल दशमी)-को स्नान करके शुद्ध स्थानमें जौके चूर्णसे सायुध और स्वस्वरूपयुक्त इन्द्रादि दिक्पालोंको लिखकर उनका पूजन करे। गन्ध-पुष्पादि चढ़ाये। घीसे भलीभाँति भीगा हुआ भोजन और कालजात (उस ऋतुके) फल अर्पण करे। दीपक जलाये और '**आशाः स्वाशाः सदा सन्तु सिद्ध्यन्तां मे मनोरथाः। भवतीनां प्रसादेन सदा कल्याणमस्त्विति॥**' से प्रार्थना करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करे तो

धनार्थी, पुत्रार्थी, सुखार्थी, राज्यार्थी या अन्य कामार्थी आदिकी धन, पुत्र, सुख, राज्य और काम आदिकी आशा सफल हो जाती है।

(१३) आरोग्यव्रत (गरुडपुराण)—कार्तिक शुक्ल नवमी (या किसी भी शुक्ल नवमी)-को उपवास करे। दशमीको स्नान करके हरिका ध्यान करे। फल, पुष्प और मधुरान्न-पानादिका भोग लगावे। साथ ही चक्र, गदा, मूसल, धनुष और खड्ग—इन आयुधोंका लाल पुष्पोंसे पूजन करके गुडान्नका नैवेद्य अर्पण करे। इसके अतिरिक्त अजिन (मृगचर्म)-पर द्रोणपरिमित तिलोंका कमल बनाकर उसपर सुवर्णका अथवा अच्छे वर्णका अष्टदल स्थापित करके उसकी प्रत्येक पँखुड़ीपर पूर्वादिक्रमसे मन, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, प्राण और बुद्धि—इनका पूजन करके '**अनामयानीन्द्रियाणि प्राणश्च चिरसंस्थितः। अनाकुला च मे बुद्धिः सर्वे स्युर्निरुपद्रवाः॥ मनसा कर्मणा वाचा मया जन्मनि जन्मनि। संचितं क्षपयत्वेनः कालात्मा भगवान् हरिः॥**' से इनकी प्रार्थना करे तो रोगी नीरोग और सदैव सुस्वस्थ रहता है।

(१४) राज्यप्राप्तिव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—इस व्रतके निमित्त १-क्रतु (यज्ञ), २-दक्ष, ३-वसु, ४-सत्य, ५-काल, ६-काम, ७-मुनि, ८-कुरुवान्मनुज, ९-परशुराम और १०-विश्वेदेव—इनका गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और अन्नादिसे पूजन करके '**पारणान्ते**' (व्रतके अन्तमें) सुवर्णादि सामग्री ब्राह्मणको दे। यह व्रत कार्तिक शुक्ल दशमीसे आरम्भ किया जाता है और उपर्युक्त क्रतु-दक्षादि दस देव केशवके आत्मा हैं, अतः इनके अर्चनसे अवश्य ही राज्यलाभ होता है।

(१५) ब्रह्मप्राप्ति-व्रत(विष्णुधर्मोत्तर)—कार्तिक शुक्ल दशमी (या किसी भी शुक्ल दशमी)-को १-आत्मा, २-आयु, ३-मन, ४-दक्ष, ५-मद, ६-प्राण, ७-हविष्मान् ८-गविष्ठ (स्वर्गस्थ),

९-दत्त और १०-सत्य—इनका तथा अंगिरसका यथाविधि पूजन करके उपवास करे तो ब्रह्मत्वकी प्राप्ति होती है।

(१६) **शुक्लैकादशी** (वराहपुराण)—कार्तिक शुक्ल एकादशी 'प्रबोधिनी' के नामसे मानी जाती है। इसके निमित्त स्नान-दान और उपवास यथापूर्व किये जाते हैं। विशेषता यह है कि एक वेदीपर सोलह आर (कोण या पत्ती)-का कमल बनाकर उसपर सागरोपम, जलपूर्ण, रत्नप्रयुक्त, मलयागिरिसे चर्चित, कण्ठप्रदेशमें नालसे आबद्ध और सुश्वेत वस्त्रसे आच्छादित चार कलश स्थापित करे और उनके बीचमें पीताम्बर धारण किये हुए शंख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज और शेषशायी भगवान्‌की सुवर्णनिर्मित मूर्ति स्थापित करके उसका '**सहस्रशीर्षा०**' आदि ऋचाओंसे अंगन्यासपूर्वक यथाविधि पूजन करे और रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिनके प्रभातमें वेदपाठी पाँच ब्राह्मणोंको बुलाकर उक्त चार कलश चारको और योगेश्वर भगवान्‌की (स्वर्णमयी) मूर्ति पाँचवेंको देकर उनको भोजन करवाकर स्वयं भोजन करे तो गंगादि तीर्थों, सुवर्णादि दानों और भगवान् आदिकी पूजाके समान फल होता है।

(१७) **प्रबोधैकादशीकृत्य** (मदनरत्न)—यह तो प्रसिद्ध ही है कि आषाढ़ शुक्लसे कार्तिक शुक्लपर्यन्त ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, अग्नि, वरुण, कुबेर, सूर्य और सोमादि देवोंसे वन्दित, जगन्निवास, योगेश्वर क्षीरसागरमें शेषशय्यापर चार मास शयन करते हैं और भगवद्भक्त उनके शयनपरिवर्तन और प्रबोधके यथोचित कृत्य दत्तचित्त होकर यथासमय करते हैं। उनमें दो कृत्य आषाढ़ और भाद्रपदके व्रतोंमें प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरे (प्रबोध)-का विधान यहाँ प्रकट किया जाता है। यद्यपि भगवान् क्षणभर भी कभी सोते नहीं, तथापि '**यथा देहे तथा देवे**' माननेवाले उपासकोंको शास्त्रीय विधान अवश्य करना चाहिये। यह कृत्य कार्तिक शुक्ल एकादशीको रात्रिके समय

किया जाता है। उस समय शयन करते हुए हरिको जगानेके लिये (१) सुभाषित स्तोत्रपाठ, भगवत्कथा और पुराणादिका श्रवण और भजनादिका 'गायन', (२) घंटा, शंख, मृदंग, नगारे और वीणा आदिका 'वादन' और (३) विविध प्रकारके देवोपम खेल-कूद, लीला और नाच आदिके द्वारा भगवान्‌को जगाये और साथ ही '**उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द त्यज निद्रां जगत्पते। त्वयि सुप्ते जगन्नाथ जगत् सुप्तं भवेदिदम्॥**' '**उत्थिते चेष्टते सर्वमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ माधव। गता मेघा वियच्चैव निर्मलं निर्मलादिशः॥**'— '**शारदानि च पुष्पाणि गृहाण मम केशव।**' इन मन्त्रोंका उच्चारण करे। अनन्तर भगवान्‌के मन्दिर (अथवा सिंहासन)-को नाना प्रकारके लता-पत्र, फल-पुष्प और बंदनवार आदिसे सजावे और 'विष्णुपूजा'—या 'पंचदेवपूजाविधान' अथवा 'रामार्चनचन्द्रिका' आदिके अनुसार भली प्रकार पूजन करे और समुज्ज्वल घृतवर्तिका या कर्पूरादिको प्रज्वलित करके नीराजन (आरती) करे। अनन्तर '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन। तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥**' से पुष्पांजलि अर्पण करके '**इयं तु द्वादशी देव प्रबोधाय विनिर्मिता। त्वयैव सर्वलोकानां हितार्थं शेषशायिना॥**' '**इदं व्रतं मया देव कृतं प्रीत्यै तव प्रभो। न्यूनं सम्पूर्णतां यातु त्वत्प्रसादाज्जनार्दन॥**' से प्रार्थना करे और प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक, व्यास, अम्बरीष, शुक, शौनक और भीष्मादि भक्तोंका स्मरण करके चरणामृत, पंचामृत या प्रसादका वितरण करे। इसके पीछे एक रथमें भगवान्‌को विराजमान करके नरवाहनद्वारा उसे संचालित कर नगर, ग्राम या गलियोंमें भ्रमण कराये। जो मनुष्य उस रथके वाहक बनकर उसको चलाते हैं, उनको प्रत्येक पदपर यज्ञके समान फल होता है। जिस समय वामनभगवान् तीन पद भूमि लेकर विदा हुए थे, उस समय सर्वप्रथम दैत्यराज (बलिराजा)-ने वामनजीको

रथमें विराजमान कर स्वयं उसे चलाया था। अतः इस प्रकार करनेसे '**समुत्थिते ततो विष्णौ क्रियाः सर्वाः प्रवर्तयेत्**'। के अनुसार विष्णुभगवान् योगनिद्राको त्यागकर प्रत्येक प्रकारकी क्रिया करनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं और प्राणिमात्रका पालन-पोषण और संरक्षण करते हैं। प्रबोधिनीकी पारणामें रेवतीका अन्तिम तृतीयांश हो तो उसको त्यागकर भोजन करना चाहिये।

(१८) भीष्मपंचक (पद्मपुराण)—यह व्रत कार्तिककी प्रबोधिनीसे प्रारम्भ होकर पूर्णिमाको पूर्ण होता है। इस निमित्त काम-क्रोधादिका त्यागकर ब्रह्मचर्य धारण करके क्षमा, दया और उदारतायुक्त होकर सोने या चाँदीकी लक्ष्मीनारायणकी मूर्ति बनवाकर वेदीपर स्थापित करे। ऋतुकालमें प्राप्त होनेवाले गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादिसे पूजन करके पाँच दिनपर्यन्त निराहार, फलाहार, एकभुक्त, मिताहार या नक्तव्रतादिमें जो बन सके, व्रत करे। प्रतिदिन पद्मपुराणोक्त कथा सुने। पूजनमें सामान्य पूजाके सिवा—पहले दिन भगवान्‌के हृदयका कमलके पुष्पोंसे, दूसरे दिन कटिप्रदेशका बिल्वपत्रोंसे, तीसरे दिन घुटनोंका केतकी (केवड़े)-के पुष्पोंसे, चौथे दिन चरणोंका चमेलीके पुष्पोंसे और पाँचवें दिन सम्पूर्ण अंगका तुलसीकी मंजरियोंसे पूजन करे। नित्यप्रति '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' के सौ, हजार, दस हजार या जितने बन सके जप करे और व्रतान्तमें पारणाके समय ब्राह्मणदम्पतिको भोजन करवाकर स्वयं भोजन करे। इस देशमें अधिकांश स्त्रियाँ एकादशी और द्वादशीको निराहार, त्रयोदशीको शाकाहार और चतुर्दशी तथा पूर्णिमाको फिर निराहार रहकर प्रतिपदाके प्रभातमें द्विजदम्पतिको जिमाकर स्वयं भोजन करके 'पँचभीखण' नहाती हैं।

(१९) तुलसीविवाह (विष्णुयामल)—पद्मपुराणमें कार्तिक शुक्ल नवमीको तुलसीविवाहका उल्लेख किया गया है; किंतु अन्य ग्रन्थोंके अनुसार प्रबोधिनीसे पूर्णिमापर्यन्तके पाँच दिन अधिक फल

देते हैं। व्रतीको चाहिये कि विवाहके तीन मास पूर्व तुलसीके पेड़को सिंचन और पूजनसे पोषित करे। प्रबोधिनी या भीष्मपंचक अथवा ज्योतिःशास्त्रोक्त विवाह-मुहूर्तमें तोरण-मण्डपादिकी रचना करके चार ब्राह्मणोंको साथ लेकर गणपति-मातृकाओंका पूजन, नान्दीश्राद्ध और पुण्याहवाचन करके मन्दिरकी साक्षात् मूर्तिके साथ सुवर्णके लक्ष्मीनारायण और पोषित तुलसीके साथ सोने और चाँदीकी तुलसीको शुभासनपर पूर्वाभिमुख विराजमान करे और सपत्नीक यजमान उत्तराभिमुख बैठकर 'तुलसी-विवाह-विधि' के अनुसार गोधूलीय समयमें 'वर' (भगवान्)-का पूजन, 'कन्या' (तुलसी)-का दान, कुशकण्डीहवन और अग्नि-परिक्रमा आदि करके वस्त्राभूषणादि दे और यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन कराकर स्वयं भोजन करे।

(२०) **तुलसीवास** (स्कन्दपुराण)—कार्तिक शुक्ल नवमीको प्रातः-स्नानादि करके मकानके अंदर बालूकी वेदी बनाये। उसपर तुलसीका प्रत्यक्ष पेड़ और चाँदीकी सपत्र शाखा तथा सोनेकी मंजरीयुक्त निर्मित पेड़ रखके यथाविधि पूजन करे। ऋतुकालके फल-पुष्पादिका भोग लगाये। एक दीपकको घीसे पूर्ण करके लम्बी बातीसे उसे अखण्ड प्रज्वलित रखे और निराहार रहकर रात्रिमें कथावार्ता श्रवण करनेके अनन्तर जमीनपर शयन करे। इस प्रकार नवमी, दशमी और एकादशीका उपवास करनेके अनन्तर द्वादशीको (रेवतीके अन्तिम तृतीयांशकी २० घड़ियाँ हों तो उनको त्यागकर) ब्राह्मणदम्पतिको दान-मानसहित भोजन कराकर स्वयं भोजन करे।

(२१) **ब्रह्मकूर्च** (हेमाद्रि)—कार्तिक शुक्ल चतुर्दशीको स्नानादिके अनन्तर उपवासका संकल्प करके देवोंको तोयाक्षतादिसे और पितरोंको तिलतोयादिसे तृप्त करके कपिला गौका 'गोमूत्र', कृष्ण गौका 'गोमय', श्वेत गौका 'दूध', पीली गौका 'दही' और कर्वुर (कबरी) गौका घी लेकर वस्त्रसे छान करके एकत्र करे। उसमें थोड़ा कुशोदक

(डाभका पानी) भी मिला दे और रात्रिके समय उक्त 'पंचगव्य' पीये तो उससे तत्काल ही सब पाप-ताप और रोग-दोष दूर होकर अद्‌भुत प्रकारके बल, पौरुष और आरोग्यकी वृद्धि होती है।

(२२) पाषाणचतुर्दशी (देवीपुराण)—उसी चतुर्दशीको जौके चूर्णकी चौकोर रोटी बनाकर गौरीकी आराधना करे और उक्त रोटीका नैवेद्य अर्पण करके स्वयं उसीका एक बार भोजन करे तो सुख-सम्पत्ति और सुन्दरता प्राप्त होती है।

(२३) वैकुण्ठचतुर्दशी (सनत्कुमारसंहिता)—हेमलम्ब संवत्सरकी कार्तिक शुक्ल अरुणोदयव्यापिनी चतुर्दशीको 'मणिकर्णिक' ब्राह्ममुहूर्तमें प्रातःस्नानादिके पश्चात् विश्वेश्वरी और विश्वेश्वरका पूजन करके व्रत करे तो वैकुण्ठवास होता है।

(२४) कार्तिकी (बहुसम्मत)—इसको ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अंगिरा और आदित्य आदिने महापुनीत पर्व प्रमाणित किया है। अतः इसमें किये हुए स्नान, दान, होम, यज्ञ और उपासना आदिका अनन्त फल होता है। इस दिन कृत्तिका हो तो यह 'महाकार्तिकी' होती है,[१] भरणी हो तो विशेष फल देती है[२] और रोहिणी हो तो इसका महत्त्व बढ़ जाता है[३]। इसी दिन सायंकालके समय मत्स्यावतार हुआ था। इस कारण इसमें दिये हुए दानादिका दस यज्ञोंके समान फल होता है[४]। यदि इस दिन कृत्तिकापर

---

१. आग्नेयं तु यदा ऋक्षं कार्तिक्यां भवति क्वचित्।
महती सा तिथिर्ज्ञेया स्नानदानेषु चोत्तमा॥ (यम)

२. यदा याम्यं तु भवति ऋक्षं तस्यां तिथौ क्वचित्।
तिथिः सापि महापुण्या मुनिभिः परिकीर्तिता॥ (स्मृत्यन्तर)

३. प्राजापत्यं यदा ऋक्षं तिथौ तस्यां नराधिप।
सा महाकार्तिकी प्रोक्ता..........॥ (स्मृतिसार)

४. वरान् दत्त्वा यतो विष्णुर्मत्स्यरूपोऽभवत् ततः।
तस्यां दत्तं हुतं जप्तं दशयज्ञफलं स्मृतम्॥ (पद्मपुराण)

चन्द्रमा और बृहस्पति हों तो यह 'महापूर्णिमा' होती है[१]। इस दिन कृत्तिकापर चन्द्रमा और विशाखापर सूर्य हों तो 'पद्मक' योग होता है। यह पुष्करमें भी दुर्लभ है[२]। कार्तिकीको संध्याके समय 'त्रिपुरोत्सव' करके '**कीटाः पतंगा मशकाश्च वृक्षे जले स्थले ये विचरन्ति जीवाः। दृष्ट्वा प्रदीपं न हि जन्मभागिनस्ते मुक्तरूपा हि भवन्ति तत्र॥**' से दीपदान करे तो पुनर्जन्मादिका कष्ट नहीं होता[३]। यदि इस दिन कृत्तिकामें स्वामी (विश्वस्वामी)-का दर्शन किया जाय तो ब्राह्मण सात जन्मतक वेदपारग और धनवान् होता है[४]। इस दिन चन्द्रोदयके समय शिवा, सम्भूति, प्रीति, संतति, अनसूया और क्षमा—इन छः तपस्विनी कृत्तिकाओंका पूजन करे (क्योंकि ये स्वामिकार्तिककी माता हैं) और कार्तिकेय, खड्गी (शिवा), वरुण, हुताशन और सशूक (बालियुक्त) धान्य—ये निशागममें द्वारके ऊपर शोभित करनेयोग्य हैं; अतः इनका उत्कृष्ट गन्धादिसे पूजन करे तो शौर्य, वीर्य और धैर्यादि बढ़ते हैं[५]। कार्तिकीको नक्तव्रत करके वृषदान करे तो शिवपद प्राप्त होता है[६]। यदि गौ, गज, रथ, अश्व और घृतादिका दान

---

१. पूर्णा महाकार्तिकी स्याज्जीवेन्द्वोः कृत्तिकास्थयोः। (ब्राह्म)

२. विशाखासु यदा भानुः कृत्तिकासु च चन्द्रमाः।
स योगः पद्मको नाम पुष्करे त्वतिदुर्लभः॥ (पद्मपुराण)

३. पौर्णमास्यां तु संध्यायां कर्तव्यस्त्रिपुरोत्सवः।
दद्यात् पूर्वोक्तमन्त्रेण सुदीपांश्च सुरालये॥ (भविष्य०)

४. कार्तिक्यां कृत्तिकायोगे यः कुर्यात् स्वामिदर्शनम्।
सप्त जन्म भवेद् विप्रो धनाढ्यो वेदपारगः॥ (काशीखण्ड)

५. ततश्चन्द्रोदये पूज्यास्तापस्यः कृत्तिकास्तु षट्।
कार्तिकेयस्तथा खड्गी वरुणश्च हुताशनः॥
धान्यैः सशूकैर्द्वारोर्ध्वं भूषितव्यं निशामुखे।
माल्यैर्धूपैस्तथा ...... दीपादिभिः पूजयेत्॥ (ब्रह्मपुराण)

६. कार्तिक्यां तु वृषोत्सर्गं कृत्वा नक्तं समाचरेत्।
शैवं पदमवाप्नोति शैवव्रतमिदं स्मृतम्॥ (मत्स्यपुराण)

किया जाय तो सम्पत्ति बढ़ती है[1]। कार्तिकीको सोपवास हरिस्मरण करे तो अग्निष्टोमके समान फल होकर सूर्यलोककी प्राप्ति होती है[2]। कार्तिकीको अपनी या परायी अलंकृता कन्याका दान करे तो 'संतानव्रत' पूर्ण होता है[3]। कार्तिकीको सुवर्णका मेष दान करे तो ग्रहयोगके कष्ट नष्ट हो जाते हैं[4] और कार्तिकी पूर्णिमासे प्रारम्भ करके प्रत्येक पूर्णिमाको नक्तव्रत करे तो उससे सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं।[5]

(२५) कार्तिकीका उद्यापन (व्रतोद्यापन-प्रकाश)—कार्तिक शुक्ल चतुर्दशीको गणपति-मातृका, नान्दीश्राद्ध, पुण्याहवाचन, सर्वतोभद्र, ग्रह और हवनकी यथापरिमित वेदी बनवाकर रात्रिके समय उनपर उक्त देवोंका स्थापन और पूजन करे। इसके लिये अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुवर्णकी भगवान्‌की सायुध-मूर्ति बनवाकर व्रतोद्यापनकौमुदी या व्रतोद्यापन-प्रकाशादिके अनुसार सर्वतोभद्रमण्डल स्थापित किये हुए सुवर्णादिके कलशपर उक्त मूर्तिका यथाविधि स्थापन, प्रतिष्ठा और पूजन करके रात्रिभर जागरण करे और पूर्णिमाके प्रभातमें प्रातःस्नानादि करके गोदान, अन्नदान, शय्यादान, ब्राह्मणभोजन (३० जोड़ा-जोड़ी) और व्रतविसर्जन करके जाति-बान्धवोंसहित भोजन करे।

---

१. गजाश्वरथदानं च घृतधेन्वादयस्तथा।
प्रदेयाः पुण्यकृद्भिस्तु .... ॥ (निर्णयामृत)

२. कार्तिके पौर्णमास्यां तु सोपवासः स्मरेद्धरिम्।
अग्निष्टोमफलं विन्देत् सूर्यलोकं च विन्दति॥ (ब्रह्मपुराण)

३. कार्तिक्यामुपवासी यः कन्यां दद्यात् स्वलंकृताम्।
स्वकीयां परकीयां वा अनन्तफलदायिनी॥ (हेमाद्रि)

४. कार्तिक्यां नक्तभुग् दद्यान्मेषं हेमविनिर्मितम्।
एतद् राशिव्रतं नाम ग्रहोपद्रवनाशनम्॥ (भविष्य०)

५. कार्तिक्यां तु समारभ्य सम्पूर्णं शशलक्षणम्।
पूजयेदुदये राजन् सदा नक्ताशनो भवेत्॥ (हेमाद्रि)

मार्गशीर्षके व्रत

कृष्णपक्ष

(१) धन्यव्रत (वाराहपुराण)—यह व्रत मार्गशीर्षमें शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्षोंकी प्रतिपदासे प्रारम्भ होकर प्रत्येक शुक्ल या कृष्ण प्रतिपदाको वर्षभर करनेसे पूर्ण होता है। इसमें नक्तव्रत किया जाता है। उस दिन रात्रिके समय विष्णुका पूजन करते समय—'**वैश्वानराय पादौ**', '**अग्नये उदरम्**', '**हविर्भुजे उरः**', '**द्रविणोदाय भुजे**', '**संवर्ताय शिरः**' और '**ज्वलनायेति सर्वांगम्**' (पूजयामि)–से अंगपूजा करके गन्ध–पुष्पादि अर्पण करे। वर्षके अन्तमें व्रतके पूर्ण होनेपर सुवर्णकी अग्निकी मूर्ति बनवाकर उसे लाल वस्त्रसे भूषित करके लाल रंगके गन्ध–पुष्पादिसे पूजन करे और प्रतिदिन विष्णुकी भक्ति रखे तो निर्धन भी धनवान् हो सकता है।

(२) संकष्टचतुर्थीव्रत (भविष्यपुराण)—यह व्रत मार्गशीर्ष कृष्णकी चन्द्रोदयव्यापिनी पूर्वविद्धा चतुर्थीको करना चाहिये। उस दिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् व्रत करनेका संकल्प करके सायंकालके समय अनेक प्रकारके गन्ध–पुष्पादिसे गणेशजीका पूजन करे। चन्द्रोदय होनेपर उनका पूजन करे और अर्घ्य देनेके पश्चात् वायन–दान करके भोजन करे। इस व्रतसे स्त्रियोंके सौभाग्यकी वृद्धि होती है।

(३) अनघाव्रत (हेमाद्रि)—मार्गशीर्ष कृष्णाष्टमीको डाभके अनघ और अनघा निर्माण करके गोबरसे पोती हुई वेदीपर विराजमानकर गन्धादिसे उनका पूजन करे। इस प्रकार प्रत्येक कृष्णाष्टमीको एक वर्षतक करे तो सम्पूर्ण प्रकारके पाप दूर हो जाते हैं।

(४) भैरवजयन्ती (शिवरहस्य)—मार्गशीर्ष कृष्णाष्टमीको व्रत रखे और प्रत्येक प्रहरमें भैरवका यथाविधि पूजन करके '**भैरवार्घ्यं गृहाणेश भीमरूपाव्ययानघ। अनेनार्घ्यप्रदानेन तुष्टो**

भव शिवप्रिय॥' 'सहस्राक्षिशिरोबाहो सहस्रचरणाजर। गृहाणार्घ्यं भैरवेदं सपुष्पं परमेश्वर॥' 'पुष्पांजलिं गृहाणेश वरदो भव भैरव। पुनरर्घ्यं गृहाणेदं सपुष्पं यातनापह॥' इन तीन मन्त्रोंसे तीन बार अर्घ्य दे। रात्रिमें जागरण करे और शिवजीकी कथा सुने तो सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। भैरवका मध्याह्नमें जन्म हुआ था, अतः मध्याह्नव्यापिनी अष्टमी लेनी चाहिये।

(५) कालाष्टमी (शिवरहस्य)—मार्गशीर्ष कृष्णाष्टमीको कालाष्टमीका कृत्य किया जाता है। इस दिन '**जागरं चोपवासं च कृत्वा कालाष्टमीदिने। प्रयतः पापनिर्मुक्तः शैवो भवति शोभनः॥**' के अनुसार उपवास करके रात्रिमें जागरण करे तो सब पाप दूर हो जाते हैं और व्रती शैव बन जाता है।

(६) कृष्णैकादशीव्रत (भविष्योत्तर)—मार्गशीर्ष कृष्ण एकादशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् '**ममाखिलपापक्षयपूर्वक-श्रीपरमेश्वरप्रीतिकामनया मार्गशीर्षकृष्णैकादशीव्रतं करिष्ये।**' यह संकल्प करके उपवास करे। तिथि-निर्णय और व्रत-नियम यथापूर्व देख ले। 'कथाका सार' यह है कि 'सत्ययुगमें तालजंघका पुत्र 'मुर' नामका दानव था। वह महाबली और विलक्षण बुद्धिमान् था। उसने समय पाकर स्वर्गके देवताओंको मार भगाया और उनके स्थानमें नये देवता बनाकर भर दिये। इससे स्वर्गके देवताओंको बड़ा कष्ट हुआ, वे शिवजीके समीप गये और शिवजीने उनको गरुड़ध्वज (भगवान्)-के पास भेज दिया। तब भगवान्ने उनकी रक्षाका विधान किया। उसमें भगवान्के शरीरसे एक परम रूपवती स्त्री उत्पन्न हुई। उसको देखकर मुर मोहित हो गया और उस सुन्दरीपर आक्रमण करने लगा, तब उसने मुरको मार डाला। यह देखकर भगवान्ने उस स्त्रीको वर दिया कि 'तू मेरे शरीरसे उत्पन्न हुई है,अतः तेरा नाम 'उत्पन्ना' होगा और तू देवताओंका संकट निवारण करनेमें

समर्थ है; अतएव जो तेरा व्रत करेंगे, उनकी अभीष्ट-सिद्धि होगी।' इस वरको प्राप्त करके वह कन्या अलक्षित हो गयी। कैटभ देश (काठियावाड़)-के महादरिद्र सुदामाने पत्नीके सहित 'उत्पन्ना एकादशी' का व्रत किया था, इससे वह सब दुःखोंसे मुक्त होकर पुत्रवान्, सुखी और सम्पत्तिशाली बन गया।

(७) **प्रदोषव्रत** (व्रतोत्सव)—यह प्रत्येक महीनेके कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षोंमें त्रयोदशीको किया जाता है। इस दिन प्रातःस्नानादि करके दिनभर शिवका स्मरण रखे और सूर्यास्तसे पहले पुनः स्नान करके प्रदोषके समय शिवपूजन करे तो इच्छानुसार फलकी प्राप्ति होती है।

(८) **गौरीतपव्रत** (अंगिरा)—यह व्रत मार्गशीर्षकी अमावास्यासे आरम्भ किया जाता है। उस दिन प्रातःस्नान करके हाथमें गन्ध, अक्षत, पुष्प, दूर्वा और जल लेकर '**ईशार्द्धांगहरे देवि करिष्येऽहं व्रतं तव। पतिपुत्रसुखावाप्तिं देहि देवि नमोऽस्तु ते॥**' से संकल्प करके मध्याह्नमें सूर्यनारायणको अर्घ्य देकर '**अहं देवि व्रतमिदं कर्तुमिच्छामि शाश्वतम्। तवाज्ञया महादेवि निर्विघ्नं कुरु तत्र वै॥**' से प्रार्थना करे। पीछे अपने निवासस्थानमें जाकर गौरीका पूजन और उपवास करे। पूजनमें आवाहनादि छः उपचारोंके पीछे —**१ पार्वत्यै नमः (पादौ), २ हैमवत्यै (जानुनी), ३ अम्बिकायै (जंघे), ४ गिरिशवल्लभायै (गुह्यम्), ५ गम्भीरनाभ्यै (नाभिम्), ६ अपर्णायै (उदरम्), ७ महादेव्यै (हृदयम्), ८ कण्ठकामिन्यै (कण्ठम्), ९ षणमुखायै (मुखम्), १० लोकमोहिन्यै (ललाटम्), ११ मेनकाकुक्षिरत्नायै (शिरः पूजयामि)**—इस प्रकार अंगपूजा करनेके अनन्तर गन्ध-पुष्पादि शेष दस उपचारोंसे पूजन करे और गौरीके दक्षिण भागमें गणेशजीका और वामभागमें स्कन्द (स्वामिकार्तिकेय)-का पूजन करे। तत्पश्चात् ताँबे अथवा मिट्टीके

दीपकको गौके घीसे पूर्ण करके उसमें आठ बत्ती जलाये और (सूर्योदय होनेतक) रात्रिभर प्रज्वलित रखे। फिर ब्राह्ममुहूर्त (प्रतिपदाके प्रभात)-में स्नानादि करनेके अनन्तर द्विजदम्पती (ब्राह्मण-ब्राह्मणी)-का पूजन करके तीन धातुओं (ताँबे, पीतल और शीशे)-के बने हुए पात्रमें गुड़, पक्वान्न (हलुआ-पूरी-पूआ), तिल-तण्डुल और सौभाग्यद्रव्य रखकर उनपर उपर्युक्त दीपक रखे और जबतक बक-काकादि पक्षीगण अपना कलरव करते हुए उसको ग्रहण न करें तबतक वहीं बैठी रहे। यदि उठ खड़ी हो तो उससे सौभाग्यकी हानि होती है। इस प्रकार पहले वर्षमें अमावस्यासे, दूसरेमें प्रतिपदासे और तीसरेमें द्वितीयासे— इस क्रमसे चौथे-पाँचवें आदि वर्षोंमें तृतीया-चतुर्थी आदि तिथियोंको व्रत करके सोलहवें वर्षके मार्गशीर्षकी पूर्णिमाको आठ द्विजदम्पती बुलवाकर मध्याह्नके समय अक्षतोंके अष्टदलपर (सुपूजित गौरीके समीप) सोम और शिवका पूजन करे और नैवेद्यमें सुहाली, कसार, पूआ, पूरी, खीर, घी, शर्करा और मोदक—इन आठ पदार्थोंका भोग लगाये। फिर इन्हीं आठ पदार्थोंसे आठ कटोरदान (ढक्कनदार भोजनपात्र) भरकर उपर्युक्त आठ दम्पती (जोड़ा-जोड़ी)-को भोजन करवाकर वस्त्रालंकारादिसे भूषितकर एक-एक करके आठों कटोरदान दान करे। यह व्रत स्त्रियोंके करनेका है—इससे सभी स्त्रियोंको सुतादिकी प्राप्ति हो सकती है और उनके सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध हो सकते हैं।

शुक्लपक्ष

(१) **धन्यव्रत** (वाराहपुराण)—यह व्रत मार्गशीर्षके दोनों पक्षोंमें किया जाता है, इस प्रकार कृष्णपक्षके व्रतोंमें आरम्भहीमें इसका उल्लेख हो गया है। पूरा विधान वहीं देख लेना चाहिये।

(२) **पितृपूजन** (लिंगपुराण)—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वितीयाको पितरोंका पूजन करके व्रत करनेसे पितृगण प्रसन्न होते हैं और न करनेसे उन्हें दुःख होता है।

(३) **कृच्छ्रचतुर्थी** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीसे आरम्भ होकर प्रत्येक चतुर्थीको वर्षपर्यन्त करके फिर दूसरे, तीसरे और चौथे वर्षमें करनेसे चार वर्षमें पूर्ण होता है। विधि यह है कि पहले वर्षमें (मार्गशीर्ष शुक्ल ४ को) प्रातःस्नानके पश्चात् व्रतका नियम ग्रहण करके गणेशजीका यथाविधि पूजन करे। नैवेद्यमें लड्डू-तिलकुटा, जौका मँडका और सुहाली अर्पण करके '**त्वत्प्रसादेन देवेश व्रतं वर्षचतुष्टयम्। निर्विघ्नेन तु मे यातु प्रमाणं मूषकध्वज॥**' '**संसारार्णवदुस्तारं सर्वविघ्नसमाकुलम्। तस्माद् दीनं जगन्नाथ त्राहि मां गणनायक॥**' से प्रार्थना करके एक बार परिमित भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक चतुर्थीको करता रहकर दूसरे वर्ष उसी मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीको यथापूर्व नियम-ग्रहण, व्रत और पूजा करके नक्त (रात्रिमें एक बार) भोजन करे। इसी प्रकार प्रत्येक चतुर्थीको वर्षपर्यन्त करके तीसरे वर्ष फिर मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीको व्रत-नियम और पूजा करके अयाचित (बिना माँगे जो कुछ जितना मिले उसीका एक बार) भोजन करे। इस प्रकार एक वर्षतक प्रत्येक चतुर्थीको व्रत करके चौथे वर्षमें उसी मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीको नियम-ग्रहण, व्रत-संकल्प और पूजनादि करके निराहार उपवास करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त प्रत्येक चतुर्थीको व्रत करके चौथा वर्ष समाप्त होनेपर सफेद कमलपर ताँबेका कलश स्थापन करके सुवर्णके गणेशजीका पूजन करे। सवत्सा गौका दान करे, हवन करे और चौबीस सपत्नीक ब्राह्मणोंको भोजन करवाकर वस्त्राभूषणादि देकर स्वयं भोजन करे तो इस व्रतके करनेसे सब प्रकारके विघ्न दूर हो जाते हैं और सब प्रकारकी सम्पत्ति प्राप्त होती है।

(४) **वरचतुर्थी** (स्कन्दपुराण)—पूर्वोक्त कृच्छ्रचतुर्थीके समान यह व्रत भी मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीसे आरम्भ होकर चार वर्षमें पूर्ण होता है। प्रथम वर्षमें प्रत्येक चतुर्थीको दिनार्द्धके समय एक बार

अलोन (बिना नमकका) भोजन, दूसरे वर्षमें नक्त (रात्रि) भोजन, तीसरेमें अयाचित भोजन और चौथेमें उपवास करके यथापूर्व समाप्त करे। यह व्रत सब प्रकारकी अर्थसिद्धि करनेवाला है। परिमित भोजनके विषयमें किसीने ३२ ग्रास और किसीने २९ ग्रास बतलाये हैं। 'स्मृत्यन्तर'में '**अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनः। द्वात्रिंशद् गृहस्थस्या परिमितं ब्रह्मचारिणः॥**' मुनिको आठ, वनवासियोंको सोलह, गृहस्थोंको बत्तीस और ब्रह्मचारियोंको अपरिमित (यथारुचि) ग्रास भोजन करनेकी आज्ञा है। ग्रासका प्रमाण है एक आँवलेके बराबर अथवा जितना सुगमतासे मुँहमें जा सके, उतना एक ग्रास होता है। न्यून भोजनके लिये (याज्ञवल्क्यने) तीन ग्रास नियत किये हैं।

(५) नागपंचमी (हेमाद्रि)—यद्यपि यह व्रत श्रावणमें ही प्रसिद्ध है, परंतु (स्कन्दपुराणके) '**शुक्ला मार्गशिरे पुण्या श्रावणे या च पंचमी। स्नानदानैर्बहुफला नागलोकप्रदायिनी॥**' के अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमीको भी नागोंका पूजन और एकभुक्त व्रत करना फलदायक होता है।

(६) श्रीपंचमी (भविष्योत्तर)—यह व्रत मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमीसे आरम्भ किया जाता है। एतन्निमित्त कमलपुष्प हाथमें लिये हुए कमलासनपर विराजमान और दो गजेन्द्रोंके छोड़े हुए दुग्ध या जलसे स्नान करती हुई लक्ष्मीका हृदयमें ध्यानकर सुवर्णादिकी मूर्तिके समक्ष व्रत करनेका नियम करे और तीन प्रहर दिन बीतनेके बाद गंगा या कुएँ आदिपर स्नान करके उक्त मूर्तिको सुवर्णादिके कलशपर स्थापित करके सर्वप्रथम देव और पितरोंको तृप्त करे (अर्थात् गणपति-पूजन, मातृका-पूजन और नान्दीश्राद्ध करे), फिर उस ऋतुके फल-पुष्पादि लेकर यथाप्राप्त उपचारोंसे लक्ष्मीका पूजन करे। उसमें गन्ध-लेपनके पहले १ चंचला, २ चपला, ३ ख्याति,

४ मन्मथा, ५ ललिता, ६ उत्कण्ठिता, ७ माधवी और ८ श्री—इन आठ नामोंसे १ पाद, २ जंघा, ३ नाभि, ४ स्तन, ५ भुजा, ६ कण्ठ, ७ मुख और ८ मस्तककी अंगपूजा करके नैवेद्य अर्पण करे और सौभाग्यवती स्त्रीके तिलक करके उसे मधुरान्नका भोजन करावे तथा उसके पतिको '**श्रीर्मे प्रीयताम्**' का उच्चारण करके प्रस्थ (लगभग एक किलो) चावल और घी देकर भोजन करे। इस प्रकार १ मार्गशीर्षमें श्री, २ पौषमें लक्ष्मी, ३ माघमें कमला, ४ फाल्गुनमें सम्पत्, ५ चैत्रमें पद्मा, ६ वैशाखमें नारायणी, ७ ज्येष्ठमें धृति, ८ आषाढ़में स्मृति, ९ श्रावणमें पुष्टि, १० भाद्रपदमें तुष्टि, ११ आश्विनमें सिद्धि और १२ कार्तिकमें क्षमा—इन बारह देवियोंका यथापूर्व और यथाक्रम पूजन करके मण्डपादि बनवाकर उसमें वस्त्र-आभूषण और बर्तन आदिसे समन्वित शय्यापर लक्ष्मीका पुनः पूजन करके सवत्सा गौसहित विद्वान् ब्राह्मणको दे और फिर भोजन करे तो इस व्रतसे सुत-सुख-सौभाग्य और अचल लक्ष्मी प्राप्त होती है।

(७) स्कन्दषष्ठी (भविष्योत्तर)—मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठीको स्वामिकार्तिकजी तारकको मारकर अभिषिक्त हुए थे, अतः यह पुण्यप्रद, पापहर और यशस्करी है। इसमें स्नान, दान और व्रत करनेसे पुण्य होता है।

(८) त्रितयसप्तमी (हेमाद्रि)—मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमीको हस्त हो तो जगत्प्रसूति (सूर्यनारायण)-का उत्तम प्रकारके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके उपवास करे और फिर इसी प्रकार प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको वर्षभर करता रहे तो अच्छे कुलमें जन्म, स्थायी आरोग्य और यथेच्छ धन—ये तीनों मिलते हैं।

(९) मित्रसप्तमी (निर्णयामृत)—मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमीके पहले दिन वपन (मुण्डन) करावे, फिर स्नान करके उपवास करे। सप्तमीको सूर्यका आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करके

ब्राह्मणोंको भोजन करवाकर शहदमें भीगे हुए मधुरान्नका स्वयं भोजन करे। इस विषयमें (ब्रह्मपुराणका) यह मत है कि सूर्यनारायण किसीके बनाये हुए नहीं हैं। यह विष्णुके दक्षिण नेत्र और अदिति एवं कश्यपके पुत्र हैं। मित्र इनका नाम है। इस कारण इनकी मित्रसप्तमीको उपवास करके फलाहार करे और अष्टमीको ब्राह्मणों और नट-नर्तकादिको भोजन करवाकर मधुप्लावित अन्नका स्वयं भोजन करे।

(१०) विष्णुसप्तमी (हेमाद्रि)—मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमीको लाल रंगके चन्दन और पुष्पोंसे भगवान् विष्णुका पूजन करके वटक (बाटी)-का नैवेद्य अर्पणकर व्रत करे। इन तीनों व्रतोंसे अभीष्टकी सिद्धि होती है।

(११) नन्दासप्तमी (भविष्य)—मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमीको सूर्यका पूजन करके दध्योदन (दही-भात) अर्पणकर उपवास करे तो सर्वानन्दकी प्राप्ति होती है।

(१२) भद्रासप्तमी (भविष्योत्तर)—इसी दिन (मार्गशीर्ष शुक्ल ७ को) घी-दूध और इक्षु (गन्ने)-के रससे सूर्यको स्नान करवाकर उपवास करे और अष्टमीको पारण करके भोजन करे।

(१३) निक्षुभार्कचतुष्टय (भविष्योत्तर)—१. मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी और सप्तमीको उपवाससहित सूर्यका पूजनकर अष्टमीको भोजन करे, २. केवल कृष्ण सप्तमीको उपवास करके सूर्यका पूजन करे, ३. सप्तमीको निराहार उपवास करके चूनका हाथी बनाकर निवेदन करे और ४. मार्गशीर्ष या माघकी कृष्ण सप्तमीको दृढव्रत होकर उपवास करे, यथानियम पूजन करे और एक वर्ष समाप्त होनेपर गन्धादिसे सूर्यका पुनः पूजन करके ब्राह्मणोंको मणि-मुक्ता और भोजनादि देकर स्वयं भोजन करे। इस प्रकार सूर्यपत्नी (निक्षुभा) और सूर्यका उपर्युक्त चार प्रकारसे व्रत और पूजन करे तो भ्रूणहत्यादि सब पाप दूर होते हैं।

(१४) नन्दिनी (मदनरत्न)—मार्गशीर्ष शुक्ल नवमी 'नन्दिनी' है। इस दिनसे तीन रात्रितक देवीका यथाविधि पूजन करके उपवास करे तो अश्वमेधके समान फल होता है।

(१५) पदार्थदशमी (विष्णुधर्मोत्तर)—मार्गशीर्ष शुक्ल दशमीसे आरम्भ करके एक वर्षपर्यन्त प्रत्येक शुक्ल दशमीको दसों दिगीशों (१ इन्द्र, २ अग्नि, ३ यम, ४ निर्ऋति, ५ वरुण, ६ वायु, ७ कुबेर, ८ ईशान, ९ ब्रह्मा और १० अनन्त)–का गन्ध–पुष्पादिसे पूजन करके वर्षके बाद दूध देती हुई गौका दान करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराये तो व्यापार, व्यवहारमें यथेच्छ सफलता प्राप्त होनेके सिवा विद्या और धनादिकी वृद्धि होती है और शत्रुओंका नाश होता है।

(१६) धर्मत्रयव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—१. मार्गशीर्ष शुक्ल दशमीको उपवास करके धर्मका पूजन करे, घीकी आहुति दे और ब्राह्मणोंको भोजन कराये। २. कृष्णपक्षकी दशमीको धर्मका पूजन करके व्रत करे। ३. कृष्ण और शुक्ल दोनोंकी दशमीको धर्मका यथाविधि पूजन करके व्रत करे तो इस व्रतत्रयसे पापोंका नाश और आयु, आरोग्य एवं ऐश्वर्यकी वृद्धि होती है।

(१७) दशादित्यव्रत (स्कन्दपुराण)—यद्यपि यह व्रत किसी भी शुक्ल दशमीको रविवार हो उसी दिन किया जाता है तथापि मार्गशीर्ष, माघ और वैशाखके व्रतारम्भका अधिक फल होता है। मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी रविवारको नदी, तालाब या झरने आदिपर जाकर प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करके मध्याह्नमें स्नान करे और घर आकर देव तथा पितरोंको तृप्त करके वेदी बनाये। (१) उसपर १२ आर (नोक या कोण)–का कमल लिखे और उसपर स्वर्णनिर्मित सूर्यमूर्ति स्थापित करके सूर्यके मन्त्रोंसे आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, फल, ताम्बूल, दक्षिणा और विसर्जन—इन

उपचारोंसे पूजन करे। (२) गोबरसे पोती हुई वेदीपर काले रंगकी—१ दुर्मुखी, २ दीनवदना, ३ मलिना, ४ सत्यनाशिनी, ५ बुद्धिनाशिनी, ६ हिंसा, ७ दुष्टा, ८ मित्रविरोधिनी, ९ उच्चाटनकारिणी और १० दुश्चिन्तप्रदा—ये दस पुत्रिका (पुतली) लिखकर इनकी नाम-मन्त्रोंसे पूजा और प्रतिष्ठा करे और '**नित्यं पापकरे पापे देवद्विजविरोधिनी। गच्छ त्वं दुर्दशे देवि नित्यं शास्त्रविरोधिनि॥**' से प्रार्थना करके विसर्जन करे। (३) सूत या रेशमके दस तारका डोरा बनाकर उसमें दस ग्रन्थि (गाँठ) लगाये। आवाहनादि षोडश उपचारोंसे पूजन करे और सूर्यकी प्रार्थना करे। फिर दक्षिणासहित दस फल लेकर '**भास्करो बुद्धिदाता च द्रव्यस्थो भास्करः स्वयम्। भास्करस्तारकोभाभ्यां भास्कराय नमोऽस्तु ते॥**' से वायन-दान करके भोजन करे और (४) वेदीके स्थानमें चन्दनकी १ सुबुद्धिदा, २ सुखकारिणी, ३ सर्वसम्पत्तिदा, ४ इष्टभोगदा, ५ लक्ष्मी, ६ कान्तिदा, ७ दुःखनाशिनी, ८ पुत्रप्रदा, ९ विजया और १० धर्मदायिनी—ये दस पुतली लिखकर नाममन्त्रोंसे इनका षोडशोपचार पूजन करे तथा '**विशुद्धवसनां देवीं सर्वाभरणभूषिताम्। ध्यायेद् दशदशां देवीं वरदाभयदायिनीम्।**' से प्रार्थना करके भोजन करे तो दुर्दशा दूर हो जाती है। 'दुर्दशा क्यों होती है?' इस विषयमें नारदजीने कश्यपजीसे पूछा, तब उन्होंने बतलाया था कि—'तुष, भस्म और मूसलका उल्लंघन करनेसे— कुमारी, रजकी (धोबिन) और वृद्धाके साथ संयोग होनेसे, अयोनि— (मुख, हाथ, गुदा) या ब्राह्मणी आदिसे ब्रह्मचर्य नष्ट होनेसे, शाम, सुबह या पर्वमें रजस्वलाके समीप जानेसे, संकटके समय माँ, बाप और मालिकको छोड़ देनेसे और अपने परम्परागत धर्म-कर्म और सदाचारका त्याग कर देनेसे दुर्दशा होती है। अतः न्यायमार्ग और सत्कर्ममें प्रवृत्त रहे और आपत्तिमें दशादित्यका व्रत करे। आपद्ग्रस्त होनेपर नल राजाने और पाण्डवोंने यह व्रत किया था।

(१८) **शुक्लैकादशी** (ब्रह्माण्डपुराण)—इसके शुद्धा, विद्धा और नियमादिका निर्णय यथापूर्व करनेके अनन्तर मार्गशीर्ष शुक्ल दशमीको मध्याह्नमें जौ और मूँगकी रोटी-दालका एक बार भोजन करके एकादशीको प्रातःस्नानादि करके उपवास रखे। भगवान्‌का पूजन करे और रात्रिमें जागरण करके द्वादशीको एकभुक्त पारण करे। यह एकादशी मोहका क्षय करनेवाली है। इस कारण इसका नाम 'मोक्षदा' रखा गया है। इसी दिन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताका उपदेश किया था; अतः उस दिन गीता, श्रीकृष्ण, व्यास आदिकी पूजा करके गीता-जयन्तीका उत्सव मनाना चाहिये। गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान आदि हो। सम्भव हो तो गीताका जुलूस भी निकालना चाहिये।

(१९) **व्यंजनद्वादशी** (व्रतोत्सव)—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशीको भगवान्‌का षोडशोपचार पूजन करके अन्नकूटके समान अनेक प्रकारके भोजन-पदार्थ बनाकर विष्णुके अर्पण करे और प्रसादके अभिलाषी भगवद्भक्तोंको आदर और प्रेमके साथ प्रसाद दे। बादमें एक बार भोजन करे।

(२०) **द्वादशादित्यव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशीसे आरम्भ करके प्रत्येक शुक्ल द्वादशीको १ मार्गशीर्षमें धाता, २ पौषमें मित्र, ३ माघमें अर्यमा, ४ फाल्गुनमें पूषा, ५ चैत्रमें शक्र, ६ वैशाखमें अंशुमान्, ७ ज्येष्ठमें वरुण, ८ आषाढ़में भग, ९ श्रावणमें त्वष्टा, १० भाद्रपदमें विवस्वान्, ११ आश्विनमें सविता और १२ कार्तिकमें विष्णु—इन नामोंसे सूर्यभगवान्‌का यथाविधि पूजन करे और जितेन्द्रिय होकर व्रत करे तो सब प्रकारकी आपत्तियोंका नाश और सब प्रकारके सुखोंकी वृद्धि होती है।

(२१) **जनार्दनपूजा** (कृत्यरत्नावली)—मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशीको प्रातःस्नानसे पवित्र होकर उपवास करके देवदेवेश

भगवान्‌का पूजन करे। पंचगव्यसे स्नान कराये। उसीका स्वयं पान करे और जौ तथा चावलोंका पात्र ब्राह्मणको दे। साथ ही '**सप्तजन्मसु यत् किंचिन्मया खण्डव्रतं कृतम्। भगवंस्त्वत्प्रसादेन तदखण्डमिहास्तु मे॥**' '**यथाखिलं जगत् सर्वं त्वमेव पुरुषोत्तम। तथाखिलान्यखण्डानि व्रतानि मम सन्तु वै॥**' से प्रार्थना करे।

(२२) अनंगत्रयोदशी (भविष्योत्तर)—मार्गशीर्ष शुक्ल त्रयोदशीको नदी, तालाब, कुआँ या घरपर स्नान करके अनंग नर्मदेश्वर महादेवका गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि उपचारोंसे पूजन करके व्रत करे। विशेषता यह है कि मार्गशीर्षादि महीनोंमें—१ मधु, २ चन्दन, ३ न्यग्रोध, ४ बदरीफल, ५ करंज, ६ अर्कपुष्प, ७ जामुन, ८ अपामार्ग, ९ कमलपुष्प, १० पलास, ११ कुब्ज अपामार्ग और १२ कदम्ब—इनका पूजन और प्राशनमें यथाक्रम उपयोग करे। विशेष विधान मूल ग्रन्थमें देखें। इस व्रतसे शिवजी प्रसन्न होते हैं।

(२३) यमादर्शन (स्कन्दपुराण)—यह व्रत मार्गशीर्ष शुक्लकी जिस त्रयोदशीको क्रूर (सूर्य, भौम और शनि) वार न हों और सौम्य (सोम, बुध, बृहस्पति एवं शुक्र) वार हों उसी त्रयोदशीसे आरम्भ करके वर्षपर्यन्त करे। इसका विधान स्वयं यमने ही इस प्रकार प्रकाशित किया है कि उस दिन यम नामके 'काल, दण्डधर, अन्तक, शीर्णपाद, कंक, हरि और वैवस्वत' जैसे नामोंवाले आठ-पाँच (तेरह) ब्राह्मणोंको पवित्र स्थानमें अलग-अलग पूर्वाभिमुख बैठाकर मस्तक आदि अंगोंमें तैल-मर्दन करके कवोष्ण (साधारण गर्म) जलसे स्नान कराये और सुगन्धयुक्त गन्धादिसे चर्चित करके दूसरे स्थानमें उसी प्रकार पूर्वाभिमुख बैठाकर गुड़के सुस्निग्ध और सुस्वादु मालपूओंका यथारुचि भोजन कराये। उसके पीछे आचमन करवाकर ताँबेके

तेरह पात्रोंमें सोलह-सोलह किलो तिल और चावल भरकर '**लोकपालोऽधिना क्रूरो रौद्रो घोराननः शिवः। मम प्रसादात् सुमुखो ददात्वभयदक्षिणाम्॥**' से प्रणाम और प्रार्थना करके दक्षिणासहित उक्त तेरह पात्र उनके अर्पण करे तो इस व्रतके प्रभावसे यमका भयंकर रूप नहीं दीखता।

(२४) पिशाचमोचनयात्रा (काशीखण्ड)—यह सांवत्सरिक यात्रा मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्दशीको होती है। उस दिन कपर्दीश्वर (शिव)-के समीपमें स्नान करके यात्रा करे। इस यात्राके करनेवाले मनुष्यकी अन्यत्र मृत्यु होनेपर भी वह पिशाच नहीं होता और तीर्थपर लिये हुए दानादिका पाप नहीं रहता।

(२५) शिवचतुर्दशीव्रत (मत्स्यपुराण)—'शास्त्रोंमें इस व्रतका विधान विशेष प्रकारसे वर्णन किया है, यहाँ उसका सम्पूर्ण समावेश नहीं हो सकता । इसलिये संक्षेपसे प्रकाशित करते हैं।' इसके निमित्त मार्गशीर्ष शुक्ल त्रयोदशीको एकभुक्त व्रत करके चतुर्दशीको निराहार उपवास करे और शिवजीका पूजन करे। उसमें स्नान करानेके पीछे '**शिवाय नमः पादौ। सर्वात्मने नमः शिरः। त्रिनेत्राय नमः ललाटम्। हराय नमः नेत्रयुग्मम्। इन्दुमुखाय नमः मुखम्। श्रीकण्ठाय नमः स्कन्धौ। सद्योजाताय नमः कर्णौ। वामदेवाय नमः भुजौ। अघोरहृदयाय नमः हृदयम्। तत्पुरुषाय नमः स्तनौ। ईशानाय नमः उदरम्। अनन्तधर्माय नमः पार्श्वम्। ज्ञानभूताय नमः कटिम्। अनन्तवैराग्यसिंहाय नमः ऊरू। प्रधानाय नमः जंघे। व्योमात्मने नमः गुल्फौ** और **व्युप्तकेशात्मरूपाय नमः पृष्ठम् अर्चयामि।**' से अंगपूजा करके '**नमः पुष्ट्यै, नमस्तुष्ट्यै**' से पार्वतीका पूजन करे। उसके बाद वृषभ, सुवर्ण, जलपूर्ण कलश, गन्ध, पंचरत्न और अनेक प्रकारकी भोजनसामग्री—ये सब '**प्रीयतां देवदेवोऽत्र सद्योजातः**

पिनाकधृक्।' से प्रार्थना करके ब्राह्मणके अर्पण करे और थोड़ा घी खाकर भूमिमें उदङ्मुख शयन करे। फिर पूर्णिमाको ब्राह्मणोंका पूजन करके उनको भोजन कराये और इसी प्रकार कृष्ण चतुर्दशीको भी करे। आगे हर महीनेमें दोनों पक्षकी चतुर्दशीको शिव-पूजनादिके पश्चात् मार्गशीर्षमें गोमूत्र, पौषमें गोबर, माघमें गोदुग्ध, फाल्गुनमें गोदधि, चैत्रमें गोघृत, वैशाखमें कुशोदक, ज्येष्ठमें पंचगव्य, आषाढ़में बिल्व, श्रावणमें जौ, भाद्रपदमें गोश्रृंगजल, आश्विनमें जल और कार्तिकमें काले तिल—इनको यथाविधि भक्षण करे। शिवके पूजनमें मासभेदसे भी पुष्पादि अर्पण किये जाते हैं। यथा मार्गशीर्षमें सफेद कमल, पौषमें मन्दार, माघमें मालती, फाल्गुनमें धतूर, चैत्रमें सिन्दुवार, वैशाखमें अशोक, ज्येष्ठमें मल्लिका, आषाढ़में पाटल, श्रावणमें अर्क-पुष्प, भाद्रपदमें कदम्ब, आश्विनमें शतपत्री और कार्तिकमें उत्पल—इनसे देवदेवेश महादेवका पूजन करे तो महाफल प्राप्त होता है। शास्त्रोंमें इसका अनन्त फल लिखा है।

पौषके व्रत

कृष्णपक्ष

(१) संकष्टचतुर्थी (भविष्योत्तर)—पौष कृष्ण (चन्द्रोदयव्यापिनी पूर्वविद्धा) चतुर्थीको गणपति-स्मरणपूर्वक प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करनेके पश्चात् '**मम सकलाभीष्टसिद्धये चतुर्थीव्रतं करिष्ये**' इस प्रकार संकल्प करके दिनभर मौन रहे। रात्रिमें पुनः स्नान करके गणपति-पूजनके पश्चात् चन्द्रोदयके बाद चन्द्रमाका पूजन करके अर्घ्य दे, फिर भोजन करे।

(२) अष्टकाश्राद्ध (आश्वलायन)—पौष कृष्ण अपराह्णव्यापिनी अष्टमीको शास्त्रोक्त विधिसे अष्टकाश्राद्ध करके ब्राह्मणभोजन करानेसे उत्तम फल मिलता है और न कराये तो दोष लगता है।

(३) रुक्मिणी-अष्टमी (व्रतकौस्तुभ)—पौष कृष्ण अष्टमीको कृष्ण, रुक्मिणी और प्रद्युम्नकी स्वर्णमयी मूर्तियोंका गन्धयुक्त गन्धादिसे पूजनकर उत्तम पदार्थ अर्पण करे और शक्ति हो तो सुवासिनी अच्छे वस्त्रोंवाली (सौभाग्यवती) आठ स्त्रियोंको भोजन करवाकर दक्षिणा दे तो रुक्मिणीजीकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

(४) कृष्णैकादशी (पद्मपुराण)—पौष कृष्ण एकादशीको उपवास करके भगवान्का यथाविधि पूजन करे। यह सफला एकादशी है; अतः नैवेद्यमें केला, बिजौरा, जंबीरी, नारियल, दाडिम (अनार) और पूगफलादि अर्पण करके रात्रिमें जागरण करे। प्राचीन कालमें चम्पावतीके माहिष्मन् राजाका लुम्पक नामक पुत्र कुमार्गी होकर धन-पुत्रादिसे हीन हो गया था। कई वर्ष कष्ट भोगनेके बाद एक रोज (एकादशीको) उसने फल बीनकर किसी पुराने पीपलकी जड़में रख दिये और असमर्थ होनेके कारण खाये नहीं। वह रातभर जागता रहा। इस प्रकार

अनायास किये गये व्रतसे भी भगवान् प्रसन्न हुए और उसे उसके पितासे आदरपूर्वक चम्पावतीका राज्य दिला दिया।

(५) **सुरूपद्वादशी** (व्रतार्क)—पौष कृष्ण पुष्पयुक्त द्वादशीके पहले दिन रात्रिमें जितेन्द्रिय होकर विष्णुका ध्यान करे और सफेद गौके छतपर सुखाये हुए गोबरकी आगमें घृतादियुक्त तिलोंकी १०८ आहुतिका हवन करे। दूसरे दिन द्वादशीको नदी या तालाब आदिपर स्नान करके भगवान्‌की सुवर्णमयी मूर्तिको तिलपूर्ण पात्रमें रखकर गन्धादिसे पूजन करे और तिल, फल आदिका भोग लगाकर '**नमः परमशान्ताय विरूपाक्ष नमोऽस्तु ते**' से अर्घ्य दे तथा विद्वान् ब्राह्मणको भोजन करवाकर उक्त मूर्ति उन्हें दान कर दे।

शुक्लपक्ष

(१) **आरोग्यव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—पौष शुक्ल द्वितीयाको गोशृंगोदक (गायोंके सीगोंको धोकर लिये हुए जल)-से स्नान करके सफेद वस्त्र धारणकर सूर्यास्तके बाद बालेन्दु (द्वितीयाके चन्द्रमा)-का गन्धादिसे पूजन करे। जबतक चन्द्रमा अस्त न हो, तबतक गुड़, दही, परमान्न (खीर) और लवणसे ब्राह्मणोंको संतुष्ट करके केवल गोरस (छाछ) पीकर जमीनपर शयन करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल द्वितीयाको एक वर्षतक चन्द्रपूजन और भोजनादि करके बारहवें महीने (मार्गशीर्ष)-में बालेन्दुका यथापूर्व पूजन करे और इक्षुरस (ईखके रस)-का घड़ा, सोना और वस्त्र ब्राह्मणको देकर भोजन करे तो रोगोंकी निवृत्ति और आरोग्यताकी प्रवृत्ति होती है तथा सब प्रकारके सुख मिलते हैं।

(२) **विधिपूजा** (ब्रह्मपुराण)—पौष शुक्ल द्वितीयाको गुरुवार हो तो प्रातःस्नानादिके अनन्तर यथाविधि विधिपूजा (ब्रह्माजीका पूजन) करके नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे तो उत्तम सम्पत्ति प्राप्त होती है।

(३) उभयसप्तमी (आदित्यपुराण)—यह व्रत पौष शुक्ल सप्तमीको उपवास करके तीनों संधियों (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल)-में गन्ध, पुष्प और घृतादिसे सूर्यका पूजन करे और क्षारसिद्ध मोदक निवेदन करे (पकते हुए घीमें नमक डालकर उसे निकाल दे और फिर आटेको सेंककर मोदक बनावे)। ब्राह्मणोंको भोजन कराये, गोदान करे और भूमिपर शयन करे तो सब कामना सफल होती है।

(४) मार्तण्डसप्तमी (कृत्यकल्पतरु)—पौष शुक्ल सप्तमीको मार्तण्ड (सूर्य)-का पूजन करके गोदान करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करे तो उत्तम फल प्राप्त होता है।

(५) महाभद्रा (कृत्यकल्पतरु)—पौष शुक्ल अष्टमीको बुधवार हो तो उस दिनके स्नान-दानादिसे शिवजी प्रसन्न होते हैं।

(६) जयन्ती अष्टमी (निर्णयामृत)—उसी (पौष शुक्लाष्टमी बुधके) दिन भरणी हो तो वह 'जयन्ती' होती है। उस दिन स्नान, दान, जप, होम, देवर्षिपितृतर्पण करनेसे तथा ब्राह्मणभोजन करानेसे कोटिगुना फल होता है।

(७) शुक्लैकादशी (ब्रह्मवैवर्त)—पौष शुक्ल एकादशी 'पुत्रदा' है। इसके उपवाससे पुत्रकी प्राप्ति होती है। प्राचीन कालमें भद्रावती नगरीके राजा वसुकेतुके पुत्र न होनेसे राजा, रानी दोनों दुःखी थे। उनके मनमें यह विचार उठा कि 'पुत्रके बिना गज, तुरग, रथ, राज्य, नौकर-चाकर और सम्पत्ति— सब निरर्थक है; अतः पुत्रप्राप्तिका उपाय करना चाहिये।' यह सोचकर राजा एक ऐसे गहन वनमें चला गया जिसमें बड़, पीपल, बेल, जामुन, केले, कदम्ब, टेंडू, लीची और आम आदि भरे हुए थे; जहाँ सिंह, व्याघ्र, वराह, शश, मृग, शृगाल और चार दाँतोंके हाथी आदि घूम रहे थे; शुक, सारिका, कबूतर, पपीहा और उल्लू आदि बोल रहे थे तथा साँप, बिच्छू, गोह

और कीट-पतंगादि डरा रहे थे। ऐसे सुहावने और डरावने जंगलमें एक अत्यन्त सुन्दर, मनोहर और मधुरतम जलपूर्ण सरोवरके तटपर मुनिलोग सत्कर्मोंका अनुष्ठान कर रहे थे। उनको देखकर राजाने अपना अभीष्ट निवेदन किया। तब महात्माओंने बतलाया कि 'आज पुत्रदा एकादशी है, इसका उपवास करो तो पुत्र प्राप्त हो सकता है।' राजाने वैसा ही किया और भगवत्कृपासे उसके यहाँ सर्वगुणसम्पन्न सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ।

(८) सुजन्मद्वादशी (वीरमित्रोदय)—यदि पौष शुक्ल द्वादशीको ज्येष्ठा नक्षत्र हो तो उस दिन भगवान्‌का पूजन करके घीका दान करे, गोमूत्र पीकर उपवास करे और आगे माघादि महीनोंमें नियत वस्तुका दान और भोजन करके उपवास करे। जैसे माघमें चावलदान, जल-प्राशन; फाल्गुनमें जौदान, घृतभोजन; चैत्रमें सुवर्णदान, सुपक्व शाकभोजन; वैशाखमें जौदान, दूर्वाभोजन; ज्येष्ठमें जलदान, दधि-भोजन; आषाढ़में सोना, अन्न और जलदान, भात-भोजन; श्रावणमें छत्रदान, जौभोजन; भादोंमें दूधदान, तिलभोजन; आश्विनमें अन्नदान, सूर्यकिरणोंसे तपाये हुए जलका भोजन; कार्तिकमें गुड़-फांटदान, दूधभोजन और मार्गशीर्षमें मलयागिरिचन्दनका दान और दूधका भोजन कर उपवास करे तो कुलमें प्रधानता और घरमें सम्पत्ति होती है।

(९) घृतदान (कृत्यतत्त्वार्णव)—पौष शुक्ल १३ को भगवान्‌का पूजन करके ब्राह्मणको घीका दान दे तो सब कामनाएँ सिद्ध होती हैं।

(१०) विरूपाक्षपूजन (हेमाद्रि)—पौष शुक्ल १४ को विरूपाक्षका पूजन करके तदनुकूल उपकरण महोक्ष (बड़ा बैल—साँड आदि)-का दान करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल चतुर्दशीको वर्षभर करनेसे राक्षसादिका भय नहीं होता और घरमें सुख, शान्ति एवं समृद्धिकी वृद्धि होती है।

(११) ईशानव्रत (कालिकापुराण)—पौष शुक्ल चतुर्दशीका व्रत करके पुष्ययुक्त पूर्णमासीको सुश्वेत वस्त्रसे आच्छादित की हुई वेदीपर चारों दिशाओंमें अक्षतोंकी चार ढेरियाँ बनाये। एक वैसी ही मध्यमें बनाये। उनपर पूर्वमें विष्णु', दक्षिणमें 'सूर्य', पश्चिममें 'ब्रह्मा' और उत्तरमें 'रुद्र' को स्थापित करे तथा सबके मध्यमें 'ईशान' की स्थापना करके उत्तम प्रकारके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन कर और कर्पूरादिसे नीराजन (आरती) करके गोमिथुन (एक गौ और एक बैल)-का दान करे। ब्राह्मणोंको भोजन कराये और स्वयं गोमूत्र पीकर उपवास करे। इस प्रकार पाँच वर्ष करनेसे यह व्रत पूर्ण होता है। गोदानमें यह विशेषता है कि पहले वर्षमें एक गौ, एक बैल; दूसरे वर्षमें दो गौ, एक बैल; तीसरेमें तीन गौ, एक बैल; चौथेमें चार गौ, एक बैल और पाँचवेंमें पाँच गौ और एक बैल दान करे। बैल ब्रह्मचारी या साँड हो—खेती आदिमें जोता हुआ न हो तो इस व्रतके करनेसे सब प्रकारका सुख होता है और लक्ष्मी बढ़ती है।

माघके व्रत

कृष्णपक्ष

(१) माघस्नान (नानापुराणादि)—माघ, कार्तिक और वैशाख महापुनीत महीने माने गये हैं। इनमें तीर्थस्थानादिपर या स्वदेशमें रहकर नित्यप्रति स्नान-दानादि करनेसे अनन्त फल होता है। स्नान सूर्योदयके समय[१] श्रेष्ठ है। उसके बाद जितना विलम्ब[२] हो उतना ही निष्फल होता है। स्नानके लिये काशी और प्रयाग[३] उत्तम माने गये हैं। वहाँ न जा सके तो जहाँ भी स्नान करे, वहीं उनका स्मरण करे अथवा '**पुष्करादीनि तीर्थानि गंगाद्याः सरितस्तथा। आगच्छन्तु पवित्राणि स्नानकाले सदा मम॥**' '**हरिद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते। स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते॥**' '**अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका। पुरी द्वारावती ज्ञेयाः सप्तैता मोक्षदायिकाः॥**' '**गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु॥**' का उच्चारण करे। अथवा वेगसे[४] बहनेवाली किसी भी नदीके जलसे स्नान करे अथवा रातभर छतपर रखे हुए जलपूर्ण घटसे स्नान करे अथवा दिनभर सूर्यकिरणोंसे तपे हुए जलसे स्नान करे। स्नानके आरम्भमें '**आपस्त्वमसि देवेश ज्योतिषां पतिरेव च। पापं नाशय मे देव**

---

१. 'स्नानकालश्च सूर्योदयः।' (त्रिस्थलीसेतौ)

२. उत्तमं तु सनक्षत्रं लुप्ततारं तु मध्यमम्।
सवितर्युदिते भूप ततो हीनं प्रकीर्तितम्॥ (ब्राह्मे)

३. काश्युद्भवे प्रयागे ये तपसि स्नान्ति मानवाः।
दशाश्वमेधजनितं फलं तेषां भवेद् ध्रुवम्॥ (काशीखण्ड)

४. सरित्तोयं महावेगं नवकुम्भस्थितं तथा।
वायुना ताडितं रात्रौ गंगास्नानसमं स्मृतम्॥

वाङ्मनः कर्मभिः कृतम्॥' से जलकी और '**दुःखदारिद्र्यनाशाय श्रीविष्णोस्तोषणाय च। प्रातःस्नानं करोम्यद्य माघे पापविनाशनम्॥**' से ईश्वरकी प्रार्थना करे और स्नान करनेके पश्चात् '**सवित्रे प्रसवित्रे च परं धाम जले मम। त्वत्तेजसा परिभ्रष्टं पापं यातु सहस्त्रधा॥**' से सूर्यको अर्घ्य देकर हरिका पूजन या स्मरण करे। माघस्नानके लिये ब्रह्मचारी, गृहस्थ, संन्यासी[१] और वनवासी—चारों आश्रमोंके; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णोंके; बाल, युवा और वृद्ध—तीनों अवस्थाओंके स्त्री, पुरुष या नपुंसक जो भी हों, सबको आज्ञा है; सभी यथानियम नित्यप्रति माघस्नान कर सकते हैं। स्नानकी अवधि[२] या तो पौष शुक्ल एकादशीसे माघ शुक्ल एकादशीतक या पौष शुक्ल पूर्णिमासे माघ शुक्ल पूर्णिमातक अथवा मकरार्कमें (मकरराशिपर सूर्य आये, उस दिनसे कुम्भ राशिपर जानेतक) नित्य स्नान करे और उसके अनन्तर यथावकाश मौन रहे। भगवान्‌का भजन या यजन करे। ब्राह्मणोंको अवारित[३] (बिना रोक) नित्य भोजन कराये। कम्बल, मृगचर्म[४], रत्न, कपड़े (कुरता, चादर, रूमाल, कमीज, टोपी),

---

१. ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
बालवृद्धयुवानश्च नरनारीनपुंसकाः॥
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः ....
स्नात्वा माघे शुभे तीर्थे प्राप्नुवन्तीप्सितं फलम्। (भविष्ये)
'सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप।' (पाद्मे)

२. एकादश्यां शुक्लपक्षे पौषमासे समारभेत्।
द्वादश्यां पौर्णमास्यां वा शुक्लपक्षे समापनम्॥ (ब्राह्मे)
'पुण्यान्यहानि त्रिंशत्तु मकरस्थे दिवाकरे।' (विष्णु)

३. 'एवं स्नात्वावसाने तु भोज्यं देयमवारितम्।' (भविष्ये)

४. कम्बलाजिनरत्नानि वासांसि विविधानि च।
चोलकानि च देयानि प्रच्छादनपटास्तथा॥
उपानहौ तथा गुप्तमोचकौ पापमोचकौ। (भविष्ये)

उपानह् (जूते), धोती और पगड़ी आदि दे। एक या एकाधिक ३० द्विजदम्पती (ब्राह्मण-ब्राह्मणी)-के जोड़ेको षट्रस भोजन करवाकर '**सूर्यो मे प्रीयतां देवो विष्णुमूर्तिनिरंजनः।**' से सूर्यकी प्रार्थना करे। इसके बाद उनको अच्छे वस्त्र,*, सप्तधान्य और तीस मोदक दे। स्वयं निराहार, शाकाहार, फलाहार या दुग्धाहार व्रत अथवा एकभुक्त व्रत करे। इस प्रकार काम, क्रोध, मद, मोहादि त्यागकर भक्ति, श्रद्धा, विनय—नम्रता, स्वार्थत्याग और विश्वास—भावके साथ स्नान करे तो अश्वमेधादिके समान फल होता है और सब प्रकारके पाप-ताप तथा दुःख दूर हो जाते हैं।

(२) वक्रतुण्डचतुर्थी (भविष्योत्तर)—माघ कृष्ण चन्द्रोदय-व्यापिनी चतुर्थीको वक्रतुण्डचतुर्थी कहते हैं। इस व्रतका आरम्भ '**गणपतिप्रीतये संकष्टचतुर्थीव्रतं करिष्ये**'—इस प्रकार संकल्प करके करे। सायंकालमें गणेशजीका और चन्द्रोदयके समय चन्द्रका पूजन करके अर्घ्य दे। इस व्रतको माघसे आरम्भ करके हर महीनेमें करे तो संकटका नाश हो जाता है।

(३) संकष्टचतुर्थी (व्रतोत्सव)—यह प्रशस्त व्रत उपर्युक्त वक्रतुण्डचतुर्थीव्रतके समान किया जाता है।

(४) सर्वाप्तिसप्तमी (हेमाद्रि)—माघ कृष्ण सप्तमीको स्नान-दानादि करनेसे इच्छानुसार फल मिलता है।

(५) कृष्णैकादशी (हेमाद्रि)—माघ कृष्ण एकादशीको प्रातःस्नान करके 'श्रीकृष्ण' इस मन्त्रके ८, २८, १०८ या १००० जप करे। उपवास रखे। रात्रिमें जागरण और हवन करे। भगवान्का पूजन करे और '**सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु महापुरुषपूर्वज। गृहाणार्घ्यं**

---

* दम्पत्योर्वाससी सूक्ष्मे सप्तधान्यसमन्विते।
त्रिंशत्तु मोदका देयाः शर्करातिलसंयुताः॥ (नारद)

(विशेष माघी पूर्णिमा और अमाके उल्लेखमें देखना चाहिये।)

मया दत्तं लक्ष्म्या सह जगत्पते॥'—इस मन्त्रसे अर्घ्य दे। यह 'षट्तिला' एकादशी है। इसमें (१) तिलोंके जलसे स्नान करे, (२) पिसे हुए तिलोंका उबटन करे, (३) तिलोंका हवन करे, (४) तिल मिला हुआ जल पीये, (५) तिलोंका दान करे और (६) तिलोंके बने (मोदक, बर्फी या तिलसकरी आदि)-का भोजन करे तो पापोंका नाश हो जाता है। इस व्रतकी कथा संक्षेपमें इस प्रकार है कि प्राचीन कालमें भगवान्‌की परमा भक्ता एक ब्राह्मणी थी; वह भगवत्सम्बन्धी उपवास-व्रत रखती, भगवान्‌की विधिवत् पूजा करती और नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण किया करती थी। कठिन व्रत करने और पतिसेवा एवं घरकी सँभाल रखने आदिसे उसका शरीर सूख गया था, किंतु अपने जीवनमें उसने दानके निमित्त किसीको एक दाना भी नहीं दिया था। एक दिन स्वयं भगवान्‌ने कपालीका रूप धारणकर उससे भिक्षाकी याचना की, परंतु उसने उन्हें भी कुछ नहीं दिया। अन्तमें कपालीके ज्यादा बड़बड़ानेसे उसने मिट्टीका एक बहुत बड़ा ढेला दिया तो भगवान् उसीसे प्रसन्न हो गये और ब्राह्मणीको वैकुण्ठका वास दिया। परंतु वहाँ मिट्टीके परम मनोहर मकानोंके सिवा और कुछ भी नहीं था। तब उसने भगवान्‌की आज्ञासे षट्तिलाका व्रत किया और उसके प्रभावसे उसको सब कुछ प्राप्त हुआ।

(६) माघी अमा (वायु, देवी, ब्रह्म, हारीत, व्यासादि)—अमा और पूर्णिमा ये दोनों पर्वतिथियाँ हैं। इस दिन पृथ्वीके किसी-न-किसी भागमें सूर्य या चन्द्रमाका ग्रहण हो ही जाता है। इससे धर्मप्राण हिंदू इस दिन अवश्य दान-पुण्यादि कर्म करते हैं। हिमपिण्ड चन्द्रका आधा भाग काला और आधा सफेद है। सफेदपर सूर्यकिरण पड़नेसे वह प्रकाशित होता है। जब चन्द्रमा क्षीण होकर दीखता नहीं,

तब उस तिथिको अमा कहते हैं और पूर्ण चन्द्रसे पूर्णिमा होती है। जिस अमामें चन्द्रकी कुछ सफेदी हो, वह 'सिनीवाली' और कोयलके शब्द करने जितनी हो वह 'कुहू' होती है। इसी प्रकार पूर्ण चन्द्रकी पूर्णिमा 'राका' और कलामात्र कमकी 'अनुमती' होती है। सिनीवाली और कुहूके भेदसे अमा तथा राका और अनुमतीके भेदसे पूर्णिमा दोनों दो प्रकारकी हैं। चन्द्रमा सूर्यसे नीचा है; अतः पूर्णिमाको इसका काला भाग और अमाको सफेद भाग सूर्यकी ओर रहनेसे पृथ्वीपर किये गये दान, पुण्य और भोजनादिके बाष्पसम्भूत अंश सूर्यकी किरणोंसे आकर्षित होकर चन्द्रमण्डलमें (जहाँ पितृगण रहते हैं) चले जाते हैं। इसी कारण अमाको पितृ-श्राद्धादि करनेका विधान किया गया है। अमाके दिन चन्द्रका प्रकाशमान भाग सूर्यके आगे आ जानेसे सूर्यग्रहण और पूर्णिमाको नीचे गये हुए सूर्यसे उठी हुई पृथ्वीकी छाया चन्द्रके सामने आ जानेसे चन्द्रग्रहण होता है। 'लोकान्तरमें कहीं भी ग्रहण हुआ होगा'—इस सम्भावनासे धर्मज्ञ मनुष्य अमा और पूर्णिमाको स्नान-दानादि पुण्य कर्म किया करते हैं। ग्रहण तब होता है, जब सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी (तीनों) एक सीधमें आते हैं; अन्यथा नहीं होता। व्रतादिमें अमावस्या परविद्धा (प्रतिपदायुक्त) लेनी चाहिये। चतुर्दशीयुक्त यानी पूर्वविद्धा अमा निषिद्ध मानी गयी है। '**पूर्वाह्णो वै देवानाम्, मध्याह्नो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणाम्**' के अनुसार दिनको (लगभग १०-१० घड़ीके) तीन भागोंमें विभाजित मानकर जप, ध्यान और उपासना आदिके कार्य प्रथम तृतीयांश (लगभग १० घड़ी दिन चढ़ेतक) करने चाहिये। संस्कारादि एवं आयुर्बलवित्तादिप्राप्तिके प्रयोगादि 'मनुष्यकार्य' दूसरे तृतीयांश (मध्य दिनकी लगभग १० घड़ी)-में करने चाहिये और श्राद्ध, तर्पण एवं हंतकारादि 'पितृकार्य' तीसरे तृतीयांश (दिनास्तसे पहलेतककी लगभग १० घड़ी)-में करने चाहिये।

(७) **विधिपूजा** (भविष्योत्तर)—माघी अमाको प्रतिदिनके स्नान-दानादिके पश्चात् वस्त्राच्छादित वेदीपर वेद-वेदांगभूषित ब्रह्माजीका गायत्रीसहित पूजन करे और नवनीत (मक्खन)-की देनेवाली गौका तथा सुवर्ण, छत्र, वस्त्र, उपानह्, शय्या, अंजन और दर्पणादि '**स्थानं स्वर्गेऽथ पाताले यन्मर्त्ये किंचिदुत्तमम्। तदवाप्नोत्यसंदिग्धं पद्मयोनेः प्रसादतः॥**' इस मन्त्रसे निवेदन करके ब्राह्मणको दे और '**यत्किंचिद् वाचिकं पापं मानसं कायिकं तथा। तत् सर्वं नाशमायाति युगादितिथिपूजनात्॥**' को स्मरणकर शुद्ध भावसे सजातियोंसहित भोजन करे।

(८) **अर्धोदय** (महाभारत)—माघ कृष्ण अमावस्याको रविवार, व्यतीपात और श्रवण हो तो 'अर्धोदय' योग होता है। इस योगमें स्कन्दपुराणके लेखानुसार सभी स्थानोंका जल गंगातुल्य हो जाता है और सभी ब्राह्मण ब्रह्मसंनिभ शुद्धात्मा हो जाते हैं। अतः इस योगमें यत्किंचित् किये हुए स्नान-दानादिका फल भी मेरुसमान होता है।

(९) **पात्रदान** (स्कन्दपुराण)—अर्धोदय योगवाली अमावस्याको साठ, चालीस या पचीस माशा सुवर्णका अथवा चाँदीका पात्र बनाकर उसमें खीर भरे और पृथ्वीपर अक्षतोंका अष्टदल लिखकर उसपर ब्रह्मा, विष्णु और शिवस्वरूप उपर्युक्त पात्रको स्थापित करके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और फिर सुपठित ब्राह्मणको दे तो समुद्रान्त पृथ्वीदान करनेके समान फल होता है। यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि इस व्रतमें गोदान, शय्यादान और जो भी देय द्रव्य हों तीन-तीन दे। अर्धोदय योगके अवसरपर सत्ययुगमें वसिष्ठजीने, त्रेतामें रामचन्द्रजीने, द्वापरमें धर्मराजने और कलियुगमें पूर्णोदर (देवविशेष)-ने अनेक प्रकारके दान, धर्म किये थे; अतः धर्मज्ञ सत्पुरुषोंको अब भी अवश्य करना चाहिये।

शुक्लपक्ष

(१) गुड़-लवणदानव्रत (भविष्योत्तर)—माघ शुक्ल तृतीयाको गुड़ और लवणका दान करे तो गुड़से देवी और लवणसे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

(२) वरदा चतुर्थी (निर्णयामृत)—माघ शुक्ल चतुर्थीको कुन्दके पुष्पोंसे शिवजीका पूजन करनेसे श्रीकी प्राप्ति होती है।

(३) गौरीव्रत (ब्रह्मपुराण)—माघ शुक्ल चतुर्थीको गन्ध, पुष्प, धूप-दीप और नैवेद्य आदिसे उमाका पूजन करके गुड़, अदरख, लवण, पालक और खीर इनसे बलि देकर ब्राह्मणोंको भोजन कराये।

(४) कुण्डचतुर्थी (देवीभागवत)—माघ शुक्ल चतुर्थीको उपवास करके देवीका पूजन करे। अनेक प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, फल, पत्र, धान्य, बीज और सब प्रकारकी नैवेद्य-सामग्री अर्पण करे तथा शूर्प या मिट्टीके पात्रमें उक्त नैवेद्य-सामग्री भरकर ब्राह्मणको दे तो संतति और सौभाग्य दोनों प्राप्त होते हैं।

(५) ढुण्ढिपूजा (त्रिस्थलीसेतु)—माघ शुक्ल चतुर्थीको नक्तव्रतमें परायण होकर काशीवासी ढुण्ढिराजका पूजन करे, सफेद तिल और चीनीके मोदक अर्पण करे, तिलोंकी आहुति दे और रात्रिमें एकभुक्त करके जागरण करे तो उसके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं।

(६) शान्तिचतुर्थी (भविष्यपुराण)—माघ शुक्ल चतुर्थीको गणेशजीका पूजन करके घीमें सने हुए गुड़के अपूप (पूआ) और लवणके पदार्थ अर्पण करे और गुरुदेवकी पूजा करके उनको गुड़, लवण और घी दे तो इस व्रतसे सब प्रकारकी स्थिर शान्ति प्राप्त होती है।

(७) अंगारकचतुर्थी (मत्स्यपुराण)—यदि माघ शुक्ल चतुर्थीको मंगलवार हो तो उस दिन प्रातःस्नानके पहले शरीरमें मिट्टी लगाकर शुद्ध स्नान करे, लाल धोती पहने, पद्मरागमणि धारण करे और उत्तराभिमुख बैठकर '**अग्निमूर्द्धा०**' इस मन्त्रका जप करे। जिसके

यज्ञोपवीत न हो, वह '**अंगारकाय भौमाय नमः**' का जप करे। फिर भूमिको गोबरसे लीपकर उसपर लाल चन्दनका अष्टदल बनाये तथा उसकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें भक्ष्य-भोजन और चावलोंसे भरे हुए चार करवे रखे तथा उनका गन्धाक्षतादिसे पूजन करके कपिला गौ और लाल रंगका अतीव सौम्य धुरंधर बैल दे और साथमें शय्या दे तो सहस्रगुण फल होता है।

(८) गणेशव्रत (भविष्यपुराण)—माघ शुक्ल पूर्वविद्धा चतुर्थीको प्रातःस्नानादि करनेके पश्चात् '**ममाखिलाभिलषितकार्य-सिद्धिकामनया गणेशव्रतं करिष्ये**' इस मन्त्रसे संकल्प करके वेदीपर लाल वस्त्र बिछाये। लाल अक्षतोंका अष्टदल बनाकर उसपर सिन्दूरचर्चित गणेशजीको स्थापित करे। स्वयं लाल धोती पहनकर लाल वर्णके फल-पुष्पादिसे षोडशोपचार पूजन करे। नैवेद्यमें (भिगोकर छीली हुई) हल्दी, गुड़, शक्कर और घी—इनको मिलाकर भोग लगाये और नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे तो सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध होते हैं।

(९) सुखचतुर्थी (भविष्यपुराण)—सुमन्तुरुके '**चतुर्थी तु चतुर्थी तु यदांगारकसंयुता। चतुर्थ्यां तु चतुर्थ्यां तु विधानं शृणु यादृशम्॥**' के अनुसार माघ शुक्ल चतुर्थीको यदि मंगलवार हो तो लाल वर्णके गन्ध, अक्षत और पुष्प, नैवेद्यसे गणेशजीका पूजन करके उपवास करे। इस प्रकार चतुर्थ-चतुर्थ (चौथी, चौथी) चतुर्थी (माघ, वैशाख, भाद्रपद और पौष)-का एक वर्ष व्रत करे तो सब प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं। प्रत्येक चतुर्थीको भौमवार होना आवश्यक है।

(१०) यमव्रत (हेमाद्रि)—माघ शुक्ल चतुर्थीको भरणी नक्षत्र और शनिवार हो तो उस दिन यमका पूजन और तन्निमित्त व्रत करनेसे यमके भयकी निवृत्ति और स्वर्गीय सुखकी प्रवृत्ति होती है।

(११) श्रीपंचमी-वसन्तपंचमी (पुराणसमुच्चय)—माघ शुक्ल

पूर्वविद्धा पंचमीको उत्तम वेदीपर वस्त्र बिछाकर अक्षतोंका अष्टदल कमल बनाये। उसके अग्रभागमें गणेशजी और पृष्ठभागमें 'वसन्त' जौ, गेहूँकी बालका पुंज (जो जलपूर्ण कलशमें डंठलसहित रखकर बनाया जाता है) स्थापित करके सर्वप्रथम गणेशजीका पूजन करे और पीछे उक्त पुंजमें रति और कामदेवका पूजन करे तथा उनपर अबीर आदिके पुष्पोपम छींटे लगाकर वसन्तसदृश बनाये। तत्पश्चात् '**शुभा रतिः प्रकर्तव्या वसन्तोज्ज्वलभूषणा। नृत्यमाना शुभा देवी समस्ताभरणैर्युता॥ वीणावादनशीला च मदकर्पूरचर्चिता।**' से 'रति' का और '**कामदेवस्तु कर्तव्यो रूपेणाप्रतिमो भुवि। अष्टबाहुः स कर्तव्यः शंखपद्मविभूषणः॥ चापबाणकरश्चैव मदादंचितलोचनः। रतिः प्रीतिस्तथा शक्तिर्मदशक्तिस्तथोज्ज्वला॥ चतस्रस्तस्य कर्तव्याः पत्न्यो रूपमनोहराः। चत्वारश्च करास्तस्य कार्या भार्यास्तनोपगाः॥ केतुश्च मकरः कार्यः पंचबाणमुखो महान्।**' से कामदेवका ध्यान करके विविध प्रकारके फल, पुष्प और पत्रादि समर्पण करे तो गार्हस्थ्यजीवन सुखमय होकर प्रत्येक कार्यमें उत्साह प्राप्त होता है।

(१२) मन्दारषष्ठी (भविष्योत्तर)—यह व्रत तीन दिनमें पूर्ण होता है। एतन्निमित्त माघ शुक्ल पंचमीको सम्पूर्ण कामना त्याग करके जितेन्द्रिय होकर थोड़ा-सा भोजन करके एकभुक्त व्रत करे। षष्ठीको प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करनेके बाद ब्राह्मणसे आज्ञा लेकर दिनभर व्रत रखे और रात्रि होनेपर केवल मन्दारके पुष्पको भक्षण करके उपवास करे तथा सप्तमीके प्रभातमें पुनः स्नान करके ब्राह्मणोंका पूजन करे और मन्दार (आक)-के आठ पुष्प लाकर ताँबेके पात्रमें काले तिलोंका अष्टदल कमल बनाये। उसकी प्रत्येक कर्णिका (कली या कोण)-पर एक-एक पुष्प रखे और बीचमें सुवर्णनिर्मित सूर्यनारायणकी मूर्ति स्थापित करके—'**भास्कराय नमः**' से पूर्वके, '**सूर्याय नमः**' से अग्निके,

‘**सूर्याय नमः**’ से दक्षिणके, ‘**यज्ञेशाय नमः**’ से नैर्ऋत्यके, ‘**वसुधाम्ने नमः**’ से पश्चिमके, ‘**चण्डभानवे नमः**’ से वायव्यके, ‘**कृष्णाय नमः**’ से उत्तरके और ‘**श्रीकृष्णाय नमः**’ से ईशानके अर्कपुष्पका स्थापन और पूजन करे और पद्मके मध्यमें स्थापित की हुई सुवर्णमूर्तिका ‘**सूर्याय नमः**’ इस मन्त्रसे पूजन करे। तैल तथा लवणवर्जित भोजन करे। इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक महीने-के-महीने प्रत्येक सप्तमीको वर्षपर्यन्त व्रत करके समाप्तिके दिन कलशपर रक्त सूर्यमूर्ति स्थापितकर पूजन करे और ‘**नमो मन्दारनाथाय मन्दारभवनाय च। त्वं रवे तारयस्वास्मानस्मात् संसारसागरात्॥**’ से प्रार्थना करके सूर्यमूर्ति सुपठित ब्राह्मणको दे तो उसके सब पाप दूर हो जाते हैं और वह स्वर्गमें जाता है।

(१३) **दारिद्र्यहरषष्ठी** (स्कन्दपुराण)—माघ शुक्ल षष्ठीसे आरम्भ करके प्रत्येक षष्ठीको एकभुक्त, नक्त, अयाचित या उपवास करके ब्राह्मणको भोजन कराये और कटोरेमें दूध, घी, भात और शक्कर भरकर (प्रति षष्ठीको) वर्षपर्यन्त दान करे तो उसके कुलसे दरिद्र दूर हो जाता है।

(१४) **भानुसप्तमी** (बहुसम्मत)—यह माघ शुक्ल सप्तमीको होती है। प्राणिमात्रकी जीवनशक्तिको जीवित रखनेवाले प्रत्यक्ष ईश्वर सूर्यनारायणने मन्वन्तरके आदिमें इसी दिन अपना प्रकाश प्रकाशित किया था। अतः यह जयन्ती भी है। इस दिन सूर्यकी उपासनाके कई कृत्य कई प्रयोजनों और प्रकारोंसे किये जाते हैं। इस कारण इसके ‘अर्क-अचलारथ-सूर्य और भानुसप्तमी’ आदि कई नाम हैं। यह अरुणोदयव्यापिनी ली जाती है। यदि दो दिन अरुणोदयव्यापिनी हो तो पहली लेना चाहिये। स्नानके विषयमें यह स्मरण रहे कि जो माघ-स्नान करते हों, वे इसी दिन अरुणोदय (पूर्व दिशाकी प्रातःकालीन लालिमा) होनेपर और भानुसप्तमी-निमित्त

स्नान करनेवालोंको सूर्योदयके बाद स्नान करना चाहिये। स्नान करनेके पहले आकके सात पत्तों और बेरके सात पत्तोंको कसुम्भाकी बत्तीवाले तिल-तैलपूर्ण दीपकमें रखकर उसको सिरपर रखे और सूर्यका ध्यान करके गन्नेसे जलको हिलाकर दीपकको प्रवाहमें बहा दे। दिवोदासके मतानुसार दीपकके बदले आकके सात पत्ते सिरपर रखकर ईखसे जलको हिलाये और '**नमस्ते रुद्ररूपाय रसानां पतये नमः। वरुणाय नमस्तेऽस्तु**' पढ़कर दीपकको बहा दे। फिर '**यद् यज्जन्मकृतं पापं यच्च जन्मान्तरार्जितम्। मनोवाक्कायजं यच्च ज्ञाताज्ञाते च ये पुनः॥ इति सप्तविधं पापं स्नानान्ते सप्तसप्तिके। सप्तव्याधिसमाकीर्णं हर भास्करि सप्तमि॥**' इनका जप करके केशव और सूर्यको देखकर पादोदक (गंगाजल अथवा चरणामृत)-को जलमें डालकर स्नान करे तो क्षणभरमें पाप दूर हो जाते हैं। इसके बाद अर्घेमें जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, दूर्वा, सात अर्कपत्र और सात बदरीपत्र रखकर '**सप्तसप्तिवह प्रीत सप्तलोकप्रदीपन। सप्तम्या सहितो देव गृहाणार्घ्यं दिवाकर॥**' से सूर्यको और '**जननी सर्वलोकानां सप्तमी सप्तसप्तिके। सप्तव्याहृतिके देवि नमस्ते सूर्यमण्डले॥**' से सप्तमीको अर्घ्य दे। इसी दिन तालक-दानके निमित्त नित्यनियमसे निवृत्त होकर चन्दनसे अष्टदल लिखे। पूर्वादिक्रमसे उसकी आठों कर्णिका (कोणों)-पर शिव, शिवा, रवि, भानु , वैवस्वत, भास्कर, सहस्रकिरण और सर्वात्मा इनका यथाक्रम स्थापन और पूजन करके—ताम्रादिके पात्रमें कांचन कर्णाभरण (कुण्डल), घी, गुड़ और तिल रखकर लाल वस्त्रसे ढाँके और गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके '**आदित्यस्य प्रसादेन प्रातःस्नानफलेन च। दुष्टदुर्भाग्यदुःखघ्नं मया दत्तं तु तालकम्॥**' से ब्राह्मणको दे 'भानुसप्तमी' के निमित्त प्रातःस्नानादिसे निश्चिन्त होकर समीपमें सूर्यमन्दिर हो तो उसके सम्मुख बैठे अथवा सुवर्णादिकी छोटी मूर्ति

हो तो उसे अष्टदल कमलके बीचमें स्थापितकर '**ममाखिलकामना-सिद्ध्यर्थे सूर्यनारायणप्रीतये च सूर्यपूजनं करिष्ये।**' से संकल्प करके—'**ॐ सूर्याय नमः**' इस नाममन्त्रसे अथवा पुरुषसूक्तादिसे आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करे। ऋतुकालके पत्र, पुष्प, फल, खीर, मालपुआ, दाल-भात या दध्योदनादिका नैवेद्य निवेदन करे और भगवान्‌को सर्वांगपूर्ण रथमें विराजमान करके गायन-वादन और स्वजन-परिजनादिको साथ लेकर नगर-भ्रमण करवाकर यथास्थान स्थापित करे। ब्राह्मणोंको खीर आदिका भोजन करवाकर दिनास्तसे पहले स्वयं एक बार भोजन करे। उस दिन तैल और लवण न खाय। इस प्रकार प्रतिवर्ष करे तो सूर्योपरागादिमें कियेके समान अक्षय पुण्य होता है।

(१५) महती सप्तमी (मत्स्यपुराण)—इसी माघ शुक्ल सप्तमीको रथारूढ़ सूर्यनारायणका पूजन करके उपवास करे तो सात जन्मके पाप दूर होते हैं। यही रथसप्तमी भी है।

(१६) रथांकसप्तमी (हेमाद्रि)—इसी सप्तमीको उपवास करके सूर्यका पूजन करे, उनको सुवर्णके रथमें स्थापित करके और प्रत्येक शुक्ल सप्तमीको पूजन करके वर्षके अन्तमें ब्राह्मणको दे।

(१७) पुत्रसप्तमी (आदित्यपुराण)—माघ शुक्ल षष्ठीको उपवास करके सप्तमीके प्रातःकालमें स्नान करे और सूर्यनारायणका पूजन एवं तन्निमित्त हवन करके दूध, दही, भात या खीर आदिका ब्राह्मणोंको भोजन करावे। इसी प्रकार कृष्णपक्षमें उपवास करके लाल कमलके पुष्पादिसे सूर्यका पूजन करे तो वर्षपर्यन्त करनेसे उत्तम पुत्रकी उपलब्धि होती है।

(१८) सप्तसप्तमी (सूर्यारुण-हेमाद्रि)—जिस प्रकार योगविशेषसे वारुणी, महावारुणी, महामहावारुणी या माघी, महामाघी, महामहामाघी अथवा जया, विजया, महाजया आदि होती हैं उसी प्रकार वारादिके योगविशेषसे माघ शुक्ल सप्तमीके

भी कई भेद होते हैं। यथा—१ जया, २ विजया, ३ महाजया, ४ जयन्ती, ५ अपराजिता, ६ नन्दा और ७ भद्रा अथवा १ अर्कसम्पुटक, २ मरीचि, ३ निम्बपत्र, ४ सुफला, ५ अनोदना, ६ विजया और ७ कामिका—ये सब रविवारको पंचतारक (रो० श्ले० म० ह०) अथवा पुन्नाम (मृ० पुन० पु० ह० अनु०) नक्षत्र होनेसे सिद्ध होती हैं। इनमें व्रत-उपवास, पूजा-पाठ, दान-पुण्य, हवन और ब्राह्मण-भोजनादि करने-करानेसे अनन्त फल होता है। विशेषकर १ अर्कसम्पुटकसे धनवृद्धि, २ मरीचिसे प्रियपुत्रादिका संगम, ३ निम्बपत्रीसे रोगनाश, ४ सुफलासे पुत्र-पौत्र-दौहित्रादिकी अपूर्व अभिवृद्धि, ५ अनोदनासे धन-धान्य, सुवर्ण, चाँदी और आरोग्यलाभ, ६ विजयासे शत्रुनाश और ७ कामिकासे सब प्रकारकी अभीष्टसिद्धि होती है। इनके निमित्त माघ शुक्ल सप्तमीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् आकाशस्थ सूर्यका अथवा सुवर्णादिनिर्मित सूर्यमूर्तिका यथालब्ध उपचारोंसे पूजन करके खीर, मालपुआ, दाल-भात, दूध-दही अथवा दध्योदनादिका नैवेद्य अर्पण करे और पीछे ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे तो यथोक्त फल मिलता है।

(१९) **भीष्माष्टमी** (धवलनिबन्ध)—माघ शुक्ल अष्टमीको जौ, तिल, गन्ध, पुष्प, गंगाजल और दर्भ आदिसे भीष्मजीका श्राद्ध अथवा तर्पण करे तो अभीष्टसिद्धि होती है। यदि तर्पणमात्र भी न किया जाय तो पाप होता है। श्राद्धके अवसरमें भीष्मका पूजन भी किया जाता है, अतः उसमें '**वसूनामवताराय शंतनोरात्मजाय च। अर्घ्यं ददामि भीष्माय आबाल्यब्रह्मचारिणे॥**' इस मन्त्रसे अर्घ्य दे।

(२०) **शुक्लैकादशी** (पद्मपुराण)—माघ शुक्ल एकादशीका नाम 'जया' है। इसका व्रत करनेसे पिशाचत्व मिट जाता है। एक बार इन्द्रकी सभामें युवक माल्यवान् और युवती पुष्पवतीके

लज्जाहीन बर्तावसे रुष्ट होकर इन्द्रने उनको पिशाच बना दिया था, उससे उनको बड़ा दु:ख हुआ। अन्तमें उन दोनोंने माघ शुक्ल एकादशीका उपवास किया, तब अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हुए।

(२१) तिलद्वादशी (ब्रह्मपुराण)—यह व्रत षट्तिलाके समान है। इसके लिये माघ शुक्ल द्वादशीको तिलोंके जलसे स्नान करे। तिलोंसे विष्णुका पूजन करे। तिलोंके तेलका दीपक जलाये। तिलोंका नैवेद्य बनाये। तिलोंका हवन करे और तिलोंका दान करके तिलोंका ही भोजन करे तो इस व्रतके प्रभावसे स्वाभाविक, आगन्तुक, कायकान्तर और सांसर्गिक सम्पूर्ण व्याधि दूर होती है और सुख मिलता है।

(२२) भीमद्वादशी (हेमाद्रि)—यह भी इसी माघ शुक्ल द्वादशीको होती है। इसमें व्रतको ब्रह्मार्पण करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये और फिर पारण करे। शेष विधि एकादशीके समान करे।

(२३) दिनत्रयव्रत (पद्मपुराण)—माघस्नान ३० दिनमें पूर्ण होता है, परंतु इतने समयकी सामर्थ्य अथवा अनुकूलता न हो तो माघ शुक्ल त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमाके अरुणोदयमें स्नानादि करके व्रत करे और यथानियम दान-पुण्य करे तो सम्पूर्ण माघस्नानका फल मिलता है।

(२४) माघी पूर्णिमा (दानचन्द्रोदय)—माघ शुक्ल पूर्णिमाको प्रात:स्नानादिके पीछे विष्णुका पूजन करे, पितरोंका श्राद्ध करे, असमर्थोंको भोजन, वस्त्र और आश्रय दे, तिल, कम्बल, कपास, गुड़, घी, मोदक, उपानह्, फल, अन्न और सुवर्णादिका दान करे और व्रत या उपवास करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये और कथा सुने।

(२५) महामाघी (कृत्यचन्द्रिका)—माघ शुक्ल पूर्णिमाको मेषका शनि, सिंहके गुरु-चन्द्र और श्रवणका सूर्य हो तो इनके सहयोगसे महामाघी सम्पन्न होती है। इसमें स्नान-दानादि जो भी किये जायँ, उनका अमिट फल होता है।

फाल्गुनके व्रत

कृष्णपक्ष

(१) **संकष्टचतुर्थी** (भविष्योत्तर)—यह व्रत प्रत्येक मासकी कृष्ण चतुर्थीको किया जाता है। इसमें चन्द्रोदयव्यापिनी चतुर्थी लेनी चाहिये। यदि वह दो दिन चन्द्रोदयव्यापिनी हो तो '**मातृविद्धा प्रशस्यते**' के अनुसार पहले दिन व्रत करे। व्रतीको चाहिये कि वह प्रातःस्नानादिके पश्चात् व्रत करनेका संकल्प करके दिनभर मौन रहे और सायंकालमें पुनः स्नान करके लाल वस्त्र धारणकर ऋतुकालके गन्ध-पुष्पादिसे गणेशजीका पूजन करे, उसके बाद चन्द्रोदय होनेपर चन्द्रमाका पूजन करे और अर्घ्य एवं वायन देकर स्वयं भोजन करे तो सुख, सौभाग्य और सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है। इसकी कथा यह है कि सत्ययुगमें राजा युवनाश्वके पास सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता ब्रह्मशर्मा नामके ब्राह्मण थे, जिनके सात पुत्र और सात पुत्रवधुएँ थीं। ब्रह्मशर्मा जब वृद्ध हुए, तब बड़ी छः बहुओंकी अपेक्षा छोटी बहूने श्वशुरकी अधिक सेवा की। तब उन्होंने संतुष्ट होकर उससे संकष्टहर चतुर्थीका व्रत करवाया, जिसके प्रभावसे वह मरणपर्यन्त सब प्रकारके सुख-साधनोंसे संयुक्त रही।

(२) **जानकीव्रत** (निर्णयसिन्धु)—यह व्रत फाल्गुन कृष्ण अष्टमीको किया जाता है। इसमें जनकनन्दिनी श्रीजानकीजीका पूजन होता है। गुरुवर वसिष्ठजीके कहनेपर भगवान् रामचन्द्रजीने समुद्रतटकी तपोमय भूमिपर बैठकर यह व्रत किया था। अतः सर्व-साधारणको चाहिये कि वे अपनी अभीष्टसिद्धिके लिये इस व्रतको अवश्य करें। इसमें सर्वधान्य (जौ-चावल आदि)-के चरु (खीर)-का हवन और अपूप (पूए) आदिका नैवेद्य अर्पण किया जाता है। इसमें '**व्रतमात्रेऽष्टमी कृष्णा पूर्वा शुक्लेऽष्टमी**

परा' के अनुसार पूर्वविद्धा अष्टमी ली जाती है।[1] अन्य वैष्णवग्रन्थोंके मतानुसार वैशाख शुक्ल नवमीको जानकीजीका जन्म हुआ था, जो जानकी-नवमीके नामसे प्रसिद्ध है।

(३) कृष्णैकादशी (स्कन्दपुराण)—यह व्रत प्रत्येक मासमें किया जाता है। शुद्धा, विद्धा आदिका पूरा निर्णय चैत्रके व्रत-परिचयमें दिया गया है। वहीं इसके सम्बन्धकी अन्य ज्ञातव्य बातें भी बतायी गयी हैं। इस एकादशीका नाम 'विजया' है। इसके प्रभावसे व्रतीका जय होता है। लंका-विजय करनेकी कामनासे 'बकदाल्भ्य' मुनिके आज्ञानुसार समुद्रके तटपर भगवान् रामचन्द्रने इसी एकादशीका व्रत किया था, जिससे रावणादि मारे गये और श्रीरामचन्द्रकी विजय हुई।

(४) प्रदोष (व्रतोत्सव)—इस सुप्रशस्त व्रतका उल्लेख पिछले सभी महीनोंमें किया गया है और मासानुकूल विधान भी प्रत्येक व्रतके साथ लिख दिया है। अतः व्रतीको चाहिये कि सभी महीनोंके प्रदोषव्रतका विधान देखकर व्रत करे और इसके उपयोगी जो कुछ विशेष विधान हों, उनका पालन करे।

(५) शिवरात्रि (नानापुराणशास्त्राणि)—यह व्रत फाल्गुन कृष्ण[2] चतुर्दशीको किया जाता है। इसको प्रतिवर्ष[3] करनेसे यह 'नित्य'

---

१. फाल्गुनस्य च मासस्य कृष्णाष्टम्यां महीपते।
जाता दाशरथेः पत्नी तस्मिन्नहनि जानकी॥
उपोषितो रघुपतिः समुद्रस्य तटे तदा।
सर्वसस्यैश्चरुस्तस्मात् तत् कर्तव्यमेव हि॥
सापूपैस्तैश्च सम्पूज्या विप्रसम्बन्धिबान्धवाः।
रामपत्नीं च सम्पूज्य सीतां जनकनन्दिनीम्॥ (निर्णयसिन्धु)

२. चतुर्दश्यां तु कृष्णायां फाल्गुने शिवपूजनम्।
तामुपोष्य प्रयत्नेन विषयान् परिवर्जयेत्॥ (शिवरहस्य)

३. 'नित्यकाम्यरूपस्यास्य व्रतस्येति।' (मदनरत्न)

और किसी कामनापूर्वक करनेसे 'काम्य' होता है। प्रतिपदादि[1] तिथियोंके अग्नि आदि अधिपति होते हैं। जिस तिथिका जो स्वामी हो उसका उस तिथिमें अर्चन करना अतिशय उत्तम होता है। चतुर्दशीके स्वामी शिव हैं (अथवा शिवकी तिथि चतुर्दशी है)। अतः उनकी रात्रिमें व्रत किया जानेसे इस व्रतका नाम 'शिवरात्रि' होना सार्थक हो जाता है। यद्यपि प्रत्येक मासकी कृष्णचतुर्दशी शिवरात्रि होती है और शिवभक्त प्रत्येक कृष्णचतुर्दशीका व्रत करते ही हैं, किन्तु फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीके निशीथ (अर्धरात्रि)-में '**शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः।**' ईशानसंहिताके इस वाक्यके अनुसार ज्योतिर्लिंगका प्रादुर्भाव हुआ था, इस कारण यह महाशिवरात्रि मानी जाती है। '**शिवरात्रिव्रतं नाम सर्वपापप्रणाशनम्। आचाण्डालमनुष्याणां भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्॥**'—के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अछूत, स्त्री-पुरुष और बाल-युवा-वृद्ध—ये सब इस व्रतको कर सकते हैं और प्रायः करते ही हैं। इसके न करनेसे दोष होता है। जिस प्रकार राम, कृष्ण, वामन और नृसिंहजयन्ती एवं प्रत्येक एकादशी उपोष्य हैं, उसी प्रकार यह भी उपोष्य है और इसके व्रतकालादिका निर्णय भी उसी प्रकार किया जाता है। सिद्धान्तरूपमें आजके सूर्योदयसे कलके सूर्योदयतक रहनेवाली चतुर्दशी 'शुद्धा'[2] और अन्य 'विद्धा' मानी गयी हैं। उसमें भी प्रदोष (रात्रिका आरम्भ) और निशीथ (अर्धरात्रि)-की चतुर्दशी ग्राह्य होती है। अर्धरात्रिकी पूजाके लिये स्कन्दपुराणमें लिखा है कि (फाल्गुन कृष्ण १४ को) '**निशिभ्रमन्ति**

---

१. तिथीशा वह्निको गौरी गणेशोऽहिर्गुहो रविः।
शिवो दुर्गान्तको विश्वे हरिः कामः शिवः शशी॥ (मु० चि०)

२. 'सूर्योदयमारभ्य पुनः सूर्योदयपर्यन्ता 'शुद्धा' तदन्या 'विद्धा', सा प्रदोषनिशीथोभयव्यापिनी ग्राह्या।' (तिथिनिर्णय)

त्रयोदश्यस्तगे सूर्ये चतसृष्वेव नाडिषु।
भूतविद्धा तु या तत्र शिवरात्रिव्रतं चरेत्॥ (वायुपुराण)

भूतानि शक्तय: शूलभृद् यत:। अतस्तस्यां चतुर्दश्यां सत्यां तत्पूजनं भवेत्॥' अर्थात् रात्रिके समय भूत, प्रेत, पिशाच, शक्तियाँ और स्वयं शिवजी भ्रमण करते हैं; अत: उस समय इनका पूजन करनेसे मनुष्यके पाप दूर हो जाते हैं। यदि यह (शिवरात्रि) त्रिस्पृशा* (१३-१४-३०—इन तीनोंके स्पर्शकी) हो तो अधिक उत्तम होती है। इसमें भी सूर्य या भौमवारका योग (शिवयोग) और भी अच्छा है। 'पारण' के लिये '**व्रतान्ते पारणम्**', '**तिथ्यन्ते पारणम्**' और '**तिथिभान्ते च पारणम्**' आदि वाक्योंके अनुसार व्रतकी समाप्तिमें पारण किया जाता है, किंतु शिवरात्रिके व्रतमें यह विशेषता है कि '**तिथीनामेव सर्वासामुपवासव्रतादिषु। तिथ्यन्ते पारणं कुर्याद् विना शिवचतुर्दशीम्॥**' (स्मृत्यन्तर) शिवरात्रिके व्रतका पारण चतुर्दशीमें ही करना चाहिये और यह पूर्वविद्धा (**प्रदोषनिशीथोभयव्यापिनी**) चतुर्दशी होनेसे ही हो सकता है। व्रतीको चाहिये कि फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको प्रात:कालकी संध्या आदिसे निवृत्त होकर भालमें भस्मका त्रिपुण्ड्र तिलक और गलेमें रुद्राक्षकी माला धारण करके हाथमें जल लेकर '**शिवरात्रिव्रतं ह्येतत् करिष्येऽहं महाफलम्। निर्विघ्नमस्तु मे चात्र त्वत्प्रसादाज्जगत्पते॥**' यह मन्त्र पढ़कर जलको छोड़ दे और दिनभर (शिवस्मरण करता हुआ) मौन रहे। तत्पश्चात् सायंकालके समय फिर स्नान करके शिव-मन्दिरमें जाकर सुविधानुसार पूर्व या उत्तरमुख होकर बैठे और तिलक तथा रुद्राक्ष धारण करके '**ममाखिलपापक्षयपूर्वकसकलाभीष्टसिद्धये शिवपूजनं करिष्ये**' यह संकल्प करे। इसके बाद ऋतुकालके गन्ध-पुष्प, बिल्वपत्र, धतूरेके फूल, घृतमिश्रित गुग्गुलकी धूप, दीप, नैवेद्य और नीराजनादि आवश्यक सामग्री समीप रखकर रात्रिके प्रथम प्रहरमें 'पहली',

---

* त्रयोदशी कला ह्येका मध्ये चैव चतुर्दशी।
अन्ते चैव सिनीवाली 'त्रिस्पृशा' शिवमर्चयेत्॥ (माधव)

द्वितीयमें 'दूसरी' तृतीयमें 'तीसरी' और चतुर्थमें 'चौथी' पूजा करे। चारों पूजन पंचोपचार, षोडशोपचार या राजोपचार—जिस विधिसे बन सके समानरूपसे करे और साथमें रुद्रपाठादि भी करता रहे। इस प्रकार करनेसे पाठ, पूजा, जागरण और उपवास—सभी सम्पन्न हो सकते हैं। पूजाकी समाप्तिमें नीराजन, मन्त्रपुष्पांजलि और अर्घ्य, परिक्रमा करे तथा प्रत्येक पूजनमें '**मया कृतान्यनेकानि पापानि हर शंकर। शिवरात्रौ ददाम्यर्घ्यमुमाकान्त गृहाण मे॥**'—से अर्घ्य देकर '**संसारक्लेशदग्धस्य व्रतेनानेन शंकर। प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव॥**' से प्रार्थना करे। स्कन्दपुराणका कथन है कि फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको शिवजीका पूजन, जागरण और उपवास करनेवाला मनुष्य माताका दूध कभी नहीं पी सकता अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। इस व्रतकी दो कथाएँ हैं। एकका सारांश यह है कि एक बार एक धनवान् मनुष्य कुसंगवश शिवरात्रिके दिन पूजन करती हुई किसी स्त्रीका आभूषण चुरा लेनेके अपराधमें मार डाला गया, किंतु चोरीकी ताकमें वह आठ प्रहर भूखा-प्यासा और जागता रहा था, इस कारण स्वतः व्रत हो जानेसे शिवजीने उसको सद्गति दी। दूसरीका सारांश यह है कि शिवरात्रिके दिन एक व्याधा दिनभर शिकारकी खोजमें रहा, तो भी शिकार नहीं मिला। अन्तमें वह गुँथे हुए एक झाड़की ओटमें बैठ गया। उसके अंदर स्वयम्भू शिवजीकी एक मूर्ति और एक बिल्ववृक्ष था। उसी अवसरपर एक हरिणीपर वधिककी दृष्टि पड़ी। उसने अपने सामने पड़नेवाले बिल्वपत्रोंको तोड़कर शिवजीपर गिरा दिया और धनुष लेकर बाण छोड़ने लगा। तब हरिणी उसे उपदेश देकर जीवित चली गयी। इसी प्रकार वह प्रत्येक प्रहरमें आयी और चली गयी। परिणाम यह हुआ कि उस अनायास किये हुए व्रतसे ही शिवजीने उस व्याधाको सद्गति दी और भवबाधासे मुक्त कर दिया। बन सके तो शिवरात्रिका व्रत सदैव

करना चाहिये और न बन सके तो १४ वर्षके[1] बाद 'उद्यापन' कर देना चाहिये। उसके लिये चावल, मूँग और उड़द आदिसे 'लिंगतोभद्र' मण्डल बनाकर उसके बीचमें सुवर्णादिके सुपूजित दो कलश स्थापन करे और चारों कोणोंमें तीन-तीन कलश स्थापन करे। इसके बाद ताँबेके नाँदियेपर विराजे हुए सुवर्णमय शिवजी और चाँदीकी बनी हुई पार्वतीको बीचके दोनों कलशोंपर यथाविधि स्थापन करके पद्धतिके अनुसार सांगोपांग षोडशोपचार पूजन और हवनादि करे। अन्तमें गोदान, शय्यादान, भूयसी आदि देकर और ब्राह्मणभोजन कराके स्वयं भोजनकर व्रतको समाप्त करे। पूजनके समय शंख, घण्टा आदि बजानेके विषयमें (योगिनीतन्त्रमें) लिखा है कि '**शिवागारे झल्लकं च सूर्यागारे च शंखकम्। दुर्गागारे वंशवाद्यं मधुरीं च न वादयेत्॥**' अर्थात् शिवजीके मन्दिरमें झालर, सूर्यके मन्दिरमें शंख और दुर्गाके मन्दिरमें मीठी बंसरी नहीं बजानी चाहिये। शिवरात्रिके व्रतमें कठिनाई तो इतनी है कि इसे वेदपाठी विद्वान् ही यथाविधि सम्पन्न कर सकते हैं और सरलता इतनी है कि पठित-अपठित, धनी-निर्धन—सभी अपनी-अपनी सुविधा या सामर्थ्यके अनुसार शतशः रुपये लगाकर भारी समारोहसे अथवा मेहनत-मजदूरीसे प्राप्त हुए दो पैसेके गाजर, बेर और मूली आदि सर्वसुलभ फल-फूल आदिसे पूजन कर सकते हैं और दयालु शिवजी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी—सभी पूजाओंसे प्रसन्न होते हैं।

(६) **मासशिवरात्रि** (मदनरत्न)—यह व्रत चैत्रादि सभी महीनोंकी कृष्ण[2] चतुर्दशीको किया जाता है। इसमें त्रयोदशीविद्धा

---

१. चतुर्दशाब्दं कर्तव्यं शिवरात्रिव्रतं शुभम्। (कालोत्तरखण्ड)

२. यतः प्रतिचतुर्दश्यां पूजा यत्नेन मे कृता।
तथा जागरणं तत्र संनिधौ मे कृतं तथा॥ (स्कन्दपुराण)

बहुत राततक रहनेवाली चतुर्दशी ली जाती है। कारण यह है कि इसमें भी महाशिवरात्रिके समान चारों पहरोंमें पूजा और जागरण किया जाता है। इसमें जया (त्रयोदशी)-का योग अधिक फलदायी होता है। इस व्रतका प्रथमारम्भ दीपावली या मार्गशीर्षसे करना चाहिये।

(७) फाल्गुनी अमा (लिंगपुराण)—फाल्गुन कृष्ण अमावस्याको रुद्र, अग्नि और ब्राह्मणोंका पूजन करके उन्हें उड़द, दही और पूरी आदिका नैवेद्य अर्पण करे और स्वयं भी उन्हीं पदार्थोंका एक बार भोजन करे। यदि '**अमा सोमे शनौ भौमे गुरुवारे यदा भवेत्। तत्पर्वं पुष्करं नाम सूर्यपर्वशताधिकम्॥**' अर्थात् अमावास्याके दिन सोम, मंगल, गुरु या शनिवार हो तो यह सूर्यग्रहणसे भी अधिक फल देनेवाली होती है। फाल्गुनी अमाके दिन युगका प्रारम्भ होनेसे इस दिन पित्रादिकोंका अपिण्ड श्राद्ध करना चाहिये।

शुक्लपक्ष

(१) पयोव्रत (श्रीमद्भागवत)—यह व्रत फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदासे द्वादशीपर्यन्त बारह दिनमें पूर्ण होता है। इसके लिये गुरु-शुक्रादिका उदय और उत्तम मुहूर्त देखकर फाल्गुनी अमावास्याको वनमें जाकर '**त्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता। उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय॥**'—इस मन्त्रसे जंगली शूकरकी खोदी हुई मिट्टीको शरीरमें लगाये और समीपके सरोवरमें जाकर शुद्ध स्नान करे। फिर गौके दूधकी खीर बनाकर दो विद्वान् ब्राह्मणोंको उसका भोजन कराये और स्वयं भी उसीका भोजन करे। दूसरे दिन (फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदाको) भगवान्‌को गौके दूधसे स्नान कराकर हाथमें जल लेकर '**मम सकलगुणगणवरिष्ठमहत्त्वसम्पन्नायुष्मत्पुत्रप्राप्तिकामनया विष्णुप्रीतये पयोव्रतमहं करिष्ये।**' यह संकल्प करे। तदनन्तर

सुवर्णके बने हुए हृषीकेशभगवान्‌का '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' इस मन्त्रसे आवाहनादि षोडशोपचार पूजन करके—**१ महापुरुषाय, २ सूक्ष्माय, ३ द्विशीर्ष्णे, ४ शिवाय, ५ हिरण्यगर्भाय, ६ आदिदेवाय, ७ मरकतश्यामवपुषे, ८ त्रयीविद्यात्मने, ९ योगैश्वर्यशरीराय नमः**—से भगवान्‌को प्रणाम और पुष्पांजलि अर्पण करके परिमित दूध एक बार पीये। इस प्रकार प्रतिपदासे द्वादशीपर्यन्त १२ दिनतक व्रत करके त्रयोदशीको विष्णुका यथाविधि पूजन करे। पंचामृतसे स्नान कराये और तेरह ब्राह्मणोंको गोदुग्धकी खीरका भोजन कराये। तदनन्तर सुपूजित मूर्ति भूमिके, सूर्यके, जलके या अग्निके अर्पण करके गुरुको दे और व्रतविसर्जन करके तेरहवें दिन स्वयं भी स्वल्पमात्रामें खीरका भोजन करे। यह व्रत पुत्रप्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले अपुत्र स्त्री-पुरुषोंके करनेका है। देवमाता अदितिके उदरसे वामनभगवान् इसी व्रतके प्रभावसे प्रकट हुए थे।

(२) मधुकतृतीया (पुराणसमुच्चय)—यह व्रत फाल्गुन शुक्ल तृतीयाको किया जाता है। उस दिन प्रातःस्नानादिके पश्चात्—**१ भूमिकायै, २ देवभूषायै, ३ उमायै, ४ तपोवनरतायै** और **५ गौर्यै नमः**—इन पाँच मन्त्रोंके उच्चारणके साथ क्रमशः गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य—इन पाँच उपचारोंसे उमा (पार्वती)-का पूजन करे और '**दौर्भाग्यं मे शमयतु सुप्रसन्नं मनः सदा। अवैधव्यं कुले जन्म ददात्वपरजन्मनि॥**' इस मन्त्रसे प्रार्थना करे।

(३) अविघ्नकरव्रत (वाराहपुराण)—फाल्गुन शुक्ल चतुर्थीको सुवर्णके गणेशजीका गन्धादिसे पूजन करे, तिलोंके पदार्थका भोग लगाये, तिलोंका हवन करे, ताम्रादिके पाँच पात्रोंमें तिल भरकर ब्राह्मणोंको दे एवं उनको तिलोंके पदार्थका भोजन कराये तथा स्वयं भी तिलोंका भोजन और तिलोंसे ही पारण करे। इस प्रकार

चार महीनेतक प्रत्येक शुक्ल चतुर्थीका व्रत करके पाँचवें महीने (आषाढ़)-में पूर्वोक्त पूजित मूर्ति ब्राह्मणको दे तो सब विघ्न दूर होते हैं। प्राचीन कालमें अश्वमेधके समय महाराज सगरने, त्रिपुरासुरयुद्धमें शिवजीने और समुद्रमन्थनमें विघ्न न होनेके लिये स्वयं भगवान्ने यही व्रत किया था।

(४) मनोरथचतुर्थी (मत्स्यपुराण)—फाल्गुन शुक्ल चतुर्थीको सुवर्णके गणेशजीका गन्धादिसे पूजन करके नक्तव्रत करे। इस प्रकार बारह महीनेकी प्रत्येक शुक्ल चतुर्थीको करता रहकर सालभर बाद उक्त मूर्तिका दान करे तो सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं।

(५) अर्कपुटसप्तमी (भविष्यपुराण)—फाल्गुन शुक्ल सप्तमीको प्रातः स्नानादिके पश्चात् '**खखोल्काय नमः**' इस मन्त्रसे सूर्यनारायणका पूजन करे। इसके पहले दिन (षष्ठीको) एकभुक्त, उस दिन (सप्तमीको) निराहार और अष्टमीको (तुलसीपत्रके समान) अर्कपत्र (आकके पत्तों)-का प्राशन करे तो सम्पूर्ण व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

(६) त्रिवर्गेष्टदा सप्तमी (भविष्यपुराण)—फाल्गुन शुक्ल सप्तमीको '**ॐ वेलीदेवाय नमः**' इस मन्त्रसे पूजनादि करके उपवास करनेसे त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम)-की सिद्धि होती है।

(७) कामदा सप्तमी (भविष्यपुराण)—फाल्गुन शुक्ल सप्तमीको स्त्री या पुरुष जो भी हो, '**सूर्याय नमः**' इस मन्त्रसे '**तमोऽपह**' (सूर्य)-का गन्धादिसे पूजन करके उठते-बैठते, सोते-जागते, सर्वत्र ही सूर्यका स्मरण करता रहे और फिर अष्टमीको स्नान करके सूर्यका यथोक्त विधिसे पूजनकर ब्राह्मणको दक्षिणा दे। सूर्यके उद्देश्यसे हवनकर भगवान्‌को नमस्कार करे। नैवेद्यमें कसार (घीमें सेके हुए शर्करासंयुक्त खुले हुए आटे)-का भोग लगाये। सात घोड़ोंका पूजन करे और पूजन-सामग्री ब्राह्मणको दे। इस प्रकार प्रतिमास

करनेसे अपुत्रको पुत्र, निर्धनको धन, रोगीको आरोग्य और निराश्रयको पदप्राप्ति आदि सब कुछ होते हैं।

(८) **कल्याणसप्तमी** (पुराणसमुच्चय)—फाल्गुन शुक्ल सप्तमीको सूर्यका पूजन करके सुवर्णसहित जलसे पूर्ण कलश और घी, गुड़ आदिका दान दे और दूसरे दिन ब्राह्मणोंका पूजन करके खीरका भोजन कराये और स्वयं भी एक बार खीर खाये।

(९) **द्वादशसप्तमी** (हेमाद्रि)—यह व्रत माघ शुक्ल सूर्यसप्तमीसे आरम्भ किया जाता है। विधान यह है कि १ माघमें '**भानवे**', २ फाल्गुनमें '**सूर्याय**', ३ चैत्रमें '**वेदांशवे**', ४ वैशाखमें '**धात्रे**', ५ ज्येष्ठमें '**इन्द्राय**', ६ आषाढ़में '**दिवाकराय**', ७ श्रावणमें '**आतपिने**', ८ भाद्रपदमें '**रवये**', ९ आश्विनमें '**सवित्रे**', १० कार्तिकमें '**सप्ताश्वाय**', ११ मार्गशीर्षमें '**भानवे**' और १२ पौषमें '**भास्कराय नमः**'—इन नामोंसे सूर्यनारायणका पूजन करके उपवास करे और माघ कृष्ण सप्तमीके शुद्ध भूमिके प्रांगणमें लाल चन्दनका लेप करके उसपर एक, दो या चार हाथके विस्तारका सिन्दूरसे सूर्यमण्डल बनाये और उसपर लाल वस्त्रोंसे ढके हुए तिलपूर्ण और दक्षिणासहित बारह कलश स्थापन करके लाल गन्ध-पुष्पादिसे उनमें सूर्यका पूजन करे और **आकृष्णेन०**' से हवन करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये और उक्त कलशादि ब्राह्मणोंको दे। इस प्रकार एक वर्षपर्यन्त करनेसे सूर्यलोककी प्राप्ति होती है।

(१०) **लक्ष्मी-सीताष्टमी** (वीरमित्रोदय)—फाल्गुन शुक्ल अष्टमीको एक चौकीपर लाल वस्त्र बिछाकर उसपर अक्षतोंका अष्टदल कमल बनाये और उसपर लक्ष्मी तथा जानकीकी सुवर्णमयी मूर्ति-स्थापन करके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। फिर प्रदोषके समय हजार (अथवा जितनी सामर्थ्य हो उतने) दीपक जलाये और ब्राह्मणोंको

भोजन कराके बान्धवोंसहित स्वयं भोजन करे तथा दूसरे दिन पूजन-सामग्री आदि दो ब्राह्मणोंको दे। यह अष्टमी प्रदोषव्यापिनी ली जाती है। यदि दो दिन हो तो परा लेनी चाहिये।

(११) बुधाष्टमी (निर्णयामृत)—जब-जब शुक्लाष्टमीको (विशेषकर फाल्गुन शुक्ल अष्टमीको) बुधवार हो तो उसका व्रत करनेसे यथोक्त फल होता है, किंतु संध्याकालमें और देवशयनके दिनोंमें इस व्रतके करनेसे दोष होता है।

(१२) आनन्दनवमी (भविष्यपुराण)—यह व्रत फाल्गुन शुक्ल पंचमीसे प्रारम्भ होता है। विधि यह है कि फाल्गुन शुक्ल पंचमीको एकभुक्त, षष्ठीको नक्त, सप्तमीको अयाचित, अष्टमीको निराहार और नवमीको उपवास करे। फिर देवी (सरस्वती)-का यथाविधि पूजन करके दूसरे दिन विसर्जन करे।

(१३) शुक्लैकादशी (ब्रह्माण्डपुराण)—फाल्गुन शुक्ल एकादशी 'आमलकी' कहलाती है। इस दिन आँवलेके समीप बैठकर* भगवान्का पूजन करे। ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे और कथा सुने। रात्रिमें जागरण करके दूसरे दिन पारण करे। इसकी कथाका सार यह है कि वैदेशिक नगरमें चैत्ररथ राजाके यहाँ एकादशीके व्रतका अत्यधिक प्रचार था। एक बार फाल्गुन शुक्ल एकादशीके दिन नगरके सम्पूर्ण नर-नारियोंको व्रतके महोत्सवमें मग्न देखकर कौतूहलवश एक व्याधा वहाँ आकर बैठ गया और भूखा-प्यासा दूसरे दिनतक वहीं बैठा रहा। इस प्रकार अकस्मात् ही व्रत और जागरण हो जानेसे दूसरे जन्ममें वह जयन्तीका राजा

---

* फाल्गुने मासि शुक्लायामेकादश्यां जनार्दनः।
वसत्यामलकीवृक्षे लक्ष्म्या सह जगत्पतिः॥
तत्र सम्पूज्य देवेशं शक्त्या कुर्यात् प्रदक्षिणाम्।
उपोष्य विधिवत् कल्पं विष्णुलोके महीयते॥ (नृसिंहपरिचर्या)

हुआ। विशेष विधि-विधान और निर्णय आदि चैत्रके व्रत-परिचयमें दिये गये हैं, वहाँ देखने चाहिये।

(१४) पापनाशिनी द्वादशी (ब्रह्माण्डपुराण)—फाल्गुन शुक्ल एकादशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् हाथमें जल लेकर '**द्वादश्यां तु निराहारः स्थित्वाहमपरेऽहनि। भोक्ष्यामि जामदग्न्येश शरणं मे भवाच्युत ॥**'—इस मन्त्रके उच्चारणसे व्रत ग्रहण करे। फिर आँवलेके वृक्षके नीचे एक वेदी बनाकर उसपर कलश स्थापन करके उसीपर ताँबे या बाँसके पात्रमें लाजा (खील) भरकर रखे और उसमें सुवर्णनिर्मित परशुरामकी मूर्ति रखकर '**क्षत्रान्तकरणं घोरमुद्वहन् परशुं करे। जामदग्न्यः प्रकर्तव्यो रामो रोषारुणेक्षणः ॥**' से ध्यान करे और उनको पंचामृतसे स्नान कराकर षोडशोपचार पूजन करे। इसके अतिरिक्त '**पादयोर्विशोकाय**', '**जान्वोः सर्वरूपिणे**', '**नासिकायां शोकनाशाय**', '**ललाटे वामनाय**', '**भ्रुवो रामाय**' और '**शिरसि सर्वात्मने नमः**' से अंगपूजा और नाममन्त्रसे आयुध-पूजा करे। फिर '**नमस्ते देवदेवेश जामदग्न्य नमोऽस्तु ते। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं मालत्या सहितो हरे ॥**' से अर्घ्य देकर '**माता पितामहश्चान्ये अपुत्रा ये च गोत्रिणः। ते पिबन्तु मया दत्तं धात्रीमूले सदा पयः ॥**' से आँवलेका अभिषेक करके १०८, २८ या ८ परिक्रमा करे और ब्राह्मण-भोजनादिसे पीछे व्रतका विसर्जन करे।

(१५) सुगतिद्वादशी (पृथ्वीचन्द्रोदय)—फाल्गुन शुक्ल द्वादशीको भगवान्का पूजन करके 'श्रीकृष्ण' इस मन्त्रके १०८ जप करे और उपवास रखे।

(१६) सुकृतद्वादशी (पुराणसमुच्चय)—इस व्रतमें फाल्गुन शुक्ल दशमीको मध्याह्नभोजन, एकादशीको उपवास, द्वादशीको एकभुक्त और त्रयोदशीको अयाचित भोजन करे।

(१७) नन्दत्रयोदशी (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल

त्रयोदशीको श्रीकृष्णके उद्देश्यसे व्रत करे और उत्सव करके भगवान्‌का पूजन करे।

(१८) **प्रदोषव्रत** (व्रतोत्सव)—यह सुपरिचित पूर्वागत व्रत प्रत्येक त्रयोदशीको किया जाता है। इसके उपयोगी विशेष विधि-विधान और वाक्यादि चैत्रके व्रतमें दिये गये हैं।

(१९) **महेश्वरव्रत** (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशीको सोपवास शिवपूजन करके गोदान करनेसे अग्निष्टोमके समान फल होता है। यदि प्रतिमास दोनों चतुर्दशियोंको एक वर्षतक व्रत किया जाय तो कुलका उद्धार और पुण्डरीकाक्षका आश्रय प्राप्त होता है।

(२०) **वृषदानव्रत** (वीरमित्रोदय)—इसी दिन (फाल्गुन शुक्ल १४ को) यथोक्तगुण*-सम्पन्न वृषका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके विद्वान् ब्राह्मणको दे तो सम्पूर्ण पाप दूर हो जाते हैं।

(२१) **सर्वार्तिहरव्रत** (सनत्कुमारसंहिता)—फाल्गुन शुक्ल चतुर्दशीको प्रातःस्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर '**मम सकलपापतापप्रशमनकामनया ईश्वरप्रीतये सर्वार्तिहरव्रतं करिष्ये।**'—यह संकल्प करके काम, क्रोध, लोभ, मोह, अनाचार और मिथ्या-भाषणादि दोषोंका त्यागकर सूर्योदयसे

---

* लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते॥ (हरिहर)
चरणांसमुखं पुच्छं यस्य श्वेतानि गोपतेः।
लाक्षारससवर्णश्च तं नीलमिति निर्दिशेत्॥
भूमौ कर्षति लांगूलं प्रलम्बं स्थूलवालधिः।
पुरस्तादुन्नतो नीलो वृषभः स प्रशस्यते॥
श्वेतोदरः कृष्णपृष्ठो ब्राह्मणस्य प्रशस्यते।
स्निग्धवर्णेन रक्तेन क्षत्रियस्य प्रशस्यते॥
कांचनाभेन वैश्यस्य कृष्णः शूद्रस्य शस्यते। (अन्यत्र)
यस्य प्रागायते शृंगे भ्रूमुखाभिमुखे सदा।
सर्वेषामेव वर्णानां स च सर्वार्थसाधकः॥ (स्मृत्यन्तर)

सूर्यास्तपर्यन्त करबद्ध और विनम्र होकर सूर्यके सम्मुख अविचल खड़ा रहे। सूर्यास्तके समय पुनः स्नानकर भगवान्‌का विधिवत् पूजन करके निराहार व्रत रखे और दूसरे दिन भोजन करे तो इस व्रतके करनेसे ज्वरसे उत्पन्न होनेवाले सब रोग, फोड़ा-फुन्सी, प्लीहा (तिल्ली), सब प्रकारके शूल (दर्द), सब प्रकारके कोढ़, अरुचि, अजीर्ण, जलाघात, अग्निमान्द्य और अतिसारादि प्रायः सभी रोग और भव-बाधादि सभी दुःख दूर होकर देवदुर्लभ सुख सुलभ हो जाते हैं। सूर्यके सम्मुख खड़ा रहनेके लिये कुछ दिन पहलेसे दो-दो, चार-चार घंटेतक खड़े रहनेका क्रमोत्तर अभ्यास करके फिर उक्त चतुर्दशीको दिनभर खड़ा रहे। सूर्यबिम्बको विशेष न देखे। नेत्रोंको नीचा रखे। यथासाध्य पृथ्वीको या तत्रस्थ फल-पुष्प और दूर्वा आदिको देखता रहे तो कष्ट नहीं होता। सूर्याभिमुख खड़ा रहे, उस दिन दिनके तीन भाग बनाये। फिर प्रातःकालीन पहले सवा पहरमें पूर्वाभिमुख, मध्याह्नकालीन दूसरे सवा पहरमें उत्तराभिमुख और सायंकालीन तीसरे सवा पहरमें पश्चिमाभिमुख रहे।

(२२) फाल्गुनी पूर्णिमा (बृहद्यम)—यह पूर्वविद्धा ली जाती है। इस दिन सायंकालके समय भगवान्‌को हिंडोलेमें विराजमानकर आन्दोलित करे (उनका उसीमें पूजन करके हिंडोलेको हिलाये) और नीराजन करके यथास्थान विराजमानकर एकभुक्त भोजन करे। इसी दिन चन्द्रमा प्रकट हुआ था, अतः चन्द्रोदय होनेपर उसका पूजन करे।

(२३) व्रतद्वयी पूर्णिमा (कृत्यतत्त्वार्णव)—फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको कश्यप ऋषिके औरस और अदितिके गर्भसे अर्यमा (आदित्य) एवं अनुसूयाके गर्भसे निशाकर (चन्द्रमा) उत्पन्न हुए थे। अतः सूर्योदयके समय आदित्यका और चन्द्रोदयके समय

चन्द्रमाका (अथवा चन्द्रोदयके समय सूर्य और चन्द्र दोनोंका) विधिपूर्वक पूजन करके गायन, वादन और नृत्यसे जागरण करे। इस दिन उपवास न करे। नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे।

(२४) फाल्गुन्यां पूर्वाफाल्गुनी (विष्णु)—यदि फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र हो तो बिस्तर, चादर, रजाई और तकिया आदिसे युक्त और सुपूजित शय्याको '**अशून्यं शयनं नित्यमनूनां श्रियमुन्नतिम्। सौभाग्यं देहि मे नित्यं शय्यादानेन केशव॥**'—इस मन्त्रसे विद्वान् ब्राह्मणको दे तो आज्ञामें रहनेवाली सुर-सुन्दरी स्त्री प्राप्त होती है। यदि यह दान स्त्री करे तो उसको धन, विद्या और सम्मानयुक्त सुन्दर पति प्राप्त होता है।

(२५) अशोकव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको मृत्तिका मिले हुए जलसे स्नान करे, मस्तकमें भी मृत्तिकाका मर्दन करे और मृत्तिकाका भक्षण भी करे। तत्पश्चात् शुद्ध भूमिमें वेदी बनाकर उसपर 'भूधर' नामके देवताकी कल्पना करके '**भूधराय नमः**', इस नाम-मन्त्रसे उसका पूजन करे और '**धरणीं च तथा देवीमशोकेति च कीर्तयेत्। यथा विशोकां धरणि कृतवांस्त्वां जनार्दनः॥**' इस मन्त्रसे प्रार्थना करे। इस व्रतके करनेसे सब शोक निर्मूल हो जाते हैं और दस पीढ़ियोंतक सब सुखी रहते हैं।

(२६) लक्ष्मीनारायणव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको प्रातःकालसे सायंकालपर्यन्त सभी प्रकारके धूर्त, मूर्ख, पापी, पाखण्डी, परद्रव्यादिका अपहरण करनेवाले व्यभिचारी, दुर्व्यसनी, मिथ्याभाषी, अभक्त और विद्वेषी मनुष्योंसे वार्तालापतकका संसर्ग त्यागकर मौन रहे और मनमें भगवान्‌का स्मरण करे और उनका प्रीतिपूर्वक प्रातःकालीन पूजन करके व्रत रखे। फिर सायंकालमें चन्द्रोदय होनेपर उसके बिम्बमें ईश्वर (परमेश्वर),

सूर्य और लक्ष्मी—इनका चिन्तन करके पूजन करे और '**श्रीर्निशा चन्द्ररूपस्त्वं वासुदेव जगत्पते। मनोऽभिलषितं देव पूरयस्व नमो नमः॥**' इस मन्त्रसे अर्घ्य दे और रात्रिमें तैलवर्जित एक बार भोजन करे। इस प्रकार फाल्गुनी, चैत्री, वैशाखी और ज्येष्ठीका व्रत करके 'पंचगव्य' (गौके दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्रको वस्त्रसे छानकर प्रमाणका) पीये। आषाढ़ी, श्रावणी, भाद्री और आश्विनीका व्रत करके 'कुशोदक' (दिनभर जलमें भीगी हुई डाभका जल) पीये और कार्तिकी, मार्गशीर्षी, पौषी और माघीका व्रत करके सूर्यकी किरणोंसे दिनभर तपे हुए जलको पीये। इस प्रकार वर्षपर्यन्त व्रत करके उसका विसर्जन करे तो सम्पूर्ण अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं।

(२७) कूर्चव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाके पहले दिन उपवास करके पूर्णिमाको पंचगव्य पीये और प्रतिपदाको हविष्यान्नका भोजन करे तो उस महीनेके सब पाप दूर हो जाते हैं। यह व्रत इन्द्रकी प्रसन्नताका है, अतएव सदैव किया जाय तो और भी अच्छा है।

(२८) पृथक्-पृथक् तीर्थक्षेत्रीय व्रत (गर्गसंहिता)—स्वस्थानकी अपेक्षा तीर्थस्थानोंमें किये हुए व्रतादिका अधिक फल होता है। यथा फाल्गुनकी पूर्णिमाको 'नैमिषारण्य' में, चैत्रीको 'गण्डकी' में, वैशाखीको 'हरिद्वार' में, ज्येष्ठीको 'जगदीशपुरी' (पुरुषोत्तमक्षेत्र) में, आषाढ़ीको 'कनखल' में, श्रावणीको 'केदार' में, भाद्रीको 'बदरिकाश्रम' में, आश्विनीको 'कुब्जाद्रि' (कुमुदगिरि) में, कार्तिकीको 'पुष्कर' में, मार्गीको 'कान्यकुब्ज' में, पौषीको 'अयोध्या' में और माघीको 'प्रयाग' में अभीष्ट व्रत, दान और यजन करनेसे कई गुना अधिक फल होता है।

(२९) होलिकादहन (नानापुराण-स्मृति)—यह फाल्गुन

शुक्ल पूर्णिमाको होता है। इसका मुख्य सम्बन्ध होलीके दहनसे है। जिस प्रकार श्रावणीको ऋषिपूजन, विजयादशमीको देवीपूजन और दीपावलीको लक्ष्मीपूजनके पीछे भोजन किया जाता है, उसी प्रकार होलिकाके व्रतवाले उसकी ज्वाला देखकर भोजन करते हैं। होलिकाके दहनमें पूर्वविद्धा प्रदोषव्यापिनी[१] पूर्णिमा ली जाती है। यदि वह दो दिन[२] प्रदोषव्यापिनी हो तो दूसरी लेनी चाहिये। यदि प्रदोषमें भद्रा हो तो उसके मुखकी[३] घड़ी त्यागकर[४] प्रदोषमें दहन करना चाहिये। भद्रामें होलिकादहन[५] करनेसे जनसमूहका नाश होता है। प्रतिपदा,[६] चतुर्दशी, भद्रा और दिन—इनमें होली जलाना सर्वथा त्याज्य है। कुयोगवश यदि जला दी जाय तो वहाँके राज्य, नगर और मनुष्य अद्‌भुत उत्पातोंसे एक ही वर्षमें हीन हो जाते हैं। यदि पहले दिन प्रदोषके समय भद्रा[७] हो और दूसरे दिन सूर्यास्तसे पहले पूर्णिमा समाप्त होती हो तो भद्राके समाप्त होनेकी प्रतीक्षा करके सूर्योदय होनेसे पहले होलिकादहन करना चाहिये। यदि पहले दिन प्रदोष न हो और हो तो भी रात्रिभर भद्रा रहे (सूर्योदय होनेसे पहले न उतरे) और

---

१. प्रदोषव्यापिनी ग्राह्या पूर्णिमा फाल्गुनी सदा। (नारद)
निशागमे तु पूज्येत होलिका सर्वतोमुखैः। (दुर्वासा)
सायाह्ने होलिकां कुर्यात् पूर्वाह्णे क्रीडनं गवाम्। (निर्णयामृत)

२. दिनद्वये प्रदोषे चेत् पूर्णा दाहः परेऽहनि। (स्मृतिसार)

३. पूर्णिमायाः पूर्वे भागे चतुर्थप्रहरस्य पंचघटीमध्ये भद्राया मुखं ज्ञेयम्। (ज्योतिर्निबन्ध)

४. तस्यां भद्रामुखं त्यक्त्वा पूज्या होला निशामुखे। (पृथ्वीचन्द्रोदय)

५. भद्रायां द्वे न कर्तव्ये श्रावणी फाल्गुनी तथा। (स्मृत्यन्तर)

६. प्रतिपद्भूतभद्रासु यार्चिता होलिका दिवा।
संवत्सरं तु तद्राष्ट्रं पुरं दहति साद्‌भुतम्॥ (चन्द्रप्रकाश)

७. दिनार्धात् परतो या स्यात् फाल्गुनी पूर्णिमा यदि।
रात्रौ भद्रावसाने तु होलिकां तत्र पूजयेत्॥ (भविष्योत्तर)

दूसरे दिन सूर्यास्तसे पहले ही पूर्णिमा समाप्त होती हो तो ऐसे अवसरमें पहले दिन भद्रा हो तो भी उसके पुच्छमें[१-२] होलिकादीपन कर देना चाहिये। यदि पहले दिन रात्रिभर भद्रा रहे और दूसरे दिन प्रदोषके समय पूर्णिमाका उत्तरार्ध मौजूद भी हो तो भी उस समय यदि चन्द्रग्रहण[३] हो तो ऐसे अवसरमें पहले दिन भद्रा हो तब भी सूर्यास्तके पीछे होली जला देनी चाहिये। यदि दूसरे दिन प्रदोषके समय पूर्णिमा हो और भद्रा उससे पहले उतरनेवाली हो, किंतु चन्द्रग्रहण[४] हो तो उसके शुद्ध होनेके पीछे स्नान करके होलिकादहन करना चाहिये। यदि फाल्गुन दो हों (मलमास हो) तो शुद्ध मास[५] (दूसरे फाल्गुन)-की पूर्णिमाको होलिकादीपन करना चाहिये। स्मरण रहे कि जिन स्थानोंमें माघ शुक्ल पूर्णिमाको 'होलिकारोपण' का कृत्य किया जाता है, वह उसी दिन करना चाहिये; क्योंकि वह भी होलीका ही अंग है। होली क्या है? क्यों जलायी जाती है? और इसमें पूजन किसका होता है? इसका आंशिक समाधान पूजाविधि और कथासारसे होता है। होलीका उत्सव रहस्यपूर्ण है। इसमें होली, ढुंढा, प्रह्लाद और स्मरशान्ति तो हैं ही; इसके सिवा इस दिन 'नवान्नेष्टि' यज्ञ भी सम्पन्न होता है। इसी अनुरोधसे धर्मध्वज राजाओंके यहाँ माघी पूर्णिमाके प्रभातमें शूर, सामन्त और शिष्ट मनुष्य गाजे-बाजे और

---

१. पृथिव्यां यानि कार्याणि शुभानि ह्यशुभानि च।
तानि सर्वाणि सिद्ध्यन्ति विष्टिपुच्छे न संशयः॥ (लल्ल)

२. पूर्णिमायाः पूर्वे भागे तृतीयप्रहरस्य घटीत्रयं भद्रायाः पुच्छं ज्ञेयम्। (पंचद्व्यद्रिकृताष्टेति मुहूर्तचिन्तामणौ)

३. दिवाभद्रा यदा रात्रौ रात्रिभद्रा यदा दिवा।
सा भद्रा भद्रदा यस्माद् भद्रा कल्याणकारिणी॥ (ज्योतिष-तत्त्व)

४. ग्रहणशुद्धौ 'स्नात्वा कर्माणि कुर्वीत शृतमन्नं विसर्जयेत्।' (स्मृतिकौस्तुभ)

५. स्पष्टमासविशेषाख्याविहितं वर्जयेन्मले। (धर्मसार)

लवाजमेसहित नगरसे बाहर वनमें जाकर शाखासहित वृक्ष लाते हैं और उसको गन्धादिसे पूजकर नगर या गाँवसे बाहर पश्चिम दिशामें आरोपित करके खड़ा कर देते हैं। जनतामें यह 'होली', 'होलीदंड' (होलीका डाँडा) एवं 'प्रह्लादके नामसे प्रसिद्ध होता है; किंतु इसे 'नवान्नेष्टि' का यज्ञस्तम्भ माना जाय तो निरर्थक नहीं होगा।' अस्तु, व्रतीको चाहिये कि वह फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको प्रात:स्नानादिके अनन्तर '**मम बालकबालिकादिभिः सह सुखशान्तिप्राप्त्यर्थं होलिकाव्रतं करिष्ये।**' से संकल्प करके काष्ठखण्डके खड्ग बनवाकर बच्चोंको दे और उनको उत्साही सैनिक बनाये। वे नि:शंक होकर खेल-कूद करें और परस्पर हँसें। इसके अतिरिक्त होलिकाके दहन-स्थानको जलके प्रोक्षणसे शुद्ध करके उसमें सूखा काष्ठ, सूखे उपले और सूखे काँटे आदि भलीभाँति स्थापित करे। तत्पश्चात् सायंकालके समय हर्षोत्फुल्लमन होकर सम्पूर्ण पुरवासियों एवं गाजे-बाजे या लवाजमेके साथ होलीके समीप जाकर शुभासनपर पूर्व या उत्तरमुख होकर बैठे। फिर '**मम सकुटुम्बस्य सपरिवारस्य (पुरग्रामस्थजनपदसहितस्य वा) सर्वापच्छान्तिपूर्वकसकलशुभ-फलप्राप्त्यर्थं ढुण्ढाप्रीतिकामनया होलिकापूजनं करिष्ये।**'—यह संकल्प करके पूर्णिमा प्राप्त होनेपर अछूत* या सूतिकाके घरसे बालकोंद्वारा अग्नि मँगवाकर होलीको दीप्तिमान् करे और चैतन्य होनेपर गन्ध-पुष्पादिसे उसका पूजन करके '**असृक्पाभय-संत्रस्तैः कृता त्वं होलि बालिशैः। अतस्त्वां पूजयिष्यामि भूते भूतिप्रदा भव॥**'—इस मन्त्रसे तीन परिक्रमा या प्रार्थना करके अर्घ्य दे और लोकप्रसिद्ध होलीदण्ड (प्रह्लाद) या शास्त्रीय

---

* चाण्डालसूतिकागेहाच्छिशुहारितवह्निना ।
प्राप्तायां पूर्णिमायां तु कुर्यात् तत्काष्ठदीपनम्॥ (स्मृतिकौस्तुभ)

'यज्ञस्तम्भ' को शीतल जलसे अभिषिक्त करके उसे एकान्तमें रख दे। तत्पश्चात् घरसे लाये हुए खेड़ा, खाँडा और वरकूलिया आदिको डालकर होलीमें जौ-गेहूँकी बाल और चनेके होलोंको होलीकी ज्वालासे सेंके और यज्ञसिद्ध नवान्न तथा होलीकी अग्नि और यत्किंचित् भस्म लेकर घर आये। वहाँ आकर वासस्थानके प्रांगणमें गोबरसे चौका लगाकर अन्नादिका स्थापन करे। उस अवसरपर काष्ठके खड्गोंको स्पर्श करके बालकगण हास्यसहित शब्द करें! उनका रात्रि आनेपर संरक्षण किया जाय और गुड़के बने हुए पक्वान्न उनको दिये जायँ। इस प्रकार करनेसे ढुंढाके दोष शान्त हो जाते हैं और होलीके उत्सवसे व्यापक सुख-शान्ति होती है। कथाका सार यह है कि (१) उसी युगमें हिरण्यकशिपुकी बहिन, जो स्वयं आगसे नहीं जलती थी, अपने भाईके कहनेसे प्रह्लादको जलानेके लिये उसको गोदमें लेकर आगमें बैठ गयी; परंतु भगवान्‌की कृपासे ऐसा हुआ कि होली जल गयी; किंतु प्रह्लादको आँच भी नहीं लगी। उसके बदले हिरण्यकशिपु अवश्य मारा गया। (२) इसी अवसरपर नवीन धान्य (जौ, गेहूँ और चने)-की खेतियाँ पककर तैयार हो गयीं और मानव-समाजमें उनके उपयोगमें लेनेका प्रयोजन भी उपस्थित हो आया; किंतु धर्मप्राण हिंदू यज्ञेश्वरको अर्पण किये बिना नवीनान्नको उपयोगमें नहीं ले सके, अतः फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमाको समिधास्वरूप उपले आदिका संचय करके उसमें यज्ञकी विधिसे अग्निका स्थापन, प्रतिष्ठा, प्रज्वालन और पूजन करके '**रक्षोघ्न०**' सूक्तसे यव-गोधूमादिके चरुस्वरूप बालोंकी आहुति दी और हुतशेष धान्यको घर लाकर प्रतिष्ठित किया। उसीसे प्राणोंका पोषण होकर प्रायः सभी प्राणी हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ हुए और होलीके रूपमें 'नवान्नेष्टि' यज्ञको सम्पन्न किया।

(परिशिष्ट)

(१) अधिमासव्रत

(१) **अधिमास** (श्रुति–स्मृति–पुराणादि)—जिस महीनेमें सूर्य-संक्रान्ति[१] न हो, वह महीना अधिमास होता है और जिसमें दो संक्रान्ति हों, वह क्षयमास होता है। इसको 'मलिम्लुच' भी कहते हैं। अधिमास ३२ महीने,[२] १६ दिन और ४ घड़ीके अन्तरसे आया करता है और क्षयमास १४१ वर्ष पीछे और उसके बाद १९ वर्ष पीछे आता है। क्षयमास कार्तिकादि तीन महीनोंमेंसे होता है। लोकव्यवहारमें अधिमासके 'अधिक मास', 'मलमास', 'मलिम्लुच मास' और 'पुरुषोत्तममास' नाम विख्यात है। चैत्रादि १२ महीनोंमें वरुण,[३] सूर्य, भानु, तपन, चण्ड, रवि, गभस्ति, अर्यमा, हिरण्यरेता, दिवाकर, मित्र और विष्णु—ये १२ सूर्य होते हैं और अधिमास इनसे पृथक् रह जाता है। इस कारण यह मलिम्लुच मास कहलाता है। 'अधिमासमें' फल-प्राप्तिकी कामनासे[४] किये जानेवाले प्रायः सभी काम वर्जित हैं और फलकी आशासे रहित होकर करनेके आवश्यक सब काम किये जा सकते हैं। यथा—कुएँ, बावली,[५] तालाब और बाग आदिका आरम्भ और प्रतिष्ठा; किसी भी प्रकार और किसी भी प्रयोजनके

---

१. असंक्रान्तिमासोऽधिमासः स्फुटः स्याद्
द्विसंक्रान्तिमासः क्षयाख्यः कदाचित्। (ज्योतिःशास्त्र)

२. द्वात्रिंशद्भिर्गतैर्मासैर्दिनैः षोडशभिस्तथा।
घटिकानां चतुष्केण पतति ह्यधिमासकः॥ (वसिष्ठसिद्धान्त)

३. वरुणः सूर्यो भानुस्तपनश्चण्डो रविर्गभस्तिश्च।
अर्यमहिरण्यरेतोदिवाकरा मित्रविष्णू च॥ (ज्योतिःशास्त्र)

४. न कुर्यादधिके मासि काम्यं कर्म कदाचन। (स्मृत्यन्तर)

५. वाप्यारामतडागकूपभवनारम्भप्रतिष्ठे व्रता-
रम्भोत्सर्गवधूप्रवेशनमहादानानि सोमाष्टके।

व्रतोंका आरम्भ और उत्सर्ग (उद्यापन); नवविवाहिता वधूका प्रवेश; पृथ्वी, हिरण्य और तुला आदिके महादान; सोमयज्ञ और अष्टकाश्राद्ध (जिसके करनेसे पितृगण प्रसन्न हों); गौका यथोचित दान; आग्रयण (यज्ञविशेष नवीन अन्नसे किये जानेवाला यज्ञ; यह वर्षा-ऋतुमें 'सावाँ' (साँवक्या) से, शरद्‌में चावलोंसे और वसन्तमें जौसे किया जाता है); पौसरेका प्रथमारम्भ; उपाकर्म (श्रावणी पूर्णिमाका ऋषिपूजन); वेदव्रत (वेदाध्ययनका आरम्भ); नीलवृषका विवाह; अतिपन्न (बालकोंके नियतकालमें न किये हुए संस्कार); देवताओंका स्थापन (देवप्रतिष्ठा); दीक्षा (मन्त्रदीक्षा, गुरुसेवा); मौंजी-उपवीत (यज्ञोपवीत-संस्कार); विवाह; मुण्डन (जड़ुला), पहले कभी न देखे हुए देव और तीर्थोंका निरीक्षण, संन्यास, अग्निपरिग्रह (अग्निका स्थायी स्थापन); राजाके दर्शन, अभिषेक, प्रथम यात्रा, चातुर्मासीय व्रतोंका प्रथमारम्भ, कर्ण-वेध और परीक्षा—ये सब काम अधिमासमें और गुरु-शुक्रके अस्त तथा उनके शिशुत्व और बालत्वके तीन-तीन दिनोंमें और न्यून मासमें भी सर्वथा वर्जित हैं। इनके अतिरिक्त तीव्र ज्वरादि प्राणघातक रोगादिकी निवृत्तिके रुद्रजपादि अनुष्ठान; कपिलषष्ठी-जैसे अलभ्य योगोंके प्रयोग; अनावृष्टिके अवसरमें वर्षा करानेके पुरश्चरण; वषट्कारवर्जित आहुतियोंका हवन; ग्रहणसम्बन्धी श्राद्ध; दान और जपादि; पुत्रजन्मके कृत्य और पितृमरणके श्राद्धादि तथा गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्त-जैसे संस्कार और नियत अवधिमें समाप्त करनेके पूर्वागत प्रयोगादि किये जा सकते हैं।

गोदानाग्रयणप्रपाप्रथमकोपाकर्मवेदव्रतं
नीलोद्वाहमथातिपन्नशिशुसंस्कारान् सुरस्थापनम्॥
दीक्षामौञ्जिविवाहमुण्डनमपूर्वं देवतीर्थेक्षणं
संन्यासाग्निपरिग्रहौ नृपतिसंदर्शाभिषेकौ गमम्।
चातुर्मास्यसमावृती श्रवणयोर्वेधं परीक्षां त्यजेद्
वृद्धत्वास्तशिशुत्व इज्यसितयोर्न्यूनाधिमासे तथा॥ (मुहूर्तचिन्तामणि)

(२) **अधिमासव्रत** (भविष्योत्तर)—चैत्रादि महीनोंमें जो महीना अधिमास हो, उसके सम्पूर्ण साठ दिनोंमेंसे प्रथमकी शुक्ल प्रतिपदासे प्रारम्भ करके द्वितीयकी कृष्ण अमावास्यातक तीस दिनोंमें अधिमासके निमित्तका उपवास या नक्त अथवा एकभुक्त व्रत करके यथासामर्थ्य दान-पुण्यादि करे। यदि मासपर्यन्तकी सामर्थ्य न हो या उतना अवसर ही न मिले तो पुण्यप्रद किसी भी दिनमें दोनों स्त्री-पुरुष प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करके भगवान् वासुदेवको हृदयमें रखकर व्रत या उपवास करें और अव्रण कलशपर लक्ष्मी और नारायणकी मूर्ति स्थापन करके उनका सप्रेम पूजन करें। पूजनके समय '**देवदेव महाभाग प्रलयोत्पत्तिकारक। कृष्ण सर्वेश भूतेश जगदानन्दकारक। गृहाणार्घ्यमिमं देव दयां कृत्वा ममोपरि**' से अर्घ्य दे और '**स्वयम्भुवे नमस्तुभ्यं ब्रह्मणेऽमिततेजसे। नमोऽस्तु ते श्रितानन्द दयां कृत्वा ममोपरि॥**' से प्रार्थना करे। नैवेद्यमें घी, गेहूँ और गुड़के बने हुए पदार्थ; दाख, केले, नारियल, कूष्माण्ड (कुम्हड़ा) और दाडिमादि फल और बैगन, ककड़ी, मूली और अदरख आदि शाक अर्पण करके अन्न, वस्त्र, आभूषण और अन्य प्रकारके पृथक्-पृथक् पदार्थोंका दान दे।

(३) **अधिमासव्रत २** (हेमाद्रि)—यह व्रत मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंका हरण करनेवाला है। इसमें एकभुक्त, नक्त या उपवास और भगवान् भास्करका पूजन तथा कांस्यपात्रमें भरे हुए अन्न-वस्त्रादिका दान किया जाता है। प्राचीन कालमें नहुष राजाने इन्द्रत्वप्राप्तिके मदसे अपने नरयान (पालकी)-को वहन करनेमें महर्षि अगस्त्यको नियुक्त करके 'सर्प-सर्प' (चलो-चलो) कह दिया था। उस धृष्टताके कारण वह स्वयं सर्प हो गया। अन्तमें व्यासजीके आदेशानुसार अधिमासका व्रत करनेसे वह सर्पयोनिसे मुक्त हुआ। ......व्रतका विधान यह है कि अधिमास आरम्भ

होनेपर प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करके विष्णुस्वरूप 'सहस्रांशु' (हजार किरणवाले सूर्यनारायणका) पूजन करे। विविध प्रकारके घी, गुड़ और अन्नका नित्य दान करे तथा घी, गेहूँ और गुड़के बनाये हुए तैंतीस अपूप (पूओं)-को कांस्यपात्रमें रखकर '**विष्णुरूपी सहस्रांशुः सर्वपापप्रणाशनः। अपूपान्नप्रदानेन मम पापं व्यपोहतु॥**' से प्रतिदिन दान करे और '**यस्य हस्ते गदाचक्रे गरुडो यस्य वाहनम्। शंखः करतले यस्य स मे विष्णुः प्रसीदतु॥**' से प्रार्थना करे तो कुरुक्षेत्रादिके स्नान, गो-भू-हिरण्यादिके दान और अगणित ब्राह्मणोंको भोजन करानेके समान फल होता है तथा सब प्रकारके धन, धान्य, पुत्र और परिवार बढ़ते हैं।

(४) पुरुषोत्तममासव्रत (भविष्योत्तरपुराण)—इस व्रतके विषयमें श्रीकृष्णने कहा था कि इसका फलदाता, भोक्ता और अधिष्ठाता—सब कुछ मैं हूँ। (इसी कारणसे इसका नाम पुरुषोत्तम है।) इस महीनेमें केवल ईश्वरके उद्देश्यसे जो व्रत, उपवास, स्नान, दान या पूजनादि किये जाते हैं, उनका अक्षय फल होता है और व्रतीके सम्पूर्ण अनिष्ट नष्ट हो जाते हैं।

(५) मलमासव्रत (देवीभागवत)—इस महीनेमें दान, पुण्य या शरीर-शोषण—जो भी किया जाय, उसका अक्षय फल होता है। यदि सामर्थ्य न हो तो ब्राह्मण और साधुओंकी सेवा सर्वोत्तम है। इससे तीर्थस्नानादिके समान फल होता है। पुण्यके कामोंमें व्यय करनेसे धन क्षीण नहीं होता, बल्कि बढ़ता है। जिस प्रकार अणुमात्र बीजके दान करनेसे वट-जैसा दीर्घजीवी महान् वृक्ष होता है, वैसे ही मलमासमें दिया हुआ दान अधिक फल देता है।

(६) अधिमासीयार्चनव्रत (पूजापंकजभास्कर)—अधिमासके व्रतोंमें भगवान्‌की पूजन-विधिमें यह विशेषता है कि गन्धयुक्त

पुष्प और श्रीसूक्तके मन्त्र—इनके साथमें भगवान्‌के नामोंका एक-एक करके उच्चारण करता हुआ उनके पुष्प अर्पण करे। नाम ये हैं—१—**कूर्माय**, २—**सहस्त्रशीर्ष्णे**, ३—**देवाय**, ४—**सहस्त्राक्षपादाय**, ५—**हरये**, ६—**लक्ष्मीकान्ताय**, ७—**सुरेश्वराय**, ८—**स्वयम्भुवे**, ९—**अमिततेजसे**, १०—**ब्रह्मप्रियाय**, ११—**देवाय**, १२—**ब्रह्मगोत्राय। पुनः लक्ष्म्यै नमः, कमलायै नमः, श्रियै नमः, पद्मवासायै नमः, हरिवल्लभायै नमः, क्षीराब्धितनयायै नमः, इन्दिरायै नमः**—इन नामोंसे पुष्प अर्पण करके '**पुराणपुरुषेशान सर्वशोकनिकृन्तन। अधिमासव्रते प्रीत्या गृहाणार्घ्यं श्रिया सह॥' पुराणपुरुषेशान जगद्धातः सनातन। सपत्नीको ददाम्यर्घ्यं सृष्टिस्थित्यन्तकारिणे॥ देवदेव महाभाग प्रलयोत्पत्तिकारक। कृपया सर्वभूतस्य जगदानन्दकारक। गृहाणार्घ्यमिमं देव दयां कृत्वा ममोपरि॥**'—इन मन्त्रोंसे तीन बार अर्घ्य दे तो महाफल होता है।

(२) संक्रान्तिव्रत

(१) संक्रान्ति (बहुसम्मत)—सूर्य जिस राशिपर[1] स्थित हो, उसे छोड़कर जब दूसरी राशिमें प्रवेश करे, उस समयका नाम संक्रान्ति है। ऐसी बारह संक्रान्तियोंमें मकरादि[2] छः और कर्कादि छः राशियोंके भोगकालमें क्रमशः उत्तरायण और दक्षिणायन—ये दो अयन होते हैं। इनके अतिरिक्त मेष और तुलाकी संक्रान्तिकी 'विषुवत्';[3] वृष, सिंह, वृश्चिक और कुम्भकी 'विष्णुपदी' और मिथुन, कन्या, धनु एवं मीनकी 'षडशीत्यानन'

---

१. रवेः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते। (नागरखण्ड)

२. मकरकर्कटसंक्रान्तिक्रमेणोत्तरायणं दक्षिणायनं स्यात्। (मुक्तकसंग्रह)

३. अयने द्वे विषुवती चतस्त्रः षडशीतयः।
चतस्त्रो विष्णुपद्यश्च संक्रान्त्यो द्वादश स्मृताः॥ (वसिष्ठ)

संज्ञा होती है। अयन या संक्रान्तिके समय व्रत-दान या जपादि करनेके विषयमें 'हेमाद्रि'[१] के मतसे संक्रमण होनेके समयसे पहले और पीछेकी १५-१५ घड़ियाँ, 'बृहस्पति'[२] के मतसे दक्षिणायनके पहले और उत्तरायणके पीछेकी २०-२० घड़ियाँ और 'देवल'[३] के मतसे पहले और पीछेकी ३०-३० घड़ियाँ पुण्यकालकी होती हैं। इनमें 'वसिष्ठ' के मतसे[४] 'विषुव' के मध्यकी, विष्णुपदी और दक्षिणायनके पहलेकी तथा षडशीतिमुख और उत्तरायणके पीछेकी उपर्युक्त घड़ियाँ पुण्यकालकी होती हैं। वैसे सामान्य[५] मतसे सभी संक्रान्तियोंकी १६-१६ घड़ियाँ अधिक फलदायक हैं। यह विशेषता है कि दिनमें संक्रान्ति[६] हो तो पूरा दिन, अर्धरात्रिसे पहले हो तो उस दिनका उत्तरार्ध, अर्धरात्रिसे पीछे हो तो आनेवाले दिनका पूर्वार्ध, ठीक अर्धरात्रिमें[७] हो तो पहले और पीछेके तीन-तीन प्रहर और उस समय अयनका भी परिवर्तन हो तो तीन-तीन दिन पुण्यकालके होते हैं। उस समय

---

१. अधः पंचदश ऊर्ध्वं च पंचदशेति। (हेमाद्रि)

२. दक्षिणायने विंशतिः पूर्वा मकरे विंशतिः परा। (बृहस्पति)

३. संक्रान्तिसमयः सूक्ष्मो दुर्ज्ञेयः पिशितेक्षणैः।
तद्योगाच्चाप्यधश्चोर्ध्वं त्रिंशन्नाड्यः पवित्रिताः॥ (देवल)

४. मध्ये तु विषुवे पुण्यं प्राग्विष्णौ दक्षिणायने।
षडशीतिमुखेऽतीते अतीते चोत्तरायणे॥ (वसिष्ठ)

५. अर्वाक् षोडश विज्ञेया नाड्यः पश्चाच्च षोडश।
कालः पुण्योऽर्कसंक्रान्तेः········॥ (शातातप)

६. अह्नि संक्रमणे पुण्यमहः सर्वं प्रकीर्तितम्।
रात्रौ संक्रमणे पुण्यं दिनार्धं स्नानदानयोः॥
अर्धरात्रादधस्तस्मिन् मध्याह्नस्योपरि क्रिया।
ऊर्ध्वं संक्रमणे चोर्ध्वमुदयात्प्रहरद्वयम्॥ (वसिष्ठ)

७. पूर्णे चैवार्धरात्रे तु यदा संक्रमते रविः।
तदा दिनत्रयं पुण्यं मुक्त्वा मकरकर्कटौ॥ (ज्योतिर्वसिष्ठ)

दान देनेमें भी यह विशेषता है कि अयन अथवा[१] संक्रमण-समयका दान उनके आदिमें और दोनों ग्रहण तथा षडशीतिमुखके निमित्तका दान अन्तमें देना चाहिये।

(२) **संक्रान्तिव्रत** (वंगऋषिसम्मत)—मेषादि किसी भी संक्रान्तिका जिस दिन संक्रमण हो उस दिन प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होकर '**मम ज्ञाताज्ञातसमस्तपातकोपपातकदुरितक्षयपूर्वक श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तपुण्यफलप्राप्तये श्रीसूर्यनारायणप्रीतये च अमुकसंक्रमणकालीनमयनकालीनं वा स्नानदानजपहोमादिकर्माहं करिष्ये।**'—यह संकल्प करके वेदी या चौकीपर लाल कपड़ा बिछाकर अक्षतोंका अष्टदल लिखे और उसमें सुवर्णमय सूर्यनारायणकी[२] मूर्ति-स्थापन करके उनका पंचोपचार (स्नान, गन्ध, पुष्प, धूप और नैवेद्य)-से पूजन और निराहार, साहार, अयाचित, नक्त या एकभुक्त व्रत करे तो सब प्रकारके पापोंका क्षय, सब प्रकारकी अधि-व्याधियोंका निवारण और सब प्रकारकी हीनता अथवा संकोचका निपात होता है तथा प्रत्येक प्रकारकी सुख-सम्पत्ति, संतान और सहानुभूतिकी वृद्धि होती है।

(३) **संक्रमणव्रत** (गर्ग-गालव-गौतमादि)—मेषादि किसी भी अधिकृत राशिको छोड़कर सूर्य दूसरी राशिमें प्रवेश करे (अथवा सौम्य या याम्यायनकी प्रवृत्ति हो) उस समय दिन-रात्रि, पूर्वाह्ण-पराह्ण, पूर्वापरिनिश्यर्द्ध या अर्धरात्रिका कुछ भी विचार न करके तत्काल[३] स्नान करे और सफेद वस्त्र धारण

---

१. अयनादौ सदा देयं द्रव्यमिष्टं गृहेषु यत्।
षडशीतिमुखे चैवं विमोक्षे चन्द्रसूर्ययोः॥ (संक्रान्तिकृत्य)

२. उपोष्यैवं तु संक्रान्तौ स्नातो योऽभ्यर्चयेद्धरिम्।
प्रातः पंचोपचारेण स काम्यं फलमश्नुते॥ (वसिष्ठ)

३. रवेः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते।
स्नानदानजपश्राद्धहोमादिषु महाफला॥ (नागरखण्ड)

करके अक्षतादिके अष्टदलपर स्थापित किये हुए सुवर्णमय सूर्यका उपर्युक्त प्रकारसे पूजन करे। साथ ही '**ॐ आकृष्णेन०**' या '**ॐ नमो भगवते सूर्याय**' अथवा '**ॐ सूर्याय नमः**' का जप और आदित्यहृदयादिका पाठ करके घी, शक्कर और मेवा मिले हुए तिलोंका हवन करे और अन्न-वस्त्रादि देय वस्तुओंका दान दे तो इनमेंसे एक-एक भी पावन[१] करनेवाला होता है। स्मृत्यन्तमें रात्रिको स्नान और दान वर्जित किये हैं। इसका 'विष्णु' ने यह समाधान किया है कि विवाह, व्रत, संक्रान्ति, प्रतिष्ठा, ऋतुस्नान, पुत्रजन्म, चन्द्रादित्यके ग्रहण और व्यतीपात—इनके निमित्तका 'रात्रिस्नान'[२] और ग्रहण, उद्वाह (विवाह), संक्रान्ति, यात्रा, प्रसवपीड़ा और इतिहासोंका श्रवण—इनके निमित्तका 'रात्रिदान'[३] वर्जित नहीं है। यही नहीं, यदि कोई ग्रहणादि उक्त अवसरोंमें रात्रिके विचारसे स्नान (और दान) न[४] करे तो वह चिरकाल (कई वर्षों)-तक रोगी और दरिद्री रहता है। व्रतसंख्यामें यह विशेषता है कि वृद्धवसिष्ठके मतानुसार अयन[५] (मकर-कर्क-संक्रमण) और विषुव (मेष-तुला-संक्रमण)—इनमें तीन रात्रिका और आपस्तम्बके मतानुसार अयन,[६] विषुव और दोनों ग्रहण—

---

१. अत्र स्नानं जपो होमो देवतानां च पूजनम्।
उपवासस्तथा दानमेकैकं पावनं स्मृतम्॥ (संवर्त)

२. विवाहव्रतसंक्रान्तिप्रतिष्ठाऋतुजन्मसु।
तथोपरागपातादौ स्नाने दाने निशा शुभा॥ (विष्णु)

३. ग्रहणोद्वाहसंक्रान्तियात्रार्तिप्रसवेषु च।
श्रवणे चेतिहासस्य रात्रौ दानं प्रशस्यते॥ (सुमन्तु)

४. रविसंक्रमणे प्राप्ते न स्नायाद् यस्तु मानवः।
चिरकालिकरोगी स्यान्निर्धनश्चैव जायते॥ (शातातप)

५. अयने विषुवे चैव त्रिरात्रोपोषितो नरः। (वृद्धवसिष्ठ)

६. अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
अहोरात्रोषितः स्नातः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ (आपस्तम्ब)

इनमें अहोरात्र (सूर्योदयसे सूर्योदयपर्यन्त)-का उपवास करनेसे सब पाप छूट जाते हैं। परंतु पुत्रवान्[१] गृहस्थीके लिये रविवार, संक्रान्ति, चन्द्रादित्यके ग्रहण और कृष्णपक्षकी एकादशीका व्रत करनेकी आज्ञा नहीं है। अतः उनको चाहिये कि वह व्रतकी अपेक्षा स्नान और दान अवश्य करें। इनके करनेसे दाता और भोक्ता दोनोंका कल्याण होता है। षडशीति (कन्या,[२] मिथुन, मीन और धन) तथा विषुवती (तुला और मेष) संक्रान्तिमें दिये हुए दानका अनन्तगुना, अयनमें दिये हुएका करोड़गुना, विष्णुपदीमें दिये हुएका लाखगुना, षडशीतिमें हजारगुना, इन्दुक्षय (चन्द्रग्रहण)-में सौगुना, दिनक्षय (सूर्यग्रहण)-में हजारगुना और व्यतीपातमें दिये हुए दानादिका अनन्तगुना फल होता है। देयके विषयमें[३] भी यह विशेषता है कि—१ 'मेष' संक्रान्तिमें मेढा, २ 'वृष' में गौ, ३ 'मिथुन' में अन्न-वस्त्र और दूध-दही, ४ 'कर्क'में धेनु, ५ 'सिंह'में सुवर्णसहित छत्र (छाता), ६ 'कन्या' में वस्त्र और गायें, ७ 'तुला' में अनेक प्रकारके धान्य-बीज (जौ, गेहूँ और चने आदि), ८ 'वृश्चिक' में घर-मकान या झोंपड़े (पर्णकुटी), ९ 'धनु' में बहुवस्त्र और सवारियाँ, १० 'मकर' में काष्ठ और

---

१. आदित्येऽहनि संक्रान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।
उपवासो न कर्तव्यो गृहिणा पुत्रिणा तथा॥
'कृष्णैकादशीति' विशेषः। (नारद)

२. षडशीत्यां तु यद् दत्तं यद् दानं विषुवद्वये।
दृश्यते सागरस्यान्तस्तस्यान्तो नैव दृश्यते॥ (भारद्वाज)
अयने कोटिपुण्यं च लक्षं विष्णुपदीफलम्।
षडशीतिसहस्त्रं च षडशीत्यां स्मृतं बुधैः॥
शतमिन्दुक्षये दानं सहस्त्रं तु दिनक्षये।
विषुवे शतसाहस्त्रं व्यतीपाते त्वनन्तकम्॥ (वसिष्ठ)

३. मेषसंक्रमणे भानोर्मेषदानं महाफलम्। (विश्वामित्र)

अग्नि, ११ 'कुम्भ' में गायोंके लिये जल और घास तथा १२ 'मीन' में उत्तम प्रकारके माल्य (तेल-फुलेल-पुष्पादि) और स्थानका दान करनेसे सब प्रकारकी कामनाएँ सिद्ध होती हैं और संक्रान्ति आदिके अवसरोंमें हव्य-कव्यादि[१] जो कुछ दिया जाता है, सूर्यनारायण उसे जन्म-जन्मान्तरपर्यन्त प्रदान करते रहते हैं।

(४) **महाजया संक्रान्तिव्रत** (ब्रह्मपुराण)—किसी महीनेकी कोई भी संक्रान्ति यदि शुक्लपक्षकी सप्तमी और रविवारको हो तो वह 'महाजया'[२] होती है। उस दिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् अक्षतोंके अष्टदलपर सुवर्णमय सूर्यमूर्तिको अथवा पूर्वप्रतिष्ठित सूर्य-प्रतिमाको स्थापित करके गौके घी और दूधसे पूर्ण स्नान कराये तथा पंचोपचार पूजन करके सोपवास जप, तप, हवन, देवपूजा, पितृतर्पण और दान करे तथा ब्राह्मणभोजन कराये तो अश्वमेधादिके समान फल होता है और व्रत करनेवालेको सूर्यलोककी प्राप्ति होती है।

(५) **धनसंक्रान्तिव्रत** (स्कन्दपुराण)—संक्रान्तिके समय मनुष्य अछिद्र (बिना छेदके) कलशमें जल, फल, सर्वौषधि और दक्षिणा रखकर उसको अष्टदलपर स्थापित करके उसके मध्यमें सुवर्णमय सूर्यका गन्धादिसे पूजन करे, एकभुक्त व्रत करे और इस प्रकार वर्षपर्यन्त करके उद्यापन करे तो धनसे संयुक्त रहता है।

(६) **धान्यसंक्रान्तिव्रत** (स्कन्दपुराण)—मेषार्कके समय स्नान करके सूर्यका ध्यान करे और '**करिष्यामि व्रतं देव त्वद्भक्त-स्त्वत्परायणः। तदा विघ्नं न मे यातु तव देव प्रसादतः॥**'

---

१. संक्रान्तौ यानि दत्तानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
तानि नित्यं ददात्यर्कः पुनर्जन्मनिजन्मनि॥ (शातातप)

२. शुक्लपक्षे तु सप्तम्यां यदा संक्रमते रविः।
महाजया तदा सा वै सप्तमी भास्करप्रिया॥ (ब्रह्मपुराण)

से संकल्प करके व्रत करे। तत्पश्चात् अष्टदलपर पूर्वमें भास्कर, अग्निकोणमें रवि, दक्षिणमें विवस्वान्, नैर्ऋत्यमें पूषा, पश्चिममें वरुण, वायव्यमें दिवाकर, उत्तरमें मार्तण्ड, ईशानमें भानु और मध्यमें विश्वात्माका नाम-मन्त्रोंसे पूजन करके व्रत करे और इस प्रकार बारह महीने करनेके बाद पूजनसामग्री और लगभग १६ किलो अन्न सत्पात्रको दे तो धान्यकी वृद्धि होती है।

(७) **भोगसंक्रान्तिव्रत** (स्कन्दपुराण)—संक्रान्तिके समय सपत्नीक ब्राह्मणको बुलाकर उसको उत्तम पदार्थोंका भोजन करावे। कुंकुम, कज्जल, कौसुम्भ, सिन्दूर, पान, पुष्प, फल और तण्डुल देकर दोनोंको दो-दो वस्त्र और अलग-अलग दक्षिणा दे तो यथारुचि भोग मिलते हैं।

(८) **रूपसंक्रान्तिव्रत** (मत्स्यपुराण)—संक्रान्तिके समय तैलमर्दनके अनन्तर शुद्ध स्नान करके सोने, चाँदी, ताँबे या पलाशके पात्रमें घी और सोना रखकर उसमें अपने शरीरका छायावलोकन करे और ब्राह्मणको देकर व्रत करे तो रूप बढ़ता है।

(९) **तेजःसंक्रान्तिव्रत** (मत्स्यपुराण)—संक्रान्तिके पुण्यकालमें सुपूजित कलशको चावलोंसे भरकर उसपर घीका दीपक रखे और उसके समीपमें मोदक रखकर, '**ममाखिलदोषप्रशमनपूर्वकतेजः प्राप्तिकामनयेदं पूर्णपात्रं गन्धपुष्पाद्यर्चितं यथानामगोत्राय ब्राह्मणाय दातुमहमुत्सृजे।**' से जल छोड़कर सम्पूर्ण सामग्री ब्राह्मणको दे तो इससे तेज बढ़ता है।

(१०) **आयुःसंक्रान्तिव्रत** (स्कन्दपुराण)—संक्रान्तिके समय काँसीके पात्रमें यथासामर्थ्य घी, दूध और सुवर्ण रखकर गन्धादिसे पूजन करके '**क्षीरं च सुरभीजातं पीयूषममलं घृतम्। आयुरारोग्यमैश्वर्यमतो देहि द्विजार्पितम्॥**' से उसका दान करे तो तेज, आयु और आरोग्यता आदिकी वृद्धि होती है।

(११) मेषादिगत सूर्यव्रत (लक्ष्मीनारायणसंग्रह)—व्रतीको चाहिये कि मेषसंक्रान्तिमें सूर्य रहे तबतक प्रत्येक रविवारको तीन बूँद 'गोबर जल' पीकर व्रत करे। इसी प्रकार वृषमें केवल तीन अंजलि जल; मिथुनमें तीन काली मिर्च; कर्कमें तीन मुट्‌ठी गोधूमसत्तू; सिंहमें तीन बूँद गोशृंगका धोया हुआ जल; कन्यामें तीन पल अन्न; तुलामें केवल प्राणायामकी वायुका भक्षण; वृश्चिकमें तीन तुलसीदल; धनुमें तीन पल गोघृत; मकरमें तीन मुट्‌ठी तिल; कुम्भमें तीन पल गौका दही और मीनमें तीन पल गोदुग्ध पीकर उपवास करे तो सब प्रकारके अरिष्ट, कष्ट या व्याधियाँ दूर हो जाती हैं और शरीरकी सुन्दरता तथा शक्ति बढ़ जाती है।

(३) अयनव्रत

(१) अयनव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—उत्तरायणकी प्रवृत्तिके समय गौके लगभग दो किलो घृतसे विष्णुको स्नान कराये तो सब पापोंसे मुक्त होकर विष्णुसायुज्यको प्राप्त होता है।

(२) अयनव्रत २ (भविष्योत्तर)—उत्तरायणके समय ब्राह्मणको लगभग दो किलो घी और सुपूजित घोड़ी दे तो सूर्यलोककी प्राप्ति होती है।

(४) पक्षव्रत

(१) पक्ष (धर्मसार)—जिसका देव और पितृकार्योंके अर्थ पृथक्-पृथक् परिग्रहण किया जाय उस (कालविशेष)-को पक्ष कहते हैं अथवा जिसमें चन्द्रमाकी कलाएँ पूर्ण अथवा क्षीण हों उसे पक्ष कहते हैं। ऐसे दो पक्ष 'शुक्ल' और 'कृष्ण' अथवा पूर्व और पर नामसे प्रसिद्ध हैं। ये दोनों पक्ष धर्मशास्त्रके अनुसार 'देव' निमित्तके जप, ध्यान, उपासना, होम, यज्ञ, प्रतिष्ठा अथवा सौभाग्य-वृद्धिके सदनुष्ठान आदिमें और 'पितृ' निमित्तके श्राद्ध,

तर्पण, हन्तकार या महालयादि कार्योंमें उपयुक्त किये जाते हैं। ज्योतिःशास्त्रके अनुसार सब प्रकारके 'शुभकार्य'—यथा आभ्युदयिक श्राद्ध या मांगलिक महोत्सव और 'अशुभ' कार्य—यथा मृत मनुष्यकी अज्ञात मृत्युके अन्त्येष्टिकर्मादि या तन्निमित्तक तीर्थश्राद्ध अथवा गयायात्रा आदि कार्योंमें उपयुक्त किये जाते हैं।

(२) पक्षव्रत (मुक्तकसंग्रह)—यह व्रत शुक्लपक्षमें प्रतिपदासे प्रारम्भ करके पूर्णिमापर्यन्त प्रतिदिन किया जाता है। उसमें प्रातः-स्नानादिके अनन्तर सुवर्णमय सूर्यका पंचोपचार पूजन करके दोनों हाथोंकी अंजलिमें गन्ध, अक्षत, पुष्प और जल लेकर '**एहि सूर्यसहस्त्रांशो तेजोराशे जगत्पते। अनुकम्पय मां देव गृहाणार्घ्यं दिवाकर॥**' से तीन बार अर्घ्य दे और मध्याह्नमें हविष्यान्नका एक बार भोजन करे। कृष्णपक्षमें प्रतिपदासे प्रारम्भ करके अमावस्यापर्यन्त प्रतिदिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् चाँदीके बने हुए चन्द्रमाका पंचोपचार पूजन करे और अंजलिमें यथापूर्व जल लेकर '**सोमप्रकाशकाय सूर्याय एषोऽर्घः।**' से अर्घ्य देकर—'**आदित्यस्य नमस्कारं ये कुर्वन्ति दिने दिने। जन्मान्तरसहस्त्रेषु दारिद्र्यं नोपजायते॥**' से नमस्कार करे तो आयु, आरोग्य और सौभाग्यकी वृद्धि होती है और ऋण हो तो वह उतर जाता है।

(५) वारव्रत

(१) वारव्रत (श्रुति, स्मृति, पुराणादि)—सप्ताहमें सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, गुरु, भृगु और शनि—ये सात वार यथाक्रम हैं और आजके सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदयतक रहते हैं। तिथ्यादिकी क्षय-वृद्धि अथवा उनके मानका न्यूनाधिक्य होता है, किंतु वारोंमें ऐसा नहीं होता। जिनके नामसे वार प्रसिद्ध हैं, उनके अधिष्ठाता सूर्यादि सात ग्रह आकाशमें प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। उनमेंसे सूर्य निरंजन निराकार ज्योतिःस्वरूप परमात्माकी प्रत्यक्ष प्रतिमूर्ति हैं

और चन्द्रादि छः ग्रहों तथा अन्य सभी तारागणोंको प्रकाशित करते हैं। इसी कारण शास्त्रकारोंने ग्रह-नक्षत्रादि सभीमें परमेश्वरका अंश होना बतलाया है और इस कारण उनके निमित्तसे जप, दान, प्रतिष्ठा, पूजा और व्रत आदिके विधान नियत किये हैं। अन्य देवी-देवताओंके व्रतोंकी भाँति सुख-सौभाग्यादिकी उपलब्धिके हेतुसे तो वारोंके व्रत करते ही हैं, साथ ही जन्मलग्न, वर्षलग्न, मासलग्न, उनकी दशा-विदशा, अन्तर-प्रत्यन्तर और गोचराष्टक वर्गादिमें कोई ग्रह अनिष्टकारी हो तो उसकी शान्तिके लिये व्रत किये जाते हैं! इसी विचारसे यहाँ वारोंके भी व्रत लिखे गये हैं। धर्मशास्त्रोंने जिस प्रकार ग्रहोंमें ईश्वरका अंश निर्धारित किया है उसी प्रकार सुवर्णमें भी ईश्वरका अंश सूचित किया है। इस कारण व्रतादिकी देवपूजामें सुवर्णकी मूर्ति स्थापित की जाती है। रस-शास्त्रमें चाँदीको सुवर्णके रूपमें परिणत करनेके विधान और ताँबाको सुवर्णका सहयोगी कहा है; इस कारण सोनेके अभावमें चाँदी और चाँदीके अभावमें ताँबा काममें आता है।

(२) रविवारव्रत (व्रतरत्नाकर)—वारोंके व्रतका आरम्भ विशेषकर वैशाख, मार्गशीर्ष और माघमें होता है। अतः मार्गशीर्ष शुक्लके पहले रविवारको प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर '**मम जन्मवर्ष-मास-दिन-होरा-अष्टकवर्ग-दशा-विदशा-सूक्ष्म-दशादिषु येऽनिष्टफलकारकास्तज्जनितजनिष्यमाणाखिलारिष्टनाद्यनिष्टझटिति-प्रशमनपूर्वकदीर्घायुर्बलपुष्टिनैरुज्यादिसकलशुभफलप्राप्त्यर्थं श्रीसूर्यनारायणप्रीतिकामनयाद्यारभ्य यावद्वर्षपर्यन्तं रविवारे रविवारव्रतं करिष्ये।**'—यह संकल्प करके सुवर्णनिर्मित सूर्यमूर्तिका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और मध्याह्नमें अलवण पदार्थोंका एकभुक्त भोजन करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करके उद्यापन करे तो दाद, कोढ़, नेत्रपीड़ा और दीर्घरोग दूर होते हैं और आरोग्यता बढ़ती है।

(३) रविवारव्रत[२] (भविष्यपुराण)—चैत्र या मार्गशीर्षके शुक्ल पक्षमें पहले रविवारको गोबरसे चौका लगाकर उसपर चन्दनसे द्वादशदल पद्म लिखे। उसके मध्यमें सूर्यकी मूर्ति स्थापित करके षोडशोपचार पूजन करे। विशेषता यह है कि चैत्रके व्रतमें 'भानु' नामकी पूजा, घी और पूरीका नैवेद्य, दाडिमका अर्घ्य, मिठाईका दान और तीन पल (१७५ ग्राम) दूधका प्राशन (भोजन)। वैशाखमें तपनका पूजन, उड़द और घीका नैवेद्य, दाखका अर्घ्य, उड़दका दान और गोबरका प्राशन। ज्येष्ठमें 'इन्द्र' (सूर्य)-का पूजन, दही और सत्तूका नैवेद्य, आम्रफलका अर्घ्य, चावलोंका दान और दध्योदनका भोजन। आषाढ़में 'सूर्य' का पूजन, जायफलका नैवेद्य, चिउड़ाका अर्घ्य, भोजनका दान और तीन काली मिरचोंका प्राशन। श्रावणमें 'गभस्ति' का पूजन, सत्तू और पूरीका नैवेद्य, चिउड़ेका अर्घ्य, फलोंका दान और तीन मुट्ठी सत्तूका भोजन। भाद्रपदमें 'यम' (सूर्य)-का पूजन, घी-भातका नैवेद्य, कूष्माण्डका अर्घ्य, उसीका दान और गोमूत्रका प्राशन। आश्विनमें 'हिरण्यरेता' का पूजन, शर्कराका नैवेद्य, दाडिमका अर्घ्य, चावल और चीनीका दान और तीन पल चीनीका भोजन। कार्तिकमें 'दिवाकर' का पूजन, खीरका नैवेद्य, केलेका अर्घ्य, खीरका दान और उसीका भोजन। मार्गशीर्षमें 'मित्र' का पूजन, चावलोंका नैवेद्य, घी, गुड़ और श्रीफलका अर्घ्य, गुड़-घीका दान और तीन तुलसीदलोंका भक्षण। पौषमें 'विष्णु' का पूजन, चावल, मूँग और तिलोंकी खिचड़ीका नैवेद्य, बिजौरेका अर्घ्य, अन्नका दान और पावभर घीका भोजन। माघमें 'वरुण' (सूर्य)-का पूजन, केलेका नैवेद्य, तिलोंका अर्घ्य, गुड़का दान और तिल-गुड़का भोजन एवं फाल्गुनमें 'भानु' का पूजन, दही और घीका नैवेद्य, जँभीरीका अर्घ्य, दही और चावलोंका दान और तीन पल दहीका प्राशन करे। इस विधिमें यम-इन्द्रादिके नाम आये हैं, वे सूर्यके ही

नाम हैं। यह व्रत वर्षपर्यन्त करनेके बाद उद्यापन करे तो सब प्रकारके रोग-दोष दूर होते हैं।

(४) **कुष्ठहर आशादित्य रविवारव्रत** (स्कन्दपुराण)—आश्विन शुक्लके रविवारको प्रातःस्नानादि करके '**मम शुभाशासिद्धये आशादित्यव्रतं करिष्ये**' से संकल्प करके शुद्ध भूमिमें गोबरसे गोल मण्डल बनाकर केशर और सिन्दूरसे बारह दलका पद्म बनाये। उसके मध्यमें सूर्यकी मूर्ति स्थापित करके षोडशोपचार पूजन करे। इसमें पुष्पार्पण करनेके बाद **सूर्याय नमः 'पादौ', वरुणाय नमः 'जंघे', माधवाय नमः 'जानुनी', धात्रे नमः 'ऊरू', हरये नमः 'कटिम्', भगाय नमः 'गुह्यम्', सुवर्णरेतसे नमः 'नाभिम्', अर्यम्णे नमः 'जठरम्', दिवाकराय नमः 'हृदयम्', तपनाय नमः 'कण्ठम्', भानवे नमः 'स्कन्धौ', हंसाय नमः 'हस्तौ', मित्राय नमः 'मुखम्', रवये नमः 'नासिके', खगाय नमः 'नेत्रे', पूष्णे नमः 'कर्णौ', हिरण्यगर्भाय नमः 'ललाटम्', आदित्याय नमः 'शिरः'** और **भास्कराय नमः 'सर्वांगं पूजयामि'** से अंगपूजा करके धूप-दीपादि करे। इसमें '**पूजयामि**' सब नामोंके साथ लगावे। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे। इस प्रकार एक वर्षतक करके उद्यापन करे। इस व्रतसे कोढ़-जैसी पापजन्य और पीढ़ियोंतक रहनेवाली बीमारियाँ निर्मूल हो जाती हैं। पूजनमें '**यथाशा विमलाः सर्वास्तव भास्कर भानुभिः। तथाशाः सफला नित्यं कुरु मह्यं यमार्चिता॥**' से अर्घ्य दे और '**नमो नमः पापविनाशनाय विश्वात्मने सप्ततुरंगमाय। सामर्ग्यजुर्धामनिधे विधातर्भवाब्धिपोताय नमः सवित्रे॥**' से प्रार्थना करे।

(५) **सौरधर्मोक्त रविवारव्रत** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत मार्गशीर्षसे वर्षपर्यन्त किया जाता है। व्रतीको चाहिये कि व्रतके

दिन नदी आदिपर प्रातःस्नान करके देव और पितरोंका तर्पण करे। फिर शुद्ध भूमिमें बारह दलका पद्म लिखकर उसपर हर महीने सूर्यका पूजन करे। प्रकार यह है कि मार्गशीर्षमें 'मित्र' का पूजन, श्रीफलका अर्घ्य, चावलोंका नैवेद्य, गुड़-घीका दान और तीन तुलसीपत्रका प्राशन। पौषमें 'विष्णु' का पूजन, चावल, मूँग और तिलोंकी खिचड़ीका नैवेद्य, बिजौरेका अर्घ्य, घीका दान और तीन पल घीका प्राशन। माघमें 'वरुण' का पूजन, तिल-गुड़का नैवेद्य, ऋतुफलका अर्घ्य, उसीका दान और तीन मुट्ठी तिलोंका प्राशन। फाल्गुनमें 'सूर्य' का पूजन, जँभीरीका अर्घ्य, दही और घीका नैवेद्य, दही और चावलोंका दान और इन्हींका भोजन। चैत्रमें 'भानु' का पूजन, पूरी और घीका नैवेद्य, दाडिमका अर्घ्य, मिठाईका दान और तीन पल दूधका भोजन। वैशाखमें 'तपन' का पूजन, उड़दके बने हुए घृतयुक्त पदार्थोंका नैवेद्य, दाखका अर्घ्य, घीसहित उड़दोंका दान और गोबरका प्राशन। ज्येष्ठमें 'इन्द्र' का पूजन, करम्भ (दही-सत्तू)-का नैवेद्य, उसीका अर्घ्य, दही-भातका दान और तीन अंजलि जलका पान। आषाढ़में 'सूर्य' का पूजन, चिउड़ेका अर्घ्य, अन्नका दान और तीन काली मिरचोंका प्राशन। श्रावणमें 'गभस्ति' का पूजन, चिउड़ेका नैवेद्य, फलोंका अर्घ्य, भोजनका दान और तीन मुट्ठी सत्तूका प्राशन। भाद्रपदमें 'यम' का पूजन, घी और चावलका नैवेद्य, कूष्माण्डका अर्घ्य, भोजनका दान और गोमूत्रका प्राशन। आश्विनमें 'हिरण्यरेता' का पूजन, शक्करका नैवेद्य, दाडिमका अर्घ्य, चावल और शक्करका दान और तीन पल खाँडका प्राशन और कार्तिकमें 'दिवाकर' का पूजन, खीरका नैवेद्य, रम्भाफल (केले)-का अर्घ्य, खीरका दान और खीरका भोजन। इस प्रकार बारह महीने करके दूसरे मार्गशीर्षमें उद्यापन और ब्राह्मण-

भोजनादि कराकर व्रतका विसर्जन करे तो ब्राह्मणको विद्या, क्षत्रियको राज्य, वैश्यको सम्पत्ति, शूद्रको सुख, अपुत्रको पुत्र, कुमारीको पति, रोगीको आरोग्यता, कैदीको निर्मुक्ति और आशार्थीको आशासाफल्यकी प्राप्ति होती है।

(६) **दानफल रविवारव्रत** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत आश्विनके शुक्ल रविवारसे माघकी शुक्ल सप्तमीतक किया जाता है। विधि यह है कि प्रातःस्नानादिके पश्चात् '**ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः। केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः॥**' से सूर्यका ध्यान करके सुवर्णकी सूर्यमूर्तिको पद्मासनपर विराजमानकर '**जगन्नाथाय आवाहनम्, पद्मासनाय आसनम्, ग्रहपतये पाद्यम्, त्रैलोक्यतमोहर्त्रे अर्घ्यम्, मित्राय आचमनीयम्, विश्वतेजसे पंचामृतम्, सवित्रे स्नानम्, जगत्पतये वस्त्रम्, त्रिमूर्तये यज्ञोपवीतम्, हरये गन्धम्, सूर्याय अक्षतानि, भास्कराय पुष्पाणि, अहर्पतये धूपम्, अज्ञाननाशिने दीपम्, लोकेशाय नैवेद्यम्, रवये ताम्बूलम्, भानवे दक्षिणाम्, पुष्णे फलम्, खगाय नीराजनम्, भास्कराय पुष्पांजलिम्** और **सर्वात्मने नमः प्रदक्षिणां समर्पयामि।** ('**नमः**' और '**समर्पयामि**' का सब नामोंके साथ उच्चारण करना चाहिये।) इस प्रकार पूजन करके '**दिवाकर नमस्तुभ्यं पापं नाशय भास्कर। त्रयीमयाय विश्वात्मन् गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' से अर्घ्य दे। फिर प्रथम वर्षमें ५ प्रस्थ (लगभग १० किलो) चावल; दूसरेमें ५ प्रस्थ गेहूँ, तीसरेमें ५ प्रस्थ चने, चौथेमें ५ प्रस्थ तिल और पाँचवेंमें ५ प्रस्थ उड़दोंका दान करे और १२ ब्राह्मणोंको भोजन करावे तो इस व्रतके प्रभावसे समृद्धि-वृद्धि और स्त्री-पुत्रादिका सुख मिलता है।

(७) **वैदिक रविवारव्रत** (हंसकल्प)—रविवारके दिन

प्रातःस्नानादिके पश्चात् '**तिथिर्विष्णुस्तथा वारं नक्षत्रं विष्णुरेव च। योगश्च करणं विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥**' से पंचांगरूप विष्णुका स्मरण करके सूर्यके सम्मुख नतमस्तक हो और अंजलि बाँधकर नीचे लिखे मन्त्रोंका उच्चारण करता हुआ साष्टांग* (सम्पूर्ण शरीरको पृथ्वीपर फैलाकर) नमस्कार करे। यथा **ॐ ह्रां हंसः, शुचिषन्मित्राय नमः। ॐ ह्रीं वसुरन्तरिक्षसत् रवये नमः। ॐ ह्रूं होतावेदिसत् सूर्याय नमः। ॐ ह्रैं अतिथिर्हुरोणसत् भानवे नमः। ॐ ह्रौं नृषत् खगाय नमः। ॐ ह्रः वरसत् पूष्णे नमः। ॐ ह्रां ऋतसत् हिरण्यगर्भाय नमः। ॐ ह्रीं व्योमसत् मरीचये नमः। ॐ ह्रूं अब्जागोजा आदित्याय नमः। ॐ ह्रैं ऋतजाद्रिजाः सवित्रे नमः। ॐ ह्रौं ऋतमोम् अर्काय नमः** और **ॐ ह्रः बृहदोम् भास्कराय नमः।** इस प्रकार जितनी आवृत्ति की जा सके, करे। फिर १ **घृणिः सूर्य आदित्योम्**, २ **महाश्वेताय ह्रीं ह्रीं सः।** ३ **खखोल्काय नमः** और ४ **ह्रीं ह्रीं सः सूर्यायेति**। इन चार मन्त्रोंमेंसे किसी एकका यथासामर्थ्य जप करके नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे। इस प्रकार एक वर्ष करके समाप्तिके दिन सूर्योपासक वेदपाठी ब्राह्मणोंको भोजन करावे और फिर स्वयं भोजन करके व्रतका विसर्जन करे।

(८) **हृदयरविवारव्रत** (भविष्योत्तर)—यदि सूर्यसंक्रान्तिके दिन रविवार हो तो वह 'हृदय' योग होता है। ऐसे योगमें सूर्य-भगवान्का भक्तिपूर्वक पूजन और व्रत करके सूर्यके सम्मुख खड़ा होकर आदित्यहृदयके १०८ पाठ करे तो सम्पूर्ण काम सिद्ध होते हैं।

(९) **सोमवारव्रत** (स्कन्दपुराण)—यह व्रत चैत्र, वैशाख,

---

* उरसा शिरसा दृष्ट्या मनसा वचसा तथा।
पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यां प्रणामोऽष्टांग ईरितः॥ (तन्त्रसार)

श्रावण, कार्तिक और मार्गशीर्षमासमें किया जाता है। विशेषकर श्रावणके व्रतका अधिक प्रचार है। व्रतीको चाहिये कि सोमवारके दिन प्रातःस्नान करके '**मम क्षेमस्थैर्यविजयारोग्यैश्वर्याभिवृद्ध्यर्थं सोमव्रतं करिष्ये।**' यह संकल्प करके '**ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं रत्नाकल्पोज्ज्वलांगं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्। पद्मासीनं समन्तात्स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥**' से ध्यान करे। फिर '**ॐ नमः शिवाय**' से शिवजीका और '**ॐ नमः शिवायै**' से पार्वतीजीका षोडशोपचार पूजन करके समीपके किसी पुष्पोद्यानमें जाकर एकभुक्त भोजन करे। इस प्रकार १४ वर्षतक व्रत करके फिर उद्यापन करे तो इससे पुरुषोंको स्त्री-पुत्रादिका और स्त्रियोंको पति-पुत्रादिका अखण्ड सुख मिलता है। प्राचीन कालमें विचित्रवर्माकी पुत्री सीमन्तिनीका पति (नलपुत्र) चित्रांगद नावके उलट जानेसे जलमें डूबकर नागलोकमें चला गया था। वह इसी व्रतके प्रभावसे वापस आकर विचित्रवर्माका उत्तराधिकारी हुआ और बहुत वर्षोंतक राज्य करके स्वर्गमें गया।

(१०) **अर्थप्रद सोमवारव्रत** (स्कन्दपुराण)—जिस दिन व्रत करनेकी श्रद्धा हो, उस दिन सब सामग्री जुटाकर, स्नान करके, सफेद वस्त्र धारणकर काम-क्रोधादिका त्याग करे और सुगन्धयुक्त श्वेत पुष्प लाकर मलयनाथका पूजन करे। नैवेद्यमें अभीष्ट अन्नके बने हुए पदार्थ अर्पण करे। फिर '**ॐ नमो दशभुजाय त्रिनेत्राय पंचवदनाय शूलिने। श्वेतवृषभारूढाय सर्वाभरणभूषिताय। उमादेहार्धस्थाय नमस्ते सर्वमूर्तये।**'—इन मन्त्रोंसे पूजा करे और इन्हींसे हवन करे। ऐसा करनेसे सम्पूर्ण कार्य सिद्ध होते हैं। ग्रहणादिमें जप-ध्यान, उपासना और दान

करने आदि सत्कार्योंसे जो फल मिलता है, वही इस सोमवारके व्रतसे मिलता है। इसके विषयमें मार्गशीर्षके व्रतका फल ऊपर लिखे अनुसार जानना चाहिये। आगे पौषमें अग्निष्टोम यज्ञके समान, माघमें गोदुग्ध और इक्षुरससे स्नान करके ब्रह्महत्यादिसे निवृत्त होनेके समान, फाल्गुनमें सूर्यादिके ग्रहणोंमें गोदान करनेके समान, चैत्रमें गंगाजलसे सोमनाथको स्नान करानेके समान, वैशाखमें अपूपादिसे पूजनकर कन्यादान करनेके समान, ज्येष्ठमें पुष्करस्नान करके गोदान करनेके समान, आषाढ़में बृहद् यज्ञोंके समान, श्रावणमें अश्वमेधके समान, भाद्रपदमें सवत्स गोदान करनेके समान, आश्विनमें सूर्योपरागके समय कुरुक्षेत्रमें रसधेनु और गुड़धेनु देनेके समान और कार्तिकमें चारों वेदोंके पढ़े हुए चार पण्डितोंको चार-चार घोड़े जुते हुए रथ देनेके समान फल होता है। भाव यह है कि किसी भी महीनेमें सोमवारका व्रत किया जाय तो वह निष्फल नहीं होता।

(११) श्रावणमासीय सोमवारव्रत (शिवरहस्य)—श्रावण मासके सोमवारोंमें केदारनाथ जाकर उनका अनेक प्रकारके गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यादि उपचारोंसे पूजन करे और शक्ति हो तो निराहार उपवास करे। शक्ति न हो तो नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे। इससे शिवजी प्रसन्न होते हैं और शिवसायुज्य प्रदान करते हैं।

(१२) भौमवारव्रत (वीरमित्रोदय)—भौमवारके दिन स्वातिनक्षत्र हो तो उस दिन प्रातःस्नानादि करके भौमकी मूर्तिका लाल पुष्पोंसे पूजन करे; लाल वस्त्रसे आच्छादित करे; गुड़, घी और गोधूमका नैवेद्य भोग लगावे। नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे और भूशयन करे। इस प्रकार छः भौमवार करके सातवेंको भौमकी सुवर्णमयी मूर्तिका पूजन करे। दो लाल

वस्त्रोंसे आच्छादित करे। लाल गन्धका लेपन करे। धूप, पुष्प, अक्षत और दीपक रखे तथा सफेद कसारका भोग लगाये। घी, चीनी और तिलोंका '**ॐ कुजाय नमः स्वाहा**' से हवन करे। पूजनके पश्चात् ब्राह्मणको भोजन कराकर मूर्ति आदि उसको दे तो भौमजनित सब दोष शान्त होते हैं और अनेक प्रकारके सुखोंकी उपलब्धि होती है।

(१३) भौमव्रत (भविष्यपुराण)—मंगलवारके दिन सुवर्णमय भौमका ताम्रपात्रमें स्थापन करके पूजन करे। ताँबेके पात्रको गुड़से भरकर प्रत्येक मंगलवारको दान करता रहे और वर्षकी समाप्तिमें यथाविधि गोदान करे तो परम सुखकी प्राप्ति होती है।

(१४) भौमव्रत २ (पद्मपुराण)—मंगलवारके दिन प्रातःस्नानादि करके ताँबेके त्रिकोण पत्रमें केशर, चन्दन या लाल चन्दनसे मध्यमें भौमाकृतिका प्रतिबिम्ब बनाकर तीनों कोणोंमें आर, वक्र और भूमिज—ये तीनों नाम लिखे। फिर उनका लाल वर्णके गन्ध, पुष्प और लाल कमल आदिसे पूजन करे। रक्तधान्य (गेहूँ आदि)-के बने हुए पदार्थोंका नैवेद्य अर्पण करे और '**प्रसीद देवदेवेश विघ्नहर्तर्धनप्रद। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं मम शान्तिं प्रयच्छ हे॥**' से अर्घ्य देकर व्रत करे एवं '**मंगलो**[१] **भूमिपुत्रश्च**[२] **ऋणहर्ता**[३] **धनप्रदः**[४]**। स्थिरासनो**[५] **महाकायः**[६] **सर्वकामार्थसाधकः**[७]**॥ लोहितो**[८] **लोहिताक्षश्च**[९] **सामगानां**[१०] **कृपाकरः। धरात्मजः**[११] **कुजो**[१२] **भौमो**[१३] **भूमिजो**[१४] **भूमिनन्दनः**[१५] **॥ अंगारको**[१६] **यमश्चैव**[१७] **सर्वरोगापहारकः**[१८]**। वृष्टिकर्ताऽपहर्ता**[१९] **च**[२०] **सर्वकामफलप्रदः**[२१] **॥**'—इन २१ नामोंका पाठ करे तो सब प्रकारके ऋणसे उऋण होकर धनवान् होता है।

(१५) भौमव्रत ३ (पद्मपुराण)—मंगलवारके दिन लाल अक्षतोंके अष्टदलपर सुवर्णमय भौमकी मूर्ति स्थापित करके लाल रंगके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और '**भूमिपुत्रो महातेजाः**

कुमारो रक्तवस्त्रकः। गृहाणार्घ्यं मया दत्तमृणशान्तिं प्रयच्छ हे॥' से अर्घ्य दे तथा पूजनके स्थानमें चार बत्तियोंका दीपक जलावे। ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उनको यथाशक्ति सुवर्णका दान करे और स्वयं किसी एक पदार्थका भोजन करके एकभुक्त व्रत करे तथा वायनमें लाल बैलका दान करे। इस प्रकार इक्कीस व्रत करके उद्यापन करनेसे सब प्रकारकी आपदाएँ नष्ट होकर सुख मिलता है और जीवनपर्यन्त पुत्र-पौत्र और धनादिसे युक्त रहकर अन्तमें सूर्यादिके लोकमें चला जाता है। (अधिकांश मनुष्य मंगलवारके दिन किसी भी समय और किसी भी पदार्थका भोजन करके इस व्रतको सम्पन्न करते हैं)।

(१६) बुधव्रत (भविष्योत्तर)—आरम्भके व्रतमें विशाखायुक्त बुधवारको प्रातःस्नानादि करके बुधकी सुवर्णमयी मूर्तिको कांस्यपात्रमें स्थापन करके सुगन्धयुक्त गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। दो सफेद वस्त्र धारण करावे। गुड़, दही और भातका नैवेद्य अर्पण करके उसी पदार्थका ब्राह्मणोंको भोजन करावे और '**बुध त्वं बुद्धिजनको बोधदः सर्वदा नृणाम्। तत्त्वावबोधं कुरुषे सोमपुत्र नमो नमः॥**' से बुधकी प्रार्थना करे। इस प्रकार सात व्रत करनेसे बुधजनित सम्पूर्ण दोष दूर होकर सुख-शान्ति मिलती है और बुद्धि बढ़ती है।

(१७) गुरुव्रत (भविष्यपुराण)—किसी महीनेके शुक्ल पक्षमें जिस दिन अनुराधा और गुरुवार हो उस दिन बृहस्पतिकी सुवर्णनिर्मित मूर्तिको सोनेके पात्रमें स्थापित करके पीतवर्णके गन्ध-पुष्प, पीताम्बर और अक्षतादिसे पूजन करे। छत्र, उपानह्, पादुका और कमण्डलु अर्पण करे। फिर पीतरंगके फल-पुष्प और यज्ञोपवीत ग्रहण करके '**धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ ज्ञानविज्ञानपारग। विविधार्तिहराचिन्त्य देवाचार्य नमोऽस्तु ते॥**' से प्रार्थना करके

ब्राह्मणोंको पीली गौके घीमें बनाये हुए पीतधान्य (चने)-के पदार्थोंका भोजन करावे, सुवर्णकी दक्षिणा दे और फिर स्वयं भोजन करे। इस प्रकार सात व्रत करनेसे गुरुग्रहसे उत्पन्न होनेवाला अनिष्ट नष्ट होकर स्थायी सुख मिलता है।

(१८) शुक्रवारव्रत (भविष्योत्तरपुराण)—शुक्रवार और ज्येष्ठा नक्षत्रके योगमें सुवर्णनिर्मित शुक्रमूर्तिको चाँदी या काँसीके पात्रमें स्थापित करके सुश्वेत गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। दो सफेद वस्त्र धारण करावे और '**भार्गवो भृगुशिष्यो वा श्रुतिस्मृतिविशारदः। हत्वा ग्रहकृतान् दोषानायुरारोग्यदो भव॥**' से प्रार्थना करके नक्तव्रत (रात्रि-भोजन) करे। इस प्रकार सात शुक्रवारोंका व्रत करके शुक्रके नाममन्त्रसे हवन करे। ब्राह्मणोंको खीरका भोजन कराकर मूर्तिसहित पूजन-सामग्रीका दान करे और नक्तव्रत करके उसे समाप्त करे तो शुक्रजनित सम्पूर्ण व्याधियाँ शान्त होकर सब प्रकारका सुख मिलता है।

(१९) अनिष्टहर शनिव्रत (भविष्योत्तरपुराण)—शनिवारको लोहमयी शनिमूर्तिका कृष्ण वर्णके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके व्रत करे तो चतुर्थाष्टमद्वादशस्थशनिजनित सकलारिष्टोंकी निवृत्ति और सुख-सम्पत्ति आदिकी प्रवृत्ति होती है।

(२०) सराहुकेतुशनिवारव्रत (मत्स्यपुराण, भविष्यपुराण)—इस व्रतके लिये लोह और शीशेकी शनि, राहु और केतुकी तीन मूर्तियाँ बनवावे[१]। उनमें कृष्ण[२] वर्ण, कृष्ण वस्त्र, दो भुजाओंमें

---

१. शनैश्चरं राहुकेतू लोहपात्रे व्यवस्थितान्।
कृष्णागुरुः स्मृतो धूपो दक्षिणा चात्मशक्तितः॥ (भविष्योत्तर)

२. कृष्णवासास्तथा कृष्णः शनिः कार्यः शिराततः।
दण्डाक्षमालासंयुक्तः करद्वितयभूषणः।
कार्ष्णायसे रथे कार्यस्तथैवाष्टमतुरंगमे॥ (भविष्योत्तर)

दण्ड और अक्षमाला, कृष्ण वर्णके आठ घोड़ोंवाले शीशेके रथमें बैठे हुए शनि; करालवदन[1], खंग, चर्म और शूलसे युक्त, नीले सिंहासनमें विराजमान, वरप्रद राहु और धूम्रवर्ण,[2] भुजदण्डोंमें गदादि आयुध, गृध्रासनपर विराजे हुए विकटानन और वरप्रद 'केतु' की मूर्ति हो। ऐसी न हो तो गोलाकार बनवावे। फिर उनको कृष्ण वर्णके अक्षतोंसे बनाये हुए चौबीस दलके कमलपर मध्यमें शनि, दक्षिण भागमें राहु और वाम भागमें केतुको स्थापित करे तथा कृष्ण वर्णके गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। रक्त चन्दनमें केशर मिलाकर 'कृष्ण गन्ध', अक्षतोंमें कज्जल मिलाकर 'कृष्ण अक्षत', काकमाची (कागलहर)-के 'कृष्ण पुष्प', कस्तूरी आदिका 'कृष्णरंग धूप' और तिलविशिष्ट पदार्थोंका 'कृष्ण नैवेद्य' सम्पन्न करके अर्पण करे एवं '**शनैश्चर नमस्तुभ्यं नमस्ते त्वथ राहवे।**' '**केतवेऽथ नमस्तुभ्यं सर्वशान्तिप्रदो भव॥**' से प्रार्थना करके व्रत करे। इस प्रकार सात शनिवारोंका व्रत करके शनिके निमित्त '**शन्नोदेवी०**' मन्त्रसे शमीकी समिधाओंमें, राहुके निमित्त '**कयानश्चि०**' मन्त्रसे दूर्वाकी समिधाओंमें और केतुके निमित्त '**केतुकृण्वन्न०**' मन्त्रसे कुशकी समिधाओंमें कृष्ण गौके घी और काले तिलोंकी प्रत्येककी १०८ आहुति देकर हवन करे। फिर यथाशक्ति ब्राह्मणभोजन कराकर व्रतका विसर्जन करे तो सब प्रकारके अरिष्ट, कष्ट या आधि-व्याधियोंका सर्वथा नाश होता है और अनेक प्रकारके सुखसाधन एवं पुत्र-पौत्रादिका सुख प्राप्त होता है।

---

१. करालवदनः खड्गचर्मशूली वरप्रदः।
नीलसिंहासनयुतो राहुरत्र प्रशस्यते॥ (मत्स्यपुराण)

२. धूम्राद्बाहवः सर्वे गदिनो विकटाननाः।
गृध्रासनगता नित्यं केतवः स्युर्वरप्रदाः॥ (मत्स्यपुराण)

(२१) शान्तिप्रद शनिव्रत (मदनरत्न)—श्रावणके महीनेमें श्रेष्ठ शनिवारके दिन लोहनिर्मित शनिको पंचामृतसे स्नान कराकर अनेक प्रकारके गन्ध, पुष्प, अष्टांग धूप, फल और उत्तम प्रकारके नैवेद्य आदि उपचारोंसे पूजन करे तथा '**कोणस्थः*** **पिंगलो॰**' आदि दस नामोंका उच्चारण करके पहले शनिवारको उड़दोंका भात और दही, दूसरेको केवल खीर, तीसरेको खजला और चौथेको घृतपक्व पूरियोंका नैवेद्य अर्पण करे और तिल, यव (जौ), उड़द, गुड़, लोह और नीले वस्त्रोंका दान करके व्रतका विसर्जन करे तो शनि, राहु और केतुकृत दोष दूर होते हैं।

(६) तिथि-वारादि पंचांगव्रत

(२२) तिथि-वार-नक्षत्रव्रत (कालोत्तरागम)—किसी भी महीनेमें १—चतुर्दशी, रविवार और रेवती हो या अष्टमी और मघा हो तो 'रविव्रत' करके अनेक प्रकारके गन्ध-पुष्पादिसे शिवजीका पूजन कर तिलोंका प्राशन करे तो पुत्रादिसहित आरोग्य रहे। २—अष्टमी, सोमवार और रोहिणी हो तो शिवपूजन करके घी-खीरका भोजन कर 'सोमव्रत' करे तो सम्पूर्ण कामोंमें सफलता मिले। ३—चतुर्दशी, मंगलवार और अश्विनी हो या मंगलवार और भरणी हो तो शिवजीका पंचोपचार पूजन करके रक्तोत्पल (लाल कमल)-का प्राशन कर 'भौमव्रत' करे तो साम्राज्य मिले। ४—चतुर्दशी, बुधवार और रोहिणी हो या बुधाष्टमी हो तो महाभिषेकसे शिव-पूजन करके घी-खीरका भोजन कर 'बुधव्रत' करे तो धन, पुत्र, दारा (स्त्री) और पशुओंकी वृद्धि हो। ५—चतुर्दशी, गुरुवार और रेवती हो

---

* कोणस्थः पिंगलो बभ्रुः कृष्णो रौद्रोऽन्तको यमः।
सौरिः शनैश्चरो मन्दः प्रीयतां मे ग्रहोत्तमः॥

या अष्टमी और पुष्य हो तो शिवका पूजन करके गोघृतके योगसे ब्राह्मी रसका प्राशन करे तो वागीशत्वकी प्राप्ति हो। ६—चतुर्दशी, भृगुवार और श्रवण हो या अष्टमी और पुनर्वसु हो तो शिवपूजन करके 'शुक्रव्रत' के निमित्त शहदका प्राशन करे तो महाफल मिले। ७—चतुर्दशी, शनिवारको भरणी या अष्टमी और आर्द्रा हो तो पूर्वोक्त प्रकारसे शिवपूजन करके 'शनिव्रत' के निमित्त सस्य (अन्न)-का भोजन करे तो सर्वोत्तम फलकी प्राप्ति हो। सूर्यादिमें जो अनिष्टकारी हों या जिनका व्रत अभीष्ट हो, उपर्युक्त प्रकारके योगमें उनका व्रत करे और सोना, चाँदी, मूँगा, मोती, शंख और लोह—इनको यथोचित प्रकारसे यथायोग्य धारण करे।

(२३) **नक्षत्रव्रत** (भविष्यपुराण)—लोकहित अथवा आत्मोद्धारके निमित्तसे अश्विनी आदि नक्षत्रोंका या तदधिष्ठातृ अश्विनीकुमारादि देवोंका व्रत करना हो तो १—अश्विनीमें अश्विनीकुमारोंका, २—भरणीमें यमका, ३—कृत्तिकामें अग्निका, ४—रोहिणीमें ब्रह्माका, ५—मृगशिरामें चन्द्रमाका, ६—आर्द्रामें शिवका, ७—पुनर्वसुमें अदिति (देवताओंकी माता)-का, ८—पुष्यमें बृहस्पतिका, ९—श्लेषामें सर्पका, १०—मघामें पितरोंका, ११—पूर्वाफाल्गुनीमें भगका, १२—उत्तराफाल्गुनीमें अर्यमाका, १३—हस्तमें सूर्यका, १४—चित्रामें त्वष्टा (इन्द्र)-का, १५—स्वातीमें वायुका, १६—विशाखामें इन्द्र और अग्निका, १७—अनुराधामें मित्रका, १८—ज्येष्ठामें इन्द्रका, १९—मूलमें राक्षसोंका, २०—पूर्वाषाढामें जलका, २१—उत्तराषाढामें विश्वेदेवोंका, २२—अभिजित्‌में ब्रह्माका, २३—श्रवणमें विष्णुका, २४—धनिष्ठामें वसुका, २५—शतभिषामें वरुणका, २६—पूर्वाभाद्रपदीमें अजैकपादका, २७—उत्तराभाद्रपदीमें अहिर्बुध्न्यका और २८—रेवतीमें पूषाका

उत्तम प्रकारके गन्ध, पुष्प, फल, भक्ष्य, भोज्य और दूध, दही आदिसे पूजन करे एवं एकभुक्त या नक्तव्रत करे तो धन, दारा, सुत, सम्मान, आरोग्यता और आयुवृद्धि आदि सुख प्राप्त होते हैं।

(२४) योगव्रत (हेमाद्रि)—तिथि, वार और नक्षत्रोंके साथ विष्कुम्भादिका सहयोग होनेसे विशेष प्रकारके शुभाशुभ प्राप्त होते हैं। उनकी शान्ति और उपलब्धिके लिये योगोंके व्रत और दान आवश्यक होते हैं। व्रतीको चाहिये कि अभीष्ट योगके दिन साक्षात् सूर्यका अथवा सुवर्णनिर्मित सूर्यमूर्तिका पंचोपचारसे पूजन करके व्रत करे और अभीष्ट योगके पदार्थोंका दान करे। पदार्थ ये हैं—विष्कुम्भमें घी, प्रीतिमें तैल, आयुष्मान्‌में फल, सौभाग्यमें गन्ने, शोभनमें जौ, अतिगण्डमें गेहूँ, सुकर्मामें चने, धृतिमें निष्पाव (हलवा), शूलमें शालि (चावल), गण्डमें लवण, वृद्धिमें दही, ध्रुवमें दूध, व्याघातमें वस्त्र, हर्षणमें सुवर्ण, वज्रमें कम्बल, सिद्धिमें गौ, व्यतीपातमें वृष, वरीयान्‌में क्षेत्र, परिघमें दो उपानह् (जूते), शिवमें कपूर, सिद्धमें कुंकुम, साध्यमें चन्दन, शुभमें पुष्प, शुक्लमें लोह, ब्रह्ममें ताँबा, ऐन्द्रमें काँसी और वैधृत्यमें चाँदी दे तो यथोचित फल होता है।

(२५) व्यतीपातव्रत (वाराहपुराण)—ऊपरके परिलेखमें इस योगका नाम आया है। ज्यौतिषशास्त्रके अनुसार सूर्य और चन्द्रमाके गणितसे व्यतीपातका आरम्भ और समाप्ति सूचित होते हैं। पुराणोंमें इसकी उत्पत्ति सूर्य और चन्द्रमाके क्रोधपातसे प्रकट की गयी है। लिखा है कि एक बार सूर्यनारायणने चन्द्रमाको गुरुपत्नी (तारा)-के त्यागकी आज्ञा दी, उसको शशिने स्वीकार नहीं किया, इस कारण दोनोंके परस्पर क्रोध बढ़ गया और उसके संतप्त अश्रु पृथ्वीपर गिर गये। उनसे व्यतीपात उत्पन्न

हुआ। यही कारण है कि क्रोधपातसे उत्पन्न होनेके कारण विवाहादि शुभ कामोंमें इसका त्याग किया गया है और लोकोपकार एवं आत्मोद्धारके दान-पुण्य और व्रतादिमें इसका ग्रहण किया गया है। व्रतीको चाहिये कि किसी शुभ दिनके व्यतीपातको प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होकर '**मम करिष्यमाणोपवास-जनितानन्तफलप्राप्तिकामनया सवितृप्रीतये व्यतीपातव्रतं करिष्ये।**'—यह संकल्प करके सुवर्णके सूर्य और चन्द्रमाको शक्करसे भरे हुए कलशके शीर्षस्थानीय पूर्णपात्रमें स्थापित करे और आवाहनादि उपचारोंसे पूजन करके उपवास करे। दूसरे दिन पारण करके प्रथमावृत्ति समाप्त करे। इस प्रकार बारह महीनेतक प्रत्येक व्यतीपातका व्रत करके तेरहवीं आवृत्तिके दिन उद्यापन करे। उसमें सर्वतोभद्र-मण्डलपर सुवर्णमय विष्णुका पूजन, तिलादिका हवन, गौ, शय्या, सुवर्ण, अन्न, धन, आभूषण और यथोचित वस्त्र आदिका दान करके खीर आदि पदार्थोंसे ब्राह्मणोंको भोजन कराकर और यथासामर्थ्य दक्षिणा देकर व्रतको समाप्त करे एवं बन्धुवर्गादिको साथ लेकर भोजन करे तो गंगादि तीर्थों, कुरुक्षेत्रादि सुक्षेत्रों और अयोध्या आदि पुरियोंमें ग्रहण, संक्रान्ति, मलमास और पंचांगजनित सुयोगोंके समय दान, जप और व्रतादि करनेसे जो फल होता है उससे अनेक गुना अधिक फल व्यतीपातके व्रतादिसे होता है। इसकी कथाका सार यह है कि प्राचीन कालमें हर्यश्व राजाने बहुत दिनोंतक उक्त व्रत किया था। एक बार उसने शिकारके प्रयोजनसे गहन वनमें जाकर जले हुए अंगवाले एक शूकरसे पूछा कि 'तुम्हारी यह दशा कैसे हुई?' तब उसने कहा कि पूर्व जन्ममें मैं पुराणादि धर्मशास्त्रोंको सुनानेवाला महाधनी वैश्य था। परंतु किसीको कुछ देता न था। ऐसी अवस्थामें एक आशार्थी ब्राह्मणने मुझसे याचना की तो मैंने

उसे कुछ भी नहीं दिया, तब उसने कहा कि तुमने मेरी आशाओंको जलाया है, इस कारण आगे तुम्हारे भी ये अंग जल जायँगे। इसी कारण मेरी यह दशा हुई है। अब यदि आप अपने किये हुए व्यतीपातके व्रतोंका फल मुझे दे दें तो मैं अपनी पूर्व अवस्थाको प्राप्त हो सकता हूँ। तब राजाने वैसा ही किया और शूकर यथापूर्व होकर सुख भोगने लगा।

(२६) करणव्रत (हेमाद्रि)—माघ शुक्लमें बवकरण हो, उस दिन उपवास करके ताँबेके पात्रमें तण्डुल भरकर उनपर कलश स्थापन करे और उसके पूर्णपात्रमें सुवर्णकी बनी हुई अच्युतभगवान्‌की मूर्ति रखकर उसका गन्धादि उपचारोंसे पूजन करके अष्टाक्षर (**ॐ नमो नारायणाय**) मन्त्रका जप करे। इस प्रकार छः बार करके सातवेंमें उद्यापन करे। उसमें सात ब्राह्मणोंको भोजन कराकर दक्षिणा दे और इसी प्रकार बालव आदि शेष करणोंके व्रत भी करे तो यज्ञसम फल होता है।

(२७) भद्राव्रत (भविष्योत्तर)—बवादि करणोंमें ग्यारहवाँ करण भद्रा है। इसमें प्रायः सभी प्रकारके मंगल और महोत्सवादि न तो आरम्भ होते हैं और न समाप्त। यदि प्रमादवश किये जायँ तो उनमें बड़े विघ्न होते हैं और वे दुःखदायी बन जाते हैं। पुराणोंमें भद्राको मार्तण्ड (सूर्य)-की पुत्री और शनिकी बहिन नियत की है और सब प्रकारके मांगलिक या अभ्युदयकारी कामोंमें इसकी उपस्थिति निषिद्ध बतलायी है। विशेषता यह है कि इसके निमित्तसे जो कुछ व्रत-दान या जपादि किये जायँ उनका उत्तम फल होता है। व्रतीको चाहिये कि जिस दिन उदयकी भद्रा हो उस दिन नदी, तालाब या गृहमध्यमें सर्वौषधिके जलसे स्नान करके देवताओंका पूजन और पितरोंका श्राद्ध (मातृका-पूजन और आभ्युदयिक श्राद्ध) करे। तत्पश्चात् भीगी

हुई कुशा (डाभ)-की त्रिकोण (या तीन ग्रन्थि) युक्त भद्रा बनाकर उसको अक्षतोंके अष्टदलपर विराजमान कर ऋतुकालके गन्ध, पुष्प, फल, धूप, दीप और तिलप्रयुक्त खीरके नैवेद्य आदिसे पूजन करके '**छायासूर्यसुते देवि विष्टे इष्टार्थनाशिनि। पूजितासि मया शक्त्या भद्रे भद्रप्रदा भव॥**' से प्रार्थना करे। फिर घी, तिल और शर्करासे '**ॐ भद्रं कर्णेभिः**' या '**ॐ भद्राय नमः**'—इन मन्त्रोंकी १०८ आहुति देकर ब्राह्मणोंको तिल और खीरका भोजन कराकर दक्षिणा दे और स्वयं तेल और खिचड़ीका एकभुक्त भोजन करे। इस प्रकार सात या दस बार क्रमशः करके उद्यापन करे तो व्रतीको भूत-प्रेत-पिशाचादिसे कोई भय नहीं हो और न अन्य प्रकारकी रोग-पीड़ा या भय-चिन्ता आदिकी बाधा हो।

(२८) विष्टिव्रत (भविष्योत्तर)—मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थीको प्रातःस्नानादिके अनन्तर '**भद्रे भद्राय भद्रं हि करिष्ये व्रतमेव ते। निर्विघ्नं कुरु मे देवि कार्यसिद्धिं च भावय॥**'—यह संकल्प करके विद्वान् ब्राह्मणका पूजन करे। साथ ही लौह, पाषाण या काष्ठकी भद्रा बनवाकर उसे अष्टदलके आसनपर प्रतिष्ठित करे और पूर्वोक्त प्रकारसे पूजन, हवन, ब्राह्मणभोजन तथा दान आदि करके व्रत करे। इस प्रकार वर्षपर्यन्त करनेके पश्चात् उद्यापन करके विसर्जन करे। उस अवसरमें '**अज्ञानादथ वा दर्पात् त्वामुल्लङ्घ्यं कृतं हि यत्। तत् क्षमस्वाशुभं मातर्दीनस्य शरणार्थिनः॥**' से प्रार्थना करके ब्राह्मणके किये हुए अभिषेकसे अभिषिक्त हो तो सब प्रकारकी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं एवं उत्तम प्रकारके सुख और उनके साधन उपस्थित रहते हैं। इस व्रतको वृत्रासुरको मारनेके लिये इन्द्रने, त्रिपुरासुरको मारनेके लिये शिवने, विमानके लिये वरुणने और पांचजन्य

(शंख)-के लिये विष्णुने किया था। इससे उनके सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हुए थे।

(७) प्रकीर्णव्रत

(२९) मौनव्रत (शिवधर्म)—इसके निमित्त चन्दनकी शिवमूर्ति (अण्डाकार शिवलिंग) बनवावे। उसका गोमय, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत और गोलोचन नामकी औषधके जलसे प्रोक्षण करे। फिर शिव-मन्दिरके शान्तिकारी एकान्तस्थानमें शुभासनपर बैठकर सुगन्धयुक्त गन्ध, पुष्प, गोरोचन, धूप, दीप, नैवेद्य और नीराजनादिसे पूजन करके हाथ, पैर और मस्तकको भूमिमें लगाकर प्रणाम करे। यदि सामर्थ्य हो तो मन्दिरके मध्य भागमें शिवजीके आगे सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, काँसी और लौह—इनमेंसे किसी भी धातुका या सबके यथोचित योगका विजयघंट बनवाकर लगावे। तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको घी, सज्जी और मण्डक (रोटीविशेष)-का भोजन करवाकर दक्षिणा दे और चन्दनकी उक्त मूर्तिको ताम्रपात्रमें स्थापित कर मस्तकपर धारण करके घर आवे और वहाँ उसको मध्यस्थ देवके दक्षिण भागमें प्रतिष्ठित करके गन्ध-पुष्पादिसे पुनः पूजन करे। इसके बाद काम-क्रोधादिका त्याग करके स्थिरासनसे उपविष्ट होकर (भलीभाँति बैठकर) 'मौनव्रत' धारण करे। उस अवस्थामें किसी प्रकारके शब्द-संकेत या बातचीतको सुनकर 'हाँ-हाँ, हूँ-हूँ'-जैसे (स्वीकृति और निषेधके) अक्षरोंका उच्चारण भी न होने दे। ऐसा हो जाय मानो नेत्रोंसे कोई भी दृश्य दीखता नहीं (या देखना नहीं) और कानोंसे कोई शब्द सुनता नहीं (या सुनना नहीं)। इस प्रकार बारह, छः, तीन या एक महीने अथवा इससे भी कम पंद्रह, बारह, छः, तीन या एक दिन—जैसी सामर्थ्य और अवकाश हो, वैसा ही व्रत करे तो सब प्रकारके अभिलषित अर्थ स्वतः सिद्ध

हो जाते हैं और शरीरकी बाह्य तथा आभ्यन्तरिक दोनों परिस्थितियाँ महत्त्वसम्पन्न बन जाती हैं। ऋषि-मुनियोंने इसी मौनव्रतके प्रभावसे शास्त्ररचनाके द्वारा संसारका महान् उपकार किया था और अमिट तपोधनका अमित संचय करके स्वर्गमें गये थे।

(३०) शत्रुनाशकव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—जिस दिन भरणी या कृत्तिका हो, उस दिन श्वेत रंगके गन्धयुक्त गन्ध-पुष्पादिसे वासुदेवका पूजन करके सर्षपका हवन करे और ब्राह्मणोंको भोजन, वस्त्र और आयुध देकर व्रत करे तो मनुष्य विजयी होता है।

(३१) लक्षपूजाव्रत (ब्रह्माण्डपुराण)—किसी महीनेकी कृष्ण चतुर्दशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् रात्रिके आरम्भमें पुनः स्नान करके यथोचित[१] गुणोंसे युक्त और वर्जित[२] दोषोंसे विमुक्त विद्वान्‌का वरण कर स्त्री और पुत्रसहित पूजाका आरम्भ करे। उसके लिये मालती, केतकी, चमेली, टेसू (पलास-कुसुम), पाटल (गुलाब) और कदम्ब आदिके जितने पुष्प मिल सकें लाकर सुविधाके स्थानमें रख दे तथा विविध प्रकारके अन्न और अखण्डित अक्षत (चावल) लेकर साम्ब शिवका विधिवत् पूजन करे एवं '**ॐ नमः शिवाय**' के उच्चारणके साथ एक-एक पुष्प उनके अर्पण करे। उनमें दस-दस हजारकी दस आवृत्तियाँ करके प्रत्येक आवृत्तिके पश्चात् स्वर्ण-पुष्प अर्पण करे। इस प्रकार एक

---

१. धर्मज्ञं दोषरहितं संतुष्टं परिपूज्य च।
आचार्यं वरयेत् प्राज्ञः सुस्नातो भूषितो व्रती॥ (ईश्वर)

२. ह्रस्वं च वृषलं दीनमतिदीर्घजटं तथा।
देवतानभिसक्तं च बधिरं.........॥
वेदहीनं दुराचारं मलिनं बहुभाषिणम्।
निन्दकं पिशुनं दुष्टमन्धकं च विवर्जयेत्॥ (ईश्वर)

ही दिनमें या दो दिनमें अथवा तीन दिनमें या जिस प्रकार पुष्प प्राप्त हों, उतने दिनमें लक्ष पुष्प अर्पण करके समाप्तिमें सुवर्णका १ बिल्वपत्र शिवके और सोनेका एक पुष्प शिवाके अर्पण करे। इसके पीछे '**विरूपाक्ष महेशान विश्वरूप महेश्वर। मया कृतां लक्षपूजां गृहीत्वा वरदो भव॥**' से प्रार्थना करके '**मृत्युंजयाय यज्ञाय देवदेवाय शम्भवे। आश्विनेशाय शर्वाय महादेवाय ते नमः॥**' से नमस्कार करे। इसके करनेसे गोहत्या, ब्रह्महत्या, गुरु-स्त्रीगमन, मद्यपान और परधनका अपहरण आदि पापोंका नाश होता है और मनुष्य सब प्रकारसे सुखी रहता है। इसके उद्यापनमें यह विशेषता है कि हवनमें विष्णुसहस्रनामसे आहुति दे और दशांश हवन करके पूजनको समाप्त करे।

(३२) लक्षतुलसीदलार्पणव्रत (भविष्यपुराण)—कार्तिक या माघमें भगवान्‌के तुलसीदल अर्पण करे और माघ या वैशाखमें (अथवा कार्तिकका माघमें और माघका वैशाखमें) उद्यापन करे। पत्रार्पणकी क्रिया यह है कि वृन्दा (तुलसी)-के वनमें जाकर तुलसीके उत्तम और समान आकारके एक हजार पत्र लाये। उनमें गन्धसे विष्णुका नाम लिखे, पीछे शालग्रामजीका तथा नामांकित तुलसीपत्रोंका गन्धाक्षतसे पूजन करे। उस समय स्नान कराकर गन्ध और अक्षत अर्पण करे और पुष्पार्पणके पहले विष्णुसहस्रनामके एक-एक नामसे एक-एक तुलसीपत्र भगवान्‌के अर्पण करे। इस प्रकार सौ दिनमें लक्षदल अर्पण करके यथाविधि हवन आदि करे तो इससे सम्पूर्ण प्रकारके पाप नष्ट हो जाते हैं।

(३३) लक्षप्रणामव्रत (वसिष्ठाम्बरीषसंवाद)—आषाढ़ शुक्ल एकादशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् भगवान्‌का विधिवत् पूजन करे और विनयावनत होकर भगवान्‌के नामस्मरणसहित एक-

एक करके जितने बन सकें प्रणाम करे और एकभुक्त व्रत करके अतिथि आदिका सत्कार करे। इस प्रकार चार महीनेमें एक लाख नमस्कार पूर्ण करके कार्तिक शुक्ल पूर्णिमाको उद्यापन करे तो अभक्ष्यभक्षण, अगम्यागमन, अदृश्य-दर्शन, अपेयपान और अनृत-भाषण आदिसे उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं और पुण्यका उदय होता है।

(३४) लक्षप्रदक्षिणाव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—आषाढ़ शुक्ल एकादशीसे कार्तिक शुक्ल एकादशीपर्यन्त प्रतिदिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् वेदमन्त्रों (पुरुषसूक्तके मन्त्रों)-से पूजन करके '**कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने**' या '**केशवाय नमः**' आदि किसी नामके उच्चारणसे भगवान्‌की प्रदक्षिणा करे। इस प्रकार यथाक्रम एक लक्ष पूर्ण होनेके पश्चात् उद्यापन, ब्राह्मण-भोजन और विसर्जन करे तो पूर्वजन्म, वर्तमानजन्म और पुनर्जन्म (इन तीन जन्मों)-के पाप दूर हो जाते हैं और सुख-शान्तिके साथ सानन्द जीवन व्यतीत होता है।

(३५) लक्षवर्तिप्रदानव्रत (भविष्यपुराण)—जिस समय श्रद्धा, सुविधा और अवकाश हो उस समय कपासकी एक लाख बत्तियाँ बनाकर तैलपूर्ण दीपकोंमें (एक-एक) रखे और उनका पंक्तिरूपमें प्रज्वालन करके शिव, केशव या हनूमान् आदि किसी भी अभीष्ट देवके मन्दिरमें सुचारुरूपसे स्थापित करके नक्तव्रत करे। इस प्रकार एक, तीन या पाँच आवृत्तियोंमें लक्ष दीपदान पूर्ण करके उद्यापन करे। इससे देवलोककी प्राप्ति होती है।

(३६) लक्षवर्तिदानव्रत (वायुपुराण)—किसी भी शुभ दिनमें कपासकी एक लाख बत्तियाँ बनाकर उनको घृत-प्लावित करे। (भलीभाँति भिगोये) और उनमेंसे शत, सहस्र या अयुत (जैसी सुविधा और अनुकूलता हो) मन्दिरमें देकर एक लाख

पूर्ण करे तो बड़ा पुण्य होता है, सब प्रकारके उपद्रव शान्त हो जाते हैं और देवलोककी प्राप्ति होती है।

(३७) **गोपद्मव्रत** (भविष्यपुराण)—आषाढ़ शुक्ल एकादशीको प्रातःस्नानादिके पश्चात् गौके निवासस्थानको गोबरसे लीपकर उसमें ३३ पद्म (कमल) स्थापन करके उनका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और ३३ अपूप (पूए) भोग लगाकर उतने ही अर्घ्य, प्रदक्षिणा और प्रणाम अर्पण कर व्रत करे। इस प्रकार कार्तिक शुक्ल एकादशीपर्यन्त प्रतिदिन करनेके पश्चात् द्वादशीको पहले वर्षमें पूए, दूसरेमें खीर और पूए, तीसरेमें मँडके, चौथेमें गुड़ और मँडके और पाँचवेंमें घृतपाचित (घीमें पकाये हुए) मण्डकोंसे पारण करके उद्यापन करे तो जीवनपर्यन्त सुख-सम्पत्तिसे युक्त रहता है और परलोकमें स्वर्गीय सुख प्राप्त होते हैं।

(३८) **धारणपारणव्रत** (भविष्योत्तर)—देवशयनीसे देवप्रबोधिनी-पर्यन्त (चातुर्मास्यके महीनोंमें) प्रतिदिन प्रातःस्नानादिके पश्चात् भगवान्‌का स्तवन, पूजन या स्मरण करके '**ॐ नमो नारायणाय**' अथवा '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' का मानसिक जप करे और धारणके दिन (जितक्रोधादि होकर) उपवास करे और पारणके दिन एकभुक्त भोजन करे। इस प्रकार कार्तिकी पूर्णिमा-पर्यन्त करके उद्यापन करे तो ब्रह्महत्या-जैसे महापाप भी नष्ट हो जाते हैं।

(३९) **अश्वत्थोपनयनव्रत** (शौनक)—वृक्षारोपणके शुभ दिवसमें पुरुष जातिके पीपलका रोपण करे। उसको आठ वर्षपर्यन्त जल आदि पोषणोंसे दीर्घजीवी बनावे। फिर ज्यौतिषशास्त्रोक्त उत्तम मुहूर्तमें अश्वत्थका उपनयन (यज्ञोपवीत-संस्कार) करे। उसके लिये वेदपाठी ब्राह्मणोंका वरण करके गणपतिपूजन,

मातृकापूजन, नान्दीश्राद्ध और पुण्याहवाचन करके गायन, वादन तथा नृत्यके साथ-साथ स्त्रीसमाज और बन्धु-बान्धवोंसहित अभीष्ट पीपलके ईशान कोणमें बैठकर पुण्याहवाचन करे। पीपलको पंचामृत (दूध, दही, घी, खाँड और शहद)-से स्नान कराये। धोती और अँगोछा धारण कराये। उसके पीछे मूँजकी मेखलासे अश्वत्थको तीन बार लपेटे और '**यज्ञोपवीतं०**' से यज्ञोपवीत धारण कराकर दण्ड और कृष्णाजिन उसके समीप रखे। फिर उससे पश्चिममें उपस्थित होकर गन्ध-पुष्पादिसे उसका पूजन करे और उससे पूर्वमें अपनी पद्धतिके विधानसे हवन करे। इसमें '**इन्द्राय**', '**अग्नये**', '**सोमाय**', '**प्रजापतये**' आदिके अनन्तर '**अश्वत्थेवो०**', '**ॐ या ओषधी०**'और '**वनस्पतये०**'—इन मन्त्रोंसे तीन-तीन आहुतियाँ और दे। फिर अश्वत्थसे पश्चिममें पूर्वाभिमुख बैठकर दाहिने हाथसे अश्वत्थको स्पर्श करके उसको तीन बार गायत्रीमन्त्र श्रवण करावे। पीछे हवनको समाप्त कर सवत्सा गौ, अन्न और पूजन-सामग्री आदिका दान करे एवं ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे तो लक्ष्मीकी प्राप्ति और कुलका उद्धार होता है।

(४०) अश्वत्थप्रदक्षिणाव्रत (अद्‌भुतसागर)—किसी शुभ दिनमें प्रातःस्नानादि करनेके पश्चात् '**ममाखिलपापक्षयपूर्वकमायुरारोग्यैश्वर्याभिवृद्ध्यर्थं विष्णुस्वरूपमश्वत्थतरुममुकसंख्याकाभिः प्रदक्षिणाभिः सेविष्ये।**'—यह संकल्प करके अश्वत्थके समीप विष्णुकी मूर्ति स्थापित करके दोनोंका षोडशोपचार पूजन करे। दो वस्त्र (धोती और दुपट्टा) ओढ़ावे। ब्रह्मचर्यका पालन करे। काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सरता, बहुभोजन और मन्दोत्साह न होने दे। दान, मान और उपस्करसहित ब्राह्मणोंको भोजन करावे। फिर '**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां राजा ब्राह्मणवर्णकः। अश्वत्थः पूजितो**

येन सर्वं सम्पूजितं भवेत्॥' से प्रार्थना करके '**यानि कानि च पापानि जन्मान्तरकृतानि च। तानि सर्वाणि नश्यन्ति प्रदक्षिणपदे पदे॥**' से चार प्रदक्षिणा करके मौन धारण करे। फिर यथाक्रम लक्षपरिक्रमा आरम्भ करे। उनमें यह ध्यान अवश्य रखे कि पहले दिन जितनी बन सकें उतनी ही प्रतिदिन करे और आगे यथाक्रम एक-दो-तीन-चार-पाँच लाख या अधिक गौरवका कार्य हो तो बारह लाख परिक्रमा करके तदंगीभूत ब्राह्मण-भोजनादि कराये तो इस व्रतसे श्वास, काश, उदरशूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, कोढ़, अग्निमान्द्य और राजयक्ष्मा या सर्वज्वर-जैसे घातक रोग, प्रत्येक प्रकारके महापाप और राजभयादि-जैसे अरिष्ट, कष्ट या संकट आदिका निवारण होकर सब प्रकारके सुख और उनके साधन प्राप्त होते हैं।

(४१) द्वादशमासव्रत (श्रुति-स्मृति-पुराणादि)—यह व्रत प्रत्येक महीनेमें यथाविधि स्नान, दान, देवार्चन और ब्राह्मण-भोजनादि करनेसे सम्पन्न होता है। विधि यह है कि १—चैत्रमें[1] एक ही प्रमाणका एकभुक्त व्रत करे तो सुवर्ण और मुक्ताफल आदिसे युक्त कुलमें जन्म होता है। २—वैशाखमें[2] गन्ध-पुष्पका दान करे तो आरोग्यता बढ़ती है। ३—ज्येष्ठमें[3] जलपूर्ण कुम्भ, सवत्सा गौ, पंखा और चन्दन दे तो सौभाग्यशाली होता है। ४—आषाढ़में[4] एकभुक्त भोजन, ब्रह्मचर्यका पालन और भगवान्‌का

---

१. चैत्रं तु नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत्।
सुवर्णमणिमुक्ताढ्ये कुले महति जायते॥ (भारत)

२. गन्धमाल्यानि च तथा वैशाखे सुरभीणि च।
देयानि.................... ॥ (वामन)

३. उदकुम्भाम्बु धेनुश्च तालवृन्तं च चन्दनम्।
त्रिविक्रमस्य प्रीत्यर्थं दातव्यं ज्येष्ठमासि च॥ (वामन)

४. आषाढमेकभक्तेन स्थित्वा मासमतन्द्रितः।
बहुधान्यो बहुधनो बहुपुत्रश्च जायते॥

स्मरण रखे तो धन-धान्य और पुत्रादिका सुख मिलता है। ५—श्रावणमें[१] घी-दूधसे भरे घड़े, पूरी और फल दे तो श्रीधरकी प्रसन्नता प्राप्त होती है। ६—भाद्रपदमें[२] मधु और घी मिली हुई खीर और नमक तथा गुड़-ओदनका दान करे तो हृषीकेशभगवान्‌का अनुग्रह प्राप्त होता है। ७—आश्विनमें[३] अश्विनीकुमारोंकी प्रसन्नताके अर्थ घीका दान देनेसे रूप और सौभाग्य बढ़ता है। ८—कार्तिकमें[४] चाँदी, सोना, दीप, मणि, मोती और वस्त्रादिका दान करे तो दामोदरभगवान्‌की प्रसन्नता होती है। ९—मार्गशीर्षमें[५] एक महीनेतक एकभुक्त व्रत करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये तो व्याधि-पीड़ा और पाप दूर होते हैं। १०—पौषमें[६] ब्राह्मणोंको घृतविशिष्ट भोजन कराये, घीका दान दे और मास समाप्त होनेपर घी, सोना और पात्र सत्पात्रको देकर तीन दिनका उपवास करे तो उत्तम फल प्राप्त होता है। ११—माघमें[७] तिल-धेनुका दान करे और गरीबोंकी शीतबाधा मिटानेके लिये ईंधन और धनका दान करे तो धनी होता है और

१. घृतं च क्षीरकुम्भांश्च घृतपक्वफलानि च।
श्रावणे श्रीधरप्रीत्यै दातव्यानि दिने दिने॥ (वामनपुराण)

२. मासि भाद्रपदे दद्यात् पायसं मधुसर्पिषा।
हृषीकेशप्रीणनार्थं लवणं सगुडोदनम्॥ (वामन)

३. घृतमाश्वयुजे मासि नित्यं दद्याद् द्विजातये।
प्रीणयित्वाश्विनौ देवौ रूपभागभिजायते॥ (यम)

४. रजतं कांचनं दीपान् मणिमुक्ताफलादिकम्।
दामोदरस्य प्रीत्यर्थं प्रदद्यात् कार्तिके नरः॥ (वामन)

५. मार्गशीर्षे तु यो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत्।
भोजयेत्तु द्विजान् भक्त्या मुच्यते व्याधिकिल्बिषैः॥ (महाभारत)

६. घृतं द्विजेभ्यो दद्याच्च घृतमेव निवेदयेत्।
पौषे………… ॥ (वामन)

७. माघे मासि तिलाः शस्ताः कामधेनुश्च दानतः।
इध्मं धनादयश्चान्ये माधवप्रीणनाय तु॥

१२—फाल्गुनमें * गौ, वस्त्र, चावल और कृष्णाजिन (काले मृगका चर्म) दान करके व्रत करे तो गोविन्दभगवान् प्रसन्न होते हैं।

इतिहास-पुराणों, धर्मशास्त्रों, निबन्ध-ग्रन्थों तथा व्रतराज, व्रतार्क एवं जयसिंहकल्पद्रुम आदिमें कुछ ऐसे व्रतोंके भी अनुष्ठानका उपदेश किया गया है, जो तत्तत्कामनाओंके अनुसार विशेष अवसरोंपर विशेष प्रकारसे किये जाते हैं। यथा—जन्मलग्न आदिसे ज्ञात हुए वैधव्ययोग आदिके परिहारके लिये 'सावित्री' और 'अश्वत्थ' व्रत, शरीरसम्भूत शुभ लक्षणोंकी सफलताके लिये 'सौभाग्यलक्ष्मी' और 'श्री' व्रत तथा पातक, उपपातक एवं महापातक आदिकी निवृत्तिके लिये 'प्राजापत्य' और 'चान्द्रायण' व्रत आदि। अब आगे ऐसे ही व्रतोंका उल्लेख किया जायगा तथा साथमें उनके लक्षण, विधान एवं व्यवस्था आदि भी लिखे जायँगे। इसके सिवा पाप या कुयोग-निवारणके विधान पढ़ते समय बहुतोंको कृच्छ्रातिकृच्छ्र आदिके भेद और बहुविधपापोंके नाम तथा लक्षण जाननेकी आवश्यकता होती है। अतः इस संख्यामें प्रसंगानुसार उनका भी उल्लेख कर दिया है। सम्भव है इससे सनातनी जनताको संतोष होगा। अस्तु,

(१) **सम्पत्तिप्रद श्रीव्रत** (सौभाग्यलक्ष्मीसंग्रह)—यह व्रत एक-एक कलावृद्धिसे सोलह वर्षोंमें पूर्ण होता है। व्रतीको चाहिये कि आरम्भके शुभ दिनमें प्रातःस्नान आदिसे निवृत्त होकर '**ममाखिलपापक्षयपूर्वकमचलसम्पत्तिप्राप्तिकामनया श्रीव्रतमहं करिष्ये**' यह संकल्प करके सोने, चाँदी या ताँबेके पात्रमें दाड़िमकी लेखनी और केसर-चन्दनसे 'श्री' लिखे और उसका १ ईश्वरी, २ कमला, ३ लक्ष्मी, ४ चला, ५ भूति,

---

* फाल्गुने व्रीहयो गावो वस्त्रं कृष्णाजिनान्वितम्।
गोविन्दप्रीणनार्थाय दातव्यं पुरुषर्षभैः॥ (वामनपुराण)

६ हरिप्रिया, ७ पद्मा, ८ पद्मालया, ९ सम्पद्, १० उच्चैः, ११ श्री और १२ पद्म-धारिणी[1]—नामोंसे पूजन करके 'श्रीं' मन्त्रके पाँच या दस हजार जप करे। इस प्रकार प्रतिदिन वर्षपर्यन्त करनेसे एक कला सम्पन्न होती है। यदि वह सोलह वर्षतक किया जाय तो सोलह कलाएँ पूर्ण हो जाती हैं और उसका अमित फल होता है। स्मरण रहे कि जप करते समय सुपूजित 'श्रीं' को हृदयंगम रखकर या उसपर दृष्टि स्थिर करके जप करनेसे अचल श्री प्राप्त होती है।

(२) **सुतप्रद धर्ममूलव्रत** (शुकजातक)—जन्मलग्न आदिमें बृहस्पतिसे[2] पाँचवें घरका स्वामी त्रिक (६, ८, १२) में हों और पंचम, सप्तम तथा नवमका स्वामी छठे, आठवें और बारहवेंमें हों तो पुत्र-प्राप्तिमें बाधा होती है। अतः उसकी प्राप्तिके निमित्त धर्ममूलक[3] उपाय करने चाहिये। यथा (१) शुक्लपक्षकी सप्तमी, रविवारको प्रातःस्नान आदिके बाद '**सत्पुत्रप्राप्तिकामनया सूर्यसप्तमीव्रतमहं करिष्ये**'—यह संकल्प करके सूर्यकी सुवर्णमयी मूर्तिका या आकाशस्थ साक्षात् सूर्यका गन्ध, पुष्प आदिसे पूजन कर अलवण एकभुक्त व्रत करे और वर्षपर्यन्त करके उसकी समाप्ति करे। (२) शिवजीके समीप शुभासनपर पूर्वाभिमुख बैठकर उनका विधिवत् पूजन करे और पंचाक्षरी शिवमन्त्र (**ॐ नमः शिवाय**)-का एक लाख या दस हजार जप व्रतपूर्वक नौ मासपर्यन्त करे। (३) प्रारम्भमें शुक्लपक्षकी दशमी गुरुवारको प्रातःस्नान आदि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर '**मम सकलपापताप-**

---

१. द्वादशैतानि नामानि लक्ष्मीं सम्पूज्य यः पठेत्।
स्थिरा लक्ष्मीर्भवेत् तस्य पुत्रदारादिभिः सह॥ (सौभाग्यलक्ष्मी)

२. वागीशात् पंचमेशस्त्रिकभवनगतः पुत्रधर्मांगनाथा रन्ध्रेद्वेष्यन्तिमस्थाः।

३. तत्प्राप्तिर्धर्ममूला। (शुकसूत्र)

क्षयपूर्वकं सत्पुत्रप्राप्तिकामनया 'देवकीसुत गोविन्द०' इति संतानगोपालमन्त्रस्य जपं स्तोत्रपाठं वाहं करिष्ये।' यह संकल्प करके न्यासादिपूर्वक '**ॐ देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते। देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः॥**' इस मन्त्रका प्रतिदिन एक या पाँच हजार जप करे और ब्रह्मचर्य-धारणपूर्वक परिमित हविष्यान्नका एकभुक्त भोजन करे। इस प्रकार प्रतिदिन एक हजारके हिसाबसे सौ दिन अथवा पाँच हजार प्रतिदिनके हिसाबसे बीस दिनमें एक लाख जप अथवा सौ दिनमें ग्यारह सौ स्तोत्रपाठ करके समाप्तिके समय तद्दशांशका हवन, तर्पण-मार्जन करे और ब्राह्मण-भोजन करावे। तथा (४) अपने मकानके आँगनमें मण्डप बनवाकर उसको ध्वजा-पताका और बन्दनवार आदिसे भूषित करके किसी पुराणपाठी सत्पात्र विद्वान्से हरिवंशपुराणका श्रद्धापूर्वक श्रवण करे और समाप्तिके दिन हवन, पूजन और ब्राह्मण-भोजन आदि कराके उसे समाप्त करे। इस प्रकार इन चारों प्रयोगोंको एक साथ या यथाक्रम पृथक्-पृथक् अथवा इनमेंसे किसी भी एकको करे तो उससे प्रभावशाली पुत्र प्राप्त होता है।

(३) मेधावर्द्धक ग्रहणव्रत (प्रयोगवैभव)—दिनके पूर्वभागमें होनेवाले ग्रहणके पहले दिन प्रातःस्नान आदि करनेके अनन्तर सद्वैद्यकी सम्मतिके अनुसार ब्राह्मीका सेवन करके व्रत करे। उसके दूसरे दिन ग्रहणके समय सोनेकी शलाका या कुशाके मूल अथवा दूर्वाके अंकुरोंसे जीभपर छोटी मक्खियोंके शहदसे '**ऐं**' लिखे और इसीका जप करे। तदनन्तर अग्निस्थापन करके गायके घीकी ८, २८ या १०८ आहुतियाँ देकर गायके दूधकी खीरमें हवनसे बचा हुआ घी मिला दे और '**ॐ प्राणाय स्वाहा**' '**ॐ अपानाय स्वाहा**' '**ॐ व्यानाय स्वाहा**' '**ॐ उदानाय स्वाहा**'

और '**ॐ समानाय स्वाहा**'—इन पाँच मन्त्रोंसे एक-एक करके पाँच प्राणाहुतियाँ देकर (अर्थात् पाँच ग्रास भक्षण करके) व्रत करे तो इससे छोटी अवस्थाके छात्रोंकी बुद्धि विकसित होती है और उनका शास्त्रज्ञान बढ़ता है।

(४) अनिष्टहर ग्रहणव्रत (वसिष्ठ-भृगुसंहिता)—जिसके जन्म[1] -नक्षत्र-(या राशि-) पर स्थित हुए सूर्य या चन्द्रमाका ग्रहण हो तो उससे उस राशिवाले नगर, ग्राम या मनुष्योंको पीड़ा होती है। अथवा जिस राजाके[2] राज्याभिषेकके नक्षत्रपर ग्रहण हो उस राजा और राज्यका ह्रास होता है; अतः इस निमित्त सुवर्णके सर्पको[3] तिलोंसे भरे हुए ताँबेके पात्रमें रखकर गन्ध, पुष्प आदिसे पूजन करे और वस्त्र आदिसे भूषित करके श्रोत्रिय ब्राह्मणको दे। उस समय '**तमोमय महाभीम सोमसूर्यविमर्दन। हेमनागप्रदानेन मम शान्तिप्रदो भव॥**' इस मन्त्रसे प्रार्थना करे और सूर्यग्रहणमें[4] सोनेके तथा चन्द्रग्रहणमें चाँदीके वृत्ताकार बिम्बका गन्धाक्षतसे पूजन करके दान करे तो उपरागजनित सभी संताप शान्त होते हैं।

(५) वैधव्य-योग-नाशक सावित्रीव्रत (हेमादि, व्रतखण्ड)—किसी कन्याकी कुण्डलीमें विधवायोग बनता हो तो उसके माता-पिता उससे एकान्तमें सावित्रीव्रत[5] अथवा पिप्पलव्रत करायें

---

१. यस्यैव जन्मनक्षत्रे ग्रस्येते शशिभास्करौ।
तज्जातानां भवेत् पीडा ये नराः शान्तिवर्जिताः॥ (वसिष्ठ)

२. यस्य राज्यस्य नक्षत्रे स्वर्भानुरुपरज्यते।
राज्यभंगं सुहृन्नाशं मरणं चात्र निर्दिशेत्॥ (भृगुसंहिता)

३. सुवर्णनिर्मितं नागं सतिलं ताम्रभाजनम्।
सदक्षिणं सवस्त्रं च श्रोत्रियाय निवेदयेत्॥ (दैवज्ञमनोहर)

४. सौवर्णं राजतं वापि बिम्बं कृत्वा स्वशक्तितः।
उपरागोद्भवक्लेशच्छिदे विप्राय कल्पयेत्॥ (दैवज्ञमनोहर)

५. सावित्र्यादिव्रतादीनि भक्त्या कुर्वन्ति याः स्त्रियः।
सौभाग्यं च सुहृत्त्वं च भवेत् तासां सुसंगतिः॥ (व्रतखण्ड)

और फिर उसका दीर्घायु योगवाले वरके साथ विवाह करें। व्रतविधि यह है कि ज्यौतिषशास्त्रोक्त शुभ मुहूर्तमें प्रातःस्नान आदिके पश्चात् शुभासनपर पूर्वाभिमुख बैठकर '**मम वैधव्यादिसकलदोषपरिहारार्थं ब्रह्मसावित्रीप्रीत्यर्थं च सावित्री-व्रतमहं करिष्ये।**' यह संकल्प करके तीन दिन उपवास करे। यदि सामर्थ्य न हो तो प्रथम दिन रात्रि भोजन, द्वितीय दिन अयाचित और तृतीय दिन उपवास करके चतुर्थ दिन समाप्त करे। यह व्रत वटके समीप बैठकर करनेसे विशेष फलदायी होता है। अतः उस जगह बाँसके पात्रमें सप्तधान्य भरकर उसपर सुवर्णनिर्मित सावित्रीका स्थापन करके उसका गन्ध, पुष्प आदिसे पूजन करे। साथ ही वट-वृक्षको सूत्रसे वेष्टित करके उसका पंचोपचार पूजन कर परिक्रमा करे। तत्पश्चात् '**अवैधव्यं च सौभाग्यं देहि त्वं मम सुव्रते। पुत्रान् पौत्रांश्च सौख्यं च गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥**' से सावित्रीको अर्घ्य देकर अहिवात (सौभाग्य)-की रक्षाके लिये भक्ति, श्रद्धा और नम्रतासहित प्रार्थना करे तथा '**वट सिंचामि ते मूलं सलिलैरमृतोपमैः। यथा शाखाप्रशाखाभिर्वृद्धोऽसि त्वं महीतले। तथा पुत्रैश्च पौत्रैश्च सम्पन्नां कुरु मां सदा॥**' इससे वटकी प्रार्थना करे तो वैधव्यदोषका सुतरां परिहार हो जाता है। वैसे यह* व्रत विधवा-सधवा, बालिका-वृद्धा, अपुत्रा या सपुत्रा—सभीके करनेका है और विशेषकर ज्येष्ठकी अमावस्याको सार्वजनिकरूपमें किया भी जाता है। ज्यौतिषशास्त्रमें वैधव्ययोग इस प्रकार निश्चय किया गया है कि 'कन्याके जन्मलग्नमें सप्तमेश पापी हो, पापदृष्ट हो या पापयुक्त होकर अनिष्टकारी (छठे, आठवें, बारहवें) स्थानमें

---

* नारी वा विधवा वापि पुत्रीपुत्रविवर्जिता।
सभर्तृका सपुत्रा वा कुर्याद् व्रतमिदं शुभम्॥ (स्कन्द०)

बैठा हो या शत्रुके घरमें हो तो पतिके सुखको हीन करता है। इसी प्रकार लग्नमें क्रूरग्रह[१] हो और उससे सातवें भौम हो या लग्नमें चन्द्रमा[२] और सातवें मंगल हो अथवा चौथे,[३] सातवें, आठवें, बारहवें या लग्नमें मंगल हो तो पतिके सुखको हीन करता है।

(६) वैधव्यहर अश्वत्थव्रत (ज्ञानभास्कर)—जिस कन्याके बलवान् वैधव्य-योग हो, उसके माता-पिता उससे अश्वत्थव्रत करायें। कन्याको चाहिये कि वह ज्यौतिषशास्त्रोक्त श्रेष्ठ मुहूर्तमें स्नान करके रंग-बिरंगे वस्त्र धारण कर पिताके घरसे बाहर पीपल (और वह न हो तो शमी या बेरके वृक्ष)-के समीप जाकर चारों ओरकी मिट्टीसे उसके थाल्हा बनाये और विद्वान् ब्राह्मणको आचार्य बनाकर '**मम प्रबलवैधव्यदोषनिरसनपूर्वकं पतिपुत्रादिभिः सह सुखप्राप्तिकामनया अश्वत्थव्रतमहं करिष्ये।**'—यह संकल्प करके जलपूर्ण करवे (मिट्टीके पात्र)-से उस थाल्हेको जलसे भरकर पीपलको प्रतिदिन सींचे। विशेषकर चैत्र कृष्ण या आश्विन कृष्ण तृतीयाको अश्वत्थके समीप बैठकर उपर्युक्त प्रकारसे संकल्प करके उसका सेचन, पूजन और व्रत करे। इस प्रकार आगामी कृष्ण तृतीयापर्यन्त प्रतिदिन करके ३१वें दिन सपत्नीक ब्राह्मणोंका पूजन करे और बाँसके पात्रमें सुवर्णनिर्मित शिव-पार्वतीको स्थापित करके चन्दन, अक्षत, दूर्वा, बिल्वपत्र, पुष्प और धूप-दीप आदिसे विधिपूर्वक पूजन करे। इस प्रकार

---

१. यदि लग्नगतः क्रूरस्तस्मात् सप्तमगः कुजः।
विज्ञेयं मरणं पुंसाम्……… ॥ (नारद)

२. यदि लग्नगतश्चन्द्रस्तस्मात् सप्तमगः कुजः।
भर्तुर्मृत्युं विजानीयात्……… ॥ (नारद)

३. लग्ने व्यये च पाताले जामित्रे चाष्टमे कुजः।
कन्या भर्तुर्विनाशाय भर्ता कन्याविनाशकृत् ॥ (ज्यौ० त०)

एक महीनेतक प्रतिदिन करनेसे कन्याको पूर्ण पतिसौख्य प्राप्त होता है।

(७) **वैधव्यहर कर्कटीव्रत** (व्रतराज)—सूर्यनारायणके कर्कराशिमें प्रवेश होनेपर कन्याको चाहिये कि वह स्नान करके शुद्ध हो अन्न-पूर्ण बाँसके पात्र या अक्षतोंके अष्टदलपर स्वर्णनिर्मित कर्कटी (ककड़ी)-को स्थापित कर उसका गन्ध, पुष्प आदिसे पूजन करे और विधिवत् व्रत करके ग्यारह फल (ऋतुकालकी ककड़ी) सहित स्वर्ण-कर्कटीका दान करके ब्राह्मणोंको भोजन कराये तो इससे वैधव्ययोगकी शान्ति होती है। उक्त तीनों व्रतोंके अतिरिक्त मार्कण्डेयपुराणमें 'कुम्भविवाह', 'अश्वत्थविवाह' और 'विष्णुविवाह'—ये तीन परिहार और लिखे हैं। तत्त्वदर्शी महर्षियोंके निश्चित किये हुए होनेसे प्रसंगवश यहाँ उनका दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है।

(८) **वैधव्यहर विवाहव्रत** (सूर्यारुणसंवाद)—वैधव्ययोगकी सम्भावना होनेसे लौकिक विवाहसे पहले वैवाहिक मुहूर्तमें कन्याके माता-पिता सुस्नात कन्याको (१) '**कुम्भविवाह**' के लिये पीठस्थ कुम्भके दक्षिण भागमें पूर्वाभिमुख बिठाकर स्वयं उत्तराभिमुख बैठे हुए गणपतिपूजन, मातृकापूजन, नान्दीश्राद्ध और पुण्याहवाचन करके '**भूरसि**'—आदिसे कुम्भस्थापन करें और उसके ऊपर सुवर्णमय वरुण और विष्णुका पूजन करके कुम्भ और कन्याके गलेमें दस तारोंसे बनाया हुआ यज्ञोपवीत-सदृश सूत्र पहनायें और दोनोंको पीतवस्त्रसे वेष्टित करके अग्निस्थापनपूर्वक कन्यादान करें। फिर '**प्रजापतये**……' आदिसे और '**भूः स्वाहा**……' आदिसे आहुतियाँ देकर '**वरुणांगस्वरूप त्वं जीवनानां समाश्रय। पतिं जीवय कन्यायाश्चिरं पुत्रान् सुखं वरम्। देहि विष्णो वरं देव कन्यां पालय दुःखतः॥**' से प्रार्थना करके विसर्जन करें।

इसी प्रकार (२) '**पिप्पलविवाह**' के निमित्त सुस्नात कन्याको अश्वत्थके समीप पूर्वाभिमुख बैठाकर उसके माता-पिता उत्तराभिमुख बैठें और गणपति, मातृका आदिका पूजन करके विष्णु-प्रतिमा और पीपलका पूजन कर यथापूर्व दस तन्तुमय सूत्र और पीत वस्त्रसे कन्या और अश्वत्थको वेष्टित करे; फिर अग्निस्थापन करके यथोक्त विधिसे कन्यादानका संकल्प करे और '**प्रजापतये०**' आदिसे ४ तथा '**भूः स्वाहा**' आदिसे ९ आहुतियाँ देकर '**नमो निखिलपापौघनाशनाय नमो नमः। पूर्वजन्मभवं पापं बालवैधव्यकारकम्। नाशयाशु सुखं देहि कन्याया मम भूरुह॥**' से पीपलकी प्रार्थना करके विसर्जन करे। इसी प्रकार (३) '**विष्णुविवाह**' के लिये कन्यादाता सुवर्णनिर्मित विष्णुमूर्तिको वस्त्राच्छादित पीठके अष्टदल कमलपर स्थापित करके उसके समीप दक्षिण भागमें शुभासनपर कन्याको पूर्वाभिमुख बिठाये और स्वयं उत्तराभिमुख बैठकर गणपतिपूजन, मातृकापूजन, नान्दीश्राद्ध और पुण्याहवाचन करके विष्णुप्रतिमाका षोडशोपचार पूजन करे। फिर विष्णु तथा कन्याको दशतन्तुविधानके उपवीत-सदृश सूत्रसे वेष्टित और पीताम्बरसे आच्छादित करके अग्निस्थापनपूर्वक कन्यादान करे। फिर अग्निमें यथापूर्व '**प्रजापतये०**' आदिसे ४ और '**भूः स्वाहा**' आदिसे ९ आहुतियाँ देकर '**वैधव्याद्यतिदुःखौघनाशाय सुखलब्धये। बहुसौभाग्यलब्ध्यै च महाविष्णोरिमां तनुम्॥**' से प्रार्थना करके विसर्जन करे। स्मरण रहे कि उक्त तीनों विवाहोंमें कन्यादानका संकल्प करते समय दाता अपने गोत्रका उच्चारण करके कन्याको अपने प्रपितामहकी प्रपौत्री, पितामहकी पौत्री और अपनी पुत्री सूचित करता हुआ संकल्प करे। इसमें कुम्भ, अश्वत्थ और विष्णुके पिता, पितामह आदिके नामोच्चारण और राष्ट्राभृतादि आहुतियोंकी आवश्यकता

नहीं है और न इन विवाहोंमें पुनर्भूत्व दोष होता है; क्योंकि '**स्वर्णाम्बुपिप्पलानां च प्रतिमा विष्णुरूपिणी। तया सह विवाहे च पुनर्भूत्वं न जायते॥**' अर्थात् सोना, जल, पीपल और विष्णुप्रतिमाके साथ कन्याका विवाह करनेमें पुनर्भूत्व नहीं होता।*

(८) प्रायश्चित्तव्रत

पाप और पुण्य—दोनोंका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। इनमें अज्ञानवश पाप और ज्ञानवश पुण्य स्वतः संचित होते हैं और समय पाकर बढ़ जानेसे दोनों प्रत्यक्ष देखनेमें आ जाते हैं। उस समय पापका बुरा और पुण्यका अच्छा फल होता ही है। उसमें भी मनुष्य स्वभावतः अच्छेकी इच्छा और बुरेसे ग्लानि करता है। इसी कारण त्रिकालदर्शी महर्षियोंने मनुष्यको पापमुक्त रखनेके लिये प्रायश्चित्त निश्चित किये हैं। इनके करनेसे सद्भावनावाले

---

* लक्ष्मीरूपा सदा कन्या हरिरूपं सदा जलम्।
हरेर्दत्तं च यद् दानं दातुः पापहरं सदा॥
लक्ष्मीनारायणप्रीत्यै या दत्ता कन्यका बुधैः।
तारयेत् सकलं दातुः कुलं पूर्वापरं सदा॥
चन्द्रगन्धर्ववह्नयम्बुशिवसोमस्मरा इमे।
पतयः कन्यकानां च बाल्यात् सन्ति सदैव ते॥
तदुद्वाहविधिर्यत्नात् कृतो नो जनयेदघम्।
यथालिभुक्तं कमलं देवानां पूजनाय वै॥
अर्हं भवति सर्वत्र तथा कन्या नृणां भवेत्॥ (हेमाद्रि)
यत्किंचित् कथितं शास्त्रं शान्तिकं पतिरक्षणे।
तत्पापमपि नो पापं येन धर्मोऽभिरक्ष्यते॥ (धर्मशास्त्र)
मन्थन्या भास्करो यत्नात् कृतवान् दुहितुर्विधिम्।
रेणुकोऽपि स्वकन्यायास्तदुद्वाहं चकार सः॥ (विधानखण्ड)
पित्रा मात्रा तथा भ्रात्रा दत्ता या तोयधारया।
विप्राग्निसुहृदां साक्ष्यं कृत्वा सोद्वाहिता भवेत्॥ (कात्यायन)

मनुष्य तो अपने अज्ञानवश किये पापोंसे मुक्त होकर सुप्रकाशित प्रतिभासे युक्त होते ही हैं; किंतु असद्‌भावनावाले मनुष्योंके ज्ञानपूर्वक किये हुए पाप भी यथोचित प्रायश्चित्तोंसे दूर हो जाते हैं। अंगिराने प्रायस् (तप) और चित्त (निश्चय)-को 'प्रायश्चित्त'[१] बतलाया है। हारीतके मतसे शुद्धिद्वारा संचित पापोंके नाशका नाम 'प्रायश्चित्त'[२] है और वैसे किसी प्रकारसे किये गये पापसे अन्तःकरणमें ग्लानि होने (या पछताने) और उसके मिटानेका शास्त्रसम्मत (या परम्परागत) कर्म करनेका नाम भी प्रायश्चित्त ही है।

पाप और पुण्यके अनेक भेद, अनेक लक्षण, अनेक कारण और अनेक नाम होनेपर भी वेदव्यासजीने इनका लक्षण दो शब्दोंमें स्पष्ट कह दिया है। उनका मत है कि दूसरेका उपकार करना 'पुण्य'[३] और दूसरेको पीड़ित करना 'पाप'[४] है। शास्त्रकारोंने पाप तीन प्रकारके बतलाये हैं—(१) धर्मशास्त्रोंने जिस जातिके लिये जो कर्म बतलाया है, उसको न करना, (२) शास्त्रोंमें जिस कर्मको बुरा बतलाया है, उसको करना और (३) इन्द्रियोंको वशमें न रखकर मनमाने कर्म (खान-पान, पहिरान या दुर्व्यवहार) करना—इन तीनों प्रकारके पापोंसे ही पीछे जाकर प्रकीर्णक, जातिभ्रंशकर, संकरीकरण, अपात्रीकरण, मलिनीकरण, उपपातक, अनुपातक और महापातक बन जाते हैं और इनके करनेसे मनुष्य निजपदसे गिर जाता है। अतः

---

१. प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥ (अंगिरा)

२. 'प्रयतत्वाद्वोपचितमशुभं नाशयतीति प्रायश्चित्तम्'॥ (हारीत)

३. परोपकारः पुण्याय।

४. पापाय परपीडनम्। (वेदव्यास)

शास्त्रकारोंने जिस कर्मका निषेध किया है, उसका त्याग और जिसको ग्राह्य बतलाया है, उसका ग्रहण करना मनुष्यमात्रके लिये श्रेयस्कर है। कदाचित् कुसंगवश कोई पाप बन जाय तो उसकी निवृत्तिके निमित्त यथोचित प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। यदि प्रायश्चित्त न किया जाय तो दूसरे जन्ममें दूषित योनि प्राप्त होती है या अंग-भंग, भगन्दर आदि दोषोंसे युक्त मनुष्ययोनि मिलती है। किस पापसे मनुष्य किस योनिमें उत्पन्न होता है अथवा अंगोंमें किस प्रकारकी विकृति होती है—ये सब विषय 'प्रायश्चित्तेन्दुशेखर' आदिमें विस्तारसे वर्णित हैं।

प्रायश्चित्तके अनेक भेद हैं। जैसा पाप हो, वैसा ही प्रायश्चित्त होता है। उसमें भी ज्ञात, अज्ञात, अवस्था-भेद और तत्काल या कालातिक्रमण आदिके विचारानुसार यथोचित प्रायश्चित्तमें कमी-बेशी भी की जाती है। यथा—सामान्यके लिये जप या हवन, विशेषके लिये (पूर्वांगमें लिखे हुए) एकभुक्त, नक्त, अयाचित या उपवास और ताड़न-मारण आदिके लिये कृच्छ्र या अतिकृच्छ्र नियत किये जाते हैं। इस विषयमें 'प्राजापत्य' और 'चान्द्रायण' का विशेष प्राधान्य है। अधिकांश पापोंके प्रायश्चित्त प्रायः इन्हींके (कृच्छ्र-अतिकृच्छ्र आदि) विभिन्न भेदोंसे सम्पन्न होते हैं। इनमें भी पापोंकी गुरुता और लघुताके अनुसार कठोरता और सरलता की जाती है। यथा—

(१) प्राजापत्यव्रत (मन्वादि धर्मशास्त्र)—इसमें तीन दिन प्रातःकाल (कुक्कुटाण्डके बराबर २६ या १५ ग्रास); तीन दिन सायंकाल (वैसे ही २५ या १२ ग्रास) और तीन दिन अयाचित (बिना माँगे जो कुछ जिस समय जितना मिल जाय, उसके चौबीस ग्रास) भोजन और तीन दिन उपवास करनेसे एक

'प्राजापत्य'[१] होता है। इस प्रकार न हो सके तो एकभुक्त, नक्त, अयाचित और उपवास—ये यथाक्रम ३-३ दिन करे। उपवास निराहार न हो सके तो जल, फल या दुग्धपानसे करे। जपशीलको[२] बारह हजार जप, तपशीलको[३] एक हजार होम तथा समर्थको १२ ब्राह्मणोंका भोजन और दो गो-दान या गोमूल्यरूपसे कुछ द्रव्यका दान करना चाहिये। इस व्रतसे 'अनादिष्ट' (जिनके लिये प्रायश्चित्तका विधान नहीं है उन) पापोंकी निवृत्ति होती है।

(२) **पादोनकृच्छ्रव्रत** (मन्वादि धर्मशास्त्र)—इसमें दो दिन प्रातःकाल, दो दिन सायंकाल, दो दिन अयाचित भोजन और दो दिन उपवास करे। यह न बने तो कुछ सोना दान दे।

(३) **अर्द्धकृच्छ्रव्रत**[४] (धर्मशास्त्र)—इसमें एक दिन प्रातःकाल, एक दिन सायंकाल, दो दिन अयाचित भोजन और दो दिन उपवास करे। यह न बने तो सोने या चाँदीका दान दे। इस व्रतसे ऋतुकालमें स्त्रीका सहवास त्याग देने-जैसे पापोंकी निवृत्ति होती है।

(४) **पादकृच्छ्रव्रत** (धर्मशास्त्र)—इसमें एक दिन प्रातःकाल,

---

१. त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।
परं त्र्यहं च नाश्नीयात् प्राजापत्यं चरेद् द्विजः॥ (मनु)

२. अनृतं मद्यगन्धं च दिवामैथुनमेव च।
पुनाति वृषलान्नं च संध्या बहिरुपासिता॥
शतजप्ता तु सावित्री महापातकनाशिनी।
सहस्रजप्ता तु तथा पातकेभ्यः प्रमोचिनी॥
दशसाहस्रजाप्येन सर्वकिल्बिषनाशिनी।
लक्षं जप्ता तु सा देवी महापातकनाशिनी॥ (शंख)

३. तिलान् ददाति यः प्रातस्तिलान् स्पृशति खादति।
तिलस्नायी तिलांजुह्वन् सर्वं तरति दुष्कृतम्॥ (यम)

४. सायं प्रातस्तथैकैकं दिनद्वयमयाचितम्।
दिनद्वयं च नाश्नीयात् कृच्छ्रार्धं तद् विधीयते॥ (आपस्तम्ब)

एक दिन सायंकाल, एक दिन अयाचित भोजन और एक दिन उपवास करनेसे 'पादकृच्छ्र'[१] होता है।

(५) **अतिकृच्छ्र** (धर्मशास्त्र)—नौ दिन एक-एक ग्रास भोजन और तीन दिन उपवास करने और ३ या २ गौ देनेसे 'अतिकृच्छ्र'[२] होता है। यह न बन सके तो 'पाणिपूरान्न' (हथेलीमें आये उतना) भोजन और तीन दिन दूध आदिसे उपवास करे। यह व्रत ब्राह्मणके लकुट-प्रहार करने-जैसे पापोंकी निवृत्तिके निमित्त किया जाता है।

(६) **कृच्छ्रातिकृच्छ्र** (धर्मशास्त्र)—प्रातःकाल, सायंकाल और मध्याह्नकाल—इनमें एक-एक बार जल पीकर २१ दिन व्रत करनेसे 'कृच्छ्रातिकृच्छ्र'[३] होता है। यमका मत है कि यह न बने तो अतिकृच्छ्र करे।

(७) **तप्तकृच्छ्रव्रत** (मनु आदि)—३ दिन ६ पल (३५० ग्राम) गर्म जल, ३ दिन ३ पल गर्म दूध, ३ दिन १ पल गर्म घी और तीन दिन गर्म वायु (उबलते हुए जलकी भाप) पीनेसे; या ३ पल गर्म जल, २ पल गर्म दूध और १ पल गर्म घी ३-३ दिन पीने और ३ उपवास करनेसे अथवा तीनोंको एक साथ गर्म करके १ दिन पीने और १ दिन उपवास करनेसे 'तप्तकृच्छ्र'[४] होता है। इसमें पहला मत मनुका है।

(८) **शीतकृच्छ्रव्रत** (मनु-याज्ञवल्क्य आदि)—इसमें ३ दिन उक्त प्रमाणका ठंडा जल, ३ दिन ठंडा दूध और तीन

---

१. बालवृद्धातुरेष्वेवं शिशुकृच्छ्रमुवाच ह। (वसिष्ठ)

२. एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः॥ (मनु)

३. अब्भक्षस्तु त्रिभिः कालैः कृच्छ्रातिकृच्छ्रकः स्मृतः। (गौतम)

४. तप्तकृच्छ्रं चरन् विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान् सकृत्स्नायी समाहितः॥ (मनु)

दिन ठंडा घी पीनेसे और यदि सामर्थ्य न हो तो १-१ दिन पीनेसे 'शीतकृच्छ्र'[१] होता है।

(९) पर्णकूर्चव्रत (धर्मशास्त्र)—पलास, गूलर, पद्म, बेलपत्र और कुशपत्र—इन सबको एक साथ उबालकर ३ दिन पीनेसे 'पर्णकूर्च'[२] होता है।

(१०) ब्रह्मकूर्चव्रत (धर्मशास्त्र)—पहले ३ दिन उपवास करके फिर पलास, गूलर, पद्म, बेलपत्र और कुश—इनके उबलते हुए भापको पीनेसे 'ब्रह्मकूर्च' होता है।

(११) पर्णकृच्छ्र—नित्य स्नानसे पहले पंचगव्य-स्नान करके पहले ३ दिन उपवास, फिर ५ दिनतक प्रतिदिन पलास, गूलर, पद्म, बेल और कुश—इनके पत्तोंको जलमें उबालकर या इनमेंसे एक-एकको प्रतिदिन उबालकर पीनेसे 'पर्णकृच्छ्र'[३] होता है।

(१२) पद्मकृच्छ्र—पद्मके पत्तोंको उबालकर प्रतिदिन एक मास पीनेसे 'पद्मकृच्छ्र'[४] होता है।

(१३) पुष्पकृच्छ्र—पुष्पोंको उबालकर एक मास पीनेसे 'पुष्पकृच्छ्र'[५] होता है।

(१४) फलकृच्छ्र—फलोंको उबालकर उनका जल एक मास पीनेसे 'फलकृच्छ्र'[६] होता है।

---

१. त्र्यहं शीतं पिबेत्तोयं त्र्यहं शीतपयः पिबेत्।
त्र्यहं शीतं घृतं पीत्वा वायुभक्षः परं त्र्यहम्॥ (यम)

२. पालाशादीनि पत्राणि त्रिरात्रोपोषितः शुचिः।
क्वाथयित्वा पिबेदद्भिः पर्णकूर्चोऽभिधीयते॥ (यम)

३. पत्रैर्मतः पर्णकृच्छ्रः। (मार्कण्डेय)

४. पद्मपत्रैः पद्मकृच्छ्रः। (,,)

५. पुष्पैस्तत्कृच्छ्र उच्यते। (,,)

६. फलैर्मासेन क्वथितः फलकृच्छ्रो मनीषिभिः। (,,)

(१५) मूलकृच्छ्र—उक्त वृक्षोंके मूलको उबालकर उसका जल एक मास पीनेसे 'मूलकृच्छ्र'[१] होता है। इन पर्ण, पद्म, पुष्प, फल और मूलोंका जल प्रतिदिन तैयार करना चाहिये। यह नहीं कि एक दिन इकट्ठा उबालकर पात्रमें भर ले और प्रतिदिन पीता रहे।

(१६) श्रीकृच्छ्र (धर्मशास्त्र)—यह तीन प्रकारसे किया जाता है। यथा बेलके फल उबालकर उनका जल एक मास पीनेसे 'श्रीकृच्छ्र' या आँवले उबालकर उनका जल पीनेसे 'दूसरा श्रीकृच्छ्र'[२] होता है।

(१७) जलकृच्छ्रव्रत (याज्ञवल्क्य)—शुद्ध जलको उबालकर प्रतिदिन प्रातःस्नान आदि नित्यकर्मके पीछे एक मासतक पीनेसे 'जलकृच्छ्र'[३] होता है।

(१८) सांतपन (विश्वकोश)—छः रात्रिका उपवास करनेसे 'सांतपन' होता है।

(१९) कृच्छ्रसांतपन (याज्ञवल्क्य)—एक दिन गोमूत्र, एक दिन गोबर, एक दिन दही, एक दिन दूध, एक दिन घी और एक दिन कुशोदक पीने और एक दिन उपवास करनेसे 'कृच्छ्रसांतपन'[४] होता है।

(२०) महासांतपन (याज्ञवल्क्य)—तीन दिन गोमूत्र, तीन दिन गोबर, तीन दिन दही, तीन दिन दूध, तीन दिन घी और

---

१. मूलकृच्छ्रः स्मृतो मूलैः। (मार्कण्डेय)

२. श्रीकृच्छ्रः श्रीफलैः प्रोक्तः। (मार्क०) मासेनामलकैरेवं
श्रीकृच्छ्रमपरं स्मृतम्। (मार्कण्डेय)

३. तोयकृच्छ्रो जलेन तु। (,,)

४. गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकैकं प्रत्यहं पीत्वा त्वहोरात्रमभोजनम्।
कृच्छ्रं सांतपनं नाम सर्वपापप्रणाशनम्॥ (जाबालि)

तीन दिन कुशोदक पीने और तीन दिन उपवास करनेसे सम्पूर्ण पापोंको निवारण करनेवाला 'महासांतपन'[1] होता है।

(२१) **अतिसांतपन**—उपर्युक्त पदार्थोंको दो-दो दिन पीनेसे 'अतिसांतपन'[2] होता है।

(२२) **ब्रह्मकूर्चव्रत** (मिताक्षरा)—इसमें ताम्रवर्णकी गौके ८ माशे गोमूत्रको गायत्री-मन्त्रसे, सुश्वेत रंगकी गौके १६ माशे गोबरको '**गन्धद्वारां०**' से, नीली गौके १० माशे दहीको '**दधिक्राव्णो०**' से, सुनहरे रंगकी गौके १२ माशे दूधको '**आप्यायस्व०**' से, काले रंगकी गौके ९ माशे घीको '**देवस्य त्वा०**' से और यथाविधि लाये हुए कुशके चार माशे जलको '**देवस्य त्वा०**' से ग्रहण करके पंचगव्य बनाकर '**इरावती०**', '**इदं विष्णु०**', '**मा नस्तोके०**' और '**शंवती०**'—इन २० ऋचाओंसे हवन करे। फिर हवनसे बचे हुए पंचगव्यको प्रणव (ॐ)से मिलाये, ॐसे ही उठाये और ॐसे ही ढाकके मध्यपत्र या सुवर्णपात्र अथवा ताम्रपात्र या 'ब्रह्मतीर्थ' (हथेलीमें लेकर चरणामृतकी भाँति मणिबन्धके ऊपर)-से पीये और पीते समय '**यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मामके। ब्रह्मकूर्चोपवासस्तु दहत्वग्निरिवेन्धनम्॥**' इस मन्त्रका उच्चारण करे। इस प्रकार तीन बार पीनेसे 'ब्रह्मकूर्च'[3] सम्पन्न होता है।

(२३) **यतिसांतपन** (याज्ञवल्क्य)—उक्त प्रकारसे तैयार किये हुए (गोमूत्र, गोबर, दूध, दही और घी)-के पंचगव्यको

---

१. त्र्यहं पिबेत्तु गोमूत्रं त्र्यहं वै गोमयं पिबेत्।
त्र्यहं दधि त्र्यहं क्षीरं त्र्यहं सर्पिस्ततः शुचिः॥
महासांतपनं चैतत्‌......। (यम)

२. एतान्येव यदा पेयादेकैकं तु द्व्यहं द्व्यहम्।
अतिसांतपनं नाम श्वपाकमपि शोधयेत्॥ (यम)

३. एताभिश्चैव होतव्यं हुतशेषं पिबेद् द्विजः।
ब्रह्मकूर्चोपवासस्तु० । (पराशर)

तीन दिनतक पीनेसे 'यतिसांतपन' होता है। जाबालिके मतसे उक्त पंचगव्यको कुशोदकमें मिलाकर सात दिन पीनेसे 'कृच्छ्रसांतपन' होता है।

(२४) पराकव्रत (धर्मशास्त्र)—निरन्तर बारह अहोरात्रका उपवास करने और २, ३ या ५ गोदान अथवा तन्मूल्योपकल्पित द्रव्य देनेसे 'पराकव्रत' सम्पन्न होता है।

(२५) सौम्यकृच्छ्रव्रत (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—व्रत आरम्भ करके पहले दिन प्राणरक्षाप्रमाण पिण्याक (जितनेसे प्राण रह सके, उतने तिलोंकी खली), दूसरे दिन आचाम (उबाले हुए चावलोंका पानी—माँड़), तीसरे दिन तक्र (छाछ—मठा), चौथे दिन जल और पाँचवें दिन सत्तू पीये। फिर तीन दिन उपवास करे तब 'सौम्यकृच्छ्रव्रत' होता है।

(२६) तुलापुरुषव्रत (धर्मशास्त्र)—उपर्युक्त खली, माँड़, छाछ, जल और सत्तू—इन पाँचोंमेंसे प्रत्येकको ३-३ दिनके क्रमसे १५ दिन पीकर ६ दिन उपवास करनेसे 'तुलापुरुषव्रत' होता है।

(२७) यावकश्रीकृच्छ्र (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—३ दिन गोमूत्र, ३ दिन गोबर और ३ दिन यावक (जौ उबालकर तैयार किया हुआ जल) पीनेसे 'यावकश्रीकृच्छ्रव्रत' होता है।

(२८) यावककृच्छ्रव्रत (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—प्रतिदिन नियमित जलमें जौ उबालकर ७ दिन या १५ दिन पीनेसे 'यावककृच्छ्र' होता है। किसीके मतसे १ मास पीनेसे होता है।

(२९) अपरजलकृच्छ्र (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—बिना कुछ खाये-पीये एक दिनके प्रातःकालसे लेकर दूसरे दिनके प्रातःकालतक गलेतक पहुँचे हुए जलमें खड़े रहनेसे 'जलकृच्छ्रव्रत' सम्पन्न होता है। यह दूसरा 'जलकृच्छ्रव्रत' है।

(३०) वज्रकृच्छ्रव्रत (याज्ञवल्क्यादि)—गोबर और यावक (जौका पूर्वोक्त प्रकारसे निकाला हुआ जल) मिलाकर पीनेसे 'वज्रकृच्छ्रव्रत' होता है।

(३१) सांतपनव्रत (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—पहले दिन केवल पंचगव्य (गौके गोबर, गोमूत्र, दही, दूध और घी) पीने और दूसरे दिन उपवास करनेसे 'सांतपनव्रत' होता है।

(३२) यतिसांतपन (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—तीन दिन पंचगव्य पीकर चौथे दिन उपवास और हवन करनेसे 'यतिसांतपनव्रत' होता है।

(३३) षाडाहिक सांतपन (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—पाँच दिन पंचगव्य पीने और छठे दिन उपवास करनेसे 'षाडाहिक सांतपनव्रत' होता है।

(३४) साप्ताहिक सांतपन (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर)—पंचगव्यके पाँच पदार्थोंको एक-एक करके यथाक्रम पाँच दिन पीने और छठे दिन कुशोदक पीकर सातवें दिन उपवास करनेसे 'साप्ताहिक सांतपन' सम्पन्न होता है।

(३५) एकविंशदिनात्मक सांतपन (प्रायश्चित्तेन्दुशेखर) कुशोदक, गोबर, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोदधि और गोघृतमेंसे एक-एकको तीन-तीन दिन पीकर (१८ दिनके बाद) तीन दिन उपवास करनेसे इक्कीस दिनका 'सांतपनव्रत' होता है।

(३६) चान्द्रायणव्रत (मनु-वसिष्ठ-याज्ञवल्क्यादि स्मृति)—यह व्रत चन्द्रकलाकी ह्रास-वृद्धिके अनुसार भक्ष्य-भोज्यकी ग्रास-संख्याको घटा-बढ़ाकर किया जाता है। जिस प्रकार कृष्णप्रतिपदासे चन्द्रमा एक-एक कलासे हीन होकर अमावस्याको पूर्णरूपसे क्षीण हो जाता है और शुक्लप्रतिपदासे एक-एक कलाकी वृद्धि होकर पूर्णिमाको पुनः वह पूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार

चान्द्रायणव्रतमें[1] कृष्णप्रतिपदासे एक-एक ग्रास घटाकर अमावस्याको लंघन (उपवास) किया जाता है और शुक्लप्रतिपदासे एक-एक ग्रास बढ़ाकर पूर्णिमाको पूर्ण किया जाता है। इस प्रकार एक मासके तीस दिनोंमें एक चान्द्रायणव्रत सम्पन्न होता है। चान्द्रायणका अर्थ है 'चन्द्रके अयन (ह्रास-वृद्धि)-के समान आहारको घटा-बढ़ाकर किया जानेवाला व्रत।' उपर्युक्त नियमसे करनेमें इसकी ह्रास-वृद्धिके सम्पूर्ण ग्रास दो सौ चालीस होते हैं और इसी व्रतके जो अन्यान्य विधान बतलाये हैं, उन सबमें भी दो सौ चालीस ही ग्रास होते हैं। परंतु 'यवमध्यतनु' और 'पिपीलिकातनु'में (शुक्लपूर्णिमा और कृष्णप्रतिपदाके १५-१५ ग्रास होनेके बदले केवल प्रतिपदाके १४ ग्रास होनेसे) २२५ ही ग्रास होते हैं। इस विषयमें वसिष्ठादिका यही मत है कि पूर्णिमाको १५ और प्रतिपदाको १४ ग्रास भक्षण करे तथा कृष्णपक्षकी समाप्तिमें अमावस्याको उपवास करे। यथा (१) 'यवमध्यतनु' चान्द्रायणमें शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे प्रारम्भ करके प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ाता हुआ पूर्णिमाको पंद्रह ग्रास भक्षण करे और फिर कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको चौदह ग्रास भक्षण करके प्रतिदिन एक-एक ग्रास घटाता हुआ कृष्णचतुर्दशीको एक ग्रासका भोजन और अमावस्याको उपवास करे तथा (२) 'पिपीलिकातनु' में कृष्णप्रतिपदाको[2] चौदह ग्राससे आरम्भ करके प्रतिदिन एक-एक ग्रास घटाता हुआ कृष्णचतुर्दशीको

---

१. तिथिवृद्ध्या चरेत् पिण्डान् शुक्ले शिख्यण्डसम्मितान्।
एकैकं ह्रासयेत् कृष्णे पिण्डं चान्द्रायणं चरेत्॥ (याज्ञवल्क्य)
एकैकं वर्द्धयेत् पिण्डं शुक्ले कृष्णे च ह्रासयेत्।
इन्दुक्षये न भुंजीत एष चान्द्रायणे विधिः॥ (वसिष्ठ)

२. मासस्य कृष्णपक्षादौ ग्रासानद्याच्चतुर्दश।
ग्रासापचयभोजी सन् यज्ञशेषं समापयेत्॥
तथैव शुक्लपक्षादौ ग्रासं भुंजीत चापरम्॥ (वसिष्ठ)

एक ग्रासका भोजन और अमावस्याको उपवास करे तथा शुक्लप्रतिपदासे एक-एक ग्रास बढ़ाता हुआ पूर्णिमाको पंद्रह ग्रास भक्षण करके पूर्ण करे। इस भाँति दोनों प्रकारका चान्द्रायण सम्पन्न होता है।

व्रतारम्भके विषयमें गौतम ऋषिने यह विशेष बतलाया है कि प्रायश्चित्तके निमित्तसे चान्द्रायणव्रत करना हो तो पहले दिन व्रत रखकर मुण्डन[1] कराये और शुद्ध स्नान करके दूसरे दिन प्रातःस्नानादि नित्यकर्म करे। फिर देवपूजा, पितृपूजा और '**यद्देवा देवहेडनं०**' आदि चार मन्त्रोंसे हवन करके 'यवमध्य' में शुक्लप्रतिपदाका एक अथवा 'पिपीलिकातनु' में कृष्णप्रतिपदाके चौदह ग्रासोंको ढाकके पत्ते आदिके पात्रमें रखकर '**ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं ॐ यशः ॐ श्रीः ॐ ऊर्क् ॐ इट् ॐ ओजः ॐ तेजः ॐ पुरुषः ॐ धर्मः ॐ शिवः**— इन मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करे और फिर जितने ग्रास भक्षण करने हों, प्रत्येक ग्रासके साथ '**मनसे नमः स्वाहा**' कहकर भक्षण करे। इस प्रकार प्रतिदिन करता रहे। भक्ष्य पदार्थोंमें जो कुछ अन्न-पानादि लिये जायँ, वे हविष्य[2] (होम करनेयोग्य) होने चाहिये। यथा—चरु (हुतशेष खीर), भैक्ष्य (भिक्षा प्राप्त अन्न-पानादि), सक्तु (भूने हुए जौका सूखा चून), कण (चावल), यावक (जौकी लप्सी), शाक (मेथी, बथुआ, ककड़ी या पालक आदि), पय (गोदुग्ध), दधि (गायका दही), घृत (गोघृत), मूल (भूगर्भमें उत्पन्न होनेवाले भक्ष्य—कन्द, शकरकन्द आदि), फल (केला, नारंगी, अनार, सीताफल आदि) और उदक (शुद्ध जल)—इनमें जो अभीष्ट हो, उसका भक्षण करे। ग्रास आँवलेके[3] फलके बराबर अथवा जो सुगमतापूर्वक मुँहमें आ

---

१. कक्षलोमशिखावर्जं श्मश्रुकेशादि वापयेत्॥ (वसिष्ठ)

२. चरुभैक्ष्यसक्तुयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलोदकानि। (गौतम)

३. तथाऽऽमलकसम्मितं यथासुखमुखं चेति। (स्मृतिसंग्रह)

सके, इतना होना चाहिये। मिताक्षराकारने लिखा है कि पत्तोंके छोटे दोनोंमें दुग्ध आदि लेकर उनसे ग्रास-संख्याकी पूर्ति की जाय तो उससे भी चान्द्रायणव्रत सम्पन्न हो सकता है। अस्तु,

(३७) यतिचान्द्रायण (मनुस्मृति)—प्रतिदिन मध्याह्नके समय पूर्वोक्त हविष्यान्नके आठ-आठ ग्रास भक्षण करनेसे तीस दिनमें 'यतिचान्द्रायण'[१] होता है।

(३८) शिशुचान्द्रायण (मनुस्मृति)—चार ग्रास प्रातःकाल और चार ग्रास सूर्यास्तके बाद भक्षण करे। तीस दिन इस प्रकार करनेसे 'शिशुचान्द्रायण'[२] होता है।

(३९) ऋषिचान्द्रायण (मनुस्मृति)—व्रतमें दृढ़ रहनेवाला कोई भी सत्पुरुष प्रतिदिन तीन ग्रास तीस दिनतक भक्षण करनेसे नब्बे ग्रासका 'ऋषिचान्द्रायण'[३] कर सकता है।

(४०) सोमायनव्रत—(मार्कण्डेय)—सात दिन गायके चारों स्तनोंका, सात दिन तीन स्तनोंका, सात दिन दो स्तनोंका और छः दिन एक स्तनका दूध पीये और तीन दिन उपवास करे तो सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला 'सोमायनव्रत'[४] सम्पन्न होता है। सोमायनव्रत धारोष्ण दुग्धपान करनेसे सम्पन्न होता है। यह चान्द्रायणके समान ही माना गया है।

---

१. अष्टावष्टौ समश्नीयात् पिण्डान् मध्यंदिनस्थिते।
नियतात्मा हविष्यस्य यतिचान्द्रायणं चरेत्॥

२. चतुरः प्रातरश्नीयात् पिण्डान् विप्रः समाहितः।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं चरेत्॥

३. त्रींस्त्रीन् पिण्डान् समश्नीयान्नियतात्मा दृढव्रतः।
हविष्यान्नस्य वै मासमृषिचान्द्रायणं स्मृतम्॥

४. गोक्षीरं सप्तरात्रं तु पिबेत् स्तनचतुष्टयात्।
स्तनत्रयात् सप्तरात्रं सप्तरात्रं स्तनद्वयात्॥
स्तनेनैकेन षड्रात्रं त्रिरात्रं वायुभुग्भवेत्।
एतत् सोमायनं नाम व्रतं कल्मषनाशनम्॥ (मार्कण्डेय)

(४१) **विलोमसोमायन** (हारीतस्मृति)—कृष्णपक्षकी चतुर्थीसे प्रारम्भ करके तीन दिन चार स्तनोंका, तीन दिन तीन स्तनोंका, तीन दिन दो स्तनोंका और तीन दिन एक स्तनका दूध पीये। फिर तीन दिन एक स्तनका, तीन दिन दो स्तनोंका, तीन दिन तीन स्तनोंका और तीन दिन चार स्तनोंका दूध पीये। इस प्रकार कृष्णचतुर्थीसे शुक्लद्वादशीपर्यन्त चौबीस दिनमें इस व्रतको पूर्ण करे। यह अशक्त मनुष्योंके करनेका 'सोमायन' है। इससे सोमलोककी प्राप्ति होती है। अस्तु,

व्रतारम्भकी व्यवस्था—यद्यपि उपर्युक्त व्रत पाप-नाशके निमित्तसे किये जाते हैं, तथापि यदि इनका विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाय तो इनके प्रभावसे जीवनमें अपूर्व परिवर्तन दिखायी देता है। वर्षोंसे दुःख भोगनेवाले मनुष्यको भी इन व्रतोंके आचरणसे ऐसे साधन मिल जाते हैं, जिनके प्रभावसे उसके सम्पूर्ण दुःख-दारिद्र्य स्वप्नकी भाँति विलीन हो जाते हैं और उसे मनोवांछित सुखोंकी प्राप्ति होने लगती है। व्रत करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह व्रतारम्भके पहले दिन मुण्डन कराये; फिर भस्म, गोमय, मृत्तिका, जल और पंचगव्यसे स्नान करके अन्तमें शुद्ध स्नान करे। तत्पश्चात् सायंकालमें जब तारे दिखायी देने लगें, तब व्रतकी दीक्षा ले और अपने किये हुए पापोंके लिये सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करते हुए उनको जनताके सामने स्पष्टरूपसे प्रकट करे। फिर दूसरे दिन प्रातःस्नान आदिके बाद देवपूजा, पितृपूजा, घृतहोम और गायत्री-जप करके मौनावलम्बनपूर्वक मन, वाणी और क्रियाके द्वारा व्रतमें संलग्न हो जाय तथा उसे सावधानीके साथ पूर्ण करे। यहाँ प्रसंगवश कुछ ऐसे पाप, जो प्रमादवश सहज ही हो जाते हैं और उनके कुछ ऐसे प्रायश्चित्त, जो सुगमतापूर्वक किये जा सकते हैं, बतलाये जा रहे हैं।

फल और फूल देनेवाले वृक्ष, लता या गुल्म आदिके छेदनका पाप वेदकी सौ ऋचाओंका जप करनेसे दूर होता है।[1] वानर, गधा, कुत्ता, ऊँट और कौआ काट ले तो जलमें प्राणायाम करके घी खानेसे शुद्धि होती है।[2] ब्राह्मणको कुत्ता काट खाय तो वह समुद्रगामिनी नदीमें स्नान करके सौ प्राणायाम करने तथा घृतपान करनेसे शुद्ध होता है।[3] ब्राह्मणीको कुत्ता, सियार या भेड़िया काट ले तो वह तारा देखनेसे शुद्ध होती है।[4] यदि रजस्वला स्त्रीको कुत्ता, सियार या गधा काट ले तो पाँच रात्रि पंचगव्य पीनेसे उसकी शुद्धि होती है।[5] यदि ब्राह्मणके शरीरमें घाव होकर रुधिर और पीब निकले तथा उसमें कीड़े पड़ जायँ तो दो गव्य—गोबर एवं गोमूत्रका प्राशन करनेसे वह शुद्ध होता है।[6] यदि गृहस्थ पुरुष कामवश वीर्यको भूमिपर डाले तो तीन प्राणायाम करके एक हजार गायत्रीजप करनेसे वह शुद्ध होता है।[7] स्वप्नमें ब्रह्मचारी द्विजका अकामसे

---

१. फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम्।
गुल्मवल्लीलतानां तु पुष्पितानां च वीरुधाम्॥ (या० स्मृ०)

२. ·······वानरखरैर्दष्टः श्वोष्ट्रादिवायसैः।
प्राणायामं जले कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति॥ (या० स्मृ०)

३. ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदीं गत्वा समुद्रगाम्।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति॥ (वसिष्ठ)

४. ब्राह्मणी तु शुना दष्टा जम्बुकेन वृकेण च।
उदितं ग्रहनक्षत्रं दृष्ट्वा सद्यः शुचिर्भवेत्॥ (पराशर)

५. रजस्वला यदा दष्टा शुना जम्बुकरासभैः।
पंचरात्रनिराहारा पंचगव्येन शुद्ध्यति॥ (पुलस्त्य)

६. ब्राह्मणस्य व्रणद्वारे पूयशोणितसम्भवे।
कृमिरुत्पद्यते यस्य युग्मगव्येन शुद्ध्यति॥ (मनु)

७. गृहस्थः काम्यतः कुर्याद् रेतसः स्कन्दनं भुवि।
सहस्रं तु जपेद् देव्याः प्राणायामैस्त्रिभिः सह॥ (मनु)

भी वीर्य गिर जाय तो वह स्नान करके तीन बार सूर्यको प्रणाम करे और '**पुनर्मामेत्विन्द्रियम्०**' इस ऋचाको जपे, तभी उसकी शुद्धि होती है।[१] यदि कोई यज्ञोपवीतधारी द्विज बिना यज्ञोपवीतके भोजन कर ले या मल-मूत्रका त्याग करे तो वह प्राणायामपूर्वक आठ हजार गायत्रीका जप करनेसे पवित्र होता है।[२] स्त्री बेचनेसे बड़ा पाप होता है, उसकी चान्द्रायणव्रतसे शुद्धि होती है।[३] बाग, बगीचे, तालाब, तलाई और कुआँ, प्याऊ—इनके बेचनेसे तथा सुकृत और पुत्रका विक्रय करनेसे भी पाप होता है। उससे छूटनेके लिये त्रिकाल स्नान करके पृथ्वीपर शयन करे और एक दिन उपवास करके दूसरे दिन अन्न ग्रहण करे।[४] सर्प और नेवले, बकरे और बिल्ली, चूहे और ऊँट, मेढक और स्त्रीके बीचमें होकर निकलनेका पाप स्नान, दान, जप या व्रतरूप तात्कालिक प्रायश्चित्त करनेसे दूर होता है।[५] किसी प्रकारका असत् दान ग्रहण कर लिया जाय तो तीन हजार गायत्री जपनेसे शुद्धि होती है[६]। भेड़का, गर्भिणी तथा बिना बछड़ेवाली गौका और वनके मृग, सूअर

---

१. स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत्॥ (मनु)

२. ब्रह्मसूत्रं विना भुङ्क्ते विण्मूत्रं कुरुतेऽथवा।
गायत्र्यष्टसहस्रेण प्राणायामेन शुद्ध्यति॥ (मरीचि)

३. नारीणां विक्रयं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणव्रतम्।(चतुर्विंशति मतसंग्रह)

४. आरामतडागोदपानपुष्करिणीसुकृतसुतविक्रयेति० (पैठीनसि)

५. सर्पस्य नकुलस्याथ अजमार्जारयोस्तथा।
मूषकस्य तथोष्ट्रस्य मण्डूकस्य च योषितः।
अन्तरागमने सद्यः प्रायश्चित्तेन शुद्ध्यति॥ (यम)

६. जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः।
.... मुच्यतेऽसत्परिग्रहात्॥ (मनु)

एवं नीलगाय आदिका दुग्ध पान करनेपर उपवास करनेसे शुद्धि होती है। महिषीके दूधका शास्त्रोंमें निषेध नहीं है।[१] आपत्तिकालमें ब्राह्मण यदि शूद्रके घरमें भोजन कर ले तो मानसिक पश्चात्तापपूर्वक '**द्रुपदादिव०**' मन्त्रका सौ बार जप करनेसे शुद्ध हो जाता है।[२] दीपक जलानेसे बचा हुआ तैल, लगानेसे बचा हुआ उबटन और गलीमें होकर लाया हुआ भोजन काममें लिया जाय तो नक्तव्रत करनेसे शुद्धि होती है[३]। यदि अनजानमें चाण्डालके कुएँ अथवा बर्तनका जल पी लिया गया हो तो तीन दिनका उपवास करनेसे पवित्रता होती है[४]। जो वाणीसे दूषित किया गया हो, जिसमें किसीकी दूषित भावना हो गयी हो तथा जो भावदूषित पात्रमें रखा गया हो, उस अन्नकोयदि ब्राह्मण खा ले तो वह तीन रात्रिके व्रतसे शुद्ध होता है[५]। यदि सींग, हाड़, दाँत, शंख, सीप और कौड़ीसे बनाये हुए पात्रमें भरकर नवीन जल (वर्षाका तात्कालिक जल) पीया गया हो तो पंचगव्य पीनेसे शुद्धि होती है[६]। बिना मौसिमकी वर्षाका जल दस दिनोंतक नहीं पीना चाहिये। मौसिममें भी

---

१. आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः।
अरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषीं विना॥ (मनु)

२. आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि।
मनस्तापेन शुद्ध्येत्तु द्रुपदानां शतं जपेत्॥ (पराशर)

३. दीपोच्छिष्टं तु यत्तैलं रात्रौ रथ्याहृतं तु यत्।
अभ्यंगाच्चैव यच्छिष्टं भुक्त्वा नक्तेन शुद्ध्यति॥ (षट्त्रिंशत्)

४. चाण्डालकूपभाण्डस्य अज्ञानादुदकं पिबेत्।
स तु त्र्यहेण शुद्ध्येत शूद्रस्त्वेकेन शुद्ध्यति॥ (आपस्तम्ब)

५. वाग्दुष्टं भावदुष्टं च भाजने भावदूषिते।
भुक्त्वान्नं ब्राह्मणः पश्चात् त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति॥

६. शृंगास्थिदन्तजैः पात्रैः शंखशुक्तिकपर्दकैः।
पीत्वा नवोदकं चैव पंचगव्येन शुद्ध्यति॥ (बृहद्याज्ञवल्क्य)

बरसा हुआ शुद्ध नवीन जल तीन दिनोंतक नहीं ग्रहण करे। यदि इसके विपरीत पी ले तो उपवाससे शुद्धि होती है[१]। धान (चावल), दही और सत्तू—इनको लक्ष्मीकी कामनावाला पुरुष रातमें न खाय। यदि खा ले तो उपवाससे ही उसकी शुद्धि होती है।[२] प्राणायाम एक ऐसा उत्कृष्ट साधन है, जिसकी सौ आवृत्तियाँ करनेसे पाप और उपपाप सब नष्ट हो जाते हैं[३]। वट, आक (मदार), पीपल, कुम्भी (तरबूज), तिन्दुक (तेंदू), कदम्ब और कचनारके पत्तोंमें भोजन नहीं करना चाहिये; क्योंकि उनमें भोजन करनेसे जो दोष होता है, उसकी चान्द्रायणव्रतसे ही शुद्धि होती है।[४] मधु, गुड़की बनी हुई वस्तु, शाक, गोरस, नमक और घीको हाथसे उठाकर नहीं परोसना चाहिये। जो हाथसे उठाकर दी हुई उपर्युक्त वस्तुओंको खाता है, वह एक दिन उपवास करनेसे शुद्ध होता है।[५] यदि कोई आसनपर उँकड़ू बैठकर अथवा आधी धोती ओढ़कर भोजन करे या अधिक गर्म अन्न लेकर उसे फूँक-फूँककर खाय तो वह कृच्छ्रसांतपन व्रतसे शुद्ध होता है।[६] ब्राह्मण यदि अनजानमें मृताशौच अथवा

---

१. काले नवोदकं शुद्धं न पिबेच्च त्र्यहं हि तत्।
अकाले तु दशाहं स्यात् पीत्वा नाद्यादहर्निशम्॥ (स्मृत्यन्तर)

२. धानां दधि च सक्तुं च श्रीकामो वर्जयेन्निशि। (बृहच्छातातप)

३. प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये।
उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि॥ (मनु)

४. वटार्काश्वत्थपत्रेषु कुम्भीतिन्दुकपत्रयोः।
कोविदारकदम्बेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥ (स्मृत्यन्तर)

५. माक्षिकं फाणितं शाकं गोरसं लवणं घृतम्।
हस्तदत्तानि भुक्त्वा तु दिनमेकमभोजनम्॥ (पाराशर)

६. आसनारूढपादो वा वस्त्रार्धप्रावृतोऽपि वा।
मुखेन धमितं भुक्त्वा कृच्छ्रं सांतपनं चरेत्॥ (क्रतु)

जननाशौचवालेके यहाँ भोजन कर ले तो सौ प्राणायाम करनेसे शुद्ध होता है[१]। सदाचारहीन एवं निन्दित आचरणवाले विप्रका भी अन्न खानेसे ब्राह्मणको एक दिनका उपवास करना चाहिये।[२] यदि कोई स्वेच्छासे ऊँट या गधेपर बैठे तो उसे वस्त्रोंसहित जलमें प्रवेश करके प्राणायाम करना चाहिये; तभी उसकी शुद्धि होती है[३]। यदि कोई इन्द्रधनुष अथवा पलासकी आग दूसरेको दिखाये तो वह एक दिन और एक रात उपवास करके ब्राह्मणको दक्षिणा दे; यही उसके लिये प्रायश्चित्त है[४]। अपाङ्क्तेय (पंक्तिमें न बैठनेयोग्य) पुरुषके साथ एक पंक्तिमें बैठकर भोजन करनेवाला उत्तम द्विज दिन-रातका उपवास करके पंचगव्य पान करनेसे शुद्ध होता है।[५] कम्बल और रेशमी कपड़ोंमें नीलका रंग होना दोषकी बात नहीं है; क्योंकि ये स्वतः शुद्ध होते हैं[६]। यदि किसीके द्वारा कुत्ते, बिल्ली, नेवले, मेढक, साँप, छुछूँदर और चूहे आदि जीवोंकी हत्या हो जाय तो वह बारह दिनका कृच्छ्रव्रत करनेसे शुद्ध होता है[७]। फल, फूल और अन्नके रससे उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी हत्याका प्रायश्चित्त है केवल

---

१. अज्ञानाद् भोजने विप्राः सूतके मृतकेऽपि वा।
प्राणायामशतं कृत्वा शुद्ध्येयुः····॥ (छागल)

२. निराचारस्य विप्रस्य निषिद्धाचरणस्य च।
अन्नं भुक्त्वा द्विजः कुर्याद् दिनमेकमभोजनम्॥ (षट्त्रिंशत्)

३. उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः।
सवासा जलमाप्लुत्य प्राणायामेन शुद्ध्यति॥ (मनु)

४. इन्द्रचापं पलाशाग्निं यद्यन्यस्य प्रदर्शयेत्।
प्रायश्चित्तमहोरात्रं धनुर्दण्डश्च दक्षिणा॥ (ऋष्यशृंग)

५. अपाङ्क्तेयस्य यः कश्चित् पङ्क्तौ भुङ्क्ते द्विजोत्तमः।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पंचगव्येन शुद्ध्यति॥ (मार्कण्डेय)

६. कम्बले पट्टसूत्रे च नीलीरागो न दुष्यति। (स्मृतिसंग्रह)

७. श्वमार्जारनकुलमण्डूकसर्पदहरमूषकादीन् हत्वा कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्। (वसिष्ठ)

घी खाकर व्रत रहना। यदि शूद्र ब्राह्मणका अन्न और ब्राह्मण शूद्रका अन्न लेकर दानमें दे अथवा ब्राह्मण शूद्रके हाथसे भोजन कर ले तथा जल पी ले तो वह एक दिन-रात उपवास करके[1] पंचगव्य पीनेसे शुद्ध होता है। नवश्राद्ध, मासिक श्राद्ध, सार्धमासिक श्राद्ध, षाण्मासिक श्राद्ध और वार्षिक श्राद्धमें भोजन करनेवाला ब्राह्मण यथाक्रम चान्द्रायण, पराक, अतिकृच्छ्र, कृच्छ्र, पादकृच्छ्र और एकाहव्रतसे शुद्ध होता है[2]। यदि कुआँ आदिमें किसी मरे हुए जीवकी लाश गल जाय और उसका जल पी लिया जाय तो तीन दिन केवल जल पीकर रहनेसे शुद्धि होती है। यदि मृत जीव मनुष्य हो तो छः दिनतक जल पीकर रहनेसे शुद्धि होती है[3]। थोड़े जलवाले ताल, तलाई और कुण्ड आदिमें यदि कोई अपद्रव्य पड़ जाय तो कुएँ आदिकी शुद्धिके समान ही उनकी भी शुद्धि होनी चाहिये[4]। बड़े-बड़े जलाशयोंका जल अशुद्ध नहीं होता। पोखरी या कुण्डमें घुटनेसे ऊपर पानी हो, तभी वह शुद्ध—ग्रहण करनेयोग्य होता है। घुटनेसे नीचे हो तो वह अपवित्र है[5]। ऊन, रेशम, सन और आरक्तवस्त्र—

---

१. ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत्। (वृ० या०)
शूद्रहस्तेन यो भुङ्क्ते पानीयं वा पिबेत् क्वचित्।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पंचगव्येन शुद्ध्यति॥ (क्रतु)

२. चान्द्रायणं नवश्राद्धे पराको मासिके स्मृतः।
पक्षत्रयेऽतिकृच्छ्रः स्यात् षण्मासे कृच्छ्रमेव तु॥
आब्दिके पादकृच्छ्रः स्यादेकाहः पुनराब्दिके। (शंख)

३. क्लिन्नं भिन्नं शवं चैव कूपस्थं यदि दृश्यते।
पयः पिबेत् त्रिरात्रेण मानुषे द्विगुणं स्मृतम्॥ (देवल)

४. जलाशयेष्वप्यल्पेषु स्थावरेषु महीतले।
कूपवत् कथिता शुद्धिर्महत्सु तु न दूषणम्॥ (विष्णु)

५. ····पुष्करिण्यां ह्रदेऽपि वा।
जानुदघ्नं शुचि ज्ञेयमधस्तादशुचि स्मृतम्॥ (आपस्तम्ब)

ये थोड़ेमें ही शुद्ध हो जाते हैं; इनकी शुद्धिके लिये धूपमें सुखाना और जलके छींटे आदि देना ही पर्याप्त है[1]। गोहत्या, ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णकी चोरी और गुरुपत्नी-गमन—इन पापोंको करनेवाले मनुष्य महापातकी माने गये हैं। उनसे वार्तालाप करने, उनका स्पर्श होने, उनके श्वासकी हवा लगने, उनके साथ एक सवारी या आसनपर बैठने, साथ-साथ भोजन करने, यज्ञ अथवा स्वाध्यायमें उनके साथ सम्मिलित रहने तथा उनके यहाँ पुत्र या पुत्रीका ब्याह करनेसे उनका पाप फैलकर अपने ऊपर आ जाता है। अतः ऐसे पुरुषके संसर्गसे बचना अत्यन्त आवश्यक है[2]। बीमार गौकी चिकित्साके लिये यदि उसे बाँधा जाय अथवा मरे हुए गर्भको निकालनेका प्रयत्न किया जाय और उस समय उस गौकी मृत्यु हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त नहीं होता[3]। इसी प्रकार किसीके प्राण बचानेके लिये यदि उसके शरीरमें कहीं जलाने, काटने या शिराभेदन करने (पस्त खोलने)-की आवश्यकता हो और इस प्रयत्नमें दैवात् वह मृत्युको प्राप्त हो जाय तो उसका भी पाप नहीं लगता[4]। मदिरा मनुष्यका सर्वनाश करनेवाली मानी गयी है। वह कटहल, दाख, महुआ, खजूर, ताड़, ईख, मधु, सीरा,

---

१. ऊर्णकौशेयकुतपपट्टक्षौमदुकूलजाः।
अल्पशौचा भवन्त्येते शोषणप्रोक्षणादिभिः॥ (देवल)

२. गोब्रह्महा सुरापी च स्वर्णस्तेयी तथैव च।
गुरुपत्न्यभिगामी च महापातकिनो नराः॥ (स्मृत्यन्तर)
संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात्।
यजनाध्ययनाद् यौनात् पापं संक्रमते नृणाम्॥ (देवल)

३. बन्धने गोश्चिकित्सार्थे मूढगर्भविमोचने।
यत्ने कृते विपत्तिश्चेत् प्रायश्चित्तं न विद्यते॥ (संवर्त)

४. दाहच्छेदशिराभेदप्रयत्नैरुपकुर्वताम्।
प्राणसंत्राणसिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं न विद्यते॥ (संवर्त)

अरिष्ट, धवईके फूल और नारियलसे बनती है। इस तरह वह ग्यारह प्रकारकी है। पुलस्त्यने इन सबको समानरूपसे मद्य कहा है और बारहवीं सुराको इन सबसे अधम बतलाया है। गौडी (गुड़से बननेवाली), माध्वी (महुआसे बननेवाली) और पैष्टी (जौ आदिसे बननेवाली)—यह तीन तरहकी सुरा जाननी चाहिये। मदिरा कैसी भी क्यों न हो, वह मनुष्यके लिये सर्वथा अग्राह्य और अस्पृश्य है*।

(पापोंसे होनेवाले सब प्रकारके रोग और कष्टोंको दूर करनेवाले व्रत)

(१) उपोद्घात—पापजन्य रोगोंके दूर करनेवाले व्रतोंका परिचय देनेके पहले पापों और तज्जन्य रोगोंका दिग्दर्शन हो जानेसे व्रत-प्रेमी मनुष्योंको अपने इच्छित और यथोचित व्रत करनेमें सुविधा मिलती है—इसी विचारसे यहाँ 'उपोद्घात' लिखा जाता है। किसी जन्ममें अधिक पाप हो जानेसे नारकीय दुःख-भोगके पीछे भी मनुष्ययोनिमें उसका दुःखदायी फल रोगके रूपमें भोगना पड़ता है, परंतु जो मनुष्य पाप नहीं करते, बल्कि पथ्य-भोजन, इन्द्रियरक्षण, सदाचार-पालन, गो-द्विज-देवादिकी भक्ति और स्वधर्ममें निरत रहते हैं, वे चाहे किसी भी वर्ण, आश्रम या अवस्थाके हों, उन्हें रोग नहीं होते; वे सदैव नीरोग रहते हैं। वास्तवमें रोगोंके मूल कारण पाप हैं और पापोंका प्रायश्चित्त करनेसे पाप और रोग दोनों क्षीण हो जाते हैं।

---

* पानसं द्राक्षमाधूकं खार्जूरं तालमैक्षवम्।
मधूत्थं सौरमारिष्टं मैरेयं नालिकेरजम्॥
समानानि विजानीयान्मद्यान्येकादशैव तु।
द्वादशं तु सुरा मद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम्॥ (पुलस्त्य)
गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा। (मनु)

प्रायश्चित्तमें स्नान, दान, व्रत, उपवास, जप, हवन और उपासना आदि मुख्य हैं। किसमें क्या करना चाहिये यह पापानुकूल प्रत्येक व्रतमें बतलाया गया है। 'पाप'—उपपातक, महापातक और अतिपातकरूपसे तीन प्रकारके होते हैं। विशेषता यह है कि 'उपपातक' से यकृत्, प्लीहा, शूल, श्वास, छर्दि, अजीर्ण और विसर्प आदि रोग होते हैं। 'महापातक' से कोढ़, अर्बुद, संग्रहणी और राजयक्ष्मा आदि होते हैं और 'अतिपातक' से जलंधर, भगंदर, नासूर, कृमिपरिवार और जलोदरादि होते हैं। देहधारियोंके शरीरमें वात, पित्त और कफ—ये तीन 'महादोष' हैं। ये जबतक समान रहें तबतक कोई उपद्रव नहीं होता, इनमें विषमता आनेसे दुःखदायी रोग हो जाते हैं। वे चाहे सह्य हों या असह्य, उनसे प्राणिमात्रको क्लेश होता ही है[१]। आयुर्वेदमें स्वाभाविक, आगन्तुक, कायकान्तर और कर्मदोषज[२]—ये चार प्रकारके[३] रोग बतलाये हैं। इनमें भूख-प्यास, निद्रा, बुढ़ापा और मृत्यु—ये 'स्वाभाविक' हैं। काम-क्रोध, लोभ-मोह, भय, लज्जा, अभिमान, ईर्ष्या, दीनता, शोक, अपस्मार, पागलपन, भ्रम, तम, मूर्छा, संन्यास और भूतावेश आदि 'आगन्तुक' हैं। पाण्डुरोग, अन्त्रवृद्धि, जलोदर और प्लीहा आदि 'कायकान्तर' हैं और पूर्वजन्ममें किये हुए पापजन्य सभी रोग 'कर्मदोषज' हैं अथवा जो रोग दीखनेमें सरल-साध्य किंतु बड़े-बड़े उपायोंसे भी छूटें नहीं—बढ़ते ही रहें या बहुत भयंकर अथवा असाध्य होकर भी साधारण-से उपायसे

---

१. रोगास्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोग्यता।
रोगा दुःखस्य दातारो ज्वरप्रभृतयो हि ते॥ (वाग्भट्ट)

२. यथाशास्त्रं तु निर्णीतो यथाव्याधि चिकित्सितः।
न शमं याति यो व्याधिः स ज्ञेयो कर्मजो बुधैः॥ (भाव)

३. स्वाभाविकागन्तुककायकान्तरा रोगा भवेयुः किल कर्मदोषजाः॥ (शार्ङ्गधरसंहिता)

ही शान्त हो जायँ, वे 'कर्मदोषज' होते हैं। वास्तवमें पूर्वजन्मके पापोंकी जबतक निवृत्ति नहीं होती, तबतक कर्मदोषज कोई भी रोग उपाय करनेपर भी घटते नहीं, बढ़ते ही हैं और जब सदनुष्ठान आदिके द्वारा पापोंकी निवृत्ति हो जाती है, तब वे बढ़ते नहीं, घटते हैं। अतएव पापोंकी निवृत्तिके निमित्तसे 'पापसम्भूत सर्वरोगार्तिहर व्रत' अवश्य ही आरोग्यप्रद और श्रेयस्कर हैं।

(२) पापमूलक रोगोंमें सर्वप्रथम ज्वरकी गणना की जाती है। अन्य रोगोंकी अपेक्षा प्रत्येक प्राणी इससे अधिक पीड़ित होते हैं। ज्वरके आक्रमणको देवता और मनुष्य ही सह सकते हैं। इतर जीव तो इसके आक्रमणसे जीवित ही नहीं रह सकते। पूर्वाचार्योंका कथन[1] है कि क्षय, पाप और मृत्यु ये ज्वरके ही प्रतिरूप हैं और इसकी उत्पत्ति भी दुष्कर्मोंसे ही होती है। तृष्णा, संताप, अरुचि, अंगपीड़ा और हृदयकी वेदना—ये सब ज्वरकी शक्तियाँ हैं। समनस्क (मनसंयुक्त) शरीर ही ज्वरका अधिष्ठान है और शारीरिक तथा मानसिक संताप होना ही ज्वरका लक्षण है। ज्वर होनेके पीछे जिन्हें किसी प्रकारका कष्ट न हो ऐसे प्राणी संसारमें नहीं हैं। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि या तो रोगादिकी असह्य पीड़ासे ज्वर होता है या ज्वर ही आगे चलकर दुश्चिकित्स्य होकर अन्य रोग उत्पन्न कर देता है। विशेषता यह है कि अन्य रोगोंकी अपेक्षा यह प्रत्येक प्राणीके रोम-रोममें व्याप्त हो जाता है। अतः प्रसंगवश यहाँ ज्वरका परिचय पहले दिया है। शास्त्रकारोंने ज्वरको 'रोगोंका[2]

---

१. रोगः पाप्मा ज्वरो व्याधिर्विकारो दुःखमामयः।
यक्ष्मातङ्कगदाबाधशब्दाः पर्यायवाचिनः॥ (मुक्तक)

२. देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली।
ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा॥ (माधव)

राजा' कहा है। सुश्रुतने इसको रुद्रकोपकी[1] अग्निसे उत्पन्न और सम्पूर्ण प्राणियोंको तपानेवाला बतलाया है। पुराणोंमें इसको रुद्रसम्भूत[2] 'रौद्री' (उष्णज्वर) और विष्णुसम्भूत 'वैष्णवी' (शीतज्वर) लिखा है। सूर्यारुणादिने[3] इसको यमके समान भयकारी, महाकाय, ऊर्ध्वकेश, ज्वलत्कान्ति, दीर्घरूप और तीन नेत्रोंवाला सूचित किया है। हरिवंशमें इसके तीन मस्तक, छः भुजा, नौ-नौ नेत्र और तीन चरण निर्दिष्ट किये हैं। देवसम्भूत होनेसे विदेहने इसको[4] पूजनीय बतलाया है। वैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाय तो ज्वर होनेपर ऐसी ही परिस्थिति प्रतीत हुआ करती है। इस विषयमें एक कथा भी है। उसमें कहा है कि 'बाणासुरके साथ अनिरुद्धका युद्ध हुआ। उस समय इसी ज्वरने बलरामको पराजित किया और श्रीकृष्णको स्तम्भित बनाया था। इससे प्रसन्न होकर श्रीकृष्णने इसको सर्वगत होनेका वर दिया था।' वास्तवमें बहुत-से रोगोंका लय और उदय ज्वरसे ही होता है। जन्म-मरण या जीवनमें भी ज्वर रहता है। दूसरे शब्दोंमें यह भी कह सकते हैं कि अधिकांश रोगी और रोग ज्वरसे ही जीते और मरते हैं। ज्वर प्राणिमात्रका प्राणान्तक, देह, इन्द्रिय और मनका संतापक और बल, वर्ण, ज्ञान तथा उत्साहको शिथिल करनेवाला है। पूर्वोक्त कथाके प्रसंगमें ही कहा गया है कि 'श्रीकृष्णने ज्वरको तीन भागोंमें विभाजित

---

१. रुद्रकोपाग्निसम्भूतः सर्वभूतप्रतापनः। (सुश्रुत)

२. प्रोक्तश्चोष्णज्वरो रौद्रः शीतलो वैष्णवज्वरः। (सविता)

३. ज्वरस्त्रिपादभव्यश्च दीर्घरूपो भयानकः।
बृहत्त्रिनेत्रैर्वदनैस्त्रिभिश्च दशनैर्दृढः॥
ऊर्ध्वकेशो महाकायो ज्वलत्कान्तिर्यमोपमः। (सूर्यारुण)

४. ज्वरस्तु पूजनैर्वापि सहसैवोपशाम्यति। (विदेह जनक)

कर एक भागको चौपायोंमें, दूसरे भागको स्थावरों (पर्वतादि)-में और तीसरे भागको मनुष्योंमें विभक्त किया। विशेषता यह की थी कि मनुष्योंके तीसरे भागका चतुर्थांश ज्वर पक्षियोंमें नियुक्त किया था। वृक्षोंकी[१] जड़ोंमें कीड़ा, पत्तोंमें पीलापन, फलोंमें विकार, कमलमें शीतलता, भूमिमें ऊषरता, जलमें सेंवाल या कुमुदिनी, मोरोंमें कलंगी, पर्वतोंमें गेरू और गोवंश (गाय, बैल एवं भैंस)-में मृगी (या मूर्छा)—ये सब उसी (ज्वर)-के रूप हैं।' इस प्रकार प्रत्येक प्राणी और पदार्थोंमें ज्वरकी प्रवृत्ति होनेसे इसे रोगोंका राजा बतलाया है। अस्तु, शरीरगत वात, पित्त और कफके बिगड़ने, सुधरने या समान रहनेके अनुसार अनेक प्रकारका ज्वर होता है। उसमें जो 'संतत'[२] (सात, दस या बारह दिन निरन्तर बना रहे), 'सतत'[३] (दिन-रात बना रहे), 'अन्येद्युष्क'[४] (दिन-रातमें एक बार हो), 'तृतीयक'[५] (तीसरे दिन हो) और 'चातुर्थिक'[६] (चौथे दिन)

---

१. नाना तिर्यग्योन्यादिषु च बहुविधैः श्रूयते। (माधवी)
पाकलः स तु नागानामभितापश्च वाजिनाम्।
गवामीश्वरसंज्ञश्च मानवानां ज्वरो मतः॥
अजावीनां प्रलापाख्यः करभे चालसो भवेत्।
हरिद्रो माहिषाणां तु मृगरोगो मृगेषु च॥
पक्षिणामभिघातस्तु मत्स्येष्विन्द्रे मदो मतः।
पक्षपातः पतंगानां व्यालेष्वाक्षिकसंज्ञकः॥ (माधवटिप्पणी)

२. संततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ।
सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा॥
संतत्या यो विसर्गी स्यात् संततः स निगद्यते।

३. अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते।

४. अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रमेककालं प्रवर्तते।

५. तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि।

६. चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः।

हो, वह 'विषम ज्वर' माना गया है*। माधवने इसको भूतावेश बतलाया है और उसकी शान्तिके लिये पूजा और बलिदान निर्दिष्ट किये हैं। जिन कारणोंसे ज्वर होता है, उनमें अभिघात, अभिशाप, अभिचार, अहिताचरण, अगम्यागमन, मिथ्याहारविहार, अनुपयुक्त पुष्प-गन्ध या औषधगन्ध, अनुक्त औषध, ऋतुविपर्यय, मिथ्याभय, महाशोक, बहुभोजन, विषव्रण, परिश्रम, मृतवत्सप्रसव, क्षय, अजीर्ण और दुग्धपूर्ण स्तन आदि मुख्य हैं। ज्वर और उसके वर्ण-भेद या उपाय आदि आयुर्वेदके मान्यतम ग्रन्थोंमें बहुत कुछ बतलाये गये हैं। अतः यहाँ उनके विषयमें और कुछ लिखनेकी अपेक्षा व्रतोपवासादिके द्वारा ज्वरादि रोगोंसे मुक्त होनेके साधन सूचित किये हैं। उनमें भी सर्वप्रथम ज्वरको ही लिया है।

(३) पापसम्भूत ज्वरहरव्रत (सूर्यारुण ४२)—दीर्घ कालके ज्वरसे आकुल हुए आतुरको चाहिये कि वह 'रौद्री' (उष्णज्वर)-की निवृत्तिके लिये अष्टमी अथवा चतुर्दशीको और 'वैष्णवी' (शीतज्वर)-की निवृत्तिके लिये एकादशी या द्वादशीको अथवा रौद्री, वैष्णवी किसीके लिये भी महापर्वकी किसी भी तिथिको यथासामर्थ्य (यथावत् या मानसिक) प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होकर कम्बलादिके शुभासनपर पूर्व या उत्तर मुख होकर बैठे और हाथमें जल, फल, गन्ध, अक्षत और पुष्प लेकर '**मम पापसम्भूतज्वरजनिताद्यनिष्टप्रशमनपूर्वकदीर्घायुष्यबलपुष्टि-नैरुज्यादिसकलशुभफलप्राप्तिकामनया श्रीमहेश्वर वा महाविष्णुप्रीतये च रुद्रविष्णुपूजनपूर्वकज्वरपूजनं तद्व्रतं च करिष्ये।**' इस प्रकार संकल्प करके जितनी सामर्थ्य हो, उतने

---

* केचिद् भूताभिषंगोत्थं वदन्ति विषमज्वरम्। (माधव)

ही सुवर्णका पत्र बनवाकर उसमें उपर्युक्त प्रकारके यमोपम ज्वरका स्वरूप अंकित करावे और 'विष्णुमन्त्र' '**इदं विष्णु०**' या '**सहस्रशीर्षा**' आदि १६ मन्त्रोंसे विष्णुका और रुद्र-मन्त्र '**नमः शम्भवाय०**' या '**नमस्ते रुद्र०**' के १६ मन्त्रोंसे रुद्रका पूजन करके उपर्युक्त ज्वर-मूर्तिको उनके समीपमें स्थापित करके उसका '**ॐ नमो महाज्वराय विष्णुरुद्रगणाय भीममूर्त्तये सर्वलोकभयंकराय मम तापं हर हर स्वाहा।**' इस मन्त्रसे पूजन करे। फिर इसी मन्त्रका जितना बन सके जप करके सफेद सरसोंसे उसका दशांश हवन करे। इसके पीछे सत्पात्र ब्राह्मणोंको भोजन कराकर सुवर्णकी दक्षिणा दे और स्वयं एकभुक्त व्रत करे। इस प्रकार एक, तीन या सात बार करनेसे ज्वर शान्त हो जाता है।

(४) **सर्वज्वरहरव्रत** (सूर्यारुण ४२)—पूर्वोक्त शुभ समयमें यथापूर्व स्नानादि करनेके अनन्तर व्रत धारण करके संकल्प करे और सामर्थ्य हो तो ५० पल (२ सौ तोला या लगभग २$\frac{१}{२}$ किलो) ताँबेका और सामर्थ्य न हो तो मिट्टीका कलश लेकर उसको लाल वस्त्रसे भूषित करके उसमें घी, चीनी, शहद या गुड़ भरे और यथासामर्थ्य पंचरत्न अथवा उनके प्रतिनिधि अक्षत रखे। उसे रेशमी वस्त्रसे वेष्टित करके चावलोंके पुंजपर स्थापित करे। तदनन्तर विष्णु, रुद्र और ज्वरका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके उनके समीप बैठकर '**ॐ नमो महाज्वराय विष्णुरुद्रगणाय सर्वलोकभयंकराय मम तापं हर हर स्वाहा।**' इस मन्त्रका जप करके इसीसे हवन करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराकर '**भस्मप्रहरणो रौद्रस्त्रिशिरास्त्रयूर्ध्वलोचनः। दानेनानेन सुप्रीतो ज्वरः पातु सदा मम॥ एकान्तरं संनिपातं तार्तीयकचतुर्थिकौ। पाक्षिकं मासिकं वापि सांवत्सरिकमेव च। नाशयेतां मम क्षिप्रं**

वासुदेवमहेश्वरौ॥' इसका उच्चारण करके ज्वरमूर्तिका दान करे, तो ज्वरजनित सभी उपद्रव शान्त होते हैं।

(५) **ज्वरहरबलिदानव्रत** (भैषज्यरत्नावली)—चिरकालीन ज्वरकी शान्तिके लिये अष्टमीके अपराह्णमें चावलोंके चूर्णसे मनुष्यकी आकृतिका पुतला बनाकर उसके हलदीका लेप करे। मुख, हृदय, कण्ठ और नाभिमें पीली कौड़ी लगावे, फिर खसके आसनपर विराजमान करके उसके चारों कोणोंमें पीले रंगकी चार पताका लगावे तथा उनके पास हलदीके रससे भरे हुए पीपलके पत्तोंके चार दोने रखे और '**मम चिरकालीनज्वरजनितपाप-तापादिप्रशमनार्थं ज्वरहरबलिदानं करिष्ये।**' यह संकल्प करके पुतलेका पूजन करे। सायंकाल होनेपर ज्वरवाले मनुष्यकी '**ॐ नमो भगवते गरुडासनाय त्र्यम्बकाय स्वस्तिरस्तु स्वस्तिरस्तु स्वाहा। ॐ कं ठं यं सं वैनतेयाय नमः। ॐ ह्रीं क्षः क्षेत्रपालाय नमः। ॐ ठः ठः भो भो ज्वर शृणु शृणु हल हल गर्ज गर्ज नैमित्तिकं मौहूर्त्तिकं एकाहिकं द्व्याहिकं त्र्याहिकं चातुर्थिकं पाक्षिकादिकं च फट् हल हल मुंच मुंच भूम्यां गच्छ गच्छ स्वाहा।**' इस मन्त्रसे तीन या सात आरती उतारकर पूर्वोक्त पुतलेको पूजा-सामग्रीसहित किसी वृक्षके मूल, चौराहे या श्मशानमें रख आवे। इस प्रकार तीन दिन करे और तीनों ही दिनोंमें नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करे। स्मरण रहे कि पुत्तलपूजन बीमारके दक्षिण भागके स्थानमें करना चाहिये। इससे ज्वरजात व्याधियाँ शीघ्र ही शान्त होती हैं।

(६) **ज्वरहरतर्पणव्रत** (मन्त्रमहार्णव)—ज्वरवाले मनुष्यको चाहिये कि वह दशमी या सप्तमीके सुप्रभातमें प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर ताम्रपात्रमें जल, तिल, रँगे हुए लाल अक्षत और लाल पुष्प डालकर डाभके आसनपर पूर्वाभिमुख बैठे और

अर्घामें अथवा अंजलिमें जल लेकर 'उष्ण' ज्वर हो तो '**योऽसौ सरस्वतीतीरे कुत्सगोत्रसमुद्भवः। त्रिरात्रज्वरदाहेन मृतो गोविन्दसंज्ञकः॥ ज्वरापनुत्तये तस्मै ददाम्येतत् तिलोदकम्।**'— इस मन्त्रसे जल छोड़े और इस प्रकार १०८ बार तर्पण करे। यदि शीतज्वर या रात्रिज्वर हो तो '**गंगाया उत्तरे कूले अपुत्रस्तापसो मृतः। रात्रौ ज्वरविनाशाय तस्मै दद्यात् तिलोदकम्॥**' इस मन्त्रसे तर्पण करे। ज्वर यदि सामान्य हो तो १०८ बार और यदि विशेष हो अथवा बहुत दिनोंका हो तो ज्वरके अनुसार १०८ या १००१ अथवा १०००१ अंजलि दे। इस प्रकार एक, तीन, पाँच या सात दिन करे और एकभुक्त व्रत रखे।

(७) **ज्वरार्तिहरतन्त्रव्रत** (भवानीसहस्रनाम)—रविवारके प्रातःकालमें काँसीके पात्रको जलसे भरकर उसमें सात सूई डाले और उनका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके सातोंको एकत्र कर '**ॐ वज्रहस्ता महाकाया वज्रपाणिर्महेश्वरी। हरेत् स्ववज्रतुण्डेन भूमिं गच्छ महाज्वर॥**' इस मन्त्रको उच्चारण करता हुआ सात बार घुमावे और फिर उनमेंसे एक सूई निकालकर भूमिमें गाड़ दे। इस प्रकार दूसरे दिन दूसरी और तीसरे दिन तीसरी आदि निकालकर सात दिनमें सातों सूइयाँ गाड़ दे और एकभुक्त व्रत करे अथवा नागवल्लीदलमें दाड़िमकी लेखनी और कर्पूर, अगरु एवं कस्तूरी मिले हुए केसर-चन्दनसे '**वज्रदंष्ट्रो महाकायो वज्रपाणिर्महेश्वरः। वज्रवत्सर्वदेहस्य भुवं गच्छ महाज्वर॥**' यह मन्त्र लिखकर उसका गन्धादिसे पूजन करे और ज्वरवालेको खिला दे अथवा '**ॐ कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने। प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥**' '**ॐ आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्। लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥**' इन दोनोंमेंसे किसी एकके १०८ या ज्वरानुसार न्यूनाधिक जप

करे और '**अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्। नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥**' इसका उच्चारण कर तीन आचमन करे तो इन उपायोंसे एकान्तरा, तेजरा, चौथिया या नित्य रहनेवाला—सभी ज्वर शान्त हो जाते हैं। इनमें एकभुक्त व्रत करना चाहिये।

(८) अतिसारहरव्रत (अनुष्ठान-प्रकाश)—यह रोग कर्मविपाकके अनुसार जलाशयादि नष्ट करनेके पापसे या आयुर्वेदके[1] अनुसार प्रमाणसे अधिक या गरिष्ठ अथवा अत्यन्त पतला या अत्यन्त स्थूल भोजन करने आदिसे होता है। अतिसारीको चाहिये कि वह शौचादिसे निवृत्त होकर '**सोऽग्निरस्मी०**' मन्त्रका यथाशक्ति जप करके उसी मन्त्रसे दशांश हवन करे और एकभुक्त व्रत करके शक्तिके अनुसार सुवर्णका दान दे।

(९) संग्रहणीशमनव्रत (शिवगीता)—प्रेमपूर्वक[2] सद्वर्ताव करनेवाली श्रेष्ठ स्त्रीका त्याग करने या अतिसारमें कुपथ्य करनेसे उदरगत छटीकला (ग्रहणी)-के नष्ट होनेसे 'संग्रहणी' होती है। इससे मुक्त होनेके लिये किसी पुनीत पर्वमें या शनिप्रदोष हो उस दिन प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होकर शिवजीका पूजन करे और वहीं उनके समीपमें 'शिवसंकल्पसूक्त' (**यज्जाग्रतो०, येन कर्माण्य०, यत्प्रज्ञान०, येनेदं भूतं०, यस्मिन्नृचः०, सुखारथि**—इन छः मन्त्रों)-का १०८ जप करके सौंफ, मिर्च, इलायची और मिश्रीको घीमें भिगोकर पलाशकी समिधाओंमें अट्ठाईस आहुतियाँ दे और शहदमें सुवर्ण डालकर उसका दान करके नक्तव्रत करे।

---

१. गुर्वतिस्निग्धतीक्ष्णोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चातिभोजनैः॥ (माधव)

२. साध्वीं भार्यां च यो मर्त्यः परित्यजति कामतः।
ग्रहणीरोगसंयुक्तः सदा भवति मानवः॥ (शिवगीता)

इस प्रकार दस दिन करनेके अनन्तर ग्यारहवें दिन यथाशक्ति अन्नदान करे तो संग्रहणी शमन होती है।

(१०) **अर्शहरव्रत** (अनुष्ठान-प्रकाश)—जो मनुष्य वेतन[१] लेकर अध्यापन, यजन, हवन या जपादि करते हैं, उनको अर्शरोग होता है। आयुर्वेदमें इसको त्रिदोषजन्य और परम्परासे आनेवाला बतलाया है। इसकी निवृत्तिके लिये चान्द्रायणव्रत करे और उन दिनोंमें प्रतिदिन आठ या अट्ठाईस पाठ आदित्यहृदयके करके शमीकी समिधा और घीसे हवन करे। इस प्रकार करनेसे अर्शरोग दूर होता है। एकभुक्त व्रत करना आवश्यक है।

(११) **अजीर्णहरव्रत** (ऋग्वेदविधान)—बहुत दिनोंका अजीर्ण[२] भुक्त पदार्थोंके अपाचन, चिन्ता आदि कारणोंसे होता है। इसके लिये '**अग्निरस्मि०**' ऋचाके एक हजार जप और घृतप्लावित त्रिकुटा (सोंठ, मिरच और पीपल)-की एक सौ आहुति देकर उपवास करे और दूसरे दिन वेदज्ञ ब्राह्मणको हविष्यान्नका भोजन कराकर पारण करे।

(१२) **मन्दाग्नि-उपशमनव्रत** (वृद्धपराशर)—यदि मिल सके तो शुक्लपक्षके सप्तमी पुष्यार्क अथवा दशमी गुरुवारको 'अग्निसूक्त' 'श्रीसूक्त' अथवा '**जातवेदसे**' ऋचाके जप और चाँदीके मेष (मेढा)-का दान करके पलाश (छीला)-की

---

१. वेतनमादाय योऽध्यापयत्यर्चयति जुहोति जपति सोऽर्शो रोगवान् भवति।

२. यस्य भुक्तं न जीर्येत न तिष्ठेद् वा कथंचन।
तस्मादजीर्णरोगोऽयं ....॥ (पराशर)
अत्यम्बुपानाद् विषमाशनाच्च संधारणात् स्वप्नविपर्ययाच्च।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य॥
ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन शुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति॥ (माधव)

समिधाओंमें घीसे हवन करे और एकभुक्त (किसी भी एक पदार्थको भक्षण कर) व्रत करे। इस प्रकार करनेसे मन्दाग्नि नष्ट हो जाती है। सूर्यारुणके कथनानुसार अभक्ष्य-भक्षणके दुष्प्रभावसे और आयुर्वेदके मतानुसार कफ-प्रकृतिसे मन्दाग्नि होती है।

(१३) विषूचिकोपशमनव्रत (योगवासिष्ठ)—दुष्ट भोजन,[१] दुष्टारम्भ, दुष्ट संग, दुष्ट स्थिति और दुर्देशवास या अजीर्णकी अवस्थामें उदरके[२] अंदर सूई गड़ने-जैसी पीड़ा होनेसे विषूचिका रोग (हैजा) होता है। इसको रोकनेके लिये मन्त्र-शास्त्री धर्मप्राण साधकको चाहिये कि वह विषूचिकावाले रोगीको प्राण-दान देनेकी कामनासे तत्काल पवित्र होकर रोगीके उदरपर बायाँ हाथ रखे और दाहिने हाथसे '**ॐ ह्लीं ह्लीं रां रां विष्णुशक्तये नमः। ॐ नमो भगवति विष्णुशक्तिमेनाम्। ॐ हर हर नय नय पच पच मथ मथ उत्सादय दूरे कुरु स्वाहा। हिमवन्तं गच्छ जीव सः सः सः चन्द्रमण्डलगतोऽसि स्वाहा।**' इस मन्त्रसे हिमालयके उत्तर पार्श्वमें रहनेवाली कर्कशा कर्कटी राक्षसी (अथवा बीमारके प्लीहा पद्म या नाभिप्रदेशके उत्तर प्रदेशमें सूई गड़ानेके समान असहनीय दर्द करनेवाली विषूचिका राक्षसी)-का मार्जन करे और व्रत रखे। इस प्रकार जबतक वेगहीन न हो तबतक करता रहे। इससे विषूचिकावालेको शान्ति प्राप्त होती है।

(१४) पाण्डुरोगप्रशमनव्रत (धर्मानुसंधान)—देवता[३] और ब्राह्मण—इनके द्रव्यका अपहरण करने या वात, पित्त, कफ—

---

१. दुर्भोजना दुरारम्भा मूर्खा दुःस्थितयश्च ये।
दुर्देशवासिनो दुष्टास्तेषां हिंसां करिष्यति॥ (यो० वा०)

२. सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः।
यत्राजीर्णे च सा वैद्यैर्विषूची तु निगद्यते॥ (माधव)

३. देवब्राह्मणद्रव्यापहारी पाण्डुरोगवान्॥ (अ० प्र०)

इन तीनोंसे अथवा संनिपातसे और मृद्भक्षण (मिट्टी खाने)-से पाण्डुरोग होता है। इसके निवारणके निमित्त कृच्छ्रातिकृच्छ्र चान्द्रायणव्रत करके सुवर्णका दान दे और कूष्माण्डी हवन करे।

(१५) **रक्तपित्तोपशमनव्रत** (धर्मानुसंधान)—पूर्वजन्ममें वैद्यशास्त्रके पूर्णानुभवसे मदान्ध होकर आतुर भेषजमें युक्त औषधकी अपेक्षा अयुक्त प्रयुक्त करने अथवा इस जन्ममें धूपमें घूमने, अधिक श्रम करने, बहुत ज्यादा चलने, अधिक स्त्री-प्रसंग करने, नमक-मिर्च ज्यादा खाने अथवा कोप करने आदिसे रक्त-पित्त होता है। इसकी शान्तिके लिये स्नान करके '**ॐ अग्निं दूतं वृणीमहे०**' आदि मन्त्रोंसे अग्निमें घी और खीरकी १०८ आहुति दे और घृतप्लावित पदार्थोंका एक बार भोजन करके व्रत करे।

(१६) **राजयक्ष्मोपशमनव्रत** (धर्मशास्त्रपुराणायुर्वेदादि)—राजयक्ष्मा जन्मान्तरमें किये हुए महापापोंका द्योतक है। शातातपने* कहा है 'यह रोग साक्षात् ब्रह्महत्या करने या राजाको मारनेसे होता है।' वास्तवमें अन्य रोगोंकी अपेक्षा राजयक्ष्मासे मनुष्यकी बड़ी दुर्दशा होती है। आयुर्वेदके मान्यतम ग्रन्थोंका मत है कि 'राजयक्ष्माको मिटानेवाली मुख्य औषध मृत्यु है। सद्वैद्य, सदौषध, सदुपचार और नियमपालक रोगी होनेपर भी राजयक्ष्मावाला रोगी अधिक-से-अधिक एक हजार दिन (२ वर्ष ९ महीने १० दिन) जीवित रह सकता है।' इसके अतिरिक्त अन्य रोगी तो चार, छः या आठ मासमें ही मर जाते हैं। विशेषता यह है कि

---

* 'ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्'। (शातातप)

ब्राह्मणं घातयेद् यस्तु पूर्वजन्मनि मानवः।
मोहादकामतः सोऽपि क्षयरोगसमन्वितः॥
राजघातकरः प्रोक्तो यः पूर्वं घातयेन्नृपम्।
राजयक्ष्मान्वितः सोऽत्र तस्मिन् वयसि रोगवान्॥ (सूर्यारुण)

कफ, खाँसी और ज्वरके निरन्तर घर्षणसे मनुष्यका सांगोपांग शरीर शनैः-शनैः क्षय होकर क्षीणप्राय हो जाता है और उसके रक्त, मज्जा, मांस और अस्थिपंजर-पर्यन्त सूख या घिस जाते हैं। आयुर्वेदके मतानुसार[1] वेगरोध (मल-मूत्रादिके आते हुए वेगको रोकने), क्षय (अत्यधिक स्त्री-प्रसंगादिके द्वारा रज और वीर्यका नाश करने), साहस (अपनेसे अधिक बलीके साथ युद्ध-कसरत या वैर करने अथवा बहुत भागने) और विषमाशन (समय-असमय; एक बार, अनेक बार; कभी अल्पाहार, कभी अमिताहार) और कभी क्षुधा, तृषा या निद्राके बहुत दबानेपर भी उनको बलात् रोकने आदि कारणोंसे राजयक्ष्मा[2] होता है। विशेषता यह है कि बहुव्ययसाध्य सर्वोत्कृष्ट औषध या उपचार करनेपर भी यह रोग घटता नहीं, प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। इसके विपरीत रोगी यह मानता है कि 'मैं अच्छा हो रहा हूँ।' इस विषयमें स्वयं सूर्यनारायणने कहा है कि 'यह रोग[3] केवल औषध-सेवनसे क्षीण नहीं होता। इसके लिये औषध-सेवनके सिवा दान,[4] दया, धर्म, दीनोपकार, गो-द्विज-देवादिका अर्चन, व्रत, जप, हवन और तप करने (अथवा शरीर और

---

१. वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद् विषमाशनात्।
त्रिदोषाज्जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात्॥ (चरक)

२. राजश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः।
तस्मात् तं राजयक्ष्मेति प्रवदन्ति मनीषिणः॥
क्रियाक्षयकरत्वात्तु क्षय इत्युच्यते बुधैः।
संशोषणाद् रसादीनां शोष इत्यभिधीयते॥ (भाव०)

३. निष्कृत्या कर्मजन्मोत्थो दोषजस्त्वौषधेन हि।
उभयाज्जयमानस्तु निष्कृत्यौषधसेवया। (सूर्यारुण)

४. दानैर्दयाभिरतिथिद्विजदेवतागोदेवार्चनप्रणतिभिश्च जपैस्तपोभिः।
इत्युक्तपुण्यनिचयैरपचीयमानं प्राक्पापजातमशुभं प्रशमं नयन्ति॥ (सूर्य)

संसारसे निर्मोह होकर ईश्वर-स्मरणमें निरन्तर मन लगाने)-की आवश्यकता है।

(१७) १-**यक्ष्मान्तक सुवर्णकदली-दानव्रत** (सूर्यारुण)—राजयक्ष्माके रोगीको चाहिये कि वह अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुवर्णका कदली-वृक्ष बनवावे। जिसमें फल, पत्ते और मुकुल (फूलकी डोडी) यथावत् हों। यदि सामर्थ्य न हो तो साक्षात् कदली-वृक्ष मँगवावे और शुभ दिनमें शौचादिसे निवृत्त होकर शुभासनपर पूर्वाभिमुख बैठकर '**मम जन्मान्तरीयपापजनित-प्राणान्तकराजयक्ष्मोपशमनकामनया श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थे सुवर्णकदली-(ससुवर्ण-कदली वा-) दानं करिष्ये।**' यह संकल्प करके विनिर्मित या सिंचित कदलीको वस्त्रादिसे भूषित कर पूजन करे और जप, तप, होम तथा व्रत आदि सम्पूर्ण कर्म समाप्त होनेके पीछे आत्माको जाननेवाले धर्मप्राण दयावान् वृतस्थायी और पूजनीय पण्डितको सुपूजित कदलीका दान दे। उस समय '**हिरण्यगर्भ पुरुष परात्पर जगन्मय। रम्भादानेन देवेश क्षयं क्षपय मे प्रभो॥**' का उच्चारण करे। तत्पश्चात् विद्वान् ब्राह्मणोंसे पुण्याहवाचन कराकर उनको भोजन करावे और फिर शिष्ट तथा इष्ट मनुष्योंको भोजन कराकर व्रतको समाप्त करे। इस प्रकार करनेसे राजयक्ष्मा शान्त होता है।

(१७) २-**यक्ष्मान्तक दानव्रत** (सूर्यारुण)—औषधोपचारादिसे यदि यक्ष्मा शान्त न हो तो ज्यौतिषशास्त्रोक्त शुभ दिनमें प्रातःकालीन कृत्यसे निवृत्त होकर अपनी सामर्थ्यके अनुसार गौ, पृथ्वी, सुवर्ण, मिष्टान्न, वस्त्र, जल, फल, लोह और तिल—इन सबका यथाविधि दान करे। यदि यह न बन सके तो लोहेके घड़ेमें तिल भरकर गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करके, उसे सत्पात्र प्रतिग्राहीको दे अथवा—'**आते रौद्रेण०**' सूक्तका जप करके

उसकी प्रत्येक ऋचासे आहुति दे और फिर शिवजीका उपस्थान करके '**त्र्यम्बकं यजामहे०**' का एक मासतक जप करे। इससे भी रोग शान्त होता है।

(१८) यक्ष्मोत्पत्ति (कालिकापुराण)—क्षययक्ष्मा अथवा राजयक्ष्माके विषयमें कालिकापुराणकी कथाके श्रवण करनेसे अपूर्व लाभ होता है। कथा इस प्रकार है—'दक्षप्रजापतिके सत्ताईस कन्याएँ थीं। उनका चन्द्रमाके साथ विवाह हुआ। उनमें एकका नाम रोहिणी था; औरोंकी अपेक्षा चन्द्रदेव उससे अधिक प्रसन्न रहते थे। यह देखकर अन्य पत्नियोंने पितासे प्रार्थना की। तब दक्षने चन्द्रदेवको समझाया कि आप सबके साथ समान स्नेह रखें, किंतु चन्द्रमाने ऐसा नहीं किया। तब दक्षप्रजापति बड़े क्रोधित हुए और उनके क्रोधानलसे राजयक्ष्मा उत्पन्न होकर चन्द्रमाके शरीरमें प्रविष्ट हो गया। फिर क्या था, चन्द्रदेव प्रतिदिन क्षीण होने लगे और उनका विश्वव्यापी सुप्रकाश भी घट गया। चन्द्रमाकी इस क्षीणकाय अवस्थासे संसारकी हानि समझकर ब्रह्माजीने उनके शरीरसे यक्ष्माको निकाल लिया और आज्ञा दी कि 'जो लोग स्त्रीके साथ अधिक सहवास करें उनके शरीरमें तुम सुखसे रहो। वहाँ मृत्युकी पुत्री तृष्णा तुम्हारी आज्ञामें रहेगी। वह तुम्हारे ही समान गुणवाली है। अतः तुम जो चाहोगे वही कर सकेगी। इसके सिवा जो लोग श्वास, कास और कफके रोगी होकर भी स्त्रीके साथ सहवास रखें, उनके शरीरमें भी तुम प्रविष्ट रहो और उनको प्रतिक्षण क्षीण करते रहो। जाओ, तुम यथेच्छ विचरण करो। तुम्हारा यह काम स्थायी रहेगा।' ऐसा ही हुआ और अब अधिक हो रहा है।

(१९) यक्ष्मान्तक सानुष्ठान-व्रत (मुक्तकसंग्रह)—

राजयक्ष्मावाले रोगीको चाहिये कि वह सत्पात्र ब्राह्मणको बुलवाकर उससे त्र्यम्बकमन्त्रका पुरश्चरण करनेकी प्रार्थना करे और उसके स्वीकार करनेपर दृढ़ व्रतके साथ यह आज्ञा करे कि इससे मैं अवश्य आरोग्य लाभ करूँगा। तत्पश्चात् सदनुष्ठानी ब्राह्मण शिवजीके मन्दिरमें बैठे और पार्थिव मूर्तिका निर्माण करे, फिर उसका पंचोपचार पूजन करके त्र्यम्बकमन्त्रका एक हजार जप करे अथवा '**ॐ जूं सः अमुकं पालय पालय सः जूं ॐ**' इस मन्त्रका १० हजार जप करे। जप करते समय शिवमूर्तिके अपलक दर्शन करता रहे और यह प्रार्थना करे कि 'हे मृत्युंजय! जिसके निमित्त मैं जप करता हूँ, उसका राजयक्ष्मासे कोई अनिष्ट न हो।' तत्पश्चात् पूजनके गन्ध-पुष्प और बिल्वपत्र लेकर रोगीके नेत्र, ललाट और हृदयमें लगाकर सिरहाने रख दे। इस प्रकार प्रतिदिन नवीन पत्र सिरहाने रखता रहे और पुराने निकालकर नदी आदिके प्रवाही जलमें डलवाता रहे। इस प्रकार करनेसे शीघ्र आरोग्य होता है।

(२०) श्वास-कास-कफ-रोगशमनव्रत (उमा-महेश्वरसंवाद)—पूर्वजन्मके परमोचित कार्यमें यथोचित अर्थव्ययके कार्योंको कृतघ्नरूपमें करनेसे श्वास-कासादिका कष्ट होता है। इसके लिये 'पिपीलिकातनु' और 'यवमध्य' चान्द्रायणव्रत करने चाहिये और व्रतसमाप्तिमें पचास ब्राह्मणोंको यथेच्छ भोजन करवाना चाहिये। इसके करनेसे श्वास, कास, कफ और उष्णज्वर—ये सब शान्त होते हैं।

(२१) रोगत्रयोपशमनव्रत (महाभारत)—पूर्वोक्त श्वास, कास और कफसे मुक्त होनेके लिये वेदपाठी ब्राह्मणोंको बुलाकर उनसे शिवपूजनपूर्वक रुद्रपाठसहित सहस्रघटाभिषेक करावे और उसके समाप्त होनेपर पचास ब्राह्मणोंको उत्तम पदार्थोंका भोजन

कराकर सबको समान रूपसे लाल[1] वस्त्र और सुवर्ण दे अथवा अच्युत[2], अनन्त और गोविन्द—इन तीनों नामोंके तीस हजार आठ जप करे और सात्त्विक पदार्थोंको भगवान्‌के अर्पण करके नक्तव्रत करे।

(२२) **श्लेष्मान्तकव्रत** (सूर्यारुण २३३)—जन्मान्तरमें दूसरेके पुत्रोंका हनन अथवा हरण करनेके पापसे मनुष्य कफरोगी होता है। उसकी निवृत्तिके निमित्त लगभग पंद्रह किलो अथवा बारह सौ तोला सीसेका गन्धाक्षतसे पूजन करके डाकसंज्ञक प्रतिग्राहीको दे और आप एकभुक्त व्रत करे। इससे आरोग्य होता है।

(२३) **वातव्याध्युपशमनव्रत** (वीरसिंहावलोकन)—देव और भूदेवोंके निमित्तकी उपजीविका या उनके धन-वस्त्रादिका अपहरण करने और स्वामीसे वैर रखनेसे वातजनित व्याधियाँ होती हैं। उनके उपशमनार्थ कृच्छ्रातिकृच्छ्र चान्द्रायणव्रत करके '**वात आयातु०**' मन्त्रके दस हजार जप करे।

(२४) **धनुर्वातोपशमनव्रत** (वीरसिंहावलोकन)—अक्षत योनिमें गमन करने अथवा परस्त्रीपर बलात्कार करनेसे शरीरकी सम्पूर्ण संधियोंमें ज्वर और धनुर्वातकी पीड़ा होती है। उसके लिये सवत्सा काली भैंसका दान करे।

(२५) **शूलरोगोपशमनव्रत** (मन्त्रमहार्णव)—शान्त, गम्भीर और श्रुतिके अध्यापनमें समर्थ किंतु अकिंचन और याचना करनेवाले ब्राह्मणको बुलाकर भी जो कुछ नहीं देता, वह जठरशूलसे पीड़ित होता है। आयुर्वेदके मतानुसार कसरत करने,

---

१. हिरण्यं रक्तवासांसि पंचाशद्विप्रभोजनम्।
सहस्रकलशस्नानं कुर्याद् रोगस्य शान्तये॥ (व्यास)

२. अच्युतानन्तगोविन्देत्येतन्नामत्रयं द्विज।
अयुतत्रयसंख्याकं जपं कुर्याद्धि शान्तये॥ (शंकरगीता)

बहुत चलने, अधिक जगने, अति मैथुन करने, बहुत शीतल जल पीने, मूँग, अरहर, कोदो या सूखे पदार्थ खाने, भोजन-पर-भोजन करने, भिगोकर उगाये हुए तन्तुयुक्त मूँग, मोठ या चौंले खाने और मल-मूत्र-वीर्य या अपान वायुका वेग रोकने आदि कारणोंसे शूल-रोग होता है। हारीतने इसकी जन्मकथा[१] इस प्रकार कही है कि 'कामदेवका नाश करनेके निमित्तसे शिवजीने त्रिशूल फेंका था। उससे भयभीत होकर कामदेव भगा और विष्णुके शरीरमें प्रविष्ट हो गया। तब विष्णुने हुंकारसे त्रिशूलको गिरा दिया और वह भूमण्डलमें आकर शूल नामसे विख्यात हुआ। पंचभूतात्मक देहधारी कुपथ्यादिवश उसीसे पीड़ित होते हैं। ऐसे त्रिशूलसम[२] शूल-रोगसे मुक्ति पानेकी इच्छावाला मनुष्य यथासामर्थ्य अन्नदान और '**नमस्ते रुद्र मन्यवे०**' का जप करे और दृढ़व्रती रहे।

(२६) गुल्मोपशमनव्रत (अनुष्ठान-प्रकाश)—गुरुके हितकर वाक्योंका अहितकर अर्थ करने अथवा मिथ्याहारविहारादिसे बिगड़े हुए वातादि दोष उदय होकर उदरके अंदर दोनों पसवाड़ोंमें और हृदय, नाभि तथा वस्तिस्थानमें गुल्म उत्पन्न करते हैं। उसके निवारणके निमित्त फाल्गुनके व्रतपरिचयमें बतलाये हुए क्रमके अनुसार एक महीनेका 'पयोव्रत' करे और '**वात आयातु**[३] **भेषज०**' इस मन्त्रके दस हजार जप और इसी मन्त्रसे घी और

१. अनंगनाशाय हरस्त्रिशूलं मुमोच कोपान्मकरध्वजश्च।
तमापतन्तं सहसा निरीक्ष्य भयार्दितो विष्णुतनुं प्रविष्टः॥
स विष्णुहुंकारविमोहितात्मा पपात भूमौ प्रथितः स शूलः।
स पंचभूतानुगतः शरीरं प्रदूषयत्यस्य हि पूर्वसृष्टिः॥ (हारीतसंहिता)

२. शूली परोपतापेन जायते वपुषा तनुः।
सोऽन्नदानं प्रकुर्वीत तथा रुद्रं जपेद् बुधः॥ (रुद्रविधान)

३. ॐ वात आयातु भेषजꣳशंभूर्मयो भूर्नो हृदे प्राण आयूꣳषि तारिषत्। (यजुःसंहिता)

खीरका हवन करे। इससे अनिष्टकर गुल्मका कष्ट दूर हो जाता है।

(२७) उदरान्तरीयरोगोपशमनव्रत (मन्त्रमहार्णव)—जो मनुष्य[1] ब्रह्मा, विष्णु और महेशमें भेद मानते हैं, उनके उदरगत व्याधियाँ होती हैं। उनके निवारणके लिये कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र चान्द्रायणव्रत, '**उद्यन्भ्राज०**' के दस हजार जप और शिवजीका सहस्रघटाभिषेक करनेसे सम्पूर्ण व्याधियाँ दूर होती हैं।

(२८) जलोदरहरव्रत[2] (मन्त्रमहार्णव)—मिट्टी या भस्मसे माँजे हुए ताम्रादिके महापात्रको जलसे पूर्ण करके उसका पंचोपचार पूजन करे और उसी जलसे शिवजीका सहस्रघटाभिषेक करे तथा सौ ब्राह्मणोंको भोजन करावे अथवा सोना, चाँदी, ताँबा और जलधेनुका दान करके गुड़, घी और गोधूमके पदार्थोंका एकभुक्त भोजन करे।

(२९) प्लीहोदरहरव्रत (मन्त्रमहोदधि)—भृतकाध्यापक (नौकरी लेकर पढ़ानेवालों)-के या कन्याको दूषित करनेवालोंके 'प्लीहा'—एक प्रकारकी उदरग्रन्थि, जो पेटके पार्श्व भागमें होती है, अत्यन्त छोटी उत्पन्न होकर यथाक्रम बहुत बड़ी हो जाती है। आयुर्वेदके अनुसार विदाही (बहुत दाह करनेवाले) तथा अभिष्यन्दी (उदरगत रक्तछिद्र रोकनेवाले) अन्नादि पदार्थोंके निरन्तर खाते रहनेसे प्लीहा (तिल्ली) होती है और बेर-तुल्यसे बढ़कर तरबूजके तुल्य हो जाती है। इसको घटानेके लिये अति पवित्रताके साथ ब्रह्मचर्यका पालन करके '**यो यो हनूमन्त**

---

१. यो ब्रह्मविष्णुरुद्राणां भेदमुत्तमभावतः।
कुर्यात् स उदरव्याधियुक्तो भवति मानवः॥ (शातातप)

२. सहस्रकलशस्नानं महादेवस्य कारयेत्।
भोजयेच्च शतं विप्रान् मुच्यते किल्बिषात् ततः॥ (मन्त्रमहार्णव)

फलफलित धगधगित आयुराषफुरुडाह'—इस मन्त्रके दस हजार जप करे और फिर प्लीहावाले मनुष्यको सीधा लिटाकर उसके उदरपर नागवल्लीदल (नागरबेलके पत्ते) रखे। पत्तोंके ऊपर आठ तह किया हुआ कपड़ा रखे और कपड़ेके ऊपर सूखे बाँसके पतले-पतले टुकड़े रखे। इसके बाद बेरकी सूखी लकड़ी लेकर उसको जंगली पत्थरसे उत्पन्न की हुई आगसे जलावे और प्लीहावाले मनुष्यके पेटपर रखे हुए वंशशकल (बाँसके टुकड़ों)-को उपर्युक्त हनुमन्मन्त्रके उच्चारणके साथ (उस जलती हुई लकड़ीसे) सात बार ताड़ित करे। इससे उदरगत प्लीहा शान्त होती है। उपर्युक्त विधान सात बार करना चाहिये।

(३०) उदरगुल्महरव्रत (सूर्यारुण २९७)—इक्षुविकार (गुड़, शक्कर, चीनी और मिश्री) आदि चुरानेसे पेटके अंदर अनिष्टकारी* फोड़ा उत्पन्न होता है। इन दिनों उसकी 'ट्यूमर' नामसे प्रसिद्धि है और विशेषज्ञ वैद्य बड़ी सावधानीके साथ अस्त्रक्रियासे उसका निपात करते हैं। किसी स्त्रीके यह हो जाता है तब उसे गर्भस्थलीमें बालक होने-जैसा अभ्यास होता है और वह यथाक्रम उसी प्रकार बढ़ता है। परंतु प्रसव-कालकी पूर्ण अवधि पूरी हो जानेपर भी कुछ न हो, तब उस उपद्रवका स्वरूप मालूम होता है। अस्तु, उदरगुल्मके लिये सूर्यारुणमें लिखा है कि गुड़-धेनुका दान करके **'मुंचामि०'** सूक्तके एक लाख जप और '**वात आयातु**

---

* स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते।
अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसां च जायते॥ (छारपाणि)
गुल्मिनामनिलः शान्तिरुपायैः सर्वशो विधिः। (चरक)
कुपितानिलमूलत्वाद् गूढमूलोदयादपि।
गुल्मवद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते॥ (सुश्रुत)
संचितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः।
कृतमूलः शिरानद्धो यदा कूर्म इवोन्नतः॥ (माधव)

भेषजं०' से शाल्मली (सेमलवृक्ष)-की समिधाओंमें घी और शक्करकी दस हजार आहुतियाँ देकर ब्राह्मणोंको भोजन करावे और स्वयं व्रत करे।

(३१) कृमिलोदरहरव्रत (सूर्यारुण १२२)—जन्मान्तरके अभक्ष्य-भक्षणादि पापोंसे या उड़द, मैदा और गुड़के पदार्थ अथवा चने (छोले) आदिके अर्द्धपक्व शाक खाने आदिसे पेटमें कीड़े पड़ जाते हैं और उनका तत्काल प्रतीकार न हो तो वे दुमुँही सर्पिणीकी तरह बहुत बड़े हो जाते हैं। उनकी पीड़ासे मनुष्यकी भूख-प्यास घट जाती है और वह दुर्बल और अशक्त हो जाता है। ऐसे कीड़ोंको अनुभवी वैद्य तृषावर्द्धक उपचारोंसे निकालते हैं। धर्मशास्त्रोंमें इनकी शान्तिके लिये कार्तिक शुक्ला एकादशीसे पूर्णिमापर्यन्त निराहार भीष्मपंचक-व्रत करना हितकारी बताया है। वास्तवमें यह धर्म और कर्म दोनोंका साधक है।

(पापसम्भूत सर्वरोगार्तिहरव्रत)

(३२) मूत्रकृच्छ्रोपशमनव्रत (मन्त्रमहार्णव)—इस रोगके रोगीको चाहिये कि वह प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होनेके अनन्तर शुभासनपर पूर्वाभिमुख बैठकर '**मम मूत्रकृच्छ्रादिप्रशमनपूर्वकमायुरारोग्यैश्वर्याभिवृद्ध्यर्थं पुरुषसूक्तस्य सहस्रनामस्तोत्रस्य च यथासंख्यापरिमितपाठानहं करिष्ये।**' यों संकल्प करके उक्त दोनों पुरुषसूक्त और विष्णुसहस्रनामके पृथक्-पृथक् पाठ करे।

(३३) मूत्रकृच्छ्रहरव्रत* (सूर्यारुण २१५)—जो मनुष्य ब्राह्मण-कुलमें जन्म लेकर गौड़ी, माध्वी और यवसम्भूत सुराका पान करते हैं, उनके मूत्रकृच्छ्र होता है अथवा तीक्ष्ण भोजन, रूक्ष

* व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसंगनित्यद्रुतपृष्ठमानात् ।
आनूपमांसाद्यशनादजीर्णात् स्युर्मूत्रकृच्छ्र.... ॥ (माधव)

भोजन, सुरापान, घोड़ेकी सवारी, चक्रवाकादिका मांस और भोजन-पर-भोजन करने आदिसे मूत्रकृच्छ्र होता है। इसकी निवृत्तिके निमित्त सुवर्णका अष्टदल कमल बनाकर उसके मध्यमें महाप्रभु ब्रह्माजीका आवाहनादि षोडशोपचारोंद्वारा पूजन करके सात्त्विक पदार्थोंका एक समय भोजन करे और इस प्रकार प्रत्येक शुक्लपक्षकी द्वितीयाको करता रहे।

(३४) बहुमूत्रहरव्रत (सूर्यारुण १३७)—लोभवश दुग्धादि पदार्थोंको चुराने या उनको नष्ट-भ्रष्ट करनेसे बहुमूत्र होता है। उसकी निवृत्तिके लिये काश्यपके कथनानुसार 'दुग्धधेनु' का दान और नक्तव्रत (रात्रिमें एक बार भोजन) करना चाहिये।

(३५) अश्मर्युपशमनव्रत (मुक्तकसंग्रह)—पूर्वजन्मके अगम्यागमनादि महापापोंके प्रभावसे अथवा वात, पित्त, कफ और शुक्रके विकृत होनेसे अश्मरीका आक्रमण होता है। उसके प्रतीकारके लिये ज्यौतिषशास्त्रोक्त शुभ मुहूर्तमें प्रातःस्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर '**हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥**' इस मन्त्रका दस हजार बार जप करे और पलाश (छीला)-की समिधा तथा घीसे इसी मन्त्रकी एक हजार आहुति दे तथा दूध पीकर रहते हुए ईश्वरका स्मरण करे।

(३६) प्रमेहरोगोपशमनव्रत* (अनु० प्रकाश)—यह रोग अनेक प्रकारका होता है। धर्मशास्त्रोंके अनुसार किसी भी जन्ममें माता, सास, गुरुपत्नी, रानी तथा मित्र-मातामें गमन करनेसे 'मधुमेह', भ्रातृभार्या (भौजाई)-में गमन करनेसे 'जलमेह', भगिनीमें गमन करनेसे 'इक्षु' (रस) मेह, अमा, पूर्णिमा या

---

* आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः······॥ (माधव)

ग्रहणमें स्त्री-प्रसंग करने तथा कन्यामें गमन करनेसे 'बालमेह', चाण्डाली या मेहतरी आदिमें गमन करनेसे 'व्याधिकर सर्वप्रमेह' और तिर्यग्योनि-(पशु आदि-) में गमन करनेसे 'शूलप्रयुक्तप्रमेह' होता है। आयुर्वेदके अनुसार सुखकी उपस्थिति, सुखकी निद्रा, सुखप्रद (स्त्री-प्रसंगकारी) स्वप्न और दूध-दही या नवीन अन्न-जल खाने-पीने आदिसे प्रमेह होता है। इसकी निवृत्तिके लिये यथायोग्य—क्षुधा और तृषा (भूख-प्यास) दोनों त्यागकर निराहार तीन उपवास, तीन यवमध्य, तीन चान्द्रायण तथा तीन कृच्छ्रचान्द्रायण, पुरुषसूक्त और सहस्रनामके पाठ करे और अधिक पाप (या पाप और रोग दोनों) हों तो प्रतिदिन **'या ते रुद्र०'** सूक्तसे घीकी एक हजार आहुति, सुवर्ण-धेनुका दान और चालीस ब्राह्मणोंको भोजन करावे। इससे सब प्रमेह शान्त होते हैं।

(३७) प्रदरोपशमनव्रत (मन्त्रमहार्णव)—रक्त और श्वेत दो प्रकारका प्रदर होता है। रक्तमें स्त्रीकी जननेन्द्रियसे रक्त और श्वेतमें रज (जिसको स्त्रियाँ धौले गिरते मानती हैं) बहता रहता है। पूर्वजन्ममें गर्भस्रावादि या भ्रूणहत्या करने अथवा बालकोंके मारनेसे रक्त या श्वेतप्रदर होता है। इनमें 'रक्तप्रदर' प्राणान्तक और 'श्वेतप्रदर' स्त्रीत्वनाशक होता है। इनके निमित्त जितनी सामर्थ्य हो उतनेभर सुवर्णका यज्ञोपवीत बनवाकर माघ, फाल्गुन या वैशाखकी शुक्ल त्रयोदशीको प्रात:स्नानादिसे निश्चिन्त होकर व्रत धारण करे और पूर्वाभिमुख बैठकर सुवर्णनिर्मित यज्ञोपवीतका पूजन करके उसे दीन एवं सदाचारी ब्राह्मणको दे। अथवा भौम या शुक्रवारके दिन प्रबालभस्म और मुक्ताभस्मको शहदमें मिलाकर **'अग्निर्मूर्धा दिव:०'** और **'अन्नात्परिस्रुतो०'** से घीके साथ १०८ आहुति देकर ब्राह्मणोंको घी तथा खीरका भोजन

करावे और उनको विदा करके पति-पुत्रादिसहित स्वयं भोजन करे।

(३८) प्रदरहरव्रत (मन्त्रमहार्णव)—पूर्वजन्ममें माँ-बाप, भाई या गुरुजनोंके साथ स्पर्धा (डाह) रखने आदि कारणोंसे प्रदर होता है। एतन्निमित्त '**तद्विष्णो०**' इस मन्त्रका प्रतिदिन एक हजार जप और चान्द्रायणव्रत करे तथा घी और शहदयुक्त अन्नका दान करके सात्त्विक पदार्थोंका एक समय भोजन करे।

(३९) श्वयथु (शोथ) रोगहरव्रत (मन्त्रमहार्णव)—पर्वतकी तलहटीमें, नदी आदिके तीरमें या छायाकी जगह (वृक्षादिके मूल) वे मल-मूत्र या खखार आदि त्यागनेके पापसे श्वयथु रोग होता है (इसको कोई-कोई दमा भी मानते हैं)। इसकी शान्तिके लिये '**सर्वँ्इदं वो विश्वतः शरीरं०**' का ३०११८ बार जप करे और '**आपो हि ष्ठा मयोभुवः०**' आदिसे चरु (खीर) और घीकी एक हजार आहुति दे तथा उपवास करे।

(४०) वृषणव्याधिविघातकव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)—भगिनीमें अज्ञानवश गमन करे तो उसको तीन चान्द्रायणव्रत करने चाहिये और यदि ज्ञानपूर्वक करे तो कृच्छ्रचान्द्रायण करना चाहिये तथा ज्ञानपूर्वक भी बहुत दिनोंतक करे तो उसे अपना देह त्याग देना चाहिये। [उपर्युक्त पापोंसे ही वृषण-व्याधि होती है।]

(४१) गण्डमालाशमनव्रत* (अनु० प्रकाश)—गुरुसे द्वेष रखने और दूसरोंका चित्त दुखानेसे या मेद और कफके कारणसे गण्डमाल (काँख, कंधा, गला या सन्धि-प्रदेशादिमें बेर या आमलेके समान छोटी-बड़ी गंड—गूगड़ी) होती है। इसके निमित्त चान्द्रायणव्रत और पुरुषसूक्तके एक हजार पाठ करे।

---

* कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवंक्षणेषु।
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद् गण्डमाला······ ॥ (माधव)

(४२) गलगण्डहरव्रत* (सूर्यारुण २७९)—अध्यापक तथा गुरुके साथ प्रवंचनात्मक व्यवहार करने या गलेमें वात, कफ और मेद होनेसे उसके दोनों ओर गलगण्ड (गलसूंडे) हो जाते हैं। इनकी शान्तिके लिये ताँबाके पात्रमें यथाशक्ति काले तिल भरकर उनके ऊपर मोतियोंकी माला रखे और उसे पंचोपचारोंसे पूजन करके शुद्धहृदय (निष्कपट) सदाचारी तथा धनहीन ब्राह्मणको दान दे और ग्रहशान्ति करे। इससे गलगण्ड शान्त होता है। व्रत करना भी आवश्यक है ही।

(४३) बभ्रुमण्डलहरव्रत (सूर्यारुण २६२)—यह रोग बभ्रुघात (नेवलेकी हत्या) आदि दोषोंसे उत्पन्न होता है। इसमें शरीरपर नेवलेकी आकृतिके चिह्न—चकते या गुल्म हो जाते हैं और उनसे स्वास्थ्य खराब होकर आकृति बिगड़ जाती है। इसके लिये यथाशक्ति सोना लेकर उसका नेवला बनवावे और व्रतपूर्वक उसकी पूजा करके ब्राह्मणको दान कर दे।

(४४) औदुम्बरहरव्रत (सूर्यारुण २३८)—जन्मान्तरमें ताँबाका अपहरण करनेसे शरीरमें औदुम्बरका उदय होता है। रोगीको चाहिये कि वह व्रत करके ताम्रदान करे।

(४५) पादचक्रहरव्रत (सूर्यारुण २५७)—जन्मान्तरमें श्वानकी हत्या करनेसे पादचक्र (पाँवोंमें चक्र-जैसे चिह्न) हो जाते हैं। उनके लिये वेदवेत्ता विद्वान्‌को यथाशक्ति सुवर्ण देकर उसके चरणोदकसे उस चक्र-चिह्नको धोना चाहिये।

(४६) कुष्ठरोगोपशमनव्रत (भगवान् शंकर)—राजयक्ष्मादिके समान यह रोग भी पूर्वजन्ममें किये हुए अगणित जीवोंकी हत्या-जैसे महापापोंका परिणाम है। किसी मनुष्यके शरीरमें इस

---

* वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टो मन्ये समाश्रित्य तथैव मेदः।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशस्त्रलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः॥ (माधव)

रोगका एक छींटा भी दीख जाय तो उसके प्रति जनसमाजकी अश्रद्धा और अरुचि हो जाती है। आयुर्वेदके अनुसार यह रोग अठारह प्रकारका होता है तथा शरीरगत वात, पित्त और कफके कुपित होने एवं रक्त-मांस-त्वचा और जलके बिगड़ जानेसे इसका उदय होता है। उन अठारह भेदोंमेंसे कपाल, उदुम्बर, मण्डल, सिध्म, काकणक, पुण्डरीक और ऋक्ष-जिह्वा—ये सात 'महाकुष्ठ' माने गये हैं और कुष्ठ, गजचर्म, चर्मदल, विचर्चिक, विपादिक, पाषा, कच्छु, विस्फोटक, दद्रु, किट्टिस और अलसक—ये ग्यारह 'क्षुद्रकुष्ठ' हैं। इनमें किस दोषसे कौन-सा कुष्ठ होता तथा किस प्रकार और कैसा कष्ट देता है, यह आयुर्वेदके मान्यतम ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ बतलाया गया है तथा वहीं इसको दूर करनेके लिये पृथक्-पृथक् उपाय भी बताये गये हैं। परंतु बहुत-से मनुष्योंकी कोढ़ अनेक उपाय करनेपर भी नहीं मिटती—बढ़ती ही जाती है। इससे जान पड़ता है, उनके पूर्वकृत पापोंकी निवृत्ति नहीं हुई है। कर्मविपाकसंग्रहमें कुष्ठकी उत्पत्तिके मुख्य कारण इस प्रकार बतलाये गये हैं—पूर्वजन्ममें गौ-ब्राह्मणादिकी हत्या करने, घर, खेती या जन्तुओंको जलाने तथा दीन-हीन या अपाहिज (लूले-लँगड़े, अन्धे-बहरे और असमर्थ) आदिका सर्वस्व हरण करने आदि कारणोंसे कुष्ठ होता है। पापकी मात्राके अनुसार ही कुष्ठ-रोगकी भी मात्रा होती है और कोढ़ी मनुष्योंके साथ खाने-पीने, उनके वस्त्रादि धारण करने तथा उनके श्वासोच्छ्वासका स्पर्श होने आदिसे यह रोग एकसे दूसरेमें प्रविष्ट होता है। वास्तवमें इससे बचते रहना ही अच्छा है। यदि इसमें रोगीके साथ आहार-विहारादिका सम्बन्ध रखा जाय तो यह एकसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें फैल जाता है। सूर्यारुणने इसके प्रतीकारका

यह उपाय बतलाया है कि रोगीकी जितनी सामर्थ्य हो उतनी तौलके सुवर्णका वृषभ (नन्दिकेश्वर) बनवाकर उसको रेशमी वस्त्रोंसे सुशोभित करे। फिर गन्ध-पुष्पादिसे चर्चित करके '**मम पूर्वजन्मार्जितसमस्तपापनिरसनपूर्वकं प्रस्तुतकुष्ठोपशमन-कामनया शिवप्रीतये सुवर्णवृषभं वयोवृद्धाय वेदाभ्यासिने सत्पात्रब्राह्मणायाहं दास्ये।**' इस संकल्पके साथ उसका दान करे और रात्रिमें एक समय भोजन करे।

(४७) विभिन्न कुष्ठोपहरव्रत (महाभारत)—जलजन्तु (मच्छी, कछुए, मकर, मगरमच्छ और मुर्गा) आदिके प्राण लेने अथवा वस्त्रादिको लूटने आदिसे 'श्वेत-कुष्ठ' होता है। इसके लिये सांतपनव्रत करे।·····न्यायपूर्वक अपराधका निर्णय किये बिना ही निर्दोषपर दोषारोपण करके उसे अनुचित दण्ड देनेसे मुखमण्डलपर 'कृष्ण-कुष्ठ' होता है। उसके लिये कृच्छ्रातिकृच्छ्र चान्द्रायणव्रत करे। क्षुद्र (छोटे) जीवोंका वध करनेसे 'मुखविवर्णकर-कुष्ठ' (मुखको मधुमक्खियोंके छत्ते-जैसा कुरूप बनानेवाला) होता है। उसके लिये अतिकृच्छ्रचान्द्रायणव्रत करके रजतवृषभ (चाँदीके बैल नन्दिकेश्वर)-का दान करना चाहिये। ब्रह्महत्या करनेसे 'पाण्डु-कुष्ठ' होता है। उसके लिये यथोचित स्नान, दान, जप, तप (उपवास), ईश्वरस्मरण और विष्णुपूजन आदि सत्कर्म करनेके अनन्तर शालग्रामजीकी मूर्तिको काष्ठासनादिमें सुस्थिर करके उनको जलपूर्ण एक सहस्र कलशोंसे स्नान करावे। साथ ही पुरुषसूक्तके पाठ तथा प्रत्येक कलशके साथ विष्णुसहस्रनामके एक-एक नामका '**ॐ विष्णवे नमः**' इत्यादिरूपसे उच्चारण करता रहे और अभिषेक समाप्त होनेपर पचास ब्राह्मणोंको उत्तम पदार्थोंका भोजन करवाकर स्वयं एक समय भोजन करे। पूर्वजन्ममें गौ-ब्राह्मणोंका घात करनेके महापापसे मनुष्यके

शरीरमें 'गलितकुष्ठ' होता है, जिसमेंसे रक्त, जल और चेप सदैव झरते रहते हैं। हाथ, पाँव, अंगुली, अँगूठे, भौंह, पीठ और कटि आदि सम्पूर्ण अंगोंमें घात, क्षत या फूटे हुए फोड़े-जैसे चिह्न हो जाते हैं और उनमेंसे दुर्गन्ध निकलती रहती है। यह कोढ़ आमरण रहता है। बल्कि संसर्गदोषवश उसकी मृत्युके पश्चात् बेटे-पोतेतकके शरीरमें भी उसका उदय होता है। इसकी पीड़ासे मुक्त होने या शान्ति-लाभ करनेके लिये यथासामर्थ्य सोना या चाँदीका कालपुरुष बनवावे। उसके चक्राकार गोलवृत्तमें बहुत-सी किरणें भी हों और देखनेमें ग्रह, तारा या सूर्य-जैसा मालूम हो। तदनन्तर उसको वस्त्रसे ढकी हुई चौकीपर विराजमानकर गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे और वेदज्ञ, विधिज्ञ एवं बहुज्ञ ब्राह्मणको भोजन कराकर उसका यथाविधि दान करे। इसी तरह अधिक मात्रामें चाँदीकी अनेक बार चोरी करनेमें 'चित्रकुष्ठ' होता है। उसमें मनुष्यके शरीरमें सर्वत्र ही चित्र-विचित्र सफेद धब्बे हो जाते हैं, जिनसे उसका स्वरूप बिगड़ जाता है। उक्त पापका परिहार करनेके लिये कुरुक्षेत्रमें जाकर तीन प्राजापत्यव्रत करे और व्रतके दिनोंमें अपनी शक्तिके अनुसार तीन पल (लगभग १५० ग्राम) सुवर्णमेंसे प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा असमर्थ मनुष्योंको दान दे।

(४८) **अर्बुदहरव्रत** (हिंदीविश्वकोश)—यह रोग किसी अंशमें कुष्ठके ही समान है; यह फोड़ेके रूपमें प्रकट होता है और चमड़ेके नीचे मांस, नस, नाड़ी या हड्डी आदिमें उत्पन्न होकर स्वतन्त्ररूपसे बढ़ता है। यदि यह साधारण हो तो उचित उपायसे रुक जाता है और यदि रक्तमें जा पहुँचे या उसके होनेके बाद रक्तमें कोई दोष आ जाय तो फिर यह किसी सामान्य उपायसे नहीं मिटता। अर्बुदका उदय प्रायः कान, नाक, जीभ,

मस्तिष्क, यकृत् (जिगर), वक्षःस्थल, मूत्राशय, गर्भाशय, अण्डाधार अथवा योनिके अंदर और जेरके समीपमें होता है। स्त्रियोंके भीतर यह रोग गर्भगत बालकके समान क्रमशः बढ़ता है और समय पूरा होनेपर पुत्रप्रसवके बदले प्राणान्तकारी हो जाता है। इस रोगकी शान्तिके लिये नियमपूर्वक चार प्राजापत्यव्रत करे और यथाशक्ति सप्तधान्योंका दान दे।

(४९) वर्वरांगत्वहरव्रत (सूर्यारुण २३८)—लोहादिके हरणसे वर्वरांग होता है। इसकी निवृत्तिके लिये प्राजापत्यव्रत करके सौ पल (लगभग पाँच कि०ग्रा०) लोहेका दान और निराहार उपवास करे। इससे एक या तीन बारमें शरीरकी शुद्धि हो जाती है।

(५०) कण्डूरोगोपशमनव्रत (सूर्यारुण १८१)—कुत्सित पापोंके कारण कण्डु (खाज-खुजली या धरड़दाद) होता है। इसके लिये सुवर्णके लक्ष्मीनारायण और गणेशजी बनवावे और उनका षोडशोपचारसे पूजन करके यथाविधि दान और व्रत करे।

(५१) गजचर्महरव्रत (सूर्यारुण २४०)—जन्मान्तरमें गजाधिपति होकर गजको मरवा डालनेसे गजचर्मका रोग होता है। यह भी कोढ़की ही श्रेणीमें है। इसमें चर्मके ऊपर खाज और उसके नीचे अनेक चींटियोंके काटने-जैसा दर्द होता है। इसकी निवृत्तिके लिये यथाशक्ति सुवर्णके गणेशजी बनवाकर पूजन करे और उन्हींके सम्मुख बैठकर **'ॐ वक्रतुण्डाय हुं'** इस मन्त्रका प्रतिदिन दस हजार जप और एक हजार आहुति दे तथा एक ब्राह्मणको प्रतिदिन मोदक (लड्डू आदि) भोजन करवाकर स्वयं एकभुक्तव्रत करे। इस प्रकार इक्कीस दिन करके उस सुवर्णप्रतिमाका दान करे तो उससे गजचर्म मिट जाता है।

(५२) दद्रुहरव्रत (सूर्यारुण २९६)—गौ, ब्राह्मण और देवता

आदिके स्थानमें, सर्वसाधारणके बैठने-उठनेके स्थानोंमें, नद, नदी, तालाब या किसी भी जलाशयमें अथवा पुण्य करनेके स्थान, मकान या तीर्थोंमें मल-मूत्रादिका त्याग करनेसे 'दद्रु' (दाद) रोग होता है। इसकी निवृत्तिके लिये सुवर्णमय चतुर्भुज शिवजी, द्विभुज पार्वतीजी और चाँदीका नन्दिकेश्वर (नाँदिया) तथा घण्टा बनवाकर वेदपाठी ब्राह्मणसे पूजन करावे और '**सर्वेश्वराय विद्महे शूलहस्ताय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।**' अथवा '**त्र्यम्बकं यजामहे०**' या '**ॐ नमः शिवाय**' के जप और इनके दशांश हवन करके दारिद्र्यग्रस्त, धर्मज्ञ एवं परिवारयुक्त ब्राह्मणको उपर्युक्त शिव-पार्वती, नाँदिया और घण्टाका अन्य सामग्रियोंसहित दान करे। दान देते समय यह प्रार्थना करे कि '**कैलाशवासी भगवानुमया सहितः परः। त्रिनेत्रश्च हरो दद्रुरोगमाशु व्यपोहतु॥**' इसके बाद दान लेनेवालेको विदा करे।

(५३) लूताजनितरोगहरव्रत (सूर्यारुण ५७०)—अज्ञानवश सगोत्रीका वध करनेसे लूता (मकड़ी)-के विषसे उत्पन्न फोड़ा-फुंसी एवं खाज होती है। उसके उपशमनार्थ तीर्थस्थानमें जाकर स्नान-ध्यान और जप करना चाहिये।

(५४) कृष्णगुल्मोपशमनव्रत (सूर्यारुण ९४२)—पूर्वजन्मके किये हुए महिषी-वधादि पापोंसे पीड़ाकारक कृष्णगुल्म (काली गूमडी)-का रोग होता है। यदि पापाधिक्य हो तो इसकी भीषणता बहुत बढ़ जाती है और इससे प्राणान्त हो जाता है। इसकी शान्तिके लिये विधिपूर्वक भैंसका दान करे और दो कम्बल भी ब्राह्मणको दे।

(५५) अन्त्रवृद्धिविरोधकव्रत (सूर्यारुण ७७५)—यह रोग गुह्यस्थान (या उदर) आदिके अन्दर उत्पन्न होता है। इसके लिये कृच्छ्रातिकृच्छ्रव्रत करके सौ ब्राह्मणोंको भोजन करावे, महिषी

(भैंस)-का दान करे, **'उद्यन्ति०'** मन्त्रका जप और उसके दशांशका हवन एवं उपवास करे। इसके करनेसे अन्त्रवृद्धि रुक जाती है।

(५६) मेदहरव्रत (सूर्यारुण १४१)—पूर्वजन्ममें दधि-दुग्धादिके अपहरण करनेसे मेद (मांसग्रन्थि)-का रोग होता है। यह समूचे शरीरमें किसी भी जगह अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे उत्पन्न होकर पीछे बहुत बड़ा हो जाता है और नाभि, नेत्र, मस्तक या गले आदिमें कटहलकी भाँति बढ़कर बड़ा संताप देता है। उसके निवारणके लिये व्रत करके दुग्ध-धेनुका दान करे।

(५७) श्लीपदहरव्रत (सूर्यारुण ८७)—यह रोग पाँवोंमें होता है। इससे हाथी-जैसे पाँव हो जाते हैं। एतन्निमित्त चान्द्रायण या अतिकृच्छ्र चान्द्रायण करना चाहिये।

(५८) शीर्षरोगोपशमनव्रत (अनु० प्रकाश)—गुरुजनोंके साथ विरोध या विवाद करने आदिसे शिरोरोग होते हैं। उनके लिये **'उद्यन्नद्य०'** ऋचाका जप और कूष्माण्डीका हवन करके उपवास करे अथवा सुवर्णमय यज्ञोपवीतका दान दे।

(५९) खल्वाटत्वहरव्रत (सूर्यारुण)—स्त्री हो या पुरुष; परनिन्दा करनेसे मस्तकके बाल उड़ जाते हैं। इस पापकी निवृत्तिके लिये धेनु और कम्बल दान करे।

(६०) नेत्ररोगोपशमनव्रत (मन्त्रमहार्णव)—दूसरेकी दृष्टिका नाश करने, कामान्ध होकर परस्त्रियोंको देखने और झूठे ही (बिना वैद्यक पढ़े) वैद्य बन जाने आदिसे अथवा गर्मीसे संतप्त* होकर जलस्नान करने, दूरकी वस्तु देखने, दिनमें सोकर रातमें जागने, नेत्रोंमें बाफ या पसीना गिरने, धूल पड़ने या धुआँ लगने

---

* उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशाद् दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च।
स्वेदाद् रजोधूमनिषेवणाच्चेति, (माधव)

आदि कारणोंसे नेत्ररोग होते हैं। उन्हें दूर करनेके लिये चान्द्रायण और पराकव्रत करके '**ॐ वर्चोदा असि वर्चो मे देहि।**' इस मन्त्रका जप करे और घीमें कुछ सुवर्ण डालकर अग्निमें घीकी आहुति दे तथा सुवर्ण सत्पात्रको दे दे; फिर लाल शर्करा, गोधूम तथा घीके बने हुए पदार्थका एक बार भोजन करे अथवा 'सूर्यारुण ९३३' के अनुसार कुरुक्षेत्र-जैसे तीर्थमें जाकर घृत-धेनुका दान करे।

(६१) रात्र्यन्धत्वहरव्रत (सूर्यारुण १२८)—जन्मान्तरमें दूसरेका उच्छिष्ट भोजन करने अथवा विडालादिका खाया हुआ खानेसे रात्र्यन्धत्व (रतौंधी) होता है। इसकी निवृत्तिके लिये यथारुचि गोमूत्र पीये और ब्राह्मणोंको भोजन करावे। इस प्रकार एक-दो या तीन बार करे। यदि स्त्रीके रतौंधी हो तो उसको भी गोमूत्र-पान करना चाहिये।

(६२) नेत्रपूयहरव्रत (कर्मविपाकसंग्रह)—मैथुननिरत मिथुनके निरीक्षणसे नेत्रोंमें पूयरोग हो जाता है। उससे आँखोंमें चेप, पानी या गीड़ आता रहता है और उनके कोये फूल जाते हैं। इनके लिये यथाशक्ति जप, होम और व्रत करके सुवर्णमयी सूर्यप्रतिमाको त्रिपादी (तिपायी)-पर सुस्थिर करके रखे तथा गन्धाक्षत-पुष्प और दूध डाले हुए शुद्ध जलसे ताँबाका कलश भरकर सूर्यमूर्तिको स्नान करावे। इस प्रकार एक हजार कलश चढ़ावे और प्रति कलशके साथ '**ज्योतिःप्रदाय सूर्याय नमः**' बोलता रहे अथवा आदित्यहृदयका पाठ करता रहे। इस प्रकार सहस्र कलशोंद्वारा अभिषेक करनेके पश्चात् ब्राह्मणोंको भोजन करावे।

(६३) नेत्रगतसर्वरोगोपशमनव्रत (चाक्षुषी विद्या)—नेत्रज्योति कम हो जाने, दृष्टिमें दोष आ जाने, फूला, चौंधिया या आधाशीशी आदिसे नेत्रोंमें खराबी आ जाने आदिकी निवृत्तिके

लिये '**नेत्रोपनिषद्**'* के एक हजार पाठ करवाकर सूर्यनारायणकी उपासना और रविवारका व्रत करना चाहिये।

(६४) **नेत्रादिसर्वरोगहरव्रत** (शौनकव्याख्या)—ताँबेके पात्रको जलसे पूर्ण करके उसमें लाल चन्दन और लाल पुष्प तथा लाल अक्षत डाले और उस जलसे अर्घा अथवा दोनों हाथोंकी अंजलि भरकर '**ॐ उद्यन्नद्य मित्रसह सूर्यं तर्पयामि १**' यह मन्त्र बोलकर सूर्यके सम्मुख छोड़ दे। इसी प्रकार '**ॐ आरोहन्नुत्तरां दिशं सूर्यं तर्पयामि २, ॐ हृद्रोगं मम सूर्य सूर्यं तर्पयामि ३, ॐ हरिमाणं च नाशय सूर्यं तर्पयामि ४, ॐ शुकेषु हरिमाणं सूर्यं तर्पयामि ५, रोपणाकासु दध्मसि सूर्यं तर्पयामि ६, अथो हारिद्रवेषुवे सूर्यं तर्पयामि ७, ॐ हरिमाणं निदध्मास सूर्यं तर्पयामि ८, ॐ उदगादयमादित्यः सूर्यं तर्पयामि ९, ॐ विश्वेन सहसा सह सूर्यं तर्पयामि १०, ॐ द्विषन्तं मह्यं रंधयन् सूर्यं तर्पयामि ११, ओमोमहं द्विषतेरधं सूर्यं तर्पयामि १२।**'

---

* 'नेत्रोपनिषद्' अथातश्चाक्षुषीं पठितसिद्धविद्यां चक्षूरोगहरां व्याख्यास्यामो यया चक्षूरोगाः सर्वतो नश्यन्ति। चक्षुषो दीप्तिर्भवति। अस्याश्चाक्षुषविद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, सविता देवता, चक्षूरोगनिवृत्तये जपे विनियोगः। ॐ चक्षुश्चक्षुश्चक्षुस्तेजः स्थिरो भव। मां पाहि पाहि। त्वरितं चक्षूरोगान् शमय शमय। मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय। यथाहमन्धो न स्यां तथा कल्पय कल्पय। कल्याणं कुरु कुरु। यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुःप्रतिरोधकदुष्कृतानि तानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय। ॐ नमश्चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्कराय। ॐ नमः करुणाकरायामृताय। ॐ नमः सूर्याय। ॐ नमो भगवते सूर्यायाक्षितेजसे नमः। खेचराय नमः। महते नमः । रजसे नमः। तमसे नमः। असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय। उष्णो भगवान् शुचिरूपः। हंसो भगवान् शुचिरप्रतिरूपः। य इमां चाक्षुष्मतीं विद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुलेऽन्धो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति। ॐ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं हिरण्मयं ज्योतीरूपं तपन्तं। सहस्ररश्मिभिः शतधा वर्तमानः पुरःप्रजानामुदयत्येष सूर्यः। 'ॐ नमो भगवते आदित्याय अवाग्वादिने स्वाहा।' इति। (कृ० य० चाक्षुषोप०)

इनके उच्चारणसे सूर्यके सम्मुख जल छोड़े। इसके पीछे उपर्युक्त '**उद्यन्नद्य**[१] **मित्रसह आरोहन्नुत्तरां दिशं सूर्यं तर्पयामि।**' कहकर सूर्यके सम्मुख जल छोड़े। इस प्रकार दो-दोके उच्चारणसे दूसरी बार और फिर उक्त '**उद्यन्नद्य०**' आदि चार-चार पदके एक-एक करके '**सूर्यं तर्पयामि**' कहते हुए तीसरी बार जल छोड़े। इसमें पहलेमें बारह, दूसरेमें छः और तीसरेमें तीन जलांजलि दी जाती है। ये सम्पूर्ण तीन ऋचा हैं। जिनके बारह पदोंसे बारह, दो-दोके युगलसे छः और चार-चारके पूरे मन्त्रसे तीन जलांजलियाँ दी जाती हैं। इस तर्पणसे नेत्रसम्बन्धी सर्वरोगोंका शमन तो होता ही है, श्रद्धाके साथ पाद-ऋचाओंसे बारह बार, अर्धऋचाओंसे दस बार, सर्वऋचाओंसे तीन बार, सार्धऋचासे दो बार और तीनों ऋचाओंसे एक बारकी कुल चौबीस जलांजलि देकर तर्पण करनेसे नेत्ररोग, ज्वररोग, विस्फोटक और सर्पविषतक दूर हो जाते हैं। परंतु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सामान्य या कठिन—जैसा रोग अथवा विष हो उसीके अनुसार[२] अट्ठाईस या एक सौ आठ बार तर्पण करे।

(६५) **एकाक्षिगतनेत्ररोगोपशमनव्रत** (मुक्तकसंग्रह) एक नेत्रके दृष्टिदोषकी शान्तिके लिये रजतमय शुक्रमूर्तिका गन्धाक्षतादिसे पूजन करके तत्समीपमें बैठकर '**शुक्रज्योतिश्च०**' इस ऋचाका एक सहस्र बार जप करके इसी मन्त्रसे पलाशकी समिधाओंको गायके घीमें डुबोकर उनकी एक सौ आहुति दे और हविष्यान्न (जौ, गेहूँ या चावल)-का एक समय भोजन करे। इस प्रकार

---

१. उद्यन्नद्येति मन्त्रोऽयं सौरः पापप्रणाशनः।
रोगघ्नश्च विषघ्नश्च भुक्तिमुक्तिफलप्रदः॥ (शौनक)

२. 'अस्य सकलस्यापि तर्पणप्रयोगस्य व्याध्यनुसारेणा-ष्टाविंशतिरष्टोत्तरशतमित्याद्यावृत्तिः कल्पनीया।' (अनु० प्रकाश)

इक्कीस, इक्यावन या सौ व्रत करनेसे एक नेत्रके रोगकी शान्ति होती है।

(६६) **कर्णरोगोपशमनव्रत** (मन्त्रमहार्णव)—माता, पिता और गुरु तथा गौ, ब्राह्मण और देवता इनकी निन्दा सुननेसे कर्णरोग होता है। उसकी निवृत्तिके लिये चार कृच्छ्रव्रत करके सौरमन्त्र (पूर्वोक्त '**उद्यन्नद्य०**' इन तीनों ऋचा)-के जप और उसके दशांशका हवन करके ब्राह्मणोंको भोजन करावे तथा सुवर्णसहित लाल वस्त्रोंका दान करे।

(६७) **बधिरत्वहरव्रत** (सूर्यारुण ३२१, १६६३)—पूर्वजन्ममें अपनी पत्नीकी माता (सास)-को मारनेसे दूसरे जन्ममें बधिरत्व (बहरापन) प्राप्त होता है। उसके लिये चान्द्रायणव्रत करके सुवर्णसहित पुस्तकका दान करनेसे बधिरत्व दूर होता है।

(६८) **नासारोगहरव्रत** (मन्त्रमहार्णव)—लवणादिका अपहरण करनेके पापसे नाकके रोग होते हैं; उनके उपशमनार्थ '**उद्यन्नद्यादि०**' तीनों ऋचाओंका एक सौ आठ आहुति देकर ब्राह्मणको भोजन करावे और स्वयं गोदान करे।

(६९) **मुखरोगहरव्रत** (महार्णव)—झूठी गवाही देनेसे मुखमें रोग होते हैं। इनकी शान्तिके लिये कृच्छ्रातिकृच्छ्र चान्द्रायणव्रत करके गायत्रीके अयुत (दस हजार) जप और कूष्माण्डीका हवन करे तथा चावलोंका दान करके भात खाकर एकभुक्त व्रत करे।

(७०) **मूकत्वहरव्रत** (सूर्यारुण २०१)—पूर्वजन्ममें भाईकी हत्या और विद्वानोंसे विवाद करनेके पापसे मनुष्य मूक (गूँगा) होता है। इसके निमित्त माघशुक्ला पंचमी या पूर्णिमाको प्रात:स्नानादिके पश्चात् चौकीपर अष्टदल कमल लिखे और उसके ऊपर षट्शास्त्रोंसहित ऋगादि चारों वेदोंकी स्थापना करके उनका पंचोपचारसे पूजन करावे। फिर चार या छः अथवा दस

ब्राह्मणोंको मीठे पकवान भोजन कराकर उन्हें यथायोग्य पूजित पुस्तकें अर्पण करे। इस व्रतमें पूजाके प्रारम्भका संकल्प तथा मन्त्रोंका उच्चारण मूकके पिता या आचार्यको करना चाहिये।

(७१) कण्ठगतरोगहरव्रत (सूर्यारुण ११६)—लोगोंको लोभवश ठगने या जलाशयके समीपमें बैठे हुए बगुलोंको मारनेसे उत्पन्न हुए कण्ठरोगकी शान्तिके लिये सफेद रंगकी पयस्विनी गौका दान करना चाहिये; इससे आरोग्य-लाभ होता है।

(७२) दुर्गन्धनाशकव्रत (सूर्यारुण ६९०)—मोहवश माक्षिक मधु (शहद)-का हरण करने या मधुका क्रय-विक्रय करनेसे मुखमें अथवा सर्वांगमें दुर्गन्ध होती है। उसकी शान्तिके लिये अमावस्या, पूर्णिमा या व्यतीपातादिके दिन मधु-धेनुका दान करके उपवास करे।

(७३) अपस्मारहरव्रत (महार्णव)—गुरु तथा मालिकके प्रतिकूल आचरण करने आदिसे अपस्मार (मृगी) रोग होता है। इसकी निवृत्तिके लिये चान्द्रायणव्रत करके '**सदसस्पति०**' मन्त्रसे चरु और घीकी आहुति दे अथवा '**कया नश्चित्र०**' मन्त्रसे दस हजार बार आहुति और एक सौ जलांजलि (तर्पण) करे।

(७४) भगन्दररोगोपशमनव्रत (पद्मपुराण)—जो मनुष्य धर्मकी शपथके साथ लोक-कल्याणकारी कर्मका आरम्भ करके उसमें बाधा उपस्थित होनेके लिये अधर्मकारी काम करे या अपने गोत्रकी स्त्रीके साथ प्रसंग करे, उसको भगन्दर रोग होता है। इसके निमित्त मेष (मेंढा)-का विधिपूर्वक दान करके एकभुक्त व्रत करना चाहिये।

(७५) भगन्दरहरदानव्रत (सूर्यारुण ८५)—माघ या वैशाखके शुक्लपक्षमें सप्तमी रविवारको प्रातःस्नानादि करनेके पश्चात् आकके पत्तेके आसनपर बैठकर सूर्याभिमुख हो यथाशक्ति सोना,

चाँदी या ताँबेके पात्रमें गायका घी भरे और उसमें यथासम्भव माणिक्य आदि रत्नोंके कण डालकर गन्धादिसे पूजन करे। पीछे सूर्यादि ग्रहोंके मन्त्रोंसे आठ, अट्ठाईस या एक सौ आठ आहुति देकर उक्त घृतपूर्ण पात्रका दान करे। दान देते समय '**आदित्यादिग्रहाः सर्वे नवरत्नप्रदानतः। विनाशयन्तु मे दोषान् क्षिप्रमेव भगन्दरम्॥**' इस मन्त्रको पढ़े।

(७६) **गुदरोगहरव्रत** (सूर्यारुण १७५)—रोगीको चाहिये कि वह श्रावण शुक्ल प्रतिपद्से भाद्रपदी अमावास्यापर्यन्त या अन्य किसी भी सुअवसरमें एक मासतक विष्णु और शिवका वेदोक्त मन्त्रोंसे षोडशोपचारोंद्वारा पूजन करे, गौका दान दे और प्राजापत्यव्रत करके सुपूजित मूर्ति वेदवेत्ता विद्वान्‌को अर्पण करे। इस प्रकार करनेसे गुदामें या उसके आसपास होनेवाले रोग शान्त हो जाते हैं।

(७७) **पंगुत्वहरव्रत** (सूर्यारुण ५१८)—पूर्वजन्ममें कुक्कुट (मुर्गा) आदिके मारनेवाले मनुष्य पंगु होते हैं। उनको चाहिये कि वे सुवर्णादिका दान करके पक्षियोंका पालन करें।

(७८) **पंगुरोगहरव्रत** (सूर्यारुण १३३२)—यदि पूर्वजन्ममें शृगाल (गीदड़)-की हत्या की गयी हो तो दूसरे जन्ममें हत्यारे मनुष्यको पंगु होना पड़ता है। उस हत्याके पापसे छुटकारा पानेके लिये सुवर्णयुक्त घोड़ेका दान और व्रत करे।

(७९) **कुब्जत्वहरव्रत** (सूर्यारुण १६५०)—जन्मान्तरमें किये हुए शश, मृग या मूषकादिके घातजन्य पापसे मनुष्योंको कुब्जत्व प्राप्त होता है। इस दोषको दूर करनेके लिये व्रत करके विधिपूर्वक सोपस्कर (वस्त्राभूषणादिसहित) शय्याका दान करे।

(८०) **कुनखत्वहरव्रत** (सूर्यारुण २६२)—सुवर्णका अपहरण

करनेसे कुनख रोग होता है। उसकी निवृत्तिके निमित्त कार्तिक मासमें चान्द्रायणव्रत और राममन्त्रके जप करने चाहिये।

(८१) **दन्तहीनत्वदोषहरव्रत** (सूर्यारुण १८७१—१८७५)—किसी जन्ममें वराहकी हत्या करनेसे मनुष्योंको दन्तहीनत्व दोष प्राप्त होता है। उस पापकी निवृत्तिके लिये घीमें यथाशक्ति सुवर्ण डालकर उसका दान करे या ताँबाके कलशको घृतपूर्ण करके गरीबको दे।

(८२) **शीर्षव्रणहरव्रत** (सूर्यारुण १९१९)—जन्मान्तरमें नारिकेल (नारियल या श्रीफलों)-के अपहरण करनेसे मुखमण्डलको शोभाहीन बनानेवाला शीर्षव्रण होता है। उसके निवारणके निमित्त शिवजीके मन्दिरमें जाकर उनका यथाविधि पूजन करे और नारियलका फल चढ़ावे। इसी प्रकार पार्वतीजीकी भी यथावत् पूजा करे। फिर हाथ जोड़कर '**यन्मया नारिकेलानि हृत्वा पापमुपार्जितम्। अर्चितो भगवान् रुद्रो भवान्या भयभंजनः॥ यथाशक्ति च दानाद्यैर्भवन्तोऽपि च पूजिताः। कर्मणानेन मे नाशमुपैतु शिरसो व्रणः॥**' इस मन्त्रसे प्रार्थना करके फलाहार करे।

(८३) **शेफसव्रणहरव्रत** (सूर्यारुण १९२०)—म्लेच्छ-स्त्रियोंमें अभिगमन करनेसे इन्द्रियके अग्रभागपर शूकोत्थ (इन्द्रियको दीर्घ करनेवाला दुष्टव्रण) होता है। इसके होनेसे शुक्र, मूत्र और पुरीषादिके त्यागमें बड़ी असुविधा होती है। भरतने लिखा है कि रेतस्स्रावके समय शेफससंचित जलस्राव हो जाता है। इस अनिष्टकर व्रणको दूर करनेके लिये शुक्लपक्षकी द्वादशीको सूर्योदयसे पहले किसी स्वच्छ जलवाले जलाशयपर जाकर प्रातःस्नानादि करनेके अनन्तर हाथमें जल, फल और गन्धाक्षत लेकर '**मम तिलजीतिप्रसिद्धशूकोत्थशेफसव्रणनिरसनपूर्वकं**

मेढरगतसर्वरोगप्रशान्तये च श्रीवरुणदेवमहं पूजयिष्ये।' इस प्रकार संकल्प करके वरुणका यथाविधि पूजन करे और यजुर्वेदके विद्वान् ब्राह्मणको गौ देकर फलाहारपूर्वक व्रत करे।

(८४) **योनिगतव्रणहरव्रत** (मन्त्रमहार्णव)—पतिके परलोकवासके पश्चात् जो स्त्रियाँ परपुरुषके साथ सहवास करती हैं, उनके उसी या दूसरे जन्ममें मूत्रद्वारमें ऐसा व्रण होता है जिससे सहवासके अनन्तर उनको बड़ी पीड़ा होती है। इस पापकी शान्तिके लिये नील वृषका दान करके घी, तिल और शर्कराका हवन करे।

(८५) **स्त्रीस्तनस्फोटकहरव्रत** (ऋग्वेदविधान)—पतिकी उपस्थितिमें परपुरुषसे प्रेम करनेके पापसे परिणाममें उसके स्तनपर फोड़ा और मूत्रद्वारसे रक्तस्राव होता है। उसकी शान्तिके लिये पाँचों लवण (सेंधा, साँभर, विड, संचर और श्याम), हल्दी, धान्य और वस्त्रादिके साथ सुपूजित गौका दान करे।

(८६) **वातकृतरक्तस्रावहरव्रत** (वृद्धबौधायन)—सवर्णामें गमन करनेसे वातकृतरक्तस्राव होता है। उसके लिये छः वर्षोंतक कृच्छ्रव्रत करना चाहिये।

(८७) **गर्भस्रावहरव्रत** (शातातप)—पूर्वजन्ममें दूसरी स्त्रियोंके गर्भस्राव कराकर भ्रूणहत्या करानेके पापसे स्त्रियोंके गर्भस्राव होता है। उसके लिये सोनेका यज्ञोपवीत बनवाकर दान दे।

(८८) **सुतहीनत्वदोषहरव्रत** (सूर्यारुण ९६)—पराये पुत्रोंका प्राणान्त करनेके पापसे पुत्रहीनता प्राप्त होती है। इसकी निवृत्तिके लिये सोनेके पात्रमें सगर्भा स्त्रीका चित्र बनवाकर उसका पूजन करे और '**आर्यामेनां च सौवर्णीं वस्त्राढ्यां विधिदैवताम्। ददेऽहं विप्रमुख्याय पूजिताय विधानतः॥ गर्भपातनजाद्दोषात्पूर्वपापविशुद्धये।**' इसका उच्चारण करके सत्पात्रको दे। इसके

अतिरिक्त गायत्री अथवा त्र्यम्बक मन्त्रके पचीस सौ जप और व्रत करनेके अनन्तर हवन और ब्राह्मण-भोजन करावे।

(८९) **वन्ध्यात्वहरगौरीव्रत** (सूर्यारुण १७४, ३४७, ३८८)—यदि ब्राह्मणी होकर वैश्यके साथ या वैश्या होकर शूद्रके साथ सहवास करे तो वह दूसरे जन्ममें वन्ध्या होती है। इस पापकी शान्तिके लिये मार्गशीर्ष शुक्लपक्षमें प्रतिपदासे प्रारम्भ करके सोलह दिनतक गौरीपूजनके साथ एकभुक्तव्रत करे तथा '**वन्ध्यत्वहरगौर्यै नमः**' इस मन्त्रका प्रतिदिन सोलह हजार जप करे। तत्पश्चात् समाप्तिके दिन तिल-तैलपूर्ण सोलह दीपक जलाकर गौरीके सम्मुख रख दे और रातमें जागरण करे। फिर दूसरे दिन सोलह दम्पती (ब्राह्मण-ब्राह्मणी)-को भोजन करवाकर सोलह सौभाग्याष्टक दान करे।

(९०) **षण्ढत्वहरव्रत** (सूर्यारुण २४३)—अविवाहिता षोडशवर्षीया कुमारिकाके साथ बलात्कार करनेसे मनुष्य षण्ढ (हींजड़े) होते हैं। उनको चाहिये कि वे प्रतिदिन बाणलिंग (नर्मदेश्वर)-का पूजन करके व्रत करें।

(९१) **उन्मादरोगहरव्रत** (सूर्यारुण २२७—२३३)—यदि पुरुष यौवनसे उन्मत्त होकर अबलाओंपर बलात्कार करे या स्त्री स्वच्छन्दरूपमें रहकर सर्वत्र विचरे तो उन्माद रोग (पागलपन) होता है। इसकी निवृत्तिके लिये व्रत करके सुवर्णके ब्रह्माजीका और ताँबेके मृगका पूजन करे। साथ ही गायत्रीका जप तथा हवन करे।

(९२) **जालन्धररोगहरछायापात्रविधानव्रत** (कर्मकौस्तुभ)—चौंसठ पलके परिमाणवाले कांस्यपात्रको घृतसे पूर्ण करके उसमें सुवर्णके कण डाल दे; फिर उस घीमें अपने सम्पूर्ण शरीरकी छायाको देखकर उसका दान करे। देते समय '**आयुर्बलं यशो**

वर्च आज्यं स्वर्णं तथामृतम्। आधारं तेजसां यस्मादतः शान्तिं प्रयच्छ मे॥' इस मन्त्रका उच्चारण करे। इसके बाद व्रत करके यथाशक्ति दुग्धपानकर उपवास करे।

(९३) सर्वव्याधिहरव्रत (शातातपादि)—श्रेष्ठ पात्रमें उत्तम श्रेणीके चावल भरकर उसे वस्त्रसे ढक दे। फिर उसमें हर प्रकारकी व्याधियोंके उपस्थित होनेकी भावना करके उनका गन्ध-पुष्पादिसे पूजन करे। साथ ही विद्वान् ब्राह्मणका पूजन करके उस तण्डुलसे भरे हुए पात्रको श्रद्धाके साथ उसे दान दे, उस समय '**ये मां रोगाः प्रबाधन्ते देहस्थाः सततं मम। गृह्णीष्व प्रतिरूपेण तान् रोगान् द्विजसत्तम॥'** इस श्लोकका उच्चारण करे। तदनन्तर प्रतिग्राहीको यथाशक्ति वस्त्राभूषण, भोजन और दक्षिणा आदि देकर विदा करे। इससे सम्पूर्ण रोग शान्त होते हैं।

(९४) प्रसवपीडाहरव्रत (संस्कारप्रकाश)—पलाशपत्रके दोनेमें एक पल (लगभग ४५ ग्राम) तिलका तैल भरकर दूर्वाके इक्कीस पत्रोंद्वारा प्रदक्षिण-क्रमसे उसका आलोडन करे (दूर्वांकुरोंको तैलमें घुमावे)। उस समय प्रत्येक बारके आलोडनमें '**हिमवत्युत्तरे पार्श्वे शबरी नाम यक्षिणी। तस्या नूपुरशब्देन विशल्या स्यात्तु गर्भिणी॥'** इस मन्त्रका उच्चारण करता रहे। इक्कीस बार जप हो जानेपर उसमेंसे थोड़ा-सा तैल गर्भिणीको पिलावे और स्वयं उपवास करके उक्त मन्त्रका जप करे। इससे सुखपूर्वक प्रसव होता है और गर्भावस्थाकी पीड़ा मिट जाती है।

लोकहितकरव्रत

(९५) अनावृष्ट्युपशमनविधानव्रत (शारदातिलक)—किसी भी शुभ दिनमें विद्वान्, सदाचारी और सत्कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले वयोवृद्ध ब्राह्मणोंको बुलाकर उनका षोडशोपचारसे पूजन करे। फिर उनके समक्ष वस्त्राच्छादित वेदीपर अष्टदल

कमलके मध्यभागमें सूर्यकी, उसके पूर्वमें इन्द्रकी और पश्चिममें वरुणकी स्थापना करके उनका षोडशोपचारद्वारा पूजन करे, फिर उपस्थित ब्राह्मणोंसे अनावृष्टिहर और सद्योवृष्टिकर उत्तम अनुष्ठान करनेकी प्रार्थना करे। तब धर्मप्राण यजमानकी प्रार्थनाको सफल करनेकी दृढ़ आशा हृदयमें रखकर सम्पूर्ण अनुष्ठानी ब्राह्मण अपने आसनोंपर बैठकर '**ॐ ध्रुवा सुत्वा स क्षितिषु**[१] **क्षियंतो व्यस्मत्पाशं**[२] **वरुणो मुमोचत्**[३]। **अवोवन् माना आदि**[४] **तेरुपस्थाद्युयं पात**[५] **स्वस्तिभिः सदा नः ॥**[६]' इस मन्त्रके अंगन्यासादिपूर्वक एक लाख जप करे। अंगन्यास और करन्यासादिमें उक्त ऋचाके जो छः खण्ड हैं, उन्हींसे क्रमशः १ हृदय, २ सिर, ३ शिखा, ४ दोनों भुजा, ५ दोनों नेत्र और ६ दोनों हाथोंका स्पर्श करे। अन्तिम यानी छठे खण्ड—'**स्वस्तिभिः सदा नः**' का उच्चारण करके '**अस्त्राय फट्**' कहते हुए ताली बजानी चाहिये। यही अंगन्यास है। इसी प्रकार १ अंगुष्ठ, २ तर्जनी, ३ मध्यमा, ४ अनामिका, ५ कनिष्ठा और ६ करतल एवं करपृष्ठोंका स्पर्श करे। यह करन्यास है। इसके अतिरिक्त उक्त '**ध्रुवा सुत्वा०**' मन्त्रके बयालीस वर्णोंमेंसे एक-एक वर्णसे सर्वांगन्यास करके ध्यान करे। ध्यान यह है—'**चन्द्रप्रभं पंकजसंनिषण्णं पाशांकुशाभीतिवरं दधानम्। मुक्ताविभूषांचितसर्वगात्रं ध्यायेत् प्रसन्नं वरुणं विभूत्यै ॥**' इस प्रकार ध्यान करनेके पश्चात् पाँच, सात, नौ या तेरह ब्राह्मण एकाग्रचित्त होकर जप करें और एक, पाँच या चौबीस लाख जितना जप करना हो उसका हिसाब लगाकर प्रतिदिन उसी प्रमाणसे जप करते हुए नियत दिनोंतक अनुष्ठान करें। अनुष्ठानके दिनोंमें भूशयन और ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए क्रोधादिका त्याग करें। प्रतिदिन एकभुक्त (किसी एक ही पदार्थका) या एकभुक्त (एक बार) भोजन करें।

(१६) वृष्टिप्रदव्रत (बृहद्दृग्विधान)—उस मनुष्यको धन्य कहना चाहिये जिसके धन-रत्नादिसे भरे हुए सौ ऊँट, सौ ऊँटनी, पुत्र, पत्नी और पुत्रवधू आदि सभी एक-एक करके बाढ़में बह गये तो भी उसने वर्षाके विषयमें यही कहा कि *'वर्षा तो बरषी भली, होनी हो सो होय।'* वास्तवमें संसारके जितने भी पदार्थ और प्राणी हैं, वे रातभरकी वर्षासे ही सस्ते, सुलभ और सुखी हो जाते हैं तथा अवसरपर वर्षा न होनेसे ही सब महँगे, दुर्लभ और दुःखी हो जाते हैं। अतः वृष्टिके निमित्त नियमपालनपूर्वक व्रत-विधानादिका करना-कराना नितान्त आवश्यक है। व्रतीको चाहिये कि वह जलद अथवा वारुणयोगमें प्रातःस्नानादि करके गीले वस्त्र धारण किये सूर्यके सम्मुख शुभासनपर बैठे। काम-क्रोधादिका त्याग करे तथा ब्रह्मचर्यका पालन और भूशयन करते हुए निराहार रहे। यथोचित वर्षाके अतिशीघ्र होनेकी आशा, विश्वास और अनुरागको अपने अन्तःकरणमें सुस्थिर करके हाथमें जल, फल, गन्धाक्षत और पुष्प लेकर **'मम समस्तलोकोपकारकामनासिद्ध्यर्थं वृष्टिप्राप्तये ऋग्वेदीय 'अच्छावदेति०' सूक्तस्यानुष्ठानमहं करिष्ये।'** यह संकल्प करके १ **'अच्छावदत०'**, २ **'विवृक्षान्हन्ति०'**, ३ **'रथीव कशया०'**, ४ **'प्रवाता वान्ति०'**, ५ **'यस्य व्रते०'**, ६ **'दिवो नो वृष्टिं०'**, ७ **'अभिक्रन्दस्तनय०'**, ८ **'महान्तं कोश०'**, ९ **'यत्पर्जन्य कनिक्रदत्०'** और १० **'अवर्षीर्वर्ष०'** इस सूक्तसे अथवा इसकी प्रत्येक ऋचासे अयुतवेतसी (आम्लवेत जिसको कुछ लोग जलबेत कहते हैं)-की दस हजार समिधाओंको, जिनकी लम्बाई एक बित्तेसे कम न हो, घी और दूधमें प्लावित करके सूक्त अथवा ऋचाके साथ-साथ **'पर्जन्याय स्वाहा'** कहकर हवन करे। इस प्रकार भूख-प्यास और जागरणका कष्ट सहन करते हुए

अथक परिश्रम और उत्साहसे युक्त होकर (अधिक-से-अधिक) पाँच राततक जप और हवन करे। यदि हो सके तो आप अकेले ही सारी रात जागकर अनुष्ठान करें, न हो सके तो तीन अन्य व्यक्तियोंको सहायक बना ले। एक-एक आदमी एक-एक प्रहर अनुष्ठानमें लगे रहें। इस प्रकार पाँच राततक अखण्ड अनुष्ठान चालू रखे। ऐसा करनेसे निश्चय ही भारी वृष्टि होती है। (उपर्युक्त सूक्त अथवा इसकी दस ऋचाएँ तथा पहले भी जो मन्त्र अथवा ऋचाएँ आयी हैं उनको विस्तारभयसे यहाँ संकेतरूपमें लिखा गया है। यदि किसीको इस समय इन मन्त्रोंकी आवश्यकता हो तो वे ऋग्वेद, यजुर्वेद, अनुष्ठानप्रकाश और वीरसिंहावलोकनमें, जो बंबई वेंकटेश्वरप्रेस आदिमें मिल सकते हैं, इनका अवलोकन करें।)

(९७) **महामारीशमनविधानव्रत** (ब्रह्मवैवर्त)—राजाओंके किये हुए महापापोंके प्रभावसे प्रजामें महामारी-जैसे दारुण और असहनीय उपद्रव हुआ करते हैं, उनके उपशमनार्थ स्वयं राजा या सम्पूर्ण प्रजा अथवा कोई भी धर्मप्राण महापुरुष अकेला या सामूहिक रूपसे अनुष्ठान करे। ऐसा अनुष्ठान नगर, ग्राम या बस्तीके मध्यभागमें होना चाहिये अथवा सद्गृहस्थ पुरुष अपने-अपने घरोंमें ही अनुष्ठान कर सकते हैं। इसके लिये नृसिंह-पुराणके अनुसार 'नृसिंहमन्त्र' के जप, अनुष्ठानप्रकाशादिके अनुसार महामृत्युंजयजप; सौ हजार या दस हजार दुर्गापाठ; रुद्र, अतिरुद्र और महारुद्रादिके विधान; भैरव-भैरवी आदिकी उपासना; चौराहोंमें तिल, घी, चीनी और अमृता आदि विषघ्न ओषधियोंका एक लक्ष हवन, नौ दिनोंतक श्रीराम-नाम-कीर्तन, यथाशक्ति दान, धर्म और ब्राह्मण-भोजन आदि उपाय बतलाये गये हैं। इनके अनुष्ठानसे महामारी या महोग्रज्वर आदिके उपद्रव शान्त

होते हैं। इस विषयमें 'सुश्रुत' का सिद्धान्त सर्वोत्तम प्रतीत होता है। उसने कहा है कि '**देशत्यागाज्जपाद्धोमान्महामारी प्रशाम्यति**'[१] इसी प्रकार प्लेगके विषयमें देवीभागवतके प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ आचार्यने लिखा है कि—'**मूषकं पतितोत्थं च मृतं दृष्ट्वा च यद् गृहे। तद् गृहं तत्क्षणं त्यक्त्वा सकुटुम्बो वनं व्रजेत्॥**'[२] इन सबमें नियमानुसार रहना और ईश्वरका स्मरण करना सर्वोत्कृष्ट है।

(९८) सर्वरोगनाशक धर्मराजव्रत (मन्त्रमहोदधि)—कोई भी रोग किसी भी औषधोपचारसे शान्त न हुआ हो तो प्रातःस्नानादिके पश्चात् पवित्रावस्थामें रहकर '**ॐ क्रौं ह्रीं आं वैवस्वताय धर्मराजाय भक्तानुग्रहकृते नमः**' इस मन्त्रका पूर्णतया अभ्यास करके मन-ही-मन अखण्ड जप करता रहे; इससे सम्पूर्ण पाप, ताप और रोग दूर होते हैं।

(९९) सर्वरोगहर चित्रगुप्तव्रत (मन्त्रमहोदधि)—'**ॐ नमो विचित्राय धर्मलेखकाय यमवाहिकाधिकारिणे मृत्युं जन्म संपत्प्रलयं कथय कथय स्वाहा।**' इस मन्त्रका दस हजारसे अधिक जप करनेपर हर प्रकारके रोग-दोषादि शान्त होते हैं।

(१००) कलिमलहर श्रीकृष्णव्रत (सूर्यारुण ३०९)—जिस वर्षमें भाद्रपदकी कृष्णाष्टमी अर्धरात्रव्यापिनी हो और उसके साथ बुधवार, रोहिणी-नक्षत्र तथा शुभ योग हो, उस वर्षके उस पावन पर्वके दिन प्रातःकाल तीर्थादिके जलसे या कुएँके तुरंत निकाले हुए पानीसे स्नान करके संध्या-वन्दनादि

१- जहाँ महामारी फैली हो उस स्थान या गाँवको छोड़कर हट जाने और जप तथा हवन करनेसे महामारी शान्त हो जाती है।

२- जिस घरमें चूहेको गिरकर—उछलकर प्राण-त्याग करते देखा जाय, उसे छोड़कर कुटुम्बसहित वनमें (शून्य स्थानमें) चले जाना चाहिये।

नित्यकर्म करनेके पश्चात् उपवास करके '**ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय नमः।**' इस मन्त्रका दिनभर मानस जप करता रहे और सायंकालमें श्रीकृष्णका उत्साहपूर्वक उत्सव करके गायन, वादन और नर्तन करके जागरण करे। फिर दूसरे दिन व्रतका विसर्जन करके पारणा करे तो इस व्रतके प्रभावसे भवसागरसम्भूत सम्पूर्ण बाधाएँ और पापसम्भूत सम्पूर्ण रोग-दोष शान्त होकर अपूर्व सुख-सौभाग्यादिकी प्राप्ति होती है।

पापसम्भूतसर्वरोगार्तिहरव्रत समाप्त

पाँच पुत्रप्रद व्रत

(१) गो-पूजन—किसी सौभाग्यवतीको पुत्र न होता हो तो वह कार्तिक, मार्गशीर्ष या वैशाखके शुक्ल पक्षमें पहले गुरुवारको गो-पूजन प्रारम्भ करे। प्रातःकाल नित्यकृत्यसे निवृत्त होकर अपनी या परायी किसी भी गौको मकानके प्रांगणमें पूर्वाभिमुख खड़ी करके स्वयं उत्तराभिमुख होकर शुद्ध जलसे उसका पादप्रक्षालन करे। फिर उसके ललाटको धोकर मध्यमें रोलीका टीका लगावे और अक्षत चढ़ावे। फिर कुछ भोजन, लड्डू, पेड़ा, बतासा या गुड़ खिलाकर मुँह धो देवे। फिर करबद्ध नतमस्तक होकर प्रार्थना करे कि 'हे मातः! मुझे पुत्र प्रदान कर।' इस प्रकार वर्षभर करना चाहिये।

(२) अभिलाषाष्टक* (स्कन्दपुराण, काशीखण्ड पूर्वार्द्ध, अध्याय १०)—ऋषिवर विश्वानरकी धर्मपत्नी शुचिष्मतीने अपने पतिसे प्रार्थना की कि मेरे 'शिव-समान पुत्र हो।' यह सुनकर विश्वानर क्षणभर तो चुप रहे, फिर बोले 'एवमस्तु' और उन्होंने स्वयं ही १२ महीनेतक फलाहार, जलाहार और वाय्वाहारके आधारपर घोर तप किया। फिर काशी जाकर विकरादेवी तथा सिद्धि-विनायकके समीप चन्द्रकूपमें स्नान करके वहीं वीरेश्वरके समीप अभिलाषाष्टकके आठ मन्त्रोंसे बड़ी श्रद्धापूर्वक स्तुति की। इससे भगवान् शंकर

---

* एकं ब्रह्मैवाद्वितीयं समस्तं सत्यं सत्यं नेह नानास्ति किंचित्।
एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे तस्मादेकं त्वां प्रपद्ये महेशम्॥ १॥
एकः कर्ता त्वं हि विश्वस्य शम्भो नाना रूपेष्वेकरूपोऽस्यरूपः।
यद्वत्प्रत्यस्वर्क एकोऽप्यनेकस्तस्मान्नान्यं त्वां विनेशं प्रपद्ये॥ २॥
रज्जौ सर्पः शुक्तिकायां च रूप्यं नैरः पूरस्तन्मृगाख्ये मरीचौ।
यद्वत्तद्वद्विश्वगेष प्रपंचो यस्मिन् ज्ञाते तं प्रपद्ये महेशम्॥ ३॥
तोये शैत्यं दाहकत्वं च वह्नौ तापो भानौ शीतभानौ प्रसादः।
पुष्पे गन्धो दुग्धमध्ये च सर्पिर्यत्तच्छम्भो त्वं ततस्त्वां प्रपद्ये॥ ४॥

प्रसन्न हो गये और कुछ ही दिन बाद विश्वानरकी पत्नी शुचिष्मतीको गर्भ रह गया। समय आनेपर उसने शिवसदृश पुत्र गृहपति (अग्नि)-को जन्म दिया। अतः संतानकी कामनावाले पति या पत्नीको चाहिये, प्रातः शौच-स्नानादिसे निवृत्त हो शिवजीका पूजन करे और इस स्तोत्रका आठ या अट्ठाईस बार पाठ करे। इस प्रकार एक वर्षपर्यन्त पाठ करते रहनेसे पुत्रकी प्राप्ति होती है।

(३) पापघट-दान—किसी पातक, उपपातक या महापातकके प्रभावसे पुत्र नहीं हुआ हो तो दम्पतिको चाहिये कि वे किसी तीर्थपर जाकर किसी शुभ दिनमें पापघट-दान करें। यथासामर्थ्य सोने, चाँदी या ताँबेका ६४ पलका कलश रखकर उसपर अग्न्युत्तारणकर पंचगव्यादिसे शुद्ध करें। साथ ही किसी ऐसे दूरस्थ ब्राह्मणको बुलावें जो दान लेकर चले जानेपर फिर कभी देखनेमें न आवे। इसके पूर्व दिन दोनों स्त्री-पुरुष एक बार भोजनकर ब्रह्मचर्य पालन करें। फिर दूसरे दिन शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर शुद्ध स्थानमें पूर्वाभिमुख बैठें। सामने किसी चौकी या वेदीपर लाल वस्त्र बिछाकर उसपर अक्षतसे अष्टदल कमल बनावें। फिर उसपर यथाविधि कलश स्थापनकर उसमें घी या शक्कर भरकर आम्रपल्लव अथवा अशोकादि पत्रोंसे सुशोभित कर ऊपर पूर्णपात्र स्थापित करें। उसके मध्यभागमें

शब्दं गृह्णास्यश्रवास्त्वं हि जिघ्रेरघ्राणस्त्वं व्यंघ्रिरायासि दूरात्।
व्यक्षः पश्येस्त्वं रसज्ञोऽप्यजिह्वः कस्त्वां सम्यग् वेत्त्यतस्त्वां प्रपद्ये॥ ५॥
नो वेदस्त्वामीश साक्षाद्धि वेद नो वा विष्णुर्नो विधाताखिलस्य।
नो योगीन्द्रा नेन्द्रमुख्याश्च देवा भक्तो वेद त्वामतस्त्वां प्रपद्ये॥ ६॥
नो ते गोत्रं नेश जन्मापि नाख्या नो वा रूपं नैव शीलं न देशः।
इत्थं भूतोऽपीश्वरस्त्वं त्रिलोक्याः सर्वान् कामान् पूरयेस्तद्भजे त्वाम्॥ ७॥
त्वत्तः सर्वं त्वं हि सर्वं स्मरारे त्वं गौरीशस्त्वं च नग्नोऽतिशान्तः।
त्वं वै वृद्धस्त्वं युवा त्वं च बालस्तत्किं यत्त्वं नास्यतस्त्वां नतोऽस्मि॥ ८॥
(स्कं० काशी० १०। १२६—१३३)

सुवर्णनिर्मित विष्णुमूर्ति और उसके समीप ही फणाकृति नागमूर्ति स्थापित करें। प्रांगणके मध्यभागमें स्थण्डिलके ऊपर पंचभू-संस्कारपूर्वक अग्नि-स्थापन करें। गणपतिपूजन, नान्दीश्राद्ध, पुण्याहवाचन एवं ग्रहस्थापनकर सबोंका पूजन करें। फिर भगवान् विष्णुकी षोडशोपचारपूजाकर नागकी पंचोपचारसे पूजा करे। फिर कुशकण्डिका करके विष्णुमन्त्रसे घीकी १००८ या १०८ आहुतियाँ दें और पूर्वोक्त ब्राह्मणका पूजनकर उसे भोजन करावें। इसी समय '**मनसा दुर्विनीतेन***' आदि मन्त्रोंको पढ़ते हुए प्रति मन्त्र अक्षत या दूब कलशपर चढ़ाता जाय। मन्त्र समाप्त हो जानेपर हाथमें जल, फल, चन्दन, अक्षत-पुष्पादि लेकर देश-कालादिका कीर्तनकर '**अमुकोऽहं मत्कर्तृकानेकजन्मार्जितज्ञाताज्ञातवाङ्मनःकायकृतमहापातकोपपातकादिपूरितमिमं घटं गन्धपुष्पाद्यर्चितं तुभ्यं सम्प्रददे।**' इस प्रकार संकल्पकर ब्राह्मणके हाथमें संकल्प छोड़ दे। साथ ही थोड़ा सुवर्ण देकर उस कलशको दोनों हाथोंसे उठाकर ब्राह्मणको दे और हाथ जोड़कर प्रार्थना करे—

महीसुर! द्विजश्रेष्ठ! जगतस्तापहारक।
त्राहि मां दुःखसंतप्तं त्रिभिस्तापैः सदार्दितम्॥
संसारकूपतस्त्वं मां समुद्धर नमोऽस्तु ते।
त्वदन्यो नास्ति मां देव समुद्धर्तुं क्षमः क्षितौ॥

इस प्रकार प्रार्थनाकर विसर्जन करे। फिर आचार्यको दक्षिणा देकर भोजन कराये। तदनन्तर दम्पति स्वयं भोजन करें।

---

* मनसा दुर्विनीतेन यन्मया पातकं कृतम्।
तत्तिष्ठतु घटे चास्मिन् गुरुदेवप्रसादतः॥ १॥
व्रजता तिष्ठता वापि कर्मणा यदुपार्जितम्। तत्तिष्ठतु०॥ २॥
परस्वहरणेनापि पातकं यदुपार्जितम्। तत्तिष्ठतु०॥ ३॥
सुवर्णस्तेयजं पापं मनोवाक्कायकर्मजम्। तत्तिष्ठतु०॥ ४॥
रसविक्रयतः पापं ब्रह्मजन्मनि संचितम्। तत्तिष्ठतु०॥ ५॥

(४) कृष्णव्रत—प्रौढावस्थामें भी पुत्र न हो तो यज्ञोपवीत धारण करके श्रीकृष्ण या गणेशके मन्दिरमें अथवा गोशाला या पीपल, गूलर या कदम्ब-वृक्षके नीचे बैठकर कमल, कदम्ब या तुलसीकी मालापर—'**देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते। देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥**' इस मन्त्रका प्रतिदिन पाँच हजार, ढाई हजार या एक सहस्र जप करे। इस प्रकार एक लाख पूरा हो जानेपर दशांश हवन, तर्पण, मार्जनकर ब्राह्मणोंको खीर, मालपूआ, पूड़ीका भोजन करावे। ऐसा करनेसे श्रीकृष्णकी कृपासे पुत्र प्राप्त होता है।

(५) गायत्रीपुरश्चरण—किसी निश्चित शुभ मुहूर्तमें प्रारम्भ करे। इसके एक दिन पूर्व उपवासपूर्वक क्षौराचरणकर दशविधस्नान करे। दूसरे दिन देवमन्दिर या बिल्ववृक्षके नीचे भगवान् सूर्यके स्वरूपका चिन्तन करता हुआ रुद्राक्षकी मालासे प्रतिदिन पाँच सहस्र या एक सहस्र गायत्रीका जप करे। साथ ही गोघृतसे दशांश हवन भी करता जाय। जपके बाद प्रतिदिन जौकी रोटी और मूँगकी दाल बनाकर भोजन करे। अन्न स्वकीय ही होना चाहिये। चौबीस लाख जप पूरा हो जानेपर पुरश्चरण सम्पूर्ण होता है। यह पुरश्चरण यदि निर्विघ्न समाप्त हो जाय; तो व्रतकर्ताको धन, धान्य, प्रतिष्ठा, पुत्रादिकी प्राप्ति होती है।

क्षात्रधर्मविहीनेन क्षात्रजन्मनि यत्कृतम् । तत्तिष्ठतु० ॥ ६ ॥
वैश्यजन्मन्यपि मया तथा यत्पातकं कृतम् । तत्तिष्ठतु० ॥ ७ ॥
शूद्रजन्मनि यत्पापं सततं समुपार्जितम् । तत्तिष्ठतु० ॥ ८ ॥
गुरुदाराभिगमनात् पातकं यन्मयार्जितम् । तत्तिष्ठतु० ॥ ९ ॥
अपेयपानसम्भूतं पातकं यन्मयार्जितम् । तत्तिष्ठतु० ॥ १० ॥
वापीकूपतडागानां भेदनेन कृतं च यत् । तत्तिष्ठतु० ॥ ११ ॥
अभक्ष्यभक्षणेनैव संचितं यत्त पातकम् । तत्तिष्ठतु० ॥ १२ ॥
ज्ञाताज्ञातैरनेकैश्च घटोऽयं सम्भृतो मया ।
पूर्वजन्मान्तरोत्पन्नैरेतज्जन्मकृतैरपि ॥ १३ ॥

वटसावित्रीव्रत-कथा

सनत्कुमार उवाच

कुलस्त्रीणां व्रतं ब्रूहि महाभाग्यं तथैव च।
अवैधव्यकरं स्त्रीणां पुत्रपौत्रप्रदायकम्॥ १॥

ईश्वर उवाच

आसीन्मद्रेषु धर्मात्मा ज्ञानी परमधार्मिकः।
नाम्ना चाश्वपतिर्वीरो वेदवेदांगपारगः॥ २॥
अनपत्यो महाबाहुः सर्वैश्वर्यसमन्वितः।
सपत्नीकस्तपस्तेपे समाराधयते नृपः॥ ३॥
सावित्रीं च प्रसावित्रीं जपन्नास्ते महामनाः।
जुहोति चैव सावित्रीं भक्त्या परमया युतः॥ ४॥
ततस्तुष्टा तु सावित्री सा देवी द्विजसत्तम।
सविग्रहवती देवी तस्य दर्शनमागता॥ ५॥
भूर्भुवः स्वरवन्त्येषा साक्षसूत्रकमण्डलुः।
तां तु दृष्ट्वा जगद्वन्द्यां सावित्रीं च द्विजोत्तम॥ ६॥
प्रणिपत्य नृपो भक्त्या प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ तुष्टा देवी जगाद ह॥ ७॥

सावित्र्युवाच

तुष्टाहं तव राजेन्द्र वरं वरय सुव्रत।
एवमुक्तस्तया राजा प्रसन्नां तामुवाच ह॥ ८॥

राजोवाच

अनपत्यो ह्यहं देवि पुत्रमिच्छामि शोभनम्।
नान्यं वृणोमि सावित्रि पुत्रमेव जगन्मये॥ ९॥

अन्यदस्ति समग्रं मे क्षितौ यच्चापि दुर्लभम्।
प्रसादात् तव देवेशि तत् सर्वं विद्यते गृहे॥ १०॥
एवमुक्ता तु सा देवी प्रत्युवाच नराधिपम्।

सावित्र्युवाच

पुत्रस्ते नास्ति राजेन्द्र कन्यैका ते भविष्यति॥ ११॥
कुलद्वयं तु सा राजन्नुद्धरिष्यति भामिनी।
मन्नाम्ना राजशार्दूल तस्या नाम भविष्यति॥ १२॥
इत्युक्त्वा तं मुनिश्रेष्ठ राजानं ब्रह्मणः प्रिया।
अन्तर्धानं गता देवी संतुष्टोऽसौ महीपतिः॥ १३॥
ततः कतिपयाहोभिस्तस्य राज्ञी महीभुजः।
ससत्त्वा समजायेत पूर्णे काले सुषाव ह॥ १४॥
सावित्र्या तुष्टया दत्ता सावित्र्या जप्तया तथा।
सावित्री तेन वरदा तस्या नाम बभूव ह॥ १५॥
राजते देवगर्भाभा कन्या कमललोचना।
ववृधे सा मुनिश्रेष्ठ चन्द्रलेखेव चाम्बरे॥ १६॥
सावित्री ब्रह्मणो वै सा श्रीरिवायतलोचना।
तां दृष्ट्वा हेमगर्भाभां राजा चिन्तामुपेयिवान्॥ १७॥
आयाच्यमानां च वरै रूपेणाप्रतिमां भुवि।
तस्या रूपेण ते सर्वे संनिरुद्धा महीभुजः॥ १८॥
ततश्च राजा आहूय उवाच कमलेक्षणाम्।
पुत्रि प्रदानकालस्ते न च याचन्ति केचन॥ १९॥
स्वयं वरय हृद्यं ते पतिं गुणसमन्वितम्।
मनःप्रह्लादनकरं शीलेनाभिजनेन च॥ २०॥
इत्युक्त्वा तां च राजेन्द्रो वृद्धामात्यैः सहैव च।
वस्त्रालंकारसहितां धनरत्नैः समन्विताम्॥ २१॥
विसृज्य च क्षणं तत्र यावत् तिष्ठति भूमिपः।
तावत् तत्र समागच्छन्नारदो भगवानृषिः॥ २२॥

अपूजयत् ततो राजा अर्घ्यपाद्येन तं मुनिम्।
आसने च सुखासीनः पूजितस्तेन भूभुजा॥ २३॥
पूजयित्वा मुनिं राजा प्रोवाचेदं द्विजोत्तमम्।
पावितोऽहं त्वया विप्र दर्शनेनाद्य नारद॥ २४॥
यावदेवं वदेद् राजा तावत् सा कमलेक्षणा।
आश्रमादागता देवी वृद्धामात्यैः समन्विता॥ २५॥
अभिवन्द्य पितुः पादौ ववन्दे सा मुनिं ततः।
नारदेन तु दृष्टा सा स तु प्रोवाच भूमिपम्॥ २६॥

नारद उवाच

कन्यां च देवगर्भाभां किमर्थं न प्रयच्छसि।
वराय त्वं महाबाहो वरयोग्यां हि सुन्दरीम्॥ २७॥
एवमुक्तस्तदा तेन मुनिना नृपसत्तमः।
उवाच तं मुनिं वाक्यमनेनार्थेन प्रेषिता॥ २८॥
आगतेयं विशालाक्षी मया सम्प्रेषिता सती।
अनया च वृतो भर्ता पृच्छ त्वं मुनिसत्तम॥ २९॥
सा पृष्टा तेन मुनिना तस्मै चाचष्ट भामिनी।

सावित्र्युवाच

आश्रमे सत्यवान् नाम द्युमत्सेनसुतो मुने।
भर्तृत्वेन मया विप्र वृतोऽसौ राजनन्दनः॥ ३०॥

नारद उवाच

कष्टं कृतं महाराज दुहित्रा तव सुव्रत।
अजानन्त्या वृतो भर्ता गुणवानिति विश्रुतः॥ ३१॥
सत्यं वदत्यस्य पिता सत्यं माता प्रभाषते।
स्वयं सत्यं प्रभाषेत सत्यवानिति तेन सः॥ ३२॥
तथा चाश्वाः प्रियास्तस्य अश्वैः क्रीडति मृण्मयैः।
चित्रेऽपि विलिखत्यश्वांश्चित्राश्वस्तेन चोच्यते॥ ३३॥

रूपवान् गुणवांश्चैव सर्वशास्त्रविशारदः।
न तस्य सदृशो लोके विद्यते चेह मानवः॥ ३४॥
सर्वैर्गुणैश्च सम्पन्नो रत्नैरिव महार्णवः॥ ३५॥
एको दोषो महानस्य गुणानावृत्य तिष्ठति।
संवत्सरेण क्षीणायुर्देहत्यागं करिष्यति॥ ३६॥

अश्वपतिरुवाच

अन्यं वरय भद्रं ते वरं सावित्रि गम्यताम्।
विवाहस्य तु कालोऽयं वर्तते शुभलक्षणे॥ ३७॥

सावित्र्युवाच

नान्यमिच्छाम्यहं तात मनसापि वरं प्रभो।
यो मया च वृतो भर्ता स मे नान्यो भविष्यति॥ ३८॥
विचिन्त्य मनसा पूर्वं वाचा पश्चात् समुच्चरेत्।
क्रियते च ततः पश्चाच्छुभं वा यदि वाशुभम्॥ ३९॥
तस्मात् पुमांसं मनसा कथं चान्यं वृणोम्यहम्।
सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः।
सकृत् कन्या प्रदीयेत त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥ ४०॥
इति मत्वा न मे बुद्धिर्विचलेच्च कथंचन।
सगुणो निर्गुणो वापि मूर्खः पण्डित एव च॥ ४१॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः स वै भर्ता मम प्रभो।
नान्यं वृणोमि भर्तारं यदि वा स्याच्छचीपतिः॥ ४२॥
इति मत्वा त्वया तात यत् कर्तव्यं वदस्व तत्।

नारद उवाच

स्थिरा बुद्धिश्च राजेन्द्र सावित्र्याः सत्यवान् प्रति॥ ४३॥
त्वरयस्व विवाहाय भर्त्रा सह कुरु त्विमाम्।

ईश्वर उवाच

निश्चितां तु मतिं ज्ञात्वा स्थिरां बुद्धिं च निश्चलाम्॥ ४४॥

सावित्र्याश्च महाराजः प्रतस्थेऽसौ वनं प्रति।
गृहीत्वा तु धनं राजा द्युमत्सेनस्य संनिधौ॥ ४५॥
स्वल्पानुगो महाराजो वृद्धामात्यैः समन्वितः।
नारदस्तु ततः खे वै तत्रैवान्तरधीयत॥ ४६॥
स गत्वा राजशार्दूलो द्युमत्सेनेन संगतः।
वृद्धश्चान्धश्च राजासौ वृक्षमूलमुपाश्रितः॥ ४७॥
सावित्र्यश्वपती राजा पादौ जग्राह वीर्यवान्।
स्वनाम च समुच्चार्य तस्थौ तस्य समीपतः॥ ४८॥
उवाच राजा तं भूपं किमागमनकारणम्।
पूजयित्वार्घ्यदानेन वन्यमूलफलैश्च सः॥ ४९॥
ततः पप्रच्छ कुशलं स राजा मुनिसत्तम।

अश्वपतिरुवाच

कुशलं दर्शनेनाद्य तव राजन् ममाद्य वै॥ ५०॥
दुहिता मम सावित्री तव पुत्रमभीप्सति।
भर्तारं राजशार्दूल प्राप्नोत्वियमनिन्दिता॥ ५१॥
मनसा कांक्षितं पूर्वं भर्तारमनया विभो।
आवयोश्चैव सम्बन्धो भवत्वद्य ममेप्सितः॥ ५२॥

द्युमत्सेन उवाच

वृद्धश्चान्धश्च राजेन्द्र फलमूलाशनोऽस्म्यहम्।
राज्याच्च्युतश्च मे पुत्रो वन्येनाद्य स जीवति॥ ५३॥
सा कथं सहते दुःखं दुहिता तव कानने।
अनभिज्ञा च दुःखानामित्यहं नाभिकांक्षये॥ ५४॥

अश्वपतिरुवाच

अनया च वृतो भर्ता जानन्त्या राजसत्तम।
अनेन सहवासस्तु तव पुत्रेण मानद॥ ५५॥
स्वर्गतुल्यो महाराज भविष्यति न संशयः॥ ५६॥

एवमुक्तस्तदा तेन राज्ञा राजर्षिसत्तमः।
तथेति स प्रतिज्ञाय चकारोद्वाहमुत्तमम्॥ ५७॥
कृत्वा विवाहं राजेन्द्रं सम्पूज्य विविधैर्धनैः।
अभिवाद्य द्युमत्सेनं जगाम नगरीं प्रति॥ ५८॥
सावित्री तु पतिं लब्ध्वा इन्द्रं प्राप्य शची यथा।
सत्यवानपि ब्रह्मर्षे तथा पत्न्याभिनन्दितः॥ ५९॥
क्रीडते तद्वनोद्देशे पौलोम्या मघवानिव।
नारदस्य च तद् वाक्यं हृदयेन मनस्विनी॥ ६०॥
वहन्ती नियमं चक्रे व्रतस्यास्य च भामिनी।
गणयन्ती दिनान्येव न लेभे तोषमुत्तमम्॥ ६१॥
ज्ञात्वा तद् दिवसं विप्र भर्तुर्मरणकारणम्।
व्रतं त्रिरात्रमुद्दिश्य दिवारात्रं स्थिराभवत्॥ ६२॥
ततस्त्रिरात्रं निर्वृत्य संतर्प्य पितृदेवताः।
श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ ववन्दे चारुहासिनी॥ ६३॥
कुठारं परिगृह्याथ कठिनं चैव सुव्रत।
प्रतस्थे स वनायैव सावित्री वाक्यमब्रवीत्॥ ६४॥

सावित्र्युवाच

न गन्तव्यं वनं त्वद्य मम वाक्येन मानद।
अथवा गम्यते साधो मया सह वनं व्रज॥ ६५॥
संवत्सरं भवेत् पूर्णमाश्रमेऽस्मिन् मम प्रभो।
तद् वनं द्रष्टुमिच्छामि प्रसादं कुरु मे विभो॥ ६६॥

सत्यवानुवाच

नाहं स्वतन्त्रः सुश्रोणि पृच्छस्व पितरौ मम।
ताभ्यां प्रस्थापिता गच्छ मया सह शुचिस्मिते॥ ६७॥
एवमुक्ता तदा तेन भर्त्रा सा कमलेक्षणा।
श्वश्रूश्वशुरयोः पादावभिवाद्येदमब्रवीत्॥ ६८॥

वनं द्रष्टुमभीच्छेयमाज्ञां मह्यं प्रदीयताम्।
भर्त्रा सह वनं गन्तुमेतत् त्वरयते मनः॥ ६९॥
तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा द्युमत्सेनो ब्रवीदिदम्।
व्रतं कृतं त्वया भद्रे पारणं कुरु सुव्रते॥ ७०॥
पारणान्ते ततो भीरु वनं गन्तुं त्वमर्हसि॥ ७१॥

सावित्र्युवाच

नियमश्च कृतोऽस्माभी रात्रौ चन्द्रोदये सति।
जाते मया प्रकर्तव्यं भोजनं तात मे श्रृणु॥ ७२॥
वनदर्शनकामोऽस्ति भर्त्रा सह ममाद्य वै।
न मे तत्र भवेद् ग्लानिर्भर्त्रा सह नराधिप॥ ७३॥
इत्युक्तस्तु तया राजा द्युमत्सेनो महीपतिः।
यत् तेऽभिलषितं पुत्रि तत् कुरुष्व सुमध्यमे॥ ७४॥
नमस्कृत्वा तु सावित्री श्वश्रूं च श्वशुरं तथा।
सहिता सा जगामाथ तेन सत्यव्रता मुने॥ ७५॥
विलोकयन्ती भर्तारं प्राप्तकालं मनस्विनी।
वनं च फलितं दृष्ट्वा पुष्पितद्रुमसंकुलम्॥ ७६॥
द्रुमाणां चैव नामानि मृगाणां चैव भामिनी।
पश्यन्ती मृगयूथानि हृदयेन प्रवेपती॥ ७७॥
तत्र गत्वा सत्यवान् वै फलान्यादाय सत्वरम्।
काष्ठानि च समादाय बबन्ध भारकं तदा।
कठिनं पूरयामास कृत्वा वृक्षावलम्बनम्॥ ७८॥
वटवृक्षस्य सा साध्वी उपविष्टा महासती।
काष्ठं पाटयतस्तस्य जाता शिरसि वेदना॥ ७९॥
ग्लानिश्च महती जाता गात्राणां वेपथुस्तदा।
आदाय वृक्षसामीप्यं सावित्रीमिदमब्रवीत्॥ ८०॥
मम गात्रेऽतिकम्पश्च जाता शिरसि वेदना।
कण्टकैर्भिद्यते भद्रे शिरो मे शूलसम्मितैः॥ ८१॥

उत्संगे तव सुश्रोणि स्वप्तुमिच्छामि सुव्रते।
अभिज्ञा सा विशालाक्षी तस्य मृत्योर्मनस्विनी॥ ८२॥
प्राप्तं कालं मन्यमाना तस्थौ तत्रैव भामिनी।
सत्यवानपि सुप्तस्तु कृत्वोत्संगे शिरस्तदा॥ ८३॥
तावत् तत्र समागच्छत् पुरुषः कृष्णपिंगलः।
जाज्वल्यमानो वपुषा ददर्शामुं च भामिनी॥ ८४॥
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञा कस्त्वं लोकभयंकरः।
नाहं धर्षयितुं शक्या पुरुषेणापि केनचित्॥ ८५॥
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं यमो लोकभयंकरः।
क्षीणायुस्तु वरारोहे तव भर्ता मनस्विनि॥ ८६॥
नेष्याम्येनमहं बद्ध्वा विद्ध्येतन्मे चिकीर्षितम्॥ ८७॥

सावित्र्युवाच

श्रूयते भगवन् दूतास्तवागच्छन्ति मानवान्।
नेतुं किल भवान् कस्मादागतोऽसि स्वयं प्रभो॥ ८८॥
इत्युक्तः पितृराजस्तां भगवान् स्वचिकीर्षितम्।
यथावत् सर्वमाख्यातुं तत् प्रियार्थं प्रचक्रमे॥ ८९॥
अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान् गुणसागरः।
नार्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः॥ ९०॥
ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्।
अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥ ९१॥
निर्विचेष्टं शरीरं तद् बभूवाप्रियदर्शनम्।
यमस्तु तं ततो बद्ध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः॥ ९२॥
सावित्री चापि दुःखार्ता यममेवान्वगच्छत।
नियमव्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता॥ ९३॥

यम उवाच

निवर्त गच्छ सावित्रि कुरुष्वास्यौर्ध्वदेहिकम्।
कृतं भर्तुस्त्वयानृण्यं यावद् गम्यं गतं त्वया॥ ९४॥

सावित्र्युवाच

यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति।
मयापि तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः॥ ९५ ॥
तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद् व्रतेन च।
तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः॥ ९६ ॥
प्राहुः साप्तपदं मैत्रं बुधास्तत्त्वार्थदर्शिनः।
मित्रतां च पुरस्कृत्य किंचिद् वक्ष्यामि तच्छृणु॥ ९७ ॥
नानात्मवन्तस्तु वने चरन्ति
धर्मं च वासं च परिश्रमं च।
विज्ञानतो धर्ममुदाहरन्ति
तस्मात्सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम्॥ ९८ ॥
एकस्य धर्मेण सतां मतेन
सर्वे स्म तं मार्गमनुप्रपन्नाः।
मा वै द्वितीयं मा तृतीयं च वाञ्छे
तस्मात्सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम्॥ ९९ ॥

यम उवाच

निवर्त तुष्टोऽस्मि त्वयानया गिरा
स्वराक्षरव्यंजनहेतुयुक्तया।
वरं वृणीष्वेह विनास्य जीवितं
ददामि ते सर्वमनिन्दिते वरम्॥ १०० ॥

सावित्र्युवाच

च्युतः स्वराज्याद् वनवासमाश्रितो
विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाश्रमे।
स लब्धचक्षुर्बलवान् भवेन्नृप-
स्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसंनिभः॥ १०१ ॥

यम उवाच

ददानि तेऽहं तमनिन्दिते वरं
यथा त्वयोक्तं भविता च तत् तथा।

तवाध्वना ग्लानिमिवोपलक्षये
निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत्॥ १०२॥

सावित्र्युवाच

कुतः श्रमो भर्तृसमीपतो हि मे
यतो हि भर्ता मम सा गतिर्ध्रुवा।
यतः पतिं नेष्यसि तत्र मे गतिः
सुरेश भूयश्च वचो निबोध मे॥ १०३॥
सतां सकृत् संगतमीप्सितं परं
ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते।
न चाफलं सत्पुरुषेण संगतं
ततः सतां संनिवसेत् समागमे॥ १०४॥

यम उवाच

मनोऽनुकूलं बुधबुद्धिवर्धनं
त्वया यदुक्तं वचनं हिताश्रयम्।
विना पुनः सत्यवतो हि जीवितं
वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि॥ १०५॥

सावित्र्युवाच

हृतं पुरा मे श्वशुरस्य धीमतः
स्वमेव राज्यं लभतां स पार्थिवः।
जह्यात् स्वधर्मान्न च मे गुरुर्यथा
द्वितीयमेतद् वरयामि ते वरम्॥ १०६॥

यम उवाच

स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यतेऽचिरा-
न्न च स्वधर्मात् परिहास्यते नृपः।
कृतेन कामेन मया नृपात्मजे
निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत्॥ १०७॥

सावित्र्युवाच

प्रजास्त्वयैता नियमेन संयता
नियम्य चैता नयसे निकामया।
ततो यमत्वं तव देव विश्रुतं
निबोध चेमां गिरमीरितां मया॥ १०८॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥ १०९॥
एवं प्रायश्च लोकोऽयं मनुष्याःशक्तिपेशलाः।
सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते॥ ११०॥

यम उवाच

पिपासितस्येव भवेद् यथा पय-
स्तथा त्वया वाक्यमिदं समीरितम्।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं
वरं वृणीष्वेह शुभे यदिच्छसि॥ १११॥

सावित्र्युवाच

ममानपत्यः पृथिवीपतिः पिता
भवेत् पितुः पुत्रशतं तथौरसम्।
कुलस्य संतानकरं च यद् भवेत्
तृतीयमेतद् वरयामि ते वरम्॥ ११२॥

यम उवाच

कुलस्य संतानकरं सुवर्चसं
शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे।
कृतेन कामेन नराधिपात्मजे
निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता॥ ११३॥

सावित्र्युवाच

न दूरमेतन्मम भर्तृसंनिधौ
मनो हि मे दूरतरं प्रधावति।

अथ व्रजन्नेव गिरं समुद्यतां
मयोच्यमानां शृणु भूय एव च॥ ११४॥
विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवां-
स्ततो हि वैवस्वत उच्यसे बुधैः।
समेन धर्मेण चरन्ति ताः प्रजा-
स्ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता॥ ११५॥
आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः।
तस्मात् सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति॥ ११६॥
सौहृदात् सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते।
तस्मात् सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः॥ ११७॥

यम उवाच

उदाहृतं ते वचनं यदंगने
शुभं न तादृक् त्वदृते श्रुतं मया।
अनेन तुष्टोऽस्मि विनास्य जीवितं
वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च॥ ११८॥

सावित्र्युवाच

ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं
भवेदुभाभ्यामिह यत् कुलोद्भवम्।
शतं सुतानां बलवीर्यशालिना-
मिमं चतुर्थं वरयामि ते वरम्॥ ११९॥

यम उवाच

शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां
भविष्यति प्रीतिकरं तवाबले।
परिश्रमस्ते न भवेन्नृपात्मजे
निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता॥ १२०॥

सावित्र्युवाच

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः
सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति।

सतां सद्भिर्नाफलः संगमोऽस्ति
सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति सन्तः॥ १२१॥
सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं
सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्
सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः॥ १२२॥
आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम्।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते परस्परम्॥ १२३॥
न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो
न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं
तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति॥ १२४॥

यम उवाच

यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं
मनोऽनुकूलं सुपदं महार्थवत्।
तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा
वरं वृणीष्वाप्रतिमं पतिव्रते॥ १२५॥

सावित्र्युवाच

न तेऽपवर्गः सुकृताद् विना कृत-
स्तथा यथान्येषु वरेषु मानद।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं
यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना॥ १२६॥
न कामये भर्तृविनाकृता सुखं
न कामये भर्तृविनाकृता दिवम्।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं
न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम्॥ १२७॥
वरातिसर्गः शतपुत्रता मम
त्वयैव दत्तो ह्रियते च मे पतिः।

वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं
तवैव सत्यं वचनं भविष्यति॥ १२८॥

मार्कण्डेय उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तं पाशं मुक्त्वा वैवस्वतो यमः।
धर्मराजः प्रहृष्टात्मा सावित्रीमिदमब्रवीत्॥ १२९॥
एष भद्रे मया मुक्तो भर्ता ते कुलनन्दिनि।
अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थः स भविष्यति॥ १३०॥
चतुर्वर्षशतायुश्च त्वया सार्धमवाप्स्यति॥ १३१॥
सा गता वटसामीप्यं कृत्वोत्संगे शिरस्ततः।
प्रबुद्धस्तु ततो ब्रह्मन् सत्यवानिदमब्रवीत्॥ १३२॥
मया स्वप्नो वरारोहे दृष्टोऽद्यैव च भामिनि।
तत् सर्वं कथितं तस्या यद् वृत्तं सर्वमेव तत्॥ १३३॥
तया च कथितः सर्वः संवादश्च यमेन हि।
अस्तंगते ततः सूर्ये द्युमत्सेनो महीपतिः॥ १३४॥
पुत्रस्यागमनाकांक्षी इतश्चेतश्च धावति।
आश्रमादाश्रमं गच्छन् पुत्रदर्शनकांक्षया॥ १३५॥
आवयोरन्धयोर्यष्टिः क्व गतोऽसि विनावयोः।
एवं स विविधं क्रोशन् सपत्नीको महीपतिः॥ १३६॥
चकार दुःखसंतप्तः पुत्रपुत्रेति चासकृत्।
अकस्मादेव राजेन्द्रो लब्धचक्षुर्बभूव ह॥ १३७॥
तद् दृष्ट्वा परमाश्चर्यं चक्षुःप्राप्तिं द्विजोत्तमाः।
सान्त्वपूर्वं तदा वाक्यमूचुस्ते तापसा भृशम्॥ १३८॥
चक्षुःप्राप्त्या महाराज सूचितं ते महीपते।
पुत्रेण च समं योगं प्राप्स्यसे नृपसत्तम॥ १३९॥

ईश्वर उवाच

यावदेवं वदन्त्येते तापसा द्विजसत्तमाः।
सावित्रीसहितः प्राप्तः सत्यवान् द्विजसत्तम॥ १४०॥

नमस्कृत्य द्विजान् सर्वान् मातरं पितरं तथा।
सावित्री च ततो ब्रह्मन् ववन्दे चरणौ मुदा॥ १४१॥
श्वश्रूश्वशुरयोस्तां तु पप्रच्छुर्मुनयस्तदा।

मुनय ऊचुः

वद सावित्रि जानासि कारणं वरवर्णिनि।
वृद्धस्य चक्षुषः प्राप्तेः श्वशुरस्य शुभानने॥ १४२॥

सावित्र्युवाच

न जानामि मुनिश्रेष्ठाश्चक्षुषः प्राप्तिकारणम्।
चिरं सुप्तस्तु मे भर्ता तेन कालव्यतिक्रमः॥ १४३॥

सत्यवानुवाच

अस्याः प्रभावात् संजातं दृश्यते कारणं न च।
तत् सर्वं विद्यते विप्राः सावित्र्यास्तपसः फलम्॥ १४४॥
व्रतस्यैव तु माहात्म्यं दृष्टमेतन्मयाधुना॥ १४५॥

ईश्वर उवाच

एवं तु वदतस्तस्य तदा सत्यवतो मुने।
पौराः समागतास्तस्य ह्याचख्युर्नृपतेर्हितम्॥ १४६॥

पौरा ऊचुः

येन राज्यं बलाद् राजन् हृतं क्रूरेण मन्त्रिणा।
अमात्येन हतः सोऽपि इतीव वयमागताः॥ १४७॥
उत्तिष्ठ राजशार्दूल स्वं राज्यं पालय प्रभो।
अभिषिच्यस्व राजेन्द्र पुरे मन्त्रिपुरोहितैः॥ १४८॥

ईश्वर उवाच

तच्छ्रुत्वा राजशार्दूलः स्वपुरं जनसंवृतः।
पितृपैतामहं राज्यं सम्प्राप्य मुदमन्वभूत्॥ १४९॥
सावित्री सत्यवांश्चैव परां मुदमवापतुः।
जनयामास पुत्राणां शतं सा बाहुशालिनाम्॥ १५०॥
व्रतस्यैव तु माहात्म्यात् तस्याः पितुरजायत।
पुत्राणां च शतं ब्रह्मन् प्रसन्नाच्च यमात् तथा॥ १५१॥

एतत् ते कथितं सर्वं व्रतमाहात्म्यमुत्तमम्।
क्षीणायुर्जीवते भर्ता व्रतस्यास्य प्रभावतः॥ १५२॥
कर्त्तव्यं सर्वनारीभिरवैधव्यफलप्रदम्।

सनत्कुमार उवाच

विधानं ब्रूहि देवेश व्रतस्यास्य च त्र्यम्बक।
क्रियते विधिना केन स्त्रीभिस्त्रिपुरसूदन॥ १५३॥

ईश्वर उवाच

वर्षैकं नियमं कृत्वा एकभक्तेन मानद।
नक्ताहारेण वा विप्र भुक्तिं त्यक्त्वा द्विजर्षभ॥ १५४॥
त्रिदिनं लंघयित्वा च चतुर्थे दिवसे शुभे।
चन्द्रायार्घ्यं प्रदत्त्वा च पूजयित्वा सुवासिनीम्॥ १५५॥
सावित्रीं च प्रसावित्रीं गन्धपुष्पैः प्रपूज्य च।
मिथुनानि यथाशक्त्या भोजयित्वा यथासुखम्॥ १५६॥
भोक्ष्येऽहं तु जगद्धात्रि निर्विघ्नं कुरु मे शुभे।
दिनं दिनं प्रतिश्रेष्ठं कुर्यान्न्यग्रोधसेचनम्॥ १५७॥
कृत्वा वंशमये पात्रे वालुकाप्रस्थमेव च।
सप्तधान्यभृतं पात्रं प्रस्थैकेन द्विजोत्तम॥ १५८॥
कारयेन्मुनिशार्दूल वस्त्रयुग्मेन वेष्टयेत्॥ १५९॥
तस्योपरि न्यसेद् देवीं सावित्रीं ब्रह्मणा सह।
सावित्री सत्यवांश्चैव कार्यौ स्वर्णमयौ शुभौ॥ १६०॥
पिटकं च कुठारं च कृत्वा रौप्यमयं द्विज।
फलैः कालोद्भवैर्देवीं पूजयेद् ब्रह्मणः प्रियाम्॥ १६१॥
हरिद्रारंजितैश्चैव कण्ठसूत्रैः समर्चयेत्।
सतीनां कण्ठसूत्राणि त्रिदिनं प्रतिदापयेत्॥ १६२॥
पक्वान्नानि च देयानि नित्यमेव द्विजोत्तम।
माहात्म्यं चैव सावित्र्याः श्रोतव्यं मुनिसत्तम॥ १६३॥
पुराणश्रवणं कार्यं सतीनां चरितं तथा।
पूजयेच्च तथा नित्यं मन्त्रेणानेन सुव्रत॥ १६४॥

'सावित्री च प्रसावित्री सततं ब्रह्मणः प्रिया।
पूज्यसे हूयसे देवि द्विजैर्मुनिगणैः सदा॥ १६५॥
त्रिसन्ध्यं देवि भूतानां वन्दिता त्वं जगन्मये।
मया दत्तामिमां पूजां प्रतिगृह्ण नमोऽस्तु ते॥ १६६॥
सावित्री त्वं प्रसावित्री द्विधा भूतासि शोभने।
जगत्त्रयस्थिता देवि त्रिसन्ध्यं च तथानघे॥ १६७॥
श्रेष्ठे देवि त्रिलोके च त्रेताग्नौ त्वं महेश्वरि।
व्यापितः सकलो लोकश्चातो मां पाहि सर्वदा॥ १६८॥
रूपं देहि यशो देहि सौभाग्यं देहि मे शुभे।
पुत्रान् देहि धनं देहि सर्वदा जन्मजन्मसु॥ १६९॥
यथा ते न वियोगोऽस्ति भर्त्रा सह सुरेश्वरि।
तथा मम महाभागे कुरु त्वं जन्मजन्मनि'॥ १७०॥
एवं सम्पूजयेद् देवीं कमलासनसंस्थिताम्।
एवं दिनत्रयं नीत्वा चतुर्थेऽहनि सत्तम॥ १७१॥
मिथुनानि च सम्भोज्य षोडशैव द्विजोत्तम।
पूजयेद् वस्त्रदानैश्च भूषणैश्च द्विजोत्तम॥ १७२॥
अर्चयित्वा तथाऽऽचार्यं सपत्नीकं सुसम्मतम्।
तस्मै संकल्पितं सर्वं हेमसावित्रिसंयुतम्॥ १७३॥
मन्त्रेणानेन दातव्यं द्विजमुख्याय सुव्रत।
सावित्रीं कल्पविदुषे प्रणिपत्य तथा मुने॥ १७४॥
'सावित्रीं जगतां माता सावित्री जगतः पिता।
मया दत्ता च सावित्री ब्राह्मण प्रतिगृह्यताम्॥ १७५॥
अवैधव्यं च मे नित्यं भूयाज्जन्मनि जन्मनि'।
मृता च वसते लोके ब्रह्मणः पतिना सह।
तत्रैव च चिरं कालं भुङ्क्ते भोगाननुत्तमान्॥ १७६॥

इति श्रीहेमाद्रिविरचिते चतुर्वर्गचिन्तामणौ व्रतखण्डे स्कन्दमहापुराणे वटसावित्रीव्रतकथा समाप्ता।

मंगलागौरीव्रत-कथा

युधिष्ठिर उवाच

नन्दनन्दन गोविन्द शृण्वतो बहुलाः कथाः।
श्रुती ममोत्के पुत्रायुष्करं श्रोतुं मम व्रतम्॥ १ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

अवैधव्यकरं वक्ष्ये व्रतं चारिनिषूदन।
शृणु त्वं सावधानः सन् कथां वक्ष्ये पुरातनीम्॥ २ ॥
कुण्डिनं नाम नगरं ख्यातस्तत्र द्विजप्रियः।
आसीद् वणिग् धर्मपालो नाम्ना बहुधनोऽपि सः॥ ३ ॥
सपत्नीको ह्यपुत्रोऽसौ नास्तीति व्याकुलो हृदि।
तस्य गेहे भस्मलिप्तो देहे रुद्राक्षधारकः॥ ४ ॥
जटिलो भिक्षुको नित्यमागच्छन् प्रियदर्शनः।
अन्नं नांगीचकारासाविति दृष्ट्वाबलावदत्॥ ५ ॥
स्वामिन्नयं सदायाति भिक्षुको जटिलो गृहे।
न स्वीकरोत्यस्मदन्नमिति दृष्ट्वा ममाधिकम्॥ ६ ॥
दुःखं प्रजायते नित्यं श्रुत्वा भार्यावचोऽब्रवीत्।

धर्मपाल उवाच

प्रिये कदाचिद् गुप्ता त्वं ससुवर्णांगणे भव॥ ७ ॥
यदा भिक्षार्थमायाति भिक्षोर्वस्त्रान्तरे त्वया।
तदा तस्य प्रदेयानि सुवर्णानि प्रियेऽनघे॥ ८ ॥
अनन्तरं तस्य भार्याचीकरत् स्वामिनोदितम्।
जटिलेन तु सा शप्तापत्यं ते न भविष्यति॥ ९ ॥
श्रुत्वा भिक्षोरिदं वाक्यं दुःखिता तमुवाच ह।
स्वामिन् शप्ता त्वया पापा शापादुद्धर सम्प्रति॥ १० ॥
इत्युक्त्वा तस्य चरणौ ववन्दे दीनभाषिणी।

जटिल उवाच

भर्तुः समीपे वक्तव्यं त्वया पुत्रि ममाज्ञया॥ ११ ॥

नीलवस्त्रः समारुह्य नीलाश्वं गच्छ काननम्।
खननं तत्र कर्त्तव्यं यत्राश्वस्ते स्खलिष्यति॥ १२॥
रम्यं पक्षिभिरायुक्तं मृगसंघद्रुमाकुलम्।
सुवर्णरचितं रत्नमाणिक्यादिविभूषितम्॥ १३॥
नानापुष्पैः समायुक्तं दृश्यं देवालयं ततः।
वर्तते तत्रभवती भवानी भक्तवत्सला॥ १४॥
आराधय त्वं मनसा यथाविध्युद्धरिष्यति।
त्वां भवानीति वचनं श्रुत्वा भिक्षोः सुखप्रदम्॥ १५॥
ववन्दे तस्य चरणौ पुनः पुनरिंदम।
तदैव काले जटिलस्त्वन्तर्भूतो बभूव सः॥ १६॥
सावदत् पतिमत्रेहि शृणु भिक्षूक्तमादरात्।
यथोक्तमवदद् भर्ता तच्छ्रुत्वा वाक्यमादरात्॥ १७॥
नीलवस्त्रः समारुह्य नीलाश्वं प्रस्थितो वनम्।
गच्छन् नानाविधान् वृक्षान् पथि पश्यन् भयाकुलः॥ १८॥
मृगान् सिंहान् दन्दशूकान् पथि पश्यन् भयाकुलः।
ददर्शासौ तडागं च बाहुल्येन विराजितम्॥ १९॥
रक्तनीलोत्पलैश्चक्रवाकद्वन्द्वैश्च राजितम्।
स्नानं चकार तत्रासौ तर्पणाद्यपि भूरिशः॥ २०॥
पुनरश्वं समारुह्य जगाम गहनं वनम्।
स्खलितं वाजिनं पश्यन्नश्वादुत्तीर्य तत् क्षणम्॥ २१॥
चखान पृथिवीं तत्र यावद् देवालयं मुदा।
ददर्श च महास्थूलं देवालयमसौ युतम्॥ २२॥
रत्नैर्मुक्ताफलैश्चैव माणिक्यैश्चापि सर्वतः।
पूजयामास जटिलवाक्यं स्मृत्वातिविस्मितः॥ २३॥
सुवर्णयुक्तवस्त्राणि चन्दनान्यक्षताञ्छुभान्।
चम्पकादीनि पुष्पाणि धूपं दीपं विशेषतः॥ २४॥
नानापक्वान्नसंयुक्तं रसैः षड्भिः समन्वितम्।
नानाशाकैः समायुक्तं सदुग्धघृतशर्करम्॥ २५॥

नैवेद्यं करशुद्ध्यर्थं चन्दनं मलयाद्रिजम्।
सम्पाद्य तुष्टहृदयः फलताम्बूलदक्षिणाः॥ २६॥
श्रद्धया पूजयामास धर्मपालो महाधनः।
जजाप मन्त्रान् गुप्तोऽसौ सगुणध्यानपूर्वकम्॥ २७॥
देवी भक्तं समागत्य लोभयामास सादरम्।
प्रसन्नावददत्रेयं पूजा सम्पादिता कथम्॥ २८॥
येन सम्पादिता तस्मै ददामि वरमद्भुतम्।
इति श्रुत्वा धर्मपालो देव्यग्रे प्रांजलिः स्थितः॥ २९॥

भगवत्युवाच

धर्मपाल त्वया सम्यक् पूजा सम्पादितानघ।
वरं याचय मद्भक्त ददामि बहुलं धनम्॥ ३०॥

धर्मपाल उवाच

बहुला धनसम्पत्तिर्वर्तते त्वत्प्रसादतः।
अपत्यं प्राप्तुमिच्छामि पितॄणां तारकं शुभम्॥ ३१॥
आयाति भिक्षुको गेहे गृह्णाति न मदन्नकम्।
तेन मे बहुलं दुःखं सभार्यस्योपजायते॥ ३२॥
इति दीनवचः श्रुत्वा देवी वचनमब्रवीत्।

देव्युवाच

धर्मपालक तेऽदृष्टेऽपत्यं नास्ति सुखप्रदम्॥ ३३॥
तथापि किं याचयसि कन्यां विगतभर्तृकाम्।
पुत्रमल्पायुषं वाथाप्यन्धं दीर्घायुषं सुतम्॥ ३४॥

धर्मपाल उवाच

पुत्रमल्पायुषं देहि तावता कृतकृत्यताम्।
प्राप्नोमि चोद्धरिष्यामि पितॄंश्च मम घोरगान्॥ ३५॥

देव्युवाच

मत्पार्श्वे वर्तमानस्य नाभावारुह्य शुण्डिनः।
तत्पार्श्ववर्तिचूतस्य गृहीत्वा फलमद्भुतम्॥ ३६॥

पत्न्यै देयं ततः पुत्रो भविष्यति न संशयः॥ ३७॥
इति देवीवचः श्रुत्वा गत्वा तत्पार्श्व एव च।
नाभिं गजमुखस्याथारुह्य जग्राह मोहतः॥ ३८॥
फलान्युत्तीर्य च ततः फलमेकं ददर्श सः।
एवं पुनः पुनः कुर्वन् फलमेकं ददर्श सः॥ ३९॥
क्षुब्धो गणपतिश्चाथ धर्मपालाय शप्तवान्।
षोडशे वत्सरे प्राप्ते तेऽहिः पुत्रं दंशिष्यति॥ ४०॥
धर्मपालः फलं सम्यग् वस्त्रे बद्ध्वागमद् गृहम्।
फलं पत्न्यै ददौ सापि भक्षयित्वा पतिव्रता॥ ४१॥
गर्भं सा धारयामास पत्या सह सुसंगता।
सम्पूर्णे नवमे मासे प्रासूत सुतमुत्तमम्॥ ४२॥
जातकर्म चकारास्य पिता संतुष्टमानसः।
षष्ठीपूजां चकारास्य षष्ठे तु दिवसे ततः॥ ४३॥
द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते शिवनाम्नाऽऽजुहाव तम्।
षष्ठे मासि चकारासावन्नप्राशनमद्भुतम्॥ ४४॥
तृतीये वत्सरे चूडामष्टमेऽब्दे ह्यनुत्तमम्।
कृत्वोपनयनं पार्थ विप्रोऽभूत् तुष्टमानसः॥ ४५॥
दशमे वत्सरे प्राप्तेऽब्रवीद् भार्या पतिव्रता।

भार्योवाच

बालकस्य विवाहोऽपि कर्तव्यः सुमुहूर्तके॥ ४६॥

धर्मपाल उवाच

मया संकल्पितं काश्यां गमनं बालकस्य तत्।
कृत्वा समायातु ततो विवाहोऽस्य भविष्यति॥ ४७॥
पुत्रोऽसौ प्रेषितस्तेन श्यालकेन समन्वितः।
वाराणस्यां प्रस्थितोऽसौ गृहीत्वा बहुलं धनम्॥ ४८॥
कुर्वन्तौ पथि सद्धर्मं प्रतिष्ठापुरमीयतुः।
क्रीडन्त्यः कन्यका दृष्टास्तत्र देशे मनोरमे॥ ४९॥

तासां समाजे गौरांगी सुशीला नाम कन्यका।
तया सह सखी काचिच्चकार कलहं भृशम्॥ ५०॥
गालनं च ददौ तस्यै रण्डेऽभाग्ये मुहुर्मुहुः।

सुशीलोवाच

सखि त्वया गालनं मे व्यर्थं दत्तं शुभानने॥ ५१॥
जनन्या मे मानवत्याश्चास्ति गौरीव्रतं शुभम्।
तस्य प्रसादात् सकलाः सम्बन्धिन्यः प्रियाः स्त्रियः॥ ५२॥
आजन्माविधवा जाताः किं पुनः कन्यका ध्रुवम्।
वक्ष्ये तस्य प्रभावं किं व्रतराजस्य भामिनि॥ ५३॥
पूजने धूपगन्धोऽयं यत्र तत्र सुखं भवेत्।
इति श्रुत्वा ततो वाक्यं विस्मयोत्फुल्ललोचनः॥ ५४॥
मातुलश्चिन्तयामास बालकस्य प्रियं ततः।
शतजीवी भवेदेष एतद्धस्ताक्षता यदि॥ ५५॥
पतन्त्यमुष्य शिरसि विभाव्येति पुनः पुनः।
सुशीलामेव पश्यन् स विस्मयोत्फुल्ललोचनः॥ ५६॥
सुशीला प्रस्थिता गेहे तदनुप्रस्थितावुभौ।
स्वगृहं प्राप गौरांगी निकटे तद्गृहस्य तौ॥ ५७॥
सत्तडागे रम्यदेशे वासं चक्रतुरादरात्।
विवाहकाले सम्प्राप्ते सुशीलाजनको हरिः॥ ५८॥
विवाहोद्योगवान् जातो निश्चिकाय हरं वरम्।
असमर्थं हरं दृष्ट्वा तन्मातापितरावुभौ॥ ५९॥
ययाचतुः शिवं बद्ध्वांजली विनययुक्तकौ।

वरपितरावूचतुः

उपस्थितो विवाहो नौ पुत्रस्य शुभया हरेः॥ ६०॥
सुशीलया कन्ययायमसमर्थश्च दृश्यते।
अतो देयः शिवः श्रीमाँल्लग्नकाले त्वया विभो॥ ६१॥
लग्नं भविष्यति ततो देयोऽस्माभिः शिवस्तव।

मातुल उवाच

अवश्यं लग्नकालेऽसौ शिवो ग्राह्यः प्रियंवदः ॥ ६२ ॥
ततो मुहूर्ते सम्प्राप्ते विवाहमकरोच्छिवः ।
तत्रैव शयनं चक्रे ससुशीलः प्रियंवदः ॥ ६३ ॥
स्वप्ने सा मंगलागौरी मातृरूपेण भास्वता ।
सुशीलामवदत् साध्वी हितं वचनमेव च ॥ ६४ ॥

गौर्युवाच

सुशीले तव गौरांगि भर्तुर्दंशार्थमागतः ॥ ६५ ॥
महान् भुजंग उत्तिष्ठ दुग्धं स्थापय तत्पुरः ।
घटं च स्थापयाशु त्वं तन्मध्ये स गमिष्यति ॥ ६६ ॥
कूर्पासमंगान्निष्कास्य बन्धनीयस्त्वया घटः ।
प्रातरुत्थाय देहि त्वं मात्रे वायनकं शुभम् ॥ ६७ ॥
इति गौरीवचः श्रुत्वा सुशीला क्षणमुत्थिता ।
ददर्शाग्रे निःश्वसन्तं कृष्णसर्पं महाभयम् ॥ ६८ ॥
ततश्चकार गौर्युक्तं प्रवृत्ता निद्रितुं ततः ।
उवाच वर आसन्नः क्षुल्लग्ना महती मम ॥ ६९ ॥
भक्षणायाशु देहि त्वं लड्डुकादिकमुत्तमम् ।
श्रुत्वेति वाक्यं पात्रे सा ददौ लड्डुकमुत्तमम् ॥ ७० ॥
भक्षयित्वा शिवो हैमे तस्मिन् पात्रेऽङ्गुलीयकम् ।
दत्त्वा तत् स्थापयामास स्थले गुप्ते शुभाननः ॥ ७१ ॥
सुखेन शयनं चक्रे पृथिव्यां सर्वकोविदः ।
ततः प्रभातसमये शिव आगाद् गृहं स्वकम् ॥ ७२ ॥
स्नानशुद्धा सुशीला सा मात्रे वायनकं ददौ ।
माता ददर्श तन्मध्ये मुक्ताहारमनुत्तमम् ॥ ७३ ॥
ददौ प्रियायै कन्यायै सहसा तुष्टमानसा ।
क्रीडाकाले तु सम्प्राप्ते हर आगात् तु मण्डपे ॥ ७४ ॥
आदेशयत् सुशीलां तां क्रीडार्थं जननी ततः ।

सुशीलोवाच

नायं वरो मे जननि येन पाणिग्रहः कृतः।
अनेन सह नास्तीह क्रीडनेच्छा तथा न मे॥ ७५॥
इति श्रुत्वा समाक्रान्तौ चिन्तया पितरौ ततः।
अन्नदानमुपायं च कन्यापतिविशोधने॥ ७६॥
तदारभ्य चक्रतुस्तौ पुराणोक्तविधानतः।
सुशीला पादयोश्चक्रे क्षालनं मुद्रिकान्विता॥ ७७॥
जलधारां ददौ माता चन्दनं पुत्रको हरेः।
हरिर्ददौ च ताम्बूलं बुभुजुस्तत्र मानवाः॥ ७८॥
इति रीत्यान्नदानं तत् प्रवृत्तं भिक्षुसौख्यदम्।
तावुभौ प्रस्थितौ काश्यां प्राप्तौ काशीं सुखप्रदाम्॥ ७९॥
निर्मलाम्भसि गंगायाः स्नानं चक्रतुरादरात्।
स्वर्गद्वारं प्रस्थितौ तौ कुर्वन्तौ धर्ममुत्तमम्॥ ८०॥
पीताम्बराणि ददतुर्भिक्षुकाणां गृहे गृहे।
आशिषश्च ददुस्तस्मै चिरंजीवी भवेति ते॥ ८१॥
विश्वेश्वरं समायातौ नत्वा स्तुत्वा पुनः पुनः।
स्वयं गृहं प्रस्थितौ तौ शिवो मार्गे ततोऽवदत्॥ ८२॥

शिव उवाच

काये मे किंचिदस्वास्थ्यं मातुल प्रतिभाति हि।
ततः प्राणोत्क्रमे तस्य यमदूता उपस्थिताः॥ ८३॥
मंगलागौरिका चापि तेषां युद्धमभून्महत्।
जित्वा तान् मंगलान् प्राणान् ददौ तस्मै शिवाय च॥ ८४॥
शिवोऽकस्मादुत्थितोऽसौ मातुलं प्रत्युवाच ह।
स्वप्ने युद्धं मया दृष्टं मंगलायमभृत्ययोः॥ ८५॥
जितास्ते मंगलागौर्या ततोऽहं शयनच्युतः।

मातुल उवाच

यज्जातं शिव तज्जातं न स्मर्तव्यं त्वया पुनः॥ ८६॥

गच्छाव आवां नगरे पितरौ द्रष्टुमुत्सुकौ।
प्रस्थितौ तौ ततस्तस्मात् प्रतिष्ठापुरमापतुः॥ ८७॥
रम्ये तडागे तत्रैतौ पाकारम्भं विचक्रतुः।
दृष्टौ तौ हरिदासीभिर्धैर्योदारधरौ शुभौ॥ ८८॥

दास्य ऊचुः

अन्नदानं हरेर्गेहे प्रवृत्तं तत्र गम्यताम्।
भो दास्यो यात्रिकावावां गच्छावो न क्वचिद् गृहे॥ ८९॥

उभाऊचतुः

इति श्रुत्वा तयोर्वाक्यं दास्यो जग्मुः स्वकं गृहम्।
स्वस्वामिनिकटे वाक्यमवदन् सादरं तदा॥ ९०॥
सर्वं दासीवचः श्रुत्वा तदर्थं प्रभुरादरात्।
प्रेषयामास हस्त्यादिरत्नवस्त्राणि भूरिशः॥ ९१॥
तद् दृष्ट्वा विस्मितौ तौ च जग्मतुश्च हरेर्गृहम्।
हरिर्मातुलमभ्यर्च्य शिवं पूजितुमागतः॥ ९२॥
क्षालयन्ती च सा कन्या चरणौ तस्य सत्रपा।
अभूद् वरो मेऽयमिति जननीं प्रत्युवाच ह॥ ९३॥
हरिः पप्रच्छ साश्चर्यं शिवं मंगलदर्शनम्।

हरिरुवाच

किंचिच्चिह्नं तवास्त्यत्र ब्रूहि मे शिव दर्शय॥ ९४॥
हरेस्तु तद् वचः श्रुत्वा शिवः संतुष्टमानसः।
ममेदं चिह्नमस्तीहेत्युक्त्वा तद्गृहमागतः॥ ९५॥
तत आनीय तत् पात्रं दर्शयामास सादरम्।
तत् पात्रं च हरिर्दृष्ट्वा कन्यादानं चकार सः॥ ९६॥
ददौ रत्नानि वस्त्राणि सुवर्णानि बहून्यपि।
तामादाय प्रस्थितौ तौ ददतो बहुलं धनम्॥ ९७॥
श्रावणे मासि सम्प्राप्ते व्रतं भौमे चकार सा।
भुक्त्वा सर्वे प्रस्थितास्ते योजनं जग्मुरुत्तमाः॥ ९८॥

सुशीलोवाच

गौरीविसर्जनं चापि दीपमानं तथैव च।
कृत्वा गन्तव्यमस्माभिः पितरौ द्रष्टुमादरात्॥ ९९ ॥
इत्युक्त्वा आगता यत्र गौर्या आवाहनं कृतम्।
ददृशुस्तत्र सौवर्णं देवालयमनुत्तमम्॥ १०० ॥
गौरीविसर्जनं दीपमानं सा च व्यचीकरत्।
ततः सर्वे प्रस्थितास्ते पितरौ द्रष्टुमुत्सुकाः॥ १०१ ॥
कुण्डिनासन्नदेशे तान् दृष्ट्वा विस्मयिनो जनाः।
अब्रुवंस्ते धर्मपालं सोत्कण्ठं प्रियदर्शनाः॥ १०२ ॥

जना ऊचुः

धर्मपालाद्य ते पुत्रः सभार्यः श्यालकस्तथा।
समायातो वयं दृष्ट्वा अधुनैव समागताः॥ १०३ ॥
यावज्जना वदन्त्येवं तावत् सोऽपि समागतः।
नमस्कारांश्चकारासौ पितृभ्यां पितृवल्लभः॥ १०४ ॥
मातुलोऽपि नतिं चक्रे भगिनीधर्मपालयोः।
सुशीला श्वशुरं चापि श्वश्रूं नत्वा स्थिता तदा॥ १०५ ॥

श्वश्रूरुवाच

सुशीले तद् व्रतं ब्रूहि यद्व्रतस्य प्रभावतः।
आयुर्वृद्धिः शिशोर्मेऽपि जाता कमललोचने॥ १०६ ॥

सुशीलोवाच

न जानेऽहं व्रतं श्वश्रूर्जाने मानवतीहरौ।
श्वशुरं धर्मपालं च श्वश्रूं च भवतीं तथा॥ १०७ ॥
मंगलां देवतां चैव वरं तु युवयोः सुतम्।
इत्युक्त्वा च सुशीला सा बुभुजे स्वान्तहर्षिता॥ १०८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

तस्माद् व्रतमिदं धर्मं स्त्रीभिः कार्यं सदैव तु।

युधिष्ठिर उवाच

फलमस्य श्रुतं कृष्ण विधानं ब्रूहि केशव॥ १०९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

विवाहात् प्रथमं वर्षमारभ्य पंचवत्सरम्।
श्रावणे मासि भौमेषु चतुर्षु व्रतमाचरेत्॥ ११०॥
प्रथमे वत्सरे मातुर्गेहे कर्तव्यमेव च।
ततो भर्तृगृहे कार्यमवश्यं स्त्रीभिरादरात्॥ १११॥
तत्र तु प्रथमे वर्षे संकल्प्य व्रतमुत्तमम्।
रम्ये पीठे च संस्थाप्य मंगलां च तदग्रतः॥ ११२॥
गोधूमपिष्टरचितमुपलं दृषदं तथा।
महान्तमेकं दीपं च घृतेन परिपूरितम्॥ ११३॥
वर्त्या षोडशभिः सूत्रैः कृतया सहितं न्यसेत्।
उपचारैः षोडशभिर्गन्धपुष्पादिभिस्तथा॥ ११४॥
पत्रैः पुष्पैः षोडशभिर्नानाधान्यैश्च जीरकैः।
धान्याकैस्तण्डुलैश्चैव स्वच्छै षोडशसंख्यकैः॥ ११५॥
अपामार्गस्य पत्रैश्च दूर्वाधत्तूरपत्रकैः।
सर्वैः षोडशसंख्याकैर्बिल्वपत्रैश्च पंचभिः॥ ११६॥
पूजयेन्मंगलां गौरीमंगपूजां ततश्चरेत्।
धूपादिकं निवेद्याथ वायनं तु समर्पयेत्॥ ११७॥
ब्राह्मणाय तथा मात्रेऽन्याभ्यश्चैव यत्नतः।
लड्डुकंचुकिसंयुक्तं सवस्त्रफलदक्षिणम्॥ ११८॥
नीराजनं ततः कुर्याद् दीपैः षोडशसंख्यकैः।
भोक्तव्या दीपकाश्चैव* अन्नं लवणवर्जितम्॥ ११९॥
रात्रौ जागरणं कृत्वा प्रातः स्नात्वा समाहिता।
विसर्जनं मंगलाया दीपमानं क्रमाच्चरेत्॥ १२०॥
पंचसंवत्सरेष्वेवं कर्तव्यं पतिमिच्छुभिः।

इति श्रीभविष्यपुराणे मंगलागौरीव्रतं विधिसहितं सम्पूर्णम्।

---

* जठराग्निको बढ़ानेवाले भोज्यपदार्थ।

हरितालिकाव्रत-कथा

मन्दारमालाकुलितालकायै कपालमालाकृतशेखराय।
दिव्याम्बरायै च दिगम्बराय नमः शिवायै च नमः शिवाय॥ १ ॥
कैलासशिखरे रम्ये गौरी पृच्छति शंकरम्।
गुह्याद् गुह्यतरं गुह्यं कथयस्व महेश्वर॥ २ ॥
सर्वेषां धर्मसर्वस्वमल्पायासं महत् फलम्।
प्रसन्नोऽसि यदा नाथ तथ्यं ब्रूहि ममाग्रतः॥ ३ ॥
केन त्वं हि मया प्राप्तस्तपोदानव्रतादिना।
अनादिमध्यनिधनो भर्ता चैव जगत्प्रभुः॥ ४ ॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तवाग्रे व्रतमुत्तमम्।
यद् गोप्यं मम सर्वस्वं कथयामि तव प्रिये॥ ५ ॥
यथा चोडुगणे चन्द्रो ग्रहाणां भानुरेव च।
वर्णानां च यथा विप्रो देवानां विष्णुरुत्तमः॥ ६ ॥
नदीषु च यथा गंगा पुराणानां तु भारतम्।
वेदानां च यथा साम इन्द्रियाणां मनो यथा॥ ७ ॥
पुराणवेदसर्वस्वमागमेन यथोदितम्।
एकाग्रेण शृणुष्वैतद् यथादृष्टं पुरातनम्॥ ८ ॥
येन पुण्यप्रभावेण प्राप्तमर्द्धासनं मम।
सर्वं तत् कथयिष्येऽहं त्वं मम प्रेयसी यतः॥ ९ ॥
भाद्रे मासि सिते पक्षे तृतीया हस्तसंयुता।
तदनुष्ठानमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ १० ॥
शृणु देवि त्वया पूर्वं यद् व्रतं चरितं महत्।
तत् सर्वं कथयिष्यामि यथावृत्तं हिमाचले॥ ११ ॥

पार्वत्युवाच

कथं कृतं मया नाथ व्रतानामुत्तमं व्रतम्।
तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि त्वत्सकाशान्महेश्वर॥ १२ ॥

ईश्वर उवाच

अस्ति तत्र महानेको हिमवान् नग उत्तमः।
नानाभूतिसमाकीर्णो नानाद्रुमसमाकुलः॥ १३॥
नानापक्षिसमायुक्तो नानामृगविचित्रितः।
तत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धचारणगुह्यकाः॥ १४॥
विचरन्ति सदा हृष्टा गन्धर्वा गीततत्पराः।
स्फाटिकैः कांचनैः शृङ्गैर्मणिवैदूर्यभूषितैः॥ १५॥
भुजैर्लिखन्निवाकाशं सुहृदो मन्दिरं यथा।
हिमेन पूरितो नित्यं गंगाध्वनिनिनादितः॥ १६॥
पार्वति त्वं यथा बाल्ये परमाचरती तपः।
अब्दद्वादशकं देवि धूम्रपानमधोमुखी॥ १७॥
संवत्सरचतुःषष्टिं पक्वपर्णाशनं कृतम्।
माघमासे जले मग्ना वैशाखे चाग्निसेविनी॥ १८॥
श्रावणे च बहिर्वासा अन्नपानविवर्जिता।
दृष्ट्वा तातेन तत् कष्टं चिन्तया दुःखितोऽभवत्॥ १९॥
कस्मै देया मया कन्या एवं चिन्तातुरोऽभवत्।
तदैवाम्बरतः प्राप्तो ब्रह्मपुत्रस्तु धर्मवित्॥ २०॥
नारदो मुनिशार्दूलः शैलपुत्रीदिदृक्षया।
दत्त्वाऽर्घ्यं विष्टरं पाद्यं नारदं प्रोक्तवान् गिरिः॥ २१॥

हिमवानुवाच

किमर्थमागतः स्वामिन् वदस्व मुनिसत्तम।
महाभाग्येन सम्प्राप्तं त्वदागमनमुत्तमम्॥ २२॥

नारद उवाच

शृणु शैलेन्द्र मद्वाक्यं विष्णुना प्रेषितोऽस्म्यहम्।
योग्यं योग्याय दातव्यं कन्यारत्नमिदं त्वया॥ २३॥
वासुदेवसमो नास्ति ब्रह्मविष्णुशिवादिषु।
तस्मै देया त्वया कन्या अत्रार्थे सम्मतं मम॥ २४॥

हिमवानुवाच

वासुदेवः स्वयं देवः कन्यां प्रार्थयते यदि।
तदा मया प्रदातव्या त्वदागमनगौरवात्॥ २५॥
इत्येवं गदितं श्रुत्वा नभस्यन्तर्दधे मुनिः।
ययौ पीताम्बरधरं शंखचक्रगदाधरम्॥ २६॥
कृतांजलिपुटो भूत्वा मुनीन्द्रस्तमभाषत।
शृणु देव भवत्कार्यं विवाहो निश्चितस्तव॥ २७॥
हिमवांस्तु तदा गौरीमुवाच वचनं मुदा।
दत्तासि त्वं मया पुत्रि देवाय गरुडध्वजे*॥ २८॥
श्रुत्वा वाक्यं पितुर्देवी गता सा सखिमन्दिरम्।
भूमौ पतित्वा सा तत्र विललापातिदुःखिता॥ २९॥
विलपन्तीं तदा दृष्ट्वा सखी वचनमब्रवीत्।
किमर्थं दुःखिता देवि कथयस्व ममाग्रतः॥ ३०॥
यद् भवत्याभिलषितं करिष्येऽहं न संशयः।

पार्वत्युवाच

सखि शृणु मम प्रीत्या मनोऽभिलषितं मम।
महादेवं च भर्तारं करिष्येऽहं न संशयः॥ ३१॥
एतन्मे चिन्तितं कार्यं तातेन कृतमन्यथा॥ ३२॥
तस्माद् देहपरित्यागं करिष्येऽहं न संशयः।
पार्वत्या वचनं श्रुत्वा सखी वचनमब्रवीत्॥ ३३॥

सख्युवाच

पिता यत्र न जानाति गमिष्यावो हि तद् वनम्।
इत्येवं सम्मतं कृत्वा नीतासि त्वं महद् वनम्॥ ३४॥
पिता निरीक्षयामास हिमवांस्तु गृहे गृहे।
केन नीतासि मे पुत्री देवदानवकिन्नरैः॥ ३५॥

---

* छान्दस प्रयोग।

नारदाग्रे कृतं सत्यं किं दास्ये गरुडध्वजे।
इत्येवं चिन्तयाऽऽविष्टो मूर्च्छितो निपपात ह॥ ३६ ॥
हा हा कृत्वा प्रधावन्ति लोकास्ते गिरिपुंगवम्।
ऊचुर्गिरिवरं सर्वे मूर्च्छाहेतुं गिरे वद॥ ३७॥

गिरिरुवाच

दुःखस्य हेतुं शृणुत कन्यारत्नं हृतं मम।
दष्टा वा कालसर्पेण सिंहव्याघ्रेण वा हता॥ ३८ ॥
न जाने क्व गता पुत्री केन दुष्टेन वा हृता।
चकम्पे शोकसंतप्तो वातेनेव महातरुः॥ ३९ ॥
गिरिर्वनाद् वनं यातस्त्वदालोकनकारणात्।
सिंहव्याघ्रैश्च भल्लैश्च रोहिभिश्च महाघनम्॥ ४० ॥
त्वं चापि विपिने घोरे व्रजन्ती सखिभिः सह।
तत्र दृष्ट्वा नदीं रम्यां तत्तीरे च महागुहाम्॥ ४१ ॥
तां प्रविश्य सखीसार्द्धमन्नभोगविवर्जिता।
संस्थाप्य बालुकालिंगं पार्वत्या सहितं मम॥ ४२ ॥
भाद्रशुक्लतृतीयायामर्चयन्ती तु हस्तभे।
तत्र वाद्येन गीतेन रात्रौ जागरणं कृतम्॥ ४३ ॥
व्रतराजप्रभावेण आसनं चलितं मम।
सम्प्राप्तोऽहं तदा तत्र यत्र त्वं सखिभिः सह॥ ४४ ॥
प्रसन्नोऽस्मि मया प्रोक्तं वरं ब्रूहि वरानने।

पार्वत्युवाच

यदि देव प्रसन्नोऽसि भर्ता भव महेश्वर॥ ४५ ॥
तथेत्युक्त्वा तु सम्प्राप्तः कैलासं पुनरेव च।
ततः प्रभाते सम्प्राप्ते नद्यां कृत्वा विसर्जनम्॥ ४६ ॥
पारणं तु कृतं तत्र सख्या सार्द्धं त्वया शुभे।
हिमवानपि तं देशमाजगाम घनं वनम्॥ ४७॥

चतुराशा निरीक्षंस्तु विह्वलः पतितो भुवि।
दृष्ट्वा तत्र नदीतीरे प्रसुप्तं कन्यकाद्वयम्॥ ४८॥
उत्थाप्योत्संगमारोप्य रोदनं कृतवान् गिरिः।
सिंहव्याघ्राहिभल्लूकैर्वने दुष्टे कुतः स्थिता॥ ४९॥

पार्वत्युवाच

शृणु तात मया ज्ञातं त्वं दास्यसीश्वराय माम्।
तदन्यथाकृतं तात तेनाहं वनमागता॥ ५०॥
ददासि तात यदि मामीश्वराय तदा गृहम्।
आगमिष्यामि नैवं चेदिह स्थास्यामि निश्चितम्॥ ५१॥
तथेत्युक्त्वा हिमवता नीतासि त्वं गृहं प्रति।
पश्चाद् दत्ता त्वमस्माकं कृत्वा वैवाहिकीं क्रियाम्॥ ५२॥
तेन व्रतप्रभावेण सौभाग्यं साधितं त्वया।
अद्यापि व्रतराजस्तु न कस्यापि निवेदितः॥ ५३॥
नामास्य व्रतराजस्य शृणु देवि यथाभवत्।
आलिभिर्हरिता यस्मात् तस्मात् सा हरितालिका॥ ५४॥

देव्युवाच

नामेदं कथितं देव विधिं वद मम प्रभो।
किं पुण्यं किं फलं चास्य केन च क्रियते व्रतम्॥ ५५॥

ईश्वर उवाच

शृणु देवि विधिं वक्ष्ये नारीसौभाग्यहेतुकम्।
करिष्यति प्रयत्नेन यदि सौभाग्यमिच्छति॥ ५६॥
तोरणादि प्रकर्तव्यं कदलीस्तम्भमण्डितम्।
आच्छाद्य पट्टवस्त्रैस्तु नानावर्णविचित्रितैः॥ ५७॥
चन्दनेन सुगन्धेन लेपयेद् गृहमण्डितम्।
शंखभेरीमृदङ्गैस्तु कारयेद् बहुनिःस्वनान्॥ ५८॥
नाना मंगलगीतं च कर्त्तव्यं मम सद्मनि।
स्थापयेद् बालुकालिंगं पार्वत्या सहितं मम॥ ५९॥

पूजयेद् बहुपुष्पैश्च गन्धधूपादिभिर्नवैः।
नानाप्रकारैर्नैवेद्यैः पूजयेज्जागरं चरेत्॥ ६०॥
नालिकेरैः पूगफलैर्जम्बीरैर्बकुलैस्तथा।
बीजपूरैः सनारङ्गैः फलैश्चान्यैश्च भूरिशः॥ ६१॥
ऋतुकालोद्भवैर्भूरिप्रकारैः कन्दमूलकैः।
'ॐ नमः शिवाय शान्ताय पंचवक्त्राय शूलिने॥ ६२॥
नन्दिभृङ्गिमहाकालगणयुक्ताय शम्भवे।
शिवायै हरकान्तायै प्रकृत्यै सृष्टिहेतवे॥ ६३॥
शिवायै सर्वमांगल्यै शिवरूपे जगन्मये।
शिवे कल्याणदे नित्यं शिवरूपे नमोऽस्तु ते॥ ६४॥
शिवरूपे नमस्तुभ्यं शिवायै सततं नमः।
नमस्ते ब्रह्मचारिण्यै जगद्धात्र्यै नमो नमः'॥ ६५॥
संसारभयसंतापात् त्राहि मां सिंहवाहिनि।
येन कामेन देवि त्वं पूजितासि महेश्वरि॥ ६६॥
राज्यं सौभाग्यसम्पत्तिं देहि मामम्ब पार्वति।
मन्त्रेणानेन देवि त्वां पूजयित्वा मया सह॥ ६७॥
कथां श्रुत्वा विधानेन दद्यादन्नं च भूरिशः।
ब्राह्मणेभ्यो यथाशक्ति देया वस्त्रहिरण्यगाः॥ ६८॥
अन्येषां भूयसी देया स्त्रीणां वै भूषणादिकम्।
भर्त्रा सह कथां श्रुत्वा भक्तियुक्तेन चेतसा॥ ६९॥
कृत्वा व्रतेश्वरं देवि सर्वपापैः प्रमुच्यते।
सप्तजन्म भवेद् राज्यं सौभाग्यं चापि वर्द्धते॥ ७०॥
तृतीयायां तु या नारी आहारं कुरुते यदि।
सप्तजन्म भवेद् बन्ध्या वैधव्यं जन्मजन्मनि॥ ७१॥
दारिद्र्यं पुत्रशोकं च कर्कशा दुःखभागिनी।
पच्यते नरके घोरे नोपवासं करोति या॥ ७२॥

राजते कांचने ताम्रे वैणवे वाथ मृण्मये।
भाजने विन्यसेदन्नं सवस्त्रफलदक्षिणम्।
दानं च द्विजवर्याय दद्यादन्ते च पारणा॥ ७३॥
एवंविधा या कुरुते च नारी
त्वया समाना रमते च भर्त्रा।
भोगाननेकान् भुवि भुज्यमाना
सायुज्यमन्ते लभते हरेण॥ ७४॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
कथाश्रवणमात्रेण तत् फलं प्राप्यते नरैः॥ ७५॥
एतत् ते कथितं देवि तवाग्रे व्रतमुत्तमम्।
कोटियज्ञकृतं पुण्यमस्यानुष्ठानमात्रतः॥ ७६॥

इति श्रीभविष्योत्तरपुराणे हरगौरीसंवादे हरितालिकाव्रतकथा सम्पूर्णा।

(भाद्रपद-कृष्ण) संकष्टचतुर्थीव्रत-कथा

ऋषय ऊचुः

दारिद्र्यशोककष्टाद्यैः पीडितानां च वैरिभिः।
राज्यभ्रष्टैर्नृपैः सर्वैः क्रियते किं शुभार्थिभिः॥ १ ॥
धनहीनैर्नरैः स्कन्द सर्वोपद्रवपीडितैः।
विद्यापुत्रगृहभ्रष्टै रोगयुक्तैः शुभार्थिभिः॥ २ ॥
कर्त्तव्यं किं वदोपायं पुनः क्षेमार्थसिद्धये।

स्कन्द उवाच

शृणुध्वं मुनयः सर्वे व्रतानामुत्तमं व्रतम्॥ ३ ॥
संकष्टतरणं नामामुत्रेह सुखदायकम्।
येनोपायेन संकष्टं तरन्ति भुवि देहिनः॥ ४ ॥
यद् व्रतं देवकीपुत्रः कृष्णो धर्माय दत्तवान्।
अरण्ये क्लिश्यमानाय पुनः क्षेमार्थसिद्धये॥ ५ ॥

यथा कथितवान् पूर्वं गणेशो मातरं प्रति।
तथा कथितवाञ्छ्रीशो द्वापरे पाण्डवान् प्रति॥ ६ ॥

ऋषय ऊचुः

कथं कथितवानम्बां पार्वतीं श्रीगणेश्वरः।
तथा पृच्छन्ति मुनयो लोकानुग्रहकाङ्क्षिणः॥ ७ ॥

स्कन्द उवाच

पुरा कृतयुगे पुण्ये हिमाचलसुता सती।
तपस्तप्तवती भूरि तेनालब्धः शिवः पतिः॥ ८ ॥
तदास्मरत् सा हेरम्बं गणेशं पूर्वजं सुतम्।
तत्क्षणादागतं दृष्ट्वा गणेशं परिपृच्छति॥ ९ ॥

पार्वत्युवाच

तपस्तप्तं मया घोरं दुश्चरं लोमहर्षणम्।
न प्राप्तः स मया कान्तो गिरीशो मम वल्लभः॥ १० ॥
संकष्टतरणं दिव्यं व्रतं नारद उक्तवान्।
त्वदीयं यद् व्रतं तावत् कथयस्व पुरातनम्॥ ११ ॥
तच्छ्रुत्वा पार्वतीवाक्यं संकष्टतरणं व्रतम्।
प्रीत्या कथितवान् देवो गणेशो ज्ञानसिद्धिदः॥ १२ ॥

गणेश उवाच

श्रावणे बहुले पक्षे चतुर्थ्यां तु विधूदये।
गणेशं पूजयित्वा तु चन्द्रायार्घ्यं प्रदापयेत्॥ १३ ॥

पार्वत्युवाच

क्रियते केन विधिना किं कार्यं किं च पूजनम्।
उद्यापनं कदा कार्यं मन्त्राः के स्युस्तु पूजने॥ १४ ॥
किं ध्यानं श्रीगणेशस्य गणेश वद विस्तरात्।

गणेश उवाच

चतुर्थ्यां प्रातरुत्थाय दन्तधावनपूर्वकम्॥ १५ ॥
ग्राह्यं व्रतमिदं पुण्यं संकष्टतरणं शुभम्।
कर्त्तव्यमिति संकल्प्य व्रतेऽस्मिन् गणपं स्मरेत्॥ १६ ॥

(स्वीकारमन्त्रः) निराहारोऽस्मि देवेश यावच्चन्द्रोदयो भवेत्।
भोक्ष्यामि पूजयित्वाहं संकष्टात् तारयस्व माम्॥ १७॥
एवं संकल्प्य राजेन्द्र स्नात्वा कृष्णतिलैः शुभे।
आह्निकं तु विधायैवं पश्चात् पूज्यो गणाधिपः॥ १८॥
त्रिभिर्माषैस्तदर्धेन तृतीयांशेन वा पुनः।
यथाशक्त्या तु वा हैमी प्रतिमा क्रियते शुभा॥ १९॥
हेमाभावे तु रौप्यस्य ताम्रस्यापि यथासुखम्।
सर्वथैव दरिद्रेण क्रियते मृण्मयी शुभा॥ २०॥
वित्तशाठ्यं न कुर्वीत कृते कार्यं विनश्यति।
जलपूर्णं वस्त्रयुतं कुम्भं तदुपरि विन्यसेत्॥ २१॥
पूर्णपात्रं तत्र पद्मं लिखेदष्टदलं शुभम्।
देवतां तत्र संस्थाप्य गन्धपुष्पैः प्रपूजयेत्॥ २२॥
एवं व्रतं प्रकर्तव्यं प्रतिमासं त्वयाद्रिजे।
यावज्जीवं तु वा वर्षाण्येकविंशतिमेव वा॥ २३॥
अशक्तोऽप्येकवर्षं वा प्रतिवर्षमथापि वा।
उद्यापनं तु कर्तव्यं चतुर्थ्यां श्रावणेऽसिते॥ २४॥
स्वीकारश्च तथा कार्यः संकष्टहरणे तिथौ।
गाणपत्यं तथाऽऽचार्यं सर्वशास्त्रविशारदम्॥ २५॥
श्रद्धया प्रार्थयेदादौ तेनोक्तं विधिमाचरेत्।
एकविंशतिविप्रांश्च वस्त्रालंकारभूषणैः॥ २६॥
पूजयेद् गोहिरण्याद्यैर्हुत्वाग्नौ विधिपूर्वकम्।
होमद्रव्यं मोदकाश्च तिलयुक्ता घृतप्लुताः॥ २७॥
अष्टोत्तरसहस्रं वा नो चेदष्टोत्तरं शतम्।
अष्टाविंशतिसंख्याकान् मोदकान् वा सशर्करान्॥ २८॥
अशक्तोऽष्टौ शुभान् स्थूलांजुहुयाज्जातवेदसि।
वैदिकेन च मन्त्रेण आगमोक्तेन वा तथा॥ २९॥

अथवा नाममन्त्रेण होमं कुर्याद् यथाविधि।
पुष्पमण्डपिका कार्या गणेशाह्लादकारिणी॥ ३०॥
पूजयेत् तत्र गणपं भक्तसंकष्टनाशनम्।
गीतवादित्रनिनदैर्भक्तिभावपुरस्कृतैः॥ ३१॥
पुराणवेदनिर्घोषैस्तोषयेच्च गणेश्वरम्।
एवं जागरणं कार्यं शक्त्या दानादिकं तथा॥ ३२॥
सपत्नीकमथाचार्यं तोषयेद् वस्त्रभूषणैः।
उपानच्छत्रगोदानकमण्डलुफलादिभिः॥ ३३॥
शय्यावाहनभूदानधनधान्यगृहादिभिः।
यथाशक्त्या प्रकर्तव्यं दारिद्र्याभावमिच्छता॥ ३४॥
एकविंशतिविप्रांश्च भोजयेन्नामभिर्मम।
गजास्यो विघ्नराजश्च लम्बोदरशिवात्मजौ॥ ३५॥
वक्रतुण्डः शूर्पकर्णः कुब्जश्चैव विनायकः।
विघ्ननाशो हि विकटो वामनः सर्वदैवतः॥ ३६॥
सर्वार्तिनाशी भगवान् विघ्नहर्ता च धूमकः।
सर्वदेवाधिदेवश्च सर्वे षोडश वै स्मृताः॥ ३७॥
एकदन्तः कृष्णपिंगो भालचन्द्रो गणेश्वरः।
गणपश्चैकविंशश्च सर्व एते गणेश्वराः॥ ३८॥
दुर्गोपेन्द्रश्च रुद्रश्च कुलदेव्याधिकं भवेत्।
विशेषेणाष्टसंख्याकैर्मोदकैर्हवनं स्मृतम्॥ ३९॥

श्रीकृष्ण उवाच

एवं तु कथितं सर्वं गणेशेन स्वयं नृप।
पार्वत्या तत् कृतं राजन् व्रतं संकष्टनाशनम्॥ ४०॥
व्रतेनानेन सा प्राप महादेवं पतिं स्वकम्।
तत् कुरुष्व महाराज व्रतं संकष्टनाशनम्॥ ४१॥

चतुर्थी संकटा नाम स्कन्देन कथिता ऋषीन्।
ऋषिभिर्लोककामैस्तैर्लोके ततमिदं व्रतम्॥ ४२॥

सूत उवाच

कृतं युधिष्ठिरेणैतद् राज्यकामेन वै द्विज।
तेन शत्रून् निहत्याजौ स्वराज्यं प्राप्तवान् स्वयम्॥ ४३॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन व्रतं कार्यं विचक्षणैः।
येन धर्मार्थकामाश्च मोक्षश्चापि भवेत् किल॥ ४४॥
यः करोति व्रतं विप्राः सर्वकामार्थसिद्धिदम्।
स वाञ्छितफलं प्राप्य पश्चाद् गणपतां व्रजेत्॥ ४५॥
यदा यदा परं विप्रा नरः प्राप्नोति संकटम्।
तदा तदा प्रकर्त्तव्यं व्रतं संकष्टनाशनम्॥ ४६॥
त्रिपुरं हन्तुकामेन कृतं देवेन शूलिना।
त्रैलोक्यभूतिकामेन महेन्द्रेण तथा कृतम्॥ ४७॥
रावणेन कृतं पूर्वं वालिबन्धनसंकटे।
स्वकीयं प्राप्तवान् राज्यं गणेशस्य प्रसादतः॥ ४८॥
सीतान्वेषणकामेन कृतं वायुसुतेन च।
संकल्प्य दृष्टवान् सोऽयं सीतां रामप्रियां पुरा॥ ४९॥
दमयन्त्या कृतं पूर्वं नलान्वेषणकारणात्।
सा पतिं नैषधं लेभे पुण्यश्लोकं द्विजोत्तमाः॥ ५०॥
अहल्यापि पतिं लेभे गौतमं प्राणवल्लभम्।
विद्यार्थी लभते विद्यां धनार्थी धनमाप्नुयात्॥ ५१॥
पुत्रार्थी पुत्रमाप्नोति रोगी रोगात् प्रमुच्यते॥ ५२॥

इति श्रीस्कन्दपुराणोक्तं संकष्टचतुर्थीव्रतम्।

ऋषिपंचमीव्रत-कथा

सिताश्व उवाच

श्रुतानि देवदेवेश व्रतानि सुबहूनि च।
साम्प्रतं मे समाचक्ष्व व्रतं पापप्रणाशनम्॥ १ ॥

ब्रह्मोवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि व्रतानामुत्तमं व्रतम्।
ऋषिपंचमीति विख्यातं सर्वपापहरं परम्॥ २ ॥
येन चीर्णेन राजेन्द्र नरकं नैव पश्यति।
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्॥ ३ ॥
वैदर्भे च द्विजवरो उत्तंको नाम नामतः।
तस्य भार्या सुशीलेति पतिव्रतपरायणा॥ ४ ॥
तस्या अपत्ययुगलं पुत्रो हि सुविभूषणः।
अधीतवान् सुतस्तस्य वेदान् सांगपदक्रमान्॥ ५ ॥
समाने च कुले तेन सुता चापि विवाहिता।
विवाहितैव सा दैवाद् वैधव्यं प्राप सत्तम॥ ६ ॥
सतीत्वं पालयन्ती सा आस्ते निजपितुर्गृहे।
तस्या दुःखेन संतप्तः सुतं संस्थाप्य वेश्मनि॥ ७ ॥
गंगातीरवनं प्राप्तः सकलत्रस्तया सह।
स तत्राध्यापयामास शिष्यान् वेदं द्विजोत्तमः॥ ८ ॥
सुता च कुरुते तस्य पितुः शुश्रूषणं परम्।
पितुः शुश्रूषणं कृत्वा परिश्रान्ता कदाचन॥ ९ ॥
निशीथे किल संसुप्ता कृमिराशिरजायत।
तथाविधां च तां दृष्ट्वा विवस्त्रां प्रस्तरस्थिताम्॥ १० ॥
शिष्या निवेदयामासुस्तन्मातुः करुणान्विताः।
न जानीमो वयं किंचिद् देवीं साध्वीं तथाविधाम्॥ ११ ॥
कृमिराशिमयी जाता मातः सम्प्रति दृश्यते।
वज्रपातसदृशं तच्छ्रुत्वा शिष्यैरुदीरितम्॥ १२ ॥

सा भ्रान्तमानसा शीघ्रं तत्समीपमुपागमत्।
सा तां तथाविधां दृष्ट्वा विललाप सुदुःखिता॥ १३॥
उरश्च ताडयामास सुतरां मोहमाप सा।
क्षणेन प्राप्तचैतन्यां तामुत्थाप्य प्रमृज्य च॥ १४॥
समालम्ब्य च बाहुभ्यां निन्ये तत्पितुरन्तिकम्।
स्वामिन् कथय मे साध्वी केन दुष्कृतकर्मणा॥ १५॥
निशीथे सम्प्रसुप्तेयं जायते कृमिसंकुला।
एतच्छ्रुत्वा ततो वाक्यमृषिर्ध्यानपरायणः॥ १६॥
ज्ञात्वा निवेदयामास तस्याः प्राग्जन्मचेष्टितम्।

ऋषिरुवाच

प्रागियं सप्तमेऽतीते जन्मनि ब्राह्मणी ह्यभूत्॥ १७॥
रजस्वला च संजाता भाण्डादीन्यस्पृशत् तदा।
अस्यास्तु पाप्मना तेन जायते कृमिवद् वपुः॥ १८॥
रजस्वलायाः पापेन युक्ता भवति सानघे।
प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी॥ १९॥
तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थेऽहनि शुध्यति।
तदा तया सखीसंगाद् व्रतं दृष्ट्वावमानितम्॥ २०॥
दृष्टव्रतप्रभावेण जाता द्विजकुलेऽमले।
अवमानाद् व्रतस्यास्य कृमिराशिमयीऽधुना* ॥ २१॥
एतत् ते कथितं सर्वं कारणं दुष्कृतस्य च।

सुशीलोवाच

दर्शनादपि यस्यास्य विप्राणां निर्मले कुले॥ २२॥
जन्म युष्मद्विधानां हि जायते ब्रह्मतेजसाम्।
अवज्ञया प्रजायन्ते निशीथे कृमिराशयः॥ २३॥
महाश्चर्यकरं नाथ तद् व्रतं कथयस्व मे।

ऋषिरुवाच

सुशीले शृणु तत् सम्यग् व्रतानामुत्तमं व्रतम्।
येन चीर्णेन सहसा पापादस्मात् प्रमुच्यते॥ २४॥

* अलोप आर्षः।

दुःखत्रयाच्च मुच्येत नारी सौभाग्यमाप्नुयात्।
कल्याणानि विवर्धन्ते सम्पदश्च निरापदः॥ २५॥
नभस्ये शुक्लपक्षे तु यदा भवति पंचमी।
नद्यादिषु तदा स्नात्वा कृत्वा नियममेव च॥ २६॥
विधाय नित्यकर्माणि गत्वा द्वारवतीमृषीन्* ।
स्नापयेद् विधिवद् भक्त्या पंचामृतरसैः शुभैः॥ २७॥
चन्दनागुरुकर्पूरैर्विलिप्य च सुगन्धिभिः।
पूजयेद् विविधैः पुष्पैर्गन्धधूपादिदीपकैः॥ २८॥
समाच्छाद्य शुभैर्वस्त्रैः सोपवीतैर्यथाविधि।
ततो नैवेद्यसम्पन्नमर्घ्यं दद्याच्छुभैः फलैः॥ २९॥
कश्यपोऽत्रिर्भरद्वाजो विश्वामित्रस्तु गौतमः।
जमदग्निर्वसिष्ठश्च सप्तैते ऋषयः स्मृताः॥ ३०॥
गृह्णन्त्वर्घ्यं मया दत्तं तुष्टा भवत मे सदा।
श्रोतव्यमिदमाख्यानं शाकाहारं प्रकल्पयेत्॥ ३१॥
स्थातव्यं ब्रह्मचर्येण ऋषिध्यानपरायणैः।
अनेन विधिना सम्यग् व्रतमेतत् समाचरेत्॥ ३२॥
तस्य तज्जायते पुण्यं सर्वतीर्थेषु यत् फलम्।
सर्वदानेषु यत् पुण्यं तदस्य व्रतचारणात्॥ ३३॥
कुरुते या व्रतं चैतत् सा नारी सुखभागिनी।
रूपलावण्यसंयुक्ता पुत्रपौत्रादिसंयुता॥ ३४॥
इह लोके सदैव स्यात् परत्राप्यक्षया गतिः।
व्रतस्यास्य प्रभावेण जातिं स्मरति पौर्विकीम्॥ ३५॥

इति श्रीहेमाद्रिरचिते चतुर्वर्गचिन्तामणौ व्रतखण्डे ब्रह्माण्डपुराणोक्ता ऋषिपंचमीव्रत-कथा समाप्ता।

---

* गृहमित्यर्थः।

अनन्तव्रत-कथा

सूत उवाच

अरण्ये वर्तमानास्ते पाण्डवा दुःखकर्शिताः।
कृष्णं दृष्ट्वा महात्मानं प्रणिपत्य तमब्रुवन्॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अहं दुःखीह संजातो भ्रातृभिः परिवारितः।
कथं मुक्तिर्वदास्माकमनन्ताद् दुःखसागरात्॥ २ ॥
कं देवं पूजयित्वा वै राज्यं प्राप्स्याम्यनुत्तमम्।
अथवा किं व्रतं कुर्यां त्वत्प्रसादाद् भवेद्धितम्॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

अनन्तव्रतमस्त्येकं सर्वपापहरं शुभम्।
सर्वकामप्रदं नृणां स्त्रीणां चैव युधिष्ठिर॥ ४ ॥
शुक्लपक्षे चतुर्दश्यां मासि भाद्रपदे भवेत्।
तस्यानुष्ठानमात्रेण सर्वपापं व्यपोहति॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कृष्ण कोऽयमनन्तेति प्रोच्यते यस्त्वया विभो।
किं शेषनाग आहोस्विदनन्तस्तक्षकः स्मृतः॥ ६ ॥
परमात्माथवानन्त उताहो ब्रह्म गीयते।
क एषोऽनन्तसंज्ञो वै तथ्यं मे ब्रूहि केशव॥ ७ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

अनन्त इत्यहं पार्थ मम रूपं निबोध तत्।
आदित्यप्रचचारेण यः काल इति पठ्यते॥ ८ ॥
कलाकाष्ठामुहूर्तादिदिनरात्रिशरीरवान्।
पक्षमासर्तुवर्षादियुगकालव्यवस्थया॥ ९ ॥
योऽयं कालो मयाऽऽख्यातः सोऽनन्त इति कीर्त्यते।
सोऽहं कृष्णोऽवतीर्णोऽत्र भूभारोत्तारणाय च॥ १०॥

दानवानां वधार्थाय वसुदेवकुलोद्भवम्।
अनन्तं विद्धि मां पार्थ कृष्णं विष्णुं हरिं शिवम्॥ ११॥
अनादिमध्यनिधनं सर्वव्यापिनमीश्वरम्।
विश्वरूपं महाकालं सृष्टिसंहारकारकम्॥ १२॥
प्रत्ययार्थं मया रूपं फाल्गुनाय प्रदर्शितम्।
पूर्वमेव महाबाहो योगिध्येयमनुत्तमम्॥ १३॥
विश्वरूपमनन्तं च यस्मिन्निन्द्राश्चतुर्दश।
वसवो द्वादशादित्या रुद्रा एकादश स्मृताः॥ १४॥
सप्तर्षयः समुद्राश्च पर्वताः सरितो द्रुमाः।
नक्षत्राणि दिशो भूमिः पातालं भूर्भुवादिकम्।
मा कुरुष्वात्र संदेहं सोऽहं पार्थ न संशयः॥ १५॥

युधिष्ठिर उवाच

अनन्तव्रतमाहात्म्यं विधिं वद विदां वर।
किं पुण्यं किं फलं चास्य किं दानं कस्य पूजनम्॥ १६॥
केन चादौ पुरा चीर्णं मर्त्ये केन प्रकाशितम्।
एवं सविस्तरं सर्वं ब्रूह्यनन्तव्रतं मम॥ १७॥

श्रीकृष्ण उवाच

आसीत् पुरा कृतयुगे सुमन्तुर्नाम वै द्विजः।
वसिष्ठगोत्रसम्भूतः सुरूपां स भृगोः सुताम्॥ १८॥
दीक्षानाम्नीं चोपयेमे वेदोक्तविधिना नृप।
तस्याः कालेन संजाता दुहितानन्तलक्षणा॥ १९॥
शीलानाम्नी सुशीला सा वर्द्धते पितृवेश्मनि।
माता च तस्याः कालेन ज्वरदाहेन पीडिता॥ २०॥
विनष्टा सा नदीतीरे ययौ स्वर्गं पतिव्रता।
सुमन्तुस्तु ततोऽन्यां च धर्मपुंसः सुतां पुनः॥ २१॥
उपयेमे विधानेन दुश्शीलां नाम नामतः।
दुश्शीलां कर्कशां चण्डीं नित्यं कलहकारिणीम्॥ २२॥

सापि शीला पितुर्गेहे गृहार्चनपरा बभौ।
कुड्यस्तम्भबहिर्द्वारदेहलीतोरणादिषु ॥ २३ ॥
वर्णकैश्चित्रमकरोन्नीलपीतसितासितैः ।
स्वस्तिकैः शंखपद्मैश्च अर्चयन्ति पुनः पुनः ॥ २४ ॥
एवं सा वर्द्धते शीला पितृवेश्मनि मंगला।
ततः काले बहुतिथे कौमारवशवर्तिनी ॥ २५ ॥
पित्रा दृष्टा तदा तेन स्त्रीचिह्ना यौवने स्थिता।
तां दृष्ट्वा चिन्तयामास नराननुगुणान् भुवि ॥ २६ ॥
कस्मै देया मया कन्या विचार्य्येति सुदुःखितः।
एतस्मिन्नेव काले तु मुनिर्वेदविदां वरः ॥ २७ ॥
कन्यार्थी चागतः श्रीमान् कौण्डिन्यो मुनिसत्तमः।
उवाच रूपसम्पन्नां त्वदीयां तनयां वृणे।
पिता ददौ द्विजेन्द्राय कौण्डिन्याय शुभे दिने ॥ २८ ॥
गृह्योक्तविधिना पार्थ विवाहमकरोत् तदा।
निवर्त्यौद्वाहिकं सर्वं प्रोक्तवान् कर्कशां द्विजः ॥ २९ ॥
किंचिद्दायादिकं देयं जामातृपारितोषिकम्।
तच्छ्रुत्वा कर्कशा क्रुद्धा प्रोत्सार्य गृहमण्डनम् ॥ ३० ॥
पेटायां सुस्थिरं बद्ध्वा पितृवेश्मनि सा ययौ।
कौण्डिन्योऽपि विवाह्यैनां पथि गच्छञ्छनैः शनैः ॥ ३१ ॥
शीलां सुशीलामादाय नवोढां गोरथेन हि।
ददर्श यमुनां पुण्यां तामुत्तीर्य तटे रथम् ॥ ३२ ॥
संस्थाप्यावश्यकं कर्त्तुं गतः शिष्यान् नियुज्य वै।
मध्याह्ने भोज्यवेलायां समुत्तीर्य सरित्तटे ॥ ३३ ॥
ददर्श शीला सा स्त्रीणां समूहं रक्तवाससाम्।
चतुर्दश्यामर्चयन्तं भक्त्या देवं जनार्दनम् ॥ ३४ ॥
उपगम्य शनैः शीला पप्रच्छ स्त्रीकदम्बकम्।
आर्याः किमेतन्मे ब्रूत किं नाम व्रतमीदृशम् ॥ ३५ ॥

ता ऊचुर्योषितस्तां तु शीलां शीलविभूषणाम्।
अनन्तव्रतमेतद्धि व्रतेऽनन्तः प्रपूज्यते॥ ३६॥
साब्रवीदहमप्येतत् करिष्ये व्रतमुत्तमम्।
विधानं कीदृशं तत्र किं दानं कश्च पूज्यते॥ ३७॥

स्त्रिय ऊचुः

शीले सदन्नप्रस्थस्य पुन्नाम्ना संस्कृतस्य च।
अर्द्धं विप्राय दातव्यमर्द्धमात्मनि भोजनम्॥ ३८॥
शक्त्या च दक्षिणां दद्याद् वित्तशाठ्यविवर्जितः।
कर्त्तव्यं सत्सरित्तीरे विधिनानेन मानिनी॥ ३९॥
शेषं कुशमयं कृत्वा वंशपात्रे निधाय च।
स्नात्वानन्तं समभ्यर्च्य मण्डले धूपदीपकैः॥ ४०॥
गन्धैः पुष्पैः सनैवेद्यैर्नानापक्वान्नसंयुतैः।
तस्याग्रतो दृढं न्यस्य कुंकुमाक्तं सुदोरकम्॥ ४१॥
चतुर्दशग्रन्थियुतं गन्धाद्यैरर्चयेच्छुभैः।
ततस्तु दक्षिणे पुंसां स्त्रीणां वामे करे न्यसेत्॥ ४२॥
'अनन्तसंसारमहासमुद्रमग्नं समभ्युद्धर वासुदेव।
अनन्तरूपे विनियोजयस्व अनन्तरूपाय नमो नमस्ते'॥ ४३॥
अनेन दोरकं बद्ध्वा कथां श्रुत्वा हरेरिमाम्।
ध्यात्वा नारायणं देवमनन्तं विश्वरूपिणम्॥ ४४॥
भुक्त्वा चान्ते व्रजेद् वेश्म भद्रे प्रोक्तं व्रतं तव॥ ४५॥

श्रीकृष्ण उवाच

एवमाकर्ण्य राजेन्द्र प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
सापि चक्रे व्रतं शीला करे बद्ध्वा सुदोरकम्॥ ४६॥
पाथेयमर्धं विप्राय दत्त्वा भुक्त्वा स्वयं ततः।
पुनर्जगाम संहृष्टा गोरथेन स्वकं गृहम्॥ ४७॥
भर्त्रा सहैव शनकैः प्रत्ययस्तत्क्षणादभूत्।
तेनानन्तव्रतेनास्या बभौ गोधनसंकुलम्॥ ४८॥

गृहाश्रमं श्रिया जुष्टं धनधान्यसमन्वितम्।
आकुलं व्याकुलं रम्यं सर्वदातिथिपूजनैः॥ ४९॥
सापि माणिक्यकांचीभिर्मुक्ताहारविभूषिता।
देवांगनेव सम्पन्ना सावित्रीप्रतिमाभवत्॥ ५०॥
कदाचिदुपविष्टाया दृष्टो बद्धः सुदोरकः।
शीलाया हस्तमूले तु भर्त्रा तेन द्विजन्मना॥ ५१॥
किमिदं दोरकं शीले मम वश्याय कल्पितम्।
धृतं सुदोरकं त्वेतत् किमर्थं ब्रूहि तत्त्वतः॥ ५२॥

शीलोवाच

यस्य प्रसादात् सकला धनधान्यादिसम्पदः।
लभ्यन्ते मानवैश्चापि सोऽनन्तोऽयं मया धृतः॥ ५३॥
शीलायास्तद् वचः श्रुत्वा भर्त्रा तेन द्विजन्मना।
श्रीमदान्धेन कौरव्य साक्षेपं त्रोटितस्तदा॥ ५४॥
कोऽनन्त इति मूढेन जल्पता पापकारिणा।
क्षिप्तो ज्वालाकुले वह्नौ हा हा कृत्वा प्रधावती॥ ५५॥
शीला गृहीत्वा तत् सूत्रं क्षीरमध्ये समाक्षिपत्।
तेन कर्मविपाकेन तस्य श्रीर्विलयं गता॥ ५६॥
गोधनं तस्करैर्नीतं गृहं दग्धं धनं गतम्।
यद् यथैवागतं गेहे तत् तथैव पुनर्गतम्॥ ५७॥
स्वजनैः कलहो नित्यं बन्धुभिस्तर्जनं तथा।
न कश्चिद् वदते लोकस्तेन सार्द्धं युधिष्ठिर॥ ५८॥
शरीरेणातिसंतप्तो मनसाप्यत्यन्तदुःखितः।
निर्वेदं परमं प्राप्तः कौण्डिन्यः प्राह तां मुनिः॥ ५९॥

कौण्डिन्य उवाच

शीले ममेदमुत्पन्नं सहसा शोककारणम्।
येनातिदुःखमस्माकं जातः सर्वधनक्षयः॥ ६०॥

स्वजनैः कलहो गेहे न कश्चिन्मां प्रभाषते।
शरीरे नित्यसंतापः खेदश्चेतसि दारुणः॥ ६१॥
जानासि दुर्नयः कोऽत्र किं कृत्वा सुकृतं भवेत्।
प्रत्युवाचाथ तं शीला सुशीला शीलमण्डना॥ ६२॥

शीलोवाच

प्रायोऽनन्तकृताक्षेपपापसम्भवजं फलम्।
भविष्यति महाभाग तदर्थं यत्नमाचर॥ ६३॥
एवमुक्तः स विप्रर्षिर्जगाम मनसा हरिम्।
निर्वेदं निर्जगामाथ कौण्डिन्यः प्रयतो वनम्॥ ६४॥
तपसे कृतसंकल्पो वायुभक्षी द्विजोत्तमः।
मनसा ध्याय चानन्तं क्व द्रक्ष्यामि च तं विभुम्॥ ६५॥
यस्य प्रसादात् सम्प्राप्तमाक्षेपान्निधनं गतम्।
धनादिकं ममातीव सुखदुःखप्रदायकम्॥ ६६॥
एवं संचिन्तयन् सोऽथ बभ्राम विजने वने।
तत्रापश्यन्महाचूतं पुष्पितं फलितं यथा॥ ६७॥
वर्जितं पक्षिसंघातैः कीटकोटिवृतं तथा।
तमपृच्छत् त्वयानन्तः क्वचिद् दृष्टो महातरो॥ ६८॥
ब्रूहि सौम्य ममातीव दुःखं चेतसि वर्तते।
सोऽब्रवीद् भद्र नानन्तं क्वचित् पश्यामि वा द्विज॥ ६९॥
एवं निराकृतस्तेन स जगामाथ दुःखितः।
क्व द्रक्ष्यामीति गच्छन् स गामपश्यत् सवत्सकाम्॥ ७०॥
तृणमध्ये च धावन्तीमितश्चेतश्च पाण्डव।
अब्रवीद् धेनुके ब्रूहि यद्यनन्तस्त्वयेक्षितः॥ ७१॥
सा चोवाचाथ कौण्डिन्यं नानन्तं वेद्म्यहं द्विज।
ततो व्रजन् ददर्शाग्रे गोवृषं शाद्वले स्थितम्।
दृष्ट्वा पप्रच्छ गोस्वामिन्ननन्तो वीक्षितस्त्वया॥ ७२॥

गोवृषस्तमुवाचेदं नानन्तो वीक्षितो मया।
ततो व्रजन् ददर्शाग्रे रम्यं पुष्करिणीद्वयम्॥ ७३॥
अन्योन्यजलकल्लोलैर्वीचिपर्यन्तसंगतम्।
छन्नकिंजल्ककह्लारकमलोत्पलमण्डितम्॥ ७४॥
सेवितं भ्रमरैर्हंसैश्चक्रैः कारण्डवैर्बकैः।
ते चापृच्छद् द्विजोऽनन्तो भवद्भ्यां नोपलक्षितः॥ ७५॥
ऊचतुस्ते पुष्करिण्यौ नानन्तो वीक्षितो द्विज।
ततो व्रजन् ददर्शाग्रे गर्दभं कुंजरं तथा॥ ७६॥
तावप्युक्तौ द्विजेनेत्थं नेति ताभ्यां निवेदितम्।
एवं सम्पृच्छ्य नष्टाशस्तत्रैव निषसाद ह॥ ७७॥
कौण्डिन्यो विह्वलीभूतो निराशो जीवने नृप।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य पपात भुवि भारत॥ ७८॥
प्राप्य संज्ञामनन्तेति जल्पन्नुत्थाय स द्विजः।
नूनं त्यक्ष्याम्यहं प्राणानिति संकल्प्य चेतसि॥ ७९॥
उत्थायोद्बुध्य वृक्षेऽस्मिंस्तावद् भरतसत्तम।
कृपयानन्तदेवोऽपि प्रत्यक्षः समजायत॥ ८०॥
वृद्धब्राह्मणरूपेण इत एहीत्युवाच तम्।
प्रगृह्य दक्षिणे पाणौ गुहायां प्रविवेश्य तम्॥ ८१॥
स्वां पुरीं दर्शयामास दिव्यनारीनरैर्युताम्।
तस्यां विविधमात्मानं दिव्यसिंहासने शुभे॥ ८२॥
पार्श्वस्थे शंखचक्रं च गदागरुडशोभितम्।
दर्शयामास विप्राय स्वीयं रूपमनन्तकम्॥ ८३॥
विभूतिभेदैश्चानन्तैरनन्तममितौजसम्।
तं दृष्ट्वा तादृशं रूपमनन्तमपराजितम्॥ ८४॥
वेद्यमाने जगादोच्चैर्जयशब्दपुरस्सरम्।
पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः॥ ८५॥

त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्वपापहरो भव।
तच्छ्रुत्वानन्तदेवेशः प्राह सुस्निग्धया गिरा॥ ८६॥
मा भैस्त्वं ब्रूहि विप्रेन्द्र यत् ते मनसि वर्तते।

कौण्डिन्य उवाच

मया भूत्यावलिप्तेन त्रोटितोऽनन्तदोरकः।
तेन कर्मविपाकेन भूतिर्मे प्रलयं गता॥ ८७॥
स्वजनैः कलहो गेहे न कश्चिन्मां प्रभाषते।
तस्य पापस्य मे शान्तिं कारुण्याद् वक्तुमर्हसि॥ ८८॥

श्रीकृष्ण उवाच

तच्छ्रुत्वानन्तदेवस्तमुवाच द्विजसत्तमम्।

श्रीअनन्त उवाच

स्वगृहं गच्छ कौण्डिन्य मा विलम्बं कुरु द्विज।
चरानन्तव्रतं भक्त्या नव वर्षाणि पंच च॥ ८९॥
सर्वपापविशुद्धात्मा प्राप्स्यसे सिद्धिमुत्तमाम्।
पुत्रान् पौत्रान् समुत्पाद्य भुक्त्वा भोगान् यथेप्सितान्॥ ९०॥
अन्ते मत्स्मरणं प्राप्य मामुपैष्यस्यसंशयम्।
अन्यच्च ते वरं दद्मि सर्वलोकोपकारकम्॥ ९१॥
इदमाख्यानकवरं शीलानन्तव्रतादिकम्।
पठिष्यति नरो यस्तु प्राप्स्यति परमां गतिम्॥ ९२॥
गच्छ विप्र गृहं शीघ्रं यथा येनागतो ह्यसि॥ ९३॥

कौण्डिन्य उवाच

स्वामिन् पृच्छामि मे ब्रूहि किंचित् कौतूहलं मया।
अरण्ये भ्रमता दृष्टं न तद् वेद्मि जगद्गुरो॥ ९४॥
स चूतवृक्षः कस्तत्र का गौः को वृषभस्तथा।
कमलोत्पलकह्लारैः शोभितं सुमनोहरम्॥ ९५॥
मया दृष्टं महारण्ये तत् किं पुष्करिणीद्वयम्।
कः खरः कुंजरः कोऽसौ कोऽसौ वृद्धो द्विजोत्तमः॥ ९६॥

श्रीअनन्त उवाच

स चूतवृक्षो विप्रोऽसौ विद्यावेदविशारदः।
सोऽर्थितोऽपि न च प्रादाच्छिष्येभ्यस्तरुतां गतः॥ ९७ ॥
सा गौर्वसुन्धरा दृष्टा सफला या त्वया द्विज।
वृषो धर्मस्त्वया दृष्टः शाद्वलं सत्यमास्थितः॥ ९८ ॥
धर्माधर्मव्यवस्थानं तच्च पुष्करिणीद्वयम्।
ब्राह्मण्यौ केचिदप्यास्तां भगिन्यौ ते परस्परम्॥ ९९ ॥
धर्माधर्मादि यत् किंचित् तन्निवेदयतो मिथः।
विप्राय न क्वचिद् दत्तमतिथौ दुर्बलेऽपि वा॥ १०० ॥
भिक्षा दत्ता न वार्थिभ्यस्तेन पापेन कर्मणा।
वीचिकल्लोलमालाभिर्गच्छतस्ते परस्परम्॥ १०१ ॥
खरः क्रोधस्त्वया दृष्टः कुंजरो मद उच्यते।
ब्राह्मणोऽसावनन्तोऽहं गुहासंसारगह्वरम्॥ १०२ ॥
इत्युक्त्वा देवदेवेशस्तत्रैवान्तरधीयत।
स्वप्नप्रायं स तद् दृष्ट्वा ततः स्वगृहमागतः॥ १०३ ॥
कृत्वानन्तव्रतं सम्यङ् नव वर्षाणि पंच च।
भुक्त्वा सर्वमनन्तेन यथोक्तं पाण्डुनन्दन॥ १०४ ॥
अन्ते वै मरणं प्राप्य गतोऽनन्तपुरं द्विजः॥ १०५ ॥
तथा त्वमपि राजर्षे कथां शृण्वन् व्रतं कुरु।
प्राप्स्यसे चिन्तितं सर्वमनन्तस्य वचो यथा॥ १०६ ॥
यद्वच्चतुर्दशे वर्षे फलं प्राप्तं द्विजन्मना।
वर्षैकेन तदाप्नोति कृत्वोपाख्यानकं व्रतम्॥ १०७ ॥
एतत् ते कथितं भूप व्रतानामुत्तमं व्रतम्।
यत् कृत्वा सर्वपापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः॥ १०८ ॥
येऽपि शृण्वन्ति सततं पठ्यमानं पठन्ति च।
तेऽपि पापविनिर्मुक्ताः प्राप्स्यन्ति च हरेः पुरम्॥ १०९ ॥

संसारगह्वरगुहासु सुखं विहर्तुं
वाञ्छन्ति ये कुरुकुलोद्भव शुद्धसत्त्वाः।
सम्पूज्य च त्रिभुवनेशमनन्तदेवं
बध्नन्ति दक्षिणकरे वरदोरकं ते॥ ११०॥

इति श्रीभविष्योत्तरपुराणे अनन्तव्रतकथा समाप्ता।

(माघकृष्ण) संकष्टचतुर्थीव्रत-कथा

सूत उवाच

अरण्ये वर्तमानं तं पाण्डुपुत्रं युधिष्ठिरम्।
सबान्धवं सुखासीनं प्रययौ व्यास आदरात्॥ १ ॥
तं दृष्ट्वा मुनिशार्दूलं व्यासं प्रत्याययौ नृपः।
मधुपर्कंच सार्घ्यं स दत्त्वा तस्मै उवाच तम्॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अद्य मे सफलं जन्म भवताऽऽगमने कृते।
यत् संकष्टं हि संजातं वने मम निवासिनः॥ ३ ॥
तत् सर्वं विलयं जातं भवतो दर्शनेन हि।
आत्मानं साधु मन्येऽहं राज्यतृष्णापराङ्मुखम्॥ ४ ॥
दुःखितं मां पुनः स्वामिन् राज्यभ्रष्टं वने स्थितम्।
एते भीमादयः सर्वे बान्धवा व्यथयन्ति भोः॥ ५ ॥
दुराधर्षाः सुवीर्या हि मच्छासनविधौ रताः।
इयं तु द्रौपदी साध्वी राजपुत्री पतिव्रता॥ ६ ॥
राज्योपभोग्ययोग्या साप्यथ दुःखोपभोगिनी।
मया च किं कृतं व्यास पूर्वं कष्टानुजीविना॥ ७ ॥
दायादैर्लुण्ठितं राज्यं द्यूतछद्मरतैस्तथा।
पराजिता वयं ब्रह्मन् सुहृद्भिर्बन्धुभिस्तथा॥ ८ ॥

वनं प्रस्थापिता दूतैरिदमूचुस्तथैव च।
कुर्वन्तु गमनं शीघ्रं वनाय भवदादयः॥ ९ ॥
इत्थं निराकृताः स्वामिन् यदा तद् वनमागताः।
अहं तदा प्रभृत्यहीन् न द्रक्ष्यामि भवादृशान्॥ १० ॥
यद्यस्ति व्रतमेकं हि सर्वसंकष्टनाशनम्।
तद् व्रतं कथय ब्रह्मन्ननुग्राह्योऽस्मि सुव्रत॥ ११ ॥
इत्युक्तवन्तं राजानं सर्वसंकष्टनाशनम्।
उवाच प्रीणयन् व्यासो धर्मजं व्रतमुत्तमम्॥ १२ ॥

व्यास उवाच

नास्ति भूमण्डले राजंस्त्वत्समो धर्मतत्परः।
कथयामि व्रतं तेऽद्य व्रतानामुत्तमोत्तमम्॥ १३ ॥
संकष्टनाशनं नित्यं शुभदं फलदं भुवि।
यत्कर्तुः सर्वकार्याणां निष्पत्तिर्जायते ध्रुवम्॥ १४ ॥
विद्यार्थी लभते विद्यां धनार्थी लभते धनम्।
प्रोषिता या पुरन्ध्री च करोति व्रतमुत्तमम्॥ १५ ॥
ईप्सितं लभते सर्वं पतिना सह मोदते।
संकष्टेऽपि यदाक्षिप्तो मानवो ग्रहपीडितः॥ १६ ॥
साम्राज्ये दीक्षितो नित्यं मन्त्रिभिः परिवारितः।
सुहृद्भिर्बन्धुभिश्चैव तथा पुत्रैः समन्वितः॥ १७ ॥
तस्य तु प्रियकर्त्री च पत्नी गुणवती प्रिया।
नाम्ना रत्नावलीत्यासीत् पतिव्रतपरायणा॥ १८ ॥
तयोः परस्परं प्रीतिरभवच्च गुणाश्रय।
कदाचिद् दैवयोगेन हृतं राज्यं च वैरिभिः॥ १९ ॥
कोशो बलं चापहृतं विध्वस्तो बन्धुभिः सह।
रत्नावल्या तया साध्व्या निर्गतो भूमिवल्लभः॥ २० ॥
वने क्षुधार्तः कृशितो ह्येकवासास्तृषार्दितः।
इतस्ततश्चरन् राजन्नातपेनातिपीडितः॥ २१ ॥

एकाकी वनमासाद्य पत्न्या सार्द्धं युधिष्ठिर।
सूर्ये चास्ताचलं याते अरण्ये च शिवार्दिते॥ २२॥
व्याघ्राश्च चुक्रुशुस्तत्र पर्जन्योऽपि ववर्ष ह।
कण्टकैः क्लेशिता राज्ञी दुःखादाक्रन्दपीडिता॥ २३॥
तां विलोक्य नृपश्रेष्ठो दुःखेनैव तु पीडितः।
ततः प्रभातसमये मार्कण्डेयं महामुनिम्॥ २४॥
ददर्श राजा तत्रैव विस्मयाविष्टमानसः।
उपगम्य शनैस्तं तु दण्डवत् पतितो भुवि॥ २५॥
अब्रवीद् वचनं राजा मार्कण्डेयं महामुनिम्।
किं कृतं हि मया स्वामिन् दुष्कृतं कथयस्व तत्॥ २६॥
केन कर्मविपाकेन राज्यलक्ष्मीः पराङ्मुखी।

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि यत् कृतं पूर्वजन्मनि॥ २७॥
पूर्वं हि लुब्धकश्चासीर्गतोऽसि गहनं वनम्।
मृगशार्दूलशशकान् विनिघ्नन् परितो वने॥ २८॥
तस्मिन् रात्रौ भ्रमन् राजंश्चतुर्थ्यां माघकृष्णके।
दृष्टं शुभं च कृष्णायास्तटाकं पृथुनिर्मलम्॥ २९॥
तत्तीरे नागकन्यानां समूहं रक्तवाससाम्।
गणेशं पूजयन्तीनां दृष्टवान् निरतं व्रते॥ ३०॥
उपगम्य शनैस्तत्र पृष्टास्तास्तु त्वया विभो।
आर्याः किमेतन्मे सर्वं कथयध्वं हि तत्त्वतः॥ ३१॥

नागकन्या ऊचुः

पूजयामो गणपतिं व्रतं सिद्धिप्रदायकम्।
शान्तिदं पुष्टिदं नित्यं सर्वव्याधिविनाशनम्॥ ३२॥
पुनः पृष्टं त्वया तत्र किं दानं पूज्यतेऽत्र कः।

स्त्रिय ऊचुः

यदा चोत्पद्यते भक्तिर्माघे मासि गणाधिपम्॥ ३३॥

कृष्णायां च चतुर्थ्यां वै रक्तपुष्पैः प्रपूजयेत्।
धूपैर्दीपैश्च नैवेद्यैरन्यैर्भक्तिसमाहृतैः॥ ३४॥
विधिवन्मोदकान् कृत्वा पूरिका घृतपाचिताः।
नैवेद्यं षड्रसं सर्वं गणेशाय निवेदयेत्॥ ३५॥
ततो गृहीत्वा राजेन्द्र त्वया संकष्टनाशनम्।
व्रतं कृतं भक्तिपूर्वं सांगं तस्य प्रभावतः॥ ३६॥
अभवद् धनधान्यं ते पुत्रपौत्रसमन्वितम्।
कस्मिंश्चित् समये राजन् धनमत्तेन सिद्धिदम्॥ ३७॥
विस्मृतं तद् व्रतं नैव कृतं यत्नेन भूतिदम्।
ततः प्राप्तं हि पंचत्वमायुषोऽन्ते त्वया विभो॥ ३८॥
तत्प्रभावाद् राजकुले विशाले प्राप्तमुत्तमम्।
त्वया जन्म नृपश्रेष्ठ राज्यं प्राप्तं तथा विभो॥ ३९॥
सुहृन्मित्रप्रियायुक्तः प्राप्तोऽसि विपुलं वसु।
कृतावज्ञा व्रतस्यान्तस्तत् प्राप्तं फलमीदृशम्॥ ४०॥

राजोवाच

अधुना क्रियते स्वामिन् कथ्यतां मम सुव्रतम्।
यत् कृत्वा सकलं राज्यं प्राप्यते च मया पुनः॥ ४१॥

ऋषिरुवाच

व्रतसंकल्पमाशु त्वं कुरु चादौ नृपोत्तम।
प्राप्स्यसि त्वं हि राज्यं च संदेहं मा कुरु प्रभो॥ ४२॥
इत्युक्त्वा स मुनिश्रेष्ठो ह्यन्तर्धानमगात् ततः।
मुनेस्तद् वचनं श्रुत्वा व्रतसंकल्पमातनोत्॥ ४३॥
राजाकरोन्मुनिप्रोक्तं सकलं तद् व्रतं शुभम्।
आयाताः सकलास्तस्य मन्त्रिभृत्याश्च सैनिकाः॥ ४४॥
समाययौ नृपश्रेष्ठस्तत्क्षणात् स्वयमेव हि।
लब्ध्वा स्वकीयं राज्यं च गणेशस्य प्रसादतः॥ ४५॥

बुभुजे मेदिनीं राजा पुत्रपौत्रसमन्वितः।
तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र कुरु संकष्टनाशनम्॥ ४६ ॥
व्रतं सिद्धिप्रदं नृणां स्त्रीणां चैव विशेषतः।

युधिष्ठिर उवाच

सविस्तरं व्रतं ब्रूहि कृपया कष्टनाशनम्॥ ४७ ॥

व्यास उवाच

यदा संक्लेशितो राजन् दुःखैः संकष्टदारुणैः।
पुमान् कृष्णचतुर्थ्यां तु तदा पूज्यो गणाधिपः॥ ४८ ॥
श्रावणे बहुले पक्षे चतुर्थी स्याद् विधूदये।
तस्मिन् दिने व्रतं ग्राह्यं संकष्टाख्यं युधिष्ठिर॥ ४९ ॥
माघे वा कृष्णपक्षे तु चतुर्थी स्याद् विधूदये।
तस्मिन् दिने व्रतं ग्राह्यं संकष्टाख्यं युधिष्ठिर॥ ५० ॥
प्रातः शुचिर्भवेत् सम्यग् दन्तधावनपूर्वकम्।
निराहारोऽद्य देवेश यावच्चन्द्रोदयो भवेत्॥ ५१ ॥
भोक्ष्यामि पूजयित्वाहं गणेशं शरणं गतः।
कृत्वैवमादौ संकल्पं स्नात्वा शुक्लतिलैः शुभैः॥ ५२ ॥
आह्निकं तु विधायैवं पूजां च कुरु सुव्रत।
यथाशक्त्या तु सौवर्णीं प्रतिमां च विधाय च॥ ५३ ॥
सौवर्णे राजते ताम्रे मृण्मये वाथ शक्तितः।
कुम्भे पुष्पैः फलैः पूर्णे देवं तत्रैव विन्यसेत्॥ ५४ ॥
शुभे देशे न्यसेत् कुम्भं वस्त्रं तत्र निधाय च।
पद्ममष्टदलं कृत्वा गन्धाद्यैः पूजयेत् ततः॥ ५५ ॥
रक्तपुष्पैश्च धूपैश्च एभिर्नामपदैः पृथक्।
आवाहनं गणेशाय आसनं विघ्ननाशिने॥ ५६ ॥
पाद्यं लम्बोदरायेति अर्घ्यं चन्द्रार्धधारिणे।
विश्वप्रियायाचमनं स्नानं च ब्रह्मचारिणे॥ ५७ ॥

वक्रतुण्डायोपवीतं वस्त्रं सर्वप्रदाय च।
चन्दनं रुद्रपुत्राय पुष्पं च गुणशालिने॥ ५८॥
भवानीप्रियकर्त्रे च धूपं दद्याद् यथाविधि।
दीपं रुद्रप्रियायेति नैवेद्यं विघ्ननाशिने॥ ५९॥
ताम्बूलं सिद्धिदायेति फलं संकष्टनाशिने।
इति नामपदैः पूजां कृत्वा मासयमाञ्छृणु॥ ६०॥
श्रावणे सप्तलड्डूकान् नभस्ये दधिभक्षणम्।
आश्विने चोपवासं च कार्तिके दुग्धपानकम्॥ ६१॥
मार्गशीर्षे निराहारं पौषे गोमूत्रपानकम्।
तिलांश्च भक्षयेन्माघे फाल्गुने घृतशर्कराम्॥ ६२॥
चैत्रे मासि पंचगव्यं दूर्वारसं तु माधवे।
ज्येष्ठे घृतं पलं भोज्यमाषाढे मधुभक्षणम्॥ ६३॥
इति मासयमान् कृत्वा नरो मुच्येत संकटात्।
भुंजीयाद् वा तथा सप्तग्रासान् वा स्वेच्छया सुखम्॥ ६४॥
अशक्तश्चेत् ततः सिद्धिर्भविष्यति न संशयः।
एवं पूजा प्रकर्त्तव्या षोडशैरुपचारकैः॥ ६५॥
नाना भक्ष्यादिसंयुक्तमुपहारं प्रकल्पयेत्।
मोदकान् कारयेद् राजंस्तिलजान् दशसंख्यकान्॥ ६६॥
देवाग्रे स्थापयेत् पंच पंच विप्राय दापयेत्।
पूजयित्वा तु तं विप्रं भक्तिभावेन देववत्॥ ६७॥
दक्षिणां च यथाशक्त्या दत्त्वा पंचैव मोदकान्।
सांजलिः श्रद्धया राजन्निमं स्तोत्रमुदीरयेत्॥ ६८॥
'संसारपीडाव्यथितं हि मां सदा
संकष्टभूतं सुमुख प्रसीद।
त्वं त्राहि मां नाशय कष्टसंघान्
नमो नमः कष्टविनाशनाय'॥ ६९॥

इति सम्प्रार्थ्य देवेशं चन्द्रायार्घ्यं निवेदयेत्।
ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चाद् गणेशप्रीतये सदा॥ ७०॥
स्वयं भुंजीत पंचैव मोदकान् बन्धुभिः सह।
अशक्तौ त्वेकमन्नं वा भुंजीयाद् दधिना* सह॥ ७१॥
अथवा भोजनं कार्यमेकवारं हि पाण्डव।
भूमिशायी जितक्रोधो लोभदम्भविवर्जितः॥ ७२॥
अनेनैव तु मन्त्रेण व्रती सम्यग् विधानतः।
सोपस्करां च प्रतिमामाचार्याय निवेदयेत्॥ ७३॥
गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ स्वस्थाने परमेश्वरः।
व्रतेनानेन सुप्रीतो यथोक्तफलदो भव॥ ७४॥
उद्यापनं प्रकर्तव्यं चतुर्थ्यां माघकृष्णके।
गाणपत्यं सदाचारं सर्वशास्त्रविशारदम्॥ ७५॥
आचार्यं वरयेदादौ यथोक्तविधिनार्चयेत्।
एकविंशतिविप्रान् वै वस्त्रालंकारभूषणैः॥ ७६॥
पूजयेद् गोहिरण्याद्यैर्मोदकैश्चैव होमयेत्।
अष्टोत्तरसहस्रं तु शतं चाष्टाधिकं तथा॥ ७७॥
अष्टाविंशतिरष्टौ वा वेदोक्तैस्तिलसर्पिषा।
सपत्नीकं सुवर्णाद्यैर्गोभूवस्त्रादिभूषणैः॥ ७८॥
छत्रं चोपानहौ दद्यात् कमण्डलुगृहादिभिः।
आचार्यं पूजयेद् राजन् गणेशस्य तु तुष्टये॥ ७९॥
एवं कृत्वा विधानेन प्रसन्नो नात्र संशयः।
प्रतिमासं तु यः कुर्यात् त्रीण्यब्दान्येकमेव वा॥ ८०॥
अथवा जन्मपर्यन्तं तस्य दुःखं कदा च न।
दारिद्र्यं न भवेत् तस्य संकष्टं न भवेदिह॥ ८१॥

* आर्षप्रयोग।

वत्सरान्ते द्वादश वै ब्राह्मणान् भोजयेत् ततः।
विद्यार्थी लभते विद्यां धनार्थी लभते धनम्॥ ८२॥
पुत्रार्थी लभते पुत्रं सौभाग्यं च सुवासिनी।
राज्यार्थी लभते राज्यं सुखार्थी लभते सुखम्॥ ८३॥
शृण्वन्ति ये व्रतमिदं शुभमीदृशं हि
ते वै सुखेन भुवि पूर्णमनोरथाः स्युः।
नित्यं भवन्ति सुखिनो ललनाः पुमांसः
सत्पुत्रपौत्रधनधान्ययुताः पृथिव्याम्॥ ८४॥
एवमुक्त्वा ततो व्यासस्तत्रैवान्तरधीयत।
युधिष्ठिरस्तु तत् सर्वमकरोद् राजसत्तमः॥ ८५॥
तेन व्रतप्रभावेण स्वराज्यं प्राप्तवान् नृपः।
हत्वा रिपून कुरुक्षेत्रे स्वराज्यमलभन्नृपः॥ ८६॥

इति श्रीनारदमहापुराणे माघकृष्णचतुर्थीसंकष्टहरगणपतिव्रतकथा समाप्ता।

श्रीशिवरात्रिव्रत-कथा

लोमश उवाच

आसीत् पुरा महारौद्रश्चण्डो नाम दुरात्मवान्।
क्रूरसंगो निष्कृतिको भूतानां भयवाहकः॥ १ ॥
जालेन मत्स्यान् दुष्टात्मा घातयत्यनिशं खलु।
भल्लैर्मृगाञ्छ्वापदांश्च कृष्णसारांश्च सल्लकान्॥ २ ॥
खड्गांश्चैव च दुष्टात्मा दृष्ट्वा कांश्चिच्च पापवान्।
पक्षिणोऽघातयत् क्रुद्धो ब्राह्मणांश्च विशेषतः॥ ३ ॥
लुब्धको हि महापापो दुष्टो दुष्टजनप्रियः।
भार्या तथाविधा तस्य पुष्कसस्य महाभया॥ ४ ॥
एवं विहरतस्तस्य बहुकालोऽत्यवर्तत।
गते बहुतिथे काले पापौघनिरतस्य च॥ ५ ॥
निषंगे जलमादाय क्षुत्पिपासार्द्दितो भृशम्।
एकदा निशि पापीयाञ्छ्रीवृक्षोपरि संस्थितः॥ ६ ॥
कोलं हन्तुं धनुष्पाणिर्जाग्रच्चानिमिषेण हि।
माघमासेऽसितायां वै चतुर्दश्यामथाग्रतः॥ ७ ॥
मृगमार्गावलोकार्थी बिल्वपत्राण्यपातयत्॥ ८ ॥
श्रीवृक्षपर्णानि बहूनि तत्र
स छेदयामास रुषान्वितोऽपि।
श्रीवृक्षमूले परिवर्त्तमानो
लिंगं च तस्योपरि दुष्टभावः॥ ९ ॥
ववर्ष गण्डूषजलं दुरात्मा
यदृच्छया तानि शिवे पतन्ति।
श्रीवृक्षपर्णानि च दैवयोगा-
ज्जातं च सर्वं शिवपूजनं तत्॥ १० ॥
गण्डूषवारिणा तेन स्नपनं च कृतं महत्।
बिल्वपत्रैरसंख्यातैरर्चनं च महत् कृतम्॥ ११ ॥

अज्ञानेनापि भो विप्राः पुष्कसेन दुरात्मना।
माघमासेऽसिते पक्षे चतुर्दश्यां विधूदये॥ १२॥
पुष्कसोऽथ दुराचारो वृक्षादवततार सः।
आगत्य जलसंकाशं मत्स्यान् हन्तुं प्रचक्रमे॥ १३॥
लुब्धकस्यापि भार्याभून्नाम्ना चैव घनोदरी।
दुष्टा सा पापनिरता परद्रव्यापहारिणी॥ १४॥
गृहान्निर्गत्य सायाह्ने पुरद्वारबहिःस्थिता।
वनमार्गं प्रपश्यन्ती पत्युरागमनेच्छया॥ १५॥
चिराद् भर्तरि नायाते चिन्तयामास लुब्धकी।
अद्य सायाह्नवेलायामागताः सर्वलुब्धकाः॥ १६॥
तमःस्तोमेन संच्छन्नाश्चतस्त्रो विदिशो दिशः।
रात्रौ यामद्वयं यातं किं मतंगः समागतः॥ १७॥
किं वा केसरलोभेन* सिंहेनैव विदारितः।
किं भुजंगफणारत्नहारी सर्पविषार्दितः॥ १८॥
किं वा वराहद्रंष्ट्राग्रघातैः पंचत्वमागतः।
मधुलोभेन वृक्षाग्रात् स वै प्रपतितो भुवि॥ १९॥
क्वान्वेषयामि पृच्छामि क्व गच्छामि च कं प्रति।
एवं विलप्य बहुधा निवृत्ता स्वं गृहं प्रति॥ २०॥
नैवान्नं नो जलं किंचिन्न भुक्तं तद्दिने तया।
चिन्तयन्ती पतिं चापि लुब्धकी त्वनयन्निशाम्॥ २१॥
अथ प्रभाते विमले पुष्कसी वनमाययौ।
अशनार्थं च तस्यान्नमादाय त्वरिता सती॥ २२॥
भ्रममाणा वने तस्मिन् ददर्श महतीं नदीम्।
तस्यास्तीरे समासीनं स्वपतिं प्रेक्ष्य हर्षिता॥ २३॥
तदन्नं कूलतः स्थाप्य नदीं तर्तुं प्रचक्रमे।
निरीक्ष्य चाथ मत्स्यान् स जालप्रोतान् समानयत्॥ २४॥

* 'सिंहस्कन्धकेश' इति हेमचन्द्रः।

तावत् तयोक्तश्चण्डोऽसावेहि शीघ्रं च भक्षय।
अन्नं त्वदर्थमानीतमुपोष्य दिवसं मया॥ २५॥
कृतं किमद्य रे मन्द गतेऽहनि च किं कृतम्।
नाशितं च त्वया मूढ लङ्घितेनाद्य पापिना॥ २६॥
नद्यां स्नातौ तथा तौ च दम्पती च शुचिव्रतौ।
यावद् गतश्च भोक्तुं स तावच्छ्वा स्वयमागतः॥ २७॥
तेन सर्वं भक्षितं च तदन्नं स्वयमेव हि।
चण्डी प्रकुपिता चैव श्वानं हन्तुमुपस्थिता॥ २८॥
आवयोर्भक्षितं चान्नमनेनैव च पापिना।
किं च भक्षयसे मूढ भविताद्य बुभुक्षितः॥ २९॥
एवं तयोक्तश्चण्डोऽसौ बभाषे तां शिवप्रियः।
यच्छुना भक्षितं चान्नं तेनाहं परितोषितः॥ ३०॥
किमनेन शरीरेण नश्वरेण गतायुषा।
शरीरं दुर्लभं लोके पूज्यते क्षणभंगुरम्॥ ३१॥
ये पुष्णन्ति निजं देहं सर्वभावेन चाहताः।
मूढास्ते पापिनो ज्ञेया लोकद्वयबहिष्कृताः॥ ३२॥
तस्मान्मानं परित्यज्य क्रोधं च दुरवग्रहम्।
स्वस्था भव विमर्शेन तत्त्वबुद्ध्या स्थिरा भव॥ ३३॥
बोधिता तेन चण्डी सा पुष्कसेन तदा भृशम्।
जागरादि च सम्प्राप्तः पुष्कसोऽपि चतुर्दशीम्॥ ३४॥
शिवरात्रिप्रसंगाच्च जायते यद्ध्यसंशयम्।
तज्ज्ञानं परमं प्राप्तः शिवरात्रिप्रसंगतः॥ ३५॥
यामद्वयं च संजातममावस्यां तु तत्र वै।
आगताश्च गणास्तत्र बहवः शिवनोदिताः॥ ३६॥
विमानानि बहून्यत्र आगतानि तदन्तिकम्।
दृष्टानि तेन तान्येव विमानानि गणास्तथा॥ ३७॥
उवाच परया भक्त्या पुष्कसोऽपि च तान् प्रति।
कस्मात् समागता यूयं सर्वे रुद्राक्षधारिणः॥ ३८॥

विमानस्थाश्च केचिच्च वृषारूढाश्च केचन।
सर्वे स्फटिकसंकाशाः सर्वे चन्द्रार्धशेखराः॥ ३९॥
कपर्दिनश्चर्मपरीतवाससो
भुजंगभोगैः कृतहारभूषणाः।
श्रियान्विता रुद्रसमानवीर्या
यथातथं भो वदतात्मनोचितम्॥ ४०॥
पुष्कसेन तदा पृष्टा ऊचुः सर्वे च पार्षदाः।
रुद्रस्य देवदेवस्य संनम्राः कमलेक्षणाः॥ ४१॥

गणा ऊचुः

प्रेषिताःस्मो वयं चण्ड शिवेन परमेष्ठिना।
आगच्छ त्वरितो भूत्वा सस्त्रीको यानमारुह॥ ४२॥
लिंगार्चनं कृतं यच्च त्वया रात्रौ शिवस्य च।
तेन कर्मविपाकेन प्राप्तोऽसि शिवसंनिधिम्॥ ४३॥
तथोक्तो वीरभद्रेण उवाच प्रहसन्निव।
पुष्कसोऽपि स्वया बुद्ध्या प्रस्तावसदृशं वचः॥ ४४॥

पुष्कस उवाच

किं मया कृतमद्यैव पापिना हिंसकेन च।
मृगयारसिकेनैव पुष्कसेन दुरात्मना॥ ४५॥
पापाचारो ह्यहं नित्यं कथं स्वर्गं व्रजाम्यहम्।
कथं लिंगार्चनमिदं कृतमस्ति तदुच्यताम्॥ ४६॥
परं कौतुकमापन्नः पृच्छामि त्वां यथातथम्।
कथयस्व महाभाग सर्वं चैव यथाविधि॥ ४७॥

वीरभद्र उवाच

देवदेवो महादेवो देवानां पतिरीश्वरः।
परितुष्टोऽद्य हे चण्ड स महेश उमापतिः॥ ४८॥
प्रासंगिकतया माघे कृतं लिंगार्चनं त्वया।
शिवतुष्टिकरं चाद्य पूतोऽसि त्वं न संशयः॥ ४९॥

शिवरात्र्यां प्रसंगेन कृतमर्चनमेव च।
कोलं निरीक्षमाणेन बिल्वपत्राणि चैव हि॥ ५०॥
छेदितानि त्वया चण्ड पतितानि तदैव हि।
लिंगस्य मस्तके तानि तेन त्वं सुकृती प्रभो॥ ५१॥
ततश्च जागरो जातो महान् वृक्षोपरि ध्रुवम्।
तेनैव जागरेणैव तुतोष जगदीश्वरः॥ ५२॥
छलेनैव महाभाग कोलसंदर्शनेन हि।
शिवरात्रिदिने चात्र स्वप्नस्ते न च योषितः॥ ५३॥
तेनोपवासेन च जागरेण
तुष्टो ह्यसौ देववरो महात्मा।
तव प्रसादाय महानुभावो
ददाति सर्वान् वरदो महांश्च॥ ५४॥
एवमुक्तस्तदा तेन वीरभद्रेण धीमता।
पुष्कसोऽपि विमानाग्र्यमारुरोह च पश्यताम्॥ ५५॥
गणानां देवतानां च सर्वेषां प्राणिनामपि।
तदा दुन्दुभयो नेदुर्भेर्यस्तूर्याण्यनेकशः॥ ५६॥
वीणावेणुमृदंगानि तस्य चाग्रे गतानि च।
जगुर्गन्धर्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणाः॥ ५७॥
शिवसांनिध्यमगमच्चण्डोऽसौ तेन कर्मणा।
शिवरात्र्युपवासेन परं स्थानमुपागमत्॥ ५८॥
पुष्कसोऽपि तथा प्राप्तः प्रसंगेन सदाशिवम्।
किं पुनः श्रद्धया युक्ताः शिवाय परमात्मने॥ ५९॥
पुष्पादिकं फलं गन्धं ताम्बूलं भक्ष्यमृद्धिमत्।
ये प्रयच्छन्ति लोकेऽस्मिन् रुद्रास्ते नात्र संशयः॥ ६०॥

ऋषय ऊचुः

किं फलं तस्य चोद्देशः केनैव च पुरा कृतम्।
कस्माद् व्रतमिदं जातं कृतं केन पुरा विभो॥ ६१॥

लोमश उवाच

यदा सृष्टं जगत् सर्वं ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
कालचक्रं तदा जातं पुरा राशिसमन्वितम्॥ ६२॥
द्वादश राशयस्तत्र नक्षत्राणि तथैव च।
सप्तविंशतिसंख्यानि मुख्यानि कार्यसिद्धये॥ ६३॥
एभिः सर्वं प्रचण्डं च राशिभिरुडुभिस्तथा।
कालचक्रान्वितः कालः क्रीडयन् सृजते जगत्॥ ६४॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सृजत्यवति हन्ति च।
निबद्धमस्ति तेनैव कालेनैकेन भो द्विजाः॥ ६५॥
कालो हि बलवाँल्लोके एक एव न चापरः।
तस्मात् कालात्मकं सर्वमिदं नास्त्यत्र संशयः॥ ६६॥
आदौ कालः कालनाच्च लोकनायकनायकः।
ततो लोका हि संजाताः सृष्टिश्च तदनन्तरम्॥ ६७॥
सृष्टेर्लवो हि संजातो लवाच्च क्षणमेव च।
क्षणाच्च निमिषं जातं प्राणिनां हि निरन्तरम्॥ ६८॥
निमिषाणां च षष्ट्या वै पल इत्यभिधीयते।
पलैस्तु षष्टिभिश्चैव घटिकैकाभिजायते॥ ६९॥
घटिकानां हि षष्ट्या वै अहोरात्रेति कथ्यते।
पंचदश्या अहोरात्रैः पक्ष इत्यभिधीयते॥ ७०॥
पक्षाभ्यां मास एव स्यान्मासा द्वादश वत्सरः।
तं कालं ज्ञातुकामेन कार्यं ज्ञानं विचक्षणैः॥ ७१॥
प्रतिपद्दिनमारभ्य पौर्णमास्यन्तमेव च।
पक्षः पूर्णो हि यस्माच्च पूर्णिमेत्यभिधीयते॥ ७२॥
नष्टस्तु चन्द्रो यस्यां वै अमा सा कथिता बुधैः।
अग्निष्वात्तादिपितॄणां प्रियातीव बभूव ह॥ ७३॥
त्रिंशद्दिनानि ह्येतानि पुण्यकालयुतानि च।
तेषां मध्ये विशेषो यस्तं शृणुध्वं द्विजोत्तमाः॥ ७४॥

योगानां वा व्यतीपात उडूनां श्रवणस्तथा।
अमावस्या तिथीनां च पूर्णिमा वै तथैव च॥ ७५॥
संक्रान्तयस्तथा ज्ञेयाः पवित्रा दानकर्मणि।
तथाष्टमी प्रिया शम्भोर्गणेशस्य चतुर्थिका॥ ७६॥
पंचमी नागराजस्य कुमारस्य च षष्ठिका।
भानोश्च सप्तमी ज्ञेया नवमी चण्डिकाप्रिया॥ ७७॥
ब्रह्मणो दशमी ज्ञेया रुद्रस्यैकादशी तथा।
विष्णुप्रिया द्वादशी च अन्तकस्य त्रयोदशी॥ ७८॥
चतुर्दशी तथा शम्भोः प्रिया नास्त्यत्र संशयः।
निशीथसंयुता या तु कृष्णपक्षे चतुर्दशी॥ ७९॥
उपोष्या सा तिथिः श्रेष्ठा शिवसायुज्यकारिणी।
शिवरात्रीति विख्याता सर्वपापप्रणाशिनी॥ ८०॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
ब्राह्मणी विधवा काचित् पुरा ह्यासीच्च चंचला॥ ८१॥
श्वपचाभिरता सा च कामुकी कामहेतुतः।
तस्यां तस्य सुतो जातः श्वपचस्य दुरात्मनः॥ ८२॥
दुःसहो दुष्टनामात्मा सर्वधर्मबहिष्कृतः।
कितवश्च सुरापायी स्तेयी च गुरुतल्पगः॥ ८३॥
मृगयुश्च दुरात्मासौ कर्मचाण्डाल एव सः।
अधर्मिष्ठो ह्यसद्वृत्तः कदाचिच्च शिवालयम्॥ ८४॥
शिवरात्र्यां च सम्प्राप्तो ह्युषितः शिवसंनिधौ।
श्रवणं शैवशास्त्रस्य यदृच्छाजातमन्तिके॥ ८५॥
तेन कर्मविपाकेन पुण्यां योनिमवाप्तवान्।
भुक्त्वा पुण्यतमाँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः॥ ८६॥
चित्रांगदस्य पुत्रोऽभूद् भूपालेश्वरलक्षणः।
नाम्ना विचित्रवीर्योऽसौ सुभगः सुन्दरीप्रियः॥ ८७॥
राज्यं महत्तरं प्राप्य निःस्तम्भो हि महानभूत्।
शिवे भक्तिं प्रकुर्वाणः शिवकर्मपरोऽभवत्॥ ८८॥

शैवशास्त्रं पुरस्कृत्य शिवपूजनतत्परः।
रात्रौ जागरणं यत्नात् करोति शिवसंनिधौ॥ ८९ ॥
शिवस्य गाथां गायंस्तु आनन्दाश्रुकणान् मुहुः।
प्रमुञ्चंश्चैव नेत्राभ्यां रोमांचपुलकावृतः॥ ९० ॥
आयुष्यं च गतं तस्य शिवध्यानपरस्य च।
शिवो हि सुलभो लोके पशूनां ज्ञानिनामपि॥ ९१ ॥
संसेवितुं सुखप्राप्त्यै ह्येक एव सदाशिवः।
शिवरात्र्युपवासेन प्राप्तो ज्ञानमनुत्तमम्॥ ९२ ॥
ज्ञानात् सर्वमनुप्राप्तं भूतसाम्यं निरन्तरम्।
विना शिवेन यत् किंचिन्नास्ति वस्त्वत्र न क्वचित्॥ ९३ ॥
प्राप्तज्ञानस्तदा राजा जातो हि शिववल्लभः।
मुक्तिं सायुज्यतां प्राप्तः शिवरात्रेरुपोषणात्॥ ९४ ॥
तेन लब्धं शिवाज्जन्म पुरा यत् कथितं मया।
दाक्षायणी वियोगाच्च जटाजूटेन विस्तरात्॥ ९५ ॥
वीरभद्रेति विख्यातो दक्षयज्ञविनाशनः।
य उत्पन्नो मस्तकाच्च शिवस्य परमात्मनः॥ ९६ ॥
शिवरात्रिव्रतेनैव तारिता बहवः पुरा।
प्राप्ताः सिद्धिं पुरा विप्रा भरताद्याश्च देहिनः॥ ९७ ॥
मान्धाता धुन्धुमारश्च हरिश्चन्द्रादयो नृपाः।
प्राप्ताः सिद्धिमनेनैव व्रतेन परमेण हि॥ ९८ ॥
शिवरात्रिसमं नास्ति व्रतं पापक्षयावहम्।
यत् कृत्वा सर्वपापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः॥ ९९ ॥
उपवासं करिष्यन्ति जागरेण समन्वितम्।
यथोक्तशास्त्रमार्गेण तेषां मोक्षो न संशयः॥ १०० ॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
प्राप्नोति तत् फलं सर्वं नात्र कार्या विचारणा॥ १०१ ॥

इति श्रीस्कन्दमहापुराणे माहेश्वरखण्डे केदारखण्डे
शिवरात्रिव्रतकथा समाप्ता।

॥ श्रीहरिः ॥

नित्यपाठ साधन-भजन एव कर्मकाण्ड-हेतु

कोड	पुस्तक
592	**नित्यकर्म-पूजाप्रकाश** [गुजराती, तेलुगु भी]
1593	**अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश**
1895	**जीवच्छ्राद्ध-पद्धति**
1809	**गया श्राद्ध-पद्धति**
1928	**त्रिपिण्डी श्राद्ध-पद्धति**
1416	**गरुडपुराण-सारोद्धार** (सानुवाद)
1627	**रुद्राष्टाध्यायी**-सानुवाद
1417	**शिवस्तोत्ररत्नाकर**
1774	**देवीस्तोत्ररत्नाकर**
1623	**ललितासहस्रनामस्तोत्रम्** - [तेलुगु भी]
610	**व्रत-परिचय**
1162	**एकादशी-व्रतका माहात्म्य**— मोटा टाइप [गुजराती भी]
1136	**वैशाख-कार्तिक-माघमास-माहात्म्य**
1588	**माघमासका माहात्म्य**
1899	**श्रावणमासका माहात्म्य**
1367	**श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा**
052	**स्तोत्ररत्नावली**—सानुवाद [तेलुगु, बँगला भी]
1629	,, ,, सजिल्द
1567	**दुर्गासप्तशती**— मूल, मोटा (बेड़िया)
876	,, मूल गुटका
1727	,, मूल, लघु आकार
1346	,, सानुवाद मोटा टाइप
118	,, सानुवाद [गुजराती, बँगला, ओड़िआ भी]
489	,, सानुवाद, सजिल्द [गुजराती भी]

कोड	पुस्तक
1281	**दुर्गासप्तशती** (विशिष्ट सं०)
866	,, केवल हिन्दी
1161	,, केवल हिन्दी मोटा टाइप, सजिल्द
819	**श्रीविष्णुसहस्रनाम**-शांकरभाष्य
206	**श्रीविष्णुसहस्रनाम**—सटीक
226	**श्रीविष्णुसहस्रनाम**—मूल, [मलयालम, तेलुगु, कन्नड, तमिल, गुजराती भी]
1872	**श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्** -लघु
509	**सूक्ति-सुधाकर**
1801	**श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्** (हिन्दी-अनुवादसहित)
207	**रामस्तवराज**—(सटीक)
211	**आदित्यहृदयस्तोत्रम्**— हिन्दी-अंग्रेजी-अनुवादसहित [ओड़िआ भी]
224	**श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र** [तेलुगु, ओड़िआ भी]
231	**रामरक्षास्तोत्रम्**— [तेलुगु, ओड़िआ, अंग्रेजी भी]
1594	**सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह**
1850	**शतनामस्तोत्रसंग्रह**
715	**महामन्त्रराजस्तोत्रम्**

नामावलिसहितम्

कोड	पुस्तक
1599	**श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्** (गुजराती भी)
1600	**श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्**
1601	**श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्**
1663	**श्रीगायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्**
1664	**श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्**
1665	**श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्**

कोड	पुस्तक
1706	**श्रीविष्णुसहस्त्रनामस्तोत्रम्**
1704	**श्रीसीतासहस्त्रनामस्तोत्रम्**
1705	**श्रीरामसहस्त्रनामस्तोत्रम्**
1707	**श्रीलक्ष्मीसहस्त्रनामस्तोत्रम्**
1708	**श्रीराधिकासहस्त्रनामस्तोत्रम्**
1709	**श्रीगंगासहस्त्रनामस्तोत्रम्**
1862	**श्रीगोपाल स०**–सटीक
1748	**संतान-गोपालस्तोत्र**
563	**शिवमहिम्नःस्तोत्र** [तेलुगु भी]
230	**अमोघ शिवकवच**
495	**दत्तात्रेय-वज्रकवच** सानुवाद [तेलुगु, मराठी भी]
229	**श्रीनारायणकवच** [ओड़िआ, तेलुगु भी]
1885	**वैदिक-सूक्त-संग्रह**
054	**भजन-संग्रह**
1849	**भजन-सुधा**
140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली
144	**भजनामृत**
142	**चेतावनी-पद-संग्रह**
1355	**सचित्र-स्तुति-संग्रह**
1800	**पंचदेव-अथर्वशीर्ष-संग्रह**
1214	**मानस-स्तुति-संग्रह**
1092	**भागवत-स्तुति-संग्रह**
1344	**सचित्र-आरती-संग्रह**
1591	**आरती-संग्रह**—मोटा टाइप
153	**आरती-संग्रह**
1845	**प्रमुख आरतियाँ**–पॉकेट
208	**सीतारामभजन**
221	**हरेरामभजन**— दो माला (गुटका)
222	**हरेरामभजन**—१४ माला
225	**गजेन्द्रमोक्ष**–सानुवाद, [तेलुगु, कन्नड़, ओड़िआ भी]

कोड	पुस्तक
385	**नारद-भक्ति-सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र,** सानुवाद [बँगला, तमिल भी]
1505	**भीष्मस्तवराज**
699	**गङ्गालहरी**
1094	**हनुमानचालीसा**— हिन्दी भावार्थसहित
1917	,, मूल (रंगीन) वि०सं०
227	,, (पॉकेट साइज) [गुजराती, असमिया, तमिल, बँगला, तेलुगु, कन्नड, ओड़िआ भी]
695	**हनुमानचालीसा**—(लघु आकार) [गुजराती, अंग्रेजी, ओड़िआ, बँगला भी]
1525	**हनुमानचालीसा**—अति लघु आकार [गुजराती भी]
228	**शिवचालीसा**—असमिया भी
1185	**शिवचालीसा**–लघु आकार
851	**दुर्गाचालीसा, विन्ध्येश्वरीचालीसा**
1033	,, लघु आकार
232	**श्रीरामगीता**
383	**भगवान् कृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी....**
203	**अपरोक्षानुभूति**
139	**नित्यकर्म-प्रयोग**
524	**ब्रह्मचर्य और संध्या-गायत्री**
236	**साधक-दैनन्दिनी**
1471	**संध्या, संध्या-गायत्रीका महत्त्व और ब्रह्मचर्य**
210	**सन्ध्योपासनविधि एवं तर्पण-बलिवैश्वदेवविधि**— मन्त्रानुवादसहित [तेलुगु भी]
614	**सन्ध्या**

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख सन्दर्भ एवं सूचना स्त्रोत

दिनेश कुमार तिवारी

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख सन्दर्भ एवं सूचना स्त्रोत

दिनेश कुमार तिवारी

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख सन्दर्भ एवं सूचना स्रोत

(Major Reference and Information Sources of Sanskrit and Oriental Learings)

दिनेश कुमार तिवारी

M.A., MLIS, M. Phil.

सहायक पुस्तकाध्यक्ष,

सं०सं० वि०वि०, वाराणसी, (उ०प्र०)

2011

कला प्रकाशन

बी. 33/33 ए-1, न्यू साकेत कालोनी,

बी.एच.यू.वाराणसी

प्रकाशक :

कला प्रकाशन

बी. 33/33 ए - 1, न्यू साकेत कालोनी,

बी० एच० यू०, वाराणसी-5

दूरभाष : 0542-2310682

प्रस्तुत संस्करण : 2011

ISBN : 978-93-80467-98-6

मूल्य : 600.00 रुपये

कम्प्यूटर अक्षर संरचना :

कला कम्प्यूटर मीडिया

बी. 33/33 ए - 1, न्यू साकेत कालोनी,

बी० एच० यू०, वाराणसी-5

दूरभाष : 0542-2310682

मुद्रक :

महावीर प्रेस

भेलूपुरा, वाराणसी

प्रथम समर्पण

"ॐ"

श्री श्री 108 श्री हरसू ब्रह्मबाबा जी

के पावन चरणों में सभक्ति

सादर समर्पित !

द्वितीय समर्पण

"ॐ"

वन्दे पितरौ

पूज्य पिता श्री स्व. वासुदेव तिवारी एवं
श्रद्धामयी माँ स्व. श्रीमती रामसखी देवी के
स्तुत्य पावन चरणों में
सादर समर्पित ।

दिनेश कुमार तिवारी

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ "संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख सन्दर्भ एवं सूचना स्त्रोत (Major Reference and Information Sources of Sanskrit and Oriental Learnings) की विशेषता यह है कि इस कृति में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या की प्रायः सभी शाखाओं में योगदान करने वाले सन्दर्भ ग्रन्थ एवं महत्वपूर्ण सूचना स्त्रोतों को संकलित करके उनमें निहित सूचना सामग्रियों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार भारतीय विद्या के क्षेत्र में यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण कृति है जिसमें वैदिक काल से लेकर अद्यतन संस्कृत साहित्य तथा प्राच्य भारतीय विद्या में जितने भी प्रकार के सन्दर्भ एवं महत्वपूर्ण सूचना स्त्रोतों के प्रकाशन हुए हैं, उनमें से अधिकांश को इसमें संकलित किया गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कुल बारह अध्यायों के अधीन उपलब्ध सन्दर्भ एवं सूचना सामग्रियों का सविस्तार व्याख्या की गयी है । जैसे इसके प्रथम अध्याय में संस्कृत वाङ्मय एवं सन्दर्भ ग्रन्थ एक संक्षिप्त परिचय, द्वितीय अध्याय में सन्दर्भ एवं सूचना स्त्रोत, तृतीय अध्याय में "शब्दकोश' "चतुर्थ अध्याय में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख विश्वकोश, पंचम अध्याय में "संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख सुभाषित संग्रह, षष्ट अध्याय में "प्रमुख वाङ्मय सूची", सप्तम अध्याय में "महत्वपूर्ण जीवनी स्त्रोत," अष्टम अध्याय में "महत्वपूर्ण भौगोलिक स्त्रोत," नवम अध्याय में, "महत्वपूर्ण शासकीय प्रकाशन" एवं शोध पत्रिकाएँ, दशम अध्याय में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख भारतीय ग्रन्थालय, प्रकाशन प्रतिष्ठान एवं विश्व संस्कृत पुस्तक मेला, एकादशन अध्याय में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के आन लाइन शब्दकोश एवं विश्वकोश तथा इनफ्लिबनेट का योगदान" तथा द्वादश अध्याय में संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के प्रमुख विषयगत इलैक्ट्रानिक, डिजिटल एवं ऑन लाइन सूचना स्त्रोतों के रूप में अध्यायीकरण किया गया है ।

आधुनिक विश्वविद्यालयों एवं शिक्षा केन्द्रों की भाँति ही प्राच्य तथा पारम्परिक विश्वविद्यालयों एवं शिक्षा केन्द्रों में भी शैक्षिक गतिविधियों एवं शोध कार्य तीव्रगति से सम्पन्न किये जा रहे हैं । ऐसे में ग्रन्थालयों एवं सूचनाकेन्द्रों में कार्यरत कुशल सूचना व्यवसायिक कर्मियों, ग्रन्थालयियों तथा अन्य सहयोगी व्यवसायिकों द्वारा आचार्यों, शोधार्थियों एवं छात्रों को उत्तम कोटि की ग्रन्थालय एवं सूचना सेवा प्रदान किया जा सके को दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गयी है।

इस प्रकार यह कृति संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित आचार्यों, शोधार्थियों तथा छात्रों के साथ ही साथ, ग्रन्थालय एवं सूचना विज्ञान से सम्बन्धित अध्यापकों, शोधार्थियों तथा छात्रों के लिए भी विशेष उपयोगी है क्योंकि ग्रन्थालय एवं सूचना विज्ञान के क्षेत्र में सम्भवतः यह ग्रन्थ पहली कृति है जो आपके समक्ष प्रस्तुत है ।

दिनेश कुमार तिवारी

□□

श्रद्धा-सुमन

भारतवर्ष के सभी धर्मों में वाराणसी का मुख्य स्थान है । यह गंगा के किनारे बसा पवित्र हिन्दू तीर्थ है । वाराणसी भारतीय हिन्दू सभ्यता, संस्कृति एवं धर्म का प्राचीन काल से ही एक प्रमुख नगर है । जहाँ पर भूतभावन भगवान बाबा विश्वनाथ जी एवं जगत जननी माँ अन्नपूर्णाका निवास है, जिसके भगवत कृपा के प्रभाव से ही मैं जिसे अति दुष्कर एवं असम्भव समझता था वह कार्य इतनी सरलता एवं सहजता से पूर्ण हुआ । अतः सर्वप्रथम बाबा विश्वनाथ एवं माँ अन्नपूर्णा के चरणों में प्रस्तुत कृति को श्रद्धासुमन के रूप में अर्पित करता हूँ ।

गुरूजनों के प्रतिश्रद्धा-सुमनो को अर्पित करना मेरा परम कर्तव्य है । अतः प्रथमतः मान्य गुरूवर पूज्य चरण प्रो. योगेन्द्र प्रताप दूबे, भूतपूर्व आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, पुस्तकालय एवं सूचना विज्ञान विभाग, का. हि. वि. वि., वाराणसी के चरणों में यह कृति सादर समर्पित है ।

अपनी तिसरी श्रद्धा सुमन उन गुरूजनों, सहयोगी मनीषी एवं विद्वानों तथा पारिवारिक सदस्यों को सादर अर्पित है, जिन्होंने इस कार्य में मेरा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोग दिया है । इसमें पूज्य भ्रातृचरण श्री रमेश देव त्रिपाठी, न्यास संरक्षक, श्री हरसू ब्रह्म धाम न्यास परिषद्, चैनपुर, जिला-भभुआ, बिहार, श्री राजेश्वर त्रिपाठी, ग्रन्थालयी, श्री हरसू ब्रह्म धाम न्यासपरिषद ग्रन्थालय, चैनपुर जनपद-भभुआ, विहार, प्रो. अजित कुमार पाण्डेय, समाजशास्त्र विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, का.हि.वि.वि., वाराणसी एवं श्री राधारमण पाण्डेय (पूर्व आचार्य) ज्योतिष विभाग, प्राच्य विद्या एवैं धर्म विज्ञान संकाय, का. हि.वि.वि., वाराणसी के चरणों में अपनी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ ।

अपनी चतुर्थ श्रद्धा-सुमन डा. सूर्यकान्त, पुस्तकाध्यक्ष, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, डा0 राम अवतार ओझा, महाविद्यालय पुस्तकाध्यक्ष, शतीस चन्द्र स्नाकोत्तर महाविद्यालय, बलिया, उ. प्र., डा. जवाहर लाल उपाध्याय, पुस्तकाध्यक्ष, दी. द. उ. गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर एवं डा. अंजनी कुमार मिश्रा, प्रधान सम्पादक, परिशीलन शोध पत्रिका (त्रैमासिक), वाराणसी को अर्पित करता हूँ जिन्होंने इस कार्य में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोग किया है ।

अपनी पंचम श्रद्धा-सुमन अपने शुभेच्छु भाई, बहनों एवं मित्रों की सेवा में अर्पित करता हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से इस कार्य में मेरा सहयोग एवं उत्साहवर्द्धन किया है । इनमें मेरा कनिष्ट भ्राता श्री नागेन्द्र कुमार तिवारी, अधिवक्ता, वाराणसी का इस कृति के पूर्णता में सराहनीय योगदान रहा है ।

अपनी छठवीं श्रद्धा-सुमन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सरस्वती भवन ग्रन्थालय में कार्यरत उन सभी अधिकारीगण एवं कर्मचारी संवर्ग को अर्पित करता हूँ, जिन्होंने यथासंभव इस कार्य के पूर्णता में सहयोग किया है । डा. प्रेम शंकर द्विवेदी, प्रबन्धक, कला प्रकाशन के प्रति मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होंने अतिव्यस्त्ता के बाद भी प्रस्तुत कृति को नियत समय पर प्रकाशित करने का सराहनीय कार्य किया है।

धन्यवाद ज्ञापन समाप्त करूँ इसके पूर्व मैं अपने पूरे परिवार के प्रत्येक सदस्यों का विशेष आभारी हूँ जिनके निरन्तर उत्साहवर्द्धन एवं सहयोग से यह कृति पूर्ण हो सकी है।

अक्षय तृतीया — **दिनेश कुमार तिवारी**

6/05/2011

❑❑

विषय-सूची

(Contents)

□□

प्रथम अध्याय

संस्कृत वाङ्मय एवं सन्दर्भ स्रोत-एक संक्षिप्त परिचय
(Sanskrit Vangmaya and Reference Sources - A Brief Introduction)

1. भूमिका (Introduction)-

संस्कृत साहित्य या वाङ्मब जितना प्राचीन है उत्तना ही विराट है । 'साहित्य' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है । जैसे सीमित प्रयोग एवं व्यापक प्रयोग । सीमित अर्थ के अन्तर्गत साहित्य के रचनात्मक एवं कलात्मक स्वरूप को सम्मिलित किया जाता है जो कि रसात्मक होता है। जबकि साहित्य के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत संचित ज्ञान राशि का समस्त ज्ञान भण्डार समाहित होता है। इसी को दूसरे रूप में वाङ्मय कहा जाता है । इसके अन्तर्गत रचनात्मक एवं रसात्मक साहित्य तथा अतिरिक्त ज्ञान एवं विज्ञान से सम्बन्धित समस्त विद्याएँ परिगणित होती हैं।

अंग्रेजी भाषा में साहित्य एवं वाङ्मय दोनों के लिए एक ही शब्द लिटरेचर (Literature) का प्रयोग किया जाता है ।

2. संस्कृत वाङ्मय में सन्दर्भ ग्रन्थ-

संस्कृत वाङ्मय में उपाणि सूत्र या उणादि कोश एवं शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए मानविय संस्कृत व्याकरण में उणादि सूत्रों का विशेष स्थान हैं । काशकृत्सन, शन्तनु, आपिशाली आदि आचार्यों के उणादि सूत्र इस समय प्राप्त नहीं है । परन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में उणादिकोश को बहुत महत्व दिया है।

संस्कृतशास्त्र के विद्वानों के मत में वैदिक वाङ्मय का सबसे प्राचीनतम कोश 'निघण्टु' है। इसके कुल पाँच अध्याय हैं तथा इसमें कुल पदों की संख्या 1786 है। जबकि चन्द्रमणि विद्यालंकार के अनुसार, "निघन्टुकोश की शब्द संख्या 1773 बतलायी गयी है, जिसमें तीसरे अध्याय के तेरहवें खण्ड के तेरह उपमासूचक शब्दों को नहीं गिना गया है। प्रथम तीन अध्यायों के संकलन का नाम "नैघन्टुक काण्ड" है । चतुथर का "नैगम" तथा पंचम अध्याय का नाम "दैवत" है । कालान्तर में यास्काचार्य की निघन्टु शैली पर ही एक ऐतिहासिक संस्कृत शब्दकोश को "अमरकोश" नामक शीर्षक के नाम से रचना की गयी है । संस्कृत वाङ्मय में सन्दर्भ ग्रन्थों की परम्परा में सन्दर्भ ग्रन्थ को नियमित, नियमित और

नियंत्रित रूप में निबद्ध करने का पहला प्रयास निरूक्तकार तथा निघन्टु रचना के उन्नायक यास्काचार्य के द्वारा सम्पन्न किया गया है । इसप्रकार संस्कृत वाङ्मय में सबसे प्राचीन सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में यास्क कृत 'निघन्टु' का उल्लेख मिलता है । क्योंकि यास्क ने ही पहली बार निघन्टु के साथ निरूक्त की परिकल्पना कर शब्द को अर्थ काविस्तार दिया और अर्थ को शब्द का आश्रय दिलाया । आकार में लघु होने पर भी कोश ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि विश्व में उपलब्ध वाङ्मय में सबसे प्राचीन शब्दकोश होने का गौरव इसी सन्दर्भ ग्रन्थ को प्राप्त है । यास्क का "निरुक्त" कोश रचना की प्रक्रिया को एक नया आयाम प्रदान करता है । "निघन्टु" की शब्दकोशीयता "निरूक्त" में ज्ञान कोशीयता का रूप धारण करती है । यास्काचार्य का "निरूक्त" सम्भवतः इस दिशा में पहला कदम था, जिसने संस्कृत वाङ्मय में विश्वकोश अथवा ज्ञानकोश की रचनात्मक प्रक्रिया का बीज बोया। यास्काचार्य के पूर्व विश्वकोश या ज्ञान कोश की भावना के प्रथम प्रवर्तक के रूप में महर्षिनारद को स्थान दिया गया है, जो कि वेदशास्त्र, पुराण, कल्पशास्त्र विद्या आदि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में अपने को पारंगत मानते थे ।

इसी प्रकार अमर सिंह द्वारा रचित "नाम लिंगानुसासन" जो अमरकोश के नाम से भी पूरे विश्व में एक महत्वपूर्ण संस्कृत सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है । अमरकोश पर भारत में नहीं, बल्कि विश्व के अन्य देशो में भी इसपर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी है। चौथी एवं पाँचवी शती में यह पद्यबद्ध रचना मूलतः पर्यायवाची शब्दकोश के रूप में प्रणीत हुआ तथा यही वह सन्दर्भ कृति है जिससे विश्वकोश के प्रणयन की प्रेरणा मिली है। इसके बाद धीरे-धीरे संस्कृत वाङ्मय में एक के बाद सन्दर्भ ग्रन्थों की रचना होने लगी । इसी क्रम में शाश्वत का "अनेकार्थ समुच्चय", हलायुध कोश के नाम से प्रसिद्ध "अभिधान रत्नमाला", यादव प्रकाश जी "वैजयन्ती," हेमचन्द्र का "अभिधान चिन्तामणि", महेश्वर द्वारा रचित "विश्वप्रकाश" एवं "शब्दभेद प्रकाश" दो महत्वपूर्ण कोशों के अतिरिक्त भंवरक कवि का "अनेकार्थ", अजय पाल का "नानार्थ संग्रह", धनंजय की "नाममाला", केशव स्वामी का "शब्दकल्पद्रुम", एवं मेदिनीकर का नानार्थशब्दकोश निर्मित किये गये । इन सभी शब्दकोशों में ज्ञान की अपेक्षा शब्दों पर अधिक दृष्टि थी ।

कोशरचनाकारों का ध्यान सामान्य ज्ञान की ओर आकृष्ट करने वाला प्रथम संस्कृत कोश तर्क वाचस्पति तारानाथ भट्टाचार्य द्वारा रचित "वाचस्पत्यम" (1823) ने किया है तथा राजा राधाकान्तदेव द्वारा रचित "शब्दकल्पद्रुम (1828-58) के शब्दों को वाचस्पत्यम् ने "वाक्" की विशाल परिधि में प्रसारित किया है । वास्तव में ये दोनों अपनी-अपनी दृष्टि में शब्दकोश और विश्वकोश दोनों तथ्यों को साथ लेकर रूपायित हुए हैं । साहित्य, व्याकरण, ज्योतिर्विज्ञान, तन्त्रशास्त्र, दर्शनशास्त्र, संगतिशास्त्र, काव्यशास्त्र, इतिहास, चिकित्सा आदि अनेक विषयों का विवेचन इन दोनों कोशों में न्यूनाधिक मात्रा में समाविष्ट हैं ।

इस प्रकार शब्दकोश को वाङ्मयकोश बनाने का पहला भारतीय प्रयास इन दोनों कोशों में सम्पन्न हुआ है जिसके फलस्वरूप इन दोनों कोशों को संस्कृत शास्त्र के महत्वपूर्ण विश्वकोश के रूप में मान्यता दी गयी है । इसी क्रम में आगे चलकर यूरोप के ख्यातिलब्ध संस्कृत विद्वानों में मोनियर विलियम्स, विल्सन आदि विद्वानों के साथ ही साथ संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के कुछ भारतीय मूल के विद्वानों ने संस्कृत शब्दकोश को अन्तर्राष्ट्रीय एवं बृहद रूप प्रदान करने तथा वाङ्मय शब्दसाधना को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान किये हैं। बामन शिव राम आप्टे द्वारा रचित "व्यावहारिक संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश" केवल एक शब्दकोश ही नहीं, बल्कि एक प्रकार से संस्कृत वाङ्मय कोश का ही एक प्रकार का प्रकारान्तर है । इसमें कोशकार ने शब्दों की व्याख्या करते समय रामायण, महाभारत आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त, काव्यसाहित्य, स्मृति ग्रन्थ, शास्त्रग्रन्थ, दर्शनशास्त्र आदि संस्कृत वाङ्मय से सम्बन्धित ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का जो सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट होता है कि यह केवल एक शब्दकोश ही नहीं है, बल्कि प्राच्य विद्या की एक महत्वपूर्ण पद-निधि भी है । इसी प्रकार जर्मन विद्वान डा. राथ एवं बोथलिंक द्वारा प्रणीत जर्मन-संस्कृत कोश "वार्टरवच" (1858-75) में भी लगभग इसी प्रकार का प्रयास परिलक्षित होता है । फिर भी संस्कृत में एक पूर्ण वाङ्मय कोश की आवश्यकता बनी रही। 1829-1833 के दौरान अमेरिका में (Encyclopaedia Americana) "इनसाइक्लोपेडिया अमरीकाना" की रचना की गयी तथा इन्हीं विश्वकोशों के स्वरूप के अनुरूप भारतीय भाषाओं में भी साहित्यिक तथा साहित्येत्तर विश्वकोश के साथ ही साथ अन्य प्रकार के सन्दर्भ स्रोत भी निर्मित होने लगा । संस्कृत एवं प्राच्य विद्याओं के सन्दर्भ स्रोतों के अन्तर्गत विश्वबन्धुशास्त्री द्वारा प्रणीत 1929 में प्रकाशित "वैदिकशब्दार्थ पारिजात" एवं सात खण्डों में संकलित "वैदिक पदानुक्रमकोश", "ब्राह्मणोहदारकोश," उपनिषदुद्धारकोश जैसे महत्वपूर्ण सन्दर्भ कृतियों की रचना की गयी जो शब्दकोश एवं विश्वकोश के लक्षणों से युगपत अभिलक्षित हैं। इस दृष्टिकोण से चम्पूपति का "वेदार्थ शब्दकोश" तथा लक्ष्मणशास्त्री का "धर्मशास्त्रकोश" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पंडित राम अवतार शर्मा द्वारा प्रणीत "वाङ्मयार्णव" वर्तमान शताब्दी का संस्कृत शास्त्र का एक महत्वपूर्ण कोश है, जिसे सन् 1967 में प्रकाशित किया गया है ।

भारत की स्वाधीनता के पश्चात् लगभग सभी भारतीय भाषाओं में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित सन्दर्भ ग्रन्थों का प्रणयन बड़ी प्रचुरता के साथ होने लगा, जिसके फलस्वरूप प्रायः प्रत्येक भारतीय भाषा में विश्वकोशों की रचना हुई । तेलगु भाषा समिति ने 1967 से 1975 के मध्य सोलह खण्डों में "विज्ञान सर्वस्वम्" के नाम से भाषा, साहित्य, दर्शन, इतिहास, भूगोल, भौतिकी, रसायन, विधि, अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र आदि अनेक विषयों में विश्वकोश का प्रकाशन किया । इसी प्रकार मलयालम भाषा में 1970 के दौरान "विश्वविज्ञान कोशम्" का प्रकाशन किया गया । स्वाधीनता के पूर्व ही

मराठी भाषा में कई महत्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थों की रचना की जा चुकी थी तथा स्वतन्त्रता के बाद इस क्षेत्र में पंडित महादेव शास्त्री द्वारा सम्पादित "भारतीय संस्कृति कोश विशेष रूप से एक उल्लेखनीय सन्दर्भ कृति है । बंगाल में बंगीय साहित्य परिषद द्वारा इसी के आस-पास पाँच खण्डों में "भारतकोश" नामक विश्वकोश का प्रकाशन किया गया । जो आज भी भारतीय साहित्य के जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपादेय है । इसी प्रकार हिन्दी में वाराणसी के नागरी प्रचारिणी सभा ने बारह खण्डों में "हिन्दी विश्वकोश" का प्रकाशन किया। साहित्य अकादमी द्वारा अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित (Encyclopaedia of Indian Literature) "इन साइक्लोपिडिया ऑफ इण्डियन लिटेरेचर" भी भारतीय साहित्य के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण विश्वकोश है । परन्तु संस्कृत वाङ्मय को लेकर कोई विशेष प्रयास नहीं हुआ । यद्यपि डा. राजवंश सदाय "हीरा" जैसे विद्वान ने इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास अवश्य किया है । उनके द्वारा प्रणीत दो महत्वपूर्ण कोश "संस्कृत साहित्य कोश" तथा "भारतीय शास्त्र कोश" सन् 1973 में प्रकाशित किये गये हैं । ये दोनों कोश हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित "हिन्दी साहित्य कोश की भांति संस्कृत वाङ्मय के पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए । किन्तु समग्र संस्कृत वाङ्मय का विवेचन प्रस्तुत करने वाला सर्वांगीण विश्वकोश का एक प्रकार से अभाव ही रहा जिसे संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान डा. श्रीधर भास्कर वर्णेकर ने "संस्कृत वाङ्मय कोश" को सम्पादित कर इस अभाव को कुछ सीमा तक दूर करने का सफल प्रयास किया है ।

संस्कृत भाषा एवं साहित्य भारत की प्राचीनतम भाषा एवं साहित्य मानी जाती है, क्योंकि अनेक भाषाओं की उत्पत्ति का मूल संस्कृत ही है । फिर भी संस्कृत भाषा में आधुनिक प्रकार के विश्वकोश, शब्दकोश एवं अन्य प्रकार के सन्दर्भ कृतियों की संख्या अन्य आधुनिक विषयों से सम्बन्धित सन्दर्भ कृतियों की तुलना में बहुत कम है । जबकि प्राचीन काल से लेकर अद्यावधि भारत सहित विश्व के अन्य देशों के ग्रन्थालयों में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के संगहीत हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रहों में अब भी अधिक संख्या में कोशग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ विद्यमान हैं। इनके अधिकाधिक उपयोग हेतु संस्कृत के साथ ही साथ अन्तर्विषयी स्वरूपों पर अधिकाधिक शोध किया जाना उचित प्रतीत होता है ।

3. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के अन्य सन्दर्भ एवं सूचना स्रोत-

शब्दकोश, हस्तलिखित संग्रह कोश, संस्कृत शब्द और उनके अन्य भाषीय पर्याय कोश, अन्यान्यशास्त्रों के परिभाषिक शब्दकोश, महत्वपूर्ण ग्रन्थों की अकारादिवर्णानुक्रमिका इत्यादि विविध प्रकार का कोश वाङ्मय प्राचीन काल से आधुनिक काल तक यथावसर निर्माण होता रहा । चिकित्सात्मक एवं शोधात्मक कार्य करने वाले विद्वानों का कार्य ऐसे कोशों के उपयोग द्वारा बहुत सरल हो जाता है । यह भी निर्विवाद है संस्कृत कोश वाङ्मय का प्रारम्भ निघन्टु से हुआ । निघन्टु की रचना वैदिक मन्त्रों के स्पष्टीकरण के लिए की गयी। यास्काचार्य का निरूक्त निघन्टु रचना का ही भाष्य है । इसी प्रकार अनेक प्राचीन संस्कृत

के कवियों ने अनेक उपयोगी कोशों की रचना की । जिनमें मुरारि, मयूर, वामन, श्रीहर्ष, विल्हण इत्यादि साहित्यकार प्रमुख हैं। श्रीहर्षकृत "श्लेषार्थपद संग्रह" उत्तरकालीन साहित्यकारों के लिए बहुत सराहनीय रहा ।

कोश रचना की परम्परा में मध्य एशिया के काश्गर में आठ पृष्ठों का एक कोश प्राप्त हुआ जिसका लेखक कोई बौद्ध पण्डित माना जाता है । लेकिन इस कोश में काल और नाम विदित नहीं है, परन्तु यही अज्ञात कर्तृक एवं अज्ञात नामा अपूर्ण ग्रन्थ आधुनिक ऐतिहासिकों के मतानुसार संसार का प्रथम कोश माना जाता है । अन्यान्य टीका ग्रन्थों मे कत्यायनकृत नाममाला, वाचस्पतिकृत 'शब्दार्णव' विक्रमादित्य कृत संसारावर्त, व्याडिकृत उत्पलिनी इत्यादि प्राचीन कोशों के नाम मिलते हैं; परन्तु सम्पूर्ण भारत मे लोकप्रिय कोश है अमर सिंहकृत 'नामलिंगानुशासन' जो अमर कोश नाम से विशेष प्रचलित है । प्रस्तुत कोश के तीन काण्डों में दस हजार शब्दों का संग्रह मिलता है । इस कोश में नाम के साथ ही उसके लिंग का भी परिचय मिलता है । ईसवी सन् छठी शताब्दी के पूर्व ही इस कोश का चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका था । अमरकोश के प्रभाव के फलस्वरूप ही सातवीं शताब्दी से लेकर सतरहवीं शताब्दी तक अनेक पद्यात्मक शब्दकोशों की रचना होती रही। इनमें से कुछ कोशों का विवरण इस प्रकार निम्नवत हैं–हारावली या त्रिकाण्डकोश-लेखक-पुरूषोत्तमदेव ई. सातवी शती ।

धनंजयनिघन्टु या नाम माला-लेखक-धनंजय । अनेकार्थनाममाला-लेखक-धनंजय ।

वैजन्यती - लेखक - यादव प्रकाश (11वीं शती) ।

अभिधानरत्नमाला - लेखक - हलायुध दसवीं शती ।

शब्दकल्पद्रुम-लेखक-केशव स्वामी - बारहवीं शती ।

विश्वप्रकाश - लेखक - महेश्वर - बारहवीं शती ।

नानाथररत्नमाला - लेखक - अभय पाल - बारहवीं शती ।

अभिधान चिन्तामणि - लेखक - हेमचन्द्र - बारहवीं शती ।

नानार्थरत्नमाला - लेखक - इरूगपद दण्डाधिनाथ चौदहवीं शती ।

नानार्थशब्दकोश - लेखक - मेदिनीकर - चौदहवीं शती ।

शब्दचन्द्रिका एवं शब्द रत्नाकर - लेखक- वामन भट्ट । 15वीं शताब्दी ।

सुन्दर प्रकाश-शब्दार्णव - लेखक - पद्यसुन्दर-सोलहवीं शती ।

कल्पद्रुम - लेखक - केशव देवज्ञ - सतरहवीं शती ।

नाम संग्रह माला - लेखक - अप्पय्य दीक्षित । सतरहवीं शती ।

इस प्रकार अन्यान्य कोश रचनाकारों ने शब्दों की व्यवस्था अन्यान्य पद्धति से की है, जैसे किसी कोश में लिंगानुसार, किसी में शब्द की अक्षरसंख्या के अनुसार, किसी में अक्षरक्रमानुसार तो किसी-किसी में पर्यायी शब्दों की संख्या के अनुसार शब्द व्यवस्था की

गयी है । संस्कृत एवं प्राच्य विद्या में इन कोशों के अतिरिक्त एकाक्षर कोश द्विरूपकोश, त्रिरूपकोश इत्यादि अज्ञातकर्तृक कोश भी लिखे गये हैं । उदाहरण स्वरूप "महाव्युत्पत्तिकोश" में बौद्ध धर्म में प्रचलित विशिष्ट संज्ञाओं का स्पष्टीकरण मिलता है । सोरहवीं शताब्दी में फारसी शब्दों के संस्कृत पर्यायों के लिए "पारसी प्रकाश" नामक एक कोश लिखा गया। पारसी प्रकाश के पहले ही कर्णपूर ने संस्कृत-पारसिक प्रकाश की रचना की थी । शाहजहाँ के काल में ज्योतिष के प्रसिद्ध विद्वान वेदांगराय ने ज्योतिष विषयक शब्दों का फारसी प्रकाश नाम से एक कोश लिखा था ।

शिवाजी महाराज ने अपने सभा पंडित रघुनाथ हणमंते द्वारा राज्य व्यवहारकोश की रचना करवायी । इस पद्यात्मक कोश में तत्कालीन मुसलमानीं राज्यों मे प्रचलित फारसी राजकीय शब्दों के संस्कृत पर्याय को भी सम्मिलित किया गया है । इस राजव्यवहार कोश की यह प्रमुख विशेषता है । तदुपरान्त आधुनिक काल में संस्कृत के अन्य भाषीय पर्याय देने वाले अकारादिवर्णानुसार सूचीप्राय कोशों की रचना प्रारम्भ हुआ । इस श्रेणी के कुछ महत्वपूर्ण कोशों का उल्लेख निम्नवत है–डिक्शनरी आफ बेंगाली एण्ड संस्कृत-लेखक ग्रेब्ज हाग्रून-1833 में लन्दन में मुद्रित । संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी-लेखक-बेनफे । 1866 में लन्दन में मुद्रित ।

संस्कृत एण्ड इंग्लिश डिक्शनरी - लेखक - रामजसन । 1870 में लन्दन में मुद्रित। प्रैक्टिकल संस्कृत डिक्शनरी - लेखक आनन्द राम बरूआ । 1877 में कलकत्ता से प्रकाशित ।

संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी - लेखक - केपलर । 1891 में ट्रांसवर्ग में मुद्रित ।

संस्कृत - इंग्लिश डिक्शनरी - लेखक - मोनियर विलियम्स - 1899 ।

सरस्वतीकोश - लेखक जीवराम उपाध्याय - 1912 मे मुरादाबाद से प्रकाशित।

स्टूडेन्टस इंग्लिश - संस्कृत डिक्शनरी लेखक - वामन शिवराम आप्टे । सर्वप्रथम सन् 1924 में मुम्बई से प्रकाशित ।

संस्कृत - हिन्दी कोश - लेखक द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी । 1917 में लखनऊ से प्रकाशित ।

संस्कृत-हिन्दी कोश - लेखक - विश्वम्भर नाथ शर्मा । 1924 में मुरादाबाद से प्रकाशित ।

प्रैक्टिकल - संस्कृत डिक्शनरी - लेखक - मैक्डोनेल । सन् 1924 में लन्दन में मुद्रित ।

पद्मचन्द्रकोश - लेखक गणेश दत्त शास्त्री - सन् 1925 में लाहौर से मुद्रित ।

संस्कृत-गुजराती शब्दादर्श-लेखक - गिरिजाशंकर मेहता, सन् 1924 में अहमदाबाद से प्रकाशित ।

सार्थ वेदार्थ निघन्टु - लेखक - शिवराम शास्त्री शिंगे । यह कोश वैदिक - मराठी कोश का एक प्रमुख उदाहरण है ।

आदर्श हिन्दी - संस्कृत कोश - लेखक - राम स्वरूप शास्त्री । 1936 में वाराणसी से प्रकाशित ।

आधुनिक संस्कृत हिन्दी कोश - लेखक-ऋषीश्वर भट्ट । सन् 1955 में आगरा से प्रकाशित ।

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ - लेखक - द्वारका प्रसाद शर्मा एवं तारिणीश झा । सन् 1957 में प्रयाग से प्रकाशित ।

व्यवहार कोश - लेखक - सदाशिव नरायण कुलकर्णी । यह सन् 1951 में नागपूर से प्रकाशित है ।

इन शब्दकोशों के अतिरिक्त विविध शास्त्रीय कोशों को भी अर्वाचीन काल में निर्मित किया गया जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण कोशों का विवरण इस प्रकार निम्नवत हैं–

धातुरूप चन्द्रिका - रचनाकार -व्ही. व्ही. उपाध्याय ।

धातुरत्नाकर - रचनाकार - श्रीधरशास्त्री पाठक (आठ भाग में)

अष्टाध्यायी शब्दानुक्रमणिका-श्रीधरशास्त्री पाठक ।

महाभाष्य शब्दानुक्रमणिका - श्रीधरशास्त्री पाठक ।

संस्कृत धातुरूप कोश - कृ. भा. वीरकर ।

संस्कृत शब्द रूप कोश - कृ. भा. वीरकर ।

तिङ्न्तार्णवतरणि कोश - कृ. भा. वीरकर ।

प्रत्ययकोश - गुंडेराव हरकरे ।

न्यायकोश - भीमाचार्य झलकीकर द्वारा रचित ।

मीमांसाकोश - केवलानन्द सरस्वती - (चार भागों में) ।

निघन्टुमणिमाला या वैदिक कोश- मधुसूदन विद्या वाचस्पति ।

गोज्ञानकोश - पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ।

ऐतरेय ब्राह्मण आरन्यक कोश - केवलानन्द सरस्वती ।

कौषीतकी ब्राह्मण आरन्यक कोश ।

वैदिक कोश - रचनाकार - हंसराज ।

सामवेद पादनाम् अकारादि वर्णानुक्रमणिका - रचनाकार - स्वामी विशेश्वरानन्द एवं स्वामी नित्यानन्द ।

धर्मकोश - रचनाकार - लक्ष्मणशास्त्री जोशी ।

धर्म कोश - (उपनिषत्काण्ड)- रचनाकार - लक्ष्मण शास्त्री जोशी ।

स्मृति तत्वम् - रघुनन्दन भट्टाचार्य द्वरा रचित । इसमें कुल 28 स्मृतियों का संग्रह हैं ।

स्मृतीनां समुच्चय - यह 27 स्मृतियों के संग्रह के लिए प्रसिद्ध कोश है ।

पुराण विषय अनुक्रमणिका - यशपाल - टंडन द्वारा रचित ।

पुराणशब्दानुक्रमणिका - तीन भागों में डी. आर. दीक्षित द्वारा निर्मित ।

महाभारत शब्दानुक्रमणिका ।

भरतकोश - यह नाट्य संगीत विषयक पारिभाषिक शब्दकोश है । भारतीय राजनीतिक कोश (कालिदास खण्ड) - रचनाकार वेंकट शास्त्री जोशी ।

वैदिक पदानुक्रम कोश - रचनाकार - विश्वबन्धुशास्त्री ।

यह कोश सात भागों में पहले चरण में मुद्रित हुआ ।

सर्वतन्त्र सिद्धान्त - पदार्थ लक्षण संग्रह ।

वैदिक शब्दार्थ पारिजात ।

कौटिलीय अर्थशास्त्र पद सूची - कुल तीन भागों में मुद्रित हुआ ।

पुरातन जैनवाक्य सूची । जैन स्तोत्र रत्नाकर ।

व्रह्मस्तोत्ररत्नाकर - इसमें 500 स्तोत्रों का संग्रह है।

कहावत रत्नाकर संस्कृत - हिन्दी एवं अंग्रेजी कहावतों का संग्रह ।

आधुनिक संस्कृत शब्दकोश के निर्माण परम्परा में सन् 1942 में डा. सुमन्त मंगेश कत्रे के नेतृत्व में पूणे के डेकन कालेज में एक महत्वपूर्ण परियोजना प्रारम्भ किया गया। इस कोश परियोजना के अन्तर्गत ई. पू. चौदहवीं शती से ई. सन् आठरहवीं शती तक संस्कृत भाषा में निर्मित सर्वांगीण प्रकार के दो हजार ग्रन्थों से पाँच लाख शब्दों का संग्रह, उनकी व्युत्पत्ति, अर्थांतर एवं विविध ग्रन्थों में उनके प्रयोग इत्यादि अनेक प्रकार की जानकारी उपलब्ध करायी जा सके को दृष्टिगत करते हुए इसे प्रारम्भ किया गया है । इस दौरान कोश निर्माण के क्षेत्र जो महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह था कि प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियाँ बनना । संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के यूरोपीय विद्वान पंडित मैक्समूलर स्वयं भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों में निहित विपुल ज्ञान भण्डार का बार-बार प्रशंसा किया है । उन्होंने इण्डिया, व्हाट इट कैन टीच अस' नामक अपने ग्रन्थ के द्वारा भारत के हस्तलिखित भण्डारों की ओर पूरे विश्व के संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के विद्वानों का चित्त आकृष्ट किया जिसके फलस्वरूप कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीरूप कोश निर्माण का कार्य प्रारम्भ किये।

सन् 1784 में कलकत्ता में रायल ऐशियाटिक सोसायटी की स्थापना होकर संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के विभिन्न विषयों के हस्तलिखित ग्रन्थों का संचयन प्रारम्भ हुआ।

इस सोसायटी के द्वारा सर विलियम जोन्स एवं उनकी पत्नी ने एक साथ मिलकर सन् 1807 में संस्कृत ग्रन्थ संग्रह की प्रथम सूची प्रकाशित की । सन् 1807 में हेनरी टॉमस कालेब्रूक को एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगाल नामक संस्था का अध्यक्ष पद प्राप्त हुआ। उनके द्वारा संगृहीत सारे हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थ, लन्दन के इण्डिया ऑफिस में सुरक्षित रखे गये । इसी सोसाइटी द्वारा सन् 1817 से 1834 तक पंडित हरिप्रसाद शास्त्री के नेतृत्व में ग्रन्थ सूची के प्रथम सात भागो को निर्मित किया गया तथा शेष भागों के सम्पादन कार्य श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती तथा चन्द्रसेन गुप्त द्वारा सन् 1945 तक संचालित होता रहा ।

मैक्समूलर की प्रेरणा से प्रभावित होकर एक अन्य विद्वान डा. बूल्हर-भारत में आये। उन्होंने पैरीस, लन्दन तथा ऑक्स फोर्ड आदि स्थानों पर संस्कृत ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त की। बाम्बे संस्कृत सीरीज नामक ग्रन्थमाला का प्रकाशन को उन्होंने शासकीय सहायता से शुरू कराया । डा. बूल्हर मुम्बई राज्य की शोध संस्था के अध्यक्ष नियुक्त हुए तथा वे स्वयं अपने निर्देशन में लगभग 2300 महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों का संशोधन एवं सम्पादन करवाया जिससे प्रभावित होकर श्री राजेन्द्र लाल मित्र ने "नोटिसेस ऑफ संस्कृत मॅन्युस्क्रिप्टस" नामक ग्रन्थ के नौ खण्डों का प्रकाशन किया । इसके अग्रिम दो खण्डों को हर प्रसाद शास्त्री ने प्रकाशित किये । विंटरनिट्स ने बोडलियन ग्रन्थालय के संग्रह की सूची निर्मित करने कार्य शुरू किया । डा. कीथ ने डा. स्टीन की इंडियन इन्स्टट्यूट ऑक्सफोर्ड में सुरक्षित संग्रह की सूची तैयार की जो 1903 में ऑक्सफोर्ड के कलेरेन्डन प्रेस द्वारा मुद्रित हुई । इसी प्रकार बोडलियन ग्रन्थालय के पालि ग्रन्थों की सूची निर्मित करने का कार्य फ्रैंकफर्टर ने सन् 1882 में पूर्ण किया । 1825-1901 के दौरान डा. वेबर ने बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय के संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की बृहत्सूची तैयार की । जबकि सन् 1869 में कैम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज के ग्रन्थ संग्रह की बृहत्सूची आफ्रेट ने तैयार की। सन् 1870 में जेम्स डी. अलीज ने कोलम्बो में भारतीय संस्कृत ग्रन्थों की सूची प्रकाशित की । 1870 में ही एन.सी. बर्नेल ने लन्दन के इण्डिया ऑफिस के संस्कृत ग्रन्थों की सूची का प्रकाशन किया । सन् 1880 में "क्लासीफाईड इन्डेक्स टू दि संस्कृत मॅन्युस्क्रिप्टस इन दि पैलेस ऑफ तंजौर" नामक खण्ड को बर्नेल ने लन्दन से प्रकाशित किया । इसी प्रकार ज्यूलियस एकलिंग ने सन् 1887 एवं 1896 में लन्दन से संस्कृत ग्रन्थों की दो सूचियाँ प्रकाशित की । 1935 में कीथ और टॉमस की सूची तथा ओल्डेन वर्ग की सूची का प्रकाशन लन्दन में हुआ । सन् 1883 में जोसिल बंडाल और राइस डेव्हिडस ने कैम्ब्रिज विश्व विद्यालय में संस्कृत और पालि ग्रन्थों की सूची प्रकाशित की । इसी क्रम में 1874 के मध्य डॉ0एफ0 कील हार्न ने भारत के संस्कृत ग्रन्थों की सूची प्रकाशित की। डा. कीलहार्न का दूसरा महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि सन 1880-81 के मध्य मुम्बई राज्य के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची को श्री काशीनाथ कुंटे के सहयोग से तैयार करवाकर सन्

1881 में उसे प्रकाशित करवाया । इसी तरह से पीटर्सन के बृहत् सूची को 1883 तथा 1898 में कुल छः खण्डों में प्रकाशित किया गया। इसके साथ ही साथ पीटर्सन ने अलवर नरेश के संग्रह की सूची को भी संकलित किया। इस कार्य को पूर्ण करने का दायित्व पीटर्सन के बाद डा. रामकृष्ण गोपाल भंडारकर को सौंपा गया। डा. भण्डारकर ने 1917 से 1929 तक की अवधि में ओरिएन्टल लाइब्रेरी, पुणे के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों को सात खण्डों में प्रकाशित किये । जबकि रायल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह की जिन सूचियों को श्री हरिदामोदर वेलणकर ने तैयार किया उनको क्रमशः 1926, 1928 तथा 1930 में प्रकाशित किया गया । तंजोर के सरस्वती महल के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची सन् 1880 में बर्नेल ने तैयार की । तदन्तर यह कार्य पी.पी.एस. शास्त्री ने सम्भाला तथा निर्मित इस बृहत्सूची को कुल 19 खण्डों में प्रकाशित किया गया । तंजौर के सरस्वती महल ग्रन्थालय में लगभग पचीस हजार से अधिक हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रहीत हैं। दक्षिण भारत में हस्तलिखित ग्रन्थों के ग्रन्थ सूची का कार्य सर्वप्रथम गुस्ताव ओपर्ट ने शुरू किया । उनके द्वारा सम्पादित दो खण्ड सन् 1880 एवं 1885 में प्रकाशित हुए । मैसूर और कूर्म राज्य में ग्रन्थ सूची का सम्पादन कार्य लेबिज राईस ने किया । इनके द्वारा निर्मित सूची को सन् 1884 में बंगलोर से प्रकाशित किया गया। मद्रास सरकार की ओरिएन्टल मॅन्युस्क्रिप्टस लाईब्रेरी की ओर सन् 1893 में निर्मित प्रथम सूची का प्रकाशन हुआ । तदनन्तर यह कार्य शेषागिरी शास्त्री ए, शंकरन आदि विद्वानों के अधीन संचालित होता रहा । सन् 1984 तक इस ग्रन्थालय द्वारा हस्तलिखित ग्रन्थों के निर्मित सूचियों को कुल 30 से अधिक खण्डों में प्रकाशित किया जा चुका है ।

वर्तमान चेन्नई के अन्तर्गत स्थित अडयार थियोसोफिकल सोसाइटी के ग्रन्थालय में हस्तलिखित ग्रन्थों का एक विशाल ग्रन्थ संग्रह है । सन् 1920 एवं 1928 में इस संग्रह से सम्बन्धित "ए कैटलॉग आफ दि संस्कृत मैन्युस्क्रिप्टस" नामक दो खण्ड प्रकाशित हुए। सन् 1942 में डा. कुन्हन राजा एवं के. माधव कृष्णा शर्मा ने वैदिक भाग की सूची प्रकाशित की । जबकि 1947 में व्ही. कृष्णम्माचार्य ने व्याकरण भागों की सूची तैयार की । सन् 1895 से 1906 तक कलकत्ता संस्कृत कालेज ग्रन्थालय के हस्तलिखित संग्रह की सूची को पं. हृषीकेश शास्त्री एवं शिव चन्द्र गुंई ने तैयार की । कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा सन् 1930 में असमीज मॅन्युस्क्रिप्टस नामक दो सूची खण्डों को प्रकाशित किया गया जिनमें संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार वाराणसी के सरस्वती भवन ग्रन्थालय में भी सवालाख से अधिक पाण्डुलिपियों का विशाल संग्रह है । हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के इस विशाल संग्रह से सम्बन्धित अबतक कुल तेरह खण्डों में तथा इकतिस भागों में निर्मित विवरण पंज्जिकाओं को प्रकाशित किया जा चुका है । जम्मू-काश्मीर के रघुनाथ मन्दिर के ग्रन्थालय के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची पंज्जिका को डा. स्टीन ने तैयार किया, जिसे सन् 1894 में मुम्बई से प्रकाशित किया गया । पं. रामचन्द्र काक और हर

भट्ट शास्त्री ने काश्मीर नरेश के पुस्तकालय की हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची तैयार किये जिसे 1907 में मुम्बई से प्रकाशित किया गया । बड़ौदा की केन्द्रीय ग्रन्थालय के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची जी.के. गोड़े एवं के. एस. राम स्वामी शास्त्री ने तैयार किये तथा इसे सन् 1925 में गायक वाड़ ओरियन्टल सीरीज् की ओर से प्रकाशित किया गया । डा. काशी प्रसाद जायसवाल एवं ए. बनर्जी ने मिथिला के हस्तलिखित संग्रहों की सूची तैयार किये जिसको बिहार - उड़ीसा रीसर्च सोसाइटी ने 1927 से 1940 के मध्य कुल चार खण्डों में प्रकाशित कराया । उज्जयिनी की ओरियन्टल मैन्युस्क्रिप्टस लाईब्रेरी द्वारा सन् 1936 एवं 1941 में दो सूची पंज्जिकाओं को प्रकाशित किया गया । गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज् ने अपने हस्तलिखित संग्रहों के प्रथम विवरण पंजिका को 1937 में बड़ौदा में प्रकाशित कराया जबकि इसका दूसरा खण्ड को सन् 1942 में प्रकाशित किया गया ।

इसी प्रकार जैसलमेर राज्य के ग्रन्थालय के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची पंज्जिका को भी गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज के द्वारा ही प्रकाशित किया गया । त्रिवेन्द्रम् के सरकारी ग्रन्थालय में संग्रहीत हस्तलिखित ग्रन्थों के कुल आठ भागों में निर्मित विवरण पंज्जिकाओं को 1985 तक प्रकाशित किया गया है ।

4. पालि एवं बौद्ध वाङ्मय में सन्दर्भ ग्रन्थ-

बौद्ध विद्वानों, कवियों एवं दार्शनिकों द्वारा व्यक्तिगत रूप से ग्रन्थ रचना का कार्य कनिष्क के समय से प्रारम्भ हुआ । कनिष्क के काल में ही बौद्ध विद्वान एवं कवि अश्वघोष ने "बुद्ध चरित" तथा "सौन्दरनन्द" नामक महाकाव्यों की रचना की । इसके पहले ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में मिलिन्द और नागसेन का दार्शनिक संवाद "मिलिन्दपन्ह" नामक ग्रन्थ निर्मित किया जा चुका था । इसी शताब्दी के महा कच्चायन द्वारा नेत्ति प्रकरण" की रचना हुई थी । जिसमें अभिधर्म पिटक की शैली में त्रिपिटकों के गूढ़ अर्थों की व्याख्या की गयी है। इसके अतिरिक्त परवर्ती बौद्ध साहित्य में अनेक मूर्धन्य विद्वानों जैसे आचार्य बुद्धघोष, भदन्त, बुद्ध दत्त, स्थविर, धम्मपाल, नागार्जुन, वसुबन्ध एवं असंग तथा धर्मकीर्ति द्वारा बौद्ध वाङ्मय में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की गयी । इसी प्रकार बौद्ध दर्शन से सम्बन्धित अनेक दार्शनिक विद्वानों जैसे प्रभाकर गुप्त, विनीत देव, देवेन्द्र बुद्धि, शंकरानन्द, जितेन्द्र बुद्धि, कल्याणरक्षित रविगुप्त, अर्चट, शान्तभद्र, दुर्वेक भिक्षु, कर्णकगोमिन एवं धर्मोत्तर द्वारा आठवीं सदी तक बौद्ध दर्शन पर अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी थी ।

बौद्ध वाङ्मय के अन्तर्गत जिन ग्रन्थों को सम्मिलित किया गया है, वे ग्रन्थ पालि एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में लिखित हैं। इस साहित्य का बहुत अधिक अंश त्रिपिटक में समाविष्ट है । त्रिपिटक विविध विद्वानों द्वारा लिखित अथवा संकलित विविध ज्ञान विषयों का वृहद ज्ञान भण्डार है । धर्म, नीति एवं आचार वर्ग में बौद्ध वाङ्मय के लगभग कुले सोलह ग्रन्थों को सम्मिलित किया जा सकता है । जो कि इस प्रकार निम्नांकित हैं–सामञ्ञफलसुत्त, अम्बट्ठसुत्त, सोणदण्डसुत्त, महालिसुत्त, कस्स्पसीह्वादसुत्त, छः अन्यसुत्त, महासतिपट्ठान

एवं पायसिराजञ्ञ सुत्त, पाथिकवग्ग, मज्झिमनिकाय, संयुत निकाय, अङ्गुत्तर निकाय, खुद्दक पाठ, धम्मपद, इतिवुत्तक, विनयपिटक, बुद्धघोषकृत विसुद्धिमग्ग एवं अन्य अट्ठकथाएँ आदि।

इसी तरह दर्शन वर्ग के अन्तर्गत पालि भाषा में रचित ग्रन्थों जैसे, ब्रह्मजाल सुत्त, जालियसुत्त, महानिदानसुत्त, मज्झिम निकाय के दार्शनिक सुत्त, संयुत निकाय के दार्शनिक सुत, पटिसम्भिदामग्ग, अभिधमपिटक, धम्म सङ्गणि, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञति, कथावत्थु, यमक, पट्ठान, नेत्तिप्पकरण, पेटको पदेस एवं मिलिन्द पन्ह आदिप्रमुख हैं; तथा संस्कृत में रचित तीन ग्रन्थों-महाप्रज्ञा-पारमिताशास्त्र, मध्यमककारिका, विग्रह व्यावर्तनी, अभिधर्मकोश तथा प्रकरण पाद को स्थान दिया गया है ।

साहित्य वर्ग के अन्तर्गत बौद्ध साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थों को उनकी भाषाओं के आधार पर पालि एवं संस्कृत भाषा में वर्गीकृत किया गया है । विबरखुणी संयुत, सुत्त निपात, थेरगाथा, थेरीगाथा, निद्देस, दीपवंश एवं महावंश आदि ग्रन्थों की भाषा पालि है। पुराकथा एवं मिथक वर्ग के अन्तर्गत जिन ग्रन्थों को सम्मिलित किया गया है उनमें कूटदन्तसुत्त, महा-पदानसुत्त, महासुदस्सनसुत्त, जनवसमसुत्त, महागोविन्दसुत्त, महासमसुत्त व सङ्कपन्हसुत्त है। मज्झिमनिकाय का मखादेव सुत्त, संयुत्तनिकाय में पुराकथा एवं मिथक में विमानवत्थु एवं पेतवत्थु, अपदान, बुद्धवंश, जातक एवं चरियापिटक के साथ ही साथ संस्कृत भाषा में रचित कुछ बौद्ध ग्रन्थों जैसे–महावस्तु, ललितविस्तार एवं सद्धर्म पुण्डरीक अवदान को भी सम्मिलित किया गया है । इतिहास एवं जीवनी संवर्ग के अन्तर्गत बौद्ध वाङ्मय के जिन ग्रन्थों को सम्मिलित किया गया है उनमें दीघनिकाय का महापरिनिब्बासुत्त, मज्झिम निकाय के कुछ सुत्त, जीवनी एवं इतिहास से सम्बद्ध संयुत निकाय के संयुत, उदान तथा खन्धक आदि महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। बौद्ध वाङ्मय के अन्तिम वर्ग तन्त्र एवं गुह्याचार में आटानाटियसुत्त को सम्मिलित किया गया है, जो कि सुत्तपिटक के दीघनिकाय के महावग्ग का नवम सुत्त है ।

इस प्रकार बौद्ध वाङ्मय एवं पालि साहित्य में आठवीं सती तक अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी, फिर भी बौद्ध वाङ्मय एवं पालि साहित्य में सन्दर्भ ग्रन्थों का अभाव सा प्रतीत होता है । चौथी शताब्दी में बौद्ध दार्शनिक वसुबन्ध द्वारा संस्कृत भाषा में "अभिधर्मकोश" नामक ग्रन्थ की रचना की गयी है जो बौद्ध दशरन की एक महत्वपूर्ण कृति है । इसमें कुल आठ कोश स्थान है तथा उसमें कुल 600 कारिकाएँ हैं जिन पर वसुबन्ध ने स्वयं ही भाष्य लिखा था ।

5. प्राकृत वाङ्मय में सन्दर्भ ग्रन्थ-

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक संस्कृत, पालि एवं प्राकृत आदि भारतीय भाषाओं के कोश साहित्य पर विहंगमवलोकन से निम्नलिखित पद्धति दृग्गोचर होती हैं । जैसे

एकार्थक या पर्यायार्थक - यथा निघण्टु, अमरकोश आदि । निरूक्तात्मक यथा निरूक्त कोश आदि । देशी शब्दों का संग्राहक-अभिधान राजेन्द्र, शब्द कल्पद्रुम तथा जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश आदि । विविध भाषा कोश तथा सूक्ति संग्राहक कोश ।

संस्कृत वाङ्मय की भांति ही प्राकृत वाङ्मय समृद्ध एवं व्यापक है । प्राचीनकाल में भारत के दूर प्रान्तों में प्राकृत भाषा बोल-चाल की भाषा थी । प्राकृत भाषा में अर्द्धमागधी एवं शौरसेनी जैन आगम ग्रन्थों की भाषाओं का सर्वप्रथम स्थान आता है । अशोक शिलालेख जो ई. पूर्व लगभग 250 वर्ष के हैं, प्राकृत भाषा में विरचित हैं।

अर्द्धमागधी भाषा में निबद्ध आगम साहित्य के अंग प्रविष्ट एवं अंगबाह्य दो भेद हैं। अंग प्रविष्ट के अन्तर्गत द्वादशाङ्गी का स्थान आता है । अंतिम दृष्टिवाद की परम्परा लूप्त हो गयी है । इस प्रकार प्राचीन काल में आश्रमों एवं गुरूकुलों में आचार्यों द्वारा दिये गये उपदेशों को सुनकर ही याद रखा जाता था । अध्ययन काल में ही गुरू द्वारा शब्दों के विभिन्न अर्थों का निरूपण कर दिया जाता था । उस समय प्राकृत वाङ्मय में कोश नामक अलग कोई साहित्य नहीं था । इस प्रकार आचारांगादि में अनेक स्थानों पर एकर्थक एवं पर्यायार्थक तथा निरूक्तिमूलक शब्दों का विनियोजन किया गया है । प्राकृत वाङ्मय में सन्दर्भ ग्रन्थ परम्परा के अन्तर्गत सबसे प्राचीन कोश ग्रन्थ का नाम "भगवतीसूत्र" है । इसमें शताधिक शब्दों के पर्याय या एकार्थक शब्द विन्यस्त हैं। जीव, क्रोध, मान, माया, लोभ, आज्ञा, अर्ह, यथाश्रुत, प्राणी आदि अनेक शब्दों के एकार्थक शब्द उपलब्ध हैं। चूर्णि साहित्य में अनेक स्थलों पर पर्याय शब्द उदिष्ट हैं। विशेष ज्ञान के लिए चूर्णि साहित्य का अवलोकन आवश्यक है । आगम एवं उनके व्याख्या साहित्य की प्राकृत कोश-साहित्य के उदगम स्थल हैं। तबतक स्वतन्त्र रूप से प्राकृत साहित्य का कोई भी कोश ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था ।

इस प्रकार धनपाल द्वारा रचित "पाइयलच्छीनामाला" प्राकृत साहित्य का प्रथम ज्ञान कोशग्रन्थ है । पाइयलच्छी के बाद आचार्य हेमचन्द्र ने "देशीनाममाला" कोश ग्रन्थ की रचना की थी । यह प्राकृत एवं देशी शब्दों के ज्ञान के लिए बहुत महत्वपूर्ण कोश ग्रन्थ है । इसमें भारतीय एवं आर्यभाषाओं के अनेक शब्दों की सांगोपांग - जीवन-यात्रा प्रस्तुत की गयी है । इसके बाद बनारस के प्रसिद्ध विद्वान पं. दामोदरशास्त्री ने "उक्ति व्यक्ति प्रकरण" नामक कोश ग्रन्थ का निर्माण किया । इसका दूसरा नाम प्रयोग प्रकाश भी है। देश्य भाषा के शब्द संग्राहक ग्रन्थों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है । फिर 17वीं शताब्दी में एक जैन विद्वान साधु सुन्दर गणि ने "उक्ति रत्नाकर" की रचना की थी । इसमें देश्य भाषा के अनेक प्रकार के उक्तिमूलक शब्दों का संग्रह किया गया है तथा इसका दूसरा नाम "औक्तिक पद" भी है ।

आधुनिक काल में प्राकृत वाङ्मय के अन्तर्गत प्राकृत साहित्य एवं कोश ग्रन्थों के क्षेत्र में जर्मन विद्वान होएफर ने सन् 1836 में अपने शोध निबंध "डे प्राकृत हियलेक्टो लिब्रिदुओं" में विचार प्रकट किया था । इसी समय लास्सन एवं आल्सफोर्ड ने प्राकृत भाषा

एवं बोलियों को आधार बनाकर महत्वपूर्ण शोधकार्य किया तथा 1879 में डॉ. बूलर ने ही "पाइयलच्छीनाममाला" का सम्पादन कर गॉटिगन से प्रकाशित करवाया ।

स्वतन्त्र प्राकृत कोश निर्माण की आवश्यकता महसूस करते हुए सन् 1912 में इटली के विद्वान डॉ. ल्यूई. जी. स्वाली ने प्राकृत कोश निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया किन्तु उसी समय विश्वयुद्ध की भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण यह कार्य पूर्ण न हो सका ।

"अभिधान राजेन्द्र कोश" जैसे महान ग्रन्थ से इस परम्परा का सूत्रपात होता है तथा अबतक लगभग एक दर्जन से अधिक स्वतन्त्र कोश ग्रन्थों का निर्माण हो चुका है । प्राकृत वाङ्मय के इन आधुनिक कोशों में "अभिधान राजेन्द्र कोश", "जैन कक्को कोश," "अर्धमागधी कोश," "पाइयसद्दमहण्णवकोश", "प्राकृत - हिन्दी कोश", "एकार्थक कोश" "देशीशब्दकोश", "निरूक्तकोश" एवं "कुन्द-कुन्द शब्द कोश" प्रमुख कोश ग्रन्थ हैं ।

इस प्रकार संस्कृत वाङ्मय के अन्तर्गत सन्दर्भग्रन्थों की रचना प्रक्रिया के ऐतिहासिक अन्वेषण में संस्कृत रचनाकारों तथा संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक योगदान रहा है । वर्तमान में उपलब्ध सन्दर्भ ग्रन्थो के अनेक रूपों में से संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के ऐतिहासिक अन्वेषण में सन्दर्भ स्रोत के शब्दकोश एवं विश्वकोश केवल दो ही रूपों को प्रधानता दी गयी थी । फिर भी संस्कृत एवं प्राच्य भारतीय विद्या में रुचि रखने वाले कुछ यूरोपीय विद्वानों के प्रयास से संस्कृत वाङ्मय में सन्दर्भ स्रोतों के अन्तर्गत शब्द कोशों एवं विश्वकोशों से हटकर कुछ अन्य रूपों की भी रचना की गयी हैं, जैसे– Catalogus Catalogorum by Theodore Aufrecht, Bibliographie Vedique by Louis Renou, A Vedic Concordance by Maurice Bloomfield, Vedic index of names and subjects by A.A. Macdonnell and A.B. Keith. A Concordance to the Principal Upanishads and Bhagavadgita by Jacab (1891), Max Muller's Word Index to Rigveda. मैक्समूलर के इस कृति को सन् 1872 एवं 1874 में दो खण्डों में प्रकाशित किया गया तथा इस ग्रन्थ का पुनर्संस्करण सन् 1908 में स्वामी विश्वेश्वरानन्द एवं स्वामी नित्यानन्द के सहयोग से सम्पन्न किया गया । Worterbuch zum rigveda by Grasmann (1873).

संस्कृत एवं प्राच्य भारतीय विद्या में रूचि रखने वाले यूरोपीय विद्वानों के साथ ही साथ प्राच्य विद्या में रूचि रखने वाले कुछ भारतीय विद्वानों ने भी संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित सन्दर्भ स्रोतों के अन्तर्गत शब्द कोशों एवं विश्वकोशों से हटकर सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों के अन्य रूपों की रचना में महत्वपूर्ण योगदान किये हैं। इनमें स्वामी विश्वेश्वरानन्द, स्वामी नित्यानन्द, आर. एन.डाण्डेकर, डा. वी. राघवन, डा. के कुन्जुन्नीराजा, एन. विजिनाथन आदि प्रमुख हैं। A Complet Index of All the Words in the Yajurveda, Vedic Bibliography और New Catalogus Catalogorum आदि इन भारतीय विदों की प्रमुख रचनाएँ हैं।

6. संस्कृत वाङ्मय एवं सूचना प्रद्यौगिकी-

कम्प्यूटर एवं संचार प्रद्यौगिकी के आगमन के फलस्वरूप इन्टरनेट एवं वेब तकनीक ने अन्य क्षेत्रों की तरह संस्कृत वाङ्मय के प्रकाशन के क्षेत्र में भी अपना पर्दापर्ण कर दिया है, जिससे प्रकाशन के क्षेत्र में संस्कृत एवं भारतीय विद्या से सम्बन्धित संस्थाओं को एक नयी दिशा ई अथवा जिडिटल प्रकाशन की प्राप्ति हुई है। इस तकनीक के माध्यम से संस्कृत वाङ्मय से सम्बन्धित सन्दर्भ स्त्रोतों का प्रकाशन इलैक्ट्रॉनिक रूपों में किया जाता है। मुद्रित के भांति ही ई - प्रकाशन में भी विविध प्रकार के सन्दर्भ एवं सूचना सामग्री जैसे–ई-शब्दकोश, ऑनलाइन शब्दकोश, डिजिटल शब्दकोश, ई–विश्वकोश, ई-बुक्स, ई-पत्रिकाएँ, ई-मैग्जीन एवं ई-वुलेटिन आदि प्रकाशित हो रहे हैं । ई-सन्दर्भ एवं सूचना स्त्रोत समान्यतया ग्रन्थों का जिडिटल रूपांतरण है जो इलैक्ट्रॉनिक विधियों से संग्रहीत एवं प्राप्त किये जा सकते हैं ।

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित प्राचीन एवं दुर्लभ सन्दर्भ ग्रन्थों एवं अद्यतन सूचना एवं सन्दर्भ स्त्रोतों के इलैक्ट्रानिक प्रकाशन में अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के संस्थानों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । Cologne Digital Sanskrit Dictionaries, Online Sanskrit Dictionary, Andre's Signoret's French-Sanskrit Dictionary, A Scanned Sanskrit - German Dictionary by Delbruck, E-Biographical Dictionary और Internet Encyclopaedia of Philosophy आदि संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के क्षेत्र में इलैक्ट्रॉनिक सन्दर्भ ग्रन्थ के प्रमुख उदाहरण हैं ।

इस प्रकार ई-सन्दर्भ एवं सूचना स्त्रोत मुद्रित सन्दर्भ एवं सूचना स्त्रोतों की तुलना में अधिक उपयोगी एवं सूचना प्रद होती हैं, तथा इन्हें बिना किसी बाधा के प्राप्त किया जा सकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. वर्णेकर, श्रीधर भास्कर, संस्कृत वाङ्मय कोश, प्रथम खण्ड, कोलकत्ता, भारतीय भाषा परिषद, 1988 ।
2. विद्यालंकार, सुभाष, योगशब्द कोश, दिल्ली, प्रतिभा प्रकाशन, 2005 ।
3. सिंह, परमानन्द बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, मा. गा. का. वि. पी., 1996 ।
4. पाण्डेय, हरिशंकर, प्राकृतरूप रचना कोश, दिल्ली, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, 2001 ।
5. http : //www. Sanskrti-lexicon.uni-koeln.de/
6. http : //www. Sanskrti-documents.org/dict/
7. Internet Encyclopaedia of Philosophy.

❑❑

द्वितीय अध्याय

सूचना एवं सन्दर्भ स्त्रोत, अर्थ एवं परिभाषा
(Reference and Information Sources, Meaning and Definitions)

प्राच्य भारतीय विद्या एवं संस्कृत साहित्य अपनी विशेषता के लिए पूरे विश्व में ख्यातिलब्ध है तथा अन्य साहित्यों की भाँति ज्ञान विस्फोट की इस वर्तमान युग में इसमें भी अपार वृद्धि हुई है । इसके फलस्वरूप संस्कृत वाङ्मय से सम्बन्धित सूचना उपयोक्ताओं की आवश्यकताओं में निरन्तर वृद्धि दर्ज की गयी है । उपयोक्ताओं की इन्हीं आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर प्राच्य भारतीय विद्याओं एवं संस्कृत साहित्य में उपलब्ध सूचनाओं के विपुल भण्डार को एक बार-पुनः व्यवस्थित करने की आवश्यकता है जिससे अन्य साहित्यों की तरह इस क्षेत्र के उपयोक्ताओं को भी वर्तमान में उपलब्ध सभी प्रकार के सूचना स्त्रोतों जैसे प्रलेखीय, गैर प्रलेखीय, इलेक्ट्रानिक, इन्टरनेट एवं डिजिटल आदि रूपों से अवगत कराया जा सके । चिन्तन करते रहना मनुष्य की प्रकृति है, और इसी चिन्तन, मनन आदि गतिविधियों के फल स्वरूप सूचना का जन्म होता है । वर्तमान में 'सूचना' शब्द को शक्ति के रूप में जाना जाता है अर्थात् जिसके पास सूचना है वही शक्तिशाली है । भारतवर्ष प्राचीन काल से ही पूरे विश्व का सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व करता रहा, इसकी मुख्य वजह थी कि भारत के पास सांस्कृतिक सूचनाओं का विपुल भण्डार था जो विश्व के और किसी देश अथवा राष्ट्र के पास नहीं था । इससे साफ-साफ स्पष्ट है कि सूचना ही शक्ति है। जिन देशों में सूचना संग्रहण, प्रदाय एवं उन्हें सर्वसुलभ बनाने की सुविधा है, उन देशों में राजनैतिक, प्रद्यौगिक एवं आर्थिक सुदृढ़ता अधिक होती है । सूचना विस्फोट के इस वर्तमान युग में सूचना का प्रयोग एक आवश्यक वस्तु के रूप में हो रहा है ।

सूचना का निर्माण विभिन्न मानवीय क्रिया-कलापों एवं घटनाओं के फलस्वरूप होता है । व्यक्ति एवं संस्थाएं दोनों ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सूचनाओं का उपयोग करते हैं । शोध एवं अनेक विकासात्मक प्रयोग के द्वारा नवीन सूचनाओं का जन्म होता है, तदनन्तर इन्हीं सूचनाओं के आधार पर और कई नयी सूचनाओं का श्रृजन होने लगता है।

1. अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definitions)-

'सूचना' शब्द अंग्रेजी भाषा के (Information) का रूपान्तर है । डाटा (Data), तथ्य (Fact), बुद्धि (Intellegent) और ज्ञान (Knowledge) जैसे शब्दों को सूचना के

पर्यायवाची के रूप में सम्मिलित किया गया है । इसलिए सूचना का वास्तविक अर्थ जानने के लिए कुछ परिभाषाओं पर विचार करना उचित होगा । Webster's New Twentieth Century Dictionary, 1983 के अनुसार, "सूचना शब्द से आशय किसी भी प्रकार से संग्रहीत अध्ययन-अथवा शिक्षण द्वारा ग्रहण की गयी उन तथ्यों अथवा समंकों से है, जो लिखित या मौखिक रूप में तथ्यों, संमकों या ज्ञान पर आधारित हों।"[1]

Random House Dictionary of English Language, 1983 के अनुसार, ज्ञान वह है जो तथ्य अथवा परिस्थिति विशेष के सम्बन्ध में प्राप्त अथवा सम्प्रेषित हुआ हो, ऐसा कोई भी ज्ञान, जिसे सम्प्रेषण, शोध अथवा शिक्षण द्वारा संचित किया गया हो।"[2]

इस प्रकार रैन्डम हाउस डिक्सनरी ऑफ इंगलिश लैंग्वेज द्वारा प्रस्तुत परिभाषा में सूचना के पर्यायवाची के रूप में डाटा, तथ्य, बुद्धि, परामर्श, सूचना, ज्ञान तथा विवेक जैसे शब्द समूहों को सम्मिलित किया गया है । इन शब्दों का सम्बन्ध सूचना नामक आवधारण से है । अतएव ये सूचना के पर्यायवाची हैं। सूचना का सम्प्रेषण शब्दों अथवा मौखिक सम्प्रेषण अथवा लिखित रूप में होता है । सूचना अध्ययन अथवा शिक्षण द्वारा उपयोग की जाती है तथा इसका संचयन किसी भी रूप में किया जा सकता है । सामान्य रूप से लोग सूचना और ज्ञान को पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग करते हैं, परन्तु इन दोनों शब्दों के अर्थों में सूक्ष्म अन्तर भी है । इस प्रकार सूचना प्रतिमानों को अधिक संगठित रूप में व्याख्या द्वारा प्रस्तुत कर इन्हें ज्ञान में परिवर्तित किया जा सकता है ।

इस प्रकार ज्ञान दो रूपों में निहित होता है–(i) Tacit Knowledge जिसे प्रगट न किया गया हो अथवा व्यक्तिात ज्ञान एवं (ii) Explicit Knowledge स्पष्ट रूप से व्यक्त किया हुआ ज्ञान अथवा वस्तुनिष्ठ ज्ञान । ग्रन्थालयों, सूचना एवं प्रलेखन केन्द्रों में ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कृतियों में उपलब्ध ज्ञान का विश्लेषण करने, सम्प्रेषित एवं प्रसारित करने में सूचना व्यवसायिकों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है ।

2. सन्दर्भ स्त्रोत (Reference Sources)-

पुस्तकालयों में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना सन्दर्भ विभाग द्वारा सम्पन्न होता है। पुस्तकालय में सन्दर्भ 'प्रश्नों की उत्तर देने की विधि एक समान होते हुए भी प्रयुक्त खोज की विधियों का कोई निश्चित आधार नहीं होता है। विभिन्न पुस्तकालयों में साहित्यिक खोज नीति, ग्रन्थों की पर्याप्त उपलब्धी एवं सन्दर्भ ग्रन्थालयी की कार्यक्षमता एवं अनुभव पर निर्भर करती है ।

इस प्रकार पुस्तकालयों में सन्दर्भ स्त्रोतों के माध्यम से पाठकों द्वारा पूछे गये संदर्भ प्रश्नों के उत्तर दिये जाते हैं; अर्थात् जिन स्त्रोतों के माध्यम से पाठकों के सन्दर्भ प्रश्नों के उत्तर दिये जाते हैं, उन्हें सन्दर्भ स्त्रोत कहा जाता है ।

सन्दर्भ शब्द का शाब्दिक अर्थ-

-'सन्दर्भ' शब्द संस्कृत-धातु "दृभ" जिसका अर्थ है बाँधना या बुनना, में "सम्" उपसर्ग लगाकर बना है । संस्कृत कोष के अनुसार, "सन्दर्भ का अर्थ है एक साथ बाँधने वाला, संयोजित करने वाला, मिलाने वाला या बुनने वाला । इन सब अर्थों का मूल तत्व है दो या अधिक वस्तुओं का संयोग । अर्थात् पाठक एवं पाठ्य सामग्री के मध्य सम्पर्क स्थापित करना ।[3]

पुस्तकालयों में सन्दर्भ स्रोत में उन ग्रन्थों को सम्मिलित किया जाता है, जिन्हें पुस्तकालय से बाहर ले जाने का प्रावधान नहीं होता । परन्तु ग्रन्थालयों में सन्दर्भ ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुमूल्य एवं दुर्लभ-ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं । क्या उन सभी को सन्दर्भ ग्रन्थ की श्रेणी में रखा जा सकता है, ऐसा नहीं है । इसलिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि सन्दर्भ स्रोत के अन्तर्गत किस प्रकार के ग्रन्थों को सम्मिलित किया जा सकता है । A.L.A. Glossary of Library Terms के अनुसार, "सन्दर्भ कृतियाँ जो इस उद्देश्य से निर्मित की गयी होती है–वह कृति जो अपेक्षाकृत लगातार अध्ययन करने के उसके विषय वस्तु के अनुसार की इस ढंग से निर्मित एवं संकलित की गयी होती है जिससे किसी निश्चित सूचना सामग्री का अवलोकन किया जा सके ।"[4] ऐसी कृति को सन्दर्भ ग्रन्थ कहा जाता है। इस प्रकार सन्दर्भ स्रोत वे कृतियाँ होती हैं जिन्हें विशेष प्रकार से विशिष्टढंग से निर्मित किया गया होता है जिनको विशिष्ट प्रकार की सूचना के लिए उपयोग में लाया जाता है । सन्दर्भ स्रोत के अन्तर्गत शब्दकोश (Dictionary) अब्दकोश (Year Books), निर्देशिकाएँ (Directories) विश्वकोश (Encyclopadias) एवं गगेटिययर (Gazetteers) को सम्मिलित किया जा सकता है । इनके अतिरिक्त सन्दर्भ प्रश्नों का उत्तर देने के लिए जिस किसी प्रलेख या अभिलेख का उपयोग किया जाता है ऐसे सारे प्रलेखों या अभिलेखों को सन्दर्भ स्रोत कहा जाता है । सभी प्रकार के ग्रन्थालयों में त्वरित एवं दीर्घ कालीन सन्दर्भ सेवा प्रदान किय जाते हैं। उपयोक्ताओं द्वारा वांछित सन्दर्भ प्रश्नों के उतर देते समय उपयोक्तओं की प्रकृति एवं ग्रन्थालयों की श्रेणी का विशेष ध्यान रखना पड़ता है । सार्वजनिक ग्रन्थालय, शैक्षणिक ग्रन्थालय एवं विशिष्ट ग्रन्थालय में त्वरित एवं दीर्घकालीन सन्दर्भ प्रश्नों के समाधान हेतु अलग-अलग विधियों को उपयोग में लाया जाता है । त्वरित सन्दर्भ सेवा में उपयोक्ताओं के सन्दर्भ प्रश्नों के उत्तर या तो स्वयं सन्दर्भ कर्मी देता है, या तो उपयोक्ता के प्रश्न से सम्बन्धित स्रोत के विषयवस्तु एवं उपयोग में उसे सहायता करता है ।

दीर्घकालीन सन्दर्भ सेवा में त्वरित सन्दर्भ सेवा की तुलना में अधिक समय लगता है। उपयोक्ताओं द्वारा पूछे गये ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने में सन्दर्भ ग्रन्थालयी को एक से अधिक ग्रन्थों में से सूचना खोजनी पड़ती है तथा यह सेवा सभी प्रकार की ग्रन्थालयों में दी जा सकती है। इस प्रकार दीर्घकालीन सन्दर्भ सेवा के अन्तर्गत उपयोक्ताओं के सन्दर्भ प्रश्नों का उत्तर देने के लिए आधे घण्टे से लेकर एक दिन या सप्ताह लग सकते हैं । दीर्घ

कालीन सन्दर्भ प्रश्नों का उत्तर ग्रन्थालय में उपलब्ध सूचना के विभिन्न स्रोतों में से खोजना पड़ता है। त्वरित सन्दर्भ प्रश्नों की तुलना में दीर्घ सन्दर्भ प्रश्न जटिल प्रकृति के होते हैं । कभी-कभी ऐसे सन्दर्भ प्रश्नों का उत्तर ग्रन्थालय में उपलब्ध सूचना स्रोतों से खोजने पर भी नहीं मिलता है तो इस स्थिति में या तो अन्य ग्रन्थालयों में उपलब्ध सूचना स्रोतों का उपयोग किया जाता है या सम्बन्धित प्रश्नकर्ता को निर्देशपरक सेवा प्रदान की जाती है । निर्देश परक सेवा को रेफरल सेवा के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है । रेफरल सेवाएँ उपयोक्ता को पूछे गये प्रश्न से सम्बन्धित ग्रन्थ अथवा सूचनाएँ प्रदान नहीं करती हैं, बल्कि इसमें उपयोक्ता को स्रोतों से सम्बन्धित अन्य सूचना केन्द्रों, ग्रन्थालयों, शोध संस्थानों, द्वितीयक प्रकाशनों या विषय विशेषज्ञों के बारे में बताया जाता है कि वे सब कहाँ प्राप्त होंगे । रेफरल सेवाएँ स्वयं या ग्रन्थालय एवं सूचना केन्द्रों में प्रदत अन्य सेवाओं के सहयोग से कार्य कर सकती हैं। एक छोटे भौगोलिक क्षेत्र में उपयोक्ताओं को विना किसी बाधा के रेफरल सेवाएँ प्रदान की जा सकती है ।

वर्तमान में कम्प्यूटर एवं संचार प्रद्यौगिकी के उपयोग ने ग्रन्थालय एवं सूचना केन्द्रों द्वारा प्रदत्त विभिन्न पारम्परिक सेवाओं के साथ-साथ पूर्व प्रचलित सन्दर्भ सेवा को डिजिटल अथवा इलेक्ट्रॉनिक सन्दर्भ सेवा के रूप में परिवर्तित कर दिया है ।

डिजिटल सन्दर्भ सेवा मुख्य रूप से इन्टरनेट आधारित सन्दर्भ सेवा है, तथा इसको (Ask-An-Expert) आस्कएन-एक्सपर्ट या (Ask-A-Librarian) आस्क - ए- लाइब्रेरियन के नाम से भी जाना जाता है । इस सेवा में सन्दर्भ प्रश्न के उत्तर प्राप्त करने के लिए उपयोक्ताओं को अपने इ-मेल के द्वारा इन्टरनेट पर उपलब्ध निर्धारित प्रपत्र को भरकर सम्बन्धित यू.आर.एल. पर प्रेषित करना पड़ता है । इस प्रकार जिडिटल सन्दर्भ सेवा में सन्दर्भ प्रश्नों का उत्तर इन्टरनेट पर विभिन्न वेबसाइटों के माध्यम से विभिन्न-ग्रन्थालयों के सूचना विशेषज्ञों के द्वारा दिया जाता है । डिजिटल सन्दर्भ विशेषज्ञों को वॉलून्टीयरस या मेन्टरस भी कहा जाता है । अलग-अलग विषयों में अनेक बेवसाइटों पर प्रश्न एवं उत्तर से सम्बन्धित डेटाबेसों एवं ए. सेट ऑफ एफ.ए. क्यूस पैकेजों का निर्माण किया गया है। इन डेटाबेसों एवं पैकेजों से इन्टरनेट पर उपयोक्ताओं को सन्दर्भ प्रश्नों का उत्तर तत्काल प्राप्त होता है । डिजिटल सन्दर्भ सेवा प्रदान करने में स्रोतों एवं विशेषज्ञों से सम्पर्क स्थापित करने में वर्चूअल सन्दर्भ डेस्क (http : //www. Vrd. org) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

हस्तगत या पारम्परिक सन्दर्भ सेवा की तुलना में डिजिटल सन्दर्भ सेवा में उपयोक्ताओं द्वारा इन्टरनेट के उपयोग हेतु एक निश्चित शुल्क का भुगतान करना पड़ता है, क्योंकि अब भी बहुत से ऐसे स्वचालित ग्रन्थालय एवं सूचना केन्द्र हैं जो डिजिटल सन्दर्भ सेवा प्रदान करने में असमर्थ हैं । सन्दर्भ ग्रन्थ (Refeence Books)-सूचना की ऐसी कृतियाँ हैं जिन्हें सन्दर्भ कृति कहते हैं; वे प्राथमिक एवं मौलिक स्रोतों की सूचना सामग्री को अत्यधिक व्यवस्थित ढंग से इस क्रम में प्रस्तुत करती हैं जिससे अध्येता को सरलतापूर्वक

अभिष्ट सूचना प्राप्त हो सके । यद्यपि वांछित सूचना सन्दर्भ कृतियों से प्राप्त होता है जो इनमें निहित होता है, तथापि इन्हें गौण सूचना स्रोतों की श्रेणी में रखा जाता है । ऐसी कृतियों में विश्वकोश (Encyclopaedias), शब्दकोश (Dictionaryes), हैण्डबुक एवं मैन्यूल (Handbooks and Manuals), सारणियाँ (Tables) एवं सूत्र पुस्तिकाएँ (Formularies) आदि होती हैं। द्वितीयक सूचना स्रोतों की ये कृतियाँ महत्वपूर्ण सूचना के स्रोत मानी जाती हैं जो नित्यप्रति के उद्यत एवं त्वरित सन्दर्भ के कार्य एवं सेवा हेतु प्रयुक्त की जाती है । इनमें निहित सूचना सामग्रियों को इस ढंग से प्रस्तुत एवं आकलित किया गया होता है जिससे नित्य प्रति की वांछित सूचना को सरलता पूर्वक सुलभ किया जा सके ।

4. **सूचना स्रोत (Sources of Information)**- विभिन्न प्रकार के प्रकाशित सूचना स्रोतों को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

(1) प्रलेखीय स्रोत (Documentary Sources).

(2) अप्रलेखीय स्रोत (Non-Documentary Sources).

प्रलेखीय स्रोतों में निहित सूचना के आधार पर उनको तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

प्राथमिक सूचनास्रोत, द्वितीयक सूचना स्रोत एवं तृतीयक सूचना स्रोत ।

4.1 प्राथमिक सूचना स्रोत (Primary Sources)-

प्राथमिक स्रोत के अन्तर्गत शोध अथवा प्रयोग या मानवीय क्रिया कलापों के द्वारा निर्मित सूचनाओं को सम्मिलित किया जाता है । ऐसी सूचनाएँ जिसे सर्वप्रथम जिन प्रलेखों या अभिलेखों के द्वारा उपलब्ध कराये जाते हैं ऐसे प्रलेखों या अभिलेखों को प्राथमिक सूचना का स्रोत कहा जाता है । ये मुद्रित एवं अमुद्रित दोनों प्रकार के हो सकते हैं । जैसे किसी पत्रिका में किसी विषय से सम्बन्धित प्रथम बार प्रकाशित कोई लेख, दैनिक समाचार पत्रों के प्रतिवेदन, मोनोग्राफों शोध प्रबन्धों एवं पाण्डुलिपियाँ । सूचना के इन प्राथमिक स्रोतों को मूल स्रोत कहते हैं । सभी विषयों से सम्बन्धित शोध कार्यों के लिए प्राथमिक सूचना स्रोत अति आवश्यक होते हैं क्योंकि यही स्रोत विशेषज्ञों को शोध कार्य के विकास में आधार प्रदान करते हैं ।

प्राथमिक सूचना स्रोतों के आधार पर नवीन सूचनाओं की रचना की जाती है तथा शोधकार्य की पुनरावृत्ति को रोकने में अधिक सुविधा होती है ।

प्राथमिक सूचना स्रोतों की श्रेणियों के अन्तर्गत प्रकाशनों के अनेक रूपों को सम्मिलित किया गया है, जैसे शोध पत्रिकाएँ (Research Journals), धारावाहिक (Serials), मैगजीन (Magazine), बुलेटिन (Bulletin), सम्मेलन कार्यवाही (Proceedings) मानक (Standards), एकस्व (Patents), शोध प्रबन्ध (Dissertations), व्यसायिक साहित्य (Trade Literature), सरकारी प्रकाशन (Government Publications), मानचित्र एवं चार्ट्स (Maps and Charts) तथा अप्रकाशित स्रोत (Unpublished Sources).

(1) शोध पत्रिकाएँ (Research Journals)-

नवीन सूचनाओं के प्रसार के लिए पत्रिकाएँ एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं । 17वीं सदी के मध्य में शोधों एवं प्रयोगों द्वारा प्राप्त परिणामों के सूचनाओं के प्रसार एवं प्रचार हेतु पत्रिकाओं का प्रचलन प्रारम्भ हुआ । इसको एक खुले अभिलेख (an open record) के रूप में विकसित किया जिसमें प्रत्येक शोधकर्त्ता अपने विचारों अथवा मतों की समीक्षा अथवा आलोचना हेतु अपने साथी वैज्ञानिकों के समक्ष प्रस्तुत करते रहे । यद्यपि वर्तमान में उपलब्ध पत्रिकाओं में केवल वास्तविक शोध एवं खोजों से सम्बन्धित वास्तविक सूचना ही नहीं मिलती, बल्कि विशिष्ट विषयों से सम्बन्धित प्रशासनिक एवं व्यक्तिगत समाचार के साथ-साथ समाज के अन्य क्षेत्रों से सम्बन्धित लेखों के सारांश एवं पुस्तक समीक्षा आदि से सम्बन्धित सूचनाएँ भी मिलती है।

शोध पत्रिकाओं के अन्तर्गत इसके अन्य रूपों जैसे बुलेटिनस या विज्ञप्तियाँ, जर्नलस, प्रोसीडिंग्स एवं ट्रान्जंकसन्स आदि को सम्मिलित किया जाता है । ये पत्रिकाएँ एक निश्चित अन्तराल पर प्रकाशित होते रहते हैं। यद्यपि वार्षिकी एवं समाचार पत्र भी एक निश्चित अन्तराल पर प्रकाशित होते हैं, लेकिन इनको पत्रिका की श्रेणी में सम्मिलित नहीं किया जाता है । शोधों एवं प्रयोगों से सम्बन्धित वास्तविक सूचना का अधिकांश भाग पत्रिकाओं के द्वारा ही प्राप्त होता है । पुस्तकों की तुलना में अद्यतन सूचनाएँ पत्रिकाओं के माध्यम से बहुत कम समय में उपलब्ध होती है, जबकि ऐसी सूचनाएँ शोध कर्ताओं को पुस्तकों के माध्यम से देर से प्राप्त होती हैं ।

इस प्रकार नये-नये शोधों के परिणामों की सूचना को शोधकर्ताओं को उपलब्ध करवाने में इनके द्वारा एक सप्ताह समय लगता है, जबकि यही सूचना पुस्तक के द्वारा दो या तीन वर्ष में प्राप्त होते हैं । वर्तमान में शोध गति विधियों में वृद्धि के साथ-साथ ज़िसगति से शोधकार्य संचालित किये जाते हैं उसी के अनुपात में वास्तविक सूचनाओं को शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित की जाती है ।

इस प्रकार पत्रिकायें शोध अथवा विशिष्ट ग्रन्थालयों के संकलन निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं ।

उदाहरण

1. सरस्वती सुषमा, 1942, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय, त्रैमासिकी ।
2. Journal of Dharama, 1975, Banglore, Ouarterly.
3. Journal of American Oriental Socoety, 1851, USA, Conneticus, Quarterly.

4. महस्विनी (विद्यापीठ शोध पत्रिका), 1999, तिरूपति, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठम, छमाही ।
5. अर्वाचीन संस्कृतम्, 2008, नयी दिल्ली, देववाणी परिषद्, त्रैमासिक ।
6. Journal of Indian Council of Philosophical Research, 1983, New Delhi, I.C.P.R., Quarterly.
7. Sri Venkateswara University Oriental Journal, 1957, Tirupati, O.R.I.S.V.U,
8. Journal of Sukrtindra Oriental Research Institute, 1999, Kerela, University of Kerala, Six Monthly.
9. श्रमण, 1950, जैनशोध संस्थान, वाराणसी, हिन्दी, संस्कृत ।
10. शोध प्रभा, नई दिल्ली : श्री लाल बहादुर केन्द्रीय सं.वि., 1978. संस्कृत ।

(2) धारावाहिक (Serials)-

शोध पत्रिका की भांति धारावाहिक भी सामयिकी का एक रूप है तथा इन धारावाहिकों के माध्यम से भी हो रहे विभिन्न क्षेत्रों में शोधों एव्रं प्रयोगों के द्वारा प्राप्त नयी सूचनाओं का विवरण भी शोधकर्त्ताओं एवं विद्वानों को एक निश्चित अन्तराल पर उपलब्ध करायी जाती है । क्रमिक अथवा धारावाहिक प्रकाशन खण्डों में प्रकाशित होती है।

(3) शोध प्रतिवेदन (Research Report)-

शोध प्रत्रिकाओं के बाद शोध प्रतिवेदन एक महत्वपूर्ण प्राथमिक स्रोत है । यह शोध की प्रगति के सम्बन्ध में नवीनतम सूचना प्रदान करते हैं । यह एक सामयिक प्रकाशन है। इसका हर खण्ड और अंक विषय विवेचन की दृष्टि से पूर्ण एवं स्वतन्त्र होता है पर विषय के उद्देश्यों के अनुसार उसके मुख्य विषय के एक क्षेत्र से सम्बन्धित रहते हैं। इनका प्रकाशन खण्डों में होता है ।

मौलिक शोध की तुलना में औद्योगिक शोध एवं विकास में इन प्रतिवेदनों का अधिक महत्व होता है । ऐसे प्रतिवेदनों का संकलन सामयिक साहित्य के रूप में किया जाता है। इस प्रकार औद्योगिक शोधों एवं विकासों में कार्यरत वैज्ञानिकों एवं शोधकर्त्ताओं के लिए ये प्रतिवेदन महत्वपूर्ण सूचना स्रोत हैं।

(4) शोध विप्रबन्ध (Research Monographs)-

शोध विप्रबन्ध भी प्राथमिक सूचना काएक महत्वपूर्ण स्रोत होता है । इन शोध विप्रबन्धों को शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो पाता हो इसलिए इन शोध विप्रबन्धों को प्रतिवेदन रूप में अलग से प्रकाशित किया जाता है, जो पूर्णतः एकांगी होते हैं। इन्हें शोध मोनोग्राफ भी कहा जाता है तथा यह लेखक अथवा शोधकर्त्ता के मौलिक एवं पिछले अप्रकाशित कार्य के प्रस्तुतीकरण से पूर्व वर्तमान सिद्धान्तों एवं प्रयोगों का

संक्षिप्तिकरण करता है । यह किसी विषय विशेष में चल रहे शोध गतिविधियों के एक ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित होता है । शोध विप्रबन्ध में मौलिक शोधों के निष्कर्षों एवं परिणामों से सम्बन्धित तथ्यों अथवा विवरणों को प्रकाशित किया जाता है । सामान्यतः शोध विप्रबन्ध भी अन्य ग्रन्थों से भिन्न नहीं होती, लेकिन इसमें निहित सूचना अत्यन्त सीमित होती हैं ।

(5) सम्मेलन कार्यवाही (Conference Proceedings)-

शिक्षण संस्थाएँ, एवं अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ज्ञान के सभी क्षेत्रों में समय-समय पर स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संगोष्ठी, सम्मेलन एवं कार्यशाला का आयोजन करते रहते हैं। इन कार्यवाहियों के माध्यम से विषय विशेषज्ञों, विद्वानों, वैज्ञानिकों एवं शोधकर्त्ताओं को अपने विचारों के विनिमय का अवसर प्राप्त होता है। सम्मेलन के दौरान जितने भी लेख पढ़े जाते हैं वे सभी लेख सूचना के मुख्य स्रोत होते हैं । वर्तमान समय में सम्मेलन कार्यवाहियों को मुद्रित के साथ साथ ई ग्रन्थ में भी प्रकाशित किया जाता है। इससे विषय विशेषज्ञों एवं शोधकर्ताओं को सम्मेलन कार्यवाहियों से सम्बन्धित सूचना प्राप्त करने में अधिक कठिनाई नहीं होती ।

(1) 42 वाँ अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन विशेषांक । सं.सं. वि.वि.-वाराणसी, 2008 ।

(2) 42वाँ अखिल भारतीय प्राच्यविद्या स्मृति विशेषांक / सं.सं. वि. वि.-वाराणसी, 2008 ।

(3) विश्व संस्कृत सम्मेलन-विशेषांक / सं.सं.वि.वि.-वाराणसी : सं.सं.वि.वि., 2008 ।

(6) मानक (Standards)-

विभिन्न-क्रियाकलापों अथवा सामग्रियों या वस्तुओं के उपयोग में एकरूपता बनाये रखने के लिए गुणों के आधार पर मानक निर्धारित किये जाते हैं। मानक एक ऐसी पुस्तिका है जिसमें उत्पादों की परिभाषा, विधि, गुणवत्ता तथा सही माप आदि के बारे में पूर्ण सूचना सही माप आदि के बारे में पूर्ण सूचना दी हुई होती है ।

वैज्ञानिक शोधों में मानकों का उपयोग अति आवश्यक माना गया है । विश्व के अधिकांश देशों में उद्योगों एवं व्यापारिक गतिविधियों में गुणवत्ता बनाये रखने के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के मानकों के उपयोग को अनिवार्य कर दिया गया है। इस प्रकार मानक भी प्राथमिक स्रोत का एक प्रकार है। भारतीय मानक संस्थान (Bureau of Indian Standard) प्रतिवर्ष 300 मानक स्थिर करता है।

(7) एकस्व (Patents)-

सूचना के प्राथमिक स्रोतों के अनेक प्रकारों में से एकस्व भी एक है। एकस्व के आविष्कारकर्त्ता अथवा निर्माणकर्त्ता को एक भौगोलिक परीधी के अन्तर्गत शासकीय मान्यता

एवं स्वीकृति तथा पंजीकरण की अनुमति प्रदान की जाती है जिससे उनको शासन की ओर से यह सुविधा मिल जाती है कि आविष्कारकर्त्ता एक निर्धारित समय तक उपयोग अथवा विक्रय करने का अधिकार रखेगा तथा अन्य दूसरा कोई व्यक्ति या संस्था आविस्कारकर्त्ता के एकस्व पर किसी प्रकार का दावा नहीं कर सकता। नये-नये उत्पादों से सम्बन्धित सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए एकस्वों का उपयोग किया जाता है । प्रत्येक देशों में एक राष्ट्रीय एकस्व संस्था होता है जहाँ से वैज्ञानिकों, चिकित्सकों, अभियन्ताओं एवं अन्य आविष्कारकर्त्ताओं को उनके नये-नये आविष्कारों के लिए एकस्वों की मान्यता दी जाती है।

(8) शोध प्रबन्ध (Dissertations)-

सभी प्रकार के विश्वविद्यालयों एवं शोध संस्थानों में शोध करने की सुविधा होती है। शोधकर्त्ता को सम्बन्धित विषय में एम.फिल. अथवा पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त करने हेतु विषय विशेषज्ञ के मार्ग निर्देशन में शोध प्रबन्ध लिखकर-सम्बन्धित संस्था में जमा करना पड़ता है । इन शोध प्रबन्धों में दी गयी सूचना, आंकड़े ठोस एवं प्रमाणित होते हैं। इस प्रकार शोध प्रबन्ध में मौलिक सूचना उपलब्ध होने के कारण अधिकांश शोधकर्त्ता अपने शोधकार्य में इनका उपयोग करते हैं ।

(9) व्यावसायिक साहित्य (Trade Literature)-

औद्योगिक एवं व्यापारिक गतिविधियों से सम्बन्धित सूचना स्रोतों को व्यावसायिक साहित्य के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है । विभिन्न व्यापारिक एवं औद्योगिक संगठन या एजेन्सियाँ अपने उत्पादों की सूचना को विभिन्न रूपों में जैसे प्राविधिक बुलेटिन, मूल्य-तालिका, लघु हस्त-पुस्तिकाएँ एवं संस्था पत्रिकाओं के रूप में प्रकाशित किये जाते हैं। अन्य मुद्रित पुस्तकों की भांति व्यावसायिक साहित्य की बिक्री पुस्तक विक्रेताओं द्वारा नहीं की जाती है । दूर-दर्शन एवं इन्टरनेट के आ जाने से व्यावसायिक साहित्य से सम्बन्धित अधिकांश सूचना उपयोक्ताओं को इन माध्यमों से प्राप्त होते हैं । इस प्रकार व्यावसायिक सूचना प्राप्त करने का यह महत्वपूर्ण प्राथमिक स्रोत होता है ।

(10) सरकारी प्रकाशन (Government Publications)-

सरकारी प्रकाशन का अभिप्राय उन शासकीय प्रकाशन से है जिनकी उत्पत्ति शासन के द्वारा हुई हो । इसमें शासन की नीतियाँ, निर्णय, विधान सम्बन्धी कार्य, न्यायिक कार्य के साथ-साथ अन्य गतिविधियाँ एवं प्रगतियों को प्रकाशित किया जाता है । शासकीय प्रकाशनों की श्रृंखला तथा कोड संख्या होते हैं। ये प्रलेख अभिज्ञान के सामान्य साधन माने जाते हैं । इनकी व्यवस्था करने वाली एजेन्सी तथा प्रस्तुत करने वाली संस्थाएँ इन कोड संख्याओं का प्रयोग करती हैं ।

सरकारी प्रकाशन पाठकों के लिए निम्नलिखित तीन कारणो से महत्वपूर्ण एवं उपयोगी होते हैं–

(1) यह एक मात्र सामाजिक, आर्थिक समझौते जैसे जनसंख्या शिक्षा, समाज कल्याण, उद्योग, व्यापार आदि का सांख्यिक आंकड़ों की सूचना प्राप्त करने का स्रोत है।

(2) यह एक मात्र नियमित जानकारी प्राप्त करने का स्रोत है । जैसे नियम और कानून, नागरिक अधिकारों की सीमा, व्यापारिक संघों के अधिकार आदि ।

(3) दो प्रकार की नयी सूचना के स्रोत एकस्व तथा मानचित्रों के द्वारा सामान्य जन को सूचना देते हैं ।

भारत के राष्ट्रीय ग्रन्थालय, कोलकता में सरकारी प्रकाशनों के संग्रहण, एवं उपयोग हेतु इण्डियन ऑफीसीयल डॉकूमेन्ट सेक्सन तथा फोरन आफीसीयल डॉकूमेन्ट सेक्सन दो अलग-अलग विभागों की स्थापना की गयी है । सरकारी गतिविधियों के फलस्वरूप उत्पन्न नयी सूचना सर्वप्रथम सरकारी प्रकाशनों के माध्यम से ही उपलब्ध होती है ।

(1 1) मानचित्र एवं चार्ट्स (Maps and Charts)-

मानचित्र एवं चार्ट्स का भी अपना एक सूचनात्मक महत्व है । चौरस वस्तु पर पृथ्वी के तल का चित्रण मानचित्र है तथा इनके संग्रह को मानचित्रावली कहते हैं । तल के चित्र को चार्ट कहा जाता है । पर्यटन, भ्रमण, सभ्यता और संस्कृति के बारे में जानकारी प्राप्त करने तथा विभिन्न प्रकार के शोधगतिविधियों को पूरा करने हेतु इनकी आवश्यकता पड़ती है । यह भौगोलिक जानकारी प्रदान करने के सूचना के महत्वपूर्ण प्राथमिक स्रोत हैं साथ ही साथ, इनके द्वारा राष्ट्र, राजनैतिक क्षेत्र, पैदावार, वर्षा आदि की भी सूचना प्राप्त होती है ।

(1 2) अप्रकाशित स्रोत (Unpublished Sources)-

प्राथमिक स्रोत के अप्रकाशित स्रोतों के अन्तर्गत साहित्य, मानविकी और समाज विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे स्रोतों की संख्या अधिक होती है । कई बार ऐतिहासिक लाभ हेतु भी इस प्रकार के अप्रकाशित स्रोतों का उपयोग किया जाता है। हस्तलिखित ग्रन्थों को अप्रकाशित स्रोत में सम्मिलित किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त इसमें प्रयोगशाला नोटबुक, स्मरण पत्र एवं ज्ञापन, व्यक्तिगत डायरी, व्यक्तिगत पत्र, कम्पनी फाइल, आन्तरिक शोध प्रबन्ध, चित्रावली, सिक्के, संस्मरण, मौखिक इतिहास तथा कैसेट में संग्रहित साक्षात्कार की सूचना आदि आते हैं ।

इस प्रकार इन सभी सूचना स्रोतों की सामाजिक, ऐतिहासिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विषयों का अध्ययन करने में आवश्यकता पड़ती है । इसीलिए इन्हें प्राथमिक सूचना स्रोतों की श्रेणी में रखा जाता है।

4.2 द्वितीयक सूचना स्रोत (Secondary Information Sources)-

प्राथमिक सूचना स्रोतों के आधार पर ही द्वितीयक सूचना स्रोत निर्मित किये जाते हैं। प्राथमिक सूचना स्रोतों में उपलब्ध सूचनाओं को इस प्रकार विन्यसित एवं प्रस्तुत किया जाता है जिससे पाठक कम से कम समय में उनके बारे में जानकारी प्राप्त कर सकता है। बहुत से प्राथमिक स्रोत जब समय पर उपलब्ध नहीं होते तो ऐसी स्थिति में उनके बारे में जानने के लिए द्वितीयक स्रोत एक मात्र साधन होते हैं । इसमें विषय का विवेचन व्यवस्थित रूप से आवश्यकतानुसार संक्षेप में अथवा विस्तार के साथ आवश्यक ग्रन्थात्मक विस्तार के साथ किया जाता है । ये मुख्यतया तीन प्रकार के होते हैं–

1. वे सूचना स्रोत जो प्राथमिक सूचना स्रोतों में उपलब्ध सामग्री की अनुक्रमणिका बनाते हैं या उनके साथ मूल लेखक का सार भी प्रस्तुत करते हैं । इनका उद्देश्य एक विषय पर प्रकाशित सूचना की जानकारी देना होता है । अनुक्रमणिकाएँ, वाङ्मय सूचियाँ एवं सार पत्रिकाएँ को इसी श्रेणी में सम्मिलित किये जाते हैं। मुद्रित पाठ्य-सामग्री की भी व्यवस्थित सूची को वाङ्मय सूची कहा जाता है । जबकि सारपत्रिकाओं में लेखों के संक्षिप्त सारांश दिये होते हैं । इसी प्रकार अनुक्रमणिका में सामायिकियों में प्रकाशित लेखों की विषय शीर्षकों की व्यवस्थित सूची संचित रहते हैं ।

2. दूसरी श्रेणी में उनसूचना स्रोतों को सम्मिलित किया जा सकता है जो किसी एक विषय पर विस्तृत, सूचना देते हैं । ऐसे सूचना स्रोतों को प्राथमिक साहित्य का सर्वेक्षण करके तैयार किया जाता है । इसके उदाहरण है समीक्षाएँ एवं प्रबन्ध लेख ।

3. तीसरे प्रकार में वे स्रोत-सम्मिलित हैं जिसके प्राथमिक सूचना स्रोतों से सूचना एकत्रित कर एक विषय पर पुनः सूचना प्रतिवेदित की जाती है । इनमें विश्वकोश, हस्तपुस्तिकाएँ एवं अन्य समकक्ष स्रोतों को सम्मिलित किया जाता है ।

पुस्तकालय एवं सूचना विज्ञान के कुछ विद्वान लेखकों ने सूचना के द्वितीयक स्रोत के श्रेणी में जिन रूपों को रखा है, उनका विवरण निम्न है–

जॉर्ज एस बॉन के अनुसार, "सूचना के द्वितीयक स्रोत के अन्तर्गत वाङ्मय सूचियाँ, अनुक्रमणिकरण एवं सारपत्रिकाएँ, सर्वेक्षण प्रकार (समीक्षा, प्रबन्धक, विनिबन्ध) एवं सन्दर्भ पुस्तकों को सम्मिलित किया गया है ।"

इसी प्रकार सी. डब्लू हैन्सन ने सूचना के द्वितीयक स्रोत के अन्तर्गत सारकरण एवं अनुक्रमणिकरण पत्रिका, प्रपत्रिकाएँ, उद्धरण अनुक्रमणिका, विषय वाङ्मय सूची, समीक्षा तथा सर्वेक्षण आदि को सम्मिलित किया है ।

द्वितीयक सूचना स्रोतों को निम्न श्रेणी में विभक्त किया गया है।

(1) वाङ्मय सूची (Bibliography)-

वाङ्मय सूची से तात्पर्य है वह सूची जो किसी लेखक विशेष, विषय विशेष, समय विशेष पर लिखित ग्रन्थों अथवा पत्रिका में प्रकाशित लेखों का व्यवस्थित तथा विवरणात्मक

सूची है। पुस्तकालयों में पुस्तक चयन के उपकरण के रूप में इनका प्रयोग किया जाता है । वाङ्मय सूचियों के प्रकारों के अन्तर्गत-सार्वभौमिक वाङ्मय सूची, राष्ट्रीय वाङ्मय सूची, व्यावसायिक वाङ्मय सूची, विषयगत वाङ्मय सूची एवं लेखक वाङ्मय सूची को सम्मिलित किया गया है । ये अकसर लेखक या विषय के द्वारा वर्णानुक्रमिक, कालानुक्रमिक या प्रकरणानुसार व्यवस्थित होती हैं । यह व्यापक या चयनित हो सकती है ।

इन वाङ्मय सूचियों के माध्यम से उपयोक्ताओं को अपने अभिरूचि की पुस्तक या अन्य सामग्री खोजने में सहायता मिलती है । संस्कृत वाङ्मय में हस्तलिखित ग्रन्थों से सम्बन्धित कैटलॉगस कैटलागोरम (Catalogus Catalogorum) एवं न्यू कैटलॉगरु कैटलोगोरम (New Catalogus Catalogorum) महत्वपूर्ण वाङ्मय सूचियाँ हैं ।

(2) सामयिक प्रकाशन (Periodicals)-

समस्त सामयिक प्रकाशन-मौलिक सूचना प्रदान नहीं करते । बहुत से ऐसे सामयिक प्रकाशन है जो प्राथमिक सूचना स्रोतों में अभिलेखित विकासों की व्याख्या करने एवं मत देने में विशिष्ट हैं ।

(3) अनुक्रमणीपत्रिका (Indexing Journals)-

अनुक्रमणी पत्रिका प्राथमिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले लेखों की आख्याओं का नियमित संकलन है । नयी पुस्तकों, पम्फलेट्स आदि की आख्याएँ भी इसमें सम्मिलित होती हैं । ये पत्रिकाएँ एक निश्चित अन्तराल पर प्रकाशित होती हैं। इसका विषय क्षेत्र प्रायः एक वृहद् विषय होता है ।

अनुक्रमणी पत्रिकाओं की सहायता से एक विषय पर साहित्य खोजा जा सकता है। संस्कृत एवं प्राच्य विद्याओं में भी अनुक्रमणिकाओं का प्रकाशन हुआ है ।

(4) सारांश पत्रिका (Astracting Journals)-

सारांश पत्रिका को द्वितीयक सूचना स्रोत की श्रेणी में सबसे अधिक महत्व दिया गया है । सारांश प्रलेखों के उद्देश्यों, कार्यक्षेत्र एवं उपलब्धियों का संक्षिप्तीकरण है । इस प्रकार सारांश पत्रिकाओं से तात्पर्य नियमित रूप से प्रकाशित तथा सुव्यवस्थित पत्रिकाओं से होता है जिनके अन्तर्गत संक्षेप में प्राथमिक स्रोतों की पत्रिकाओं के लेख जो उन विशिष्ट विषयों से सम्बन्धित हो, नव शोध विप्रबन्धों, प्रतिवेदनों, प्रमाणकों तथा अन्य प्राथमिक प्रकाशनों को संकलित किया होता है । इसमें लेख के सारांश के साथ ही साथ उसका ग्रन्थपरक विवरण भी दिया रहता है । इसका मुख्य उद्देश्य ऐसे उपयोक्तओं को जानकारी देना है जो किसी कारणवस या समयाभाव के कारण मौलिक प्रलेख तक पहुँचने में असमर्थ होते हैं।

(5) प्रगति समीक्षा (Reviews of Progress)-

प्रगति समीक्षा प्राथमिक साहित्य का सर्वेक्षण होती है । समीक्षात्मक साहित्य एक विशिष्ट विषय पर एक विस्तृत लेख होता है । इनका मुख्य उद्देश्य दी गयी निश्चित अवधि

के साहित्य को क्रमबद्ध एवं परस्पर सम्बन्धि करना है । यह सम्बन्धित विषय के विकास एवं प्रवृत्तियों को भी बताती है । ये सामयिक प्रकाशन के लेखों के रूप में या नियमित रूप से जैसे मासिक, द्विमासिक या त्रैमासिक पत्रों के संग्रह के रूप में प्रकाशित हो सकती है।

इस प्रकार प्रगति समीक्षा के द्वारा नयी समस्या की पृष्ठभूमि की सूचना प्राप्त की जा सकती है । इसमें दी गयी सन्दर्भ सूची विषय की निश्चित अवधि के लिए उत्तरम ग्रन्थ सूची के रूप में उपयोग किये जा सकते हैं ।

(6) सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference Books)-

सन्दर्भ ग्रन्थ वाह्य स्मृति सहायक साधन है तथा किसी विशेष उद्देश्य के लिए इनका उपयोग किया जाता है । सन्दर्भ ग्रन्थों का अवलोकन खास तथ्य से स्पष्टीकरण एवं पुष्टिकरण के लिए किया जाता है । ए. एल. ए. ग्लौसरी ऑफ लाइब्रेरी टर्मस के अनुसार, "निश्चित विषयों की जानकारी के लिए सन्दर्भ ग्रन्थ की रचना विशिष्ट संयोजन पद्धति के द्वारा की जाती है । इसका अध्ययन निरन्तर कदाचित ही किया जाता है और इसका उपयोग पुस्तकालय के अन्दर ही सीमित रहती है ।"

इसी प्रकार डा. एस. आर. रंगनाथन ने भी सन्दर्भ ग्रन्थ की परिभाषा की है–"सन्दर्भ पुस्तक ज्ञात सूचनाओं का संकलन एवं संगठन इस प्रकार करती है कि अभिष्ट सूचना तत्काल एवं विषय के रूप में सामने आती है ।[11]

इस प्रकार सन्दर्भ ग्रन्थों में सूचना एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं होती तथा इन्हें शुरू से अन्त तक नहीं पढ़ा जाता है । इन ग्रन्थों का उपयोग ज्यादातर ग्रन्थालयों के भीतर ही किया जाता है । सन्दर्भ ग्रन्थ के श्रेणियों का विवरण इस प्रकार निम्नलिखित है–शब्दकोश (Dictionary) सन्दर्भ पुस्तकों में शब्दकोश का स्थान सबसे पहले आता है क्योंकि इस स्रोत का उपयोग सभी श्रेणी के पाठकों द्वारा प्रारम्भ से ही शुरू कर दिया जाता है । शब्दकोश ऐसा ग्रन्थ है जो किसी भाषा, विशिष्ट विषयों एवं लेखकों के शब्दों से सम्बन्धित होता है । संस्कृत एवं प्राच्य विद्या में यास्क द्वारा विरचित निघण्टु एवं निरूक्त प्राचीनतम कोश है ।

शब्दकोश मुख्यतः दो प्रकार के हो सकते हैं–

(1) सामान्य शब्दकोश (General Dictionary) एवं

(2) विषयगत शब्दकोश (Subject Dictionary) :

सामान्य शब्दकोश में एक अथवा अधिक भाषाओं के शब्दों की अर्थ दी हुई होती है। जिन शब्दकोशों में दो भाषाओं में शब्द दिये होते हैं उन्हें द्विभाषी (Bilingual) तथा दो से अधिक भाषाओं के शब्द दिये होने पर बहुभाषी शब्दकोश (Multitingual Dictionary) कहा जाता है । उदाहरणार्थ–

1. Sanskrit English Dictionary by Monier Williams.

2. Sanskrit-German Dictionary.
3. Sanskrit - Hindi Dictionary by Vaman Shivram Apte.
4. English Sanskrit Dictionary by Monier Williams.
5. Neeta's Sanskrit - Hindi - English Dictionary.

विषयगत शब्दकोश में किसी एक विषय के सभी प्रमुख शब्दों की अर्थ या परिभाषा दी हुई होती है तथा इसमें शब्दों का विन्यसन वर्णानुक्रम में होता है । उदाहरणार्थ–

1. संस्कृत सङ्गणक शब्द कोश/सम्पादन द्वारा श्रीनिवास वररवेदी - हैदराबाद : संस्कृत परिषद, उ.वि.वि., 2009 ।
2. धर्म और संस्कृति कोश / अरूण.-नई दिल्ली राधा पब्लिकेशन्स, 2007 ।
3. Dictionary of Mythology / Lewis Spence.-
4. वैदिक कोश / सूर्यकान्त - बनारस : का.हि.वि.वि., 1963 ।

विश्वकोश (Encyclopaedia)-

विश्वकोश ऐसा ग्रन्थ है जिसमें समस्त ज्ञान के आवधारणाओं को पूर्णतः स्पष्ट किया गया होता है । विश्वकोश में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की सामान्य सूचना प्रदान करने वाले सूचनात्मक लेख होते हैं। विश्वकोशों में विषय से सम्बन्धित सूचनाओं का विन्यसन वर्णानुक्रम में होता है । इस प्रकार विश्वकोश ज्ञान के भण्डार होते हैं तथा किसी विषय के पृष्ठभूमि एवं इतिहास से सम्बन्धित सूचना खोजने के लिए इनका उपयोग किया जाता है। विश्वकोश को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, जैसे–

(1) सामान्य विश्वकोश (General Encyclopaedia) एवं

(2) विशिष्ट विश्वकोश (Special Encyclopaedia)

सामान्य ब्रिश्वकोश में सभी प्रकार के ज्ञान सामग्री का विषयानुसार सारांश लेख सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप में वर्णित होते हैं । Encyclopaedia Britannica एवं Encyclopaedia Americana इसके महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। विशिष्ट विश्वकोश के अन्तर्गत एक विषय या किसी विषय विशेष से सम्बन्धित सूचनाओं को एकत्रित करके आलेखों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । विशिष्ट विश्वकोश को विषय विश्वकोश के नाम से जाना जाता है क्योंकि इसमें किसी विषय विशेष के सभी पक्षों के नाम से सूचना वर्णनानुक्रम में व्यवस्थित होते हैं विज्ञान, समाज-विज्ञान, धर्मशास्त्र एवं प्राच्य विद्या एवं मानविकी के क्षेत्र अनेक विश्वकोशों को प्रकाशित किया गया है । उदाहरणार्थ–

1. Encyclopaedia of Religion and Ethics- James Hastings.
2. Encyclopaedia of Philosophy/ George W. Friedrich .
3. Encyclopaedia of Hinduism.

4. Encyclopaedia of Upanishades / Ravi Narayan Pandey. - New Delhi : Anmol Publications, 2007.
5. Encyclopaedia of Vedanta / P.R.P. Sharma.- New Delhi : Anmol Publications, 2007.
6. Encyclopaedia of Buddhist Tantra/Shiv Shankar Tiwari.-New Delhi : Anmol Publications, 2009.
7. Encyclopaedia of Vedas/P.R.P. Sharma.-New Delhi. Anmol Publications, 2007.

हस्तपुस्तिका (Handbooks)- हस्तपुस्तिकाओं में मिश्रित सूचनाओं को सुव्यवस्थित एवं संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है । इसमें आंकड़े, विधियाँ, सिद्धान्त, सूत्र, सारणियाँ, चित्र एवं तथ्यात्मक सूचनाएँ आदि उपलब्ध होते हैं । यह वैज्ञानिकों, तकनीकी विशेषज्ञों एवं प्राविधिक कार्य से सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा अधिक उपयोग की जाती है ।

नियम पुस्तिका (Manual)-विभिन्न प्रकार के संस्थाओं में कौन-कौन से कार्य किस-किस रूपों में करना है के सम्बन्ध में नियम पुस्तिका से सही दिशा निर्देश मिलता है। नियम पुस्तिका का उपयोग चिकित्सा, प्राविधिक, औद्योगिक एवं तकनीकी क्षेत्रों के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों में किया जाता है ।

सारणियाँ (Tables)-सारणियाँ तथ्य प्रस्तुत करने का एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं । अधिकांश हस्तपुस्तिकाओं में तथ्य सारणियों के रूप में दिये होते हैं । सारणियों के सहायता से वांछित सूचना प्राप्त करने में पाठकों के समय की बचत होती है ।

अनुवाद (Translations)-सूचना के द्वितीयक स्रोत के अन्तर्गत अनुवादित सामग्रियों को भी सम्मिलित किया जाता है । विज्ञान एवं प्रद्यौगिकी से सम्बन्धित विदेशी भाषा में उपलब्ध साहित्य को अन्य भाषाओं में अनुवादित करके इन स्रोतों को निर्मित किया जाता है ।

प्रबन्ध ग्रन्थ (Treatise)-प्रबन्ध ग्रन्थ भी एक प्रकार से सन्दर्भ एवं सूचना प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण साधन होते हैं । ऐसे ग्रन्थों की रचना किसी विषय विशेष पर उपलब्ध बिस्तृत सूचनाओं के आधार पर की जाती है । किसी शोध के लिए सम्बन्धित विषय में प्रबन्ध ग्रन्थ अधिक मात्रा में प्राथमिक ज्ञान सामग्री उपलब्ध कराते हैं । परन्तु बहुत दिनों तक इनकी नवीनता विद्यमान नहीं रहती तथा कुछ समय बाद ये पुराने हो जाते हैं।

विप्रबन्ध (Monograph)-विप्रबन्ध को मोनोग्राफ भी कहा जाता है । यह प्रबन्ध ग्रन्थ की तुलना में किसी एक विषय या सीमित विषय से सम्बन्धित सूचना प्रस्तुत करता है। प्रबन्ध एवं विप्रबन्ध में भिन्नता होने के बाद भी दोनों का उद्देश्य एक समान होता है।

पाठ्य पुस्तक (Text Books)-पाठ्य पुस्तक कक्षा अध्ययन प्रणाली में विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के मध्य एक महत्वपूर्ण कड़ी का कार्य करती है । पाठ्य पुस्तकों में विषय

विशेष से सम्बन्धित सूचना को पाठकों के स्तर को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण जानकारी को सरल भाषा में लिखी हुई होती है । इसलिए पाठ्य पुस्तकों के निर्माण में अध्यापन प्रणाली एवं विद्यार्थियों के स्तर को विशेष महत्व दिया जाता है । इसका मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को किसी विशेष विषय की मौलिक जानकारी देना होता है ।

4.3 तृतीयक सूचना स्रोत (Tertiary Information Sources)-

तृतीयक सूचना स्रोत का लक्ष्य प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों के बारे में जानकारी प्रदान करना होता है । इनमें विषय से सम्बन्धित पाठ्य सामग्री नहीं होती है बल्कि विषय के प्राथमिक एवं द्वितीयक सूचना स्रोतों की जानकारी होती है सूचना विस्फोट के इस युग में बिना तृतीयक स्रोत की सहायता लिये प्राथमिक एवं द्वितीयक सूचना स्रोत का जानकारी करना एक कठिन कार्य है । तृतीयक सूचना स्रोतों के अन्तर्गत जिन रूपों को सम्मिलित किया जाता है वे इस प्रकार निम्नलिखित हैं–

(1) संदर्शिकाएँ (Guides)-ए.एल.ए. ग्लोसरी ऑफ लाइब्रेरी टर्मस के अनुसार "संदर्शिका एक हस्तपुस्तिका है जो यात्रियों को किसी स्थान विशेष जैसे शहर, क्षेत्र या देश से सम्बन्धित सूचना उपलब्ध कराती है; या ऐसी कोई अन्य हस्तपुस्तिका जो किसी भवन या अजायबघर के बारे में सूचना प्रदान करती है ।

सामान्य संदर्शिकाओं के अतिरिक्त साहित्यिक सन्दर्शिकाएँ महत्वपूर्ण होती है । सन्दर्शिकाओं का मुख्य उद्देश्य एक विषय के ग्रन्थात्मक संरचना को प्रस्तुत करना है । इन संदर्शिकाओं के माध्यम से पाठकों को किसी विषय विशेष के साहित्य की विस्तृत सूचना प्रदान करने में सुविधा होती है । किसी विषय के मूल्यांकन एवं प्रारम्भिक स्थिति से लेकर उसके विकास की जानकारी उपलब्ध कराना भी इन संदर्शिकाओं का कार्य होता है। इनमें विषय विशेष की जानकारी के जगह उनके सूचना स्रोतों की विवरण दी हुई होती है ।

(2) वाङ्मय सूचियों का वाङ्मयसूची (Bibliography of Bibliographies)- विभिन्न प्रकार की वाङ्मय सूचियों में वृद्धि के कारण सूचना के इस स्रोत की आवश्यकता महसूस की गयी । इनमें उन वाङ्मय सूचियों की एक तालिका रहती है जिनसे उपयोक्ताओं को किसी-विशिष्ट विषय या अनेक विषय पर सम्बन्धित प्रलेखों की सूचियों से अवगत करना होता है जिससे उनको मुद्रित प्रलेखों तक पहुँचने में सुविधा होती है। ग्रन्थात्मक नियंत्रण की दृष्टि से इस तरह के वाङ्मय सूचियों का प्रकाशन अत्यन्त आवश्यक है । इनका विषय क्षेत्र सामान्य एवं विशिष्ट दोनों प्रकार से सम्बन्धित होता है । यह पृथक प्रकाशित पुस्तक, पुस्तक के अंश, सामयिक प्रकाशनों के लेख या अन्य प्रकार के प्रलेख के रूप में हो सकती हैं।

उदाहरण–

A Bibliography of Bibliographies in Religion by J.G. Barrows. Am Arbor, Michigan : Edwards, 1955.

(3) निर्देशिकाएँ (Directiories)-निदेर्शिका में व्यक्तियों, शैक्षणिक संस्थाएँ, व्यावसायिक संगठनों एवं पत्रिकाओं से सम्बन्धित सूचना होती है । इन सूचनाओं में पत्रिकाओं, संस्थाओं, संगठनों एवं व्यक्तियों के नाम एवं पतों की व्यवस्थित सूची दी हुी होती है तथा इनकी विषय क्षेत्र व्यापक एवं विस्तृत होती हैं। निर्देशिकाओं के अन्त में अनुक्रमणी दिये रहते हैं जिसके सहायता से उपयोक्ता अपनी वांछित सूचना आसानी से खोज सकता है । निर्देशिकाएँ दो प्रकार की होती है, जैसे–

(1) सामान्य निर्देशिकाएँ (**General Directories**) एवं

(2) विशिष्ट निर्देशिकाएँ (**Special Directories**)

उदाहरणार्थ-

Ulrich International Periodical Directory, and

Indian Library Directory.

(4) शोध प्रगति सूची (Lists of Research in Progress)-शोध प्रगति सूची के माध्यम से किसी एक संस्था या प्रयोगशाला या एकरूप संस्थाओं के समूह से सम्बन्धित शोध गतिविधियों की सूचना मिलती है । यह सूची एक नये प्रकार का प्रकाशन है । इसमें सूचना के अन्तर्गत योजना का विवरण, शोधकर्त्ता के नाम, शोध की अवधि तथा धन मुहैया कराने वाली संस्था का नाम आदि दिये रहते हैं । निसकेयर भारत में इस प्रकार की सूचियाँ संकलित करता है । इसके साथ ही साथ, भारतीय - विश्वविद्यालय संघ के द्वारा प्रकाशित "यूनिवर्सीटी न्यूज" (**University News**) के अन्त में विभिन्न विश्वविद्यालयों में जमा किये गये शोध शीर्षकों की सूची प्रकाशित किया जाता है ।

4.4 अप्रलेखीय स्रोत (Non-Documentary Sources)-शोध सम्बन्धी गतिविधियों में सूचना के सम्प्रेषण की दृष्टि से अप्रलेखीय स्रोतों का बहुत अधिक महत्व होता है । इस प्रकार के स्रोत विज्ञान एवं प्रद्यौगिकी के क्षेत्र में संचार का महत्वपूर्ण अंग होते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं–

औपचारिक (**Formal**) एवं अनौपचारिक (**Informal**) सूचना स्रोत ।

औपचारिक स्रोतों में विश्वविद्यालय, शोध संस्थाएँ, संगठन, उद्योग, विद्वत संस्थाएँ, राजकीय विभाग एवं परामर्श केन्द्र आदि सम्मिलित हैं। अनौपचारिक स्रोतों के अन्तर्गत सहपाठियों के साथ वार्तालाप, व्यक्तियों से भेंट, व्यवसायिक सभाओं में उपस्थिति, बैठकों एवं विशिष्ट गोष्ठियों में भाग लेना आदि सम्मिलित हैं। अनौपचारिक स्रोत सूचना सम्प्रेषण का एक शसक्त माध्यम है क्योंकि विषय विशेषज्ञों से वार्तालाप द्वारा प्राथमिक या द्वितीय स्रोतों की सूचना का पता चल जाता है । ये स्रोत अधिक सुविधाजनक होते हैं क्योंकि प्रलेखीय स्रोतो द्वारा विषय का प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण सरलता से नहीं किया जा सकता जबकि इन स्रोतों में विषय का प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण बहुत आसानी से किया जा सकता है।

डा. एस.आर. रंगनाथन के अनुसार सूचना स्रोतों या प्रलेखों को निम्नचार श्रेणियों में विभक्त किया गया है–

1. परम्परागत प्रलेख (Conventional Documents)-सामान्यतः पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ एवं सामायिकियों को परम्परागत प्रलेखों की श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है। इसके अन्दर मौलिक विचार एवं अनुसन्धान आदि के निष्कर्ष की सूचना दी हुई होती है।

2. नवीन परम्परागत प्रलेख (Neo-Conventional Documents)-इस श्रेणी के अन्तर्गत एकस्व (Patents), मानक (Standards), विशिष्टियाँ (Specifications) एवं आधार सामग्रियों को सम्मिलित किया गया है ।

3. अपरम्परागत प्रलेख (Non Conventional Documents)-अपरम्परागत प्रलेखों के अन्तर्गत सूक्ष्म प्रतियाँ (Microforms), श्रव्य (Audio), दृश्य (Visual), श्रव्य दृश्य (Audio Visuals) के साथ ही साथ कम्प्यूटर एवं संचार प्रद्यौगिकी आधारित मेगनेटिक टेप, मेगनेटिक डिस्क, फ्लापी डिस्क, मोशन पिक्चर्स फिल्मस, सी.डी. रोम एवं डि.बी.डि0 आदि को सम्मिलित किया गया है ।

4. मेटा प्रलेख (Meta Document)-सामान्यतः मेटा प्रलेख श्रव्य दृश्य सामग्री का ही एक रूप है । यह परम्परागत प्रलेखों के भौतिक स्वरूप की तुलना में इनके स्वरूप में कुछ भिन्नता होती है । इसमें मानव विचार धारा के स्थान पर परिघटनाओं का अभिलेख होता है । वर्तमान में मेटा प्रलेख के स्थान पर मेटा डेटा (Meta data) शब्द को अधिक से अधिक उपयोग किया जाता है ।

5. सन्दर्भ एवं सूचना स्त्रोतों का मूल्यांकन-
(Evaluation of Reference and Information Sources)

सभी प्रकार के ग्रन्थालयों में उपलब्ध पाठ्य सामग्रियों में विभिन्न श्रेणी के ग्रन्थ संग्रहित होते हैं तथा इन मुद्रित ग्रन्थों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है, जैसे पाठ्य पुस्तक एवं सन्दर्भ ग्रन्थ । अध्ययन एवं अध्यापन में पाठ्य-पुस्तकों का अधिकाधिक उपयोग किया जाता है क्योंकि विषय विशेष के सम्बन्ध में मूलभूत ज्ञान उपलब्ध कराने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है । जबकि सन्दर्भ ग्रन्थ वे ग्रन्थ हैं जिनका उपयोग किसी निश्चित सूचना के लिए ग्रन्थालय के अन्दर किया जाता है ।

वर्तमान में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के क्षेत्र में सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों का अधिकांश भाग मुद्रित रूपों में उपलब्ध हो रही हैं । साथ ही साथ कुछ सन्दर्भ स्रोतों का प्रकाशन डिजिटल एवं ऐलेक्ट्रॉनिक रूपों में भी तिव्रता के साथ प्रकट होते जा रहे हैं । इसलिए ग्रन्थालयों में जिन सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों के द्वारा पाठकों के सन्दर्भ प्रश्नों के उत्तर दिये जाते हैं उन स्रोतों का मूल्यांकन किया जाना आवश्यक होता है । बिना मूल्यांकन के यह पता नहीं चल पाता कि कौन सा सन्दर्भ किस स्तर तक उपयोग के लिए उचित है । इसलिए मूल्यांकन ही एक ऐसा मापक है जिससे यह ज्ञात होता है कि कौन सन्दर्भ स्रोत उपयोग

के लिए उपयुक्त है अथवा अनुपयुक्त । संस्कृत साहित्य एवं प्राच्य विद्या के क्षेत्र में सन्दर्भ एवं सूचना के स्रोत-बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं । इन उपलब्ध स्रोतों में यह तय करना कि कौन सा सन्दर्भ स्रोत उत्तम प्रकार के श्रेणी का है तथा कौन सा स्रोत उत्तम प्रकार के श्रेणी का नहीं है । जिन सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों से सन्दर्भ प्रश्नों के उचित उत्तर प्रदान किये जा सकते हैं, वे उत्तम श्रेणी के सन्दर्भ स्रोत हैं ।

सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों के अन्तर्गत जिन मुद्रित ग्रन्थों का मूल्यांकन करना आवश्यक है । सन्दर्भ ग्रन्थालयी को ऐसे ग्रन्थों के विभिन्न प्रकारों, उपयोग, स्वरूप एवं उनमें निहित सूचनाओं की पूरी-पूरी जानकारी करनी चाहिए ।

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के क्षेत्र में उपलब्ध सन्दर्भ में एवं सूचना स्रोतों के प्रकार निम्नलिखित हैं–

1. शब्दकोश (Dictionary)
2. विश्वकोश (Encyclopaedia)
3. वाङ्मयसूची (Bibliography)
4. प्रस्तुत सन्दर्भ स्रोत (Ready Reference Sources)
5. भौगोलिक स्रोत (Geographical Sources)
6. जीवनी स्रोत (Biographical Sources)
7. शासकीय स्रोत (Government Documents)
8. पेटेन्ट (Patent)
9. मानक (Standard)
10. अनुक्रमणीकरण स्रोत (Indexing Sources)
11. सारकरण स्रोत (Abstracting Sources)
12. सम सामयिक घटनाओं से सम्बन्धित स्रोत (Current Affair Sources), एवं
13. अन्य स्रोत (Other Sources), जिसमें कम्प्यूटर आधारित, श्रव्य दृश्य एवं अन्य शुक्ष्म रूपों को सम्मिलित किया जा सकता है ।

सन्दर्भ ग्रन्थालयी से पूछे जाने वाले प्रश्नों को मोटे तौर पर चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे–

1. सामान्य सन्दर्भ प्रश्न (Current Reference Question)
2. गहन सन्दर्भ प्रश्न (Exhaustive Reference Question)
3. प्रतिदिनी सन्दर्भ प्रश्न (Everyday Reference Question)
4. कैचिंग अप सन्दर्भ प्रश्न (Cateching up Ref. Question)

इस प्रकार पाठकों द्वारा पूछे गये सन्दर्भ प्रश्नों की प्रकृति के आधार पर सन्दर्भ ग्रन्थालयी सन्दर्भ स्रोतों से उचित उत्तर खोजकर उन्हें प्रदान करता है ।

सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों का मूल्यांकन सार्वजनिक ग्रन्थालयों की तुलना में शैक्षणिक एवं विशिष्ट ग्रन्थालयों में सन्दर्भ ग्रन्थालयी को पाठकों को उचित सेवा प्रदान करने के लिए विभिन्न प्रकार के सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों के प्रकृति एवं उपयोग की जानकारी के लिए हमेशा तत्पर रहना चाहिए ।

सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों के मूल्यांकन के लिए अपनायी गयी विधियों में भिन्नता हो सकती है अतः उनके गुण एवं दोषों की जाँच के लिए कुछ आधार होना आवश्यक है। निम्नांकित तत्वों के आधार पर सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों का मूल्यांकन किया जा सकता है–

1. प्रमाणिकता (Authority)–सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों की प्रमाणिकता के सम्बन्ध में इन ग्रन्थों के लेखक या लेखकों, प्रकाशकों, वितरकों, संकलन कर्ताओं आदि की योग्यताओं, अनुभव आदि के आधार पर सन्दर्भ ग्रन्थालयी द्वारा निश्चित की जाती है।

2. विषय क्षेत्र (Scope)–अधिकांश ग्रन्थालयों में सन्दर्भ ग्रन्थों के अधिग्रहण के समय में ही यह तय कर लिया जाता है कि ग्रन्थ के अवतरण तथा भूमिका एवं विषय सूची से ही यह तय कर लिया जाता है कि अमूक सन्दर्भ ग्रन्थ किस विषय क्षेत्र से सम्बन्धित है। इस प्रकार सन्दर्भ ग्रन्थालयी के लिए सन्दर्भ ग्रन्थ के क्षेत्र एवं उपयोगिता का सत्यापन करना आवश्यक होता है।

3. प्रतिपादन शैली (Treatment)–सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों के प्रतिपादन शैली की जानकारी ग्रन्थ में निहित सूचनाओं के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । जैसे ग्रन्थ में दी गयी सूचनाएँ कितनी सही एवं विश्वसनीय हैं ।

ग्रन्थ में किसी विषय के प्रति विशेष झुकाव है अथवा नहीं । विषयों को उनके महत्व के अनुसार स्थान मिला अथवा नहीं । आदि-आदि ।

सन्दर्भ ग्रन्थों में विन्यसन का स्थान बहुत महत्वपूर्ण होता है । ग्रन्थ-विन्यासन के अनेक प्रकार होते हैं जैसे भौगोलिक, कालानुक्रमिक, वर्गीकृत, वर्णानुक्रमिक आदि। इनके माध्यम से वांछित सूचना को प्राप्त करने में बहुत सुविधा होती है ।

4. आरूप (Format)–सन्दर्भ ग्रन्थों के वाह्य स्वरूप के अन्तर्गत ग्रन्थ की जिल्द, ग्रन्थ के अक्षर, ग्रन्थ में दी गयी रंगीन चित्र, रेखा चित्र एवं मानचित्र आदि को सम्मिलित किया जा सकता है । इसलिए प्रत्येक सन्दर्भ ग्रन्थालयी को यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी सन्दर्भ ग्रन्थ ग्रन्थालय संकलन में पहुँचने के पहले ही ग्रन्थ के वाह्य स्वरूपों में किसी प्रकार की कोई त्रूटि तो नहीं है । यदि उनमें कोई त्रूटि हो या अपूर्ण सूचना निहित हो तो ऐसे सन्दर्भ ग्रन्थों को संकलन में सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए।

(5) अध्येता (Audience)–सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों के अन्तर्गत शब्दकोशों का सर्वाधिक उपयोग होता है, जबकि अन्य प्रकार के सन्दर्भ ग्रन्थों को उनके अध्येताओं के आधार पर विभाजित करना सन्दर्भ ग्रन्थों की भाषा, विषय-क्षेत्र तथा शैली पर निर्भर करता है।

6. सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों के मूल्यांकन के लिए आधार सामग्री-

सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों के मूल्यांकन के लिए सन्दर्भ ग्रन्थालयी को सन्दर्भ ग्रन्थों के विभिन्न भागों जैसे आख्या पृष्ठ (Tittle Page), पुरोवाक् (Preface), मूलपाठ (Main text), भूमिका (Introduction), विषय सूची (Contents) एवं अनुक्रमणी (Index) में निहित सूचनाओं की पुरी-पुरी जानकारी होनी चाहिए । सन्दर्भ ग्रन्थ के मूल्यांकन में ग्रन्थ के इन्हीं भागों से महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हो सकती है । इनका विवरण इस प्रकार निम्नलिखित हैं–

1. शीर्षक पृष्ठ (Title Page)-सन्दर्भ 'ग्रन्थ' के सम्बन्ध में शीर्षक पृष्ठ से ग्रन्थपरक पूर्ण सूचना प्राप्त की जा सकती है । ग्रन्थपरक सूचना ग्रन्थ की पूर्ण शीर्षक, उपशीर्षक या सामानान्तर शीर्षक, ग्रन्थकार का नाम एवं उपाधि सम्पादक/अनुवादक, प्रकाशकों के नाम, स्थान एवं वर्ष, खण्ड, भाग एवं आई.एस.बी.एन. (ISBN) से सम्बन्धित सूचना को सम्मिलित किया जा सकता है । इसके साथ ही साथ इस पृष्ठ पर ग्रन्थ के संस्करण, सर्वाधिकार वर्ण एवं ग्रन्थमाला आदि की सूचना भी दी हुई होती है ।

2. पुरोवाक् (Preface)-पुरोवाक से ग्रन्थ के विषय के सम्बन्ध में पूर्ण सूचना प्राप्त हो सकती है । कुछ सन्दर्भ ग्रन्थों में पुरोवाक लेखक के स्थान पर किसी अन्य विषय विशेषज्ञ या प्रतिष्ठित विद्वानों के द्वारा दी जा सकती है । पुरोवाक् का स्थान ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग में निर्धारित होती है तथा ग्रन्थ में निहित सूचना के सम्बन्ध में अद्योपान्त जानकारी प्राप्त हो सकती है ।

3. भूमिका (Introduction)-किसी भी प्रकार के सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों के मूल्यांकन में ग्रन्थ की भूमिका बहुत उपयोगी होती है । ग्रन्थ की भूमिका के अन्तर्गत-ग्रन्थ से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सूचनाएँ-जैसे ग्रन्थ के उद्देश्य, ग्रन्थकार की योजना, ग्रन्थ की विशेषताओं एवं सीमाओं के साथ ही साथ प्रविष्टियों के व्यवस्थापन आदि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

4. विषय-सूची (Table of Contents)-सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों के मूल्यांकन में विषय सूची की सहायता से ग्रन्थ में निहित अध्यायों के शीर्षकों की जानकारी करने में बहुत सहायता मिलती है । कुछ सन्दर्भ ग्रन्थों में विषय सूची के अन्तर्गत अध्यायों की शीर्षकों का संक्षिप्त वितरण दिया रहता है जबकि कुछ ग्रन्थों में शीर्षकों का विस्तृत विवरण के साथ उल्लेख किया गया होता है । अधिकांश ग्रन्थों में विषय-सूची का स्थान शीर्षक पृष्ठ अथवा प्राकक्कथन के बाद होती है । जबकि विदेशी प्रकाशन के कुछ ग्रन्थों में इसे ग्रन्थ के अन्तिम भाग में दिया रहता है । इस प्रकार ग्रन्थ में निहित विषय का कार्यक्षेत्र, विशेषताओं एवं सीमाओं की जानकारी प्राप्त करने में विषय-सूची की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है ।

5. मूलपाठ (Main Text)-विषय-सूची के बाद सन्दर्भ ग्रन्थों के मूल्यांकन में मूलपाठ को महत्वपूर्ण सूचना स्रोत के रूप में उपयोग किया जा सकता है । क्योंकि मूलपाठ के अन्तर्गत ही ग्रन्थकारों के कार्यों की पूर्ण विवरण दिया रहता है । ग्रन्थ में निहित विषय के सूचनाों के सम्बन्ध में पर्याप्त ग्रन्थ सन्दर्भ सूचियाँ दी है अथवा नहीं, सूचना अद्यतन है अथवा प्राचीन, सूचना विश्वनिय है अथवा नहीं, आदि बातों की जानकारी ग्रन्थ के मूल पाठ से की जा सकती है ।

6. अनुक्रमणी (Indexes)-अधिकांश सन्दर्भ ग्रन्थों एवं सूचना स्रोतों के मूलपाठ में दिये गये व्यक्तियों के नामों, प्रकरणों, विषयों एवं स्थानों एवं महत्वपूर्ण तथ्यों आदि की विस्तृत तालिका प्रस्तुत की गयी होती है । अनुक्रमणियों का विन्यसन वर्णानुक्रमण में या कालक्रमानुसार या भौगोलिक क्रमानुसार व्यवस्थित की गयी होती है । जिन सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों में अनुक्रमणी दी गयी होती है; ऐसे ग्रन्थों की अधिक उपयोगिता होती है।

इस प्रकार सन्दर्भ स्रोत चाहे मुद्रित रूप में या ईलैक्ट्रानिक अथवा डिजिटल रूपों में हो इन सभी प्रकार के सन्दभर स्रोतों के मूल्यांकन में उपर्युक्त वर्णित विन्दुओं के आधार पर सन्दर्भ ग्रन्थालयी द्वारा अवलोकन किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. WEBSTER's new twentieth century dictionary of English Language New York, Collins World, 1978.
2. THE RANDOM House Dictionary of English Language. Bombay, Tulsi Shah Enterprises, 1964.
3. गुप्ता, पवन कुमार एवं पवन, उषा : सन्दर्भ सेवा एवं सूचना स्रोत, द्वितीय संस्करण, जयपुर, आर.वी.एस.ए. पब्लिशर्स, 1998 ।
4. THOMPSON, E.H. : ALA Glossary of Library Terms with a selection of terms in related fields. Chicago, ALA, 1943.
5. GROGAN, D. : Science and technology : An Introduction to literature, 4th ed., London, Clive Binglay, 1982.
6. GUHA, B. : Documentataion and Information. Calcutta : World Press, 1983.
7. त्रिपाठी, एस.एम. एवं गौतम, जे. एन. । सूचना एवं सन्दर्भ के प्रमुख स्रोत, आगरा, वाई.के. पब्लिशर्स, 2005 ।
8. कौशिक, पूर्णिमा : सन्दर्भ सेवा : सिद्धान्त एवं व्यवहार, जयपुर, यूनिवर्सिटी बुक हाउस प्रा.लि. 2002।
9. ARORA, Jagadish : Applications of New Information Techonolgy in Libraries and Information Centres. (I Conlis 2004) Kolkata, National Library, 2004.

□□

तृतीय अध्याय

शब्दकोश

(Dictionaries)

1. भूमिका एवं अर्थ-

भारतीय वाङ्मय में प्राचीनतम शब्दकोश वैदिक संहिताएँ हैं। संस्कृत वाङ्मय में शब्दकोश का महत्त्व आचार्य पाणिनि ने उद्घोषित किया था । इसे वेद पुरूष का श्रोत कहा है–"निरूक्तं श्रौत मूच्यते" अर्थात् जैसे शरीर में श्रौतेन्द्रिय की आवश्यकता है ठीक वैसे ही अर्थबोध के लिए शब्दकोश की आवश्यकता है । शब्दकोश से शब्दों के निश्चित अर्थ का बोध होता है । सभी सन्दर्भ स्त्रोतों में शब्दकोश का उपयोग सबसे अधिक किया जाता है तथा सभी वर्ग के उपयोक्ता इनसे परिचित होते हैं। भाषा के ज्ञान के लिए यह आवश्यक साधन है । सिद्धान्तमुक्तवली एवं शब्दशक्ति प्रकाशिका में संकेत ग्रह के आठ साधनों में से "शब्दकोश" को एक प्रमुख साधन माना गया है ।

शब्द कोश शब्दों के अर्थ, उत्पत्ति, विकास, विलोम शब्द, सामानार्थक शब्द उच्चारण, प्रयोग एवं वर्तनी आदि के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करते हैं । शब्दकोश अंग्रेजी भाषा के (Dictionary) शब्द का रूपान्तरण है, जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द डिक्शनेरियम (Dictionarium) से हुई है । जिसका अर्थ शब्दकोश या शब्दों का संग्रह है । आधुनिक ग्रन्थों में शब्दकोश की जो परिभाषाएँ दी गयी हैं उनके आधार पर शब्दकोशों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. सामान्य शब्दकोश, तथा
2. विषयागत शब्दकोश

सामान्य शब्दकोश से सम्बन्धित वैबस्टर्स न्यू इन्टरनेशनल डिक्सनरी में जो परिभाषा दी गयी है, वह इस प्रकार है, "यह एक सन्दर्भ ग्रन्थ है जिसमें साधारणतया शब्द वर्णानुक्रम में विन्यसित रहते हैं और उसमें उनके रूप, उच्चारण, कार्य, अर्थ उत्पत्ति तथा अर्थपरक मुहाबरेदार प्रयोग संकलित रहते हैं।"

विषयगत शब्दकोश के सम्बन्ध में जो परिभाषा दी गयी है, वह इस प्रकार है, "यह एक सन्दर्भ ग्रन्थ है जो विषय विशेष या कार्य से सम्बद्ध शब्दों या नामों की सूची अंकित कर उनके अर्थ एवं उपयोग की वर्णन करता है।"

उपर्युक्त इन दोनों परिभाषाओं के अतिरिक्त विलियम ए. काट्ड एवं लुइस शोर्स जैसे आधुनिक विद्वानों ने भाषागत एवं सामान्य शब्दकोशों के सम्बन्ध में अपने विचार दिये है। लुइस शोर्स के अनुसार, "भाषागत शब्दों के संग्राहात्मक ग्रन्थ को कोश कहते हैं। इसके शब्द वर्णानुक्रम अथवा अन्य किसी निश्चित क्रम में संयोजित रहते हैं और उनकी अर्थपरक व्याख्या तथा अन्य सूचनाएँ उसी भाषा में या अन्य भाषा में दी रहती हैं।" विलियम ए. काट्ज के अनुसार, "सामान्य शब्दकोश के दो उद्देश्य होते हैं जैसे, पहला-मुख्य उद्देश्य एवं दूसरा गौण उद्देश्य । मुख्य उद्देश्य के परिपेक्ष्य में किसी भी शब्दकोश का यह मौलिक एवं प्राथमिक उद्देश्य होता है कि उसमें शब्दों तथा पदों की वर्तनी, शब्दार्थ, अभिप्राय, उच्चारण और शब्द विन्यास का उल्लेख अवश्य होना चाहिए ।

गौण उद्देश्य का अभिप्राय यह है कि किसी भी शब्दकोश में कोई एक ही अक्षर की व्युत्पत्ति, प्रमुख स्थानों के नाम स्पष्टतया नदी, पर्वत, अथवा अन्य कोई वस्तु, ऐतिहासिक महत्व के प्रमुख महापुरुषों के नाम, पौराणिक एवं बाइबिल में वर्णित महा पुरुषों तथा महत्वपूर्ण तथ्यों एवं प्रकरणों का वर्णन, विदेशी पदों, मुहावरों एवं वाक्यांशों, पर्यावाची एवं विलोम शब्दों, संकेताक्षरों तथा सामान्य ग्राम्य भाषा के पदों का उल्लेख किया गया होना चाहिए ।

भारतीय परिपेक्ष्य में संस्कृत के प्राचीन कोश रचना कारों द्वारा शब्दकोश के सम्बन्ध में जो परिभाषाएँ दी गयी हैं, वे आधुनिक विद्वानों के परिभाषाओं से अतिप्राचीन है जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है । संस्कृत वाङ्मय में शब्दकोश की प्रथम परिभाषा हलायुधकार ने दी है–कोषः शब्दादिसंग्रह यथा अमरकोषः अर्थात् शब्दों के संग्रह को शब्दकोश कहते हैं ।

संस्कृत भाषा के कुछ अन्य प्राचीन शब्दकोशों जैसे अभिधानरत्नमाला, अभिधान चिन्तामणि में शब्द पर्यायज्ञापक को अभिधान कोश कहा गया है । जिसमें विशिष्ट क्रमानुसार शब्दों का संग्रह हो तथा जिसके अध्ययन से शब्दों की प्रकृति, विभिन्न अवयवों एवं अर्थों का ज्ञान होता है उसे शब्दकोश कहते हैं ।

शब्दकोश की प्रकृति एकार्थक, पर्यायार्थक या निरूक्तिमूलक शब्दों का संग्रह हो सकती है, लेकिन सबका अभिप्राय शब्दार्थ बोध ही होता है । शब्दकोश के वैकल्पिक नामों में शब्दावली (Glossary), विदेशी भाषा शब्दकोश (Lexicon), थिजारस (Thesaurus) आदि को सम्मिलित किया जा सकता है ।

2. शब्दकोशों के प्रकार (Types of Dictionaries)-

कोश में निहित शब्दों के विषय के आधार पर निम्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

(A) सामान्य शब्दकोश (General Dictionary)

(B) विषयगत शब्दकोश (Subject Dictionary)

(C) पारिभाषिक शब्दकोश (Difinitional Dictionary)

सामान्य शब्दकोश में सभी प्रकार के शब्दों की वर्णानुक्रमिक सूची होती है । ये आकार में वृहद अथवा संक्षिप्त हो सकते हों। इनमें प्रयुक्त भाषा के आधार पर इसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(1) एकभाषिक कोश (Monolingual Dictionary)

(2) द्विभाषी कोश (Bilingual Dictionary)

(3) बहुभाषी कोश (Multilingual Dictionary)

विषयगत शब्दकोश में किसी विशिष्ट विषय के शब्दों की वर्णानुक्रमिक सूची के साथ ही साथ शब्दों के अर्थ एवं उनकी परिभाषा भी दी हुई होती हैं। उदाहरण :-

1. वैदिक कोश / सूर्यकान्त - वाराणसी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, 1963 ।
2. योग शब्दकोश/सुभाष विद्यालंकार-दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, 2005 ।
3. भारतीय पुरा इतिहास कोश /अरूण- नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन्स, 2009, (दो खण्ड)
4. संस्कृत सङ्गणक शब्द कोश /श्रीकान्थ जमदाग्नि एवं श्री निवास वारखेदी- हैदराबाद : संस्कृत परिषद्, उ.वि.वि. 2009 ।

पारिभाषिक शब्दकोश में किसी विषय से सम्बन्धित शब्द की संक्षिप्त व्याख्या अथवा उसकी परिभाषा दी गयी होती है । इसमें विषय से सम्बन्धित शब्दों अथवा पदों की विन्यसन वर्णानुक्रम में व्यवस्थित होती हैं । उदाहरणार्थ–

1. A Concise Dictionary of Philosophy/K. Srinivas and V. K. Sastry. - New Delhi : D.K. Printworld (p) Ltd, 2007.

2. भारतीय दर्शन परिभाषा कोश/दीनानाथ शुक्ल-दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, 1993।

3. संस्कृत नाट्यकोश / रामसागर त्रिपाठी-यह कोश दो खण्डों में संकलित है । इसके प्रथम खण्ड का शीर्षक "नाटक कोश" है तथा दूसरे खण्ड का शीर्षक "शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली कोश" है ।

4. Indian Philosophical Terms : Glossary and Sources/Kala Acharya, Editor. New Delhi : Somaiya Pubications Pvt. Ltd., 2004, 712.P.

शब्दकोशों में प्रयुक्त भाषा के आधार शब्दकोश के निम्नवर्णित तीन प्रकार हो सकते हैं जैसे–एक भाषिक कोश (Monolingual Dictionary) इसके किसी एक भाषा के पदों या शब्दों की वर्णानुक्रमिक सूची होती है । उदाहरणार्थ–

1. हलायुध कोश : (अभिधान रत्नमाला) । जयशंकर जोशी, सम्पादक-लखनऊं : हिन्दी समिति, 1957, 747 पृ.।

2. Kosha or Dictionary of the Sanskrit Language by Amar Singh with English interpretations and notations/H.T. Colebrooke. Delhi : Nag Publishers, 1990.

3. अमरकोष : अमर सिंह; श्रीमन्नालाल अभिमन्यु-वाराणसी : चौखम्बा विद्या भवन, 2009 ।

4. अमरकोष । नामलिंगानुशासनम् अमर सिंह; हिन्दी चन्द्रिका व्याख्या द्वारा चन्द्रधारी सिंह कल्पितनाम हिमकेर सिंह-दरभंगा तन्त्रवती गीता भवन, 1957, 416, 121 पृ. ।

5. अमर कोष / अमर सिंह, विश्वनाथ झा द्वारा सुधा व्याख्या - दिल्ली मोतीलाल बनारसीदास, 1969 ।

6. नामलिंगानुशासनं नाम अमर कोष : / अमर सिंह; भानुजी दीक्षित, रामाश्रमी व्याख्या; हरगोविन्द शास्त्री; सम्पादक-वाराणसी चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफीस, 1970 11, 664,64 पृ.

7. Amarmandena/V. Raghavan; Editor Poona : Deccan College, 1949. 43p.

8. कोश कल्पतरू / विश्वनाथ; मधुकर मंगेश पाटकर तथा के. वी. कृष्णमूर्ति; सम्पादकद्वय-पूना डेक्कन कालेज, 1957 1, 315 पृ.

9. लिंगानुशासनवर्गः/मुकुन्दशर्मा.-गढ़वाल : मुकुन्द शर्मा. 1962. 312 पृ.

10. कल्पद्रुमकोश :/केशव; राम अवतारशर्मा; सम्पादक-बड़ौदा : ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, 1928 (दो भाग में)

11. अभिधान चिन्तामणि / हेमचन्द्रा चार्य; व्याख्या द्वारा हरगोविन्द शास्त्री-वाराणसीः चौखम्बा विद्या भवन, 1964. 519 पृ.

12. वाङ्मयार्णव / राम अवतार पाण्डेय - वाराणसी : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, 1966. 815 पृ.

13. पाइअ - लच्छी नाम माला । धन पाल; स्मपादन द्वारा बैचरदास जीवराज दोशी.-मुम्बई : शादीलाल जैन, 1960, 122 पृ.

14. पाइअ-सद्-महण्णवो/हरगोविन्ददास विक्रमचन्द्र शेठ; सम्पादन द्वारा वासुदेव शरण अग्रवाल एवं दल सुखभाई मालविया वाराणसी प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, 1963. 952, 64 पृ. ।

द्विभाषिक कोश (Bilingual Dictionary) में दो भाषाओं के शब्दों या पदों की वर्णानुक्रमिक सूची होती है । उदाहरणार्थ–

1. A Sanskrit - English Dictionary/Williams, Monier.-Delhi : Motilal Banarasidas, 1970. xxxii, 1333p.
2. Pratical-Sanskrit English Dictionary/Vaman Shivaram Apte.-Delhi : Motilal Banarasidas, 1966. 7, 10107 p.
3. संस्कृत - हिन्दी कोश/वामन शिवराम आप्टे - दिल्ली : मोती लाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्रा.लि. 1996 ।
4. हिन्दी-संस्कृतशब्दकोश/वासुदेव द्विवेदी वाराणसी : सार्वभौम संस्कृत प्रचार कार्यालय, 1954. 122 पृ.
5. Sanskrit- English Dictionary : etymologically and philosophically arranged with special references to Cognate Indo-European Language/Monier Williams, 1970.
6. Tibetan-Sanskrit Dictionary/ed. by Lokesh Chandra.-New Delhi : International Academy of Indian Culture, 1961, 12 Vols.
7. A Dictionary in Sanskrit and Englihs / H.H. Wilson. 2nd ed.-Calcutta : Collage of Fort Willaim, 1832.
8. आधुनिकसंस्कृतहिन्दीकोश / ऋषीश्वर नाथ भट्ट; सम्पादक.-आगरा : राम प्रसाद एण्ड सन्स, 1955. 542, 18 पृ.
9. Dictionary in Sanskrit and English/W. Yates. - Calcutta : Baptest Mission Press, 1846. iv, 928 p.
10. पालि - हिन्दी शब्दकोश /भ.आ. कौसल्यायन दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।
11. Kurzgedfabtes etymologisches Worterbuck desAttindischen : A Conciese etymological Sanskrit Dictionary /Manfred Mayrhofer.- 1963. Vol. 11.(D.-M.).
12. शब्द रत्न समन्वयकोश/शाहजी; विटठल राम लल्लू रामशास्त्री; सम्पादक.- बड़ौदा : ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट,1932. 605 पृ.

इसी प्रकार बहुभाषिक कोश (Multilingual Dictionary) में दो से अधिक भाषाओं के शब्दों या पदों की वर्णानुक्रमिक सूची होती है । उदाहरणार्थ–

1. Sanskrit- Hindi - English Dictionary/Ved Prakash Shastri and Ramesh Kumar Pandey.-New Delhi : Neeta Prakashan, 1999.
2. Exhaustive English, Hindi - Sanskrit Dictionary / Raghuvira. - Nagpur : International Academy of English Literature, 1954.

3. प्राकृत रूप रचनाकोश / हरि शंकर पाण्डेय- दिल्ली : न्यू भरतीय बुक कॉरपोरेशन, 2001, 319 पृ.
4. धम्मपद कोश (पालिं, संस्कृत-हिन्दी) /श्री कच्छेदी लाल गुप्त - वाराणसी : चौखम्बा विद्या भवन, 2009 ।
5. Sanskrit - English - Tebetan Vocabulary /Alexander Csomade Koros.- Delhi : Indian Books Centre, 2007. 2 Vols.

3. शब्दकोश की उपयोगिता (Use of Dicionaries) निम्नवर्णित सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए शब्दकोशों का उपयोग किया जाता है–

1. शोध एवं शैक्षिक गतिविधियों में शब्दकोश बहुत उपयोगी होता है ।
2. शब्दों की उत्पत्ति, इतिहास, उच्चारण, वर्तनी, पर्यायवाची तथा विलोम शब्द जानने के लिए शब्दकोश का उपयोग होता है ।
3. शब्दों के संकेताक्षर, संकेत चिह्न, सामाजिक चिह्न की प्रमाणिकता तथा शब्द विन्यास के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए शब्दकोश का उपयोग किया जाता है
4. शब्दों एवं उनके अर्थों के आधार पर किसी देश की सांस्कृतिक, सामाजिक आदिपरिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ।
5. भाषा विज्ञान के अध्ययन एवं अध्यापन में शब्दकोश का उपयोग किया जाता है ।
6. विदेशी भाषाओं के शब्दों का अर्थ जानने के लिए शब्दकोश का उपयोग किया जाता है ।
7. उद्धरणों, मुहाबरों, कहावतों तथा आदि भाषाओं के शब्दों के मूल रूप के परिज्ञान के लिए शब्दकोश का उपयोग आवश्यक होता है ।
8. प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों तथा प्रमुख ऐतिहासिक्र एवं भौगोलिक स्थानों के नामों की जानकारी के लिए भी शब्दकोश का उपयोग किया जाता है ।

4. शब्दकोशों का मूल्यांकन–समय के साथ-साथ सभी प्रकार के शब्दकोशों के रचना के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई है जिसके फलस्वरूप अनेक नवीन शब्दकोशों को प्रकाशित किया गया । सूचना विस्फोट एवं धन की कमी के कारण किसी भी ग्रन्थालय के लिए सभी प्रकार के उपलब्ध शब्दकोशों का अधिग्रहण करना सम्भव नहीं है । इन परिस्थितियों में शब्द कोशों का क्रय करने से पहले ग्रन्थालयों में उनका मूल्यांकन किया जाता है क्योंकि किसी भी शब्दकोश को पूर्णतः उपयुक्त एवं पूर्ण नहीं माना जा सकता है । इस परिपेक्ष्य में डा. जॉनसन ने शब्दकोशों की तुलना घड़ियों से करते हुए कहा था कि

"किसी स्रोत के न होने से किसी अनुपयोगी स्रोत का ही होना अच्छा है और जो सर्वोत्तम है वह भी पूर्णतया शुद्ध एवं स्वयं में परिपूर्ण नहीं हो सकता है । "इस प्रकार प्रत्येक शब्दकोश के कुछ गुण एवं कुछ अवगुण होते हैं । शब्दकोशों का मूल्यांकन करने के लिए निम्नलिखित जाँच बिन्दुओं को निर्धारित किया गया है :-

1. **प्रमाणिकता**-किसी भी शब्दकोश की प्रमाणिकता उसके लेखक अथवा संकलनकर्ता तथा अन्य सहयोगियों एवं प्रकाशकों की ख्याति एवं प्रसिद्धि के आधार पर सुनिश्चित की जाती है । लेखकों अथवा संकलनकर्त्ता की प्रमाणिकता का मूल्यांकन उनकी योग्यता एवं अनुभव के आधार पर किया जाता है । शब्दकोश के मूल्यांकन में शब्दकोश के प्रकाशन का इतिहास भी उसकी प्रमाणिकता का एक महत्वपूर्ण आधार होता है । एक निश्चित अवधि पर संशोधित एवं अद्यतन होने वाले शब्दकोशों की विश्वनियता एवं प्रमाणिकता अधिक होती है ।
2. **विषय विस्तार एवं उद्देश्य**-शब्दकोश के विषय विस्तार का मूल्यांकन कोश रचनाकार द्वारा पदों अथवा शब्दों के चयन के आधार पर तथा शब्द भण्डार के आकार को जाँच कर किया जा सकता है । किसी भी प्रकार के शब्दकोश चाहे वह सामान्य शब्दकोश हो या भाषागत या विषयगत हो उसके विषय क्षेत्र एवं उद्देश्य का मूल्यांकन उसके भूमिका एवं प्रस्तवना के अध्ययन एवं अवलोकन करके किया जा सकता है । किस प्रकार के उपयोक्ताओं के लिए शब्दकोश को संकलित किया गया है के आधार पर उसके उद्देश्य को ज्ञात करने में सहायता मिलती है।
3. **विन्यासपद्धति एवं शब्द की प्रतिपादन शैली**-अधिकांश शब्दकोशों में शब्दों का विन्यसन वर्णानुक्रम में व्यवस्थित होता है । पदों अथवा शब्दों को अक्षर-प्रति अक्षर (Letter by Letter) या शब्द दर शब्द (Word by Word) व्यवस्थित किया जा सकता है । प्रविष्टियों के क्रम, व्यवस्थापन तथा स्वरूप में सुसंगतता होनी चाहिए।

   शब्दकोशों के प्रविष्टि में शब्दों के वर्तनी, उच्चारण, अक्षर-विन्यास, परिभाषा, प्रयोग, पर्यायवाची एवं विलोम शब्दों के आधार पर शब्दकी प्रतिपादन शैली का पता लगाया जा सकता है।
4. **आकार-स्वरूप**-शब्दकोश के मूल्यांकन में उसके भौतिक आकार का भी मूल्यांकन किया जा सकता है । शब्दकोश का क्रय करते समय आकार, जिल्दसाजी, कागज की गुणवत्ता, मुद्रण एवं उसके आकर्षक स्वरूप पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

5. **विशिष्ट विशेषताएँ**-कुछ शब्दकोशों में विश्वकोशीय शब्दकोशों की विशेषताएँ पायी जाती हैं, जिनके फलस्वरूप इनका मूल्य बढ़ जाता है तथा ये त्वरित सन्दर्भ उपकरण का कार्य करते हैं जैसे विभिन्न स्थानों के भौगोलिक एवं ऐतिहासिक विवरण, विभिन्न-क्षेत्रों के प्रसिद्ध हस्तियों के जीवन चरित का विवरण, प्रमुख एवं विख्यात राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, शैक्षणिक संस्थाओं तथा संगठनों के नाम, मानचित्र, शब्दों के चित्रलेख तथा ऐसे शब्दों का विवरण जिनकी व्याख्या कठिन हो, फूलों, फलों, वनस्पतियों, कीटों, पशु-पक्षियों, स्वचालित यंत्रों एवं मोटरकारों के रंग-बिरंगे चित्रों के साथ उनके प्राकृतिक रंग और आनुपातिक आकार इत्यादि के आधार ग्रन्थालय में अधिग्रहण करने से पूर्व उत्तम कोटि के शब्दकोशों का मूल्यांकन कर लेना चाहिए ।

5. **सामान्य शब्दकोश (General Dictionaries)-**

हलायुध कोश (अभिधान रत्नाकर) जयशंकर जोशी, सम्पादक लखनऊ : हिन्दी समिति, 1957. 746 पृ.

हलायुध कोश संस्कृत भाषा का एक अतिप्राचीन शब्दकोश है तथा इसको "अभिधान रत्नमाला" के नाम से भी जाना जाता है । इसके सम्पादन का कार्य जयशंकर जोशी के द्वारा सम्पन्न किया गया है तथा इसे सरस्वती भवन-ग्रन्थालय, सं.सं. वि.वि. के सरस्वती भवन प्रकाशन माला 12 के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस शब्द कोश के संकलन में कुल पृष्ठों की संख्या 1 से लोकर - 746 तक है तथा इस कोश को सर्वप्रथम (950 ई.) में संकलित किया गया था ।

प्रस्तुत शब्दकोश में पृष्ठ संख्या 1 से लेकर पृष्ठ सं. 102 तक प्रथम काण्डम से पंचम काण्डम में श्लोकों का वर्णन है, जबकि पृष्ठ संख्या 103 से लेकर 746 तक संस्कृत भाषा के शब्दों को उनके अर्थों सहित "अ" से "ह" तक वर्णानुक्रम में विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

ग्रन्थ में शब्दों का विन्यसन अक्षर प्रति अक्षर किया गया है जिससे संस्कृत भाषा में रूचि रखने वालों पाठकों द्वारा इसका उपयोग करने में कोई परेशानी नहीं होती है ।

इस प्रकार यह संस्कृत भाषा में एक अत्यन्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण सामान्य शब्दकोश है।

अनेकार्थ शब्दकोश (मेदिनीकोश) । मेदनी कर...संस्कृत साहित्य के प्राचीन कोशों में "अनेकार्थ शब्दकोश" या "मेदनीकोश" भी एक महत्वपूर्ण शब्दकोश है । इस कोश के रचयिता का नाम मेदिनीकर है और यही कारण है कि प्रस्तुत कोश "मेदनीकोश" के नाम से प्रसिद्ध है । इस कोश का मुख्य भाग शब्द वर्ग है जिसमें कान्तवर्ग से हान्त वर्ग तक के शब्दों का समावेश है । अर्थात् पहले वे शब्द दिये गये हैं जिनका अन्त 'क' अक्षर से होता है, फिर जिनका अन्त 'ख' अक्षर से होता है, फिर 'ग' अक्षर से होने वाले और अन्त में 'ह' अक्षर से होने वाले शब्द हैं ।

हलायुध के अभिधान रत्नमाला के भांति ही यह शब्दकोश भी संस्कृत भाषा में रूचि रखने वाले पाठकों के लिए महत्वपूर्ण शब्दकोश है ।

अमरकोष :/ अमर सिंह; श्री मन्नालाल अभिमन्यु - वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2001 ।

प्रस्तुत कोश संस्कृत के प्राचीनतम कोशों में सम्मानीय स्थान प्राप्त महत्वपूर्ण शब्द कोश है । अब तक अमरकोष पर कई भाषाओं में अनेक टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं । संस्कृत साहित्य में यास्क के "निघण्टु" एवं "निरूक्त" के बाद अमरकोष ही सबसे प्राचीन कोश ग्रन्थ है तथा इसकी रचना निघण्टु शैली पर ही आधारित है ।

इस प्रकार प्रस्तुत कोश में लगभग दस हजार शब्द हैं तथा प्राचीन समय में ये सब कोश कण्ठस्थ किये जाते थे क्योंकि ये सब कोश ग्रन्थ पद्य में रचे गये हैं। भारत ही नहीं बल्कि भारत के बाहर के देशों के संस्कृत भारत के बाहर के देशों के संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के ख्यातिलब्ध प्रकाशकों द्वारा समय-समय पर इस महत्वपूर्ण शब्दकोश पर अनेक टीकाएँ प्रकाशित की जा चुकी हैं ।

संस्कृत के अध्येताओं के लिए यह महत्वपूर्ण शब्दकोश है ।

A Sanskrit English-Dictionary / Wellinans, Monier.-Delhi : Motilal Banarasidas, 1970, xxxii, 1333 p.

मोनियार विलियमस की प्रसिद्ध अंग्रेजी-संस्कृत शब्दकोश का प्रथम संस्करण ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से सन् 1899 ई. में प्रकाशित हुआ । इस शब्दकोश में सम्मिलित शब्दों की संख्या एक लाख अस्सी हजार है । इस कोश के संकलनकर्ता मोनियर विलियम ऑक्सफोर्ड वि.वि. में वोडेन चेयर-पर नियुक्त प्राध्यापक थे तथा इनसे पहले इस चेयर पर नियुक्त प्राध्यापक एम. एच. विल्सन थे । जिन्होंने संस्कृत - अंग्रेजी कोश के लिए लगभग दो हजार संस्कृत की धातुओं को क्रमबद्ध भी किया था । किन्तु वे यह काम पुरा न कर पाये और अपनी संकलित सामग्री मोनियर विलियम को सौंप दी ।

इस शब्दकोश का भारतीय संस्करण संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के ख्यातिलब्ध-प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास के द्वारा प्रकाशित किया गया है । अबतक इस शब्दकोश में अनेक संशोधन हो चुके हैं । वर्तमान में इसका इलैक्ट्रानिक रूप भी उपलब्ध है ।

इस प्रकार यह संस्कृत शब्दकोश एक मानक कृति है तथा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से संस्कृत का उपयोग करने वाले विद्यार्थियों, विद्वानों एवं शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी शब्द कोश है ।

संस्कृत-हिन्दी कोश / वामन शिवराम आप्टे दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्रा. लि. 1986, 1996.

प्रस्तुत "संस्कृत हिन्दी कोश" वामन शिवराम आप्टे की विख्यात "The Students Sanskrit- English Dictionary" का राष्ट्रभाषा हिन्दी में सर्वप्रथम अनुवाद है । शब्दकोश के इस हिन्दी संस्करण में तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं, जैसे प्रायः सभी मूल शब्दों की व्युत्पत्ति इसमें दी गयी है, जिससे यह संस्कृत के उपयोक्ताओं के लिए और अधिक उपयोगी बन गया है ।

दूसरी विशेषता के अन्तर्गत पाठकों की सामान्य जानकारी के लिए इसमें उपसर्ग और प्रत्यय का संक्षिप्त दिग्दर्शन करा दिया गया है ।

इस महत्वपूर्ण शब्दकोश का तिसरी विशेषता यह है कि इसके अन्त में परिशिष्ट के रूप में शब्दों का नया संकलन जोड़ दिया गया है । इस महत्वपूर्ण शब्दकोश के प्रकाशन से पूर्व संस्कृत से हिन्दी में कोई अच्छा कोश उपलब्ध नहीं था । जो एक, दो उपलब्ध थे भी तो उनमें बहुत थोड़े ही शब्दों को स्थान मिला है, जिससे विर्द्यार्थियों की आवश्यकताएँ पुरी नहीं होती । इस शब्दकोश में कुल पृष्ठों की संख्या 1400 तक है । इस कोश के उपयोग हेतु इसमें पाठकों के लिए आवश्यक निर्देश भी दिये गये हैं। इसमें संकलित शब्दों के क्रम देवनागरी के वर्णानुक्रम में विन्यसित है । इसमें पृष्ठ संख्या 1 से 16 तक इस कोश से सम्बन्धित प्रारम्भिक सूचना संकलित हैं ।

इस प्रकार संस्कृत हिन्दी वृहत् कोश एक मानककृति है जो संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के सभी उपयोक्ताओं के लिए अत्यन्त सूचनाप्रद एवं उपयोगी शब्दकोश है ।

A Dictionary - English & Sanskrit / Willianms, Monier.- Varanasi : Motilal Banarasidass, 1971, 859 p., 3rd edn.

मोनियर विलियम ने संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश के साथ ही साथ एक अंग्रेजी-संस्कृत शब्द कोश भी तैयार किया था जो सन 1851 में पुरा हो गया था । इसी प्रसिद्ध शब्दकोश का भारतीय संस्करण का प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशक के माध्यम से सम्पन्न हुआ ।

इस शब्दकोश में अंग्रेजी भाषा के शब्दों का संस्कृत रूपान्तरण वर्णानुक्रम में व्यवस्थित हैं। इसमें अंग्रेजी शब्दों का विन्यसन अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षर-"A" से "H" तक आने वाले सभी शब्दों को संकलित किया गया है । इसमें जितने भी अंग्रेजी शब्द संकलित हैं, उन्हीं शब्दों के नीचे उनका अर्थ संस्कृत भाषा में वर्णित है । इस कोश के संकलन में कुल 859 पृष्ठों का उपयोग किया गया है तथा इसमें प्रारम्भिक पृष्ठों की संख्या कुल बारह हैं जिन्हें रोमन अंक में प्रदर्शित किया गया है ।

इस कोश ग्रन्थ के आरम्भ में Contractions, Errata तथा प्रस्तावना का विवरण संकलित है । संस्कृत भाषा के माध्यम से अंग्रेजी भाषा को सीखने में यह एक मानक कृति

जो विद्वानों, अनुवादकों, विद्यार्थियों एवं अन्य उपयोक्ताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है ।

Practical Sanskrit-English Dictonary/Vaman Shivaram Apteced. by P.K. Gode and C.G. Karve. - Rev. and enl.-Poona : Prakashan, 1957-1959. 3 Vols.

मोनियर विलियम द्वारा निर्मित संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश के वृहदाकार रूप के कारण ही वामन शिवराम आप्टे ने संस्कृत भाषा के इस कोश का संकलन किया है । जो पाठक मोनियर विलियम के बड़े कोशों का उपयोग नहीं कर सकते उनके लिए यह कोश बहुत सुविधाजनक है । इसका प्रथम संस्करण 1890 में प्रकाशित हुआ था । इस कोश में पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या देने का भी प्रयत्न किया गया है तथा इसमें संकलित शब्दों का क्षेत्र न्याय, अलंकार, वेदान्त, व्याकरण एवं नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित है ।

इस शब्द कोश की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं, पहला यह कि इसमें 4000 शब्दों की जो संस्कृत व्याकरण, लेखकों के नामों, कृतियों अथवा पाण्डुलिपियों के रूपमें उपलब्ध ग्रन्थ हैं उनकी एक शब्द सूची (Concordance) दी गयी है । जबकि दूसरी विशेषता यह है कि इसके दो परशिष्टों में 475 मुहावरों एवं कहावतों की एक सारिणी दी गई है । इस प्रकार संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित विद्यार्थियों, विद्वानों एवं शोधार्थियों के लिए यह एक अत्यन्त उपयोगी शब्द कोश है ।

Sanskrit - Hindi - English Dictionary /VedPrakash Shastri and Ramesh Kumar Pandey.-New Delhi : Neeta Prakashan, 1999. 266 p.

प्रस्तुत कोश बहुभाषी कोश का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है. । संस्कृत-हिन्दी एवं अंग्रेजी के 8000 शब्दों को इसमें संकलित किया गया है । इसमें शब्दों की व्युत्पत्ति, प्रत्यय एवं उपसर्ग पर भी प्रकाश डाला गया है । इस कोश में कुल ग्यारह परिशिष्टों के माध्यम से संस्कृत भाषा से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रों जैसे प्रत्यय, उपसर्ग, अव्यय, छन्द, अलंकार परिचय, न्याय, पौराणिक ऐतिहासिक नामों के साथ ही साथ भौगोलिक स्थानों के नामों का भी उल्लेख किया गया है । जबकि 10वें और 11वें परिशिष्ट में ख्यातिलब्ध लेखकों, एवं संवैधानिक शब्दों का वर्णन किया गया है। इन सबके अतिरिक्त इस शब्दकोश में विद्यार्थियों के लिए कुछ निर्देश, संकेत सूची एवं अनुक्रमणी भी दिया गया है ।

यह एक अत्यन्त उपयोगी एवं अद्यतन शब्दकोश है तथा छपाई साफ एवं स्पष्ट है। भौतिक आकार अच्छा है । संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के विषयगत शब्दकोशों के कुछ प्रमुख उदाहरण–

6. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के विषय गत शब्द कोश :

विज्ञान, सामाजिक विज्ञान तथा मानविकी के भांति ही संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के क्षेत्र में भी दिन प्रति दिन सामान्य एवं विषयगत शब्दकोश प्रभावशाली होते जा रहे हैं। फिर भी विज्ञान, प्रद्यौगिकी, तथा चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में जिस प्रकार वैज्ञानिक शब्दकोशों

की बहुलता है। संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के क्षेत्र में अभी इनकी संख्या बहुत कम है । प्रायः अधिकांश विषय शब्दकोश का प्रकृति विश्वकोशीय होते हैं। भारतीय परिपेक्ष्य में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के विकास में योगदान करने वाले अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विद्वानों के साथ ही साथ वैदिक शोध संस्थानों एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख प्रकाशन प्रतिष्ठानों ने सराहनीय कार्य किया है ।

1. वैदिकपदानुक्रमकोष / विश्ववन्धु एवं भीमदेव; सम्पादक - होशियार पुर : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, 1942-1959 (बहुखण्डीय) ।
2. हिन्दू धर्म कोश / राजबली पाण्डेय; सम्पादक - लखनऊ, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, हिन्दी समिति प्रभाग, 1978. 706 पृ.
3. Dictionary of World Gods and Goddess /T. Rengarajan.-Delhi : Eastern Book Linkers, 2008. vi, 318 p.
4. सर्वधर्म कोश / राम सरूप रसिकेश - वाराणसी : चौखम्बा विद्या भवन, 2009।
5. Vedic Etymology /Fatah Singh.-Delhi : National Publishing House, 1960. 253+3 p.
6. वैदिक कोश /मधुसूदन शर्मा - जयपुर : बाल चन्द्रालय, 1828. 72 पृ.
7. Etudes sur le Vocabulaire du Rigveda . Louis Renou.- Pandichery : Institute Frangaise Indologie, 1958. 69 p.
8. वैदिक इण्डेक्स (वैदिक कोश) / मैक डोनेल एवं कीथ; हिन्दी अनुवाद द्वारा रामकुमार राय.-वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2009 (दो भागों में) ।
9. Vedic Index of names and Subjects /A.A. Macdonelle and A.B. Keith.-Delhi : Motilal Banarasidas, 1958.2 Vols.
10. Vedic Concordance / Maurice Bloomfield.-Delhi : Motilal Banarasidas, 1964. xxii, 1078 p.
11. वैदिक कोश / सूर्यकान्त - बनारस : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1963.596 पृ.
12. वैदिक वाङ्मय निर्वचन कोश / रूप किशोर शास्त्री - दिल्ली प्रतिभा प्रकाशन, 2001 XVI, 250 P.
13. श्रौतप्रायश्चितकोश / रवीन्द्र मुले-दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, 2004. XVI 304 पृ.
14. व्रतकोश / जगन्नाथशास्त्री होशिंग - वाराणसी : सं.स.वि.वि., 2006. 400 पृ.

15. श्रौत कोश / आर. एन. डाण्डेकर - पूना : वैदिक संशोधन मण्डल, 1958. (दो भागों में) ।
16. उपनिषद्वाक्य महाकोशः/गजानन शम्भू साधले.- वाराणसी : चौखम्बा विद्या भवन, 2009 ।
17. इण्डेक्स टु शाबर भाष्य / जे. ए. जैकब. - वाराणसी : सं. सं. वि.वि., 2006. 152 पृ. (अनुवादित).
18. A Concise Dictionary of Philosophy / K. Srinivas and V. Kutumba Sastry.-New Delhi : D.K. PrintWorld (p) Ltd., 2007. Xi, 426 p.
19. Encyclopaedic dictionary of Philosophy . Nirmal Kumar Verma.-New Delhi : Crescent Publishing Coroprations, 2006. 3 Vols.
20. Indian Philosophy A-3/Christopher Bartley.-New Delhi : New Age Books, 2005. 196 p.
21. Dictionary of Philosophy / Dagobert D. Runes.-15th. Rev. ed.-New York : Philosophical Library, 1960. 343 p.
22. A Dictionary of Philosophy/ ed. by M. Resenthal and P. Yulin.-Moscow : Progress Publishers, 1967. 494 p.
23. Indian Philosophical Terms-Glossary and Sources / Kala Acharya; Chief Editor.-New Delhi : Somaiya Publications Pvt. Ltd., 2004. xiii, 712 p.
24. भारतीय दर्शन परिभाषा कोश । दीनानाथ शुक्ल - दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, 1993. 300 पृ.
25. भारतीय दर्शन वृहत्कोश । बच्चू लाल अवस्थी "ज्ञान"–दिल्ली : शारदा पब्लिशिंग हाउस, 2004. (चार खण्डों में)
26. विशिष्टा द्वैतकोश / एस. एम. एस. वरदाचार्य; सम्पादक.-वंगलोर : मेलुकोटे : यादवाद्रि, 1997 (बहु खण्डीय).
27. योगशब्द कोश / सुभाष विद्यालंकार - दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, 2005 XVI 230 पृ.
28. इण्डेक्स टु वाल्मीकि रामायण। मनमथ राय.-वाराणसी : सं.सं. वि.वि. 2006. 264 पृ.
29. रघुकोश : संस्कृत - हिन्दी पर्यायों का संग्रह । रघुनाथ दत्त बन्धु - दिल्ली : मोतीलाल बनारसी दास, 1962. 508 पृ.
30. संस्कृत साहित्य कोश / राम जी उपाध्याय–वाराणसी : चौखम्बा विद्या भवन, 2009 ।

31. संस्कृतनाट्यकोश / राम सागर त्रिपाठी - दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1997 (दो खण्डों में) ।
32. बालमीकीय रामायण कोश / राम कुमार राय - वाराणसी : चौखम्ब संस्कृत भवन, 2007. 421 पृ.
33. कालिदास पर्यायकोश / त्रिभुवननाथ शुक्ल - दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, 2008 (दो भागों में)
34. महाभारत कोश / राम कुमार राय - वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1964. 158 पृ.
35. Dictionary of Vedas /T. Rengarajan.- Delhi : Eastern Book Linkers, 2004, 434 p.
36. वैदिककोश चन्द्रशेखर एवं अनिल कुमार उपाध्याय दिल्ली : नाग प्रकाशक, 1995 (दो खण्डों में) 973 ज. 29 सेमी.
37. Theosophical Glossary / H.P. Blavatsky.-New Delhi : Asian Publication Series, 1993. 389 p. 22 Cm.
38. Dictionary of Aurobindo's Yoga . M.P. Pandit.-1966.
39. Dictionary of Panini / Sumitra Mangesh Katre.- 3 Vols.
40. संस्कृत वाङ्मय कोश / श्रीधर भास्कर वर्णेकर; सम्पादक - कोलकाता : भारतीय भाषा परिषद, 1988. (तीन खण्डों में)
41. वाङमयार्णवः/ राम अवतार पाण्डेय - वाराणसी : ज्ञान मण्डल लिमिटेड, 1966 815 पृ.
42. Dictionary of Sanskrit on historical Principles/Poona : Deccan College, 1949. 8, xxxvp.
43. A Dictionary of Sanskrit Grammar / K.V. Abhankar.-Baroda : G.O.S., 1961. 134 p.
44. पुराणकथाकोश । गौरी नाथ शास्त्री सम्पादक - सीतापुर :- नैमिषरन्य :पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान संस्थान, 1983 (बहुखण्डीय) ।
45. कूर्म महापुराण विषयानुक्रम कोश उमाशंकर त्रिपाठी; सम्पादक - वाराणसी : सं. वं.वि.वि. 1990. 728 पृ. 1967. (पाँच भागों में)
46. नाममाला / धनञ्जय; भाष्य द्वारा अमर कृति, सम्पादन द्वारा सम्भुनाथ त्रिपाठी- काशी : भारतीय ज्ञान पीठ, 1950.138 पृ.
47. भारतीय पुरा इतिहास कोश / अरूण-नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशसन्स, 2009। (दो भागों में)

48. Dictionary of Hindu Architeture/P.K. Acharya.-Oxford : Oxford University Press, 1927.
49. Dictionary of mythology / Lewis Spence.-London : Cassell, D., 198 p.
50. Short Dictionary of mythology / P.C. Woodceck.-New York : Philosophical Library, 1953.127 p.
51. संस्कृत सङ्गणक शब्दकोश (Sanskrit Dictionary of Computers) / Compliled by Srikantha Jamadagni; ed. by Srinivas Varakhedi.-Hyderabad : Sanskrit Parishad, 2009
52. रामचरित मानस पदानुक्रम कोश / त्रिभुवन नाथ शुक्ल - दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, 2010।

Dictionary of Sanskrit on Historical Principles - Poona : Deccan College, 1949.-8, XXXV P.

यह शब्द कोश संस्कृत का विश्वकोशीय शब्दकोश है तथा इसका प्रथम संस्करण 1949 ई. में डेकन कालेज, पूना के सौजन्य से प्रकाशित हुआ था । इसके प्रधान सम्पादक ए. एम. घटेज थे । इस कोश में संस्कृत शब्दकोश के ऐतिहासिक सिद्धान्तों की प्रकृति, क्षेत्र एवं समस्याओं से सम्बन्धित जानकारी दी गयी है । इसके साथ ही साथ इसमें ग्रन्थों के लेखक, सम्पादक, संस्करण, संकेताक्षर, सन्दर्भों की पद्धति तथा संस्कृत साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थों के काल क्रम की तालिका भी प्रस्तुत है।

इस शब्दकोश की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत के सभी पक्षों से सम्बन्धित उपयुक्त एवं महत्वपूर्ण सूचनाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । इसके पदों अथवा शब्दों की अनेक पक्षों की दृष्टि, उनकी व्युत्पत्ति, प्राचीन तथा वर्तमान प्रयोग के साथ ही साथ अन्य भाषा वैज्ञानिक पक्षों पर भी प्रकाश डाला गया है ।

प्रस्तुत शब्दकोश के निर्माण की प्रक्रिया एक परियोजना के तहत सन् 1948 ई. में प्रारम्भ किया गया तथा इसे कई खण्डों में प्रकाशित करने की योजना बनी । परन्तु अभी तक इसके शेष खण्ड प्रकाशित नहीं हो सके हैं, जिससे यह शब्दकोश अभी भी पूर्ण नहीं है ।

फिर भी इस शब्दकोश के प्रथमखण्ड से इतना तो स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा, साहित्य तथा प्राच्य विद्या में रूचि रखने वाले विद्यार्थियों एवं अध्यताओं के लिए जब यह अपने शेष खण्डों के साथ प्रकाशित होगा तो एक अत्यन्त उपयोगी एवं सूचनाप्रद शब्दकोश होगा।

वैदिक पदानुक्रम कोष । विश्वबन्धु एवं भीमदेव; सम्पादक-होशियारपुर : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, 1942-59. (पाँच भाग-सोलह खण्ड)।

प्रस्तुत ग्रन्थ "वैदिक पदानुक्रमकोष" पुरे विश्व में वैदिक साहित्य का अद्वितीय कोश ग्रन्थ है । स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों से प्रभावित होकर स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा स्वामी नित्यानन्द ने सन् 1903 में संयुक्त रूप से एक पूर्ण वैदिक शब्दकोश के संकलन का कार्य आरम्भ किये जिसमें वैदिक संहिता के चारो सिद्धान्तों-ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद को सम्मिलित किया गया । "वैदिक पदानुक्रमकोष" के प्रकाशन के पूर्व सन् 1929 में एक "वैदिक-शब्दार्थ-पारिजात" नाम से वैदिक साहित्य का एक पूर्ण शब्दकोश प्रकाशित किया गया । इसी परियोजना के तहत इसके अगले चरण में बारह हजार पृष्ठों का एक "वैदिक पदानुक्रम कोश" या "A Vedic Word Concordance" नामक एक बहुखण्डीय वैदिक पदानुक्रमकोश के निर्माण की नीव रखी गयी । इस पदानुक्रम कोश के संकलन में जिन ग्रन्थों को आधार स्वरूप में अपनाया गया उनमें Worter buch zum Rig-Veda-Grassmann (1873), Index Verborum to Atharveda-Whitney (1881), Word Index to Atharveda-Max-Muller (1998) और Rig-Veda-Padasuchi by Vaidik Sansodhan Manal, Poona (1951) आदि प्रमुख हैं ।

इस प्रकार विश्वेश्वरा वैदिक शोध संस्थान, होशियापुर के भारतीय मनीषियों के द्वारा सन् 1942 से लेकर 1949 तक इस वृहद् वैदिक पदानुक्रमकोश को पाँच भागों तथा सोलह खण्डों के प्रकाशित किया गया ।

कोश में भाग तथा खण्डानुसार संकलित विषयों का विवरण निम्नलिखित है–

भाग - 1; खण्ड - 1 : भूमिका, संहिता एवं 'अ'
भाग - 1; खण्ड - 2 : संहिता एवं 'आ'-'घ'
भाग - 1; खण्ड - 3 : संहिता एवं 'च' - 'न'
भाग - 1; खण्ड - 4 : संहिता एवं 'प' - 'ल'
भाग - 1; खण्ड - 5 : संहिता एवं "व"-"स"
भाग - 1; खण्ड - 6 : संहिता एवं भाग 'ह' एवं 'च' परिशिष्ट
भाग - 2; खण्ड - 1 : ब्राह्मणारण्यक "अ" - "ण"
भाग - 2; खण्ड - 2 : ब्राह्मणारण्यक "त"- "ह"
भाग - 3; खण्ड - 1 : उपनिषद भूमिका एवं "अ"- "न"
भाग - 3; खण्ड - 2 : उपनिषद् एवं 'प'-'ह', परिशिष्ट
भाग - 4; खण्ड - 1 : वेदाङ्ग एवं 'अ'- 'उ'
भाग - 4; खण्ड - 2 : वेदांग सूत्र एवं 'ग्रह'-'न'
भाग - 4; खण्ड - 3 : वेदाङ्ग एवं 'प'-'ल'
भाग - 4; खण्ड - 4 : वेदाङ्ग एवं 'व'-'ह'
भाग - 5; खण्ड - 1 : आदितोनुक्रम :

भाग - 5; खण्ड - 2 :

इस प्रकार यह वैदिक पदानुक्रमकोश निश्चय ही एक वैदिक साहित्य का एक उत्तम शब्दकोश है । वैदिक - एवं संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों, शोधार्थियों तथा अध्यापकों के लिए यह एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ कृति है ।

हिन्दू धर्म कोश / राजबली पाण्डेय; सम्पादक, लखनऊ उ०प्र० हिन्दी संस्थान हिन्दी समिति प्रभाग, 1978, प्रथम संस्करण.

यह शब्दकोश प्राच्य विद्या एवं संस्कृत वाङ्मय के अन्तर्गत विषय शब्दकोश का प्रमुख उदाहरण है । इस शब्दकोश की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें हिन्दू धर्म में वर्णित विविध विषयों के सभी पदों या शब्दों को विशेष स्थान दिया गया है । हिन्दू धर्म के जिन प्रमुख क्षेत्रों को इसमें संग्रहित किया गया है उसमें धार्मिक वाङ्मय के प्रमुख ग्रन्थ, धर्म प्रवर्तक, आचार्यों, लेखकों, धार्मिक गति विधियों में योगदान करने वाले संत एवं महात्माओं, पूजा पद्धति, कर्मकाण्ड, उपासना एवं योग, व्रत, उत्सव, देवमण्डल, अर्द्ध देवयोनि, धर्म विज्ञान, धर्मशास्त्र, धार्मिक तथा नैतिक आचार, तीर्थ, पवित्रनदी, पर्वतादी, धार्मिक सम्प्रदाय तथा लोक विश्वास आदि प्रमुख हैं।

इस शब्दकोश के संकलन हेतु जिन स्रोतों को आधार स्वरूप अपनाया गया है उनमें वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरन्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, सूत्रग्रन्थ श्रौत, धर्म और गृह्य, रामायण और महाभारत, पुराण, उपपुराण, स्मृति-ग्रन्थ, दार्शनिक साहित्य, के साथ ही साथ भाष्य तथा निबन्ध ग्रन्थ, तन्त्र तथा आगम, प्रादेशिक भाषाओं का धार्मिक साहित्य, साम्प्रदायिक धार्मिक साहित्य, धार्मिक सुधारणाओं तथा आन्दोलनों के इतिहास ग्रन्थ, लोक धर्म का लिखित अथवा मौखिक साहित्य आदि प्रमुख हैं।

इस शब्दकोश की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें मुख्यतया वैदिक परम्परा से विकसित धार्मिक सम्प्रदायों का ही समावेश किया गया है । इसमें हिन्दू धर्म के विविध विषयों का संक्षिप्त परिचय देवनागरी के वर्णानुक्रम में वर्णित है ।

यह कोश धर्मशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए एक अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ स्रोत है।

पुराणकथाकोश / गौरीनाथ शास्त्री; सम्पादक सीतापुर : नैमिषारण्य : पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान संस्थान, 1983, (बहु खण्डीय) ।

"पुराणकथाकोश" पुराण वाङ्मय से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण वृहत विषयकोश है। इस वृहत विषय कोश की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें पुराण साहित्य से सम्बन्धित ऐसे अनेक आख्यान, उप आख्यान, चरित्र एवं कथाओं के वर्णन को सम्मिलित किया गया है जिनके द्वारा मानव समाज अपना चारित्रिक विकास एवं सामाजिक उत्थान कर सकता है । इसमें समस्त पौराणिक कथाओं और चरित्रों का संग्रह एक स्थल पर उपलब्ध हो सके, इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर इस महनीय शब्दकोश का संकलन किया गया है।

पुराण में उपलब्ध विशाल साहित्य के आधार - प्रस्तुत विषय शब्दकोश को कई खण्डों में प्रकाशित करने की योजना बनी तथा सब पुराणों में अति प्राचीन "ब्रह्मपुराण" को इसके प्रथम खण्ड में संकलित करने की योजना तैयार की गयी । अतः प्रथम खण्ड में 'ब्रह्मपुराण' से सम्बन्धित कथाओं के संग्रह का उल्लेख किया गया है । इसी प्रकार इसके द्वितीय खण्ड में "मत्स्यपुराण" में वर्णित कथाओं के संग्रह को, एवं तृतीय खण्ड में "विष्णुपुराण" में वर्णित कथाओं के संग्रह का विवरण प्रस्तुत है । तदन्तर इसी क्रम में अन्य पुराणों में वर्णित कथाओं के संग्रहों का विवरण अलग-अलग खण्डों में प्रस्तुत किये गये हैं।

इस प्रकार यह शब्द कोश पुराण साहित्य में रूचि रखने वाले विद्यार्थियों, शोधार्थियों एवं अध्यापकों के लिए एक सर्वोत्तम सन्दर्भ कृति है ।

कूर्म महापुराणविषयानुक्रम कोश / उमाशंकर त्रिपाठी; सम्पादक :- वाराणसी : सं. सं. वि.वि., 1990. 728 पृ.

प्रस्तुत ग्रन्थ "कूर्म महापुराण विषयानुक्रम कोश" पुराण साहित्य का एक महत्वपूर्ण विषय शब्द कोश है । इस विषय शब्दकोश के अन्तर्गत कूर्ममहापुराण में आये हुए विषयों के पदों की अर्थ एवं विश्लेषण को अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया गया है । यह शब्दकोश कूर्म महापुराण विषयानुक्रम कोश का पूर्वार्द्ध खण्ड है तथा इसके उत्तरार्द्ध खण्ड के प्रकाशन होना अभी शेष है ।

इसमें आये हुए विषयों से सम्बन्धित पदों की व्याख्या संस्कृत में प्रस्तुत है। इस पूर्वार्द्ध खण्ड के संकलन में कुल 728 पृष्ठों का प्रयोग किया गया है । अतः यह शब्दकोश पुराण साहित्य में रूचि रखने वाले पाठकों की सूचना आवश्यकता की दृष्टिकोण से एक अत्यन्त उपयोगी विषय शब्दकोश है ।

ब्रह्मवैवर्त्त महापुराण विषयानुक्रमकोश - वाराणसी : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्याल, 2006. 376 पृ.

यह शब्दकोश हिन्दू धर्मशास्त्र का एक विषय शब्दकोश है तथा इसका प्रथम संस्करण 2006 ई. में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रकाशन संस्थान से प्रकाशित हुआ है ।

इस शब्दकोश में ब्रह्मवैवर्त्त महापुराण में वर्णित विषयों से सम्बन्धित विवरणों को आकारादि क्रम में विन्यसित किया गया है । साथ ही साथ इस महापुराण में वर्णित विषयों का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है । इस शब्दकोश को स.म.अ.मा. (49) के रूप में प्रकाशित किया गया है ।

यह कोश पुराण के विद्यार्थियों, शोधछात्रों तथा अध्यापकों के लिए बहुत ही उपयोगी शब्दकोश है।

वामन महापुराण विषयानुक्रमकोश - वाराणसी : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 2006. (दो भागों में)।

यह शब्दकोश भी हिन्दू धर्म शास्त्र का विषय शब्दकोश है तथा इसका प्रथम संस्करण 2006 ई. में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्रकाशन संस्थान से प्रकाशित हुआ है । इस शब्दकोश की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें वामन महापुराण में आये हुए विषयों के पदों / शब्दों को अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया गया है ।

इस शब्दकोश को दो खण्डों में संकलित किया गया है तथा इसे सरस्वती भवन अध्ययन माला क्रमांक (46) के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया है । इस प्रकार वामन महापुराण से सम्बन्धित यह एक महत्वपूर्ण शब्दकोश है जिसका प्रकाशन विश्व प्रसिद्ध सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय के अधीन हुआ है।

Dictionary of World Gods and Goddess/T. Rengarjan.-Delhi : Eastern Book Linkers, 2008. vi, 3/8 p.

इस शब्दकोश में विश्व में प्रचलित सभी धर्मों के प्रसिद्ध देवी - देवताओं के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाओं को संकलित किया गया है । इसमें संकलनकर्त्ता ने विश्व के प्रधान धर्मों एवं संस्कृति से सम्बन्धित एक काल क्रमनुसार महत्वपूर्ण सारणी का उल्लेख किया है जिसके आधार पर विश्व के किसी भी देश के प्रसिद्ध देवी-देवताओं के सम्बन्ध में तत्काल जानकारी प्राप्त की जा सकती है ।

इस कोश की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें वर्णित प्रधान देवी-देवताओं से सम्बन्धित विवरण अंग्रेजी के वर्णानुक्रम में आधे से एक पृष्ठ में लगभग विन्यसित हैं जिसमें इन प्रसिद्ध देवी-देवताओं की उत्पत्ति काल, पूजा का समय, पर्यायवाची, धार्मिक केन्द्र कला सन्दर्भ, साहित्यिक स्रोत, विवरण तथा इनके महत्वों को विशेषरूप से सम्मिलित किया गया है ।

इस शब्दकोश को कुल 318 पृष्ठों में संकलित किया गया है, जिसमें छः पृष्ठों का प्रधान धर्मों से सम्बन्धित एक भौगोलिक सूची संकलित है । इसके अतिरिक्त विद्यिार्थियों के सुविधा के लिए पृष्ठ सं. 263 से 309 तक एक अनुक्रमणी का भी उल्लेख किया गया है । परन्तु प्रस्तुत कोश में उप देवता अथवा यक्ष, गन्धर्व (Demigods), भूत-प्रेत (Demons) तथा पौराणिक महापुरुषों (Mythological Heroes) को कोई स्थान नहीं दिया गया है । फिर भी यह कोश अनेक दृष्टिकोण से धर्मशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है ।

धर्म और संस्कृति कोश /अरूण -नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन्स, 2007 (दो भागों में) 650 पृ.

प्रस्तुत शब्दकोश में धर्म और संस्कृति से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रों जैसे धर्मजन-कोश, धर्मसूत्रकोश, मानस मन्थन, सुभाषितकोश एवं अद्‌भुत किन्तु सत्य जैसे विषयों को

शामिल किया गया है । इसमें अद्‌भुत और आश्चर्यजनक घटनाओं एवं प्रसंगों का रोचक वर्णन कोश के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इस शब्दकोश को कुल दो भागों में संकलित किया गया है तथा इसमें कुल 847 उक्तियों का वर्णन है । इसके प्रथम भाग का पहला शब्द जीवन आधार धर्म है, जबकि द्वितीय भाग में अन्तीम शब्द "लिंकन और केनेडी" के रूप में वर्णित है।

इस शब्दकोश की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके अध्ययन से विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि तो होगी ही साथ ही साथ उनका मनोरंजन भी होगा ।

A Concise Dictionary of Philosophy / K. Srinivas and V. Kutumba Sastry.-New Delhi : D.K. Print World (p) Ltd., 2007. Xi, 426 P.

प्रस्तुत शब्दकोश "A concise Dictionary of phelosophy" दर्शनशास्त्र का एक उत्तम एवं आधुनिक विषय शब्दकोश है तथा इसका प्रथम संस्करण 2007 ई. में प्रकाशित हुआ है । इस शब्दकोश की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें दर्शनशास्त्र के विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित पदों/शब्दों की परिभाषा एवं अर्थों का विवरण अद्यतन शब्दकोशों की वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है । इसमें प्रविष्टियों को रोमन लिपि के वर्णमाला 'A' से 'Z' के क्रम में विन्यसित किया गया है तथा संस्कृत आधारित शब्दों को डाईक्रिटीकल चिह्नों के साथ प्रस्तुति के बाद भी व्यवस्थापन-क्रम एक समान ही है । फिर भी उच्चरण को लेकर इनमें भिन्नता परिलक्षित है ।

इसमें विन्यसित प्रत्येक पद के व्याख्या के सामने कोष्ठक में उसके मूल भाषा का भी उल्लेख है तथा इन मूल भाषाओं की संक्षिप्तिकरण का विवरण भी अलग से दी गयी है । पाठकों द्वारा इसका अधिकाधिक उपयोग हो इस हेंतु ग्रन्थ के आरम्भ में कुछ आवश्यक दिशा निर्देशों का भी उल्लेख है । इसके अन्त में नित्य प्रति उपयोग होने वाले कुछ विदेशी मूल के पदों (उनके अर्थों सहित) एक विस्तृत शब्दावली सूची भी दी गयी है ।

इस प्रकार यह विषय शब्दकोश दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों, शोधार्थियों तथा अध्यापकों के लिए एक अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ कृति है जो अंग्रेजी माध्यम से दर्शनशास्त्र के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध कार्य में रूचि रखते हैं ।

Encyclopaedic Doctionary of Pholosophy / Nirmal Kumar Verma.- New Delhi : Crescent Publishing Corporation, 2006. 3 Vols.

प्रस्तुत ग्रन्थ दर्शनशास्त्र का एक विश्वकोशीय शब्दकोश है तथा इसका प्रथम संस्करण 2006 ई. में प्रकाशित हुआ है । दर्शनशास्त्र के इस वृहहदशब्दकोश को कुल तीन खण्डों में प्रकाशित किया गया है । इसके अन्तर्गत दर्शनशास्त्र के सभी पदों, अवधारणाओं तथा आन्दोलनों को विशेष स्थान दिया गया है । साथ ही साथ प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक दर्शन के सभी-शाखाओं को भी इसमें सम्मिलित किया गया है।

इसमें संकलित सभी दार्शनिक पदों की परिभाषा एवं उनके अर्थों को अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत की गयी है ।

Indian Philosophy A-Z / Christopher Bartlly.-New Delhi : New Age Books, 2005. 196 p.

प्रस्तुत ग्रन्थ "Indian Philosophy A-Z" विषयशब्दकोश एक प्रमुख उदाहरण है। इस कोश ग्रन्थ में संकलन कर्ता भारतीय दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित सभी शाखाओं से पदों/शब्दों को एकत्रित करके उनके अर्थों तथा प्रयोगों को अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत करने का उत्तम प्रयास किया है ।

इस कोश ग्रन्थ के मुख्य भाग में A से Z के क्रम में भारतीय दर्शन के सभी पदों की अंग्रेजी-संस्कृत शब्दावली के साथ ही साथ डाईक्रीटीकल चिह्न के साथ ग्रन्थ में वर्णित प्रधान शीर्षकों से सम्बन्धित एक अन्य शब्दावली का भी उल्लेख है ।

दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों तथा अध्येताओं के लिए यह शब्दकोश बहुत उपयोगी कोशग्रन्थ है । इसके प्रत्येक खण्ड में वर्णित शीर्षकों का क्रम अंग्रेजी वर्णमाला के क्रम में विन्यसित है जिनका विवरण निम्नवत है–

खण्ड - 1 : A Class -Donor Gametes;

खण्ड - 2 : Double Blind Experiement Objectivty; and

खण्ड - 3 : Objectivity in Ethics - ZZZZ

इस प्रकार यह एक ऐसा शब्द कोश है जिसमें दार्शनिक पदों की उचित परिभाषाओं के साथ ही साथ उनसे सम्बन्धित अन्य विवरणों का भी उल्लेख प्रस्तुत है । इसलिए दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों, अध्यापकों एवं सामान्य पाठकों के लिए यह अत्यन्त उपयोगी एवं सूचना प्रद - शब्दकोश है ।

Indian Philosophical Terms : Glossary and Sources / Kala Acharya; Editor-New Delhi : Somaiya Publications, 2004. 712 p.

प्रस्तुत ग्रन्थ "IndianPhilosophical Terms; glossary and Sources" भारतीय दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दकोश है । इस शब्दकोश में भारतीय धर्म एवं दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न पदों की अर्थ एवं परिभाषा अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत की गयी है । चूँकि भारतीय धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित प्राचीन साहित्य ज्यादातर संस्कृत, पालि एवं प्राकृत भाषा में उपलब्ध हैं, फिर भी इस पारिभाषिक शब्दकोश में भारतीय दर्शन शास्त्र के सभी शाखाओं से सम्बन्धित विषयों को विशेष रूप से सम्मिलित किया गया है ।

इस पारिभाषिक शब्दकोश में प्रत्येक पद की व्याख्या के साथ ही साथ उससे सम्बन्धित परिचयात्मक टिप्पणियों का भी वर्णन किया गया है । यह सर्वविदित है कि

भारतीय दर्शन शास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक है, फिर भी भारतीय दर्शन में विद्यमान सभी शाखाओं तथा विचारों से सम्बन्धित पदों की विस्तृत, स्पष्ट तथा आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत करने का उत्तम प्रयास किया गया है ।

इसके संकलन में भारतीय दर्शन के जिन क्षेत्रों को आधार स्वरूप अनुसरण किया गया है उनमें सांख्य योग, न्यायवैषेशिक, पूर्वमीमांसा, वेदान्त, चार्वाक दर्शन, जैनदर्शन तथा बौद्धदर्शन आदि प्रमुख हैं । इसके अतिरिक्त इसमें दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित सामान्य पदों के साथ ही साथ तकनीकी पदों की भी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है । इस शब्दकोश के संकलन में कुल 712 पृष्ठों का उपयोग किया है जिसमें पृष्ठ संख्या 1 से लेकर 200 तक के अन्तर्गत भूमिका का उल्लेख किया गया है, जबकि पृष्ठ 219 से लेकर 682 पृष्ठ तक अनुक्रमणी का उल्लेख है । इसमें लिप्यन्तरण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय मानकों का उपयोग किया गया है ।

इस प्रकार यह कृति भारतीय दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियों एवं अध्येताओं के लिए एक महत्वपूर्ण त्वरित सन्दर्भ स्रोत है ।

Theosophical Glossary / H.P. Blavatsky.- New Delhi : Asian Publication Services, 1993.

यह ग्रन्थ ईश्वरी ज्ञान से सम्बन्धित शब्दों अथवा पदों की एक परिभाषिक शब्दकोश है। इसे सन् 1892 में पहली बार प्रकाशित किया गया था फिर इसका पुन संस्करण सन् 1986 में प्रकाशित हुआ था । जबकि 1993 में इसे पुनः प्रकाशित किया गया ।

इसमें ईश्वरी ज्ञान से सम्बन्धित पदों अथवा शब्दों के परिभाषा एवं अर्थों को अंग्रेजी वर्णमाला के वर्णानुक्रम में A से Z के क्रम में प्रस्तुत किया गया है । इसमें भारतीय भाषाओं जैसे संस्कृत, पालि, तिब्बतन के साथ ही साथ ग्रीक, लैटिन, हिब्रु एवं परशियन भाषा के शब्दों को भी सम्मिलित किया गया है । इसमें पूर्वी एवं पश्चिमी जगत के विद्वानों एवं धर्मगुरुओं से सम्बन्धित सूचना को भी विशेष रूप से सम्मिलित किया गया है ।

इसके संकलन में कुल 389 पृष्ठों का उपयोग हुआ है तथा यह एक उत्तम सन्दर्भ स्रोत हैं ।

भारतीय दर्शन वृहत्कोश / बच्चूलाल अवस्थी "ज्ञान" - दिल्ली : शारदा पब्लिशिंग हाउस, 2004. (बहुखण्डीय)।

प्रस्तुत ग्रन्थ "भारतीय दर्शन वृहतकोश" भारतीय दर्शन शास्त्र का एक महत्वपूर्ण शब्दकोश है । यह वृहत शब्दकोश 2004 ई. में चार खण्डों में प्रकाशित हुआ है । इसमें दार्शनिक शब्दों के व्युत्पत्ति लभ्य एवं स्वरूपगत अर्थ के प्रतिपादक शास्त्रीय उद्धरणों का संकलन, समायोजन के साथ ही साथ यथावसर तुलनात्मक विवेचन की तटस्थ मीमांसा, पदों के व्याख्यान की समग्रता को प्रमाणित करने का प्रयास भी किया गया है । भारतीय दार्शनिक वाङ्मय मानविय चिन्तन का चरमोत्कर्ष है, जिसमें ऋषियों की तत्वार्थ दर्शिनी

प्रतिभा द्वारा उन्मीलित ज्ञान राशि ने शब्दों का प्रमाणिक आकार ग्रहण किया है । विविध दार्शनिक प्रणालियों में प्रयुक्त शब्द किसी विशिष्ट प्रस्थान के सन्दर्भ में अपना पारम्परिक अर्थ रखते हैं; जिसमें यथावत बोध के अभाव में किसी दर्शनभेद को यथार्थतः समझना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है । यही कारण है कि इस महत्त्वपूर्ण कृति के निर्माण के बाद भी ग्रन्थकार ने समग्रता का अभिमान नहीं किया है । इसमें आचार्यों के ग्रन्थों का यथापेक्ष संकलन, समायोजन तथा लेखन ही प्रस्तुत लेखक का कार्य रहा है । इसलिए उसने किसी मत की समीक्षा करते हुए अपने मत का अभिनिवेश नहीं रखा है, जो कि इस बृहत्कोश की सबसे बड़ी लेखकीय उपलब्धि है। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ सं. i से xii तक संकेत सहित ग्रन्थनाम सूची का उल्लेख है तथा भारतीय दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों की सन्दर्भ ग्रन्थ सूची भी संनिहित है । इसमें वर्णित दर्शनानुसार शब्द शीर्षक सूची के अन्तर्गत भारतीय दर्शन के अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित शब्दों को वर्णानुक्रम में व्यवस्थित करके प्रदर्शित किया गया है ।

इस सन्दर्भ ग्रन्थ के अन्तर्गत अचिन्त्य भेदाभेदभाव (वेदांत), अद्वैत वेदान्त, आयुर्वेद दर्शन, चार्वाक दर्शन, जैन दर्शन, द्वैत वेदान्त, (माध्व), द्वैताद्वैत (निम्बार्क), न्याय दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन (काश्मीर शैवाद्वैत), बौद्ध दर्शन, बौद्ध दर्शन (माध्यमिक शून्यवाद) बौद्धदर्शन (योगाचार विज्ञानवाद), बौद्ध दर्शन (वैभाषिक सर्वास्तिवाद), बौद्ध दर्शन (सौत्रान्तिक सर्वास्तिवाद), मीमांसा दर्शन (कुमारिल), मीमांसा दर्शन (प्रभाकर), मीमांसा दर्शन (मण्डन मिश्र), योग दर्शन, विशिष्टताद्वैत वेदान्त, वेदान्त दर्शन, वैशेषिक दर्शन, व्याकरण दर्शन, शाक्त दर्शन, शुद्धाद्वैत वेदान्त, शैव दर्शन (द्वैत, विशिष्टातैत, दाक्षिणात्य, नकुलीश), सांख्य दर्शन जैसे भारतीय दर्शनशास्त्र के सभी शाखाओं को सम्मिलित किया गया है ।

यह शब्दकोश अबतक प्रकाशित भारतीय दर्शन के सभी शब्दकोशों में वृहतशब्दकोश होने के साथ ही साथ हिन्दी भाषा में प्रकाशित अद्यतन एवं सर्वाधिक उपयोगी कोश है । भारतीय दर्शनशास्त्र में रूचि रखनेवाले सभी श्रेणी के पाठकों के लिए यह एक बहुमूल्य कृति है ।

योग शब्दकोश / सुभाष विद्यालंकार - दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, 2005. 199 पृ.

प्रस्तुत ग्रन्थ योगशब्दकोश में संकलनकर्ता ने योगदर्शन तथा योग के विभिन्न अंगों को सुलभ बनाने के लिए विषय से सम्बन्धित दार्शनिक शब्दों को इस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है कि सामान्य बुद्धि वाले गोगाभिलाषी भी ऐसे शब्दों के सामान्य अर्थों से आसानी से परिचित हो सकें ।

इस कोश ग्रन्थ में योग दर्शन तथा योग से सम्बन्धित जिन शब्दों को स्थान दिया गया है उनके अर्थों को वर्णानुक्रम में अक्षर 'अ' से 'ह' के क्रम में विन्यसित किया गया है।

इस प्रकार यह शब्दकोश वर्तमान परिवेश में योग जिज्ञासुओं एवं विद्वत समाज के लिए बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है ।

भारतीय पुरा इतिहासकोश / अरूण-नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशसन्स, 2009 (दो भागों में)

प्रस्तुत 'भारतीय इतिहास पुराकोश' प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सूचनाओं की जानकारी करने हेतु एक बहुमूल्य कृति है । इसमें ऐतिहासिक साक्ष्यों का वर्णन विचारित तिथियों के अनुसार संकलित है । इस शब्दकोश को दो खण्डों में संकलित किया गया है ।

इसके प्रथम भाग में लगभग 5000 ईसा पूर्व से लेकर 600 ईसा पूर्व तक के ऐतिहासिक शाक्ष्यों का कोश क्रम के रूप में उल्लेख किया गया है । इसके खण्डों में जिन क्षेत्रों को आधार बनाया गया है उनमें पृथ्वी की आयु, मनुष्य का जन्म, पुराणों में इतिहास, भारत सिन्धू, त्रिदेव, आठ प्रकार के विवाह, सभ्यता का चक्र तथा आर्य कहाँ से आये आदि सम्मिलित है ।

इस शब्दकोश के दोनों खण्डों को मिलाकर कुल 760 पृष्ठों का उपयोग किया गया है जिसमें प्रथम खण्ड का पृष्ठांकन 1 से लेकर 360 तक है, जबकि दूसरे खण्ड में 361 से लेकर 760 तक है ।

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व के विद्यार्थियों के लिए यह बहुत उपयोगी ग्रन्थ है ।

कालिदास पर्यायकोश / त्रिभुवन नाथ शुक्ल-दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, 2008 (दो भागों में) ।

यह संस्कृत साहित्य का विषय शब्द कोश है तथा इसका प्रथम संस्करण 2008 ई. में प्रकाशित हुआ है । संस्कृत साहित्य में पर्याय या समानार्थक शब्द एक से होते हुए भी उनकी अर्थच्छाइयों में सूक्ष्म अन्तर होता है । इन्हीं अन्तरों को दृष्टिगत करते हुए कालिदास के काव्यों में उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों तथा उनके पर्यायों को अकारादि क्रम से प्रस्तुत करते हुए उन शब्दों की व्युत्पत्ति, अर्थ, उद्धरण, सन्दर्भ तथा उद्धरणों का हिन्दी में अनुवाद आदि को इस कोश में प्रस्तुत किया गया है ।

इस कोश के प्रथम भाग में पदों की व्यवस्थापन हिन्दी वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' से प्रारम्भ होकर 'त्र' अक्षर से समाप्त हुआ है । इसमें रघुवंशम् के प्रत्येक वाक्यों को पहले संस्कृत में दिया गया है फिर उसका हिन्दी में अनुवाद किया गया है । इस प्रकार रघुवंशम् के कुल 291 शब्दों तथा 1343 पर्यायों को आकारादि क्रम से प्रस्तुत किया गया है ।

इसी प्रकार इस कोश के द्वितीय भाग को पुनः तीन खण्डों में संकलित किया गया है । प्रथम खण्ड में "कुमार सम्भवम्" द्वितीय खण्ड में "मेघदूतम" तथा तृतीय खण्ड में "ऋतु संहार" के पर्यायों का संकलन प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार द्वितीय भाग के प्रथम खण्ड में "कुमार सम्भवम्" के 151 शब्दों के कुल 660 पर्यायों का सन्दर्भ सहित विवेचन किया गया है । जबकि इसके द्वितीय खण्ड में "मेघदूतम" के 107 शब्दों 371 पर्यायों के साथ ही साथ तृतीय खण्ड में "ऋतुसंहार" के 85 शब्दों के 352 पर्यायों का आकारादि क्रम से सन्दर्भ एवं उद्धरण सहित विवेचन प्रस्तुत किया गया है । कालिदास के सम्पूर्ण काव्य साहित्य में कुल 634 शब्दों के 2726 पर्यायों का इसमें प्रयोग हुआ है ।

इस प्रकार यह शब्दकोश संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों, शोधार्थियों, अध्यापकों एवं लेखकों के लिए एक बहुमूल्य सन्दर्भ कृति है ।

संस्कृत नाट्यकोश / राम सागर त्रिपाठी - दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1997 (दो खण्डों में)

यह कोश संस्कृत साहित्य का एक विषय शब्दकोश है तथा इसका प्रथम संस्करण 1997 ई. में प्रकाशित हुआ है । इस शब्दकोश को दो खण्डों में प्रकाशित किया गया है। इसके प्रथम खण्ड में संस्कृत साहित्य से सम्बन्धित नाटकों के संकलन को प्रस्तुत किया गया है, जबकि इसके द्वितीय खण्ड का शीर्षक "शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली कोश" है। इसमें नाटकों की नामावली को विषयानुसार वर्गीकृत रूप में प्रस्तुत की गयी है तथा इसके अन्त में शास्त्रीय सिद्धान्तों का परिशिष्ट में उल्लेख भी किया गया है ।

इस प्रकार यह कोश संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों के लिए बहुत अधिक उपयोगी है ।

बालमीकीय रामायण कोश-राम कुमार राय - वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत भवन, 2007, 421 पृ. ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भगवान श्रीराम के अद्योपान्त जीवन से सम्बद्ध सम्पूर्ण घटना क्रम का विवरण संकलित है । इसके साथ ही साथ इसमें भगवान श्री राम के जीवन चरित्र के अतिरिक्त रामायण में आये अन्य सभी पात्रों के योगदानों एवं विभिन्न क्रिया-कलापों को भी सुन्दर ढंग से वर्णित किया गया है ।

प्रस्तुत कोश में बाल्मीकीय रामायण में आये नामों और विषयों की व्याख्यात्मक अनुक्रमणिका को प्रस्तुत किया गया है । इस कोश में मूलविषय के अन्तर्गत शब्दों का विन्यसन पृष्ठ संख्या 3 से लेकर 422 तक विन्यसित है, तदनन्तर तीन परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिनमें क्रमशः बाल्मीकी रामायण में निंकलने वाले पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों तथा अस्त्र-शस्त्रों के नाम और उनके एक-एक सन्दर्भ संकेत भी दिये गये हैं । इसमें शब्दों के अर्थों का विन्यसन वर्णानुक्रम में विन्यसित है।

इस प्रकार यह कोश संस्कृत साहित्य एवं रामायण साहित्य के अध्येताओं तथा जिज्ञासुओं के लिए उनकी सूचना आवश्यकताओं को पूर्ण करने हेतु एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ स्रोत है ।

Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary / Franklin Edgertion.-London : Oxford University Press, 1953. (2 Vols.)

इस विशिष्ट शब्दकोश में बौद्ध धर्म के साथ ही साथ संस्कृत व्याकरण को भी सम्मिलित किया गया है । इस शब्दकोश को दो खण्डों में प्रकाशित किया गया है तथा इसकी भाषा अंग्रेजी है । इसके प्रथम खण्ड का शीर्षक "Grammar" है, जिसमें व्याकरण से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का उल्लेख प्रस्तुत है । जबकि इसके दूसरे खण्ड का शीर्षक "Dictionary" है । इस द्वितीय खण्ड में पालि, अर्द्धमागधी, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी शब्दों के अर्थ को अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया गया है । इसके साथ ही साथ इसमें मध्यम भारतीय शब्दों (Middle Indic Words) के आंशिक अनुक्रमणी का भी उल्लेख है ।

इस प्रकार यह विशिष्ट शब्दकोश प्राच्य विद्या के पाठकों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ कृति है।

संस्कृत सङ्गणक शब्दकोश (Sanskrit Dictionary of Computers) / Compiled by Srikantha Jamadagni; edited by Srinivas Varakhedi.-Hyderabad : Sanskrit Parishad, R.S.S., U. University, 2009.

यह शब्दकोश एक प्रकार से विषय से सम्बन्धित विशिष्ट शब्दकोश है तथा इसका प्रथम संस्करण 2009 ई. में प्रकाशित हुआ है । सम्भवतः यह अपने प्रकार का प्रथम विशिष्टशब्दकोश है जिसमें सङ्गणक (Computer) से सम्बन्धित लगभग दो हजार शब्दों को संस्कृत भाषा में रूपान्तरित किया गया है । इस शब्दकोश के प्रकाशन से संस्कृत माध्यम से अध्ययन, शोधकार्य एवं अध्यापन करनेवाले विद्यार्थियों, शोधार्थियों तथा अध्यापकों द्वारा कम्प्यूटर का अधिकाधिक प्रयोग में बहुत अधिक सहायता मिल सकती है।

प्राच्य विद्या तथा संस्कृत में ऐसे विशिष्ट शब्दकोशों की बहुत अधिक आवश्यकता है जिससे संस्कृत माध्यम से प्रद्यौगिकी, चिकित्सा विज्ञान तथा तकनीकी आधारित में नया परिवर्तन आ सके । यह शब्दकोश कम्प्यूटर में रूचि रखने वाले पाठकों के साथ-ही-साथ संस्कृत के पाठकों के लिए भी बहुत ही उपयोगी शब्दकोश है ।

मानस संख्यावाचक अन्त्याक्षरी कोश /कमता कमलेश - दिल्ली : प्रतिभा प्रकाशन, 2010 xvi, 72[illegible] पृ.

यह कोश भारत के विश्व प्रसिद्ध लोक ग्रन्थ रामचरित मानस पर आधारित है। इसमें रामचरित मानस में वर्णित समस्त चौपांई, दोहा, सोरठा, छन्द तथा श्लोक की गणना करके उन्हें अकारादि क्रम से व्यवस्थित किया गया है । इस प्रसिद्ध शब्दकोश का प्रथम संस्करण

2010 ई. में प्रकाशित हुआ है । इसके संकलन में कुल-728 पृष्ठों का उपयोग किया गया है ।

इस प्रकार यह ग्रन्थ पूरे विश्व में प्रथम संख्यावाची कोश है जो रामचरित मानस के शोधार्थियों, विद्वानों, प्रचारकों, कथावाचकों, मानस मर्मज्ञों तथा सन्तों के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं सूचनाप्रद शब्दकोश है ।

वास्तुशब्दार्णव (वास्तु शब्दावली)/ सुरेन्द्र कुार पाण्डेय - इलाहाबाद : साहित्य भण्डार, 2007 140 पृ.

यह शब्दकोश वास्तुशास्त्र का एक नवीनतम विषय शब्दकोश है तथा इस शब्दकोश की मुख्य विशेषता यह है कि वास्तुशास्त्र में उल्लिखित व प्रतिपादित समस्त विधान व व्यवस्थाओं से सम्बन्धित सभी शब्दों / पदों का हिन्दी एवं संस्कृत से अंग्रेजी में रूपान्तर प्रस्तुत है । इसके साथ ही साथ बीच-बीच में आवश्यकतानुसार मूल सन्दर्भ एवं श्लोकों का भी वर्णन प्रस्तुत किया है।

वास्तुशास्त्र में अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका हिन्दी व अंग्रेजी दोनों के ज्ञान के बिना वास्तु की पुरी समझ नहीं हो पाती । इस दृष्टिकोण से यह वास्तुशब्दार्णव शब्दकोश बहुत ही उपयोगी है । आज वास्तु विद्या के प्रति जनमानस में जो रूचि दिखाई पड़ती है । ऐसी परिस्थिति में वास्तु विद्या का शास्त्र सम्मत ज्ञान नितांत अपेक्षित है ।

अतः इन्हीं परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत कोश में लगभगं 2000 वास्तु शास्त्र के शब्दों की अर्थ एवं व्याख्या प्रस्तुत की गयी है जिससे वास्तु विद्या में रूचि रखने वाले उपयोक्तओं के लिये यह एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

पालि एवं प्राकृत भाषा के शब्दकोश : संस्कृत की भांति ही पालि एवं प्राकृत भाषा भी अतिप्राचीन भारतीय भाषाएँ हैं, परन्तु संस्कृत भाषा की तुलना में पालि एवं प्रकाृत भाषा में निघण्टु, निरूक्त तथा अमरकोष जैसे महत्वपूर्ण शब्दकोशों का प्रारम्भ से ही अभाव रहा है । पालि एवं प्राकृत भाषा एवं साहित्य में रूचि रखने वाले कुछ आधुनिक विद्वानों, लेखकों तथा कोश रचनाकारों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान किया है, जिनका विवरण निम्नवत है–

7. पालिभाषा के शब्दकोश–

1. Pali glossary including the words of all Pali reader and of the Dhammapad / Andersen, Dines, comp.-London : Luzac, 1901. 2 vols.
2. Levi, Sylvain and others, ed.
   Hobogirin dictionnaire encyclopedique du Buddhisme dapres, les sources Chinoises et Japonaises. Tokyo, Maisen Franco-Japonaise, 1929. iv; 2002 p.

3. Popular Dictionary of Buddhism / Christmas. Humphreys.London : Arco Publication, 1962. 224 p.
4. Pali Dictionary / Vimal Chandra Loha. London : Pali text Society, [ ].
5. Dictionary of Pali Proper Names / G.P. Malalasekhara.-London : Indian Text Series, 1937-38. 2 Vols.
6. Word Index of abhidharam Kosha / S. Pradhan; Compilor.-Delhi : Indian Books Centre, 2007.
7. Dictionary of Buddhist Proper Names / Chizen Akanuma - Delhi : Indian Book Centre, 2007.
8. Historical Dictionary of Buddhism /Charles S. Prebish. - Delhi : Indian Books Centre, 2007.
9. Buddhist Hybrid SanskritGrammar and Dictionary / Franklin Edgertion. - London : Oxford University Press, 1953. 2 Vols.
10. Vinaya Koshaya; Pali - Sihnalese / Morastuve Susanrastna Thero.- Panadure : M.F.C. Perera, 1958. (Two Vols.)
11. Pali Engish Dictionary / T.W. Rhys. Davids.-
12. English - Pali Dictionary / A.P. Buddhadatta Mahathera.-
13. पालि कोश संगहो एकक्खर कोश ।
    बी.सी. जैन - नागपुर : आलोक प्रकाशन।
14. धम्मपदकोश (पालि-संस्कृति-हिन्दी) ।
    श्रीकच्छेदी लाल गुप्त - वाराणसी : चौखम्बा विद्या भवन, 2009 ।
15. पालि -हिन्दी शब्दकोश / भ. आ. कौसल्यायन - दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, ।
16. पालितिपिटक सद्दानुक्कमणिका - वाराणसी : सम्पूर्णा नन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 2006 (दो भागों में)
17. Mahav yutpatti /.E.P. Menaefv; Editor.-St. Peterburg, 1910. 272 p.
18. Popular Dictionary of Buddhism /Humphrays, Christmas . - London : Arco Publications, 1962. 224 p.

8. प्राकृत भाषा के शब्द कोश-

पाइअ - लच्छीनाम माला। धनपाल; बैचरदास जीवराज दोशी, सम्पादक- मुम्बईः शादी लाल जैन, 1960, 122 पृ.

प्रस्तुत कोश प्राकृत भाषा में धनपाल द्वारा रचित यह प्रथम स्वतन्त्र शब्दकोश के रूप में उपलब्ध होता है । इस प्रसिद्ध कोश का संकलन संवत 1029 में धनपाल द्वारा की गयी थी । इस कोश की रचना में निघण्टु एवं अमरकोष की पद्धति का अनुसरण किया गया है । इस शब्दकोश में कुल 279 गाथाएँ है। प्रथम गाथा में मंगला चरण तथा कोश

के अन्त के चार गाथाओं में कोश रचनाकार ने स्वपरिचय दिया है तथा शेष 274 गाथाओं में कुल 998 शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है ।

यह कोश प्राकृत भाषा की एक मानक कृति के साथ ही साथ संस्कृत एवं भाषा विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी शब्दकोश है ।

देशीनाम माला शब्द कोश/आचार्य हेमचन्द्र ।

प्रस्तुत शब्दकोश की रचना आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत भाषा के व्याकरण की पूर्ति के लिये किया है । प्राकृत भाषा में तीन प्रकार के शब्द प्रचलित हैं। देशी नाम माला के अन्तर्गत संकलित शब्दों से स्पष्ट होता है कि इसमें संकलित सभी शब्द देशी नहीं है। इस शब्दकोश में कुल शब्दों की संख्या 3978 हैं, जिसमें तत्सम 100, संशययुक्त तद्भव 528, गर्भित तद्भव 1850 तथा अव्युत्पादित शब्द 1500 हैं। इसमें मूलपाठ अपभ्रंश गाथा छन्द में निबद्ध है। देशी शब्दों के बाद गाथाओं में ही उनके पर्याय दे दिये गये हैं।

देशी शब्दों के स्पष्टीकरण के लिए स्वरचित उदाहरण गाथाएँ भी उद्धृत हैं। गाथा, संस्कृत टीका और उदाहरण देशी नाममाला का मूल स्वरूप है। यह शब्दकोश आठ वर्गों में विभक्त है । इसमें कुल 783 गाथाएँ निबद्ध हं। शब्दों का विन्यसन वर्णानुक्रम में किया गया है । वर्ग के आरम्भ में द्वय अक्षर -उसके बाद त्रय अक्षर, चतुरक्षर, पंचाक्षर शब्दक्रम से आठ अक्षरों तक के शब्दों का निर्देश है ।

इस प्रकार यह शब्दकोश आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ ही साथ प्राचीन भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन में बहुत उपयोगी है । इसमें संकलित कुछ शब्द कौल, संथाल, मुण्डा, द्रविड़ आदि भाषाओं में भी मिलते हैं ।

पाइअ-सद्द-महण्णवो । हरगोविन्ददास विक्रमचन्द्र सेठ; वासुदेवशरण अग्रवाल एवं दलसुख भाई मालवणिया; सम्पादक-वाराणसी : प्राकृत ग्रन्थपरिषद, 1963. 952,64 पृ.

प्रस्तुत शब्दकोश की रचना कलकत्ता विश्व विद्यालय के प्राध्यापक पं. हरगोविन्ददास विक्रमचन्द्र सेठ ने किया है । इस कोश के सम्पादन का कार्य वासुदेवशरण अग्रवाल एवं दलसुख भाई मालवणिया के सहयोग से पूर्ण किया गया है । इस शब्दकोश में एक 50 पृष्ठ की भूमिका प्रस्तुत की गयी है जो प्राकृत साहित्य के अध्येताओं के लिए बहुत उपयोगी स्रोत है। इस कोश के निर्माण में संकलनकर्ता ने स्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित 300 ग्रन्थों का उपयोग किया है ।

इस शब्दकोश की कई महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं जो कि इस प्रकार निम्नलिखित हैं– पहला यह कि प्राकृत साहित्य के एक पूर्व शब्दकोश "अभिधान राजेन्द्र शब्दकोश के कमियों को पूरा करने का प्रयास किया गया है । प्रत्येक शब्द के साथ किसी न किसी ग्रन्थ का प्रमाण दिया गया है । एक शब्द के संभावित अनेक अर्थों का निर्देश किया गया है तथा संदिग्ध पाठ को कोष्ठक में प्रश्न चिह्न के साथ प्रस्तुति दी गयी है ।

प्राकृत साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह कृति अत्यन्त उपयोगी एवं सूचना प्रद शब्दकोश है ।

अभिधान राजेन्द्र कोश

प्रस्तुत कोश जैन दर्शन के परिभाषिक शब्दों के व्याख्या के लिए एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ स्रोत है । इस ग्रन्थ के रचनाकार श्री विजयराजेन्द्र सुरीश्वर ने इस कोश में प्रमाण और उद्धरणों से पुष्ट न केवल सारे शब्दों को संकलित किया है, बल्कि शब्दों से परे जो विचार विश्वास और अनुश्रुतियाँ हैं, उनका भी समावेश किया है ।

इसका प्रथम प्रकाशन मध्य प्रदेश के रतलाम नगर में हुआ । यह महाकोश सात भागों में विभाजित है। इन सात भागों का प्रकाशन ई. सन् 1910 से आरम्भ होकर ई. सन् 1925 में पूर्ण हुआ ।

इस प्रकार यह कोश प्राकृत एवं जैन दर्शन के अध्येताओं तथा शोधार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है ।

जैन कक्को

यह एक द्विभाषिक कोश है । इसमें प्राकृत शब्दों का गुजराती में अनुवाद किया गया है । ई. सन् 1812 में अहमदाबाद से इस कोश को प्रकाशित किया गया था । इसके रचनाकार श्री बल्लभी 'छगन लाल है ।

अर्धमागधी कोश

लोम्बाड़ा सम्प्रदाय के स्थानक वासी साधु मुनि रत्नचन्द्र इस कोश के रचनाकार हैं। इस कोश का प्रथम प्रकाशन गुजराती में हुआ था । आगे चलकर इसका हिन्दी तथा अंग्रेजी रूपान्तर भी प्रकाशित हुआ । यह कोश कुल पाँच भागों में विभाजित है तथा लगभग 4500 पृष्ठों में संकलित हैं । इसके प्रथम भाग का प्रकाशन, ई. सन् 1923 में, द्वितीय-1927, तृतीय - 1929, चतुर्थ-1932 तथा पंचम - 1938 में किया गया।

इस प्रकार यह पंचमाषाकोश है । प्राकृत के शब्द संस्कृत, गुजराती, हिन्दी वं अंग्रेजी भाषाओं में रूपांतरित किये गये हैं।

प्राकृत-हिन्दी कोश

प्राकृत एवं भारतीय भाषाओं के अग्रणी विद्वान डा. के आर. चन्द्र ने मूल 'पाइयसद्द महण्णवो' का संक्षिप्त और लघुकार आकार में प्राकृत-हिन्दी कोश का सम्पादन किया जिसका प्रकाशन जैनविकास फण्ड, अहमदाबाद से ई. सन् 1987 में हुआ ।

प्रस्तुत कोश प्राकृत भाषा के प्राथमिक विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी है। इसमें आकारादि क्रम से शब्दों की संयोज़ना की गयी है । प्राकृत शब्दों के बाद लिंग निर्देश, कोष्ठक में संस्कृत रूप तदन्तर उनके हिन्दी में अर्थ बताये गये हैं। इसमें एक शब्द के साथ

सम्भावित अन्य शब्दों को जोड़कर अर्थ निरूपण किया गया है । यह कोश कुल 980 पृष्ठों में संकलित है तथा प्राकृत के विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों के लिए बहुत उपयोगी है।

एकार्थक कोश

प्रस्तुत कोश ग्रन्थ समणी कुसुम प्रज्ञा द्वारा सम्पादित है तथा इसका प्रकाशन जैन विश्वभारती द्वारा सन् 1984 में किया गया । यह कोश गद्य-पद्य मिश्रित रूपों में संकलित है। यह कोश ग्रन्थ कुल 41+396 पृष्ठों में संकलित है । प्रारम्भिक 41 पृष्ठों में स्तकथ्य, पुरोवचन प्रस्तुति, ग्रन्थ संकेत सूची आदि विन्यस्त है । इसमें मूल 1417 तथा लगभग 200 आवान्तर एकार्थक शब्दों (1700) का संकलन किया गया है । इसके अन्त में तीन परिशिष्ट है। प्रथम परिशिष्ट में प्रयुक्त शब्दों की आकारादि क्रम से सूची दी गयी है, जबकि द्वितीय परिशिष्ट में एकार्थक शब्दों का टिप्पण एवं प्रमाम वर्णित है । तृतीय परिशिष्ट में आकारादि क्रम से धातुओं के साथ संस्कृत में उनके अर्थों का निरूपण किया गया है । इसमें शब्दों का संकलन अर्धमागधी आगम एवं टीका साहित्य से किया गया है । जैन पारिभाषिक शब्दों के ज्ञान के लिए यह कोश बहुत उपयोगी है ।

देशी शब्द कोश

प्रस्तुत कोश का सम्पादन आचार्य श्री महाप्रज्ञ द्वारा किया गया है तथा जैन विश्व-भारती द्वारा सन् 1988 में प्रकाशित किया गया है । आचार्य हेम चन्द्र के देशी नाममाला के बाद देशी शब्दों के अर्थ ज्ञान के लिए यह कोश सबसे महत्वपूर्ण कृति है ।

यह कोश ग्रन्थ कुल 66+570 पृष्ठों में विन्यसित है । शुरू के 66 पृष्ठों में आर्शिवचन, पुरोवाक् भूमि का एवं सम्पादकीय है, जबकि शेष 439 पृष्ठों में ग्रन्थ का मूल विषय संकलित है ।

इस कोश में कुल 10000 संसन्दर्भ देशी शब्दों का संग्रह तथा 3381 आगमेत्तर प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रन्थों के तथा 1745 धातुएँ संकलित है । इस प्रकार इसमें कुल 15126 शब्दों का संकलन दर्ज है ।

निरुक्त कोश

प्रस्तुत कोश का प्रकाशन सन् 1984 में जैन विश्वभारती द्वारा सम्पन्न हुआ । यह कोश लगभग चार सौ पृष्ठों में संकलित है । इसमें प्रारम्भ से 30 पृष्ठों तक प्राक्कथन आदि तथा शेष 368 पृष्ठों में मूल ग्रन्थ एवं शुद्धा सुद्धि पत्रों का विवरण है । प्राक्कथन में डा. नथमल टाटिया द्वारा निरूक्त सिद्धान्त का विवेचन एवं प्रस्तुति तथा साध्वी द्वय श्री सिद्ध प्रज्ञा एवं साध्वी श्री निर्वाण श्री द्वारा निरूक्त के स्वरूप एवं प्रकारादि पर प्रकाश डाला गया है।

मूल ग्रन्थ में प्राकृत शब्दों के बाद कोष्ठक में संस्कृत रूप देकर संस्कृत या प्राकृत में निर्वचन प्रस्तुत किया गया है । इसमें निहित निर्वचन के हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है।

इस प्रकार यह कोश प्राकृत के विद्यार्थियों के साथ ही साथ शोधार्थियों के लिए भी बहुत उपयोगी है ।

कुन्द-कुन्द शब्द कोश

सुखाडिया विश्व विद्यालय, उदयपुर के प्राकृत एवं जैन विद्या विभाग के प्राध्यापक डा. उदयचन्द्र जैन ने आचार्य कुन्द-कुन्द के वाङ्मय को आधार बनाकर एक लघुकाय कुन्द-कुन्द शब्दकोश का निर्माण किया, जिसका प्रकाशन श्री दिगम्बर जैन संरक्षण समिति, विवेक विहार, दिल्ली द्वारा सन् 1991 में किया गया ।

कुन्द-कुन्द शब्द कोश साहित्य के अध्येताओं के लिए बहुत उपयोगी सन्दर्भ स्रोत हैं। इसमें यथास्थान कुन्द-कुन्द साहित्य में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या भी दी गयी है ।

प्राकृतरूप रचना कोश / हरिशंकर पाण्डेय. दिल्ली : न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, 2001, 319 पृ.

प्रस्तुत कोश 'प्राकृत रूप रचना कोश' प्राकृत साहित्य में डा. हरिशंकर पाण्डेय का एक महत्वपूर्ण योगदान है । इसमें आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में निर्दिष्ट उदाहरणों को आधार बनाया गया है । इसमें वर्णित शब्दों के मूल प्राकृत रूप, संस्कृत रूप-कोष्ठक में तथा हिन्दी एवं अंग्रेजी कोशगत अर्थ के बाद आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के नियमों के अनुसार साधविका भी दी गयी है ।

इस कोश में प्रारम्भ के XXI पृष्ठों में भूमिका एवं प्रक्कथनादि का वर्णन है, जबकि मूलग्रन्थ को वर्णानुक्रम में 317 पृष्ठों में विन्यसित किया गया है तथा पृष्ठ संख्या 318 से 319 तक पर सन्दर्भ ग्रन्थ सूची का संकेत है । इस प्रकार यह कोश प्राकृत विद्या एवं प्राच्य विद्या के विद्यार्थियों, शोध-कर्त्ताओं एवं अध्यापकों के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपयोगी सन्दर्भ स्रोत है ।

❑❑

चतुर्थ अध्याय

विश्वकोश

(Encyclopaedia)

1. भूमिका एवं अर्थ-

एनसाइक्लोपिडिया (Encyclopaedia) ग्रीक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है ज्ञान चक्र या ज्ञान के भण्डार का एकत्रिकरण। पश्चिमी जगत में विश्वकोश के अवधारणा की कल्पना अरस्तु के काल से मानी जाती है जबकि भारत में इसकी कल्पना बहुत पहले की जा चुकी थी । इस प्रसंग में श्रीधर भास्कर वर्णेकर द्वारा सम्पादित ग्रन्थ "संस्कृत वाङ्मय-कोश" के प्रथम खण्ड में वाङ्मुख के प्रथम पृष्ठ पर जो साक्ष्य अंकित है वह इस प्रकार निम्न है-

"संस्कृत वाङ्मय में विश्वकोश अथवा ज्ञानकोश की रचनात्मक प्रक्रिया का प्रथम-प्रयास महर्षि कश्यप का निघण्टु एवं यास्काचार्य का निरूक्त सम्भवतःइस दिशा में पहला कदम था । आदि शंकराचार्य छान्दोग्य उपनिषद के भाष्य में नारद और सनतकुमार के प्रसंग में नारद द्वारा उल्लिखित अनेक विद्याओं में से एक देव विद्या की व्याख्या करते हुए उसको निरुक्त की संज्ञा देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि विश्वकोश या ज्ञान कोश की भावना के प्रथम प्रवर्तक नारद ही थे जो कि वेद, पुराण, कल्प, शस्त्र विद्या आदि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में अपने को पारंगत मानते थे ।"

अतः वैदिक वाङ्मय में विश्वकोश की अवधारणा अति प्राचीन-प्रतीत होता है। परन्तु आधुनिक विश्वकोशों के निर्माण का युग 19वीं सदी से माना जाता है जिसमें विश्व के अनेक देशों में सामान्य एवं विषयगत विश्वकोशों का प्रकाशन तिव्रगति से होना प्रारम्भ हुआ । इसमें अमेरिका, फ्रांस, इंग्लैण्ड, तथा जर्मनी आदि अनेक देशों ने सक्रिय योगदान देकर अनेक महत्वपूर्ण विश्वकोशों का निर्माण किया । अतः भारत में भी इसका प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप आधुनिक पद्धति पर आधारित विश्वकोश निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। सर्व प्रथम संस्कृत भाषा में "वाचस्पत्यम्" (1823) तथा शब्द कल्पद्रुम (1828-58) नामक दो कोश ग्रन्थ अपनी दृष्टि में शब्दकोश और विश्वकोश दोनों तत्वों को साथ लेकर रूपायित हुए हैं। साहित्य व्याकरण, ज्योतिष तन्त्र, दर्शन, संगति, काव्य शास्त्र, इतिहास, चिकित्सा आदि अनेक विषयों का सूचनात्मक लेखों का संग्रह इन दोनों विश्वकोशों

में संग्रहित है । इस प्रकार भारत में आधुनिक विश्वकोशों की संकलन प्रक्रिया में इन दो कृतियों के संकलनकर्ताओं ने महत्वपूर्ण योगदान किया है । तदनन्तर कुछ पाश्चात्य तथा प्राच्य विद्वानों इस नूतन परम्परा को आगे बढ़ाया ।

अंग्रेजी में "इनसाइक्लोपिडिया अमरीकाना" (1829-33) आदि विश्वकोशों के स्वरूप के अनुरूप भारतीय भाषाओं में साहित्यिक तथा साहित्येत्तर विश्वकोश धीरे-धीरे र्निमत होना प्रारम्भ हुआ । इस परिपेक्ष्य में विश्वबन्धु शास्त्री का वैदिक शब्दार्थ पारिजात (1929) प्रथमतः उल्लेखनीय कृति है । इसके अतिरिक्त उन्होंने "वैदिक पदानुक्रमकोश" (सात खण्डीय), ब्राह्मणोद्धारकोश, "उपनिषदोहदारकोश" आदि की भी रचना की जो संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के महत्वपूर्ण विश्वकोश के लक्षणों से युगपत अभिलक्षित है ।

भारत की स्वाधीनता के पश्चात् लगभग सभी भारतीय भाषाओं में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न-विश्वकोशों की रचना हुई । परन्तु संस्कृत एवं प्राच्य विद्या में विश्वकोश की इस अखिल भारतीय चिन्तन धारा में कोई विशेष एवं उल्लेखनीय प्रयास नहीं हुआ । इस कमी को श्रीधर भास्कर वर्णेकर ने "संस्कृत वाङ्मय कोश" के रूप में एक महत्वपूर्ण विश्वकोश की रचना की जो संस्कृत के अध्येताओं के लिए एक बहुमूल्य कृति है । सामान्य शब्दों में विश्वकोश का अभिप्राय ऐसे ग्रन्थ से है जिसमें सभी विषयों से सम्बन्धित उपयोगी सूचना या किसी विशिष्ट विषय से सम्बन्धित सूचनाओं का संकलन किया रहता है । विश्वकोश की निर्माण प्रक्रिया में अनेक विद्वानों, लेखकों व सम्पादकों का सामूहिक योगदान निहित रहता है, क्योंकि इनकी रचना सभी श्रेणी के पाठकों की सूचना आवश्यकता को ध्यान में रखकर की जाती है । जो बहुत ही श्रमपूर्ण एवं व्यव साध्य कार्य है ।

2. परिभाषाएँ-

विश्वकोश वह कृति है जो सम्पूर्ण संग्रहित ज्ञान भण्डार को सुसंगठित रूप एवं क्रमबद्ध अवस्था में प्रस्तुत करता है जिससे सभी श्रेणी के पाठक अपने रूचि के अनुरूप विषय से सम्बन्धित अद्यतन ज्ञान प्राप्त करते हैं । ए.एल.ए. ग्लोसरी ऑफ लाइब्रेरी टर्म्स के अनुसार, "विश्वकोश वह साहित्य है जिसमें ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में सम्बन्धित विषयों पर वर्णानुक्रम या किसी अन्यक्रम में सूचनात्मक लेखों का संग्रह व्यवस्थित रहते हैं या किसी विशिष्ट विषय से सम्बन्धित उपयोगी सूचनाओं की संग्रह है ।"

मानविकी परिभाषाकोश के अनुसार, विश्वकोश वह कृति है जो ज्ञान की सभी शाखाओं के विषय में सूचना दे । अर्थात् जिस ग्रन्थ में किसी एक विषय की सम्पूर्ण सूचना वर्णानुक्रम में दी हुई रहती है उसे विश्वकोश कहते हैं ।"

लुइस शोर्स के अनुसार-"विश्वकोश सन्दर्भ स्रोतों की प्रमुख कृति है । यह मानव जाति के लिए महत्वपूर्ण ज्ञान का केवल साररूप नहीं है, बल्कि मौलिक सन्दर्भ स्रोतों में अनुसृत रचना की परिकल्पना का सर्वस्व है।"

3. प्रकार-

इसमें संग्रहित सूचनाओं के आधार पर विश्वकशोंको दो भागो में विभाजित किया जा सकता है । 1. सामान्य विश्वकोश एवं 2. विशिष्टया विषयगत विश्वकोश । विलियम ए. काट्ज महोदय ने विशिष्ट विश्वकोशों को विषय विश्वकोश की संज्ञा दी है तथा विषय विश्वकोश की संज्ञा दी है तथा विषय विश्वकोश को पुनः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे कोश रूप एवं सर्वेक्षणात्मक रूप । इसीप्रकार भौतिक स्वरूप के आधार पर भी विश्वकोश को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे–

1. बच्चों एवं वयस्क के विश्वकोश, एवं
2. खण्डों के आधार पर विश्वकोश जैसे एक खण्डीय एवं बहुखण्डीय विश्वकोश।

4. उपयोगिता एवं महत्व-

1. विषय के सम्बन्ध में प्रश्नों की जानकारी प्राप्त होती है ।
2. विभिन्न विषय के सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त अन्य आवश्यक सूचनाओं जैसे आँकड़ों, वर्ष तथा नामों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है ।
3. विश्वकोशों के माध्यम से प्रमुख व्यक्तियों के जीवन चरित्र के विषय में ज्ञान प्राप्त की जा सकती है ।
4. विश्वकोश में जिन लेखों का संग्रह दिया रहता है उनके प्रमाण हेतु लेख के अन्त में पुस्तक सूची दी हुई होती है जो पाठकों के लिए मार्ग निर्देशन का कार्य करती है ।

अत विश्वकोश की मात्र ऐसी कृति है जिसमें वांछित सूचनाओं के साथ ही साथ सन्दर्भ प्रश्नों के उत्तर भी आसानी से प्राप्त किये जा सकते हैं ।

5. विशेषताएँ-

1. यह ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित सूचना सामग्रियों का प्रमाणिक एवं अद्यतन स्रोत है तथा इसका क्षेत्र एक राष्ट्र में सीमित न होकर पुरा विश्व होता है।
2. इसमें ज्ञान से सम्बन्धित सभी शाखाओं की सूचनाओं को व्यवस्थित तथा साररूप में संकलित रहता है ।
3. पाठकों की श्रेणी एवं विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के विश्वकोश उपलब्ध हैं।
4. कुछ विश्वकोशों में सूचनाएँ लम्बे लम्बे लेखों के रूप में जबकि कुछ में छोटे-छोटे लेखों द्वारा सूचनाएँ संकलित रहती है।
5. इसमें विविध विषयों के ऐतिहासिक सूचनाओं के वर्णन के साथ ही साथ वर्तमान स्थिति, विवरण एवं व्याख्या, सम्बन्धित विद्वानों का संक्षिप्त जीवनी एवं इसके

प्रकाशन वर्ष तक के विषय से सम्बन्धित महत्वपूर्ण आँकड़े आदि प्रस्तुत किये रहते हैं ।

6. समस्याएँ-

1. समय के साथ-साथ विश्वकोश पुराने हो जाते हैं ।
2. इनको अद्यतन बनाये रखने के लिए नये-नये संस्करण निकालने पड़ते हैं जिसमें बहुत अधिक श्रम एवं धन की आवश्यकता होती है।
3. विश्वकोश को अद्यतन रखने हेतु पूरक अथवा वार्षिकी भी प्रकाशित करनी पड़ती है जो बहुत खर्चीला है ।
4. कुछ कुछ विश्वकोशों का किसी विषयक्षेत्र या किसी एक देश के प्रति झुकाव होता है, वह उचित नहीं है ।

7. मूल्यांकन-

सभी श्रेणी की ग्रन्थालयों में सन्दर्भ स्रोतों के रूप में विश्वकोशों का अधिकाधिक उपयोग किया जाता है। अतः ग्रन्थालयी को शुद्ध एवं त्रुटि रहित प्रकाशित विश्वकोशों के चयन और उनके अधिग्रहण में कुछ सावधानी अवश्य रखनी चाहिए । क्योंकि कोई भी ग्रन्थालय के पास इतना धनराशि नहीं होता कि सारे प्रकाशित विश्वकोशों को उनके द्वारा क्रय किया जा सके । इसलिए ग्रन्थालयी एवं ग्रन्थ चयन समिति द्वारा कोई भी विश्वकोश क्रय करने से पूर्व कुछ मूल्यांकन कर लेना चाहिए ।

सामान्य एवं विशिष्ट विश्वकोशों का मूल्यांकन निम्नलिखित जाँच विन्दुओं के आधार पर किया जा सकता है–

1. प्रमाणिकता
2. विषय क्षेत्र
3. प्रणयन
4. व्यवस्थापन
5. भौतिक स्वरूप
6. संशोधन
7. सीमाएँ
8. विशिष्ट विशेषताएँ

उपर्युक्त तथ्यों के आधार यह पता लगाया जा सकता है कि कौन सा विश्वकोश किस प्रकार के ग्रन्थालयों में अधिग्रहण के योग्य है अथवा नहीं । प्रस्तुत अध्याय में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित विषय विश्वकोशों पर प्रकाश डाला गया है, क्योंकि सामान्य विश्वकोशों से सम्बन्धित विस्तृत विवरण सन्दर्भ सेवा एवं सूचना स्रोत के कई ग्रन्थों में पाये जा सकते हैं, जबकि संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के विषयगत विश्वकोशों का विस्तृत विवरण

का उल्लेख नहीं किया गया होता है । इसीलिए संस्कृत एवं प्राच्य विद्या में रूचि रखने वाले उपयोक्तओं की सूचना आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इन विशिष्ट विश्वकोशों के सम्बन्ध में उन्हें अवगत कराना आवश्यक प्रतीत होता है।

8. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के विषयगत विश्वकोशों के कुछ प्रमुख उदाहरण—

1. वाचस्पत्यम् / तारानाथ भट्टाचार्य, सम्पादक - वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1962 (छः भागों में)
2. शब्दकल्पद्रुम / राधाकान्त देव.- वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1967 (पाँच भागों में)।
3. विज्ञान सर्वस्वम् / तेलुगु भाषा समिति - आंध्र प्रदेश, 1967-75 (16 खण्डों में)।
4. विश्वविज्ञान कोशम् /साहित्य प्रवर्तक सहकार समिति : कोट्टायम : केरल.- 1970 ।
5. हिन्दी विश्वकोश / राम प्रसाद त्रिपाठी; सम्पादक.-वाराणसी : नागरी प्राचरिणी सभा, 1960-1970 (बारह खण्डों में) ।
6. हिन्दी विश्वकोश /नागेन्द्र नाथ वसु; सम्पादक दिल्ली : बी. आर. पब्लिशिंग कारपोरेशन, 1987. (पचीस खण्डों में) ।
7. हिन्दी विज्ञान संहिता / एम. सत्यनारायण; सम्पादक - मद्रास हिन्दी विकास समिति, (बारह खण्डों में) ।
8. हिन्दी विश्वभारती : ज्ञान-विज्ञान का प्रमाणिक विश्वकोश / कृष्ण बल्लभ द्विवेदी; सम्पादक - लखनऊ : हिन्दी विश्वभारती ।
9. संस्कृत वाङ्मय कोश / श्रीधर भास्कर वर्णेकर; सम्पादक - कोलकता : भारतीय भाषा परिषद्, 1988 (तीन खण्ड) ।
10. विश्व संस्कृत सूक्ति कोश / ललित प्रभ सागर :- मथुरा : भाषा भवन, 2000 (तीन खण्ड) ।
11. बृहद् विश्व सूक्ति कोश (Encyclopaedia of Quotations) / श्याम बहादुर वर्मा - नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन, 2000. (तीन खण्ड) ।
12. भारतकोश / बंगीय साहित्य परिषद् - कोलकता : बंगीय साहित्य परिषद, 1973 (पाँच खण्डों में) ।
13. बांगला विश्वकोश / सं. भट्टाचार्य - कलकत्ता : (सात खण्ड में)।
14. भगवद-गोमण्डल - बृहत् गुजराती विश्वकोश / राजकोट : प्रवीन प्रकाशन, 1944-55 (नौ खण्डों में) ।

15. शिक्षा दर्शन और मनोविज्ञान का विश्वकोश / मधुसूदन त्रिपाठी - दिल्ली : ओमेगा पब्लिकेशन्स, 2007 268 पृ.
16. Encyclopaedia of Religion and Ethics / James Hastings; Editor - Edinburgh : T.& T. Clark, 1908. (Twelve Vols. + Index)
17. Encyclopaedia of Religion / Maurice A. Canney - Delhi : Nag Publishers, 1976, 397 p.
18. Encyclopaedia of Philosophy / George Wilhelm Friedirich Hegel; tr. by Gustav Emi Muller - New York : Philosophical Library, 1959. 287 p.
19. The Encyclopaedia of Philosophy / Paul Edwards; Editor -New York: Macmillan Conpany and the Free Press, 1967. (Eight Volumes).
20. Encyclopaedia of Indian Philosophy / Karl H. Porter; Editor - Delhi : Motilal Banarasidas, 1977. (Five volumes).
21. Encyclopaedia of Indian Philosophy / Subodh Kapoor; Editor.- New Delhi : Cosmo Publications, 2002. (Nine Vols.)
22. Encylopaedia of Indian Philosophy / Vraj Kumar Panday - New Delhi : Anmol Publications, 2007. (Two Vols.)
23. Encyclopaedia of Vedic Philosophy / Subodh Kapoor, Editor - New Delhi : Cosmo Publications, 2002. 275 o.p.
24. Encyclopaedia of Vedic Philosophy / P.R.P. Sharma - New Delhi : Anmol Publications Pvt. Ltd., 2007. 312 P.
25. Encyclopaedia of Vedanta Philosophy / Subdh Kapoor; Editor-New Delhi : Cosmo Publications, 2002. 1650 p.
26. Encyclopaedia of Vedanta / P.R.P. Sharma - New Delhi : Anmol Publications, 2007. 324 p.
27. Encyclopaedia of Hindu Philosophy / Subodh Kapoor, Editor - New Delhi : Cosmo Publications, 2002. 587 P.
28. Encyclopaedia of Upanishad and its Philosophy / Subodh Kapoor; Editor- New Delhi : Cosmo Publications, 2002 (Five volumes).
29. Encyclopaedia of Upnaishads / Ravi Narayan Pandey - New Delhi : Anmol Publications Pvt. Ltd., 2007. 336 p.
30. Encyclopaedia of Vedas / P.R.P. Sharma - New Delhi : Anmol Publications, Pvt. Ltd., 2007. 264 p.
31. Puranic Encyclopaedia / Vettan Muni - Varanasi : Indological Publications, 1998.
32. Encyclopaedia of Tantra /Sadhu Shantidev.- New Delhi : Cosmo Publications, 1999. (Five Volumes).
33. Encyclopaedia of Indian Ocultism / Lewis Spence -New York : State home press, 1959. 24, 44 op.
34. Encyclopaedia of Indians Mythology / Swami Ram Shanker Das.- New Delhi : Anmol Publications Pvt. Ltd., 2007. vii; 356 p.

35. Encyclopaedia of Indian Music / Krishnananda Vyasadeva Ragsagar - Delhi : Pratibha Prakasahan, 2008 (Two Volumes)
36. Encyclopaedia of Indian Erotics / Ram Kumar Rai - Varanasi : Prachya Prakashan, 1998.
37. Encyclopaedia of Astrology / Nicolas de Vore - New York : Philosophical Library, 1947. Xii; 435 p.
38. Combridge Encyclopaedia of Astronomy / CambindgeUniversity-Cambridge University Press, 1977, 481 p.
39. Encylopaedia of Indian Literature / Sahitya Academy - New Delhi : Sahitya Academy, 1988.
40. Encyclopaedia of Sanskrit Literature / Mamta Pandey - New Delhi : Anmol Publications Pvt. Ltd. 2008. (Two Volumes).
41. Encyclopaedia of India / Calcutta . 1906.
42. Geographical Encyclopaedia of Ancient and Medieval India / K.D. Bajpai-Varanasi : Iogical Publications, 1998.
43. Encyclopaedia of Quototions / Shyam Bahadur Verma.-New Delhi : Prabhat Prakashan, 2000. (Tree Volumes).
44. Encyclopaedia of Yoga / Ram Kumar Rai - Varanasi : Prachya Prakashan, 1998.
45. Encyclopaedia of Sects and Religious Doctorines.
46. Encyclopaedia of Educational Philosophy /Prem chand Yogi-New Delhi : Crescent Publishing Corporation, 2008 (Five volumes).
47. Linguistic Survey of India / G.A. Grierson;' Camp.-Calcutta : Govt. Printing Press, 1903-1928. (Eleven Volumes).
48. Encyclopaedia of Buddhism /G.P. Malasekhera; Editor- Ceylon : Govt. Press, 1960. 152 p.
49. Encyclopaedia of Buddhist Tantra /Shiv Shankar Tiwary - New Delhi: Anmol Publications Pvt. Ltd., 2009. 305 p.
50. Encyclopaedia of Buddhist Art and Architecture / Shiv Shankar Tiwary-New Delhi : Anmol Publications, Pvt. Ltd., 2009. 293 p.
51. Encyclopaedic dictionary of Religions. New York : Corpus Publications, 1979. (3 vols).
52. Encyclopaedia of American Religion.

1. वाचस्पत्यम् / तारानाथ भट्टाचार्य, सम्पादक - वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1962 (छः भागों में)

भारतीय विश्वकोश की परम्परा में "वाचस्पत्यम" का स्थान सबसे पहले आता है। क्योंकि यही वह विश्वकोश है जिसने भारतीय विश्वकोश के रचनाकारों को एक मजबूत आधार दिया । इसमें कोई अतिस्योक्ति नहीं कि इसका प्रमुख स्वर वाक् रहा है । फिर भी

इतना तो स्पष्ट है कि "वाचस्पत्यम" ने "शब्द कल्पद्रुम" के शब्द को वाक् की विशाल परीधि में प्रसारित किया है ।

संस्कृत के इस ऐतिहासिक विश्वकोश में भारतीय विद्या के विभिन्न विषयों जैसे साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष, तन्त्र, दर्शन, संगीत, काव्यशास्त्र, इतिहास तथा चिकित्सा आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित सूचनाओं का विशद विवेचन प्रस्तुत है।

2. शब्दकल्पद्रुम / राधाकान्त देव - वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1967 (पाँच भागों में)

भारतीय संस्कृत वाङ्मय में "वाचस्पत्यम" के बाद "शब्दकल्पद्रुम" विश्वकोश को दूसरा महत्वपूर्ण स्थान मिला । परन्तु वाचस्पत्यम की तुलना में शब्दकल्पद्रुम का विवेचन शब्द की परिधि से बहुत आगे नहीं जा सका । फिर भी इस विश्वकोश की महत्ता को कम नहीं आँका जा सकता है ।

प्रस्तुत विश्वकोश की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत साहित्य एवं प्राच्य विद्या के विभिन्न क्षेत्रों जैसे साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष, तन्त्र, दर्शन, संगीत, काव्यशास्त्र, इतिहास तथा चिकित्सा शास्त्र आदि विषयों का विशद विवेचन प्रस्तुत है।

प्राच्य विद्या एवं संस्कृत साहित्य के अध्ययन, अध्यापन एवं शोध में रूचि रखने वाले अध्येताओं के लिए यह रचना एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ कृति है ।

3. विज्ञान सर्वस्वम् / तेलुगु भाषा समिति - आंध्राप्रदेश, 1967-75 (सोलह खण्डों में)।

यह विश्वकोश तेलुगु भाषा में रचित है । इस विश्वकोश का प्रकाशन तेलुगु भाषा समिति द्वारा सन् 1967 से 1975 दौरान सम्पन्न हुआ । यह कुल सोलह खण्डों में संकलित है ।

इसमें भाषा, साहित्य, दर्शन, इतिहास, भूगोल, भौतिकी, रसायन, विधि, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित सूचनाओं का विशाल संग्रह प्रस्तुत है ।

4. विश्वविज्ञानकोशम् / साहित्य प्रवर्तक सहकार समिति (कोट्टायम, केरल), 1970

प्रस्तुत विश्वकोश मलयालम भाषा का एक उत्तम विश्वकोश है तथा सन् 1970 में साहित्य प्रवर्तक सहकार समिति (कोट्टायम, केरल) द्वारा इसे प्रकाशित किया गया है।

इस विश्वकोश में भारतीय प्राच्य विद्या तथा आधुनिक विषयों से सम्बन्धित सूचनाओं के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रवृष्टियों को मलयालम भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय विश्वकोश परम्परा में प्रस्तुत कृति एक अमूल्य निधी है।

5. हिन्दी विश्वकोश /राम प्रसाद त्रिपाठी; प्रधान सम्पादक - वाराणसी नागरी प्रचारिणी सभा, 1960-1970 (बारह खण्डों में) ।

हिन्दी विश्वकोश भारतीय ज्ञान जगत में रूचि रखने वाले अध्येताओं के लिये एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ स्रोत है । इसमें भारतीय अभिरूचि के विषयों तथा प्रकरणों का विशद् विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इसमें निहित साहित्य को बारह खण्डों में हिन्दी वर्णमाला के क्रम में व्यवस्थित किया गया है ।

इसके प्रत्येक खण्ड में लघु अथवा विस्तृत लेखों का विवरण है तथा इन लेखों के लेखक विद्वानों का हस्ताक्षर भी प्रस्तुत किये गये है । इसके प्रत्येक खण्ड में आवश्यकतानुसार रंगीन चित्रों के अतिरिक्त, अनेक रेखाचित्र चित्रफल तथा मानचित्रों का भी समावेश किया गया है । इसके अन्तिम खण्ड में 68 पृष्ठों की अनुक्रमणिका दी गयी है जिसके माध्यम से पाठकों द्वारा सूचना खोजने में सहायता मिलती है ।

इस प्रकार हिन्दी-भाषा भाषि पाठकों एवं ग्रन्थालयों के लिए यह एक उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ है ।

6. हिन्दी विश्वकोश / नागेन्द्रनाथ वसु; सम्पादक दिल्ली : बी. आर. पब्लिशिंग कारपोरेशन, 1987 (पचीस खण्डों में)

प्रस्तुत हिन्दी विश्वकोश नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी द्वारा प्रकाशित हिन्दी विश्वकोश की तुलना में अधिक विस्तृत है क्योंकि इसको कुल पचीस खण्डों में संकलित किया गया है । इसके प्रथम प्रकाशन का दायित्व सन् 1915 में कोलकता के नागेन्द्र नाथ वसु को सौंपा गया था ।

इस विशालतम विश्वकोश की सबसे प्रमुख विशेषता है यह कि इसमें लगभग पौने दो लाख के आस-पास भारतीय विद्या से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रविष्टियों को हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है।

इसके साथ ही साथ, इसमें चित्र, रेखाचित्र तथा चार्ट से सम्बन्धित सूचनाओं को भी प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय विद्या के अध्ययन, अध्यापन एवं शोध में संलग्न अध्येताओं के लिए प्रस्तुत कृति अपने तथ्य परक सूचनाओं के कारण एक उपयोगी सन्दर्भ स्रोत है ।

7. संस्कृत वाङ्मयकोश / श्रीधर भास्कर वर्णेकर; सम्पादक - कोलकताः भारतीय भाषा परिषद, 1988 (तीन खण्डों में)

"संस्कृत वाङ्मय कोश" संस्कृत वाङ्मय का एक विश्वकोशीय शब्दकोश है तथा इसका प्रथम संस्करण 1988 ई. में प्रकाशित हुआ था । इस वृहतकोश को कुल तीन खण्डों में प्रकाशित किया गया है। एक प्रकार से भारतीय भाषा परिषद का सबसे महत्वपूर्ण एवं गरिमामय प्रकाशन है । संस्कृत वाङ्मय जितना प्राचीन है उतना ही विराट है। इस कोश

के प्रथम खण्ड का शीर्षक "ग्रन्थकार" है, द्वितीय खण्ड का शीर्षक "ग्रन्थ" है तथा तृतीय खण्ड का शीर्षक "परिभाषा (उत्तरार्ध) है। समग्र संस्कृत वाङ्मय का विवेचन प्रस्तुत करने वाला सर्वांगीण कोश का अभी तक एक प्रकार से अभाव ही रहता। परन्तु संस्कृत के प्रतिष्ठित विद्वान डा. श्रीधर भास्कर वर्णेकर द्वारा सम्पादित इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ "संस्कृत वाङ्मय कोश" के माध्यम से इस अभाव को दूर करने का विनम्र प्रयास भारतीय भाषा परिषद, कोलकता ने किया है।

प्रस्तुत सन्दर्भ ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में ग्रन्थकार ने संस्कृत वाङ्मय के बृहत साहित्य को समृद्ध करने वाले उन सारे ग्रन्थकारों के योगदानों तथा उनके विषय क्षेत्रों की व्याख्या बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसके प्रथम खण्ड में पूर्व पीठिका के रूप में संस्कृत वाङ्मय दर्शन के नाम से समस्त संस्कृत वाङ्मय के अन्तरंगों का दिग्दर्शन बारह प्रकरणों में किया गया है। इस कोश के प्रथम खण्ड में लगभग 2700 प्रविष्टियों का निवेशन है, जबकि इसके द्वितीय खण्ड में प्रविष्टियों की संख्या 9000 से अधिक है।

इस कोश की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें केवल संस्कृत साहित्य की प्रविष्टियाँ ही नहीं, बल्कि धर्म, दर्शन, ज्योतिष, शिल्प, संगीत आदि अनेक विषयों पर संस्कृत में रचित विशाल तथा वैविध्य पूर्ण वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय समाविष्ट है। इसलिए यह केवल संस्कृत साहित्य कोश न होकर संस्कृत वाङ्मय कोश के नाम से प्रसीद्ध है। इसके अन्तर्गत संस्कृत वाङ्मय की प्रायः सभी शाखाओं में योगदान करने वाले ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों का एकत्र संकलित किया गया है। इसके प्रथम खण्ड में ग्रन्थकारों तथा द्वितीय खण्ड में ग्रन्थों का परिचय वर्णानुक्रम से ग्रंथित हुआ है। प्रथम खण्ड के शीर्षक संस्कृत वाङ्मय दर्शन के अन्तर्गथ कुल तेरह प्रकरणों का उल्लेख किया गया है, जिनका विवरण निम्नवत है–

संस्कृत भाषा
वेद वाङ्मय
वेदांग वाङ्मय
पुराण इतिहास
न्याय वैशेषिक दर्शन,
सांख्य योगदर्शन,
तांत्रिक वाङ्मय
मीमांसा और वेदान्त,
जैन, बौद्ध वाङ्मय,
काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र और साहित्य,

ललित साहित्य, तथा

अर्वाचीन संस्कृत वाङ्मय

इसके साथ ही साथ इसमें ग्रन्थकार परिचय एवं परिशिष्टों का वर्णन है । ग्रन्थकार परिचय के अन्तर्गत कुल 2715 प्रविष्टयों का अकारादि अनुक्रमानुसार उल्लेख किया गया है। इसमें परिशिष्टों के अन्तर्गत अनेक क्षेत्रों को सम्मिलित किया गया है। इनके अध्यायीकरण में हिन्दी वर्णमाला के अक्षर (क) से (ङ.) क्रम का उल्लेख है। इस प्रकार इस कोश का प्रथम खण्ड कुल 573 पृष्ठों में संकलित है ।

द्वितीय खण्ड

कोश के द्वितीय खण्ड में लगभग 9000 से अधिक ग्रन्थ विषयक प्रविष्टियों का उल्लेख है । इस भाग में परिशिष्टों के विषय के अन्तर्गत अज्ञात कर्तृक ग्रन्थ, स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य प्रदेशानुसार चयन, प्रदेशानुसार ग्रन्थकार नामसूची, देशभक्तिनिष्ठ साहित्य, संस्कृत विद्या के आश्रयदाता और उनके आश्रित ग्रन्थकार, आत्माराम विरचित वाङ्मयकोश, साहित्यशास्त्र, ललित वाङ्मय (काव्य, स्रोत), नाट्य वाङ्मय, सुभाषित ग्रन्थ, कोश ग्रन्थ और संस्कृत वाङ्मय, प्रश्नोत्तरी 1200 से अधिक संस्कृत वाङ्मय विषयक प्रश्न उत्तरों का संग्रह आदि की विस्तृत सूचना संकलित है । इसके द्वितीय खण्ड के अन्त में संस्कृत वाङ्मय प्रश्नोत्तरी का उल्लेख अन्तिम पृष्ठ संख्या 560 के अतिरिक्त अलग से पृष्ठ सं. 1 से 58 तक है ।

तृतीय खण्ड

इस खण्ड को परिभाषा खण्ड (उत्तरार्द्ध) के नाम से सम्बोधित किया गया है । इस खण्ड को पाँच भागों में विभाजित किया गया है, जैसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और न्याय संग्रह । इस प्रकार परिभाषिक शब्दों की जिन विशेषताओं को ध्यान में रखकर इस खण्ड में सोदाहरण विवेचन किया गया है वह निश्चित रूप से भारतीय विद्या के जिज्ञासु पाठकों के लिए शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन में अधिकाधिक सहायक हो सकेगी । इस खण्ड में कुल 20304 प्रविष्टियों को व्यवस्थित किया गया है । इसमें निहित कुल 20304 प्रविष्टियों का विवरण विभिन्न वर्गों के माध्यम से पृष्ठ सं. 1 से आरम्भ होकर पृष्ठ संख्या 782 पर समाप्त हुआ है ।

इस प्रकार यह संस्कृत वाङ्मय कोश जो तीन खण्डों में है और जिसका प्रकाशन भारतीय भाषा परिषद, कोलकता ने 1988 में किया है, यह निश्चित रूप से संस्कृत वाङ्मय के सभी श्रेणी के पाठकों, शोधकर्ताओं एवं अध्यापकों के लिए यह कोश एक अमूल्य सन्दर्भ कृति है ।

8. भारतकोश / बंगीय साहित्य परिषद्, कोलकता, 1973

प्रस्तुत विश्वकोश को सन् 1973 में बंगीय साहित्य परिषद्, कोलकता के सहयोग से प्रकाशित किया गया है । यह कृति कुल पाँच खण्डों में प्रकाशित है ।

यह कृति भारतीय साहित्य के जिज्ञासुओं के लिए बहुत अधिक उपयोगी है ।

9. **शिक्षा दर्शन और मनोविज्ञान का विश्वकोश / मधुसूदन त्रिपाठी - दिल्ली : ओमेगा पब्लिकेशन्स, 2007. 268 पृ.**

प्रस्तुत कृति "शिक्षा दर्शन और मनोविज्ञान का विश्वकोश" को ओमेगा प्रकाशन, दिल्ली के सौजन्य से प्रकाशित किया गया है । इसमें शिक्षा दर्शन एवं मनोविज्ञान से सम्बन्धित महत्वपूर्ण तथ्यों को कुल पाँच भागों में विभाजित कर अलग-अलग शीर्षकों के रूप में प्रस्तुत किया गया है । जैसे–शिक्षा दर्शन, शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षा के सामाजिक परिप्रेक्ष्य, महान शिक्षाशास्त्री तथा बाल विकास ।

इस प्रकार यह विश्वकोश शिक्षाशास्त्र के विद्यार्थियों, अध्यापकों एवं शोध कर्ताओं के लिए बहुत ही उत्तम सन्दर्भ स्रोत है।

10. **Encyclopaedia of Religion and Ethics / James Hastings; Editor.- Edinburgh : T & T Clark, 1908 (13 Vols.).**

प्रस्तुत "विश्वकोश" इनसाक्लिोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स" जेम्स हेस्टिंगस द्वारा सम्पादित पूरे विश्व में धर्म और नैतिक शास्त्र का सर्वोत्तम एवं विशालतम विश्वकोश है तथा अनुक्रमणिका सहित कुल तेरह खण्डों में प्रकाशित है ।

इस प्रकार धर्म एवं नैतिकशास्त्र के साथ ही साथ पूरे विश्व में प्रचलित सभी धर्मों के आचरण एवं आचार संहिता, विश्वास, आस्थाएँ, नैतिक विधान, लोक कथाओं, पौराणिकता, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र एवं समाजशास्त्र से सम्बन्धित यह एक विशिष्ट विषय विश्वकोश है ।

इस विश्वकोश की विषयवस्तु के अन्तर्गत धर्मशास्त्र तथा नैतिक शास्त्र का व्यापक अर्थों में व्याख्या प्रस्तुत है । इसमें विश्व के प्रचलित सभी धर्मों तथा नैतिक शास्त्रीय पद्धतियों से सम्बन्धित तथ्यों को लघु लेखों के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इस कृति के माध्यम से पूरे विश्व में प्रचलित किसी भी प्रकार की धार्मिक सूचनाओं की जानकारी प्राप्त की जा सकती है । इसमें विषयों को प्रकरणों के अनुसार अनुवर्णिक अनुक्रम में व्यवस्थित किया गया है । अनुक्रमणिका के अन्तर्गत विषय अनुक्रमणिका, विदेशी नामों की अनुक्रमणिका, तथा योगदान करने वाले विद्वानों की पूर्ण सूचनाओं का उल्लेख है । विषय अनुक्रमण्किा- बहुत विस्तृत एवं व्यापक हैं । प्रधान शीर्षकों के अधीन सम्बद्ध उक्तियों को एक साथ लाने का भी प्रयास किया गया है ।

प्रस्तुत विश्वकोश के प्रथम खण्ड से लेकर अनुक्रमणिका-तेरहवें खण्ड के संकलन में कुल बीस वर्षों का समय लगा । प्रथम खण्ड को पूरा करने में ही छः वर्ष लग गया था। इसमें प्रथम खण्ड से लेकर बारहवें खण्ड में अंकित - शीर्षकों का वर्णानुक्रम इस प्रकार

निम्न है–

खण्ड - 1 A से Art

खण्ड - 2 Arthur से Bunyan

खण्ड - 3 Burial से Confessions

खण्ड - 4 Confirmation से Drama

खण्ड - 5 Draviding से Fichte

खण्ड - 6 Fiction से Hyksos

खण्ड - 7 Hymns से Liberty

खण्ड - 8 Life से Mulla

खण्ड - 9 Mundas से Phrygians

खण्ड - 10 Pits से Sacrements

खण्ड - 11 Sacred से Sufaid

खण्ड - 12 Suffering से Zwingli

खण्ड - 13 Index Volume

इस प्रकार यह अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश, धर्म-दर्शन, नैतिक एवं आचारशास्त्र तथा दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित तथ्यपरक सूचनाओं के विशाल संग्रह एवं उनके वैज्ञानिक प्रस्तुति के कारण यह एक बहुमूल्य कृति है ।

11. Encyclopaedia of Religions / Maurice A. Canney.-Delhi : Nag Publishers, 1976, 397 p.

धर्मशास्त्र के क्षेत्र में यह कृति एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश है। मौरिस ए. कैनी ने इसके सम्पादन का कार्य किया है जो इसके विषय के अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान रहे हैं। सन् 1976 में इसे नाग प्रकाशन दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित किया गया है । यह एक खण्डीय विशिष्ट विश्वकोश है तथा इसके संकलन में कुल 397 पृष्ठों का उपयोग हुआ है ।

इस कृति की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें विश्व के सभी धर्मों से सम्बन्धित तथ्यपरक सूचनाओं को अंग्रेजी वर्णमाला के क्रम में 'A' से 'Z' तक व्यवस्थित किया गया है । इसके संकलनकर्त्ता के मन में इसके रचना का विचार तुलनात्मक धर्म के कारण आया क्योंकि इस दृष्टिकोण से पूर्व में निर्मित अनेक विश्वकोश, विशिष्ट विश्वकोश तथा शब्दकोशों में इस तरह के कुछ प्रविष्टि का अभाव सा महसूस किया जाता था ।

इंस प्रकार इस अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश के रचना की प्रेरणा डा. जेम्स हेस्टंग्स और उनके धर्मशास्त्र एवं नैतिकशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश से मिली। चूँकि डा. हेस्टंग्स द्वारा

निर्मित विश्वकोश को केवल ग्रन्थालयों में उपयोग किया जा सकता है, जबकि इस एक खण्डीय विश्वकोश को सामान्य पाठक, विद्यार्थी तथा शोधकर्ता अपने नीजी उपयोग हेतु इसका आसानी से क्रय कर सकते हैं ।

यद्यपि इसकी विषय वस्तु गम्भीर एवं विद्वतपूर्ण हैं तथा अनेक ऐसे नये शीर्षकों को इसमें सम्मिलित किया गया है जिसे पहले किसी सन्दर्भ कृति में नहीं देखा गया था ।

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के ग्रन्थालयों के लिए प्रस्तुत कृति एक उत्तम सन्दर्भ सामग्री है ।

12. Encyclopaedia of Philosophy / George Wilhelm Friedrich Hegel; tr. by Gustav Emil Mueller.-New York : Philosophical Library, 1959, 287 p.

प्रस्तुत कृति दर्शनशास्त्र की एक अन्तर्राष्ट्रीय विषय विश्वकोश है । इसके रचनाकार जॉर्ज विल्हेम फ्रेडेरिक हेगेल हैं तथा अनुवादक गुस्ताव एमिल मुलर हैं। यह एक खण्डीय विश्वकोश है तथा इसकी भाषा अंग्रेजी है । इसे सन् 1959 में दार्शनिक ग्रन्थालय, न्यूआर्क के सहयोग से प्रकाशित किया गया है । इसके संकलन में कुल 287 पृष्ठों का उपयोग किया गया है ।

अंग्रेजी माध्यम से दर्शनशास्त्र के अध्यापन, अध्ययन एवं शोध में रूचि रखने वाले पाठकों के लिए यह एक उपयोगी सन्दर्भ स्रोत है क्योंकि इसमें दर्शनशास्त्र के सभी शाखाओं के सम्बन्ध में सूचनाओं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है ।

13. The Encyclopaedia of Philosophy / Paul Edwards; Editor. New York : The Macmillan Company and the Free Press, 1967. (8 Vols)

प्रस्तुत कृति "दर्शनविश्वकोश" दर्शनशास्त्र का एक अन्तराष्ट्रीय विश्वकोश है तथा इसके सम्पादक पॉल एडवर्ड हैं। इस विश्वकोश में प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों दार्शनिक विचारों का समावेश है तथा इसको कुल आठ खण्डों में प्रकाशित किया गया है । इन आठ खण्डों का शीर्षक क्रम निम्नवत हैं–

खण्ड	शीर्षक
खण्ड - 1	A से Byzantine;
खण्ड - 2	Cabala से Entropy;
खण्ड - 3	Epictetus से Hilbert;
खण्ड - 4	Hinduism से Logic;
खण्ड - 5	Logic से Orobio;

खण्ड - 6 Orphism से Psychologism;

खण्ड - 7 Psychology से Spitrito;

खण्ड - 8 Spranger से Zubire;

इसके अतिरिक्त दर्शनशास्त्र के इस प्रसिद्ध विश्वकोश के अन्त में अनुक्रमणिकाओं का उल्लेख किया गया है जिससे इसमें निहित वांछित सूचना खोजने में पाठकों को बहुत अधिक सहायता मिलती है ।

अंग्रेजी भाषा के माध्यम से दर्शनशास्त्र के अध्ययन, अध्यापन एवं शोध में रूचि रखने वाले पाठकों के लिए यह एक अत्यन्त उत्तम स्रोत है ।

14. Encyclopaedia of Indian Philosophies / edited by Karl H. Potter.-Delhi : Motilal Banarasidas, 1977, 1-5 Vols.

प्रस्तुत विश्वकोश भारतीय दर्शन से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण विषय विश्वकोश है। इसमें भारतीय दर्शन से सम्बन्धित सम्पूर्ण साहित्य को संकलित किया गया है । इस पूरे विश्वकोश को कुल पाँच खण्डों में प्रकाशित किया गया है तथा इसके प्रत्येक खण्ड में भारतीय दर्शन से सम्बन्धित अलग-अलग क्षेत्रों को संकलित किया गया है । इसके खण्ड प्रथम से लेकर खण्ड पंचम तक के विषय शीर्षक निम्नवत हैं–

Volume - 1 - Bibliography

Volume - 2 - The Traddition of Nyaya Vaisesika up to Gangesa

Volume - 3 - Advaita Vedant- Part - 1

Volume - 4 - Sankhya, and

Volume - 5 - The Philosophy of Grammarians - Part-1, Part-2 Harold G. Coward and K. Kunjunni Raja.

प्रस्तुत विश्वकोश के प्रत्येक खण्ड के मुख्य सम्पादक Karl H. Potter हैं, जबकि सम्पादक एवं सहसम्पादक अलग-अलग हैं । इस विश्वकोश के प्रत्येक खण्ड का ISBN अलग-अलग आवंटित है, जबकि इसके पूरे सेट का ISBN : 81-208-0307-8 से अंकित है।

भारतीय दर्शन में रूचि रखने वाले अध्येताओं, विद्यार्थियों एवं अध्यापकों की सुविधा के लिए इसके प्रत्येक खण्ड में विस्तृत अनुक्रमणी को भी प्रस्तुत किया गया है । इसमें प्रत्येक खण्ड के प्रारम्भिक पृष्ठों में विषय सूची, प्राक्कथन एवं अन्य सूचनाओं का विवरण अंकित है ।

15. Encyclopaedia of Indian Philosophy / Subodh Kapoor; Editor.-New Delhi : Cosmo Publications, 2002. (7 Vols.)

इस विश्वकोश को कोशमो प्रकाशन, नई दिल्ली के सहयोग से सन् 2002 में प्रकाशित किया गया है । इस विश्वकोश में भारतीय दर्शनशास्त्र के विभिन्न शाखाओं जैसे भारतीय दार्शनिक, दर्शनशास्त्र के ख्यातिलब्ध विद्वान, ऋषी, विचारक, आचार्य एवं महान

धार्मिक विचारकों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध करायी गयी है । इतना ही नहीं, बल्कि इसमें निहित भारतीय दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न - दार्शनिक विचार-धाराओं एवं उनके उत्तरोत्तर विकास के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया गया है ।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति भारतीय दर्शनशास्त्र के विषय में गहन रूचि रखने वाले पाठकों के लिए एक पूर्ण सन्दर्भ कृति है । यद्यपि इसे अंग्रेजी भाषा में संकलित किया गया है । फिर भी अंग्रेजी भाषा की सामान्य ज्ञान रखने वाले पाठक गण भी आसानी से इसका अधिकाधिक उपयोग कर सकते हैं ।

16. Encyclopaedia of Indian Philosophy / Vraj Kumar Pandey - New Delhi : Anmol Publications, 2007 (2 Vols).

प्रस्तुत "Encyclopaedia of Indian Philosophy" भारतीय दर्शनशास्त्र का एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश है तथा अनमोल प्रकाशन, नई दिल्ली के सहयोग से इसे प्रकाशित किया गया है । इस विश्वकोश में भाषा का माध्यम अंग्रेजी है तथा यह दो खण्डों में संकलित है ।

इसके प्रथम खण्ड में पाँच अध्यायों के अन्तर्गत भारतीय दर्शन के अलग-अलग क्षेत्रों जैसे–वैदिक दर्शन, बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन, प्राचीन हिन्दू दर्शन संस्कार दर्शन आदि से सम्बन्धिथ तथ्य परक सूचनाओं का उल्लेख किया गया है ।

इसके द्वितीय खण्ड में कुल नौ अध्यायों के अन्तर्गत भारतीय दर्शन के शेष क्षेत्रों का व्याख्या प्रस्तुत है। इसमें प्रथम अध्याय से लेकर नवें अध्याय के अन्तर्गत "भक्ति दर्शन', "धार्मिक विश्वास के दर्शन", "सुफी दर्शनि", "भारतीय मुसलीम सम्प्रदाय दर्शन", "सीख दर्शन"; "भारतीय दार्शनिक", "सामाजिक सुधार-आन्दोलन के दर्शन," "आधुनिक राजैतिक दार्शनिक", "आधुनिक दार्शनिक" जैसे शीर्षकों का विस्तृत विवेचन किया गया है ।

पाठकों द्वारा इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा सके । इस हेतु इसके प्रथम खण्ड में ग्रन्थ सन्दर्भ सूची तथा अनुक्रमणी का उल्लेख पृष्ठ सं. 282 तथा 283-287 पर अंकित है, जबकि इसके द्वितीय खण्ड में ग्रन्थ सन्दर्भ सूची एवं अनुक्रमणी का विवरण पृष्ठ सं. 327-330 तथा 331-336 पर अंकित है ।

भारतीय दर्शनशास्त्र के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध कार्यों में रूचि रखने वाले पाठकों के लिए यह कृति बहुत ही उपयोगी सन्दर्भ कृति है ।

17. Encyclopaedia of Vedic Philosophy / Subodh Kapoor; Editor.- New Delhi : Cosmo Publication, 2002. 2750 .p.

"वैदिक दर्शन विश्वकोश" को आचार्य सुबोध कपूर ने सम्पादित किया है तथा कोशमो प्रकाशन, नई दिल्ली के सहयोग से इसे प्रकाशित किया गया है । इसकी भाषा अंग्रेजी है ।

यह विश्वकोश वैदिक दर्शन से सम्बन्धित विस्तृत ज्ञान के सम्बन्ध में विविध लघु लेखों के रूप में सूचनाओं को उपलब्ध कराता है । उपयोग कर्ताओं की सुविधा को ध्यान में रखते हुए इसे कुल नौ खण्डों में प्रकाशित किया गया है ।

इसमें वेद और दर्शन के विभिन्न शाखाओं के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्यों को प्रस्तुत करने का विशेष प्रयास किया गया है । साथ ही साथ, इसमें ग्रन्थ सन्दर्भ सूची के अतिरिक्त क्रास सन्दर्भ का भी उल्लेख किया गया है ।

18. Encyclopaedia of Vedic Philosophy / P.R.P. Sharma.-New Delhi : Anmol Publications Pvt. Ltd., 2007. viii; 312 p.

प्रस्तुत कृति वैदिक दर्शन का एक अद्यतन विश्वकोश है जिसकी भाषा अंग्रेजी है तथा इसे अनमोल प्रकाशन नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया है । इस महत्वपूर्ण विश्वकोश में इसके रचनाकार ने वैदिक दर्शन को सुविधा की दृष्टिकोण से चार अलग-अलग अध्यायों में विभाजित करके लघु एवं बृहद् लेखों के रूप में अद्यतन सूचनाओं को प्रस्तुत करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है।

इस विश्वकोश के प्रथम-अध्याय में "वैदिक दर्शन" नामक शीर्षक द्वितीय अध्याय में "प्राचीन हिन्दू दर्शन एवं वेद" नामक शीर्षक, तृतीय अध्याय में "वेदान्त दर्शन एवं वेद" नामक शीर्षक तथा चतुर्थ अध्याय में "वैदिक दार्शनिकों" नामक शीर्षक का उल्लेख किया गया है ।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति वैदिक दर्शन के अध्ययन, अध्यापन एवं शोध में रूचि रखने वाले भारतीय उपयोक्तओं के साथ ही साथ अंग्रेजी माध्यम के उपयोक्ताओं के लिए भी यह एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ स्रोत है ।

19. Encyloppaedia of Vedanta Philosophy / Subodh Kapoor; Editor - New Delhi : Cosmo Publications, 2002, 1650 p.

प्रस्तुत कृति वेदान्त दर्शन का अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश है तथा इसके सम्पादक आचार्य सुबोध कपूर हैं। यह विश्वकोश वेदान्त दर्शन के सभी शाखाओं से सम्बन्धित विशाल साहित्य को एक ही स्थान पर प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास है ।

इस प्रकार यह रचना वेदान्त दर्शन के अध्ययन, अध्यापन एवं शोध में रूचि रखने वाले उपयोक्ताओं के लिए एक अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ कृति है । यद्यपि इसकी भाषा अंग्रेजी है, फिर भी अंग्रेजी भाषा की सामान्य ज्ञानकारी रखने वाले पाठक भी इसके उपयोग से अपना ज्ञान वृद्धि कर सकते हैं । इसमें विस्तृत ग्रन्थ सन्दर्भ सूची तथा अनुक्रमणी का भी उल्लेख किया गया है।

20. **Encyclopaedia of Vedanta / P.R.P. Sharma - New Delhi : Anmol Publications, 2007.324 p.**

प्रस्तुत रचना "वेदान्त विश्वकोश" को सन् 2007 में अनमोल प्रकाशन, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित किया गया है तथा यह एक खण्डीय विश्वकोश है इसके रचनाकार आचार्य पी.आर.पी. शर्मा हैं।

यह विश्वकोश अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित है तथा इसमें संकलित साहित्य के अन्तर्गत वेदान्त को विशेष स्थान दिया गया है । इसमें आत्मा, ब्राह्मण तथा विश्व के अवधारणाओं का दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । इसमें वेदान्त से सम्बन्धित साहित्य को कुल छः अध्यायों में जैसे–वैदिक दर्शन, वेदान्त दर्शन, पूर्व मीमांसा-अद्वैत एवं वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय, वेदान्त - जीवन के उच्च मूल्य, वेदान्त के दार्शनिक एवं गुरू एवं शंकराचार्य आदि शीर्षक के अन्तर्गत लघु एवं दीर्घ लेखों के रूप में तथ्य परख सूचनाओं का उल्लेख है ।

21. **Companion Encyclopaedia of Hindu Philosophy / Subodh Kapoor; Editor.- New Delhi : Cosmo Publications, 2002. 587 p.**

इस विश्वकोश को भारतीय वाङ्मय के परम्परा में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। क्योंकि इससे पूर्व हिन्दू दार्शनिक सिद्धान्तों अथवा पद्धतियों को लेकर इस प्रकार के विश्वकोश का अभाव सा प्रतीत होता रहा । इस कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें हिन्दू दार्शनिक गुढ़ता के स्थान पर दार्शनिक अवधारणाओं के सैद्धान्तिक पहलुओं का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

प्रस्तुत रचना उन अध्येताओं के लिए एक अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ कृति है जो दार्शनिक समस्याओं के समाधान में भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों अथवा विचारों का उपयोग करते हैं । इस विश्वकोश को कुल 587 पृष्ठों में संकलित किया गया है तथा इसे अंग्रेजी में प्रकाशित किया गया है ।

22. **Encyclopaedia of Upanishad and its philosophy / Subodh Kapoor; Editor.-New Delhi : Cosmo Publications, 2002. (5 Vols.)**

प्रस्तुत कृति "उपनिषद दर्शन विश्वकोश" का सम्पादक आचार्य सुबोध कपूर हैं तथा कोशमो प्रकाशन, नयी दिल्ली के सहयोग से इसे प्रकाशित किया गया है । यह कुल पाँच खण्डों में उपलब्ध है तथा इसकी भाषा अंग्रेजी है ।

यह विश्वकोश उपनिषद दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों जैसे-मौलिक अवधारणाओं, इतिहास, दर्शन, शिक्षा, सिद्धान्त एवं उपनिषदिय सैद्धान्तिक विचारों के सम्बन्ध में अद्यतन सूचना प्रस्तुत है ।

उपयोगकर्त्ताओं की सुविधा के लिए इसमें विस्तृत ग्रन्थ सन्दर्भ सूची, अनुक्रमणी

तथा क्रौस - रीफरेन्स का भी उल्लेख किया गया है । इसके संकलन में कुल 1650 पृष्ठों का उपयोग किया गया है ।

23. Encyclopaedia of Upanishads/Ravi Narayan Pandey-New Delhi :Anmol Publications, Pvt. Ltd., 2007 vii; 336 p.

प्रस्तुत रचना "उपनिषद् विश्वकोश" अंग्रेजी भाषा में आचार्य रविनरायण पाण्डेय द्वारा सम्पादित है तथा अनमोल प्रकाशन, नई दिल्ली के सहयोग से इसे प्रकाशित किया गया है । यह एक खण्डीय विश्वकोश है ।

इस विश्वकोश की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें उपनिषद के अद्योपान्त सारे शीर्षकों का उल्लेख किया गया है । यद्यपि इसमें वर्णित लेखों का रूप संक्षिप्त है, फिर भी वे सभी लेख बहुत ही सारगर्भित हैं।

पाठकों द्वारा इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा सके इस हेतु इसमें अनुक्रमणी एवं आवश्यक निर्देशों का भी उल्लेख किया गया है । यह कुल 336 पृष्ठों में संकलित है ।

24. Encyclopaedia of Vedas / P.R.P. Sharma. - New Delhi : Anmol Publications Pvt. Ltd., 2007. vii; 264 p.

भारतीय वैदिक वाङ्मय के क्षेत्र में प्रस्तुत कृति "वेद विश्वकोश" को अनमोल प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया है । इसमें संकलित साहित्य का विवेचन अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया गया है । इस विश्वकोश की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें क्रमशः छः अध्यायों के अधीन अलग-अलग शीर्षकों जैसे 'भूमिका' 'वैदिक साहित्य', 'ऋग्वेद', 'यजुर्वेद, 'सामवेद', एवं अथर्ववेद के साथ ही साथ एक विस्तृत ग्रन्थ सन्दर्भ सूची एवं अनुक्रमणी का भी उल्लेख किया गया है ।

वेदविद्या के विभिन्न शाखाओं में रूचि रखने वाले उपयोक्ताओं के ज्ञान हेतु प्रस्तुत विश्वकोश के माध्यम से वैदिक सिद्धान्तों के साथ ही साथ वैदिक वाङ्मय के सभी शाखाओं से सम्बन्धित विवेकपूर्ण तथ्यों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है ।

25. Encyclopaedia of Tantra / Sandhu Shantideva. - New Delhi : Cosmo Publiations, 1999. (Five Volumes).

प्रस्तुत कृति "तन्त्र विश्वकोश" तन्त्र शास्त्र का एक विशिष्ट विश्वकोश है तथा इसे कोशमों प्रकाशन, नई दिल्ली के सहयोग से सन् 1999 में पाँच खण्डों में प्रकाशित किया गया है । इसकी भाषा अंग्रेजी है ।

तन्त्रशास्त्र के इस सन्दर्भ कृति की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें तन्त्र वाङ्मय के सम्बन्ध में आद्योपांत विवरण प्रस्तुत है । उदाहरण स्वरूप इसके "तन्त्र" शब्द का संस्कृत भाषा में अर्थ से लेकर तन्त्र निर्माण रचनाकाव्य तक के ऐतिहासिक यात्रा का

उल्लेख किया गया है । इसके साथ ही साथ, इसमें पंचगव्य के उपयोग, कुण्डलीनि जागरण के आवश्यक नियमों आदि पर भी प्रकाश डाला गया है ।

इसमें संकलित तन्त्र साहित्य के विशालता के कारण इसे अलग-अलग कुल पाँच खण्डों में प्रकाशित किया गया है । हिन्दू तन्त्रशास्त्र के अतिरिक्त इसमें बौद्ध तन्त्र के उपर भी प्रकाश डाला गया है ।

अंग्रेजी भाषा की ज्ञान रखने वाले पाठकों के लिए यह कृति तन्त्रशास्त्र का एक बहुमूल्य सन्दर्भ स्रोत है।

26. Encyclopaedia of Indian Mythology / Swami Ram Shanker Das.-New Delhi : Anmol Publications Pvt.Ltd., 2007. vii; 356 p.

प्रस्तुत कृति में भारतीय देवी-देवताओं तथा पौराणिक कथाओं से सम्बन्धित कहानियों का बृहत् संकलन प्रस्तुत किया गया है । इसमें प्रारम्भिक पृष्ठों के अतिरिक्त कुल 356 पृष्ठों में विषय से सम्बन्धित तथ्यों को कुल सोलह अध्यायों के माध्यम से अंग्रेजी भाषा में व्याख्या प्रस्तुत की गयी है ।

इस विश्वकोश की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें ऋग्वेद से लेकर मूर्तिकला के काल तक की सम्पूर्ण साहित्य को लेखक ने बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है । साथ ही साथ, इसमें पौराणिक कथाओं तथा भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में विशाल सन्दर्भों का भी उल्लेख किया गया है ।

इसमें प्रथम अध्याय से लेकर सोलहवें अध्याय तक वर्णित शीर्षकों का विवरण इस प्रकार निम्नवत है :-

भूमिका, युग, ग्रह, हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म में कर्म, मन्त्र, ज्योतिष, पौराणिक ग्रन्थ, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत गीता, पौराणिक राजतन्त्र, प्राचीन भारत के विदेशी जनजाति, प्राचीन भारत के पौराणिक चरित्र, हिन्दू पौराणिक कथाओं सम्बन्धित ग्रन्थों तथा भारतीय अस्त्र-शस्त्रों" आदि से सम्बन्धित विशद् विवेचन प्रस्तुत है ।

इस प्रकार इस कृति में वर्णित विशाल साहित्य के सम्बन्ध में निहित तथ्यों से स्पष्ट है कि यह एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ कृति है ।

27. Encyclopaedia of Indian Music / Krishnananda Vyasdeva Ragsagar.-Delhi : Pratibha Prakashan. 2008 (2 Vols.)

प्रस्तुत कृति "Encyclopaedia of Indian Music" संगीत रागकल्पद्रुम विश्वकोश का अंग्रेजी रूपांतरण है । इसे प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली के सहयोग से दो खण्डों में प्रकाशित किया गया है। यह संगीत विश्वकोश भारतीय सङ्गीतशास्त्र का एक आधुनिक विश्वकोश है। इसके संकलन में कुल 1270 पृष्ठों का उपयोग किया गया है ।

इस विश्वकोश की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि भारत में प्रचलित सभी तरह के संङ्गीत विद्याओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । उदाहरणार्थ, संस्कृत, संगीत, हिन्दी संगीत, हिन्दूस्तानी, गुजराती, मराठी, करनाटिक, तेलगू, बांग्ला, उड़िया, उर्दू, अरबी, पेगूअन के साथ ही साथ अंग्रेजी संगीत को भी इसमें सम्मिलित किया गया है ।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति संगीत विद्या में रूचि रखने वाले अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ है ।

28. Encyclopaedia of Indian Literature / Sahitya Academy.-New Delhi. Sahitya Academy, 1988.

प्रस्तुत विश्वकोश ''इनसाईक्लोपिडीया ऑफ इण्डियन लिटरेचर'' को साहित्य अकादमी के एक महत्वपूर्ण परियोजा के अधीन प्रारम्भ-किया था तथा अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश में सभी भाषा के भारतीय साहित्य को मुख्य रूप से उपलब्ध कराने का महत्वपूर्ण प्रयास किया गया है ।

इस कृति की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें भारतीय संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त सभी भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में उपलब्ध विस्तृत सूचनाओं को लघु लेखों के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

यद्यपि इसे अंग्रेजी भाषा में संकलित किया गया है, परन्तु अंग्रेजी भाषा की सामान्य जानकारी रखने वाले पाठकगणों के लिए यह एक अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ स्रोत है ।

29. Encylopaedia of Sanskrit Literature / Mamta Pandey.-New Delhi : Anmol Publications Pvt. Ltd., 2008 (Two volumes)

यह विश्वकोश संस्कृत साहित्य का अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित एक अद्यतन अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश है तथा यह दो खण्डों में प्रकाशित है । इस कृति की सबसे मुख्य विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत भाषा एवं साहित्य से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण सूचनाओं को प्रस्तुत किया गया है ।

इसके प्रथम खण्ड में कुल छः अध्यायों के अन्तर्गत अग्रलिखित शीर्षकों जैसे– 1.ईश्वर की भाषा-संस्कृत, 2. प्रथम संस्कृत साहित्य - ऋग्वेद, 3. हिन्दू धर्म के सिद्धान्तः, भागवद गीता, 4. संस्कृत श्रेन्यग्रन्थ- शकुन्तला का उल्लेख किया गया है । जबकि दूसरे खण्ड में कुल तीन अध्यायों के अन्तर्गत प्रथम शीर्षक के रूप में सर्वकालीन कहानियाँ-पंच तन्त्र, द्वितीय में ''नैतिक शिक्षा की कहानियाँ-हितोपदेश'' एवं तृतीय में संस्कृत शब्दों की परिभाषावली का उल्लेख किया गया है । साथ ही साथ इन दोनों खण्डों के अन्त में ग्रन्थ सन्दर्भ सूची एवं अनुक्रमणी भी अंकित है ।

इस प्रकार संस्कृत भाषा एवं साहित्य का यह ग्रन्थ एक उपयोगी सन्दर्भ कृति है।

30. **Encyclopaedia of Educational Philosophy / Prem Chand Yogi - New Delhi : Crescent Publishing Corporation, 2008 (5 Vols)**

प्रस्तुत सन्दर्भ कृति शिक्षा दर्शन का एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश है तथा इसे क्रिसेन्ट प्रकाशन, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित किया गया है । यह कुल पाँच खण्डों में प्रकाशित है तथा इसमें भाषा का माध्यम अंग्रेजी है ।

इस प्रकार यह विश्वकोश अपने इन पाँच खण्डों के द्वारा शिक्षा दर्शन पर विविध लेखों के माध्यम से तथ्यपरक सूचनाओं से भरपूर है । इसमें वर्णित खण्डानुसार शीर्षकों का क्रम निम्नवत है–

खण्ड		शीर्षक
प्रथम	–	शैक्षिक दर्शन का भूमिका
द्वितीय	–	शैक्षिक दर्शन का इतिहास
तृतीय	–	शैक्षिक दर्शन का विकास
चतुर्थ	–	शैक्षिक दर्शन, एवं
पंचम	–	शिक्षा के दार्शनिक आधार ।

इसके प्रत्येक खण्ड के अन्त में ग्रन्थ सन्दर्भ सूची एवं अनुक्रमणिका का भी उल्लेख किया गया है जिससे इसके उपयोग कर्त्ताओं को बहुत सुविधा मिलती है ।

31. **Encyclopaedia of Buddhism / G.P. Malasekhara; Editor- Ceylon : Govt. Press, 1960. 152 p.**

प्रस्तुत कृति बौद्ध धर्म का एक अन्तर्राष्ट्रीय विषय विश्वकोश है तथा इसे आचार्य जी.पी. मालशेखर ने सम्पादित किया है । यह विश्वकोश सन् 1960 में सरकारी प्रेस, श्रीलंका से प्रकाशित हुआ है तथा यह एक खण्डीय विश्वकोश है ।

इस विश्वकोश की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें बौद्ध धर्म के विषय में सम्पूर्ण साहित्य का विवरण प्रस्तुत है । इस विश्वकोश के संकलन में कुल 152 पृष्ठों का उपयोग किया गया है ।

यद्यपि इसकी भाषा अंग्रेजी है फिर भी बौद्ध धर्म में रूचि रखने वाले पाठकों के लिए यह कृति अत्यन्त उत्तम सन्दर्भ स्रोत है ।

32. **Encyclopaedia of Buddhist Tantra / ShivShankar Tiwary.-New Delhi : Anmol Publications Pvt.Ltd., 2009 305 p.**

सन् 2009 में प्रकाशित यह कृति बौद्ध तन्त्र का एक खण्डीय विषय विश्वकोश है तथा इसे अंग्रेजी भाषा में अनमोल प्रकाशन, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित किया गया है । इसमें कुल 305 पृष्ठों का उपयोग हुआ है । इसमें बौद्धतन्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण

साहित्य को कुल नौ अध्यायों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। इसमें बौद्धतन्त्र के जिन शीर्षकों का अध्यायीकरण किया गया है । उसकी विवरण इस प्रकार है–

बौद्ध धर्म के पूर्व भारत में धार्मिक सिद्धान्त; बौद्ध धर्म की उत्पत्ति; महायान बौद्ध सम्प्रदाय का विकास; बौद्ध धर्म के रहस्य; बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ईश्वरवाद; बौद्धधर्म के आचारनीति. भारतीय धर्म में तन्त्र का अर्थ; बौद्ध तन्त्र-एक संक्षिप्त परिचय, एवं बौद्धतन्त्र के प्रकार, पद्धतियाँ एवं सम्प्रदाय ।

इस प्रकार प्रस्तुत विश्वकोश के माध्यम से बौद्ध तन्त्र के अनेक विशेषताओं के साथ ही साथ भारत में बौद्ध तन्त्र के इतिहास एवं बौद्ध तन्त्र के सम्पूर्ण वाङ्मय के विषय में अद्यतन सूचना प्राप्त किया जा सकता है । बौद्ध तन्त्र में रूचि रखने वाले जिज्ञासुओं के लिए यह एक उपयोगी सन्दर्भ कृति है।

33. Encyclopaedia of Buddhist Art and Architecture /Shiv Sanskar Tiwari. - New Delhi : Anmol Publications Pvt. Ltd., 2009. 293 p.

"इनसाइक्लोपिडिया ऑफ बुद्धिस्ट आर्ट एण्ड आरचीटेक्यर" को अनमोल प्रकाशन, नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित किया गया है तथा यह एक खण्डीय विषय विश्वकोश है। इसकी भाषा अंग्रेजी है तथा इसके रचनाकार शिवशंकर तिवारी है ।

इस विश्वकोश में बौद्ध कला एवं शिल्प विद्या सम्बन्धित विस्तृत साहित्य को संकलित किया गया है । इसके संकलन में कुल 293 पृष्ठों का उपयोग किया गया है । इसमें बौद्ध कला एवं शिल्प विद्या से सम्बन्धित साहित्य को कुल बारह अध्यायों के अधीन विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसमें बौद्ध कला एवं शिल्पविद्या के सम्बन्ध में भारत में नहीं बल्कि पूरे एशिया महादेश में जहाँ कहीं भी इस तरह के शाक्ष्य अथवा स्रोत है, उन सभी सूचनाओं को इसमें विशेष स्थान दिया गया है।

□□

पंचम अध्याय

सुभाषित संग्रह सूचना स्त्रोत

(Information Sources of the Good Verses)

1. भूमिका एवं अर्थ :

सुभाषित, सूक्त सूक्ति, सदुक्ति, सुवचन इत्यादि समान शब्दों द्वारा एक विशिष्ट काव्य प्रकार की ओर संकेत किया जाता है । लौकिक व्यवहार में न्याय, आभाणक, मुहाबरे इत्यादि द्वारा विचारों की वैचित्र्यपूर्ण अभिव्यक्ति होती है। ठीक उसी प्रकार साहित्यकारों की रचनाओं में पद्य या गद्य वाक्यों में जब चित्ताकर्षक विचार रखे जाते हैं, तो उसे सुभाषित कहा जाता है । ऐसे सुभाषितों का व्याख्यानों एवं लेखों में उपयोग करने से उनमें रोचकता बढ़ती है । यही कारण है कि कई वक्ता या लेखक ऐसे सुभाषितों का संग्रह स्वेच्छा पूर्वक करते हैं । अर्थात् "कर्त्तव्यो हि सुभाषितस्य मनुजैरावश्यक संग्रह 'जैसे इस प्रसिद्ध सुभाषित में भी सुभाषितों को कंठस्थ करने का सन्देश दिया गया है । इसलिए कि सुभाषितों के यथोचित प्रयोग से वक्ता या लेखक सब प्रकार के लोगों को वस में कर सकता है । अर्थात् "अज्ञान ज्ञान वतोप्यनेन हि वशीकर्तु समर्थों भवेत् ।"

2. सुभाषित के लक्षण :

साहित्यकारों ने महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, चम्पू, नाटक इत्यादि साहित्य के प्रकारों के तथा उनके अवांतर उपभेदों के लक्षण बताए हैं, परन्तु सुभाषित का लक्षण किसी शास्त्रकार ने नहीं किया है । "नूनं सुभाषित-रसोऽन्यरसातिशायी" इस वचन में भी सुभाषित रस का निर्देश किया गया है कि यह रस अन्य रसों से श्रेष्ठ कहा गया है ।

3. सुभाषितों के प्राचीन एवं अर्वाचीन संग्रह–

सुभाषितों के जो अन्यान्य प्राचीन एवं अर्वाचीन संग्रह प्रकाशित किये गये हैं उनमें देवस्तुति, राजस्तुति, अन्योक्ति, नवरस, नायक-नायिका का सौंदर्य वर्णन, ऋतु वर्णन मूर्खनिन्दा, पंडित प्रशंसा, सत्काव्यस्तुति, कुकाव्यनिन्दा, सामान्य नीति, राजनीति इत्यादि विविध विषयों पर पुराण, रामायण, महाभारत, पंच महाकाव्य, प्रसिद्ध स्मृति ग्रन्थ, नाटक, मुक्तककाव्य इत्यादि ग्रन्थों से चुने हुए श्लोकों का और वैचित्र्यपूर्ण गद्यवचनों का संग्रह मिलता है। इन पद्यों या गद्यों को आप्तवचन सा प्रामाण्य तत्वतः नहीं है, परन्तु अनेक विद्वान ऐसे सुभाषितों को आप्त वाक्यवत् उद्धृत भी करते हैं।

4. सुभाषित विषयों का प्रतिपादन :

प्रतिभाशाली लेखक या वक्ता के द्वारा सुभाषित विषयों का प्रतिपादन आवेश में या वर्णन के ओध में, उनमें सूचित उत्कट अनुभव के कारण अनायास ही व्यक्त होते हैं । व्यवहार में तो कभी-कभी छोटे-छोटे बालकों के मुख से सुभाषित निकल आते हैं तथा ऐसे सुभाषित प्रौढ़ों द्वारा स्वीकृत अथवा ग्रहण करने योग्य होते हैं । इसीलिए कहा भी गया है कि "वालादपि सुभाषितं ग्राह्यम् ।" अर्थात् सारे ही वेदवचनों को आप्तवचन का प्रामाण्य है, तथापि उनमें भी अनेक ऐसे वाक्य है जिनका सुभाषितों की पद्धति से उपयोग होता है, जैसे–

नायमात्मा बाणहीनेन लभ्यः ।
अहमिन्द्रो न पराजिग्ये ।
स्वर्गकामो यजेत ।
मातृदेवो भव, पितृ देवो भव ।
यानि अस्माकं सुचरितानी
तानि त्वयोपास्यानी नो इतराणि,
इत्यादि।

पुराणों, महाभारत एवं रामायण में वर्णित सुभाषितों के स्वतन्त्र संग्रह अब तक प्रकाशित किये जा चुके हैं । विश्व प्रसिद्ध सुभाषित संग्रहों में 7वीं सदी के भर्तृहरि द्वारा विरचित नीतिशतक, वैराग्यशतक तथा शृंगार शतक में कुछ सुभाषित पूर्वकालीन ग्रन्थों से संकलित किये गये हैं । यह भी सम्भव है कि कुछ सुभाषित पद पूर्व अज्ञात कवियों के काव्यों से संकलित किये गये होंगे तथा कुछ स्वयं भर्तृहरि द्वारा विरचित होंगे । सुभाषित संग्रहात्मक ग्रन्थों का एक विशेष गुण यह कि उनमें अनेक अज्ञात कवियों के इधर उधर विखरे पड़े मनोहर स्फूट पद्य सुरक्षित रहे तथा साथ ही साथ कुछ कवियों के नाम भी प्रसिद्ध होते गये । उदाहरणार्थ भोजराज के सभाकवियों का चित्रण, नाम तथा पद्य सूक्तिग्रन्थों के कारण ही अब तक विद्यमान है ।

इसी प्रकार एक अज्ञात कर्तृक एकमात्र सुभाषित के कारण उपलब्ध भास नाटकों का ज्ञान हुआ अन्यथा वे सारे नाटकों के सम्बन्ध में अब तक कोई भी जानकारी न होती।

5. प्राचीन सुभाषित संग्रह :

सुभाषित- प्रथम सुभाषित के सम्बन्ध 12वीं सती में बंगाल के मालदा जिले के पं. विद्याधर का नाम सबसे पहले आता है, जिसमें वे 1739 सुभाषित श्लोकों को संकलित किये हैं ।

सदुक्ति कर्णामृत–संकलनकर्ता श्रीधर दास इसमें श्लोकों की संख्या 2380 है तथा इसे 13वीं शती में संकलित किया गया है ।

सूक्तिमुक्तावली—संकलित द्वारा जल्हण । ये देवगिरी (महाराष्ट्र) के यादववंशी 13वीं शती के राजा कृष्ण के हस्तिवाहिनी पति थे तथा इन्हीं के नाम पर भानुकवि ने यह संग्रह बनाया है ।

प्रसन्न साहित्य रत्नाकर—इसके संकलन कर्ता आचार्य नन्दन पण्डित हैं तथा इसे 15वीं शती में संकलित किया गया है ।

सार्ङ्गधरपद्धति—इसके संकलनकर्ता आचार्य शार्ङ्गधर है तथा इसे 19वीं शती में संकलित किया गया है । इसमें कुल श्लोकों की संख्या 4616 है ।

सुभाषितावली—इस सुभाषित संग्रह के संकलनकर्ता एक काश्मीर निवासी आचार्य बलदेव है । इसमें कुल श्लोकों की संख्या 3528 है तथा इसे 15वीं शती में संकलित किया गया है ।

पद्यावली—इस सुभाषित संग्रह के संकलनकर्ता आचार्य रूप गोस्वामी है तथा इसमें कष्णापरक 386 श्लोकों का संग्रह है ।

सूक्ति रत्नहार—इसके संकलनकर्त्ता कलिंगराय हैं तथा इसे 19वीं शती में संकलित किया गया है ।

सूक्ति रत्नाकर—इस सुभाषित संग्रह को 13वीं शती में आचार्य सिद्ध चन्द्रमणि द्वारा संकलित किया गया है ।

प्रस्ताव रत्नाकर—इस सुभाषित संग्रह को आचार्य हरिदास ने 16वीं शती में संकलित किया है ।

सुभाषित हारावली—इसके संकलनकर्ता आचार्य हरिदास है ।

सूक्ति सुन्दर—यह सुभाषित संग्रह आचार्य सुन्दरदेव 17वीं शती मे संकलित किया गया है ।

पद्यतरंगिणी—इस संग्रह के संकलनकर्ता व्रजनाथ हैं।

पद्यवेणी—इस सुभाषित संग्रह को 17वीं शती में आचार्य वेणीदत्त ने संकलित किया है ।

पद्यरचना—इस सुभाषित संग्रह को 17वीं शती में आचार्य लक्ष्मणभद्र अंकोलकर द्वारा संकलित है । इसमें श्लोकों की संख्या 756 है ।

पद्यामृत तरंगिणी—इस सुभाषित को 17वीं शती में आचार्य हरि भास्कर द्वारा संकलित किया गया है तथा इसके श्लोकों की कुल संख्या 301 है ।

श्लोक संग्रह—इस सुभाषित संग्रह को 17वीं शती में पं. मणिराम दीक्षित ने संकलित किया है तथा इसमें कुल श्लोकों की संख्या (1606) है।

शृंगारालाप—इस सुभाषित ग्रन्थ में शृंगारमय एक सहस्त्र से अधिक श्लोकों का संग्रह है । इसे 16वीं शती में संकलित किया गया है । इसमें कुल एक हजार से अधिक

श्लोकों को सम्मिलित किया गया है तथा इसमें सम्मिलित 238 श्लोक दशावतार से सम्बन्धित हैं ।

विद्याधर सहस्त्रक—इस ग्रन्थ के संकलनकर्ता एक मिथिलानिवासी पं. विद्याधर मिश्र है ।

पदमुक्तावली—इस ग्रन्थ में दो संकलनकर्ताओं आचार्य घाटी राम तथा गोविन्दभट्ट ने योगदान किये हैं ।

सुभाषित सुधानिधि—इस सुभाषित ग्रन्थ को 14वीं शती में आचार्य सायणाचार्य ने संकलित किया है तथा इसमें श्लोकों की कुल संख्या 11181 है ।

पुरूषार्थ सुधा निधि—इस सुभाषित ग्रन्थ में महाभारत, पुराणों, तथा उपपुराणों के सुभाषितों का संकलन व्यवस्थित है तथा इसके संकलनकर्ता आचार्य सायणाचार्य है।

पद्यावली—पद्यावली शीर्षक से तीन सुभाषित ग्रन्थ विद्यमान हैं तथा इन तीनों के संकलनकर्त्ता अलग-अलग मुकुन्दकवि, विद्याभूषण तथा रूप गोस्वामी हैं ।

प्रस्तावचिन्तामणि—इसे आचार्य चन्द्रचूड़ ने संकलित किया है ।

प्रस्तवतरंगिणी—इसके संकलकर्त्ता श्रीपाल हैं।

प्रस्तावमुक्तावली—इसके संकलनकर्त्ता आचार्य केशव भट्टी हैं।

प्रस्ताव संग्रह—इस सुभाषित संग्रह के संकलनकर्त्ता राम शर्मा हैं ।

प्रस्तावना—इस सुभाषित ग्रन्थ के संकलनकर्ता साहित्य सेन है ।

सुभाषित कौस्तुभ—इस सुभाषित संग्रह के संकलनकर्त्ता श्री वेकंटाध्वरी हैं।

सुभाषितावली—इस कृति के संकलन कर्त्ता श्री सकल कृति हैं ।

सुभाषित रत्नकोश—इस कृति के संकलनकर्त्ता श्री कृष्णभट्ट हैं ।

सुभाषित रत्नावली—इस सुभाषित संग्रह के संकलनकर्त्ता श्री उमा महेश्वर भट्ट हैं ।

सार संग्रह—इस कृति के संकलनकर्त्ता श्री शम्भूदास हैं।

सार संग्रह सुधार्णव—इस सुभाषित कृति के संकलनकर्त्ता श्री भट्टगोविन्दजित् हैं।

सुभाषितनीति—इस कृति के संकलनकर्त्त वेंकटनाथ हैं।

सुभाषित पदावली—इसके संकलनकर्त्ता श्री निवासाचार्य हैं।

सुभाषित मंजरी—इसके संकलनकर्त्ता चक्रवर्ती वेकंटाचार्य हैं।

सुभाषित सर्वस्व—इसके संकलनकर्त्ता महामहोपाध्याय आचार्य गोपीनाथ कविराज हैं।

सूक्तिवारिधि—इस सुभाषित कृति के संकलनकर्त्ता श्री पेटुमभट्ट हैं।

सूक्ति मुक्तवली—इस कृति के संकलनकर्त्ता श्री विश्वनाथ हैं ।

सूक्तावली—इस कृति के संकलनकर्त्ता आचार्य लक्ष्मण हैं।

सुभाषित सुरद्रम—इस शीर्षक से सुभाषित ग्रन्थों के दो अलग-अलग कृतिसंकलित गये हैं जिनको केलाड़ी वसवप्यानायक तथा खण्डेराय वसवयतीन्द्र के द्वारा संकलित किया गया है ।

सुभाषित रत्नाकर—इस शीर्षक से सुभाषित संग्रहों के चार अलग-अलग कृति प्रकाशित किये गये हैं; जिनके संकलनकर्त्ता मुनिवेदाचार्य, कृष्ण उमापति तथा के.ए. भाटवडेकर हैं।

सुभाषित रंगसार—इस कृति के संकलनकर्ता श्री जगन्नाथ हैं।

सभ्यालंकरण- इति कृति के संकलनकर्ता श्री गोविन्दजित् हैं ।

वुध भूषण—इस सुभाषित संग्रह के संकलनकर्ता छत्रपति संभाजी अर्थात् शिवाजी महाराज के पुत्र हैं ।

सभ्यभूषण मंजरी—इस कृति के संकलनकर्ता श्री गौतम हैं ।

पद्यतरंगिणी—इस सुभाषित संग्रह के संकलनकर्ता श्री व्रजनाथ हैं ।

6. जैन साहित्य के सुभाषित संग्रह—

जैन संस्कृत साहित्य के सुभाषित संग्रह प्राय धार्मिक तथा नैतिक सदाचार एवं लोकव्यवहार पर आधारित हैं । उदाहरणार्थ,

रत्नसन्दोह-संकलनकर्ता अमितगति । भव्य जन-कण्ठाभरण, अर्हद्दास कृत । सूक्तिमुक्तवली काव्य-सोमप्रभकृत । विवेकपादप तथा विवेक कलिका-संकलकर्ता नरेन्द्र प्रभ।

सज्जन चित्तवल्लभ-मल्लिषेण कृत। शृंगार-वैराग्य तरंगिणी-सोमप्रभकृत । उद्देश्य तरंगिणी-राजशेखरकृत । कर्पूर प्रकट-हरिसेनकृत । अन्योक्ति शतक - दर्शन विजय कृत। अन्योक्ति मुक्तावली-हंस विजय गणितकृत । धनदशक तंत्र-धनराजकृतथा दृष्टान्तशतक-तेज सिंह कृत ।

उपर्युक्त वर्णित ये सुभाषितग्रन्थ एकर्तृक है, अर्थात् इनके एक के अलावा दूसरे-कवियों के काव्यों को सम्मिलित नहीं किया गया है ।

इसी प्रकार श्री शंकराचार्य द्वारा विरचित "विवेक चूड़ामणि" का स्वरूप अध्यात्मपरक सुभाषित संग्रह का एक प्रमुख उदाहरण है । एक अन्य श्रेण्यकृति "भामनी विलास" जो जगन्नाथ पंडित राज द्वारा विरचित है में उनके शृंगार करूण, शांत रसमय तथा अन्योक्तिपरक सुभाषितों का संग्रह मिलता है। सुश्लोकलाघव में महाराष्ट्र के अनेक ऐतिहासिक संतों की प्रशंसा वैशिष्ट्यपूर्ण शैली में की है । इसमें सम्मिलित श्लोकों की संख्या 500 सौ से अधिक है।

गाँधी जी की अंग्रेजी सूक्तियों का पद्यानुवाद करके डा. चिन्तामणराव देशमुख ने गाँधी सूक्ति मुक्तवली नामक सुभाषित ग्रन्थ लिखे हैं। अब तक एक कवि आधारित अथवा अनेक कवियों के सुभाषितों को भिन्न-भिन्न भाषाओं एवं देशों में प्रकाशित किये जा चुके हैं। इसमें शंकराचार्य कृत समत्वगीत तथा श्रीधर भास्कर वर्णेकर कृत ''मन्दोर्मिमाला'' प्रमुख हैं। संस्कृत के आधुनिक विद्वान-काशीनाथ पाण्डुरंग परब द्वारा सम्पादित ''सुभाषितरत्न भण्डागार'' एक महत्वपूर्ण सुभाषित संग्रह माना जाता है । इसमें सात प्रकरणों में दस हजार से अधिक विविध विषयों पर प्राचीन कवियों द्वारा रचित श्लोकों का संकलन प्रस्तुत है। इस कृति के कुल आठ खण्डों को प्रकाशित किया जा चुका है ।

7. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के महत्वपूर्ण सुभाषित संग्रह एवं विश्वकोश :

महासुभाषित - संग्रह : (Maha-Subhasita-Samgraha)/Ludwick Sternbach; ed.by S. Bhaskaran Nair.-Hosiarpur : Viskeshwaranand Vedic Research Institute, 1974-, Multi volumes.

प्रस्तुत ग्रन्थ ''महा सुभाषित संग्रह'' संस्कृत के यूरोपिय विद्वान लूडविक स्टेरनबैक द्वारा रचित एक अमूल्य कृति है । उनके द्वारा निर्धारित योजना के अन्तर्गत इस संग्रह में कुल 18000 सुभाषितों को संकलित करके बीस खण्डों में प्रकाशित करने की योजना थी। इसके प्रथम खण्ड का संकलन सन् 1966 में प्रारम्भ हुआ तता यह प्रथम खण्ड सन् 1974 में प्रकाशित हआ । इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड से लेकर - चतुर्थ खण्ड तक के प्रकाशन का कार्य लूडविक स्टेरनबैक के योगदान से पूर्ण हुआ तथा पंचमखण्ड के.वी. शर्मा के सम्पादकत्व में प्रकाशित किया गया जबकि इसका छठवाँ एवं सातवा खण्ड एस. भास्करन नायर के सम्पादन में प्रकाशित किया गया है । इस सुभाषित ग्रन्थ को निर्मित करने में जिन स्रोतों को आधार बनाया गया है, उनको तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया है, जैसे–इसमें प्राथमिक स्रोतों का संकेत हिन्दी वर्णमाला के (अ) अक्षर से इंगित किया गया है। द्वितीय श्रेणी के स्रोत को हिन्दी वर्णमाला के (आ) अक्षर से तथा भारत से सम्बन्धित अन्य स्रोतों को (इ) अक्षर से प्रस्तुत किया गया है । इसमें निहित सुभाषितों के अंग्रेजी अनुवाद तथा उसके अनुवादकों का अन्तमें कोष्ठक में उल्लेख किया गया है। अनुवाद से सम्बन्धित ग्रन्थपरक-सूचनाओं के लिए इसके जगह-जगह पर संक्षिप्त विवरण अंकित है।

इस सुभाषित ग्रन्थ के प्रत्येक खण्ड में पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखकर कुछ महत्वपूर्ण सूचियों एवं अनुक्रमणियों को भी निर्मित किया गया है वे इस प्रकार हैं–

1. इसमें निहित सुभाषितों के स्रोतों के ग्रन्थपरक सूचना तथा इनके अनुवादों के स्रोतों का संक्षिप्त सूची निर्मित है।

2. लेखक एवं स्रोत अनुक्रमणी-इस अनुक्रमणी से इस ग्रन्थ में निहित सुभाषितों के लेखकों एवं स्रोतों को खोजने में सुविधा होती है।

3. छंद, अलंकार एवं श्लोक अनुक्रमणी–इस अनुक्रमणी से पाठकों को इस ग्रन्थ में सन्दर्भित छन्दो एवं अलंकारों की जानकारी मिलती है । त्याज्य संन्दर्भों को इसमें इटालिक्स में प्रस्तुत किया गया है ।

4. सामूहिक विषय अनुक्रमणी-महासुभाषित संग्रह के सभी खण्डों के पूर्ण होने पर एक सामूहिक विषय अनुक्रमणी को निर्मित करने की योजना थी ।

इस प्रकार इस महासुभाषित संग्रह में संकलित 18000 सुभाषितों में से क्रम संख्या 01 से लेकर 1873 सुभाषितों को प्रथम खण्ड में देवनागरी वर्णमाला (अ) से (अन्वे) के अन्तर्गत वर्णित किया गया है । तदनन्तर शेष सुभाषितों का क्रम आगे के खण्डों में विन्यसित हैं। इसके साथ ही साथ इसके प्रत्येक खण्ड में कुछ आवश्यक सूचियों एवं अनुक्रममणियों का भी उल्लेख किया गया है, जैसे–

Index of Authors;

Index of Sanskrit Meters, and

Addenda and Corrigenda.

इस प्रकार 18000 सुभाषितों का महासुभाषित संग्रह संस्कृत वाड्मय के विद्यार्थियों के साथ ही साथ संस्कृत के अतिरिक्त अन्य यूरोपीय भाषा की जानकारी रखने वाले विद्यार्थियों एवं अन्य पाठकों के लिए भी यह महत्वपूर्ण सन्दर्भ स्रोत है। इसके प्रत्येक खण्ड की जील्द बन्दी बहुत अच्छी तरह से की गयी है।

शिक्षा-मञ्जूषा (SHIKSHA-MANJUSHA) सुभाषित कोश / सम्पादक वेद प्रकाश शास्त्री एवं शशिकान्त पाण्डेय - नई दिल्ली : नीता प्रकाशन, 2002, 712 पृ.

प्रस्तुत ग्रन्थ शिक्षा-मन्जूषा सुभाषित कोश में विविध ग्रन्थों से संकलित 2121 सुभाषितों का संग्रह है, जिनको रोमन लिपि में रूपान्तरित कर हिन्दी तथा अंग्रेजी में अनूदित किया गया है । इसके प्रत्येक सुभाषित के नीचे उसका विषय भी संकेतार्थ लिख दिया गया है । जैसे, ओऽम् अर्थात आदि गुरू परमेश्वर, गुरू, माता-पिता, शिष्य, राष्ट्र संस्कार, संस्कृति, परिवेश, राजनीति आदि विषयों से सुभाषितों के अलावा त्याज्य, निन्दनीय तथा प्रशंसनीय विषयों के सुभाषितों का भी इसमें संग्रह है । साथ ही साथ शिक्षा के विषय में सम्बन्धित अनेक सुभाषित विशेष रूप से संकलित है ।

प्रस्तुत कोश ग्रन्थ को तैयार करने में वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, पुराणों, महाकाव्यों, नाटकों तथा सूक्ति संग्रहों से भी सहायता ली गयी है। इस प्रकार 2121 सुभाषितों का संग्रह 2121 बहुमूल्य रत्नों की खान है ।

स्वध्यायशील विद्वानों तथा संस्कृत वाड्मय के विद्यर्थियों के लिए यह बहुत उपयोगी ग्रन्थ है । इसे अन्त्याक्षरी के लिए उपयुक्त सूची पत्र के रूप में भी पाठकों द्वारा

प्रयोग किया जा सकता है । इसमें संकलित सुभाषितों का विवेचन 13 अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है । साथ ही साथ, संस्कृत वर्णमाला का अंग्रेजी रूपान्तर, सन्दर्भ ग्रन्थ एवं उनकी संकेत सूची का भी इसमें उल्लेख किया गया है ।

नैतिक-मञ्जूषा (शैक्षिक मूल्य) / वेद प्रकाश शास्त्री; सम्पादक — नई दिल्ली : नीता प्रकाशन, 2009. xx, 742 पृ.

इस सन्दर्भ ग्रन्थ में लगभग 2100 सुभाषितों को अनेक ग्रन्थों से संग्रहित कर वर्णानुक्रम में विन्यसित किया गया है । इस नैतिक मञ्जूषा में व्यवहारिक पक्ष पर विशेष बल-दिया गया है । हमारा व्यवहार किससे कैसा होना चाहिए और कैसा नहीं तथा उसके साधन क्या हैं? जैसे इन्हीं भावों को इन सुभाषितों में प्रस्तुत किया गया है।

इसकें अन्तर्गत संकलित सुभाषितों के अर्थ हिन्दी में देने के साथ ही साथ अंग्रेजी में भी दिये गये है जिससे अंग्रेजी जानने वाले पाठक भी इसका उपयोग आसानी से कर सकते हैं । नीतिशब्द का बहुत विस्तृत अर्थ है । मानव का किसी के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए यही बात नीति कहलाती है । इस ग्रन्थ में गुरू-शिष्य, पति-पत्नी, गृह सदस्यों, राजा-प्रजा, राजकर्मचारियों, विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों आदि का परस्पर तथा प्राणिमात्र और राष्ट्र के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए इन्हीं विषयों से सम्बन्धित 2100 सुभाषितों को इस ग्रन्थ में संग्रहित किया गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में निहित सुभाषितों का संग्रह वेदों से लेकर नवीनतम ग्रन्थों से किये गये हैं ।

इस प्रकार सुभाषितों के अध्ययन में रूचि रखने वाले विद्यार्थियों एवं विद्वानों के लिए यह एक बहुमूल्य कृति है । साथ ही साथ यह अन्त्याक्षरी के लिए भी एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ कृति हैं ।

विश्व संस्कृत सूक्ति कोश / ललित प्रभ सागर - मथुरा : भाषा भवन, 2000. (तीन खण्डों में)।

यह एक विषय विश्वकोश है जिसमें संस्कृत साहित्य के सूक्तियों के भण्डार को हिन्दी भाषा में रूपान्तरित करके कोश क्रम में प्रस्तुत किया गया है । साहित्य की विराटता में सूक्तियों की व्यापकता सहज स्वाभाविक है । शायद ही ऐसा कोई विषय हो जिससे सम्बन्धित सूक्तियाँ संस्कृत में न मिलती हों । अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष की पृथक्-पृथक् धाराओं को सम्पादित करते हुए उनपर मार्मिक सूक्तियों की संरचना संस्कृत साहित्य की अन्यन्य विशेषता है । जीवन में हर कदम पर मार्ग प्रशस्त करने के लिए इन सूक्तियों की उपयोगिता विवाद मुक्त है ।

सूक्ति वह है जो सद्विचार का प्रतिनिधित्व करे और सदाचार का प्रवर्तन । संस्कृत साहित्य में ऐसी सूक्तियाँ कदम-कदम पर ज्योतिर्मय हैं। इन सूक्तियों के व्यवस्थापन हेतु

सूक्तिकोश को तीन खण्डों में विभाजित किया गया है जो निम्नवत है–

प्रथम खण्ड–"अ" से "त";

द्वितीय खण्ड–"थ" से "भ";

तृतीय खण्ड–"म" से "ह" ।

इस प्रकार यह विश्वकोश संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों के साथ ही साथ-सभी श्रेणी के पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ कृति है ।

बृहद् विश्व सूक्तिकोश (Encyclopaedia of Quotations)/ श्याम बहादुर वर्मा–नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन, 2000. (तीन खण्ड) ।

प्रस्तुत विश्वकोश को सन् 2000 में प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया है । लेखक ने इस विश्वकोश में महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय सूक्तियों का वृहत संकलन प्रस्तुत किया है । इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें क्रमशः संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं जैसे हिन्दी, उर्दू, कश्मीरी, पंजाबी, सिंधी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, बांग्ला, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम के साथ ही साथ अंग्रेजी, अरबी, फारसी, चीनी, जापानी, यूनानि, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन, रूसी आदि की सूक्तियों का भी समुचित प्रतिनिधित्व है ।

इस विश्वकोश में संकलित सामग्रियों के विशालता के कारण इसे तीन खण्डों में प्रकाशित किया गया है तथा इसके प्रथम खण्ड में सूक्तियों का विन्यसन 'अ' अक्षर से लेकर 'थ' अक्षर तक प्रस्तुत किया गया है । इसी प्रकार इसके द्वितीय खण्ड में सूक्तियों का विन्यसन 'द' अक्षर से लेकर "यौ" अक्षर तक व्यवस्थित है । जबकि इसके तृतीय खण्ड में सूक्तियों का व्यस्थापन 'यौ' अक्षर से प्रारम्भ होकर 'ज्ञ' अक्षर पर समाप्त हुआ है ।

उपयोक्ताओं द्वारा इसका अधिकाधिक उपयोग हो सके । इस हेतु इसके प्रत्येक खण्ड में परिशिष्ट के रूप में सन्दर्भ अनुक्रमणिका का भी उल्लेख किया गया है । इन अनुक्रमणिकाओं का क्रम भी वर्णानुक्रम में व्यवस्थित हैं । इसके अन्तर्गत सभी सूक्ति स्रोतों अर्थात् उद्धृत लखकों तथा लेखक नाम से सम्बन्धित ग्रन्थों का, पत्र-पत्रिकाओं आदि का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है ।

इस प्रकार यह "बृहद् विश्व सूक्तिकोश" कुल तीन ख़ण्डों में विभाजित लगभग 1700 पृष्ठों में संकलित है । प्रत्येक खण्ड के प्रारम्भ में दी गयी विषयानुक्रमणिका का उपयोग करके यत्र-तत्र विकीर्ण विविध शीर्षकों में से पाठक अपनी रूचि के विषय सम्बन्धित सभी-शीर्षकों का उपयोग करने में समर्थ हो सकते हैं । अपनी इसी विशेषता के कारण यह विश्व सूक्ति कोश एक मात्र सर्वजनोपयोगी एवं दुर्लभ सन्दर्भकृति है।

❑❑

षष्ठ अध्याय

वाङ्मयसूची

(Bibliography)

1. भूमिका एवं अर्थ-

संस्कृत एवं प्राच्य भारतीय साहित्य में वाङ्मय शब्द को साहित्य शब्द के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत संचित ज्ञान-राशि के समस्त भण्डार को वाङ्मय कहा जाता है। क्योंकि इसके अन्तर्गत रचनात्मक एवं रसात्मक साहित्य तथा अतिरिक्त ज्ञान एवं विज्ञान से सम्बन्धित समस्त विद्याएँ परिगणित होती हैं । इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा में भी साहित्य एवं वाङ्मय दोनों के लिए एक ही शब्द लिटरेचर (Literature) का प्रयोग किया जाता है।

जबकि अंग्रेजी पद "विबिलयोग्राफी" का सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1645-50 में लुइस जैकब डी सेन्ट चार्ल्स (Lowis Jacob de Saint Charles) ने अपनी पुस्तक विब्लियोग्राफिया परसियाना (Biblographia Persiana) में किया था । विब्लियोग्राफी शब्द ग्रीकभाषा के दो पदों (Biblion) विब्लियोंन एवं (Grapheen) ग्राफीयेन से मिलकर बना है जिसका अर्थ है ग्रन्थ एवं लिखना अर्थात् "ग्रन्थ लिखना" होता है । कालान्तर में एक फ्रांसीसी विद्वान पोलार्ड (Pollard) ने विब्लियोग्राफी शब्द का अभिप्राय "पुस्तकों के विषय में लिखने" से जोड़कर देखा तथा जर्मनी के विख्यात वाङ्मय सूचीकार (F. Ebert) एफ. एबर्ट ने बिब्लियोग्राफी शब्द को परिभाषित करते हुए कहा कि "यह वह विज्ञान है जो साहित्यिक उत्पादनों से सम्बन्धित होता है।"

समाज के साथ-साथ बिब्लियोग्राफी पद के मूलभूत धारणा में परिवर्तन होने के कारण विख्यात वाङ्मय सूचीकारों ने "बिब्लियोग्राफी" शब्द को भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित किये हैं । सर वाल्टर डब्लू. ग्रेग के अनुसार, वाङ्मय सूची का तात्पर्य यह है कि इसमें ग्रन्थों अथवा पुस्तकों का अध्ययन ठोस वस्तु के रूप में किया जाता है । अस्तु वाङ्मय सूची साहित्यिक प्रलेखों के संचार का विज्ञान होता है ।"

थियोडोर बेस्टर मैन (Thedore Besterman) के अनुसार "वाङ्मयसूची ग्रन्थों की सूची होती है जिसे किसी एक निश्चित सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्थित किया गया होता है।" लुइस शोर्स (Louis Shores) के अनुसार, "वाङ्मयसूची लिखित, मुद्रित एवं अन्य विधियों से निर्मित किये गये परम्परागत रीति रिवाजों एवं सभ्यताओं के अभिलेखों की एक तालिका

होती है। जिसके अन्तर्गत ग्रन्थों, धारावाहिक प्रकाशनों, पाण्डुलिपियाँ, चित्रों, मानचित्रों; फिल्में एवं अन्य रूपों को सम्मिलित किया जा सकता है ।

अरूनडेल इजडेल के परिभाषा के अनुसार, "वाङ्मयसूची एक कला है और साथ ही विज्ञान भी है"' इसका कलात्मक पक्ष ग्रन्थों का अभिलेख करने में निहित होता है जबकि वैज्ञानिक पक्ष ग्रन्थों के निर्माण एवं उनके अभिलेख को प्रस्तुत करने की सीमा में निहित होता है ।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि बिब्लियोग्राफी शब्द का प्रयोग तीन रूपों में किया गया है–

1. विज्ञान;
2. कला;
3. किसी तकनीक का उत्पादन ।

जबकि वर्तमान समर्य में विब्लियोग्राफी शब्द का प्रयोग केवल दो ही रूपों में किया जाता है, जैसे पहला-ग्रन्थों की एक सूची निर्धारण करने की कला एवं दूसरा तालिका का नाम ।

2. वाङ्मयसूची का महत्व (Importance of Bibliography) :

ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक वाङ्मयसूचियाँ विद्वता एवं पाण्डित्य की धरोहर होती हैं। ज्ञान के ये दोनों क्षेत्र विश्व के पाण्डित्य परम्परा में अपना विशेष महत्व रखते हैं। क्रमबद्ध वाङ्मय सूची एक कला होती है जो इसके प्रस्तुतीकरण में निहित होती है। ग्रन्थालय विवरणों को प्रविष्टियों में प्रस्तुत करने हेतु व्यवस्थित करना एवं उन प्रविष्टियों को किसी निश्चित क्रम में उपयोग हेतु निर्मित करना वाङ्मय सूची की कला को प्रस्तुत करता है। जबकि विश्लेषणात्मक वाङ्मयसूची जो विवरणात्मक वाङ्मयसूची होती है उसे विज्ञान कहते हैं।

वाङ्मयसूची के व्यवहारिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए इसे विज्ञान अथवा कला की संज्ञा देना उतना महत्व नहीं रखता जितना कि ग्रन्थाध्यक्षों एवं शोधकर्ताओं के लिए यह एक सन्दर्भ उपकरण के रूप में वाङ्मयात्मक जानकारी उपलब्ध कराने के लिए अधिक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी होता है । डा. एस. आर. रंगनाथन ने प्रलेख वाङ्मयसूची के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है कि "वाङ्मयसूची प्रमुख रूप से ग्रन्थों की आत्मा अर्थात् विषय वस्तु एवं विचार धारा से सम्बद्ध होता है ।" वर्तमान युग में साहित्य उत्पादन की प्रचुरता के कारण "सूचना विस्फोट का युग" के नाम से जाना जाता है जिसके फल स्वरूप यह सम्भव नहीं है कि ज्ञान की अनेक शाखाओं के विकास के लिए एवं ज्ञान वर्धन के लिए आवश्यक सूचना एवं सूचना स्रोतों की पूर्ण जानकारी हो । इस दृष्टिकोण से वाङ्मय सूची की भूमिका अति महत्वपूर्ण होती है।

3. वाङ्मयसूची के उद्देश्य एवं कार्य (Objectives and Functions of Bibliography) :

1. वाङ्मयसूची का प्रथम उद्देश्य उपयोग कर्ताओं को वांछित पाठ्य सामग्रियों को मुद्रित रूपों में उपलब्ध है अथवा नहीं का पता लगाने अथवा उसकी वस्तु स्थिति को जानने में सहायता करना होता है ।

2. वाङ्मयसूची का दूसरा मुख्य उद्देश्य ग्रन्थालयों में कृतियों के चयन (Book Selection) के स्रोत के रूप में करना होता है ।

3. वाङ्मयसूची से ग्रन्थों के ग्रन्थपरक विवरण का सत्यापन एवं उपलब्धी अधिक सरल हो जाता है ।

4. ग्रन्थालयों में इसकी सहायता से उपयोक्ताओं द्वारा वांछित सामग्रियों की विषयानुसार तालिका निर्मित करने में सहायता मिलती है ।

5. लघु स्तरीय ग्रन्थालयों में वाङ्मयसूची की सहायता से संकलित ग्रन्थों की सूचीकरण एवं वर्गीकरण करने में अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है । उदाहरण के लिए भारतीय राष्ट्रीय वाङ्मयसूची में संकलित प्रविष्टियों से सम्बन्धित डी.डी.सी. एवं सी.सी. द्वारा निर्मित वर्गांक भी दिया रहता है ।

6. अध्ययन, अध्यापन एवं शोध आदि गतिविधियों में रूचि रखने वाले अध्येताओं को उनकी अभिरुचि के अनुसार पूरे राष्ट्र अथवा विश्व में प्रकाशित सूचनाओं से अवगत कराया जाता है ।

4. वाङ्मयसूची एवं इसके विभिन्न प्रकार (Bibliography and its Various Types) :

वाङ्मयसूचियों को सामान्यतया तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

1. क्रमबद्ध अथवा परिगणात्मक वाङ्मयसूची;
2. विश्लेषित अथवा आलोचनात्मक वाङ्मयसूची; एवं
3. ऐतिहासिक वाङ्मयसूची।

क्रमबद्ध अथवा परिगणात्मक वाङ्मयसूची के अनेक प्रकार निधार्रित किये गये हैं जो कि इस प्रकार निम्नवत हैं–

i) सार्वभौमिक वाङ्मयसूची;
ii) राष्ट्रीय वाङ्मयसूची;
iii) व्यापारिक वाङ्मयसूची;
iv) चयनात्मक या वर्णनात्मक वाङ्मयसूची;
v) अलभ्य पुस्तकों की वाङ्मयसूची;

vi) छद्म नाम वाङ्मयसूची;

vii) सामायिकी वाङ्मयसूची;

viii) शोध प्रबन्धों की वाङ्मयसूची;

ix) विषय वाङ्मयसूची;

x) लेखक वाङ्मयसूची; एवं

xi) वाङ्मय सूचियों की वाङ्मयसूची ।

इसी तरह से विश्लेषित अथवा आलोचनात्मक वाङ्मयसूची के दो प्रकार निर्धारित किये गये हैं जो कि इस प्रकार हैं–

i) वर्णनात्मक वाङ्मयसूची, एवं

ii) मूल पाठ वाङ्मयसूची ।

ऐतिहासिक वाङ्मयसूची के अन्तर्गत ग्रन्थों को कला की दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है। ऐतिहासिक वाङ्मयसूची का प्रमुख सम्बन्ध लेखन-कला एवं लेखन सामग्री के विभिन्न अवयवों से होता है। इससे उक्त काल के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के इतिहास एवं मानव सभ्यता के विकास का पता चलता है ।

प्रस्तुत अध्याय में क्रमबद्ध वाङ्मयसूची के प्रकार के अन्तर्गत केवल कुछ ही प्रकारों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन-प्रस्तुत है ।

5. वाङ्मयसूची का मूल्यांकन (Evaluation of Bibiography) :

वाङ्मयसूचियों के मूल्यांकन के लिए निम्नलिखित जाँच विन्दुओं के आधार पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए ।

प्रमाणिकता–संकलित ग्रन्थ प्रमाणिक एवं शुद्ध होना चाहिए । इसका निर्धारण प्रकाशकों, वितरकों, लेखकों एवं अन्य उत्तरदायित्व कर्त्ताओं की प्रतिष्ठा अथवा प्रसिद्धि योग्यता एवं अनुभव के द्वारा की जा सकती है।

विषय क्षेत्र–वाङ्मयसूची के विषय क्षेत्र को जानने के लिए निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तरों द्वारा जानकारी प्राप्त की जा सकती है । जैसे–संकलनकर्त्ता के अनुसार कार्य का उद्देश्य क्या है ? वाङ्मयसूची सामयिक है, चयनित है, पूर्वव्यापी है या विस्तृत है ? विषय, भाषा, स्थान एवं समय की क्या सीमाएँ हैं ?

व्यवस्थापन–वाङ्मयसूची के निर्माण में व्यवस्थापन प्रक्रिया सबसे महत्वपूर्ण पहलु है। अलग-अलग उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वाङ्मय सूचियों में व्यवस्थापन की प्रक्रिया इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे वांछित सूचना अथवा तथ्य आसानी से प्राप्त की जा सके। वाङ्मय सूचियों में व्यवस्थापन अथवा विन्यसन निम्नलिखित प्रकार का हो सकता

है–

i. लेखक, विषय या भौगोलिक क्षेत्र के द्वारा वर्णानुक्रमानुसार;
ii. कालक्रमानुसार व्यवस्थापन;
iii. वर्गीकृत विन्यसन;
iv. अनुवर्णिक वर्गीकृत व्यवस्थापन;
v. शब्दकोशीय व्यवस्थापन; एवं
vi. प्रकाशन वर्ष के अनुसार व्यवस्थापन ।

प्रविष्टियाँ एवं उसमें वर्णित तथ्य–

वाङ्मयसूचियों में निर्मित प्रविष्टियों में निम्नलिखित सूचनाएँ अवश्य होनी चाहिए, जैसे–लेखक, सहायक लेखक, आख्या, संस्करण, ग्रन्थमाला, खण्डों की संख्या, प्रकाशकीय विवरण एवं सार आदि ।

संशोधन और अद्यतन-वाङ्मयसूचियों में दी गयी सूचनाओं को नवीन रखने के लिए एक निश्चित अन्तराल के बाद संशोधन किया जाना चाहिए ।

विशेषताएँ–वाङ्मयसूची की विशेषताओं को अन्य उपलब्ध वाङ्मयसूचियों से तुलना के द्वारा पता किया जा सकता है । प्राक्कथन एवं भूमिका का अध्ययन करने से विशेषताओं एवं त्रुटियों के बारे में अन्दाज किया जा सकता है ।

भौतिक स्वरूप–वाङ्मयसूची के भौतिक स्वरूप के अन्तर्गत ग्रन्थ की जिल्दबन्दी, कागज, मुद्रण तथा मुद्रित सामग्रियों के अक्षर स्पष्ट है अथवा नहीं आदि सूचनाओं को महत्व देना चाहिए ।

6. राष्ट्रीय वाङ्मयसूची (National Bibliographics) :

राष्ट्रीय वाङ्मयसूची का विषय सीमा देश अथवा राष्ट्र तक सीमित रहता है। इसमें एक राष्ट्र में प्रकाशित सभी भाषाओं के तथा सभी विषयों में प्रकाशित ग्रन्थों को सूचीबद्ध करती है । प्रत्येक देश अथवा राष्ट्र में वहाँ के राष्ट्रीय ग्रन्थालयों या इसके द्वारा निर्धारित अन्य ग्रन्थालयों में डी. बी. एक्ट अथवा कॉपीराइट अधिनियम या आई.पी.आर. एक्ट के अनुसार ग्रन्थों की जो प्रतियाँ प्राप्त होती हैं । उसी के आधार या इनको निर्मित की जाती है । राष्ट्रीय वाङ्मयसूचियों में अधिकांशतः पत्र-पत्रिकाओं के प्रथम अंक, सरकारी प्रलेखों एवं ग्रन्थों आदि की पाठ्य सामग्री की सूचना दी होती है ।

7. राष्ट्रीय वाङ्मयसूची की उपयोगिता :

राष्ट्रीय वाङ्मयसूची का मुख्य उद्देश्य एवं कार्य सम्बन्धित राष्ट्र के उपयोग के लिए पूर्ण वाङ्मयात्मक सूचना उपलब्ध कराना होता है । इसकी सहायता से निम्नांकित सूचना प्राप्त की जा सकती है।

i. वाङ्मय सूची की सहायता से किसी भी राष्ट्र के बौद्धिक एवं साहित्यिक विकास के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है ।

ii. इसके द्वारा भावी पीढ़ी को शोध एवं विकास के कार्यों में पूर्ववर्ति साहित्य का ज्ञान होता है ।

iii. ग्रन्थालयों एवं सूचना केन्द्रों में ग्रन्थों के चयन में यह बहुत उपयोगी होता है।

iv. इसकी सहायता से किसी ग्रन्थ में अंकित मूल्य की सत्यता की जाँच भी की जा सकती है ।

v. राष्ट्रीय स्तर पर सार्वभौमिक ग्रन्थात्मक निमंत्रण में राष्ट्रीय वाङ्मय सूची एक महत्वपूर्ण उपकरण का कार्य करता है । कम्प्यूटर एवं सूचना प्रद्यौगिकी की आगमन से पूरे विश्व में राष्ट्रीय वाङ्मयसूचियों का उपयोग तो बढ़ा है परन्तु अभी भी कुछ ऐसे देश हैं, जिनमें राष्ट्रीय वाङ्मयसूचियाँ प्रकाशित नहीं की जाती हैं। इस प्रकार के सूचियों को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है–

1. सामायिक राष्ट्रीय वाङ्मयसूची,
2. पूर्वव्यापी राष्ट्रीय वाङ्मयसूची ।

भारत में सामयिक राष्ट्रीय वाङ्मयसूची का अभाव है फिर भी भारतीय राष्ट्रीय वाङ्मयसूची सामायिक राष्ट्रीय वाङ्मय सूची के कार्य को कुछ सीमा तक पूर्ण करती है। परन्तु इसमें कुछ क्षेत्रों के प्रलेखों को अभी भी सम्मिलित नहीं किया जाता है तथा इसका प्रकाशन एक निश्चित अन्तराल पर न होकर कुछ विलम्ब से हो पाता है ।

8. भारतीय राष्ट्रीय वाङ्मयसूची (Indian Natonal Bibliography - INB) :

1. **भारतीय राष्ट्रीय वाङ्मयसूची, त्रैमासिक, अक्टूबर 1957 दिसम्बर 1963; मासिक जनवरी 1964 केन्द्रीय सन्दर्भ ग्रन्थालय, राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकता, 1959-वार्षिक संचयी अंक, 1958-62 की पंचवर्षीय संचयी अनुक्रमणिका ।**

आई. एन. बी. भारत की राष्ट्रीय वाङ्मयसूची है तथा इसका प्रकाशन भारत के राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकाता के सहोदर संगठन केन्द्रीय सन्दर्भ पुस्तकालय कोलकता द्वारा सन् 1958 से प्रकाशित की जार रही है । यह राष्ट्रीय वाङ्मयसूची राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकता में 1954 के ग्रन्थ प्रदान अधिनियम (डिलीवरी ऑफ बुक्स एक्ट) एवं संशोधित अधिनियम 1956 के अधीन प्राप्त होने वाली ग्रन्थों पर आधारित है तथा इसे सामायिक भारतीय प्रकाशनों का प्रमाणिक-वाङ्मयात्मक अभिलेख के रूप में स्थान प्राप्त है।

इस राष्ट्रीयवाङ्मय सूची के प्रथम अंक का प्रकाशन सन 1958 में किया गया जिसका विमोचन हिमायु कबीर (वरिष्ठ सचीव, केन्द्र सरकार) के द्वारा सम्पन्न हुआ था। सर्व

प्रथम प्रकाशित अंक अक्टूबर से दिसम्बर 1957 त्रैमासिक अंक था । यह राष्ट्रीय वाङ्मयसूची सन् 1963 तक वार्षिक संचयित खण्डों के साथ त्रैमासिक के रूप में प्रकाशित होती चली आयी । तत्पश्चात् 1964 से 1967 तक इसके त्रैमासिक स्वरूप को परिवर्तित करके इसे मासिक कर दी गयी । इसी प्रकार 1958 से 1962 तक के प्रकाशित वार्षिक खण्डों की पंचवर्षीय संचयी अनुक्रमणिका भी प्रकाशित की गयी है । 1968 से 1970 के बीच इसका कोई अंक प्रकाशित नहीं हो पाया, परन्तु 1971 से 1977 के बीच मासिक अंकों का प्रकाशन कुछ विलम्ब से होने के कारण 1978 से 1983 के मासिक अंकों के स्थान पर दो वार्षिक खण्डों का प्रकाशन किया गया । पुनः छः वर्षों के बाद सन् 1984 में मासिक अंकों का प्रकाशन पुनः शुरू कर दिये गये ।

1958 से 1967 तक के संस्कृत खण्डों की संचयित अनुक्रमणिका को दो खण्डों में प्रकाशित किया गया है । इस प्रकार यह बहुभाषीय राष्ट्रीय वाङ्मयसूची है, जिसमें अनेक भाषाओं के ग्रन्थों को सूचीबद्ध किया जाता है । आई. एन. बी. भारत में प्रकाशित ग्रन्थों एवं अन्य सूचना सामग्रियों की वर्गीकृत वाङ्मयसूची है तथा इसको अद्यावधि मासिक रूप में प्रकाशित किया जाता है तथा इसके बारह मासिक अंकों को मिलाकर वार्षिक संचयी खण्ड प्रकाशित की जाती है ।

आई. एन.बी. में निम्नलिखित सूचना स्रोतों को सम्मिलित नहीं किया जाता है–

1. मानचित्र;
2. सामयिकी तथा समाचार पत्रों के प्रथम अंक को छोड़कर अन्य अंक;
3. पाठ्य-पुस्तकों की कुंजीयों;
4. क्षणिक पठनीय सामग्री;
5. संगीत स्वर लिपि, तथा
6. सस्ते उपन्यास ।

सन् 1972 के अन्त तक आई एन. बी. दो भागों में प्रकाशित होती रही तथा प्रत्येक भाग के दो अनुभाग थे जिनको जनवरी 1973 से एक में मिला दिया गया है । वर्तमान में आई एन.बी. के वर्गीकृत भाग में डी.डी.सी. के वर्गों के अनुसार प्रविष्टियों को व्यवस्थित किया जाता है, जबकि प्रत्येक प्रविष्टियों के नीचे दाहिनी तरफ द्वि-बिन्दु वर्गीकरण (Colon Classification) के द्वारा भी वर्णांक निर्मित भाग में प्रविष्टियों को वर्गीकरण संख्या से व्यवस्थित किया गया है तथा कृतियों का पूरा विवरण, जैसे-लेखक का नाम, शीर्षक, प्रकाशक का नाम, प्रकाशन वर्ष प्रकाशन स्थान, पृष्ठ संख्या, आकार, ग्रन्थमाला तथा मूल्य का उल्लेख किया गया है । अंग्रेजी के अतिरिक्त भारतीय भाषाओं के ग्रन्थों से सम्बन्धित सूचना रोमन लिपि में प्रस्तुत किया गया है । जबकि संस्कृत भाषा की ग्रन्थों के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार इस वाङ्मय सूची के दूसरे अनुभाग में वर्णानुक्रम पद्धति पर आधारित दो प्रकार की अनुक्रमणिकाओं का उल्लेख किया गया है जिसमें पहला लेखक एवं आख्या से सम्बन्धित अनुक्रमणिका है तथा दूसरा विषय से सम्बन्धित अनुक्रमणिका है ।

आई.एन.बी. को विस्तृत एवं अद्यतन रखने हेतु केन्द्रीय सन्दर्भ ग्रन्थालय, कोलकता को राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकता के साथ विलय किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि राष्ट्रीय पुस्तकालय कोलकता द्वारा राष्ट्रीय वाङ्मय सूची के महत्व को ध्यान में रखते हुए इसके वर्तमान कमियों को आसानी से दूर किया जा सकता है ।

2. **भारतीय साहित्य का राष्ट्रीय वाङ्मयसूची (National Bibliography of Indian Literature), 1901-53, नई दिल्ली : साहित्य अकादमी, 1962-74 (4 खण्डीय)।**

भारतीय साहित्य के इस राष्ट्रीय वाङ्मयसूची में पन्द्रह भारतीय भाषाओं एवं अंग्रेजी में प्रकाशित 60,000 ग्रन्थों के प्रविष्टियों को इसमें सूचीबद्ध किया गया है । इसमें प्रविष्टियों को रोमन लिपि में अंकित किया गया है तथा ग्रन्थों का वर्गीकरण डी.डीसी. पर आधारित है। ग्रन्थों से सम्बन्धित प्रविष्टियों को इसमें भाषा के आधार पर विभाजित किया गया है। तत्पश्चात् डी.डी.सी. के अनुसार विषयों को व्यवस्थित किया गया है । प्रत्येक विषय में ग्रन्थों के लेखक के नाम से वर्णानुक्रमानुसार प्रविष्टियों को व्यवस्थित किया गया है । इसके प्रत्येक खण्ड में चार भाषाओं के ग्रन्थों को सूचीबद्ध किया गया है तथा प्रत्येक खण्ड के अन्त में अनुक्रमणिका का उल्लेख किया गया है ।

इस चयनित राष्ट्रीय वाङ्मयसूची की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें भारतीय लेखकों की कृतियों के साथ ही साथ भारत से सम्बन्धित विश्व के किसी भाग में प्रकाशित ग्रन्थों को भी सम्मिलित किया गया है । सामाजिक विज्ञान तथा मानविकी से सम्बन्धित प्रकाशित ग्रन्थों को ही इसमें सूचीबद्ध किया गया है । यद्यपि इसमें पत्र-पत्रिकाओं एवं अन्य प्रकार के पाठ्य सामग्रियों को सम्मिलित नहीं किया गया है ।

इसमें बीसवीं सदी के मानविकी तथा सामाजिक विज्ञान के सभी ग्रन्थकारों तथा उनके रचनाओं को सम्मिलित किया गया है, परन्तु कुछ ग्रन्थकारों के रचनाओं को इसमें उचित स्थान नहीं मिल पाया है ।

3. विषयपरक वाङ्मयसूचियाँ (Subject Bibliographies)

विषय परक वाङ्मयसूची में किसी विषय से सम्बन्धित ग्रन्थों, लेखों एवं अन्य सूचना सामग्रियों के सूची को व्यवस्थित क्रम में दिया रहता है । विषय परक वाङ्मयसूचियों की सहायता से पाठकों को किसी विषय के सम्बन्ध में आवश्यक वाङ्मयात्मक सूचनाएँ आसानी से प्राप्त हो जाती हैं।

9. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित विषयपरक वाङ्मयसूचियों के प्रमुख उदाहरण–

1. Bibliographie Vedique / Louis Renou. - Paris, 1931.

प्रस्तुत वाङ्मयसूची वैदिक साहित्य का अन्तर्राष्ट्रीय वाङ्मयसूची है तथा इसे फ्रांस के लुइस रेनू ने फ्रेंच भाषा में संकलित किया है । इस विषयपरक वाङ्मयसूची में वैदिक साहित्य से सम्बन्धित प्रकाशित ग्रन्थों को तालिकाबद्ध किया गया है ।

2.1 Vedic Bibliography / R.N. Dandekar.-Poona : Bhandarkar Oriental Research Institute, 1986. (Four Vols).

प्रस्तुत कृति विषय वाङ्मयसूची का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है तथा पूर्व में भारतीय विद्या के एक ख्यातिलब्ध फ्रेंच विद्वान लुई रेनु द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य का यह एक नवीन उपलब्धि है । इस कृति में लेखक ने सन 1930 से 1945 के मध्य वेद एवं वेद से सम्बन्धित विभिन्न शाखाओं के प्रकाशित ग्रन्थ एवं ग्रन्थेत्तर सामग्रियों के प्रविष्ट्यिों को व्यवस्थित करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। यह विषय वाङ्मयसूची भण्डारकर ओरियन्टल शोध संस्थान पूना के सौजन्य से कुल चार खण्डों में प्रकाशित किया गया है तथा इसके प्रत्येक खण्ड में वेद एवं वेद से सम्बन्धित विभिन्न शाखाओं के प्रकाशित सामग्रियों को तालिका बद्ध किया गया है।

इसके प्रथम खण्ड में कुल पैंतीस सौ प्रविष्टियों को व्यवस्थित किया गया है जिनको कुल एक्कीस अध्यायों एवं 168 उपभागों में विभाजित किया गया है । इस प्रकार इस प्रथम खण्ड में वेदशास्त्र के जिन क्षेत्रों को सम्मिलित किया गया है वे इस प्रकार निम्नांकित हैं–

1. ऋग्वेद;	6. ब्राह्मन्स;	11. वैदिक काल;
2. अथर्ववेद;	7. उपनिषद्,	12. शब्द कोश;
3. शामवेद;	8. वेदाङ्ग;	13. वैदिक शब्दों का अध्ययन;
4. यजुर्वेद;	9. वैदिक साहित्य;	14. भाषा वैज्ञानिक अध्ययन;
5. धर्मशास्त्र;	10. दर्शनशास्त्र;	15. वैदिक अवधारणाओं का अध्ययन
16. सामाजिक अध्ययन;		17. इतिहास
18. वाङ्मयसूची	19. जीवनी	20. संकलन, इत्यादि ।

इस खण्ड के अन्त में पृष्ठ संख्या (369) पर लेखक अनुक्रमणिका सूची तथा पृष्ठ संख्या (387) पर शब्द अनुक्रमणिका सूची संलग्न है ।

2.2. Vedic Bibliography / R.N. Dandekar.- Poona : Bhandarkar Oriental Research Institute, 1978. (Volume- 2nd)

परन्तु रचना वैदिक वाङ्मय सूची का दूसरा खण्ड है तथा इसमें भी वैदिक साहित्य से सम्बन्धित कुल एक्कीस विषयों में प्रकाशित ग्रन्थ एवं ग्रन्थेत्तर पाठ्य सामग्रियों की विस्तृत

प्रविष्टियों को विषयानुसार सूची बद्ध किया गया है । इन प्रविष्टियों को संकलित करने में कुल (760) पृष्ठों का उपयोग हुआ है । भण्डारकर ओरियन्टल शोध संस्थान, पूना द्वारा सन् 1978 में प्रकाशित किया गया है तथा इसके अन्त में पृष्ठ संख्या 721 से 746 तक लेखक अनुक्रमणिका सूची तथा पृष्ठ संख्या 747 से 760 तक शब्द अनुक्रमणिका सूची वर्णित है ।

2.3. **Vedic Bibliography / R.N. Dandekar. Poona : Bhandarkar Oriental Research Institute, 1973. (Vol. - 3rd).**

यह खण्ड वैदिक वाङ्मयसूची का तृतीय खण्ड है तथा इसमें वैदिक साहित्य से सम्बन्धित प्रकाशित ग्रन्थ एवं ग्रन्थेत्तर पाठ्य सामग्रियों के प्रविष्टियों को तालिकाबद्ध करने में (1082) पृष्ठों का उपयोग हुआ है तथा खण्ड के प्रारम्भ में प्राथमिक सूचनाओं को कुल चौबीस पृष्ठों में अलग से प्रस्तुत किया गया है । इस खण्ड को सन् 1973 में प्रकाशित किया गया है।

2.4. **Vedic Bibliograhpyy . R.N. Dandekar.-Poona : Bhandarkar Oriental Research Institue, 1985. (Volume- 4rth).**

यह खण्ड इस विषय वाङ्मयसूची का अन्तिम और चौथा खण्ड है तथा इसमें वेद एवं वेद से सम्बन्धित प्रकाशित साहित्यों को संकलित कर कुल (1532) पृष्ठों में प्रविष्टियों को प्रस्तुत किया गया है । इस खण्ड के अन्त में पृष्ठ संख्या 1333 से 1396 तक लेखक अनुक्रमणिका सूची तथा 1397 से 1432 तक शब्द अनुक्रमणिका सूची संलग्न है । इस खण्ड को सन् 1985 में भण्डारकर ओरियन्टल शोध संस्थान, पूना से प्रकाशित किया गया है ।

इस प्रकार यह कृति प्राच्य भारतीय विद्या के विषय वाङ्मयसूची का एक सर्वोत्तम उदाहरण है ।

3. **Bibliography of Indology : Kolkata : National Library, 1952.**

यह राष्ट्रीय ग्रन्थालय, कोलकता की एक परियोजना के अन्तर्गत इसे 1952 में शुरू किया गया था जिसके अन्तर्गत 56 खण्डों में एक वृहत् पूर्व कापी वाङ्मय सूची को तालिकाबद्ध एवं मुद्रित करना था । विशेष रूप से भारतीय संस्कृति के एक पक्ष के प्रकाशनों के इसके प्रत्येक खण्ड में शामिल करने की योजना थी । साथ ही साथ, भारतीय संस्कृति के अन्य पक्षों को भी इसमें प्रकाशित करने की योजना थी, जो इस प्रकार निम्नवत हैं–

1. सम्बन्धित विषय की संक्षिप्त रूप रेखा तथा उसके अध्ययन के विकास का विवरण प्रदान करना ।

2. विषय से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों की सूची में सम्मिलित करना तथा उक्त ग्रन्थ किस ग्रन्थालय में उपलब्ध है उसका विवरण देना ।

3. विषय के व्यावहारिक अध्ययन हेतु-सभी सहायक सामग्रियों का जानकारी देना।

4. प्रत्येक सूचीबद्ध पुस्तक का वाङ्मयात्मक प्रविष्टि प्रस्तुत करना तथा ।

5. सन्दर्भ अनुक्रमणिका प्रस्तुत करना ।

अब तक राष्ट्रीय ग्रन्थालय, कोलकता द्वारा प्रकाशित वाङ्मयसूचियों का विवरण निम्नवत है–

Indian Anthropology–1960
Indian Botany-1961

Part I : 1964.

उपर्युक्त वाङ्मयसूचियों में ग्रन्थ एवं ग्रन्थेतर पाठ्य सामग्री के शीर्षकों को भी सम्मिलित किया गया है । संस्कृत भाषा एवं साहित्य, प्राचीन भारतीय इतिहास, मध्यकालीन भारतीय इतिहास तथा आधुनिक भारतीय इतिहास से सम्बन्धित कृतियों के संकलन का कार्य गतिशील है । आई.सी.सी. आर., नई दिल्ली द्वारा अब तक इस वाङ्मयसूची के दो खण्ड

1. Arts - 1966

2. History and Culture - 1970

मुद्रित हो चुके हैं तथा शेष खण्डों का प्रकाशन भी प्रतिक्षारत हैं ।

4.1 Annual Bibliography of Indology / Maya Malviya; Compiler.- Allahabad : Ganganath Jha Kenalriya Sanskrit Vidyapeeth, 1974. (2 Vols.)

प्रस्तुत कृति के अन्तर्गत भारतीय विद्या से सम्बन्धित प्रकाशित ग्रन्थ एवं ग्रन्थेतर पाठ्य सामग्रियों को संगठित एवं एकत्रित करके डा. गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद द्वारा भारतीय विद्या के वार्षिक वाङ्मयसूची के नाम से सन् 1969 से 1974 के मध्य दो खण्डों में प्रकाशित किया गया है । इस वाङ्मयसूची की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें भारतीय विद्या से सम्बन्धित प्रकाशित महत्वपूर्ण शोध लेखों, ग्रन्थों एवं सम्मेलन कार्यवाहियों को सम्मिलित किया गया है । इसमें प्रविष्टियों के संकलन का कार्य बहुत सावधानी पूर्वक सम्पन्न किया गया है।

लुई रेनु तथा रा. ना. दाण्डेकर द्वारा प्रकाशित वैदिक वाङ्मसूची वैदिक साहित्य के लिए उत्तम वाङ्मयसूची है । परन्तु इसी प्रकार कुरू क्षेत्र-विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित "प्राच्य ज्योति" इस क्षेत्र के शोधकर्ताओं के लिए महत्वपूर्ण सूचना स्तोत्र होते हुए प्राच्य विद्या के सभी क्षेत्रों को इसमें उचित प्रनिधित्व नहीं मिल पाया तथा कुछ वर्षों के बाद इसके प्रकाशन को बन्द कर दिया गया । फिर भी उचित समय एवं आवश्यक संसाधनों की कमी के बाद भी भारतीय विद्या के वार्षिक वाङ्मयसूची (Annual Bibliography of Indology) के प्रथम खण्ड सन् 1969 में प्रकाशित हुआ।

इस प्रकार भारतीय विद्या के इस वार्षिक वाङ्मयसूची के प्रथम खण्ड में भारत अथवा विश्व के किसी भी देश में प्राच्य भारतीय विद्या से सम्बन्धित शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध लेखों, समीक्षाएँ, टिप्पणियों एवं ग्रन्थों से सम्बन्धित सूचनों को इसमें तालिका बद्ध किया गया है । इंस कार्य हेतु कुल 253 पत्रिकाओं को उपयोग किया गया है।

वाङ्मयसूची के इस खण्ड में प्रविष्टियों को चौबीस भागों में विषयानुसार वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया गया है जबकि लेखकों अथवा ग्रन्थकारों के लिए वर्णानुक्रम में अलग से अनुक्रमणिका सूची संलग्न किया गया है । इस वाङ्मयसूची के संकलन में कुल (268) पृष्ठों का उपयोग हुआ है । इस खण्ड के अन्त में पृष्ठ संख्या 233 से 262 तक लेखक अनुक्रमणिका सूची व्यवस्थित है, जबकि पृष्ठ संख्या 263 से 268 तक शब्द अनुक्रमणिका सूची का उल्लेख किया गया है।

4.2. Annual Bibliography of Indology / Maya Malviya; Complier.-Allahabad; Ganganath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeeth, 1977. (Volume-2).

भारतीय विद्या के वार्षिक वाङ्मयसूची के इस दूसरे खण्ड में प्राच्य विद्या से सम्बन्धित प्रकाशित साहित्य के उन सामग्रियों को सम्मिलित किया गया है, जिनको प्रथम-खण्ड में शामिल करना सम्भव नहीं था । इसमें प्रविष्टियों को ग्यारह भागों में वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया गया है । इस खण्ड का कुल पृष्ठ संख्या (872) है । इसमें भारतीय विद्या के जिन विषयों के ग्रन्थों एवं ग्रन्थेत्तर पाठ्य सामग्रियों को तालिकाबद्ध किया गया है, उनका विवरण इस प्रकार निम्नवत है–पुरातत्व इतिहास एवं भूगोल; कला; बौद्धधर्म; जैनधर्म; भाषाएँ; साहित्य; दर्शनशास्त्र; धर्म एवं पौराणिक कथायें; विज्ञान; सामाजिक विज्ञान एवं स्मृति ग्रन्थों, शब्दकोशों, क्विरणपंज्जिकाओं एवं वाङ्मयसूचियों की सूचियाँ ।

Annual Bibliography of Indlogy के इस दूसरे खण्ड को डा. गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित पत्रिका के पूरक खण्ड के रूप में सन् 1976 में प्रकाशित किया गया है तथा इसी खण्ड को "The Journal of the Ganganath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeeth, Allahabad" नामकरण किया गया है । खण्ड के अन्त में पृष्ठ संख्या 769-786 तक स्मृति ग्रन्थों, शब्दकोशों, पंज्जिकाओं एवं वाङ्मयसूचियों की विस्तृत सूची, पृष्ठ संख्या 787 से 867 लेखक अनुक्रमणिका तक सामान्य अनुक्रमणिका सूची प्रस्तुत है ।

इस प्रकार यह कृति संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के अध्ययन एवं शोध में रूचि रखने वाले अध्येताओं के लिए एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ स्रोत है ।

5. बृहद हिन्दी ग्रन्थ सूची / यशपाल महाजन; सम्पादक–दिल्ली : भारतीय ग्रन्थनिकेतन, 1965 ।

भारतवर्ष में हिन्दी में प्रकाशित पाँच सौतीस प्रकाशकों की चौबीस हजार कृतियों की यह एक विस्तृत वाङ्मयसूची है तथा यह हिन्दी प्रकाशनों की एक महत्वपूर्ण

वाङ्मयसूची है। इसके अतिरिक्त हिन्दी कोष, हिन्दी साहित्य आलोचना ग्रन्थसूची, हिन्दी उपन्यासकोष तथा हिन्दी आलोचना कोष जैसे हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण वाङ्मयसूचियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

6. **हिन्दी विब्लियोग्राफी या हिन्दी साहित्य सारिणी । पीताम्बर नरायण शर्मा; सम्पादक. होशियारपुर : विश्वेश्वरानन्द इन्स्टीट्यूट, 1971-74, (दो भाग) ।**

प्रस्तुत वाङ्मयसूची में 1964 तक के हिन्दी प्रकाशनों को तालिकाबद्ध किया गया है । परन्तु वर्तमान परिवेश में यह सूची 36 वर्ष पुरानी हो चुकी है । फिर भी यह एक महत्वपूर्ण कृति है ।

7. **भारतीय साहित्य का अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोश / गंगा राम गर्ग – दिल्ली : मित्तल प्रकाशन, 1986 ।**

प्रस्तुत कृति भारतीय साहित्य का एक महत्वपूर्ण वाङ्मय सूची है तथा इसको कुल सात खण्डों में संकलित किया गया है । इसके प्रथम खण्ड के दो भागों में संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश के ग्रन्थकारों एवं उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है । साथ ही साथ उन विदेशी ग्रन्थकारों का भी उल्लेख किया गया है जिनके द्वारा भारतीय साहित्य के विकास में योगदान किया गया है ।

इसी प्रकार इसके खण्ड दो एवं तीन में तमिल एवं कन्नड़ भाषा के ग्रन्थकारों एवं ग्रन्थों से सम्बन्धित विवरण प्रस्तुत किया गया है । जबकि खण्ड चार, पाँच, छः सात में तेलगू, मलयालम, असमियाँ, गुजराती के ग्रन्थकारों एवं उनके ग्रन्थों से सम्बन्धित सूचनों का उल्लेख प्रस्तुत है ।

8. **Bibliography of Religion /Jamshedji E. Saklatwalla. Bombay : Allen Press, 1922. xviii, 142 p.**

प्रस्तुत कृति धर्मशास्त्र विषय से सम्बन्धित विषय वाङ्मयसूची का एक प्रमुख उदाहरण है तथा इसमें सन् 1922 तक के धर्मशास्त्र के प्रकाशित ग्रन्थों को तालिकाबद्ध किया गया है ।

9. **Bibliographical Survey of Adaita Vedanta and Literature / R. Thangaswami.–Madras : University of Madras, 1980. (Sanskrit Series No. 36)**

अद्वैत वेदान्त एवं प्राच्य साहित्य से सम्बन्धित यह कृति विषय वाङ्मयसूची का एक प्रमुख उदाहरण है तथा इसको मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा संस्कृत ग्रन्थमाला क्रम 36 के रूप में सन् 1980 में प्रकाशित किया गया है।

10. **The Encyclopaedia of Indian Philosophies-Bibliography of Indian Philosophies/Karl H. Potter.-Delhi : Motilal Banarasidas, 1970. (Vol. 1).**

प्रस्तुत कृति मुख्य रूप से तो दर्शनशास्त्र का एक विश्वकोश है, परन्तु इसके प्रथम खण्ड में भारतीय दर्शनशास्त्र के विभिन्न शाखाओं के सम्बन्ध में विस्तृत वाङ्मयात्मक सूचनाएँ प्रस्तुत-किये गये हैं।

11. **Bibliography of Indian Books. - Varanasi : Indian Bibliographic Centre, 1969. (Annual).**

इस वाङ्मय सूची में भारतीय विद्या से सम्बन्धित अंग्रेजी में प्रकाशित ग्रन्थों को ही सूचीकृत करके तालिकाबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है । सरकारी प्रकाशनों, बच्चों के साहित्य तथा विद्यालयों के पाठ्य ग्रन्थों को इसमें सम्मिलित करने पर बल नहीं दिया गया है। लेकिन कुछ सीमा तक सरकारी प्रलेखों के अन्तर्गत भारत सरकार के सूचना प्रसारण मंत्रालय द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों को इसमें तालिका बद्ध किया गया है ।

12. **Indological Studies and South Asia : Bibliography.-Kolkata : National Library, 1988.**

यह वाङ्मय सूची राष्ट्रीय पुस्तकाल, कोलकाता द्वारा सन् 1988 में प्रकाशित हुआ है तथा इसमें दक्षिण एशिया तथा भारतीय विद्या से सम्बन्धित राष्ट्रीय पुस्तकालय में संगृहीत ग्रन्थों पर आधारित निर्मित प्रविष्टियों को तालिकाबद्ध रूप में प्रस्तुत की गयी है ।

13. **Guide to Indian Periodical Literature.-Gurgaon, 1964.**

यह कृति हरियाणा के गुड़गाँव से भारतीय पत्रिकाओं के त्रैमासिक अनुक्रमणिकाकरण के रूप में प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ है । इसमें विशेष रूप से सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी से सम्बन्धित सामयिकियो को तालिकाबद्ध किया गया है तथा इसी के आधार पर इसका वार्षिक संचयी अंक को भी प्रकाशित किया जाता है ।

14. **Indian Periodicals in Print/H.N. D. Gandhi; Compiler.–Delhi : Vidya Mandal, 1973. (Two Volumes).**

यह ग्रन्थ भारतीय सामयिकों की विस्तृत वाङ्मय सूची है तथा भारत में प्रकाशित किये जाने वाली सभी भाषाओं एवं विषयों की कुल लगभग 16500 सामयिक पत्रिकाओं को इसके प्रथम खण्ड में सूचीबद्ध किया गया है । इसी प्रकार इसके दूसरे खण्ड में प्रकाशनों के स्थान तथा पत्र पत्रिकाओं के विषयानुसार अनुक्रमणिका सूची को व्यवस्थित क्रम में प्रस्तुत किया गया है ।

15. **A Bibliography of Sanskrit Works on Astronomy and Mathematics/ S.N. Sen et al.-New Delhi : N.C. H.S., 1966. (pt-1.).**

प्रस्तुत कृति नक्षत्र विज्ञान एवं गणित विषय से सम्बन्धित संस्कृत में प्रकाशित ग्रन्थों

की एक विषय वाङ्मयसूची है तथा इसे सन् 1966 में नई दिल्ली से प्रकाशित किया गया है । इस वाङ्मयसूची में सन् 1966 तक या इससे पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों के प्रविष्टियों को व्यवस्थित क्रम में प्रस्तुत किया गया है ।

16. **Bibliography of Alankara Sastra/Radha Vallabh Tripathi.-Delhi : Pratibha Prakashan, 2002. 64p.**

प्रस्तुत कृति संस्कृत साहित्य के विषय वाङ्मयसूची का एक प्रमुख उदाहरण है तथा इसे सन् 2000 में दिल्ली के प्रतिभा प्रकाशन से प्रकाशित किया गया है । इसमें प्रविष्टियों को प्रस्तुत करने में कुल (64) पृष्ठों का उपयोग हुआ है ।

यह कृति संस्कृत साहित्य में अध्ययन, अध्यापन एवं शोध में रूचि रखने वाले अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ स्रोत हैं ।

17. **Bibliography of Sanskrit Drama / Radha Vallabh Tripathi and Nil Kantha Das.-Delhi : Pratibha Prakashan, 1999, 72 p.**

यह कृति संस्कृत नाटकों से सम्बन्धित विषय वाङ्मयसूची का एक उदाहरण है तथा इसे सन् 1999 में दिल्ली के प्रतिभा प्रकाशन से प्रकाशित किया गया है । इसमें प्रविष्टियों के प्रस्तुतीकरण में कुल (72) पृष्ठों का उपयोग हुआ है । इसमें संस्कृत नाटकों से सम्बन्धित 1999 से पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों, शोधलेखों तथा सम्मेलनकार्यवाहियों को विशेष रूप से सम्मिलित किया गया है ।

18. **A Bibliography of Sanskrit Language and Literature / Satya Prakash; Editor.-Australia : National Library of Australia, 1927, 296 p.**

प्रस्तुत कृति संस्कृत भाषा एवं साहित्य का एक अन्तर्राष्ट्रीय विषय वाङ्मयसूची है तथा इसे सन् 1927 में अस्ट्रेलिया के राष्ट्रीय पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित किया गया है। सन् 1927 या उससे पूर्व आस्ट्रेलिया में प्रकाशित संस्कृत भाषा एवं साहित्य के ग्रन्थों से सम्बन्धित प्रविष्टियों को इस वाङ्मयसूची में व्यवस्थित क्रम में प्रस्तुत किया गया है । इसमें कुल (296) पृष्ठों का उपयोग हुआ है ।

19. **Bibliography of Nayaya Philosophy.-Kolkata : National Library, 1993.**

यह कृति न्यायदर्शन शास्त्र से सम्बन्धित विषय वाङ्मयसूची का एक प्रमुख उदाहरण है । इसमें राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकता के संस्कृत, पालि तथा प्राकृत विभाग में संगृहीत न्याय दर्शनशास्त्र के सभी ग्रन्थों का तालिकाबद्ध सूची संलग्न है । इसे राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकाता द्वारा सन 1993 में प्रकाशित किया गया है।

यह भारतीय दर्शनशास्त्र विशेषकर न्याय दर्शन के अध्येताओं के लिए एक उत्तम वाङ्मयसूची है।

20. **Bibliography of books, papers and other contributions of Dr. V. Raghavan / P.B.- Sen; Compiler.-1968, 370 p.**

21. **Malviyana : Bibliography of Pandit Madan Mohan Malviya / P.N. Kaula; Compiler.-1962, 550 p.**

22. **A Bibliography of Bibliographies/J.G. Barrows.-Michigan : Ann Arbor, 1955, 489 p.**

यह कृति वाङ्मय सूचियों की वाङ्मय सूची है तथा इसमें 15वीं सदी से लेकर 20वीं सदी तक धर्मशास्त्र के क्षेत्र की कृतियों की वाङ्मयसूचियों को सूचीबद्ध किया गया है। अनेक भाषाओं तथा इसाई धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के वाङ्मय सूचियों को भी इसमें सम्मिलित किया गया है । इसमें प्रविष्टियों का व्यवस्थापन विषय शीर्षकों तथा प्रकाशनों की तिथि के अनुसार अनुवर्णिक क्रम में प्रस्तुत किया गया है ।

23. **Introduction to the Civilization of India : South Asia : An Introductory Bibliography, 1962.**

यह भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से सम्बन्धित एक अन्तर्राष्ट्रीय विषय वाङ्मयसूची है।

24. **Bibliographies of Theses and Dissertations / Association of Indian Universityes, 1857-1986.**

25. **Bibliographies of dictionaries and encyclopaedias in Indian Languages.-Kolkata : National Library, 1964.**

26. **Bibliographie Boudhique I-xxxi. Paris.**

यह कृति बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय विषय वाङ्मयसूची का एक प्रमुख उदाहरण है तथा इसे फ्रांस की राजधानी पेरिश से प्रकाशित किया गया है । इसमें फ्रेंच भाषा में उपलब्ध बौद्ध धर्म से सम्बन्धित प्रकाशित ग्रन्थों के प्रविष्टियों को प्रस्तुत किया गया है ।

27. **Bibliography of Buddhism / Shinsho Hanayama; Editor.- Tokyo : The Hokuseiodo Press, 1961.**

प्रस्तुत कृति बौद्धधर्म से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय विषय वाङ्मयसूची का प्रमुख उदाहरण है । इस वाङ्मय सूची की मुख्य विशेषता यह है कि इसे जापान के टोकियो शहर में स्थित होकुसेडो प्रेस से सन 1961 में प्रकाशित किया गया है । इसके सम्पादक शिन्शो हानयामा हैं।

इस कृति में सन् 1961 या उससे पूर्व में प्रकाशित बौद्ध धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थों या शोध लेखों को जो अंग्रेजी भाषा में मुद्रित थे उनको संकलित करके इस अन्तर्राष्ट्रीय विषय वाङ्मयसूची को निर्मित किया गया है । इसमें बौद्धधर्म से सम्बन्धित संकलित ग्रन्थों को

विषयानुसार व्यवस्थित करके प्रविष्टियों को प्रस्तुत किया गया है । बौद्ध धर्म के अध्येताओं के लिए यह एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ स्रोत है।

10. हस्तलिखित ग्रन्थों की वाङ्मयसूची एवं विवरण पंज्जिकाएँ (Bibliographies and Descriptive Catalogues of Sanskrit and Indological Manuscripts)-

भारत वर्ष में प्राच्य भाषा एवं साहित्य की अनेक भाषाओं में पाण्डुलिपियों का विशाल भण्डार पड़ा है तथा संस्कृत, पालि एवं प्राकृत भाषा में इनकी संख्या बहुत अधिक है। प्राच्य ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से इनका बहुत अधिक महत्व है, परन्तु ये एक स्थान पर उपलब्ध न होकर अलग-अलग पूरे विश्व में बिखरे पड़े हैं । विश्व के बहुसंख्य ग्रन्थालयों में इन पाण्डुलिपियों से सम्बन्धित विस्तृत एवं संक्षिप्त वाङ्मयसूची एवं विवरण पंज्जिका निर्मित की गयी हैं, लेकिन एक संगठित संघ सूची का अब भी अभाव महसुश किया जाता है। कुछ हद तक इस क्षेत्र में अभाव को दूर करने के लिए "कैटेलॉगस कैटेलोगोरम" नामक एक विस्तृत वाङ्मयसूची को 1891 से 1903 के मध्य तीन खण्डों में प्रकाशित किया गया है। "कैटेलोगस कैटेलागोरम्" 19वीं शताब्दी के अन्ततक भारत में जिनकी विविध पाण्डुलिपियों की सूचियाँ प्रकाशित हुई उनमें उलिल्खित सभी ग्रन्थों की सर्वकष बृहतक सूची का सम्पादन करने का अपूर्व कार्य डा. थियोडोर आफ्रेट ने प्रारम्भ किया । सन 1891, 1996 और 1903 में इसके प्रथम तीन खण्ड, कैटेलोगस कैटेलागोरम के नाम सेलिपिझिंग (जर्मनी) में प्रकाशित हुए ।

इस कृति की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें भारत तथा यूरोप के ग्रन्थालयों मे उपलब्ध संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध किया गया है ।

न्यू कैटेलोगस कैटेलागोरम (New Catalogus Catalogorum)-

सन् 1935 से डा. थियोडोर आफ्रेट की सूची की सुधारित और संबंधित आवृति सम्पादित करने का कार्य डा. कुनहन राजा और डा.वी. राघवन के नेतृत्व में मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा प्रारम्भ हुआ तथा इसको न्यू कैटेलोगस कैटेलागोरम का नाम दिया गया । इस प्रकार इसके प्रथम-खण्ड का प्रकाशन-मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत सीरिज द्वारा सम्पन्न हुआ । इस प्रथम खण्ड के अन्तर्गत केवल अकारादि नामक ग्रन्थों की प्रविष्टियों को व्यवस्थित किया गया है । इस परियोजना को आगे बढ़ाते हुए अब तक कुल 19 खण्ड प्रकाशित किये जा चुके हैं ।

इसी प्रकार पोलमैन द्वारा संकलित Census of Indian Manuscripts in the United Satates and Canada, 1938 भी एक महत्वपूर्ण वाङ्मयसूची है तथा इसे कुल (542) पृष्ठों में प्रकाशित किया गया है।

Catalogus Codiceem Sanskritcorum 1864 में ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित Catalogi Codicum Manuscriptorium का आठवाँ भाग भी संस्कृत पाण्डुलिपियों के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण हस्तलिखित पाण्डुलिपियों की वाङ्मयसूची है ।

भारत तथा विश्व के अनेक देशों में संस्कृत तथा प्राच्य विद्या से सम्बन्धित शिक्षा संस्थानों, विश्वविद्यालयों, शोध-संस्थानों, ग्रन्थालयों एवं सूचना केन्द्रों द्वारा पाण्डुलिपियों की पृथक-पृथक विवरण पंजिकायें तैयार करायी गयी हैं । उदाहरणार्थ–

1. सरकारी म्यूजीयम, अलवर, राजस्थान।
2. गॉवरनमेन्ट ओरियन्टल मनुस्क्रीप्ट लाइब्रेरी, मद्रास ।
3. गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद ।
4. राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकता ।
5. डा. गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद ।
6. डा. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

यद्यपि हस्तलिखित ग्रन्थों को सूचीकृत करने का कार्य संस्कृत जगत के इतिहास में अति प्राचीन है । उन दिनों में प्राचीन राजा, महाराजाओं और मठाधिपतियों ने अपनी-अपनी पद्धति के अनुसार अपने-अपने राज्यों में हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का संचयन करवाये। मुस्लिम कालीन शासनकाल में अनेक स्थानों का विध्वंस तथा राज्य-कर्ताओं की असहिष्णुता एवं असंस्कृता के कारण हस्तलिखित ग्रन्थों के अनेक संग्रह नष्ट कर दिये गये थे । फिर भी जो संग्रह सुरक्षित बचे रहे उन सभी को सूचीबद्ध करना एक राष्ट्रीय महत्व का कार्य माना गया । संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित हस्तलिखित ग्रन्थों के संकलन, सुरक्षा एवं उपयोग हेतु प्राच्य भारतीय विद्वानों के साथ ही साथ पश्चिमी जगत के प्राच्य विद्वानों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान किये हैं। इनमें से एस. जैकोबी, व्ही. फासबोल, जॉन सी. नेसफील्ड, फ्रेडिक लेबीज जैसे प्रमुख पाश्चात्य विद्वान रहे हैं तथा इन पाश्चात्य विद्वानों द्वारा अपनायी गयी पद्धति से इस समस्त गतिविधियों को आगे बढ़ाने वाले भारतीय विद्वानों में म. म. गौरी शंकर हीरा चन्द ओझा, पं. देवीप्रसाद, डा. श्याम सुन्दर दास, डा. पिताम्बर दत्त, डा. प्रबोध चन्द्र, मुनि जिनविजय, राम शास्त्री बागची, आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री, डा. धर्मेन्द्र, पं. राधाकृष्ण, एच. आर. रंगास्वामी अय्यंगार, के. भुजबली शास्त्री, डा. रा. ना., दांडेकर, इत्यादि इन अग्रणी विद्वानों के योगदानों के महत्व को कम नहीं आंका जा सकता है ।

10.1 Catalogus Catalogorum / Theodore Aufrecht.-Germany : Leipzig : Academies of Gottingen, Lipzig, Munich and Vienna, 1903. (03 Volumes).

यह कृति संस्कृत के लेखकों एवं उनके कृतियों के अकारादि पंज्जिका के रूप में विश्व प्रसिद्ध रचना है। मुख्य रूप से यह सन् 1902 तक भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों से

सम्बन्धित प्रकाशित सूचियों एवं विवरण पंज्जिकाओं पर आधारित है तथा यह पूरे विश्व में संस्कृत साहित्य में रूचि रखने वाले पाठकों के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ स्रोत है ।

इस कृति को प्रस्तुत करने का पूरा-पूरा श्रेय डा. थियोडोर आफ्रेट को जाता है जिन्होंने अपने लगन एवं कड़ी मेहनत से इस अद्वितीय रचना को तैयार किया है। यह रचना एक प्रकार पूरे विश्व में संकलित एवं सुरक्षित भारतीय पाण्डुलिपियों से सम्बन्धित एक विस्तृत वाङ्मयसूची है, जिसे 1891 से 1903 के मध्य तीन खण्डों में प्रकाशित किया गया है। इस रचना की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें भारत तथा यूरोप के ग्रन्थालयों में संगृहीत संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के हस्तलिखित ग्रन्थों को तालिकाबद्ध किया गया है।

कैटोलोगस कैटेलागोरम (प्रथम खण्ड)- इस अन्तर्राष्ट्रीय वाङ्मयसूची के प्रथम खण्ड के संकलन में लगभग कुल तीस वर्षों का समय लगा । इस प्रथम खण्ड में विश्व के कुल (55) ग्रन्थालयों के हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण पंज्जिकाओं को सम्मिलित किया गया है जिनका विवरण इस प्रकार निम्नवत है–

1. Jones
2. Mack
3. Copenh
4. Peter
5. I.O.
6. W
7. Oxy
8. Camber
9. Paris
10. Hall
11. L
12. Khn
13. K
13. K
14. Kh
15. B
16. Report
17. Ben
18. Lgr
19. Bik
20. Tub
21. Haug
22. Katn
23. Pheh
24. Radh
25. Nw
26. Oudh
27. Np
28. Brl
29. Burnel
30. BL
31. BA
32. Gn
33. Mysore
34. Lahor
35. Bh
36. P
37. Bhk
38. Bhr
39. Poona
40. Kaein
41. Lahor
42. Bonn
43. Jac
44. H
45. Vienna.
46. Taylor
47. Oppert
48. Rice
49. Peters
50. W
51. BP
52. Buhler
53. SB
54. D
55. Suchipattra.

इन सभी विवरणपंज्जिकाओं में सूचीकृत हस्तलिखित ग्रन्थों के शीर्षकों को इस खण्ड में देवनागरी वर्णमाला के क्रम में व्यवस्थित कर पृष्ठ संख्या एक से सात सौ उनहत्तर तक प्रस्तुत किया गया है । इसी प्रकार से इसमें संशोधन एवं विस्तार (Aldidons and Corrections) को पृष्ठ संख्या 770 से 795 पर संलग्न किया गया है।

कैटेलोगस कैटेलागोरम (द्वितीय खण्ड)-

वाङ्मयसूची के इस खण्ड में भारत के विभिन्न ग्रन्थालयों में संगृहीत संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों तथा उनके ग्रन्थकारों से सम्बन्धिथ सूचनाओं को महत्वपूर्ण प्रविष्टियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक प्रविष्टी में हस्तलिखित ग्रन्थ के शीर्षक के साथ ही उसके लेखक तथा उपलब्धि स्थान का संकेत अंकित है ।

इस खण्ड में कुल बीस ग्रन्थालयों के विवरण पंज्जिकाओं को सम्मिलित किया गया है, जो कि इस प्रकार निम्नवत है–

1. ASB 2. Bhau 3. Dāji
4. BL 5. CS 6. Cuadd
7. Devipr 8. FL 9. GB
10. Gold Strucker 11. Govt. Or. Lib. Madras
12. Hz 13. I O 14. L 15. Lund
16. Oudh XX 17. Peters 18. Rgb
19. Stein 20. Ülwar 21. Weber.

इन सभी संक्षिप्तिकरण के पूर्ण विवरण इस कृति के प्रथम भाग में दिये जा चुके हैं। इस खण्ड में भी संस्कृत पाण्डुलिपि ग्रन्थों के शीर्षकों को देवनागरी वर्णमाला के क्रम में पृष्ठ संख्या 1 से पृष्ठ संख्या 185 तक प्रस्तुत किया गया है । जबकि पृष्ठ संख्या (185) से (1237) तक परिशिष्टों का उल्लेख किया गया है । तत्पश्चात अगले दो पृष्ठों में संशोधन से सम्बन्धित-सूचना अंकित है ।

कैटेलोगस कैटेलागोरम् (तृतीय खण्ड)-

तृतीय खण्ड इस वाङ्मयसूची की अन्तिम खण्ड है तथा इस खण्ड में संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचनाओं को देवनागरी के वर्णानुक्रम में व्यवस्थित कर प्रस्तुत किया गया है। निम्नलिखित उदाहरणों के माध्यम से इसे और आसानी से समझा जा सकता है–

1. Adyar Library 5. BC
2. AK 6. Bd
3. AS 7. Cr. Dr. P.
4. Ashburner 8. Edinburgh University Library.
9. HZ 10. IL 11. JL
12. LZ 13. Peters 14. Rep

15. Tb 16. F.W. Thomas

17. Tod 18. Whish.

इस कृति के तृतीय खण्ड में संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों के उन शीर्षकों को सूचीकृत किया गया है जिनको प्रथम या द्वितीय खण्ड में सम्मिलित करना सम्भव न हो सका। इसमें शीर्षकों से सम्बन्धित प्रविष्टियों को देवनागरी के वर्णानुक्रम में व्यवस्थित करके पृष्ठ संख्या एक से लेकर एक सौ उनसठ तक प्रस्तुत किया गया है । जब कि पृष्ठ संख्या (160) से (161) तक संशोधन एवं विस्तार की सूचना वर्णित है । परन्तु इसमें अंकित संशोधन एवं विस्तार के अन्तर्गत इसके तीनों खण्डों में निहित महत्वपूर्ण तथ्यों को विशेष स्थान दिया गया है ।

इस प्रकार यह कृति भारतीय हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों से सम्बन्धित विभिन्न सूचनाओं को उपलब्ध कराने में केवल भारत में ही नहीं अपितु पूरे विश्व में एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय वाङ्मयसूची के रूप में विख्यात है।

10.2. The new catalogus catalogorum : An Alfabetical Register of Sanskrit and Allied Works and Authors/V. Raghavan.-Madras : University of Madras, 1949. (Ninteen Volumes).

"न्यू कैटेलोगस कैटेलागोरम" पूर्व में डा. थियोडोर द्वारा प्रकाशित कैटेलोगस कैटेलागोरम की सुधारित और संवर्धित स्वरूप है । सन् 1935 से इसे सम्पादित करने का कार्य मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रो. कुनहन राजा एवं प्रो. वी. राधवन के नेतृत्व में प्रारम्भ हुआ तथा इसके प्रथम खण्ड को मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत सीरिज के रूप में प्रकाशित किया गया । इस प्रथम खण्ड में केवल अकरादि नामक ग्रन्थों की प्रविष्टियों को व्यवस्थित क्रम में प्रस्तुत किया गया है । इस परियोजना के अन्तर्गत अब तक कुल उन्निस खण्डों को प्रकाशित किया जा चुका है ।

इस प्रकार इस वाङ्मय सूची के कुल तेरह खण्डों को सन् 1949 से लेकर सन् 1991 तक प्रकाशित किया जा चुका है जबकि शेष छ खण्डों सन् 1991 के पश्चात् प्रकाशित किया गया है। इसके प्रथम खण्ड में निर्मित प्रविष्टियों के अन्तर्गत 'अ' से प्रारम्भ होकर 'आ' से समाप्त होने वाले हस्तलिखित ग्रन्थों के शीर्षकों को सम्मिलित करके वर्णानुक्रम में उनको व्यवस्थित किया गया है।

प्रथम खण्ड से लेकर उन्निसवें खण्ड के हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के व्यवस्थित क्रम को निम्न तालिका के माध्यम से असानी से समझा जा सकता है–

खण्ड	अक्षर क्रम	पृष्ठ सं.	वर्ष	सम्पादक
1.	अ-आ	380	1949	डा. वी. राघवन
2.	आ-उ	415	1966	,,

3.	उ-क	398	1967	,,
4.	का-कृ	374	1968	,,
5.	कृ-गा	359	1969	,,
6.	गा-च	412	1971	आ.के. कुन्जुन्नी राजा
7.	चा-ञ	389	1973	,,
8.	ट-द	371	1974	,,
9.	दा- न	419	1977	,,
10.	ना-न्वा	317	1978	,,
11.	प - प	220	1983	,,
12.	पा - प्र	308	1988	डा.एन. विजीनाथन
13.	प्र - बा	316	1991	,,

इसी प्रकार इसके शेष खण्डों में 'बा' से लेकर 'ज्ञ' अक्षर के हस्त लिखित ग्रन्थों के शीर्षकों को वर्णानुक्रम में व्यवस्थित कर सम्बन्धित सूचनाओं को प्रस्तुत किया गया है। इसके उपयोग कर्ताओं द्वारा इसके उपयोग के समय अधिक असुविधा न हो इसकेलिए इस वाङ्मय सूची का पूरक खण्ड भी प्रकाशित किया गया है । इस पूरक खण्ड को मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा सन 1984 में प्रकाशित किया गया है।

इस पूरक खण्ड के अन्तर्गत ABN से लेकर YELLAPPA के शब्दक्रम को वर्णनानुक्रम में सूचीकृत किया गया है । ABN से लेकर YELLAPPA के शब्दक्रम भारत तथा विश्व के विभिन्न ग्रन्थालयों में संगृहीत संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण पंजिकाओं का संक्षिप्त रूप हैं ।

इसके अतिरिक्त इसमें विषय अनुक्रमणिकासूची, प्रकाशन-विवरण, ग्रन्थमाला, प्रकाशन स्थानों, संस्थाओं तथा संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित पत्रिकाओं से सम्बन्धित विस्तृत सूची संलग्न है ।

अतः यह रचना निश्चित रूप से संस्कृत के अध्येताओं के लिए एक सर्वोत्तम सन्दर्भ स्रोत हैं ।

11. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरणपंजिका का संक्षिप्त परिचय-

वर्तमान संस्कृत विश्वविद्यालय का सरस्वती भवन ग्रन्थालय संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के संग्रह के लिए केवल भारत में नहीं अपितु पूरे विश्व में

विख्यात है क्योंकि कुल संगृहीत पाण्डुलिपियों की संख्या 1,11,132 है जिनको सन् 1791 से लेकर 1950 तक देश के विभिन्न भागों से संस्कृत के कर्मठ तथा मूर्धन्य विद्वानों ने स्वयं जा जाकर सर्वेक्षण एवं संग्रह कराया है ।

इस प्रकार सरस्वती भवन ग्रन्थालय में कुल 1,11,132 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ संगृहीत हैं। इन पाण्डुलिपियों के अधिकाधिक उपयोग हेतु एक बहुखण्डीय संस्कृत ग्रन्थानाम हस्तलिखित विवरण पंजिका को तेरह खण्ड तथा इकतीस भागों में प्रकाशित किये जा चुके हैं। इन विवरण पंज्जिकाओं में कुछ खण्डों के चार भाग, कुछ के तीन भाग, कुछ के दो भाग तथा खण्ड दस एवं तेरह एक खण्डीय विवरण पंज्जिका है । इन विवरण-पंज्जिकाओं में हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध करने के लिए कुल बारह विन्दुओं को आधार बनाया गया है जिनका विवरण इस प्रकार निम्नवत है–

क्रम संख्या;आख्या या शीर्षक; लेखक या टीकाकार; पत्रसंख्या विवरण; आकार; पंक्ति संख्या; अक्षर संख्या, पाण्डुलिपिकी स्थिति; आधार, लिपिकाल; पूर्ण । अपूर्ण विवरण एवं विशेष टिप्पणी ।

इसमें प्रत्येक हस्तलिखित ग्रन्थ को कुल बारह विन्दुओं में बाँटकर उनका परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। क्रम सं., आख्या या शीर्षक खाने में हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का शीर्षक केवल संस्कृत में ही वर्णित हैं, जबकि अन्य खानों में सूचनाएँ हिन्दी में भी अंकित है, लेकिन-अंतिम खाना "विशेष विवरण" के अन्तर्गथ उपलब्ध सूचना संस्कृत भाषा में ही उल्लिखित हैं । इन इकतीस भागों में सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत समस्त हस्तलिखित ग्रन्थों को विषयानुसार व्यवस्थित करके निम्नवत क्रम में प्रकाशित किया गया है–

विषय	खण्ड/भाग
1. वेद, उपनिषद्	1/4
2. कर्म काण्ड	2/4
3. धर्मशास्त्र	3/2
4. पुराणेतिहास और गीता	4/2
5. स्तोत्र साहित्य	5/4
6. तन्त्र शास्त्र	6/3
7. सांख्ययोग, पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त दर्शन	7/2
8. न्याय-वैशेषिक दर्शन	8/2
9. ज्योतिषशास्त्र	9/2
10. व्याकरण शास्त्र	10./1

11. साहित्यशास्त्र 11/2
12. जैन दर्शन, भक्ति सम्प्रदाय,
    आयुर्वेद, कामशास्त्र आदि 12/2
13. वेद, कर्मकाण्ड, धर्मशास्त्र,
    तथा पुराणेतिहास 13/1

संस्कृत हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के विवरणपंज्जिकाओं का खण्ड एवं भाग नुसार विस्तृत विवेचन--

1. संस्कृत ग्रन्थानाम हस्तलिखित विवरणपंज्जिका (खण्ड-1, भाग-1)

इस विवरणपंज्जिका में सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत वेद एवं उपनिषद के कुल (4443) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत है। इसमें कुल (406) पृष्ठों का उपयोग किया गया है तथा इस भाग का मूल्य रू. 230/-मात्र है ।

2. विवरणपंज्जिका (खण्ड-1, भाग-2)

इस भाग के अन्तर्गत सरस्वती भवन में संगृहीत वेद एवं उपनिषद से सम्बन्धित कुल (1184) हस्तलिखित ग्रन्थों के सम्बन्ध में परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है तथा इस प्रथम खण्ड के द्वितीय भाग के अन्त में प्रथम खण्ड के प्रथम भाग तथा द्वितीय भाग दोनों में तालिकाबद्ध पाण्डुलिपियों से सम्बन्धित आख्या अनुक्रमणिका को अकारादि क्रम में व्यवस्थित किया गया है।

3. विवरणपंज्जिका (खण्ड-1, भाग-3)

प्रथम खण्ड के इस तीसरे भाग में सरस्वती भवन में संगृहीत वेदशास्त्र के कुल (3465) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण उपलब्ध कराया गया है तथा इसके संकलन में कुल 360 पृष्ठों का उपयोग किया गया है। यह सुपर रायल आकार में प्रकाशित किया गया है तथा इसका मूल्य रूप 56=00 मात्र है ।

4. विवरणपंज्जिका (खण्ड-1, भाग-4)

यह भाग प्रथम खण्ड का अन्तिम भाग है तथा इसके अन्तर्गत सरस्वती भवन में संगृहीत वेदशास्त्र के उन पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिनको पूर्व के तीन भागों में स्थान नहीं मिल पाया था । इन पाण्डुलिपियों की कुल संख्या (2792) है तथा इसका मूल्य रू. 54=00 है । इसमें कुल 356 पृष्ठों का उपयोग किया गया है।

प्रथमखण्ड के दूसरे भाग के समान ही इस भाग में तृतीय एवं चतुर्थ भाग के अन्तर्गत सूचीबद्ध पाण्डुलिपियों के शीर्षकों का आकारादि क्रम से अनुक्रमणिका सूची संलग्न है ।

5. विवरणपंज्जिका (खण्ड-2, भाग-1)

सरस्वती भवन में संगृहीत कर्मकाण्ड के पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण इस भाग में उलिल्खित है । इसमें संकलित पाण्डुलिपियों की संख्या (3365) है तथा इसके संकलन में कुल 306 पृष्ठों का उपयोग किया गया है । इसका मूल्य रू.-200/= निर्धारित है ।

6. विवरणपंज्जिका (खण्ड-2, भाग-2)

विवरण पंज्जिका के इस भाग में सरस्वती भवन में संगृहित कर्मकाण्ड विषय के कुल (1703) पाण्डुलिपियों के परिचयात्मक विवरणों का उल्लेख किया है तथा इसमें कुल 220 पृष्ठों का प्रयोग हुआ है तथा इस भाग का मूल्य रू. 150/- है । इसके अन्त में प्रथम तथा इसमें संकलित पाण्डुलिपियों का आख्यानुसार अकारादि क्रम में अनुक्रमणिका भी संलग्न है ।

7. विवरणपंज्जिका (खण्ड-2, भाग-3)

इस भाग में भी कर्मकाण्ड विषय के पाण्डुलिपियों का ही परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत है । इसके संकलन में कुल 384 पृष्ठों को उपयोग किया गया है तथा इसका मूल्य रू. 60=00 है इसमें कुल पाण्डुलिपियों की संख्या (4259) है ।

8. विवरणपंज्जिका (खण्ड -2, भाग-4)

इस खण्ड दो के अन्तिम भाग चार में कर्मकाण्ड विषय से सम्बन्धित पाण्डुलियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें संकलित पाण्डुलिपियों की कुल संख्या (4494) है । इसके अन्त में भाग तीन एवं इसमें उल्लिखित पाण्डुलिपियों के शीर्षकों के अनुसार अकारादि क्रम में अनुक्रमणिका सूची का भी उल्लेख किया गया है । इसमें कुल पृष्ठों की संख्या 400 है तथा इसका मूल्य रू. 70=00 है ।

9. विवरणपंज्जिका (खण्ड-3, भाग-1)

इस विवरण पंजिका के प्रथम भाग में सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत धर्मशास्त्र विषय के पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण अंकित है तथा इसमें कुल-पाण्डुलपियों की संख्या-(2432) है। इसके संकलन में कुल 256 पृष्ठों का उपयोग किया गया है। इसका द्वितीय संस्करण अभी यन्त्रस्थ है ।

10. विवरणपंज्जिका (खण्ड-3, भाग-2)

सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत धर्मशास्त्र विषय से सम्बन्धित हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण अंकित है तथा खण्ड तीन एवं इसमें तालिकाबद्ध सभी हस्तलिखित ग्रन्थों को उनके शीर्षकों के आधार पर अकारादि क्रम में अनुक्रमणिका भी प्रस्तुत है । इसमें तालिकाबद्ध पाण्डुलिपियों की कुल संख्या (2659) है तथा इसमें कुल 320 पृष्ठों का उपयोग किया गया है । इस भाग का मूल्य रू. 60=00 है ।

11. विवरणपंजिका (खण्ड-4, भाग-1)

यह विवरण पंजिका चतुर्थ खण्ड का प्रथम भाग है तथा इसमें सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत पुराणेतिहास एवं गीता के हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें तालिकाबद्ध पाण्डुलिपियों की संख्या (3105) है तथा इसके संकलन में कुल 326 पृष्ठों का उपयोग किया गया है। तथा इसका मूल्य मात्र रू. 6=25 है । इस भाग के अन्त में इसमें संकलित पाण्डुलिपियों का उनके शीर्षकों के अनुसार वर्णानुक्रम में अनुक्रमणिका सूची भी व्यवस्थित है ।

12. विवरणपंज्जिका (खण्ड-4, भाग-2)

इस भाग में सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत पुराणेतिहास एवं गीता के शेष पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध करके उनका परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस भाग की कुल पृष्ठ संख्या 472 है तथा इसका मूल्य रू. 70=00 है ।

इस भाग में तालिकाबद्ध पुराणेतिहास एवं गीता से सम्बन्धित कुल पाण्डुलिपियों की संख्या (4078) है तथा इसके अंतिम भाग में संकलित पाण्डुलिपि को उनको शीर्षकों के आधार पर वर्णानुक्रम में अनुक्रमणिका भी संलग्न है । इसका जिल्दबन्दी बहुत मजबूत हैं तथा यह सुपर रायल आकार का है ।

13. विवरणपंज्जिका (खण्ड - 5, भाग-1)

यह विवरण पंजिका खण्ड पंचम का प्रथम भाग है तथा इसमें सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत स्तोत्रों के कुल (3552) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत है । इस भाग के संकलन में कुल 320 पृष्ठों का उपयोग किया गया है तथा इसका मूल्य रू. 7=25 है ।

14. विवरणपंज्जिका (खण्ड - 5, भाग-2)

इस पंचम खण्ड के भाग दो में भी सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत स्तोत्र के हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध किया गया है तथा प्रत्येक पाण्डुलिपि का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस भाग में स्तोत्र के कुल (2950) हस्तलिखित ग्रन्थों को संकलित किया गया है । इस विवरण पंज्जिका के अन्त में भाग एक एवं इसमें शामिल किये गये पाण्डुलिपियों के शीर्षकों के अनुसार-वर्णानुक्रम में पृष्ठ संख्या 1 से 58 तक अनुक्रमणिका भी प्रस्तुत है । इसमें कुल 318 पृष्ठों का उपयोग हुआ है तथा इसका मूल्य भी मात्र रू 7= 25 है ।

15. विवरणपंज्जिका (खण्ड - 5, भाग-3)

पंचम खण्ड के इस तृतीय भाग में सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत (4940) स्तोत्र के हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचययात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है । इन

सभी पाण्डुलिपियों के परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करने में इसमें कुल 488 पृष्ठों का उपयोग हुआ है तथा इसका मूल्य रू. 72 = 00 है ।

16. विवरणपंज्जिका (खण्ड - 5 , भाग - 4)

यह भाग विवरण पंज्जिका के पंचम खण्ड का अन्तिम भाग है तथा इसमें स्तोत्र के शेष हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत है। इसमें कुल (3017) पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध किया गया है । इस भाग के अन्त में भाग तीन एवं इसमें सूचीबद्ध पाण्डुलिपियों को उनके शीर्षकों के आधार पर वर्णानुक्रम में पृष्ठ संख्या 01 से लेकर 88 अनुक्रमणिका भी व्यवस्थित है। इसमें कुल 392 पृष्ठ हैं तथा इसका मूल्य रू. 72=00 है ।

17. विवरणपंज्जिका (खण्ड-6 , भाग-1)

विवरण पंज्जिका के इस भाग में सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत-तन्त्रशास्त्र विषय से सम्बन्धित हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण अंकित है तथा इस प्रथम भाग में तन्त्रशास्त्र के कुल (2862) पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध किया गया है तथा इस भाग में इन (2862) पाण्डुलिपियों के शीर्षक के आधार पर वर्णानुक्रम में पृष्ठ संख्या 01 से 42 तक अनुक्रमणिका भी संलग्न है । इस भाग का कुल पृष्ठ संख्या 298 है तथा इसका मूल्य रू. 180/=00 है ।

18. विवरणपंज्जिका (खण्ड 6 , भाग - 2)

प्रस्तुत विवरण पंज्जिका खण्ड 6 का दूसरा भाग है तथा इसमें तन्त्रशास्त्र के कुल (3849) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत है तथा इसमें (3849) पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध करने में कुल 252 पृष्ठों का उपयोग हुआ है । इस भाग का मूल्य रू. 50=00 मात्र है ।

19. विवरणपंज्जिका (खण्ड-6 , भाग-3)

प्रस्तुत विवरण पंज्जिका खण्ड-6 का तृतीय भाग है तथा इसमें सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत तन्त्रशास्त्र से सम्बन्धित कुल (2336) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत है । इस भाग के अन्त में इसमें तथा दूसरे भाग में तालिकाबद्ध कुल हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के शीर्षकों के अनुसार वर्णानुक्रम में पृष्ठ संख्या 1 से 93 तक अनुक्रमणिका व्यवस्थित है । इस भाग का कुल पृष्ठ संख्या (344) है तथा इसका मूल्य रू. 64=00 मात्र है ।

20. विवरणपंज्जिका (खण्ड 7 , भाग - 1)

प्रस्तुत विवरण पंज्जिका खण्ड सप्तम का प्रथम भाग है तथा इसमें सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत तीन विषयों वेदान्त दर्शन, मीमांसा तथा सांख्ययोग के पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है । इस भाग में कुल 366 पृष्ठों का उपयोग हुआ है तथा इसका मूल्य रू. 70=00 मात्र है ।

इस विवरण पंज्जिका के अन्त में इसमें संकलित तीनों विषयों के पाण्डुलिपियों को उनके शीर्षकों के आधार पर वर्णानुक्रम में पृष्ठ संख्या, (1-23, 24-29 तथा 30-33) तक अनुक्रमणिका सूची भी प्रस्तुत है । इस प्रकार इस भाग में कुल (3540) पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध किया गया है।

21. विवरणपंज्जिका (खण्ड-7, भाग - 2)

यह सूची खण्ड सप्तम का दूसरा भाग है तथा इसमें सरस्वती भवन ग्रन्थालय के मीमांसा दर्शन एवं वेदान्त दर्शन के शेष हस्तलिखित ग्रन्थों का परिचयात्मक विवरण अंकित है। इसमें कुल (2597) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध किया गया है तथा उनके परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत करने में कुल (264) पृष्ठों का उपयोग किया गया है।

इस भाग के अन्त में इसमें सूचीबद्ध पाण्डुलिपियों के शीर्षकों के आधार पर वर्णानुक्रम में पृष्ठ सं. (1-21) वेदान्त दर्शन तथा (23-26) तक मीमांसा दर्शन से सम्बन्धित अनुक्रमणिका को व्यवस्थित किया गया है। इस भाग का मूल्य रू. 50/= मात्र है।

22. विवरणपंज्जिका (खण्ड - 8, भाग - 1)

यह विवरण पंज्जिका आठवाँ खण्ड का प्रथम भाग है तथा इसमें सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत न्याय-वैशेषिक-दर्शन से सम्बन्धित हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत है । इसमें कुल (4146) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के शीर्षकों के आधार पर वर्णानुक्रम में निर्मित अनुक्रमणिका सूची पृष्ठ संख्या (1-28) पर वर्णित है।

23. विवरणपंज्जिका (खण्ड-8, भाग-2)

प्रस्तुत विवरण पंज्जिका खण्ड आठ का द्वितीय भाग है तथा इसमें न्याय-वैशेषिक दर्शन के कुल (4023) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है । पाण्डुलिपियों के शीर्षकों के आधार पर इस भाग के अन्त में वर्णानुक्रम में पृष्ठ संख्या (348-365) पर अनुक्रमणिका सूची संलग्न है । इसमें कुल पृष्ठों की संख्या 372 है तथा इसका मूल्य रू. 224=00 है ।

24 विवरणपंज्जिका (खण्ड - 9, भाग-1)

प्रस्तुत विवरण पंज्जिका नवमखण्ड भाग एक में सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत ज्योतिष शास्त्र के कुल (3641) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण का उल्लेख किया गया है । इस भाग में ज्योतिषशास्त्र के इन हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध करने में कुल (374) पृष्ठों का उपयोग किया गया है ।

इस भाग के अन्त में इसमें संकलित पाण्डुलिपियों के शीर्षकों के आधार पर वर्णानुक्रम में निर्मित अनुक्रमणिका सूची पृष्ठ संख्या 1 से लेकर 36 पर संलग्न है । इसे सन् 1963 में प्रकाशित किया गया है।

25. विवरणपंज्जिका (खण्ड-9, भाग-2)

विवरणपंजिका के इस भाग में भी सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत ज्योतिष शास्त्र के शेष हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है । इसमें ज्योतिशशास्त्र के कुल (3781) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध किया गया है। इसमें कुल पृष्ठों की संख्या 400 है तथा इसका मूल्य रू. 66=00 मात्र है ।

इस भाग के अन्त में इसमें संकलित पाण्डुलिपियों के शीर्षकों के आधार पर वर्णानुक्रम में पृष्ठ संख्या 1 से 11 पर अनुक्रमणिका सूची को संलग्न किया गया है तथा इस भाग को सन् 1992 में प्रकाशित किया गया है ।

26. विवरणपंज्जिका (खण्ड -10)

प्रस्तुत हस्तलिखित विवरण पंज्जिका दशम खण्ड है तथा यह एक खण्डीय विवरण पंज्जिका है । इस दशम खण्ड में सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत व्याकरण शास्त्र के हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण अंकित है। इस खण्ड में व्याकरणशास्त्र के कुल (2521) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध किया गया है तथा इसे सन् 1964 में प्रकाशित किया गया है । इसके संकलन में कुल (260) पृष्ठों का उपयोग किया गया है।

इस खण्ड के अन्त में इसमें तालिकाबद्ध पाण्डुलिपियों के शीर्षकों को वर्णानुक्रम में व्यवस्थित कर पृष्ठ संख्या एक से लेकर अठारह तक अनुक्रमणिका सूची संलग्न है ।

27. विवरणपंज्जिका खण्ड-11 भाग-1)

प्रस्तुत विवरण पंज्जिका एकादश खण्ड का प्रथम भाग है तथा इसमें सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत साहित्य शास्त्र के संस्कृत हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरणों का उल्लेख किया गया है । इस भाग में तालिकाबद्ध पाण्डुलिपियों की संख्या कुल (3816) है तथा इसके अन्त में वर्णानुक्रम में इनमें संकलित पाण्डुलिपियों के शीर्षकों के आधार पर पृष्ठ संख्या 1 से 25, 26-28 तथा 29 से 30 तक साहित्य ग्रन्थ अनुक्रमणिका सूची, कोश ग्रन्थ अनुक्रमणिका सूची तथा छन्दोग्रन्थ अनुक्रमणिका सूची भी संलग्न है ।

इस भाग के संकलन में कुल 394 पृष्ठों का उपयोग हुआ है तथा इसे सन् 1964 में प्रकाशित किया गया है ।

28. विवरणपंज्जिका (खण्ड - 11 भाग्य-2)

यह विवरण पंज्जिका एकादश खण्ड का दूसरा भाग है । इस भाग में सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत साहित्य शास्त्र के शेष हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को तालिका बद्ध करके उनके सम्बन्ध में परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है । इसमें संकलित कुल पाण्डुलिपियों की संख्या (3406) है तथा इस भाग को सन् 1996 में प्रकाशित किया गया

है। इसके संकलन में कुल (324) पृष्ठों का उपयोग किया गया है । यह विवरण पंज्जिका भी सुपर रायल आकार में प्रकाशित है तथा इसका मूल्य रू. 200/=00 मात्र है ।

प्रथम भाग के समान ही इस भाग के अन्त में इसमें संकलित संस्कृत साहित्यशास्त्र के हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के शीर्षकों के आधार पर वर्णानुक्रम में पृष्ठ संख्या (297) से लेकर (317) तक अनुक्रमणिका सूची संलग्न है।

29. विवरणपंज्जिका (खण्ड-12, भाग1)

प्रस्तुत भाग विवरणपंज्जिका के बारहवें खण्ड का प्रथम भाग है तथा इसमें सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत प्राच्य भारतीय विद्या के विभिन्न विषयों जैसे जैन दर्शन, भक्ति सम्प्रदाय, आयुर्वेद, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र संगीत शास्त्र, नीतिशास्त्र, धनुर्वेद विद्या, पंजी ग्रन्थ, प्रशस्ति ग्रन्थ, चित्र ग्रन्थ तथा देशी भाषाओं के हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचयात्मक विवरण है । इसमें संकलित कुल पाण्डुलिपि ग्रन्थों की संख्या (1650) है। इस भाग को सन् 1965 में प्रकाशित किया गया है तथा इसमें कुल (334).पृष्ठों का उपयोग हुआ है । इस भाग का मूल्य रू. 8=00 मात्र है ।

इस भाग के अन्त में इसमें संकलित हस्तलिखित ग्रन्थों के शीर्षकों के आधार पर वर्णानुक्रम में निर्मित आनुक्रमणिका सूची पृष्ठ संख्या एक से लेकर सैतालीस तक व्यवस्थित है। इस भाग का मूल्य रू. 8=00 मात्र है ।

30. विवरणपंज्जिका (खण्ड-12, भाग-2)

इस भाग में भी सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत प्राच्य भारतीय विद्या से सम्बन्धित विभिन्न विषयों जैसे–जैन दर्शन, भक्ति सम्प्रदाय, आयुर्वेद, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, संगीतशास्त्र नीतिशास्त्र, धनुर्वेद विद्या, पंजीग्रन्थ, प्रशस्तिग्रन्थ, चित्र ग्रन्थ तथा देशी भाषाओं के शेष हस्तलिखित पाण्डुलिपि ग्रन्थों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है । इसके संकलन में कुल (368) पृष्ठों का उपयोग हुआ है तथा इस भाग का मूल्य रू. 200=00 मात्र है । इसको सन् 1996 में प्रकाशित किया गया है ।

इस भाग के अन्त में इसमें संकलित कुल (3323) हस्तालिखित पाण्डुलिपियों में शीर्षकों को वर्णानुक्रम में व्यवस्थित कर पृष्ठ संख्या 232 से 360 पर अनुक्रमणिका सूची संलग्न है ।

31. विवरणपंज्जिका (खण्ड-13)

प्रस्तुत विवरणपंज्जिका सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण पंज्जिका का अन्तिम खण्ड है तथा इसमें प्राच्य भारतीय विद्या के कुल एक्कीस विषयों के कुल (5264) हस्तलिखित ग्रन्थों का परिचयात्मक विवरण अंकित है। एक प्रकार से यह क्रमिक विवरण पंज्जिका का पूरक खण्ड है । इस खण्ड की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके 20वें अध्याय में प्रकीर्णग्रन्थों की सूची के अन्तर्गत कुल सतरह हस्तलिखित ग्रन्थ सूची, पुस्तक सूची अथवा प्रकीर्णपत्रों को तालिका बद्ध किया गया है जो

पुस्तकालय एवं सूचना विज्ञान में संस्कृत माध्यम से शोध अथवा अध्ययन में रूचि रखने वाले अध्येताओं के लिए बहुत उपयोगी है।

इस खण्ड के अन्त में इसमें संकलित हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के शीर्षकों को वर्णानुक्रम में व्यवस्थित कर पृष्ठ संख्या एक से लेकर एकहत्तर तक वर्णित है । इस खण्ड को सन् 1987 में प्रकाशित किया गया है तथा इसका मूल्य रू.76 = 00 मात्र है । यह खण्ड भी पहले के सभी भागों की तरह सुपर रायल आकार में प्रकाशित है ।

12. अन्य ग्रन्थालयों एवं शोध संस्थानों में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों की विवरणपंज्जिकायें–

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत संस्कृत पाण्डुलिपियों के लिए जिस तरह से विस्तृत विवरणपंज्जिका निर्मित किया गया है ठीक वैसे ही भारत के अन्य संस्कृत संस्थानों एवं ग्रन्थालयों में संगृहीत पाण्डुलिपियों हेतु एक खण्डीय से लेकर बहु खण्डीय तक अनेक विवरण-पंज्जिकाओं को निर्मित किया जा चुका है जिनका विवरण इस प्रकार निम्नवत है–

1. हस्तलेख संस्कृत ग्रन्थ विवरण / विराज मोहन एवं जगदीशचन्द्र; सम्पादक- कलकत्ता : संस्कृत कालेज, 1963, 144 पृ.।

2. हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थ सूची । नागरी प्रचारिणी सभा.-वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा.-वाराणसी : नागरी प्रचारिणी सभा, 1974। (चार खण्डों में) ।

3. संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थ सूची/भुवनेश्वरी पीठ.-गोंडल : भवनेश्वरी पीठ, 1960, 120 पृ. ।

4. नेपाल राजकीय वीर पुस्तकालय, काठमाण्डू हस्तलिखित पुस्तकनाम वृहत् सूचीपत्रम्, 2018 वि.सं. (1960-64) (नौ खण्डों में) ।

5. प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण / बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् - पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1958. (चार भागों में) ।

6. दरभंगाराज - हस्तलिखित ग्रन्थनाम सूचीपत्रम । कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय - दरभंगा : का.सि.सं. वि.वि., 1969, xv; 175 p.

7. Descriptive Catalogue of Manuscripts.-Poona : Bhandarkar Oriental Research Institute, 1949. (19 Volumes).

8. Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in Central Library of Mumbai University, 1944, 877 p.

9. Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts/Ambalal P. Shah; Editor.–Ahmedabad : L.D. Institute of Indology, 1963. (4 Vols.)

10. Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the collection of Sanskrit College of Calcutta, 1963. (2 Volumes).

11. Descriptive Catalogues of Sanskrit Inscriptions/Pushendra Kumar.-Delhi : Nag Publishers, 1998. (Seven Volumes).

12. Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Deccan College Post-graduate and Research Institute. Poona : Deccan College, 1964. (Multi Volumes)

13. Descriptive Catalogue Sanskrit Manuscripts of Gujarat Vidya-Shabha Collection.-Gujarat : Gujarat Vidyasabha, 1964. (2 Vols.).

14. Descriptive Cotalogue of Sanskrit Manuscripts in the Osmaniya University Library.-Hyderabad : Sanskrit Academy, 1964. 328 p.

15. Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Rajsthan Orietal Research Institute.-Jodhpur, 1973 (2 Vols.)

16. Catalogue of Printed Books and Manuscripts in Sanskrit belonging to Central Library of Ariatic Society of Bengal. Calcutta. Baptist Mission, Press, 1904. (Multi volumes).

17. A Catalogue of Manuscripts in Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad.-Lucknow. (Multi Volumes).

18. Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts of the Adyar Library and Research Centre.-Madras : Adyar Library and Research Centre, 1968. (Multi Volumes).

विशेषकर इस हस्तलिखित विवरणपंज्जिका में पाण्डुलिपियों की तालिका बद्ध सूची प्रस्तुत करने के लिए कुल तेरह विन्दुओं को उपयोग में लाया गया है जिनका विवरण निम्नवत है–क्रम संख्या / आगम संख्या; शीर्षक; लेखक; टीकाकार; आधार; लिपि; आकार; पत्र संख्या विवरण; पंक्ति संख्या; अक्षर संख्या; विस्तार; स्थिति एवं आयु तथा अतिरिक्त विवरण के आधार पर प्रत्येक पाण्डुलिपि से सम्बन्धित सूचना को अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

19. अखिल भारतीय संस्कृत परिषद, लखनऊ के हस्तलिखित विवरण पंज्जिका :

इस पंज्जिका संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के कुल उन्निस विषयों के हस्तलिखित पाण्डुलिपियों से सम्बन्धित परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है । इस विवरण पंज्जिका में प्रत्येक पाण्डुलिपि के शीर्षकों को अंग्रेजी के साथ ही साथ संस्कृत अथवा हिन्दी में भी प्रस्तुत किया गया है । इसी प्रकार इसके अन्तिम खाने अतिरिक्त विवरण वाले स्तम्भ में अंकित सूचना को हिन्दी एवं अंग्रेजी में प्रस्तुत किया गया है।

इस विवरण पंज्जिका में भी हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को तालिकाबद्ध करने के लिए कुल चौदह विन्दुओं का उपयोग किया गया है जो इस प्रकार निम्न हैं–

1. क्रम संख्या एवं विषय; 7. लिपि

2. आगम संख्या; 8. आकार

3. शीर्षक;
4. लेखक;
5. टीकाकार;
6. आधार;
9. पत्र संख्या विवरण
10. पक्ति संख्या
11. अक्षर संख्या
12. विस्तार
13. स्थिति एवं आयु
14. अतिरिक्त विवरण ।

इसके प्रत्येक खण्ड के अन्त में लेखक एवं आख्या अनुक्रमणिका का उल्लेख किया गया है ।

20. प्राचीन भारतीय लिपिमाला (The Palacography of India) / राय बहादुर पं. गौरी शंकर हीराचन्द ओझा.–नई दिल्ली : मुंशीराम मनोहर, 1894, तृतीय पुर्नसंस्करण 1971, 1994 LXXVP.

यह कृति संस्कृत साहित्य एवं भारतीय प्राच्य विद्या का एक अमूल्य निधि है, क्योंकि प्राचीनकालीन भारत के गौरवशाली तथा शृंखलाबद्ध इतिहास के सम्बन्ध में इसके माध्यम से पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । इसवी सन् 1784 में सर विलियम जोन्स के नेतृत्व में कलकत्ता में ऐशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल नाम के समाज के स्थापना काल से ही इतिहास, शिल्प तथा साहित्य आदि के शोध के लिए सही अन्वेषण प्रारम्भ हुआ ।

इस ग्रन्थ की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें भारत वर्ष में लिखने की प्रचार की प्राचिनता से लेकर लेखन सामग्री के तक के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाओं को प्रस्तुत किया गया है । इसके साथ ही साथ इसमें प्राचीन काल से भारत में प्रचलित कुल पन्द्रह लिपियों, चौंतीस भारतीय संवतों तथा चौरासी लिपिपत्रों का भी उल्लेख किया गया है ।

इस कृति के संकलन में कुल (284) पृष्ठों का उपयोग हुआ है जिसमें पृष्ठ संख्या 199 के बाद 1 से 85 पृष्ठों पर लिपिपत्रों से सम्बन्धित सारणी संलग्न हैं। इन लिपिपत्रों में दिये हुए अक्षरो तथा अंकों का समय निर्णय करने में जिन लेखादि में निश्चित संवत मिले उनके तो वही संवत दिये गये हैं, परन्तु जिनमें संवत का कोई उल्लेख नहीं मिला उनके लिए लिपियों के आधार पर ही उनका काल निर्धारण किया गया है।

संस्कृत साहित्य एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित पाण्डुलिपियों के अध्ययन एवं शोध में रूचि रखने वाले अध्येताओं के लिए यह कृति निश्चित रूप से एक अमूल्य निधि हैं ।

□□

सप्तम अध्याय

जीवनी स्त्रोत
(Biographical Sources)

1. भूमिका-

जीवनी स्त्रोतों में किसी विषय अथवा क्षेत्र से सम्बन्धित महत्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवन एवं उनसे सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण सूचनाओं को प्राप्त किये जा सकते हैं । शब्दकोशीय परिभाषा के अनुसार जीवनी स्त्रोत किसी व्यक्ति विशेष की सम्पूर्ण जीवन का लेखा-जोखा है। इसके अन्तर्गत महान पुरुषों, वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों, विशेषज्ञों, साहित्यकारों, योद्धाओं, समाज वैज्ञानिकों तथा धर्मगुरुओं को शामिल किया जा सकता है । ऐसे व्यक्तियों के विषय में जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा को शांत करने के लिए सभी प्रकार के ग्रन्थालयों एवं सूचना केन्द्रों में जीवनी स्त्रोतों की आवश्यकता पड़ती है ।

ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शेनरी के अनुसार जीवनचरित का अभिप्राय पुरूषों के जीवन के इतिहास से है । लुइस शोर्स के अनुसार, "जीवनी स्त्रोत महत्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवन की संक्षिप्त रूप रेखा से लेकर पूर्ण सूचना प्रदान करने वाली वर्णानुक्रम में व्यवस्थित एक निर्देशिका है ।"

2. जीवनी स्त्रोतों का कार्य एवं क्षेत्र :

इन स्त्रोतों में महत्वपूर्ण व्यक्तियों की जन्मतिथि, योग्यताएँ, कार्यक्षेत्र, विशेषता, पता तथा देहावसान आदि के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना प्राप्त होती है। सन्दर्भ के ये स्त्रोत उद्यत सन्दर्भ स्त्रोत होते हैं। इन स्त्रोतों के उपयोग द्वारा जिन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त हो सकते हैं, उनका विवरण इस प्रकार निम्नवत है–

1. किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति का पूरा नाम क्या है ?
2. उसके माता-पिता कौन हैं ?
3. वह व्यक्ति कितनी शिक्षा प्राप्त किया है ?
4. वह व्यक्ति जीवन पर्यन्त किन-किन पदों पर सुशोभित रहा है ?
5. वह कहाँ-कहाँ निवास किया है ?
6. वह व्यक्ति विशेष द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या तथा उनके शीर्षक क्या हैं ?

इस प्रकार के जीवनी स्त्रोतों को महत्वपूर्ण व्यक्तियों के जन्म दिवसों तथा विशेष अवसरों

पर भाषण देने अथवा लेख प्रस्तुत करने में बहुत अधिक सहायता मिलती है । कभी-कभी ऐसी कृतियों में अनुक्रमणिका के साथ ही साथ ही अनेक छाया चित्रों को भी व्यवस्थित किया गया होता है ।

3. जीवनी स्त्रोतों के विभिन्न प्रकार :

जीवनी स्त्रोतों के विभिन्न प्रकारों के अन्तर्गत सूचना के अनेक रूपों को जैसे विश्वकोश, शब्दकोश, निर्देशिकाएँ, हस्तलिखित ग्रन्थों, पचांग, सामाचारपत्रों एवं सामयिक प्रकाशनों तथा जीवनीकोशों को सम्मिलित किया जा सकता है । परन्तु ग्रन्थालयों में पाठकों द्वारा किसी व्यक्ति विशेष के बारे पूछे गये प्रश्नों के आधार पर इसे दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जैसे–

1. किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में सामान्य सूचना, तथा
2. किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना ।

किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में तात्कालिक जीवनी सन्दर्भ स्त्रोतों की सहायता से उतर प्रदान किये जाते हैं । इनमें जीवनीकोश, कौन क्या है ? तथा निर्देशिकाओं को सम्मिलित किया जा सकता है । जबकि किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में जीवनपरक विस्तृत सूचना प्रदान करने के लिए उद्यत सन्दर्भ स्त्रोतों के अतिरिक्त जीवनी परक अन्य सन्दर्भ एवं सूचनास्त्रोतों का भी उपयोग किया जाता है । इनमें अद्यतन जीवनीकोश, राष्ट्रीय जीवनीकोश तथा अन्य मुद्रित साहित्य को सम्मिलित किया जा सकता है ।

4. जीवनी स्त्रोतों की प्रमुख विशेषताएँ :

1. विषय विशेष से सम्बन्धित जीवनी-स्त्रोतों में विषय विशेषज्ञों के बारे में विस्तृत सूचना उपलब्ध होती है, जबकि सामान्य कोश में सूचनाएँ न के बराबर मिलती है ।
2. राष्ट्रीय जीवनी कोश में किसी देश विशेष के व्यक्तियों के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना उपलब्ध होती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय जीवनीकोश में इसका अभाव रहता है ।
3. अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के जीवनीकोशों में सभी देशों के व्यक्ति विशेषों के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना को न देकर उस देश के महत्वपूर्ण व्यक्तियों को विशेष स्थान दिया जाता है जहाँ से ये प्रकाशित होते हैं ।
4. किसी राज्य के एक निश्चित क्षेत्रों के अन्तर्गत व्यंक्ति विशेषों से सम्बन्धित जीवनपरक सूचनाएँ स्थानीय प्रकाशनों में अधिक विस्तृत रूप में उपलब्ध रहती हैं ।

5. समाचार पत्र तथा सामायिक साहित्य भी महत्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवन परक सूचना एवं योगदानों से सम्बन्धित विवरण उपलब्ध कराने में महत्वपूर्ण सन्दर्भ स्रोत हैं।
6. स्वर्गवासी महान आत्माओं से सम्बन्धित जीवनी परक सूचनाओं के लिए विश्वकोश भी एक महत्वपूर्ण स्रोत है ।

5. जीवनी स्त्रोतों के मूल्यांकन के जाँच बिन्दु :

निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर जीवनी स्रोतों से सम्बन्धित उपलब्ध विभिन्न सन्दर्भ कृतियों के मूल्यांकन का कार्य सम्पन्न किया जाता है ।

1. प्रामाणिकता—जीवनी स्रोतों में दी गयी सूचना सत्य एवं प्रामाणिक होनी चाहिए। इसका पता जीवनी स्रोतों के सम्पादक अथवा उनके उत्तरदायित्व कर्ताओं की योग्यताओं एवं अनुभव आदि के आधार पर निश्चित किया जाता है ।

2. विषय-क्षेत्र—जीवनी परक सन्दर्भ स्रोतों के विषय क्षेत्र की पूर्ण जानकारी निम्नांकित प्रश्नों के उत्तरों की सहायता से की जा सकती है-प्रस्तुत सन्दर्भ कृति के विषय की सीमायें क्या हैं ? इसमें निहित सूचना का भौगोलिक सीमा क्या है ? इसमें निहित सूचना किसी विषय विशेष से सम्बन्धित हैं अथवा नहीं ? निहित सूचना समकालीन हैं या अनुदर्शी है ?

3. संकलन-पद्धति—संकलन पद्धति से यह पता लगाया जाता है कि जीवनी कोशों में जिन महत्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवनपरक सूचनाओं एकत्रित करने का आधार क्या है? अर्थात् सूचनाओं का संकलन प्राथमिक स्रोतों पर आधारित है या द्वितीयक सूचना स्रोतों पर आधारित है ।

4. भौतिक आकार—जीवनी सन्दर्भ स्रोतों का मूल्यांकन करते समय उसके भौतिक आकार पर भी विचार किया जाता है । जैसे कृति में उपयोग की गयी कागज की गुणवत्ता, सुन्दर छपाई, तथा मजबूत जिल्दबन्दी आदि ।

5. विन्यसन—विन्यसन की अनेक विधियाँ उपलब्ध होने के कारण जीवनी स्रोतों में ग्रन्थकारों के नामों के वर्णानुक्रम, विषयों के अनुसार-अथवा कालक्रमानुसार प्रविष्टियों को व्यवस्थित किया जाता है । ऐसे कृतियों के अन्त में पाठकों के उपयोगार्थ अनुक्रमणिकाओं का भी उल्लेख किया गया होता है ।

6. प्रतिपादन शैली—जीवनी स्रोतों से सम्बन्धित सन्दर्भ ग्रन्थों की प्रतिपादन शैली की माध्यम से यह पता किया जाता है कि व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित केवल सामान्य सूचनाओं को संकलित किया गया है या उनसे सम्बन्धित विस्तृत सूचनाओं को विशेष महत्त्व दिया गया है।

7. विशेषताएँ—जीवनी स्रोतों के व्यक्तियों की जीवनी के अतिरिक्त उनके सम्बन्ध में अंकित अन्य सूचनाओं पर भी विचार किया जाता है । महत्वपूर्ण व्यक्तियों की छायाचित्रों, सन्दर्भ ग्रन्थ सूची तथा मल्टी मीडिया को विशेषताओं के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है ।

8. संशोधन एवं अद्यतन—पूर्व प्रकाशित जीवनी स्रोतों में समय-समय पर संशोधन करके इसके अद्यतन प्रतियों को प्रकाशित किया जाना चाहिए । इससे जीवनीकोश, जीवनी विश्वकोश एवं जीवनी निर्देशिकाओं में नई-नई प्रविष्टियों को सम्मिलित किया जा सकता है तथा इस प्रकार के स्रोतों को और अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है ।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित बिन्दुओं के आधार पर विभिन्न प्रकार के जीवनी स्रोतों के प्रामाणिकता एवं उपयोगिता के आधार पर छोटे से लेकर बड़े पुस्तकालयों में इनका अधिग्रहण किया जाना चाहिए ।

6. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख जीवनी स्रोत :

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित विभिन्न विषयो में वैदिकाल से लेकर अब तक अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिलब्ध विद्वानों ने संस्कृत के प्रचार, प्रसार एवं निरन्तर विकास में योगदान करते रहे हैं । परन्तु इस क्षेत्र में राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के मानक जीवनी विश्वकोश अथवा जीवनी कोश का अब भी अभाव महसुस किया जाता है। यद्यपि प्राच्य विद्या के कुछ प्रमुख भारतीय विद्वानों के साथ हीसाथ कुछ विदेशी विद्वानों ने भी इस अभाव को कुछ हद तक पूरा करने का प्रयास किये हैं । इस श्रेणी में भारतीय प्राच्य विद्या के एक विद्वान लेखक डा. श्रीधर भास्कर वर्णेकर का नाम पहले आता है । आपने "संस्कृत वाङ्मय कोश" नामक एक तीन खण्डीय ग्रन्थ का सम्पादन किया है जो वास्तव में एक भारतीय विश्वकोश है । इस वाङ्मय कोश के ग्रन्थकार खण्ड में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के लेखकों के जीवन एवं उनके कृतियों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ संकलित है।

1. **संस्कृत वाङ्मय कोश (ग्रन्थकार खण्ड) / श्रीधर भास्कर वर्णेकर; सम्पादकः-कोलकता : भारतीय भाषा परिषद, 1988**

इस स्रोत में संस्कृत के बृहत साहित्य को समृद्ध करनेवाले उन सारे ग्रन्थकारों के योगदानों तथा उनके जीवनी एवं विषयक्षेत्रों के सम्बन्ध में ग्रन्थात्मक सूचना दी गयी है। इस कृति को सन् 1988 में प्रथम बार प्रकाशित किया गया है ।

1988 के संस्करण में संस्कृत साहित्य एवं प्राच्य विद्या के ग्रन्थकारों की कुल 2700 प्रविष्टियों के माध्यम से जीवनी परक सूचनाएँ दी गयी हैं । इतना ही नहीं इस ग्रनथकार खण्ड में पूर्व पीठिका के रूप में संस्कृत वाङ्मय दर्शन के नाम से समस्त संस्कृत वाङ्मय के अन्तरंगों का दिग्दर्शन कुल बारह प्रकरणों में किया गया है । प्रविष्टियाँ लेखकों के मुख्य नाम के अनुसार वर्णानुक्रम में विन्यसित हैं।

इस प्रकार कुछ कमियों के बाद भी यह संस्कृत वाङ्मय कोश का ग्रन्थकार खण्ड संस्कृत साहित्य के विद्वान लेखकों की जीवनी एवं उनके कृतियों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्ति के उद्देश्य से महत्वपूर्ण सन्दर्भ स्रोत है ।

2. काशी की पाण्डित्य परम्परा / बलदेव उपाध्याय - वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, 638 पृ.

प्रस्तुत कृति आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय द्वारा विरचित संस्कृत वाङ्मय के क्षेत्र में एक अमूल्य धरोहर है । इसमें प्राचीन विद्या नगरी काशी के मध्य युगीन (1200 ई. से 1750 ई.) एवं अर्वाचीन (1750 से 1950 ई.) तक के संस्कृत विद्वानों की प्रमाणिक जीवनी तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की जानकारी एवं साढ़े सात सौ वर्षों का काशी के विद्वानों के साहित्यिक अवदान से सम्बन्धित सूचना प्राप्त होती है । इस कृति में चुने गये संस्कृत विद्वानों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है ।

प्रथम श्रेणी में उन विद्वानों को सम्मिलित किया गया है जिनके लिए वाराणसी अध्ययन स्थली एवं अध्यापन स्थली दोनों ही रही हैं ।

द्वितीय श्रेणी में उन विद्वानों को सम्मिलित किया गया है, जिन्होंने संस्कृत के शास्त्रीय विषय का समुपार्जन तो काशी में किये परन्तु भारत के अन्य प्रान्तों में जाकर उस ज्ञान के समुचित वितरण में अपना जीवन बितायें ।

तृतीय श्रेणी के अन्तर्गत उन विद्वानों को सम्मिलित किया गया है, जिन्होंने संस्कृतशास्त्रों का अध्ययन तो काशी के बाहर किया, लेकिन अध्यापन के लिए काशी को अपना कार्यस्थली चूने ।

इसमें वर्णित तीन श्रेणियों का नामोल्लेख पूर्व पीठिका अवतरणिका एवं उत्तर पीठिका के रूप में सम्बोधित हैं। इसके पूर्वपीठिका में संस्कृत शास्त्र के मध्ययुगीन विद्वानों से लेकर नागेशभट्ट (महावैयाकरण) तक के सभी संस्कृत विद्वानों की संक्षिप्त जीवनी एवं उनके कृतियों से सम्बन्धित सूचना प्रस्तुत किया गया है । इसमें निहित उत्तरपीठिका को दो खण्डों में विभाजित किया गया है तथा प्रथम खण्ड के संस्कृत के पारम्परिक विद्वानों के जीवनियों एवं उनके योगदानों का वर्णन है, जबकि द्वितीय खण्ड में छः विद्वान सन्यासियों के तथा छः अंग्रेज संस्कृत विद्वानों के जीवनचरित एवं उनके उपलब्धियों पर विस्तृत सूचना प्रस्तुत है। इस प्रकार इस कृति में संस्कृत शास्त्र के महत्वपूर्ण विद्वानों के वर्णित सूचना अद्यतन न होते हुए भी संस्कृत जगत के उपयोक्ताओं के लिए एक महत्वपूर्ण सूचना स्रोत है ।

3. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्र कोश विद्यानिधि सिद्धेश्वर शास्त्री, (चित्रांक)- पूना : भारतीय चरित्र कोश मण्डल, 1964।

प्रस्तुत कृति जीवनी कोश का एक प्रमुख उदाहरण है तथा इसमें वैदिककाल से लेकर सन् 1964 के पूर्व तक संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध महत्वपूर्ण पात्रों के नामों के आधार पर वर्णानुक्रम में निर्मित प्रविष्टियों को व्यवस्थित करके प्रस्तुत किया गया है ।

इस सन्दर्भ कृति की प्रभुत्व विशेषता यह है कि इसमें श्रुति, स्मृति, पुराण, सूत्र, वेदांग, उपनिषद्, बौद्ध एवं जैन साहित्य में निर्दिष्ट व्यक्तियों, विद्वानों के सम्बन्ध में जीवनी परक सूचनाओं के साथ ही साथ उनके योगदानों से सम्बन्धित सूचना प्रदान किया गया है।

यद्यपि यह कृति अद्यतन न होते हुए भी उपयोग की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण जीवनी स्रोत है ।

4. चरित्र कोश : वेद, पुराण और इतिहास से आये विभिन्न चरित्रों एवं ग्रन्थों का हिन्दी में प्रामाणिक पहला कोश / चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा- नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1983 . 555 पृ. सं.

यह एक जीवनीकोश है तथा इसके सम्पादक श्री नरायण चतुर्वेदी हैं। इस चरित्रकोश में संकलित प्रविष्टियाँ वैदिक वाङ्मय में योगदान करने वाले ग्रन्थकारों, लेखकों एवं अन्य विद्वानों के जीवनपरक सूचनाओं एवं उनके योगदानों को विशेष महत्व दिया गया है। इसमें वेदों, उपनिषदों, पुराणों और इतिहासों में आये अनेक ऋषि-मुनियों, महात्माओं, राजाओं, महापुरूषों, कवियों, ग्रन्थ कर्त्ताओं, नदियों एवं पहाड़ों आदि के नामों से सम्बन्धित निर्मित प्रवृष्टियों का एक विशाल सूची संलग्न है ।

इस प्रकार से यह एक विगतकालीन विषय जीवनी कोश है। इसमें संकलित प्रविष्टियों के अन्तर्गत महापुरूषों, संस्कृत नाटकों तथा काव्यों के पात्रों के नामों का संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया गया है । पुराने नामों के सन्दर्भ जानने की दृष्टिकोण से यह एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ स्रोत है ।

इसमें प्रविष्टियों का विन्यसन हिन्दी वर्णमाला के क्रम में व्यवस्थित हैं तथा इसके अन्त में दो परिशिष्टों को संलग्न किया गया है ।

ग्रन्थ का भौतिक स्वरूप अच्छा है । जिल्द मजबूत है तथा छपाई में उत्तम गुणवत्ता वाला कागज का उपयोग हुआ है । परन्तु यह स्रोत अद्यतन न होते हुए भी उपयोग के लिए महत्वपूर्ण कृति है ।

5. राजस्थान के संस्कृत कृतिकार / शंकर लाल शास्त्री-जयपुर : राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र, 2004. 490 + पृ..

प्रस्तुत कृति एक लघु विषय जीवनी कोश का एक प्रमुख उदाहरण है । इसमें राजस्थान के लगभग 42 संस्कृत कृतिकारों से सम्बन्धित जीवन परक सूचनाओं एवं उनके योगदानों से सम्बन्धित प्रविष्टियों को वर्णानुक्रम में व्यवस्थित किया गया है ।

ग्रन्थ के प्रस्तावना में राजस्थान की संस्कृत साधना की पृष्ठभूमि जिसमें संस्कृत के प्रमुख कृतिकारों का विस्तृत जीवनी परक सूचनाएँ प्रविष्टियों के रूप में समायोजित हैं। इसके साथ ही साथ, इसके परिशिष्ट खण्ड में अन्य संस्कृत विद्वानों के जीवनीपरक सूचनाओं को आकारादि क्रम से दिया गया है।

संस्कृत में रूचि रखने वाले उपयोक्ताओं के लिए कुछ कमियों के बाद भी यह महत्वपूर्ण स्रोत हैं ।

6. उज्जयिनी का विलक्षण विभूतियाँ / रमेश निर्मल - मुम्बई : अन्विति प्रकाशन, 2005. 234 पृ.

यह एक सामान्य कृति है परन्तु इसमें निहित सूचना के कारण यहाँ पर इसे स्थान देना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि इसमें अनादी उज्जयिनी के कतिपय सारस्वत विभूतियों का जीवन परिचय तथा उनके द्वारा किये गये योगदानों से सम्बन्धित सूचना प्रदान की गयी है ।

इस कृति में उज्जैन के कुल पन्द्रह महान विभूतियों के सम्बन्ध में उनके जीवनी तथा अन्य उपलब्धियों का विवरण प्रस्तुत है । इसमें पं. सूर्यनारायण व्यास पहली विभूति हैं जबकि डा. श्यामसुन्दरनिगम को पन्द्रहवें विभूति के रूप में स्थान दिया गया है । इन पन्द्रह विभूतियों के अतिरिक्त उज्जैन के गौरवशाली व्यक्तियों को प्रस्तुत कृति के ग्रन्थमाला के अगले दो भागों में दो अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत जैसे "संस्कृति का सूर्य : उज्जैन" तथा "आधुनिक उज्जयिनी के गौरव" नामक ग्रन्थ में सम्मिलित किया गया है ।

प्रत्येक प्रविष्टियों में जानकारी विस्तृत है तथा उज्जैन के विलक्षण विभूतियों से सम्बन्धित सूचना के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं ।

7. आधुनिक उज्जयिनी के गौरव / रमेश निर्मल - मुम्बई : अन्विति प्रकाशन, 2005, 274, 274; xvip.

यह कृति उज्जयिनी पुस्तक माला के 11वें पुष्प के रूप में मुम्बई के अन्विति प्रकाशन से प्रकाशित है । इसमें उज्जैन से जुड़ी उन विशिष्ट विभूतियों के जीवनीपरक सूचनाओं के साथ ही साथ उनके द्वारा किये गये योगदानों का भी विवरण प्रस्तुत है ।

इसमें उज्जैन के कुल 105 महत्वपूर्ण व्यक्तियों के जीवनी परक सूचनाओं के साथ ही साथ उनके साधना सन्दर्भों को सम्मिलित किया गया है। इस ग्रन्थ में उज्जैन के जिन सारस्वत विद्वानों को सम्मिलित किया गया है या तो उनका जन्म उज्जैन या मालवांचल में हुआ है अथवा जिन्होंने अपनी शिक्षा, दीक्षा अथवा कर्मभूमि के रूप उज्जयिनी या मालवा में अपने जीवन का महत्वपूर्ण अंश व्यतीत किया है।

यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ सन्दर्भ स्रोत नहीं है फिर भी उज्जयिनी के विविध विलक्षण व्यक्तित्व के लिए यह एक महत्वपूर्ण सूचना स्रोत है ।

8. Who's who of Indian Writers.-New Delhi : Sahitya Academy, 1961.

यह कोश विषय जीवनीकोश का एक उदाहरण है तथा इसमें अंग्रेजी सहित सभी भारतीय भाषाओं के उत्तरोत्तर विकास में जिन ग्रन्थकारों ने अपना साहित्यिक योगदान दिया

है उन सभी ग्रन्थकारों की जीवनीपरक सूचना दी गयी है । इसका प्रथम प्रकाशन सन् 1961 में सम्पन्न हुआ था तथा इसका द्वितीय संस्करण सन् 1995 में प्रकाशित हुआ है ।

इस जीवन चरित कोश में कुल 6000 की संख्या में भारतीय लेखकों से सम्बन्धित प्रविष्टियों को प्रस्तुत किया गया है तथा प्रत्येक प्रविष्टि में ग्रन्थकारों के नाम, साहित्यिक नाम, शैक्षिक उपाधियाँ, वर्तमान पद, मातृभाषा तथा निवास का पता से सम्बन्धिथ सूचनाएँ अंकित हैं । यह कृति कुछ खामियों के बाद भी भारतीय भाषाओं एवं साहित्य से सम्बन्धित लेखकों की जीवनीपरक सूचना हेतु एक महत्वपूर्ण स्रोत है ।

9. **Dictionary of Jain Biography- Arrah : Library of Jaina Literature, 1917. (Pt. 1A).**

यह एक जीवनी कोश है तथा इसमें जैन साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में योगदान करने वाले विभूतियों के जीवनीपरक सूचनाओं को प्रस्तुत किया गया है । इसमें केवल 1917 तक के जैन विद्वानों, लेखकों तथा जैन मुनियों को ही सम्मिलित किया गया है ।

प्रत्येक प्रविष्टि में जीवनी परक सूचनाओं की संक्षिप्त जानकारी दी गयी है । इस कृति को जैन साहित्य ग्रन्थालय, आरा, विहार द्वारा सन् 1917 में प्रकाशित किया गया है। यह कृति अद्यतन नहीं है, फिर भी जैन साहित्य के पूर्व विभूतियों के जीवनीपरक सूचना के लिए एक उत्तम स्रोत है ।

10. **संस्कृत वाङ्मय में नारी—एक परिचयात्मक कोश /सिप्रा बैनर्जी—अम्बाला छावनी : आई. बी. ए. पब्लिकेशन, 2002. (तीन खण्डीय)।**

यह कोश निबंधात्मक जीवन चरितकोश का प्रमुख उदाहरण है तथा इसमें मात्र भारतीय प्राचीन नारियों का परिचय नहीं अपितु स्त्रीलिंग के सभी चेतन जीव, मूर्त और अमूर्त का उल्लेख प्रविष्टियों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

इस जीवन चरित कोश में ऋग्वेद से लेकर भविष्यपुराण तक के सुदीर्घ काल की यात्रा में नारी के विविध रूपों के साथ ही साथ जीवनीपरक सूचनाओं को अधिक महत्व दिया गया है । यह कृति कुल 1700 पृष्ठों तथा तीन खण्डों में संकलित है । इसके प्रथम खण्ड में सम्मानित सम्मिलित नारियों के नाम देवनागरी के वर्णानुक्रम में पृष्ठ संख्या 86 से 526 पर वर्णित है ।

इस जीवन चरित्रकोश के द्वितीय खण्ड में शेष नामों को वर्णानुक्रम में "च" अक्षर से "भौ" अक्षर तक व्यवस्थित किया गया है । जबकि इसके तृतीय खण्ड में शेष सम्मानित नारियों को उनके नामों तथा योगदानों को वर्णानुक्रम में निर्मित प्रविष्टियों का व्यवस्थापन "य" अक्षर से प्रारम्भ होकर 'ह्री" अक्षर पर समाप्त हुआ है ।

इसका भौतिक स्वरूप बहुत अच्छा है । जिल्दबन्दी मजबूत एवं टिकाऊ है, छपाई स्पष्ट है तथा उत्तमकोटी के कागज का उपयोग किया गया है ।

यह ग्रन्थ केवल एक जीवन चरितकोश ही नहीं बल्कि संस्कृत वाङ्मय में अंकित नारी के उत्कर्ष एवं उनके द्वारा किये गये योगदानों आदि की सूचना प्रदान करने हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ स्रोत है ।

11. **National Biographical Dictionary of India / Jagadish Sharan Sharma; Compiler.-New Delhi : Sterling Press, 1972.**

यह एक भारतीय राष्ट्रीय जीवनीकोश है तथा इसमें भारत के विभिन्न प्रान्तों के लगभग 5000 महान विभूतियों के जीवनीपरक सूचनाओं को संकलित करके प्रविष्टियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है । प्रविष्टियों में प्रत्येक व्यक्ति के नाम, जन्म-तिथि, व्यवसाय, राष्ट्रीयता, प्राप्त उपाधियाँ, शिक्षा तथा महत्वपूर्ण उपलब्धियों में व्यवस्थित किया हुआ है।

यद्यपि यह राष्ट्रीय जीवनी कोश अद्यतन नहीं है फिर भी भारत के ऐतिहासिक विभूतियों से सम्बन्धित संक्षिप्त सूचना के स्रोत के रूप में एक सर्वोत्तम कृति है । डा. जगदीश शरण शर्मा द्वारा इसको संकलित किया गया है, तथा 1972 में स्टरलिंग प्रेस, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया है।

12. **Dictionary of National Biography / S.P. Sen; Editor. - Kolkata : Institute of Historical Studies, 1972-74. (Four Volumes).**

यह भारत का प्रथम बहुखण्डीय राष्ट्रीय जीवनीकोश है तथा इसके प्रधान सम्पादक श्री एस.पी. सेन हैं । इस राष्ट्रीय बहु खण्डीय जीवनीकोश के रचना में राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकता में उपलब्ध विशाल संग्रह का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । इस राष्ट्रीय जीवनी कोश के सम्पादन के पिछे इसका मुख्य उद्देश्य उन्नीसवीं सदी से लेकर देश के स्वतन्त्र होने तक जिन भारतीय विभूतियों ने भारत को एक सबल राष्ट्र के रूप में खड़ा करने का प्रयास किये उनकी जीवनीपरक सूचनाओं एवं योगदानों को उनके कुलनामों के अनुसार वर्णानुक्रम में इसमें व्यवस्थित किया गया है ।

इस तरह सन् 1800 से 194 7 तक के अवधि के लिए कुल 1400 भारतीय विभूतियों के जीवनी परक सूचनाओं इसमें को प्रविष्टियों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इसका पूरक भाग चार खण्डों में प्रकाशित हुआ है । पूरक भाग 1947 से 72 के मध्य भारत के विभिन्न क्षेत्रों में योगदान करने वाले गौरवशाली व्यक्तियों की जीवनिया भी वर्णित हैं।

इसमें प्रत्येक प्रविष्टि के अन्त में प्रविष्टियों में संकलित स्रोतों की सूचना के साथ ही साथ जीवनी लिखने वाले विद्वानों के नाम भी अंकित है ।

भारत में स्थित सभी प्रकार के ग्रन्थालयों में ऐसे सन्दर्भ स्रोतों को संग्रह में सम्मिलित किया जाना नितांत आवश्यक है।

13. **Biographical Dictionary of Puranic Personages / Akshya Kumari Devi.- Calcutta : Vijaya Krishna Brothers, n.d. 8; 72 p.**

14. **Encyclopaedia of World Great Educational Philosophers/M.K. Singh.- New Delhi : Alfa Publications, 2008. (2 Vols).**

यह एक विषयागत जीवनी विश्वकोश है तथा इसमें केवल विश्व के प्रख्यात शिक्षादार्शनिकों से सम्बन्धित जीवनीपरक सूचनाओं पर आधारित प्रविष्टियों को व्यवस्थित किया गया है । इसमें विश्व के कुल 36 महान शिक्षा दार्शनिकों से सम्बन्धित जीवनी परक सूचनाओं एवं उनके योगदानों को दो खण्डों के माध्यम से लिपिबद्ध करके प्रस्तुत किया गया है । इसका प्रथम प्रकाशन सन् 2008 में हुआ । इसके प्रथम खण्ड में प्रविष्टियों को अध्याय एक से बीसवें अध्याय तक तथा द्वितीय खण्ड में एकीसवें अध्याय से 36वें अध्याय तक अंकित है । इनमें कुल 816 पृष्ठों का उपयोग हुआ है ।

इसका भौतिक आकार अच्छा है, जिल्दबन्दी टिकाउ है तथा छपाई में उत्तम गुणवत्ता वाले कागज का प्रयोग किया गया है । विश्वके महान शिक्षा दार्शनिकों के सम्बन्ध में सूचना कि लिए यह सर्वोत्तम कृति है ।

❑❑

अष्टम अध्याय

भौगोलिक स्रोत
(Geographical Sources)

1. भूमिका-

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के क्षेत्र में उपलब्ध भौगोलिक सूचना स्रोतों की संख्या आधुनिक विषयों की तुलना में न के बराबर हैं । परन्तु इस बात को भी अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है कि अखण्ड भारत को पूरे विश्व में एकीकृत राष्ट्र के रूप में सर्वोच्य स्थान दिलाने में संस्कृत एवं प्राच्य ग्रन्थों की भूमिका सर्वोपरी रही है ।

भारत धर्म, संस्कृति, साहित्य तथा सभ्यता के लिए एशिया में ही नहीं अपितु पुरे विश्व में विख्यात है । भारत में स्थित विभिन्न तीर्थस्थानों, पवित्र नदियों, एवं विश्वविख्यात अनेक धार्मिक स्थलों जैसे गिरजाघर, गुरूद्वारा, मन्दिरों, जैन मन्दिरों एवं बौद्धमठों से सम्बन्धित सूचनाओं का उल्लेख सबसे पहले ग्रन्थों अथवा हस्तलिखित पाण्डुलिपियों से प्राप्त किये गये हैं । उदाहरण स्वरूप भारत में स्थित चारों धाम यात्रा, कुम्भ स्नान, गंगासागर स्नान, कैलाशमान सरोवर यात्रा । प्राचीन भारतीय संस्कृति में सामाजिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में चार आश्रम, चार वर्ग, चार वेद, तथा चारों धाम से सम्बन्धित उपलब्ध प्राचीन भारतीय साहित्य के परिणामस्वरूप पूरे विश्व के लोगों में भारत की भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं पौराणिक स्थिति की जानकारी जैसे दार्शनीय स्थल, पवित्र तीर्थ स्थान कौन-कौन से हैं तथा कहाँ स्थित है आदि की जिज्ञासा बढ़ती चली गयी । इसी के फल स्वरूप भौगोलिक स्रोतों का आविर्भाव हुआ जिनमें विभिन्न प्रकार की प्राथमिक सूचना स्रोतों को भौगोलिक सूचना से सम्बन्धित प्रश्नों के उतर प्रदान करने हेतु विभिन्न रूपों में विभिन्न प्रकार के भौगोलिक सन्दर्भ स्रोतों का आविर्भाव हुआ है ।

2. भौगोलिक सूचनास्रोतों के क्षेत्र, परिभाषा एवं प्रकार-

भौगोलिक प्रश्नों से सम्बन्धित उत्तरों को अनेक प्रकार के सूचना स्रोतों से प्राप्त किया जा सकता है लेकिन भौगोलिक सूचना के प्राप्ति के लिए जिन मानक सन्दर्भ स्रोतों का उल्लेख मिलता है उसमें वाङ्मय सूचियाँ एवं अनुक्रमणिकाएँ, विश्वकोश, शब्दकोश, सांख्यकीय स्रोत, जीवनचरित स्रोत एवं भौगोलिक स्रोत प्रमुख हैं ।

3. भारत के प्रसिद्ध मन्दिरों एवं तीर्थस्थलों से सम्बन्धित भौगोलिक स्त्रोत :

1. कल्याण-तीर्थांक वार्षिक विशेषांक गोरखपुर : गीता प्रेस, 1957, 704 पृ.

यह कृति गोरखपुर के गीता प्रेस, द्वारा सन् 1957 में कल्याण पत्रिका के तीर्थांक वार्षिक विशेषांक के रूप में प्रकाशित है। इसमें धार्मिक एवं पौराणिक महत्वों के लगभग 1800 तीर्थ स्थलों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत है । साथ ही साथ पुराण प्रसिद्ध तीर्थों का शास्त्रोक्त महात्म्य, 21 प्रधान गणपति क्षेत्रों, 108 दिव्य शिव क्षेत्रों, 274 पवित्र शैव क्षेत्रों, 12 ज्यार्तिलिङ्गों, 108 दिव्य विष्णु स्थानों, 108 वैषण देशों, 108 दिव्य शक्ति स्थानों, 51 शक्तिपीठों एवं 12 प्रधान देवी विग्रहों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सूचनाओं का विस्तार से उल्लेख किया गया है ।

इसमें तीर्थयात्रियों के लिए आवश्यक पालनीय नियमों के अन्तर्गत पञ्चदेवों की पूजन विधि, विष्णु, शिव आदि के ध्यान, तीर्थयात्रा की विधि, प्रधान - प्रधान तीर्थों एवं प्रसिद्ध विग्रहों की स्तुतियाँ भी वर्णित हैं। इसमें भारत के तीर्थस्थलों से सम्बन्धित सूचनाओं के प्रस्तुती में आठ दुर्लभ मानचित्रों, 34 रंगीन एवं पाँच सौ से ऊपर सादे स्थल चित्रों का उपयोग किया गया है । इस कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके अध्ययन मात्र से पवित्र भारत भूमि के विभिन्न भागों का महत्व, वहाँ की विशेषताओं के ज्ञान, राष्ट्रीयता एवं पारस्परिक एकता के भाव जागृत होते हैं ।

यह स्त्रोत भारत के तीर्थस्थलों का भ्रमण करने वाले तीर्थयात्रियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा इसमें वर्णित तीर्थयात्रा, तीर्थदर्शन एवं तीर्थों में अवगाहन के महत्व के कारण भारत के प्रत्येक ग्रन्थालयों में इसके अद्यतन प्रतियों को अधिग्रहीत किया जाना आवश्यक है ।

2. तीर्थभारतम् / श्रीधरभास्कर वर्णेकर - मध्य प्रदेश : दतिया : पीतांबरा पीठ संस्कृत् परिषद, 1983.

यह ग्रन्थ प्राच्य विद्या के प्रख्यात विद्वान डा. श्रीधर भास्कर वर्णेकर द्वारा प्रणीत है तथा इसमें सम्पूर्ण भारत के सुप्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र, तत्रस्थ देवता, तथा बुद्ध, शंकर, महावीर इत्यादि अवतारों के साथ ही साथ विवेकानन्द, दयानन्द, महात्मा गाँधी जैसे महापुरुषों का स्तवन प्रस्तुत है ।

इसमें सभी स्तुति पद्य संगीत प्रधान हैं और कवि ने उनके रागों का निर्देश चलन स्वरों के साथ प्रत्येक भक्ति के साथ में प्रस्तुत किया है तथा वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है ।

भारतीय तीर्थ यात्रियों के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है ।

3. **त्रिस्थलीसेतु : / श्रीभट्टोजिदीक्षित; श्री नागेश भट्ट एवं सुरेश्वराचार्य-वाराणसी : प्रकाशन संस्थान, सं. सं. वि. वि., 144 पृ.**

यह ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सरस्वती भवन-ग्रन्थमाला के 65 पुष्प के रूप में प्रकाशित है । श्री भट्टोजिदीक्षित द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ में तीर्थ विधि का विशेषकर काशी, प्रयाग तथा गया प्रभृति तीर्थों की विशेष महिमा वर्णित है। त्रिस्थली सेतु : शीर्षक के अन्तर्गत दो अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया गया है जैसे–

1. **तीर्थेन्दुशेखर :**–श्री नागेश भट्ट द्वारा प्रणीत इस कृति में तीर्थों के अधिकारी आदि के निर्णय के अनन्तर-प्रयाग, काशी तथा गया आदि तीर्थों की विधि का विचार वर्णित है ।

2. **काशीमृतिमोक्ष विचार**–यह ग्रन्थ श्री सुरेश्वराचार्य द्वारा प्रणीत है तथा इसें काशी, वाराणसी, अविमुक्तक, अन्तर्गृह नामक चार क्षेत्रों के परिमाण का निर्णय से सम्बन्धित तथ्य प्रस्तुत किया गया है । साथ ही साथ उन-उन क्षेत्रों में मृत्यु होने से सारूप्य, सालोक्य, सायुज्य, सान्निध्य रूप मुक्तियों के मिलने का विधान है ।

विषय की दृष्टि से ग्रन्थ का सम्बन्ध हिन्दू धर्मशास्त्र से है परन्तु इसमें निहित हिन्दू धर्म के पवित्र तीर्थ स्थलों की विशेष सूचनाओं के कारण पौराणिक एवं भौगोलिक रूप में भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है ।

4. **काशीखण्ड / करूणापति त्रिपाठी; सम्पादक–वाराणसी : सं.सं.वि.वि., (चार भागों में).**

यह कृति पुराणेतिहास विषय के अन्तर्गत सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के गंगानाथ झा ग्रन्थमाला के 13वें पुष्प के रूप में कुल चार भागों में प्रकाशित है । साथ ही साथ इस ग्रन्थमाला में श्री रामानन्दाचार्य की "रामानन्दि" संस्कृत व्याख्या तथा पण्डित श्री नरायणपति त्रिपाठी की नरायणी हिन्दी-व्याख्या भी प्रकाशित हुआ है ।

इस ग्रन्थ के चार भागों में प्रकाशित श्लोकों की पदानुक्रमणी तैयार कर "काशी खण्ड परिशिष्टम" के नाम से अलग से प्रकाशित है जिसमें कुल पृष्ठों की संख्या 220 है।

5. **काशी-महात्म्य/ स्वामी श्री शिवानन्द सरस्वती - वाराणसी : सं.सं. वि.वि., 280 पृ.**

यह ग्रन्थ पुराणेतिहास विषय के अन्तर्गत सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के विश्वविद्यालय रजत जयंती ग्रन्थमाला के 23वें पुष्प के रूप में प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में काशी अर्थात् वाराणसी के पुराण प्रसिद्ध महात्म्य के वर्णन के साथ-साथ काशी में स्थित विभिन्न शिवलिङ्गो तथा पुन्यक्षेत्रों का धार्मिक तथा पौराणिक दृष्टिकोण से वर्णन प्रस्तुत है।

इसके साथ ही साथ इसमें काशी अथवा वाराणसी क्षेत्र में कर्तव्याकर्तव्य आदि विषयों का विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है । इसमें कुल 280 पृष्ठों का उपयोग हुआ है ।

6. काशी यात्रा / श्री नरायण पति त्रिपाठी; सम्पादन द्वारा श्री करूणा पति त्रिपाठी-वाराणसी : सं.सं.वि.वि., 72 पृ.

यह कृति पुराणेतिहास विषय के अन्तर्गत सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के अन्तर्गत विश्वविद्यालय रजत जयन्ती ग्रन्थमाला के 16वें पुष्प के रूप में प्रकाशित है । इस ग्रन्थ को अपनी विशिष्ट भूमिका एवं परिशिष्ट के साथ आचार्य श्री करूणापति त्रिपाठी ने सम्पादित किया है तथा इसके प्रणयन श्री नरायणपति त्रिपाठी ने किया है ।

इस पौराणिक कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें काशी की अनेकानेक यात्राओं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इसमें कुल 72 पृष्ठों का उपयोग किया गया है तथा इसका द्वितीय संस्करण शीघ्र प्रकाशनाधीन है ।

7. काशी या बनारस / बाल मुकन्द वर्मा - वाराणसी : ब्रह्मनाल, 1930, 95पृ.

काशी या बनारस के भ्रमण का कार्यक्रम तैयार करने वाले यात्रियों के द्वारा इसकी बहुत अधिक प्रशंसा हुई थी । इसमें प्राचीन काशी अथवा आधुनिक वाराणसी में स्थित पर्यटन के विविध क्षेत्रों की सविस्तार व्याख्या दी गयी है ।

इसे सन 1930 में ब्रह्मनाल, वाराणसी से प्रकाशित किया गया है तथा इसमें कुल 95 पृष्ठों का उपयोग हुआ है । वर्तमान में यह ग्रन्थ अपर्याप्त है । फिर भी वाराणसी पर यह एक महत्वपूर्ण स्रोत है ।

8. Guide to Benares / India. Ministry of Transport. Tourist Division.-New Delhi : Manager of Publication, 1957. 24 p. plates;' illust.

प्रस्तुत ग्रन्थ मार्गदर्शिका का एक प्रमुख उदाहरण है । इसमें वाराणसी से सम्बन्धित पर्यटन की दृष्टिकोण धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक स्थलों एवं यहाँ के निवासियों के सम्बन्ध में सविस्तार सूचना प्रस्तुत है । यह 1957 में भारत सरकार के पर्यटन मंत्रालय द्वारा प्रकाशित हुआ है तथा इसमें छायाचित्रों एवं मानचित्रों को भी प्रस्तुत किया गया है ।

इस मार्गदर्शिका में वाराणसी से सम्बन्धित सूचनाएँ अंग्रेजी में वर्णित है तथा 1960 तक विदेशी पर्यटकों के बीच यह बहुत लोकप्रिय था ।

9. **वाराणसी पर्यटन : विविध आयाम (Dimension of Tourism in Varanasi)/ प्रेमशंकर द्विवेदी एवं अन्य; सम्पादक-वाराणसी : कला प्रकाशन, 1999, 156 पृ.**

इस ग्रन्थ में काशी अथवा वाराणसी के विविध धार्मिक, सांस्कृतिक, कलात्मक, पुरातात्विक एवं पर्यटन, विषयक विभिन्न आयामों से सम्बन्धित प्रामाणिक सूचना दी गयी है । इसके सम्पादक डा. प्रेमशंकर द्विवेदी है तथा कला प्रकाशन, वाराणसी से इसे सन् 1999 में प्रकाशित किया गया है ।

वाराणसी के विविध आयामों के सम्बन्ध में यह एक महत्वपूर्ण भौगोलिक सूचना स्रोत है ।

10. केदार खण्ड / वाचस्पति द्विवेदी एवं अन्य :-वाराणसी : सं. स. वि.वि., 1991 (चार भागों में) ।

प्रस्तुत ग्रन्थ पुराणेतिहास विषय के अन्तर्गत सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा गंगानाथ झा ग्रन्थमाला के 17वें पुष्प के रूप में कुल चार भागों में प्रकाशित किया गया है । स्कन्द पुराण के माहेश्वर खण्ड के अन्तर्गत समविष्ट इस केदार खण्ड को वाचस्पति द्विवेदी की हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशित किया गया है ।

पौराणिक दृष्टिकोण से श्री केदारखण्ड से सम्बन्धित सूचनाओं के लिए यह एक अत्यन्त उपयोगी स्रोत हैं।

11. **Kedar Matha and Badri Narayan (A Pilgrim's diary) / Syster Nivedita.- Calcutta : Udbothan Office, 1921. 86 p.; illust.**

यह ग्रन्थ एक मार्गदर्शिका न होकर एक प्रकार से एक तीर्थयात्री के यात्रा वृत्तांत के रूप में प्रकाशित है । इसमें लेखक ने अपने केदार मठ तथा बद्रीनारायण तक सम्पूर्ण यात्रा का सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की है तथा इसे कलकत्ता के उद्बोधन कार्यालय से सन 1921 में प्रकाशित किया गया है । इसमें चित्रों सहित कुल 86 पृष्ठों का उपयोग हुआ है ।

यह ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

12. **कैलाश-मानसरोवर यात्रा साक्षात् शिव से संवाद / तरूण विजय-देहरादून : ऋत्विक प्रकाशन, 1994, 118 पृ.।**

इस ग्रन्थ के लेखक एवं छायाकार श्री तरूण विजय हैं जो एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के पत्रकार होने के साथ ही साथ तीर्थयात्रा विकास समिति दिल्ली राज्य के अध्यक्ष एवं सिन्धु दर्शन अभियान, लद्दाख के संयोजक भी रह चुके हैं ।

इस ग्रन्थ की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें कैलाशमान सरोवर यात्रा के सम्पूर्ण प्रकरणों को दुर्लभ छायाचित्रों के माध्यम से सजीव एवं अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से वर्णन प्रस्तुत किया गया है । इस ग्रन्थ में भारत के पूर्व प्रधान मंत्री माननीय श्री अटल

विहारी पाजपेयी जी के छायाचित्र के साथ उनका सन्देश भी प्रकाशित है। इसमें कैलाशमान सरोवर यात्रा के वृत्तान्तों का उल्लेख ॐ नमः शिवाय तथा ॐ से प्रारम्भ हुआ है । साथ ही साथ पृष्ठं 118 पर कैलाश मानसरोवर क्षेत्र का एक विहंगम दृश्य, राक्षसताल एवं मानसरोवर के उपर मध्य में स्थित श्री कैलाश पर्वत के दुर्लभ दृश्यों का उपग्रह द्वारा खीचा गया चित्र संकलित है । ग्रन्थ के अन्त में कैलास पर्वत, मानसरोवर झिल तथा भारत एवं तिब्बत में आने वाले विभिन्न स्थानों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सूचनाओं को मानचित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है ।

यह ग्रन्थ सन् 1994 में देहरादून के ऋत्विक प्रकाशन से प्रकाशित है तथा इसमें कुल 118 पृष्ठों का उपयोग हुआ है । इसका छपाई बहुत सुन्दर है तथा छपाई के उपयोग में लाया गया कागज बहुत ही उच्च गुणवत्ता वाला है ।

यह कृति भौगोलिक सन्दर्भ स्रोत की श्रेणी में सम्मिलित हो न होकर भी कैलाश मान सरोवर यात्रा से सम्बन्धित सूचनाओं के ज्ञान हेतु एक उत्तम सूचना स्रोत हैं ।

13. यात्रा : कैलाश मानसरोवर, वद्रीनाथ, केदारनाथ / विद्यानन्द सरस्वती; सम्पादक—नैनीताल : गीता सत्संग, 1960, 41; 40 पृ.।

यह ग्रन्थ मार्गदर्शिका का एक प्रमुख उदाहरण है तथा इसे सन् 1960 में गीता सत्संग, नैनीताल से प्रकाशित किया गया है । इसके सम्पादक विद्यानन्द सरस्वती हैं तथा इसमें कुल 40 से अधिक पृष्ठों का उपयोग हुआ है ।

इसमें लेखक ने बड़े ही सजीव ढंग से वद्रीनाथ, केदारनाथ तथा कैलाश मानसरोवर से सम्बन्धित पर्यटन के सम्पूर्ण सूचनाओं को प्रस्तुत किया है ।

यह इस समय अद्यतन नहीं है फिर भी कैलास मानसरोवर पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

14. विश्वदर्शनम् / हंसराज अग्रवाल—लुधियाना : शक्ति प्रकाशन माडल टाउन, 1968, 55पृ.।

यह ग्रन्थ मार्गदर्शिका के रूप में सन् 1968 में लुधियाना के शक्ति प्रेस माडल टाउन से प्रकाशित है । इसमें ग्रन्थकार ने विश्व में प्रसिद्ध दर्शनीय स्थानों एवं क्षेत्रों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सूचनाओं को व्यविस्थत क्रम में प्रस्तुत किया है । इसमें कुल 55 पृष्ठों का उपयोग हुआ है तथा इसके ग्रन्थकार श्री हंसराज अग्रवाल हैं।

यह ग्रन्थ अद्यतन नहीं है फिर भी इसमें विश्व से सम्बन्धित दर्शनीय स्थानों की सूचना निहित होने के फलस्वरूप यह एक अत्यन्त उपयोगी सूचना स्रोत है ।

15. भारतेर पुण्यतीर्थ/विमला चरण लाहा.—कलिकता : प्राच्यवाणि मन्दिर, 1944, 67 पृ. ।

यह ग्रन्थ भारतवर्ष में स्थित पवित्र हिन्दू तीर्थ स्थानों पर आधारित है । इसके ग्रन्थकार पश्चिम बंगाल के प्रख्यात प्राच्य विद्या के विद्वान विमल चरण लाहा है । यह ग्रन्थ

सन् 1944 में कोलकता के प्राच्यवाणि मन्दिर से बांगला भाषा में प्रकाशित है । इसमें कुल पृष्ठों की संख्या 67 हैं ।

भारत के पवित्रतीर्थ स्थलों पर यह एक दुर्लभ स्रोत हैं ।

16. **Holy places of India /Bimal Charan Law.-Calcutta : Geographical Survey Society, 1940, vi, 58 p.**

यह ग्रन्थ 1940 में कलकत्ता के भौगोलिक सर्वेक्षण समाज द्वारा प्रकाशित है तथा यह विमल चरण लाहा द्वारा प्रणीत है । इसमें भारत के सम्पूर्ण हिन्दू, बौद्ध एवं जैन तीर्थस्थलों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाओं को व्यवस्थित क्रम में प्रस्तुत किया गया है। भारत के तीर्थस्थलों के विवरणों को इसमें अंग्रेजी में प्रस्तुत किया गया है तथा इसमें कुल 58 पृष्ठों का उपयोग हुआ है ।

17. **The Sacred Complex of Kashi : a microcosm of Indian Civilization/ L.P. Vidyarthi, Makhhan Jha and B.N. Saraswati.-Delhi : Concept Publishing Company, 1979, 319 p.**

यह ग्रन्थ काशी अथवा वाराणसी के धार्मिक भौगोलिक, पर्व एवं त्योहार, वेला, जलवायु एवं एक प्रमुख तीर्थ स्थल से सम्बन्धित सूचनाओं के जानकारी हेतु एक महत्वपूर्ण स्रोत है। इसमें वाराणसी अथवा काशी से सम्बन्धित सूचना की जानकारी चाहने वाले तीर्थ यात्रियों की सुविधा के लिए काशी की धार्मिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा पौराणिक सूचाओं को कुल सात अध्यायों में वर्णित किया गया है ।

इस ग्रन्थ की भाषा अंग्रेजी है तथा इसमें कुल 319 पृष्ठों का उपयोग हुआ है ।

18. **हिमालय दर्शन / कृष्ण नरायण गोस्वामी : - दिल्ली : आत्मा राम एण्ड सन्स, 1963, 183 पृ.।**

यह कृति मार्गदर्शिका का एक प्रमुख उदाहरण है तथा इसमें ग्रन्थकार ने हिमालय के धार्मिक, पौराणिक तथा भौगोलिक महत्व से सम्बन्धित सूचनाओं का सविस्तर व्याख्या प्रस्तुत किया है । यह ग्रन्थ सन् 1963 में दिल्ली के आत्मा राम एण्ड सन्स के द्वारा प्रकाशित है तथा हिमालय से सम्बन्धित सूचनाओं के प्रस्तुती में कुल 183 पृष्ठों का उपयोग हुआ है ।

भौगोलिक दृष्टिकोण से हिमालय पर यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण सूचना स्रोत है परन्तु यह अद्यतन नहीं है।

19. **भारतभ्रमण / साधुचरण प्रसाद – बम्बई : खेमराज श्रीकृष्णदास, 1909. (पाँच खण्डों में) ।**

यह कृति भारत पर एक मार्गदर्शिका के रूप में सन् 1909 पाँच खण्डों में प्रकाशित हुआ है तथा यह बम्बई के खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन से प्रकाशित है ।

इसमें भारत भ्रमण से पूर्व भारत के विभिन्न प्रान्तों के पर्यटन सम्बन्धी आवश्यक सूचनाओं जैसे भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक एवं जलवायु की विस्तृत जानकारी अलग-अलग कुल पाँच खण्डों में प्रस्तु की गयी है । इस कृति के ग्रन्थकार साधुचरण प्रसाद है तथा वर्तमान में इस ग्रन्थ का अद्यतन संस्करण उपलब्ध नहीं है ।

20. भारतानुवर्णनम् / गणपतिशास्त्री टी.त्रिवेन्द्रम् (ग्रन्थकार)–1925, 2; 99 पृ. ।

यह ग्रन्थ गणपतिशास्त्री द्वारा प्रणीत "भारतानुवर्णनम्" संस्कृत भाषा में प्रकाशित भौगोलिक सूचना का एक महत्वपूर्ण प्राचीन स्रोत है । इसे 1925 ई. सन् में प्रकाशित किया गया है तथा इसमें कुल 99 पृष्ठों में सम्पूर्ण भारतवर्ष के धार्मिक, पौराणिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक विशेषताओं से सम्बन्धित तथ्यों का सविस्तार वर्णन किया गया है ।

भारत से सम्बन्धित संस्कृत में प्रकाशित-भौगोलिक स्रोत के रूप में यह एक महत्वपूर्ण कृति है ।

21. यात्रा के पन्ने / राहुल सांस्कृत्यायन - देहरादून : साहित्य सदन, 1952, 440 पृ.।

यह ग्रन्थ सन् 1952 में देहरादून के साहित्य सदन से प्रकाशित है तथा इसके लेखक राहुल-सांस्कृत्यायन हैं । इसमें लेखक ने किसी स्थान विशेष की यात्रा के सम्बन्ध में न लिखकर अपने सम्पूर्ण यात्रा से सम्बन्धि कुछ अंशों को ही प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ एक प्रकार से यात्रा वृत्तांत का प्रमुख उदाहरण है ।

इसके अध्ययन से जिज्ञासु पाठकों को तत्कालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति के साथ ही साथ भौगोलिक परिवेश की जानकारी मिलती है ।

22. हुएन सांग का भारत भ्रमण; ठाकुर प्रसाद शर्मा (सुरेश) द्वारा अनुवादित-प्रयाग : इण्डियन प्रेस लिमिटेड, 1929, 708 पृ.।

इस ग्रन्थ में प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग के भारत भ्रमण की सम्पूर्ण वृत्तांत वर्णित है। यह ग्रन्थ सन 1929 में प्रयाग के इण्डियन प्रेस लिमिटेड द्वारा अनुवादित रूप में प्रकाशित है तथा इसके अनुवादक ठाकुर प्रसाद शर्मा (सुरेश) हैं। इसमें कुल 708 पृष्ठों का उपयोग हुआ है । इसमें हुएनसांग के समय में भारत में बौद्धमत तथा भगवान बुद्ध के प्रति जनता के हृदय में कितनी श्रद्धा थी, आदि की सूचनाएँ वर्णित है । इसमें उस समय के भारत में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दशाओं की विस्तार से विवेचना प्रस्तुत की गयी है ।

इसमें अंकित तत्कालीन भारत के विभिन्न स्थानों के नामों को वर्णानुक्रम में व्यवस्थित किया गया है तथा उनके पुराने नामों के आगे (कोष्ठक) में आधुनिक नामों का उल्लेख भी है ।

यह कृति प्राचीन भारत के भौगोलिक सूचनाओं के साथ ही साथ इतिहास के विद्यार्थियों तथा शोधार्थियों के लिए एव महत्वपूर्ण सन्दर्भ स्रोत है।

23. सम्पूर्ण भारत के सांस्कृतिक पर्यटन स्थल/जगमोहन नेगी एवं अन्य—नई दिल्ली : तक्षशिला प्रकाशन, 1977, 319 पृ.

यह ग्रन्थ भारत के सम्पूर्ण सांस्कृतिक पर्यटन स्थल से सम्बन्धित एक मार्गदर्शिका के रूप में प्रकाशित है । इसमें भारत से सम्बन्धित पर्यटन के विभिन्न क्षेत्रों एवं स्थानों के सूचनाओं को कुल पाँच खण्डों में प्रस्तुत किया गया है । प्रथम खण्ड में भारत परिचय के अन्तर्गत पर्यटन मानचित्र, राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय चिह्न एवं राष्ट्रीय गान का वर्णन है, जबकि शेष चार खण्डों में पर्यटन केन्द्रों से सम्बन्धित सूचनाओं के वर्णन के साथ उत्तर, पूर्व, पश्चिम एवं दक्षिण के पर्यटन मानचित्रों के अतिरिक्त अन्य आवश्यक सूचनाओं को संकलित किया गया है ।

यह पुस्तक भ्रमण करने वाले पर्यटकों के साथ ही साथ सभी श्रेणी के पाठकों के लिए भी उपयोगी है ।

24. Megasthanis Indicis / F.A. Schuvanbeck.-Bonnae, Publications, 1846. ix; 194 p.

इस ग्रन्थ में मौर्यकालीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा भौगोलिक तथ्यों पर आधारित महत्वपूर्ण सूचनाएँ संकलित हैं। यह मौर्यकालीन भारतीय शासक चन्द्रगुप्त मौर्य के एक यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के द्वारा प्रणीत ग्रन्थ है जिसमें तत्कालीन भारत से सम्बन्धित तथ्यों को अनुक्रमणिका के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है ।

यह ग्रन्थ एफ. ए. स्वानबेक द्वारा संकलित है तथा सन् 1846 में प्रकाशित है तथा इसमें कुल पृष्ठों की संख्या 194 है तथा इस समय यह अति दुर्लभ ग्रन्थ है ।

25. Guide to Taxila /John Marshall.-Delhi : Managaer of Publications, 1936. 154 p.; xxv plates.

यह ग्रन्थ भारत सरकार के पर्यटन मंत्रालय के प्रकाशन विभाग से 1936 में तक्षशिला पर आधारित एक मार्गदर्शिका के रूप में प्रकाशित है । इसमें पर्यटन की दृष्टिकोण से तक्षशिला के विभिन्न पहलुओं जैसे प्राचीन काल में पूरे विश्व में एक प्रसिद्ध उच्चशिक्षा केन्द्र, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं, तथा भारत एवं विश्व के किसी भी स्थान से यहाँ पहुँचने के क्या-क्या साधन है, आदि की आवश्यक सूचनाओं को इस दुर्लभ ग्रन्थ में वर्णन प्रस्तुत है।

इसमें सूचनाएँ अंग्रेजी में वर्णित है तथा कुल 154 पृष्ठों में संकलित है। इस ग्रन्थ के लेखक जौन मार्शल हैं।

26. भारत के बौद्ध तीर्थ / भारत-पब्लिकेशन डिवीजन - दिल्ली : मैनेजर प्रेस, 1956. सचित्र; 107 पृ.।

यह भारत सरकार के प्रकाशन विभाग, दिल्ली से सन् 1956 में प्रकाशित है तथा भारत में स्थित बौद्ध तीर्थों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्यों के माध्यम से इसमें जानकारी प्रदान की गयी है । विश्व के अनेक देशों के बौद्ध धर्मावलम्बी भारत में स्थित बौद्ध तीर्थ स्थलों के दर्शन के लिए आते रहते हैं । इस दृष्टिकोण से यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण सूचना स्रोत है तथा इसमें आवश्यक सूचनाओं के साथ ही साथ छाया चित्रों को भी प्रस्तुत किया गया है ।

27. **Guide to Sanchi / John Marshall.-Delhi : The Manager of Publiation, 1955. xiii; 168 p.**

यह ग्रन्थ अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध पर्यटन स्थल साचिस्तूप जो मध्य प्रदेश में स्थित है से सम्बन्धित एक एक महत्वपूर्ण मार्गदर्शिका के रूप में सन् 1955 में भारत सरकार के प्रकाशन विभाग से प्रकाशित है । इस मार्ग दर्शिका में सांचिस्तूप तथा सांचि से सम्बन्धित पर्यटन सूचनाओं को कुल 168 पृष्ठों के माध्यम से अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत की गयी है। इसके ग्रन्थकार जौन मार्शल है ।

यद्यपि यह ग्रन्थ दुर्लभ है परन्तु सांचि से सम्बन्धित सूचनाओं के दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण स्रोत है ।

4. भारत के राष्ट्रीय भौगोलिक कोश-

1. **National Geographical Dictionary of India / Jagadish Sharan Sharma.-Delhi : Sterling Press, 1972.**

इस भौगोलिक कोश में भारत के भौगोलिक स्थानों की संक्षिप्त सूचना प्रदान किया गया है। प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत की सांस्कृतिक धरोहरों, वर्तमान भारत के सामाजिक एवं राजनैतिक विप्लव एवं स्वतन्त्रता प्राप्ति के लम्बे संघर्ष से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सूचनाओं की जानकारी उपलब्ध कराने की उद्देश्य से लेखक ने इसे संकलित किया है । इसमें वर्णित महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थानों की सूचना के साथ ही साथ इसमें महत्वपूर्ण विभूतियों के जन्म-स्थान, सम्बन्धित स्थान की संस्कृति एवं सामाजिक पृष्ठभूमि आदि भी वर्णित है ।

इस कोश में सूचीकृत प्रविष्टियाँ वर्णानुक्रम में विन्यसित हैं । प्रत्येक प्रविष्टि में स्थान राज्य पुर्नसंगठन आयोग के प्रतिवेदन एवं नये-नये राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों पर आधारित मानचित्र के अनुसार प्रस्तुत किये गये हैं । प्रविष्टियों में स्थानों की वर्तनियों में एकरूपता के लिए भारत सरकार द्वारा प्रकाशित गजेटियर में प्रयुक्त समकालीन वर्तनियों की सहायता ली गयी है तथा इसमें वर्तनियों के लिए अन्तनिर्देश भी उल्लिखित हैं।

इस भौगोलिक कोश के अन्त में एक अनुक्रमणिका का उल्लेख है जिसमें स्थान एवं व्यक्तियों के नाम एवं अन्य आवश्यक सूचनाओं को वर्णानुक्रम में प्रस्तुत किया गया है । यह कोश भारत से सम्बन्धित विभिन्न स्थानों की भौगोलिक सूचना की जानकारी प्राप्त करने के लिए एक अत्यन्त उपयोगी सूचना स्रोत है

5. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया-

(Imperial Gazetteer of India)

यह गज़ेटियर सर्वप्रथम सन् 1881 में कुल नौ खण्डों में प्रकाशित किया गया था। तत्पश्चात सन् 1882 में इसके अनुसंगिक खण्ड "द इण्डियन एम्पायर : इटस हिस्ट्री, पीपुल एण्ड प्रोडक्स" की शीर्षक के नाम से प्रकाशित किया गया । इम्पीरियल गज़ेटियर का द्वितीय संस्करण को 1885-87 में कुल चौदह खण्डों में प्रकाशित किया गया । जबकि इसके नवीन संशोधित संस्करणों को 1907-1909 में कुल 26 खण्डों में प्रकाशित किया गया। इसके नव संशोधित संस्करणों में राष्ट्रीय खण्डों के अतिरिक्त राज्यों को एक इकाई के रूप में प्राविन्सियल ग्रन्थमाला तथा जिला गज़ेटियर ग्रन्थमाला को यूनिट बनाकर प्रान्तें एवं अधिकांश जिलों के गज़ेटियर प्रकाशित किये गये । यह कृति भारत एवं यहाँ के निवासियों एवं भौगोलिक स्थिति का अध्ययन करने के लिए एक विस्तृत एवं प्रामाणिक सूचना स्रोत हैं ।

इस गज़ेटियर के संशोधित संस्करण को 1965-78 की अवधि में "गज़ेटियर ऑफ इण्डिया : इण्डियन यूनियन" के नाम से चार खण्डों में भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग से प्रकाशित किया है । इन चार खण्डों में चार अलग-अलग शीर्षकों का उल्लेख है, जैसे–

प्रथम खण्ड - कन्ट्री एंड पीपुल;

द्वितीय खण्ड - हिस्ट्री एण्ड कल्चर;

तृतीय खण्ड - इकोनोमिक स्ट्रकचर एण्ड एक्टिभिटिज,

चतुर्थ खण्ड - एउमिनिस्टटरेशन एण्ड पब्लिक वेलफेयर ।

यह भौगोलिक कोश भारत के विभिन्न राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों की प्रामाणिक भौगोलिक सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए एक अत्यन्त उपयोगी सूचना स्रोत है । इसके प्रत्येक खण्ड में वर्णित अध्यायों में लेख के अन्त में पुस्तक सूची का उल्लेख है तथा आवश्यकतानुसार आँकड़े एवं मानचित्र भी दिये हुए हैं तथा प्रत्येक खण्ड के अन्त में वर्णानुक्रम में व्यवस्थित एक विस्तृत अनुक्रमणिका सूची संलग्न है ।

6. अन्य भौगोलिक स्त्रोत–

अयोध्या, काशी अथवा वाराणसी एवं मथुरा के धार्मिक एवं पौराणिक महत्व के भौगोलिक स्रोत–

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के उपलब्ध साहित्यों में उपर्युक्त वर्णित स्थानों को धार्मिक एवं पौराणिक दृष्टिकोण से विशेष स्थान दिया गया है । इन स्थलों से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य भारत एवं विश्व के अनेक ग्रन्थालयों में यत्र-तत्र संगृहत हैं। शोध कर्ताओं एवं जिज्ञासु पाठकों को आवश्यकता पड़ने इन साहित्यों को खोजने में अधिक समय लग जाता है जिससे शोध कार्य प्रभावित होने का भय बना रहता है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए इन पौराणिक एवं धार्मिक महत्व के स्थलों से सम्बन्धित विभिन्न ग्रन्थालयों में उपलब्ध-भौगोलिक हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों की स्थानानुसार एक संक्षिप्त पुस्तकसूची यहाँ पर प्रस्तुत की गयी है।

अयोध्या-

इस पवित्र स्थान से सम्बन्धित उपलब्ध हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों के विवरणों को भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रकाशित विवरण पंज्जिकाओं जैसे कैटेलोगस कैटेलागोरम, न्यू कैटेलागस कैटोलागोरम एवं सं.सं.वि.वि. के द्वारा प्रकाशित संस्कृत ग्रन्थानाम् विवरण पंज्जिका के पुराणेतिहास एवं गीता खण्ड से संकलित किया गया है ।

कैटेलोगस कैटेलागोरम के प्रथम खण्ड में अयोध्या से सम्बन्धित सूचीकृत हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण–

1. अयोध्या खण्ड
2. अयोध्या महात्मा
3. रामायण अयोध्याकाण्ड
4. रामाधारकृत रामायण पर द्वितीय ग्रन्थ-Oudh vi, 4.
5. रामार्चन पद्धति-रामांनन्दा - Oudh Xiv, 92.
6. रामार्चन पद्धति-रामानुजा-Oudh Xiv, 22
7. वैष्णवमताब्जभास्कर-रघुवर चरण-Oudh xiv, 92
8. रामानन्दा-Oudh Xv, 122.

न्यूकैटेलाग्रास कैटेलागोरम के प्रथम खण्ड में सूचीकृत अयोध्या से सम्बन्धित हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण-

1. अयोध्या क्षेत्र महिम वर्णन-रूद्रयामलम्, विकानेर, 1259
2. अयोध्या क्षेत्र संकल्प-अडयार I (87 a) पृ.

3. अयोध्याखण्ड

4. अयोध्या जी स्तवन-जैन, JASB 1908 p. 409 (no. 6808)

5. अयोध्यातीर्थ वर्णनम् PUL II p. 150.

6. अयोध्यामहात्यम् - इलाहाबाद, Bori, Adyar.

सं. सं. वि. वि. के सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहित अयोध्या से सम्बन्धित पौराणिक हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची–

1. अयोध्याकाण्डम् - 7/630
2. अयोध्या खण्डम् - 7/482
3. अयोध्या महात्म्यम्
4. रामक्षेत्र महात्म्यम
5. रामजन्म
6. रामजन्मागम संग्रह
7. रामजन्मोत्सववर्णनम्
8. रामबालचरितम्
9. रामजन्म नवमी व्रत कथा
10. रामार्चन पद्धति
11. रामार्चन चन्द्रिका
12. रामजन्म गाथा
13. रामाद्यवतार कथा
14. रामाश्वमेध
15. सत्योपाख्यानम्
16. सत्यतपो पाख्यानम्
17. श्री जानकी भाष्य (ब्रह्मसूत्र परभाष्य)
18. रूद्रयामलम्

मुद्रित ग्रन्थ सूची-

1. सर्वदेश वृतांत संग्रह / महेश ठक्कुर; सम्पादन द्वारा सुभद्र झा.-पटना : विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1962 ।

2. अयोध्या का इतिहास / सीताराम.-प्रयाग : हिन्दुस्तान एकेडेमी, 1932, 10, 288 पृ.

3. रूद्रयामलम्

काशी अथवा वाराणसी-

संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रकाशित विवरण पंज्जिकाओं में कैटेलोगस कैटेलागोरम, न्यू कैटेलोगस कैटेलागोरम, तथा सं.सं. वि. वि. द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित विवरण पंज्जिका के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थालयों ने भी अपने अपने हस्तलिखित विवरण पंज्जिकाएँ प्रकाशित किये हैं । इन विवरण पंज्जिकाओं में काशी अथवा वाराणसी से सम्बन्धित सूचीकृत संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों के शीर्षकों को एकत्रित करके व्यवस्थि क्रम में यहाँ पर प्रस्तुत किया गया है ।

कैटेलोगस कैटेलागोरम-(भाग-1) 1 0 5 p.

1. काशीप्रकरण
2. काशी प्रकाश
3. काशी प्रघट्टक
4. काशीमरणमुक्ति विचार
5. काशी महात्म्य
6. काशी महात्म्य कौमुदी
7. काशी रहस्य
8. काशी महात्म्य संग्रह
9. काशी मुक्ति प्रकाशिता
10. काशी मोक्ष
11. काशी मोक्ष निर्णय

कैटेलोगोस कैटेलागोरम (भाग-II) 20-21P.

1. काशी खण्ड
2. काशी महात्म्य
3. काशी मोक्ष निर्णय
4. काशी विश्वनाथ स्तोत्र
5. काशी स्तोत्र ।
6. काशीस्थ गोरेमुख विवादाधिकारि प्रश्नानां कम्पनी काशी पाठशालास्थ पण्डितत्रतिदत्तोतराणां च संग्रहः ।

कैटेलोगस कैटेलागोरम- (भाग-I) 565 p.

1. वाराणसी महात्म्य ।
2. वाराणसी तीर्थ महात्म्य ।

न्यू कैटेलोगस कैटेलागोरम (खण्ड-4), 1968 ।

1. काशी कल्प लतिका ।
2. काशी कारिका ।
3. काशी केदार महात्म्य ।
4. काशी क्षेत्र निर्णय ।
5. काशी क्षेत्र यात्रा ।
6. काशी क्षेत्र संकल्प ।
7. काशी क्षेत्रस्य प्रार्थना ।
8. काशीखण्ड ।
9. काशी खण्ड कथा ।
10. काशी खण्डकथा केली ।
11. काशी खण्ड कथा भूषण ।
12. काशी खण्ड कथा संग्रह ।
13. काशी खण्ड चम्पू ।
14. काशी खण्ड महात्म्य ।
15. काशी खण्ड रहस्य ।
16. काशी खण्ड संग्रहः ।
17. काशी खण्ड सार संग्रह श्लोक ।
18. काशी खण्ड सारोद्धारः ।
19. काशी खण्डानुक्रमणिका ।
20. काशी खण्डोक्त पद्यावली
21. काशी गंगा स्नान विधि
22. काशी तत्व ।
23. काशीत्व कौमुदी ।
24. काशीतत्व दीपिका ।
25. काशी तत्व प्रकाशिका ।
26. काशी तत्व प्रकाशिका ।
27. काशी सारोद्धारः ।
28. काशीतत्व विचार ।
29. काशीतत्व विवेक ।

30. काशीपुर महिम वर्णनम् ।
31. काशी पुराण ।
32. काशीपुर्यष्टक
33. काशी प्रकरण
34. काशी प्रकाश ।
35. काशी प्रद्यटक
36. काशी प्रदक्षिणा ।
37. काशी प्रादुर्भाव ।
38. काशी मंगलस्तोत्र
39. काशी मरणफल
40. काशी मुक्ति विचार ।
41. काशीमरण विचार ।
42. काशी महात्म्य ।
43. काशी महात्म्य स्तोत्र ।
44. काशी मुक्ति प्रकाशिका ।
45. काशी मुक्ति विवेक ।
46. काशी मूल रहस्य ।
47. काशी मृतिमोक्ष निर्णय ।
48. काशी मोक्ष निर्णय ।
49. काशी मोक्ष प्रकाश ग्रन्थ ।
50. काशी यात्रा ।
51. काशी यात्राक्रम ।
52. काशी यात्रादिश्लोका ।
53. काशी यात्रानुवर्णन ।
54. काशी यात्रा पद्धति ।
55. काशी यात्रा प्रकरण ।
56. काशी यात्रा प्रकाश ।
57. काशी यात्रा प्रकाशिका ।
58. काशी यात्रा प्रशंसा ।
59. काशी यात्रा प्रात्युपाय ।
60. काशी यात्रा विधि ।

61. काशी यात्रा श्लोक ।
62. काशीरत्न माला ।
63. काशी रहस्य ।
64. काशी रहस्य कथा भूषण ।
65. काशी रहस्य प्रकाश ।
66. काशी रहस्य संग्रह ।
67. काशी रहस्य सार संग्रह ।
68. काशीराज ।
69. काशीराज चरित्र वर्णन ।
70. काशीराज संहिता ।
71. काशीवर्णन ।
72. काशीवासिनां देशाचार ।
73. काशी विधि ।
74. काशी विवेक ।
75. काशी विश्वनाथ स्तुति ।
76. काशी विश्वनाथ स्तोत्र ।
77. काशी विश्वनाथ मंगल स्तोत्र ।
78. काशी विश्वनाथाष्टक ।
79. काशी विश्वेश्वर स्तुति ।
80. काशीविश्वश्वरादि स्तोत्र ।
81. काशी विहार पुष्करिणी ।
82. काशी सार या काशी सारोद्धार ।
83. काशी सार महात्म्य ।
84. काशीसार शतक ।
85. काशीसार संग्रह ।
86. काशी सेतुः ।
87. काशीस्तवः ।
88. काशीस्तुति ।
89. काशी स्तोत्र ।
90. काशी स्मरण ।
91. काशी स्वरूपनिर्णय ।
92. काशीस्थ गंगा महिमा ।
93. काशीस्थित चन्द्रिका ।

संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थानाम विवरण पंञ्जिका (खण्ड-4; भाग-1)

1. काशी केदार महात्म्यम् ।
2. काशी खण्डम् ।
3. काशी खण्डम् सटीकम्।
4. काशी खण्ड कथा संग्रह : ।
5. काशी खण्ड टीका ।
6. काशीखण्डों प्याख्यानम् ।
7. काशीमरण फलम् ।
8. काशी महातम्यम् कौमुदी।
9. काशी महात्म्यम् ।
10. काशीमहात्म्यवर्णनम् ।
11. काशी महात्म्य संग्रह ।
12. काशी महात्म्य सार ।
13. काशी मुक्ति प्रकाशिका ।
14. काशी मुक्ति विवेकः ।
15. काशी मृति मोक्ष निर्णय ।
16. काशी सारः ।
17. काशी सारोद्धार ।
18. काशी स्थिति चन्द्रिका ।
19. काशीस्वरूप कथनम् ।

संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थानाम विवरण पंञ्जिका (खण्ड-4; भाग-II)

1. काशी केदार महात्म्यम
2. काशी क्षेत्र महात्म्यम्
3. काशी खण्डम्
4. काशी खण्डम् सटीकम्
5. काशी खण्डम् सव्याख्यानम्
6. काशी खण्ड कथा संग्रह
7. काशी खण्ड टीका
8. काशी खण्ड व्याख्या
9. काशीखण्डानुक्रमणिका

10. काशी खण्डे क्षेत्रतीर्थवर्णनम्
11. काशी तत्वम्
12. काशी तत्त्व विचारः
13. काशी तत्व विवेक संग्रहः
14. काशी देव यात्रा विवरण
15. काशी भक्ति सुधारर्णवः
16. काशी महिमा
17. काशी महात्म्यम्
18. काशी महात्म्यम् सविवरणम्
19. काशी महात्म्यम् सविवरणम्
20. काशी महात्म्य कौमुदी
21. काशी यात्रा ।
22. काशीयोगः
23. काशी रहस्यम्
24. काशी रहस्यम् सटीकम् ।
25. काशी रहस्य व्याख्या सेतुः ।
26. काशी वर्णनम् ।
27. काशी स्थित चन्द्रिका ।

संस्कृत हस्तलिखितग्रन्थानाम् विवरण पंज्जिका (खण्ड - 4; भाग-1)

1. वाराणसी रहस्यम् ।

संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थानाम विवरण पंज्जिका--(खण्ड-4; भाग II)

1. वाराणसी महिमा ।
2. वाराणसी महात्म्यम् ।
3. वाराणसी रहस्यम् ।

भारत के राष्ट्रीय ग्रन्थालय, कोलकता में काशी अथवा वाराणसी से सम्बन्धित संगृहीत मुद्रित ग्रन्थों की सूचियाँ--

1. E/O 954 A1 51-All about Benares. Containing a sketch from the Vedic days to modern time.
2. E/O 9/15.4250084 R. 126. Banaras/Raghubir Singh.
3. E. 915.4 In 26. Indian Science Congress. Banaras hand-book.
4. E 915.4 192v Varanasi / Rajbali Pandey, 1969.

5. E 915.4 Sa 71. Kashi : myth and reality/Baidyanath Saraswati.
6. E. 915.4 M 681 Banaras/ S.N. Mishra.
7. E 915.4 c 349 Banaras and Sarnath/ P.M. Chakravorty.
8. E 915.4 c.17 Banaras Strong hold of hinduism / Charles Philips Cape.
9. E 915.4 H 298 h (1). Banaras the Sacred City / E. B. Havell.
10. E 915.4 M 348 Benares La ville Sainte/ Jean Marques Riviere.
11. E 915.4 Se 71 - Banaras.
12. E 915.4 W 125 The Varanasi Guide book/ Paul Wagner.
13. E 915.425 0084 W 693 Banaras / Henry Wilson.
14. E 915.4 Sa 58m My Kashi-Badri / R. Shankaran.
15. E 915.4 V 669s The Sacred Complex of Kashi / Lalita Prasad Vidyarthi.
16. E. 954 M. 691B Banaras in transition (1738-95) / Kamala Prasad Mishra.
17. E 954.25 C 899 Culture and Power in Banaras (1800-1980)
18. E 954 Sa 59 be Banaras and the East India Company (1764-1795) / Surya Prakash Sanyal.
19. 167. B. 2 Historial notes on the Rajghat Plateau / Sir A. Colvin.
20. 179. A. 37. Life and work in Benares/ G. Kenedy, 1844.
21. 162.G.8 Journal of a route to Nagpoe / D.R. Leckie.
22. 162. G. 84 Smiling Benares /K.S. Muthiah & Comp.
23. 160. A. 19 (20) Benares and its antiquitiecs/ Mathew Atmore Sherring.
24. 162. G. 317. Benares and Sarnath / A Sadashiv Altekar.
25. 162. G. 48. Banares / Ram Lochan Singh.
26. 162. G. 143 A Handbook of Banaras / Arthure Parkar.
27. 162. G. 313 Holi Varanasi and Lumbini /S.M. Veerappan.
28. 211. K. 15 (1) Benares / James Princep.
29. 162. G. 183 The Holy city (Benares) / Rajani Ranjan Sen.
30. J.S. 954.03 D. 296 Vizier Alikhan or massacre of Banaras (1795-1890) / Sir John Francis Davis.
31. V.C. 954 A 179 Benares : Past and present / Ananta Sadashiv Altekar, 1943.
32. E. 294.54 Ec51 Banaras the city of Light /Dianna L. Eck.
33. E/O 301. 4430954 S. 64 Rajput Clan-settlements in Varanasi / Rambali Singh.
34. E/O 330. 954 Un 3 Var Servey of Varanasi / Union Bank of India.
35. E/O 954.250084 K 527 Banaras sacred city / Ashok Khanna, 1988.
36. E/O 378.54 B 43 Report of the BHU Inquiry committee to his highness the Chancellor-Delhi /BHU, Varanasi, 1946.

37. E/O 016/615538 B22 A descriptive Catalogue of manuscripts on Ayurveda in BHU./BHU Library, Varanasi.
38. E/O 614.0954 B22 Report of the Department of social Preventive Medicines/ College of Medical Science, BHU. Varanasi.
39. E/O 401.09425 Si 53 Bilingaulism and language maintenance in Banaras or Banarasi boli/ Beth Lee Simon.
40. E 378. 54 Su 728 BHU-(1916-1982) / V.A. Sundram.
41. E 378.54 Su 72 BHU- Symposium/ V.A. Sundram.
42. 162. G. 13 The Sacred city of Hindus / Mathew Atmore Sherring.
43. 162.G. 305 Banaras-holycity-Kashi/ S.H. Ali.
44. 172. C. 35 Selections from the Duncan records/ A. Shakespeare, 1873.
45. 169. F. 57 Speeches and writing of Pandit Madan Mohan Malviya (1919-)/ Madan Mohan Malviya.
46. 172.4 575 BHU (1905-1935)/V.A. Sundram.
47. E 915.425 Si64 Geography of tourism and recreation/ Sachidanand Singh, 1986.
48. E 301.209542 K 96 The Artisans of Banaras popular Cultue and identity, Nita Kumar, 1988.
49. E/O 352.054 D 262 Microlened Political elite; a study of the special background of Varanasi / Vijay Ranjan Datta, 1973.
50. E/O 915.40084 K 179 Portraits, the people of Varnasi / Tadayuki Kawahito, 1975.
51. E/O 730.954 G 959 Gupta Culture / BHU, Bharat Kala Bhavan Varanasi.
52. E/O 301-2095-425 T 549 Benares texts [illegible] Photographes/ Pierre Toutain, 1951.
53. 954 R./211r. The rebel nawab of Oudh : revolt of Vizier Alikhan, 1799, 1990.
54. 162, G. 33 The Banaras Guide book with sketch map of City and Suburbs by an old resident, Banaras, 1875.

मथुरा

कैटेलोगस कैटेलागोरम के प्रथम भाग में मथुरा से सम्बन्धित सूचीकृत हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण—पृ. 425

1. मथुरामहिमन्
2. मथुरामहात्म्य
3. मथुरामहात्म्य-बल्लभाचार्य ।
4. मथुरामहात्म्यसंग्रह ।
5. मथुरासेतु - अनन्तदेव ।

कैटेलोगस कैटेलागोरम के द्वितीय भाग में मथुरा से सम्बन्धित हस्तलिखित सूचीकृत ग्रन्थ का विवरण पृ. 97 ।

1. मथुरामहात्म्य

संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थानाम विवरण पंज्जिका (खण्ड-4 ; भाग 1) में मथुरा से सम्बन्धित सूचीकृत हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण–

1. मथुरामहात्म्यम् ।
2. मथुरामहात्म्यम् सचित्रम् ।
3. मथुरा महात्म्य संग्रहः ।

संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थानाम विवरणपंज्जिका का खण्ड 4 ; भाग-II)

1. मथुरामहात्म्यम् ।
2. मथुरासेतु ।

मथुरा से सम्बन्धित मुद्रित ग्रन्थ–

Uttar Pradesh Insformation Directorate Lucknow. Mathura.–Lucknow : Manager of Publication, 1955, ii, 34p. : maps.

□□

नवम अध्याय

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख शासकीय प्रलेख एवं शोध पत्र-पत्रिकाएँ : महत्त्व एवं सूचना स्रोत

(Government Documents and Important Research Journals/Serial of Sanskrit and Oriental Learnings : Importance and Information sources)

1. भूमिका-

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या साहित्य के इतिहास में शासकीय प्रलेख की अवधारणा सांस्कृतिक विरासत के रूप में प्राप्त हुयी है, क्योंकि वैदिक काल से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक के इतिहास जानने के लिए अनेक राजाओं द्वारा निर्मित करवाये गये स्तूप, मन्दिर, गुफा, तालाब एवं बावड़ी आदि पर लगाये हुए स्तम्भों तथा मूर्तियों के आसनों पर खुदे हुए अनेक लेख, मन्दिर एवं मठ के अर्पण की हुई सम्पत्ति के दानपत्र के उल्लेख, कुटुम्ब सम्बन्धी आवश्यक विषयों, राजकीय आदेशों, तथा धर्म के नियमों को सुवर्ण पत्रों पर खुदवाये जाने का उल्लेख मिलता है। सोना बहुमूल्य होने के कारण चांदी के पत्रों पर भी लेख खुदवाये जाते थे । परन्तु ताम्बा सभी अन्य धातुओं में सबसे अधिक लेखन सामग्री के रूप में उपयोग किया जाता था । राजाओं तथा सामन्तों की तरफ से दान अथवा आदेश की सनदें ताम्बे पर खुदवाकर दी जाती थी और अबतक दी जाती है जिनको दानपत्र, ताम्रपत्र, ताम्र शासन या शासन पत्र कहते हैं। दानपत्रों के अतिरिक्त कोई राजाज्ञा अथवा स्तूप, मठ आदि बनाये जाने के लेख खुदवायी जाती थी । इतना ही नहीं राजकीय आदेशों से ताम्रपत्रों पर कभी-कभी पुरी पुस्तकें तक को खुदवायी जाती थी । सभ्यता के विकास के साथ ही साथ शासकीय प्रलेखों के आधार सामग्री के रूप में धातु के स्थान पर ताड़पत्र एवं भूर्जपत्र का उपयोग होने लगा । परन्तु कागज के आविष्कार के फल स्वरूप शासकीय प्रलेखों की प्रकाशन में पूरे विश्व में सर्वाधिक वृद्धि दर्ज की गयी ।

2. महत्व-

पूरे विश्व में शासन को ही सबसे बड़ा प्रकाशक का स्थान प्राप्त होता है। शासकीय प्रकाशन जैसे प्राचीन काल में अनेक दृष्टिकोणों से उपयोगी एवं महत्वपूर्ण होते थे ठीक वैसे

ही वर्तमान विश्व में भी शासकीय प्रकाशन अनेक दृष्टिकोणों एवं उद्देश्यों के कारण उपयोगी एवं महत्वपूर्ण होते हैं। शासकीय प्रलेखों में क्षणिक नियताकालिकें, पुस्तकें, अनेक प्रकार के आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक, वित्तीय, अनुसन्धान, समितियों तथा आयोगों के प्रतिवेदन इत्यादि को सम्मिलित किया जा सकता है । शासकीय प्रलेखों के अन्तर्गत राज्यों, स्थानीय निकायों एवं स्वायतशासी संस्थाओं के प्रकाशन को भी सम्मिलित किया जाता है। ऐसे शासकीय प्रलेखों को "भूरा साहित्य" (Grey Literature) के नाम से जाना जाता है।

3. परिभाषाएँ (Definitions)-

जिन प्रलेखों के प्रकाशनों के मुद्रण से सम्बन्धित व्यय को शासकीय निकाय वहन करते हैं, उन्हें शासकीय प्रलेख कहते हैं । इस प्रकार शासकीय प्रलेखों को प्रकाशित करने वाली शासकीय निकायों के विभिन्न इकाइयों जैसे न्याय पालिका, अनुसन्धान संस्थान, आयोगों, समितियों, वित्तीय संस्थानों, केन्द्र एवं राज्य सरकारों के अधीन कार्यरत संगठनों एवं कार्यालयों को सम्मिलित किया जा सकता है। उपयोग की दृष्टि से शासकीय प्रलेखों को तीन रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है, जो इस प्रकार निम्नवत है-

1. शासन के प्रशासनिक अभिलेख;
2. अनुसंधान सम्बन्धी अभिलेख,
3. शासन से सम्बन्धित गुप्त अभिलेख.

शासकीय प्रलेखों की भौतिक स्वरूप किसी पुस्तक, नियतकालिक; प्रतिवेदन या शूक्ष्मरूपों (Microforms) में हो सकता है । शासन सम्बन्धी विभिन्न गतिविधियों को सम्पन्न करने में शासकीय प्रलेखों का उपयोग करना पड़ता है । जिसके लिए शासकीय प्रलेखों के सभी प्रकाशनों की जानकारी प्राप्त करने के लिए कुछ हस्तपुस्तिका, निर्देशिकाएँ एवं अन्य उपकरणों से परिचित होना आवश्यक होता है । शासकीय प्रलेखों की सहायता से सरकारी तन्त्रों को सूचना उपलब्ध कराने के साथ ही साथ आम नागरिकों को भी एक निश्चित सीमा तक सरकारी गतिविधियों से सम्बन्धित सन्दर्भ एवं सूचना सेवा प्रदान करने में बहुत सहायता मिलती है ।

4. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख शासकीय प्रलेख-

1. यूनेस्को वर्ल्ड मिमोरी रजिस्टर (The record of Outstanding documentary heritage from the all parts of the Word is procured in the memory of the World Register of Unesco, e.g. Some Indological Manusripts also included in it.

2. Catalogue of the Library of India Office, Vol.-II; Part-1, Sanskrit Books, London, 1897.

3. Catalogue of the Library of India Office, Vol.-II; Part-1, Sanskrit Books, Section I (A-G). London, 1938.

4. Catalogue of the Library of India Office, Vol.-II; Part-1, Sanskrit Books Section-II (H-Krshna-lilamrta). London, 1951.

5. Catalogue of the Library of India Office, Vol.-II; Part-1, Sanskrit Books, Section-III (Krsnalilamrta-R). London, 1955.

6. Catalogue of the Sanskrit, Pali and Prakrit Books in the Library of British Museum. London.

1. 1876-1892, C. Bendall, 1893.

2. 1892-1906, L.D. Barnett, 1908.

3. 1906-1928, L.D. Barnett, 1928.

7. Census of the exact sciences in Sanskrit / David Pingree (CESS) Series. A Volume-3 (ca to na). American Philosophical Library, Philadelphia, 1976.

8. National Commission for the compilation of History of Science in India.-New Delhi.

1. Bibliography of Sanskrit works on Astronomy and Mathematics by S.N. Sen, A.K. Bag and S. Rajeshwar Sharma.

9. Bibliotheque Nationale, Department des Manuscripts.

Catalogue Sommaire des manuscripts Sanskrit et Palis par A. Cabton. Paris.

Ier Facicule- Manuscripts-Sanskrit-1907.

IIe Fascicule-Manuscripts-Palis- 190[illegible]

IIIe Fascicule - Catalogue Sommaire des Manuscripts Indienne par A. Cabaton. 1912.

10. Duncan's Report to the British Government for opening the Government Sanskrit College of Benares.

11. Government of India. Ministry of Human Resource Development. Sanskrit Commission-1956-Report. Delhi : Manager of Publications, 1958.

12. Government of India. Ministry of Culture. National Mission for Manuscripts sponsored Project under Indira Gandhi National Center for Arts. New Delhi.

13. University Grants Commisson Report on C.D.C. for Sanskrit Education.

14. India. State Governments. Directorate of Sanskrit Education Report.

15. India. State Government. Reports of the Sanskrit Education Boards.

16. India . Uttarakhand State Government. Sanskrit as a second State Language-Reports.

17. Government of Inidia's Report on Sanskrit Year-2000 towards promotion of Children literature in Sanskrit.

18. Annual Report on Sanskrit Indian Epygraphy / Govt. of India.-Delhi. Manager of Publication.–

19. Imperial Library, Calcutta. A handlist of the Sanskrit Manuscripts in the Imperial Library, Calcutta. (In this list (410) Sanskrit Manuscripts quoted by the Library Numbers).

20. Indian Museum, Calcutta. A handlist of 11286 Sanskrit Manuscripts in the Indian Museum, Calcutta. (Presently this all manuscripts are stored and preserved in the Asiatic Society of Bengal Library, Calcutta).

21. Govt. of Orissa, State Musuem. Descriptive catalogue of Sanskrit Manuscripts - Vol. 1- Smrti Mss.–Bhuvaneshwar, 1958.

22. Corpus Inscriptionum Indicarum Vol.-4,/Government of India.-New Delhi : Archaelogical Department, 1955.

23. Catalogue of Sanskrit, Pali, and Prakrit Books-Supplement-1947-1980 / National Library, Kolkata, 1988.

24. A Compiled List of Sanskrit Documents preserved in the Foreign Offical Document Section of the National Library, Kolkata.

25. A Compiled List of Sanskrit Documents Preserved in the Indian Official Document Section of the National Library, Kolkata.

26. Reports of the Cultural Exchange Programme of Government of India, Ministry of External Affairs for Promotion of Sanskrit Language and Literature at International level.

27. Conferences, Seminars and Committees Reports of the Indian Council of Philosophical Research, New Delhi.

28. National and International Standards of translations, transliterations and transcriptions for Sanskrit works from Devanagari script to Roman Script and other Languages.

5. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के शासकीय प्रलेखों की 'ई' एवं डिजिटल संस्करण-

कम्प्यूटर एवं संचार प्रद्यौगिकी के आगमन से पूरे विश्व में शासकीय प्रलेखों को डिजिटली एवं ईलैक्ट्रॉनिकली प्रकाशित किया जाने लगा है । परन्तु संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के क्षेत्र में शासकीय प्रलेखों की ऑन लाइन, डिजिटल अथवा इलैक्ट्रानिक संस्करणों की संख्या बहुत ही न्यून है । वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विश्व के सभी देशों में शासन सम्बन्धी विभिन्न गतिविधियों के सुचारू संचालन के लिए आवश्यक निर्णय करने में विभिन्न प्रकार के सूचनाओं की आवश्यकता पड़ती है, जिसे इन्टरनेट एवं आनलाइन माध्यमों से आसानी से प्राप्त किया जा सकता है ।

शासन सम्बन्धित कार्यों के सम्पादन में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या की भूमिका अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में बहुत ही सीमित है । फिर भी भारतीय परिवेश में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के शासकीय प्रलेख की डिजिटल संस्करण ब्रिटिश कालीन शासन के प्रारम्भिक चरणों में देखने को मिलता है । उस समय इंग्लैण्ड के संस्कृत विद्वानों द्वारा वाराणसी के प्रसिद्ध संस्कृत के आचार्यों एवं पंडितों द्वारा वेदमन्त्रों के सही उच्चारणों को पढ़वाकर संग्रहण के दृष्टिकोण से अनेक आडियो रिकार्ड तैयार कराया गया । शासकीय प्रलेखों की डिजिटल संस्करणों को संस्कृत में अधिकाधिक रूपों में प्रकाशित करने में केन्द्र एवं राज्य सरकारों की महत्वपूर्ण भूमिका है । परन्तु इसके लिए भारत के प्रत्येक राज्यों में हिन्दी एवं क्षेत्रीय भाषाओं के साथ ही साथ संस्कृत में भी सरकारी क्रियाकलापों एवं गतिविधियों से सम्बन्धित दस्तावेजों को ईलैक्ट्रानिक एवं डिजिटल रूपों में विकसित करना समीचीन प्रतीत होता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यूनेस्को का वर्ल्ड मिमोरी रजिस्टर संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के डिजिटल प्रलेख का एक प्रमुख उदाहरण है क्योंकि इसमें भारत के अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियों को प्रलेखित किया गया है । राष्ट्रीय स्तर पर भारत सरकार द्वारा अखिल भारतीय आकाशवाणी एवं दूरदर्शन प्रसारण सेवा के द्वारा समाचारों को संस्कृत भाषा में प्रसारण सेवा भी शासकीय प्रलेख की डिजिटल संस्करण का ही एक रूप है ।

इसी प्रकार भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा संस्कृत आयोग-1956 के सम्पूर्ण प्रतिवेदन को इन्टरनेट पर उपलब्ध कराया गया है । परन्तु इस क्षेत्र में शासकीय प्रलेखों की डिजिटल प्रतियों की संख्या में वृद्धि हेतु केन्द्र एवं राज्य सरकारों के सभी विभागों में हिन्दी एवं क्षेत्रीय भाषाओं के साथ ही साथ संस्कृत में भी इन्टरनेट अथवा आनलाइन के माध्यम से उपलब्ध कराया जाना आवश्यक है ।

6. संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के मुद्रित एवं ईलैक्ट्रॉनिक संस्करण-

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या की क्षेत्र में मुद्रित संस्कृत पत्रकारिता का पुष्पन-पल्लवन 19वीं सदी के अन्तिम चरण से प्रारम्भ हुई । भारतवर्ष में संस्कृत पत्रकारिता का सर्वप्रथम

शुरूआत 1866 ई. में वाराणसी में ''काशी विद्यासुधानिधि'' नामक पत्र से प्रारम्भ हुआ। यह संस्कृत शास्त्र से सम्बन्धित ऐतिहासिक पत्रिका सन् 1866 में वाराणसी के राजकीय संस्कृत पाठशाला से प्रकाशित हुई । इस पत्रिका के फलस्वरूप धीरे-धीरे संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार-प्रसार तथा प्रकाशन की गति में तेजी आने लगी । ''काशी विद्यासुधानिधि'' के प्रकाशन के ठीक दसवें वर्ष 1876 में इसे स्थगित होने के बाद 1887 से 1977 तक यह एक नये शीर्षक ''पण्डित पत्रिका'' के नाम से प्रकाशित होती रही तथा सन् 1942 में पुनः ''पण्डित पत्रिका'' शीर्षक को परिवर्तित करके ''सरस्वती सुषमा'' शीर्षक के नाम से अद्यावधि प्रकाशित होती है । कुछ अन्य प्रारम्भिक संस्कृत पत्रिकाओं में ''विद्योदय'' एवं ''संस्कृत चन्द्रिका'' नामक पत्रिकाएँ जो क्रमशः लाहौर, कलकत्ता तथा शोलापुर से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुए । भारतीय संस्कृत पत्रकारिता को एक नयी दिशा प्रदान करने में इन संस्कृत पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही । ''विद्योदय'' संस्कृत पत्रिका का प्रकाशन 1871 से 1914 तक लाहौर में ऋषिकेश भट्टाचार्य के सम्पादकत्व में सम्पन्न होता रहा, परन्तु कुछ समय बाद पं. ऋषीकेश भट्टाचार्य लाहौर का त्याग कर स्थायी निवास के निमित कलकत्ता चले गये और वहीं से इस संस्कृत पत्रिका ''विद्योदय'' का प्रकाशन होने लगा । संस्कृत के नियतकालिक संस्कृत साहित्य का उदगम स्थल काशी या वाराणसी से ही एक अन्य संस्कृत पत्रिका–''पूर्णमासी'' अथवा 'प्रत्यकर्मनन्दिनी'' नामक शीर्षक से सत्यव्रत सामंश्रमी के सम्पादकत्व में 1876 से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुई ।

संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं की परम्परा काशी से उत्पन्न होकर धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारतवर्ष में इसके महता को स्वीकार किया जीने लगा । इसी क्रम में जयपुर की संस्कृत परम्परा में वहाँ के कुछ संस्कृत विद्वानों द्वारा सर्वप्रथम सन् 1904 में ''संस्कृत रत्नाकर'' नामक संस्कृत पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया जो सन् 1949 तक जयपुर से प्रकाशित होती रही । जब 1950 में यह संस्कृत पत्रिका जयपुर से अन्यत्र स्थानान्तरित हो गयी। ठीक इसके दो वर्ष बाद सन् 1952 में एक अन्य संस्कृत पत्रिका ''भारती'' नामक शीर्षक से पुनः प्रारम्भ हुई । जो अद्यावधि प्रकाशित होती है । यह मासिक पत्रिका है । सन् 1980 में संस्कृत अकादमी की स्थापना के बाद से राजस्थान में संस्कृत साहित्य के विकास में एक नयी कड़ी के रूप में ''स्वरमंगला'' नामक संस्कृत पत्रिका को प्रकाशित किया जाता है ।

इसी प्रकार विहार के संस्कृत परम्परा में विहार से प्रकाशित होने वाले संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं में सर्वप्रथम सन् 1905 में ''मिथिलामोद'' नामक संस्कृत पत्रिका को मिथिलांचल से प्रकाशित किया गया । इसी क्रम में सन 1918 में पटना से ''मित्रम्'' नामक संस्कृत पत्रिका प्रकाशित हुई । सागर विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. उपाधि के लिए श्रीराम गोपाल मिश्र ने संस्कृत पत्रिका का इतिहास नामक शोध प्रबन्ध लिखा है, जो विवेक प्रकाशन, दिल्ली से 1980 में प्रकाशित भी है । इस शोध प्रबन्ध में 19वीं एवं 20वीं सदी के उदित एवं प्रायः सभी नियत कालिक संस्कृत पत्रिकाओं का सविस्तार उल्लेख किया गया है। श्री

रामगोपाल मिश्र के अनुसार 19वीं शताब्दी में कुल संस्कृतशास्त्र के पत्रिकाओं की संख्या 54 थी और 20वीं शताब्दी में यह संख्या बढ़कर 166 हो गयी । संस्कृत में दैनिक पत्रक प्रकाशित करने का साहस त्रिवेन्द्रम की जयन्ती और पूणे की संस्कृति के सम्पादकों ने भी किया था । कांचीवरम् के प्रतिवादि भयंकर मठ के अधिपति अनन्ताचार्य ने अपनी "मंजुभाषिणी" नामक मासिक पत्रिका अपने मठ का मत प्रचार करने के उद्देश्य से चलायी थी । मद्रास के आर. कृष्णम्माचार्य की सहृदया का उद्देश्य पौरस्य एवं पाश्चात्य विद्याओं का समन्वय करना था । इसी प्रकार अयोध्यावासी काली प्रसाद त्रिपाठी ने अपना "संस्कृतम्" नामक साप्ताहिक संस्कृति नियत कालिक चलायी थी ।

संस्कृत केवल धार्मिक व्यवहार की ही भाषा नहीं बल्कि एक अखिल भारतीय भाषा होने के कारण प्रायः भारत के सभी प्रदेशों के प्रमुख शहरों से संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होना उल्लेखनीय है । आधुनिक युग के राजकीय, सामाजिक, आर्थिक व्यवहारों में एवं यांत्रिक जीवन में आवश्यक आशय व्यक्त करने के लिए प्राचीन संस्कृत साहित्य में न मिलने वाले अनेक नवीन संस्कृत शब्दों का प्रचार इन संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा सम्भव हो सका है । इतना ही नहीं इन सभी संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं में आधुनिक संस्कृत साहित्य का बहुत सारा उत्कृष्ट अंश यथावसर प्रकाशित होता रहा । अभी भी अनेक श्रेष्ठ संस्कृत नियत कालिकों में यथावसर प्रकाशित कथा, उपन्यास, खण्ड काव्य, नाटक आदि का यथोचित संकलन करना तथा उसके जिज्ञासुओं तक उपलब्ध करवाना एक महत्वपूर्ण कार्य है ।

आधुनिक संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं के प्रादुर्भाव के कारण संस्कृत गद्य साहित्य में महान परिवर्तन हुआ है । प्राचीन संस्कृत लेखकों की क्लिष्ट लेखन शैली समाप्त होकर सरल सुबोध लेखन शैली प्रचलित हुई है तथा पुराने मुद्रित ग्रन्थों में संधियुक्त मुद्रण के अतिरेक से उत्पन्न दुर्वाचनीयता दोष को दूर करने में संस्कृत नियतकालिक साहित्य का महत्वपूर्ण भूमिका रही है ।

आधुनिक संस्कृत नियतकालिक वाङ्मय के विकास में संस्कृत के अनेक लब्धप्रतिष्ठ भारतीय विद्वानों में विद्यावाचस्पति अप्पा शास्त्री राशिवड़ेकर, रा. ना. दाण्डेकर, वेंकट राघवन, गुरूप्रसाद शास्त्री, दीनानाथ शास्त्री, चिन्ताहरण चक्रवर्ती, आर. कृष्णभट्टाचार्य, पं. मदन मोहन मालविय जी, म. म. पं. गोपीनाथ कविराज जी के साथ ही साथ यूरोपीय विद्वानों में आर्थर वेनिस एवं आर.टी.एच. ग्रिफिथ स्मरणीय है क्योंकि इन विद्वानों के अमूल्य योगदानों के फलस्वरूप संस्कृत पत्रकारिता को केवल भारत में ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में एक नयी ऊँचाई प्राप्त हुई है।

7. पालि एवं बौद्ध वाङ्मय के प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ-

बौद्ध विद्वानों, कवियों एवं दार्शनिकों के द्वारा व्यक्तिगत रूप से ग्रन्थ रचना का कार्य कनिष्क के काल से ही प्रारम्भ हो चुका था। कनिष्क के काल में ही एक बौद्ध विद्वान एवं

कवि अश्वघोष द्वारा रचित "बुद्ध चरित" तथा "सौंदानन्द" नामक महाकाव्य इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। परन्तु पालि एवं बौद्ध साहित्य में नियतकालिकों के स्वतन्त्र अंकों के प्रकाशन 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुए।

महाबोधि सोसाइटी, कोलकता के सौजन्य से सर्वप्रथम 1892 में "महाबोधि" शीर्षक से पालि एवं बौद्ध साहित्य के प्रथम शोध पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। तदनन्तर भारत में बौद्ध बहुल क्षेत्रों के साथ ही साथ अनेक एशियायी एवं यूरोपीय देशों में पालि एवं बौद्ध वाङ्मय से सम्बन्धित अलग-अलग भाषाओं में अनेक महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होने लगा। लन्दन में स्थित पालि टेक्सट्सट सोसाइटी द्वारा सन् 1882 में ही Journal of the Pali Text Society नामक शीर्षक से बौद्ध एवं पालि साहित्य का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका का अंग्रेजी में प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। जैन धर्म तथा प्राकृत साहित्य की भांति ही सन् 1882 से पूर्व बौद्ध धर्म एवं पालि साहित्य के शोधपूर्ण लेखों को Journal of Asiatic Society of Bengal अथवा सम्बन्धित अन्य शोध पत्रिकाओं के अंकों में प्रकाशित किया जाता था।

8. जैन धर्म एवं प्राकृत वाङ्मय के प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ–

जैन धर्म तथा प्राकृत साहित्य संस्कृत का ही एक अभिन्न शाखा है । जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के उपदेशों एवं दर्शन से सम्बन्धित प्रचुर साहित्य प्राकृत में उपलब्ध है । 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुछ आधुनिक विद्वानों ने प्राकृत साहित्य एवं जैन आगमों का अध्ययन किया जिनमें हर्मन जैकोबी, बेबर पिशल और शूब्रिंग प्रमुख थे। परन्तु जर्मन विद्वान पिशल ने प्राकृत साहित्य की अनेक पाण्डुलिपियों का अध्ययन कर प्रकृत भाषाओं का व्याकरण नामक एक ग्रन्थ की रचना करके एक सराहनीय कार्य किया। इसी प्रकार मुनि जिन विजय जी के सम्पादकत्व में सिंधी सीरीज में प्राकृत साहित्य के अनेक अभिनव ग्रन्थ प्रकाशित हुए । तदनन्तर इस दिशा में अनेक सुयोग्य विद्वानों के योगदानों के फलस्वरूप अनेक सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक ग्रन्थों के साथ ही साथ जैन धर्म एवं प्राकृत वाङ्मय के अनेक शोधपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं अथवा नियतकालिकों को भी प्रकाशित किया जाता रहा है ।

सन् 1800 से पूर्व तक प्राकृत साहित्य अथवा जैन साहित्य से सम्बन्धित उच्च कोटि के लेखों को प्राकृत साहित्य के किसी स्वतन्त्र पत्रिका अथवा नियतकालिक में प्रकाशित न करके उन्हें भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओं या एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल के पत्रिका में अथवा एनल्स आफ भण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में प्रकाशित होते थे । परन्तु समय के साथ-साथ यह महशूस किया जाने लगा कि जैन धर्म तथा प्राकृत साहित्य से सम्बन्धित नियत कालिकों के स्वतन्त्र अंक प्रकाशित किया जाये । इस दिशा में बिहार राज्य के आरा जिला से "जैनसिद्धान्त भास्कर" नामक

एक स्वतन्त्र पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ । इसके अतिरिक्त जैन भवन, कोलकता से जैन पत्रिका प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ । इसी प्रकार जैन साहित्य से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय नियतकालिकों में यूनाइटेड स्टेटस आफ अमेरिका के कैलिफोरनिया से "जीव दया" नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया । जबकि उत्तरी अमेरिका में फेडरेशन आफ जैन असोसिएशन के सौजन्य से "जैन डाइडेस्ट" (Jain Digest) नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकासन प्रारम्भ हुआ । परन्तु जैन धर्म का अंग्रेजी में प्रकाशित प्रथम नियतकालिक "जैनिज्म" (Jainism) शीर्षक से प्रारम्भ किया गया था ।

सन् 1952 में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के सौजन्य से जैन विद्या के मासिक पत्रिका "श्रमण" नामक शीर्षक से प्रकाशन प्रारम्भ किया गया जिसकी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें अधिकांश लेख शोधपूर्ण होते हैं । सन् 1893 में प्रथम जैन सम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसमें कोलीन मैकेन्जी नामक विद्वान ने अपना एक महत्वपूर्ण शोध लेख "Accounts of Jains" शीर्षक से प्रस्तुत किया था जिसको 1907 के Journal of the Asiatic Society of Bengal के अंक में प्रकाशित किया गया था ।

9. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या साहित्य के प्रमुख "ई" एवं डिजिटल पत्र-पत्रिकाएँ-

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या साहित्य से सम्बन्धित मुद्रित शोध पत्र-पत्रिकाओं एवं प्रकाशित नियतकालिकों में निहित सूचना को यथाशीघ्र प्राप्त करने में पाठकों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । इस समस्या के समाधान हेतु अनेक शोध एवं सर्वेक्षणीय अध्ययन कराये गये जिसमें यह पाया गया कि कम्प्यूटर एवं संचार प्रद्यौगिकी की सहायता से कम से कम लागत में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के मुद्रित पत्र-पत्रिकाओं के पूराने संस्करणो को डिजिटल करके E-Journals, Online Journals अथवा Digital Journals डेटाबेसों को तैयार करके इन्टरनेट, इन्ट्रानेट या आन लाइन कनेक्टीबिटी के द्वारा विश्व के किसी भी भूभाग में संस्कृत के जिज्ञासु बिना समय गवांये अपनी वांछित सूचना को यथाशीघ्र प्राप्त कर अपने शोधकार्य को नियत समय में पूरा करने में समर्थ हो सकते हैं ।

भारत सरकार के मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय के सौजन्य से संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के "ई" एवं डिजिटल पत्र-पत्रिकाओं को विकसित करने हेतु Jambudvipa Sanskrit and E-journals नामक परियोजना को प्रारम्भ किया गया है । इस दिशा में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के सौजन्य से "संस्कृत विमर्श" नामक ई-पत्रिका को नियमित रूप से प्रकाशित किया जाना एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रयास है । इसके अतिरिक्त सम्पूर्णान्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सौजन्य से "गवाक्ष" नामक संस्कृत ई-पत्रिका का नियमित संस्करण प्रकाशित होता है। इसके साथ ही साथ संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के पत्रिकाओं के ईलैक्ट्रानिक एवं डिजिटल संस्करणों के स्कैन्ड इमेज के अतिरिक्त इनके नवीन

संस्करणों को भी नियमित रूप से प्रकाशित किया जाता है । अध्याय के अन्त में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या साहित्य से सम्बन्धित महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं, धारावाहिकों, अथवा नियतकालिकों के मुद्रित एवं डिजिटल संस्करणों की विस्तृत सूची प्रस्तुत किया गया है जो संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के जिज्ञासुओं के लिए एक अत्यन्त उपयोगी सूचना स्रोत है ।

10. संस्कृतशास्त्र के प्रमुख मुद्रित पत्र पत्रिकाओं एवं धारावाहिकों का विवरण-

1. **''काशी विद्यासुधानिधि''** यह भारतवर्ष की प्रथम संस्कृत पत्रिका है जो सन् 1866 में राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी (वर्तमान में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) से प्रकाशित हुई ।
2. **''पण्डित पत्रिका''** यह राजकीय संस्कृत महाविद्यालय द्वारा प्रकाशित ''काशी विद्यासुधानिधि'' का परिवर्तित नाम है तथा यह राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी द्वारा इसी नाम से 1857 से 1917 तक प्रकाशित होती रही ।
3. **''सरस्वती भवन ग्रन्थ माला एवं सरस्वती भवन अध्ययन माला''**– राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, वाराणसी द्वारा प्रकाशित ''पंडित पत्रिका'' के स्थान पर 1917 में सरस्वती भवन ग्रन्थ माला एवं अध्ययन माला के रूप में 1941 तक प्रकाशित होती रही ।
4. **''सरस्वती सुषमा''** यह संस्कृत पत्रिका राजकीय संस्कृत महा विद्यालय वाराणसी द्वारा प्रकाशित सरस्वती भवन ग्रन्थ माला एवं अध्ययन माला का परिवर्तित रूप है तथा यह 1942 से अब तक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित हो रही है ।
5. **''प्रत्यकर्मनन्दिनी''**–इस पत्रिका को सन् 1876 में सत्यव्रत सामश्रमी के सम्पादकत्व में संस्कृत भाषा में वाराणसी से प्रकाशित की गयी ।
6. **''विद्योदय''** यह संस्कृत पत्रिका सन् 1871 से 1914 तक लाहौर से ऋषीकेश भट्टाचार्य के सम्पादकत्व में प्रकाशित होती रही तथा 1914 के पश्चात् इसका प्रकाशन कलकत्ता से प्रारम्भ हुआ ।
7. **''संस्कृत रत्नाकर''**–यह संस्कृत पत्रिका सन 1904 से लेकर 1949 तक जयपुर, राजस्थान से प्रकाशित होती रही । तपश्चात् यह अन्यत्र स्थानान्तरित हो गयी ।
8. **''मिथिलामोद''** यह संस्कृत पत्रिका सर्वप्रथम 1905 में विहार के मिथिलांचल से प्रकाशित हुई ।
9. **''मित्रम''**– यह विहार की दूसरी संस्कृत पत्रिका थी जिसे 1918 में पटना से प्रकाशित किया गया ।

10. संगमनी, दारागंज, प्रयाग, (खण्ड-1; 1965-) ।
11. संविद (त्रैमासिक)
    मुम्बई : भारतीय विद्या भवन (खण्ड - 1; 1964-) ।
12. सागरिका
    सागर : सागर विश्वविद्यालय सागर (खण्ड-1; 1963-)।
13. गाण्डीवम
    वाराणसी : सं. सं. वि. वि. (खण्ड-1; 1964-)।
14. विश्वमनीषा
    दरभंगा : कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय (खण्ड-1; 1974-)।
15. विश्व संस्कृतम्
    पंजाब : वि. वे. शोध संस्थान होशियारपुर (खण्ड-1; 1963-)।
16. सुरभारती
    बड़ोदरा : बटोदर संस्कृत महाविद्यालय (खण्ड-1; 1964-)।
17. जयतु संस्कृतम्
    नेपाल (खण्ड-1; 1960-)।
18. दिव्य ज्योति (मासिक)
    शिमला (खण्ड-1; 1958-)।
19. सूर्योदय :
    वाराणसी : जगतगंज : भारत धर्म महामण्डल खण्ड-1; 1981-)।
20. निगमागमचन्द्रिका
    महाराष्ट्र : कोल्हापुर (खण्ड-1; 1952-)।
21. संस्कृत सीजवनम्
    पटना : विहार संस्कृत संजीवन समाज (खण्ड-1; 1986-)।
22. विश्वज्योति
    पंजाब : होशियारपुर (खण्ड-1; 1951-)।
23. संस्कृत विमर्श
    नई दिल्ली : राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (खण्ड-1; 1973-)।
24. अमृतवाणी
    संस्कृत संघ : सेन्ट जोसेफ कालेज (खण्ड-1; 1941-)।
25. गुरूकुल पत्रिका
    हरिद्वारा : गुरूकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय (खण्ड 1; 1958-)।

26. **दूर्वा**
मध्यप्रदेश : मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी (खण्ड-1; 1982-)।

27. **परिशीलम्**
लखनऊ : उ. प्र. संस्कृत अकादमी (खण्ड-1; 1987-)।

28. **पारिजातम्**
कानपुर (खण्ड-1; 1993-)।

29. **प्रणवपारिजात**
कलकत्ता (खण्ड-1; 1978-)।

30. **प्रतिभा**
बिकानेर : शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ (खण्ड-1; 1958-)।

31. **प्राची**
वाराणसी : सं.सं.वि.वि. (खण्ड-1; 1950-)।

32. **प्राच्यप्रज्ञा.**
अलीगढ़ : मुसलिम विश्वविद्यालय (खण्ड-1; 1966-)।

33. **मागधम्**
विहार : आरा : एच. डी. जैन कालेज (खण्ड-1; 1967-)।

34. **मेधा**
रामपुर : शासकीय दू. श्री वे. संस्कृत महाविद्यालय (खण्ड-1; 1961-)।

35. **विहार संस्कृत सम्मेलनम्**
विहार (खण्ड-1; 1965-)।

36. **विश्वभारती पत्रिका**
शांति निकेतन : विश्वभारती (खण्ड-1; 1967-)।

37. **विश्वभाषा**
वाराणसी : संस्कृत प्रतिष्ठानम् (खण्ड -1; 1988-)।

38. **विश्वविद्यालय वार्ता**
वाराणसी : सं. सं. वि.वि. (खण्ड-1; 1978-)।

39. **शोधप्रभा**
नई दिल्ली : श्री लालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (खण्ड-1; 1970-)।

40. **शोध भारती**
हरिद्वार : गुरूकुल कागंड़ी विश्वविद्यालय (खण्ड-1; 1974-)।

41. **सन्देश**
वाराणसी (खण्ड-1; 1997-)।

42. **सरस्वती सौरभम् गयोदशांक (एक अंक)**
(खण्ड-1; 1963-)।

43. **सुधर्मा (दैनिक संस्कृत),**
मैसूर (खण्ड-1; 1972-)।

44. **सुप्रभातम्**
वाराणसी (खण्ड-1; 1925-)।

45. **सुरभारती**
बड़ौदा : सं. महाविद्यालय (खण्ड-1; 1960-)।

46. **संस्कृत प्रचारकम्**
हिमाचल प्रदेश : शिमला (खण्ड-1; 1954-)।

47. **संस्कृत भारती**
जयपुर : गोपालजी का रास्ता (खण्ड-1; 1952-)।

48. **विश्वभाषा**
मुम्बई (खण्ड-1; 1988-)।

49. **अजस्त्रा (तैमासिक)**
लखनऊ : अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् (खण्ड-1; 1977-)।

50. **देववाणी (मासिक)**
मुंगर : देववाणी कार्यालय (खण्ड-1; 1960-)।

51. **पाटली श्री (त्रैमासिक)**
पटना : वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन (खण्ड-1; 1965-)।

52. **विद्यार्थी (मासिक)**
पटना : - (खण्ड-1; 1978-)।

53. **धर्मनीति तत्वम्**
पटना (खण्ड-1; 1880-)।

54. **मिथिला माण्द (मासिक)।**
वाराणसी - (खण्ड-1;)

55. **साहित्य सुधा (मासिक)**
पटनाः–(खण्ड-1; --)।

56. **परमार्थ सुधा (त्रैमासिक)**
राँची :– (खण्ड-1; 1976-)

57. **वाणी (त्रैमासिक)**
पटना - (खण्ड-1; --)।

58. **मिथिलामिहिर**
दरभंगा–(खण्ड-1; 1986-)।

59. **संस्कृत दर्शनम् (द्वैमासिक)**
मुजफ्फरपुर (खण्ड-1; 1987-)।

60. **सूर्योदय (मासिक)**
विहार : सारण – (खण्ड-1; 1926-)।

61. **संस्कृत संजीवनम्**
पटना–(खण्ड-1; 1940-)।

62. **संस्कृत वैजयन्ती (मासिक)**
पटना : – (खण्ड-1;--)।

63. **दर्शन केशरी**
विहार : सारणः–(खण्ड-1; 1964-)।

64. **शिखरिणी**
राँचीः–(खण्ड-1; 1977-)।

65. **सम्पादक शारदा (मासिक)**
भोजपुर - खण्ड-1; 1913-)।

66. **मागधम् (मासिक)**
आरा – खण्ड-1; 1967-)।

67. **संस्कृत सम्मेलनम् (त्रैमासिक)**
विहार : पटना (खण्ड-1; 1964-)।

68. **विश्व संस्कृत सम्मेलन विशेषांक**
वाराणसी : सं. सं. वि. वि. (खण्ड-1-4; 1978-)।

69. **अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन विशेषांक**
राँची : संस्कृत सेवा संघ (खण्ड-1; 1989-)।

70. **अखिल भारतीय संस्कृत सम्मेलन विशेषांक**
सीवान : संस्कृत सेवा संघ (खण्ड-1; 1992-)।

71. **42वाँ अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन विशेषांक वाराणसी :** सं. सं. वि.वि. (खण्ड-1; 2005-)।

72. **42 वाँ अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन स्मृति विशेषांक वाराणसी :** सं. सं. वि. वि. (खण्ड-2; 2005-)।

73. **मनोरमा (संस्कृत पत्रिका)**
बेहरामपुर - (खण्ड -1; --)।

74. **मलयमारूत**
तिरूपतिः केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (खण्ड-1; --)।

75. **सहृदयः**
श्रीरंगम् : - (खण्ड-1;--)।

76. **संबोधि**
अहमदाबाद–(खण्ड-1;--)।

77. **"श्री" (संस्कृत पत्रिका)**
श्रीनगर : काश्मीर (खण्ड-1;--)।

78. **संस्कृत संदेश नेपाल : काठमाण्डू (खण्ड 1,--)।**

79. **राष्ट्रीय चेतना विशेषांक**
नई दिल्ली : श्री ला. ब. शा. सं. वि.पी. (खण्ड -1;--)।

80. **शब्द तत्त्व विमर्श विशेषांक**
नई दिल्ली : श्री ला. बा. शा. सं. वि.पी. (खण्ड-1;--)।

81. **संस्कृत वर्ष विशेषांक**
नई दिल्ली : श्री ला. ब. शा. सं. वि. पी. (खण्ड-1;--)।

82. **पंचम विश्व संस्कृत सम्मेलन विशेषांक**
वाराणसी - (खण्ड -1;--)।

83. **महस्विनी (छमाही)**
तिरूपति : राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठम्
(खण्ड-1; 1999-)।

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के अंग्रेजी में प्रकाशित प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ-

84. Journal of Allahabad University Studies. Allahabad : Allahabad University (Vol. 1; 1925) (Note : Sanskrit Section appeared in the Ist and 2nd Volume of this Journal in 1940-41)

85. Indian thought of Sanskrit Literature. Allahabad. (Vol. 1; 1907-)
86. Sanskrit Research.
    Poona : The Oriental Book Supplying Agency (Vol. 1; --)
87. Sanskrit Sahitya Parishad
    Calcutta : S.S.P. (Vol.1; 1840-)
88. Sanskrit Journal Sahridaya.
    Srirangam : Sri Van Villas Press, (Vol. 1;--)
89. Sukti Sudha
    Varanasi (Vol. 1; 1905-)
90. Sanskrit Bharati.
    Varanasi (Vol. 1; 1324-) (Year is mentioned in Bengali year)
91. Piyusha Patrika.
    Ahmedabad (Vol. 1; 1853) Year is metioned Saka.
92. Satpatha.
    Jaipur (Vol. 1; 1932-)
93. Sanskrit Ratnakar
    Jaipur : Sanskrit Sahitya Sammelan
    (Vol. 1; 1933-)
94. Amarbharati.
    Varanasi : Government Sanskrit College (Vol.1; 1934-)
95. Manas Patrika.
    Banaras Copy (Vol. 1; 1905-)
96. Journal of Ganganath Jha Research Institute.
    Allahabad : GJRI (Vol. 1; 1943-)
97. Sriman Maharaj Sanskrit Mahavidyalaya Patrika.
    Mysore. (Vol. 1; 1925-)
98. Brahmavidya
    Calcutta (Vol. 1; 1319-) Year is given in Bengaliera.
99. Journal of Sri Venketeshwara Research Institute Tamil Nadu : Tirupati
    (Vol. 1; 1940-)

100. Sanskrit Pratibha
New Delhi : Sahitya Academy (Vol.1; 1959-)

101. The Adyar Library Bulletin (Brahm-Vidya).
Madras : Adyar (Vol. 1; 1937-)

102. Bharatiya Vidya Bhawan.
Bombay (Vol. 1; 1939-)

103. Manjoosha
Calcutta (Vol. 1; 1935)

104. Journal of Amamalai University
Annamalai Nagar (Vol1; 1932-)

105. Journal of Tanjore Saraswati Mahal Library Tanjore (Vol. 1; 1940-)

106. Journal of the Travancore University Oriental Manuscripts Library.
Trivendrum (Vol.1; 1945-)

107. Our Heritage
Calcutta : Sanskrit College (Vol. 1; 1953-)

108. Chandi.
Allahabad (Vol. 1; 1943-)

109. Bharati Sanskrit (Monthly)
Jaipur (Vol. 1; 1950-)

110. Val Sanskritam.
Bombay (Vol. 1; 1964-)

111. Vishvavesh Anand Indological Journal.
Panjab : Hoshiyarpur (Vol. 1; 1963-)

112. Vishva Sanskritam.
Panjab : Hoshiyarpur (Vol.1; 1963-)

113. The Vikram.
Ujjain : Vikram University (Vol. 1; 1957-)

114. Journal of Vedic Studies.
Lahor : (Vol. 1; --)

दर्शनशास्त्र के प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ–

115. The Philosophical Quarterly.
Madras (Vol. 1; 1925-)

116. Review of Philosophy and Radigion.
Poona (Vol-1; 1930-)

117. Indian Philosophical Review.

118. Indian Philosophy and Culture of Vairova Research Institute.

119. Darshan International.
Moradabad (Vol. 1; 1961-)

120. Darshan Traimasik
Varanasi (Vol-1; 1954-)

121. मित्रगोष्ठी
वाराणसी (खण्ड-1; 1826-)

122. श्री अरविन्द कर्मधारा
दिल्ली अरविन्द आश्रम (खण्ड-1; 1970-)

123. देशिका सुधा
प्रयाग : वेदान्त देशिक सेवासंघ (खण्ड-1; 1968-)

124. Indian Philosophical Quarterly.
Poona : University of Poona (Vol.-1; 1973-)

125. Research Journal of Philosophy.
Ranchi : Ranchi University (Vol.-1; 1965-)

126. Bulletin of Rma Krishna Mission Institute of Culture .
Kolkata (Vol.-1;--)

127. Divya Jyoti.

128. Mountain Path.

129. Journal of Indian Council of Philosophical Research.
New Delhi (Vol-1;--)

130. Philosophy and Social Action.

131. Research Journal of Philosophy and Social Science.

132. Path way to God.

133. Yoga and Total Health.

दर्शनशास्त्र के प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाएँ :

134. British Journal of Philosophy of Science (Uk).
135. Ethics (USA)
136. History of religions (USA).
137. Journal of Philosophy (USA).
138. Mind (UK).
139. Philosophy : East and West (USA).
140. Philosophical Quarterly (UK).
141. Review of Metaphysics (USA)

योग एवं मीमांसा के प्रमुख पत्र पत्रिकाएँ :

142. Yoga Mimamsa
Bombay (Vol.-1; 1924-)
143. मीमांसा प्रकाश
पूणे (खण्ड-1; 1936-)
144. Journal of the Yoga Institute.
Santacruz (Vol.1; 1954-)

धर्मशास्त्र के प्रमुख शोध पत्रिकाएँ, धारावाहिक एवं पत्र-पत्रिकाएँ ।

146. Theosophy in India. Banaras (Vol.-1; 1903-)
147. Savita (Veda Sansthan) Ajmer (Vol.-1; 1946-)
148. कल्याण
गोरखपुर : गीता प्रेस (खण्ड-1; 1931-)
149. वेद वाणी
वाराणसी (खण्ड-1; 1947-)
150. Journal of Dharm (Quarterly).
Banglore (Vol-1; 1947-)
151. अन्नदापुष्पांजलि
वाराणसी : अन्नपूर्णा मन्दिर (खण्ड-1; 1977-)
152. गीता धर्मः
वाराणसी : गीता प्रचार मन्दिर (खण्ड-1; 1935-)

153. गीता संगीत
इलाहाबाद (खण्ड-1; 1973-)

154. श्रीरामानन्द सन्देश
अहमादाबाद : रामानन्द सन्देश कार्यालय (खण्ड-1; 1959-)

155. राष्ट्र धर्म
लखनऊ (खण्ड-1; 1964-)

156. वेदोधारिणी ।
दिल्ली : वेदोधारिणी सभा (खण्ड-1; 1985-)

157. व्रजगंधा
मथुरा : रामाश्रय कृष्णापुरी (खण्ड-1; 1985-)

158. श्री कबीर शांति सन्देश
वाराणसी : कबीर रोड (खण्ड-1; 1977-)

159. सनातनशास्त्रक.
कलकत्ता (खण्ड-1; 1373-)-अवधि बांग्ला में अंकित है ।

160. सत्यानन्दम्
कलकत्ता : सत्यानन्द देवायतन (खण्ड-1; 1988-)

161. सन्देश
वाराणसी (खण्ड-1; 1977-)

162. सविता (मासिक पत्रिका)
अजमेर : वेद संस्थान (खण्ड-1; 1949-)

163. हिन्दू विश्व
नई दिल्ली : विश्व हिन्दू परिषद (खण्ड-1; 1965-)

164. Hindu Spiritual Magazine.
(Vol.-1; 1906-)

165. The Journal of the Sri Sankaragurukulam.
Srirangam (Vol.1; 1939-)

166. Kailash : Journal of Himalayan Studies.
Nepal : Kathmandu (Vol.1; 1973-)

167. मानव धर्म
नई दिल्ली (खण्ड-1; 1984-)

168. वेद-प्रदीप
बम्बई (खण्ड-1; 1985-)

169. गुरूकुल पत्रिका
हरिद्वार : गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (खण्ड -1; 1948-)

170. The Sikh Review.
Calcutta (Vol.-1; 1952-)

पुराणशास्त्र के प्रमुख धारावाहिक एवं शोध पत्रिकाएँ :

171. Puranam.
Varnasi : Kashi Raj Fort Ramnagar (Vol.1; 1959-)

172. Puran Buletin.

173. नैमिषीयम्
सीतापुरः पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसन्धान संस्थान (खण्ड-1; 1980-)।

ज्योतिषशास्त्र के प्रमुख धारावाहिक एवं शोधपत्रिकाएँ :

174. ज्योतिष कल्प.
लखनऊ : अमिनाबाद (खण्ड-1; 1970-)

175. ज्योतिष-मार्तण्ड
जयपुर : वापुनगर (खण्ड-1; 1968-)

176. अन्तरिक्ष खगोल विज्ञान ज्योतिष मथुरा (खण्ड-1; 1979-)।

आयुर्वेदशास्त्र के प्रमुख धारावाहिक एवं शोध पत्रिकाएँ :

177. Journal of Ayurveda Hindu System of Medicine.
Calctutta (Vol.1; 1924-)

178. आयुर्वेद रहस्य
सौराष्ट्र : गोण्डल (खण्ड-1; 1914-)

179. आयुर्वेद भारती (बंगला)
कलकत्ता (खण्ड-1; 1961-)

180. आयुर्वेदलोक (त्रैमासिक)
गुजरात : जामनगर (खण्ड-1; 1964-)

181. आयुर्वेदालोक
कलकत्ता (खण्ड-1; 1961-)

182. धान्वन्तरीयम
गोरखपुर (खण्ड-1; 1975-)

पाण्डुलिपि विज्ञान, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, भारतीय तथा प्राच्य विद्या के प्रमुख धारावाहिक एवं शोध पत्रिकाएँ :

183. Manuscript Journal (Sarda)
Bombay (Vol-1; 1940-)

184. Indian Linguistics
Poona Deccan College (Vol-1; 1931-)

185. Journal of Indological Research Institute.
Dwarka : Saradapeeth Pradipa (Vol-1; 1961-)

186. Bharatiya Sanskriti.
Bangalore (Vol.-1; 1954-)

187. Journal Of Indian History.
Trivendram : University of Kerela (Vol.-1; 1923-)

188. Memories of the Royal Asiatic Society Calcutta (Vol. 4; 1941-)

189. The Journal of Asiatic Society.
Calcutta (Vol. 1; 1841-)

190. Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal.
Calcutta (Vl.-1; 1905-)

191. Indian Historical Quarterly.
Delhi (Vol. 1; 1925-)

192. पूर्णिमा (त्रैमासिक)
नेपाल (खण्ड-1;--)

193. The Journal of Oriental Research Madras. Madras (Vol.-4; 1927--)

194. Annals of the Bhandarkar Institute .
Poona (Vol.-1; 1918-)

195. Indian Antiquary - A journal of Oriental Research.
Bombay (Vol.-1; 1872-)

196. Journal of the American Oriental Society.
U.S.A. : Conneticut (Vol.-1; 1850-)

197. All Indian Oriental Conference.
Panjab : Hosiarpur (Vol.-1; 1920-)

198. Calcutta Oriental Journal.
Calcutta (Vol-1; 1933-)

199. The Poona Orientalist.
Poona : Oriental Book Agency (Vol.-1; 1936-)

200. Annals of Oriental Research University of Madras.
Madras (Vol.-1; 1936-)

201. Journal of the Kerela University Oriental Research Institute and Manuscript Library. Trivendraum (Vol.-1; 1945-)

202. Journal of the Oriental Institute of M.S. University. Baroda (Vol. 1; 1951-)

203. Pragna (प्रज्ञा)
वाराणसी : का. हि. वि. वि. (खण्ड-1; 1957-)

बौद्ध धर्म एवं पालि साहित्य के प्रमुख धारावाहिक एवं शोध पत्रिकाएँ :

204. Journal of Indian Buddhist Studies.
Japan : University of Tokio (Vol-1; 1952-)

205. Maha Bodhi.
Calcutta (Vol.-1; 1892-)

206. Tibet Journal.
Tibet : - (Vol. 1;--)

207. श्रमण विद्या.
वाराणसी : सं. सं. वि.वि. (खण्ड-1; 1988-)

208. प्रजासत्ताक (साप्ताहिक) सं.बी.सी. काबालें चन्द्रपुर (मराठी)।

209. श्रावस्ती (मासिक), श्रावस्ती (हिन्दी)।

210. धर्मदूत - महाबोधिसोसाइटी, सारनाथ, वाराणसी, (हिन्दी)।

212. Journal of the Pali Text Society. London : Pali Text Society (Vol.-1; 1882-)

213. महावोधि
वाराणसी : सारनाथ (खण्ड-1; - -)

जैन धर्म तथा प्राकृत साहित्य के प्रमुख मुद्रित पत्र-पत्रिकाएँ :

214. जैन सिद्धान्त भास्कर,
विहार : आरा :– (खण्ड-1; 1921-)

215. तीर्थकरं
इन्दौर : – (खण्ड-1; 1970-)

216. श्रमण
वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
(खण्ड-1; 1950-)

217. Jain Journal
Kolkata : Jain Bhawan (Vol. 1; - -)

218. Jainism (Ist English Jain Journal)
(Vol. 1;–)

219. Jain Digest (Quarterly)
North America : Federation of Jain Association (Vol. 1; - -)

220. अनेकान्त (त्रैमासिक)
नई दिल्ली : वीर सेवा मन्दिर (खण्ड-1; 2008-)

221. प्राकृत विद्या (छमाही)
नई दिल्ली : श्री कुन्द भारती ट्रस्ट
(खण्ड-1; 1998-)

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या साहित्य से सम्बन्धित प्रमुख "ई" एवं डिजिटल पत्र-पत्रिकाओं का विवरण ।

222. Jambuduipa Sanskrit Text and E-Journals.

223. E-magazin on Indian Languages Sanskrit, Pâli, Prakrit and other Indian Languages.

224. Kamat Research Database List of Indian Journals.

225. Gurukulam E-journals.

226. Indian Periodicals of E-Publications Online Journals.

227. E-Journal of Buddhist Ethics.

228. Sanskrit Vimarsha E-Journal.
New Delhi; RSS (Vol.-1;--)

229. Gawakesh E.- Magazin
Varanasi : SSVV (Vol. 1–)

230. E-Journal of American Oriental Society.

231. Spiritual Emagazines...

232. http://www.inbuds.net.

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. प्राचीन भारतीय लिपिमाला / राय बहादुर पं. गौरी शंकर हीराचन्द ओझा, मुंशीराम मनोहर लाल, नई दिल्ली, 1971, 150-155 पृ.।
2. सूचना एवं सन्दर्भ के प्रमुख स्त्रोत / एस.एम. त्रिपाठी एवं जे. एन. गौतम, वाई. के. पब्लिशर्स, आगरा, 2005. 302-303 पृ.
3. काशी की पाण्डित्य परम्परा / आचार्य बलदेव उपाध्याय, विश्व विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1983 ।
4. संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास/राम गोपाल मिश्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 1980।
5. संस्कृत वाङ्मय कोश (ग्रन्थकार खण्ड)/श्रीधर भास्कर वर्णेकर, भारतीय भाषा परिषद, कोलकता, 1988, 266-267 पृ.
7. 20वीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य को बिहार का अवदान / ब्रज मोहन तिवारी, आदित्य बुक सेन्टर, दिल्ली, 2002 ।
8. जयपुर की संस्कृत परम्परा / देवर्षि कलानाथ शास्त्री, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2000 ।
9. प्रकाशन सूची / सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2008 ।
10. पालि साहित्य का इतिहास / भरत सिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1949 ।
11. जैन साहित्य का बृहद इतिहास / मोहन लाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1964. प्राक्कथन ।
12. प्राकृत साहित्य का इतिहास / जगदिश चन्द्र जैन, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1961. भूमिका ।

□□

दशम अध्याय

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख भारतीय ग्रन्थालय, प्रकाशन प्रतिष्ठान एवं विश्व संस्कृत पुस्तक मेला-एक विहंगम अवलोकन

(Popular Indian Libraries, Famous Indian Publishers and the World Book Fair of Sanskrit and Oriental Learnings : A Birds eye View)

1. भूमिका (Introduction)-

प्राचीन भारत वर्ष के जितने शिक्षा केन्द्र थे उनमें नालन्दा महाविहार का नाम अन्यतम था । एक बौद्ध विश्वविद्यालय होने के कारण इसमें बौद्ध धर्म, दर्शन इतिहास, निरूक्त, न्याय आदि शास्त्रों के अध्ययन के साथ ही साथ ब्राह्मण तथा अन्य धर्म, दर्शन आदि शास्त्रों की भी यहाँ ऊँची से ऊँची स्तर की पढ़ाई होती थी तथा इस शिक्षा केन्द्र में तीन विशाल ग्रन्थालय थे । इसके अतिरिक्त प्राचीन कालीन भारत के अन्य प्रान्तों में भी पारम्परिक शिक्षा के अध्ययन एवं अध्यापन की व्यवस्था संचालित होती थी । प्राचीन भारत वर्ष में काशी (वर्तमान वाराणसी), नालन्दा, तक्षशिला, कश्मीर एवं मगध संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के अध्ययन एवं अध्यापन के प्रमुख केन्द्र के रूप में विकसित थे । वलभी विश्वविद्यालय, विक्रमशीला वि.वि. जगदल वि.वि. एवं ओदन्तपुरी वि.वि. इसके प्रमुख उदाहरणों में सम्मिलित किया जा सकता है । जातक युग में काशी (वर्तमान वाराणसी) वेद विद्याओं के अध्ययन एवं अध्यापन के लिए विख्यात थी । बोधिसत्व द्वारा संचालित काशी के विद्यालय में सौराष्ट्रों से आये हुए ब्राह्मण और क्षत्रिय कुमार वैदिक साहित्य का अध्ययन करते थे । इसी प्रकार कश्मीर में कुछ आचार्यों के घर पर भी विद्यालय थे । मन्दिरों में बड़े-बड़े विद्यालय होते थे । राजा अवन्ति वर्मा के मन्त्री शूर ने महोदय में महोदय स्वामी की प्रतिष्ठा की थी तथा उस मन्दिर में राम उपाध्याय वैयाकरण को व्याख्याता बनाया । विद्यार्थियों के रहने के लिए मठों का निर्माण होता था । कल्हण द्वारा रचित साहित्य में "यशकर" नामक एक ब्राह्मण राजा को मठ निर्माता के रूप में दर्शाया गया है । इन मठों में रहकर अध्ययन करने

वाले विद्यार्थियों को ग्रन्थालय की सुविधा भी दी जाती थी जिनमें वैदिक साहित्य के विभिन्न हस्तलेखों को संग्रह किया जाता था ।

बौद्ध शिक्षण संस्थाओं के प्रसिद्ध प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे । प्राचीन भारत वर्ष में हिन्दू धर्म एवं वैदिक साहित्य के साथ ही साथ बौद्ध धर्म तथा बौद्ध साहित्य का अध्ययन एवं अध्यापन अपने चरमोत्कर्ष पर था। नालन्दा महाविहार विश्वविद्यालय, नालन्दा तथा तक्षशिला विश्वविद्यालय, तक्षशिला इसके स्पष्ट प्रमाण हैं ।

प्राचीन भारत में जैन साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन के क्षेत्र में जैन धर्म के चौबिसवें एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर से आरम्भ होती है । ऐसे तीर्थकरों का शालाका भवनों में होना सम्भव नहीं था । उनके शिष्य संघ आचार्यों के साथ ही देश-देशान्तर में पर्यटन करते रहे । परन्तु शनैःशनैः जैन मुनियों तथा आचार्यों के लिए गुफा, मन्दिर तथा तीर्थ क्षेत्र के मन्दिर आदि बनने लगे । इन विद्यालयों का स्वरूप बहुत कुछ वैदिक और बौद्ध संस्कृति के विद्यालयों के अनुरूप ही था । इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन कालीन बहुआयामी भारतीय शिक्षा प्रणाली पूर्णरूपेण विकसित थी जिसकी प्रसिद्धि विश्व के अन्य राष्ट्रों में भी महसूश की गयी थी । परिणाम स्वरूप अनेक विदेशी यात्री, शासक तथा आक्रमणकारी अपने-अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए यहाँ पर आते गये जिसके कारण प्राचीन काल से चली आ रही भारतीय शिक्षा प्रणाली एवं ग्रन्थालय व्यवस्था बहुत अधिक प्रभावित हुई । 12वीं शताब्दी में तुर्क आक्रमणकारियों द्वारा नालन्दा महाविहार के विशाल ग्रन्थालय को अग्नि के हवाले किया जाना तथा ब्रिटिश हुकुमत के दौरान भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली को लागू किया जाना इसके स्पष्ट प्रमाण हैं । ब्रिटिश शासन स्थापित होने के कुछ ही समय बाद भारत वर्ष में आधुनिक शिक्षा प्रणाली को शुरू किया गया जो किसी भी रूप में भारतीय जनमानस के लिए उपयुक्त नहीं थी । ठीक इससे पूर्व मुगलों की शासन थी, फिर भी संस्कृत आधारित पारम्परिक शिक्षा प्रणाली एवं ग्रन्थों के रख रखाव, उपयोग एवं संरक्षण के लिए ग्रन्थालयों के उपयोग की उत्तम व्यवस्था थी। इस बात की पुष्टि एक विदेशी यात्री बर्नियर के यात्रा वृत्तान्त में स्पष्ट उल्लेख है कि वाराणसी यात्रा के दौरान उसने कवीन्द्राचार्य सरस्वती नामक विद्वान से भेंट किया था जिसके पास एक समृद्ध संस्कृत ग्रन्थालय था जिसमें संस्कृतशास्त्र के विभिन्न विषयों की लगभग दो हजार हस्तलेख ग्रन्थ थे। इसका उल्लेख आचार्य बलदेव उपाध्याय के "काशी की पाण्डित्य परम्परा" नामक ग्रन्थ तथा नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हिन्दी विश्वकोश (11) खण्ड में भी अंकित है .।

इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय आधुनिक शिक्षा प्रणाली तथा आधुनिक ग्रन्थालय व्यवस्था में प्राचीन संस्कृत शास्त्रों के ग्रन्थालय संकलनों एवं इनके संरक्षण तथा उपयोग से सम्बन्धित विभिन्न तकनिकों एवं विधियों की भूमिका सर्वोपरी रही है।

2. संस्कृत ग्रन्थालयों के विभिन्न प्रकार-

संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के संकलनों के विकास में योगदान करने वाले ग्रन्थालयों को सामान्य रूप से चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है । जैसे शैक्षणिक संस्कृत ग्रन्थालय (2) विशिष्ट संस्कृत ग्रन्थालय (3) सार्वजनिक संस्कृत ग्रन्थालय एवं (4) निजी संस्कृत ग्रन्थालय ।

संस्कृत ग्रन्थालयों के इन चार श्रेणियों का विस्तृत विवरण निम्नवत है-

(1) शैक्षिक संस्कृत ग्रन्थालय—इस श्रेणी के अन्तर्गत उन सभी विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विद्यालय ग्रन्थालयों को सम्मिलित किया जा सकता है जो प्रत्यक्ष रूप से संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित संकलनों के उपयोग, संरक्षण एवं विकास में योगदान करते हैं । सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के सरस्वती भवन ग्रन्थालय, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के केन्द्रीय ग्रन्थालय, गोयनका संस्कृत महाविद्यालय विश्वनाथ पुस्तकालय, प्राच्य विद्या धर्म विज्ञान संकाय विभागीय ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं रणवीर संस्कृत विद्यालय ग्रन्थालय, का.हि.वि.वि., वाराणसी इस श्रेणी के प्रमुख उदाहरण हैं ।

(2) विशिष्ट संस्कृत ग्रन्थालय—इस श्रेणी के अन्तर्गत संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के शोध संस्थानों एवं सूचना केन्द्रों के उन ग्रन्थालयों को सम्मिलित किया जा सकता है जो प्रत्यक्ष रूप संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के साहित्य के प्रलेखन कार्य संकलन विकास, संरक्षण तथा उपयोग सम्बन्धी विभिन्न गतिविधियों को सम्पादित करते हैं। भण्डारकर ओरियन्टल शोध संस्थान ग्रन्थालय, पूना, विश्वेश्वरा वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, गायकवाड़ ओरियन्टल शोध संस्थान ग्रन्थालय, बड़ौरा, नैमिषारन्य पौराणिक एवं वैदिक शोध संस्थान, सीतापुर, उच्च तिब्बतन शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी एवं पार्श्वनाथ जैन शोध संस्थान, करौंदी वाराणसी के ग्रन्थालय इसके प्रमुख उदाहरण है ।

(3) सार्वजनिक संस्कृत ग्रन्थालय—इसी श्रेणी के अन्तर्गत भारत के राष्ट्रीय पुस्तकालय, दिल्ली सार्वजनिक ग्रन्थालय दिल्ली तथा भारत के विभिन्न प्रान्तों में राज्य सरकारों द्वारा संचालित सार्वजनिक ग्रन्थालयों को सम्मिलित किया जा सकता है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से संस्कृत शास्त्रों के ग्रन्थों के संग्रहण, उपयोग एवं संकलन विकास के लिए कटिबद्ध हैं। राष्ट्रीय ग्रन्थालय कोलकता, दिल्ली सार्वजनिक ग्रन्थालय दिल्ली, मुम्बई राजकीय ग्रन्थालय, मुम्बई तथा कन्नेमारा राजकीय ग्रन्थालय, चेन्नई में स्थापित पालि, प्राकृत एवं संस्कृत विभाग / प्रभाग के साथ ही साथ भारत के सभी प्रान्तों के राजकीय सार्वजनिक ग्रन्थालयों में संस्कृत संकलनों को सम्मिलित किया जा सकता है । उपर्युक्त वर्णित सभी ग्रन्थालय इस श्रेणी के प्रमुख उदाहरण हैं।

(4) निजी संस्कृत ग्रन्थालय–इस श्रेणी के अन्तर्गत संस्कृत के उन सभी ग्रन्थालयों, सूचना केन्द्रों एवं संस्थाओं को सम्मिलित किया जा सकता है जिसका स्वामित्व अथवा नियंत्रण किसी निजी व्यक्ति या संस्था के अधीन संचालित होती है। भारत के राजपरिवारों की ग्रन्थालयों, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विद्वानों के निजी ग्रन्थालयों, आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित चारों पीठों के ग्रन्थालयों, प्रमुख उद्योपतियों एवं निजी व्यक्तियों द्वारा स्थापित ग्रन्थालयों तथा मठों एवं मन्दिरों के ग्रन्थालयों को इस श्रेणी के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है । नेपाल नरेश राजकीय ग्रन्थालय, नेपाल, काशी नरेश फोर्ट ग्रन्थालृय, रामनगर, वाराणसी, ग्वालियर ग्रन्थालय, कश्मीर, थियोसाफिकल ग्रन्थालय, वाराणसी एवं काशी विश्वनाथ मन्दिर ग्रन्थालय, वाराणसी इस श्रेणी के प्रमुख उदाहरण हैं।

3. संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के प्रसिद्ध ग्रन्थालय :

1. नालन्दा विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, नालन्दा–

प्राचीन भारतवर्ष के जित्ने शिक्षा केन्द्र थे उनमें नालन्दा महाविहार का स्थान अन्यतम था । इसके अवशेष विहार प्रान्त के राजधानी पटना से प्रायः 55 मील दक्षिण-पूर्व में विस्तृत क्षेत्र के रूप में विद्यमान है। एक बौद्ध विश्वविद्यालय होने के कारण बौद्ध, धर्म, दर्शन इतिहास, निरक्त, न्याय आदि शास्त्रों के अध्ययन के प्रमुख केन्द्र के अध्ययन के साथ ही साथ ब्राह्मण तथा अन्य धर्म, दर्शन आदि शास्त्रों की भी यहाँ ऊँची से ऊँची पढ़ायी होती थी ।

एक चीनी यात्री युवानच्वाङ्ग ने नालन्दा के पुस्तकालय का बड़ा गौरवपूर्ण उल्लेख किया है । तिब्बती विवरणों से भी स्पष्ट होता है कि पुस्तकालयों का एक विशिष्ट क्षेत्र था जिसे धर्म गंज के नाम से पुकारा जाता था, जिसमें रत्नसागर, रत्नोदधि तथा रत्नरंजक नामक तीन विशाल ग्रन्थालय थे । रत्न सागर का भवन नौं मंजिला था जिसमें हजारों ग्रन्थ संगृहित थे। नालन्दा के इस विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थालय में विदेश से आने वाले यात्रियों में चीनी यात्री युवानच्वाङ्ग ने अनेक पुस्तकों का अनुवाद इसी ग्रन्थालय में किया था । तदनन्तर एक अन्य विदेशी इत्सिंग ने भी दस वर्ष निरन्तर परिश्रम कर पाँच लाख श्लोकों के परिणाम के चार सौ संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह किया था ।

परन्तु दुर्भाग्यवस 12वीं शताब्दी में तुर्कों के आक्रमण से नालन्दा महा विहार तथा इसके समृद्ध ग्रन्थालय में संगृहित ग्रन्थों की बहुत क्षति हुई थी । इन तुर्क आक्रमणकारियों ने इस ग्रन्थालय के अमूल्य ग्रन्थ रत्नों को आग के हवाले कर दिया जिससे ये सारे वौधिक सम्पदा सदा के लिए भस्म हो गये जिनका उल्लेख मात्र हमें चीनी और तिब्बती ग्रन्थों के माध्यम से प्राप्त होते हैं। शताब्दियों बाद बिहार सरकार के सहयोग से नालन्दा के अतीत

गौरव को पुनर्जिवित करने के उद्देश्य यहाँ नव नालन्दा महाविहार नालन्दा पालि प्रतिष्ठान) की स्थापना सन् 1851 में हुई । यह संस्था एक समृद्ध ग्रन्थालय के साथ ही पालि, बौद्ध धर्म, संस्कृति, इतिहास आदि विषयों के उच्चतम अध्ययन एवं अनुसंधान की दिशा में अग्रसर है । इस शिक्षा केन्द्र में अद्यावधि दस से अधिक एशियायी देशों एवं यूरोपिय देशों के छात्र अध्ययनरत है तथा हाल ही में भारत सरकार द्वारा केन्द्रीय मानित विश्वविद्यालय के रूप में स्थापित किया गया है ।

2. तक्षशिला विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, तक्षशिला -

तक्षशिला का विश्वविद्यालय एवं इसका ग्रन्थालय महाभारत काल से ही सारे भारत वर्ष में विख्यात था । इस विश्वविद्यालय में शिक्षा पाने के लिए काशी, राजगृह, पंचाल, मिथिला और उज्जयनी प्रदेशों से विद्यार्थी जाते थे । इस विश्वविद्यालय में तीन वेदों के साथ हस्तिसूत्र, धनुर्वेद तथा 18 शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी। पाणिनि तथा कौटिल्य ने भी सम्भवतः तक्षशिला विश्वविद्यालय में ही शिक्षा पायी थी । इस विश्वविद्यालय में पढ़ाये जाने वाले विभिन्न विषयों से सम्बन्धित हस्तलेख ग्रन्थों के उपयोग एवं रख रखाव के लिए एक विशाल एवं समृंद्ध ग्रन्थालय था तथा यह पुरा विश्वविद्यालय पहाड़ियों पर बने हुए थे । इसका प्राकृतिक दृश्य बहुत रमणीय था । महाभारत के आदि पर्व में लिखा है कि राजा जनमेजय ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया था जो पूर्वकाल में भरत के ज्येष्ठ पुत्र तक्ष की राजधानी हैं। जबकि पाश्चात्य विद्वानों के मत में तक्कजाति ने तक्षशिला नगरी स्थापित की थी। राजा कनिष्क के समय तक्षशिला में बौद्ध धर्म का प्रचार चरमोत्कर्ष पर था ।

परन्तु समय के साथ-साथ तक्षशिला का विश्वविद्यालय तथा समृद्ध पुस्तकालय काल कालवित हो गया तथा वर्तमान में इसके अवशेष मात्र देखने को मिलते हैं ।

3. कवीन्द्राचार्य सरस्वती ग्रन्थालय, वाराणसी-

कवीन्द्राचार्य सरस्वती ई. सन् 1832 के आस पास काशी में आकर सदा के लिए यहाँ पर वस गये । काशी में तत्कालीन पंडितों में उनका विशेष आदर था । आप केवल एक सन्यासी ही नहीं थे बल्कि संस्कृत के एक प्रकाण्ड विद्वान भी थे । इनका पुस्तकालय बड़ा विशाल था जिसमें कुल दो हजार दो सौ पुस्तकें हस्तलिखित रूप में विद्यमान थी । उस अतीत काल में जब पुस्तकों की कैटला गिंग प्रणाली प्रचलित नहीं थी, कवीन्द्राचार्य ने अपने पुस्तकालय की हस्तलेख ग्रन्थों का सूचीपत्र तैयार किया था । जिस प्रकार आधुनिक पुस्तकालयों की प्रत्येक ग्रन्थ पर उस महाविद्यालय या विश्वविद्यालय की सील (मोहर या मुद्रा) अंकित रहती है ठीक उसी तरह आज से तीन सौ अट्ठाईस वर्ष पूर्व कवीन्द्राचार्य ने अपनी समस्त हस्तलेख ग्रन्थों के मुख पृष्ठ पर "सर्वविद्यानिधाम कवीन्द्राचार्य सरस्वतीनां पुस्तकम्" यह मुद्रा सील या मुहर अंकित की थी जिससे आज इन ग्रन्थों को पहिचानने में बड़ी सरलता होती है।

कवीन्द्राचार्य सरस्वती सन्यासी थे । अतः इनका कोई उत्तराधिकारी नहीं था । इन्होंने अपनी कोई गद्दी भी स्थापित नहीं की । अतएव इनकी स्वर्गारोहण के पश्चात् इनका विशाल पुस्तकालय विखर गया अथवा नष्ट हो गया । इनके पुस्तकालय के अधिकांश ग्रन्थों को सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने खरीद लिया है जिससे उनकी सुरक्षा हो रही है । कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय की अनेक हस्तलेख ग्रन्थ ओरियन्टल इन्स्टटीयूट बड़ौदा में विद्यमान हैं जिनकी पहिचान उनके मुख पृष्ठ पर लिखे "सर्वविद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वतीनां पुस्तकम्" इस उल्लेख से होती है ।

गायकवाड़ ओरियन्टल इन्स्टीयूट बड़ौदा ने इन हस्तलेख ग्रन्थों का एक सूचीपत्र कवीन्द्राचार्य सूचीपत्रम् के नाम से गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज संख्या - 17 को बड़ौदा से सन् 1921 में प्रकाशित किया गया था । डा. गंगानाथ झा ने उस सूचीपत्र की भूमिका में लिखा है कि "कवीन्द्राचार्य सन्यासी थे और एक धनी व्यक्ति थे । ऐसी दशा में इनके पुस्तकालय का विशाल एवं समृद्ध होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।"

कवीन्द्राचार्य की कुछ हस्तलिखित पुस्तकें भण्डारकर ओरियन्टल शोध संस्थान पूना में भी सुरक्षित हैं। इस शोध संस्थान में जनार्दन के द्वारा लिखित (1514-1558) तत्वालोक नामक ग्रन्थ का एक हस्तलेख विद्यमान है जिसपर यह वाक्य अंकित है," श्रीमत विद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वतीनां वेदान्त तत्व लोकः ।"

इन उल्लेखों से पता चलता है कि कवीन्द्राचार्य सरस्वती का पुस्तकालय कितना विशाल तथा महत्वपूर्ण था । उनके स्वर्गरोहरण के पश्चात् इनका कोई उत्तराधिकारी न होने के कारण यह सुसंगठित ग्रन्थालय विखर गया और इसकी हस्तलिखित पुस्तकें पूना, बड़ौदा, विकानेर, जयपुर, जोधपुर तथा कलकत्ता आदि स्थानों पर विखर गयी है। काशी में अध्ययन करने वाले अकिंचन छात्र इसका उपयोग करते थे ।

इस प्रकार कवीन्द्राचार्य सरस्वती अनेक शास्त्रों के प्रौढ़ विद्वान थे तथा वे ग्रन्थ संग्रह करने में विशेष अभिरूचि रखते थे । उनका अनेक दुर्लभ हस्तलेखों से मण्डित पुस्तकालय उनकी वैदुषी तथा नाना शास्त्रों की अभिज्ञता का पर्याप्त सूचक था ।

एक फ्रांसीसी यात्री वर्नियर जब बनारस आया था तब उसने अपने मित्र के पास भेजे गये एक पत्र में लिखा है, "जब मैं गंगा किनारे घूम रहा था तब मैंने बनारस के प्रधान पण्डित को अपने पुस्तकालय में बैठा देखा । यह सन्यासी और भक्त है। बर्नियर के इस उल्लेख से भी इसकी प्रमाणिकता सिद्ध होती है ।

4. सरस्वती भवन ग्रन्थालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सरस्वती भवन ग्रन्थालय का संक्षिप्त परिचय :

गत शताब्दी के अन्तिम चरण में भी संस्कृत के दुर्लभ ग्रन्थों के हस्तलेखों की खोज का काम ब्रिटिश सरकार के आदेश से किया जाने लगा । काशी राजकीय संस्कृत विद्यालय

(संस्कृत कालेज) में अनेक दुर्लभ हस्तलेखों का संग्रह धीरे-धीरे होने लगा, परन्तु उनके संग्रह की सुव्यवस्था का नितांत अभाव था । 12 जनवरी 1906 ई. को बनारस के तत्कालीन कमिशनर श्री जोनाथन डंकन बेली के निवास स्थान पर आयोजित सभा में निश्चय किया गया कि एक ऐसे पुस्तकालय का निर्माण किया जाय जिसमें राजकीय संस्कृत महाविद्यालय द्वारा संगृहित बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थों को जिज्ञासुजन सुगमता पूर्वक देख सके। इस ग्रन्थालय को प्रिन्स ऑफ वेल्स के काशी आगमन का स्मारक बनाने का भी निश्चय किया गया । तदनुसार 16 नवम्बर 1907 को प्रान्त के सर्वोच्च अधिकारी सर जान हिवेट के द्वारा वर्तमान सरस्वती भवन का शिलान्यास किया गया तथा निर्माण पुरा हो जाने पर डा. वेनिश के शासनकाल में ही 6 फरवरी 1914 को इसका विधिवत उद्घाटन किया गया । उसके पूर्व ही प्रथम पुस्तकालयाध्यक्ष पं. सुधाकर द्विवेदी के अध्यापक पद पर नियुक्त होने के बाद यह रिक्त पद पं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी को दिया गया । सरस्वती भवन में हस्तलेखों के विशाल संग्रह करने में द्विवेदी जी का कार्य सदा आदर के साथ स्मरण किया जाता है । इनके बाद म.म. पं. गोपीनाथ कविराज सरस्वती भवन ग्रन्थालय के पूर्ण रूपेण अध्यक्ष हुए तथा इनके अनन्तर पं. नरायण शास्त्री खिस्ते ने यह पद ग्रहण किया ।

सरस्वती भवन ग्रन्थालय–वर्तमान सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व रूप बनारस के तत्कालीन रेजीडेन्ट द्वारा 1791 ई. में स्थापित संस्कृत पाठशाला के साथ ही इस विश्व प्रसिद्ध सरस्वती भवन पुस्तकालय की भी स्थापना हुई थी । श्री डंकन ने इस पाठशाला की स्थापना से होंने वाले लाभों की ओर इंगित करते हुए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तात्कालिक गवर्नर लार्ड कार्नवालिस को जो पत्र लिखा था, उसमें प्रथम लाभ के अन्तर्गत इस पाठशाला की स्थापना से संस्कृत वाङ्मय के अभ्युदय, संरक्षण तथा विकास के साथ-साथ स्पष्ट रूप से पुस्तकालय की स्थापना की ओर संकेत किया था । श्री डंकन के पत्र में प्रस्ताव इस प्रकार से था–

प्रस्तावित पाठशाला की स्थापना से दो प्रकार के लाभ सम्भावित है पहला लाभ अंग्रेज जाति को यह होगा कि यहाँ की हिन्दू जनता यह समझने लगेगी कि उनसे तथा उनके धर्म एवं सिद्धान्तों से कितना स्नेह हम करते हैं; उतना स्नेह उन्हें अपने देशी नरेशों से नहीं प्राप्त है । अतः इससे अंग्रेज उनके प्रीति भाजन बन सकेंगे । यद्यपि बनारस में सदा से व्यक्तिगत पाठशालाओं में अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था रही है, किन्तु जैसी पाठशाला की स्थापना प्रस्तावित की जा रही है, ऐसी पाठशाला यहाँ पहले कभी भी स्थापित नहीं हुई और इसके अभाव में हिन्दू धर्म, कानून, कला एवं विज्ञान सम्बन्धी शास्त्रों का संग्रह एवं उनका ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई हो रही है । इसे दूर करने के लिए ऐसी पाठशाला की स्थायी रूप से स्थापना अत्यन्त समीचीन होगी । इससे इस पाठशाला के आचार्यों तथा विद्यार्थियों द्वारा इन क्षेत्रों में विद्यमान ग्रन्थों का संग्रह एवं संशोधन स्वल्प व्यय

में ही हो सकेगा और इस प्रकार पुरातन महत्वपूर्ण विद्या तथा परम्परा से सम्बन्धित ग्रन्थों का एक ऐसा पुस्तकालय स्थापित होगा, जो सम्प्रति सम्पूर्ण भूमण्डल में विद्यमान नहीं है।

इस प्रकार 1791 ई. में संस्कृत पाठशाला की स्थापना के साथ ही इस पुस्तकालय की स्थापना की ओर भी श्री डंकन की स्पष्ट दृष्टि थी और जब वाराणसी नगरी के कर्णघन्टा मुहल्ले के एक विशाल भवन में इस पाठशाला का श्री गणेश हुआ तो उसके साथ ही इस पुस्तकालय का भी शुभारम्भ हुआ । प्रारम्भ में इस पुस्तकालय के लिए किसी विशेष अधिकारी की नियुक्ति नहीं की गयी और इसके प्रबन्ध ग्रन्थों क प्रतिलिपि एवं संशोधनादि का कार्य श्री डंकन के उपस्थिति प्रस्तावनानुसार पाठशाला समिति के मन्त्री के नियंत्रण में पाठसाला के अध्यापक एवं छात्रों द्वारा चलाये जाते रहे । 1791 ई. से लेकर 1813 ई. तक लगभग 23 वर्षों तक इस पुस्तकालय का कार्य इसी प्रकार से सम्पन्न होता रहा ।

किन्तु कालक्रम से संग्रह में अभिवृद्धि होने से जब पाठशाला के अध्यापकों एवं छात्रों द्वारा पुस्तकालय का कार्य चलना कठिन प्रतीत होने लगा तब 1811 ई. में इसके लिए ग्रन्थाध्यक्ष की नियुक्ति एवं समुचित भवन निर्माण का निर्णय किया गया और इस निर्णय एवं 1813 ई. की वर्ड आख्या (रिपोर्ट) के आधार पर पुस्तकालय में ग्रन्थाध्यक्ष पद एवं दो सहायक पदों का सृजन हुआ । ग्रन्थाध्यक्ष पद का वेतन रू. 100/00 मासिक तथा सहायकों का वेतन रू. 50/- मासिक निर्धारित हुआ तथा पुस्तकालय के प्रथम ग्रन्थाध्यक्ष के रूप में पं. मथुरानाथ शुक्ल की नियुक्ति हुई और कार्य में उनके सहायतार्थ दो सहायक नियुक्त हुए । यद्यपि पुस्तकालय का स्वतन्त्र भवन निर्मित नहीं हुआ और यह अभी भी पाठशाला भवन में ही स्थित था किन्तु स्वतन्त्र ग्रन्थाध्यक्ष तथा सहायकों की नियुक्ति से अब इसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित हो गया । 1818 ई. पं. मथुरानाथ शुक्ल के अचानक स्वर्ग वास होने के कारण पाठशाला के तत्कालीन प्रधानाचार्य पं. रामानन्द की देख-रेख में पुस्तकालय के कार्य को चलाने का निर्णय किया गया और सम्भवत : 1914 तक यही व्यवस्था चलती रही । 1818-1914 तक की अवधि में ग्रन्थाध्यक्ष पर स्वतन्त्र रूप से किसी व्यक्ति की नियुक्ति का साधिकार सन्दर्भ प्राप्त नहीं है, किन्तु अन्य स्रोतों से प्राप्त जानकारी से यह ज्ञात होता है कि इस अवधि में श्री यदुनाथ झा, श्री वेचनराम त्रिपाठी, श्री रामनाथ शुक्ल, श्री ढुण्डिराज शास्त्री, म.म. पं. सुधाकर द्विवेदी तथा म.म.पं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने पुस्तकालय के हस्तलिखित ग्रन्थों के प्रबन्ध का कार्य सम्पादित किया ।

कालान्तर में संस्कृत पाठशाला ने जब संस्कृत महाविद्यालय का रूप ग्रहण किया और विद्या सम्बन्धी इसके क्रिया कलापों से इसकी विश्व में प्रसिद्धि हुई तो आगे चलकर इस संस्कृत महाविद्यालय को 1904 ई. में विश्वविद्यालय का रूप देने का विचार लोकमानस में उत्पन्न हुआ और इसके लिए एक छात्रवास हिन्दू बोर्डिंग हाउस निर्मित कराने की योजा भी बनी । इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि अनेक कारणों से यह संकल्प

उस समय पूर्ण न हो सका और इसके फलस्वरूप कालान्तर में वाराणसी के स्थान पर प्रयाग में हिन्दू बोर्डिंग हाउस की स्थापना मात्र ही हो सकी । परन्तु इसी सन्दर्भ में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 12 फरवरी 1906 ई. को बनारस के तत्कालीन कमिश्नर श्री डंकन बेली के निवास स्थान पर एक सभा आयोजित हुई जिसमें श्री बेली के अतिरिक्त श्रीमान महाराजाधिराज श्री काशी नरेश, बनारस के कलेक्टर श्री रैंडिस, संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य डा. आर्थर वेनिस माननीय बाबू मोतीचन्द, बाबू चारू चन्द्र विश्वास जो महाराजा विजयानगरम के प्रतिनिधि थे, राजा मुंशी श्री माधो लाल जी तथा काशी के अनेक लब्धप्रतिष्ठ नागरिक उपस्थित थे। इस सभा ने यह निश्चय किया कि यद्यपि संस्कृत महाविद्यालय को संस्कृत विश्वविद्यालय का संकल्प पूर्ण नहीं हो सका है और यदि ऐसा नहीं हो पाता है तो कम से कम एक ऐसे पुस्तकालय का निर्माण कराया जाय, जिसमें बनारस के संस्कृत महाविद्यालय में संगृहीत अमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ निधि के संरक्षण की व्यवस्था हो सके तथा ये ग्रन्थ जिज्ञासुओं को सुविधापूर्ण रीति से सुलभ हो सकें। सभा ने यह भी निश्चय किया कि यह पुस्तकालय प्रिंसेज आफ वेल्स के काशी आगमन का स्मारक होगा ।

इस दृष्टि से इस योजना के कार्यान्वय हेतु एक समिति गठित हुई, जिसके मन्त्री राजा मुंशी श्री माधोलाल जी बनाये गये । इस समिति ने देश के विभिन्न विशिष्ट एवं सम्पन्न महानुभावों की सहायता से इस कार्य हेतु कुल 1,21,665 रू. की धन राशि दान स्वरूप एकत्र की । कुल 32 दान कर्ताओं में से 31 दानकर्ताओं के द्वारा यह धन राशि प्राप्त हुए जबकि प्रथम दानकर्ता रानी साहिबा श्रीमती दुलहिन राय कुंवर, अवसान गंज में वर्तमान सरस्वती भवन के भवन निर्माण स्थान को ही दान स्वरूप भेंट कर दी। श्रीमान प्रिंस एवं प्रिसंजे ऑफ वेल्स के काशी आगमन के अवसर पर उक्त समिति के मंत्री द्वारा उन्हें प्रस्तावित सरस्वती भवन पुस्तकालय के निर्माण स्थल का निरीक्षण कराया गया तथा यह अनुमति भी प्राप्त की गयी कि इस स्थान पर निर्मित होने वाले पुस्तकालय के नाम के साथ प्रिंसेज ऑफ वेल्स का नाम भी जोड़ा जाय । तदन्तर 16 नवम्बर 1907 को सर जान हिवेट द्वारा वर्तमान सरस्वती भवन पुस्तकालय के भवन का शिलान्यास कार्य सम्पन्न हुआ तथा लगातार सात वर्षों तक संस्कृति तथा संस्कृत के प्रेमी, उदार राजाओं, महाराजाओं, श्रेष्ठ नागरिकों तथा कर्तव्यनिष्ठ राजकीच कर्मचारियों के अनवरत प्रयत्नों के फलस्वरूप इस महान ग्रन्थालय का वर्तमान भव्य भवन 1914 ई. में निर्मित हो गया और इस उद्देश्य की पूर्ति के पीछे सबसे बड़ा प्रयत्न संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य डा. आर्थर वेनिस का था । 6 फरवरी 1914 ई. शुकवार के शुभ दिवस पर सयुक्त प्रान्त के लेफ्टीनेन्ट गवर्नर महामहिम सर जेम्स स्कोंगी मेस्टन के.सी. एस. आई. की अध्यक्षता में सरस्वती भवन पुस्तकालय का उद्घाटन समारोह सम्पन्न हुआ तथा इसका नाम प्रिंसेज आफ वेल्स सरस्वती भवन पुस्तकालय घोषित

हुआ । इस अवसर पर महामहिम गवर्नर को निम्नांकित मानपत्र समर्पित किया गया—

पुण्याहं महदद्य यद् गुरुतरात् साम्राज्यकार्यन्निजात्,
संयुक्तावनिदेशशासकवरो लब्ध्वावकाशं क्षणम् ।
प्रिंसेज - वेल्स - सरस्वतीभवनकस्योद्घाटनाय स्वयं
लेडी मेस्टन-संयुतोऽत्र दयया मेस्टन् प्रभू राजते ॥1॥
सौभाग्यं किमु काशिवासिजनताभालस्थलोल्लेखितं
किं वा भारतखण्डपुण्यनिचयः पाकाभिमुख्यं गतः ।
आहोस्विन्निखिलावनीतलशुभोद्रेको यदत्राचलं
प्रिंसेस- वेल्स- सरस्वतीभवनकं प्रीद्घाटयते श्रीमता ॥2॥
पातालस्य तले प्रयातु विलयं बालिश्यमद्याचिरात्
ज्ञानज्योतिरुदेतु लोकहृदये निस्तन्द्रचन्द्रायितम् ।
प्राक्प्रत्यग्विषयस्थिता बहुविधा विद्याश्चिरायाधुना
मोदान्तं च मिथः समागमसुखं सम्प्राप्यभूमण्डले ॥3॥
ग्रावव्यूहदृढं मनोमलिनताधारावरोधक्षमं,
दुश्चिन्तातितिवाहिनीशतसमुत्तरैकसंसाधनम् ।
एतत् पुस्तकमन्दिरं वितनुतां पौरस्त्यपाश्चात्त्ययोः ।
संभेदे किल विद्ययोः सुखकंर सेतुत्वमत्रेति शम् ॥4॥

विक्रमीये संवत्सरे, 1960
माघे शुक्लपक्षे, 11 शुक्रे

सरस्वती भवन ग्रन्थालय को इस स्वतन्त्र भवन के प्राप्त होने पर 24 अप्रैल 1914 ई. को महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज इसके प्रथम पूर्णकालिक ग्रन्थाध्यक्ष नियुक्त हुए। इसके पूर्व मुद्रित ग्रन्थों का प्रबन्ध क्वीन्स कालेज के ग्रन्थाध्यक्ष के ही अधीन था। सरस्वती भवन ग्रन्थालय में पूर्णकालिक ग्रन्थाध्यक्ष की नियुक्ति के पश्चात् मुद्रित ग्रन्थ भी यहाँ स्थानान्तरित हुए और अब इसके मुद्रित एवं हस्तलिखित दोनों अनुभागों का कार्य श्री कविराज जी के निर्देशन में चलने लगा । इनके कार्यभार ग्रहण करने के समय पुस्तकालय में 3,204 मुद्रित तथा 5,852 हस्तलिखित ग्रन्थ संगृहीत हो चुके थे । श्री कविराज ने ग्रन्थालय को अनेक दृष्टियों से सम्पन्न करने की योजना बनायी और यहाँ से अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन तथा अनुसन्धानात्मक प्रकाशन प्रारम्भ हुए । इसके लिए दो ग्रन्थमालाएँ प्रारम्भ हुई-सरस्वती भवन ग्रन्थमाला एवं सरस्वती भवन अध्ययन माला (Saraswati Bhawan Texts Series and Saraswati Bhawani Studies Series) । ग्रन्थालय के इस

कार्य में इस महाविद्यालय के तत्कालीन प्रधानाचार्य डा. गंगानाथ झा का अभूतपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ तथा इन ग्रन्थमालाओं में अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए ।

1914 ई. से 1948 ई. तक के अवधि में श्री कविराज जी के अनन्तर डा. मंगलदेव शास्त्री, पं. श्री विश्वनाथ झारखण्डी आदि ने ग्रन्थाध्यक्ष पद पर कार्य किया । श्री झारखण्डी के कार्यकाल तक हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रबन्ध अलग से एक विद्वान के अधीन रहा । इसके अन्तर्गत हस्तलिखित अनुभाग में महामहोपाध्याय पं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी के अनन्तर महामहोपाध्यय पं. नारायण शास्त्री खिस्ते ने यह कार्य सम्हाला । उक्त विद्वानों के अध्यावसाय से 1948 ई. तक सरस्वती भवन ग्रन्थालय में लगभग 30 हजार मुद्रित ग्रन्थ तथा पचास हजार हस्तलिखित ग्रन्थ संगृहीत हो चुके थे । 1948 में इस ग्रन्थालय के महत्व को देखते हुए शासन ने यहाँ के पदों में परिवर्तन तथा परिवर्धन किया । तदनुसार एक मुख्य ग्रन्थाध्यक्ष तथा मुद्रित एवं हस्तलिखित इन दोनों अनुभागों के लिए अलग-अलग एक-एक सहायक ग्रन्थाध्यक्ष के पद शासन द्वारा स्वीकृत किये गये और इसी क्रम में प्रसिद्ध विद्वान डा. सुभद्र झा की नियुक्ति ग्रन्थाध्यक्ष पद पर हुई ।

22 मार्च 1958 ई. को संस्कृत महाविद्यालय ने वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परणित हुआ तथा डा. आदित्यनाथ झा इसके प्रथम कुलपति नियुक्त हुए । विश्वविद्यालय का ग्रन्थालय होने पर सरस्वती भवन के विकास में अत्यधिक अभिवृद्धि हुई और विभिन्न कार्यों हेतु इसमें अनेक पदों का सृजन हुआ । संग्रह में अभूतपूर्व वृद्धि के साथ ही जिज्ञासुओं के लिए वाचन कक्ष आदि की भी व्यवस्था हुई । ग्रन्थ संग्रह हेतु पुष्कल धनराशि के साथ ही साथ अनेक अमूल्य ग्रन्थ संग्रह दान के रूप में प्राप्त हुए और अल्प समय में ही हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों की संग्रह संख्या में अभूत पूर्व वृद्धि हुई ।

ग्रन्थों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि के कारण सरस्वती भवन ग्रन्थालय में स्थान की कमी का अनुभव होने लगा तथा इस समस्या के समाधान के लिए एक नवीन भवन की आवश्यकता महशूस की जाने लगी । विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने अपना योगदान देते हुए नवीन भवन के निर्माण हेतु धनराशि स्वीकृत की और मुद्रितानुभाग के विशाल नवीन भवन का शिलान्यास 1963 में तत्कालीन कुलपति श्री सुरतिनरायण मणि त्रिपाठी द्वारा सम्पन्न हुआ तथा यह भवन तीन वर्षों की अवधि में बनकर तैयार हो गया तथा इसका विधिवत उद्घाटन 1966 में सम्पन्न हुआ । इस भवन में मुद्रित ग्रन्थों के संग्रह (स्टैक), वाचनालय कक्ष, पत्र-पत्रिका विभाग, माइक्रोफिल्लिंग तथा बाइण्डिग आदि अनुभगों का स्थानान्तरण कर दिया गया ।

डा. सुभद्र झा के अवकाश ग्रहण के पश्चात् भी विभूति भूषण भट्टाचार्य ग्रन्थाध्यक्ष पद पर 1967 में आसीन हुए और 1970 में इनकी नियुक्ति कुलसचिव पद पर हो जाने पर श्री लक्ष्मी नरायण तिवारी ग्रन्थाध्यक्ष नियुक्त हुए तथा उनके सतत प्रयास से ग्रन्थालय

में संचालित होने वाले विभिन्न गतिविधियों में बहुत अधिक वृद्धि हुई । उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम 1973 के प्रवृत्त होने के पश्चात् ग्रन्थाध्यक्ष पद का नामकरण पुस्तकाध्यक्ष हुआ । पहले सरस्वती भवन ग्रन्थालय में उप-पुस्तकाध्यक्ष के दो ही पद स्वीकृत थे परन्तु पंचम पंचवर्षीय योजना में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा एक और उप पुस्तकाध्यक्ष का पद स्वीकृत हुआ । पुस्तकाध्यक्ष और उपपुस्तकाध्यक्ष के इन चार पदों के अतिरिक्त ग्रन्थालय में कर्मचारी वर्ग के 63 अन्य पद स्वीकृत पदों की संख्या के साथ ही कुल 67 पद थे । वर्तमान में सरस्वती भवन ग्रन्थालय में स्वीकृत पदों की कुल संख्या 84 है ।

श्री लक्ष्मी नरायण तिवारी के अवकाश ग्रहण के पश्चात् डा. विजय नरायण मिश्रा को सरस्वती भवन ग्रन्थालय के पुस्तकाध्यक्ष पद पर नियुक्त किया गया । श्री मिश्रा के सेवानिवृत्त होने से लेकर ई. 2000 तक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुछ आचार्यों को ग्रन्थालय प्रभारी का अतिरिक्त दायित्व सौंपा गया इसमें साहित्य विभाग के प्रो. कैलाशपति त्रिपाठी, भाषा विज्ञान के डा. सत्यव्रत शर्मा तथा वेदान्त के विद्वान प्रो. पारशनाथ द्विवेदी प्रमुख थे । फरवरी 2000 ई. में झाँसी विश्वविद्यालय झाँसी के उपपुस्तकाध्यक्ष डा. सूर्यकान्त को पुस्तकाध्यक्ष पद पर नियुक्त किया गया है।

इस प्रकार वर्तमान में सरस्वती भवन ग्रन्थालय एक सुसंगठित विश्वविद्यालय ग्रन्थालय है और विश्व प्रसिद्ध हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह के अतिरिक्त भारतीय विद्याओं से सम्बन्धित मुद्रित एवं अनेक दुर्लभ ग्रन्थ भी यहाँ संगृहीत हैं। प्रो. राममूर्ति शर्मा के कुलपतित्व काल में www.Sanskrit university varanasi. com के माध्यम से भारतीय विद्या के विश्व प्रसिद्ध दो सौ हस्तलिखित ग्रन्थों के सारांश को अनुवाद एवं लिप्यन्तरण की सहायता से अंग्रेजी में उपलब्ध कराया गया । सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रहों का इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र नई दिल्ली के सौजन्य से माईक्रोकिल्लिंग का कार्य सम्पन्न कर लिया गया है । इसी प्रकार सरस्वती भवन ग्रन्थालय की आधुनिकीकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत इसके मुद्रितानुभाग में संगृहीत मुद्रित ग्रन्थों के दस हजार ग्रन्थों के ग्रन्थपरक सूचनाओं को सोल साफ्टवेयर में निवेशित करके यू.जी.सी. के इनप्लिबनेट केन्द्र द्वारा संचालित यूनियन डेटाबेस के माध्यम ग्रन्थों की ग्रन्थपरक सूचनाओं को संस्कृत के जिज्ञासुओं के लिए उपलब्ध कराया गया है ।

अभी हाल ही में यूनेस्को के वर्ल्ड मिमोरी रजिस्टर में अभिनवगुप्त द्वारा विरचित कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों को सूचीकृत किया गया है । इनमें से कुछ सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत हैं। इस प्रकार वर्तमान में सरस्वती भवन ग्रन्थालय में अध्ययन सामग्री के रूप में हस्तलिखित संग्रह, मुद्रित संग्रह तथा हस्तलिखित संग्रहों के माईक्रोफिल्मस के साथ-ही साथ कुछ "ई" एवं जिडिटल स्रोतों को भी सम्मिलित किया जा सकता है तथा भारतीय विद्याओं

में अध्ययन एवं अनुसन्धान कार्य को पूर्ण करने में यह ग्रन्थालय एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र है जहाँ अध्ययन सामग्री प्राप्त करने हेतु अखिल विश्व के जिज्ञासु आते हैं ।

5. गोयनका संस्कृत महाविद्यालय विश्वनाथ पुस्तकालय, वाराणसी –

खुरजा के एक उद्योगपति शेठ गौरीशंकर गोयंका बड़े ही विद्याप्रेमी तथा संस्कृत भाषा का प्रचार एवं प्रसार कर कीर्ति अर्जित करने वाले व्यक्ति थे । वे संस्कृत का विधिवत अध्ययन संस्कृत के मान्य पण्डितों से किया करते थे । पण्डित चण्डी प्रसाद शुक्लजी उनके स्थानीय गुरू थे जिनसे वे उपनिषद् तथा वेदान्त का अध्ययन किया करते थे। इन्हीं के उपदेश तथा आग्रह से सेठ जी ने अपने पितामह तथा पिता के नाम संवलित विद्यालय की स्थापना 1926 के जून मास में की । इस विद्यालय का पूरा नाम जोखी राम मटरूमल गोयन- का संस्कृत महाविद्यालय है जिसका अपना एक स्वतन्त्र भवन तथा विशाल पुस्तकालय है।

इस महाविद्यालय का ग्रन्थालय विश्वनाथ पुस्तकालय के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थालय में संस्कृत के हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों के साथ ही साथ उपनिषद् एवं वेदान्त से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों को भी संगृहीत किया गया है । गोयनका संस्कृत विद्यालय के संस्थापक शेठ गौरी शंकर गोयनका ने अच्युत ग्रन्थमाला नामक एक नवीन ग्रन्थमाला का प्रकाशन अपने विद्यालय के द्वारा ही किये । इस ग्रन्थमाला में वेदान्त के प्रसिद्ध तथा दुरूह ग्रन्थों का सरल सुबोध हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया गया है ।

इस प्रकार इस पुस्तकालय में उपलब्ध संस्कृत तथा प्राच्य विद्या से सम्बन्धित हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों को संस्कृत के जिज्ञासुओं द्वारा अध्ययन, अध्यापन एवं शोध कार्य के सम्पादन में उपयोग में लाया जाता है ।

6. प्राच्य विद्या धर्म विज्ञान संकाय ग्रन्थालय, का. हि. वि.वि., वाराणसी–

यह ग्रन्थालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के प्राच्य विद्या एवं धर्मविज्ञान संकाय ग्रन्थालय के रूप में का.हि.वि.वि. वाराणसी द्वारा संचालित एवं नियंत्रित है। संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के मुद्रित एवं हस्तलिखित संग्रहों के लिए यह बहुत प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थालय में संगृहीत संकलनों को का. हि. वि.वि. के इस वेबसाइट WWW.bhu.ac.in के माध्यम से संस्कृत के जिज्ञासु जन उपयोग की सुविधा प्राप्त कर सकते हैं ।

7. रणवीर संस्कृत विद्यालय ग्रन्थालय, का.हि. विश्वविद्यालय, वाराणसी–

यह ग्रन्थालय का0हि0वि0वि0 वाराणसी के नियंत्रण में संचालित श्री रणवीर संस्कृत विद्यालय कामाच्छा के प्रांगण में स्थित है । सन् 1883 में श्री रणवीर संस्कृत विद्यालय की स्थापना सदर- ए - रियासत महाराणा प्रताप सिंह के द्वारा की गयी थी । जिसे 24 मई सन् 1914 ई. को महामना पं. मदन मोहन मालवीय जी के मार्गदर्शन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय सोसाइटी को हस्तांतरित कर दिया गया । इस विद्यालय के ग्रन्थालय में भारतीय संस्कृति एवं वाङ्मय से सम्बन्धित सरल मुद्रित ग्रन्थों का सुन्दर संकलन है

जिससे पहली कक्षा से लेकर उतरमध्यमा तक के छात्रों को संस्कृत साहित्य के समृद्ध भण्डार से परिचित कराने में बहुत सहायता मिलती है ।

8. कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, ग्रन्थालय, दरभंगा, विहार–

बिहार के दरभंगा में 26 जनवरी 1961 संस्कृत की उपयोग, प्रचार-प्रसार तथा शिक्षा को बहुआयामी स्वरूप देने के लिए कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ ही इसके केन्द्रीय ग्रन्थालय को भी स्थापित किया गया । यह ग्रन्थालय भी संस्कृत शास्त्र के दुर्लभ पाण्डुलिपि ग्रन्थों, मुद्रित ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाओं के विशाल संकलन के लिए पूरे भारत में प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त बिहार में 120 संस्कृत महाविद्यालय ग्रन्थालयों के संरक्षक के रूप में भी यह वि.वि. कार्य करता है ।

9. डा. मण्डनमिश्र केन्द्रीय ग्रन्थालय, श्रीलाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली ।

10. राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान केन्द्रीय ग्रन्थालय, मानित संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली ।

11. श्रीशंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, श्रीशंकरापुरम्, एरना कुलम् ।

12. कवि कुल गुरू कालीदास संस्कृत विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, रामटेक, महाराष्ट्र–

13. श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, श्री विहार, पुरी, उड़िसा–

14. जगत गुरू रामानन्द चार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, जयपुर, राजस्थान ।

15. राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थालय, तिरूपति, आन्ध्रा प्रदेश–

16. सोमनाथ संस्कृत विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, सोमनाथ, गुजरात–

17. महर्षि महेश योगी वैदिक विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, जबलपुर, मध्य प्रदेश–

18. महर्षि पाणिनि संस्कृत विश्व विद्यालय ग्रन्थालय, उज्जैन, मध्य प्रदेश ।

19. उतरांचल संस्कृत विश्वविद्यालय ग्रन्थालय, हरिद्वार, उतरांचल ।

20. पतंजली योगपीठ-दिव्ययोग मन्दिर न्यास ग्रन्थालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड-

21. देवा संस्कृति विश्व विद्यालय ग्रन्थालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड ।

उपर्युक्त वर्णित क्रम संख्या 9 से 21 तक के शिक्षण संस्थाओं एवं इनके ग्रन्थालयों की विस्तृत सूचना को गूगल डाट काम या सम्बन्धित संस्था के वेब साईट के माध्यम से उपयोग में लाया जा सकता है ।

4. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रमुख विशिष्ट ग्रन्थालयों का विवरण –

1. ऐशियाटिक सोसाइटी ग्रन्थालय, कोलकता ।

2. भण्डारकर ओरियन्टल शोध संस्थान ग्रन्थालय पूना, महाराष्ट्र ।

3. गायकवाड़ ओरियन्टल शोध संस्थान, बड़ौदा, गुजरात ।
4. अडयारशोध संस्थान एवं ग्रन्थालय, मद्रास ।
5. विश्वेश्वरा वैदिक शोध संस्थान ग्रन्थालय, होशियारपुर, पंजाब।
6. पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन संस्थान ग्रन्थालाय, सीतापुर, लखनऊ।
7. पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थालय, करौंदी, वाराणसी ।
8. उच्च तिब्बतन शिक्षा संस्थान शांतिरक्षित ग्रन्थालय, सारनाथ, वाराणसी ।
9. साहित्य अकादमी ग्रन्थालय, नई दिल्ली ।
10. भारतीय दर्शनपरिषद् ग्रन्थालय, नई दिल्ली ।
11. इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र ग्रन्थालय, नई दिल्ली ।
12. इण्डिया आफिस ग्रन्थालय, लन्दन, यू.के. ।
13. अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् ग्रन्थालय, लखनऊ ।
14. बिहार संस्कृत अकादमी ग्रन्थालय, पटना ।
15. मिथिला शोध संस्थान ग्रन्थालय, कबराघाट, दरभंगा ।
16. वैशाली प्राकृत जैन एवं अहिंसा संस्थान ग्रन्थालय, वैशाली ।
17. नागरी प्रचारिणी सभा ग्रन्थालय, वाराणसी ।
18. मध्य प्रदेश संस्कृत अकादमी ग्रन्थालय, मध्य प्रदेश ।
19. श्री वेंकटेश्वर शोध संस्थान ग्रन्थालय, तमिल नाडू ।
20. तंजावर सरस्वती महल ग्रन्थालय, तंजावर ।
21. भारतीय दर्शन एवं संस्कृति वैरोवा शोध संस्थान ग्रन्थालय, मथुरा, उ.प्र. ।
22. अरविन्द आश्रम ग्रन्थालय, दिल्ली ।
23. श्री रामकृष्ण परमहंस मिशन संस्थान ग्रन्थालय, कोलकता ।
24. वेद संस्थान ग्रन्थालय, अजमेर, राजस्थान ।

5. सार्वजनिक संस्कृत ग्रन्थालय के रूप में योगदान करने वाले ग्रन्थालयों के प्रमुख उदाहरण –

1. पालि, प्राकृत एवं संस्कृत प्रभाग, राष्ट्रीय पुस्तकालय कोलकता-700027 ।
2. संस्कृत भाषा विभाग, दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी, दिल्ली ।
3. संस्कृत भाषा विभाग, राजकीय केन्द्रीय ग्रन्थालय, मुम्बई ।
4. संस्कृत भाषा विभाग, कन्नेमारा सार्वजनिक ग्रन्थालय, चेन्नई ।
5. उ. प्र. राजकीय सार्वजनिक ग्रन्थालय, इलाहाबाद ।

6. पं. बंगाल राजकीय सार्वजनिक ग्रन्थालय, कोलकता, तथा

7. अन्य भारतीय राज्यों के अधीन संचालित राजकीय सार्वजनिक ग्रन्थालयों के संस्कृत विभाग/प्रभाग।

6. निजी संस्कृत ग्रन्थालय के रूप में योगदान करने वाले ग्रन्थालयों के प्रमुख उदाहरण -

1. नेपाल नरेश राजकीय ग्रन्थालय, नेपाल ।
2. काशी नरेश फोर्ट ग्रन्थालय, रामनगर, वाराणसी।
3. ग्वालियर नरेश ग्रन्थालय, ग्वालियर, म. प. ।
4. श्री शंकराचार्य द्वारा स्थापित चारों पीठों के अधीन संचालित ग्रन्थालय ।
5. श्री काशी विश्वनाथ ग्रन्थालय, वाराणसी ।
6. थियोसाफिकल ग्रन्थालय, गुरुबाग, वाराणसी ।
7. श्री हरसूब्रह्मधाम न्यास ग्रन्थालय, चैनपुर, भभुआ, बिहार ।
8. श्री गोरखनाथ पीठ ग्रन्थालय, गोरखपुर, उ.प्र. ।
9. बाबा श्री किनाराम आश्रम ग्रन्थालय, वाराणसी ।
10. श्री अवधूत आश्रम ग्रन्थालय, राजघाट, वाराणसी ।
11. श्री रामजन्म भूमि न्यास ग्रन्थालय, अयोध्या, उ. प्र. ।
12. अक्षर धाम मन्दिर न्यास ग्रन्थालय, गुजरात ।
13. माता वैष्णवदेवी मन्दिर न्यास ग्रन्थालय, कटरा जम्मू एवं काश्मीर ।
14. विश्व हिन्दू परिषद् न्यास ग्रन्थालय, नई दिल्ली ।

7. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के ग्रन्थों के प्रकाशन में प्रमुख भारतीय प्रकाशन प्रतिष्ठानों की योगादन -

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक पुनर्जागरण का सूत्रपात हुआ था । उसी के अन्तर्गत मुद्रणालयों के प्रचार के फलस्वरूप संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के ग्रन्थों का विराट पैमाने पर प्रकाशन होना प्रारम्भ हुआ । प्रेस एवं पुस्तक रजिस्ट्रीकरण अधिनियम 1867 के लागू होने से पुस्तक प्रकाशन की गतिविधियों को एक नयी दिशा मिल चुकी थी । एक से अधिक पृष्ठों में मुद्रित, साइक्लो स्टाइल अथवा लिथो में छपी ग्रन्थों को इस अधिनियम के अन्तर्गत पुस्तक के रूप में स्वीकृति मिल चुकी थी तथा प्रत्येक मुद्रित ग्रन्थ के प्रथम पृष्ठ पर ग्रन्थ का शीर्षक, लेखक के नाम के साथ ही साथ प्रकाशक का नाम, प्रकाशन का स्थान तथा प्रकाशन के वर्ष को मुद्रित करना अनिवार्य कर दिया गया था।

इसी दौरान दुर्लभ संस्कृत ग्रन्थों की प्रकाशन की योजनाएँ वाराणसी, कलकत्ता तथा मुम्बई में प्रारम्भ की गयी। वाराणसी में स्थित राजकीय संस्कृत-पाठशाला के तत्कालीन प्रधानाचार्य डा. आर्थर वेनिस के शासनकाल में बनारस संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा संस्कृत सीरीज का सार्वजनिक अभ्युदय सम्पन्न हुआ । उन्होंने सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत उपयोगी हस्तलेखों को मुद्रित करने तथा शोध पत्रिका निकालने की योजना बनाई थी। डा. वेनिस ने संस्कृत विद्या के सर्वांगीण उन्नति के लिए चार महत्वपूर्ण कार्यों का शुभारम्भ किया, जिसमें प्रथम कार्य साधो लाल रिसर्च स्कालरशिप की स्थापना को छोड़कर शेष अन्य तीन कार्य सरस्वती भवन टेक्सट्स के प्रकाशन की योजना, सरस्वती भवन स्टडीज के प्रकाशन की योजना, एवं बनारस संस्कृत सीरीज तथा विजयानगरम् संस्कृत सीरीज सीधे तौर पर संस्कृत शास्त्र के ग्रन्थों के प्रकाशन से सम्बन्धित थे।

इसके अतिरिक्त डा. वेनिस काशी के महाराजा विजयानगरम से प्रार्थना कर उनको विजयानगरम संस्कृत सीरीज नामक ग्रन्थमाला प्रकाशित करने की प्रेरणा प्रदान की । महाराजा ने सन् 1890 में अपने विपुल धन से इस सीरीज में संस्कृत के अनेक दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन कराया । इन्हीं की प्रेरणा से काशी संस्कृत सीरीज ग्रन्थमाला का शुभारम्भ हुआ। सन् 1893 ई. में चौखम्बा संस्कृत सीरीज नामक नवीन ग्रन्थमाला के प्रादुर्भाव में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा ।

इसी प्रकार सन् 1886 से 1907 तक निर्णय सागर प्रेस मुम्बई ने काव्यमाला शीर्षक के अन्तर्गत लगभग 95 से अधिक संस्कृत ग्रन्थों को प्रकाशित किया । इसके साथ ही साथ छोटे-छोटे काव्य सुमनों के संकलनों को भी गुच्छक नाम से प्रकाशित किये गये जिसके चौदह गुच्छकों में कुल लगभग 128 से अधिक काव्य प्रकाशित किये गये थे। इसी क्रम में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के विश्व स्तरीय निजी प्रकाशक के रूप में उत्तर प्रदेश के गोरखपुर में स्थित गीता प्रेस हिन्दू धर्म के दुर्लभ पुस्तकों के प्रकाशन तथा "कल्याण" पत्रिका के प्रकाशन के लिए विश्व प्रसिद्ध मुद्रणालय के रूप में कई दशकों से कार्यरत हैं। ब्रिटिश कालीन भारत में संस्कृतशास्त्र के ग्रन्थों को संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषाओं के साथ ही साथ अन्य यूरोपीय भाषाओं जैसे–फ्रेंच एवं जर्मन, आदि में भी प्रकाशन होना प्रारम्भ हुआ। संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के दुर्लभ, शोध एवं सन्दर्भ ग्रन्थों के अंग्रेजी संस्करणों को भारत के प्रान्तिय सरकारों के अधीन स्थापित प्रकाशन विभाग (Government Publications divisions) द्वारा प्रकाशन किया जाता तथा अन्य यूरोपिय भाषाओं के संस्करणों को जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन एवं अन्य यूरोपीय देशों में भी प्रकाशित किया जाना प्रारम्भ हुआ ।

परन्तु संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के ग्रन्थ प्रकाशन के क्षेत्र में अखण्ड भारत के स्वतन्त्र होते ही सम्पूर्ण भारत वर्ष में प्रकाशन प्रतिष्ठानों एवं मुद्रणालयों की संख्या में अपार वृद्धि दर्ज की गयी । जिसके परिणाम स्वरूप सरकारी शिक्षण संस्थाओं, शोध संस्थानों,

विश्वविद्यालयों के साथ ही साथ निजी प्रकाशन प्रतिष्ठानों ने भी संस्कृत शास्त्र के ग्रन्थ प्रकाशन को आगे बढ़ाने में सहयोग करना प्रारम्भ कर दिये ।

8. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के ग्रन्थों को प्रकाशित करने वाले प्रारम्भिक भारतीय प्रकाशन प्रतिष्ठानों के कुछ प्रमुख उदाहरण -

1. भारत जीवन यान्त्रालय, काशी, वाराणसी, 1818 ।
2. आनन्द वन यन्त्रालय, शिवाला घाट, वाराणसी, 1852 ।
3. बनारस लाइट छापाखाना, बनारस, 1866 ।
4. वाराणसी संस्कृत प्रेस, वाराणसी, 1867 ।
5. अमर यन्त्रालय, वाराणसी, 1884 ।
6. हित चिन्तक प्रेस, काशी, 1900 ।
7. सिद्ध विनायक यन्त्रालय, काशी, 1914।
8. विद्या विलास प्रेस, बनारस, 1921 ।
9. विख्यात मेडिकल हाल मुद्राणालय, वाराणसी, 1949 ।
10. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1893 ।
11. मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।
12. गीता प्रेस, गोरखपुर, गोरखपुर, उ.प्र. ।
13. इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, इलाहाबाद, 1929 ।
14. संस्कृत विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास,
15. जी.एस. प्रेस, मद्रास, 1956 ।
16. वापटिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, 1836 ।
17. निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, 1887 ।
18. गुजराती प्रिन्टिगप्रेस, मुम्बई, 1916 ।

9. विश्व संस्कृत पुस्तक मेला -

भारत में विश्व पुस्तक मेले की आयोजन की परम्परा बहुत प्राचीन न होकर 1980 के दसक के लगभग प्रारम्भ हुआ है । तब से प्रत्येक वर्ष भारत के प्रमुख महानगरों में भारत सरकार एवं नेशनल बुक ट्रस्ट के सौजन्य से इस तरह के पुस्तक मेला का आयोजन किया जाता रहा है । इस तरह के पुस्तक मेला के ओजन के पीछे सरकार तथा आयोजकों का सबसे बड़ा उद्देश्य यह होता है कि देश एवं विदेशों के विद्वान, पुस्तक अनुरागी, छात्र समुदाय, शोधार्थियों, ग्रन्थालयीयों तथा अध्यापक वर्ग अद्यतन विभिन्न विषयों में प्रकाशित ग्रन्थों को देखने, जानने अथवा समझने एवं उन्हें क्रय करने की एक उचित अवसर उपलब्ध होता है।

इस प्रकार के राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तक मेले के आयोजन से आधुनिक विषयों के प्रकाशित ग्रन्थों के साथ ही साथ संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के प्रकाशित ग्रन्थों को भी उसके अन्तिम उपयोक्ता तथा पहुँचने का एक शसक्त माध्यम प्राप्त होता है ।

सन् 2011 संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रकाशित ग्रन्थों के विश्व व्यापी प्रचार प्रसार एवं उन्नति के लिए एक उपलब्धि पूर्ण वर्ष बन चुका है । क्योंकि 2011 से पूर्व विश्व संस्कृत पुस्तक मेला आयोजित नहीं किये गये । भारत के बेंगलोर महानगर में पहली बार संस्कृत भारती तथा राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के सौजन्य से 7 जनवरी 2011 से लेकर 10 जनवरी 2011 तक प्रथम विश्व संस्कृत पुस्तक मेला का आयोजन हुआ जिसमें संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के कुल 154 निजी एवं सरकारी प्रकाशन प्रतिष्ठानों ने संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के विभिन्न विषयों जैसे वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, व्याकरणशास्त्र, तन्त्र शास्त्र, साहित्यशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, वेदान्त दर्शन, मीमांसा दर्शन, न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, योग दर्शन, पालि एवं बौद्ध साहित्य, उपनिषद् तथा जैनागम तथा प्राकृत साहित्य के मुद्रित एवं 'इ' रूपों में प्रकाशित पाठ्य ग्रन्थ, शोध ग्रन्थ तथा सन्दर्भ ग्रन्थों को उनके जिज्ञासुओं के सूचनार्थ प्रस्तुत किया गया ।

संस्कृत शास्त्र तथा भारतीय संस्कृति की सम्बाहिका संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के ग्रन्थों के अधिकाधिक उपयोग, प्रचार-प्रसार तथा इससे सम्बन्धित अन्य शैक्षिक गतिविधियों के क्रमिक विकास में इस प्रकार से एक नयी परम्परा स्थापित हुई है । विश्व संस्कृत पुस्तक मेले के आयोजन की इस नयी परम्परा को भारत के साथ ही साथ विश्व के अन्य विकसित एवं विकासशील देशों में भी आयोजित किया जाना समीचीन प्रतीत होता है ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. **उपाध्याय, आचार्य बलदेव, काशी की पाण्डित्य परम्परा, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, pp 353 ।**
2. **हिन्दी विश्वकोश, खण्ड-6, वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1967, pp.331-333 ।**
3. **उपाध्याय, रामजी, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका वाराणसी, चौखम्ब्ा विद्या भवन, 1991, pp.164-165 ।**
4. **चतुर्वेदी, द्वारका प्रसाद शर्मा, चरित्रकोश : नई दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1983, pp188।**
5. **हिन्दी विश्वकोश-खण्ड-11. वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1966, pp 492।**
6. **सिंह, परमानन्द, बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, हलधर प्रकाशन, 1996, pp24।**
7. **Bhardwaj, Baliram Shastriy. Saraswati Bhawan Purtakalaya, Lucknow. Govt. of U.P., 1960.**

8. Nichollas, George. History of Sanskrit College, Benares, Govt. Press, 1907.
9. रजत जयंती स्मारिका वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1984, pp. 91-98
10. Sketch of the rise and progress of the Benares Pathshalla (University Be-centenary Series-9) Varanasi, SS.VV.,
11. शास्त्री, देवर्षि कलानाथ. जयपुर की संस्कृत परम्परा, जयपुर, हंसा प्रकाशन, 2000 pp. 7-8.
12. त्रिखा, नन्दकिशोर, प्रेस विधि, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1986. pp.17-20
13. शुक्ल, हीरालाल संस्कृत का समाजशास्त्र - स्वतन्त्रता संग्राम और संस्कृत साहित्य, दिल्ली : भारतीय विद्या प्रकाशन, 1989, 127-149 पृ0.
14. दैनिक जागरण, वाराणसी, 2011।
15. राष्ट्रीय सहरा (प्रथम संस्करण), वाराणसी, 2011।

❑❑

एकादश अध्याय

ऑनलाइन संस्कृत शब्दकोश एवं विश्वकोश तथा संस्कृत एवं प्राच्य विद्या साहित्य में इनफ्लिबनेट का योगदान

(Online Sanskrit Dictionaries and Encyclopaedias and the Contributions of Inflibnet in Sanskrit and Oriental Learnings)

1. ऑनलाइन संस्कृत शब्दकोश :

पारम्परिक संस्कृत शब्दकोश या पारिभाषिक संस्कृत शब्दकोश के क्षेत्र में कम्प्यूटर तथा संचार प्रद्यौगिकी की उपस्थिति से एक नये युग का सूत्रपात हुआ है । इसके फलस्वरूप आधुनिक विषयों की भाँति संस्कृत एवं प्राच्य विषयों के उपयोग में सूचना प्रद्यौगिकी का उपयोग दिनोदिन बढ़ता ही जा रहा है । संस्कृत शब्दकोशों के ऑन लाइन संस्करणों की सहायता संस्कृत के जिज्ञासु पाठकों को उनकी वांछित सूचना बहुत कम समय में ही इन्टरनेट के माध्यम से प्राप्त हो जाता है । इसके लिए संस्कृत के कुछ आधुनिक विद्वानों ने ऑन लाइन संस्कृत शब्दकोशों के उपयोग हेतु कुछ महत्वपूर्ण बेबसाइटों को विकसित किये हैं। इनमें से यह http : // www. Sanskrit documents. org/dict/ एक महत्वपूर्ण वेबसाइट है जिसे विश्व के किसी भी भाग में बैठे संस्कृत के जिज्ञासु पाठकगण संस्कृत के शब्दकोशीय सूचना आवश्यकता को आसानी से पूरी कर सकते हैं।

ऑन लाइन शब्दकोश का अभिप्राय यह है कि इसमें संस्कृत के अधिकांश मुद्रित शब्दकोशों को मूलरूप में उपलब्ध न कराकर उनमें निहित पाठ्य सामग्री को डिजिटल अथवा स्कैन्ड रूप में परिवर्तित करके उसे इन्टरनेट, ईमेल अथवा ऑन लाइन सेवा के माध्यम से उपयोक्ताओं को उपलब्ध कराया जाता है । ऑन लाइन संस्कृत शब्दकोशों के उपयोग में कम्प्यूटर पठनीय उपकरणों की सहायता लेनी पड़ती है तथा किसी व्यक्ति अथवा संस्था को इन शब्दकोशों को उपलब्ध कराने वाली संस्थाओं से सदस्यता लेनी पड़ती है

तथा उनके द्वारा आवंटित पासवर्ड के माध्यम से सदस्य व्यक्ति अथवा संस्था संस्कृत शब्दकोशों के ऑन लाइन संस्करणों का उपयोग करने के लिए अधिकृत हो जाता है ।

1.2 संस्कृत शब्दकोशों के ऑन लाइन संस्करण - इन शब्दकोशों को दो रूपों में उपलब्ध कराया जाता है । पहले के अन्तर्गत संस्कृत के पूर्वप्रकाशित अथवा मुद्रित शब्दकोशों का नवीन डिजिटल प्रति तैयार किया जाता है, जबकि दूसरे श्रेणी के अन्तर्गत पूर्व प्रकाशित अथवा मुद्रित संस्कृत शब्दकोशों को डिजिटल कैमरा अथवा स्कैनर के माध्यम से कम्प्यूटर पठनीय संग्रह माध्यमों में रूपान्तरित कर दिया जाता है । इन दोनों रूपों में उपलब्ध ऑनलाइन संस्कृत शब्दकोशों को बिना इन्टरनेट अथवा ई-मेल की सहायता लिये उपयोग नहीं किया जा सकता है । भाषा की वैज्ञानिकता, भाषा की शुद्धता तथा भाषा की प्रामाणिकता के कारण ही संस्कृत के ऑन लाइन शब्दकोशों का उपयोग भारत के साथ ही साथ विश्व के अन्य देशों में भी तेजी से उपयोग में लाया जा रहा है ।

यही कारण है कि सूचना प्रद्यौगिकी की विभिन्न तकनीकों को विकसित करने में भारत की अन्य भाषाओं की तुलना में संस्कृत भाषा एवं व्याकरण को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अधिक महत्व दिया गया है । ऑन लाइन संस्कृत शब्दकोश परियोजना का प्रथम शुभारम्भ कोलोन विश्वविद्यालय में स्थित तमिल अध्ययन एवं भारतीय विद्या संस्थान सबसे पहले शुरू किया है ।

संस्कृत डोक्यूमेन्टस डॉट ओ आर जी/डिक्ट साइट पर अनेक फाईल्स को विभिन्न प्रारूपों में उपलब्ध कराया गया है जिनकी सहायता से संस्कृत के इन ऑन लाइन संस्करणों को उपयोग में लाया जा सकता है । इन प्रारूपों के अन्तर्गत पोस्ट स्क्रीप्ट (Postscript) पीडीएफ (PDF) एक्स डीवीएनजी (XDVNG), आई टी एक्स (ITX), टेक्स्ट (TEXT) एवं यूनिकोड फॉरमेट (UNICODE FORMAT) को सम्मिलित किया गया है । साथ ही साथ संस्कृत में प्रयोग किये जाने वाले अंकों के लिए अलग से फाईलों की एक पूरी समूह निर्मित करके उसे इस साइट पर प्रस्तुत किया गया है । इस साइट में जाकर Please see Learning tools Section की सहायता इसको उपयोग में लाया जा सकता है ।

जब से संस्कृत ऑन लाइन शब्दकोश परियोजना शुरू हुई है तबसे कम्प्यूटर आधारित संचार के बहुआयामी माध्यमों के फलस्वरूप विश्वके प्राचीनतम भाषा संस्कृत के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध की प्रक्रिया में पूरा विश्व समुदाय निरन्तर अग्रसर है। कोलोन डिजिटल लेक्सीकॉन की सहायता से मोनियर विलियम द्वारा प्रणीत संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोश के सारे पृष्ठों को ऑन लाइन पद्धति द्वारा उपयोग में लाया जा सकता है । इसके अतिरिक्त कुछ सीमा तक दक्षिण एशिया के कुछ प्रमुख भाषाओं, जैसे तमिल, पहलवी, तथा केपलर प्रणीत संस्कृत शब्दकोश को भी इसके माध्यम उपयोग में लाया जा सकता है । इस सेवा में संस्कृत, तमिल, पहलवी तथा अंग्रेजी शब्दों के दोनों खोजों को समान रूप से

स्वीकृत करने से सम्बन्धित पद्धति को विकसित किया गया है । साथ ही साथ मोनियर विलियम के ऑन लाइन संस्कृत शब्दकोशों में विन्यसित संस्कृत शब्दों के अंग्रेजी में अर्थ प्राप्त करने के लिए खोज की उच्चिकृत विधि को उपलब्ध कराया गया है । इस सेवा के लिए संस्कृत शब्दों को Kyo To, SLP1, या ITRANS में लिप्यन्तर के माध्यम से निवेशित करना पड़ता है, तत्पश्चात् यह देवनागरी यूनिकोड, या हावार्ड की-योटो (Havard Kyeto), या इन्ट्रान्स (Itrans) या रोमन यूनिकोड (Roman Unicode), या रोमन सी एस एक्स (Roman CSX), या रोमन मंजूश्री सी एस एक्स (Roman Manjoo Shree CSX) के प्रारूपों में यह प्रगट होता है । इसी तरह से इसके उच्चखोज विधि में संस्कृत एवं अंग्रेजी शब्दों के अर्थों को यथासम्भव अधिकतम प्रारूपों में प्राप्त करने के उच्चिकृत खोजनीति के प्रयोग का निर्देश उपलब्ध है।

1.3. कोलोन डिजिटल संस्कृत शब्दकोश - इसके द्वारा अन्य ऑन लाइन संस्कृत-अंग्रेजी/जर्मन शब्दकोशों के शब्दों के अर्थ इत्यादि का उपयोग किया जा सकता है । कोलोन विश्वविद्यालय के तमिल भाषा अध्ययन एवं भारतीय विद्या संस्थान द्वारा विकसित ऑन लाइन शब्दकोश के द्वारा संस्कृत शब्दों के अंग्रेजी अथवा जर्मन भाषा में उनके अर्थों को प्रस्तुत किया गया है । रीचार्ड माहोने ने मोनियर विलयम के शब्दकोश का HTML Text Format का प्रारूप तैयार किया है । इसके माध्यम से मोनियर विलियम के अंग्रेजी-संस्कृत शब्दकोश में प्रयुक्त संक्षिप्किरण एवं अन्य चिह्नों आदि की पूरी की पूरी एक ऑन लाइन सूची को भी उपलब्ध कराया गया है ।

अल्प समय में संस्कृत सीखने में मोनियर विलियम तथा शिवराम वामन आप्टे के संस्कृत शब्दकोशों के साथ ही साथ अन्य शब्द कोशों के ऑन लाइन संस्करणों की महत्वपूर्ण भूमिका है । इनमें अजित कृष्णन के मुद्गलकोश आदि का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है । इसी प्रकार लुईस बोन्त ने कोलोन ऑन लाइन शब्दकोश में मोनियर विलियम आंकिक (Digital) शब्दकोश के लिए एक पीसीवेस्ड शब्दकोश तैयार किया है जिसको निम्न बेबसाइट http :// www. members. ams. chello.nl.l. bontes के द्वारा उपयोग में लाया जा सकता हैं । इसके साथ ही साथ इस दूसरे वेबसाइट http : // www. dict.uni-leipzig.de/dictal को कोलोन वर्णन के विकल्प के रूप में उपयोग किया जा सकता है । मोनियर विलियम कृत संस्कृत अंग्रेजी शब्दकोश को श्रीपिडिया एम. डब्लू. के माध्यम से पूरा का पूरा उपलब्ध करा दिया गया है । श्रीपिडिया परियोजना से सम्बन्धित अधिक जानकारी के लिए ई-मेल से भी सहायता ली जा सकती है ।

1.4 शिकागो विश्वविद्यालय, शिकागो द्वारा संचालित दक्षिण ऐशिया डिजिटल संस्कृत शब्दकोश परियोजना - इस परियोजना के अन्तर्गत संस्कृत के चार

प्रमुख शब्दकोशों को शामिल किया गया है । इसके अन्तर्गत एक व्यवहारिक संस्कृत शब्दकोश को लिप्यंतरण एवं व्युत्पत्ति सहित तथा आर्थर एन्थोनी मैक्डोनेल के शब्दकोश को भी लिया गया है । इसी प्रकार शेशु कार्थिक तनवीर ने Sanskrit Voice. com के माध्यम से एक विजेट (widget) एवं एक फेसबुक (a Face Book) की सुविधा को उपलब्ध कराया है । यह अपने मूल साइट के माध्यम से उपयोक्ताओं को अंग्रेजी शब्दों अथवा संस्कृति शब्दों के अर्थों को उच्चिकृत खोज की युक्तियों के माध्यम से उपलब्ध कराता है ।

Java-J2 EE Backend के सहायता से मोनियर विलियम प्रणीत संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश के ऑन लाइन संस्करण को Ajax-based Online Interface के माध्यम से भी उपयोग किया जा सकता है । इस पद्धति को सूचना प्रद्यौगिकी विशेषज्ञ चेतन ने विकसित किया है । इसमें लिप्यन्तरण के मदद से कम्प्यूटर आधारित देवानागरी के विभिन्न प्रारूपों में प्रदर्शित करता है । सन्धी इन्जन की सहायता से दो अलग-अलग शब्दों को एक साथ जोड़कर इनको देवनागरी में भी प्रस्तुत किया जा सकता है । इतना ही नहीं इसके उपयोग में पाणिनि के शिवसूत्र पर आधारित प्रत्यहार डिकोडर की भी सहायता ली जा सकती है। जावा आधारित सन्धी परियोजना सोफ्टवेयर के माध्यम से भी संस्कृत शब्दकोशों के ऑन लाइन संस्करणों का उपयोग किया जा सकता है । "पाणिनि व्याकरण के विधियों की भूमिका" नामक प्रकाशित एक लेख में इस सोफ्टवेयर के उपय्रोग का विस्तार से उल्लेख प्रस्तुत है। इस ऑनलाइन जावा आधारित सन्धी साफ्टवेयर में क्लिपबोर्ड क्रिया के द्वारा देवनागरी अथवा ई-लैटींन प्रारूपों में इन शब्दकोशों की प्रतिलिपि तैयार करने में बहुत अधिक सहायता मिलती है ।

आप्टेकृत संस्कृत से अंग्रेजी ऑन लाइन खोजी शब्दकोश को उनके द्वारा प्रणीत व्यवहारिक संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश पर आधारित है । कोलोन ऑन लाइन संस्कृत शब्दकोश पर इसका उच्चिकृत ऑन लाइन संस्करण उपलब्ध है । मोनियर विलियम प्रणीत संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश के ऑन लाइन संस्करण को सीडी के रूप में भी इस वेबसाइट–

WWW. Sudarshana. org

से अल्प लागत में प्राप्त किया जा सकता है अथवा इस दूसरे वेबसाइट WWW. Krishna. com से निःशुल्क रूप से प्राप्त किया जा सकता है ।

1.5 अन्य शब्दकोश अथवा परिभाषिक शब्दकोशों के डिजिटल अथवा ऑनलाइन संस्करण के प्रमुख उदाहरण–

1. डा. कल्याण रमण द्वारा प्रणीत भारतीय भाषाओं के शब्दकोश के ऑनलाइन संस्करण;

2. आन्द्रे सीग्रोरेट के संस्कृत-फ्रेंच शब्दकोश के ऑन लाइन संस्करण को Frasktoo.exe फाईल की सहायता से उपयोग में लाया जा सकता है ।

3. कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर एवं हार्डवेयर के शब्दों के अर्थों को अंग्रेजी से संस्कृत में अर्थ, सन्दर्भ एवं वाक्य संरचना को श्रीकान्त जमदग्नी ने अपने सङ्गणक संस्कृत शब्दकोश में प्रस्तुत किया है ।

4. गेरार्ड हुएत के संस्कृत-फ्रेंच शब्दकोश के ऑन लाइन संस्करण तथा ऑन लाइन व्याकरण को ई-मेल के माध्यम से भी उपयोग किया जा सकता है ।

5. http: // WWW. Sanskritritreader.de वेबसाइट के द्वारा इंडिक्ट (Indict) नामक एक संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश के डिजिटल संस्सकरण को ऑनलाइन उपयोग किया जा सकता है । इसमें संस्कृत शब्दों या उनके अर्थों को लिप्यन्तरण के साथ उपलब्ध कराया जाता है तथा इसमें पूर्व निवेशित शब्दों के प्रविष्टियों को संशोधित करने, नये शब्दों को जोड़ने तथा पुराने शब्दों को सम्पादित करने की सुविधा उपलब्ध है । इस प्रकार संस्कृत शब्दकोश के इस डेटाबेस को अधिक से अधिक उपयोग में लाया जा सकता है । शब्दों के आवंटन के सम्बन्ध में इसमें कुछ सीमा तक सांख्यकि विवरणों को भी उपलब्ध कराया गया है ।

6. http: // WWW. spoken sanskrit.de यह वेबसाईट संस्कृत के ऑनलाइन हाईपर शब्दकोश का एक नवीन रूप है जिसको क्लाउज ग्लाशोफ ने डिजिटली प्रकाशित किया है । यह अपने उपयोक्ताओं को विकिपिडिंया प्रविष्टियों के रूप में उनके प्रश्नों को निवेशित करने तथा उसका विवेकपूर्ण उत्तर प्रदान करने की सुविधा उपलब्ध कराता है।

इसी प्रकार ऑन लाइन संस्कृत शब्दकोशों एवं अन्य भारतीय भाषाओं के शब्दकोशों के ऑनलाइन संस्करणों के उपयोग के लिए डिजिटल शब्दकोश विशेषज्ञ यसवन्त मालविया ने एक सर्च इन्टरफेस विकसित किया है । डेलब्रुक प्रणीत संस्कृत-जर्मन शब्दकोश 1888 को स्कैन्ड रूप में (PDF 30 + Mb) तथा इसके ओ.सी.आर. प्रति (MSWOrd8+M6) को पाठकों के निवेदन पर यह अपने वेबसाइट के माध्यम तत्काल उपलब्ध करवाता है ।

ऑन लाइन संस्कृत शब्दकोशों के ई-संग्रहों तथा जर्मन, रसीयन एवं अंग्रेजी भाषा के व्याकरणों से सम्बन्धित डिजिटल संग्रहों को गुगल द्वारा निर्मित न्यूज ग्रूप के इस वेबसाइट–http : // www. groups. google. com/group/nagari
से Circa 4000 MB की सहायता से इसमें निवेशित शब्दों को देवनागरी फान्ट में पढ़ा एवं उपयोग में लाया जा सकता है । http ://nagari. South india.ru वेबसाइट पर जाकर देवनागरी फान्ट एवं लिप्यन्तरण की सुविधा को निःशुल्क उपयोग किया जा सकता है।

'आक्टोवियन सरवैटोर ने संस्कृत के अध्यात्मिक पदों को लेकर एक ऑन लाइन अध्यात्मिक शब्दकोश के संस्करण को प्रकाशित किया है । पूरे विश्व में फैले संस्कृत के जिज्ञासुओं के लिए इस बेवसाइट से www. multilingualsbooks. com संस्कृत शब्दकोशों के अन्य वेबसाइटों के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है ।

1.6 अन्य भारतीय भाषाओं के ऑनलाइन शब्दकोश -

ऑनलाइन संस्कृत शब्दकोश के समान ही हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं अन्य भारतीय भाषाओं में भी अनेक ऑन लाइन् शब्दकोशों को निर्मित किया गया है। भारतीय भाषाओं में रूचि लेने वाले जिज्ञासुओं द्वारा शब्दकोशों के इन डिजिटल संस्करणों को इन्टरनेट अथवा ऑनलाइन के माध्यम से उपयोग में लाया जा सकता है ।

1.7 भारत सरकार के राजभाषा शब्दकोश के ऑनलाइन संस्करण -

भारत सरकार एवं राज्य सरकारें विभिन्न प्रकार के सरकारी गतिविधियों एवं क्रियाकलापों के सफल संचालन हेतु ऑनलाइन बहुखण्डीय शब्दकोशों के नवीन संस्करणों को प्रकाशित किये हैं । विकिपिडिया हिन्दी ग्लोशरी इस प्रकार के शब्दकोशों का एक प्रमुख उदाहरण है। इस ऑनलाइन ग्लोशरी के माध्यम से विभिन्न भाषाओं के शब्दों के अर्थों को उपलब्ध कराता है । शब्द कोश डॉटकाम के माध्यम से हिन्दी, मराठी, तथा गुजराती शब्दकोशों को ऑन लाइन सेवा द्वारा उपलब्ध कराया जाता है । इसके अतिरिक्त इन दो वेबसाइट्स–http :// www. iiit. net/ltre/down loads. html तथा http : // www. iiit.net/ madhvi/de.html से भी सहायता ली जा सकती है । इन ऑन लाइन शब्दकोशों को हिन्दी डिक्सनरी रीड मी फाईल तथा आई. एस. सी. आई.आई. इन्टरफेस (ISCII Interface) के माध्यम से भी उपयोग किया जा सकता है । इसी क्रम में एक और उच्चिकृत इन्टरफेस को अक्षर माला साइट पर विकसित किया गया है ।

भारत के चौदह भाषाओं में उपलब्ध लगभग 5000 सामान्य शब्दों को प्रयोग करके एक बहुभाषिक शब्दकोश के डिजिटल संस्करण को तैयार किया गया है। जिसे ऑन लाइन के द्वारा उपलब्ध करवाया गया है । टी डी आई एल. (TDIL) के साथ मिलकर भारत सरकार की ओर से ऑन लाइन हिन्दी विश्वकोश की परियोजना को इस वेबसाइट http: // www. tail.mit. gov. ongoing-pros.html के रूप में विकसित किया जा रहा है ।

Archive.org वेबसाइट के माध्यम से आई.डब्लू.एच.टी. इन्टरफेस (iwht interface) द्वारा ऑनलाइन हिन्दी विश्वकोश के अन्य दूसरे संस्करणों को भी उपयोग में लाया जा सकता है । इस तरह के हिन्दी-मराठी एवं अंग्रेजी शब्दकोशों के एक वृहद डेटा बेस को रीशोर्स सेन्टर फार इण्डियन लैंग्वेजेज, मुम्बई के द्वारा ऑनलाइन उपलब्ध कराया गया

है। एक अन्य मराठी-अंग्रेजी शब्दकोश जिसे 1911 में श्रीधर गणेश वाजे प्रकाशित कराया था, को शिकागो विश्वविद्यालय द्वारा ऑनलाइन शब्दकोश परियोजना के अन्तर्गत इस शब्दकोश के डिजिटल संस्करण को ऑन लाइन उपलब्ध कराया गया है। ऑन लाइन शब्दकोश को Molesworth's Digitised Marathi-English Dictionary के वेबसाइट पर उपयोग किया जा सकता है । शब्दकोश डाटकाम के वेबसाइट के माध्यम से सामान्य हिन्दी एवं अंग्रेजी शब्दकोशों के ऑनलाइन संस्करणों को उपलब्ध कराया गया है । इसमें हिन्दी शब्दों के पर्यावाची शब्दों तथा उनके अनुवादों को भी शामिल किया गया है । हिन्दी सीखने वाले जिज्ञासुओं के लिए यह वेबसाइट http : // www.en.bab.la. dictionary/english-hindi. बहुत उपयोगी साइट है । इसमें उपयोगी वाक्यों के साथ ही मुहावरों एवं कहावतों को भी प्रस्तुत किया गया है तथा अधिक से अधिक हिन्दी शब्दों का ज्ञान हो सके इसके लिये इस साइट पर प्रश्नावली तथा कम्प्यूटर आधारित खेलों की पहेलियों को प्रस्तुत किया गया है जिसकी सहायता से हिन्दी सीखने के जिज्ञासु पाठक अपनी हिन्दी शब्दकोश ज्ञान की क्षमता में वृद्धि करने में समर्थ हो सकते हैं ।

यह वेब साइट http : // WWW. gujarati-Lexicon.Com गुजराती शब्दकोश के ऑन लाइन संस्करण का एक महत्वपूर्ण साइट है। इस वेवसाइट के उपयोग द्वारा गुजराती से अंग्रेजी तथा अंग्रेजी से गुजराती के शब्दों एवं उनके अर्थों को पढ़ने के लिए एक उपयोगी इन्टरफेस को इसपर उपलब्ध कराया गया है।

1.8 शिकागो विश्वविद्यालय एवं दक्षिण एशिया ऑन लाइन शब्दकोश परियोजना -

इस परियोजना के अन्तर्गत दक्षिण ऐशिया के अनेक भाषाओं की शब्दकोशों के ऑनलाइन संस्करणों को शिकागो विश्वविद्यालय ने अपनी वेबसाइट के माध्यम इसे उपलब्ध कराता है । इसमें दक्षिण ऐशिया के कुल 16 भाषाओं के शब्दकोशों का डिजिटल संस्करण प्रस्तुत किया है । इस डिजिटल संस्करण में दक्षिण ऐशिया के बलूची, खोवर, परशीयन, तोरवली, बांग्ला, मराठी, उर्दू, राजस्थानी, नेपाली, संस्कृत, हिन्दी, पालि, तमिल, कश्मीरी, पस्थों एवं तुलुगु भाषाओं के शब्दों को सम्मिलित किया गया है । दक्षिण ऐशिया के शेष भाषाओं के ऑन लाइन शब्दकोश या डिजिटल शब्दकोश को इस परियोजना के अगामी संस्करणों में प्रस्तुत करने की योजना है ।

दक्षिण ऐशिया के विभिन्न भाषाओं की इस बृहद ऑन लाइन शब्दकोश परियोजना संयुक्तराष्ट्र के स्नातक, कार्यक्रम तथा अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा कार्यालय के अधीन कार्यरत अन्तर्राष्ट्रीय शोध एवं अध्ययन केन्द्र द्वारा वित्तपोषित है । कोलम्बिया विश्वविद्यालय में स्थित घरमं हिन्दूजा इण्डिक रीसर्च सेन्टर द्वारा डी.डी.एस.ए. के लिए चार संस्कृत शब्दकोश के ऑन लाइन संस्करण को प्रस्तुत किया जा चुका है ।

2. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के ऑनलाइन विश्वकोश -

जिस तरह से संस्कृत शब्दकोशों के डिजिटल अथवा ऑनलाइन संस्करण को लेकर भारत की तुलना में विदेशों में बहुत पहले ही अनेक परियोजनाओं को प्रारम्भ कर दिया गया था ठीक वैसे ही संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के विश्वकोश के डिजिटल अथवा ऑनलाइन संस्करण पर विदेशों में कुछ परियोजनाओं को बहुत पहले ही शुरू कर दिया गया था ।

Internet Encyclopaedia of Philosophy डिजिटल अथवा ऑनलाइन विश्वकोश का एक प्रमुख उदाहरण है । भारत में कुछ संस्कृत के आधुनिक विद्वानों ने संस्कृत विश्वकोशों के डिजिटल अथवा ऑन लाइन संस्करण को प्रकाशित कर चुके हैं । इस दिशा में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के सौजन्य से विश्वप्रसिद्ध "वाचस्पत्यम्" संस्कृत विश्वकोश के डिजिटल अथवा ऑनलाइन संस्करण संस्कृत के जिज्ञासुओं के लिए शीघ्र ही उपलब्ध होनें वाला है । साथ ही साथ, भारत तथा विश्व के अनेक देशों में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ सन्दर्भ ग्रन्थों एवं सूचना स्रोतों के डिजिटल संस्करणों को विकसित कर रहे हैं ।

2.1 संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के सन्दर्भ ग्रन्थों के डिजिटाइज्ड एवं स्कैन्ड संस्करणों के कुछ प्रमुख उदाहरण–

A) डिजिटाइज्ड संस्करण :

a. Monier Williams Sanskrit-English Dictionary (Advance Search).

b. Bochtlingk + Schmidt Sanskrit German Dictionary.

c. Bochtlingk & Roth Sanskrit German Dictionary.

d. Apte English-Sanskrit Dictionary.

e. Sanskrit and Temil Dictionaries.

f. MW Infllected forms.

B) स्कैण्ड संस्करणं :

a. Monier Williams Sanskrit-English Dictionary (Pdf-img).

b. Apte English-Sanskrit Dictionary (Pdf-img).

c. MacDonell Sanskrit - English Dictionary (img)

d. Wilson Sanskrit-English Dictionary (img).

e. Boehtlink Sanskrit German Dictionary.

f. Bochtlingk Roth Sanskrit-German Dictionary.

g. Kale Higher Sanskrit Grammar, 1894 (img)

3. इनफ्लिबनेट का योगदान-

इनफ्लिबनेट (Inflibnet) भारत का राष्ट्रीय ग्रन्थालय एवं सूचना नेटवर्क है तथा यह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) का स्वायतशासी अन्तर्विश्वविद्यालयीन केन्द्र है । इसका मुख्य कार्यालय गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद, गुजरात के प्रांगण में स्थित है। यह अपने कार्यों का सम्पादन एकशासी निकाय, परिषद् एवं वित्त समिति के माध्यम से सम्पन्न करता है । इसका कार्यकारी अधिशासी निदेशक होता है ।

यह केन्द्र भारतीय विश्वविद्यालयों के ग्रन्थालयों एवं सूचना केन्द्रों के अधीन संगृहीत पाठ्य सामग्रियों के ग्रन्थ परक सूचनाओं को डेटाबेसों के रूप में संग्रहण कर ऑनलाइन प्रसार नेटवर्क के द्वारा सदस्य संस्थाओं के उपयोक्ताओं को उनके अध्ययन, अध्यापन तथा शोध गतिविधियों को यथा समय पूर्ण किया जा सके को लक्ष्य करके इस केन्द्र को यू.जी.सी. द्वारा स्थापित किया गया है ।

3.1 उद्देश्य एवं विभिन्न गतिविधियाँ-

इस केन्द्र का सबसे प्रमुख उद्देश्य यह है कि इसके माध्यम से भारत में स्थित सभी विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों एवं सूचना केन्द्रों के ग्रन्थालयों में संकलित पाठ्य सामग्री को कम्प्यूटर आधारित प्रक्रियाओं द्वारा अधिक से अधिक उपयोक्ताओं द्वारा उपयोग किया जा सके ।

ग्रन्थालय एवं सूचना केन्द्रों का आधुनिकीकरण करना, सूचनाओं को संचार प्रद्यौगिकी की सहायता से स्थानान्तरित करना, तथा आधुनिकीकरण प्रक्रिया से सम्बन्धित विभिन्न तकनीकों एवं प्रविधियों को विकसित करना आदि गतिविधियों को इनफ्लिबनेट परियोजना के मुख्य उद्देश्य के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है । इस परियोजना को सर्वप्रथम सन 1991 में प्रारम्भ किया गया तथा मई 1996 से इसके द्वारा प्रारम्भ किये गये विभिन्न क्रियाकलापों में बहुत तेजी से विकास हुआ और यहीं से यह केन्द्र यू.जी.सी. का एक स्वतन्त्र स्वायतशासी अन्तर विश्वविद्यालयीन केन्द्र के रूप कार्य कर रहा है।

यह केन्द्र आधुनिक सूचना प्रद्यौगिकी की सभी विधियों एवं प्रकारों के उंपयोग के द्वारा भारत के सभी विश्वविद्यालयों, शोध संस्थानों के ग्रन्थालयों एवं सूचना केन्द्रों को एक राष्ट्रीय नेटवर्क के रूप में विकसित करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास कर रहा है । अर्थात् ग्रन्थालयों के आधुनिकीकरण, यंत्रीकरण तथा ग्रन्थालयों में संकलित सामग्रियों का एक संघीय डेटाबेस विकसित कर शिक्षाविदों, विद्यार्थियों तथा शोधार्थियों को ऑन लाइन सेवा द्वारा उनके वांछित सूचनाओं को उपलब्ध कराना ही इसका प्रमुख कार्य है । इन गतिविधियों का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है।

3.1.1. ग्रन्थालय स्वचालन—इस केन्द्र द्वारा संचालित विभिन्न गतिविधियों में भारतीय विश्वविद्यालयों तथा उच्चस्तरीय शोध संस्थानों के ग्रन्थालयों को स्वचालन (Automation) की सुविधा से सुसज्जित करना है जिससे इन ग्रन्थालयों के अन्तर्गत नेटवर्किंग एवं संसाधनों की सहभागिता के द्वारा सूचनाओं का आदान-प्रदान करने में सुविधा मिल सकती है । इसके लिए यह केन्द्र यूजीसी के माध्यम से विश्वविद्यालयों को अनावर्ति अनुदान प्रदान करता है । 2010 तक लगभग दो सौ से अधिक भारतीय विश्वविद्यालयों एवं उच्च शोध संस्थानों के ग्रन्थालयों को इस कार्य हेतु अनुदान प्राप्त हो चुका है । भारत में स्थित संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के क्षेत्र से सम्बन्धित विश्वविद्यालयों एवं शोध संस्थानों, संस्कृत विद्या पीठों के अन्तर्गत सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा एवं अन्य को अनुदान की यह सुविधा दी जा चुकी है ।

3.1.2. सोलसाफ्टवेयर को विकसित करना—भारत के विश्वविद्यालय ग्रन्थालयों एवं सूचनाओं केन्द्रों में संचालित होने वाले विभिन्न सूचना गतिविधियों को एक समन्वित ग्रन्थालय साफ्टवेयर के द्वारा सम्पन्न कराया जा सके को लक्ष्य करके सोल साफ्टवेयर (SOUL Software) को विकसित किया गया है । SOUL Software शब्द Software for University Libraries का संक्षिप्त नाम है । इस साफ्टवेयर के सोल (SOUL) के नाम से शुरू करने के पहले कुछ अन्य नामों पर भी विचार किया गया था, परन्तु यू.जी.सी. के तत्कालीन चेयरमैन प्रो. यशपाल, इनफ्लिबनेट के वरिष्ठ वैज्ञानिक प्रो. सालगर तथा इनफ्लिबनेट के तत्कालीन निदेशक डा. टी.ए.वी. मुर्थी के द्वारा इस ग्रन्थालय साफ्टवेयर के लिए सोल साफ्टवेयर (SOUL Software) का नाम तय किया गया ।

यह साफ्टवेयर क्लांईट सरभर मोड में MS-SQL पर आधारित विन्डो आपरेटिंग सीस्टम के माध्यम से कार्य करता है । इसकी सहायता से बहुभाषिय डेटाबेस को निर्मित किया जा सकता है तथा इसमें वेब एक्सेस की सुविधा उपलब्ध है । इसमें ग्रन्थालय में सम्पादित किये जाने वाले प्रमुख नैतिक्य कार्यों पर आधारित पाँच मेजर मोड्यूलस Acquisition, Cataloguing, Circulation, OPAC एवं Serials Control को निर्मित किया गया है । इसको सी.सी.एफ. प्रारूप पर आधारित करके विकसित किया गया है तथा MARC 21से ग्रन्थपरक डेटा के आयात एवं निर्यात के लिए एक उपयुक्त इन्टरफेस की सुविधा दी गयी है। इस साफ्टवेयर में डेटा प्रविष्टियों के दौरान शब्दों के वर्तनी नियंत्रण तथा व्याकरण शुद्धी के लिए कुछ निर्देश फाइलों की सुविधा दी गयी है । अबतक एक सौ से अधिक भारतीय विश्वविद्यालयों के ग्रन्थालयों में इसे उपयोग में लाया जा रहा है । इसके प्रारम्भिक संस्करणों में आई. एस. एम. साफ्टवेयर के माध्यम से देवनागरी लिपि के ग्रन्थों के डेटा प्रविष्टि की सुविधा थी परन्तु उन प्रविष्टियों के लिए AACR-II प्रारूप में देवनागरी

लिपि में सूची पत्रकों को प्रिन्ट करने में कठिनाई थी, परन्तु इसके वर्तमान संस्करण बहुत विकसित है ।

3.1.3. संघीय डेटाबेस—यह केन्द्र भारत के सभी विश्वविद्यालयों, मानित विश्वविद्यालयों तथा शोध संस्थानों के ग्रन्थालयों के अधीन संगृहीत सूचना सामग्रियों का एक संघीय संघीय डेटाबेस तैयार करने हेतु सतत प्रयास रत है। इस संघीय डेटाबेस को इसके वेबसाइट http :// www. inflibnet.ac.in पर जाकर ऑनलाइन माध्यम से उपलब्ध कराया जाता है । इस संघीय डेबाबेस के अन्तर्गत जिन डेटाबेसों को उपलब्ध कराया जाता है, वे इस प्रकार निम्न हैं–

i. ग्रन्थडेटाबेस (Monograph Databases)—इस डेटाबेट में सदस्य संस्थाओं के ग्रन्थालयों के अधीन संगृहीत नये तथा पुराने प्रकार के ग्रन्थों के ग्रन्थपरक सूचनाओं को सोल साफ्टवेयर में निवेशित करने के बाद इसके सीडी प्रति तैयार करके सदस्य ग्रन्थालयों द्वारा इस केन्द्र के मुख्य कार्यालय, अहमदाबाद को उपलब्ध कराया जाता है जहाँ पर इन सीडी में संकलित ग्रन्थ परक सूचनाओं को संघीय डेटाबेस में सम्मिलित कर लिया जाता है। वर्तमान इस डेटाबेस के माध्यम से भारतीय विश्वविद्यालय के ग्रन्थालों के अधीन संगृहीत ग्रन्थों के लगभग साठ लाख के आस-पास ग्रन्थों के ग्रन्थ परक सूचनाओं को उपलब्ध कराया गया है । इन ग्रन्थपरक सूचनाओं में भारत के आधुनिक विश्वविद्यालयों के साथ ही साथ पारम्परिक विश्वविद्यालयों जैसे सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी तथा कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा एवं अन्य संस्कृत विश्वविद्यालयों के ग्रन्थालयों के संकलनों को भी इसमें शामिल किया गया है । इस डेटाबेस के माध्यम से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन ग्रन्थालय में संगृहीत लगभग दस हजार के आस-पास मुद्रित ग्रन्थों के ग्रन्थ परक सूचनाओं को उपलब्ध कराया गया है ।

ii. शोध-प्रबन्ध डेटाबेस—इस डेटाबेस के माध्यम से भारत के आधुनिक विश्वविद्यालयों के साथ ही साथ पारम्परिक विश्वविद्यालयों के ग्रन्थालयों में संगृहीत विभिन्न विषयों के शोध प्रबन्धों के लगभग डेढ़ लाख से अधिक संख्या में भारतीय शोध छात्रों के लिए ग्रन्थपरक विवरणों के साथ इसे उपलब्ध कराया गया है । शोधकर्त्ताओं द्वारा शीर्षकों के चयन में इससे बहुत अधिक सहायता मिलती है ।

iii. अद्यतन धारावाहिकों तथा शोध पत्र-पत्रिकाओं के संकलनों का डेटाबेस—इस डेटाबेस में भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के संकलित 40,000 से अधिक धारावाहिकों के शीर्षकों में से 18000 के लगभग शीर्षकों के ग्रन्थपरक-सूचनाओं को उपलब्ध कराया जा चुका है । इस डेटाबेस के माध्यम से विश्वविद्यालय ग्रन्थालयों के मध्य संसाधनों की सहभागिता में बहुत सहायता मिलती है । इस डेटाबेस की सहायता से भारतीय विश्वविद्यालयों के शोधकर्ताओं को बहुत कम खर्च में ही उनके शोध विषयों से सम्बन्धित साहित्य आसानी से प्राप्त हो सकता है।

iv. अद्यतन धारावाहिक डेटाबेस—इस डेटाबेस को यह केन्द्र सर्वप्रथम सन् 1998 में प्रारम्भ किया है तथा सन् 2000 तक इसमें भारत के 105 विश्वविद्यालय ग्रन्थालयों में सब्सक्राइब्ड 10500 से अधिक अद्यतन धारावाहिकों को उपयोग हेतु प्रस्तुत किया जा चुका है ।

v. विशेषज्ञ डेटाबेस—इस डेटाबेस के माध्यम से समस्त भारतीय विश्वविद्यालयों में कार्यरत वरिष्ठ संकाय सदस्यों को शामिल किया गया है तथा आवश्यकता पड़ने पर इनसे तत्काल सम्पर्क स्थापित करने में यह डेटाबेस बहुत उपयोगी है । अबतक इसमें कुल 14000 के लगभग विशेषज्ञों के अभिलेखों को उपलब्ध कराया जा चुका है । यह डेटाबेस एलीट तथा पियर ग्रूप अथवा इनविजिबूल कालेज के मध्य सम्पर्क स्थापित करने का एक शसक्त माध्यम है ।

vi. शोध परियोजनाएँ —इनफ्लिबनेट केन्द्र के माध्यम से विभिन्न सरकारी अथवा स्वायशासी संस्थाओं के रूप में कार्यरत पचास से अधिक संगठनों एवं विभागों को शोधकार्य के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध कराया जा चुका है तथा अद्यावधि यह व्यवस्था अग्रसर है।

vii. सूचना के द्वितीयक श्रेणी के धारावाहिकों एवं सी.डी. रोम डेटाबेस—इस केन्द्र ने इस नवीन डेटाबेस परियोजना को सन् 1998 में कुल 300 प्रलेखों के साथ प्रारम्भ किया था जिसके अन्तर्गत सीडी रोम में अनुदानित ग्रन्थ परक डेटाबेस, सारकरण एवं अनुक्रमणीकरण के पत्रिकाओं को जिनको भारत में कम से कम 110 विश्वविद्यालयों में प्राप्त किया जाता है, को सम्मिलित किया गया है । इसकी सहायता से ऊँचे मूल्य के धारावाहिकों को अनावश्यक रूप से अनेक ग्रन्थालयों में क्रय करने तथा तथा उन्हें संगृहीत करने में उत्पन्न स्थान की समस्या से बचा जा सकता है ।

3.1.4. इनफ्लिबनेट केन्द्र द्वारा आयोजित अन्य सेवाएँ—इस केन्द्र द्वारा आयोजित अन्य सेवाओं के अन्तर्गत सी डी रोम आधारित सेवा, कापसैट सेवा, ओ.सी. एल.सी. प्रथम खोज सेवा के ग्रन्थपरक सूचनाओं को सदस्य संस्थाओं के पाठकों को निःशुल्क उपलब्ध करवाना तथा प्रलेख-प्रदाय सेवा (Document Delivery Service) के अन्तर्गत छः भारतीय विश्वविद्यालयों को अधिकृत किया गया है जो इस प्रकार निम्नलिखित हैं–

1. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
2. जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली ।
3. पंजाब विश्वविद्यालय, चन्डीगढ़ ।
4. हैदराबाद विश्व विद्यालय, हैदराबाद ।
5. टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंस, मुम्बई।
6. इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंस, बैंगलूरू।

इनफ्लिबनेट केन्द्र द्वारा अधिकृत किये गये उपर्युक्त छः विश्वविद्यालयों एवं शोध संस्थानों के अधीन प्रलेख प्रदाय सेवा तिव्रगति से संचालित हो रहा है । परन्तु संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के पारम्परिक विश्वविद्यालयों में से किसी एक को इसमें सम्मिलित किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है । इस दृष्टिकोण से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी अपने 220 वर्षों के संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के ऐतिहासिक धरोहर के साथ ही इस प्रलेख प्रदाय सेवा के लिए अधिकृत किया जाना उचित प्रतीत होता है ।

यह केन्द्र उपर्युक्त वर्णित सेवाओं के अतिरिक्त प्रतिवर्ष भारत में (Caliber) कैलीवर के वार्षिक सम्मेलनों को आयोजित कर विश्वविद्यालयों एवं शोध संस्थानों के ग्रन्थालयों में पुस्तकालय स्वचालन के उपलब्धियों एवं विस्तारों पर ग्रन्थालियों एवं सूचना अधिकारियों को अपने विचारों एवं सुझावों को एक दूसरे के मध्य आदान-प्रदान करने हेतु उचित अवसर प्रदान करता है ।

3.1.5. यू.जी.सी.–इन्फोनेट (UGC-INFONET)-यह परियोजना भारतीय विश्वविद्यालयों के शैक्षिक गतिविधियों में सूचना एवं संचार प्रद्यौगिकी का अधिकाधिक उपयोग हो सके के लिए इसे एरनेट इण्डिया तथा इनप्लिबनेट केन्द्र ने प्रारम्भ किया है। यूजीसी-इन्फोनेट एक राष्ट्रीय स्तर का भारतीय शिक्षा के विकास में एक बृहद् संचार नेटवर्क है तथा इसके माध्यम से भारतीय विश्वविद्यालयों में संचालित होने वाले शोध, शैक्षिक तथा अन्य गतिविधियों को ऑनलाइन द्वारा अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है। यू.जी.सी. के बेबसाइट की सहायता से इससे सम्बन्धित विस्तृत सूचना प्राप्त की जा सकती है। इस साइट का यू.आर. एल. www.ugc.ac.in है ।

❑❑

द्वादश अध्याय

संस्कृत तथा प्राच्य विद्या के प्रमुख विषयगत 'ई' एवं आनलाइन सूचना स्त्रोत
(Subject based 'e' and online Major Sources of Information of Sanskrit and Oriental Learnings)

1. भूमिका-

कम्प्यूटर, इन्टरनेट एवं सूचना प्रद्यौगिकी के आगमन से विज्ञान, अभियांत्रिकी, गणित एवं सामाजिक विज्ञानों के साथ ही साथ संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के प्रकाशन के क्षेत्र में भी एक नयी दिशा अर्थात् -"ई" प्रकाशन के रूप में प्राप्ति हुई है । 'ई' प्रकाशन का विस्तृत रूप "ईलैक्ट्रानिक प्रकाशन" है । इसके अन्तर्गत ग्रन्थों एवं ग्रन्थेतर पाठ्य सामग्रियों को ईलैक्ट्रानिक विधियों से मुद्रित एवं प्रकाशित किया जाता है । कागज आधारित मुद्रित ग्रन्थों के सभी रूपों को ईलैक्ट्रानिक अथवा डिजिटल रूपों में प्रकाशित किया जा सकता है । उदाहरणार्थ, आनलाइन शब्दकोश, विश्वकोश, ई-बुक्स, ई-मैगजीन, एवं ई-बुलेटिन आदि को सम्मिलित किया जा सकता है ।

ई-ग्रन्थ मुख्य रूप से ग्रन्थों का डिजिटल रूपांतरण है जिनको ईलैक्ट्रानिक विधियों से संगृहीत किया जाता है तथा उपयोग में लाया जाता है । इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसको उपयोग करने के लिए कम्प्यूटर पठनीय उपकरणों की सहायता लेनी पड़ती है ।

2. 'ई' ग्रन्थ के प्रकार-

यह मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं जैसे किसी विषय से सम्बन्धित एक नयी कृति को डिजिटल अथवा ईलैक्ट्रानिक विधियों के विभिन्न तकनीकों की सहायता लेकर नवीन संस्करण प्रकाशित करना तथा दूसरे रूप के अन्तर्गत पूर्व प्रकाशित कागज अधारित मुद्रित ग्रन्थ को उच्चश्रेणी के डिजिटल कैमरा अथवा स्कैनर की सहायता से स्कैन्ड इमेज तैयार किया जाता है । इस प्रकार इन दोनों प्रकारों के ई-ग्रन्थों के उपयोग एवं संग्रह के लिए कुछ विशेष ईलैक्ट्रानिक विधियों की सहायता लेनी पड़ती है । उदाहरण के लिए इन्हें

एक व्यक्तिगत कम्प्यूटर (PC) या इसी प्रकार का कोई अन्य विधि अथवा ई-ग्रन्थ रीडर की सहायता से इसे पढ़ा अथवा अन्य उपयोग में लाया जा सकता है । कागज आधारित मुद्रित ग्रन्थ सामग्रियों की तुलना में ई-पाठ्यसामग्री बहुत अधिक उपयोगी एवं सूचना प्रद होती है।

3. ई-पाठ्य सामग्री के प्रारूप-

ई-पाठ्य सामग्री के ईलैक्ट्रानिक आरूपों के अन्तर्गत श्रव्य दृश्य सामग्री (**Audio-Visual Objects**), माइक्रोफार्म्स, सीडी रोम, डीवीडी, ई-मेल, फैक्स, इन्ट्रानेट तथा इन्टरनेट को सम्मिलित किया जा सकता है । इन माध्यमों के द्वारा ई-ग्रन्थों के उपयोग एवं उनके आदान-प्रदान बिना किसी बाधा के सम्पन्न किये जा सकते हैं।

4. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के क्षेत्र में ई-ग्रन्थ प्रकाशन-

संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के क्षेत्र में कार्यरत अध्यापक वर्ग, शोधकर्त्ता एवं छात्र समुदाय को उनके द्वारा मांगी गयी सूचनाओं को यथाशीघ्र कैसे उपलब्ध करायी जा सके जिससे कि वे अपने अध्यापन, अध्ययन एवं शोध कार्यों को समय सीमा के अन्दर ही पूरा करने में समर्थ हो सके । इसी को दृष्टिगत करते हुए इस क्षेत्र में ई-ग्रन्थ प्रकाशन के द्वारा संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के अनेक सन्दर्भ एवं सूचना स्रोतों को 'ई' रूपों में प्रकाशित किये जा चुके हैं तथा यह प्रक्रिया निरन्तर गतिशील है । इसकी सहायता से संस्कृत में रूचि रखने वाले जिज्ञासुओं को अद्यतन सूचनाओं को त्वरित गति से उपलब्ध करायी जाती है ।

अब तक भारत सहित विश्व के अनेक राष्ट्रों में संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ई-प्रलेखों के कम से कम पचीस के आस-पास वेब साईट्स विकसित किये जा चुके हैं । कुछ वेबसाईट्सट में इन प्रलेखों की सीडी, डीवीडी अथवा अन्य रूपों में इनको प्राप्त करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण ईलैक्ट्रानिक-मेलों से सीधा सम्पर्क हेतु निर्देश भी दिये गये हैं। संस्कृत एवं प्राच्य विद्या से सम्बन्धित विभिन्न वेबसाईट्स में **www.Sanskrit documents. org** एक महत्वपूर्ण वेबसाइट है जिसके उपयोग द्वारा संस्कृत के ई-पाठ्य-सामग्रियों का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है ।

5. संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के ई-प्रलेखों के प्रमुख वेबसाईटस एवं यू.आर.एल.स.-

1. **http :// www. india culture.nic.in**
2. **http : // www. sanskritdocuments.org/**
3. **http : // www. Vedamu.org.**
4. **http : // www. atmadharan. com**
5. **http : // www. onlinedarshan.com**
6. **http : // www. ambaa. org.**

7. **http : // www. sanskrit. safire.Com**
8. **http : // www. astrojyoti. Com**
9. **http : // www. muktabodha.org**
10. **http : // svbf. org/**
11. **http : // www. vidyabrikshah. org.**
12. **http : // www. ibiblio. org/ jainism/database.**
13. **http : // www. uwest. edu/sanskrit Canon.**
14. **http : // www. ahobila mutta. org/tamil html.**
15. **http : // geo cities. com/yajurveda/**
16. **http : // www. granthamandiram.com**
17. **http : // www. Vedavid. org/**
18. **http : // www. sanskritlinks. blogspot. com/**
19. **http : // www. ssvv.up.nic.in**
20. **http : // www. icpr. in**
21. **http : // www. ignca. nic.in**
22. **http : // www. sanskrit-lexicon-uni-koeln-de/**

6. फॉक एवं यूजनेट-

'ई' संस्कृत प्रलेखों के रूप में विस्तृत सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए फॉक (FAQ) एवं यूजनेट (USENET) एक शसक्त माध्यम है । फॉक (फ्रीक्वेन्टली आस्कड क्वेश्चन्स फार संस्कृत डाक्यूमेन्टस) का एक संक्षिप्त रूप है । संस्कृत में 'ई' प्रलेखों के वेबसाइट्स भिन्न भिन्न हो सकते हैं तथा यह भी सम्भव नहीं है कि सभी उपयोक्ताओं को संस्कृत ई-प्रलेखों के सभी साइट्स के बारे में पूरी-पूरी जानकारी पहले से ही है । इसलिए संस्कृत के 'ई'–प्रलेखों में निहित वांछित सूचनाओं को त्वरित गति से फॉक एवं यूजनेट के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है । यह एक प्रकार का सहायता उपकरण (Help tool) के रूप में कार्य करता है ।

इस प्रकार संस्कृत एवं प्राच्य विद्या के उपयोक्ताओं को विभिन्न विषयों से सम्बन्धित 'ई' अथवा डिजिटल प्रलेखों पर आधारित प्रश्नों की एक विस्तृत शृंखला में से फॉक अथवा यूजनेट के द्वारा अपने वांछित उतर को प्राप्त करने के लिए कुछ चयनित प्रश्नों को वर्तमान में इन्टरनेट के माध्यम से जिन वेबसाइट्स अथवा यू.आर. एलस. को उपलब्ध कराया गया है उन सभी में फॉक एवं यूजनेट की सुविधा उपलब्ध है, क्योंकि ई-प्रलेखों के अधिकाधिक उपयोग के लिए यह एक शसक्त माध्यम है।

चयनित वाङ्मयसूची (Selected Bibliography)

1. वर्णेकर, श्रीधरभास्कर : संस्कृत वाङ्मय कोश, कलकता, भारतीय भाषा परिषद्, 1987. तीन खण्ड ।
2. उपाध्याय, आचार्य बलदेव : काशी की पाण्डित्य परम्परा, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983 ।
3. हिन्दी विश्वकोश : खण्ड-6, वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, 1967।
4. त्रिपाठी, एस.एम. एवं गौतम, जे. एन. : सूचना एवं सन्दर्भ के प्रमुख स्रोत, आगरा, वाई. के. पब्लिशर्स, 2005 ।
5. त्रिपाठी, एस. एम. : विज्ञानों तथा सामाजिक विज्ञानों एवं मानविकी की वाङ्मय सूचियाँ तथा सूचना स्रोत, आगरा, वाई. के. पब्लिशर्स, 2003।
6. त्रिपाठी, एस.एम. : सूचना एवं सन्दर्भ स्रोत के नवीन आयाम, आगरा, वाई. के. पब्लिशर्स, 1993 ।
7. गुप्ता, पवन कुमार एवं पवन, उषा : सन्दर्भ सेवा एवं सूचना स्रोत, जयपुर, आर. बी. एस. ए. पब्लिशर्स, द्वितीय संस्करण, 1998 ।
8. कौशिक, पूर्णिमा : सन्दर्भ सेवा : सिद्धान्त एवं व्यवहार, जयपुर, यूनिवर्सिटी बुक हाउस प्रा. लिमिटेड, 2002 ।
9. शर्मा, अजय कुमार : पुस्तकालय सन्दर्भ सेवा, वाङ्मय सूची एवं प्रलेखन, दिल्ली, चेतना प्रकाशन, 1990-91 ।
10. शास्त्री, द्वारका प्रसाद : पुस्तकालय में सन्दर्भ सेवा, वाराणसी, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, 1960 ।
11. शर्मा, चन्द्रकान्त : ग्रन्थालय में सन्दर्भ सेवा, नई दिल्ली, मेट्रो पोलिटन बुक कम्पनी प्रा. लिमिटेड, 1978 ।
12. सुदेश्वरन, के. एस. : सन्दर्भ सेवा : सिद्धान्त और प्रयोग, मध्य प्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1980 ।
13. अग्रवाल, एम. एल. एवं शर्मा, एस. जी. : पुस्तकालय सन्दर्भ सेवा, जयपुर, प्रिन्टवैल, 1994 ।
14. Chakrabarti, Bhubaneshwar : Fundamentals of reference service. Calcutta, World Press, 1985.
15. Mukherjee, A.K. : Reference work and its tools. ed. 3. Calcutta, World Press, 1971.

16. Ranganathan, S.R. : Reference Service. Ed.2. Bombay, Asia Publishing House, 1961.
17. Sharma, Jagadish Sharan and GROVER : Reference Service and Sources of Information, New Delhi, ESS ESS Publications, 1987.
18. Krishna Kumar : Reference Service. New Delhi, Vikas Publishing House Pvt.Ltd., 1987.
19. Grogan, Denis : Science and Technology : an introduction to literature 4rth ed., London Clive Bingley, 1982.
20. Shores, Louis : Basic reference sources, Chicago, American Library Association, 1954.
21. KATZ, Welliam A. : Introduction to reference work, 5th. edn., New York, McGrahill, 1987. 2 Vols.
22. Davinson, Donald : Reference Service, London, Clive Bingley, 1980 .
23. GALVIN, Thomas J. : Problems in Reference Service, New York, Bowker, 1965.
24. MONIER, William M. : A Sanskrit English Dictionary, 1899.
25. NICHOLLAS, George : History of Sanskrit College of Benares, Benaras, Government Press, 1907.
26. SKETCH of the rise and progress of the Benares Path shalla, Varanasi, Sampurnanand Sanskrit Vishravidyalaya.
27. BWARDWAJ, Baliram Shastry : Saraswati Bhawan Pustakalaya, Lucknow, Government of U.P., 1960.
28. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय रजत जयंती स्मारिका, वाराणसी, सं.सं.वि.वि., 1984।
29. उपाध्याय, रामजी : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, वाराणसी, चौखम्बा विद्या भवन, 1991 ।
30. पाण्डेय, हरिशंकर : प्राकृत रूप रचनाकोश, दिल्ली, न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, 2001 ।
31. सिंह, परमानन्द : बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, म. गा. का. वि. पी., 1996 ।

32. मिश्र, रामगोपाल : संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास, दिल्ली, विवेक प्रकाशन, 1980 ।

33. ओझा, राय बहादुर पं. गौरी शंकर हीराचन्द : प्राचीन भारतीय लिपिमाला, नई दिल्ली, मुंशी राम मनोहर लाल, 1971।

34. शुक्ल, हीरालाल संस्कृत का समाजशास्त्र स्वतन्त्रता संग्राम और संस्कृत साहित्य, दिल्ली, भारतीय विद्या प्रकाशन, 1989।

35. तिवारी, ब्रजमोहन : 20वीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य को बिहार का अवदान, दिल्ली, आदित्य बुक सेन्टर, 2002।

36. शास्त्री, देवर्षि कलानाथ : जयपुर की संस्कृत परम्परा, जयपुर, हंसा प्रकाशन, 2000।

37. मालवीय, रामचन्द्र : संस्कृत के विद्वान और पंडित, वाराणसी, चौखम्बा प्रकाशन, 1972।

❑❑